वाजसनेयि-माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेद-संहिता

करपात्र भाष्य-समन्विता

प्रणेतारः

अनन्त श्री विभूषिताः स्वामिकरपात्र महाराजाः

प्रथमोऽध्यायः

भाषानुवादकः

डा० पं० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकरः

मीमांसा वेदान्त साहित्याचार्यः एम. ए. पी-एच. डी.

प्रकाशक :

श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्

कलकत्ता • वृन्दावनम्

श्रीवृन्दावनम् प्रथम संस्करणम् विजया दशमी २०४३ वि०

●

प्रकाशक—

श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता ● वृन्दावनम्

●

मूल्य : पैंसठ रुपये (Rs 65/-)

●

अस्य ग्रन्थस्य सर्वेऽधिकारा:
राजकीय नियमानुसारेण सुरक्षिता:

●

पुस्तक प्राप्तिस्थानम्

१। राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पैट्रो कैमिकल्स लिमिटेड
११३, पार्कस्ट्रीट, साततल्ला, कलकत्ता -700016

२। राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५/१८ नारद घाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३। राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

४। राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पैट्रो केमिकल लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेण्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

●

मुद्रक—

श्रीहरिनाम प्रेस
हरिनाम पथ, वृन्दावन—२८११२१
दूरभाष : ४१५

Vajasaneyi-Madhyandin Shukla—Yajurveda—Samhita

(With the Karpatra Bhashya)

BY

Anant Shri Vibhushit Swami Karpatra ji Maharaj

Hindi Translation by

Memansacharya Dr. Pt. Gajanan Shastri

Memansa-Vedanta-Sahityacharya M. A., Ph. D.

PUBLISHER

Shri Radhakrishna Dhanuka Prakashan Sansthana

CALCUTTA ● VRINDABAN

All Rights reserved by the publisher

FIRST EDITION

Shri Vrindavana Vijaya Dashmi—2043

भूमिका

अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य-पूर्वाम्नायगोवर्द्धनमठपुरीपीठाधीश्वर

स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवजी तीर्थ महाराज

वेदं वेदनिधिं विद्यां ब्रह्मविद्यां गणाधिपम् ।
सरस्वतीं गुरून् सर्वान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥१॥
भूमिका स्वामिपादानां भाष्यस्येयं निगद्यते ।
सारभूतैकविंशत्या विदुषां प्रीतिहेतवे ॥२॥
स्वस्वरूपस्थितिर्मोक्षो वेदस्यैकं प्रयोजनम् ।
भगवद्भक्तियोगश्च द्वितीयं तत्प्रयोजनम् ॥३॥
अत्रावतारवादोऽपि बहुधा सम्प्रकीर्तितः ।
मन्त्रोऽयं स्पष्टमेवाह 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' ॥४॥
शक्या एतादृशा मन्त्राः समुद्धर्तुं सहस्रशः ।
सगुणत्वं भगवतः साकारत्वञ्च साधितुम् ॥५॥
कर्मकाण्डप्रवृत्तिश्च वेदोद्देश्यन्तृतीयकम् ।
कर्मणामननुष्ठानात् चित्तशुद्धिः कथं भवेत् ॥६॥
कर्मोपासनबोधाख्यं त्रयं वेदेन बोध्यते ।
कर्मभिश्चित्तशुद्धिःस्यात् भक्त्या चैकाग्रता भवेत् ॥७॥
ततो ज्ञानेन मुक्तिः स्यादेष वेदस्य डिण्डिमः ।
सायणाचार्यपादेन महीधरबुधेन च ॥८॥
विदुषा चोव्वटेनापि तथा व्याख्यानमीरितम् ।
परं प्रयोजनं मोक्षो वेदस्यास्तीति निश्चितम् ॥९॥
अवान्तरं तथाप्यस्ति कर्मज्ञानं प्रयोजनम् ।
यज्ञादीनि च कर्माणि प्रशस्तानि बुधैः सदा ॥१०॥
अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं श्रुति-स्मृति मतानि हि ।
'तमेतं ब्राह्मणा' नूनं यज्ञेनेत्यादि वेदवाक् ॥११॥
ज्ञानेच्छायां नियोगं तु यज्ञादीनां ब्रवीति हि ।
अतएव महाभागैस्सायणाद्यैः प्रकीर्तिताः ॥१२॥
वेदार्थास्ते समीचीना नान्यैरुक्ताः कथञ्चन ।
इतिहासपुराणैश्च सूत्रवाक्यैस्तथैव च ॥१३॥
निरुक्तैः प्रातिशाख्यैश्च शिक्षाव्याकृतिभिस्तथा ।
मन्वादिस्मृतिकारैश्च याज्ञिकार्थाः सुसम्मताः ॥१४॥

इदानीन्तनविद्वद्भिर्दयानन्दादिभिस्तु यैः ।
पाश्चात्यैरपि यैः कैश्चिद्भारतीयैस्तदाश्रितैः ॥१५॥
वेदार्था ये कृतास्ते वै न सत्या इति दर्शितम् ।
करपात्रमहाभागैस्ततो भाष्यं प्रकीर्तितम् ॥१६॥
अत्र सर्वोऽपि वेदार्थः समीचीन उदीरितः ।
शिक्षाव्याकृतिकल्पादिसम्मतोऽथ निरुक्तगः ॥१७॥
सर्वथानुमतः सत्य इतिहासपुराणगः ।
पूर्वैराचार्यवर्यैश्च मन्वादिस्मृतिभिस्तथा ॥१८॥
अनुमोदित एवार्थः स्वामिपादैः प्रकीर्तितः ।
एतेषां सर्वशास्त्राणां ज्ञानं येषां न विद्यते ॥१९॥
अज्ञात्वा भाष्यमेतत्ते खण्डनं कर्तुमुद्यताः ।
एतेनैव परास्तास्ते नोत्तरन्तेषु विद्यते ॥२०॥
व्यर्थन्ते खण्डनं कस्मात्कुर्वन्त्यविधिनोदिताः ।
इदन्ते किन्न जानन्ति स्यात्तु मोदकखण्डिका ॥२१॥

—श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थ

वेद, वेदनिधि परमात्मा, वेद का ज्ञान करानेवाली अपरा विद्या, परब्रह्म का ज्ञान कराने वाली पराविद्या-ब्रह्मविद्या, विघ्नविनायक गणेश, सम्पूर्ण विद्याओं की अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती और सर्वविधज्ञानों के स्रोत अपने सभी गुरुजनों को बार-बार प्रणाम करता हूं ॥१॥

विद्वानों की प्रसन्नता के लिये अनन्त श्रीधर्मसम्राट् ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज द्वारा विरचित वेदभाष्य की सारभूता 'भूमिका' इक्कीस श्लोकों में लिख रहा हूं ॥२॥

'स्वरूप स्थिति मोक्ष का स्वरूप है'—जहाँ से कभी लौटकर नहीं आना पड़ता वही 'मोक्ष', वेदों का परम प्रयोजन अर्थात् प्रधान प्रयोजन है। 'मोक्षोपयोगी भगवद्भक्ति का लाभ' भी वेदों का अवान्तर-प्रयोजन है ॥३॥

इसी प्रसङ्ग में वेदों के मन्त्र और ब्राह्मण भाग में भगवद्भक्ति के अत्यन्त उपयोगी भगवान् के सगुण-साकार विग्रह और अवतार वाद का भी निरूपण है। **इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाᳫ सुरे स्वाहा'** (शुक्ल यजुर्वेद संहिता ५. १५) इत्यादि अनेक मन्त्रों में भगवान् के वामन-अवतार का स्पष्ट प्रतिपादन उपलब्ध है ॥४॥

ऐसे और भी हजारों मन्त्र उद्धृत किए जा सकते हैं, जिनसे भगवान् के सगुण-साकाररूप स्वतः स्पष्ट सिद्ध हो जाते हैं ॥५॥

कर्मकाण्ड के विना भगवान् की भक्ति हो ही नहीं सकती, अतः कर्मकाण्ड में प्रवृत्त कराना भी वेद का गौण-उद्देश्य है। कर्मकाण्ड के विना चित्त-शुद्धि नहीं हो सकती, चित्त-शुद्धि के विना ज्ञान नहीं हो सकता। **'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः। यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मान मात्मनि ॥** (महा० शान्ति० २०४. ८)', **'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥'** (कठो० १. २. २५) इत्यादि वचन-समूह से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है 'कर्मकाण्ड का चित्त शुद्धि द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा में विनियोग है', इसी बात में **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'** (बृहदारण्य को० ४. ४. २२) इत्यादि श्रुति तथा **'स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ (मनु० २. २८)** इत्यादि स्मृति-वचन प्रमाण हैं। 'कर्मकाण्ड से चित्तशुद्धि और भगवान् की भक्ति से चित्त की एकाग्रता

होने पर ज्ञान से मोक्ष होता है।' यही वेद का डिण्डिम घोष है। इसीलिये कर्म, उपासना और ज्ञान —इन तीनों का प्रतिपादन 'वेद' करते हैं ॥९-११½) ॥

इसी अभिप्राय से चतुर्वेद-भाष्यकार सर्वदर्शन-पारावारपारीण सायणाचार्य, उव्वट-महीधर, वेंकटमाधव आदि प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों ने भक्ति और मोक्ष को वेद का परम प्रयोजन मानते हुए भी कर्मकाण्ड के ज्ञान को वेद का अवान्तर प्रयोजन मानकर अधिकांश मन्त्रों का कर्मकाण्ड परक भाष्य किया। भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य आदि सभी पावन साम्प्रदायिक आचार्यों का कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में कहीं मतभेद नहीं, जबकि ज्ञानकाण्ड में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत आदि मतभेदों की भरमार है ॥१२॥

वेद मन्त्रों के प्राचीन आचार्यों द्वारा किए गये यज्ञादि कर्मकाण्ड परक अर्थ भी वास्तविक अर्थ हैं। दयानन्द आदि आधुनिक विद्वानों तथा पाश्चात्य विद्वानों एवं उनकी लकीर के फकीर कुछ भारतीय विद्वानों द्वारा किए अर्थ ठीक नहीं हैं, क्योंकि सायण, उव्वट, महीधर, वेंकट-माधव आदि आचार्यों के अर्थ शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण (प्रातिशाख्य)-निरुक्त, छन्द, ज्योतिषशास्त्र, इन वेदाङ्गों से सम्मत हैं। इतिहास, पुराण, पूर्वोत्तर मीमांसा आदि सभी दर्शनशास्त्र और मन्वादि स्मृतिकार भी इन्हीं अर्थों का समर्थन करते हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् श्रीकरपात्र स्वामी महाराज ने 'वेदार्थ पारिजात' नामक वेदभाष्य भूमिका और वेदभाष्यरूप ग्रन्थ लिखा। इसमें जो वेद के अर्थ किये गये हैं, वे शिक्षा-कल्प-सूत्र-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिष-प्राति-शाख्य (वैदिक-व्याकरण), इतिहास, पुराण, मन्वादि स्मृतियों से पूर्णरूपेण समर्थित हैं ॥१३-१८½॥

इन सभी शास्त्रों का जिन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है और स्वामि चरणों के वेदार्थ पारिजात भाष्य को ❀ समझने में भी जो असमर्थ हैं, ऐसे कुछ लोग ग्रन्थ के खण्डन में प्रवृत्त हुए हैं, उनका खण्डन इसी से हो गया कि उन्हें किसी भी पूर्वाचार्य का समर्थन प्राप्त नहीं है, प्रत्युत सिद्धान्त सर्वाचार्य विरुद्ध है। फिर भी दुर्दैव की प्रेरणा से वे खण्डन करने का दुस्साहस कर रहे हैं, क्या वे यह नहीं जानते कि उनके खण्डन की 'मोदक-खण्डिका' हो जायगी।'

श्रीनिरञ्जन देवजी तीर्थ

❀ भाष्य भूमिका को

Abstract of Bhumika ; Written by Jagadguru Shankaracharyapad Goverdhan Math Puri Peethadhishwar Swami Shri Niranjan Devji Tirth Maharaj

PREFACE

I repeatedly offer my salutations to the VEDAS, the knowledge of Vedic treasury, various Vidyas, Brahma Vidya, Lord Ganesh, Goddess Saraswati and all my preceptors. I am placing before you the background of the commentary of my teacher for the pleasure of the learned. The first objective, aim and last fruit of the VEDA is attainment of liberation, which is in the form of realising the individual in the self. The second objective is attainment of mingling in devotion with God. Here numerous incarnations of God are also accepted. The sacred formula clearly states that God Vishnu traversed the universe. Thousands of such sacred mantras can be picked up and cited to establish that God has attributes and forms. The third objective of the veda is to indicate the activities in rituals. Without practicing the rituals, how can there be the purity of thought, mind and heart ? The VEDA instruct three disciplines viz. Ritual activity, meditation and knowledge. Through prescribed rituals, one obtains purity of mind and heart. By devotion, one acquires the concentration of mind and heart. Thereafter, by acquiring knowledge, one attains the liberation—such is the declaration of VEDAS. Such learned sages as Sayanacharya, Mahidhar and Uvvat have interpreted the VEDAS in this way. But the highest goal proclaimed by the VEDA is decidedly liberation. Acts like sacrifices (YAGNAS) have been praised by the learned but all such acts are only for the purity of mind and heart—that is the opinion of SRUTI AND SMRITI.

A VEDIC passage declares that the seekers of truth realise Brahman only after performing the sacrifices. The injunction for performance of the YAGNA,DAAN,tapa etc.is for the purpose of creating a desire for the knowledge of Brahman. This is so stated by learned ACHARYAS like SAYAN and others, Other annotators of VEDAS have not interpreted them in such a way as to make common man to underst and the same in consonance with ITIHAS (RAMAYANA AND MAHABHARAT) PURANAS and various SUTRAS, as also NIRUKTA, PRATISAKHYAS, VEDANGAS like SHIKSHA, VYAKARAN, etc. The meaning of the various rituals and VEDA is approved of by SMRITIKARS like MANU and others. Modern scholars like DAYANAND and others

as well as some Western scholars and several Indian scholars imitating those Westerners have interpreted Vedas in their own way. But my teacher has pointed out that their interpretation is not ordinarily understandable. Shri Karpatriji has, therefore, written his own Bhasya, where the complete coherent meaning of the Veda is properly pointed out. That meaning is in consonance with the Vedangas like Shiksha, Vyakaran, Nirukta etc and also sanctioned by Itihas and Puranas and accepted as completely true by ancient Acharyas, and Smritikaras like Manu and others. Swami Karpatriji's interpretation has thus the approval of these authorities. Those people who have no knowledge of all these Shastras and also have not studied the BHASYA of Karpatriji have come forward to refute his interpretation, but they are defeated merely by what is stated above and these dissidents have no reply to give. Their interpretation is neither in order, nor useful in any way. Do they not know that their cake of interpretation will be chewed over and made into pieces ?

प्रकाशकीय

★

अनन्त श्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय धर्मसम्राट् श्री स्वामी करपात्री जी महाराज ने वेद की भूमिका के रूप में 'वेदार्थ पारिजात' नामक ग्रन्थ लिखकर आस्तिक सनातनी जगत् को उपकृत किया है जिसका प्रकाशन संथान द्वारा दो भागो में विक्रम सम्वत् २०३३ और २०३७ में हो चुका है। जिसे वर्ष ८५ के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ के रूप में संस्कृत अकादमी उत्तर प्रदेश ने १००००० एक लक्ष मुद्रा प्रदान कर पुरस्कृत किया है और इसका सम्मान बढ़ाया है।

इस भूमिका के अनन्तर चारों वेदों का भाष्य लिखने का सङ्कल्प पूज्य श्री स्वामी जी महाराज का था जिसके अनुसार शुक्ल यजुर्वेद के चालीस अध्यायों का भाष्य पूरा कर ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का भाष्य भी महाराज जी ने लिख दिया किन्तु धार्मिक जगत् के दुर्भाग्य से असमय में ही अपने सभी कार्यकलापों का संवरण कर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त कर लिया। किन्तु ब्रह्मस्वरूप महाराज श्री की कृपा सदा ही जीवों पर बनी हुई है।

महाराज श्री के सान्निध्य में पहले ही यह निश्चय हो चुका था कि संस्थान द्वारा सर्व प्रथम पहले अध्याय के भाष्यका प्रकाशन हो। इसी के आधार पर महाराज श्री द्वारा लिखित मूल संस्कृत राष्ट्र भाषा हिन्दी में अनुवाद करने के लिए मीमांसा साहित्य वेदान्ताचार्य डॉ० पं० श्री गजानन जी मुसलगाँवकर जी को दे दिया गया था। किन्तु अपरिहार्य कई कारणों से वह अभी तक नहीं छप सका था।

वेद भगवान् की ही असीम अनुकम्पा से संस्थान के द्वारा विजय-दशमी के पावन पर्व पर सम्वत् २०४३ विक्रमीय में इस प्रथम अध्याय के भाष्य को मुद्रित कराकर प्रकाशित कर आपकी सेवा में उपस्थित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है।

इसके पश्चात् ईशोपनिषद नाम से प्रसिद्ध शुक्ल यजुर्वेद संहिता के ४० वें अध्याय का भाष्य भी शीघ्र ही हम प्रकाशित करने जा रहे हैं, जिसका हिन्दी अनुवाद विरक्त शिरोमणि अनेक शास्त्र पारङ्गत परम पूज्य स्वामी श्रीवामदेव जी महाराज की कृपा से सम्पन्न हुआ है। प्रकाशन सम्बन्धी अनेक कठिनाइयों के कारण ही इसके प्रकाशन में इतना विलम्ब हो रहा है।

आशा और विश्वास है कि पूज्य श्री स्वामीजी महाराज की इन अनुपम कृतियों से अपने अपने विश्वास और अधिकार के अनुसार सभी जनों को ऐहिक और आमुष्मिक अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि में अवश्य सफलता प्राप्त होगी।

इस भाष्य की भूमिका लेखक के रूप में तथा हिन्दी अनुवादक रूप में और समय समय पर उपयोगी उचित परामर्श दाता के रूप में तथा प्रूफ पुनरीक्षण कर्ता के रूप में, प्रेस कापी तैयार करने वाले के रूप में और अनुच्छेद साधक (पैराग्राफ) के रूप में तथा प्रकाशन सम्बन्धी सभी साजसज्जाओं

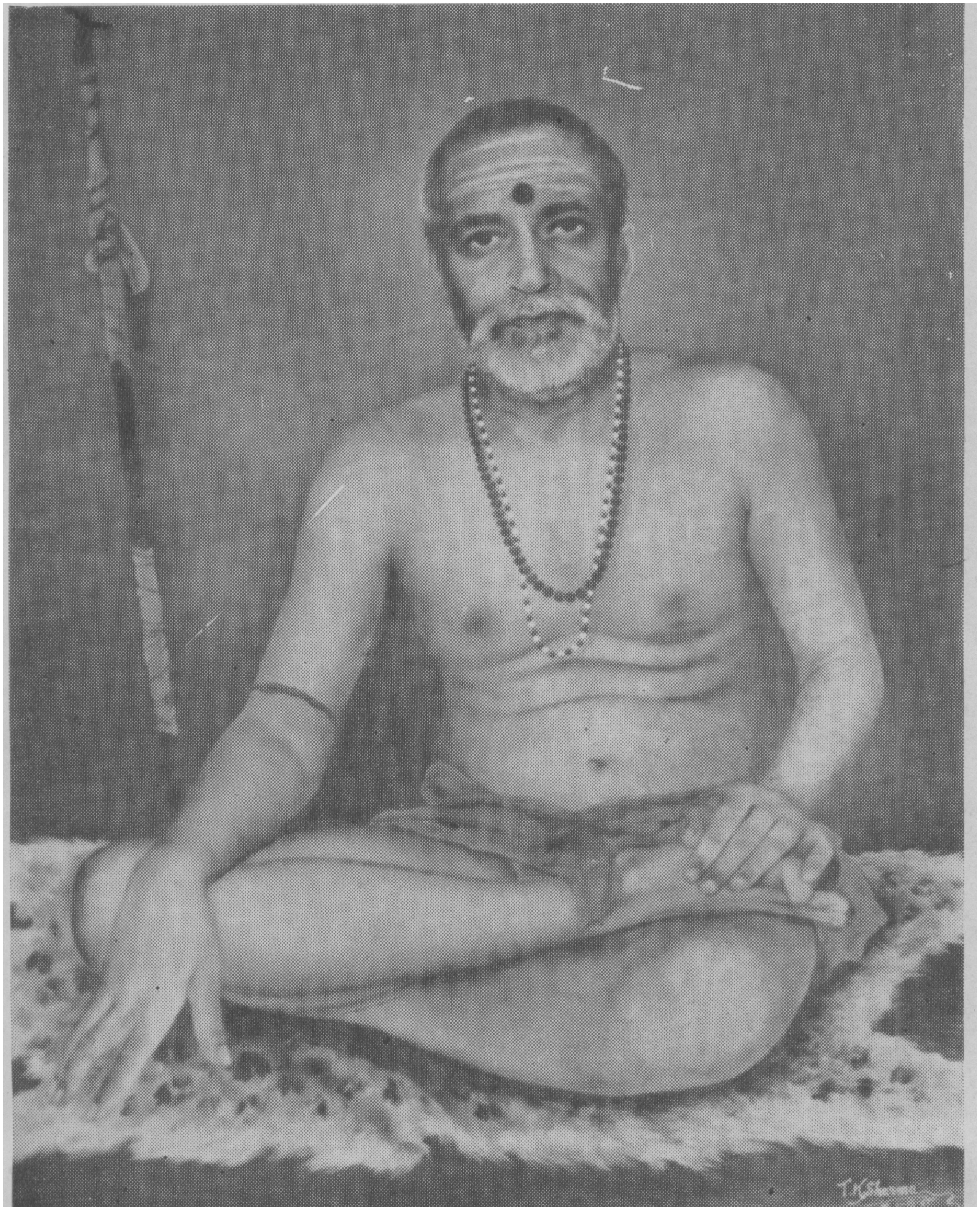

परब्रह्मस्वरूप

धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थ-रत्न को सब के सम्मुख प्रस्तुत करने वाले परम दयालु के रूप में जिन जिन महानुभावोंने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्यको सम्पन्न किया है, वे सभी हमारे परम सम्माननीय पूज्य आचार्य विद्वन्मूर्धन्य आत्मीय हैं।

इन सभी के चरणों में धन्यवाद और अभिनन्दन के स्वरूप नतमस्तक होकर सदा ही कृपा की आशा रखते हैं।

जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत हैं, वे हैं --

१. अनन्त श्री विभूषित श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य गोवर्धन पीठाधीश्वर श्री स्वामी निरञ्जनदेव जी तीर्थ महाराज (पुरी)
२. मीमांसा साहित्य वेदान्ताचार्य डॉ० पं० श्री गजानन जी मुसलगाँवकर (वाराणसी)
३. परम पूज्य श्री मार्कण्डेय जी ब्रह्मचारी (वाराणसी)
४. अनन्त श्री विभूषित स्वामी श्री निश्चलानन्द जी सरस्वती (वृन्दावन)
५. विरक्त शिरोमणि परम सन्त श्री स्वामी वामदेवजी महाराज (वृन्दावन)
६. आचार्य श्री वैद्यनाथ जी झा प्रधानाचार्य निम्बार्क संस्कृत महाविद्यालय (वृन्दावन)
७. श्रीराजवंशी द्विवेदी प्रधानाचार्य धर्मसङ्घ संस्कृत विद्यालय (वृन्दावन)

शेष में हम हरिनाम प्रेस और इसके सुयो य विद्वान् प्रबन्धक एवं सहृदय कर्मचारियों के भी स्नेहपूर्ण सौजन्य भरे मुद्रणादि कार्य के सहयोग तथा सम्पादन को स्मरण कर उन्हें बहुत बहुत धन्यवाद देते हैं।

हनुमान प्रसाद धानुका—अध्यक्ष
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान

॥ श्री हरिः ॥

श्रीमद् वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता
वेदार्थ पारिजाताख्य भाष्य-विभूषिता

प्रथमोऽध्यायः

दर्शपूर्णमासेष्टिविषया मन्त्राः*

विषय सूची

कण्डिका	पृष्ठम्
१-प्रथमा	१-६०
२-द्वितीया	६१-६४
३-तृतीया	६४-६६
४-चतुर्थी	६६-६९
५-पञ्चमी	६९-७१
६-षष्ठी	७२-७५
७-सप्तमी	७६-७९
८-अष्टमी	७९-८२
९-नवमी	८२-९७
१०-दशमी	९७-१०३
११-एकादशी	१०३-१११
१२-द्वादशी	१११-११४
१३-त्रयोदशी	११५-१२९
१४-चतुर्दशी	१३०-१३७
१५-पञ्चदशी	१३७-१४६
१६-षोड़सी	१४७-१६०
१७-सप्तदशी	१६०-१६९
१८-अष्टादशी	१६९-१७६
१९-एकोनविंशी	१७६-१८२
२०-विंशी	१८२-१९०
२१-एकविंशी	१९१-१९५
२२-द्वाविंशी	१९५-२०५
२३-त्रयोविंशी	२०५-२१३
२४-चतुर्विंशी	२१४-२१९
२५-पञ्चविंशी	२१९-२१७
२६-षड्विंशी	२२७-२३४
२७-सप्तविंशी	२३४-२४५
२८-अष्टाविंशी	२४५-२५७
२९-एकोनविंशी	२५७-२६२
३०-त्रिंशी	२६२-२७२
३१-एकत्रिंशी	२७२-शेष

* तत्राद्याध्याये द्वितीयाध्यायाष्टाविंशतिकण्डिकाश्चेति दर्शपूर्णमासमन्त्राः ।

● अनन्त श्री विभूषित श्री स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा लिखित वेदार्थ पारिजात ग्रन्थ को सन् १९८१ के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के रूप में उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी लखनऊ द्वारा एक लाख रुपये का विश्व-संस्कृत-भारती पुरस्कार—

उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादमी, लखनऊ

विश्व-संस्कृतभारती-पुरस्कारः

वै० २०३८ (१९८१) वर्षीयः

अनन्तश्री-विभूषितहरिहरानन्दसरस्वती-(स्वामिकरपात्र)

नाम्ने ब्रह्मलीनाय विदुषे संस्कृतभाषा-वाङ्मययोः महनीयसेवायाः व्यक्तित्वकृतित्वयोश्च सम्माने एकलक्षरूप्यकाणां संस्कृतभारतीपुरस्कारः सादरं समर्प्यते।

निदेशकः धर्म नारायणः अध्यक्षः करुणापति त्रिपाठी

● उत्तरप्रदेश के महामहिम राज्यपाल महोदय श्री मोहम्मद उस्मान आरिफ पुरस्कार प्रदान करते हुए। पास में मुख्यमन्त्री श्री नारायणदत्त तिवारी और शिक्षा मन्त्री तथा उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी के अध्यक्ष श्री करुणापति त्रिपाठी जी एवं एकलाख रुपये का पुरस्कार और ताम्रप्रमाणपत्र ग्रहण करते हुए पूज्य श्री स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा स्थापित श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान के अध्यक्ष श्री हनुमान प्रसाद धानुका।

वाजसनेयि – माध्यन्दिन

शुक्ल - यजुर्वेद - संहिता

करपात्र - भाष्य - समन्विता

●

॥ हरिः ॐ ॥

इषेत्त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा ऽ अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघश ँ सो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥१॥

अर्थ :

हे शाखे ! धान्य की उत्पत्ति के लिये मैं तुम्हें काटता हूँ, और वृष्टिरूपी रस के लिये तुम्हें एक सी बनाता हूँ-(ऊँचा-नीचापन छील-छालकर ठीक करता हूँ), हे वत्सों ! तुम अपनी माताओं से दूर हो जाओ। हे गौओं ! प्रेरक और प्रकाशमान परमेश्वर तुम्हें यज्ञकर्मोपयोगी बनने के लिये विपुलतृणयुक्त वन में जाने की प्रेरणा दे। हे अवध्य गौओं ! इन्द्र के उद्देश्य से तुम अपने दूध को वृद्धिगत करो। चोर तथा हिंसक व्याघ्रादि पशु तुम्हें मारने में समर्थ न हों। तुम विपुल सन्तति से युक्त बनो, एवं सामान्य व्याधिरहित और प्रबलरोग से भी रहित रहो। इस यजमान के घर दीर्घकाल तक बनी रहो। हे शाखे ! तू यजमान के पशुओं की रक्षा कर।

करपात्र भाष्यम्

ॐ स्वस्ति श्रीगणेशाय नमः। ॐ सरस्वत्यै नमः। ॐ वेदपुरुषाय नमः। सच्चिदानन्दरामाय प्रत्यगानन्द-रूपिणे। नमो वेदान्ततात्पर्यगोचराय परात्मने ॥१॥ नमः शिवाय शान्ताय त्रिपुरालिङ्गिताय च। प्रत्यक् चैतन्यरूपाय महते परमात्मने ॥ २ ॥ माध्यन्दिनीयमन्त्राणां व्याख्यां कुर्मः सनातनीम्। कुमतिध्वान्तविभ्रान्तिविध्वंसनपटीयसीम् ॥ यद्यप्युव्वटसायणमहीधराद्याचार्यै र्ब्राह्मणग्रन्थैः सूत्रैः पारम्पर्येण च मन्त्रा व्याख्याता एव तथापि नास्तिकैरर्धनास्तिकै र्भारतीयैः पाश्चात्त्यैश्च विविधदुस्तर्कानुत्थाप्य व्याकुली कृतो वेदार्थ इति तदपाकरणपूर्वकं वेदार्थवैशद्याय विशेषतः प्रयत्यते।

२—तत्रानाद्यविच्छिन्नपारम्पर्यप्राप्तो मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो नित्योऽपि सन् सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन विशिष्ट-कर्मोपासनादि संस्कृतमतिभिर्हिरण्यगर्भपरमेष्ठ्यादिभिः पूर्वकल्पीया वेदानुपूर्वी स्मर्यते दृश्यते च। 'तत एतं परमेष्ठी। प्राजापत्यो यज्ञमपश्यत् यद्दर्शपूर्णमासौ, (श० ११।१।६।१६) इत्यादि रीत्या दर्श पूर्णमासद्रव्यदेवतामन्त्रादि परमे-ष्ठिनादृष्टम्। तथा दध्यङ् ह वा आथर्वण एतं शुक्रमेतं यज्ञं विदां चकार (श० १४।१।१।१८) इत्यारभ्य 'तदुहाश्विनो-रनुश्रुतमास' (श० १४।१।१।२०) इत्यादिरीत्या प्रवर्ग्यमन्त्राणां दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिरिति गम्यते।

'प्रजापतिः प्रथमां चितिमपश्यत्' (श० ६।२।३।१०) इत्युपक्रम्य 'स यो हैतदेवं चितीनामार्षेयंवेद' (६।२।-३।१०) इत्यादिना फलं चोक्तम्। अत एव 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' (श० ११।५।६।३) इत्यनेन प्रतिमन्त्रम् ऋषिच्छन्दो-देवता विनियोगार्थज्ञानपूर्वकं स्वशाखाध्ययनं विहितम्।

यस्यास्यमश्वमुपलभ्य वचोऽधिदेवी सप्तस्वरानवसरेऽखिलकर्णपेयान्।
शश्वन्निनादयति तं यमिनामधीशं वागीशमेव 'करपात्रगुरु' नमामि ॥

गुरुभिः 'स्वामिचरणै' मन्त्रव्याख्या यथा कृता।
तामेव मनसा ध्यात्वाऽनूद्यते राष्ट्रभाषया ॥
गुणसम्पत्तिसिद्धयर्थं याचते गुर्वनुग्रहम्।
गुरुणानुगृहीतो हि विश्वस्तः 'श्रीगजाननः ॥

यद्यपि उव्वट, सायण, महीधर आदि आचार्यों ने ब्राह्मणग्रन्थ तथा सूत्रग्रन्थ एवं शिष्टपरम्परा प्राप्त अध्ययन के द्वारा मन्त्रों की व्याख्या पहिले ही कर दी है, अब पुनः नवीन व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। तथापि भारतीय तथा पाश्चात्य नास्तिकों और अर्धनास्तिकों ने विविध कुतर्कों को उपस्थित कर वेदार्थ को अव्यवस्थित कर दिया है। अतः उसका निराकरण करते हुए वेदार्थ के व्यवस्थित स्वरूप को विशदता के साथ प्रकट करने का विशेष प्रयत्न किया जा रहा है।

२—अनादि अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों के नित्य होते हुए भी सुप्त-प्रतिबुद्धन्याय से (निद्रा के बाद जगनेपर पूर्व से स्थित पदार्थों का स्मरण करने के समान) विशिष्ट कर्म, उपासना आदि के अनुष्ठान से निर्मल बुद्धिवाले हिरण्यगर्भादि के द्वारा पूर्वकल्प के वेदों की आनुपूर्वी का स्मरण तथा दर्शन किया जाता है। शत पथ ब्राह्मण बता रहा है कि 'दर्शपूर्णमासेष्टि (यज्ञ) को परमेष्ठी ने देखा।'—अर्थात् दर्शपूर्णमास के द्रव्य, देवता, मन्त्रादि को परमेष्ठी ने देखा। तथा 'दध्यङ् हवा' से 'तदुहाश्विनोः'—तक शत पथ ब्राह्मण के द्वारा प्रदर्शित 'प्रवर्ग्य-मन्त्रों' के द्रष्टा 'दध्यङ' आथर्वण ऋषि हैं—यह ज्ञात होता है।

'प्रजापतिः प्रथमां', से प्रारम्भ करके 'स यो हैतदेवं' इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के द्वारा फल भी बताया गया है। अतएव 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'—स्वाध्याय (अपनी वेदशाखा) का अध्ययन करना चाहिये—इस विधि के द्वारा प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग तथा अर्थज्ञान सहित स्वाध्याय के अध्ययन (अपनी वेदशाखा के अध्ययन) का विधान किया गया है।

३—योऽवा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति (आर्षे० बा० १।१।६) इत्यार्षेयब्राह्मणम् । 'एतान्यविदित्वा योऽधीते ऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म-निर्वीर्यं यातयामं भवत्यथान्तराश्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रवामीयते पापीयान् भवति' (अनुक्रम० १।१) इति कात्यायनोक्तेः। ऋष्यादिज्ञाने फलश्रवणाच्च 'अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते' (अनुक्रम० १ १)।

युगह्रासाच्छक्तिह्रासानुरोधेनाल्पायुषाल्पप्रज्ञजनानुजिघृक्षोर्या ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासश्चतुर्धा-विभज्य स्वशिष्येभ्यः पैलवैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादृग्यजुः सामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदानुपदिष्टवान् । ते च स्व-शिष्येभ्य उपदिष्टवन्तः। एवं परम्परया सहस्र शाखो वेदोजातः। स च प्रतिकल्पं प्रवर्तते। तत्र यजुर्वेदः कृष्णं शुक्ल मिति द्वेधा विभक्तः। तदुक्तम्—

४—सायणेन—कृष्णं शुक्लमिति द्वेधा तत्कृष्णं तैत्तिरीयकम्। वैशम्पायनशिष्येण याज्ञवल्क्येन यद्यजुः॥ अधीत्य वान्तमाचार्यकोपभीतेन योगिना॥ गुरुः शिष्यमुवाचेत्थं क्रुद्धः केनापिहेतुना॥ प्रत्यर्पय मदीयां त्वं विद्यामित्यर्पयत् स च। योगसामर्थ्यतो विद्यां मूर्तां कृत्वाऽवमत्तदा॥ गृह्णीत तद्यजुर्वान्तमित्यन्यान् गुरुरब्रवीत्। अन्ये तित्तिरयो-भूत्वा किञ्चित्तानप्यभक्षयन्॥ प्रवर्तितः खण्डशस्तैर्नसम्यग्गम्यते नृभिः। आध्वर्यवं क्वचिद् धौत्रंक्वचिदित्यव्यवस्थया॥

३—"जो व्यक्ति ऋषि, छन्द, देवता, ब्राह्मण को न जानकर केवल मन्त्र से यजन कराता है अथवा अध्यापन करता है, वह स्थाणुत्व को प्राप्त होता है, अथवा गर्त में गिरता है"—यह 'आर्षेय ब्राह्मण' का वचन है। महर्षि कात्यायन ने भी अनुक्रमणिका में कहा है कि "इनको जाने बिना जो अध्ययन करता है, या अध्यापन करता है, जप करता है, होम करता है, यज्ञ करता है, अथवा यज्ञ कराता है, उसका वेद (ब्रह्म) निर्वीर्य, यातयाम (पर्युषित) हो जाता है। जीवन के अनन्तर वह अधम श्वयोनि (श्वगर्त) में जाता है, अथवा स्थाणु हो जाता है, मृत्यु को प्राप्त होता है, वह पापों से युक्त (पापी) हो जाता है।" ऋषि आदि के ज्ञान में यह फल श्रुत है कि "इनका ज्ञान प्राप्त करके जो अध्ययन करता है, उसका ज्ञान, वीर्यवत् (सवीर्य) होता है, जो अर्थज्ञान रखता है, उसका ज्ञान वीर्यवत्तर होता है। वह जप, यज्ञ, हवन करके उनके वेदोपदिष्ट फलों से लाभान्वित होता है।

युग के ह्रास से शक्ति का ह्रास देखकर अल्प आयुवाले तथा अल्प प्रज्ञावाले जनसमूह पर अनुग्रह (कृपा) करने की इच्छा से ब्रह्म परम्परा प्राप्त वेदों का वेदव्यास ने चार विभाग करके अपने शिष्य पैल, वैशम्पायन, जैमिनि, और सुमन्त को क्रम से ऋक्, यजु, साम और अथर्व संज्ञक वेदों का उपदेश किया। उन्होंने अपने शिष्यों को उपदेश किया। इस परम्परा से वह वेद सहस्र शाखाओं से सम्पन्न हो गया। यही क्रम प्रत्येक कल्प में प्रवृत्त होता है। उनमें से 'यजुर्वेद' शुक्ल और कृष्ण रूप से दो भागों में बँट (विभक्त हो) गया। इसी अभिप्राय से—

४—सायण ने कहा कि—"यजुर्वेद कृष्ण और शुक्ल दो प्रकार का है, 'कृष्ण' तैत्तिरीयक हैं, जिसे वैशम्पायन के शिष्य योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने अध्ययन के अनन्तर आचार्य के कोप के भय से वमन कर दिया। एक समय किसी कारण गुरु ने शिष्य से कहा कि 'मेरी दी हुई विद्या तू मुझे वापस कर।' उस पर शिष्य ने ग्रहण की हुई गुरु की विद्या को अपनी योगशक्ति से मूर्त रूप देकर उसका वमन कर दिया। तब गुरु ने अपने अन्य शिष्यों से कहा कि—'इस वान्त यजुर्वेद का तुम लोग ग्रहण करो।' गुरु की आज्ञा पाकर उन शिष्यों ने तीतर पक्षियों का रूप धारण करके अङ्गारों के रूप में स्थित उस वान्त यजुर्वेद का कुछ अंश भक्षण किया। तदनन्तर उन्होंने उस यजुर्वेद का खण्डशः प्रवर्तन किया। किन्तु मनुष्यों के द्वारा उसका सम्यक् अवगमन नहीं हो पाता है, क्योंकि उस में कहीं 'आध्वर्यव' (अध्वर्यु के द्वारा प्रयोक्तव्य) तो कहीं 'हौत्र' (होता के द्वारा प्रयोक्तव्य) है। इस प्रकार की अव्यवस्था के कारण तथा बुद्धि की मलि-नता के कारण उस 'यजुर्वेद' को 'कृष्ण' कहा जाता है। तदनन्तर योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने भगवान् सूर्यनारायण की

बुद्धिमालिन्यहेतुत्वात्-यजुः कृष्णमितीर्यते। याज्ञवल्क्यस्ततः सूर्यमाराध्यास्मादधीतवान् ॥ व्यवस्थितप्रकरणं यजुः शुक्लं तदीर्यते। पौराणिकीं कथामेतां वेदव्याख्यान आदरात् ॥ आदिशन् मह्यमाचार्याः श्रुतावपि मयाश्रुतम्। काण्ववेदगते विद्या वंश ब्राह्मण ईर्यते ॥

५—यजूंषि शुक्लान्यादित्यात् मुनिः प्रापेत्यपि स्फुटम्। 'इति काण्वसंहिताभाष्य उपोद्घाते।

५।१—"अथवंशः पौतिमाषी पुत्रः कात्यायनीपुत्राद्' इत्यारम्य 'परमेष्ठी ब्राह्मणो ब्रह्मस्वयम्भु ब्रह्मणे नमः" इत्यन्तं काण्ववेदस्यान्तिमं ब्राह्मणम्। पौतिमाषी पुत्रः कश्चिद् वेद सम्प्रदाय प्रवर्तकोमुनिर्द्विजातीनां मनुष्याणामुपदेष्टा। स च कात्यायनी पुत्राद्वेदमधीतवान्। परमेष्ठिशब्देन सत्यलोकवर्ती चतुर्मुखोऽभिप्रेयते। ब्रह्मशब्देन प्रज्ञानंब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, त्येवमादि लक्षण लक्षित मनन्तशक्ति ब्रह्मोच्यते। स एव स्वयम्भु प्रोच्यते—'न तस्य कार्यं करणं। च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्यशक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च ॥' (श्वेता० उ० ६।८) "कश्चिन्न तस्याः पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव तस्याश्च लिङ्गम्।" (गुहाकाली उप०६८) इत्यादि। श्रुतिभ्यः।

५।२—तस्मै ब्रह्मणे नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। ब्रह्म प्रह्वीभावलक्षणाया व्यक्तेः परम पुरुषार्थहेतुत्वम्। 'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' (श्वेता० उ० ६।२३) इतिश्रुतेः। तत्र काण्वशाखागते वंश ब्राह्मणे 'आदित्यानीमानि शुक्लानियजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' (बृ० उ० ५।५-३३) इति बृहदारण्यके। आदित्येनाध्यापितत्वात् आदित्यानीत्युच्यन्ते। वाजमन्नं 'अन्नं वैवाज' (श० ५।१।४।३) इतिश्रुतेः। वाजस्य सनिर्दानं यस्य महर्षेरस्ति सोऽयं वाजसनिस्तस्यापत्यं वाजसनेयः स एव याज्ञवल्क्यः। तेन याज्ञवल्क्येनै तानि शुक्लयजूंषि पञ्चदशमहर्षिभ्यः कण्व, मध्यन्दिन, शापेय, स्वापायनीय, कापाल, पौण्ड्रवत्स, आवटिक, परमावठिक, पाराशर्य, वैधेय, वैनेय, औधेय, गालव, वैजव, कात्यायनीय संज्ञेभ्यः पञ्चदशभ्यः शिष्येभ्यः प्रत्तानि।

आराधना करके सुव्यवस्थित प्रकरणों से युक्त यजुर्वेद का उनसे अध्ययन किया। इस यजुर्वेद को 'शुक्ल यजु' कहा जाता है। आचार्यों ने वेद का व्याख्यान करते समय बड़े आदर के साथ इस पुराण-प्रसिद्ध कथा को मुझे सुनाया था। श्रुति में भी मैंने इस कथा को सुना है। यजुर्वेद की काण्वशाखा के अन्तर्गत 'विद्यावंश ब्राह्मण' है,—

५— जिस में बताया है कि "शक्ल यजु, आदित्य से प्राप्त हुए हैं।" यह उल्लेख काण्वसंहिता भाष्य के उपोद्घात में किया गया है।

५।१—"अथवंशः" से लेकर 'परमेष्ठी ब्रह्मणः" तक काण्वशाखा का अन्तिम ब्राह्मण है। इसमें उल्लिखित 'पौतिमाषी पुत्र', जो वेद सम्प्रदाय का प्रवर्तक एक मुनि था। वही द्विजन्मा मानवों का उपदेशक था। उसने 'कात्यायनीपुत्र' से वेद का अध्ययन किया था। 'परमेष्ठी' शब्द का अभिप्राय सत्यलोकस्थित 'चतुर्मुख' से है। 'ब्रह्म' शब्द से "प्रज्ञानंब्रह्म"—प्रज्ञान ब्रह्म है—और "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म"—सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप ब्रह्म है—इत्यादि महावाक्यों से निर्दिष्ट अनन्त शक्तिमय 'ब्रह्म' कहा गया है। उसी को 'स्वयम्भू' कहा गया है उसका कार्य तथा करण नहीं है। उसके समान और उससे अधिक भी कोई दिखाई नहीं देता। उसकी 'पराशक्ति' नाना प्रकार की सुनी जाती है, और वह ज्ञानक्रिया तथा बलक्रिया स्वाभाविक है।—(श्वे० उ० ६।८) "लोक में उसका कोई पति नहीं है, और न कोई उसका ईशिता (नियम न करने वाला) है। उसका कोई लिङ्ग (पहिचान) नहीं है" इत्यादि।

५।२—श्रुतियों के द्वारा उस स्वयम्भू का वर्णन किया गया है। उस ब्रह्म के प्रति हमारा प्रणाम रहे। ब्रह्म के प्रति वह प्रणाम पुरुषार्थ का कारण होता है। भगवती श्रुति कह रही है—'जो देवभक्त और गुरुभक्त हो, उसी महात्मा के हृदय में ये शास्त्र प्रतिपादित अर्थ (रहस्य) प्रकाशित होते हैं—(श्वे० उ० ६।२३)। काण्वशाखान्तर्गत वंशब्राह्मण में कहा गया है कि "भगवान् आदित्य (सूर्य) से आविर्भूत हुए थे 'शुक्ल यजु', वाजसनेय योगीश्वर याज्ञवल्क्य के द्वारा कहे गये हैं—(बृ० उ० ५।५।३३)। आदित्य के द्वारा इनका अध्यापन किया गया, इसलिये इनको (यजु को) आदित्य कहा गया है। "अन्नं वै वाजः" इस श्रुति के अनुसार 'अन्न' की संज्ञा 'वाज' है। जिस महर्षि ने 'अन्न' का

तत्र माध्यन्दिनेन महर्षिणा लब्धो यजुर्वेदशाखाविशेषो माध्यन्दिनः। यद्यप्यमुना मुनिना बहुभ्यः शिष्येभ्य उपदिष्ट स्तथापीश्वरानुग्रहेण तत्राभ्यासातिशयात् पाटवातिशयाच्च मध्यन्दिनसम्बन्धितया समाख्यायते। तं माध्यन्दिनं वेदमधीयते विदन्ति वा ये ते ऽपि शिष्यपरम्परया माध्यन्दिना उच्यन्ते।

६—यद्यपि कृष्णशुक्लयजुःसम्बद्धसर्वास्वपि शाखासु आध्वर्यव एव प्रयोगः प्रतिपाद्यते, तथापि मन्त्रविशेषैः प्रयोगविशेषैर्महान्भेदः। स चानुष्ठातृभेदेन व्यवस्थितविषयत्वान्न विकल्प्यते। अनुष्ठानविशेषायैव 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (श० ११।५।६।३) इति स्वशाखाध्ययनं विहितम्। अधीयत इत्यध्यायो वेदः, स्वश्चासावध्यायः स्वशाखीयो वेदस्तदुपलक्षितः समस्तवेदराशिर्वाध्येतव्य इत्यर्थः।

ननु तत्र भोजननिद्रादिषु दृष्टार्थेषु वैदिकविध्यदर्शनात् वेदेन विहितस्याध्ययनस्य सन्ध्यावन्दनादिवदृष्टार्थत्वं युक्तम्। न च 'आयुष्टोमेनातिरात्रेण स्वर्गकामो यजेत' (ला० म० ब्रा० २०।७।१) त्यादिष्विवैतत्कामोऽधीयीतेत्येवमदृष्टफलविशेषो न श्रूयत इति वाच्यम्,

७—यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति, यद्यजूंषि घृतकुल्याः,

---

दान किया, उसे 'वाजसनि'—कहा गया, और उसका अपत्य 'वाजसनेय' कहलाया। वही 'याज्ञवल्क्य' है। उस याज्ञवल्क्य ने 'कण्व, माध्यन्दिन, शापेय, स्वापायनीय, कापाल, पौण्ड्रवत्स, आवटिक, परमावटिक पाराशर्य वैधेय, वैनेय, औधेय, गालव, वैजव, कात्यायनीय नाम के अपने पन्द्रह महर्षि शिष्यों को उस शुक्ल यजुर्वेद का प्रदान किया। उन में से माध्यन्दिन महर्षि के द्वारा प्राप्त किये यजुर्वेद शाखा विशेष को 'माध्यन्दिन' कहा जाने लगा। यद्यपि याज्ञवल्क्य मुनि ने इस शाखा का उपदेश (अध्यापन) अनेक शिष्यों को किया था, तथापि परमेश्वरानुग्रह, विशेष अभ्यास और विशेष पटुता के कारण यह 'शाखा' उस माध्यन्दिन महर्षि के नाम से ही प्रसिद्ध हो गई। तथा उस शाखा के अध्ययन करनेवाले भी शिष्य परम्परया, 'माध्यन्दिन' कहे जाने लगे।

६—यद्यपि कृष्ण और शुक्ल यजु से सम्बद्ध सभी शाखाओं में अध्वर्यु के द्वारा ही प्रयुक्त प्रयोग प्रतिपादित होता है, तथापि विशेष मन्त्रों तथा विशेष प्रयोगों के कारण उनमें बहुत भिन्नता भी रहती है। वह भिन्नता भिन्न-भिन्न अनुष्ठान कर्ताओं के लिये नियत होने से व्यवस्थित है, अतएव वहाँ विकल्प नहीं किया जाता। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययन विधि उस अनुष्ठान विशेष के बोधनार्थ ही स्व-शाखा के अध्ययन का विधान करती है। 'अधीयतेइति अध्यायः'—जिसका अध्ययन किया जाता है, उसे 'अध्याय' अर्थात् 'वेद' कहते हैं। और 'स्वश्चासौ अध्यायः स्वाध्यायः'—यह कर्मधारय समास किया जाता है। यहाँ 'स्व' शब्द का अर्थ 'आत्मीय' है। तब 'आत्मीय जो अध्याय अर्थात् स्व-कुल परम्परागत जो वेदशाखा हो, उसे 'स्वाऽध्याय' शब्द से कहा गया है। उस वेदशाखा से उपलक्षित वेदराशि का भी अध्ययन किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि सर्व प्रथम अपनी वेदशाखा का अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् यदि सामर्थ्य हो तो सम्पूर्ण 'वेदराशि' का भी अध्ययन किया जा सकता है।

शंका—भोजन, निद्रा आदि प्रत्यक्ष फलवाले कर्मों के लिये वैदिक विधि तो नहीं दिखाई देती, किन्तु वेदविहित अध्ययन की विधि उपलब्ध होती है, अतः वेदाध्ययन को सन्ध्यावन्दनादि कर्मों के समान अदृष्टार्थ (पुण्य के लिये) मानना ही उचित होगा।

समा०—यह शङ्का उचित नहीं है कि 'स्वर्ग कामनावान् पुरुष आयुष्टोम नामक अतिरात्रयाग करे' इत्यादि विधियों के समान अमुककामनावाला अध्ययन करे—इस प्रकार अध्ययन कर्म का कोई अदृष्ट फल विशेष श्रुत नहीं है,

७—क्योंकि शतपथ श्रुतिमें 'ब्रह्मयज्ञ'का फल बताया गया है—"ऋग्वेदके अध्ययन करनेवालेके पितरोंको अर्पित की गई

यत्सामनि सोम एभ्यः पवते, यदथर्वाङ्गिरसोर्मधोः कुल्येति । इति ब्रह्मयज्ञफलस्याध्ययनेऽप्यतिदेष्टुं शक्यत्वात् । नचेदृशोऽस्ति देशोऽदृष्टचर इतिवाच्यम्, 'हानौ तूपायनशब्दशेषत्वा' (ब्र० सू० ३।३।२६) दिति ब्रह्मसूत्रे तस्य दृष्टत्वात् । तथाहि शाट्यायनिनः कौषीतकिनश्च ब्रह्मविदा परित्यक्तयोः सुकृतदुष्कृतयोरितरैरनुकूलैः प्रतिकूलैश्च स्वीकारमिष्टमामनन्ति । 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति, सुहृदः साधुकृत्याम्, द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति शाट्यायनिनः । 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते, तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रियाः दुष्कृतम्' (कौ० १।४) । एवं क्वचित्सुकृतदुष्कृतयोर्हानिमेव श्रूयते—यथा 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।' (मुण्डकोप० ३।२।८) इति । यत्र हानमुपायनञ्च श्रूयते तत्र न किञ्चिद् वक्तव्यम् ।

८—यत्राप्युपायनं श्रूयते न हानं तत्राप्यर्थादेव हानं सन्निपतति यत्र तु हानमेव श्रूयते नोपायनं तत्रोपायनं सन्निपतेद्वा नवेति विचिकित्सायामश्रवणादसन्निपात इति प्राप्ते सिद्धान्तितम् केवलायां हानावपि उपायनं सन्निपतति, तच्छेषत्वात् । कौषीतकिरहस्ये हानशब्दशेषोह्यु पायन शब्दः समधिगतः । तस्मादन्यत्र केवलहानिशब्द श्रवणेऽपि उपायनानुवृत्तिर्युक्ता । यदुक्तम्-प्रकृतेऽश्रवणाच्छाखान्तरे श्रवणस्य विद्यान्तरगोचरत्वात् अनावश्यकत्वाच्च न सन्निपात इति, तन्न, असामञ्जस्यात् । तथाहि-भवेदेषा व्यवस्थोक्ति र्यद्यनुष्ठेयं किञ्चिदन्यत्र श्रुतमन्यत्र

स्वधा, 'पय-कुल्या देती है, यजुर्वेद के अध्येता के पितरों को 'घृत-कुल्या', और सामवेद के अध्येता के पितरों को 'सोम' तथा आङ्गिरस अथर्ववेद के अध्येता के पितरों को 'मधुकुल्या' उपलब्ध होती है ।' ब्रह्मयज्ञ के इस फल का 'अध्ययन-कर्म में अतिदेश किया जा सकता है । यदि यह कहें कि ऐसा अतिदेश ही तो कहीं देखा नहीं गया है, तो यह कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि "हानौ तूपायनशब्दत्वात्"—इस ब्रह्मसूत्र में ऐसा अतिदेश देखा जाता है । वहाँ का प्रसङ्ग इस प्रकार है—"शाट्यायनी शाखीय तथा कौषीतकी शाखीय ब्रह्मवेत्ता ऋषिगणों के द्वारा परित्यक्त पाप-पुण्यों का अनुकूल-प्रतिकूल रहनेवाले अन्य लोगों के द्वारा स्वीकार करना इष्ट मानते हैं । शाट्यायनियों का कहना है कि "उसके (ब्रह्मवेत्ता के) पुत्र दाय' ग्रहण करते हैं, मित्रगण 'साधुकृत्यों' का तथा शत्रुगण 'पापकृत्यों को ग्रहण करते हैं ।' "उसके सुकृतों और दुष्कृतों में 'प्रिय-सम्बन्धी लोग सुकृतों को तथा उसके अप्रिय लोग 'दुष्कृतों' को प्राप्त करते हैं ।" मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मज्ञानी के सुकृतों और दुष्कृतों की हानि होती है, ऐसा सुना गया है—"विद्वान् (ब्रह्मवेत्ता) 'नाम और 'रूप' से छूटकर दिव्य परात्पर पुरुष को प्राप्त होता है ।" जहाँ हानि और उपायन दोनों ही सुने जाते हैं वहाँ तो कुछ कहना नहीं है,

८—परन्तु जहाँ केवल 'उपायन' सुना जाता है हान' का श्रवण नहीं है, वहाँ भी 'हान' की उपस्थिति अर्थात् हो ही जाती है । परन्तु जहाँ केवल 'हान' तो सुना गया है, और 'उपायन' नहीं, तब सन्देह हो जाने पर 'उपायन' का श्रवण न होने से उसकी उपस्थिति नहीं होगी'—इस पूर्वपक्ष के उपस्थित होनेपर, सिद्धान्त पक्ष कहता है कि 'केवल 'हान' के श्रवण में भी उसका शेष (पूरक) होने के कारण 'उपायन उपस्थित हो जाता है । कौषीतकी रहस्य में 'हान' शब्द का शेष 'उपायन' शब्द उपलब्ध होता है । अतः अन्य स्थलों में भी केवल 'हान' शब्द के श्रुत होने पर भी 'उपायन' की अनुवृति कर लेना उचित ही होगा ।

अनुवृत्ति के न माननेवाले ने जो यह कहा था कि 'जिसका प्रकृत सन्दर्भ में श्रवण नहीं हुआ है किन्तु अन्य शाखा में श्रुत होने के कारण जिसका सम्बन्ध अन्य विद्या से है । उस कारण तथा अनावश्यक होने से भी उस शब्द का सन्निपात (अनुवृत्ति, उपस्थिति) यहाँ पर नहीं होता है, किन्तु यह पक्ष समञ्जस नहीं है । यह व्यवस्था तो तब संगत होती, जब अन्यत्र विहित किसी अनुष्ठेय कार्य का अन्यत्र उपस्थापन किया जाता है । इनका कथन तो विद्या की प्रशंसा के लिये हुआ है । 'विद्या इतनी प्रभावशालिनी है कि जिसके सामर्थ्य से संसार के (जन्म-मरणाऽविच्छेदके) मूलकारणभूत सुकृत और दुष्कृत दूर हो जाते हैं । वे उस पुरुष के मित्र और शत्रुओं में प्रवेश कर जाते हैं'—इस प्रकार

निर्नीष्येत, विद्यास्तुत्यर्थं त्वनयोः कीर्तनम्। इत्थं महाभागाविद्या यत्सामर्थ्यादस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते संसारकारणभूते विधूयेते। ते चास्य सुहृद्दुर्हृत्सु निविशेते इति स्तुत्यर्थे चास्मिन् कीर्तने हानान्तरभावित्वेनोपायनस्य क्वचिच्छ्रुतत्वात्

अन्यत्रापि हानश्रुतावुपायनानुवृत्तिं मन्यते स्तुतिप्रकर्षलाभात्, तद्वदेव घृतकुल्यादिफलादेशोऽपि सम्भवत्येव।

९—अथवा विश्वजिन्न्यायेन ग्रहणाध्ययनफलत्वेन कल्पनीयः 'स स्वर्गः सर्वान्प्रत्यविशेषत्वात्' (मी० सू० ४।३।१५) इतिवदितिचेन्न, सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकत्वस्यान्याय्यत्वात्। अन्यथा 'व्रीहीनवहन्ती'। त्यत्रापि तण्डुलनिष्पत्ति-लक्षणं दृष्टफलं बहुप्रयाससाध्यत्वात् उपेक्ष्य सकृन्मुसलप्रहाररूपं प्रयासरहितमवघातमदृष्टार्थमनुतिष्ठेत्। तथा सति शास्त्रीयतण्डुलाभावेन पुरोडाशासिद्धो यागविधयो बाध्येरन्। तस्माद्दृष्टफलसम्भवे तदेवादरणीयम्। अत्र चाक्षर-प्राप्तिरूपं दृष्टं फलं सम्भवत्येव।

१०—नन्वक्षरप्राप्तिरूपं दृष्टं फलं गुरुपूर्वकाध्ययनव्यतिरेकेण लिखितपाठेनापि लभ्यते, आयुर्वेदादिमन्त्र-पाठेषु तथादर्शनात्। तथा सति किमनेन विधिनेति चेत् उच्यते, नियमादृष्टार्थस्य विधेरावश्यकत्वात्। यथा तण्डुल निष्पत्तिरूपस्य दृष्टफलस्य नखविदलनादिनापि सिद्धौ नियमादृष्टार्थोऽवघातविधिस्तद्वत्। तस्मादक्षरप्राप्तिफलको-ऽध्ययनविधिः।

का यह कथन स्तुति के प्रयोजन से युक्त है। यहाँ पर प्रकरणान्तर में किसी अन्य 'हान' (त्याग) के अनन्तर जो 'उपायन' (प्राप्ति को सुना गया है, उसी तरह अन्यत्र भी 'हान' के श्रुत होने पर 'उपायन' की अनुवृत्ति को स्तुति प्रकर्ष की प्राप्ति के लिये जैसे माना जाता है उसी तरह घृतकुल्यादि फल कथन के सम्बन्ध में भी सम्भव हो सकता है।

९— अथवा 'विश्वजित्' न्याय से अर्थात् 'विश्वजिता यजेत' इस श्रुतिवाक्य में किसी प्रकार का फल श्रुत नहीं है, और फल के बिना कोई भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। अतः 'विश्वजित्' याग का फल, सर्वाभिलषित 'स्वर्ग' ही माना गया है, उसी तरह वेदग्रहणाध्यन का भी फल 'स्वर्ग' है यह मान लिया जाय। किन्तु पूर्व पक्षी का इस प्रकार कहना उचित नहीं है, क्योंकि 'दृष्ट' (प्रत्यक्ष) फल के संभव रहते 'अदृष्ट' (अप्रत्यक्ष) फल की कल्पना करना अनुचित है। अन्यथा 'व्रीहीन् अवहन्ति'—यहाँ पर भी अवहनन-विधि का तण्डुल प्राप्तिरूप दृष्टफल नहीं मानना होगा, क्योंकि वह बहुत प्रयास से साध्य है। अतः उसकी उपेक्षा करके अदृष्ट फल की इच्छा से एक बार मुसल प्रहार-रूप परिश्रम से रहित अनुष्ठान करना चाहिये, किन्तु वैसा करने पर शास्त्रनिर्दिष्ट तण्डुलों के अभाव से पुरोडाश की अनुपलब्धि में याग की विधियों का बाध होगा। अतः दृष्ट फल की संभावना होने पर उसी का आदर करना उचित होता है। यहाँ (अध्ययन का) अक्षर ग्रहण (अक्षर प्राप्ति) रूप फल है ही। अतः स्वाध्याय विधि का अक्षर ग्रहण रूप दृष्ट फल ही मानना चाहिये।

१०—इसपर कोई ऐसी शङ्का कर सकता है कि--अध्ययन का अक्षरप्राप्तिरूप प्रत्यक्षफल गुरुमुख से अध्ययन किये बिना लिखित पाठ को स्वयं पढ़कर भी हो सकता है। आयुर्वेद के मन्त्रों के पाठ में ऐसा देखा भी जाता है। इस प्रकार स्वतः ही अध्ययन के सम्भव हो जाने पर उस विधि की क्या उपयोगिता शेष रह जाती है? इस शङ्का का समाधान इस प्रकार होगा कि नियम के अदृष्ट के लिये 'नियमविधि' का होना आवश्यक है। जैसे तण्डुलों की निष्पत्ति रूप दृष्ट फल की उपलब्धि तो नखों के द्वारा व्रीहि के विदलित किये जाने पर भी हो जायगी परन्तु 'अवघात से ही तण्डुल निष्पत्ति करनी चाहिये नखविदलनादि से नहीं'—इस नियम के पालन से जो अदृष्ट होता है, उसके लिये जिस प्रकार अवघातविधि ही आवश्यक है, उसी प्रकार अक्षरग्रहणरूप दृष्ट फल के स्वतः पठन से होने पर भी? नियम-जन्य अदृष्ट की उपलब्धि के लिये यथा - निर्दिष्ट गुरुमुख से अध्ययन करना आवश्यक है। अतः अध्ययन विधि का 'स्वर्गरूप अदृष्ट फल न होकर 'अक्षरप्राप्तिरूप दृष्ट फल' ही है।

यदुक्तमर्थावबोधपर्यवसायित्वमेवास्य विधेरक्षरप्राप्तिमात्रेणफलासिद्धेः, यद्यपि विहितस्वाध्यायाध्ययनमात्रादर्थावबोधो न दृष्टस्तथापि निगमनिरुक्तव्याकरणादिवेदाङ्गपरिशीलनाद् भवत्येवार्थबोध' इति, तदपि न युक्तम्-विकल्पासहत्वात् ।

११-तथाहि किमर्थावबोधः स्वयमेव स्वर्गादिवत् पुरुषार्थः,अग्निहोत्राद्यनुष्ठान द्वारा वा? नाद्यः, अनुष्ठानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, अर्थावबोधस्यानुष्ठानहेतोः परम्परयैव पुरुषार्थहेतुत्वात् अर्थावबोधहेतुभूताया अक्षरप्राप्तेरपि परम्परयैव पुरुषार्थहेतुत्वात्, विधेरक्षरप्राप्तावेव पर्यवसानात् । किञ्चानुष्ठानद्वारा स्वर्गफलोपेतेऽर्थावबोधे विधिपर्यवसानं वदतः कृत्स्नवेदाध्ययनं न सिद्धयति, राजसूयाश्वमेधादावनधिकारिणो ब्राह्मणस्य तत्फलत्वपर्यन्तार्थावबोधासम्भवात् । अक्षर प्राप्तिफलवादिनस्तु कृत्स्नवेदाध्ययनं सिद्धयति । ब्रह्मयज्ञे जपहेतुत्वात् ब्राह्मणोऽपि राजसूयाश्वमेधादिवेदभागे ब्रह्मयज्ञं जपं करोत्येव ।

१२—न चैवं कथमर्थावबोधसिद्धिरिति वाच्यम्, काव्यनाटकादिग्रन्थेषु वैदिकविधिमन्तरापि यथार्थबोधस्तथैव वेदेऽपि सम्भवात् । न च विध्यर्थाभावेऽर्थावबोधप्रयुक्तमदृष्टं किञ्चिदपि न सिद्धयतीति वाच्यम्, अर्थावबोधस्याध्ययनविधिप्रयुक्तत्वभावेऽपि 'ब्राह्मणेन निष्कारणोधर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे (म० भा० पस्पशाह्निक) ति विध्यन्तरप्रयुक्तत्वसम्भवात् । 'योऽर्थज्ञ इत्सकलंभद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मे, (शा० आ० १४।२) ति च विधिरस्ति तत्र तत्र, तस्मादध्ययनविधिरक्षरप्राप्तिपर्यवसायी । अर्थावबोधस्तु विध्यन्तरप्रयुक्तः ।

पूर्वपक्षीके द्वारा यह जो कहा जाता है कि 'अध्ययन विधि' का पर्यवसान 'अर्थज्ञान' में ही होता है । क्योंकि केवल अक्षरप्राप्तिमात्र से फल की सिद्धि नहीं हो सकती । यद्यपि 'अर्थज्ञान' भी केवल स्वाध्याय के अध्ययनमात्र से ही नहीं हो सकता तो निगम, निरुक्त, व्याकरण आदि वेदाङ्गों का परिशीलन करने पर अर्थज्ञान हो ही जाता है ।' किन्तु पूर्वपक्षी का यह आक्षेप, प्रश्नों के विविध विकल्पों के सामने टिक नहीं सकेगा ।

११—प्रथम प्रश्न तो यही है कि 'क्या अर्थज्ञान स्वर्ग आदि के समान स्वयं ही पुरुषार्थ है ? अथवा अग्निहोत्र आदि के अनुष्ठान के द्वारा अर्थज्ञान में पुरुषार्थता आती है ? यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार करोगे तो 'अनुष्ठान' की व्यर्थता होगी । यदि द्वितीय पक्ष को स्वीकार करोगे तो अनुष्ठान के हेतुभूत अर्थावबोध (अर्थज्ञान) में परम्परया जैसी पुरुषार्थ हेतुता रहती है, वैसी ही अर्थावबोध से हेतुभूत अक्षरप्राप्ति में भी परम्परया ही पुरुषार्थ हेतुता है इसलिये विधि का पर्यवसान अक्षरप्राप्ति में ही हो रहा है । अतः द्वितीय पक्ष भी तुम्हारे लिये ठीक नहीं है ।

किञ्च—अनुष्ठान द्वारा स्वर्गफल (अदृष्टफल) वाले अर्थावबोध में विधि का पर्यवसान मानने वाले तुम्हारे मत से समस्त वेद का अध्ययन नहीं हो सकेगा, क्योंकि राजसूय, अश्वमेध आदि कर्मों में अनधिकारी ब्राह्मण को उन कर्मों के फल बोधक अर्थज्ञान का होना सम्भव नहीं है ? और अक्षर प्राप्तिरूपफल को माननेवाले के मत से तो समस्त वेद का अध्ययन हो पाता है । ब्रह्मयज्ञ में जप की हेतुता होने से ब्राह्मण भी राजसूय,अश्वमेधादि वेदभाग का?(ब्रह्मयज्ञ) जप करता ही है ।

१२—इस पर यदि कोई कहे कि उससे अर्थाव बोध कैसे हो सकेगा ? किन्तु उसकी यह शङ्का उचित नहीं कही जायगी, क्योंकि काव्य-नाटकादि ग्रन्थों में वैदिक विधि के बिना भी जैसे अर्थ बोध होता है, वैसे ही वेद में भी हो सकता है । यदि यह कहा जाय कि विध्यर्थ के अभाव में (अर्थज्ञान के विधि प्रयुक्त न रहने पर) अर्थावबोध प्रयुक्त अदृष्ट कुछ भी नहीं हो पायगा, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्थावबोध में अध्ययन विधि की प्रयुक्ति न रहने पर भी 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च इस अन्य विधि से उसकी प्रयुक्ति हो सकती है । और 'योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाक मेति ज्ञानविधूत पाप्मा' इस अन्यविधि से भी उसकी प्रयुक्ति का होना सम्भव है । इसलिये अध्ययन विधि का पर्यवसान अक्षर प्राप्ति में ही होता है, और अर्थाव बोध तो विध्यन्तर से प्रयुक्त होता है ।

१३—तत्र वेदे कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्चेति द्वौकाण्डौ। कर्मपर्यवसायीभाग: कर्मकाण्डो ब्रह्मप्रधानोऽनन्यशेषो ब्रह्मकाण्ड:। न च 'बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयो: कर्मकाण्डत्वम्, तत्रोभयत्राग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्बृहदारण्यके तु ब्रह्म प्रतिपाद्यते' इति सायणीयकाण्वभाष्यो पोद्घातविरोध इतिवाच्यम्, बृहदारण्यकस्य अनन्यशेषब्रह्मप्रधानमन्त्रब्राह्मणोपलक्षणार्थत्वात्। 'ईशावास्यमित्यादयो-मन्त्रा: कर्मस्वविनियुक्तास्तेषामकर्मशेषस्य आत्मनो याथात्म्याप्रकाशकत्वात्' इति शाङ्करभाष्यानुरोधाच्च।

यद्यपि संहितासु सहस्रशो मन्त्रा ब्रह्मप्रतिपादका: सन्ति तथापि तेषां तेषु तेषु कर्मसु विनियुक्तत्वात् कर्मशेषत्वात् न ब्रह्मप्रधानत्वं सम्भवति। तत एवातत्प्रधानत्वात् न ते द्वैतपराणि आगमवचनानि प्रत्यक्षानुमानानि च बाधितुं समर्था:, तत्प्रधानानामेवातत्प्रधानबाधकत्वसम्भवात्

१४—तदभिप्रायेणैव 'द्वेविद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च' (मु० १।१।४) तत्रापरा-यामेवर्ग्वेदादीनामन्तर्भावउक्त:। यया तदद्दश्यमग्राह्यमक्षरं गम्यते तस्या एव परत्वमुक्तम् मुण्डके। तच्चभूमि-कायामुक्तमेव।

महातात्पर्यविचारे तु सर्वस्यैव वेदस्य ब्रह्मपर्यवसायित्वमेव, 'सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १।२।१५) 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:' (श्रीभ० गी० १५।१५) इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्य:। अवान्तरतात्पर्यरीत्या तु कर्माणि वेदस्य-विषय:। तदभिप्रायेणैव 'त्रैगुण्यविषया वेदा:' (श्री० भ० गी० २।४५) 'दृष्टवदानुश्रविक:' (सां० का० २) इत्या-

---

१३—वेद में 'कर्मकाण्ड' और 'ब्रह्मकाण्ड' भेद से दो काण्ड हैं, उन में से कर्मपर्यवसायी भाग 'कर्मकाण्ड' और ब्रह्म प्रधान तथा अनन्य शेष जो भाग है वह 'ब्रह्मकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर यदि कोई कहे कि 'बृहदारण्यक नाम का ग्रन्थ ब्रह्मकाण्ड भाग और उससे भिन्न (पृथक्) जो शतपथ ब्राह्मण और संहिता—इन दोनों को कर्मकाण्ड भाग कहा जाय, क्योंकि इन दोनों में अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि कर्म का ही प्रतिपादन किया गया है। और बृहदारण्यक में तो ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है—यह सायण तथा काण्वभाष्य के उपोद्घात के साथ विरोध की शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'बृहदारण्यक' शब्द से अनन्यशेषरूप 'ब्रह्म' का प्रधानरूप से वर्णन करने वाले समस्त मन्त्र और ब्राह्मणों का ग्रहण किया जाता है। शाङ्करभाष्य में भी कहा गया है कि 'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्रों का विनियोग, कर्मों में नहीं है, अत: वे मन्त्र, अकर्म शेष 'आत्मा' के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं।

यद्यपि संहिताओं में सहस्रश: मन्त्र 'ब्रह्म' के पतिपादक हैं, तथापि उनमें प्रतिपाद्य 'ब्रह्म' की प्रधानता नहीं कही जा सकी, क्योंकि अनेकानेक कर्मों में उन मन्त्रों का विनियोग बताया गया है। अत: वे मन्त्र, कर्मशेष (कर्म के अङ्ग) हैं, उनमें ब्रह्म की प्रधानता रहने का सम्भव नहीं है। अतएव अतत्प्रधान होने से वे मन्त्र, द्वैतपरक आगम-वचनों और प्रत्यक्ष—अनुमान आदि का बाध करने में समर्थ नहीं हैं। तत्प्रधानवचन के द्वारा ही अतत्प्रधान वचन का बाध हो सकता है।

१४—उसी अभिप्राय से यह कहा गया है कि 'दो विद्यायें ज्ञातव्य हैं, जो 'परा' और 'अपरा' होती हैं। उन दोनों में से 'अपरा विद्या' में ही 'ऋग्वेद' आदि का अन्तर्भाव कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् में 'परा' उस विद्या को बताया है—जिससे अदृश्य, अग्राह्य अक्षर' का ज्ञान होता है। यह बात भूमिका में स्पष्ट की जा चुकी है।

महा तात्पर्य का विचार करने पर तो सम्पूर्ण वेद का पर्यवसान 'ब्रह्म' में हो है। कठोपनिषद् के वचन—"समस्त वेद, जिसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं"—से तथा श्रीमद् भगवद् गीता के वचन—"सभी वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य हूँ"—से भी उपर्युक्त कथन की ही सिद्धि हो रही है। अवान्तर तात्पर्य का विचार करनेपर 'कर्म' ही वेद के प्रतिपाद्य विषय हैं। इसी अभिप्राय को 'वेद त्रैगुण्य विषय वाले हैं'—यह गीता की उक्ति तथा 'दृष्ट के समान ही आनुश्रविक हैं—यह ईश्वर कृष्ण को उक्ति बता रही है। इन में भी वेदों की त्रैगुण्य विषयता सकाम पुरुषों के लिये

द्युक्त यः। तत्रापि सकामानामेवावान्तरतात्पर्यं विधयपि वेदानां त्रैगुण्यविषयत्वम् महातात्पर्यालोचनेन व्यवसाया-त्मिकायां बुद्धौ परिनिष्ठितानान्तु कर्मणामपि ब्रह्मार्पणबुद्धयानुष्ठानेन तदुपासनारूपत्वात् बुद्धिशुद्धयादि क्रमेण ब्रह्मावगमपर्यवसायित्वमेव।

१५—तद्बोधार्थी तत्राधिकारी। तत्रप्रयोजनं विषयेण जन्यते। तेन विषयप्रयोजनयोर्जन्यजनकभावः सम्बन्धः। प्रयोजनाधिकारिणोरर्थ्यमानार्थित्वम्सबन्धः। अधिकारिविषययोस्तु प्रयोजनद्वारेणोपकार्योपकारकत्वसम्बन्धः।

यद्यपि ब्रह्मणोऽभ्यर्हितत्वात् ब्रह्मकाण्डस्यैव प्राथम्यमुचितम्, तथापि भगवदाराधनबुद्धयानुष्ठीयमानकर्मभिरेव बुद्धिशुद्धिसम्भवेन तदन्तरा ब्रह्मकाण्डेऽधिकारासम्भवात् पूर्वं कर्मकाण्ड आम्नातः।

नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धभेदेन कर्माणि चतुर्विधानि। नित्यनैमित्तिकयोरननुष्ठानात् प्रतिषिद्धाचरणाच्च प्रत्यवाय उत्पद्यते।

१६—प्रत्यवायेन बुद्धिमान्द्ये सति नित्यानित्यवस्तुविवेक वैराग्यशमदमादीनामनुदयाद् ब्रह्मात्मतत्त्वजिज्ञासा न जायते। तस्माद्विविदिषायै यज्ञतपोदानादीनां बृहदारण्यके विधानं दृश्यते—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने' (बृ० उ० ४।४।२२) ति। वेदानुवचनयज्ञादिभिः प्रत्यक्प्रवणतालक्षणब्रह्मात्मतत्त्व वेदनेच्छा जायते इति कर्मणां तत्रैव मुख्य उपयोगः। 'प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य यत्नतः। कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते-घना इव॥' इति नैष्कर्म्य सिद्धिवचनात्। प्रकृतिप्रययौ यत्र सहार्थं ब्रूतस्तत्र प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमितिरीत्या प्रत्यया-

---

ही अवान्तरतात्पर्यरूप से बताई गई है। महातात्पर्य के पर्यालोचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि परिनिष्ठित हो चुकी है, उनके द्वारा कर्मों का अनुष्ठान भी ब्रह्मार्पणबुद्धि से ही किया जाता है। वह कर्मानुष्ठान भी उपासनारूप है। अतः उसका भी 'बुद्धिशुद्धि' आदि के क्रम से 'ब्रह्मज्ञान' में ही पर्यवसान होता है।

१५—उसका अधिकारी 'ब्रह्मज्ञानार्थी' होता है। और 'प्रयोजन' की सिद्धि 'विषय' के द्वारा होती है। अतः 'विषय' और 'प्रयोजन' का परस्पर 'जन्यजनकभाव' सम्वन्ध हुआ करता है। एवं 'प्रयोजन' और 'अधिकारी' का 'ग्राह्य-ग्राहकभाव' सम्बन्ध होता है। तथा 'अधिकारी' और 'विषय' का 'प्रयोजन' के माध्यम से 'उपकार्योपकारकभाव' सम्बन्ध होता है।

यद्यपि 'ब्रह्म' के अभ्यर्हित रहने से उसके प्रतिपादक ब्रह्मकाण्ड' का आम्नाय करना ही प्रथमतः उचित था, तथापि भगवदाराधनबुद्धि से अनुष्ठेय कर्मों के द्वारा ही 'बुद्धि' की शुद्धि होना सम्भव है, उसकी शुद्धि के बिना 'ब्रह्म-काण्ड' में अधिकार प्राप्त होना सम्भव नहीं है। अतः 'कर्मकाण्ड' का आम्नाय ही प्रथमतः किया गया है।

'नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रतिषिद्ध'—इन भेदों से 'कर्म' चार प्रकार का होता है। इनमें से 'नित्य' तथा 'नैमित्तिक' कर्मों का अनुष्ठान न करने से तथा 'प्रतिषिद्ध' कर्मों का आचरण करने से 'प्रत्यवाय' उत्पन्न होता है।

१६—'प्रत्यवाय' से बुद्धि के मन्द हो जाने पर 'नित्य' और अनित्य' वस्तु का विवेक, तथा वैराग्य, शम, दम आदि का उदय नहीं होता है। उसके अभाव में 'ब्रह्मतत्त्व' की जिज्ञासा का उदय नहीं हो पाता है। अतः 'ज्ञान' की इच्छा अथवा 'विविदिषा' के लिये यज्ञ, तप, दान आदि का विधान, बृहदारण्यकोपनिषद् में किया गया है। ब्राह्मणलोग इस ब्रह्मतत्त्व' को जानने के लिये वेदाध्ययन के द्वारा तथा यज्ञ, दान, अनशन, तप आदि के द्वारा प्रयत्न करते हैं। वेदाध्ययन, यज्ञ आदि के द्वारा प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान की इच्छा होती है। अतः इसी ज्ञानेच्छा में कर्मों का प्रमुख उपयोग है। नैष्कर्म्यसिद्धि में कहा गया है कि बुद्धि को प्रत्यक् चैतन्य में प्रयत्नपूर्वक अभि-मुख करके किये गये विहित निष्कामकर्म सफल हो जाते हैं तथा कृतकृत्य होकर अन्त में अस्त हो जाते हैं, जिस प्रकार वर्षा के अन्त में मेघ अस्तङ्गत हो जाते हैं।

र्थस्य प्राधान्यात् वेदनेच्छायां यज्ञादीनां करणत्वेनान्वयः। "स्वर्गकामो यजेते" त्यादौ तु इच्छाविषयतया शब्दबोध्ये स्वर्गे शब्दविधयाऽप्रधानेऽपि साधनान्वयदर्शनात् असिना जिघांसति, अश्वेन जिगमिषति इत्यादाविवेष्यमाणवेदन एव यज्ञादीनां साधनत्वेनान्वय इति च पक्षद्वयम्।

१७—पूर्वत्र कर्मादिभिः प्रत्यक्प्रवणतालक्षणायां वेदनेच्छायां जातायां मननिदिध्यासनयुक्तेनोपक्रमोपसंहारादिषड्विधलिङ्गैर्ब्रह्मात्मनि तात्पर्यविधारणलक्षणेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कारो जायते। उत्तरत्र तु भगवदाराधनबुद्धचानुष्ठितयज्ञादिप्रभाव एव क्रमेण बुद्धेः प्रत्यगाभिमुख्यापादनाचार्योपगमननिर्विघ्नश्रवणमनननिदिध्यासनपूर्वकं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारमापादयति।

'कारीर्या वृष्टिकामो यजेत' 'चित्रया यजेत पशुकामः' (तै०सं० २।४।६।१) इत्यादीनि तु काम्यकर्माणि परमपुरुषार्थसाधनाभावेऽपि स्वाभाविककामकर्मज्ञानवतां वैदिकमार्गे फलसंवादेन श्रद्धामुत्पादयितुमाम्नायन्ते। किं बहुनाऽऽभिचारिककर्मणामपि द्वेषक्रोधाद्यभिभूतमतीनां स्वाभाविकद्वेषक्रोधादिजनितवेगनिरोधार्थं वैदिकोपायाभिमुख्यसम्पादनार्थमेव विधानम्।

१८—कालातिक्रमबहुवित्तव्ययक्लेशसाध्यकर्मानुष्ठानभीत्यापि वेगेऽबाधिते तदनुष्ठानेन शत्रुमरणेऽपि शत्रुभिस्तदीयैरन्यैः शासकैश्च। बाधाभावः, देवताब्राह्मणतर्पणदानादिसत्कर्मानुष्ठानादिभिर्हिंसादिकर्मणां मार्दवापादनम् स्थालीपुलाकन्यायेन वेदैकदेशोपदिष्टोपायसाफल्येन वैदिकोपायेषु सुदृढ़ास्थोत्पद्यते। ततः प्रायश्चित्ताचरणम्।

'प्रकृति' और 'प्रत्यय' जहाँ साथ-साथ अपने अर्थ को प्रकट करते हैं, वहाँ 'प्रत्ययार्थ' की ही प्रधानता होती है"—इस पद्धति से प्रत्ययार्थ की प्रधानता के कारण 'जिज्ञासा' (ज्ञान की इच्छा) में यज्ञादि का साधनत्वेन (साधनरूप से) ही अन्वय होता है। 'स्वर्गकामो यजेत'—इत्यादि वाक्यों में तो शब्द बोध स्वर्ग, पुरुषेच्छा का विषय होने से शब्दविधया अप्रधान रहने पर भी उसी में यज्ञ' आदिकों का साधनत्वेन (करणत्वेन) अन्वय होता है—यह एक पक्ष है। और खड्ग से मारना चाहता है', तथा 'अश्व से जाना चाहता है'—इत्यादि वाक्यों के समान 'अभीप्सित ज्ञान' में ही यज्ञादिकोंका साधत्वेन अन्वय होता है—यह दूसरा पक्ष है।

१७—उनमें से प्रथम पक्ष में—कर्मादि द्वारा प्रत्यगात्म प्रवणतारूप स्वरूप के प्रति जिज्ञासा की उत्पत्ति होने पर मनन-निदिध्यासन से युक्त हुए उपक्रमोपसंहारादि षड्विध तात्पर्य निर्णायक लिङ्गों से एवं ब्रह्मात्मा में (ब्रह्म स्वरूप में) तात्पर्यविधारण रूप श्रवण से ब्रह्मात्मसाक्षात्कार होता है। और द्वितीय पक्ष में भगवदाराधन बुद्धि से अनुष्ठित यज्ञ का प्रभाव ही क्रमशः प्रत्यगात्मा की ओर बुद्धि को सम्मुख कराते हुए, आचार्य के समीप पहुँचाकर विघ्न वाधारहित श्रवण-मनन-निदिध्यासन पूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार करा देता है। वृष्टि की कामना करने वाला पुरुष 'कारीरीष्टि' करे, तथा पशु की कामना करने वाला 'चित्रेष्टि' का अनुष्ठान करे। इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित काम्यकर्म, यद्यपि परमपुरुषार्थ के साधन नहीं हैं, तथापि स्वाभाविक इच्छा और कर्म का ज्ञान रखने वाले मनुष्यों की फलप्राप्ति के द्वारा वैदिक मार्ग में श्रद्धा उत्पन्न हो, एतदर्थ उनका (काम्यकर्मों का) श्रुति ने प्रतिपादन किया है। अधिक क्या कहा जाय! आभिचारिक कर्मो का प्रतिपादन भी द्वेष-क्रोधादि के वशङ्गत रहनेवाले मनुष्यों के स्वाभाविक द्वेष-क्रोधादि वेगों को अवरुद्ध करने के लिये तथा वैदिक उपायों की ओर उन्हें अभिमुख (आकर्षित) करने के लिये ही श्रुति ने किया है।

१८—अधिक समय लगने से तथा अधिक धनव्यय के कारण एवं कष्ठसाध्य कर्मों के अनुष्ठान भय से भी जब द्वेष, क्रोधादि वेगों पर नियन्त्रण नहीं हो पाता है, उस स्थिति में उसके लिये आभिचारिक कर्मो का अनुष्ठान से श्रुति ने बताया है। उनके अनुष्ठान से शत्रुमरणरूप अभीप्सितफल की प्राप्ति भी होगी, साथ ही शत्रु तथा उसके

तात्पर्येण स्वधर्मानुष्ठानपूर्वकभगवदाराधनेऽपि प्रवृत्तिर्जायते ततः क्रमेण नैष्कर्म्यसिद्धि लभते। तदुक्तम् 'वेदोक्तमेव-कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे। नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः' (श्री० भा० म० पु० ११।३।४६) इति। यथा जननी वत्स गडूचीं पिब खण्डलड्डूकं ते दास्यामोति प्रलोभ्य बालं गडूचीं पाययति खण्डलड्डूकं च प्रयच्छति तथापि गडूचीपानफलमारोग्यं न मोदकप्राप्तिः, एवमेव श्रुतिः पाशविककामकर्मज्ञाननिवृत्तिद्वारा ब्रह्मात्मसाक्षात्कारपूर्वकं नैष्कर्म्यस्वात्मावस्थान सम्पिपादयिषयैव कर्माणि विदधाति, स्वर्गादिफलश्रुतिस्तु रोचनार्थैव। तस्मात्कर्मकाण्डगतयोः संहिताशतपथयोः प्राधान्येन नित्यकर्माण्येवाम्नातानि।

१९—संहिताग्रन्थेऽस्मिन् चत्वारिंशदध्यायाः। तेषु प्रथमद्वितीययोरध्याययोर्दर्शपूर्णमासौ तृतीयेऽन्वाधानाग्निहोत्राग्न्युपस्थानचातुर्मास्यानि। चतुर्थमध्यायमारभ्य नवमाध्यायपर्यन्तं षट्स्वध्यायेषु अग्निष्टोमः। दशमे वाजपेयः एकादशे राजसूयः। द्वादशमारभ्य विंशान्तेषु नवस्वध्यायेषु अग्निचयनम्। एकविंशद्वाविंशत्रयोविंशेषु त्रिष्वध्यायेषु सौत्रामणी। चतुर्विंशमारभ्य सप्तविंशपर्यन्तं चतुर्ष्वध्यायेषु अश्वमेधः। अष्टाविंशमारभ्य त्रयस्त्रिंशान्तेषु षट्स्वध्यायेषु यत्र तत्र विप्रकीर्णा लिङ्गविनियोज्या अनारभ्याधीता मन्त्राः।

२०—चतुस्त्रिंशपञ्चत्रिंशयोः पुरुषमेधः षट्त्रिंशे शान्तिः सप्तत्रिंशमारभ्यैकोनचत्वारिंशपर्यन्तं त्रिष्वध्यायेषु

सम्बन्धी एवं अन्य शासकों से भी कोई पीड़ा नहीं हो पाएगी। और देवतापूजन, ब्राह्मणतर्पण, दानादि सत्कर्मों के अनुष्ठान से हिंसादि कर्मों की प्रवृत्ति में मृदुता भी सम्पन्न हो सकती है, अथवा अभिचार के द्वारा मारित व्यक्ति की हिंसा से उत्पन्न फल (पाप) की उग्रता को दूर कर उसे मृदु बनाया जा सकता है। इस प्रकार स्थाली पुलाकन्याय से वेद के अंशात्मक उपदिष्ट उपाय के सफल होने से अन्य वैदिक उपायों में भी दृढ़ आस्था उत्पन्न होगी। तदनन्तर अभिचारिक पुरुष, प्रायश्चित्त कर्मों का अनुष्ठान करेगा। साथ ही वह अपने कल्याण के लिये तत्परता से स्वधर्मानुष्ठान में संलग्न होता जायगा, उससे शनैः शनैः क्रमशः भगवदाराधना में भी उसकी प्रवृत्ति होने लगेगी। उससे क्रमशः वह नैष्कर्म्य में सिद्धि प्राप्त कर सकेगा। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि 'मानव निःसङ्ग होकर वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ और उन्हें ईश्वरार्पित करता हुआ नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त कर लेता है, विविध कर्मफलों का कथन तो आकर्षण उत्पन्न करने के लिये है। जैसे माता अपने रुग्ण बालक से कहती है कि— बेटे ! कड़वी गिलोय औषधि को पीलो, तुम्हें लड्डू दूंगी'—इस प्रकार उसे आकृष्ट करके वह गिलोय औषधि पिला देती है, और उसे लड्डू भी देती है, तब भी गिलोय औषधि पीने का फल तो रोग की निवृत्ति ही है। लड्डू की प्राप्ति नहीं।

१९—उसी प्रकार भगवती श्रुति भी पाशविक काम-कर्म और ज्ञान की निवृत्ति के द्वारा ब्रह्मात्मसाक्षात्कार पूर्वक नैष्कर्म्यरूप स्व-स्वरूपावस्था सम्पादित कराने की इच्छा से ही कर्मों का विधान करती है। कर्मों के द्वारा स्वर्गादि फलों का श्रवण तो आकर्षण उत्पन्न करने मात्र के लिये है। अतएव कर्मकाण्ड के अन्तर्गत संहिता और शतपथ ब्राह्मण में नित्यकर्मों का ही प्रधानरूप से विधान किया गया है।

इस संहिताग्रन्थ में चालीस अध्याय है। उनमें से प्रथम और द्वितीय अध्यायों में 'दर्शपूर्णमास' नामक दो सामुदायिक कर्म, तृतीय अध्याय में 'अन्वाधान' अग्निहोत्र अग्न्युपस्थान' तथा चातुर्मास्य का प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ अध्याय से नवम अध्याय तक यानी छह अध्यायों में 'अग्निष्टोम' का प्रतिपादन किया गया है। दशम अध्याय में 'वाजपेय', एकादशवें अध्याय में 'राजसूय' का प्रतिपादन है। द्वादशवें अध्याय से बीसवें अध्याय तक यानी नौ अध्यायों में 'अग्निचयन' का प्रतिपादन है। इक्कीसवें, बाईसवें और तेईसवें इन तीन अध्यायों में 'सौत्रामणी' याग का विधान है। चौबीसवें अध्याय से सत्ताइसवें अध्यायतक चार अध्यायों में अश्वमेध का विधान है।

२०—अट्ठाईसवें से तेतींसवें अध्याय तक छह अध्यायों में उन मन्त्रों को बताया गया है; जो विप्रकीर्ण रूप

प्रवर्ग्यः चत्वारिंशे ब्रह्मविद्या।

प्रकृतित्वान्निरपेक्षत्वाच्च प्रथमं दर्शपूर्णमासेष्टिरेव निरूपिता। यत्र प्रकर्षेणाङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः, विकृतिषु विशेषाङ्गमात्रस्योपदेशः। अङ्गान्तराणितु प्रकृतेरतिदिश्यन्ते। सा च प्रकृतिस्त्रिधा अग्निहोत्रमिष्टिः सोमश्च। त्रिष्वप्येतेषु अन्यनैरपेक्ष्येण स्वाङ्गजातं कृत्स्नमुपदिष्टम्। तत्रापिसोमयागस्य स्वरूपेणान्यनैरपेक्ष्येऽपि अङ्गेषु दीक्षणीयादिषु दर्शपूर्णमासेष्टिसापेक्षत्वात् नेष्टेः पूर्वभावित्वम्, इष्टेश्च सोमयागनैरपेक्ष्यात् सोमात्प्राचीनत्वम् युक्तम्। यद्यप्यग्निहोत्रस्य स्वरूपाङ्गेषु नास्त्यन्यापेक्षा तथाप्यग्निसिद्ध्यपेक्षत्वात् आहवनीयाद्यग्नीनाञ्च पवमानेपि साध्यत्वात् पवमानेष्टीनाञ्च दर्शपूर्णमासविकृतित्वात् परम्परयाग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासापेक्षास्तीति प्रथमभावित्वं युक्तम्।

२१—ननुदर्शपूर्णमासयोरग्निहोत्रसाध्यत्वात् अग्निसाधकमाधानं प्रथमतोवक्तव्यमिति चेन्न, अग्नीनां पवमानेष्टिसापेक्षाधानसाध्यत्वात्। ताश्चेष्टयोदर्शपूर्णमास विकृतित्वात् साक्षादेव दर्शपूर्णमासावपेक्षन्ते। दर्शपूर्णमासौत्वग्निहोत्रद्वारा पवमानेष्टिसापेक्षावपि न साक्षात् पवमानेष्टिमपेक्षेते। अतो निरपेक्षत्वात् दर्शपूर्णमासेष्टिरेव प्रथममायाति।

यद्यपि ऋक्सामवेदयोर्न सा पूर्वमाम्नाता तथापि कर्मकाण्डविषये यजुर्वेदस्यैव प्राधान्यात्तत्र तयोः प्राथम्यं युक्तमेव

से स्थित हैं, अर्थात् लिङ्ग प्रमाण से विनियोज्य अनारभ्याधीतमन्त्र हैं। अर्थप्रकाशनसामर्थ्य को 'लिङ्ग' कहते हैं। और जिन मन्त्रों को किसी कर्म के प्रकरण में नहीं कहा गया है, उन मन्त्रों को अनारभ्याधीत कहते हैं। चौंतीसवें तथा पैंतीसवें अध्यायों में 'पुरुषमेध' का निरूपण किया गया है। छत्तीसवें अध्याय में 'शान्तिकर्म' का विधान है। सैंतीसवें अध्याय से उन्तालीसवें अध्याय तक 'प्रवर्ग्य' का निरूपण है। चालीसवें अध्याय में ब्रह्मविद्या' का प्रतिपादन किया गया है।

अन्य समस्त इष्टियों की प्रकृति होने से तथा स्वयं निरपेक्ष होने के कारण सर्वप्रथम दर्शपूर्णमासेष्टि का ही निरूपण किया गया है। जहां अपेक्षित समस्त अङ्गों का प्रकर्ष से कथन किया गया हो, उसे 'प्रकृति' कहा जाता है। विकृतियों में केवल विशिष्ट अङ्गों का ही कथन रहता है, उनमें दूसरे सामान्य अङ्गों का प्रकृति से ही अतिदेश कर लिया जाता है। वह प्रकृति तीन प्रकार की होती है—(१) इष्टि, (२) पशु और (३) सोम। इन तीनों में अपने समस्त अङ्गों का उपदेश किया गया है, किसी अन्य कर्म से इनमें अपेक्षित अङ्गों का अतिदेश नहीं होता है। सोमयाग यद्यपि स्वरूपतः अन्यनिरपेक्ष है, तथापि उसके अङ्गभूत दीक्षणीयेष्टि आदिकों में दर्शपूर्णमासेष्टि की अपेक्षा रहने के कारण इष्टि से उसका पूर्वभावित्व नहीं है, किन्तु इष्टि को 'सोमयाग' की अपेक्षा न रहने से वह निरपेक्ष है। अतः उसका सोम से पूर्व रहना युक्ति-युक्त है।

२१—यद्यपि अग्निहोत्र के स्वरूपसम्पादक अङ्गों में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, तथापि उसमें अग्निसिद्धि की अपेक्षा तो है ही तथा आहवनीयादि अग्नियों का अस्तित्व, पवमानेष्टियों से साध्य होने के कारण और वे पवमानेष्टियां, दर्शपूर्णमासेष्टि की विकृतिरूप होने के कारण परम्परया अग्निहोत्र को दर्शपूर्णमास की अपेक्षा रहती है। अतः उसका प्रथमतः रखना उचित ही-है।

शङ्का—दर्शपूर्णमासकर्म तो अग्निहोत्र होम कर्म के द्वारा साध्य हैं। अतः अग्नि का साधक जो आधान है, उसी का प्रथम विधान होना उचित है।

समा०—उक्त आशङ्का करना ठीक नहीं है। क्योंकि अग्नियां जो हैं, वे, पवमानेष्टि की अपेक्षा रखने वाले आधान कर्म से साध्य होती है। और वे इष्टियां, दर्शपूर्णमास की विकृति होने से साक्षात् ही दर्शपूर्णमास की अपेक्षा

कर्मणामानुपूर्व्येण यजुर्वेद एववर्णनात्। तत्रतत्र विशेषापेक्षायां याज्यापुरोनुवाक्यादय ऋग्वेदेस्तोत्रादीनितु सामवेदे समाम्नायन्ते। तस्मात् कर्मणां विषये प्राधान्यात् यजुर्वेदस्य तत्र च दर्शपूर्णमासेष्टिरेव समाम्नाता। तस्यामेवेष्टौ इषेत्वादयोमन्त्राः।

२२—तत्र मन्त्राणां सामान्यलक्षणं जैमिनीये द्वितीयाध्याये प्रथमपादे विचारितम्। 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (मी०सू० २।१।२९) इति। विहितस्यार्थस्याभिधायको मन्त्र इत्युक्तौ वसन्ताय कपिञ्जलानालभते १० (व०स० २४।२०) इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वादव्याप्तिः। मननहेतुर्मन्त्र इत्युक्तौ ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिरिति न सम्भवति मन्त्रलक्षणमिति पूर्वपक्षेयाज्ञिकसमाख्यानस्यैव निर्दुष्टलक्षणत्वं सिद्धान्तितम्। तच्चसमाख्यानमनुष्ठानस्मारकत्वादिना मन्त्रत्वं गमयति। 'उरूप्रथस्व' (मा० सं० १।२२) इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः, 'अग्निमीले पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादयः स्तुतिरूपाः, 'इषेत्वे' (वा० सं० १।१) त्यादयस्तु शाखाच्छेदनस्मारकाः, 'अग्न आयाहिवीतय' (सामवेद सं० पूर्वार्चिक १।१।१) इत्यादय आमन्त्रणोपेताः। एवमत्यन्तविजातीयेषु याज्ञिकसमाख्यान (प्रसिद्धि) मन्तरानान्यत्सम्भवति मन्त्रलक्षणम्।

२३—तत्रैव 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० सू० २ । १ । ३०) इति मन्त्रातिरिक्ते वेदभागे ब्राह्मण शब्द इत्युक्तम्।

रखती हैं। किन्तु दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र के द्वारा पवमानेष्टि की अपेक्षा नहीं रखता है। अतः निरपेक्ष रहने से दर्शपूर्णमासेष्टि को ही प्रथमतः रखना प्राप्त होता है। यद्यपि ऋग्वेद और सामवेद में दर्शपूर्णमासेष्टि को प्रथम नहीं कहा गया है, तथापि कर्मकाण्ड के विषय में यजुर्वेद की ही प्रधानता होने के कारण दर्शपूर्णमासेष्टि की प्रथमता उचित ही है। यजुर्वेद में ही कर्मों का आनुपूर्वीक्रम से वर्णन किया गया है।

२२—कर्मविशेषों में विशेष अङ्गों की अपेक्षा होने पर 'याज्या', 'पुरोनुवाक्या' आदि मन्त्रों को ऋग्वेद में, ~~तथा स्तोत्रआदिको अ~~ तथा स्तोत्रआदिको सामवेद में कहा गया है। अतः कर्मों के विषय में यजुर्वेद की प्रधानता रहने से तथा उसमें भी दर्शपूर्णमासेष्टि को ही बताया गया है। उसी इष्टि में 'इषेत्वा' आदि मन्त्रों का विनियोग होता है।

मन्त्रों के सामान्य लक्षण का विचार जैमिनीय सूत्रों के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में किया गया है। अनुष्ठेय अर्थप्रकाशन के प्रयोजक वाक्यों को 'मन्त्र' शब्द से कहा जाता है (मी०सू० २।१।२९)। विहित अर्थ के अभिधायक को 'मन्त्र' कहने पर 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते'—पहले दो स्तम्भों के मध्यभाग में तीन कपिञ्जल पशुओं को 'वसन्त' देवता के लिये बांधे यह मन्त्र, विधिरूप होने से मन्त्रलक्षण की अव्याप्ति होती है। यदि 'मननहेतुर्मन्त्र'—मनन के हेतु को मन्त्र कहते हैं तो 'ब्राह्मण' में अतिव्याप्ति होती है। अतः मन्त्र का लक्षण करना सम्भव नहीं हो रहा है—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्त किया गया है कि याज्ञिकों की परम्परा में 'मन्त्र' शब्द से जिसकी प्रसिद्धि हो वही 'मन्त्र' है। मन्त्र का यही निर्दुष्ट लक्षण सम्भवनीय है। वह याज्ञिकप्रसिद्धि कर्मानुष्ठानस्मारकत्व आदि हेतुओं से 'मन्त्रत्व' का बोध कराती है। 'उरू प्रथस्व' इत्यादि मन्त्र, अनुष्ठान के स्मारक होते हैं, 'अग्निमीड़े पुरोहितम्' इत्यादि मन्त्र, स्तुतिरूप होते हैं, 'इषेत्वा' इत्यादि मन्त्र, आमन्त्रण में विनियुक्त हैं। इस प्रकार अत्यन्त विजातीय वाक्यों में याज्ञिकविद्वानों की पारम्पर्यप्रसिद्धि के अतिरिक्त 'मन्त्र' का कोई अन्य लक्षण नहीं बताया जा सकता। उसी प्रसङ्ग में 'शेषे ब्राह्मणशब्दः'—मन्त्र से अवशिष्ट रहे भाग को 'ब्राह्मण' शब्द से कहा जाता है (मी० सू० २ । १ । ३०)।

२३—ऋक्, साम, यजु के मन्त्रों में भी अध्यापक प्रसिद्धि के अनुसार यद्यपि साङ्कर्य ही प्रतीत होता है—तथाहि, 'अग्नये मथ्यमानायानुब्रूहि'—(तै० सं० ६।३।५।३), 'हविर्धानाभ्यामनुब्रूहि'—(ऐ० ब्रा० १।२९) इत्यादि

ऋक्सामयजुर्मन्त्राणामपि यद्यप्यध्यापकप्रसिद्ध्या साङ्कर्यमेव। तथाहि 'अग्नये मथ्यमानायानुब्रूहि', (तै० सं० ६।३।५।३) हविर्धानाभ्यां (ऐतरेय ब्राह्मणे १।१६) प्रोह्यमाणाभ्यामनुब्रूहि' (ऐ० ब्रा० १।२९) इत्यादीनि यजूंषि ऋग्वेदेसमाख्यातानि। देवस्त्वासवितापुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः (तै० सं० १।२।१।२), इति मन्त्रो यजुर्वेदे पठितः। न च स यजुर्वेदेमन्त्रः। ऋग्रूपत्वेन तैत्तिरीयब्राह्मणे (तै० ब्रा० ३।२।५।३) व्यवहृतत्वात्। 'एतत्सामगायन्नास्ते' इति प्रतिज्ञाय 'हा उ' (तै० आ० ९।१०।५) इत्यादिकं सामयजुर्वेदे गीतम्। 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणिशंसितमसि' इतित्रीणि यजूंषि सामवेदे समाम्नायन्ते। तथापि वृत्तपादबद्धाऋचः, गीतिरूपा मन्त्राः सामानि, वृत्त-गीतिविवर्जितत्वे प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि इति।

२४—भवत्येव व्यवस्थितं लक्षणम्। तथा च महर्षि जैमिनिः तेषामृग्यत्रार्थवशेनपादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुष्शब्दः, (मी० सू० २।१।३२-३३-३४)।

सम्भवति दृष्टफलकत्वे न केवलमदृष्टार्था मन्त्राः। यथा 'उरु प्रथस्व' (मा० सं० १।२२) तिमन्त्रः, भोः पुरोडाश त्वं उरु वैपुल्यं यथास्यात्तथा कपालेषु प्रसरेत्यर्थप्रकाशनायोच्चार्यते न केवलमदृष्टार्थम्। किन्तु 'उरुप्रथ-स्वेति (श० ब्रा० १।२।२।८) प्रथयतीति ब्राह्मणवाक्येनापि तथार्थानुस्मरणसम्भवात् मन्त्रेणैवानुस्मरणीयमिति द्रव्य-देवतादिज्ञाने फलश्रवणादज्ञाने च दोषश्रवणाद्दृष्यादयो ज्ञातव्या इत्युक्तम्। अस्या मन्त्रब्राह्मणात्मिकाया माध्यन्दिनी शाखायाः स्वयम्भुब्रह्मारभ्य पौतिमाषीपर्यन्ताः सम्प्रदायप्रवर्त्तका ऋषयो वंशब्राह्मणेषु स्पष्टमाख्याताः। काण्डविशेषेषु

यजुर्मन्त्रों को ऋग्वेद में पढ़ा गया है। 'देवस्त्वा सविता'—(तै० सं० १।२।१।२) इस मन्त्र को यजुर्वेद में पढ़ा गया है। किन्तु वह यजुर्वेद का मन्त्र नहीं है। क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।२।५।३) में इस ऋक् शब्द से व्यवहार हुआ है। इसी प्रकार 'इस सामको वह गा रहा है'—यह प्रतिज्ञा करके 'हा उ' इत्यादि साम को यजुर्वेद में गाया गया है। 'अक्षितमसि' इत्यादि तीन यजुर्मन्त्रों को सामवेद में पढ़ा गया है। इस प्रकार का ऋक्, यजु और साम में व्यवहार साङ्कर्य होने पर भी 'छन्द (वृत्त) और पद से जो आबद्ध हो उसे ऋक् कहना चाहिए, गीतिरूप मन्त्रों को 'साम' कहना चाहिये और छन्द तथा गीति से रहित प्रश्लिष्ट पठित 'मन्त्रों' को यजु कहना चाहिये।

२४—इस रीति से ऋक् यजु और साम के लक्षणों को व्यवस्थित किया गया है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर 'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः शब्दः (मी० सू० २।१।३२-३३।३४) आदि कथन किया गया है। निष्कर्ष यह है कि 'ऋक्' वह है, जहाँ अर्थ को लक्ष्य करके पाद (चरण) व्यवस्थित हो। 'गीति' को साम, और अवशिष्टों में यजु का व्यवहार करने से कहीं भी साङ्कर्यदोष नहीं होता है—यह जैमिनि मुनि का कथन है।

जहाँ मन्त्रों का दृष्टफल सम्भव होता हो वहाँ उन्हें केवल अदृष्टफलार्थ नहीं माना जाता। जैसे 'उरुप्रथस्व' यह एक मन्त्र है, हे पुरोडाश! तुम कपालों पर जिस प्रकार विपुलता को प्राप्त कर सको उस प्रकार फैल जाओ। इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिये इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है, केवल अदृष्टफल की प्राप्ति के लिये नहीं। किन्तु 'उरुप्रथस्वेति प्रथयति'—इस ब्राह्मण वाक्य से भी उक्त अर्थ का अनुस्मरण करना सम्भव होने के कारण 'मन्त्रे-णैव अनुस्मरणीयम्'—मन्त्रोच्चारण के द्वारा ही वह अनुस्मरण होना चाहिये—इस नियमविधि से द्रव्य, देवता आदि के स्मरण के साथ ही 'अदृष्टोत्पत्ति' को भी मन्त्रोच्चारण का प्रयोजन मानना चाहिये। तत्तन्मन्त्रों के ऋषि, देवता, छन्द के जानने का भी फल बताया गया है और उनके न जानने पर 'दोष' की उत्पत्ति का होना सुना जाता है। अतः तत्तन्मन्त्रों के 'ऋषि, देवता, छन्द' का जानना भी आवश्यक है यह कहा गया है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक माध्यन्दिनी शाखा के 'स्वयम्भू ब्रह्मा' से लेकर 'पौतिमाषी' तक सम्प्रदाय प्रवर्तक ऋषियों को वंशब्राह्मण में स्पष्टतया बताया गया

मन्त्रविशेषेषु च ब्राह्मणगताख्या यिकाभिरनुक्रमणिकाग्रन्थैश्च ज्ञातव्याः ।

२५—तदज्ञानेऽपि वंशोक्तानामृषीणामवगतत्वादवेदनप्रयुक्तो दोषो नास्त्येव । ऋषिविशेषाणामपि विज्ञाने फलाधिक्यमस्त्येव । अतएव वीर्यवत्तरम् भवतीति कात्यायनेन स्पष्टमेवोक्तम् ।

सायणरीत्या नियताक्षरपादावसानानां मन्त्राणां छन्दोज्ञानमावश्यकम् । इषे त्वेत्यादीनान्त्वनियताक्षरत्वाच्छन्दो नास्त्येव । ये तु यजुषामपि छन्द इच्छन्ति तैः कात्यायनोक्तसर्वानुक्रमणिकायां पञ्चमाध्यायमभ्यस्य तद्द्वारेण तत्तन्मन्त्रच्छन्दोऽनुसन्धेयम् । यजुषां षडुत्तरशताक्षरावसानानामेकाक्षरादीनां पिङ्गलेन 'देव्यैकम्' (पिङ्गलछन्दः सूत्र २।३) इत्यादिनोक्तम् छन्दो बोद्धव्यम् । तदधिकानातु 'होतायक्षद्वनस्पतिमभिहि' (वा सं० २१।४६) इत्यादीनां नास्ति छन्दः कल्पना । दर्शपूर्णमासमन्त्राणां परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः, द्वितीयाध्यायेऽन्तिमकण्डिकाषट्के पितृयज्ञमन्त्रास्तेषां प्रजापतिर्ऋषिः, आद्येऽध्याये सर्वाणि यजूंषि 'पुरा क्रूरस्य' (वा० सं० १।२८) इत्येका ऋक् ।

२६—तत्राद्यायां कण्डिकायां पञ्चमन्त्राः द्वौत्र्यक्षरौ तृतीयश्चतुरक्षरः, चतुर्थो द्विषष्ट्यक्षरः, पञ्चमो नवाक्षरः, प्रथमस्य दैव्यनुष्टुप् छन्दः, मन्त्रवाक्याभिधेया देवता, यातेनोच्यते सा देवतेति । सा च मन्त्रलिङ्गादवगन्तव्या । यत्राग्नीन्द्रादयश्चेतनाः प्रतिपाद्यन्ते तेष्वग्न्यादीनां देवतात्वम्, यत्र पलाशशाखाबर्हिर्जुह्वादयोऽचेतनाः प्रतिपाद्यन्ते तेषु तत्तद्द्रव्याभिमानिनश्चेतना देवता ज्ञातव्याः । अतएव – मृदब्रवीत् 'आपोऽब्रुवन्' इत्यादिष्वचेतनद्रव्येषु चेतनोचितव्यापारमुपपादयितुं 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (ब्र०सू० २।१।५) इति बादरायणसूत्रम् । यथा प्रथममन्त्रस्य दैव्यनुष्टुप् छन्दः शाखादेवता पलाशशाखाछेदने विनियोगः ।

है । कतिपय काण्डविशेषों में और मन्त्रविशेषों में ऋषि आदि के उक्त न रहने पर भी उनका ज्ञान, ब्राह्मणगत आख्यायिकाओं से और अनुक्रमणिका ग्रन्थों से प्राप्त कर लेना चाहिये ।

२५—कदाचित् उन ऋषियों का ज्ञान न भी रहे तो वंशब्राह्मणोक्त ऋषियों के ज्ञात होने मात्र से भी उनके अज्ञान से होने वाला दोष नहीं हो पाता है । ऋषिविशेषों के ज्ञान से भी फल में अधिकता का होना निश्चित ही है । अतएव महर्षि कात्यायन ने ऋषि आदि का स्मरणात्मक ज्ञान करते हुए किए जाने वाले वेदाध्ययन को स्पष्टतया ही वीर्यवत्तर बताया है ।

सायणाचार्य के मतानुसार तो नियत अक्षर वाले पादों में पूर्ण होने वाले मन्त्रों का छन्दोज्ञान होना नितान्त आवश्यक माना गया है । 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्रों के अक्षर नियत न होने से उनमें छन्द होते ही नहीं हैं। जो लोग यजुर्मन्त्रों में भी छन्दोज्ञान को आवश्यक मानते हों वे लोग, महर्षि कात्यायनोक्त सर्वानुक्रमणिका के पञ्चमाध्याय का अभ्यास करके उसके द्वारा तत्तन्मन्त्रों के छन्दों का अनुसन्धान कर लें । एक अक्षर से प्रारम्भ करके एक सौ छह अक्षरों तक के छन्दों वाले यजुर्वेद के मन्त्रों के छन्दों का ज्ञान पिङ्गल प्रोक्त 'दैव्यैकम्' (पि० सू० २।३) इत्यादि सूत्रों की सहायता से प्राप्त कर लेना चाहिये । इनसे अधिक अक्षरों वाले 'होतायक्षद्वनस्पतिमभिहिः (वा० सं० २१। ४६) इत्यादि मन्त्रों में छन्दों की कल्पना न करे । 'दर्शपूर्णमास' मन्त्रों का परमेष्ठी प्रजापति ऋषि है, द्वितीय अध्याय में अन्तिम छह कण्डिकाओं में जो पितृयज्ञ के मन्त्र कहे गये हैं, उनका 'प्रजापति' ऋषि है, पहिले अध्याय में सभी यजुर्मन्त्र हैं, केवल 'पुराक्रूरस्य'—(वा० सं० १।२८) यह एक ऋक् है ।

२६—प्रथम कण्डिका में पांच मन्त्र –, उनमें दो मन्त्र तीन अक्षरों वाले हैं, तीसरा मन्त्र चार अक्षरोंवाला है, चौथा मन्त्र बासठ अक्षरोंवाला है, और पांचवां मन्त्र नौ अक्षरों का है । प्रथम मन्त्र का छन्द 'दैवी अनुष्टुप्' है । मन्त्रवाक्य से जो अभिधेय है वही देवता है, मन्त्र के द्वारा जो बताई जाती है वही देवता कही जाती है । उसका ज्ञान,

ननु 'अग्निर्मूर्धा' (वा० सं० ३।१२) इत्यादौ अग्नेर्महाभाग्यत्वात् देवतात्वं युक्तम्, शाखादीनान्तु स्थावरत्वात् कुतो देवतात्वमिति चेन्न, यस्य हि यत्र हविर्भाक्त्वंस्तुतिभाक्त्वं वा तस्य तत्र देवतात्वमितिरीत्या तत्रापि देवतात्वे बाधाभावात् ।

२७—शाखाद्यधिष्ठात्र्यो देवता अपि परमेश्वरांशभूतत्वात् महाभाग्या एव । मन्त्रस्य वाच्यं देवतेति श्रुति-र्दर्शयति 'आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघन'' इत्युपक्रम्य ऐन्द्र्योऽभिरूपा' (श० ८।२।३।६) इतीन्द्रस्य देवतात्वं दर्शयति ।

२८—दर्शयागं चिकीर्षुः प्रातर्नित्याग्निहोत्रं कृत्वा दर्शयागार्थं, 'ममाग्ने वर्चः' (का० श्रौ० सू० २।१।३) इत्यादिमन्त्रैः समिदाधानरूपमन्वाधानं कृत्वा वत्सापाकरणं कुर्यात् । अयमभिप्रायः—दर्शयागे 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' (श० १।६।३।५) 'ऐन्द्रं दधि' (श० ५।२।४।११) 'ऐन्द्रं पयः' (श० ५।२) इति त्रीणि प्रधानानि हवींषि भवन्ति । तत्र प्रतिपदि होमार्थं दधि सम्पादनीयम्, अमावास्यायां रात्रौ गावो दोग्धव्याः, तद्दोहनार्थममावास्यायामेव प्रातःकाले लौकिकदोहनादूर्ध्वं स्वमातृभिः सह चरन्तो वत्साः पलाशशाखया स्वमातृभ्योऽपाकरणीयाः । तदर्थमेव पलाशशाखा-छेदनम् । 'स वै पलाशशाखया वत्सानपाकरोति' ति काण्वश्रुतेः । अर्थवादे गायत्र्या कृतं सोमवल्ल्याहरणमभिधाय तदाहरणवेलायां पक्षिरूपाया गायत्र्याः पक्षविशेषः सोमवल्ल्याः पर्णं च भूमावपतत् । तयोरन्यतरत् पर्णनामकः पलाश-

---

मन्त्रगत लिङ्ग से कर लेना चाहिये । जहाँ अग्नि, इन्द्र आदि चेतनों का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ अग्नि आदि को देवतात्व होता है, और जहाँ पलाश शाखा, बर्हि, जुहू आदि अचेतनों का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ तत्तद्-द्रव्याभिमानी चेतन देवताओं को समझना चाहिये । अतएव 'मृदब्रवीत्', 'आपोऽब्रुवन्'—मट्टी बोली, जल बोले - इत्यादि अचेतन द्रव्यों में चेतनोचित-व्यापार के उपपादनार्थ 'अभिमानिव्यपदेशस्तु'—(ब्र० सू० २।१।५) इस बादरायण सूत्र के अनुसार समझना चाहिये । जैसे प्रथम मन्त्र का 'दैवी अनुष्टुप् छन्द, शाखा—देवता है, तो उस प्रथम मन्त्र का पलाश शाखा के छेदन में विनियोग किया जाता है ।

प्रश्न—'अग्निर्मूर्धा'—(वा० सं० ३।१५) इत्यादि मन्त्र में 'अग्नि'—महाभाग्यवान् होने से उसे देवता कहना तो उचित है, किन्तु वृक्ष की शाखा आदि तो स्थावर होने से उन्हें देवता कहना कैसे सङ्गत होगा ?

उत्तर—जहाँ जिसकी हविर्भागिता हो अथवा जहाँ जिसकी स्तुति की जाती है, वहाँ उसी को देवता स्वरूप माना जाता है. इस रीति के अनुसार उपर्युक्त 'शाखा' आदि को देवता मान लेने में कोई किसी प्रकार की बाधा नहीं है । २७ शाखा आदि की अधिष्ठात्री देवताएँ भी परमेश्वर के ही अंशभूत होने से वे महाभाग्यवान् ही हैं । 'देवता' भी मन्त्र के वाच्य होते है, इस बात को भगवती श्रुति स्वयं ही बता रही है—'आशुः शिशानो', से आरम्भ करके 'ऐन्द्र्यो-ऽभिरूपा' इस वाक्य के द्वारा 'इन्द्र' का देवतात्व प्रदर्शित किया गया है ।

२८—'दर्शयाग' का अनुष्ठान करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति (पुरुष) प्रातःकाल 'नित्याग्निहोत्र' का अनुष्ठान करके 'दर्शयाग' के लिये 'ममाग्ने वर्चः'—(का० श्रौ० सू० २।४।३) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधानरूप अन्वाधान करके 'वत्सापाकरण' करे । इसका अभिप्राय यह है कि 'दर्शयाग' में 'आग्नेय अष्टाकपाल, ऐन्द्रदधि, और ऐन्द्रपयः (दूध)—ये तीन प्रधान हवि होते हैं । प्रतिपत् तिथि में होम के अनुष्ठानार्थ 'दधि' का सम्पादन करना होता है । उसके लिये अमावास्या तिथि की रात्रि में गौओं को दुहना पड़ता है, उनके दोहनार्थ अमावास्या के दिन ही प्रातःकाल लौकिक दोहन के अनन्तर अपनी माताओं के साथ विचरण करनेवाले वत्सों (बछड़ों) को पलाश शाखा से अपनी माताओं (गौओं) से दूर करना पड़ता है । इस अपाकरण (दूर करने) के लिये ही पलाशशाखा के छेदन का विधान किया गया है । काण्वश्रुति कहती है कि 'स वै पलाशशाखया वत्सानपाकरोति'—वह पलाश की शाखा से बछड़ों को अलग करता है । अर्थवाद में—गायत्री के द्वारा किये गये सोमवल्ली के आहरण को बतलाकर—कहा गया

वृक्षो जातः। अतः सोमसम्बन्धात् गायत्रीसम्बन्धाच्च पलाशवृक्षः प्रशस्य इत्युक्तम् । 'गायत्र्यै वा सोमस्य वा रा० ज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत् तस्मात्पर्णो नाम तद्यदेवात्र सोमस्य त्यक्तं तदिहाप्यसदिति तस्मात्पर्णशाखया वत्सानपाकरोती (श० १।७।१।१) ति शतपथश्रुतेः ।

२९—'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् । तस्य पर्णमच्छिद्यत तत् पर्णोऽभवत् तत्पर्णस्य पर्णत्वम् ब्रह्म वै पर्णः यत्पर्णशाखया वत्सानपाकरोति ब्रह्मणैवैनानपाकरोति' (तै० ब्रा० ३।२।१।१) इति तैत्तिरीयाः । पर्णमात्रस्य कुतः पलाशवृक्षत्वमिति न शङ्कितव्यम् विधातुरचिन्त्यशक्तित्वात् । अन्यथा बीजादेव कथं वृक्षो भवतीत्यपि कथं न संशयः ? तथात्वेऽपि न सर्वत्र पर्णाद् वृक्षत्वप्रसङ्गः । ईश्वरसङ्कल्पस्य फलबलकल्प्यत्वात् ।

कात्यायनश्च तथैव बिनियुंक्ते 'पर्णशाखां छिनत्ति, शमीलीं वेषेत्वेत्यूर्जे त्वेति वा, छिनद्मीति वोभयोः साकांक्षत्वात्, सन्नमयामीति वोत्तरे' (का० श्रौ० सू० ४।२।१-३) पलाशशाखा शमीशाखा वात्र कल्पिता । तच्छेदने इषे त्वा, ऊर्जे त्वेति चैतौ मन्त्रौ विकल्पितौ । तयोः क्रियापदसापेक्षत्वात् अर्थावबोधाय छिनद्मीति पदमध्याहर्त्तव्यम् । तदप्युक्तमुव्वटाचार्येण—अतिरिक्तं पदं त्याज्यं हीनं वाक्ये निवेशयेत् । विप्रकृष्टं तु सन्दध्यादानुपूर्व्यं च कल्पयेत् ।। लिङ्गं धातुं विभक्तिं च योज्यं वाक्यानुलोमतः । यद्यत् स्याच्छान्दसं वाक्ये तत्तत्कुर्यात्तु लौकिकम् ।।

३०—तत्र लौकिकोऽध्याहारो यथा 'भूताय त्वा नारातये' (वा० स० १।११) अत्र मन्त्रे परिशेषयामि इति, 'पिनष्टि प्राणाय त्वेति प्रतिमन्त्रं' (का० श्रौ० सू० २।५।६) 'प्राणाय त्वा' (वा० सं० १।२०) पिनष्मि इति । अनुषङ्गस्तु मन्त्रावयव एव । यथा—'ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः' । (वा० सं० २।२५) इत्ययमंशः

है कि उसके आहरण काल में पक्षी का रूप धारण की हुई गायत्री का पङ्ख और सोमलता का पत्र भूमि पर गिर पड़ा । उनमें से एक पर्ण नामक पलाश वृक्ष हो गया । अतः सोम तथा गायत्री का सम्बन्ध होने के कारण 'पलाश-वृक्ष' को प्रशंसनीय कहा गया है । वहाँ जो कुछ सोम का अंश छूटा, वह 'पर्ण' हुआ । 'इसलिये पर्णशाखा से बछड़ों को पृथक् करता है—ऐसी शतपथश्रुति है ।"

२९—यहाँ से तीसरे स्वर्ग में 'सोम' विद्यमान था । गायत्री ने उसका आहरण किया । उसका पर्ण टूट गया । वही 'पर्ण' बना, यही उस पर्ण का पर्णत्व है । 'ब्रह्म' ही पर्ण है । पर्ण की शाखा से वत्सों के अपाकरण का अर्थ है कि 'ब्रह्म से ही उनका अपाकरण करना" ऐसा तैत्तिरीय श्रुति बता रही है । एक पत्ता टूटकर उसका पलाशवृक्ष कैसे बन गया ?'—यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि विधाता की शक्तियाँ अचिन्त्य हैं । अन्यथा अणुमात्र बीज से महान् वृक्ष कैसे निकल आया ? यही संशय क्यों नहीं करते ? वैसा मान लेने पर भी सर्वत्र 'पर्ण' से वृक्ष की उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं आवेगा । क्यों कि 'फल' को देखकर ईश्वर का यहाँ ऐसा करने का ही सङ्कल्प था, यह कल्पना की जाती है ।

कात्यायन महर्षि ने ऐसा ही विनियोग बताया है—'पर्ण की शाखा का अथवा शामीली वृक्ष की शाखा का छेदन करता है' । यहाँ पर पलाश अथवा शामीली (शमी) वृक्ष की शाखा की कल्पना की गई है। उसके छेदन में 'इषेत्वा' और 'उर्जेत्वा' इन दो मन्त्रों का विनियोग विकल्प से किया गया है । उन दोनों मन्त्रवाक्यों को क्रियापद की अपेक्षा होने से 'छेदन करता हूँ' इस क्रियापद का अर्थज्ञान के लिये अध्याहार करना चाहिये । उव्वटाचार्य ने ऐसा करने का निर्देश देते हुए कहा है कि "अतिरिक्त पद को छोड़ देना चाहिये तथा न्यून पद का निवेश करना चाहिये, जो पद विप्रकृष्ट (दूर) हो उसे समीप लाकर पौर्वापर्य का निश्चय करना चाहिये ।

३०—वाक्य के अनुरोध से लिङ्ग, धातु तथा विभक्ति की योजना करनी चाहिये । वाक्य में जो छान्दस (वैदिक) हो, उसे लौकिक बना लेना चाहिये । लौकिक अध्याहार का उदाहरण, जैसे—'भूताय त्वा', इस मन्त्र में 'परिशेषयामि', तथा 'प्राणायत्वा' इस मन्त्र में 'पिनष्मि' का अध्याहार किया गया है । 'अनुषङ्ग' तो मन्त्र का अवयव ही होता है । जैसे—'अस्मादन्नात्' आदि विष्णुक्रम के मन्त्रों में जो 'ततो निर्भक्तो योऽमान् द्वेष्टि' अंश पढ़ा गया है,

अस्मादन्नान्निक्तिः । अस्यै प्रतिष्ठायै निर्भक्त इत्यादिविष्णुक्रममन्त्रेषु दिवि विष्णू' (वा० सं० २।२५) रित्यादिषु परिपठितमिहाभिसम्बद्धयते अपरिपूर्णं त्वेतत् वाक्यस्य । इह त्वन्यशाखापरिपठितेनाख्यातेन सूत्रकारेण वाक्यपूर्तिः कृता । छिनद्मीति चोभयोः साकांक्षत्वात् सन्नमयामीति वोत्तर इति । सोऽयमेकः पक्षः । 'इषे त्वे'ति छेदनार्थो मन्त्रः । 'ऊर्जे त्वे'ति सन्नमनार्थो मन्त्रः । सन्नमनमृजूकरणम् । तदिदं पक्षान्तरम् । बौधायनस्तूभयोर्वाक्ययोरेकमन्त्रत्वमाश्रित्य तं छेदने विनियुङ्क्ते । तामाच्छिनत्तीषे त्वोर्जे त्वेति । आपस्तम्बस्तु तदभिसन्धाय मन्त्रभेदपक्षमपि किञ्चिदाश्रित्य विनियोगभेदमाह । सन्नयतः पलाशशाखां शमीशाखां वा हरति इषे त्वोर्जे त्वेति तामाच्छिनत्त्यपि वेषेत्वेत्याच्छिनत्त्यूर्जे त्वेति सन्नमयत्यनुमार्ष्टि वेति ।

३१—सन्नयतः सान्नाय्यनामकं दधिरूपं हविः कुर्वत इत्यर्थः । काण्वास्तु मन्त्रभेदं विनियोगभेदं चाश्रित्य तामाच्छिनत्तीषे त्वेति वृष्टये तदाह यदिषे त्वेत्यूर्जे त्वेत्यनुमार्ष्टि यद् वृष्टचा ऊर्ग्रसो जायते तस्मा उ एतदाह तस्मादाहोर्जे त्वेतीति । तां पर्णशाखां इषेत्वेति मन्त्रेणाध्वर्युः साकल्येन छिन्द्यात् छेदनकाले इषे त्वेति यद्वाक्यमाह तद्वृष्टिसिद्धचर्थं ऊर्जे त्वेति मन्त्रेण तां शाखामनुमृज्यात् । अनुमार्जनं आनुलोम्येन तस्य संल्लग्नधूल्याद्यपनयनम् । यदि प्रभूतवृष्टेः सकाशात् व्राहियवाद्यभिबृद्धिहेतुरूर्जशब्दाभिधेयः समीचीनजलात्मको रसो जायते तदा प्राणिनामुपकारो भवति । तदर्थमेवाध्वर्युराह । किमाहेत्याशङ्कय तस्मादाहोर्जे त्वेति वाक्येन तदेव स्पष्टीक्रियते ।

उसका सम्बन्ध यहाँ भी वाक्य की अपरिपूर्णता को दूर करने के लिये किया जाता है । अन्य शाखा में पठित क्रियापद से सूत्रकार ने वाक्य की पूर्ति की है । 'इषेत्वा' और 'उर्जेत्वा' में दोनों ही पद साकाङ्क्ष हैं । अतः 'छिनद्मि' पद से अथवा सन्नयामि' पद से इनकी पूर्ति की जाती है—यह एक पक्ष है ।

'इषेत्वा' यह मन्त्र छेदनार्थ है और 'उर्जेत्वा' यह मन्त्र, सन्नमनार्थ है । 'सन्नमन' का अर्थ ऋजूकरण है—यह दूसरा पक्ष है । किन्तु बौधायन तो दोनों मन्त्रवाक्यों को एक ही 'मन्त्र' मानकर उसका 'छेदन' में विनियोग बताते हैं—'तामाच्छिनत्तीषेत्वोर्जेत्वेति' अर्थात् 'इषेत्वोर्जेत्वा' से उसका छेदन करता है । और आपस्तम्ब तो पूर्वोक्त का अभिसन्धान करते हुए मन्त्र भेद पक्ष का भी कुछ आश्रय लेकर दोनों का भिन्न-भिन्न विनियोग बताया है । 'सान्नाय्य' हवि के निर्माणार्थ 'पलाश' या 'शमी' की शाखा का हरण करता है । 'इषेत्वोर्जेत्वा' मन्त्र से उसका छेदन करता है, अथवा 'इषेत्वा' मन्त्र से उसका छेदन और 'उर्जेत्वा' से उसका सन्नमन अथवा अनुमार्जन करता है ।

३१—'सन्नयतः' का अर्थ है—'सान्नाय्य' नामक पयोदधिरूप हवि का सम्पादन करनेवाले का । काण्वशाखाध्यायी मन्त्रभेद और विनियोग भेद का आश्रय लेकर उसका (शाखा का) छेदन करते हैं । 'इषेत्वा' इस मन्त्र का उच्चारण 'वृष्टि' के लिये है । इसी अभिप्राय को काण्वशाखी इस प्रकार बताता है—'इषेत्वा, उर्जेत्वा' से जो अनुमार्जन करता है, वह वृष्टि से उत्पन्न होनेवाले 'रस' के लिये है । अध्वर्यु उस पर्णशाखा का 'इषेत्वा' इस मन्त्र को बोलकर पूर्णशाखा का छेदन करे । छेदन करते समय 'इषेत्वा' इस वाक्य का उच्चारण 'वृष्टि' के लिये किया जाता है । 'उर्जेत्वा' इस मन्त्र से उस शाखा का अनुमार्जन करे । शाखा को झुका कर उस पर लगी हुई धूलि आदि को स्वच्छ करना चाहिये । यदि उर्ज' पद का अर्थ, प्रभूत (पर्याप्त) वर्षा से व्रीहि–यव आदि की अभिवृद्धि में हेतुभूत 'समीचीन जलात्मक रस' है, तो 'उर्जेत्वा' का उच्चारण करने से प्राणियों का उपकार होता है । इसलिये 'अध्वर्यु' कह रहा है । क्या कह रहा है ? इस प्रश्न के उत्तर में 'उर्जेत्वा' इस वाक्य से उसी को स्पष्ट किया गया है ।

तत्र प्रथमा

३२—हरि ÷ ओम् । इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व-मघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरन मीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघश ंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वी यंजमानस्य पशून्पाहि ॥१॥ (वा० सं० १।१) मन्त्रार्थस्तु—हे शाखे इषे इष्यमाणायै वृष्ट्यै त्वा त्वां छिनद्मि । इष्यते कांक्ष्यते सर्वैर्हि व्रीह्यादिधान्यनिष्पत्तये इतीट्, (इषु इच्छायाम्) इषे इति तादर्थ्ये चतुर्थी । ननु यद्येषणा-क्रियायोगादिह वृष्टिरभिधीयते न तु रूढ्या तदानीं यद्धिरण्यादि किञ्चिदिष्यते तत्सर्वमिड्उच्येत, तथा सति संव्यवहारोच्छेदः स्यादिति चेन्न, यतो हि सिद्धेशब्दार्थसम्बन्धे पश्चादभिधानाभिधेयभावं क्रियाद्वारकं प्रकाशयितुं व्युत्पत्तिः क्रियते । इह तु 'वृष्ट्यैतदाह यदाहेषेत्वा' (श० १।७।१।२) इति श्रुत्यैवेट्पदेन वृष्टिरभिधेयेत्युक्तम्, तथापि व्युत्पत्तिद्वारेण शब्दानां परिज्ञानमभ्युदयहेतुरिति श्रुतिर्दर्शयति । "तत्प्रणीतानां प्रणीतात्वं प्रतिह तिष्ठति य एवमेतत्प्रणीतानां प्रणीतात्वं वेद' (श० १२।८।३।८) इति । एवमेव पुरुषशब्दव्युत्पत्तिं प्रकृत्याह—'स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुष ओषति हवै सतं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद' (श० १४।४।२।२) ऊर्जे त्वेति मन्त्रः शाखा-संनमने विनियुक्तः ।

उसी को स्पष्ट कहनेवाला यह प्रथम मन्त्र है—

(प्रथमा कण्डिका)

३२—हरिः ÷ ॐ । 'इषेत्वोर्जेत्वा' इत्यादि ॥ १ ॥ (वा० सं० १।१) ।

मन्त्रार्थ—हे शाखे [इषे] अभीष्ट वर्षा के लिये [त्वा] तुम्हें काटता हूँ । 'इषे' पद की निष्पत्ति 'इषु इच्छायाम्' धातु से बने हुए इट्' शब्द से हुई है । जो धातु के अर्थ में ही विहित चतुर्थी विभक्ति के एक वचन का रूप है । व्रीहि आदि धान्यों की निष्पत्ति के लिये सभी के द्वारा वृष्टि की कामना की जाती है । अतः 'इट्' शब्द से 'वृष्टि' का ग्रहण किया गया है ।

शङ्का—यदि एषणा क्रिया के सम्बन्ध से यहाँ पर जिसकी इच्छा की जा रही है, उस 'वृष्टि' का ग्रहण किया गया है, तो उस 'वृष्टि' रूप अर्थ का ग्रहण, 'रूढि' से हुआ नहीं कहा जायगा । अर्थात् उस अर्थ को 'रूढ्यर्थ' न कहकर 'यौगिक' कहा जायगा । क्योंकि उक्त अर्थ को यौगिक व्युत्पत्ति से ग्रहण किया गया है । तब तो अन्य सुवर्ण (हिरण्य) आदि वस्तुओं की भी एषणा (अभिलाषा) होती है, अतः उनका भी यहाँ ग्रहण हो सकने से उन्हें भी 'इट्' शब्द से कहना होगा । तब तो शब्दों के सुनियत व्यवहार का ही उच्छेद होने लगेगा ।

समा०—उक्त आशङ्का के समाधानार्थ एक अन्य सिद्धान्त समझना होगा कि 'शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य हुआ करता है, उस नित्य सम्बद्ध अर्थ को ही बाद में 'क्रिया' के द्वारा 'वाच्य-वाचकभाव' (अभिधानाभिधेयभाव) से प्रकाशित करने के लिये व्युत्पत्ति की जाती है । यहाँ तो 'वृष्टचै' इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के द्वारा ही 'इट्' पद से 'वृष्टि' को बताया जा रहा है—कह दिया गया है, तथापि व्युत्पत्ति के द्वारा शब्दों का ज्ञान प्राप्त करना अभ्युदय-कारक होता है, इस बात को भगवती श्रुति बता रही है—'तत् प्रणीतानाम्प्रणीतात्वं'—वह प्रणीता का प्रणीतात्व है, जो उसको जानता है वह प्रतिष्ठित होता है इसी प्रकार 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में कहा गया है—"स यत्पूर्वोऽस्मात्" इत्यादि । 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'पुरा औषत्' इति पुरुषः । 'पुरा' सब से पहिले सभी पापों को 'औषत्' भस्म कर दिया, इसलिये इसे (पुरा औषत्) 'पुरुष' कहते हैं ।

३३—शाखैव देवता। हे शाखे त्वा त्वां सन्नमयामि इति वाक्यशेषः। ऋजूकरोमीत्यर्थः। किमर्थम् ऊर्जे रसाय (ऊर्ज बलप्राणनयोः) इति धातोर्निष्पन्नत्वात्। ऊर्जइति वृष्टिगतो बलात्मको रसःसर्वान् मनुष्यपश्वादीन् बलयति पानादिना दृढशरीरान् करोति, प्राणयति प्रकर्षेण चेष्टयति वेति व्युत्पत्तिभ्यामूर्जपदेन वृष्टिगतो जलात्मकोरस उच्यते। तस्मै रसाय त्वामनुमार्ज्मि। श्रुत्याप्ययमेवार्थोद्दृढीक्रियते। 'यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह' (श० १।७।१।२) इति श्रुतेः। उक्तमन्त्रद्वयपाठेनाध्वर्युरिष्यमाणमन्नं बलकरमाज्यक्षीरादिरसं च यजमाने सम्पादयत्येव 'इषे त्वोर्जेत्वेत्याह। इषमेवोर्जं यजमाने दधाति।' (तै० ब्रा० ३।२।१।३) इति तित्तिरिवचनात्। न चात्र प्रत्यक्षविरोधः, अर्थवादस्य प्रशंसारूपगुणवादत्वाङ्गीकारात्। यदा कदाचिदन्नरसयोर्यत्सम्पादनं तस्यैतन्मन्त्रफलत्वाङ्गीकारेण भूतार्थवादत्वमपि सम्भवत्येव। यद्वा तथाभूतमन्त्रसंस्कृतसान्नाय्यहविर्दानेनाग्नेर्धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिर्जायते।

३४—श्रुतिश्चात्र भवति—'अग्नेर्वैधूमोजायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः' (श०५।३।५।१७) तथा—'इतः प्रदानाद्वै वृष्टिरितोह्यग्निर्वृष्टिंवनुते स एतैः स्तोकैरेतांस्तोकान्वनुते त एते स्तोका वर्षन्ति' (श० ३।८।२।२२) इति।

'वायवःस्थ' इति मन्त्रेण वत्सं शाखयोपस्पृशति। 'मातृभिर्वत्सान्संसृज्य वत्सं शाखयोपस्पृशति वायवः स्थेति' (का० श्रौ० सू० ४।२।७) इति कात्यायनवचनात्। अस्य मन्त्रस्य वायुर्देवता। वान्ति गच्छन्तीति वायवो गन्तारः हे वत्सा यूयं वायवः स्थ भवत। यथा वायुर्वृष्टिद्वारेण गवामाप्यायक एवं यूयम् प्रस्नुतिद्वारेणाप्यायका भवथेत्यर्थः। यद्वा हे वत्सा यूयं मातृभ्यः सकाशात् अन्यत्र गन्तारो भवथ। मातृभिः सहगमने सायं पयोलाभासम्भवात्। अथवा यथा

३३—इस 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति को जो जानता है वह भी ज्ञान और उपासना के अथवा ज्ञान के बल से उन सभी को अभिभूत कर देता है, जो इस ज्ञानी से पूर्व 'प्रजापति' बनना चाहता है। ऊर्जेत्वा'—यह मन्त्र, 'शाखा के सन्नमन' में विनियुक्त है। 'शाखा' ही उस मन्त्र की देवता है। हे शाखे ! मैं तुम्हें, 'सन्नमयामि'=ऋजु करता हूँ अर्थात् सीधा करता हूँ—यह अंश, उर्जेत्वा' का 'वाक्यशेष' कहलाता है अर्थात् पूरक अंश है। किसलिये सन्नमन किया जा रहा है ? तो कहा 'ऊर्जे' रस के लिये। 'ऊर्क्' पद की निष्पत्ति 'ऊर्ज बल प्राणनयोः' धातु मे होती है। 'ऊर्ज' अर्थात् वृष्टिगत बलात्मकरस, सम्पूर्ण मनुष्य, पशु आदिकों को यानी पानादि क्रियाओं के द्वारा उनके शरीरों को सुदृढ़ करता है,बलवान् बनाता है। अतः उसे 'ऊर्ज' कहा गया है। "प्राणयति प्रकर्षेण चेष्टयति वा' इस द्विविध व्युत्पत्ति के बल पर 'ऊर्ज' पद का अर्थ 'वृष्टिगत जलात्मक रस' किया जाता है। उस रस की प्राप्ति के लिये हे शाखे ! तुम्हारा मैं अनुमार्जन करता हूँ। "यो वृष्टात्" इत्यादि श्रुति से भी इसी अर्थ को पुष्ट किया गया है। उक्त दोनों मन्त्रों के उच्चारण से 'अध्वर्यु', अभीष्ट बल का प्रदान करने वाले आज्य, क्षीर आदि रस को यजमान के लिये सम्पादित करता है। तित्तिरि का भी इसी प्रकार वचन है ? इस कथन का 'प्रत्यक्ष' से भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि अर्थवादवाक्यों को प्रशंसारूप गुणवाद के रूप में स्वीकार किया जाता है। जब कभी यजमान के शरीर में अन्न और रस का सम्पादन होगा, वह इसी मन्त्र के उच्चारण का फल है, ऐसा स्वीकार किये जाने पर वह भूतार्थवाद भी हो सकता है। अथवा इस प्रकार मन्त्र के द्वारा संस्कारयुक्त 'सान्नाय्य हवि के प्रदान में 'अग्नि' से 'धूम' होता है, 'धूम' से 'मेघ' उत्पन्न होते हैं। 'मेघ' से 'वृष्टि' होती है।

३४—इस बात को श्रुति ने भी बताया है—जैसे, "अग्नेर्वै धूमो जायतेः", तथा "इतः प्रदानाद्वै वृष्टिः" इत्यादि। "वायवः स्थ" इस मन्त्र से वत्स (बछडे) का शाखा से स्पर्श कराता है, "मातृभिर्वत्सान्" इत्यादि कात्यायनवचन भी उक्तार्थ को पुष्ट कर रहा है। इस मन्त्र की देवता—'वायु' है। 'वान्तिगच्छन्तीति वायवो गन्तारः'—गमन क्रियाशील होने से उसे 'वायु' कहा जाता है। हे वत्सों ! तुम वायु हो जाओ। जैसे वायु, वर्षा के द्वारा गौओं को तृप्त करता है, वैसे ही तुम भी 'प्रस्नुति' के द्वारा गौओं के तृप्तिकारक बनो। अथवा "हे वत्सों ! तुम माताओं के समीप से अन्यत्र चले जाओ।" माताओं के साथ जाने से सायंकाल दूध की प्राप्ति नहीं होगी। अथवा पादप्रक्षालन तथा निष्ठीवन (थूकना) आदि से अपवित्र हुई भूमि को वायु जिस प्रकार शुद्ध करके पवित्र बनाता है, वैसे ही बछड़े

वायुः पादप्रक्षालननिष्ठीवनादिभिरुपहतां भूमिं शोधयित्वा पुनाति एवं वत्सा अपि अनुलेपनहेतुभूतगोमयादिदानेनभूमिं पुनन्ति, तस्माद्वायुसादृश्यम् ।

३५--यद्वा मनुष्याणामिव स्वनिवासाय गृहनिर्माणसामर्थ्याभावात् । निरावरणेऽन्तरिक्षे सञ्चरणादन्तरिक्षमेव-पशूनां देवता । तस्यान्तरिक्षस्य वायुरधिपतिः । स च वायुरेतान् पशून् स्वावयवानिव पालयतीति पशूनां वायुरूपत्वम् । तथाविधपालनायपशून् वायवे समर्पयितुं वायुरूपत्वमापाद्य वायवः स्थेति मन्त्रः प्रवर्तते इति सर्वमेतदाह तित्तिरिः—'वायवः स्थेत्याह । वायुर्वाऽन्तरिक्षस्याध्यक्षः अन्तरिक्षदेवत्याः खलुवैपशवो वायवएवैनान्परिददाति' (तै० ब्रा० ३।२-१।३) इति । तेन वायुरूपत्वमुच्यते । अथवा तृणभक्षणायाहनि तत्र तत्रारण्ये चरित्वा सायंकाले वायुवेगेन यजमानगृहे समागमनाय पशून् प्रकर्षेणाकारयितुं वायुरूपत्वमुच्यते ।

३६—प्रवा एनानेतदाकरोति । यदाह वायवः स्थेति' (तै० ब्रा० ३।२।१।४) 'देवो वः सविता प्रार्पयतु' इति मन्त्रेण वत्सानां मातरो या गावः सन्ति तासां मध्ये गामेकां पृथक्कृत्य तां शाखयोपस्पृशेत् । 'देवो व' इति मातृणामेकां व्याकृत्यैन्द्रं भवति माहेन्द्रं वा' (का० श्रौ० सू० ४।२।८।१०) इति कात्यायनस्मरणात् । तदर्थस्तु वत्सानां मातरो या गावः सन्ति तासां मध्ये गामेकां व्याकृत्य पृथक्कृत्य देवो व इति मन्त्रेण शाखयोपस्पृशेत् । तथा सति गोसम्बन्धि दधि-रूपं हविरैन्द्रं माहेन्द्रं वा भवति । एकस्यैव वत्सस्यैकस्या एव गोः शाखयोपस्पर्शनेन सर्वेषां वत्सानां सर्वासां गवां च संस्कारः सिद्ध्यति बहुवचनसामर्थ्यात् । मन्त्रार्थस्तु सविता षूप्रेरणे सुवति स्व स्वव्यापारे प्रेरयतीति सविता । देवः द्योतमानः परमेश्वरः । 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा' (नि० ६।१५) इति यास्कः ।

३७--हे गावः ! वो युष्मान् प्रार्पयतु प्रभूतघासजलाद्युपेतं वनं गमयतु । किमर्थं श्रेष्ठतमाय कर्मणे । कर्महि

भी अनुलेपन के साधनभूत गोमय आदि का प्रदान करके भूमि को पवित्र करते हैं, इस रीति से वत्स और वायु का साहृश्य है।

३५—अथवा मनुष्यों की तरह अपने निवास के लिये गृहनिर्माण करके रहना पशुओं के लिये सम्भव नहीं होता, वे निरावरण अन्तरिक्ष में घूमते रहते हैं । अतः पशुओं की देवता—'अन्तरिक्ष' ही है । उस अन्तरिक्ष का अधि-पति—'वायु' है । वह वायु, इन पशुओं का पालन अपने अङ्गावयवों के समान करता है । अतः पशु भी वायुरूप ही हैं । इस प्रकार के पालन के लिये पशुओं को वायु के अर्पित करने के लिये, उन्हें वायु के रूप प्रस्तुत करके "वायवस्थ" इस मन्त्र की प्रवृत्ति हुई है । इस सम्पूर्ण विषय को तित्तिरि ने 'वायवः स्थ' मन्त्र से कहा है—"वायु, अन्तरिक्ष का अध्यक्ष है, और अन्तरिक्ष, पशुओं की देवता है, इसलिये 'पशु', वायुरूप हो हैं । वह वायु, इन पशुओं का पालन करता है।" इसी कारण पशुओं को वायुरूप कहा जाता है । अथवा दिन में तृणभक्षणार्थ 'वन' में यत्र-तत्र विचरण करके सायंकाल यजमान के घर वायुवेग से पहुंचने के लिये उन्हें समुचित प्रकर्ष के साथ बुलाने के लिये पशुओं को वायुरूप कहा गया है ।

३६—कात्यायन महर्षि ने भी अपने श्रौतसूत्र में बताया है कि वत्सों की माताएँ जो गौएँ हैं, उनमें से एक 'गौ' को पृथक् करके 'देवो वः' इस मन्त्र से 'शाखा' के द्वारा उसका स्पर्श करे। ऐसा करने से गौ का दधिरूप हविः पदार्थ 'ऐन्द्र' (इन्द्रदेवता सम्बन्धी), या 'माहेन्द्र' (महेन्द्रदेवता सम्बन्धी) बन जाता है । एक ही 'वत्स' अथवा एक ही 'गौ' का शाखा से स्पर्श करने पर सभी 'वत्सों' का तथा सभी 'गौओं' का संस्कार सिद्ध हो जाता है, क्योंकि विधि-वाक्य में 'बहुवचन' का निर्देश किया गया है । अथवा पूजार्थ को सूचित करने के लिये भी बहुवचन का निर्देश हो सकता है । "देवो वः सविता प्रार्पयतु—श्रेष्ठतमाय कर्मणे ।"

३७—हे गौओं ! प्रकाशमान परमेश्वर तुम्हें श्रेष्ठतम कर्म के लिये प्रचुर घास, जल आदि से युक्त वन में पहुँचावे ।" 'सविता' पद की निष्पत्ति 'षू प्रेरणे' धातु से होती है । 'सुवति स्वव्यापारे प्रेरयति इति सविता'—अपने

चतुर्विधम्-अप्रशस्तम् यथा लोकशास्त्रविरुद्धं वधबन्धचौर्यादिकं (२) प्रशस्तं यथा लौकिकैः श्लाघनीयं बन्धुवर्गपोषणादिकम् (३) श्रेष्ठं यथा स्मृतिभिः श्लाघनीयं वापीकूपतडागादिकं (४) श्रेष्ठतमम् यथा वेदैः श्लाघनीयं यज्ञरूपम्। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (श० १।७।१।५) इति श्रुतेः। हे अघ्न्याः, गावः, गोवधस्योपपातकत्वाद् गावो हन्तुमयोग्या अघ्न्या उच्यन्ते। एतावता गोवधः सर्वथा वेदविरुद्ध एव।

३८—तथाविधा यूयम्। इन्द्राय भागं इन्द्रदेवतामुद्दिश्य सम्पादयिष्यमाणदधिहेतुभूतं क्षीरम् आप्यायध्वम् समन्तात् वर्धयद्ध्वम्। सर्वास्वपि गोषु प्रभूतं क्षीरं कुरुत। (ओप्यायी वृद्धौ)। वो युष्मानपहर्तुं स्तेनश्चौरो मा ईशत ईश्वरः समर्थो माभूत्। अघशंसः, अघेन तीव्रपापेन भक्षणादिना शंसो घातको व्याघ्रादिरपि मा ईशत हन्तुं समर्थो माभूत्। कथंभूता युष्मान् प्रजावतीः बह्वपत्या-, जीवद्वत्सा वा। अनमीवाः (अमरोगे) इति धातुः। अमीवा व्याधिविशेषः, तद्रहिताः कृमिदष्टत्वादिस्वल्परोगरहिताः। अयक्ष्माः क्षयादिप्रबलरोगरहिताः। अथवा अयनम् अयः गमनम्, अयःक्ष्मायां पृथिव्यां घासादिभक्षणार्थं यासां ता अयक्ष्मा अनिवारितप्रचाराः। किञ्च यूयं गोपतौ गवां युष्माकं पत्यावस्मिन् यजमाने ध्रुवाः शाश्वतिकीः बह्वीः बहुविधाः स्यात भवत।

'यजमानस्य पशूनित्यग्न्यगारस्यान्यतरस्य पुरस्तात् शाखामुपगूहति' (का० श्रौ० सू० ४।२।११) इति रीत्या-पलाशशाखामुन्नतप्रदेशे स्थापयित्वा प्रार्थयते हे पलाशशाखे, त्वमुन्नतप्रदेशे स्थिता प्रतीक्षमाणा सती यजमानस्य पशूनरण्ये सञ्चरतश्चोरव्याघ्रादिभयात् पाहि रक्ष। यद्यप्यचेतना शाखा, तथापि तदभिमानिनीं देवतामुद्दिश्यैवं वक्तुं शक्यते।

अपने व्यापार में जो प्रेरित करता है, उसे 'सविता' कहते हैं। तथा प्रकाशमान परमेश्वर को 'देव' कहते हैं। 'दान, दीपन और द्योतन के कारण 'देव' कहे जाते हैं-ऐसा यास्क ने कहा है। ऊपर कहचुके हैं कि परमेश्वर श्रेष्ठतम कर्म के निमित्त शाद्वल वनभूमि पर गौओं को प्रेषित करे। अतः कर्म के सम्बन्ध में भी जो ज्ञातव्य है, उसे समझना आवश्यक है। 'कर्म' चार प्रकार के होते है—(१) अप्रशस्त, जैसे लोक तथा शास्त्र के विरुद्ध वध, वन्ध, चौर्य आदि। (२) प्रशस्त जैसे—समाज के द्वारा प्रशंसित बन्धुवर्गों का पोषण आदि। (३) श्रेष्ठ, जैसे—स्मृतियों के द्वारा श्लाघनीय वापी, कूप, तडागादि का निर्माण करना। (४) श्रेष्ठतम, जैसे—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (श० प० १।८।१।५) इत्यादि वेदवाक्यों के द्वारा प्रशंसित यज्ञादि। गोवध का उपपातकों में परिगणन होने से उन्हें (गौओं को) न मारने योग्य बताया है। अतएव उनके लिये 'अघ्न्याः' पद का प्रयोग किया गया है। इसलिये 'गोवध' सर्वथा वेद-विरुद्ध ही है।

३८—हे अवध्य गौओं ! तुम सब इन्द्र देवता के उद्देश्य से सम्पादित होने वाले 'दधि' के हेतुभूत 'दुग्ध' को बढ़ाओ। सभी गौओं में प्रचुर दुग्ध की उत्पत्ति हो। तुम्हारे अपहरण में चोर समर्थ न होने पावें। भक्षणरूप तीव्र पाप के कारण घातक कहलाने वाले वृक, व्याघ्र, चाण्डाल आदि भी तुम्हें मारने में समर्थ न हो सकें। तुम प्रजावतीं अर्थात् अनेक बछड़ोंवाली अथवा जीवित बछड़ोंवाली हो। हे गौओं ! तुम कृमि-कीटादि के दंश (काटने) से उत्पन्न होने वाले स्वल्प रोगों से तथा यक्ष्मा (क्षय) आदि प्रबल रोगों से सर्वथा रहित रहो। अथवा 'अयक्ष्मा'—अयनं अयः गमनं, क्ष्मा पृथिवी। अतः पृथिवी पर ग्रास-तृण आदि के भक्षणार्थ तुम्हारा भ्रमण अप्रतिहत रहे। तथा हे गौओं ! तुम सभी अपने गोपति यजमान के लिये स्थायो एवं विविध प्रकार के लाभ पहुँचाती हुई बनी रहो-

'यजमानस्य पशून्' इत्यादि कात्यायनोक्त रीति से पलाशशाखा को ऊंचे स्थान पर स्थापित करके उस की प्रार्थना की जाती है कि पलाशशाखे ! तुम ऊंचे स्थान पर स्थित होकर देख-भाल करती हुई, इस यजमान के, विचरणार्थ गये हुए पशुओं की वन में चोरों से तथा हिंसक सिंह आदि घातक प्राणियों के भय से रक्षा करना। पलाशशाखा यद्यपि अचेतन है, तथापि उसकी अभिमानिनी अधिष्ठात्री देवता से यह प्रार्थना की जाती है।

३९—यथा शास्त्रज्ञाः शालग्रामादौ शास्त्रदृष्ट्या विष्णवादिसन्निधिमभिप्रेत्यैव तं सम्बोधनावाहनादिभिः षोडशोपचारैरर्चन्ति तद्वदत्रापि बोध्यम्। अनया शाखादेवतया रक्षितत्वादेव गावो निरुपद्रवाः सायंकाले पुनः समागच्छन्ति। तदुक्तं तित्तिरिणा—'यजमानस्य पशून् पाहीत्याह। पशूनां गोपीथाय। तस्मात् सायं पशव उप समावर्तन्ते' (तै०ब्रा० ३।२।१।५) इति। तथैव काण्वश्रुतिः 'पलाशशाखा आहवनीयागारस्य गार्हपत्यागारस्य वा पूर्वार्धं उपगूहतीति यजमानस्य पशून् पाहीति ब्रह्मणैवैतद्यजमानस्य गुप्तये परिददाति' एतद्ब्राह्मणैव एतेन मन्त्रेणैव रक्षार्थं शाखाभिमानिदेवतायै समर्पयतीत्यादि। कात्यायनोऽपि 'यजमानस्य पशूनित्यग्न्यगारस्यान्यतरस्य पुरस्ताच्छाखामुपगुहति' (का० श्रौ० सू० ४।२।११) इति।

४०—अयमभिप्रायः देवताराधनरूपो यागोभवति। देवताश्चानन्तशक्तिपरमेश्वरांशत्वात् महाभाग्याः परमैश्वर्यवन्तो दिव्याश्च भवन्ति। ताभ्यो दास्यमानेन हविषापि दिव्येनैव भाव्यमिति। तेन लौकिकेभ्योऽविलक्षणानामपि दुग्धदध्नां दिव्यत्वापादनाय गवां वत्सानाञ्च संस्कारः क्रियते। किं बहुना तत्संस्कारार्थमुपादीयमानपलाशादिशाखानां छेदनानुमार्जनादयोऽपि स्वाध्यायाध्ययनसंस्कृतैर्मन्त्रैः संस्क्रियन्ते। अतएव व्रजसीमन्तिन्यश्च श्रीकृष्णोद्देशेन निर्मथ्यमानदधिनवनीतादीनां सौष्ठवमाधुर्यसौरस्यापादनाय भक्तिभावनासंस्कृतान्नघासादिखादनादिभिर्धेनवो वत्साश्च संराध्यन्ते। पात्राण्येधांसि पयःपाकोपयुक्ताग्नीन् संस्कृत्य तथाविधेनातञ्चनेनामृततुल्यं मधुमधुरं दधिनिर्मथ्य श्रीकृष्णागमनं प्रतीक्षन्ते।

४१—इष् शब्दगतो इकारो धातुस्वरेण प्रतिपदिकस्वरेणोदात्तः। 'चतुर्थ्येकवचनस्य' 'अनुदात्तौ सुप्पिता'

३९—जैसे शास्त्रज्ञ विद्वान् शिलाविशेष में शास्त्रदृष्टि से विष्णु सन्निधान मानते हुए उन्हें उस शिला में सम्बोधित करते हैं, उनका आवाहन और षोडशोपचारों से पूजनादि सम्पन्न करते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। इस शाखा की अभिमानिनी अधिष्ठात्री देवता से सुरक्षित होती हुई ही गौएं, विविध बाधाओं से मुक्त होकर सायंकाल पुनः आजाती हैं। तित्तिरि ने 'यजमानस्य पशून्' इत्यादि से, काण्व श्रुति ने 'पलाशशाखा' आदि से, कात्यायन ने 'यजमानस्य पशून्' इत्यादि से इसी का विवरण किया है।

४०—इसका अभिप्राय यह है कि 'याग',—देवता की आराधना स्वरूप है। देवता, परमेश्वर के अंश होने के कारण महाभाग्यवान्, परम ऐश्वर्यशाली, तथा दिव्य है। उनको जो हवि दिया जाय, वह भी दिव्य ही होना चाहिये। अतएव जो 'दुग्ध' और 'दधि' लौकिक दुग्ध, दधि के समान ही है, उनमें दिव्यता लाने के लिये गौओं तथा बछड़ों का संस्कार किया जाता है। और तो क्या! उनके संस्कार के लिये उपयोग में आने वाली पलाशवृक्ष की शाखाओं का छेदन तथा उनका मार्जन आदि भी 'स्वाध्याय' (स्वकुल परम्परागत वेदशाखा) के अध्ययन से सुसंस्कृत मन्त्रों के द्वारा सम्पादित होता है। 'स्वाध्यायः' में 'स्वश्चासौ अध्यायः स्वाध्यायः' ऐसा कर्मधारय समास किया जाता है। 'तत्पुरुषसमास' नहीं करना चाहिये। अस्तु।

इसीलिये उपर्युक्त कथन के अनुसार ही व्रजाङ्गनाओं ने भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के उद्देश्य से निर्मित होने वाले दधि, नवनीत आदि में सौष्ठव, माधुर्य और सरसता का लोकोत्तर समावेश करने के लिये भक्ति और भावना से परिप्लुत हुए अन्न, तृण आदि को खिला-कर धेनु (गौओं) और उनके वत्सों (बछड़ों) की आराधना की थी। वे गोपिकाएं खिलाने के पात्रों को, काष्ठों को, दूध गरम करने वाले अग्नि को सुसंस्कृत कर और उसी प्रकार आतञ्चन (जामन) के द्वारा अमृततुल्य मधु से मधुर दधि का मन्थन करके भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के आगमन की प्रतीक्षा किया करतीं थी।

४१—'ईषेत्वा' में 'इष' शब्दगत 'इ' कार, उदात्त है। 'त्वा' अनुदात्त है। किन्तु संहिता में 'त्वा' स्वरित है। इसी प्रकार उत्तर मन्त्रों में स्वर प्रक्रिया कर लेनी चाहिये, उसके परिज्ञानार्थ महीधर भाष्य को देखना उचित है।

(पा० सू० ३।१।४) वित्यनुदात्तत्वे प्राप्ते तदपवादेन 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्ति' (पा० सू० ६।१।१६४) रित्युदात्तत्वम् । तस्मिन् सति अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा० सू० ६।१।१५४) इति पूर्व इकारोऽनुदात्तः । यद्यप्येकशब्देन द्वयोरनुदात्तयोरन्यतरो यः कोऽपि वक्तुं शक्यते तथापि सति शिष्टस्वरो बलीयानिति (६।१।१५४ स्थलीयेन) न्यायेन विभक्तिगत उदात्त एव प्रबलः । तथा सति अनुदात्तादिकमुदात्तान्तमिदं सम्पन्नम् । त्वा शब्दस्य प्रातिपदिकस्वरेण यद्यप्युदात्तत्वं प्राप्तं तथापि अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (पा०सू० ८।१।१८) इत्यस्य सूत्रस्यानुवृत्तौ सत्यां 'त्वामौ द्वितीयाया' (पा० सू० ८।१।२३) इति त्वादेशविधानादयं शब्दोऽनुदात्तः । संहितायां'मुदात्तादनुदात्तस्य स्वरित' (पा० सू० ८।४।६६) इति त्वा शब्दस्य स्वरितत्वम् । 'ऊर्जेत्वा' इत्यत्रापि यथोक्तरीत्या स्वरो ज्ञेयः । मन्त्रद्वयस्य संहितायामूर्जे इत्युकारस्य 'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानां' (पा०सू० १।२।३९) मिति प्रचयाभिधेयमैकश्रुत्यं प्राप्तम् । तदपवादकत्वेन उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः' (पा० सू० १।२।४०) इत्यत्यन्तनीचोऽनुदात्तो भवति, तथाग्रिम त्वा शब्दस्य स्वरितत्वम् । एवमुत्तरेषु मन्त्रेषु स्वरप्रक्रियोहनीया विशेषतो महीधरभाष्यं द्रष्टव्यम् ।

४२-'इषेत्वोर्जेत्वा' (वा० सं० १।१) इत्यत्र स्वामी दयानन्दः—"इषे अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये । इषमित्यन्ननामसु पठितम् । (निघण्टु २।७।१४) 'इषतीति गतिकर्मसु पठितम्' (निघण्टु २।१४।१००) त्वा विज्ञानस्वरूपं परमेश्वरं ऊर्जे पराक्रमोत्तमरसलाभाय 'ऊर्ज् रसः' (श० ५।१।२।८) त्वा अनन्तपराक्रमानन्दरसघनम् 'वायवः' सर्वक्रियाप्राप्तिहेतवः स्पर्शगुणा भौतिकाः प्राणादयः । वायुरिति पदनामसु पठितम् (निघण्टु ५।४।१) अनेन प्राप्तिसाधका वायवो गृह्यन्ते । वा गतिगन्धनयोरित्यस्मात् (कृ वा० पा० उ० १ १) अनेनाप्युक्तार्थो गृह्यते 'स्थ' सन्ति । अत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमपुरुषस्य स्थाने मध्यमपुरुषः । 'देवः' सर्वेषां सुखानां दाता सर्वविद्याविद्योतकः । 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानोभवतीति वा', (नि० ७।१५) 'वः' युष्माकम् 'सविता' सर्वजगदुत्पादको, जगदीश्वरः 'प्रार्पयतु' प्रकृष्टतया संयोजयतु । 'श्रेष्ठतमाय' अतिशयेन प्रशस्तः श्रेष्ठः, सोऽतिशयितः श्रेष्ठतमः तस्मै यज्ञाय 'कर्मणे' कर्तुंयोग्यत्वेन सर्वोपकारार्थाय 'आप्यायध्वम्' आप्यामहे वा । अत्र पक्षे व्यत्ययः । 'अघ्न्या' इति गोनामसु पठितम् । (निघण्टु २।११।१) 'इन्द्राय' परमैश्वर्ययोगाय 'भागं' सेवनीयं भगानां धनानाम् ज्ञानानां वा भाजनम् 'प्रजावतीः' भूयस्यः प्रजा वर्तन्ते यासु ताः । अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । 'अनमीवाः' अमीवो व्याधिर्न विद्यते यासु ताः । 'अम्रोगे' इत्यस्मात् औणादिक ईवन् प्रत्ययः । 'अयक्ष्माः' न विद्यते यक्ष्मा रोगराजो यासु ताः । यक्ष इत्यस्मात् अर्तिस्तु० उ० १।१४० अनेन मन्प्रत्ययः । 'मा' इति निषेधार्थे । 'वः' ताः अत्र पुरुषव्यत्ययः । 'स्तेनः' चोरः । 'ईशत' ईष्टाम् समर्थो भवतु । लोडर्थेलङ् 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपोलुगभावः । 'मा' निषेधार्थे । 'अघशंस' योऽघं पापं शंसति सः ।

४२—'इषेत्वोर्जेत्वा' इस मन्त्र पर स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि (इषे) अन्न,विज्ञान की प्राप्ति के लिये (त्वा) विज्ञान स्वरूप परमेश्वर से (ऊर्जे) पराक्रमरूप उत्तम रस के लाभार्थ (त्वा) अनन्त पराक्रम आनन्दरस घनरूप। (वायव) समस्त क्रियाओं की प्राप्ति के हेतु भौतिक स्पर्श गुण प्राण आदि,—इससे प्राप्ति के साधक वायु आदि का ग्रहण होता है । (स्थ) हैं । यह पुरुषव्यत्यय से प्रथमपुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष का प्रयोग है । (देवः) समस्त सुख का प्रदाता, समस्त विद्याओं का द्योतक, (वः) तुम लोगों के लिये (सविता) समस्त जगत् का उत्पादक जगदीश्वर (प्रार्पयतु) प्रकृष्टरूप से संयोजित करे । (श्रेष्ठतमाय) यज्ञ (कर्मणे) काम के लिये, (आप्यायध्वम्) हम आप्यायित हों । यहाँ पक्ष में व्यत्यय है । (अघ्न्याः) बढ़ाने योग्य, मारने के अयोग्य, गौएँ, इन्द्रियाँ, पृथिवी आदि तथा पशु । (इन्द्राय) परमैश्वर्य के साथ योग के लिये, (भागम्) सेवनीय, धन या ज्ञान के भाजन, (प्रजावतीः) जिनकी बहुत प्रजा हैं । (अनमीवः) व्याधि से रहित । (अयक्ष्माः) जिनमें यक्ष्मा नामक रोगराज नहीं है, [अयक्ष्मा शब्द 'यक्ष' से 'मन्' प्रत्यय होकर सिद्ध है] यहाँ 'मा' निषेधार्थक है । ['वः', 'ताः',- यहां पुरुष में परिवर्तन है] 'स्तेनः' अर्थात् चौर, 'ईशत्' अर्थात् समर्थ बने । 'लोट्' के अर्थ में 'लङ्' लकार का प्रयोग है । 'शप्' के लुक् का 'बहुलंछन्दसि' सूत्र से अभाव हुआ है । 'मा' निषेधार्थक है । 'अघशंसः' का अर्थ है पाप की प्रशंसा या कथन करने

'ध्रुवाः' निश्चलसुखहेतवः । 'अस्मिन्' प्रत्यक्षे । गोपतौ यो गवां पतिः स्वामी तस्मिन् । 'स्यात्' भवेयुः । बह्वीः बह्व्यः । 'वाछन्दसि' (पा० सू० ६।१०६) अनेन पूर्वसवर्णदीर्घः । 'यजमानस्य' यः परमेश्वरं सर्वोपकारं धर्मं च यजति तस्यविदुषः गोऽश्वहस्त्यादीन् श्रियः प्रजा वा । 'श्रीर्हिपशवः' (श० १।८।१।३६) 'प्रजावै पशवः' (श० १।६।१।१७) । (पृ० ८-१०) हे मनुष्याः अयं सविता देवो भगवान् वायवः स्थ यान्यस्माकं वो युष्माकं च प्राणान्तःकरणेन्द्रियाणि सन्ति तानि श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु । वयमिषेऽन्नायोत्तमेच्छायै सवितारं देवं त्वा त्वां तथोर्जे पराक्रमोत्तमरसप्राप्तये भागं भजनीयं त्वा त्वां सततमाश्रयामः । एवं भूत्वा यूयमाप्यायध्वं वयं चाप्यायामहे । हे परमेश्वर भवान् कृपयाऽस्माकमिन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये श्रेष्ठतमाय कर्मणे चेमाः प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा अघ्न्या गाः सदैव प्रार्पयतु । हे परमात्मन् भवत्कृपयास्माकं मध्ये कश्चिदघशंसः स्तेनो मेशत हर्तुं समर्थो न भवेत् यतोऽस्मिन् गोपतौ पृथिव्यादिरक्षणमिच्छुकस्य धार्मिकमनुष्यस्य समीपे बह्वीर्बह्व्यो गावो ध्रुवाः स्यात् भवेयु" (पृ० २१) रिति ।

४३—तदत्रोच्यते,सर्वथाऽविचारितरमणीयोऽयमर्थः मन्त्रगतपदार्थवैपरीत्यात् तत्र-तत्र विपरिणामास्तु तेनैव दर्शिताः ।

४४—निर्मूलमेव स्वाभिप्रायेण विपरिणाममभ्युपगम्यमाने लौकिकानां वैदिकानाञ्चार्थानां मूलाभिप्रायवैपरीत्यमेवापद्यते । प्रथमेन त्वा इति पदेन विज्ञानस्वरूपः परमात्मेत्युच्यते द्वितीयेनानन्तपराक्रमः परमेश्वर इत्यत्र किंमूलमिति मूलभाष्यकृता किमपि नोक्तम् । विवरणकृता निरर्थकं बहु ब्रुवाणेनापि नात्र किमप्युक्तम् ।

४५-भाष्यारम्भ एव दयानन्देनोक्तम्--'अथोत्तमकर्मसिद्ध्यर्थमीश्वरः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते' इति ।

वाला । 'ध्रुवाः' निश्चल सुख के हेतु । 'अस्मिन्' अर्थात् प्रत्यक्ष । 'गोपतौ' जो गौओं का पति अर्थात् स्वामी है, उसमें । हे मनुष्यों ! यह भगवान् सविता देव, हमारे और तुम्हारे प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियां आदि को श्रेष्ठतम कार्य के लिये प्रकर्ष रूप से अर्पित करे । हम उत्तम इच्छारूपी अन्न के लिये, उत्तम रस या पराक्रम प्राप्त करने के लिये भजने योग्य आपका निरन्तर भजन करते हैं । ऐसा होने पर आप और हम आप्यायित होंगे । हे परमेश्वर ! आप कृपया हमें परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये तथा श्रेष्ठतम कर्म के लिये प्रजावती अनमीवा और अयक्ष्मा, अघ्न्या गौओं को सदैव अर्पित कीजिये । हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से हमारे बीच में कोई अघशंस (पापप्रशंसक), स्तेन (चोर) हरण करने में समर्थ न हो । इस गोपति में जो पृथिवी आदि की रक्षा का इच्छुक है, जो धार्मिक मनुष्य है, उसके समीप बहुत गौएँ ध्रुव रहें'—पृ० २१ पर ।

४३-स्वामी दयानन्द के द्वारा किये गये मन्त्रार्थ पर विचार किया जाय तो वह मन्त्रार्थ सर्वथा अविचारित है, केवल आपाततः (सरसरी निगाह में यानी ऊपर-ऊपर से) ठीक सा भासित होता है, क्योंकि उस अर्थ में मन्त्र' के पदों (शब्दों) के अर्थ, मन-माने किये गये हैं, अर्थात् व्याकरण की विशुद्ध प्रक्रिया के विपरीत किये गये हैं । कितनी जगह विपरिणाम (निर्धारित विभक्ति, वचनों को अनिर्धारित अर्थों में बताना) किये गये हैं ।

४४-बिना कारण के ही अपनी इच्छा के अनुसार अर्थ की कल्पना कर उस की सिद्धि के लिये विपरिणाम मानने पर लौकिक और वैदिक अर्थ, अपने मूल अभिप्राय से बिपरीत दिशा का बोध कराते हैं । जैसे—प्रथम 'त्वा' पद से—'विज्ञान स्वरूप परमात्मा को और द्वितीय 'त्वा' पद से—'अनन्त पराक्रमवाले परमेश्वर को स्वामी दयानन्द जी ने बताया है । किन्तु एक ही 'त्वा' पद के दो स्थलों पर दो अर्थों को बताने का कारण क्या है ? इस प्रश्न पर मूल भाष्यकार कुछ नहीं कह रहा है । भाष्य के विवरण कर्ता ने निरर्थक बहुत बातें की है, लेकिन उपर्युक्त प्रश्न पर उत्तर कुछ नहीं दिया ।

४५—भाष्य के आरम्भ में ही स्वामीदयानन्दजी ने कहा है कि 'उत्तम कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये'—यह उपदेश दिया जा रहा है । विवरणकार ने उपर्युक्त कथन की इस तरह व्याख्या की है—

विवरणकृता चेत्थं विव्रियते—'इतोऽग्रे यत्र यत्र मन्त्रभूमिकायामुपदिश्यत इति क्रियापदं प्रयुज्यते तस्य सर्वस्य कर्त्तेश्वर एव बोध्यः, कुतः ? वेदानां तेनैवोक्तत्वात्' तथा चेश्वर एव मन्त्राणामुपदेष्टा वक्ता वा। तथा चेश्वर एव कथमीश्वरम् प्रार्थयते ?

४६—एवमेव 'वायव' इति शब्देन प्रकरणहेतुश्चान्तरापि मुख्यार्थमपहाय लाक्षणिकोऽर्थः प्राणादिर्गृहीतः, ततोऽपि दूरं गत्वा तेनैव शब्देन इन्द्रियरूपार्थग्रहणे शाब्दन्याये बलात्कारः।

४७—'स्थ' इत्यत्र मध्यमपुरुषस्थाने प्रथमपुरुषकल्पनम् 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' इति श्रुतिं स्पृष्ट्वापि श्रेष्ठतम-शब्दस्य कर्मसामान्यपरत्वयोजनम् च प्रमाद एव।

४८—पूर्वमुक्तं मन्त्रस्यास्य परमेश्वरो वक्ता। तदभ्युपगमे ईश्वरः कथमेवं कथयेत् यत् हे मनुष्याः सविता देवो यान्यस्माकं युष्माकञ्च वायवः प्राणान्तःकरणानि सन्ति, तानि श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु। परमेश्वरस्य स्वं प्रत्येव स्वस्य प्राणान्तःकरणादीनां सत्कर्मप्रेरणाय प्रार्थना कथमिव युज्यते ? श्रुतिषु 'अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२) इत्यादिभिरमनस्त्वमप्राणत्वमुक्तम्।

'इसके आगे जहाँ जहाँ मन्त्र की भूमिका के उपदेश क्रियापद का प्रयोग होगा, वहाँ वहाँ सब का कर्ता ईश्वर को ही समझना चाहिये, क्योंकि वेदों का वक्ता वही है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर ही मन्त्रों का उपदेष्टा या वक्ता है। यह सुनकर कोई विचारशील व्यक्ति यह पूछ सकता है कि ईश्वर ही ईश्वर से कैसे प्रार्थना कर सकता है ? प्रार्थना तो दूसरे से की जाती है, स्वयं से ही स्वयं कोई भी प्रार्थना नहीं करता।

४६—इसी प्रकार एक जगह स्वामीदयानन्दजी ने मन्त्रगत 'वायवः' पद से प्रकरण और कारण के बिना ही 'मुख्यार्थ' का परित्याग करके प्राण आदि' लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण किया है। तदनन्तर उस लाक्षणिक अर्थ से भी दूर हटकर उसी शब्द से 'इन्द्रिय' अर्थ का ग्रहण किया है। इससे शब्दार्थ मर्यादा का उल्लंघन और उसके साथ बल-प्रयोग ही स्पष्ट हो रहा है।

४७—इसी प्रकार एक जगह स्वामीदयानन्दजी ने मन्त्रगत 'स्थ' पद में 'मध्यम पुरुष' के बजाय 'प्रथमपुरुष' कीकल्पना की है, जिसे व्याकरण के विरुद्ध ही कहा जायगा।

इसी प्रकार स्वामीदयानन्दजी ने 'यज्ञो वै' इस मन्त्र में 'श्रेष्ठतम कर्म को 'कर्मसामान्य' के रूप में प्रदर्शित किया है, यह प्रदर्शन नितान्त प्रमादपूर्ण ही कहा जायगा।

४८—स्वामी दयानन्दजी ने पहिले कहा है कि इस मन्त्र का वक्ता परमेश्वर है। ऐसा मान लेने पर ईश्वर यह कैसे कहेगा कि 'हे मनुष्यों ! हमारे और तुम्हारे प्राण 'अन्तःकरण' हैं, उन्हें सविता देवता, श्रेष्ठतम कर्म के लिये अर्पित करे। ईश्वर की अपने ही लिये अपने प्राण 'अन्तःकरण' आदि की सत्कर्मों के लिये प्रार्थना करना कैसे संगत होगा ?

स्वामी दयानन्दजी ने 'इषे' का अर्थ 'अन्न और विज्ञान की प्राप्ति के लिये' किया है। किन्तु यह अर्थ भी उचित नहीं है, क्योंकि काण्वश्रुति के द्वारा 'इषे' का अर्थ 'वृष्टि के लिये किया गया है।

स्वामी दयानन्दजी ने यह कहा है कि 'जिस पद की जिस धातु से जिस प्रत्यय के द्वारा जिस अर्थ में व्याकरण, निरुक्त भाष्यकारादिकों ने जो व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है, तदनुसार उसी धातु से उसी प्रत्यय के साथ उसी अर्थ में उस पद को व्युत्पन्न करने का कोई अनिवार्य नियम नहीं है, अपितु जिस-जिस धातु से जिस-जिस प्रत्यय के साथ जिस अर्थ को प्रकाशित करने में 'पद' समर्थ हो सके, वैसा निर्वचन 'किया जा सकता है।' —यह कथन तो सर्वथा विपरीत

४९—प्रथमान्तपदव्यपदिष्टं वायव इति कर्तृपदं स्थ इति क्रियापदसम्बन्धात् निराकांक्षं जातम्, 'प्रार्पयतु' इति क्रियापदस्य सकर्मकस्य कर्मत्वेन व इति पदं विद्यते। मूले यत्तदोरभावेऽपि वः युष्माकं यानि प्राणान्तःकरणानि इन्द्रियाणि सन्ति तानि सविता श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु इतिकल्पनमपि स्वाच्छन्द्यमेव। 'आप्यायध्व' मितिस्थाने आप्यायामहे इत्याद्यपि निर्मूलम्। द्वितीयव्याख्याने परमेश्वर एव कथं परमेश्वरेण सम्बोध्यते ?

५०—इन्द्रशब्दस्यैश्वर्यवत्पुरुषपरत्वेऽपि कथमैश्वर्यपरत्वम् ? मूले यजमानशब्दो यज्ञकर्तृपरः इति तस्य जीव-सामान्यपरत्वयोजनं निराधारमेव। भावार्थस्तु दूरतोऽपि मन्त्राक्षराणि न स्पृशति।

५१—'विश्वानि देव सवितरिति व्याख्याने 'ईश्वरेण जीवानां गुणगुणिविज्ञानोपदेशाय ऋग्वेदे सर्वान् पदार्थान् व्याख्यायेदानीं मनुष्यैस्तेभ्यो यथायथोपकारग्रहणाय क्रियाः कथं कर्त्तव्या इत्युपदिश्यते।

है, क्योंकि व्युत्पत्ति तो तात्पर्य के अनुरोध से ही की जाती है—इस अभिप्राय को मीमांसा सूत्रकार महर्षि जैमिनि ने 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' इस सूत्र के द्वारा स्पष्ट कह दिया है कि—एक अर्थ होने से एक वाक्य होता है। तब एक ही वाक्य का अनेक अर्थों में तात्पर्य प्रदर्शन करना कैसे सङ्गत हो सकता है ? विवरणकार ने भी वाक्ययोजक विचार के प्रसङ्ग में कहा है कि पूर्वोक्त रीति से एक ही सरणि का आश्रय, किसी वाक्ययोजनार्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों की बुद्धि भी भिन्न-भिन्न होती है।

ऐसी स्थिति में भी भाष्यकारों की विविध रीति से की गई वाक्ययोजना और उसके अनुसार उनके विविध अर्थों को प्रामाणिक ही माना जा सकता है। वेदान्त गीता आदि के भाष्यों में कथित सभी अर्थों में ग्रन्थकर्ता का वह अभिप्राय है, ऐसा किसी तरह भी नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार वेद में भी उसे प्रकाशित करने वाले सत्-चित् आदि गुण विशिष्ट ब्रह्म का विभिन्न भाष्यकारों द्वारा प्रतिपादित विविध प्रकार सभी अर्थों में अभिप्राय है, यह नहीं माना जा सकता। अतः इच्छा न होते हुए भी यह बात माननी होगी कि 'वेद' का अर्थ शास्त्रवचनों का अनुगामी होकर ही प्रामाणिक हो सकता है। ऐसा होने पर आपकी रीति से भी स्वामी दयानन्द जी का किया हुआ अर्थ इसलिये स्वीकार करने योग्य नहीं रहता, क्योंकि वह मन्त्र, ब्राह्मण, सूत्र, परम्परा और याज्ञिक-पद्धति के विरुद्ध है। क्योंकि श्रुति ने तो अप्राणो ह्यमनाः' कहकर उसे मनरहित-प्राणरहित बताया है।

४९- किञ्च 'वायवः' यह प्रथमान्त कर्तृ पद 'स्थ' इस कियापद से अन्वित होकर निराकांक्ष हो गया है, और 'प्रार्पयतु' इस सकर्मक क्रिया पद का कर्म 'वः' विद्यमान है। किन्तु उपस्थित पदों की प्रकृति तथा व्याकरण की प्रक्रिया की ओर ध्यान न देकर मूलमन्त्र में 'यत्-तत्' शब्दों के न रहने पर भी 'तुम्हारे जो प्राण अन्तःकरण इन्द्रिय आदि है, उन्हें 'सविता' भगवान् श्रेष्ठतम कर्म में लगावे'—इस प्रकार अभिनव अर्थ की कल्पना करना अपनी स्वच्छ-न्दता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। उसी तरह स्वामी दयानन्दजी ने 'आप्यायध्वम्' की जगह 'आप्यायामहे' की कल्पना कर ली है। किन्तु वह भी निर्मूल है। द्वितीय व्याख्यान में 'परमेश्वर ही प मेश्वर के द्वारा सम्बोधित कैसे हो सकेगा ?

५०—तथा 'इन्द्र' का अर्थ ऐश्वर्यशाली पुरुष करने में भी उसका 'ऐश्वर्यपरत्व' कैसा ? मूल मन्त्र में 'यजमान' शब्द यज्ञकर्तृपरक है, उसे जीवके सामान्यपरक बताना निराधार ही है। भावार्थ जो बताया है, वह तो दूरसे भी मन्त्र के अक्षरों को स्पर्श नहीं कर रहा है।

५१—तथा 'विश्वानि देव सवितः' मन्त्र का व्याख्यान करते हुए स्वामी दयानन्दजी ने जो कहा कि 'जीवों को गुणगुणिविज्ञान का उपदेश करने के लिये ऋग्वेद में सम्पूर्ण पदार्थों की व्याख्या करके अब उनसे यथोचित लाभ के लिये मनुष्यों को किस तरह क्रिया करनी चाहिये—यह ईश्वर के द्वारा बताया जा रहा है।

५२—इति यत्, तदपि निर्मूलमेव ऋग्वेदस्य पदार्थ वर्णनपरत्वाभावात् । नहि ऋग्वेदः न्यायवैशेषिकशास्त्रवत् पदार्थवर्णनपरोग्रन्थः । यदि पदार्थवर्णनपरोग्रन्थोभवेत् तर्हि त्वयाप्याप्तत्वेनाभिमतैर्गोतमादिभिः स एव व्याख्यातोभवेत् । अपरञ्चेदादीन्तनैर्वैज्ञानिकैर्ये पदार्था गुणगुणिभावाश्च विविच्यन्ते किं त्वद्भाष्येऽपि तदुपयोगिविश्लेषणमुपलभ्यते ? स्वोक्तिप्रामाण्याय 'यजुर्भिर्यजन्तीतिमूलकृता 'यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ती'ति विवरणकृता च श्रुतिवाक्यान्युद्धृतानि । परं तेषामन्यार्थत्वेनतदसाधकत्वमेव ।

५३—तत्र 'यजुर्भिर्यजन्ती'तिवचनस्य यजुर्मन्त्रैर्यज्ञं कुर्वन्तीत्येवार्थः । दयानन्दस्तु 'येन मनुष्या ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्च पूजयन्ति, सर्वचेष्टासाङ्गत्यं शिल्पविद्यासङ्गतिकरणं शुभविद्यागुणदानं यथायोग्यतया सर्वोपकारे शुभे व्यवहारे विद्वत्सु च द्रव्यादिव्ययं च कुर्वन्ति तद्यजुरिति ।' तदप्यविचारितरमणीयम्, यजिधात्वर्थानुसारेण विदुषां पूजासङ्गतिकरणदानादिषु यजुर्मन्त्राणामकिञ्चित्करत्वात्, विनापि यजुर्भिर्लोके तत्प्रवृत्तेः । 'ऋग्भिः शंसन्ति' (नि० १।३।७) । (काठक-संहिता ४०।७) इत्यादीनामपि न पदार्थानां गुणगुणिवर्णनं कार्यं किन्तु देवतानां शंसनस्तवनाद्येव कार्यम् । रूढिर्योगमपहरतीति न्यायेन परिभाषितयज्ञ एव यजुषामुपयोगः । यज्ञस्वरूपं तु महर्षिणा कात्यायनेनोक्तम्—'यज्ञं व्याख्यास्यामः' (१।२।१) 'द्रव्यं देवता त्यागः' (का० श्रौ० सू० १।२।२) । व्याख्यातश्चैतत्कर्काचार्येण—तद्धितेन द्रव्यं प्रतिदेवतात्वं गम्यते चतुर्थ्यन्तत्वेन वा । तस्य द्रव्यस्य देवतां प्रति या उत्सर्गक्रिया स याग इति । अस्मिन्नेवार्थे यज्ञशब्दः प्रसिद्ध इति । तस्यैवंविधस्यैव यागस्य यजुर्मन्त्रैरनुष्ठानं भवति । 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेते'त्यादिभिर्विधि-

---

५२—किन्तु उनका इस प्रकार का व्याख्यान निर्मूल ही है। क्योंकि ऋग्वेद का कार्य, पदार्थ वर्णन करना नहीं है। न्याय-वैशेषिक शास्त्र के समान 'ऋग्वेद', पदार्थवर्णन परक ग्रन्थ नहीं है। न्याय-वैशेषिक शास्त्र तो पदार्थ-वर्णनपरक ही है, अतएव उसको 'पदार्थविज्ञानशास्त्र' के नाम से भी कहा जाता है। यदि ऋग्वेद भी पदार्थवर्णनपरक ग्रन्थ होता, तो स्वामी दयानन्दजी के द्वारा भी आप्त समझे जाने वाले महर्षि गौतम आदि के द्वारा उसकी व्याख्या की गई होती। अपरञ्च आधुनिक वैज्ञानिकों के द्वारा जिन पदार्थों और गुण-गुणिभावों की विवेचना की जाती है, क्या दयानन्दी भाष्य में भी तदुपयुक्त विश्लेषण उपलब्ध होता है? अपनी उक्ति की प्रामाणिकता बताने के लिये मूलकार (भाष्यकार स्वामी दयानन्दजी) ने 'यजुर्भिर्यजन्ति' प्रमाण बताया और उसके विवरणकार ने 'यदेनमृग्भिः शंसन्ति' आदि श्रुति वाक्यों से जो उद्धरण दिये हैं, वे सभी किसी अन्य अर्थ को ही बताते है। अतः उनसे मूल का अभीष्ट अर्थ सिद्ध नहीं हो रहा है। इसलिये वे सब उद्धरण इनके अभीष्ट के असाधक ही रहे।

५३—'यजुर्भिर्यजन्ति' इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट ही है कि 'यजुर्मन्त्रों से यज्ञ करते हैं'। किन्तु स्वामी दयानन्द उक्त वाक्य का अर्थ इस प्रकार करते है—'यजु' वह है, 'जिस से मनुष्य, ईश्वर की धार्मिकों की विद्वानों को पूजा करते है, और जिसकी सहायता से समस्त चेष्टाओं का साङ्गत्य, शिल्पविद्यासङ्गतिकरण, शुभविद्यागुणदान, यथायोग्य-रीति से सभी के उपकार में, शुभव्यवहार में, विद्वानों में द्रव्यादि का व्यय करते हैं।' अर्थात् पूजासाधन, उपकार आदि के साधन को 'यजु' बताया है।' किन्तु उक्त कथन भी अविचारित रमणीय है। क्योंकि यजिधात्वर्थ के अनु-सार विद्वानों की पूजा, सङ्गतिकरण, दानादिकों में यजुर्मन्त्र अकिञ्चित्कर है। लोकव्यवहार में यजुर्मन्त्रों के बिना भी उन कार्यों में लोकप्रवृत्ति होती दीखती है। 'ऋग्भिः शंसन्ति'—इत्यादि वाक्य भी पदार्थों के गुण-गुणिवर्णनात्मक कार्य को नहीं बताते हैं, अपितु देवताओं के शंसन-स्तवनादि कार्य को ही बता रहे हैं। 'रूढिर्योगमपहरति' इस न्याय से परिभाषित यज्ञ में ही 'यजुओं' का उपयोग होता है। यज्ञ के स्वरूप को महर्षि कात्यायन ने बताया है—'यज्ञं व्याख्या-स्यामः', 'द्रव्यं देवतात्यागः'। और कर्काचार्य ने इसकी व्याख्या की है— तद्धित प्रत्यय से अथवा चतुर्थीविभक्ति से 'द्रव्य' के प्रति 'देवतात्व' की प्रतीति होती है। देवता को उद्देश्य कर (देवता के प्रति) उस द्रव्य की जो 'उत्सर्गक्रिया' (द्रव्यत्याग) उसी को 'याग' समझना चाहिये। इसी अर्थ में 'यज्ञ' शब्द भी प्रसिद्ध है। —इसप्रकार के 'याग' का ही यजुर्मन्त्रों से अनुष्ठान हुआ करता है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्'—इत्यादि विधिवाक्यों से जिन कर्मों का विधान, विधि-

वाक्यैर्येषां कर्मणां विधानं विधिभागेषु विद्यते तत्रैव यजुरादीनामुपयोगः। द्वादशलक्षण्यां जैमिनिनिर्मितायां मीमांसायामपि तादृशस्यैव यज्ञस्य विचारः। तत्रैव यथायोग्यं देवपूजासङ्गतिकरणादीनामपि सन्निवेशः।

५४ – महर्षिणा कात्यायनेनैव 'तिष्ठद्धोमा वषट्कारप्रदाना याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः, उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः' इति यागहोमयोर्भेदोऽप्युक्तः। तिष्ठता होमो येषु ते तिष्ठद्धोमाः, वषट्कारेण प्रदानं येषु ते वषट्कारप्रदानाः, याज्यावन्तः पुरोवाक्यावन्तश्च ये ते यजतयो भवन्ति। नहि सामान्यपूजादानादिकर्मसु वषट्कारपूर्वको होमो भवति। नवा तत्र याज्यापुरोऽनुवाक्याः प्रयुज्यन्ते। होमकर्मणोऽपि यागाद् भेद उक्तः। यत्रोपविष्टेन कर्त्रा स्वाहाकारपूर्वको होमः क्रियते यत्र च याज्यादयो न प्रयुज्यन्ते स होमो भवति जुहोतीत्यादिभिर्विहितः। हविःसमर्पणार्था याज्या भवति, देवतानुस्मरणार्थानुवाक्या भवति। ह्वयति वानुवाक्यया प्रयच्छति याज्यया इत्युक्तेः। 'पुरोऽनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति'ति श्रुतेः (श० ।१।४।१।१३)। वस्तुतो मन्त्रे वक्ता ऋषिर्भवति, मन्त्रेण यदुच्यते तस्यैव देवतात्वं भवति। सर्वानुक्रमणीकारेण तु इषेत्वेत्यस्य मन्त्रस्य शाखा देवतोक्ता। तदनादरस्तु प्रमाद एव।

५५—यदुक्तम् 'दुर्गस्कन्दयोरपि शाखादयो देवता अनभिमताः। तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा इत्युपक्रम्य यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति, (नि० ७।४) इति यास्केनोच्यते'।

५६—इति, तत्तुच्छम् शाखादीनां यज्ञाङ्गत्वेन निरुक्तोक्त्यापि देवतात्वोपपत्तेः। यद्देवतं प्रधानं हविः तद्यथा प्रकृतावैन्द्रं सान्नाय्यं माहेन्द्रं वा तत्संस्कारपराइषे त्वेत्यादयः। तेनानाविष्कृतदेवतालिङ्गा ऐन्द्रा एव भवन्ति महेन्द्रा वा' (नि० ७।४) इति दुर्गवचनं तु हविःप्राधान्येन इषेत्वादीनामपि ऐन्द्रा माहेन्द्रा वेत्येतत्परम्। किञ्चानाविष्कृतलिङ्गानां मन्त्राणां देवता निरूपणप्रसङ्गे इषेत्वादीनां समेषां मन्त्राणां यदुद्देश्येन हविस्त्यज्यते तेषां माहेन्द्रादीनां

भागों में है, उन्हीं के अनुष्ठान में यजुरादि मन्त्रों का उपयोग होता है। महर्षि जैमिनि के द्वारा विरचित द्वादशलक्षणी-मीमांसा में भी उसी प्रकार के यज्ञ का विचार किया गया है, उसी प्रसङ्ग में यथोचित रूप से देवपूजा सङ्गतिकरण आदि का भी सन्निवेश किया गया है।

५४—महर्षि कात्यायन ने ही 'तिष्ठद् होमा वषट्कारप्रदाना याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः, उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः'—जहाँ खड़े होते हुए होम तथा 'वषट्'कार, ओर याज्या—पुरोनुवाक्या होती हैं—वे तो 'याग' कहलाते हैं। सामान्य पूजनादि कर्मों में 'वषट्कार' पूर्वक होम नहीं होता है और न ही उनमें याज्या—पुरोनुवाक्याओं का प्रयोग होता है।' इस तरह 'होम' संज्ञक कर्म से भी 'याग' को भिन्न बताया है। जहाँ बैठे-बैठे ही कर्ता के द्वारा स्वाहाकार पूर्वक होम किया जाता है, और जहाँ याज्या आदि का प्रयोग नहीं होता उसे 'होम' कहते हैं, 'जुहोति' इत्यादि शब्दों से वह विहित होता है। हविःसमर्पणार्थ—'याज्या' होती है, और देवतानुस्मरणार्थ 'अनुवाक्या' (पुरोनुवाक्या) होती है। क्योंकि 'ह्वयति वानुवाक्यया प्रयच्छति याज्यया' ऐसा कहा गया है। तथा 'पुरोऽनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति' यह श्रुति भी उक्त कथन में प्रमाण है। वस्तुतः मन्त्र का वक्ता 'ऋषि' होता है। मन्त्र के द्वारा जो बताया जाता है, उसी में 'देवतात्व' होता है। सर्वानुक्रमणीकार ने 'इषेत्वा' इस मन्त्र की देवता 'शाखा' बताई है। उसे न मानना तो बड़ा प्रमाद ही है।

५५—स्वामी दयानन्दजी ने यह जो कहा है कि दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामी' ने भी 'शाखा' आदि को देवता के रूप में स्वीकार नहीं किया है। यास्काचार्य कहते हैं—'तद्येऽनादिष्टदेवतामन्त्राः' इत्यादि से आरम्भ करके 'यद्देवतः स यज्ञो वा०' इत्यादि।

५६—किन्तु स्वामी दयानन्दजी का उक्त कथन और उसकी पुष्टि में जो प्रमाण उपस्थित किया वया है, वह सब निरर्थक है क्योंकि यज्ञाङ्ग के रूप में 'शाखादिकों' को बताने पर भी उनमें 'देवतात्व' के उपपन्न होने में कोई बाधा नहीं हो रही है। क्योंकि 'यद्देवतं प्रधानं हविः', जैसे—प्रकृति में 'सान्नाय' हवि 'ऐद्र' अथवा 'माहेन्द्र' होता है, अतः

देवतात्वमुक्तम् । तत्रैव दुर्गाचार्येण प्राजापत्यग्रहणे विनियोगात् 'कुविदङ्ग' (ऋ० सं० १।१३।१२) इतिमन्त्रस्य प्रजापतिर्देवतोक्ता ।

५७—'यद्देव इति ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्' (तै० सं० २।५।३।४) माहेन्द्रं वा । तच्छेषभूताः शाखाच्छेदनादिषु सान्नाय्यसंस्कारत्वेन विनियुक्ताः । इषे त्वादयस्तद्देवत्या इति स्कन्दवचनमपि तदभिप्रायकमेव । किञ्च सान्नाय्यसंस्कारत्वेन तदङ्गभूतानामिषे त्वादीनां सर्वेषां मन्त्राणां माहेन्द्रादयो देवता भवन्ति । न तेन तत्तन्मन्त्रगतप्रातिस्विकदेवतापलापः । अन्यथाअविशिष्टदेवतात्वमग्नावेवेति सर्वदेवतामितिपदात् 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (काठक संहिता १०।१) इति सर्वेषामग्निदेवताकत्वे किमर्थमन्यदेवतान्वेषणं मन्त्रेषु क्रियते ?

५८—महर्षिणा काण्वेन तु प्रथममेव—'ऋषिदैवतच्छन्दांस्यनुक्रमिष्यामो यजुषामनियताक्षरत्वात् एकेषां छन्दो न विद्यते । द्रष्टार ऋषयः स्मर्तारः परमेष्ठ्यादयो देवतान्तभूताः । अग्न्यादिका हविर्भाजः स्तुतिभाजो वा इत्युक्त्वा अनःशाखोखाशम्योपवेषकपालेध्मोलूखलादयश्च प्रतिमाभूता' इत्युक्तम् । तेन शाखादीनां देवतात्वमव्याहतमेव । तत्रैव छन्दांसि गायत्र्यादीनि एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जयति जुहोति यजेत याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयाम भवति अथान्तराश्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवत्यथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति । जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते । एवं महत्त्वास्पदं ऋषिदेवतादिज्ञानं नोपेक्षणीयं न वा स्वेच्छया निर्धारयितुं शक्यम् । विनियोगाद्देवतानिर्णयो दुर्गाचार्यरीत्या प्रदर्शित एव ।

५९—यत्तु—'सर्वानुक्रमणीकारप्रदर्शितो देवतावाद आधुनिक इति, तत्तुच्छम्, आधुनिकाङ्ग्लादिदृष्ट्या त्वदीयशाकलीसंहिताया अपि आधुनिकत्वानपायात् ।

उनके संस्कारपरक 'इषेत्वा' इत्यादिकमन्त्र हैं । उस कारण अनाविष्कृतदेवतालिङ्गक 'ऐन्द्र' अथवा 'माहेन्द्र' ही होते हैं । दुर्गाचार्य का वचन,—हविः प्राधान्य को देखते हुए 'इषेत्वा' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा 'ऐन्द्र' अथवा 'माहेन्द्र' हवि ही होते हैं—यह बता रहा है । किञ्च अनाविष्कृत लिङ्गक मन्त्रों के देवता निरूपण के प्रसङ्ग में 'इषेत्वादि' समस्त मन्त्रों के, जिसके उद्देश्य से 'हवि' का त्याग किया जा रहा है, उन माहेन्द्रादिकों को देवता बताया गया है । और वहीं पर दुर्गाचार्य ने प्राजापत्य के ग्रहण करने में विनियोग रहने से 'कुविदङ्ग' इस मन्त्र की देवता 'प्रजापति' को बताया है।

५७—'यद्देवत इति ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्' माहेन्द्रं वा इत्यादि स्कन्दवचन भी उसी अभिप्राय को बता रहे हैं । किञ्च सान्नाय्य हवि के संस्कारक तदङ्गभूत 'इषेत्वा' आदि समस्त मन्त्रों के देवता 'माहेन्द्रादि' होते हैं । उस कारण तत्तत् मन्त्रगत प्रातिस्विक (अपनी-अपनी) देवता का अपलाप नहीं हो पाता है । अन्यथा अग्नि में ही अविशिष्ट देवतात्व रहने मे वही सब कीं देवता कही जा सकती है । 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' इस काठक श्रुति के अनुसार सभी की देवता 'अग्नि' को मान लेने पर अन्य देवताओं का अन्वेषण मन्त्रों में क्यों किया जाता है ?

५८—महर्षि कण्व के 'ऋषिदैवतछन्दांस्यनुक्रमिष्यामः' इत्यादि कथन के अनुसार 'शाखा' आदि में देवतात्व तो अव्याहत ही है । वहीं पर 'छन्दांसि गायत्र्यादीनि एतान्यविदित्वा योऽधीते' इत्यादि से महत्वास्पद ऋषिदेवता आदि के ज्ञान की उपेक्षा कर देना उचित नहीं है, तथा अपनी इच्छा के अनुसार उनका निर्धारण करना भी उचित नहीं है । विनियोग को देखकर देवता का निर्णय करना दुर्गाचार्य की रीति के अनुसार पहिले बता ही चुके हैं ।

५९—स्वामी दयानन्दजी ने जो यह कहा है कि 'सर्वानुक्रमणीकार के द्वारा प्रदर्शित देवतावाद आधुनिक है' —यह कथन भी असराहनीय है । क्योंकि आधुनिक पाश्चात्यदीक्षा दीक्षित लोगों की दृष्टि के अनुसार आपकी अभिमत शाकली संहिता को भी आधुनिक कहना होगा ।

६०—यदुक्तम्—'गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शतपथश्रुतेः ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छान्दसं च यत् ।' इत्युव्वटेन सर्वानुक्रमण्या अवहेलना कृतेति, तत्तुच्छम्, चकारेण सर्वानुक्रमण्या अपि सूचनात् । यदुक्तम् स्थावरत्वाद्देवतात्वं दुर्लभमिति, अत्र ब्रूमः, अधिष्ठात्र्यो देवता विद्यन्ते । उव्वटेनापि शाखैवदेवतोक्ता । 'प्रतिमाभूतास्तु शाखादय' इति । किञ्चदयानन्देन तु निरुक्त दुर्गाचार्यादिप्रदर्शितरीत्या हविर्देवतानुरोधेनापि इषेत्वेत्यस्य देवतानोक्ता, किन्तु स्वाभ्यूहिता सविता देवतोक्ता परं इषे त्वेति मन्त्रेण सवितृदेवतासम्बन्ध एव न विद्यते ।

६१—यच्चोक्तं—'नवो नवो भवति जायमान' (ऋ० सं० १०।८५।१९) इत्यस्य सर्वानुक्रमणीकारश्चन्द्रमा देवतेत्याह' यास्कस्तु 'आदित्यदैवतो द्वितीयपाद इत्येके प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः' इति चन्द्रमा देवतेत्याहे'ति, तदेतत् धूलिप्रक्षेपमात्रम् यतो यास्कः कस्यचिद्रीत्या 'पूर्वापरं चरतो माययैतौ' इति द्वितीयपादस्यैवादित्यदैवतत्वमाह, न तु सर्वस्य मन्त्रस्य । सर्वानुक्रमणीकारस्तु समस्तमन्त्राभिप्रायेण चन्द्रदैवत्यं वक्ति तथा च क्व विरोधः ?

६२—यत्तु आश्वलायनादिश्रौतसूत्रोदाहरणेनैकस्य मन्त्रस्य नैकविधविनियोगप्रदर्शनेन विरोध उद्भावितः, तदपि तुच्छम्. ब्राह्मणवाक्यादार्षवाक्याच्च विनियोगभेदस्याभ्युपगमे बाधाभावात् । अतएव आश्वलायनश्रौतसूत्रे (६।८) तैत्तिरीयब्राह्मणे (३।१।३।१) चायं मन्त्रश्चान्द्रमसे चरौ विनियुक्तः । तथा 'यः पापयक्ष्मगृहीतः स्यात् तस्मा एतदादित्यं चरुं अमावास्यायां निर्वपेत्' (तै० सं० २।३।५।३) वौधायनश्रौतसूत्रं (१३।२८) सत्याषाढश्रौतसूत्रं (२२।४।१५) इत्यादिषु आदित्यदेवताके चरौ विनियुक्तः । मैत्रायणीसंहितायां तु (२।२।३) वैश्वदेवे चरौ विनियुक्तः ।

६०—स्वामी दयानन्दजी ने जो यह कहा है कि गुरुतस्तर्कतश्चैव'—इसमें उव्वट ने सर्वानुक्रमणी की अवहेलना की है । किन्तु यह कथन भी सारहीन है । क्योंकि उपर्युक्त वचन में 'च' कार के ग्रहण करने से 'सर्वानुक्रमणी' को भी सूचित किया गया है । स्वामीदयानन्दजी ने यह जो कहा है कि 'स्थावरत्वाद् देवतात्वं दुर्लभम्'—स्थावर होने से उनमें देवतात्व का स्वीकार करना उचित नहीं है । इस पर समाधान यह है कि उनकी अधिष्ठात्री देवताएँ उनमें रहती हैं । उव्वट ने भी 'प्रतिमाभूतास्तु शाखादयः' कहकर 'शाखा' को ही 'देवता' वताया है । किञ्च स्वामीदयानन्द जी ने तो निरुक्त, दुर्गाचार्य आदि के द्वारा प्रदर्शित रीति के अनुसार हवि को देवता के अनुरोध से भी 'इषेत्वा' की देवता नहीं बताई है, अपितु अपनी कपोलकल्पित 'सविता' देवता, उसकी बता दी है, किन्तु 'इषेत्वा' इस मन्त्र से 'सविता' देवता का कोई सम्बन्ध ही नहीं है ।

६१—स्वामी दयानन्दजी ने जो यह कहा है कि 'नवो नवो भवति जायमानः' की 'चन्द्रमा' देवता, सर्वानुक्रमणीकार ने कही है, किन्तु यास्क ने 'आदित्य दैवतो' इत्यादि कहकर उसकी देवता 'आदित्य' को बताया है'—किन्तु स्वामी दयानन्द जी का यह कथन, केवल धूलिप्रक्षेपमात्र है । क्योंकि यास्क ने 'पूर्वापरं चरतो माययैतौ'—इस द्वितीय पाद की ही 'आदित्य' देवता बताई है, सम्पूर्ण मन्त्र की नहीं । सर्वानुक्रमणीकार ने तो सम्पूर्ण मन्त्र के अभिप्राय से 'चन्द्र' देवता कही है, अतः कोई भी विरोध नहीं है ।

६२—स्वामी दयानन्दजी ने आश्वलायनादि सूत्र का उदाहरण देकर 'एक मन्त्र के अनेक विध विनियोग को विरुद्ध बताया है—वह भी निःसार है, क्योंकि ब्राह्मणवाक्य और आर्षवाक्य के अनुसार विनियोग भेद के स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है । अतएव आश्वलायन श्रौतसूत्र और तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस मन्त्र का विनियोग 'चान्द्रमस चरु' में किया गया है । तथा तैत्तिरीयसंहिता, बौधायन श्रौतसूत्र, सत्याषाढ श्रौतसूत्र आदि में आदित्यदेवताक चरु में उसका विनियोग बताया है । मैत्रायणी संहिता में वैश्वदेवचरु में उसका विनियोग कहा है । ये सभी विनियोग प्रामाणिक हैं । तथा च अनेकविध विनियोगों के प्रामाणिक होने से एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न देवताओं का होना किसी प्रकार भी विरुद्ध नहीं है । और्णनाभ के मत से 'आश्विनौ देवते' उक्त मन्त्र की देवता है । 'मन्त्रगत वर्ण' ही देवता होती हैं, मन्त्रों के अर्थ को देवता नहीं कहा गया है । यह कोई विरुद्ध कथन नहीं है । क्योंकि ऋषियों के विभिन्न मतों

एते विनियोगाः प्रामाणिकाः। तथा च नैकविधप्रामाणिकविनियोगसत्त्वेन एकस्यैव मन्त्रस्य भिन्नदेवतावत्त्वं न विरुध्यते। और्णवाभमते आश्विनौ देवते अस्य मन्त्रस्य। मन्त्रगतपदान्येव देवता न तेषामर्था देवता इत्यादिकं न विरुद्धम्। ऋषीणां मतभेदेन विनियोगदेवतादिभेदे बाधाभावात्। वृहद्देवतासर्वानुक्रमण्यादिभिस्तेषां समन्वयसम्भवात्। तस्मात्सर्वानुक्रमणी वृहद्देवता च देवतावादे परमं प्रमाणमित्यस्याद्याप्यबाधात्। आर्षग्रन्थानां समन्वयस्यैवाभीष्टत्वात्। श्रौतादिविनियोगबलात् 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (सत्याषाढश्रौतसूत्रम्) इति ऐन्द्रचा अपि 'कदाचनस्तरीरसि' (तै० ५ सं० १।४।२२।१) इत्यृचो गार्हपत्योपस्थाने विनियोगो भवति। प्रमाणबलेन तदनुगुणोऽप्यर्थः कर्तुं योग्यः इति, ऐश्वर्य-योगात् गार्हपत्याग्निरपि इन्द्रपदेन सम्बोध्यते। स्मार्तविनियोगवशात् 'शन्नो देवी रभिष्टय इति मन्त्रस्य शनिपूजायामपि विनियोगः। विभिन्नेषु ग्रन्थेषु ऋषीणां परस्परं मतभेदे एकस्मिन्नेव वा ग्रन्थे ऋषीणां मतभेदे प्रस्तुते समेषामेवादर-णीयता। अत एव 'प्रसुष्टुति' रित्यस्यामृचि— इलस्पर्ति शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः। यास्कस्तु पूषणंमेने स्तुतमिन्द्रन्तु शौनकः॥ वैश्वानरं भागुरिस्तु'.....इत्यादिकं न विरुद्धचते,समबलत्वेन विकल्पसम्भवात्। न च तावतापि अनृषिणा केनचित् व्याख्यात्रापि विनियोगदेवतादिकल्पनाः कर्तुं शक्यन्ते।

६३—यच्च मन्त्रार्थदृष्टिभेदेन दयानन्दोक्तदेवतासमर्थनाय 'उच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ती-त्युक्तम्, तत्तुच्छम्,यतस्तत्र मन्त्रद्रष्टॄणामृषीणामुच्चावचदृष्टय उक्ताः। न तु दयानन्दो मन्त्रद्रष्टा ऋषिः।

६४—'पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति' (नि० १३।१२) इति वचनेन दयानन्दस्य पारोवर्यवित्त्वेन देवतादिकल्पकत्वं समर्थयितुमिष्यते, तदपि कुशकाशावलम्बनमेव भावानवबोधात्। नानेन वचनेना-नृषेरतपसो वा स्वातन्त्र्येण देवतादिनिर्धारयितृत्वमुच्यते, किन्तु पारोवर्यवित्सु भूयोविद्यस्य प्रशस्यत्वमेवोक्तम्।

के अनुसार मन्त्रों के विनियोग और देवताओं के भिन्न रहने में कोई किसी प्रकार की बाधा नहीं है। वृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी आदि के द्वारा उनका समन्वय करना सम्भव है। इसलिये सर्वानुक्रमणी और वृहद्देवता ये दोनों ग्रन्थ देवतावाद में नितान्त प्रमाणभूत आजतक माने जा रहे हैं। क्योंकि आर्षग्रन्थों में समन्वय करना ही अभीष्ट माना गया है। 'ऐन्द्रचागार्ह पत्यमुपतिष्ठते' इस श्रौत विनियोग के बल पर ही 'कदाचनस्तरीरसि' इस ऐन्द्री ऋचा का भी 'गार्ह-पत्य' के उपस्थान में विनियोग किया जाता है। प्रमाण के बल पर तदनुगुण अर्थ भी किया जा सकता है, क्योंकि ऐश्वर्य के सम्बन्ध से 'गार्हपत्याग्नि' को भी 'इन्द्र' पद से कहा जा सकता है। उसी तरह स्मार्त विनियोगवशात् 'शन्नोदेवी' इस मन्त्र का 'शनि' की पूजा में भी विनियोग किया जाता है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में ऋषियों का परस्पर मतभेद रहने पर अथवा एक ही ग्रन्थ में ऋषियों का मतभेद प्रस्तुत होने पर सभी को आदरणीय ही माना जाता है। अतएव 'प्रसुष्टुतिः' इस ऋचा में शाक पूणि, गालव, यास्क, शौनक, भागुरि आदि का मत भिन्न-भिन्न रहने पर भी उनमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि सभी के मत, समान बल के होने से उनमें 'विकल्प' माना जाता है। किन्तु उसी तरह यदि कोई साधारण आदमी अर्थात् जो ऋषि न हो, वह भी मन्त्र का व्याख्यान करते समय उस मन्त्र के विनियोग तथा देवता की मनमानी कल्पना करने लगे, तो उसे उचित नहीं कहा जायगा।

६३—यह जो कहा गया है कि मन्त्रार्थ की दृष्टि भिन्न होने से स्वामी दयानन्दोक्त देवता के समर्थनार्थ 'उच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति'। किन्तु यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि वहाँ पर मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की उच्चावचदृष्टि को बताया है। स्वामी दयानन्द तो कोई मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं है।

६४—निरुक्त के 'पारोवर्यवित्सु तु खलु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति' इस वचन को देखकर स्वामी दयानन्द को पारोवर्यवित् समझकर उनके भक्तों ने उनमें देवतादिकल्पकत्व का समर्थन करना जो चाहा है,वह भी कुशकाशावलम्बन के समान ही है। उन भक्तों को निरुक्त के वचन का अभिप्राय समझना चाहिये। निरुक्त वचन यह नहीं बता रहा है कि कोई भी साधारण आदमी जो ऋषि न हो, तपस्वी न हो, वह भी स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी स्वेच्छा के अनुसार देवता आदि का निर्धारण कर ले। उस वचन ने तो पारोवर्यविदों में भूयोविद्य व्यक्ति का प्रशस्यत्व ही बताया है। दुर्गाचार्य

व्याख्यातञ्चैतद् दुर्गाचार्येण तत्र पूर्वमुक्तं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्या:। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति अनृषेरतपसोवा । न चात्र मन्त्रे सवितृदेवतात्वनिर्णये श्रुतिसाहाय्यमस्ति, तदनुल्लेखात् । तत्रापि प्रकरणानुसारेणैव यत: कुतश्चित् श्रुतेस्तर्कतोऽपि प्रकरणमन्तरा न मन्त्रा निर्वक्तव्या: । तदुक्तम्—प्रकरणश एव निर्वक्तव्या: । तान्येतानि प्रकरणानि याज्ञं दैवतमध्यात्ममितिहासानुप्रवेशादीनि ।

६५—ननु प्रकरणमपि ज्ञातुं शक्यते विद्वद्‌भिरिति चेत्तत्रोच्यते—नह्येषु प्रत्यक्षमनृषेरतपसो वा । ये पुनरौपदेशिकास्तानधिकृत्योच्यते पारोवर्यवित्स्वति उपदेशत: पारोवर्ये परोवरभावेन मन्त्रार्थान् प्रतिपद्यन्ते ते पारोवर्यविद: । तेषु भूयोविद्यो बहुश्रुत: मन्त्रार्थज्ञाने प्रशस्यो भवति । नेदानीन्तना दयानन्दादय ऋषय: । इत्यपि तत एव ज्ञायते । 'ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को नु ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एनं तर्कमृषिं प्रायच्छन् । मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् ।' एतावता स्पष्टं विज्ञायते यत् सर्वे ऋषयो न भवन्तीति । ऋषिभिन्नानां निरुक्ताद्यार्षग्रन्थानुरोधेनैव मन्त्रार्थज्ञानं सम्भवति । तदुक्तं दुर्गाचार्येण—निरुक्तशास्त्रे योऽनूचानो विद्वान् स यदेव किञ्चिन्मन्त्रार्थेषु अभ्यूहति आर्षं तद्‌भवति । न तत्स्वमनीषिकयोच्यते । नैतावदेव तत्रैव महर्षिणा यास्केन निरुक्तविद्याया अपि 'तपसा पारमीप्सितव्यम्' इत्युक्तम् । तदिदमायुरिच्छता न निर्वक्तव्यम् इत्यपि तेनैवोक्तम्, अत: स्वातन्त्र्येण देवतादिकल्पनम् विरुद्धमेव । तस्मात्कात्यायनादिमहर्षिप्रोक्तविनियोगानुसारेणैव देवतादयो ज्ञातव्या: । 'इषे त्वा शाखानुष्टुप्विनियोग: कल्पकारोक्त इति सायणोद्‌धृतकाण्वब्राह्मणेनापि कात्यायनोक्ता शाखादेवतैवेषे त्वेति मन्त्रस्य ज्ञेया ।

६६—किञ्च 'इषे त्वादि पशून् पाहीत्यन्त एको मन्त्रोऽभ्युपगम्यते । तत्र सवितृशब्ददर्शनादापातत:

ने उस वचन के अभिप्राय को अपनी व्याख्या के द्वारा स्पष्ट भी किया है । उक्त मन्त्र की देवता 'सविता' को बताने में स्वामी दयानन्दजी ने प्रमाण के रूप में किसी श्रुति वचन का उल्लेख भी नहीं किया है। प्रकरण के अनुसार ही मन्त्र का व्याख्यान करना होता है । प्रकरण को त्यागकर किसी भी श्रुति वचन से या केवल तर्क से ही मन्त्र की व्याख्या नहीं की जाती है ।

६५—शङ्का—इस पर यदि यह कहा जाय कि विद्वान् लोग प्रकरण को भी ज्ञान सकते हैं । किन्तु इस बात का अपलाप नहीं किया जा सकता कि जो ऋषि या तपस्वी न हो उसे उसका ज्ञान हो जाय । जो लोग औपदेशिक हैं, उन्हीं को लक्ष्य करके 'पारोवर्यवित्सु' कहा गया है । उपदेशपूर्वक परोवरभाव से मन्त्रार्थों को जो जानते हैं, उन्हें 'पारोवर्यविद्' कहा जाता है । उन पारोवर्यविदों में जो बहु विद्य अर्थात् बहुश्रुत रहता है, उसे मन्त्रार्थ ज्ञान में प्रशंसनीय समझा जाता है । आजकल के आधुनिक स्वामी दयानन्दजी जैसे लोगों को 'ऋषि' तो कह नहीं सकते । क्योंकि निरुक्त ही बता रहा है कि—'ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्' अत: स्पष्ट है कि सभी लोग 'ऋषि' नहीं कहलाते । साधारण प्राकृत लोगों को तो निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों के अनुरोध से ही मन्त्रार्थ का ज्ञान हो सकता है । दुर्गाचार्य ने भी कहा है कि निरुक्तशास्त्र में जो अनूचान विद्वान् होता है उसी का मन्त्रार्थ विषयक अभ्यूहन 'आर्ष' कहलाता है । वह अनूचान अपनी कपोलकल्पित कोई बात नहीं कहता है । महर्षि यास्क ने निरुक्तविद्या के बारे में भी कहा है कि 'तपसा पारमीप्सितव्यम्'—तप के द्वारा ही इस मन्त्रार्थार्णव के पार पहुंचा जा सकता है । महर्षि यास्क ने यह भी कहा है कि जिसे दीर्घायु होना हो वह स्वबुद्धिकल्पित निर्वचन करने का प्रयत्न न करे । अत: स्वेच्छानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक मन्त्रदेवता की कल्पना कर लेना शास्त्र विरुद्ध ही है । इसलिये कात्यायनादि महर्षि प्रोक्त विनियोग के अनुरोध से ही मन्त्रदेवता आदि को जानना चाहिये । भाष्यकार सायणाचार्य के इस उद्‌धृत काण्वशाखीय ब्राह्मणने भी कात्यायनोक्त 'इषेत्वा शाखानुष्टुप् विनियोग: कल्पकारोक्त:' वचन के अनुसार 'इषेत्वा' इस मन्त्र की देवता—'शाखा' को ही बताया है, अत: उसे ही मानना उचित है ।

६६—किञ्च 'इषेत्वा' से लेकर 'पशून् पाहि' तक एक ही मन्त्र समझकर और उसमें आये हुए 'सवितृ' शब्द

सवितास्य मन्त्रस्य देवतेत्युक्तम्, ब्राह्मणसूत्राद्यनुरोधेन तु कण्डिकायामस्याम् 'इषेत्वा' 'ऊर्जेत्वा' इत्यादयोऽनेके मन्त्राः सन्ति ।

६७—यत्तु ब्रह्मदत्तेन—"पशुहिंसा वारिता च यजुर्वेदादिमन्त्रतः" इति (महाभारतीयं (शान्तिपर्व ३४४।२१) पद्यमुद्धरता पशून् पाहीत्यन्तस्यैवादिमन्त्रत्वेन सम्पूर्णैव कण्डिका एकोमन्त्र इति साधयितुं प्रयतितम्, तदप्यकिञ्चित्करम्, श्रुतिविरोधात् । यजुर्वेदादिकण्डिकायां ये मन्त्रास्तेषु (सप्तम्यास्तसिल् । इति व्युत्पत्त्या वाक्षेपानर्हत्वात् । मन्त्रपदस्य मन्त्रसमूहरूपायां कण्डिकायां वा गौण्या वृत्त्या प्रयोगात् । अन्यच्च नात्र पशुहिंसा वार्यते किन्तु पशुपालनं प्रार्थ्यते । न खलु पालनमेव हिंसावारणम्, आधुनिकैः शासकैः पशुपालने प्रयासवद्भिरपि हिंसा प्रतायत एव । न च यजुर्वेदशब्देनेयमेकैव संहिता ग्रहीतुं शक्या, कृष्णयजुर्वेदस्यापि यजुर्वेदत्वेन प्रसिद्धेः । तत्र यजुर्वेदादिमन्त्रत इत्यस्य यजुर्वेदादिमन्त्रेभ्य इत्यर्थः । तत्र मन्त्रपदं ब्राह्मणस्याप्युपलक्षणम् 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानी' त्यादि ब्राह्मणवचनैश्च तन्निषेधात् । 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेते'ति वचनन्त्वपवादभूतम् । तथा च यज्ञगतालम्भनातिरिक्तहिंसाया वेदेषु निषेधादित्येवार्थः । यद्वा यजुर्वेदादिषु सर्वेषु वेदेषु मन्त्रतो निषेधपर्यवसायिवाक्यतः इत्यर्थः । निषेधपर्यवसायिवाक्येषु विधिपर्यवसायिवाक्येषु चोभयत्रैव मन्त्रपदप्रयोगात् । यथा 'ये मन्त्राः प्रोक्षणे गवाम्' (म० भा० उ० प० १७।६) इत्यादिस्थलेषु ।

६८—[एतेन यदुक्तम्—"इषेत्वोर्जेत्वा' इति मन्त्रद्वयं गोपथकारेण नाङ्गीक्रियते । किन्तु 'श्रेष्ठतमाय कर्मण' इत्येवमादि 'कृत्वा यजुर्वेदमधीयते' (गो० १।१।२९) इति वदता सम्पूर्णपाठस्यैकमन्त्रत्वं द्योत्यते" इति, तदपि न किञ्चित्, तत्रादिपदस्य मन्त्रादिपरत्वे त्वदभिमतस्य पाहिपर्यन्तस्य मन्त्रत्वानापत्तेः । तत्र कण्डिकाप्रतीकोपादानस्यैवेष्ट-

---

को सुनकर उस मन्त्र की देवता 'सविता' है—यह जो कहा, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण और सूत्र आदि के अनुरोध से इस कण्डिका में 'इषेत्वा', 'उर्जेत्वा' इत्यादि अनेक मन्त्र हैं । एक मन्त्र नहीं है ।

६७—ब्रह्मदत्त ने "पशुहिंसा वारिता च यजुर्वेदादिमन्त्रतः" इस महाभारतीय पद्य का उद्धरण देते हुए 'पशून्-पाहि' तक समाप्त होनेवाले को प्रथम (आदि) मन्त्र के रूप में सम्पूर्ण कण्डिका को ही 'एक मन्त्र' सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया है, वह भी अकिञ्चित्कर (व्यर्थ) है । क्योंकि श्रुति का विरोध होता है । तथाहि—यजुर्वेद की प्रथम कण्डिका में जो मन्त्र हैं उनमें अथवा (सप्तम्यास्तसिल्=सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'तसिल्') इस व्युत्पत्ति से आक्षेप करना योग्य नहीं है, क्योंकि मन्त्र पद का प्रयोग, मन्त्रसमूह में अथवा कण्डिका में गौणीवृत्ति की सहायता से (लक्षणा से) किया गया है । दूसरी बात यह है कि यहाँ पशुहिंसा का निवारण नहीं किया जा रहा है, अपितु पशु-पालन की प्रार्थना की जा रही है । 'पालन करने' को ही 'हिंसानिवारण' नहीं कहा करते हैं । आधुनिक शासक, पशु-पालन का प्रयास करते हुए भी हिंसा को बढ़ावा दे ही रहे हैं । 'यजुर्वेद' शब्द से इस एक ही संहिता का ग्रहण करना योग्य नहीं है, क्योंकि 'कृष्णयजुर्वेद' को यजुर्वेद के नाम से कहा जाता है । तब 'यजुर्वेदादिमन्त्रतः' का अर्थ 'यजुर्वेदादि-मन्त्रेभ्यः' करना चाहिये । वहां पर 'मन्त्र' पद, 'ब्राह्मण' का भी उपलक्षण है । क्योंकि 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों से उसका निषेध किया गया है । 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह वचन तो अपवादभूत है । तथा च यज्ञगत आलम्भन के अतिरिक्त की जानेवाली हिंसा का वेदों में निषेध किया गया है—यही अर्थ होता है । अथवा यजुर्वेदादि सभी वेदों में 'मन्त्रतः' अर्थात् निषेध पर्यवसायी वाक्य से—यह अर्थ भी किया जा सकता है । क्योंकि निषेध पर्यवसायी तथा विधिपर्यवसायी दोनों प्रकार के वाक्यों में 'मन्त्र' पद का प्रयोग हुआ करता है । जैसे—'ये मन्त्राः प्रोक्षणे गवाम्' इत्यादि स्थलों में किया गया है ।

६८—यह जो कहा गया है कि "इषेत्वोर्जेत्वा" में दो-मन्त्रों का होना, गोपथकार ने स्वीकार नहीं किया है, किन्तु 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इस प्रकार मन्त्र का आरम्भ करके यजुर्वेद का अध्ययन करते हैं" यह कहते हुए उन्होंने सम्पूर्ण पाठ की 'एकमन्त्रता' को ही सूचित किया है । किन्तु गोपथ का आशय न समझ सकने के कारण आप ऐसा कह रहे हैं । अतः आपके उक्त कथन में कोई सार नहीं है । गोपथ वाक्य में जो 'आदि' पद है, उसे यदि 'मन्त्रादिपरक'

त्वात् । कण्डिकास्वनेकेषां मन्त्राणां सत्त्वादेव नमस्काराद्येकं यजुः, नमस्कारान्तमेकं यजुरिति यास्काद्युक्तयः सङ्गच्छन्ते ।

६९—यदप्युक्तम्—"इषेत्वोर्जेत्वा वायवः स्थदेवो व ·········· इत्येवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयत इतिवचनात् गोपथकारस्य कृष्णयजुर्वेदो वेदत्वेन नाभिमतइति. तदपि तुच्छम्, तत्र यजुर्वेदशब्दस्य अन्ययजुर्वेदीय ग्रन्थानामुपलक्षणत्वात् । अन्यशाखीयसंहितानामपि वेदत्वस्य पारम्पर्यात् श्रुतिस्मृतिपुराणादिभ्योऽपि सिद्धत्वात् । मुक्तिकोपनिषदादौ पुराणेषु महाभाष्ये चानेकशाखोपबृंहितस्य वेदचतुष्टयस्य वर्णनात् । यथा 'अग्निमीले पुरोहितम्' 'इषे त्वोर्जेत्वा' 'अग्न आयाहि वीतये' इति ऋचां यजुषां साम्नामादिमन्त्रप्रतीकोपादानं कृतं महाभाष्ये तथैव अथर्ववेदस्य 'शन्नो देवीरभिष्टये' इति मन्त्रप्रतीकोपादानं कृतम् । स च न शौनकीसंहिताया आदिमो मन्त्रः किन्तु पिप्पलादसंहिताया आदिमो मन्त्रः । न च सा संहिता त्वदभिमतो वेदः । एवञ्च महाभाष्यकाररीत्या तव वर्त्मना शौनकीसंहिताया अवेदत्वमेव स्यात् । पिप्पलादसंहितायाश्च वेदत्वम् ।

७०—किञ्च काण्वानुसारेण जैमिनिनापि 'इषे त्वा'दीनां पृथङ् मन्त्रत्वं निर्णीतम् । तथाहि द्वितीयाध्यायस्य प्रथमे पादे—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्' (मी० सू० २।१।४६) इत्यत्र शाबरभाष्ये विचारितम् प्रश्लिष्टपठितेषु यजुःषु कथमवगम्येत यदेकं यजुरित्याशङ्क्योक्तम् यावता पदसमूहेनेज्यते तावान् पदसमूह एकं यजुरित्युत्तरितम् । कियता चेज्यते इत्याशङ्क्य पुनरुत्तरितम् यावता क्रियाया उपकारः प्रकाश्यते तावत् वक्तव्यत्वात् वाक्यमित्युच्यते । तेनाभिधीयते अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' तत्रैव 'समेषु वाक्यभेदः स्यात्' (मी० सू० २।१।४७) इति सूत्रे

मानेंगे तो आपके अभिमत 'पाहि' पर्यन्तभाग में 'मन्त्रत्व' नहीं बन पायेगा । क्योंकि वहाँ कण्डिका में 'प्रतीक' का ग्रहण करना हो अभीष्ट है । एक कण्डिका में अनेक मन्त्रों के होने से ही 'नमस्कारादि एक यजु' है, और 'नमस्कारान्त' एक यजु है—इस यास्कोक्ति की सङ्गति भी लग जाती है ।

६९—यह जो कहा गया है कि "इषे त्वोर्जेत्वा वायवः स्थ देवो वः ·················· इस प्रकार आरम्भ करके 'यजुर्वेदमधीयते'—इस वचन के अनुरोध से गोपथकार को 'कृष्णयजु' का 'वेदत्व' अभिमत नहीं है ।—यह कथन भी अत्यन्त तुच्छ है । क्योंकि वहाँ 'यजुर्वेद' शब्द, अन्य यजुर्वेदीय ग्रन्थों का उपलक्षण है । अन्यशाखीय संहिताओं का भी 'वेदत्व',—प्राचीन शिष्ट परम्परा तथा श्रुति, स्मृति, पुराणादिकों से भी सिद्ध है । मुक्तिकोपनिषद् आदि में, पुराणों में और महाभाष्य में भी अनेक शाखाओं से उपबृंहित हुए चारों वेदों (वेद चतुष्टय) का वर्णन उपलब्ध होता है । जैसे 'अग्निमीले पुरोहितम्', 'इषेत्वोर्जेत्वा', अग्न आयाहि वीतये'—इस प्रकार ऋक्, यजु और सामादि मन्त्रों के प्रतीकों का उपादान महाभाष्य में किया है, वैसे ही अथर्ववेद का 'शन्नोदेवीरभिष्टये'—इस मन्त्र के प्रतीक का उपादान किया है । यह मन्त्र 'शौनकी संहिता का आदिम (प्रथम) मन्त्र नहीं है, किन्तु पिप्पलादसंहिता का आदिम मन्त्र है । आप तो उस संहिता को 'वेद' कहते ही नहीं हैं । एवञ्च आपके सम्प्रदाय की दृष्टि में महाभाष्यकार की रीति से 'शौनकीसंहिता' को अवेद कहना होगा, और 'पिप्पलाद संहिता' को वेद कहना होगा ।

७०—किञ्च काण्व के अनुसार जैमिनि ने भी 'इषेत्वा' आदि में पृथक् मन्त्रत्व का निर्णय किया है । तथाहि, द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद में अर्थैकत्वादेकं वाक्य", के शाबरभाष्य में उसका विचार किया है कि प्रश्लिष्ट पठित यजुओं में कैसे जाना जायगा कि यहां तक 'एक यजु' है—ऐसी आशङ्का करके समाधान किया है कि जहाँ तक के पदसमूह के द्वारा याग किया जाता है, वहाँ तक का पदसमूह (उतना पदसमूह) 'एक यजु' कहलाता है । पुनः शङ्का कर सकते हैं कि कितने पदसमूह से याग किया जाता है । उसपर उत्तर दिया है कि जितने से क्रिया का उपकार किया जा सकता है । क्रियोपकारक, उस पदसमूह को 'वाक्य' कहा जाता है । अतएव यह कहा गया है 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' । वहींपर 'समेषु वाक्यभेदः स्यात्'—सूत्र के द्वारा विचार किया है कि 'इषेत्वा, 'उर्जेत्वा', तथा 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां

इषेत्वा ऊर्जेत्वा इति तथा 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतामितिभिन्नं वाक्यमुतैकम् ? इषेत्वा इत्येवमुक्ते न किञ्चिद्दृष्टप्रयोजनम्, तथा ऊर्जेत्वा इत्यपि च, वचनसामर्थ्याददृष्टं तदुभाभ्यामेकम् (अदृष्टं) कल्पयितुं न्याय्यम्। एवंस्वल्पीयानुमानकल्पना भविष्यति एवं पूर्वपक्षय्य समाहितम्—समेषु वाक्यभेदः स्यादिति समेषु परस्परानाकांक्षेषु वाक्यंभिद्यते। इषेत्वेत्यनेनैकोऽर्थः क्रियते उर्जे त्वेत्यनेनापरः। यद्यपि प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन दृष्टोऽर्थो नोपलभ्यते श्रुत्या तु गम्यते इषे त्वेति छिनत्ति ऊर्जे त्वेत्यनुमार्ष्टि इति। एतावता शाबरभाष्येणोपर्युक्तं काण्ववाक्यद्वयं श्रुतित्वेनोदाहृत्य इषे त्वा उर्जेत्वा इति वाक्यद्वयमङ्गीकृत्य मन्त्रद्वयमङ्गीकृतम्। तस्मात् पूर्वमीमांसासूत्र–भाष्याभ्यामनेके मन्त्रा एकस्यां कण्डिकायां सिद्धयन्ति। जैमिनीयाधिकरणन्यायमालायामपि—'इषे त्वादिर्मन्त्र एको भिन्नो वैकः क्रियापदे। असत्यर्थ-स्मारकत्वादेकादृष्टस्य कल्पनात्॥ छेदने मार्जने चैतौ विनियुक्तौ क्रियापदौ। अध्याहृते स्मारकत्वात् मन्त्रभेदोऽर्थ-भेदतः॥' इषे त्वोर्जे त्वेत्यत्र क्रियापदाभावेन 'उरुप्रथस्व' प्रथस्वेति मन्त्रवदर्थस्मारकत्वाभावाददृष्टार्थे सत्येकादृष्टस्य कल्पने लाघवादेक एव मन्त्र इति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु काण्वब्राह्मणे छिनत्ति अनुमार्ष्टीति विनियोगश्रवणात्तदनुरोधेन इषेत्वा छिनद्मि ऊर्जेत्वाऽनुमार्ज्मि इति क्रियापदेऽध्याहृते सत्यस्मारकत्वाद्भिन्नौ मन्त्रौ। कात्यायनमहर्षिणापि पर्णशाखां छिनत्ति शामीलीं वा इषे त्वोर्जे त्वेति वा छिनद्मि इति वोभयोः साकांक्षत्वात् सन्नमयामीति वोत्तर इति पलाशशाखा शमीशाखा वात्र विकल्पिता। तच्छेदने इषे त्वोर्जे त्वेति द्वौ मन्त्रौ विकल्पितौ।

७१—[यत्तु 'इषे अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये' इत्युक्तम्, तदपि न युक्तम्, पूर्वोक्तकाण्वश्रुत्या इषे इत्यस्य वृष्टयर्थ-ताप्रतिपादनात्। यदुक्तम्—यस्य पदस्य यद्धातोर्यस्मिन् प्रत्यये यस्मिन्नर्थे व्याकरणनिरुक्तभाष्यकारादिभिर्व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता तस्मादेवधातोस्तास्मिन्नेव प्रत्यये तस्मिन्नेवार्थे च पदमिदं व्युत्पादनीयमिति नैकान्तो नियमः, अपि तु

प्राणो यज्ञेन कल्पताम्'—ये सब भिन्न-भिन्न वाक्य हैं अथवा सब मिलकर सम्पूर्ण एक ही वाक्य है ? 'इषेत्वा' इतना कहने पर किसी दृष्ट प्रयोजन की उपलब्धि नहीं होती है, तथा 'ऊर्जेत्वा' के कहने पर भी वैसा ही है। किन्तु वचन सामर्थ्यात् दोनों से एक ही अदृष्ट की कल्पना करना ही न्यायोचित है। इस प्रकार अनुमान कल्पना स्वल्प करनी पड़ेगी। यह पूर्वपक्ष किया गया है। उसपर समाधान देने के लिये 'समेषु वाक्यभेदः स्यात्'—(मी० सू० २।१।४७) सूत्र को उपस्थित किया गया है। 'समेषु' यानी एक दूसरे को परस्पर आकांक्षा न रहने पर 'वाक्य' भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। 'इषेत्वा' कहनेपर एक अर्थ किया जाता है और ऊर्जेत्वा' कहनेपर अन्य अर्थ किया जाता है। यद्यपि प्रत्य-क्षादि प्रमाण से किसी दृष्ट अर्थ की उपलब्धि नहीं हो रही है, किन्तु श्रुति से जाना जाता है कि 'इषेत्वेति छिनत्ति'—इषेत्वा मन्त्र बोलकर छेदन करना चाहिये, ऊर्जेत्वेत्यनुमार्ष्टि' 'ऊर्जेत्वा' मन्त्र बोलकर अनुमार्जन करना चाहिये। इस शाबर भाष्य के द्वारा उपर्युक्त काण्व के दो वाक्यों को श्रुति के रूप में उदाहरण प्रस्तुत कर 'इषेत्वा'—ऊर्जेत्वा' को दो वाक्य मानते हुए उन्हें दो मन्त्रों के रूप में स्वीकार किया है। एवञ्च पूर्वमीमांसासूत्र और उसके भाष्य की दृष्टि में 'अनेक मन्त्र', एक कण्डिका में हुआ करते हैं। जैमिनीय अधिकरण न्यायमाला में भी कहा गया है कि 'इषे-त्वोर्जेत्वा' में किसी 'क्रियापद' के न रहने से 'ऊरुप्रथस्व' इस मन्त्र के समान अर्थस्मारकत्व न होने के कारण जब उसे अदृष्टार्थक ही कहना होगा, तब एक अदृष्ट की कल्पना करने में लाघव होने से 'इषेत्वोर्जेत्वा' इतना एक ही मन्त्र है—यह पूर्वपक्ष किया गया है। किन्तु सिद्धान्त यह किया गया है कि काण्व ब्राह्मण में 'छिनत्ति, अनुमार्ष्टि' इस प्रकार विनियोग श्रुत रहने से, तदनुरोधेन 'इषेत्वा छिनद्मि', ऊर्जेत्वा अनुमार्ज्मि' इस प्रकार क्रियापद का अध्याहार करने पर उक्त मन्त्रों में अर्थस्मारकत्व स्पष्ट हो जाता है। कात्यायन महर्षि ने भी 'पर्णशाखां .... छिनद्मि' कहकर दोनों के साकांक्ष होने से 'सन्नयामीति वोत्तरे' यह कहकर पलाश शाखा अथवा शमीशाखा का विकल्प यहाँपर दिखाया है। उसके छेदन में 'इषेत्वा', 'ऊर्जेत्वा' दो मन्त्रों को विकल्प से बताया है।

७१—स्वामी दयानन्द जी ने "इषे" का अर्थ 'अन्न और विज्ञान की प्राप्ति के लिये' किया है। किन्तु यह अर्थ भी उचित नहीं है, क्योंकि काण्व श्रुति के द्वारा "इषे" का अर्थ 'वृष्टि' के लिये किया गया है। निरुक्त और दुर्गा-चार्य के ये वचन कि "जिन पदों में स्वर और संस्कार समर्थ होकर प्रादेशिक गुणों से अन्वित होते हैं। उनका

यस्माद्यस्मादपि धातोर्यस्मिन् प्रत्यये यस्मिन्नर्थे यं यमर्थं वक्तुं पदं समर्थं स्यात् तथा तथा निर्वक्तुं शक्यते' इति, तत्तु सर्वथा विरुद्धमेव, तात्पर्यानुरोधेनैव व्युत्पत्तेराश्रयणीयत्वात्। 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यमिति (मी० सू० २।१।४६) सूत्रे जैमिनिना स्पष्टमेतदुक्तम्। तथा च नैकस्य वाक्यस्यानेकेऽर्थास्तात्पर्यगोचरा वक्तुं शक्यन्ते। विवरणकृतापि वाक्ययोजनाविचारप्रसङ्गे चोक्तम् पूर्वोक्तरीत्या नैका सरणिर्वाक्ययोजनायामाश्रयितुं शक्यते व्याख्यातॄणां बुद्धिभेदात्। सत्यप्येवं भाष्यकाराणां विविधापि वाक्ययोजना तदनुसारी च विविधोऽप्यर्थः प्रामाणिक एवेति स्वीकर्तुं शक्यते। वेदान्तगीतादिभाष्योक्तेषु सर्वेष्वप्यर्थेषु ग्रन्थकर्तुरभिप्रायोऽस्तीति न कथमपि शक्यते वक्तुम्। एवमेव वेदेऽपि तत्कर्तुः सच्चिदानन्दत्वादिगुणविशिष्टस्य ब्रह्मणो विभिन्नभाष्यकारप्रतिपादितेषु विविधेषु सर्वेष्वर्थेष्वभिप्रायोऽस्तीति न शक्यते वक्तुम्। तस्मादकामेनापि शास्त्रवचनानुसृत एव वेदार्थः प्रामाणिको भवितुमर्हतीत्यङ्गीकरणीयम्। तथा सति मन्त्रब्राह्मणसूत्रपारम्पर्ययाज्ञिकपद्धतिविरुद्धो दयानन्दोयोऽर्थस्त्वद्रीत्यापि न स्वीकारार्हः।

अथ निर्वचनं — तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्, तथा तानि निर्ब्रूयात्, अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्, न त्वेव न निर्ब्रूयात् न संस्कारमाद्रियेत विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति' (नि० २।१) इति निरुक्तवचनानि तत्रत्यानि च दुर्गाचार्यादिवचनानि न शास्त्रप्रकरणादिविरुद्धयथेच्छनिर्वचनसमर्थकानि किन्तु तेषां 'अर्थनित्यः परीक्षेत' अर्थादर्थप्रधानः परीक्षेतेत्यत्रैव तात्पर्यम्। अर्थप्राधान्येनैवानादृत्य स्वरसंस्कारौ परीक्षेत। अर्थोहि प्रधानं तद्गुणभूतः शब्दः, तस्माच्छब्दसामान्यादर्थसामान्यं बलीय इति तात्पर्यानुरोधेनैव व्युत्पत्तयो ग्राह्याः। तात्पर्यानुरोधेनानेका अपि व्युत्पत्तयो न दोषावहा बुद्धिवैशद्यहेतुत्वात्। स्वेच्छया स्वरसंस्कारवचनपुरुषव्यत्यासे शाब्दन्यायेऽराजकतैव स्यात्। तस्माद्यत्र स्वरसंस्कारादयस्तात्पर्यानुरोधिनो न भवेयुस्तत्रैव तदनादरेण निर्वचनं युक्तम्। विशेषतस्तु आस्माकीनवेदभाष्यभूमिकायां विवेचिता इमे विषयाः। अर्थप्राधान्येन धातुतोऽर्थोऽवगन्तव्य इति निर्वचनसिद्धान्ते स्वीकृतेऽपि न हानिः। 'अनुपक्षीणशक्तयो हि विभवो वेदशब्दा यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकानर्थान् प्रब्रुवन्ति' (नि० टीका पृ० ८४) इति वचनमपि तात्पर्यानुरोधेनैव नेतव्यम्, न यथेच्छम् इत्यर्थकम्, पुरुषेच्छाया अव्याहतप्रसरत्वात्।

निर्वचन उसी प्रकार करना चाहिये, जो अर्थ—अनन्वित हैं, प्रादेशिक विकार है, वहां अर्थ नित्यता की परीक्षा करनी चाहिये। किसी वृत्ति के कारण सामान्य के अविद्यमान होनेपर अक्षर वर्ण से समानता को लेकर निर्वचन करना चाहिये। निर्वचन ही न हो, ऐसा नहीं होना चाहिये। संस्कार का ही अत्यधिक आदर नहीं करना चाहिये, क्योंकि वृत्तियां सविषयक होती हैं" शास्त्र के विरुद्ध यथेच्छ निर्वचन के समर्थक नहीं है, अपितु उनका तात्पर्य अर्थ को प्रधान रखकर परीक्षा करने में ही है। स्वर और संस्कार का अनादर करके भी अर्थ को ही प्रधान मानकर परीक्षा करनी चाहिये, क्योंकि अर्थ की प्रधानता होती है। 'शब्द' उसकी अपेक्षा गौण होता है। इसलिये शब्द सामान्य से अर्थसामान्य हो बलवान् होता है। इस तात्पर्य का अनुरोध रखते हुए ही व्युत्पत्तियों को ग्रहण करना चाहिये। तात्पर्य का यदि अनुरोध हो तो अनेक प्रकार की व्युत्पत्तियाँ भी बुद्धि की विशदता सम्पादन के कारण दोषावह नहीं होतीं हैं। अपनी इच्छानुसार स्वर, संस्कार, वचन और पुरुष का व्यत्यास माननेपर तो शब्दविषयक न्याय में अराजकता ही फैल जायगी। अतः स्वर और संस्कार का अनादर वहींपर सह्य होता है, जहाँपर वे तात्पर्य का अनुरोध नहीं रखते। हमारी वेदभाष्यभूमिका में इन विषयों पर विशेष विचार हो चुका है। अर्थ की प्रधानता के कारण धातु से अर्थ को जानने के लिये निर्वचन के सिद्धान्त को मानने में कोई हानि नहीं है।

निरुक्त का यह कथन है कि "वेद के शब्द, अक्षीण शक्ति से सम्पन्न, विभुता से युक्त हैं। पुरुषों की प्रज्ञा के अनुसार अर्थों के अभिधानों में विपरिणत होते हुए सर्वतोमुखभाव से अनेक अर्थों को कहते हैं"। इसे तात्पर्य के अनुरोध से ही समझना चाहिये। इसका अभिप्राय यथेच्छ अर्थ करने में कथमपि नहीं है, क्योंकि पुरुष की इच्छापर उसे छोड़ने पर तो उसकी कहींपर रुकावट ही नहीं होगी।

७२—[ननु व्युत्पत्तिवशादर्थज्ञानमर्थज्ञानाच्च व्युत्पत्तिनिर्णय इत्यन्योन्याश्रयः, इति चेन्न, अर्थपदेन तात्पर्यस्य विवक्षितत्वात् । तन्निर्णयस्तु—'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥' इति षड्विधतात्पर्यग्राहकलिङ्गैर्भवति । तात्पर्यं च लोके तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वम् वेदे तु तदितरप्रतीतीच्छयानुच्चरितत्वरूपम् । न चोपक्रमादिवाक्येष्वपि व्युत्पत्तिनिर्णयाधीनमेवार्थज्ञानम्, विप्रतिपन्नस्थले व्युत्पत्तिनिर्णयापेक्षायां सत्यामपि सर्वत्र विप्रतिपत्त्यसम्भवेनादोषात् । प्रकृते तु काण्वश्रुत्यैवेष इत्यस्य वृष्टयर्थता निर्णीता । न च 'अन्नं वा इषम्' (कौ० ब्रा० २८।५) इति श्रुत्यैवान्नार्थतापि विज्ञायते इषशब्दस्येति वाच्यम्, काण्वशाखीयमन्त्रव्याख्याने काण्वश्रुतेः कौषीतक्यपेक्षयाऽन्तरङ्गत्वेन, बहिरङ्गव्याख्यानग्रहणानौचित्यात् । काण्वमाध्यन्दिनीशाखयोश्च वाजसनेयित्वेन माध्यन्दिनीशाखायामपि तस्या एव ग्राह्यत्वात् । किञ्चेषेत्वेति मन्त्रस्य तद्गतस्य इषे इति चतुर्थ्यन्तपदस्यैव व्याख्यां काण्वश्रुतिः करोति । कौषीतकिस्तु इषमिति द्वितीयान्तस्यान्यमन्त्रगतस्य व्याख्यानं करोति इति व्यवस्थैव युक्ता, तथा च न परस्परं बाध्यबाधकभावः । अत एव इषु इच्छायाम्' इत्यनुसारेणोत्तमेच्छायै इत्यप्यर्थोऽसङ्गत एव । इच्छाया वस्तुसौन्दर्यज्ञानजनितत्वेन प्रार्थनीयत्वानुपपत्तेः ।

७३—[यत्तु 'सर्वनाम्नः पूर्वपरामर्शित्वात् ऋग्वेदेन पूर्वनिर्दिष्टस्वरूपः सर्वोऽपि पदार्थसमूहोऽत्र ग्रहीतुं शक्यते, पुनरपि ब्रह्मणः प्रधानत्वात् भाष्यस्य चाध्यात्मपरत्वात् परमेश्वर एव परामृश्यते, प्रसिद्धपरामर्शित्वाद्वा त्वेति

७२—इस पर यदि यह शङ्का करो कि व्युत्पत्ति होनेपर अर्थज्ञान होगा और अर्थज्ञान के होनेपर व्युत्पत्ति का निर्णय होगा, तब अन्योन्याश्रयदोष आवेगा। किन्तु यह शङ्का उचित नहीं होगी, क्योंकि यहाँ 'अर्थ' पद से 'तात्पर्य' की विवक्षा की जाती है । और 'तात्पर्य' का निर्णय 'उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति'—इन छह प्रकार के तात्पर्यग्राहक चिह्नों से किया जाता है । तात्पर्य का अर्थ, लोकव्यवहार में 'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्व' अर्थात् उसको बताने की इच्छा से उच्चारण करना' है, किन्तु वेद में 'तदितरप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्व' अर्थात् 'उससे इतर (भिन्न) की प्रतीति की इच्छा से उच्चारण न करना' होता है । और यह भी नहीं है कि 'उपक्रमोपसंहारौ', इत्यादि वाक्यों में भी 'अर्थज्ञान', व्युत्पत्तिनिर्णय के ही अधीन हो । विप्रतिपत्ति के स्थलों में व्युत्पत्ति से निर्णय की अपेक्षा होनेपर भी सभी स्थलों पर विप्रतिपत्ति का होना संभव नहीं है । अतः कोई दोष उपस्थित नहीं होता है । प्रकृत में तो काण्वश्रुति के द्वारा ही 'इष' पद का अर्थ 'वृष्टि' निर्णीत किया गया है । 'अन्न'—'इष' है, इस श्रुति के द्वारा 'इष' शब्द का अर्थ 'अन्न' भी कहा गया है । ऐसी शङ्का यहाँपर उठाने योग्य नहीं है, क्योंकि जब काण्वश्रुति का व्याख्यान करना है तब काण्वश्रुति 'कौषीतकी' की अपेक्षा अन्तरङ्ग है । अतः उससे भिन्न जो बहिरङ्ग है। उसका ग्रहण करना यहाँ उचित नहीं है । 'काण्व' और 'माध्यन्दिनी' शाखाएँ वाजसनेयी की हैं । अतः माध्यन्दिनीशाखा में भी उसी का ग्रहण करना उचित होगा । काण्वश्रुति "इषे त्वा" मन्त्र की और उसके अन्तर्गत "इषे" इस चतुर्थी विभक्त्यन्त पद की ही व्याख्या कर रही है । और कौषीतकी तो "इषम्" इस अन्य मन्त्र के अन्तर्गत 'द्वितीयाविभक्त्यन्त' पद की व्याख्या कर रही है । अतः उक्त व्यवस्था ही यहाँ उपयुक्त है । उक्त व्यवस्था को स्वीकार करनेपर इन दोनों में 'परस्पर बाध्य-बाधकभाव' नहीं होगा । अतः 'इषु इच्छायाम्' के अनुसार' उत्तम इच्छा के लिये'—यह अर्थ करना भी स्वामी दयानन्दजी का असङ्गत ही है । क्योंकि 'इच्छा' तो वस्तुसौन्दर्य के ज्ञान से उत्पन्न है, वह प्रार्थनीय नहीं हो सकती ।

७३—यह जो कहा गया है कि 'सर्वनाम शब्द, पूर्वोक्त अर्थ को ही प्रकट करता है'—इसलिये ऋग्वेद के द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट सभी पदार्थ समूह का यहाँ ग्रहण हो सकता है, फिर भी 'ब्रह्म' के प्रधान होने के कारण तथा भाष्य के अध्यात्मपरक होने से 'परमेश्वर' का ही ग्रहण यहाँ किया गया है, अथवा 'त्वा' पद के प्रसिद्ध अर्थ के कारण उससे 'ब्रह्म' का ही निर्देश माना गया है'—(पृ० ८३) । किन्तु यह सम्पूर्ण कथन कुशकाशावलम्बनमात्र ही है ।

यद्यपि सर्वनाम पूर्वपरामर्शक होता है, तो भी पूर्व में यदि समीप और दूरभाव हो तो सर्वनाम शब्द उनमें से समीप का ही ग्रहण करता है, जो उचित भी है । अतः अन्य ग्रन्थ के पदार्थों का परामर्श 'सर्वनाम' शब्द से

पदेन ब्रह्मणो निर्देशः' (पृ० ८।६) इति, तदपि कुशकाशावलम्बनमात्रम्, सर्वनाम्नां पूर्वपरामर्शित्वेऽपि सन्निहितासन्निहितयोः सन्निहितपरामर्शित्वस्यौचित्याद्ग्रन्थान्तरीयवस्तुपरामर्शासम्भवात् । ऋग्वेदेन पूर्वनिर्दिष्टः सर्वोऽपि पदार्थसमूहस्तु नतरां ग्रहीतुं शक्यते, सम्बोध्यत्वविशिष्टचेतनस्यैव युष्मदर्थतयाऽचेतनपदार्थसमूहस्य त्वेतिपदेन ग्रहीतुमशक्यत्वात् । ब्रह्मणोऽर्थविधया प्राधान्येऽपि न 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० उ० २।१) इत्यत्र शब्दविधया प्राधान्यं 'विद्' इत्यस्य विशेषणत्वेनाप्राधान्यात् । प्रसिद्धपरामर्शित्वमपि सन्निहितासन्निहितयोः सन्निहितस्यैव युक्तम् । प्रकृते तु शाखाछेदने विनियुक्तस्य मन्त्रस्य शाखां प्रति गुणत्वात् शाखैव प्रधानभूता । अन्यथा यत्र क्वापि 'भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषम्' (वा० सं० १।११) इत्यादावपि त्वेति प्रसिद्धत्वात् परमेश्वर एव कुतो न गृह्यते ? त्वया तु तत्र हेमनुष्य अहं त्वां सर्वेषां भूतानां सुखदानाय पृथिव्यां रक्षयामीत्यत्र त्वापदेन मनुष्य एव गृहीतः । वस्तुतस्तु सर्वनामत्वेऽपि युष्मच्छब्दस्य न प्रकृतपरामर्शित्वं न वा प्रधानपरामर्शित्वं, किन्तु सम्बोध्यत्वविशिष्टचेतनबोधकत्वमेव । लक्षणयाऽचेतनोऽपि त्वमिति सम्बोधयितुं शक्यत इति सर्वत्र त्वमिति प्रयोगसम्भवेन सर्वनामत्वोक्तिः समञ्जसा ।

७४—[यत्तु पुरुषव्यत्ययसमर्थनाय 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इत्यादि सूत्रमुद्धृतम् तत्र नास्ति विप्रतिपत्तिः । प्रकृते व्यत्ययोऽपेक्षितो न वा इत्येव तु विवेचनीयम् । व्यत्ययमन्तरापि ब्राह्मण-सूत्र-पारम्पर्यैरर्थोपपत्तौ सत्यां स्वाभ्यूहितार्थसाधनाय लिङ्गवचनपुरुषव्यत्ययः सर्वथाऽसङ्गत एव । सर्वत्रैव यथाश्रुतार्थानुपपत्तौ सत्यामेव व्यत्ययो भवति । 'श्रीर्हि पशवः' (श० १।८।१।३६) 'प्रजावैपशवः' (श० १।६।१।१७) इतीमानि वचनानि तु भूमिकायां व्याख्यातानि । ब्रह्मदत्तेन दुर्गाचार्यस्कन्दस्वाम्यादीनां वचनानि स्वपक्षपोषणाय तत्र तत्रोद्ध्रियन्ते परं सिद्धान्तस्तु तद्विरुद्ध एवानुगम्यते । दुर्गाचार्यादयस्तु ब्राह्मण-सूत्र-पारम्पर्यसमनुगतमेवार्थं समर्थयन्ते । सत्यामनुपपत्तावेव वचनादिव्यत्ययमङ्गीकुर्वन्ति ।

मानना असम्भव है । ऋग्वेद के द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट समस्त पदार्थ समूह का परामर्श तो कथमपि नहीं हो सकता । "त्वा" शब्द 'युष्मद्' शब्द है, उसका व्यवहार उसी के लिये हो सकता है, जो सम्बोधित हो सके और 'चेतन' हो तब 'अचेतन पदार्थ' समूह का परामर्श 'त्वा' पद से होना संभव नहीं है । अर्थदृष्टि से 'ब्रह्म' के प्रधान होने पर भी "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" यहाँ शब्द मर्यादा से 'ब्रह्म', विद् का विशेषण होने के कारण अप्रधान है । सर्वनाम के प्रसिद्धपरामर्शित्व का नियम भी यदि समीपस्थ और दूरस्थ दोनों हों तो समीप में ही सङ्गत होता है । प्रकृत में तो शाखा छेदन के लिये विनियुक्त हुए मन्त्र की 'शाखा' के प्रति गौणता है और शाखा की ही प्रधानता है । अन्यथा 'त्वा' शब्द का 'भूताय त्वा' आदि मन्त्रों में जहाँ प्रयोग मिलता है वहाँ 'त्वा' के प्रसिद्ध परामर्शक होने से 'परमेश्वर' का ही ग्रहण क्यों नहीं होता ? स्वामी दयानन्दजी ने तो "हे मनुष्य ! मैं तुम्हें समस्त भूतों को सुख पहुँचाने के लिये पृथिवी पर रखता हूँ"—इस प्रकार वहाँ "त्वा" का अर्थ 'मनुष्य' किया है । यथार्थता तो यह है कि 'युष्मद्' शब्द के सर्वनाम होने पर भी न तो वह प्रकृत का परामर्शक है और न प्रधान का परामर्श करता है, अपितु वह उस चेतन का बोधक होता है, जिसमें सम्बोधित होने की योग्यता हो । लक्षणा के द्वारा अचेतन भी 'त्वम्' शब्द से सम्बोधित हो सकता है । अतः 'त्वम्' का प्रयोग होना सर्वत्र संभव होता है, इसलिये उसे 'सर्वनाम' कहा गया है ।

७४—प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुषों में व्यत्यय का बोधन करने के लिये जो 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र उद्धृत किया है, उसमें आपत्ति नहीं है । सोचना तो यह है कि प्रकृत स्थल में 'व्यत्यय' अपेक्षित है या नहीं । बिना व्यत्यय के भी ब्राह्मण-सूत्र परम्पराओं से अर्थ की युक्तिसङ्गतता प्राप्त हो जाने पर भी अपने कल्पित अर्थ को सिद्धि के लिये लिंग, वचन, पुरुष का व्यत्यय सर्वथा असङ्गत ही है । व्यत्यय तो तभी होता है, जब यथाश्रुत अर्थ ठीक नहीं बैठता । 'श्रीर्हि पशवः', 'प्रजा वै पशवः'—अर्थात् 'श्री' पशु है, 'प्रजा' पशु है—इन वचनों की व्याख्या तो वेदभाष्यभूमिका में करदी गई है । श्रीब्रह्मदत्तजी ने 'दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामी' आदि भाष्यकारों के वचनों को तत्तत् स्थलों पर अपने पक्ष के पोषणार्थ उद्धृत करके भी अपना सिद्धान्त उनके विपरीत ही स्थापित किया है,—इस प्रकार धूलिप्रक्षेप करके अपने पक्ष का प्रतिपादन श्रीब्रह्मदत्तजी ने किया है । दुर्गाचार्य–स्कन्दस्वामी आदि भाष्यकार तो ब्राह्मण, सूत्र तथा परम्परा से

७५—[यदुक्तम्—"सर्वदर्शनेषु सर्वे मन्त्रा योजनीयाः कुतः 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' (नि० १।२०) यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्। सर्वदर्शनेषु सर्वे मन्त्रा योजनीया इत्यनेन वेदस्य समस्तमन्त्राणां सर्वेष्वपि पक्षेषु आध्यात्मिकनैरुक्त याज्ञिकादिपरा अर्था भवन्ति किमुतैकस्याध्यायस्य मण्डलस्य सूक्तस्य वेति सर्वथा विस्पष्ट" मित्यादि, तत्सर्वमविचारितरमणीयम्, 'अर्थं वाचः पुष्पफलम्' (नि० १।३०) इति निरुक्तवाक्यस्यार्थानवबोधात्। नह्यत्र सर्वेषां मन्त्राणां त्रिविधा अर्था भवन्तीति प्रतिपादितम्, किन्तु दुर्गाचार्यरीत्यायमभिप्रायः सर्वोपि मन्त्रब्राह्मणराशिरेव त्रिधाविभक्तः। यदाभ्युदयलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते तदा याज्ञं पुष्पंफलं दैवतम्। पूर्वं हि पुष्पं भवति फलार्थं याज्ञमपि पूर्वं तन्यते देवतार्थं चेत्येतस्मात् सामान्यात् याज्ञं पुष्पं दैवतं फलं भवति। यदा तु निःश्रेयसलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते याज्ञदैवतयोः पुष्पत्वमेव भवति दैवतार्थत्वात् याज्ञस्य दैवतेऽन्तर्भावात्। अध्यात्मार्थत्वादधिदैवतस्याध्यात्मे पुरुषार्थस्य निष्ठानाद्दैवतं पुष्पमध्यात्मं फलमित्येव युक्तम्।

७६—[अनेकेषां मन्त्राणां निरुक्तकारैरेवाध्यात्मिकपक्षमाश्रित्य केषाञ्चिद्याज्ञिकपक्षमाश्रित्य केषाञ्चिदैतिहासिकपक्षमाश्रित्य व्याख्यानं कृतम्। यथा—'वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः. इन्द्रस्य न कोऽपि शत्रुः, मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु मेघ एवाहिरित्यभिधीयते' इति च (नि० २।१६)। पूर्वोत्तरमीमांसादृष्टचा तु धर्मब्रह्मपर एव वेदार्थो युक्तः। तत्र धर्मोऽभ्युदयार्थो निष्कामस्य बुद्धिशुद्धिद्वारा ब्रह्मात्मसाक्षात्कार एव पर्यवस्यति।

अनुगत अर्थ का ही समर्थन करते हैं। ब्राह्मण, सूत्र, याज्ञिक परम्परा के विरुद्ध अर्थ का समर्थन वे कथमपि नहीं करते हैं।

७५—यह जो कहा गया है कि "सभी दर्शनों में सभी मन्त्रों को लगाना चाहिये. क्योंकि "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह"—अर्थ को 'वाणी' का पुष्प फल कहा है—। 'यज्ञ' आदि पुष्प-फल के रूप में प्रतिज्ञात हैं। सर्व दर्शनों में सभी मन्त्रों को लगाना चाहिये—'सर्वदर्शनेषु सर्वमन्त्रा योजनीयाः—ऐसा कहा होने से वेद के समस्त मन्त्रों के सभी पक्षों में आध्यात्मिक, नैरुक्त, याज्ञिक आदि प्रक्रियापरक अर्थ हो सकते हैं, तब किसी अध्याय, मण्डल अथवा सूक्त की बात ही क्या है ? यह सर्वथा विस्पष्ट हो जाता है।" किन्तु यह सब अविचारितरमणीय ही है। क्योंकि निरुक्त के कथन—'शब्द का जो अर्थ है, वह वाणी का पुष्प-फल है'—का ज्ञान ठीक ठीक न हो पाने से स्वामी दयानन्दजी वैसा कह गये हैं। निरुक्तकार ने यह नहीं कहा है कि सभी मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं किन्तु दुर्गाचार्य की रीति से उसका अभिप्राय यह है कि समस्त मन्त्र-ब्राह्मणराशि के तीन विभाग हैं। जब अभ्युदयरूप धर्म अभिप्रेत हो तब 'यज्ञ' पुष्प और फल 'देवता' विवक्षित हैं। क्योंकि पहिले 'पुष्प होता है, यज्ञ भी फल के लिये और देवता के लिये पहिले किया जाता है। इसी सादृश्य को देखकर 'यज्ञं पुष्पं दैवतं फलं भवति' कहा गया है। जब निःश्रेयस रूप धर्म अभिप्रेत हो, तब यज्ञ विषयक और देवता विषयक पदार्थ पुष्पस्थानीय ही समझने चाहिये। क्योंकि यज्ञीय पदार्थ देवता के निमित्त होने से देवता सम्बन्ध में ही उनका अन्तर्भाव होता है। अधिदैवत पदार्थ, अध्यात्म के लिये होने से अध्यात्म में ही पुरुषार्थ की अधिष्ठानता होती है। अतः 'दैवत' को पुष्पस्थानीय और 'अध्यात्म' को फलस्थानीय कहना ही उचित है।

७६—स्वयं निरुक्तकार ने ही अनेक मन्त्रों का व्याख्यान आध्यात्मिकपक्ष का आश्रय लेकर, कुछ मन्त्रों का व्याख्यान ऐतिहासिकपक्ष का आश्रय लेकर किया है। जैसे—'वृत्रो मेघः'—वृत्र मेघ है, यह निरुक्त के अनुयायी कहते हैं, और 'त्वाष्ट्रोऽसुरः'—त्वाष्ट्र (वृत्र) असुर है, ऐसा ऐतिहासिक कहते हैं। 'इन्द्र' का शत्रु कोई नहीं है। मन्त्रों में और ब्राह्मणों में 'मेघ' को अहि कहा गया है (निरु०)। पूर्व और उत्तरमीमांसा की दृष्टि से तो 'वेद' का अर्थ, धर्मपरक और ब्रह्मपरक ही करना ही उपयुक्त है। क्योंकि अभ्युदय करनेवाला धर्म, निष्काम पुरुष की बुद्धि को शुद्ध बनाता हुआ ब्रह्मसाक्षात्कार में ही परिपूर्ण होता है।

७७—['य ईं चकार न सोऽस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् । स मातुर्योनापरिवीतो अन्तर्बहुप्रज्ञा निर्ऋतिमाविवेश ॥' (ऋ० सं० १।१६४।३२) । अत्र बहुप्रज्ञाः कृच्छ्रमापद्यते इति परिव्राजकाः । वर्षकर्मेति नैरुक्ताः' (नि० २।८) इति निरुक्ते स्पष्टमुक्तम् । कश्चिद् बह्वपत्यो दरिद्रः सुदुष्पोषत्वादपत्यानां व्यापन्नत्वात् दुःखं कृच्छ्रमापद्यते । सा या तस्य कृच्छ्रापत्तिः सैवास्यामृचि निर्ऋति शब्देनोच्यते इति परिव्राजकाः । स एव प्रदर्श्यते यः करोति गर्भं न सोऽस्य गर्भस्य तत्त्वं वेद केवलं त्वसौ कामार्तः पुत्रार्थी करोत्येव गर्भं य ईं ददर्श पश्यति चैनं हिरुक् अन्तर्हितमेतस्मिन् जठरे शरीरे वा जन्तुं तस्मात्तस्यैष एव गर्भो याथात्म्यतः प्रत्यक्षो भवत्यध्यात्मशास्त्रदृष्टया नेतरस्य गर्भकर्तुः गर्भः पुनरेव गर्भो मातुर्योनौ गर्भाशयस्थाने अन्तरुदरे पुष्यति । स मातुरशितपीतलीढभक्षितेन चतुर्विधेनाहारेण ततः परिवीतो जरायुणा परिवेष्टितो यथा कालं जायते ।

७८—अथैवं बहुशः प्रजायमानः स गर्भकर्ता गर्भतत्त्वमजानानो निर्ऋतिं दुःखमाविवेश आविशति । एवं गर्भतत्त्वाज्ञानात् यो गर्भं करोति स दुःखमापद्यते । यस्त्वध्यात्मदृष्टया गर्भतत्त्वं वेद स गर्भकर्मणो निवर्तते स निर्ऋतिं नापद्यते इत्येष परिव्राजकार्थः ।

७९—अन्येषां रीत्या तु यः करोति गर्भं स गर्भभूतो जन्मान्तरेषु बहुषु प्रजायमानो जन्ममरणसन्तानानुबद्धां निर्ऋतिमाविशति यो रेतः सिञ्चति तद् भूयोभूयो जन्मान्तरेण बहुशः प्रजायमानो जन्ममरणसन्तानानुबद्धो भवति ।

८०—नैरुक्तानां दृष्टया वर्षकर्मैतदुच्यते । निर्ऋतिश्चात्र भूमिरुच्यते । यः करोति वर्षं स मेघः वर्षकर्ता विक्षेप्ता वा । न सोऽस्य वर्षस्य तत्त्वं वेद कुतोऽप्येतदुदकं मय्यागच्छति यन्मया विसृज्यते किं वोदकस्य तत्त्वं केवलं

७७—"य ईं चकार" इस मन्त्र का तात्पर्य, परिव्राजकों के मतानुसार यह है कि बहुत प्रजा वाला कष्ट को प्राप्त करता है । 'वर्ष कर्मेतिनैरुक्ताः'—वर्ष, कर्म है—यह निरुक्तानुयायिकों का स्पष्ट कहना है । अनेक सन्तानों वाला कोई दरिद्र पुरुष, बड़े कष्ट से सन्तान का पोषण करने के कारण उन अपत्यों के विपद्ग्रस्त होने पर दुःख तथा कष्ट का अनुभव करता है । इस प्रकार उस दरिद्र पुरुष के द्वारा अनुभूयमान जो शोक है, उसी को इस ऋचा में 'निर्ऋति' शब्द से बताया गया है—ऐसा परिव्राजकों का मत है । उक्त मन्त्र का अर्थ, परिव्राजकलोग इस प्रकार करते हैं—'जो गर्भाधान करने वाला है, वह इस गर्भ के तत्त्व को नहीं जानता है, वह तो केवल कामार्त या पुत्रार्थी होता हुआ गर्भ का आधान मात्र कर देता है । किन्तु जठर में संस्थित गर्भ को जो देखता और जानता है, उसी को गर्भ के यथार्थस्वरूप का अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से प्रत्यक्ष होता है । माता के उदरान्तर्गत गर्भाशय में वह गर्भ पुष्ट होता है । माता के द्वारा किये जानेवाले भोजन, लेहन, पान, भक्षण आदि चतुर्विध आहारों से तथा उसी गर्भाशय में समुत्पन्न जरायु से आच्छादित होता हुआ कालक्रम से यथासमय उत्पन्न होता है ।

७८—इस प्रकार बहुशः (अनेक बार) उत्पन्न करनेवाला वह गर्भकर्ता 'गर्भ' के स्वरूप को न समझपाने से शोक दुःख (निर्ऋति) को पाता रहता है । अभिप्रायः यह है कि 'गर्भतत्त्व' के अज्ञान से जो 'गर्भ कर्म' में प्रवृत्त होता है, वह दुःखभागी बनता है, परन्तु जो अध्यात्मदृष्टि से 'गर्भतत्त्व' को जान लेता है, वह 'गर्भ कर्म' से निवृत्त होकर दुःख-शोकादि-निर्ऋति को प्राप्त नहीं करता है—यह अर्थ, परिव्राजकों के मत से किया जाता है ।

७९—अन्य व्याख्याकार उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—"जो गर्भ का आधान करनेवाला है, वह स्वयं ही गर्भरूप होकर अन्यान्य जन्मों में अनेक माता-पिताओं से उत्पन्न होता हुआ जन्म-मरण के प्रवाह में पड़कर उससे अनुबद्ध शोक (निर्ऋति) में प्रविष्ट होता है । जो शुक्र का सेचन करता है, वह अपने इस कर्म से पुनः पुनः अनेक जन्मों को प्राप्त करता हुआ—जन्म-मरण के क्रम से बँध जाता है ।

८०—नैरुक्तों की दृष्टि से उक्त मन्त्र 'वर्ष कर्मैतदुच्यते' के अनुसार 'वर्षा कर्म' का बोधक है । इस अर्थ में 'निर्ऋति' का अर्थ—'भूमि' है । वर्षा को उत्पन्न करनेवाला 'मेघ' वर्षण का कर्ता या विक्षेप्ता है । वह इस वर्षण के

त्वसौ विसृजत एवोदकम् । य ईं ददर्श एतद्वर्षं हिरुगिन्नु तस्मादन्तर्हितमन्तरिक्षलोके तस्यैव प्रत्यक्षं नेतरस्य मेघस्य मध्यस्थानस्य स एवास्य वर्षस्य तत्त्वं वेद यो ददर्श पश्यति आदित्यरश्म्यन्तर्गतमव्यक्तं वर्षं कोऽसौ इन्द्रः असावपि मध्यमः, तत इदमुक्तम् न सोऽस्य वेद मध्यमः (मेघः) स एवास्य वेद मध्यमः (इन्द्रः) स एव महानुदक संस्त्यायः इन्द्रप्रत्यक्षो मातुरन्तरिक्ष लोकस्योदकाभिव्यक्तिस्थाने परिवीतः परिवेष्टितः सौर्येण रश्मिजालेन वायुना च मेघोदरान्तर्गतः प्रावृट्काले वर्षरूपेणाभिव्यक्तो बहुप्रजाः बहुशो जायमानः निर्ऋतिं भूमिमाविवेश । तदेवं मन्त्रेषु शब्दगतिविभुत्वात् निर्ऋतिशब्दे कृच्छ्रापत्तिः, भूमिश्चोभयमप्युपपद्यते ।

८१—तद्यथा दधिक्राव्णो अकारिषम्' (ऋ० सं० १२।४।३८।६) इत्येष मन्त्रोऽग्न्युपस्थानेऽग्निहोत्रे मैत्रायणीसंहितायाम् (१।५।६) इत्यत्र, अयमेव चाग्निष्टोमे 'दधिक्राव्णोऽकारिषमित्यग्नीध्रे भक्षयन्ति' (आश्वला० श्रौ० सू०–१२।१२) इत्यत्र दधिभक्षणे, तथा चाश्वमेधे दधिक्राव्णोऽकारिषमित्युत्थितायां सर्वा जयन्ति इत्यश्वसन्निधावेतं पत्न्यो जयन्ति महिष्यामुत्थितायाम् । तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्य मन्त्रस्यान्येनान्येनार्थेन भवितव्यम् ।

८२—त एते वक्तुरभिप्रायवशादर्थान्यथात्वमपि भजन्ते मन्त्राः । नह्येतेष्वर्थेषु इयत्तावधारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च । यथाश्वारोहवैशेष्यात् अश्वः साधु साधुतरश्च वहति—एवमेवेमे वक्तृवैशेष्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति । तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिन् शास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते । क्वचिच्चाध्यात्माधिदेवाधियज्ञोपदर्शनार्थम् । तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदेवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः । नात्रापराधोऽस्ति ।

तत्त्व को नहीं जानता कि जिस जल का मैं वर्षण कर रहा हूँ, वह मेरे भीतर कहाँ से आता है ? अथवा 'जल' का स्वरूप क्या है ? उसे 'मेघ' नहीं जानता, वह तो केवल जल की वर्षा करना जानता है । जो इन्द्र इस वर्षण का प्रत्यक्षकर्ता (देखने वाला) है, वह इन्द्र ही इसे जानता है । जो अन्तरिक्ष के ही विशाल प्रदेश विशेषरूप योनि में अव्यक्तरूप से स्थित है, वही इस तत्त्व को जानता है । उसके अतिरिक्त मध्यस्थान में स्थित रहनेवाले मेघ आदि इस तत्त्व नहीं जानते । वही इस वर्षा के तत्त्व को जानता है, जिसने उसे देखा है कि सूर्य की रश्मियों में निहित अव्यक्तरूप से स्थित 'वर्षा' है । यह जानने वाला 'इन्द्र' कौन है ? उत्तर दिया कि 'असावपि मध्यमः' वह भी मध्यम है, अर्थात् वही मध्यम इन्द्र इसकी यथार्थता को जानता है । इसीलिये यह कहा गया है कि 'सोऽस्य वेद मध्यमः, स एवास्य' वेद मध्यमः' अर्थात् वह मध्यम यानी मध्य-स्थानीय 'मेघ' इस वर्षण के तत्त्व को नहीं जानता किन्तु वही मध्यम 'इन्द्र' इसके याथार्थ्य को जानता है जल के उसी महान् राशि को इन्द्र ने देखा है । वही जल, अन्तरिक्ष लोक के अभिव्यक्ति स्थान में एकत्र होकर सूर्य की रश्मियों तथा वायु के द्वारा 'मेघ' के उदर में प्रविष्ट होकर वर्षाकाल में वर्षा के रूप में अभिव्यक्त होता हुआ अनेक प्रकार से उत्पन्न होकर भूमिपर आता है । इस प्रकार मन्त्रों में शब्दगति की विभुता के कारण 'निर्ऋति' शब्द के 'कृच्छ्र' (शोक) की आपत्ति और 'भूमि' दोनों अर्थ उपपन्न होते हैं ।

८१—"दधि क्राव्णो अकारिषम्" इत्यादि मन्त्र का विनियोग मैत्रायणीसंहिता में अग्निहोत्र के अग्नि के उपस्थान के लिये कहा गया है । और अग्निष्टोम में इसी मन्त्र का विनियोग दधिभक्षण के लिये बताया गया है । तथा अश्वमेध याग में महिषी के उठ जानेपर सभी अन्य पत्नियों को भी विजय की प्राप्ति होती है । इस प्रकार प्रत्येक विनियोग में इस एक ही मन्त्र का भिन्न-भिन्न ही अर्थ होगा ।

८२—अतः कहना होगा कि वक्ता के अभिप्रायानुसार ही अन्यान्य अर्थों का प्रकाशन भी 'मन्त्र' किया करते हैं । इन अर्थों की सीमा का निर्धारण नहीं किया जा सकता । इन महार्थ मन्त्रों के अन्यान्य अर्थ भी होते हैं । इनका परिज्ञान भी कठिन है । जैसे 'अश्वारोही' की विशेषता से अश्व अच्छी तरह से वहन करता है, उसी प्रकार ये मन्त्र भी वक्ता की विशिष्टता से शोभन-शोभनतर अर्थों को प्रकट करते हैं । ऐसी स्थिति में लक्षणा का उद्देश्य इतना ही है कि इस मन्त्र में एक-एक का निर्वचन किया जा रहा है । कहीं इस निर्वचन का उद्देश्य, अध्यात्म, अधिदैव, अधियज्ञ का निर्देश करना है । अतः इनमें जितने अर्थों का प्रकाशन आध्यात्मिक आध्यात्मिक आधिदैविक और अधियज्ञ प्रक्रिया का

एकेन विदुषा जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् इति श्रीमद्भागवतीयाद्यपद्यस्याष्टोत्तरशतसंख्याकानि व्याख्यानानि कृतानि ।

८३—यदा स्थितिरेतादृशी पौरुषेयेषु वाक्येषु तदा परमेश्वरीयनित्यविज्ञानमयानि वैदिकमन्त्रब्राह्मण-वाक्यानि बह्वर्थानि भवेयुरित्यत्र नास्ति मनागपि विप्रतिपत्तिः । तथापि प्रामाणिकानि तानि व्याख्यानानि तात्पर्यानुगुणानि उपपत्तिमन्ति भवेयुस्तदैव ग्राह्याणि नान्यथा । तत्रार्थविनियोगवशादर्थभेदो युक्तः । विनिनोगवशादुपक्रमादि-लिङ्गवशाच्च यत्र मुख्यं तात्पर्यं निश्चीयते तदविरोधेनैवेतराणि व्याख्यानानि ग्राह्याणि । इतरथा ग्रहणे परस्परविरुद्धार्थवादित्वेनाप्रामाण्यमेव स्याद्वेदानाम् ।

८४—दयानन्दीयव्याख्यानानि पुरुषवचनलिङ्गव्यत्ययबहुलानि नैवं रीत्या शक्यसमर्थनानि ।

एवमेव छान्दसव्यत्ययेन स्वरसिद्धिरपि यथाश्रुतार्थानुपपत्तावेवाङ्गीकार्या ।

८५—अत एव 'अघ्न्या' इति निघात (सर्वानुदात्त) स्वरः सम्बोधने आमन्त्रितस्य च' (पा० सू० ८।१।१९) इति सूत्रेणैव सिद्धचति । एवं यथाश्रुतार्थोपपत्तौ सत्यां द्वितीयाबहुवचनान्तमभ्युपगम्य 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इत्यादिभिः सर्वानुदात्तत्वोपपादनमयुक्तमेव ।

८६—यत्तु—"नि० ५।२३ इत्यत्र कथमुदात्तप्रकृति नाम स्यात् । दृष्टव्यत्ययं तु भवति समस्य समस्मिन् इति विभक्त्यन्तत्वश्रवणात् समपदस्य नामत्वमङ्गीकृत्यैव फिट्सूत्रकारोऽपि 'त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि' (फिट् सू० ७८)

आश्रय लेकर होता है, वे सभी उपयुक्त और ग्राह्य हैं । उन्हें उपयुक्त समझकर ग्रहण करना कोई अपराध नहीं है । एक विद्वान् ने श्रीमद्भागवत के "जन्माद्यस्य यतः" इस प्रथम श्लोक के एक सौ आठ व्याख्यान किये हैं ।

८३—जब पौरुषेय वाक्यों की यह स्थिति है, तब परमेश्वर के नित्य विज्ञानमय वैदिक मन्त्र–ब्राह्मणों के वाक्य अनेक अर्थवाले हों, इस विषय में कौन-सी बिप्रतिपत्ति है ? तथापि वे ही व्याख्याएँ ग्राह्य होती हैं, जो प्रमाण-सिद्ध तथा तात्पर्य के अनुरूप और तर्क से पुष्ट रहती हैं । अन्यथा ग्राह्य नहीं होतीं । उनमें आर्षविनियोग के कारण अर्थ में भेद रहना उचित है । विनियोग के कारण तथा उपक्रमादि लिङ्गों के कारण जहाँ मन्त्र के मुख्य तात्पर्य का निश्चय किया जाता है । उससे विरोध न रखते हुए व्याख्यान ही ग्राह्य होते हैं विनियोग तथा उपक्रमादि षड्लिङ्गादि से निर्णीत किये गये मुख्य तात्पर्य के विरुद्ध व्याख्याओं का ग्रहण करनेपर अन्योन्य विरुद्ध अर्थों को प्रकट करने के कारण वेदों में अप्रामाण्य ही पैदा हो जायगा ।

८४—स्वामी दयानन्दजी के द्वारा की गई मन्त्रव्याख्या में पुरुष, वचन, लिङ्गों का अत्यधिक परिवर्तन किया गया है । इसलिये शास्त्रीय प्रामाणिक रीति के अनुसार उनकी व्याख्या को मानना या उसका समर्थन करना कभी भी संभव नहीं है ।

इसी प्रकार छान्दसव्यत्यय करने से निष्पन्न स्वर भी यथाश्रुत अर्थ की अनुपपत्ति में ही सहायक होता है ।

८५—अत एव "अघ्न्या" पद में "आमन्त्रितस्य च" सूत्र से ही सम्बोधन में सर्वानुदात्त स्वर (निघातस्वर) होता है । इस रीति से यथाश्रुत अर्थ की उपपत्ति रहते, उक्त पद को द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में मानकर "व्यत्ययो बहुलम्" सूत्र से उसको सर्वानुदात्त बताना सर्वथा अनुचित है ।

८६—यह जो कहना है कि "नाम शब्द उदात्त प्रकृति वाले कैसे हो सकते हैं ? व्यत्यय तो वहाँ होता ही है 'समस्य' भी 'समस्मिन्' का अर्थ देता ही है । उसके इस विभक्त्यन्तत्व के स्मरण से 'सम' पद को 'नाम' रूप से स्वीकार करके ही फिट् सूत्रकार ने भी 'त्वत् त्व समसिमेत्यनुच्चानि' इस सूत्र से उसके अनुदात्तस्वर का विधान किया

इति सूत्रेणानुदात्तत्वं विहितवान् ।" (पृ० १३) इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, गत्यन्तराभावे स्वरादिव्यत्ययस्य सिद्धान्तेऽप्यङ्गीकारात् । अन्यथा सर्वत्र बाहुलकादेवेष्टस्वरादिसिद्धौ तत्तत्स्वरादिविधायकसूत्राणां वैयर्थ्यमेव स्यात् ।

८७—यत्तु "मरुतः" (ऋ०सं०१।१६५।७) इत्यत्र मरुत् इति पदे निघात स्वरो विद्यते, न च तत्रामन्त्रिततत्वम्, आमन्त्रिततत्वाभावाच्छान्दसमनुदात्तत्वमिति भट्टभास्करेणोक्त" (पृ० १३) मिति, तदपि न किञ्चित् तत्र सम्बोधनेऽर्थासङ्गत्या प्रथमाबहुवचनान्ताभ्युपगमे व्यत्ययेनानुदात्तत्वोपपादनं तुच्छमेव । प्रकृते तु अघ्न्या इत्यस्य सम्बोधनाभ्युपगमे नास्त्येव काचिदनुपपत्तिः ।

८८—[यदप्युक्तम्—"प्रजावती–अनमीवा–अयक्ष्मा इति पदैरघ्न्या इत्यस्य सामानाधिकरण्येऽध्याहारापत्तिः, त्रिष्वप्यनिष्टस्वरत्वं च स्यात्, त्रयाणामप्येषामामन्त्रिततत्वम् सर्वानुदात्तत्वं च मन्तव्यम् । यदि नैतेषामामन्त्रिततत्वम् तथात्वे अघ्न्या इत्यनेन कथमेकवाक्यता ? कथञ्च सामानाधिकरण्यम् ? इत्युभयतः पाशारज्जु'रिति, छान्दसव्यत्ययपक्षाङ्गीकारे तु न क्वापि दोष" (पृ० १४) इति ।

८९—तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, स्वमतानुसारेण अघ्न्या इत्यस्य सम्बोधनत्वेऽपि प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा इत्यादीनां द्वितीयान्तत्वाभ्युपगमे बाधाभावात्, सामानाधिकरण्यानुपपत्तिस्त्वनभ्युपगमादेव पराहता । वो युष्मान् स्तेनो

है"—यह कथन भी अकिञ्चित्कर ही है । जब कोई गति ही न हो तब स्वर आदि के व्यत्यय को सिद्धान्त पक्ष में भी स्वीकार किया ही जाता है । अन्यथा बाहुलक नियम से अभीष्ट स्वर आदि की सिद्धि होनेपर तो विशेष पदों के विशेष-स्वरों का विधान करनेवाले सब सूत्र ही व्यर्थ हो जावेंगे ।

८७—यह जो कहा गया है कि "मरुतः" इस मन्त्र में 'मरुत्' पद में निघात स्वर है, किन्तु निघात स्वर के विधान में आवश्यक 'आमन्त्रिततत्व' अर्थ वहाँ नहीं है । आमन्त्रिततत्व के अभाव में भट्टभास्कर ने वहाँ छान्दस अनुदात्तत्व ही माना है ।"—(पृ० १३) ।

किन्तु उक्त कथन में भी कुछ सार नहीं है । क्योंकि वहां प्रथमाबहुवचनान्त की सम्बोधन में अर्थ की सङ्गति न हो सकने के कारण व्यत्यय करके अनुदात्त स्वर का उपपादन करना तो उचित ही है । किन्तु प्रकृतप्रसङ्ग में तो 'अघ्न्याः' पद को सम्बोधन मानने में कोई भी किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है ।

८८—यह भी जो कहा है कि मन्त्र में पठित 'प्रजावतीः' अनमीवाः' अयक्ष्माः' इन पदों के साथ 'अघ्न्याः' पद का सामानाधिकण्य मानने पर अध्याहार करना पड़ेगा, और तीनों में अनिष्ट स्वर भी मानना होगा । इसलिये इन तीनों में भी आमन्त्रिततत्व और सर्वानुदात्तत्व ही स्वीकार करना चाहिये । यदि इनमें आमन्त्रिततत्व नहीं मानेंगे तो 'अघ्न्याः' पद के साथ इनकी एकवाक्यता और सामानाधिकरण्य कैसे हो सकेगा ? (पृ० १४), इस प्रकार उभयतः पाशारज्जुः की स्थिति प्राप्त हो रही है । किन्तु छान्दस व्यत्यय पक्ष को मानने पर कहीं भी दोष की प्राप्ति नहीं होती है ।"

८९—स्वामी दयानन्दजी का उपर्युक्त कथन भी उनके अज्ञान का ही विलासमात्र है । क्योंकि स्वर के अनुसार 'अघ्न्या' पद को सम्बोधन मानने पर भी 'प्रजावतीः', अनमीवाः,अयक्ष्माः' इन पदों को द्वितीयाविभक्त्यन्त स्वीकार करने में कोई बाधक भी नहीं है । सामानाधिकरण्य में जो अनुपपत्ति प्रदर्शित की थी, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ सामानाधिकरण्य कौन मान रहा है ? 'वो युष्मान् स्तेनो बाधितुं मा ईशत'—तुम्हें बाधा पहुंचाने में चोर समर्थ न हो—। 'कीदृशीः युष्मान्' - तुम कैसी हो ?—'यह जिज्ञासा होने पर, कहा जाता है कि 'प्रजावतीः'—तुम अपनी प्रजाओं (सन्तानों) से युक्त हो—इस प्रकार से सापेक्ष पदों का परस्पर अन्वय सुसङ्गत होता है । 'अल्पज्ञ लोगों के द्वारा किये जानेवाले प्रहार के भय से 'वेद' डरता रहता है'—यह उक्ति तो 'आर्य समाजियों' पर ही घटित हो रही

बाधितुं मा ईशत। कीदृशीर्युष्मानित्यपेक्षायां प्रजावतीरित्यादीनामन्वयाभ्युपगमात्। 'विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यती'ति वचनं तु सामाजिकेष्वेव घटते। तैर्वेदोपबृंहकेतिहासपुराणादिप्रामाण्यानभ्युपगमात्। इदं वचनमपि पौराणिकमेव। सामाजिकैः स्वपक्षपोषणाय पौराणिकवचनोपस्थापनमपि तेषां कृते लज्जावहमेव।

६०—'अथ कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् दृष्टव्यत्ययन्तु' इत्यादिकं तु भूमिकायामेव व्याख्यातं विस्तरेण। यत्तु—अयनम्, अयः, गमनं, क्ष्मा पृथिवी, अयः क्ष्मायां यासां ता इत्युव्वटव्याख्याने दोषमुद्भावयतोक्तम् "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० सू० ६।२।१) इतीणोऽच्यन्तोदात्तत्वेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरे मध्योदात्तत्वप्रसङ्ग" इति, तत्त्वविचारितरमणीयमेव, स्वयं बाहुलकात् स्वरसिद्धिं व्युत्पादयता त्वया वक्तुमशक्यत्वात् उव्वटेनापि बाहुलकाश्रयणस्य संभवात्।

६१—यदपि च 'माङि लुङ्' (पा० सू० ३।३।१७५) मा युष्माकं चोर ईशनं कार्षीदिति यदुव्वटोक्तेरविचारितरमणीयत्वमुक्तं तत्तुच्छम्, छान्दसव्यत्यये च्लेरङादेशे ईशतं इत्युक्तेर्बाधाभावात्। यदुक्तम्—'लुङि प्राप्ते लङ् छान्दस इतिभवितव्यमिति, तन्न, माङ्योगे प्राप्तविधेर्बाधायोगात्।

६२—"यन्महीधर आह—'अघं शंसति इच्छति (शसि इच्छायाम्) अच् 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे' (पा० सू० ६।२।२) त्यादिना पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व' मिति, तदयुक्तम्, कुतः अघं शंसतीति व्युत्पत्त्योपपदसमासो निर्विवादः। तेन 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (पा० सू० ६।२।१३९) इत्यनिवार्यतया प्राप्नोति। न च तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीयासप्तम्युपमाना-

---

है। क्योंकि उन्होंने ही वेद के उपबृंहक (सुदृढ़ बनानेवाले) इतिहास-पुराणादि ग्रन्थों को प्रमाण नहीं माना है। 'विभेत्यल्पश्रुतात्' यह वचन भी पुराण का ही है। पुराणों की प्रामाणिकता को न माननेवाले आर्य समाजी विद्वान् अपने पक्ष के समर्थन में उन्हीं पौराणिक वचनों का उद्धरण देते हैं, कितनी लज्जा की बात है ?

६०—'अथ कथमनुदात्त प्रकृति नाम स्यात् दृष्टव्यत्ययन्तु' इत्यादि सन्दर्भ का तो भूमिका में ही सविस्तार व्याख्यान किया जा चुका है। 'अयनम्, अयः', गमनं, क्ष्मा पृथिवी, अयः क्ष्मायां यासां ताः'—इस उव्वट के व्याख्यान में दोष दिखलाने का प्रयत्न करते हुए जो स्वर-दोष-प्रदर्शित किया है, वह तो अविचारितरमणीय ही है। क्योंकि आप स्वयं बाहुलक से ही स्वरसिद्धि को जब बता रहे हैं, तब उसी को दूसरे की व्याख्या में दोष के रूप में क्यों कह रहे हैं ? उव्वटाचार्य भी बाहुलक का आश्रय कर सकते हैं।

६१—और जो 'माङि लुङ्', मा युष्माकं चौर ईशनं कार्षीत्—इस उव्वटोक्ति को आपने अविचारित रमणीय कह दिया है, वह कहना भी तुच्छ है, निःसार है। क्योंकि छान्दस व्यत्यय से 'च्लि' को 'अङ्' आदेश करनेपर 'ईशत' पद के होने में कौन-सी बाधा है ?

यह जो कहा था 'लुङि प्राप्ते लङ् छान्दसः'—लुङ् की प्राप्ति होनेपर 'लङ्' लकार छान्दस होगा, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'माङ्' का योग रहनेपर जो विधि प्राप्त है, उसका बाध नहीं होता है।

६२—स्वामी दयानन्दजी ने भाष्यकार महीधर पर आक्षेप किया है कि 'महीधर ने जो कहा है—अघं शंसति इच्छतीत्यघशंसः 'शसि इच्छायाम्' अच्। 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे', इत्यादि सूत्र से पूर्वपद प्रकृति स्वर होता है'। इस महीधर के कथन को स्वामी दयानन्द अयुक्त बता रहे हैं। अयुक्त बताने में कारण यह देते हैं कि 'अघशंस' में पूर्वपद-प्रकृतिस्वर करनेवाले 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे', सूत्र की प्राप्ति ही संभव नहीं है। यथा कथञ्चित् प्राप्ति हो भी तो वह गतिकारकोप पद' सूत्र की प्राप्ति का बाध कैसे कर सकेगी ? क्योंकि 'अघं शंसति' इस व्युत्पत्ति से उपपद समास की प्राप्ति में कोई बाध ही नहीं है, तब 'गतिकारकोपपदात् कृत्' सूत्र की प्राप्ति का होना अनिवार्य है।"—स्वामी दयानन्द का भाष्यकार महीधर पर इस प्रकार आक्षेप करना अत्यन्त असङ्गत है, उस आक्षेप में कुछ सार ही नहीं है।

व्ययद्वितीयाकृत्याः' (पा० सू० ६।२।२) इति सूत्रस्य कथमपि न प्राप्तिसम्भवः कथञ्चित्प्राप्तावपि 'गतिकारकोपपदे' (पा० सू० ६।२।१३९) ति प्राप्तिः कथं बाधिष्यते'' इति यदुक्तम्' तत्तुच्छम्, अघेन तीव्रपापेन भक्षणादिना शंसोघातक इति व्युत्पत्तावेव तत्पुरुषे तुल्यार्थ इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वोक्तेः। अघं शंसतीति तु तदर्थप्रदर्शनपरम्, यथा त्वयापि 'अघस्य पापस्य स्तोता' इति (वा० सं० ३३।६९) इत्यत्र 'तत्त्वर्थप्रदर्शनपरमित्युक्तम्। प्रामादिक एव वा पाठः, पूर्वोक्त-व्युत्पत्तिविरोधात्। शासि स्तुतौ' इति धातुरपि नोपलभ्यते।

९३—यत्तु—'अघं शंसतीति व्युत्पत्तौ 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते तद्बाधकेन 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (पा० सू० ६।२।१३९) इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वं प्राप्यते, तस्मात् 'कुरु गार्हपतरिक्तगुर्व-सूतजरत्यश्लीलदृढरूपापारेबडवातैतिलकद्रूपण्यकम्बलोदासीभाराणाञ्च' (पा० सू० ६।२।४२) इत्यनेन पूर्वपदप्रकृतिस्वर-त्वेऽन्तोदात्तत्वसिद्धिः। 'दासीभारादीनामिति वक्तव्यम्' इहापि यथा स्यात् देवहूतिः, देवनीतिः, ओषधिः, चन्द्रमाः। तर्त्तर्हि वक्तव्यम् न वक्तव्यम् योगविभागः करिष्यते कुरु .... पुण्यकम्बलो इति, ततो दासीभाराणाञ्चेति। तत्र बहुवचननिर्देशात् दासीभारादीनामिति विज्ञास्यते' इति (पा० सू० ६।२।४२) इति महाभाष्यवचनादिति तन्न, अघशंस-शब्दस्य दासीभारादिषु पाठे मानाभावात्। न चोपपदसमाससिद्धस्य ओषधिपदस्य निर्देशादेव सर्वेऽपि तथाविधाः शब्दा दासीभारादिषु मन्तव्या इति सङ्गतम्, तत्र बीजाभावात्।

९४—''कैयटजयादित्यादयस्तु'' यस्य तत्पुरुषस्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमिष्यते न च विहितम्, स सर्वोऽपि दासी-भारादिष्वन्तर्भावमभिप्रयन्ति। प्रकृते तु अघेन शंस इति व्युत्पत्त्या 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे' (पा० सू० ६।२।२) त्यादिना पूर्व-पदप्रकृतिस्वरत्वेन अन्तोदात्तत्वं सिद्धमेवेति। अतएव भट्टभास्करेणापि अघे पापे भक्षणलक्षणे शंसा अभिलाषो यस्येति योगेन अघशंसः पापतत्परः इत्यत्र बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमुक्तम्। अघेन तीव्रपापेन भक्षणादिना शंसो घातुको व्याघ्रादिरपि हिंसको माभूदिति काण्वभाष्ये सायणेनापि तथैवाभिप्रेतम्।

भाष्यकार महीधर ने तो 'अघेन तीव्रपापेन भक्षणादिना शंसो घातकः'—ऐसी व्युत्पत्ति करके ही 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे', सूत्र से 'पूर्वपदप्रकृतिस्वर' का होना बताया है। 'अघं शंसति' यह तो उसका अर्थप्रदर्शनमात्र है। जैसे आपने भी 'अघस्य पापस्य स्तोता'—(वा० सं० ३३।६९) को 'तत् तु अर्थप्रदर्शनहरम्'—अर्थप्रदर्शनपर ही तो बताया है। अथवा पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के विरोध से उसे 'प्रामादिकपाठ' तक कह दिया है। और 'स्तोता' अर्थ करने के लिये स्तुत्यर्थक 'शासि' धातु भी कहीं नहीं है। फिर भी 'स्तोता' अर्थ कर रहे हैं, कैसा आश्चर्य है !

९३—महाभाष्यकार के वचन को प्रस्तुत करके जो अपनी बात बताई है कि 'अघं शंसति' इस व्युत्पत्ति में 'समासस्य' इस सूत्र से 'अन्तोदात्तत्व' प्राप्त होनेपर, उसका बाध करके गतिकारकोपपदात्कृत् सूत्र से 'उत्तरपद-प्रकृतिस्वर' की प्राप्ति होती है। इसलिये 'कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूत', सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर के होने पर 'अन्तोदात्त' हो जाता है। अपनी बात के समर्थनार्थ 'दासीभारात्', इत्यादि महाभाष्य के वचन का उद्धरण भी निष्फल है। क्योंकि 'दासीभारादि' के अन्तर्गत 'अघशंस' शब्द, पठित नहीं है। उपपदसमास के कारण 'ओषधि' पद के निर्देश से ही उस प्रकार के सभी शब्दों को 'दासीभारादि' में मान लेना चाहिये'—किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार कह देना निर्मूल रहने से अप्रमाण है।'

९४—कैयट, जयादित्य के अनुसार तो जिस तत्पुरुष का पूर्वपदप्रकृतिस्वर इष्ट होता है, और उसे नहीं बताया है, ऐसी जगह उन सभी पदों को दासीभारादिगण में स्वीकार कर लिया जाता है। जहाँ प्रकारान्तर से पूर्व पदप्रकृतिस्वर की उपपत्ति नहीं होती है, उसी का दासी भारादिगण में अन्तर्भाव माना जाता है—यह कैयट, जयादित्य का अभिप्राय है। प्रकृत में तो 'अघेन शंसः' इस व्युत्पत्ति से 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे' सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर के होने से 'अन्तोदात्तत्व' तो सिद्ध ही है। इसीलिये भट्टभास्कर ने भी 'अघे शंसा यस्य' इस व्युत्पत्ति से अघशंसः' का अर्थ, पाप-तत्पर किया है, और इस बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर को माना है। सायण ने भी काण्वभाष्य में 'अघ' अर्थात् भक्ष-णादि तीव्रपाप से 'शंस' अर्थात् घातक व्याघ्र आदि भी हिंसक न हों—यही कहा है।

८५—यदुक्तम्—'सायणाचार्यास्तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये ४६ पृष्ठे इन्द्रशब्दं वृषादित्वात् (पा० सू० ६।१।२०३) इत्यनेनाद्युदात्तमाहुः। स तु तेषां स्ववचोविरोध एव। यतो हि ते स्वीये ऋक्संहिताभाष्ये प्रथममण्डले द्वितीयसूक्ते षष्ठे मन्त्रे इन्द्रशब्दस्य व्युत्पत्तिपक्षे रन् प्रत्ययान्तेन 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० सू० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वप्रतिपादनादिति, तदपि तुच्छम्, उभयथापि सिद्धौ बाधकं विनाविरोधात्। अव्युत्पन्नप्रातिपदिक इन्द्रशब्द इतिपक्षे वृषादित्वेन तत्सिद्धिर्युक्तैव। न च 'ग्रामादीनाञ्च' (फिट् सू० ३८) इति सूत्रेणेष्टसिद्धौ वृषादिगणे तत्पाठोऽनर्थक इति वाच्यम्, वृषादित्वादेवेष्टसिद्धौ ग्रामादित्वाश्रयणमनर्थकमेवेति विपरीतस्यैव सुवचत्वात्। ग्रामस्य समूहवाचकत्वेन इन्द्रशब्दस्य तत्रान्तर्भावापेक्षया वृषादिष्वेव तत्पाठस्य युक्तत्वात्।

८६—यत्तूक्तम्—'कस्य भाष्यकारस्याभिप्रायः प्रामाणिक इत्याकांक्षायां व्याकरणाद्याश्रयेण 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै० सू० ६।१।१) इति शास्त्रवचनानुसृत एव वाक्यार्थः प्रामाणिकोभवितुमर्हति नान्य' इति, तदपि न किञ्चित्, यतः सायणादीनां समेषामाचार्याणां शास्त्राननुसार्व्याख्यानमिति न ह्यमूढः कश्चिदपि वक्तुं शक्नोति। किञ्च बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे इत्यस्य कोऽर्थः ? किं यथा लोके बुद्धिपूर्वाणि वाक्यानि तथैव वेदेऽपि यानि वाक्यानि सन्ति तानि बुद्धिपूर्वकाण्येवेति मन्यते युष्माभिः ? यदि वाढं तर्हि लौकिकानि वाक्यानीव तान्यपि कुतो नानित्यानि ? 'न च तथेष्यन्ते सामाजिकैर्वेदानां नित्यत्वाभ्युपगमात्। न चेश्वर बुद्धिपूर्वकत्वात् तेषां नित्येत्वमिति वाच्यम् तथात्वे पृथिव्यादिप्रपञ्चस्यापि ईश्वरबुद्धिपूर्वकत्वेन नित्यत्वापत्तेः।

८५—यह जो कहा है कि 'सायणाचार्य ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में 'इन्द्र' शब्द को 'वृषादित्वात्' सूत्र से आद्युदात्त बताया है। किन्तु यह तो उनके अपने वचन से ही विरुद्ध प्रतीत हो रहा है, क्योंकि उन्होंने ही अपने ऋक्-संहिताभाष्य में प्रथम मण्डल के द्वितीय सूक्त के षष्ठ मन्त्रगत 'इन्द्र' शब्द, व्युत्पत्ति पक्ष में 'रन्' प्रत्ययान्त होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' सूत्र में उसमें आद्युदात्तत्व का प्रतिपादन किया है।'

किन्तु यह कथन भी तुच्छता से पूर्ण है। क्योंकि दोनों ही प्रकार से शब्द की सिद्धि होने में किसी बाधक के न रहने से कोई विरोध ही नहीं है। 'इन्द्र' शब्द को अव्युत्पन्न प्रातिपादिक मानने के पक्ष में तो उसके वृषादिगण पठित रहने से उसकी सिद्धि करना उचित ही है। इसपर यदि आप यह कहें कि 'ग्रामादीनाञ्च' इस फिट्सूत्र से ही इष्टसिद्धि हो जाने से वृषादिगण में उसका पाठ करना व्यर्थ है, तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि वृषादिगण में पठित होने से यदि इष्टसिद्धि होती है तो 'ग्रामादीनाञ्च' सूत्र का आश्रय करना व्यर्थ है—ऐसा विपरीत ही क्यों न कहा जाय? यह विपरीत कथन ही सुवच होगा। क्योंकि 'ग्राम' शब्द, समूह का वाचक होता है। उसमें 'इन्द्र' शब्द का अन्तर्भाव करने की अपेक्षा वृषादिगण में ही उसका पाठ करना अधिक युक्ति युक्त होगा।

८६—यह जो कहा है कि 'किस भाष्यकार का अभिप्राय प्रामाणिक है ?' ऐसी आकांक्षा होनेपर व्याकरण आदि का आश्रय करते हुए 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' इस वैशेषिकशास्त्र वचन का अनुसरण करने वाला वाक्यार्थ ही प्रामाणिक कहलाने योग्य होता है, अन्य नहीं'।

किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति, जो मूर्ख नहीं हैं वह कभी नहीं कह सकता है कि 'सायणादि समस्त आचार्यों का व्याख्यान, शास्त्रानुसारी नहीं है। दूसरी बात यह है कि 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिवेदे' इस वाक्य का क्या अर्थ है ? क्या लोक व्यवहार में जैसे बुद्धिपूर्वक वाक्य रचना होती है, वैसे ही वेद में भी जो वाक्य हैं, वे भी बुद्धिपूर्वक ही होते हैं, यह आप मान रहे हैं ? यदि यही मानते हैं तो लौकिक वाक्यों की तरह उन वैदिक वाक्यों को भी अनित्य क्यों नहीं कहते हैं ? किन्तु वैदिक वाक्यों को समाजी विद्वान् अनित्य तो कह नहीं सकते, क्योंकि वेद को वे नित्य कहते हैं। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर की बुद्धि का अनुसरण करने के कारण वे (वेद) नित्य हैं, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि पृथिवी, जल, तेज आदि सम्पूर्ण प्रपञ्च ही ईश्वर की बुद्धि का अनुसरण करता है, तब उसे भी नित्य कहना होगा।

८७—[यच्च विज्ञानप्राप्तये पराक्रमाय च विज्ञानस्वरूपमनन्तपराक्रमानन्दरसघनं ज्ञानानां भाजनं परमेश्वरं त्वामाश्रयामः एवमाप्यायामहे। सर्वविद्याद्योतको देवः सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्यवान् जगदीश्वरः प्राणेन्द्रियान्तःकरणानि श्रेष्ठतमाय कर्मणे। ईश्वरानुग्रहेण सर्वेषां सुखैश्वर्यस्य वृद्धिः स्यादित्यर्थं प्रार्पयतु। हे परमात्मन् परमैश्वर्यप्राप्तये अनमीवा अयक्ष्मा इन्द्रियाणि प्रार्पयतु। अस्माकं मध्ये कश्चिच्चौरः पापी मोत्पद्यताम्। गवां पतिरिन्द्रियाणां पतिस्तस्य-धार्मिकमनुष्यस्य समीपे इन्द्रियाणि बह्वीः ध्रुवाः स्युः। यः परमेश्वरं यजति तस्य विदुषो जीवस्य पशून् पाहि। किञ्च भावार्थे—येनेयं विशिष्टा सृष्टी रचिता तस्य धन्यवादा वाच्याः। एवं कुर्वतो भवतः परमदयालुरीश्वरः स्वकृपयैव सदा रक्षयिष्यतीति मन्तव्यम्' इत्याध्यात्मिकोऽर्थ उच्यते सामाजिकैस्तदसङ्गतमेव। यद्यपि परमेशप्रार्थना यथाकथञ्चिदपि युक्तैव तथाप्यस्य मन्त्रस्य नायमर्थः सम्भवति मन्त्रपदाननुगुणत्वात् तद्रीत्यास्य मन्त्रस्य परमेश्वरो वक्ता स कथं 'त्वां परमेश्वरमाश्रयाम' इति वदेत्।

८८—'आश्रयामः' इति पदमपि मूले नास्त्येव। स्वेच्छयाऽध्याहारापेक्षया श्रुत्यनुसारेण 'इषे' छिनद्मीति श्रुतिसम्मत एवाध्याहारः कुतो नाश्रयणीयः। 'त्वा' इति पदस्य त्वामित्येवार्थः विज्ञानस्वरूपमानन्दरसघनमित्यादिकन्तु तस्य परमात्मपरत्वे निश्चिते परमेश्वरविशेषणत्वेन कल्पनैव। आप्यायध्वमित्यस्य पुरुषव्यत्ययो निर्मूल एव। एवमेव देवशब्दोऽपि सवितृविशेषणत्वेन प्रयुक्तः। सविता च भगवान् सूर्य एव, तत्रैवास्य शब्दस्य प्रसिद्धेः व्यवहारस्तु शक्तिग्राहकेषु मूर्धन्यः। देवशब्दस्यापि परमेश्वरपरत्वनिश्चये सत्येव जगदीश्वरत्वादि विशेषणानि तत्र सङ्गच्छन्ते।

८७—स्वामी दयानन्दजी के अनुयायी आर्यसमाजी विद्वान् प्रकृत मन्त्र का जो यह आध्यात्मिक अर्थ करते हैं कि विज्ञान की प्राप्ति के लिये, पराक्रम के लिये, विज्ञानस्वरूप, अनन्त पराक्रम, आनन्दरसघन, ज्ञानों के भाजन, हे परमेश्वर ! हम तुम्हारा आश्रय ग्रहण करते हैं, इसमे हमें तृप्ति मिलती है। समस्त विद्याओं के द्योतक देव, समस्त जगत के उत्पादक, सकल ऐश्वर्य मे सम्पन्न, जगदीश्वर ! श्रेष्ठतम कर्म करने के लिये प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण की प्रकृष्टरूप से प्राप्ति करा दे, और ईश्वर के अनुग्रह मे सभी के सुख, ऐश्वर्य की वृद्धि हो, इसलिये भी प्राण आदि की प्राप्ति करा दे। हे परमात्मन् ! परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये अनमीवा और अयक्ष्मा अर्थात् सभी प्रकार की व्याधियों से रहित इन्द्रियों को हमें दे। हमारे बीच में कोई भी चोर अथवा पापी उत्पन्न न हो। अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखनेवाले धार्मिक पुरुष की इन्द्रियाँ सर्वदा कार्य क्षम रहें। परमेश्वर का अर्चन करनेवाले विद्वान् के पशुधन की रक्षा करो। किञ्च भावार्थ बताते हुए कहा है कि जिसने इस विशिष्ट सृष्टि की रचना की है, उसे धन्यवाद देने चाहिये। ऐसा करने पर वह परम दयालु ईश्वर अपनी कृपा से ही सर्वदा आपकी रक्षा करेगा।'—इस प्रकार जो आध्यात्मिक अर्थ, समाजी भाइयों ने बताया है, वह भी असङ्गत ही है। यद्यपि परमेश्वर की प्रार्थना, किसी प्रकार युक्त कही भी जाय, तथापि उसे प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मन्त्रगत शब्दों से वह स्तुति—प्रार्थनारूप अर्थ नहीं निकलता है। अन्यथा उस मन्त्र का वक्ता जो परमेश्वर है, वही स्वयं 'तुझ परमेश्वर का हम आश्रय करते हैं' कैसे कहेगा ?

८८—क्योंकि 'आश्रयामः' यह शब्द भी मूलमन्त्र में नहीं है। अपनी स्वेच्छा से अध्याहार करने की अपेक्षा श्रुति के अनुसार 'इषेत्वा छिनद्मि' इस श्रुतिसम्मत अध्याहार का ही आश्रय क्यों नहीं करते ? मूलमन्त्र में आये हुए 'त्वा' पद का अर्थ 'त्वाम्' ही है। 'विज्ञानस्वरूप आनादरसघन इत्यादि की तो उसके परमात्मपरक होने के निश्चय की कल्पना करके उसे विशेषण के रूप में बताना केवल कल्पनामात्र ही है। "आप्यायध्वम्" पद में 'पुरुषव्यत्यय' करना भी निर्मूल ही है। इसी प्रकार 'देव' शब्द को भी 'सविता' के विशेषणरूप में प्रयुक्त किया है। 'सविता भगवान्' सूर्य ही हैं। 'सविता' शब्द 'सूर्य' के अर्थ में ही प्रसिद्ध है। शक्तिग्राहकों में प्रधानता तो 'व्यवहार' की ही होती है। 'देव' शब्द का भी अर्थ, जब 'परमेश्वर' परक निश्चित हो जाय, तभी जगदीश्वरत्वादि विशेषण उसमें सङ्गत हो सकेंगे।

९९—सवितृशब्दस्य कथञ्चित् तत्परत्वेऽपि जगदुत्पादकत्वादिविशेषणं तत्र सङ्गच्छते। सकलैश्वर्यवानिति तु स्वाभ्यूहितमेव। प्राणेन्द्रियान्तःकरणानि श्रेष्ठतमाय प्रार्पयत्विति कः प्रार्थयते ? कस्य प्राणादीनि श्रेष्ठतमाय कर्मणे कः प्रार्थयत्विति न स्पष्टम्। हे परमात्मन् नः प्राणादीनि श्रेष्ठतमाय कर्मणे भवान् प्रार्पयत्विति तु वक्तव्यमासीत्। श्रेष्ठतमकर्मत्वेन श्रुत्या तु यज्ञ उक्तः। स चार्थो न गृहीतः। इन्द्रपदस्यैश्वर्यवानर्थस्तु सम्भवति। तमपहायैश्वर्यपरत्वमस्याप्रामाणिकमेव ऐश्वर्यप्राप्तिस्तु कथमिन्द्रशब्दस्यार्थ इति विद्वांसो निभालयन्तु।

१००—'अघ्न्या' इति सम्बोधनबहुवचनान्तपदम् सर्वानुदात्तस्वरानुरोधात्। तेन यूयमाप्यायध्वमिति क्रियापदेन तस्य सम्बन्धः स्वाभाविकः, तं परित्यज्य तत्र स्वेच्छाचारः शाब्दन्यायातिक्रम एव 'अघ्न्या' इति पद नेन्द्रियपरम्, इन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वेन नित्यत्वात् हननाप्रसक्त्या अघ्न्येति तत्र प्रयोगायोगात्।

१०१—अन्धत्वादिकन्तु गोलकविधानादेवोपपद्यते। 'अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हती' (म०भा०शा०प० २६२।४६) त्यत्र महाभारते धेनूनामेवाघ्न्यात्वेनाऽहन्तव्यत्वोक्तेः। इन्द्रियं वै वीर्यं गावः' (श० ५।४।३।१०) इति गोपदस्य कथञ्चिदिन्द्रियपरत्वेऽप्यघ्न्यापदस्य तत्राप्रवृत्तेः नहीन्द्रियाणि वर्धयितुमर्हाणि न वा हन्तुं शक्यन्ते नित्यत्वादेव। 'माता रुद्राणां दुहिता वसूना' मितिमन्त्रो नेन्द्रियपरः किन्तु धेनुपर एव। 'अघ्न्या' इति गोनामसु पठितम्। निरुक्ते (२।११) इत्यत्रापि पशुविशेषस्यैव गोनामेति विवक्षितम् नेन्द्रियनाम प्रकृतम्।

९९—'सवितृ' शब्द का अर्थ किसी प्रकार से परमेश्वरपरक होनेपर ही उसमें जगत् के उत्पादक आदि विशेषण सङ्गत हो सकेंगे। 'सकल ऐश्वर्यवान्' यह अर्थ करना तो केवल अपनी कपोल कल्पनामात्र ही है। श्रेष्ठतम कर्म के लिये प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण की प्राप्ति की प्रार्थना कौन कर रहा है ? 'श्रेष्ठतम कर्म के लिये किसके प्राण आदि को कौन अर्पित करे' यह स्पष्ट नहीं किया गया है। आपको इस प्रकार कहना चाहिये था कि 'हे परमात्मन् ! हमारे प्राण आदि को श्रेष्ठतम कर्म के लिये आप अर्पित करें।' श्रुति ने तो 'यज्ञ' को ही श्रेष्ठतम कर्म कहा है। किन्तु इस श्रुत्यर्थ को तो आपने स्वीकार नहीं किया है। 'इन्द्र' पद का अर्थ —ऐश्वर्यवान् तो कहा जा सकता है, किन्तु उस वास्तविक अर्थ को त्यागकर उसका 'ऐश्वर्य' अर्थ बताना तो अप्रामाणिक ही है। स्वामी दयानन्दजी ने 'इन्द्र' शब्द का अर्थ 'ऐश्वर्य की प्राप्ति' जो बताया है, उसे विद्वान् लोग देख लें।

१००—'अघ्न्या' पद, सर्वानुदात्त स्वर के कारण सम्बोधन के बहुवचन में है। अतः यूयमाप्यायध्वम्'—तुम तृप्त हो जाओ—इस प्रकार क्रियापद के साथ उसका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। किन्तु आपने उस स्वाभाविक सम्बन्ध को त्यागकर स्वेच्छानुसार उसका सम्बन्ध जोड़ना 'शाब्दन्याय' का उल्लङ्घन करना ही है। 'अघ्न्या' पद का अर्थ 'इन्द्रिय' नहीं है। क्योंकि 'इन्द्रियाँ' स्वयं अतीन्द्रिय होने के कारण नित्य हैं, उनका 'हनन' कभी संभव नहीं है। अतः 'इन्द्रिय' के लिये 'अघ्न्या' शब्द को बताना कथञ्चिदपि सङ्गत नहीं हो सकता।

१०१—'अन्धत्व' आदि तो 'गोलक' के विधान से ही उपपन्न होता है। महाभारतकार तो बताते हैं कि 'अघ्न्या' यह गौओं की संज्ञा है। उन गौओं का हनन कौन कर सकता है ? महाभारत (शां० प० २६२।४६) में गौओं को ही 'अघ्न्या' कहते हुए उन्हें न मारने योग्य कहा गया है। 'इन्द्रियं वै वीर्यं गावः'—(शत प० ५।४।३।१०) इस प्रकार शतपथ में प्रयुक्त हुए 'गो' पद का यथा कथञ्चित् 'इन्द्रिय' अर्थ, मान भी ले तो भी 'अघ्न्या' पद का प्रयोग 'इन्द्रिय' के लिये बताना तो कथमपि उचित नहीं है। क्योंकि 'इन्द्रियों' के नित्य होने से न तो वे वृद्धिङ्गत की जा सकती हैं और न उनका हनन ही संभव हो सकता है। 'माता रुद्राणाम्' आदि मन्त्र 'इन्द्रिय' परक नहीं है, अपितु 'धेनु' परक ही है। 'अघ्न्या' पद 'गौ' के नामों में पठित है। निरुक्त' में 'पशुविशेष' ही 'गौ' के नाम से विवक्षित है। यहांपर 'इन्द्रिय' का अर्थ, प्रसङ्ग से भी प्राप्त नहीं हैं।

१०२—अयक्ष्मा अनमीवा इति विशेषणे अपि नेन्द्रियेषु सङ्गच्छतः। यक्ष्मादीनां देहरोग त्वेन प्रसिद्धेः। न ह्यतीन्द्रियेषु इन्द्रियेषु क्षयाख्यो यक्ष्मा सम्भवति। इन्द्रियपक्षे प्रजावतीरिति विशेषणमपि न सङ्गच्छते, पशुरूपाणामेव गवां तदुपपत्तेः। किञ्च प्रार्पयत्विति क्रियायाः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्राणादिकर्मभिः सम्बन्धेन शान्ताकांक्षाया अनमीवा अयक्ष्मा इन्द्रियाणि प्रार्पयत्विति पुनः सम्बन्धो न सम्भवति बीजाभावात्। अस्मासु स्तेनो मोत्पद्यतामित्यपि न सङ्गतम् माङ् योगे लोटो ऽसाधुत्वात्। अस्मास्वितिबोधकपदाभावाच्च।

१०३—'ईशत' इत्यस्योत्पत्तिरपि नार्थः, निष्प्रमाणत्वात्। गोपतिपदस्य धार्मिकमनुष्यस्येति नार्थः, निष्प्रमाणत्वात्। तस्य समीपे इन्द्रियाणि बह्वीर्ध्रुवाः स्युरित्यपि न सङ्गतम्, समीपे इत्यस्य निरर्थकत्वात्। बह्वीरित्यपि निरर्थकमिन्द्रियाणां परिगणितत्वात्। अत्रार्थे भागपदार्थस्तु नोक्तः। जगदीश्वरस्य धन्यवादा अवश्यं वाच्याः परमयं मन्त्रगतस्य कस्य पदस्यार्थ इति तु नोक्तम्। दयानन्देन तु भागं भजनीयं त्वामाश्रयाम इत्युक्तम्।

१०४—अथ अधियज्ञार्थपरीक्षणम्—यदुक्तम्—'अन्नस्य प्राप्तये उत्तमरसलाभाय जगदुत्पादकं सेवनीयमग्निमाश्रयामः। सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्यवान् देवः सविता भौतिकोऽग्निः, 'अग्निरेव सविता' (जै०उ० ४।२७।१) (गो० ब्रा० पू० भा० १।३३) ये सर्वक्रियाप्राप्तिहेतवः सन्ति तान् श्रेष्ठतमाय कर्मणे यज्ञाय प्रार्पयति। इन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये यज्ञार्थं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा अघ्न्या गावः स्युः। एवं रोगाख्यो विघ्नः चौरः पापी स्तेनो हरणशीलो हर्तुं समर्थो

१०२—'अयक्ष्मा' और 'अनमीवा' ये विशेषण भी 'इन्द्रियों' के अर्थ में सङ्गत नहीं हो रहे हैं। क्योंकि 'यक्ष्मा' आदि शरीर' के रोग के रूप में प्रसिद्ध हैं। जो इन्द्रियां स्वयं अतीन्द्रिय हैं, उनमें 'क्षय' नामक 'यक्ष्मा' कैसे संभव हो सकता है। 'इन्द्रियों' के पक्ष में 'प्रजावतीः' यह विशेषण भी सङ्गत नहीं हो रहा है। उसकी युक्तियुक्तता तो 'पशुरूप गाय' के अर्थ में ही होती है। प्रार्पयतु' इस क्रिया की आकांक्षा तो श्रेष्ठतम कर्मों अर्थात् प्राणादि कर्मों से सम्बद्ध होकर शान्त हो गई है। अतः उसका 'अनमीवा' 'अयक्ष्मा' इन्द्रियों को अर्पित करे—इस अर्थ के साथ पुनः सम्बन्ध करना सम्भव नहीं है। क्योंकि पुनः सम्बन्ध करने में कोई कारण नहीं है। 'हमारे मध्य कोई चोर उत्पन्न न हों'—यह अर्थ करना भी सङ्गत नहीं हो रहा है। क्योंकि 'माङ्' के योग में 'लोट्' लकार का प्रयोग करना अशुद्ध है। 'अस्मासु' इस अर्थ को बतानेवाले पद का भी मन्त्र में अभाव है।

१०३—'ईशत' इस पद का अर्थ भी 'उत्पत्ति' नहीं है। क्योंकि ऐसा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'गोपति' पद का अर्थ 'धार्मिक मनुष्य' बताने में भी कोई प्रमाण नहीं है। 'उसके समीप इन्द्रियाँ बहुत-सी ध्रुव हों'—यह अर्थ भी सङ्गत नहीं हो रहा है। क्योंकि 'समीप' अर्थ करना निरर्थक ही है। 'बह्वी'—बहुत—कहना भी निरर्थक है, क्योंकि 'इन्द्रियां' तो परिगणित ही होती हैं। इस अर्थ में 'भाग' पद के अर्थ को छोड़ ही दिया है। जगदीश्वर को धन्यवाद तो अवश्य देना चाहिये, किन्तु यह भी तो बताना होगा कि मन्त्र में प्रयुक्त हुए किस शब्द का अर्थ किया जा रहा है, यह बताना तो भूल ही गये। स्वामी दयानन्दजी ने 'भागं भजनीयं त्वामाश्रयामः'—भाग अर्थात् भजन करने योग्य तुम्हारा आश्रय हम ले रहे हैं—यही अर्थ लिखा है।

अथ अधियज्ञार्थ परीक्षणम्

१०४—अब 'अधियज्ञ अर्थ का भी परीक्षण करते हैं। अधियज्ञार्थ को बताते हुए जो यह कहा गया है कि "अन्न की प्राप्ति, उत्तमरस के लाभ के लिये जगत् के उत्पादक होने से सेवा करने योग्य 'अग्नि' का हम आश्रय लेते हैं। समस्त जगत् का उत्पादक सकल ऐश्वर्य से युक्त देव 'सविता' भौतिक अग्नि है। "अग्निरेव सविता"—(जै० उ०—४।२७।१) तथा (गो० ब्रा० पू० भा० १।३३)—अग्नि ही सविता है—समस्त क्रियाओं की प्राप्ति के ये जो हेतु हैं, उन्हें श्रेष्ठतम कर्म अर्थात् 'यज्ञ' के लिये अर्पित करता है। "इन्द्राय"—परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये, यज्ञ के निमित्त 'प्रजावती' 'अनमीवा', 'अयक्ष्मा', 'अघ्न्या' गौएँ हों। इस प्रकार रोगनामक विघ्न, जो चोर, पापी, स्तेन, अपहरण स्वभाव वाला है, वह हरण करने में समर्थ न हो, और सभी प्रजा, सुखों को प्राप्त करे। प्रजा इन प्रत्यक्ष गौओं के

न भवेत् प्रजाश्च सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयु: ता अस्मिन् गोपतौ प्रत्यक्षे गवां स्वामिनि निश्चलसुखहेतव: स्यु:। सर्वोपकारं भजति यस्तस्य विदुषो यजमानस्य पशून् प्रजा: श्रिय: वा भौतिकोग्नि: पाति (पृ० २०१९)॥' इति, तदपि न किञ्चित्, असङ्गते:।

१०५—नहि भौतिकस्याग्ने: सर्वजगदुत्पादकत्वं सम्भवति, महदादिवाय्वन्तानां तदकारणत्वात्। सकलैश्वर्यवत्त्वमपि तत्र न सम्भवति, तस्य परमेश्वरधर्मत्वात्, केवलस्याचेतनस्य सम्बोध्यत्वासम्भवाच्च। न च तदधिष्ठाता देवविशेषोऽग्निरत्र सम्बोध्य:, तवापसिद्धान्तापातात्। 'वायव: स्थेऽति पुरुषव्यत्ययोऽपि निष्प्रमाण:, यथाश्रुतार्थानुपपत्तावेव बाहुलकस्य व्यत्ययस्य चाश्रयणीयत्वात्। तानीत्यस्याध्याहारोऽपि निर्मूल एव। वायुपदस्य सर्वक्रियाप्राप्तिहेतव इत्यपि नार्थ:, वायुपदस्य तत्राशक्तत्वात्।

१०६—नापि लक्षणया तादृशोऽर्थो ग्रहीतुं शक्य:, तात्पर्यानुपपत्त्यादिलक्षणाबीजासम्भवात्। किञ्च लक्षणयापि 'गोभि: श्रीणीत मत्सर' (ऋ० सं० ९।४६।४) मितिवत् वायुपदेन वायुविकाराणां प्राणानां ग्रहणसम्भवेऽपि न चक्षुरादीन्द्रियान्त:करणादीनां ग्रहणं सम्भवति, तेषां तदकार्यत्वात्। इन्द्रायेत्यस्य परमैश्वर्यप्राप्तिरपि नार्थ:, निर्मूलत्वात्। ध्रुवा इत्यस्य निश्चलत्वमेवार्थ: न निश्चलसुखहेतुत्वम्, ध्रुवशब्दस्य ध्रुवसुखहेतावशक्तत्वात्। भौतिकाग्ने: प्रजापशुश्रियां पालकत्वमपि न सम्भवति भौतिकत्वादेव। अधियज्ञार्थेऽपि ब्राह्मणसूत्रप्रसिद्धो यज्ञोपयोगी पदार्थो नोक्त:, तत्तु मन्ये याज्ञिकप्रक्रियाया अज्ञानवशादेवेति।

स्वामी के संरक्षण में निश्चल सुख का कारण बनें। जो सबके उपकार में संलग्न है, ऐसे विद्वान् यजमान की पशुरूप प्रजा अथवा लक्ष्मी की भौतिक अग्नि रक्षा करता है।" इस प्रकार जो व्याख्यान स्वामी दयानन्दजी के द्वारा किया गया है, वह निष्प्रयोजन और असंगत भी है।

१०५—क्योंकि भौतिक अग्नि समस्त जगत् का उत्पादक नहीं है, और न हो सकता है। 'महान्' से आरम्भ करके 'वायु' तक का कारण वह नहीं है। उसमें सर्वैश्वर्ययुक्तता की भी संभावना नहीं की जा सकती है, क्योंकि वह परमेश्वर का धर्म है। केवल अचेतन को सम्बोधित भी नहीं किया जा सकता। भौतिक अग्नि का अधिष्ठाता देवविशेष 'अग्नि' को भी यहाँपर सम्बोधित किया जाना भी नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा स्वीकार करना आपके सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। "वायव: स्थ" यहाँ 'पुरुष' का व्यत्यय करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। 'बाहुलक' या 'व्यत्यय' का आश्रय तभी लिया जाता है, जब यथाश्रुत अर्थ सङ्गत न होता हो। "तानि" यह अध्याहार भी निर्मूल ही है। "वायु पद का 'समस्त क्रियाओं की प्राप्ति के हेतु"—यह अर्थ भी नहीं है। क्योंकि इस अर्थ को प्रकट करने में 'वायु' पद शक्त नहीं है।

१०६—लक्षणावृत्ति से भी 'वायु' पद का वह अर्थ, नहीं कर सकते, क्योंकि लक्षणावृत्ति का आश्रय तब किया जाता है, जब 'तात्पर्य' की अनुपपत्ति हो। उसके न होने से 'लक्षणा' कैसे कर सकते हैं? किञ्च—लक्षणा से भी 'गोभि: श्रीणीत', के समान 'वायु' पद से वायुविकाररूप प्राणों का ग्रहण करना संभव होनेपर भी 'चक्षुरादि इन्द्रिय अन्त:-करणादि का ग्रहण करना कथमपि संभव नहीं है, क्योंकि वे, उसके कार्य नहीं हैं। इन्द्राय" पद का अर्थ 'परमैश्वर्य'—की प्राप्ति' कहना भी निर्मूल है। "ध्रुवा" का अर्थ 'निश्चलत्व' है। उसका अर्थ—निश्चलसुख का हेतु' कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'ध्रुव' पद 'ध्रुवसुख का कारण' इस अर्थ को बताने में असमर्थ है। भौतिक अग्नि का 'प्रजा, पशु, श्री का पालक होना' भी संभव नहीं है, क्योंकि वह भौतिक होने से असमर्थ है। अधियज्ञवाले अर्थ में भी ब्राह्मण, सूत्र आदि में प्रतिपादित यज्ञोपयोगी पदार्थों को नहीं कहा। न कहने का कारण यही प्रतीत हो रहा है कि सम्भवत: याज्ञिक प्रक्रिया से परिचित न होना ही होगा।

१०७—आधिदैविकार्थपरीक्षणम् । यदुक्तम्—'पराक्रमायोत्तमरसलाभाय सर्वपदार्थानां सम्प्रयोगेण पुरुषार्थसिद्धये भागं भगानां धनानां भाजनम् तं सवितारमाश्रयामः । 'सविता वै सर्वस्य प्रसविता' (नि० १०।३२) एवमाप्यायामहे सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्यवान् द्यु स्थानो देवः सविता । (सूर्यः सर्वौषधिवनस्पत्यादीनामुत्पादकः) ये सर्वक्रियाप्राप्तिहेतवः स्पर्शगुणा भौतिका वायवः सन्ति श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयति । परमैश्वर्यप्राप्तये अघ्न्याः पृथिव्यादयोऽनमीवाः अयक्ष्माः प्रजावतीः प्रार्पयतु । सवितरि सति स्तेनो विघ्नो वा समर्थो न भवति । गोपतौ पृथिव्यादिरक्षणमिच्छुकस्य ताः ध्रुवाः स्युः सविता सर्वोपकारं यजति यस्तस्य यजमानस्य श्रीः रक्षति' (पृ० २०।६) इति ।

१०८—तदपि न युक्तम्, पूर्वोक्तदोषदुष्टत्वात् । त्वद्रीत्या सविता सूर्योऽपि जड एवेति न तस्याश्रयणं युक्तम् । आश्रयणमुपासनमेव । जड़पूजाचास्त्वया प्राणपणेन निषिद्धत्वात् । नापि तदधिष्ठातृदेवः पूज्यस्त्वया तदनङ्गीकरात् । न वा सवितुर्भगानां धनानां वा भाजनत्वं सम्भवति, तस्याग्निगोलकत्वाविशेषात् । सकलजगदुत्पादकत्वमपि तस्य न सम्भवति, तस्यापि जगदन्तः पातित्वात् । नापि सकलैश्वर्यवत्त्वं तस्य परमेशधर्मत्वात् नापि सवितुः श्रेष्ठतमाय कर्मणे वाय्वादिसमर्पकत्वं सम्भवति जडत्वादेव । नापि सविता अनमीवा अयक्ष्माः प्रजावतीः पृथिव्यादीः समर्पयितुं समर्थोऽचेतनत्वात् । चेतन एव सर्वोपकारं तद्याजिनं च ज्ञातुं शक्नोति । स एव श्रियो रक्षितुं शक्नोति । तस्मादङ्गीकर्त्तव्यः सनातनो धर्मः, तत्सम्बन्धी देवतावादश्च ।

१०९—एतेनैव 'हे परमेश्वर भवान् कृपया अस्माकमिन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये श्रेष्ठतमाय कर्मणे चेमाः

आधिदैविकार्थ परीक्षणम्

१०७—आधिदैविक अर्थ करते समय स्वामी दयानन्दजी ने जो कहा है कि 'पराक्रमाय'=उत्तम रस-लाभ के लिये सभी पदार्थों के सम्यक् प्रयोग से पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये भागम्'=भग अर्थात् धनों के भाजन उस सविता का आश्रय लेते हैं ।" 'सविता' सब का प्रसविता है"—इस प्रकार तृप्ति का अनुभव करते हैं । समस्त जगत् का उत्पादक, सकल ऐश्वर्य सम्पन्न, द्यु स्थानवाला देव सविता सूर्य, समस्त ओषधि, वनस्पतियों का उत्पादक है । समस्त क्रियाओं की प्राप्ति के हेतु, स्पर्शगुणवाले जो भौतिक वायु हैं, उन्हें श्रेष्ठतम कर्म के लिये वह अर्पित करता है । वह 'अघ्न्या', 'अनमीवा', 'प्रजावती', 'पृथिवी' आदि का अर्पण करे । सविता के रहनेपर चोर या विघ्न समर्थ नहीं हो पाता है । पृथिवी आदि की रक्षा के इच्छुक (गोपति) के लिये ये ध्रुव हों । सभी के उपकार के लिये यजन करनेवाले यजमान की श्री की रक्षा, सविता करता है ।"

१०८—किन्तु इस प्रकार व्याख्या करना भी ठीक नहीं है । क्योंकि पूर्वोक्त दोष यहाँ भी विद्यमान हैं । क्योंकि आपके सिद्धान्तानुसार 'सविता' या 'सूर्य' भी जड़ ही है । उसका आश्रय करना उचित नहीं होगा । क्योंकि आश्रय-ग्रहण करने का तात्पर्य 'उपासना' ही है । आपने तो 'जड़' की पूजा का प्राणपण से निषेध किया है । सूर्य की अधिष्ठात्री देवता पूजनीय है'—यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसी देवता आपके मत में मान्य नहीं है । सूर्य, 'भगों का अर्थात् धनों का भाजन भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह अग्निगोलक के सिवा अन्य कोई पृथक् पदार्थ नहीं है । वह समस्त जगत् का उत्पादक भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं भी 'जगत्' के ही अन्तर्गत है । वह सकल ऐश्वर्य-सम्पन्न भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो केवल परमेश्वर का ही धर्म है । सविता का श्रेष्ठतम कर्म के लिये वायुआदि का समर्पक होना भी उसके जड़ होने के कारण ही असम्भव है । जड़ होने से ही वह 'अनमीवा', 'अयक्ष्मा', 'प्रजावती', 'पृथिवी' आदि को समर्पित करने में भी असमर्थ है । वह चेतन ही होता है, जो सबके उपकार और याजक को जान सकता है, वही श्री की रक्षा कर सकता है । इसलिये अपने उक्त अर्थों की सिद्धि के लिये, सनातनधर्म और उसके द्वारा प्रतिपादित देवता वाद की ही आपको शरण लेनी होगी ।

१०९—स्वामी दयानन्दजी का अगला व्याख्यान भी—"हे परमेश्वर ! आप कृपा करके हमारी परमैश्वर्य-

प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा अघ्न्या: गा: सदा प्रार्पयतु हे परमात्मन् भवत्कृपयाऽमाकं मध्ये कश्चिदघशंस: पापी स्तेनश्चोर: मेशत कदाचिन्मोत्पद्यताम् । तथा त्वमस्य यजमानस्य जीवस्य पशून् पाहि सततं 'यतो वा ता गा इमान् पशूंश्चाघशंस: स्तेनो मेशत हन्तुं समर्थो न भवेत् यतोऽस्मिन् पतौ पृथिव्यादिरक्षणेच्छुकस्य समीपे बह्वीर्बह्वयो गावो ध्रुवा: स्यात् भवेयुरिति दयानन्दीयं व्याख्यानमपि प्रत्याख्यातमेव, उक्तदोषात् । गोपतिपदस्य पृथिवीपतिरित्यर्थसम्भवेऽपि तदिच्छुकस्येति तु न कथमप्यर्थ: सम्भवति ।

११०—यत्तु भावार्थत्वेनोक्तम्—'मनुष्यै: सदैव धर्म्यं पुरुषार्थमाश्रित्यर्ग्वेदाध्ययनेन गुणगुणिनौ ज्ञात्वा सर्वपदार्थानां सम्प्रयोगेण पुरुषार्थसिद्धये श्रेष्ठतमाभि: क्रियाभि: संयुक्तैर्भाव्यम् यत ईश्वरानुग्रहेण सर्वेषां सुखैश्वर्यस्य वृद्धि: स्यात् । तथा सम्यक् क्रियया प्रजाया रक्षणशिक्षणे सदैव कर्त्तव्ये यतो नैव कश्चिद्रोगाख्यो विघ्नश्चौरश्च प्रबल: कदाचिद्भवेत् । प्रजाश्च सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयु: । येनेयं विचित्रसृष्टी रचिता तस्मै जगदीश्वराय धन्यवादा वाच्या: । एवं कुर्वतो भवत: परमदयालुरीश्वर: कृपया सदैव रक्षयिष्यतीति' (पृ० २२) इति, तत्तु सर्वथाऽसङ्गतम्, मूलाक्षरासम्बद्धत्वात् ऋग्वेदाध्ययनेन गुणगुणिज्ञानं भवतीति तु भूमिकायामेव खण्डितम् ।

१११—कोऽयं धर्म्य: पुरुषार्थो यमाश्रित्यर्ग्वेदाध्ययनं कार्यम् ? धर्मश्च क: ? वैदिकैस्तु चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मोऽभ्युपेयते । चोदनेति विधिनिषेधवाक्यानि भवन्ति । तानि च ब्राह्मणगतानि । न च तेषां त्वया प्रामाण्यमभ्युपेयते । ऋगादिमन्त्रैस्तु गुणगुणिज्ञाने पदार्थानां सम्प्रयोगस्तन्यते । धर्म: केन कथं ज्ञायताम् ? पुरुषार्थसिद्धीनां श्रेष्ठतमानां मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदं बिना ज्ञातुमशक्यत्वात् ।

प्राप्ति के लिये और श्रेष्ठतम कर्म के लिये इन प्रजावती, अनमीवा, अयक्ष्मा, अघ्न्या,—गौओं को सदा अर्पित करें । हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से हमारे मध्य में कोई अघशंस पापी चोर उत्पन्न न हो । तुम इस यजयान के पशुओं की सदा रक्षा करो इन गौओं और पशुओं को कोई अघशंस स्तेन न मार सके । इस पृथिवी आदि की रक्षा के इच्छुक गोपति के पास बहुत-सी ध्रुवा गौएँ हों ।"—स्वयं असिद्ध हो गया है, क्योंकि उक्त दोष यहाँ भी विद्यमान हैं । 'गोपति' का अर्थ 'पृथिवीपति' होना तो संभव है, परन्तु 'पृथिवी—की रक्षा का इच्छुक' यह अर्थ तो कथमपि संभव नहीं हो सकता ।

११०—भावार्थ के रूप में जो कहा गया है कि—"मनुष्यों को सदा ही धर्मसम्मत पुरुषार्थ का आश्रय लेकर ऋग्वेद आदि के अध्ययन से गुण और गुणी को जानकर सभी पदार्थों का सम्यक् प्रयोग करते हुए पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये श्रेष्ठतम क्रियाओं से संयुक्त होना चाहिये जिससे ईश्वर के अनुग्रह के द्वारा सब के सुख और ऐश्वर्य की वृद्धि हो । सम्यक् क्रिया से प्रजा का रक्षण और शिक्षण सदा ही करना चाहिये । जिससे कोई रोगरूप विघ्न न हो, और चोर कभी प्रबल न हों सकें, तथा प्रजा समस्त सुखों को प्राप्त करे । जिसने यह विचित्र सृष्टि रची है, उस जगदीश्वर को धन्यवाद देने चाहिये । ऐसा करनेवाले तुम लोगों की परमदयालु ईश्वर कृपा करके सदा ही रक्षा करेगा ।"—यह भावार्थ प्रतिपादनात्मक व्याख्यान भी सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि मन्त्र के अक्षरों से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं हो रहा है । हमने अपने इस ग्रन्थ की भूमिका भाग में स्वामी दयानन्दजी की उक्त व्याख्या 'ऋग्वेदाध्ययन से गुण-गुणों का ज्ञान होता है'—का खण्डन कर दिया है ।

१११—धर्मयुक्त यह पुरुषार्थ कौन-सा है, जिसका आश्रय लेकर ऋग्वेद आदि का अध्ययन करना चाहिये । धर्म कौन है ? वैदिकों के द्वारा तो 'चोदना' स्वरूप धर्म को स्वीकार किया जाता है । विधिवाक्य और निषेधवाक्य ही 'चोदना' शब्द से कहे जाते हैं । वे वाक्य ब्राह्मणग्रन्थों में हैं, और उन ग्रन्थों को आप प्रमाण मानते नहीं हैं । 'ऋग्', आदि के मन्त्र तो 'गुण-गुणी के ज्ञान' में पदार्थों का सम्यक् प्रयोग बतलाते हैं । धर्म को कौन कैसे समझे ? श्रेष्ठतम पुरुषार्थ की सिद्धियों को मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद के बिना जानना संभव नहीं है ।

प्रथम मन्त्र का हिन्दी सारांश

[एवञ्च 'इषेत्वे'ति छिनत्ति, अर्थात् पलाशशाखा का अथवा शाल्मली शाखा का छेदन करता है। अथवा 'इषेत्वोर्जेत्वा' का प्रयोग करते हुए 'छेदन' करता हूँ। अथवा दोनों के साकांक्ष होने से 'शाखा' को झुकाता हूँ—यह उत्तर है। पलाश की शाखा अथवा शमी की शाखा में विकल्प माना गया है। उसके छेदन में 'इषेत्वोर्जेत्वा' इन दो मन्त्रों का विकल्प किया गया है। उसका कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है। यही स्थिति 'उर्जेत्वा' की भी है। वचन सामर्थ्य से अदृष्ट प्रयोजन मानने पर तो दोनों के द्वारा एक ही अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना करना न्याय सङ्गत होगा। इस प्रकार अल्प अनुमान करना होगा—इस पूर्वपक्ष को उपस्थित करके समाधान किया गया है कि जो 'सम' होता है, वहाँ वाक्यभेद होता है। 'सम' का अर्थ है कि जिनमें परस्पर कोई आकांक्षा न हो वहाँ वाक्यभेद हुआ करता है। 'इषेत्वा" से एक अर्थ किया जाता है। "उर्जेत्वा" से दूसरा अर्थ किया जाता है। यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाण से कोई दृष्ट अर्थ प्राप्त नहीं हो रहा है, तथापि श्रुति से तो अर्थ प्राप्त हो रहा है कि—"इषेत्वा" से छेदन करना और 'उर्जेत्वा" से अनुमार्जन करना। निष्कर्ष यह है कि शाबरभाष्य के द्वारा उपर्युक्त काण्वसंहिता के दोनों वाक्य श्रुति के रूप में उदाहृत करके 'इषेत्वा' और 'उर्जेत्वा' इन दो वाक्यों को स्वीकार करके दो मन्त्र माने गये हैं। इस रीति से पूर्व-मीमांसा सूत्र और उसके भाष्य के द्वारा एक कण्डिका में अनेक मन्त्र सिद्ध होते हैं। माधवाचार्य की अधिकरण न्याय-माला में भी "इषेत्वोर्जेत्वा' में क्रिया पद के अभाव के कारण "उरु प्रथस्व" मन्त्र के समान स्मारकत्व के अभाव से एक अदृष्ट की कल्पना करने में लाघव होने के कारण यह एक ही मन्त्र है—यह पूर्व पक्ष उपस्थित किया गया है। सिद्धान्तपक्ष में कहा गया है कि काण्व ब्राह्मण में 'छिनत्ति', 'अनुमार्ष्टि' इस प्रकार से विनियोग के श्रुत होनेपर उसके अनुरोध से भिन्न-भिन्न दो मन्त्र हैं। यहाँ पर 'छिनद्मि' और 'अनुमार्ज्मि' इन क्रिया पदों का अध्याहार करना होता है। महर्षि कात्यायन ने भी पर्ण की शाखा का छेदन बताया है। किन्तु पर्ण शाखाछेदन का 'इषेत्वा' मन्त्र, शौनकी संहिता का आदि मन्त्र नहीं है। अपितु पिप्पलाद संहिता का वह प्रथम मन्त्र है। किन्तु आपकी दृष्टि से तो वह 'संहिता' वेद ही नहीं है। महाभाष्य की रीति से चलने पर आपके मार्ग की शौनकी संहिता वेद से बहिर्भूत हो जायगी तथा 'पिप्पलादसंहिता' भी वेद नहीं कही जायगी।

पुनश्च काण्व के अनुसार 'इषेत्वा" आदि के स्वतन्त्र मन्त्र होने का निर्णय किया गया हैं। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में "अर्थैकत्वात्" सूत्र पर शाबरभाष्य में विचार हुआ है कि प्रश्लिष्ट रूप से पठित यजुओं में यह कैसे समझा जाय कि यह एक यजुर्मन्त्र है—इस आशङ्का पर बताया गया है कि जितने पदों से एक 'यजन' रूप अर्थ प्रति-पादित हो उतना पदसमूह एक यजु है। कितने पदसमूह से एक यजनरूप अर्थ होता है? ऐसी शङ्का उपस्थित कर उत्तर दिया है कि जितने से क्रिया का उपकार प्रकाशित हो, उतना कथनीय होने के कारण उसे एक वाक्य समझा जाता है। अतएव यह प्रसिद्ध है कि 'एक अर्थ का प्रतिपादक एक वाक्य होता है।' वहींपर "समेषु वाक्यभेदः स्यात्"—सम मन्त्रों में वाक्यभेद होगा—इस सूत्र से "इषेत्वा",—"उर्जेत्वा" ये दो वाक्य होंगे। तथा "आयुर्यज्ञेन" आदि भिन्न-भिन्न वाक्य हैं या एक वाक्य है? "इषेत्वा" इतने मात्र से ही उसका निर्णय हो जाता है। 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' से हिंसा मात्र का निषेध किया जाता है। "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" अग्नीषोमदेवताक पशु का आलम्भन (हिंसा) करे—यह वचन तो अपवादरूप है। यज्ञगत हिंसा के अतिरिक्त 'हिंसा'—निषिद्ध है। वेद में प्रतिपादित हिंसानिषेध का यही तात्पर्य है। अथवा यजुर्वेद आदि सभी वेदों में मन्त्र से निषेध में पर्यवसित होनेवाले वाक्य का अभिप्राय है। निषेध और विधि दोनों में पर्यवसित होनेवाले वाक्यों के लिये 'मन्त्र' पद का प्रयोग होता है, जैसे– "ये मन्त्रा प्रोक्षणे गवाम्" आदि स्थलों में है। इससे "इषेत्वोर्जेत्वा" यहाँ गोपथकार दो मन्त्र नहीं मानते. किन्तु "श्रेष्ठतमाय कर्मणे" यहाँ से प्रारम्भ करके "यजुर्वेदमधीयते" तक सम्पूर्णपाठ को एक ही मन्त्र के रूप में द्योतित करते हैं।" स्वामी दया-नन्दजी का यह कथन भी कोई महत्त्व नहीं रखता है, क्योंकि वहाँ का 'आदि' पद, मन्त्र के आदि का द्योतक है। आपके कथनानुसार "पाहि" तक की मन्त्रता इससे नहीं सिद्ध होती है। वहाँ कण्डिका के प्रतीक का ग्रहण ही इष्ट है।

कण्डिकाओं में अनेक मन्त्र होते हैं। अत एव नमस्कार आदिवाला एक यजु है और नमस्कारान्त एक यजु है-ये यास्कादि महर्षियों की उक्तियां सङ्गत होती हैं।

यह जो कहा गया है कि "इषेत्वोर्जेत्वा" को आदि कहकर यजुर्वेद का अध्ययन किया जाता है—यह गोपथकार का वचन है, यहाँ कृष्णयजुर्वेद विवक्षित नहीं है"—यह कथन भी नितान्त उपेक्षणीय है। क्योंकि यहाँपर 'यजुर्वेद' शब्द, अन्य यजुर्वेद ग्रन्थों का उपलक्षण है। अन्य शाखाओं की संहिताओं में 'वेदत्व', परम्परा प्राप्त है—यह बात श्रुति, स्मृति, पुराण आदि से भी सिद्ध है। मुक्तिकोपनिषद्, पुराण और महाभाष्य में अनेक शाखाओं से युक्त चारों वेदों का वर्णन है। महाभाष्य में जैसे—ऋक्, यजु, साम वेदों के प्रतीक के रूपों में "अग्निमीले पुरोहितम्", "इषेत्वोर्जेत्वा", "अग्न आयाहि वीतये"—इनका ग्रहण किया है, वैसे ही अथर्ववेद का प्रतीक 'शन्नोदेवी" मन्त्र भी वहाँ बताया है। अतः स्वेच्छा से देवता आदि की कल्पना करना मन्त्रार्थ के विरुद्ध चलना ही है। कात्यायन आदि महर्षियों के विनियोगों के आधार पर ही देवता आदि का ज्ञान प्राप्त करना होता है। सायण के द्वारा उद्धृत काण्व ब्राह्मण के द्वारा भी 'इषेत्वा' इस मन्त्र की देवता, कात्यायन के द्वारा बोधित 'शाखा' ही है।

यह भी विचारणीय है कि "इषेत्वा' से लेकर 'पशून् पाहि' तक एक ही मन्त्र मानागया है।" यहाँपर 'सवितृ शब्द के देखने से आपाततः कहा गया है कि इस मन्त्र की देवता 'सविता' है। 'ब्राह्मण', 'सूत्र' आदि के अनुसार तो इस कण्डिका में 'इषेत्वा', 'उर्जेत्वा' इत्यादि अनेक मन्त्र हैं। पण्डित ब्रह्मदत्तजी ने "यजुर्वेदादि मन्त्र से पशुहिंसा का वारण हुआ है"—इस महाभारत के पद्य को उद्धृत करके 'पशून् पाहि' तक सम्पूर्ण कण्डिका एक ही मन्त्र है, यह सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु श्रुति विरोध को न समझपाने के कारण उनका प्रयास व्यर्थ ही हो गया है। यजुर्वेद की प्रथम कण्डिका में जितने मन्त्र हैं उनमें 'सप्तम्यास्तसिल्' को समझनेपर आक्षेप नहीं हो पायगी। अथवा 'मन्त्र' पद का मन्त्रसमूहरूप कण्डिका में गौण प्रयोग भी हो सकता है। किञ्च यहाँ पशुहिंसा का वारण नहीं है, अपितु 'पशुपालन' की प्रार्थना है। 'पालन' को ही हिंसा का वारण नहीं कह सकते। आधुनिक शासकों के द्वारा पशुपालन के प्रयास होते रहने पर भी 'हिंसा' भी स्वीकार की ही जा रही है। यह भी नहीं है कि 'यजुर्वेद' शब्द से एक ही संहिता ग्रहण की जाय। 'कृष्णयजुर्वेद' भी यजुर्वेद शब्द से ही प्रसिद्ध है। जहाँ 'यजुर्वेदादि मन्त्र से' कहा गया है, वहाँ यजुर्वेदादि मन्त्रों से'—यह अर्थ होता है। वहाँ 'मन्त्र' शब्द 'ब्राह्मण' का भी उपलक्षण है। 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस ब्राह्मण वाक्य से हिंसा का निषेध होता है, किन्तु 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस अपवादक वचन को देखने पर ज्ञात होता है कि यज्ञीय हिंसा के अतिरिक्त स्थल में हिंसा का निषेधक वह वचन चरितार्थ होता है।

जो यह कहा गया है कि "दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी को भी 'शाखा' आदि को देवता के रूप में स्वीकार करना अभिमत नहीं है, यास्क ने भी 'तद्य अनादिष्ट देवता' आदि से उपक्रम क्रके 'यद्देवतः स यज्ञो…………' इत्यादि कहा है'—यह तर्क करना उचित नहीं है, वह तर्क न रहकर कुतर्क करना ही कहलाएगा। क्योंकि 'शाखा' आदि को निरुक्त में यज्ञाङ्ग बतलाने पर भी उनका देवता होना युक्ति सिद्ध है। प्रधान हवि, जिस देवता की होती है, उसके संस्कारपरक मन्त्र होते हैं। जैसे प्रकृत में 'ऐन्द्रसान्नाय्य' या 'माहेन्द्र' प्रधान हवि है। अतः 'एषेत्वा' आदि उसी के संस्कारपरक हैं। जिन मन्त्रों में देवता बोधक लिङ्ग न हों, वे 'ऐन्द्र' या 'माहेन्द्र' होते हैं। यह दुर्गाचार्य का वचन तो हवि के प्रधान होने से 'इषेत्वा' आदि मन्त्र 'ऐन्द्र' या 'माहेन्द्र' हैं—यह द्योतित करता है।

जिन मन्त्रों में देवताबोधक लिङ्ग का प्रकाशन नहीं है, उनके देवता निरूपणप्रसङ्ग में 'इषेत्वा' आदि समस्त मन्त्रों के 'माहेन्द्र' आदि ही देवता हैं, जिनके उद्देश्य से हविः प्रदान हुआ है - ऐसा बताया गया है। 'कुविदङ्ग' आदि मन्त्र का विनियोग प्राजापत्यग्रहण में दुर्गाचार्य ने बताया है, अतः वहाँ प्रजापति देवता है। 'आमावास्या में पय ऐन्द्र या माहेन्द्र है', अतः शेषभूत मन्त्र शाखाच्छेदन आदि में सान्नाय्यसंस्काररूप से विनियुक्त है। 'इषेत्वा' आदि उस देवता के हैं'—यह स्कन्दवचन भी वही अभिप्राय रखता है। पुनश्च सान्नाय्य के संस्काररूप से उसके अङ्गभूत 'इषेत्वा' आदि

सभी मन्त्रों के माहेन्द्र आदि देवता होते हैं। इस कारण तत्तन्मन्त्रों की अपनी-अपनी देवताओं का अपलाप नहीं होता। अन्यथा 'अग्नि सर्वदेवरूप है'। अतः जो मन्त्र या कर्म विशिष्टदेवतापरक नहीं हैं, उनकी देवता 'अग्नि' है—ऐसे वचनों का आधार होनेपर भी मन्त्रों में देवताओं का अन्वेषण क्यों किया गया है ?

महर्षि कण्व ने तो प्रथम ही कहा है—"ऋषि, देवता और छन्द का विवरण आरम्भ करेंगे। यजुर्वेदस्थ मंत्रों के अक्षरों की नियम गणना न होने से कुछ मन्त्रों में छन्द नहीं हैं। उनके द्रष्टा ही उनके ऋषि हैं। उनके स्मरणकर्ता परमेष्ठी आदि देवताओं में अन्तर्भूत हैं। अग्नि आदि हविर्ग्रहण करनेवाले तथा स्तुतिग्रहण करनेवाले हैं।"—ऐसा कहकर अनस् शाखा उखा शमी उपवेश कपाल इध्म उलूखल आदि प्रतिमाभूत हैं ऐसा कहा है। अतः 'शाखा' आदि को देवता कहने में कोई बाधा नहीं है। वहाँ गायत्री आदि छन्दों के विषय में कहा गया है कि इन सब को बिना जाने जो व्यक्ति अध्ययन, पाठ जप, हवन, यज्ञ, याजन, करता है, उसका ज्ञान निर्वीर्य (बासी) हो जाता है। तदनन्तर वह गर्त में गिर जाता है। स्थाणु (ठूँठ) बन जाता है। वह मृत्यु को प्राप्त कर पापयोनियों में जाता है। और जो इनका ज्ञान प्राप्त करके अध्ययन करता है, उसका ज्ञान, वीर्यवान् तथा अर्थवेत्ता का ज्ञान वीर्यवत्तर होता है। जप, हवन, यज्ञ का फल उसे प्राप्त होता है। इस प्रकार के महत्त्व से परिपूर्ण ऋषि, देवता, आदि के ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती और न ही उनका अपनी इच्छा से निर्धारण किया जा सकता है।

'अप्राणः' आदि श्रुतियों में ईश्वर को मन और प्राण से रहित कहा गया है। प्रथमान्तरूप में पठित 'वायवः' यह कर्तृपद 'स्थ' इस क्रियापद से सम्बन्ध के कारण निराकांक्ष हो गया है। 'प्रार्पयतु' इस सकर्मक क्रियापद के कर्म के रूप में 'वः' यह पद है। मूल में 'यत्' 'तत्' के अभाव में भी 'वः' (तुम्हारे) जो प्राण अन्तःकरण आदि हैं, उन्हें सविता, श्रेष्ठतम कर्म के लिये प्रकृष्टरूप से अर्पित करे'—ऐसी कल्पना करना भी स्वच्छन्दता ही कहलाएगी। 'आप्यायध्वम्' के स्थानपर 'आप्यायामहे' व्याख्या करना भी निर्मूल ही है। द्वितीय व्याख्यान में यह असङ्गति है कि परमेश्वर ही परमेश्वर को कैसे सम्बोधित करता है ? 'इन्द्र' शब्द का अर्थ जब ऐश्वर्यवान् पुरुष है, तब वह 'ऐश्वर्य' की प्रार्थना कैसे करेगा ? मूल में 'यजमान' शब्द, यज्ञकर्ता का बोधक है। अतः उसका 'जीवसामान्य' अर्थ करना भी निराधार ही है। और भावार्थ तो दूर से भी मन्त्र के अक्षरों का स्पर्श भी नहीं कर रहा है। 'विश्वानि देव' इत्यादि मन्त्र के व्याख्यान में 'ईश्वर के द्वारा जीवों के लिये तथा गुण-गुणिविज्ञान के उपदेश के लिये ऋग्वेद सभी पदार्थों की व्याख्या करके 'मनुष्यों को उनसे यथा तथा उपकार ग्रहण करने के लिये कैसे क्रियाएँ करनी चाहिये'—यह यहाँ पर उपदिष्ट है, यह जो कहा है, वह भी निर्मूल ही है। क्योंकि ऋग्वेद पदार्थ वर्णन परक नहीं है। न्याय-वैशेषिक शास्त्रों के समान ऋग्वेद कोई पदार्थवर्णन करनेवाला ग्रन्थ नहीं है। यदि वह पदार्थवर्णन करनेवाला ग्रन्थ होता तो स्वामी दयानन्दजी के द्वारा भी आप्तरूप से स्वीकृत किये गये गोतम आदि महर्षि उसी का व्याख्यान करते। पुनश्च आधुनिक वैज्ञानिकों के द्वारा जो पदार्थ और गुण-गुणिभाव विवेचित हुए हैं, क्या स्वामी दयानन्दजी के भाष्य में उस उपयोग में आने योग्य विवेचन उपलब्ध है ? अपनी उक्ति को प्रमाणित करने के लिये मूल में 'यजुभिर्यजन्ति' और विवरण में ऋक् से शंसन करते हैं, यजु से यजन करते हैं, साम स्तुति करते हैं—इत्यादि श्रुतिवाक्य उद्धृत किये हैं, परन्तु उनके दूसरे अर्थ हैं। अतः प्रस्तुत में वे साधक नहीं हो रहे हैं।

वहाँपर 'यजुभिर्यजन्ति' इस मन्त्र का 'यजुर्मन्त्रों' से यज्ञ करते हैं—यही अर्थ है। स्वामी दयानन्दजी तो जिससे मनुष्य, ईश्वर तथा धार्मिक विद्वानों की पूजा करते हैं, समस्त विद्याओं की सङ्गति, शिल्प विद्याओं का सङ्गतिकरण, शुभविद्याओं का गुणदान, यथायोग्य सबके उपकार में, शुभव्यवहार में, तथा विद्वानों में द्रव्यादि का व्यय करते हैं, वह 'यजु' है'—ऐसा कह रहे हैं। किन्तु यह भी अविचारितरमणीय है। क्योंकि 'यज्' धातु के अर्थ के अनुसार विद्वानों की पूजा सङ्गतिकरण, और दान आदि में यजुर्मन्त्र अकिञ्चित्कर हैं। बिना यजुर्मन्त्रों के भी मनुष्यों की उनमें प्रवृत्ति होना सिद्ध है। 'ऋचाओं का शंसन करते हैं' इत्यादि के द्वारा भी पदार्थों का गुण-गुणिवर्णन नहीं हुआ करता।

अपितु देवताओं का शंसन स्तवन आदि करना ही उनका कार्य है। 'रूढिर्योगमपहरति'—रूढि, योग का अपहरण करती है—इस न्याय से परिभाषित यज्ञ में ही यजुर्मन्त्रों का उपयोग होता है। 'यज्ञ' का स्वरूप महर्षि कात्यायन ने बताया है—"यज्ञ का व्याख्यान करते हैं", "द्रव्य, देवता, और त्याग ही यज्ञ है।" कर्काचार्य ने इसकी व्याख्या की है—'तद्धितप्रत्यय अथवा चतुर्थ्यन्त पद से द्रव्य के प्रति देवतात्व प्रकट होता है। उस द्रव्य की देवता के प्रति जो उत्सर्ग-क्रिया होती है, वही 'याग' पदार्थ है। 'यज्ञ' शब्द भी उसी अर्थ में प्रसिद्ध है। इस रूप में प्रसिद्ध 'याग' का ही यजुर्मन्त्रों के द्वारा अनुष्ठान होता है। दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत्' इत्यादि विधिवाक्यों के द्वारा विधिभाग में जिन कर्मों का विधान है उन्हीं में 'यजु' आदि का उपयोग होता है। जैमिनिमहर्षिप्रणीत द्वादशाध्यायी मीमांसा में भी उसी 'यज्ञ' का विचार हुआ है। वहींपर यथास्थान देवपूजा, सङ्गतिकरण आदि का भी समावेश है।

महर्षि कात्यायन ने भी 'तिष्ठद्धोमा' इत्यादि से याग और होम का भेद बताया है। खड़े होकर जिनमें होम होता है, वे 'तिष्ठद्धोम' कहलाते हैं। वषट्कार के द्वारा जिनमें आहुति दी जाती हो उन्हें 'वषट्कार प्रदान' कहते हैं। जिनमें 'याज्या' और 'पुरोनुवाक्या' का प्रयोग होता है, वे 'याग' कहलाते हैं। सामान्य पूजा, दान आदि कर्मों में तो 'वषट्कार' पूर्वक होम होता नहीं है। उनमें 'याज्या, पुरोनुवाक्या' का प्रयोग भी नहीं होता। 'होम' नामक कर्म का भी 'याग' से भेद बताया गया है। जहाँ कर्ता के द्वारा बैठकर ही 'स्वाहाकार' पूर्वक आहुति दी जाती है, जहाँ 'याज्या' आदि का प्रयोग नहीं होता है और 'जुहोति' पद से विहित होता है, उसे 'होम' कहते हैं। 'हवि' का अर्पण करने के लिये जो विहित कर्म है, उसे 'याज्या' कहते हैं। देवता का अनुस्मरण करने के लिये 'अनुवाक्या' होती है। 'ह्वयति' 'पुरोनुवाक्या' आदि श्रुति से उसका कथन किया जाता है। वस्तुतः मन्त्र में वक्ता 'ऋषि' होता है। मन्त्र के द्वारा जो कहा जाता है, वह 'देवता' होती है। सर्वानुक्रमणीकार ने तो "इषेत्वा" इत्यादि मन्त्र की देवता 'शाखा' बताई है। उसका अनादर करना तो प्रमाद ही कहा जायगा।

विनियोग से देवता का निर्णय करना दुर्गाचार्य की रीति से प्रदर्शित कर ही चुके हैं।

यह जो कहना है कि 'सर्वानुक्रमणीकार' के द्वारा प्रदर्शित 'देवतावाद' तो आधुनिक है। किन्तु यह कथन अत्यन्त तुच्छ है। आधुनिक आङ्ग्ल पद्धति से तो आपकी 'शाकली संहिता' आधुनिक होने से नहीं बच रही है।

यह तो आपने कहा है कि "गुरु से, तर्क से, शतपथ श्रुति से मन्त्रों के छन्द, ऋषि और देवताओं का कथन करता हूँ"—इस प्रकार कहते हुए 'उव्वटाचार्य ने सर्वानुक्रमणी की अवहेलना की है'—यह कथन सर्वथा उपेक्षणीय ही है। श्लोक में प्रयुक्त 'च' शब्द से सर्वानुक्रमणी का भी बोध हो रहा है। यह जो आपने कहा है कि "स्थावर होने के कारण उनको 'देवता' कहना उचित नहीं है"—किन्तु यह कथन भी भ्रमपूर्ण ही है, क्योंकि 'देवता' तो अधिष्ठात्री हुआ करती है। उव्वटाचार्य ने भी 'शाखा' को ही देवता होना बताया है। 'शाखा आदि तो उसकी प्रतीक हैं। स्वामी दयानन्द जी ने तो निरुक्त, दुर्गाचार्य आदि के द्वारा प्रदर्शित रीति से हविर्देवता के अनुरोध से भी इषेत्वा' आदि की 'शाखा' देवता न बताकर स्वयं अपनी कल्पना से 'सविता' को देवता कह दिया है। किन्तु 'इषेत्वा' आदि मन्त्र से 'सविता' का कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

जो यह कहा गया है कि "नवो नवो भवति" इस मन्त्र का सर्वानुक्रमणीकार ने 'चन्द्रमा' देवता कहा है। और यास्क ने "आदित्य" देवतावाला दूसरा पाद बताया है। तथा 'प्रवर्धयते' में 'चन्द्रमा' देवता कहा है।'—किन्तु सब आखों में धूल झोंकनामात्र है। यहाँपर यास्क ने यथा ने यथाकथञ्चित् 'पूर्वापरं चरतो' इस द्वितीय पाद का ही 'आदित्य' को देवता बताया है, न कि सम्पूर्ण मन्त्र के विषय में यह बात कही है। सर्वानुक्रमणीकार तो समस्त मन्त्र के अभिप्राय से 'चन्द्र' को देवता कह रहे हैं। ऐसी स्थिति में विरोध कहाँ है?

आश्वलायन आदि श्रौतसूत्रों के उदाहरणों को प्रदर्शित कर जो एक मन्त्र के अनेक विनियोग दिखाकर विरोध का उद्भावन किया है, वह उपेक्षणीय है। विनियोग का भेद तो ब्राह्मणवाक्य तथा आर्षवाक्यों से प्राप्त होता है। उस

स्थिति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है। अतएव आश्वलायन श्रौतसूत्र तथा तैत्तिरीयब्राह्मण में यह मन्त्र 'चान्द्रमस' चरु' में विनियुक्त हुआ है। तैत्तिरीय वौधायनादि सूत्रों में आदित्य देवतावाले चरु में 'यः पापयक्ष्मगृहीतः' इस मन्त्र का विनियोग बताया है। मैत्रायणी संहिता में यह मन्त्र, वैश्वदेव चरु में विनियुक्त है। ये विनियोग प्रामाणिक है। इस प्रकार के अनेक प्रामाणिक विनियोग होने से एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न देवताओं के होने में कोई विरोध नहीं है। और्णनाभ के मत से इस मन्त्र के देवता अश्विनी हैं। मन्त्र के पद ही देवता हैं, उनके अर्थ, देवता नहीं हैं। इत्यादि कथन में भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ऋषियों के मतभेद से 'विनियोग, देवता आदि में भी भेद हो जाता है। 'बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी आदि से उनका समन्वय संभव हो जाता है। क्योंकि 'सर्वानुक्रमणी' और 'बृहद्देवता' का देवतावाद प्रामाणिक है। उसका आज तक कोई बाधक नहीं हुआ है। आर्षग्रन्थों में समन्वय ही अभीष्ट होता है। श्रोत-विनियोग के बल से "ऐन्द्रचा' इस ऐन्द्री ऋचा के 'कदाचन' इस मन्त्र का 'गार्हपत्य' के उपस्थान में विनियोग होता है। प्रमाणबल से तदनकूल अर्थ भी लिया जाने योग्य है। ऐश्वर्य के योग से गार्हपत्याग्नि भी 'इन्द्र' पद से सम्बोधित है। स्मार्त विनियोग के कारण 'शन्नोदेवी" इस मन्त्र का 'शनि' पूजा में भी विनियोग होता है। विभिन्न प्रामाणिक ग्रन्थों और ऋषियों के परस्पर मतभेद होने पर अथवा एक ही प्रामाणिक ग्रन्थ में ऋषियों के मतभेद रहने पर सभी की आदरणीयता होती है। इसीलिये 'प्रसुष्टुति" इस ऋचा में 'शाकपूणि' ने 'इलस्पति' को देवता कहा, 'गालव ऋषि' ने 'पर्जन्याग्नि' को, यास्कमहर्षि' ने 'पूषा' को और 'शौनकऋषि' ने 'इन्द्र' को तथा 'भागुरि' ने 'वैश्वानर' को देवता बताया है। ऋषियों के ये कथन भी विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि समानबल होनेपर विकल्प संभव हो जाता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि केवल कोई व्याख्याता, जो ऋषि नहीं है वह भी देवता या विनियोग की कल्पना करने लग जाय। मन्त्रार्थ दृष्टि के भेद से स्वामी दयानन्दोक्त देवताओं के समर्थन में 'उच्चावचैः' आदि जो प्रमाण के रूप में दिया जाता है, वह व्यर्थ है, क्योंकि वहाँपर मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की 'उच्चावचदृष्टि' कही गई है। स्वामी दयानन्दजी कोई मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं हैं।

निरुक्त के परावर ज्ञाताओं में अधिक विद्यावान् प्रशस्त होता है'—इस कथन से स्वामी दयानन्दजी के परावरज्ञ होने के कारण उनकी 'देवताकल्पना' का समर्थन, जो समाजी लोग करते हैं, वह भी कुश-काशावलम्बन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि आशय को बिना समझे ही यह कहा गया है। उक्त वचन के द्वारा ऋषि के अतिरिक्त या तपस्वी के अतिरिक्त किसी पुरुष का देवता आदि के निर्धारण में स्वातन्त्र्य नहीं है। अपितु अनेक पारोवर्य-वेत्ताओं में से अधिक विद्वान् को प्रशस्त कहा गया है। इसपर दुर्गाचार्य की व्याख्या है—वहाँ पहिले यह कहा गया है कि मन्त्रार्थ के चिन्तन में प्रवीणता प्राप्त होनेपर भी श्रुति से भी केवल तर्क के आधार पर पृथक् करके मन्त्रों की व्याख्या करनी चाहिये। ऋषि या तपस्वी के अतिरिक्त किसी पुरुष को मन्त्रों का प्रत्यक्ष नहीं है। इस मन्त्र में 'सविता देवता का निर्णय करने में श्रुति सहायक नहीं है, क्योंकि वैसा कहीं उल्लेख नहीं है। किञ्च मन्त्र का व्याख्यान, प्रकरण के अनुरोध से ही होना चाहिये। जहाँ कहीं तर्क या बहुश्रुतता के आधार पर प्रकरण के बिना ही मन्त्रों का व्याख्यान नहीं किया जाता। मन्त्रों की व्याख्या प्रकरण के अनुसार ही होनी चाहिये। ये प्रकरण—यज्ञ, देवता, अध्यात्म, इतिहासानुप्रवेश हैं।

यदि यह कहा जाय कि वेदाध्यायी विद्वान् प्रकरण भी जान सकता है, तो उसपर कहना यह है कि इन प्रकरणों का प्रत्यक्ष ऋषि से भिन्न या तपस्वी से भिन्न किसी अन्य पुरुष को नहीं हुआ करता। जो उपदेश प्राप्त करनेवाले हैं उनके प्रति यह कथन है कि उन परावरज्ञ अर्थात् मन्त्रार्थों के पर—अवरभाव को जाननेवालों में अधिक विद्याभ्यासी तथा बहुश्रुत पुरुष मन्त्रार्थ के ज्ञान में प्रशस्त माना गया है। आधुनिक स्वामी दयानन्द आदि ऋषि नहीं हैं। यह बात भी वहीं के पर्यालोचन से ज्ञात होती है। ऋषियों ने उत्क्रमण करते हुए देवताओं से पूछा कि 'हमारा ऋषि कौन होगा ? तब देवताओं ने कहा कि 'तुम्हारा ऋषि तर्क होगा। मन्त्रार्थ की चिन्ता में ऊहापोह ही 'तर्क' है। इससे स्पष्ट होता है कि सभी 'ऋषि' नहीं होते हैं। ऋषियों से भिन्न सभी पुरुषों

को निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों के आधार पर ही मन्त्रों के अर्थों का ज्ञान होना सम्भव होता है। दुर्गाचार्य ने कहा है कि निरुक्त शास्त्र में परिश्रम किये हुए जो विद्वान् हैं, वे मन्त्रार्थ के विषय में जो कुछ विचार करते हैं, उन्हें आर्ष कहते हैं। वे अपनी इच्छा के अनुसार स्वतन्त्ररूप से मन्त्रार्थ नहीं बताया करते हैं। इतना ही नहीं, महर्षि यास्क ने निरुक्त विद्या का भी 'तप के द्वारा 'पर' की अभिलाषा करनी चाहिये'—कहा है। 'अपनी आयु की इच्छा रखनेवाले को मनमाना निर्वचन नहीं करना चाहिये'—यह भी उन्होंने कहा है ॥ १ ॥

'वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधा असि । परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥२॥'

—(वा० सं० १।२)

१—"वसोः पवित्रमिति पवित्रमस्यां बध्नाति कुशौ' (का० श्रौ० सू० ४।२।१५) 'त्रिवृद्वा' (का० श्रौ० सू० ४।२।१६) अस्यां शाखायां कुशावेव पवित्रं बध्नीयात् । इति प्रथमसूत्रार्थः । द्वौ कुशौ कुशत्रयं वा पवित्रमुच्यते । अथवा त्रिवृत्=त्रीणि दर्भतृणान्येव पवित्रं शाखायां बध्नीयात् । इति द्वितीय सूत्रार्थः । एतत्पवित्रबन्धनं शाखोपगूहनात् पूर्वमेव कार्यम् । पाठक्रमादार्थक्रमो बलीयानिति न्यायात् ।

वसोः वासयति वृष्ट्यादिद्वारा स्थापयति विश्वमिति वसुर्यज्ञः । 'यज्ञो वै वसुः' (श० १।७।१।९) इति श्रुतेः । तस्य । यज्ञशब्देन तदीयहविर्द्रव्यरूपं सानाय्यं लक्ष्यते । हे दर्भमय पवित्र वसोः इन्द्रदेवताया निवासहेतोः पयसः शोधकं पवित्रं त्वमसि । अनेन मन्त्रेण पवित्रं निर्माय पर्णशाखायां बध्नीयात् ।

२—प्रोक्ते 'द्यौरसीति स्थाल्यादानम्' (का० श्रौ० सू० ४।२।१९) वत्सं संसृज्य 'उपसृष्टा' इति दोग्ध्रा प्रोक्ते अध्वर्युः द्यौरसीति मन्त्रेण स्थाल्यादानं कुर्यात् इति सूत्रार्थः । यस्यां स्थाल्यां क्षीरं प्रक्षेप्तव्यं तद्ग्रहणार्थोऽयं मन्त्रः ।

द्यौरसि । हे स्थालि मृज्जलाभ्यां निष्पन्ना त्वं द्यौरसि जलहेतुवृष्टिप्रदद्युलोकरूपासि । द्युसम्बन्धात् तद्रूपत्वमस्यामुपचर्यते ।

तथा पृथिव्यसि पृथिव्याः सकाशादुद्धृतया मृदा निष्पन्नत्वात् त्वं पृथिवीरूपासि ।

'मातरिश्वन इत्याधिश्रयति' (का० श्रौ० सू० ४।२।२०) मातरिश्वन इति मन्त्रेण गार्हपत्यादुदीचोऽङ्गारान्निरुह्य तेषूखामधिश्रयेदिति सूत्रार्थः ।

हे उखे त्वं मातरिश्वनः मातरि अन्तरिक्षे पूर्वयति गच्छति वर्धते वेति मातरिश्वा वायुः, तस्य । अथवा मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति चेष्टते इति मातरिश्वा वायुः । तस्य । छान्दसो न कारः । घर्मः जिघर्तीति घर्मः दीपकः । घृक्षरणदीप्त्योः) सञ्चारस्थानप्रदानेन वायोर्दीपकः अभिव्यञ्जकः अन्तरिक्षलोकरूपासि । यतो हि तवोदरेऽपि अन्तरिक्षरूपस्य अवकाशस्य सद्भावः ।

उखायाः लोकत्रयरूपत्वात् त्वं विश्वधासि विश्वं दधातीति विश्वधाः विश्वधारणसमर्थासि ।

१—श्रौतसूत्र के अनुसार शाखा में पवित्र को बाँधना चाहिये । दो या तीन कुशों को 'पवित्र' कहते हैं । यह पवित्र का बन्धन शाखोपगूहन से पूर्व करना चाहिये । क्योंकि पाठ क्रम की अपेक्षा आर्थक्रम बलवान् माना गया है । 'यज्ञो वै वसुः' श्रुति के अनुसार 'वसु' शब्द का 'यज्ञ' अर्थ है, और लक्ष्यार्थ 'सान्नाय्य हविर्द्रव्य' है । उस दर्भमय पवित्र से निवेदन किया जा रहा है कि इन्द्रदेवता के निवासहेतुभूत पयस् (दूध) के शोधक तुम हो । इस प्रकार 'वसोः पवित्रमसि' मन्त्र कहकर पवित्र का निर्माण करे और पर्णशाखा में उसे बाँध दे ।

२—तदनन्तर दोग्धा के कहनेपर 'द्यौरसि' मन्त्र से 'स्थाली' का ग्रहण करे । और उससे कहे कि हे स्थालि !

यत: एवंरूपा अत: त्वं परमेण उत्तमेन धाम्ना बहुक्षीरधारणसामर्थ्यरूपेण तेजसा दृंहस्व दृढाभव । त्वन्निष्ठस्य क्षीरस्य गलनं वारयितुमिति शेष: । अन्यथा भग्नायास्तव छिद्रेण क्षीरं गलेत् । यद्यपि धातुपाठे वृद्ध्यर्थोऽयं स्मर्यते तथापि दाढर्ये सति भङ्गाभावेन चिरमवस्थानात् दाढर्यं नाम स्थितौ कालवृद्धिरेव ।

३—किञ्च हे उखे त्वं मा ह्वा: कुटिला मा भव । यद्युखा कुटिला तिरश्चीना स्यात् तदापि तस्या: सकाशात् क्षीरं गलेत् । अत: क्षीरधारणाय दाढर्यमकौटिल्यमर्थ्यते ।

किञ्च ते यज्ञपति: त्वत्सम्बन्धी यजमान: मा ह्वार्षीत् । त्वन्निष्ठक्षीरस्कन्दनेन अनुष्ठानविघ्न एव यजमानस्य कौटिल्यम् । तच्च त्वदीयेन दाढर्येन कौटिल्याभावेन च न भविष्यतीति प्रार्थ्यते ।

'त्रयो घर्मा अग्निवायुसूर्यदेवत्या: । 'साधवे त्वेति । अयं वै साधुर्योऽयं पवते' (श० १४।१।२।२३) इति श्रुते: अयं मध्यमो घर्म: स त्वमसि । यतश्च त्वं वायुरत: विश्वधा असि सर्वस्य धारयिता भवसि । किञ्च परमेण धाम्ना दृंहस्व । धामानि त्रीणि भवन्ति:स्थानानि नामानि जन्मानि च । अत: उत्कृष्टेन नाम्नाभिहिता सती घर्मोसीत्यादिनेत्यर्थ: । आत्मानं दृढीकुरुष्वेति उव्वटाचार्य: ।

[अत्र ब्राह्मणम्—'तस्यां पवित्रं करोति । वसो: पवित्रमसीति यज्ञो वै वसुस्तस्मादाह वसो: पवित्रमसीति' (श० १।७।१।९) ।

इदानीं दोहनार्थं शाखायां समन्त्रकं पवित्रबन्धनं विधत्ते—तस्यां पवित्रमिति । दोहनार्थं तस्यां शाखायां पवित्रं कुशद्वयात्मकं त्रिवृतं करोति बन्धीयात् । तथा च सूत्रम्– वसो: पवित्रमिति पवित्र मस्यां बध्नाति कुशौ' (का० श्रौ० सू० ४।२।१५) 'त्रिवृद्वा' (का० श्रौ० सू० ४।२।१६) इति ।

'अथोखामादत्ते । द्यौरसि पृथिव्यसीत्युपस्तौत्येवैनामेतन्महयत्येव यदाह द्यौरसि पृथिव्यसीति मातरिश्वनो घर्मोऽसीति यज्ञमेवैतत्करोति यथा घर्मं प्रवृञ्ज्यादेव प्रवृणक्ति विश्वधा असि परमेण धाम्ना दृ७ँ॒हस्व माह्वारिति दृ७ँ॒हत्येवैनामेतदशिथिलां करोति मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते ।' (श० १।७।१।११) ।

अत्र सायण:—अध्वर्यो: समन्त्रकं स्थाल्यादानं विधत्ते अथोखामिति । उखाया: द्युपृथिव्यात्मकत्वस्य कदाचिदप्यसम्भवात् उपस्तुतिमात्रमिदमित्याह—उपस्तौत्येवेति । सापि किमर्थेत्यत आह—महयत्येवेति । स्तुत्या पूजनं लोके प्रसिद्धम् । अधिश्रयणे मन्त्रमाह—मातरिश्वन इति । मातरि अन्तरिक्षे श्वयतीति मातरिश्वा । वायुरादित्यो वा (नि० ७।२६) । तस्य घर्मस्त्वमसि । तेन दीप्यमानत्वात् एतत्पाठेन यज्ञमेव कृतवान् भवति । तदुपपादयति—यथेति । यज्ञे

मृत्तिका और जल से निष्पन्न हुई तुम 'द्युलोकस्वरूप' हो । अर्थात् जलहेतुभूत वृष्टिप्रदायक द्युलोकरूप हो । और पृथ्वी से निकाली गई मृत्तिका से निष्पन्न होने के कारण तुम पृथ्वीस्वरूप हो । 'मातरिश्वा' शब्द का अर्थ वायु है । 'घर्म' शब्द का अर्थ, दीपक है । अत: हे उखे ! तुम वायु को सञ्चार करने के लिये स्थान प्रदान करने के कारण उसके दीपक हो अर्थात् अन्तरिक्ष लोकस्वरूप हो, क्योंकि तुम्हारे उदर में अन्तरिक्षरूप अवकाश का सद्भाव है । तुम लोकत्रय होने के कारण सम्पूर्ण विश्व को धारण करने में समर्थ हो । ऐसी तुम, विपुल क्षीर धारणसामर्थ्यरूप अपने तेज से सुदृढ़ हो जाओ । जिससे तुम्हारे भीतर स्थित क्षीर नीचे टपक न जाय ।

३—किञ्च हे उखे ! तुम तिरछी भी मत होना, अन्यथा क्षीर नीचे गिर जायगा । तब यजमान के यज्ञानुष्ठान में विघ्न (कौटिल्य) होगा । किन्तु जब तुम दृढ़ (ठीक-ठीक) रहोगी तो दूध के न गिरपाने से उसके अनुष्ठान में

यथा घर्मं प्रवर्ग्यं प्रवृञ्ज्यात् एवं स्थाल्यधिश्रयणेन प्रवृणक्ति प्रवर्ग्यं कृतवान् भवति । ह्वला नाशः, तदभावमाशास्ते मा ह्वार्षीदि त्यनेन । शेषं स्पष्टम् ।

४—अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे त्वं वसोः सर्वत्रैव निवसतः सर्वाधिष्ठानस्य सर्वात्मनः पवित्रं निष्कलुषमाविर्भावस्थलमसि । त्वमेव द्युरूपा पृथिवीरूपा चासि । हार्दाकाशे भगवदाविर्भावात् । ध्यानादिना तत्रैव प्राकट्यविस्ताराच्च । त्वमेव च मातरिश्वनो घर्मोऽसि ।' प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः' (छा० उ० ६।८।२) इति छान्दोग्यश्रुतेः । त्वं परमेण धाम्ना तेजसा दधाति स्वं रूपमिति धाम । परमात्मस्वरूपाविर्भावेण दृंहस्व स्थिराभव । मा ह्वाः कुटिला मा भव कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यादीनां कृते अवसरं मा दाः । तथाविधां त्वां यज्ञपतिः पालको विष्णुर्माह्वार्षीत् त्वत्तः प्रकटितस्वरूपलोपं मा कार्षीत् । सर्वदा प्रस्फुरेत् । अथवा यज्ञपतिर्यजमानः ध्याता जीवः त्वयि प्रकटस्य भगवत्स्वरूपस्य व्यापारान्तरेण लोपको माभूत् ।

५—स्वामिदयानन्दस्तु—'हे विद्वन्मनुष्य यो वसोः वसुरयं यज्ञः अत्र अर्थात् विभक्तेर्विपरिणामः, इति प्रथमाविभक्तिर्विपरिणम्यते । पवित्रम् पुनाति येन कर्मणा तत् । असि भवति । द्यौः विज्ञानप्रकाशहेतुः । असि भवति । पृथिवी विस्तृतः । असि भवति । मातरिश्वनः मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति आश्वनिति वा तस्य वायोः । घर्मः अग्नितापयुक्तः शोधकः । घर्म इति यज्ञनामसु पठितम् (निघ० ३।१७) असि भवति । विश्व धा असि । विश्वं दधातीति संसारस्य सुखधारको भवति । परमेण प्रकृष्टसुखयुक्तेन । धाम्ना सुखानि यत्र दधति तेन । बाहुलकात् डुधाञ् धातोर्मनिन प्रत्ययः । दृंहस्व वर्धते । अत्र पुरुषव्यत्ययो लडर्थे लोट् च । मा निषेधार्थे । ह्वाः ह्वरतु । अत्र लोडर्थे लुङ् । मा निषेधार्थे । ते तव यज्ञपतिः यज्ञस्य स्वामी यज्ञकर्ता यजमानः । ह्वार्षीत् ह्वरतु ह्वरवेति, तत्तुच्छम् । श्रुतिसूत्रविरोधात् । विपरिणामबाहुल्यात्, व्यर्थविशेषणाच्च । परमेणेति पदस्य प्रकृष्टसुखयुक्तेनेति कथङ्कारमर्थः ? यद्येष एवार्थ उररीक्रियते तर्हि धाम्नेतिपदे सुखानि यत्र दधतीति व्याख्याने सुखानीति पदं व्यर्थमेव । द्यौः शब्दस्य विज्ञानप्रकाशहेतुः कथमर्थः ? अन्वये तु सूर्यरश्मिस्थ इत्यर्थः कृतः । कतरोऽर्थः साधीयान् ? यज्ञः परमेण धाम्ना सह वर्धते । यः यज्ञः सुखधारकेण धाम्ना वर्धते कथङ्कारं कश्चन सचेताः तं त्युक्तुं प्रभुः स्यात् ? इति मा त्यजेत्युपदेशोऽप्यपार्थक एव । अत्र यज्ञस्वरूपप्रतिपादनमपेक्षित-

---

कोई विघ्नबाधा नहीं होगी । इसी अभिप्राय को शतपथ ब्राह्मण ने भी अच्छी तरह से स्पष्ट किया है, जिसे सायणाचार्य ने और भी अधिक सरलता से बताया है ।

४—अध्यात्मपक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—हे बुद्धे ! तुम ही सर्वव्यापक सर्वाधिष्ठानभूत सर्वात्मा के आविर्भाव का पवित्र-स्थान हो । हृदयाकाश में भगवान् का आविर्भाव होने से तुम ही द्युरूप और पृथिवीरूप हो । परमात्म स्वरूप के आविर्भावार्थ तुम स्थिर रहो । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरादि दोषों के लिये अवसर मत देना । तब यज्ञपति भगवान् विष्णु तुम में सर्वदा प्रस्फुरित होते रहेंगे । अथवा यज्ञपति यजमान और ध्याता जीव तुम में प्रकट हुए भगवत्स्वरूप का किसी अन्य व्यापार से लोप न कर सकें ।

५—स्वामी दयानन्द जी प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—"हे विद्वन्मनुष्य ! अर्थात् मन्त्र में प्रयुक्त 'वसोः' इस षष्ठ्यन्त पद को वे सम्बोधन का रूप समझ रहे हैं । किन्तु मन्त्र में 'वसोः' पद सम्बुद्ध्यन्त नहीं है । 'वसोः' इसकी षष्ठी का 'वसुः' यह प्रथमा विभक्ति में विपरिणाम कर दिया है । 'दृंहस्व' पद, मन्त्र में है, जो लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एक वचन का है, किन्तु यहाँ पर भी पुरुषव्यत्यय करके 'वर्धते' अर्थ कर रहे हैं । और स्वेच्छानुसार अर्थ कर दिया है । किन्तु वह अर्थ, श्रुति और सूत्र के विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है । इस प्रकार के अर्थ में विपरिणाम तथा व्यर्थ विशेषणादि दोष हो गये हैं । 'द्यौः' शब्द का अर्थ, 'विज्ञानप्रकाशहेतु' बता रहे हैं । किन्तु अन्वय प्रदर्शन में 'सूर्यरश्मिस्थः' अर्थ कर रहे हैं । उक्त दो अर्थों में से कौन-सा अर्थ, ठीक है ? उसे स्वामी दयानन्दजी ही जानते होंगे, उनके पाठक की समझ के बाहर की बात है । 'मा त्यज' यह उपदेश करना भी व्यर्थ है । कौन ऐसा विवेकी होगा जो उस यज्ञ का त्याग करेगा । यज्ञ का स्वरूप, उसकी इति कर्तव्यता का प्रतिपादन इत्यादि जो अपेक्षित है, उसकी तो स्वामी

मासीत् । तत्र साधनमितिकर्त्तव्यता च वर्णनीयासीत् तदुपेक्ष्य कामकारतया यत्किञ्चित् व्याख्यायते इति प्रज्ञावतो हेयतैवात्र स्यात् । हे विद्वन्मनुष्येति सम्बुद्धे: मन्त्रे अभावाच्च । (वा० सं० १।२) ।

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् । देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः ॥ ३ ॥

(वा० सं० १।३)

१—'वसोः पवित्रमिति पवित्रमस्यां करोत्युदग्वा' (का० श्रौ० सू० ४।२।२१) अध्वर्यु: स्थाल्या उपरि शाखा-पवित्रमुदगग्रं प्रागग्रं वा स्थापयेत् इति सूत्रार्थः । अस्यामुखायां स्थापनीयस्य पवित्रस्य प्रागग्रत्वं सामान्यतः प्राप्तमिति सिद्धवत्कृत्वोदगग्रत्वं विकल्प्यते ।

हे शाखापवित्र त्वं वसोः इन्द्रदेवतानिवासहेतोः पयसः पवित्रं शोधकम् असि । क्षीरेण सह स्थाल्यां पततां तृण-पर्णादीनां पवित्रेण व्यवधाने सति प्रतिबध्यमानत्वात् पवित्रस्य क्षीरशोधकत्वम् । कथंभूतं पवित्रम् ? शतधारम् शतं धारा यस्मिंस्तत् तथोक्तम् । तथा सहस्रधारम् सहस्रं धारा यस्मिंस्तत् तथोक्तम् । पवित्रच्छिद्रैः स्थाल्यां पतन्तीनाम् क्षीर-धाराणाम् शतसहस्रसंख्याकानाम् सद्भावात् शोधकत्वमाहतुर्म् वसोः पवित्रमिति द्विरुक्तिः । 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (नि० १०।४२) इति निरुक्तवचनात् । शब्दाभ्यासे यत्रान्यविशेषो नास्ति तत्रैवं विशेषमाचार्या मन्त्रार्थसतत्त्वविदो मन्यन्ते यदुतार्थभूयस्त्वमिति भगवान् दुर्गः । अथवा अर्थभूयस्त्वात् अनन्तधारमर्थः ।

'स्थाल्यन्वारब्धे देवस्त्वेत्यासिच्यमाने जपति' (का० श्रौ० सू० ४।२।२३) स्थालीमन्वारब्धे यजमाने दोग्धा गां दुग्ध्वा स्थाल्यामासिच्यमाने पयसि धृतशाखापवित्रोऽध्वर्युः देवस्त्वेति मन्त्रं पठेत् इति सूत्रार्थः ।

देवस्त्वेति पयोदेवता । दोहनादूर्ध्वं स्थाल्यामासिच्यमान हे क्षीर ! सविता प्रेरको देवः त्वा त्वां पुनातु शोधयतु निर्दोषं करोतु । केन पवित्रेण । कथंभूतेन शतधारेण । पुनः कथंभूतेन पवित्रेण सुप्वा सुष्ठु पुनातीति सुपु तेन सुप्वा । 'इकोऽचिविभक्तौ' (पा० सू० ७।१।७३) इति नुमागमाभाव आर्षः । साधुपवनेन पवित्रेण ।

'कामधुक्ष' इति प्रश्नः' (का० श्रौ० सू० ४।२।२४) कामधुक्ष इति दोग्धारं प्रति अध्वर्योः प्रश्नः ।

एकस्यां गवि दुग्धायां दोग्धारम् अध्वर्युः पृच्छेत् । हे दोग्धः क्विमात्रानां वह्वीनां गवां मध्ये त्वं कां गामधुक्षः दुग्धवानसि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'वसोः पवित्रमसीति । यज्ञो वै वसुस्तस्मादाह वसोः पवित्रमसीति शतधा ७ँ सहस्रधार-मित्युपस्तौत्येवैरदेतन्महयत्येव यदाह शतधार ७ँ सहस्रधारमिति ।' (श० १।७।१।१४) ।

स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् ।

दयानन्दजी ने उपेक्षा करदी है और स्वेच्छानुसार अनावश्यक यत्किञ्चित् व्याख्या करते चले गये, जो विचारशील मनीषी की दृष्टि से हेयकोटि की ही समझी जावेगी ।

१—अध्वर्यु के द्वारा स्थाली पर उदगग्र अथवा प्रागग्र स्थापित किये हुए शाखा पवित्र से प्रार्थना की जा रही है—हे शाखापवित्र ! तुम इन्द्रदेवता के निवास हेतुभूत पयस् (दूध) के शोधक हो । क्योंकि दूध के साथ ही स्थाली में गिरने वाले तृण-पर्ण आदि का वह 'पवित्र', प्रतिबन्धक होने से उसे क्षीर का शोधक कहा गया है । पवित्र-

'तदानीं यजमानमभिमन्त्रयते । देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वेति ।' (श० १।७।१।१६)।

पयस आसेचनसमये अध्वर्योर्जयं विधत्ते—तदानीं यमानमिति । अभिमन्त्रणम् आभिमुख्येन जपः । शेषं स्पष्टार्थम् ।

२—अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे त्वं वसोः सर्वत्र निवसतः परमात्मनः पवित्रं प्राकट्यस्थानमसि यतः, अतः शतधारम् स्वीयायां शतधारायां वृत्तौ सहस्रधारायां वा वृत्तौ सर्वत्रैव परमात्मानमाविर्भावयितुं यत । सविता सर्व प्रेरकः देवः द्योतनात्मकः परमात्मा त्वा त्वां शतधारेण शतधा अरति गच्छति प्रादुर्भवतीति शतधारम् (भावप्रधानो निर्देशः) सहस्रधाविर्भावकारणेन पवित्रेण सुप्वा परमपावनेन परमशोभनेन च स्वस्वरूपेण पुनातु । उदीयमानासु बुद्धेः सर्वासु वृत्तिषु कामधुक्षः कां स्वीयां वृत्तिं भगवदाविर्भावेण प्रपूरितवत्यसि ।

३—स्वामिदयानन्दस्तु—'वसोः, वसुर्यज्ञः । पवित्रं शुद्धिकारकं कर्म । असि अस्ति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । शतधारम् शतं बहुविधमसंख्यातं विश्वं धरतीति तम् । शतमिति बहुनामसु पठितम् । (निघ० ३।१) पवित्रम् शुद्धिनिमित्तम् । असि अस्ति । सहस्रधारम् सहस्रं बहुविधं ब्रह्माण्डं धरतीति । तं यज्ञम् । सहस्रमिति बहुनामसु पठितम् । (निघ० ३।१) देवः स्वयंप्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः । त्वा तं यज्ञम् । सविता सर्वेषां वसूनामग्निपृथिव्यादीनाम् त्रयस्त्रिंशतो देवानाम् प्रसविता । 'सविता वै देवानां प्रसविता (श० १।१।२।१७) पुनातु पवित्री करोतु । वसोः पूर्वोक्तो यज्ञः । पवित्रेण पवित्रतानिमित्तेन वेदविज्ञानकर्मणा । शतधारेण बहुविद्याधारकेण परमेश्वरेण वेदेन वा । सुप्वा सुष्ठुतया पुनाति पवित्रताहेतुर्वा तेन । काम् कां कां वाचम् । अधुक्षः दोग्धुमिच्छसीति प्रश्नः । लडर्थे लुङिति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारात्, असामञ्जस्यात् । श्रुतिसूत्रविरोधाच्च । यत्तदोरध्याहारे मूलाभावात् । वसुर्यज्ञः स्वयं शतधा शुद्धिकारकः । तमपि सविता देवः पुनातु इत्यसमञ्जसम् । अन्वयार्थे तु हे जगदीश्वर भवान् तेन अस्माभिरनुष्ठितेन यज्ञेन अस्मान् पुनातु इति,

---

गत छिद्रों में से होकर स्थाली में गिरनेवाली सैंकड़ों-सहस्रों क्षीरधाराओं के होने से आजकल की चलनी (छन्ने) की तरह वह क्षीरशोधन का काम करता है । यहाँ 'शत' 'सहस्र' का अर्थ अनेक या अनन्त है ।

दोहन के बाद स्थाली में रहनेवाले हे क्षीर ! प्रेरक सविता देव तुम्हें दोषरहित करे । एक गौ के दुहनेपर अध्वर्यु, दोग्धा से 'कामधुक्षः' यह प्रश्न करता है, क्योंकि गोशाला में गौएँ अनेक हैं, उनमें से किस गौ को तुमने दोहा है ?

२—अध्यात्मपक्ष में— हे बुद्धे ! तुम सर्वव्यापक परमात्मा के प्रकट होने के लिये पवित्र स्थान हो । अतः अपनी सैंकड़ों, अथवा हजारों वृत्तियों में अर्थात् सर्वत्र ही उसे आविर्भूत करने का प्रयत्न करो । सर्वप्रेरक परमात्मा शतधा सहस्रधा प्रकार से प्रकट होनेवाले अपने परमपावन और परम सुन्दर स्वरूप से तुम्हें पवित्र करे । उदीयमान होनेवाली अपनी समस्त वृत्तियों में से किस वृत्ति को भगवदाविर्भाव से तुमने पूरित किया है ।

३—स्वामी दयानन्दजी ने इस मन्त्र का अर्थ करते हुए सर्वत्र पुरुष व्यत्यय किया है, जो शास्त्रदृष्टया अनुचित है । 'वसोः' इस षष्ठयन्त पद का अर्थ, प्रथमान्त पद के रूप में 'पवित्र शुद्धिकारक कर्म' करते हैं । यज्ञ, असंख्यात विश्व को धारण करता है, वह शुद्धि का निमित्त है । सहस्र अर्थात् बहुविध ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले उस यज्ञ को वसु, अग्नि, पृथिवी आदि तेंतीस देवताओं का प्रसविता देव, पवित्र करे । 'वसोः अर्थात् पूर्वोक्त यज्ञ, पवित्रता के निमित्तभूत वेदविज्ञानरूप कर्म से अथवा परमेश्वर से या वेद से किस किस वाणी को दोहना चाहते हो ? यह प्रश्न किया गया है ।' किन्तु उनका यह अर्थ भी अकिञ्चित्कर है । क्योंकि इस प्रकार का अर्थ अध्याहार आदि के द्वारा बड़ी खींचतान से उन्होंने किया है । इस अर्थ में कोई सामञ्जस्य नहीं है, और श्रुति के साथ तथा सूत्र के साथ विरोध भी है । यत्-तत् का अध्याहार भी निर्मूल ही है । जो यज्ञ, शतधा शुद्धिकारक है, उसे भी सविता देव पवित्र करे—इस प्रकार अर्थ करने में कोई सामञ्जस्य ही नहीं है । अन्वयार्थ करते समय तो यह बता रहे हैं कि 'हे जगदीश्वर ! आप, हमारे द्वारा अनुष्ठित किये गये यज्ञ से हमें पवित्र करें । और भावार्थ करते समय कह रहे हैं कि 'जो मनुष्य पूर्वोक्त यज्ञ को

भावार्थे तु ये मनुष्याः पूर्वोक्तं यज्ञमनुष्ठाय पवित्रा भवन्ति एतेभ्यो बहुविधं सुखं ददाति ये क्रियावन्तः परोपकारिणः सन्तिः ते सुखमाप्नुवन्ति नेतरे इति । हे विद्वन् जिज्ञासो इत्यादीनामर्थानां मन्त्र अभावात् । श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव ।। (वा० सं० १।३) ।

'सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः । इन्द्रस्य त्वा भाग ँ सोमेनातनच्मि विष्णो हव्य ँ रक्ष ।। ४ ।।'

(वा० सं० १।४)

१—'प्रोक्ते सा विश्वायुरित्याह' (का० श्रौ० सू० ४।२।२५) दोग्ध्रा अमूम् गङ्गामिति वा गोनाम्नि प्रोक्ते अध्वर्युः 'सा विश्वायुरिति मन्त्रं ब्रूयात् । इति सूत्रार्थः ।

'एवमितरे उत्तराभ्यां प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० सू० ४।२।२६) अनेनैव प्रकारेण गां धुक्ष्वेत्यादिना इतरे द्वे गावौ अध्वर्युः उत्तराभ्यां सा विश्वकर्मा, सा विश्वधायाः इति मन्त्राभ्यां प्रतिमन्त्रमेकैकां गामभिदधत् दोहयेत् इति सूत्रार्थः ।

या गौस्त्वया दुग्धा मया च पृष्टा सा विश्यायुःशब्दाभिधेया । विश्वायुः विश्वमायुर्यस्याः सा । यजमानस्य पुरुषायुषमायुः प्रयच्छतीत्यर्थः ।

यथा प्रथमा गौः पृष्टा एवमितरे द्वितीयतृतीये गावौ तद्दोहनादूर्ध्वं कामधुक्ष इति मन्त्रेण प्रष्टव्ये । दोग्ध्रा मुत्तरेऽमूमिति प्रोक्ते सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः इति मन्त्राभ्यां क्रमेण तयोराशिषं ब्रूयादध्वर्युः । या द्वितीया गौस्त्वया दुग्धा मया च पृष्टा सा विश्वकर्मा, या तृतीया गौस्त्वया दुग्धा मया च पृष्टा सा विश्वधायाः । विश्वस्य जगतः कर्मा कर्त्री, विश्वधायाः विश्वान् सर्वान् देवान् धापयति क्षीरदध्यादिहविर्यानेन पुष्णातीति पाययतीति वा विश्वधायाः । धयतेर्णिजन्तस्य असुनि प्रत्यये रूपम् । यज्ञादेव सर्वाः प्रजाः प्रजायन्ते । तस्य गोषूपचारः ।

'उद्वास्यातनक्ति प्राग्घुतशेषेणेन्द्रस्य त्वेति' (का० श्रौ० सू० ४।२।३३) ।

२—अध्वर्युः पयः श्रपयित्वा उद्वास्य प्राक् पूर्वं चतुर्दश्यां सायं हुतशेषेण दधिभावमापादितेन आतनक्ति कठिनीभवनार्थम् । अर्थात् दधित्वसम्पत्त्यर्थं दुग्धमध्ये दधिप्रक्षिपतीत्यर्थः । इन्द्रस्य त्वेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः ।

आतनच्मि । क्वथितं क्षीरमग्नेरुद्वास्य मन्दोष्णे तत्र प्रातःकालिकहोमावशिष्टेन दध्ना तत्र दधिनिष्पत्तये

अनुष्ठान करके पवित्र होते हैं, उन्हें वह बहुविध सुख देता है जो क्रियावान् हैं, परोपकारी हैं, वे सुख पाते हैं, जो अन्य लोग वैसे नहीं हैं, वे सुख नहीं पाते हैं । पाठक लोग स्वयं देख लें कि मन्त्र में 'विद्वन्', 'जिज्ञासो' इत्यादि अर्थों के वाचक किसी शब्द के न रहने पर भी 'अर्थात्' शब्द से ही अर्थ कर दिया है, परन्तु वह अर्थ, किस शब्द का कर रहे हैं,—इस बात को उन्होंने सोचा ही नहीं । श्रुति, सूत्र से जो विरोध हो रहा है, वह तो स्पष्ट ही है ।

१ – जिस गौ को तुमने दुहा है, जिसके बारे में मैंने पूछा था वह 'विश्वायु' नाम की है । वह यजमान को पुरुष की पूर्ण आयु प्रदान करती है । जो दूसरी गौ तुमने दुही है, वह 'विश्वकर्मा' है । जो तीसरी गौ तुमने दुही है, वह 'विश्वधाया है ।

२—अध्वर्यु उस दूध को तपाने के अन्तर उसे उतारकर पूर्वदिन चतुर्दशी के सायं, प्रातः हवन करके शेष रहे हुए दूध में आतञ्चन करता है, यानी दही जमाने के लिये दूध में दही डालता है । हे क्षीर ! तुम इन्द्र देवता के 'भाग'

आतञ्चनं कुर्यात् । हे क्षीर इन्द्रस्य भाग त्वां सोमेन सोमवल्लीरसेन आतनच्मि दध्यर्थं सङ्कोचनं करोमि । तञ्चतिः सङ्कोचनार्थः । घनीभावेनैव तरलं द्रव्यं संकुचति । अतः घनीभावमापाद्य कठिनीकरोमीत्यर्थः ।

३—यद्यप्यत्र आतञ्चनहेतुर्दधिशेषस्तथापि भावनया तस्यैव सोमत्वं सम्पाद्यत इत्यर्थः । यथा कश्चित् पुमान् बन्धुत्वेन भावितो बन्धुर्भवति प्रातिकूल्येन भावितश्च शत्रुः । तथा चोक्तवान् वशिष्ठः—

'बन्धुत्वे भावितो बन्धुः परत्वे भावितः परः ।
विषामृतदृशैवेह स्थितिर्भावनिबन्धना ।।' इति ।

भोज्यं वा विषत्वेन भावितम् वान्तिं करोति । अमृतत्वेन च भावितम् जीर्णं सद्बलहेतुर्भवति । तथा च दधिशेषस्य भावनया सोमत्वम् ।

'सोदकेनापि दधात्यमृण्मयेन विष्णो हव्यमिति (का० श्रौ० सू० ४।२।३४) सोदकेन अमृतमयेन उत्तानेन पात्रेण दोहस्थालीं विष्णो हव्यं रक्षेति मन्त्रेण दोहस्थालीं पिदध्यात् ।

हे विष्णो इदं हव्यं क्षीरं रक्ष गोपाय ।

सर्वत्र सृष्टौ पालने संहारे च ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा अभिमानिनो देवाः इति विष्णुं सम्बोध्य हविषो रक्षा प्रार्थ्यते । यथाह श्रीमद्भागवतम्—'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते । स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः' (श्री० भा० म० पु० १।२।२३) ।

अथवा यज्ञपुरुष एव प्रार्थ्यते । 'यज्ञो वै विष्णुः' (श० १।१।२।१३) इतिश्रुतेः ।

४—अध्यात्मपक्षे—ननु कामधुक्षः कां स्वीयां वृत्तिं पूरितवत्यसीति प्रश्नो मुधैव । यतो हि परिणमद्भिः आक्रान्तैव सर्वापि बुद्धेर्वृत्तिरुदेति । सर्वासामपि वृत्तीनां परमात्मभावेन पूरणं विधातव्यमिति तत्राह—सा विश्वायुः इति । सा सत्त्वपरिणामाक्रान्ता वृत्तिः विश्वेभ्योऽपि आयुः प्रयच्छति । सा रजः परिणामाक्रान्ता वृत्तिः विश्वकर्मा

हो । इसलिये सोमवल्ली के रस से तुम्हारा आतञ्चन करता हूँ । अर्थात् दही के लिये तुम्हारा सङ्कोचन करता हूँ । घनीभाव होने से ही तरल द्रव्य संकुचित होता है । अतः तुम्हें घनीभाव को प्राप्त कराकर गाढ़ा (चक्का) कर रहा हूँ ।

३—यद्यपि यहाँपर आतञ्चन में हेतु, दधिशेष है, तथापि उसी में 'सोम' की भावना की जा रही है । जैसे किसी पुरुष में बन्धुत्व की भावना करने से उसे 'बन्धु' मान लिया जाता है, उसमें प्रतिकूलता की भावना करने से 'शत्रु' मान लिया जाता है । इस प्रकार की बुद्धि 'भावनिबन्धन' ही हुआ करती है । किसी भोज्य पदार्थ में विष की भावना हो जाने पर 'वान्ति' हो जाती है, और उसी में अमृत की भावना रहने पर, वही भोज्य पदार्थ, जीर्ण होकर सद्बल-दायक होता है । उसी तरह यहाँ भी दधिशेष में सोम की भावना की गई है । दोहस्थाली पर अमृण्मय उत्तान पात्र ढ़क देता है कि हे विष्णो ! इस क्षीर भूत हव्य की रक्षा करो । सर्वत्र सृष्टि, उसके पालन, और उसके संहार करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर संज्ञक देवता होते हैं । श्रीमद्भागवत में भी इसी बात को बताया गया है । अथवा यह भी कह सकते हैं कि 'यज्ञपुरुष' की ही प्रार्थना की गई है, क्योंकि वही तो विष्णु है—'यज्ञो वै विष्णुः' इस प्रकार ब्राह्मण बता रहा है ।

४—'अध्यात्म पक्ष में उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—

शङ्का—'कामधुक्षः' अर्थात् बुद्धि ने अपनी किस वृत्ति को पूर्ण कर लिया है ?—यह प्रश्न करना तो व्यर्थ ही है । क्योंकि परिणत होनेवाले सत्त्वरजस्तमोगुणों के द्वारा आक्रान्त होकर ही समस्त बुद्धिवृत्तियाँ उदित हुआ करती हैं । अतः सभी वृत्तियों का पूरण परमात्मभाव से करना चाहिये ।

समा०—उस पर उत्तर दिया है कि 'वह विश्वायु' है । अर्थात् सत्त्व परिणाम से आक्रान्त हुई वह वृत्ति

विश्वमेव कर्म यस्या सा, सम्पूर्णविश्वनिर्मात्रीति यावत् । सा तमः परिणामाक्रान्ता वृत्तिः विश्वधायाः विश्वान् सर्वानपि प्राणिनः धापयति कर्मानुसारं भोगान् उपस्थापयति भोक्तुमिति विश्वधायाः ।

५—हे बुद्धे इन्द्रस्य परमैश्वर्यशालिनो भगवतः प्राकटचस्थलत्वात् त्वं तद्भागरूपासि । तादृशीं त्वां सोमेन उमया सहितः सोमः साम्बसदाशिवः तेन । तद्ध्यानाभ्यासेनेति यावत् । आतनच्मि समन्तात् घनीभूतध्यानाय बहुवृत्तीरुदास्य स्वल्पानः कृत्वा वशीकृते मनसि ध्यानभावनां दृढां करोमि । हे विष्णो वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुस्तत्सम्बुद्धौ सर्ववृत्तिव्यापनशील परमात्मन् हव्यं हूयन्ते प्रीण्यन्ते देवा येन तत् देवप्रीतिकरं, ध्यानादिकं रक्ष । 'ईश्वराज् ज्ञानमिच्छेच्च मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्' (म० पु० ६७।४१) इति मत्स्यपुराणवचनात् ।

६—स्वामिदयानन्दस्तु—'सा वाक् । 'वाग्वै यज्ञः' (श० १।१।४।११) विश्वायुः पूर्णमायुर्यस्यां सा ग्रहीतव्या । सा शिल्पविद्यासम्पादिका । विश्वकर्मा विश्वं सम्पूर्णं क्रियाकाण्डं सिध्यति यया सा । सा सम्पूर्णं विद्याप्रकाशिका । विश्वधायाः या विश्वं जगत् विद्यागुणैः सह दधाति सा । इन्द्रस्य परमेश्वरस्य यज्ञस्य वा । त्वा तम् । पुरुषव्यत्ययः । भागं भजनीयं शुभगुणभाजनं यज्ञम् । सोमेन शिल्पविद्याया सम्पादितेन रसेनानन्देन वा । आ समन्तात् तनच्मि सङ्कोचयामि दृढीकरोमि । हे विष्णो वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं विश्वमिति विष्णुः, तत्सम्बुद्धौ परमेश्वर । हव्यं पूर्वोक्तयज्ञसम्बन्धि दातुं ग्रहीतुं योग्यं द्रव्यं विज्ञानं वा । रक्ष पालयेति ।

७—तदपि निःसारम् । यज्ञस्वरूपस्य अद्याप्यनिर्धारितत्वात् । सोमशब्दस्य शिल्पविद्यया सम्पादितो रसः कथमर्थः ? अन्वये तु 'हे विष्णो व्यापकेश्वर भवता या वाक् धार्यते' इत्युक्तम्, तदतीव निकृष्टम्, तव सिद्धान्ते ईश्वरस्य निराकारत्वात् । नहि वागिन्द्रियं विना वाग्धारयितुं शक्यते । साकारत्वे वा सिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गः ।

'विश्वायु' है । वह सम्पूर्ण विश्व को आयु प्रदान करती है । तथा रजः परिणाम से आक्रान्त होनेपर वह वृत्ति 'विश्वकर्मा' कहलाती है, अर्थात् सम्पूर्णविश्व का निर्माण करनेवाली होती है । और तमः परिणाम से आक्रान्त होनेपर वह वृत्ति 'विश्वधाया' कहलाती है । यानी सभी प्राणियों के कर्मानुसार उनके भोगों को उपस्थित कर देती है ।

५—हे बुद्धे ! परमैश्वर्यशाली भगवान् इन्द्रदेवता के प्रकट होने की तुम स्थली हो. इसलिये तुम उसकी भागस्वरूपिणी हो । अतः मैं तुम्हारा साम्ब सदाशिव के ध्यान का अभ्यास करते हुए आतञ्चन करता हूँ । यह सोम, प्रत्यक्ष साम्ब-सदाशिव है, क्योंकि 'उमया सहितः सोमः'—यह 'सोम' शब्द की निरुक्ति है । आतञ्चन कहने का तात्पर्य यह है कि घनीभूतध्यानावस्था प्राप्त करने के लिये नानाविध वृत्तियों को दूर कर मन को जब वशङ्गत कर लिया जायगा तब ध्यानभावना दृढ़ होगी । हे विष्णो ! तुम सर्व वृत्तिव्यापनशील परमात्मा हो. अतः तुम देवताओं के लिये प्रीति कर हमारे ध्यान-धारणादि की रक्षा करो । पुराणों के भी उक्त कथन का समर्थन किया है ।

६—स्वामी दयानन्दजी ने उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—'वह 'वाक्' विश्वायु है । वह शिल्पविद्यासम्पादिका है । वह 'विश्वकर्मा' है, अर्थात् सम्पूर्ण विद्याओं की प्रकाशिका है । वह 'विश्वधाया' है, यानी सम्पूर्ण विश्व को विद्यागुणों के सहित धारण करती है । परमेश्वर अथवा यज्ञ के शुभगुण भाजन ! मैं उस यज्ञ को शिल्पविद्या से सम्पादित रस से अथवा आनन्द से सब ओर से दृढ़ करता हूँ । चराचर जगत् को व्याप्त करनेवाले हे विष्णो ! देने अथवा लेने के योग्य यज्ञ सम्बन्धी द्रव्य अथवा विज्ञान की रक्षा करो ।'

७—किन्तु यह व्याख्या भी सारहीन है । क्योंकि अद्यापि यज्ञ का स्वरूप का निर्धारण नहीं हो पाया है । किञ्च 'सोम' शब्द का अर्थ—'शिल्पविद्या के द्वारा सम्पादित रस' कैसे हुआ ? अन्वय करते समय तो 'हे विष्णो ! अर्थात् व्यापक ईश्वर आपके द्वारा जो वाक् धारण की जाती है" कहा है, यह अर्थ तो अत्यन्त निकृष्ट है । क्योंकि आर्य समाजियों के सिद्धान्त में तो ईश्वर को निराकार माना जाता है, तब वागिन्द्रिय के विना वाक् का धारण करना कैसे सम्भव हो सकता है ? यदि ईश्वर को आप साकार कहते हैं तो आपके ही सिद्धान्त का भङ्ग होता है । भावार्थ

भावार्थे च वाचस्त्रैविध्यं विचारयता ब्रह्मचर्याश्रमे या वाग्धार्यते सा पूर्णायुः प्रदात्रीति कथितम्। तदपि तथाविधमेव, तथासति विद्यार्थिनः कस्यापि मरणासम्भवात्। ब्रह्मचारी हि विद्यामधीते। एवं विचार्यमाणे सर्वोऽप्येतस्य महात्मनोऽर्थः स्वकपोलकल्पित एव प्रतीयते। तस्मात् उपेक्ष्यानर्थजातावहमर्थगणमेतादृशं सिद्धान्तभूतः पुरातनैराचार्यैः परम्परया प्राप्तो रमणीयोऽर्थोऽनुसन्धेयः सुधीभिरिति। (वा० सं० १।४)॥

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥ ५॥

—(वा० सं० १।५)

१—'अन्तरेणापराग्नी गत्वा परेणाहवनीयं प्राङ् तिष्ठन्नग्निमीक्षमाणोऽप उपस्पृश्य व्रतपत इदहमिति वा' (का० श्रौ० सू० २।१।११) यजमानो गार्हपत्यदक्षिणाग्न्योरन्तरालेन गत्वा आहवनीयस्य पश्चात् प्राङ्मुखस्तिष्ठन् अग्निं पश्यन् उदकं स्पृष्ट्वा सत्यवदनादिरूपं व्रतं 'अग्ने व्रतपते' इति मन्त्रेण 'इदमहम्' इतिमन्त्रेण वा गृह्णीयात् इति सूत्रार्थः।

हे व्रतपते व्रतस्य अनुष्ठेयस्य कर्मणः पतिः पालकः, व्रतपतिः। तत्सम्बुद्धौ। हे अग्ने। त्वदनुज्ञया व्रतं कर्म चरिष्यामि अनुष्ठास्यामि। तत् कर्म अनुष्ठातुं शकेयम्। त्वत्प्रसादात् तदनुष्ठातुं शक्तोभूयासम्। तत् मे कर्म मदीयं तत्कर्म राध्यताम् निर्विघ्नं सत् फलपर्यन्तं सिद्ध्यतु। शकेः आशीर्लिङि 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति लिङः सार्वधातुकार्धधातुकोभयसं ज्ञात्वेन शपोऽपवादके 'लिङ्याशिष्यङ्' (पा० सू० ३।१।८६) इत्यङि, 'अतो येयः' (पा० सू० ७।२।८०) इति या इत्यस्य इयादेशे गुणे 'तस्थस्थमिपां तांतंतामः' (पा० सू० ३।४।१०१) इति मिपः अमादेशेरूपम्।

अहं यजमानः अस्मादनृतान्मनुष्यजन्मनः उद्गत्य इदं सत्यं देवताशरीरम् उपैमि प्राप्नोमि। सत्यमनुष्ठीयमानकर्मरूपेण प्रत्यक्षमिति मन्वानः इदमिति विशिनष्टि। अनृतं मनुष्यजन्म शीघ्रविनाशित्वात्। यथा स्वप्नगजादयो बोधमात्रेण शीघ्रं निवर्त्तमाना अनृता उच्यन्ते। सत्यं देवशरीरं बहुकालस्थायित्वात्। तथा जागरणगजादयः। तन्मनुष्येभ्यो देवानुपावर्तते इति।

बताते समय आपने वाणी की त्रिविधता कहते हुए ब्रह्मचर्याश्रम में जिस वाक् को धारण किया जाता है, वह पूर्णायु का प्रदान करती है--कहा है। यह कथन भी वैसा ही निःसार है। आपके कथनानुसार तो किसी विद्यार्थी का मरण ही सम्भव नहीं हो सकता। ब्रह्मचारी विद्या का अध्ययन करता है। यह सब विचार करनेपर आपके द्वारा किया गया यह सभी अर्थ, स्वकपोल कल्पित (मनगढंत) ही प्रतीत हो रहा है। अतः स्वामी दयानन्दोक्त अनर्थावह अर्थ की उपेक्षा करके प्राचीन आचार्यों के द्वारा किया गया परम्परया प्राप्त सिद्धान्तभूत अर्थ ही रमणीय और शुद्ध है। विद्वान् बुद्धिमानों को उसी सिद्धान्तभूत अर्थ का आदर करना चाहिये।

१—अनुष्ठेय व्रतरूप कर्म के पालक हे अग्ने! तुम्हारी अनुज्ञा से व्रत कर्म का अनुष्ठान करूँगा। तुम्हारे अनुग्रह से उसका अनुष्ठान करने में मैं समर्थ हो पाऊँगा। मेरे द्वारा किये जाने वाले उस कर्म को फल प्राप्ति तक निर्विघ्नरूप से सिद्ध कर दें।

मैं यजमान इस अनृत (मिथ्या) मनुष्यजन्म से निकलकर उस सत्य देवता शरीर को प्राप्त कर पाऊँ। अनुष्ठीयमान कर्म के रूप में वह सत्य प्रत्यक्ष है। मनुष्य जन्म तो शीघ्र विनाशी होने से असत्य (अनृत) है। जैसे स्वप्न के गज आदि प्रबोध होते ही शीघ्र निवृत्त हो जाते हैं, अतः उन्हें अनृत कहा जाता है। चिरकाल तक स्थायी होने से देव शरीर 'सत्य' है। जैसे जाग्रदवस्था के गज आदि पदार्थ सत्य माने जाते हैं।

२—यद्वा—लोकप्रसिद्धे एव सत्यानृते ग्राह्ये। 'अनृतं न वदेत्' (ऐ० आ० २।३।६) 'नानृतं वदेत्' (श० २।२।-२।२०) इति कर्मणि अनृतवदननिषेधात्। अत इदं सत्यवदनं कर्माङ्गत्वात् कर्मकाले पालनीयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'सोऽग्निमेवाभीक्षमाणो व्रतमुपैति। अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामित्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्मा एवैतत् प्राह व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिति नात्र तिरोहितमिवास्ति।' (श० १।१।१।२)।

अत्र सायणः—इदानीमग्निदर्शनलक्षणेनान्तरङ्गेन सहितम् समन्त्रकं व्रतोपायनं विधत्ते—सोऽग्निमिति। स यजमानः, अग्निम् आहवनीयम्। व्रतपतिपदं व्याकरोति—अग्निर्वै देवानामिति। शकेयं राध्यतामित्युभयवाक्यस्य अव्याख्येयत्वं श्रुतिः स्वयमेवाह। तत्र हेतुः—नात्रेति। तिरोहितम् अविस्पष्टार्थं पदम्।

'अथ स ꣳ स्थिते विसृजते अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषन्तदशकन्तन्मे राधीत्यशकद्ध्येतद्यो यज्ञस्य स ꣳ स्थामगन्नराधि ह्यस्मै यो यज्ञस्य स ꣳ स्थामगन्नेतेन त्वेव भूयिष्ठा इव व्रतमुपयन्त्यनेन त्वेवोपेयात्।' (श० १।१।१।३)।

स्वीकृतस्य व्रतस्य यागसमाप्तिपर्यन्ततामाह—अथेति। संस्थिते यागे पर्यवसिते। व्रतविसर्जनमन्त्रमाह—अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषमिति। अत्र अशकम्, अराधीति पूर्वमन्त्राद् वैलक्षण्यम्। तत्र हेतुमाह—अशकद्धीति। यो यज्ञस्य पर्यवसानं प्राप्तवान्, एतत् कर्म कर्तुमशकत् शक्तोऽभूत्। तस्मै तेन कर्मणा अराधि सिद्धम्, तत्कर्म असिद्धवदित्यर्थः। अगन्निति गमेर्लुङि 'मन्त्रे घस······' (पा० सू० २।४।८०) इति च्ले र्लुकि हल्ङ्यादिलोपे 'मो नो धातोः' (पा० सू०-८।२।६४) इति मकारस्य नकारः।

अत्र व्रतोपायने मन्त्रान्तरं विधातुं पूर्वमन्त्रास्तस्य विशेषमाह एतेनेति। यतः एतेन वक्ष्यमाणेन इदमहमित्यादिना बहवो व्रतमुपयन्ति अतो हेतोः अनेनैवोपेयात्। एवकारेणैष मन्त्रः प्रशस्यते, नतु पूर्वः प्रतिषिध्यते। अतो भगवान् कात्यायनः मन्त्रद्वयमप्याह—अग्ने व्रतपते, इदमहमिति वा इति।

३—अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने अग्निवत्तेजस्विन् श्रीरामचन्द्र 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।' (श्री० वा० रा० २।४४।१५) इति रामायणवचनात्। हे व्रतपते व्रतमस्ति येषां ते व्रताः। 'अर्श आदिभ्योऽच्' (पा० सू० ५।२।१२७) इत्यजन्तः। व्रतकारिणस्तेषां पतिः पालकः, व्रतपतिः। 'रामो भामिनि लोकस्य चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता। मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः॥' (श्री० वा० रा० ५।३५।११) इति रामायणवचनात्। तत्सम्बुद्धौ। त्वत्प्रसादात् व्रतं 'सत्यं दया तपः शौचं (श्री० भा० म० पु० ७।११।८) इति प्रारभ्य 'सख्यमात्मसमर्पणम्॥ ११॥ नृणामयं परोधर्मः सर्वेषां समुदाहृतः इत्यन्तं वर्णितः त्रिंशल्लक्षणवान् धर्मः अत्र व्रतपराभिधेयः। तद् व्रतं चरिष्यामि

२—अथवा लोक व्यवहार में प्रसिद्ध जो सत्य और अनृत हैं, उनका भी ग्रहण किया जा सकता है। क्योंकि 'अनृतं न वदेत्', 'नानृतं वदेत्' इस प्रकार कर्म में अनृतभाषण का निषेध किया जाता है। अतः यह सत्यभाषण, कर्म का अङ्ग होने से कर्म काल में उसका पालन करना चाहिये। इसी अभिप्राय की अभिव्यक्ति शतपथ ब्राह्मण में भी की गई है, जिसकी व्याख्या सायणाचार्य ने बहुत सुन्दर ढङ्ग से की है।

भगवान् कात्यायन ने व्रतोपायन के लिये विकल्प से 'अग्नेव्रत पते' अथवा 'इदमह मिति' ये दो मन्त्र बताये हैं। उसका समर्थन शतपथ ब्राह्मण ने भी किया है।

३—अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार होगा—अग्नि के समान तेजस्वी हे श्रीरामचन्द्र ! आप व्रत करनेवालों के पालक हैं। क्योंकि आप चातुर्वर्ण्य के पालक हैं। लोक मर्यादा का आप स्वयं पालन करते हैं और लोगों से पालन करवाते भी हैं। यह बात महर्षि वाल्मीकि ने स्वयं कही है। श्रीमद्भागवतकार ने व्रत के स्वरूप को बताया है। तदनुसार यहाँपर 'व्रत' शब्द का त्रिंशल्लक्षणवान् धर्म में तात्पर्य है। ऐसे व्रत का पालन मैं तुम्हारे अनुग्रह से ही कर

त्वत्प्रसादाच्च तद्व्रतं कर्तुं शकेयम्। मे मम तद् व्रतं शक्तं सत् राध्यताम् सिद्ध्यताम् फलपर्यवसायि स्यात्। अहं भगवद्भक्तः इदम् सत्यमनृतादुत्थाय उपैमि। 'एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्। यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥' (श्री० भा० म० पु० ११।२९।२२) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनात्। भगवद्वचनाच्च।

४—स्वामिदयानन्दस्तु—'अग्ने हे सत्योपदेशकेश्वर। व्रतपते व्रतानां सत्यभाषणादीनां पतिः पालकस्तत्समुद्धौ। व्रतं सत्यभाषणं सत्यकरणं सत्यमानं च। चरिष्यामि अनुष्ठास्यामि। तत् व्रतम् अनुष्ठातुम्। शकेयम् यथा समर्थो भवेयम्। तत् तस्यानुष्ठानं पूर्तिश्च। मे मम। राध्यताम् संसेध्यताम्। इदं प्रत्यक्षमाचरितुं सत्यं व्रतम्। अहम् धर्मादिपदार्थचतुष्टयं चिकीर्षुर्मनुष्यः। अनृतात् न विद्यते ऋतं यथार्थमाचरणं यस्मिन् तस्मात् मिथ्याभाषणात् मिथ्याकरणात्। मिथ्यामानात् पृथग्भूत्वा। सत्यं यद्वेदविद्यया प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः सृष्टिक्रमेण विदुषां सङ्गेन सुविचारेण आत्मशुद्ध्या वा निर्भ्रमं सर्वहितं तत्त्वनिष्ठं सत्प्रभवं सम्यक् परीक्ष्य निश्चीयते तत्। सत्यं कस्मात् सत्सुतायते सत्प्रभवं भवतीति वा (नि० ३।१३) उपक्रियार्थे। एमि ज्ञातुं प्राप्तुमनुष्ठातुं प्राप्नोमि" इति, तदपि सारशून्यम्, वाग्जालमात्रत्वात्। तथाहि सम्यक् परीक्ष्य निर्धारणे साधनानि (१) वेदविद्या (२) प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि (३) सृष्टिक्रमः (४) विदुषां सङ्गः (५) सुविचारः (६) आत्मशुद्धिश्च कथितानि। तान्येतानि सम्भूय वा साधनानि पृथक् पृथग्वा? नाद्यः, अधुनातनानां जनानां बेदविद्यादिविधुराणामपि सत्यनिर्धारणप्रवृत्तेः साधकत्वात्। नान्त्यः, वेदविद्याया अपि प्रमाणान्तःपातित्वात् तस्याः पृथक् साधनताया दुर्निरूपितत्वेन सुविचारादेश्च वेदविद्याजन्यत्वेन पृथक् परिगणनस्य अनौचित्यात्। श्रुतिसूत्रविरोधस्य सुस्पष्टत्वाच्च। संसेध्यतामिति पदमपि न प्रतिभाति कस्य धातोरिति। दैवादिकस्य कथमेतद्रूपसिद्धिः। णेः प्रयोजनाभावादण्यन्तस्य वा? विचारणीयमिदम्। (वा० सं० १।५)॥

सकता हूँ। इस प्रकार का व्रत, जो मेरे द्वारा किया जा रहा है, वह फलप्राप्ति तक समर्थ हो सके, ऐसी कृपा करो। मैं भगवद्भक्त हूँ। अतः श्रीमद्भागवतपुराण तथा भगवद्वचन के अनुसार अनृत से निकल कर उस सत्य को प्राप्त कर सकूँ।

४—स्वामी दयानन्दजी ने इस मन्त्र का जो अर्थ किया है, वह इस प्रकार है—सत्य उपदेश के ईश्वर हे अग्ने! आप सत्य भाषणादि व्रतों के पालक हैं। मैं सत्यभाषण, सत्यकरण, और सत्यप्रमाण का अनुष्ठान करूँगा। उसके अनुष्ठान में मैं समर्थ हो सकूँ। मेरे द्वारा किया जानेवाला उसका अनुष्ठान और उसकी पूर्ति आप करा दें। यहाँ 'राध्यताम्' का अर्थ 'संसेध्यताम्' किया है।

प्रत्यक्ष आचरण के योग्य यह सत्य व्रत है। मैं धर्मादि चार पदार्थों के अनुष्ठान की इच्छा करनेवाला मनुष्य, मिथ्या भाषण से दूर रह कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विद्वानों की सङ्गति से, सद्विचार से अथवा आत्मशुद्धि से अच्छी तरह से परीक्षा कर उस निर्भ्रम सत्य का निश्चय कर पाता हूँ।' किन्तु यह कहना भी साररहित है। केवल वाग्जालमात्र है। क्योंकि सम्यक् परीक्षा करके निर्धारण करने के छह साधन बताये गये हैं—(१) वेदविद्या, (२) प्रत्यक्षादि प्रमाण, (३) सृष्टिक्रम, (४) विद्वत्सङ्गति, (५) सुविचार, और (६) आत्मशुद्धि। सोचना यह है कि उक्त छहों साधन 'तृणारणिमणि' न्याय से मिलकर साधन होते हैं अथवा प्रत्येक पृथक्-पृथक् साधन है? प्रथम पक्ष तो इसलिये ठीक नहीं है कि आधुनिक लोग जो वेदविद्या के ज्ञान से शून्य हैं, वे भी सत्य निर्धारण कर लेते हैं। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि वेदविद्या भी प्रमाणान्तःपाती है, इसलिये उसकी पृथक् साधनता का निरूपण करना बड़ा कठिन है। और सुविचार भी वेदविद्या से ही उत्पन्न होने के कारण उसका पृथक् परिगणन करना अनुचित है। तथा श्रुति, सूत्र से उक्तकथन का विरोध भी स्पष्ट है। 'संसेध्यताम्' यह पद भी किस धातु से निष्पन्न किया है, यह भी अस्पष्ट है। यह णिजन्त या अण्यन्त है, यह भी विचारणीय ही है।

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति । कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ ६ ॥

—(वा० सं० १।६)

१—एवं व्रतमुपेत्य ब्रह्माणं वृत्वापां प्रणयनं कुर्यात् । तदाह भगवान् कात्यायनः 'ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि यजमान वाचं यच्छेत्याह, अनुज्ञात उत्तरेणाहवनीय ऽ॑ सम्प्रति निदधाति कस्त्वेति' (का० श्रौ० सू० २।३-२-३) अत्र मन्त्रं प्रयुञ्जानोऽध्वर्युर्यज्ञारम्भकर्मण्यात्मनः कर्तृत्वमपनीय प्रजापतेर्यज्ञकर्तृत्वं प्रश्नोत्तररूपाभ्यां मन्त्रवाक्याभ्यां प्रतिपादयति ।

अध्वर्युः ब्रह्मणे प्रैषं ददाति ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामीति । ब्रह्मा च अनुजानाति प्रणयेति । यजमानाय च प्रैषं ददाति-यजमान वाचं यच्छेति । ब्रह्मणानुज्ञातः अध्वर्युः प्रणीतापात्रं गार्हपत्यादाहवनीयसमीपं तूष्णीं नीत्वा आहवनीयस्योत्तरतः सम्प्रति अनन्तिके अनतिदूरे च बहिर्वेदि कस्त्वेति मन्त्रेण निदध्यादिति सूत्रार्थः ।

प्रणीतानामपां धारक हे पात्र त्वा त्वां कः पुरुषः युनक्ति आहवनीयस्य उत्तरभागे स्थापयतीति प्रश्नः । तच्छब्दः प्रसिद्धार्थवाची । सर्वेषु वेदेषु जगन्निर्वाहकत्वेन प्रसिद्धो यः प्रजापतिरस्ति स परमेश्वरः प्रजापतिरेव हे पात्र त्वा त्वां युनक्तीत्युत्तरम् । कस्मै प्रयोजनाय त्वा त्वां युनक्ति, इति पुनरपि प्रश्नः । अध्वर्युराशङ्कते स्वयमेवोत्तरयति च—तस्मै त्वा युनक्तीति । तस्मै प्रयोजनाय युनक्ति—यज्ञादुत्पत्तिः स्थितिश्च जगतः । अतोऽनेन सर्वनाम्ना तदेव निर्दिश्यते इति उव्वटाचार्यः । आचार्यमहीधरस्तु—तस्मै प्रजापतये तत्प्रीत्यर्थं त्वा त्वां युनक्तीत्युत्तरम् । सर्वकर्माणि परमेश्वरप्रीत्यर्थमनुष्ठेयानीति भगवद्गीतास्वर्जुनं प्रति भगवतोक्तं, 'सर्वकर्माण्यपि सदा.........' (श्री० म० भा० गी० १८।५६) 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' (श्री० भ० गी० ४।२४) इति ।

'तृणैरग्नीन् परिस्तीर्य पुरस्तात्प्रथमं द्विशः पात्राणि स ऽ॑ सादयति', (का० श्रौ० सू० ३।३।६) 'शूर्पाग्निहोत्रहवणि, स्फ्यकपाल ऽ॑ शम्याकृष्णाजिनमुलूखलमुसलं दृषदुपलमर्थवच्च' (का० श्रौ० सू० २।३।८) 'श्रपणस्य पश्चादुत्तरतो वा' (का० श्रौ० सू० २।३।६) कर्मणे वामिति शूर्पाग्निहोत्रहवण्यादाय वाचं यच्छति' (का० श्रौ० सू०–२।३।१०) ऊध्वर्युराहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नीन् क्रमेण कुशैः प्रागग्रैः उदगग्रैश्च आदौ पूर्वस्यां दिशि ततः प्रादक्षिण्येन परिस्तीर्य द्वे द्वे पात्रे एकेन प्रयत्नेन सहैव निदधाति । पान्ति रक्षन्ति हविरेभिरिति पात्राणि । तेन शूर्पादीनामपि पात्रता । शूर्पादीनि दशपात्राणि यथोपदेशं सादयित्वा यस्य यस्य पात्रस्य प्रयोजनं तत्सर्वमप्यासादयेत् । गार्हपत्यस्य आहवनीयस्य वा पश्चात् प्राक्संस्थं पात्राणामासादनम् । अथवा उत्तरतः उदक्संस्थं पात्रासादनम् । अध्वर्युः कर्मणे वामिति मन्त्रेण शूर्पम् अग्निहोत्रहवणीं च सहैव आदाय वाग्यमनं कुर्यात् इति सूत्राणामर्थः ।

१—प्रणीता के जल को धारण करनेवाले हे पात्र ! तुम्हें किस पुरुष ने आहवनीय के उत्तरभाग में स्थापित किया है ? यह प्रश्न करनेपर उत्तर दे रहे हैं कि समस्त वेदों में जगन्निर्वाहक के रूप से प्रसिद्ध जो प्रजापति है, वह परमेश्वर प्रजापति ही तुम्हें स्थापित कर रहा है । किस प्रयोजन के लिये उसने तुम्हें स्थापित किया है ? ऐसा प्रश्न अध्वर्यु कर रहा है और वही स्वयं उत्तर दे रहा है कि उस प्रयोजन के लिये तुम्हें स्थापित किया है । जगत् की उत्पत्ति और स्थिति यज्ञ से होती है । अतः इस 'तत्' सर्वनाम से उसी का निर्देश किया गया है—ऐसा उव्वटाचार्य का कहना है । आचार्य महीधर ने उक्त प्रश्न का उत्तर यह दिया है कि उस प्रजापति के प्रीत्यर्थ तुम्हारी स्थापना की गई है । सभी कर्म परमेश्वर की प्रीति के लिये करना चाहिये,—ऐसा श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन से भगवान् ने कहा है ।

२—कर्मणे हे अग्निहोत्रहवणि हे शूर्प कर्मार्थमहम् वां युवाम् आददे इति शेषः। वेषाय च वेषो व्याप्तिः। (विष्लृ व्याप्तौ) भावे घञि निष्पन्नः। सूचितकर्मसु व्याप्त्यर्थं च वां युवामहमाददे।

शकटेऽवस्थितानां व्रीहीणां हविरर्थं पृथक्करणं प्रोक्षणार्थोदकधारणमित्यादयोऽग्निहोत्रहवणीव्यापाराः। उलूखले व्रीहिनिक्षेपः पुनरुद्धरणं चेत्यादयः शूर्पव्यापाराः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स वै प्रातरप एव। प्रथमेन कर्मणाभिपद्यतेऽपः प्रणयति यज्ञो वा आपो यज्ञमेवैतत् प्रथमेन कर्मणाभिपद्यते ताः प्रणयति यज्ञमेवैतद्वितनोति' (श० १।१।१।१२)।

अथ प्रभाते ऽध्वर्योः कर्माह—स वा इति। स प्रसिद्धोऽध्वर्युः प्रथमेन कर्मणाप एवाभिमुख्येन प्राप्नोति। किं तत्प्रथमं कर्मेति, तदाह—अपः प्रणयतीति। उक्तं प्रणयनं प्रशंसति—यज्ञो वा इति। अपां यज्ञसाधनतया यज्ञरूपत्वात् तद्विस्तारात्मकस्य प्रणयनस्य यज्ञविस्ताररूपत्वात् प्राशस्त्यम्।

'स प्रणयति। कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्तीत्येताभिरनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिरनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तत्प्रजापतिमेवैतद् यज्ञं युनक्ति' (श० १।१।१।१३)।

उक्तं प्रणयनमनूद्य कस्त्वेति व्याहृतिचतुष्टयात्मकं मन्त्रं विधत्ते—स प्रणयतीति। हे प्रणीतोदक को नाम त्वां यज्ञेन युनक्ति योक्तुं समर्थः ? यः समर्थः स युनक्ति। कस्मै प्रयोजनाय त्वा युनक्ति ? यस्मै युनक्ति तस्मै युनक्ति। योजने कर्ता प्रयोजनश्च दुर्ज्ञातमित्यर्थः। व्याह्रियन्ते इति व्याहृतयो मन्त्राः। दुर्ज्ञानत्वाभिधानात् अनिश्चितत्यवचनाच्च ते अनिरुक्ताः। व्याहृतिविशेषणस्य अनिरुक्तत्वस्य प्रयोजनमाह—अनिरुक्तो वा इति। अनिर्ज्ञातो हि पदार्थः क इति पर्यनुयुज्यते, अतोऽसावनिरुक्तः। प्रजापतिश्च कः इत्युच्यते। 'को ह वै नाम प्रजापतिः' (तै० ब्रा० २।२।१०।२) इति श्रुतेः। अतः श्रुतिसाम्यात् प्रजापतेरनिरुक्तत्वम्।

अथवा वाचकमन्त्रोच्चारणमन्तरेण मनसैव प्रजापतेर्होमात् अपि प्रजापतिरनिरुक्तः। 'यत्तूष्णीं तत्प्राजापत्यं स जुहोति मन इव हि प्रजापतिः' (तै० सं० ६। ।१०।३) इति श्रुतेः।

अस्त्वनिरुक्तः प्रजापतिः, प्रकृते किमायातमित्यत आह—प्रजापतिर्यज्ञ इति। 'प्रजापतिर्यज्ञमसृजत' (तै० सं० ६।१।२।१२) इति यज्ञस्रष्टृत्वश्रुतेः, कार्यस्य कारणादभेदात्। तथा 'एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तः' (तै० सं० १।६।११।१) इति सप्तदशसमुदायात्मकस्य प्रजापतेः सकलयज्ञानुगमश्रुतेः। अनुगच्छत्यश्च सामान्यादेर्लोके न पृथक् अनुगन्तव्यः, व्यक्तावभिमानदर्शनात्। यस्मात् प्रजापतिर्यज्ञः, अतोऽनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिः प्रणयनादनिरुक्तः प्रजापत्यात्मकतया निरुक्तं यज्ञमेव युनक्ति प्रारभत इत्यर्थः।

'यद्वेवापः प्रणयति। अद्भिर्वा इदᳩं सर्वमाप्तन्तत्प्रथमेनैवैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति।' (श० १।१।१।१४)।

प्रशब्दोपात्तप्रकर्षसूचितप्राथम्यद्वारा प्रणयनं प्रागस्तावीत् 'यज्ञो वा आपः' (श० १।१।१।१२) इति। तच्च नयतिपदोपात्तप्रायणात्मकविस्तारद्वारतः, इति, 'अथापः' इत्यस्य अवयवार्थपर्यालोचनयापि द्विधा स्तौति—यद्वेवेति। अनियोगार्थक एवकारः। न नियोगेन-प्रागुक्तरीत्या स्तुतिः, किन्तु एवमप्यस्तीत्यर्थः, किन्तु। आप्नुवन्ति सकलं जगदित्यापः। तादृशीनामपां प्रणयनात् प्रथममेव सर्वमाप्तं स्यात् इत्यपि प्रशस्तं तत्प्रणयनमित्यर्थः।

२—हे अग्निहोत्र हवणि ! हे शूर्प ! मैं तुम दोनों का ग्रहण कर्म के लिये कर रहा हूँ। निर्दिष्ट कर्मों में तुम्हारे व्याप्त्यर्थ तुम दोनों का ग्रहण कर रहा हूँ। शकट पर स्थित व्रीहियों का हवि के लिये पृथक् करण प्रोक्षणार्थ उदक धारण इत्यादि व्यापार अग्निहोत्रहवणी के हैं और उलूखल में व्रीहि का निक्षेप, पुनः उनका उद्धरण आदि शूर्प के व्यापार हैं।

'अथ तृणैः परिस्तृणाति । द्वन्द्वम्पात्राण्युदाहरति शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीं च स्फ्यश्च कपालानि च शम्याश्च कृष्णाजिनञ्चोलूखलमुसले दृषदुपले तद्दश दशाक्षरा वै बिराड्विराड्वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयत्यथ यद् द्वन्द्वं द्वन्द्वं वै वीर्यं यदा वै द्वौ सᳬंरभेते अथ तद्वीर्यं भवति द्वन्द्वं वै मिथुनम्प्रजननम्मिथुनमेवै तत्प्रजननं क्रियते ।' (श०१।१।१।२२)

प्रणीताप्रणयनानन्तरं परिस्तरणं पात्रासादनञ्चाह—अथ तृणैरित्यादिना । द्वन्द्वं द्वे द्वे । 'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु' (पा० सू० ८।१।१५) इति निपातितम् । पात्रपदं यज्ञनिर्वर्तकानां स्फ्यादीनामप्युपलक्षकम् । अर्थतः प्राप्तां सङ्ख्यामनूद्य प्रशंसति–तद्दशेति । तस्मिन् प्रयोग एवं परिगणने कृते दश सम्पद्यन्ते । विराजश्छन्दोऽक्षरेषु दशत्वमस्ति । प्रथमश्च यज्ञो ज्योतिष्टोमः । 'एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः' (तै० सं०—७।४।१०।११) इति श्रुतेः । तत्र च नवत्युत्तरशतसंख्याकाः स्तोत्रियाः । तास्वेकोनविंशतिसंख्यया विभज्यमानासु दशलब्धिरित्यस्ति तत्रापि दशसंख्या । अतो दशसंख्यायोगात् विराडयज्ञयोरेकत्वात् इह दशसंख्यासम्पत्त्या विराडात्मको यज्ञ एव साकल्येन सम्पादितो भवति । संरभेते (रभ् राभस्ये) इति धातोः रूपम् । राभस्यं कार्योपक्रमः किमपि कार्यं कर्तुमुपक्रमेते ।

'अथ शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीञ्चादत्ते । कर्मणे वां वेषाय वामिति यज्ञो वै कर्म यज्ञाय हि तस्मादाह कर्मणे वामिति वेवेष्टीव हि यज्ञम् ।' (श० १।१।२।१) ।

पात्रासादनानन्तरं कर्तव्यमाह—अथ शूर्पमिति । एतच्चादानं हविर्निर्वापार्थम् । वामिति मन्त्रगतद्विवचनलिङ्गात् उभे सहादीयेते । अतएव सूत्रे—'शूर्पाग्निहोत्रहवण्यादाय' (का० श्रौ० सू० २।३।१०) इत्याह । इतरेतरयोगद्वन्द्वः । यज्ञो वा इत्यादि—यज्ञाय हि तदादानम्, अतः कर्मशब्दः कर्ममात्रपरोऽपि तद्विशेषं यज्ञमेव ब्रूते । इज्यतेऽनेनेति यज्ञः, हविः, तदिह निर्वापकाले व्रीहिरूपम् । तदग्निहोत्रहवण्या शूर्पे निर्वपन् वेवेष्टीव परिवेवेष्टीव परिवेषणं करोतीव, यथान्नं दर्व्या भोजनपात्रे । अतो वेषाय वामित्युक्तम् वेवेष्टीत्यत्र परिरूपोपसर्गः लुप्तो निर्दिष्टः ।

३—अध्यात्मपक्षे—येन व्रतं गृहीतं तादृश हे भक्त ! त्वा त्वां कः युनक्ति इति श्रुतेरेव प्रश्नः । सः प्रसिद्धः परमेश्वर एव त्वां युनक्ति प्रवर्तयति व्रतग्रहणायेति । पुनः श्रुतिरेव पृच्छति कस्मै प्रयोजनाय त्वा युनक्ति श्रुतिरेव चोत्तरयति–तस्मै प्रसिद्धाय प्रयोजनाय भगवत्प्राप्तये त्वां युनक्ति । 'एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् । यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥' (श्री० भा० म० पु० ११।२९।२२) इति भगवद्वचनात् । बुद्धिमतां विवेकिनां बुद्धेः विवेकस्य मनीषिणां चतुराणां मनीषायाश्चातुर्यस्य च एतदेव साफल्यम् यत् अनृतेन मिथ्याभूतेन मर्त्येन मरणशीलमनुष्यशरीरेण क्षणभंगुरेणेति यावत् सत्यम् परमार्थभूतम् अमृतम् ब्रह्म प्राप्नुयादिति । कर्मणे भगवते विष्णवे 'यज्ञो वै कर्म' (श० १।१।२।१) इति श्रुतेः । वेषाय भुक्तिमुक्त्योः परिवेषणाय च वां युवयोः मनुष्यशरीरस्य बुद्धेश्च प्रदानं भगवता कृतमिति ।

वह अध्वर्यु प्रथम कर्म के द्वारा प्रथमतः अपने सामने जल को देख पाता है । वह प्रथम कर्म क्या है ? तो कहा गया है कि अपः प्रणयन ही प्रथम कर्म है । उस अपः प्रणयन की प्रशंसा 'यज्ञो वा' से की गई है । वह जल, यज्ञ का साधन होने से यज्ञस्वरूप ही है । वह विस्तारात्मक प्रणयन, यज्ञविस्तारस्वरूप होने से प्रशस्त है ।

३—अध्यात्मपक्ष में—व्रतग्रहण करनेवाले हे भक्त ! तुम्हें किसने नियुक्त किया है ? यह प्रश्न, श्रुति ही कर रही है । वह प्रसिद्ध परमेश्वर ही व्रतग्रहण में तुम्हें प्रवृत्त कर रहा है । पुनः श्रुति प्रश्न करती है कि किस प्रयोजन के लिये तुम्हें वह प्रवृत्त कर रहा है ? उसका उत्तर श्रुति ही दे रही है—उस भगवत्प्राप्तिरूप प्रसिद्ध प्रयोजन के लिये वह तुम्हें प्रवृत्त कर रहा है । विवेकशील चतुर मनुष्यों के विवेक और चातुर्य की सफलता इसी में है कि मरणशील मिथ्याभूत क्षणभंगुर इस मनुष्य शरीर के द्वारा परमार्थभूत अमृत सत्य ब्रह्म को वह प्राप्त कर सके । भुक्ति और मुक्ति दोनों का प्रदान करने के लिये ही इस मनुष्य शरीर और बुद्धि को भगवान् ने तुम्हें दिया है ।

४—स्वामिदयानन्दस्तु—'हे मनुष्य ! कः को हि सुखस्वरूपः। त्वा क्रियानुष्ठातारं मनुष्यं पुरुषार्थे। युनक्ति नियुक्तं करोति। सः परमेश्वरः। त्वा विद्यादिशुभगुणानां ग्रहणे विद्यार्थिनं विद्वांसं वा। युनक्ति योजयति। अत्र सर्वत्रान्तर्गतो ण्यर्थः। कस्मै प्रयोजनाय। त्वा त्वां सुखमिच्छुकम्। युनक्ति योजयति। तस्मै सत्यव्रताचरणाय यज्ञाय। त्वा धर्मं प्रचारयितुमुद्योगिनम्। युनक्ति योजयति। कर्मणे पूर्वोक्ताय यज्ञाय। वाम् कर्तृकारयितारौ। वेषाय शुभगुणविद्याव्याप्तये। वाम् अध्येत्रध्यापकौ' इति, तदपि यत्किञ्चित्। श्रुतिसूत्रविरोधात्। सम्बुद्धिपदाध्याहारस्य अप्रामाणिकत्वात्।

५—अनया कण्डिकया आगामिन्याः कण्डिकायाः सङ्गतिमुपदिशन्नयं महात्मा, अस्य समर्थकः विवरणकारोवा हिन्दीभाषायाम्—'श्रेष्ठतम कर्मों का नाम ही यज्ञ है। उनमें भी सत्य ही सब से मुख्य है। यही जीवन का लक्ष्य है' आदि ब्रुवाणः यज्ञशब्दस्य सत्यभाषणमर्थं स्वीचकार। यथाश्रुतं यथादृष्टं यथानुभूतं वा वाग्व्यवहारः सत्यमिति। यद्येष एव यज्ञः, हन्त दत्तजलाञ्जलिता स्यादन्येषां धर्मस्याङ्गभूतानाम् यमनियमादीनामिति। न वा सत्यभाषणार्थमृत्विगादिसम्पत्तिरपेक्षिता। भगवान् रामभद्रस्तु प्रधानं धर्मं सत्यमङ्गीकृत्य तदितराण्यङ्गानि महता समारोहेण समर्थयमान आह रामायणे—

'सत्यं स्वधर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
द्विजातिदेवातिथिपूजनञ्च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः॥'

इत्यादि स्वीकुर्वन्। श्रुतिसूत्रशास्त्राणि च पदे पदे विरुन्धि अयं महात्मा निर्मूलं व्याचक्षाणः। (वा० सं०-११६)॥

४—स्वामी दयानन्दजी ने उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—'हे मनुष्य ! सुखस्वरूप कौन है ? किसने क्रिया का अनुष्ठान करनेवाले तुम्हें पुरुषार्थ करने में नियुक्त किया है ? वह परमेश्वर ही विद्यादि शुभगुणों के ग्रहण करने में तुम जैसे विद्यार्थी अथवा विद्वान् को नियुक्त करता है। सुख के तुम इच्छुक हो इसलिये वह तुम्हें नियुक्त करता है। सत्यव्रताचरणरूप यज्ञ के लिये धर्मप्रचार का उद्योग करनेवाले तुमको वह नियुक्त करता है। क्योंकि तुम यज्ञ करनेवाले और करानेवाले हो। तथा शुभगुण विद्या के प्रचारार्थ अध्ययन और अध्यापन करते हो।'

किन्तु यह अर्थ करना भी निःसार है। क्योंकि श्रुति और सूत्र के अनुकूल यह अर्थ नहीं है। सम्बुद्धिपद का अध्याहार करने में भी कोई प्रमाण नहीं है।

५—इस कण्डिका के साथ आगामी कण्डिका की सङ्गति बतानेवाले ये महात्मा अथवा इसके समर्थक विवरणकार ने हिन्दीभाषा में लिखा है कि 'श्रेष्ठतम कर्मों का नाम ही यज्ञ है। उनमें भी 'सत्य' ही सब से मुख्य है, यही जीवन का लक्ष्य है।' इस प्रकार कहनेवाले ने 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'सत्यभाषण' बताया है। यथाश्रुत, यथादृष्ट, यथानुभूत वाग्व्यवहार को 'सत्य' कहते हैं। यदि इसी को 'यज्ञ' कहाजाय तो धर्म के अङ्गभूत अन्यान्य यमनियमादि को जलाञ्जलि ही देनी होगी। केवल सत्यभाषण के लिये ही ऋत्विजों का सम्पादन नहीं किया जाता।

भगवान् रामभद्र ने तो प्रधान धर्म सत्य को अङ्गीकार करके उसके अन्यान्य अङ्गों का बड़े समारोह के साथ समर्थन रामायण में किया है। इस प्रकार पग-पग पर श्रुति-सूत्र के साथ विरोध होने के कारण स्वामी दयानन्दोक्त व्याख्यान निर्मूल ही है।

प्रत्युष्ट ᳬ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्त ᳬ रक्षो निष्टप्ता अरातयः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ७ ॥

—(वा० सं० १।७)

१—'प्रतपनं प्रत्युष्टं निष्टप्तमिति वा' (का० श्रौ० सू० २।३।११) गार्हपत्येऽग्नौ प्रत्युष्टमिति मन्त्रेण वा शूर्पाग्निहोत्रहवण्योः प्रतपनं कुर्यादध्वर्युः इति सूत्रार्थः ।

रक्षः राक्षसजातिः । प्रत्युष्टं प्रत्येकं दग्धम् । अनेन अग्निहोत्रहवणीशूर्पयोः प्रतपन्नेन अत्र स्थिता राक्षसा दग्धा इत्यर्थः । तथा अरातयः, रातिः दानम् (रा दाने) । रातेः हविषो दक्षिणाया वा दानस्य प्रतिबन्धकाः अरातयस्तेऽपि प्रत्युष्टाः प्रत्येकं दग्धाः । अन्यथा न यज्ञसाधनमित्यर्थः । शूर्पादौ निगूढं रक्षो निष्टप्तं निःशेयेण तप्तम् सन्तप्तम् । अरातयश्च निष्टप्ताः । अनयोर्मन्त्रयोर्विकल्पः सूत्रेणोक्तः ।

'गच्छत्युर्वन्तरिक्षमिति' (का० श्रौ० सू० २।३।१२) श्रपणस्य गार्हपत्यस्य पश्चिमदेशे युग-योक्त्र-वरत्रादिभिः सर्वाङ्गरूपेतं शकटमवस्थितं भवति । तत्प्रति अध्वर्युर्गच्छेत् उर्वन्तरिक्षमिति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः । मन्त्रमुच्चरन् गच्छेदिति यावत् ।

उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् अवकाशम् अन्वेमि अनुसृत्य गच्छामि । गच्छतः पुरुषस्य अध्वर्योः पार्श्वयोरवस्थितं रक्षोऽनेन मन्त्रेण निराक्रियत इत्यर्थः । यद्यपि रक्षोभिराकुलमन्तरिक्षं तथाप्यनेन यजुषा उरु विस्तीर्णं कृत्वा अन्वेमि प्रतिगच्छामि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वाचं यच्छति । वाग्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवा इत्यथ प्रतपति प्रत्युष्ट ᳬ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्ता अरातय इति वा ।' (श० १।१।२।२) ।

यच्छति पदसन्निधानान्नियम्यमानैव वागिह विवक्षिता, तस्याश्च यज्ञसाधनत्वात् यज्ञसाधनतामुपपादयति—अविक्षुब्ध इति । वाङ्नियमे हि चित्तविक्षोभहेतो र्वाग्व्यवहारस्याभावात् तदैकाग्र्ये सति अविकलो यज्ञो यतः सम्पद्यते । अथ प्रतपतीति—शूर्पमग्निहोत्रहवणीं चेत्यनुषङ्गात्तदुभयमित्यर्थः । निष्टप्ता अरातय इतिवेति– विकल्पे खलु अष्टौ दोषाः प्रसज्जन्ति । यथा हि 'व्रीहिभिर्यजेत यबैर्वा' (   ) इति वाक्ये व्रीह्यनुष्ठानपक्षे यववाक्यस्य प्राप्तप्रामाण्यत्यागः, अप्राप्ताप्रामाण्यस्वीकारः, पुनर्यवानुष्ठाने स्वीकृताप्रामाण्यस्य त्यागः त्यक्तप्रामाण्यस्वीकारश्चेति चत्वारोदोषाः । एवं व्रीहिवाक्येऽपि चत्वार इत्यष्टौ दोषाः समायान्ति तथाप्यत्र गत्यभावात् विकल्पः स्वीकार्य इत्युक्तं भट्टाचार्यैः ।

१—अध्वर्यु शूर्प और अग्निहोत्रहवणी का प्रतपन 'प्रत्युष्ट' अथवा 'निष्टप्तं' मन्त्र से करता है । शूर्प और अग्निहोत्रहवणी के प्रतपन से राक्षस जाति का प्रत्येक राक्षस दग्ध हो चुका तथा हवि और दक्षिणा के दान देने में प्रतिबन्ध (अवरोध) करनेवाले शत्रुओं में से प्रत्येक शत्रु भी दग्ध हो गये । अन्यथा वे दोनों यज्ञ साधन नहीं बनपाते । शूर्प आदि में छिपकर बैठे राक्षस अच्छी तरह सन्तप्त हो गये और शत्रुगण भी उसी तरह सन्तप्त हो चुके । तदनन्तर गार्हपत्य के पश्चिमदेश में युग-योक्त्र-वरत्रादि सर्वाङ्गों से युक्त अवस्थित शकट के प्रति अध्वर्यु 'उर्वन्तरिक्षम्' मन्त्र को कहते हुए जाता है । विस्तीर्ण अन्तरिक्ष (अवकाश) की ओर वह मन्त्र बोलते हुए जाता है, जिससे जाते समय उस अध्वर्यु के दोनों ओर स्थित रहने वाले राक्षसों का निराकरण हो जाता है । यद्यपि अन्तरिक्ष प्रदेश राक्षसों से भरा रहता है, तथापि इस यजुर्मन्त्र से उस प्रदेश को विस्तीर्ण करता हुआ वह जाता है । इस प्रसङ्ग में शतपथ ब्राह्मण

'एवमेषोऽष्टदोषोऽपि यद्व्रीहियववाक्ययोः।
विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते॥' (जै० सू० अ० १२ पा० ३)

इह पुनर्वाशब्देन अधस्तादप्यनुकृष्टेन मन्त्रद्वयपाक्षिकत्वस्य श्रुत्यैवाभिधानात् नैकोऽपि दोषः। एतदर्थमेव च 'एकार्थास्तु विकल्पेरन् समुच्चये ह्यावृत्तिः स्यात्प्रधानस्य' (जै० सू० अ० १२ पा० ३ सू० १०) इति व्रीहियववदेव न्यायप्राप्तस्यापि विकल्पस्य वेति स्वशब्देनोपादनम्। वस्तुतस्तु 'मन्त्राणां सन्निपातितत्वादेकार्थानां विकल्पः स्यात्' (जै० सू० अ० १२ पा० ३ सू० २९) इति सूत्रस्यायं विषयः।

'देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षा ँ्स्यतोऽपहन्ति।' (श० १।१।२।३)।

मन्त्रकरणकतायै साध्यस्य निरासस्योपयोगसिद्धये निरसनीयानां प्रसक्तिमाह—देवा ह वा इति। असुररक्षसेभ्य इति षष्ठचर्थे चतुर्थी। तेषामासङ्गात् संसर्गाद् भीताः, विचारितवन्तः यत् तत् तस्मात् यज्ञमुखात् यज्ञप्रारम्भात् यज्ञप्रारम्भात् एव एतत् एतानि असुररक्षांसि नाष्ट्राः नाशयितुं शक्यानीति। अतः अस्मात् यज्ञमुखात् नाष्ट्राः आसुर्यः प्रजाः, ताः रक्षांसि च अपहन्ति।

'अथ प्रैति। उर्वन्तरिक्षमन्वेमीत्यन्तरिक्षं वा अनुरक्षश्चरत्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथाऽयं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति तद् ब्रह्मणैवैतदन्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते।' (श० १।१।२।४)।

अथ प्रैतीति—शूर्पाग्निहोत्रहवणी प्रतपनानन्तरं उर्वन्तरिक्षमिति मन्त्रेण हविर्निर्वापार्थं शकटसमीपं प्रैति प्रगच्छेत्। मन्त्रप्रयोजनमाह—अन्तरिक्षं वेति। यथा वृक्षो मूलैः पृथिवीमनुप्रविष्टस्तिष्ठत्येव न गच्छति, यथा व्याघ्रादिरभितः पाशाभ्यां बद्ध्वा ध्रियमाणः, नैवं पुरुषो मूलवान् नाप्युभयतः केनचित्संसर्गिणा प्रतिबद्धः किन्तु परिच्छिन्नः प्रतिबन्धकासंसृष्टः सन् अन्तरिक्षे विश्रम्भं चरति तथैव निर्वप्स्यमानहविरादानार्थं रक्षोऽपि उक्तविशेषण विशिष्टं सत् तं निर्वप्स्यन्तं पुरुषमनुगच्छेत् अतस्तदेतत्पुरुषेण गम्यमानमन्तरिक्षप्रदेशे 'ब्रह्मणा' उर्वित्यनेनैव मन्त्रेण 'अनाष्ट्रम्' हिंसाकाररहितम् अत एव अभयं कुरुते। उरु विस्तीर्णं प्रतिबन्धकरक्षोलक्षणमूर्त्तद्रव्यविरहादिति मन्त्रार्थः।

२—अध्यात्मपक्षे—हे आलोचनात्मकतपः परायणे ब्रह्मविचारपरायणे वा बुद्धे अथवा अनशनादितपः संसक्त-

---

कहता है—'अथ वाचं यच्छति' इत्यादि विवक्षित है। क्योंकि वह नियमित वाणी भी यज्ञसाधन है। वाणी को नियमित कर देने से चित्त विक्षोभक वाग्व्यवहार नहीं हो पाता। तब चित्त की एकाग्रता होती है जिससे अविकल यज्ञ सम्पन्न हो पाता है। शूर्प और अग्निहोत्रह्वणी के प्रतपन में वैकल्पिक्त दो मन्त्र बताये हैं। किन्तु विकल्प स्वीकार करनेपर आठ दोषों की प्रसक्ति होगी। जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' इस वाक्य से 'व्रीहि' को स्वीकार करनेपर 'यववाक्य' में प्राप्त रहनेवाले प्रामाण्य का त्याग, तथा अप्राप्त प्रामाण्य का स्वीकार करना होगा। और 'यव' को स्वीकार करनेपर उस वाक्य में स्वीकृत अप्रामाण्य का त्याग, तथा परित्यक्त प्रामाण्य का स्वीकार—ये चार दोष होते हैं। उसी तरह व्रीहिवाक्य में भी चार दोष प्राप्त होते हैं। ऐसी जगह कोई अन्य गति (उपाय) न होने से अगतिकगति होकर 'विकल्प' को मानने की स्वीकृति श्रीकुमारिलभट्टपाद ने दी है। यहाँ तो 'वा' शब्द के ग्रहण करने से उसका अनुकर्ष होता है, जिससे यहाँ मन्त्र विकल्प को श्रुति ही बता रही है। अतः कोई दोषावह नहीं है। इसी बात को बताने के लिये ही 'एकार्थास्तु विकल्पेरन्', (जै० सू० १२।३।१०) इस सूत्र से व्रीहि—यव के समान ही न्यायप्राप्त विकल्प को भी 'वा' शब्द का उपादान करके बता दिया है। वस्तुतः 'मन्त्राणां सन्निपतितत्वात्' (जै० सू० १२।३।२९) इस सूत्र का यह विषय है।

२—अध्यात्मपक्ष में-आलोचनात्मक तपः परायण अथवा ब्रह्मविचार परावण हे बुद्धे ! अथवा अनशनादितपः

शरीर तव तपसा रक्षः प्रत्युष्टं प्रत्येकं दग्धं प्रतिज्ञया दग्धं वा। अरातयः दानविघ्नकारका अपि प्रत्येकं दग्धाः, प्रतिज्ञया दग्धा वा। अथवा रक्षः रक्षन्त्येभ्य इति रक्षः अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशादिक्लेशपदवाच्यं निःशेषेण तप्तम्, अरातयोऽपि कामक्रोधाद्या निःशेषेण तप्ताः। अतः परमहम् उरु विस्तीर्णम् निरतिशयं बृहत् अन्तरिक्षम् अन्तर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये इक्ष्यते ज्ञायते इति अन्तरिक्षम्। छान्दसो ह्रस्वः। ज्ञानसामान्यार्थ ईक्षतिः। कर्मणि घञ्। अथवा अन्तः हार्दाकाशे ईक्ष्यते ज्ञायते उपलभ्यते इति अन्तरिक्षम् ब्रह्म अन्वेमि अनुसरामि। 'त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्॥' (श्री० भा० म० पु० ३।९।११) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनात्। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' (श्री० भ० गी० १८।६१) इति भगवद्वचनाच्च।

३—स्वामिदयानन्दस्तु—'प्रत्युष्टम् यत्प्रतीतिश्च तदुष्टं दग्धं च तत्। रक्षः रक्षःस्वभावो दुष्टो मनुष्यः। प्रत्युष्टाः प्रत्यक्षतया उष्टा दग्धव्यास्ते। अरातयः अविद्यमाना रातिर्दानं येषु ते शत्रवः। निष्टप्तं नितरां तप्तं सन्तापयुक्तं च कार्यम्। रक्षः स्वार्थी मनुष्यः। निष्टप्ताः पूर्ववत्। अरातयः कपटेन विद्यादानग्रहणरहिताः। उरु बहुविधं सुखं प्राप्तुं प्रापयितुं वा। उर्विति बहुनामसु पठितम्। (नि० ३।१) अन्तरिक्षम् सुखसाधनार्थम् अवकाशम्। अन्वेमि अनुगतं प्राप्नोमी'ति, तदपि न विचारचारु, श्रुतिसूत्रविरोधात्। श्रुतिसूत्रानुसारी अर्थः उपरिष्टात् वर्णितः।

अत्र अन्वेमीति क्रियापदम्। अस्य कर्ता सदा अस्मदर्थ एव। अयं च महात्मा 'इदमीश्वर आज्ञापयति सर्वैर्मनुष्यैः स्वकीयं दुष्टस्वभावं त्यक्त्वान्येषामपि विद्याधर्मोपदेशेन त्याजयित्वा दुष्टस्वभावान् मनुष्यांश्च निवार्य बहुविधं ज्ञानं सुखं च सम्पाद्य विद्याधर्मपुरुषार्थान्विता सुखिनः सर्वेप्राणिनः सम्पादनीयाः' इति भावार्थं वर्णयति। यदि स्वाभाविकोऽपि दोषः स्वभावत एव त्यक्त्वातामर्हेत् उपदेशेन वा रक्षः स्वभावः क्रूरः कुटिलोजनः स्वाभाविकीं क्रूरतां कौटिल्यञ्च अपहाय साधीयान् सम्पद्येत कृतं तर्हि दण्डविधानेन। अद्यत्वे सर्वोऽपि जनः विनाशस्य मुखे घोरकण्टकाकीर्णे अवनतेः गर्ते पिपतिषु रालोक्यते। संहारास्त्राणां विविधानामाविष्कारात् सर्वेऽपि बिभ्यति। अद्यतनां परिस्थितिमीश्वरो न जानातिस्मेति सम्भावयितुमपि न शक्यते। यतो हि सर्वज्ञः। सर्वस्य देशस्य सर्वस्य कालस्य सर्वस्याः परिस्थितेश्च ज्ञाता। सर्वमिदं जानानोऽपि स ईश्वरः उपदेशेन दुष्टस्वभावत्यागं मनुते इति बुद्धिविकल एव कश्चन प्रतीयात्। वाल्मीकीय रामायणे—

संसक्त शरीर ! तुम्हारी तपस्या से अथवा प्रतिज्ञा से प्रत्येक राक्षस दग्ध हो चुका है। तथा दानविघ्नकारक शत्रु भी तुम्हारी तपस्या अथवा प्रतिज्ञा से दग्ध हो गये। अथवा अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेशादि क्लेशपद वाच्य राक्षस पूर्णतया तप्त हो चुके और काम-क्रोधादि शत्रु भी पूर्णतया तप्त हो चुके। इसके बाद मैं द्यावा- पृथिवी के मध्य में स्थित विशाल अन्तरिक्ष प्रदेश में जा रहा हूँ। अथवा अन्तः स्थित हृदयाकाश में ऊपलब्ध होनेवाले अन्तरिक्षरूप ब्रह्म का अनुसरण कर रहा हूँ। श्रीमद्भागवत और भगवद्गीता के वचन भी इसी बात को बता रहे हैं।

३—स्वामी दयानन्दजी ने उक्त मन्त्र का अर्थ यह बताया है कि राक्षस स्वभाव वाले दुष्ट मनुष्य को तुम्हें जला देना चाहिये। दान न देनेवाले शत्रुओं को भी सन्तप्त कर देना चाहिये। क्योंकि राक्षस मनुष्य स्वार्थी होता है। उसे सन्तप्त कर देना चाहिये। शत्रु भी कपट से युक्त होने के कारण विद्या के देने और ग्रहण करने की भावना से रहित होते हैं। अब मैं सुख प्राप्ति के लिये अवकाश प्राप्त कर रहा हूँ।' किन्तु यह दयानन्दोक्त अर्थ, श्रुति और सूत्र के विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं है। ग्राह्य अर्थ वही होता है, जो श्रुति और सूत्र का अनुसरण करता हो। इस मन्त्र में 'अन्वेमि' यह क्रियापद है, उसका कर्ता सर्वदा अस्मदर्थ ही होगा। किन्तु ये महात्मा स्वामी दयानन्दजी बता रहे हैं कि ईश्वर यह आज्ञा देता है कि सभी मनुष्य अपने दुष्ट स्वभाव को त्याग कर और दुष्ट स्वभाववाले मनुष्यों को दूर कर और बहुविध ज्ञान तथा सुख का सम्पादन कर विद्या-धर्म पुरुषार्थ से युक्त हुए समस्त सुखी प्राणियों का सम्पादन करें। यह भावार्थ उन्होंने बताया है। यदि स्वाभाविक दोष भी स्वभाव से ही छूटने योग्य हो जाय अथवा उपदेश से राक्षस-

'इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तते।
यथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता ॥'

इति भगवत्याः सीताया उक्तिः उपदेशमकिञ्चित्करमेव ब्रूते। इत्यलं पल्लवितेन। (वा० सं० १।७) ॥

'धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः।
देवानामसि वह्नितम ँ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥८॥'

—(वा० सं० १।८)

१—'श्रपणस्य पश्चादनस्तिष्ठत्समङ्गि', 'धूरसीति धूरोऽभिमर्शनम्, 'देवानामित्युपस्तम्भनस्य पश्चादीषाम्' (का० श्रौ० सू० २।२।१२-१३-१४) श्रपणस्य गार्हपत्यस्य पश्चिमदेशे तिष्ठत्समङ्गि तिष्ठन्ति विद्यमानानि समस्तानि समीचीनानि वा अङ्गानि तिष्ठत्समङ्गानि, तानि सन्ति यस्य तत् तिष्ठत्समङ्गि समीचीनसमस्तयुगयोक्त्रवस्त्रादिभिरङ्गै-रुपेतम् अनः शकटं प्रति अध्वर्युर्गच्छेत्। धूरसीतिमन्त्रेण पूर्वं दक्षिणां धुरमभिमृश्य तत उत्तरां धुरमभिमृशेत्। देवाना-मितिमन्त्रेण उपस्तम्भनस्य पश्चाद्भागे ईषां स्पृशेत्। इति सूत्रार्थः। उपस्तम्भनपदार्थश्च—शकटे प्रागपरायतो दीर्घः काष्ठविशेषः ईषा। तदग्रस्य भूमिस्पर्शो मा भूदिति तदाधारत्वेन स्थापितः काष्ठविशेषः।

२—व्रीहिरूपहविर्धारकशकटसम्बन्धिनो युगस्य बलीवर्दवहनप्रदेशे कश्चित् हिंसकोऽग्निः शास्त्रदृष्टोऽस्ति, तं प्रार्थयते, 'अग्निर्वा एष धुर्यस्तमेतदत्येष्यन् भवति' (श० १।१।२।१०) इति श्रुतेः।

३—हे वह्ने त्वं धूरसि हिंसकोऽसि। 'तुर्वी थुर्वी दुर्वी धुर्वी' हिंसार्थाः। यतो धूरसि अतः धूर्वन्तं पाप्मानं

स्वभाव वाला क्रूर कुटिल मनुष्य अपनी स्वाभाविक क्रूरता कुटिलता को त्यागकर अच्छी बातों को ग्रहण करने लगे तो दण्डविधान की आवश्यकता ही क्या रहेगी? आज के युग में सभी लोग विनाश के मुख में घोर कण्टकाकीर्ण-अवनति के गर्त में पतन के इच्छुक दिखलाई पड़ रहे हैं। संहार कारक विविध अस्त्रों के आविष्कार को देखकर सभी लोग भयभीत हो रहे हैं। आज की परिस्थिति को ईश्वर ने नहीं जाना होगा- यह तो संभव नहीं है। क्योंकि वह तो सर्वज्ञ है। समस्त देश, काल, सम्पूर्ण परिस्थिति का वह ज्ञाता है। यह सब जानता हुआ भी ईश्वर केवल उपदेशमात्र से दुष्टों के दुष्टभाव का त्याग हो जायगा—यह समझता है, यह तो कोई बुद्धिशून्य ही कल्पना करेगा। वाल्मीकीय रामायण में भगवती सीता कह रही है कि यह असम्भव बात है। अर्थात् ऐसे लोगों के लिये 'उपदेश' अकिञ्चित्कर ही है।

१—पहले बता चुके हैं कि समस्त युग-योक्त्र, वस्त्रादि अङ्गों से युक्त शकट के प्रति अध्वर्यु जाय। 'धूरसि' इस मन्त्र से प्रथमतः दक्षिण धुरा का स्पर्श करे, तदनन्तर उत्तर धुरा का स्पर्श करे। 'देवानाम्' इस मन्त्र से उपस्तम्भन के पश्चात् भाग में स्थित 'ईषा' का स्पर्श करे। शकट में प्रागपरायत लम्बा लगा हुआ काष्ठविशेष 'उपस्तम्भन' कह-लाता है। उसके अग्रभाग का भूमिस्पर्श न हो सके इसलिये उसके आधार के लिये स्थापित काष्ठविशेष को 'ईषा' कहते हैं।

२—व्रीहिरूप हविर्धारक शकट से सम्बन्धित युग के बलीवर्दवहन प्रदेश में कोई हिंसक अग्नि जो शास्त्रैक-गम्य है, उसकी प्रार्थना की जा रही है।

३—अग्ने! तुम हिंसक हो इसलिये हिंसा करनेवाले पाप्मा का नाश कर दो। और जो याग में विघ्न उत्पन्न

धूर्व विनाशय । किं च यो राक्षसादिः यागविघ्नेन अस्मान् धूर्वति हिंसितुमुद्युक्तः तमपि धूर्व विनाशय । यं च वयं धूर्वामस्तमपि धूर्व । यमालस्यादिरूपं वैरिणं वयमनुष्ठातारो धूर्वामो हिंसितुमुद्यतास्तमपि धूर्व विनाशय । शकटस्थिताग्न्यतिक्रमणनिमित्तमपराधमपह्नोतुमग्न्याधारभूता शकटस्य धूः अनेन मन्त्रेण स्पृश्यते । उपस्तम्भनस्य पश्चाद्भागे देवानामसीतिमन्त्रेण ईषां स्पृशेत् ।

हे शकट त्वं देवानां सम्बन्धि असि भवसि । किम्भूतम् वह्नितमम् । वहति प्रापयति हुतं हव्यं देवेभ्य इति वह्नि । 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्योनित्' (उ०४।५२) इति रूपसिद्धिः । अतिशयेन वह्निम् वह्नितमम् । सर्वे तमपः अतिशयार्थाः । वोढृतमम् । व्रीहिरूपस्य हविषोऽतिशयेन प्रापकम् । सस्नितमम् स्नाति तच्छीलः, तद्धर्मः, तत्साधुकारी वेति सस्नि । अतिशयेन सस्नि । अतिशयेन शुद्धम् । 'आदृगमहन' (पा० सू० ३।२।१७१) इत्यादिना किः ।

यद्वा (ष्णै वेष्टने, शोभायाञ्चेति स्वाम्यादयः) स्नायति तच्छीलस्ताद्धर्मः तत्साधुकारी वा सस्नि । अतिशयेन सस्नि । दाढ्र्याय चर्मादिभिरतिशयेन वेष्टितम् ।

पप्रितमम् प्राति पूरयति तच्छीलादिर्वा इति पप्रि । अतिशयेन पप्रि पप्रितमम् । व्रीहिभिरतिशयेन पूरितम् ।

जुष्टतमम् जुष्यते इति जुष्टम् । अतिशयेन जुष्टम् देवानामतिशयं प्रियम्, देवैरतिशयं सेवितं वा । (जुषी प्रीतिसेवनयोः) ।

देवहूतमम् देवान् ह्वयतीति देवहु अतिशयेन देवहुदेवहूतमम् अतिशयेन देवानामाह्वात् । (ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च') इत्यस्य रूपम् । व्रीहिपूर्णं शकटं दृष्ट्वा देवा आहूता इव शीघ्रमागच्छन्तीत्यर्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'स धुरमभिमृशति । धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वाम इत्यग्निर्वा एष धुर्यस्तमेतदत्येष्यन् भवति हविर्ग्रहीष्यंस्तस्मा एवैतान्निह्नुते तथो हैतमेषो अतियन्तमग्निर्धुर्यो न हिनस्ति ।' (श० १।१।२।१०) ।

समन्त्रकभिमर्शनं विधत्ते—स धुरमिति । अस्याभिर्शस्य प्रयोजनमाह अग्निर्वा इति । युग स्य धुरि भवोऽग्निर्धुर्यः । 'भवेच्छन्दसि' (पा० सू० ४।४।११०) इति यत् । हविर्ग्रहणाय शकटस्य परिश्रितप्रदेशं पश्चात् भाग यास्यन् तं धुर्यं पौरस्त्यमग्निमतिक्रमिष्यन् भवति । तदतिक्रमे च स क्रुद्ध्येत् । तस्य प्रसादनाय एतत् एतेन धूरसीति मन्त्रोच्चारणेन तस्मै एवाग्नये निह्नुते अपनयति । अतिक्रमजनितं स्वापराधं प्रशमय्य प्रसादयति । ह्नुङ् अपनयने इत्यस्य रूपम् । 'श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्समानः' (पा० सू० १।४।३४) इति तच्छब्दाच्चतुर्थी । यश्चास्माकं हिंसता, योऽप्यस्माभिर्हिंस्यः तं द्विविधमेव शत्रुम् धूर्व हिंस्याः । योऽस्मानिति मन्त्रार्थः । तथा सत्येवं प्रार्थितोऽग्निरतिक्रान्तमप्यध्वर्युं न बाधत इत्यर्थः ।

'तद्ध स्मैतदारुणिराह—अर्धमासशो वा अहं ऽ सपत्नान् धूर्वामीत्येतद्ध स्म स तदभ्याह ।' (श० १।१।२।११) ।

तन्मन्त्रोच्चारणेन शत्रुहिंसनम् महर्षिव्यवहारेण संवादयति—तद्धेति । तत् तत्र अभिमर्शनविषये एतदारुणिराह स्म । एतच्छब्दपरामृश्यं दर्शयति अर्धमासश इति । मासस्य अर्धमर्धमासः । 'अर्धं नपुंसकम्' (पा० सू० २।२।२) इति समासः । अर्धमासे अर्धमासे पौर्णमस्यां दर्शे च । 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (पा० सू० ५।४।४३) इति

करके हमारी हिंसा करने के लिये तत्पर रहनेवाले राक्षस आदि हैं उनका भी विनाश कर दो । तथा जिन आलस्यादि शत्रुओं को नष्ट करने के लिये । हम अनुष्ठाता लोग उद्यत हैं, उन शत्रुओं का भी नाश कर दो । इस प्रकार प्रार्थना करते हुए शकट स्थित अग्नि के अतिक्रमणजनित अपराध के परिमार्जनार्थ अग्नि की आधारभूत शकट की धुरा का स्पर्श इस मन्त्र से किया गया है । उसके अनन्तर उपस्तम्भन के पश्चाद्भाग में स्थित 'ईषा' का स्पर्श 'देवानामसि' इस मंत्र

शस्प्रत्ययः । एतद्धस्य इति ऋषेरभिप्रायकथनम् । एतदिति धूरसीत्यभिमर्शनमित्यर्थः ।

'अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति । देवानामसि वह्नितम ᳪ सस्नितमं जुष्टतमं देवहूतम् । अह्रुतमसि हविर्धानं दृᳪह्स्व माह्वारित्यन एवैतदुपस्तौत्युपस्तुताद्रातमनसो हविर्गृह्णानीति मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते ।' (श० १।१।२।१२) ।

अथ समन्त्रकमीषाभिमर्शनं विधत्ते—अथ जघनेनेति । शकटस्य अधःपतनं वारयितुमीषादण्डप्रोत्तम्भनार्था मेथी कस्तम्भी । अन एवेति—यद्यप्यय मन्त्र ईषाभिमर्शने जप्यः, तथापि अवयविस्तुत्या अवयवोऽपि स्तुतोभवतीत्यभिप्रेत्य एतन्मन्त्रवाक्यो वोढृतयत्वादिगुणकथनेन अन एव उपस्तौति । अभिमृष्टव्येषापरित्यागेन तदवयविशकटं स्तुवतोऽभिप्रायमाह—उपस्तुतादित्यादिना । घ्रातं तृप्तं देवानां तृप्तिजनने पर्याप्तमित्यर्थः । (घ्रै तृप्तौ) इति भौवादिको धातुः । अह्वलामाशास्त इति—यज्ञपतिर्मा ह्वार्षीत् कुटिलगतिर्मा भवत्विति मन्त्रवाक्ये प्रतिपादनात् हरणनिषेध एव अह्वलाशब्दार्थः ।

४—अध्यात्मपक्षे—हे गुरुकृपापीयूषपाकप्रसरपरिप्लुतशास्त्रसंस्कारसंस्कृतभावनोद्रेकविभावितमनः । त्वं धूरसि जननमरणाविच्छेदलक्षणसंसारसागरमुत्तर्तुमिति शेषः । यतो धूरसि अतः धूर्वन्तं हिंसन्तं हिंसां कर्तुं पुरुषार्थात्प्रच्यावयितुं प्रवृत्तं समस्तमपि विघ्नगणं धूर्व विनाशय । यो राक्षसादिः अस्मान् साधकान् धूर्वति हिंसितुमुद्युक्तस्तमपि धूर्व विनाशय । यमालस्यादिरूपं वैरिणं वयं हिंसितुमुद्युक्तास्तमपि विनाशय । भगवदनुग्रहात् त्वया सर्वमेतद्विधातव्यमितिभावः । तदेव स्पष्टयति त्वं देवानामिन्द्रियाणाम् कृपापात्रमसि । यतः इन्द्रियाणि वशीभूतानि अतः त्वं इन्द्रियाणां विषयसमर्पकतया वह्नितमं वोढृतमम् सस्नितमम् पवित्रतमम् । पप्रितमम् भगवद्भावनया परिपूर्णम् जुष्टतमम् भगवतोऽतिशयं प्रियम् । देवहूतमम् अतिशयेन भगवतः समाह्वानकारणं चासि अतः कामक्रोधादिगणं हृदये कृतनीडं निःसार्य भगवत्परायणो भवेत्यर्थः ।

५—स्वामिदयानन्दस्तु—'धूः सर्वदोषनाशकोऽन्धकारनाशको वा । असि अस्ति वा । अत्र सर्वत्र भौतिकपक्षे व्यत्ययेन प्रथमपुरुषो गृह्यते । धूर्व हिंसय, धूर्वति हिनस्ति वा । धूर्वन्तं हिंसाशील प्राणिनम् । धूर्व हिंसय हिनस्ति वा ।

से बताया गया है । हे शकट ! तुम देवताओं के सम्बन्धी हो । क्योंकि तुम व्रीहिरूप हवि को देवताओं तक अच्छी तरह पहुँचा देते हो । तथा तुम अत्यन्त शुद्ध पवित्र हो । अथवा अपनी दृढता के लिये चर्म आदि से अच्छी प्रकार सुवेष्टित हो । और विपुल व्रीहि से तुम पूर्ण हो । एवं देवताओं के तुम अतिशय प्रिय हो, अथवा उनके द्वारा तुम सुसेवित हो । तथा तुम देवताओं को अच्छी तरह निमन्त्रित करते हो । क्योंकि व्रीहि से भरे हुए शकट को देखकर निमन्त्रित की तरह देवता लोग शीघ्र आते हैं । इसी अभिप्राय को शतपथ ब्राह्मण ने भी व्यक्त किया है ।

४—अध्यात्मपक्ष में—हे गुरुकृपा पीयूषपाकप्रसरपरिप्लुत शास्त्रसंस्कारसंस्कृत भावनोद्रेक विभावित हे मन ! तुम जनन-मरणविच्छेदलक्षण संसारसमुद्र के पार जाना चाहते हो । अतः पुरुषार्थ से प्रच्यावित कराने के लिये प्रवृत्त हुए सम्पूर्ण विघ्नसमूहों को नष्ट कर दो । और जो राक्षस आदि, हम साधकों की हिंसा करने में लगे हुए हैं, उनको भी नष्ट कर दो । और जिन आलस्यादि शत्रुओं को नष्ट करना चाहते हैं, उनको भी तुम नष्ट कर दो । अर्थात् भगवान् के अनुग्रह को प्राप्त करके यह सभी कार्य तुम को करना है । क्योंकि तुम इन्द्रियों के कृपापात्र हो, इन्द्रिय तुम्हारे वशीभूत है । अतः तुम इन्द्रियों के विषयों का अर्पण करने के कारण उनके श्रेष्ठतम वाहक हो । तुम अति पवित्र हो, भगवद्भावना से परिपूर्ण हो, भगवान् के अतिशय प्रिय हो, भगवान् को बुलानेवाले हो । अतः हृदय में घर बनाकर रहनेवाले काम, क्रोधादिकों को निकाल कर भगवत्परायण बन जाओ ।

५—स्वामी दयानन्दजी ने व्याख्या की है—"सर्वदोषनाशक अथवा अन्धकारनाशक तुम हो या वह है । यहाँ सर्वत्र भौतिक पक्ष में व्यत्यय स्वीकार कर प्रथमपुरुष किया गया है । हिंसाशील प्राणी की हिंसा कर दो या हिंसा

तम् सर्वभूताभिद्रोग्धारम् । यः अस्मद्द्वेष्टा । अस्मान् धार्मिकान् सर्वेभ्यः सुखोपकर्तॄन् । धूर्वति हिनस्ति । तं दुष्टं दस्युं चोरं वा । धूर्व हिंसय हिनस्ति वा । यं पापिनम् । वयं विद्वांसः सर्वमित्राः । धूर्वामः हिंसामः । देवानां विदुषां पृथिव्यादीनां वा । असि उत्पादको वर्त्तसे प्रकाशको वर्तते वा । वह्नितमम् वहति प्रापयति यथायोग्य' सुखानि स वह्निः, सोऽतिशयितस्तम् । सस्नितमम् अतिशयेन शुद्धं शुद्धिकारकं च, तथा शुद्धिहेतुं वा भौतिकं वा । अथवा स्वव्याप्त्या सर्वजगद्वेष्टयितारम् ईश्वरं शिल्पविद्याहेतुं व्यापनशीलं भौतिकं वा । ष्णा शौचे अथवा ष्णं वेष्टने इत्यस्य रूपम् । पप्रितमम् प्राति प्रपूरयति सर्वाभिर्विद्याभिरानन्दैश्च जनान् स्वव्याप्त्या जगद्वा मूर्तं वस्तु शिल्पविद्यासाध्याङ्गानि च यः, सोऽतिशयितस्तम् । जुष्टतमम् धार्मिकैर्भक्तजनैः शिल्पिभिश्च यो जुष्यते स जुष्टः । अतिशयेन जुष्टस्तम् । देवहूतमम् देवैर्विद्वद्भिः स्तूयते शब्द्यते सोऽतिशयितस्तम् । ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे चेत्यस्य रूप'मिति, तत्तुच्छम् । प्रत्यक्षग्राह्यस्य जडपदार्थस्योपदेशार्थं वेदप्रमाणस्य अनुपयोगित्वात् । प्रत्यक्षप्रमाणपरिगृहीतमर्थं सर्वोऽपि लोकः प्रत्येति । तदर्थं वेदस्य कावश्यकता । सिद्धान्ते तु अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यसोमाद्यर्थम् आधानेन संस्कृतस्य अग्निविशेषस्य तेन सह तदभिमानिनः चेतनस्य देवस्य च स्तुतिः । तथा चाह भगवान् बादरायणः—'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' (ब्र० सू०–२।१।५) इति । तदेवं मुधैवास्य महात्मनः श्रुतिविरोधे प्रवृत्तिः उभयलोकविनाशफलेति । (वा० सं० १।८)

'अह्रुतमसि हविर्धानन्दृ ँ᳖ हस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहत ँ᳖ रक्षो यच्छन्तां पञ्च ॥९॥'

—(वा० सं० १।९)

१—हे शकट त्वम् अह्रुतम् असि । 'ह्वृ कौटिल्ये) ततो निष्ठायांह्रुह्वोश्छन्दसि' (पा० सू० ७।२।३१)

करता है । समस्त प्राणियों से द्रोह करनेवाले तथा सर्व सुखोपकारक हम धार्मिकों से जो द्वेष रखता है, उसे नष्ट कर दो अथवा नष्ट करता है, उस दुष्ट या चोर को मार दो या मारता है । तुम देवताओं विद्वानों के अथवा पृथिवी आदि के उत्पादक अथवा प्रकाशक हो, यथोचित सुखों को अच्छी प्रकार देनेवाले हो, तुम अति पवित्र या पवित्रकारक हो, तथा शुद्धि के हेतुभूत भौतिक स्वरूप के हो, अथवा अपनी व्याप्ति से सम्पूर्ण जगत् को वेष्टित करनेवाले ईश्वर स्वरूप हो, अथवा शिल्पविद्या के हेतुभूत व्यापक कोई भौतिकपदार्थ हो । समस्त विद्याओं से और आनन्दों से लोगों को भर देनेवाले अथवा अपनी व्याप्ति से सम्पूर्ण जगत् को मूर्त वस्तु शिल्पविद्या साध्य अङ्गों को पूर्णकर देनेवाले हो । धार्मिकों के द्वारा भक्तों तथा शिल्पियों के द्वारा जिसकी सेवा की जाती है, ऐसे तुम हो । देवताओं विद्वानों के द्वारा तुम्हारी स्तुति की जाती है । ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' से 'हूतमम्' रूप की निष्पत्ति बता रहे हैं ।'

किन्तु यह व्याख्या भी निःसार है । क्योंकि प्रत्यक्षग्राह्य जड़पदार्थ के उपदेशार्थ वेदप्रमाण का कोई उपयोग नहीं है । प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात हुए पदार्थ को तो सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं । उसको जानने के लिये वेद की आवश्यकता क्यों होगी ?

किन्तु सिद्धान्त पक्ष में—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, सोम प्रभृति यागों के लिये आधान से संस्कृत हुए अग्निविशेष के साथ उसके अभिमानी चेतन देवता की स्तुति के लिये वेदप्रमाण का उपयोग होता है । भगवान् बादरायण ने भी 'अभिमानि'—(२।१।५) सूत्र से उक्तार्थ का समर्थन किया है । इस श्रुति-सूत्रसिद्ध शिष्टपरम्परानुमोदित राजमार्ग को त्यागकर व्यर्थ ही श्रुति विरुद्ध मार्ग में अपने को प्रवृत्त किया है, जिसका फल, उभयलोकविनाश ही है ।

१—हे शकट ! तुम अकुटिल हो, अर्थात् तुमपर आरोहण करनेपर भी भङ्ग होने का भय नहीं है । तुम

इति ह्नु आदेशे नञ् समासे च रूपम् । अकुटिलमिति यावत् । आरोहणेऽपि भङ्गभीतिर्नास्तीति तात्पर्यम् । हविर्धानम् हविषो व्रीहिरूपस्य धानं निधानं धारकं पोषकं वा भवसि । अतः दृंहस्व दृढं भव । मह्यमारुरुक्षतेऽवहितं भव । मा ह्वाः, मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् । कुटिलं मा भव । त्वत्सम्बन्धी यजमानोऽपि कुटिलो मा भूत् ।

'विष्णुस्त्वेत्यारोहणम्' (का० श्रौ० सू० २।३।१५) अध्वर्युः 'विष्णुस्त्वा क्रमतामिति'मन्त्रेण शकटस्य दक्षिणं चक्रमारोहेदिति सूत्रार्थः । 'प्रेक्षत उरुवातायेति हविष्यान्' (का० श्रौ० सू० २।३।१६) अध्वर्युः शकटस्थान् यवान् व्रीहीन् वा हविरर्थान् उरुवातायेति मन्त्रेण आरोहणानन्तरं पश्येदिति सूत्रार्थः ।

इदमत्रावधेयम्—इदं प्रेक्षणं हविःसंस्कारार्थम् । अतो हविषः प्राधान्यम् । कर्मणो गुणत्वम् । तथा च यत्र व्रीहि-यवादीनि भिन्नानि द्रव्याणि सन्ति तत्र संस्कार्याणां द्रव्याणां बहुत्वात् प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिरिति न्यायेन यावद्द्रव्यं वीक्षणमावर्तितव्यम् । तदङ्गत्वाच्च मन्त्रस्याप्यावृत्तिः ।

'अपहतमिति निरस्यत्यन्यत्', अविद्यमानेऽभिमृशेत' (का० श्रौ० सू० २।३।१७–१८) तत्र व्रीहियवेभ्योऽन्यत् तृणलोष्टादिकं यदि स्यात् तर्हि तत् अपद्रव्यमनेन अपहतमिति मन्त्रेण निरस्येदध्वर्युः ।१७। यदि न भवेदपद्रव्यं तर्हि व्रीहीन् यवान् वा अनेन मन्त्रेण अभिमृशेदिति सूत्रार्थः ।

हे शकट विष्णुर्व्यापको यज्ञः त्वा त्वां क्रमताम् पादेनाक्रम्यारोहतु । नाहमारोहणे समर्थ इति भावः । हे शकट वाताय त्वदन्तर्वर्तिव्रीहिषु वायुसञ्चाराय । उरु विस्तीर्णं भवेति शेषः । शकटस्थव्रीहीणाम् तृणाद्याच्छादितत्वात् सङ्कोचे वायुप्रवेशाभावात् आच्छादनमपनीय यथा वायुः प्रविशति तथा सङ्कोचं परित्यजेत्यर्थः । वायुरूपप्राणप्रवेशात् सप्राणं हविः क्रियते मन्त्रेण । किञ्च वायुप्रवेशरहितं सर्वं वस्तु वरुणदेवत्यं भवति । वरुणश्च बन्धाधिष्ठाता देवः । बन्धकारित्वाच्च स यज्ञतत्फलोभयनिरोधकः । तन्निवृत्त्यर्थमयं मन्त्रः । 'यद्वै किं च वातो नाभिभवाति । तत्सर्वं वरुणदेवत्यम् । उरुवातायेत्याह । अवारुणमेवैनत्करोति' (तै० ब्रा० ३।२।४।५) इति तित्तिरिवचनात् ।

रक्षः यज्ञविघातकम् । अपहतम् दूरीकृतम् । अस्मात् हविष इति शेषः । निराकृतं तृणादिकमेव रक्ष इत्युच्यते ।

'यच्छन्तामित्यालभते' (का० श्रौ० सू० २।३।१९) यच्छन्ताम् पञ्चेति मन्त्रेण अध्वर्युः हविष्यान् स्पृशेत् इति सूत्रार्थः ।

पञ्च पञ्चसंख्याका अङ्गुलयः त्वा त्वां व्रीहिरूपं हविर्यच्छन्ताम् निबध्नन्तु । अनेन पञ्चाङ्गुलियुक्तेन मुष्टिना व्रीहीन् गृह्णीयादित्यर्थ उक्तो भवति ।

अत्र ब्राह्मणम्—पूर्वस्यां कण्डिकायामुद्धृतम् 'अह्रुतमसी' (श० १।१।२।१२) त्यादिब्राह्मणं सव्याख्यमत्रानुसन्धेयम् । तदनन्तरकं ब्राह्मणमत्रोद्ध्रियते—

'अथाक्रमते । विष्णुस्त्वा क्रमतामिति यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषामियं विक्रान्ति-रिदमेव प्रथमेन प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैतामेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते ।' (श० १।१।२।१३) ।

व्रीहिरूप हवि के धारक अथवा पोषक हो । अतः दृढ़ रहो । तुमपर आरोहण करनेवाले यजमान के प्रति सावधान रहो । तुम कुटिल (टेढ़े-मेढ़े) मत होना । तुम्हारा यजमान भी कुटिल न हो । अध्वर्यु 'विष्णुस्त्वा क्रमताम्' मन्त्र कहते हुए शकट के दक्षिण चक्रपर आरोहण करे । तदनन्तर शकट में रखे हुए यवों को अथवा व्रीहि को हवि के लिये 'उरु वाताय' मन्त्र का उच्चारण करते हुए उनको देखे । यव अथवा व्रीहियों का अवलोकन हवि के संस्कारार्थ है । इसलिये हवि की

शकटस्यारोहणं विधत्ते--अथाक्रमत इति। हे शकट त्वां विष्णुरेवाक्रमताम्, नाहमिति मन्त्रार्थः। विष्णोरेवाक्रमणं किमिति प्रार्थ्यते ? इति चेत् तत्राह—यज्ञो वा इत्यादि। विष्णोर्यज्ञस्य च व्यापनसामान्यात् तादात्म्यव्यपदेशः। एषां देवानामर्थे या इयं वैष्णवी विक्रान्तिः, इमामिति पूर्वत्रान्वयः। का पुनरियमिति ? तां दर्शयति—इदमेवेत्यादिना। त्रैविक्रमसमये इदमेव परिदृश्यमानं पृथिव्याख्यं स्थानं प्रथमेन पादनिधानेन आक्रममाणः पस्पार पालयामास। (स्पृ प्रीति पालनयोः) इति धातुः। स्पष्टमन्यत्।

'अथ प्रेक्षते। उरु वातायेति प्राणो वै वातस्तद् ब्रह्मणैवैतत्प्राणाय वातायोरुगायं कुरुते।' (श० १।१।२।१४)।

पुरोडाशीयानां व्रीहीणां समन्त्रकमवेक्षणं विधत्ते—अथ प्रेक्षत इति। प्राणो वा इति। 'वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२) इतिश्रुतेः प्राणवातयोरेकत्वम्। तत् तथा सति ब्रह्मणा मन्त्रेणैव प्राणात्मकाय वाताय एतत् उरुगायम् उरुभवनं कीर्तनं कुरुत इत्यर्थः।

'अथापास्यति। अपहत ह इति यद्यत्र किञ्चिदापन्नं भवति यद्य नाभ्येव मृशेत्तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षा ᳪ᳚स्यतो ऽपहन्ति।' (श० १।१।२।१५)।

यद्यत्रेति—अत्र पुरोडाशीयेषु व्रीहिषु यदि किञ्चित् तृणादिकम् आपन्नं क्षिप्तं भवेत् तत् अपहतमितिमन्त्रेण निरस्येदित्यर्थः। यदि तु तत्र तृणादिकं न भवेत् तदा पुरोडाशीयं व्रीहिसमूहमेव अनेन मन्त्रेण अभिमृशेदित्यर्थः।

'अथाभिपद्यते। यच्छन्तां पञ्चेति पञ्च वा इमा अङ्गुलयः पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतदत्र दधाति।' (श०—१।१।२।१६)।

हविर्ग्रहणाय समन्त्रकं स्पर्शनं विधत्ते—अथाभिपद्यत इति। अभिपद्यते आलभते स्पृशतीत्यर्थः। हविर्ग्रहीतुं बध्नन्तु पञ्चाङ्गुलय इत्यर्थः। मन्त्रगतपञ्चशब्दस्यार्थमाह–पाङ्क्तो वा इति। 'पञ्चपदा पङ्क्तिः' (ऐ०आ०१।३।८) यज्ञोऽपि धानाकरम्भादिपञ्चहविष्क इति पञ्चसंख्यायोगसाम्यात् पाङ्क्तः। तथा च तैत्तिरीयकम्—'धानाः करम्भः परिवापः

प्रधानता है और कर्म की गौणता है। तथा च जहाँ व्रीहि-यव आदि अनेक द्रव्य हों वहाँ संस्कार्य द्रव्यों की भिन्नता के कारण 'प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिः' इस न्याय से जितने द्रव्य हों उनका पृथक्-पृथक् वीक्षण करे। उस वीक्षण अङ्ग होने से मन्त्र को भी बार-बार बोले। उन द्रव्यों में व्रीहि-यवों से भिन्न तृण-लोष्ठ आदि यदि हों तो उन अपद्रव्यों को 'अपहतम्' इस मन्त्र को बोलते हुए उनको उनमें से निकाल दे। यदि उनमें अपद्रव्य न हो तो व्रीहि अथवा यवों का उक्त मन्त्र से स्पर्शमात्र करले।

हे शकट ! यह यज्ञ व्यापक होने से विष्णु स्वरूप है। अतः वही तुमपर अपने पैर को रखकर आरोहण करे। अर्थात् मैं तुमपर आरोहण करने में समर्थ नहीं हूँ। हे शकट ! तुम में रखे हुए व्रीहियों में वायु का सञ्चार हो पाने के लिये विस्तीर्ण हो जाओ। क्योंकि शकट में स्थित व्रीहियों के तृणाच्छादित रहने से उस संकुचित प्रदेश में वायु का प्रवेश नहीं हो पाता है, अतः आच्छादित को हटाकर जिस प्रकार वायु प्रवेश कर पाये उस प्रकार से संकोच को दूर करो। वायुरूप प्राण के प्रवेश से मन्त्र के द्वारा हवि को सप्राण किया जाता है। किञ्च वायु के प्रवेश से रहित सभी वस्तु, वरुणदेवता की हो जाती है। वरुण, बन्ध की अधिष्ठात्री देवता है। बन्धकारी होने से वह यज्ञ और उसके फल दोनों का निरोधक होता है। उसकी निवृत्ति के लिये यह मन्त्र है।

तदन्तर पञ्चांगुलियुक्त मुष्टि से व्रीहि का ग्रहण करे। उक्त अभिप्राय को ही शतपथ ब्राह्मण ने भी बताया है। मन्त्रगत 'पञ्च' शब्द का अर्थ, शतपथ ने 'पाङ्क्त' बताया है। ऐत्तरेय आरण्यक ने भी 'पञ्चपदा पङ्क्तिः' कहा है। यज्ञ भी धाना-करम्भ आदि पञ्च हवि तक है, अतः पञ्चसंख्या के साम्य से वह भी 'पाङ्क्त' है। तैत्तिरीय संहिता में

पुरोडाशः पदस्य, तेन पङ्क्तिराप्यते, तद्यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम्' (तै० सं० ६।५।११८) इति। तत् तथा सति एतत् एतेन पञ्च-शब्दोपेतमन्त्रोच्चारणेन अत्र अस्मिन् शकटे पाङ्क्त यज्ञमेव धारयंतीत्यर्थः।

२ अध्यात्मपक्षे—हे सुसंस्कारसंस्कृत भगवद्भावनाभावितमनः त्वम् अह्रुतमसि अकुटिलमसि अनाविल-मसीत्यर्थः।

'अकर्दममिदं तीर्थं भारद्वाज निशामय।
रमणीयं प्रसन्नाम्बु सम्मनुष्यमनो यथा॥' (श्री० वा० रा० १।२।५)

इति रामायण उदाहरणात्।

हविर्धानं स्वस्मिन् भगवत्सन्निधानं दृंहस्व ध्यानाभ्यासेन दृढ़ीकुरु। मा ह्वाः कामादिगणवशित्वात् कुटिलतया भगवद्विमुखं मा भूः। मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्—यज्ञः विष्णुः स एव पतिः पालकः सत् ते तत्र सन्निधिं त्वयि स्वस्य सन्निधा-नमित्यर्थः। मा ह्वार्षीत्। त्वां मा उपेक्षिष्टेत्यर्थः। तदुपेक्षायां कामक्रोधमोहलोभमदमात्सर्यादीनां बाहुल्येन त्वयि सन्नि-वेशात् तव घोरतरपतनप्रसङ्गात्। अतस्त्वामनुपेक्ष्यैव विष्णुः भगवान् श्रीरामचन्द्रः त्वा क्रमताम् अधितिष्ठतु। वाताय सर्वेषां प्राणानां प्राणभूताय भगवते रामचन्द्राय। तद्धारणार्थमिति यावत्। त्वं उरु स्वस्मिन् भगवन्तं सन्निरुध्य तदा-च्छादकं भव। उर्णोतिरुरुशब्दनिष्पत्तेः। तथा सति कामक्रोधादिरूपं रक्षोऽपहतम् दूरापेतम् स्यात्। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि शब्दस्पर्शादिविषयेषु स्वप्रसरं यच्छन्ताम्। विषयेभ्य उपरमन्तामित्यर्थः।

३—स्वामिदयानन्दस्तु—'अह्रुतम् कुटिलतारहितम्। असि अस्ति। अत्र व्यत्ययः। हविर्धानं हविषां धानं स्थित्यधिकरणम्। दृंहस्व वर्धयस्व वर्धयति वा। अत्र पक्षे व्यत्ययः। मा ह्वाः मा त्यजेः। अत्र लिङर्थे लुङ्। मा क्रियार्थे निषेधवाची। ते तव। यज्ञपतिः पूर्वोक्तस्य यज्ञस्य पतिः पालकः। ह्वार्षीत् त्यजतु। अत्र लोडर्थे लुङ्। विष्णुः व्यापनशीलः सूर्यः। त्वा तद्धोतव्यं द्रव्यम्। क्रमताम् चालयति। अत्र लडर्थे लोट्। उरुबहु। वाताय वायोः शुद्धये

कहा गया है—'धानः करम्भः परिवापः पुरोडाशः पयस्या, तेन पङ्क्तिराप्यते, तद् यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम्'। अतः इस पंच-शब्दोपेत मन्त्र के उच्चारण से इस शकट में पाङ्क्त यज्ञ को ही स्थापित करता है।

२—अध्यात्मपक्ष में—हे सुसंस्कार संस्कृत भगवद्भावना भावित मन ! तुम अनाविल (दोषरहित) हो। मन के निर्दुष्ट होने का समर्थन रामायण ने भी किया है। अपने में ध्यानाभ्यास के द्वारा भगवत्सन्निधान को दृढ़ करो। कामादिगणों के वशीभूत होकर कुटिलता से भगवान् से विमुख मत होना।

यज्ञरूपी विष्णु ही पालक है अतः वह तुम्हारे सर्वदा समीप रहें, तुम्हारी उपेक्षा वह कभी न करे। यदि वह तुम्हारी उपेक्षा कर देगा तो काम-क्रोध-मोह-लोभ-मद-मात्सर्य आदि अत्यधिक रूप से तुममें प्रविष्ट हो जावेंगे, तब तुम्हारा घोर पतन हो जायगा। अतः तुम्हारी उपेक्षा बिना किये ही भगवान् श्रीरामचन्द्र तुममें अधिष्ठित हो जाँय। प्राणों के भी प्राणभूत भगवान् रामचन्द्र को धारण करने के लिये तुम अपने में भगवान् को सन्निरुद्ध कर उनके आच्छा-दक हो जाओ। वैसा करनेपर काम-क्रोधादि रूप राक्षस दूर भाग जायेंगे। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द स्पर्शादि विषयों में अपने प्रसार को रोक दें अर्थात् वे विषयों से विरत रहें।

३—स्वामी दयानन्दजी उक्त मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'अह्रुतमसि का अर्थ, 'कुटिलता से वह रहित है'—किया है। यहाँ पुरुषव्यत्यय किया है। हवियों की स्थिति के अधिकरण को बढ़ाओ या बढ़ाता है। यहाँ पर पाक्षिक व्यत्यय किया है। 'मा ह्वाः' का अर्थ 'मा त्यजेः' मत त्यागो किया है। यहाँ लिङ् के अर्थ में लुङ् का प्रयोग है। 'मा', क्रिया के अर्थ में निषेधवाचक है। ते तुम्हारा। 'यज्ञपतिः' पूर्वोक्त यज्ञ का पालक। 'ह्वार्षीत्' त्याग दे। यहाँ लोट् के अर्थ में लुङ् है। 'विष्णुः' व्यापनशील सूर्य। 'त्वा' वह होतव्य द्रव्य। 'क्रमताम्' चलाता है। यहाँ लट् के

सुखवृद्धये वा । अपहतम् विनाशितम् । रक्षः दुर्गन्धादिदोषजालम् । यच्छन्ताम् । निगृह्णन्तु । पञ्च पञ्चभिः उत्क्षेपणादिभिः कर्मभिः' इति, अन्वयार्थे च हे ऋत्विक् त्वं यदग्निना दृंहितं हविर्धानमास्ति तद् दृंहस्व किन्तु तत्कदाचित् मा ह्वाः मा त्यजेः, इदं ते तव यज्ञपतिर्दृंह तां मा ह्वार्षीन्मात्यजतु । एवं भवन्तः सर्वे मनुष्याः पञ्च पञ्चभिः उत्क्षेपणादिभिः कर्मभिः यदग्नौ हूयते तन्नियच्छन्ताम् निगृह्णन्तु । यत् द्रव्यं विष्णुर्व्यापनशीलः सूर्यः अपहतं रक्षो यथा स्यात्तथा उरु वाताय क्रमताम् क्रमयति चालयति त्वा तत्सर्वं मनुष्या अग्नौ होमद्वारा यच्छन्तामिति, भावार्थे च—'यदा मनुष्याः कुटिलतां विहाय शिक्षकशिष्या भूत्वेमामग्निविद्यां विज्ञानक्रियाभ्यां ज्ञात्वानुतिष्ठन्ति तदा महतीं शिल्पविद्यां सम्पाद्य शत्रु-दारिद्रयनिवारणपुरःसरं सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्ती'ति तदपि यत्किञ्चित् श्रुतिसूत्रविरोधात्, व्यत्ययबाहुल्यात्, अध्याहारबाहुल्यात् मन्त्रबाह्यत्वाच्च । ऋत्विगिति सम्बोधनस्य मन्त्रे अभावात् । सर्वस्यापि भावार्थस्य मन्त्रार्थत्वास्पर्शित्वाच्च । (वा० सं० १।९) ॥

४—अनस एव ग्रहणे हेत्वन्तरमाह—यज्ञो वा इति । यज्ञसाधनमिति साधनस्तुत्यर्थमनसि यज्ञत्वोपचारः । इज्यतेऽनेनेति करण एव नङ् प्रत्ययः । वै शब्दस्तस्य विधिश्रुतिसिद्धं यज्ञसाधनत्वं स्तोतुं स्मारयति । न केवलं श्रुतिसिद्धं तस्य तत्साधनत्वमपि तु प्रत्यक्षादिप्रमाणैरपि तस्य साधनत्वं सिद्धम् इत्याह—यज्ञो हीति । यस्मादनस एव ग्रहणं तस्माद् ग्रहणमन्त्रा 'धूरसीति' (वा० सं० १।८) 'अह्नुतमसि हविर्धानम्' (वा० सं० १।९) इत्यादयोऽनोऽवयवलिङ्गा दृश्यन्ते । न पुनः कोष्ठगतस्य कुम्भीगतस्य वाधान्यस्य लिङ्गं तत्रा कुम्भीशब्दस्तन्निष्ठं धान्यं लक्षयति मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् । लुप्तनिर्दिष्टा षष्ठी । ऋषिमतमाह भस्त्राया इति षष्ठयर्थे चतुर्थी । तस्मिन् पक्षे भस्त्रायाः के मन्त्रा

अर्थ में लोट् है । 'उरु' बहुत । 'वाताय' वायु की शुद्धि अथवा सुखवृद्धि के लिये । 'अपहतम्' विनाश कर दिया । 'रक्षः' दुर्गन्धादि दोषसमूह को ।'यच्छान्ताम्' निगृहीत करें । 'पञ्च' उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों के द्वारा' इति ।

अन्वयार्थ करते हुए कहते हैं—हे ऋत्विक् ! तुम जिस अग्नि से युक्त हविर्धान है, उसे दृढ़ करो, उसे कभी भी मत त्यागो । तुम्हारा यज्ञपति इसे न त्यागे । इस प्रकार आप सब मनुष्य उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों के द्वारा अग्नि में जो हवन करते हैं, उसे नियमित करो । व्यापकसूर्य जिस द्रव्य को राक्षस जिस तरह नष्ट हो जाँय वैसे वह आयु को जोर से चलाता है । उस सबको मनुष्य लोग अग्नि में होम के द्वारा देते रहें ।

भावार्थ में कहा है कि 'जब मनुष्य कुटिलता का त्याग कर शिक्षकों के शिष्य होकर इस अग्निविद्या को विज्ञान और क्रिया के द्वारा जानकर उसका अनुष्ठान करते हैं, तब महान् शिल्प विद्या का सम्पादन कर शत्रु दारिद्रय आदि का निवारण करते हुए समस्त सुखों को प्राप्त करते हैं ।

किन्तु यह सभी अन्वयार्थ और भावार्थ, श्रुति तथा सूत्र के विरुद्ध होने से और व्यत्यय की बहुलता होने से एवं अध्याहार की प्रचुरता रहने से तथा मन्त्राक्षरों से कोई सम्बन्ध न रहने से नितान्त सारहीन है । मन्त्र में ऋत्विक शब्द का सम्बोधन में प्रयोग नहीं है ? अतः स्वामी दयानन्दजी का मन्त्र व्याख्यान उपेक्षणीय है । (१।९) ।

४—अनस (शकट) के ही ग्रहण करने में हेत्वन्तर बता रहे हैं—'यज्ञो वा इति' । उसे यज्ञ साधन कहकर उसकी स्तुति के लिये अनस् में यज्ञत्व का उपचार किया गया है । 'इज्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति से 'करण' अर्थ में ही 'नङ्' प्रत्यय किया गया है । 'वै' शब्द उसकी विधिश्रुतिसिद्ध यज्ञसाधनता की प्रशंसा की याद दिलाने के लिये प्रयुक्त किया गया है । उसकी यज्ञसाधनता केवल श्रुति से ही सिद्ध नहीं हैं, अपि तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी सिद्ध है । जिस कारण से अनस् का ही ग्रहण किया जाता है, अतएव ग्रहण का जो मन्त्र 'धूरसि', 'अह्नुतमसि' है, उसमें अनस् के अवयव लिङ्ग (चिह्न) भी दिखाई देते हैं । कोष्ठगत अथवा कुंभीगत धान्य के लिङ्ग उसमें नहीं दिखाई देते । 'कुंभी' शब्द तन्निष्ठ धान्य को लक्षित करता है, 'मञ्चाः क्रोशन्ति के समान । लुप्त निर्दिष्टा षष्ठी है । ऋषि मत बताते हैं कि—

इत्याह तद्वृषीनिति । उ त्वर्थे । तदा तु तान्येव यजूंषि भस्त्राया: प्रतिपादकानि स्यु: यान्यनस: । तथाहि यथा अन: पक्षे हे अन: । यत् त्वं धूरसि त्वमुद्भूतमतुलं हविर्धानमसि तथैव भस्त्रापक्षेऽपि । तत्र तु हे भस्त्रे इत्येव विशेष: । भस्त्राया मन्त्रदारिद्रय इव कस्मात्तान्येव ? अन्यानि चेद् भस्त्राया: के मन्त्रा इत्यत आह तान्येतर्हि तैरेव यजुर्भिग्रहणे यानि यजूंषि प्रकृतावनस्यासन् तान्येवैवं सति विकृतौ भस्त्रायामपि स्यु: । तथात्वस्यापि किं फलमिति चेत्तत्राह—'यज्ञादिति यज्ञसाधनमन आश्रित्य सकृत्प्रयुज्य तत इदमुक्त्वैव यज्ञं भस्त्रादिकं 'निर्ममे' अनुष्ठितानि, इत्येतदनुष्ठातुराशय इत्यर्थ: ।

५—ननु प्रकृतावेव पक्षान्तरं भस्त्रा यथा यव:, तत्किमुच्यते प्राकृतानीति, सत्यं । प्राकृतमुपदिश्यमानं यथा प्रथमं वैकृतं त्वतिदेशाच्चरमं प्रतीयते एवं स्वशब्देनाभिधानात् पृथक्प्रतिपत्तेरेव प्राकृतमुच्यते तल्लक्षितापूर्वसाधनत्वात् तु पश्चात्प्रतीतेर्भस्त्रा विकृतिवद्विकृति: । अतो भस्त्रायामपि यववदुपदेशादेव धर्मसम्बन्धो नातिदेशात् । व्रीहीनवहन्तीति—अपूर्वं व्रीहय: प्रकृतिद्रव्यमपहन्ति यथा तथानेनापि पदेन भस्त्रापरिग्रह: । 'उतो पात्र्यै गृह्णन्ति । अनन्तरायमुर्तर्हि यजूंषि जपेत् । स्फ्यमुतह्यधस्तादुपोह्य गृह्णीयाद्यतोयुनजाम ततो विमुञ्चामेति । यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति' (श० १।१।२।८) ।

'उतो' अपि तु यदि पात्र्या गृह्णीयात् तदा धूरीषाद्यभावेन तदुपस्थानविरहात् अननुष्ठानकृतं व्यवधानमन्तरायमन्तरेण तत्प्रकाशक यजूंषि धूरसि देवानामसि इत्यादीनि जपेत् । तत्रैव धर्मान्तरमाह—'स्फ्यमु तर्हीषि तस्मिन् पात्रीपक्षे तस्या अधस्तात् स्फ्यमुपनिधाय गृह्णीयात् । सर्वमेतदन: पक्षप्रशंसार्थमर्थवाद एव नहि निन्दानिन्द्यमिति सिद्धान्तात् । अत एव कात्यायन:-'पात्र्यां वा स्फ्योपहितायां, धूरोषारोहणानि पात्रीविले जपति' (का० श्रौ० सू० २।३।२८-२९) अनसोग्रहणे स्फ्योपहितपात्रीतोग्रहणेऽतिशयितं प्रयोजनमाह—यतो युनजामेति ।

६—योऽयं स्फ्यमाश्रित्य युनजाम यज्ञेन योगं प्राप्नवाम ततस्तस्मिन्नेव स्फ्ये विमुञ्चाम वियोगमपि करवाम

'भस्त्रायै:' यह षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी है । उस पक्ष में 'भस्त्रा' के मन्त्र 'तद्वृषीन्' इत्यादि है । 'उ' यह 'तु' के अर्थ में है । तब तो जो यजुर्मन्त्र 'अनस्' के हैं, वे ही यजुर्मन्त्र, भस्त्रा के प्रतिपादक होंगे । अनस् के पक्ष में—हे अन: । 'त्वं धूरसि—तुम उद्भूत अतुल हविर्धान हो । तथैव भस्त्रा के पक्ष में भी । उस समय 'हे भस्त्रे' ! इतना ही विशेष होगा । मन्त्रदारिद्रय के समान भस्त्रा के वे ही 'यजु' क्यों होंगे ? यदि उसके (भस्त्रा के) अन्य यजु हैं तो वे कौन से मन्त्र हैं ? उसके उत्तर में कहते हैं—तो यजुर्मन्त्र प्रकृति में अनस् के थे, वे ही मन्त्र विकृति में भस्त्रा के होंगे । ऐसा करने से जो फल होता है, उसे 'यज्ञात्' से बताया है । यज्ञसाधनभूत अनस् का आश्रय करके यानी एकबार प्रयोग करके, उससे ही भस्त्रादि यज्ञ को अनुष्ठित किया जाता है । यह अनुष्ठाता का आशय है ।

५—शंका—प्रकृति में ही पक्षान्तर 'भस्त्रा' है, जैसे 'यव' । तब 'प्राकृतानि' क्यों कहा जा रहा है ? उत्तर—तुम ठीक कह रहे हो, उपदिश्यमान प्राकृत जैसे प्रथम माना जाता है और अतिदेश से प्राप्त होनेवाला 'चरम' अन्तिम प्रतीत होता है, उसी तरह स्वशब्द से अभिधान होने के कारण पृथक् प्रतिपन्न को ही 'प्राकृत' कहा जाता है । और उससे लक्षित जो अपूर्व है, उसका साधन होने से पश्चात् प्रतीयमान भस्त्रा, विकृति के समान होने से विकृति है । अत: भस्त्रा में भी यव के समान उपदेश से ही धर्म सम्बन्ध होता है, अतिदेश से नहीं । 'व्रीहीन् अवहन्ति' यह वाक्य जैसे प्रकृतिद्रव्य अपूर्वसाधनीभूत व्रीहि का अवहनन बताता है, वैसे ही इस पद से भी भस्त्रा का परिग्रह बताया गया है । शतपथ के द्वारा जो बताया जा रहा है, वह सब 'अन:' पक्ष के प्रशंसार्थ अर्थवादरूप है । क्योंकि 'नहि निन्दानिन्द्यम्' यह सिद्धान्त है । अतएव कात्यायन ने भी कहा है । अनस् से ग्रहण करने की अपेक्षा स्फ्य से उपहित पात्री से ग्रहण करने में अत्यधिक प्रयोजन बताया गया है—

६—स्फ्य का आश्रय करके यज्ञ के साथ जो यह योग (सम्बन्ध) हम प्राप्त करते हैं, उसी स्फ्य से वियोग

इति । योगवियोगसामानाधिकरण्यसिद्धिः । स्फ्योपहितपात्रीतो ग्रहणपक्षे अनःपक्षादतिशयः । अयमभिप्रायः अनसो-निर्वापपक्षे हि जुहूपभृतौ शकटस्य धुरो निदध्यात् । पात्रीतः पुनर्निर्वापे तदाधारभूते स्फ्ये तयो निधानं विमोकः । तदुक्तं कात्यायनेन 'घृताची इति धुरि निदधात्यनसि चेद्ग्रहणम् स्फ्ये पात्र्याञ्चेत् (का० श्रौ० सू० ३।१३७-१३८) तथापां प्रणयनञ्च स्फ्येन सहेत्युक्तमापस्तम्बेन—'स्फ्येनोपसङ्गृह्याविषिञ्चन् हरति' (आपस्त० श्रौ० सू० १।१६।८) एवं च स्फ्येन योगः सफ्यएव वियोगात्मको विमोकोऽपीति पात्रीतो ग्रहणे योगवियोगयोः सामानाधिकरण्यलाभोऽतिशयः । यत्रैव योगस्तत्रैव वियोगो युक्तः । नहि कर्णे युक्तः कट्यां विमुच्यते इत्यर्थः ।

'तस्य वा एतस्यानसः । अग्निरेव धूरग्निर्हि वैधूरथ य एनद्वहन्त्यग्निदग्धमिवैषां वहं भवत्यथ यज्जघनेन कस्तम्भीं प्र उगं वेदिरेवास्य सानीड एव हविर्धानम्' (श० १।१।२।९) ।

७—धुरः समन्त्रकमभिमर्शनं विधास्यन् तदुपोद्घातत्वेन तस्या देवतारूपतामाह अग्निरेव धूरित्यादिना । तत एव बलीवर्दवहनस्कन्धस्थानमग्निदग्धमिव दृश्यते । शकटान्निर्वापस्य प्राशस्त्यातिशयं वक्तुं तस्मिन् वेदिहविर्धानयोः सम्पत्तिमाह—'अथ यज्जघनेने'ति । शकटस्याधः पतनं वारयितुमीषादण्डप्रोत्तम्भनार्था मेथी कस्तम्भी । ईषाद्वयं यत्र संसृप्तं ततः प्रत्यग्भागः, तयोरीषयोर्मध्यदेशः प्र उगम् । तच्च पश्चाद्विस्तृतम् पुरस्तात् ह्रसीयः । वेदिरपि तथाविधा । 'त्रिंशत्पदानि पश्चात्तिरश्ची भवति षट्त्रिंशत्प्राची, चतुर्विंशतिः पुरस्तात् तिरश्ची (तै० सं० ६।२।४।८) इतिश्रुतेः । अतस्तत्सारूप्यात् प्रउगस्य वेदित्वव्यपदेशः । नीड एवेति । धान्यनिधानाय परिश्रितप्रदेशो नीडः । हविर्धानमपि परि-श्रितम् । परिश्रयणसामन्यात् नीडस्य हविर्धानत्वम् । 'स धुरमभिमृशति—धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वाम । इत्यग्निर्वा एष धुर्यस्तमे तदत्येष्यन् भवति हविर्ग्रहीष्यं स्तस्मा एवैतान्निह्नुते तथो हैतमेषो अति-यन्तमग्निर्धुर्यो न हिनस्ति ।' (श० १।१।२।१०) एतावता स्पष्टं धुरोऽभिमर्शनेऽस्य मन्त्रस्य विनियोगः । तस्मादर्थोऽपि

से वियोग को भी हम प्राप्त करते हैं । इस रीति से योग-वियोग के सामानाधिकरण्य की सिद्धि होती है । स्फ्य से उप-हित पात्री से ग्रहण करने के पक्ष में अनःपक्ष की अपेक्षा अतिशय होता है । अभिप्राय यह है—अनस् से निर्वापपक्ष में जुहू और उपभृत् को शकट की धुरापर रख दे । और पात्री से निर्वाप करने के पक्ष में उसके आधारभूत स्फ्य पर उन दोनों को रख दे । कात्यायन ने भी यही बताया है । तथा आपस्तम्ब ने भी स्फ्य के साथ अपाम्प्रणयन को बताया है । एवं च स्फ्य के साथ योग और उसी के साथ वियोगात्मक विमोक भी होता है । एवं च पात्री से ग्रहण करने में योग-वियोग के सामानाधिकरण्यलाभरूप अतिशय होता है । जहाँ योग होता है वहीं पर वियोग का होना उचित है । 'कर्णमे' सम्बन्ध हुआ और कमर में विमुक्त हुआ'—ऐसा कभी नहीं होता ।

७—धुरा के स्पर्श का समन्त्रक विधान करते हुए उसके उपोद्घात के रूप में उसकी देवतात्मकता को 'अग्नि-रेव धूः' से बताया गया है । इसीलिये बलीवर्द का वहन स्कन्ध स्थान, अग्निदग्ध हुआ सा दिखाई देता है । शकट से किये जानेवाले निर्वाप का प्रशस्त्यातिशय बताने के लिये उसमें वेदि और हविर्धान दोनों की सम्पत्ति को 'अय यज्ज घनेन' से बताया गया है । श्रुतिवचन के अनुसार शकट के अधःपतन का निवारण करने के लिये ईषादण्ड के प्रोत्तम्भ-नार्थ मेथीकस्तम्भी होती है, ईषाद्वय जहाँपर फैले हुए हैं वहाँ से जो प्रत्यग्भाग है, वही मेथीकस्तम्भी है । दोनों ईषाओं का जो मध्य प्रदेश है, उसे 'प्रउग' कहते हैं । वह पश्चाद्भाग में विस्तृत और अगले भाग में लघु होता है । वेदी भी वैसी ही होती है । इसी समानता के आधार पर 'प्रउग' में वेदि शब्द का व्यवहार किया जाता है । धान्य रखने के लिये परिश्रित प्रदेश को 'नीड' कहते हैं । हविर्धान भी परिश्रित है । इसी परिश्रयण सादृश्य को देखकर 'नीड' को हविर्धान कहा गया है । इसी अभिप्राय को बतानेवाले शतपथ ब्राह्मण से स्पष्ट होता है कि धुरा के अभिमर्शन में इस मन्त्र का विनियोग होता है । इसलिये मन्त्र का अर्थ भी तदनुसारी ही किया जाता है । 'अग्निर्वा' से अभिमर्शन का प्रयोजन बताते हैं—युग की धारा में होनेवाले अग्नि को 'धुर्य' कहते हैं । हविर्ग्रहण करने के लिये शकट के पश्चात्भाग रूप

तदनुसार्येव । अभिमर्शस्य प्रयोजनमाह अग्निर्वा इति । युगस्य धुरि भवोऽग्निर्धुर्यः । हविर्ग्रहणाय शकटस्य परिश्रितप्रदेशं पश्चाद्भागं यास्यन् तं धुर्यं पौरस्त्यमतिक्रमिष्यन् भवति । तदतिक्रमे च स क्रुद्धचेत् तस्य प्रसादनाय एतद्धूरसीति मन्त्रोच्चारणेन तस्मै एवाग्नये निह्नुते अपनयति अतिक्रमजनितं स्वापराधं प्रशमय्य प्रसादयति । ह्नुङ् अपनयने यश्चास्माकं हिंसिता योऽस्माकं हिंस्यः तं द्विविधं शत्रुं मे धूर्व हिंस्या इति योऽस्मानिति मन्त्रार्थः । तथा सत्येवं प्रार्थितोऽग्निरतिक्रामन्तमप्यध्वर्युं न बाधत इत्यर्थः ।

'तद्धस्मैतदारुणिराह—अर्धमासशो वा अहं सपत्नान् धूर्वामीत्येतद्ध स्म तदभ्याह ।' (श० १।१।२।११) महर्षिव्यवहारेण तन्मन्त्रोच्चारणेन शत्रुहिंसनं संवादयति—एतच्छब्दपरामृश्यं दर्शयति—मासस्यार्धमर्धमासः । अर्धमासे अर्धमासे पौर्णमास्यां दर्शे च सपत्नान् धूर्वामीत्यर्थः। 'अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति । देवानामसि………… यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायै वैतदह्वला मा शास्ते ।' (श० १।१।२।१२) । इदमपि ब्राह्मणममुं मन्त्रं कस्तम्भीसहितेषाभिमर्शने विनियुङ्क्ते । नैतत्सर्वं दयानन्दीयव्याख्याने सङ्गच्छते । अतः श्रुतिसूत्रादिसम्मतः सायणोक्तोऽर्थ एव प्रामाणिकः ।

८—एतदविरुद्धाश्चानेकेऽर्थाः सम्भवन्ति । 'सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति' इति श्रुत्यनुरोधेन हे वेदवेद्य त्वं देवानां मध्ये धूरसि सर्वजगद्धारकोऽसि सर्वाग्रगण्यो वासि । शकटादिहवनसाधनयुगधारकत्वात् अग्र्यत्वाच्च धूरित्युच्यते । तद्गुणवत्त्वाल्लक्षणया च परमेश्वरो धूरुच्यते । त्वं धूर्वन्तं स्वरूपसुखमाच्छिद्य जननमरणाविच्छेदलक्षणायां संसृतौ पातयन्तं मोहमविवेकं धूर्व स्वस्वरूपप्रकाशनेन नाशय । अन्योऽपि कामक्रोधादिरान्तरः शत्रुर्बाह्यश्च यो मम मदीयराष्ट्रस्य चाऽपकारी योऽस्मान् मां राष्ट्रं च धूर्वति बाधते पुरुषार्थाच्च्यावयति तं धूर्व नाशय । यश्च बाह्यमान्तरं वा बाधकं द्वेष्टारं वयं धूर्वामः द्विष्मस्तं च धूर्व समूलमुन्मूलय । त्वं देवानां देवो मुख्योऽसि । त्वां वयमाश्रयामः । कीदृशं त्वां देवानामिन्द्रादीनां मध्येऽतिशयेन सुखादिप्रापकम् । देवा अपि सुखप्रापकास्त्वं तु बह्नितमः । देवा अपि पूतास्त्वं तु पूततमः ।

परिश्रित प्रदेश की ओर जानेवाले को उस पौरस्त्य धुर्य अग्नि का अतिक्रमण करना होगा, उस कारण वह धुर्य अग्नि क्रुद्ध होगा । उसे प्रसन्न करने के लिये एतद्धरसि' इस प्रकार मन्त्रोच्चारण करते हुए उसी अग्नि से अति क्रमजनित स्वा पराध की क्षमा के लिये उसे प्रसन्न करता है । इस प्रकार से प्रार्थना के द्वारा प्रसन्न करने पर वह अग्नि, उस अध्वर्यु को उसके अतिक्रमण करने पर भी पीडा नहीं पहुँचाता । शतपथ के द्वारा महर्षिव्यवहार और मन्त्र का संवाद प्रदर्शित कर रहे हैं । अर्ध-अर्ध मास पर अर्थात् पौर्णमासी और दर्श पर विघ्नकारक शत्रुओं का मैं नाश करता हूँ । 'अथ जघनेन कस्तम्भोमीषामभिमृश्य'—यह ब्राह्मण भी कस्तम्भी सहित ईषाभिमर्शन में इस मन्त्र का विनियोग बता रहा है । किन्तु दयानन्दीय व्याख्यान में यह सब सङ्गत नहीं होता है । अतः श्रुति—सूत्रादि सम्मत सायणोक्त अर्थ को ही प्रामाणिक समझना चाहिये ।

८—श्रुति-सूत्र के अविरुद्ध अर्थ, अनेक हो सकते हैं । 'सर्वे वेदा यत्पदमामन्ति' इस श्रुति के अनुरोध से हे वेदवेद्य ! तुम देवताओं के मध्य सम्पूर्ण जगत् के उद्धारक हो अथवा सर्वाग्रगण्य हो । शकटादि हवनसाधनयुग के धारक होने से और अग्रच होने से भी 'धूर' कहे जाते हो । उन गुणों के कारण लक्षणा के द्वारा परमेश्वर को 'धूर' शब्द से कहा गया है । ऐसे हे परमेश्वर ! तुम अपने स्वरूप सुख से हटाकर जनन-मरण के अविच्छेद लक्षण संसार में गिरानेवाले मोहरूप अविवेक को स्व-स्वरूप के प्रकाशन के द्वारा नष्ट कर दो । काम-क्रोधादि आभ्यन्तर शत्रु एवं बाह्य शत्रु जो मेरे अथवा मेरे राष्ट्र के अपकारी अन्य शत्रु हों, जो मुझे या मेरे राष्ट्र को पीडा पहुंचाते है, हमें पुरुषार्थ से गिराते हैं, उन्हें नष्ट कर दो । पीडा पहुँचानेवाले बाहरी, तथा भीतरी जो शत्रु हैं, जो हमसे द्वेष रखते हैं उनका समूल उन्मूलन कर दो । तुम देवताओं में मुख्य हो । हम तुम्हारा आश्रय करते हैं । इन्द्रादि देवताओं की अपेक्षा तुम अत्यधिक सुख देनेवाले हो । अन्यान्य देवता भी सुख पहुँचाते हैं, किन्तु तुम उनसे भी अधिक सुख की प्राप्ति कराते हो । अन्य देवता भी पवित्र हैं, किन्तु तुम उनसे भी अधिक पवित्रतम हो । अन्य देवता भी मनोरथ पूरक हैं, किन्तु तुम सभी कामनाओं

देवा अपि पूरकास्त्वं पप्रितमः सर्वकामपूरकतमः। देवा अपि भक्तैः सेव्यन्ते त्वं तु जुष्टतमः। ब्रह्मादिभिरप्यतिशयप्रीत्या सेव्यमानत्वात्। देवा अपि यज्ञे हूयन्ते तेन ते देवह्व उच्यन्ते। त्वं तु तैरपि हूयसे तेन देवहूतमोऽसि। यद्वा देवानामाह्वातारो मन्विक्ष्वाकुमान्धात्रादयस्त्वं तेष्वप्यतिशयितो रामरूपेण देवहूतमः। तं तादृशं त्वां वयमाश्रयामः।

९—यद्वा जीव एव शास्त्राधिकारीति हेतोः स एव सम्बोध्यः। हे आत्मन् त्वं धूरसि चेतनाचेतनात्मके जगति धूरसि अग्रगण्योऽसि। 'अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया' (रघुवंश म० का० २।२) इति महाकविप्रयोगात्। कर्मोपासनादिवेदविधाने प्राधान्येनाधिकृतोऽसि। त्वं धूर्वन्तं हिंसन्तं धूर्व हिंसय। 'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु येन मायिनः।' (कि० म० का० १।३०) 'यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं सधर्मः। मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥' (म० भा० उ० प० ३७।७) इत्यादिनीतिवचनेभ्यः। यश्चास्मान् वेदान् वेदानुयायिनश्चास्तिकान् देवान् वा धूर्वति तं धूर्व। स्वधर्मानुष्ठानार्जितदिव्याध्यात्मबलेन विनाशय। वयं वेदा आस्तिका देवा वा यान् नास्तिकान् अर्धनास्तिकान् चार्वाकप्रायान् वा धूर्वामः नाशयितुमिच्छामः तञ्च धूर्व। वेदवेदान्ततदर्थानुष्ठान प्रचारादिभिरलौकिकशक्त्या सङ्घटनेन च धूर्व नाशय। शिक्षया वा—त्वं च प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं ब्रह्मैवासि। कीदृशं तत् देवानामिन्द्रियाणामिन्द्रादीनाञ्च वह्नितमम् प्रकाशविषय हविरादिप्रापकतमम्। सस्नितमम् पवित्रतमम्, 'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानाञ्च मङ्गलम्' (म० भा० अनु० प० १४९।१०) 'पावनानाञ्च पावनम्' इत्यादिस्मृतेः। पप्रितम् सर्वपूरकस्वव्याप्त्या सर्वेषां सत्तास्फूर्तिप्रदश्च। जुष्टतमम् सर्वसेव्यम् नास्तिकानामपि प्राणस्य प्राणत्वात्। सुखस्य सुखत्वात्। आत्मनामप्यत्मत्वात् परमसेव्यत्वेन जुष्टतमम्। देवहूतमम् सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात् देवा अपि आहूता एव त्वामाश्रयन्ते इति त्वं देवहूतम् (नपुंसक-प्रयोगः) 'प्राणस्य प्राणम्' (केनोपनिषद् १।२) सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः। श्रियः श्रीश्चभवेदग्र्या कीर्तेः कीर्तिः क्षमाक्षमा॥' (वा० रा० २।४४।१५) इत्यादिवचनेभ्यः।

के पूरक हो। भक्त लोग देवताओं की सेवा करते हैं। यज्ञों में देवताओं को बुलाया जाता है, उस कारण उन्हें 'देवहव्' कहा गया है, किन्तु तुम्हें तो वे देवता भी बुलाते हैं, इसलिये तुम 'देवहूतम' कहलाते हो। अथवा देवताओं को बुलाने वाले मनु, इक्ष्वाकु, मान्धाता आदि कितने ही बड़े-बड़े लोग हैं, किन्तु तुम उनसे भी अत्यधिक हो, राम के रूप में 'देवहूतम' हो। तुम्हारा हम आश्रय करते हैं।

९—अथवा शास्त्र का अधिकारी 'जीव' ही है, इस कारण वह ही सम्बोध्य है। हे आत्मन्! तुम चराचर जगत् में अग्रगण्य हो। महाकवि कालिदास ने भी 'अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया'—यह प्रयोग किया है। कर्मोपासनादि वैदिक विधान में प्रधानतया तुम्हारा अधिकार है। तुम हिंसक का विनाश करो। नीतिशास्त्र के अनेक वचन भी इसी बात को बता रहे हैं। जो 'वेदों का और वेदानुयायियों का तथा हम आस्तिकों का नाश करना चाहता है उसे तुम नष्ट कर दो। अर्थात् स्वधर्मानुष्ठान से अर्जित दिव्य अध्यात्मबल से उन हिंसकों का नाश करदो। हम, वेद, आस्तिक लोग अथवा देवगण, जिन नास्तिकों' अर्धनास्तिकों अथवा चार्वाक प्राय लोगोंको नष्ट करना चाहते हैं, उन्हें तुम नष्ट करदो। वेद-वेदान्त, तदर्थ के अनुष्ठानप्रचारादि से और संघटनात्मक अलौकिक शक्ति से उनको विनष्ट करदो। तुम तो प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न ब्रह्म ही हो। देवगण, इन्द्रिय इन्द्र आदि के प्रकाश विषय हविरादि के प्रापक हो! अत्यन्त पवित्र हो। श्रुति-स्मृतियाँ भी तुम्हारी अत्यधिक पवित्रता का समर्थन करती हैं। और सर्वपूरक स्व-व्याप्ति से सभी के सत्तास्फूर्ति के प्रदायक हो। तुम नास्तिकों के प्राणों के भी प्राण हो, इस कारण सभी के द्वारा सेव्य हो। तुम सुख के भी सुख हो, आत्माओं के भी आत्मा हो, इस कारण परम सेव्य हो। समस्त प्राणियों के प्रेमास्पद हो, इसी कारण देवगण भी आहूत हुए से तुम्हारा ही आश्रय करते हैं इसलिये तुम 'देवहूतमम्' कहलाते हो। यहाँ 'प्राणस्य प्राणम्' के समान नपुंसलिंग में प्रयोग किया गया है। उक्त अभिप्राय का समर्थन वाल्मीकि रामायण के वचन से भी किया गया है।

१०—अह्नुतमसीत्यत्रापि स्वामिदयानन्दो व्यत्ययाधारमेव व्याख्यातवान् । तद्रीत्या यथाश्रुतार्थव्याख्यानासम्भवात् उरु वाता येत्यस्य वायोः शुद्धये सुखवृद्धये वेति कथमर्थः ? रक्ष इत्यस्य दुर्गन्धादिदोषजालमित्यादिकमर्थस्तु स्वच्छन्दताया अपूर्वमुदाहरणम् । पञ्चेत्यस्य उत्क्षेपणादिपञ्चकर्माणि । प्रथमान्तं पञ्चेति कथं तृतीयात्वेन परिणेयम् ? किञ्च तत्र मानम् ? इत्यस्य मौनमेवोत्तरम् ।

यदुक्तम्—'हे ऋत्विक् यदग्निना दृंहितमह्नुतं हविर्धानमस्यास्ति तद् दृंहस्व, तत्कदाचिन्मा ह्वाः मा त्यजेः, इदं ते तव यज्ञपतिर्दृंहता मा ह्वार्षीत् मा त्यजतु । एवं भवन्तः सर्वे मनुष्याः पञ्चभिः पञ्चभिरुत्क्षेपणादिभिः कर्मभिर्यदग्नौ हूयते तन्नियच्छन्ताम् निगृह्णन्तु यद् द्रव्यं विष्णुर्व्यापनशीलः सूर्यो अपहतं रक्षो यथास्यात्तथोरुवाताय क्रमतां क्रमयति चालयति । त्वा तत्सर्वं मनुष्या अग्नौ होमद्वारा यच्छन्ताम् निगृह्णन्तु' (पृ० ५८) इति, तदपि न किञ्चित् हे ऋत्विक् इति सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात् पूर्वेणसङ्गत्ययोगाच्च । कीदृशं हविर्धानम् अग्निना कथं दृंहितमित्यपि अस्पष्टत्वात् छायावादिव्याख्यानम् । मा त्यजेरिति किं हविर्धानस्य त्यागो निषिध्यते ? दृंहस्वेति क्रियायास्त्वमित्येन सम्बन्धो योग्यः । यज्ञपतिर्दृंहतामिति किमर्थं व्यत्ययः ? स किं न त्यजतु ? पञ्चभिः कर्मभिर्होमस्य कथं नियमनम् ? वेत्यस्य तत्सर्वंहोमद्वारा कथं निग्रहः ? सर्वथाऽपि दुर्बोधोऽयमर्थः । यदा मनुष्याः परस्परं प्रीत्या कुटिलतां विहाय शिक्षकशिष्या भूत्वेमामग्निविद्यां विज्ञक्रियाभ्यां ज्ञात्वानुतिष्ठन्ति तदा महतीं शिल्पविद्यां सम्पाद्य शत्रु-दारिद्रय-निवारणपुरःसरं सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयुरिति भावार्थस्तु ततोऽपि विलक्षणः ।

१०—'अह्नुतमसि' मन्त्र का व्याख्यान स्वामी दयानन्द ने व्यत्यय का सहारा लेकर ही किया है । उनकी रीति के अनुसार यथाश्रुत अर्थ करना संभव ही नहीं है । 'उरुवाताय' का वायु की शुद्धि के लिये अथवा सुख वृद्धि के लिये—यह अर्थ कैसे हुआ ? 'रक्ष' का दुर्गन्धादि दोष इत्यादि अर्थ करना तो अपनी स्वच्छन्दता प्रदर्शन करने का अपूर्व उदाहरण है। पञ्च' का उत्क्षेपणादि पाँच कर्म । प्रथमान्त 'पञ्च' पद का तृतीयान्त के रूप में परिणाम कैसे किया गया ? ऐसा करने में क्या कोई प्रमाण है ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर देने में दयानन्दानुयायियों को मौन ही रहना पड़ता है ।

दयानन्दजी ने यह जो कहा है कि 'हे ऋत्विक् ! तुम जो अग्नि से दृंहित जिसका हविर्धान है, उसे तुम दृढ़कर दो, उसका त्याग कभी मत करो । यज्ञपति से दृंहित हुए उसका त्याग न करे । इसी प्रकार आप सभी मनुष्य उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों से अग्नि में जो हवन करते हैं उसका निग्रह करें । व्यापनशील सूर्य (विष्णु) जिस द्रव्य को प्राप्त कर सके, राक्षस लोग उसका अपरहण न कर पावें ऐसा करो हे मनुष्यों अग्नि में होम के द्वारा उन सब का निग्रह करो ।

यह उपर्युक्त दयानन्दीय व्याख्यान, निःसार है । हे ऋत्विक् ! इस सम्बोधन के प्रयोग करने में कोई मूल नहीं है, अर्थात् यह प्रयोग निर्मूल है । पूर्व कथन के साथ कोई उसकी सङ्गति भी नहीं है । वह हविर्धान कैसा है ? अग्नि के द्वारा वह कैसे दृंहित है ? इसकी कोई स्पष्टता नहीं की है । केवल छायावादी व्याख्यान किया है । 'मा त्यजे' कहकर क्या हविर्धान के त्याग का निषेध किया जा रहा है ? 'दृंहस्व' इस क्रिया का 'त्वम्' के साथ सम्बन्ध करना उचित है । 'यज्ञपतिर्दृंहताम्' ऐसा व्यत्यय क्यों किया गया है ? वह क्या न त्यागे ? पाँच कर्मों से होम का कैसे नियमन होता ? 'वा' का तत्सर्व होम के द्वारा विग्रह कैसे होता है ? सर्वथापि यह दुर्बोध अर्थ है जब मनुष्य परस्पर प्रेम कर और कुटिलता का त्याग कर शिक्षकों के शिष्य बनकर इस अग्निविद्या का विज्ञ क्रियाओं के द्वारा जानकर अनुष्ठान करेंगे तब महान् शिल्प विद्या का सम्पादन कर शत्रुओं का दरिद्रता का निवारणपूर्वक समस्त सुखों को प्राप्त कर सकेंगे'—यह भावार्थ तो पूर्वोक्त व्याख्यान से भी विलक्षण है ।

११—यत्तु—अध्यात्मपक्षविवरणे 'अह्रुतमसि हविर्धानं वेदविज्ञानं वाक् चैव मनश्च हविर्धानं (कौ० ८।३) दृ ँ ह्स्व, मा ह्वाः अस्मान्' (पृ० ५८।३) इत्यादिकमुक्तम्, तदपि तुच्छम्, तत्र कौटिल्यासम्भवेन अह्रुतत्वोक्तेरयोगात्। कौषीतकीवचनेन तु वाङ्मनसयोः प्रत्येकस्य हविर्धारणहेतुत्वेन हविर्धानत्वमुक्तम्। किञ्च वेदविज्ञानं दृढमेवास्ति तत्र दृ ँ ह्स्वेति नियोगो व्यर्थ एव स्यात्।

दयानन्दीयं हिन्दीभाष्यमपि विरुद्धमेव। तथाहि तत्र तु हे ऋत्विक् मनुष्य तुम जो अग्नि से बढ़ा हुआ (अह्रुत) कुटिलतारहित (हविर्धान) होमके योग्य पदार्थों का धारण करना है उसको (दृँहस्व) बढ़ावो किन्तु किसी समय में (मा ह्वाः) उसका त्याग मत करो। तथा वह तुम्हारा यज्ञपति यजमान भी उस यज्ञ को बढ़ावे और उसके अनुष्ठान को न छोड़े।' नात्र वेदविज्ञानं तेनोक्तम्। यद्यप्येतेनापि न मन्त्रार्थः स्फुरयते। तुम लोग एक तो ऊपर को चेष्टा करना दूसरा नीचे को तीसरा चेष्टा से अङ्गों को सङ्कोचना चौथा उनको फैलाना पांचवाँ चलना-फिरना। इन पाँच प्रकार के कर्मों से हवन के योग्य जो द्रव्य हो उसको अग्नि में नियम से धारण करो अर्थात् हवन करो त्वा वह जो हवन किया द्रव्य है उसको व्यापनशील जो सूर्य है वह अपहतं रक्षः दुर्गन्धादि दोषों को दूरकर उरु वाताय अत्यन्त वायु की शुद्धि वा सुख की वृद्धि के लिये ऊपर को क्रमता है—बढ़ा देता है त्वा उस सब को हवन द्वारा नियम से धारण करें। इति दृश्यतां दयानन्दीयं चमत्कृतिमयं विज्ञानभूयं विज्ञानम्। किं होम उत्क्षेपणसङ्कोचनप्रसारणादीनामुपयोगो भवति? दृंहतेर्वृद्ध्यर्थता ह्वरतेस्त्यागार्थता त्वेत्यस्य तदर्थता रक्ष इत्यस्य दुर्गन्धतार्थता—इत्यपूर्वोऽर्थः। वातायेत्यस्य वातशुद्धिपरत्वादिकं तु पूर्वमिहैव भूमिकायाञ्च निरस्तमेव। विवरणकृताऽनावश्यकं बहुप्रलपतापि भाष्याभिप्रायवर्णने मौनमेवालम्बितम्।

अयं मन्त्रो (शत० १।२।१२-१६) इत्यप्युक्तं दयानन्देन परन्तु शतपथवचनानि सर्वथा तद्व्याख्यानविरुद्धान्येव। तथाहि—'अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति देवानामसि वह्नि.........देवहूतमम्।

अह्रुतमसि हविर्धानं दृंहस्व माह्वारित्यन एवैतदुपस्तौत्युपस्तुताद्यातमनसो हविर्गृह्णानीति मा यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते।' (श० १।१।२।१२) शकटस्याधःपतनं वारयितुमीषादण्डप्रोत्तम्भनार्थमिथी कस्तम्भी। कस्तम्भीमीषां स्पृशति। यद्यप्ययं मन्त्र ईषाभिमर्शने विनियुक्तस्तथाप्यवयविस्तुत्याऽवयवः स्तुतो भवतीत्यभिप्रेत्यैतन्मन्त्रवाक्यं वोढृतमत्वादिगुणकथनेनान एवोपस्तौति—अभिप्रष्टव्येषापरित्यागेन

११—अध्यात्मिक पक्ष के विवरण में जो कहा है, वह भी तुच्छ है, क्योंकि उसमें कौटिल्य का संभव न होने से अह्रुतत्वोक्ति सङ्गत नहीं हो रही है। कौषीतकी वचन से तो वाक् और मन दोनों में से प्रत्येक में हविर्धारण की हेतुता रहने से दोनों को हविर्धान शब्द से कहा गया है। किञ्च वेद का विज्ञान तो दृढ़ ही होता है, उसमें 'दृंहस्व' ऐसा नियोग करना व्यर्थ ही होगा।

दयानन्दीय हिन्दी भाष्य भी विरुद्ध ही है। तथाहि—उसमें जो कहा है, वह तो दयानन्दीय चमत्कारमय विज्ञान का अद्भुत तमाशा ही है। क्या होम में उत्क्षेपण अपक्षेपण, सङ्कोचन, प्रसारण आदि का उपयोग होता है? किञ्च—'दृंह' का अर्थ वृद्धि, 'ह्वृ' का अर्थ त्याग, 'त्वा' का अर्थ तदर्थ, 'रक्ष' का अर्थ दुर्गन्ध, यह अपूर्व ही अर्थ बताये गये हैं। 'वाताय' का वात शुद्धि अर्थ जो बताया है, उस का खण्डन हमने भूमिका में कर दिया है। दयानन्दी भाष्य के विवरणकार ने अनावश्यक बहुत-सा प्रलाप करते हुए भी भाष्य के अभिप्राय वर्णन में मौन का ही अवलम्ब किया है।

शतपथ के (१।२।१२-१६) को दयानन्दजी 'मन्त्र' कह दिया है, परन्तु शतपथ के वाक्य उनके व्याख्यान के सर्वथैव विरुद्ध हैं। शतपथ के अनुसार यद्यपि इस मन्त्र का ईषाभिमर्शन में विनियोग बताया गया है, तथापि अवयवी की स्तुति करने से अवयव स्तुत हो ही जाता है—इसी अभिप्राय से यह मन्त्र वाक्य वोढृतमत्व आदि गुणों को बताकर

तदवयवादिशकटं स्तुवतोऽभिप्रायमाह उपस्तुतादित्यादिना । उपस्तुतादनसः घ्रातं देवानां तृप्तिजनने पर्य्याप्तं (घ्रं तृप्ता) वितिधातो रूपम् । हविर्गृह्णानीति । तेन यज्ञपतिर्मा ह्वार्षीत् । यजमानो वै यज्ञपतिः स मा ह्वार्षीत् यज्ञविघ्नेन कुटिलगतिर्माभूत् । तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते । अह्वरा इत्यत्र रेफस्थाने लकारप्रयोगः, रलयोरभेदात् । ह्वरण-निषेध एव तदर्थः । यजमानस्य कुटिलगत्यभावमेवाशास्ते ।

१२—अथाक्रमते विष्णुस्त्वा क्रमतामिति । यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे येषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैताभ्वेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते । (श० १।१।२।१३) ।

शकटारोहणं विधत्ते—हे शकट त्वां विष्णुरेवाक्रमताम्, नाहम् । विष्णोरेव क्रमणं किमिति प्रार्थ्यते इतिचेद् तत्राह यज्ञो वै विष्णुः, व्यापनसामान्यात् तादात्म्यव्यपदेशः । एषां देवानामर्थ इयं वैष्णवी विक्रान्तिः । इदं परिदृश्यमानं पृथिव्याख्यं स्थानं प्रथमेन पदा पादनिधानेनाक्रममाणः पस्पार पालयामास (स्पृ प्रीतिपालनयोः) द्वितीयेनान्तरिक्षं तृतीयेन पदा दिवं पस्पार पालयामास । एवं त्रिभिः पद्भिः त्रीण्यपि स्थानानि स्वायत्तीकृतवान् विष्णुरिति मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु पुराणेषु च स्पष्टमेव ।

'अथ प्रेक्षते । उरु वातायेति प्राणो वै वातस्तद्ब्रह्मणैवैतत् प्राणाय वातायोरुगायं कुरुते । (श० १।१।२।१४) ।

पुरोडाशीयानां व्रीहीणां समन्त्रकमीक्षणं विधत्ते–'वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२) इति प्राणवातयोरैक्यमभिप्रेत्य ब्राह्मणा मन्त्रेणैव प्राणात्मकाय वाताय एतत् उरुगायमुरुभवनकीर्तनं क्रियत इत्यर्थः । वातात्मक-प्राणसञ्चाराय हे शकट उरु विस्तीर्णं त्वां करोमीति । 'अथापास्यति । अपहतꣳ रक्ष इति । यद्यत्र किञ्चिदापन्नं भवति यद्युवमृशेत्तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳसि स्यतोपहन्ति (श० १।१।२।१५) अत्र व्रीहिषु यदि किञ्चित् तृणादिकमापन्नं क्षिप्तं भवेत् तत्र अपहतमितिमन्त्रेण निरस्येत् । यदि तन्न भवेत्तदा पुरोडाशीयं व्रीहिसमूहमेवानेन मन्त्रेणाभिमृशेत् ।

'अथाभिपद्यते । यच्छन्तां पञ्चेति पञ्च वा इमा अङ्गुलयः पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद्यज्ञनेवैतदत्र दधाति ।' (श० १।१।२।१६) ।

ही स्तुति कर रहा है । अभिम्रष्टव्य ईषा का परित्याग करके उसके अवयवादि शकट की स्तुति का अभिप्राय 'उपस्तु-तात्' आदि से कहा गया है । इस प्रकार उपस्तुत हुए शकट से देवताओं को तृप्त करने में प्रर्याप्त हवि का ग्रहण करता है । उस कारण यजमानरूप यज्ञपति यज्ञ में कदाचित् समुत्पन्न विघ्न के कारण कुटिल गति न हो । यजमान के निमित्त ही इस अह्वला (आशीर्वाद) को माँगता है । अर्थात् यजमान की कुटिल गति के अभाव की वह कामना करता है ।

१२—शतपथ के वचनानुसार शकटारोहण करते समय वह कहता है कि हे शकट ! तुम पर विष्णु ही आक्र-मण करे, मैं नहीं । विष्णु के ही आक्रमण को वह क्यों चाहता है ? तो कहा है कि 'यज्ञो वै विष्णुः', व्यापन की समा-नता को देखते हुए दोनों में तादात्म्य व्यवहार किया गया है कि यज्ञ ही विष्णु है । इन देवताओं के लिये विष्णु का यह आक्रमण है । परिदृश्यमान इस पृथिवीस्थान पर प्रथम पादनिधान के द्वारा आक्रमण कर उसका उसने पालन किया । द्वितीय पादनिधान के द्वारा आक्रमण कर अन्तरिक्ष का पालन किया । तदनन्तर तृतीय पाद से द्युलोक (स्वर्ग) पर आक्रमणकर उसका पालन किया । इस प्रकार तीन ही पदों से (पादनिधान के द्वारा) तीनों ही स्थानों को उस विष्णु ने अपने स्वाधीन कर लिया । यह कथा मन्त्र, ब्राह्मण और पुराण ग्रन्थों से स्पष्ट ही है । शतपथ ब्राह्मणवचन के अनुसार पुरोडाशीय व्रीहियों का समन्त्रक ईक्षण का विधान किया गया है । प्राण और वात की एकता के अभिप्राय से मंत्र ने ही उसका विस्तीर्ण होना बताया है । अर्थात् वातात्मक प्राण के सञ्चारार्थ हे शकट ! मैं तुम्हें विस्तीर्ण कर रहा हूँ । तदनन्तर शतपथ ने कहा है कि उन व्रीहियों में यदि कोई तृणादि गिरा हो तो उसे उनमें से निकाल दे । यदि कोई तृण-

हविर्ग्रहणाय समन्त्रकं स्पर्शनं विधत्ते—अथाभिपद्यत इति । अथानन्तरमभिपद्यते आलभते स्पृशति हविर्ग्रहणाय मुष्टिं बध्नन्तु पञ्चांगुलय इत्यर्थः । मन्त्रगतपञ्चशब्दार्थमाह पाङ्क्तो वा इति । 'पञ्चपदा पङ्क्तिः' (ऐ० आ० १।३।८) यज्ञोऽपि धानाकरम्भादिपञ्चहविष्कः पञ्चसंख्यायोगसाम्यात् । तदुक्तम् धानाः करम्भाः परिवापः पुरोडाशः पयस्या तेन पङ्क्तिराप्यते तद्यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम् । (तै० सं० ६।५।११।८) तथा सति एतेन पञ्चशब्दोपेतमन्त्रोच्चारणेन अत्र अस्मिन् शकटे पाङ्क्तं यज्ञमेव धारयतीत्यर्थः । यद्वा पञ्चाङ्गुलिना युक्तेन मुष्टिना व्रीहीन् गृह्णीयादित्यर्थ उक्तः ।

१३—अत्र दयानन्दीयस्पार्थस्य गन्धोऽपि नोपलभ्यते । दुर्भाग्यवशात् दयानन्देन प्रभुसम्मितस्य ब्राह्मणभागस्यापौरुषेयत्वं वेदत्वं चापलप्य महतेऽनर्थायैव परिकरबन्धः कृतः । तत एव पदे पदे स्वेच्छाचारितामवलम्ब्य श्रुतिषु बलात्कारः कृतः । वस्तुतस्तु प्रभुस्थानीयं ब्राह्मणमेव तानि कर्माणि विदधाति तदर्थं देवताद्रव्यसम्बन्धमभिधाय यथाद्रव्ये प्रोक्षणादिसंस्कार विदधाति तथैव द्रव्यदेवतादिस्तुतौ मन्त्रं विनियुङ्क्ते । संस्कारार्थमेव मन्त्रव्याख्यानमपि करोति । तावतैवानभिज्ञा मन्त्रव्याख्यानमेव ब्राह्मणं मन्वते तेनैतज्जानन्ति यत् मन्त्रो यथा द्रव्याणां प्रोक्षणावघातादीन् संस्कारान् विदधाति तथैव मन्त्रानपि विनियोगानुसारं व्याख्याय ब्राह्मणं मन्त्रसंस्कारानपि विदधाति ।

१४—अथाक्रमते विष्णुस्त्वाक्रमतामिति (श० १।१।२।१३) अत्र शकटारोहणे विष्णुस्त्वाक्रमतामिति मन्त्रो विनियुक्तः । अथ प्रेक्षते अरु वातायेति प्राणो वै वातस्तद्ब्रह्मणवैतत्प्राणाय वातायोरुगायं कुरुते' (श० १।१।२।१४) प्राणवातयोरैक्यमभिप्रेत्य ब्रह्मणा मन्त्रेणैव प्राणात्मकाय वाताय उरुगायं उरुभवनकीर्तनं कुरुते । 'अथापास्यति ।

कङ्कड़ आदि अपद्रव्य न गिरा हो तो पुरोडाशीय व्रीहि का इस मन्त्र से स्पर्शमात्र ही कर ले, और हविर्ग्रहण करे। हविर्ग्रहण करने के लिये अपनी पांचों अँगुलियों से मुठ्ठी भर ले । पञ्चशब्द का अर्थ 'पाङ्क्तोवा से बताया गया है। 'पञ्चपदा पङ्क्तिः' इस ब्राह्मण वाक्य के अनुसार यज्ञ भी धाना, करम्भ आदि पांच पदार्थों से युक्त होने के कारण 'पञ्च हविष्क' कहलाता है । कहा भी है कि 'धाना, करम्भ, परिवाप, पुरोडाश और पयस्या'—इन पदार्थों से पङ्क्ति का स्वरूप निष्पन्न होता है । यही यज्ञ का पाङ्क्तत्व है । ऐसी स्थिति में इस पञ्चशब्दोपेत मन्त्र के उच्चारण से इस शकट को पाङ्क्त यज्ञ के रूप में ही समझा जाता है । अथवा पांच अँगुलियों से युक्त मुठ्ठी के द्वारा व्रीहियों को ग्रहण करे—यह भी अर्थ बताया गया है ।

१४—यहाँ पर दयानन्दीय अर्थ का गन्ध भी उपलब्ध नहीं है । दयानन्द ने दुर्भाग्यवश प्रभुसम्मित ब्राह्मण भाग के अपौरुषेयत्व और वेदत्व का अपलाप कर महान् अनर्थ पैदा करने के लिये कमर बांध ली हैं। उसी कारण पग-पग पर स्वेच्छाचारी बनकर भगवती श्रुतिमाता पर बलात्कार किया है ।

वस्तुतः प्रभुस्थानीय ब्राह्मण ने ही उन कर्मों का विधान किया है । उन कर्मों के लिये देवता—द्रव्य के संबंध को बता कर जैसे द्रव्य पर प्रोक्षणादि संस्कार का विधान किया है, वैसे ही द्रव्य-देवता आदि की स्तुति में मन्त्र का विनियोग भी उसीने किया है । संस्कार के लिये ही मन्त्र का व्याख्यान भी किया है। यही देखकर वेद के स्वरूप को न जाननेवाले अनभिज्ञ लोग मन्त्रव्याख्यान को ही ब्राह्मण समझते हैं । उस कारण वे इतना ही जानते हैं कि जिस प्रकार मन्त्र, द्रव्यों के प्रोक्षण, अवघातादि संस्कारों को बताता है । उसी प्रकार ब्राह्मण, विनियोगानुसार मन्त्रों की भी व्याख्या करके मन्त्र संस्कारों का भी विधान करता है ।

१४—शकट पर आरोहण करने में 'विष्णुस्त्वा क्रमताम्' मन्त्र का विनियोग बताया गया है। 'उरु वाताय' इस मन्त्र से उसकी ओर देखता है । प्राण और वात की एकता के अभिप्राय से मन्त्र के द्वारा प्राणात्मक वायु के सञ्चारार्थ उसे विस्तीर्ण होने के लिये कहता है तदन्तर उन व्रीहियों में गिरे हुए तृणादि अपद्रव्य का निरसन मन्त्र बोलकर करता है । यदि उन व्रीहियों में तृणादि कोई अपद्रव्य न हो तो उन व्रीहियों का मन्त्र बोलते हुए स्पर्श करता है ।

अपहत ७ँ रक्ष इति यद्यत्र किञ्चिदापन्नं भवति यद्युनाऽभ्येवमृशेत्तन्नाष्ट्रा .... अपहन्ति ।" (श० १।१।२।१५) पुरोडाशीयेषु व्रीहिषु यत्किञ्चित् तृणादिकं क्षिप्तं भवति तत् 'अपहतमि'ति मन्त्रेण निरस्यति । यदि तु तत्र तृणादिकं न भवेत् तदा तद्वत् व्रीहिसमूहमेवानेन मन्त्रेणाभिमृशेत् इत्यर्थः । 'अथाभिपद्यते । यच्छन्तां पञ्चेति । पञ्च वा इमा अङ्गुलयः पाङ्क्तो वै । यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतदत्र दधाति' (श० १।१।२।१६) दयानन्दस्तूत्क्षेपणादीनि कर्माणि पञ्चपदेन गृह्णन् स्वाच्छन्द्यमेव दर्शयति । तेन धर्मकीर्त्यादीनां 'श्वमासं भक्षयेदि'ति विधिकल्पनावकाशो भवति ।

१५—अध्यात्मपक्षे—हे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१) इति श्रुतिप्रतिपादित त्वमह्रुतमसि अकुटिलमसि सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात् सर्वत्र सत्तास्फूर्तिप्रदत्वात् । त्वञ्च हविर्धानमसि देवतुल्यपुण्यात्मभोग्यस्यानन्दलक्षणस्य हविषो निधानमसि । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० उ० ४।३।३२) 'रस ७ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै० उ० २।७) । इति श्रुतेः ।

दृ७ँहस्व स्वसत्तया स्फूर्त्या च सर्वाणि वस्तूनि दृढीकुरु । (मा ह्वाः) हे ब्रह्मन् यद्यपि त्वं पूर्वोक्त्यनुसारेणाकुटिलमेवासि तथापि प्राणिनां कर्मानुसारेण कर्मफलप्रदत्वात् तत्तत्कर्मोचितदण्डविधानेन कुटिलमिव भवसि तेन प्रार्थये त्वं कौटिल्यं मा भज । अकारणकरुणावरुणालयत्वात् । क्षमासिन्धुत्वाच्च । अपराधिजनेष्वपि कृपामेव कुरु । यथा जगज्जनन्या सीतया प्रोक्तम्—'कार्यं कारुण्यमार्गेण न कश्चिन्नापराध्यति ॥' (वा० रा० युद्धकाण्ड ११३।४४) शक्रसुतजयन्तादिसम्बन्धे त्वदकौटिल्यदर्शनात् ।

'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि ।' (सप्तशती ४।२२) न्यायाचार्यैः श्रीमदुदयनाचार्यैरपि तथैव प्रार्थितं न्यायकुसुमाञ्जलौ—'इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते येषां, नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः । किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयाप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः, काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः ॥' (न्या० कु० ५।१८) रावण-शिशुपाल कंसादयो विरोधिनोऽपि शत्र्वादिबुद्ध्यापि भगवन्तं चिन्तयानाः सद्गतिं लेभिरे इति नाश्चर्यम् । भगवत्सत्त्वमप्यनङ्गीकुर्वाणास्तत्खण्डनपरायणा नास्तिका अपि प्रस्तुतेश्वरसिद्धिप्रतीपतया महताभिनिवेशेन ये खण्डनीयतयोच्चैर्भवन्तं चितयन्ते ते ऽपि हे कारुणिक यथाकालं त्वयैव सद्बुद्धिप्रदानादिभिर्वासनीयाः । स्वभावनया पूरणीया इति तात्पर्यम् । ते तव सम्बन्धी यज्ञपतिः यज्ञादिना भवदुपासकः सोऽपि त्वामनुसृत्य मा ह्वार्षीत् कुटिलो माभूत् । स्वामिगुणानामेव सेवकेषु सञ्चारात् । नन्वेवं दण्डभयाभावादसुरा यथेच्छमास्तिकानां बन्धवधादिकं करिष्यन्तीति चेत्तत्राह—विष्णुस्तु त्वदीयो जगत्पालकोंऽश उरु बहुधा आक्रमतामसुराणां वधाय दण्डदानाय

शतपथ ब्राह्मण वाक्य में प्रयुक्त 'पञ्च' शब्द का अर्थ, दयानन्द ने उत्क्षेपणादिकर्म किया है, जो उनकी स्वच्छन्दता का प्रदर्शन कर रहा है । उस कारण धर्म कीर्ति आदि बौद्धों ने जो 'श्वमांसं भक्षयेत्' इस प्रकार विधि कल्पना की है, उसे भी अवकाश मिल जाता है ।

१५—अध्यात्मपक्ष में—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित स्वरूपवाले हे परमेश्वर ! समस्त प्राणियों के परमप्रेमास्पद होने के कारण तथा सर्वत्र सत्ता स्फूर्ति के प्रदायक होने से तुम अकुटिल हो । उसी प्रकार देवताओं के पुण्यात्मा लोगों से भोग्य आनन्दलक्षण 'हवि' के निधान हो । अर्थात् तुम हविर्धान हो । अपनी सत्ता और स्फूर्ति से सम्पूर्ण वस्तुओं को दृढ़ करो । हे ब्रह्मन् ! यद्यपि तुम पूर्वकृत कथनानुसार अकुठिल ही हो, तथापि प्राणियों के उनके अपने-अपने कर्मानुसार उन्हें फलप्रदान करने के कारण, अर्थात् तत्कर्मोचितदण्डविधान करने के कारण कुटिल से हो जाते हो, इसलिये मैं तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम कुटिल मत बनो । क्योंकि तुम तो अकारण करुण, करुणा वरुणालय हो । और क्षमा के तो सागर ही हो । अपराधीजनों पर भी कृपा ही करो । युद्धकाण्ड में जगज्जननी-सीताजी ने भी इसी बात को कहा है । इन्द्रसुत जयन्त के सम्बन्ध में तुम्हारी अकुटिलता को सभी ने देखा है । सप्तशती के चतुर्थ अध्याय में भी कहा है—'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि, न्यायाचार्य श्रीमदु दयनाचार्य ने भी न्यायकुसुमाञ्जलि में उसी तरह प्रार्थना की है । शत्रुबुद्धि से भगवच्चिन्तन करनेवाले रावण, शिशुपाल,

परिणामेऽनुग्रहाय च तेष्वाक्रमणं करोतु। किमर्थं भक्तानां प्राणाय प्राणरक्षणाय धर्मस्य जीवनाय सर्वस्यैव जगतः सप्राणत्वाय पालकस्य विष्णोराक्रमणमसुरेषु भवतु। तेनैव रक्षोऽपहतं धर्मबाधका राक्षसासुरादयो बाधिता भविष्यन्ति। भक्तास्तु त्वदीयतादृक्चरित्रचिन्तनेन पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि यच्छन्ताम् नियमयन्तु। पञ्चोपलक्षणं चतुर्दश करणानां तथा च समेषां नियमनेन भक्तास्त्वां प्राप्नुवन्तु। "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥' (कठोप० २।३।१०) बाह्यकरणावरोधमन्तरा नान्तःकरणावरोधस्तमन्तराखण्डनिर्विकल्पबोधात्मकब्रह्मस्फुर्त्यसम्भवेन न तदात्मलाभः सम्भवति।

१६—यद्वा हे आत्मचैतन्य त्वं पारमार्थिकचिदात्मरूपेण अह्नुतमसि हविर्धानं सुखनिधानमसि। दृꣳहस्व परब्रह्मात्मपदप्राप्तये आत्मानं दृढीकुरु। मा ह्वाः भगवन्तं प्रति कौटिल्यं मा भज। 'विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे।' (श्री० भा० म० पु० २।२।१८) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। तथा सति यज्ञपतिर्यज्ञभोक्ता भगवानपि 'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वभूतमहेश्वरम्।' (श्री० भ० गी० ५।२९) मा ह्वार्षीत् त्वां प्रति कुटिलो माभूत्। तस्य भक्तानुसारित्वात् 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (श्री० भ० गी० ४।११) इति गीतोक्तेः। त्वा त्वां विष्णुर्विशुद्धसत्त्वोपाधिकः पालको भगवान् त्वामभिलक्ष्य त्वद्धिताय त्वदीयबाधकेषु कामक्रोधादिष्वान्तरेषु बाह्येषु च सपत्नेषु आक्रमताम्। यद्वा त्वां त्वदीयं हृदयमाक्रम्य तिष्ठतु तत्राविर्भवत्वित्यर्थः। किमर्थम् उरु वाताय बहूनामास्तिकानां सप्राणत्वाय। तावतैवापहतरक्षः बाधकं सर्वमपनुन्नं भवतु। तेन च सर्वे साधकाः पञ्च ज्ञानेन्द्रियादीनि करणानि यच्छन्ताम् नियमयन्तु। तद्व्याजेनैव यथा पूर्वस्मिन् मन्त्रे शठं प्रतिशाठ्यमिति नीतेरुपदेशस्तथैवात्र 'साध्वाचारः साधुना

कंसादि विरोधियों ने भी सद्गति प्राप्त की—यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। भगवान् के अस्तित्व को भी स्वीकार न करनेवाले इतना ही नहीं, उसके खण्डन करने में प्रतिक्षण तत्पर रहनेवाले नास्तिक भी प्रस्तुत ईश्वरसिद्धि के प्रतिकूल रहने के कारण बड़े अभिनिवेश से आपके खण्डन में जोर-जोर से आपका चिन्तन करते हैं, उन अश्मसार लोगों को भी हे कारुणिक! यथासमय तुम ही सद्बुद्धि देकर अपनी ओर आकर्षित कर उनके ज्ञान की कमी को पूर्ण कर देना तुम से सम्बन्धित जो यज्ञपति अर्थात् यज्ञ के द्वारा आपकी उपासना करनेवाला यजमान है, वह भी तुम्हारा अनुसरण करे, कुटिल न बने। क्योंकि स्वामी के गुणों का सञ्चार ही सन्तानों में होता है। इस पर यदि कोई कहे कि दण्डभय के न रहने से असुरलोग अपनी इच्छा के अनुसार आस्तिकों का बन्ध-वधादि करेंगे। तब उसपर उत्तर दिया है कि तुम्हारा जगत्पालक विष्णु बहुधा आक्रमण करनेवाले असुरों को दण्ड देने के लिये और अन्त में अनुग्रह करने के लिये उनपर आक्रमण करे। अर्थात् भक्तों की प्राणरक्षा करने के लिये धर्म के जीवन के लिये सभी जगत् को सप्राण करने के लिये असुरों पर पालक विष्णु का आक्रमण हो। उसी कारण धर्म में बाधा पहुँचानेवाले राक्षस असुरादिक बाधित हो जायेंगे किन्तु भक्त लोग तुम्हारे तादृक् चरित्र चिन्तन से पञ्च ज्ञानेन्द्रियों पर नियन्त्रण रखें। 'पञ्च' शब्द चतुर्दशकरणों का उपलक्षण है, तथा च सभी इन्द्रियों के नियमन से भक्त लोग तुम्हें प्राप्त हों। कठोपनिषद् में कहा गया है कि बाह्येन्द्रियों को नियन्त्रित किये बिना अन्तःकरण पर नियन्त्रण नहीं हो पाता, और उसके बिना अखण्ड निर्विकल्प बोधात्मक ब्रह्म की स्फूर्ति का होना संभव न रहने से तद्रूपता की उपलब्धि का होना कभी संभव नहीं है।

१६- अथवा हे आत्म चैतन्य! तुम पारमार्थिक चिदात्मरूप से सुख के निधान (हविर्धान) हो। परब्रह्मात्मपद की प्राप्ति के लिये अपने को दृढ़ करो। भगवान् के प्रति कुटिल मत बनो। श्रीमद्भागवत (२।२।१८) में इसी प्रकार कहा गया है। वैसा बनने पर यज्ञभोक्ता भगवान् भी तुम्हारे प्रति कुटिल नहीं होगा, क्योंकि भगवान् तो भक्त का अनुसरण किया करते हैं। इसी बात को श्रीमद्भगवद्गीता में भी बताया गया है। विशुद्ध सत्त्वोपाधिक पालक विष्णु भगवान् तुम्हारा कल्याण करने के लिये तुम्हारे कार्य में बाधक बनने वाले काम-क्रोधादि आन्तर और बाहरी शत्रुओं पर आक्रमण करें। अथवा तुम्हारे हृदय पर आक्रमण कर उसमें निवास करें, अर्थात् तुम्हारे हृदय में वे भगवान् श्रीहरि आविर्भूत हो। आविर्भूत होने से अनेक आस्तिकों में प्राण संचार हो सकेगा। उसी से जितने भी बाधक हैं, सभी नष्ट हो जायेंगे। ऐसा होनेपर सभी साधक लोग अपने पंच ज्ञानेन्द्रियादिकरणोंपर नियन्त्रणकर सकेंगे। इसी

प्रत्युपेयः' (म० भा० उ० ३७।७) इत्युपदिश्यते। भगवदाराधनबुद्ध्यानुष्ठीयमानं कर्मापि तत्प्राप्तिसाधनमिति दर्शपूर्ण-मासानुष्ठानमपि तदुपासनमेव।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥१०॥

—(वा० सं० १।१०)

१—देवस्य त्वेति गृह्णात्याग्नेयं चतुरो मुष्टीनेवमग्नीषोमीयं यथादेवतमन्यत्' (का० श्रौ० सू० २।३।२०–२२) ततः सव्यहस्ते शूर्पं निधाय तस्योपरि अग्निहोत्रहवणीमुत्तानां निधाय प्राङासीनो देवस्यत्वेति मन्त्रेण मुष्टचा प्रक्षिपति। एवमपरं मुष्टिद्वयमनेनैव मन्त्रेण चतुर्थं मुष्टिं तूष्णीं प्रक्षिपति। ततो गृहीतं हविः शूर्पमध्ये दक्षिणपार्श्वे प्रक्षेपणीयं यथा हविरन्तरेण सङ्करो न भवेत् "देवस्य त्वा अग्नीषोमाभ्यां जुष्टमि"ति मन्त्रेण त्रिर्गृह्णाति चतुर्थं तूष्णीम्'।

२—मन्त्रार्थस्तु—सवितुर्देवस्य प्रेरकस्य परमेश्वरस्य प्रेरणे सति तेन प्रेरितोऽहमग्निदेवतायै जुष्टमिदं व्रीहिरूपं हविर्गृह्णामि। ग्रहणसाधनयोः स्वकीयबाह्वोरश्विबाहुभावना कार्या। हस्तयोस्तु पूषहस्तभावना कार्येत्यभिप्रेत्याश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यां व्यासक्तदेवाभ्यां जुष्टं हविर्गृह्णामीत्यर्थः। काभ्याम् अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां सविता देवानां मध्ये प्रसविता प्रेरको देवः। यद्वा देवानामप्येष प्रेरकः। "अश्विना उदेवानामध्वर्यू" इति काण्वश्रुतेः। "पूषा वै देवानां भागधुग् भूषणम् पाणिभ्यामभिदधाति तस्मादाह पूष्णो हस्ताभ्यामि' ति काण्वश्रुत्या चाश्विनोर्बाहुत्वस्य पूष्णोहस्तत्वस्य च चिन्तनं युक्तम्। अंसमणिबन्धयोर्मध्यभागो दीर्घदण्डाकारो बाहुः पञ्चाङ्गुलियुक्तोऽग्रभागो हस्तः।

न्याज से जिस प्रकार पूर्व मन्त्र में 'शठम्प्रति शाठचम्' इस नीति का उपदेश दिया गया था, उसी प्रकार यहाँ भी 'साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः' का उपदेश दिया जा रहा है। भगवद दाधन बुद्धि से अनुष्ठीयमान कर्म भी भगवत्प्राप्ति का साधन होता है। अतः दर्शपूर्णमास कर्म का अनुष्ठान भी भगवदुपासना ही है ॥ ९ ॥

१—कात्यान श्रौतसूत्र के अनुसार सव्य (बाँये) हाथ में शूर्प रखकर उस पर अग्निहोत्रहवणी पात्र को उत्तान रखकर पूर्वदिशा में बैठा हुआ 'देवस्य त्वा' मन्त्र से अपनी मुष्टि से पूर्वोक्त पात्र में हविः—प्रक्षेप करे। उसी प्रकार दो मुठ्ठियाँ इसी मन्त्र से तदनन्तर चतुर्थ मुष्टि से तूष्णीं (मन्त्र को बिना बोले) उसी पात्र में हविः प्रक्षेप करे। उस गृहीत हवि को शूर्प के दक्षिण पार्श्व में कर दे, जिससे अन्य हवि के साथ सङ्कर (मिश्राण) न हो पाये। 'देवस्व त्वा अग्नीषोमाभ्यां जुष्टम्', इस मन्त्र से तीन बार ग्रहण करता है और चौथी बार तूष्णीं ही ग्रहण करता है।

२—मन्त्रार्थ इस प्रकार है—प्रेरक परमेश्वर सविता देव के प्रेरणा करने पर उनसे प्रेरित हुआ मैं अग्निदेवता के लिये प्रिय इस व्रीहि रूप हवि का ग्रहण करता हूँ। ग्रहण करने में साधनभूत अपने दोनों बाहुओं में अश्वि देवता के बाहुओं की भावना करे। अपने हाथों में पूषा देवता के हाथों की भावना करें। इसी अभिप्राय से व्यासक्त देवताओं के लिये प्रिय हवि का ग्रहण करता हूँ। अंस और मणिबन्ध के मध्यभाग जो दीर्घ दण्डाकार है, उसे 'बाहु' कहते हैं। तथा पञ्चाङ्गुलियों से युक्त अग्रभाग को 'हस्त' कहते हैं।

दोनों अश्वि देवता देवों के अध्वर्यु हैं। और पूषादेवता देवों के भागधुक् हैं। सर्वात्मक सर्वैश्वर्यपूर्ण अग्नि के तादृश लोकोत्तर हवि का ग्रहण करना मनुष्य के द्वारा शक्य नहीं है, इस लिये सर्वत्र अनुज्ञा प्राप्त करके मैं अश्वि देवता

अश्विनौ हि देवानामध्वर्यू पूषादेवताहि देवानां भागधुक् सर्वात्मकस्य सर्वैश्वर्यपूर्णस्याग्नेस्तादृशं लोकोत्तरं हविर्न-मनुष्येण ग्रहीतुं शक्यम् इति सवित्रानुज्ञातो ऽहमश्विबाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यां दिव्याभ्यां लोकोत्तराभ्यां बाहुभ्यां तादृशा-भ्यामेव हस्ताभ्यामाग्नेयं हविर्गृह्णामीत्यर्थः। 'सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः' (श० १।१।२।१७) देवानां सत्यरूपत्वात् तदनुस्मृतिपूर्णहविर्ग्रहणं फलपर्यवसायीति देवतास्मृत्यभावे मनुष्याणामनृतस्वभावत्वात् तत्कृतमनुष्ठानं निष्फलत्वादनृतं भवतीति देवतास्मरणम्। हविर्गृह्णन्तमध्वर्युं देवताः सेवन्ते। अनामग्राहं हविषि गृहीते तासां मिथः कलहः सम्भाव्यते। तन्निवृत्तये अग्नये जुष्टंमग्नीषोमाभ्यां जुष्टमिति देवतानिर्देशपूर्वकमेव हविर्ग्रहणं युक्तम्। तदुक्तं काण्वश्रुत्या—"ये अथ यदमुष्यै गृह्णाति देवतायै आदिशति सर्वा वै देवता अध्वर्युं हविर्गृह्णन्तमुपतिष्ठन्ते मम नाम ग्रहीष्यतीति। ताभ्य एवैतत् सर्वाभ्यो सहस्वतीभ्यः समदं करोती"ति सायणाभिप्रायः। यद्यपि अग्नीषोमयो व्यासज्यवृत्तिदेवतात्वं तथापि अग्निश्च सोमश्च पृथक् पृथक् शब्देनाभिधातुं शक्येते। 'देवो अग्निः' (वा० सं० २१।५८) 'देवः सोमः" (ऋ० सं० ७।-१।३२) इति मन्त्राभ्याम्। उव्वटरीत्या तु देवस्य सवितुः प्रसवे अभ्यनुज्ञायां वर्तमानः, देवेन सवित्रा प्रसूतः अश्विनो-र्बाहुभ्यां न स्वाभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं रुचितमभिप्रेतं हविर्गृह्णामि। योऽग्निः सर्वेश्वरः सर्वात्मा तस्य तथा-भूतमेतदन्नं भवितुमर्हति। न च तथाभूतं मनुष्येण ग्रहीतुं शक्यते। अतोऽहं सावित्रं प्रसवमास्थायाश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वां हविष्याग्नये ऽभिरुचितं गृह्णामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'देवस्य सर्वजगत्प्रकाशकस्य सर्वसुखदातुरीश्वरस्य त्वा तत् सवितुः 'सविता वै देवानां प्रसविता' (श० १।१।२।१७) सर्वजगदुत्पादकस्य सकलैश्वर्यप्रदातुः प्रसवे सवितृप्रसूतेऽस्मिन् जगति अश्विनोः सूर्याचन्द्रमसोरध्वर्य्यो-र्वा बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू' (श० ५।४।१।१७) पूष्णः पुष्टिकर्तुः प्राणस्य हस्ताभ्यां ग्रहण-विसर्जनाभ्यामग्नये अग्निविद्यासम्पादनाय जुष्टं विद्यां चिकीर्षुभिः सेवितं कर्म गृह्णामि। अग्नीषोमाभ्यामग्निजल-विद्याभ्यां जुष्टं विद्वद्भिः प्रीतं फलं गृह्णामि। तद्रीत्यापि (श० १।१।२।१७) मन्त्रो व्याख्यातः", (पृ० ६०–६१) इति,

---

के बाहुओं से तथा पूषा देवता के हाथों से अर्थात् लोकोत्तर बाहुओं से और वैसे ही हाथों से आग्नेय हवि का ग्रहण कर रहा हूँ। 'सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्या'—इस शतपथ के अनुसार देवताओं के सत्यरूप होने से उनकी स्मृतिपूर्वक जो हविर्ग्रहण किया जाता है, वह फल पर्यवसायी होता है। देवता स्मरण के अभाव में अनृत स्वभाववाले मनुष्यों के द्वारा किया गया अनुष्ठान निष्फल रहने से अनृत होता है, इसलिये देवता स्मरण करना आवश्यक है। हविर्ग्रहण करने वाले अध्वर्यु की सेवा देवता करते हैं। देवता का नाम ग्रहण किये बिना हवि के ग्रहण करनेपर उनमें परस्पर कलह होने की संभावना रहती है, तन्निवारणार्थ 'अग्नये जुष्टम्', 'अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं' इस प्रकार देवता निर्देशपूर्वक ही हवि ग्रहण करना उचित है। इसी अभिप्राय को काण्व श्रुति ने भी कहा है। यद्यपि अग्नीषोम में व्यासज्यवृत्ति देवतात्व है, तथापि 'देवो अग्निः', 'देवः सोमः' मन्त्रों के द्वारा अग्नि और सोम का पृथक्-पृथक् शब्दों से अभिधान किया जा सकता है।

उव्वटाचार्य की रीति से इस प्रकार अर्थ किया जाता है, कि सविता देव की अनुज्ञा में रहनेवाला मैं अश्वि-देवता के बाहुओं से; अपने बाहुओं से नहीं,—तथा पूषा देवता के हाथों से; अपने हाथों से नहीं अग्नि के लिये प्रिय रुचिकर हवि का ग्रहण कर रहा हूँ। जो अग्नि सर्वेश्वर सर्वात्मा है, उसी का वैसा यह अन्न हो सकता है। वैसे उस अन्न को मनुष्य नहीं ग्रहण कर सकता। इसलिये मैं सविता देवता की प्रेरणा से अश्वि तथा पूषा देवता के बाहु और हाथों से ही तुम्हारे लिये रूचिकर अभीष्ट हवि का ग्रहण करता हूँ।

दयानन्द स्वामी तो उक्त मन्त्र का अर्थ, अपनी इच्छा के अनुसार मन-मानी कर रहे हैं—"सर्वजगत्प्रकाशक सर्वसुखदाता उस सविता के द्वारा प्रसूत हुए इस जगत् में सूर्य–चन्द्रमा के अथवा अध्वर्यु के बल-वीर्य से और पुष्टि-कारक प्राण के ग्रहण-विसर्जन के द्वारा अग्निविद्या के सम्पादनार्थ विद्याप्राप्ति के इच्छुकों द्वारा सेवित कर्म को स्वीकार करता हूँ। अग्नि, जल की विद्या के द्वारा विद्वद्प्रिय फल का ग्रहण करता हूँ।"

तत्रोच्यते,सूर्याचन्द्रमसोर्बलवीर्याभ्यां प्राणस्य ग्रहणविसर्जनाभ्यां कीदृश्या अग्निविद्यायाः सम्पत्तये विद्वद्भिः सेवितं कीदृशं कर्मेति तु नोक्तमेव । सूर्याचन्द्रमसो र्बलवीर्ये तत्रैव तिष्ठतः, तत्र कथं मनुष्यस्य स्वातन्त्र्यम् ! श्रुत्या तु वीर्यम् राजन्यस्य बाहू इत्युच्यते तत्र बलमिति कुतो गृहीतम् ? ग्रहणविसर्जनसाधनयोर्हस्तयोर्ग्रहणविसर्जनप्रयोगो लक्षणामन्तरा कथं भवति । लक्षणा चान्वयानुपपत्ति तात्पर्यानुपपत्ति च विना कथमुपपद्यते ? अग्नये इत्यग्निविद्या अग्नीषोमाभ्यामित्यग्नि-जलविद्याभ्यामित्यादिकं सर्वमपि व्याख्यानं निर्मूलमेव ।

३—विद्वद्भिर्मनुष्यैर्विद्वत्सङ्गत्या सम्यकपुरुषार्थेनेश्वरोत्पादितायां सृष्टौ सकलविद्यासिद्धये सूर्यचन्द्रजलाग्निपदार्थानां सकाशात् सर्वेषां बलवीर्यसिद्धये सर्वा विद्याः संसेव्य प्रचारयितव्याः । प्रायेणायं भावार्थो बहुत्र मन्त्रेषु दृश्यते । किमिदमेव सर्वेषु मन्त्रेषु विवक्षितम् ? किञ्च दयानन्देन तदीयैर्वा तथाभूता विद्या ज्ञायन्ते? न वा? न चेन्निरर्थकः प्रलापः, ज्ञायते चेत् कियतां बलवीर्यवृद्धिः सम्पादिता ? वस्तुतस्तु श्रुतिसूत्रपारम्पर्यत्यागस्येदमेवफलं यत्पदे पदे वेदार्थव्याख्याने प्रमादः । अत एव शतपथेऽस्यार्थस्य गन्धोऽपि नोपलभ्यते ।

४—तथाहि—"अथ गृह्णाति देवस्य त्वा जुष्टं गृह्णामीति सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैतद्-गृह्णात्यश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू र पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघोऽशनं पाणिमुपनिधाता सत्यं देवा अनृतं मनुष्यास्तत्सत्येनैवैतद्गृह्णाति (श० १।१।२।१७) अथ गृह्णातीति—अत्र शातपथी श्रुतिः समन्त्रकहविर्ग्रहणं विदधाति अनुष्ठेयहविर्ग्रहणानुगुण्यं मन्त्रस्य दर्शयति–देवानां मध्ये सविता खलु प्रसविता स्वस्वव्यापारे सर्वस्य लोकस्य प्रेरयिता। सूते प्रेरयतीति सविता । (निघण्टु ५।४।२०) (निरुक्त ७।७।९) पुरा खलु देवकर्तृके यागेऽश्विनावध्वर्यू अभूताम् । अतस्तयोरेव बाहुभ्यां हविर्गृह्णामीति मन्त्रार्थो युक्तः । पूषा भागदुघः भागंदोग्धीति, भागप्रद इत्यर्थः । तादृशः पूषा

उस पर यह पूछा जा सकता है कि सूर्य और चन्द्रमा के बल-वीर्य से तथा प्राण के ग्रहण-विसर्जन से कौन-सी अग्निविद्या की सम्पत्ति के लिये, और विद्वानों के द्वारा सेवित कौन-सा कर्म है ? यह तो आपने बताया ही नहीं । सूर्य और चन्द्रमा के बल वीर्य तो उन सूर्य-चन्द्रमा में ही रहेंगे, उनमें मनुष्य की स्वतन्त्रता कैसे हो सकेगी ? श्रुति ने तो राजन्य (क्षत्रिय) के बाहुओं को ही 'वीर्य' कहा है । वहाँ 'बल' अर्थ कहाँ से गृहीत हुआ ? ग्रहण–विसर्जन के साधन-रूप हस्त में 'ग्रहण–विसर्जन' का प्रयोग, लक्षणा के बिना कैसे हुआ ? और लक्षणा भी अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्या-नुपपत्ति के बिना कैसे संभव हुई ? 'अग्नये' से अग्निविद्या, अग्नीषोमाभ्यां' से अग्निजलविद्या इत्यादि सभी व्याख्या जो की है, वह निर्मूल ही है ।

३—विद्वानों की सङ्गति तथा सम्यक् पुरुषार्थ से ईश्वर के द्वारा उत्पादित सृष्टि में सम्पूर्ण विद्याओं की सिद्धि के लिये सूर्य, चन्द्र, जल, अग्नि पदार्थों से सभी के बल–वीर्य की सिद्धि के लिये विद्वान् लोग समस्त विद्याओं का सेवन कर उनका प्रचार करें । प्रायः यह भावार्थ अनेक जगह मन्त्रों में दिखाई देता है । क्या यही सब मन्त्रों में विवक्षित है ? किञ्च स्वामी दयानन्द अथवा उनके अनुयायी उन विद्याओं को जानते हैं ? या नहीं ? यदि नहीं जानते हों तो उनका यह प्रलाप निरर्थक ही है । यदि जानते हैं तो कितने लोगों ने बल–वीर्यबुद्धि का सम्पादन किया ? वस्तु-तस्तु श्रुति-सूत्र परम्परा का परित्याग करने का यही फल है कि पग–पगपर वेदार्थ व्याख्या करने में प्रमाद हो रहा है । यही कारण है कि शतपथ में इनके किये हुए अर्थ का गन्ध भी उपलब्ध नहीं है ।

४—तथाहि—शातपथी श्रुति के अनुसार समन्त्रक हविर्ग्रहण का विधान उपलब्ध होता है और अनुष्ठेय हविर्ग्रहण के अनुकूल मन्त्र का भी प्रदर्शन किया है । पहिले कभी देवकर्तृक याग में आश्विन देवता अध्वर्यु हुए थे । इसलिये उन्हीं के बाहुओं से मैं हविर्ग्रहण कर रहा हूँ—ऐसा मन्त्रार्थ करना उचित ही है । पूषा देवता को भागदुघ् अर्थात् भागप्रद बताना भी उचित ही है । वह पूषा देवता अपने दोनों हाथों से समस्त लोगों के लिये भोग्य अन्न को उपस्थापित करता रहता है । तथा च पूषा देवता के हाथों से हविर्ग्रहण करना उचित ही है । देवता अमरण शील होने

पाणितलाभ्यां सर्वस्य जनस्य अशनं भोग्यमन्नमुपनिधाता उपनिधापयितुम् उपस्थापयितुं शीलवान् । ताच्छीलिकस्तृन् । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (पा० सू० २।३।६९) इति कर्मणि षष्ठीप्रतिषेधः । तथा च पूषदेवताया हस्ताभ्यां हविर्ग्रहणं युक्ततरम् । सत्यं देवा अनृतं मनुष्याः' (श० १।१।२।१७) अतोऽमरणत्वेन विनाशाभावात् । मनुष्यास्तु तद्वैपरीत्यादनृतरूपाः । तस्मादश्विनोर्बाहुभ्यामित्यादिमन्त्रोच्चारणात् देवतारूपेण सत्येनैव तद्धविर्ग्रहणं कृतं भवति इत्यर्थः ।

'अथ देवताया आदिशति । सर्वाह वै देवता अध्वर्युं ꣳ हविर्ग्रहीष्यन्तमुपतिष्ठन्ते । मम नाम ग्रहीष्यति मम नाम ग्रहीष्यतीति ताभ्य एवैतत् सहसातीभ्योऽसमदं करोति ।' (श० १।१।२।१८) अग्नये जुष्टमिति देवतानामनिर्देशस्यावश्यकर्त्तव्यतामाह—सर्वा देवता स्वस्वनाम ग्रहणसम्भावनयोपस्थितानां मध्ये कस्याश्चिदग्न्यादिदेवताया आदेशने सति सह सत्यः सहवर्तमानाः, ताभ्यः षष्ठचर्थे चतुर्थी । तासां देवतानामसमदमकलहं परस्परमविरोधं करोति ।

'यद्वेव देवताया आदिशति । यावतीभ्योह वै देवताभ्यो हवींषि गृह्यन्त ऋणमुहैव तास्तेन मन्यन्ते यदस्मै तं काम ꣳ समर्धयेयुर्यत्काम्या गृह्णाति तस्माद्वै देवताया आदिशत्येवमेव यथापूर्वं ꣳ हवी ꣳ षि गृहीत्वा ।' (श० १।१।२।१९) प्रकारान्तरेण नामनिर्देशं समर्थयते यावतीभ्यो देवताभ्यो हवींषि गृह्यन्ते स्वस्वनामोद्देश्येन गृहीतं हविर्ऋणमेव ता देवता मन्यन्ते । कुत इति चेदुच्यते—यत्काम्या यस्य फलस्येच्छया हविर्गृह्णाति तं कामं काम्यमानं फलविशेषमस्मै यजमानाय यत् यस्मात् समर्धयेयुः तस्मात् कारणात् हविष ऋणरूप त्वमवगम्यते । यच्छब्दादिच्छार्थे काम्यच्च' (पा०–सू० ३।१।९) इति काम्यच् । तदन्तात् अप्रत्यात्' (पा० सू० ३।३।१०२) इत्यकारप्रत्यये तृतीयाया लुक् । तस्मात् हविषि देवतानामृणत्वाभिमानात् फलप्रदानेन तत्प्रत्यर्पणार्थं देवतानामादेशनमत्यावश्यकम् । एवमेवेत्यादिना आग्नेयवदेव यथाक्रममग्नीषोमीयादिहविरन्तरेऽप्युक्तमति दिशति ।

५—वस्तुतस्तु लोकायतिकमतप्रभावित त्वाददृष्टादि देवतादि तत्त्वमनभ्युपगच्छता तस्मिन्नेव पथि वेदं जिनीषता सहस्रोधिकसंहितानां तावतां सर्वेषां ब्राह्मणानामुपनिषदां श्रौतसूत्राणां तदनुप्राणितानां समेषामेवास्तिकप्रसिद्धानां ग्रन्थानामप्रामाण्यसाधनाय कलिहतकेन तेनायं प्रयासः कृतः । सिद्धान्तानुसारिव्याख्यातार्थाभिप्रायेणैवोपासका अन्तर्यामि मानस्यां भावनायां परदेवताराधनोपयोगिदेहनिर्माणाय यतन्ते । प्राकृतैर्देहेन्द्रियमनोबुद्धयहङ्कारादिभिरप्राकृतस्या-

---

से उन्हें 'सत्य' कहना और मनुष्य मरणशील होने से उन्हें अनृतरूप कहना भी उचित ही है। इसलिये 'अश्विनो बाहुभ्याम्' इत्यादि मन्त्रोच्चारण करने से देवतारूप सत्य से ही यज्ञीय हविर्ग्रहण किया हुआ समझा जाता है। शतपथ के अनुसार 'अग्नये जुष्टम्' ऐसा देवता नाम निर्देश करना भी आवश्यक है। शतपथ ब्राह्मण के एक अन्य वचन के अनुसार प्रकारान्तर से भी नामनिर्देश करना बताया गया है। जितने देवताओं के लिये हविर्ग्रहण किया जाता है, उन देवताओं के अपने-अपने नामपूर्वक ग्रहण किया हुआ हवि, ऋण के रूप में ही समझा जाता है। एवं च उन हवियों में ऋणत्व समझने के कारण ही फल प्रदान के द्वारा ऋण के प्रत्यर्पणार्थ देवताओं का आदेशन करना अत्यावश्यक होता है। आग्नेय के समान ही यथाक्रम अग्नीषोमीयादि अन्य हवियों में भी उसका अतिदेश किया जाता है।

५—वस्ततस्तु लोकायतिक मत से प्रभावित होने के कारण अदृष्ट आदि देवता तत्त्व को स्वीकार न करके उन्हीं नास्तिकों के मार्गपर वेद भगवान् को पहुँचा दिया और सहस्राधिक संहिताओं तथा सभी ब्राह्मणों उपनिषदों, श्रौतसूत्रों तथा तदनुप्राणित सभी आस्तिक प्रसिद्ध ग्रन्थों के अप्रामाण्य साधन का प्रयत्न इन्होंने दुर्भाग्यवश किया है। सिद्धान्तानुसारि व्याख्यात अर्थ के अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही उपासक लोग अन्तर्यामी में मानसिक भावना के द्वारा, आराधनों के उपयुक्त देह निर्माण में प्रयत्नशील रहते हैं। क्योंकि प्राकृतदेह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि से अप्राकृत अचिन्त्य अनन्त आनन्दरससार सर्वस्व परमात्मा के साथ सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। क्योंकि ग्राह्य-ग्राहक भाव में साजात्य की अपेक्षा होती है। इसी कारण पार्थिव घ्राण से ही पार्थिव गन्ध का ग्रहण होता है। तैजस चक्षु के द्वारा तैजसरूप का ग्रहण होता है। इसीलिये तार्किकों ने शब्दादि पाँचों विषयों के ग्रहणार्थ अन्तःकरण को

चिन्त्यानन्तानन्दरससारसर्वस्वस्य परमात्मनः सम्बन्धासम्भवात्, ग्राह्यग्राहकभावे साजात्यापेक्षणात् । तत एव पार्थिवेन घ्राणेनैव पार्थिवस्य गन्धस्य ग्रहः, तैजसेन चक्षुषा तैजसस्य रूपस्य ग्रहः । तत एव शब्दादीनां पञ्चानामपि ग्रहणायान्तः करणस्य पञ्चभूतात्मकत्वमभिप्रेयते तैर्थिकैः । तस्मादप्राकृतदिव्यपरमतत्त्वग्रहणाय देहादीनामप्यप्राकृतत्वं सम्पादनीयम् । तत एव पूर्वं भूशुद्धिभूतशुद्ध्यादिभिर्दिव्यताधीयते । साधका विवस्वद्द्युतभास्वराया विद्युत्पुञ्जपिञ्जरायाः कुण्डलिन्या रश्मिनिकरेण कश्मलजालं दग्ध्वापि कुक्षिस्थं पापवासनामयं पापपुरुषं यं बीजयुतेन पूरकेण संशोष्य रं बीजयुतेन कुम्भकेन दग्ध्वा वायुबीजवता रेचकेण तद्भस्म रेचयन्ति ।

६—पश्चाच्च लं वं रं यं हं इति पञ्चभूतबीजवता प्राणायामेन पार्थिवं जगत् पृथिव्यां तामप्सु तास्तेजसि तच्च वायौ तमाकाशे तमहमि तम्महति महान्तमव्यक्तेऽव्यक्तञ्च स्वप्रकाशे सति प्रविलापयन्ति । पुनश्चामृतात्मकेन वं बीजेन प्राणानायम्य दिव्यानि भूतानि महदादिक्रमेणोत्पाद्य दिव्यं देहं प्रसाध्य तत्र कुण्डलिनीं प्राणं च प्रतिष्ठाप्य षोडशवारोच्चारितमहामन्त्रेण षोडशसंस्कारान् सम्पाद्य अन्तर्मातृकाबहिर्मातृदमन्त्राक्षरादिन्यासजालैः देहादीन् संस्कुर्वन्ति । सामान्यार्घ्यविशेषार्घ्यसम्बन्धिनि पात्राधारेऽग्निमण्डलत्वं पात्रेषु सूर्यमण्डलत्वं सामान्यार्घ्यादिद्रव्येषु सोममण्डलत्वं मन्त्रैर्भावनया च सम्पाद्य षडध्वशोधनादिद्वारा मन्त्राणां ब्रह्मात्मत्वं विभाव्य तदभिमन्त्रितैः सामान्यार्घ्यविशेषार्घ्यविन्दुभिरान्तरं बाह्यञ्च परिशोध्य देवा भूत्वा देवान् यजन्ति । तत्रापि अकुलेन्दुगलितामृतधारारूपिणीः चन्दनकुसुमधूपदीपनैवेद्यशालिकरकमलाः पीतासितश्यामरक्तशुक्लवर्णा धरणिवियदनिलानलजललक्षणा दिव्या देवता विभाव्य ताः सम्पूज्य ताभिः परदेवतायै सर्वोपचारान् समर्प्य परदेवताया नासायां गन्धदेवता श्रोत्रे पुष्पदेवता नाभौ धूपदेवता नयने दीपदेवता जिह्वायां नैवेद्यदेवता विलीना विभाव्य ताः सम्पूज्य स्वात्मानं पादकमले विलीनं विभाव्यानन्तानवच्छिन्नचैतन्यानन्दात्मना प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं ब्रह्मानुभवन्ति । सर्वे यज्ञा महायज्ञाश्च ब्राह्मीतनूनिर्माण एवोपयुज्यन्ते । 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते

पञ्चभूतात्मक माना है । अतः अप्राकृत दिव्य परमतत्त्व के ग्रहणार्थ देहादिकों को भी अप्राकृत बनाना पड़ता है । इसीलिये सर्वप्रथम भूशुद्धि, भूतशुद्धि आदि करके दिव्यता का वातावरण पैदा किया जाता है । साधकलोग विवस्वद्द्युत भास्वर विद्युत्पुञ्ज पिञ्जर कुण्डलिनी की रश्मियों से करमल समूह को दग्ध करके कुक्षिस्थित पापवासनामय पाप-पुरुष को 'यं' बीज से युक्त पूरक के द्वारा सुखाकर तथा 'रं' बीज से युक्त कुंभक के द्वारा, तथा वायु बीज से युक्त रेचक के द्वारा उसके भस्म को छोड़ देते हैं ।

६—तदन्तर 'लं वं रं यं हं' इन पञ्च भूत बीजों से युक्त प्राणायाम करके पार्थिव जगत् का पृथिवी में, पृथिवी का जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश को अहम् में, अहम् को महत् में, महत् को अव्यक्त में, अव्यक्त को स्वप्रकाश सत् में विलीन करते हैं । पुनः अमृतात्मक 'वं' बीज से प्राणों का निरोध कर दिव्यभूतों को महदादिक्रम से उत्पन्न कर और दिव्य देह का प्रसाधान करके उसमें कुण्डलिनी और प्राण की प्रतिष्ठा कर षोडशवार उच्चारित महामन्त्र से षोडश संस्कारों को सम्पन्न कर अन्तर्मातृकाबहिर्मातृकादि मन्त्राक्षरादि न्यासों के द्वारा देह का संस्कार किया करते हैं । सामान्य अर्घ्य, विशेष अर्घ्य से सम्बन्धी पात्र के आधार में अग्निमण्डलत्व, पात्रों में सूर्यमण्डलत्व, सामान्य अर्घ्यादि द्रव्यों में सोममण्डलत्व, का सम्पादन मन्त्रों से भावना के द्वारा करके षडध्व शोधनादि के द्वारा मन्त्रों में ब्रह्मात्मत्व की भावना करके उनसे अभिमन्त्रित हुए सामान्यार्घ्य-विशेषार्घ्य के बिन्दुओं से आन्तर और बाह्य का शोधन करके स्वयं देवतारूप होकर देवताओं का यजन करते हैं । उसमें भी अकुलेन्दु से गलित अमृतधारारूपिणी, चन्दन पुष्पधूपदीप नैवेद्य शालिकर कमल, पीत असित श्यामरक्तशुक्लवर्ण, धरणि, आकाश, अनिल, अनल, जलात्मक दिव्य देवता का ध्यान कर और उसकी पूजाकर उनके द्वारा परादेवता के लिये सम्पूर्ण उपचारों को समर्पणकर परदेवता की नासिका में गन्ध देवता, श्रौत्र में पुष्पदेवता, नाभि में धूपदेवता, नेत्रों में दीपदेवता, जिह्वा में नैवेद्यदेवता, विलीन हो गई है, ऐसा सोचकर उनकी पूजा करके अपने को उनके चरणकमल में विलीन करने की भावना करके अनन्त अनवच्छिन्न चैतन्यानन्दरूप प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म का अनुभव करते हैं । समस्त यज्ञ और महायज्ञों का ब्राह्मी तनु के निर्माण में ही उपयोग होता है । मनु ने भी इसी बात को कहा है । उससे भी नानाविध तपों के द्वारा

तनुः' (मनु० २।२८) । ततोऽपि नानाविधस्तपोभिरन्ते भगवद्विप्रयोगजन्यतीव्रतापेनान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाख्यान् पञ्चकोशान् शरीरत्रयञ्च दग्ध्वा भगवत्सम्प्रयोगामृतरसेन दिव्यान् देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारान् निर्माय भगवन्तं भजन्ति ।

७—प्रकृतेऽपि दिव्येन मन्त्रेण दिव्यभावनया च स्वबाह्वोरश्विबाहुत्वं स्वहस्तयोः पूषहस्तत्वं विभाव्य स्वात्मानञ्च सवितृप्रसूतं सवितृप्रेरितं च विभाव्य अग्नये परदेवतायाः परमैश्वर्यशालिनेंऽशाय देवताविशेषाय तद्द्वारा च सर्वयज्ञभोक्त्र्यै परदेवतायै हविर्गृह्णात्यध्वर्युः । अयमेव मुख्योऽर्थो मन्त्रस्य । अस्यार्थस्यापि परमात्मप्राप्तौ पर्यवसानात् । एतदर्थाविरुद्धा अन्येऽप्यर्था ऊहनीयाः ।

८—हे सकलसच्छास्त्रतात्पर्यगोचर देव स्वप्रकाशस्य सवितुः सर्वप्रेरकस्य सर्वोत्पादयितुस्तव प्रसवे प्रेरण एवाहं त्वां तोषयितुं प्राप्तुं वा अश्विनोः परमसुन्दरयोर्देवविशेषयोर्मनोहराभ्यां विविधालङ्कारालङ्कृताभ्यां बाहुभ्यां तथाविधाभ्यामेव पूष्णोऽतिभास्वरस्य देवस्य भास्वराभ्यां रत्नालङ्कृतकङ्कणाङ्गुलीयकादिभूषिताभ्यां हस्ताभ्यामग्नये सर्वदेवनायकाय भवते जुष्टमभिरुचितं कूर्चापूपसितानवनीतादिविविधनैवेद्यं समर्पयितुं तदुपकरणं पयोदध्यैक्षवादिकं गृह्णामि । तच्च श्रमणीफलकमलाकामसौदामकणकौशल्यायशोदास्तन्यश्रीराधाधरामृतादिभावभावितमतिप्रीत्यास्पदमभिरुचितं गृहाण । अग्नीषोमाभ्यां त्वदीयनेत्राभ्यांमभिरुचितं जुष्टं दिव्यं भूषणं वसनं च त्वां प्रीणयितुं गृह्णामि तव पुरतः स्थापयामि त्वदङ्गेषु वा धारयामि ।

९—यद्वा हे भक्त सवितुर्देवस्य तथाविधस्य परमात्मनः प्रसवे रामादिरूपेण प्रादुर्भावाय त्वा त्वामहमश्विनोद्यावापृथिव्योरश्विनाम्नोर्देवविशेषयोर्बाहुभ्यां पूष्णः सूर्यस्य हस्ताभ्यां गृह्णामि लालयामि वर्धयामि च । कीदृशं त्वां

अन्त में भगवद्विप्रयोग जन्य तीव्र ताप से अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय संज्ञक पञ्चकोशों को और तीनों शरीरों को दग्धकर भगवत्सम्प्रयोगामृतरस से दिव्य देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार को निर्माण कर भगवान् का भजन यानी सेवन करते हैं ।

७—प्रकृत में भी दिव्य मन्त्र और दिव्य भावना से अपने बाहुओं में आश्विबाहुत्व और अपने हाथों में पूषहस्तत्व की भावना करके और अपने को सवितृ प्रेरित और प्रसूत मानकर परदेवता के परमैश्वर्यशाली अंशभूत देवता विशेषरूप अग्नि के लिये, और उसके द्वारा सर्वयज्ञ भोक्त्री परदेवता के लिये अध्वर्यु हविर्ग्रहण करता है । यही मन्त्र का मुख्य अर्थ है । इस अर्थ का पर्यवसान भी परमात्मप्राप्ति में हो होता है । इस अर्थ के सदृश अन्यान्य अविरुद्ध अर्थ भी किये जा सकते हैं ।

८—हे सकल सच्छास्त्र तात्पर्य गोचर देव ! स्वप्रकाश सर्वप्रेरक सर्वोत्पादक सविता के द्वारा प्रेरित होनेपर ही मैं तुम्हें सन्तुष्ट करने के लिये अथवा प्राप्त करने के लिये परमसुन्दर देवविशेष अश्विनी कुमारों के मनोहर विविधालङ्कारालङ्कृत बाहुओं से और उसी तरह अत्यन्त भास्वर पूषा देवता के भास्वर और बिविधरत्नालङ्कारों से अलंकृत कङ्कण, अङ्गुलीयक आदि आभूषणों से विभूषित हुए हाथों से सर्व देवनायक भगवान् अग्नि के लिये प्रीतिकर कूर्चा अपूप सिता नवनीतादि विविध नैवेद्य का अर्पण करने के निमित्त उसके उपकरणभूत पयस् । दधि, इक्षु, आदि का मैं ग्रहण करता हूँ । उसे हे भगवान् ! श्रमणी फल के समान, कमला–भामा–सुदामा के कण के समान, कौशल्या–यशोदा के स्तन्य के समान, श्रीराधा के अधरामृतादि की भावना से देखकर प्रीत्यास्पद अभिरुचित मानकर स्वीकार करें । तुम्हारे नेत्ररूप अग्नीषोम देवताओं को प्रीति कर दिव्य आभूषण. वस्त्र आदि का तुम्हें प्रसन्न करने के लिये ग्रहण कर रहा हूँ और तुम्हारे सामने उसे रख रहा हूँ तुम्हारे अङ्गों पर उन्हें स्थापित कर रहा हूँ ।

९—अथवा हे भक्त ! परमात्मा सवितादेव के रामादिरूप से प्रादुर्भाव के लिये तुम्हें मैं द्यावा–पृथिवी के अथवा आश्विनाम के देवविशेषों के बाहुओं से तथा सूर्य के हाथों से तुम्हारा लालन, पालन, वर्धन करता हूँ । तुम

अग्नये सर्वप्रतापहन्त्रे दैत्यराक्षसादिध्वान्तध्वंसिने भगवते जुष्टमभिरुचितम् प्रियतमम्, त्वत्प्रीणनायैव पूर्णकामस्याप्तसमस्तकामस्य तस्यावतरणसम्भवात् । 'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥' (श्री० भा० म० पु० १।८।२०) इति श्रीमद्भागवते कुन्तीवचनात् । पुनः कीदृशमग्नीषोमाभ्यां विप्रयोगसम्प्रयोगाभ्यां तदात्मकाभ्यां रसविशेषाभ्यां जुष्टम् सेवितम् । अन्यैस्तु रसविशेषनिष्पत्तये तौ सेव्येते त्वां तु तावेव सेवेते इति ताभ्यां जुष्टम् त्वामहं वेदपुरुषो लालयामि । विशेषतः सीताराधाद्या भक्ता भक्तिरसरूपा भानौ प्रभेव चन्द्रमसि चन्द्रिकेव अमृते माधुर्यमिव गङ्गायां पावित्र्यमिव परमानन्दार्णवे तदीयैश्वर्यमाधुर्यसाररूपा एव । सम्भोगविप्रलम्भाख्यौ श्रृङ्गाररसमहार्णवौ तत्र सर्वदैवोद्बुद्धावुद्वेलितौ चोपलभ्येते । विप्रलम्भेऽपि सम्भोगस्य सम्भोगेऽपि विप्रलम्भस्य दर्शनात् । विवृतञ्चैतत् 'बर्हापीड' (श्री०भा०म०पु० १०।२१।५) मित्यादिव्याख्यानप्रसङ्गे भक्तिरसार्णवे । 'अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोहनेतिमधुरं विदधत्यकस्मात् ।' (श्रीराधासुधानिधौ ४६) ॥ (वा० सं० १।१०) ॥

'भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषं दृ ँ्ह न्तां दुर्याः पृथिव्याम् उर्वन्तरिक्षमन्वेमि पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या ऽ उपस्थेऽग्ने हव्य ँ् रक्ष' ॥ ११ ॥

—(वा० सं० १।११)

१—'भूताय त्वेति शेषाभिमर्शनम्' (का० श्रौ० सू० २।३।२३) भूताय त्वेति मन्त्रेण शकटे परिशिष्टं व्रीहिशेषमभिमृशेत् । मन्त्रार्थस्तु—हे शकटेऽवस्थितव्रीहिशेष त्वा त्वां भूताय यागान्तराणां ब्राह्मणभोजनस्य च भवनाय पुनरपिभवनाय,उप्तं रोपितं सत् व्रीह्यादि पुनरपि बहु भविष्यतीति, परिशेषयामि । नारातये न कर्मणि ब्राह्मणभोजने चादानाय परिशेषयामि । 'तद्यत एव गृह्णाति तदेवैतत्पुनराप्याययतीति' (श० १।१।२।२०) इति श्रुतेः । ततः तत्र शकटे यत एवस्थानाद् गृह्णाति तदेव तत्स्थानमेवानेन मन्त्रेण पुनराप्याययति वर्धयति भूताय प्रभूताय समृद्धचर्थं त्वामभिमृशा-

---

सर्वविध पाप-ताप को दूर करनेवाले हो । दैत्य-राक्षसादिरूप ध्वान्त को नष्ट करनेवाले भगवान् को प्रियतम, तुम्हारी प्रसन्नता के लिये ही वह सब है, क्योंकि पूर्णकाम—आप्तसमस्तकाम उस भगवान् का अवतरण संभव हो सकता है। श्रीमद्भागवत में कुन्ती ने भी ऐसा ही कहा है । पुनः अग्नीषोम देवताओं से विप्रयोगसम्प्रयोगरूप रसविशेषों से सेवित है । और लोग तो रसविशेष की निष्पत्ति के लिये उनकी सेवा करते हैं, किन्तु उसके विपरीत वे दोनों देवता ही तुम्हारी सेवा करते हैं । इस प्रकार उनके द्वारा सुसेवित हुए तुम्हारा मैं वेदपुरुष लालन करता हूँ । विशेषतः भक्तिरसस्वरूप सीता–राधा आदि भक्तगण तो भानु में प्रभा के समान, चन्द्रमा में चन्द्रिका के समान, अमृत में मधुरिमा के समान, गङ्गा में पावनता के समान उस परमानन्दार्णव में उसके ऐश्वर्य माधुर्य साररूप ही हैं । सम्भोग-विप्रलम्भसंज्ञक श्रृङ्गाररस के महान् समुद्र हैं । उसमें सर्वदैव वह उद्बुद्ध और उद्वेलित होते उपलब्ध होते हैं । विप्रलम्भ में भी सम्भोग का और सम्भोग में भी विप्रलम्भ का दर्शन होता है । भक्तिरसार्णव में 'बर्हापीडम्' की व्याख्या के प्रसङ्ग में इसका विवरण दिया गया है –'अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात्' ॥

१—'भूतायत्वा' इस मन्त्र से शकट में परिशिष्ट व्रीहिशेष का अभिमर्शन (स्पर्श) करे ।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—शकट में अवस्थित हे व्रीहिशेष ! अन्यान्य यागों के लिये और ब्राह्मण भोजन के लिये

मीति । यतो वा शकटस्थात् देवतार्थं पृथक्कृत्येदं हविर्गृहीतं तदेव शकटस्थमेतेन प्रत्यभिमर्शनेन पुनराप्याययति भूयोऽभिवर्धयतीत्यर्थः ।

२—'स्वरिति प्राङीक्षते' (का० श्रौ० सू० २।३।२४) स्वः अभिविख्येषमिति मन्त्रेण प्राङ्मुखो यज्ञभूमिं वीक्षते इति सूत्रार्थः । यज्ञ-दिवस-देव-सूर्याः स्वःशब्देनोच्यन्ते, स्वर्गहेतुत्वादपि यज्ञः स्वःपदाभिधेयः । अभितो विशेषेण ख्यापयेयं पश्येयमित्यर्थः । किं कारणमिति श्रुतिरेवाह—'परिवृतमिव वा एतदनो भवति तदस्यै तच्चक्षुः पाप्मगृहीतमिव भवति यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यस्तत्स्वरेवैतदयोऽभिपश्यति । (श० १।१।२।२१) परिवेष्टितमिव खल्वनो भवति धान्यनिधानार्थम् । तन्मध्येऽवस्थितस्याध्वर्योः चक्षुः काचकामलादिदोषदूषितमिव द्रष्टुं समर्थं न भवति । तत्र सहकारिण आलोकस्याभावात् । कथं तस्य दर्शनं स्यात् इत्युच्यते अवेक्षणमन्त्रगतस्वरितिशब्देन स्वर्गवाचिना तत्साधनभूतो यज्ञोऽभिधीयते । अहरादीनि च तेन लक्षणया प्रतिपाद्यन्ते । अत एव स्वरशब्दस्य सूर्यनामत्वमुक्तम् यास्केन—'स्वरादित्यो भवति । सु अरणः । सुईरणः ।' (नि० ५।४) तत् तथा सत्येतन्मन्त्रकरणकेन प्रेक्षणेन स्वरशब्दप्रतिपादितस्य यज्ञ-दिवस-देव-सूर्येति चतुष्टयस्यार्थजातस्य प्राच्यां दिशि प्रथमत उपलभ्यमानत्वेन अस्माच्छकटस्थानात् तद्दोषपरिहाराय यज्ञभूमिः सर्वा द्रष्टव्या । यज्ञ-एव स्वरादिभिः पञ्चभिः शब्दैस्तत्र तत्र विवक्ष्यते । तस्माद्यज्ञदर्शनविवक्षयास्वरभिविख्येषमितिमन्त्रं प्राहेत्यर्थः । आपस्तम्बो विस्पष्टमिममर्थमाह—'स्वरभिविख्येषमिति प्राक् प्रेक्षते । सुरभिविख्येयमिति विख्येषमिति सर्वं विहारमनुवीक्षते । 'तमसीव वा एषोऽन्तश्चरति । यः परीण हि सुवरभिविख्येषं वश्वानरं ज्योतिरित्याह' (तै० ब्रा० ३।२।४।७) इति तैत्तिरीयश्रुतेश्च ।

दृꣳहन्तामित्यवरोहति (का० श्रौ० सू० २।३।२५) पृथिव्यां वर्तमाना ये दुर्यो दुरो द्वाराणि अर्हन्तीति दुर्या गृहास्ते दृꣳहन्तां दृढा भवन्तु । दृंह्यन्तामिति प्राप्ते दृꣳहन्तामिति विकरणव्यत्ययः । अनेन मन्त्रेण शकटादवरोहेण हविर्गृहीत्वावतरतोऽध्वर्योर्भारेण गृहाणामदाढर्चशङ्का सम्भाव्यते । अनेन मन्त्रेण तत्समाधानं क्रियते ।

३—शतपथश्रुतिरपि तथैवाह—'अथावरोहति । दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्यामिति गृहा वै दुर्यास्तेहैत ईश्वरो गृहा यजमानस्य योऽस्यैषोऽध्वर्युर्यज्ञेन चरति तं प्रयन्तमनुप्रच्योतोस्तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोस्तानेवैतदस्यां पृथिव्यां दृꣳहति तथा नानुप्रच्यवन्ते तथा न विक्षोभन्ते तस्मादाह दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्यामिति' (श० १।१।२।२२) समन्त्रकं शकटावरोहणं विधत्ते—अस्य यजमानस्य य एषोऽध्वर्युः यज्ञेन चरति हविर्ग्रहणादिकं यज्ञसाधनमनुतिष्ठति तं प्रयन्तं शकटस्थानात्प्रगच्छन्तमनुसृत्य यजमानस्य ते गृहा इतो भूलोकात्प्रच्योतोरीश्वराः प्रच्युतिं प्राप्तुं समर्थाः । प्रच्योतुमुद्यता भवन्तीत्यर्थः । तथा तस्य यजमानस्य कुलं विक्षोब्धोः विक्षोभयितुं समर्थाः । विक्षोभयितुमुद्यताः । 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' (पा० सू० ३।४।१३) च्यवतेः क्षमेश्च तोसुन् प्रत्यये रूपे सिद्धचतः । अनेन मन्त्रेणाध्वर्युः तानेव यजमानस्यगृहान् अस्यां पृथिव्यां दृꣳहति दृढीकरोति । एवं सति तद्दोषनिवृत्तिमाह—तथा न विक्षोभन्ते इति । किञ्च हविर्ग्रहणस्याभिचारादा-

---

भी पुनः तुम्हारे सद्भाव के लिये तुम्हें बचा कर रख रहा हूँ । तुम्हारा केवल सग्रह कर रखने के लिये अर्थात् किसी को न देने के लिये तुम्हें बचा कर नहीं रख रहा हूँ । मैं यज्ञ को देख सकूँ ।

२—स्वर्गप्राप्ति का हेतु होने से 'यज्ञ' को 'स्वः' शब्द से कहा गया है । 'स्वरभिविख्येषम्' इस मन्त्र को पढ़ कर प्राङ्मुख हुआ यज्ञभूमि को देखता है । पृथिवी पर वर्तमान जो गृह हैं वे सुदृढ़ हों—'दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्याम्'—इस मन्त्र को पढ़कर शकट से व्रीहि को नीचे उतारे । हवि को लेकर उतरने वाले अध्वर्यु के भार से संभावित गृहक्षोभ का उक्त मन्त्र से निवारण किया जाता है ।

३—अभिप्राय यह है कि इस मन्त्र से अध्वर्यु, यजमान के उन्हीं गृहों को इस पृथ्वीपर सुदृढ़ कर देता है । यद्यपि राक्षसों के द्वारा अन्तरिक्ष आकुल है, तथापि—'उर्वन्तरिक्षमन्वेमि' इस मन्त्र से विस्तीर्ण अन्तरिक्ष का अनुसरण

बपि सम्भवात् अयमध्वर्युः करिष्यतीत्यविज्ञाय लोकद्वयस्य भीत्या कम्पः सम्भाव्यते । तन्निवारणार्थोऽयं मन्त्रः । तदप्याह तित्तिरिः—'द्यावापृथिवी हविषि गृहीत उद्वेपेताम् । इᳪँ हन्तां दुर्या द्यावापृथिव्योरित्याह गृहाणां द्यावापृथिव्योर्धृत्या इति ।' (तै० ब्रा० ३।२।४।७) ।

'देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षाᳪँस्यतोऽपहन्ति' (श० १।१।२।३) नाशयन्तीति नाष्ट्राः आसुर्याः प्रजाः । ताश्च रक्षांसि यज्ञमुखात् यज्ञारम्भात् अपहन्ति । तेनान्तरिक्षं तैरनाकुलं भवति । विस्तीर्णप्रतिबन्धकरक्षोलक्षणमूर्तद्रव्यविरहादन्वेमि । 'श्रपणस्य पश्चात्सादयति पृथिव्यास्त्वेति' (का० श्रौ० सू० २।३।२७) श्रपणस्य गार्हपत्याग्नेः पश्चात् पृथिव्यास्त्वेतिमन्त्रेण शूर्पस्थानि हवींषि आसादयत्यध्वर्युरिति सूत्रार्थः । मन्त्रार्थस्तु—हे हविः त्वां पृथिव्या नाभौ मध्ये सादयामि । तस्यैव व्याख्यानम्—अदित्या देवमातुर्भूमेर्वोपस्थे अङ्के सादयामीत्यनुवर्तते । यथासुप्तं बालं पुत्रं माता स्वाङ्के स्थापयति एवमहमिदं हविरदित्या अङ्के सादयामीत्यर्थः ।

४—एवं वैदिकानां दृष्ट्या 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे' (छा० ३।१४।१) ति रीत्या सर्वाणि वस्तूनि परमात्मदेवतारूपाण्येव । तत एव हवींषि हविर्धानं शूर्पादीनि सर्वाणि यज्ञसाधनानि देवतात्वेन सम्बोध्यन्ते स्तूयन्ते च । तदेतदजानाना वराकाः सामाजिका जडपूजातिभीता बलात्कारेणापि मन्त्रार्थानन्यथा कुर्वन्ति । हे अग्ने, तव समीपे स्थापितमिदं हव्यं रक्षस्व । सुप्तपुत्रमिव बाधकभ्योऽसुरेभ्यः पालयस्व ।

सोऽयमर्थः—'मध्यं वै नाभिर्मध्यमभयं तस्मादाह-पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीत्यादित्या उपस्थ इत्युपस्थ इवैनदभार्षुरिति वा आहुर्यत्सुगुप्तं गोपायन्ति .... अग्नये चैवैतद्धविः परिददति गुप्त्या अस्यै च पृथिव्यै तस्मादाहाग्ने हव्यᳪँ रक्षेति' अनेनब्राह्मणे नोच्यते । (श० १।१।२।२३) ।

५—गार्हपत्ये आहवनीये वा यस्मिन्नग्नौ श्रपणं तस्य पश्चात् पात्रासादनम् निरुप्तस्य हविषश्च सादनं कर्त्तव्यम् । मनुष्यादिशरीरेषु नाभिरिति मध्यमेवोच्यते । तस्य मध्यमभयमुच्यते । प्रान्तदेशे चौरव्याघ्रादिभयमतः पृथिव्याः सम्बन्धिनि राक्षसादिभयरहिते स्थाने त्वां सादयामि । यद्वस्तु सुगुप्तं यथा भवति तथा गोपायन्ति । एतत् उपस्थ इव

करता हुआ जाता हूँ । अर्थात् जाते हुए पुरुष के दोनों पार्श्व भाग में ही स्थित रहनेवाले राक्षसों का निवारण इस मन्त्र से किया जाता है । 'पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि'—हे हवि ! पृथिवी की नाभि यानी मध्य में मैं तुम्हारी स्थापना करता हूँ । इसी की व्याख्या 'अदित्या उपस्थे' से की गई है—देवमाता अदितिरूपिणी भूमि के अङ्क में तुम्हें रख रहा हूँ ।

४—इस प्रकार वैदिकों की दृष्टि में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की रीति से सभी वस्तुएँ परमात्म (देवता) रूप ही हैं । अत एव समस्त यज्ञसाधनों को देवता कहकर सम्बोधित करके उनकी स्तुति की जाती है । इस रहस्य को न जानकर बेचारे सामाजिक जड़ पदार्थ की पूजा करने से डरते हैं और हठात् मन्त्रों के अर्थों को विकृत कर अन्यथा बताने लग जाते हैं । महीधर ने "पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि' की ही व्याख्या मन्त्रगत 'अदित्या उपस्थेऽग्ने हव्यᳪँ रक्ष' के द्वारा की है," ऐसा कहा है । जैसे सुप्त हुए बालक को माता अपने अङ्क में ले लेती है उसी तरह इस हवि को अदितिरूप पृथ्वी के अंक में रखता हूँ । हे अग्ने ! तुम्हारे समीप रखे गये इस हवि की तुम रक्षा करो । सुप्त—पुत्र की तरह पीडकों से इसका पालन करो ।

५—गार्हपत्य अथवा आहवनीय में से जिस अग्निपर श्रपण हो, उसके पश्चात् पात्रासादन और निरुप्त हविका स्थापन करना चाहिये । मनुष्यादि के शरीरों के मध्यभाग को ही 'नाभि' कहते हैं । प्रान्तदेश में चौर-व्याघ्रादि का भय रहता है, अतः पृथ्वी से सम्बन्धित राक्षसादि के भय से रहित स्थान में तुम्हें स्थापन करता हूँ । जो वस्तु सुगुप्त

उत्सङ्ग इवोदरमध्य इव वा अभार्षुः भृतवन्त इति वदन्ति लौकिकाः। अतश्च यस्मिन् स्थाने सादितं सुगुप्तं भवति तत्स्थानमुपस्थशब्देन मन्त्रगतेन विवक्षितम्। अदितिः पृथिवी तस्याश्चाधिपतिरग्निः स चात्र गार्हपत्यरूप आहवनीयरूपो वा। तस्मा अग्नये तेनाधिष्ठितायै पृथिव्यै रक्षणार्थमेतद्धविः अनेन मन्त्रभागेन दत्तं भवति। सायणाचार्यादयो मन्त्रेणेत्यनेन मन्त्रभागेनेत्यभिप्रयन्ति। यथात्रैव सायणभाष्ये—तित्तिरिरपि तथैवाह—'अदित्यास्त्वोपस्थे सादयामीत्याह। इयं वा अदितिः। अस्या एवैन (हव्यम्) दुपस्थे हव्यꣳ रक्षस्वेत्याह गुप्त्या'इति (तै० ब्रा० ३।२।४।७)।

६—आधुनिकस्तु भूताय उत्पन्नानां प्राणिनां सुखाय, त्वा तं कृषिशिल्पादिसाधिनम् न अरातये रातिर्दानं न विद्यते यस्मिन् तस्मै शत्रवे बहुदानकरणार्थं दारिद्र्यविनाशाय च वा, स्वःसुखमुदक वा। स्वरितिसुखनामसु पठितम्। (निघण्टु ३।६) (उदकनामसु १।१२) अभिविख्येषं सर्वतः पश्येयम्। अत्राभिव्योरुपपदे चक्षिङ् इत्याशीर्लिङि आर्धधातुकसंज्ञामाश्रित्य च या इत्यस्य इय् आदेशः। सकारलोपाभाव इति। दृंहन्ताम्। अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः। दुर्या गृहाणि। पृथिव्यां विस्तृतायां भूमौ उरु बहु अन्तरिक्षम् अवकाशं सुखेन निवासार्थं अनु एमि प्राप्नोमि। शुद्धाया विस्तृताया भूमेः त्वा तं पूर्वोक्तयज्ञं नाभौ मध्ये सादयामि स्थापयामि। अदित्या विज्ञानदीप्तेर्वेदराशेर्वाचः सकाशात्, अन्तरिक्षस्यमध्ये, (अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष) मिति मन्त्र प्रामाण्यात्। उपस्थे समीपे अग्ने परमेश्वर हव्यं दातुं ग्रहीतुं योग्यं क्रियाकौशलं सुखं वा रक्ष पालय' (पृ० ६३-६४)।

७—तदेतत् श्रुतिसूत्रादिविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव। भूतायेत्यस्योत्पन्नप्राणिने इत्यर्थसम्भवेऽपि सुखायेति कथमर्थः? त्वेत्यस्य कृषिशिल्पादिसाधिनमित्यर्थश्चेत् उष्ट्रमहिषादिपालकमिति कथं नार्थः? वस्तुतस्तु पदार्थोक्त्या न कोऽप्यर्थः स्फुटयते अतः पुनरप्यध्याहारादिनान्वयं लिखति। "अहं भूतायारातयेऽदानायादित्या उपस्थे यं यज्ञ सादयामि। त्वा तं कदाचिन्न त्यजामि। हे विद्वांसो भवन्तः पृथिव्या नाभौ मध्ये येषु गृहेषु स्वरभिविख्येषं यस्यां पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षं चान्वेमि हे अग्ने जगदीश्वर त्वमस्माकं (त्वा) हव्यं सर्वदारक्ष" (पृ० ६४)। अत्रापि यं यज्ञमितिपदयोरध्याहारे। किं मूलमित्यनुक्तत्वात् निर्मूलमेव। एवमरातय इत्यस्य शत्रवे इत्यर्थस्य सम्भवेऽपि तेषां बिनाश इति कस्य शब्दस्यार्थः?

जिस तरह रह सके उस तरह उसकी रक्षा की जाती है। अतः इसे उपस्थ की तरह, उत्सङ्ग की तरह अथवा उदरमध्य की तरह धारण किया था, ऐसा लौकिक लोग कहते हैं। अतः जिस स्थान में रखने से सुगुप्त रहता है उस स्थान को मन्त्रगत 'उपस्थ' शब्द से विवक्षित किया गया है। अदिति यानी पृथिवी, उसका अधिपति अग्नि, उसे यहाँपर गार्हपत्यरूप अथवा आहवनीयरूप कहा गया है। उस अग्नि के लिये और उससे अधिष्ठित पृथिवी के लिये रक्षणार्थ इस हवि को इस मन्त्र भाग से दिया गया है। सायणाचार्य आदि का अभिप्राय 'मन्त्रेण' यानी 'अनेन मन्त्र भागेन' ही है। इसी प्रसङ्गपर सायणभाष्य में उल्लिखित 'तित्तिरि' का भी यही अभिप्राय है।

६—आधुनिक व्याख्याकार की व्याख्या इस प्रकार है—'भूताय' अर्थात् उत्पन्न प्राणियों के सुख के लिये 'त्वा' अर्थात् उस कृषि-शिल्प आदि के साधनभूत 'न अरातये' यहाँ 'राति' का अर्थ, 'दान' है, वह नहीं है, जिसमें, उस शत्रु के लिये प्रचुर-दानार्थ और द्रारिद्र्य के विनाशार्थ, 'स्वः' सुख अथवा उदक को। सुख के अनेक नामों में 'स्वर्' भी पढ़ा गया है। 'अभिविख्येषं' सब ओर मैं देख सकूँ। 'दृंहन्तां दुर्याः' गृहों को वृद्धि हो। 'पृथिव्यां' विस्तृत भूमिपर 'उर्वन्तरिक्षं' विस्तृत (विपुल) अवकाश को सुख से निवास करने के लिये 'अनु एमि' प्राप्त करता हूँ। 'पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि' शुद्ध, विस्तृत भूमिकी नाभि में अर्थात् मध्य में 'त्वा' उस पूर्वोक्त यज्ञ को 'सादयामि' स्थापित करता हूँ। 'अदित्या' विज्ञानदीप्त वेदराशि को वाणी से अन्तरिक्ष के मध्य में 'उपस्थे' समीप में 'अग्ने' हे परमेश्वर! 'हव्यं' देने-लेने के योग्य क्रियाकौशल अथवा सुख की 'रक्ष' रक्षा करो।

७—यह किसी आधुनिक का किया हुआ अर्थ, श्रुति-सूत्र आदि के विरुद्ध होने से नितान्त उपेक्षणीय है। 'भूताय' का अर्थ 'सुखाय' कैसे हो सकेगा? 'त्वा' का अर्थ 'कृषि, शिल्प आदि का साधक' किया जा सकता है तो

नहि निषेधार्थकस्य नञस्तादृशोऽर्थः सम्भवति । इदं सनातनिभ्यो न दयानन्दादिभ्य इत्युक्त्या दयानन्दादीनां नाशं कोऽप्यमूढः कथङ्कारं प्रत्येतुं शक्नोति । तं कदाचिन्न त्यजामीत्यपि निर्मूलं, मन्त्रे तादृशार्थबोधकपदाभावात् । नहि त्वया भवनं निर्मीयते तदहं कदाचिदपि न त्यजामीत्यध्याहर्तुं शक्यम् । हे विद्वांस इत्यध्याहृत्य दृंहन्तामित्यस्यान्तर्भावितणिजर्थताङ्गीकारोऽपि यथाश्रुतार्थव्याख्यानासामर्थ्यमेव द्योतयति । अहं पृथिव्या नाभौ मध्ये येषु गृहेषु स्वरभिविख्येषं यस्यां पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षं चान्वेमि हे अग्ने ! त्वमस्माकं (त्वा) हव्यं सर्वदारक्षेति केन किं श्लिष्यते ? हिन्द्यां तु स्पष्टीकृतम् । 'येषु गृहेषु जलसुखादि पदार्थान् पश्येयम्, उक्तपृथिव्या बृहदवकाशं दत्वा सुखनिवासयोग्यं स्थानमारचय्य अन्वेमि प्राप्नोमि । अग्ने त्वं तमस्मभ्यं ग्रहीतुं दातुं योग्यं पदार्थं रक्ष' इति तदपि विसङ्गतमेव, अवकाशं दत्वासुखनिवासयोग्यस्थाननिर्माणार्थबोधकपदाभात् ।

८—द्वितीयोऽप्यर्थ एवमुक्तः—'हे अग्ने ! परमेश्वर ! भूताय अरातये पृथिव्या नाभौ ईश्वरत्वोपास्यत्वाभ्यां स्वःसुखरूपं त्वामभिविख्येषम् प्रकाशयामि । अहं पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षमदित्या उपस्थे व्यापकं त्वामन्वेमि नित्यं प्राप्नोमि । न कदाचित्त्वां त्यजामि । त्वमिममस्माकं हव्यं सर्वदारक्ष' (पृ० ६४) । अयमप्यर्थस्तथाविधएव, जीवः सुखरूपं परमात्मानं प्रकाशयतीत्यप्याश्चर्यम् । सादयामीत्यस्य त्यजामीत्यप्यपूर्वएवार्थः । अन्तरिक्षपदस्यावकाशयुक्तो गृहोऽर्थः इत्यपि निर्मूलमेव । यद्यन्तरिक्षं दुर्या इत्यस्य विशेषणं स्यात् तदा तदानुगुण्येन लिङ्गवचनादिकं स्यात् । किञ्च दुर्या इति पदेन गृहं भवति । यो व्यापकः स सर्वत्र भवत्येव, पृथिव्या उपस्थे व्यापकमिति कथनेन कोऽर्थः ? पुनरत्रोर्वन्तरिक्षमित्युपादानस्य कोऽर्थः ?

९—एवमेव तृतीयोऽप्यर्थः—'अहं शिल्पवित् यजमानः भूतायारातये पृथिव्या नाभौ त्वा तमग्निं होमार्थं शिल्पविद्यार्थं च सादयामि यतोऽयमग्निरदित्या अन्तरिक्षस्योपस्थे हुतं हव्यं द्रव्यं रक्ष रक्षति तस्मात्तं पृथिव्यां स्थापयित्वोर्वन्तरिक्षमन्वेमि । अत—एव त्वा तं पृथिव्यां सादयामि । एवं कुर्वन्नहं स्वरभिविख्येषम्, तथैवेमे दुर्याः प्रासादाः तत्स्था मनुष्याश्च दृंहन्तां शुभगुणैर्वर्धन्तामिति मत्वा तमिमम‌ग्निं कदाचिन्नाहं त्यजामि' (पृ० ६५) इति तथाविध एव, मूलाभावात् । शिल्पविद्याविद् यजमानोऽत्र वक्तेत्यत्र मूलं वक्तव्यम् । त्वदीयया दृष्ट्या कश्चिन्मद्यपायी मद्यपोषकत्वेनेमं मंत्र योजयेत् तदा किमुत्तरम्? हे परमेश्वर ! अहं भूताय स्वास्थ्योत्पादाय रोगाणां नाशाय त्वा तन्मद्यं सादयामि निर्मास्यामि । तच्च स्वः सुखरूपम् । सुखसाधनत्वात् । उक्तञ्च माधवकरेण—'बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्च । सम्पाठगीतस्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदोहि ॥' इति । पृथिव्या अन्तरिक्षस्य चोपस्थे तं हव्यमादातुं ग्रहीतुं योग्यं तद्रक्ष । तत्पृथिव्यां स्थापयित्वाहमुर्वन्तरिक्षमन्वेमि । तेनैव धनलाभे दुर्याः प्रासादास्तत्स्था मनुष्याश्च वर्धन्ते तस्मात्तदिदं न कदाचित्यजामि इत्यादिर्मद्यपानामर्थः । न च कश्चनाधिगतवेदविद्यः अर्थमिमं मन्वीत । तस्मादेतादृशा उच्छृङ्खलार्थास्त्याज्या एव ।

१०—भावार्थस्तु दूरतोऽपि न मूलं स्पृशति । तथाहि—ईश्वरेण मनुष्य आज्ञाप्यते, हे ! मनुष्य अहं त्वां सर्वेषां

'उष्ट्र–महिषपरिपालक' अर्थ क्यों नहीं किया ? शब्दों का अर्थविपर्यास करने पर भी अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया, पुनः अध्याहार की आवश्यकता हो ही गई । पुनरपि उस अध्याहार के करने में किसी मूल का उल्लेख न करने से अध्याहार के स्वीकार को अप्रामाणिक ही सिद्ध कर दिया । कुछ ऐसे अर्थ किये हैं जिनके बतानेवाले शब्दों का कहीं पता ही नहीं है ।

८—इसी तरह द्वितीय, तृतीय अर्थ में भी मनगढ़न्त बातें लिख मारी हैं । पूर्वापरविरुद्ध अर्थ, असम्बद्ध अर्थ, प्रमाणविरुद्ध अर्थ, अप्रामाणिक अर्थ व्याकरण के नियमों का उल्लङ्घनादि करके अपनी उच्छृंखलता का यथेच्छ प्रदर्शन मात्र कर दिया है ।

१०—इसके अतिरिक्त नवीन व्याख्याकार ने जो भावार्थ बताया है वह तो और भी अधिक उपहासास्पद है,

भूतानां सुखदानाय पृथिव्यां रक्षयामि' इति। अत्र भूतायेत्यस्य कथमेतावानार्थ इति कोऽपि प्रमाणतन्त्रो न ज्ञातुं शक्नुयात्। पूर्वत्र व्याख्यानेषु—अहमर्थो जीव आसीत्, भावार्थे त्वीश्वरोऽहमर्थः सञ्जातः, 'त्वया वेदविद्याधर्मानुष्ठान-युक्तेन पुरुषार्थेन सुन्दराणि सर्वर्तुसुखानि सर्वतो विशालावकाशसहितानि गृहानि रचयित्वा सुखं प्रापणीयम्' इति किं दुर्या इत्यस्यार्थः सम्भवति ? सुखवाचकं स्वः पदमवकाशबोधकमन्तरिक्षपदं मत्वापि दुर्या इत्यनेन कथं तयोः सम्बन्धो योजनीयः ? तदेव प्रापणीयमित्यनेन कथं युज्येत ? 'मृत्सृष्टौ यावन्तः पदार्थाः सन्ति तेषां सम्यग्गुणान्वेषणं कृत्वाऽनेका विद्याः प्रत्यक्षीकृत्य तासां रक्षणं प्रचारश्च सदैव सम्भावनीयः' इत्यपि भावार्थश्चिन्त्य एव, कस्य शब्दस्य वाक्यस्य वा कथङ्कारमेवं भावार्थः ? इति प्रमाणतन्त्रः कथं ज्ञातुं प्रभवेत् ? 'सर्वसाक्षिणमुपासितुमहं परमेश्वरं ज्ञात्वा सर्वोपकारः, विविधविद्यावृद्धिर्धर्मोपस्थानमधर्माद्दूरे स्थितिः क्रियाकौशलसम्पादनं यज्ञक्रियानुष्ठानं च कर्त्तव्य'मिति, यद्यपिसर्वमिदं कर्त्तव्यम्, परमनेन मन्त्रेण सर्वमेतत् कथं बोध्यते ? अन्यथा—सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावरूपं षाड्गुण्यं नीति-शास्त्रप्रसिद्धं कथं न योजितम् ? श्लेषालङ्कारस्य माहात्म्यं वा तत्स्यात् ?

११—व्याकरणप्रक्रियां प्रदर्शयता यदुक्तम्—"महीधरेण भ्रान्त्या अभिविख्येषमिति पदं ख्या प्रकथन इत्यस्य दर्शनार्थे गृहीतम्, तत् धात्वर्थादेवविरुद्धम्" इति, तदसत्, विपूर्वः ख्यातिर्दर्शनार्थ इत्युव्वटरीत्या विपूर्वकस्य ख्यातेर्दर्श-नार्थत्वे बाधाभावात्। त्वया तूपसर्गमन्तरापि सदेस्त्यागार्थता गृहीता। तत्र धात्वर्थविरोधः कथं नावेक्षितः। यदि धातूनामनेकार्थत्वात् तद्युक्तम्, तर्हि प्रकृते किं तत् दण्डवारितम् ? अतएव ख्यातिरेव दर्शनमिति सांख्ययोगवृद्धाः। ख्यातिवादेष्वपि दर्शनार्थैव ख्यातिर्गृह्यते। विपूर्वस्य ख्यातेर्दर्शनार्थतायाम्—'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहा-राहारसंहारविहारपरिहारवत्॥' इति अभियुक्तवचनमप्यनुकूलम्। चक्षिङस्तु आर्धधातुक एव ख्यात्रादेशोभवति। विधिलिङ्यार्धधातुकसंज्ञाश्रयणं तु निर्मूलत्वादेवोपेक्ष्यम्।

तथाहि—अभिविख्येषमित्यत्रेत्थं व्याकरणप्रक्रिया—अभि वि इत्युपसर्गद्वयपूर्वकात् ख्याधातोर्विधिलिङ्।

उस भावार्थ का मूलमन्त्र के शब्दों से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखा गया है। जैसे—'ईश्वर मनुष्य को आज्ञा देता है कि हे मनुष्य ! मैं तुम्हें सब प्राणियों को सुख देने के लिये पृथ्वी पर सुरक्षित रखता हूँ।'

क्या मन्त्र के 'भूताय' शब्द से उपर्युक्त अर्थ निकल रहा है ? कोई भी प्रामाणिक व्यक्ति उक्त अर्थ को मन्त्र से सम्बन्धित नहीं बतायेगा। मन्त्र की व्याख्या करते समय 'अहम्' का अर्थ 'जीव' किया था, किन्तु भावार्थ बताते समय 'अहम्' का अर्थ 'ईश्वर' कह दिया। इसी प्रकार मन्त्र के 'दुर्या' शब्द का ऊटपटांग अर्थ किया है। किसी की वञ्चना (प्रतारणा) करना महापाप है। वेदमन्त्रों के भाष्य के नामपर लोकोपयोगी अन्यान्य बातों को बताकर भाष्य-कार बनना उचित नहीं है। मन्त्राक्षरों से असम्बद्ध बातों को ही बताना था तो सन्धि–विग्रह–यानासन संश्रयद्वैधी-भावरूप षाड्गुण्य जो राजनीतिशास्त्र में प्रसिद्ध हैं, उसे भी क्यों नहीं बताया ?

११—व्याकरण प्रक्रिया को बताते हुए जो कहा गया है कि "भाष्यकार महीधर ने मन्त्र के 'अभिविख्येषम्' पद का अर्थ ठीक नहीं किया है, क्योंकि धात्वर्थ के साथ विरोध होता है।"

किन्तु उक्त कथन से तो भाष्यकार महीधर का भ्रम तो सिद्ध न होकर उसके विपरीत आपकी ही व्याकरण-विषयक तथा अन्यान्य प्रामाणिक वेदभाष्यों से परिचयशून्यता प्रकट हो रही है। क्योंकि भाष्यकार उव्वटाचार्य ने 'वि' पूर्वक 'ख्या' धातु का अर्थ 'दर्शन' बताया है।

आपने तो उपसर्ग के बिना ही 'सद्' धातु का अर्थ 'त्याग' बताया है, तब धात्वर्थविरोध क्या आपको नहीं दिखाई दिया ? 'धातूनामनेकार्थत्वात्' यह नियम याद रखना चाहिये। अतएव 'ख्यातिरेवदर्शनमिति सांख्ययोगवृद्धाः' कहा गया है। ख्यातिवाद में भी दर्शनार्थक ही 'ख्या' धातु को लिया गया है। 'वि' उपसर्गपूर्वक 'ख्या' धातु को दर्श-

उत्तमपुरुषैकवचनम्, मिप्, अमादेशः, सिब्विकरणो बाहुलकात् आकारस्यैकारादेशश्छान्दसः, षत्वम् । विध्यर्थकलिङादेशस्य सार्वधातुकत्वेन तत्र 'ख्या प्रकथने' इत्यस्य प्रयोगो निर्बाध एव । सिब्विकरणस्यापि 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इत्यनेन सार्वधातुकसंज्ञकत्वम् ।

१२-अध्यात्मपक्षे-भूताय त्वा नारातये-हे परमात्मन्! भूताय भूतजातहिताय तादर्थ्ये चतुर्थी । भूताय नित्यनिष्पन्नाय त्वत्स्वरूपाभिन्नाय मोक्षाय, अरातयः कामक्रोधादयः, शोणोधावतीतिवदजहल्लक्षणया कामादियुक्ताय संसाराय सांसारिकवैषयिकसुखाद्यैश्वर्याय न त्वां साधनत्वेनापश्यम् स्वः सुखरूपं त्वा त्वामभिविख्येषम् पश्येयम् । त्वत्कृपया भूतजातस्य हितार्थं पृथिव्या दुर्याः धनधान्यपूर्णाः प्रासादा, दृ७ हन्ताम् वर्धन्ताम् । अहन्तु उरु विस्तीर्णमपरिच्छिन्नमन्तरिक्षं चिदानन्दमयमाकाशमन्वेमि साक्षात्कृत्य प्राप्नोमि । वेदान्ते ज्ञप्तिरेव प्राप्तिर्विस्मृतकण्ठमणेः प्रसिद्धैव 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० १।१।२२) कं ब्रह्म खं ब्रह्मे (छा० ४।१०।५)'ति श्रुतिवचनेभ्यः । ननु किमन्तरिक्ष एव ब्रह्म न पृथिव्यादाविति चेत् तत्राह-त्वामहं पृथिव्या नाभौ मध्येऽन्तः पृथिव्या अन्तर्यामित्वेन सगुणनिराकाररूपेण च पश्यामि । 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।' (बृ० ३।७।३) इति बृहदारण्यकश्रुतेः । अदित्या देवमातुरुपस्थेऽङ्के च वामनरामकृष्णादिरूपेण त्वामहं पश्यामि सगुणसाकाररूपेण । तस्मात् हे अग्ने सर्वेषां नायक ! हव्यं भूतजातस्य कृते व्रीहियवफलपुष्टदुग्धदधिघृतादिलक्षणं हव्यं ज्ञानिनां कृते मोक्षसुखप्रापकं ज्ञानरूपं भोजनं रक्ष पालयस्व । भवान् भोगस्य मोक्षस्य चाधिपतिः ।

१३—अथवा, हे आत्मन्! त्वा त्वां भूताय नित्यनिष्पन्नमोक्षाय नारातये न कृपणताय स्वः स्वर्गाय तत्साधनभूताय यज्ञाय चाभिविख्येषम् धर्मब्रह्मप्रकथनेनाहं परमेश्वरो वेदो वा नियोजयामि । पृथिव्यां युष्माकं दुर्या धर्मनिर्वाहका

नार्थक मानने पर 'उपसर्गेणधात्वर्थो' यह अभियुक्तोक्ति भी सुसङ्गत हो जाती है । 'चक्षिङ्' को 'ख्यात्रादेश', आर्धधातुक संज्ञा होनेपर ही होता है । विधिलिङ् लकार में आर्धधातुक संज्ञा नहीं हुआ करती । विध्यर्थक लिङादेश तो सार्वधातुक होता है । इस व्याकरण—नियम को भूलना उचित नहीं है । अतः 'ख्या' प्रकथने का प्रयोग निर्बाध ही है। सिब्विकरण की भी छन्दस्युभयथा' इस पाणिनि-सूत्र से सार्वधातुक संज्ञा होती है ।

१२—अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—"भूतायत्वा नारातये"—हे परमात्मन् ! भूताय=नित्य निष्पन्न तुम्हारे स्वरूप से अभिन्न रहनेवाले मोक्ष के लिये, अरातयः=काम-क्रोधादिक, 'शोणोधावति' की तरह अजहल्लक्षणा से, विकारों से भरे हुए संसार के लिये अर्थात् सांसारिक वैषयिक-सुखादि ऐश्वर्य के लिये तुमको मैंने साधन नहीं समझा । स्वः=सुखरूप तुम्हें मैं देख सकूँ । तेरी कृपा से प्राणिमात्र के कल्याण के लिये पृथिवीभर के दुर्याः=धनधान्य से पूर्ण हुए प्रासाद, दृंहन्ताम्=प्रवृद्ध हों । मैं तो, उरु=विस्तीर्ण निःसीम चिदानन्दमय आकाश रूप अन्तरिक्ष को अन्वेमि=खोजकर प्राप्त हो सकूँ । वेदान्त में विस्मृत कण्ठमणि की ज्ञप्ति यानी प्राप्ति का होना 'आकाशस्तल्लिङ्गात्', 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति वचनों से प्रसिद्ध ही है । क्या अन्तरिक्ष में ही ब्रह्म है, पृथिवी आदि में ब्रह्म नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि तुम्हें मैं पृथिवी को नाभि में यानी पृथिवी के भीतर अन्तर्यामी के रूप में तथा साकार और निराकार के रूप में देखता हूँ । बृहदारण्यक श्रुति भी इसी बात को बता रही है । देवमाता अदिति के उपस्थ=अङ्क में वामन, राम और कृष्ण के रूप में यानी सगुण साकार हुए तुमको मैं देखता हूँ । इसलिये हे अग्ने ! सब के नायक ! हव्य=प्राणिमात्र के लिये व्रीहि, यव, फल, पुष्टि कारक दुग्ध, दधि, घृतरूप हव्य की और ज्ञानियों के लिये मोक्षसुख की प्राप्ति करानेवाले ज्ञानरूप भोजन की तुम रक्षा करो । क्योंकि तुम ही भोग और मोक्ष के अधिपति हो ।

१३-अथवा, हे आत्मन् ! त्वा=तुमको भूताय=नित्यनिष्पन्न मोक्ष के लिये नारातये=कृपणता के लिये नहीं, अपितु स्वः=स्वर्ग के लिये और उसके उपायभूत यज्ञ के लिये अभिविख्येषम्=धर्म-ब्रह्म को बताता हुआ परमेश्वर

आहिताग्नीनां गृहा वर्धन्ताम्। मोक्षार्थिनस्तु उर्वन्तरिक्षरूपेणापरिच्छिन्नरूपेणाहमेव अन्वेमि प्राप्नोमि। ज्ञानिभक्तान् प्राप्तुं भगवानेव यतते। 'निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥' (श्री० भा० म० पु० ११।१४।१६) 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।' (श्री० भ० गी० ७।१७) 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (श्री० भ० गी० ७।१८) 'ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्' (श्री० भा० म० पु०११।१६।३) पृथिव्या नाभौ यज्ञवेद्यां कर्मानुष्ठानफलार्थिनं सादयामि स्थापयामि। मदभिन्नमोक्षाभिलाषिणं सर्वथा निरपेक्षज्ञानिनं वा अदित्या अखण्डनीयाया ब्रह्मसंविद उपस्थेऽङ्के सादयामि। त्वं तु हव्यं हव्यबहुलं यज्ञं रक्ष। स्वधर्मानुष्ठानेनैव धर्मब्रह्मप्राप्तिसम्भवात्। हव्यं परप्रेमास्पदं प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्नं परमात्मानं तत्त्वविद्भोग्यं गोप्यं दुर्लभं चिन्तामणिमिव रक्ष गोपाय प्रतिक्षणं सावधानतया चिन्तय।

१४—यद्वा, परमेश्वरो वैज्ञानिकमाह—हे वैज्ञानिकशिल्पिन्! त्वां भूताय भूतहिताय विद्युन्निर्माणाय बृहज्जलाशयनिर्माणाय उपयोगिवस्त्राय शर्करादिनिर्मातृयन्त्राविष्कारायाहमभिविख्येषम् हिताहितप्रकथनेन वैदिकविधिनिषेधद्वारा प्रेरयामि पश्येयम् ईक्षणात्मकेन सृजामि नारातये न प्रजाद्रोहाय प्रजाविध्वंसनाय परमाण्वस्त्रोद्‌जनास्त्र (परमाणु बम हाइड्रोजनबम) निर्माणेन प्रजोत्सादनाय।

१५—यद्वा, हे आधुनिकचिकित्सक! भूताय भूतजातस्य स्वः सुखाय त्वा त्वां प्रेरयामि नारातये न स्नायुच्छेदगर्भरोधकयन्त्रप्रयोगादिभिः परिवारनियोजनाय न रातिः पुत्रादिदान येन यस्मिन् वा सोऽरातिः परिवारनियोजनम्, यथा पृथिव्यां स्वः सुखहेतवो दुर्या इत्थं हन्तां वर्धन्ताम्। परमाण्वस्त्रादिनिर्माणे परिवारनियोजने तु प्रजाह्रासे न दुर्याणां गृहाणां वर्धनम्, प्रथमे उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षं स्वर्गसुखमन्वेमि व्याप्नोमि तस्मात् सर्वं पश्यामि। द्वितीये ममादेशोल्लङ्घने पृथिव्या नाभौमध्ये गर्ते सादयामि पातयामि निःक्षिप्य नाशयामि वा। भूतजातस्य हिताचरणे तु अदित्या देवमातुरुपस्थेऽङ्के सादयामि देवत्वमापादयामि।

अथवा वेद रूप मैं (तुमको) नियुक्त करता हूँ। पृथिवी पर तुम्हारे दुर्या=धर्मनिर्वाहक आहिताग्नियों के घरों की अभिवृद्धि हो। मोक्षार्थियों को तो उरु अन्तरिक्ष=विस्तीर्ण अन्तरिक्ष रूप से यानी अपरिच्छिन्नरूप से मैं ही प्राप्त हो जाता हूँ। ज्ञानी भक्तों को प्राप्त करने के लिये भगवान् स्वयं ही प्रयत्न करते हैं। यह बात श्रीमद्‌भागवत और श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भी बताई गई है। पृथिवी की नाभि यानी यज्ञवेदी में कर्मानुष्ठान के फलार्थी को स्थापित करता हूँ। अपने से अभिन्नस्वरूप के मोक्ष को चाहनेवाले को अथवा सर्वथा निरपेक्षज्ञानी को अदिति यानी अखण्डनीय ब्रह्म संविद् के अङ्क में स्थापित करता हूँ। तुम हव्यबहुल यज्ञ की रक्षा करो, क्योंकि स्वधर्मानुष्ठान से ही धर्म-ब्रह्म की प्राप्ति होना संभव है। हव्य=परप्रेमास्पद प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न परमात्मा जो तत्त्वविदों के द्वारा ही भोग्य है उसकी रक्षा प्रतिक्षण बड़ी सावधानी से दुर्लभ चिन्तामणि के समान करो।

१४—अथवा परमेश्वर, वैज्ञानिक से कहता है, हे वैज्ञानिक शिल्पिन् ! मैं तुमको प्राणियों के हितार्थ विद्युत् निर्माण के लिये, बृहज्जलाशय के निर्माण के लिये, उपयुक्त वस्त्र निर्माण के लिये, शर्करादि के निर्मापकयन्त्र का आविष्कार करने के लिये, हित-अहित बताते हुए दिक विधि-निषेध के द्वारा प्रेरित करता हूँ। नारातये=परमाणु आदि अस्त्रों का निर्माण करके प्रजा का नाश करने के लिये नहीं।

१५—अथवा, हे आधुनिक चिकित्सक ! प्राणिमात्र के सुख के लिये मैं तुम्हें प्रेरित करता हूँ। नारातये= स्नायुच्छेदन अर्थात् गर्भनिरोधकयन्त्रों के प्रयोगादि के द्वारा परिवारनियोजन के लिये नहीं। परमाणु अस्त्रों के निर्माण से परिवारनियोजन से प्रजा का ह्रास हो जानेपर गृहों की वृद्धि नहीं होगी। प्रथम अर्थ में सर्वत्र मेरी व्याप्ति रहने से मैं सब कुछ देखता हूँ। द्वितीय अर्थ में मेरे आदेश का उल्लङ्घन करने पर गर्त में गिरा देता हूँ। किन्तु हित का आचरण करने पर समस्त प्राणियों को देवमाता अदिति के अङ्क में उन्हें रख देता हूँ, यानी उन्हें देवत्व प्राप्त करा देता हूँ।

५—यद्वा नीत्युपदेशः—हे राजन् हे शासकनेतः भूताय भूतमात्रहिताय त्वा त्वां प्रेरयामि नारातये कृपणतायै न वा प्रजाद्रोहाय भेदनीत्या शत्रुत्वाय शेषं पूर्ववत् ।

६—यद्वा हे श्रमिकवर्ग त्वां भूताय राष्ट्रसमृद्धये उत्पादयामि नारातये न कर्मावरोधायान्दोलनाय राष्ट्रसम्पत्ति-विनाशाय, प्रथमपक्षे पृथिव्यां स्वः दुर्याः सुखयुक्ता गृहा वर्धन्ताम् स्वर्गाभिमुखा वर्धन्ताम् शतसहस्रभौमाट्टालिकावन्तो भवेयुरित्यर्थः। उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षम् अन्वेमीत्यत्र पुरुषव्यत्ययः। विमानसमूहोऽन्तरिक्षमन्वेतु। अहं परमेश्वर उरु-विस्तीर्णमन्तरिक्षमेमि व्याप्नोमि सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापकोऽतो मावमंस्थाः। आज्ञोल्लङ्घनेऽन्ते पृथिव्या नाभौ मध्ये गर्ते सादयामि। आज्ञापालने चादित्या देवमातुरङ्के स्थापयामि अतः हव्यं प्रजाभोग्यं देवभोग्यं च पदार्थजातं रक्ष पालय मा-विनाशय। इत्येवमादयः शतशोऽर्थाः सम्भवन्ति। (वा० सं० १।११) ॥

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। देवीरापोऽअग्रेगुवो अग्रेपुवोऽग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम् ॥ वा० सं० १।१२ ॥

अर्थ—हे दो कुश पवित्रों ! तुम्हारा यज्ञ से सम्बन्ध है। हे जल ! प्रेरक देवता की प्रेरणा से छिद्ररहित पवित्र से तथा रविकिरणों के द्वारा मैं तुम्हारा शोधन करता हूँ। हे प्रकाशात्मक जल ! आज आरम्भ किये जाने वाले यज्ञों को निर्विघ्नतया सम्पन्न करो। हे जल ! निम्न (ढालू) जमीन पर प्रवाहित होने वाले तथा प्रथमतः सर्वशोधक तुम हो। अतः यजमान को फलोपभोग की प्रेरणा करो। यह यजमान दक्षिणा देकर यज्ञ को वृश्रिङ्गत करने वाला उसका पालन करने वाला और देवताओं को हविर्भाग का देने वाला है ॥ १२ ॥

५—अथवा इस मन्त्र से नीति का भी उपदेश मिलता है - हे राजन् ! हे शासक ! हे नेताओं ! जनता आदि प्राणिमात्र के हितार्थ मैं तुम्हें प्रेरित करता हूँ। कृपणता अपनाने के लिये नहीं, प्रजा के साथ द्रोह करने के लिये नहीं, भेदनीति को अपनाकर शत्रुता करने के लिये मैं तुम्हें प्रेरित नहीं करता हूँ। शेष अर्थ पूर्व के समान ही है।

६—अथवा इस मन्त्र के द्वारा श्रमिकवर्ग के लिये भी उपदेश दिया जा रहा है—हे श्रमिकों ! मैंने तुम्हारी उत्पत्ति राष्ट्र की समृद्धि के लिये की है। काम-काज में अवरोध करने के लिये, अथवा आन्दोलन मचाने के लिये, अथवा राष्ट्र की सम्पत्ति का विनाश करने के लिये तुमको उत्पन्न नहीं किया है। प्रथम पक्ष में अपने घरों को सुख-साधनों से सम्पन्न करो। ऐसी धर्मनीति से सुखसाधनों को संगृहीत करो, जिनसे परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति हो सके। तुम लोग सैकडों-हजारों भौम हलों का संग्रह करके उन्हें सुरक्षित रखो, और उन्हीं से पृथ्वी को जोतो। विमानसमूहों की उड़ान अन्तरिक्ष में होती रहे। मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ, सर्वशक्तिमान् हूँ, अतः मेरे प्रति श्रद्धाहीन होकर मेरा अपमान मत करो। मेरी आज्ञा को यदि नहीं मानोगे तो पृथिवी के गर्त में गिरा दूँगा, किन्तु मेरी आज्ञा का पालन करने पर देवमाता की गोद में तुम्हें बिठा दूँगा। अतः प्रजा भोग्य और देवयोग्य पदार्थों की रक्षा करते रहो, उनका विनाश मत करो। इस प्रकार मन्त्र के शब्दों से व्याकरण प्रक्रिया, निरुक्त प्रक्रिया की सहायता से सैकडों प्रामाणिक अर्थ निकाले जा सकते हैं। अतः मनगढन्त अर्थ निकालना केवल पापजनक होने से सर्वथा अनुचित है।

१—'कुशौ समावप्रशीर्णाग्रावनन्तर्गर्भौ कुशैश्छिनत्ति पवित्रेस्थ इति, त्रीन् वा'(का० श्रौ० सू० २।३।३०-३१) कुश-शब्दस्तृणपर=कुशौ द्वे दर्भतृणे समौ मूलादारभ्याग्रपर्यन्तं तुल्यप्रमाणौ अप्रशीर्णाग्रौ अग्रवन्तौ। न विद्यन्ते अन्तर्मध्ये गर्भो ययोस्तौ। गर्भेहि सति संख्यान्तरं स्यात्। तौ कुशैश्छिनत्ति। मूलच्छेदनेन प्रादेशप्रमाणौ करोति अध्वर्युः। कुश-पत्रद्वयं वामहस्ते कृत्वा अग्रतः प्रादेशमात्रं परिमाय मूले तयोरुपरि कुशत्रयंमुदगग्रं निधाय तत्कुशत्रयं तयोर्मूलभागेन प्रादक्षिण्येन परिवेष्ट्य तयोः प्रादेशमात्रमग्रभागं वामहस्ते कृत्वा अवशिष्टं मूलभागं कुशत्रयं च दक्षिणहस्ते धृत्वा दक्षिण-हस्तेन छिन्द्यात् त्रोटयेत्। भिन्नप्रमाणावपि समौ कार्यौ-इत्यत्रैव तात्पर्यात्। त्रीन्वेति पक्षान्तरम्। यद्यपि न प्रकृतावूहो-ऽस्तीति 'न प्रकृतावयर्वत्वात्' (का० श्रौ० सू० ४।३।२१) इति न्यायेन मन्त्रगतस्य द्विवचनान्तपदस्योहाभावेन यथाश्रुतस्य मन्त्रस्य पाठेऽथवा मन्त्रस्य त्यागेऽन्यतरस्मिन्नवश्यकर्त्तव्ये 'गुणेत्वन्यायकल्पना' (मी० सू० ६।३।१५) इति न्यायेन द्विवचन-स्यैव बहुत्वे लक्षणामङ्गीकृत्य द्विवचनान्तस्यैव मन्त्रस्य पाठो युक्तः। 'तृणं कष्ठं वान्तर्धाय छिनत्ति नखेनेति' (आपस्तम्ब श्रौ० सू०)

२—मन्त्रार्थस्त्वित्थं—वैष्णव्यौ इति नपुंसकस्य 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३। ।८५) इति सूत्रेण व्यत्ययेन स्त्रीलिङ्गत्वम्। हे पवित्रे शोधके कुशद्वयरूपे युवां वैष्णव्यौ यज्ञसम्बन्धिनी स्थः। 'यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञियेस्थ इत्येवैतदाह' (श० १।१।३।१) इति श्रुतेः। 'हविर्ग्रहण्यामपः कृत्वा ताभ्यामुत्पुनाति सवितुर्व इति' (का० श्रौ० सू० २।३।३२) अग्नि-होत्रहवण्यां प्राणीतमुदकमासिच्य तदुदकं हस्तद्वयस्यानामिकाङ्गुष्ठगृहीताभ्यां पवित्राभ्यां सकृदूर्ध्वंक्षिपेत् सवितुर्व इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु—हे आपः सवितुः प्रेरकस्य परमेश्वरस्य प्रसवे प्रेरणे वर्तमानोऽहं वो युष्मान् उत्पुनामि उत्कर्षेण-शोधयामि। अच्छिद्रेण छिद्ररहितेन शोधकेन वायुस्वरूपेण तथा सूर्यस्य रश्मिभिः शुद्धिहेतुभिरुत्पुनामि। वायोः सूर्यस्य रश्मीनाञ्च पादप्रक्षालनाद्युपहतभूमिशुद्धिहेतुत्वप्रसिद्धेः।

३—तदेवाह शातपथीश्रुतिः द्वित्वपक्षपोषणाय—'ते वै द्वे भवतः। अयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमेक इवैव-पवते सोऽयं पुरुषेन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च ताविमौ प्राणोदानौ तदेतस्यैवानुमात्रां तस्माद्द्वे भवतः' (श० १।१।३।२) अयं पवमानो वायुरेव पवित्रं शुद्धिहेतुः। 'पुवः संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।२।१८५) करण इत्र प्रत्ययः। 'पन्थानश्च विशु-द्धयन्ति सोमसूर्यांशुमारुतैः।' इत्यादिस्मृतेः। स च बहिरेकोऽपि पुरुषशरीरमनुप्रविष्टो वृत्तिभेदेन इडापिङ्गलादिनाडीद्वारा बहिर्गच्छन् प्राणः प्राङुच्यते, अन्तःप्रविशन् प्रत्यङ्ङुच्यते। तावेतौ प्राणोदानौ कथ्येते। ऊर्ध्वदेशादानयति अन्तःप्रविश्या-नुगुणं चेष्टते तेनापानोऽत्र विवक्षितः, नतूत्क्रान्तिहेतुरुदानः। प्राणापानौ पवित्रे यजमान एव प्राणापानौ दधाती' (तै० ब्रा०

१—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार 'कुश' शब्द तृणपरक है। दो दर्भतृणों को जो मूल से लेकर अग्रपर्यन्त तुल्य प्रमाण वाले हों उन्हें तीन कुशों से काट दे। अर्थात् अध्वर्यु उन दो कुशों का मूल काटकर उन्हें प्रादेश प्रमाण का करे।

२—मन्त्र का अर्थ यह है कि हे जलों! प्रेरक परमेश्वर की प्रेरणा से चलने वाला मैं तुम्हारा शोधन करता हूँ। छिद्ररहित शोधक वायुस्वरूप से तथा सूर्य की रश्मियों से तुम्हें पवित्र करता हूँ। क्योंकि वायु और रश्मियों का समूह पादप्रक्षालनादि से उपहत भूमि की शुद्धि करते हैं, यह प्रसिद्ध है।

३—शतपथ ब्राह्मण ने भी इसका समर्थन किया है। वह प्राण वायु बाहर एक रहने पर भी पुरुष के शरीर में अनुप्रविष्ट होकर वृत्तिभेद से इडा-पिङ्गलादि नाडियों द्वारा बाहर निकल कर 'प्राङ्', और अन्तः प्रविष्ट होने पर 'प्रत्यङ्', कहलाता है, ये दोनों प्राण और उदान कहलाते हैं। इस प्रकार द्विधा भिन्न हुए वायुसंज्ञक पवित्र की मात्रा (परिमाण) का अनुसरण करके पवित्र दो बनाये गये हैं। द्यावा-पृथ्वी के मध्य में जो भी था सबको आच्छादित करके वृत्र रहा। उस वृत्र को इन्द्र ने मार दिया। उसको मारने से जल को लक्ष्य करके चारों ओर दुर्गन्ध प्रसृत हो गया।

३।३।४।४) त्यस्मिन्नेव प्रकरणे इति तित्तिरिणा तथैवाम्नातत्वात् एवं द्विधाभिन्नस्य वाम्वाख्यस्य पवित्रस्य मात्रां परिमाणमनुसृत्य पवित्रयोर्द्वित्वम् ।

तत्रैव शतपथे अर्थोऽपि त्रीणिस्यु'- (श० १।१।३।३) रित्यादिभिः। तस्यैव प्राणापानवतः व्यानाख्योऽपि वृत्तिभेदो भवत्विति त्रित्वपक्षोऽपि समर्थितः। 'अच्छिद्रेण पवित्रेणेत्ययं पवित्रं योऽयं पवते तस्मादाहाच्छिद्रेण पवित्रेणेति। सूर्यस्य रश्मिभिरित्येते पवितारो ये सूर्यस्य रश्मयस्तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति काण्वश्रुतेश्च। शतपथे—'वृत्रोह वा इद ँ सर्वं वृत्वा शिश्ये।.........तस्माद् वृत्रोनाम। तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवापोभिप्रसुस्राव सर्वत इव ह्यय ँ समुद्रस्तस्मादुहैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे ता उपर्युपर्यति पुप्रुविरेऽतद्रमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वा इतरासु स ँ सृष्टमिव यदेनावृत्रः पूतिरभिप्रास्रवतदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्य मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति। (श० १।१।३।४-५) द्यावा पृथिव्योर्मध्ये यदासीत् सर्वं वृत्वा वृत्रः शिश्ये। तमिन्द्रोजघान। सहतः पूतिः दुर्गन्धः सर्वतो अपोऽभिलक्ष्य प्रस्तुतोऽभूत्। अतएव समुद्रः सर्वमावृत्यवर्तते। तस्मात् दुर्गन्धात् स्रुताद् वृत्रादिमा आपः बीभत्साञ्चक्रिरे जुगुप्सन्तेस्य। ता आपः तत्स्पर्शं परिहर्तुमतिपुप्लुविरे। जलाशयमतिक्रम्य तीरदेशं प्राप्ताः। ताश्चदर्भात्मना परिणताः।

४—तित्तिरिश्च—'इन्द्रोवृत्रमहन्। सोऽपः। अभ्यम्रियत। तासां यन्मेध्यं यज्ञिय ँ सदेवमासीत्। तदपोदक्रामत्। ते दर्भा अभवन्' (तै० ब्रा० ३।२।५।१) सव्येकृत्वा दक्षिणेनोदिङ्गयवि देवीराय इति। (का० श्रौ० सू० २।३।३४) अध्वर्युः सव्यहस्ते अग्निहोत्रहवणीस्थाः प्रोक्षणीः अपोनिधाय सव्यहस्तास्था एव प्रोक्षणीर्मुखपर्यन्तमूर्ध्वाः कुर्यात्। समाचारादेव दक्षिणेनोदिङ्गने प्राप्ते सूत्रेदक्षिणग्रहणं सव्योस्थितानामेव प्रोक्षणीनामपां दक्षिणेनोदिङ्गनं यथास्यादित्येतदर्थम्। तेन सव्यहस्तस्थितानामेवोदिङ्गनं क्रियते। सायणरीत्या तु उत्पूताभिरद्भिः पूरितं पात्रं सव्ये हस्ते निधाय मन्त्रमुच्चारयन् दक्षिणेन हस्तेन पात्रमूर्ध्वं चालयेत्। ऊर्ध्वसेचनेन चालयति। इगि रिगि लिगि गत्यर्थाः।

५—हे द्योतनात्मिका आपो यूयमद्यास्मिन् दिने इममिदानीं प्रवर्तमानं यज्ञं श्रेष्ठतमं कर्मविशेषम् अग्रे नयत् पुरतः प्रवर्तयत् यथा विघ्नो न स्यात्तथा कुरुत। कीदृश्य आप इत्याह अग्रेगुवः पुरतोनिम्नदेशं प्रतिगमनशीला अग्रेपुवः यस्मिन् पूर्वमागच्छन्ति तस्मिन्नपहति (मालिन्य) निवारणेन शोधनशीलाः। यद्वा याः पिबन्ति सोमराज्ञो रसस्य पान-

---

अतएव समुद्र सबको आवृत करके रहता है। उस वृत्रासुर से निकलने वाली दुर्गन्ध से जल को बड़ी जुगुप्सा होने लगी। तब जलों ने उसके स्पर्श से बचने के लिये बहुत चाहा, तब जलाशय का अतिक्रमण करके वे तीर पर पहुँच गये, और दर्भ के रूप में परिणत हो गये।

४—तित्तिरे ने भी इसी बात को कहा है। अध्वर्यु अपने सव्य हस्त में अग्निहोत्रहवणीस्थितप्रोक्षणी (जल) को रखकर ही प्रोक्षणी को मुखपर्यन्त ऊपर उठावे। दक्षिण हाथ से उदिङ्गन (ऊपर की ओर उठाना) तो शिष्टाचार परम्परा से ही प्राप्त है। सूत्र में 'दक्षिण' कहकर यह बताया है कि सव्यहस्तस्थित रहती हुई ही प्रोक्षणी जल को दक्षिण हस्त से उदिङ्गन करे। अतः सव्यहस्त में ही स्थित प्रोक्षणी का उदिङ्गन किया जाता है। सायण के अनुसार तो उत्पूत जल से पूर्ण किये गये पात्र को सव्य हस्त में रखकर मन्त्र बोलते हुए दक्षिण हस्त से पात्र को ऊर्ध्व चलाना चाहिपे अर्थात् ऊर्ध्व की ओर सेचन के द्वारा चलाना चाहिये। क्योंकि 'इगि रिगि लिगि' धातु गत्यर्थक कही गई हैं।

५—इससे यह निष्कर्ष निकला कि हे द्योतनात्मक जनों! तुम लोग आज के दिन होने वाले श्रेष्ठतम यज्ञकर्म को आगे बढ़ाते हुए निर्विघ्नता को सम्पन्न करो। जल कैसा है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—'अग्रे गुवः' यानी जल पुरतः निम्नदेश की ओर गमनशील है। और 'अग्रे पुवः' ये जल प्रथमतः सोमरस का पान किया करते हैं। और इस यजमान को फलभोगार्थ प्रेरित करो। जो यजमान अच्छी दक्षिणादानादि के द्वारा यज्ञ का पोषक है तथा जो

कर्त्र्यः पुनातेः पिबतेर्वा क्वौ 'अङ् च गमादीनाम्' 'गमः क्वौ' (वा० सू० ६।४।४०) इत्यत्र कात्यायनवार्तिकम्—अनेनोकारः। यज्ञप्रवर्तनाय ऊर्ध्वं यज्ञपतिं यजमानम् अग्रे नयत फलभोगाय प्रेरयत। कीदृशं यज्ञपतिं सुधातुं सुष्ठु दक्षिणादानादिना यज्ञस्य पोषकम्। देवायुवम् देवान्यौति यज्ञादिना मिश्रीकरोतीति देवायुः। यद्वा देवान् कामयते इति देवायुः। इदंयुरिदं कामयमान इति यास्कोक्तेः। यज्ञपतिं यज्ञस्य पालकं तं तादृशं यज्ञपतिं नयत।

६—दर्भात्मना परिणतजलव्यतिरिक्तममेध्यादिकं संसृष्टमिव भवति। तस्मादन्पूयितापविकाराभ्यां दर्भाभ्यामासामुत्पवनं कुर्वन् पूयसंसर्गकृतममेध्यत्वमपहन्ति। युष्मा इति छान्दस आकारः। हे आपो युष्मान् इन्द्रोदेवः वृत्रतुर्ये-वृत्रवधे निमित्तभूते सति अवृणीत सहकारित्वे प्रार्थितवान्। यूयमपि वृत्रतुर्ये निमित्ते तमिन्द्रमवृणीध्वं सहकारित्वेन-प्रार्थितवत्यः। इन्द्रस्यापाञ्च परस्परवरणं शतपथे प्रसिद्धम् अत्र शतपथब्राह्मणम्—'ताः सव्ये पाणौ कृत्वा। दक्षिणेनोदिङ्गयत्युपस्तौत्येवैना एतन्महयत्येव देवीरापो अग्रेगुवोअग्रेपुव इति देव्योह्यापस्तस्मादाह देवीराप इत्यग्रेगुव इति ता यत्समुद्रं गच्छन्ति तेनाग्रेगुवोग्रेपुव इति ता यत्प्रथमाः सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति तेनाग्रेपुवोऽग्रे इममद्ययज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातुं देवयुवमिति साधु यज्ञꣳ साधु यजमानमित्येवैतदाह' (श० १।१।३।७) उत्पवनानन्तरं ताः प्रोक्षणीरापोऽग्निहोत्रहवण्या पात्रेण साकं सव्ये पाणौ धारयन् देवीराप इति मन्त्रेण दक्षिणेन हस्तेन उदिङ्गयति ऊर्ध्वंसेचनेन चालयति। इतिर्गत्यर्थोऽभ्वादिः। मन्त्रतात्पर्यमाह—उपस्तौत्येतेन। एतेन देवीरापइति मन्त्रपठनेन एता आपः प्रशंसत्येव ते महयत्येव पूजयत्येव। देवीराप इत्यादिमन्त्रं दर्शयित्वा स्तुतिरूपतामुपपादयति—देव्योह्यापस्तस्मादाह देवीराप इति। देवतारूपत्वेनासां देवीत्वं प्रसिद्धमेव। हीत्यस्य प्रसिद्धिबोधकत्वात्। अग्रेगुवः अग्रे पुरतो वर्तमानं गच्छन्तीति अग्रेगुवः। अग्रेगूशब्देनापां समुद्रगामित्वं विवक्षितम्। 'ऊङ् च गमादीनाम्' इति 'गमः क्वौ' (पा० सू० ६।४।४०) इत्यत्रत्य वार्त्तिकेन गमेरूत्वम्। ताः प्रथमा आपः, या आपः खल्वभिषवार्थमासिच्यमाना यष्टव्यदेवताभ्योऽपि पूर्वं सोमरसमास्वादयन्ति। तेन सोमपाने अग्रेप्रथमम् स्वात्मानं पुनन्ति ता अग्रेपुवः उभयत्र 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (पा० सू० ६।३।१४) इत्यग्रशब्दात् सप्तम्या अलुक्। साधु यज्ञमित्यादि। अग्र इमम् इत्यत्राग्रशब्दः प्राशस्त्यबोधकः अग्रे प्रशस्ते अद्यास्मिन् काले इमं यज्ञं प्रापयतेति प्रतिपादयता मन्त्रेण साधुयज्ञं न यतेत्येवोक्तम्। प्राशस्त्यं प्राप्तस्य साधुत्वनियमात्। यज्ञस्य पतिं पालकं। शतपथदृष्टया अत्र सर्वत्र अग्रेशब्दः प्राशस्त्यबोधकः। अतएव साधुयज्ञं साधुयजमानमित्येवाह। क्विपि आगमविधेरनित्यत्वात्तुगभावः। निरुक्तदृष्ट्यातु 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इतिक्यच्। 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० सू० ७।४।३५) इत्यनेन 'क्यचि चे' (पा० सू० ७।४।३३) ति प्राप्तस्येत्वस्याभावः। 'अकृत्सार्वधातुकयो' (पा० सू० ७।४।२५) रितिदीर्घाभावः। 'क्याच्छन्दसी' (पा० सू० ३।२।१७०) त्युत्वम्। 'तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्' (पा० सू० ६।४।७७) इति स्थलीयेन वार्तिकेन इत्युवङ्। यज्ञं कर्मविशेषमग्रे नयत पुरतः प्रवर्तयत वा। यथाविघ्नो न स्यात्तथा कुरुतेत्यर्थः। यज्ञप्रवर्तनाय च यज्ञपतिं यजमानमग्रेनयतेत्यनुवर्तते फलभोगायप्रेरयतेत्यर्थः। कथंभूतं सुधातुं यज्ञस्य दक्षिणादिना पोषकम्। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' देवयुवम् देवान् यौति यज्ञादिषु एकत्रितान् करोति स देवयुस्तं देवयुवम् अथवा देवान् कामयते इति देवयुः—इदयुः इदकामयमान इति यास्कोक्तेः।

यजमान 'देवायु' हो, यानी यज्ञ के साथ देवताओं को जो सम्बन्धित करता है। अथवा जो देवताओं की कामना करता है। ऐसे 'यज्ञपति' यानी यज्ञपालक यजमान को फलभोगार्थ प्रेरित करो। मन्त्र में 'यज्ञपति' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है। अतः एक की यौगिक व्याख्या और एक की रूढ़ि से व्याख्या करनी चाहिये। हे जलों! इन्द्रदेव ने वृत्रासुर के वध के लिये सहायक के रूप में तुम्हारी प्रार्थना की थी और तुमने भी वृत्रवधार्थ उस इन्द्र की, सहायक के रूप में प्रार्थना की थी।

६—इन्द्र और जल की परस्पर अपेक्षा के सम्बन्ध में शतपथ ने भी बताया है। उत्पवन करने के अनन्तर उन प्रोक्षणी जलों को अग्निहोत्रहवणी पात्र के सहित सव्य हाथ में धारण करते हुए 'देवीराप' इस मन्त्र से दक्षिण हाथ से उसको ऊर्ध्व सेचनार्थ चलाता है।

युष्मा इन्द्रोवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिताः स्थः ।

अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि । दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं

देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ॥ वा० सं० १ । १३ ॥

अर्थ—हे जलों ! इन्द्र ने वृत्रवध के निमित्त सहायता के लिये तुम्हारी प्रार्थना की और तुमने भी सहायता के लिये वृत्रवध के मिमित्त इन्द्र की प्रार्थना की थी। हे जलों ! तुम सिञ्चित किये हुए हो। अग्नी और अग्नीषोम देबताओं को प्रिय रहनेवाले उन पात्रों का मैं प्रोक्षण करता हूँ। हे यज्ञीय पात्रों ! तुम अग्न्यादि देवताओं से सम्बन्धित दर्शादि कर्मों के निमित्त शुद्ध हो जाओ। क्योंकि निकृष्ट जाति के तथा (बढ़ई) शिल्पी ने तुमको बनाते हुए तुम्हारे (यज्ञीय पात्रों के) अङ्गों को अपने हस्तस्पर्श से अशुद्ध किया है। उन्हें मैं जल प्रोक्षण के द्वारा शुद्ध करता हूँ ॥१३॥

'एताउहीन्द्रोऽवृणीत वृत्रेण स्पर्धमान एताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह। युष्मा इन्द्रोऽवृणीतवृत्रतूर्य इति' (श० १।१।३।८) एताउहीन्द्रमवृणतवृत्रेण स्पर्धमानमेताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह यूयमिन्द्रमवृणीध्वम्' (श० १।१।३।९) 'प्रोक्षितास्थेति तासां प्रोक्षणम्' (का० श्रौ० सू० २।३।३५)

१—हे आपः यूयं मदीयमनोभावनया प्रोक्षिताभवत। प्रोक्षणं नाम प्रकर्षेण सेचनम्। तच्चान्यद्रव्यस्याद्भिः सम्भवति। अपां तु न केनाप्यन्येन द्रव्येण तस्मान्मानसोपचारेण तासां प्रोक्षणं युक्तम्। तदेताभ्यो निह्नुते। यद्यपि प्रोक्षणीस्थानामपां स्वातिरिक्तजलेन प्रोक्षणं नास्ति तथापि 'प्रोक्षिताः स्थ' (वा० सं० १।१३) नह्यसंस्कृता अन्यसंस्कारक्षमा भवन्तीति स्वात्मनैव प्रोक्षिता भवतेति मन्त्रेण प्रतिपादनात् प्रोक्षणवत्त्वसिद्धेः। तत्तेन मन्त्रपाठेनाप्रोक्षणजनितमपराध, एताभ्यः प्रोक्षणीभ्योनिहुतेऽपनयति। तत्पात्रगतमुदकमनेनमन्त्रेण प्रोक्षितव्यमिति तात्पर्यम्। अतएव 'प्रोक्षिता स्थेति तासां प्रोक्षण (का० श्रौ० सू० २।३।३५) मिति कात्यायनः। अथवा निह्नुते अचलपति, उपचरति इत्यर्थः। त्तित्तिरिस्तु मन्त्रपाठेन तमुपचारं दर्शयति—'प्रोक्षिताः स्थेत्याह तेनापः प्रोक्षिता (तै० ब्रा० ३।२।५।४)

२—हविश्चाग्नये त्वाग्नीषोमाभ्यां त्वेति, यथादेवतमन्यदिति (का० श्रौ० सू० २।३।३६-३७) प्रोक्षणमनुवर्तते। अत्र देवताद्वयसम्बन्धिनोहविषस्तत्तद्देवतानां यथा प्रोक्षणमेवमन्यदपि हविस्तत्तद्देवानांनामान्यनतिक्रम्य प्रोक्षणीयम्। अग्नये त्वां जुष्टं प्रोक्षामि अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि—इति। 'पात्राणि दैव्यायेति' (का० श्रौ० सू० २।३।३८) कृष्णाजिनोलूखलादीनि यज्ञपात्राणि दैव्यायेतिमन्त्रेण प्रोक्षयेत् तथा च ब्राह्मणम् 'दैव्याय कर्मणे शुन्धध्व देवयज्यायै' हे यज्ञपात्राणि शुद्धानि भवत। देवयज्यायै देवतासम्बन्धिन्यै दर्शादियज्ञक्रियायै। वो युष्माकं सम्बन्धि यदङ्गमशुद्धं, निम्नजातीयास्तक्षादयः पराजघ्नुः पराहतं कृतवन्तः, छेदनतक्षणादिकाले स्वकीयहस्तस्पर्शरूपमशुचित्व चक्रुः तदिद वः

१—हे जलों ! वृत्रासुर के वध के समय इन्द्र ने तुम से सहायता की याचना की थी और तुमने भी उसी के लिये इन्द्र से सहायता की याचना की थी। हे जलों तुम प्रोक्षित हो जाओ। क्योंकि जो स्वयं संस्कारहीन हो, वह दूसरे का संस्कार करने में समर्थ नहीं हो सकता। अन्य हवि का भी प्रोक्षण, उससे सम्बन्धित देवता का उच्चारण करते हुए

शुन्धामि प्रोक्षणेन शुद्धं करोमि। तत्सर्वं शतपथश्रुत्या 'यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै मेध्यं करोति............तद्यदेवैषा-मत्राशुद्धस्तक्षा वान्योवाऽमेध्यः कश्चित् पराहन्ति तदेवैषामेतदद्भिर्मेध्यं करोति तस्मादाह यद्वोऽशुद्धाः।' (श० १।१।३।११-१२) एवं श्रुतिसूत्रसायणादिसम्मतं व्याख्यानम्।

२—दयानन्दस्तु—'पवित्रे पवित्रकरणहेतू प्राणापानगती स्थः भवतः। व्यत्ययः। यज्ञस्येमौ व्याप्तिकर्तारौ पवनपावकौ तौ सवितुर्जगदुत्पादयितुः। वः (पुरुषव्यत्ययेन ताः) प्रसवे उत्पन्नेऽस्मिन् जगति उत धात्वर्थे उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं प्राह—(नि० १।३) पुनामि पवित्रीकरोमि। अच्छिद्रेण पवित्रेण शुद्धिकरणहेतुभिः सूर्य्यस्य प्रत्यक्षलोकस्य रश्मिभिः किरणैः देवीः दिव्यगुणयुक्ताः। अत्र "सुपां सुलुगि"ति पूर्वसवर्णादेशः। आपः जलानि अग्रेगुवा प्रथमां पृथिवीस्थां सोमौषधिं सेविकाः अग्रे पुरः सरत्वेति क्रियासम्बन्धे इमं प्रत्यक्षं अस्मिन्नहनि यज्ञं पूर्वोक्तं नयत प्रापयत। यज्ञपतिं यज्ञस्वामिनं सुधातुं शोभना धातवः शरीरस्था मन आदयः सुवर्णादयो वा यस्य तं यज्ञस्य कामयितारम्देवयुवं देवान् विदुषो दिव्यगुणान् यौति प्राप्नोति प्रापयति वा तम्। हे विद्वांसो यथा सवितुः परमेश्वरस्य प्रवर्तितेऽस्मिन्संसारे-ऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः पवित्रे शुद्धौ वैष्णव्यौ पवन पावके स्थो भवतः। यथा चैते अग्रेगुवो अग्रेगुवादेवीरापः पवित्रा भवेयुस्तथा शुद्धानि द्रव्याण्यग्नौ नयत प्रापयत तथैवाहमद्येमं यज्ञं नीत्वा अग्रेसुधातुं यज्ञपतिं चोत्पुनामि' (पृ० ६७–६९) इत्याह—अत्रेदं वक्तव्यम्, यथा सिद्धान्ते पवित्रे द्वे दर्भतृणे इतिश्रुतिसूत्रादिसिद्धे पवित्रे, तमर्थमपहाय प्राणा-पानगती इत्यर्थकरणे किं मूलम्? श्रुतौ तु दृष्टान्तरूपेणोक्तं यथैकस्यैव बाह्यस्य वायोः पवित्रस्य शरीरन्तःप्रवेशेन वृत्ति-भेदेन प्राणापानौ द्वौ रूपौ भवतस्तदनुकारेणैव दर्भतृणयोर्द्वित्वं भवति। तथैव वृत्रः सर्वमावृत्य शिश्ये। तमिन्द्रो जघान। तत्पूति सर्वत्र प्रसुस्राव। तेनापो बीभत्साञ्चक्रिरे। तत्र मेध्या आप उपर्युपरि पुप्लुविरे। ता एव तीरं प्राप्य दर्भाजाता-स्तस्माद्दर्भा मेध्यास्तत्स्पर्शेन अमेध्या अप्यापो मेध्याभवन्तीत्यादिकमर्थवादरूपेणोक्तं दर्भस्य पवित्रत्वम्। परमल प्राणापानगती एव पवित्रे इत्यत्र किं मानम्? अत एव व्यत्ययोऽपि निष्प्रमाण एव। अतएव वैष्णव्यौ इति विष्णु-सम्बन्धिनी पवित्रे इत्युपपत्तौ पवनपावकौ इत्यर्थो निर्मूलएव। पवित्रे प्राणापानगती वैष्णव्यौ इति सामानाधिकरण्ये-नोभयपदार्थयोरभेदो युक्तः नहि प्राणापानगत्योः पवनपावकाभ्यामभेदः सम्भवति तयोर्भिन्नाधिकरणत्वात्। किञ्च पवित्रे-त्यस्य पवित्रैरिति विपरिणामो व्यर्थ एव, यतः 'अयं वै पवित्रं योऽयं पवते' (श० १।१।३।२) एषोच्छिद्रं पवित्रम्' (श० १।।३।६) इति श्रुतिभ्यां पवित्रपदस्य वायुपरत्वावगमात्। नहि तेन रश्मिभितृभेदः सम्भवति, भिन्नार्थनिष्ठत्वात्। यज्ञोऽपि न त्वदभिमतोऽग्नौ द्रव्यनिक्षेपरूपः तस्याधुनिकैरवैदिकैर्वैज्ञानिकैः प्रत्यहं क्रियमाणत्वात्।

करना चाहिये। अग्नि आदि देवताओं से सम्बन्धित कर्मों के अनुष्ठानार्थ हे यज्ञीयपात्रा! तुम भी शुद्ध हो जाओ। क्योंकि तुम्हारे निर्माण करने में छेदन-तक्षण करते हुए अपने हस्तस्पर्श से तुम्हारे अङ्गों को अशुचि कर दिया गया है, उन अङ्गों को मैं प्रोक्षण के द्वारा शुद्ध कर रहा हूँ।

२—स्वामी दयानन्द ने उक्त मन्त्र का मन-माना अर्थ किया है जिसे ऊपर संस्कृत भाष्य में दिया गया है। उस पर वक्तव्य यह है कि जैसे सिद्धान्त में 'पवित्रे' का अर्थ दो दर्भतृण किया जाता है, जो श्रुति-स्मृति प्रतिपादित है। उस प्रामाणिक अर्थ को छोड़कर उसका 'प्राणापानगति' अर्थ करने में क्या मूल है? अतएव जो व्यत्यय आपने किया है, उसमें भी कोई प्रमाण नहीं हैं। अतएव 'वैष्णव्यौ' का अर्थ 'पवन पावक करना भी निर्मूल है। 'पवित्रप्राणापान-गती वैष्णव्यौ' यह सामानाधिकरण्य दोनों के अभेद को बता रहा है। प्राणापानगतियों का पवन-पावकों के साथ अभेद होना सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनों की भिन्नाधिकरणता है। किञ्च 'पवित्रे' का 'पवित्रैः' ऐसा विपरिणाम करना व्यर्थ ही है, क्योंकि श्रुति से तो 'पवित्र' पद का 'वायु' परक होना अवगत हो रहा है। विपरिणाम करने से आपका अभीप्सित अभेद सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों भिन्नार्थनिष्ठ हैं। यज्ञ भी आपको अभिमत नहीं है, क्योंकि वह अग्नि में द्रव्यनिक्षेपरूप मात्र आपकी दृष्टि में है। उसे तो आधुनिक अवैदिक वैज्ञानिक प्रतिदिन ही करते रहते हैं।

३—अन्वयेतु सूर्यस्य रश्मिभिः पवित्रे शुद्धौ वैष्णव्यौ पवनपावकावित्युक्तं तदपि नोपपद्यते पवनपावकयोः स्वातन्त्र्येणैव पावनत्वप्रसिद्धे निर्मूलत्वाच्च। तथा शुद्धानि द्रव्याण्यग्नौ नयत इत्यपि निर्मूलं तादृशार्थबोधकपदानां मन्त्रेऽभावात् अग्रे नयत इत्यस्याग्नौ नयतेतिकथमर्थः? अपि च किमिदं दृष्टान्तकथनं विधानं वा? प्रथमे विधिप्रत्यया-योगापत्तिः। द्वितीये कोविदधाति जीव ईश्वरो वा? नाद्यस्तस्य विदुषां विधायकत्वायोगात्। नान्त्यः, तथाहमिममद्य यज्ञमग्ने नीत्वा सुधातुं यज्ञपतिं पुनामीत्यनुपपत्तेः। अद्योत्पुनामीत्युक्तौ वेदस्येतिहासत्वापत्तेश्च। किञ्च परमेश्वरस्य वक्तृत्वे सवितुः परमेश्वरस्य सृष्टाविति ताटस्थ्येन निर्देशोऽपि न सङ्गतः, मम सृष्टावित्यस्यैव युक्तत्वात्।

हिन्दी व्याख्यानेन तु विद्वत्कर्तृकहोमेनैव सूर्यरश्मिभिः पवनपावकौ जलानि च पूयन्ते। तेन यथा रश्मिभिरेते पूयन्ते तथा भवन्तः शुद्धानि द्रव्याणि—अग्नौनयत। तथैवाहमद्य इमं यज्ञं प्राप्य यज्ञपतिमुत्पुनामि। ईश्वरो विदुषां होमेन पवनादीनां पावनत्वदृष्टान्तेन यज्ञं ज्ञात्वा यज्ञपतिं पुनातीत्युपहासास्पदमेव, तस्य सर्वज्ञत्वबाधात्। किञ्च विदुषां होमेन कथं सूर्यस्य रश्मिभिः पवन पावकौ जलानि पूयन्ते? रश्मयस्तु होममन्तरापि स्वकार्यं कुर्वन्त्येव। यत्र देशे होमो न भवति तत्रापि शुद्धयो भवन्ति तत्कार्यपुष्टिस्वास्थ्यादिदर्शनात्।

४—यत्तु केनचिदुक्तम्—पवित्रे इत्यस्य सम्बोधनत्वे 'आमन्त्रितस्य च' (पा० सू० ६।१।१९८) इत्यनेनाद्युदा-त्तत्वप्रसङ्ग (पृ० ६७९) इति तदसाम्प्रतम् सम्बोधनस्यार्थिकत्वात्। मन्त्रगतं पवित्रे इतिपदं स्थ इत्यस्य कर्तृत्वेनैव सम्बद्ध्यते। तत एव पवित्रे पवनक्रियाशीले युवां भवत इत्याहोव्वटाचार्यः। व्यत्ययेन वा समाधानम्। तेनापि छान्दस-त्वादामन्त्रितत्वाभावेऽपि अग्रेगुवः अग्रेपुवः इत्यादीनां निघात उक्तः।

---

३ अन्वय प्रदर्शित करते समय आपने 'सूर्यस्य रश्मिभिः पवित्रे शुद्धौ वैष्णव्यौ पवन-पावकौ' जो बताया है, वह भी सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कोई मूल नहीं है, और पवन-पावक तो स्वयं ही पावन हैं। तथा 'शुद्धानि द्रव्याणि अग्नौ नयतः' यह भी निर्मूल है, क्योंकि मन्त्र में कोई ऐसा शब्द नहीं है, जो आपके उक्त अर्थ का बोधन करता हो। तथा 'अग्रे नयत' का 'अग्नौ नयत' अर्थ कैसे होगा? क्या यह आपने दृष्टान्त बताया है, अथवा विधान किया है? प्रथम पक्ष में विधिप्रत्यय का योग नहीं बन पायेगा। द्वितीय पक्ष में कौन विधान कर रहा है, जीव या ईश्वर? जीव तो विधायक हो नहीं सकेगा क्योंकि विद्वान् ज्ञानियों का वह विधायक नहीं हो सकता। ईश्वर को यदि विधायक कहें तो 'इममद्य यज्ञमग्रे नीत्वा सुधातुं यज्ञपतिं पुनामि' कहना अनुपपन्न हो जायगा। किञ्च परमेश्वर को वक्ता मानने पर परमेश्वर का जो ताटस्थ्येन निर्देश है, वह भी असङ्गत होगा, क्योंकि 'मेरी सृष्टि में' यह कथन ही उचित है। आपके किये हुए हिन्दी व्याख्यान से तो उसकी सर्वज्ञता का ही बाध हो रहा है। अतः आपका हिन्दी व्याख्यान तो उपहासास्पद ही हो गया है।

किञ्च विद्वानों के द्वारा किये गये होम से सूर्यरश्मियों के द्वारा पवन, पावक, जल को कैसे पवित्र किया जायगा? क्योंकि होम के विना भी सूर्यरश्मियाँ अपना कार्य करती ही रहती हैं। जहाँ पर होम नहीं होता है, वहाँ पर भी शुद्धियाँ होती ही हैं। क्योंकि तत्कार्यभूत पुष्टि-स्वास्थ्य आदि का होना दिखाई देता है।

४—किसी ने जो कहा है कि 'पवित्रे' को सम्बोधन मानने पर 'आमन्त्रितस्य च' सूत्र से आद्युदात्त मानना होगा। वह भी उचित नहीं है, क्योंकि सम्बोधन तो आर्थिक है। मन्त्रगत 'पवित्रे' पद का 'स्थः' पद के कर्ता के रूप में सम्बन्ध है। इसीलिये 'हे दोनों पवित्रों! तुम पवन क्रियाशील हो जाओ'—ऐसा उव्वटाचार्य ने कहा है। अथवा व्यत्यय मानकर समाधान किया गया है। इस कारण आमन्त्रितत्व के न होने पर भी छान्दस होने से 'अग्रे गुवः अग्रे पुवः' इत्यादि में निघात (अनुदात्त) का होना बताया गया है।

५—ये पदार्थाः संयोगेन विकारं प्राप्नुवन्ति अग्निच्छिन्नाः पृथक् पृथक् परमाणवो भूत्वा वायौ विहरन्ति ते शुद्धा भवन्ति। यथा यज्ञानुष्ठानेन वायुजलानामुत्तमे शुद्धिपुष्टी जायेते न तथान्येन भवितुमर्हतः (पृ० ६६), इति भावार्थनिरूपण उक्तम्, तदपि चिन्त्यम्, इदानीन्तु काष्ठजैरिङ्गालजैराग्नेयतैलादि (पेट्रोल, डीजल आदि) पदार्थैर्यथाग्नि-योगे पदार्थाश्छिन्नाः परमाणवो भूत्वा वायौ विहरन्ति न तथान्यदा, किमयमपि यज्ञः? न च घृतादिहोमे वैशिष्टयम्, परमाणुत्वे समेषामवैशेष्यात्। यदि परमाणुत्वेऽपि घृतादीनामुपकारकत्वं तदा दुर्गन्धियुक्तानां पदार्थानामग्निनापरमाणु-त्वापत्त्याऽपकारकत्वमपि स्यात्। शिल्पविद्यया विमानानि साधयित्वा कामनासिद्धिं कुर्युः कारयेयुर्वा" (पृ० ६६) इत्यादिकं तु सर्वथोदक्षरमेव। 'शतपथे वृत्रस्य सूर्यलोकस्य युद्धाख्यायिकयाऽस्यमन्त्रस्य व्याख्याने मेघविद्योक्ते"ति (पृ० ६६) कथनन्तु मूढजनप्रतारणमेव। वृत्रेन्द्रयुद्धस्य नैरुक्तदृष्टया मेघसूर्ययुद्धरूपेण वर्णनेऽप्यैतिहासिकानां दृष्टया-वृत्रासुरेन्द्रदेवयुद्धवर्णनमपि नापलापमर्हति, ब्राह्मणेषु महाभारते श्रीमद्भागवतादौ ता प्रतिपादनात्।

६—यत्तूक्तम्—'नैतदस्ति यद्देवासुरम्' (श० ११।१।६।६) तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णाभवन्ति (नि० २।१६) इति प्रमाणैरिन्द्रवृत्रयुद्धापलापाय यतितं (पृ० ६६-६७) तत्तुच्छम्, तथात्वेतवापसिद्धान्तापातात्। त्वद्रीत्या सूर्यमेघसंग्राम एव युद्धं तच्चास्त्येवेति कुतो नैतदस्तीति वक्तुं शक्यते वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका इत्युक्त्या निरुक्तेऽपि ऐतिहासिकपक्ष आहतः। तत्र नैरुक्तपक्षे युद्धोपपत्तिरपेक्षिता। अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म-जायते। उपमार्थं युद्धवर्णाभवन्ति। अपां च मेघोदरवर्तिनां ज्योतिषश्च वैद्युतस्योद्भूतवृत्तेर्मिश्रीभावकर्मणो वर्षं कर्म जायते। वैद्युतेन ज्योतिषा वाय्वावेष्टितेन्द्राख्येनोपतप्यमाना आपः प्रस्यन्दन्ते। वर्षभावाय प्रकल्पन्ते। तथाचोदकतेजसो-रितरेतरप्रतिद्वन्द्वभूतयोरुपमार्थं रूपककल्पनया युद्धरूपकाणि भवन्ति। न ह्यत्र यथाभूतं युद्धमस्ति। अत्रैव मन्त्रा ब्रह्मवादाश्च सङ्गच्छन्ते। मन्त्रस्तावत्—यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्रः प्रब्रुवाणो जनेषु। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्यशत्रुं न पुरा विवित्से।' (ऋ० १०।५४।२) वामदेवपुत्रस्य बृहदुक्थस्यार्षं त्रैष्टुभम्। हे इन्द्र त्वं नाना प्रकारम् तन्वा वावृधानः शरीरेण विग्रहवान् भूत्वा यदचरः जनेषु आत्मीयानि बलानि प्रब्रुवाणः प्रकथयन्निव, किं त्वं तथैव? न मायेत्सा यानि युद्धान्याहुः सा माया। ऐश्वर्ययोगात्तथावान्यथा वाभवति। न ते तव निजं रूपम्।

५—जो पदार्थ किसी के संयोग से विकार को प्राप्त करते हैं, अग्नि से छिन्न पृथक् पृथक् परमाणु होकर वायु में विहार करते हैं, वे शुद्ध होते हैं। जैसे यज्ञानुष्ठान से वायु, जल आदि की उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती है, वैसी किसी किसी अन्य साधन से नहीं होती है। ऐसा भावार्थ निरूपण करते समय कहा है। किन्तु वह भी चिन्तनीय है, आजकल तो काष्ठ, इङ्गाल से उत्पन्न आग्नेय-तैलादि पदार्थों से जिस प्रकार अग्नि सम्बन्ध होने पर छिन्न-भिन्न हुए पदार्थ, परमाणु बनकर हवा में विहार करते हैं, वैसे अन्य समय में नहीं। क्या यह यज्ञ भी वैसा ही है? घृत से होम करने में किसी प्रकार की कोई विशेषता तो नहीं है। क्योंकि सब के परमाणु तो समान हो होंगे। यदि परमाणुओं के होने में भी घृतादिद्रव्य उपकारक हों तो अग्नि सम्बन्ध से दुर्गन्धी पदार्थों के जो परमाणु होंगे, उनसे अपकार भी होगा। "शिल्पविद्या से विमानों को बनाकर अपनी इच्छाओं को पूर्ण करेंगे अथवा करवायेंगे" यह सब कथन, कपोल-कल्पित ही है। मन्त्र के किसी शब्द अथवा अक्षर से ऐसा अर्थ नहीं निकल रहा है। पुनः "शतपथ ब्राह्मण" में वर्णित वृत्र की (सूर्यलोक की) युद्धाख्यायिका के सहारे मन्त्र का व्याख्यान कर उससे मेघविद्या निकली है, यह बताना तो केवल मूर्ख लोगों की प्रतारणा करना मात्र है। वृत्र और इन्द्र के युद्ध का निरुक्त की दृष्टि से मेघ और सूर्य के युद्धरूप में वर्णन करने पर भी ऐतिहासिकों की दृष्टि से वृत्रासुर और इन्द्रदेव के युद्ध का जो वर्णन उपलब्ध है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में उसका वर्णन उपलब्ध हो रहा है।

६—यह जो कहा है कि 'इन्द्र और वृत्र के युद्ध का अपलाप निरुक्त और शतपथ के आधार पर किया गया है'—किन्तु यह कहना भी निःसार है। क्योंकि उनकी आड़ में यदि ऐतिहासिक तथ्य का अपलाप करते हैं तो आपका

ऐतिहासिका अपि यानि युद्धान्याहुः सापि तव मायैव किं कारणम् नाद्य तव शत्रुरस्ति न पुरा कश्चिदासीत् । यावद्वीर्यं क्वचिदस्ति सर्वं तत् त्वमेव । 'वीर्यं वै प्राणो वीर्यमिन्द्रः' (मै० सं० १-६।८) कुतस्ते शत्रुर्येन युद्धचेथा । एतच्च त्वमपि विवित्से वेत्स्येव । एतस्मिन् मन्त्रे युद्धस्य मायामात्रत्वमुक्तम् । शतपथे च—'तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरमिति' (श० ११।१।६।६)

७—सामाजिकानां दृष्ट्या नहि परमेश्वराद्भिन्नः कश्चिदैश्वर्यशाली देवः स्तूयते यस्य कोऽपि शत्रुरेव न भवेत् । इन्द्रमेघयोस्तु वस्तुत्वात्तत्सङ्घर्षोऽपि वस्तुभूत एवेति कुतो मायामयत्वं तस्यापि । नन्वैतिहासिकदृष्ट्या युद्धेऽभ्युपगम्यमाने तत्प्रतिपादकस्य वेदस्यानित्यत्वापत्तिरिति चेन्न, 'ऐतिहासिकदृशा वा सर्ववृत्तान्तानामेव शीतोष्णवर्षाद्यावर्तवत् यथाकालं वर्तमानानामनाद्यनन्तानां वेदेन कर्मकालेऽतीतरूपेण प्रतिपादनाददोषादिति त्वदुद्धृतहरिस्वामिभाष्यवचनस्यैव समाधानरूपत्वात् ।

'दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपि हितं यदासीद् वृत्रं जघन्वां अपतद्ववार ॥'

(ऋ० सं० १।३२।११)

दासः कर्मकरः । तं हि ता अधिष्ठाय पान्ति रक्षन्ति सहिकर्मणा श्रान्तस्तासु पीतासु विश्रान्त आप्यायितो भवति । अहिना वृत्रेण मेघेन गोपा गुप्ता अतिष्ठन् निरुद्धास्ता यथा केनचित् पणिना वणिजा वीथ्यन्तरे विक्रयार्थं गावोनिरुद्धास्तिष्ठेयुस्तद्वत् । तासां यद्बिलं निर्गमनद्वारं मेघेनापिहितं यदेन्द्रस्तं निजघ्निवान् अहन् हत्वा अपववार अपावृतवान् तदाऽपावृते द्वारे ता आपः प्रस्यन्दिरे वर्षभावेनेति । एवं नैरुक्तदृष्ट्यामेघेन्द्रयोरेव सङ्घर्षे युद्धप्रवादाः । ऐतिहासिकदृष्ट्या तु देवराज इन्द्रस्त्वाष्ट्रश्च वृत्रोऽसुरस्त्वष्ट्रा संवर्धितः 'इन्द्रशत्रोवर्धस्वेतिस्वरदोषेण तत्पुरुषाबोधनात् इन्द्रस्य शातयिता न जातः किन्तु बहुव्रीहिस्वरेणेन्द्र एव वृत्रस्य शातयिता जातः । प्रावरणशक्तेः प्रतिनिधिर्वृत्रो वीर्यप्रकाशप्रतिनिधिरिन्द्रः पुराणमहाभारतादौ तयोर्युद्धवर्णनविस्तरः ।

अपसिद्धान्त कहलायगा । आपकी रीति के अनुसार तो सूर्य और मेघ का संग्राम ही युद्ध है, तब 'युद्ध नहीं है' कहना कैसे सम्भव होगा ? निरुक्त में भी ऐतिहासिक पक्ष को माना है ।

७—सामाजिकों की दृष्टि से परमेश्वर से भिन्न कोई अन्य ऐश्वर्यशाली देवता तो है नहीं, जिसकी स्तुति की जाये, जिसका कोई शत्रु ही न हो । इन्द्र और मेघ तो वास्तविक हैं, इसलिये उनका सङ्घर्ष भी वास्तविक ही कहना होगा, तब उस सङ्घर्ष को भी मायामय कैसे कहा जायगा ? यह जो आपको शङ्का हो रही है कि युद्ध को ऐतिहासिक मानने पर, उसके प्रतिपादक वेद को अनित्य कहना होगा । किन्तु ऐसी शङ्का करना भी निस्सार है । ऐतिहासिक लोग सभी वृत्तान्तों को शीत, उष्ण, वर्षा के आवर्त के समान यथा समय होने वाले अनादि-अनन्त उन सभी घटनाओं का अतीत रूप से उल्लेख कर्म के समय वेद में किया गया है । किञ्च आपसे उद्धृत किये हुए हरिस्वामी के भाष्य का का वचन ही आपकी शङ्का का समाधान कर सकता है । हरिस्वामी ने भी महाभारतादि पुराणों में दोनों के युद्धवर्णन की घटना को ऐतिहासिक कहा है ।

८—दयानन्दीयच्छन्दोनिरूपणे तु तदीयो ब्रह्मदत्त एवाशुद्धि मनुते। (वा० सं० १।११ कण्डिकाविवरणे) प्रतिमन्त्रमक्षराणां सङ्ख्यादानं कृत्वा कारयित्वा वा छन्दांसि (दयानन्देन) निर्दिष्टानि। तत्रापि लेखककृतामक्षरसंख्यानं गृहीत्वैव छन्दसां नामानि निरूपितानि। तदेवं क्वचिद् गणकानां प्रमादवशादशुद्धयः समजनिषत। एवभूताः प्रमादा मन्त्रसङ्ख्यानेऽपि सन्ति। तत्सम्बन्धेऽनेकान्युदाहरणानि दत्तानि एवमेव बाहुलकेनान्यासामप्यशुद्धानां समाधानं क्रियते। श्रूयते भीमसेनपण्डितेन तन्नाम्ना बहवोंऽशा लिखिताः।

९—युष्मा इन्द्रो वृणीते—अत्र दयानन्दः—'यथायमिन्द्रो वृत्रतुर्ये युष्मास्ताः पूर्वोक्ता अपः अवृणीत वृणीते यथा ता इन्द्रं वायुमवृणीत वृणते तथैव ताः अपो यूयं वृत्रतुर्ये प्रोक्षिता वृणीध्वम्। यथा ता आपः शुद्धाः स्थ भवेयुः, एतदर्थमहं यज्ञानुष्ठाता दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै अग्नये जुष्टं त्वां तं यज्ञं प्रोक्षामि एवमग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वां तं यज्ञं प्रोक्षामि एवं यज्ञशोधितास्ता आपः शुन्धध्वं शुन्धन्ति यज्ञे तासामशुद्धा गुणा पराजघ्नुः, तस्मात् तासामिदं शोधनं शुन्धामी' (पृ० ७३) ति,

१०—तत्रोच्यते, प्रथमं तु स्वामिदयानन्दः किमप्यदृष्टं प्रत्यक्षानुमानागम्यं पुण्यादिकं नाभ्युपगच्छति। तत एव दृष्टार्थतयैव मन्त्रं व्याख्याति। यज्ञादिकमपि जलवायुशुद्ध्यादावेवोपयुज्यते दृष्टमार्गेणैव। तथा च प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तवेदप्रामाण्यमेव तद्रीत्या दुर्घटम्, अनधिगतगन्तृत्वाभावात्। यथा नैयायिकानामनुमानखण्डग्रन्थोऽतीव सूक्ष्मविचारपूर्णोऽपि न शब्दप्रामाण्यकोटिमाटीकते। यथावाधुनिकानां विज्ञानग्रन्थाः साधारणमानवागम्यसूक्ष्मतमपदार्थविवेचकास्तथापि तन्मूलं न शब्दाः किन्तु सूक्ष्मगवेषणानि तदुपयुक्तानि यन्त्राण्येव तत्र मूलमिति तेऽपि न शब्दप्रामाण्यकोटिमुपगच्छन्ति

८—स्वामी दयानन्द कृत छन्दोनिरूपण में तो उन्हीं के अनुयायी ब्रह्मदत्त ने ही अशुद्धि निकाल दी है, यानी ब्रह्मदत्त ने दयानन्द कृत छन्दोनिरूपण को अशुद्ध ही माना है। उसे वा० सं० १।११ कण्डिका के विवरण में देखा जा सकता है। इसी प्रकार की गलतियाँ मन्त्रों के परिगणन में भी है।

९—'युष्मा इन्द्रो वृणीते' में दयानन्द कहते हैं कि 'जैसे इन्द्र, वृत्रासुर युद्ध में उन पूर्वोक्त जलों का वरण करता है और वे जल, जैसे इन्द्र, वायु का वरण करते हैं, उसी तरह तुम लोग वृत्रयुद्ध में उन प्रोक्षित जलों का वरण करो। जिससे वे जल शुद्ध हो सकें। इसी प्रयोजनार्थ मैं यज्ञानुष्ठाता इस देवप्रीत्यर्थ याग के लिये अग्नि तथा अग्नीषोम को रुचिकर लगने वाले यज्ञ का प्रोक्षण करता हूँ। इस प्रकार यज्ञशोधित हुए वे जल अपने अशुद्धियों को दूर कर पाते हैं। इसलिये मैं तुम्हारे अङ्गों को प्रोक्षण के द्वारा शुद्ध करता हूँ।

१०—दयानन्द के इस व्याख्यान पर यह सोचना होगा कि दयानन्द तो प्रत्यक्ष या अनुमान से अवगत होने वाले पुण्य आदि तो प्रथमतः मानते ही नहीं हैं उसी कारण मन्त्र की व्याख्या दृष्टार्थपरक ही उन्होंने कर डाली। दृष्टप्रयोजन समझकर ही उन्होंने यज्ञादिकों का उपयोग भी जल, वायु की शुद्धि में ही समझा है। अतः प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त वेद की प्रामाण्यसिद्धि होना ही उनकी प्रक्रिया से सम्भव नही है। क्योंकि प्रामाण्य का स्वरूप तो अनधिगतार्थ गन्तृत्व होता है। यहाँ पर उसके न रहने से वेद के प्रामाण्य की सिद्धि आपकी दृष्टि से हो नहीं सकेगी।

जैसे नैयायिकों का अनुमानखण्डग्रन्थ, अत्यन्त सूक्ष्मविचार से पूर्ण रहने पर भी उसे शब्दप्रामाण्य की कोटि में नहीं रखा जाता। अथवा जैसे आधुनिक वैज्ञानिकों के विज्ञानग्रन्थ, जो साधारण मनुष्यों के बोधगम्य नहीं हैं, क्योंकि उन ग्रन्थों में सूक्ष्मतम पदार्थों का विवेचन किया गया है, तथापि उनका मूलभूत प्रमाण तो सूक्ष्म गवेषणाओं और तदुपयोगी यन्त्रों को ही कहा जाता है। अतः उन वैज्ञानिक ग्रन्थों को भी शब्दप्रामाण्य की कोटि में नहीं कहा

तथैव वेदा अपि न धर्मग्रन्था: किन्तु विविधप्रकीर्णविचारसंग्रहात्मका एव। कुरान, वायवल, जेन्दावस्तादयोऽपि तदनुयायिनां रीत्या प्रत्यक्षानुमानागम्यार्थबोधकत्वादेव तेषां धर्मग्रन्थत्वं किं बहुना शब्दप्रामाण्यमनभ्युपगच्छन्तो बौद्धादयोऽपि धर्मतत्त्वज्ञानाय बुद्धादीनां सर्वज्ञत्वं साधयन्ति। तत एव वेदमन्तरापि योगजधर्मप्रभावात् सार्वज्ञ्यं प्राप्य ते धर्मतत्त्वं प्रत्यक्षेण पश्यन्तीति तेषामभिमान:।

११--किञ्च बौद्धा: शब्दार्थानां स्थायिसम्बन्ध नाभ्युपगच्छन्ति यथेच्छं शब्दानां प्रयोगदर्शनात्। तथैव दयानन्दोऽपि व्यत्ययादिना पुरुषलिङ्गविभक्तिवचनानि विपरिणमय्य यथेष्टश्च विग्रहं कृत्वा यत्र क्वाप्यर्थे स्वैरितया मन्त्रान् व्याख्याति। अत्रैव प्रसङ्गे धर्मकीर्तिनोक्तमग्निहोत्रं जुहुयादित्यस्य श्वमासं भक्षयेदिति नार्थोऽत्र प्रमा ? शब्दानां यथेष्टप्रयोगे स्वातन्त्र्यात्। सिद्धान्ते मीमांसकरीत्या शब्दार्थानामनादिसिद्धम्, नैयायिकानां रीत्या च सर्गादारभ्य परमेश्वरेण प्रचालितं सम्बन्धमाश्रित्य स्वैरचारिता परिह्रियते। परन्तु दयानन्दीयै: कथं स्वैरित्वं परिहरिष्यते स्वैरित्वमन्तरा तदभिमतव्याख्यानासम्भवात्।

१२—यथा प्रथमान्वये यथा सूर्योऽपावृणीते आपश्च वायु वृणते तथैव यूयं ता अपो वृत्रतुर्ये प्रोक्षिता वृणीध्वम्। अत्र वृणीध्वं कस्य पदस्यार्थ: ? अध्याहारश्चेत् किं मूलं तत्र ? प्रोक्षिता आप: का भवन्ति ? हिन्दीटीकायां तु सेक्तार इत्यर्थ: कृत:। निष्ठाप्रत्ययान्तस्य तस्य कथं सोऽर्थ: ? यथा ता आप: शुद्धाभवेयुस्तदर्थमहं यज्ञानुष्ठाता दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै अग्नये जुष्टं तं यज्ञं प्रोक्षामि इत्यस्य वाक्यस्य कोऽर्थ: ? कर्म च पदार्थव्याख्याने उत्क्षेपणमपक्षेपणमाकुञ्चनंप्रसारणं गमनमिति वैशेषिकसम्मतमुक्तम्, तादृशैरुत्क्षेपणादिभि: कथमपां शुद्धि: स्यात् ? तासां दैव्यत्वञ्च द्विविभ-

---

जाता। उसी तरह वेदों को भी धर्मग्रन्थ न कहकर विविध प्रकीर्ण विचारों के संग्रह रूप ही कहना होगा। कुरान, बायबल, जेन्दावेस्ता आदि ग्रन्थों को भी तत्तन्मतानुयायिकों की रीति के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान के द्वारा ज्ञान न हो सकने वाले अर्थों का बोधन करने के कारण ही धर्मग्रन्थ कहा गया है। किं बहुना शब्दप्रमाण को न मानने वाले बौद्ध आदि लोग भी धर्मतत्त्व के ज्ञानार्थ बुद्ध आदि व्यक्तियों की सर्वज्ञता सिद्ध करने में प्रयत्नशील रहे हैं। उनका कहना है कि वेद का सहारा लिये बिना भी योगज धर्म के प्रभाव से सर्वज्ञता प्राप्त कर बुद्धादि व्यक्तियों ने धर्मतत्त्व का प्रत्यक्ष किया है।

११—किञ्च बौद्ध लोग शब्द और अर्थ के स्थायी सम्बन्ध को नहीं मानते हैं, क्योंकि शब्दप्रयोग उनकी अपनी इच्छा के अनुसार किये गये दिखाई पड़ते हैं। उसी तरह दयानन्द ने भी कहीं पर व्यत्यय आदि का सहारा लेकर पुरुष, लिङ्ग, विभक्ति, वचनों में विपरिणाम करके और अपनी इच्छाओं के अनुसार यथेष्ट विग्रह करके स्वच्छन्द होकर मन्त्रों का व्याख्यान किया है। इसी प्रसङ्ग में धर्मकीर्ति ने कहा है कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' का 'श्व-मांसं भक्षयेत्' यह अर्थ नहीं किया जाता, यह ज्ञान कैसे हुआ ? क्योंकि शब्दों का यथेष्ट प्रयोग करने में स्वातन्त्र्य है। सिद्धान्त की दृष्टि से मीमांसकों के सिद्धान्त के अनुसार शब्दार्थ अनादिसिद्ध हैं, नैयायिकों के अनुसार सृष्टिकाल के आरम्भ से ही परमेश्वर के द्वारा प्रचलित हुए सम्बन्ध का आश्रय करके स्वच्छन्दचारिता का परिहार किया जाता है। किन्तु दयानन्दी लोगों के द्वारा स्वच्छन्दता का त्याग कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि स्वच्छन्दता का यदि वे त्याग करेंगे तो उन्हें स्वाभिमत व्याख्यान करना सम्भव नहीं हो सकेगा।

१२—जैसे प्रथमान्वय में 'यथा सूर्य: अपावृणीते आपश्च वायु वृणते, तथैव यूयं ता आप: वृत्रतुर्ये प्रोक्षिता वृणीध्वम्'। यहाँ पर 'वृणीध्वम्' यह किस पद का अर्थ है ? यदि अध्याहार करते हैं, तो अध्याहार करने में क्या मूल है ? प्रोक्षित आप् (जल) कौन से हैं ? हिन्दी टीका में तो 'सेक्तार:' अर्थ लिखा है। उस निष्ठाप्रत्ययान्त 'प्रोक्षित' का आपका लिखा अर्थ कैसे हो सकेगा ? जैसे 'वे जल शुद्ध हो सकें, तदर्थं मैं यज्ञानुष्ठाता दैव्यकर्म देवयज्या के लिये

त्वमुक्तम् । तथाचानाशे केषाञ्चिदपि पदार्थानामुत्क्षेपणेन तेषामेव क्षेपणेन तेषामेव प्रसारेणाकुञ्चनेन तत्रगमनेन चापां शुद्धिर्भवति । अत्र चतुर्थीविद्यते । तेन तादृशकर्मार्थं दैवयज्यायै विदुषां सत्क्रियार्थं च यज्ञं प्रोक्षामीत्युक्तम् किं यज्ञ-प्रोक्षणेन तादृशानि दिव्यानि कर्माणि विदुषां सत्क्रिया स्वतो भविष्यति । अग्नये परमेश्वराय भौतिकावयवाय सेवितं जुष्टं सेवितमित्युक्तं पदार्थव्याख्याने, तत्र केन किं श्लिष्यते, अग्नये इति चतुर्थ्यन्तस्य जुष्टमित्यनेन कः सम्बन्धः ? अग्नीषोमाभ्यामित्यपि चतुर्थी चेत् सैवापत्तिः, जुष्टमित्यस्य कर्ता कः? अग्निरेव चेत् कथ चतुर्थी ? अन्यश्चेत् कथमग्निना तत्सम्बन्धः ? यज्ञं प्रोक्षामीत्यस्य कोऽर्थः ? पदार्थोक्तौ सेचयामीत्युक्तम् । हिन्द्यां तु करोमीत्युक्तं तत्र कतरः पक्षः शुद्धः ? किञ्च यज्ञोऽपि कर्मैव तथा च कर्मार्थमेव कर्म कर्त्तव्यम् । तत्रैव हिन्द्यां—अग्नीषोमाभ्यां वर्षणनिमित्त प्रीतिदम् प्रीत्या सेवनयोग्यञ्च यज्ञं प्रोक्षामि मेघमण्डल प्रेष्यामीत्यर्थः कृतः । कथञ्च प्रोक्षणस्य प्रेषणमर्थः । एतादृशेऽर्थे स्वैरित्वमन्तरा किं वक्तुं शक्यते ? पराजघ्नुरित्यस्य पराहता विनष्टा इत्यर्थः कृतः । स च सकर्मकस्य धातोः कथं सम्भवति ? 'कुरुकर्मैव-तस्मात्त्वम्' (श्री० भ० गी० ४।१५) इत्यत्र किमुत्क्षेपणादि कुरु इत्यर्थं प्रत्येति कश्चित् ? किन्तु शास्त्रविहितमग्निहोत्रा-दिकं कुर्वित्येवार्थो युक्तः । चेष्टामात्रस्य कर्मणः स्वभावप्राप्तत्वेनाविधेयत्वात् ।

१३—यदपि च हे यज्ञानुष्ठातारः यत् यस्मादिन्द्रो वृत्रतुर्ये यस्मा इन्द्रमवृणीत वृणीते यस्माच्चेन्द्रेण वृत्रतुर्ये ताः प्रोक्षिताः स्थ भवति । तस्माद्यूयं त्वा त यज्ञं सदा वृणीध्वं एवं च सर्वोजनोहं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै अग्नये त्वा तं यज्ञं प्रोक्षामि तथा चाग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वा तं यज्ञं प्रोक्षामि । एवं कुर्वन्तो यूयं सर्वान् पदार्थान् जयांश्च शुन्धध्वं

अग्निजुष्ट उस यज्ञ का प्रोक्षण करता हूँ' इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ? पदार्थ का व्याख्यान करते समय उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन आदि वैशेषिक शास्त्रसम्मत कर्म को कहा है, उन उत्क्षेपणादि कर्मों से जल की शुद्धि किस प्रकार होगी ? उनका दैव्यत्व 'द्विविभवत्व' रूप बताया है । तथा च आकाश में किसी भी पदार्थ के उत्क्षेपण से, उन्हीं के अपक्षेपण से, उन्हीं के प्रसारण से, उन्हीं के आकुञ्चन से, उनके वहाँ गमन से जल की शुद्धि होती है । यहाँ पर चतुर्थी विभक्ति है । उस कारण तादृश कार्यार्थ देवयज्या के लिये और विद्वानों के सत्क्रियार्थ यज्ञ का प्रोक्षण करता हूँ, यह कहा गया है । क्या यज्ञ के प्रोक्षण करने से तादृश दिव्यकर्म और विद्वानों की सत्क्रिया स्वतः होगी । पदार्थ-व्याख्यान में कहा है कि भौतिक अवयवों वाले परमेश्वर अग्नि के लिये सेवित हुआ' कहा है । अब बताईये यहाँ किसका किससे सम्बन्ध हो रहा है ? अग्नये इस चतुर्थ्यन्त का 'जुष्टम्' का क्या सम्बन्ध है ? 'अग्नीषोमाभ्याम्' इसे भी चतुर्थी कहें तो भी वही दोषापत्ति है । 'जुष्टम्' का कर्ता कौन होगा ? यदि 'अग्नि' को कर्ता कहें तो फिर उसमें चतुर्थी कैसे ? यदि किसी अन्य को कर्ता कहें तो अग्नि से उसका क्या सम्बन्ध ? 'यज्ञं प्रोक्षामि' का क्या अर्थ होगा ? पदार्थोक्ति में 'सेचयामि' कहा है, किन्तु हिन्दी करते समय 'करोमि' कह बैठे, तो आप ही सोचिये कि कौन सा पक्ष आपका शुद्ध ? किञ्च 'यज्ञ' भी कर्म ही है । तथा च कर्म के लिये ही कर्म कर्तव्य है । वहीं पर हिन्दी में 'अग्नीषोम' के लिये वर्षण में निमित्त 'प्रीति' प्रदायक और प्रीतिपूर्वक सेवन करने योग्य यज्ञ को प्रोक्षामि' का अर्थ मेघमण्डल में भेजता हूँ, किया है । 'प्रोक्षण' का अर्थ 'प्रेषण' कैसे होगा ? तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के अर्थ का प्रतिपादन करने में स्वैराचार के सिवाय और क्या कारण हो सकता है ? उसी तरह 'पराजघ्नुः' का अर्थ 'पराहताः विनष्टाः' किया है । सकर्मक धातु का ऐसा अर्थ कैसे किया जा सकता है ? 'कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्' यहाँ पर क्या कुछ भी उत्क्षेपणादि करो, ऐसा अर्थ किसी को ज्ञात होता है ? किन्तु शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि कर्म करो, यही अर्थ सभी को प्रतीत होता है, जो उचित माना है । चेष्टा मात्र कर्म तो स्वभावतः ही प्राप्त होने से वह विधेय कोटि में नहीं माना जाता है ।

१३—उसी प्रकार आपने जो हिन्दी में सारांश के रूप में पृ० ७५ पर दिया है, वह भी ठीक नहीं है । कौन सा वह कारण है, जिससे सूर्य ने जल को और जल ने वायु को वरण किया ? यदि 'यज्ञ' को कारण कहें तो क्या सूर्य और जल भी 'यज्ञ' किया करते हैं ? और उनका किस प्रकार का यज्ञ है ? वैसा यज्ञ क्या मनुष्य भी कर सकते हैं ?

शोधयत। यद्वोऽशुद्धा दोषास्ते सदैव पराजघ्नुर्निवृत्ता भवेयुः। तस्मात् कारणादहं वो युष्माकमिदं शोधनं शुन्धामि' (पृ० ७३) इति, तदपि तादृगेव, "यस्मात्कारणात् वृत्रयुद्धे मेघवधाय इन्द्रः सूर्यो अपो वृणीते स्वीकरोति जलञ्च वायुं स्वीकरोति तथा यस्मात् सूर्योवृत्रतुर्येमेघस्य त्वरणाय पूर्वोक्ता आपः प्रोक्षिताः सेक्तारः कृताः तस्माद्यूयं तद् यज्ञं वृणीध्वम्। एवं वयं सर्वे दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै परमेश्वरप्राप्तये जुष्टं प्रीतिदं प्रीत्या सेवनयोग्यं यज्ञं प्रोक्षामि सेवे। अग्नीषोमाभ्यां प्रकाशितं जुष्टं यज्ञं मेघमण्डले प्रेषयामः। एवं सर्वान् पदार्थान् अपदार्थांश्च शुन्धध्वं यथा वः अशुद्धचादयोदोषा निवृत्ता भवेयुः तथैवाहं वेदप्रकाशकः वः युष्माकं शोधनं शुद्धिप्रकारं शुन्धामि सम्यक् वर्धयामि" (पृ० ७५) इति हिन्दी सहितस्य निष्कर्षः। तत्राप्युच्यते—किं तत्कारणं येन सूर्योऽपः आपो वायुं वृणते? यज्ञ एव चेत् किं सूर्य आपश्चापि यज्ञं कुर्वन्ति? कीदृशस्तेषां यज्ञः? तादृशं यज्ञं मनुष्या अपि कर्तुं शक्नुवन्ति किम्? मेघवधस्तु प्रयोजनं सूर्यकर्तृकायां वरणस्य प्रोक्षिताः सेक्तारः कृता इत्यपि निष्ठाप्रत्ययप्रतिकूलमेव। वरणस्य ग्रहणमर्थोऽन्यो वा? नान्योऽनिरूपणात्। ग्रहणार्थत्वे तु सूर्येण कुत्रत्यस्य जलस्य ग्रहणं क्रियते? भूमिष्ठस्य समुद्रस्थस्य मेघस्थस्य वा? नान्त्यौ, तथात्वे मेघवधासम्भवात्। मेघस्थस्यापि तन्न सम्भवति सूर्याकृष्टजलैरेव मेघोत्पत्तेः। एममेव जलेन वायोर्ग्रहणं कीदृशं कथञ्च वायुग्रहणेन मेघनाशः? तस्य धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातरूपत्वात्। येन कारणेन सूर्येणापो वृताः, अद्भिश्च वायुर्वृतः, तेन कारणेन यूयमुक्तं यज्ञं वृणीध्वमित्यस्य किं तात्पर्यम्? नहि तत् पूर्वं यज्ञ उक्तम्। किञ्च पूर्वं तु मेघवधो मेघत्वरणं प्रयोजनमुक्तमत्र तु दैव्यं कर्म, देवयज्या प्रयोजनमुच्यते। तदेतत् कर्णस्पर्शे करिचालनमनुहरति। प्रोक्षामीत्यस्य सेवन कथमर्थः? अग्नीषोमाभ्यां च यज्ञः कथं प्रकाश्यते। अग्नये जुष्टमिति वा अग्नीषोमाभ्यामित्यपि चतुर्थी किन्न स्यात्, अन्यथा वैरूप्यापत्तेः। मेघमण्डलप्रेषणपदार्थस्तुकथं? अन्ते शुन्धामीत्यस्य सम्यग्वर्धनं कथमर्थः?

भावार्थनिरूपणे त्वतीवाराजकता शाब्दन्याये दृश्यते। तथाहि परमेश्वरेणाग्निसूर्यौ वेदादर्थनिर्मितौ यदिमौ सर्वेषां पदार्थानां मध्ये प्रविष्टौ जलौषधिरसान् छिन्तः, वायुं प्राप्य मेघमण्डलं गत्वाऽगत्यच शुद्धिसुखकारका भवेयुः।

मेघवध को प्रयोजन कहें तो सूर्यकर्तृक अपावरण को 'प्रोक्षिताः' सेक्तारः=सेचन करने वाले कहा है यह अर्थ करना भी निष्ठाप्रत्यय के प्रतिकूल ही है। 'वरण' का अर्थ ग्रहण है या कोई अन्य अर्थ है? अन्य अर्थ तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसे आपने बताया नहीं है। ग्रहण अर्थ मानने पर आप ही कहिये कि सूर्य के द्वारा कहाँ के जल का ग्रहण किया जाता है? क्या भूमिस्थित या समुद्रस्थित, अथवा मेघस्थित जल का वह ग्रहण करता है? समुद्र स्थित या मेघ स्थित जल का तो ग्रहण नहीं कर सकता, अन्यथा मेघवध का सम्भव नहीं हो सकेगा। क्योंकि सूर्याकृष्ट जल से ही मेघ की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार जल से वायु का ग्रहण करना भी सम्भव नहीं है। वायु का ग्रहण करने से मेघ का विनाश भी कैसे होगा? क्योंकि 'मेघ' तो धूम, ज्योति, सलिल और मरुत् पदार्थों का सन्निपात स्वरूप है। 'जिस कारण सूर्य के द्वारा जल का वरण, और जल के द्वारा वायु का वरण किया गया है उसी कारण तुम लोग तथाकथित यज्ञ का वरण करो'—इस कथन का क्या अभिप्राय है? उसे यज्ञ में पहिले कहीं कहा नहीं है। किञ्च पहिले तो मेघवध प्रयोजन बताया किन्तु यहाँ पर दैव्यकर्म (देवयज्या) को प्रयोजन कह रहे हैं। यह तो ऐसा ही हुआ कि जैसे कर्ण स्पर्शनिमित्त करिचालन किया जाय। 'प्रोक्षामि' का अर्थ 'सेवन' कैसे होगा? 'अग्नोषोम' के द्वारा 'यज्ञ' का प्रकाशन कैसे होगा? 'अग्नयेजुष्टम्' के समान 'अग्नीषोमाभ्याम्' यह चतुर्थी क्यों नहीं है? अन्यथा वैरूप्य प्रसङ्ग होगा। मेघमण्डल प्रेषण को प्रेषण पदार्थ कैसे जान लिया? अन्त में शुन्धामि का सम्यग्वर्धन अर्थ कैसे किया? पृष्ठ चौहत्तर पर जो भावार्थ निरूपण किया है, उसमें तो अराजकता का साम्राज्य ही दिखाई देता है। उसमें प्रदर्शित अर्थों का परस्पर कोई ताल-मेल ही नहीं है। पहिले तो मेघों के वध और त्वरण के लिये सूर्य के द्वारा जल का और जल के द्वारा वायु का वरण कहा है। सूर्य और अग्नि के द्वारा समस्त पदार्थगत जलौषधिरसच्छेद को बताया है। सर्वपदार्थों के अन्तर्गत आत्मा, काल, दिक् आदि भी आते हैं। उनमें जल, औषधि, रस का होना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वे निरवयव हैं। यदि सूर्य और अग्नि, सर्व पदार्थों में प्रविष्ट होकर जल, औषधि, और रसों का छेदन (भेदन) कर सकते हैं, तो उनमें

तस्मान्मनुष्यैरुत्तमसुखलाभायाग्नौ सुगन्ध्यादिपदार्थानां होमे वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा दिव्यसुखानामुत्पादनाय सम्प्रीत्या नित्यं यज्ञः करणीयो यतः सर्वे दोषा नष्टा भूत्वाऽस्मिन् विश्वे सततं शुद्धा गुणाः प्रकाशिता भवेयुः। एतदर्थमहमीश्वर इदं शोधनमादिशामि। यूयं परोपकारार्थानि शुद्धानि कर्माणि नित्यं कुरुत। एवं रीत्या वाय्वग्निजलग्रहणप्रयोगाभ्यां शिल्पविद्ययाऽनेकानि यानानि यन्त्रकलाश्च संपाद्य पुरुषार्थेन सदैव सुखिनो भवते' (पृ० ७४) ति, एतेषामर्थानां परस्परं समन्वयोऽपि नास्ति। पूर्वं तु मेघानां वधाय त्वरणाय च सूर्येणापामद्भिः वायुवरणमुक्तम्। सूर्याग्निभ्यां सर्वपदार्थगत-जलौषधिरसच्छेद उक्तः। सर्वपदार्थेषु आत्मकालदिगादयोऽपि भवन्ति। न तेषु जलौषधिरसाः सम्भाव्यन्ते निरवयवत्वात् यदि सूर्याग्नी सर्वपदार्थेषु प्रविश्य जलौषधिं रसान् छेत्तुं भेत्तुं शक्नुतस्तदापरमाणुत्वापत्त्या तेषां स्वतः शुद्धिर्भविष्यति। मेघमण्डलगमनस्य किं प्रयोजनम्? सुगन्ध्यादिपदार्थानामग्नौ किमर्थं होमः। होममन्तरापि तयोस्तत्कार्यं कर्तुं शक्तत्वात् अन्यथासुगन्धितपदार्थानामेव प्रभावेण शुद्धिसुखादयो वक्तव्याः स्युः। किञ्च सुगन्धिपदार्था यथा छिन्द्यन्ते तथा दुर्गन्धि-पदार्था अपि छिद्यन्ते। सर्वेषां परमाणुत्वेऽविशेषापत्त्या व्यर्थ एवाग्नौ तत्प्रक्षेपः। यदि तथात्वेऽपि तद्वैशिष्ट्येनोपकारस्तदा तद्वदेव दुर्गन्धपदार्थकृतापकारोऽपि किन्नस्यादित्यलं परच्छिद्रप्रकाशेन।

१४—सिद्धान्ते श्रुति-सूत्रपरम्परानुरोधेन सरलः सुगमः सुबोधश्चायमर्थः—अपां प्रशंसार्थमुच्यते—हे आपः वज्रात्मनाव्यक्ताः। 'ततो देवा एतं वज्रं ददृशुर्यदपोवज्रो वा आपो वज्रो हि वा आपस्तस्मात् येनैतायन्ति निम्नं कुर्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति (श० १।१।१।१७) इति न केवलं प्रसिद्धिबलाद् वज्रत्वं किन्तूपपत्ति७बलादपि। तथाहि येन पथा यन्ति तं निम्नं गर्तं कुर्वन्ति यत्र गत्वोपतिष्ठन्ते तृणगुल्मादौ तत् निर्दहन्ति निःसारं कुर्वन्ति। वृत्रं (मेघं) हन्तुकाम इन्द्रः साहाय्यकरणार्थं युष्मान् प्रार्थयामास। यूयञ्च वृत्रशरीरनिरुद्धा विस्रंभगमनार्थं वृत्रं हन्तुमिन्द्रं प्रार्थितवत्य ईदृग्विधपरस्परप्रार्थनं यूष्मानिति मन्त्र भागेनाहेति ब्राह्मणं स्पष्टं वक्ति—यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतुर्य इति। 'एता उहीन्द्रमवृणत वृत्रेणस्पर्धमानमेताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतुर्य इति। हे आपः यूयं प्रोक्षिताः स्थः असंस्कृता नान्यसंस्कारक्षमाः। अन्यस्याद्भिः प्रोक्षणंभवति नापामन्येनेतिरे नैव मानसोपचारेण प्रोक्षिताः स्थ इति-मन्त्रेण प्रोक्षिताः संस्कृता भवतेत्यर्थः। 'अग्नये त्वे'ति हविः प्रोक्षति। हे हविः अग्नये देवताविशेषाय जुष्टमभिरुचितं त्वां प्रोक्षामि। अग्नये इति 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (पा० सू० १।४।३३) इति चतुर्थी। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टमभिरुचितं त्वा प्रोक्षामि प्रोक्षणेन शोधयामि। 'हविः प्रोक्षतीति' (श० १।१।३।१०) इति श्रुतेः। हे यज्ञपात्राणि दैव्याय अग्न्यादिदेवता-सम्बन्धिने कर्मणे यूयं शुन्धध्वं शुद्धानि भवत। मन्त्रसहकृतपूतजलप्रोक्षणप्रभावात् कर्मैव विशिष्यते देवयज्याये देवसम्ब-न्धिन्यै दर्शादिक्रियायै। ननु शुद्धा एव वयं किमिति शुन्धामस्तत्राह—वो युष्मान् यदशुद्धा निम्नजातीयास्तक्षवृषलादयः युष्माकं सम्बन्ध्यङ्गं छेदनतक्षणादिकाले पराजघ्नुः पराहतं कृतवन्तः स्वकीयहस्तस्पर्शादिरूपमशुचित्वं कृतवन्तः, तदिदं युष्माकमङ्गं शुन्धामि प्रोक्षणेन शुद्धं करोमि। ब्राह्मणं चैतदेव वक्ति—'यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै मेध्यं करोति' (श० १।१।३।११) 'यज्ञपात्राणि प्रोक्षति दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्याया इति दैव्याय हि कर्मणे शुन्धति देवयज्यायै

परमाणुत्वापत्ति होने से उनकी स्वत एव शुद्धि हो जायगी। मेघमण्डल में जाने का क्या प्रयोजन? सुगन्धित पदार्थों का अग्नि में होम किसलिये? होम के बिना भी उस कार्य को करने में सूर्य और अग्नि समर्थ हैं। अन्यथा सुगन्धित पदार्थों के प्रभाव से ही शुद्धि, सुख आदि का होना कहना होगा। किञ्च सुगन्धि पदार्थों का छेदन जैसे किया जाता है वैसे ही दुर्गन्धि पदार्थों का भी छेदन किया जा सकता है। सभी समान रूप से परमाणु रूप हो जाने से उनका अग्नि में प्रक्षेपण करना व्यर्थ ही है। यदि सुगन्धित पदार्थों के परमाणुरूप हो जाने पर भी उनके अपने वैशिष्ट्य से कुछ उपकार होता है, ऐसा कहें तो उसी तरह दुर्गन्धि पदार्थों से अपकार भी क्यों नहीं हो सकेगा? ऐसे कितने ही दोष, दयानन्दी व्याख्या में भरे पड़े हैं, कहाँ तक उन्हें कहा जाय?

१४—अतः सिद्धान्तभूत अर्थ, जो श्रुति, सूत्र, शिष्ट वैदिक विद्वानों की परम्परा के अनुसार चला आ रहा है,

यद्वोऽशुद्धीः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति तद्यदेवैषामत्रशुद्धस्तक्षावान्यो वाऽमेध्यः कश्चित् पराहन्ति तदेवैषामेतदद्भि-र्मेध्यं करोति तस्म दाह यद्वोऽशुद्धीः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति' (श० १।१।३।१२) नात्र दयानन्दोक्तार्थस्य गन्धोऽपि दृश्यते । तस्मात् सायणादिसम्मतमेव व्याख्यान युज्यते ।

१५—अध्यात्मपक्षे तु हे प्रकृतिपुरुषौ युवां पवित्रे स्वभावशुद्धे स्थः भवथः । अशुद्धयस्तु औपाधिक्य एव । कुत इति चेत् यतो वैष्णव्यौ विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमात्मनः सम्बन्धिनौ स्तः लिङ्गव्यत्ययः । 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥' (श्री० म० गी० ७।४-५) अत्र मनःपदेनाहङ्कारः, बुद्धिपदेन महत्तत्त्वम्, अहङ्कारपदेना-व्यक्तं ग्राह्यम् । 'महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।' (श्री० म० गी० १३।५) इति गीतावचनान्तरात् । भगवतः सूर्यस्य सर्वोत्पादयितुः परमेश्वरस्य वा प्रसवे प्रेरणे अहं वेदपुरुषः वो युष्मान् अच्छिद्रेण निर्दोषेण पवित्रेण पावनेन कर्मणा उत उच्चैः पुनामि शोधयामि । वैदिककामकर्मज्ञानानामादरेणैव पाशविक (स्वाभाविक) कामकर्मज्ञानानां निवृत्तिसम्भवात् । यथा विषेण विषान्तरमुपशाम्यति तथैव वैदिककामकर्मज्ञानैः पाशविककामकर्मज्ञानानि शाम्यन्ति । नन्वेवं दोषाणामागन्तुकोपशान्तौ सत्यामपि पुनस्तदुद्भवः सम्भवति, नह्य ध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवमिति चेत्तत्राह—सूर्यस्य वेदान्तशास्त्ररूपमार्तण्डस्य रश्मिभिस्तज्जनितैर्विवेकविज्ञानैर्वः युष्मान् उत्पुनामि समूलमेव दोषानुन्मूलयामि । तथात्वे प्रकृतेः पुरुषस्य चाधिष्ठानं ब्रह्मात्मत्वमेव सम्पद्यते । 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ०४।४। १९) त्यादि श्रुतिशतेभ्यः ।

१६—य स्वभावशुद्धमेवौपाधिकैर्दोषैर्दुष्टं शोध्यते । यथा स्वच्छमेव वस्त्रमिङ्गालादिसंसर्गेण मलिनं क्षारादि-ना शोध्यते न तु स्वतोमलिनमिङ्गालादिकं, तस्य यावत्सत्त्वं क्षारशतैरपि स्वच्छत्वासम्भवात् । हे जीवात्मपरमात्मचैतन्ये युवां पवित्रे स्वभावशुद्धे स्थः । तयोरेकस्य संसारित्वेन प्रसिद्धस्याशुद्धिरप्युपाधिसम्बन्धनिमित्ता यतो युवां वैष्णव्यौ व्यापन-

---

वही सुगम और सुबोध होने से ग्राह्य है । एवञ्च सायणाचार्य सम्मत व्याख्या ही समुचित है ।

१५—अध्यात्मपक्ष में इस प्रकार अर्थ होगा—हे प्रकृति-पुरुषों ! तुम दोनों स्वभाव से ही शुद्ध हो । अशुद्धियाँ तो औपधिक ही है । क्योंकि प्रकृति-पुरुष दोनों ही व्यापक परमात्मा के सम्बन्धी हैं । यह बात लिङ्गव्यत्यय से समझनी चाहिये । भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन और बुद्धि, अहङ्कार—ये मेरी अष्टधा प्रकृति है । तथा "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥" तथा 'महा-भूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ॥' इति ॥ भगवान् सूर्य अथवा सर्वोत्पादयिता परमेश्वर की प्रेरणा होने पर मैं वेदपुरुष, तुम लोगों को निर्दोष पवित्र कर्म के द्वारा अच्छी प्रकार पवित्र करता हूँ । वैदिक काम्य कर्मों के अनुष्ठान से ही पाशविक (स्वाभाविक) कर्मों से निवृत्त होना सम्भव हो सकता है । जैसे एक विष से अन्य विष की शान्ति की जाती है । उसी तरह वैदिक काम्यकर्मों के ज्ञान से पाशविक काम्यकर्मों का ज्ञान शान्त किया जा सकता है । यदि कोई यह शङ्का करे कि दोषों की आगन्तुक शान्ति हो जाने पर भी पुनः उन दोषों का उद्भव हो सकता है, क्योंकि अध्रुव से ध्रुव का प्रक्षालन नहीं हो सकता । उस शङ्का का समाधान इस प्रकार होगा—वेदान्तशास्त्रस्वरूप सूर्य की रश्मियों से उत्पन्न विवेक ज्ञान के द्वारा तुम्हारे समस्त दोषों का समूल उन्मूलन मैं कर देता हूँ । इस प्रकार निर्दोष हो जाने पर प्रकृति और पुरुष के अधिष्ठानरूप ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति हो जाती है । इसमें प्रमाणभूत 'एकमेवाऽद्विती-यम्', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि सैकड़ों श्रुतिवचन हैं ।

१६—स्वभाव से शुद्ध रहने वाली वस्तु ही औपाधिक दोषों से दुष्ट होने पर शोधित की जाती है । जैसे स्वच्छ वस्त्र ही इङ्गालादि के संसर्ग से मलिन होने पर शोधित किया जाता है । स्वत एव मलिन रहने वाले इङ्गाल को सैकडों क्षारद्रव्यों से निरन्तर स्वच्छ करते रहने पर भी इङ्गाल का स्वच्छ होना कभी भी सम्भव नहीं है ।

शीलपरब्रह्मसम्बन्धिनो स्थ:। हे जीवात्मन: वो युष्मान् अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिश्चोत्पुनामि शोधयामि। कर्मभि: स्वान्त:शुद्धिविवेकवैराग्यादिजननद्वारा सूर्यस्य वेदान्तस्य विवेकविज्ञानरश्मिभिर्ब्रह्मात्मभावमापादयामि। हे देव्य आप: अज्ञानान्धकारविजिगीषव: गङ्गाद्या: सरित: परमपावन्यो भगवच्छक्तय: कथासरित: भक्तिरसामृतनिर्झरिण्यश्च अद्यास्मिन्नेव अग्रे प्रशस्ते दिने शोधयामि इमं भगवदुन्मुखमात्मानं नयत भगवदात्मभावं प्रापयत। कीदृशं यज्ञपतिं यजमानं भगवदाराधनबुद्ध्या यज्ञादिकुर्वाणम्। पुन: कीदृशं यज्ञस्य पालकं दक्षिणादिना सुधातुं यज्ञादिपोषकं पुन: कीदृशं यज्ञं विष्णोरंशत्वाद्विष्णुरूपम् 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इत्यादिश्रुते:। इन्द्रयजमानौ शिष्यशासकाविह संबोद्धयौ शेषं पूर्ववत्।

'युष्मा इन्द्रो वृणीतेति।' (श० १।२।३।८) हे जीवात्मन: युष्मान् इन्द्र: परमेश्वरो वृत्रतुर्ये वृत्रस्यावरकस्याज्ञानस्य तुर्ये वधे अज्ञानवधनिमित्तेनावृणीत वृतवान् स्वीयत्वेन स्वीकृतवान्।

१७ - ननु तस्याप्तसमस्तकामत्वेन पूर्णकामत्वात् कुतोऽस्मान् वृतवानिति चेत्तत्राह—यूयमिह जन्मन्यमुष्मिन् जन्मनि वा इन्द्रं परमैश्वर्यशालिनं भगवन्तं वृत्रतुर्येऽनाद्यज्ञानावरणवृत्रवधार्थं वृतवन्त:। यथा स्वयम्वरा राजकन्या यमेव वृणुते तस्मा एव स्वस्वरूपं दर्शयति स्वात्मानं निवेदयति नान्यस्मै तथैव भगवान् यं वृणुते तमेव स्वात्मानं दर्शयति प्रावरणापनयेन प्रापयति च नान्यथा प्रवचनश्रवणादिभिरुपायशतैरपि स लभ्य:। तेन यमेव वृणुते तस्यैवाज्ञानं वृत्रं नाशयति। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूᳬस्वाम्॥' (मु० ३।२।३) इतिश्रुते:।

हे जीवात्म-परमात्म चैतन्यों! तुम स्वभाव से ही शुद्ध हो। उन दोनों में से एक, जो संसारी के रूप में प्रसिद्ध है, उसकी अशुद्धि भी उपाधि के सम्पर्क से है, क्योंकि तुम दोनों व्यापनशील परब्रह्म से सम्बन्ध रखते हो। हे जीवात्माओं! सूर्य की पवित्र रश्मियों से मैं तुम्हारा शोधन करता हूँ। वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान से अन्त:करण की शुद्धि होने पर विवेक-वैराग्यादि को उत्पन्न कराकर वेदान्तरूपी सूर्य की विवेकज्ञानरूप रश्मियों के द्वारा ब्रह्मात्मभाव को तुम्हें प्राप्त कराता हूँ। हे जल देवता! अज्ञानान्धकार को जीतने की इच्छा रखने वाली गङ्गा आदि नदियाँ परम पवित्र भगवच्छक्ति रूप कथासरिताएँ और भक्तिरसामृत की निर्झरणियाँ सबको आज इसी प्रशस्त दिन शुद्ध करता हूँ। इस आत्मा को, जो भगवान् की ओर मुख लगाये हुए है, उसे भगवदात्मभाव को प्राप्त कराओ। कैसे यजमान के लिये यह कहा जा रहा है, तो कहते हैं कि जो यजमान भगवदाराधनबुद्धि से यज्ञादि का अनुष्ठान करता हो तथा दक्षिणादान देकर यज्ञ का पालन करता हो, यज्ञ का पोषण करता हो, क्योंकि यह यज्ञ विष्णु का अंश होने से विष्णुरूप है। उसकी विष्णुरूपता में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया:' यह श्रुति प्रमाण है। इन्द्र और यजमान शिष्य और शासक यहाँ पर सम्बोधनीय हैं, अन्य सब पूर्ववत् ही समझना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण भी कह रहा है कि हे जीवात्माओं! परमेश्वर इन्द्र ने आवरक अज्ञान के वधार्थ आत्मीय के रूप में तुम लोगों को स्वीकार किया है।

१७—परमैश्वर्यशाली इन्द्र तो पूर्णकाम-आप्तकाम है, हमारा स्वीकार उसने क्यों किया? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तुम लोगों ने इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में परमैश्वर्यशाली भगवान् इन्द्र का अनादि अज्ञानावरणरूप वृत्र के वधार्थ वरण किया था। जैसे स्वयम्वरा राजकन्या स्वयं जिसका वरण करती है, उसी के सामने अपना स्वरूप प्रदर्शित करती हुई आत्मसमर्पण करती है। दूसरे को नहीं। उसी तरह भगवान् जिसको स्वीकार करते हैं, उसी को अपना स्वरूप दिखाते हैं अर्थात् आवरण हटाकर अपने को अर्पित करते हैं। उस परमेश्वर की प्राप्ति का अन्य कोई साधन नहीं है। सैकड़ों प्रवचन-श्रवण आदि उपायों के करते रहने पर भी वह सुलभ नहीं होता है। एवञ्च जिसको वह अपनाता है, उसी के अज्ञानरूपी वृत्र का वह नाश करता है। 'नायमात्मा प्रवचनेन' इत्यादि वचनों के द्वारा मुण्डकोपनिषद् भी यही बता रही है।

१८—ननु योहि यस्य प्रियो भवति स तस्य वरणीयो भवति। न च तस्य कश्चिदपि प्रियो द्वेष्यो वा, (न यस्य वध्यो न च रक्षणीयो नोपेक्षणीयादरणीय पक्षः, श्री० भा० म० पु० ८।५।२२) इतिस्मृतेस्तस्य सर्वसमत्वात्। समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' (श्री० म० गी० ९।२९) इति वचनादिति चेन्न, सर्वसमस्य सम्पूर्णकामस्यापि भक्तिपरवशत्वेन वरणीयगुणयुक्तभक्तवरणसम्भवात्। ये सर्वनैरपेक्ष्येण भगवन्तं वृणते भगवानपि तान् वृणोत्येव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (श्री० म० गी० ४।११) इति भगवत एवोक्तेः।

१९--ननूपरिष्टादुद्धृतस्य 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' (श्री० म० गी० ९।२९) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनस्य का गतिरिति चेत्तुच्छम्, 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्' (श्री० म० गी० ९।२९) इत्युत्तरार्धेनैव तत्समाधानात्। तथा च सर्वनैरपेक्ष्येण भगवत्प्रेप्सयैव भगवन्तं भजन्ति नित्यप्राप्तस्य प्राप्तिरज्ञानवृत्रवधेनैव सम्भवति। वृत्रवधार्थं ये भगवन्तं वृणते भगवानपि वृत्रवधार्थं तान् वृणोति। वृत्रो यथा जीवनां शत्रुस्तथैव परमेश्वरस्यापि शत्रुः भगवत्स्वांशभूतजीवानां दुःखहेतुत्वात्। अज्ञानवशादेव जीवाः स्वपरप्रेमास्पदमपि भगवन्तमपलपन्ति वैमुख्यञ्च भजन्ति। तच्चाज्ञानं जीवनिष्ठब्रह्माकारवृत्त्यैव बाध्यते इति तदर्थं जीवानां साहाय्यमपेक्षितम्। तादृशी वृत्तिर्भगवदनुग्रहसापेक्षैव जायते। भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते—अर्थात् भक्तिरेव ज्ञानाकारेण परिणमते। 'सनो बुद्धया शुभया संयुनक्तु' (श्वे० ३।४) 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (श्री० म० गी० १०।१०) इत्यादिवचनेभ्यः।

१८—यदि कोई यह प्रश्न करे कि, जो जिसका प्रिय होता है, वह उसका अपना आत्मीय होता है, ऐसा लोक व्यवहार में देखते हैं, किन्तु भगवान् का तो न कोई द्वेष्य होता है, और न कोई प्रिय होता है। भागवतकार कहते हैं कि भगवान् न किसी को बध्य समझते हैं, और न रक्षणीय, या उपेक्षणीय अथवा आदरणीय समझते हैं, उनके लिये तो सभी समान होते हैं। सभी के प्रति उनका समान भाव रहता है। भगवान् ने स्वयं कहा है 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।' इस प्रश्न पर समाधान यह है कि यद्यपि भगवान् आप्तकाम-पूर्णकाम, सर्वसम हैं, तथापि भक्ति परवश होने के कारण वरणीय गुणों से युक्त भक्त का वरण किया जाना बहुत सम्भव है। जो भक्त, किसी की अपेक्षा न कर सर्वसङ्ग परित्याग करके भगवान् का ही एकमात्र वरण करके उसकी शरण लेते हैं, तब भगवान् भी उन्हीं को आत्मीय भाव से स्वीकार कर लेते हैं। कहा भी है—'ये यथा माम्प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

१९—यदि यह शङ्का हो कि ऊपर उद्धृत किये वचन—'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'—की चरितार्थता कैसे होगी? यह शङ्का निस्सार है, क्योंकि उक्त शङ्का का समाधान 'समोऽहं सर्वभूतेषु'— के उत्तरार्ध 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषुचाप्यहम्' से ही कर दिया गया है। तथा च सर्व निरपेक्ष होकर एकमात्र उस परमेश्वर की प्राप्ति कामना से ही जो लोग उसका भजन करते हैं, उनको उस नित्य प्राप्त रहने वाले परमेश्वर की प्राप्ति का होना अज्ञान रूप वृत्र के वध से ही हो सकती है। एवञ्च वृत्रवधार्थ जो लोग भगवान् का वरण करते हैं तो भगवान् भी उस वृत्र वधार्थ उनका वरण करते हैं, यानी उनको अपना लेते हैं। वृत्र जैसे जीवात्माओं का शत्रु है, वैसे ही वह परमेश्वर का भी शत्रु है, क्योंकि भगवान् के अपने अंशभूत जीवात्माओं के दुःख का वह कारण है। अज्ञान के कारण ही यह जीवात्मा अपने अत्यन्त प्रेमास्पद रहने वाले परमेश्वर का भी अपलाप करता है, और उससे विमुख हो जाता है। उस अज्ञान का बाध, जीवनिष्ठ ब्रह्माकारवृत्ति से ही हो सकता है अतः उसके लिये जीव के साहाय्य की अपेक्षा रहती है। उस प्रकार की वृत्ति होना भी भगवदनुग्रह सापेक्ष ही है। 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' अर्थात् भक्ति ही ज्ञान के आकार में परिणत हो जाती है। यह बात श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता के वचनों से भी अवगत होती है। इसलिये—

२०—हे जीवा: तस्मादमृतवर्षिण्या भगवदीयकृपादृष्ट्या प्रोक्षिता: शुद्धा भवत। अहं वेदपुरुषस्त्वा त्वां (जात्यभिप्रायेणैकवचनम्) कर्मोपासनादिभिर्जुष्टं सेवितं कर्मादियुक्तं त्वामग्नये ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपज्ञानाग्नये प्रोक्षामि शुद्धं करोमि। परमात्मकृपावत् शास्त्रकृपाया अपि तत्त्वज्ञानहेतुत्वात्। तदर्थं च त्वां अग्नीषोमाभ्यां भगवद्विप्रलम्भसम्भोगाभ्यां जुष्टं सेवितं त्वां प्रोक्षामि। सर्वथा अनात्मतादात्म्यवासनादाहेन भगवदात्मतादात्म्यरसास्वादजननेन युक्तं कृत्वा अखण्डानन्दरसानुभवयोग्यं करोमि। हे अन्त:करणबाह्यकरणानि यूयं दैव्याय कर्मणे देवस्य स्वप्रकाशस्य परमात्मन उपासनोपयोगिने कर्मणे श्रुतिस्मृतिलक्षणाय वर्णाश्रमधर्माय तदनुष्ठानाय शुन्धध्वम् शुद्धानि भवत। देवयज्यायै परमात्मार्चनरूपायै षोडशोपचारराजोपचारचतु:षष्ट्युपचारलक्षणायै क्रियायै च शुन्धध्वम्। शुद्धदेहेन्द्रियमन्तरा तदसम्भवात्। 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण पर: पुमान् विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥' (विष्णुपुराण ३।८।९) 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि: सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति:' (छा० उ० ७।२६।२) 'कषाये कर्मभि: पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते।' 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मण:।' (म० भा० शा० प० १०४।८) इत्यादिवचनेभ्य:। व: युष्मान् यदशुद्धा: शास्त्रनिषिद्धाविषया: कामचार-कामवाद-कामभक्षादय: पराजघ्नु: पराहतमशुचित्वं चक्रुस्तदहं शुन्धामि परमात्माभिमुख्यापादनेन शोधयामि।

२१—यद्वा हे सैनिका:। इन्द्रो राजा वृत्रतुर्ये राज्यावरोधकशत्रुवधे युष्मान् वृणुते साहाय्यकरणार्थं प्रार्थयते यूयं चेन्द्रं राजानं वृणीध्वं शत्रुवधे निमित्ते राजाश्रयमन्तरा युद्धस्य विहितत्वात्। अतएव महाभारते दुर्योधनोऽश्वत्थामानमन्तेऽभिषेकेण राजानं कृतवान्। तदैवाश्वत्थामाकृपाचार्यकृतवर्माण युयुधु: अस्त्रशस्त्रादियुद्धोपकरणप्राप्त्यर्थश्च सैनिका राजानमाश्रयन्ते। हे सैनिका यूयं प्रोक्षिता: पाण्डव सेनया स्थ राष्ट्ररक्षार्थं वृत्र (शत्रु) वधार्थं प्रोक्षिता अभिषिक्ता: स्थ। आचार्यदीक्षावत् राजाभिषेको भवति पुत्रकदीक्षावत् युवराजाभिषेक:। सभार्यदीक्षावत्सेनापतिदीक्षाभवति साधकदीक्षावत् सैनिकदीक्षाभवति। अग्नयेऽग्निवदमिततेज:प्राप्तये त्वा शौर्यादिगुणैर्जुष्टं सेवितं त्वामहं पुरोहित: पुन:

२०—वे जीवों! अमृत वर्षा करने वाली भगवत्कृपादृष्टि से तुम शुद्ध (प्रोक्षित) हो जाओ। मैं वेदपुरुष, ब्रह्मात्मसाक्षात्कार रूप ज्ञानाग्नि के लिये कर्मानुष्ठान में तत्पर रहने वाले तुम्हारी शुद्धि करता हूँ। भगवत्कृपा के समान ही शास्त्रकृपा भी तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में कारण हुआ करती है। अत: उसके लिये, भगवद्विप्रलम्भ और सम्भोग का सेवन करने वाले तुम्हारा प्रोक्षण मैं कर रहा हूँ। अभिप्राय यह है कि सभी प्रकार से अर्थात् अनात्मतादात्म्य की वासना का दाह कर भगवदात्मतादात्म्य के रसास्वाद से युक्त करते हुए अखण्डानन्द रस का अनुभव करने योग्य तुम्हें बना रहा हूँ। हे अन्त:करण और हे वाह्य इन्द्रियों! तुम सब स्वप्रकाश परमात्मा की उपासना के उपयुक्त कर्म के लिये अर्थात् श्रुति स्मृति लक्षण वर्णाश्रम धर्म के लिये और उसके अनुसार अनुष्ठान के लिये शुद्ध हो जाओ। देवयज्या के लिये अर्थात् परमात्मार्चनरूप षोडशोपचार, राजोपचार चतु:षष्टि-उपचाररूप क्रिया के लिये शुद्ध हो जाओ। क्योंकि देह और इन्द्रियों के शुद्ध हुए बिना उसका होना सम्भव नहीं है। इसी बात को विष्णु पुराण, छान्दोग्य उपनिषद् और महाभारत शान्तिपर्व के वचनों ने भी कहा है। तुम्हें, शास्त्रनिषिद्ध विषयों ने अर्थात् कामाचार-कामभक्ष आदि ने अपवित्र कर दिया है, इसलिये मैं परमात्मा की सम्मुखता सम्पादनार्थ शुद्ध बना रहा हूँ।

२१—अथवा हे सैनिकों! राजा इन्द्र वृत्रयुद्ध के समय राज्यावरोधक शत्रुओं के वध के लिये तुम्हारा वरण करता है, यानी सहायता के लिये तुम्हारी प्रार्थना करता है अत: तुम भी राजा इन्द्र को स्वीकार करो, क्योंकि शत्रुवध के लिये राजा का आश्रय अवश्य करना चाहिये, उसका आश्रय किये बिना युद्ध करना विहित नहीं है। अतएव महाभारत युद्ध में दुर्योधन ने अन्त में अश्वत्थामा को अभिषिक्त करके राजा बनाया था, तभी अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृतवर्मा ने युद्ध किया।

प्रोक्षामि। मन्त्रवारिप्रोक्षणेन वीर्यवन्तं करोमि। अग्नीषोमाभ्यामग्निवत्तेजस्वित्वाय सोमवल्लोकप्रेमास्पदत्वाय दुष्टनिग्रहाय शिष्टपरिपालनाय च ताभ्यामभिरुचितं त्वा त्वामहं मन्त्रशुद्धेन वारिणा प्रोक्षामि। तेन यद्वो युष्माकमङ्गमशुचिकामादयो दोषाः पराजघ्नुस्तदहं शुन्धामि प्रोक्षणेन तेजस्वि करोमि।

२२—हे वैज्ञानिका शिल्पिनः राजा राष्ट्रपतिर्वा युष्मान् वृत्रतुर्ये अवरोधकशत्रुवधे परमाणूद्जनास्त्राद्याविष्काराय दारिद्र्यादिशत्रुवधे उत्पादनोपकरणाविष्काराय अन्धकारवृत्रवधे प्रभूतविद्युदादिनिर्माणाय ऊर्जासङ्कटनिवारणायाप्रतिमसौर्य्यूर्जाजननाय च वृणुते यूयं तदर्थमपेक्षितोपकरण धनादिप्राप्त्यर्थमिन्द्रं राजानं वृतवन्तः। एतदर्थं यूयं प्रोक्षिता अभिषिक्ता अधिकृता भवत। अग्नये अग्निवत्तेजस्विज्ञानप्राप्तये अग्नीषोमाभ्यां संहारकपालकदुष्टशोषकशिष्टपोषकगुणाभ्यामभिरुचिचितमभीप्सितं त्वामहं प्रोक्षामि। सदाचार्यनियन्त्रिता एव वैज्ञानिका दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहादि कार्येषु सक्षमा भवन्ति। अन्यथा त्वनियन्त्रितमहायन्त्राणीव विनाशहेतवः सन्तोऽनर्थायैव भवन्ति। त्वां दैव्याय कर्मणे दिव्याय कर्मणे प्रजापालनाय देवयज्यायै प्रजापालनद्वारा परमेश्वराराधनलक्षणायै क्रियायै यूयं शुन्धध्वं शुद्धा भवत। अत एव यद्वो युष्माकं मनोऽशुद्धा भौतिकाः संस्काराः पराजघ्नुरशुद्धं कृतवन्तः तदहं शास्त्रीयसिद्धान्तसदाचारोपदेशेन शुन्धामि शोधयामि सच्छास्त्रसंस्कारयुक्तं करोमीति। एवमेव बहवोऽप्यर्था वक्तुं शक्यन्ते पूर्वोक्तमुख्यार्थाविरोधेन॥ (वा० सं० १।१३)॥

और अस्त्र शस्त्रादि युद्ध सामग्री की प्राप्ति के लिये सैनिक लोग राजा का आश्रय किया करते हैं। हे सैनिकों ! तुम भी राष्ट्र की रक्षा के निमित्त अर्थात् वृत्र शत्रु के वधार्थ अभिषिक्त (प्रोक्षित) हो जाओ। आचार्य दीक्षा के समान राजा का अभिषेक होता है। पुत्रक दीक्षा के समान युवराज का अभिषेक होता है। सभार्य दीक्षा के समान सेनापति की दीक्षा दी जाती है। साधक दीक्षा के समान सैनिकों की दीक्षा होती है। अग्नि की तरह अमित तेज की प्राप्ति के लिये शौर्यादि गुणों से युक्त हुए तुम्हारा पुनः प्रोक्षण मैं (पुरोहित) करता हूँ। अर्थात् अभिमन्त्रित जल से तुम्हारा प्रोक्षण करके तुम्हें मैं वीर्यवान् बनाता हूँ। अग्नीषोम के समान अर्थात् अग्नि की तरह तेजस्वी बनाने के लिये और सोम की तरह समस्त लोगों के प्रेमास्पद बनने के लिये, और दुष्टों का निग्रह करने के कारण तथा शिष्ट जनों का परिपालन करने के कारण अग्नीषोम दोनों के प्रिय बने हुए तुम्हारा मन्त्र शुद्ध जल से प्रोक्षण कर रहा हूँ। उस प्रोक्षण के करने से तुम्हारे अङ्गों में स्थित अशुभ कामादि दोष दूर हो जायेंगे, तदर्थ मैं तुम्हारे अङ्गों को तेजस्वी बना रहा हूँ।

२२—अथवा हे वैज्ञानिक शिल्पियों ! राजा या राष्ट्रपति ने वृत्रतुर्य अर्थात् अवरोधक शत्रओं के वधार्थ परमाणु उद्जनास्त्रादि के आविष्कार के लिये तथा दारिद्र्यादिशत्रु के वधार्थ उत्पादनोपयोगी उपकरणों का आविष्कार करने के लिये तथा अन्धकार रूपी वृत्र के वधार्थ प्रभूत विद्युत् आदि का निर्माण करने के लिये ऊर्जा सङ्कट निवारणार्थ अप्रतिम सौरी ऊर्जा का निर्माण करने के लिये तुम लोगों को नियुक्त (वरण) किया गया है अतः तुमने भी उसके अपेक्षित उपकरण धनादि के प्राप्त्यर्थ उस राजा को स्वीकार किया है। तदर्थ तुम लोग अधिकृत हो जाओ। अग्नि के समान तेजस्वी ज्ञान की प्राप्ति के लिये, तथा संहारक-पालक-दुष्टशोषक-शिष्टपोषक गुणों वाले अग्नी-षोम देवताओं को प्रिय लगने वाले तुम्हारा मैं प्रोक्षण कर रहा हूँ, जिससे तुम वैज्ञानिक लोग सर्वदा आचार्यों से नियन्त्रित होकर ही दुष्टनिग्रह-शिष्टानुग्रहादि कार्यों को करने में सक्षम हो सको। अन्यथा अनियन्त्रित महायन्त्रों की तरह विनाश के निमित्त बनकर अनर्थ के ही निमित्त बन जाओगे। प्रजापालन रूप दिव्य कर्म के लिये और प्रजापालन द्वारा परमेश्वराराधन रूप देवयज्या लक्षण क्रिया के लिये तुम शुद्ध हो जाओ। तुम्हारे मन भौतिक संस्कारों के पड़ने से अशुद्ध हो गये हैं इसलिये उन्हें मैं सच्छास्त्र संस्कार से युक्त बना रहा हूँ। इसी तरह अनेक अर्थों को बताया जा सकता है। कोई भी अर्थ किया जाय, तथापि ध्यान यही रखना पड़ेगा कि मुख्यार्थ के साथ विरोध न हो पाये।

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु । अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्न ꣳ प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ वा० सं० १।१४ ॥

अर्थ—हे कृष्णाजिन ! तुम उलूखल धारण करने में सुख हेतु हो। इस कृष्णाजिन पर स्थित राक्षस को दूर कर दिया गया है (उस पर की धूल दूर कर दी गई है) तथा प्रतिबन्धक शत्रु भी पृथ्वी पर कम्पित हो गये हैं। हे कृष्णाजिन ! तुम भूमिदेवता की त्वचा हो। भूमि तुम्हें अपनी त्वचा समझती है। हे उलूखल ! यद्यपि तुम काष्ठ से निर्मित हो तथापि पाषाण के समान हो। तुम्हारा मूलभाग (नीचे का भाग) विपुल है। इस प्रकार तुम पाषाण के सदृश हो। पृथ्वी की त्वचा अर्थात् नीचे बिछा हुआ मृगचर्म तुम्हें अपने आत्मीय के रूप में पहिचाने अर्थात् यह उलूखल मेरा ही अंशभूत है ऐसा समझे ।।१४।।

१—'शर्मासीति कृष्णाजिनादानम्' (का० श्रौ० सू० २।४।१) हे कृष्णाजिन त्वमुलूखलस्य धारणार्थं शर्मासि सुखहेतुरसि। अजिनस्य चर्मेति मनुष्यप्रसिद्धं नाम। शर्मेति दैवं नाम। तेन शर्मासीत्युक्तिः सोऽयमर्थः। तदास्ते शर्मासीति कृष्णस्य वा एतच्चर्मे'त्यादिना काण्वब्राह्मणेन स्पष्टीकृतः। 'अपेत्य दात्रेभ्योऽवधूनोत्यवधूतमिति' (का० सं० २।४।२) अध्वर्युस्तत्कृष्णाजिनमासादितेभ्यः दात्रेभ्योऽपेत्य पृथक्कृत्य उत्करे गत्वा तत्र तदवधूनोति। तल्लग्नधूल्यादिकं कृष्णाजिनकम्पनेन उत्करे पातयतीत्यर्थः। (धूञ् कम्पने) कृष्णाजिनेन गूढं रक्षः अवधूतम् —कृष्णाजिनकम्पनेन भूमौ-पातितम्। एवमेवारातयोऽपि पातिताः। 'प्रत्यग्ग्रीवमास्तृणात्यदित्यास्त्वगिति' (का० श्रौ० सू० २।४।३) प्रतीच्यां ग्रीवा यस्य तत् प्रत्यग्ग्रीवं कृष्णाजिनमास्तृणुयादध्वर्युः। आपस्तम्बश्च—'अदित्यास्त्वगसीत्युत्तरेण गार्हपत्यमुत्करदेशे वा प्रतीचीनग्रीवमुत्तरलोम्नोपस्तृणातीति' इति। हे कृष्णाजिन त्वमदित्या भूमिदेवतायास्त्वगसि ततोऽदितिर्भूमिस्त्वां मदीयेयं त्वगित्येवं वेत्तु जानातु। ननु किमर्थमन्यचर्मापहाय कृष्णाजिनग्रहणाग्रहः इति चेन्न, ब्राह्मणेनैव तस्य चोद्यस्य समाधीयमानत्वात्। तथाहि—'अथकृष्णाजिनमादत्ते। यज्ञस्यैव सर्वत्वाय यज्ञोह देवेभ्योऽपचक्राम। स कृष्णो मृगो भूत्वा चचार तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजह्रुः। (श० १।१।४।१)

२—यज्ञस्य सर्वत्वाय अवयवकात्स्न्याय कृष्णाजिनादानं श्रुतिर्विधत्ते—'अथ कृष्णाजिनमिति। कुतस्तेनावयवकात्स्न्यमिति तदेवोपपादयितुं पुरावृत्तमुपन्यस्यति–यज्ञोहेति। केनापि निमित्तेन यज्ञः पुरा देवेभ्योऽपरक्तोऽन्यत्र जगाम।

१—हे कृष्णाजिन ! तुम उलूखल के धारणार्थ सुखहेतु हो। अजिन का 'चर्म' यह मानुष नाम है और 'शर्म' यह दैव नाम है। कृष्णाजिन में छिपे हुए राक्षस को कृष्णाजिन को झटकारने से भूमि पर गिरा दिया, उसी प्रकार शत्रुओं को भी गिरा दिया। हे कृष्णाजिन ! तुम अदिति रूप भूमिदेवता के त्वक्रूप हो। इसलिये वह अदिति रूप भूमि तुम्हारा ग्रहण कर मेरी यह त्वक् है, ऐसा समझे। किसी अन्य चर्म का त्याग कर कृष्णाजिन का ही ग्रहण करने में ब्राह्मणवचन प्रमाण है। कृष्णाजिन के ग्रहण करने से 'यज्ञ' अपने समस्त अवयवों से पूर्ण हो पाता है, ऐसा श्रुति का कहना है।

२—यज्ञ की सर्वावयव पूर्ति में एक इतिहास बताया जाता है। पहिले किसी समय कारणवश यह यज्ञपुरुष देवताओं से अननुरक्त होकर अन्यत्र चला गया। उस समय अपने वेष को छिपाने के लिये वह कृष्णमृग बन गया।

तदानीं स्वकीयवेषप्रच्छादनाय कृष्णमृगोऽभूत्। देवास्तु तद्विज्ञाय तस्य मृगस्य त्वचमवच्छायाच्छिद्य जगृहुस्तस्मात् यज्ञस्य सर्वत्वाय कृष्णाजिनादानमुचितमेव। छो छेदन इत्यस्मात् क्त्वोल्यप्।

३—तस्य कृष्णाजिनस्य यज्ञरूपतां वक्तुं त्रयीमयत्वमाह—'तस्य यानि शुक्लानि कृष्णानि च लोमानि तान्यृचां च साम्नां च रूपम् यानि शुक्लानि तानि साम्ना ँ रूपं यानि कृष्णानि तान्यृचाम् यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्ना ँ रूपं यानि शुक्लानि तान्यृचाम् यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तानि यजुषा ँ रूपम्। सैषा त्रयी विद्या यज्ञः। तस्या एतच्छिल्पमेषवर्णस्तद्यत् कृष्णाजिनं भवति यज्ञस्यैव सर्वत्वाय तस्मात्कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय तस्मादध्यवहननमधिपेषणं भवत्यस्कन्न ँ हविरसयिति तद्यदेवात्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्दान्तद्यज्ञे यज्ञः प्रतितिष्ठादिति तस्मादध्यवहननमधिपेषणम् भवति (श० १।१।४।२-३) शुक्लकृष्णलोम्नां संग्रहात् ऋक्सामात्मकतामुक्त्वा विभज्यापि केषाञ्चिद्रीत्या यानि शुक्लानि तानि साम्नां यानि कृष्णानि तानि ऋचामन्येषां शाखिनां रीत्या तद्वैपरीत्येन यान्येव बभ्रूणि पिङ्गलवर्णानि हरीणि हरितवर्णानि तानि यजुषां रूपम्।

४—एवं कृष्णाजिनस्य त्रयीमयत्वमुक्तम्। यैषा ऋग्यजुःसामात्मिका त्रयी विद्या सैवेयं यज्ञस्तत्साध्यत्वात् य एष शुक्लकृष्णादिलक्षणो वर्ण एतत्तस्यास्त्रय्याः शिल्पं चित्रं रूपम्। अत एव सोमप्रकरणे वक्ष्यते 'शिल्पे स्थ' (वा० सं० ४।६) यस्मात् कृष्णाजिनं त्रयीमयं तस्मादेव सोमाङ्गभूता दीक्षापि कृष्णाजिनस्योपरि क्रियते। तस्मादेव च कृष्णाजिनस्योपरि अवहननं पेषण च कर्त्तव्यम्। तथा सति तद्धविः अस्कन्नं स्कन्नरहितं असद् भवति। यदि भूम्यामेवावहननादिकं कुर्यात् तदावश्यमुलूखलात् भूम्यां हविः पतनं स्यात्। तदा स्कन्नदोषः स्यात्। तदेव विवृणोति अवहननसमये तण्डुलः पेषणसमये पिष्टं वात्र कृष्णाजिने यदि नाम स्कन्दात् स्कन्देत् लेटचडागमः। तत्खलु यज्ञ एव प्रतितिष्ठेत न तु तस्य स्कन्नदोषोभवतीत्यर्थः कृष्णाजिनेऽवरुद्धत्वेन भूमिस्पर्शाभावात्।

५—सव्याशून्येतिदधात्युलूखलमद्रिरसि ग्रावासीति वा, प्रतित्वेत्युभयोः' (का० श्रौ० सू० २।४।४-५) सव्या-

---

देवताओं के द्वारा पहिचाने गये उस मृग की त्वचा को देवताओं ने काट-काट कर ग्रहण किया, इसलिये यज्ञ की सर्वावयव पूर्णता के लिये कृष्णाजिन का आदान (ग्रहण) करना उचित ही है।

३—उस कृष्णाजिन की यज्ञस्वरूपता को बताने के लिये उसके त्रयीमयत्व को ब्राह्मण बता रहा है। उसके जो शुक्ल और कृष्ण लोम हैं, वे ऋक् और साम हैं। कुछ लोगों ने ऐसी भी व्याख्या की है कि जो शुक्ल लोम हैं, वे ऋक् रूप हैं। अन्य शाखाओं के अनुसार ऐसा भी कहा गया है कि जो पिङ्गल वर्ण जैसे हरित वर्ण के लोम है, वे यजु के स्वरूप हैं।

४ इस प्रकार कृष्णाजिन का त्रयीमयत्व कहा गया है। यह जो ऋग्यजुःसामात्मिका त्रयी विद्या है, वही यह यज्ञ है, क्योंकि उसी त्रयी विद्या से वह साध्य होता है। और जो यह शुक्ल-कृष्णादि वर्ण हैं, वह उस त्रयी का शिल्प यानी चित्ररूप है। उस कृष्णाजिन के त्रयीमय रहने से ही सोमाङ्गभूत दीक्षा भी उसी पर की जाती है। और उसी कारण कृष्णाजिन के ऊपर ही अवहनन तथा पेषण भी करना चाहिये। वैसा करने पर वह हवि अस्कन्न (स्कन्नदोष से रहित) रहता है। यदि भूमि पर ही अवहनन किया जायगा तो अवश्य ही उलूखल से भूमि पर हवि गिरेगा, तब स्कन्न दोष होगा। अवहनन करते समय तथा तण्डुल पेषण करते समय वह पिष्ट यदि कृष्णाजिन पर गिर जाय तो भी उसे यज्ञ में ही प्रतिष्ठित (स्थित) समझा जाता है, उसे स्कन्न दोष नहीं लगता। क्योंकि कृष्णाजिन पर उसके अवरुद्ध हो जाने से उसे भूमि का स्पर्श नहीं हो पाता।

५—वाम हस्त से स्पर्श किये गये कृष्णाजिन पर 'अद्रिरसि' अथवा 'ग्रावासि' इन दोनों में से किसी एक मन्त्र

शून्ये वामहस्तेन स्पृष्टे कृष्णजिने अद्रिरसि ग्रावासीत्यन्यतरमन्त्रेण उलूखलं स्थापयेत् । मन्त्रद्वयेऽपि "प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्तु" इतिमन्त्रः संयोजनीयः। मन्त्रार्थस्तु हे उलूखल त्वं यद्यपि वानस्पत्यो दारुमयस्तथापि दृढत्वादद्रिरसि पाषाणोऽसि आदृणाति विदारयति आदृणात्यनेन वेत्यद्रिः। पृथुबुध्नः स्थूलमूलमुसलघातोपद्रवेण चाञ्चल्यराहित्याय मूलस्य स्थूलत्वं युक्तमेव। हे उलूखल तथाविधस्त्वं ग्रावासि दाढर्चेन पाषाणसदृशोऽसि। अदित्यास्त्वगधस्तादास्तीर्णा कृष्णाजिनरूपा भूमेर्यात्वगस्ति सा त्वां प्रतिगृह्य वेत्तु स्वकीयत्वेन जानातु।

६—कण्वश्रुतौ तु विस्पष्टं मन्त्रस्वरूपे स प्रतिगृह्णात्वद्रिरसि वानस्पत्यप्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति वा ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति वेति दारुमयस्यैवोलूखलस्य पाषाणत्वमौपचारिकमिति तित्तिरिर्दर्शयति—'अद्रिरसि वानस्पत्य इत्याह। ग्रावाणमेवैनत् करोती'ति (तै० ब्रा० ३।२।५।८) शतपथे याज्ञवल्क्यस्तु निष्कर्षमाह—'तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति अदित्यास्त्वगसि प्रतित्वादितिर्वेत्त्विति इयं वै पृथिव्यदितिस्तस्या अस्यै त्वग्यदिदमस्यामधि किञ्च तस्मादाहादित्यास्त्वगसीति प्रतित्वादितिर्वेत्त्विति प्रतिहि स्वसं जानीते तत्संज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसात इत्यभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति। (श० १।१।४।५) अत्र समन्त्रकं प्रतीचीनग्रीवत्वविशिष्टस्य कृष्णाजिनस्यास्तरण विहितम्। इयं पृथिवी अदितिरखण्डनीया (दोऽवखण्डने) इति व्युत्पत्त्या अदितिशब्देन पृथिव्येव मन्त्रे विवक्षितेत्युक्तम्। कथमन्यदीया त्वगन्यस्य त्वग् भवतीत्याशङ्कचाह—तस्या अस्यै त्वगिति। अस्या भूमेरधि उपरिभागे यदिदं किमपि वस्त्ववस्थितं तस्यै अस्यै पृथिव्यै सा त्वगिव कृष्णाजिनमप्युपर्यवस्थानात् तस्यास्त्वगिति ततत्तुतिः। मन्त्रस्य प्रतित्वेत्यादिकं व्याचष्टे—अदितिस्त्वामात्मीयां त्वचं वेत्तु जानातु। स्वः स्वकीयं जनमात्मीयजनं प्रति सञ्जानीते परस्परानुकूल्यं प्रकटयितुं संज्ञां करोति। तत् कृष्णाजिनभूम्योः समानज्ञानतामेवायं मन्त्रभागो वदति। संज्ञानस्य प्रयोजनमाह—परस्परानुकूल्यज्ञानाभावे ह्यन्योन्यं हिंस्यात् नेव तादृश्यन्योन्यहिंसा भवत्वित्यभिप्रायेणैवाह-सव्येन पाणिना स्पृष्ट एव कृष्णाजिने दक्षिणेन पाणिनोलूखलमाहरतीत्यस्याप्यभिप्रायमाह—'नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्याविशानिति—ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति। (श० १।१।४।६) यदि ह्युलूखलनिधानात् प्रागेव कृष्णाजिनस्पर्शमुत्सृजेत्। तत् तदा इहास्मिन् कृष्णाजिने राक्षसादिकं प्रविशेत्, तन्न भवेदिति हेतोः सव्याशून्य उलूखलमाहरेत्। शतेर्लोटि बहुवचन आडागमे झेरन्तादेशे 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा सू० ३।४।९७)

७—सव्येन स्पर्शेऽपि कुतो न रक्षांसि प्रविशन्ति—इति तत्राह—हि यस्माद् ब्राह्मणो रक्षसामपहन्ता भवति

से उलूखल को रखे। दोनों मन्त्रों के साथ 'प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्तु' इस मन्त्र को जोड़ लेना चाहिये। हे उलूखल ! तुम यद्यपि काष्ठमय हो तथापि दृढ़ होने से अद्रि यानी पाषाण के समान हो। तुम मूलभाग में स्थूल हो, क्योंकि मुसल प्रहार के उपद्रव से चाञ्चल्यराहित्य के लिये मूल भाग की स्थूलता आवश्यक ही है। हे उलूखल ! तुम अपनी दृढ़ता के कारण ग्रावा के समान यानी पाषाण के समान हो। अदिति की त्वक् तुम्हारे नीचे बिछाई गई है, जो कृष्णाजिनस्वरूपा है, उसे वह (भूमि) अपनी जाने।

६—इस प्रकार कृष्णाजिन और भूमि की समान जातीयता मन्त्र के द्वारा बताई गई है। समान जातीयता बताने का प्रयोजन यह है कि परस्पानुकूल्यज्ञान न होने पर एक दूसरे परस्पर की हिंसा भी कर सकते हैं। वैसी परस्पर अन्योन्य हिंसा न हो इस अभिप्राय से कहा गया है कि सव्य (वाम) हाथ से स्पृष्ट हुए कृष्णाजिन पर ही दक्षिण हाथ से उलूखल को रखता है। यदि उलूखल के रखने के पूर्व ही यदि अपने वाम हस्त को कृष्णाजिन से हटा ले तो उस कृष्णाजिन में राक्षसादिक प्रविष्ट हो जायेंगे। उनका उसमें प्रवेश न हो सके इसलिये बाँये हाथ से उसे स्पर्श किया रहे और दाहिने हाथ से उस पर उलूखल को रखे यह कहा गया है।

७—सव्य हाथ से स्पर्श करने पर भी उसमें राक्षसों का प्रवेश क्यों नहीं हो सकेगा ? इस पर कहा गया है

मन्त्रप्रभावात् तस्मात्तेन स्पृश्यमानं राक्षसादि न प्रवेष्टुं शक्नोति—इत्यर्थः। एवं सायणोव्वटमहीधराणां मन्त्रव्याख्यानानि श्रुतिसूत्रप्रमाणसिद्धान्येव। यथाकथञ्चित्तु नैकविधानि व्याख्यानानि कर्तुं शक्यानि।

८—स्वामिदयानन्दस्तु हे मनुष्या युष्मद्गृहं शर्मासि भवतु। तस्माद् गृहाद्रक्षोऽवधूतमरातयोऽवधूता भवन्तु। तव गृहमदित्यास्त्वगस्त्विति सर्वो जनः प्रतिवेत्तु। यो वानस्पत्योऽद्रिः (असि) पृथुबुध्नो ग्रावा मेघो अस्ति वर्तते। एतद्विद्यामदितिर्जगदीश्वरस्तुभ्यं प्रतिवेत्तु कृपया वेदयतु। विद्वानप्यदित्यास्त्वग्वत्त्वात् व्यवहारं प्रतिवेत्तु" (पृ० ७७)।

९—आश्चर्यमेतद् यत् शतपथव्याख्यानस्थलं निर्दिशन्नपि तद्विपरीतमेव व्याख्याति मन्त्रम्। तथाहि—'कृष्णाजिनमादत्ते। शर्मासीति चर्म वा एतत्कृष्णस्य तदस्य तन्मानुषꣳ शर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मासीति तदवधूनोत्यवधूतꣳ रक्षः.............तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्त्यति नत्येव पात्राण्यवधूनोति यद्धचस्यामेध्यमभूत् तद्धचस्यैतदवधूनोति।' (श० १।१।४।४) अत्र स्पष्टमेव चर्मादानमनूद्य मन्त्रं विधाय शर्मशब्दस्य तात्पर्यं वक्ति। चर्म वा इति। यदेतत् कृष्णमृगस्य चर्म अजिनं अस्य यज्ञस्यैतदजिनं तत् लोकप्रसिद्धचर्मशब्दाभिधेयं सन्मानुषं मनुष्यसम्बन्धि रूपं भवति। अर्थात् कृष्णाजिनस्य चर्मेति मनुष्यप्रसिद्धं नाम। एतदेव देवला देवसुखकरत्वात् शर्मेत्युच्यते—अतो वैदिके कर्मणि शर्मासीत्युक्त्या तत्स्तुतिरूपपन्ना। देवत्रेति 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्' (पा० सू० ५।४।५६) इति त्रा प्रत्ययः। पूर्वमपि कृष्णाजिनमादत्ते' इति कृष्णाजिनादानं विहितम् तत्रैव यज्ञो देवेभ्योऽपचक्राम। स कृष्णोमृगो भूत्वा चचार। इति पुरावृत्तकथनेन त्रयीमयो यज्ञएव कृष्णमृगो भूत्वा चचार तदीयचर्मादानं यज्ञस्य कार्त्स्न्यार्थ विहितम्। तत्रैव तस्य शुक्लकृष्णादिलोम्नां मृगादित्वमुक्तम्। तदुपरि सोमदीक्षाया अवहननपेषणादीनाञ्च गुणवत्त्वमुक्तम् सर्वमेतदपलप्य किमप्यन्यथैवायं महात्मा व्याख्याति। 'अवधूतꣳ रक्षः' इति मन्त्रेण कृष्णाजिनस्यैवावधूननं विहितम्। अवधूननेन रक्षः प्रकृतिसम्पर्कादमेध्ययज्ञियांशनिरास उक्तः। किं गृहस्याधूननं सम्भवति? पुरुषव्यत्ययमन्तरा तु पदमेकमपि नायं गन्तुं प्रभवति। यद्यपि गृहनामसु शर्म इति पठितम् तथापि कृष्णाजिनादानप्रसङ्गे तदर्थस्य कथं सङ्गतिः?

१०—यद्यप्युक्तम्—'ईश्वरेणाज्ञाप्यते मनुष्यैः शुद्धायाः सर्वतोऽवकाशयुक्तायाः पृथिव्या मध्ये सर्वेष्वृतुषु

कि ब्राह्मण अपने मन्त्र के प्रभाव से राक्षसों का विनाश कर देता है, इसलिये उससे स्पृष्ट होने पर राक्षसों का प्रवेश उसमें नहीं हो सकता। इसी प्रकार सायण, उव्वट, महीधर के मन्त्र व्याख्यान, श्रुति-सूत्र प्रमाण सिद्ध ही होते हैं। यथाकथंचित् अनेक प्रकार के व्याख्यान भी किये जा सकते हैं।

८—स्वामी दयानन्द ने तो यह अर्थ किया है कि हे मनुष्यों! तुम्हारा घर बने, उस घर से राक्षस और शत्रुगण निरस्त हों। तुम्हारा घर अदिति की त्वचा रूप है, ऐसा सब लोग समझें। जो वानस्पत्य अद्रि है, पृथुबुध्न ग्रावा मेघ है। इस विद्या को अदिति यानी जगदीश्वर कृपा करके तुमको समझा दें। विद्वान् भी अदिति की त्वचा से युक्त होने के कारण व्यवहार को जानें (पृ० ७७)।

९—आश्चर्य की बात तो यह है कि शतपथ की व्याख्या का स्थल निर्देश करते हुए भी उसके विपरीत मन्त्र की व्याख्या कर रहे हैं। 'अवधूत ꣳ रक्षः' इस मन्त्र में कृष्णाजिन का ही अवधूनन विहित किया है। अवधूनन से अमेध्य यज्ञियांश का निरास बताया गया है। किन्तु स्वामी दयानन्द ने गृह का अवधूनन करना बताया है, तो क्या गृह का अवधूनन कभी सम्भव हो सकता है? पुरुषव्यत्यय के विना एक पद भी वह चलने में समर्थ नहीं होगा। यद्यपि गृहनामों में 'शर्म' भी पठित है, तथापि कृष्णाजिन के आदान प्रसङ्ग में वह अर्थ कैसे सङ्गत हो सकेगा?

१०—यह जो पृ० ७७ पर कहा गया है कि ईश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य, सर्वतः अवकाश युक्त पृथिवी पर

सुखदायकं गृहं रचयित्वा तत्र सुखेन स्थातव्यम्। तस्मात् सर्वे दुष्टा मनुष्या दोषाश्च निवारणीयाः, तत्र सर्वाणि साधनान्यपि साधनीयानि तत्रैव वृष्टिहेतुर्यज्ञोऽनुष्ठातव्यः सुखानि च सम्पादनीयानि। एवं कृते वायु-वृष्टि-जल-शुद्धिद्वारा जगति महत्सुखं सिद्धयति' (पृ० ७७) इति,

११—तदपि तुच्छम्, सर्वस्यैतस्य रागप्राप्तस्य विधेयत्वासम्भवात्। किञ्च हेतुमन्तरा असीति मध्यमपुरुषस्य प्रथमपुरुषत्वेन विपरिणामोऽपि निर्मूलः। एवं लटो लोट्त्वेनापि परिणामोऽपि स्वच्छन्दतैव अन्यथा शर्मासि गृहोऽसीति कथं सङ्गतिः स्यात्? तत एव तव सर्वत्र व्यत्यय एव शरणम्। अवपूर्वस्य धूनोतेः कम्पनं निराकरणं वार्थो भवति दूरीकृतं विचालित मित्यर्थोऽपि स्वच्छन्दतैव। किं त्वत्कथनेनैव दुष्टस्वभावाः शत्रवश्च दूरीभूता भविष्यन्ति? सिद्धान्ते तु यजमानवृतस्य यज्ञानुष्ठातुरध्वर्योः श्रुतिविहितकर्माङ्गत्वेन मन्त्रोच्चारणप्रभावात् रक्षसामरातीनाञ्चावधूननं सम्भवति। तत्सर्वं त्वया नाभ्युपेयते तत्कथं कथनमात्रेण तेषामपकरणं भविष्यति? किं च गृहं कथमदित्यास्त्वग्भविष्यति। को वाभिप्रायस्त्वत् कथनात् सर्वो जनः गृहं पृथिव्यास्त्वग्वत् वेत्तु किमित्यस्य प्रयोजनम्। वानस्पत्योऽद्रिः पृथुबुध्नो मेघ इति कीदृशी विद्या? यामीश्वरोदास्यति? कोऽयं वानस्पत्यो मेघः? पृथु विस्तीर्णं बुध्नमन्तरिक्षं निवासार्थं यस्य। पृथुबुध्नो मेघ इति द्रविडप्राणायामेन पृथुबुध्नपदेन मेघग्रहणेऽपि प्रकृते किमायातम् मेघोऽन्तरिक्षे वसतीति सर्वोऽपि जानात्येव। तस्य वानस्पत्यरूपता त्वद्याप्यसिद्धैव। वायुजलवृष्टिशुद्धयर्थं होमोपदेशस्तु त्वद्रीत्यानेकेषु मन्त्रेषु परमेश्वरेण-दत्त एवेति किमित्याम्रेडनेन?

श्रुतिसूत्रानुसारेण तु शर्मासीति मन्त्रेणाध्वर्युः कृष्णाजिनमादत्ते हे कृष्णाजिन त्वमुलूखलस्य धारणार्थं शर्मासि सुखहेतुरसि। चर्मेति तव मानुषं नाम। शर्मेति तव दैवं नाम। अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातय इति मन्त्रेण कृष्णाजिन-मध्वर्युः पात्रेभ्योऽपसृत्य अवधूनोति। कृष्णाजिनकम्पनेन तत्र गूढं रक्षो यज्ञविघ्नकारकमवधूतं भूमौपतितं भवति। अरातयोऽदानशीला रिपवोऽपि तत्प्रभावेणैव कम्पिता भवन्ति। अदित्यास्त्वगसीत्यादिमन्त्रभागेनाध्वर्युः प्रत्यग्ग्रीवं कृष्णाजिनमास्तृणाति। मन्त्रार्थस्तु हे कृष्णाजिन त्वमदितेर्भूमिदेवतायास्त्वग्रूपमसि ततोऽदितिर्भूमिदेवता त्वां मदीयेयं त्वगिति जानातु। यज्ञरूपकृष्णमृगस्येदमजिनधारणमजिनमितिभावनासहकृतविहितमन्त्रोच्चारेण कृष्णाजिनभूम्योः परस्पराभेदापादनं निर्विघ्नयज्ञादृष्टसिद्धयर्थम्। ततोऽद्रिरसि वानस्पत्य ग्रावासि पृथुबुध्न्येत्युभाभ्यां मन्त्राभ्यां प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्वितियुक्ताभ्यां विकल्पेन सव्यपाणिना स्पृष्टे कृष्णाजिने उलूखलं स्थापयत्यध्वर्युः।

१२—मन्त्रार्थस्तु हे उलूखल त्वं यद्यपि वानस्पत्यस्तथापि दृढत्वात् अद्रिः पाषाणः किं भूतः पृथुमूलः स्थूलमूलः, हे उलूखल तथाविधस्त्वं ग्रावासि दार्ढ्येन पाषाणतुल्योऽसि। अदित्यास्त्वगधस्तादास्तीर्णा कृष्णाजिनरूपा भूमेर्यात्वगस्ति सा त्वां प्रतिवेत्तु स्वकीयत्वेन जानातु। अत्र प्रमाणानि उपपत्तयश्च पूर्वमेवोक्तानि। श्रुतिसूत्रपारम्पर्यपद्धत्यनुसारेणायमेवार्थः।

दे। उसमें सभी साधनों को जुटा ले। उसी में वृष्टि के हेतुभूत यज्ञ का अनुष्ठान करे और सब सुखों का सम्पादन करे। ऐसा करने से वायु-वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा जगत् में महान् सुख हो सकेगा।'

११—किन्तु यह दयानन्दीय व्याख्या सारहीन है, क्योंकि यह सभी रागप्राप्त होने से विधेय नहीं हो सकते। किञ्च किसी कारण प्रदर्शन के बिना पुरुष विपरिणाम करना भी निर्मूल है। लकार में विपरिणाम करना भी स्वच्छन्दता का ही सूचक है। अन्यथा 'शर्मासि गृहोऽसि' यह सङ्गति कैसे होगी? इस प्रकार सर्वत्र आपने व्यत्यय की ही शरण ली है। अवपूर्वक धूनोति का कम्पन अथवा निराकरण अर्थ होता है, किन्तु उसका अर्थ 'दूरीकृतं विचालितं' अर्थ आपने बताया है, यह सब आपकी स्वच्छन्दता ही है। क्या आपके कथनमात्र से ही दुष्टलोग और शत्रुगण दूर हो जायेंगे? सिद्धान्त में तो यजमान के द्वारा वरण किये गये यज्ञानुष्ठाता अध्वर्यु में श्रुतिविहित कर्म का अङ्गत्व होने से उसके मन्त्रोच्चारण के प्रभाव से राक्षस और शत्रुओं का अवधूनन होना सम्भव हो सकता है। किन्तु आप तो यह सब कुछ स्वीकार कर नहीं रहे हैं। तो कैसे उनका अपाकरण होगा? क्या आपके कथनमात्र से होगा? किञ्च गृह, अदिति की त्वक् कैसे होगा? उसी तरह वानस्पत्योऽद्रिः पृथुबुध्नः मेघः यह कैसी विद्या है? जिसे ईश्वर देगा। कौनसा यह वानस्पत्य मेघ है? मेघ अन्तरिक्ष में रहता है, यह सभी जानते हैं, उसकी वानस्पत्यरूपता तो अद्यापि सिद्ध ही नहीं है। अतः श्रुति-सूत्र के अनुसार ही अर्थ करना उचित है। तथापि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस कठोपनिषद् के अनुसार तथा 'सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति' के अनुरोध से अन्यान्य अर्थ भी किये जा सकते हैं।

तथापि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १।२।१५) 'सर्वं वेदात्प्रसिद्धचति' (म० १२।९७) इत्याद्यनुरोधेनान्येऽप्यर्थाः कर्त्तुं शक्यन्ते। 'अथोलूखलं निदधाति। अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्न इति वा तद्यथैवादः सोमᳬं राजान ग्रावभिरभिषुण्वन्त्येवमेवैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याᳬं हविर्यज्ञमभिषुणोत्यद्रय इति वै तेषामेकं नाम तस्मादाहाद्रिरसीति वानस्पत्य इति वानस्पत्योऽह्येष ग्रावासि पृथुबुध्न इति। ग्रावा ह्येष पृथुबुध्नो ह्येष प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति तत्संज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनायत्त वदतिनेदन्योन्यᳬं हि नसात् इति (श० १।१।४।७) अत्र स्पष्टमुलूखल—विधाने अद्रिरसीति मन्त्रविनियोगो ज्ञायते। अद्रिरसि ग्रावासीति मन्त्रविकल्पोऽपि। लुप्तविभक्तिकः, अदः शब्दः। सप्तमी ज्ञातव्या। अमुत्र सोमयागे यथा सोमस्य ग्रावभिरभिषवः एवमेवात्रोलूखलादिभिर्व्रीह्यादिकमभिषुणोति। वितुषीकरणादिभिः संस्करोति। अद्रय इति साधारणं नाम। अतो नामसाम्यात् उलूखलादिसाध्यमवहननादिकं ग्रावसाध्येनाभिषवेण तुल्यमित्यर्थः। हे उलूखल त्वं ग्रावासीति मन्त्रेणोलूखले ग्रावत्वारोपो मन्त्रेण विवक्षितः। प्रति त्वा अदिस्त्यास्त्वग्वेत्त्विति तत्संज्ञामेव कृष्णाजिनाय वदति यतोन्योऽन्यं हिंसा माभूत् पृथिवीकृष्णाजिनयोरिवैकत्व प्रत्यायनार्थम्।

१३—वेदपुरुषः प्रार्थयते यत् हे राजराजेश्वरि चिदानन्दमयि भगवति संसारतापतप्तानां प्राणिनां त्वमेव शर्मासि शर्म गृहमाश्रयः शरणमसि। 'शरणं गृहरक्षित्रोरितिकोषात्' त्वमेव शर्म आश्रयः शरणमसि त्वदन्यस्य शरण्यस्याभावात्। यद्वा शर्म सुखरूपासि त्वदन्यस्यार्तिपरिगृहीतत्वात् दुःखरूपत्वात् 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० उ० ३।४।२) इति श्रुतेः। 'नाल्पे सुखमस्ती' (छा० ७।२३) त्यादिश्रुतिभ्यः। न चानेन शतपथादिश्रुतिविरोधः, तासामपि भगवदाराधनरूपदर्शपूर्णमासादिप्रतिपादनद्वारा तत्रैव पर्यवसानात्।

१४—ननु तथापि संसारे भगवत्प्राप्तिविघ्नकराणि रक्षांसि दानादिधर्मविमुखा अरातयोऽपि सन्त्येव तेषु जीवत्सु कथं ममाश्रयणेन मम शरणग्रहणं सम्भवति? मम सुखरूपत्वेऽपि कथं जीवानां सुखहेतुत्वमिति चेत्तत्राह—अवधूतमिति—त्वच्छरणाश्रयणेनैव अवधूतं कम्पितं निरस्तं रक्षः विनायकानीकपनिकर तेनैव चारातयोऽपि निरस्त-

---

से उसके मन्त्रोच्चारण के प्रभाव से राक्षस और शत्रुओं का अवधूनन होना सम्भव हो सकता है। किन्तु आप तो यह सब कुछ स्वीकार कर नहीं रहे हैं। तो कैसे उनका अपाकरण होगा? क्या आपके कथनमात्र से होगा? किञ्च गृह, अदिति की त्वक् कैसे होगा? उसी तरह वानस्पत्योऽद्रिः पृथुबुध्नः मेघः यह कैसी विद्या है? जिसे ईश्वर देगा। कौनसा यह वानस्पत्य मेघ है? मेघ अन्तरिक्ष में रहता है, यह सभी जानते हैं, उसकी वानस्पत्यरूपता तो अद्यापि सिद्ध ही नहीं है। अतः श्रुति-सूत्र के अनुसार ही अर्थ करना उचित है। तथापि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस कठोपनिषद् के अनुसार तथा 'सर्वं वेदात् प्रसिद्धचति' के अनुरोध से अन्यान्य अर्थ भी किये जा सकते हैं।

१२—मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे उलूखल! यद्यपि तुम बानस्पत्य अर्थात् लकड़ी के हो तथापि दृढ़ होने से अद्रि (पाषाण) हो। जिसका मूलभाग स्थूल है। हे उलूखल! ऐसे तुम ग्रावा दृढ़ता के कारण पाषाणतुल्य हो।

अदित्यास्त्वक्=नीचे बिछी हुई कृष्णाजिनरूप जो भूमि की त्वक् है वह तुम्हें स्वकीय रूप से जाने। इसमें प्रमाण और युक्तियाँ पहले ही कह चुके हैं। श्रुति सूत्र और परम्परा प्राप्त पद्धति के अनुसार यही अर्थ है तथापि सर्वे वेदा यत्पदम्………(कठोप० १।२।१५) "सर्वं वेदात्" (म० १२।९७) इत्यादि वचनों के अनुरोध से अन्य भी अर्थ किये जा सकते हैं।

"अथोलूखलं निदधाति……………………वदति नेदन्योन्यᳬं हिनसात्त इति" (श० १।१।४।७) इस मन्त्र में स्पष्ट जाना जाता है कि "अद्रिरसि इस मन्त्र का विनियोग उलूखल के निधान (रखने) में है।

अद्रिरसि और ग्रावासि इन दोनों मन्त्रों के विकल्प का भी ज्ञान इसी मन्त्र से होता है। मन्त्र में अदस् शब्द लुप्तविभक्तिक है, इसमें सप्तमी विभक्ति जाननी चाहिये।

जैसे उस सोमयाग में पत्थर से सोम का अभिषव होता है इसी प्रकार इस याग में उलूखल आदिकों से व्रीहि आदि को कूटता है। वितुषी करणादि अर्थात् छिलके उतारने आदि के द्वारा उनका संस्कार करता है।

अद्रयः यह साधारण नाम है। इसलिये नाम की समानता से उलूखल से होने योग्य अवहननादि (कुट्टन आदि) ग्राष (पाषाण) से साध्य अभिषव के तुल्य है, ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

हे 'उलूखल! त्वं ग्रावासि' इस मन्त्र से उलूखल में ग्रावत्व (पाषाण रूपता) का आरोप विवक्षित है।

तेजस्का हतप्रभा भवन्ति 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ।।' (श्री० भा० म० पु० १०।२।३३) 'तस्य हनदेवाश्च नाभूत्या ईशते' (बृ० १।४।१०) 'एषांन्न प्रियं यदेनं मनुष्यां विद्युः' (बृहदा० १।४।१०) 'स्वौको विलङ्घ्य व्रजतां परमं पदं ते' (श्री० भा० म० पु०   ) 'लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः । येषामिन्दीवर-श्यामो हृदयस्थोजनार्दनः ।।' (गरुड़पुराण प्रे० क० ३५ ४४) हे जीवात्मन् त्वमदित्या अखण्डसंविच्छरीराया भगवत्या-स्त्वगसि त्वगिव त्वक्स्वरूपमेवासि । अदितिः सा करुणार्णवहृदया त्वा त्वां स्वकीयत्वेन वेत्तु जानातु स्वीकरोतु सत्य-सङ्कल्पायास्तस्या तथा ज्ञानलक्षणसङ्कल्पेनैव सर्वानर्थव्रातनिवारणसम्भवात् ।

१५—नन्वहमनर्थशतसंकुलो जीवः कथं परमैश्वर्यशालिन्या राजराजेश्वर्या अभिन्नोभविष्यामीत्याशङ्क्याह—त्वमद्रिरसि । पर्वतकूटवन्निर्विकारः कूटस्थोऽसि । अनर्थव्रातोपप्लुत त्वं तु तवौपाधिकमेव रूपम् । स्वाभाविकं तु निर्विकारमेव । त्वं वानस्पत्यः पृथुमूलो ग्रावासि । वनस्पतिरूर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्थरूपः संसारवृक्षस्तत्सम्बन्धी ग्रावा पाषाणवदभेद्यपरमात्मरूप एवासि । कथंभूतः पृथु विस्तीर्णमपरिच्छिन्नमनन्तं ब्रह्मैव बुध्नमूलं यस्य सः पृथुबुध्नः ब्रह्मरूपः संसारवृक्षमूलरूप एवासि त्वम् । 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादि श्रुतिभ्यः ।

१५—ननु पूर्वं स्त्रीत्वेन निर्दिश्यान्ते कथ पुंस्त्वव्यपदेश इति चेन्न, तत्त्वस्योभयरूपत्वेऽप्यनुभयरूपत्वात् । 'त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि' (श्वेताश्वता ४।३) नैवस्त्री न पुमानेष न

प्रति त्वा अदित्यास्त्वग्वेत्तु यह मन्त्र कृष्णाजिन (कृष्णमृगचर्म) की वह संज्ञा ही बतला रहा है। जिससे परस्पर हिंसा न हो ।

पृथिवी और कृष्णाजिन की एकता की तरह उलूखल और ग्रावा में एकत्व की प्रतीति कराने के लिये ।

१३—वेदपुरुष प्रार्थना करता है कि हे राजराजेश्वरि ! हे चिदानन्दमयि भगवति ! सांसारिक ताप से तप्त हुए प्राणियों के लिये तुम ही शरण हो अर्थात् उनके आश्रय स्थान गृह रूप तुम ही हो। क्योंकि तुम से अतिरिक्त कोई दूसरा उनके लिये शरण्य यानी आश्रय लेने योग्य नहीं है। अथवा तुम ही सुख रूप हो। क्योंकि 'अतोऽन्यदार्तम्' इस श्रुति ने बताया है कि तुमसे भिन्न जो भी है, वह सब आर्त्ति (पीड़ा-दुःख) से युक्त है यानी दुःख रूप ही है। यह कहने से शतपथादि श्रुति से विरोध की सम्भावना नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उन शतपथ श्रुतियों का भी तात्पर्य भगवदाराधन रूप दर्शपूर्णमासादि प्रतिपादन द्वारा उस परा भगवती जगदम्बा में ही है।

१४—यहाँ यह शङ्का उठ सकती है कि यद्यपि श्रुति का तात्पर्य भगवती जगदम्बा में ही है, तथापि संसार में भगवत्प्राप्ति में विघ्न पैदा करने वाले राक्षस, तथा दानादि धर्म से विमुख शत्रु भी हैं ही, तो उनके जीवित रहते मेरा यानी भगवती का आश्रय करके मुझ भगवती की शरण लेना कैसे सम्भव हो सकता है ? मेरे सुख रूप होने पर भी जीवों के लिये मैं सुख की हेतुभूत कैसे हो सकती हूँ ? इस आशङ्का पर श्रुति कह रही है 'अवधूतमिति'। उस भगवती जगदम्बा का आश्रय लेने से ही समस्त राक्षस समूह निरस्त हो जाते हैं, उसी से शत्रुगण भी तेजोहीन हतप्रभ हो जाते हैं। भागवतकार कहते हैं 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो'। उसी तरह बृहदारण्यक उपनिषद् ने भी कहा है। गरुड पुराण में भी कहा गया है कि "लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः । येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः"। हे जीवात्मन् ! तुम अखण्ड संवित् (ज्ञानमय) शरीर वाली भगवती अदिति की त्वचारूप ही हो। वह अदिति, करुणार्णवहृदया है, वह तुम्हें अपने आत्मीय रूप में स्वीकार करे। वह सत्यसङ्कल्पा है, उसके ज्ञानलक्षण सङ्कल्प से ही समस्त अनर्थ समूहों का निवारण होना सहज सम्भव है।

१५—जीवात्मा प्रश्न करता है कि मैं तो सैकडों अनर्थों से व्याप्त हूँ। अतः उस परमैश्वर्यशालिनी राजराजेश्वरी जगदम्बा से अपने को अभिन्न कैसे समझूँ ? उस पर श्रुति उत्तर देती है--'त्वमद्रिरसि' इति । हे जीवात्मन् ! तुम पर्वतकूट (पर्वत शिखर) के तुल्य निर्विकार कूटस्थ हो। अनर्थ समूह से उपप्लुत होना तो तुम्हारा औपाधिक स्वरूप ही है। स्वाभाविक स्वरूप तो तुम्हारा निर्विकार ही है। तुम वानस्पत्य पृथुमूल ग्रावा हो। ऊर्ध्वमूल (ऊपर की ओर जड़) और अवाक् शाखा वाला (नीचे की ओर शाखा वाला) वनस्पति जो अश्वत्थ रूप संसार वृक्ष है, तत्सम्बन्धी ग्रावा यानी पाषाणवत् अभेद्य परमात्म स्वरूप ही तुम हो। और तुम पृथुबुध्न' हो, अर्थात् विस्तीर्ण अपरिच्छिन्न अनन्त जो ब्रह्म है, वही बुध्न' अर्थात् मूल है जिसका ऐसे तुम हो। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म रूप जो संसार वृक्ष मूल है, तद्रूप ही तुम हो। 'तत्त्वमसि' यह छान्दोग्य श्रुति, इस बात को बता रही है।

चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥' (श्वे० ५।१०) तस्माददितेरखण्डसंवित्सुखतन्वाः पराम्बाया-स्तदभिन्ना तदीया त्वक् त्वां स्वरूपत्वेन वेत्तु जानातु। तस्यास्तथा वेद तस्यैव कृतार्थताहेतुत्वात्।

१६—यद्वा हे राजन् सेनापते वा त्वं शर्मासि प्रजारक्षकत्वेन सुखहेतुरसि। त्वत्प्रतापानलेन रक्षोजातिर्निरस्ता। अरातयो दानादि धर्मविमुखा अपि अवधूता निरस्ता एव। त्वमदित्याः प्रवाहरूपेणाखण्डितायाः प्रजायास्त्वगसि त्वगिव प्रियो रक्षकश्चासि। तथैव त्वामदितिः प्रजा स्वकीयत्वेन वेत्तु जानातु कदाचिदपि बाधकं बहिरङ्गं नावगच्छतु। त्वम-द्रिवदविचलोऽसि दार्ढ्येन वानस्पत्यः महावृक्षसम्बन्धी विस्तीर्णमूलवदाश्रयणीयोऽसि शत्रुप्रयुक्तशस्त्रास्त्रकुण्ठी-करणाय ग्रावासि। यथा ग्रावसु प्रयुक्तं क्षुरादितैक्ष्ण्यं कुण्ठितं भवति तथैव शत्रुकृतशस्त्रास्त्राणि कुण्ठितानि भवन्त्वि-त्यर्थः। (वा० सं० १।१४)

अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद्ग्रावासि वानस्पत्य ऽइ सऽइदं देवेभ्यो हवि ऽइशमीष्व सुशमि शमीष्व। हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि ॥ वा० सं० १। १५ ॥

अर्थ--हे हविर्द्रव्य! तुम आहवनीय अग्नि के शरीर हो और यजमान की वाणी के विसर्जन स्थान हो अर्थात् हविर्दान के समय वाग्विसर्जन यानी मौन धारण करे। अतः देवताओं के सन्तोषार्थ मैं तुम्हें उलूखल में डाल रहा हूँ। हे मुसल! यद्यपि काष्ठ से निर्मित हो तथापि अपनी दृढ़ता के कारण पाषाण के समान हो और दीर्घ होने के कारण महान् हो। अग्नि आदि देवताओं पर उपकार करने के लिये तुम इस हविर्द्रव्य के तुष आदि को दूर कर दो। वे तुष, हविर्द्रव्य से बिलकुल दूर हो जाँय ऐसा कर दो। हे हविर्द्रव्य निष्पन्न करने वाले! इधर आओ। हे हविर्द्रव्य को निष्पन्न करने वाले इधर आओ। (इसी प्रकार तीसरी बार भी कहना चाहिये) ॥१५॥

१६—यदि कोई यह शङ्का करे कि पहिले तो स्त्रीत्वेन (स्त्री के रूप में) निर्देश किया और अब पुंस्त्व (पुरुष) के रूप में व्यवहार कैसे किया गया? उसका समाधान यह है कि 'तत्त्व' उभय रूप होने पर भी अनुभय रूप है। "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥" तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार या कुमारी है और तू ही वृद्ध होकर दण्ड के सहारे चलता है तथा तू ही प्रपञ्च रूप से उत्पन्न होने पर अनेक रूप हो जाता है। इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् ने बताया है तथा आगे भी उसी ने कहा है कि "नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥" यह विज्ञानात्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जो-जो शरीर धारण करता है, उसी-उसी से सुरक्षित रहता है। अतः अखण्ड संवित्सुखमय शरीर वाली अदिति जो पराम्बा है, उससे अभिन्न उसकी अपनी त्वचा के रूप में तुम्हें वह समझ ले। उसके उस प्रकार समझने में ही तुम्हारी कृतार्थता है।

१६--अथवा हे राजन्! या हे सेनापते! 'त्वं शर्मासि' अर्थात् तुम प्रजा के रक्षक होने के कारण सुख के साधन रूप हो। तुम्हारी प्रतापाग्नि-से राक्षस जाति का निरास हो गया। दानादि धर्म से विमुख रहने वाले शत्रुगण भी निरस्त हो ही गये हैं। तुम प्रवाह रूप से अखण्डित प्रजारूप अदिति की त्वचा के समान त्वक् स्वरूप हो यानी प्रिय और रक्षक हो। तथैव अदिति अर्थात् प्रजा, तुम्हें अपना स्वकीय समझे। कदाचिदपि तुम्हें वह अपना बाधक अर्थात् बहिरङ्ग न समझे। तुम अद्रि यानी पर्वत की तरह अविचल रहो। तुम अपनी दृढ़ता के कारण वानस्पत्य हो, अर्थात् महान् वृक्ष से सम्बन्धित विस्तीर्ण मूल की तरह आश्रयणीय यानी आश्रय करने योग्य हो। शत्रुओं के द्वारा प्रयुक्त किये गये शस्त्रास्त्रों को कुण्ठित करने में ग्रावा यानी पाषाण के तुल्य हो। जैसे पाषाण पर प्रयुक्त किये गये क्षुरादि की तीक्ष्णता कुण्ठित हो जाती है, उसी तरह शत्रुकृत शस्त्रास्त्र सब तुम पर कुण्ठित हो जाते हैं॥

१—मूलसंहितापाठेनापि विदितशाब्दन्यायस्य कर्मकाण्डपरत्वं मन्त्राणामनायासेन ज्ञायते। नहि क्वचित्किञ्चित् क्वचित् किञ्चित् प्रतिपादयन् प्रकीर्णप्रायः संग्रहात्मकः सङ्गतिहीनो वेदः। यथा स्वामिदयानन्देन व्याख्यायते। मन्त्रा हि परस्परं सङ्गतिसापेक्षाः सन्ति। तथाहि पूर्वं यजमानः वाचं यच्छेति वाङ्नियमनं श्रुतम्, अत्र च वाग्विसर्गः। एवं पूर्वं व्रतं चरिष्यामीति व्रतग्रहणमन्ते व्रतमचारिषमित्यादिना स्पष्टमेव पूर्वापरसम्बन्धो द्योत्यते। दयानन्दरीत्या तून्मत्त-प्रलापवत् क्वचिन्मनुष्येभ्यो विद्युद्विद्योपदेशः, क्वचिद्गृहनिर्माणोपदेशः, क्वचिद्वायुशुद्धिप्रयोगादिकम्।

२—अस्तु प्रकृतमनुसरामः—'हविरावपत्यग्नेस्तनूरिति' (का० श्रौ० सू० २।४।६) उलूखले हविः प्रक्षिपेत्। हे हविः त्वमग्नेः आहवनीयस्य तनूः शरीरमसि। यतस्तत्र क्षिप्तं हविरग्निर्भवति तेन हविरग्नेस्तनूः।

३—अथवा अग्नि शब्देन यस्यै देवतायै हविर्गृह्यते सा लक्षणया बोध्यते। तस्या अपि हविस्तनूर्भवति। कीदृशं तत् ? वाचो विसर्जनम्। यस्मिन् हविषि प्रक्षिप्तेऽध्वर्युणा वाग्विसृज्यते तदिदं वाचो विसर्जनम्।

४—यद्वा अपां प्रणयनकाले नियमिताया यजमानवाचो हविरावपनकाले विसर्गो भवति। तस्मादिदं हविर्वाचो विसर्जनमुक्तम्। 'यां वाअमूꣳ हविर्ग्रहीष्यन् वाचं यच्छत्यत्र वै तां विसृजते' इति (श० १।१।४।८) अतो देववीतये देवानां तर्पणाय त्वां गृह्णामि आवपामीत्यर्थः।

१—मूल संहिता के पाठ से भी शब्दार्थ मर्यादा को जानने वाले विद्वान् की समझ में आ सकता है कि मन्त्रों का अर्थ कर्मकाण्ड परक है यानी मन्त्रों का तात्पर्य कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में है। उसमें किसी प्रकार की आयास करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा नहीं है कि यह वेद क्वचित् कुछ, और क्वचित् कुछ प्रतिपादन करता हो। प्रकीर्णप्राय यानी केवल संग्रहात्मक, सङ्गतिहीन यह वेद नहीं है, जैसी व्याख्या स्वामी दयानन्द ने की है। क्योंकि वेद के मन्त्रों में सर्वदा परस्पर सङ्गति की अपेक्षा रहती है। जैसे पहले वाङ्नियमन श्रुत है, और यहाँ पर वाग्विसर्ग है। इसी प्रकार पहिले व्रत का आचरण करूँगा और अन्त में व्रत का आचरण किया। इस कथन से पूर्वापर सम्बन्ध स्पष्ट ही प्रकट हो रहा है। स्वामीं दयानन्द की व्याख्या में तो उन्मत्त-प्रलाप जैसा लगता है। कहीं तो मनुष्यों के लिये विद्युद्विद्या का उपदेश दिया जा रहा है, तो कहीं पर गृह-निर्माण का उपदेश दिया गया है, और कहीं शुद्धि प्रयोग आदि बताये जा रहे हैं।

२—अस्तु प्रकृत प्रसङ्ग की ओर ध्यान दिया जाय। कात्यायन श्रौतसूत्र ने उलूखल में हविः प्रक्षेप करने के लिये कहा है। हे हविः ! तुम आहवनीय अग्नि के शरीर हो। क्योंकि उसमें प्रक्षिप्त हुआ हवि, अग्नि रूप हो जाता है, इसलिये हविष् को अग्नि का शरीर (तनू) कहा गया है।

३—अथवा अग्नि शब्द से जिस देवता के लिये हविष् का ग्रहण किया गया है, उस देवता को भी लक्षणा से बोधित किया जा सकता है। इस हविष् को उस देवता का भी शरीर कह सकते हैं। वाचोविसर्जन का स्वरूप क्या उसका स्वरूप यह है कि हवि को जिसमें डालने पर अध्वर्यु के द्वारा वाग्विसर्जन किया जाता है, वह यहाँ पर वाचो-विसर्जन है।

४—अथवा अपाम्प्रणयन के समय यजमान की नियमित वाणी का हविरावपन के समय विसर्ग होता है। इसलिये इस हवि को वाचोविसर्जन कहा गया है। शतपथ ने भी इसी बात को बताया है। कात्यायन ने दो सूत्रों के द्वारा बताया है कि हविर्ग्रहण के समय नियमित की हुई अपनी वाणी को अध्वर्यु खोलता है और यजमान, अपाम्प्र-णयन काल में अपनी नियमित वाणी को खोलता है।

५—कात्यायनस्तु—'वाचं विसृजते' (का० श्रौ० सू० २।४।७) 'यजमानश्च' (का० श्रौ० सू० २।४।८) इति सूत्राभ्यां हविर्ग्रहणकाले गृहीतां वाचमध्वर्यु विसृजते यजमानश्चापां प्रणयनकाले नियमितां वाचं विसृजेदित्याह। 'हविष्कृता वा' (का० श्रौ० सू० २।४।९) हविष्कृन्मन्त्रेण वा वाग्विसर्गः इति। 'नानावीजेष्वन्त्ये सामर्थ्यात्' (का० श्रौ० सू० २।४।१०) इति च द्वितीयस्य हविष उलूखलप्रक्षेपे यतवाक्त्वनियमादन्त्ये हविरावपनकाले वाग्विसर्गः कार्यः।

६—'बृहद्ग्रावेति मुसलमादत्ते'—'स इदमित्यवदधाति' (का० श्रौ० सू० २।४।११-१२) स इदमित्यात्तं मुसलमुलूखले स्थापयेत्। हे मुसल त्वं यद्यपि वानस्पत्यो दारुमयस्तथापि दाढर्येन पाषाणसदृशोऽसि तथा दीर्घत्वेन महानसि। हे मुसल स त्वं देवेभ्योऽग्न्यादिदेवोपकारार्थमिदं हव्यं ब्रीहिरूपं शमीष्व शमय भक्षणविरोध्युग्रतुषापनयनेन शान्तं कुरु। तस्यैव पदस्य व्याख्यानं सुशमि शमीष्व सुष्ठु यथा भवति तथा शमीष्व शमय (शमु उपसमे) व्यत्ययेन-विहितस्य शपोलुक्। 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' (पा० सू० ७।३।९५) इतीडागमः। सा च शान्तिर्द्विधा बाह्यवस्तूपनयनादेका, सा प्रथमावघातेन सम्पद्यते। अन्तःस्थितस्येषद्द्रव्यवर्णस्य मालिन्यापनयनादपरा सेयं फलीकरणेन निष्पद्यते। तमेतमुभयविधं तण्डुलसंस्कारं कुरु। अत एव कण्वो व्याचष्टे 'हव्यं संस्कुरु संस्कृतमित्येवैतदाहेति' काण्वसंहिताव्याख्याने सायणाचार्यः।

७—हविष्कृदेहीति त्रिराह्वयति' (का० श्रौ० सू० २।४।१३) अध्वर्युर्हविष्कण्डनं कुर्वन् हविष्कृदेहीति मन्त्रेण त्रिवारं हविष्कर्त्रीं यजमानपत्नीमग्नीधं वाह्वयति। अध्वर्युस्त्रिवारं मन्त्रं पठेत्। कण्डनं च त्रिवारं कुर्यात्। सायणस्तु—यजमानस्य पत्नी यः कोऽपि वा देवानामर्थे भक्त्या ब्रीहीन् सम्यगवहन्ति तत्सम्बोधनाह्वानं क्रियते हविष्कृदेहि अत्रागच्छ। य एव देवानां हविष्कृतस्तानाह्वयति त्रिर्ह्वयति। 'त्रिषत्या हि देवाः' (तै० सं० ६।३।१०।१) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। त्रिस्त्रिवारं देवाः सत्यं मन्यन्ते इत्यर्थः। 'अतः पत्न्य वहन्त्यन्यो वा इति' (का० श्रौ० सू० २।४।१४) इति कात्यायनोऽपि।

५—अथवा हविष्कृत् मन्त्र से वाग्विसर्ग करने के लिये भी कहा है। और उलूखल में द्वितीय हवि के प्रक्षेप के समय वाणी का जो संयमन किया था उसे अन्तिम हविरावपन के समय खोल दे।

६—कात्यायन कहते हैं कि 'स इदम्' इस मन्त्र से गृहीत किये हुए मुसल को उलूखल में स्थापित करे। हे मुसल ! तुम यद्यपि दारुमय (वानस्पत्य) हो तथापि अपनी दृढ़ता के कारण पाषाण के समान हो, तथा दीर्घ (लम्बे) होने से महान् हो। हे मुसल ! तुम अग्नि आदि देवताओं के उपकारार्थ इस व्रीहि रूपी द्रव्य को भक्षणविरोधी उग्रतुषापनयन करके शान्त करो। 'शमीष्व' पद की ही सुशमि शमीष्व' व्याख्या की गई है कि अच्छी तरह से शान्त करो। 'शमु' उपशमे धातु है। व्यत्यय से शप् का लुक् और 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' सूत्र से ईडागम हुआ है। वह शान्ति दो प्रकार से हो सकती है। पहिला प्रकार—तो बाह्यतुषापनयन से, जो प्रथम अवघात से होता है। दूसरा प्रकार—अन्तःस्थित मालिन्य के अपनयन से, जो फलीकरण से होता है। एवञ्च दोनों प्रकार से तण्डुलों का सस्कार करो इसी को सायणाचार्य ने काण्व संहिता की व्याख्या में कहा है।

७—कात्यायन ने कहा है कि हविष्कण्डन करते हुए अध्वर्यु 'हविष्कृदेहि' इस मन्त्र से तीन वार हविष्कर्त्री यजमान पत्नी को अथवा अग्नीध को बुलावे। अध्वर्यु तीन बार मन्त्र पढ़े और कण्डन भी तीन बार करे। सायण का कहना है कि यजमान की पत्नी अथवा जो कोई देवताओं के लिये भक्तिपूर्वक व्रीहियों का अवहनन कर सके उसे सम्बोधित कर आह्वान करे—'हविष्कृदेहि' 'हविः करोति' इति हविष्कृत् इस व्युत्पत्ति से जो हवि को करता है उसे हविष्कृत् कहते हैं। हे हविष्कृत् ! यहाँ आओ। जो भी देवताओं के लिये हविर्निर्माण करने वाले हों उन्हें तीन बार बुलाना चाहिये। क्योंकि तीन बार कही गई वात को देवता सत्य मानते हैं।

८—स्वामिदयानन्दस्तु—"विद्वद्भिर्यज्ञो देववीतये वाचो वेदवाण्या उच्चारणेन हविषो विसर्जनम् अग्नेर्मध्ये क्रियते। सोऽग्निः संयोगेन विस्तृतो भूत्वाग्नेर्भौतिकस्य तनूः शरीरवदसि भवति। अतोऽहं सर्वोजनस्त्वां तं गृह्णामि। हे विद्वन् यस्य हविषः संस्काराय बृहद्ग्रावा वानस्पत्यश्चास्यस्ति तदिदं हविर्देवेभ्यो विद्वद्भ्यः सुशमि शमीष्व कुतः ये मनुष्या वेदादीनि शास्त्राणि पठन्ति पाठयन्ति च तानेवेयं वाक् हविष्कृदेहि। हविष्कृदेहीत्याह"। (पृ० ८१)

९—तत्राध्याहारव्यत्ययादिबाहुल्यमेव दोषः। एवमध्याहारेण स्तुतिवाक्यानां निन्दापरत्वमपि योजयितुं शक्यते। वाच इत्यनेन विसर्ग इत्यस्य श्रुतसम्बन्धमुपेक्ष्य उच्चारणेन इत्यश्रुतेन सम्बन्धकल्पनमसङ्गतमेव। हविषोविसर्जनमित्यस्य सम्बन्धाय 'अग्नेर्मध्य' इत्यध्याहारोऽपि अप्रामाणिक एव। सर्वो जन इत्यस्याप्यध्याहार एवं विध एव।

१०—किञ्च त्वन्मते होमेन देवानां विदुषां कथं भोगप्राप्तिर्भवति। तेषां तु घृतान्नादिदानेनैवाधिका तृप्तिर्भवति। देवानामुत्तमगुणानामपि प्राप्तिर्होमापेक्षया सत्सङ्गादिभिरेवाधिक सम्भवति। हविषो ग्रावभिः पाषाणैः कथं संस्कारो भवति ? सुगन्ध्यादिपदार्थयुक्त इति कस्य पदस्यार्थः ? सुशमिशब्दस्य दुःखनाशकमुत्तमपदार्थसम्पादयितृ इत्यर्थः कृतः, शमीष्वेत्यस्य सर्वसुखानां प्राप्त्यर्थं सर्वदुःखानां निवृत्त्यर्थं वारं वारं सम्पादयस्वेत्यादिकोऽर्थो विहितः तत्सर्वं सर्वथा निर्मूलमेव। ये वेदादिशास्त्राणि पठन्ति तेषामेव होमदानयोग्यपदार्थविधात्री वेदवाणी लभ्यते इति कस्य पदस्यार्थः ? एहीत्यस्य पुरुषव्यत्ययेनैतीत्यर्थे स्वीकृतेऽपि हविष्कृदिति पदस्य तथाविधोऽर्थः कथमुपलभ्यते ? नहि

८—किन्तु स्वामी दयानन्द ने यह व्याख्या की है कि "विद्वान् लोग वेद वाणी का उच्चारण कर हवि का विसर्जन करते हैं। अर्थात् अग्नि में डालते हैं। तब वह अग्नि हवि के संयोग मे विस्तृत होकर भौतिक अग्नि की तनू यानी शरीर के समान 'असि' की व्याख्या 'भवति' अर्थात् होता है। इसलिये मैं और सभी लोग तुम्हारा ग्रहण करते हैं। हे विद्वन् ! जिस हवि के संस्कारार्थ बृहद्ग्रावा और वानस्पत्य वह है, वही यह हवि देवताओं के लिये, विद्वानों के लिये उपशमन करे, क्योंकि जो मनुष्य वेद-शास्त्रों को पढ़ते-पढ़ाते हैं, उन्हीं को यह वाणी 'हविष्कृद् एहि, हविष्कृदेहि' ऐसा कहती है।" (पृ० ८१)

९—पहिले तो इस व्याख्या मे व्यत्यय-अध्याहार इतनी अधिक मात्रा में ग्रहण किया गया है, जो दोषावह हो गया है। इस प्रकार अध्याहार करके तो स्तुतिवाक्यों को निन्दापरक भी लगाया जा सकता है। 'वाचः' के साथ 'विसर्ग' के श्रुतसम्बन्ध की उपेक्षा करके अश्रुत जो 'उच्चारण' है, उसके साथ सम्बन्ध की कल्पना करना असङ्गत ही है। हविर्विसर्जन का सम्बन्ध करने के लिये 'अग्नेर्मध्ये' का अध्याहार करना भी अप्रामाणिक ही है। 'सर्वोजनः' का अध्याहार करना भी उसी तरह अप्रामाणिक है।

१०—किञ्च आपके मत से होम के द्वारा देवता यानी विद्वानों को भोग की प्राप्ति कैसे हो सकेगी ? उनकी तो घृत, अन्न, आदि के दान से ही अधिक तृप्ति हुआ करती है। देवताओं में उत्तम गुणों को प्राप्ति भी होम की अपेक्षा सत्सङ्गादि से ही होना अधिक सम्भव है। हवि का संस्कार पाषाणों से कैसे हो सकता है ? 'सुगन्धी आदि पदार्थ से युक्त' यह अर्थ, किस शब्द का है ? 'सुशमि' शब्द का अर्थ, दुःखनाशक उत्तम पदार्थ का सम्पादयिता—यह अर्थ कर दिया है, 'शमीष्व' का अर्थ, सर्व सुखों की प्राप्ति के लिये एव सर्व दुःखों की निवृत्ति के लिये बार-बार सम्पादन करो—किया है। किन्तु यह अर्थ, सर्वथा निर्मूल ही है। 'जो लोग वेदादि शास्त्रों को पढ़ते हैं, उन्हीं को होमदानादि योग्य पदार्थ का विधान करने वाली वेदवाणी प्राप्त होती है'—यह किस पद का अर्थ है ? 'सहि' में पुरुषव्यत्यय करके 'एति' अर्थ स्वीकृत करने पर भी 'हविष्कृत्' पद का भी तथाविध अर्थ कैसे प्राप्त होता है ? पुनरुच्चारण करने से उतना अर्थ की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है। यह जो कहा है कि हविष्कृत्' पद से यज्ञ सम्पादनार्थ ब्राह्मण

पुनरुच्चारणेन तावानर्थः सम्भवति। यदुक्तम् (हविष्कृत्) अत्र यज्ञसम्पादनाय ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चतुर्विधा वेदाध्ययनसंस्कृता सुशिक्षिता वाक् गृह्यते' (पृ० ७९) इति, तदपि न काञ्चिद्राजाज्ञामनुसरति इति कृत्वा तथार्थत्वे प्रमाणाभावात्। त्रैवर्णिकेतरेषामुपनयनविधानाभावात्। वेदाध्ययनस्यापशूद्राधिकरणादौ निषिद्धत्वाच्च।

११—भावार्थे तु "ये चैवं सर्वेषां प्राणिनां सुखाय पूर्वोक्तं त्रिविधं यज्ञं नित्यं कुर्वन्ति तान् सर्वे मनुष्या हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति सत्कुर्युः।" (पृ० ८१) तदेतदपि पूर्वोक्तविरुद्धमेव, उभयत्र स्थलेऽर्थभेदनिरूपणात्। तत्र हविष्कृत्शब्दस्य वेदवाणीत्यर्थः कृतः, इह तु त्रिविधयज्ञकर्ता हविष्कृदुच्यते इत्युभयत्रार्थो भिद्यते। सुगन्धादिद्रव्यहोमद्वारा वायुवृष्टिशुद्धिस्तु प्रायेण सर्वत्रैवावर्त्यते।

१२—यत्तु—"बहुलं छन्दसि'—(पा० सू० २।४।७३) इति श्यनो लुगित्युक्त्वा, महीधरेण शपो लुगित्यशुद्धं व्याख्यात"मिति कथनं, तदप्यशुद्धमेव, सूत्रार्थानवबोधात्। अत एव विवरणकारो ब्रह्मदत्तः शपोलुकि श्यन्नभाव इति व्याचष्टे। महाभाष्यकाररीत्या च सामान्येन शपः प्राप्तिः। शपः स्थान एव श्यन्नाद्या आदेशा भवन्ति। तस्माच्छपो लुकि श्यनादिप्राप्तिरेव न भवति। यदपि सुशमि इति (पा० सू० ३।२।१४१) इत्यनेन शमेर्घिनुण् इत्युक्त्वा, इदमपि उव्वटमहीधराभ्यामन्यथा व्याख्यातमित्युक्तं, तदपि चापलमेव सुष्ठु शान्तं यथा भवति तथा शमीष्व इत्यर्थमन्तरा द्विविधायाः शान्तेरसिद्धेः। तात्पर्यानुरोधी स्वरव्यत्ययस्त्विष्ट एव।

१३—यत्तु केनचिदुक्तं शतपथानुसारि दयानन्दीयं व्याख्यानं तत्तु मूढजनप्रतारणमेव। तथाहि—'अथहविराश्पति। अग्नेस्तनूरसि वाचोविसर्जनमिति यज्ञो हि हविः तेनाग्नेस्तनूर्वाचो विसर्जनमिति यां वा अमूᳩं हविर्ग्रहीष्यन्

क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों की वेदाध्ययन संस्कृता, सुशिक्षिता चतुर्विधा वाणी का ग्रहण किया गया है, किन्तु यह कथन भी कोई राजाज्ञा नहीं है। उक्त अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। त्रैवर्णिकों के अतिरिक्त लोगों का उपनयन संस्कार विहित नहीं है, और अपशूद्राधिकरण आदि में विद्याध्ययन का निषेध भी किया गया है।

११—भावार्थ बताते समय पृष्ठ ८१ पर जो कहा है कि 'जो लोग, समस्त प्राणियों के सुख के लिये पूर्वोक्त त्रिविध यज्ञ का नित्य अनुष्ठान करते हैं, उनका सत्कार, सभी मनुष्य 'हविष्कृदेहि–हविष्कृदेहि' कह कर किया करें।' किन्तु यह कथन भी पूर्वोक्त के विरुद्ध ही है। क्योंकि दोनों जगह भिन्न-भिन्न अर्थ का निरूपण किया गया है। वहाँ पर 'हविष्कृत्' शब्द का वेदवाणी अर्थ किया है, किन्तु यहाँ पर 'त्रिविध यज्ञकर्ता' अर्थ 'हविष्कृत्' शब्द का बता रहे हैं—इस कारण अर्थभेद हो गया है। सुगन्धि द्रव्यादि के द्वारा होम करने से वायु-वृष्टि-शुद्धि का होना तो प्रायः सर्वत्र ही आप बार-बार बता रहे हैं।

१२ यह जो आपने कहा है कि 'बहुलं छन्दसि' इस पाणिनि सूत्र से 'श्यन्' का लुक् होता है, किन्तु महीधर ने जो 'शप्' का लुक् बताया है, वह अशुद्ध है"—आपका यह कथन भी अनुचित ही है, क्योंकि पाणिनि सूत्र के अर्थ का ज्ञान आपको नहीं है। विवरणकार ब्रह्मदत्त ने व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है—'शपो लुकि श्यन्नभावः'। महाकार की रीति से सामान्यतः 'शप्' की प्राप्ति होती है। 'शप्' के स्थान में 'श्यन्' आदि आदेश होते हैं। तस्मात् 'शप्' का लुक् होने पर तो 'श्यन्' -आदि की प्राप्ति का सम्भव ही नहीं है। और जो यह कहा है कि "सुशमि इस प्रयोग में पाणिनि ३।२।१४१ से 'शम्' धातु से 'घिनुण्' होता है। उव्वट–महीधर ने अन्यथा व्याख्या की है।" यह सब कहना चपलता से खाली नहीं है। क्योंकि 'सुष्ठु शान्तं यथा भवति तथा शमीष्व' इस अर्थ के सिवाय द्विविध शान्ति सिद्ध नहीं हो सकती। तात्पर्यानुरोधी स्वरव्यत्यय तो इष्ट है ही।

१३—दयानन्दी व्याख्या किसी तत्सजातीय बन्धु ने शतपथ ब्राह्मणानुसारी होने की बात कही है। इस बात को कहकर मूढ़ जनों की प्रतारणा ही उसने की है। शतपथ (१।१।४।८) ब्राह्मण, जो ऊपर मूल में दिया गया है,

वाचं यच्छत्यत्र वै तां विसृजते तद्यदेतामत्र वाचं विसृजते। एष हि यज्ञ उलूखले प्रत्यष्ठादेष हि प्रासारि तस्मादाह वाचो विसर्जनमिति।' (श० १।१।४।८) अत्र स्पष्टमग्नेस्तनूरसीति मन्त्रेण हविरावपनं विधीयते। किमेतद्दयानन्देनोक्तम्? यज्ञो हीति यस्मात् यज्ञो यज्ञसाधनं हविः, अतोऽग्नेः शरीरमेव हविः। दयानन्दस्तु वाचो वेदवाण्या उच्चारणेन हविषोऽग्नेर्मध्ये प्रक्षेपमुक्तवान्। किमयमर्थोऽत्र प्रतिपाद्यते? अत्र तु नियमिताया वाचो विसर्जनमेवोच्यते। अथ वाचं यच्छति इति। या वाग् नियमिता तामेवानेन मन्त्रभागेन विसृजते। अतो विसृज्यते हविरनेनेति विसर्जनं हविरिति मन्त्रपाठस्य एतद्वाग्विसर्जनमुपपादयति तद्यदिति। एतां वाचं विसृजते यत्तद्युक्तमेव। हि यस्मादेष यज्ञः यज्ञसाधनं हविः (लाङ्गलं जीवनमित्यत्र जीवनसाधनत्वात् यथा लाङ्गले जीवनपदं प्रयुज्यते तद्वत्) उलूखले प्रत्यष्ठात् प्रतिष्ठितमभूत्। यस्माच्चैष यज्ञः प्रासारि प्रासारितोऽभूत् अतो हेतोर्वाङ् नियमनस्य प्रयोजनं नास्ति, इति तद्विसर्जनमेव युक्तमित्यर्थः।

१४—सपदि पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत् ततो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत्। यज्ञो वै विष्णुस्तद् यज्ञं पुनरारभते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिर्देववीतये त्वा गृह्णामीति देवानवदित्यु हि ह वगृह्यते' (श० १।१।४।९) हविरावपनात् पूर्वं लौकिकमानुषवाग्व्याहारे प्रायश्चित्तमाह—यदि मानुषीं वाचं व्याहरेत् इद विष्णुर्विचक्रमे इत्यादिकां वैष्णवीमृचं वैष्णवं यजुर्वा जपेत् विष्णुरेव यज्ञस्ततो वैष्णवमन्त्रजपेन पुनर्यज्ञमारभते। देववीतये इति मन्त्रशेषस्याभिप्रायमाह—देवानवदितीति। यष्टव्यान् देवान् अवत् अवतु तर्पयत्वित्यर्थः। अनेनैवाभिप्रायेण हविर्गृह्यते। अतः हे हविर्देववीतये त्वा गृह्णामीति देववीतये देवानां तृप्तये इति मन्त्रगतपदाभिप्रायः। सर्वथापि सिद्धान्तानुसारि शतपथव्याख्यानं न दयानन्दीयव्याख्यानस्य गन्धोऽप्यत्र दूरतोऽपि भाति।

१५—अथमुसलमादत्ते। बृहद्ग्रावासि वानस्पत्य इति बृहद्ग्रावाह्येष वानस्पत्यो ह्येष तदवधाति स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्वेति स इदं देवेभ्यो हविः सꣳस्कुरु साधु सꣳस्कृतꣳ संस्कुर्वित्येवैतदाह' (श० १।१।४।१०)। शातपथी श्रुतिर्मुसलादानं विधत्ते तदनुगुणञ्च मन्त्रमपि व्याख्याय सस्करोति बृहद्ग्रावासि वानस्पत्य इति। यद्यपि वानस्पत्यो मुसलस्तथापि सोमसंस्कारकग्राववत् हविःसंस्कारकत्वसाम्यात् तत्र ग्रावत्वं गौणम्, दीर्घत्वाच्च बृहत्त्वम् इति मुसलस्य बृहद्ग्रावाभिधेयता प्रसिद्धेत्यर्थः। तस्य मुसलस्योलूखले प्रक्षेपणं समन्त्रकं विधत्ते श्रुतिः—तदवधाति। स इदं देवेभ्य इत्यादि मन्त्रेण। शमीष्वेतिमन्त्रपदस्यार्थमाह—देवेभ्यः इदं हविः सस्कुरु शमीष्व दोषोप-

---

उसको पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा कि 'अग्नेस्तनूरसि' मन्त्र से 'हविरावपन' का विधान किया गया है। क्या यह वाक्य, दयानन्द ने कहा है? 'हवि' को यज्ञ साधन कहा गया है, इसलिये वह 'यज्ञ' स्वरूप ही है। अतः 'हवि' को अग्नि का शरीर ही समझना चाहिये। दयानन्द ने तो कहा है कि 'वेदमन्त्र का उच्चारण कर हवि को अग्नि में डाल देना चाहिये।' क्या यह अर्थ यहाँ प्रतिपादित किया गया है? यहाँ तो नियमित की गई वाणी का विसर्जन ही बताया जा रहा है।

१४—हविरावपन के पूर्व लौकिक मानुष वाणी का उच्चारण करे तो उसे प्रायश्चित्त के रूप में वैष्णवी ऋचा का अथवा वैष्णव यजुर्मन्त्र का जप करने के लिये कहा गया है। क्योंकि विष्णु ही यज्ञ रूप है इसलिये वैष्णव मन्त्र के जप करने से यज्ञ का पुनः आरम्भ माना जाता है। 'देववीतये' इस मन्त्रशेष के अभिप्राय को बता रहे हैं—'यष्टव्य देवताओं को वह तृप्त करे। इसी अभिप्राय से हविर्ग्रहण किया जाता है। यह शतपथ में किया गया व्याख्यान सर्वथैव सिद्धान्तानुसारी है। दयानन्दी व्याख्या का गन्ध भी इसमें नहीं है।

१५—शातपथी श्रुति ने मुसलादान का विधान किया है। वह 'मुसल' वानस्पत्य अर्थात् दारुमय है, तथापि सोमसंस्कारक ग्रावा की तरह हविः संस्कारकता के साम्य को देखकर उससे ग्रावत्व गौण समझना चाहिये। दीर्घ होने के कारण उसे बृहत् बताया गया है। इसी कारण मुसल की बृहद्ग्रावाभिधेयता प्रसिद्ध है। उस मुसल का

शमनेन संस्कुरु। सुशमि शमीष्वेतिमन्त्रस्य तात्पर्यमाह साधु संस्कृतं संस्कुर्वित्येवैतदाह—साधुयथास्यात्तथा बाह्यान्तः-स्थूलतुषसूक्ष्ममालिन्यापनयनाय नयनेन संस्कुर्वित्यर्थः। एतावता उव्वटमहीधरयोरर्थ एव समर्थितो भवति। सुष्ठु दुखं शमितुं शीलं धर्मः साधुकरणं वा यस्य तत्, दुःखनाशकमुत्तमपदार्थानां सुप्रापकं हविरित्यर्थः समर्थ्यं ते सुशमीत्यस्य शमीष्वेति क्रियाविशेषणतयैव साधु संस्कृतं संस्कुरु सुशमि शमीष्व साधु यथा संस्कृतं तथा संस्कुर्वित्येवार्थः। सायणेनापि काण्वसंहितायां तथैव व्याख्यातम्।

१६—'अथ हविष्कृतमुद्वादयति। हविष्कृदेहीति वाग्वै हविष्कृद् वाचमेवैतद्विसृजते वागुवै यज्ञः। तद् यज्ञमेवैतत्पुनरुपह्वयते (श० १।१।४।११) अत्रापि स्पष्टं शतपथश्रुत्या हविष्कृदेहीतिमन्त्रेण हविष्कृदाह्वान विधीयते। उद्वादयति—उच्चैराह्वयतीत्यर्थः। मन्त्रकाण्डे द्विराम्नानादत्रापि द्विः पाठः। सूत्रेण त्रिराह्वानमुक्तम्। त्रिषत्याहि देवा' (तै० सं० ६।३।११।१) इति तैत्तिरीयश्रुतेः।

१७—हविष्कृच्छब्दार्थमाह—वाग्वैहविष्कृत् इति। निर्वापादौ मन्त्ररूपाय वाचो हविष्करणसाधनत्वात् वागेव हविष्कृत्। अतस्तामनेनैव मन्त्रेणाह्वयन् हविर्ग्रहणकाले नियमितां वाचं विसृजेत्। अत एव कात्यायनेन अग्नेस्तनूरसीति मन्त्रेण हविष्कृदेहीति मन्त्रेण वा वाग्विसर्जनं कर्त्तव्यमिति विकल्पेन सूत्रितम्। 'अग्नेस्तनूरसीति वाचं विसृजेत्' (का० श्रौ० सू० २।८१) 'हविष्कृता वा' (का० श्रौ० सू० २।८३) 'वागुवै यज्ञः' (श० १।१।४।११) या वाग्हविष्कृत् सैव खलुयज्ञः कुतः तस्य तन्निर्वर्त्यत्वात्। तत् तथा सति एतेन वागात्मिकाया हविष्कृत आह्वानेन यज्ञमेव पुनराह्वयते इति शतपथे सायणाचार्योऽपि तथैव व्याख्याति।

१८—शतपथवचनस्यार्थमबुद्ध्वैव स्वामी दयानन्दः हविष्कृदेहीत्यस्यानुपपन्नमेव यं कञ्चिदर्थमुक्तवान्। 'तानि वा एतानि। चत्वारि वाच एहीति ब्राह्मणस्यागह्याद्रवेति वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य स यदेव ब्राह्मणस्य तद हेतद्धि यज्ञियतममेतदुह वै वाचः शान्ततमं यदेहीति तस्मादेहीत्येव ब्रूयात् (श० १।१।४।१२) ब्रह्मक्षत्रादिवर्णभेदो-

---

उलूखल में समन्त्रक प्रक्षेपण करना श्रुति ने बताया है। 'शमीष्व' इस मन्त्र पद का अर्थ कहते हैं—देवताओं के लिये इस हवि का संस्कार करो। 'शमीष्व' अर्थात् दोषोपशमन करते हुए संस्कार करो। 'सुशमि शमीष्व' इस मन्त्र का तात्पर्य बताया है कि साधुनया संस्कृत हो, ऐसा संस्कार करो। साधु यथास्यात्तथा बाह्यान्तःस्थूलतुषसूक्ष्ममालिन्य के अपनयनार्थ आँख से देखकर संस्कार करो। सायण ने भी काण्व संहिता मे ऐसी ही व्याख्या की है।

१६—शतपथ (१।१।४।११) में भी स्पष्ट कहा है कि 'हविष्कृदेहि' इस मन्त्र से हविष्कृत् का आह्वान किया जाता है। 'उद्वादयति' का अर्थ है—उच्चैः आह्वयति। मन्त्र काण्ड में दो बार आम्नात रहने से यहाँ पर भी दो बार उसका पाठ किया गया है। तैत्तिरीय श्रुति के आधार पर सूत्रकार ने त्रिराह्वान के लिये बताया है।

१७—'हविष्कृत्' शब्द के अर्थ को बताया है—निर्वाप आदि में मन्त्र रूपा वाणी, हविष्करण का साधन होने से 'वाक्' को ही हविष्कृत् कहा गया है। अतः उस वाणी रूप हविष्कृत् को इसी मन्त्र से बुलाते हुए हविर्ग्रहण के समय अपनी नियमित वाक् का विसर्जन करे। अत एव कात्यायन ने विकल्प प्रदर्शित कर 'अग्नेस्तनूरसि' मन्त्र से अथवा 'हविष्कृदेहि' मन्त्र से वाग्विसर्जन करने के लिये कहा है। जो वाक् रूप हविष्कृत् है, वही तो यज्ञ है, क्योंकि यज्ञ की निष्पत्ति, उस वाक् से ही हो पाती है। एवञ्च इस वागात्मिका, हविष्कृत् के आह्वान से मानो यज्ञ का ही पुनराह्वान किया जाता है। इस शतपथ की व्याख्या के अनुसार सायणाचार्य ने भी वैसी ही व्याख्या की है।

१८—शतपथ श्रुति के अर्थ की अनभिज्ञता के कारण स्वामी दयानन्द ने 'हविष्कृदेहि' का मनगढ़न्त अर्थ कर दिया है, जो अनुपपन्न है। ब्रह्म क्षत्रादि वर्ण भेद के आधार पर हविष्कृदाह्वान मन्त्र में कुछ विशेष विवक्षा से शतपथ ने बताया है कि वाणी के चार रूप होते है। वैश्य के लिये 'हविष्कृदागहि' यह मन्त्र है, क्षत्रिय (राजन्यबन्धु)

पजीवनेन हविष्कृदाह्वानमन्त्रे विशेषविवक्षयोच्यते। चत्वारि वाच इति। वाचः सम्बन्धीनि चत्वारि रूपाणि सन्ति। कानि तानीत्याह –'वैश्यस्य हविष्कृदागहि' इति मन्त्रः राजन्यबन्धोः क्षत्रियजातेः हविष्कृदाद्रवेति हविष्कृदाधावेति शूद्रस्य' आपस्तम्बस्तु राजन्यवैश्ययोर्वैपरीत्येनासूत्रयत्–'हविष्कृदेहीति ब्राह्मणस्य हविष्कृदागहीति राजन्यस्य हविष्कृदाद्रवेति वैश्यस्येति हविष्कृदाधावेति शूद्रस्य' (आपस्तम्ब श्रौ० सू० १।१९।९)।

१९—एवं पूर्वपक्षतया ब्राह्मणादिवर्णप्रयुक्तं विशेषमुपन्यस्य स्वमतं निगमयति स यदेव ब्राह्मणस्य एहीति। एतत्खलु यज्ञियतमम् अतिशयेनयज्ञार्हम् 'इड एह्यादित एहि' (वा० सं० ३।२७) इत्यादावन्यत्रापि यज्ञे प्रयोगात्। एतदुह वाचः आगहि आद्रवेत्यादेः सकाशात् एहीत्येवातिशयेन शान्तम्। प्रार्थनावाक्येष्वेहीति सर्वत्र प्रयोगात् आद्रवादीनाम् निकृष्टप्रेषणरूपत्वाच्चेत्यर्थः। नात्र हविष्कृदेहीत्यनेन यज्ञसम्पादनाय ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चतुर्विधा वेदाध्ययनसंस्कृता सुशिक्षिता वाक् गृह्यत इति सिद्धयति वेदाध्ययनसंस्कृतायाः शिक्षितायाः वाचश्चातुर्विध्यायोगात्।

२०—प्रकृते हविष्कृदेहि इत्यत्रैव वर्णभेदेन एहि, आगहि, आद्रव, आधावेति भेदः कार्य इति पूर्वपक्षं कृत्वा स्वमतेन एहीत्येव सर्वत्र प्रयोक्तव्य इत्याह श्रुतिः। अर्थात् ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रेषु वर्णभेदेन हविष्कृदागहि हविष्कृदाद्रव हविष्कृदाधावेति प्रयोगभेदमकृत्वा हविष्कृदेहीति ब्राह्मणस्यैव सर्वत्र प्रयोगः कार्यः। यज्ञियतमत्वाच्छान्ततमत्वाच्च। तस्माच्छतपथानुसारि तद्व्याख्यानमिति कथनं साहसमात्रम्।

२१—यत्तु केनचिदुक्त'मनेनैव शूद्राणामपि वेदाध्ययनयज्ञादावधिकारः सिद्धयतीति (पृ० ७९ हि०) तदसत्यम्, 'निषादस्थपतिं याजये (मै० सं० २।२।४) दित्यत्र शूद्राणामप्यधिकाराभ्युपगमात्। तत्रापि हविष्करणाय हविष्कृदेही-

---

के लिये 'हविष्कृदाद्रव' यह मन्त्र है, और शूद्र के लिये 'हविष्कृदाधाव' यह मन्त्र है। किन्तु आपस्तम्ब ने राजन्य और वैश्य के लिये कुछ विपरीत बताया है—'ब्राह्मण के लिये 'हविष्कृदेहि', राजन्य के लिये 'हविष्कृदागहि और वैश्य के लिये 'हविष्कृदाद्रव', तथा शूद्र के लिये 'हविष्कृदाधाव' यह मन्त्र है।

१९—इस प्रकार पूर्व पक्ष के रूप में ब्राह्मणादि वर्ण प्रयुक्त विशेष का उपन्यास करके स्वमत को सिद्धान्त रूप में कहा है। क्योंकि यही यज्ञिय मत है, अर्थात् अधिकतया यज्ञ के योग्य है। वाजस० संहिता (३।२७) में और अन्यत्र भी यज्ञ में प्रयोग किया जाता है। 'आगहि आद्रव' इत्यादि से 'एहि' पद ही अतिशय शान्त है। प्रार्थना वाक्यों में सर्वत्र 'एहि' का प्रयोग किया जाता है। और 'आद्रवादि' पदों का प्रयोग, निकृष्ट प्रेषण के रूप में किया जाता है। श्रुति वाक्यों के इस विवेचन से यह सिद्ध नहीं हो रहा है कि 'हविष्कृदेहि' से यज्ञ सम्पादनार्थ ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों की चार प्रकार की वेदाध्ययन से संस्कृत हुई सुशिक्षिता वाणी का ग्रहण किया जाय। क्योंकि वेदाध्ययन से संस्कृत हुई शिक्षित वाणी चार प्रकार की नही हुआ करती।

२०—प्रकृत प्रसङ्ग में 'हविष्कृदेहि' में ही वर्ण भेद से 'एहि, आगहि, आद्रव, आधाव'—यह भेद करना चाहिये—ऐसा पूर्व पक्ष करके अपने मत के अनुसार 'एहि' का ही सर्वत्र प्रयोग करने के लिये श्रुति ने बता दिया है। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों में वर्ण भेद से 'हविष्कृदागहि', 'हविष्कृदाद्रव', 'हविष्कृदाधाव' इन प्रयोगों को न करके 'हविष्कृदेहि' इस ब्राह्मण का ही सर्वत्र प्रयोग करना चाहिये। क्योंकि उसी में यज्ञियतमत्व और शान्ततमत्व है। तस्मात् दयानन्द स्वामी की व्याख्या को शतपथानुसारी बताना साहसमात्र है।

२१—यह जो किसी ने पृ० ७९ पर कहा है कि 'इसी से शूद्रों को भी वेदाध्ययन यज्ञ आदि में अधिकार का होना सिद्ध होता है।' यह ठीक कह रहे हो, क्योंकि 'निषादस्थपतिं याजयेत्' यहाँ पर शूद्रों का भी अधिकार माना गया है। वहाँ भी हविष्करण के लिये 'हविष्कृदेहि' यह आह्वान इष्ट है। किन्तु इतने मात्र से सभी कर्मों में

त्याह्वानस्येष्टत्वात् । न चैतावता सर्वकर्मस्वधिकार:, राजसूयादौ ब्राह्मणनामप्यनधिकारात् । वेदाध्ययनं तूपनयन-सापेक्षयमित्युक्तमेव । 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यमिति त्रयाणामेवोपनयनविधानात् । चतुर्थस्य तदभावादेव अध्ययनानधिकारोऽपि सिद्ध एव ।

२२—ऐतरेयब्राह्मणे द्वितीयपञ्चिकायां एकोनविंशे खण्डे यच्च—'ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवष-मैलूषं सोमादनयन् दास्या: पुत्र: कितबोऽब्राह्मण: कथं नो मध्येऽदीक्षिष्टेति ।……………एतदपोनप्त्रीयमपश्यत् प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातु रेत्विति (ऋ० सं० १०।३०।१) तेनापां प्रियं धामोपागच्छत् ।' (ऐ० ब्रा० २।१९) इति दासीपुत्रस्या-ब्राह्मणस्य अपोनप्त्रीयसूक्तदर्शनात् वेदे तस्याधिकारो व्यक्त: । इत्थमेव शाङ्खायनब्राह्मणेऽपि १२।३ 'माध्यमा: सर-स्वत्यां सत्रमासत । तद्धापि कवषो मध्ये निषसाद तं हेम उपोदु र्दास्या वै त्वं पुत्रोऽसि न वयं त्वया सह भक्षयिष्याम इति । सह क्रुद्ध: प्रद्रवत् सरस्वतीमेतेन सूक्तेन तुष्टाव तं हेयमन्वियाय तत उहेमे निरागा इव मेनिरे तं हान्वावृत्योचु-र्ऋषे नमस्ते अस्तु' (शाङ्खायनब्राह्मणम् १२।३)

छागलेयोपनिषद्यपि प्रारम्भ एव 'ॐ ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत । तेऽथ कवषमैजूषं दास्या: पुत्र इति दीक्षाया आच्छिदन्' महाभारतेऽपि शान्तिपर्वणि ३२७ अध्याये श्लोक ४९—'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत: । वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत्स्मृतम् ।।' महाभारते वनपर्वणि अध्याये १३४ श्लोक ११—'चत्वारोवर्णा यज्ञमभि-संवहन्ति ।' (वृहद्धारीत स्मृतौ ६।२५७) 'मन्त्राधिकारिण: सर्वे……… … लघुविष्णुस्मृतौ तु अ० ४ श्लोक ८ 'पञ्च-यज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते ।' इत्यादिकं तत्तु तत्तदर्थानवबोधविजृम्भिता भ्रान्तिरेव, ऐलूषकवषस्य शूद्रत्वासिद्धे: । नह्यब्राह्मणत्वेन शूद्रत्वं सम्भवति, क्षत्रियवैश्ययोरप्यब्राह्मणत्वप्रसिद्धे: । विद्यातपोभ्यां हीनस्य जन्मना ब्राह्मणस्यापि मुख्यब्राह्मणत्वाभावेनाब्राह्मणत्वोपपत्तेश्च । नापि दास्या: पुत्रत्वेनाब्रह्मणत्वम्, विनतायामपि पणविशेषेण दासीशब्द-प्रयोगात्, दास्या विनताया: पुत्रस्य गरुडस्य शूद्रत्वायोगात् । तेन ऐलूष: कवषो जन्मना ब्राह्मणोऽपि सन् बहुकालपर्यन्तं व्रात्य एवासीत् । तस्मात्तस्य दास्या: पुत्रत्वाब्राह्मणत्वाद्यभिधानम् । चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्शे "नापि कस्यचित् सूक्तदर्श-नेन तज्जातीयस्य वेदाध्ययनाधिकारसिद्धि:, देवशुन्या: सरमाया अपि सूक्तदर्शनेऽपि तज्जातीयानां वेदाध्ययनाधिकारा-सिद्धे:" इत्यादि स्थितम् ।

उसका अधिकार सिद्ध नहीं हो पाता है । इतना ही नहीं, राजसूय आदि यागों में ब्राह्मणों को भी अनधिकारी कहा गया है । वेदाध्ययन तो उपनयन सापेक्ष है यह कही चुके हैं । त्रैवर्णिकों के लिये ही उपनयन का विधान किया गया है । चतुर्थ को उपनयन का अधिकार न होने से ही उसे अध्ययन का अनधिकार (अधिकार न होना) है, यह स्पष्ट होता है ।

२२—ऐतरेय ब्राह्मण, ऋक् संहिता में दासी पुत्र अब्राह्मण को अपोनप्त्रीयसूक्त के दर्शन होने का उल्लेख है, इसलिये वेद में उसका अधिकार होना स्पष्ट हो रहा है । इसी प्रकार शाङ्खायन ब्राह्मण और छागलेयोपनिषद् तथा महाभारत और बृहत् हारीत स्मृति, एव लघु विष्णुस्मृति आदि के वचनों को बताकर शूद्र के अध्ययनाधिकार, कर्माधिकार के उल्लेख की बात जो की जाती है, वह उन वचनों के अर्थ का ज्ञान न हो पाने से बुद्धि में भ्रम हो रहा है । एलूष, कवष को शूद्र समझना भ्रम है क्योंकि उनका शूद्रत्व, सिद्ध नहीं है । अब्राह्मण होने मात्र से उसमें शूद्रत्व की सम्भावना नहीं की जा सकती । क्योंकि 'क्षत्रिय, वैश्य' का अब्राह्मणत्व तो प्रसिद्ध ही है, किन्तु उन्हें शूद्र नहीं कहा जाता । विद्या और तप से हीन रहने पर जन्मना ब्राह्मण में भी मुख्य ब्राह्मणत्व के न रहने से उसे अब्राह्मण कहा जाता है । दासी का पुत्र होने से भी उसको अब्राह्मण नहीं कहा जा सकता । जैसे पण विशेष के कारण विनता को भी 'दासी' शब्द से कहा जाता था । किन्तु उस दासी विनता के पुत्र गरुड़ को शूद्र नहीं कहा जाता है । उसी प्रकार ऐलूष कवष जन्मत: ब्राह्मण होते हुए भी दीर्घ काल तक वह व्रात्य' ही था । इसलिये उसे दासीपुत्र, अब्राह्मण आदि कहा गया है । चातुर्वर्ण्य संस्कृति विमर्श में कहा है कि 'किसी को सूक्त का दर्शन हो जाने मात्र से तज्जातीय व्यक्तियों को वेदाध्ययन अधिकार नहीं मिल जाता । देवताओं की कुतिया सरमा को भी सूक्त का दर्शन हो गया था, तथापि तज्जातीय कुतियों को वेदाध्ययन करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो पाया ।

२३—अध्यात्मपक्षेऽपि हे जीवात्मन्, त्वमग्नेः सच्चिदानन्दतनोः परमेश्वरस्य तनूश्चिदानन्दरूप एवासि। कीदृशं स्वरूपं वाचो विसर्जनम् तत्तादृश सर्वा अपि वाचो विसृज्यन्ते वाचः सर्वस्या अपि विसर्जनं यस्मात्। 'ओमित्येवं ध्यायथ' (मु० २।२।६) अन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' (मु० २।२।५) 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' (काठ० १।३।१३) इत्यादि श्रुतिभ्यः। देवस्य परमात्मनः वीतये सन्तुष्टये त्वामहं गृह्णामि शिष्यत्वेन गृहीत्वोपदिशामि ग्राह्यामि वा, जीवाभयप्रदानस्य परमात्मतुष्टिहेतुत्वात्। त्वं बृहद्ग्राववदविचलः कूटस्थ एवासि न कर्ता भोक्ता संसारी किन्तु वानस्पत्यः संसारवृक्षस्य सम्बन्धी मूलरूपश्चासि। सर्वसंसारकारणभूतः परमात्मैवासि 'तत्त्वमस्या' (छा० ६।८।७) दि श्रुतेः। न केवलं त्वमेव किन्तु इदं सर्वं विश्वमपि स एव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) तिश्रुतेः।

२४—ननु सर्वस्य परमात्मत्वेन प्रपञ्चस्य विनश्वरत्वं मम संसारित्व परमात्मनो भोक्तृभोग्याभ्यां चेतनाचेतनाभ्यां च सामानाधिकरण्यं कथं सम्भवतीतिचेच्छृणु मुख्यसामानाधिकरण्यबाधसामानाधिकरण्याभ्यां तदुपपत्तेः। सोऽयं देवदत्त इतिवत् भोक्तृपरमात्मनोर्भागत्यागलक्षणया सामानाधिकरण्यं रज्जुरियं न सर्प इतिवत् भोग्यपरमात्मनोर्बाधसामान्याधिकरण्यम्। ननु कथं तन्नानुभूयते इति चेत् तदर्थं देवेभ्योऽग्नीन्द्रादिभ्यो हविः शमीष्व संस्कुरु सुशमि साधुसंस्कृतं यथास्यात्तथा शमीष्व सम्यगान्तरबाह्यमलापनयनेन संस्कुरु आत्मानमेव हविष्ट्वेन शमीष्व साधु यथा स्यात्तथा बाह्याभ्यन्तरस्थूलसूक्ष्मप्रत्यक्षयोग्यान् कामादीन् वासनामयांश्च दोषानपनोद्य भगवद्भोग्यतया संस्कुरु। 'अहमन्नमहमन्न' (तै० ३।१०।६) मित्यादिना जीवो भगवद्भोग्यत्वेन स्वात्मानं समर्पयति। तदनन्तरं भगवन्तं भोक्तुं समर्थो भूत्वा 'अहमन्नादोऽहमन्नाद' (तै० ३।१०।६) इति स्वात्मानं परमानन्दमयं भगवद्भोक्तृत्वेन जानाति। भगवांश्च 'तस्य हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति रीत्या स्वागतं करोति।

२३—अध्यात्म पक्ष में भी हे जीवात्मन्! सच्चिदानन्द तनू परमेश्वर अग्नि की तुम तनू (शरीर) हो, अर्थात् सच्चिदानन्द रूप ही हो। वाणी के विसर्जन का स्वरूप कैसा है? सभी वाणियों का विसर्जन किया जाता है। परमात्मा की सन्तुष्टि के लिये मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। शिष्य बनकर तुम्हारा ग्रहण करके उपदेश अथवा ग्रहण करवाता हूँ। जीव को अभय प्रदान करना परमात्मा की तुष्टि का कारण है। तुम बृहद्ग्राव के समान अविचल कूटस्थ ही हो। किन्तु वानस्पत्य अर्थात् संसार वृक्ष के सम्बन्धी मूल रूप हो। सर्व संसार कारणभूत परमात्मा ही हो। इस कथन में 'तत्त्वमसि' श्रुति प्रमाण है। केवल तुम ही परमेश्वर स्वरूप नहीं हो, अपितु यह सम्पूर्ण विश्व भी परमेश्वर रूप है, क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' श्रुति कह रही है।

२४—यदि यह कहो कि सब कुछ परमात्म स्वरूप है तो प्रपञ्च का विनश्वरत्व, मेरा संसारित्व, परमात्मा का भोक्तृ-भोग्य, और चेतन और अचेतन से सामानाधिकरण्य कैसे सम्भव हो सकता है? इस आशङ्का का उत्तर सुनो—मुख्य सामानाधिकरण्य और बाधसामानाधिकरण्य से उसकी उपपत्ति ही सकती है। 'सोऽयं देवदत्तः' के समान भोक्ता और परमात्मा का भाग त्याग लक्षणा से सामानाधिकरण्य, और 'रज्जुरियं न सर्पः' की तरह परमात्मा का बाधसामानाधिकरण्य का सम्भव हो सकता है। तो फिर उसका अनुभव क्यों नहीं होता? यह कहो तो उसका उत्तर यह है कि अग्नि-इन्द्र आदि देवताओं के लिये 'हविः शमीष्व' हवि को सम्यक्तया संस्कृत बनाने के लिये उसका संस्कार करो, अर्थात् बाह्य-आभ्यन्तर मलापनयन करते हुए उसका संस्कार करो। अभिप्राय यह है कि आत्मा को ही हवि समझ कर अच्छी तरह संस्कृत बनाने के लिये स्थूल-सूक्ष्म प्रत्यक्ष योग्य कामादि और वासनामय दोषों को दूर कर भगवद्भोग्य वह बन सके ऐसा संस्कार करो। तब वह जीव भगवद्भोग्य बनकर अपने आपको भगवान् के अर्पण करता है। तदनन्तर भगवान् का भोग करने में समर्थ होकर 'अहमन्नादः अहमन्नाद्यम्' इस श्रुति के अनुरोध से परमानन्दमय अपने को भगवद्भोक्ता के रूप में समझता है और भगवान् 'हविष्कृदेहि-हविष्कृदेहि' इस रीति से उसका स्वागत करते हैं।

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वःइषमूर्जमावद त्वया वय ँ संघात ँ संघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूत ँ रक्षः परापूताऽअरातयः। अपहत ँ रक्षो वायुर्वो विविनक्तु देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना॥ वा० सं० १।१६॥

अर्थ—हे शम्यासंज्ञक यज्ञायुध ! तुम राक्षसों के लिये कुक्कुट स्वरूप हो। (अर्थात् राक्षस कहाँ-कहाँ हैं, उनको खोज-खोजकर उन्हें मारने के निमित्त जो सर्वत्र गमन करता है उसे कुक्कुट कहते हैं।) तथा तुम देवताओं के मधुजिह्व नाम के भृत्य (सेवक) हो। (जिसकी जिह्वा मधुर भाषण करने वाली है उसे मधुजिह्व कहते हैं)। हे यज्ञपात्र ! तुम राक्षसों का पराजय करो, और ऐसा शब्द करो कि जिससे यजमान को अन्न और रस प्राप्त हो, तब हम तुम्हारी सहायता से राक्षसों के साथ युद्ध करके युद्ध में विजय प्राप्त करेंगे। हे शूर्प ! तुम वर्षा के जल से वृद्धिङ्गत हुए तुम्हें शूर्प आत्मीय के रूप में पहिचाने। (व्रीहि और शूर्प दोनों ही वर्षा के जल से वृद्धि को प्राप्त होने के कारण परस्पर सम्बन्धी हैं)। शूर्प से व्रीहि को पखाड़ने पर तद्गत राक्षस रूप और शत्रु रूप हविःप्रतिकूल भाग दूर किया गया। शूर्प से पखाड़ने पर उड़कर दूर जा गिरे हुए तुष रूपी राक्षस दूर उड़ गये। हे व्रीहियों ! शूर्प की वायु तुम्हें तुम्हारी सूक्ष्मता से दूर करे। सुवर्ण की अंगुठियाँ आदि आभूषणों को धारण करने वाले देवगण प्रेरक बन कर अपनी अञ्जलि से तुम्हारा ग्रहण करें॥१६॥

१—आह्वयत्याहन्त्यन्यो दृषदुपले 'कुक्कुटोऽसी'ति त्रिः शम्यया द्विर्दृषदं सकृदुपलाम्' (का०श्रौ० सू० २।४।१५) अत्र पत्नीमग्नीधं वा अध्वर्यौ आह्वयति सति अन्योऽग्नीत् शम्यया दृषदुपले कुट्टयति तत्र विशेषः द्विर्दृषदं सकृदुपलां शम्यया हन्यात् 'कुक्कुटोऽसी'ति मन्त्रेण मन्त्रस्तु त्रिः प्रयोज्यः। पेषणसाधने द्वे शिले दृषदुपले समाहन्ति। द्विर्दृषदम् सकृदुपलां त्रिः सञ्चारयन् नवकृत्वः सम्पादयति।

२—हे शम्यारूप यज्ञायुधविशेष त्वं कुक्कुटो मधुजिह्वोसि। असुराः क्व क्वेत्येवं वदन्तः समुपयन्ति। तान् हन्तुमन्विच्छन् यः पुमानटति सर्वत्र सञ्चरति स कुक्कुटः। क्व शब्दस्य सम्प्रसारणे अटतेश्चाकारस्य पूर्वरूपत्वेन

१—कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुरोध से अध्वर्यु जब यजमान पत्नी को अथवा अग्नीध को बुलाता है तब अग्नीत् 'शम्या' से दृषद् और उपल पर प्रहार करता है। अर्थात् दो बार दृषद् पर और एक बार उपला पर प्रहार करता है, प्रहार करते समय 'कुक्कुटोसि' मन्त्र को तीन बार कहता है। अर्थात् पेषण की साधनभूत दृषद् उपल रूप दो शिला हैं, उस पर प्रहार करता है।

२—हे शम्यारूप यज्ञायुध विशेष ! तुम असुरों के लिये और देवताओं के लिये कुक्कुट हो, और मधुजिह्व हो। असुर लोग कहाँ-कहाँ हैं—ऐसा कहते हुए उन्हें मारने की इच्छा से जो सर्वत्र सञ्चार करता है, वह कुक्कुट है। इस

सम्प्रसारणरूपत्वे ककारस्य च द्वित्वे कुक्कुटरूपसिद्धिः। यद्वा कुत्सितं शब्दमसुरघ्नमसुराणां तनोतीति कुक्कुटः। अथवा असुरघ्नीं वाचमादाय कुक्कुटपक्षिवत् ध्वनिविशेषं असुरभीत्यर्थं यः करोति सोऽयं कुक्कुट इत्युपचर्यते। मधुजिह्वनामा कश्चित् देवानां भृत्यः। मधुरभाषिणी जिह्वा यस्य सः। 'मधुजिह्वो वै देवेभ्य आसी'दिति काण्वश्रुतेः। हे यज्ञायुध त्वमसुरान् पराभावयन् यजमानस्येषमूर्जंभावद अन्नं रसश्च यथा समागच्छति तथा शब्दं कुरु। भवदीयशब्देन असुरेषु पराभूतेषु तदीयमन्नं रसश्च यजमानः सर्वतः प्राप्नोति। ततो यजमानसम्बन्धिनो वयं सङ्घाते सङ्घाते असुरैः सह क्रियमाणे तस्मिंस्तस्मिन् युद्धे जेष्म जितवन्तः। कदाचिदपि नोऽस्माकं पराजयः। सम्यगसुरा हन्यन्ते यत्रेति सङ्घातो युद्धम्।

३—'मनोः श्रद्धादेवस्य यजमानस्यासुरघ्नी वाक् यज्ञायुधेषु प्रविष्टासीत्। तेऽसुरा यावन्तो यज्ञायुधानामुद्वदतामुपाशृण्वंस्ते पराभवन्नि'ति (तै० ब्रा० ३।२।५।६) तैत्तिरीयश्रुतेः। 'मनोर्ह वा ऋषभ आस तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक् प्रविष्टा स तस्य ह स्म श्वसथा द्रवथादसुररक्षसानिमृद्यमानानि यन्ति तेऽसुराः समूदिरे पापं वत नोऽयमृषभः सचते कथं न्विमं दभ्नुयामेति किलाताकुली इति हासुरब्रह्मावासतुः' (श० १।१।४।१४)। यज्ञायुधध्वनेर्यज्ञविघातकासुरराक्षसादिनिवृत्तिहेतुतामुपपादयितुमितिहासमुदाहरति पुराकिल मनोः सम्बन्धिन ऋषभस्य प्रश्वासाद् द्रवाच्च यज्ञविघातका असुरराक्षसा बाध्यमानाः परस्परं संवादं कृतवन्तः—ह इति खेदे। अयमृषभो नोऽस्माकं पापं निकर्षं पराजयं सचते प्रापयति कथं खल्विमं हिंस्यामेति। एवं संवादे कृते किलातश्चाकुलिश्चेति द्वौ असुरपुरोहितौ बभूवतुः तौ होचतुः। श्रद्धादेवो वै मनुरावं नु वेदावेति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति। केनेत्यनेनर्षभेणेति तथेति। तस्यालब्धस्य सावागपचक्राम।' (श० १।१।४।१५) श्रद्धैव देवो यस्य स श्रद्धादेवः श्रद्धालुः। आवं नु वेदाव—आवामस्य मनोरभिप्रायं जानावहै इत्यर्थः। 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (पा० सू० ७।२।८८) इति भाषायामेवात्वविधानात् ह्रस्वोच्चारणम्। हे मनोत्वायाजयाव केनेत्यनेनर्ष भेणेत्येवं श्रद्धालुं मनुं विप्रलभ्य तमृषभमवधिष्टामिति तात्पर्यार्थः। 'सा मनोरेव जायां मनावीं प्रविवेश। तस्यै हस्य यत्र वदन्त्यै शृण्वन्ति ततो ह स्मै वासुररक्षसाविमृद्यमानानि यन्ति तेहासुराः

पक्ष में 'क्व' शब्द को सम्प्रसारण और 'अटति' के अकार को पूर्व रूप करने पर तथा 'ककार' को द्वित्व करके 'कुक्कुट' रूप की निष्पत्ति होती है। 'असुराः क्व-क्व इत्येवं वदन्तः समुपयन्ति, तान् हन्तुमिच्छन् यः पुमान् अटति सर्वत्र सञ्चरति स कुक्कुटः'। यह कुक्कुट शब्द की निरुक्ति है अथवा 'कुत्सितं शब्दमसुरघ्नमसुराणां तनोति इति कुक्कुटः'। अथवा 'असुरघ्नीं वाचमादाय कुक्कुटपक्षिवत् ध्वनिविशेषं असुरभीत्यर्थं यः करोति सोऽयं कुक्कुटः' ऐसा उपचार से कहा जाता है। 'मधुजिह्व' नाम का कोई सेवक, देवताओं का है। 'मधुजिह्वो वै देवेभ्य आसीत्' ऐसी काण्वश्रुति है। 'मधुरभाषिणी जिह्वा यस्य सः मधुजिह्वः'। हे यज्ञायुध ! तुम असुरों का पराभव कराते हुए यजमान को जिस तरह भी अन्न और रस प्राप्त हो सके वैसा शब्द करो। तुम्हारे शब्द से असुरों के पराभूत हो जाने पर उनके अन्न और रस को यजमान सब प्रकार से प्राप्त कर लेता है। ततः यजमान से सम्बन्धित रहने वाले हम लोगों ने असुरों के साथ किये जाने वाले प्रत्येक युद्ध में उन पर जय पाई है। कभी भी हमारी पराजय नहीं हुई है। सम्यक् प्रकार से असुरों को जिसमें मारा जाता है उस सङ्घात को युद्ध कहते हैं।

३—यज्ञायुध की ध्वनि से यज्ञ विघा तक असुर-राक्षस आदि की निवृत्ति के होने में पुरातन इतिहास को तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण कह रहे हैं कि पहिले किसी समय 'मनु' से सम्बन्धित ऋषभ के प्रश्वास और द्रव (स्वेद) से यज्ञ विघातक असुर और राक्षस पीड़ित होकर आपस में बातचीत करने लगे कि यह ऋषभ, हमारे पाप को पराजित कर देगा. इसे हम लोग कैसे मार पायेंगे। इस प्रकार संवाद करने पर 'किलात' और 'आकुलि' ये दो असुर पुरोहित हुए। वे दोनों कहने लगे 'श्रद्धादेवो वै मनुरावं नु०' इति। 'श्रद्धैव देवो यस्य स श्रद्धादेवः' यानी श्रद्धालु, 'आवं नु वेदाव' हम दोनों इस मनु के अभिप्राय को जान लें। 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' सूत्र से भाषा में ही आत्व का विधान होने से वैदिक प्रयोग में 'आत्व' नहीं हुआ है, इसलिये 'आवम्' प्रयोग हुआ है। अर्थात् ह्रस्वोच्चारण हुआ है। हे मनो ! तुमसे यज्ञ करवायेंगे। किस द्रव्य से यज्ञ कराओगे ? पूछने पर कह देंगे कि इस ऋषभ से।

समुदिर इतो वै न: पापीय: सचते भूयो हि मानुषो वाक् वदतीति किलाताकुली हैवोचतु:—श्रद्धादेवो वै ....तौ हागत्योचतुर्मनो याजयावत्वेति। केनेत्यनयैव जाययेति तथेति तस्या आलब्धायै सा वागपचक्राम (श० १।१।४।१६) 'सा यज्ञमेव यज्ञपात्राणि प्रविवेश। ततो हैनां न शेकतुर्निहन्तुᳪं सैषासुरघ्नी सपत्नघ्नी वागुद्वदति स यस्य हैवं विदुष एतामत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति पापीयाᳪंसो हैवास्य सपत्ना भवन्ति' (श० १।१।४।१७) सा वाक् मनावीं मनोर्भार्यां प्रविवेश यत्र वदन्त्यास्तस्या: शब्दं शृण्वन्ति ततः स्थानाद् बाधिता असुरा: पलायन्ते स्म। असुरा: पुन: संवादं कृतवन्त:, तिर्यग्जातेॠषभस्य ध्वनेः श्रवणात् प्रागस्माकं निकर्षमात्रं प्राप्तं इदानीं मनुष्यसकाशान्निर्गतवाचः श्रवणादस्माकं पापीय: अतिशयितं पापं पराजय: प्राप्नोति। भूयोहि मानुषी वाग्वदति—तिर्यग्वाचः सकाशात् भूयो बहुतरं मानुषी वाक्, वर्णपदवाक्यात्मना कस्यचिदर्थस्य प्रतिपादनात्। पुनरपि किलाताकुली प्रतिक्रियां चक्रतु:। तस्यां मनाव्यामालब्धायां सा वाक् यज्ञं यज्ञपात्राणि प्रविवेश। तेभ्यो यज्ञपात्रेभ्य: सकाशादेनां वाचं हतुं न तौ शेकतु:। सैषा यज्ञपात्रगता असुरघ्नी वाक् शम्यया समाहननादुद्गच्छति। 'स समाहन्ति कुक्कुटोऽसि............मधुजिह्वो वै स देवेभ्य आसीद्विषजिह्वोऽसुरेभ्य:। स यो देवेभ्य आसी: सन एधीत्येवैतदाहेषमूर्ज्जमा वद त्वया वयᳪं सङ्घातᳪं सङ्घातं जेष्मेति नात्र तिरोहितमिवास्ति।' (श० १।१।४।१८) स ऋषभो देवानां मधुजिह्व आसीत् असुरेभ्यस्तु विषवाक् पराजयहेतुत्वात्। अन्यत्तु व्याख्यातप्रायं मन्त्रव्याख्यानेनैव।

४—'वर्षवृद्धमसीति शूर्पमादत्ते' (का० श्रौ० सू० २।४।१६) अवहननकर्ता पत्नी अग्नीद्वा—हे शूर्प वर्षवृद्धं वृष्टिगतजलेनाभिवृद्धमसि। वर्षवृद्धवेणुदलैरिषीकाग्रशलाकाभिर्नडाख्यतृणशलाकाभिर्वा शूर्पस्य निष्पन्नत्वात्। 'प्रतित्वेतिहविरुद्वपति' (का० श्रौ० सू० २।४।१७) अवहतं हविरुलूखलादादाय शूर्पे प्रक्षिपेत्। हे हवि: वर्षवृद्धं त्वां प्रतिगृह्य वेत्तु स्वकीयत्वेन जानातु शूर्प:। हविर्हेतूनां व्रीहीणां यवानाञ्च वर्षवृद्धत्वं प्रसिद्धमेव। मन्त्रद्वयेऽपि वृद्धशब्देन समृद्धि-

---

इस रीति से श्रद्धालु मनु को ठगकर उस ऋषभ को मार देंगे। यह उक्त संवाद का तात्पर्यार्थ है। तदनन्तर शतपथ कहता है कि वह वाक् (वाणी) मनु की भार्या में प्रविष्ट हुई। जहाँ वह बोलती थी, तो उसके शब्द को सुनते ही पीड़ित होने वाले असुर उस स्थान से भाग जाते थे। तब असुर लोग पुन: परस्पर संवाद करने लगे कि तिर्यक् जाति के इस ऋषभ की ध्वनि के श्रवण से पूर्व ही हमारी पराजय होने लगी, अब मनुष्य से निकलने वाली वाणी को सुनकर हमारा अत्यधिक पाप पराजित हो रहा है। क्योंकि मानुषी वाक् बार-बार बोल रही है। अर्थात् तिर्यक् वाणी की अपेक्षा यह मानुषी वाक्, वर्ण-पद वाक्य के द्वारा किसी अर्थ को बहुत अच्छी तरह से बता रही है। पुनरपि किलात और आकुलि दोनों ने उसकी प्रतिक्रिया की। उस मानवी के आलब्ध होने पर वह वाणी यज्ञपात्रों में प्रविष्ट हुई। उन यज्ञपात्रों से इस बाणी का अपहरण वे नहीं कर सके। यज्ञपात्रगत वह असुरघ्नी वाक्, 'शम्या' के द्वारा आहनन किये जाने पर निकलती है। शतपथ कहता है कि वह ऋषभ देवताओं के लिये मधुजिह्व था, किन्तु असुरों के लिये उनके पराजय का कारण बन जाने से वह 'विषवाक्' था। और सब की व्याख्या तो मन्त्र के किये गये व्याख्यान से ही हो जाती है।

४—उक्त इतिहास का सारांश यह है कि राजा मनु के पास एक वृषभ था, उसमें असुरों का हनन करने वाली वाक् स्थित थी। अत: उस वृषभ के शब्द करने पर उसके श्रवण मात्र से असुर मर जाते थे। तब किलात और आकुली नामक दोनों असुर याजक मनु के पास गये, और उसी ऋषभ को हवि:स्थानापन्न करके मनु से यज्ञ करवा कर उस वृषभ को मरवा दिया। जब वृषभ को इस तरह मार दिया गया, तब वह वाक्, मनु की पत्नी में प्रविष्ट हुई। तब उन दोनों असुरयाजकों ने पुन: उस मनुपत्नी को भी हवि:स्थानापन्न करके मनु से यज्ञ करवा कर उस मनु पत्नी को भी मरवा दिया। तब वह वाक् यज्ञपात्रों में प्रविष्ट हुई। इसलिये असुरों का पराभव करने के लिये उन यज्ञपात्रों की वाक् को प्रकट करने के लिये 'शम्या' से दृषद्-उपल पर हनन करने के लिये श्रुति ने कहा है। कात्यायन कहते हैं—'वर्षवृद्धमसीति शूर्पमादत्ते' अर्थात् हे शूर्प ! तुम वर्षवृद्ध हो। 'वर्षेण वृष्ट्या तद्भूतजलेन वृद्धं वर्षवृद्धम्' यह 'वर्ष-

द्योत्यते इति । 'वर्षवृद्धा वा ओषधयः । वर्षवृद्धा इषीकाः समृद्धया' (तै० ब्रा० ३।२।५।१०) तित्तिरिः । व्रीहिशूर्पयोर्वर्षवृद्धत्वेन भ्रातृत्वमित्यर्थः । 'परापूतमिति निष्पुनाति (का० श्रौ० सू० २।४।१८) शूर्पचालनोत्थेन वायुना तुषान् पृथक्कृत्याधः पातयेदग्नीत् । विविक्तान् तुषानध्वर्यवे समर्पयेत् । ऊर्ध्वशूर्पेन निष्पवनम् । तुषेषु निगूढं रक्षः परापूतम् निराकृतम् । शूर्पेण तुषेषु परापूतेषु तैः सह रक्षसो भूमौ पतनात् अरातयो हविर्धानप्रतिकूला आलस्यादिशत्रवश्च प्रतिपूताः प्रतिकूलाः सन्तो निराकृता भवन्ति ।

५—अपहतमिति तुषान्निरस्यति' (का० श्रौ० सू० २।४।१९) अपहतमित्यादिमन्त्रेण अग्नीधा समर्पितांस्तुषान्निरस्येत् । वस्तुतः पाठक्रमादार्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन 'वायुर्वे'इति विविनक्ति (का० श्रौ० सू० २।४।२०) वायुर्वा इत्यादिमन्त्रेण तण्डुलान् कणांश्च वितुषीकरणाय पृथक्करोति । तिर्यक्शूर्पेण विवेचनम् । एवं विवेकीकरण एव निरसनं ज्ञातव्यम् । तुषेषु निगूढं रक्षस्तदपहतं दूरेऽपनीतं भवतु । हे तण्डुला वो युष्मान् शूर्पचालनेन निष्पन्नो वायुर्देवो विविनक्तु कणेभ्यः पृथक्करोतु । तमेतं पृथक्कारं अयं वातः शूर्पोऽयं पवत इति कण्वः स्पष्टीचकारेति सायणाचार्यः । 'देवो व' इति पात्र्यामोप्याभिमन्त्रयते (का० श्रौ० सू० २ ४।२१) तण्डुलान् तूषतीमिडापात्र्यां शूर्पेण प्रक्षिप्य देवो व इति मन्त्रेण अनामिकाग्रेण स्पृशन् अभिमन्त्रयेताध्वर्युः । आभिमुख्येन मन्त्रपाठोऽभिमन्त्रणं हे तण्डुला वो युष्मान् हिरण्यपाणिः अंगुलीयकाद्याभरणयुक्तपाणिः सविता देवः अच्छिद्रेण अंगुलिविश्लेषरहितेन स्वकीयेन पाणिना प्रतिगृह्णातु स्वीकरोतु । पात्र्यां प्रक्षेपकाले भूमौ स्कन्दनं माभूदिति स्वकीयेन पाणिना पालयन् गृह्णात्वित्यर्थः । 'अन्तरिक्षादिव वा एते प्रस्कन्दन्ति । ये शूर्पात् । देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृह्णात्वित्याह प्रतिष्ठित्यै हविषोऽस्कन्दाये' (तै० ब्रा० ३।२।५।११) ति तित्तिरिश्रुतेः । यद्वा दैत्यैः प्राशित्रप्रहारेण छिन्नौ सवितुः पाणी देवैर्हिरण्मयौ कृतावितिहिरण्यपाणित्वमिति बह्वृश्रुतौ कथा ।

६—दयानन्दस्वामिरीत्या तु—'योऽयं यज्ञोमधुजिह्वः कुक्कुटोऽस्त्यस्तीषमूर्जं च प्रापयति तस्मात्स सदैवा-

---

वृद्ध' शब्द की निरुक्ति है । वृद्धिङ्गत हुए वेणुशलाकाओं से निर्मित होने के कारण शूर्प को वर्षवृद्ध कहा गया है । प्रतित्वेति हविरु पति' यह श्रौतसूत्र बता रहा है कि हे हविः ! यह वर्षवृद्ध शूर्प तुम्हें अपना आत्मीय समझे । व्रीहि और शूर्प दोनों वर्षवृद्ध होने से आपस में उनकी भ्रातृता है । 'परापूतमिति निष्पुनाति' इस श्रौतसूत्र से ज्ञात होता है कि राक्षस का निराकरण हो गया है । 'परापूतं' का अर्थ 'निराकृत' है । शूर्प से तुषों का निराकरण हो जाने से तद्गत राक्षस को भी उन तुषों के साथ ही भूमि पर गिरा दिया गया है । तथा 'अरातयः' यानी हविः प्रतिकूल रहने वाले आलस्यादि शत्रुगण भी निराकृत हो गये हैं ।

५—'अपहतमिति तुषान्निरस्यति'—अग्नीध के द्वारा समर्पित तुषों को 'अपहतम्'—इस मन्त्र से निरसन करे । वस्तुतः पाठक्रम की अपेक्षा आर्थक्रम के प्रबल रहने से 'वायुर्व इति विविनक्ति' व युवः इस मन्त्र से वितुषीकरण के लिये तण्डुल और कणों को पृथक् करने के लिये कहा गया है । हे तण्डुलो ! शूर्पचालन से उत्पन्न होने वाला वायु तुम्हें सूक्ष्म कणों से पृथक् करे । 'देवो व इति पात्र्यामोप्याभिमन्त्रयते' अर्थात् हे तण्डुलो ! सविता देव, अंगुलिविश्लेष हीन अपने हाथ से तुम्हारा ग्रहण करे पात्री में प्रक्षेप करते समय कोई कण भूमि पर न गिरने पावे इसलिये सविता के द्वारा ग्रहण करने की प्रार्थना की गई है । यह सविता हिरण्यपाणि है, अर्थात् सुवर्ण की अंगूठी आदि आभरण से विभूषित इसके हाथ हैं । अथवा दैत्यों ने प्राशित्र के प्रहार से सविता के हाथ काट दिये थे, तब देवताओं ने उसके हाथ हिरण्मय कर दिये, इसलिये सविता को हिरण्यपाणि कहा जाता है । बह्वृच् श्रुति में इसकी कथा दी गई है ।

६—स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य के पृष्ठ चौरासी-पचासी पर जो अर्थ किया है, वह अर्थ न होकर अनर्थ ही लिख दिया है । भावार्थ देते हुए भी उन्होंने लिखा है कि 'ईश्वर समस्त मनुष्यों को आज्ञा दे रहा है कि सभी मनुष्य,

नुष्ठेयः। हे विद्वन् त्वमस्य त्रिविधस्य यज्ञस्यानुष्ठानस्य गुणानां कर्तासि तस्मात् अस्मान् प्रति वद प्रत्यक्षमुपदिश। यतो वयं त्वया सङ्गातं सङ्गातमजैष्म सर्वान् संग्रामान् विजयेमहि। सर्वो मनुष्यः वर्षवृद्धं त्वा त्वां तं यज्ञं वर्षवृद्धं यज्ञं वा प्रतिवेत्तु। एवं कृत्वा सर्वेर्जनैः परापूतं रक्षः परापूता अरातयः यथास्यात्तथैव कार्यम्। यथाम्लं हिरण्यपाणिः सविता देवः तान् विविनक्तु तथैव परमेश्वरो विद्वान् मनश्चाच्छिद्रेण पाणिना सर्वा विद्या विविनक्तु तथैव कृपया सम्प्रीत्या चैतौ युष्मानानन्दकरणाय प्रतिगृह्णातु प्रतिगृह्णीतः (पृ० ८४-८५)। भाषार्थेऽपि—'ईश्वरः सर्वान् मनुष्यानाज्ञापयति मनुष्यैर्यज्ञानुष्ठानं संग्रामे दुष्टशत्रूणां विजयो गुणज्ञानं विद्यावृद्धसेवनं दुष्टानां मनुष्याणां दोषाणां निरसनं सर्वच्छेदकोऽग्निः सूर्यो वा तथा पदार्थानां धारको वायुश्चास्तीति विज्ञानं परमेश्वरोपासनं विद्वत्समागमं च कृत्वा सर्वा विद्याः प्राप्य सदैव सर्वार्थाः सुखोन्नतिः कार्येति' (पृ० ८५)। कुक् आदाने भ्वादिः क्विपि कुकं परद्रव्यादातारं चौरं शत्रुं वा कुटति येन स यज्ञः असि अस्तीति व्यत्ययः सर्वत्र। मधुजिह्वः मधुरगुणयुक्ता जिह्वा ज्वाला प्रयुज्यते यस्मिन् स यज्ञः, तत्र 'जिह्वा सरस्वती' (श० १२।८।१।१४) प्रमाणेन मधुरा सरस्वती यस्मिन्नित्यर्थः सम्भवति तथापि ज्वालाप्रयोगस्तु निरर्थक एव, त्वद्रीत्याग्नौ द्रव्यनिक्षेपलक्षणे यज्ञे मन्त्रप्रयोगस्यानुपयोगात्।

वस्तुतस्तु प्रकृतेमन्त्रे ततः पूर्वस्मिन् मन्त्रे वा यज्ञशब्दस्य चर्चापि नास्ति। न वा तादृशे यज्ञे अस्त्रपदार्थसमूहरूपतोपपद्यते न वा तद्दातृत्वं तत्र सम्भवति, प्रत्यक्षेण तदनुपलम्भात्। पुण्यादृष्टादिद्वारा तद्दातृत्वस्य त्वयानभ्युपगमाच्च। परमेश्वरेण विदुषा वीरेण वा सङ्गत्या युद्धविजयो भवति। यज्ञो (वर्ष) वृष्टिवर्धकोऽपि कथम्? वृद्धसेवारूपेण यज्ञेन यद्यपि शस्त्रास्त्रवर्षवृद्धिर्जायते तथापि यज्ञत्वमसम्प्रतिपन्नमेव, तस्य वेदमन्तरापि सम्भवेन वेदस्य तत्रान्यथासिद्धत्वात्। प्रसिद्धवृष्टिवर्धकत्वं त्वदीये यज्ञे सर्वथैव न सम्भवति। परपदार्थग्रहीतारः शत्रवोऽपि न त्वदीयेन यज्ञेन नश्यन्ति किन्तु पराक्रमेणैव तत्सम्भवति। वृद्धसङ्गतिरूपो यज्ञस्तु तत्रान्यथासिद्ध एव। किञ्च कोऽत्र वक्ता? यदि यज्ञस्तर्हि कथं स यज्ञस्य मधुजिह्वत्वं कुक्कुटत्वं च जानाति? यदि विज्ञस्तर्हि कथमुपदेशं कामयते? युद्धविद्याकुशलानामुपदेशमात्रेण न युद्धविजयः सम्भवति। यद्यत्र नोपदेशमात्रं बिवक्षितं किन्तु शस्त्रास्त्रविद्याशिक्षणमेव विवक्षितं

यज्ञ का अनुष्ठान, संग्राम में शत्रुओं पर विजय, गुण ज्ञान, विद्यावृद्धों की सेवा, दुष्ट मनुष्यों के दोषों का निरसन, सर्वच्छेदक अग्नि अथवा सूर्य है और पदार्थों का धारक वायु है—यह विज्ञान, परमेश्वरोपासना और विद्वत्समागम करके तथा समस्त विद्याओं को प्राप्त करके सर्वदा सबके लिये सुख की उन्नति करे।

'कुकं कुटति येन सः कुक्कुटः' अर्थात् कुक यानी परद्रव्य को हड़पने वाला चोर या शत्रु, उसको जिसके द्वारा नष्ट करता है, वह कुक्कुट यानी 'यज्ञ', 'अस्ति' अर्थात् अस्ति है, ऐसा व्यत्यय सर्वत्र किया गया है। वह यज्ञ 'मधुजिह्व' है अर्थात् मधुर गुण से युक्त जिह्वा 'ज्वाला' का प्रयोग किया जाता है जिसमें ऐसा वह यज्ञ है। यहाँ पर 'जिह्वा सरस्वती' इस शतपथ के अनुसार मधुरा सरस्वती है जिसमें ऐसा अर्थ सम्भव हो सकता है, तथापि 'ज्वाला का प्रयोग करना तो निरर्थक ही है। क्योंकि तुम्हारे मत के अनुसार अग्नि में द्रव्य निक्षेप लक्षण यज्ञ में मन्त्र का कोई उपयोग नहीं है।

वस्तुतस्तु प्रकृत मन्त्र में अथवा इसके पूर्व मन्त्र में 'यज्ञ' शब्द की चर्चा भी नहीं है, और न ही उस प्रकार के यज्ञ में अस्त्र पदार्थ समूह रूपता अथवा उनका देना सम्भव है, क्योंकि वैसा प्रत्यक्ष नहीं होता है। यदि कहा जाय कि पुण्य-अदृष्ट के द्वारा तद्दातृत्व हो सकता है, तो अदृष्ट को तुम मानते नहीं हो। परमेश्वर, विद्वान् अथवा वीर की सहायता से युद्ध में विजय प्राप्त किया जाता है। यज्ञ को वृष्टिवर्धक भी कैसे कहा जायगा? वृद्ध सेवा रूप यज्ञ से यद्यपि शस्त्रास्त्रवृष्टि की वृद्धि हो सकती है, तथापि उसका यज्ञत्व अभी प्रतिपन्न ही नहीं हुआ है। उसका यज्ञत्व, वेद के बिना भी सम्भव होने से उस विषय में वेद को अन्यथा सिद्ध ही कहना होगा। तुम्हारे अभिमत यज्ञ का प्रसिद्ध वृष्टिवर्धकत्व सर्वथा सम्भव ही नहीं है। परपदार्थों को ग्रहण करने वाले शत्रुओं का तुम्हारे यज्ञ से विनाश भी नहीं हो सकता। उनका विनाश तो पराक्रम से ही होना सम्भव है। वृद्ध सङ्गति रूप यज्ञ तो उस विषय में अन्यथा सिद्ध

तर्हि न तत्र वेदस्योपयोगः, वेदमन्तरापि तेषु तेषु देशेषु सैनिकाः शिक्षकेभ्यः शिक्षां गृहीत्वा विजयन्ते। तथापि शस्त्रास्त्र-वैशिष्ट्यनिर्माणप्रयोग कौशलमपेक्षितम्। तत्सर्वं न सामाजिकानां सङ्गत्या वर्षशतैरपि सम्भावयितुं शक्यम्। न वा तादृशैर्यज्ञैर्दस्यूनां पाटच्चराणां वा नाशः सम्भाव्यते, न्यायालयीयदण्डविधानादिभिरन्यथासिद्धत्वात् किञ्चाग्निः सूर्यश्च स्वस्वभावानुसारेण पदार्थान् सूक्ष्मयतः, वायुश्चतान् स्वगत्या प्रसारयत्येव। तत्र किं वराकेणाग्नौ द्रव्यनिक्षेपरूपेण यज्ञेन? अनन्ते संसारे मुष्टिमेयानां किञ्चिद्धोमेन को वा प्रभावः सम्भवति। परमेश्वरो विद्वांसश्च स्वभावादेव स्व-स्वकार्यं कुर्वन्त्येव। वस्तुतस्तु अग्नौ पदार्थप्रक्षेपेण नाश एव भवति न तेन किञ्चिल्लाभः।

सिद्धान्ते तु वैदिकविधानजन्यादृष्टवशादग्निमुखेन दिव्यशक्तिमतां देवानां प्रभावात् लोकदृष्ट्याऽसम्भवमपि कार्यं सम्भवति। अच्छिद्रेण पाणिना विद्यादिविविक्तिरप्युपहासायैव। शतपथे तु सर्वथा त्वद्विपरीत एवार्थो यथास्ति तथोक्तमेव, किञ्चिदुच्यते च।

'अथ शूर्पमादत्ते। वर्षवृद्धमसीति वर्षवृद्ध ७ं ह्येतत् यदि नडानां यदि वेणूनां यदीषीकाणां वर्षमु ह्येवैता वर्धयति' (श० १।१।४।१९) अत्र समन्त्रकं शूर्पादानं विधत्ते श्रुतिः—हे शूर्प त्वं वर्षवृद्धमसि-वर्षवृद्धत्वञ्चोपपादयति यदि नडामित्यादि। जलप्रान्ते वर्तमानास्तृणविशेषा नडाः शूर्पस्योपादानभूतानि नडवेण्विषीकादीनि भवन्ति। एता नडाद्या ओषधीः वर्षम् उदकवृष्टिरेव वर्धयति। तेन हे शूर्प त्वं वर्षवृद्धमसीति मन्त्रोक्तिः। 'अथ हविर्निर्वपति। प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्त्विति वर्षवृद्धा उह्येते यदि व्रीहयो यदि यवा वर्षमुह्येवैतान् वर्द्धयति तत्संज्ञामेवं तच्छूर्पाय च वदति नेदन्योऽन्य ७ं हि नसात इति' (श० १।१।४।२०)। तस्मिन् शूर्पेऽवहतानां व्रीहीणां प्रक्षेपं विधाय ब्राह्मणं मन्त्रमपि व्याख्यानेन संस्करोति। उलूखलान्निष्कृष्य अवहितान् व्रीहीन् शूर्पे प्रक्षिपति। हे हविः वर्षवृद्धं त्वां शूर्पं प्रतिवेत्तु जानातु। आत्मन उपरि अवस्थितं वेत्तु। हविषो वर्षवृद्धत्वमुपपादयति– वर्षवृद्धा उह्येते इति। व्रीहियवयोरन्यतरो हविष उपादानम्। 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेतेति विकल्पेन यज्ञसाधनत्वश्रवणात्। व्रीहियवाद्याश्चौषधयश्च वृष्ट्या वर्धन्ते इति प्रसिद्धमित्यर्थः। प्रतित्वेत्यर्थस्याभिप्रायमाह—शूर्पहविषोरन्योऽन्यं हिंसामाभूदिति 'शूर्पाय चे'ति च शब्दाद् हविषे च।

ही है। किञ्च यहाँ वक्ता कौन है? यदि यज्ञ को वक्ता मानते हैं तो वह यज्ञ के मधुजिह्वत्व और कुक्कुटत्व को कैसे जानता है? यदि किसी विज्ञ को वक्ता मानते हैं, तो वह उपदेश की कामना कैसे करता है? युद्ध विद्या में कुशल लोगों के उपदेश मात्र से युद्ध में विजय की प्राप्ति नहीं हुआ करती। यदि यहाँ पर उपदेश मात्र विवक्षित न होकर शस्त्रास्त्र विद्या का शिक्षण ही विवक्षित हो तो इस विषय में वेद का कोई उपयोग ही नहीं है। वेद के बिना भी तत्तद्-देशों में सैनिक लोग शिक्षकों से शिक्षा प्राप्त करके विजय पाते हैं। तथापि शस्त्रास्त्र वैशिष्ट्य निर्माण प्रयोग का कौशल अपेक्षित होता है। किन्तु यह सब सामाजिक लोगों की सङ्गति से सैकड़ों वर्षों में भी सम्भव होना शक्य नहीं है। वैसे यज्ञों से दस्युओं का अथवा पाटच्चरों का नाश होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि न्यायालयीय दण्ड विधानादि से वह अन्यथा सिद्ध है। किञ्च अग्नि और सूर्य ये अपने स्वभाव के अनुसार पदार्थों को सूक्ष्म कर देते हैं और वायु अपनी गति से उन पदार्थों को इधर-उधर बिखेर देता है। तब अग्नि में उन द्रव्यों के निक्षेप रूप यज्ञ की क्या आवश्यकता है? इस अनन्त संसार में इन मुष्टिपरिमित द्रव्यों के होम कर देने से कौन सा प्रभाव होना है? परमेश्वर और विद्वान् लोग अपने स्वभाव से ही अपने-अपने कार्य करते ही रहते हैं। वस्तुतः अग्नि में पदार्थों को डालने से उन पदार्थों का नाश ही होता है। उससे कोई लाभ तो होता नहीं है।

सिद्धान्त में तो वैदिक विधान जन्य अदृष्टवशात् अग्निमुख में जाने से दिव्य शक्तिसम्पन्न देवताओं के प्रभाव वशात् लोकदृष्ट्या असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं। अच्छिद्र हाथ से विद्यादि विविक्ति को बताना भी उप-हासास्पद ही है। शतपथ ने तो तुम्हारे बताये हुए अर्थ के सर्वथा विपरीत अर्थ को ही बताया है, उसे हम पहिले ही बता चुके हैं। कुछ और भी बता देते हैं शतपथ ने यहाँ पर समन्त्रक शूर्पादान करने के लिये कहा है। हे शूर्प! तुम

संज्ञां संज्ञानं समानज्ञानत्वमेव मन्त्रो वदति। हे शूर्प त्वमपि वर्षवृद्धमसि हविरपि वर्षवृद्धमतो युवयो: समानसंज्ञत्वात् सौभ्रात्रमेवेति परस्परमहिंसनमेव युक्तम्। वैदिकानां दृष्ट्या सर्वेषु वस्तुषु दैव्य आसुर्यश्च शक्तयो भवन्ति। शास्त्रोक्त-विधानै: शास्त्रविहितमन्त्रोच्चारणैश्चासुर्य: शक्तयोऽभिभूयन्ते दैव्यश्च वर्धन्ते। सर्वञ्च जगच्चेतनाधिष्ठानत्वात् चिन्मयं तत्तदधिष्ठातृचेतनदैवताधिष्ठितत्वात् देवत्वाक्रान्तम्। अज्ञानोपहितचेतनकार्यत्वात् तत्र जाड्यप्रतिबन्धत्वादिकमपि भवत्येव। तदभिप्रायेणैव शूर्पादयोऽपि चेतनवत्सम्बोध्यन्ते। रक्षांसि असुराश्च यज्ञादिबाधका अपनोद्यन्ते।

अथ निष्पुनाति। परापूत ँ रक्ष: परापूता अरातय। इत्यथ तुषान् प्रहन्त्यपहत ँ रक्ष इति तन्नाष्ट्रा एवैत द्रक्षा ँ स्यतोऽपहन्ति' (श० १।१।४।२१)। तुषाणां समन्त्रकमपनयनं विधत्ते—अथ निष्पुनातीति। तुषाणां राक्षस-भागत्वात् तैस्तन्निरसनं विधत्ते अथ तुषान् प्रहन्तीति। पराभूतं रक्ष: पराभूता अरातय इति मन्त्रद्वयेन तुषान् प्रहन्ति प्रक्षिपन्ति तेन नाष्ट्रा रक्षांस्येवापहन्ति। 'अथापविनक्ति। वायुर्वो विवनक्तित्वत्ययं वै वायुर्योऽयं पवत एष वा इद ँ सर्वं विविनक्ति यदिदं किञ्च विविच्यते तदेनानेष एवैतद्विविनक्ति स यदैत एतत्प्राप्नुवन्ति यत्रैनानध्यप विनक्ति (श० १।१।४।२२) वितुषीकृतानां तण्डुलानां व्रीहिकणानां च पृथक्करणं विधत्ते अथापविनक्तीति। मन्त्रगतवायु-शब्दास्यार्थमाह—अय वै वायुर्योऽयं पवते इति। तस्य विवेचनसामर्थ्यमुपपादयति 'एष वा इद ँ सर्वं विविनिक्तीति। तत् तस्मात् सर्वस्यापि विवेचकत्वात् एष एव वायु: एनान् व्रीहीन् तण्डुलांश्च विविनक्ति—अतस्तत्प्रार्थनं युक्तमेव। स यदैत इति—यदा यस्मिन् काले एते व्रीहितण्डुला एतद्विवेचनं प्राप्नुवन्ति तत्र तस्मिन् समये यत्र यस्यामिडापात्र्यां अधि उपर्येतानपविनक्ति। अनुपादेयतुषकणमलादिभ्यस्तण्डुलान् पृथक्करोति। 'अथानुमन्त्रयते—देवो व: सविता हिरण्य-पाणि: प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सु प्रतिगृहीता असन्नित्यथ त्रि: फलीकरोति त्रिवृद्धियज्ञ:' (श० १।१।४।२३) इडापात्रीगतस्य हविष: समन्त्रकमभिमन्त्रणं विधत्ते श्रुति:'—अथानुमन्त्रयते' इति। यथाचैते तण्डुला अच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीता भवेयु: तथा हिरण्य पाणि: सविता देवो, हे तण्डुला वो युष्मान् प्रतिगृह्णातु। अथ त्रि: फलीकरणं विधत्ते—

वर्षवृद्ध हो। वर्षवृद्धत्व का उपपादन करते है—जल के प्रान्त प्रदेश में वर्तमान तृण विशेषों को 'नड़' कहते हैं। शूर्प के उपादान कारणभूत नड़, वेणु, इषीकादि तृण होते हैं। इन नडादि ओषधियों को जल वृष्टि ही वृद्धिङ्गत करती है। इसलिये हे शूर्प ! तुम वर्षवृद्ध हो, यह बात मन्त्र के द्वारा कही गई है। अवहत व्रीहियों का उस शूर्प में प्रक्षेप करके ब्राह्मण वाक्य मन्त्र का भी व्याख्यान के द्वारा संस्कार करता है।

उलूखल से निकाल कर अवहित व्रीहियों को शूर्प में रखता है। हे हवि: ! वर्षवृद्ध हुए तुमको वह अपने में अवस्थित हुआ जाने। हवि का वर्षवृद्धत्व बताते हैं—व्रीहि और यवों में से किसी एक हवि का उपादान किया जाता है। क्योंकि 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्बायजेत' इस वाक्य से उनका यज्ञसाधनत्व वैकल्पिक श्रुत है। व्रीहि-यवादि ओषधियों की वृद्धि, वृष्टि होने पर ही होती है यह प्रसिद्ध है। 'प्रति त्वा' इस अर्थ के अभिप्राय को बताते हैं—शूर्प और हवि इनमें परस्पर हिंसा न हो, यह बात 'शूर्पायच' के 'च' शब्द से कही गई है। मन्त्र, इनमें समान ज्ञानत्व को बता रहा है। हे शूर्प तुम भी वर्षवृद्ध हो और हवि भी वर्षवृद्ध है, इसलिये तुम दोनों की समान संज्ञा होने से तुम्हारा परस्पर सौभ्रात्र ही है। अत: परस्पर अहिंसन ही उचित है।

वैदिकों की दृष्टि में समस्त वस्तुओं में दैवी और आसुरी शक्तियाँ रहती हैं। शास्त्रोक्त विधियों से और शास्त्रविहित मन्त्रोच्चारण से आसुरी शक्तियों का पराभव होता है और दैवी शक्तियों की वृद्धि होती है। समस्त जगत् का अधिष्ठान 'चेतन' होने से वह 'चिन्मय' है अर्थात् तत्तद् अधिष्ठातृ चेतन देवताओं से अधिष्ठित होने के कारण वह देवत्व से व्याप्त है, और अज्ञानोपहित चेतन का कार्य रहने से उसमें जाड्य, प्रतिबन्धत्वादि भी रहते ही हैं। इसी अभिप्राय से चेतन के समान ही शूर्पादिकों को भी सम्बोधित किया जाता है। राक्षस और असुर जो यज्ञादि के बाधक कहे जाते हैं, उनका निरसन किया जाता है। इसी अभिप्राय से तुषों का समन्त्रक अपनयन किया जाता है, क्योंकि तुषों को राक्षसों का भाग कहा गया है। दो मन्त्रों से तुषों पर प्रहार करने से वह प्रहार

'अथेति' तस्यत्रित्वं प्रशंसति—त्रिवृद्धि यज्ञ इति । सवनादित्रयरूपेण त्रिरावृत्तो हि यज्ञः । तदनुसारेण फलीकरणमपि त्रिः कर्त्तव्यम् । तस्मिन् फलीकरणे शाखान्तरीयं मन्त्रविधिमनुवदन्नाह—'तद्धैके देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्य शुन्धध्वमिति फलीकुर्वन्ति तदु तथा न कुर्यादादिष्टं वा एतद्देवतायै हविर्भवत्यथैतद्वैश्वदेवं करोति यदाहदेवेभ्यः शुन्धध्वमिति तत्समदं करोति तस्मादु तूष्णीमेव फलीकुर्यात् (श०१।१।४।२४) । अर्थात् एके शाखिनः 'देवेभ्यः शुन्धध्वमि'ति मन्त्रेण फलीकरणं कुर्वन्ति तन्निषेधति तदु तथा न कुर्यात् इति । कुतः 'अग्नये जुष्टं गृह्णामि' इत्येवमग्निदेवतायै आदिष्टमेवैतद्धविर्वर्तते । अत्र तु देवेभ्यः शुन्धध्वमिति मन्त्रेण एतद्धविः वैश्वदेवं विश्वदेवसम्बन्धि करोति । अतोदेवानामेतन्मन्त्रप्रयोगेण समदं परस्परं कलहमेव करोति । अतो वैश्वदेवत्वापादकं मन्त्र परित्यज्य तूष्णीमेव फलीकरणं कर्त्तव्यम् इति निगमयति । सर्वथ पि दयानन्दीस्यार्थस्यात्र न मनागपि सन्निवेशः ।

कात्यायनश्च—'त्रिः फलीकरोति देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वमित्येके' (का० श्रौ० सू० २।४।२२) उलूखले हविष्करणम्, कण्डनम् (अवहननम्) उद्वापः, निष्पवनम्, विवेचनं कणनिष्कासनमिति फलीकरणम् । तच्च वारत्रयं कर्त्तव्यम् । यदवहननादिकमेकवारं मन्त्रैरनुष्ठितं तत्सर्वं वारद्वयं पुनस्तूष्णीमावर्तनीयम् । 'फलीकृत्य कणान्निदधाति' (का० श्रौ० सू० २।४।२३) कुत्रचित्पात्रे फलीकृत्य कणनिधानं कार्यम् ।

अध्यात्मपक्षे तु—कुक्कुटोऽसि हे परमात्मन् त्वं कुक्कुटोऽसि भक्तान् पालयितुं तद्बाधकान् क्व क्व सन्ति मद्भक्तबाधका इत्यन्विच्छमाणो अटसि । भक्तानां कृते मधुजिह्वोऽपि भक्तिविमुखानां कुत्सितं भयङ्करं कुक्कुटपक्षिवत् ध्वनिविशेषं करोषि । मधुरा जिह्वा वाणी वेदरूपा सरस्वती यस्य स मधुजिह्वः 'मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवतस्तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम् ॥' (महिम्नस्तोत्र ३) इति पुष्पदन्तोक्तेः । अतः इषमन्नप्राप्तिकरमूर्जं वीर्यवद्रसप्रदं शब्दमांसमन्ताद्वद । पुनः कृष्णवेणुनादामृतमिव त्वद्वचनामृतप्रेप्सवो वयम् । शौर्यवीर्यप्रदेन तेन शब्देनैव वयं सङ्घाते सङ्घाते लौकिकैररिभिः संग्रामे कामक्रोधादिसङ्गरे च जेष्म शत्रून् विजेष्यामः । सम्यक् प्रतिपक्षिणो हन्यन्ते'

राक्षसों पर ही किया माना जाता है । इस प्रकार वितुषीकृत तुण्डुल और व्रीहिकणों का पृथक् करण करने के लिये कहा गया है । अयं वै वायुः योऽयम्पवते' इस ब्राह्मण वाक्य ने 'वायु' शब्द के अर्थ को बताया है । 'एष वा इदं सर्वं विविनक्ति' इस ब्राह्मण वाक्य ने उसके विवेचन सामर्थ्य को बताया है । एवञ्च सभी का विवेचक होने से यही वायु इन व्रीहि और तण्डुलों का विवेक करता है । अतः उसकी प्रार्थना करना उचित ही है । जिस समय ये व्रीहि-तण्डुल विविक्त किये जाते हैं, अर्थात् जिस इडापात्री में अनुपादेय तुष कण मल आदि मे तण्डुलों को पृथक् किया जाता है, उस इडापात्री में रखे हुए हवि का समन्त्रक अभिमन्त्रण करने के लिये श्रुति ने कहा है। जिससे इन तण्डुलों को अच्छिद्र पाणि से अच्छी तरह किया जा सके । तथा हिरण्यपाणि सविता देव तुमको स्वीकार कर ले । उसके बाद त्रिःफलीकरण का श्रुति ने विधान किया है । 'त्रिवृद्धि यज्ञः' कहकर उसके त्रित्व की प्रशंसा की गई है । भवनादित्रय के रूप में यज्ञ त्रिरावृत्त होता है । तदनुसार फलीकरण भी तीन बार करना चाहिये । उस फलीकरण के विषय में शाखान्तरीय मन्त्र विधि का अनुवाद करते हुए कहा है कि कुछ अन्य शाखीय लोग 'देवेभ्यः शुन्धध्वम्' मन्त्र से जो फलीकरण करते हैं, वह उचित नहीं है, क्योंकि 'अग्नये जुष्टं गृह्णामि' से अग्नि देवता के लिये आदिष्ट हुआ ही वह हवि है । किन्तु यहाँ पर 'देवेभ्यः शुन्धध्वम्' मन्त्र से इस हवि को विश्वदेवसम्बन्धि किया जा रहा है । अतः इस मन्त्र के प्रयोग करने से देवताओं में बडे मद के साथ परस्पर कलह ही होने लगेगा । अतः वैश्वदेवत्व के आपादक मन्त्र का परित्याग कर फलीकरण को तूष्णीं (बिना मन्त्रोच्चारण के) ही करना चाहिये । यह सैद्धान्तिक तात्पर्य निकाला गया है । किसी भी दृष्टि से दयानन्दीय अर्थ का यहाँ पर यत्किञ्चित् भी सन्निवेश नहीं हो पा रहा है । कात्यायन ने उलूखल में हविष्करण, कण्डन, (अवहनन), उद्वाप, निष्पवन, विवेचन कणनिष्कासन, इस फलीकरण को तीन बार करने के लिये कहा है । जो अवहननादिक एक बार समन्त्रक किया गया, उस समस्त प्रक्रिया को पुनः दो बार तूष्णीं

यत्र तत्सङ्घातं युद्धम्। हे ब्रह्मन् त्वं वर्षवृद्धमसि वर्षेण स्वानन्दामृतवर्षणेन वृद्धं वृहत्तममसि। केचिद् दानेन वर्धन्ते भवांस्तु स्वानन्दवर्षेणैव वर्धते एवं सत्यपि हतभाग्यास्त्वां न विन्दन्ति अतः प्रार्थयामहे जीवस्त्वां वर्षवृद्धं वेत्तु विजानातु तथा सत्येव जीवानां कल्याणसम्भवात्। त्वदनुग्रहेण अपहतं रक्षः विघ्नकारकं रक्षः अरातयश्चान्ये भजनप्रतिकूला आलस्यादयो बाह्या वा परापूताः पराक्षिप्ताः। भो जीवाः भगवत्कृपयाऽपहतं रक्षो वो युष्मान् वायुर्हिरण्यगर्भो विविनक्तु असत्संसर्गात् पृथक्करोतु भगवान् हिरण्यपाणिः सविता देवोऽच्छिद्रेण निर्दोषेण हस्तेन वो युष्मान् प्रतिगृभ्णातु वैदिके सन्मार्गे प्रवर्तयेत्।

१—अनुष्ठानप्रकास्तु पूर्वोक्तादनन्तरमित्थम्—अध्वर्युः वारणं (वारणकाष्ठनिर्मितं) चमसं सव्यहस्ते कृत्वा दक्षिणहस्तेनोदपात्रेण स्वयं तस्मिन्नुदकमासिच्य दक्षिणहस्तेन चमसं गार्हपत्यस्योत्तरतो निधाय तदनन्तरं दक्षिणहस्तेन चमसस्योदकमालभते। ततो ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामीति ब्रह्माणं पृच्छति। वाचं यच्छेति यजमानं प्रेष्यति सर्वेषु प्रेषेषु कृतेषु ब्रह्मा प्रणययज्ञं देवतावर्धयत्वं नाकस्य पृष्ठे यजमानो अस्तु सप्तऋषीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यजमानं च धेहि इत्यन्तमुपांशु जपित्वा ओं प्रणयेत्यनुज्ञां करोति। यथाध्वर्युः शृणोति। ततोऽध्वर्युश्चमसं गृहीत्वा आहवनीयादुत्तरस्यां दिशि

करना चाहिये। कात्यायन ने यह भी निर्देश किया है कि कहीं किसी स्थल पर फलीकरण के पश्चात् कणनिधान किया जाता है।

अध्यात्म पक्ष में इस प्रकार अर्थ होगा—'कुक्कुटोऽसि' हे परमात्मन्! तुम कुक्कुट हो, अपने भक्तों का पालन करने के लिये उनके पीडकों (बाधकों) को खोजते हुए 'अटसि' सञ्चार करते रहते हो, अर्थात् मेरे भक्तों को पीडित करने वाले कहाँ-कहाँ पर हैं? यह अन्वेषण (खोज) करते रहते हो। अपने भक्तों के लिये मधुजिह्व होते हुए भी, भक्ति विमुख लोगों के लिये कुक्कुट पक्षी के समान भयङ्कर ध्वनि विशेष किया करते हो। 'मधुरा जिह्वा वाणी वेदरूपा सरस्वती यस्य सः मधुजिह्वः' यह 'मधुजिह्व' शब्द की निरुक्ति है। इसी बात को पुष्पदन्ताचार्य ने भी कहा है—'मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवतस्तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।' इति। अतः 'इषम्' अन्न प्राप्ति कर 'ऊर्जं' वीर्यवत् रसप्रद शब्द को चारों ओर से बोलो। हम लोग कृष्णवेणुनाद मृत के समान तुम्हारे वचनामृत को प्राप्त करने के लिये पुनरपि उत्कण्ठित हो रहे है। शौर्य-वीर्यप्रद इस शब्द से ही हम लोग, लौकिक शत्रुओं के साथ संग्राम तथा काम-क्रोधादि के साथ संग्राम करने में उन शत्रुओं को निश्चित ही जीत पायेंगे। प्रतिपक्षी को सम्यक् प्रकार मे जहाँ मारा जाता है, उस युद्ध को 'सङ्घात' कहते हैं। हे ब्रह्मन्! तुम वर्षवृद्ध हो अर्थात् वर्षेण यानी स्वानन्दामृत की वर्षा करने से वृद्धं यानी वृहत्तम हो। कुछ लोग तो दान के कारण वृद्धि को प्राप्त होते हैं, किन्तु आप तो स्वानन्द की वर्षा से ही वृद्धि को प्राप्त होते हो, ऐसा होने पर भी भाग्यहीन लोग तुम्हें प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अतः हम प्रार्थना करते हैं कि यह जीव तुम्हें वर्षवृद्ध समझे। यह जान लेने पर ही जीवों का कल्याण होना सम्भव हो सकता है। तुम्हारे अनुग्रह से 'अपहतं रक्षः' विघ्नकारक राक्षस गण और शत्रुगण तथा भजन के प्रतिकूल रहने वाले अन्य आलस्यादिक अथवा 'बाह्य' बाहरी शत्रु 'परापूताः' पराक्षिप्त हो जाते हैं। हे जीवों! भगवत्कृपा से राक्षस नष्ट हो चुके हैं। वायु तुम लोगों को असत्संसर्ग से पृथक् करे। भगवान् हिरण्यपाणि सवितादेव अपने निर्दोष हस्त से तुम्हें वैदिक मन्त्र के द्वारा प्रेरित करे।

१—अनुष्ठान का प्रकार यह है—अध्वर्यु वारणकाष्ठ से निर्मित चमसपात्र को सव्य हस्त में लेकर दक्षिण हस्त से जलपात्र में से स्वयं उस चमसपात्र में जल का सिञ्चन करके दक्षिण हस्त से उस चमस पात्र को गार्हपत्य के उत्त में रखकर तदनन्तर दक्षिण हाथ से चमस पात्र में स्थित जल का स्पर्श करे। तदनन्तर 'ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि' ऐसा ब्रह्मा से पूछे। तब ब्रह्मा 'वाचम्प्रयच्छ' यह आज्ञा (प्रेष) यजमान को देता है। समस्त प्रेष देने के बाद ब्रह्मा 'प्रणय यज्ञं······ ···यजमानञ्च देहि' तक उपांशु जप करके 'ॐ प्रणय' यह अनुज्ञा अध्वर्यु को सुनाई दे इस प्रकार

बहिर्वेदिदर्भेषु प्रणीताचमसं निदधाति कस्त्वा युनक्तीति मन्त्रेण नाहवनीयमतिक्रम्य न चाप्राप्य किन्त्वाहवनीयमुत्तरेण समतयैवासादयेत् । उपरिष्टादपि दर्भैश्छादयेत् । तत आहवनीयस्य प्रागग्रैः पश्चादग्रैश्च दर्भैः परिस्तरणम् । ततो दक्षिणाग्नेरप्येवमेव । ततोऽध्वर्युर्यजमानो वा द्विशः पात्राण्यासादयति विनियोगक्रमेण आहवनीये गार्हपत्ये वा हविःश्रपणं करिष्यन् भवति । तस्योत्तरतः पश्चाद्वा उत्तरतश्चेदुदक्संस्थम् असम्भवे प्राक्संस्थमपि पश्चाच्चेत् प्राक्संस्थमसंभव उदक्संस्थमपि । आसादनञ्च समीपे निधानम् । एकेन प्रयत्नेन द्वे द्वे पात्रे गृहीत्वा निदधाति ।

२—तथाहि–शूर्पाग्निहोत्रहवणि स्फ्यकपालं शम्या कृष्णाजिनं, उलूखलमुसलं दृषदुपलं अनो वा पात्री वा धान्यं व्रीहयो यवा वा व्रीह्याग्रयणादनन्तरं यवाग्रयणात्प्राक् व्रीहय एव यवाग्रयणानन्तरं व्रीह्याग्रयणात् प्राक् यवा एव पवित्रच्छेदनामनि पवित्रे च धृष्टिः संयवनोदकम् स्थाली आज्यञ्च वेदो दक्षिणार्थश्च उदकतृणमभ्रिः इध्माबर्हिस्रुवश्चेत्यत्र स्रुवो जुहूः उपभृतध्रुवा संमार्गार्हाणि यानि पात्राणि द्वे प्राशित्र प्रहरणे' शृतावदानं ययोः पुराडाशयोः साधारणी एका पुरोडाशपात्री योक्त्रं लून कुशाश्च पक्षे परिधयस्त्रयः पीठं कुशास्तीर्णं इडापात्री षडवत्तम् अन्तर्धानशकटः पूर्णपात्रं पक्षकर्मापवर्गा समित् एवं पात्राण्यासाद्य हविष्यसहितमनः गार्हपत्यस्य पश्चात् प्रागीषमवस्थापयेत् तच्च युगयोक्त्रसहितं वस्त्रपरिवेष्टितं स्थापनीयम् । ततः 'कर्मणे वामि'ति मन्त्रेण अध्वर्युः शूर्पाग्निहोत्रहवण्योरादानं करोति । तत आरभ्य हविरावपनपर्यन्तं हविष्कृदाह्वानपर्यन्तं वाध्वर्योर्वाग्यमनम् । ततः 'प्रत्युष्टं रक्ष' इतिमन्त्रेण शूर्पाग्निहोत्रहवण्योर्गार्हपत्ये प्रतपनम् निष्टप्तमिति मन्त्रेण वा । तत उदकोपस्पर्शनम् । तत उर्वन्तरिक्षमितिमन्त्रेण शकटं प्रतिगच्छति । शकटाग्रसमीप उपविश्य धूरसीति मन्त्रेण तस्य दक्षिणामुत्त ७ं वा एकांधुरमभिमृशति ततस्तत्र स्थित एवोपस्तम्भनस्य पश्चात् उत्तरामीषामालभ्य देवानामसीति मन्त्रं जपति । ततः शकटस्य पश्चान्मार्गेण दक्षिणतोगत्वा विष्णुस्त्वा क्रमतामितिमन्त्रेण दक्षिणचक्रस्यो-

---

देता है । तब अध्वर्यु चमस को लेकर आहवनीय की उत्तर दिशा में वेदी के बाहरी भाग में बिछे दर्भों पर प्रणीता चमस को रखता है, रखते समय 'कस्त्वायुनक्ति' मन्त्र को पढ़ता है । अर्थात् आहवनीय का उल्लङ्घन (अतिक्रमण) करके अथवा उसके पहले ही (आहवनीय तक बिना पहुँचे ही) उसे न रख दे, अपितु आहवनीय के उत्तर में उसी के बराबरी में उसको स्थापित करे और उसको दर्भों से आच्छादित कर दे । तदनन्तर आहवनीय का परिस्तरण प्रागग्र और पश्चादग्र दर्भों से करे । उसके बाद दक्षिणाग्नि का भी इसी तरह परिस्तरण करे । तदनन्तर अध्वर्यु अथवा यजमान विनियोग क्रम से दो-दो पात्रों को जोड़ी से रखे । आहवनीय अथवा गार्हपत्य पर उत्तर भाग या पश्चिम भाग में हविःश्रपण करना है । उत्तर भाग में करना हो तो उदक्संस्थ, वह यदि सम्भव न हो तो प्राक्संस्थ भी पात्रासादन किया जा सकता है । प्राक्संस्थ का सम्भव न हो तो उदक्संस्थ भी हो सकता है । आसादन का अर्थ है, समीप रखना । एक प्रयत्न में ही दो-दो पात्रों को लेकर रखना चाहिये ।

२ - जैसे—शूर्प-अग्निहोत्रहवणी, स्फ्य-कपाल, शम्या-कृष्णाजिन, उलूखल-मुसल, दृषद्-उपल, शकट अथवा पात्री, धान्य में से व्रीहि अथवा यव । व्रीह्याग्रयण के अनन्तर और यवाग्रयण से पूर्व व्रीहि ही तथा यवाग्रयण के अनन्तर और व्रीह्याग्रयण से पूर्व यव ही का ग्रहण करना चाहिये । पवित्रच्छेद नामक पवित्र में धृष्टि यानो संयवनोदक, स्थाली और आज्य, वेद और दक्षिणार्थ, उदकतृण-अभ्रि, इध्माबर्हि और स्रुव । यहाँ स्रुव शब्द से जुहू और उपभृत् शब्द से ध्रुवा संमार्ग के योग्य जो पात्र हैं, जैसे दो प्राशित्रहरण, दो शृतावदान पुरोडाशों की साधारण एक पुरोडाशपात्री, योक्त्र और लूनकुशाएँ, पक्ष में तीन परिधि, पीठ कुशों से आस्तीर्ण इडापात्री, षडवत्त, अन्तर्धानशकट, पूर्णपात्र, पक्षकर्मापवर्गासमित्—इस प्रकार पात्रासादन करके हविष्य के सहित शकट को गार्हपत्य के पश्चात् भाग में शकट के फड (ईषा) को प्राक करके स्थापित करे । उसे युग-योक्त्र के सहित वस्त्र से वेष्टित करके स्थापित करे । उसके बाद 'कर्मणेवाम्' इस मन्त्र से अध्वर्यु शूर्प और अग्निहोत्रहवणी दोनों का ग्रहण करता है । तब से आरम्भ कर हविरावपन तक अथवा हविष्कृदाह्वान तक अध्वर्यु का वाग्यमन (मौन) रहता है । उसके बाद 'प्रत्युष्टं रक्षः' इससे अथवा 'निष्टप्तम्' इस मन्त्र से शूर्प और अग्निहोत्रहवणी दोनों का गार्हपत्य पर प्रतपन किया जाता है ।

पर्यारोहति। आरुह्योरुवातायेति हविष्यान् व्रीहीन् यवान् वा प्रेक्षते। ततो हविर्मध्ये यदि किञ्चित् तृणादीनि स्युस्तर्हि तद्गृहीत्वा 'अपहत रक्षं' इति मन्त्रेण निरस्यति। अन्याभावे अनेनैव मन्त्रेण हविरालभते। ततोऽपः स्पृशति। ततो यच्छन्ता' (वा० सं० १।९) मिति मन्त्रेण हविरालभते। ततः सव्यहस्ते शूर्पं निधाय तस्योपर्यग्निहोत्रहवणीमुत्तानां निधाय प्राङासीनो 'देवस्यत्वेति' (वा० सं० १।१०) मुष्ट्या प्रक्षिपति एवमपरं मुष्टिद्वयमनेनैव मन्त्रेण प्रक्षिप्य चतुर्थमुष्टिं तूष्णीं प्रक्षिपति। ततो गृहीतं हविः शूर्पमध्ये दक्षिणपार्श्वे प्रक्षेपणीयम् यथा हविरन्तरेण सङ्करो न स्यात्। ततोऽग्नीषोमीय पुरोडाशार्थं देवस्य त्वा अग्नीषोमाभ्यां जुष्टमिति (वा० सं० १।१०) मन्त्रेण त्रिर्गृह्णाति चतुर्थं तूष्णीम् ततः शूर्पमध्ये पृथगुत्तरतस्तद्धविः प्रक्षिप्य 'भूतायत्वेति' (वा० सं० १।११) मन्त्रेण शकटे परिशिष्टं हविरभिमृशति। तच्च गृहीत हविर्मध्येन न मिश्रणीयम्। ततोऽनस्युपविष्ट एव 'स्वरभिविख्येषामिति (वा० सं० १।११) मन्त्रेण पात्रीमीक्षते। ततो दृꣳहन्तामिति (वा० सं० १।११) मन्त्रेण शकटादवरोहति। तत 'उर्वन्तरिक्ष' (वा० सं० १।११) मितिमन्त्रेण गार्हपत्यसमीपे उत्तरस्यां गच्छति। ततः शूर्पं सहविष्कं 'पृथिव्यास्त्वे' (वा० सं० १।११) ति मन्त्रेण श्रपणस्य (गार्हपत्यस्य) हवनीयस्य वा पश्चात् सादयति।

३—अथवा अनसः कार्यं पात्र्या कार्यम् अस्मिन् पक्षे अनसः स्थापनादिकं न भवति तत्स्थाने पात्री आसादनीया। पात्र्यासादनानन्तरं सहविष्कां पात्रीं श्रपणस्य पश्चात् प्रागग्रामुदगग्रां वा स्थापयित्वा तस्या अधस्तात् स्फ्यं प्रागग्रमुदगग्रं वा प्रेरयित्वोपधेयम्। ततः शूर्पाग्निहोत्रहवण्योरादानम्। अस्मिन् पक्षे उर्वन्तरिक्षमिति पात्री समीपे गत्वा धूरसीति देवानामसीति विष्णुस्त्वाक्रमतामित्येतान् त्रीन् मन्त्रान् पात्रीविले जपति पात्र्याः पूर्वार्धमभिमृश्य जपति 'बिलं

तदनन्तर जलस्पर्श करना चाहिये। उसके बाद 'उर्वन्तरिक्षम्' मन्त्र से शकट की ओर जाता है। शकट के अग्रभाग के समीप बैठकर 'धूरसि' मन्त्र से उस शकट की दक्षिण या उत्तर की एक धुरा का स्पर्श करना चाहिये। तदनन्तर वहाँ स्थित हुए ही उपस्तम्भन करने के पश्चात् उत्तरा ईषा का स्पर्श करके 'देवामसि' मन्त्र का जप करे। उसके बाद शकट के पीछे के मार्ग से दक्षिण की ओर जाकर 'विष्णुस्त्वा क्रमताम्' मन्त्र से दक्षिण चक्र के ऊपर आरोहण करके 'उरुवाताय' मन्त्र से व्रीहि अथवा यवात्मक हविष्य को देखे। तदनन्तर हवि में यदि कुछ तृण आदि हों, तो उसे लेकर 'अपहत रक्षः' मन्त्र से निकाल दे। यदि अन्य तृणादिक न हों तो इसी मन्त्र से हवि का स्पर्श कर ले। उसके बाद जल स्पर्श करे। उसके बाद 'यच्छन्ताम्' मन्त्र से हवि का स्पर्श करे। ततः सव्य हस्त में शूर्प लेकर उस पर अग्निहोत्रहवणी को उत्तान रखकर पूर्वाभिमुख हुआ 'देवस्यत्वा' मन्त्र से एक मुष्टि हवि उसमें डाल दे, उसी प्रकार पुनः दो मुष्टि हवि, इसी मन्त्र से उसमें डालकर चौथी मुष्टि से हवि को लेकर बिना मन्त्र के (अमन्त्रक) ही उसमें डाल दे। इस प्रकार ग्रहण किये हुए हवि को शूर्प में उसके दक्षिण भाग में सँवार के स्थापित करे, जिससे अन्य हवि में उसका मिश्रण न हो पाय। उसके बाद अग्नीषोमीय पुरोडाशार्थ 'देवस्यत्वा अग्नीषोमाभ्यां जुष्टम्' मन्त्र से तीन मुष्टि पूर्व की तरह हवि का ग्रहण करे और चतुर्थ मुष्टि हवि का तूष्णीं ग्रहण करे। तब शूर्प से पृथक् रूप से शूर्प के उत्तर भाग में उस हवि को रखकर 'भूताय त्वा' मन्त्र से शकट में बचे हुए अवशिष्ट हवि का स्पर्श करे। उस गृहीत किये हुए हवि का किसी अन्य के साथ मिश्रण नहीं होना चाहिए। तदनन्तर शकट में बैठा हुआ ही 'स्वरभिविख्येषम्' मन्त्र से पात्री को देखे। तदनन्तर 'दृꣳहन्ताम्' मन्त्र से शकट से नीचे उतरे। उसके बाद 'उर्वन्तरिक्षम्' मन्त्र से गार्हपत्य के समीप उसके उत्तर भाग में जाय। तदनन्तर सहविष्क शूर्प का 'पृथिव्यास्त्वा' मन्त्र से श्रपण (गार्हपत्य) के अथवा आहवनीय के पश्चिम भाग में स्थापन कर दे।

३—अथवा शकट का कार्य, पात्री से भी किया जाता है। इस पक्ष में शकटस्थापन आदि नहीं होता है। उसके स्थान में पात्री का आसादन (स्थापन) किया जाता है। पात्री का आसादन करने के अनन्तर सहविष्क पात्री को श्रपण (गार्हपत्य) के पश्चिम भाग में प्रागग्र अथवा उदगग्र स्थापित करके उसके नीचे स्फ्य को प्रागग्र अथवा उदगग्र करके रखना चाहिये। तदनन्तर शूर्प और अग्निहोत्रहवणी दोनों का ग्रहण करे। इस पक्ष में 'उर्वन्तरिक्षम्'

पात्रीमुख'मिति तैत्तिरीयश्रुतेः। यद्युवैवानो भवति जघनेन गार्हपत्यं स्फ्यं निदधाति स्फ्योपरि पात्री पात्र्यां पुरोडाशीयानावपतीत्यर्थः। पूर्वार्धं पात्र्या अभिमृशति धूरसीत्यादि। पात्र्या उत्तरतः पश्चाद्वा दक्षिणतो वा यथासम्भवं प्राङ्मुख उपविष्टो हविरीक्षणमपद्रव्यनिरसनमालभनं वा कृत्वा अप उपस्पृश्य हविरालभ्य ग्रहणं शेषभिमर्शनम् प्राङीक्षणं च कृत्वा द्द ७ हन्तामित्यनेन मन्त्रेणोत्तिष्ठति। तत उत्तरतो गत्वा श्रपणस्य पश्चादासादयति। ततः समप्रमाणौ साग्रौ अनन्तर्गर्भौ अक्षारिताग्नौ कुशौ 'पवित्रेस्थ' (वा० सं० १।१२) इति मन्त्रेण कुशैः छुरिकास्थानीयैश्छिनत्ति।

४—अथवा तथा विधांस्त्रीन् कुशान् अनेनैव मन्त्रेणानूहितेन कुशैश्छिनत्ति। ततोऽग्निहोत्रहवण्यां स्वयमेवोदकमासिच्य सविता व इति मन्त्रेण ताभ्यां पवित्राभ्यामुत्पुनाति उत्क्षिपति। पवित्रयोर्हविर्ग्रहण्यां स्थापनम्। ततः सव्यहस्तेऽग्निहोत्रहवणौ निधाय सव्यहस्तस्थामेव संलग्नामेव दक्षिणहस्तेनोदिङ्ग्यति ऊर्ध्वं चालयति। ततः 'प्रोक्षिताः स्थे' (वा० सं० १।१३) ति मन्त्रेण प्राणीतेन जलेन तासां सकृत्प्रोक्षणम् 'प्रोक्षिताः स्थेति तासां प्रोक्षणमिति' (का० श्रौ० सू० २।३।३५) इतिरीत्या सायणादिरीत्या तु मानसोपचारैरेव तासां प्रोक्षणम्। ततो ब्रह्मन् हविः प्रोक्षिष्यामीति ब्रह्माणं पृच्छति—ततो ब्रह्मा प्रोक्ष यज्ञं धेहीत्यन्तमुपांशु जपित्वा—ओम् प्रोक्षेत्युच्चैः प्रस्तौति। ततोऽध्वर्युरग्निहोत्रहवण्याः सकाशादुदकं हस्तेनादाय शूर्पस्थे हविषी प्रोक्षति अग्नये त्वा जुष्टमिति प्रथमम् अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टमिति द्वितीयम्, ततः सर्वाणि पात्राणि दैव्याय कर्मणे इति मन्त्रेण प्रोक्षति। अत्र बहूदकमादाय प्रोक्षणं कार्यम्

मन्त्र से पात्री के समीप जाकर 'धूरसि, देवानामसि, विष्णुस्त्वा क्रमताम्' इन तीन मन्त्रों का जप, पात्री के बिल से करना चाहिये, 'बिलं पात्रीमुखम्' इस तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार पात्री के पूर्वार्धभाग का स्पर्श कर जप करना चाहिये। यदि शकट हो तो गार्हपत्य के पश्चिम भाग में स्फ्य को स्थापित करे, उस पर पात्री को रखे, उस पात्री में पुरोडाशीय पदार्थों को रखे। 'धूरसि' मन्त्र से पात्री के पूर्वार्ध का स्पर्श करे। पात्री के उत्तर या पश्चिम अथवा दक्षिण भाग में यथा सम्भव प्राङ्मुख बैठकर हविरीक्षण अपद्रव्य निरसन आलम्भन (स्पर्श) करे। तब हवि का स्पर्श करते हुए उसका ग्रहण करे और अवशिष्ट हवि का अभिमर्शन (स्पर्श) करे। तदनन्तर पूर्व की ओर देखकर 'द्द ७ हन्ताम्' मन्त्र कहते हुए उठे, और उत्तर की ओर से जाकर गार्हपत्य के पश्चात् भाग में उस गृहीत हवि को रख दे। तदनन्तर समान प्रमाण के साग्र, अनन्तर्गर्भ, अक्षारिताग्र दो कुशों (दर्भों) को छुरिका के स्थान में तीन कुशों से 'पवित्रेस्थ' मन्त्र को कहकर काट दे।

४—अथवा उसी प्रकार के तीन कुशों को इसी अनूहित मन्त्र से तीन कुशों के द्वारा काट दे। उसके बाद अग्निहोत्रहवणी में स्वयमेव जल डालकर 'सविता व' मन्त्र से उन दो पवित्रों से उस जल का उत्पवन (उत्क्षेपण) करे। तदनन्तर उन दो पवित्रों को हविर्ग्रहणी में रख दे। उसके बाद सव्य हाथ में अग्निहोत्रहवणी को रखकर दक्षिण हाथ से उसके जल का उद्गिङ्गन करना चाहिये यानी ऊपर की ओर उछालना चाहिये। उसके बाद 'प्रोक्षिताः स्थ' मन्त्र से प्रणीता पात्र के जल से उनका सकृत् प्रोक्षण करना चाहिये। किन्तु सायण के अनुसार मानसोपचार से ही उनका प्रोक्षण करने के लिये कहा गया है। तदनन्तर 'ब्रह्मन् हविः प्रोक्षिष्यामि' इस प्रकार ब्रह्मा से पूछता है। तब ब्रह्मा 'प्रोक्ष यज्ञ धेहि' तक उपांशु कहकर 'ॐ प्रोक्ष' ऐसा ऊँचे स्वर में कहता है। तब अध्वर्यु अग्निहोत्रहवणी पात्र से जल को हाथ में लेकर शूर्प स्थित हवि पर प्रोक्षण करता है। 'अग्नये त्वा जुष्टम्' मन्त्र से प्रथम हवि को 'अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टम्' मन्त्र से द्वितीय हवि को तदनन्तर 'दैव्याय कर्मणे' मन्त्र से समस्त पात्रों को प्रोक्षण करे। बहुत सा जल लेकर प्रोक्षण करना चाहिये, जिससे प्रोक्षण के जल कण सभी पात्रों का स्पर्श कर सकें। प्रत्येक पात्र पर प्रोक्षण की आवृत्ति का पक्ष युक्ततर है, क्योंकि 'प्रोक्षण' करना पात्रों का संस्कार है। प्रत्येक के संस्कारार्थ संस्कार की आवृत्ति करना उचित ही है। पात्रों को न्युब्ज (मुँह के बल लिटाकर) स्थापित करे। 'उत्तानानि कृत्वा त्रिः प्रोक्षति' के अनुसार सत्रान्तरों में सकृत् (एक बार) समन्त्रक और दो बार तूष्णीम् प्रोक्षण पत्रों को उत्तान करके करे। तद-

यथा प्रोक्षणीविन्दवः सर्वाणि पात्राणि स्पृशेयुः। प्रतिपात्रं प्रोक्षणावृत्तिपक्षो युक्ततरः प्रोक्षणस्य पात्रसंस्कारत्वात् प्रतिसंस्कारं संस्कारावृत्तिर्युक्त्व। पात्राणि न्युब्जान्यासादनीयानि। 'उत्तानानि कृत्वा त्रिः प्रोक्षतीति सत्रान्तरेषु सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम्। ततोऽसञ्चरे प्रणीताहवनीयान्तराले गार्हपत्याहवनीयान्तराले वा प्रोक्षणीनां निधानं कार्यम् उभयत्र सञ्चरणनिषेधात्। ततोऽध्वर्युः शर्मासीति मन्त्रेण कृष्णाजिनं हस्तेन गृह्णाति। तत आसादितपात्रेभ्यः परतो गत्वा अवधूतमितिमन्त्रेण कृष्णाजिनमवधूनोति। उदकोपस्पर्शनम्। तत उत्तरेण गार्हपत्यमुत्करदेशे प्रत्यग्ग्रीवं कृष्णाजिनमास्तृणाति। 'अदित्यास्त्वगसी'तिमन्त्रेण सव्येन हस्तेनाविमुक्ते कृष्णाजिने दक्षिणेन हस्तेन उलूखलमाहृत्य कृष्णाजिनस्योपरि निदधाति। अद्रिरसि वानस्पत्य इति मन्त्रेण ग्रावासि पृथुबुध्न इत्यनेन वा प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति उभयोर्मन्त्रयोः शेषः कार्यः ततः शूर्पे पृथक् स्थापितं हविर्द्वयं मिश्रीकृत्य सव्येनाविमुक्तोलूखलमध्ये अग्नेस्तनूरितिमन्त्रेण शूर्पेणैव हविरावपति। ततोऽध्वर्युर्यजमानयोर्वाग्विसर्गः। ततोऽध्वर्युः 'बृहद्ग्रावे'तिमन्त्रेण मुसलंहस्तेन गृह्णाति स इदं देवेभ्य इति। उलूखलमध्ये प्रवेशयति। ततः स्वयमेव कण्डने प्रवृत्तः कण्डनं कुर्वन्नेव हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति त्रिः हविःकर्त्रीं पत्नीं हविषः कण्डनकर्त्तारमग्नीधं वाह्वयति। अत्रोभयोर्वाग्विसर्गः। यदैव हविष्कृदेहीत्याह्वानं तदैवाग्नीत् कुक्कुटोऽसीति मन्त्रेण शम्यया द्विर्दृषदं कुट्टयति। उपलां शम्यया सकृत्कुट्टयति। तदनन्तरं पत्नी वा आग्नीध्रो वा कण्डनं करोति 'वितुषीभूतेषु व्रीहिषु "अध्वर्युर्वर्षवृद्धयसीतिमन्त्रेण हस्तेन शूर्पं गृह्णाति। ततः त्वा वर्षवृद्धमिति मन्त्रेण कण्डितहविरुलूखलान्निष्कास्य तूष्णीं शूर्पे निदधाति ततः 'परापूतं रक्ष' इति मन्त्रेण शूर्पेण निष्पुनाति तुषान् पृथक्करोति। ततोऽप उपस्पृश्य वायुर्वः" इति मन्त्रेण तण्डुलान् कण्डितान् व्रीहींश्च विविनक्ति। ततः कण्डितान्निःसार्य अकण्डितान् पुनरप्युलूखले प्रवेश्य कण्डनं कृत्वा पुनर्निष्कास्य शूर्पे कृत्वा तुषान् पृथक्कुर्यात्। ततः सर्वांस्तुषान'पहतम'ति मन्त्रेणोत्करदेशे निरस्येत्।

नन्तर प्रणीता और आहवनीय के अन्तराल (बीच) में अथवा गार्हपत्य और आहवनीय के अन्तराल में प्रोक्षणी पात्र को स्थापित करे, क्योंकि उभयत्र सञ्चरण का निषेध किया गया है। उसके बाद अध्वर्यु, 'शर्मासि' मन्त्र से कृष्णाजिन का हाथ से ग्रहण करे। तदनन्तर आसादित पात्रों के आगे जाकर 'अवधूतम्' मन्त्र से कृष्णाजिन को दिलावे, और जलस्पर्श करे। तब गार्हपत्य के उत्तर उत्कर देश में कृष्णाजिन को प्रत्यक् ग्रीव करके बिछावे। 'अदित्यास्त्वगसि' मन्त्र से सव्यहस्त से स्पृष्ट उस कृष्णाजिन पर दक्षिण हस्त से उलूखल को लेकर रखे। 'अद्रिरसि वानस्पत्यः' मन्त्र से अथवा 'ग्रावासि पृथुबुध्नः' मन्त्र से भी उलूखल की उस पर स्थापना कर सकते हैं। दोनों मन्त्रों के साथ 'प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्तु' यह शेष जोड़ना चाहिये। उसके बाद शूर्प में पृथक्-पृथक् रखे हुए दोनों हवियों को परस्पर मिश्रित करके सव्य हाथ से पकड़े हुए उलूखल में 'अग्नेस्तनूः' मन्त्र से शूर्प से ही हवि डालता है। तब अध्वर्यु और यजमान का वाग्विसर्ग होता है यानी अपना मौन तोड़ते हैं। उसके बाद अध्वर्यु बृहद्ग्रावा' मन्त्र से मुसल को हाथ से ग्रहण करता है। 'स इदं देवेभ्यः' मन्त्र से उलूखल में उसे रखता है। उसके बाद स्वयं ही कण्डन में प्रवृत्त हुआ अध्वर्यु कण्डन करता हुआ ही 'हविष्कृदेहि, हविष्कृदेहि' ऐसा तीन बार हविः कर्त्री पत्नी को अथवा कण्डन करने वाले अग्नीध को बुलाता है। इस समय दोनों का वाग्विसर्ग होता है जब भी 'हविष्कृदेहि' यह आह्वान किया जाता है, अभी अग्नीत् 'कुक्कुटोऽसि' मन्त्र से शम्या से दो बार दृषद् को बजाता है। और शम्या से उपला को सकृत् (एक बार) बजाता है। तदनन्तर पत्नी अथवा अग्नीध कण्डन करता है। व्रीहियों के निस्तुष हो जाने पर अध्वर्यु 'वर्षवृद्धमसि' मन्त्र से हाथ में शूर्प का ग्रहण करता है। तब 'त्वा वर्षवृद्धम्' मन्त्र से कण्डित हवि को उलूखल से निकाल कर तूष्णीं (अमन्त्रक) शूर्प में रखता है। तदनन्तर 'परापूतं रक्षः' मन्त्र से उसको शूर्प से फटकता है यानी पखाड़ता है, और तुषों को अलग करता है। तब जल स्पर्श करता है। 'वायुर्वः' मन्त्र से तण्डुल और कण्डित व्रीहियों को अलग-अलग करता है। कण्डितों को निकाल देता है, अकण्डितों को पुनरपि उलूखल में डालकर पुनः उनका कण्डन करके पुनः उन्हें निकालकर शूर्प में डालकर तुषों को 'अपहतम्' मन्त्र से उत्कर में डाल दे। फिर जल स्पर्श करे। तब शूर्प में स्थित तण्डुलों को पात्री में डालकर 'देवो वः सविता' मन्त्र से उनका अभिमन्त्रण करता है। अर्थात् तण्डुलों को अनामिका के अग्र भाग से स्पर्श करते हुए या देखते हुए मन्त्र को पढ़ता है।

उदकोपस्पर्शः ततः शूर्पस्थान् तण्डुलान् पात्र्यां प्रक्षिप्य 'देवो वः सविते'तिमन्त्रेणाभिमन्त्रयति तण्डुलाननामिकाग्रेण स्पृशन् विलोकयन् वा मन्त्रं पठति। ततस्त्रिः फलीकरोति त्रिः कण्डनेन सूक्ष्मकणिकाभ्यो वियोज्योज्वलान्-करोति। पूर्वं हविरुलूखलमध्ये न्युप्य कण्डनं निष्कास्य शूर्पेण निष्पूय कणानि दधाति। तथैव पुनर्वारत्रयमेव-फलीकरणम्।

धृष्टिरस्यपाग्नेऽअग्निमामादं जहि निष्क्रव्याद ँ सेधा देवयजं वह।

ध्रुवमसि पृथिवीं दृ ँ ह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजात वन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य

वधाय॥ वा० सं० १।१७॥

अर्थ—हे उपवेष ! तुम प्रगल्भ हो। आमात् (अपक्व पदार्थ को भक्षण करने वाला लौकिक), क्रव्याद (प्रेतमांस को भक्षण करने वाला चिताग्नि) और तीसरा यज्ञीय अग्नि। इस प्रकार से अग्नि के तीन भाग हैं। हे गार्हपत्य अग्ने ! तुम आमात् अग्नि का त्याग करो और क्रव्यात् अग्नि को दूर करो और तीसरे यज्ञिय अग्नि को समीप में ले लो। हे कपाल ! तुम स्थिर हो उस कारण पृथ्वी को स्थिर करो। ब्राह्मण, क्षत्रिय और यजमान कुल के लोग पुरोडाश की निष्पत्ति के लिये जिसका स्वीकार करते हैं, ऐसे हे कपाल ! तुम्हें मैं अङ्गारों पर रखता हूँ। उससे मेरे शत्रुओं का वध हो ।।१७।।

१—(वा० सं० १।१७) 'धृष्टिरसीत्युपवेषमादाय' (का० श्रौ० सू० २।४।२५) अपाग्न इत्यङ्गारान् प्राचः करोति। पलाशशाखाया मूलदेशे छिन्नः काष्ठभागोऽङ्गारापोहनसमर्थो हस्ताकृतिकाष्ठ उपवेषः। मूलतः शाखां परिवास्योपवेषं करोतीत्यापस्तम्बः। 'धृष्टिरसी'ति मन्त्रेणाग्नीदङ्गारान् खरस्य पूर्वभागे अपाग्न इति प्रेरयेत् गार्हपत्य-खरस्थाने खरस्यापरार्धे कपालोपधानविधानात्। हे उपवेष त्वं धृष्टिरसि प्रगल्भोऽसि (त्रिधृषा प्रागल्भ्ये) तत्रापाग्न इत्यङ्गारान् प्राचः करोति। तत्र त्रयोऽग्नयो भवन्ति। प्रथम आमात् आममपक्वमत्तीत्यामाल्लौकिकोऽग्निः, द्वितीयः क्रव्याद् शवदाहे क्रव्यं मांसमत्तीति क्रव्यात् चिताग्निः, तृतीयो यागयोग्यः। तथाविधांस्त्रीनङ्गारान् गार्हपत्यात्प्राग्भागे पृथक् कृत्य तेषां मध्ये यागयोग्यताहीनौ द्वावग्नी आमात् क्रव्यात्सञ्ज्ञौ वारयितुं गार्हपत्यं प्रत्युच्यते—हे गार्हपत्य

उसके बाद तीन बार फलीकरण करता है। अर्थात् तीन बार कण्डन करके सूक्ष्म कणिकाओं से अलग करके उन्हें उज्ज्वल करता है। हवि को उलूखल में डालकर कण्डन करके उसे निकाल कर शूर्प से फटक कर कणों को अलग करता है, तथैव पुनः दो बार करने को त्रिःफलीकरण कहते हैं।

१—कात्यायन श्रौतसूत्र कहता है कि 'अपाग्न' मन्त्र से अङ्गारों को पूर्व की ओर कर ले। पलाश की शाखा का उसके मूल भाग से काटा गया काष्ठ भाग, जो अङ्गारों को सरकाने में समर्थ हाथ के आकार का होता है, उसे 'उपवेष' कहते हैं। 'मूलतः शाखाम्परिवास्य उपवेषं करोति'—ऐसा आपस्तम्ब ने भी कहा है। 'धृष्टिरसि' मन्त्र से उपवेष को लेकर अग्नीत् अङ्गारों को खर के पूर्व भाग में 'अपाग्न' मन्त्र से सरकावे। क्योंकि गार्हपत्य खर स्थान में खर के पश्चिम भाग में कपालों के उपधान का विधान किया गया है। हे उपवेष ! तुम धृष्टि यानी प्रगल्भ हो, अर्थात्

अग्ने आमदमग्निमपजहि परित्यज तथा क्रव्यादमग्निं निःषेध निःशेषेण दूरं गमय आदेवयजमित्यङ्गारान् आहृत्य कपालेनाच्छादयति ध्रुवमसीति (का० श्रौ० सू० २।४।२६) आदेवयजमिति मन्त्रेण पूर्वस्यां दिशि अपोढानामङ्गाराणां मध्ये एकमङ्गारमुपवेषेण पुरोडाशश्रपणस्थाने आनीय स्थापयित्वा 'ध्रुवमसी'तिमन्त्रेण तस्याङ्गारस्योपरि एकं कपालं स्थापयेदग्नीन् ।

२—मन्त्रार्थस्तु—हे गार्हपत्य देवयजं देवा इज्यन्तेऽस्मिन्निति देवयाट् तं देवयजं देवानां यजनयोग्यमग्निं तृतीयमङ्गारमावह समीपमानय । प्राग्भागे त्रीनङ्गारान् पृथक्कृत्य मध्ये यागयोग्यताहीनौ आमात्क्रव्यात्संज्ञौ द्वावग्नी वारयितुं गार्हपत्यं प्रत्येवमुक्तिः । 'व्यवहिताश्चे' (पा० सू० १।४।८२) ति क्रियापदोपसर्गयोर्व्यवधानम् । तस्मात् अपजहि निःषेध । सोपसर्गयोर्जहतिसेधत्योर्निषेधार्थकत्वम् देवा इज्यन्तेऽस्मिन्निति देवयाट् तं कपालेनाच्छादयति—'त्रिभिः कपालैस्त्रींल्लोकान् यजमानो जयति चतुर्थेन दिशो यश्चैषु संस्क्रियते पुरोडाशः सोऽप्याधारवशात् त्रिलोकविग्रहो भूत्वा देवताः प्रीणाति यदु वा आत्मसमितमन्नं तदवति तन्नहिनस्ति इति श्रुतेः इत्युव्वटाचार्यः । हे कपाल त्वं ध्रुवमसि स्थिरं भवसि । अङ्गारोपरि वर्तमानमपि इतस्ततो न पतसि । पृथिवीं भूमिं दृꣳह दृढीकुरु । पुरोडाशपाकवेलायां त्वया व्यवधाने सति भूमेरत्यन्तदाहकृतम् शैथिल्यं न भविष्यति । किञ्च ब्रह्मवनित्वादिविशिष्टैस्त्वामुपदधामि देवयागहेतावङ्गारे स्थापयामि किमर्थं द्विषतो भ्रातृव्यस्य यागविघातरूपं द्वेषं कुर्वतोऽसुरस्य पाप्मनो वा वधाय हिंसार्थम् । 'व्यन् सपत्ने' (पा० सू० ४।१।१४५) इत्याद्युदात्तत्वात् भ्रातृव्यशब्दः शत्रुवाची । कथं भूतं त्वां ब्रह्मवनि ब्रह्मणा ब्राह्मणेन वन्यते पुरोडाशनिष्पत्त्यर्थं सम्यक् स्वीक्रियते (वनषण संभक्तौ) इति ब्रह्मवनिः, तथा क्षत्रवनिः क्षत्रेण वन्यते इति क्षत्रवनिः, सजातवनिः समानकुले जाता यजमानस्य ज्ञातयः सजातास्तैर्वन्यत इति सजात-

---

तीव्र अङ्गारों को इधर-उधर सरकाने में तुम समर्थ हो। तीन प्रकार के अग्नि होते हैं। पहिला 'आमात्' नाम का अग्नि है। 'आमम् अपक्वम् अत्ति इति आमात्' यह उसकी निरुक्ति है। इस 'आमात्' अग्नि को लौकिकाग्नि कहते हैं। दूसरा 'क्रव्याद्' नाम का अग्नि है। शवदाहे क्रव्यं मांसम् अत्तीति क्रव्यात्' यह उसकी निरुक्ति है। इस 'क्रव्यात्' अग्नि को चिताग्नि कहते हैं। तीसरा अग्नि, याग के योग्य होता है। 'देवाः इज्यन्ते अस्मिन् असौ देवयाट्, तं देवयजम्' इस निरुक्ति से यह तृतीय अग्नि 'देवयाट्' नाम का है। इस प्रकार के तीनों अङ्गारों को गार्हपत्य के पूर्व भाग में पृथक् करके उनमें से यागयोग्यता से रहित दो अग्नि हैं, उन्हें कोई 'अमात्' 'क्रव्यात्' संज्ञक न समझ ले, इसलिये गार्हपत्य के प्रति कहा जा रहा है कि हे गार्हपत्य ! अग्ने ! 'आमाद्' अग्नि का परित्याग कर दो, तथा 'क्रव्याद्' अग्नि को सम्पूर्णतया दूर कर दो। 'आदेवयजम्' इस मन्त्र से पूर्व दिशा में सरकाए हुए अङ्गारों में से एक अङ्गार को उपवेष से पुरोडाशश्रयण करने के स्थान में लाकर स्थापन करे और 'ध्रुवमसि' मन्त्र से उस अङ्गार के ऊपर एक कपाल को अग्नीत् रख दे।

२—मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे गार्हपत्य ! देवयज के योग्य तृतीय अङ्गार (अग्नि) को समीप में ले आओ। उस देवयाट् अग्नि को कपाल से आच्छादित किया जाता है। हे कपाल ! तुम स्थिर रहते हो। अर्थात् अङ्गार के ऊपर रहते हुए भी इधर-उधर गिरते नहीं हो। पुरोडाश को परिपक्व करते समय तुम्हारे द्वारा व्यवधान किये जाने से भूमि में अत्यन्त दाहकृत शिथिलता नहीं हो पाती। किञ्च ब्रह्मवनित्वादि विशिष्ट गुणों से युक्त होने के कारण देवयाग हेतुभूत अङ्गार पर तुम्हारी स्थापना कर रहा हूँ। जिससे तुम, याग विघात रूप द्वेष रखने वाले शत्रुभूत पापी असुर का विनाश कर पाओ। मन्त्र प्रयुक्त 'भातृव्य' शब्द का अर्थ 'शत्रु' है। क्योंकि 'व्यन् सपत्ने' इस पाणिनि सूत्र से आद्युदात्त होने से भ्रातृव्य शब्द, शत्रुवाचक होता है। ब्रह्मवनि आदि शब्दों की निरुक्ति इस प्रकार है—'ब्रह्मणा ब्राह्मणेन वन्यते पुरोडाशनिष्पत्त्यर्थं सम्यक् स्वीक्रियते इति ब्रह्मवनिः'। वन षण संभक्तौ धातु से 'वनिः' की निष्पत्ति होती है। तथा 'क्षत्रेण वन्यते इति क्षत्रवनिः' और 'सजातवनिः' अर्थात् समान कुले जाता यजमानस्य ज्ञातयः सजाताः तैर्वन्यते इति सजातवनिः। हे कपाल ! उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट रहने वाले तुम्हारा मैं उपधान कर रहा हूँ। अथवा

वनि:, तम्। हे कपाल इत्थंभूतं त्वामहमुपदधामि। ब्रह्म एव वा यद्वनोति संभजते तत्कपालं ब्रह्मवनि। एवं क्षत्रवनि सजातवन्यपि।

३—दयानन्दस्वामिरीत्या तु—हे अग्ने परमेश्वर त्वं धृष्टिरसि अतो निष्क्रव्यादमामादं देवयजमग्निं सेध। एवं मङ्गलाय शास्त्राणि शिक्षयित्वा दु:खमपजहि सुखं चावह। हे परमेश्वर त्वं ध्रुवमसि अत: पृथिवीं दृंह। त्वं ध्रुवमसि। हे अग्ने यत ईदृशो भवान् तस्मादहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वामुपदधामि। अन्वयान्तरञ्च हे यजमान हे विद्वन् यतोऽयमग्नि धृष्टिरस्यस्ति तथा चामान्निष्क्रव्यात् देवयजं यज्ञमावहति तस्मात्त्वमिममामादं निष्क्रव्याद् देवयजमानि मावह। अन्येभ्यस्तमेवं सेध शिक्षय तदनुष्ठानेन दोषानपजहि। यतोऽयमग्नि: सूर्यरूपेण ध्रुवं ध्रुवोऽस्यस्ति तस्मादयमाकर्षणेन पृथिवीं दृंह धरति। कस्मात् त्वं तमहं ब्रह्मवनिं क्षत्रवनिं सजातवनिं भ्रातृव्यस्य वधायोपदधामि—

४—भावार्थ:—सर्वशक्तिमतेश्वरेण यतोऽयमामात् दाहकस्वभावोग्नी रचित: ततो नायं भस्मादिकं दग्धुं समर्थो भवति। येनेमान् पदार्थान् पक्त्वाऽदन्ति स आमात्। येनोदरस्थमन्नं पच्यते येन च मनुष्या मृतं देहं दहन्ति स क्रव्यात् संज्ञोऽग्निर्येनायं दिव्यगुणप्रापको विद्युदाख्यश्च रचितस्तथा येन पृथिवीधारणाकर्षण प्रकाशक: सूर्यो रचित:, यश्च ब्रह्मादिभिर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणै: क्षत्रियै: समानजन्मभिर्मनुष्यैश्च वन्यते संसेव्यते तथा य: सर्वेषु जातेषु पदार्थेषु वर्तमान: परमेश्वरो भौतिकोऽग्नि र्वा स एव सर्वैरूपास्यो भौतिकश्च क्रियासिद्धयर्थं सेव्य:।

५—अत्रापि व्यत्ययबाहुल्यम् दोष:। सति सम्भवे यथाश्रुतार्थं व्याख्यानमेव युक्तम्। अग्निपदस्यापि क्वचि-

---

ब्रह्म ही जिसका वनन (संभजन) करता है, उस कपाल को 'ब्रह्मवनि' कहते हैं—'ब्रह्म एव वा यद्वनोति संभजते तत्कपालं ब्रह्मवनि। इसी प्रकार 'क्षत्रवनि' और 'सजातवनि' की निरुक्ति समझनी चाहिये।

३—किन्तु दयानन्द स्वामी के अनुसार मन्त्र का अर्थ होता है कि 'हे अग्ने परमेश्वर! तुम धृष्टि हो अत: निष्क्रव्याद् आमाद् देवयज अग्नि को प्राप्त करो। एवं मङ्गल करने के लिये शास्त्रों की शिक्षा देकर दु:ख को दूर करो और सुख को दो। हे परमेश्वर! तुम ध्रुव हो। अत: पृथ्वी को दृढ़ करो। हे अग्ने! तुम ध्रुवादि गुणों से विशिष्ट हो, इसलिये मैं भ्रातृव्य के नाशार्थ ब्रह्मवनि-क्षत्रवनि-सजातवनि के रूप में तुम्हारा उपधान करता हूँ।

अन्य प्रकार से भी अन्वय प्रदर्शित किया है - हे यजमान! हे विद्वन्! जब कि यह अग्नि 'धृष्टिरसि' धृष्टि है, तथा आमात् निष्क्रव्यात् होकर भी 'देवयजं' यज्ञ को सम्पन्न करता है, अत: तुम इस आमाद् निष्क्रव्याद् देवयज अग्नि को सम्पन्न करो। तथा अन्य लोगों के लिये उसे इस प्रकार बताओ (इस प्रकार से उसकी शिक्षा दो) कि उसके अनुष्ठान से दोषों को दूर करो। क्योंकि यह अग्नि सूर्य के रूप में ध्रुवोऽसि' ध्रुव है। इसी कारण यह अग्नि, आकर्षण के द्वारा पृथिवी का धारण दृढ़ता से करता है। क्योंकि तुम उसे और मैं ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि को भ्रातृव्य के वधार्थ स्थापन करता हूँ।

४—भावार्थ यह बताया गया है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर के द्वारा इस आमात् दाहक स्वभाव के अग्नि की रचना की गई है, उस कारण यह हम लोगों को दग्ध करने में समर्थ नहीं है, जिससे इन पदार्थों को पकाकर खाते हैं वह आमात् है, और जिससे उदरस्थित अन्न को पकाया जाता है, और जिससे मनुष्य मृत देह को जलाते हैं, वह क्रव्यात् है अग्नि है, जिसने इस दिव्य गुण के प्रापक और विद्युत् संज्ञक अग्नि की रचना की है, तथा जिसने पृथिवी के धारण, आकर्षण, प्रकाशक सूर्य की रचना की है, और जो ब्रह्मादि वेदवेत्ता ब्राह्मणों के क्षत्रियों के समान जन्म वाले मनुष्यों के द्वारा वनन यानी सम्यक् प्रकार से सेवन किया जाता है, तथा जो उत्पन्न हुए सभी पदार्थों में व्याप्त रहने वाला परमेश्वर अथवा भौतिक अग्नि है, उसी की सबको उपासना करनी चाहिये, और भौतिक अग्नि की अपनी क्रियासिद्धि के लिये सेवा करनी चाहिये।

५—यहाँ भी व्यत्ययबाहुल्य का दोष हो गया है। जहाँ तक सम्भव हो यथाश्रुत व्याख्यान करना ही उचित

त्परमात्मपरत्वेऽपि सर्वत्र तथाव्याख्यानमनुचितमेव। निष्क्रव्यादमित्यत्र निरूपसर्गो निरर्थक एव। 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८) इति क्रियापदोपसर्गयोर्व्यवधानस्मरणात्। अपेत्यस्य जहीति क्रियापदेन निरित्यस्य सेधेति क्रियापदेन सम्बन्धो युक्तः। संस्कृतपदार्थे क्रव्यं पक्वं मांसमत्तीत्युक्तम्—तच्च व्याख्यातम् आमादितस्य प्रतिद्वन्द्वितया। संस्कृतभाषापदार्थयोरपि येन च मनुष्या मृतं देहं दहन्ति सक्रव्यादित्युक्तः। यद्यपि क्रव्यं पक्वं मांसमत्ति तस्मान्निर्गतमित्युक्तम् तथा तस्य कोवार्थ इति नोक्तम्। क्रव्यादग्नेर्निर्गतः कोऽग्निः? आमादं जहि निष्क्रव्यादं सेध शास्त्राणि शिक्षयेति केन किं श्लिष्यते? देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वा यजति संगतान् करोति येन यज्ञेन तं देवयजं यज्ञम् आवह प्रापय प्रापयति। प्रथमान्वये तु निष्क्रव्यादमामादं देवयजमग्निं सेधेत्युक्तम्। येन त्रिविधानामग्नीनां शिक्षणं प्रार्थयते इति विज्ञायते तस्य कीदृशी शिक्षा भवतीति नोक्तम्। मङ्गलाय शास्त्राणि शिक्षयित्वा दुःखमपजहि। तत्र मङ्गलाय शास्त्राणीति कुतोलब्धमित्यपि नोक्तम्। उपस्थितं कर्म त्यक्त्वा सुखमावहेति कर्मयोजनमपि प्रमाद एव। हे परमेश्वर त्वं ध्रुवमसीत्यपि चिन्त्यम्। किञ्चध्रुवोऽस्यतः पृथिवीं दृंह इत्यनेन कः सम्बन्धः? अत इत्यनेन हेतुत्वं विज्ञायते प्रकृते तदीयस्य ध्रौव्यस्य पृथिव्या ध्रौव्ये कथञ्चिदुपयोगेऽपि पृथिव्यास्तत्स्थानां मनुष्याणां सुखवर्धने तु कथं तदुपयोग इति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु।

६—यच्च ध्रुवमित्यस्य निश्चलसुखमसीत्यर्थः कृत इति तत्तु निर्मूलमेव। यत ईदृशो भवांस्तस्मदाहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनिं क्षत्रवनिमुपदधामि हृदये इदमपि तथाविधमेवासङ्गतम् हेतुहेतुमद्भावानुपपत्तेः। ब्रह्म-ब्राह्मणं विद्वांसं वनतीति व्युत्पत्त्या धात्वर्थानुसारेण ब्राह्मणं भजतीत्येवार्थः। भाषार्थे तु ब्राह्मणादि प्राणिमात्रसुखदात्रित्युक्तम्। यः प्राणिमात्रसुखदाता तस्य भ्रातृव्यवधाय हृदय उपधानमपि विरुद्धमेव।

है। 'निष्क्रव्यादम्' में 'निर्' उपसर्ग निरर्थक ही है। 'व्यवहिताश्च' इस पाणिनि सूत्र ने क्रिया पद और उपसर्ग में व्यवधान बताया है। 'अपेत्य' का 'जहि' इस क्रिया पद के साथ 'निर्' का 'सेध' इस क्रिया पद के साथ सम्बन्ध करना उचित है। संस्कृत पदार्थ में 'क्रव्यं पक्वं मांसमत्ति' कहा है, और उसकी व्याख्या की है 'अमात्' की प्रतिद्वन्द्वितया। संस्कृत भाषा और पदार्थ में भी 'जिससे मनुष्य, मृत देह को जलाते हैं, बह क्रव्यात् है', कहा है। यद्यपि 'क्रव्यं पक्वं मांसम् अत्ति, तस्मात् निर्गतम्' यह कहा गया है, वैसे ही उसका क्या अर्थ है? यह नहीं बताया है। क्रव्यादग्नि से निर्गत कौन सा अग्नि है? 'आमादं जहि, निष्क्रव्यादं सेध, शास्त्राणि शिक्षय' इनमें किससे क्या सम्बद्ध है अर्थात् किसी का किसी से कोई मेल नहीं है। देवताओं को अथवा दिव्य गुणों से सम्पन्न विद्वानों को 'यजति' सङ्गत करता है जिस यज्ञ से, उस देवयजम्' यज्ञ को 'आवह प्रापय प्रापयति' प्राप्त कराता है। पहिले अन्वय में तो 'निष्क्रव्यादमामादं देवयजमग्निं सेध' कहा है। जिससे त्रिविध अग्नियों के शिक्षण की प्रार्थना की गई है, यह ज्ञात हो रहा है, किन्तु उसकी कैसी शिक्षा है, यह नहीं बताया। 'मङ्गलाय शास्त्राणि शिक्षयित्वा दुःखमपजहि' यह जो कहा, उस में 'मङ्गलाय शास्त्राणि' यह अर्थ कहाँ से लब्ध हुआ, इसे नहीं बताया। उपस्थित कर्म का परित्याग कर 'सुखमावह' इस प्रकार कर्म की योजना करना भी नितान्त प्रामादिक ही है। 'हे परमेश्वर! तुम ध्रुव हो'—यह कथन भी चिन्त्य है। किञ्च 'ध्रुवोऽसि अतः पृथिवीं दृंह' इससे क्या सम्बन्ध है? अतः कहने से हेतुत्व ज्ञात होता हैं। प्रकृत में उसकी ध्रुवता का पृथिवी की ध्रुवता में कथञ्चित् उपयोग हो सकने पर भी पृथिवी और उस पर रहने वाले मनुष्यों के सुखवर्धन में उसका कैसे उपयोग हो सकता है? इस पर विद्वान् लोग स्वयं विचार करें।

६—और जो 'ध्रुवम्' का 'निश्चल सुखमसि' अर्थ किया है, वह तो निर्मूल ही है। क्योंकि 'ऐसे आप हैं, इसलिये मैं भ्रातृव्य के वधार्थ ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि का हृदय में उपधान करता हूँ' यह कहना भी उसी तरह असङ्गत है, क्योंकि हेतु-हेतुमद्भाव नहीं बन पा रहा है। 'ब्रह्म ब्राह्मणं वनति' इस व्युत्पत्ति से धात्वर्थ के अनुसार 'ब्राह्मणं भजति' यही अर्थ होता है। किन्तु भाषार्थ करते समय 'ब्राह्मणादि प्राणिमात्र के सुखदाता' कह दिया है। जो प्राणिमात्र को सुख देने वाला है, उसका मैं हृदय में उपधान करूँ' यह कहना भी विरुद्ध ही है।

७—द्वितीयेऽर्थेऽपि यतः सोऽग्निर्धृष्टिरस्ति तथा चामान्निष्क्रव्याद् देवयजं यज्ञमावहति तस्मात्त्वमिममामादं निष्क्रव्यादं देवयजमावह, अन्येभ्यस्तमेवं सेध शिक्षय तदनुष्ठानेन दोषमपजहि एतावतेदं ज्ञायते यदामाद्—निष्क्रव्याद् कश्चिदस्ति स देवयजं यज्ञमावहति त्वं तमावह। अत्र तु देवयजं यज्ञमिति पदद्वयमपि तद्विशेषणत्वेनैवोरीकृतम् अनुष्ठानं कस्य भविष्यति ? यज्ञस्यामादो वा ? यज्ञस्यैव चेत् कथमावहतीत्यनेन तत्सम्बन्धः ? यतोऽयमग्निः सूर्यरूपेण ध्रुवोऽस्ति स आकर्षणेन पृथिवीं धरति।

८—भावार्थे तु परमेश्वरेणाग्नीरचित इत्यप्युक्तम् तत्कस्य पदस्यार्थः ? आकर्षणमपिकस्य विद्युदाख्योग्निः कस्यपदस्यार्थ इत्यपि दुरधिगम एव। हिन्द्यां तु विद्वन् हे यजमानयतोऽयं भौतिकोऽग्निस्तीक्ष्णमितितथा निकृष्टान् पदार्थान् वर्जयित्वा उत्तमपदार्थैर्विदुषां दिव्यगुणानां वा प्रापकं यज्ञं प्रापयति तस्मात्त्वं निष्क्रव्याद् दग्धान् भस्मादिपदार्थांस्त्यक्त्वाऽपक्वदाहक विदुषां दिव्यगुणानाञ्च प्रापकं प्रत्यक्ष विद्युद्रूपमग्निमावह। तथा तज्जिज्ञासुभ्यः शास्त्रीया शिक्षा ? सेध शिक्षय। तदनुष्ठानेन दोषमपजहि। यतोग्निः सूर्यरूपेण ध्रुवः निश्चलोऽस्ति अतः स आकर्षणशक्त्या पृथिवीं तत्स्थान् प्राणिनश्च दृढं हति। अत एवाहं ब्रह्मादिजीवमात्रस्य सुखदुःखानां पृथक् पृथक् प्रापकं भौतिकमग्निं भ्रातृव्यस्य दुष्टानां शत्रूणां वा वधाय हवनवेद्यां विमानादि यानेषु वा स्थापयामि इति,

९—तदपि निर्मूलमेव निकृष्टान् पदार्थान् वर्जयित्वा इति निष्क्रव्याद् पदस्य कथमर्थः ? यदि तु तस्मान्निर्गतं निष्क्रव्यादमिति व्युत्पत्त्या सोऽर्थो लभ्यत इति, तदप्यसङ्गतम् यस्मिन् यस्य सत्त्वं भवेत् तस्मादेव तस्य निर्गमनं भवति यथा तिलात्तैलस्य निर्गमनम्। नहि सिकतायाः सकाशात् तैलनिर्गमनं सम्भवति। क्रव्याद्रूपेऽग्नौ यद्यामादग्निस्तिष्ठेत्तत एव तस्मात्तस्य निर्गमनं भवेत्। न च तत्सम्भवति आमाद्रूपेऽग्नावपि न क्रव्यादग्निर्भवति येन

७—द्वितीय अर्थ में भी 'जब कि वह अग्नि 'धृष्टि' है, तथा च आमाद् निष्क्रव्याद्, देवयज्ञ का रूप धारण करता है, इसलिये तुम इस 'आमाद्' निष्क्रव्याद् देवयज यज्ञ का वहन करो, अन्यों के लिये तुम ऐसी शिक्षा दो, उसके अनुष्ठान से दोष को दूर करो। यह कहने से प्रतीत होता है कि निष्क्रव्याद् कोई है, वह यज्ञ का वहन करता है, उसे तुम वहन करो। यहाँ तो 'देवयजम्' और 'यज्ञम्' दोनों ही पदों को विशेषण के रूप में माना है, तब अनुष्ठान किसका होगा ? यज्ञ का या आमाद् का ? यज्ञ का ही अनुष्ठान यदि होगा तो 'आवहति' के साथ उसका सम्बन्ध कैसे होगा ? क्योंकि यह अग्नि, सूर्य के रूप में ध्रुव है, वही आकर्षण के द्वारा पृथिवी पर भी है।

८—भावार्थ में कहा गया है कि परमेश्वर ने अग्नि की रचना की है, किन्तु यह किस पद का अर्थ है ? आकर्षण भी किसका ? 'विद्युत् नाम का अग्नि', यह किस पद का अर्थ है ? हिन्दी अर्थ करते समय कह दिया है कि हे विद्वन् ! हे यजमान ! जब कि यह भौतिक अग्नि, तीक्ष्ण समझकर उन तीक्ष्ण निष्कृष्ट पदार्थों को छोड़कर उत्तम पदार्थों से विद्वानों के अथवा दिव्य गुणों के प्रापक यज्ञ के प्रति पहुँचाता है इसलिये तुम 'निष्क्रव्यादं' दग्ध हुए मत्स्यादि पदार्थों को त्यागकर अपक्व पदार्थ के दाहक और दिव्य गुण सम्पन्न विद्वानों के प्रापक प्रत्यक्ष विद्युद्रूप अग्नि को वहन करो। तथा उसे जानने की इच्छा रखने वालों के लिये शास्त्रीय शिक्षा का शिक्षण दो। इस प्रकार अनुष्ठान कर दोष को दूर करो। क्योंकि अग्नि, सूर्य के रूप में 'ध्रुव' निश्चल है। अतः वह आकर्षण शक्ति से पृथिवी को और उस पर रहने वाले प्राणियों को दृढ़ करता है। अतएव मैं, ब्रह्मादि जीव मात्र के सुख-दुखों को पृथक् पृथक् प्राप्त कराने वाले भौतिक अग्नि की स्थापना भ्रातृव्य के अर्थात् दुष्टों अथवा शत्रुओं के वधार्थ हवन की वेदी में अथवा विमानादि यानों में स्थापना करता हूँ।'

९—यह कथन भी निर्मूल है। क्योंकि 'निकृष्टान् पदार्थान् वर्जयित्वा' यह अर्थ 'निष्क्रव्याद्' पद का कैसे होगा ? यदि 'तस्मान्निर्गतं निष्क्रव्यादम्' इस व्युत्पत्ति से वैसा अर्थ करते हो, तो वह भी सङ्गत नहीं होगा। क्योंकि जिसमें जिसकी सत्ता (सत्त्व) हो, उसी से उसका निर्गमन हो सकता है। जैसे तिलों से तैल का निर्गमन होता है। सिकता (वालु-रेत) से तैल का निर्गमन कदापि नहीं होता है। क्रव्याद् रूप अग्नि में यदि आमाद् अग्नि, स्थिर रहे तो

तस्मात्तस्य निर्गमनं सिद्धयेत। न च यथा नीरूपो वायुर्भवति न च तत्र रूपं भवति कथं तर्हि निर्गतं रूपं यस्मात्स नीरूपो वायुरुच्यते तथैव च निर्गता गुणा यस्मात् स निर्गुण इति वाच्यम् तत्र, तु निरस्तं बाधितं रूपं यस्मात् स वायुर्नीरूप:, नित्यनिरस्ता बाधिता गुणा यस्यात्स निर्गुण इति व्युत्पत्तेरभ्युपगमात्।

१०—सिद्धान्ते तु वायोस्तेजस उत्पत्ते रूपस्यापि तत उद्गमः सम्भवत्येव। सर्वकारणात् परमेश्वरात् गुणानामप्युद्भवात् भवत्येव निर्गुणत्वोपपत्तिः, न तथा प्रकृते आमाद्यग्नौ क्रव्यादः सम्भवति येन ततः स निर्गच्छेत् तावतापि आमादग्निरन्नादिपाचक एव भवति, विद्युदाख्यः कथं तेन ग्रहीतुं शक्यः? शक्तिमता परमेश्वरेण भौतिकोग्निर्निमितः। स चादग्धं दहति। नैतावदेव किन्तु दाह्यमेव दहति नादाह्यमात्मानम्, वाय्वाकाशादिकमपि न दहति, तदपि वक्तव्यम्। बाह्यः कौष्ठयं च दहति मांसश्चास्ति तेनैव दिव्यगुणप्रकाशिका विद्युत्पद्यते तेनैव पृथिवीधारकः सूर्यो निर्मितः। या वेदविद्भिर्ब्राह्मणैः धनुर्वेदविद्भिश्च क्षत्रियैस्तथा प्राणिमात्रेण सेव्यते तथा यः सर्वव्यापकः स एव सर्वोपास्यः, यश्च क्रियासिद्धयर्थं भौतिकोग्निर्यथा योग्यं सेव्यः यद्यपि न भौतिकोग्निः सूर्यादिकमुत्पादयति, कथञ्चित्तदभ्युपगमेऽपि न प्रकृतमन्त्रेण तादृशोऽर्थो बोध्यते पदानां वाक्यानाञ्च तद्विपरीतार्थावबोधकत्वात्।

११—वस्तुतस्तु श्रुतिसूत्रपारम्पर्यशून्यत्वादेव वेदनाम्ना निरर्थकमितस्ततो बुद्धिभ्रमणमिति नास्ति तिरोहितं विदुषाम्। शतपथव्याख्यानमत्रापि चर्चितं तेनेति शतपथव्याख्यानमपि उपस्थाप्यते।

१२—स वै कपालान्येवान्यतर उपदधाति। दृषदुपलेऽन्यतरद्वा। एतदुभयं सहक्रियते। तद्यदेतदुभयं

उसी से उसका निर्गमन सम्भव हो सकेगा। किन्तु वह कभी सम्भव नहीं है। आमाद् अग्नि में 'क्रव्याद्' नाम का अग्नि नहीं रहता है, जिससे उसका निर्गमन उससे सम्भव हो सके। यदि यह शङ्का करो कि जैसे 'वायु' नीरूप होता है, क्योंकि उसमें रूप का होना सम्भव ही नहीं है, तब 'निर्गतं रूपं यस्मात् स नीरूपौ वायुः' यह कैसे कहा जाता है? उसी तरह 'निर्गता गुणा यस्मात् स निर्गुणः' यह कह सकते है। किन्तु ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है। वहाँ तो 'नित्य निरस्त (बाधित) है रूप जिससे, वह वायु 'नीरूप' कहा गया है। उसी तरह नित्य निरस्त (बाधित) हैं गुण, जिससे, उसे निर्गुण कहा गया है। नीरूप वायु और निर्गुण की यही व्युत्पत्ति की जाती है, यही सबको मान्य है।

१०—सिद्धान्त में तो वायु से तेज की उत्पत्ति होने के कारण 'रूप' की भी उससे उत्पत्ति का होना सम्भव हो ही सकता है। सर्वकारणभूत परमेश्वर से गुणों का भी उद्भव होने से 'निर्गुणत्व' की उपपत्ति हो ही जाती है। उस प्रकृत आदि अग्नि में क्रव्याद की सम्भावना नहीं है, जिससे उससे वह निर्मित हो सके। तावतापि आमाद् अग्नि अन्न आदि का पाचक ही होता है, उससे विद्युतसंज्ञक अग्नि का ग्रहण करना कैसे शक्य हो सकता है? शक्तिमान् परमेश्वर ने भौतिक अग्नि का निर्माण किया है। वह अग्नि, अदग्ध का दहन करता है। इतना ही नहीं है, अपितु वह दाह्य (जलाने के योग्य पदार्थ) को ही जलाता है। वह अदाह्य आत्मा को नहीं जलाता है। वह वायु आकाश आदि को भी नहीं जलाता है। उसे भी बताना चाहिये था। बाह्य कौष्ठय को जलाता है और मांस को खाता है, उसी से दिव्य गुण की प्रकाशिका विद्युत् उत्पन्न होती है, उसी ने पृथिवी के धारक सूर्य का निर्माण किया है। वेदविद् क्षत्रियों का तथा समस्त प्राणिमात्र का वही सेवनीय है। तथा जो सर्वव्यापक है, वही सबका उपास्य है, क्रिया सिद्धयर्थ जो भौतिक अग्नि है वह यथायोग्य सेव्य है, यद्यपि भौतिक अग्नि, सूर्य आदि का उत्पादक नहीं है। यथा कथञ्चित् उसे वैसा मान भी लें तो भी प्रकृत मन्त्र से वैसा अर्थ अवगत नहीं हो रहा है, क्योंकि प्रकृत मन्त्र के पद और वाक्यों से तद्विपरीत अर्थ का बोधन होता है।

११—वस्तुतस्तु श्रुति-सूत्र की परम्परा का ज्ञान न होने से ही वेद के नाम पर निरर्थक प्रलाप करके जनता की बुद्धि में भ्रम पैदा कर दिया गया है, इसे विद्वान् लोग अच्छी तरह से जान चुके हैं। यहाँ शतपथ व्याख्या की भी उन्होंने चर्चा की है, जो प्रलाप मात्र है। तदर्थ हम शतपथ व्याख्या को भी उपस्थित कर दे रहे हैं।

१२—"सवैकपालान्येवान्यतर उपदधाति·····················सहक्रियते।" (श० प०१।१।२।१-२) इस शतपथ

शिरोह्वा एतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः स चान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालानि एत न्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एव पिष्टानि तद्वा एतदेकमङ्गमेक ७ ं संह करवावेति तस्माद्वा एतदुभयं सहक्रियते ।' (श० १।१।२।१-२)

१३—अत्र कपालोपधानपेषणयोर्युगपदनुष्ठानं विधत्ते श्रुतिः। तथैव कात्यायनोऽपि (का० श्रौ० सू० २।१०८) अन्यतरः ऋत्विजां मध्ये एकः आग्नीध्रः स कपालानामुपधाता अन्यतरः अध्वर्युः सपेषणार्थं दृषदुपले उपदध्यात्। उक्तं कर्तृभेदमुपपादयति तद्वा एतदुभयं सहक्रियते। एककर्तृकत्वे तु पर्यायेणैवानुष्ठानं स्यान्न सहानुष्ठानम्। एतच्चोभयं सहानुष्ठेयम् अतो विभिन्नावेव कर्तारौयुगपत्कुर्यातामित्यर्थः। सहानुष्ठानमुपपादयितुमनुवदति तद्यदिति—शिरोह वा एतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः। पुरोडाशस्य यज्ञशिरस्त्वमुक्तं तदुपपादयति स दान्येवेमानि मस्तिष्कः एव शिरः। कपालान्तर्गतं मांसं मस्तिष्कः। तद्वा एतत्कपालं मस्तिष्करूपं मिलितं सच्छिरः संज्ञकमेकमङ्गं प्रसिद्धं लोके। तथात्रापि। शिरःकपालमस्ति कपालपिष्टयोः सहप्रयोगात् पुरोडाशात्मकस्य यज्ञशिरस एकीकरणं सेत्स्यति।

१४—स यः कपालान्युपदधाति स उपवेषमादत्ते धृष्टिरसीति स यदेनेनाग्निधृष्णवेवोपचारति तेन धृष्टिरथ यदेनेन यज्ञ उपालभते उपेव वा एनेनैत द्वेवेष्टि तस्मादुपवेषोनाम' (श० १।१२।३) कपालान्युपदधतः कृत्यमाह—उपवेषमाह धृष्टिरसीति। अङ्गारविभजनार्थं काष्ठमुपवेषः। धृष्टिशब्दार्थं निर्वक्ति धृष्णे वेति इति। क्रियाविशेषणमेतत्। अनेधृष्णु यथास्यात्तथा अग्निना व्यवहरतीत्यर्थः। (ञिधृषा प्रागल्भ्ये) स्वा० (३३) इत्यस्मात् धृष्णोत्यनेनेति धृष्टिः करणे क्तिनि सिद्धयति। अत एतदुपवेषस्य संज्ञान्तरम्। तथा चान्यत्र श्रूयते धृष्टिरुपवेष इति।

१५—अथेत्यादिनोपवेषस्य निर्वचनम्। अथ यज्ञे एतेन काष्ठेन यदङ्गारादिकमुपालभते प्राप्नोति तत् एतत् एतेनोपवेषेण वेवेष्टीय (विष्लृ व्याप्तौ) इत्यस्मात् करणसाधनो घञन्त उपवेषशब्दः। सर्वथापि सिद्धान्तानुसारिव्याख्यानमेव पोषयति श्रुतिः। तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति। अग्निमामादं जहि निष्क्रव्याद ७ ं सेधेत्ययं वा आमाद्येनेदं मनुष्या पक्त्वा अश्नन्ति। येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्यादेतां वेवैतदुभावतोपहन्ति' (श० १।१।२।४) अग्निगताशुद्धयंशस्य निरसनं विधत्ते श्रुतिः तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति। तेनोपवेषेण प्राचस्त्रीन् प्राग्दिग्गतानुदूहति। मन्त्रगतयोरामात्क्रव्यात्-शब्दयोर्विवक्षितार्थमाह—आममपक्वमत्तीत्यामात् मनुष्याणामोदनादिपाकहेतुरग्निरामादुच्यते। क्रव्यं पललमत्तीति क्रव्यात् शवदहनोग्निः। तावेतामामात्क्रव्यादौ एतेनापहन्ति आमादमपजहि क्रव्याद निःसेधेति मन्त्रवाक्यद्वयेन निरस्यतीत्यर्थः।

के द्वारा भगवती श्रुति ने कपालोपधान और पेषण का युगपदनुष्ठान का विधान किया है। उसी तरह कात्यायन ने भी बताया है। पुरोडाश को यज्ञ का शिर बताया है। कपाल और पिष्ट का सहप्रयोग करने से पुरोडाशात्मक यज्ञ शिर का एकीकरण सिद्ध होगा।

१३—जो कपालों का उपधान करता है, वही 'धृष्टिरसि' मन्त्र से 'उपवेष' का ग्रहण करता है। अङ्गार विभजन जिस काष्ठ से किया जाता है, उसे 'उपवेष' कहते हैं। 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' धातु से धृष्णोति अनेनेति धृष्टिः' इस कारण व्युत्पत्ति के आधार पर करण अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर 'धृष्टि' शब्द निष्पन्न होता है। अतः 'धृष्टि' शब्द 'उपवेष' का ही नामान्तर है। 'उपवेषेण वेवेष्टि इत्युपवेषः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'विष्लृव्याप्तौ' धातु से करण साधन घञन्त 'उपवेष' शब्द निष्पन्न होता है।

१४—सर्वथापि सिद्धान्तानुसारी व्याख्यान का ही समर्थन श्रुति करती है। उसने अग्निगत अशुद्धि रूप अंश के निरसन का विधान किया है। मन्त्रगत 'आमात्' 'क्रव्यात्' शब्दों के विवक्षित अर्थों को बताया है। अपक्व को खाने वाले अग्नि को आमात् अर्थात् मनुष्यों के भक्षण किये हुए ओदनादि पदार्थों का पाक करने वाला अग्नि आमात्' शब्द से कहा जाता है। और 'क्रव्यं पललम् अत्ति इति क्रव्यात्' अर्थात् शव को जलाने वाले अग्नि को 'क्रव्यात्' कहते हैं। दो मन्त्रों से आमात् और क्रव्यात् नामक अग्नियों का निरसन बताया गया है।

१५—अथाङ्गारमास्कौति आदेव यजं वहेति यो देवयाट् तस्मिन् हविषि श्रपयाम तस्मिन् यज्ञं तनवामहा इति तस्माद्वा आस्कौति' (श०१।१।२।५) एवमयज्ञियमग्निं मन्त्रेण निर्हृत्य शुद्धादग्नेः पुरोडाशश्रपणार्थमङ्गाराहरणं विधत्ते श्रुतिः। आस्कौति विभजतीत्यर्थः। (स्कुञ् आप्रवणे क्र्यादिः, धातु ३६) इत्थं कुर्वतामभिप्रायमाह देवान् यजतीति देवयाट् योग्निः तस्मिन् हवि ँषि श्रपयामः हविःश्रपणादिकं करवामहै इत्यनेनाभिप्रायेण तस्मिन् यज्ञं तनवामहै तस्मात्कारणात् देवयजमग्निमास्कौति। एतदेव सायणादिभिः स्पष्टीकृतं स्वस्वभाष्येषु। त्रीनङ्गारानुपवेषेण प्राग्गतान् पृथक्करोति। तेषां मध्ये द्वावामात्क्रव्यात्संज्ञौ। 'आमादं जहि क्रव्यादं निःषेधे'ति मन्त्राभ्यां निरस्य 'देवयजमावहे'ति मन्त्रेण यज्ञियमग्निं हविःश्रपणार्थमास्कौति आहरति।

१६—तं मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति। देवा हवै यज्ञं तन्वानास्ते असुररक्षसेभ्यः आसङ्गाद्बिभयाचक्रुः। नेन्नोऽधस्तान्नाष्ट्राः रक्षा ँस्युपोत्तिष्ठानीत्यग्निर्हि रक्षसामुपहन्ता तस्मादेवमुपदधाति। तद्यदेष एव भवति नान्य एष हि यजुष्कृतो मेध्यस्तस्मान्मध्यमेन कपालेनोपदधाति' (श० १।१।२।६) तस्मिन्नङ्गारे मध्यमकपालस्योपधानं विधत्ते श्रुतिः अङ्गारस्योपरि विहितं कपालोपधानं प्रशंसति—यज्ञं तन्वाना देवा असुरराक्षसासङ्गाद् भीता जाताः। नोऽस्माकं हविषो भागेन राक्षसादय उपतिष्ठेयुरित्यनेनाभिप्रायेणाङ्गारस्योपरि कपालोपधानं कृतवन्तः। एवं कृते सत्युक्तभयनिवृत्तिमाह—यतोग्नी रक्षसामपहन्ता किञ्च 'आदेव यजमाहे'ति यजुर्मन्त्रेण मेध्यः कृतोऽयमग्निरत उक्तमन्त्रेण स्थापितस्यैवाङ्गारस्योपरि कपालोपधानं प्रशंसति। यजुषा मन्त्रेण संस्कृतत्वादेष एव हि कपालोपधाने प्रशस्यो नान्य इति।

१७—स उपदधाति ध्रुवमसि पृथिवीं द ँहेति। पृथिव्या एव रूपेणैतदेव द ँहत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति बह्वीर्वै यजुःष्वाशीस्तद्ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्त उभेवीर्ये सजातवनीति भूमा वै सजातास्तद् भूमानमाशास्त उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति यदि नाभिचरद्यद्युअभिचरेदमुष्य वधायेति ब्रूयादभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति। अग्रे विहितमुपधानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते 'स उपदधातीति। पृथिवीं द ँहे'ति पृथिवीसम्बन्धश्रवणात् तत्सम्बन्धिरूपेणेव कपालं दृढं करोति। दृढेन चैतेन कपालेन विद्वेषणं कुर्वन्तं शत्रुं बाधते।

१८—एतन्मन्त्रशेषमनूद्य व्याचष्टे ब्राह्मवनीति। यजुःषु बहुविधा खलु आशीःफलप्रार्थना भवति अतो बहुविधं ब्राह्मक्षत्रादिसंभजनमनेन प्रतिपाद्य मन्त्रगतब्रह्मक्षत्रशब्दयोर्लक्षणया तद्वीर्यवत्त्वं विवक्षित्वा व्याचष्टे–ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्ते अथात उभेवीर्ये आशास्ते ब्रह्म वीर्यं क्षत्रवीर्यं चास्मान् सम्भवत्विति प्रार्थयते सजातवनीत्यनेन भूमानमाशास्ते कुतः समानं जायन्ते इति व्युत्पत्त्या सजाता ज्ञातयो भवन्ति। तेषु बहुभावस्य दर्शनात् धर्मिवाचिना सजातशब्देन तद्धर्मो विवक्षितः। अभिचरतो विशेषं वक्तुं नित्यपक्षमनुवदति—यद्यु अभिचरेत्तदा भ्रातृव्यस्य वधायेति स्थाने अमुष्य वधायेति षष्ठ्यन्तं शत्रोर्नाम निर्दिश्य ब्रूयात्। उपहितस्य कपालस्योपरि सव्यस्यपाणेरङ्गुल्या अभिनिधानं विधत्ते श्रुतिः।

१५—और पुरोडाशश्रपण के लिये शुद्ध अग्नि के आहरण का विधान श्रुति ने किया है। इसी अर्थ को सायणादि आचार्यों ने अपने-अपने भाष्यों में स्पष्टतया बताया है।

१६—उस शुद्ध अग्नि पर मध्यम कपाल के उपधान का विधान श्रुति ने किया है। अङ्गार पर विहित हुए कपालोपधान की प्रशंसा की गई है अङ्गार पर कपालोपधान करने से देवताओं का भय दूर हो गया, क्योंकि अग्नि राक्षसों का अपहन्ता है। किञ्च 'आदेवयजं वह' इस यजुर्मन्त्र से इस अग्नि को पवित्र किया जाता है, अतः उक्त मन्त्र से स्थापित किये गये अङ्गार पर ही किये गये कपालोपधान की प्रशंसा की गई है। एवञ्च यजुर्मन्त्र से संस्कृत होने के कारण यह ही कपालोपधान में प्रशस्य है, अन्य नहीं।

१९—हे अग्ने विशिष्टैश्वर्यशालिन् अग्ने वैश्वानर हे परमेश्वर वा त्वं धृष्टिः प्रगल्भोऽसि, अप्रधृष्यस्वभावत्वात्। केनोपनिषद्रीत्याग्निरन्यापेक्षया प्रगल्भोऽपि परमेश्वरापेक्षयां प्रधृष्य एव जातः। तृणदाहेऽप्यसमर्थत्वात्। परमेश्वरस्त्व-ग्नेरप्यग्निः 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः' (वा० रा० २।) इति बाल्मीकीयरामायणवचनात् स एव सर्वथा धृष्टिः प्रगल्भः। त्वमेव कृपया आमादं लौकिकमग्निमपजहि क्रव्यादं श्मशानाग्निञ्च निःषेध निःशेषेण दूरं गमय देवयजञ्चाग्निमावह सर्वेषां त्वदाज्ञावशवर्तित्वात्। तस्मिन्नेव यज्ञियेऽग्नौ त्वदंशभूतानां देवानां तव च हवींषि श्रपयामः। तत्रैव च त्वदाराधनलक्षणं यज्ञं श्रौतं स्मार्तं च तनवामहै।

२०—हे ब्रह्मन् त्वं ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳह दृढीकुरु त्वत्कृपयैव पृथिव्या भारापनोदनेन तस्या दृढीभावो भवति। हिरण्यकशिपुरावणादिवधेन भगवतैव रक्षिताऽवतिष्ठते इति पुराणादिषु प्रसिद्धम्। ब्रह्मणा क्षत्रेण च वननीयम् संभजनीयं सजातैस्तज्ज्ञातिभिः सर्वैरमृतपुत्रैर्जीवैश्च वननीयं ब्रह्मवनिक्षत्रवनिसजातवनि त्वा त्वामहम् उप सामीप्येन स्वात्मत्वेन धारयामि निश्चिनोमि किमर्थमित्याह—भ्रातृव्यस्य वधाय कामक्रोधादिवैरिवर्गस्य वधाय समूलोन्मूलनाय स्वात्मानन्दहतृत्वेन तस्यैव सर्वापकारकत्वात्।

२१—यद्वा राष्ट्ररक्षणाय राजानं वीरं सेनापतिं वा आह—हेप्रतापानल पूर्णतेजस्विन् त्वं धृष्टिः प्रगल्भः शत्रुभिरप्रधृष्योऽसि। आमादमपक्वमेवात्ति अकालेऽपक्वमतरुणं बालमत्ति हन्तीत्यामात् तं क्रूरं शत्रुमपजहि विनाशय। तथा क्रव्यादं हतप्रायं वृद्धं हन्तीति क्रव्यात् तमपि निःशेषेण सेध मृत्युमुखं गमय। हे तेजोनिधान त्वं नैश्चल्येन धैर्येण च ध्रुवमसि। पृथिवीञ्च दृꣳह दृढीकुरु समृद्ध्या वर्धय। ब्रह्मवनि ब्रह्मब्राह्मणं वनति संभजते इति ब्रह्मवनि ब्राह्मण संभजन परायणमत एव ब्रह्मवीर्येण संभजनीयं क्षत्रवनि क्षत्रवीर्येण संभजनीयं तथा सजातवनि—

१९—हे अग्ने ! विशिष्ट ऐश्वर्यशालिन् ! अग्ने ! वैश्वानर अथवा हे परमेश्वर ! तुम प्रगल्भ (धृष्टि) हो, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव अप्रधृष्य है। केनोपनिषद् के अनुसार अन्य की अपेक्षा अग्नि प्रगल्भ रहने पर भी परमेश्वर की अपेक्षा वह प्रधृष्य ही है, क्योंकि वह तिनका जलाने में भी असमर्थ है। किन्तु परमेश्वर तो अग्नि का भी अग्नि है। वाल्मीकि रामायण में भी इसी बात को बताया गया है। अतः वह ही सर्वथा प्रगल्भ (धृष्टि) है। तुम ही कृपा करके आमाद लौकिक अग्नि का त्याग करो और क्रव्याद जो श्मशानाग्नि है, उसे निःशेषतया दूर कर दो। सभी प्राणी तुम्हारी आज्ञा के वशवर्ती हैं, इसलिये तुम देवयज नामक अग्नि को यहाँ प्राप्त करा दो। उसी यज्ञिय अग्नि में तुम्हारे लिये और तुम्हारे अंशभूत देवताओं के लिये हवियों को हम पका सकें, और उसी अग्नि में त्वदाराधन लक्षण श्रौत-स्मार्त यज्ञ का हम अनुष्ठान कर सकें।

२०—हे ब्रह्मन् ! तुम ध्रुव हो, पृथिवी को दृढ़ कर दो। तुम्हारी कृपा से ही पृथिवी का भारापनोदन हो हो पाता है। उसी कारण उसका दृढ़ीभाव हो पाता है। हिरण्यकशिपु-रावण आदि महान् दैत्यों का वध करके भगवान् ने ही पृथिवी की रक्षा करके उसे स्थिर किया है, यह सब कथाएँ पुराणों में प्रसिद्ध हैं। ब्रह्म और क्षत्र के द्वारा वननीय अर्थात् सेवनीय, और सजातीय सभी जीवधारी अमृत पुत्रों से सेवनीय होने वाले तुमको मैं अपने आत्मा के रूप में समझता हूँ। जिससे तुम हमारे काम क्रोधादि जो शत्रु वर्ग (भ्रातृव्य) हैं, उनको समूल उन्मूलन कर सको, क्योंकि इन शत्रुओं ने हमारे आनन्द को नष्ट कर दिया है, इसलिये ये काम क्रोधादि ही हम सभी के महान् अपकारकर्ता शत्रु हैं।

२१—अथवा राष्ट्र की सुरक्षा के लिये राजा को, वीर को या सेनापति को कहा जा रहा है— हे प्रतापानल ! पूर्णतेजस्विन् ! तुम प्रगल्भ (धृष्टि) हो, अर्थात् शत्रुओं के द्वारा अप्रधृष्य हो। 'आमाद' यानी अपक्व को ही 'अत्ति' भक्षण करता है, अर्थात् असमय में 'अपक्व' जो तरुण नहीं है ऐसे बालक को 'अत्ति हन्ति' नष्ट करता है, इसलिये उसे आमात् कहा गया है ऐसे उस क्रूर शत्रु का विनाश करो। तथा 'क्रव्यादं' यानी हत (मृत) प्राय वृद्ध को जो मारता है, उसे 'क्रव्याद्' कहा गया है। उस क्रव्याद् को भी मृत्यु के मुख में पहुँचा दो। हे तेजोनिधान ! तुम

सर्वप्राणिमात्रेण वननीयं भजनीयं त्वा त्वामहं भ्रातृव्यस्य शत्रो राष्ट्रद्रोहिणो वधाय निर्मूलनाय उपदधे राष्ट्ररक्षणाद-संग्रामभूमौ स्थापयामि ।

अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय । धर्त्रमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय । विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि चित स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् ॥ वा० सं० १ । १८ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! हमारे द्वारा अनुष्ठित उत्तम कर्म को तुम स्वीकार करो। हे द्वितीय कपाल ! पुरोडाश को तुम धारण करने वाले हो, इस कारण अन्तरिक्ष को दृढ़ करो। ब्राह्मण, क्षत्रिय और यजमानकुलोत्पन्न पुरुष पुरोडाश-निष्पत्त्यर्थ जिसको स्वीकार करते हैं ऐसे तुम्हें, शत्रु वध करने के लिये मैं अङ्गारे पर रखता हूँ। हे तृतीय कपाल ! तुम पुरोडाश के धारक हो उस कारण द्युलोक को दृढ़ करो। क्षत्रिय और यजमान कुलोत्पन्न पुरुष पुरोडाश निष्पत्त्यर्थ जिसको स्वीकार करते हैं ऐसे तुम्हें शत्रु का वध करने के लिये मैं अङ्गारे पर रखता हूँ। हे चतुर्थ कपाल ! समस्त दिशाओं की दृढ़ता के लिये मैं अङ्गारे पर तुम्हारी स्थापना करता हूँ। हे कपालो ! तुमको समीप में तथा ऊर्ध्व भाग की ओर से एकत्र किया गया है। भृगुसंज्ञक और अङ्गिरसंज्ञक देवर्षियों के तपोरूपी अग्नि से तुम तप्त हो जाओ ।।१८।।

१—सव्याङ्गुल्या शून्येऽङ्गारं निदधात्यग्ने ब्रह्मेति' (का० श्रौ० सू० २।४।२६) वामहस्तस्यानामिकया स्पृष्टे कपाले अङ्गारान्निदध्यादग्नीत्। एतच्चाङ्गारनिधानं कपालसंस्कारकमतः प्रतिकपालं नावर्तनीयम्। गृभ्णीष्वेति-मन्त्रशेषः। निधीयमानाङ्गाररूप हे अग्ने प्रौढकर्मदानीमस्माभिरनुष्ठीयमानं गृभ्णीष्व। नाशकानां रक्षसां वधेनास्मान-

---

नैश्चल्य के (धैर्य के) कारण ध्रुव हो, अतः पृथिवी को दृढ़ करो अर्थात् समृद्ध करो। तुम ब्रह्मवनि 'ब्रह्म ब्राह्मणं वनति-संभजते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्राह्मण सेवा परायण हो, अतएव ब्रह्म वीर्य के द्वारा संभजनीय (आराधनीय) हो, तथा तुम क्षत्रवनि अर्थात् क्षत्रवीर्य से संभजनीय हो, तथा तुम सजातवनि सर्वप्राणिमात्रेण वननीयं' अर्थात् समस्त प्राणियों से भजनीय हो, अतः मैं भ्रातृव्य अर्थात् राष्ट्रद्रोही शत्रु के वधार्थ यानी निर्मूलनार्थ राष्ट्र की रक्षा के हेतु सँग्राम भूमि में तुम्हारी स्थापना करता हूँ।

१—कात्यायन श्रौत सूत्र में कहा गया है कि अग्नीत् नाम का ऋत्विक् अपने वाम हस्त की अनामिका से स्पृष्ट हुए कपाल पर अङ्गारों को स्थापित करे। यह अङ्गारनिधान, कपाल संस्कारक है, अतः प्रत्येक कपाल पर अङ्गार निधान की आवृत्ति नहीं होगी। 'गृभ्णीष्व' ऐसा मन्त्रशेष समझना चाहिये। निधीयमान अङ्गार रूप हे अग्ने ! इस समय हमारे द्वारा अनुष्ठीयमान जो प्रौढ़कर्म हो रहा है, उसे स्वीकार करो। कर्म के विनाशक राक्षसों का वध

नुगृह्णीष्व। अतएव काण्वशतपथे 'अग्निर्हिनाष्ट्राणां रक्षसां हन्तेति। यद्वा ब्राह्मणं सव्यांगुलिदानेन संसक्तं मामनुगृह्णीष्व अनुगृहाण।

२—धरुणमिति पश्चात् (का० श्रौ० सू० २।४।३०) धरुणमितिमन्त्रेण मध्यमस्य कपालस्य पश्चात् द्वितीयं कपालं प्रथमोपहितेन कपालेन संश्लिष्टमुपदध्यात्। हे द्वितीय कपाल, धरुणं पुरोडाशस्य धारकमसि। अतस्तमन्तरिक्षं दृढीकुरु। पुरोडाशकपालवेलायामुत्पन्नया ज्वालया अन्तरिक्षलोकस्योपद्रवो यथा न स्यात्तथा कुरु। यद्यप्येतत्कपालं ज्वालान्तरिक्षयोर्मध्ये व्यवधायकं न भवति तथाप्यन्तरिक्षदाढर्चार्थं कपालदेवता प्रार्थ्यते।

३—'पुरस्ताद्धर्त्रमिति' (का० श्रौ० सू० २।४।३१) मध्यमस्य कपालस्य पुरस्तात् धर्त्रमिति तृतीयं कपालं संश्लिष्टमुपदध्यात्, 'धर्त्रमसि दिव: ब्रह्मवनि' हे तृतीय कपाल, विधारकोऽसि ज्वालाग्रेण दाहाभावाय दिवं द्युलोकं दृढीकुरु। 'विश्वाभ्य इति दक्षिणत:' (का० श्रौ० सू० २।४।३२) प्रथमकपालस्य दक्षिण भागे संश्लिष्टं चतुर्थं कपालं विश्वाभ्य: सर्वाभ्य आशाभ्यो दिग्भ्य: दिग्दाढर्चाय त्वामुपदधामि। पुरोडाशनिष्पत्त्यर्थं ब्रह्मणा वन्यते ब्रह्मवनि तथैव क्षत्रेण वन्यते क्षत्रवनि समानकुले जातैर्वन्यते इनि सजातवनि इति पूर्ववत् त्वा भ्रातृव्यस्य शत्रोर्वधायोपदधामि। सर्वासु श्रुतिषु त्रय इमे लोका: श्रूयन्ते। पृथिव्यादिलोकत्रयप्रसिद्धम्। कस्याश्चित् भूर्लोकभुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनलोक तपोलोकसत्यलोकेति सप्तानां लोकानां समाहार: श्रूयते। अतो महर्लोकादय: स्वर्गलोकस्यावयवा उतान्यच्चतुर्थ-स्थानमिति विशेषानिश्चयात् लोकविशेषनामधेयमनुच्चार्य साधारण्येनाशाभ्य इति श्रुतम्।

४—समं विभज्य द्वे दक्षिणत: एवमुत्तरतश्चित: स्थेति' (का० श्रौ० सू० २।४।३३) अष्टासु कपालेषु चतुर्भ्यो-

---

करके हम पर अनुग्रह करो। अत एव काण्व शतपथ ब्राह्मण में 'अग्निर्हि ७ नाष्ट्राणां रक्षसां हन्ता कहा गया है। अथवा ' सव्यांगुलि के स्पर्श द्वारा संसक्त हुए मुझ ब्राह्मण पर अनुग्रह करो।

२—'धरुणमिति पश्चात्' इस श्रौत सूत्र के अनुसार 'धरुणमसि' मन्त्र से मध्यम कपाल के पश्चात् भाग में द्वितीय कपाल को प्रथमोपहित कपाल से संश्लिष्ट करके रखे। हे द्वितीय कपाल ! तुम पुरोडाश के धारक हो। अत: उस अन्तरिक्ष को दृढ़ कर दो। अर्थात् पुरोडाश कपालपाक के समय उत्पन्न होने वाली ज्वाला से अन्तरिक्ष लोक को किसी प्रकार का उपद्रव जिस तरह न हो पाये वैसा करो। यद्यपि यह कपाल, ज्वाला और अन्तरिक्ष दोनों के मध्य में व्यवधायक नहीं है, तथापि अन्तरिक्ष की दृढ़ता के लिये कपालाधिष्ठात्री देवता की प्रार्थना की जा रही है।

३—'पुरस्ताद्धर्मम् इति' इस सूत्र के अनुसार मध्यम कपाल के (प्रथम कपाल के) पूर्व भाग में 'धर्त्रमसि' इस मन्त्र से तृतीय कपाल को मध्यम कपाल से संश्लिष्ट करके रखे। हे तृतीय कपाल ! तुम विधारक हो, अपनी ज्वाला के अग्र भाग से दाह न होने देने के लिये द्युलोक को दृढ़ कर दो। 'विश्वाभ्य इति दक्षिणत:' इस सूत्र के अनुसार प्रथम कपाल के दक्षिण भाग में संश्लिष्ट करके विद्यमान चतुर्थ कपाल की स्थापना, समस्त दिशाओं की दृढ़ता के लिये कर रहा हूँ। पुरोडाशनिष्पत्ति के लिये ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि रूप वाले तुम्हारी स्थापना, शत्रुवध के लिये कर रहा हूँ। सभी श्रुतियों में ये तीन लोक ही सुनाई पड़ते हैं। पृथिवी आदि तीन लोक प्रसिद्ध ही हैं। किसी श्रुति में भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक—इन सात लोकों का समाहार श्रुत होता है। अत: महर्लोक आदि क्या स्वर्गलोक के अवयव (भाग) हैं, अथवा कोई अतिरिक्त अन्य चतुर्थ स्थान है ? इसका निश्चय न होने से लोक विशेष का का कोई नाम न बताकर सामान्य रूप से 'आशाभ्य:' कह दिया गया है।

४—'समं विभज्य द्वे दक्षिणत: एवमुत्तरतश्चित: स्थेति' सूत्र के अनुसार आठ कपालों में से अवशिष्ट जो चार कपाल हैं, उनका समविभाजन करके दो दक्षिण की ओर दो उत्तर को ओर 'चित:स्थ' इस मन्त्र की आवृत्ति करते

ऽवशिष्टानि चत्वारि समं विभज्य द्वे दक्षिणतो द्वे उत्तरतः चितः स्थेति मन्त्रावृत्त्या प्रादक्षिण्येन एवं चतुर्थात्पूर्वमपरं चतुर्थात्परं तत उत्तरतः पश्चादेकं पूर्वं द्वितीयमुपदध्यात्। 'तूष्णीं वा' (का० श्रौ० सू० २।४।३४) पुरोडाशार्थं कपालचतुष्टयस्य स्थापितत्वात् प्रकृतेऽष्टकपालानां विहितत्वात् वाशिष्टं यत्कपालचतुष्टयं तद् द्वेधा विभज्य दक्षिणोत्तरयोदिशोः चितः स्थेति मन्त्रेणोपदध्यात्। उर्ध्वं चित इति मन्त्रशेषः। (चिञ् चयने इति क्विबन्तस्य रूपम्) हे कपालविशेषाः, यूयं चितःस्थ मध्यमकपालस्योपचयकारिणोभवथेत्यर्थः। तथैवोर्ध्वचितः उत्तरकपालोपहितानां द्वितीयादिकपालानामप्युपकारिणो भवत। 'भृगूणामित्यङ्गारैरभ्यूहति' (का० श्रौ० सू० २।४।३७) अङ्गारैः कपालान्याच्छादयेत। हे कपालानि, यूयं भृगूणां भृगोरपत्यानि बहवो भृगवस्तेषां भृगुनामकानामेवमङ्गिरसामङ्गिरोनामकानां च देवर्षीणां तपोरूपेणानेनाग्निना तप्यध्वम् तप्तानि भवन्तु। अस्याग्नेस्तदीयतपोरूपत्वं भावयेदित्यर्थः। सर्वथापि दिव्यानां देवानां कृते पुरोडाशादिपाकाय न भौतिकोऽग्निः किन्तु दिव्यानां महर्षीणां तपोरूपेणाग्निना तत्पाक इति। तदुक्तं तित्तिरिणा— 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमित्याह देवतानामेवैतानि तपसा तरन्तीति।'

५—आधुनिकस्तु, हे अग्ने, त्वं धरुणमसि कृपयास्मत्प्रयुक्तं ब्रह्म गृहणीष्व। तथास्मासु अन्तरिक्षमक्षयं विज्ञानं दृ ᳪ ह वर्धय। अहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वामुपदधामि हे सर्वधातः, त्वं सर्वेषां लोकानां धर्त्रमसि। कृपयास्मासु दिवं ज्ञानप्रकाशं दृ ᳪ ह वर्धय। अहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वामुपदधामि त्वां सर्वव्यापकं ज्ञात्वा विश्वाभ्य आशाभ्य उपदधामि। हे मनुष्या यूयमप्येवं विदित्वा चितः स्थ ऊर्ध्वचितः कपालानि कृत्वा भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्। इति सर्वत्र व्यत्ययबाहुल्यपूर्णमेवास्य व्याख्यानम्। यद्यत्र परमात्मा भौतिकोऽग्निर्वा सम्बोध्यस्तदा आकाशस्थान् पदार्थान् अन्तरात्मस्थं ज्ञानं वा दृढीकुरु करोति वेति, तथापि नहि धरुणमसि धर्त्रमसीतिशब्दभेदेन वस्तुभेदो भवति। अतएव कथमेकस्यैवान्तरिक्षस्य दिवो वधकत्वं स्यात्। एव

हुए प्रदक्षिण तथा चतुर्थ कपाल से पूर्व और दूसरे को चतुर्थ से पर स्थापित करे, तदनन्तर अवशिष्ट दो कपालों में से एक को उसके उत्तर की ओर और दूसरे को तूष्णीम् ही रख दे। अभिप्राय यह है कि पुरोडाश के लिये चार कपालों की स्थापना हो चुकी है, किन्तु प्रकृत में आठ कपालों का विधान किया गया है, अतः अवशिष्ट जो चार कपाल हैं, उनका द्विधा विभाजन करके दक्षिण और उत्तर दिशा में दो-दो कपालों का 'चितः स्थ' मन्त्र से उपधान करे। 'ऊर्ध्व चितः स्थ' यह मन्त्रशेष है। 'चिञ्' 'चयने' धातु से क्विप् प्रत्यय करके 'चित्' रूप बनता है। हे कपाल विशेषों! तुम मध्यम कपाल के उपचयकारी हो। तथैव उत्तर कपालोपहित द्वितीय कपालों के भी उपकारी हो जाओ। 'भृगूणामित्यङ्गारैरभ्यूहति' सूत्र के अनुसार अङ्गारों से कपालों को आच्छादित करे। हे कपालों! तुम, भृगुओं के अङ्गिरस् नाम के देवर्षियों के तपोरूप इस अग्नि से तप्त हो जाओ। इस अग्नि को उनके तपोरूप समझो। सर्वथापि देवताओं के लिये पुरोडाश के पाकार्थ, भौतिक अग्नि नहीं है, किन्तु दिव्य महर्षियों के तपोरूप अग्नि से उसका पाक होगा। इसी बात को तित्तिरि ने भी कहा है।

६—कोई आधुनिक उक्त मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार करता है—हे अग्ने! तुम धरुण हो, कृपया अस्मत्प्रयुक्त ब्रह्म का ग्रहण करो। तथा हम लोगों के विज्ञान की वृद्धि करो। मैं भ्रातृव्य के वधार्थ ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि और सजातवनि रूप वाले तुम्हारी स्थापना करता हूँ। मैं सर्वधातः! तुम सम्पूर्ण लोगों के धर्त्रमसि' धारक हो। कृपया हममें ज्ञान का प्रकाश अच्छी तरह वृद्धिङ्गत कर दो। मैं भ्रातृव्य के वधार्थ ब्रह्मवनि-क्षत्रवनि-सजातवनि गुणों से विशिष्ट हुए तुम्हारी स्थापना करता हूँ, तुम्हें सर्वव्यापक समझकर समस्त दिशाओं के लिये तुम्हारी स्थापना करता हूँ। हे मनुष्यों! तुम भी ऐसा जानकर कपालों को ऊर्ध्वचित् करके भृगु और अङ्गिरसों के तप से तप्त हो जाओ।' इस प्रकार सर्वत्र व्यत्यय बाहुल्य पूर्ण ही इसका व्याख्यान है। यदि यहाँ पर परमात्मा अथवा भौतिक अग्नि, सम्बोध्य होता तो आकाशस्थित पदार्थों को अथवा अन्तरात्मा में स्थित ज्ञान को दृढ़ करो अथवा करता है—यह अर्थ होता है तथापि 'धरुणमसि धर्त्रमसि' इस शब्द भेद से वस्तु भेद नहीं होता है। अत एव एक ही अन्तरिक्ष का

ब्रह्मणो वेदस्य ब्रह्माण्डस्य मूर्तद्रव्यस्य वा प्रकाशकत्वं ब्रह्मवनित्वं सम्भजनार्थस्य वनेर्विभाजकत्वप्रकाशकत्वाद्यर्थानुपपत्तेः।

६—वस्तुतस्तु ब्रह्मणा ब्राह्मणेन वन्यते पुरोडाशनिष्पत्त्यर्थं सम्भज्यते व्रियत इति ब्रह्मवनि तथैव, क्षत्रेण वन्यते सजातैर्यजमानसमानकुलेजातैस्तज्जातीयैर्वन्यत इति क्षत्रवनि, सजातवनि त्रिभिः कपालैस्त्रीन् लोकान् यजमानो जयति चतुर्थेन दिशो जयति। यश्चैव पुरोडाशोऽत्र संस्क्रियते सोऽप्याधारवशात् त्रिलोकीविग्रह एव भूत्वा देवताः प्रीणाति, तदर्थमेव कपालानां देवतातर्पणहेतुत्वे सर्वाभीष्टप्रदत्वमग्नौ तदुपधानेन शत्रूणामसुराणां पाप्मनां तापकत्वेन सर्वानिष्टनिवारकत्वमपि सिद्धयति। एवं ब्राह्मणसूत्रयाज्ञिकपद्धत्यनुसारेण मन्त्राणां तेषां तेषु तेषु कर्मसु विनियोगवशादेव मन्त्रार्थसङ्गतिः, न स्वाभ्यूहितविद्वद्राजादिप्रशंसापरत्वे तत्तदुपदेश परत्वे वा मन्त्रार्थसङ्गतिः सम्भवति।

७—चितामूर्ध्वचिताञ्च को भेद इति न स्पष्टम्। कानि च तानि कपालानि यान्यग्नौ धार्यन्ते ? भृगवः के इति न स्पष्टम्। तेषामङ्गिरसाञ्च तपः कीदृशमित्यपि न स्पष्टम्।

८—यदपि च—'हे विद्वन् येनाग्निना धरुणं ब्रह्मान्तरिक्षं गृह्यते दृंह्यते च तं त्वं होमार्थं शिल्पविद्यासिद्धयर्थञ्च गृभ्णीष्व दृंह च। तथैवाहमपि भ्रातृव्यस्य वधाय त्वा तं ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि उपदधामि। एवं यो वायुर्धर्त्रं सर्वलोकधारकोऽस्ति दिवं च दृंहति तमहं यथा भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि तथैव त्वमप्येतं तस्मैप्रयोजनायोपदृंह।

दिवोवर्धकत्व कैसे होगा ? एवं वेद, ब्रह्माण्ड अथवा मूर्तद्रव्य का प्रकाशकत्व, ब्रह्मवनित्व और सम्भजनार्थक वनि का विभाजकत्व प्रकाशकत्व आदि अर्थ करना अनुपपन्न है।

६—वस्तुतस्तु 'ब्रह्मणा ब्राह्मणेन वन्यते पुरोडाशनिष्पत्त्यर्थं सम्भज्यते व्रियते इति ब्रह्मवनि', तथैव 'क्षत्रेण वन्यते सजातैर्यजमान समानकुले जातैस्तज्जातीयैर्वन्यत इति क्षत्रवनि', सजातवनि त्रिभिः कपालैः त्रीन् लोकान् यजमानो जयति चतुर्थेन दिशो जयति।' जो पुरोडाश यहाँ संस्कृत किया जा रहा है, वह भी आधारवशात् त्रिलोकी स्वरूप होकर ही देवताओं को सन्तुष्ट करता है। उसी के लिये कपालों को देवता सन्तोष का कारण होने से सर्वाभीष्टप्रदत्व है। अग्नि पर उसका उपधान करने से शत्रुओं का पापी असुरों का वह तापक हो जाता है। अत एव सर्वानिष्टनिवारकत्व होना भी उसका सिद्ध हो जाता है। एवं ब्राह्मण, सूत्र तथा याज्ञिक पद्धति के अनुसार उन मन्त्रों की उन-उन कर्मों में विनियोगवशादेव मन्त्रार्थ की सङ्गति लग जाती है। किन्तु किसी विद्वान् या राजा की प्रशंसा परक या तत्तदुपदेश परक अर्थ कल्पना करने पर मन्त्रार्थ सङ्गति का लगाना सम्भव नहीं है।

७—'चित और ऊर्ध्वचित' में क्या भेद है ? उसे स्पष्ट नहीं किया है। कौन से वे कपाल हैं, जिन्हें अग्नि पर धारण कराया जाता है ? भृगु कौन हैं ? यह भी स्पष्ट नहीं किया है। उनका और अङ्गिरसों का कैसा तप है ? यह भी स्पष्ट नहीं किया है।

८—और जो यह कहा गया है कि 'हे विद्वन् ! जिस अग्नि से ब्रह्म अन्तरिक्ष का ग्रहण किया जाता है और उसे दृढ़ किया जाता है उसे तुम होम के लिये और शिल्प विद्या की सिद्धि के लिये ग्रहण करो और उसे दृढ़ करो। तथैव मैं भी भ्रातृव्य के वधार्थ ब्रह्मवनि–क्षत्रवनि–सजातवनि गुणों से सम्पन्न हुए तुम्हारी स्थापना करता हूँ। इस प्रकार उस अग्नि का धारण करने पर वह अग्नि, सुख देगा। एवं जो वायु, सम्पूर्ण लोक का धारक है और स्वर्ग को दृढ़ करता है, उसे, मैं जिस प्रकार भ्रातृव्य के वधार्थ ब्रह्मवनि आदि गुणों वाले अग्नि का उपधान करता हूँ, उसी तरह तुम भी इसे उस प्रयोजन के लिये अच्छी तरह स्थापन करो।

९—हे शिल्पविद्याचिकीर्षो विद्वन् येन वायुना पृथिवी द्यौः सूर्यलोकश्च धार्यते दृंह्यते च तं त्वं जीवनार्थं शिल्प-विद्यार्थं च धारय दृंह च। ब्रह्मवनीत्यादि पूर्ववत्।

१०—हे मनुष्या यथा वायुविद्या त्वा तमग्निं वायुञ्च विश्वाभ्य आशाभ्य उपदधाति तथैव यूयमप्युपधत्त। यथार्थं शिल्पविद्यार्थं च ऊर्ध्वचित कपालानि धारितवन्तः सन्तो भृगूणामङ्गिरसाञ्च तपसा तप्यध्वं तापयत च। अत्र कथं भौतिकाग्निना सर्वधारकवेदोऽन्तरिक्षं वा धार्यत इति दृष्टान्त एवासिद्धः। तथा युष्माभिर्होमार्थं शिल्पविद्यार्थ-मग्निर्ग्राह्य इति तु लोकसिद्धमेव। किञ्च तथाहमपि भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवन्यादिविशिष्टं गृह्णामीत्यत्राहं पदार्थः कः? वायुना कथं सूर्यलोको दृंह्यते कथं कीदृशी वायुविद्या कथञ्च वायुना शत्रुनाशः? शिल्पविद्या च सामाजिकै र्वर्ध्यते इति सर्वं शब्दमात्रम्।

११—वस्तुतस्तु पाश्चात्यानां प्रभावात् पुराणेतिहाससमराङ्गणसूत्रधारादिवर्णितविविधयानादिप्रभावित-त्वादेव मन्त्रेषु तादृशार्थाभासयोजनमुपहासास्पदमेव। ये पुराणेतिहासानां प्रामाण्यमेव नोरीकुर्वन्ति तेषां कृते समराङ्गण-सूत्रधारप्रामाण्यस्य तु कथैव का, भृग्वङ्गिर आदयो न व्यक्तिविशेषा इत्युक्त्वापि के ते इति नोक्तम्।

१२—यत्तु केनचित् कपालपदेन पारदरसयुक्ता घटा वायुयानचालनायस्थापनीयाः। अग्नितापप्रभावात् घटस्थ-पारदसोत्थानात् वायुयानगमनं सिद्धयतीत्युक्तम्, तदपि तुच्छम्, कपालशब्दस्य घटबोधकत्वाभावात्। मूले मन्त्रे तु कपाल-शब्दोऽपि नास्त्येव।

१३—माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः (नि० ११।१९) कथं तस्य गणस्य पतयः, कथं च तेन कपालस्य

९—हे शिल्पविद्या को चाहने वाले विद्वान्! जिस वायु से पृथिवी, द्यौ और सूर्यलोक धारण किया जाता हैं और दृढ़ बनाया जाता है, उसे तुम जीवनार्थ और शिल्प विद्या के लिये धारण करो और दृढ़ बनाओ। ब्रह्मवनि आदि पूर्ववत् ही समझना चाहिये।

१०—हे मनुष्यो! जैसे वायुविद्या उस अग्नि और वायु को सम्पूर्ण दिशाओं के लिये धारण करती है, तथैव तुम भी धारण करो। अर्थ के लिये और शिल्पविद्या के लिये ऊर्ध्वचित कपालों को धारण करवाया था, तथा भृगु और अङ्गिरसों के तप से सन्तप्त हो जाओ, और तपाओ। यहाँ पर भौतिक अग्नि के द्वारा सर्वधारक वेद या अन्तरिक्ष का धारण कैसे किया जा सकता है? अतः दृष्टान्त ही असिद्ध है। तथा तुम लोग होम के लिये, शिल्प विद्या के लिए अग्नि को ग्रहण करो—इस प्रकार का ग्रहण तो लोकसिद्ध ही है। किञ्च—उसी तरह 'अहमपि'—मैं भी भ्रातृव्य के वधार्थ ब्रह्मवन्यादि विशिष्ट का ग्रहण करता हूँ यहाँ पर 'अहम्' पदार्थ क्या है? वायु से सूर्य लोक को कैसे दृढ़ किया जाता है? कौन सी वह वायु विद्या है? वायु से शत्रुनाश कैसे होता है? और 'सामाजिकों के द्वारा शिल्पविद्या का वर्धन किया जाता है'—यह सब शब्द मात्र ही है।

११—वस्तुतस्तु पाश्चात्यों के प्रभाव में आकर तथा पुराण, इतिहास, समराङ्गण सूत्रधारादि के द्वारा वर्णित विविध यान आदि के पढ़ने मात्र से मोहित होकर मन्त्रों में भी उसी प्रकार अर्थाभासों की योजना कर देना उपहासा-स्पद ही है। जो लोग पुराण–इतिहास आदि के प्रामाण्य का स्वीकार ही नहीं करते, उनके लिये समराङ्गण सूत्रधार के प्रामाण्य के विषय में कहना ही क्या है? भृगु-अङ्गिरा आदि कोई व्यक्तिविशेष नहीं हैं, यह कह तो दिया है, किन्तु वे कौन थे? इसे नहीं कहा।

१२ यह जो किसी ने कहा है कि 'कपाल' शब्द से पारद के रस से पूर्ण घटों को वायुयान के चलाने के लिये स्थापित करना चाहिये। अग्नि के ताप के प्रभाव से घटस्थित पारदरस के उत्थान से वायुयान उड़ने लगता है। किन्तु यह कथन सारहीन है। क्योंकि 'कपाल' शब्द 'घट' का बोधक नहीं है। और मूल मन्त्र में तो 'कपाल' शब्द का उल्लेख तक नहीं है।

१३—'माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः'—उस गण के 'पति' कैसे? और उससे कपाल का 'ताप' कैसे?

ताप: ? 'वायुरापश्चन्द्रमा' (गो० ब्रा० पू० २।९) 'अङ्गिरा उ ह्यग्नि:' (श० १।४।१।२५) 'अङ्गिरा वा अग्नि:' (श० ६।४।४.४) एतेषामपि तप: कीदृक्, कथञ्च तेन कपालताप: इति वक्तव्यम् ।

१४—यत्तु—'अङ्गिरस्तम:' (ऋ० सं० १।१००।४) इत्येव बहुषु मन्त्रेषु दर्शनात् नेयं व्यक्तिविशेषस्य संज्ञा, अन्यथा तमप्प्रत्ययानुपपत्ति: स्यादिति, तन्न युवतमादिव्यक्तिष्वपि तमप्प्रत्ययदर्शनेनादोषात् । सायणादिरीतिस्तु, शतपथादिश्रुत्यनुसारिण्येव । तद्रीत्या तु शम्या-दृषदुपलाद्यधिष्ठातृदेवतानां चेतनत्वात् ऐश्वर्यवत्त्वाच्च ते सम्बोधनार्हा: सन्त्येवेत्यसकृदावेदितमेव ।

१५—शतपथे तु दयानन्दीयव्याख्यानविरुद्धं सायणादिव्याख्यानानुसार्येव व्याख्यानं दृश्यते तथाहि—'अथाङ्गारमभ्यूहति' अत्र समन्त्रकं कपालस्योपर्यङ्गाराभ्यूहनं विधत्ते श्रुति: । अग्ने ब्रह्मेतिमन्त्रनिर्देश: । किं कारणमित्यपेक्षायामाह—पुरापुरोडाशाधिश्रयणात् प्राक् इह नष्ट्रा रक्षांसि नाविशेयुरित्येतदर्थं तत्राग्नेरभ्यूहनं युक्तम् । यतोऽग्नी रक्षसामपहन्ता । एतावता मन्त्रस्य कपालानामुपर्यङ्गाराभ्यूहने विनियोग: । तत्प्रयोजनञ्च स्पष्टमेवोक्तं भवति । तेन मन्त्रार्थोऽपि तदनुगुण एव । अथ यत्पश्चात् तदुपदधाति धरुणमस्यन्तरिक्षं दृ ँ ह हेत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते । ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि भ्रातृव्यस्य वधायेति पश्चात्कपालस्योपधानं विधत्ते । मध्यमकपालस्योपधानानन्तर्यमथशब्दार्थ: । धरुणमस्यन्तरिक्षं दृ ँ ह । तथा प्रार्थनयान्तरिक्षस्यैव रूपेणैतत्कपालं दृ ँ हति । एतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा..............उपदधामि ।

अथ यत्पुरस्तात्तदुपदधाति धर्त्रमसि दिव: दृ ँ ह..............इति मध्यमकपालस्य पूर्वदेशे स्थाप्यस्याधानं विधत्ते । दिव: सम्बन्धिना रूपेण एतत् ँ तृतीयं कपालं दृढीकरोति । अथ यद्दक्षिणतस्तदुपदधाति विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामीति । स यदिमांल्लोकानत्ति चतुर्थमस्ति वा न वा ते वैतत् द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते । अनद्धा वैतद्यद्विश्वा आशास्तस्मादाह विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामीति । तूष्णीं वैवेतराणि कपालान्युपदधाति चित: स्थोर्ध्वचित इति वा । दक्षिणभागस्थितस्य कपालस्योपधानं विधत्ते । मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—पूर्वं हि त्रिभिरुपहितै: कपालै: पृथिव्यादिलोकत्रयसकाशात् शत्रोर्बाध उक्त: । इदानीं तु इमान् त्रींल्लोकानतिक्रम्य यत् चतुर्थं स्थानं तदस्ति वा न वेति सन्दिग्धमेव लोकत्रयवत्प्रसिद्ध्यभावात् अतो मन्त्रे लोकवाचिनं शब्दविशेषं परित्यज्य विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य: इति सर्वशब्दपर्यायस्य विश्वशब्दस्य प्रयोग: । तेन सन्दिह्यमानात् सर्वस्मादेव स्थानात् द्विषन्तं शत्रुं स यजमानश्चतुर्थकपालोपधानेन बाधते । विश्वाभ्य इति मन्त्रस्य लोकत्रयातिरिक्तपरत्वमुपपादयति—अनद्धा वा इति । लोकत्रयातिवर्तिन: सद्भावोऽसद्भावश्च अनद्धा वै अस्माकमप्रत्यक्ष एव । यद् विश्वा आशा तदप्यनद्धा अप्रत्यक्षमेव लोकत्रयवत् तत्प्रसिद्ध्यभावात् । अतोऽप्रत्यक्षवादिना विश्वाभ्य आशाभ्य इति पदद्वयेन लोकत्रयातिरिक्तं सकलमेवाप्रत्यक्षं विवक्षितम् । एवं कपालचतुष्टयस्य मन्त्रेणोपधानं विधाय अवशिष्टकपालोपधाने पक्षद्वयमाह—तूष्णीं चित: स्थेति मन्त्रेण वा ।

'वायुरापश्चन्द्रमा:', 'अङ्गिरा उ ह्यग्नि:', 'अङ्गिरा वा अग्नि:' इनका भी तप कैसा ? और उससे कपाल का तप होना कैसे ? यह सब बताना चाहिये था ।

१४—यह जो कहा है कि 'अङ्गिरस्तम:' इतना ही अनेक मन्त्रों में दृष्ट होने से यह किसी व्यक्ति विशेष की संज्ञा नहीं है, अन्यथा 'तमप्' प्रत्यय अनुपपन्न होगा । किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है, 'युवतम' आदि व्यक्तियों में भी तमप् प्रत्यय का होना देखा जाता है, अत: कोई दोष नहीं है । सायणादि आचार्यों की रीति तो शतपथादि श्रुति का ही अनुसरण करती है । उनकी रीति के अनुसार तो शम्या-दृषद-उपल आदि यज्ञीय पदार्थों की अधिष्ठातृ देवता चेतन और ऐश्वर्यशाली होती हैं, अत: वे सम्बोध्य होती हैं, इस बात को कई बार कहा जा चुका है ।

१५—शतपथ में तो दयानन्दीय व्याख्यान के विरुद्ध सायणादिव्याख्यानानुसारी ही व्याख्यान दिखाई देता है । उपहित कपालों पर अङ्गारों से अभ्यूहन का विधान किया गया है । भृगु और अङ्गिरसों के तप का जो विशेषण है,

अथाङ्गारैरभ्यूहति । भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमिति एतद्धै तेजिष्ठं तेजो यद्भृग्वङ्गिरसां तपसा सुतप्तान्यसन्निति । तस्मादेवमभ्यूहति (श० १।२।१।८।१३) उपहितेषु कपालेषु अङ्गारैरभ्यूहनं विधत्ते—भृगूणामङ्गिरसां तपसो यद्विशेषणम् तद् व्याचष्टे एतद्धेति । यद् भृग्वङ्गिरसां महर्षीणां तपोविशेषजनितं तेजः एतत्खल्वग्न्यादितेजोऽन्तरात् तेजिष्ठं तेजस्वितमम् अतिशयेनदीप्तं, तेजस्विशब्दादिष्ठनि 'विन्मतोर्लुक्' (पा० सू० ५।३।६५) इति लुक् ।

१६—मन्त्रस्याभिप्रायमाह—एतान्युपहितानि कपालानि भृग्वङ्गिरसां तपसा सुष्ठ्वतिशयेन तप्तानि भवेयुरनेनाभिप्रायेण असन् इति पञ्चमलकारेरूपम् । एतावता भृग्वङ्गिरसो व्यक्तिविशेषा न सन्तीत्यपास्तम्, शतपथश्रुत्यैव भृग्वङ्गिरसां सुतप्तानां तेजिष्ठत्वप्रतिपादनात् । नचाङ्गिरस्तममितितमप् प्रत्ययानुपपत्तिः, अन्वर्थसंज्ञामङ्गिरसां बहूनां मध्येतिशयितार्थेऽपि तमप्प्रत्यये बाधाभावात् । तथैवात्रोक्तं सायणाचार्येण—

१७—अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने तेजस्विन् ब्रह्मचारिन् ब्रह्मवेदं गृभ्णीष्व गुरुपारम्पर्येणाधीष्व । वेदतात्पर्यविषयोभूतं मुख्यमपिब्रह्म वेदान्तविचारेणावगच्छ । त्वं धरुणमसि वेदस्य तत्प्रतिपाद्यस्य परमतत्त्वप्राप्तिसाधकस्य श्रौतस्मार्तकर्मणः धरुणमसि धारणसामर्थ्यं वीर्यमसि । धर्मधर्मिणोरभेदात्, तदध्ययनेन तदर्थानुष्ठानेन चान्तरिक्षं तत्रत्यं देवसमूहं च दृंह वर्धय दाढर्यंञ्च सम्पादय । अहं वेदपुरुषो भ्रातृव्यस्य वधाय कामादि निरासाय त्वा त्वां ब्रह्मवनि ब्रह्मसम्भजनशीलं त्वां क्षत्रवनिं सजातवनिं क्षत्रादि सर्वजनसंभजनीयं त्वा उपदधामि सम्पादयामि । धर्त्रमसि यमनियमादीनां विविधोपासनानाञ्च धारयित्रसि तत्सामर्थ्यवानसि । तेनदिवं द्युलोकं तत्रत्यांश्च दृꣳह दृढी कुरु ब्रह्मचर्यलक्षणेन ब्रह्मवीर्येण तत्पूर्वकोपासनैरेव ब्रह्मलोकप्राप्तिसम्भवात् । तेन भ्रातृव्यस्यानैश्वर्यलक्षणस्य वधाय त्वा ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि । 'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । इतिमन्त्रवर्णात् ।

उसकी व्याख्या करते हैं । महर्षि भृगु अङ्गिरसों के तपोविशेष से उत्पन्न जो तेज है, वह अग्नि आदि अन्य तेजों से तेजस्वितम है, यानी अतिशय दीप्तिमत् है । अतिशय अर्थ में 'तेजस्वि' शब्द से 'इष्ठन्' प्रत्यय किया गया है ।

१६—मन्त्र का अभिप्राय बताते हैं—ये उपहित कपाल भृगु अङ्गिरसों के तप से सम्यक् प्रकार से अतिशय तप्त हों, इस अभिप्राय से 'आसन्' यह पञ्चम लकार का रूप है । इस विवेचन से 'भृगु और अङ्गिरसों' को व्यक्ति विशेष न कहने का खण्डन हो जाता है । शतपथ श्रुति ने ही सुतप्त भृगु अङ्गिरसों का तेजष्ठित्व बताया है । तथा 'अङ्गिरस्तमम्' में तमप् प्रत्यय का होना अनुपपन्न भी नहीं है । अन्वर्थ संज्ञा वाले अनेक अङ्गिरसों के मध्य में अतिशयित अर्थ के बोधनार्थ तमप्' प्रत्यय के होने में कोई बाधक नहीं है । उसी तरह यहाँ पर सायणाचार्य ने कहा भी है ।

१७—अध्यात्म पक्ष में तो—हे अग्ने तेजस्विन् ब्रह्मचादिन् ! 'ब्रह्म' यानी वेद का गुरु परम्परा से अध्ययन करो । समस्त वेद का तात्पर्य जिसमें है उस ब्रह्म को वेदान्त वाक्यों का विचार कर समझो । तुम, वेद प्रतिपाद्य परमतत्त्वप्राप्तिसाधक श्रौत-स्मार्त कर्म के धारण करने में सामर्थ्य रूप वीर्य हो । धर्म और धर्मी का अभेद होने से वेद के अध्ययन तथा तदर्थानुष्ठान से अन्तरिक्ष और वहाँ के देव समूह का वर्धन करो और उनको सुदृढ़ बनाओ । मैं वेद पुरुष, भ्रातृव्य के वधार्थ यानी कामादि के निरासार्थ ब्रह्म सम्भजनशील, क्षत्रादि सर्वजन सम्भजनीय, अर्थात् ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि गुणों से युक्त हुए तुम्हारा सम्पादन करता हूँ । तुम यमनियमादि और विविध उपासनाओं के धारण करने वाले हो अर्थात् उसे धारण करने का सामर्थ्य तुममें है । उस कारण द्युलोक तथा वहाँ के निवासियों को दृढ़ करो । ब्रह्मचर्य लक्षण ब्रह्मवीर्य से और तत्पूर्वक उपासनाओं से ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति का होना सम्भव है । अतः अनैश्वर्य लक्षण भ्रातृव्य के वधार्थ, ब्रह्मवनि–क्षत्रवनि–सजातवनि गुण विशिष्ट रहने वाले तुम्हारी स्थापना करता हूँ । 'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।' यह मन्त्रवर्ण है ।

१८—यद्वा ब्रह्मचारी अग्निमेव परमात्मानं वा प्रार्थयते—हे अग्ने देव परमात्मन् वा त्वं ब्रह्मवेदं गृभ्णीष्व कृपया मां ब्रह्मवेदं ग्राह्य, वेदप्रायं ब्रह्म वा मां ग्राह्य प्रापय। तत्प्रापणेन मामनुगृह्णीष्व वा। त्वं धरुणमसि, तद्धानसीत्यर्थः। अग्निदेवतानुग्रहेणैव वेदाविद्यामेधाप्राप्तिश्रवणात्। 'यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मेधयाद्य मामग्ने मेधाविनं कुरु' इति मन्त्रवर्णात्। परमेश्वरानुग्रहस्तु सर्वकल्याणहेतुः प्रसिद्ध एव। त्वमन्तरिक्षं दृ७ंह। अग्नेर्वैश्वानर विराड्रूपत्वेनान्तरिक्षादिदाढर्च हेतुत्वमपि प्रसिद्धमेव। भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि ब्रह्मसंभजनीयं सजातवनि प्राणिमात्रसंभजनीयं त्वामहमुपदधामि हृदये धारयामि। हे अग्ने त्वं धर्त्रमसि सर्वधारयित्रसि हिरण्यगर्भरूपत्वात्। तेन दिवं दृंह। भ्रातृव्यस्य बधाय ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि त्वा सजातवनि त्वोपदधामि किञ्च विश्वाभ्य आशाभ्यो दिग्भ्यः सर्वाभ्यः कामनाभ्यो वा त्वोपदधामि। हे चितः सामान्यज्ञानवन्तो जीवा यूयमूर्ध्वचितः स्थ परमात्मज्ञानवन्तो भवथ। ऊर्ध्वं ब्रह्म सर्वकारणत्वात् व्यापकत्वात् सूक्ष्मत्वाच्चोत्कृष्टं ब्रह्म। तच्चेतन्ति जानन्तीत्यूर्ध्वचितः स्थ। तदर्थं भृगूणामङ्गिरसाञ्च प्रसिद्धेन तपसा तप्यध्वम्। तज्जातीयेन तपसैव निष्कल्मषेण बुद्धिशुद्धिविवेकवैराग्यशमदममुमुक्षुत्वादि सम्पत्तौ चोर्ध्वचेतृत्वं सम्भवति।

१६—नात्र दयानन्दोक्तमर्थं मनागपि शतपथश्रुतिः स्पृशति।

शर्मास्यवधूत७ं रक्षोऽवधूताऽअरातयोदित्यास्त्वगसि प्रतित्वादितिर्वेत्तु।
धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिवः स्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी
प्रति त्वा पर्वती वेत्तु॥ वा० सं० १।१६॥

१८—अथवा ब्रह्मचारी, अग्नि या परमात्मा की प्रार्थना कर रहा है—हे अग्निदेव अथवा परमात्मन्! तुम वेद का ग्रहण करो और कृपया मुझे वेद का ग्रहण करवाओ। अथवा वेदप्राय ब्रह्म, मुझे प्राप्त करवाओ। उसे प्राप्त कराकर मुझ पर अनुग्रह करो। तुम उसे धारण करने में समर्थ हो। अग्नि देवता के अनुग्रह से ही वेदादि विद्या ग्रहण करने की मेधा की प्राप्ति होती है, यह श्रुत है इसी बात को मन्त्र वर्णात्मक श्रुति ने बताया है। परमेश्वर का अनुग्रह ही समस्त कल्याणों की प्राप्ति में हेतु है, यह प्रसिद्ध ही है। हे अग्ने! तुम ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि हो, इसी कारण मैं तुम्हें अपने हृदय में धारण करता हूँ। हे अग्ने! तुम हिरण्य गर्भ स्वरूप हो, अत एव सबके धारक हो। इसी कारण तुम द्यु लोक को दृढ़ कर दो। भ्रातृव्य के विनाशार्थ मैं तुम्हारी स्थापना करता हूँ। किञ्च समस्त दिशाओं के लिये अथवा समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिये मैं तुम्हारी स्थापना करता हूँ। हे चितः! सामान्य ज्ञान से सम्पन्न जीवों! तुम सब, परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त कर लो। यह ब्रह्म समस्त सृष्टि का कारण है, सर्वत्र व्यापक है, सूक्ष्म है, अतः सर्वोत्कृष्ट है। ऐसे उस ब्रह्म को जानकर तुम सब ऊर्ध्वचित् हो जाओ। तदर्थ भृगु और अङ्गिरसों के प्रसिद्ध तप के अनुसार तप करो। उस प्रकार के निष्कल्मष तप से ही बुद्धि शुद्धि, विवेक, वैराग्य, शम, दम, मुमुक्षुत्व आदि सम्पत्ति के होने पर ही ऊर्ध्वचेतृत्व का होना सम्भव हो सकता है।

१६—इस विषय में दयानन्दोक्त अर्थ का स्पर्श भी शतपथ श्रुति से नहीं उपलब्ध हो रहा है।

अर्थ—हे कृष्णाजिन ! तुम दृषद् (सिल) धारण करने में सुखहेतु हो। इस कृष्णाजिन पर संलग्न रहने वाला राक्षस दूर किया गया। तथा प्रतिबन्धक शत्रु भी भूमि पर कम्पित हो गये। हे कृष्णाजिन ! तुम भूमि देवता की त्वचा हो। तुम्हें भूमि देवता अपनी त्वचा समझे। हे दृषद् ! (हे सिला !) तुम पर्वत पर उत्पन्न हुई हो और पर्वत के समान इस पेषण कर्म को धारण करते हो। भू देवी की कृष्णाजिन रूपी त्वचा तुम्हें अपनी आत्मीय समझे। हे शम्ये ! तुम द्यु लोक का स्तम्भन करती हो। हे उपल ! तुम पेषण कर्म करते हो। तुम दृषद् (सिल) की अपेक्षा लघु (छोटी) हो, उस कारण दृषद् की कन्या जैसी शोभा दे रही हो अतः दृषद् का पाषाण तुम्हें अपनी कन्या के रूप में पहिचाने ॥१९॥

१—'कृष्णाजिनमादत्ते पूर्ववत्' (का० श्रौ० सू० २।५।२) अध्वर्युः फलीकरणानन्तरमेव कृष्णाजिनमादत्ते। कृष्णाजिनं प्रति पूर्ववत्। अवहननमिव आदानमवधूननं सव्याशून्यकरणम् चेत्येतेषां विधिर्भवति। तच्चैतत्पेषणार्थत्वात् तदपेषणे न भवति। मन्त्रास्तु व्याख्यातप्रायाः। 'तस्मिन् दृषदं धिषणासीति' (का०श्रौ० सू० २।५।३) सव्याशून्ये तस्मिन् कृष्णाजिने दृषदं स्थापयेदध्वर्युः धिषणासीति मन्त्रेण। हे पेषणाधारभूते शिले त्वं पर्वती पर्वतात्मिकासि धीः कर्म-बुद्धिर्वा तदुभयं सीदति सनोति वेति कर्माङ्गत्वात् दृषद् धिषणोच्यते। कृष्णाजिनरूपा भूमेस्त्वगियं प्रतिवेत्तु प्रतिगृह्य त्वदवस्थानमनुजानातु। वेत्त्वित्यस्याभिप्रायं कण्व आह प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति संज्ञामेवैतत्, दृषदे च कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्योऽन्यं हिनसाते इतीति। एतदेतेन मन्त्रेण दृषदश्च कृष्णाजिनस्य च संज्ञामेव वदति किमर्थं परस्पर-मेते हिंसां नैव कुरुतामित्येतदर्थम्। 'पश्चाच्छम्यामुपोहत्युदीचीं दिव इतीति' (का० श्रौ० सू० २।५।४) दिव इति मन्त्रेण दृषदः पश्चाद् भागे उदगग्रां शम्यां द्वादशाङ्गुलां दृषदोऽधस्तात् प्रवेशयेदध्वर्युः। तेन पश्चाद्भागे उच्चा अग्रतो निम्ना दृषद् भवतीति। मन्त्रार्थस्तु—हे काष्ठमयि शम्ये त्वं दिवो द्युलोकस्य स्कम्भनीरसि, अधः पतनवारणाय स्तम्भनकारिणी भवसि 'अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिव्यौ वी विष्टब्धे' (श० १।२।१।१६) इति श्रुतेः। व्यत्ययेन द्वितीयाबहुवचनम्। कण्वशाखायां तु स्कम्भन्यसीतिपाठः। शम्यायां द्युलोकस्तम्भनहेतुत्वं दर्शयति श्रुतिः 'द्यावापृथिवी-सहास्ताम्, ते शम्यामात्रमेकमहर्वेता ७ँ शम्यामात्रमेकमहरिति' (तै०) पुरा प्रजापतिना सृष्टे द्यावा पृथिव्यौ जतुकाष्ठवत् परस्परं संश्लिष्टे अभूताम्। प्रतिदिनं तथेति विवक्षया वीप्सोक्ता। तयोः पुनः संश्लेषे यागस्यावकाशो न स्यात् ततो विश्लेषाय दिवः स्कम्भन्यसीति मन्त्रः। दृषदुपलां धिषणासीति' (का० श्रौ० सू० २।४।५।५) पेषणार्थं

१—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुरोध से अध्वर्यु, फलीकरण के अनन्तर ही कृष्णाजिन का ग्रहण करता है। जिस प्रकार अवघात के लिये कृष्णाजिन का प्रयोग बताया गया था, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। अर्थात् आदान, अवधूनन, सव्याशून्यकरणत्व आदि सब विधियाँ यहाँ पर भी की जाती हैं। ये सब विधियाँ पेषणार्थ होने से जहाँ पेषण नहीं हैं, वहाँ ये विधियाँ नहीं होती हैं। मन्त्र तो व्याख्यातप्राय ही हैं। 'तस्मिन् दृषदं धिषणासीति' इस सूत्र के अनुसार सव्य हस्त से अशून्य उस कृष्णाजिन पर अध्वर्यु दृषद् को स्थापित करे 'धिषणासि' इस मन्त्र से। हे पेषणाधारभूते शिले ! तुम पर्वतात्मिका हो। 'धीः कर्म बुद्धिर्वा तदुभयं सीदति सनोति वा' इस निरुक्ति के अनुसार कर्म का अङ्गभूत रहने से 'दृषद्' को धिषणा कहा जाता है। अदिति रूप भूमि की यह कृष्णाजिन रूपा त्वचा है ऐसा समझे। तदनन्तर सूत्रकार कहते हैं कि 'दिवः' इस मन्त्र से दृषद् के पश्चात् भाग में अधस्तात् द्वादशांगुल वाली शम्या को उदगग्र रखे। इस प्रकार दृषद् के नीचे शम्या को प्रविष्ट करने से वह दृषद् पश्चात् भाग में ऊँची और अग्र भाग में निम्न (नीची) हो जाती है। हे काष्ठमयि शम्ये ! तुम द्यु लोक को अधः पतन से रोकने वाली हो अतः स्तम्भनकारिणी हो। पहले किसी समय प्रजापति के द्वारा स्पर्श किये जाने पर द्यौ और पृथिवी, जतु-काष्ठ के समान परस्पर एक दूसरे से चिपक गईं। उनके परस्पर चिपक जाने से याग के लिये कहीं जगह (अवकाश) ही नहीं रही। अतः 'दिवः स्कम्भन्यसि' मन्त्र से उनका परस्पर विश्लेषण किया जाता है। तदनन्तर सूत्र कहता है कि पेषणार्थ दृषद् के समान उपला को भी स्थापित करे। हे उपले ! उपरितन शिले ! तुम पेषण व्यापार की धारिका हो। तुम

दृषद इवोपलां स्थापयेत् । हे उपले त्वं पार्वतेयी पर्वत्यभिधाना अधस्तनशिलाया: सम्बन्धिनी पुत्रीरूपाधिषणासि पेषण-व्यापारस्य धारिकासि अतस्त्वं मातृसमानपर्वती प्रतिवेत्तु ।

२—आधुनिकस्तु—अनेन मन्त्रेण यज्ञस्य स्वरूपमङ्गानि चोपदिश्यन्ते—हे मनुष्या: भवन्तो योऽयं शर्म सुखदोऽदितिर्नाशरहितो स्वस्ति येन रक्षो दु:खमवधूतम्, अवधूता निष्टा अरातय: । योदित्या अन्तरिक्षस्य पृथिव्याश्च त्वगस्ति त्वा तं प्रतिवेत्तु विदन्तु येन विद्याख्येन यज्ञेन पर्वती दिव: स्कम्भनी असि । पार्वतेयी धिषणास्यदित्यास्त्वग्व-द्विस्तार्यते त्वा तं प्रतिवेत्तु यथावज्जानन्तु । येन सत्सङ्गत्याख्येन पर्वती ब्रह्मज्ञानवती धिषणासि प्राप्यते त्वा तमपि प्रतिवेत्तु जानन्तु ।

३—अत्र बहून् पदार्थान् महीधरोक्तान् गृह्णन्नपि व्यत्ययेन स्वाच्छन्द्येन स्वभिमतार्थे मन्त्रं योजितवान् । मनुष्यैर्यो विज्ञानेन सम्यक् सामग्रीं सम्पाद्य यज्ञोऽनुष्ठीयते यश्च बुद्धिवर्धकोऽस्ति सोऽग्निना मनसा वा संसाधित: सूर्यप्रकाशं त्वग्वत् सेवते इति भावार्थ: ।

४—प्रथमन्त्वत्र मन्त्रे यज्ञ शब्दो नास्ति । तथा च यज्ञ: शर्मसुखरूपोऽस्तीति कथनमसङ्गतमेव । रक्षो दु:ख-मित्यपि निर्मूलम् यज्ञो नाशरहितोऽस्तीत्यपि प्रमाणविधुरम्, होमरूपस्य सङ्गतिलक्षणस्य च प्रत्यक्षेणैव नाशदर्शनात् । 'येन रक्षो दु:खं दुष्टस्वभावश्च पुरुषा नश्यन्ति' इत्यपि न सङ्गतम्, 'अवधूतम्' 'अवधूता:' इत्यनयोर्यज्ञविशेषणत्वा-सम्भवात् येनेतिपदमपि मूले नास्ति, अध्याहारेण तत्कल्पने तु विपरीतस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात् । अदितेरन्तरिक्षस्य पृथिव्याश्च त्वग्वत् वेदवाणी कथं सम्भवति ? वेदवाण्यां तत्र च सादृश्यमूलं किम् ? विद्या रूपे च यज्ञे किं मानम् ? कस्य शब्दस्य चायमर्थ: ? सा सूर्यादिलोकस्तम्भिनी मेघकन्या पृथिवी तुल्या च कथम् ? पदार्थनिरूपणे च यज्ञस्या-

---

पार्वतेयी हो, अर्थात् अधस्तन जो दृषद् है, उसकी पुत्री हो । श्रुति भी कहती है 'कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति ।' अत: मातृ तुल्या पर्वती रूपा दृषद् तुम्हें अपनी पुत्री समझे ।

२—किसी आधुनिक ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—इस मन्त्र से यज्ञ का स्वरूप और अङ्ग बताये जा रहे हैं । हे मनुष्यों ! आप लोग, सुख देने वाले, नाशरहित कल्याणमय, तथा जिसने दु:ख को दूर कर दिया है, और शत्रुओं को जिसने नष्ट कर दिया है, जो अन्तरिक्ष और पृथिवी की त्वचा है, उसे पहिचान लें । जिस विद्या नामक यज्ञ से पर्वती दिव: स्कम्भनी हो । तुम पार्वतेयी धिषणा हो अथवा अदिति के त्वक् रूप हो, उसे आप यथावत् जान लें । जिस सत्सङ्गति से ब्रह्मज्ञानवती धिषणा प्राप्त होती है, उसे भी आप लोग जान लें ।

३—यहाँ पर महीधरोक्त अनेक पदार्थों को गृहीत करते हुए भी स्वच्छन्दता पूर्वक स्वाभिमत अर्थ में मन्त्र की योजना कर दी गई है । सबका भाव यह बताया है कि मनुष्य, विज्ञान के सम्यक् सामग्री का सम्पादन करके जिस यज्ञ का अनुष्ठान करता है, जो बुद्धि को बढ़ाने वाला है, वह यज्ञ, अग्नि से अथवा मन से अनुष्ठित हुआ मनुष्यों की सेवा करता है । जैसे त्वक् सूर्य का सेवन करती है ।

४—किन्तु यह स्वच्छन्दतापूर्वक किया गया अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि पहली बात तो यह है कि प्रस्तुत मन्त्र में 'यज्ञ' शब्द नहीं है । अत: 'यज्ञ' सुख स्वरूप है, यह कथन असङ्गत ही होगा । 'रक्षस्' को दु:ख कहने में भी कोई मूल प्रमाण नहीं है । 'यज्ञ' को नाश रहित बताने में भी कोई प्रमाण नहीं है । क्योंकि होम रूप, दान रूप, सङ्गति लक्षण का नाश तो प्रत्यक्ष ही है । अत: उससे दु:ख का और दुष्ट स्वभाव के लोगों का नाश होने की बात करना भी असङ्गत ही है । 'अवधूतम्' और 'अवधूता:' ये दोनों 'यज्ञ' के विशेषण नहीं हो सकते । 'येन' यह पद भी मूल में नहीं है । अध्याहार से यदि कल्पना करेंगे तो उसके विपरीत कल्पना भी की जा सकेगी । अन्तरिक्ष और पृथिवी की त्वक् के समान वेदवाणी का सम्भव कैसे हो सकेगा ? वेदवाणी में उसके सादृश्य का मूल क्या होगा ? विद्या रूप यज्ञ के होने में क्या प्रमाण है ? और किस शब्द का यह अर्थ है ? वह सूर्यादि लोकस्तम्भिनी मेघकन्या, पृथिवी के तुल्य कैसे

नुष्ठाता यजमानः इत्यत्र अदितिरिति पदनामसु पठितम् (निघण्टु ५।५) इति प्रमाणमुक्तम्, तच्चासङ्गतमेव । अदिति-पदस्य पदार्थत्वेऽपि न यजमानार्थता । न च यजमान इत्यपि प्राड्विवाकादिपदवत् पदमेवेति वाच्यम् । तथात्वे अदिति-पदेन प्राड्विवाकस्यापि बोधापत्तेः ।

५—यत्तूक्तम्—"धृष्णोति सर्वा विद्या यया सा धिषणा 'धृषेर्धिष च संज्ञायाम्' (उ० २।८२) अनेन धिषणा-शब्दसिद्धिः । महीधरेण धिषणेदं पदं धियं बुद्धिं कर्म वा सनोति व्याप्नोतीति भ्रान्त्या व्याख्यात"मिति, तदपि भ्रान्ति-मूलकः प्रलाप एव । प्रकृते 'दृषदमुपदधाति धिषणासीति—अथोपलां दधाति धिषणासि' (श०१।१।२।१५-१६) 'तस्मिन् दृषदं धिषणासीति' (का० श्रौ० सू० २।५।३) इति श्रुतिसूत्रविरोधेन धिषणापदस्य संज्ञापरत्वानुपपत्तेः । प्रकृते दृषदः उपलायाश्च देवतयोः बुद्धिकर्मणोर्व्यापकत्वेन दातृत्वेन वा स्तुतिरभिप्रेता । सा च संज्ञायामनुपपन्नैव स्यात् । अत एव सूत्रकारेण संज्ञायामित्युक्तम् । तस्मान्नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति इति न्यायः प्रसरति । अन्यथा त्वया पर्वतशब्दात् पर्वतीत्युपपत्तौ किमर्थं पर्वणे ज्ञानं विद्यतेऽस्यां क्रियायामिति गौरवमाश्रीयते ? पार्वतेयी वृष्टिरिति पदार्थे गदितम् । अन्वये भाषाव्याख्याने च न तदुपयोगः । पर्वती कथं दिवः स्कम्भनीत्यद्यापि न स्पष्टम् । कोऽयं यज्ञः कानि च तदङ्गानीति बहुप्रलपतापि नोक्तमेव । भावार्थभाषायामपि—मनुष्यैः स्वविज्ञानैः सम्यक्तया पदार्था-नेकीकृत्य तैर्यज्ञोऽनुष्ठेयः । अग्निना मनसा च साधितो यज्ञः सूर्यप्रकाशं त्वचा तुल्यं सेवते सेवयते इति टिप्पणी ।

६—कथमेतत्सर्वं सङ्गतमिति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु । तदीयास्तु मुग्धा एवास्मिन् पाण्डित्ये । शतपथविरुद्धञ्च सर्वमेतत् । तथाहि—अपि यो दृषदुपले उपदधाति स कृष्णाजिनमादत्ते । शर्मासीति । तदवधुनोत्यवधूत ७ँ रक्ष इति । सोऽसावेव बन्धुस्तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणात्यदित्यास्त्वगसि । प्रतित्यादितिर्वेत्तु सोऽसावेव बन्धुः । पूर्वत्र श्रुतौ सूत्रे च कपालोपधानपेषणयोः सहानुष्ठानमुक्तम् । अत एवापर्यायेणैकपुरुषानुष्ठेयत्वासम्भवेनोभाभ्यामृत्विग्भ्यामपर्यायेणानु-

---

हो सकेगी ? और पदार्थ निरूपण में यज्ञ का अनुष्ठाता यजमान है, इस प्रसङ्ग में 'अदिति' को पदनामों में पढ़ा है, यह प्रमाण बताया गया है। किन्तु यह कथन भी सङ्गत नहीं है। 'अदिति' पद, यद्यपि पदार्थ है, तथापि वह यज-मानार्थक नहीं है। यह भी आप नहीं कह सकते कि 'यजमान' पद भी प्राड्विवाक आदि पद के समान है, अन्यथा 'अदिति' पद से प्राड्विवाक का भी बोध होने लगेगा।

५—यह जो कहा था कि "धृष्णोति सर्वा विद्या यया सा धिषणा। 'धृषेर्धिष च संज्ञायाम्' अनेन धिषणा शब्दसिद्धिः। महीधरेण धिषणेदम्पदं धियं बुद्धिं कर्म वा सनोति व्याप्नोतीति भ्रान्त्या व्याख्यातम् इति।" किन्तु यह भी उनका भ्रान्तिमूलक प्रलाप ही है। क्योंकि उस आधुनिक का कथन, श्रुति तथा सूत्र के विरुद्ध है। अतः 'धिषणा' पद को संज्ञापरक बताना अनुपपन्न है। प्रकृत में दृषद् और उपला के देवताओं की, बुद्धि और कर्म के व्यापकत्वेन अथवा दातृत्वेन स्तुति अभिप्रेत है। 'धिषणा' को संज्ञा मानने पर स्तुति तो अनुपपन्न हो जायगी। अत एव सूत्रकार ने 'संज्ञायाम्' कहा है। इसलिये इस आधुनिक व्याख्याकार के विषय में 'स्थाणवन्धन्याय' ही चरितार्थ हो रहा है। अन्यथा तुमने 'पर्वत' शब्द से 'पर्वती' शब्द की उपपत्ति हो सकने पर भी 'पर्वणे ज्ञानं विद्यते अस्यां क्रियायाम्' इस गौरव का स्वीकार क्यों किया ? 'पार्वतेयी वृष्टिः' इस पदार्थ पर कहा है कि अन्वय में भाषा व्याख्यान में उसका उपयोग नहीं है। 'पर्वती' दिवःस्कम्भनी किस प्रकार से है, इसे अभी तक स्पष्ट नहीं किया है। यह यज्ञ कौन सा है ? और कौन से उसके अङ्ग है ? यह तुमने बहुप्रलाप करते हुए भी नहीं बता पाया। भावार्थ भाषा में भी—सभी मनुष्य अपने विज्ञान की सहायता से सम्यक्तया पदार्थों को संगृहीत करके उनके द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान करें। अग्नि और मन के द्वारा साधित हुआ यज्ञ, सूर्य प्रकाश को त्वचा के समान सेवन करता है और सेवन कराता है।

६—किन्तु यह सब कैसे सङ्गत हो सकता है ? विचारशील विद्वान् लोग ही इसकी असमञ्जसता को पहिचान सकते हैं। आधुनिक व्याख्याकार के अन्धानुकरणशील अनुयायी तो उसके इस बेतुके पाण्डित्य पर तो मुग्ध ही हैं।

ष्ठानमुक्तम् । कपालोपधानं विधाय पेषणं विधातुमारभते कृष्णाजिनस्योपरि कर्त्तव्यं तदभिप्रेत्य तदादानं विधत्ते—स कृष्णाजिनमिति । सोऽसावेव अवहननप्रकरणे कृष्णाजिनावधूननविधिशेषो यः प्रागाम्नातः तन्नाष्ट्रा एवेद्रक्षांस्यतोऽपहन्तीति स एवात्रानुषज्य योजनीयः । इत्यतिदेशः कृष्णाजिनस्यास्तरणं विधत्ते तदिति प्रागाम्नातमेव मन्त्रव्याख्यानं तदत्रातिदिशति सोऽसावेव बन्धुस्तत्समानधर्मेत्यर्थः ।

७—अथ शम्यामुदीचीनाग्रामुपदधाति दिवःस्कम्भनीरसीत्यन्तरिक्षमेव रूपेणान्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे । तस्मादाह दिवः स्कम्भनीरसीति (श० १।१२।१६) तत्र स्पष्ट शम्याया द्युलोकस्तम्भनहेतुत्वं वक्तुमन्तरिक्षरूपत्वमुक्तम् । तेनान्तरिक्षलोकात्मिका शम्योक्ता । इमे द्यावापृथिव्यावन्तरिक्षेण हि यस्माद्विष्टब्धे विविधमधस्तादुपरिष्टाच्च धारिते अन्तेऽन्तरिक्षात्मिका शम्यापि दिवः स्कम्भनीरसीति स्तूयते । नात्र पर्वत्या न वा पार्वतेय्या अत्र दिवः स्कम्भनीत्वं सम्भवत्युपपद्यते वा ।

८—अथोपलामुपदधाति—धिषणासि पार्वतेयी प्रतित्वा पर्वती वेत्त्विति कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति तस्मादाह पार्वतेयीति प्रति त्वा पर्वती वेत्तु प्रति हि स्वः सञ्जानीते । तत्संज्ञामेवैतत् दृषदुपलाभ्यां वदति नेदन्योऽन्यं हिनसाते इति । द्यौरेषा रूपेण हनू एव दृषदुपले जिह्वैव शम्या । तस्माच्छम्यया समाहरन्ति जिह्वया वर्दति (श० १।१।२।१७) इह दृषदुपरि उपलायाः समन्त्रकं स्थापनं विधत्ते अथेति । पार्वतेयी शब्दं व्याचष्टे कनीयसीत्यादिना । यस्मादेषोपलाऽतिशयेन दृषदः सकाशादल्पपरिमाणा अत एषा दृषदो दुहितेव भवति । दुहिताहि लोके मातुरल्पीयसी भवति । तस्मादेषा पर्वत्याः पुत्री पार्वतेयी 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा० सू० ४।१।१२०) इति ढक् । एतदालोक्यैव दयानन्देन पर्वतस्य मेघस्य दुहितेव या सा पार्वतेयी अथवा पार्वत्या घनपङ्क्त्याः कन्या पार्वतेयी वृष्टिरुक्ता किन्तु परस्परं सङ्गतिर्नोपपादिता । अर्थापनकाले तु मेघकन्या अर्थात् पृथिवीतुल्या वेदवाणीत्युक्तम् । तदेतत् सर्वं पूर्वोक्तशतपथश्रुतिविरुद्धमेव ।

उसका यह सम्पूर्ण व्याख्यान केवल प्रलापमात्र ही है, क्योंकि वह सब, शतपथ श्रुति के विरुद्ध है । पूर्वत्र श्रुति और सूत्र में कपालोपधान और पेषण का सहानुष्ठान कहा गया था । वह सहानुष्ठान एक ही पुरुष के द्वारा होना सम्भव न होने से दो ऋत्विजों के द्वारा उस सहानुष्ठान को कहा गया । कपालोपधान का विधान करके पेषण के विधान का आरम्भ किया गया है । वह पेषण कृष्णाजिन पर करना है, इसलिये कृष्णाजिन के आदान का विधान किया गया है । ततः कृष्णाजिन के आस्तरण का विधान किया गया है ।

७—शतपथ ने शम्या को द्युलोक के स्तम्भन का हेतु बताने के लिये उसे अन्तरिक्ष रूप कहा है । अतः अन्तरिक्षलोकात्मिका शम्या है, यह स्पष्टतया बताया है । इन द्यावा पृथिवी को क्योंकि अन्तरिक्ष के द्वारा विविध प्रकार से नीचे-ऊपर धारण किया गया है, अतः अन्त में अन्तरिक्षात्मिका शम्या की भी 'दिवः स्कम्भनीरसि' के द्वारा स्तुति की गई है । यहाँ पर पर्वती की अथवा पार्वतेयी की दिवःस्कम्भनीयता का होना न सम्भव है, और न उपपन्न ही है ।

८—दृषद् के ऊपर उपला का समन्त्रक स्थापन करने का विधान शतपथ कर रहा है । 'कनीयसी' इत्यादि से 'पार्वतेयी' शब्द की व्याख्या उसने की है । यह उपला, दृषद् की अपेक्षा अत्यल्पपरिमाण की है, इसलिये यह दृषद् की कन्या के समान है । लोकव्यवहार में भी माता की अपेक्षा दुहिता (कन्या) अल्पपरिमाण ही होती है । इसलिये यह, पर्वती की पुत्री पार्वतेयी 'स्त्रीभ्यो ढक्' सूत्र से ढक् प्रत्यय किया गया है । यह देखकर ही दयानन्द ने 'पर्वतस्य मेघस्य दुहितेव या सा पार्वतेयी, अथवा पार्वत्या घनपङ्क्त्याः कन्या पार्वतेयी वृष्टिः' कह दिया है, किन्तु सङ्गति का उपपादन नहीं किया । अर्थ करते समय मेघकन्या अर्थात् पृथिवी तुल्या वेदवाणी कह दिया है । किन्तु यह सब, पूर्वोक्त शतपथश्रुति के विरुद्ध ही है ।

९—'प्रति त्वा पार्वती वेत्तु' इति मन्त्रशेषेण परस्परहिंसापरिहारार्थं दृषदुपलयोर्मित्रीकरणमर्थ इति व्याचष्टे प्रतित्वेति। उपर्यवस्थानलक्षणेन रूपेण एषा उपला द्यौरेव द्युलोकात्मिकैव। तदेको दृषदुपले स समाहन्तीति प्रागुपात्तयोः समाहननं विहितम्। तत्र शम्यायाः साधनत्वं प्रसङ्गादुपपादयति। हनू एवेति। दृषदुपलयोरुभयत्रावस्थानात् हनुत्वं तन्मध्येऽवस्थानात् शम्याया जिह्वात्वम्। यस्माच्च जिह्वया लोको वदति तस्माज्जिह्वास्थानीयया शम्ययैव समाहननं कुर्यादित्यर्थः। सर्वथापि शतपथश्रुतिकात्यायनसूत्रयाज्ञिकपारम्पर्यपद्धतिसमाश्रितं सायणोव्वटमहीधरसम्मतमेव व्याख्यानं विजयते।

१०—अध्यात्मपक्षेऽपि—हे आत्मन् त्वं शर्मासि सुखरूपोऽसि। स्वरूपसुखानुसन्धानेनैव रक्षो विघ्नकारकतत्त्वमवधूतं निगृहीतम्। अरातयः संस्काररूपेणावस्थिताः प्रतिपक्षाश्च बाधिताः। त्वमदित्याश्चिच्छरीराया अखण्डायाः परचितेस्त्वक् त्वगिव स्वरूपमेवासि। अदितिस्त्वां स्वकीयत्वेन वेत्तु जानातु। तस्याः स्वामीयत्वमननादेवात्मनां कल्याणसम्भवात् हे परचिते त्वं धिषणासि विज्ञानरूपासि। ननु विज्ञानस्य क्षणभङ्गुरत्वेन ममापि तथात्वं स्यादिति तत्राह—पर्वती शिलावत् कूटस्थासि। पर्वतशिलावन्निर्विकारेत्यर्थः। यद्वा त्वं पर्वती असि। पर्वतात्मिकासि पर्वतशिलावदविचलासीत्यर्थः। नन्वेवमायातं तद्वदेव जड़त्वमपीति चेन्न, यतस्त्वं धिषणासि नित्यबोधरूपासीत्यर्थः। यद्वा अदित्या अनन्ताखण्डरूपायाश्चिच्छरीरायास्त्वग्रूपा प्रत्यक्चितिस्त्वां तथाभूतां वेत्तु जानातु। हे प्रत्यक्चिते त्वं दिवो द्युलोकस्य बाह्यानां ज्योतिषामादित्याग्निविद्युतामान्तराणामिन्द्रियमनोबुद्ध्यादीनां ज्योतिषां त्वमेव स्कम्भिनी धारिणी असि। 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते' (श्री० भ० गी० १३।१७) इति भगवदुक्तेः। हे प्रत्यक्चिते

९—'प्रतित्वा पार्वती वेत्तु' इस मन्त्रशेष के द्वारा परस्पर हिंसा के परिहारार्थ दृषद् और उपला दोनों में मैत्रीकरण बताना ही प्रयोजन है। ऊपर स्थिति रहने से यह उपला, द्युलोकात्मिका ही है। ततः समाहनन का विधान है। उसमें प्रसङ्गात् शम्या की साधनता का उपपादन कर दिया है। दृषद् और उपला दोनों की अवस्थिति उभयत्र होने से उनका हनुत्व सिद्ध होता है और उन दोनों के बीच में शम्या के रहने से उसका जिह्वात्व सिद्ध होता है। जिह्वा से लोक बोला करते हैं, इसलिये जिह्वा स्थानीय शम्या से ही समाहनन करना चाहिये। सर्वथापि शतपथश्रुति-कात्यायनसूत्र-याज्ञिकपरम्पराप्राप्त पद्धति पर आश्रित सायण-उव्वट-महीधर आचार्यों की विरचित व्याख्या ही प्रामाणिक होने से आदरणीय है।

१०—अध्यात्म पक्ष में भी—हे आत्मन् ! तुम सुख (शर्म) रूप हो, अपने स्वरूपसुखानुसन्धान से ही विघ्नकारकतत्त्व राक्षसों को तुमने निगृहीत कर दिया है। संस्कारों के रूप में अवस्थित शत्रुओं को और प्रतिपक्षियों को तुमने नष्ट कर दिया है। तुम अदिति के अर्थात् चिच्छरीररूपिणी, अखण्ड पराचिति के त्वचा के ही समान यानी तत्स्वरूप ही हो। अदिति तुम्हें अपना स्वकीय समझे। तुम्हारे प्रति स्वात्मीयत्वरूपेण उसके द्वारा चिन्तन किये जाने से ही समस्त आत्माओं के कल्याण का होना सम्भव है। हे पराचिते ! तू विज्ञानरूपा है। विज्ञान के क्षणभंगुर होने पर भी पराचिति, क्षणभगुर नहीं है। वह तो शिला की तरह कूटस्थ है। अर्थात् पर्वत शिला के समान वह निर्विकार है। अथवा तुम पर्वती हो, यानी पर्वत शिला के समान अविचल हो। पर्वत शिला के समान रहने पर भी वह जड़ा नहीं है। क्योंकि वह 'धिषणा' यानी नित्य बोध रूप है। अथवा अदिति के अर्थात् अनन्त अखण्ड रूप चिच्छरीरिणी के त्वग्रूप यानी प्रत्यक् चिति रूप हो, वह अदिति तुमको इसी प्रकार यानी अपनी त्वचा के समान ही समझती रहे। हे प्रत्यक् चिते ! तुम द्यु लोक के ज्योति रूप आदित्य, अग्नि, विद्युत् आदि बाह्य तथा इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि आन्तर ज्योतियों के एकमात्र धारक तुम ही हो। भगवान् भी श्रीमद्भगवद्गीता में यही कह रहे हैं—"ज्योतिषामपितज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते" इति। हे प्रत्यक्चिते ! तुम विज्ञान रूपा हो, फिर भी अनित्य नहीं हो। तुम पार्वतेयी हो यानी पर्वती के अर्थात् तत्पदार्थरूपा ईश्वरचिति की दुहिता के समान हो, अतः महती शिला के समान कूटस्थ हो। क्योंकि भगवती श्रुति कह रही है—हे आत्माओं ! तुम 'अमृतस्य पुत्राः'—अमृत के पुत्र हो। भगवान् भी कह रहे

त्वं धिषणासि विज्ञानरूपासि, तथात्वेऽपि नानित्या किन्तु पार्वतेयी पर्वत्या तत्पदार्थरूपाया ईश्वरचितेः दुहितेव पार्वतेयी महती शिलेव कूटस्थासि । 'अमृतस्य पुत्राः' (वा० सं० ११।५) 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (श्री० म० गी० १५।७) इत्यादि वचनेभ्यः। एतन्मन्त्रमाश्रित्यैव योगवाशिष्ठे त्रिपुर-सुन्दरीरहस्ये च शिलोपाख्यानं प्रवृत्तं वेदितव्यम्। पर्वती त्वा त्वां स्वकीयत्वेन वेत्तु जानात्वित्यर्थः। अखण्डा-याश्चितेरेव सर्वैश्वर्यपूर्णा चितिरीश्वररूपा प्रत्यक्चितिर्जीवरूपा। सा च तदंशरूपैव। उभे चाखण्डचित्पर-ब्रह्माभिन्ने एव।

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोऽसि॥ वा० सं० १। २०॥

अर्थ—हे हविर्द्रव्य ! तुम धान्य अर्थात् सन्तोष करने वाले हो, उस कारण देवताओं को सन्तुष्ट करो। हे तण्डुल ! प्राण (श्वसन वायु), उदान (उत्क्रान्ति वायु), व्यान (व्यापक वायु) वायु का प्रदान करने के लिये तुम्हें पीसकर चूर्ण बना रहा हूँ। (तण्डुलों में प्राण सञ्चार के लिये उनका पेषण किया जाता है। क्योंकि देवताओं के लिये हवि सजीव बनाया जाता है।) हे हविर्द्रव्य ! मैं तुम्हें आयुष्य की वृद्धि के लिये दीर्घ कर्मसन्तति के उद्देश्य से कृष्णाजिन पर स्थापित करता हूँ। प्रेरणा देने वाले सुवर्ण के अंगुलीयक आदि आभूषणों को धारण किये हुए देवता छिद्ररहित अपने अञ्जलि से तुम्हारा ग्रहण करे। हे हविर्द्रव्य ! यजमान की नेत्रशक्ति के वर्धनार्थ मैं तुम्हारी ओर देखता हूँ। हे आज्य ! तुम गाय के दूध से उत्पन्न हुए हो, उस कारण दुग्धरूप हो ॥२०॥

१—धान्यमसीति तण्डुलान् पिनष्टि प्राणाय त्वेतीति प्रतिमन्त्रम् (का०श्रौ०सू० २।५।६) दृषद उपरि तण्डुलान् प्रक्षिप्य पिंष्यादध्वर्युः। हे हविस्त्वं धान्यमसि। धिनोति प्रीणाति देवानिति धान्यम्, तेन धान्यपदेन व्रीहिवद्यवादयोऽपि गृह्यन्ते, धिनोतेः प्रीणनार्थत्वात्। देवानग्न्यादीन् धिनुहि प्रीणय। प्रकर्षेण अनिति सदा चेष्टते इति प्राणः श्वासवायुः।

हैं—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' इस मन्त्र के आधार पर ही योगवासिष्ठ में और त्रिपुरसुन्दरी रहस्य में शिलोपाख्यान बताया गया है। पर्वती, तुम्हें अपना स्वकीय समझे। अखण्ड चिति से ही सर्वैश्वर्यपूर्ण ईश्वर रूपा चिति है और प्रत्यक् चिति जीव रूपा है। वह उसकी अंश रूप ही है। दोनों ही अखण्डचित्परब्रह्म से अभिन्न ही हैं।

१—कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार दृषद् के ऊपर तण्डुलों को डालकर अध्वर्यु उनको पीसे। हे हविः ! तुम धान्य हो। 'धिनोति प्रीणाति देवान् इति धान्यम्'—यह 'धान्य' पद की निरुक्ति है। अतः 'धान्य' पद से व्रीहि की तरह 'यव' आदि का भी ग्रहण किया जाता है। क्योंकि 'धिनु' धातु प्रीणनार्थक है। अग्न्यादि देवों को प्रसन्न करो। 'प्रकर्षेण अनिति सदा चेष्टते इति प्राणः' इस निरुक्ति से 'प्राण' का अर्थ 'श्वासवायु' है। 'व्याप्य चेष्टते इति व्यानः' इस निरुक्ति से 'व्यान' का अर्थ है—शरीर में व्यापक रूप से रहने वाला और बल का हेतुभूत वायु। हे हविः, हे तण्डुल ! मैं तुम्हारा पेषण तुम्हें प्राणदान करने के लिये करता हूँ, तुम्हारी हिंसा करने के लिये नहीं। इसी प्रकार

व्याप्य चेष्टते इति व्यानः—शरीरव्यापको बलहेतुर्वायुः। हे हविः हे तण्डुल त्वां प्राणाय प्राणदानाय न हिंसायै पिनष्मीति शेषः। एवमुत्तरमन्त्रयोरपि। एभिर्मन्त्रैः प्राणादिदानेन हविषः सजीवत्वं क्रियते इत्यभिप्रायः। जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानामित्युपक्रम्य दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञं घ्नन्तीति प्रतिपाद्य स यदाह प्राणाय त्वोदानाय त्वेति तत्प्राणापानौ दधातीत्यादिना हविषः पुनर्जीवनसम्पत्तिरुक्ता शतपथश्रुत्या—दीर्घामिति कृष्णाजिने प्रोहति' (का० श्रौ० सू० २।५।७) पिष्टानि हवींषि उपलया कृष्णाजिनोपरि पातयेदध्वर्युः। प्रसयनं प्रसितिः प्रबन्धः (षिञ् बन्धने) कर्मसन्ततिः दीर्घामविच्छिन्नां प्रसितिकर्मपरम्परामभिलक्ष्य आयुषे यजमानस्यायुर्वृद्धयर्थं धां त्वां कृष्णाजिने दधामि। दधातेर्लुङि 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) अडागमाभावः। यजमानस्यायुर्वृद्धौ सत्यामेव कर्मपरम्परा प्रवर्तते अन्यथा लोपप्रसङ्गात्। 'दीर्घामनुप्रसितिमायुषेऽधामित्याह' इति तैत्तिरीय श्रुतेः।

२—यद्वा हे हविः दीर्घा प्रासितिः कृष्णाजिनाख्यामनु त्वां धां धारयामि कृष्णाजिने प्रक्षिपामीत्यर्थः।

३—लौकिकास्तु 'कुर्वते कर्मभोगाय कर्म कर्तुञ्च भुञ्जते' कर्मानुष्ठानं भोगाय भोगश्च कर्मानुष्ठानाय वैदिकास्तु दीर्घायुष्ट्वमपि दीर्घामविच्छिन्नां प्रसितिं देवताराधनलक्षणकर्मसन्ततिमनुलक्ष्यैव कामयन्ते तादृक्कर्मसन्ततिः भक्तिरूपत्वेन पञ्चमपुरुषार्थत्वेनाभिप्रेयते सत्त्वशुद्धिविवेकवैराग्यब्रह्मात्मज्ञानयोग्यताप्राप्तिक्रमेण ब्रह्मात्मप्राप्तिपर्यवसायिनीवा।

४—यद्वा (षहमर्षणे) इति धातुना निष्पन्नत्वात् प्रसहनात् प्रसितिः तन्तुर्जालं वा 'प्रसितिः प्रसहनात् तन्तुजालं वा' (नि० ६।१२) इति निरुक्तवचनात् प्रकृते प्रसिति शब्देन कृष्णाजिनमभिधीयते। तस्यापि पिष्टानां

अगले दो मन्त्रों में भी समझना चाहिये। इन मन्त्रों से प्राणदान करके हवि को सजीव किया जाता है। 'यह हवि, देवताओं का जीव है, वह अमृतों का भी अमृत है,—ऐसा उपक्रम करके 'दृषद् और उपला के द्वारा हवि रूप यज्ञ को नष्ट करता है' ऐसा बताकर, जब वह यह कहता है कि 'प्राणायत्वोदानायत्वा' इस मन्त्र से 'प्राण' 'अपान' को उसमें स्थापित करता है। एवञ्च इस प्रकार कहने से हवि की पुनर्जीवन सम्पत्ति बताई गई है। इतना शतपथ श्रुति के बताने के पश्चात् श्रौत सूत्र के अनुसार अध्वर्यु उस पिष्ट हवि को उपला से कृष्णाजिन पर गिराता है। 'प्रसयनं प्रसितिः' के अनुसार 'प्रसिति' का अर्थ प्रबन्ध' है। 'षिञ्' बन्धने धातु से 'प्रसिति' को निष्पत्ति होती है। एवञ्च कर्म सन्तति अर्थात् दीर्घ अवच्छिन्न प्रसिति कर्म परम्परा के उद्देश्य से यजमान की आयुर्वृद्धि के लिये तुम्हें कृष्णाजिन पर रख रहा हूँ। यजमान की आयुर्वृद्धि होने पर हीं कर्म परम्परा प्रवृत्त हो सकती है। अन्यथा उसके लुप्त होने का ही प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

२—अथवा पूर्व मन्त्रों से हवि को प्राणदान करके सजीव किया, इस मन्त्र से हवि को आयु का दान किया जा रहा है। हे हविः! 'दीर्घ प्रसिति अर्थात् कृष्णाजिन पर तुम्हें मैं रख रहा हूँ। अभिप्राय यह है कि मैं तुम्हें कृष्णाजिन पर डाल रहा हूँ। उससे तुम्हारी आयुर्वृद्धि होगी।

३—सांसारिक लोग तो 'कुर्वते कर्म भोगाय कर्मकर्तुञ्च भुञ्जते'—भोग के लिये कर्म किया करते हैं, और कर्म के लिये भोग का अनुभव करते रहते हैं—यह सांसारिक लोगों की स्थिति है। किन्तु वैदिक लोग दीर्घ अविच्छिन्न देवताराधन लक्षण कर्मसन्तति को लक्ष्य करके ही दीर्घायुष्ट्व को कामना करते हैं। इस प्रकार की कर्म सन्तति को भक्ति रूप पञ्चम पुरुषार्थ के रूप में सत्त्वशुद्धि विवेक वैराग्य ब्रह्मात्म ज्ञान योग्यता प्राप्ति के क्रम से अथवा ब्रह्मात्म प्राप्ति पर्यवसायिनी के रूप में मानते हैं।

४—अथवा षह्' मर्षणे धातु से निष्पन्न होने से अथवा 'प्रसहनात् प्रसितिः तन्तुर्जालं वा' इस निरुक्त वाक्य से प्रकृत में ' प्रसितिः शब्द से कृष्णाजिन को बताया गया है। वह भी पिष्टों का धारक होने से उसमें प्रसहन कर्तृत्व

धारकत्वेन प्रसहनकर्तृत्वोपपत्तेः। तथा च हे हविः दीर्घां प्रसितिं कृष्णाजिनाख्याममुधां कृष्णाजिने त्वां प्रक्षिपामि किमर्थमायुषे त्वदीयायुर्वृद्धयर्थम्। दीर्घायुष्यैव मृगस्य कार्ष्णोपपत्त्या कृष्णाजिने धारणेन हविषोऽपि दीर्घायुष्ट्वं सेत्स्यति। तदुपवेशिनामृषीणामपि तत एव दीर्घायुष्ट्वम् हविषामपि दीर्घकालिकसुखजनकादृष्टजनकत्वं दीर्घकालिकदेवतातृप्तिजनकत्वमेव वा दीर्घायुष्ट्वम्।

५—देवो व इतिमन्त्रशेषः पूर्ववदेव व्याख्यातव्यः।

अत्र पिष्टग्राहकत्वात् प्रसितिशब्देन कृष्णाजिनं गृह्यते। तथा च हे हविः दीर्घां प्रसितिं कृष्णाजिनाख्यामनुलक्ष्य त्वां धारयामि। कृष्णाजिने प्रक्षिपामीत्यर्थः। किमर्थमायुष्ये त्वदीयायुर्वृद्धयर्थम्। यथा पूर्वमन्त्रैर्हविषः प्राणदानेन सजीवत्वं कृतं तथैवानेन मन्त्रेण तस्य दीर्घायुष्ट्वं क्रियते। देवो वः सवितेत्यादिमन्त्रस्तु पूर्ववदेव व्याख्येयः।

६—'चक्षुषे त्वेतीक्षते' (का० श्रौ० सू० २।५।८) ईक्षे इत्यध्याहृतेन 'चक्षुषे त्वे'ति मन्त्रेण पिष्टानि पश्येदध्वर्युः। हे हविः चक्षुषे यजमानस्य चक्षुरिन्द्रियपाटवाय त्वा त्वामीक्षे।

७—यद्वा हे हविः चक्षुषे त्वदीयाय चक्षुरिन्द्रियाय तव चक्षुरादिबाह्येन्द्रियदानाय त्वामीक्षे। हविषः सजीवत्वे दीर्घायुष्ट्वे च चक्षुराद्यपेक्षाया अपि सत्त्वात्। दिव्यानाममृतानां देवानां दिव्या एव भोगा अपि भवन्ति। ते चापि चेतना भवन्ति। तत एव भोग्यस्य भोक्तृतादात्म्यापत्तिरेव भोगः। तत एव पूर्वमुक्तं परदेवताया नासायां गन्धदेवता श्रोत्रे पुण्यदेवता नाभौ धूपदेवता नयने दीपदेवता जिह्वायां नैवेद्यदेवता विलीना विभाव्यात्मानं पदकमले विलीनं विभाव्यानन्तब्रह्मस्वरूपं चिन्तयेत्। अत एव अहमन्नमहमन्नमहमन्नमित्युपासकानां स्वस्यदेवान्नत्वेन तद्भोग्यत्वभावनाद्रियते। अन्ते अनन्तसौख्यस्यैव तद्धविष्ट्वोक्तेः। तदाधारभूतपात्रस्यापि चिन्मयत्वमुक्तम्—'चित्पात्रे सद्धविः सौख्यं विविधानेकभक्षणम्। निवेदयामि ते देवि सानुगायै गृहाण तत्॥' इति।

उपपन्न होता है। तथा च हे हविः! दीर्घां प्रसितिं अर्थात् जो कृष्णाजिन है, उस पर तुम्हें मैं डाल रहा हूँ, जिससे तुम्हारी आयुर्वृद्धि हो। दीर्घ आयु वाले मृग की ही कृष्णता का होना सम्भव रहता है अतः कृष्णाजिन पर हवि को रखने से हवि को भी दीर्घायुष्ट्व प्राप्त होगा। और उसको स्थापन करने वाले उन ऋषियों को भी उसी से दीर्घायुष्ट्व का लाभ होगा हवियों में भी दीर्घकालिक सुखजनक अदृष्टजनकत्व अथवा दीर्घकालिक देवता तृप्ति जनकत्व को ही दीर्घायुष्ट्व समझा जा सकता है।

५—'देवो वः' यह मन्त्र शेष है, इसकी पूर्व की तरह ही व्याख्या करनी चाहिये।

६—ततः 'चक्षुषेत्वा' इस मन्त्र से अध्वर्यु पिष्टों का ईक्षण करे। हे हविः! यजमान के चक्षुरिन्द्रिय की शक्ति वर्धनार्थ मैं तुम्हारा वीक्षण कर रहा हूँ।

७—अथवा हे हविः! तुम्हारे चक्षुरिन्द्रिय के लिये अर्थात् तुम्हें चक्षुरादि बाह्येन्द्रिय का दान करने के लिये मैं तुम्हें देख रहा हूँ। क्योंकि हवि के सजीव और दीर्घायु होने में चक्षुरादि की अपेक्षा भी होती है द्यु लोक में रहने वाले अमृत देवों के भोग भी दिव्य ही होते हैं। वे भी चेतन होते हैं। उसी कारण भोग्य की भोक्ता के साथ जो तादात्म्यापत्ति है, उसी को 'भोग' शब्द से कहा जाता है। अतएव पहले कह चुके हैं कि तत्तत्स्थानों में तत्तत् भाग्य की अधिष्ठात्री पर देवताएँ विलीन हुआ करती हैं। जैसे—नासिका में गन्ध देवता, श्रोत्र में पुण्य देवता, नाभि में धूप देवता, नेत्र में दीप देवता, जिह्वा में नैवेद्य देवता, विलीन हो गई हैं, ऐसी भावना करके आत्मा की परकमल में विलीन होने की भावना करते हुए अनन्त ब्रह्म स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये। अत एव 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' इस प्रकार से उपासक लोग अपने को ही देय अन्न के रूप में भोग्य भावना का विषय बना लेते हैं। अन्त में अनन्त सौख्य को ही उसका हवि कह देते हैं। उसके आधारभूत पात्र को भी चिन्मय कहा है।

"चित्पात्रे सद्धविः सौख्यं विविधानेकभक्षणम्। निवेदयामि ते देवि सानुगायै गृहाण तत्॥"

८—'पिष्यमाणेषु निर्वयत्यन्यो महीनामित्याज्यम्' (का० श्रौ० सू० २।५।८) तण्डुलेषु पिष्यमाणेषु अन्यो ब्रह्मा गृहीतवेदः महीनामिति मन्त्रेण पात्रान्तरादाज्यस्थाल्यामाज्यं क्षिपेत् । अन्यशब्देन परिक्रीतत्वादृत्विजामन्यतमोऽभिधेयः । तत्राध्वर्योरग्नीधश्च कपालोपधानपेषणयोर्व्यापृतत्वात् ब्रह्मैवान्यपदेनाभिधीयते । मन्त्रार्थस्तु—हे आज्य त्वं महीनां गवां पयोऽसि क्षीरमसि, क्षीरेणोत्पादितमसीत्यर्थः । 'मह्यो वा एता एतेन नाम्ना यद्गाव' इति काण्व श्रुत्या महीपदेन गाव उच्यन्ते । महीनां पूज्यानां तासामेव सर्वपूज्यत्वात् मातारुद्राणामित्यादिमन्त्रवर्णेभ्यः । महीजाता वा गावो मही शब्देनोच्यन्ते ।

९—दयानन्दस्तु अत्र सर्वत्रैव व्यत्ययेति इत्येव तस्य व्याख्यानमूलम् । 'यदिदं यज्ञशोधितं धान्यमस्ति यच्च यज्ञशोधितं पयोस्ति तत् देवान् धिनुहि धिनोति । तस्माद्यथाह तत्प्राणाय तदुदानाय तद् व्यानाय दीर्घां प्रसितिमायुषे धां दधामि तथैव यूयं सर्वे मनुष्यास्तस्मै प्रयोजनाय सर्वं धत्त । तथा यो वः अस्मान् हिरण्यपाणिर्देवः सविता जगदीश्वरोऽच्छिद्रेण पाणिना महीनां चक्षुषे त्वा प्रत्यनुगृह्णातु प्रकृष्टतयाऽनुगतं गृह्णाति तथैव वयं तं प्रतिगृह्णीमः ।'

१०—तदिदं व्याख्यानं सर्वथा प्रमाणबहिर्भूतम्, प्रकृतेषु पुरुषव्यत्ययेषु प्रमाणाभावात् । अतएव धान्यमसीत्यस्य स्थाने धान्यमस्ति 'वः' इत्यस्य अस्मान् इत्यादि व्याख्यानम् अपव्याख्यानमेव । यज्ञादिति शब्दस्य मूलेऽभावात् । यज्ञात् शुद्धं धातुमर्हं धान्यमित्याद्यपि निरर्गलमेव । रोगनाशकेन स्वादिष्टतमेनेत्यप्युदक्षरमेव । यदपि प्रकृष्टं मन्यते येन तस्मै जीवनधारणहेतवे बलाय, ऊर्ध्वं मन्यते चेष्टयते येन तस्मै उत्क्रमणपराक्रमहेतवे, विविधं मन्यते

८—'पिष्यमाणेषु' इस कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार तण्डुलों का पेषण करने के बाद अन्य 'ब्रह्मा' नाम का ऋत्विज् हाथ में वेद (दर्भमुष्टि) को ग्रहण करते हुए 'महीनाम्' मन्त्र बोलकर पात्रान्तर से आज्यस्थाली में आज्य उडेल ले । ऋत्विजों के परिक्रीत रहने से 'अन्य' शब्द से ऋत्विजों में से ही किसी अन्यतम को समझना चाहिये । किन्तु प्रस्तुत परिस्थिति में अध्वर्यु और अग्नीध, कपालोपधान और पेषण कार्य में व्यापृत हैं, इसलिये 'अन्य' शब्द से ब्रह्मा संज्ञक ऋत्विज् ही कहा गया है । मन्त्रार्थ यह है—हे आज्य ! तुम गोक्षीर रूप हो, यानी क्षीर से उत्पन्न हुए हो । 'मही' शब्द काण्व श्रुति के अनुरोध से 'गो' का बोधक है । 'महीनाम्' का अर्थ, पूज्यानाम् किया गया है, क्योंकि 'मातारुद्राणाम्' इत्यादि मन्त्रवर्णों से 'गौ' ही सर्वपूज्या है ।

९—स्वामी दयानन्द ने प्रस्तुत मन्त्र की जो व्याख्या की है, उसमें सर्वत्र ही रूपान्तरण (व्यत्यय) का ही आश्रय किया है । व्यत्यय को आधार बनाकर ही उन्होंने व्याख्या कर डाली है । तथाहि—"यह जो यज्ञशोधित धान्य है, और जो यज्ञशोधित पय है, वह देवताओं को प्रसन्न करता है । तस्मात् वही प्राण के लिये, वही उदान के लिये, वही व्यान के लिये, और वही दीर्घ जीवन के लिये है, इसी कारण मैं उसका धारण करता हूँ, उसी तरह तुम सभी मनुष्य, उसी प्रयोजन के लिये उसको धारण करो । तथा जो हिरण्यपाणि जगदीश्वर सविता देव, अपने अच्छिद्र पाणि (अञ्जलि) से दृष्टि के लिये प्रकृष्टतया अनुगत हुए तुमको ग्रहण करता है, तथैव हम उसे स्वीकार करते हैं ।"

१०—किन्तु यह दयानन्दीय सम्पूर्ण व्याख्या सर्वथैव प्रमाण बहिर्भूत होने से अप्रामाणिक है । जहाँ-तहाँ पुरुषव्यत्यय किया गया है, वैसा व्यत्यय करने में कोई प्रमाण नहीं है । अतएव 'धान्यमसि' के स्थान में 'धान्यमस्ति' इत्यादि व्याख्यान करना अपव्याख्यान ही कहलाता है। मूल में 'यज्ञात्' यह शब्द है ही नहीं। यज्ञ से शुद्धं धातुम्, अर्हम्, धान्यम्' इत्यादि जो कहा गया है वह भी सब निरर्गल ही है । 'रोगनाशकेन, स्वादिष्टतमेन' जो कहा है, वह भी उदक्षर ही है । क्योंकि मूलमें इस प्रकार के कोई अक्षर नहीं हैं ।यह जो कहा है, प्रकृष्टं मन्यते येन तस्मै जीवनधारणहेतवे बलाय, ऊर्ध्वं मन्यते चेष्टयते येन तस्मै उत्क्रमण पराक्रमहेतवे, विविधं मन्यते व्याप्यते येन तस्मै सर्वेषां शुभगुणानां कर्मविद्याङ्गानां

व्याप्तिर्व्याप्यते येन तस्मै सर्वेषां शुभगुणानां कर्मविद्याङ्गानां व्याप्तिहेतवे दीर्घां विस्तृतामनु पश्चात् प्रसितिं प्रकृष्टं सिनोत्यनया प्रसितिस्तामायुषे पूर्णायुर्वर्धनेन सुखभोगाय धां दधामी'ति, तदपि बालभाषितम् लोके प्राणेन बलं वर्धते नहि बलेन प्रकृष्टं मन्यते, तथैव बलेन न जीवनधारणं भवति किन्तु जीवनधारणेन बलं भवति इति लोकानुभवविरोधात्।

११—भाषाव्याख्याने तु संस्कृतव्याख्यानाद्विपरीतमेवोक्तम्। उदानायेत्यस्य स्फूर्ति-बल-पराक्रमेभ्य इत्यर्थ उक्तः। स चासङ्गत एव। उदानपदेन स्फूर्ति-बल-पराक्रमहेतोर्वायुविशेषस्य वक्तुं शक्यत्वेऽपि स्फूर्त्यादिग्रहणासम्भवात्। तथैव व्यानायेत्यस्य शुभगुणशुभकर्मविद्याङ्गानां विस्तारोऽर्थो गृहीतः परं सोऽपि न व्यानपदार्थः अप्रसिद्धेः। व्युत्पत्त्यापि येन शुभगुणादयो विस्तार्यन्ते स वायुविशेष एव व्यानपदार्थो भवति। एवमेवानर्थकं बहुप्रलपतापि अनुप्रसितिशब्दार्थो न निरूपितः। भाषाव्याख्याने तु तस्य अत्युत्तमसुखबन्धनयुक्तयज्ञक्रिया इत्यर्थ उक्तः। तत्र यज्ञक्रियया सुखबन्धनेन कः सम्बन्धः? सुखं बन्धनं च कथम्? पश्चादर्थकस्य अनुपसर्गस्य क्व सम्बन्ध इत्यप्यनिरूपितमेव। हिरण्यपदस्य मोक्षः कथमर्थ इत्यपि चिन्त्यमेव त्वद्रीत्या विनश्वरस्य सावधिकस्य मोक्षस्य हिरण्मयत्वानुपपत्तेः। हिरण्यं प्रकाशार्थं ज्योतिः प्राणिर्व्यवहारो यस्येत्यपि नोपपद्यते पाणिपदे न व्यवहारहेतोरिन्द्रियविशेषस्य ग्रहणसम्भवेऽपि पाणिशब्दस्य व्यवहारार्थत्वानुपपत्तेः। एवं चक्षुषे इत्यस्य प्रत्यक्षज्ञानं नेत्रव्यवहारश्च नार्थः सम्भवति, तद्धेतावपि तत्प्रयोगात्। महीनां महतीनां वाचां पृथिवीनाञ्च पयो अन्नं जलं च येन शुद्धमस्यास्तीति व्यत्यासे स्वाच्छन्द्येऽपि किं निरूपितम्? अन्वये तु पयः प्रविलोप्य महीनां चक्षुषे इत्युक्तम्।

हेतवे दीर्घां विस्तृतामनुपश्चात् प्रसितिं प्रकृष्टं सिनोत्यनया प्रसितिस्तामायुषे पूर्णायुर्वर्धनेन सुखभोगाय धां दधामि'— यह कथन भी बालभाषित के ही तुल्य है। लोकव्यवहार तो यह दिखाई देता है कि प्राण से बल की वृद्धि होती है, बल होने मात्र से कोई प्रकृष्ट नहीं माना जाता, तथैव बल होने मात्र से जीवन धारण नहीं होता है, अपितु जीवन धारण से बल होता है, अतः दयानन्दीय कथन लोकानुभव के विरुद्ध है।

११—हिन्दो भाषा के व्याख्यान में तो संस्कृत में किये गये स्वयं की व्याख्या के विपरीत ही लिख मारा है। 'उदानाय' का अर्थ करते हैं, कि 'स्फूर्ति-बल-पराक्रमेभ्यः'—किन्तु यह अर्थ करना असङ्गत ही है। 'उदान' पद से स्फूर्ति-बल-पराक्रम के हेतुभूत वायुविशेष को यद्यपि कहा जा सकता है तथापि स्फूर्ति आदि का ग्रहण करना तो सम्भव ही नहीं है। तथैव 'व्यानाय' का अर्थ करते हैं कि 'शुभगुण शुभकर्मविद्याङ्गानां विस्तारः।' किन्तु 'व्यान' पद का अर्थ, जो आपने कहा है, वह नहीं हो सकता, क्योंकि वह अर्थ, कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। व्युत्पत्ति के आधार पर भी जिससे शुभ गुण आदि का विस्तार किया जाता है, वह 'वायु विशेष ही', व्यान पदार्थ होता है। इसी प्रकार अनर्थक बहुत सारा प्रलाप करते हुए भी आपने 'अनुप्रसिति' शब्द का अर्थ, नहीं बताया। किन्तु हिन्दी भाषा में किये व्याख्यान में उसका अर्थ आपने 'अत्युत्तम सुखबन्धनयुक्तयज्ञक्रिया' बताया है। अब सोचिये कि 'यज्ञक्रिया' के साथ 'सुखबन्धन' का क्या सम्बन्ध है? इधर सुख भी कहते हैं और उसे ही बन्धन बता रहे हैं, कैसा वदतोव्याघात है? 'पश्चात्' अर्थ वाले 'अनु' उपसर्ग का कहाँ सम्बन्ध है, उसे बताया ही नहीं है। 'हिरण्य' पद का 'मोक्ष' बता रहे हैं, किन्तु वह भी विचारणीय है। तुम्हारी रीति से विनश्वर, सावधिक मोक्ष में हिरण्मयत्व का होना अनुपपन्न है। क्योंकि 'हिरण्यं प्रकाशार्थं ज्योतिः पाणिर्व्यवहारो यस्य'—यह कहना भी उपपन्न नहीं हो रहा है। 'पाणि' पद से यद्यपि व्यवहार हेतुभूत इन्द्रिय विशेष का ग्रहण करना सम्भव है, तथापि 'पाणि' शब्द को व्यवहारार्थक बताना उपपन्न नहीं है। इसो प्रकार 'चक्षुषे' का अर्थ, 'प्रत्यक्ष ज्ञान और नेत्रव्यवहार' कहना सम्भव नहीं है। क्योंकि उसके हेतु में भी उसका प्रयोग होता है। 'महीनां महतीनां वाचां पृथिवीनाञ्च पयः अन्नं जलञ्च येन शुद्धमस्यास्ति' इस प्रकार व्यत्यास करते समय स्वच्छन्दता बरतने पर भी तुम बता क्या पाये? अचय करते समय 'पयः' शब्द को ही उड़ा दिया है, और 'महीनां चक्षुषे' यह कह दिया है।

१२—भाषायां तु—ईश्वरो यथोत्तमव्यवहारेण महीनां वाणीनां चक्षुषे प्रत्यक्षज्ञानाय त्वा तत् प्रत्यनुगृह्णातु तथैव वयमपि अच्छिद्रेण पाणिना स्तुतिभिः प्रतिगृह्णीम इत्युक्तम्। तत्र केन किं श्लिष्यते ? यत्तु भावार्थत्वे नोक्तं —ये यज्ञेन शोधिता अन्नजलवाय्यादयः पदार्था भवन्ति ते सर्वेषां शुद्धये बलपराक्रमाय दृढाय दीर्घायुषे च समर्था भवन्ति तस्मात्सर्वैरेतद्यज्ञकर्म नित्यमनुष्ठेयं तथा च परमेश्वरेण महती पूज्या वाक् प्रकाशिता, तस्या प्रत्यक्षकरणायेश्वरानुग्रहापेक्षा स्वपुरुषार्थता च कार्या।

१३—इयं पङ्क्तिः कथं शुद्धेति चिन्त्यम्। यथेश्वरः परोपकारिणां नृणामुपर्यनुग्रहं करोति तथैवास्माभिरपि सर्वेषां प्राणिनामुपर्यनुग्रहः कार्यः। यथायमन्तर्यामीश्वरः सूर्यलोकश्च अध्यात्मनिवेदेषु च सत्यं ज्ञान भूतद्रव्याणि च नैरन्तर्येण प्रकाशयति तथैव सर्वैरस्माभिः सर्वैर्मनुष्यैः सर्वेषां सुखायाखिला विद्याः प्रत्यक्षीकृत्य नित्यं प्रकाशनीयाः पृथिवीराज्यसुखञ्च नित्यं कार्यम्' एवमशुद्धिबहुलमूलमन्त्राक्षरसम्बन्धशून्यं भाष्याभासलेखकोऽपि सायणमहीधरादिलेखेषु दोषान्वेषणाय प्रयतत इत्याश्चर्यमेव। 'घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः' एवायम्। शतपथश्रुतिस्तु—अथ हविरावपति धान्यमसि धिनुहि देवानिति धान्यं हि देवान् धिनवदित्युहि हविर्गृह्यते (श० १।१।२।१८) अत्र पेषणार्थं दृषद उपरि समन्त्रकं तण्डुलप्रक्षेपं विधत्ते मन्त्रगत धान्यशब्दस्याभिप्रायमाह देवान् धिनवदिति धिविः प्रीणनार्थः। भ्वादिः ५८४ धातुः। यष्टव्यानग्न्यादिदेवान् धिनवत् प्रीणयेदित्यनेनैवाभिप्रायेण हविर्गृह्यते। अतो धिनोति प्रीणयतीति धान्यम्। यत एवमतो देवान् धिनुहीति मन्त्रार्थः। तस्माद् धातुमहैं यज्ञं शुद्धमन्नमित्यादिकमप्रामाणिकमेव। अथपिनष्टि—प्राणाय त्वोदानाय·············· (श० १।२।५।१९) समन्त्रकं पेषण विधत्ते—पिनष्टि चूर्णयति (पिष्लृ सञ्चूर्णने) रु० प०। प्रकर्षेणानिति चेष्टते नासिकाभ्यां बहिर्निर्गच्छन् श्वासरूपो वायुः प्राणः, ऊर्ध्वादधो देशं प्रत्यनिति चेष्टते इत्युदानः नासिकाभ्यां देहे पुनः प्रविशन् वायुः अन्नपानादिरसं विविधं सर्वासु नाडीषु प्रेरयतीति व्यानः

१२—हिन्दी व्याख्या करते समय कह रहे हैं कि 'ईश्वर जिस प्रकार उत्तम व्यवहार से 'महीनां वाणीनां' बाणियों के 'चक्षुषे प्रत्यक्षज्ञानाय प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये 'त्वा तत्' उसे प्रत्यनुगृहीत करे, तथैव हम भी अच्छिद्र पाणि से स्तुतियो से स्वीकार करते हैं।' अब विचार करिये कि इस अर्थ में किसका किससे क्या सम्बन्ध बन रहा है ? अच्छा और देखिये कि भावार्थ बताते समय जो कहा है 'जिस यज्ञ से शोधित किये गये अन्न, जल, वायु आदि पदार्थ होते हैं, वे सभी के शुद्धि के लिये, दृढ़ बल-पराक्रम के लिये, दीर्घायु के लिये समर्थ होते हैं। इसलिये सभी लोग इस यज्ञ कर्म का नित्य अनुष्ठान करें, तथाच परमेश्वर ने 'महतीपूज्या' पूजनीय वाक्य प्रकाशित की है, उसका प्रत्यक्ष करने के लिये ईश्वर के अनुग्रह की अपेक्षा और अपना पुरुषार्थ करना चाहिये।'

१३—उक्त भावार्थ की पंक्तियाँ कितनी शुद्ध हैं, इस पर भी विचारशील विद्वान् विचार कर लें। जैसे 'ईश्वर, परोपकारी लोगों पर अनुग्रह करता है, उसी प्रकार हमें भी समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करना चाहिये। जैसे यह अन्तर्यामी ईश्वर और सूर्यलोक आत्मा में और वेदों में सत्यज्ञान और भूत द्रव्यों को निरन्तर प्रकाशित करता है, उसी तरह हम सभी मनुष्य सब के सुख के लिये सम्पूर्ण विद्याओं को प्रत्यक्ष कर नित्य प्रकाशित किया करें और पृथ्वी राज्य सुख को नित्य किया करें।' इस प्रकार के अशुद्धि बहुल और मूलमन्त्राक्षर के सम्बन्ध से रहित भाष्याभास का लेखक भी सायण-महीधर आदि आचार्यों के लेखों में दोषान्वेषण के लिये यदि प्रयत्न करता है तो इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है ? इस प्रकार का दुष्प्रयत्न तो 'घटानां निर्मातुस्त्रिभुवन विधातुश्च कलहः' के तुल्य ही समझा जायगा। शतपथ श्रुति तो यहाँ पर पेषणार्थ दृषद के ऊपर समन्त्रक तण्डुल प्रक्षेप का विधान कर रही है। मन्त्रगत 'धान्य' शब्द के अभिप्राय को बता रहे हैं—'देवान् धिनवदिति'। यहाँ 'धिवि' प्रीणनार्थक भ्वादिगण का धातु है। 'यष्टव्य अग्नि आदि देवताओं को प्रसन्न करे' इस अभिप्राय से ही हविर्ग्रहण किया जा रहा है। अतः 'धिनोति प्रीणयति इति धान्यम्'—यह धान्य शब्द की निरुक्ति है। इसी कारण 'देवताओं को प्रसन्न करो' यह मन्त्र का अर्थ है। इसलिये 'धातुमहैयज्ञं शुद्धमन्नम्' इत्यादि अर्थ करना अप्रामाणिक ही है। 'अथ पिनष्टि प्राणायत्वोदानाय' यह

उर्ध्वावाङ्वृत्ति विलक्षणो मध्यवृत्तिर्वायुः एतन्मन्त्रार्थं उत्तरमन्त्रसापेक्ष इति तदुभयं समुच्चित्य व्याख्यातुमुत्तरमन्त्रं विनियुङ्क्ते 'प्रोहति देवो व' इति अनेन मन्त्रेण कृष्णाजिने प्रक्षिपतीति तत्रैव सायणाचार्यः। कात्यायनरीत्या विनियोगस्तूक्त एव।

'तद्यदेवं पिनष्टि जीवं वै देवानां ७ं हविरमृतममृतानामथैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्या ७ं हविर्यज्ञं घ्नन्ति' (श० १।२।५।२०)।

१४—स यदाह—प्राणाय त्वोदानाय त्वेति तत्प्राणोदानौ दधाति। दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धामिति तदायुर्दधाति देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीतान्यासन्निति चक्षुषे त्वेति तच्च सुर्दधात्येतानि वै जीवतो भवन्त्येवमेव देवाना ७ं हविर्भवत्यमृतममृतानां तस्मादेवं पिनष्टि पि ७ंषन्ति। पिष्टान्यभीन्धते कपालानि प्राणायेति मन्त्रस्याभिप्रायं वक्तुं पेषणमनुवदति तद्यदिति। अमृतानां मरणरहितानां देवानां हविः जीवं प्राणधारणयुक्तमेव सत् अमृतं मरणसाधनं न भवति। अथैवं सत्येतद्यज्ञसाधनं हविरवहननपेषणाभ्यामृत्विजो मारयन्ति। तथा सति निर्जीवत्वात् तस्यामृतसाधनत्वं न युक्तमिति भावः। मन्त्रप्रयोगेणास्य परिहारं दर्शयति स पराहेति। पेषणसमये 'प्राणाय त्वे'ति मन्त्रं प्रयुञ्जानाः प्राणादीनेवास्मिन् हविषि स्थापयन्तीत्यर्थः। प्राणोदानादिधारणादीनि जीवतः पुरुषस्य लिङ्गानि। एवमनेन मन्त्रप्रयोगेण प्राणोदानादि स्थापने सति हविरपि सजीवमेवेति युक्तम्। तस्यामृतत्वसाधनत्वमिति।

१५—एवं समन्त्रकमध्वर्युणा पेषणे कृते सति यजमानपरिचारिका अवशिष्टं सर्वं चूर्णीकुर्युः। तथोपहितानि कपालानि अभीन्धते। अङ्गारैःप्रदीप्तानि कुर्युः, उभयोः सहानुष्ठानस्योक्तत्वात्।

शतपथ श्रुति समन्त्रक पेषण का विधान बता रही है। 'पिनष्टि चूर्णयति' यहाँ पर पिष्लृ सञ्चूर्णने धातु है। 'प्रकर्षेण अनिति चेष्टते नासिकाभ्यां बहिर्निर्गच्छन् श्वासरूपो वायुः प्राणः, ऊर्ध्वादधो देशं प्रत्यनिति चेष्टते इति उदानः, नासिकाभ्यां देहे पुनः प्रविशन् वायुः अन्नपानादि रसं विविधं सर्वासु नाडीषु प्रेरयति इति व्यानः, उर्ध्वावाङ्वृत्तिविलक्षणो मध्यवृत्तिर्वायुः'—यह मन्त्रार्थ उत्तर मन्त्र की अपेक्षा रखता है, इसलिये दोनों का समुच्चय करके व्याख्या करने के लिये उत्तर मन्त्र का विनियोग किया गया है। अतः 'प्रोहति देवो वः' मन्त्र से कृष्णाजिन पर प्रक्षेप किया जा रहा है। कात्यायन की रीति से विनियोग को पूर्व बता ही चुके हैं।

१४—'स यदाह—प्राणायत्वोदानायत्वेति तत्प्राणोदानौ दधाति व्यानायत्वे त तद् व्यानं दधाति। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धामिति तदायुर्दधाति, देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीतान्यासन्निति चक्षुषेत्वेति तच्चक्षुर्दधाति एतानि वै जीवतो भवन्ति, एवमेव देवाना ७ं हविर्भवति अमृतम् अमृतानां तस्मादेवं पिनष्टि पि ७ंषन्ति। पिष्टान्यमीन्धते कपालानि प्राणायेति मन्त्रस्याभिप्रायं वक्तुं पेषणमनुवदति तद्यदिति।' मरण रहित देवताओं के लिये जो हवि है, वह प्राण धारण युक्त होता हुआ मरण साधन नहीं होता है। ऐसा होने पर इस यज्ञ साधनभूत हवि को अवहनन-पेषण के द्वारा ऋत्विज् लोग मारते हैं। तब वह निर्जीव हो जाता है। निर्जीव हो जाने से उसको अमृत का साधन कहना उचित नहीं है—यह अभिप्राय है। तब मन्त्रप्रयोग के द्वारा उसका परिहार प्रदर्शित करते हैं—'स पराहेति'। पेषण करते समय 'प्राणायत्वा' मन्त्र का प्रयोग करते हुए प्राणादिकों को ही इस हवि में स्थापन करते हैं—यह अर्थ है। प्राण, उदान आदि को धारण करना ही जीवित पुरुष के चिह्न होते हैं। इस रीति से मन्त्र प्रयोग के द्वारा प्राण-उदान आदि का उसमें स्थापन किये जाने पर हवि को सजीव कहना ही उचित है। इसीलिये उसे अमृतत्व का साधन कहा गया है।

१५—इस प्रकार अध्वर्यु के द्वारा समन्त्रक पेषण कर चुकने पर यजमान की परिचारिकाएँ सम्पूर्ण अवशिष्ट भाग को पीसती हैं। तथा उपहित कपालों को अङ्गारों से प्रदीप्त करते हैं। क्योंकि दोनों का अनुष्ठान युगपत् बताया गया है।

१६—"अथैकमाज्यं निर्वपति। यद्वा आदिष्टदेवतायै हविर्गृह्यते यावद्देवत्यं तद्भवति। तदितरेण यजुषा गृह्णाति न वा एतत् कस्यै च न देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति यदाज्यं तस्मादनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति महीनां पयोऽसीति। मह्यइति ह वा एतासामेकं नामं यद्गवां तासां वा एतत्पयो भवति तस्मादाह महीनां पयोसीत्येव (खलु) मुहास्यैतत्—यजुषैव गृहीतं भवति तस्मादेवाह महीनां पयोऽसीति" (श० १।२।५।२२) पेषणसमय एवाज्यस्य निर्वापं विधत्ते—यदाचाध्वर्युः पिनष्टि अथ तस्मिन्नेव समये एकोऽन्यः आग्नीध्रादिराज्यं निर्वपति। तदुक्तमेव। पिष्यमाणेषु निर्वपत्यन्यो महीनामाज्यमिति कात्यायनसूत्रव्याख्यानसमये। तच्चाज्यं प्रसिद्धदेवतावाच्यग्न्यादिशब्दरहितेन मन्त्रेण ग्रहीतव्यमिति विधित्सयाह।

१७—यद्वा—यत्खलु हविः अग्नये जुष्ट गृह्णामीत्येवं देवतायै निर्दिष्टं भवति। तद्ग्रहणसाधनं यजुश्च यावद्देवत्यं भवति। तावद्देवत्यमेव तद्धविर्भवति। आज्यञ्च सर्वदेवतासाधारणमिति देवतादेशनरहितेनैव यजुषा ग्राह्यमिति। तथाचाज्यस्य सर्वदेवतासाधारण्यं सेत्स्यति। एवमनिरुक्तयजुषा ग्रहणमुपपाद्य तद्विधत्ते तस्मादिति। देवतानाम निःशेषेणोक्तं यस्मिंस्तन्निरुक्तम् तद्विलक्षणमनिरुक्तम् तादृशञ्च महीनामिति यजुः। तत्र प्रसिद्धदेवतावाचिपदानुपलम्भात्।

१८—अथैतन्मन्त्र व्याचष्टे मह्य इति। (मह पूजायाम् भ्वादिः) मह्यन्ते पूज्यन्ते इति मह्यः। एतच्च तासां गवामेकं साधारणं नाम। हे आज्य त्वं महीनां गवां पयोऽसि पयः कार्यत्वात् गोभिः श्रीणीत मत्सरमितिवत् विकारे प्रकृतिशब्दः। ग्रहीतव्याज्यप्रकाशकत्वात् मन्त्रोऽयं तत्र प्रयोक्तव्यः। अनेन मन्त्रेणाज्ये निरुप्ते सति तत्प्रकाशनसमर्थत्वात् यजुषैव तदाज्यं गृहीतं भवतीत्यर्थः। तथा च प्रकृते महीनां पृथिवीनां वाचां वेत्यादि व्याख्यानमपव्याख्यानमेव। एवमेव प्राणाय त्वोदानाय त्वेत्यादिनामन्त्रेण हविषि प्राणोदानव्यादीनां धारणम् दीर्घामनुप्रसितिमित्यादिना हविष्यायु-

---

१६—शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पेषण के समय ही आज्य के निर्वाप का विधान किया गया है। जब अध्वर्यु पीसता है तब उसी समय तब एक अन्य अग्नीध्र आदि आज्य का निर्वाप करता है। उस आज्य का ग्रहण प्रसिद्ध देवता वाचक अग्नि आदि शब्द से रहित मन्त्र से करने का विधान है।

१७—अथवा जो हवि 'अग्नये जुष्टं गृह्णामि' कहकर देवता के लिये निर्दिष्ट किया गया है, और उसके ग्रहण करने में साधनीभूत यजु, जिस देवता को बताता है, उसी देवता का वह हवि समझा जाता है। आज्य जो है, वह तो सर्व देवता साधारण है। इसलिये देवता निर्देश रहित यजु से ही उसका ग्रहण कर लेना चाहिये। तथा च आज्य का सर्व देवता साधारण्य सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार से अनिरुक्त यजु से उसके ग्रहण का उपपादन कर उसका विधान किया जाता है 'तस्मादिति।' देवता का नाम, निःशेषतया (सम्पूर्ण) जिस मन्त्र में कहा गया हो वह निरुक्त कहा जाता है, और उससे भिन्न को अनिरुक्त कहते हैं। यह 'महीनाम्' यजु उसी प्रकार का है। उसमें प्रसिद्ध देवता वाचक कोई पद उपलब्ध नहीं है।

१८—अब इस मन्त्र की व्याख्या करते हैं 'मह्य' इति। 'मह पूजायाम्', भ्वादि गण का धातु है। मह्यन्ते पूज्यन्ते इति मह्यः। यह उन गौओं का एक साधारण नाम है। हे आज्य! तुम 'मही' नामक गौओं का 'पय' हो, क्योंकि पय' के ही कार्य के रूप में हो। 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' के समान विकार में प्रकृति शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। ग्रहीतव्य आज्य का प्रकाशक होने से इस मन्त्र का वहाँ प्रयोग करना चाहिये। इस मन्त्र से आज्य का निर्वाप करने पर उसके प्रकाशन में समर्थ होने के कारण यजु से ही उस आज्य का ग्रहण होता है। तथा च प्रकृत में 'मही' का अर्थ, 'पृथिवी या वाणी' बताना अनर्गल ही है, अतः उस अनर्गल व्याख्यान को अपव्याख्यान ही समझना चाहिये। एवमेव 'प्राणाय त्वोदानायत्वा' इत्यादि मन्त्र से हवि में प्राण, उदान, व्यान आदि का धारण, 'दीर्घामनुप्रसितिम्' इत्यादि मन्त्र से हवि में आयु का प्रदान, 'चक्षुषे त्वा' इत्यादि मन्त्र से हवि में चक्षुरादि इन्द्रिय का दान, तथा

र्दानम्, चक्षुषे त्वेत्यादिना चक्षुरादीन्द्रियदानेन हविषः सजीवत्वापादनेनामृतत्वममृतसाधनत्वञ्च साधितम् भवतीति निगदव्याख्यातम् एवं यथा विनियोगं मन्त्राणां व्याख्यानमुक्तम् ।

१९—कण्डिकामात्रस्यानुगतोऽर्थस्तु परमात्मनः सार्वात्म्यबोधनायाह—हे सर्वाधिष्ठानचैतन्य त्वं धान्यमसि, सर्वेषां विशेषतो देवानां प्रीणनहेतुत्वात् धान्यमसि । (धिवि प्रीणने) इति धात्वर्थानुगमात् । तस्माद्देवान् स्वांशभूतान् अग्न्यादीन् धान्यरूपेण धिनुहि प्रीणय । त्वा त्वां दृषदुपलाभ्यां उलूखलमुसलाभ्यां यद्वयमृत्विजो घ्नन्ति पिषन्ति तत्तु भोक्तॄणां प्राणाय प्राणार्थमर्थात् प्राणरक्षणार्थम् । तादर्थ्ये चतुर्थी । जीवनहेतवे प्राणाय उदानाय ऊर्ध्वगतिसाधनोदानरक्षणाय यद्वा अमृतानां देवानां हविषोऽप्यमृतत्वसाधनाय तेषु प्राणादीनामाधानेन सजीवत्वाय तथा दीर्घां विततां प्रसितिं कर्मपरम्परामनुलक्ष्य तत्सिद्धये आयुषे दीर्घायुष्ट्वाय हविषो वा दीर्घायुष्ट्वाय त्वां धां धारयामि । वो युष्मानिति भोग्यबहुत्वाभिप्रायेण बहुवचनम् । चक्षुषे चक्षुरादिसर्वेन्द्रियपाटवाय, चक्षुरिति सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थम् हविषो वा सर्वेन्द्रिययोगाय सवितादेवो हिरण्यपाणिः अच्छिद्रेण दोषरहितेन पाणिना प्रतिगृह्णातु । हे सर्वाधिष्ठान त्वमेव महीनां परमपूज्यानां गवां पयोऽसि । दुग्धदध्याज्यरूपमसि सर्वेषां भोक्तॄणां देवानाञ्चाप्यायनहेतुत्वात् । अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्मण एवान्नान्नादरूपत्वात् । 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' — 'अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' — इत्यादि श्रुतेः । ब्रह्मात्मकमपि हविर्धान्यं पयो वा सवित्रा देवेन हिरण्यपाणिना अच्छिद्रेण पाणिना गृहीतमेव संस्कृतं भवति । तेन संस्कृतेन धान्येन पयसा वा भोक्तॄणां प्राणादिमत्त्वं दीर्घायुष्ट्वं चक्षुरादिपाटवयुक्तत्वं देवानां हविषोऽपि प्राणादिमत्त्वं सम्पद्यते । 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' (श्री० भ० गी० ४।२४) इत्यादिना प्रतिपादिते ब्रह्मयज्ञे ब्रह्महविरपि संस्क्रियते । ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणैव च हूयते ।

हवि में सजीवत्व के आपादन से अमृतत्व, और अमृत साधनत्व को सिद्ध कर दिया है । एवं विनियोग को देखते हुए मन्त्रों का व्याख्यान किया गया है ।

१९—सम्पूर्ण कण्डिका का अनुगत अर्थ तो परमात्मा की सर्वात्मता बोधन करना है, उसी को कह रहे हैं—हे सर्वाधिष्ठान चैतन्य ! तुम धान्य रूप हो, क्योंकि सभी के विशेष कर देवों के प्रसन्न करने में हेतुभूत हो । यहाँ पर 'धिवि' प्रीणने धातु है । इसलिये अपने अंशभूत अग्नि आदि देवताओं को अपने धान्य स्वरूप से प्रसन्न कर दो । हम ऋत्विज् लोग दृषद् और उपला से तथा उलूखल और मुसल से जो तुम्हें पीसते-कूटते हैं, वह तो भोक्ताओं के प्राण रक्षणार्थ कूटते-पीसते हैं । यहाँ तादर्थ्ये चतुर्थी है । अर्थात् जीवन के हेतुभूत प्राण के लिये तथा ऊर्ध्वगति के साधनभूत उदान के रक्षण के लिये अथवा देवताओं के हवि में भी अमृतत्व की साधनता के लिये उसमें प्राण आदि के आधान के द्वारा सजीवता लाने के लिये तथा विस्तृत कर्म परम्परा को उद्देश्य कर उसकी सिद्धि के लिये, दीर्घायुष्ट्व के लिये हवि के दीर्घायुष्ट्व के लिये मैं तुम्हें धारण कर रहा हूँ । वः=युष्मान्—यह बहुवचन का प्रयोग, भोग्यबहुत्व के अभिप्राय से किया गया है । चक्षुरादि समस्त इन्द्रियों के पटुत्व के लिये अथवा हवि में समस्त इन्द्रियों की प्राप्ति होने के लिये यह सवितादेव हिरण्यपाणि अपने दोष रहित (अच्छिद्र) हाथों से तुम्हारा स्वीकार करे । यहाँ पर 'चक्षु' शब्द, समस्त इन्द्रियों का उपलक्षक है । हे सर्वाधिष्ठान ! तुम ही परम पूजनीय गौओं के क्षीर (पय) हो अर्थात् समस्त भोक्ताओं और देवताओं के आप्यायन (पोषण) में हेतुभूत दुग्ध, दधि, आज्य स्वरूप हो । क्योंकि अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म ही अन्न और अन्नाद रूप होता है । इसी बात को 'अहमन्नम्—अहमन्नादः' कहकर भगवती श्रुति बता रही है । धान्य अथवा पयोरूप हवि, ब्रह्मात्मक रहने पर भी उसे जब सविता देव, अपने दोषरहित हिरण्यपाणि से ग्रहण करता है, तभी वह संस्कृत हो पाता है । उस सुसंस्कृत हुए धान्य अथवा पयोरूप हवि से भोक्ताओं में प्राणादिमत्त्व, दीर्घायुष्ट्व, और चक्षुरादि समस्त इन्द्रियों के पाटव से युक्तत्व तथा देवताओं के हवि में भी प्राणादिमत्त्व सम्पन्न होता है । 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' इत्यादि वाक्य से प्रदिपादित ब्रह्मयज्ञ में ब्रह्मात्मक हवि भी संस्कृत होता है, और ब्रह्मात्मक अग्नि में ब्रह्म के द्वारा ही उसकी आहुति दी जाती है ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् संवपामि समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन । स ७ रेवतीर्जगतीभि ङ पृच्यन्ता ७ संमधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥ वा० सं० १।२१ ॥

अर्थ—प्रेरक देवता की प्रेरणा से अश्विनी कुमारों के दो बाहुओं से और पूषा देवता के दोनों हाथों से मैं उस पिष्ट को पात्र में अच्छी प्रकार से रख रहा हूँ। उपसर्जनी संज्ञक जल पिष्ट रूप ओषधि से युक्त हो। और पिष्ट रूप ओषधि,, उपसर्जनी रूप जल से युक्त होकर रहे। उपसर्जनी रूप मधुर जल, उस मधुर पिष्टौषधि से युक्त हो जाय अर्थात् जल और पिष्ट का उत्तम संसर्ग हो जाय ॥२१॥

१—पात्र्यां सपवित्रायां पिष्टान्यावपति देवस्य त्वेति' (का० श्रौ० सू० २।५।१०) सवितु र्देवस्य प्रेरणे सति तेन प्रेरितोऽहं त्वा त्वामश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामेतानि पिष्टानि संवपामि पात्र्यामेकीभावेन क्षिपामि। यद्यपि देवस्य त्वेति पुनः पुनस्तत्कथनं निरर्थकमिवाभाति तथापि संस्कारोज्जननार्थं हितं पथ्यं पुनः पुनरुच्यमानं न दोषायेति पुनरुक्तिः। पात्र्यां सपवित्रायां पिष्टान्यावपति देवस्य त्वेति। उपसर्जनीरानयत्यन्यः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति समापइति' (का० श्रौ० सू० २।५।१२-१३) पिष्टेषु संवपनीया उपसेचनीया आप उपसर्जन्यः। अध्वर्युः प्रोक्षणीतः पवित्रे आदाय इडायामुदगग्रे निधाय तदुपरि कृष्णाजिनस्थानि पिष्टानि कृष्णाजिनेनैव पातयेत्। ता अग्नीत् तन्नामक ऋत्विक् आनयेदध्वर्युः पवित्राभ्यां सहितो मन्त्रेण प्रतिगृह्णीयात् इति सूत्रार्थः।

२—मन्त्रार्थस्तु—उपसर्जनीरूपा आपः ओषधीभिः पिष्टरूपाभिः सम्पृच्यन्ताम् सङ्गच्छन्ताम् सम्यगेकीभवन्तु। तथाचोषधयः पिष्टरूपाः रसेनोपसर्जनीरूपेण जलेन सम्पृच्यन्ताम् पृची सम्पर्के संसृज्यन्ताम्। 'रेवतीः रेवत्य आपो जगत्य ओषधयः' इति श्रुत्यनुसारेण रेवतीः रेवत्यः रेवती रूपा आपः जगतीभिः पिष्टरूपाभिः सम्पृच्यन्त्याम्। मधुमतीः माधुर्यो-

---

१—'पात्र्यां सपवित्रायां पिष्टान्यावपति देवस्य त्वेति'—इस सूत्र के अनुरोध से सविता देवता के द्वारा प्रेरित हुआ मैं अश्विनियों के बाहुओं से और पूषा देवता के हाथों से तुम्हारे (हवि के) लिये इन पिष्टों को पात्री में एक करने के लिये डाल रहा हूँ। यद्यपि पूर्वोक्त 'देवस्य त्वा' मन्त्र से ही यह सब कार्य किया जा सकता है तब पुनः पुनः उसे कहना निरर्थक ही प्रतीत होता है, तथापि संस्कार को उज्ज्वल करने के लिये हित (पथ्य) कारक बात को पुनः पुनः कहना दोषावह न होने से यह पुनरुक्ति की गई है। 'उपसर्जनीरानयत्यन्यः' इस सूत्र के अनुसार 'उपसर्जनी को लाया जाता है। पिष्ट में उपसेचन योग्य जल को 'उपसर्जनी' कहते हैं। अध्वर्यु प्रोक्षणी पात्र से पवित्रों (दो पवित्रों) को लेकर उन्हें इडापात्री पात्री पर उदगग्र रखकर उन पर, कृष्णाजिन पर स्थित पिष्ट को कृष्णाजिन से ही गिरा दे। उस उपसर्जनी संज्ञक जल को अग्नोत् नाम का ऋत्विक् ले आवे, और अध्वर्यु, दो पवित्रों के सहित होता हुआ मन्त्रोच्चार पूर्वक उसको लेवे। यह सूत्रार्थ है।

२—मन्त्रार्थ इस प्रकार होगा—उपसर्जनी रूप जल, पिष्ट रूप ओषधियों के साथ अच्छी प्रकार से एक रूप हो जाय। उसी प्रकार पिष्ट रूप ओषधि भी उपसर्जनी रूप जल के साथ अच्छी तरह सम्पृक्त हो जाय। 'रेवत्य आपो

पेता आप: मधुमतीभि: पिष्टरूपाभिरोषधीभि: सम्पृच्यन्ताम्। मधुस्वादोपेतानामपां तथाभूतानामोषधीनाञ्च परस्परं प्रीतिहेतुत्वात् सम्पर्को भवत्विति यावत्। देवग्राह्यपुरोडाशप्रकृतिद्रव्याणाम् ओषधीनामपाञ्चोत्कर्षवर्णनेन तन्महत्त्वमनुचिन्तनीयम्।

३—आधुनिकस्तु– हे मनुष्या यथाहं सवितुर्देवस्य परमात्मन: प्रसवे संसारे सवितृमण्डलस्य प्रकाशे वा चाश्विनो: सूर्यभूम्योर्बाहुभ्यां तेजोदृढत्वाभ्यां पूष्णोवायोर्हस्ताभ्यां प्राणापानाभ्यां यमिमं यज्ञं संवपामि विस्तारयामि तथैव त्वा तं यूयमपि संवपत। यथैतस्मिन् प्रसवे प्रकाशे चौषधीभिराप ओषधयो रसेन जगतीभी रेवत्यश्च सम्पृच्यन्ते यथा मधुमतीभि: मधुमत्य: सम्पृच्यन्ते तथैवौषधीरोषधयो रसेन जगतीभि: सहरेवत्यश्चास्माभि: सम्पृच्यन्ताम् एवं मधुमतीभि: सह मधुमत्यो नित्यं सम्पृच्यन्ताम्। अर्थात् युक्त्या वैद्यकरीत्या शिल्परीत्या वा यवाद्योषधीभिराप ओषधयश्च रसेन सम्पृच्यन्ताम्।

४—भावार्थस्तु—विद्वद्भिरीश्वरोत्पादिते सूर्यप्रकाशितेऽस्मिन् जगति बहुविधानां सम्प्रयोक्तव्यानां द्रव्याणां सम्प्रयोक्तु महैर्बहुविधैर्द्रव्यैर्मेलनेन त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेय:। यथा जलं स्वरसेनौषधीर्वर्धयति ता उत्तमरसयोगात् रोगनाशकत्वेन सुखदायिन्योभवन्ति यथेश्वर: कारणात्कार्यं यथावद्रचयति सूर्य: सर्वं जगत्प्रकाश्य सततं रसं भित्वा पृथिव्या आकर्षति वायुश्च धारयित्वा पुष्णाति तथैवास्माभिरपि यथावत्संस्कृतै: संप्रयोजितैर्द्रव्यैर्विद्वत्सङ्गविद्योन्नति-होमशिल्पाख्यैर्यज्ञैर्वायुर्वृष्टिजलशुद्धयश्च सदैव कार्या' इति तदसत्।

५—संवपामीतिक्रियाया ईश्वर: कर्तेत्यत्र बीजाभावात्। मन्त्रे यथा पदस्याभावाच्च। नचेश्वरवज्जीवा अपि

जगत्य ओषधय:' इस श्रुति के अनुसार रेवती रूप जल, जगती रूप पिष्ट के साथ संसृष्ट हो जाय। माधुर्य से युक्त जल, पिष्ट रूप ओषधियों के साथ सम्पृक्त हो जाय। अर्थात् मधुस्वादोपेत जल, और वैसे ही ओषधीयाँ परस्पर दोनों की प्रीति होने से सम्पृक्त होवें। देवग्राह्य पुरोडाश प्रकृति द्रव्यों का ओषधी और जल का उत्कर्ष वर्णन करने से उनका महत्त्व समझना चाहिये।

३—किसी आधुनिक ने इस प्रकार व्याख्या की है—'हे मनुष्यों! जैसे मैं परमात्मा के रचित संसार में अथवा सवितृ मण्डल के प्रकाश में सूर्य-भूमि के बाहुओं से अर्थात् तेज और दृढ़ता से तथा वायु के हाथों से यानी प्राण, अपान से इस यज्ञ का विस्तार करता हूँ, उसी तरह उस यज्ञ का विस्तार तुम भी करो। जैसे इस प्रकाश में ओषधियाँ रस से और रेवतियाँ, जगतियों के साथ हमसे सम्पृक्त हो जाँय। उसी प्रकार मधुमतियों के साथ मधुमतियाँ नित्य सम्पृक्त रहें। अर्थात् युक्ति से वैद्यक रीति से ओषधियों के साथ जल, और ओषधियाँ रस के साथ सम्पृक्त रहें।'

४—भावार्थ इस प्रकार बताया है—'विद्वान् लोगों को चाहिये कि वे, ईश्वरोत्पादित और सूर्य प्रकाशित इस जगत् में बहुविध सम्प्रयोक्तव्य द्रव्यों का, सम्प्रयोग करने योग्य बहुविध द्रव्यों के साथ मिश्रण करके तीन प्रकार के यज्ञ नित्य किया करें। जैसे जल अपने रस से ओषधियों को बढ़ाता है वे ओषधियाँ, उत्तम रस का सम्बन्ध पाकर रोग नाशक होने से सुखदायिनी होती हैं। जैसे ईश्वर, कारण से कार्य की रचना यथावत् करता है, सूर्य सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर सतत् रस को पृथिवी से पृथक् कर उसको खींचता रहता है। वायु भी धारण करके पुष्ट करता है उसी तरह हम लोग भी यथावत् संस्कृत और सम्प्रयोजित हुए द्रव्यों से और विद्वत्सङ्ग, विद्योन्नति, होम, शिल्प संज्ञक यज्ञों से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि सर्वदा करनी चाहिये।'

५—किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है। 'संवपामि' इस क्रिया का कर्ता 'ईश्वर' है, यह कहना निर्मूल है। मन्त्र में 'यथा' पद भी नहीं है। ईश्वर की तरह जीव भी सूर्यादिकों के निर्माण करने में क्या समर्थ हो सकते हैं! अर्थात् नहीं हो सकते हैं। यथा कथञ्चित् जल ओषधि आदि का सम्मेलन करने की बात कहना भी निरर्थक ही है।

सूर्यादीन् निर्मातुं शक्नुवन्ति । यथा कथञ्चित् जलौषधादिसम्मेलनं तु निरर्थकमेव । वैद्यकरीत्या शिल्पादिरीत्या सम्मेलनं तु तत्रैव प्रसिद्धमित्यन्यथासिद्धमेवैतत् ।

६—शतपथे च सनातनिसिद्धान्तानुसार्येव विवरणं दृश्यते । तथाहि—पवित्रवति संवपति पात्र्यां पवित्रेऽव-धाय देवस्य त्वा सवितु·········संवपामीति । सोऽस्यैवैतस्य यजुषो बन्धुः (श० १।२।२।१) पिष्टानां पिण्डकरणार्थं पात्र्यां संवापं विधत्ते पवित्रवतीति । पवित्रवत्यां पात्र्यमिति वक्तव्ये पवित्रवतीति सामान्योपक्रमात् नपुंसकनिर्देशः । तदेव विवृणोति पात्र्यां पवित्रे दर्भद्वयमवधाय 'देवस्य त्वे'ति मन्त्रेण पिण्डकरणाय पिष्टसंवापः कर्त्तव्य इत्यर्थः ।

सोऽसावेतस्येति—सविता वै देवानां प्रसवितेत्यादिना ग्रहणप्रकरणे प्रागामाम्नात एव वाक्यशेषोऽस्यापि यजुषः शेषत्वे योजनीय इत्यर्थः । तद्बन्धुत्वाद् ग्रहणप्रकरणस्य मन्त्रव्याख्यानमेवास्यापि व्याख्यानं वेदितव्यमिति यावत् ।

अथान्तर्वेद्युपविशति अथैक उपसर्जनीभिरैति ता आनयति ताः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति समाप ओषधीभि-रिति स ᳪ ह्येतदाय ओषधीभिरेताभिः पिष्टाभिः सङ्गच्छन्ते समोषधयो रसनैति स ᳪ ह्येतदोषधयो रसेनैता पिष्टा अद्भिः सङ्गच्छन्ते आपो ह्येता सा ᳪ रसः स ᳪ रेवतीभिर्जगतीभिः पृच्यन्तामिति रेवत्य आपो जगत्य ओषधयस्ता उ ह्येतदुभय्यः सम्पृच्यन्ते सम्मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तामिति स ᳪ रसवत्या रसवतोभिः पृच्यन्तामित्येवैतदाह (श० १।१।२।२) ।

अथान्तर्वेद्युपविशतीति हविःश्रपणार्थम् आहवनीये गार्हपत्ये वा कात्यायनस्तु ब्राह्मणान्तरभिप्रायेण विकल्प-माह 'श्रपणस्य पश्चादुपविशत्यन्तर्वेदि वा' (का० श्रौ० सू० २।१३२) अथैक आग्नीध्रादिः उपसर्जनीभिः सहेति उप-सृजत्याभिरिति व्युत्पत्त्या पिष्टसंसर्जनार्था आपः उपसृजन्यस्ताभिरद्भिः सहागच्छेदित्यर्थः । तासां तूष्णीमासेचनं विधत्ते ता आनयति ताः पवित्राभ्यमित्यादि—आनीयमानाः 'ताः समाप' इति मन्त्रेण पिष्टानामुपरि पवित्राभ्यां प्रति-गृह्णीयात् ।

७—मन्त्रतात्पर्यमाह—संह्येतादिति । एतत् एर्तहि एता आनीयमाना आपः पिष्टरूपेणावस्थिताभिः

वैद्यक रीति से (शिल्पादि की रीति से) सम्मेलन तो तत्तच्छास्त्र में ही प्रसिद्ध है, उसी का पिष्ट पेषण करना अन्यथा सिद्ध ही होगा ।

६—शतपथ ब्राह्मण में जो विवरण उपलब्ध है, वह तो सनातन सिद्धान्तानुसारी ही उपलब्ध होता है। तथाहि शतपथ ब्राह्मण कहता है कि पिष्टों (चूर्ण) का पिण्ड (गोला) बनाने के लिये पात्री में संवाप का विधान किया गया गया है। ब्राह्मण में 'पवित्रवति संवपति पात्र्यां' कहा है। किन्तु यहाँ पर 'पवित्रवत्यां पात्र्याम्' भी कहा जा सकता था, किन्तु सामान्यतः उपक्रम करने के कारण 'पवित्रवति' ऐसा नपुंसक लिंग में निर्देश किया गया है। उसी का विवरण कर रहे हैं—पात्री में दो पवित्रों को रखकर 'देवस्यत्वा' मन्त्र से पिण्ड बनाने के लिये पिष्ट का संवाप करना चाहिये। 'सविता जो है, वह देवों का प्रसविता है' यह कहकर सूचित किया है कि ग्रहण प्रकरण में पूर्व जो वाक्य शेष पढ़ा गया है, उसी को इस यजु के शेष रूप में जोड़ देना चाहिये। क्योंकि ग्रहण प्रकरण, उसका बन्धु है, यानी उसी के समान है, अतः मन्त्र का व्याख्यान को ही इसी का व्याख्यान समझना चाहिये। शतपथ और कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुरोध से आग्नीध्र नाम का ऋत्विज्, उपसर्जनी संज्ञक जल के साथ आवे। 'उपसृजति आभिः' इस व्युत्पत्ति से पिष्ट संसर्जनार्थ जल को उपसर्जनी कहते हैं। उस जल से तूष्णीं (मन्त्रोच्चारण के बिना ही) आसेचन का विधान किया गया है। 'पवित्राभ्याम्' इत्यादि मन्त्र से ले आये हुए उस जल को 'समाप' इस मन्त्र से पिष्ट के ऊपर पवित्रों से ले ले ।

७—मन्त्र के तात्पर्य को बता रहे हैं—यह लाया हुआ जल, पिष्ट रूप से अवस्थित ओषधियों के साथ

ओषधीभिः सङ्गच्छन्ते। अतो मन्त्रगतौषधिशब्देन तद्विकाराः पिष्टा विवक्षिताः समित्युपसर्गश्रवणात्। योग्यक्रियाध्याहारो युक्त एव। एवमपामोषधिभिः सङ्गतिं प्रतिपाद्य व्यतिहारेण अद्भिः सङ्गतिः प्रतिपाद्यते इति व्याचष्टे—समोषधय इति। पूर्ववदत्राप्योषधिशब्दः पिष्टपरः रसशब्देन चापोविवक्षिताः। एताः पिष्टा अद्भिः सङ्गच्छन्ते। आपोहीति—उपष्टम्भकाप्यावयवयुक्ताः खल्वोषधयः आर्द्रा रसवत्यो भवन्ति अतस्तासामुदक एव रस इत्यर्थः।

८—मन्त्रगतरेवतीशब्दस्यार्थमाह—रेवत्य आपः रयिर्धनमासामस्तीति रेवत्य आपः। नदीतडागादिष्ववस्थितानां तासां धनमूलत्वं प्रसिद्धमेव। व्रीहियवादिलक्षणधनस्य तदाश्रितत्वात्। अतो मन्त्रे रेवतीशब्देनापो विवक्षिताः। 'रयेर्मतौ बहुलम्' (पा० सू० ६।१।३४) वैदि० प्र० वार्ति (४४७३) इति सम्प्रसारणे 'उगितश्च' (पा० सू० ४।१।४६) इतिङीप्। जगतीशब्देन चौषधयो गृह्यन्ते। गम्यन्ते सर्वैः प्राणिभिर्जीवनाय प्राप्यन्ते इति जगत्यः ओषधयः। मधुमतीः मधुमत्यो माधुर्यरसोपेता अपो मधुमतीभिर्माधुर्यरसोपेताभिरोषधीभिः पृच्यन्ताम् एकीभवन्तु। तदेव स्पष्टयति—रसवत्यो रसवतीभिः सम्पृच्यन्ताम्।

९—अत्र श्रुतिसूत्रानुसारेण स्पष्टमेवोपसर्जनीभिरद्भिः पिष्टानां पिण्डीकरणाय व्रीहियवादिपिष्टरूपाणां मधुमतीनां रसवतीनामोषधीनां तथाविधानामेवापां सम्पर्कोऽभिसाध्यते। नात्र शिल्पशास्त्रानुसारेण विमानादिनिर्माणमभीष्टम् तत्र मधुमतीरसवत्यादिपदस्वारस्याभावात्। नाप्यायुर्वेदीयौषधिनिर्माणाय तद्योगो विवक्षितः।

१०—अध्यात्मपक्षे परमेश्वराराधने प्रवृत्तः साधकोदिव्यभावनया प्राकृतभावमपोह्य वदति हे निवेदनीय हविः

सम्मिश्रित होता है। अतः मन्त्रगत ओषधि शब्द से उसके विकारभूत पिष्ट विवक्षित हैं, क्योंकि सम्' उपसर्ग का श्रवण हो रहा है। योग्यक्रिया का अध्याहार करना उचित ही है। इस प्रकार जल की ओषधियों के साथ सङ्गति बताकर व्यतिहार के द्वारा जल के साथ सङ्गति बताते हैं। पहिले की तरह यहाँ भी ओषधि शब्द, पिष्टपरक है, और 'रस' शब्द से जल विवक्षित है। ये पिष्ट, जल के साथ मिश्रित होते हैं। उपष्टम्भक आप्य (जलीय) अवयवों से युक्त ये ओषधियाँ हैं। ये ओषधियाँ रसवती हो जाती हैं। अतः उनका रस 'उदक' ही है।

८—मन्त्रगत 'रेवती' शब्द के अर्थ को बताते हैं—रेवत्य आपः 'रयिर्धनमासामस्तीति रेवत्य आपः'। नदी-तड़ाग आदिकों में स्थित जलों की धनमूलकता तो प्रसिद्ध ही है। व्रीहियवादि लक्षण जो धन है, वह तदाश्रित ही है, यह बात प्रसिद्ध ही है। अतः मन्त्र में 'रेवती' शब्द से 'जल' ही विवक्षित है। 'रयेर्मतौ बहुलम्'—(वार्ति० वैदि० प्र० ४४७३) इस वार्तिक से सम्प्रसारण करने पर 'उगितश्च' (पा० सू० ४।१।४६) इस सूत्र से 'ङीप्' होता है। 'जगती' शब्द से ओषधियों का ग्रहण होता है। 'गम्यन्ते सर्वैः प्राणिभिर्जीवनाय प्राप्यन्ते इति जगत्यः'=ओषधयः। सम्पूर्ण प्राणियों के जीवन के लिये जो प्राप्त की जाती हैं, ऐसी ओषधियों को 'जगती' कहते हैं। 'मधुमतीः मधुमत्यो माधुर्य-रसोपेता आपो मधुमतीभिर्माधुर्यरसोपेताभिरोषधिभिः'—मधुर-रस से युक्त जल को मधुमती कहते हैं, अतः वह मधुर जल, माधुर्य रस से युक्त जो ओषधियाँ हैं, उनके साथ 'पृच्यन्ताम्' एक हो जाय। उसी को स्पष्ट करते हैं—रसवान् जल, रसवती ओषधियों के साथ एक हो जाय यानी घुल-मिल जाय।

९—यहाँ पर श्रुति और सूत्र के अनुसार स्पष्टतया ही यह सिद्ध कर दिया है कि उपसर्जनी संज्ञक जल से पिष्ट का पिण्ड (गोला) तैयार करने के लिये व्रीहि-यवादि पिष्टरूप मधुमती नामक ओषधियों का उसी प्रकार के जल से ही सम्पर्क किया जाय। यहाँ पर किसी शिल्प शास्त्र के अनुसार विमान आदि का निर्माण करना अभीष्ट नहीं है। क्योंकि उसमें 'मधुमती-रसवती' आदि पदों का कोई स्वारस्य नहीं है। तथा न ही आयुर्वेदीय ओषधि का निर्माण करने में उनका सम्बन्ध विवक्षित है।

१०—अध्यात्म पक्ष में—परमेश्वर की आराधना करने में प्रवृत्त हुआ साधक अपनी दिव्य भावना से प्राकृत भाव को दूर करके कह रहा है—हे निवेदनीय हविः प्रपञ्च के उत्पादक स्व-प्रकाश परमेश्वर सविता देव के यानी

देवस्य स्वप्रकाशस्य सवितुः प्रपञ्चोत्पादयितुः परमेश्वरस्य प्रसवे प्रेरणे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णाः सर्वपोषकस्य भगवतः सूर्यस्य हस्ताभ्यां त्वां संवपामि चिन्मये दिव्ये पात्रे सत्सौख्यमयं हविः प्रक्षिपामि न तु साधारणाभ्यां बाहुभ्यां न वा साधारणाभ्यां हस्ताभ्यामाप ओषधीभिर्भगवत्तृप्तये सम्पृच्यन्ताम् अद्भिश्चौषधयः सम्पृच्यन्ताम्। आप ओषधयश्चापि न साधारणाः किन्तु छन्दोरूपाः किन्तु छन्दोरूपाः रेवतीरूपा आपः, जगतीरूपाश्चौषधयः 'रेवत्य आपो जगत्य ओषधय' इति श्रुतेः। उभय्यश्च मधुमत्यो रसवत्यश्च भवन्ति। रसात्मकब्रह्मभावनया आप ओषधयश्च रसात्मकब्रह्मरूपा एव भवन्ति। सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य तज्जलानत्वेन ब्रह्मरूपतया भावनया तस्यैवाविर्भावेन सर्वत्र दिव्यत्वापादन-सम्भवात्।

जनयत्यै त्वा संयौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायु-रुरुप्रथाऽउरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे त्वचं मा हिꣳसीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके॥ वा० सं० १। २२॥

अर्थ—हे जल और पिष्ट रूप दो पदार्थो! यजमान को सन्तति प्राप्त हो एतदर्थ मैं तुम्हें संयुक्त कर रहा हूँ। (तदनन्तर जल मिश्रित पिष्ट के दो पिण्ड तैयार करके अलग-अलग रखे) 'यह अग्नि का पिण्ड है'—ऐसा कहकर प्रथम पिण्ड का स्पर्श करे और 'यह अग्नीषोम का पिण्ड है'—ऐसा कहकर द्वितीय पिण्ड का स्पर्श करे। हे घृत! वृष्टि के लिये मैं तुम्हें अग्नि पर रखता हूँ। हे पुरोडाश! तुम दीप्यमान प्रवर्ग्य स्वरूप हो और सम्पूर्ण आयु को देने वाले हो। हे पुरोडाश! तुम स्वभावत एव प्रसरणशील हो, इस कारण तुम फैल जाओ। और यह यजमान पुत्र-पशु आदि से युक्त होकर प्रसिद्धि को प्राप्त हो। हे पुरोडाश! पकाते समय यह अग्नि, त्वचा के समान जो तुम्हारा ऊपरी भाग है उसे न जलावे। हे पुरोडाश! सविता देवता अतिशय वृद्धिङ्गत द्यु लोक में रहने वाले नाक संज्ञक अग्नि के द्वारा तुम को परिपक्व करे॥२२॥

१—'संयौति जनयत्यै त्वेति' (का० श्रौ० सू० २।५।१४) जनयत्यै त्वेति मन्त्रेण पिष्टानां मिश्रीकरणं कुर्यात्।

सूर्य देव की प्रेरणा प्राप्त होने पर अश्विनी देवताओं के बाहुओं से तथा सर्व पोषक भगवान् सूर्य के हाथों से चिन्मय दिव्य पात्र में सौख्यमय तुझ हवि को रख रहा हूँ, न कि साधारण बाहुओं से तथा न साधारण हाथों से। भगवान् की तृप्ति के लिये जल, ओषधियों के साथ और ओषधियाँ, जल के साथ एक रूप हो जाँय। ये जल और ओषधियाँ भी साधारण नहीं हैं। किन्तु छन्दो रूप हैं। रेवती रूप 'आप्'=जल है और जगती रूप ओषधियाँ हैं। इसी बात को श्रुति ने भी कहा है। दोनों ही मधुमती और रसवती हैं। रसात्मक ब्रह्म भावना से जल और ओषधियाँ, रसात्मक ब्रह्म रूप ही हैं। समस्त प्रपञ्च 'तज्ज, तल्ल, और तदन' रूप होने से ब्रह्म रूप है, ऐसी भावना करने से उसी का आविर्भाव होता है, जिससे सर्वत्र दिव्यता का अपादान होना अवश्य सम्भावित है।

१—कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार 'जनयत्यै त्वा' इस मन्त्र से पिष्ट का मिश्रीकरण करना चाहिये। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे जलौषधि रूप द्रव्यद्वय! तुम्हारा मैं सम्यक् मिश्रण करता हूँ। किसलिये मिश्रण कर रहे हो? उत्तर

मन्त्रार्थस्तु—हे ओषधिरूपद्रव्यद्वय त्वा त्वां संयौमि सम्यङ् मिश्रीकरोमि (यु मिश्रणामिश्रणादौ) किमर्थं जनयत्यै यजमानस्य प्रजोत्पत्त्यै जलपिष्टयोर्मिश्रणेन पुरोडाशोत्पत्तिरिव यजमानदम्पत्योः शुक्रशोणितमिश्रणेन प्रजोत्पत्तिर्यथा भवेत् तथा त्वां संयौमि ।

२—यद्वा यजमानस्य जनयत्यै श्रीप्रजापशुभिर्यजमानं वनयितुं संमिश्रयितुं त्वा त्वां संयौमि पुरोडाशोत्पत्त्यै संमिश्रयामि । यथा त्वं संम्मिश्रितः पुरोडाशभावमासाद्य अधिश्रितः सन् दैवाद्योनेरधिजायसे अमर्त्यस्य तव मर्त्यैर्जनयितुमशक्यत्वात् ।

३—'संविभज्यासंहरिष्यन्नारभते इदमग्नेदिमग्नीषोमयोः' (का० श्रौ० सू० २।५।१५) मिश्रीकृतस्य पिष्टस्यावदानाङ्कितं पिण्डद्वयं कृत्वा पुनरमेलयिष्यन् इदमग्नेः अग्निसम्बन्धि भवतु—इति प्रथमं पिण्डं स्पृशेत् इदमग्नीषोमयोर्भवत्विति द्वितीयं स्पृशेत् इषेत्वेत्याज्यमधिश्रयति' (का० श्रौ० सू० २।५।१६) हे आज्य इष्यमाणवृष्टचर्थं त्वामधिश्रयामीति शेषः । 'घर्मोऽसीति पुरोडाशमिति (का० श्रौ० सू० २।५।२७) हे पुरोडाश त्वं घर्मोऽसि (घृ क्षरणदीप्तयोः) इति धातोर्निष्पन्नेन घर्मशब्देन दीप्यमानः प्रवर्ग्य उच्यते । महावीरपात्रस्य श्रप्यमाण आज्ये पयोनिःक्षेपेण विशिष्टज्वालोल्लासेन प्रवर्ग्येण श्रप्यमाणत्वात् दीप्यमानत्वाच्चाज्यस्य तत्तुल्यता । 'विश्वायुरसि विश्वं कृत्स्नमायुर्यस्मात् सविश्वायुः, यस्माद्यजमानः सर्वायुरवाप्नोति स त्वमिति भावः । 'विश्वायुरिति तदायुर्दधाति' इति श्रुतेः ।

४—'उरु प्रथेति प्रथयति यावत्कपालमनतिपृथुम्' (का० श्रौ० सू० २।५।१०) अधिश्रितं पुरोडाशं यावत्परिणामानि कपालानि तावत्पृथुं प्रसृतं कुर्यात् । नातिपृथुं नातिविपुलं कुर्यात् ।

५—ननु यावत्कपालमित्युक्त्यैवानतिपृथुत्वे सिद्धे पुनरनतिपृथुत्वकथनं किमर्थमिति चेन्न, कपालानां श्रुत्युक्त-

---

दिया गया है कि 'जनयत्यै' । अर्थात् यजमान की प्रजोत्पत्ति के लिये । जल और पिष्ट के मिश्रण से जिस प्रकार पुरोडाश की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार यजमान दम्पत्ती के शुक्र-शोणित के मिश्रण से प्रजोत्पत्ति जैसे हो सके उस तरह से मैं तुम्हें मिश्रित कर रहा हूँ ।

२—अथवा यजमान को श्री, प्रजा, पशु आदि ऐश्वर्य से संयुक्त करने के लिये तुम्हें मैं पुरोडाश के उत्पत्त्यर्थ मिश्रित करता हूँ । जैसे तुम पुरोडाश भाव को प्राप्त होकर दैवयोगात् योनि से उत्पन्न होते हो, क्योंकि तुम अमर्त्य हो अतः मर्त्यों के द्वारा तुमको उत्पन्न करना शक्य नहीं है ।

३—कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार मिश्रीकरण किये हुए पिष्ट के अवदानाङ्कित पिण्डद्वय को बनाकर पुनः यदि मेलन होगा तो 'यह अग्नि से सम्बन्धित हो' ऐसा कहकर प्रथम पिण्ड का स्पर्श करे । 'यह अग्नीषोम से सम्बन्धित हो'—ऐसा कहकर द्वितीय पिण्ड का स्पर्श करे । तदनन्तर 'इषेत्वेत्याज्यमधिश्रयति'—इस श्रौत सूत्र के अनुसार हे आज्य ! अभिलष्यमाण वृष्टचर्थ तुम्हारा मैं अधिश्रयण करता हूँ । ततः 'घर्मोऽसीति पुरोडाशम्' इस कात्यायन वचन के अनुसार हे पुरोडाश ! तुम घर्म हो । 'घृ क्षरण दीप्त्योः' इस धातु से निष्पन्न हुए घर्म शब्द से दीप्यमान 'प्रवर्ग्य' बोधित किया जाता है । महावीर पात्र में आज्य के परिपक्व होते समय पयोनिःक्षेप (दूध प्रक्षेप) से एक विशेष प्रकार की ज्वाला निकलती है, अतः श्रप्यमाण और दीप्यमान धर्मों की समानता को देखकर प्रवर्ग्य के साथ आज्य की तुलना की गई है । तुम विश्वायु हो, 'विश्व यानी सम्पूर्ण आयु जिससे प्राप्त होती है, उसे विश्वायु कहते हैं । जब कि यजमान सम्पूर्ण आयु प्राप्त करता है, और वह तुम ही हो । श्रुति भी विश्वायुरिति तदायुर्दधाति' कहती है ।

४—तदनन्तर कात्यायन के अनुसार अधिश्रित पुरोडाश को जितने परिमाण का कपाल हो उतना ही उसे विस्तृत करना चाहिये । कपाल के परिमाण से अधिक उसे फैलाना नहीं चाहिये ।

५—यदि कोई यह आशङ्का करे कि 'यावत् कपालम्' कहने से ही पुरोडाश का अनति पृथुत्व सिद्ध ही है तो

परिमाणज्ञापनाय तदुक्तेः सार्थक्यात् । 'अश्वशब्दमात्रं कुर्यादित्युहैक आहुः' (श० १।१।२।१०) ।

६—मन्त्रार्थस्तु—हे पुरोडाश त्वं स्वभावतः उरुप्रथाः—उरु विस्तीर्णं यथा स्यात्तथा प्रथते प्रसरतीति उरुप्रथाः अत इदानीमपि उरु प्रथस्व प्रसृतः प्रख्यातो भव । येन ते तव यज्ञपतिः यजमानः उरु विस्तीर्णं यथा स्यात्तथा पुत्रपश्वादिभिः प्रथताम् प्रख्यातो भवतु ।

७—'अग्निष्ट इत्यद्भिरभिमृशति सकृत् त्रिर्वा' (का० श्रौ० सू० २।५।२१) पुरोडाशं सोदकेन हस्तेन सर्वतः स्पृशेत् सकृदेकवारं त्रिः बारत्रयं वा । ततः पात्र्यङ्गुलिक्षालनं पिष्टलेपापनयनमनुक्तमपि कर्त्तव्यम् । 'पात्राङ्गुलिप्रक्षालनम१७ येभ्यो निनयति' (का० श्रौ० सू० २।५।२८) 'पिष्टलेपाञ्जुहोति' (का० श्रौ० सू० ३।८।१) इतिसूत्राभ्यां प्रतिपत्तिकर्म विधानात् । उत्पत्तिमन्तरा प्रतिपत्त्यसम्भवात् ।

८—मन्त्रार्थस्तु—हे पुरोडाश अग्निः श्रपणाय प्रवृत्तः ते तव त्वचं त्वक्सदृशमुपरिभागं मा हिंसीत् मा विनाशयतु । अतिदाहेन मषीभावो नाशो यथा न स्यात् तथा करोतु । अवघातात् पेषणात् श्रपणाच्च जायमानो हविष उपद्रवो जलस्पर्शेन शाम्यति ।

९—देवस्त्वेति श्रपणम्' (का० श्रौ० सू० २।५।२३) देवस्त्वेति मन्त्रेण श्रपणं हविषामिति शेषः पुरोडाशस्यो (धानानाञ्चो) परि अङ्गारान् निदध्यात् । चरुपात्रस्य चाधस्तात् अङ्गारनिधानम् ।

१०—मन्त्रार्थस्तु—हे पुरोडाश सविता देवः वार्षिष्ठे अत्यन्तं वृद्धे उत्कृष्टे वा नाके अधि उपरिस्थितं त्वा त्वां श्रपयतु । 'नाको नामाग्नी रक्षोहा' इति तित्तिरिवचनात् । नाको नाम स्वर्गस्थोऽग्निः । सविता वा नाके स्वर्गे

पुनः 'अनति पृथुत्व' कहने की क्या आवश्यकता थी ? इस आशङ्का का उत्तर यह है कि कपालों का परिमाण श्रुत्युक्त है, यह प्रकट करने के लिये पुनः कथन सार्थक है ।

६—मन्त्रार्थ यह है—हे पुरोडाश ! तुम स्वाभाविक रूप से ही उरुप्रथ हो, अर्थात् जिस तरह से विस्तीर्ण हो सकते हो, वैसे ही प्रस्तृत होते हो, इसीलिये उरुप्रथ कहलाते हो । अतः इस समय भी प्रस्तृत यानी प्रख्यात हो जाओ । जिससे तुम्हारा यज्ञपति यानी यजमान, जिस तरह से विस्तीर्ण हो सके उस तरह पुत्र–पशु आदिकों से प्रख्यात हो जाय ।

७—ततः सूत्र बताता है कि जल से युक्त हुए हाथ से पुरोडाश को चारों ओर से एक बार अथवा तीन बार स्पर्श करे । तदनन्तर पात्री में अंगुलि प्रक्षालन यानी पिष्ट लेप को दूर करना यद्यपि अनुक्त है, तथापि उसे करना चाहिये । क्योंकि दो सूत्रों से प्रतिपत्ति कर्म का विधान किया है । उत्पत्ति के बिना प्रतिपत्ति का होना सम्भव नहीं है, अतः अनुरक्त रहने पर भी उसे करना चाहिये।

८—मन्त्र का अर्थ यह होगा—हे पुरोडाश ! श्रपणार्थ प्रवृत्त हुआ अग्नि, तुम्हारी त्वचा को यानी त्वचा के तुल्य तुम्हारे ऊपरी भाग को नष्ट न करे । अत्यधिक दाह से मषीभाव यानी नाश जैसे न हो पाय, वैसा करे । अवघात से, पेषण से, और श्रपण से हवि को होने वाले उपद्रव की शान्ति जल स्पर्श से हो पाती है ।

९—'देवस्त्वा' इस मन्त्र से हवियों का श्रपण करना चाहिये । अर्थात् पुरोडाश के ऊपर अङ्गारों को रखे । चारुपात्र के नीचे अङ्गारों को रखना चाहिये ।

१०—मन्त्रार्थ यह है—हे पुरोडाश ! सविता देव, अत्यन्त वृद्ध अथवा उत्कृष्ट नाक (स्वर्ग) में ऊर्ध्वस्थित हुए तुम्हारा श्रपण करे । तित्तिरि के वचनानुसार स्वर्गस्थ अग्नि को 'नाक' कहा गया है । अथवा सविता जो स्वर्ग में स्थित है । पुरोडाश के श्रपण में मनुष्य का कर्तृत्व नहीं है, अपितु नाक स्थित सविता का ही कर्तृत्व है । दिव्य लोक

स्थितः। पुरोडाशश्रपणेन मनुष्यस्य कर्तृत्वमपितु नाकस्थस्य महाभाग्यस्य सवितुरेव। दिव्ये लोके दिव्येन लोकेन दिव्याग्नौ पुरोडाशस्य श्रपणात् तदुत्कर्षः ततश्च यजमानस्यापि दिव्यलोकजन्मलाभः सेत्स्यति ।

११—स्वामिदयानन्दस्तु—"हे मनुष्य यथाहं जनयत्यै सर्वसुखोत्पादिकायै राज्यलक्ष्म्यै त्वां तं यज्ञं संयौमि मिश्रयामि अग्नौ प्रक्षिप्य वियोजयामि वा तथैव भवद्भिरपि संपूयताम्। अस्माभिर्य दिदं संस्कृतं हविरग्नेर्मध्ये प्रक्षिप्यते तदिदं विस्तीर्णं भूत्वा अग्नीषोमयोर्मध्ये स्थित्वेषे अन्नाद्याय भवति। यो विश्वायुर्विश्वमायुर्यस्मात् उरुप्रथा धर्मो यज्ञो यस्यास्ति तमेतमुरु प्रथस्व। यथाऽयं मया उरु प्रथ्यते तथैव प्रतिजनस्तमुरु प्रथस्व। एवं कृतवते ते तुभ्यमयं यज्ञपति-रग्निः सवितादेवो जगदीश्वरश्चोरु सुखं प्रथताम्। ते तव त्वचं मा हिंसीत् नैव हिनस्ति। स खलु त्वां वर्षिष्ठेऽधिनाके तं प्रथयतु सुखयुक्तं करोतु।" इति,

१२—तदपि कल्पनामात्रम्, सर्वसुखोत्पादिकायै लक्ष्म्यै कोऽयं त्रिविधो यज्ञः ? तेन च यज्ञेन के राज्यलक्ष्मीः प्राप्ताः। संस्कृतं हविरग्निमध्ये प्रक्षेपेण नश्यति। तद्विस्तीर्णं भूत्वा अग्नीषोमयोर्मध्येस्थित्वेषो भवति' इत्याद्यपि निर्मूलम्, तन्मते धर्माधर्मापूर्वरूपस्यादृष्टस्यानभ्युपगमात्।

१३—यदपि—हे मनुष्य यथाहं मनुष्यो यो विश्वायुरुरुप्रथा धर्मो यज्ञोऽस्ति तं जनयत्या इषे संयौमि तत्सि-द्ध्यर्थमग्नेर्मध्ये इदमग्नीषोमयोर्मध्ये संस्कृतं हविः संवपामि प्रक्षिपामि तथा त्वमप्येतं कुरु, प्रथस्व बहु विस्तारय यतोऽयमग्निस्तव त्वचं न हिंस्यात्। यथा च देवः सविता वर्षिष्ठेधिनाके यं यज्ञं श्रपयेत् तथा भवानपि त्वा तं संयौतु' इति।

१४—तदपि न सङ्गतम्, मन्त्राक्षराणां तादृशार्थाननुगतत्वात्। अग्निः कस्य त्वचं न दहेत् कणश्च न दहेत् इत्यपि न स्पष्टम्।

में भी दिव्य अग्नि पर पुरोडाश का श्रपण होने से उसका उत्कर्ष सूचित होता है, उससे देवता की तृप्ति का उत्कर्ष, और उस से यजमान को भी दिव्य लोक में जन्मलाभ होना सम्भव हो सकेगा।

११—स्वामी दयानन्द इस प्रकार व्याख्या करते हैं—'हे मनुष्य ! जैसे मैं समस्त सुखों को उत्पादन करने वाली राज्यलक्ष्मी के लिये उस यज्ञ को मिश्रित करता हूँ अथवा अग्नि में प्रक्षेप करके विनियोग करता हूँ, उसी तरह आप लोग भी अच्छी तरह उसे पवित्र करें। हम लोग जो इस संस्कृत हवि को अग्नि में डालते हैं, तो वह विस्तीर्ण होकर अग्नीषोम के मध्य में स्थित होकर अन्नाद्य के लिये होता है। जो विश्वायु (विश्वमायुर्यस्मात्) उरुप्रथा धर्मवान् यज्ञ जिसका है उसको खूब विस्तीर्ण करो। जैसे मैं इसे विपुलतया विस्तीर्ण करता हूँ, तथैव प्रत्येक मनुष्य उसे खूब विस्तीर्ण करे। इस प्रकार करने वाले तुम्हारे लिये यह यज्ञपति अग्नि सविता देव जगदीश्वर विपुल सुख विस्तार करे। तुम्हारी त्वचा को वह ऐसा करने पर नष्ट नहीं करेगा। वह तुम्हें अत्यधिक वृद्ध (श्रेष्ठतम) नाक में सुख से युक्त करे।"

१२—किन्तु यह व्याख्या केवल काल्पनिक है। सर्वसुखोत्पादिका लक्ष्मी के लिये कौन सा यह त्रिविध यज्ञ है ? जिस यज्ञ से राज्य लक्ष्मी की प्राप्ति बताई जा रही है। संस्कृत हवि का अग्नि में प्रक्षेप करने पर विनाश होता है। वह विस्तीर्ण होकर अग्नीषोम के मध्य में स्थित हुआ अन्नाद्य के लिये होता है'—इत्यादि कथन भी निर्मूल है। क्योंकि तुम्हारे मत में अपूर्व रूप धर्माधर्म, जिसे अदृष्ट कहा जाता है, उसकी स्वीकार नहीं किया गया है।

१३—यह जो तुमने कहा है कि 'हे मनुष्य ! जैसे मैं मनुष्य, जो विश्वायु उरुप्रथा धर्मवान् यज्ञ है, उसे इट् के लिये (जनयत्यै इषे) संयवन करता हूँ, तत्सिद्ध्यर्थ अग्नि में अर्थात् अग्नीषोम के मध्य में इस संस्कृत हवि को डालता हूँ, तथा तुम भी उसे करो, बहुत विस्तार करो, जिससे यह अग्नि, तुम्हारी त्वचा को नष्ट नहीं करेगा। जैसे सविता देव वर्षिष्ठ नाक में जिस यज्ञ का श्रपण करेगा, तथा आप भी उसका संयवन करे।'

१४—किन्तु यह कथन भी असङ्गत है, क्योंकि मन्त्र के अक्षरों से तुम्हारे किये अर्थ का कोई सम्बन्ध ही

१५—सिद्धान्ते तु पुरोडाशविषया: श्रपणमन्त्रा एते। तथा च हे जलौषधिरूपपदार्थद्वय जनयत्यै यजमानस्य प्रजोत्पादनार्थं संयौमि अनयोर्द्रव्ययोर्मिश्रणं करोमि। तथैव शुक्रशोणितमिश्रणेन यजमानस्य प्रजोत्पत्तिर्भवति। विधि-प्रयुक्तै: कर्मभिर्विशिष्टमदृष्टमुत्पद्यते तेनैव शास्त्रसिद्धोऽर्थ: सम्पद्यतेऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा। स्तुत्यर्था चोक्ति-स्तथाविधा सम्भवति। 'प्रजा एवैतेन दधारे'ति तित्तिरिश्रुते:। कात्यायनाद्यनुसारेण मिश्रीकृतं पिण्डसमूहं द्वेधा विभज्य भागद्वयोपेतान् पिष्टान् पृथगेव स्पृशेद्। इदं पिष्टस्य प्रथमार्धमग्निसम्बन्धि भवत्विति शेष:। इदं द्वितीयार्धमग्नीषोमयो: सम्बन्धि भवतु समं विभज्याहरिष्यन्नारभते' (का० श्रौ० सू० २।५।१५) इति कात्यायनसूत्रात्।

१६—इषे त्वे त्याज्यमधिश्रयतीति' (का० श्रौ० सू० २।५।१७) आज्यस्य प्रविलापनार्थं तत्पात्रस्याग्नावधि श्रयणम्। हे आज्य त्वामिषे इष्यमाणवृष्टिसिद्धचर्थमधिश्रयतीति शेष:। 'घर्मोऽसीति पुरोडाशम्' (का० श्रौ० सू० २।५।१८) अधिश्रयतीत्यनुवृत्ति:। विश्वायुरितिमन्त्रशेष:। घर्मशब्दोऽत्र दीप्यमानं प्रवर्ग्यं ब्रूते। हे पुरोडाश त्वं श्रप्य-माणतया घर्मोऽसि दीप्यमानत्वात् प्रवर्ग्योऽसि। तथा विश्वायु: विश्वं पूर्णं यजमानसम्बन्ध्यायुर्यस्मात् स त्वं विश्वायु:। 'विश्वमेवायुर्यजमाने दधातीति।' तित्तिरिश्रुते:। उरु प्रथा इति प्रथयति यावत्कपालम् कपालेष्वधिश्रितं पुरोडाशं कपाल परिमाणमनतिक्रम्य सर्वेषु कपालेषु संश्लेषयितुं प्रसारयेत इत्यत्रापि हे पुरोडाश त्वं स्वभावत उरुप्रथा उरु विस्तीर्णं यथा स्यात्तथा प्रथस्व तथा ते यज्ञपति: उरु प्रथतां प्रख्यातो भवतु। 'अग्निष्टमित्यद्भिरभिमृशति' (का० श्रौ० सू० २।५।२१) हे पुरोडाश श्रपणाय प्रवृत्तोऽग्निस्ते त्वचं त्वक्सदृशमुपरितनं भागं मा हिंसीत् मा विनाशयतु। अत्रातिदाहेन मषीभावो विनाश: सोऽस्य माभूत्। अवघातपेषणाभ्यां य उपद्रव आसीत् श्रपणेन च योभविष्यति तत्सर्वमुदकस्पर्शेन शाम्यति इत्यर्थ:। तदेतत् सर्वं शतपथे स्पष्टम्।

नहीं बैठ रहा है। अग्नि किसकी त्वचा को दहन नहीं करेगा और क्यों नहीं दहन करेगा? इसे भी स्पष्ट नहीं किया है।

१५—तथा च हे जलौषधि रूप पदार्थद्वय! यजमान के लिये प्रजोत्पादनार्थ इन दो द्रव्यों का मैं मिश्रण कर रहा हूँ। तथैव शुक्र-शोणित के मिश्रण से यजमान की प्रजोत्पत्ति होगी। विधि प्रयुक्त कर्मों से विशिष्ट अदृष्ट की उत्पत्ति होती है। उसी से शास्त्रसम्मत अर्थ सम्पन्न होता है चाहे वह इस जन्म में हो या जन्मान्तर में हो। उस प्रकार की उक्ति का स्तुत्यर्थ होना भी सम्भव हो सकता है। क्योंकि तित्तिरि श्रुति 'प्रजा एवैतेन दधार' कहती है। कात्यायन के अनुसार मिश्रीकृत पिण्ड समूह का द्वेधा विभजन करके दोनों भागों से युक्त पिष्टों को पृथक्-पृथक् स्पर्श करे। पिष्ट का यह प्रथमार्ध, अग्नि से सम्बन्धित हो, और यह द्वितीयार्ध अग्नीषोम से सम्बन्धित हो, क्योंकि 'समं विभज्याहरिष्यन्नारभते' यह कात्यायन सूत्र इसमें प्रमाण है।

१६—'इषेत्वे त्याज्यमधिश्रयति' सूत्र के अनुसार आज्य का प्रविलापन करने के लिये उसके पात्र को अग्नि पर चढ़ावे। हे आज्य! तुम्हें इष्यमाण वृष्टि सिद्धचर्थ अधिश्रित किया जा रहा है। 'घर्मोऽसीति पुरोडाशम्' सूत्र में 'अधिश्रयति' की अनुवृत्ति की जाती है। 'विश्वायु:' यह मन्त्र शेष है। यहाँ पर 'घर्म' शब्द, दीप्यमान प्रवर्ग्य को बता रहा है। हे पुरोडाश! श्रप्यमाण होने से तुम घर्म रूप हो, और दीप्यमान होने से तुम प्रवर्ग्य हो। तथा यजमान सम्बन्धि पूर्ण आयु जिससे प्राप्त होती है, वही तुम विश्वायु रूप हो। क्योंकि तित्तिरि श्रुति कह रही है—'विश्वमेवायु-र्यजमाने दधाति' इति। कपाल पर अधिश्रित पुरोडाश को कपाल परिमाण का अतिक्रमण किये बिना सभी कपालों से संश्लिष्ट करने के लिये उसे फैलाना चाहिये। यहाँ पर भी पुरोडाश! तुम स्वभाव से ही उरुप्रथ हो जाओ, अर्थात् जिस तरह से विस्तीर्ण हो सको उस तरह फैलो। तथा तुम्हारा यज्ञपति खूब प्रख्यात हो। 'अग्निष्टमित्यद्भिरभिमृशति' सूत्र के अनुसार हे पुरोडाश! श्रपणार्थ पवित्र हुआ अग्नि तुम्हारी त्वचा को यानी त्वक् सदृश तुम्हारे ऊपरी भाग को नष्ट न करे। अर्थात् अत्यधिक दाह से मषी भाव अर्थात् विनाश इसका न हो पाये। अवघात और पेषण के द्वारा जो उपद्रव हुआ था और श्रपण से जो उपद्रव होगा, वह सब, उदक के स्पर्श मात्र से शान्त हो जायगा। इस सम्पूर्ण अभि-प्राय को शतपथ ने स्पष्ट रूप से बताया है।

१७—'अथ सौयौति जनयत्यै त्वा संयौमीति । यथा श्रियेऽन्नाद्याय इमाः प्रजा यजमानाय यच्छेदेवं वैतत् संयौत्यधिवक्ष्यंन्नु वै संयौति यथा वा अधिवृत्योऽग्नेरधिजायेतैवं वैतत् संयौति' (श० १।१।२।३) आसिक्तजलेन पिष्टानां समन्त्रकं मिश्रीकरणं विधत्ते—अथ संयौति । मन्त्रतात्पर्यकथनेन संयवनं प्रशंसति— यथा खल्विमाः प्रजा यजमानाय (षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) यजमानस्य श्रिये सम्पदर्थमन्नाद्यर्थं च नियच्छेदेवमेतदनुकूलमेव तत्पिष्टसंवनमित्यर्थः । मन्त्रगतस्य जनयत्यै पदस्य जननायेत्यर्थः । तमुपजीव्य प्रशंसति अधिवर्जनं पुरोडाशस्याग्नावधिश्रयण करिष्यन् खलु संयौति—यथा खल्वधिश्रितः पुरोडाशोऽग्नेः सकाशात् जायेत एव तदनुगुणं संयवनम् ।

१८—अथ द्वेधाकरोति—यदि द्वे हविषी भवतः पौर्णमास्यां वौ द्वे हविषी भवतः स यत्र पुनर्न स ७ हरिष्यन्स्यात् तदभिमृशतीदमग्निरिदमग्नीषोमयोरिति नाना वा एतदग्रे हविर्गृह्णन्ति तत् सहावघ्नन्ति तत् सं पि ७ षन्ति । तत् पुनर्नाना करोति तस्मादेवमभिमृशत्यधिवृणक्त्येवैव पुरोडाशमधिश्रयत्यसावाज्यम्' ॥ (श० १।१।२।४) द्वेधेत्यादिविभागविधिः—कुत्र हविर्द्वयमिति तद्दर्शयति । पौर्णमासीशब्देन तत्कालानुष्ठेयं कर्म विवक्षितम् तत्र ह्याग्नेयोऽष्टाकपालः, अग्नीषोमीय एकादशकपालः, इति द्वे हविषी विहिते इत्यर्थः ।

१९—एवं द्वेधा विभज्य विभक्तयोरभिमर्शनं विधत्ते—'स खल्वध्वर्युः यत्र यस्मिन् काले तत् हविर्द्वयं पुनर्न हरिष्यन् स्यात्—संहरणमेकीकरणम् तत्करिष्यन् न भवेत् तत् तदानोमिदमग्नेरित्येकं भागमभिमृशति—इदमग्नीषोमयोरित्यपरम् । तावेतौ यथासंख्यमाग्नेयाग्नीषोमीयपुरोडाशावित्यर्थः । कथमनयोर्द्वित्वं कुत्र वातयोः संहरणं यद् व्यावृत्तये न संहरिष्यन्निति विशेष्यते तत्सर्वं दर्शयति नाना वा एतदित्यादिना । अग्नेर्निर्वापसमये अग्नये जुष्टं निर्वपामि अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि इति पृथक् पृथक् देवतादेशनात् ग्रहणस्य नानात्वम् । अवहननादिसंस्कारे सहैवानुष्ठिते सति तत्संहरणं भवति । तद्धविरस्मिन् समये पुनरनेन मन्त्रेण यथास्वं विभजतीत्यर्थः । इतः परमेकीकरणं न भवतीति तदेवासंहरणम् ।

१७—आसक्ति जल से पिष्ट का समन्त्रक मिश्रीकरण का विधान किया जाता है । मन्त्र के तात्पर्य कथन में संयवन की प्रशंसा की गई है—जैसे यह प्रजा, यजमान की सम्पत्ति, और अन्न आदि के लिये नियन्त्रित कर सके, तदनुकूल ही वह पिष्ट संयवन है । मन्त्रगत 'जनयत्यै' पद का अर्थ 'जननाय' है । उसी को उपजीव्य बनाकर प्रशंसा की गई है । पुरोडाश का अग्नि पर अधिश्रयण करते हुए संयवन करता है । जिस प्रकार अधिश्रित हुआ पुरोडाश, अग्नि में से हो सके, तदनुगुण ही संयवन करना है ।

१८—तदनन्तर शतपथ 'द्वेधा' इत्यादि से विभाग का विधान कर रहा है । ये दो हवि कहाँ होते हैं ? उसे बता रहे हैं—'पौर्णमासी' शब्द से तत्काल में अनुष्ठेय कर्म की विवक्षा की गई है । उस कर्म में एक 'आग्नेय अष्ट्राकपाल' और दूसरा 'अग्नीषोमीय एकादश कपाल' इस प्रकार दो हवियों का विधान किया गया है ।

१९—इस प्रकार द्वेधा विभाजन करके उनके अभिमर्शन (स्पर्श) का विधान किया गया है । जिस समय उन दो हवियों का एकीकरण नहीं किया जायगा उस समय 'इदमग्नेः' इस प्रकार कहकर एक भाग का स्पर्श किया जाता है और 'इदमग्नीषोमयोः' कहकर दूसरे भाग का स्पर्श किया जाता है । ये दोनों हवियाँ यथासंख्य अग्नि और अग्नीषोम देवता के पुरोडाश समझे जाते हैं । ऐसी स्थिति में इनका द्वित्व कैसे समझा जायगा ? इन दोनों का संहरण कहाँ बताया गया है ? जिसकी व्यावृत्ति करने के लिये 'न संहरिष्यन्' यह विशेषण आप दे रहे हैं । हमारे इसी अभिप्राय का शतपथ ने 'नाना वा एतत्' कहकर समर्थन किया है । अग्नि के लिये निर्वाप करते समय 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि, अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि' इस प्रकार पृथक्-पृथक् देवता का कथन करने से यहाँ ग्रहण का नानात्व स्पष्ट है । अवहननादि संस्कारों को सदैव अनुष्ठित किये जाने पर वह संहरण होता है । अर्थात् इसी समय उस हवि के पुनः इस मन्त्र से यथास्व तत्तद् देवताओं के लिये विभाग किये जाते हैं । इसके बाद एकीकरण नहीं किया जाता, इसी को 'असंहरण' कहते हैं ।

२०—पुरोडाशकपालस्याज्याधिश्रयणस्य च समानकालतां विवक्षुः कर्तृभेदमाह—अधिवृणक्तीति । एषोऽध्वर्युः पुरोडाशमधिवृणक्ति अग्नेरुपर्यधिश्रयति । अथैक आज्यं निर्वपति इति प्रागाज्यशब्दपर्यायेणैकशब्देन य आग्नीध्र आज्यनिर्वापकर्तृतया प्रतिपादितः सोऽत्र 'असा'वित्यदस्शब्देन विप्रकृष्टवाचिना परामृश्यते ॥ पुरोडाशाधिश्रयणसमये असावाग्नीध्रः आज्यमधिश्रयेदित्यर्थः ।

२१—तद्वा एतत् उभयꣳ सह क्रियतेऽर्धो वा एष आत्मनो यज्ञस्य यदाज्यमर्थोयदि हविर्भवति स यश्चासावर्धो य उ चायमर्धस्ता उभावग्निं गमयावेति तस्माद्वा एतदुभयꣳ सह क्रियते एवमुहैष आत्मा यज्ञस्य सन्धीयते । (श० १।२।२।५) उभयोः पुरोडाशाधिश्रयणाज्याधिश्रयणयोः सहानुष्ठानमुपपादयति—अर्धो वा एष इत्यादि । आज्यं यज्ञशरीरस्यार्धभागः । उपस्तरणाभिधारयोः प्रयाजादीनाञ्च तत्साध्यत्वात् । इतरोऽर्धः पुरोडाशादिर्हविः सहाधिश्रयणेनार्धद्वयमेकीकृत्याग्निं प्रापयावेत्यध्वर्योराग्नीध्रस्य चाभिप्रायः । एवमुहेति आज्यहविषोरुभयोः सहाधिश्रयणे सत्यर्धद्वयस्यैकीकरणात् यज्ञशरीरं सन्धीयते ।

२२—सोऽसावाज्यमधिश्रयति इषे त्वेति । वृष्टयै तदाह यदाहेषेत्वेति । तत्पुनरुद्वासयति ऊर्जेत्वेति । यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह (श० १।२।२।६) विहितमाज्याधिश्रयणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते सोऽसाविति । इष्यते इति इट् इति व्युत्पत्त्या इट्शब्देन वृष्टिर्विवक्षिता । वृष्टयै तदाहेत्यादि । ऊर्जेत्वेत्युद्वासयति । तस्माद् वृष्टादुदकात् जायमानो यो बलकरो रसः स अर्कशब्देन विवक्षितः ।

२३—अथ पुरोडाशमधिवृणक्ति घर्मोऽसीति यज्ञमेवैतत् करोति यथा घर्मं प्रवृञ्ज्यादेवं वृणक्ति विश्वायुरिति तदायुर्दधाति' (श० १।२।२।७) अधिवृणक्ति अग्ना उपरि वृणक्ति वर्जयति श्रपणार्थं स्थापयतीत्यर्थः । यज्ञमेवैतदिति । घर्मोऽसीति घर्मतादात्म्यस्तवनात् घर्मस्य च सोमयागाङ्गत्वात् तदात्मकमेवैतत्करोति । घर्मस्य यत् प्रवृञ्जनं सोमे तत्सदृशमेव पुरोडाशस्य प्रवृञ्जनमित्यर्थः । विश्वायुरितिमन्त्रे तदायुर्दधाति ।

२०—पुरोडाश कपाल और आज्याधिश्रयण की समान कालता को बताने की इच्छा से कर्तृभेद को बता रहे हैं—वह अध्वर्यु 'पुरोडाशमधिवृणक्ति' अर्थात् अग्नि के ऊपर उसे अधिश्रित करता है, और 'अथैक आज्यं निर्वपति' कहकर अन्य शब्द के पर्याय 'एक' शब्द से जिस आग्नीध्र को आज्यनिर्वापकर्ता के रूप में प्रतिपादित किया था, उसी का यहाँ पर 'असौ' इस 'अदस्' शब्द जो विप्रकृष्ट का वाचक है, उससे परामर्श किया गया है । अर्थात् पुरोडाश के अधिश्रयण काल में वह आग्नीध्र आज्य का अधिश्रयण करे ।

२१—'तद्वा एतत् उभयꣳ सह क्रियतेऽर्धो वा एष'—(श० प० १।२।२।५) इस शतपथ ब्राह्मण के द्वारा पुरोडाशाधिश्रयण दोनों के सहानुष्ठान का उपपादन किया जा रहा है । आज्य यज्ञ शरीर का अर्ध भाग है, क्योंकि उपस्तरण, अभिघार और प्रयाज आदि उसी के द्वारा सम्पादन किये जाते हैं । दूसरा अर्ध भाग पुरोडाशादि हवि है, अधिश्रयण के साथ अर्धद्वय को एक करके अग्नि के प्रति प्राप्त करावे, यह अध्वर्यु और आग्नीध्र का अभिप्राय है । आज्य और हवि दोनों का एक साथ होने पर अर्धद्वय का एकीकरण करने से यज्ञ शरीर को जोड़ा जाता है ।

२२—'सोऽसावाज्यमधिश्रयति'—(श० १।२।२।६) इस ब्राह्मण के द्वारा, विहित आज्याधिश्रयण का अनुवाद कर मन्त्र का विधान किया गया है । 'इष्यते इति इट्' इस व्युत्पत्ति के बल पर 'इट्' शब्द से वृष्टि की विवक्षा की गई है । 'उर्जेत्वा' मन्त्र से उद्वासन किया जाता है । उस वर्षा के जल से होने वाला जो बलकारक रस है, उसे 'ऊर्क्' शब्द से विवक्षित किया गया है ।

२३—'अथ पुरोडाशमधिवृणक्तिः'—(श० १।२।२।७) इस ब्राह्मण के द्वारा अग्नि पर श्रपण के लिये स्थापन करना बताया गया है । 'घर्मोऽसि' मन्त्र से घर्म के साथ तादात्म्य का स्तवन करने से और घर्म सोमयाग का अङ्ग होने से इसे तदात्मक ही करता है । घर्म का जो प्रवृञ्जन सोम में है, तत्सदृश ही पुरोडाश का प्रवृञ्जन कहा गया है । 'विश्ववायु' मन्त्र से उसमें आयु की स्थापना करता है ।

२४—तं प्रथयति उरु प्रथा उरु प्रथस्वेति प्रथयत्येवैनं कुरुते यज्ञपतिः प्रथतामिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदाशिषमाशास्ते ।' (श० १।२।२।८) तं प्रथयति उपहितेषु कपालेषु पुरोडाशं प्रथयति विस्तारयतीत्यर्थः। प्रथयत्येवैतदित्यादिना विहितस्य प्रशंसा प्रथयति पृथु विस्तीर्णं प्रभूतं करोतीत्यर्थः। पुरोडाशस्योरु प्रथनेन यजमानस्यापि प्रजापशुधनादिभिः प्रथनं भवतीति फलोक्त्या तत्प्रशंसैव। तं न सत्रा पृथुं कुर्यात् मानुषꣳ ह कुर्यात्। यत्पृथुं कुर्यात् व्यृद्धं वैतत् यज्ञस्य यन्मानुषं नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्मान्न सत्रा पृथुं कुर्यात् (श० १।२।२।६)

२५—पुरोडाशस्य स्वाभिमतपरिमाणविधित्सया परिमाणान्तरं निषेधति तन्नेति। सत्रेति निपातोऽनेकार्थत्वात् अत्रातिशयार्थः। सत्रा पृथुमतिपृथुं न कुर्यात्। विपक्षे बाधकमाह मानुषꣳ ह तत् यदति पृथुकरणम्। नन्वस्तु मानुषं को दोष इति तत्राह—व्यृद्धं विगता ऋद्धिर्यस्मात्तत् तस्मादतिपृथुकरणेन यज्ञे विगतर्द्धिकरणमेव भवति। यज्ञे तन्न युक्तमित्यर्थः।

२६—अश्वशफमात्रं कुर्यादित्युहैक आहुः कस्तद्वेद यावानश्वशफो यावन्तमेव स्वयं मनसा न सत्रा पृथुं मन्येतैव कुर्यात् ।' (श० १।२।२।१०) पक्षान्तरमुपन्यस्यति। अयमपि पक्षो दुर्ज्ञातत्वान्न साधुरित्याह—कस्तद्वेद यावानश्वशफः। स्वाभिमतं पुरोडाशपरिमाणमाह—यावन्तमिति यावत्परिमाणविशिष्टमेव स्वयं मनसैवातिपृथुं न मन्येत किन्तु दैवतसौविष्टकृतेडाद्यवदानपर्याप्तं मन्येत तावत् परिमाणविशिष्टं कुर्यादित्यर्थः।

२७—तमद्भिरभिमृशति सकृद्वा त्रिर्वा तद्यदेवास्यात्रावघ्नन्तो पिꣳषन्तो क्षण्वन्ति वा विवृहन्ति शान्तिरापस्तमद्भिः शान्त्या शमयति ।' (श० १।२।२।११) पुरोडाशस्याद्भिरभिमर्शनं विधत्ते तमिति। तद्यदेवास्यावघ्नन्तो पिंषन्तो वा क्षण्वन्ति सकृद्वा त्रिर्वा हिंसन्ति विवृहन्ति (वृहू उद्यमने) विश्लेषयन्ति शान्तिरापः दाहतृष्णादिशमनहेतुत्वे-

---

२४—'तं प्रथयति उरुप्रथा'—(श० प० १।२।२।८) इस शतपथ ब्राह्मणोक्त 'तं प्रथयति' का अर्थ—रखे हुए (उपहित) कपालों पर पुरोडाश का विस्तार करता है—अर्थात् पुरोडाश को फैलाता है। और 'प्रथयत्येवैनमेतत्' से विहित की प्रशंसा की गई है। 'प्रथयति' का अर्थ 'पृथु'=विस्तीर्ण अर्थात् प्रभूत करता है। पुरोडाश का उरु प्रथन (अधिक विस्तार) करने से यजमान का भी प्रजा, पशु, धन आदि के द्वारा विस्तार (प्रथन) होता है, इस प्रकार फल कथन के द्वारा उसकी प्रशंसा ही प्रतीत होती है।

२५—'तं न सत्रा पृथुं कुर्यात्'—(श० प० १।२।२।६) के द्वारा पुरोडाश के स्वाभिमत परिमाण का विधान करने के लिये परिमाणान्तर का निषेध किया गया है। अर्थात् पुरोडाश का अति विस्तार न करे। यहाँ पर 'सत्रा' निपात (अव्यय) अनेकार्थक होने से उसका 'अतिशय' अर्थ है। 'तं न सत्रा पृथुं कुर्यात्' अर्थात् पुरोडाश को अति पृथु (अत्यधिक विस्तृत) न करे। विपक्ष में (वैसा न करने पर) बाधक बता रहे हैं—जो अति पृथुकरण है, वह मानुष है। उसके मानुष हो जाने में क्या दोष है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—'व्यृद्धं' विगतर्द्धिक होता है अति विस्तार करने से यज्ञ में विगतर्द्धिकरण ही होता है। अर्थात् यज्ञ, ऋद्धि शून्य हो जाता है। इसलिये यज्ञ में पुरोडाश का अति विस्तार करना उचित नहीं है।

२६—'अश्वशफमात्रं कुर्यादित्युहैक आहुः'—(श० प० १।२।२।१०) इस ब्राह्मण के द्वारा एक अन्य पक्ष को उपस्थित कर रहे हैं। किन्तु यह पक्ष भी दुर्ज्ञेय होने से समीचीन नहीं है। क्योंकि कौन जानता है कि अश्वशफ (घोड़े का खुर) इतने परिमाण है। अतः स्वाभिमत पुरोडाश परिमाण को बताते हैं—स्वयं अपने मन से ही इतने परिमाण का है ऐसी कल्पना करके उसे (पुरोडाश को) अति पृथु (अत्यधिक विस्तृत) न करे, किन्तु दैवत सौविष्टकृत इडा आदि के अवदान के लिये जितना पर्याप्त हो उतने परिमाण से युक्त उसका विस्तार करे।

२७—'तमद्भिरभिमृशति सकृद्वा'—(श० प० १।२।२।११ इस ब्राह्मण के द्वारा जल से पुरोडाश के अभिमर्शन का विधान किया गया है। अवहनन या पेषण करने वाले एक बार अथवा तीन बार जो हिंसा करते हैं, अथवा

नापां शान्तिरूपता। तदद्भिः शान्त्या शमयति। अद्भिरभिमर्शनेन तत्संदधाति हननाद्युपद्रवकृतहिंसानिवारणेन तत्सन्धानमेव करोति।

सोऽभिमृशति। अग्निष्टे त्वचं मा हिꣳसीदित्यग्निना वा एनमेनदभितप्स्यन् भवत्येष ते त्वचं मा हिꣳसीदित्येवमेवैतदाह (श० १।२।२।१२)

२८—सोऽभिमृशतीत्यादि विहिताभिमर्शनानुवादेन मन्त्रविधानम्। अग्निष्टे त्वचं मा हिꣳसीदितिमन्त्रेणाहिंसाप्रार्थनं युक्तमिति व्याचष्टे—अग्निना वा एनमेतदभितप्स्यन् भवति। अभितः सर्वतः तपनं करिष्यन् ते त्वचं मा हिꣳसीत् मषीभावं नोत्पादयत्वित्यर्थः। सर्वथापि शतपथब्राह्मणरीत्यैव सायणादिव्याख्यानम्। दयानन्दीयं व्याख्यानं तु न मनागपि शतपथाभिप्रायं स्पृशति।

२९—तं पर्यग्निं करोति अच्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति। नेदेनं नाष्ट्रा रक्षांसि प्रमृशन्तीत्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मात्पर्यग्निं करोति।' (श० १।२।२।१३) पर्यग्निकरणं विधत्ते—

परितोऽग्निर्यस्य स पर्यग्निः परितोऽग्निमन्तं पुरोडाशं करोतीत्यर्थः। तस्य प्रयोजनमाह—अच्छिद्रमेवेति। अग्निना निर्विघ्नमेवैतत्क्रियते। राक्षसादिसंस्पर्शाभावार्थं प्राकारवन्नीरन्ध्रमग्निना वेष्टनं कृतं भवतीत्यर्थः।

३०—तꣳ श्रपयति देवस्त्वा सविता श्रपयत्विति। न वा एतस्य मनुष्यः श्रपयिता। देवो ह्येष तदेनं देव एव सविता श्रपयति वर्षिष्ठेऽधिनाक इति। देवत्रा एतदाह यदाह वर्षिष्ठेधिनाक इति। तमभिमृशति शतं वेदानीति तस्माद्वा अभिमृशति (श० १।२।२।१४)

विश्लेषण (पृथक्-पृथक्) करते हैं, उसे शान्ति रूप जल से शमन करते हैं, अर्थात् जल से अभिमर्शन कर हननादि उपद्रव कृत हिंसा का निवारण कर उनको जोड़ ही देता है। दाह-तृष्णादि के शमन के कारण जल को शान्ति रूप कहा गया है।

२८—'सोऽभिमृशति अग्निष्टे त्वचं'—(श० प० १।२।२।१२) 'सोऽभिमृशति' इत्यादि से विहित अभिमर्शन का अनुवाद करके मन्त्र का विधान किया गया है। 'अग्निष्टे त्वचं मा हिंसीत्' इस मन्त्र से अहिंसा प्रार्थन (इच्छा) करना उचित है। इस प्रकार अग्रिम अंश से उसकी व्याख्या कर रहे हैं—चारों ओर से तपाने वाला तुम्हारी त्वचा में मषी भाव (कालापन) उत्पन्न न करे। इस प्रकार सभी तरह से शतपथ ब्राह्मण की रीति का अनुसरण करते हुए ही सायणादि भाष्यकारों का व्याख्यान है। किन्तु दयानन्द स्वामी का व्याख्यान तो शतपथ ब्राह्मण के अभिप्राय का स्पर्श तक नहीं कर रहा है।

२९—'तं पर्यग्निं करोति अच्छिद्रमेवैनमेतद्'—(श० प० १।२।२।१३) ब्राह्मण के द्वारा पर्यग्निकरण का विधान किया जा रहा है। परितः चारों ओर है अग्नि जिसके, उसे पर्यग्नि कहते हैं। 'तं पर्यग्निं करोति' अर्थात् पुरोडाश को चारों ओर से अग्निमान् (अग्नि से युक्त) करता है। उस पुरोडाश को चारों ओर से अग्नि परिवेष्टित करने का प्रयोजन बता रहे हैं कि उसे (पुरोडाश को) अग्नि के द्वारा विघ्नरहित किया जाता है। अर्थात् राक्षसादि के द्वारा उसे स्पर्श न होने देने के लिये प्राकार (परकोटे) की तरह रन्ध्र (छिद्र) रहित जिस तरह हो सके उस तरह अग्नि से उसे वेष्टित किया जाता है।

३०—'तं श्रपयति देवस्त्वा सविता'—(श० प० १।२।२।१४) इस ब्राह्मण से समन्त्रक श्रपण का विधान किया जा रहा है। इस दिव्य पुरोडाश का श्रपण करने वाला (श्रपयिता) मनुष्य नहीं है, क्योंकि वह देवता से सम्बन्धित है। सविता देव ही उसे पकाता है। देवताओं के प्रति ही यह कहा जा रहा है कि वृद्धतम अर्थात् उत्कृष्टतम या वृहत्तम स्वर्ग में सविता देव श्रपण करें। तथा च उस लोक (स्वर्ग लोक) में निवास करने वाले देवताओं के

समन्त्रकं श्रपणं विधत्ते--देवस्त्वा सविता श्रपयतु न वा एतस्य दिव्यस्य पुरोडाशस्य मनुष्यः श्रपयिता हि यतो देवसम्बन्धित्वाद्देवो ह्येष तत् तस्मादेनं सविता श्रपयति वर्षिष्ठेऽधिनाक इति। मन्त्रपाठे देवत्रो देवान् प्रत्येवैतदाह--वर्षिष्ठे वृद्धतमे उत्कृष्टतमे बृहत्तमे वा नाके स्वर्गे देवः सविता श्रपयत्विति मन्त्रार्थः। तथा च तल्लोकनिवासिनो देवान् प्रत्येवैतद्वचनम्। 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः' (पा० सू० ५।४।५६) इति द्वितीयार्थे त्राप्रत्ययः। यद्वर्षिष्ठेधिनाक इति तदाह तमभिमृशतीति श्रपणानन्तरं तस्याभिमर्शनं विधत्ते अभिमृशतोऽभिप्रायमाह शृतमिति शृतं पक्वं वेदानि जानामीत्यर्थः। तस्माद्वा अभिमृशति--

३१--परमेश्वरपरत्वे तु हे भगवन्निवेदनीयदिव्यहविः जनयत्यै परमेश्वरप्रीत्युत्पत्त्यै त्वा त्वां संयौमि मधुमतीभिरोषधीभिर्मधुमतीरापः मधुमतीभिरद्भिर्मधुमतीरोषधीः सम्मिश्रयामि घृतदुग्धमधुशर्कराचूर्णादिमिश्रणेन दिव्यरसात्मकं नैवेद्यं सम्पादयामि। तत एवैकमर्धमग्नेर्विप्रलम्भशृङ्गाररससारसर्वस्वस्य भगवतः कृष्णस्य केवलधर्मिणो भागोस्तु द्वितीयं चार्धमग्नीषोमयोः उद्बुद्धोद्वेलितसम्प्रयोगविप्रयोगात्मकोभयविधशृङ्गाररससमुद्रसारसर्वस्वयो राधाकृष्णयोरस्तु। विप्रलम्भात्मके राधारूपो धर्मोऽव्यक्तः। सम्भोगशृङ्गारे तूभयोरभिव्यक्तिरित्युभयरूपता।

३२--इषे इष्यमाणायै प्रेमरसवृष्टयै त्वा विभजामीति शेषः। हे सर्वेश्वर तृप्तिहेतुनैवेद्य त्वं घर्मोसि त्वं सोमाङ्गप्रवर्ग्यरूपोऽसि प्रवर्ग्यस्य सोमयागपूरकत्ववत् तवापि भगवदाराधनापूरकत्वात्। विश्वायुरसि विश्वं सम्पूर्णं साफल्योपेतमायुर्यस्मात् तत् अतिप्रियवस्तुनोभगवदर्पणेनैव जीवनसाफल्यं भवति तदभावेतु व्यर्थमेवायुर्ह्रियते। 'तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किन्न श्वसन्त्युत। न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे॥' (श्री० भा० म० पु० २।३।१८) इति श्रीमद्भागवतवचनेन भगवत्सम्बन्धविधुरस्य जीवनस्य भस्त्रादिश्वसनवद् वैयर्थ्यनिःसारत्वादिप्रतिपादनात्। उरुप्रथास्त्वं स्वभावतो भगवत्सम्बन्धित्वात् प्रख्यातवैभवोऽसि। इदानीमुरु प्रथस्व सम्यक् प्रख्यातो भव। भगवद्भावनया भावितमधुना भगवदुपासनाङ्गत्वेन लोके वेदे च प्रख्यातो भव। यथा काष्ठादिष्वव्यक्तरूपेण व्यापकोऽप्यग्निर्दाहकत्व-

---

प्रति ही यह वचन है। 'देवत्रा उ' यहाँ पर 'देवमनुष्यपुरुष पुरुमर्त्येभ्यः'--(पा० सू० ५।४।५६) इस पाणिनि सूत्र से द्वितीया के अर्थ में 'त्रा' प्रत्यय किया गया है। इसलिये 'देवत्रा' का अर्थ 'देवान् प्रति' किया गया है। 'यद्वर्षिष्ठेऽधिनाक इति एतत् आह तमभिमृशति' से श्रपण के पश्चात् उसके अभिमर्शन का विधान हुआ है। अभिमर्शन (स्पर्श) करने वाले का अभिप्राय बता रहे हैं--यह (पुरोडाश) शृत अर्थात् पक्व हो गया है ऐसा मैं जान रहा हूँ। उसकी परिपक्वता जानने के लिये वह उसका अभिमर्शन (स्पर्श) करता है।

३१--इसी मन्त्र का परमेश्वरपरक अर्थ इस प्रकार कर सकते हैं--भगवान् को अर्पण करने योग्य हे दिव्य हवि! परमेश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये मधुमती ओषधियों के साथ मधुमान् (मधुर) जल को मधुर जल के साथ मधुमती (मधुर) ओषधियों को मिला रहा हूँ, घृत, दुग्ध, मधु, शर्करा चूर्णादि के मिश्रण से दिव्यरसात्मक नैवेद्य का सम्पादन कर रहा हूँ। उसी में से एक अर्ध भाग अग्नि का अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्गार सार सर्वस्व भगवान् श्रीकृष्ण रूप केवल धर्मी का रहे, और द्वितीय अर्ध भाग, अग्नीषोम का अर्थात् उद्बुद्ध और उद्वेलित सम्प्रोग-विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गार रस में राधा रूप धर्म अव्यक्त है, किन्तु सम्भोग शृङ्गार रस में तो दोनों की अभिव्यक्ति रहने से उभयरूपता है।

३२--'इषे' अर्थात् अर्थात् अभिलषणीय प्रेम रस की वृष्टि के लिये मैं तुम्हें विभक्त कर रहा हूँ। सर्वेश्वर की तृप्ति के हेतुभूत हे नैवेद्य! 'त्वं घर्मोऽसि'--तुम घर्म रूप हो अर्थात् तुम सोम के अङ्गभूत प्रवर्ग्य रूप हो, क्योंकि प्रवर्ग्य जैसे सोमयाग का पूरक होता है, तद्वत् तुम भी भगवदाराधना की पूर्णता करने वाले हो। तुम 'विश्वायुरसि' विश्वायु हो अर्थात् सम्पूर्ण आयु सफलता से युक्त जिसके कारण होती है। अत्यन्त प्रिय वस्तु को भगवदर्पण करने से ही जीवन की सफलता होती है, उसके अभाव में तो आयु व्यर्थ ही क्षीण होती रहती है। श्रीमद्भागवतकार कहते हैं--'तरवः किं न जीवन्ति' वृक्ष क्या जीवित नहीं रहते, 'भस्त्राः किन्न श्वसन्त्युत' अथवा लोहार-सुनार के यहाँ की धोकनी (चमड़े की

प्रकाशकत्वरूपेणाभिव्यज्य काष्ठादिकमात्मसात्करोति तथैव भगवानव्यक्तरूपेण सर्वव्यापकोऽपि सगुणसाकाररूपेणाभिव्यज्य ध्येयरूपेण सर्वान्तर्निविश्य सर्वमात्मसात्करोति ।

३३—वस्तुतो ब्रह्मैव मायया तद्रूपेण विवर्तते। यथा व्यक्ताग्निना काष्ठेन संश्लिष्टं काष्ठान्तरमपि व्यक्ताग्निकं भवति तथैव व्यक्तेन भगवता सम्बद्धं सर्वमपि व्यक्तभगवत्सत्ताकं भगवद्रूपमेव भवति। यथा लवणखनौ निपतितं सर्वमपि लवणमेव भवति तथैव व्यक्तभगवत्सम्बन्धेन सर्वमप्यवधूय बाह्योपाधिं भगवद्भावमेवोपगच्छति तथैव यज्ञपतिरुपासनात्मकयज्ञानुष्ठाताप्युरु प्रथताम्। अग्निः प्राकृतोऽग्निस्ते त्वचं मा हिंसीत् त्वत्स्पर्शेन तव प्राकृतत्वं मापादयतु किन्तु विशिष्टः सविता देवः भृगूणामङ्गिरसाञ्च तपोरूपेणाग्निना विरहरूपेण दिव्याग्निना वर्षिष्ठे सर्वोत्कृष्टे प्राकृते नाके स्वर्गे त्वा श्रपयितु पाकेन रसात्मकं करोतु ।

मा भेर्मा संविक्थाऽअतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्। त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा ॥ वा० सं० १ । २३ ॥

अर्थ—हे पुरोडाश ! तुम डरो मत, तुम विचलित न होना। याग हेतुभूत जो पुरोडाश है वह ग्लानि से रहित रहे। यजमान की प्रजा भी ग्लानि रहित रहे। हे पात्र्यांगुलिप्रक्षालनोदक ! मैं तुम्हें त्रित, द्वित, और एकत संज्ञक देवता की ओर ले चलता हूँ ॥२३॥

बनी हुई) क्या श्वास नहीं लेती है ? 'न खादन्ति, न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे'—गाँव में रहने वाले पशु, क्या खाना, पीना, मलोत्सर्जनादि नहीं करते ? (श्री० भा० म० पु० २।३।१८) इस श्रीमद्भागवत के वचन से स्पष्ट बताया गया है कि भगवत्सम्बन्धविधुर (भगवत्सम्बन्धशून्य) जीवन, भस्त्रा (धोकनी) के श्वास के समान व्यर्थ है, निःसार है। 'उरुप्रथास्व' तुम स्वभावतः ही भगवत्सम्बन्धी हो, उस कारण तुम्हारा वैभव (ऐश्वर्य) प्रख्यात है। अब इस समय भी तुम 'उरु प्रथस्व' अच्छी तरह प्रख्यात हो जाओ। अर्थात् यद्यपि भगवद्भावना से भावित (युक्त) रहने का तुम्हारा स्वभाव ही है, तथापि इस समय भगवदुपासना में अङ्ग बनकर लोक (संसार) व्यवहार में और वैदिक व्यवहार में भी अपने को प्रख्यात करो। जैसे काष्ठ आदिकों में अव्यक्त रूप से रहता हुआ भी व्यापक अग्नि दाहकत्व-प्रकाशकत्व रूप से अभिव्यक्त होकर काष्ठादि को आत्मसात् कर लेता है, उसी तरह अव्यक्त रूप में रहने वाला सर्वव्यापक भगवान् भी सगुण-साकार ध्येय रूप से अभिव्यक्त होकर और सबके भीतर प्रविष्ट होकर सबको आत्मसात् करता है।

३३—वस्तुतः ब्रह्म ही माया के द्वारा तत्तद्रूप से विवर्त को प्राप्त होता है अर्थात् अतात्त्विक परिणत होता है। जैसे व्यक्त (प्रकट) हुए अग्निमय काष्ठ से संश्लिष्ट हुआ काष्ठान्तर भी व्यक्ताग्निक अर्थात् अग्निमय हो जाता है, उसी तरह व्यक्त हुए भगवान् से सम्बद्ध हुआ सभी कुछ व्यक्त भगवत्सत्ताक अर्थात् भगवद्रूप ही हो जाता है। जैसे लवण (नमक) की खान में गिरा हुआ सभी कुछ लवणमय हो जाता है, उसी तरह व्यक्त हुए भगवान् के सम्बन्ध से बाह्योपाधि को निरस्त कर सब कुछ भगवद्भाव को ही प्राप्त हो जाता है। उसी तरह 'यज्ञपति' अर्थात् उपासना रूप यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला भी विपुल प्रसिद्धि को प्राप्त करे। 'अग्निः' अर्थात् प्राकृत अग्नि, तुम्हारी त्वचा की हिंसा न करे, यानी तुम्हारा स्पर्श कर तुम्हें प्राकृत न बना दे, किन्तु विशिष्ट सविता देव भृगु और अङ्गिरसों के तपोरूप अग्नि से यानी विरह रूप दिव्य अग्नि से सर्वोत्कृष्ट अप्राकृत स्वर्ग में तुम्हारा श्रपण करे, अर्थात् तुम्हें पकाकर रसात्मक करे।

१—'माभेरित्यालभते' (का० श्रौ० सू० २।५।२४) माभेरितिमन्त्रावृत्त्या पुरोडाशमालभेत शृताशृतज्ञानार्थत्वादस्याभिमर्शनस्य चरावपि प्राप्तिः, न धानासु तत्र दर्शनादेव पाकज्ञानसम्भवात्। हे पुरोडाश त्वं माभेः भयं मा कार्षीः। मा च संविक्थाः चलनं च मा कार्षीः। न भेतव्यं न चलितव्यं (ओविजी भयचलनयोः) अतमेरुरिति शृताभिवासयति भस्मना वेदेनोपवेषेण वा (का० श्रौ० सू० २।५।२५) शृतौ पुरोडाशौ अतमेरुरितिमन्त्रेण वेदेन (कुशमुष्टिना) उपवेषेण (काष्ठमयेन वा) भस्म गृहीत्वा तेनाच्छादयेत्। यज्ञो यागहेतुः पुरोडाशो भस्माच्छादनेन अतमेरुः ग्लानिरहितो भवतु। तमु ग्लानावित्यस्माद्धातोस्तमेरुशब्दो निष्पद्यते। तमेरुर्ग्लानिः, तद्भिन्नोऽतमेरुरग्लानिरित्यर्थः। तथैव यजमानस्य पुत्रपौत्रादिप्रजा अतमेरुर्ग्लानिरहिता भवतु।

२—'पात्र्याङ्गुलिप्रक्षालनमाप्त्येभ्यो निनयत्यभितप्य प्रत्यगसंस्यन्तमानत्रिताय त्वेति प्रति मन्त्रम्।' (का० श्रौ० सू० २।५।२६) पिष्टलिप्तपात्रीप्रक्षालनजलं पिष्टलिप्ताङ्गुलिजलञ्च पात्रीस्थमेव गार्हपत्यादाहृतेनोल्मुकेन तापयित्वा पूर्वत आरभ्य प्रत्यक्संस्थ उत्करसमीपे भूमौ परस्परमसंलग्नमाप्त्येभ्यस्त्रिसृभ्यो देवताभ्यो निनयेत् अध्वर्युः त्रिताय त्वेति प्रतिमन्त्रम्। आप्त्यानां देवता तदुद्देश्येन त्यागश्च कार्यः त्रिष्वपि मन्त्रेषु निनयामीत्यध्याहारः इति सूत्रार्थः।

३—मन्त्रार्थस्तु—हे पात्र्याङ्गुलिप्रक्षालनोदक त्रितनाम्नेदेवाय त्वा त्वां निनयामीति शेषः। एवं द्विताय देवाय एकताय देवाय त्वा निनयामि। अत्रायमितिहासो ज्ञातव्यः—कुतश्चिद्धेतोर्भीतोऽग्निः अपः प्राविशत्। ततो

१—'माभेरित्यालभते' (का० श्रौ० सू० २।५।२४) 'माभेर्मा' मन्त्र की आवृत्ति के द्वारा पुरोडाश का स्पर्श करे। यह अभिमर्शन (स्पर्श) पुरोडाश की परिपक्वता अपरिपक्वता के ज्ञानार्थ बताया गया है, अतः अभिमर्शन (स्पर्श) की चरु में भी प्राप्ति होती है। किन्तु धानाओं में नहीं, क्योंकि उनको देखने मात्र से ही उनकी पक्वता का ज्ञान हो जाता है। हे पुरोडाश ! तुम भय मत करो, और चञ्चल भी मत हो अर्थात् इधर-उधर खिसको भी मत, यानी न डरो और न खिसको, ('ओविजी' धातु भय और चलन अर्थ में हैं)। 'अतमेरुमिति .... वेदेनोपवेषेण वा'— (का० श्रौ० सू० २।५।२५) यह श्रौत सूत्र बता रहा है कि 'अतमेरुर्यज्ञो' (१।२३) मन्त्र की आवृत्ति (दो बार कहते हुए) करते हुए पक्व हुए दो पुरोडाशों को वेद (कुशमुष्टि) अथवा उपवेष (काष्टमय हस्त) से भस्म लेकर उससे आच्छादित करे। 'चरु' पर अभिवासन (भस्म से आच्छादन) नहीं किया जाता। 'यज्ञः' अर्थात् याग का हेतुभूत पुरोडाश, भस्म के आच्छादन से 'अतमेरुः' ग्लानिरहित हो जाय। 'तमुग्लानौ' धातु से 'तमेरु' शब्द की निष्पत्ति होती है। तमेरुः=ग्लानि, उससे भिन्न 'अतमेरुः'=अग्लानि है। तथैव यजमान की पुत्र-पौत्रादि प्रजा भी ग्लानिरहित हो।

२—'पात्र्यांगुलि प्रक्षालन ....प्रति मन्त्रम्'—(का० श्रौ० सू० २।५।२६) पिष्ट लिप्त (आटे से सनी हुई) पात्री के जल को तथा पिष्टलिप्तांगुलि प्रक्षालन जल को उसी पात्री में, गार्हपत्याग्नि से लाये हुए उल्मुक (जलती हुई) से तपाकर पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा तक उत्कर के समीप भूमि पर परस्पर संलग्न न करते हुए तीन आप्त्य नामक तीन देवताओं के लिये त्याग दे, क्योंकि 'आप्त्य' में देवतात्व है, अतः उन तीन देवताओं के उद्देश्य से त्याग करना चाहिये। तीनों मन्त्रों में 'निनयामि' का अध्याहार किया जाता है। यह सूत्रार्थ है।

३—मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे पात्र्याङ्गुलिप्रक्षालनोदक ! त्रित नामक देव के लिये मैं तुम्हारा निनयन करता हूँ। उसी प्रकार द्वित नामक देव के लिये और एकत नामक देव के लिये मैं तुम्हारा निनयन करता हूँ। इस प्रसङ्ग का इतिहास जानने योग्य है। किसी कारण से भयभीत होकर अग्नि ने जल में प्रवेश किया, तब देवताओं ने उसका अन्वेषण कर उसे पकड़ा, तब अग्नि ने जल में अपना वीर्य छोड़ा, उससे ये आप्त्य संज्ञक देव उत्पन्न हुए,

देवास्तं ज्ञात्वा जगृहुः। तदग्निना वीर्यम्प्सुमुक्तम्। तत आप्त्या उत्पन्नाः त्रितद्वितैकता संज्ञाः। ते देवैः सहचरन्तो यज्ञे पात्रीप्रक्षालनजललक्षणं भागंलेमिरे (श० १।२।३।१)

४—स्वामिदयानन्दस्तु—'हे विद्वन् त्वमतमेरुः सन् यज्ञस्यानुष्ठानान्माभेः भयं माकुरु। एतस्मान्माविचल एवं यज्ञं कृतवतस्तेऽतमेरुः प्रजाभूयात्। अहं त्वा तमग्निं यज्ञाय त्रिताय त्वाद्विताय त्वा एकताय सुखाय संयौमि। ईश्वरः प्रतिमनुष्यमाज्ञापयति—आशीश्च ददाति नैवकेनापि मनुष्येण यज्ञसत्याचारविद्याग्रहणस्य सकाशात् भेतव्यम् विचलितव्यं वा। कस्मात् युष्माभिरेतैरेव सुप्रजाः शारीरिकवाचिकमानसानि निश्चलानि सुखानि प्राप्तुं शक्यानि' इत्याह।

५—तत्रेदं वक्तव्यम्—तेन विद्वानत्र संबोध्यते, तत्र किं मूलम्? यज्ञानुष्ठाने प्रवृत्तस्य भयोद्वेगशङ्काया अप्राप्तेश्च तथोक्तिर्निर्मूलैव। किञ्च यज्ञस्यानुष्ठानादतमेरुः प्रजा कथं भविष्यति? यदपि अहं त्वा तमग्निं यज्ञाय त्रिताय द्विताय एकताय संयौमीत्युक्तम् तदपि निर्मूलम् मूले यज्ञाय संयौमीति पदयोरभावात्। पूर्वमन्त्रतः संयौमीत्यस्यानुवृत्तावपि त्रिताय त्रयाणामग्निकर्महविषां भावाय द्विताय द्वयोर्वायुवृष्टिजलशुद्धयोर्भावाय एकताय एकस्य सुखस्य भावाय त्वा तं संयौमि निश्चलं करोमीति यदुक्तं तदपि निर्मूलम्, एकस्य ब्रह्मणो भावाय द्वयोर्धर्मब्रह्मणोर्भावाय त्रयाणां धर्मार्थकामानां भावाय इत्यस्याप्यर्थस्य सम्भवेन दयानन्दोक्तेऽर्थे विनिगमनाविरहात्।

६—सिद्धान्ते तु त्रितादिदेवताविशेषग्रहणे प्रमाणमुक्तमेवशतपथ ब्राह्मणेऽयं मन्त्रो व्याख्यात इत्युक्त्वापि तद्वि-

---

जिनके त्रित, द्वित और एकत नाम हैं। उन्होंने देवों के साथ घूमते हुए यज्ञ में पात्री प्रक्षालन जल रूप भाग को पाया (श० प० १।२।३।१)।

४—स्वामी दयानन्द ने उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—'हे विद्वन्! तुम अतमेरु होते हुए यज्ञ के अनुष्ठान से भय मत करो। इससे विचलित मत हो। इस प्रकार यज्ञ करने वाले तुम्हारी प्रजा अतमेरु हो। मैं 'त्वा' अर्थात् उस अग्नि को यज्ञ के लिये त्रिताय त्वा द्विताय त्वा एकताय यानी सुख के लिये मिश्रित करता हूँ। ईश्वर प्रत्येक मनुष्य को आज्ञा देता है, और आशीर्वाद देता है। कोई भी मनुष्य यज्ञ सत्य, आचार, विद्याग्रहण करने से न डरे अथवा विचलित न हो। क्योंकि इन्हीं से सुप्रजा को अर्थात् शारीरिक, वाचिक, मानसिक निश्चल सुखों को प्राप्त करना तुम्हारे लिये सम्भव हो सकता है।'

५—दयानन्द स्वामी के द्वारा किये गये अर्थ पर हमारा यह वक्तव्य है—स्वामी दयानन्द ने यहाँ पर विद्वान् को सम्बोधित किया है, किन्तु विद्वान् को सम्बोधित करने में मूल क्या है? यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्त हुए मनुष्य के लिये भय, उद्वेग की शङ्का प्राप्त ही नहीं है, अतः भय, उद्वेग की शङ्का करना निर्मूल ही है। किञ्च यज्ञ के अनुष्ठान करने से प्रजा अतमेरु कैसे हो सकेगी? यह जो दयानन्द स्वामी ने कहा है कि 'अहं त्वा तमग्निं यज्ञाय त्रिताय द्विताय एकताय संयौमि'—वह भी निर्मूल है। क्योंकि मूल ग्रन्थ में 'यज्ञाय और संयौमि' दोनों पद नहीं हैं। पूर्व मन्त्र से 'संयौमि' पद की अनुवृत्ति करने पर भी 'त्रिताय'=अग्नि, कर्म और हवि इन तीनों के भाव के लिये (विद्यमानता के लिये) 'द्विताय'=वायु शुद्धि और वृष्टि जल की शुद्धि के भाव के लिसे (शुद्धता के लिये), 'एकताय'=एक सुख के भाव के लिये (सुख की सत्ता के लिये) 'त्वा'=तं उसे संयोमि=निश्चल करता हूँ" यह जो कहा वह भी निर्मूल है, क्योंकि एकस्य=ब्रह्म के भाव के लिये, द्वयोः=धर्म और ब्रह्म के भाव के लिये, त्रयाणां=धर्म, अर्थ, काम तीनों के भाव के लिये—इस अर्थ की भी सम्भावना की जा सकती है। अतः दयानन्दोक्त अर्थ में विनिगमना (युक्ति) नहीं है।

६—सिद्धान्त में तो त्रितादि विशेष देवताओं का ग्रहण करने में हम प्रमाण बता ही चुके हैं। दयानन्द स्वामी ने 'शतपथ ब्राह्मण में इस मन्त्र का व्याख्यान किया गया है' ऐसा कहकर भी उसके विरुद्ध ही मन्त्र का व्याख्यान उन्होंने कर दिया है।

रुद्धमेव व्याख्यानमत्रकृतम्। शतपथे तु—सोऽभिमृशति माभेर्मा संविक्था इति मा त्वं भैषीर्मा संविक्था यत्त्वामहममानुषं सन्तं मानुषोऽभिमृशामि—इत्येवैतदाह (श० १।२।२।१५) अत्र पूर्वश्रुत्या विहितमभिमर्शनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते सोऽभिमृशतीति मन्त्रगतं भेः इत्येतत्पदं व्याचष्टे मा त्वं भैषीः मा संविक्था मा च कम्पिष्ठा इत्यर्थः। भयकम्पयोः कारणमाह—यत्त्वाममानुषं दिव्यं सन्तं मानुषोऽभिमृशामि इत्येवैतदाह मन्त्रः—अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामित्युक्तभावनया ममाप्यमानुषत्वात्।

७—"मा भैषीर्मा संविक्था यं त्वा मानुषꣳ सन्तं मानुषोऽभिमृशामीत्येवैतदाह"—इति काण्वश्रुत्यनुसारेण कश्चिदाह योऽयं पुरोडाशो मनुष्येणाध्वर्युणा कृतस्तमिमं मनुष्य एव स्पृशति, ततो भयचलनयोरभाव इति, तत्तु न युक्तम्, त्वा मानुषꣳसन्तमित्यत्र माध्यन्दिनीयपाठानुसारेण त्वाऽमानुषं सन्तमित्यकारप्रश्लेषेण तदनुगुणस्यैवार्थस्य सम्भवात्। किञ्च मानुषस्य पुरोडाशस्य मानुषस्पर्शेन भयसम्भावनायामसत्यां निषेधोऽपि न सङ्गतः। प्राप्तौ सत्यामेव निषेधस्य सार्थक्यात्। पूर्वोक्तसंस्कारैः पुरोडाशस्यामानुषत्वसम्पादनाच्च।

८—यदा श्रृतोऽथाभिवासयति नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवपश्यानिति नेद्वेव नग्न इव मुषित इव शयाताऽइत्युचैव तस्माद्वा अभिवासयति।' (श० १।२।२।१६) यदा यस्मिन् काले पुरोडाशः श्रृतः पक्वो भवति अथानन्तरमेव तस्योपर्यभिवासयति साङ्गारेण भस्मनाच्छादयेदित्यर्थः। तस्य प्रयोजनमाह—नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा इति सदृष्टान्तात्तरं प्रयोजनान्तरं चाह नेद्वेति। नग्नः स्वभावतो विवसनः मुषितः चौरादिभिरपहृतवसनः, ता उभौ यथा निरावरणौ शयाते तद्वत् पुरोडाशोऽपि अभिवासनाभावे निरावरणः शयीत। नैव तथा शयीतेत्यनेनैवाभिप्रायेणाभिवासनं कर्त्तव्यमित्यर्थः। दिव्यानां देवानां कृते दिव्यैर्मन्त्रैर्दिव्याभिर्भावनाभिर्नानाविधैः संस्कारैः संस्कृतौ पुरोडाशौ न साधारणौ। तस्मात्तयोर्नाष्ट्रादिभ्यो रक्षणार्थमनग्नतार्थं चाभिवासनं युक्तमित्यर्थः।

शतपथ ब्राह्मण ने तो पूर्व श्रुति से विहित अभिमर्शन का अनुवाद कर मन्त्र का विधान किया है। मन्त्रगत 'भेः' पद की व्याख्या 'मा त्वं भैषीः' तुम भय मत करो अर्थात् कम्पित मत हो किया है। भय और कम्प का कारण बताया है कि तुम जैसे अमानुष (दिव्य) होते हुए को भी मैं मानुष (मनुष्य) स्पर्श (अभिमर्शन) कर रहा हूँ—इतना ही मन्त्र के द्वारा कहा गया है—'अश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्' अश्विन् देवता के और पूषन् देवता के हाथों से इस प्रकार की भावना करने से मुझमें भी अमानुषत्व (दिव्यत्व) है।

७—"मा भैषीर्मासंविक्था यं त्वा मानुषं सन्तं" इस काण्व श्रुति के अनुसार कोई कहता है—मानुष शरीर धारी अध्वर्यु के द्वारा जो यह पुरोडाश किया गया है, उस पुरोडाश को मनुष्य ही स्पर्श कर रहा, उस कारण भय और विचलित होना सम्भव ही नहीं है। किन्तु यह कथन उसका उचित नहीं है। क्योंकि 'त्वामानुषं सन्तम्' यहाँ पर माध्यन्दिनीय पाठ के अनुसार 'त्वाऽमानुषम्' इस प्रकार अकार प्रश्लेष करने से तदनुगुण अर्थ का होना ही सम्भव होता है। किञ्च—मानुष पुरोडाश को मानुष स्पर्श से भय की सम्भावना हीन रहने पर, उसका निषेध कैसे सङ्गत हो पायेगा ? क्योंकि किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर ही निषेध का होना सार्थक होता है। और पूर्वोक्त संस्कारों से पुरोडाश में अमानुषत्व (दिव्यत्व) का सम्पादन किया गया है।

८—'यदा श्रृतोऽथाभिवासयति नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा'—(श० १।२।२।१६) इस शतपथ ब्राह्मण ने बताया है कि जिस समय पुरोडाश परिपक्व हो जाता है, तत्काल ही उसको अङ्गार के सहित भस्म से आच्छादित कर दे उसे भस्म से आच्छादित करने का प्रयोजन बताया है—'नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा' इसी तरह एक अन्य दृष्टान्त और एक दूसरा प्रयोजन भी 'नेद्वेव' से बताया है। जैसे—कोई स्वाभाविक रूप से ही नग्न हो अथवा चोरों के द्वारा जिसके सभी वस्त्र चुरा लिये गये हों, ऐसे दोनों ही आदमी जिस प्रकार निरावरण (बिना ओढने के) सोते हैं, उसी प्रकार अभिवासन (भस्म से आच्छादन) न करने पर पुरोडाश भी निरावरण हुआ शयन करेगा। वैस अर्थात् उस स्थिति में वह न सो पाये, इसी अभिप्राय से उस पर अभिवासन (आच्छादन) करना चाहिये। दिव्य देवताओं के लिये दिव्य मन्त्रों से, दिव्य भावनाओं से नानाविध संस्कारों से संस्कृत हुए ये दोनों पुरोडाश हैं, वे साधारण नहीं हैं। इसलिये उन

९—सोऽभिवासयति अतमेरुर्यज्ञो अतमेरुर्यजमानस्य प्रजाभूयात् इति नेदेतदनु यज्ञो वा यजमानो वा ताभ्यां यदिदमभिवासयामीति तस्मादेवमभिवासयति। (श० १।२।२।१७) अत्राभिवासनमन्त्रो विधीयते अतमेरुरतमनशील: इज्यतेऽनेनेतियज्ञ: पुरोडाश: स ग्लानिरहितोऽभूत्। अतो यजमानस्य प्रजादिरपि तथा भूयादिति मन्त्रार्थ:। इममर्थं प्रतिपादयति नेदेतदिति—यदिदमभिवासनम् एतदनु एतस्यानन्तरम् तस्मादतमेरुरितिमन्त्रप्रयोगेणाभिवासन कृततमनाभावात्। अतमेरुरिति मन्त्रेणाभिवासनात् यज्ञ: पुरोडाशो ग्लानिरहितो भवति। यजमानश्च तथाविधप्रजादिमंत्त्वेन ग्लानिरहितो भवति। सम्यक्पाकसिद्ध्यर्थमिदं भस्मनाच्छादनरूपमभिवासनम्। अस्याभिवासनस्य प्रयोजनं तित्तिरि: स्पष्टमाह—'मस्तिष्को वै पुरोडाश:, तं यत्राभिवासयेत, आविर्मस्तिष्क: स्यात्। अभिवासयति तस्मात् गुहा मस्तिष्क:। तस्मान्नाभिवासयति तस्मान्मांसेन रसेनास्थिच्छिन्नं वेदेनाभिवासयति तस्मात्केशै: शिरश्छिन्नम्' (वै० स०) अयमभिप्राय:—शिरस्यवस्थितो मेदस: खण्डो मस्तिष्क:। गुहा गूढ आच्छन्न: मेद:स्थानीयस्य मस्तिष्कस्य मांसस्थानीयं तस्याच्छादकम्। तस्यापि केशस्थानीया वेदतद्गर्भा आच्छादका इत्यर्थ:।

१०—अथ पात्रीनिर्णेजनम्। अङ्गुलिप्रणेजनमाप्त्येभ्यो निनयति तद्यदाप्त्येभ्यो निनयति' (श० १।२।२।१८) पात्र्यङ्गुलिप्रक्षालनोदकस्य निनयनं विधत्ते—अथेति। निर्णिज्यते शोध्यतेऽनेनेति निर्णेजनम्। अङ्गुलिप्रक्षालनपात्रीनिर्णेजनच्चोदकम् अद्भ्य जातत्वात् आप्त्या त्रितादयस्तेभ्योनिनयेदित्यर्थ:। विहितं निनयनं स्तोतुमनुवदति आप्त्येभ्यो निनयतीति शतपथवचनेन स्पष्टमेवाप्त्यपदवाच्येभ्य: त्रितादिभ्य: अङ्गुलिपात्रीप्रक्षालनोदकनिनयन क्रियते, तेनाप्त्य पदनिर्देश्या: त्रितादय: देवताविशेषा एव।

११—एतेषां त्रयाणामुत्पत्तिप्रकारमाह तैत्तिरीये—देवा वै हविर्भूत्वाऽब्रुवन् कस्मिन्निदं प्रक्ष्यामहे। सोऽग्नि-

---

दोनों पुरोडाशों का नाष्ट्रादिकों से रक्षा करने के हेतु और अनग्नता के हेतु अभिवासन (आच्छादन) करना उचित ही है।

९—'सोऽभिवासयति अतमेरुर्यज्ञो अतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्'—(श० प० १।२।२।१७) इस ब्राह्मण से अभिवासन मन्त्र का विधान किया गया है। 'अतमेरु:'=ग्लानिरहित, 'इज्यते अनेन इति यज्ञ:'—जिससे यजन किया जाता है उसे 'यज्ञ' कहते हैं। अत: यज्ञस्वरूप पुरोडाश, अभिवासन से जैसे ग्लानिरहित हुआ उसी प्रकार अभिवासन करने वाले यजमान की प्रजा भी ग्लानि रहित हो जाय—यह मन्त्रार्थ है। इस अर्थ का प्रतिपादन 'नेदेतत्' से किया गया है। यह जो अभिवासन है, उसके अनन्तर। तस्मात् अर्थात् 'अतमेरु' इस मन्त्र प्रयोग से अनुष्ठित अभिवासन कृत ग्लानि शून्यता से। 'अतमेरु:' मन्त्र से अभिवासन करने पर यज्ञ (पुरोडाश) ग्लानि रहित हो जाता है। और यजमान भी वैसी ही ग्लानि रहित प्रजा से समन्वित होने के कारण स्वयं ग्लानिरहित हो जाता है। सम्यक् रीति से पाक सिद्ध होने के लिये यह भस्म से किया जाने वाला आच्छादन रूप अभिवासन है। इस अभिवासन के प्रयोजन को तित्तिरि स्पष्टतया बता रहे हैं—'मस्तिष्को वै पुरोडाश:..............शिरश्छन्नम्'—इस तैत्तिरीय मन्त्र का यह अभिप्राय है—शिर में अवस्थित मेद के खण्ड को मस्तिष्क कहते हैं।

१०—अब पात्री निर्णेजन। 'अंगुलि प्रणेजनमाप्त्येभ्यो' (श० प० १।२।२।१८) इस शतपथ के वचन से पात्री में स्थित अंगुलि प्रक्षालन किये हुए जल के निनयन का विधान किया गया है। 'निर्णिज्यते शोधते अनेन इति निर्णेजनम्' इससे शोधन किया जाता है इसलिये उसे निर्णेजन कहा गया है। अंगुलि प्रक्षालन और पात्री निर्णेजन उदक का त्रितादि आप्त्य देवताओं के लिये निनयन करे, क्योंकि ये त्रितादि भी जल से उत्पन्न हुए हैं इसीलिये वे आप्त्य कहलाते हैं। 'तद्यदाप्त्येभ्यो निनयति' से, विहित निनयन की स्तुति करने के लिये अनुवाद किया गया है। उक्त शतपथ वचन से स्पष्ट कहा गया है कि आप्त्य पद से कहे जाने वाले त्रितादि के लिये पात्री प्रक्षालन से जल का निनयन किया जाता है। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि आप्त्य पद से जिनका निर्देश किया गया है वे त्रितादि देवता विशेष ही हैं।

११—इन तीनों की उत्पत्ति का प्रकार तैत्तिरीय में बताया है—तैत्तिरीय श्रुति का अभिप्राय यह है कि

रब्रवीत् मयि तनूः सन्निधध्वम् अहं वस्त्रं जनयिष्यामीति ते देवा अग्नौ तनूः संन्यदधत् तस्मादाहुः अग्निः सर्वा देवताः सोऽङ्गारेणापः अभ्यपालयत्। स एकतोऽजायत। स द्वितीयमभ्यपालयत्। ततोद्वितोऽजायत। स तृतीयमभ्यपालयत्। ततस्त्रितोऽजायत। यदद्भ्योऽजायन्त तदाप्त्यानामाप्त्यत्वं तदेव अप्येषु मृक्षतेति। अयमभिप्रायः—देवाः पूर्वं व्रीह्यवघातादिना हविः सम्पाद्य बीजवधादिपापलेपः कस्मिन् पुरुषे मार्जनीयः इति विचार्याग्निवचनेन स्ववीर्यमग्नौ स्थापितवन्तः। ततः सोऽग्निः सर्ववीर्यधारिणाऽङ्गारेणाब्देवतामभिलक्ष्य तद्वीर्यमपातयत्। तस्मादुत्पन्नानामेकतद्वितत्रितनाम्नां देवविशेषाणामापो मातरः देवतात्मानः पितरः इत्याप्त्यनामकत्वं च युक्तम्।

१२—चतुर्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास। स यमग्रेऽग्निᳯं होत्राय प्रावृणत स प्रैवाधन्वद्यं द्वितीयं प्रावृणत् स प्रैवाधन्वद्यं तृतीयं प्रावृणत स प्रैवाधन्वदथयोऽयमेतर्ह्यग्निः समीषा निलिल्ये सोऽयः प्रविवेश। तं देवा अनुविद्य सहसैवाद्भ्य आनिन्युः सोऽपोमितिष्ठे वावष्ठ पूतास्थ या अप्रपदनᳯं स्थ याभ्यो वो मामकामंनयन्तीति तत आप्त्याः सम्बभूवुस्त्रितो द्वित एकतः। (श० १।२।३।१)

निर्णेजननिनयनस्याप्त्यभागत्वमुपपादयितुं तावत्तेषामुत्पत्तिं प्रदर्शयति—चतुर्धेति। पुरा खल्वग्निः शरीरचतुष्टयधारणेन चतुर्विधो बभूव। यमाग्निं सोऽध्वर्युः होत्राय होतृकर्मणे प्रावृणत प्रवृतवान् व्यत्ययेन बहुवचनम्। सोऽग्निः प्राधन्वत् प्रागच्छत्। अभिमतेत्यर्थः। (धवि गमने भ्वादिः) ततो द्वितीयं प्रावृणत सोऽप्यगच्छत्। त्रिष्वप्यग्निषु प्रगतेषु अथानन्तरं योऽयमिदानीन्तनः चतुर्थोऽग्निः सोऽयं भीषा पूर्वाग्निवन्मरणभयेन निलिल्ये निलीनो बभूव। स निलीय चापः प्रविवेश। अप्सु प्रविष्टं देवा अनुविद्य ज्ञात्वा सहसैव बलादद्भ्यः सकाशादानिन्युः आजह्रुः। स च बलादानीयमानोऽग्निरपोऽभिलक्ष्य तिष्ठेव ष्ठीवनं कृतवान्। (ष्ठिवु निरसने भ्वादिः) केनाभिप्रायेण ष्ठीवनमिति दर्शयति—हे आपः या यूयं भीतस्य मम अप्रपदनं स्थ अनाश्रयभूताः स्थ याभ्यश्च वः पञ्चम्यर्थे चतुर्थी युष्मत्सकाशात् अकामं मां बलान्नयन्ति ता यूयमवष्ठ्यूताः स्थ ष्ठीवनेन दूषिता भवत। यथा लोके परैः प्रार्थितं कार्यं कर्तुमक्षमः ष्ठीवनैर्निन्द्यते तद्वदपां निन्दा विवक्षितेत्यर्थः। तत् निष्ठीवनलक्षणवीर्यधारणात् ताभ्योऽद्भ्यः सकाशात् त्रितद्वितएकतसंज्ञका आप्त्या उत्पन्नाः। अद्भ्यो जातत्वात्तेषामाप्त्या इति संज्ञा।

देवताओं ने कभी पूर्व समय में व्रीहि पर अवघात आदि करके हवि का सम्पादन किया, उससे जो बीजवध के पाप का लेप हुआ, उसे किस पुरुष में छोड़े ? ऐसा विचार कर अग्नि के कहने से अपने वीर्य को अग्नि में उन्होंने रखा। तब उस अग्नि ने सम्पूर्ण वीर्य को धारण करने वाले अङ्गार के द्वारा अब् देवता को लक्ष्य कर उस वीर्य को उसमें गिरा दिया। उससे उत्पन्न हुए एकत, द्वित और त्रित संज्ञक देव विशेषों की माता अप् (जल) हुई जो देवता रूप पितर हैं। इस कारण इनकी 'आप्त्य' संज्ञा उचित है।

१२—'चतुर्धा विहितो हवा' (श० १।२।३।१) इस ब्राह्मण वाक्य के द्वारा निर्णेजन के निनयन का आप्त्य भागत्व बताने के लिये उनकी उत्पत्ति को दिखा रहे हैं—पहले किसी समय अग्नि, चार शरीर धारण करके चतुर्विध हुआ था। जिस अग्नि को अध्वर्यु ने होतृ कर्म के लिये प्रवृत्त किया था। वह अग्नि पहले ही चला गया अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गया था। (गमन अर्थ में भ्वादिगण का 'धवि' धातु है)। तब द्वितीय को प्रवृत्त किया, वह भी चला गया। तीनों अग्नियों के इस प्रकार चले जाने पर जो यह इस समय चतुर्थ अग्नि है, वह भी पूर्व अग्नि के समान मरण के भय से छिप गया था। वह छिप कर जल में प्रविष्ट हुआ। देवताओं ने उसे जल में प्रविष्ट हुआ जानकर बल पूर्वक उसे जल में से ले आये। बल पूर्वक लाये हुए उस अग्नि ने जल पर थूक (ष्ठीवन) दिया। (निरसन अर्थ में 'ष्ठिवु' धातु, भ्वादिगण में है)। किस अभिप्राय से उसने ष्ठीवन किया, उसे दिखाते हैं—हे जल ! तुम मुझ भयभीत को आश्रय नहीं दे पाये (अनाश्रयभूत रहे)। तुम्हारे समीप से मुझे बल पूर्वक ले जा रहे हैं, इसलिये तुम मेरे ष्ठीवन से दूषित हो जाओ। जैसे लोक व्यवहार में दूसरों के अभिलषित कार्य को पूर्ण करने में असमर्थ पर थूक दिया जाता है अर्थात् उसकी निन्दा की जाती है, उसी तरह यहाँ पर जल की निन्दा विवक्षित की गई है। उस निष्ठीवन रूप वीर्य

१३—त इन्द्रेण सहचेरुः। यथेवं ब्राह्मणो राजानमनुचरति। स यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान तस्य हैतेऽपि वध्यस्य विदाञ्चक्रुः। शश्वद्धैनं त्रित एव जघानात्यहतदिन्द्रोऽमुच्यत देवोहि सः।' (श० १।२।३।२)

तेषां पात्रीनिर्णेजनोदकं भाग इत्येतत्प्रतिपादनायाह—यथेदानीं पुरोहितो ब्राह्मणो देशाधिपतिं राजानमनुसृत्य चरति तद्वदेव ते त्रितादयोऽपि—इन्द्रेण सार्धं तदनुसारेणावस्थिता असन्। स चेन्द्रो यत्र समये सोमपानादि साधनैः त्रिभिः शिरोभिरूपेतं त्वष्टुः पुत्रं विश्वरूपं जघान तस्मिन् समये त्रितादयोऽपि तस्य वदपस्य (कर्मणि षष्ठी) तं वध्यं विदाञ्चक्रुः। 'उपविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' (पा० सू० ३।१।३८) इति विदेर्ज्ञानार्थात् आम् प्रत्ययः। अनन्तरमेनं विश्वरूपं त्रित एवेन्द्रसहायार्थं जघान। इन्द्रश्च तद्धननजनितपापात् अत्यमुच्यत। यस्मात्सइन्द्रोदेवोऽतोऽस्मिन् पापश्लेषो न युक्तः।

१४—त उ हैत ऊचुः। उपैवेमऽएनो गच्छन्तु येऽस्य वध्यस्यावेदिषुरिति। किमिति यज्ञ एवेषुमृष्टामिति। तदेष्वेतद्यज्ञो मृष्टे यदेभ्यः पात्रीनिर्णेजनमङ्गुलिनिर्णेजनं निनयन्ति (श० १।२।३।३)

एवं विश्वरूपहननानन्तरं जनैः कृतं संवादं दर्शयति—ते लौकिकाजना विश्वरूपहननानन्तरमेतदूचुः—उपैवेति—ये खल्वस्य वध्यस्य वेदिषुः अज्ञासिषुः इमे एनः पापमुपगच्छन्तु। तदेनः किंरूपमिति प्रश्नपूर्वकमाह किमितीति। एषु त्रितादिषु यत् विश्वरूपवधजनितमेनः यज्ञ एव तत् एनः मृष्टाम् मृजीत। अश्लेषयदित्यर्थः। अतो यदेषां त्रयाणां पात्रीनिर्णेजनादि निनयनम् एतान् एतेन एषु त्रितादिषु तत् विश्वरूपहननजनितमेनो यज्ञो विमृष्टे विश्लेष्यति। तस्मादवहननपेषणादिजनितस्यैनसो रूपं पात्र्यादिनिर्णेजनमाप्त्येभ्यो निनेतव्यमित्यर्थः।

१५—त उहाप्त्या ऊचुः अत्येव वयमिदमस्मत्परो नयामेति कमभीति य एवादक्षिणेन हविषा यजाता इति। तस्मान्नादक्षिणेन हविषा यजेताप्त्येषु ह यज्ञो मृष्ट आप्त्या उह तस्मिन् मृजते यो दक्षिणेन यजते।' (श० १।२।३।४)

को धारण करने वाले जल (अप्) से त्रित, द्वित, एकत संज्ञक आप्त्य देवों की उत्पत्ति हुई है। अप् से उत्पन्न होने के कारण उन्हें 'आप्त्य' संज्ञा प्राप्त हुई है।

१३—'त इन्देण चेरुः ·········· देवो हि सः'—(श० १।२।३।२) उन आप्त्यों का यज्ञों में भाग, पात्री निर्णेजन नामक उदक है, यह बताने के लिये कह रहे हैं—जिस प्रकार आजकल पुरोहित ब्राह्मण देशाधिपति राजा का अनुसरण कर चलता है, उसी प्रकार वे त्रितादि देवता भी इन्द्र के साथ उसके अनुसार रहने लगे। जिस समय उस इन्द्र ने सोम पानादि के साधनभूत तीन शिर वाले त्वष्टृ पुत्र विश्वरूप को मारा उस समय त्रितादि देवों ने भी उस विश्वरूप को वध्य समझा। 'तस्य वध्यस्य' में 'उपविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' (पा० सू० ३।१।३८) इस पाणिनि सूत्र से ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से 'आम्' प्रत्यय किया गया है। तदनन्तर उस त्रित ने ही इन्द्र की सहायता करने के लिये विश्वरूप को मार दिया। और उसके हनन करने के पाप से इन्द्र को मुक्त रखा, क्योंकि वह इन्द्र देवों का राजा है इस कारण उसे पाप का सम्बन्ध होने देना उचित नहीं है।

१४—'त ऊ हैत ऊचुः··············निनयन्ति।' (श० १।२।३।३) इस ब्राह्मण के द्वारा विश्वरूप की हत्या करने के अनन्तर लोगों ने जो संवाद किया उसे बताया जा रहा—वे लौकिक जन विश्वरूप का हनन करने के अनन्तर यह कहने लगे कि जिन्होंने इस वध्य को जाना था उन्हें यह पाप लगे। वह पाप किस स्वरूप का था ? इस प्रश्न पर कहा गया है कि त्रितादिकों में विश्वरूप के वध से उत्पन्न हुआ जो पाप है वह यज्ञ रूप ही है, वही उस पाप से सम्बद्ध हुआ अतः इन तीनों के लिये जो पात्री निर्णेजनादि निनयन है, उसके द्वारा इन त्रितादिकों से विश्वरूप हनन जनित पाप रूप यज्ञ सम्बद्ध हो जाता है। इसलिये अवहनन-पेषणादि से उत्पन्न पाप का रूप, पात्र्यादि निर्णेजन है, उसे आप्त्य देवों के लिये देना चाहिये।

१५—'त उहाप्त्या ऊचुः अत्येव··············यजवे' (श० १।२।३।४) इस ब्राह्मण के द्वारा उस पाप की

अथ तस्यैनसस्तैरपिकृतां निष्कृतिं दर्शयति—दक्षिणावतैव यज्ञेन यष्टव्यं नादक्षिणेनेति। प्रसङ्गादाह—त उहेति। वयमपीदमेनं परः परस्तादन्यत्राधारान्तरे अस्मत् अस्मत्तो नयामेति। कमभोति—कं पुरुषमभिलक्ष्येत्यर्थः। य एव दक्षिणारहितेन हविषा यजेत तस्मिन्निति शेषः। अदक्षिणयागनिषेधं विपक्षबाधोपन्यासेनोपपादयति—आप्त्येति। आप्त्या उ ह तस्मिन् मृजते एनः योऽदक्षिणेन यजते। एतावता सन्दर्भेण त्रितादयो देवविशेषा एव सिद्धयन्ति। न त्रयाणां भावस्त्रिता द्वयोर्भावो द्वितेत्यादिप्रमाणविरुद्धत्वात्।

१६—ततो देवा एतां दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणामकल्पयन् यदन्वाहार्यं नेददक्षिणꣳ हविरसदिति। तन्नाना-निनयति। तथैतेभ्यो समदं करोति तदभितपति तथैषाꣳ श्रुतं भवति। सनिनयति त्रितायत्वा द्वितायत्वैकतायत्वेति। पशुर्ह वा एष आलभ्य ते यत्पुरोडाशः (श० १।२।३।५)

प्रसङ्गाद्दर्शपूर्णमासयोरन्वाहार्यरूपां दक्षिणामाह—ततो देवा इति। अन्वाहरति यज्ञसम्बन्धिदोषजातं परि-हरत्यनेनेत्यन्वाहार्यो नाम ऋत्विग्भ्योदेयओदनः। तथा च तैत्तिरीयकम्—यद्वै यज्ञस्य क्रूरं यद्विश्लिष्टं तदन्वाहार्येणै-वान्वाहरति तदन्वाहार्यस्वान्वाहार्यत्वम्। तत आप्त्यानां निनयनम् पृथक् पृथगेव कार्यम्। तथा सत्यकलहो भविष्यति। एवं संस्कृतं पुरोडाशं पशुत्वेन स्तौति। तत्रैवार्थवादः—देवाः पुरुषं पशुमालेभिरे। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽश्वं प्रविवेश। तेऽश्वमालभन्त। ततो मेधोऽपचक्राम। एवं पुरुषाश्वादि पशुषु आलब्धेषु तत स्ततो निष्क्रान्तो मेधोऽन्ते पृथिवीं प्रविष्टवान्। तं पृथिवीं खनन्तो देवा अन्वीषुः। पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण परिणतं मेधं देवाः प्राप्तवन्तः मेधा विपरिणामरूपत्वादेव इदानीमपि एतौ व्रीहियवौ मेधवत्कर्षणलक्षणेन खननेन लभन्ते कर्षकाः। तेन व्रीहियवयोः सर्वपशु-सारत्वं विदुषो यजमानस्य तन्निष्पादितं पुरोडाशादिकं हविस्तावद्वीर्यवद् भवति। एवं सर्वपशुसारत्वात् लोमत्वगादिपश्वा-वयवयोगाच्च पुरोडाशः पशुरूप उक्तः।

उनके द्वारा कही गई निष्कृति बताते हैं—कि दक्षिणा युक्त ही यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये, दक्षिणा रहित यज्ञ न करे। प्रसङ्ग से कहते हैं—हम भी इस पाप को अपने से भिन्न दूसरे आधार में पहूँचाते हैं। कौन पुरुष इस पाप का आधार होगा ? जो कोई दक्षिणा रहित हवि से याग करेगा, वह इस पाप का आधार होगा। अदक्षिण याग के निषेध को विपक्ष बाध का उपन्यास करते हुए बताते हैं—वे आप्त्य कहते हैं कि उसमें यह पाप सम्बद्ध होता है, जो दक्षिणा रहित याग करता है। इस उक्त सन्दर्भ से त्रितादि, देवविशेष ही सिद्ध होते हैं। अतः तीनों के भाव (धर्म) को त्रिता और दोनों के भाव (धर्म) को द्विता कहना प्रमाण विरुद्ध है।

१६—'ततो देवा एतां··············यत्पुरोडाशः।' (श० १२।।३।५) प्रसङ्ग प्राप्त दर्शपूण मास में अन्वाहार्य रूप दक्षिणा को उक्त ब्राह्मण से कह रहे हैं। यज्ञ सम्बन्धि दोष समूह को जिसके द्वारा दूर किया जाता है, उसे 'अन्वाहार्य' कहते हैं, जो ऋत्विजों को दिया जाने वाला 'ओदन' है। इसी प्रकार तैत्तिरीय श्रुति भी कह रही है—जो कुछ यज्ञ में पाप या न्यूनता रहती है, वह सब अन्वाहार्य से ही दूर हो जाती है यही अन्वाहार्य की अन्वाहार्यता है। अतः आप्त्यों के लिये पृथक् पृथक् ही निनयन करना चाहिये। ऐसा करने पर ही होम अविकल (सम्पूर्ण) हो सकेगा। इसी प्रकार संस्कृत हुए पुरोडाश की पशु रूप में स्तुति की गई है। वहीं पर इस प्रकार का अर्थवाद है—देवों ने पुरुष पशु का आलम्भन किया। उस आलब्ध पशु को मेघ ले गया, और वह अश्व में प्रविष्ट हुआ। तब देवों ने अश्व का आलम्भन किया, तब उसे भी मेघ ले गया। इस प्रकार आलब्ध हुए पुरुषाश्वादि पशुओं को अपहरण करके निकल जाने वाला मेघ पृथिवी में प्रविष्ट हुआ। तब पृथिवी को खोदते हुए देवों ने उसका अन्वेषण करना आरम्भ किया। पृथिवी पर व्रीहि-यवादि के रूप में परिणत हुए मेघ को देवों ने प्राप्त कर लिया। मेघ के परिणत हुए रूप के कारण ही आज भी इन व्रीहि-यवों को मेघवत् कर्षण लक्षण खनन से कृषक लोग प्राप्त करते हैं। इसी कारण व्रीहि-यवों में सम्पूर्ण पशुओं की सारता होती है। विद्वान् यजमान का उनसे निष्पादित पुरोडाशादि हवि भी वैसा ही वीर्यवान् होता है। इस रीति से व्रीहि-यवों को सर्व पशु सार बताने के कारण लोम, त्वक् आदि पश्वावयवों के सम्बन्ध से पुरोडाश को पशु रूप कहा गया है।

१७—यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति यदाप आनयत्यथ त्वग्भवति यदा संयौत्यथ मा ७ँ सम्भवति सन्तत इव वहि: स तर्हि भवति हि मा ७ँ सं यदा श्रृतोथास्ति दारुण इव हि सम्भवति दारुणमिव ह्यस्थ्यथ यदु द्वासपिष्यन्नभिधारयति तं मज्जा न दधात्येषो सा संपश्च तदाहु: पाङ्क्त: पशुरिति ।' (श० १।२।३।६-८) इत्यादिना पुरोडाशे लोमत्वगादि कल्पनयापि पशुत्वमुक्तम् । देवैरालब्धानामपक्रान्तमेधानां पुरुषादिपशूनां परिणामविशेषं दर्शयंस्तस्य प्रसङ्गादभक्ष्यतामाह—

स यं पुरुषमालभन्त स किं पुरुषो भव द्यावश्वं गाञ्च तौ गौरश्च गवयश्चाभवतां यमविमालभन्त स उष्ट्रोऽभवद्यमजमालभन्त स शरभोऽभवत्तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यमपक्रान्तमेधाह्येतेपशव: (श० १।२।३।९)

१८—अध्यात्मपक्षेऽपि - संसारतापतप्तान् जीवान् परमेश्वरो वेदपुरुषोवाऽऽश्वासयति—हे आत्मन् माभै: मा भैषी: मा च संविक्था उद्वेगं च मा कार्षी: । परमेश्वराराधनलक्षणो यज्ञ: अतमेरु:, तमेरुर्ग्लानि र्न भवति यस्मात् सोऽतमेरु: । स्वप्रकाशब्रह्मसम्बन्धिनि यज्ञे ब्रह्मसम्बन्धित्वादेवातमेरुता तत्संसर्गान्न केवलं यजमाने किन्तु तत्प्रजादिष्वप्यतमेरुताऽभिव्यज्यते । तथा सति कुतो भयोद्वेगावकाश: । यजमानस्य प्रजा अतमेरुर्भूयात् भवतीत्यर्थ: । भयोद्वेगराहित्याय त्वा त्वां त्रिताय द्विताय एकताय निश्चयेन तपोभिस्त्रितादिमहर्षीणां यद्वैशिष्टयं तत्र त्वामुपलभामि । महाभारतानुसारेण त्रितादिमहर्षयो भगवद्दर्शनाय बहुकालं यज्ञं कृतवन्त:, तपस्तप्तवन्त: किन्तु भगवद्दर्शनं न जातम् । पुनस्तप्तवन्त: पुन: पुनर्वैकल्येऽपि तेऽनिर्विण्णास्तपस्तप्तवन्त: । ततो भगवद्दर्शनं जातम् । तस्मादेतान् त्रितं द्वितमेकतञ्च स्मृत्वा अनिर्विण्ण: अनुद्विग्नोऽभीत: सन् भगवदाराधनलक्षणे यज्ञे संल्लग्नोभवेत्यर्थ: ।

---

१७ –'यद पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति' (श० १।२।३।६-७) इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों से पुरोडाश में लोम–त्वक् आदि की कल्पना करके भी उसे पशु कहा गया है ।

देवों के द्वारा आलम्भन किये गये और मेघ के द्वारा अपहरण किये गये पुरुषादि पशुओं के परिणाम विशेष को प्रदर्शित करते हुए प्रसङ्गत: उसे अभक्ष्य बताते हैं । 'स यं पुरुषमालभन्त'—(श० १।२।३।९) इस वचन से यह बताया गया है कि पुरुषादि पशुओं का मांस भक्षण नहीं करना चाहिये, क्योंकि मेघ के द्वारा उनका अपहरण होने से वे अयज्ञिय हो गये हैं ।

१८—अध्यात्म पक्ष में भी संसार ताप से सन्तप्त हुए जीवों को परमेश्वर अथवा वेदपुरुष आश्वासन दे रहा है—हे आत्मन् ! मत डरो, और उद्वेग भी मत करो । परमेश्वराराधन रूप यज्ञ 'अतमेरु' अर्थात् ग्लानिकारक नहीं है । 'तमेरु:'=ग्लानि: न भवति यस्मात् स: अतमेरु: यानी जिससे ग्लानि नहीं होती है, उसे 'अतमेरु:' कहते हैं । स्वप्रकाश ब्रह्म सम्बन्धि यज्ञ में अतमेरुता इसलिये है, कि वह ब्रह्म से सम्बन्धित है । उसके संसर्ग से केवल यजमान में ही नहीं, किन्तु उसकी प्रजा आदि में भी अतमेरुता अभिव्यक्त होती है । उस स्थिति में कहाँ भला भय और उद्वेग के लिये अवसर है ? निष्कर्ष यह है कि यजमान की प्रजा अतमेरु (ग्लानिरहित) होती है । भय और उद्वेग से राहित्य प्राप्त होने के लिये तुम्हें मैं त्रितादि महर्षियों को तप आदि के द्वारा जो वैशिष्टय उपलब्ध हुआ था । वैसा ही वैशिष्टय तुम्हें निश्चित रूप से प्राप्त करूँगा । महाभारत के अनुसार त्रितादि महर्षियों ने (त्रित, द्वित और एकत ने) भगवद्दर्शन प्राप्त करने के लिये बहुत समय तक यज्ञ किया था । तप भी तपा था, किन्तु भगवद्दर्शन उन्हें नहीं हुआ । पुन: उन्होंने तप किया, पुन:-पुन: विफलता पाते हुए भी वे निर्विण्ण (खिन्न) नहीं हुए और तप करते ही गये । तब उन्हें भगवद्दर्शन हो गया । इसलिये उन त्रित, द्वित और एकत महर्षियों का स्मरण कर निर्विण्ण, उद्विग्न, भयभीत न होते हुए भगवदाराधन लक्षण यज्ञ में संल्लग्न रहो ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् आददे-ऽध्वरकृतं देवेभ्य इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः ॥ वा० सं० १।२४ ॥

अर्थ—हे स्फ्य ! प्रेरक देवता की प्रेरणा से अश्विनी कुमारों के बाहुओं से और पूषा देवता के हाथों से मैं देवोपकारार्थ यज्ञ करने वाले तुमको ग्रहण कर रहा हूँ। तुम इन्द्र के दक्षिण हाथ हो तथा सहस्रशः शत्रुओं को मारने वाले हो, अत्यधिक प्रकाशमान होकर वायु के समान हो, इस कारण तीक्ष्ण तेज के धारण करने वाले हो और कर्म से द्वेष रखने वाले शत्रुओं के घातक हो ।।२४।।

१—'देवस्य त्वेति स्फ्यमादाय सतृण ँ सव्येकृत्वा दक्षिणेनालभ्य जपतीन्द्रस्यबाहुरिति' (का० श्रौ० सू० २।६।६) देवस्यत्वेति तृणं स्फ्यमादाय तं वामहस्ते निधाय वामहस्तस्थमेन सतृणं स्फ्यं दक्षिणेन स्पृष्ट्वा इन्द्रस्येति मन्त्रं जपेत्। एतत्स्फ्यादानजपश्च स्तम्बयजुर्हरणर्थत्वात् तद्भावे न भवति। प्रहरणादिपुरीषनिवपनान्तं स्तम्बयजुर्हरणशब्देनोच्यते। स्फ्यशब्देन दारुमयोऽरत्निप्रमाणः खननहेतुर्यज्ञायुधविशेष उच्यते।

२—देवस्य त्वेति व्याख्यातमेव। शेषस्येत्थं व्याख्यानम्—देवेभ्यो देवोपकारार्थम् अध्वरकृतं अध्वरं करोति वेदिखननादिद्वारेणेत्यध्वरकृतम् स्फ्यमहमाददे गृह्णामि। सतृणं स्फ्यं सव्ये हस्ते कृत्वा दक्षिणेनालभ्यं जपतीन्द्रस्य बाहुरिति। हे स्फ्य त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि। तेन बाहुना धृतत्वात् तत्समानवीर्यत्वाद्वा स्फ्यस्य बाहुरूपत्वोपचारः। एष वै वीर्यवत्तमो य इन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणः। कथंभूतः स्फ्यः सहस्रभृष्टिः सहस्रसंख्याकानां शत्रूणां भृष्टिर्भर्जनं मारणं येन सः, तथा शततेजा शतं तेजांसि यस्य सः बहुधा दीप्यमानः। वायुरसि वायुसदृशोऽपि असि। तिग्ममुत्साह एव तेजो यस्य

१—'देवस्यत्वेति स्फ्यमादाय'—(का० श्रौ० सू० २।६।६) 'देवस्यत्वा'—मन्त्र कहकर तृण के सहित स्फ्य को लेकर वाम हस्त में धारण करे, वाम हस्त में रखे हुए तृण सहित स्फ्य का दक्षिण हस्त से स्पर्श करके 'इन्द्रस्य' मन्त्र का जप करे। यह स्फ्य का आदान और जप, स्तम्बयजुर्हरण के लिये होता है, अतः स्तम्बयजुर्हरण के अभाव में उसे नहीं किया जाता। प्रहरण से लेकर पुरीषनिवपन तक के कर्म को 'स्तम्बयजुर्हरण' शब्द से कहा जाता है। और काष्ठ का अरत्निप्रमाण का खोदने के साधनभूत यज्ञायुध विशेष को 'स्फ्य' शब्द से कहा जाता है।

२—'देवस्य त्वा' की व्याख्या पूर्व की जा चुकी है। अवशिष्ट की व्याख्या इस प्रकार है—देवों के उपकारार्थ वेदिखननादि के द्वारा जो अध्वर करता है उस अध्वर कृत स्फ्य को मैं ग्रहण करता हूँ। तृण सहित स्फ्य को बाँये हाथ में लेकर दाहिने हाथ से उसे स्पर्श करके 'इन्द्रस्य बाहुः' मन्त्र का जप करता है। हे स्फ्य ! तुम इन्द्र के दक्षिण बाहु हो। उसने उसको बाहु से धारण किया है, इस कारण अथवा उसके समान उसमें वीर्य होने के कारण स्फ्य में बाहुरूपता का उपचार किया है। जो यह इन्द्र का दक्षिण बाहु है, वह समस्त वीर्यवानों में श्रेष्ठतम है। वह स्फ्य सहस्रभृष्टि है, अर्थात् एक सहस्र शत्रुओं को मारने वाला है, और अनेक प्रकार से दीप्यमान रहता है। वह वायु के समान भी है। उत्साह ही जिसका तेज है। अथवा तीक्ष्ण (प्रखर) तेज वाला है। जैसे वायु, वह्नि को प्रदीप्त कर तीव्र ज्वाला को पैदा करता हुआ तिग्म (तीक्ष्ण, प्रखर) तेजस्वी होता है, उसी प्रकार स्फ्य भी स्तम्बच्छेदनरूप

स तिग्मतेजाः। तेजतेरुत्साहकर्मत्वात्। तिग्मागिन तीक्ष्णानि वा तेजांसि यस्य। यथावायुर्बह्निप्रदीप्य तीव्रां ज्वालामुत्पादयन् तिग्मतेजा भवति तथैव स्फ्योऽपि स्तम्बच्छेदरूपं कर्म कुर्वंस्तीव्रतेजाभवति। तथा द्विषतोवधः; द्विषतः शत्रोः कर्मद्वेषिणामसुराणां वा वधः वधकः हन्ता। स्फ्यस्य काष्ठमयत्वेऽपि मन्त्रबलात्तत्रेन्द्रबाहुत्वसहस्रभृष्टित्वशततेजस्त्व वायुत्वतिग्मतेजस्त्व द्विषद्धन्तृत्वानि भावनीयानि।

३—स्वामिदयानन्दस्तु—'अहमन्तर्यामिणः प्रेरणया अश्विनोः सूर्यचन्द्रयोः अध्वर्यूणां वा बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां तथा पूष्णः पुष्टिकारकवायोः हस्ताभ्यां ग्रहण धारणहेतुभ्यां उदानापानाभ्यां देवेभ्यो विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो वा अध्वरकृतमध्वरसम्पादकसामग्रीसमूहं त्वा तं यज्ञमाददे यो मयानुष्ठितो यज्ञः स इन्द्रस्य सूर्यस्य सहस्रभृष्टिः पदार्थसहस्रपचनक्षमः शततेजा बाहुः किरणसमूहः वायुः गमनागमनशीलः पवनः, तिग्मतेजा तीक्ष्णतेजा अस्ति तेनास्माभिः दिव्यानि सुखानि प्राप्तव्यानि शत्रुवधश्च कर्त्तव्य। ईश्वर आज्ञापयति—मनुष्यैः सम्पादितो यज्ञोऽग्निनोर्ध्वं प्रक्षिप्तद्रव्यः सूर्यकिरणस्थो वायुना धृतः सर्वोपकारी भूत्वा सहस्राणि सुखानि प्रापयित्वा दुखानां नाशको भवतीति' आह,

४—सर्वोऽप्ययं तदीयोऽर्थस्तदीयकल्पनासारो मूलाक्षराननुगतोऽसङ्गतश्च। सर्वान्तर्यामिणः प्रेरणयैव सर्वं कार्यं चेत् किं विशेषणमविशिष्टमिदमेव तत्प्रेरणयेति तत्र मानं वक्तव्यम्। तथैवाश्विनोर्बाहुभ्यां सूर्यचन्द्रयोर्वलवीर्याभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामुदानापानाभ्यां सर्वं कार्यं भवति चेत् किं विशेषणेन इदमेवेति चेत् तदपि प्रमाणापेक्षमेव। यज्ञश्च पूर्वोक्तस्त्रिविधः विद्वत्सेवा होमसत्सङ्गादिरूप एव स कथं सूर्यस्य किरणरूपोपि बाहुः सम्भवति? एवं सहस्र-

---

कर्म करता हुआ तीव्र तेजस्वी होता है। तथा यज्ञादि कर्मों के द्वेष्टा असुरादि शत्रुओं का वह वध कर देता है। स्फ्य के काष्ठमय रहने पर भी मन्त्र बल से उसमें इन्द्रबाहुत्व, सहस्रभृष्टित्व, शततेजस्त्व, वायुत्व, तिग्मतेजस्त्व द्विषद्धन्तृत्व की दृष्टि करनी चाहिये।

३—स्वामी दयानन्द तो उक्त मन्त्र का अर्थ यह बताते हैं—'मैं अन्तर्यामी की प्रेरणा से अश्विन अर्थात् सूर्य और चन्द्र के अथवा अध्वर्यु के बाहुओं अर्थात् बल और वीर्य से तथा पूषा अर्थात् पुष्टिकारक वायु के हाथों से अर्थात् ग्रहण-धारण करने में हेतुभूत उदान और अपान से देवों के लिये अर्थात् विद्वानों के लिये अथवा दिव्य सुख वालों के लिये अध्वर कृत यानी अध्वर सम्पादक सामग्री समूह रूप 'त्वा' यानी उस यज्ञ को मैं करता हूँ, जो मेरे द्वारा अनुष्ठित हुआ यज्ञ है, वह इन्द्र अर्थात् सूर्य के सहस्त्र भृष्टिः सहस्र पदार्थों को पकाने में समर्थ है, शततेजा बाहु अर्थात् किरण समूह, वायु अर्थात् गमनागमन शील पवन, तिग्मतेजाः अर्थात् तीक्ष्ण तेज का है। अतः उससे हमें दिव्य सुखों को प्राप्त करना चाहिये और शत्रुओं का वध करना चाहिये। ईश्वर आज्ञा दे रहा है कि मनुष्यों के द्वारा सम्पादित हुआ यज्ञ, जिसके द्रव्यों को अग्नि ने ऊपर फेंक दिया है, जो यज्ञ, सूर्य की किरणों में स्थित है और वायु ने जिसको धारण किया है, वह सबका उपकारक होकर हजारों सुखों को प्राप्त कराकर दुःखों का नाशक होता है।'

४—किन्तु स्वामी दयानन्द का किया हुआ यह सपूर्ण अर्थ उनका कपोलकल्पित ही है, क्योंकि मन्त्र के अक्षरों से उस अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं बैठ रहा है। तथा स्वामीजी की स्वयं की हुई कल्पना भी नितान्त असङ्गत है।सर्वान्तर्यामी की प्रेरणा से ही समस्त कार्य होते हैं, तब 'विशिष्ट यही कार्य उसकी प्रेरणा से हो रहा है' इस कथन में उन्हें प्रमाण देना चाहिये था। बिना प्रमाण के ही जो मन में आया सो कह डाला। तथैव 'अश्विनोर्बाहुभ्यां' सूर्य-चन्द्र के बल-वीर्य से 'पूष्णो हस्ताभ्यां' उदान-अपान से सम्पूर्ण कार्य होता है तो विशेषण देने की आवश्यकता क्या है? यदि आवश्यकता समझते हैं, तो प्रमाण उपस्थित करना चाहिये था, किन्तु कोई प्रमाण नहीं दे पाये। अतः प्रमाणरहित सारी कल्पना स्वामीजी ने कर डाली है। और पहले बताया हुआ यज्ञ तीन प्रकार का है—(१) विद्वत्सेवा, (२) होम और (३) सत्सङ्ग आदि। वह सूर्य की किरण रूप बाहु कैसे सम्भव हो सकता है? तथा सहस्रभृष्टित्वादिक भी उसमें कैसे सम्भव हो सकता है? दिव्य सुख और शत्रु वध भी उससे कैसे सिद्ध होगा? समाजी लोग प्रतिदिन

भृष्टित्वादिकमपि तत्र कथं सम्भवति ? दिव्यानि सुखानि शत्रुवधश्चापि कथं तेन सेत्स्यति ? सामाजिकाः प्रत्यहं त्वदभिमतं यज्ञं कुर्वन्त्येव न च दिव्यानि सुखानि शत्रुवधश्च तेषु दृश्यन्ते शतपथे तु त्वद्विपरीतः सायणादिसम्मत एवार्थो निरूपितः ।

५—तथाहि—इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार । स प्रहृतश्चतुर्धाऽभवत्तस्य स्फ्यस्तृतीयः यावद्वा यूपस्तृतीयं यावद्वा रथस्तृतीयं वा यावद्वाथ यत्र प्राहरत्तच्छकलोऽशीर्यत । स पतित्वा शरो नाम । यदशीर्यतैवमु स चतुर्धाभवत् ।' (श० १।२।४।१)

तत्र वेदिकरणार्थं स्फ्यादानविधिमनुसृत्य स्फ्यस्य वज्ररूपत्वं वक्तुमितिहासमाचष्टे—वृत्राय प्रहृतं वज्रं चतुर्धा भवत्तस्य स्फ्यस्तृतीयांशः । न्यूनाधिकराहित्येन तृतीयांशत्वज्ञानं दुर्लभमित्यभिप्रेत्य पक्षान्तरमाह—तृतीयाद्-भागान्न्यूनमधिकं यावदेव किञ्चित् तावानेव स्फ्यः । एवं यूपस्तृतीयः । चतुर्थभागस्य परिणामप्रकारमाह—अथ यत्र प्राहरत् इति । यत्र देशे प्रहृतो वज्रः शकलोभूत्वा शीर्यत शीर्णोऽभूत् स च शीर्णो भूत्वा भूमौ पतित्वा शरोऽभवत् । ततोद्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति द्वाभ्यां राजन्यबन्धवः संव्याधे यूपेन स्फ्येन च ब्राह्मणाः रथेन च शरेण राजन्यबन्धवः संव्याधे युद्धे तत्र तेषां चतुर्णां मध्ये यूपेन स्फ्येन ब्राह्मणा रथेन शरेण च क्षत्रियाश्चरन्ति ।

६—'स यत् स्फ्यमादत्ते । यथैव तदिन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदेवमेवैष एतं पाप्मने द्विषते भ्रातृव्याय वज्रमुद्-यच्छति तस्माद्वै स्फ्यमादत्ते ।' (श० १।२।४।३)

अथ तस्य स्फ्यादानं विधत्ते स यदिति । तद्यच्छब्दाभ्यां प्रसिद्धिरभिधीयते । स प्रसिद्धोऽध्वर्युः स्फ्यमादत्ते वृत्रवधार्थमिन्द्रवद्द्विद्वेषणशीलं पापरूपं शत्रुं हन्तुं स्फ्यलक्षणं वज्रमुद्यच्छतीत्यर्थः ।

७—तमादत्ते—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इति । सविता

तुम्हारे अभिमत यज्ञ को करते ही हैं । किन्तु उनमें दिव्य सुख और उनके शत्रुओं का वध हुआ नहीं दीखता । शतपथ में तो तुम्हारे विपरीत, सायणादि सम्मत अर्थ ही बताया गया है ।

५—जैसे—'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं.......... चतुर्धाभवत् ।' (श० प० १।२।४।१) वहाँ वेदि के निर्माणार्थ स्फ्यादान की विधि का अनुसरण कर स्फ्य की वज्ररूपता को बताने के लिये इतिहास कर रहे हैं—वृत्रासुर पर प्रहार किया हुआ वज्र चतुर्धा विभक्त हुआ । उनमें जो तृतीय अंश (भाग) है, वह स्फ्य है । न्यूनाधिक्य के राहित्य से तृतीयांश का ज्ञान हो पाना कठिन है, यह सोचकर दूसरा पक्ष बताते हैं—तृतीय भाग से कम-ज्यादा (न्यूनाधिक) जो कुछ भी हो, उतना ही स्फ्य है । इस प्रकार तृतीय भाग जो है, वह यूप है । चतुर्थ भाग के परिमाण प्रकार को बताते हैं—जिस देश (स्थान) पर प्रहार किया हुआ वज्र, शकल (टुकड़ा) होकर शीर्ण हुआ, और शीर्ण होकर भूमि पर जो गिरा वही शर हो गया । इसलिये यज्ञ में ब्राह्मण लोग दो का व्यवहार करते हैं, और राजन्यबन्धु (क्षत्रिय) युद्ध में दो का व्यवहार करते हैं । अर्थात् ब्राह्मण यज्ञ में यूप और स्फ्य इन दो का उपयोग करते हैं । और क्षत्रिय लोग युद्ध में रथ एवं शर का उपयोग करते हैं ।

६—'स यत् स्फ्यमादत्ते । यथैव तदिन्द्रो' (श० प० १।२।४।३) इस शतपथ ब्राह्मण के द्वारा 'स्फ्य' के आदान का विधान किया जा रहा है । ब्राह्मण में प्रयुक्त 'तद् और यद्' इन दो शब्दों के प्रयोग से उसकी (अध्वर्यु की) प्रसिद्धि बताई गई है । यज्ञीय व्यवहार में प्रसिद्ध अध्वर्यु 'स्फ्य' का ग्रहण करता है । अर्थात् इन्द्र से द्वेष रखने वाले पापी शत्रु वृत्रासुर के वधार्थ स्फ्य रूप वज्र को वह अध्वर्यु हाथ में लेता है ।

७—'तमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः' (श० प० १।२।४।४) पूर्वोक्त ब्राह्मण से विहित आदान का इस ब्राह्मण के द्वारा अनुवाद कर मन्त्र का विधान किया जा रहा है । यद्यपि 'देवस्यत्वा' यह मन्त्र पहले आ चुका है, तथापि

वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैनमेतदादत्तेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूषाभागदुघस्तत्तस्यैव हस्ताभ्यामादत्तेन स्वाभ्यां वज्रो वा एष तस्य न मनुष्योभर्ता तमेताभिर्देवताभिरादत्ते (श० १।२।४।४)

८—विहितमादानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते तस्मादत्त इति। देवस्य त्वेति मन्त्रस्य प्रागाम्नातमपि ब्राह्मणं विधेय-विशेषे योजयितुं पुनराम्नायते सविता वा इत्यादिना। न स्वाभ्यां देवसम्बन्धिभ्यां बाहुभ्यां स्फ्यादानं न तु स्व-कीयाभ्यां लौकिकाभ्याम्। युक्तं चैतदित्याह वज्रो वेति। एष स्फ्यो वज्रस्तत्परिणामत्वात्। न हि मनुष्यस्तद्वज्रं भर्तुं शक्नोति अतो देवस्य त्वेति मन्त्रं प्रयुञ्जानस्तं स्फ्यलक्षणं वज्रं सवित्रादिदेवताभिरेवादत्ते आदानं कृतवान् भवति।

९—'आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः। अध्वरो वै यज्ञो यज्ञकृतं देवेभ्य इत्येवैतदाह—तᳬं सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणे-नाभिमृश्य जपति स ᳬं श्यत्येवैनमेतद्यज्जपति (श० १।२।४.५)

आदद इति। ध्वरः हिंसाप्रत्यवायो वा नविद्यतेऽस्मिन्नित्यध्वरः, अध्वरशब्दस्य यज्ञोर्थः। अध्वरं करोतीति वेदिखननादिद्वारा अध्वरकृत्। तथा च यज्ञकृतं स्फ्यं देवेभ्यः देवोपकारार्थमादद इत्युक्तं भवतीत्यर्थः। सᳬं श्यत्ये-वैनमिति वक्ष्यमाण जपतीति यत् एतत् एतेनैनं संश्यत्येव सम्यक् तनूकरोति तीक्ष्णीकरोत्येव (शो तनूकरणे) दिवादिः।

१०—यदिन्द्रस्य बाहुरसीत्यादि मन्त्रं जपति तेन वज्ररूपं स्फ्यं तीक्ष्णीकरोतीत्यर्थः। स जपति इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इत्येष वै वीर्यवत्तमो य इन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणस्तस्मादाहेन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इति। सहस्रभृष्टिः शततेजा इति सहस्रभृष्टिर्वै स वज्र आसीत्तेजसा यं तं वृत्राय प्राहरत्तमेवैतत्करोति' (श०।१।२।४।६)

ब्राह्मण के द्वारा विधेय विशेष में उसकी योजना करने के लिये पुनः उसे पढ़ा गया है। वह अध्वर्यु अपने लौकिक हाथों से स्फ्य का ग्रहण नहीं कर रहा है, अपितु देवता के हाथों से उसको उठाता है। और यह उचित भी है, क्योंकि यह 'स्फ्य', वज्र का परिणाम होने से वज्र स्वरूप ही है। ऐसे वज्र को उठाना मनुष्य के बस का नहीं है अतः 'देवस्यत्वा' मन्त्र को कहता हुआ अध्वर्यु उस 'स्फ्य' रूप वज्र का आदान (ग्रहण) सविता आदि देवताओं के हाथों से ही मानों करता है।

९—'आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः' (श० प०१।२।४।२) 'ध्वर' शब्द का अर्थ हिंसा अथवा प्रत्यवाय है। वह हिंसा अथवा प्रत्यवाय जिसमें नहीं है, वह 'अध्वर' है, एवञ्च 'अध्वर' शब्द का अर्थ यज्ञ है। वेदीखनन आदि के द्वारा जो अध्वर को करता है वह अध्वरकृत् कहलाता है। तथाच यज्ञ (अध्वर) कृत् 'स्फ्य' को देवोपकारार्थ ग्रहण करता है। उस स्फ्य रूप वज्र को लेकर 'इन्द्रस्य बाहु' इस मन्त्र का जप करता है। इस मन्त्र के जप करने से वह वज्र तीक्ष्ण धार वाला होता है। अपने को या किसी अन्य को उसके स्पर्श करने का निषेध किया गया है।

१०—'स जपति इन्द्रस्य बाहुरसि'—(श० प० १।२।४।६) विहित जप का अनुवाद करके मन्त्र का विधान किया गया हैं। इन्द्र का दक्षिण बाहु वृत्रासुर का बध करने के कारण अत्यन्त वीर्यवान् है अतः वही तुम हो, इस प्रकार स्फ्य की स्तुति की जा रही है। द्वितीय भाग का अनुवाद करके उसकी व्याख्या करते हैं—'सहस्रभृष्टिः' इति। 'सहस्रं भृष्टयाश्रयः' एक हजार भृष्टियों का वह आश्रय है। 'भृष्टि' शब्द का अर्थ भर्जन, पाक, मारण है। सहस्रसख्यक शत्रुओं की भृष्टि अर्थात् मारण जा करता है, उसे सहस्रभृष्टि कहते हैं। वृत्रासुर वधादि हिंसा विशेष जिसके द्वारा किये गये हैं, ऐसा वह वज्र, सहस्रभृष्टि कहलाता है। जो वज्र अपरिमित दीप्ति वाला है, वह तुम ही हो। इस प्रकार स्फ्य की स्तुति की गई है। वज्र की इस प्रसिद्धि को प्रकट करने के लिये 'वै' शब्द दिया गया है। इस प्रकार से वर्णित जिस वज्र का वृत्र का वध करने के लिये इन्द्र ने प्रहार किया था।

११—विहितं जपमनूद्य मन्त्रं विधत्ते स इति। इन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरतिशयेन वीर्यवान् वृत्रासुरवधकारित्वात् अत: स एव त्वमसीति स्फ्यस्य स्तुति: द्वितीयं भागमनूद्य व्याचष्टे सहस्रं भृष्टयोऽश्रय:, यद्वा भर्जनानि हिंसाविशेषा वृत्रवधादीनि येन क्रियन्ते स वज्र: सहस्रभृष्टि:। य: शततेजा अपरिमितदीप्ति: तादृशो वज्र: स त्वमेवासीति स्फ्य-स्तुति: वज्रस्येमां प्रसिद्धिं द्योतयितुं वै शब्द:। तमुक्तविधं वज्रं यं वृत्रवधार्थमिन्द्र: प्राहरत्।

१२—तदात्मकमेवानेन मन्त्रभागेन स्फ्यं करोति वायुरसि तिग्मतेजा इति। एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यदयं योऽयं पवते। एषहीमांल्लोकांस्तिर्यङ् नु पवते। स७ श्यत्येवैनमेतद्द्विषतो वध इति यदिनाभिचरेत् यद्यु अभिचरेद-मुष्य वध इति ब्रूयात्तेन स७ शितेन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीं नेदनेन वज्रेण स७ शितेनात्मानं वा पृथिवीं वा हिनसानीति। तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम्' (श० १।२।४।७)

१३—तृतीयभागमनूद्य व्याचष्टे—य: तिग्मतेजा वायु: स एव त्वमसीति स्तुति:। वायोस्तिग्मतेजस्त्वमुप-पादयति योऽयं वायु: पवतेऽन्तरिक्षे चरति एतत्खलु तेजसां मध्ये तेजस्वितमं तेज: इममेवातिशयमुपपादयति एष हीति। अग्न्यादितेजोऽन्तरं कुत्रचिदेव परिच्छिन्नमेषहि वायुरिमांल्लोकाननुक्रमेण तिर्यग्वृत्ति: पवते युगपद् व्याप्नोति। एतत्प्र-योजनमाह—स७ श्यतीति। एतत् एतेनोक्तविधवायुतादात्म्यप्रतिपादनेन स्फ्यात्मकं वज्रं संश्यति तीक्ष्णीकरोत्येवेति। अभिचारप्रयोगे द्विषतो वध इत्यस्य स्थाने अमुष्य देवदत्तादेर्वध इति शत्रोर्नाम निर्दिशेदित्यर्थ:। एतेन मन्त्रजपात्तीक्ष्णी-कृतेन स्फ्येनात्मनोऽन्यस्य वा संस्पर्शं न कुर्यादित्याह—तेन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीमित्यादिना। अन्यथा संशितेन वज्रेणात्मानं पृथिवीं वा हिनसानि हिंसितं करवाणि। तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीमिति।

१४—अध्यात्मपक्षे—आचार्यो योग्यं शिष्यं कर्मोपासनादौ प्रवर्तयन्नाह—हे शिष्य अहं सवितु: परमेश्वरस्य सर्वोत्पादयितुर्देवस्य स्वप्रकाशस्य परमात्मनोऽस्मिन् प्रसवे संसारे त्वा त्वामश्विनोर्देवभिषजोरध्यात्माधिदैवाद्यारोग्य-सम्पादकयोस्तयोर्भिषक्तमयोर्ब्रह्मविद्वरिष्ठयोश्च यशस्विभ्यां बाहुभ्यां पूष्णो हिरण्यपाणे: सूर्यस्य ज्योतिर्मयाभ्यां पाणिभ्यां देवेभ्य: देवश्च देवश्च देवश्च देवास्तेभ्य:, कर्मकाण्डसाध्यचान्द्रमसदेवभावप्राप्तये उपासनासाध्यहिरण्यगर्भपद-प्राप्तये ज्ञानसाध्यब्रह्मात्मभावप्राप्तये च आददे सर्वविधपुरुषार्थसाधनाय त्वां दीक्षयामि। कीदृशं त्वामध्वरकृतं श्रौतस्मार्तधर्मानुष्ठायिनं अध्वरं करोतीत्यध्वरकृत त्वमिन्द्रस्य परमैश्वर्यशालिनो भगवतो दक्षिणो बाहु: शत्रुनिरोध-भक्तरक्षणप्रतिष्ठापनदक्षो बाहुरिव दक्षिणो बाहुरसि तदन्तरङ्गसखासि। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि-

---

१२—'वायुरसि तिग्म तेजा' इस मन्त्रभाग के 'स्फ्य' को तदात्मक ही करता है। "एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यदयं योऽयं पवते"—(श० १।२।४।७) मन्त्र के तृतीय भाग का अनुवाद करके व्याख्या की जा रही है— जो तिग्म तेज वाला (प्रखर तेज वाला) वायु है, वही तुम हो, यह स्तुति की गई है। वायु की तिग्म तेजस्विता का उपपादन करते हैं—जो यह वायु अन्तरिक्ष में चलता है, वही निश्चय से समस्त तेजों में तेजस्वितम तेज है। इसी अतिशय का उपपादन 'एष हीति' से किया है। अग्नि आदि अन्य तेज कहीं किसी स्थान पर ही परिच्छिन्न है, किन्तु तेजस्वितम वायु, क्रमश: इन लोकों को तिर्यग् वृत्ति होकर युगपत् व्याप्त करता है। इसका प्रयोजन 'स७ श्यतीति' से बताते हैं। इस प्रकार वायु से तादात्म्य प्रतिपादन के द्वारा 'स्फ्य' रूप वज्र को वह तीक्ष्ण करता ही रहता है। अभिचार प्रयोग में 'द्विषतो वध' के स्थान पर 'अमुष्य देवदत्तादेर्वध:' इस प्रकार से शत्रु के नाम का निर्देश करना चाहिये मन्त्र जप से तीक्ष्ण किये गये 'स्फ्य' का अपने से या अन्य किसी दूसरे से स्पर्श न करे। इस बात को तेन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम्' से बताया है। अन्यथा उस तीक्ष्ण वज्र से अपने को अथवा पृथिवी को हिंसित (नष्ट) करेगा।

१४—अध्यात्म पक्ष में—आचार्य अपने सुयोग्य शिष्य को कर्म, उपासना आदि में प्रेरित करते हुए कह रहा है—हे शिष्य ! मैं समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले स्वप्रकाश परमात्मा सविता देव से निर्मित इस संसार में आध्यात्मिक आधिदैविक आरोग्य के सम्पादक और ब्रह्मविदों में वरिष्ठ देववैद्य अश्विनी कुमारों के यशस्वी बाहुओं

ष्यजात्रे।' (ऋ० सं० १।१६४।२०) अथर्व० ९।९।२० तथा निरु० १४।३० इत्यादि श्रुतेः। कीदृशो बाहुः सहस्रभृष्टिः सहस्रं भृष्टयो असुररक्षसां भर्जनानि यस्मात्स तथोक्तः। देवासुरसङ्ग्रामे विष्णुरूपेण श्रीरामावतारे श्रीकृष्णावतारे च भगवद्दक्षिणबाहुनैव कोटिकोटिसङ्ख्यकानामसुररक्षसां संहारो जातः। शततेजाः शतं तेजांसि यस्य स बहुधा-दीप्यमानोऽङ्गदकङ्कणादिभी रोचमानो भगवदंशो जीवोऽपि भगवत्सख्येन तदभिध्यानात्तदनुग्रहादाविर्भूतैश्वर्यो नरावताराऽर्जुन इव सहस्रभृष्टिः शततेजा भवति। त्वं तिग्मतेजा वायुरसि तिग्मानि तेजांसि यस्य स तथोक्तः। यथा वायुर्वह्निं प्रदीप्य तीव्रां ज्वालामुत्पादयन् तिग्मतेजाभवति तथैव त्वमपि तत्प्रसादात् साधनादियोगाच्च तिग्मतेजा असि।

१५—यद्वा परमैश्वर्यो हिरण्यगर्भो वायुरसि तदुपासनेन तदभेदात्। द्विषतो वधः हन्तीति वधः द्विषतो हन्तेत्यर्थः। शास्त्राचार्योपदेशसंस्कारसंस्कृतस्य शास्त्रनिष्ठस्य द्विषतां हन्तृत्वं तिग्मतेजो हिरण्यगर्भसायुज्यं परमेश्वरसखित्वं चानायासेन सिद्ध्यतीत्यर्थः।

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्॥ वा० सं० १। २५॥

से तथा सूर्य के ज्योतिर्मय हाथों से समस्त देवताओं को कर्मकाण्ड साध्य चान्द्रमस देवभाव को प्राप्त कराने के हेतु, तथा उपासना साध्य हिरण्यगर्भ पद की प्राप्ति कराने के लिये और ज्ञानसाध्य ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति कराने के लिये तथा सर्वविध पुरुषार्थों की प्राप्ति कराने के लिये तुम्हें दीक्षा दे रहा हूँ। क्योंकि तुम श्रौत-स्मार्त धर्म के अनुष्ठान करने वाले हो, तुम परमैश्वर्यशाली भगवान् इन्द्र के दक्षिण बाहु हो, अर्थात् शत्रुनिरोध और भक्तरक्षण तथा उनका प्रतिष्ठापन करने में कुशल (निपुण) बाहु के तुल्य दक्षिण बाहु हो यानी उसके अन्तरङ्ग सखा हो। 'द्वा सुपर्णा सयुजा' श्रुति ने भी यही कहा है। बाहु की विशेषता बताते हैं—कि वह 'सहस्रभृष्टिः' है। हजारों असुर, राक्षसों को भूँज देने वाला है। देवासुर संग्राम में विष्णु रूप से, श्रीरामावतार में और श्रीकृष्णावतार में भगवान् के दक्षिण बाहु ने ही करोड़ों-करोड़ों असुर, राक्षसों का संहार किया है। उसी तरह तुम भी 'शततेजाः' हो, अर्थात् अङ्गद-कङ्कणादि आभूषणों बहुविध किरणों से झिलमिल करते हुए यानी देदीप्यमान रहते हो। भगवान् का अंशभूत यह जीव भी सख्य भाव से भगवान् का ध्यान (चिन्तन) करते रहने से उनके अनुग्रह को प्राप्त कर ऐश्वर्य को प्राप्त किये नरावतार अर्जुन की तरह सहस्रभृष्टि और शतशः तेजों से परिपूर्ण है। हे शिष्य! तुम प्रखर तेज वाले वायु के स्वरूप हो। जैसे वायु, अग्नि को प्रदीप्त करके उससे तीव्र ज्वालाओं को उत्पन्न करता हुआ प्रखर तेज का होता है, उसी तरह तुम भी उसके प्रसाद से और साधना आदि करने के कारण प्रखर तेज से सम्पन्न हो।

१५—अथवा परमैश्वर्यशाली हिरण्यगर्भ वायु की उपासना करते रहने से उसके साथ तुम्हारा अभेद हो गया है, इसलिये तुम तद्रूप ही हो। तुम शत्रुओं के विनाशक हो। शास्त्र और आचार्य के उपदेश से उत्पन्न संस्कारों के कारण संस्कृत हुए एवं शास्त्रनिष्ठ रहने वाले तुम शत्रुविनाशकत्व, तिग्मतेजस्त्व, हिरण्यगर्भसायुज्य, परमेश्वरसखित्व आदि स्पृहणीय गुण अनायास ही स्थित हैं।

अर्थ—हे देवयाग साधनभूते पृथ्वि ! तुम्हारी ओषधि रूप तृण के मूल को मैं नष्ट नहीं करूँगा। हे पुरीष ! (स्फ्य के प्रहार करने पर निकली हुई मृत्तिका को पुरीष कहते हैं।) तुम गौओं के निवास स्थान में जाओ। हे वेदि ! तुम्हारे लिये द्युलोकाभिमानी देवता वृष्टि करे। हे सवितृ देव ! जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उस शत्रु को सीमा की भूमि पर शत रज्जुपाशों से बांध दो और उसे अन्धतामिस्र नरक से मुक्त कभी भी मत होने दो ॥२५॥

१—'पृथिवी देवयजनीति तृणेऽन्तर्हिते प्रहरतीति' (का० श्रौ० सू० २।६।६) तृणान्तर्हितायां भूमौ स्फ्येन (वज्रेण) प्रहारं कुर्यात्। तृण एव प्रहरणमिति सम्प्रदायः। हे पृथिवि देवयजनि देवा इज्यन्ते यस्यां सा देवयजनी तत्सम्बुद्धौ हे देवयजनि ते तव ओषध्यास्तृणरूपाया मूलमहं मा हिंसिषम् माविनाशिषम् 'वज्रं गच्छेति पुरीषमादत्ते' (का० श्रौ० सू० २।६।१७) वज्रेणोद्धृतां मृदं गृह्णीयात्।

२—हे पुरीष त्वं वज्रं गच्छ। व्रजन्ति गच्छन्ति स्थातुं गावो यत्र स देशो व्रजस्तम्। कीदृशं गोष्ठानं गवां स्थानमिदानीं स्थितिर्यस्मिन् तत् गोयुक्तं तदीयं स्थानं गच्छ। गोयुक्तं गोष्ठं गोव्रजं गच्छेत्यर्थः। 'वर्षतु त इति वेदिं प्रेक्षते' (का० श्रौ० सू० २।६।११) वर्षतु इतिमन्त्रेण वेदिं प्रेक्षते इति।

३—मन्त्रार्थस्तु—हे वेदे ते तुभ्यं त्वदर्थं द्यौः द्युलोकाभिमानी देवो वर्षतु जलसेकं करोतु (वृष सेचने) सेचनेन खननजनितदुःखशान्तिर्भवतु। 'वधानेत्युत्करे करोति' (का० श्रौ० सू० २।६।१२) गृहीतां मृदमुत्करे क्षिपेत्। हे देव सवितः योऽस्मान् द्वेष्टि वयं च यं द्विष्मस्तमुभयविधं शत्रुं परमस्यामन्तिमायां पृथिव्यां बधान। उत्करे क्षिप्तायां मृदि निगूढस्यारातेस्तत्र बन्धनं कुरु। भूमेरन्तिमप्रदेशेऽन्धतामिस्रो नरकस्तत्र शत्रुं वधान। अन्धेतमसि वधानेति यदाह परमस्याम्' इति श्रुतेः। कैर्बन्धनं कर्तव्यमित्यपेक्षायामुच्यते शतेनपाशैः शतसंख्याकाभिर्बन्धनरज्जुभिरस्मद्द्वेष्टृणाम-

---

१—'पृथिवि देव यजन्योषध्यास्ते मूलं मा हि ७ं सिषं—(वा० सं० १।२५) 'पृथिवि देवयजनीति'—(का० श्रौ० सू० २।६।६) सूत्रकार कह रहे हैं कि तृण से ढकी हुई भूमि पर 'स्फ्य' (वज्र से प्रहार करे। तृण पर ही प्रहार करने का सम्प्रदाय है हे पृथिवि ! तुम देवयजनी हो। देवों का यजन जिस पर होता है, उसे देवयजनी कहते हैं। इसलिये हे देवयजनि पृथिवि ! तुम्हारे तृण रूप ओषधि के मूल को मैंने नष्ट नहीं किया है। 'व्रजं गच्छेति'—(का० श्रौ० सू० २।६।१७) इस सूत्र के अनुसार वज्र से उद्धृत की हुई मृत्तिका को ग्रहण करे।

२—हे पुरीष ! तुम व्रज में जाओ। 'व्रजन्ति गच्छन्ति स्थातुं गावो यत्र स देशो व्रजः।' जहाँ रहने के लिये गौएं जाती हैं, उस स्थान को 'व्रज' कहते हैं। व्रज (गो-स्थान) की विशेषता बताते हैं कि इस समय गौएँ जहाँ स्थित हैं, अर्थात् गायों से युक्त जो गोव्रज (गोष्ठान) है, वहाँ जाओ। यानी अन्य गौओं से रहित व्रज में मत जाओ। 'वर्षतु त इति' (का० श्रौ० सू० २।६।११) सूत्र के अनुसार 'वर्षतु' मन्त्र से वेदि का प्रेक्षण करे।

३—मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—हे वेदे ! तुम्हारे लिये द्यु लोक का अभिमानी देव जल से सिञ्चन करे यानी वर्षा करे। (सेचन करने के अर्थ में 'वृष' धातु है)। सेचन करने से खनन करने के कारण (खोदने से) जो दुःख (कष्ट) तुम्हें हुआ होगा उसकी शान्ति हो जायगी। 'वधानेत्युत्करे करोति'—(का० श्रौ० सू० २।६।१२) सूत्र के अनुसार पूर्व ग्रहण की हुई मृत्तिका को उत्कर में डाल दे। हे सविता देव ! जो हमसे द्वेष करता है, और हम जिससे द्वेष करते हैं, उस उभयविध शत्रु को अन्तिम पृथिवी पर बाँध दो। अर्थात् उत्कर में प्रक्षिप्त मृत्तिका में निगूढ़ हुए शत्रु को वहीं पर बाँध दो। भूमि के अन्तिम प्रदेश में अन्धतामिस्र नरक है वहाँ पर शत्रु को बाँध दो। 'अन्धे तमसि वधान' इत्यादि अन्य श्रुतियाँ भी यही बता रही है। उस शत्रु को-जो हमसे द्वेष करता है, और जिससे हम द्वेष करते हैं-सैकड़ों रस्सियों से बाँधकर उस अन्धतामिस्र नरक में डाल दो जिससे वह कभी भी छुटकारा न पा सके।

स्मद्द्विष्टानाञ्च शत्रूणां बन्धनं कृत्वा अन्धतामिस्रे नरके तथा क्षिप यथा कदाचिदपि न मुच्येरन्। तदेवाह—अतो मा मौक् अतः अस्मात् अन्धतामिस्रनरकात्तं शत्रुसमूहं मा मौक् कदाचिदपि मा मुञ्च।

४—स्वामिदयानन्दस्तु—अहं सवितुर्देवस्य हे देव सवितः परमात्मन् तव कृपयाहं देवयजनि देवयसाधिकरणायास्तेऽस्थाः। पृथिवि भूमे ओषध्याश्च मूलं वृद्धिहेतुं मा हिंसिषम्। मया पृथिव्यां योऽयं यज्ञोनुष्ठीयते स व्रजं मेघं गच्छतु। गत्वा गोष्ठानं वर्षतु। द्यौर्वर्षतु। हे वीर त्वं परमस्यां पृथिव्यां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं शत्रुं शतेन पाशैर्बधान वन्धय। तमतो बन्धनात् कदाचिन्मा मौक् मा मोचय।

५—भावार्थस्तु—ईश्वर आज्ञापयति—विद्वद्भिर्मनुष्यैः पृथिव्याराज्यस्य तस्यां त्रिविधस्य यज्ञस्य ओषधीनाञ्च हिंसनं कदाचिन्नैव कार्यम्। योऽग्नौ हुतस्य द्रव्यस्य सुगन्ध्यादिगुणविशिष्टो धूमो मेघमण्डलं गत्वा वायुसूर्याभ्यां छिन्नस्याकर्षितस्य धारितस्य जलसमूहस्य शुद्धिकरोभूत्वा अस्यां पृथिव्यां वायुजलौषधिशुद्धिद्वारा महत्सुखं सम्पादयति तस्मात्स यज्ञः केनापि कदाचिन्नैव त्याज्यः। ये दुष्टामनुष्यास्तस्यां पृथिव्यामनेकैः पाशैर्बद्ध्वा दुष्टकर्मभ्यो निवर्त्य कदाचित्ते न मोचनीयाः। अन्यत्र परस्परं द्वेषं विहाय अन्योन्यस्य सुखोन्नतये सदैव प्रयतितव्यम्' इत्याद्याह, तदपि निःसारम्, अस्पष्टत्वात्। तथाहि—ओषध्या मूलं किं यस्य हिंसनं निषिध्यते? एवमेव मयानुष्ठितो यज्ञो व्रजं मेघं गच्छत्वित्यपि निःसारम्, मूलमन्त्रे यज्ञपदाप्रयोगात्। न वा मनुष्यस्येच्छामात्रेणाज्ञया वा किञ्चिद्वस्तु मेघं गच्छति। अग्नौ प्रहुतं वस्तु मेघमण्डलं गच्छत्येवेति चेत् तदापि लोटः प्रयोगो व्यर्थ एव तस्याभिप्रायाननुसारित्वात्। सुगन्ध्यादिविशिष्टस्य धूमस्य मेघमण्डलगमने तस्य वायुसूर्याभ्यां छिन्नता आकर्षणञ्चापि प्रमाणविधुरमेव। तस्य जलसमूहशुद्धि-

---

इसी बात को 'अतो मा मौक्' से कहा गया है, अर्थात् इस अन्धतामिस्र नरक से उस शत्रु समुदाय को कभी भी मुक्त मत करो।

४—स्वामी दयानन्द ने प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ कुछ और ही मनमानी ढंग से किया है। स्वामीजी कह रहे हैं—अहं सवितु र्देवस्य हे देव सवितः परमात्मन्! तुम्हारी कृपा से मैं देवयजनि देवयज्ञ के अधिकरणभूत तुम्हारा रहूँ। पृथिवि हे भूमे! वृद्धि के हेतुभूत ओषधि के मूल को मैं नष्ट न करूँ। मेरे द्वारा पृथिवी पर जो इस यज्ञ का अनुष्ठान किया जा रहा है, वह व्रज मेघ को प्राप्त हो। और उसे प्राप्त होकर गोष्ठान की वर्षा करे। द्यौः वर्षा करे। हे वीर! तुम, इस पृथिवी पर जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष रखते हैं, उस शत्रु को सौ रस्सियों से बाँधो। उसे इस बन्धन से कभी भी मुक्त मत करो।

५—अभिप्राय यह है—ईश्वर की आज्ञा है कि विद्वान् मनुष्यों को पृथिवी अर्थात् राज्य का और उसमें होने वाले तीन प्रकार के यज्ञों का तथा ओषधियों का कभी भी विनाश नहीं करना चाहिये। अग्नि में हवन किये हुए द्रव्य का जो सुगन्धी धूम है, वह मेघमण्डल में जाकर वायु तथा सूर्य के द्वारा धारण किये हुए जल समूह को शुद्ध करता है और इस पृथिवी पर वायु जल ओषधि की शुद्धि करते हुए वह महान् सुख को देता है। इसलिये उस यज्ञ का त्याग कभी भी और कोई भी न करे। जो दुष्ट मनुष्य हैं उन्हें इस पृथिवी पर अनेक रस्सियों (पाशों) से बाँधकर और दुष्ट कर्मों से (उन्हें) परावृत्त कर कभी भी उन्हें बन्धन से मुक्त न करे। अन्यत्र परस्पर द्वेष का त्याग कर परस्पर की सुखोन्नति के लिये सर्वदा ही प्रयत्न करते रहना चाहिये।' इत्यादि, कथन भी अस्पष्ट होने के कारण सारहीन है। उसी अस्पष्टता को देखिये—जिसके हिंसन (विनाश) का निषेध किया जाता है, क्या उसे ओषधि का मूल (जड़) कहते हैं? इसी प्रकार 'मेरे द्वारा अनुष्ठित हुआ यज्ञ मेघ की ओर जाय' यह कथन भी मूल मन्त्र में 'यज्ञ' पद का प्रयोग न होने से सारहीन है। और यह भी सोचना चाहिये कि क्या कोई भी वस्तु, मनुष्य की इच्छा से अथवा उसकी आज्ञा से मेघ में पहुँच जायगी? यदि यह कहें कि अग्नि में हुत वस्तु, मेघमण्डल में प्राप्त हो ही जायगी, तब भी 'लोट्' लकार के प्रयोग को उसके अभिप्राय का अनुसरण न करने से व्यर्थ कहना ही होगा। सुगन्धि से विशिष्ट धूम का मेघमण्डल में गमन होने पर वायु और सूर्य के द्वारा उसकी छिन्नता एवं आकर्षण बताना भी प्रमाण रहित है।

करत्वं ततो महत्सुखसम्पादकत्वञ्चासिद्धमेव। दुष्टान्तं पाशशतैर्बन्धनमपि शासनाधीनमेव, न तस्य सामान्यमनुष्येच्छानुविधायित्वम्।

६—शतपथश्रुतिस्तु सिद्धान्तपक्षीयमेव व्याख्यानं द्रढयति—

'देवाश्च वाऽसुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ते ह स्म यद्देवा असुरान् जयन्ति ततो ह स्मै वैतान् पुनरुपोत्तिष्ठन्ति।' (श० १।२।४।८) 'ते ह देवाऊचुः। जयामो वा असुरांस्ततस्त्वेव नः पुनरुपोत्तिष्ठन्ति कथं न्वेतानपजय्यं जयेमेति।' (श० १।२।४।९) 'सहाग्निरुवाच। उदञ्चो वैतः पलाय्य मुच्यन्त इत्युदञ्चो ह स्मै वैषां पलाय्य मुच्यन्ते।' (श० १।२।४।१०)

७—स्तम्बयजुर्हरणं विधित्सुस्तस्यासुरनिर्हरणलक्षणं प्रयोजनं वक्तुमाख्यायिकामाह—तत्रादितेः पुत्रा देवा दितेः पुत्रा असुरा अत उभये प्राजापत्याः। प्रजापतेर्द्वेस्त्रियौ दितिरदितिश्च। ते प्रजापतेः पुत्राः पस्पृधिरे स्पर्धां कृतवन्तः। यदा ते देवा असुरान् जयन्ति ततोऽनन्तरक्षणमेव एनान् देवानभिलक्ष्य पुनरसुरा उत्तिष्ठन्ति। 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' (पा० सू० १।३।२४) इति पर्युदासादिह चोर्ध्वकर्मत्वात् आत्मनेपदाभावः।

८—अथ देवैः कृतजयोपायचिन्तनमुपन्यस्यति—ते हेति। अनपजय्यं जेतुमशक्यं। एनानसुरान् केन प्रकारेण पुनरुत्थानरहितं जयेमेति विचारितवन्तः। अथाग्निनोपदिष्टं जयप्रकारं दर्शयति सहेति। नः अस्माकं सकाशात् उदङ्मुखाः सन्तः पलाय्यमुच्यन्ते। अग्निनोक्तं वाक्यं सत्यमिति श्रुतिः स्वयमेवानुवदति उदञ्चोहेति। सहाग्निरुवाच—अहमुत्तरतः पर्येम्यथ यूयमित उपसꣳरोत्स्यथ तान् संरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिधास्यामो यदुचेमांल्लोकानतिचतुर्थं तत पुनर्न सꣳहास्यन्त इति' (श० १।२।४।११)

९—एवमुत्तरतोऽवस्थितान् असुरान् जेतुमग्निरेवोपायान् देवान् प्रत्युपदिशति। सहेति—अहमुत्तरतः पर्येष्यामि यूयमितः अस्माद् वेदिलक्षणात् स्थानात् उपसंरोत्स्यथ। उपसंरुद्धान् प्रतिबन्धगतानसुरान् करिष्यथ। अथान्तरमेव

उसका जल समूह शुद्धिकरत्व और उससे महत्सुख सम्पादकत्व भी अत्यन्त असिद्ध है। उसी प्रकार दुष्ट मनुष्यों को सैकड़ों पाशों से बाँधना भी शासन के अधीन रहता है, वह सामान्य मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं है।

६—शतपथ श्रुति ने सिद्धान्त पक्ष की व्याख्या का ही समर्थन किया है। 'देवाश्च वाऽसुराश्च' (श० १।२।४ ८-९।१०)।'

७—स्तम्बयजुर्हरण के विधान करने का इच्छुक असुर निर्हरण लक्षण प्रयोजन बताने के लिये एक आख्यायिका बता रहा है—अदिति के पुत्र देव और दिति के पुत्र असुर (दैत्य) हैं, अतः दोनों प्राजापत्य हैं। प्रजापति की दो स्त्रियाँ—एक दिति और दूसरी अदिति। प्रजापति के वे पुत्र आपस में स्पर्धा करने लगे। जब देव असुरों को जीतते हैं, तब उसके अनन्तरक्षण में ही उन देवताओं को लक्ष्य कर असुर पुनः उठ खड़े होते हैं। 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' (पा० सू० १।३।२४) इस सूत्र से पर्युदास (निषेध) किये जाने के कारण और यहाँ पर ऊर्ध्व कर्म होने से आत्मने पद का अभाव है।

८—इसके बाद देवताओं ने अपने विजय का जो उपाय सोचा, उसे उपस्थित करते हैं—जीतने के लिये जो अशक्य है उसे 'अनपजय्य' कहते हैं। इन असुरों को किस प्रकार से हम बिना उत्थान के पुनः जीत सकेंगे, यह विचार देवता करने लगे। तब अग्नि के द्वारा उपदिष्ट जय प्रकार को दिखाते है। 'सहेति'। हमसे उत्तर की ओर मुख करके पलायन करने से मुक्त हो सकोगे। अग्नि के द्वारा उक्त वाक्य सत्य है, ऐसा श्रुति कहती है (श० १।२।४।११)।

९—इस प्रकार उत्तर की ओर अवस्थित असुरों को जीतने के लिये अग्नि हो देवों को अनेक उपायोंको बता रहा है। मैं उत्तर दिशा से जाऊँगा, तुम इस वेदिस्थान से असुरों को प्रतिबद्ध करो। उसी समय हम पुरोवर्ती

वयमेभिः पुरोवर्तिभिः पृथिव्यादिभिस्त्रिभिर्लोकैः अभिनिधास्यामः अभितः सर्वतो निरुद्धगतीन् निहितान् करिष्यामः। यद्वा अभितो नितरां क्षिप्तान् त्याजितान् करिष्यामः। इमांल्लोकानतिक्रम्य यच्चतुर्थं लोकजातमस्ति अस्माकमप्रत्यक्षम् तेनापि त्याजितान् करिष्यामः। ततोऽनन्तरमसुराः पुनर्न संहास्यन्तो सङ्गता न भविष्यन्ति विशीर्णा बाधिता एव भवेयुरित्यर्थः। (ओहाङ् गतौ) जुहोत्यादिः।

१०—'सोऽग्निरुत्तरतः पर्येत्। अथेम इत उप समरुन्धंस्तान्स ँ रुध्यैभिश्च लोकैरभिन्यदधुर्यदु चेमांल्लोकानतिचतुर्थं ततः पुनर्न समजिहत। तदेतन्निदानेन यत् स्तम्बयजुः। (श० १।२।४।१२) इत्थमग्निनोक्तं वाक्यं श्रुत्वा तथैव तेर्देवैः कृतमिति अग्निदेवसंवादरूपात् प्रतिनिवृत्य श्रुतिः स्वेनैव रूपेणैवाह। अग्निरुत्तरतः उत्तरस्यां दिशि पर्येत् पर्यगच्छत्। देवाश्चेतः वेदिः स्थानात् उपसमरुन्धन् तानुपरुद्धान् कृतवन्तः। संरुध्य चैभिर्लोकैर्न्यदधुः। यदु चेमांल्लोकानतिचतुर्थं तेन च न्यदधुः। ततः पुनर्न समजिहत। असुरा असङ्गता बाधिताएव जाता इत्यर्थः। अग्निवाक्ये हि चिकीर्षितोपदेशनात् भविष्यदर्थवाचिनो लृटः प्रयोगः। श्रुतिवाक्ये तु निवृत्तार्थप्रतिपादनात् भूतानद्यतनवाचिनो लङः प्रयोगः। यदत्र स्तम्बयजुर्हरणं करिष्यत एतन्निदानेन मूलकारणेन निरुप्यमाणं सत् देवैः कृतं तत् असुरनिरसनम् अतो यज्ञविघातकासुरनिर्हरणार्थं विधिः परिकल्पनीयः सयोऽसावग्नीदुत्तरतः पर्येति अग्नीदेवैष निदानेन तानध्वर्युरेवेत उपस ँ रुणद्धि। तान् संरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिदधाति। यदु चेमांल्लोकानतिचतुर्थं ततः पुनर्न सञ्जिहते येन ह्येवैनान् देवा अबाधन्त तेनैवैतानप्येतर्हि ब्राह्मणे यज्ञेऽवबाधन्ते।' (श० १।२।४।१३)

११—स्तम्बयजुर्हरणसमये योऽसावाग्नीध्रो वेदेरुत्तरतः परीत्यवर्तते एष निदानेन मूलकारणेन निरुप्यमाणोऽग्निरेव योऽग्निः पुराऽसुरान्निरोद्धुमुदक् पर्येत् तदात्मक एवाग्नीध्र इत्यर्थः। ननु तत्रोपसंरोधका देवास्तत्स्थानीयऋत्विजां मध्येक इति तं दर्शयति तानध्वर्युरेवैत उपरुणद्धि—येनोपायेन पुरा देवा असुरानबाधिषत तेनैवोपायेन यज्ञानुष्ठानसमये तद्विघातिनोऽसुरा बाधितव्या इति निगमयति—तस्मादप्येतर्ह्यसुरान् संजिहते। येन ह्येवैनान् देवा अवाबाधन्ते तेनैवैनानप्येतर्हि ब्राह्मणा यज्ञेऽवबाधन्ते। 'य उ यजमानायारातीयति यश्चैनं द्वेष्टि तमेवैतदेभिश्च लोकै-

---

पृथिवी आदि तीन लोकों से सब ओर उनकी गति को प्रतिबद्ध कर देंगे। अथवा तीनों लोकों को उनसे छुड़वा देंगे। इन तीनों लोकों के बाद जो चतुर्थ लोक है, जो हमसे भी प्रत्यक्ष नहीं है, उससे भी उन्हें हटा देंगे। तब ये असुर पुनः आपस में मिल नहीं पायेंगे। अर्थात् विशीर्ण हुए वे असुर अवश्य ही बाधित होंगे। (ओहाङ् गतौ जुहोत्यादिः) गति अर्थ में जुहोत्यादिगण का 'ओहाङ्' धातु है।

१०—'सोऽग्निरुत्तरतः' (श० १।२।४।१२) इस प्रकार अग्नि के वाक्य को सुनकर उन देवों ने उसी प्रकार किया। इस अग्नि और देवों के सम्वाद रूप से प्रतिनिवृत्त होकर श्रुति अपने ही रूप से कह रही है। अग्नि उत्तर दिशा की ओर गया, और देवों ने वेदिस्थान से उन असुरों को अवरुद्ध किया। तब पृथिवी आदि तीन लोकों ने तथा चतुर्थ लोक ने भी उन असुरों को छिन्न-भिन्न कर दिया। तब वे पुनः परस्पर सङ्गत न हो सके। इस प्रकार जब वे परस्पर सङ्गत न हो पाये तब वे बाधित हो ही गये। अग्नि के वाक्य में चिकीर्षित का उपदेश होने से भविष्यदर्थ वाचक 'लृट्' लकार का प्रयोग हुआ है। किन्तु श्रुति वाक्य में निवृत्त अर्थ का प्रतिपादन होने से भूतानद्यतनवाची 'लङ्' लकार का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर जो स्तम्बयजुर्हरण करने के लिये कहा गया है, उसी से देवों ने असुरों का निरसन किया है। असुरों के निरसन करने में वह 'स्तम्बयजुर्हरण' ही मूल कारण है। अतः यज्ञ के विघातक असुरों के निर्हरण (निरसन) के लिये ही विधि की कल्पना करनी चाहिये।

११—'स योऽसौ अग्नीदुत्तरतः' (श० १।२।४।१३) अर्थात् स्तम्बयजुर्हरण के समय जो यह 'आग्नीध्र' है, वह वेदि के उत्तर में स्थित है, इस कारण वह आग्नीध्र 'अग्नि' रूप ही है, जो अग्नि पूर्व ही असुरों को अवरुद्ध करने के लिये उत्तर दिशा में गया था। इस कारण आग्नीध्र को तदात्मक ही कहा गया है। यज्ञानुष्ठान के समय उन उपसंरोधक देवों के स्थानापन्न हुए ऋत्विजों में से कौन सा वह है ? उसे 'तानध्वर्युरेवैत' से बताया है— पूर्व समय में

रभिनिदधाति यदु चेमांल्लोकानतिचतुर्थमस्या एव सर्वं ७ं हरत्यस्या ७ं हि सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः। कि ७ं हि हरेद्यदन्तरिक्ष ७ं हरामि दिव ७ं हरामीति हरेत्तस्मादस्या एव सर्वं ७ं हरति।' (श० १।२।४।१४)

१२—न केवलं स्तम्बयजुषोऽसुरहरणं प्रयोजनं किन्तु शत्रुहरणमपि इत्याह य उ इति। अरातिरिवाचरतीत्यरातीयति यश्चैनं यजमानं द्वेष्टि साक्षाद्बाधते तदुभयविधशत्रुमेभिर्लोकैरभिनिदधाति अन्यत् पूर्ववत्। पृथिव्या एव सकाशात् स्तम्बयजुर्हरति नान्तरिक्षादेरित्यभिप्रेत्याह—सर्वेलोका इति। पृथिव्यादिभिस्त्रिभिर्लोकैस्तदतिरिक्तेन चान्येन चतुर्थेन लोकेनासुरान्निरस्यन्नसावध्वर्युरस्याः पृथिव्याः सकाशात् सर्वं स्तम्बयजुर्हरति। नान्तरिक्षादेः। हि यस्मादस्यां भूम्यामिमेऽन्तरिक्षादयः सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः तस्मात् स्तम्बयजुर्हरणस्य प्रथमपर्यायवत् द्वितीयादिपर्यायाणामपि पृथिव्या एव सकाशात्तद्धरणं युक्तमित्यर्थः। एतदेव व्यतिरेकमुखेनोपपादयति—यदि अन्तरिक्षं हरामि दिवं हरामि इत्येवं स्तम्बयजुर्हरेत् तथा किं नाम हरेत्। अन्तरिक्षद्युलोकयोर्हर्तव्यस्य स्तम्बस्याभावात् न तत्र तद्धरणं सम्भवतीत्यर्थः। प्रागुक्तनिगमन स्तम्बयजुर्हरणान्तम्। प्रहरणादिपुरीषनिवापान्तं कर्म स्तम्बयजुः शब्देनोच्यते।

१३—'अथ तृणमन्तर्धाय प्रहरति नेदनेन न वज्रेण स ७ं शिते पृथिवी ७ं हिनसानीति तस्मात्तृणमाधाय प्रहरति।' (श० १।२।४।१५) 'स प्रहरति पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं माहि ७ं सिषमित्युत्तरमूलामिव वा एनामेतत्करोत्याददानस्तामेतदाहौषधीनां ते मूलानि मा हि ७ं सिषमिति व्रज गच्छ गोष्ठानमित्यभिनिधास्यन्ने-

---

जिस उपाय से देवों ने असुरों को बाधित किया था, उसी उपाय से यज्ञानुष्ठान के समय यज्ञविघातक असुरों को बाधित करना चाहिये। निष्कर्ष यह निकला कि जिस उपाय से देवों ने उन असुरों को बाधित किया, उसी उपाय से यज्ञ में ब्राह्मण भी उनका बाध करते हैं।

१२—'य उ यजमानायारातीयति' (श० १।२।४।१४, इससे यह कहा जा रहा है कि स्तम्बयजु का प्रयोजन केवल असुर निर्हरण ही नहीं है, किन्तु शत्रुहरण भी उसका प्रयोजन है। 'अरातिरिव आचरति इति अरातीयति' 'उपमानादाचारे' सूत्र से 'क्यच्' प्रत्यय किया गया है। शत्रु की तरह आचरण करने वाले को 'अरातीयति' कहते हैं। जो इस यजमान को साक्षात् पीड़ित करता है। दोनों प्रकार के शत्रुओं की गति को तीनों लोक प्रतिबद्ध कर देते हैं। अन्य सब अर्थ, पूर्व की तरह ही है। पृथिवी आदि तीन लोकों से तथा उससे भिन्न चतुर्थ लोक से असुरों को निरस्त करने वाला यह अध्वर्यु, इस पृथिवी से सम्पूर्ण स्तम्बयजु का हरण करता है। अन्तरिक्ष से नहीं, क्योंकि इस भूमि में ही ये अन्तरिक्षादि समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं। इस कारण स्तम्बयजुर्हरण के प्रथम पर्याय की तरह द्वितीयादि पर्यायों में भी पृथिवी से ही उसका हरण करना उचित है। इसी को व्यतिरेक मुख से बताते हैं। यदि अन्तरिक्ष को हरण करता हूँ तो दिव (स्वर्ग) को ही हरण कर रहा हूँ इस बुद्धि से स्तम्बयजु का हरण करे, तब क्या हरण करेगा, क्योंकि अन्तरिक्ष और द्युलोक में हर्तव्य स्तम्ब के न होने से वहाँ उसका हरण करना सम्भव नहीं है। पूर्वोक्त निगमन स्तम्बयजुर्हरणान्त है। प्रहरण से लेकर पुरीषनिवापान्त कर्म को 'स्तम्बयजुः' शब्द से कहा जाता है।

१३—'अथ तृणमन्तर्धाय प्रहरति' (श० १।२।४।१५-१६) श्रुति ने तृणान्तर्धान विशिष्ट 'स्फ्य' से ग्रहण का विधान किया है। तृण से ढके हुए स्फ्यरूपापन्न तीक्ष्ण वज्र से पृथिवी हिंसित होगी। इसलिये हिंसा निवृत्त्यर्थ तृण को बीच में रखकर उस पर प्रहार करना चाहिये। इस प्रकार विहित प्रहरण का अनुवाद करके मन्त्र का विधान किया गया है। 'ओषध्यास्त इति इस मन्त्र भाग की व्याख्या करते हैं 'स्फ्य' को ग्रहण करने वाला अध्वर्यु इस पृथिवी को उपरि भाग पर अवस्थित मूल से युक्त हुई सी करता है। यह जो प्रहरण है, वह उत्तर मूल पर है। उसकी हिंसा की आशङ्का होने पर उसके अभाव की इससे प्रार्थना की गई है। मन्त्रगत ओषधि शब्द की जाति के अभिप्राय से एकवचनान्तता को ध्यान में रखकर व्याख्या करते हैं। प्रहरण से निष्पन्न तृण सहित पांसु (धूलि) के उपादान (ग्रहण) का अनुवाद कर 'व्रजं गच्छ' के द्वारा व्याख्या की गई है। यह अध्वर्यु चारों ओर पटकता हुआ उन

वैतदनपक्रमि कुरुते तद्वचनपक्रमि यद् व्रजेऽन्तस्तस्मादाह व्रजं गोष्ठानमिति वर्षतु ते द्यौरिति। यत्र वै अस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्युपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति तस्मादाह वर्षतु द्यौरिति बधान देवसवितः परमस्यां पृथिव्यामिति देवमेवैतत् सवितारमाहान्धे तमसि बधानेति यदाह परमस्यां पृथिव्यामिति शतेन पाशैरित्य-मुचेतदाह योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति ब्रूयात् (श० १।२।४।१६)

१४—तृणान्तर्धानविशिष्टेन स्फ्येन ग्रहणं विधत्ते श्रुतिः—तृणानन्तर्धाने हि तीक्ष्णेन स्फ्यरूपान्नेन वज्रेण पृथिवी हिंसिता स्यात्। तस्मात्तद्धिंसानिवृत्तये तृणमन्तर्धाय तदुपरि प्रहर्तव्यमित्यर्थः विहितं प्रहरणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स प्रहरतीति। ओषध्यस्त इति मन्त्रभागं व्याचष्टे—उत्तरमूलामिति। स्फ्यमाददानोऽध्वर्युः एनां पृथिवीम् उत्तरमूलां उपरिभागावस्थितमूलयुक्तामिव खल्वेतत्करोति। उत्तरमूलत्वेन प्रहरणम्। तद्धिंसाशङ्कायां तदभावोऽनेन-प्रार्थ्यते। मन्त्रगतौषधिशब्दस्य जात्यभिप्रायेणैकवचनान्ततामभिप्रेत्य व्याचष्टे ओषधीनामिति। प्रहरणनिष्पन्नस्य सतृणस्य पांसोरुपादानमनूद्य व्याचष्टे व्रजं गच्छेति। अभिनिधास्यन् अभितो निक्षेप्स्यन् खल्वध्वर्युः एतत् असुरजातम् अनपक्रमि अपक्रमणरहितमितस्ततो गमनरहितं कुरुते। तत्खलु अनपक्रमि यत् व्रजे गोष्ठेऽन्तर्निरुध्यते अतोऽस्य मन्त्र-प्रयोगस्यापक्रमणाभावः प्रयोजनमित्यर्थः। नोपस्पृशेत् पृथिव्यात्मानौ। तेन स्तम्बयजुर्हरिष्यन् वेद्यां तृणं निदधाति। उदक पृथिव्यौ वर्मासीति' (का० श्रौ० सू० २।६।७।८) स्तम्बयजुर्हरणं करिष्यन्नध्वर्युस्तेन वज्रेण पृथिवीमात्मानञ्च न स्पृशेत्।

१५—यस्मिन् देशे वेदिनिर्मापयिष्यते तस्मिन् देशे वेद्यामध्वर्युरुदगग्रं तृणं स्फ्येनसह गृहीतं निदध्यात्। 'पृथिवि देवयजनीति तृणेऽन्तर्हिते प्रहरति' (का० श्रौ० सू० २।६।९) व्रजं गच्छेति पुरीषमादत्ते' (का० श्रौ० सू० २।६।१०) व्रजं गच्छेति मन्त्रेण पुरीषं मृदं गृह्णीयात्। 'वर्षतु त इति वेदिं प्रेक्षते' (का० श्रौ० सू० २।६।११) 'बधानेत्युत्करे करोति' (का० श्रौ० सू० २।६।१२) वर्षतु त इति मन्त्रेण वेदिं प्रेक्षते, बधानेत्यनेन मृदमुत्करे क्षिपेत्। शतपथादिश्रुत्यनुसारीण्येवेमानि सूत्राणि, तदनुसार्येव च मन्त्रभाष्यम्, तदेव युक्तम्। पृथिव्यै वर्मासीति काण्वपाठः। तद्रीत्या हे तृण त्वं पृथिव्या वेदिस्थानरूपाया भूमेर्वर्मासि कवचस्थानमसि। यथा कवचेन शस्त्रप्रहारोपद्रवः परिह्रियते तथा स्फ्येन वेदिखननावसरे भूम्युपद्रवस्तृणेन परिह्रियते। पृथिवि देवयजनीति तृणेऽन्तर्हिते प्रहरति हे देव यजनि देवयागाश्रयभूते पृथिवि ते त्वदीयाया ओषध्यास्तृणरूपाया मूलं मा हिꣳसिषम् मा विनाशयामि। अत्रदेवयजनीति

असुरों को इधर-उधर चलने के अयोग्य कर देता है। 'अनपक्रमि' उसे कहते हैं, जो गोष्ठ के भीतर निरुद्ध किया जाता है। अतः इस मन्त्र प्रयोग का प्रयोजन 'अपक्रमणाभाव' है। 'नोपस्पृशेत् पृथिव्यात्मानौ। तेन स्तम्बयजुर्हरिष्यन् (का० श्रौ० सू० २।६।७-८) सूत्र कहता है कि स्तम्बयजुर्हरण करने वाला अध्वर्यु उस वज्र से पृथिवी और अपने को स्पर्श न करे।

१५—जिस स्थान पर वेदि का निर्माण होगा, उस स्थान पर वेदि में स्फ्य के साथ ग्रहण किये हुए तृण को उदगग्र (उत्तर की ओर तृण का अग्र भाग करके) रख दे। 'पृथिवि देवयजनि' (का० श्रौ० सू० २।६।१०-११-१२) सूत्रों ने बताया है कि 'पृथिवि देवयजनि' मन्त्र कहते हुए तृणान्तर्निहित पृथिवी पर प्रहार करे। 'व्रज गच्छ' मन्त्र से मृत्तिका का ग्रहण करे। 'वर्षतु त' मन्त्र से वेदि को देखे। 'बधान' मन्त्र से मृत्तिका को उत्कर में डाल दे। ये सब सूत्र शतपथादि श्रुति का ही अनुसरण करते हैं। और तदनुसारी ही मन्त्र भाष्य है, अतः वही उचित है। 'पृथिव्यै वर्मासि' यह काण्व पाठ है। उसके अनुसार हे तृण ! तुम वेदिस्थानरूप भूमि के कवच हो। जैसे—कवच के द्वारा शस्त्र प्रहार से होने वाले उपद्रव का परिहार किया जाता है, वैसे ही 'स्फ्य' के द्वारा वेदिखनन के समय भूमि को होने वाले उपद्रव (कष्ट) का तृण से परिहार किया जाता है। 'पृथिवि देवयजनि' मन्त्र से तृणान्तर्हित पृथिवी पर जब प्रहार किया जाता है, तब वह कहता है कि हे देवयागाश्रयभूते पृथिवि ! तुम्हारी तृण रूप ओषधि के मूल को मैं नष्ट नहीं कर रहा हूँ। पृथिवी को 'देवयजनि' विशेषण देकर यह बताया गया है कि वान्ति, लोहित आदि के कारण होने

विशेषणेन वान्तिलोहिताद्यापादिताशुचित्वं निवार्यते। तदुक्तम् तित्तिरिणा—'विषाद्वै नामासुर आसीत्। सोऽबिभेत्। यज्ञेनमादेवा अभिभविष्यन्तीति स पृथिवीमभ्यवमीत्। अमेध्योऽभवत्। अथो यदिन्द्रो वृत्रमहनत् तस्य लोहितम् पृथिवीमनुधावत्। अमेध्याभवत् पृथिवि देवयजनीत्याह—मेध्यामेनां देवयजनीं करोति। ओषध्यास्तेमूलं माहिꣳसिषमित्याह, ओषधीनामहिंसाया इति' (तै० १।१।६।३) विषमत्तीति विषात्। अतएवायं विषात् नामासुरो यज्ञेन देवकृताभिभवशङ्कया पृथिवीमभ्यवमीत्। तेन वृत्रलोहितेन च पृथिव्या अशुचित्वं जातम्। देवयजनीतिमन्त्रेण तन्निवार्यते।

१६—सर्वथापि शतपथादिश्रुतिसूत्रानुसार्येव मन्त्रव्याख्यानं युक्तम्। दयानन्दीयं व्याख्यानन्तु तन्न स्पृशत्येव। स्फ्यस्य प्रहारेण निष्पन्ना धूलि: पुरीषम् हे पुरीष त्वं व्रजं गच्छ व्रजन्ति गावो यत्रावस्थातुं यस्मिन् देशे स व्रज:। तं गच्छ। गोष्ठाने गवां स्थानम् गोभिरूपेतं देशं गोष्ठानं गच्छ। हे वेदि ते त्वदर्थं द्यौर्द्युलोकाभिमानी देवो वर्षतु जल सेचनं करोतु खननाद्युपद्रवपरिहारो वर्षणस्य प्रयोजनम्। वधानेति मृदमुत्करे करोति। उत्करो नाम वेदेरुत्तरभागे तृणधान्यादिपरित्यागप्रदेश:। हे देव सवित: परमस्यामन्तिमायां पृथिव्यां शतेन पाशै: शतसख्याकाभिर्बन्धनरज्जुभिर्बधानास्मद्विरोधिन: स्फ्यानीतायां धूल्यां निगूढस्य बन्धनं कुरु। भूमेरन्तिमप्रदेशे योऽन्धतामिस्रो नरकोऽस्ति तस्मिन् वा बधान।

१७—अध्यात्मपक्षे—हे देवयजनि देवा इज्यन्ते यस्यां सा देवयजनी तत्सम्बुद्धौ हे देवयजनि ओषध्या ओषधीनां मूलं मूलभूतां त्वां मा हिंसिषम्। एतावता न केवलं मनुष्येषु किन्तु ओषधिमूलाया: पृथिव्या अपि हिंसा वार्यते सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० उ० ३।१४।१) इति श्रुते:। पृथिव्या देवयागाश्रयत्वेनौषधीनां यागसाधनत्वेन चाहिंसनीयत्वात्। यागाङ्गत्वेन यत्पृथिव्या: पांसुरुत्सार्यते तस्यापि गोभिरूपेते व्रजे प्रेषणम्। द्यौर्द्युलोकाभिमानी देवो वर्षतु तेन क्षतिपूर्ति: पृथिव्या ओषधीनाञ्च पुन: प्ररोहणम्।

वाली अपवित्रता का निवारण हो जाता है। इसी बात को तित्तिरि ने भी कहा है—'विषाद्वैनामासुर आसीत्। सोऽबिभेत्।…… ……ओषधीनामहिंसाया इति।' (तै०…. .. ….)। जो विष को भक्षण करता है उसे 'विषात्' कहते हैं। अत एव यह 'विषात्' नाम का असुर यज्ञ के द्वारा देवकृत अभिभव की आशङ्का से उसने पृथिवी पर वमन किये गये वृत्र और लोहित से पृथिवी अशुचि (अपवित्र) हो गई। उस अपवित्रता का निवारण 'देवयजनि' मन्त्र से हो जाता है।

१६—अत: श्रुति और सूत्र का अनुसरण करने वाला मन्त्र व्याख्यान ही सर्वथा उचित है। स्वामी दयानन्द का मन्त्र व्याख्यान तो श्रुति एवं सूत्र को स्पर्श तक नहीं कर रहा है। दयानन्द कहते हैं—स्फ्य के प्रहार से निष्पन्न हुई धूलि ही पुरीष है। इसलिये हे पुरीष ! तुम व्रज में जाओ। गौएँ जहाँ रहने के लिये जाती हैं उस देश (स्थान) को व्रज कहते हैं। गौओं का जो स्थान है उसे गोष्ठान कहते हैं। गौओं से युक्त गोष्ठान देश को जाओ। हे वेदि ! तुम्हारे लिये द्युलोकाभिमानी देव जल सेचन करे। खननादि उपद्रव का परिहार होना वर्षण का प्रयोजन है। 'बधान' मन्त्र से मृत्तिका को उत्कर में करता है। वेदी के उत्तर भाग में तृण धान्यादि के परित्याग प्रदेश को 'उत्कर' कहते हैं। हे देव सवित:। इस अन्तिम पृथिवी पर शतसंख्यक बन्धन रज्जुओं से हमारे विरोधियों को बाँध दे। अर्थात् स्फ्य से निकाली गई धूलि में छिपे हुए हमारे विरोधी को तुम रस्सियों से बाँध दो। अथवा भूमि के अन्तिम प्रदेश में जो अन्धतामिस्र नाम का नरक है, उसमें उन विरोधियों को बाँध के रखो।

१७—अध्यात्म पक्ष में—हे देवयजनि ! देवों का अर्चन जिसमें होता है, वहदेवयजनी प्रदेश कहलाता है, उसका सम्बोधन रूप 'हे देवयजनि !' है। ओषधियों के मूलभूत तुम्हारी हिंसा हमसे न हो। इस कथन से केवल मनुष्यों में ही नहीं, किन्तु ओषधियों की मूलभूत पृथिवी की हिंसा का भी वारण किया गया है। क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च ही ब्रह्मात्मक है। छान्दोग्य श्रुति कह रही है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्' (छा० उ० ३।१४।१) यह पृथिवी, देवयाग का आश्रय (आधार) है और ओषधियाँ याग साधन है, इस कारण वह अहिंसनीय है।

देवयजनस्थाने ओषधिबहुलप्रदेशे गावो यत्र प्रदेशे तिष्ठन्ति यत्र च वर्तन्ते तादृशस्य गोष्ठानस्य व्रजस्य प्रदेशस्य गवां मूत्रपुरीषादिप्रभावेण वृष्टिहेतुत्वम् वृष्टिवैषम्यनिवारणहेतुत्वञ्च भवति। चेतनाचेतनात्मकस्य सर्वस्यैव राष्ट्रस्य भूमण्डलस्य विश्वस्य च ब्रह्मात्मकत्वेन चैतन्यप्राधान्यम्। परस्पराहिंसनत्वेन परस्परोपकारहेतुत्वेन च सर्वं सर्वस्य मधु। चेतनानाममृतपुत्रत्वेनाचेतनानाञ्च तदुपकरणत्वेन तच्छक्तिमयत्वम्। एवं ब्रह्मात्मभावनायामपि यदि कश्चिदस्मान् द्वेष्टि तत एव यं वयं द्विष्मः तं बाधकं शत्रुं हे देव सवितः परमस्यामन्तिमायामन्धतामिस्रनरकादिरूपायां पृथिव्यां शतेनानन्तैः पाशैर्बधान। मा मौक् कदाचिदपि तं मा मुञ्च उग्रदण्डविधानस्यापि शान्तिसामञ्जस्यहेतुत्वात्। एवं यथायोग्यं शिष्टपरिपालनेन दुष्टनिग्रहेण च परस्पराहिंसनेन परस्परोपकार्योपकारभावेन मोदकत्वात् मधुरूपं सुखमयं भवति।

अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या ꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्। अररो दिवं मा पप्तो द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या ꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्॥ वा० सं० १।२६॥

पृथिवी की धूलि का उत्सारण, जिसे यागाङ्ग मानकर किया जाता है, उसे भी गौओं से युक्त व्रज में प्रेषित किया जाता है। द्युलोकाभिमानी देव वर्षा करे, उससे क्षति पूर्ति होगी अर्थात् पृथिवी पर ओषधियों का पुनः प्ररोहण होगा। ओषधिबहुल प्रदेश वाले देवयजन स्थान में जहाँ गौएँ खड़ी रहती हैं, वह व्रज प्रदेश, गोमूत्र पुरीष (गोबर) आदि के प्रभाव से वर्षा का हेतु तथा वृष्टि वैषम्य के निवारण का भी हेतु होता है। जड़–चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्व ही ब्रह्मात्मक (ब्रह्म रूप) होने से चैतन्य-प्रधान है। परस्पर की अहिंसा से और परस्पर के उपकार का हेतु होने से सब सबका मधु है। सभी चेतन, अमृत के पुत्र हैं, और अचेतन (जड़) उसके उपकरण हैं, अतः उसकी शक्ति से वे पूर्ण हैं। इस प्रकार ब्रह्मात्म भावना में भी यदि कोई हमारा द्वेष करता है, उसी कारण जिसका हम द्वेष करते हैं, इस प्रकार ब्रह्मात्म भावना में बाधक होने वाले उस शत्रु को हे सविता देव! अन्धतामिस्र नामक नरक में जो पृथिवी का अन्तिम भाग है वहाँ रस्सियों से बाँध दो। और उसे कभी भी मत छोड़ो। इस प्रकार का उग्र दण्ड विधान भी शान्ति और सामञ्जस्य बनाये रखने में कारण होता है। एवं यथायोग्य शिष्ट परिपालन और दुष्ट निग्रहण के द्वारा परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव होने से वह आनन्दप्रद होता है तथा सुखमय (मधुरूप) होता है।

अर्थ– देवयागसाधनभूत पृथ्वी पर अर्थात् वेदी पर जो राक्षस संज्ञक अशुद्ध द्रव्य है उसे मैं दूर करता हूँ। हे अशुद्ध द्रव्य ! तुम गौएँ जहाँ निवास करती हैं वहाँ जाओ। हे वेदि ! तुम्हारे लिये द्युलोकाभिमानी देवता वृष्टि करे। हे सवितृ देव ! जो हमसे द्वेष रखता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, उस शत्रु को सीमा की भूमि पर शत रज्जु पाशों से बाँध दो, और अन्धतामिस्र नरक से उसे कभी भी मुक्त मत होने दो। हे असुर ! (हे अशुद्ध द्रव्य !) तुम गौओं के निवास स्थान में जाओ। हे वेदि ! तुम्हारे लिये द्युलोकाभिमानी देवता वृष्टि करे। हे सवितृ देव ! हमारे द्वेष्य को अर्थात् जो हमसे द्वेष रखता है उस शत्रु को सीमा की भूमि पर शत रज्जु पाशों से बाँध दो और अन्धतामिस्र नरक से उसको कभी भी मुक्त मत होने दो ॥२६॥

१—'अपारुरमिति द्वितीयं प्रहरति' (का० श्रौ० सू० २।६।१४) पूर्ववदेव—पृथिव्यै देवयजनात् पृथिव्याः सम्बन्धिनो देवयजनाख्यात् वेदिस्थानात् अररुं अररुनामानमसुरम् अपवध्यासम् अपनीय यथा हतो भवति तथा करवाणि अनेन मन्त्रेण द्वितीयवारं पूर्ववदेव प्रहरेत्। स्फ्येनोद्धृतां मृदमुत्करे निःक्षिपेत् मन्त्रास्तदर्थाश्च पूर्ववदेव।

२—'अभिन्यस्यत्यग्नीदुत्करमररोदिवमिति'(का० श्रौ० सू० २।६।१५) अग्नीत् तन्नामक ऋत्विक् हस्तद्वयेनोत्करमभिमृशेत्। हे अररो असुर दिवं द्युलोकं यागफलरूपं त्वं मा पप्तः मा गमः। स्वर्गे त्वया न गन्तव्यम्। (पत्लृ गतौ) इति धातोः लुङि 'पतः पुम्' (पा० सू० ७।१।१९) इति सूत्रेण पुमागमे पप्त इति रूपनिष्पत्तिः। 'द्रप्सस्त इति तृतीयमिति' (का० श्रौ० सू० २।६।१६) द्रप्सस्त इति मन्त्रेण तृतीयवारं प्रहरणादिकं कुर्यात्।

३—हे वेदि देवते ते तव पृथिवीरूपाया यो द्रप्स उपजीव्यो रसः द्यां द्युलोकं मास्कन् मास्कन्दतु मा स्कान्सीत् मा गच्छतु। व्रजं गच्छेत्यादीनां पूर्ववदेव व्याख्यानम् तूष्णीं चतुर्थं सतृण पुरीषमुत्करे प्रक्षिपेत्। 'तूष्णीं चतुर्थꣳ सतृणम्' (का० श्रौ० सू० २।६।१७)

४—स्वामिदयानन्दस्तु—'हे देव सवितर्भवत्कृपया वयं परस्परं विद्यामेवोपदिशामः। यथायं सविता देवः सूर्यलोकोऽस्यां पृथिव्यां शतेनपाशैर्बन्धनहेतुभिः किरणैराकर्षणेन पृथिव्यादीन् सर्वान् पदार्थान् बध्नाति तथैव त्वमपि

१—'अपारुरं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजं गच्छ' तथा 'अपारुरमिति द्वितीयं प्रहरति'—(का० श्रौ० सू० २।६।१४) का अर्थ पूर्ववत् ही है। पृथिवी के देवयजन नामक वेदिस्थान से 'अररु'संज्ञक असुर को हटाकर जैसे भी वह मारा जाय वैसा करें। इस मन्त्र से पूर्ववत् ही द्वितीय बार प्रहार करे। 'स्फ्य' से उद्धृत मृत्तिका को उत्कर में फेंक दे। मन्त्र और उसका अर्थ पूर्ववत् ही है।

२—'अभिन्यस्यत्यग्नीदुत्करमररोदिवमिति'—(का० श्रौ० सू० २।६।१५) अग्नीत् नाम का ऋत्विक् दोनों हाथों से उत्कर का स्पर्श करे। हे अररो असुर ! याग फल स्वरूप द्युलोक तुम्हें प्राप्त न हो। अर्थात् स्वर्ग में तुम मत जाओ। (पत्लृ गतौ) धातु का लुङ् लकार में 'पतः पुम्' (पा० सू० ७।१।१९) सूत्र से पुमागम करने पर 'पप्त' रूप बनता है। 'द्रप्सस्त इति तृतीयमिति'—(का० श्रौ० सू० २।६।१६) सूत्र कहता है कि 'द्रप्सस्त' इस मन्त्र से तीसरी बार प्रहरण आदि करे।

३—हे वेदि देवते ! तुम पृथिवी स्वरूप हो, तुम्हारा जो उपजीव्य रस (द्रप्स) है, वह द्युलोक में न जाय। 'व्रजं गच्छ' इत्यादि की पूर्व की तरह ही व्याख्या है। 'तूष्णीं चतुर्थꣳ सतृणम्'—(का० श्रौ० सू० २।६।१७) सूत्र से बताया है कि चौथा तूष्णीम् अर्थात् बिना मन्त्र के तृण सहित पुरीष को उत्कर में डाल दे।

४—किन्तु स्वामी दयानन्द कहते हैं—हे सविता देव ! आपकी कृपा से हम लोग परस्पर विद्या (ज्ञान) का ही उपदेश करते रहते हैं। जिस प्रकार यह सविता देव (सूर्य लोक) बन्धन के हेतुभूत अपने सैकड़ों किरणों से पृथिवी आदि सम्पूर्ण पदार्थों का आकर्षण कर उन्हें बांधता है, वैसे ही तुम भी दुष्टों को बाँधकर शुभ गुणों को प्रकाशित

दुष्टान् बध्वा शुभगुणान् प्रकाशय। हे विद्वांसो यथाहं पृथिव्यां देवयजनादररुमपवध्यासं तथैव तं यूयमप्यपाघ्नत। यथाहं व्रजं गच्छामि तथैव त्वमप्येतं गच्छ। यथाहं गोष्ठानं वर्षामि तथैव भवानपि वर्षतु। यथा मम द्यौर्विद्याप्रकाश: सर्वान् प्राप्नोति तथैव ते तवापि प्राप्नोतु। यथाऽहं योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्नित्यं बध्नामि, कदाचित्तं न त्यजामि। तथैव हे वीर तं त्वमिमं बधान। तश्चात: कदाचिन्मा मौक्। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतोबन्धनात् कोऽपि वा मुञ्चतु। एवं च तं प्रति सर्व उपदिशन्तु। हे अररो त्वं दिवोमा पप्त: तथाते तव द्रप्सो द्यां मास्कन्। हे सन्मार्गजिज्ञासो यथाहं व्रजं सन्मार्गं गच्छामि तथैव त्वमप्येतं गच्छ। यथेयं द्यौर्गोष्ठानं वर्षति तथैवेश्वरो विद्वान् वा ते तव कामान् वर्षतु। यथायं सविता देव: सूर्यलोक: परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बन्धहेतुभि: किरणैराकर्षणेन पृथिव्यादीन् बध्नाति तथा त्वमपि च योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वय द्विष्मस्तं परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बधान। यथाहं द्वेष्टार शत्रुं शतेन पाशैर्बध्वा न कदाचिन्मुञ्चामि तथैव त्वमप्येनं बधान। कदाचिन्मा मौक्। लुप्तोपमालङ्कार:। ईश्वर आज्ञापयति हे मनुष्या युष्माभिर्विद्वत्कार्यानुष्ठाने विघ्नकारिणो दुष्टा: प्राणिन: सदाऽपहन्तव्या:। सत्समागमेन विद्यावृद्धिर्नित्यं कार्या। यथा अनेकोपायै: श्रेष्ठानां हानिर्दुष्टानाञ्च वृद्धिर्नस्यात् तथैवानुष्ठेयम्। सदा श्रेष्ठा: सत्कार्या: दुष्टास्ताड़नीया बन्धनीयाश्च परस्परं प्रीत्या विद्याशरीरबलं सम्पाद्य क्रियया कलायन्त्रै: कानि यानानि रचयित्वा सर्वेभ्य: सुखं देयम्। निरन्तरमीश्वरस्याज्ञापालनम् कर्तव्यम् स एव उपासनीयश्च इति। जल्पितवान्,

५—तदविचारितरमणीयम्, पदार्थासङ्गते:। अररुमित्यस्य असुरराक्षसस्वभावं शत्रुमित्यर्थे

करो। हे विद्वानों! जैसे मैंने पृथिवी पर देवयजन को अरुर नामक असुर को विनष्ट किया, वैसे ही तुम लोग भी उसे नष्ट करो। जैसे मैं व्रज में जाता हूँ, वैसे ही तुम भी उस व्रज को जाओ। जैसे मैं गोष्ठान पर वर्षा करता हूँ, वैसे ही तुम भी वर्षा कवो। जैसे मेरी विद्या का प्रकाश सबको प्राप्त होता है, वैसे ही तुम्हारी विद्या का प्रकाश भी सबको प्राप्त हो। जैसे मैं अपने द्वेष्टाओं को इस पृथिवी पर सैकड़ों पाशों से नित्य बाँधता रहता हूँ, कभी भी उन्हें नहीं छोड़ता हूँ, उसी तरह हे वीर! तू उसे बाँध, और उसे कभी भी उस बन्धन से मुक्त मत कर। जो हमारा द्वेष करता है, और जिसका हम द्वेष करते हैं, ऐसे उभय विध शत्रु को बन्धन से कोई भी न छुड़ावे। एवञ्च उसके प्रति सभी लोग उपदेश करें। हे अररो! तुम स्वर्ग में मत जाओ। तथा तुम्हारा उपजीव्य रस, स्वर्ग में न जाय। हे सन्मार्ग जानने की इच्छा करने वाले जैसे मैं सन्मार्ग (व्रज) पर चलता हूँ, वैसे ही तुम भी उस पर चलो। जैसे यह द्यौ: (स्वर्ग) गोष्ठान पर जल सेचन करती है, उसी तरह ईश्वर अथवा विद्वान् तुम पर तुम्हारे अभीष्ट फलों की वर्षा करे, अर्थात् तुम्हारे मनोरथों को पूर्ण करे। जैसे यह सविता देव सूर्यलोक इस पृथिवी पर उसके सब पदार्थों को अपनी सैकड़ों बन्धन कारक किरणों से आकर्षित कर बाँधता है, उसी तरह तुम भी इस पृथिवी पर अपने द्वेष्टाओं को सैकड़ों बन्धनों से बाँध दो जैसे मैं अपने द्वेष्टा शत्रु को सैकड़ों बन्धनों से बाँधकर पुन: उसे कभी छोड़ता नहीं हूँ उसी तरह तुम भी उसे बाँधो, कभी भी उसे मत छोड़ो। यहाँ लुप्तोपमालङ्कार है।

ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्यों! तुम लोग विद्वानों के कार्यों में विघ्न पहुँचाने वाले दुष्ट प्राणियों को सर्वदा नष्ट करो। और सत्समागम के द्वारा विद्या का संवर्धन नित्य किया करो। जितने भी उपायों से हो उन सभी उपायों से श्रेष्ठों की हानि और दुष्टों की वृद्धि जिस तरह न हो पाये, वैसा ही किया करें। श्रेष्ठों का सर्वदा सत्कार किया करो। और दुष्टों का ताड़न और बन्धन किया करो। परस्पर प्रीति पूर्वक विद्याबल और शरीरबल का सम्पादन करते हुए कलापूर्ण यन्त्रों से कतिपय यान आदि को बनाकर सबको सुख दिया करो। ईश्वर की आज्ञा का पालन निरन्तर करते रहना चाहिये। क्योंकि वही उपासनीय है।' इस प्रकार दयानन्द स्वामी ने जल्पन किया है।

५— जब तक उस पर विचार नहीं किया जाता, तभी तक वह रमणीय प्रतीत होता है। क्योंकि पदार्थों की परस्पर कहीं कोई सङ्गति नहीं है। 'अररु' पद का असुर राक्षस

गौरवमेव। अररुपदस्य शतपथश्रुतौ राक्षसविशेषवाचकतया तदुपेक्ष्य राक्षससामान्यपरत्वाभ्युगमे श्रुतिविरोधात्। वथा कथञ्चित् राक्षससामान्यपरत्वेऽपि तत्स्वभावशत्रुपरत्वाभ्युपगमस्तु सर्वथाऽप्रामाणिक एव। तथैव व्रजशब्दस्य सत्सङ्गपरत्वमध्ययनाध्यापनव्यवहारपरत्वमपि न सङ्गतमनैकान्तिकत्वात्। गवां वाणीनां व्यवहारे गतिनिवृत्त्यसम्भवात्। वर्षतु इत्यस्यापि शब्दस्य विद्यावृष्टिर्नार्थः, जलसेचने तत्प्रसिद्धिविरोधात्। द्यौरित्यस्य विद्याप्रकाशोऽर्थोऽपि न सङ्गतस्तत्र शिष्टप्रयोगाभावात्। परमस्यामित्यस्य उत्कृष्टायां पृथिव्यामित्यस्य बहुप्रदायामित्यादि विवरणमप्यसङ्गतम्, बन्धनाधारत्वाय पृथिव्यामुत्कृष्टत्वबहुप्रदत्वादि विशेषणानपेक्षणात् परस्परमुपदेशोऽपि न सम्भवति, सामाजिकेष्वपि अध्यापकेभ्यश्छात्रकर्तृकोपदेशासम्भवात्।

६—किञ्च सूर्यलोको यथा बन्धनहेतुभिः किरणैः पृथिव्यादीन् पदार्थान् बध्नाति तथा त्वमपि दुष्टान् बद्ध्वोत्तमान् गुणान् मे प्रकाशयेत्यपि न सङ्गतम् दृष्टान्तस्यैवाप्रसिद्धत्वात् पूर्वत्रनिरस्तत्वाच्च।

७—किञ्च दृष्टान्ते बन्धनंधारणरूपोऽनुग्रह एव, दार्ष्टान्ते तु निग्रहरूपं बन्धनं किरणानां बन्धकत्वञ्चाकर्षणाभ्युपगन्तृभिरपि नानुमन्यते।

८—किञ्च देवयजनशब्दस्य सङ्ग्रामोऽर्थ इति प्रमाणसापेक्षमेव। अहमीश्वरो यथा पृथिव्यां सङ्ग्रामात् दुष्टस्वभावान् शत्रून् हन्मि तथैव त्वमपि तं मारयेत्यपि न सङ्गतम्, ईश्वरस्य दुष्टैः सार्धं युद्धस्याप्रसिद्धत्वात्। नचाप्रसिद्धो दृष्टान्तः सम्भवति। विष्णु–राम–कृष्णादिरूपेणासुरादिभिः परमेश्वरस्य युद्धं सम्भवति तच्च युष्माभिर्नाभ्युपेयते। यथाहमुत्तमगुणज्ञापकैः सज्जनैः सङ्गतिं प्राप्नोमि तथा त्वमपि प्राप्नुहि इत्यपि न सङ्गतम् ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सत्सङ्गत्यनपेक्षणात्, तदप्रसिद्धेश्च। यथाहं पठनपाठनव्यवहारबोधकमेघगर्जनवेदवाण्योत्तमैः शब्दविन्दुभिर्वर्षयामि

स्वभाव वाला शत्रु अर्थ करने पर गौरव दोष होता है। शतपथ श्रुति तो 'अररु' पद को राक्षस विशेष का वाचक बताती है। किन्तु उस अर्थ की उपेक्षा करके अररु' पद को राक्षससामान्य के अर्थ में स्वीकार करने पर श्रुति विरोध हो गया है। यथाकथञ्चित् राक्षस सामान्यपरक भी मान लिया जाय तब भी तत्स्वभाव शत्रु परत्व रूप अर्थ का स्वीकार करना तो अप्रामाणिक ही कहा जायगा। तथैव व्रज' शब्द का सत्सङ्गपरत्व और अध्ययनाध्यापनपरत्व कहना भी अनेकान्तिक होने से असङ्गत है। 'गो' अर्थात् वाणी के व्यवहार में गति निवृत्ति का होना सम्भव नहीं है। 'वर्षतु' का भी विद्या वृष्टि अर्थ नहीं है। जल सेचन अर्थ करने पर उसकी प्रसिद्धि का विरोध होता है। 'द्यौ' शब्द का भी विद्या प्रकाश अर्थ करना सङ्गत नहीं है, क्योंकि शिष्ट लोगों का वैसा प्रयोग नहीं है। 'परमस्याम्' तथा 'उत्कृष्टायां पृथिव्याम्' का 'बहुप्रदायां' यह विवरण करना भी असङ्गत है। बन्धनाधारत्व के लिये पृथिवी का उत्कृष्टत्व, बहुप्रदत्वादि विशेषणों की कोई अपेक्षा नहीं है। परस्पर उपदेश करना भी सम्भव नहीं है। समाज में भी अध्यापकों को छात्र उपदेश नहीं दिया करते हैं।

६—किञ्च सूर्य लोक जिस प्रकार बन्धन हेतुभूत किरणों से पृथिव्यादि पदार्थों को बाँधता है वैसे तुम भी दुष्टों को बाँधकर उत्तम गुणों को प्रकाशित करो, यह कथन भी असङ्गत है. क्योंकि दृष्टान्त ही कोई प्रसिद्ध नहीं है और पहले इस कथन का निरसन भी हो चुका है।

७—किञ्च दृष्टान्त में बन्धन धारण रूप अनुग्रह ही है, किन्तु दार्ष्टान्त में निग्रह रूप बन्धन और किरणों का बन्धकत्व, आकर्षण को स्वीकार करने वाले भी नहीं मानते हैं।

८—किञ्च 'देवयजन' शब्द का संग्राम अर्थ करना प्रमाण सापेक्ष ही है। मैं ईश्वर जिस प्रकार पृथिवी पर संग्राम करके दुष्ट स्वभाव वाले शत्रुओं को मारता हूँ, वैसे ही तुम भी उन्हें मार दो, यह कथन भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि ईश्वर का दुष्टों के साथ युद्ध करना कहीं प्रसिद्ध नहीं है। अप्रसिद्ध को दृष्टान्त के रूप में कहना कभी भी उचित नहीं होता। असुरादिकों से परमेश्वर का विष्णु, राम, कृष्ण के रूप में तो युद्ध करना सम्भव हो सकता है, किन्तु उसे तो आप स्वीकार नहीं कर सकते। जैसे मैं उत्तम गुणों के ज्ञापक सज्जनों से सङ्गति करता हूँ, वैसे तुम

तथा त्वमपि वर्षय यथा मद्विद्यायां या द्यौः शोभा सर्वदृष्टिगोचरा तथैव त्वदीयापि विद्या सुशोभितास्तु इत्यादिकमपि निःसारम्, निराकारस्य कण्ठताल्वाद्यभावेन मेघगर्जनतुल्यशब्दविन्दुवर्षणासम्भवात्। ईश्वरविद्याया शोभापि न सर्वदृष्टिगोचरा, तथात्वे नास्तिक्यानापत्तेः। यथाहं—यो मूर्खोऽस्मान् विद्याप्रचारकान् द्वेष्टि यं च विरोधिनं जनं वयं द्विष्मस्तं परमस्यामुत्कृष्टायां सर्वपदार्थधारिकायां विविधसुखदात्र्यां पृथिव्यां बहुभिः पाशैर्बन्धनैर्नित्यं बध्नामि कदाचिदपि न त्यजामि हे वीर तथैव त्वमपि तं बन्धय कदापि मा त्यज अर्थात् कोऽपि तादृशं पुरुषं न त्यजेदित्यादि सर्वमेतत् निरर्थकम् दृष्टान्ताप्रसिद्धेः।

९—किञ्चोत्कृष्टायां सर्वपदार्थधारिकायां सर्वसुखदात्र्यां भूमौ दुष्टस्य बद्ध्वावस्थापनमपि सुखदाय्येव स्यात् तस्याः सर्वसुखदातृत्वात्।

१०—किञ्च वयं सर्वे तं दुष्टमुपदिशामः, हे अररो दुष्टपुरुष त्वं दिवं प्रकाशमुन्नतिं मा प्राप्नुहि। तथा तवानन्ददायकं विद्यारसं दिवमानन्दं मास्कन् मा प्राप्नुहि इत्यपि मूढजनजल्पितमेव दुष्टस्य उपदेशसाध्यत्वासम्भवात्। नहि कस्यचिदुपदेशात् कश्चिदुन्नतिप्राप्तेरानन्दप्राप्तेर्वा विरतो भवति। सिद्धान्ते तु परमेश्वरस्य देवानामृषीणाञ्चाज्ञावचनादुन्नतिरानन्दप्राप्तिश्च प्रतिबद्धचते नोपदेशात्। सर्वसाधारणस्याज्ञावशादपि न कस्यचिदुन्नतिरवरुद्धचते न च कोऽपि कश्चिदप्येवमुपदिशति त्वयोन्नतिर्न कर्त्तव्या आनन्दप्राप्तिश्च न कर्त्तव्येति। किमुत परमेश्वरः। यथाहं विद्वत्प्रा-

---

भी उनसे सङ्गति करो, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ ईश्वर को सत्सङ्गति की क्या जरूरत ? और ईश्वर ने सत्सङ्गति की, यह कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। जैसे मैं पठन-पाठन व्यवहार बोधक मेघ गर्जन तुल्य वेद वाणी के उत्तम शब्द रूप विन्दुओं से वर्षा करता हूँ, वैसे तुम भी वर्षा करो, जैसे मेरी विद्या में जो शोभा (द्यौः) सबके दृष्टिगोचर होती है, वैसे ही तुम्हारी विद्या भी सुशोभित हो, इत्यादि कथन भी निःसार है। निराकार को कण्ठ-तालु आदि अवयव नहीं हुआ करते, अतः उससे मेघगर्जन तुल्य शब्द विन्दुओं की वर्षा होना सम्भव नहीं है। ईश्वर विद्या की शोभा भी सब के दृष्टिगोचर नहीं है। वैसा यदि हो तो नास्तिकता कहीं रहेगी ही नहीं। जैसे मैं, जो मूर्ख, हम विद्या प्रचारकों का द्वेष करता है और जिस विरोधी मनुष्य का हम द्वेष करते हैं उस शत्रु को समस्त पदार्थों को धारण करने वाली, तथा विविध सुखों को देने वाली इस पृथिवी पर अनेक पाशों से नित्य बाँधता हूँ, कभी भी उसे मैं उस बन्धन से मुक्त नहीं करता, उसी तरह हे वीर! तुम भी उसको बाँधो, कभी भी उसे मुक्त मत करो, अर्थात् कोई भी वैसे आदमी को न त्यागे, इत्यादि सभी कथन निरर्थक हैं, क्योंकि कोई दृष्टान्त ही प्रसिद्ध नहीं है।

९—किञ्च सकल पदार्थ धारिणी सर्वसुखदात्री उत्कृष्ट भूमि पर दुष्ट को बाँधकर रखना भी सुखदायी ही होगा, क्योंकि पृथ्वी (भूमि) सबको सुख देने वाली होती है।

१०—किञ्च हम सब उस दुष्ट को उपदेश करें कि हे अररो ! दुष्ट पुरुष ! तुम प्रकाश अर्थात् उन्नति को मत प्राप्त करो तथा तुम्हारा आनन्द दायक विद्या रस आनन्द को न प्राप्त करे। इत्यादि कथन भी मूढ़ जन के जल्पन की तरह ही है, क्योंकि दुष्ट, कभी भी उपदेश साध्य नहीं हुआ करता। और न कोई किसी के उपदेश से अपनी उन्नति या आनन्द प्राप्ति का त्याग करता है। सिद्धान्त की दृष्टि से तो परमेश्वर, देवता, और ऋषियों के आदेश से ही उन्नति एवं आनन्द प्राप्ति होती है, उपदेश से नहीं। सर्वसाधारण की आज्ञा से भी किसी की उन्नति अवरुद्ध नहीं हुआ करती और न कोई किसी को ऐसा उपदेश ही देता है कि तुम उन्नति मत करो, आनन्द को मत प्राप्त करो। जब साधारण मनुष्य भी इस प्रकार नहीं कहता, तो परमेश्वर ऐसा कहता है, यह कैसे माना जाय जैसे मैं विद्वानों के प्राप्त करने योग्य श्रेष्ठ मार्ग को प्राप्त करता हूँ वैसे तुम भी उसे प्राप्त करो, यह कहना भी निःसार है। क्योंकि श्रेष्ठ मार्ग तो परमेश्वर के द्वारा ही समुपदिष्ट है। उसको उस मार्ग के प्राप्त करने की क्या आवश्यकता ? सूर्य का प्रकाश जैसे—गोष्ठान, पृथिवीस्थान, अन्तरिक्ष को सिञ्चित करता है, वैसे ही ईश्वर अथवा विद्वान् तुम्हारी

त्तियोग्यं श्रेष्ठमार्गं प्राप्नोमि तथा त्वमपि तं प्राप्नुहि इत्यपि निःसारम्, श्रेष्ठमार्गस्य परमेश्वरेणैवोपदिष्टत्वेन तस्य तत्प्राप्त्यनपेक्षणात् । सूर्यप्रकाशो यथा गोष्ठानं पृथिवीस्थानमन्तरिक्षं सिञ्चति तथैवेश्वरो विद्वान् वा त्वदीयां कामनां वर्षतु पूरयतु इत्यप्यसङ्गतम्, अग्निना सिञ्चतीत्यादिवाक्यवदयोग्यत्वात् ईश्वरश्च कर्मानुसारेणैव वाञ्छापूरको भवति न स्वातन्त्र्येणेत्युक्तिरपार्थैव एवमन्यूदप्यूह्यम् ।

११—शतपथविरुद्धञ्चैतत् । तथाहि—'अथ द्वितीयं प्रहरति अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद् वध्यासमित्यररुर्हवै नामासुरराक्षसमास । तं देवा अस्या अपाघ्नत । तथो एवैनमेनमेतदेषोऽस्या अपहते व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या ७ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति । (श० १।२।४।१७) एवं स्तम्बयजुर्हरणस्य प्रथमपर्यायमभिधाय द्वितीयपर्यायार्थं प्रहरणादिकं समन्त्रकं विधत्ते अथेति अररुर्नामासुरराक्षसं सुराणां विरोधि रक्षो बभूव । 'अनसन्तात्' (पा० सू० ५।४।१०३) इत्यकारः समासान्तः । 'अररुर्वै नामासुर आसीत् । स पृथिव्यामुपप्लुतोऽशयत् । तं देवा अपहतोऽररुः पृथिव्या इति पृथिव्या अपाघ्नत।'(श०ब्रा०१।२ ४।१७)देवा अस्यै अस्याः पृथिव्याः सकाशात् अपाघ्नत अपहृतवन्तः । देववदेवेदानीन्तन एषोऽध्वर्यु रपाररुमिति मन्त्रेण पृथिव्याः सकाशात् तमपहन्ति । अररुनामकोऽसुरः पृथिव्यां वेदिस्थाने गुहाशये वृततमे तमररुं पृथिव्यै पृथिव्याः सम्बन्धिनो देवयजनाख्यात् वेदिस्थानात् अपवध्यासम् । अपनीय यथा हतो भवति तथा करवाणीत्यर्थः । व्रजं गच्छेत्यादिकस्य सर्वस्य द्वितीये पर्याये प्रयोज्यस्य प्रागुक्त एवार्थ इत्यभिप्रेत्यानुवदति व्रजं गच्छेति ।

१२—'तमग्नीदभिनिदधाति अररो दिवं मापप्त इति । यत्र वै देवा अररुमसुरराक्षसमपाघ्नत स दिवमपिपतिषत्तमग्निरभिन्यदधादररो दिवं मा पप्त इति । स नदिवमपप्तत्तथोऽएवैनमेतदध्वर्यु रेवास्माल्लोकादन्तरे दिवोऽध्यग्नीत्तस्मादेवं करोति ।' (श० १।२।४।१८) उत्करे न्युप्तस्य स्तम्बयजुषोऽभिधानं समन्त्रकमाह—तमिति । अभिनिदधाति उपरि हस्तनिधानेनाधस्तात् क्षिपतीत्यर्थः । मा पप्त इति पतनाभावप्रार्थनं समर्थयितुं पुरावृत्रमुदाहरति स देवैरपहतो अररुः अपिपतिषत् दिवं पतितुं गन्तुमैच्छत् । तं तथाविधं पिपतिषुमररुमुत्तरतः परिगतोग्निः अभिन्यदधात् । उपरि

कामनाओं को बरसावे यानी पूर्ण करे । यह कहना भी असङ्गत है । क्योंकि 'अग्निना सिञ्चति' वाक्य की तरह उपर्युक्त कथन भी अयोग्य है । और ईश्वर, कर्मानुसार ही इच्छा पूरक होता है, उसमें उसकी स्वतन्त्रता नहीं है, यह कथन भी निरर्थक ही है, इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये ।

११—तथा यह सब दयानन्दीय कथन शतपथ के विरुद्ध भी है । तथाहि—शतपथ ब्राह्मण (१।२।४।१७) स्तम्बयजुर्हरण के प्रथम पर्याय को बताकर द्वितीय पर्याय के लिये समन्त्रक प्रहरणादि का विधान किया गया है । अररु नाम का राक्षस था, जो देवताओं का विरोधी था । मन्त्र में 'असुररक्षसम्' पद है । 'रक्षः' शब्द से 'अनसन्तात्' (पा० सू० ५।४।१०४) सूत्र के द्वारा अकार' समासान्त हुआ है । तित्तिरी ने भी कहा है कि देवों ने इस पृथिवी पर से उसका अपहरण किया । देवता के तुल्य ही इस समय का यह अध्वर्यु 'अपाररुम्' मन्त्र से उसका इस पृथिवी पर से अपहरण करता है । अररु नाम का असुर वेदि स्थान में जो छिपा हुआ है, उसे देयजन संज्ञक वेदि स्थान से हटाया, और हटाकर जैसे भी नष्ट हो जाय वैसा कर दिया । द्वितीय पर्याय में प्रयुक्त होने वाले 'व्रज गच्छ' इत्यादि का अर्थ पहले बता दिया है ।

१२—शतपथ ब्राह्मण (१।२।४।१८) उत्कर में रखे हुए स्तम्बयजु के अभिनिधान को समन्त्रक बता रहा है । अभिनिधान का अर्थ है, ऊपर हाथ रखकर नीचे डाल देना । 'मा पप्तः' से पतनाभाव (न गिरने) की प्रार्थना (इच्छा) का समर्थन करने के लिये पुरावृत्त (इतिहास) बताते हैं । देवताओं के द्वारा अपहृत हुआ वह 'अररु, नीचे न गिरूँ' इस इच्छा से स्वर्ग लोक को जाने की इच्छा करने लगा । उस प्रकार इच्छा करने वाले उस अररु को उत्तर की ओर चारों ओर से व्याप्त हुए अग्नि ने उसकी गति को कुण्ठित कर दिया । ऊपर हाथ के रखने से उसे नीचे की ओर प्रेरित किया । यह कहते हुए प्रेरित किया कि हे अररो ! तुम द्यु लोक (स्वर्ग लोक) को मत जाओ । (गति के अर्थ

हस्तनिधानेनाधस्तात् प्रेरितवान्। किं ब्रुवन् हे अररो दिवं द्युलोकं मा पप्तः मा प्राप्नुहि। (पत्लृ गतौ) भ्वादिः। लुङि लृदित्वादङ् 'पतः पुम्' (पा० सू० ७।४।१९) इति पुमागमः। एवमग्निनाऽभिहिते सति सोऽररुः दिवं न प्राप्नोत्। तद्वदेवेदानीमपि अध्वर्युः स्तम्बयजुर्हरन् अस्माद् भूलोकात् एनमररुं अन्तरेति अन्तरितं व्यवहितं करोति। आग्नीध्रश्चैतन्मन्त्रकरणेनोत्कराभिनिधानेन दिवोऽन्तरिक्षात् तमसुरमन्तरितं करोति। अथ तृतीयं प्रहरति– द्रप्सस्ते द्यां मास्कन्नित्ययं वा अस्यैद्रप्सो यमस्या इम ँ रसं प्रजाउपजीवन्त्येषु ते दिवं मा पप्तदित्येवैतदाह—व्रज गच्छ। गोष्ठानं वर्षतु। ते द्यौर्बधान देवसवितः परमस्यां पृथिव्या ँ शतेनपाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति।' (श० १।२।४।१९) अथ तृतीयं पर्यायं विधत्ते—अथेति। मन्त्रं व्याचष्टे अयं वा इति। अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिनं यमिमं मधुरादिरसं सर्वाः प्रजाउपजीवन्ति अयं खल्वस्याः पृथिव्या द्रप्सः। तथा च हे पृथिवी ते त्वदीय एष रसः दिवं द्युलोकं मा पप्तत् मा पततुविति इममर्थमेषमन्त्रो ब्रूत इत्यर्थः। अस्मिन् तृतीयेऽपि पर्याये व्रजं गच्छेत्यादिकं सर्वं पूर्ववदेव प्रयोक्तव्यमित्यभिप्रेत्य तत्पठति व्रजमित्यादि। तस्माच्छतपथानुसारि सिद्धान्तमन्त्रसम्मतव्याख्यानमेव युक्तम् न दयानन्दाद्युक्तम्।

१३—'स वै त्रिर्यजुषा हरति' (श० १।२।४।२०) इत्यादिना समन्त्रकं त्रिर्हरणमनूद्य प्रशंसति—इमे पृथिव्यादयस्त्रयो लोका त्रिष्कृत्वो हरणेन एभिस्त्रिभिरेवलोकैरेनमररुमभिनिदधाति अभितो निक्षिपति बाधत इति यावत्। यजुर्मन्त्रेण हरणस्य लोकत्रयस्य च साम्यमाह—पृथिव्यादयस्त्रयोलोका अद्धा प्रत्यक्षमेव त्रिर्यजुर्हरणञ्चाद्धा प्रत्यक्षमेव अनुष्ठेयार्थस्य साक्षात्प्रतिपादकत्वात्। एवं लोकानां यजुषाञ्च प्रत्यक्षत्वसाम्यात् तुल्यत्वं त्रिवारं यजुषा हरणेन लोकत्रयादेवारुरोर्बाधो भवति।

१४—तूष्णीं चतुर्थमिति।' (श० १।२।४।२१) अमन्त्रकं चतुर्थं पर्यायं विधत्ते—तस्य प्रयोजनञ्चोक्तम्—इमान् प्रागुक्तान् त्रींल्लोकानतिक्रम्य यत् चतुर्थं लोकजातमस्ति तत् अस्ति न वा इति सन्दिग्धम् अत्यन्तविप्रकृष्टत्वेना-

---

में भ्वादिगण का 'पत्लृ' धातु है। लृदित होने से लुङ् लकार में 'अङ्' हुआ और 'पतः पुम्' (पा० सू० ७।४।१९) सूत्र से पुमागम किया। इस प्रकार अग्नि के कहने पर वह अररु स्वर्ग लोक को प्राप्त नहीं कर सका। उसी तरह इस समय स्तम्बयजुर्हरण करता हुआ अध्वर्यु भी इस भू लोक से अररु को अन्तरित (व्यवहित) करता है और आग्नीध्र भी इस मन्त्र से कराभिनिधान के द्वारा उस असुर को अन्तरिक्ष से अन्तरित (व्यवहित) करता है। उसके अनन्तर शतपथ ब्राह्मण (श० १।२।४।१९) से तृतीय पर्याय का विधान किया गया है। 'अयं वा' से मन्त्र की व्याख्या करते हैं—इस पृथिवी का जो मधुरादि रस है जिसके बल सम्पूर्ण प्रजा जीवित है, वह इस पृथिवी का उपजीव्य रस (द्रप्स) है। तथाच हे पृथिवि! तुम्हारा यह उपजीव्य रस (द्रप्स) द्यु लोक (स्वर्ग लोक) में न जाय। इस अर्थ को यह मन्त्र बता रहा है। इस तृतीय पर्याय में भी व्रजं गच्छ' इत्यादि सबका पहले की तरह ही प्रयोग करना चाहिये। इसी अभिप्राय से 'व्रजम्' इत्यादि पढ़ा गया है। इस शतपथानुसारी सिद्धान्त मन्त्र सम्मत व्याख्यान ही युक्त है। दयानन्द कृत व्याख्यान उचित नहीं है।

१३ 'स वै त्रिर्यजुषा हरति'—(श० १।२।४।२०) से समन्त्रक त्रिर्हरण का अनुवाद करके प्रशंसा की जा रही है। ये पृथिव्यादि तीन बार हरण करके वे स्वयं ही उस अररु को फेंक देते हैं। यजुर्मन्त्र के द्वारा किये हुए हरण का लोकत्रय से साम्य बताते हैं—पृथिव्यादि तीन लोक प्रत्यक्ष ही हैं। और त्रिर्यजुर्हरण भी प्रत्यक्ष हो है, क्योंकि अनुष्ठेयार्थ का प्रतिपादक है। इस प्रकार से लोक और यजुओं का प्रत्यक्षत्व समान होने से दोनों की तुल्यता है। तीन बार यजु के द्वारा हरण करने से ये लोकत्रय ही अररु का बाध करते हैं।

१४—'तूष्णीं चतुर्थमिति' (श० १।२।४।२१) इससे चतुर्थ पर्याय का अमन्त्रक विधान किया गया है। उसका प्रयोजन भी बताया है—पहले कहे हुए इन तीन लोकों का अतिक्रमण कर जो चौथा लोक है, उसके होने, न होने में सन्देह है। क्योंकि वह अतीव दूरतर होने से अनुभव में नहीं आता है। इस चतुर्थ हरण से उसी सन्दिह्यमान लोक के

नुभवागोचरत्वात् । एतच्चतुर्थहरणात्तेनैव सन्दिह्यमानेन लोकजातेन विद्वेषं कुर्वन्तं शत्रुजातं बाधते । तदुपपादयति—तूष्णीं हरणस्य चतुर्थस्थानस्य च साम्यमुच्यते तूष्णीं हरणस्यापि अनुष्ठेयार्थप्रतिपादकमन्त्राप्रयोगादप्रत्यक्ष चतुर्थस्य स्थानस्य चाप्रत्यक्षत्वमिति ।

१५—अध्यात्मपक्षेऽपि पृथिव्याः सम्बन्धिदेवयजनात् अररुं तन्नामकमसुरराक्षसं भगवत्सम्बन्धिकर्मोपासनादिबाधकमपनीय बध्यासम् । व्रजं गच्छेत्यादिकं पूर्ववदेव व्याख्यातव्यम् । अररो दिवमन्तरिक्षं मा पप्तः मा गमः । हे पृथिवि द्रप्सस्ते त्वदीयो रसो द्यां दिवं मास्कन् मा गच्छतु । अर्थात् भगवदाराधनादिप्रतिबन्धकोऽसुरादिः सर्वतो रुद्धो नाशमेव गच्छतु । पृथिव्यास्तु—द्रप्सो रसो द्यां मा गच्छत द्रपनवत्यां पृथिव्यामेव ।

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि । सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च ॥ वा० सं० १ । २७ ॥

अर्थ—हे विष्णो ! गायत्र, त्रैष्टुभ्, और जागत इन तीन छन्दस्संस्कारों से युक्त हुए स्फ्य के द्वारा गायत्र से दक्षिण दिशा में, त्रैष्टुभ् से पश्चिम दिशा में, और जागत से उत्तर दिशा में मैं तुम्हारा ग्रहण कर रहा हूँ । हे वेदि ! तुम्हारी भूमि अच्छी है अर्थात् खनन करके स्वच्छ की है, राक्षसों को हटा देने से (खदेड़ देने से) तू शान्त और सुख हेतु है । तथा तू बैठने के योग्य है । तुझमें (वेदी में) अन्न और दही आदि रखा है ।।२७।

१—'पूर्वं परिग्रहं गृह्णाति दक्षिणतः पश्चात् उत्तरतश्च स्फ्येन गायत्रेणेति प्रतिमन्त्रमिति' (का० श्रौ० सू० २।६।) यतोऽररुर्निष्काशितस्तत्र वेदेरियत्तां निश्चेतुं दक्षिणादिदिक्त्रये स्फ्येन रेखाकरणम् पूर्वः परिग्रहः । तं कुर्याद्ध्वर्युः । अत्र मन्त्रत्रयस्य विष्णुर्देवता ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् (श० ब्रा० १।२।५-६) इति श्रुतेः ।

साथ द्वेष करने वाले शत्रु वर्ग को वह पीड़ा पहुँचाता है । उसी का उत्पादन करते हैं—तूष्णीं हरण और चतुर्थ स्थान दोनों का साम्य बताते हैं । तूष्णीं हरण भी अनुष्ठेयार्थ प्रतिपादक मन्त्र प्रयोग से रहित होने के कारण अप्रत्यक्ष है और चतुर्थ स्थान भी अप्रत्यक्ष है ।

१५—अध्यात्म पक्ष में भी—पृथिवी से सम्बन्धित देवयजन से भगवत्सम्बन्धि कर्मोपासनादि करने में बाधा पहुँचाने वाले अररु नामक असुर को हटाकर मार दिया है । 'व्रजं गच्छ' इत्यादि की व्याख्या पूर्ववत् ही करनी चाहिये । हे अररो ! अन्तरिक्ष में मत जाना । हे पृथिवि ! तुम्हारा रस स्वर्ग में न जाय अर्थात् भगवदाराधना के प्रतिबन्धक असुरादिकों का सब प्रकार से नाश हो । पृथिवी का रस स्वर्ग में न जाकर पृथिवी पर ही रहे ।

१—'पूर्वं परिग्रहं गृह्णाति' (का० श्रौ० सू० २।६।) चूँकि अररु को निष्काशित किया जा चुका है, अतः वेदि के परिणाम का निश्चय करने के लिये दक्षिणादि तीन दिशाओं में स्फ्य से रेखा करने को अपूर्व परिग्रह कहते हैं, उसे अध्वर्यु करे । श्रुति (श० १।२।५-६) ने बताया है कि यहाँ तीन मन्त्रों की देवता विष्णु हैं ।

२—तेन विष्णुरेवात्र सम्बोध्यते हे विष्णो त्वा त्वां गायत्रेण छन्दसा गायत्र्यादिछन्दस्त्रयरूपतया भावितेन स्फ्येन दिक्त्रये परिगृह्णामि। एवं त्रैष्टुभेन छन्दसा त्रैष्टुभछन्दोरूपेण स्फ्येन त्वां परिगृह्णामि जागतेन छन्दो रूपेण छन्दसा त्वां परिगृह्णामि ततश्छन्दोदेवता दिक्त्रयेऽसुरेभ्यस्त्वां पालयिष्यन्ति पूर्वभाग आहवनीयः पालयिष्यति।

३—ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य इत्यस्याः श्रुतेरियं कथानुसन्धेया—देवाश्चासुराश्च प्राजापत्याः परस्परं स्पर्धाञ्चक्रुः। देवान् पराजितान् मत्वाभूमिमसुरा बिभेजुः। तदानीं देवा वामन रूपं विष्णुमग्रे कृत्वाऽसुरानागत्यास्मभ्यमपि भूम्यंशोदातव्य इति तानयाचिषुः। असुरा असूयन्तोऽयं विष्णुर्यावति भूभागे शेते तावान् भवदीयोस्तु इत्यूचुः। देवास्तु बह्वेतदस्माकमित्युक्त्वा प्राञ्चं विष्णुं निपात्य गायत्रेणेत्यादिमन्त्रैर्यज्ञभूमिं जगृहुः। यज्ञो विष्णुर्यत्र तिष्ठति सैव यज्ञभूमिभूमिरिति तैर्विदितत्वात्।

४—ततोऽध्वर्युर्वेद्यां प्रागायतास्तिस्रो रेखाः स्फ्येनोल्लिख्य ह्रात्रिः इति प्रेषमन्त्रं पठति। 'वेदिरिति भूमेर्नाम' (श० १।२।५।१-७) इति श्रुतेः। तत एव पूर्वं वेदिग्रहणं विधेयम्। ततोऽग्नीत् रेखाभ्यः पांसून् त्रिर्हृत्वोत्करे निःक्षिप्य लेखाः संस्पृशति संमर्शनेन समीकरोति। तत उत्तरपरिग्रहं परिगृह्णाति 'सूक्ष्मा स्योनोजस्वतीति' (का० श्रौ० सू० २।६।) वेदिकरणानन्तरं स्फ्येन पूर्ववत् दिक्त्रये रेखाकरणं उत्तरः पारिग्राहः। हे वेदे त्वं सुक्ष्मासि शोभना क्ष्माभूमिः सुक्ष्मोच्यते। खननेनाश्मादिदोषनिरसनेन भूमेः शोभनत्वं सम्पाद्यते। शिवासि उग्रस्यासुरस्य निष्कासनेन शान्तत्वम्। गुणद्वयस्यान्योन्यसमुच्चयार्थौ चकारौ। एकोऽयं मन्त्रः सुक्ष्माचासि शिवा चासीति। दक्षिणतः स्योनाचासि सुखदा चासीति पश्चिमतः। ऊर्जस्वती चासि पयस्वती चेत्युत्तरतः। स्योना सुखरूपा सुषदा सुष्ठु सीदन्ति देवा यस्यां

२—उस कारण यहाँ विष्णुरेखा को सम्बोधित किया जा रहा है—हे विष्णो! गायत्री आदि तीन छन्दों के रूप में कल्पित किये गये स्फ्य से तीन दिशाओं में तुम्हारा स्वीकार कर रहा हूँ। उसी प्रकार त्रैष्टुभच्छन्द के रूप में कल्पित स्फ्य से तुम्हारा स्वीकार कर रहा हूँ, तथा जागत छन्द के रूप में कल्पित किये गये स्फ्य से तुम्हारा स्वीकार कर रहा हूँ। इस कारण ये छन्दो देवता तीनों दिशाओं में तुम्हारा पालन करेंगी। और पूर्व भाग में आहवनीय तुम्हारा पालन करेगा।

३—पूर्वोक्त 'ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य' श्रुति की इस कथा का अनुसन्धान कर लेना चाहिये। प्रजापति के पुत्र देव ओर असुर परस्पर स्पर्धा करने लगे। देवों को पराजित हुआ समझकर असुरों ने भूमि को बाँट लिया। तब देवों ने वामन रूप धारी विष्णु को आगे कर असुरों के पास आगमन किया, और हम देवों को भी भूमि का अंश मिलना चाहिये, इस प्रकार असुरों से उन्होंने याचना की। देवों से असूया रखने वाले असुरों ने कहा कि 'यह विष्णु (वामन रूप) जितने भूभाग पर सोता हो उतना भू भाग तुम लोगों का रहेगा। तब देवों ने कहा—हमारे लिये इतना बहुत है। और पूर्व दिशा की ओर विष्णु को लिटा कर 'गायत्रेण' इत्यादि मन्त्रों से यज्ञभूमि को अपने अधीन कर लिया। क्योंकि देव यह जानते थे कि 'विष्णु जहाँ स्थित रहता है, वही यज्ञ भूमि है।

४ यही कारण है कि अध्वर्यु नाम का ऋत्विज् वेदि में पूर्व दिशा की विस्तार वाली तीन रेखाओं का 'स्फ्य' से उल्लेखन करता है। और तीन बार प्रेष मन्त्र को पढ़ता है। 'वेदिरिति भूमेर्नाम' (श० १।२।५।१-७) इस शतपथ श्रुति के अनुसार ही प्रथमतः वेदिग्रहण करना चाहिये। उसके बाद अग्नीत् नाम का ऋत्विज्, पूर्वोल्लिखित तीन रेखाओं से धूलि को तीन बार लेकर उत्कर में डाल दे। पश्चात् लेखाओं का संमर्शन (स्पर्श करके उन्हें समान कर दे। उसके बाद 'उत्तर परिग्रह' का परिग्रह करता है। वेदिकरण के अनन्तर 'स्फ्य' से पूर्ववत् ही तीनों दिशाओं में जो रेखाकरण किया जाता है, उसे उत्तर परिग्रह कहते हैं। हे वेदे! तुम सूक्ष्म हो। शोभन भूमि को सूक्ष्म कहते हैं। खनन आदि के द्वारा अश्मादि (पत्थर आदि) दोषों का निरसन करने से भूमि को शोभन बनाया जाता है। हे भूमि! तुम शिवा हो, अर्थात् उग्र असुर के निष्कासन से तुम शान्त हो गई हो। उक्त दो गुणों के परस्पर समुच्चयार्थ दो 'च' कार मन्त्र में दृष्टिगत होते हैं। 'सूक्ष्मा चासि शिवा चासि' इतना एक मन्त्र है, दक्षिण दिशा में तथा पश्चिम दिशा में

सा सुषदाचासि। अत्रापि चकारौ समुच्चयार्थौ। द्वितीयो मन्त्रः। ऊर्जः शब्दोऽन्नवाची। पयः शब्दस्तद्विकारदध्यादिवाची। अन्नवती दध्यादिमती चासि। तृतीयोऽयं मन्त्रः।

५—अत्र स्वामिदयानन्दः—'येन यज्ञेनोत्तमैः पदार्थैः सह सुक्ष्मासि भवति येन कल्याणकारिभिर्गुणैर्मनुष्यैश्चेयं शिवासि भवति येन चानुत्तमैः सुखैः सहेयं स्योनासि भवति येन चोत्तमाभिः सुखकारिकाभिः स्थितिर्गतिभिः सहेयं सुषदासि भवति येन चोत्तमैर्यवादिभिरन्नैः सहेयमूर्जस्वती असि भवति येन चोत्तमैर्मधुरादिरसवद्भिः फलैर्युक्तेयं पयस्वती जायते अहं यज्ञविद्याविन्मनुष्यो गायत्रेण छन्दसा त्वा तं यज्ञं परिगृह्णामि। अहं त्रैष्टुभेन च्छन्दसा त्वा तमिमं पदार्थसमूहं परिगृह्णामि। अहं जागतेन छन्दसा त्वा तमिमं परिगृह्णामि' इत्याह।

६—भावार्थत्वेन तु—'वेदप्रकाशकेश्वरोऽस्मान् प्रत्यभिवदति युष्माभिर्नचान्तरेण वेदमन्त्राणां पठनं तदर्थज्ञानं यज्ञानुष्ठानं च

सुखफलं प्राप्तुं सर्वसुखगुणाढ्याः सुखकारिणोऽन्नजलवाय्वादयः पदार्थाः शुद्धाश्च कर्तुं शक्यन्ते। तस्मादेतेभ्यः त्रिविधस्य यज्ञस्य सिद्धिं प्रयत्नेन निष्पाद्य सुखे स्थातव्यम्। ये चास्यां वायुजलौषधिदूषका दुर्गन्धादयोदोषा दुष्टाश्च मनुष्याः सन्ति ते सर्वदा निवारणीयाः। इति वर्णितवान्,

७— तद्द्वयमपि निःसारम्, येन यज्ञेनेति पदयोर्मन्त्रासंस्पर्शित्वात्। उत्तमैः पदार्थैः कल्याणकारिभिर्गुणैरित्यादीन्यपि मन्त्रबाह्यानेव। एवमेव गायत्रेण छन्दसा त्वा त यज्ञं परमात्मानं वा परिगृह्णामीति प्रतिज्ञा मात्रं न स्वं पोषयितुं क्षममुपपत्तिशून्यत्वात्। त्रिष्टुप् छन्दसा पदार्थसमूहं परिगृह्णामीत्यपि निर्युक्तिकमेव छन्द-

---

'स्योनाचासि सुखदाचासि'—यह द्वितीय मन्त्र है। और उत्तर दिशा में 'ऊर्जष्वती चासि पयस्वती च'—यह तृतीय मन्त्र है। तुम स्योना अर्थात् सुखरूपा हो और जिस पर देव अच्छी तरह से बैठते हैं, ऐसी सुखदा भी तुम हो। यहाँ पर भी दोनों 'च' कार समुच्चय बताने के लिये ही हैं। 'ऊर्जः' शब्द, अन्न का वाचक है। 'पयः' शब्द, उसके विकार दधि आदि का वाचक है। तात्पर्य यह है कि हे वेदि तुम अन्नवती, दध्यादिमती हो। यह तृतीय मन्त्र है।

५—इस पर स्वामी दयानन्द का व्याख्यान इस प्रकार है 'जिस यज्ञ के द्वारा उत्तम पदार्थों के साथ तुम सूक्ष्म होते हो और जिन कल्याणकारक गुण विशिष्ट मनुष्यों से यह कल्याणकारिणी होती है, जिन अनुत्तम सुखों के साथ यह सुखपूर्ण होती है। और जिन उत्तम सुखकारक स्थिति-गतियों के साथ यह सुखप्रद होती है, जिन उत्तम यवादि अन्नों के साथ यह ऊर्जस्वती होती है और जिन उत्तम मधुरादि रस वाले फलों से युक्त होकर यह पयस्वती होती है। यज्ञ विद्या को जानने वाला मैं मनुष्य गायत्र छन्द से उस यज्ञ को स्वीकार करता हूँ। त्रैष्टुभ छन्द से मैं उस पदार्थ समूह को स्वीकार करता हूँ। जागत छन्द से मैं इसको स्वीकार करता हूँ।

६—इसका भावार्थ यह है—'वेद प्रकाशक ईश्वर हमसे यह कह रहा है कि तुम लोग वेद मन्त्रों के पठन के बिना, उसके अर्थ का ज्ञान हुए बिना, और यज्ञ का अनुष्ठान किये बिना सुख रूप फल की प्राप्ति के लिये सर्व प्रकार के सुख गुणों से युक्त अन्न, जल, वायु आदि पदार्थों को शुद्ध नहीं कर सकते हो। इसलिये इनसे त्रिविध यज्ञ की सिद्धि को प्रयत्न पूर्वक प्राप्त कर सुख से रहना चाहिये। इसमें वायु, जल, ओषधि को दूषित करने वाले जो दुर्गन्धादि दोष हों, उनका सर्वदा निवारण करना चाहिये। इस प्रकार दयानन्द ने वर्णन किया है।

७— किन्तु यह व्याख्या और भावार्थ दोनों ही सारहीन है। 'येन और यज्ञेन' ये दोनों पद, मन्त्र से सम्बद्ध नहीं हैं। 'उत्तम पदार्थों से तथा कल्याणकारी गुणों से' इत्यादि शब्द भी मन्त्र के बाहर के हैं। इसी प्रकार 'गायत्रेण छन्दसा' इत्यादि केवल प्रतिज्ञा मात्र है, उपपत्ति से रहित होने के कारण वह प्रतिज्ञा पुष्ट नहीं हुई है। 'त्रिष्टुप् छन्दसा' इत्यादि कथन भी युक्तिरहित है। क्योंकि 'छन्दसा' पद से आह्लाद

सेतिपदेन आह्लादकारित्वम् स्वातन्त्र्यानन्दप्रदत्वमत्यानन्दप्रकाशकत्वं कया व्युत्पत्त्या गृहीतमित्यस्यानुक्तत्वात्। 'इन्द्रियं वीर्यं छन्दांसि रसो वै छन्दांसि' (श० ७।३।१।३७) वीर्यं वै त्रिष्टुप् इत्याद्युद्धरणान्यपि प्रकृतार्थपोषणे नोपयुज्यन्ते। अन्तरेण वेदमन्त्राणां पठनम् तदर्थज्ञानं यज्ञानुष्ठानं सुखफलं प्राप्तुं न शक्यन्ते इत्यपि निर्मूलम् मन्त्र-बाह्यत्वात्।

८—भूमिकायां तु मन्त्राणां पठनमभ्यासार्थमेवाभ्युपगतमिह तु तद्विपरीतं तदन्तराफलमेव न प्राप्तुं शक्यत इत्युच्यते। लोके तु तद्विपरीतमेव दृश्यते। वेदबाह्याश्च वेदमन्त्रपठनमन्तरापि सुखप्राप्ति वायुजलादिशुद्धि चासादय-न्त्येव। शतपथश्रुतिविरुद्धमप्येतत्। तथाहि—देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्या पस्पृधिरे। ततो देवा अनुव्यमि-वासुरथहासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलुभुवनमेवेदमिति' (श० प० १।२।५।१) ते होचुः। हन्तेमां पृथिवीं विभज्योप-जीवामेति। तामौक्षणैश्चर्मभिः पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः।' (श० १।२।५।२)

तद्वै देवाः शुश्रुवुः। विभजन्ते ह वा इमामसुराः पृथिवीं प्रेत तदेष्यामः। यत्रेमामसुरा विभजन्ते ततः स्याम यदस्यैनं भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः।' (श०१।२।५।३)

९—इत्थं स्तम्बयजुर्हरणं तच्च स्तम्बरूपं स्फ्येन मित्वोत्करदेशे हरेत्' (तै० ब्रा० ३।२।९) यजुषा मन्त्रेण हरणीयः पांसुसहितः स्तम्बः स्तम्बयजुस्तस्य हरणम् (तै० सं० १।१।६) वेदिस्थानात्सतृणस्य पांसोर्मन्त्रेणान्यत्र हरणं स्तम्बयजुर्हरणम्। तदनन्तरं वेदिपरिग्रहं वक्तुमितिहासमुपन्यस्यति देवाश्चेति—

१०—उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे स्पर्धां कृतवन्तः। स्पर्धमानानां तेषां मध्ये देवास्ततस्तेभ्योसुरेभ्यः अनुव्यमिव अनुगमनं न्यग्भूमिं प्राप्ता इव बभूवुः। ततस्तेऽसुरा इदं खलु भुवनमस्माकमेवेति मेनिरे। ते होचुः हन्त हर्षस्थाने देवान्य-ग्भूता अतो निष्प्रत्यूहमिमां पृथिवीं विभजामहै विभज्य च यथाभागमुपजीवामेति। एवमुक्त्वा तां पृथिवीमौक्षणैरन-

---

कारित्व, स्वातन्त्र्यानन्दप्रदत्व, अत्यानन्दप्रकाशकत्व आदि अर्थ का स्वीकार किस व्युत्पत्ति से आपने किया है, वह नहीं बताया है। 'इन्द्रियं वीर्यं छन्दांसि रसो वै छन्दांसि' (श० ७।३।१।३७), और 'वीर्यं वै त्रिष्टुप्' इत्यादि उद्धरण जो दिये हैं, वे भी प्रकृत अर्थ के पोषक नहीं हैं। 'वेद मन्त्रों के पठन, उनके अर्थज्ञान, और यज्ञ के अनुष्ठान के बिना सुख फल प्राप्त नहीं किया जा सकता'—यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि मन्त्र से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् मन्त्रबाह्य है।

८—आपने भूमिका में तो मन्त्रों का पठन, अभ्यास के लिये ही माना है। किन्तु यहाँ पर उसके विपरीत 'उसके बिना, फल प्राप्ति ही नहीं हो सकती कह रहे हैं। लोक व्यवहार में उसके विपरीत भी देखते हैं—जो वेदबाह्य लोग हैं, वे वेदमन्त्रों का पाठ किये बिना भी सुख प्राप्त करते हैं। वायु, जल आदि की शुद्धि भी कर लेते हैं। किञ्च दयानन्द स्वामी का कथन, शतपथ श्रुति के विरुद्ध भी है। तथाहि—'देवाश्च वा असुराश्च'—(श० १।२।५।१), 'ते होचुः। हन्तेमां'—(श० १।२।५।२), 'तद्वै देवाः शुश्रुवुः। विभजन्ते'—(श० १।२।५।३), 'इत्थं स्तम्बयजुर्हरणं'—(तै० ब्रा० ३।२।९), 'यजुषा मन्त्रेण हरणीयः'—(तै० सं० १।१।९) इत्यादि।

९—वेदिस्थान से तृण सहित धूलि (पांसु) के अन्यत्र हरण (हटाना) करने की क्रिया को 'स्तम्बयजुर्हरण' कहते हैं। तदनन्तर वेदि परिग्रह को बताने के लिये एक इतिहास उपस्थित किया जा रहा है—'देवाश्चेति'।

१०—दोनों प्राजापत्य (प्रजापति के पुत्र—देव और दैत्य) परस्पर स्पर्धा करने लगे। स्पर्धा करते हुए उन देव-दैत्यों में से देव, उन दैत्यों (असुरों) की अपेक्षा कुछ निर्बल से पड़ गये। तब उन असुरों ने यह समझ लिया कि 'यह सम्पूर्ण भुवन निश्चित रूप से अब हमारा ही है।' वे (असुर) बोले—बड़े हर्ष की बात है कि देव पराजित हो गये हैं। अतः इस पृथ्वी को अब हम निर्विघ्नतया आपस में बाँट लेंगे। बाँटकर अपने अपने भाग को प्राप्त करके

डुत्सम्बन्धिभिश्चर्मभि: पश्चात् प्रतीचीं दिशमारभ्य प्राञ्च: प्राङ्मुखा विभजमाना अभीयु: अभिजग्मुरित्यर्थ:। तद्वै देवा: शुश्रुवु: असुरा इमां पृथिवीं विभजन्त इति। अधुनास्माकं तूष्णीमवस्थानमनुचितमस्माभिरपि तद्विषये प्रयतितव्यम् इति परस्परमभिमुखीकृत्य प्रतिपाद्यते–हे देवा: प्रेत यूयं गच्छत प्रोत्सहध्वम्, यत्रासुरा विभजन्ते तत्स्थानं गन्तव्यम्। गत्वाचासुरान् अस्यां पृथिव्यां नोऽस्मानेव अन्वाभजत संयोजयत भागेन; अस्माकमप्यस्यां पृथिव्यां भागोऽस्त्विति होचु:। ते हासुरा असूयन्त इव अनादरमेवं कुर्वाणा यावन्तं देशं व्याप्यैष विष्णु: शेते तावत्परिमाणं स्थानं युष्मभ्यं प्रयच्छामेत्युक्तवन्त:। असुरैस्तथोक्ते देवास्तदङ्गीचक्रु:। विष्णुर्हि तदानीं वामन: खर्वो बभूव। अतएवासुरास्तेनाक्रान्तं स्थानं प्रयच्छाम इत्यब्रुवन्। अथापि तत् असुरैरुक्तम् देवा नजिहीडिरे नह्यनाहृतं चक्रु: किन्त्वाद्रियन्तेस्मेत्यर्थ:। (हेडृ अनादरे) भ्वादि:। नोयज्ञसम्मितं स्थानं दत्तवन्तो यत् महद्वै तत् दत्तवन्त इति। एवं विचार्य ते यज्ञात्मकं विष्णुं प्राञ्चं प्राक्शिरसं निपात्य दक्षिणत: पश्चात् उत्तरतश्च गायत्र्यादिछन्दोभि: सर्वत: पर्यगृह्णन्। तं विष्णुं छन्दोभिरभितो गायत्र्यादिभिश्छन्दोभि: परिगृह्य पुरस्तात् पूर्वस्यां दिश्याहवनीयमग्निं समाधाय प्रज्वाल्य तेन विष्णवात्मकेन यज्ञेन अर्चयन्त: पूजयन्त: परमेश्वरं श्राम्यन्त: कर्मानुष्ठानजनितं श्रमं प्राप्नुवन्त: चेरु:। पूर्ववत् ववृतिरे। चरित्वा च तेन यज्ञात्मकस्याधारभूतेन स्थानेन देवा: सर्वामिवेमां पृथिवीं सम्यगलभन्त। अतोविद्यते लभ्यतेनेनेति यज्ञस्थानस्य वेदीरिति नामधेयं जातम्।

गत्वा च यत् यदि अस्यै अस्या: पृथिव्या: सम्बन्धिस्थानं न भजेमहि न प्राप्नुयाम: ततर्स्तहि वयमभागिन: के स्याम के भविष्याम: ? न केऽपि अर्थात् सर्वथा नगण्या एव भविष्याम इत्यर्थ:। एवमालोक्य ते यज्ञरूपमेव विष्णुं पुरस्कृत्य पुनर्जग्मु:।

११—ते होचु: अनु नोऽस्यां पृथिव्यामाभजतास्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति। तेहासुरा असूयन्त इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो दद्म इति।' (श० प० १।२।५।४)

अपनी उपजीविका चलायेंगे। ऐसा कहकर उस पृथ्वी को बैल के चर्म से पश्चिम दिशा से आरम्भ कर पूर्व दिशा तक नापकर उन्होंने उसे बाँट लिया। इस बात को देवों ने सुना कि असुरों ने इस पृथ्वी को आपस में बाँट लिया है। इस समय हमारा चुपचाप (निष्क्रिय) होकर बैठना उचित नहीं है। अत हमें भी उस विषय में प्रयत्नशील होना चाहिये। इस प्रकार एक दूसरे के सन्मुख होकर कहने लगे। हे देवों ! तुम लोग उत्साह धारण करके चल पड़ो, जहाँ असुर लोग इस पृथ्वी को बाँट रहे हैं, उस जगह चलो। उन असुरों के पास चलकर कहें कि इस पृथ्वी पर हमारा भी भाग रखो। इस पृथ्वी में हमारा भी हिस्सा (भाग) रहे, ऐसा देवों ने कहा। तब उन असुरों ने असूया से भरकर बड़े अनादर भाव से कहा कि जितने स्थान को व्याप्त कर यह विष्णु सो सकता है उतना परिमित स्थान तुम लोगों को हम देंगे। इस प्रकार असुरों के कहने पर देवों ने उसे स्वीकार कर लिया। उस समय विष्णु ने अपने को वामन (बौना) बना लिया। इसीलिये विष्णु के द्वारा व्याप्त होने वाले स्थान को देना असुरों ने स्वीकार कर लिया। असुरों ने जो देने के लिये कहा उसका देवों ने भी अनादर नहीं किया। हमारे लिये यज्ञ परिमित स्थान जो असुरों ने दिया, वह बहुत दे दिया है। ऐसा सोचकर उन देवों ने यज्ञात्मक विष्णु को पूर्व दिशा की ओर सिर से लिटाकर दक्षिण, पश्चिम और उत्तर तक गायत्री आदि छन्दों के सहारे सब ले लिया। गायत्री आदि छन्दों के द्वारा विष्णु को सब ओर व्याप्त कर दिया। पूर्व दिशा में आहवनीय संज्ञक अग्नि को प्रज्वलित कर उसे विष्णु रूप यज्ञ से पूजन किया। कर्मानुष्ठान से हुए परिश्रम से श्रान्त हो गये। इस प्रकार यज्ञात्मक विष्णु के आधारभूत स्थान के द्वारा देवों ने सम्पूर्ण पृथ्वी को अच्छी तरह से प्राप्त कर लिया। यज्ञस्थान को 'वेदि' नाम देने का यही रहस्य है—'विद्यते लभ्यते अनेन इति वेदि:'। जिससे सम्पूर्ण पृथ्वी का लाभ होता है, उसे 'वेदि' कहते हैं। असुरों के पास जाकर यदि पृथिवी का भाग प्राप्त न हो, तो हमसे बढ़कर कौन अभागा होगा। अर्थात् कोई नहीं होगा। सब तरह से हम नगण्य ही हो जायेंगे। यह सोचकर यज्ञरूप विष्णु को अगुआ बनाकर पुन: चल पड़े।

१२—'वामनो ह विष्णुरास । तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्येनो यज्ञसम्मितमदुरिति ।' (श० १।२।५।५)

१३—'ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् । गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति । दक्षिणतस्त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति । पश्चाज्जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः ।' (श० १।२।५।६)

१४—'तं छन्दोभिरभि तः परिगृह्य अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त । तद्यदेनेनेमाꣳ सर्वाꣳ समविन्दन्त तस्मात् वेदिर्नाम । तस्मादाहुर्यावती पृथिवीत्येत या ही माꣳ सर्वाꣳ समविन्दन्त्वं ह वा इमाꣳ सर्वाꣳ सपत्नानाꣳ संवृङ्क्ते निर्भजत्यस्यै सपत्नान् य एवमेतद्वेद ।' (श० १।२।५।७)

१५—तदेदन्निर्वचनं श्रुत्या प्रदर्श्यते तद्यदेति—नेमाꣳ सर्वाꣳ समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम । तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवी । एतया इमां सर्वां समविन्दन्देति ।

१६—इत्थं पुरावृत्तमुपन्यस्य प्रकृते योजयति—यथैव हि वेदिपरिग्रहात् देवा असुरसकाशात् कृत्स्नां पृथिवीमपहृतवन्तः, एवमेवायं यजमानोऽपि शत्रुसम्बन्धिनीं सर्वां भूमिमपहरति तांश्च शत्रून् अस्याः पृथिव्या निर्भजति भागरहितान् करोति । तस्माद् गायत्रेणेत्यादिभिर्मन्त्रैः स्फ्येन वेदिं दक्षिणतः पश्चादुत्तरतश्च रेखया परिगृह्णीयादित्यर्थः । यस्माद् भूप्रदेशादररुर्निष्कासितस्तस्मिन् भूप्रदेशे वेदेरियत्तां निश्चेतुं दक्षिणादिदिक्त्रये स्फ्येन रेखात्रयं कुर्यात् । हे वेदि त्वा गायत्र्यादिछन्दस्त्रयरूपतया भावितेन स्फ्येन दिक्त्रये परिगृह्णामि तत्तच्छन्दोदेवतादिक्त्रये त्वामसुरेभ्यः पालयिष्यामि । पूर्वस्यां दिश्याहवनीयाग्निरेव पालकोऽस्तीत्यभिप्रायः ।

१७—तैत्तिरीयरीत्यापि पुरा कदाचिदसुराणां विजये सत्येषा पृथिवी कृत्स्नापि तेष मेव स्वभूतासीत् देवानां भूम्यंशः कोऽपि स्वभूतो नासीत् किन्तु यो देवो यत्र यदोपविष्टो यावद्दूरं पश्यति तत्र तावान् देशस्तस्य देशस्य स्वाधीनोऽभवत् । ततो देवा असुरान् अयाचन्त युष्मदधीनायामस्यां पृथिव्यां कोऽप्यंशो नियताऽपेक्षितः तत्र तत्र कियत्स्थानमस्मभ्यं

११—'ते होचुः अनुनोऽस्यां'—(श० १।२।५।४), वामनो ह विष्णुरास'—(श० १।२।५।५), 'ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य' (श० १।२।५।६), 'तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य' (श० १।२।४।७)

१५—इस निर्वचन को श्रुति के द्वारा प्रदर्शित किया गया है ।

१६—इस प्रकार पुरावृत्त का उपन्यास करके प्रकृत में उसकी योजना कर रहे हैं—जैसे वेदि परिग्रह के व्याज से देवों ने असुरों से सम्पूर्ण पृथिवी का अपहरण कर लिया, उसी प्रकार यह यजमान भी शत्रु की समस्त पृथ्वी का अपहरण कर लेता है । और उन शत्रुओं को इस पृथिवी के भाग से रहित कर देता है । इसलिये 'गायत्रेण' इत्यादि मन्त्रों को कहकर 'स्फ्य' के द्वारा दक्षिण पश्चिम और उत्तर की रेखाओं को करते हुए वेदि का परिग्रह (स्वीकार) करे । जिस भूप्रदेश से 'अररु' को निष्कासित किया है, उस भूप्रदेश में वेदि की इयत्ता को निश्चित करने के लिये दक्षिणादि तीन दिशाओं में 'स्फ्य' से तीन रेखाओं को करे । हे वेदि ! गायत्री आदि तीन छन्दों के रूप में भावित किये हुए स्फ्य से तीन दिशाओं में तुम्हारा स्वीकार कर रहा हूँ । तत्तच्छन्दों की देवताएँ तीन दिशाओं में तुम्हारा पालन करेंगी । पूर्व दिशा में आहवनीय अग्नि ही पालक है ।

१७—तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार भी पहले किसी समय असुरों का विजय होने पर सम्पूर्ण पृथिवी ही उनकी अपनी हो गई । भूमि का कोई भी अंश देवों का अपना नहीं रहा । किन्तु जो देव जहाँ जब बैठा और जितनी दूर तक वह देख पाया वहाँ तक का देश उसके स्वाधीन हो गया । तब देवों ने असुरों से याचना की तुम्हारी अधीन हुई इस पृथिवी पर कोई भी अंश नियत होना चाहिये, उसमें कितना स्थान हमें दोगे ? जितना तुमने परिगृहीत किया होगा उतना देंगे, ऐसा असुरों ने कहा । इसलिये यह वेदि परिग्रह असुरों का हुआ, और बैठा हुआ देव जहाँ तक

दास्यथेति । ततोऽसुरा यावद्भिः परिगृहीतं तावद् दास्याम इत्यवोचन् । तस्मादयं वेदिपरिग्रहः असुराणां वा इयमग्र आसीत् यावदासीनः परापश्यति तावद्देवानाम् । ते देवा अब्रुवन् कस्त्वेव नोऽस्यामपीति कियत्सेयं स्वांशोऽन्योदास्यथेति यावत्स्वयं परिगृह्णीथेति श्रुतेः । तत्र वेदिखननात् पुरा क्रियमाणः पूर्वपरिग्रहः पश्चात् क्रियमाण उत्तरपरिग्रहः । अन्यत्रूक्तमेव सिद्धान्तव्याख्याने । नात्र दयानन्दोक्तेर्मनागपि शतपथव्याख्यानेन सम्बन्धः ।

१८—सोऽयं विष्णुर्ग्लानः छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमास । स तत एवौषधीनां मूलान्युपमुम्लोच ।' (श० १।२।५।८)

१९—वेदेः खननं विधित्सुः प्रकृतमितिहासशेषमनुक्रामति—स यज्ञात्मको विष्णुः दक्षिणतः पश्चादुत्तरतश्च छन्दोभिः परिगृहीतत्वात् पूर्वस्याञ्च दिश्यग्नेरवस्थानादितस्ततश्चलितुमशक्यत्वात् ग्लानः श्रान्तः सन् अपक्रमणमपगमनं नास न जगाम । 'अस गतिदीप्त्यादानेषु भ्वादिः । इत्यस्माल्लिटि रूपम् । यद्वा अस्तेरेव लिटि छान्दसो भूभावाभावः । ग्लानस्य तस्य विष्णोरपगमनं न बभूवेत्यर्थः । स सर्वतो गृहीतो विष्णुः तत एव तस्मिन्नेव स्थाने ओषधीनां मूलान्युपेत्य भूम्यन्तर्गतः सन् मुम्लोच अस्तं गतः अदृश्यो बभूव ।

२०—'तेह देवा ऊचुः क्व नु विष्णुरभूत् क्व नु यज्ञोऽभूदिति ते होचुश्छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमस्त्यत्रैवान्विच्छतेति । तं खनन्त इवान्वीषुस्तं त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दंस्तस्मात् त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात् तदुहापि पाञ्चिस्त्र्यङ्गुलामेव सौम्यस्याध्वरस्य वेदिं चक्रे ।' (श० १।२।५।९)

२१—'तदु तथा न कुर्यात् । ओषधीनां वै समूलान्युपाम्लाचत्तस्मादोषधीनामेव मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयाद्यन्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद्वेदिं चक्रे ।' (श० १।२।५।१०)

२२—देवा विष्णुमपश्यन्तो वितर्कितवन्तः विष्णु क्व कुत्राभूत् तदात्मको यज्ञश्च क्वाभूत् । एवं वितर्क्य तैर्निर्णीतमर्थं श्रुतिर्दर्शयति—चतसृषु दिक्षु परिवृतत्वेन गमनासम्भवात् अत्रैव स्थाने तस्य विष्णोरन्वेषणं कुरुतेत्यर्थः ।

देख रहा था, वहाँ तक का भाग देवों का हुआ तब देव कहने लगे कि तुम्हारे समान हमारा भी इस भूमि पर कौन सा भाग है ? कितना और अंश हमें दोगे ? जितना तुम स्वयं ले रहे हो । वेदि के खनन करने के पूर्व किया जाने वाला पूर्व परिग्राह है, और पश्चात् किया जाने वाला उत्तर परिग्रह है । शेष सब सिद्धान्त व्याख्यान में कह चुके हैं । इस दयानन्दोक्ति में शतपथ व्याख्यासे किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है ।

१८—'सोऽयं विष्णुर्ग्लानः'—(श० १।२।५।८) वेदि के खनन का विधान करने की इच्छा से प्रकृत शेष इतिहास को बता रहे हैं । दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाएँ छन्दों के द्वारा परिगृहीत होने के कारण और पूर्व दिशा में अग्नि के स्थित रहने से इधर-उधर चलना शक्य न होने से वह यज्ञात्मक विष्णु श्रान्त होता हुआ वहाँ से निकल नहीं पाया । 'आस' यह क्रिया पद 'अस' गतिदीप्त्यादानेषु भ्वादि गण के धातु के लिट् लकार में होता है। अथवा 'अस्' धातु के ही लिट् लकार में यह रूप है, यहाँ भूभाव का अभाव छान्दस है । अभिप्राय यह है कि ग्लान हुए विष्णु का वहाँ से अपक्रमण (निर्गमन) नहीं हुआ । सब ओर से परिवृत (घिरा हुआ) हुआ विष्णु उसी स्थान में भूमि के भीतर चला गया और अदृश्य हो गया ।

२०—'तेह देवा ऊचुः'—(श० १।२।५।९), 'तदु तथा न कुर्यात्'—(श० १।२।५।१०) ।

२२—उक्त शतपथ बता रहा है कि जब देवों ने विष्णु को नहीं देखा तब वे सोचने लगे कि विष्णु कहाँ गया ? विष्णु रूप यज्ञ कहाँ गया ? इस प्रकार सोचते हुए उन्होंने जो निर्णय किया, उसे श्रुति बता रही है—चारों दिशाओं में परिवृत (घिरा हुआ) होने से यहाँ से उसका निकल जाना तो सम्भव नहीं है । अतः इसी जगह उस विष्णु का अन्वेषण (खोज) करो । इस प्रकार परस्पर निश्चय कर भूमि को खोदते हुए विष्णु का अन्वेषण करने लगे ।

इत्थं परस्परं निश्चित्य भूमिं खनन्त इव विष्णुमन्विष्टवन्तः। अन्विष्य तं भूम्यन्तस्त्र्यङ्गुले अन्वविन्दन् अलभन्त। वत एवमत इदानीमपि यज्ञलाभाय वेदेस्त्र्यङ्गुलमात्रं खननं कर्त्तव्यमिति विधत्ते—तस्मात् त्र्यङ्गुलमिति, तस्मात् त्र्यङ्गुलपरिमाणेन खाता वेदिर्भवेदित्यर्थः वेदेस्त्र्यङ्गुलखननमृषिसंवादेन दृढयति—पाश्चिर्नाम कश्चित्। स खलु सोमयागस्यापि त्र्यङ्गुलखातामेव वेदिं कृतवान्। अतोऽत्रापि त्र्यङ्गुलखाता वेदिर्युक्तेति।

२३—तमिमं पक्षं निषिध्य पक्षान्तरमाह—स विष्णुरोषधीनां खलु मूलानि उपेत्यान्तर्हितोऽभवत्। तस्माद्यावद्देशे भूम्यामन्तरौषधीनां मूलानि प्रसरन्ति तावत्पर्यन्तं खात्वा तन्मूलान्येवोच्छेत्तुं ब्रूयात्। 'तुमर्थे सेसेनसे' (पा० सू० ३।४।९) इति वै प्रत्ययः। पूर्वं कृत्स्नपृथ्वीलाभहेतुतया वेदिं नाम निरुक्तम्। यज्ञाधिकरणस्य विष्णोर्लाभाधिकरणतयापि तन्निर्वक्ति—यज्ञरूपविष्णुमन्वविन्दन्। तस्माद् वेदिर्नाम तमनुविद्योत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन् सुक्ष्मा चासि शिवा चासीति।

२४—तमनुविद्योत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन् सुक्ष्मा चासि शिवाचासि। दक्षिणत इमावेवैतत् पृथिवी ४ँ संविद्य सुक्ष्मा ४ँ शिवामकुर्वन् स्योना चासि सुषदा चासीति। पश्चादिमामेवैतत् संविद्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वन्।' (श० १।२।५।११)

२५—'स वै त्रिः पूर्वपरिग्रहं परिग्रहणाति त्रिरुत्तरम्। तत् षट्कृत्वः षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेतत् परिगृह्णातीति।'(श० १।२ ५।१२)

२६—वेदेरुत्तरपरिग्रहः कर्त्तव्य इतीतिहासमुखेन विधिमुन्नयति तं विष्णुमनुविद्य लब्ध्वोत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन् देवाः, गायत्रेण त्वा च्छन्दसेत्यादिभिः प्राकृतः पूर्वपरिग्रहः, तदपेक्षयास्योत्तरत्वम्। सुक्ष्मा चासि शिवा चासीति यजुषा वेदेर्दक्षिणतः स्फ्येन लेखया गृह्णीयात्।

२७—मन्त्रतात्पर्यमाह—इमामेवैतत् पृथिवी ४ँ संविद्य सुक्ष्मां शिवामकुर्वन् स्योनाचासि सुषदा चासीति मन्त्रेण पश्चात् वेदेः पश्चिमायां दिशि स्फ्येन रेखया परिगृह्णीयात्।

खोदते हुए उन्होंने भूमि के तीन अंगुल भीतर उसे पा लिया। यही कारण है कि आज भी यज्ञ के लाभार्थ (यज्ञात्मक विष्णु की प्राप्ति के लिये) वेदि का तीन अंगुल मात्र खनन करने का विधान 'तस्मात् त्र्यङ्गुलमिति' उपलब्ध होता है। अर्थात् त्र्यंगुल परिमाण तक वेदि का खनन करना चाहिये। किसी ऋषि के सम्वाद से भी वेदि के त्र्यंगुल खनन का समर्थन हुआ बता रहे हैं—'पाश्चि' नाम के एक ऋषि थे। उन्होंने सोमयाग के लिये भी त्र्यंगुल खाता ही वेदि की थी। अतः यहाँ भी त्र्यंगुलखाता वेदि का बनाना ही उचित है।

२३—उक्त पक्ष का निषेध कर एक दूसरे पक्ष को बता रहे हैं—वह विष्णु ओषधियों के मूल (जड़) तक पहुँच कर अन्तर्हित (अदृश्य) हो गया। इसलिये भूमि के भीतर जितने स्थान तक ओषधियों के मूल (जड़ें) फैली हों, वहाँ तक खोदकर ओषधियों के मूल को ही उखाड़ने के लिये कहे। 'तुमर्थे सेसेनसे'—(पा० सू० ३।४।९) से 'तवै' प्रत्यय किया गया है। 'वेदि' के नाम की निरुक्ति जो पहले बताई थी, वह सम्पूर्ण पृथिवी के लाभार्थ बताई थी। अब यज्ञात्मक विष्णु के लाभ का स्थान (अधिकरण) ही वह होने से उसका 'वेदि' शब्द से नामकरण किया गया है, यह बात 'यन्न्वेवात्र' से बताई गई है। इस प्रकार देवों ने यज्ञ रूप विष्णु को प्राप्त किया।

२४—'तमनु विद्योत्तरेण'—(श० १।२।५।११) 'स वै त्रिः पूर्व परिग्रहं' (श० १।२।५।१२) 'वेदि का उत्तर परिग्रह करना चाहिये' इस विधि की कल्पना इतिहास के आधार पर की जा रही है। उस विष्णु को पाकर देवों ने उत्तर परिग्रह से उसको स्वीकार किया। 'गायत्रेण त्वा छन्दसे' इत्यादि के द्वारा किया जाने वाला प्राकृत पूर्व परिग्रह है। उसकी अपेक्षा से यह उत्तर है। 'सूक्ष्माचासि, शिवा चासि' इस यजुर्मन्त्र से वेदि के दक्षिण की ओर 'स्फ्य' से रेखाओं को करते हुए ग्रहण करे। यही उत्तर परिग्रह का स्वरूप है।

२८—मन्त्राभिप्रायमाह—इमामेवैतत् पृथिवीं संविद्य स्योनां सुषदामकुर्वन् । सोऽध्वर्युरनेन मन्त्रेणेमां पृथिवीं देवोपवेशन योग्यां करोति । 'ऊर्जस्वती चासि पयस्वती चे'ति मन्त्रेणोत्तरतस्तथैव स्फ्येन लेखया गृह्णीयात् ।

२९—तदभिप्रायश्चाह श्रुतिः—इमामेव पृथिवीं संविद्य मन्त्रेण स्फ्येन लेखया परिगृह्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वत। अर्क् शब्देन बलकरो रसो विवक्षितः—पयस्वतीत्यस्य व्याख्यानम् उपजीवनीयां करोतीति—पयस्विनी हि गौर्लोके उपजीव्यते ।

३०—पूर्वोत्तरयोः परिग्रहयोः संख्यां समुच्चित्य प्रशंसति—स वै त्रिः पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति त्रिरुत्तरं तत् षट्कृत्वः । षड्वा ऋतवः संवत्सरस्य—षड्तुसमुदायात्मकं संवत्सरात्मकं यज्ञमेव सम्पादयति—सवत्सरात्मकः प्रजापतिः । संवत्सरकालभरणेन जातत्वादभेदोपचारः । 'तमेतावन्तं कालमबिभर्यावान् संवत्सरः, तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजते' (बृ० उ० १।२ ४) तिश्रुतेः । 'ओश्रावय' 'अस्तु श्रौषट्' 'यज' 'ये यजामहे' 'वषट्' इति सप्तदशाक्षरसाध्यत्वात् 'एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्त' (तै० सं० २।६।११) इति श्रुतेर्यज्ञश्च सप्तदशात्मकः यज्ञः यावान् यत्परिमाणविशिष्टः अस्य यज्ञस्य मात्रा परिमाणं च यावत् तत्परिमाणविशिष्टमेवैतं यज्ञं षट्संख्यात्वसम्पादनेन परिगृह्णाति स्वीकरोतीत्यर्थः ।

३१—'षड्भिर्व्याहृतिभिः पूर्वपरिग्रहं परिगृह्णाति षड्भिरुत्तरं तद् द्वादशकृत्वो द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः । स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत् परिगृह्णाति ।' (श० १।२।५।१३)

३२—पूर्वोत्तरपरिग्रह्योर्मन्त्रावयवसंख्यामनूद्य समुच्चित्य प्रशंसति—षड्भिर्व्याहृतिभिः पूर्वपरिग्रहं गृह्णाति षड्भिरुत्तरमिति । व्याह्रियन्ते इति व्याहृतयो मन्त्रावयवाः । ते च पूर्वपरिग्रहे षट् गायत्रेण त्वा त्रैष्टुभेन त्वा जागतेन

२७—मन्त्र के द्वारा इसी तात्पर्य को बताते हैं—'इमा मेवैतत् पृथिवी ७ संविद्य' मन्त्र से वेदि के पश्चिम दिशा में 'स्फ्य' से रेखा करते हुए परिग्रह करे ।

२८—मन्त्र का अभिप्राय इस प्रकार है—अध्वर्यु इस मन्त्र से उस पृथिवी को देवों के बैठने योग्य करता है । 'उर्ज्जस्वती चासि पयस्वती च' इस मन्त्र से वेदि की उत्तर दिशा में पूर्वोक्त प्रकार से ही 'स्फ्य' से रेखाकरण करते हुए परिग्रह करे ।

२९—उसी का अभिप्राय, श्रुति कह रही है—मन्त्रोच्चारण करते हुए 'स्फ्य' से रेखाकरण के द्वारा इस पृथिवी को रसवती और उपजीवनीय बनावे । 'अर्क्' शब्द से बलकारक रस विवक्षित किया गया है । 'पयस्वती' की व्याख्या 'उपजीवनीयां करोति' उपजीवनीय बनाता है, की गई है । लोक व्यवहार में भी पयस्विनी गाय ही उपजीव्य कही जाती है ।

३०—पूर्व और उत्तर दोनों परिग्रहों की संख्या की सम्मिलित प्रशंशा की जा रही है—'स वै त्रिः पूर्वं परिग्रहं' के द्वारा । अभिप्राय यह है कि षड्तुसमुदायात्मक संवत्सरस्वरूप यज्ञ का ही सम्पादन संवत्सरात्मक प्रजापति कर रहा है । संवत्सर काल का भरण करने से उत्पन्न होने के कारण यह अभेदोपचार दिखाया गया है । वृहदारण्यक श्रुति (बृ० उ० १।२।४) ने भी इसका समर्थन किया है । ओश्रावय', 'अस्तु श्रौषट्', 'यज', 'ये यजामहे', 'वषट्' इन सप्तदश (सत्रह) अक्षरों से साध्य होने से तथा तैत्तिरीय श्रुति (तै० सं० १।६।११) के बताने से भी 'यज्ञ' को सप्तदशात्मक यज्ञ कहते हैं । जितना परिमाण इस यज्ञ का है, उसकी मात्रा का परिमाण भी, उतनी ही परिमाण का होगा, इस प्रकार के उस यज्ञ की षट् संख्या का सम्पादन करके उसको स्वीकार किया जाता है ।

३२—पूर्वोत्तर परिग्रहों की मन्त्रावयव संख्या का अनुवाद कर दोनों की सम्मिलित प्रशंसा 'षडभिर्व्याहृति०' (श० १।२।५।१३) इस ब्राह्मण के द्वारा की जा रही है । छह व्याहृतियों से पूर्व परिग्रह का ग्रहण करता है और

त्वेति त्वान्तास्त्रयः छन्दसा परिगृह्णाति गृह्णाम्यन्तास्त्रयः 'उत्तरपरिग्रहे च सुक्ष्मासीत्येवमस्यन्ताः षड् व्याहृतयः। तद् द्वादशकृत्वो द्वादशमासाः संवत्सरस्य भवन्ति। शेषं पूर्ववत्।

३३—'व्याम मात्री पश्चात् स्यादित्याहुः। एतावान् वै पुरुषः। पुरुषसम्मिता हि त्र्यरत्निः प्राची त्रिवृद्धि यज्ञो नात्र मात्रास्ति यावतीमेव स्वयं मनसा मन्येन तावतीं कुर्यात्।' (श० १।२।५।१४) गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये सा वेदिरायाश्रतो यजमानमात्री। सा च पश्चात् विस्तृत्या चतुररत्निः पुरस्तात् त्र्यरत्निः कार्येति विधत्ते— व्याममात्रीति। प्रसारितकरद्वयान्तराललक्षणा त्रिभिररत्निभिर्विस्तृता प्राग्भागे त्रिवृद्धि यज्ञः। सवनत्रयादिरूपेण यज्ञस्य त्रिवृत्त्वम्। अथवा नात्र वेद्यां परिमाणं नैवास्ति। यावतीं यत्परिमाणविशिष्टामेव वेदिं स्वयं मनसा हविरासादनादि-कार्यपर्याप्तां मन्येत तत्परिमाणविशिष्टां वेदिं कुर्यात्। तथैव कात्ययनोऽप्याह पक्षद्वयम् व्याममात्रीं पश्चात् त्र्यरत्निं प्राचीमपरिमितां वा। सा वै अभितोऽग्निम ँ सा उन्नयति। यो षा वै वेदिः, वृषाग्निः परिगृह्य वै योषा वृषाण ँ शेते मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते तस्मादभितोऽग्निम ँ सा उन्नयति।' (श० १।२।५।१६)

३४—वेद्यंसयोराहवनीयस्य स्पर्शं विधत्ते—अग्निमभित आहवनीयस्य दक्षिणोत्तरपार्श्वयोर्वेद्यंसौ उन्नयति ऊर्ध्वं प्रापयति तदेतत्प्रशंसति योषा वै वेदिर्वृषाग्निरिति। लोके हि योषित् पुमांसमंसाभ्यां परिष्वज्य शेते। अतो वेदेरप्यंसाभ्यामग्नेः परिष्वङ्गो युक्त एवेतिभावः। मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते। तस्मादभितोऽग्निमंसा उन्नयति। सा वै पश्चात् वरीयसी स्यात् मध्ये स ँ ह्वारिता पुनः पुरस्तादुर्व्येवमिह योषां प्रशंसन्ति। पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरां सा मध्ये सङ्ग्राह्या जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति।' (श० १।२।५।१६)

छह व्याहृतियों से उत्तर परिग्रह का ग्रहण करता है। 'व्यवह्रियन्ते इति व्याहृतयः' अर्थात् जो व्यवहृत होती हैं उन्हें 'व्याहृति' कहते हैं। एवञ्च 'व्याहृति' का अर्थ है—'मन्त्रावयव'। पूर्व परिग्रह में मन्त्रावयवों (व्याहृतियों) की संख्या छह है। (१) गायत्रेण त्वा, (२) त्रैष्टुभेन त्वा, (३) जागतेन त्वा, इस प्रकार से तीन तो 'त्वान्त हुए। और 'छन्दसा परिगृह्णामि' जैसे 'गृह्णाम्यन्त' तीन हुए, दोनों मिलकर छह होते हैं। तथा उत्तर परिग्रह में 'सूक्ष्मासि' इस प्रकार 'अस्यन्त', छह व्याहृतियाँ हैं। इस प्रकार पूर्वोत्तर परिग्रह की मिलकर बारह व्याहृतियाँ ही एक सवत्सर (वर्ष) के बारह मास कहलाते हैं। बाकी सब पूर्ववत् ही है।

३३—'व्याममात्री पश्चात् स्यात्' (श० १।२।५।१४) यह ब्राह्मण वेदि निर्माण के प्रकार को बता रहा है। गार्हपत्य और आहवनीय के मध्य मे उस वेदि को आयाम (लम्बाई) में यजमान के परिमाण की और पश्चात् भाग में चार रत्नी विस्तृत (चौड़ी) और पूर्व भाग में (सामने) तीन अरत्नि के परिमाण की करना चाहिये। फैलाये हुए दो हाथों के मध्य भाग को 'व्याम' कहते हैं। अर्थात् फैलाये हुए दो हाथों के बीच परिमाण के समान तीन अरत्नि की विस्तृत (चौड़ी) वेदि, प्रग्भाग में बनानी चाहिये। यह यज्ञ त्रिवृत् है। यज्ञ की त्रिवृत्ता, तीन सवनों के रूप में है। कतिपय ऋषियों का कहना है कि उक्त ब्राह्मण के द्वारा वेदि का परिमाण नहीं बताया गया है। स्वयं ही अपने मन से हविरासादनादि कार्य के लिये पर्याप्त जितनी भूमि समझे उतने ही परिमाण से युक्त वेदि का निर्माण करे। कात्यायन ने भी इसी तरह दो पक्षों को बताया है—'व्याममात्रीं पश्चात् त्र्यरत्निं'—(श० १।२।५।१५) इति।

३४—'अग्निमभित आहवनीयस्य'—(श० १।२।५।१६) ब्राह्मण से वेदि के दोनों अंस प्रदेशों में आहवनीय के स्पर्श का विधान किया जा रहा है। 'योषा वै' से लौकिक स्त्री की तरह सिद्धवत् कहे गये स्त्रीत्व का उपपादन कर 'सा वा' से उसकी प्रशंसा की गई है। 'व्याम मात्री पश्चात्' से उस वेदि को विस्तीर्णतर बताया गया है। 'त्र्यरत्नि प्राची' यह विधान होने से पश्चिमत भाग के अनन्तर रहने वाले बीच के भाग में संकुचित और पूर्व भाग में विस्तीर्ण बनाई जाती है। इस प्रकार से वेदि के स्वरूप को बताकर उसकी समानता योषित् (स्त्री) में जोड़ दी गई है। 'विमृष्टान्तरां सा' से पृथु श्रोणि वाली, विपुल नितम्ब वाली, और उसके दोनों अंसों का मध्य भाग अत्यन्त न्यून

३५—योषा वै इति सिद्धवदुक्तं स्त्रीत्वं लौकिकस्त्रीत्वसामान्येनोपपाद्य प्रशंसति सा वा इति सा वै वेदिः वरीयसी उरुतरा विस्तीर्णतरा उक्तं व्याममात्री पश्चादिति। मध्ये प्रत्यग्भागानन्तरभाविनि मध्यदेशे संहारिता सङ्कुचिता पुरः पूर्वभागे उर्वी विस्तीर्णा त्र्यरत्नि प्राचीतिविधानात्। एवं वेदिस्वरूपमभिधाय तत्साम्यं स्त्रियां योजयति विमृष्टान्तरां सेति श्रोणितो विमृष्टं पृथुश्रोणिर्विपुलनितम्बा न्यूनमन्तरवकाशो ययोस्तौ विमृष्टान्तरौ तथाविधावंसौ यस्याः सा तथोक्ता मध्यदेशे हस्तेन सङ्ग्रहीतुं शक्या कृशोदरी एवं प्रशस्तयोषिदाकारां वेदिं कुर्वन् देवेभ्यो जुष्टां प्रियां करोति।

३६—'सा वै प्राक् प्रवणा स्यात् प्राची हि देवानां दिगथो उदक्प्रवणोदीची हि मनुष्याणां दिक् दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहत्येषा वै दिक् पितॄणा ं सा यद्दक्षिणप्रवणा स्यात् क्षिप्रेह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो दूहन् यजमानो ज्योग्जीवति तस्माद् दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति पुरीषवतीं कुर्वीत पशवो वै पुरीषं पशुमतीमेवैनामेतत्कुरुते।' (श० १।२।५।१७)

३७—अथ सा वेदिः प्राक् प्रवणा उदक् प्रवणा वा कार्येति विधत्ते—प्राक् प्राच्यां दिशि प्रवणं निम्नं यस्याः सा तथोक्ता, प्राच्या दिशो देवसम्बन्धित्वं दिग्विभाजनसमये तस्या देवैरात्मीयतया स्वीकारात्। 'देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त। प्राचीं देवाः' (तै० ६।१।१।१) इति श्रुतिप्रसिद्धेः। अथो उदक्प्रवणा वा कार्या, उदीच्या मनुष्यसम्बन्धः शान्तरूपत्वात्। 'एषा वै देवमनुष्याणां शान्ता दिक्।' (तै० ब्रा० २।१।३ ५)

३८—वेदेर्दक्षिणभागस्य पांसुभिरौन्नत्यकरणं विधीयते—दक्षिणतः पुरीषं खातं पांसुं प्रत्युदूहति प्रतिक्षिपति। विहितमर्थमुपपादयितुं विपक्षे बाधकमुपन्यस्यति—एषा वै दक्षिणा दिक् पितॄणां स्वभूता। तथा च सा वेदिर्यदि दक्षिणप्रवणा स्यात् दक्षिणतो निम्ना स्यात् तदा तत्रावस्थितोदकवत् यजमानोऽपि दक्षिणतोऽवस्थितं पितृलोकं क्षिप्रे क्षिप्रमियात् प्राप्नुयात्। प्राचीनप्रवणायान्तु नैष दोषः। तथा सति स यजमानो ज्योक् चिरं जीवेत्। तस्माद्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति। खाता वेदिर्नोऽद्भिः श्लक्ष्णी करणीया किन्तु पांसुलैवकार्येति विधत्ते पुरीषवतीं कुर्वीत।

(सूक्ष्म) ऐसा होना चाहिये जैसे कृशोदरी स्त्री का मध्य भाग (कमर) हाथ के भीतर समा जाता है। इस प्रकार प्रशस्त स्त्री के आकार की वेदि का निर्माण करके उसे देवता के लिये प्रिय बना दे।

३६—'सा वै प्राक् प्रवणा स्यात्' (श० १।२।५।१७) 'अथ सा वेदिः प्राक् प्रवणा उदक् प्रवणा वा कार्या' ऐसा विधान होने से पूर्व दिशा की तरफ वेदि को प्रवण (निम्न) करनी चाहिये। प्राची दिशा (पूर्व दिशा) देवों से सम्बन्धित होती है, क्योंकि दिग्विभाजन के समय उसका देवों ने अपने लिये स्वीकार किया है। इसी बात को तैत्तिरीय श्रुति ने भी कहा है—'देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त। प्राचीं देवाः' (तै० ६।१।१।१), अथवा उत्तर दिशा की तरफ उसे निम्न (प्रवण) करनी चाहिये, क्योंकि शान्त रूप होने से उदीची (उत्तर दिशा) के साथ मनुष्यों का सम्बन्ध है। इसी बात को तैत्तिरीय श्रुति ने भी कहा है—'एषा वै देवमनुष्याणां शान्ता दिक्— (तै० ब्रा० २।१।३।५)

३८—वेदि के दक्षिण भाग को धूलि (पांसु) से उन्नत बनाने का विधान होने से वेदि के दक्षिण भाग में (दक्षिण दिशा में) वेदि से खोदी गई मिट्टी को डाल देना चाहिये। विहित अर्थ के उपपादनार्थ विपक्ष में बाधक का का उपन्यास किया गया है—वह दक्षिण दिशा पितरों की अपनी है। तथा च वह वेदि यदि दक्षिण की ओर निम्न रहे, तो निम्न स्थल स्थित जल के समान, वहाँ अवस्थित यजमान भी दक्षिण दिशा में स्थित पितृ लोक में शीघ्र प्राप्त हो जायगा। किन्तु वेदि के प्राचीन प्रवण रहने पर यह दोष नहीं है। प्राचीन प्रवण रहने पर वह यजमान चिरजीवी होगा। इसलिये दक्षिण की ओर पुरीष को डालना चाहिये। खुदी हुई वेदि को जल से श्लक्ष्ण (चीकनी) नहीं करनी चाहिये, किन्तु पांसुल (धूलि युक्त) ही करनी चाहिये, यह 'पुरीषवतीं कुर्वीत' से बताया गया है। 'पशवो

तत्प्रशंसति—पशवो वै पुरीषं पशुप्राप्तिहेतुत्वात् पुरीषस्य पशुत्वम् पुरीषैः पांसुभिः वेदिं कुर्वन् पशुभिर्युक्तामेवैनां कुरुते ।

३९—तथा च दिक्त्रये गायत्र्यादिभिः पुरस्तादग्निना पूज्यदेवेन च त्वामसुरेभ्यः पालयामि । मन्त्रैरेभिः स्रुवेण कुशेन रेखात्रयं कुर्यात् ।

४०—अध्यात्मपक्षेऽपि—ध्यानभजनादिसाधनोपयुक्तां भूमिं परिगृह्णीत हे भूमे गायत्रेण छन्दसा छन्दोरूपतया भावितेन स्रुवेण त्वां साधनानुष्ठानाय परिगृह्णामि स्वायत्तीकरोमीति दक्षिणतः त्रैष्टुभेन छन्दसा तद्रूपतया भावितेन परिगृह्णामि पश्चात् जागतेन छन्दसा तद्रूपतया भावितेन स्रुवेण त्वा परिगृह्णामि । हे साधनभूमे ! त्वं सुक्ष्मासि शोभनभूमिरूपासि । सैव भूमिः शोभना यत्र भगवदाराधनध्यानादिकं सम्यक् सम्पद्यते । शान्तिदायकत्वात् भूमेः शान्तत्वं स्योना सुखरूपा चासि भगवद्ध्यानानन्दजनकत्वात् स्योनशब्दस्य सुखनामसु पाठात् । सुषदां सम्यगुपवेशनयोग्याम्—यद्वा सुष्ठु सीदन्ति देवा अस्यामिति सुषदा ऊर्जस्वती निष्ठादाढर्च्यरूपबलप्रदा पयस्वती पयस् शब्दः क्षीरस्य रसहेतोर्जलस्य च वाचकः, तदुभययुक्तासि पयोवत् भगवन्माधुर्यानुभावयित्री रसहेतुजलवत्प्राणप्रदा च—

'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम् । यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासोऽअनुदिश्य यजन्ते । प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोऽसि' ॥ वा० सं० १ । २८ ॥

वै पुरीषम्' से उसकी प्रशंसा की गई है । पशु प्राप्ति में हेतुभूत होने से पुरीष पर पशुत्व का आरोप किया गया है । मिट्टी (पुरीष, पांसु) से वेदि बनाने वाला मानो उसे पशुओं से ही युक्त करता है ।

३९—तथाच तीनों दिशाओं में गायत्री आदि छन्दों के द्वारा पहले अग्नि और पूज्य देव से तेरा असुरों से पालन करता हूँ इन मन्त्रों से स्रुव और कुश के द्वारा तीन रेखा करे ।

४०—अध्यात्म पक्ष में भी ध्यान, भजन आदि साधनों के उपयुक्त भूमि का स्वीकार करे । 'हे भूमे ! गायत्र छन्द से अर्थात् छन्दोरूप में भावित किये गये स्रुव से साधनों के अनुष्ठानार्थ तुम्हारा स्वीकार करता हूँ, अर्थात् अपने अधीन कर रहा हूँ' यह कह कर दक्षिण की ओर, त्रैष्टुभ छन्द के रूप में भावित किये गये स्रुव से तुम्हें अपने स्वाधीन करता हूँ' कहकर पश्चिम की ओर, जागतच्छन्द के रूप में भावित किये गये स्रुव से तुम्हें अपने अधीन करता हूँ । हे साधन भूमे ! तुम शोभन भूमि रूप हो । वही भूमि शोभन कहलाती है, जहाँ भगवान् की आराधना ध्यानादि का सम्यक्तया सम्पादन किया जा सकता है, शान्तिदायक होने से ही भूमि का शान्तत्व है, और भगवद्ध्यान का आनन्द देने वाली होने से तुम सुख स्वरूप हो, 'स्योन' शब्द का सुखवाचक नामों में पाठ किया है : 'सुषदां'—सम्यग् उपवेशन (बैठने) के योग्य हो, अथवा देवता जिस पर अच्छी प्रकार से बैठते हैं ऐसी तुम हो । तथा 'ऊर्जस्वती' अर्थात् निष्ठा, दृढ़ता रूप बल को देने वाली हो, एवं 'पयस्वती' अर्थात् पय की तरह भगवन्माधुर्य का अनुभव कराने वाली हो, और रस के हेतुभूत जल की तरह प्राणप्रदात्री हो । 'पयस्' शब्द क्षीर और रसहेतुभूत जल का वाचक है । भाव यह है कि तुम उर्जस्वती और पयस्वती दोनों ही हो ।

अर्थ—हे वेदत्रयी रूप शब्द करने वाले वेदि रूप विष्णो ! पृथ्वी पर जब महान् युद्ध होने की सम्भावना हुई, तब उसका सारभूत भाग निकाल कर वेद के सहित उस भाग को देवताओं ने चन्द्र में रख दिया। बुद्धिमान् लोग उसी भाग पर याग करते हैं। उसी सारभूत भाग को 'वेदी' कहते हैं। हे आग्नीध्र ! तुम प्रोक्षणी जल को वेदी पर रखो। हे स्फ्य ! तुम शत्रुओं के हिंसक हो ॥२८॥

१—निदानवानयं मन्त्रः। निदानवताञ्च मन्त्राणां पूर्वं निदानं वक्तव्यं पश्चाद् व्याख्यानं कार्यम्, तथा सति सुखावगमो भवति मन्त्रः—तदुच्यते।

२—कदाचिद् देवानामसुरैः सह सङ्ग्रामः प्रवृत्तस्तदा देवैर्मिथो विचारितं यदस्या भूमेरुत्कृष्टं देवयजनस्थलं तच्चन्द्रे संस्थाप्य युद्धं कुर्मः। तत्र यद्यस्माकं पराजयः स्यात् तदा देवयजने यागं विधाय पुनर्दैत्यपराजयं करिष्यामहे इति समन्त्र्य भूमेः सारभागं देवयजनं चन्द्रे स्थापयामासुः। तदेव कृष्णवर्णमिदानीमपि दृश्यते। तदेवाख्यानं मन्त्रो ब्रूते।

३—'पुरा क्रूरस्येत्यनुमार्ष्टि' (का० श्रौ० सू० २।६।३३), पुरा क्रूरस्येति त्रिष्टुप्चन्द्रदैवत्या विविधं रक्षति वेदत्रयेण शब्दं करोतीति विरप्शी तत्सम्बुद्धौ हे विरप्शिन् वेदित्वं प्राप्तो यज्ञो विष्णुः सम्बोध्यते—यज्ञगताना-मृत्विजामृगादिमन्त्राणां पठनात् यज्ञे तच्छब्दकरत्वोपचारः, वेदैर्निवर्त्यमानो विविधं रप्सति शब्दं करोति—हे विष्णो हे विरप्शिन् विष्णो परमेश्वर त्वं शृणु अनुगृहाणेतिशेषः। संग्रामो वै क्रूरम्' (श० १।२।५।१९) इति श्रुतेः। क्रूरस्य विसृप इति पञ्चम्यर्थे षष्ठ्यौ। विविधं सर्पन्ति योधा अस्मिन्निति विसृपस्तस्मात् विविधयोद्धृयुतात् क्रूरात् संग्रामात् पुरा पूर्वं देवा जीवदानुं जीवं ददातीति जीवदानुस्तां जीवदानुं जीवदात्रीं सारभूतां पृथिवीमुपादाय ऊर्ध्वं गृहीत्वा स्वधाभिर्वेदैः सह चन्द्रमसि ऐरयन् निःक्षिप्तवन्तः स्वधाशब्दो यद्यप्यन्नवाचकस्तथाप्यत्र लक्षणया यज्ञादिक्रमेणान्न-हेतुभूतां वेदत्रयीं बोधयति। 'यां चन्द्रमसि ब्राह्मणा दधुः' (श० १।२।५।१९) इति श्रुतेः। ब्रह्मणा वेदेन सार्धमित्यर्थः।

१—यह मन्त्र निदानवान् है। निदानवान् मन्त्रों का निदान पहले कहना चाहिये, पश्चात् उनका व्याख्यान करना चाहिये—वैसा करने पर मन्त्र सुखबोध्य होता है। उसी को बताते हैं—

२—एक समय असुरों के साथ देवों का संग्राम (युद्ध) होने को था। तब देवताओं ने आपस में विचार किया कि इस भूमि (पृथ्वी) के उत्कृष्टभूत 'देवयजन स्थल' को चन्द्र के पास रखकर युद्ध करें। यदि युद्ध में हमारी पराजय भी हो जाय, तो देवयजन स्थल में याग करके पुनः दैत्यों को हरा देंगे। इस प्रकार आपस में मन्त्रणा करके धूमि के देवयजन रूप सार भाग को चन्द्र में स्थापित कर दिया। वही कृष्ण वर्ण (काला धब्बा) अभी भी दिखाई देता है। उसी आख्यान को मन्त्र बता रहा है।

३—'पुराक्रूरस्येत्यनुमार्ष्टि'—(का० श्रौ० सू० २।६।३३)। 'पुराक्रूरस्य' यह मन्त्र कह रहा है कि त्रिष्टुप् और चन्द्र देवताओं से सम्बन्ध रखने वाली यह ऋक् तीन वेदों के द्वारा शब्द करती है। 'विविधं रप्शति' इति विरप्शी, तत्सम्बुद्धौ हे विरप्शिन् ! वेदित्व को प्राप्त हुआ यज्ञ रूप विष्णु सम्बोधित किया जा रहा है। यज्ञगत ऋत्विजों के द्वारा ऋगादि मन्त्रों के पठन करने के कारण यज्ञ को उपचार से तच्छब्द कर कहा गया है। वेदों के द्वारा निष्पन्न विविध रीति से या विविध प्रकार के शब्द करने वाले हे विष्णो ! हे परमेश्वर ! तुम सुन लो अर्थात् अनुग्रह करो। 'संग्रामो वै क्रूरम्'—(श० १।२।५।१९) इस श्रुति ने भी यही बताया है। 'क्रूरस्य', विसृपः' ये दोनों षष्ठियाँ, पञ्चमी के अर्थ में हैं। 'विविधं सर्पन्ति योधा अस्मिन् इति विसृपः तस्मात्' अर्थात् विविध योधाओंसे युक्त हुए क्रूर संग्राम से पूर्व देवताओं ने जीवनदात्री (जीवदानु) सारभूत पृथ्वी को लेकर अर्थात् ऊपर (ऊर्ध्वं) उठाकर वेदों (स्वधाओं) के साथ चन्द्रमा में उसे स्थापित कर दिया। 'स्वधा' शब्द यद्यपि अन्न का वाचक है, तथापि यहाँ पर लक्षणा से यज्ञादि क्रम के द्वारा अन्न की हेतुभूत वेदत्रयी का बोधन करता है। इसी भाव को 'यां चन्द्रमसि ब्राह्मणा

धीरास: धीरा मेधाविन: तामु तामेव (उ एवार्थकः) चन्द्रस्थां पृथिवीमनुदिश्य सैव भूमिरस्यां वेद्यां वर्तत इति भावयित्वा यजन्ते यागं कुर्वन्ति। अनेन मन्त्रेण खातायां वेद्यां लोष्टकृतवैषम्यनिवृत्तये समीकरणरूपं मार्जनं कुर्यात्। प्रोक्षणीरासादयेति अग्नीध्रं प्रति प्रैषः। प्रोक्ष्यन्त आभिरिति प्रोक्षण्य आपस्ता आसादय वेद्यां स्थापय। 'द्विषतो वध इति स्फ्यमुदञ्चं प्रहरतीति' (का० श्रौ० सू० २।६।४२)

४—प्रेषार्थमुद्यतं वज्रमध्वर्युरुदगग्रमुत्करे क्षिपति। मन्त्रार्थस्तु—हे स्फ्य त्वं द्विषतः शत्रोर्वधोऽसि हन्तासि।

५—अत्र स्वामिदयानन्दः—'हे रत्नादिपदार्थविरप्शिन् जगदीश्वर भवानेव यां स्वधामियुक्तां जीवदानुं जीवनदात्रीं पृथिवीमुदाराय चन्द्रमसि चन्द्रसमीपे स्थापयितवानस्ति तस्माद् धीरास्तामिमां पृथिवीं प्राप्य भवन्तमनुदिश्यानुसृत्य नित्यं यजन्ते यथा चन्द्रमस्यानन्देन वर्तमाना धीरासः यां जीवदानुं पृथिवीमनुदिश्याश्रित्य सेनां शस्त्राण्युदादाय विसृपः क्रूरस्य संग्रामस्य मध्ये शत्रून् जित्वा राज्यमैरयत् प्राप्नुवन्ति यथा चैवं कृत्वा धीरासः पुरा प्रोक्षणीश्चासादितवन्तस्तथैव हे विरप्शिन् त्वमपि उ इति वितर्के तां प्राप्येश्वरं यज प्रोक्षणीश्चासादय यथा च द्विषतो भवेत् तथा कृत्वानन्दे नित्यं प्रवर्तस्वे'त्याह।

६—तदपि यत्किञ्चित्, स्थापितवानसीति क्रियापदस्य मूलेऽभावात्। एवं 'विसृपः क्रूरस्य सङ्ग्रामस्य मध्ये शत्रून् जित्वा राज्यमैरयते'त्यपि निर्मूलं, मूले तादृशपदाभावात्। सेनाशस्त्रादि चर्चापि मन्त्रे नास्त्येव। प्रोक्षणीरासादयेत्यपि अप्रकृतप्रक्रियैव। सिद्धान्ते तु श्रुतिसूत्रोक्त। रीत्या सङ्गतिः।

दधुः' (श० १।२।५।१६) इस श्रुति ने भी बताया है। 'ब्रह्मणा' अर्थात् वेद के साथ—यह अर्थ किया गया है। धीर अर्थात् मेधावी लोग 'तामु' अर्थात् 'तामेव' उसी को ('उ' शब्द, एष के अर्थ में है) यानी जो चन्द्रस्थ पृथिवी है, वही पृथिवी (भूमि) इस वेदि में है, इस प्रकार की भावना करके वहाँ याग करते हैं। इस मन्त्र से खनन की हुई वेदि में लोष्टकृत वैषम्य के निवृत्त्यर्थ समीकरण रूप मार्जन करना चाहिये। 'प्रोक्षणीरासादय' इस प्रकार आग्नीध्र को प्रैष दिया जाता है। 'प्रोक्ष्यन्ते आभिः इति प्रोक्षण्यः' अर्थात् जल, उस जल को 'आसादय' यानि वेदि में स्थापित करो (रखो)। 'द्विषतो वध इति स्फ्यमुदञ्चं प्रहरति इति' (का० श्रौ० सू० २।६।४२)

४—प्रैष देने के लिये उठाये हुए वज्र को अध्वर्यु, उत्कर में उदगग्र रख देता है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे स्फ्य ! तुम शत्रुहन्ता हो।

५—स्वामी दयानन्द इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'हे रत्नादिपदार्थ विरप्शिन् ! जगदीश्वर ! अपने ही स्वधाओं से युक्त, जीवनदात्री जिस पृथिवी को चन्द्र के समीप स्थापित किया है, उस कारण धीर लोग उस पृथिवी को प्राप्त कर आपका अनुसरण करते हुए नित्य याग हैं, जैसे चन्द्रमा में आनन्द से विद्यमान रहने वाले धीर लोग जीवनदात्री जिस पृथिवी का आश्रय करके सेना और शस्त्रों की सहायता से क्रूर संग्राम के मध्य में शत्रुओं को जीतकर राज्य को प्राप्त करते हैं। और जिस प्रकार धैर्यशाली लोगों ने इस प्रकार से प्रोक्षणियों को पाया था उसी प्रकार से हे विरप्शिन् ! तुम भी ('उ' शब्द वितर्क अर्थ में है) उसे प्राप्त करके ईश्वर की पूजा करो और प्रोक्षणियों को प्राप्त करो, और जिस प्रकार शत्रुओं का पराजय हो सके वैसा प्रयत्न करके नित्य आनन्द का अनुभव करो।'

६—किन्तु इस प्रकार अर्थ करना नितान्त सारहीन है। क्योंकि 'स्थापितवानस्ति' यह क्रिया पद, मूल में नहीं है। उसी प्रकार 'विसृपः क्रूरस्य सङ्ग्रामस्य मध्ये शत्रून् क्षित्वा राज्यमैरयत्' यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि मूल में वैसे पद ही नहीं है। सेना, शस्त्र आदि की चर्चा भी मन्त्र में नहीं है। 'प्रोक्षणीरासादय' यह कहना भी अप्रकृत प्रक्रिया ही है। किन्तु सिद्धान्त में श्रुति और सूत्र के अनुसार सङ्गति स्पष्ट है अतः सैद्धान्तिक अर्थ ही उचित है। दयानन्दोक्त अर्थ असङ्गत है।

७—अत्र भावार्थत्वेन यदुक्तम् तेन—'येनेश्वरेणान्तरिक्षे पृथिव्यास्तत्समीपे चन्द्रस्तत्समीपे पृथिव्योऽन्योन्यं समीपस्थानि नक्षत्राणि सर्वेषां मध्ये सूर्यलोका एतेषु विविधाः प्रजाश्च रचयित्वा स्थापिताः सर्वैस्तत्रत्यैर्मनुष्यैः स एवोपास्योऽस्ति। यावन्मनुष्या बलक्रियाभ्यां युक्ता भूत्वा शत्रून् न विजयन्ते नैव तावत्स्थिरं राज्यसुखं प्राप्नुवन्ति कुतो नैव युद्धबलाभ्यां विना शत्रवो बिभ्यति, नैव विद्यान्यायविनयैर्विना यथावत् प्रजाः पालयितुं शक्नुवन्ति तस्मात् सर्वैर्जितेन्द्रियैर्भूत्वैतत्समासाद्य सर्वेषां सुखं कर्तुमनुलक्ष्य नित्यं प्रयतितव्यम्।'

८—इति, तदपि न सङ्गतम्, दूरतोऽपि मन्त्राक्षरासम्बन्धात्। परमेश्वरेण चन्द्रसूर्यादयो रचयित्वा स्थापिता इत्यस्यार्थस्य बोधकानि कानिचिदपि पदानि प्रकृतमन्त्रे न सन्त्येव। तत्रत्यैर्मनुष्यैः स एवोपासनीय इत्यस्याप्यर्थस्य बोधकं पदमत्र नास्ति। यथा कश्चित् क्वचिदेकं रजतताम्रादिखण्डमालोक्यात्रामुकस्य राज्ञो राजधान्यासीत् तस्य चतस्रो भार्याः शतं पुत्रा आसन्नित्यादिकमिति वृत्तं कल्पयेत् तद्वदेव 'पृथिवीं यामैरयंश्चन्द्रमसी' त्यादि पदानि दृष्ट्वा परमेश्वरेण सूर्यादयो रचयित्वा परस्परसमीपे स्थापयिता इति, 'क्रूरस्य विसृपः' इति पदे दृष्ट्वा सङ्ग्राम इति, 'यजन्ते' इति दृष्ट्वा तदुपासना कर्त्तव्येति, 'प्रोक्षणीरासादये'दिति दृष्ट्वा यज्ञेन्द्रियनिग्रहादि इति, 'द्विषतोवध इति दृष्ट्वा शत्रुविजयेन स्थिरं राज्यमित्यादिकल्पनम् कृतम्। नात्र कश्चन सम्बद्धो गम्भीरोऽर्थः। वस्तुतस्तु अध्याहार-व्यत्ययादिस्वातन्त्र्येणैवमेव तद्विरुद्धा अपि बह्व्यः कल्पनाः कर्तुं शक्यन्ते। ऐरयन्निति बहुवचनस्य द्विषतोवधोऽसीति मध्यमपुरुषप्रयोगस्य च का गतिरिति नैव विचारितम्।

९—शतपथव्याख्यानस्य सङ्केतः प्रतिमन्त्रं क्रियते किन्तु तद्विरुद्धमेव व्याख्यायन्ते मन्त्रा इत्याश्चर्यमेव।

७—यहाँ पर भावार्थ के रूप में जो कहा गया है, उससे—'जिस ईश्वर ने अन्तरिक्ष में अर्थात् पृथिवी के समीप चन्द्र, उसके समीप पृथिवियाँ, परस्पर समीप रहने वाले नक्षत्र, सबके मध्य में अनेक सूर्यलोक, और उनमें विविध प्रजाओं को रचकर स्थापित किया, अतः वहाँ रहने वाले सभी मनुष्यों का वही उपास्य है। जब तक मनुष्य, बल और क्रियाशील होकर शत्रुओं को नहीं जीतते हैं, तब तक वे स्थिर राज्यसुख को प्राप्त ही नहीं कर पाते। क्योंकि युद्ध और बल के बिना शत्रु भयभीत नहीं हुआ करते, और न ही विद्या, न्याय, विनय के बिना प्रजा का पालन यथावत् कर पाते हैं, इस कारण सभी लोग जितेन्द्रिय होकर उपर्युक्त सभी बल, क्रिया, विद्या आदि साधनों को प्राप्त करें और सभी को सुखी बनाने के लिये प्रयत्न करें।'

८—यह दयानन्दोक्त भावार्थ भी असङ्गत है, क्योंकि मन्त्राक्षरों से उसका कोई किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं है। 'परमेश्वर ने चन्द्र, सूर्य आदि की रचना करके उन्हें स्थापित किया'। इस अर्थ का प्रतिपादन करने वाला एक भी शब्द, प्रकृत मन्त्र में नहीं है। 'वहाँ रहने वाले मनुष्य, उसी की उपासना करे' इस अर्थ का भी कोई पद, इस मन्त्र में नहीं है। यह कथन तो उसी प्रकार की गप्प मारने के समान है. जैसे किसी ने कहीं पर एकाध चाँदी या ताँबे के टुकड़े को पाकर कल्पना कर ली कि यहाँ पर अमुक राजा की राजधानी थी, उसकी चार रानियाँ थी और सौ पुत्र थे। ठीक उसी तरह 'पृथिवीं यामैरयंश्चन्द्रमसी' इत्यादि कुछ पदों को देखकर 'परमेश्वरेण सूर्यादयो रचयित्वा परस्परसमीपे स्थापिता इति', कल्पना कर लेना उसी तरह 'क्रूरस्य विसृपः' इन दो पदों को देखकर 'संग्राम' की कल्पना कर लेना—'यजन्ते' पद को देखकर 'तदुपासना कर्तव्या' की कल्पना कर लेना, 'प्रोक्षणीरासादयेत्' को देख कर 'यज्ञ, इन्द्रियनिग्रह आदि की कल्पना करना, 'द्विषतो वधः' को देखकर 'शत्रु विजयेन स्थिरं राज्यम्' इत्यादि कल्पना कर लेना आदि यह सब स्वामी दयानन्द जी की केवल कपोलकल्पना ही कही जायगी, क्योंकि न तो मन्त्राक्षरों से सम्बद्ध कोई है, और न उसमें कोई गम्भीरता ही है। वस्तुतस्तु अध्याहार, व्यत्यास आदि की स्वतन्त्रता से तो कितनी ही उसके विरुद्ध कल्पनाओं को भी किया जा सकता है। 'ऐरयन्' इस बहुवचन की और 'द्विषतो वधोऽसि' इस मध्यम पुरुष के प्रयोग की क्या गति होगी विचार नहीं किया।

९—शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या का संकेत तो प्रत्येक मन्त्र में किया गया है, किन्तु उसके विरुद्ध ही मन्त्रों

निदानवतां मन्त्राणां पूर्वं निदानं वक्तव्यं पश्चान्मन्त्रार्थस्तथा क्षिप्रावगमो भवतीत्युव्वटाचार्यः। निदानविचारमन्तरैव दयानन्दीयं व्याख्यानमतएव विश्रृङ्खलम्। शतपथे च निदानमुक्तम्—तां प्रतिमार्ष्टि देवा ह वै सङ्ग्राम ७ सन्निधास्यन्तस्ते होचुर्हन्त यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनं तच्चन्द्रमसि निदधामहै। यदि न इतोऽसुरा जयेयुस्तत एवार्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेमेति। स यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत। तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णम्। तस्मादाहुश्चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यै देवयजनमित्यपि ह वा अस्यैतस्मिन् देवयजनं इष्टं भवति। तस्माद्वै प्रतिमार्ष्टि।' (श० १।२।५।१८)

पुरा क्रूरस्येति मन्त्रेण यद्वेदेर्मार्जनं विधत्ते तत्प्रशंसार्थमितिहासमाह— देवाहेति। पुरा खलु देवा असुरैः सह योत्स्यमाना एवमवोचन् किमिति—अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धि अनामृतम् आसमन्तान्मृतं सर्वदा नश्वरमामृतं तद्विपरीतं सर्वदा बाधविधुरम् ईदृग्विधं यद्देवयजनम् देवयागाधिकरणं स्थानं तत् चन्द्रमसि चन्द्रमण्डलमध्ये निक्षिपामः स इति व्यत्ययेनैकवचनम्। तेऽसुरा यदि नोऽस्मान् इतोऽस्मात् स्थानात् जयेयुः तदा वयमेतत्स्थानं परित्यज्य तत एव चन्द्रमसि निहिते तस्मिन् स्थान एव पुनर्यज्ञं कुर्वाणा अर्चन्तः श्राम्यन्तस्तेन यज्ञेनासुरान् पुनरभिभवामेति ईदृग्विधोपाय ज्ञानजनित हर्षद्योतको हन्त शब्दः। एवं विचार्य तथैव तैः कृतमिति दर्शयति श्रुतिः सयदिति। व्यत्ययेन पुल्लिङ्गता तद्यदस्याः पृथिव्याः सम्बन्धि अनामृतं तच्चन्द्रमसि न दधत निहितवन्तः। तत् निहितं देवयजनमिदानीं चन्द्रमसि कृष्णवर्णं सत् कलङ्कात्मतया दृश्यते। उक्तेऽर्थे लोकप्रसिद्धिमुदाहरति--तस्मादाहुः यस्मादेव पृथिव्या अनामृतं देवयजनं यच्चन्द्रमसि निःक्षिप्तं तस्मादेव कारणादस्याः पृथिव्याः सम्बन्ध्युदीरितलक्षणं देवयजनं चन्द्रमसि विद्यत इत्यभिज्ञाः कथयन्ति। यदीदृग्विधं देवयजनम् एतस्मिन्नेव पुरा क्रूरस्येति मन्त्रेण प्रतिमार्जनं कुर्वतोऽस्य यजमानस्यापि यज्ञेनेष्टं भवति।

की व्याख्या की गई है, यह एक आश्चर्य ही है। 'निदान वाले मन्त्रों का पहले निदान बताना चाहिये, उसके पश्चात् मन्त्रार्थ करना चाहिये, ऐसा करने से ज्ञान शीघ्र होता है, इस प्रकार उव्वटाचार्य ने कहा है। किन्तु दयानन्द का व्याख्यान, निदान का विचार किये बिना ही हुआ है, अतएव वह विश्रृङ्खल है। शतपथ में निदान बताया गया है— 'तां प्रतिमार्ष्टि देवा ह वै'—(श० प० १।२।५।१८)। 'पुरा क्रूरस्य' मन्त्र से जो मार्जन का विधान किया गया है, उसकी प्रशंसा करने के लिये इतिहास बता रहे हैं—'देवा हेति'। पहले किसी समय देवगण, असुरों के साथ जब युद्ध करने के लिये तैयार हुए, तब यह कहने लगे कि इस पृथिवी का जो अनामृत भाग है, अर्थात्—समस्त बाधाओं से रहित देवयजन (देवयागाधिकरण) स्थान है, उसे चन्द्र मण्डल में रख देंगे।

(आमृत—आसमन्तात् मृतं सर्वदा नश्वरं, तद्विपरीतं अनामृतम्, सर्वदा बाधरहितम्) 'सः' यह व्यत्यय से एक वचन है। वे असुर यदि हमें इस स्थान पर जीत लेंगे, तो हम इस स्थान को छोड़कर चन्द्र मण्डल पर रखे हुए उस स्थान पर हो पुनः यज्ञ (अर्चन) करेंगे, और उस यज्ञ के द्वारा पुनः असुरों को पराजित करेंगे। (यहाँ पर 'हन्त' शब्द असुरों के पराभवार्थ उपाय ज्ञान से होने वाले हर्ष का सूचक है)। इस प्रकार विचार करके उसी तरह उन्होंने किया इसे 'सयदिति' श्रुति ने दिखाया है। (यहाँ पर लिङ्ग व्यत्यय है)। इस पृथिवी का जो अनामृत भाग है, उसे चन्द्र मण्डल में रख दिया गया है। चन्द्र मण्डल में रखा हुआ पृथिवी का जो भाग (देवयजन) है, वही चन्द्रमा में कृष्ण वर्ण कलङ्क के रूप में दिखाई देता है। इस उक्त अर्थ के समर्थन में लोकप्रसिद्धि को भी दिखा रहे हैं—इसीलिये कहते हैं कि जिस कारण से पृथिवी के इस प्रकार के देवयजन रूप अनामृत भाग को चन्द्रमा में रख छोड़ा है, उसी कारण विद्वान् लोग कहा करते हैं कि इस पृथिवी से सम्बन्धित जो देवयजन भाग है, वह चन्द्रमा में स्थित है। इस प्रकार का का वह देवयजन, यज्ञानुष्ठान के समय 'पुराक्रूरस्य' मन्त्र से प्रति मार्जन करने वाले यजमान का अभीष्ट भी यज्ञ के द्वारा सिद्ध कर देता है।

१०—'स प्रतिमार्ष्टि पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्निति सङ्ग्रामो वै क्रूर ँ सङ्ग्रामे क्रूरं क्रियते हतः पुरुषो हतोऽश्वः शेते पुराह्य तत्सङ्ग्रामान्न्यदधत् तस्मादाह पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नित्युदादाय पृथिवीं जीवदानु-मित्युदादाय हि यदस्यै पृथिव्यै जीवमसिस्तच्चन्द्रमसि न्यदधत् तस्मादाहोदादाय पृथिवीं जीवदानुमिति यामैरयंश्चन्द्र-मसि ब्रह्मणा दधुरित्येवैतदाह तामुधीरासोऽनुदिश्य यजन्त इत्येतेनोह तामनुदिश्य यजन्ते ह वा अस्यै तस्मिन् देवयजनं इष्टं भवति य एवमेतद्वेद।' (श० १।२।५।१९)

११—विहितं प्रतिमार्जनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते स इति। पुरा क्रूरस्येतिमन्त्रगतक्रूरशब्दस्यार्थमाह सङ्ग्रामो वै क्रूरमिति। कथं सङ्ग्रामस्य क्रूरशब्दवाच्यतेत्याशङ्क्योपपादयति—सङ्ग्रामे हि क्रूरं कर्म क्रियते हतः पुरुषो हतोऽश्वः शेते। पुरुषोदश्चतुरङ्गबलस्य तत्र हननलक्षणक्रूरकर्मकरणात् तदधिकरणभूतः सङ्ग्रामोऽपि क्रूरशब्देन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। क्रूरस्य सङ्ग्रामस्य विसृपः विसर्पणादागमनात् पुरा इति मन्त्रवाक्यार्थं इत्यभिप्रायः।

१२—मन्त्रस्य द्वितीयं भागमनूद्य जीवदानुपदस्य विवक्षितमर्थं दर्शयन् व्याचष्टे—उदादायेति, अस्याः पृथिव्याः जीवं जीवनरूपं जीवात्मभूतं यदनामृतं देवयजनमासीत् तथा च जीवदानुं जीवनप्रदां जीवभूतां पृथिवीमितिमन्त्रपदा-भिप्रायो वर्णितो भवति। वैयाकरणास्तु जीवेस्तदानुः इति जीवदानु पदं व्युत्पादयन्ति। तथैव तैत्तिरीयकैराम्ना-तम्—'अभिन्नो धर्मो जीरदानुः' इत्यादि (तै० सं० १।५।१०) जीरं जीवनं पुरोडाशद्वारेण यज्ञस्य ददातीति तत्र सायणाचार्यः।

१३—मन्त्रस्य भागान्तरमनूद्य व्याचष्टे—यामिति, एतेनेदानीन्तनेन देवयजनेन तां चन्द्रमस्यवस्थितामना-मृतां पृथिवीमनुदिश्य तदेवेदमिति तादात्म्येनानुसन्धाय यजन्ते। तद्वेदनं प्रशंसति—अपि ह वा अस्यैव वेदिन एतस्मिन् देवयजन इष्टं भवति।

१४—अत्र सायणः काण्वभाष्ये—'कदाचित्किल देवानामसुरैः सह सङ्ग्रामः प्राप्तः। तत्र ब्रह्मादयो देवा

१०—'स प्रतिमार्ष्टि पुराक्रूरस्य विसृपो'—(श० १।२।५।१९) यह ब्राह्मण, प्रतिमार्जन का अनुवाद करके मन्त्र का विधान कर रहा है। 'पुराक्रूरस्य' इस मन्त्र में आये हुए 'क्रूर' शब्द के अर्थ को 'सङ्ग्रामो वै क्रूरम्' से बता रहे हैं। 'सङ्ग्राम' को 'क्रूर' शब्द से क्यों कहा जाता है ? इस प्रकार आशङ्का करके उपपादन कर रहे हैं—क्योंकि संग्राम में क्रूर कर्म किया जाता है। उसमें चतुरङ्ग सेना का हनन लक्षण क्रूर कर्म किया जाता है, उस कारण तदधिकरणभूत संग्राम को भी 'क्रूर' शब्द से कहा जाता है। (पुरा क्रूरस्य विसृपः का अर्थ है कि संग्राम के उपस्थित होने के पूर्व)।

१२—अब मन्त्र के द्वितीय भाग का अनुवाद करके 'जीवदानु' पद के विवक्षित अर्थ को बताते हुए 'उदादाय' इत्यादि से व्याख्या की जा रही है। इस पृथिवी का जीवन रूप जो अनामृत देवयजन था। तथा च 'जीवदानु' का अर्थ 'जीवन प्रद जीवभूत पृथिवी को' यह अभिप्राय मन्त्रगत जीवदानु पद का बताया गया है। वैयाकरण विद्वान् 'जीवेरदानुक्' सूत्र से जीवदानु पद का व्युत्पादन करते हैं। उसी तरह तैत्तिरीयकों ने भी कहा है—'अभिन्नो धर्मो जीरदानु' इत्यादि—(तै० सं० १।५।१०) इस पर सायणाचार्य कहते हैं कि पुरोडाश के द्वारा यज्ञ को जीवन (जीर) देती है, इसलिये उसे जीरदानु कहा गया है।

१३—मन्त्र के भागान्तर का अनुवाद कर 'यामि'ति से व्याख्या करते हैं इस समय (यागानुष्ठान कालीन) देवयजन के साथ चन्द्रमण्डल में अवस्थित अनामृत पृथिवी का तादात्म्यानुसन्धान करके यज्ञ करते हैं। उस तादात्म्या-नुसन्धान की 'अपि ह वा' से प्रशंसा की गई है।

१४—इस प्रसङ्ग पर काण्व भाष्य में सायण कह रहे हैं—'किसी समय देवों का असुरों के साथ संग्राम होने

इत्थं सम्मन्त्र्येदं चक्रुः देवासुरसङ्ग्रामे सति तेषां रुधिरादिभिरियं भूर्दूषिता देवयजनानर्हा भविष्यति अतोभुवः सूक्ष्मरूपं सारभूतमादाय चन्द्रमण्डले स्थापयिष्यामः। तदेव मध्यन्दिनवत् कण्वोऽपि दर्शयामास—देवा ह वै असुरैः सङ्ग्रामं सन्निधास्यत इत्यादिना—

१५—तथा च मन्त्रार्थः—विसृपः क्रूरस्येति षष्ठ्यौ पञ्चम्यर्थे। विविधं सर्पन्ति योधा अस्मिन्निति विसृप् सङ्ग्रामः। क्रूरात्सङ्ग्रामात्पूर्वं तदुक्तं पुरा सङ्ग्रामादित्येवैतदाहेति विरप्शिन्निति महतः परमेश्वरस्य सम्बोधनं महन्नाम सुपाठात् जीवदानुं जीवस्यदात्रीं यां पृथिवीमुदादाय जीवात्मभूतामत्यन्तसारभूतां पृथिवीं संक्षिप्यादुद्धृत्यादाय चन्द्रमस्यैरयन् चन्द्रमण्डले देवाः प्रक्षिप्तवन्तः। केन साधनेन प्रक्षिप्तवन्त इति तदुच्यते स्वधाभिरिति। यद्यपि स्वधाशब्दोऽन्ननामसु पठितस्तथापि तेन शब्देन तत्साधनभूतां वेदत्रयगता मन्त्रविद्योच्यते 'ब्रह्मणा दधु'रिति मध्यन्दिन श्रुतेः। अर्थात् पृथिव्याः सारांशस्य चन्द्रमण्डले यत्स्थापनं तद्वेदत्रयरूपेण साधनेनैव।

१६—यद्वा 'अस्या जीवममन्यन्त तच्चन्द्रमसि न्यदधत यामेरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिरिति या मधुश्चन्द्रमसि ब्रह्मणेत्येवैतदाहेति काण्वश्रुतेः। चन्द्रमण्डले मृगरूपः कृष्णवर्णो यः कलङ्को दृश्यते सोऽयं भूमेः सारांशः पुरा द्यावा पृथिव्यौ सहैवास्थिते सत्यौ यदा परस्परं वियुज्येते स्म तदानीमन्योन्यसरांशं यज्ञयोग्यमन्योऽन्यस्वरूपेण स्थापितवत्यौ तत्र भूमेः सारांशश्चन्द्रमसि दृश्यमानः कृष्णरूपमित्येव तित्तिरिराह—द्यावापृथिवीसहास्यां ते वियती अब्रूतां अस्त्वेषनौ सह यज्ञियमिति। यदमुष्यायज्ञियमासीत् तस्यामदधात् तदुषा अभवत् यदस्या यज्ञियमासीत्तदमुष्यामदधात् ततश्चन्द्रमसि कृष्णमिति (तै० ब्रा० १।१।३।२) तैत्तिरीयब्राह्मणश्रुतेः। यदमुष्यादिवो यज्ञयमासीत्तत्स्यां पृथिव्यामदधात्। तदुषा अभवत्। यदस्याः पृथिव्या यज्ञियं रूपमासीत् तदमुष्यां दिवि अदधात्। ततश्चन्द्रमसि कृष्ण धीरासो धीरा बुद्धिमन्तो यजमानास्तां चन्द्रमःस्थितां कृष्णवर्णभूमिमुद्दिश्य वेद्यामस्यां विद्यत इति कथयित्वा तादात्म्येनानुसन्धाय वा

को था। उस समय ब्रह्मादि देवगणों ने इस प्रकार मन्त्रणा (सलाह) कर यह तय किया कि देवासुर संग्राम होने पर उनके रुधिरादि से यह पृथिवी दूषित हो जायगी, जिससे वह यज्ञ के योग्य नहीं रहेगी। अतः पृथिवी के सूक्ष्म (सारभूत) भाग को चन्द्र मण्डल में रख देंगे। इसी भाव को मध्यन्दिन के समान कण्व ने भी 'देवा ह वै' से प्रदर्शित किया है।

१५—तथा च मन्त्र का अर्थ इस प्रकार हुआ। 'विसृपः' और 'क्रूरस्य की षष्ठी विभक्तियाँ, पञ्चमी के अर्थ में हैं। 'विविधं सर्पन्ति योधा अस्मिन्निति 'विसृप्'=सङ्ग्रामः। 'विरप्शन्' यह परमेश्वर का सम्बोधन है। जीवन दात्री अत्यन्त सारभूत पृथ्वी को उठाकर चन्द्रमण्डल में स्थापित कर दिया। किस उपाय (साधन) से स्थापित किया? ऐसी जिज्ञासा करने पर कहा कि 'स्वधा' के द्वारा। यद्यपि 'स्वधा' शब्द का पाठ अन्न के नामों में किया गया है। तथापि उस शब्द से तत्साधनभूता वेदत्रयगता मन्त्र विद्या बताई गई है। यह बात मध्यन्दिन श्रुति 'ब्रह्मणा दधुः' से कही गई है। अर्थात् पृथिवी के सारभूत अंश का चन्द्र मण्डल में जो स्थापन है, वह वेद त्रय रूप साधन के द्वारा ही किया गया है।

१६—अथवा 'अस्या जीवममन्यन्त' इस काण्व श्रुति ने भी यही बताया है। चन्द्र मण्डल में मृग रूप कृष्ण वर्ण जो कलङ्क दिखाई देता है, वह पृथ्वी का सारभूत भाग ही है। पहले किसी समय द्यावा पृथिवी एक साथ ही रहती थीं, जब वे परस्पर वियुक्त हुईं, तब एक दूसरे के सारभूत यज्ञयोग्य अंश को एक दूसरे के स्वरूप में स्थापित किया गया। उनमें से चन्द्र में दिखाई देने वाला भूमि का सारभूत अंश कृष्ण रूप है। इसी को तित्तिरि ने बताया है—'द्यावापृथिवी सहास्यां' (तै० ब्रा०)। द्यु लोक का जो यज्ञिय भाग था, उसे पृथिवी में रख दिया। वही उषा के रूप में परिणत हो गया। अर्थात् उसे 'उषा' कहने लगे। और जो इस पृथिवी का यज्ञिय रूप था, उसे द्यु लोक में स्थापित कर दिया। तब बुद्धिमान् यजमानों ने चन्द्रमा में स्थित कृष्णवर्ण भूमि को इस वेदि में मानकर उसका तादात्म्यानुसन्धान करके यज्ञ करना प्रारम्भ किया। 'पुरा क्रूरेण' इस मन्त्र से खोदी हुई इस भूमि के लोष्टकृत

यजन्ते यज्ञं कुर्वन्ति पुरा क्रूरेणेतिमन्त्रेण खातायां वेद्यामस्यां लोष्टकृतवैषम्य परिहाराय समीकरणरूपं मार्जनं कुर्यात्। हे विरप्शिन् हे परमेश्वरेति सम्बोधनस्य अनुगृहाणेति पदमध्याहृत्यान्वयः कार्यः।

१७—'अथाह प्रोक्षणीरासादयेति। वज्रो वै स्फ्यो ब्राह्मणश्चेममं पुरा यज्ञमभ्यजुगुपतां वज्रो वा आपस्तद्वज्रमेवैतदभिगुप्त्या आसादयति। स वा उपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति—अथ यन्निहित एव स्फ्ये प्रोक्षणीरासादयेत् वज्रो ह समृच्छेयातां तथोह वज्रौन समुद्यच्छेते तस्मादुपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति।' (श० १।२।५।२०) वेदिकरणानन्तरं कर्त्तव्यं विधत्ते—प्रोक्षणीरासादयेत्यादिक प्रैषं ब्रूयादित्यर्थः। प्रोक्षत्यभिरिति प्रोक्षण्य आपः। तासामासादनं यज्ञरक्षार्थमिति व्याचष्टे वज्रो वै स्फ्य इति। स्फ्यस्तावद् वज्रः तदंशपरिणामरूपत्वात्। तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा इति पूर्वमाम्नातत्वात्। ब्राह्मणोऽपि वज्ररूपः तद्वन्मन्त्रसामर्थ्येन हन्तृत्वात्। तौ खलु पुरेमं यज्ञं अभ्यजुगुपताम् अभितोऽरक्षिष्टाम्। गुपू रक्षणे' भ्वादिः, इत्यस्माल्लुङि 'गुपेश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१।५०) चङि रूपम्। 'आयादय आर्धधातुके वा' (पा० सू० ३।१।३१) इत्याय प्रत्ययो विकल्प्यते। वज्रो वा आप इत्यपामपि वज्रत्वं पूर्वमुक्तम् वज्ररूपाणां तासामासादनं यज्ञस्याभितो रक्षार्थं सम्पद्यते। प्रोक्षणीनामासादनसमये आग्नीध्रकर्तृकं स्फ्योद्यमनं विधत्ते—स वा उपर्युपरि समीपे उपरिदेशे आसाद्यमानासु प्रोक्षणीषु धार्यमाणासु सतीषु अथानन्तरमासादनसमकालमेवाग्नीध्रः स्फ्यमुद्यच्छति धारयति। उपर्यध्यधसः सामीप्ये' (पा० सू० ८।१।७) इतिसूत्रेणोपरि शब्दस्य द्विर्वचनम्। उपर्युपरि समीप उपरिदेश इत्यर्थः।

१८—विपक्षे बाधकमाह—अथा यन्निहित एव—स्फ्य प्रोक्षणीरासादयेत् वज्रौ समृच्छेयाताम् उद्यमनमकृत्वा पूर्वं वेदिमध्ये निहितस्य स्फ्यस्योपरिसादने स्फ्याब्लक्षणौ वज्रौ सङ्गतौ भवेताम्। तथा च वज्रद्वयसङ्गमाद् यजमानस्य बाधः स्यात् स्वपक्षे तद्दोषाभावं दर्शयति तथोहेति। तथा च स्फ्यस्य वेदेः सकाशादुद्यमने सति वज्रौ न समृच्छेते तस्मात्

वैषम्य का परिहार करने के लिये समीकरण रूप मार्जन किया जाता है। हे विरप्शिन्' इस सम्बोधन पद का अन्वय 'अनुगृहाण' इस अध्याहृत पद से किया जाता है।

१७—'अथाह प्रोक्षणीरासादयेति। वज्रो वै स्फ्यो'— (श० १।२।५।२०) यह ब्राह्मण वेदिकरण के पश्चात् कालीन कर्तव्य का विधान कर रहा है। अर्थात् 'प्रोक्षणीरासादय' इत्यादि प्रैष को बोले। उसकी व्याख्या करते हुए बता रहे हैं कि 'प्रोक्षति आभिः इति प्रोक्षण्यः आपः' जिनसे प्रोक्षण किया जाता है, उन्हें 'प्रोक्षणी' यानी जल कहते हैं, उनका स्थापन, यज्ञ की रक्षा के लिये किया जाता है। 'स्फ्य' वज्र स्वरूप है। क्योंकि वह, वज्र के अंश का ही परिणाम है। और 'तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद् वा' (का० १, प्र० २, ब्रा० २, कं० १) से भी यही पहले कहा जा चुका है। उसी तरह मन्त्र सामर्थ्य से हनन करने का सामर्थ्य होने से ब्राह्मण भी वज्र स्वरूप है। इन दोनों ने पहले किसी समय इस यज्ञ की सब तरह से रक्षा की थी। (अजुगुपताम् शब्द की सिद्धि 'गुपू रक्षणे' इस भ्वादिगणीय धातु से लुङ् लकार में 'गुपेश्छन्दसि'—(पा० सू० ३।१।५०) से 'चङ्' करने पर होती है। 'आयादय आर्धधातुके वा'—(पा० सू० ३।१।३१) से 'आय' प्रत्यय वैकल्पिक होता है। 'वज्रो वा आपः' कहकर जल को भी वज्र पहले (कां० १, प्र० १, ब्रा० १, कं० १७) कह चुके हैं। वज्र रूप उन जलों का आसादन (स्थापन) यज्ञ की सब प्रकार से रक्षा करने के लिये ही है। प्रोक्षणी के आसादन के समय ही आग्नीध्र कर्तृक स्फ्य के उद्यमन का विधान 'स वा' के द्वारा किया जा रहा है। आग्नीध्र के द्वारा समीप में ही ऊपर की ओर प्रोक्षणी के स्थापन करने पर अनन्तर ही अर्थात् आसादन सम काल में ही आग्नीध्र स्फ्य को उठाता है। 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये'—(पा० सू० ८।१।७) सूत्र से 'उपरि' शब्द को दो बार कहा गया है। (उपरि-उपरि का अर्थ है समीपे उपरिदेशे)।

१८—विपक्ष में बाधक बताते हैं। स्फ्य को बिना उठाये पहले से ही वेदि में रखे हुए स्फ्य के ऊपर आसादन (स्थापन) करने पर स्फ्य और अप् (जल) ये दोनों वज्र परस्पर मिलते हैं। तथा च दो वज्रों के परस्पर मिलने से यजमान का बाध हो सकता है। किन्तु स्वपक्ष में यह उक्त दोष नहीं है। तथा च स्फ्य को वेदि में से उठा लेने पर,

प्रोक्षणीषु धार्यमाणासु स्फ्यमुद्यच्छति तां वाचं वदति प्रोक्षणीरासादयेध्मं बर्हिरुपसादय स्रुचःसम्मृढि पत्नीं सन्नह्याज्येनोदेहीति सम्प्रैष एवैष स यदि कामयेत ब्रूयादेतद्यद्युकामयेतापि नाद्रियेत स्वयमुह्येवैतद्वेदेदमतः कर्म कर्त्तव्यमिति ।' (श० १।२।५।२१)

१६—प्रतीकग्रहणेन विहितसम्प्रैष मन्त्रं साकल्येनानुवदति अथैतामिति हे आग्नीध्र प्रोक्षणार्था अप आसादय—अग्निसमिन्धनार्थमिध्मम् वेदिस्तरणार्थं बर्हिः आहवनीयसमीप आसादय जुह्वाद्याः स्रुचः सम्मार्जनसंस्कारेण संस्कुरु । यजमानस्य या पत्नी तां योक्त्रेण सन्नह्य यत्प्रागग्नावधिश्रितमाज्यं तेन उदेहि आगच्छेति सम्प्रैषमन्त्रार्थः । एवमेष मन्त्रः परप्रत्यायनाय प्रयुक्तत्वात् सम्प्रैष एव न तु मन्त्रान्तरवददृष्टैकप्रयोजन इत्याह सम्प्रैष इति । यदीत्यादि प्रोक्षण्यासादनादिकं यदि कामयेत तदा एतत् सम्प्रैषवाक्यम् ब्रूयात् । यदि तथा न कामयेत तदा एतन्नाद्रियेतापि । तत्रोपपत्तिमाह—स्वयमेवेति । अतोऽस्मात्कर्मणोऽनन्तरमिदं कर्म कर्त्तव्यं स्वयमेवैतद्वेद तस्मात् परं प्रत्यज्ञातज्ञापनार्थः सम्प्रैषो निरर्थक इत्यर्थः ।

२०—अथोदञ्चं स्फ्यं प्रहरति—अमुष्यै त्वा वज्रं प्रहरामीति यद्यभिचरेत् वज्रो वै स्फ्यस्तृणुते हैवैनेन ।' (श० १।२।५।२२)

२१—द्विषतो वध इति मन्त्रेण स्फ्यस्य बहिर्वेदि उदङ्निरसनं विधत्ते यद्यभिचरेत् चतुर्थ्यन्तं शत्रोर्नाम निर्दिशेत् । वज्रो वै स्फ्यः स्तृणुते ह्येवैन शत्रुं मन्त्रार्थस्तु—हे स्फ्य द्विषतः शत्रोर्वधोऽसि हिंसकोऽसि यं द्वेष्य प्रहरामित्येवं प्रहरणकाले मनसा भावयेत् ।

२२—स येहाग्र ईजिरे तेहस्मावमर्शं यजन्ते ते पापीया ꣳ स आसुरथ येनेजिरे ते श्रेया ꣳ स आसुस्तः

दोनों वज्रों का परस्पर सम्मिलन नहीं हो पाता । इस लिये प्रोक्षणी के आसादन सम काल में ही स्फ्य को उठा लिया जाता है । 'तां वाचं वदति' (श० १।२।५।२१)

१६—प्रतीक ग्रहण के द्वारा विहित सम्प्रैष मन्त्र का सम्पूर्णतया अनुवाद करते हैं—हे आग्नीध्र ! प्रोक्षणार्थ जल का आसादन करो, अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये इध्म को, वेद में आस्तरण के लिये बर्हि को, आहवनीय के समीप रखो । जुह्वादि स्रुगादि पात्रों का सम्मार्जन संस्कार से संस्कार (शोधन) करो । यजमान पत्नी को मेखला (योक्त्र) पहना कर, प्रागग्नि (आहवनीयाग्नि) पर अधिश्रित आज्य को लेकर आओ । यह सम्प्रैष मन्त्र का अर्थ है । इस प्रकार यह मन्त्र पर प्रत्यायन (दूसरे व्यक्ति को बताने के लिये) के लिये प्रयुक्त किया होने से सम्प्रैष मन्त्र ही है, अन्य मन्त्रों की तरह इसका अदृष्ट मात्र प्रयोजन नहीं है । प्रोक्षणी का आसादनादि कार्य यदि आग्नीध्र के द्वारा कराने की इच्छा हो तो इस सम्प्रैष वाक्य को बोले, और यदि स्वयं ही उस कार्य को करने की इच्छा हो तो इस मन्त्र को न बोले । क्योंकि अमुक कर्म के अनन्तर अमुक कर्म करने का ज्ञान तो स्वयं को है ही, तब दूसरे के प्रति अज्ञातज्ञापनार्थ प्रयुक्त किया हुआ सम्प्रैष निरर्थक ही होगा।

२०—'अथोदञ्चं स्फ्यं प्रहरति'—(श० १।२।५।२२) इसके द्वारा 'द्विषतो वधः' इस मन्त्र से वेदि के बाहर स्फ्य का उदङ् निरसन (उत्तर की ओर त्याग) बताया जा रहा है, यदि अभिचार करना हो तो शत्रु के नाम को चतुर्थी विभक्ति लगाकर निर्दिष्ट करे । स्फ्य, प्रत्यक्ष वज्र है, वह उस शत्रु को नष्ट कर देता है । मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—हे स्फ्य ! तुम द्वेष्टा शत्रु के घातक (हिंसक) हो, प्रहरण करते समय अपने मन में 'अपने द्वेष्य शत्रु पर प्रहार कर रहा हूँ'—ऐसी भावना करनी चाहिये ।

२२—'स येहाग्र ईजिरे तेह स्मा वमर्शं यजन्ते' (श० १।२।५।२४) इस ब्राह्मण के द्वारा, शृत (परिपक्व हुए) हवियों का याग करने से पूर्व और निर्माण की हुई वेदि में बर्हिस्तरण के पूर्व स्पर्श का निषेध करने का विधान

तोऽश्रद्धामनुष्यान् विवेद ये यजन्ते पापीया ७ ँ सस्ते भवन्ति य उ न यजन्ते श्रेया ७ ँ सस्ते भवन्तीति ततइतो देवान् हविर्न जगामेत: प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति ।' (श० १।२।५।२४)

२३—मृतानां हविषां यागात्प्राङ् निर्मिताया वेदेश्च बर्हिस्तरणात् पूर्वं स्पर्शनिषेधं विधित्सुस्तत्सिद्धयर्थमितिहासमाचष्टे—पूर्ववद्बहुवचनस्थाने स इत्येकवचनम् । ये प्रसिद्धा यजमाना अग्रेपुरा ईजिरे इष्टवन्त: ते खलु यागसमये शृतानि हवींषि क्लृप्तां वेदिं च अवमर्श अवमृश्य यजन्तेस्म । ते च तेनावमर्शजनितेन दोषेण पापीयांसो निकृष्टा बभूवु: । यागमकुर्वाणास्तु अवमर्शजनितदोषविरहात् श्रेष्ठा एव बभूवु: । ततोऽनन्तरमेवावमर्शनस्य दोषहेतुत्वमजानानान् मनुष्यान् अश्रद्धा यागविषयारुचि: विवेद प्राप्नोति । तामेवाश्रद्धां दर्शयति ये यजन्ते पापीयांसस्ते य उ न यजन्ते श्रेयांसस्ते । ततोऽश्रद्धाप्राप्त्यनन्तरं केनचिदपि प्रागस्यानुष्ठानात् इत: अस्माद् भूलोकात् देवान् प्रति हविश्चरुपुरोडाशादिकं न जगाम । ननु मा गमद्धवि: अमृतोपजीविनां देवानां किं तेनेत्यत आह — इत: प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति अस्माल्लोकात् प्रदीयमानं यद्धविस्तस्माद् देवा उपजीवन्ति । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा० सू० ३।३।११३) प्रपूर्वाद्दाते: कर्मणि ल्युट् ।

२४—ते ह देवा ऊचु: । बृहस्पतिमाङ्गिरसमश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति । स हेत्युवाच बृहस्पतिराङ्गिरस कथा न यजध्व इति होचु: किं काम्या यजेमहि ये येजन्ते पापीया ७ ँसस्ते भवन्ति । य उ न न यजन्ते श्रेयांसस्ते भवन्ति ।' (श० १।२।५।२५)

२५—तत्रेतिहासमाह—हविरागमनाभावेन निराहारा देवा अङ्गिरस: पुत्रं बृहस्पतिमुक्तवन्त: अश्रद्धावै मनुष्यानविदत् यागविषया अश्रद्धा मनुष्यान्प्राप्नोति तत्तां निरस्य तेभ्यो यज्ञं बिधेहि यजध्वमिति विधिं कुर्या इत्यर्थ: ।

करने की इच्छा से एक इतिहास बताते हैं—पहले की तरह बहुवचन के स्थान में एकवचन किया गया है। जिन प्रसिद्ध यजमानों ने पहले यज्ञ किया था, उन्होंने याग के समय परिपक्व हवियों को और निर्मित वेदि को स्पर्श करके याग किया था। उस स्पर्श (अवमर्श) जनित दोष से वे निकृष्ट हो गये। किन्तु जिन्होंने याग नहीं किया वे अवमर्श (स्पर्श) जनित दोष से रहित रहे, उस कारण वे श्रेष्ठ हुए। उसके अनन्तर ही दोष का हेतु अवमर्श (स्पर्श) होता है, इस रहस्य को न जानने वाले लोगों में याग विषयक अश्रद्धा (अरुचि) पैदा हुई। अर्थात् जो याग करते हैं, वे पापी हैं, और जो याग नहीं करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं, यह समझने लगे। यही अश्रद्धा का स्वरूप है। इस प्रकार जब याग के प्रति अश्रद्धा हो गई तब कोई भी यागानुष्ठान नहीं करने लगा। उस कारण इस भूलोक से देवताओं को हवि, चरू, पुरोडाश आदि का प्राप्त होना बन्द हो गया। इस पर यदि कोई यह कहे कि भले ही देवताओं को हवि–चरू–पुरोडाश आदि की प्राप्ति न हो, देवता तो अमृतोपजीवी होते हैं, उन्हें हवि–चरु–पुरोडाश आदि की क्या आवश्यकता ? इसके उत्तर में यह कहा गया है कि 'इत: प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति' अर्थात् इस भू लोक से दिया जाने वाला जो हवि है, उससे देवतागण जीवित रहते हैं। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा० सू० ३।३।११३) इस सूत्र से प्रपूर्वक 'दद्' धातु से कर्मणि ल्युट् किया गया है।

२४—'ते ह देवा ऊचु: । बृहस्पतिमाङ्गिरसमश्रद्धा'—(श० १।२।५।२५) इतिहास बताया जा रहा है कि हवि की प्राप्ति न होने से निराहार रहने वाले अङ्गिरस आदि देवताओं ने अपने पुत्र बृहस्पति से कहा—मनुष्यों को याग के प्रति अश्रद्धा हो गई है, उनसे उस अश्रद्धा को हटाकर उनसे यज्ञ करने के लिये कहो तब बृहस्पति ने यहाँ आकर मनुष्यों से कहा—हे मनुष्यों ! तुम लोग यज्ञ का अनुष्ठान क्यों नहीं करते हो। 'था हेतौ च छन्दसि'—(पा० सू० ५।३।२६) सूत्र से 'था' प्रत्यय हुआ है। बृहस्पति के इस प्रकार पूछे जाने पर मनुष्यों ने कहा—'किं काम्यायते मही' अर्थात् किस फल की इच्छासे यज्ञ करें। जो लोग यज्ञ करते हैं, वे पापी होते हैं, और जो लोग यज्ञ नहीं करते वे कल्याण को प्राप्त करते हैं।

स वृहस्पतिरागत्य मनुष्यानुष्यानुक्तान्--हे मनुष्याः कथा कथं कस्माद्धेतोर्न यजध्वे। 'था हेतौ च छन्दसि' (पा० सू० ५।३।२६) इति था प्रत्ययः। एवं पृष्टैस्तैरुक्तम्, किंकाम्या यजेमहीत्यादि स्पष्टम्।

२६--सहोवाच वृहस्पतिरङ्गिरसो यद्वै शुश्रुम परिषूतं तदेष यज्ञो भवति यच्छृतानि हवींषि क्लृप्ता वेदिस्ते-नावमर्शमाचारिष्ठ तस्मात् पापीया ᳪ सो भूत तेनानवमर्श यजध्वं तथा श्रेया ᳪ सो भविष्यथेत्या कियत इत्या वर्हिषस्तरणादिति बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति। स यदि पुरा बर्हिस्तरणात्किञ्चिदापद्येत बर्हिरेव तत् स्तृणन्न-पास्येदथ यदा बर्हिस्तृणन्त्यपि यदाभितिष्ठन्ति स यो हैवं विद्वाननवमर्शं यजते श्रेयान् हैव भवति। तस्मादनवमर्शमेव यजेत।' (श० १।२।५।२६)

२७—एवं यागानुष्ठानत्यागकारणमुक्तवत्सु तेषु वृहस्पतिरयथानुष्ठानजनितमेव तत्पापीयस्त्वं न तु सम्यक् यागानुष्ठानजमिति बोधयंस्तेषां विपर्यस्ततां निरस्यति श्रुतिः-- सहोवाचेति—यद्वै शुश्रुम यत् खलु देवानामर्थं परिषूतं परिगृहीतं शुश्रुम तत एतदात्मक एव यज्ञः तत्साध्यत्वात्। सामान्येनोक्तं विशिनष्टि—यच्छृतानि पक्वानि पुरोडाशा-दीनि हवींषि पूर्वपरिग्रहादिभिः क्लृप्ता वेदिर्निर्मिता वेदिरिति यदस्ति एतत्साध्यो देवार्थो यागोऽनेनैवेदृग्विधेन यज्ञेन हे मनुष्या यूयमवर्शं अवमृश्य यागात्प्राक् पक्वानि हवींषि बर्हिस्तरणात्पूर्वं वेदिञ्च संस्पृश्य अचारिष्ट आचरणं कृतवन्तः। यागसाधनस्य च मनुष्यसंस्पर्शो न मुक्तः। अतस्तस्मादेवावमर्शनात् हे मनुष्या यूयं पापीयांसो भूत न तु यागात् अतोऽव-मर्शं परित्यज्य यजध्वम्। तथा च श्रैष्ठ्यं वो भविष्यति।

२८--एवं वृहस्पतिना बोधितेऽवमर्शनपरित्यागस्यावधिं पृच्छति आकियत इति कियत्कालपर्यन्तं संस्कृतां वेदिं न स्पृशेत् एतच्च हविषामप्युपलक्षणम्। अतः पक्वानि हवींष्यपि यागात्पूर्वं न स्प्रष्टव्यानि। सूत्रितं च कात्यायनेन 'प्राक् स्तरणात् वेदिं नावमृशेत्। शृतानि च हवींष्याप्रचरणात्' (का० श्रौ० सू० २।१७९-१८०) वेद्यां बर्हिस्तरणात्प्राक् तस्याः स्पर्शो न कार्यः। प्रधानयागावदानात् पूर्वं पक्वहविषाञ्च स्पर्शो न कार्यः। 'अङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां मा ᳪ सरहिताभ्यामवद्यन्त्येकैका' (का० श्रौ० सू० २।१८१) मांससम्बद्धाभ्यामनखलग्नाभ्यामनखलग्नाभ्यामर्थात्

२६—'स होवाच वृहस्पतिरङ्गिरसो यद्वै शुश्रुम'—(श० १।२ ५।२६) इस ब्राह्मण के द्वारा यह कह रहे हैं कि मनुष्यों ने इस प्रकार जब याग का अनुष्ठान न करने का कारण वृहस्पति को बताया तब वृहस्पति ने उन्हें समझाया कि पाप भागी होने का कारण है कि यज्ञ का यथा विधि (शास्त्र विधि के अनुसार) अनुष्ठान न करना। सम्यक् यागानुष्ठान से पाप भागी नहीं होता। इस प्रकार समझाते हुए उनकी विपर्यस्त हुई बुद्धि को श्रुति ने दूर किया। श्रुति कह रही है कि जो वस्तु देवताओं के लिये स्वीकृत की गई सुना गया है, वह यज्ञ है, क्योंकि उसी से वह साध्य होता है। सामान्यतया बताये गये अभिप्राय को ही अब विशेष रूप से बता रहे हैं—परिपक्व हुए पुरोडाशादि हवि, पूर्वपरिग्रहादि से निर्मित वेदि आदि जो पदार्थ हैं, उनसे ही साध्य (सम्पन्न होने वाला) यह देवतार्थ यज्ञ है। इस प्रकार के ही यज्ञ से हे मनुष्यों! तुम लोग, याग के पूर्व पक्व हुए हवियों को, तथा बर्हिस्तरण से पूर्व वेदि को स्पर्श (अवमर्श) करके तुमने अपने आचरण को भ्रष्ट किया। याग के साधनभूत पदार्थों का स्पर्श करना मनुष्य को उचित नहीं है। अतः उसी अवमर्शन (स्पर्श) से हे मनुष्यों! तुम पाप के भागी बने हो, याग के अनुष्ठान से नहीं। अतः अवमर्श को त्यागकर यज्ञ का अनुष्ठान करो। उससे तुम्हारी श्रेष्ठता होगी।

२८—इस प्रकार वृहस्पति के द्वारा बोधित किये जाने पर, उन्होंने अवमर्शन (स्पर्श) के परित्याग करने की अवधि को पूछा, अर्थात् कितने समय तक स्पर्श न किया जाय। तब उत्तर दिया कि बर्हिस्तरण तक संस्कृत वेदि का स्पर्श न करे। यह हवियों का भी उपलक्षण है, यानी पक्व हवियों का भी याग से पूर्व स्पर्श न करे। अतएव कात्यायन ने भी कहा है--'प्राक्स्तरणात् वेदिं नावमृशेत्', 'शृतानि च हवींष्याप्रचरणात्'—(का० श्रौ० सू० २।१७९-१८०)। उसे स्पर्श न करना उचित भी है क्योंकि बर्हिःस्तरण के पूर्व अशान्त रहने वाली वह वेदि, स्तरण किये जाने वाले बर्हि से शान्त हो जाती है। अतः अशान्त वेदि का स्पर्श करने पर पूर्वोक्त दोष का होना उचित ही है बर्हिःस्तरण के

काष्ठादिकं विना साक्षादेवाङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां केचिदवदानं कुर्वन्ति सामर्थ्यात् स्वधितिं मांसे द्रवद्रव्ये स्रुवः स्मृतः हस्तकाष्ठे पुरोडाशमवदातुं प्रकल्पिते (मी० सू० १।४।१९) युक्तञ्चैतदित्याह बर्हिषेति बर्हिषस्तरणात्पूर्वमशान्ता वेदिः, स्तीर्यमाणेन बर्हिषा खलु शान्ता भवति। अतोऽशान्तायाः स्पृष्टौ प्रागुक्तो दोषो युज्यत इत्यर्थः। स यदीति—बर्हिषः स्तरणात् पूर्वं यदि वेदिमध्ये किञ्चित् तृणादिकमापद्येत तदा तन्निरासार्थमपि न स्पृशेत् किन्तु बर्हि स्तृणन् स्तरणसमये बर्हिषः स्तरणं कुर्वन्नेव तत् तृणादिकं निरस्येत्। स्तरणप्रभृति वेदिस्पर्शो न दोषायेत्यभिप्रेत्याह—अथेति यदा बर्हिमुष्टिं स्तृणन्त्यध्वर्यवः तदानीं पदा पादेनाप्यधितिष्ठन्ति अतस्तस्मिन् समये स्पर्शो न दुष्यति।

२९—एवमितिहासमुखेन प्रतिपादितमर्थमिदानीमनुष्ठेयत्वेन विधत्ते—स य एवं विद्वान् उक्तमितिहासं जानन्ननवमशमेव यजेत, नाय विधिर्मन्त्रेण ज्ञातुं शक्यते तस्मान्मन्त्रो ब्राह्मणश्च वेद इति। अत एव च मन्त्रब्राह्मण-सूत्रैरेव वेदार्थो व्यज्यते त्रिधा बद्धो वृषभोरोरवीति। नैतत्सर्वं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां ज्ञातुं शक्यम्। सावमर्शेन यागेन पापीयस्त्वं फलासिद्धिश्च। शृतहविषां वेदेश्चानवमर्शेन श्रैष्ठ्यं फलसम्पत्तिश्चेति। 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य देवता॥' (मी० श्लो० वा० १।) इति दयानन्दीयो वेदार्थस्तु सर्वथास्याः प्रक्रियाया बहिर्भूत एव।

३०—अध्यात्मपक्षेऽपि—हे विरप्शिन् निरतिशयबृहत्परमेश्वर क्रूरस्य सर्वसंहारकस्य कालस्य विसृपो विसर्पणात्पुरा जीवदानुं जीवदात्रीं पृथिवीं भूमिरूपां सोपाधिकां चितिं उदादायानात्मतादात्म्यविच्छेदेनोर्ध्वमुत्थाप्य यां चन्द्रमसि सुशीतले निरुपाधिके ब्रह्मणि स्वधाभिः गुरुवेदान्तोपदेशसंस्कारैः ऐरयन् ये स्थापयन्ति भेदापोहेनैक्यमनुभवन्ति धीरासो धीरा निगृहीतचित्ताः साधकाः तामु सोपाधिकामात्मचितिं निरुपाधिकब्रह्माभेदानुसन्धानेन ये यजन्ते ब्रह्मयज्ञ-

---

पूर्वं यदि वेदि में कुछ तृणादि गिरा रहे, तब भी उसे हटाने के लिये उसे न छूए ; किन्तु बर्हिस्तरण करते हुए ही उस गिरे हुए तृणादि को हटावे। जिस समय अध्वर्यु बर्हिमुष्टि का वेदि में स्तरण करता है, उस समय वह उसमें पैर रख कर भी खड़ा रहता है। अतः उस समय का स्पर्श रोषावह नहीं होता है।

२९—इस प्रकार इतिहास के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को अब अनुष्ठेय के रूप में बताते है—विद्वान् उक्त इतिहास को जानकर अनवमर्श (अस्पर्श) पूर्वक ही याग करे। इस विधि का ज्ञान, मन्त्र से होना सम्भव नहीं इसलिये मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को 'वेद' शब्द से कहा गया अतएव मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्रों से ही वेदार्थ व्यक्त होता है इसी अभिप्राय को 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' से बताया गया है। यह सब प्रत्यक्ष और अनुमान से जान लेना शक्य नहीं है। सावमर्श (स्पर्श सहित) याग से पापीयस्त्व (पापभागि) और फल की अप्राप्ति बताई गई है। किन्तु परिपक्व हवि के और वेदि के अनवमर्श से श्रेष्ठता तथा फल का लाभ होता है। वार्त्तिककार भट्टपाद ने भी कहा है कि 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता। (मी० श्लो० वा० १) दयानन्दीय वेदार्थ तो इस उक्त प्रक्रिया के सर्वथा बहिर्भूत है।

३०—अध्यात्मपक्ष में भी—हे विरप्शिन्! अर्थात् निरतिशय बृहत् परमेश्वर! क्रूरस्य सर्वसंहारक काल के विस्तृत विसर्पण से पूर्व जीवदानुं जीवनदात्री पृथिवी अर्थात् भूमि रूप सोपाधिक चिति को उदादाय जड़ के साथ तादात्म्य का विच्छेद करते हुए ऊपर उठाकर चन्द्रमसि सुशीतल निरूपाधिक ब्रह्म में स्वधाभिः गुरु-वेदान्तोपदेश के संस्कारों से ऐरयन् स्थापित करते हैं अर्थात् भेद का निरसन कर ऐक्य का अनुभव करते हैं, ऐसे धीरासः निगृहीत चित्त वाले धीर साधक तामु सोपाधिक आत्मचिति (आत्मचैतन्य) का निरूपाधिक ब्रह्म (ब्रह्मचिति-चैतन्य) के साथ अभेदानुसन्धान करते हुए यजन्ते ब्रह्मयज्ञ परायण होकर अभ्यास करते हैं, उन्हें हे प्रभो! प्रोक्षणीः शोधिका ब्रह्माकारावृत्ति को प्राप्त कराओ, अर्थात् उनकी ब्रह्माकार वृत्ति कर दो। तुम द्विषतः अज्ञान और उसके जगत् रूप कार्य के वधोऽसि घातक (विनाशक) हो। तुम सर्वसाधक होते हुए भी महावाक्य जन्य परब्रह्माकार वृत्ति में अभिव्यक्त

परायणा अभ्यस्यन्ति हे प्रभो प्रोक्षणी: शोधिका ब्रह्माकारावृत्तीरासादय प्रापय। त्वं द्विषतोऽज्ञानतत्कार्यस्य जगतो वधोऽसि घातकोऽसि सर्वसाधकोऽपि त्वं महावाक्यजन्यपरब्रह्माकारवृत्त्यभिव्यक्त: सन् सर्वव्यापकोऽसि। 'ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च' (श्री० भ० गी० १३।१६) इति गीतावचनात्। यथा तूलराशिप्रकाशकोऽपि सौरालोक: सूर्यकान्तमणियोगेन स्फुरज्ज्वालाजटिलोऽनल: सन् तूलराशिनाशको भवतीति तद्वत्।

प्रत्युष्ट ७ँ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्त ७ँ रक्षो निष्टप्ताऽअरातयः। अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मि। प्रत्युष्ट ७ँ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्त ७ँ रक्षो निष्टप्ताऽअरातयः। अनिशितासि सपत्नक्षिद्वाजिनीन्त्वा वाजे ध्यायै संमार्ज्मि॥ वा० सं० १।२९॥

अर्थ—अग्नि पर स्रुवा का प्रतपन करे। इस स्रुवा के तपाने से उसमें स्थित राक्षस और प्रतिबन्धक शत्रु, जल जाते हैं। उसी तरह उसमें गुप्त रूप से स्थित राक्षस और प्रतिबन्धक शत्रु भी पूर्ण रूप से जल गये। हे स्रुव! तुम, हम पर अत्यन्त तीक्ष्ण नहीं होते हो। तुम शत्रु नाशक हो, इसलिये मैं तुम्हें धोकर शुद्ध करता हूँ। तुम यज्ञ के द्वारा अन्न के उत्पादक हो। यज्ञ प्रकाशनार्थ मैं तुम्हारी शुद्धि करता हूँ। इस स्रुवा के तपाने से उसमें स्थित रहने वाले राक्षस और प्रतिबन्धक समस्त शत्रु जल गये। उसी प्रकार इसमें गुप्त रूप से रहने वाले राक्षस और प्रतिबन्धक शत्रु पूर्णतया जल चुके। हे स्रुक्! हम पर तीक्ष्ण मत होना। तुम शत्रुओं के नाशक हो। अत: मैं तुम्हें शुद्ध करता हूँ। तुम यज्ञ के द्वारा अन्नोत्पादक हो। अत: यज्ञ प्रकाशनार्थ मैं तुम्हारी शुद्धि करता हूँ॥२९॥

१—'स्रुवं प्रतप्य पूर्ववदिति' (का० श्रौ० सू० २।६।३९) अध्वर्युर्गार्हपत्यस्य पश्चादुपविश्य पूर्ववत् (यथा शूर्पाग्निहोत्रहवण्यो: प्रत्युष्टप्तमिति प्रतपनं कृतं तथैव) प्रत्युष्टं रक्ष इतिमन्त्रेण स्रुवं प्रतप्य किञ्चिदिव प्राग्देशं गत्वा

होकर सब के व्यापादक (विनाशक) हो श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—'ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च'—(श्री० म० गी० १३।१५)। जैसे तूलराशि (रुई का ढेर) का प्रकाशक होता हुआ भी सौरालोक (सूर्यप्रकाश), सूर्यकान्त मणि के सम्बन्ध से उद्दीप्त ज्वालाओं से परिपूर्ण अग्नि का रूप धारण कर समस्त तूलराशि का नाशक होता है, उसी तरह वह ब्रह्म चैतन्य, सम्पूर्ण अज्ञान और उसके कार्य का विनाश कर देता है।

१—'स्रुवं प्रतप्य पूर्ववत् इति'—(का० श्रौ० सू० २।६।३९), अध्वर्यु, गार्हपत्य के पीछे (पश्चिम में) बैठकर पूर्ववत् (जैसे शूर्प और अग्निहोत्रहवणी का 'प्रत्युष्टप्तम्' मन्त्र से प्रतपन (गरम) किया था, उसी तरह) 'प्रत्युष्ट ७ँ रक्षः' इस मन्त्र से स्रुव को तपाकर किञ्चिन्मात्र प्राग्देश में जाकर स्रुव को बाँये हाथ में लेकर वेद (कुश मुष्टि) के अग्र भागों की प्रतिपत्ति का विधान रहने से छेदन करने के कारण वेद (कुश मुष्टि) से पृथक् हुए उन अग्र भागों से स्रुव के मूल से आरम्भ कर उसके मुख तक ऊपर की ओर उसका (स्रुव का) 'शिता' इस मन्त्र से सम्मार्जन करना

स्रुवं वामहस्ते कृत्वा वेदाग्राणां प्रतिपत्तिविधानात् छेदनेन वेदात् पृथग्भूतैर्मूलमारभ्य मुखपर्यन्तमुपरिदेशे स्रुवं सम्मार्ष्टि अनिशिता इति मन्त्रेण। पुनः किञ्चित् प्राग्गत्वा अग्रादारभ्य मूलपर्यन्तं वेदमूलैरनिशित इति सम्मृज्यात् स्रुवः।

२—न निशितोऽनिशितः। हे स्रुव त्वमनिशितोऽसि नितरां शितस्तीक्ष्णीकृतो निशितः, न निशितोऽनिशितः। अस्मद्विषये तीक्ष्णो न भवसि तथापिसपत्नक्षित् सपत्नान् क्षिणोतीति सपत्नक्षित्। (क्षिणु हिंसायाम्) सपत्नहन्तासि अत एव त्वां सम्मार्ज्मि सम्यक् शोधयामि। कीदृशं त्वाम् वाजिनम् यज्ञवन्तम् · यज्ञद्वाराऽन्नहेतुत्वादन्नवन्तम्। अन्यत्र वाजशब्दोऽन्नवचनस्तथाप्यत्र 'यज्ञो हि देवानामन्न' (श० ५।१।१।२) मिति श्रुत्यनुसारेण यज्ञवचनः। तथा यज्ञाख्यमन्नमर्हतीति वाजिनम् अर्हार्थक इन् प्रत्ययः। किमर्थं सम्मार्ज्मि वाजेध्यै (ञिइन्धी दीप्तौ) इन्धनमिन्ध्या दीप्तिः। वाजस्येध्या यज्ञो ज्वलनम् तस्यै वाजेध्यायै यज्ञस्य दीप्त्यै यज्ञप्रकाशनार्थं शोधितेन स्रुवेणाज्ये गृहीते हुते च सति दीप्यतेऽग्निः। तद्दीप्त्याहुतिफलभूतमन्नं प्रकाशितं भवतीत्यर्थः। तथा च यज्ञप्रकाशनार्थं स्रुवसम्मार्जनम्। प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छत्यनिशितेति स्रुचः' (का० श्रौ० सू० २।६।४१) अर्थात् अनिशितेतिमन्त्रेण स्रुचस्तिस्रो जुहूप्रभृद्ध्रुवास्तथैव स्रुवं सम्मृज्य प्रत्येकं प्रत्युष्टं रक्ष इति प्रतप्य प्रतप्य वेद्यां स्थापनार्थमध्वर्यवे प्रयच्छेत् मन्त्राः पूर्ववदेव व्याख्यातव्याः। तत्र 'योषा वै स्रुक् वृषा स्रुवः' (श० १।३।१।९) इति श्रुत्या स्रुवस्य पुंस्त्वात् स्रुचः स्त्रीत्वादादौ स्रुवस्य सम्मार्जनम्। जुह्वादीनां स्रुचां स्त्रीलिङ्गत्वात् तद्विशेषणत्वात् मन्त्रे अनिशितासि वाजिनोमिति स्त्रीत्वमुक्तमन्यत् समानमेव। स्रुवस्रुग्जुहूपभृद्ध्रुवा यजमानं तदृत्विजः प्रति अनिशिता अतीक्ष्णस्वभावाः सौम्या हितावहास्तच्छत्रूणान्तु तीक्ष्णाः

चाहिये। पुनः किञ्चित् प्राग्गमन कर स्रुव के अग्रभाग से लेकर मूल तक उन कुश मूलों से 'अनिशित' इस मन्त्र से उसका (स्रुव का) सम्मार्जन करना चाहिये।

२—जो निशित (तीक्ष्ण) नहीं है, उसे अनिशित कहते हैं। हे स्रुव ! तुम अनिशित हो। 'नितरां अत्यन्त शितः तीक्ष्ण किया गया निशित कहलाता है, जो ऐसा नहीं है, वह 'अनिशित' कहलाता है। हमारे विषय में तीक्ष्ण नहीं हो, तथापि हमारे शत्रुओं (सपत्नों) के तुम घातक (विनाशक) हो अर्थात् तुम सपत्नक्षित् हो। हिंसा के अर्थ में 'क्षिणु' धातु है। अत एव मैं तुम्हारा शोधन करता हूँ। क्योंकि तुम यज्ञ के द्वारा अन्न के हेतु रहने से अन्नवान् हो। यद्यपि 'वाज' शब्द अन्यत्र अन्न का वाचक है तथापि यहाँ पर 'यज्ञो हि देवानामन्नम्'—(श० ५।१।१।२) इस श्रुति के अनुसार यज्ञ वाचक है। तथा च यज्ञाख्य अन्न के योग्य है इसलिये वह वाजी कहलाता है। 'वाजिन्' में अर्हार्थक 'इन्' प्रत्यय है। किसलिये स्रुव का सम्मार्जन किया जा रहा है ? तो बताते हैं कि 'वाजेध्यै' (ञि इन्धि दीप्तौ) दीप्ति अर्थ में 'ञि इन्धि' धातु है। 'इन्धनम्-इन्ध्या'=दीप्तिः। वाजस्य इध्या अर्थात् यज्ञ की दीप्ति यानी ज्वलन, तस्यै वाजेध्यै अर्थात् यज्ञ की दीप्ति के लिये अर्थात् यज्ञ के प्रकाशनार्थ शोधन किये हुए स्रुव से आज्य (घृत) के ग्रहण और हवन करने पर अग्नि प्रदीप्त होती है। उसके प्रदीप्त होने से हवन का फलभूत अन्न प्रकाशित होता है। तथा च यज्ञ के प्रकाशनार्थ स्रुव का सम्मार्जन किया जाता है। 'प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छत्यनिशितेति स्रुचः'—(का० श्रौ० सू० २।६।४१) अर्थात् 'अनिशित' इस मन्त्र से तीनों स्रुचाओं (जुहू, उपभृत्, ध्रुवाओं) का उसी तरह स्रुव का सम्मार्जन कर (शोधन कर) प्रत्येक का 'प्रत्युष्टं रक्षः' मन्त्र से प्रतपन करके वेदी में उन्हें रखने के लिये अध्वर्यु को दे। मन्त्रों की व्याख्या पूर्व के समान ही करनी चाहिये। 'योषा वै स्रुक् वृषा स्रुवः' (श० १।३।५।९) इस श्रुति के अनुसार 'स्रुव' का पुंस्त्व और 'स्रुक्' का स्त्रीत्व प्रतीत होने से प्रथमतः स्रुव का सम्मार्जन किया जाता है। जुहू आदि स्रुचाओं का स्त्रीलिङ्ग रहने से उसके विशेषण भूत 'अनिशित' और 'वाजिन्' में भी स्त्रीत्व प्रदर्शित किया गया है, और सब समान ही है। स्रुवा, स्रुक्, जुहू, उपभृत्, ध्रुवा ये सभी यजमान और उसके ऋत्विजों के प्रति तीक्ष्णता से रहित, (अनिशित) उनके हितकारक होते हैं, किन्तु उनके शत्रुओं के प्रति तीक्ष्ण और शत्रु घातक ही होते हैं। जैसे भगवान् नृसिंह उग्र होते हुए भी एवं हिरण्यकशिपु का अपने तीक्ष्ण नखों से विदारण करते हुए भी प्रह्लाद के प्रति

सपत्नक्षितः शत्रुघातका एव यथा नृहरिरुग्रोऽपि हिरण्यकशिपुं तीक्ष्णैर्नखैर्विदारयन्नपि प्रह्लादं प्रति परमकारुणिकस्तद्वत्। नह्यत्र जडाः स्रुवादयः प्रार्थ्यन्ते किन्तु तदन्तर्यामी भगवानेव प्रार्थ्यते।

३—यत्तु स्वामिदयानन्देन–'येनाहमनिशितेन सपत्नक्षित् सपत्नक्षितासङ्ग्रामेण प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः निष्टप्तं रक्षः निष्टप्ता अरातयः असि भवन्ति त्वा तं वाजिनं वाजेध्यायै युद्धाङ्गानि सम्मार्ज्मि। अहं यया सपत्नक्षिता अनिशितया सेनया प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः निष्टप्तं रक्षः निष्टप्ता अरातयः अस्ति भवन्ति तां वाजिनीं सेनां शिक्षया वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि इत्येकोऽर्थः। अहं येन अनिशितः अनिशितेन सपत्नक्षिता यज्ञेन प्रत्युष्टं रक्षः असि भवन्ति त्वा तं वाजिनं यज्ञं वाजेध्यायैसम्मार्ज्मि एवं यया सपत्नक्षिता अनिशितया क्रियया प्रत्युष्ट रक्षः······ असि भवन्ति तां वाजिनीं वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि तथैव भवन्तोऽप्येतं सम्मार्जयन्तु। भावार्थस्तु—ईश्वर आज्ञापयति सर्वैर्मनुष्यैर्विद्याशुभगुणदीप्त्या दुष्टशत्रुनिवारणाय नित्यं पुरुषार्थः कर्त्तव्यः सुशिक्षया शस्त्रास्त्रपुरुषाढ्यसेनया श्रेष्ठानां रक्षणं दुष्टानां ताड़नं नित्यं कर्त्तव्यम् अतोऽशुद्धिक्षयात् सर्वपवित्रता प्रवर्तेते'त्युक्तम्।

४—तन्न मनोज्ञम्, वेदबाह्यानामपि तथाभिप्रायदर्शनात्। इयं च राजनीतिरेव मनुशुक्रादिभिरपि तथैवाभिप्रेतत्वात्। मन्त्रव्याख्यानमपि विभक्तिप्रत्ययपुरुषवचनव्यत्ययबहुलम् क्लिष्टकल्पना प्रायम् यथा प्रत्युष्ट प्रति दग्धव्यम् रक्षः विघ्नकारी प्राणी इत्यत्रापि मुख्यार्थ त्यागो गौणार्थस्वीकारः, रक्षोबन्धनेन रक्षयितव्यमित्यपि निर्मूलम् प्रसिद्धार्थत्यागे कारणाभावात्। सत्यविरोधिनोऽरातयः विद्याविरोधिनोऽरातयः इत्यत्रापि स्वेच्छामूलक एवार्थो गृहीतः। शाब्दनयेनेच्छास्वातन्त्र्यम्, अव्याहतप्रसरत्वात्तस्याः। न विद्यते नितरां शिता तीक्ष्णक्रिया यस्मिन् स सङ्ग्रामो यज्ञपात्रं वा इत्यप्यशुद्धम्, सङ्ग्रामे छेदनभेदनादि रूपायास्तीक्ष्णायाः क्रियायाः सत्त्वात्।

५—यत्तु—'सङ्ग्रामो न केवलं दण्डेनैवापितुसामदानभेदैर्वशीकारेऽपि जेतव्य इति भाव' इति, तत्तुच्छम्, सामदानादिभिरिष्टसिद्धौ सङ्ग्रामाप्रवृत्तिरेव भवति न सङ्ग्रामजयः।

परम कारुणिक रहते हैं, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। यहाँ पर स्रुवादि जड़ पदार्थों की प्रार्थना न होकर उन के अन्तर्यामी भगवान् की प्रार्थना की गई है।

३—स्वामी दयानन्द ने जो लिखा है—'येनाहमनिशितेन·································सम्माजयन्तु।' उसका भावार्थ इस प्रकार है—'ईश्वर आज्ञा दे रहा है कि सभी मनुष्यों को अपनी विद्या एवं सुन्दर गुणों के प्रकाश से दुष्ट शत्रुओं का निवारण करने के लिये पुरुषार्थ नित्य करना चाहिये। शस्त्रास्त्र की अच्छी शिक्षा प्राप्त किये पुरुषों की सेना से श्रेष्ठों का रक्षण और दुष्टों का ताड़न नित्य करना चाहिये। उससे अशुद्धि का क्षय होकर सर्वत्र पवित्रता होगी।'

४—किन्तु यह स्वामी दयानन्द का कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। इस प्रकार अभिप्राय तो वेदबाह्यों का भी दिखाई देता है। और यह तो राजनीति है. उसमें मनु, शुक्र आदि राजनीति के आचार्यों का भी यही अभिप्राय है। दयानन्दोक्त मन्त्र व्याख्यान में भी विभक्ति प्रत्यय, पुरुष, वचन आदि में व्यत्यय बहुलता है। और क्लिष्ट कल्पना भी है। जैसे—'प्रत्युष्टं प्रतिदग्धव्यम्, रक्षः विघ्नकारी प्राणी' यहाँ पर भी मुख्यार्थ का त्याग और गौणार्थ को स्वीकार किया गया है। 'रक्षोबन्धनेन रक्षयितव्यम्' यह कथन भी निर्मूल है। क्योंकि प्रसिद्धार्थ के त्याग में कोई कारण नहीं है। 'सत्य के विरोधी शत्रु और विद्या के विरोधी शत्रु' यहाँ पर भी स्वेच्छामूलक अर्थ का ही ग्रहण किया है। शाब्द व्यवहार में इच्छा की स्वतन्त्रता नहीं हुआ करती, क्योंकि इच्छा की गति तो अप्रतिहत रहती है। 'अनिशित' का अर्थ किया है कि 'नहीं है अत्यन्त तीक्ष्ण क्रिया जिसमें उसे संग्राम या यज्ञपात्र कहते हैं। किन्तु यह अर्थ करना भी अशुद्ध है, क्योंकि संग्राम में तो छेदन-भेदनादि रूप तीक्ष्ण क्रिया हुआ करती है।

५—यह जो कहा है कि 'संग्राम केवल दण्ड से ही नहीं अपितु साम, दान, भेद के द्वारा वशीकार करने में

६—यत्तु—'किञ्च निशिता पदेन तीक्ष्णा क्रियोच्यते' इति, तदपि निर्मूलम्, प्रमाणविरहात्। पात्रे च तीक्ष्णत्वाप्राप्त्या निशितेति विशेषणं व्यर्थमेव।

७—यदपि—'सपत्नान् शत्रून् क्षयति येन सः, अत्र 'कृतो बहुलम्' (पा० सू० ३।३।११३) इति वार्तिकेन करणकारके क्विप् (शि शये) इत्यस्य रूपम्, एतदुव्वटमहीधराभ्यां क्षिणु हिंसायामित्यस्य भ्रान्त्या व्याख्यातम्' इति, तदप्यशुद्धम्, प्रकृते कर्तृकारकस्य विवक्षितत्वेन करणकारकस्याविवक्षितत्वात्।

८—यत्तु—क्षिणु हिंसायाम्' क्विपि झल्परत्वाभावात् (अनुदात्तोपदेशवनति) पा० सू० ६।४।३७ इत्यादिनाऽनुनासिकलोपो न सम्भवति इति तदपि तुच्छम्, 'तनु वनु क्षणु क्षिणु ऋणु तृणु घृणु वनु मनु तनोत्यादिषु क्षिणोतेर्ग्रहणेन क्विपि सपत्नक्षिदिति सिद्धौ बाधाभावात्। न च क्विपः सर्वापहारिलोपेन झल्परत्वाभावात् नानुनासिकलोपः सम्भवतीति वाच्यम्, लोपेऽपि स्थानिवद्भावमाश्रित्य झल्परत्वानपायात्। अन्यथा 'सुकृत्, कर्मकृत्, मन्त्रकृत् इत्यादौ क्विपो लोपे पित्कृत्परत्वाभावेन 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।२।७१) इति सूत्राप्रवृत्त्या कथमेतेषां रूपाणां सिद्धिः स्यात्। 'गमः क्वौ' (पा० सू० ६।४।४०) इति स्थलीयस्य गमादीनामिति वक्तव्यम् इहापि यथा स्यात् परीतत् सहकुण्डिकया संयत् परीतत्' इति महाभाष्यस्यानुरोधेन क्षिणोतेरप्यनुनासिकलोपापत्तेः।

९—यत्तु भाष्ये क्षिणोतेरपरिगणनात् न गमादित्वं तस्येति, तत्तुच्छम्, परिगणनासिद्धेः। परीतत् संयत् आदिप्रयोगस्तूपलक्षणमेव क्षिणोतेरपीति मन्तव्यम्। प्रकृते हिंसार्थस्यैव विवक्षितत्वेन (क्षि क्षये) इत्यसङ्गतेः।

भी होता है, अर्थात् किसी तरह भी जीतना चाहिये यह अभिप्राय है।' किन्तु यह अभिप्राय भी तुच्छ है। क्योंकि साम-दानादि के द्वारा इष्टसिद्धि होने पर न तो संग्राम में प्रवृत्ति होती है और न संग्राम में विजय कहा जाता है।

६—और जो यह कहा है—'किञ्च निशिता' पद से तीक्ष्ण क्रिया बतायी गई है' वह भी निर्मूल है, क्योंकि कोई प्रमाण नहीं है। और पात्र में तीक्ष्णता की प्राप्ति न रहने 'निशिताः यह विशेषण देना व्यर्थ ही है।

७—उसी तरह 'सपत्नान् शत्रून् क्षयति येन सः' यहाँ पर 'कृतो बहुलम्'—(पा० सू० ३.३।१३) इति वार्तिक से करण कारक में 'क्विप्' प्रत्यय करने पर ('शि' शये) धातु का रूप, दयानन्द जी ने कहकर उव्वट-महीधर को भ्रान्त बताया है, क्योंकि उन्होंने 'क्षिणु हिंसायाम्' का रूप है, यह अपनी व्याख्या में कहा है।' किन्तु दयानन्द, उव्वट-महीधर को भ्रान्त सिद्ध करते हुए स्वयं अपने को ही भ्रान्त सिद्ध कर बैठे। दयानन्द जी को सोचना चाहिये था कि प्रकृत में 'कर्तृकारक की विवक्षा रहने से 'करणकारक' अविवक्षित है।

८—तदनन्तर यह जो कहा है कि 'क्षिणु हिंसायाम्' क्विप् में झल् परत्व न होने से 'अनुदात्तोपदेशवनति' (पा० सू० ६।४।३७) से अनुनासिक लोप का होना सम्भव नहीं है। वह भी ठीक नहीं है। 'तनुवनु क्षणुक्षिणुऋणतृणु-घृणु वनु मनु तनोत्यादि में 'क्षिणु' का ग्रहण होने से क्विप् करने पर 'सपत्नक्षित्' की सिद्धि में कोई अड़चन नहीं है। यदि यह कहो कि 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप होने पर झल् परत्व न रहने से अनुनासिक लोप का होना सम्भव नहीं होगा। तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि लोप होने पर भी स्थानिवद्भाव का आश्रय करने पर झल्परत्व कायम रहता है। अन्यथा 'सुकृत्, कर्मकृत्, मन्त्रकृत्, इत्यादि स्थलों में 'क्विप्' का लोप होने पर भी कृत्परत्व न होने से 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ३।३।) सूत्र की प्रवृत्ति होने से इन रूपों की सिद्धि कैसे होगी ? 'गमः क्वौ' (पा० सू० ६।४४०) इस सूत्र के महाभाष्य 'गमादीनामिति ······· ·· ·······संपत् परीतत् —के अनुरोध से 'क्षिणोति' के अनुनासिक का भी लोप होने लगेगा।

९—यह जो कहना है कि 'भाष्य में 'क्षिणु' का परिगणन न होने से उसमें गमादित्व नहीं है' वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि परिगणन असिद्ध है। 'परीतत्, सम्पत्' आदि प्रयोगों को तो 'क्षिणोति' का भी उपलक्षण समझना

अत एव 'सपत्नान् क्षिणुयात्' (श० १।३।१।६) इति श्रुतौ क्षिणोतेरेव प्रयोग:। एवमेव 'प्रत्युष्टं तापनीयं निष्टप्तं नि:सारणीयमित्यपि न सङ्गतम्, धात्वर्थाननुगमात्। 'अनिशिता अति विस्तीर्णा सेना वेदिर्वा' इत्यप्यसङ्गतम्, (शो तनू करणे) इत्यस्य विशेषतो नि पूर्वस्य तीक्ष्णीकरणार्थत्वमेव। नञोऽपि तदभावबोधपर्यवसायित्वमेव। अतएव—'अहं येनानिशितेनातिविस्तृतेन सपत्नक्षिता शत्रुनाशकेन सङ्ग्रामेण प्रत्युष्टं रक्ष: प्रत्युष्टा अरातय: विघ्नकारी प्राणी सत्यविरोधिनश्च दाहरूपेण दण्डेन दग्धा:, येन बन्धनेन निष्टप्तं रक्ष: बन्धार्हो निष्टप्ता अरातय: विद्याविघ्नकारिण: सन्तप्ता भवन्ति त्वा तं वेगवन्तं सङ्ग्रामं वाजेध्यायै अन्नादि पदार्थैर्बलवत्त्वकरणयोग्यसेनार्थयुद्धसाधनानि सम्मार्ज्मि सम्यक् शोधयामि तदीयदोषान्निस्सारयामि। अहं यया शत्रुविनाशिन्या अनिशितयाऽतिविस्तीर्णया सेनया परसुखासहा मनुष्या द्यूतादिरता अपगुणाश्च मनुष्या निष्टप्ता: सन्ताप्यन्ते तां वाजिनीं बलवेगादिगुणशालिनीं सेनां वाजेध्यायै बहुभि: साधनै: प्रकाशनीयायै सत्यनीत्यै सम्मार्ज्मि उत्तमोत्तमशिक्षाभि: शोधयामि' इति, तदपि प्रलापमात्रम्, मन्त्राक्षरासम्बन्धात्। मन्त्रे सङ्ग्राम-सेनाबोधकपदाभावात्।

१०—ननु-अनिशित-सपत्नक्षिदितिपदयोस्तद्बोधकत्वं न सम्भवति, करणकारकक्विप: खण्डितत्वात्, अनिशित इति प्रथमान्तविरोधात्, असीतिमध्यमपुरुषक्रियाविरोधाच्च। न च व्यत्ययेन विभक्तिपुरुषविपरिणामौ युक्तौ, यथा श्रुतार्थबाधएव व्यत्ययाश्रयणोपपत्ते:। 'वाजशब्दोवेगादिगुणपर' इत्यपि निर्मूलम्, प्रमाणानुपलम्भात्। 'अहम् अनिशिताभिर्बृहतीभि: क्रियाभि: प्राप्तुं योग्यं सपत्नक्षिद्भि: दोषाणां शत्रूणां वा नाशकैर्यज्ञै: विघ्नकारिण: सत्यविरोधिनश्च दण्डेन दग्धा येन बन्धनार्हो विद्याविघ्नकारिण: सन्तापिता तं वाजिनं यज्ञं वाजेध्यायै अन्नाद्यभिव्यङ्ग्यायै क्रियायै सम्मार्ज्मि शोधयामि। सपत्नक्षिता शत्रुनाशिकयाऽतिविस्तीर्णया क्रियया प्रत्युष्टं रक्ष: प्रत्युष्टा: अरातय: विघ्नकारिण: प्राणिन: दु:खदौर्गन्ध्यादयो दोषाश्च नश्यन्ति त्वा त वाजिनीं सत्क्रियां वाजेध्यायै अन्नादिपदार्थै: प्रकाशनीयाय सत्यनीत्यै सम्मार्ज्मि सम्यक् साधयामि' इत्यपि विसङ्गतमेव पूर्वोक्तदोषदुष्टत्वात्।

चाहिये। प्रकृत में हिंसार्थ की ही विवक्षा होने से 'क्षि क्षये' धातु का रूप बताना असङ्गत ही है। अतएव 'सपत्नान् क्षिणुयात्'—(श० १।३।१।६) इस श्रुति में 'क्षिणोति' का ही प्रयोग किया गया है। उसी तरह 'प्रत्युष्टं तापनीयम्, निष्टप्तं नि:सारणीयम्'—यह कथन भी असङ्गत है। क्योंकि धात्वर्थ का अनुगम नहीं हो रहा है। उसी तरह 'अनिशिता अतिविस्तीर्णा सेना वेदिर्वा'—यह कथन भी सङ्गत नहीं हो रहा है। 'शो तनूकरणे' धातु का 'निस् या निर्' उपसर्ग लगने पर विशेषत: तीक्ष्णीकरण ही अर्थ हुआ करता है। 'नञ्' का भी उसके अभाव बोधन में ही पर्यवसान है। अत एव 'अहं येनाऽनिशितेनाऽतिविस्तृतेन............शोधयामि'—यह दयानन्दीय व्याख्या केवल प्रलाप मात्र है। क्योंकि मन्त्र के अक्षरों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मन्त्र में संग्राम, सेना आदि का बोधक कोई पद नहीं है।

१०—करण कारक अर्थ में क्विप् का खण्डन हो जाने से 'अनिशित और सपत्नक्षित्' ये दोनों पद उपर्युक्त अर्थ के बोधक नहीं हो सकते। तथा प्रथमान्त अनिशित पद से विरोध भी होगा। एवं 'असि' इस मध्यम पुरुष की क्रिया के साथ भी विरोध होगा। व्यत्यय से विभक्ति और पुरुष में विपरिणाम करना भी उचित नहीं होगा, क्योंकि व्यत्यय का आश्रय वहीं किया जाता है, जहाँ यथाश्रुत अर्थ का बाध उपस्थित होता हो। 'वाज' शब्द को वेगादि गुण परक बताना भी निर्मूल है, क्योंकि ऐसा करने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। 'अहं अनिशिताभि: बृहतीभि: क्रियाभि:...सम्यक् साधयामि' यह व्याख्यान भी पूर्वोक्त दोष से दूषित होने के कारण विसङ्गत ही है।

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोऽस्यूर्जे त्वाऽदब्धेन त्वा चक्षुषाव पश्यामि। अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे

॥ वा० सं० १ । ३० ॥

अर्थ—हे योक्त्र ! (यजमानपत्नी की कमर में बाँधी गई मूँज की डोरी को योक्त्र कहते हैं) तुम पृथ्वी की करधनी हो। हे दक्षिण पाश ! तुम यज्ञ के व्यापक हो। हे घृत ! उत्तम रस की प्राप्ति के लिये तुझे मैं पतला कर रहा हूँ। हे घृत ! मैं उपद्रव रहित नेत्रों से नीचे की ओर ग्रीवा करके तुम्हें देख रही हूँ। तुम अग्नि की जिह्वा हो। और देवताओं के हविर्भाग हो। इस कारण मेरे भिन्न-भिन्न याग स्थानों में पृथक्-पृथक् यज्ञों की सिद्धि के लिये तुम वहाँ प्राप्त होना ॥३०॥

१—'पत्नी ᳪ सन्नह्यति प्रत्यग्दक्षिणतः उपविष्टां गार्हपत्यस्य मुञ्जयोक्त्रेण त्रिवृत्ता परिहरत्यधोवासो अदित्यै रास्नासीति' (का० श्रौ० सू० २।७।१)

२—अध्वर्युर्गार्हपत्यनिर्ऋतिकोणे पूर्वतः समुपविष्टामीशानाभिमुखीं यजमानपत्नीं त्रिगुणितेन मुञ्जनिर्मितेन योक्त्रेण नाभेरधः कटिप्रदेशे बध्नाति अदित्यै इतिमन्त्रेण परिहितवाससो बहिरुपरि तद्योक्त्रं परिवेष्टयेत् पत्नीसंस्कारत्वादेव तत्प्रतिपत्तिः कर्त्तव्यं सति पत्नीबहुत्वे।

३—मन्त्रार्थस्तु—हे योक्त्र अदित्यै अदित्या भूमेस्त्वं रास्नासि रशनासि। योक्त्राधिष्ठातृदेवतस्य भूम्या नियामकत्वेनैव भूमेरचलत्वम् योक्त्रेण यजमानपत्न्या अपि यज्ञानुष्ठानं यावदचलत्वम्।

४—'दक्षिणं पाशमुत्तरे प्रतिमुच्योर्ध्वमुद्गूहति विष्णोर्वेष्पो इति न ग्रन्थिं करोतीति' (का० श्रौ० सू० २।७।२-३) अत्रपरम्पराप्राप्तः पाठो वेष्प इति पकारान्तो ज्ञेयः। 'पानीविषिभ्यः पः' (उ० सू० ३।३०३) इत्युणा

१—'पत्नी ᳪ सन्नह्यति प्रत्यग्दक्षिणतः··············रास्नासीति'—(का० श्रौ० सू०२।७।१)।

२—अध्वर्यु, गार्हपत्य के नैर्ऋत्य कोण में पूर्व की ओर बैठी हुई, ऐशान्य दिशा की ओर मुख की हुई यजमान पत्नी की नाभि के नीचे कटि प्रदेश में पहने हुए वस्त्र पर मुञ्ज से निर्मित त्रिगुणिक मेखला को 'आदित्यै' मन्त्र से परिवेष्टित करता है। यह मेखला परिवेष्टन, पत्नी का संस्कार स्वरूप होने से अनेक पत्नियों के रहने पर प्रत्येक पत्नी का मेखला येष्टन करना चाहिये।

३—मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे मेखले ! तुम भूमि की रशना स्वरूप हो। मेखला (योक्त्र) की अधिष्ठात्री देवता रूप भूमि की नियामक होने से ही भूमि की अचलता कही जाती है। अतः, उस योक्त्र के परिवेष्टन के कारण यजमान पत्नी को भी यज्ञानुष्ठान तक अचल रहना चाहिये।

४—उसके दाहिने छोर को उत्तर की ओर निकाल कर 'विष्णोर्वेष्पो' मन्त्र से ऊपर उसे उरस दे, गाँठ न लगावे इसे कात्यायन ने 'दक्षिणं पाशमुत्तरे'—(का० श्रौ सू २।७ २-३) सूत्र से बताया है। यहाँ मन्त्र में परम्परा

सूत्रेण विषेः पकारादेशेन रूपसिद्धिः। अध्वर्युः योक्त्रस्य दक्षिणाग्रस्थितं पाशमुत्तराग्रस्थितस्य पाशस्य मध्ये उपरितः प्रवेश्य अध आकृष्य शङ्कुस्थानीये प्रोतयित्वा (ततः सामर्थ्यात् पाशं द्विगुण वेष्टयित्वा) दक्षिणं पाशमूर्ध्वमुद्गूहति योक्त्रमध्य एव प्रेरयति। ऊर्ध्वं योक्त्रमध्ये गूहनसामर्थ्यात् द्विर्वेष्टनम् एकवेष्टने उद्गूहनस्याशक्यत्वात् इति देवयाज्ञिकः। हे दक्षिणपाश त्वं विष्णोर्यज्ञस्य वेष्पो व्यापकोऽसि। (विष्लृ व्याप्तौ) इतिधातोस्तद्रूपनिष्पत्तिः। दक्षिणपाशस्य यावद्यज्ञं नियामकत्वात्तस्य यज्ञव्यापकत्वोक्तिः। (वेष्ट वेष्टने) इत्यस्माद्वा वेष्पशब्दनिष्पत्तिः। यज्ञस्य वेष्टनं वा त्वमसि। पत्नीवेष्टनेन यज्ञ एव वेष्टितो भवति। आवर्तो वा वेष्पः त्वं यज्ञस्य विष्णोरावर्तोऽसि।

५—'ऊर्जे त्वेत्याज्यमुद्वास्येति' (का० श्रौ० सू० २।७।४) ऊर्जे त्वाम् उद्वासयामि इत्यध्याहारयुक्तेन मन्त्रेणाध्वर्युः आज्यमुद्वास्य पत्नीमवेक्षयेत्। हे आज्य त्वामुद्वासयामीति शेषः। किमर्थम् ऊर्जे उत्तमरसलाभाय, विलापितघृतस्य सुस्वादुत्वात्।

६—'पत्नीमवेक्षयत्यदब्धेनेतीति' (का० श्रौ० सू० २।७।) पत्न्याज्यमवेक्षस्वेति अध्येषणापूर्वकमाज्यमावेक्षयेत। हे आज्य अदब्धेन अनुपहिंसितेन चक्षुषा त्वामवपश्यामि; अवाचीनं यथा तथा अधोमुखी पश्यामि। त्वमग्नेर्जिह्वासि। आज्यहोमावसरे जिह्वातुल्यज्वालोत्पत्तेः। सुहूः देवेभ्योऽर्थाय सुष्ठु हूयन्ते इति सुहूः। पुंस्त्वमत्र छान्दसम् अथवा सुहूरिति जिह्वाया विशेषणम्। सुष्ठु हूयन्ते अनयेति सुहूर्जिह्वा। ज्वालां दृष्ट्वा देवा आयान्तीत्यर्थः।

प्राप्त पाठ 'वेष्प' ऐसा पकारान्त ही समझना चाहिये। 'पानी विषिभ्यः पः' (उ० सू०) इस उणादि सूत्र से 'वषि' को पकारादेश करने से 'वेष्प' रूप सिद्ध होता है। अध्वर्यु, योक्त्र के दक्षिणाग्र स्थित पाश को उत्तराग्र स्थित पाश के मध्य ऊपर की ओर प्रवेश कराकर और उसे नोचे खींचकर शङ्कु स्थान में पिरोकर (उसके सामर्थ्य से पाश को द्विगुण लपेट कर) दक्षिण पाश को ऊपर उरस देता है अर्थात् योक्त्र में ही उसे उरस देता है। योक्त्र में ऊपर की ओर उसको उरसने से (गूहन सामर्थ्य से) दो वेष्टन हो जाते हैं, एक वेष्टन में गूहन करना शक्य नहीं है। ऐसा देवयाज्ञिक कहते हैं। हे दक्षिण पाश! तुम यज्ञ के व्यापक हो, (विष्लृ व्याप्तौ) धातु से इस 'वेष्पः' रूप की निष्पत्ति हुई है। यह दक्षिण पाश, यज्ञ समाप्ति तक उसका (यज्ञ का) नियामक रहने से उसे (पाश को) यज्ञ व्यापक कहा गया है। अथवा 'वेष्ट' वेष्टने धातु से 'वेष्प' शब्द की निष्पत्ति होती है। तब यज्ञ के तुम वेष्टन हो, यह अर्थ होगा। पत्नी के वेष्टित होने से यज्ञ ही वेष्टित हुआ समझा जाता है। अथवा 'वेष्प' शब्द का अर्थ 'आवर्त' भी हो सकता है। तुम यज्ञ रूप विष्णु के आवर्त हो।

५—'ऊर्जे त्वा इति आज्यमुद्वास्य'—(का० श्रौ० सू० २।७।४), 'ऊर्जे त्वाम् उद्वासयामि' इस अध्याहार से युक्त हुए मन्त्र से अध्वर्यु आज्य का उद्वासन कर पत्नी का अवेक्षण करे। 'हे आज्य! त्वामुद्वासयामि' यह शेष लगना चाहिये। किसलिये? तो ऊर्ज में उत्तम रस के लाभ के लिये। क्योंकि तरल किया हुआ (तपाया हुआ) घी सुस्वादु होता है।

६—'पत्नीमवेक्षयत्यदब्धेनेतीति'—(का० श्रौ० सू० २।७।) 'पत्नि! आज्यमवेक्षस्व' इस प्रकार अध्येषणा पूर्वक (आदर पूर्वक कहने पर) पत्नी आज्य को देखे। हे आज्य! अनुपहिंसित अर्थात् निर्दुष्ट (अदब्ध) नेत्रों से अधोमुखी होती हुई तुम्हें देख रही हूँ। तुम अग्नि की जिह्वा हो। आज्य से होम करने के अवसर पर जिह्वा के तुल्य ज्वालाओं की उत्पत्ति होती है। 'सुहूः'– देवताओं के लिये अच्छी प्रकार से जो हवन की जाती है, उसे 'सुहूः' कहते हैं। यहाँ पर पुंस्त्व, छान्दस समझना चाहिये। अथवा 'सुहूः' यह जिह्वा का विशेषण है। 'सुष्ठु हूयन्ते अनया इति सुहूः जिह्वा'। ज्वाला को देखकर देवताएँ आती हैं। अतः तुम तत्तद् यागफलोपभोग स्थान सिद्ध्यर्थ बनो। 'यजुष्' शब्द, यहाँ पर याग परक है। 'फलेन युज्यते इति यजुर्यागः' फल के साथ युक्त होता है इस कारण 'यजु' को याग भी कह सकते हैं। अतः 'यजुषे यजुषे' का अर्थ तत्तद्यागसिद्ध्यर्थ हुआ, उसके लिये तुम बन जाओ। क्योंकि

अतो मे मम धाम्ने धाम्ने भव तथा यजुषे यजुषे भव। धामस्थानम्। तत्तद्यागफलोपभोगस्थानसिद्ध्यर्थं भव। यजुष्शब्दोऽत्र यागपरः। फलेन युज्यते इति यजुर्यागः। यजुषे यजुषे तत्तद्यागसिद्ध्यर्थं भव, आज्यसाध्यत्वाद्यागस्य यागलभ्यफलस्थानस्यापि च। तत्साध्यत्वादाज्याधिष्ठातृदेवतमत्र प्रार्थ्यते। पत्न्यावेक्षितस्यैव संस्कृतत्वादाज्यस्य याग उपयोगः। आज्यावेक्षणञ्चैकयैव पत्न्या कार्यम् द्रव्यसंस्कारत्वात्। एकावेक्षणेनोपपत्तौ अन्यस्य नैरर्थक्यात्।

७—स्वामिदयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर यस्त्वमदित्यै अदित्या रास्नासि रसहेतुभूतक्रियासि, विष्णोर्विष्णुरसि सर्वस्य वेष्पोस्यग्नेर्जिह्वासि देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे सुहूरसि एवं भूत त्वामहमदब्धेन चक्षुषा ऊर्जे आदित्यै धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे त्वा अवपश्यामि। स च त्वमस्माभिः कृपया विदितः पूजितश्च भव।

८—यद्वा यतोऽयं यज्ञः अदित्या अन्तरिक्षस्य रास्ना रसादिपदार्थानां क्रियाकारणमस्ति। विष्णोर्यज्ञसम्बन्धिकार्याणां वेष्पो व्यापकोऽसि अग्नेर्भौतिकस्य जिह्वासि, देवेभ्यो दिव्यगुणेभ्यो धाम्ने धाम्ने कीर्तिस्थानजन्मभ्यः, यजुषे यजुषे यजुषामाशयज्ञानाय सुहूः सम्यक् प्रशंसायै मे भव। अतस्त्वा त यज्ञमहं तस्मात्तमहमदब्धेन चक्षुषोर्जेऽवपश्यामि। तथात्वादित्यै देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे हितायावपश्यामि। सर्वैर्मनुष्यैरयं जगदीश्वरः प्रतिवस्तुषु स्थितः प्रतिमन्त्रं प्रतिपादितः पूज्यश्च भवतीति मन्तव्यम्। तथाचायं यज्ञः प्रतिमन्त्रेण सम्यगनुष्ठितः सर्वप्राणिभ्यः प्रतिवस्तुषु पराक्रमबलप्राप्तये भवतीति' प्रोक्तवान्, एतदपि यत्किञ्चित्, यथेच्छव्यत्ययमूलकत्वात्।

९—यत्तु अदितिपदार्थवर्णनप्रसङ्गे 'अनेन गमनागमनव्यवहारप्राप्तिहेतुरवकाशोऽन्तरिक्ष गृह्यते' इति तन्न,

---

याग का होना आज्य पर निर्भर रहने से याग, आज्य से साध्य है, और याग लभ्य फल स्थान भी आज्य से ही साध्य होने से आज्य की अधिष्ठात्री देवता की यहाँ प्रार्थना की गई है। पत्नी के द्वारा अवेक्षण संस्कार किया हुआ आज्य ही संस्कृत कहलाता है। तभी उस आज्य का याग में उपयोग हो पाता है। आज्य का अवेक्षण एक ही पत्नी करे। क्योंकि वह द्रव्य का संस्कार है। एक के अवेक्षण करने से ही जब संस्कार उपपन्न हो जाता है तब अन्य के द्वारा निरीक्षण करना निरर्थक है।

७—स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह उनका प्रलाप मात्र है, क्योंकि उन्होंने उसमें अपनी मनगढ़न्त व्यत्ययादि की कल्पना की है। स्वामी दयानन्द का अर्थ इस प्रकार है—'हे जगदीश्वर ! तुम अदिति की रस हेतुभूत क्रिया हो, तुम विष्णु हो, तुम अग्नि की जिह्वा हो, देवताओं के लिये प्रत्येक जगह तुम सुहू रूप हो, इस प्रकार के तुम को अदब्ध नेत्र से देखते हैं। इस प्रकार के तुम हमारे लिये कृपा करके विदित और पूजित हो जाओ।

८—अथवा क्योंकि यह यज्ञ अन्तरिक्ष के रसादि पदार्थों की क्रियाओं का कारण है। यज्ञ से सम्बन्धित कार्यों में व्यापक है। तुम भौतिक अग्नि की जिह्वा रूप हो, दिव्य गुण वालों के लिये स्थान स्थान पर कीर्ति को पैदा करने वाले हो, यजुओं के आशय को जानने के लिये सुहू अर्थात् मेरी सम्यक् प्रशंसा के लिये बनो। अतः उस यज्ञ को मैं अदब्ध नेत्र से देख रही हूँ। उसी प्रकार देवताओं के लिये प्रत्येक स्थान पर तथा प्रत्येक यजु के हित के लिये देखती हूँ। यह जगदीश्वर प्रत्येक वस्तु में स्थित है, प्रत्येक मन्त्र में उसे बताया गया है वह पूजनीय है, ऐसा सभी मनुष्यों को मानना चाहिये। तथा च यह यज्ञ प्रत्येक मन्त्र के द्वारा सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित होने पर समस्त प्राणियों को प्रत्येक वस्तुओं में पराक्रम और बल की प्राप्ति के लिये होता है। उसी प्रकार अदिति पदार्थ के वर्णन के प्रसङ्ग में 'इससे गमनागमन व्यवहार प्राप्ति में हेतुभूत 'अवकाश' शब्द से अन्तरिक्ष का ग्रहण किया है' इति। यह भी उचित नहीं है, क्योंकि काल, आकाश आदि को समस्त कार्यों के प्रति साधारण कारण माना गया है, अतः उस में विशेष कारणत्व उपपन्न नहीं हो सकता।

९—उसी प्रकार 'रास्ना' को रस हेतुभूत क्रिया कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि जो सर्वसाधारण के प्रति

कालाकाशादीनां सर्वकार्यं प्रति साधारणकारणत्वेन विशेषहेतुत्वानुपपत्तेः। यदपि रास्ना रसहेतुभूतक्रियेति तदपि न,सर्वकारणस्य सर्वहेतुभूतक्रियावत्त्वेन वैशेष्यायोगात्। एवं चक्षुषा विज्ञानेन प्रत्यक्षप्रमाणेनेत्यपि निर्मूलम् इन्द्रियविशेषे रूढस्य चक्षुःशब्दस्य विज्ञानादिपरत्वायोगात्। शतपथविरुद्धञ्चैतत्। तथाहि—

१०—'अथ पत्नी ँ सन्नह्यति। जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी प्राङ्मे यज्ञस्तायमानो यादिति युनक्त्येवैनामेतत् युक्तामेव यज्ञमन्वासाता इति' (श० १।३।१।१२)

११—प्रैषक्रमप्राप्तपत्नीसन्नहनं विधत्ते—अथेति। जघनार्धो वा गार्हपत्यानुष्ठेयेषु पत्नीसंयाजादिषु पत्न्याः सम्बन्धात् सा यज्ञस्यापरार्धः। किं तत् इत्याह प्रागिति। मदीयो यज्ञः प्रागपवर्गं तायमानः विस्तार्यमाणो यात गच्छेत। अतः परार्धमारभ्य यज्ञो विस्तारयितव्यः इत्यनेनाभिप्रायेण पत्नीं सन्नह्येदित्यर्थः। यदेतत्सन्नहनं तदेतत् रथे अश्वादीनामिव पत्न्या यज्ञेन सार्धं योजनं बन्धनमित्याह युक्ता, योक्तुरभिप्रायाविष्करणम्। युक्ता च सा मदीयं यज्ञमनुलक्ष्य यज्ञसमाप्तिपर्यन्तम् आसातै आसीत नह्ययुक्तो रथो नियमेनास्ते।

१२—योक्त्रेण सन्नह्यति योक्त्रेणहि योग्यं युञ्जन्त्यस्ति वै पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेरथैतदाज्यमवेक्षिष्यमाणा भवति। तदेवास्या एतद्योक्त्रेणान्तर्दधात्यथ मेध्येनैवोत्तरार्धेनाज्यमवेक्षते तस्मात् पत्नीं सन्नह्यति। (श० १।३।१।१३)

१३—एवं विहितं सन्नहनं प्रशस्य तत्साधनं विधत्ते योक्त्रेणेति। रथाद्यवयवस्य युगस्य धुरि बलीवर्दादि नियोजनार्थं दाम योक्त्रं सन्नह्यते। लौकिकोदाहरणेनैतत् द्रढयति योक्त्रेण योग्यं योजनीयमनडुदश्वादिकम् तच्च सन्नहनं नाभिदेशे कार्यमित्याह—अयज्ञियस्य पत्न्या नाभेरधोभागस्य यज्ञियस्योपरिभागस्य च मध्ये सन्नहनेन साङ्कर्यनिवारणात् यज्ञियेनैवोपरिभागेन विधास्यमानमाज्यावेक्षणं साधुकृतं भविष्यतीत्यर्थः।

कारण है, उसमें विशेष कारणता अनुपपन्न है। उसी प्रकार 'चक्षुषा विज्ञानेन' अर्थात् प्रत्यक्ष प्राणी से कहना भी निर्मूल है। क्योंकि 'चक्षुष्' शब्द, इन्द्रिय विशेष में रूढ़ (प्रसिद्ध) है, उसे विज्ञानादि परक मानना ठीक नहीं है। और उसे विज्ञान परक बताना, शतपथ के विरुद्ध भी है। तथाहि—

१०—'अथ पत्नी ँ सन्नह्यति। जघनार्धो वा·········यज्ञमन्वासाता' इति (श० १।३।१।१२)।

११—इस ब्राह्मण के द्वारा प्रैषक्रम से प्राप्त पत्नी सन्नहन का विधान किया जा रहा है। 'जघनार्धो वा' गार्हपत्य के अनुष्ठेय पदार्थों में अर्थात् पत्नी संयाजादिकों में पत्नी का सम्बन्ध रहने से, वह (पत्नी) यज्ञ का अपरार्ध भाग है। 'प्राक्' से उसी को बताया जा रहा है। मेरा यज्ञ, 'प्राक्' अपवर्ग तक विस्तार को प्राप्त करने वाला बने। अतः परार्ध से आरम्भ कर यज्ञ का विस्तार करना चाहिये। इसी अभिप्राय से पत्नी का सन्नहन करे। यह जो सन्नहन है, वह रथ में अश्वादिकों की तरह पत्नी का यज्ञ के साथ बन्धन (योजन) है। इसे युक्ता शब्द से बताया गया है, अर्थात् योक्ता के अभिप्राय को प्रकट किया गया है। यज्ञ के साथ युक्त हुई वह पत्नी मेरे यज्ञ को ध्यान में रखकर यज्ञ की समाप्ति तक स्थिर रहे, क्योंकि बिना जुता रथ, नियमित नहीं रहता।

१२—'योक्त्रेण सन्नह्यति·········पत्नीं सन्नह्यति'—(श० १।३।१।१३)

१३—इस प्रकार विहित सन्नहन की प्रशंसा करके उसके साधन का विधान 'योक्त्रेण' से किया जा रहा है। रथादि के अवयवभूत युग की धुरा में बलीवर्दादि (बैल आदि) के नियोजनार्थ योक्त्र (दाम) अर्थात् रस्सी को बाँधे। इस लौकिक उदाहरण से यह दृढ़ किया जा रहा है कि योक्त्र (रस्सी) से अनडुह, आदि योग्य वाहक की योजना करनी चाहिये। उस सन्नहन को नाभिदेश में करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि पत्नी की नाभि का अधोभाग अयज्ञीय है, और उसका उपरि भाग यज्ञिय है, उन दोनों भागों के बीच में सन्नहन करने (बाँधने) से साङ्कर्य नहीं हो पाता। यज्ञिय उपरि भाग से विधान किया जाने वाला आज्यावेक्षण उचित (सम्यक्) होगा, यह अर्थ है।

१४—स वा अधिवासः सन्नह्यति । ओषधयो वा वासो वरुण्या रज्जुस्तदोषधीरेवैतदन्तर्दधाति तथो हैनामेषा वरुण्या रज्जुर्नहिनस्ति तस्मादधिवासः सन्नह्यति ।' (श० १।३।१।१४)

१५—स सन्नह्यात् । अदित्यै रास्नासीतीयं वै पृथिव्यदितिः । सेयं देवानां पत्न्येषा वा एतस्य पत्नी भवति तदस्या एतद्रास्नामेव करोति न रज्जु ७ हिरो वै रास्ना तामेवास्या एतत्करोति ।' (श० १।२।१।१५)

१६—परिहितस्य वासस उपरि तत्सन्नहनं कार्यमिति विधत्ते स वा इति योक्त्रपत्नीशरीरयोर्वाससा व्यवधानं प्रशंसति—ओषधयः..................वै वास इति । सूत्रकार्पासादीनामोषधिप्रसूतत्वात् ओषधिवाससोस्तादात्म्यव्यपदेशः । वरुणसम्बन्धिनी वरुण्या रज्जुः । स च वरुणपाशो निग्रहहेतुर्भवति, तस्य केनचिद् व्यवधानेन भाव्यमिति वासोलक्षणौषधिभिर्व्यवधानं युक्तम् । तस्य प्रयोजनमाह—तथो हेति । तथा सत्येषा वरुण्या रज्जुर्नैनां यजमानपत्नीं हिनस्ति, तस्मादधिवासः वासस उपरि सन्नह्यति । विहितं सन्नहनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते स सन्नह्यति अदित्यै रास्नासीति मन्त्रेण मन्त्रं व्याचष्टे—इयं वै अदितिः अखण्डनीया देवानां पत्नी या पृथिवी सा चैषापि योषित् । एषा वा यजमानस्य पत्नी। पृथिव्या इवास्या रास्ना रशनामलङ्कारार्थां मणिमुक्तादिखचितां मेखलामेव बध्नाति न रज्जुमिति मन्त्रप्रयोगाभिप्रायः । उक्तार्थपरतां रास्नाशब्दस्य दर्शयति हिरो वै रास्नेति । हिरशब्दोमेखलापर्यायः । तामेवास्याः करोति । योक्त्रे रज्जुबुद्धिमपोह्य अदितेर्मणिमुक्तादिखचितमेखलाबुद्धिः कार्येत्यर्थः ।

१७—'स वै न ग्रन्थिं कुर्यात् । वरुण्यो वै ग्रन्थिः । वरुणोहपत्नीं गृह्णीयात् यद्ग्रन्थिं कुर्यात् । तस्मान्न ग्रन्थिं कुर्यात् । (श० १।३।१।१६)

१८—वरुणपाशो हि ग्रन्थिमान् । अतो ग्रन्थिरपि वरुणसम्बन्धी । तत्करणे वरुणः पत्नीं गृह्णीयात् बाधेत, तस्मान्न ग्रन्थिं कुर्यात् ।

१४—'स वा अधिवासः सन्नह्यति । ओषधयो वा वासो...... ...सन्नह्यति ।' (श० १।३।१।१४)

१५—'स सन्नह्यति । आदित्यै रास्नासीतीयं.........एतत्करोति ।' (श० १।३।१।१५)

१६—परिधान किये हुए वस्त्र के ऊपर उस सन्नहन को करने का विधान 'स वा इति' से किया जा रहा है। योक्त्र और पत्नी शरीर दोनों के बीच में वस्त्र से हुए व्यवधान प्रशंसा 'ओषधयः..............वा वासः' से किया गया है। क्योंकि सूत्र कार्पास आदि ओषधि प्रसूत होने से ओषधि और वस्त्र का तादात्म्य व्यपदेश (व्यवहार) किया गया है। 'वरुण्या रज्जु' वरुण से सम्बन्धित है । वह वरुणपाश निग्रह करने में कारण होता है । अतः उसमें किसी व्यवधान का होना आवश्यक है, इसलिये वस्त्रात्मक ओषधियों से व्यवधान रहना उचित है। उस व्यवधान के रहने से यह वरुण्या रज्जु, इस यजमान पत्नी की हिंसा नहीं कर पाता, इसलिये वस्त्र के ऊपर सन्नहन किया जाता है। उक्त सन्नहन का अनुवाद करके 'स सन्नह्यति' मन्त्र का विधान किया गया है। 'अदित्यै रास्नासि' इस मन्त्र से मन्त्र की व्याख्या कर रहे हैं—यह पृथिवी अखण्डनीय (अदिति) है, वह (पृथिवी) देवताओं की पत्नी है, यह यजमान की पत्नी भी पृथिवी के समान है, उसे अलंकृत करने के लिये मणि मुक्तादि रत्नों से जटित रशना (मेखला) ही पहनाता है, उसे रज्जु से बाँध नहीं रहा है, यह मन्त्र प्रयोग का अभिप्र य है। 'रास्ना' शब्द की उक्तार्थ परता को 'हिरो वै रास्नेति' से प्रदर्शित कर रहे हैं। 'हित' शब्द से मेखला का पर्याय है। उस मेखला को ही उसे पहनाता है। योक्त्र में रज्जु बुद्धि का त्याग कर अर्थात् योक्त्र को रज्जु न समझे। वह अदिति की मणि–मुक्तादि खचित मेखला है, ऐसा समझना चाहिये।

१७—'स वै न ग्रन्थिं कुर्यात् । वरुण्यो वै ग्रन्थिः ।...तस्मान्न ग्रन्थिं कुर्यात् ।' (श० १।३।१।१६)

१८—क्योंकि वरुण, ग्रन्थिमान् है। अतः ग्रन्थि भी वरुण से सम्बन्धित है। ग्रन्थि लगाने पर वरुण उस पत्नी का ग्रहण करेगा और उसे बाधा पहुँचावेगा। इसलिये ग्रन्थि नहीं लगानी चाहिये।

१९—उर्ध्वमेवोद्गूहति। विष्णोर्वेष्पोऽसीति सा वै न पश्चात् न प्राची देवानां यज्ञमन्वास्ते तद्धेमामभ्यारोहेत् सा पत्नी क्षिप्रेऽमुं लोकमियात्तथोह पत्नी ज्योग्जीवति। तदस्या एवैतन्निह्नुते। तथो हैनामियं न हिनस्ति। तस्माद् दक्षिण इवेवान्वासीत' (श० १।३।१।१७)

२०—ननु ग्रन्थिकरणाभावे विस्रस्तं स्यादित्यत आह—योक्त्रस्य मूलाग्रे संयोज्य एकीकृत्य ऊर्ध्वमुद्गूहेत उपरिष्टात् लम्बयेत दक्षिणं पाशमुत्तरे प्रतिमुच्योर्ध्वमुद्गूहते।' का० श्रौ० सू०)

२१—सन्नहनसमये गार्हपत्यस्य नैर्ऋत्यां दिशि पत्न्या अन्वासनं विधित्सुः साक्षात् पश्चात् प्राङ्मुखोपवेशनं निषेधति–सा वा इति। तदुपपादयति इयं वेति। इयं हि पृथ्वी देवानां पत्नी। सा गार्हपत्यस्य पश्चात् प्राङ्मुखी सदोपविशति। अतस्तत्रान्वासीनामिमामेव देवपत्नीमन्वारोहेत। तथा च यो बाधरस्तं दर्शयति—सा पत्नी क्षिप्रे अल्पकाल एव अमुं लोकमियात् गच्छेत्। तथोहेति—पश्चादुपवेशनत्यागे सति उक्तदोषाभावाच्चिरकालं पत्नी जीवति तेन पश्चादासनत्यागेनास्या देवपत्न्या यदुपवेशनस्थानं तत् निह्नुते अपलपति। तत्स्थानवर्जनेन तां प्रीणयति। तथा चेयं पृथिवी—अपि एनां पत्नीं न हिनस्ति। तस्मात् देवपत्नी स्थानात् दक्षिणतो दक्षिणभागे गार्हपत्यस्य नैर्ऋत्यां दिशीत्यर्थः, अन्वासीत।

२२—तदेव कात्यायनेन सूत्रितम् 'पत्नीं सन्नह्यति प्रत्यग्दक्षिणत उपविष्टां गार्हपत्यस्य मुञ्जयोक्त्रेण (का० श्रौ० सू० २।१६४)

२३—'अथाज्यमवेक्षते। योषा वै पत्नी रेत आज्यं मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते तस्मादाज्यमवेक्षते।' (श० १।३।१।१८)

२४—सावेक्षते। अदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाह अग्नेर्जिह्वासीति। यदा वै एतदग्नौजुह्वत्यथाग्ने-

---

१९—'ऊर्ध्वमेवोद्गूहति। विष्णोर्वेष्पोऽसीति..............इवेवान्वासीत्।'—(श० १।३।१।१७)।

२०—यदि कोई शङ्का करे कि ग्रन्थि न लगाने पर वस्त्र (पहना वस्त्र) नीचे खिसक जायगा (छूट जायगा) तो इस शङ्का के समाधान में यह कहा गया है कि योक्त्र के मूलाग्रों को एक करके ऊपर की ओर उरस देना चाहिये। कात्यायन ने भी कहा है—'दक्षिणं पाशमुत्तरे प्रतिमुच्योर्ध्वमुद्गूहते'—(का० श्रौ० सू०)

२१—सन्नहन के समय गार्हपत्य की नैर्ऋत्य दिशा में पत्नी के अन्वासन (बैठना) विधि की इच्छा से साक्षात् पश्चात् प्राङ्मुख होकर बैठने का निषेध 'सा वा इति' से किया गया है। उसी का उपपादन 'इयं वेति' से कर रहे हैं। यह जो पृथिवी है, वह देवों की पत्नी है। वह गार्हपत्य के पश्चात् प्राङ्मुखी होकर सर्वदा बैठती है। अतः वहाँ पर बैठी हुई उसी पर देवपत्नी का अन्वारोहण होगा। उस कारण जो हानि होगी उसे बताते हैं—वह पत्नी अल्प काल में ही उस लोक को चली जायगी। किन्तु गार्हपत्य के पश्चात् भाग में जब नहीं बैठेगी तो उक्त दोष के न होने से चिर काल तक जीवित रहेगी। गार्हपत्य के पश्चात् भाग में आसन का त्याग करने से इस देवपत्नी को जो बैठने का स्थान है, उसे छोड़ देने से उस देवपत्नी का जो बैठने का स्थान है, उसे छोड़ देने से उस देवपत्नी को वह प्रसन्न कर लेती है। तथा च यह पृथिवी भी इस पत्नी की हिंसा नहीं करती है। इसी कारण देवपत्नी के स्थान से दक्षिण भाग में अर्थात् गार्हपत्य की नैर्ऋत्य दिशा में वह (यजमान पत्नी) बैठे।

२२—इसी बात को कात्यायन ने भी अपने सूत्र में कहा है—'पत्नीं सन्नह्यति..............मुञ्जयोक्त्रेण'—(का० श्रौ० सू० २।१९४)

२३—'अथाज्यमवेक्षते। योषा वै पत्नी रेत आज्यं.........मवेक्षते।'(श० १।३।१।१८)

जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति तस्मादाहाग्नेर्जिह्वासीति। सुहूर्देवेभ्य इति साधुदेवेभ्य इत्येवैतदाह— धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे इति सर्वस्मै मे यज्ञायैधीत्येवैतदाह।' (श० १।३।१।१९)

२५—विहितमवेक्षणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते सेति मन्त्रगतमदब्धेनेतिपदं व्याचष्टे अनार्तेनेति। आर्तिर्हिंसा तद्रहितेन चक्षुषा त्वा त्वामवपश्यामि। अग्नेर्जिह्वासि—आज्यस्य जिह्वारूपत्वमुपपादयति— यदा वै एतदाज्यमग्नौ जुह्वति तदाग्नेर्जिह्वा जिह्वासदृशज्वालाहेतुत्वादाज्यं जिह्वेत्युच्यते। मन्त्रगत सुहूरिति पद व्याचष्टे सुष्ठु हूयमानत्वात् सुहूः। अनेन होमानुगुण्येन साधुत्वं लक्ष्यत इत्यर्थः। धाम्ने धाम्ने इति मन्त्रशेषं व्याचष्टे सर्वस्मै मे यज्ञाय एधीत्येवैतदाह धाम्ने धाम्ने तत्तद्देवताशरीराय यजुषे यजुषे तत्तद्ग्रहणमन्त्राय च पर्याप्तं भवेति मन्त्रार्थः। अतः सर्वस्मै यज्ञाय एधि भवेति तदर्थप्रतिपादनं मन्त्रेण क्रियते।

२६—'अथाज्यमादाय प्राङुदाद्रवति आहवनीयेऽधिश्रयति यस्याहवनीये हवींषि श्रपयन्ति सर्वो मे यज्ञ आहवनीये शृतोऽसदित्यर्थः। यदमुत्राग्रे अधिश्रयति पत्नी ँ ह्यवकाशयिष्यन् भवति नहि तदवकल्पते यत्सामि प्रत्यग्घरेत पत्नीमवकाशयिष्यामीत्यथ यत् पत्नीं नावकाशयेदनारियाद्ध यज्ञात् पत्नीं तथोह यज्ञात् पत्नीं नान्तरेति तस्मात् सार्धमेव विलाप्य प्रागुदाहरत्यवकाश्य पत्नीं यस्योपपत्नी न भवत्यग्र एव तस्याहवनीयेऽधिश्रयति तत्रत आदत्ते तदन्तर्वेद्यासादयति।' (श० १।३।१।२०)

२७—पुरस्ताद्धरणं विधत्ते अथ पत्न्यवेक्षणानन्तरं पुनस्तस्याज्यस्याहवनीयाधिश्रयणं विधत्ते तदाहवनीये अधिश्रयतीति। हविःश्रपणमाहवनीयगार्हपत्ययोर्विकल्पितम्। तत्राहवनीयाधिश्रयणपक्षे पत्न्यवेक्षणानन्तरं पुरस्ताद्धृत्वा आहवनीयेऽधिश्रयेत्। एवं कुर्वतोऽभिप्रायमाह सर्व इति। सर्वो मे यज्ञ आहवनीये शृतोऽसदित्यादि। यागसाधनत्वाद्धविरत्र यज्ञशब्दार्थः। सर्वं मदीयं हविराहवनीये संस्कृतमिति—अस्मिन्नपि पक्षे प्रथमतो गार्हपत्याधिश्रयणे कारणमाह—अथ यदमुत्रेति। अमुत्र गार्हपत्ये अग्रे पशुपुरोडाशाधिश्रयणकाले पत्नीमवकाशयिष्यन् पत्न्याज्यावेक्षणा-

---

२४—'सावेक्षते। अदब्धेन त्वा चक्षुषा···············त्येवैतदाह।'(श० १।३।१।१९)

२५—विहित अवेक्षण का अनुवाद करके 'सेति' से मन्त्र का विधान किया जा रहा है। मन्त्रगत 'अदब्धेन' पद की व्याख्या 'अनार्तेन' से करते हैं। 'आर्ति' शब्द का अर्थ है हिंसा। अतः हिंसा रहित चक्षुषा से तुम्हें देखता हूँ। तुम अग्नि की जिह्वा हो। आज्य की जिह्वा रूपता का उपपादन करते हैं—जब आज्य भाग (दो आज्य भाग) की आहुति देते हैं, तब अग्नि की जिह्वा के समान ज्वाला का हेतु होने से आज्य को जिह्वा शब्द से कहा जाता है। मन्त्रगत 'सुहूः' पद की व्याख्या करते हैं—'सुष्ठु हूयमानत्वात् सुहूः' अच्छी तरह हूयमान होने से 'सुहूः' कही जाती है। होम के इस आनुगुण्य (आनुकूल्य) से साधुत्व लक्षित होता है। 'धाम्ने धाम्ने' इस मन्त्र शेष की व्याख्या करते हैं—मेरे सम्पूर्ण यज्ञ के लिये आओ। इसी बात को बता रहे हैं 'धाम्ने धाम्ने' तत्तद् देवता शरीर के लिये और 'यजुषे यजुषे' तत्तद् ग्रहण मन्त्र के लिये पर्याप्त हो जाओ। यह मन्त्रार्थ है। अतः सम्पूर्ण यज्ञ के लिये तुम बने रहो, इस अर्थ का प्रतिपादन मन्त्र से किया गया है।

२६—'अथाज्यमादाय प्राङुदाद्रवति···············तदन्तर्वेद्यासादयति।'—(श० १।३।१।२०)

२७—'अथेति' ब्राह्मण से पुरस्तात् (सामने से) हरण का विधान किया गया है। 'अथ' शब्द का अर्थ पत्नी के द्वारा अवेक्षण करने के अनन्तर है। पुनः आहवनीय पर उसके अधिश्रयण का विधान 'तदाहवनीये' इत्यादि ब्राह्मण से किया गया है। हविःश्रपण, आहवनीय पर अथवा गार्हपत्य पर करने का विकल्प है। आहवनीय पर श्रपण करने के पक्ष में पत्नी के द्वारा आज्यावेक्षण कर चुकने पर ही उस आज्य को सामने (पुरस्तात्) रखकर आहवनीय पर रखे (अधिश्रित करे)। इस प्रकार करने का अभिप्राय 'सर्वो मे यज्ञ' से कह रहे हैं। याग का साधन होने से 'हवि'

द्धेतोस्तत्सन्निधानाय गार्हपत्येधिश्रयणं कर्त्तव्यमित्यर्थः। प्रथमत एवाज्यास्याहवनीयेऽधिश्रयणे दोषमाह—नहीति। पुरोडाशाधिश्रयणकाल एव आहवनीये यद्याज्यमधिश्रयेत तदा गार्हपत्यसमीपेऽन्वासीनायाः पत्न्यास्तदन्वावेक्षणं न घटते भिन्नदेशत्वात्। यदि च पत्नीमवकाशयिष्यामि अवेक्षयिष्यामि इति तदर्थं सामि संस्कारमध्ये तत् प्रत्यक् पश्चात् पत्न्याः समीपमाहरेत् तदा संस्कारविघातः स्यात् तदपि न युज्यते। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया पत्नीं नावेक्षयेतेति। तस्याः पत्न्या यज्ञादन्तरायो भवति तस्माद् गार्हपत्ये हविःश्रपणपक्षे ह्याज्यमपि तत्रैवाधिश्रीयते इति समीपोपविष्टायाः पत्न्यास्तदवेक्षणं घटते इति न काप्यनुपपत्तिः। आहवनीयश्रपणपक्षे प्रथमत एवाज्यस्यापि तत्रैवाधिश्रयणे पूर्वोक्तदोषः प्रसज्यते। कथं तर्हि तस्मिन् पक्षे कार्यमिति चेत् उच्यते—प्रथमतो गार्हपत्येऽधिश्रित्य पत्न्यवेक्षणानन्तरमाहवनीयसमीपं नीत्वा तत्राधिश्रयेत। तथासत्युक्तदोषो न भविष्यति। तथाहि यज्ञात्पत्नी नान्तरेति—तस्मादु सार्धमेव विलाप्य प्रागुदाहरत्यवकाश्य पत्नीमिति। यस्मादेवमाहवनीये प्रथमतोधिश्रयणे दोषस्तस्मात् पत्न्या सार्धं गार्हपत्ये प्रथमाज्यस्य विलापनम्। यस्य तु पत्न्या रजोदर्शनादिनिमित्तवशेनासन्निधानात् तदीयकर्माण्याज्यावेक्षणादीनि न क्रियन्ते तस्योक्तदोषाभावात् प्रथमत एवाहवनीय आज्याधिश्रयण कार्यम्।

२८—'तदाहुर्नान्तर्वेद्यामासादयेदतो वै देवानां पत्नीः संयाजयन्ति—अवसमा आह—देवानां पत्नीः करोति परः पुंसो ह्यस्य पत्नी भवतीति। तदुहोवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं पत्न्या अस्तु कस्तदाद्रियेत यत्परः पुंसा पत्नी स्यात्। यथा वा यज्ञो वेदिर्यज्ञ आज्यं यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा इति तस्मादन्तर्वेद्येवासादयेत्।' (श० १।३।१।२१)

को यहाँ पर 'यज्ञ' शब्द से कहा गया है। मेरा आज्य—पुरोडाशादि रूप सभी हवि, आहवनीय पर संस्कृत हो, इस अभिप्राय से यह कहा गया है। इस पक्ष में भी प्रथमतः गार्हपत्य पर अधिश्रयण करने का कारण 'अथ यदमुत्र' इत्यादि से बताते हैं। 'अमुत्र' गार्हपत्य पर, 'अग्रे' पशु पुरोडाश का अधिश्रयण करते समय 'पत्नीमवकाशयिष्यन्' पत्नी उसे देख सके इस निमित्त उसके सन्निधान के लिये गार्हपत्य पर उसका अधिश्रयण करना चाहिये। प्रथमतः ही आहवनीय पर आज्य का अधिश्रयण करने पर 'न हि' इत्यादि से दोष बताते हैं। पुरोडाशाधिश्रयण काल में ही आहवनीय पर यदि आज्याधिश्रयण करें तो दोनों का देश भिन्न रहने से गार्हपत्य के समीप बैठी हुई पत्नी उसे अच्छी तरह से देख नहीं सकेगी। और पत्नी को 'अवकाशयिष्यामि' अवेक्षण करा दूँगा (दिखा दूँगा) 'इति' इस इच्छा से 'सामि' संस्कार के मध्य में उसे 'प्रत्यक्' गार्हपत्य के पश्चात् भाग में बैठी हुई पत्नी के समीप यदि ले जाय तो संस्कार का विघात हो जायगा, तो वह (संस्कार का विघात होना) भी उचित नहीं है। यदि संस्कार विघात रूप दोष का परिहार करने की इच्छा से पत्नी को उसे न दिखाया जाय तो उस पत्नी का यज्ञ में कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा। तात्पर्य यह है कि गार्हपत्य पर हविश्रपण पक्ष में आज्य का गार्हपत्य पर ही अधिश्रयण होने से और उसी के समीप पत्नी के बैठे रहने से वह उसे अच्छी प्रकार से देख सकती है, देखने में उसे कोई बाधा नहीं रहती। किन्तु आहवनीय श्रपण पक्ष में प्रथमत एव आज्य का भी उस पर अधिश्रयण करने पर उक्त दोष की प्रसक्ति होगी। अतः इस पक्ष में कैसे करना होगा ? ऐसी जिज्ञासा होने पर बताया गया है कि प्रथमतः गार्हपत्य पर अधिश्रयण करके पत्नी के द्वारा अवेक्षण किये जाने पर आहवनीय के समीप ले जाकर उस पर उसे अधिश्रित करे। ऐसा करने पर उक्त दोष नहीं होगा। निष्कर्ष यह है कि आहवनीय पर प्रथमतः अधिश्रयण करने पर दोष होता है। इस कारण पत्नी के साथ प्रथमतः गार्हपत्य पर आज्य का विलापन किया जाता है किन्तु रजोदर्शनादि के कारण जिसकी पत्नी का सन्निधान नहीं रहता, उस समय पत्नी सम्बन्धित आज्यावेक्षणादि कर्म का अनुष्ठान नहीं किया जाता उस समय अनवेक्षण जनित दोष के न हो पाने से आहवनीय पर प्रथमतः ही आज्याधिश्रयण करने के लिये 'यस्योपत्नी' इत्यादि ब्राह्मण से बताया गया है।

२८—तदाहुर्नान्तर्वेद्यामासादयेदतो..............सादयेत।'—(श० १।३।१।२१)

२९—तस्याज्यस्यान्तर्वेद्यासादनं केषाञ्चिन्मतेन निषेधति तदाहुरिति। निषेधाभिप्रायमाह—अतः अस्मादेव खल्वाज्यात् देवपत्नीनां यागः, अतस्तत्सम्बद्धस्याज्यस्यान्तर्वेद्यासादने सति तदेव देवपत्नीः अवसमा अवगतजनसमूहाः करोति यष्टव्यदेवसङ्घस्य वेद्यामवस्थानात्। अह इति निपातो विनिग्रहे। अस्तु तथात्वं देवपत्नीनां किं तत इत्यत आह—देवपत्नीनां समाप्रापणात् अस्य यजमानस्य पत्न्यपि परः पुंसा भवति। परस् इत्ययं सकारान्तः शब्दः परस्तादर्थे स्वपुरुषादन्यत्र राजवीथ्यादौ पुरुषसमूहं प्राप्ताः परःपुंसा इत्युच्यते 'अचतुरविचतुरे' (पा० सू० ५।४।७७) त्यादि सूत्रे स्त्रीपुंसेति निपातितत्वात् परःपुंसेत्युप् पदान्तरेऽपि समासान्तोऽच्प्रत्ययः। इत्येकीयमतसमाप्त्यर्थं याज्ञवल्क्यमतेनान्तर्वेद्यासादनमेव निगमयति श्रुतिः तदिति। यथादिष्टं यथादेशनं यथाशास्त्रं पत्न्याः सम्बन्धि कार्यमस्तु अतः पत्नीसंयाजार्थमन्तर्वेद्यासादनमिति न युक्तम् पत्न्यपि परःपुंसा वा भवतु प्रयाता यथा तथा वा भवतु तथापि किं प्रयोजनम् अतः परःपुंसेति दूषणं को वा आद्रियेतेत्यर्थः। एवमुक्तदूषणं निरस्य वेद्यासादनपक्षमुपपादयति यज्ञो वेदिः। वेदिराज्यञ्चोभयमपि यज्ञसाधनत्वात् यज्ञः। तथा च वेद्यासादने वेदिरूपाद्यज्ञादाज्यरूपं यज्ञं निर्मिमे निर्मितवान् भवतीत्यभिप्रायेण तत्रैवासादयेदित्यर्थः। तस्मादन्तर्वेद्यां वासादयेत्।

३०—एवं श्रुतिसूत्रानुसारेण मन्त्रार्थः स्पष्टो भवति। हे योक्त्ररज्जो त्वमदित्यैभूम्या रास्नासि रशना मेखला भवसि। यद्वा अदित्या इन्द्राण्या सन्नहनं वस्त्रस्योपरि सम्यग्बन्धनहेतुसौवर्णदामस्थानीयमसि। तमेतं मन्त्रं तित्तिरिरपि स्पष्टं व्याख्याति—अदित्यैरास्नासि इयं वा अदितिः। अस्मा एतद्रास्नां करोति इन्द्राण्यै सन्नहनमित्याह—'इन्द्राणी वा अग्रे देवताना ँ सन्नह्येत आर्ध्नोदितिश्रुतेः। हे योक्त्र पाश त्वं विष्णोर्व्यापकस्य यज्ञस्य वेष्पो वेष्टनरूपोऽसि।

२९—कुछ लोगों के मत से अन्तर्वेदि में उस आज्य के आसादन (स्थापन) करने का निषेध किया गया है। निषेध करने का अभिप्राय यह है कि इसी आज्य से देव पत्नियों के लिये याग करना है, अतः तत्सम्बन्धित आज्य का अन्तर्वेदी में आसादन करने पर, उसी समय देव पत्नियों को जन समूह से अवगत कराया जाता है, क्योंकि यष्टव्य देव समूह वेदी में अवस्थित रहता है। विनिग्रह के अर्थ में 'अह' निपात है। यह सब करने से देव पत्नियों को क्या लाभ हुआ ? उसे बता रहे हैं—देव पत्नियों को प्राप्त कराने से इस यजमान की पत्नी भी परः पुंसा होती है। 'परस्' शब्द सकारान्त 'परस्तात्' के अर्थ में है। राजवीथ्यादि मार्ग में स्वपुरुष के अतिरिक्त पुरुष समूह में प्राप्त होने वाली को 'परः पुंसा' कहते हैं। 'अचतुरविचतुर' (पा० सू० ५।४।७७) सूत्र में 'स्त्री पुंस' ऐसा निपातन करने के कारण 'परः पुंसा में उपपद का व्यवधान रहने पर भी समासान्त 'अच्' प्रत्यय किया गया है। इस प्रकार किसी एक के मत की समाप्ति का प्रदर्शन करने के लिये 'इति' शब्द कहा गया गया है। अब याज्ञवल्क्य के मत से भगवती श्रुति 'तदिति' से अन्तर्वेद्यासदन करने को ही बता रही है। शास्त्र के आदेशानुसार अर्थात् शास्त्र ने जैसा विधान किया हो तदनुसार ही पत्नी सम्बन्धित कार्य होना चाहिये। अतः पत्नी संयाजार्थ अन्तर्वेदी में आज्यासादन करना उचित नहीं है। यजमान पत्नी भी परः पुंसा हो अथवा जो कुछ भी हो, तथापि उससे कौन सा प्रयोजन सिद्ध हो रहा है। अतः 'परः पुंसा' इस दूषण का आदर कौन करेगा। इस प्रकार उक्त दूषण का निरसन करके वेद्यासादन पक्ष का 'यज्ञोवेदिरिति' से उपपादन करते हैं। वेदि और राज्य दोनों ही यज्ञ के साधन रहसे से 'यज्ञ' रूप हैं। तथा च वेद्यासादन में वेदि स्वरूप यज्ञ से आज्य स्वरूप यज्ञ निर्मित होता है, इस अभिप्राय से वेदि में ही आज्यासादन करना चाहिये। एवञ्च अन्तर्बेदि में ही आज्यासादन करे।

३०—इस प्रकार श्रुति और सूत्र के अनुसार मन्त्र का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हे योक्त्र अर्थात् हे रज्जो ! तुम भूमि की रशना (मेखला) हो, अथवा 'आदित्याः' इन्द्राणी के 'सन्नहनं' वस्त्र के ऊपर सम्यग्बन्धन की हेतुभूत सुवर्ण की रशना स्वरूप तुम हो। तित्तिरि ने भी इस मन्त्र की स्पष्ट व्याख्या की है—अदित्यै रास्नासि इयं वा अदितिः। 'इन्द्राण्यै सन्नहनम्' से उसके लिये इसकी रस्ना (रशना) करता है। क्योंकि 'इन्द्राणी वा अग्रे' इस श्रुति ने कहा है। हे योक्त्र पाश ! तुम 'विष्णोः' व्यापक यज्ञ के 'वेष्पः' वेष्टन रूप हो। 'विष्लृ व्याप्तौ', 'वेष्ट वेष्टने' इन दो

'विष्लृ व्याप्तौ' (वेष्ट वेष्टने) इत्यनयोरूपम् । हे आज्य विलापनाय पूर्वं वह्नावधिश्रितं त्वा त्वामिदानीमूर्जे अधिकपाकाभावे स्वादुतमरसलाभाय बह्निप्रदेशाद्बहिरुद्वासयामीति शेषः । हे आज्य अदब्धेन हिंसारहितेन चक्षुषा त्वा त्वामवपश्यामि । अवाचीनं यथास्यात्तथा अधोमुखी सती पश्यामि, आज्यमग्नौ यदा जुह्वति तदाग्नेर्जिह्वेव ज्वालोत्पद्यते अतस्तन्निमित्तत्वादग्नेर्जिह्वासि । किञ्च हे आज्य त्वं सुहूः देवेभ्योऽर्थाय सुष्ठु हूयसे इति सुहूः पुंस्त्वं छान्दसम् । यद्वा जिह्वाविशेषणम्—सुष्ठु हूयन्ते आहूयन्ते देवा अनया सा सुहूर्जिह्वा । अतो हे आज्य मे धाम्ने धाम्ने भव धामस्थाने तत्तद्यागफलोपभोगस्थानसिद्धचर्थं भव । यजुषे यजुषे तत्तद्यागसिद्धचै योग्यं भव ।

३१—अध्यात्मपक्षेऽपि—हे परचितिरूपे त्रिपुरसुन्दरि त्वम् अदित्या इन्द्राण्या रास्नासि मेखलोपलक्षितसर्वालङ्कारभूतासि । हे श्रुतिसीमन्तसिन्दूरीकृतपादाब्जधूलिके विष्णोर्व्यापकस्य यज्ञस्य विष्णोर्वा वेष्पो वेष्पासि पुंस्त्वमार्षं वेष्टनरूपासि व्यापकरूपासि सर्वाधिष्ठानरूपत्वात् । हे देवि त्वां अदब्धेनानुपहिंसितेन (अनुपहतेन) अर्थात् सानुरागेण चक्षुषा ज्ञानचक्षुषा त्वदनुग्रहोपेतेन बाह्यचक्षुषा चावपश्यामि । अन्तर्मुखः सन् पश्यामि । त्वमग्नेरग्न्युपलक्षितानां सर्वदेवानां जिह्वासि जिह्वादिवत् सर्वरसादिग्राहयित्री असि, श्रोत्रस्य श्रोत्रम् चक्षुश्चक्षुरित्यादिश्रुतेः । त्वं च देवेभ्यो हिताय सुहूः सुष्ठुतया सर्वैर्हूयसे स्तूयसे इति सुहूः । यद्वा देवेभ्यः सुष्ठु हूयतेऽनयेति सुहूः स्वाहा असि । स्वाहाकारस्य देवतृप्तिहेतुत्वात् । हे चिद्रूपे सा त्वं धाम्ने धाम्ने प्रतिदिव्यस्थान यजुषे यजुषे प्रतियाग प्राप्यतया इज्यतया च त्वमेव भव ।

धातुओं से यह 'वेष्पः' रूप बना है । हे आज्य ! विलापन (पिघलाने) के लिये वह्नि पर अधिश्रित किये तुम्हें अब मैं 'ऊर्जे' अत्यधिक पाक के अभाव में अत्यन्त सुस्वादु रस प्राप्ति के लिये अग्नि पर से बाहर उसे निकालता हूँ । हे आज्य ! हिंसा रहित चक्षु से तुम्हें मैं देख रहा हूँ । और अधोमुख होकर मैं तुम्हें देखती हूँ । दो आज्य भागों का जब हवन करते हैं तब अग्नि की जिह्वा की तरह ज्वाला उत्पन्न होती है । उस कारण तुम अग्नि की जिह्वा रूप हो । किञ्च हे आज्य ! तुम सुहू स्वरूप हो । देवताओं के उद्देश्य से अच्छी तरह से तुम्हारा हवन किया जाता है इस कारण तुम्हें 'सुहू' कहा जाता है । यहाँ पुंस्त्व प्रयोग छान्दस है । अथवा उसे जिह्वा का विशेषण भी कह सकते हैं । अच्छी प्रकार से बुलाये जाते हैं देवता जिससे ऐसी सुहू अर्थात् जिह्वा अतः हे आज्य ! मेरे धाम स्थान में अर्थात् तत्तद् धाम फलोपभोग स्थान की प्राप्ति के लिये तुम कारण बनो । उसी प्रकार तत्तद् याग सिद्धि कराने के योग्य तुम बन जाओ ।

३१—अध्यात्म पक्ष में भी—हे परचितिरूपे त्रिपुर सुन्दरि ! तुम इन्द्राणी की रास्ना स्वरूप हो । अर्थात् मेखला के रूप में उसके सम्पूर्ण अलङ्कार स्वरूप हो । हे श्रुतिसीमन्त सिन्दूरी कृत पादाब्ज धूलिके । इस व्यापक यज्ञ के अथवा विष्णु के वेष्प हो यानी वेष्टन रूप हो, सर्वाधिष्ठान रूप होने से व्यापक रूप हो । यहाँ पुंस्त्व का प्रयोग आर्ष है । हे देवि ! मैं तुम्हें अनुपहत (अदब्ध) यानी सानुराग चक्षु से (ज्ञान चक्षु से) और तुम्हारे अनुगृहीत बाह्य चक्षु से भी देख रही हूँ । अन्तर्मुख होकर देख रहा हूँ । तुम अग्नि से उपलक्षित हुए समस्त देवताओं की जिह्वा के समान सम्पूर्ण रस आदि की ग्रहण करने वाली हो । क्योंकि श्रुति ने तुम्हें श्रोत्र की भी श्रोत्र और चक्षु की भी चक्षु बताया है । और तुम देवताओं के हित के लिये सुहू रूप हो । सभी लोगों के द्वारा सुष्ठुतया तुम स्तुत होती हो इस कारण तुम्हें 'सुहू' कहा गया है । अथवा देवताओं के लिये सुष्ठुतया इससे हवन किया जाता है इसलिये तुम सुहू यानी स्वाहा रूप हो । स्वाहाकार से देवताओं की तृप्ति हुआ करती है । हे चिद्रूपे ! प्रत्येक दिव्य स्थान में और प्रत्येक याग में प्राप्त होने योग्य और यजन के योग्य तुम ही हो जाओ ।

सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।

सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण ÷ सूर्यस्य रश्मिभिः।

तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि

॥ वा० सं० १।३१ ॥

अर्थ—हे आज्य ! प्रेरक सूर्य देवता की प्रेरणा से मैं छिद्र रहित पवित्र और सूर्य किरणों के द्वारा तुम्हें शुद्ध कर रहा हूँ। उसी तरह हे प्रोक्षणी जल ! यज्ञ निवास स्थान भूत सूर्य की किरणों से और छिद्र रहित पवित्र से मैं तुम्हें प्रेरक देवता की प्रेरणा के कारण शुद्ध कर रहा हूँ। हे आज्य ! तुम शरीर की कान्ति को देने वाले तेज हो और प्रकाशक हो और अविनश्वर हो। उसी तरह हे आज्य ! तुम समस्त देवताओं के स्थान हो, सबको झुकाने वाले हो और देवताओं के द्वारा तिरस्कार न करने के कारण तुम उनके प्रिय हो। और तुम देवताओं के याग के साधन हो, इसलिये मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ।।३१।।

१—अध्वर्युः पवित्राभ्यामाज्यं प्रोक्षणीश्चोत्पुनाति सवितुर्व इति मन्त्राभ्याम्। 'सवितुस्त्वेत्याज्यमुत्पुनातीति' (का० श्रौ० सू० २।७।७) सवितुर्देवस्य प्रसवे आज्ञायां वर्तमानोहं त्वा त्वां उत्पुनामि शोधयामि। 'प्रोक्षणीश्च पूर्ववत्' (का० श्रौ० ०सू २।७।८) वः युष्मान् उत्पुनामि। आज्यमवेक्षते तेजोऽसीति।' (का० श्रौ० सू० २।७।७) हे आज्य त्वं तेजोऽसि। शरीरकान्तिहेतुत्वादाज्यस्य तेजस्त्वम्। शुक्रमसि दीप्तिमदसि। स्निग्धरूपत्वात् दीप्तिमत्त्वं अमृतमसि विनाशरहितमसि बहुदिनावस्थानेऽपि ओदनादिवत् पर्युषितत्वादिदोषाभावादमृतत्वम् भक्षण-दान-हवनादिभिराज्यं तेजस्वित्वदीप्तिमत्वामृतत्वादीनि सम्पादयति।

२—'स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां धाम नामेति सकृन्मन्त्रम्' (का० श्रौ० सू० २।७।११-१२) स्रुवेण जुह्वां चतुर्वारमाज्यं गृह्णीयात्। चतुरः स्रुवान् पूर्णान् गृह्णीयात्। अतएव मन्त्रः प्रथमस्रुवग्रहणे प्रयोज्यः। हे आज्य त्वं

१—'स्त्वा' और 'सवितुर्वः' इन दो मन्त्रों से अध्वर्यु दोनों हाथों में परस्पर असंसृष्ट पवित्र रखकर उनसे आज्य और प्रोक्षणी स्थित जल का उत्पवन करे। 'सवितुस्त्वेत्याज्यमुत्पुनाति'—(का० श्रौ० सू० २।७।७)—सविता देव की आज्ञा में रहने वाला मैं तुम्हारा शोधन करता हूँ। 'प्रोक्षणीश्च पूर्ववत्' मैं तुम्हारा उत्पवन करता हूँ।' 'आज्यमवेक्षते तेजोऽसीति'—(का० श्रौ० सू० ३।७।८) हे आज्य ! तुम तेजोरूप हो। शरीर की कान्ति का उत्पादक होने से आज्य को 'तेज' कहते हैं। तुम शुक्र स्वरूप हो, दीप्तिमान् हो। स्निग्ध रूप होने से उसमें दीप्तिमत्ता है। तुम अमृत रूप हो यानी विनाश रहित हो। बहुत दिनों तक रहने पर भी ओदन (भात) आदि की तरह उसमें पर्युषितत्वादि दोष न होने के कारण उसे अमृत कहा जाता है। भक्षण, दान, हवन आदि के द्वारा आज्य, तेजस्वित्व, दीप्तिमत्व अमृतत्व को सम्पन्न करता है।

२—स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां धाम नामेति सकृन्मन्त्रम्' (का० श्रौ० सू० २।४।११-१२) स्रुव से जुहू में चार बार आज्य का ग्रहण करे। आज्य से पूर्ण हुई चार स्रुवाओं को ग्रहण करे। अतएव प्रथम स्रुव के ग्रहण में मन्त्र

धाम स्थानमसि। धीयते स्थाप्यते चित्तवृत्तिर्देवैरत्रेति धाम। भोग्यत्वेन देवानामपि त्वद्विषयिणी बुद्धिर्धीयते त्वयि। तथा त्वं नामासि नामयति स्वात्मानं प्रति सर्वाणि भूतानीति नाम। आज्यदर्शनेन सर्वेऽप्यत्तु नमन्ति। तथा देवानां प्रियमिष्टमसि त्वं तथा अनाधृष्टमनभिभूतं गतरसत्वादिना पुरोडाशादिवदतिरस्कृतम्, चिरस्थित्या चरुपुरोडाशादिकं यथा गतसारं भवति न तथाज्यमित्यर्थः। यद्वा अनाधृष्टं अधर्षितम् अप्रतिहतं रक्षोभिः। देवयजनमसि देवा इज्यन्तेऽनेनेति देवयजनमर्थात् देवयजनसाधनमसि त्वमित्यतस्त्वां गृह्णाम्युत्पुनामि च।

३—स्वामिदयानन्दस्तु—'यतोऽयं यज्ञस्तेजोऽस्यस्ति शुक्रमस्यस्ति धामास्यस्ति देवानां प्रियमनाधृष्टं देवयजनमसि तेनानेन यज्ञेनाहं सवितुः प्रसवे अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिर्वा युष्मानेतान् सर्वान् पदार्थांश्चोत्पुनामि।

४—अथवा यो यज्ञः अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः सह सर्वान् त्वा तं यज्ञं यजमानं वाहमुत्पुनामि। एवञ्च सवितुः प्रसवेऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिर्वा युष्मानेतांश्च पदार्थान् यज्ञेनोत्पुनामि। हे ब्रह्मन् यतस्त्वं तेजोऽस्यमृतमसि धामासि नामासि देवानां प्रियतममस्यनाधृष्टमसि तस्मात्त्वामहमाश्रयामि।

५—ईश्वरो यज्ञविद्याफलं ज्ञापयति—युष्माभिर्यदनुष्ठितो यज्ञः सूर्यस्य रश्मिभिर्विहरति स्वकीयेन पवित्रेणाच्छिद्रेण गुणेन सर्वान् पदार्थान् पवित्रयति स च तद्द्वारा सूर्यस्य रश्मिभिः तेजस्विनः शुद्धान् अमृतरसहेतुकान् प्रसन्नताजनकान् दृढान् यज्ञहेतून् पदार्थान् करोति यतस्तद्भोजनाच्छादनद्वारा वयं शरीरपुष्टिबलादीन् शुद्धगुणांश्च सम्पाद्य नित्यं सुखयाम इति।

का प्रयोग करना चाहिये। हे आज्य! तुम धाम अर्थात् स्थान रूप हो। 'धीयते' स्थापन की जाती है चित्तवृत्ति, देवताओं के द्वारा जहाँ पर उसे 'धाम' कहते हैं। देवता भी तुम्हें योग्य समझ कर तुममें बुद्धि रखते हैं। उसी प्रकार तुम अपनी ओर सबको नवाते हो, इसलिये तुम्हें 'नाम' कहा जाता है। क्योंकि आज्य (घृत) को देखकर सभी लोग उसके भक्षणार्थ अपने को नँवाते हैं। तथा देवताओं के लिये तुम प्रिय (इष्ट) हो, तथा अनभिभूत (अनाधृष्ट) हो, अर्थात नष्ट रस हुए पुरोडाश की तरह तिरस्कृत नहीं हो। तात्पर्य यह है कि दीर्घ काल तक रहने से चरु, पुरोडाश आदि जैसे सारहीन हो जाते हैं, वैसे आज्य नहीं होता है। अथवा राक्षसों के द्वारा अप्रतिहत अर्थात् अधर्षित (अनाधृष्ट) हो। तथा तुम देवयजन हो, 'देवताएँ पूजी जाती हैं जिससे उसे देवयजन कहते हैं', अर्थात् देवयजनके साधन रूप हो, इसलिये मैं तुम्हारा ग्रहण और उत्पवन करता हूँ।

३—किन्तु स्वामी दयानन्द उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'क्योंकि यह यज्ञ, तेजोरूप है, शुक्र रूप है, धाम रूप है, देवताओं को प्रिय है, अनाधृष्ट है, देवयजन रूप है, इसलिये इस यज्ञ से मैं सविता के प्रसव में अच्छिद्र पवित्र से अथवा सूर्य की रश्मियों से इन सब पदार्थों का उत्पवन करता हूँ।

४—अथवा जो यज्ञ, सूर्य की अच्छिद्र पवित्र रश्मियों के साथ तुम सबको, उस यज्ञ को या यजमान को मैं शुद्ध करता हूँ। एवञ्च सविता के प्रसव में सूर्य की अच्छिद्र, पवित्र रश्मियों से तुम्हें और इन समस्त पदार्थों को यज्ञ के द्वारा शुद्ध करता हूँ। हे ब्रह्मन्! क्योंकि तुम तेजो रूप हो, अमृत, धाम, नाम स्वरूप हो, देवताओं के प्रियतम हो, तथा अनाधृष्ट हो, इसलिये मैं तुम्हारा आश्रय लेता हूँ।

५—ईश्वर यज्ञ विद्या के फल को बता रहा है—तुम लोगों के द्वारा अनुष्ठित हुआ यज्ञ, सूर्य की रश्मियों के साथ विहरण करता है और अपने पवित्र अच्छिद्र गुण से समस्त पदार्थों को पवित्र करता है और उसके द्वारा वह सूर्य की रश्मियों की सहायता से तेजस्वी, शुद्ध, अमृत रस की हेतुभूत, प्रसन्नता देने वाले, सुदृढ़, यज्ञ के साधनभूत पदार्थों को करता है। क्योंकि उसके भोजन, आच्छादन द्वारा हम लोग शारीरिक पुष्टि, बल आदि शुद्ध गुणों का सम्पादन कर नित्य सुख प्राप्त करते हैं।

६—ईश्वरेणास्मिन्नध्याये मनुष्यान् शुद्धकर्मानुष्ठातुं दोषांश्च निवारयितुं यज्ञक्रियाफलं ज्ञातुं सम्यक् पुरुषार्थं कर्तुं विद्या विस्तारयितुं धर्मेण प्रजाः पालयितुं धर्मानुष्ठाने निर्भयतया स्थातुं सर्वैः सह मित्रतामाचरितुं वेदाध्ययनाध्यापनाभ्यां सर्वविद्याग्रहीतुं ग्राहयितुं च शुद्धये परोपकाराय प्रयतितुमाज्ञा दत्तास्ति। सेयं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावदनुष्ठातव्येति' इत्याह।

७—तदेतत्सर्वं विसङ्गतमेव निष्प्रमाणत्वात्, व्यत्ययादिमूलकत्वाच्च।

८—किञ्च तद्रीत्या यज्ञः शुक्रादिकमस्ति। तेन च परमेश्वरः सर्वानुत्पुनात्येव, तदा सर्वे शुद्धाः सुखिन एव भवेयुः। न च तथा दृश्यते, न वा तत्सम्भवति तथात्वे जीवपुरुषार्थवैयर्थ्यापत्तिः।

९—यो यज्ञः अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः सह सर्वान् पदार्थान् पुनाति तं यज्ञं यजमानं वाहमुत्पुनानीत्यत्र कः कर्ता? न जीवो यजमानः, तस्य कर्मत्वेन निर्देशात्। नापीश्वरः पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्। हे ब्रह्मन्निति सम्बोधनमपि निर्मूलं मन्त्रे तादृशापदाभावात्। मन्त्रसम्बन्धितश्रुतिसूत्राद्यबोधितत्वाच्च। वस्तुतस्तु त्वदीयो यज्ञोऽप्याकाशकुसुमायित एव श्रुतिसूत्रादिसम्मत याज्यापुरोऽनुवाक्यावद् वषट्कारप्रधानस्य विहितदेवतोद्देश्यकद्रव्यत्यागलक्षणस्य यागस्य त्वयानवगमात्तदनभ्युपगमाच्च भौमिकेन बह्निना सूर्यस्य रश्मिभिश्चानभीष्टा अभीष्टा नानापदार्थरसा उह्यन्त एव दोषदौर्गन्ध्यादिनाशकाश्चानेके आधुनिकाः पदार्थाः सन्ति यैर्होममन्तरापि पदार्थरसादयः शुद्ध्यन्त्येव पावित्र्यमपि किमिति युष्माभिर्न निर्णेतुं शक्यते। न च स्वच्छतैव पवित्रता म्लेच्छाद्युच्छिष्टसीसकीयचीनीयपात्रादिषु व्यभिचारात्। गोमूत्रादिष्वव्याप्तेश्च। 'योऽयं वातः पवते' 'आपः पुनन्तु' इत्यादिभिर्वचनैः प्रत्यक्षानुमानैश्च वायुजलाग्न्यादीनां स्वतः शोधकत्वमाधुनिकैः शास्त्रप्रामाण्या-

---

६—ईश्वर ने इस अध्याय में मनुष्यों को शुद्ध कर्मों का अनुष्ठान करने की दोषों का निवारण करने की, यज्ञ क्रिया के फल को जानने की, सम्यक् पुरुषार्थ करने की, विद्या विस्तार करने की, धर्म से प्रजा पालन करने की, धर्मानुष्ठान में निर्भय होकर स्थित रहने की, सबके साथ मित्रता का व्यवहार करने की, वेद के अध्ययनाध्यापन के द्वारा समस्त विद्याओं को ग्रहण करने और कराने की, शुद्धि और परोपकारार्थ प्रयत्न करने की आज्ञा दी है। उसकी इस आज्ञा का पालन सभी मनुष्यों को यथावत् करना चाहिये।

७—दयानन्दोक्त यह सम्पूर्ण मन्त्रार्थ, प्रमाण रहित होने से विसङ्गत ही है, इस प्रकार अर्थ करने में व्यत्ययादि का आश्रय भी उन्हें करना पड़ा है।

८—किञ्च—तुम्हारे कथनानुसार यज्ञ शुक्रादि रूप होने से परमेश्वर ने सबको शुद्ध कर ही दिया है, तब सभी को शुद्ध और सुखी हो जाना चाहिये था, किन्तु संसार में वैसा दिखाई नहीं देता, और न सभी का सुखी होना सम्भव ही है। अन्यथा जीव का पुरुषार्थ करना ही व्यर्थ होगा।

९—दयानन्द जी ने जो अर्थ (यो यज्ञः अच्छिद्रेण पवित्रेण ....यजमानं वाऽहमुत्पुनामि) किया है, उसमें कर्ता कौन है? जीव या यजमान को कर्ता नहीं कह सकते, क्योंकि उसका तो कर्म के रूप में निर्देश किया है। ईश्वर को भी कर्ता नहीं कह सकते, अन्यथा पूर्वोक्त दोषापत्ति होगी। 'हे ब्रह्मन्!' यह सम्बोधन भी निर्मूल है, क्योंकि मन्त्र में वैसा कोई पद नहीं है। और मन्त्र सम्बन्धित किसी श्रुति या सूत्र आदि के द्वारा वैसा बोधित भी नहीं हुआ है। वस्तुतस्तु तुम्हारा यज्ञ भी आकाश पुष्प की तरह ही है। क्योंकि याग तो वही होता है, जिसमें श्रुति-सूत्रादि सम्मत याज्यापुरोऽनुवाक्या होती है, वषट्कार की प्रधानता रहती है, और विधि विहित देवता के उद्देश्य से विधि विहित द्रव्य का त्याग किया जाता है। इस प्रकार का त्याग ही याग का स्वरूप है। इस प्रकार के उक्त लक्षण वाले याग को तो तुम मानते नहीं हो, और न तुम्हें उसका ज्ञान ही है। तुम तो पार्थिव वह्नि और सूर्य की रश्मियों से

नुपगन्तृभिरपि अभ्युपगमात् युक्तिभिस्तत्सिद्धेः शास्त्रप्रामाण्याभ्युपगमेऽपि श्रुतिसूत्रादिभिः सनातनिसम्मत एवार्थोभ्युपगन्तव्यःस्यात् ।

१० एतेन प्रथमाध्याये ईश्वरेण शुद्धं कर्माद्यनुष्ठातुमाज्ञा दत्तेत्याद्यपि निर्मूलं तत्र तत्र मन्त्राणां तथार्थस्य खण्डितत्वात् शतपथश्रुतिविरोधाच्च । तथाहि—

११—'प्रोक्षणीषु पवित्रे भवतः । ते तत आदत्ते । ताभ्यामाज्यमुत्पुनात्येको वा उत्पवनस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति ।' (श० १।३।१।२२)

१२ – तस्याज्यस्योत्पवनं विधत्ते—प्रोक्षणीष्विति । प्रोक्षण्युत्पवनं याभ्यां पवित्राभ्यां कृतं ते तत आदाय ताभ्यामेवाज्यस्योत्पवनं कार्यमित्यर्थः । उत्पवनविधिस्तावकं वृत्रो ह वा इदं सर्वमित्यादिकं प्रागाम्नातं ब्राह्मणमाज्योत्पवनस्यापि समानमित्यत आह एको वा उत्पवनस्य बन्धुः ।

१३—पर्यवसितमर्थमाह मेध्यमेवैतत्करोति । स उत्पुनाति—सवितुस्त्वां प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति सोऽसावेव बन्धुः । (श० १।३।१।२३)

१४—विहितमुत्पवनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स उत्पुनातीति । आज्यस्य एकत्वात् त्वा इत्येकवचनान्ततैव प्रोक्षण्युत्पवनमन्त्रतोऽस्य विशेषः । अतस्तन्मन्त्रव्याख्यानरूप सविता वै देवानां प्रसविता इत्यादिकं ब्राह्मणमत्रातिदिशति सोऽसावेव बन्धुरिति ।

अनभीष्ट तथा अभीष्ट अनेक पदार्थ रसों की कल्पना करते हो, उसी प्रकार दोष, दुर्गन्ध आदि के नाशक आधुनिक अनेक पदार्थ हैं, जिनसे बिना होम किये भी पदार्थ रस आदि शुद्ध हो ही जाते हैं। पवित्रता का भी निर्णय तुम नहीं कर सकते। केवल स्वच्छता ही पवित्रता नहीं है, म्लेच्छादि लोगों के उच्छिष्ट शीशे के या चीनी के पात्र भी स्वच्छ रहते है किन्तु वे पवित्र नहीं रहते। गोमूत्र आदि स्वच्छ न रहने पर भी पवित्र रहते हैं। 'योऽयं वातः पवते', 'आपः पुनन्तु' इत्यादि वचनों से और प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों से वायु, जल, अग्नि आदि पदार्थों में स्वतः शोधकता को शास्त्र प्रामाण्य का स्वीकार न करने वाले आधुनिकों ने भी स्वीकार किया है। शास्त्र प्रामाण्य के स्वीकार करने पर भी युक्ति से भी उनकी शोधकता सिद्ध होती है। अतः श्रुति सूत्रादि से प्रमाणित सनातनिसम्मत अर्थ ही स्वीकार करने योग्य होगा।

१०—अतः 'प्रथमाध्याय में ईश्वर ने शुद्ध कर्मादि के अनुष्ठान करने की आज्ञा दी है' इत्यादि कथन निर्मूल है, क्योंकि मन्त्रों के तथाविध अर्थ का खण्डन हो जाता है और शतपथ श्रुति से तथाविध अर्थ का विरोध भी है।

११—'प्रोक्षणीषु पवित्रे भवतः··············तत्करोति ।'—(श० १।३।१।२२)

१२—इस शतपथ ब्राह्मण के द्वारा आज्य के उत्पवन का विधान किया गया है। जिन पवित्रों से प्रोक्षणी का उत्पवन किया है, उन पवित्रों को उससे लेकर उन्हीं से आज्य का उत्पवन करना चाहिये। उत्पवन विधि का स्तावक ब्राह्मण 'वृत्रो ह वा इदं सर्वं' इत्यादि, जो पहले पढ़ा गया है, वही आज्योत्पवन में भी समझना चाहिये। इसीलिये 'एको वा उत्पवनस्य बन्धुः' कहा गया है।

१३ –सम्पूर्ण निष्पन्न अर्थ को 'मेध्यमेवैतत्करोति' से बताया गया है।

१४—'स उत्पुनाति·· ··············सोऽसावेव बन्धुः'—(श० १।३।१।२३) विहित उत्पवन का अनुवाद करके 'स उत्पुनाति' से मन्त्र का विधान किया जा रहा है। 'आज्य के एक होने से 'त्वा' को एकवचन में ही रखा गया है।

१५—तद्यदाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्यां प्रोक्षणीरुत्पुनाति तदप्सु पयोदधाति । तदिदमप्सु पयो दधाति तदिदमप्सुपयोहितमिद ँ हि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्त ओषधीर्जग्ध्वा अपः पीत्वा ततएषरसः सम्भवति तस्माद् रसस्यैव सर्वत्वाय । (श० १।३।१।२५)

१६ – आज्यलेपसहिताभ्यां पवित्राभ्यां प्रोक्षण्युत्पवनमुपपादयति तत् तत्र यत् इदमाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्यामुत्पवनं तेन पय एवाप्सुदधाति स्थापयति संयोजयति आज्यस्य पयः कार्यत्वात् । अप्सु हि परम्परया तत्कार्यत्वात् पयः प्रतिष्ठितम्, एतदेवोपपादयति—यदा वर्षति अथानन्तरमोषधयो जायन्ते । ओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा ततएषपयोरूपो रसो जायते । यस्मादेवं गव्यं पयः परम्परयोदकपरिणामरसरूपं तस्मात्कारणात् तत्कार्यस्याज्यस्यापाञ्च यदुत्पवने संसर्जनं तद्रसस्यैव सर्वत्वाय कात्स्न्र्याय भवति ।

१७—'अथाज्यमवेक्षते तद्धैके यजमानमवख्यापयन्ति' (श० १।३।१।२६)

१८—इहाध्वर्योराज्यावेक्षणं विधत्ते—केचिच्छाखिनस्तु यजमानमेवावख्यापयन्ति अवेक्षयन्ति, तच्च याज्ञवल्क्यरीत्या निरस्यति यतो यजमानाः स्वयमेवाध्वर्यवो न भवन्ति न वा स्वयमेव होतारो भूत्वा याज्यानुवाक्यादीनि अनुब्रुवन्ति यत्राध्वर्यवादौ तत्करणमन्त्रैर्बहुतरा इवाशिषः फलप्रार्थनाः क्रियन्ते तादृक्फलप्रतिपादकमन्त्रविशिष्टमाध्वर्यवादिकञ्च स्वयमेव कथं न कुर्वन्ति आज्यावेक्षणमेव कुतो यजमानेनैव कर्त्तव्यमित्याग्रहः ? वस्तुतस्तु दक्षिणापरिक्रीतत्वात् ऋत्विग्भिर्यत्फलमाशास्यते तद् यजमानस्यैव भवति तेन न पृथगाशासनं कार्यम् अतोऽध्वर्युरेवावेक्षेतेति । प्रकृते शाखान्तरनिन्दनं स्वशाखीयकर्मप्रशंसार्थमेव नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते किन्तु विधेयं स्तोतुमिति सिद्धान्तात् ।

प्रोक्षण्युत्पवन मन्त्र से इस मन्त्र में कुछ विशेषता है । अतः उस मन्त्र के व्याख्यान रूप 'सविता वै देवानां प्रसविता' इत्यादि ब्राह्मण का यहाँ पर 'सोऽसावेव बन्धुः' कहकर अतिदेश किया गया है।

१५—'तद्यदाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्यां ············चैव सर्वत्वाय'(श० १।३।१।२५) ।

१६—आज्य लेप सहित दो पवित्रों से प्रोक्षणी के उत्पवन का उपपादन करते हैं—आज्य लिप्त पवित्रों से जो उत्पवन किया जा रहा है, उससे यह प्रतीत होता है कि पय को ही जल में स्थापित किया जा रहा है । क्योंकि 'आज्य' पयस् का ही कार्य है । यह पयस् परम्परया जल का ही कार्य है, अतः वह जल में प्रतिष्ठित रहता है । जब वर्षा होती है, तब उससे ओषधियाँ पैदा होती हैं ; ओषधियों को खाकर जल पीकर उससे यह पयोरूप रस उत्पन्न होता है । जबकि इस प्रकार से गाय का पय (दूध) परम्परया उदक (जल) परिणाम भूत रस रूप है, उस कारण कार्य भूत आज्य का और जल का उत्पवन करने में जो संसर्जन (सम्बन्ध) है, वह उसके रस को सम्पूर्णता के लिये ही है ।

१७—'अथाज्यमवेक्षते········ ······ख्यापयन्ति' (श० १।३।१।२६) ।

१८—इस ब्राह्मण से अध्वर्यु के आज्यावेक्षण का विधान किया गया है । कुछ अन्य शाखा वाले विद्वान् यजमान का ही अवेक्षण करते है। किन्तु याज्ञवल्क्य ने उसका निरसन किया है । क्योंकि जो यजमान रहते हैं वे स्वयं अध्वर्यु नहीं होते और न ही स्वयं होता बनकर याज्या अनुवाक्या आदि कहते हैं । जिस आध्वर्यव आदि कर्म में करण मन्त्रों के द्वारा अनेक फल प्रार्थना की जाती है, उस फल प्रतिपादक मन्त्र विशिष्ट आध्वर्यवादि कर्म को स्वयं ही क्यों नहीं करते ? आज्यावेक्षण के सम्बन्ध में ही यह आग्रह क्यों है कि उसे यजमान ही करे । वस्तुतस्तु दक्षिणा के द्वारा परिक्रीत होने से ऋत्विजों द्वारा जो फल माँगा जाता है, वह यजमान के लिये ही होता है, इसलिये अध्वर्यु को अपने लिये पृथक् फल माँगने की आवश्यकता नहीं होती । अतः अध्वर्यु ही अवेक्षण करे । 'न हि निन्दा निन्द्यं' इस सिद्धान्त के अनुसार शाखान्तर की निन्दा, उसकी निन्दा के लिये न होकर स्व शाखीय कर्म की प्रशंसार्थ ही है ।

१९—सोऽवेक्षते ।' (श० १।३।१।२७)

२०—इति तदवेक्षणमनूद्य प्रशंसति—अवेक्षणस्य कारणं चक्षुः, तच्च यथाभूतमेव वस्तु विषयीकरोतीति तत्सत्यम् । यद् विवदमानयोर्द्वयोर्मध्ये यश्चक्षुषा दृष्टवानस्मीति वदति तद्वचनमेव श्रद्धार्हं भवति न तु श्रुतवानस्मीति वक्तुर्वचनम् तथा श्रद्धेयं तस्मात् सत्यं वै चक्षुः ।

२१—सोऽवेक्षते । तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसीति स एव मन्त्रस्तेजो ह्येतच्छुक्र ँ ह्येतदमृत ँ ह्येतत्सत्येनैव तत्समर्धयति ।' (श० १।३।१।२८)

२२—विहितमवेक्षणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—तेजोऽसि शुक्रमसीत्यादिमन्त्रेणाध्वर्युराज्यमवेक्षेतेत्यर्थः । योऽयं तेजोऽसीतिमन्त्रः स एष सत्यः यथार्थ एव विद्यमानार्थप्रकाशकत्वात् न गौणार्थ इत्यर्थः,कुत इत्यत आह—हि यस्मात् एतदाज्यं तेजः तद्धेतुत्वात् तथा शुक्रं निर्मलम् अमृतम् यागादिद्वारा अमरणसाधनत्वात् अमृतवत्पुष्टिकारकत्वाच्च । एवमाज्यस्यैवं रूपत्वात् विद्यमानार्थप्रकाशकत्वात् मन्त्रः सत्य इति युक्तमेव । तथाचाध्वर्युरुक्तमन्त्रेण सत्यात्मकेन चक्षुषाज्यमवेक्षमाणः सत्येनैव तदाज्यं तत्साध्यं कर्म च समृद्धियुक्तमेव करोति ।

२३—'पुरुषो वै यज्ञः' (श० १।३।२।१)

२४—अत्र जुहूपभृद्ध्रुवासु एतस्याज्यस्य स्रुवेण ग्रहणं विधित्सुः तत्समुदायस्य पुरुषावयवकल्पनया स्तुत्यर्थं तत्साध्यस्य यज्ञस्य पुरुषतादात्म्यमुक्तम् । पुरुषप्रयत्ननिर्वर्त्यत्वात् यज्ञस्य पुरुषत्वम् अतएव यज्ञस्तायमानो विस्तार्यमाणो यदवयवपरिमाणविशिष्टः पुरुषः तादृगवयवपरिमाणविशिष्ट एव विधीयते ।

१९—'सोऽवेक्षते'—(श० १।३।१।२७)

२०—उस अवेक्षण का अनुवाद कर प्रशंसा करते हैं—अवेक्षण का कारण चक्षु होता है, वह यथाभूत वस्तु को अपना विषय बनाता है, इसलिये उसे सत्य कहा जाता है । विवाद करते हुए दो व्यक्तियों में से जो यह कहता है कि मैंने चक्षु से देखा है, उसी का वचन श्रद्धेय समझा जाता है । मैंने सुना है, यह कहने वाले का वचन वैसा श्रद्धेय नहीं माना जाता है, इसलिये चक्षु ही सत्य है ।

२१—'सोऽवेक्षते । तेजोऽसि ··············समर्धयति ।'(श० १।३।१।२८)

२२—विहित अवेक्षण का अनुवाद करके मन्त्र का विधान किया गया है । 'तेजोऽसि शुक्रमसि' इत्यादि मन्त्र से अध्वर्यु आज्य का अवेक्षण करे । जो यह 'तेजोऽसि' मन्त्र है, वह सत्य है, अर्थात् विद्यमान अर्थ का प्रकाशक (प्रतिपादक) होने से यथार्थ है । वह गौणार्थ प्रतिपादक नहीं है । क्योंकि वह तेज का उत्पादक होने से स्वयं तेज ही है । उसी तरह वह निर्मल (शुक्र) है और याग आदि के द्वारा अमरण का साधन होने से तथा अमृत के समान पुष्टिकारक होने से वह अमृत है । आज्य का स्वरूप उपर्युक्त प्रकार का होने से यानी विद्यमान अर्थ का प्रकाशक होने से मन्त्र को सत्य कहना उचित ही है । तथा च अध्वर्यु उक्त मन्त्र से सत्यात्मक चक्षु के द्वारा आज्य का अवेक्षण करता हुआ सत्य के द्वारा ही उस आज्य को और तत्साध्य कर्म को समृद्धि से युक्त करता है ।

२३—'पुरुषो वै यज्ञः'—(श० १।३।२।१)

२४—यहाँ पर जुहू[1], उपभृत् और ध्रुवा में स्रुव के द्वारा आज्य के ग्रहण करने का विधान करने की इच्छा

---

१. ये सब यज्ञ के काष्ठमय पात्र हैं । 'खादिरः स्रुवो भवति, पर्णमयी जहूर्भवति, आश्वत्थी उपभृत्, वैकङ्कती ध्रुवा भवति, एतद्वै स्रुचां रूपम्'—(तै० सं० ३।५।७)

२५—'तस्येयमेव जुहू:। इयमुपभृदात्मैव ध्रुवा। तद्वा आत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति। तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ: प्रभवति।' (श० १।३।२।२) तादृगवयवक्लृप्तिमभिनयेन दर्शयति—या जुहू: सा इयम्। अयं दक्षिणो बाहु: छान्दसस्त्रीत्वं तथा या उपभृत् सा इयं वाम बाहु: ध्रुवा आत्मा मध्यदेह: जुहूर्दक्षिणो हस्त: उपभृत् सव्य: आत्माध्रुव:' (तै० ब्रा० ३।३।१) इति श्रुते:। ध्रुवाया आत्मत्वमुपपादयति आत्मनो मध्ये देहादेवेमानि हस्तपादादीन्यङ्गानि सर्वाणि प्रभवन्ति। ध्रुवायाश्च कृत्स्नो यज्ञ: प्रभवति ध्रुवास्थस्याज्यस्य सर्वयागसाधारण्यात्। तत्र प्रमाणञ्च ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ: प्रभवतीति श्रुतिरेव।

२६—प्राण एव स्रुव:। सोऽयं प्राण: सर्वाण्यङ्गान्यनुसञ्चरति, तस्मादुस्रुव: सर्वा अनुस्रुच: सञ्चरति।' (श० १।३।२।३) जुह्वादि सर्वासु स्रुक्षु स्रुवस्य सञ्चरणमुपपादयितुं तस्य प्राणरूपतामाह सोऽयमिति। देहमध्येऽवस्थित: प्राणो यस्मात् सर्वाण्यङ्गानि नाडीभि: क्रमेण व्याप्नोति तथैव स्रुवोऽपि तदात्मक:। जुह्वाद्या: सर्वा: स्रुच: अनुलक्ष्यक्रमेण सञ्चरति।

२७—तस्यासावेव द्यौर्जुहू:। अथेदमन्तरिक्षमुपभृदियमेव ध्रुवा। अस्या एवेमे सर्वे लोका: प्रभवन्ति। तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ: प्रभवति।' (श० १।३।२।४)

२८—पुरुषावयवादिकल्पनया जुह्वादिसमुदायं प्रशस्य लोकतादात्म्यप्रतिपादनेनापि तत्प्रशंसति—तस्य यज्ञस्यासौ द्यौर्जुहू: इदमन्तरिक्षमुपभृत् इयमेव भूमिध्रुवा जुह्वादयो लोकत्रयात्मका यथा अस्या भूमे: सकाशात् सर्वे लोका: प्रभवन्ति पृथिवीस्थमनुष्यकर्मसाध्यत्वात् ध्रुवायास्तदात्मिकाया: सर्वो यज्ञ: प्रभवति।

से पुरुषावयव की कल्पना करके यज्ञिय पात्र समूह की स्तुति के लिये तत्साध्य यज्ञ में पुरुष का तादात्म्य बताया है। पुरुष प्रयत्न से सम्पन्न होने के कारण यज्ञ को भी पुरुष कहा गया है। अतएव विस्तीर्ण किये जाने वाले यज्ञ का परिमाण पुरुष के अवयव परिमाण के जैसा ही करने का विधान किया गया है।

२५—'तस्येयमेव जुहू:। इयमुपभृदात्मैव ध्रुवा.......... ... यज्ञ: प्रभवति।'—(श० १।३ २।२) निर्णीत की हुई पुरुषावयव की कल्पना को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं—जो 'जुहू' है, वह यह दक्षिण बाहु है, मूल ब्राह्मण वाक्य में 'इयम्' यह स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त किया है, उसे छान्दस समझना चाहिये। तथा जो 'उपभृत्' है, वह यह वाम बाहु है, 'ध्रुवा' यह आत्मा अर्थात् मध्य देह है। इसी बात को तैत्तिरीय श्रुति ने स्पष्ट बताया है—'जुहूर्दक्षिणो हस्त:, उपभृत् सव्य:, आत्मा ध्रुवेति'—(तै० ब्रा० ३ ३।१)। 'ध्रुवा' को आत्मा कहने का उपपादन इस प्रकार है—मध्य देह रूप आत्मा से ही ये चारों ओर विद्यमान हस्त-पादादि समस्त अङ्ग उत्पन्न होते हैं। लोकसृष्टि के समान ही यज्ञ सृष्टि में भी ध्रुवा को आत्मा यानी मध्य देह बताकर उसी से सम्पूर्ण यज्ञ की उत्पत्ति बताई गई है। इस कथन से यह निष्पन्न हुआ कि ध्रुव पात्र में स्थित आज्य, सर्वसाधारण होता है।

२६—'प्राण एव स्रुव:। सोऽयं प्राण:..................सञ्चरति।'—(श० १।३।२।३)।जुहू आदि समस्त स्रुचाओं में स्रुव के सञ्चरण का उपपादन करने के लिये उसकी प्राण रूपता बता रहे हैं—शरीर में अवस्थित प्राण जबकि सभी अङ्गों को नाडियों के माध्यम से क्रमश: व्याप्त करता है, तथैव स्रुव भी तदात्मक यानी प्राण रूप है। अत: वह भी जुहू आदि सभी स्रुचाओं में क्रम से सञ्चार करता है।

२७—'तस्यासावेवे द्यौर्जुहू:। अथेदमन्तरिक्ष..............प्रभवति'—(श० १।३।२।४)

२८—इस प्रकार पुरुषावयवादि की कल्पना करके (आध्यात्मिक दृष्टि से छां० उ० १।२) जुह्वादि समूह की प्रशंसा करके, अब लोकतादात्म्य बताकर भी उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। दूर देश में अवस्थित द्यौ ही यज्ञ की जुहू है। यह अन्तरिक्ष ही उपभृत् है, यह भूमि ही ध्रुवा है। तात्पर्य यह है कि जुहू आदि यज्ञिय पात्र लोक त्रय रूप है। जिस

२६—'अयमेव स्रुवो योऽयं पवते। सोऽयमिमांल्लोकाननु पवते तस्मात् स्रुवः सर्वा अनुस्रुचः सञ्चरति (श० १।३।२।५) अनेनापि वायुवत्स्रुवस्य तदात्मकस्य लोकत्रयात्मिकासु स्रुक्षु युक्तमित्यर्थः।

३०—स एष यज्ञस्तायमानो देवेभ्यस्तायते ऋतुभ्यश्छन्दोभ्यो यद्धविस्तद्देवानां यत् सोमोराजा यत्पुरोडाशस्तदादिश्य गृह्णात्यमुष्मै त्वा जुष्टं गृह्णामीत्येवमुहैतेषाम्।' (श० १।३।२।६)

३१—तासु स्रुक्षु आज्यग्रहणं विधित्सुस्तस्य पुरोडाशादिहविरन्तरवत्प्रसक्तं देवतादेशनपूर्वकत्वं निवारयितुमाह—स एष इति स एष यज्ञस्तायमानः प्रथममग्न्यादिभ्यः प्रधानदेवेभ्यः, तादर्थ्ये चतुर्थी। (पा० सू० १।४।४४) इति स्थलीयेन वार्तिकेन प्रयाजदेवताभ्यः देवतार्थं तायते ऋतुभ्यो वसन्तादिभ्यः छन्दोभ्यो गायत्र्यादिभ्योऽनुयाजदेवताभ्यश्च तायते। पुरोडाशादिलक्षणं यद्धविस्तद्देवानां स्वभूतम्, अतस्तद्देवानामादेशनपुरःसरं ग्रहीतव्यम्। कुत एतदित्याह—एवमेव हि तेषामग्न्यादिदेवतानां दर्शपूर्णमासादिषु सोमयागादिषु च नामादेशविशिष्टा मन्त्राः समाम्नाताः— 'अग्नये त्वा जुष्टं गृह्णामि' (वा० सं० १।१०) 'अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं गृह्णामि' (वा० सं० ७।८) पुरोडाशनिर्वापे सोमरसग्रहणेष्वैन्द्रवायवादि उपयामगृहीतोऽसि वायवइन्द्रवायुभ्यां त्वा' (वा० सं० ७।८)

३२—'अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते ऋतुभ्यश्चैव तानि छन्दोभ्यश्च गृह्यन्ते तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति। स वै चतुर्जुह्वां गृह्णात्यष्टौकृत्व उपभृति।' (श० १।३।२।७)

प्रकार भूमि से हो सम्पूर्ण लोक उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे सब लोक पृथिवी स्थित मनुष्य कृत कर्मों से साध्य होते हैं। उसी प्रकार भूमि स्वरूप ध्रुवा से ही सभी यज्ञ उत्पन्न होते हैं। इस कथन से भी ध्रुवा स्थित आज्य की सर्वयाग साधारणता सिद्ध होती है।

२६—'अयमेव स्रुवो योऽयं पवते··········स्रुचः सञ्चरति।' –(श० प० १।३।२।५) इस ब्राह्मण से भी यही कहा गया है कि स्रुव भी वायु रूप होने से वायु की तरह लोकत्रय रूप स्रुचाओं से सम्बद्ध है।

३०—'स एष यज्ञस्तायमानो··············हैतेषाम्।'–(श० १।३।२।६)।

३१—उन स्रुचाओं में आज्य ग्रहण का विधान करने की इच्छा से उसमें पुरोडाशादि अन्य हवि के समान प्रसक्त देवतादेशन पूर्वकत्व का निवारण उक्तब्राह्मण से किया गया है। विस्तार किया जाने वाला वह यज्ञ, प्रथमतः प्रधानभूत अग्नि आदि देवताओं के लिये विस्तीर्ण किया जाता है। 'देवेभ्यः' का अर्थ 'देवतार्थ' है, क्योंकि (पा० सू० १।४।४४) सूत्रस्थ वार्तिक से तादर्थ्य में चतुर्थी की गई है। तथा 'तायते' में भी 'तनु विस्तारे' (त० उ० १) धातु से कर्मणि 'यक्' (पा० सू० ३।१।६७), पश्चात् 'तनोतेर्यक्' (पा० सू० ६।४।४४) सूत्र से 'आत्व' होकर 'तायते' रूप बनता है। तदनन्तर प्रयाज देवता रूप वसन्तादि ऋतुओं के लिये उसे विस्तीण किया जाता है, तदनन्तर गायत्री आदि अनुयाज देवताओं के लिये उसे विस्तीर्ण किया जाता है। पुरोडाशादि लक्षण जा हवि है वह उन देवताओं का 'स्वभूत' है अर्थात् स्वीकय धन है। अतः तत्तद् देवताओं के नाम ग्रहण पूर्वक उस हवि का ग्रहण करना चाहिये। इसमें कारण यह बताया गया है कि दर्शपूर्णमासादि इष्टियों में और सोमयाग आदि में अग्नि आदि देवताओं का नाम ग्रहण करते हुए मन्त्र पढ़े गये हैं। जैसे—अग्नये त्वा जुष्टं गृह्णामि' (वा० स० १।१०), 'अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं गृह्णामि'—(वा० सं० ७।८) ये मन्त्र पुरोडाश निर्वाप के लिये पढ़े गये हैं। सोमरस का ग्रहण जिनमें किया जाता है, उन ऐन्द्रवायवादि पात्रों के ग्रहण करते समय 'उपयामगृहीतोऽसि वायव इन्द्रवायुभ्यां त्वा'—(वा० सं० ७।८।१२) मन्त्र पढ़े गये हैं।

३२—'अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते ऋतुभ्यश्चैव··········कृत्व उपभृति।' (श० १।३।२।७)

३३—अथ तस्मिन् यज्ञे यदाज्यग्रहणं तत्प्रयाजानुयाजदेवतार्थं चशब्दात् स्विष्टकृद्यागार्थं च । तत् तथासति तत् आज्यदेवतानामनादिश्य आज्यसम्बन्धिनैव रूपेण गृह्णाति । आज्यसम्बन्धिरूपञ्च देवताया अनादेशनम्, नवा एतत् कस्यै चन देवतायै हविर्गृह्णन्नतिदिशति यदाज्यमित्यनादेशनस्थतद्धर्मतया प्रागाम्नातत्वात् । (श० १।२।१।२२) अथ जुहूपभृतोराज्यग्रहणं विधत्ते सवा इति । जुह्वां चतुर्वारं स्रुवेणाज्यं गृह्णीयात् उपभृत्यष्टवारम् । जुहूस्थमाज्यं किमर्थमित्याशङ्क्य तत्प्रयोजनमुक्तम्-ऋतुभ्यस्तद्गृह्णाति, के पुनस्तदृत्व इत्याह–प्रयाजदेवताहि ऋतवोवसन्ताद्या: । तेषाञ्च नामादेशनरहितमेवाज्यं ग्रहीतव्यम्, तदनूद्य तस्य प्रयोजनमुक्तम्-तदनादिश्य ग्रहणमजामितायै जामितादोषराहित्याय सम्पद्यते । हविर्ग्रहणाज्यग्रहणयोर्देवतादेशने सत्येकरूपेणाजामिता स्यात्,तमिम दोष विपक्षे दर्शयति-जामि वा एतत्कुर्यात् यद्वसन्तायत्वा ग्रीष्मायत्वेति गृह्णीयात् तस्मादनादिश्यैव आज्यस्यैव रूपेण गृह्णीयात् ।

३४—'अथ यदष्टौकृत्व उपभृति गृह्णाति । छन्दोभ्यस्तद्गृह्णाति । अनुयाजेभ्यस्तद्गृह्णाति।' (श० १।३।२।९)

३५—'यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति सर्वस्मै तद्यज्ञाय गृह्णाति तदनादिश्याज्यस्येव रूपेण ।' (श० १।३।२।१०)

३६—'यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत् यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्य: । सर्वस्मै वा तद् यज्ञाय गृह्यते यद्ध्रुवायामाज्यम्' (तै० ब्रा० ३।३।५।५) इति श्रुते: ।

३३—उस यज्ञ में प्रयाज-अनुयाज की देवता के लिये आज्य ग्रहण बताया गया है और 'च' शब्द से ही स्विष्टकृत् यागार्थ भी वह है। इस उल्लेख से यह अवगत होता है कि 'वह आज्य देवताओं के लिये हैं', ऐसा न कहकर आज्यस्वरूप सम्बन्धी के रूप में ही उसका ग्रहण किया गया है । देवता का कथन न करना (अनादेशन) ही आज्यका स्वरूप है।' और न ही यह किसी देवता के लिये हविर्ग्रहण करते हुए अतिदेश करता है। क्योंकि ब्राह्मण ने 'यत् आज्यम्' इस प्रकार का अनादेशन किया है, जो इसका धर्म बताया गया है (श० प० १।२।१।२२) । तदन्तर 'स वै०' ब्राह्मण से जुहू और उपभृत् में आज्यग्रहण का विधान किया गया है । जुहू में स्रुव से चार बार आज्यग्रहण करे और उपभृत् में आठबार आज्यग्रहण करें। जुहूपात्र में स्थित आज्य का प्रयोजन बताया है कि ऋतुओं के लिये वह आज्यग्रहण किया गया है । वे कौनसी ऋतुएँ हैं, जिनके लिये जुहूस्थित आज्य का भाग है । वे ऋतुएँ—प्रयाजदेवता वसन्त ऋतु आदि हैं। उनके लिये नामादेशन के विना ही आज्यग्रहण करना बताया गया है । वह जामितादोष की अनुत्पत्ति के लिये किया जाता है। हविर्ग्रहण और आज्यग्रहण दोनों में उनकी देवताओं के नाम बोलें तो, निरन्तर वोलते रहने से जामिता (आलस्य) दोष होने की सम्भावना हो सकती है । अत: तत्तद् देवताओं के नाम न बोलकर केवल स्वरूपत: ही आज्य का ग्रहण किया जाता है ।

३४—'अथयदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति । ....तद्गृह्णाति ।'—(श० प० १।३।२।९) ।

३५—'यच्चतुर्ध्रुवायां.................रूपेण ।'—(श० प० १।३।२।१०) उपभृत् में स्थित आज्य का विनियोग (उपयोग) बताया गया है । वह आज्य छन्दस् (छन्द) के लिये है । ये गायत्री आदि छन्द ही अनुयाज देवता हैं। अत: अनुयाज के लिये ही उपभृत् में आज्य ग्रहण किया गया है । यहाँ पर भी देवता नाम का अनादेशन पहले के समान ही जामिता (आलस्य) दोष की अनुत्पत्ति के लिये ही है । ध्रुवा में जो आज्यग्रहण किया जाता है, वह भी देवतानादेशनरूप आज्यधर्म से ही करना है। यह बताकर यहाँ पर देवतादेशन की प्रसक्ति ही नहीं है, क्योंकि ध्रुवास्थित जो आज्य है, वह यज्ञ में जितनी देवताएँ हैं, उतनी सभी देवताओं के लिये विभक्त करके लिया जाता है । अत: सर्व देवताओं के लिये वह साधारण होने से किसी देवताविशेष का उद्देशन करना सम्भव नहीं है।

३६—अतएव तैत्तिरीय श्रुति कहती है—'यज् जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तद्, यदुपभृति प्रयाजानूयाजेभ्यस्तत् सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते ध्रुवायामाज्यम्' (तै० ब्रा० ३।३।५।५) ।

३७—यजमान एव जुहूमनु योऽस्मै अरातीयति स उपभृतमन्वत्तैव जुहूमन्वाद्य उपभृतमन्वत्तैव जुहुराद्य उपभृत्स चतुर्जुह्वां गृह्णात्यष्टौकृत्व उपभृति (श० प० १।३।२।११) ।

३८—स यच्चतुर्जुह्वांगृह्वाति अत्तारमेवैतत् परिमिततरं करोति कतीयां ७ ं संकरोति यदष्टौकृत्व उपभृति गृह्णात्याद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयाऽ ं सं करोति तद्धिसमृद्धं यत्रात्राकतीयानाद्योभूयान् ।।' (श० १।३।२।१२)

३९—भोक्तृणामल्पीयस्त्वं भोग्यजातस्य भूयस्त्वम् । तत्खलु समृद्धम् । तत्रापि जुहूपभृतोर्धर्मविशेषो विहितः । बहुतरमधिकमाज्यं जुह्वां यथाभवति तथासम्यक् पूर्वेण स्रुवेण कर्त्तव्यम् । अल्पतरमुपभृति गृह्यमाण यथा-स्यात्तथार्धपूर्णस्रुवेण कार्यमति ग्रहणसंख्याह्रासेन भोक्तारं भोग्यजाताल्पीयांसं करोति । भूयोग्रहणेन च भोक्तरि अधिकंवीर्यं स्थापयति । अल्पीयस आज्यस्य ग्रहणेनाद्यमवीर्यं बलरहितं करोति तस्मादेवाद्यवर्गोबलरहितोभवति । तस्मादेव सार्वभौमोराजा अपारां निरवधिकां विशं प्राप्यापि जिनाति स्वाधीनं करोति । तदेतद्राज्ञः सामर्थ्यम् एतेनैव बीर्येण जनितम् यद्वीर्यं जुह्वां भूयोग्रहणेन भोक्तुर्निष्पन्नम् । तत्रापि जुहूपभृत्धृतयोराज्ययोर्जुह्वैव होमः कर्त्तव्य इति विधत्ते । 'स यत् जुह्वां गृह्णाति जुह्वैवतज्जुहोति यदुपभृति गृह्णाति जुह्वैवतज्जुहोति ।' (श० १।३।२।१४)

३७—'यजमान एव जुहूमनु । योऽस्मा·················कृत्व उपभृति ।'—(श० प० १।३।१।११) ।

इस ब्राह्मण के द्वारा जुहू और उपभृत् में किये गये आज्यग्रहण की चतुष्ट्वादि संख्याविशेष का उपपादन किया गया है । जो 'जुहू' है, वह यजमान का ही भाग है । जुहूमनु' यहां पर 'भाग' अर्थ मे 'अनु' है । 'लक्षणेत्थंभू-ताख्यान भागवीप्सासु'— (पा० सू० १।४।९०) सूत्र से 'अनु को कर्म प्रवचनीय संज्ञा होने पर, 'कर्मप्रवचनीययुक्ते०' (पा० सू० २।३।८) सूत्र से 'जुहू' में द्वितीया विभक्ति की गई है । तथा जो यजमान से शत्रु की तरह आचरण करता है (जो यजमान का शत्रु है) उसका (शत्रुका भाग उपभृत् है । इसी बात को तैत्तिरीयश्रुति ने भी कहा है—'यजमान-देवत्या वै जुहूः—भ्र तृव्यदेवत्योपभृत्'—(तै० ब्रा० ३।५।४) । तथा भोक्ता और भोग्य के क्रमशः जुहू और उपभृत भाग हैं । उनका भाग होने से उनके साथ उन पात्रों का तादात्म्य बताया गया है ।

३८—'स यच्चतुर्जुह्वां गृह्वाति । अत्तारमेवैतत् परिमिततरं··············भूयान्' (श० प० १।६।२।१२) ।

३९—इस ब्राह्मण के द्वारा जुहू में चतुर्ग्रहण का अनुवाद करके संख्या के अल्पीयस्त्व की प्रशंसा की गई है । 'जुहू' अत्तृ (अत्ता) स्वरूप होने से अष्ट संख्या की अपेक्षा चतुः संख्या का अल्पीयस्त्व होने से अत्ता को ही परिमित-तर है, अतः उसमें स्वल्प आज्य किया गया है । और उपभृत् में आज्यग्रहण की संख्या का अनुवाद करके उसके भूयस्त्व की प्रशंसा की गई है । उपभृत् आद्य (भक्ष्य) रूपा है । जुहू भोक्तृरूपा है । संख्या बाहुल्य के कारण 'आज्य' अर्थात् भोग्यवस्तुसमूह ही अधिकतर (अपरिमिततर) होता है । अतएव उसे अतिशय अधिक करते हैं । भोक्ताओं का जो अल्पीयस्त्व है और भोग्यवस्तु समुदाय का जो भूयस्त्व है, उसी को समृद्ध कहते हैं । 'स वै चतुर्जुह्वां गृह्णन् । भूय अज्यं गृह्णात्यष्टौ················।' (श० प० १।३।२।१३)

इस ब्राह्मण के द्वारा आज्यग्रहण करने में जूहू और उपभृत् के धर्मविशेष का विधान कर रहे हैं । जुहू में अधिकतर आज्य जैसे हो सके उस तरह पूर्ण स्रुव से करे, और उपभृत् में अल्पतर आज्य जैसे हो सके वैसे अर्धपूर्णस्रुव से करे ।

'स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णन् । भूय आज्यं गृह्णत्यत्तारमेवैतत्·····························
·································जुह्वैव तज्जुहोति ।'—(श० प० १।३।२।१४) ।

जुहूस्थित विहित आज्य के भूयस्त्व का अनुवादकर उसकी प्रशंसा की गई है । ग्रहणसंख्या के ह्रास को दिखाकर भोग्यपदार्थ समूह से अल्पतर हुए भोक्ता में भूयोग्रहण के द्वारा अधिक सामर्थ्य और उसके हेतु भूत बल की स्थापना की गई है । उसी तरह उपभृत् में स्थित विहित आज्य के अल्पीयस्त्व का अनुवाद कर उसकी प्रशंसा की

जुहूवदुपभृतोऽपि होमसाधनत्वे सत्युपभृतोऽपि स्वातन्त्र्यादन्नस्थानीया इमाः सर्वाः प्रजाः राज्ञः सकाशात् स्वतन्त्रा एव भवेयुः । तथा च राजा नैवशास्तास्यात् राज्यमपि नैवं भोग्यं स्यात् अत औपभृतमाज्यं जुह्वामानीय तथैव होमे तु नोक्तदोषः । यस्मादेव होमाय जुहूमपेक्षमाणायामुपभृत्याज्यं गृह्यते तस्मादेव कारणात् क्षत्रियस्य वशे रक्षार्थं क्षत्रियाधीनत्वे सत्येव वैश्यं पशवोगवाद्या उपतिष्ठन्ते । उपभृतिग्रहणाद्वैश्यस्य धनसमृद्धिर्भवति । अद्यत्वे यद्यपि प्रजातन्त्र शासनं तथापि कार्यपालिकायां शासनपरिषदि तत्रापि प्रधानमन्त्रिणि राष्ट्रपतौ वा शासनशक्तिः पर्यवस्यति । यस्मादौपभृतमाज्यं जुह्वै जुहोति तस्मादेव यदोत क्षत्रियः कामयतेऽथाहवैश्य यत्तोपरो निहितं तदाहरोति त जिनाति ।

'तानिवा एतानिछन्दोम्य आज्यानि गृह्यन्ते । सयच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति गायत्र्यै तद्गृह्णात्यथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति त्रिष्टुब्जगतीभ्यां तद्गृह्णात्यथ यच्चतु ध्रुवायां गृह्णात्यनुष्टुभेन तद्गृह्णाति अनुष्टुब्बाचोवाइद ७ सर्वंप्रभवति तस्माद् ध्रुवायां सर्वोयज्ञः प्रभवति ।' (श० १.३.२.१६) ध्रौव्यस्याज्यस्य प्रागुक्तं सर्वयज्ञसाधारण्यं द्रढयितुं जुह्वादिष्वाज्यग्रहणं प्रकारान्तरेण प्रशंसति तानि वा इति । तानिवाछन्दोभ्य आज्यानि गृह्यन्ते । सामान्योक्तं विवृणोति । स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णातीति । गायत्र्यै तद्गृह्णाति । ननुत्रिपदा गायत्रीति चतुःसंख्यायोगो नोपपद्यते इतिचेन्न, अष्टाक्षरैः पादैः त्रिपदा षडक्षरैः पादैश्चतुष्पदा तस्मात् प्राथम्यात् संख्या चतुष्ट्वयोगात् जुह्वांग्रहणं गायत्र्यर्थम् अत एवाम्नायते 'सैषा चतुष्पदा षड्विधागायत्री' (साम० छा० ब्रा० ५.१२.५) त्रिष्टुब्जगत्योर्मिलितयोः पादानामष्टसंख्या तथा

जा रहो है। संख्या की अधिकता बताकर भोग्य पदार्थ को अपरिमित करते हुए अल्पतर आज्य का ग्रहण कर उस आद्य (भोग्य) को वीर्यरहित और बलरहित करता है। इस रीति से जब कि आद्य (भोग्य) वर्ग बलरहित है, उसी कारण सार्वभौम होता हुआ भी राजा अर्थात् निरवधिक राज्य प्राप्त करके भी उसे एक गृह के रूप में ही अपने स्वाधीन करता है। एकःएक वस्तु (प्रत्येक वस्तु) को जैसे वह चाहता है, वैसे-वैसे ही वह पाता है। यहां पर 'त्वत्' शब्द 'एक' के अर्थ में है। ऐसा 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्' (ऋ० सं० मं० १०।७१।४) ऋचा में देखा गया है। अथवा 'त्वत्' यह निपात'च' के अर्थ में है (निरु० १।३।५)। राजा का यह सामर्थ्य, इसी वीर्य से उत्पन्न हुआ है, जो वीर्य जुहू में भूयोग्रहण से भोक्ता में निष्पन्न होता है। जुहू और उपभृत् में रखे आज्यों का जुहू से ही होम करना चाहिये।

'तदाहुः। कस्मा उ तह्यु॔पभृति····································तद्वीर्येण ।' (श० प० १।३।२।१५)।

यदि 'उपभृत्' होमसाधन नहीं है तो उस में आज्यग्रहण क्यों किया गया है, यह आक्षेप 'तदाहुः' से किया गया है। उपभृत् में आज्यग्रहण करना तो उचित है, किन्तु उस उपभृत् को होम का साधन माना जाय तो जुहू को समान उपभृत् की भी स्वतन्त्रता कही जायगी, तब अन्नस्थानीय समस्त प्रजा, राजा से स्वतन्त्र ही होंगी। उस कारण राजा 'अत्ता' (भोक्ता) अर्थात् शास्ता ही नहीं रहेगा और राज्य भी 'भोग्य' नहीं रहेगा। परन्तु उपभृतस्थित आज्य को जुहू में लेकर, उस जुहू से होम करने पर उक्त दोष नहीं होगा। क्योंकि होम करने के लिये जुहू की अपेक्षा रखने वाली उपभृत् में आज्य का लिया जाता है, उसी कारण संरक्षणार्थ क्षत्रिय की अधीनता रहने पर ही गवादि पशु उपस्थित रहते हैं। तात्पर्य यह है कि उपभृत् में आज्यग्रहण करने से ही वैश्य की धनसमृद्धि होती है। आज के युग में यद्यपि प्रजातन्त्र शासन है, तथापि शासन शक्ति (सामर्थ्य) कार्य पालिका के शासन परिषद् की उसपर भी प्रधानमन्त्री की अथवा राष्ट्रपति की ही रहती है। जिसकारण से औपभृत आज्य का होम जुहू से ही किया जाता है, उस कारण क्षत्रिय धर्मपरतन्त्र अपनी इच्छानुसार वैश्य से जो चाहता है, उस मांगकर लेता है। इस रीति से वैश्यादि प्रजावर्ग को वह अपने स्वाधीन रखता है।

'तानि वा एतानि···· ·· ····················· ·······प्रभवति ।'—(श० प० १।३।२।१६)। पहले बताई हुई ध्रौवाज्य की सर्वयज्ञसाधारणता को दृढ़ करने के लिये जुहू आदि में किये गये आज्यग्रहण की प्रकारान्तर से प्रशंसा कर रहे हैं। सामान्यतया उक्त का ही 'स यत्' के द्वारा स्पष्ट विवरण किया गया है। प्राथम्य की समानता और चतुः संख्या

चाष्टौकृत्व उपभृति ग्रहणं ताभ्यामर्थे सम्पद्यते। एवमेव पादसंख्यासाम्यात् ध्रुवायां चतुर्ग्रहणमनुष्टुबर्थं भवति। अनेन ध्रुवाया अनुष्टुबर्थत्वोपजीवनेन तत्स्थस्याज्यस्य सर्वयज्ञसाधारण्यमभिप्रेत्याह-वाग्वा अनुष्टुप् वाचोवा इदं सर्वं प्रभवति अनुष्टुप् च सप्तदशश्च समभवता ँ सानुष्टुप् चतुरुत्तराणि छन्दा ँ स्यसृजत षडुत्तरान् स्तोमान् सप्तदश:' इति सामताण्डयब्राह्मणे। सर्वेषां छन्दसामनुष्टुप् सकाशात् सृष्टेराम्नातत्वात् सावागात्मिका। वाच: शब्दस्य सकाशात् सर्वमिदमर्थजातं प्रभवति 'अनादिनिधनंब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतोयत:।' (वा० प० १।१) 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।' (वा० प० १) 'शब्द इतिचेन्नात: प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० १।१) इत्याद्याप्तवचनेभ्योवाच: सर्वजगदुत्पत्तिहेतुत्वात् तत्सम्बन्धिन्याध्रुवाया अपि सर्वयज्ञहेतुत्वं युक्तमेव। इयंवा अनुष्टुप् इति एवं विहितमाज्यग्रहणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते स गृह्णाति धामनामासिप्रियं देवनामित्येतद्वै देवानां प्रियतमं धाम यदाज्यम् तस्मादाह धामनामासि प्रियं देवानामित्यनाधृष्टं देवयजनमसीति।' (श० १।३।२।१७)

स एतेन यजुषा सकृज्जुह्वां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीमेतेनैव यजुषा सकृदुपभृति गृह्णाति सप्तकृत्वस्तूष्णीमेतेनैव यजुषा सकृद्ध्रुवायां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीम्। तदाहुस्त्रिस्त्रिरेव यजुषा गृह्णीयात् त्रिवृद्धि यज्ञ: इति तदनु सकृत् सकृदेववाचोह्येष त्रिर्गृहीत ँ सम्पद्यते।' (श० १।३।२।१८) मन्त्रगतस्य धामशब्दस्य विवक्षितमर्थयाह-एतद्वा इति। धामशब्दस्तेजोवाची। (नि० ९।३) तद्धेतुत्वादाज्यमपिधामोच्यते। अतएव 'तेजोवै घृतम्' इति श्रुति:। मन्त्रशेषमनूद्य तत्रानाधृष्टपदस्य तात्पर्यगम्यमर्थमाह-अनाधृष्टमिति हि यस्मादाज्यं वज्र: घृतंखलु वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्' इति श्रुते:। वज्रश्च धर्षितुमशक्यत्वात् अनाधृष्टे:, तदात्मकत्वादाज्यमप्यनाधृष्टम्।

(चार संख्या) की समानता को देखकर पादचतुष्टय से युक्त जो आज्यग्रहण जुहू में किया गया है, वह गायत्री के के लिये है। शंका—गायत्री तो त्रिपदा (तीन पादवाली) है, तब उसके साथ चतु:संख्या का सम्बन्ध कैसे किया जा रहा है ? समा—जो शंका की गई है, वह ठीक है। आठ अक्षरों की दृष्टि से त्रिपदा गायत्री और छह अक्षरों की दृष्टि से चतुष्पदा भी गायत्री होती है। अतएव अन्यत्र यह कहा गया है—'सैषा चतुष्पदा षड्विधागायत्री'— इति (सा० छां० ब्रा० ५।१।२।५) त्रिष्टुब्-जगती को मिला देने पर पादों की संख्या आठ हो जाती है। तथा च उपभृत् में जो आठ बार आज्यग्रहण किया गया है, वह त्रिष्टुब-जगती छन्द के लिये है। उसी तरह पादसंख्या के साम्य से ध्रुव में जो चतुर्ग्रहण आज्य का किया जाता है,वह अनुष्टुब् छन्द के लिये है। इस विवेचनसे यह निष्पन्न हुआ कि 'ध्रुवा' अनुष्टुब् के लिये होने से उस में स्थित आज्य सर्वयज्ञसाधारण है। इसी अभिप्राय को 'वाग्वाअनुष्टुब्' से बताया गया है। इसी प्रकार सामब्राह्मण में (तां० म० ब्रा० १० प्र० २ खण्ड) 'अनुष्टुप् च सप्तदशश्च समभवता ँ सानुष्टुप्चतुरुत्तराणि छन्दा ँ स्यसृजत षडुत्तरान्त्स्तोमान्तसप्तदश:' इति से कहा गया है। समस्त छन्दों में से जो अनुष्टुब् छन्द है, उसी से सृष्टि का होना बताया गया है, वहीं 'वाक्' सृष्टि है। 'वाच:' शब्द से यह सम्पूर्ण अर्थजात (पदार्थ समूह) उत्पन्न होता है। अतएव 'जगत्' (सृष्टि) को शब्द का विवर्त कहते हैं—'अनादिनधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:।।'-(वा० प० १।१), उसी तरह न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिन ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते।।' इति।। (वा० प० १) शब्दानुवेध (शब्द से सम्बद्ध) होने के कारण सम्पूर्ण अर्थ प्रपच्च (सृष्टि) उस शब्द का ही कार्य है। 'शब्द इति चेन्नात: प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'—(ब्र० सू० १।१।) इत्यादि आप्तवचनों से वाक् (वाणी-शब्द) को ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का हेतु (कारण) कहा गया है। उससे (वाणी से) सम्बन्धित ध्रुवा को भी समस्त यज्ञ का हेतु कहना उचित ही है। इसी अभिप्राय को 'इयं वा अनुष्टुप् इत्यादि से कहा गया है।

इस प्रकार विहित आज्यग्रहण का अनुवाद कर 'स गृह्णाति' से मन्त्र का विधान किया गया है। 'स एतेन यजुषा०'—(श० प० १।३।२।१६) 'एतद्वै देवानम्' से मन्त्रगत 'धाम' शब्द के विवक्षित अर्थ को बताया गया है। 'अनाधृष्टं देवयजनमासि०' से अनाधृष्टपद के तात्पर्यगम्य अर्थ को बता रहे हैं। क्योंकि 'आज्य' जो है, वह वज्र है।

अनेन मन्त्रेण ग्रहणे विशेषमाह तच्च स्पष्टमेव। तस्माच्छ्रुतिसूत्रसम्मतोऽयं मन्त्रः—हे आज्य त्वं तेजोऽसि अविनाशशरीरकान्तिहेतुत्वात्तेजोऽसि। त्वं शुक्रमसि दीप्तिमदसि स्निग्धरूपत्वाद्दीप्तिमत्त्वम्। अमृतमसिविनाश रहितमसि बहुदिनावस्थानेप्योदनादिवत् पर्युषितत्वादिदोषाभावादविनाशित्वमौपचारिकम्! यद्वा पारम्पर्येणामृतयाग फलहेतुत्वादविनाशित्वम्।

हे आज्य त्वं धाम स्थानमसि धीयते स्थाप्यतेऽत्रेति धामशब्दव्युत्पत्तेः। यद्वायागफलोपभोगस्थानप्राप्तिहेतुत्वात् धामासि नमयति सर्वाणि भूतान्यात्मानं प्रति प्रणतानि करोतीत्याज्यस्य नामत्वम्। तथैतदाज्य देवानां प्रियम्। तात्प्रियत्वञ्च तित्तिरिराह—'प्रजापतिर्देवेभ्यो यज्ञान्यादिशत्। स आत्मन्याज्यमधत्त। त देवा अब्रुवन् एषवाव यज्ञो-यदाज्यमप्येव को चास्त्विवतीति श्रुतेः। यदा प्रजापतिर्यज्ञहवींषि देवेभ्यो विभज्यददौ तदानीमाज्यं स्वकीयत्वेन स्वीचकार। तद्दृष्ट्वा देवा यज्ञे सारंहविराज्यमेवेति वदन्तोऽस्माकमाज्ये भागोऽस्त्वित्यपेक्षितवन्त इत्यर्थः। तच्चेदमनाधृष्टम् गतसारत्वादिदोषेणकदाचिदप्यतिरस्कृतम्। एतदपितित्तिरिणा प्रश्नोत्तराभ्यां स्पष्टमुक्तम् ब्रह्मवादिनो वदत्य कस्मात् सृत्या यातयामान्यन्यानि हवींष्ययातयाममाज्यमिति। प्रजापत्यमिति ब्रूयादयातयामो हि देवानां प्रजापति रितीति चरुपुरोडाशादीन्यचिरावस्थानेन यातयामानि गतसाराणि आज्यं तु न तथा तत्र हेतुः प्रजापतिदेवताकत्वमित्यर्थः। देवयजनं देवानुद्दिश्ययागसाधनम् ईदृशस्त्वमतस्त्वां गृह्णामीति शेषः।

श्रुति कह रही है कि 'घृतं खलु वैदेवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्' । वज्र का घर्षण करना शक्य न होने से 'आज्य' भी अनाधृष्ट है। उक्त मन्त्र से ग्रहण में जो विशेष कहा गया है, वह स्पष्ट ही है। तस्मात् श्रुति और सूत्र से सम्मत यह मन्त्र है। हे आज्य ! तुम तेजोरूप हो, कभी नष्ट होने वाली शरीरकान्ति के हेतु रहने से तुम 'तेज' हो। तुम 'शुक्र' अर्थात् दीप्तिमान् हो, अर्थात् स्निग्धरूप होने से तुम में दीप्तिमत्त्व है। तुम 'अमृत' अर्थात् विनाशरहित हो, क्योंकि अधिक दिनों तक तुहें रखने पर भी 'ओदन' आदि की तरह तुम में पर्युषितत्वादि दोष नहीं पैदा होता, इसलिये तुम में औपचारिक अविनाशित्व कहा गया है। अथवा परम्परया अमृत (अविनाशी) यागफल के हेतु रहने से तुम्हें अविनाशी कहा जाता है।

हे आज्य ! तुम 'धाम' अर्थात् स्थानरूप हो। क्योंकि 'धीयते स्थाप्यते अत्र इति धाम'—स्थापन किया जाता है जहां पर उसे 'धाम' कहते हैं, यह 'धाम' शब्द की व्युत्पत्ति है। अथवा यागफलोपभोगस्थान की प्राप्ति कराने में हेतुभूत होने से तुम्हें 'धाम कहा गया है। 'आज्य' को 'नाम' भी कहते हैं, क्योंकि वह सभी भूतों (प्राणियों) को अपनी ओर नमाता है, अर्थात् झुकाता (प्रणत करना) है, इसलिये 'आज्य' को 'नाम' कहा गया है, यह आज्य देवताओं को प्रिय है। उसकी प्रियता को तित्तिरि ने बताया है—'प्रजापति र्देवेभ्यो यज्ञान्यादिशत्०' इत्यादि। जब प्रजापति ने यज्ञहवियों को विभक्त करके देवताओं के लिये दिया, तब उन्होंने उस आज्य हवि को स्वकीय मानकर उसका स्वीकार किया। अर्थात् उस आज्य को देखकर देवगण कहने लगे कि यज्ञ में सारभूत हवि तो आज्य ही है, हमारा भाग (हिस्सा) आज्य में ही रहे, यह चाहने लगे। यह जो 'आज्य' है, वह अनाधृष्ट है, क्योंकि गतसारत्व (सारहीनता) आदि दोष से कभी भी वह तिरस्कृत नहीं किया जाता। इस अभिप्राय को भी तित्तरि ने प्रश्नोत्तर के माध्यम से स्पष्ट किया है—'ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्मात् सृत्या०' चरु पुरोडाश आदि को चिरकालतक रखनेपर यातयाम (सारहीन) हो जाते हैं, किन्तु आज्य वैसा (सारहीन) नहीं होता। क्योंकि वह प्रजापति देवता का है। देवगणों में 'प्रजापति' अयातयाम रहता है। तुम देवयजन हो, अर्थात् देवताओं को उद्देश्यकर याग करने के साधनस्वरूप हो, इन विशेषताओं से पूर्ण रहने वाले तुम्हारा मैं ग्रहण करता हूँ।

अनुष्ठान का प्रकार यह है—प्रणीता और आह्वनीय के बीच में प्रोक्षणीपात्र के रख देने पर 'शर्मासि' मन्त्र से अध्वर्यु कृष्णाजिन को अपने हाथ से उठाता है। तदन्तर स्थापित यज्ञपात्रों से दूर जाकर अर्थात् उत्कर देश पर जाकर 'अवधूत ७ं रक्षः' मन्त्र से कृष्णाजिन को झार देता है यानी फटकारता है अर्थात् उसमें लगी धूल आदि

अनुष्ठानप्रकारस्तु-ततोऽध्वर्यु: शर्मासीति मन्त्रेण कृष्णाजिनं हस्तेन गृह्णाति। तत आसादितपात्रेभ्य: परतो गत्वा कृष्णाजिनमवधूनोति "अवधूत ७ं रक्ष" इतिमन्त्रेण, उदकोपस्पर्शनम् तत उत्तरेण गार्हपत्यमुत्करदेशे प्रत्यग्ग्रीवं कृष्णाजिनमास्तृणाति "अदित्यास्त्वगसी" तिमन्त्रेण द्वाभ्यांहस्ताभ्यां विस्तारयति सव्येन हस्तेनाविमुक्तेन कृष्णाजिने दक्षिणेन हस्तेनोलूखलमाहृत्य कृष्णाजिनस्योपरिनिदधाति आहरासि वानस्पत्य इति मन्त्रेण 'ग्रावासि पृथुबुध्न'इतिमन्त्रेण-वा प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति-उभयोर्मन्त्रयो: शेष: कार्य:। तत: शूर्पे पृथक् स्थापितं हविर्द्वयं मिश्रीकृत्य सव्येनाविमुक्तेनोलूखलमध्ये अग्नेस्तनूरिति मन्त्रेण शूर्पेणैव हविरावपति। ततोऽध्वर्युर्यजमान योर्वाग्विसर्ग:। ततोऽध्वर्युर्बृहद्ग्रावेतिमन्त्रेण मुसलं हस्तेन गृह्णाति। तत: स्वयमेवकण्डने प्रवृत्त: कण्डनं कुर्वन्नेव हविष्कृदेहीति त्रिर्हवि: कण्डनकर्त्रीं पत्नीमाग्नीध्रं वाह्वयति। अत्रवातयोर्वाग्विसर्ग:। यदाध्वर्युर्हविष्कृदाह्वानं करोति तदानीमेवाग्नीध्र: कुक्कुटोऽसीति मन्त्रेण शम्ययाद्विदृषदं कुट्टयति मनन्त्रावृत्त्या, उपलां तेनैवैकवारम्। तदनन्तरं पत्नी आग्नीध्रोवाकण्डनं करोति। वितुथेषुव्रीहिषु "वर्षवृद्धमि" ति मन्त्रेणाध्वर्युर्हस्तेनशूर्पं गृह्णाति। तत: प्रतित्वावर्षवृद्धमिति मन्त्रेण कण्डितं हविरुलूखलान्निष्काश्य तूष्णीं शूर्पे निदधाति। तत: परापूतमितिमन्त्रेण शूर्पेणनिष्पुनाति। तुषान् पृथक्करोति। ततोऽप उपस्पृश्य "वायुर्व" इति मन्त्रेण तण्डुलानकण्डितान् व्रीहींश्च विविनक्ति तत: कण्डितान्निधाय अकाण्डितान् पुनरुलूखले निक्षिप्य कण्डनं कृत्वा पुनर्निष्काश्य शूर्पे कृत्वा तुषान् पृथक्कुर्यात्। तत: सर्वान् "अपहत ७ं रक्ष" इतिमन्त्रेणोत्करदेशे निरस्येत्। उदकस्पर्श:। तत: शूर्पस्थांस्तण्डुलान् पात्र्यां प्रक्षिप्य देवोव: सवितेत्यभिमन्त्रयते। तण्डुलाननामिकाग्रेण स्पृशन् विलोकयन् मन्त्रं पठतीत्यर्थ:।

को कृष्णाजिन को कम्पित करके उत्कर में गिराता है। तदन्तर उदकोपस्पर्श यानी आचमन करके गार्हपत्य के उत्तर की ओर उत्कर देश में प्रतीची (पश्चिम) दिशा की ओर जिसकी ग्रीवा है, अर्थात् प्रत्यग् ग्रीव किये हुए कृष्णाजिन को 'आदित्यास्त्वगसि०' मन्त्र से वह अध्वर्यु बिछाता है। दोनों हाथों से उसे फैलाता है, वाम (बाँये) हाथ से कृष्णाजिन स्पर्श किये हुए ही दक्षिण (सीधे) हाथ से उलूखल को लेकर (उठाकर) 'अद्रिरसि०' अथवा 'ग्रावाऽसि' मन्त्र से स्थापित करता है। उक्त दोनों मन्त्रों में 'प्रतित्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्तु' को जोड़ देना चाहिये। तदनन्तर शूर्प में अलग-अलग रखे हुए दोनों हवियों को एक-दूसरे से मिलाकर। (मिश्रणकर) बाये हाथ से थामे हुए शूर्प से ही हवि: प्रक्षेप उलूखल में 'अग्नेस्त नू:' मन्त्र से करे। उलूखल में हवि: प्रक्षेप करने के बाद अथवा हविष्कृदाह्वा न के समय अध्वर्यु और यजमान दोनों अपना वाग् विसर्ग यानी मौन खोल दें। तदन्तर अध्वर्यु 'बृहद्ग्रावासि' मन्त्र से मुसल को हाथ से उठा ले, और स्वयं ही कण्डन-करने के लिये प्रवृत्त होकर अर्थात् कण्डन करते हुए ही—'हविष्कृदेहि' इस मन्त्र से तीन बार (त्रिवार). हवि:कण्डन करने वाली पत्नी को अथवा हविष्कर्ता आग्नीध्र को बुलावे। जब अध्वर्यु हविष्कृत् का आह्वान करता है, उसी समय आग्नीध्र 'कुक्कुयेक्कुऽसि' मन्त्र को दो बार कहकर शम्या से दृषद् पर दो बार और उपला पर एक बार मन्त्र बोलकर आघात करे। तदन्तर पत्नी अथवा आग्नीध्र कण्डन करता है। व्रीहियाँ के तुष-रहित होने पर 'वर्षवृद्धिम्०' मन्त्र कहकर हाथ में शूर्प लेता है। तदनन्तर 'प्रति त्वा वर्षवृद्धम्' मन्त्र को बोलकर कण्डित हुए हवि को उलूखल से निकालकर शूर्प में चुपचाप (मन्त्ररहित) रखता है। उसके बाद 'परापूतम्०' मन्त्र बोलकर शूर्प से कण्डित व्रीहियों को पखाड़ता है। तुषों को व्रीहियों से अलग करता है। पश्चात् जलस्पर्श (आचमन) करके 'वायुर्व०' मन्त्र कहकर अकण्डित तण्डुलों को और व्रीहियों को अलग-अलग करता है। तब कण्डित चावलों को रखकर और अकण्डितों को पुन: उलूखल में डालकर और उन्हें कण्डितकर पुन: निकालकर सूप में रखकर तुषों को पृथक् करे। तदनन्तर सम्पूर्ण तुषों को ' अपहत ७ं रक्ष:' मन्त्र बोलकर उत्कर देश में डाल दे। और जलस्पर्श (आचमन) करे। उसके पश्चात् शूर्पस्थित तण्डुलों को पात्री में उलट कर 'देवो व: सविता०' मन्त्र से उन्हें अभि-मन्त्रित करे। अर्थात् तण्डुलों को अनामिका के अग्रभाग से स्पर्श करते हुए और उनकी ओर देखते हुए मन्त्र पढ़े।

तदनन्तर तीन बार फलीकरण करना चाहिये, अर्थात् तीनबार कण्डन करके सूक्ष्म कणों को उनसे पृथक् कर उन्हें उज्ज्वल (निर्मल) करे। पहले उलूखल में हवि को डालकर, उसको कूटकर, फिर उसे निकालकर, रूप से

ततस्त्रिः फलीकरोति त्रिःकण्डने सूक्ष्मकणिकाभ्यो वियोज्योज्ज्वलान् करोति पूर्वमुलूखले हविरूप्य कण्डयित्वा निष्काश्य सर्वाणि निष्पूय कणान्निदधाति। एवमेववारत्रयं फलीकरणं कणनिधानञ्च कर्त्तव्यम्। ततः पेषणोपधाने सहभवतः। एकस्य युगपदुभयकर्तृत्वासम्भवेनाध्वर्युः पेषणंकरोति। अग्नीच्च कपालोपधानं प्रथमं कपालानि प्रक्षालयति गार्हपत्यस्य पश्चादुपविश्य 'धृष्टिरसी'ति मन्त्रेणोपवेषं हस्तेन गृह्णाति। ततोऽग्नेऽग्निमिति मन्त्रेणोपवेषेण श्रपणस्याङ्गारान् स्वस्थानात्प्राच्यां प्रेरयति खरमध्य एव यथाङ्गारस्थानेऽतितप्तभूमौ कपालान्युपधीयन्ते। ततो यज्ञमित्युपवेषेणैव प्राक्प्रेरिताङ्गारमध्यात् एकं गार्हपत्यस्य पश्चाद्भागे दक्षिण पुरोडाशस्थानस्य मध्ये आनयति। ततोध्रुवमसीत्यनेन-मन्त्रेण तस्यानीतस्याङ्गारस्योपर्युत्तानं मध्यमं कपालमुपदधाति तत्राभिचारं कुर्वन् भ्रातृव्यस्य वधायेत्यत्र भ्रातृव्यस्येति पदस्य स्थाने अमुकस्य वधायेति शत्रोर्नाम गृह्णीयात्। तदोदकस्पर्शः। अभिचारबुद्ध्यभावे उदकस्पर्शाभावः। ततः सव्यहस्तस्यांगुल्याऽशून्ये स्पृष्टे मध्यमकपाले एकमङ्गारं दधाति अग्नेब्रह्मेति। ततारुणमसीति मन्त्रेण मध्यमकपालस्य

पखाड़कर किसी पात्र में कणों को रखे। इसी प्रकार तीन बार फलीकरण और कणनिधान करे। अर्थात् तूष्णीं (बिना मन्त्र पढ़े) तीन बार कण्डन, सूर्पादान, हविरुद्वपन, निष्पवन, विवेकीकरण, और कणनिधान करे। फलीकरण से यह तात्पर्य है कि हविष्करण, कण्डन, उद्वाप, निष्पवन, विवेचन, कणनिष्काशन करे। तदनन्तर पेषण और उपधान का युगपत् अनुष्ठान किया जाता है। अर्थात् तण्डुल का पेषण और कपालों का उपधान एक ही समय में एक साथ ही करना चाहिये। उसमें भी अन्तरंग होने से पेषण अध्वर्यु करे, और बहिरंग होने से कपालोपधान अग्नीत् करे। क्योंकि एक ही समय में और एक साथ दो कार्यों को एक व्यक्ति नहीं कर सकता। प्रथमतः कपालों का प्रक्षालन करता हैं, गार्हपत्य के पश्चात् भाग में बैठकर 'धृष्टिरसि०' मन्त्र से 'उपवेष' को हाथ से उठाता है। अङ्गार को सरकाने में समर्थ, हाथ के आकार वाले काष्ठविशेष को उपवेष' कहते हैं। हाथ में 'उपवेष' को लिया हुआ अग्नीत् उस उपवेष से गार्हपत्यखर में स्थित अपर भागीय अङ्गारों को खर के पूर्वभाग में 'अपाग्ने अग्निम्०' मन्त्र कहकर प्रेरित करे अर्थात् खिसकावे। खर में ही अङ्गार स्थान की अत्यन्त तप्त भूमि पर कपालों को रखा जाता है। तदनन्तर 'आदेवयजंवह' मन्त्र से पूर्व दिशा में खिसकाये हुए अङ्गारोंमें से वे एक अङ्गार को गार्हपत्य के पश्चिम भाग में दक्षिण पुरोडाश श्रपण करने की जगह उपवेष से लाकर स्थापित करे, और उस लायंहुवे अङ्गार के ऊपर 'ध्रुवमसि०' मन्त्र से मध्यम कपाल को रखे। उस समय यदि अभिचार करने की इच्छा हो ता 'ध्रुवमसि०' मन्त्र में वैरिवाचक 'भ्रातृव्य' शब्द के स्थान में षष्ठयन्त शत्रु (वैरी) के नाम का उच्चारण करे। अर्थात् 'भातृव्यस्य वधाय' में 'भ्रातृव्यस्य' पद के स्थान में 'अमुकस्य वधाय' इस प्रकार शत्रु के नाम को ले। तदनन्तर उदक (जल) स्पर्श (आचमन) करे। अभिचार की इच्छा न हो तो उदकस्पर्श करने की आवश्यकता नहीं है। वैरिमरणानुकूल व्यापार को 'अभिचार' कहते हैं। सव्य (बाँये) हाथ की अंगुली से स्पर्श किये हुए मध्यम कपालपर 'अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व' मन्त्र बोलकर एक अङ्गार को रखे। यह अङ्गारनिधान कपाल का संस्कार है, अतः प्रत्येक कपाल के लिये उसे पुनः करना चाहिये। तदनन्तर 'धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह ब्रह्म०' मन्त्र बोलकर मध्यम कपाल के पश्चात् भाग में द्वितीय कपाल को पहले रखे हुए कपाल से सटाकर रखे। तदनन्तर 'धर्वमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मव०' मन्त्र से मध्यम कपाल के पूर्वभाग में तृतीय कपाल को उससे सटाकर रखे। उसके बाद 'विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि' मन्त्र से प्रथम कपाल के दक्षिणभाग में उससे संश्लिष्टकर चतुर्थ कपाल को रखे। उसके बाद 'चितस्थोर्ध्वचितः' मन्त्र बोलकर चतुर्थ कपाल के पूर्वभाग में पञ्चम कपाल को और चतुर्थ कपाल के ऊपर (पश्चिम) भाग में षष्ठ कपाल को तथा चतुर्थ कपाल के उत्तरभाग में दो कपालों को प्राक् संस्थ रखे। तात्पर्य यह है कि आठ कपालों में से चार को तो पहले हो रखा गया था, तदनन्तर अवशिष्ट चार रहे, तब उनका सम विभाग करके 'चितस्थेति' मन्त्र से दो दक्षिण भाग में और दो उत्तर भाग में प्रत्येक के साथ मन्त्र बोलकर प्रादक्षिण्येन उनका उपधान करे। अर्थात् एक को चतुर्थ से पूर्व और दूसरे को चतुर्थ से अपर में रखे। उसके बाद उत्तर की ओर पश्चात् भाग में एक और पूर्वभाग में द्वितीय (दूसरे) को रखे। अथवा चारों का उपधान करने के बाद अवशिष्ट जो चार बचे हैं, उन सभी कपालों का उपधान तूष्णीं ही करे, अर्थात्

पश्चात् द्वितीयं कपालमुपदधाति मध्यमकपालस्य पुरस्तात् तृतीयं कपालमुपदधाति धर्त्रमसीति मन्त्रेण। ;ततो 'विश्वाभ्य' इति मन्त्रेण मध्यमकपालस्य दक्षिणतश्चतुर्थं कपालमुपदधाति। ततश्चित: स्थेति चतुर्थात् पूर्वं पञ्चमं चतुर्थादपरं षष्ठं उत्तरतोद्वे प्राक्संस्थे पञ्चमप्रभृतीनां सर्वेषां चित: स्थेत्युपधानमन्त्र:। तूष्णीं वा पञ्चमादीनामुपधानम्। एवमेकादश-कपालानि अग्नीषोमीयस्योपदधाति तैरेवमन्त्रै:। तत्रैवं पूर्वं मध्यमं तत: पश्चात् द्वितीयं तत: पुरस्तात् तृतीयं मध्यमात् दक्षिणं चतुर्थं चतुर्थात्पूर्वमेकस्य कपालस्यान्तरालं परिशिष्य पञ्चमं चतुर्थपञ्चमयोरन्तराले षष्ठं चतुर्थस्य पश्चात् सप्तमम् तस्य पश्चादष्टमम् सर्वेभ्य उत्तरतो नवमदशमैकादशानि प्राक्संस्थानि। ततोभृगूणामित्यनेन ज्वलद्भिरङ्गारै: सर्वाणि कपालान्याच्छादनीयानि। ततस्तदैवोपसर्जनीरग्नीदेव गार्हपत्येऽधिश्रयति। पिष्टसंयवनार्था आप उपसर्जन्य:।

अथ पेषणम्-तत्राध्वर्यु: शर्मासीति कृष्णाजिनमादाय अवधूतमिति पूर्ववद्धूनोति। ततोऽप उपस्पृश्य प्रत्यग्ग्रीव-मदित्या इत्यास्तीर्य सर्वस्तेनाविमुक्ते कृष्णाजिने दक्षिणेन हस्तेन प्रागग्र दृषदं कृष्णाजिनस्योपरि निदधाति धिषणा-सीति। १।१२ ततोदिव: स्कम्भनीरिति १।११ दृषद: पश्चाद्भागे अधस्तादुदगग्रां शम्यां प्रेरयति। यथा दृषद: प्राचीन-प्रवणता ज्ञायते ततोधिषणासि पार्वतेयीत्युपलां १।१० दृषद उदगग्रामुपदधाति। ततोधान्यमसीति १।२० दृषदि तण्डुला-नोप्य प्राणायत्वेति १।२० प्रतिमन्त्रं पिनष्टि। पिष्यमाणेषु तण्डुलेषु कपालेषु भृगूणामिति ताप्यमानेषु यजमानो मही-नामिति १।२० पात्रान्तरादाज्यमाज्यस्थाल्यां प्रक्षिपति। ततो वेदोऽसीतिमन्त्रेण वेदं करोति तत्र पशुकामो यजमान: प्रदक्षिणवृत्तं वत्सजानुसदृशं प्रादेशमात्रं वेदं करोति ब्रह्मवर्चसकामास्त्रिवृतं मूताकारं करोति। मूतस्तृणपत्रादिनिर्मित-धान्यावपनस्थानम्। कामाभावेऽपि त एव वेदस्याकारा भवन्ति निष्कामस्याकारान्तरानुपदेशात्। ततोऽध्वर्युर्दीर्घानु-प्रसितिमिति १।२० दृषद उपरि वर्तमानानि पिष्टानि कृष्णाजिने प्रोहति। ततश्चक्षुषेत्वेति कृष्णाजिने पतितान पिष्टानि विलोकयति। तत पवित्रे पात्र्यां कृत्वा कृष्णाजिनात् पिष्टान्यादाय सपवित्रायां पात्र्यामावपति। कृष्णाजिन-मुत्पाद्य तेनैवावपेदिति हरिस्वामिन:। देवस्य त्वेति संवपामीत्यन्तेन मन्त्रेण संवाप:। तत उत्थाय गार्हपत्यस्य पश्चा

'चितस्थेति' मन्त्र को न कहे। अग्नोषोमीय पुरोडाश के एकादश कपालों का उपधान भी इसी प्रकार से करना है। अर्थात् अष्टाकपालोपधान के समान ही चारों का मन्त्र से और अवशिष्ट सातों का तूष्णीं उपधान करना है। उसका प्रकार यह है प्रथमत: मध्यम कपाल, उसके पश्चात् द्वितीय कपाल, और पुरस्तात् तृतीयकाल, तथा मध्यम के दक्षिण से चतुर्थकपाल, चतुर्थ से पूर्व एक कपाल के अन्तराल को छोड़कर पञ्चम को और चतुर्थ पञ्चम के अन्तराल में षष्ठ को तथा चतुर्थ के पश्चात् सप्तम्, उसके पश्चात् अष्टम और उसके उत्तरभाग में नवम, दशम और एकादश कपालों को प्राक्संस्थ रखना चाहिये। एकादश कपालोपधान में विशेषता यह है—अष्टाकपालोपधान की तरह चार कपालों का उपधान करने के बाद अवशिष्ट सात कपालों को सम विभक्त करनेके समय जिस अधिक सप्तम कपाल का विभाग नहीं कर पाते हैं, उस सप्तम कपालका उपधान दक्षिण भागमें करदेना चाहिये। अर्थात् चार कपालोंका उपधान करनेके बाद दक्षिण भागमें चार कपाल होते हैं,और तीन कपाल उत्तरभागमें रखे जाते हैं। इस रीतिसे एकादश कपालों का उपधान किया जाता है। इस प्रकार उपहित किये गये कपालों को 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' मन्त्र बोल-कर अङ्गारों से तपाना चाहिये। अर्थात् अङ्गारों से कपालों को आच्छादित कर देना चाहिये (ढक देना चाहिये)। जहाँ एक कपाल हो वहाँ मन्त्र में 'तप्यस्व' और जहाँ दो कपाल हों, वहाँ 'तप्येथाम्' इस प्रकार से ऊह किया जाता है। तदनन्तर उसी समय अग्नीत् संज्ञक ऋत्विज् उपसर्जनी को गार्हपत्य पर चढ़ाता (अधिश्रित करता) है। पिष्ट संयवनार्थ (चावल का आटा माँड़ने के लिये) जो जल होता है, उसे 'उपसर्जनी' कहते हैं। उपसर्जनी का गार्हपत्य पर अधिश्रयण और पेषण दोनों का समान काल है। अत: पेषणकार्य में अध्वर्यु के व्यापृत होने से उपसर्जना का अधिश्रयण आग्नीध्र को करना पड़ता है। चर्विष्टि आदि में जहाँ पेषण नहीं है, वहाँ उपसर्जनी का अधिश्रयण अध्वर्यु ही करता है।

अब पेषण का प्रकार बताते हैं—अध्वर्यु 'शर्मासीति' मन्त्र बोलकर कृष्णाजिन को उठाता है और 'अवधूत-मिति' मन्त्र से उसे झटकारता है। तदन्तर जलस्पर्श करता है। तदनन्तर उसे प्रत्यग् ग्रीव करके (पश्चिम की

दुपविशति वेदिमध्येवा। तत आग्नीध्रः स्फ्यं सव्यहस्ते गृहीत्वोपासर्जनीरुद्वास्याध्वर्योर्दक्षिणेनानीय पिष्टानामुपरि धृतस्य सपवित्रस्याध्वर्योर्हस्तस्योपरिनिनयति। ततोऽध्वर्युरग्नीधा निनीयमाना उपसर्जनीर्दक्षिणहस्तधृताभ्यां पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति समाप ओषधीभिरिति। अग्नीधा च तथा निनयनं कार्यं यथाध्वर्योर्मन्त्रान्ते ग्रहणं सम्पद्येत। जनयत्यैत्वेति १।२१ मन्त्रेणोदकं पिष्टानि संयौति। समं विभज्य द्वौपिण्डौ कृत्वा पात्र्यामुदक्संस्थौ निधाय क्रमेणालभते इदमग्नेरिति १।२२ प्रथमं इदमग्नीषोमीयमिति द्वितीयम्। ततोऽग्नीद्वेदं सव्यहस्ते गृहीत्वा इषेत्वेति १।२२ दक्षिणत आज्यमधिश्रयति। अध्वर्युः सहैवाष्टासु कपालेषु प्रथमंपुरोडाशमधिश्रयति धर्मोऽसीति। स्फ्योपग्रहेण तत एकादशसु द्वितीयं पुरोडाशमधिश्रयति धर्मोसीति सतउरुप्रथा-इति यावत्कपालं पुरोडाशं प्रथयति ; अतिपृथुं न कुर्यात्, एवमेव द्वितीयम्। ततोऽग्निष्टे त्वचमिति मन्त्रेण पुरोडाशमद्भिरभिमृशति सकृद्वात्रिर्वा मन्त्रः सकृदेव। एवं द्वितीयमपि श्लक्ष्णयति प्रथमे क्रियमाणे यत्र क्वचनविदीर्णं तत्सन्दधाति। ततः पात्र्यामंगुलीनां प्रक्षालनम्। ततोगार्हपत्यादङ्गारमानीयान्तरितं ऽ रक्ष इति पर्यग्निकरणम्। आज्यस्थाली पुरोडाशान् परितः प्रदक्षिणमङ्गारं परिहति। ततोऽङ्गारं गार्हपत्ये प्रक्षिप्य हस्तस्याप्रादक्षिण्येनानयनम्। उदकस्पर्शः। ततोदेवास्त्वेति मन्त्रेण ज्वलद्भिर्दर्भतृणैः प्रथमं पुरोडाशं श्रपयति। एवमेव-द्वितीयम्। ततः शृताशृतज्ञानाय माभेर्मा संविक्था इति १।२३ क्रमेण द्वौ पुरोडाशावालम्भते। अशृतौचेत् पुनः श्रपण प्रक्षेपः। शृतौचेत् अतमेरुरिति मन्त्रेण वेदेनोपवेषेण वा तप्ततरेणाङ्गारमिश्रेण भस्मनाच्छादयति। ततः पात्र्यंगुलि प्रक्षालनजलं पात्रोस्थमेव गार्हपत्यादीप्तैस्तृणैर्ज्वलद्भिस्तापयित्वा विहारस्योत्तरतः स्फ्येन तिस्रोलेखाः प्राक्संस्थाः कृत्वा परस्परं संसर्गमप्राप्नुवत् त्रिताायाश्यायत्वेति प्रतिमन्त्रं निनयति इदं द्वितीयाध्याय त्वा इदमेकतायाद्यायेति-त्रयभ्यागा।

तरफ उसकी ग्रीवा करके) 'अदित्या इति' मन्त्र से उसे विछाता है और सव्य (बाँये) हाथ से उसे स्पर्शकर (उसे पकड़े हुए) दक्षिण (दाहिने) हाथ से दृषद (सिल) के प्रागग्र करके 'धिषणाऽसि' मन्त्र बोलकर कृष्णाजिन पर उसे रखे। इस प्रकार कृष्णाजिन पर शिला रखने के बाद 'दिव स्कम्भनीरसि' मन्त्र बोलकर उस दृषद् (शिला) के पश्चात् भाग में (दृषद् के अधोभाग में) द्वादशाङ्गुलवाली उदगग्र शम्या को अध्वर्यु रखे। इस प्रकार शम्या को दृषद् के नीचे लगाने से वह शिला पश्चात् भाग से उँची और अगले भाग से निम्न (नीची) हो जाती है। तदनन्तर पेषण करने के लिये 'धिषणाऽसि' मन्त्र से दृषद् (शिला के ऊपर उपला (शिलापुत्रक) को उदगग्र स्थापित करे। उसके बाद 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' मन्त्र बोलकर शिलापर तण्डुलों को उड़ेलकर 'प्राणायत्वा' इत्यादि प्रत्येक मन्त्र से पेषण करना चाहिये। उक्त पेषण मन्त्रों में 'पिनष्मि' का अध्याहार किया जाता है। अर्थात् 'प्राणाय त्वा पिनष्मि, उदानाय त्वा पिनष्मि, व्यानाय त्वा पिनष्मि' कहना होगा। उसी तरह 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' में भी 'देवम्,' 'देवौ' इस प्रकार जहां जैसी आवश्यकता हो उस प्रकार विकृति में ऊह करते हैं। पितृयज्ञ में 'पितॄन्' ऐसा ऊह किया जाता है। तण्डुलों के पीसे जाने पर और 'भृगूणामिति' मन्त्र से कपालों के तपाये जाने पर ब्रह्मा 'महीनां पयोऽसि' मन्त्र कहकर पात्रान्तर से आज्यस्थाली में आज्य उड़ेलता है। तदनन्तर 'वेदोऽसि' मन्त्र कहकर 'वेद' बनाता है। यदि यजमान पशु काम हो तो प्रदक्षिणवृत्त वत्सजानु के आकार का प्रादेश परिणाम वाला वेद वनावे। यदि ब्रह्म-वर्चसकाम हो तो त्रिवृत मूताकार वनावे। तृण-पत्र आदि से निर्मित धान्यावपन स्थान की 'मूत' कहते हैं। यजमान यदि निष्काम हो तव भी वेद को उन्हीं आकारों में बनाना चाहिये। क्योंकि निष्काम के लिये किसी अन्य आकार का विधान नहीं किया गया है। उसके अनन्तर अध्वर्यु 'दीर्घामनु प्रसितिम्०' मन्त्र कहकर दृषद् पर विद्यमान पिष्ट को कृष्णाजिन पर गिरा दे।

कृष्णाजिन पर गिरायेगये पिष्ट को 'चक्षुषे त्वा ईक्षे' मन्त्र कहकर देखे। यहां हर 'चक्षुषे त्वा' मन्त्र में 'ईक्षे' का अध्याहार किया जाता है। चर्विष्टि में तण्डुलों का भी ईक्षण किया जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु प्रोक्षणी-पात्र से दोनों पवित्रों को लेकर इडा पात्री में उन्हें उदगग्र रखकर उस सपवित्रक इडापात्री में कृष्णाजिनपर स्थित पिष्ट को 'देवस्य त्वा' मन्त्र कहकर कृष्णाजिन से ही डालता है। इडापत्री में पिष्ट का जो आवपन (डालना)

तदुक्तम्—'आदौ द्रव्यपरित्यागः पश्चाद्धोमो विधीयते । प्रयोगमिदमिन्द्राय नममेति यथार्थतः । अवत्तं तु त्यजेदन्नं मनसा वचसापि च । ततश्च प्रक्षिपेदग्नाविति धर्मः सनातनः ॥' प्रणवपूर्वकः त्यागः कार्यः । चतुर्णामृत्विजां तृप्तिपर्यन्तभोजनसमर्थं दक्षिणाग्नावधिश्रयति । श्रपणार्थंमत्रावसरे ग्रहणम् ततो वेदिमानम् प्रथमं पश्चात्तिर्यग्व्यामात्रीं मिमीते चतुर्भिररत्निभिर्व्यामो भवति । ततो मध्ये त्र्यरत्निं प्राचीं मिमीते । ततः पुरस्तात् त्र्यरत्निं मिमीते वरुणप्रघासेषु त्रयः पुरस्तादिति ५।३।१३ पुरस्तात् माने त्र्यरत्निदर्शनाच्च । ततः श्रोण्योरारभ्य दक्षिण उत्तरतश्च वेदिं मध्यसङ्गृहीतां कुर्यात् । ततोऽग्निमभितो सौत्रं कुर्यात् ततोऽग्नीद्वेदेः परिसमूहनं कृत्वा गार्हपत्याहवनीययोरन्तरालस्योत्तरपूर्वं तृतीये उत्करं तृणधूल्यादिराशिं करोति । ततोऽध्वर्युर्देवस्य त्वा आददेऽध्वरकृतमिति ।१२४ मन्त्रेणासादिततृणसहितस्फ्यमादाय सव्ये हस्ते कृत्वा सतृणं स्फ्यं निधाय दक्षिणेन हस्तेनालभ्येन्द्रस्य बाहुरिति स्वरेण जपति । अत्र हस्तमार्जनेन स्फ्यस्य तीक्ष्णीकरणम् । स ७ॅं श्यत्वेवैनमेनदिति (१।२।४।७) श्रुतेः । तेन वज्रेण स्तम्बयजुर्हरणादर्वाक् पृथिव्यात्मनोः स्पर्शो न कार्यः । अभिचरतोद्विषत इति स्थाने अमुष्य शत्रोर्नाम गृह्णीयात् । उदकोपस्पर्शः । तदभावे तदभावः । ततः "पृथिव्यै वर्मासी" तिमन्त्रेण तं तृणं वेद्यामुदगग्रं निदधाति । पृथिवि देवयजनी १।२५ तिमन्त्रेण तृणस्याधस्तात् भुवि स्फ्येन प्रहरति । ततो व्रजं गच्छेति प्रहरणेनोत्खातं पुरीषं पांसुहस्तेन गृह्णाति । ततो वर्षतुत इति प्रहरणदेशे प्रेक्षते । ततो वधान देवेतितद्गृहीतं पुरीषमुत्करे प्रक्षिपति । अत्राप्यभिचारतो नामौगित्यत्र तमिति

किया जा रहा है, वह संयवन के लिये किया जा रहा है। अतः चर्विष्टि में संयवन के न होने से तण्डुलों को इडापात्री में नहीं डाला जाता, तथापि पवित्रों को प्रोक्षणी से निकाल कर इडापात्री में अदृष्टार्थ रखा जाता है। वहाँ से उठकर गार्हपत्य के पश्चात् भाग में अथवा वेदी में बैठता है। तदनन्तर आग्नीध्र अपने वाम हस्त में 'स्फ्य' को लेकर और तपी हुई उपसर्जनी (जल) को गार्हपत्य से उठाकर उसे अध्वर्यु के दक्षिण भाग से लाकर पिष्ट के ऊपर रखे हुए अध्वर्यु के सपवित्र हाथ पर डालता है। आग्नीध्र के द्वारा समानीत उपसर्जनी को दक्षिण हाथ से धारण किए हुए दो पवित्रों से 'समापऽओषधीभिः' मन्त्र कहने के बाद अध्वर्यु लेता है। उपसर्जनी का आनयन चरु में भी होता है, क्योंकि वहाँ भी उदक की आवश्यकता रहती है। गृहमेधीयादि इष्टि में 'समाप' के स्थान पर 'सम्पय'—ऐसा विपरिणाम किया जाता है। उसी प्रकार जहाँ दधि और घृत हो वहाँ पर भी विपरिणाम समझ लेना चाहिये। आग्नीध्र को उसी प्रकार निनयन करना चाहिये, जिससे मन्त्र समाप्त होने पर अध्वर्यु उस जल (उपसर्जनी) को ले सके। 'जनयत्यै त्वा०' मन्त्र बोलकर उदक और पिष्ट दोनों को मिश्रित करे। तब जल से मिश्रित किये पिष्ट के दो समान विभाग करके उन से दो पिण्ड तयार करे। और उन्हें इडापात्री में उदक् संस्थ रखकर क्रम से दो मन्त्र बोलकर दो पिण्डों का स्पर्श करे। अर्थात् 'इदमग्नेः' मन्त्र कहकर प्रथम पिण्ड को और 'इदमग्नीषोमीयम्०' मन्त्र कहकर द्वितीय पिण्ड को स्पर्श करे। यह आलंभ (स्पर्श) देवता निर्देशरूप दृष्टप्रयोजन के लिये है। अतः जहां देवता अधिक हों, वहीं पर तत्तद्देवताओं का निर्देश करने के लिये विभाग और आलम्भन की आवश्यकता है, इस कारण जहाँ एक ही देवता हो वहाँ न विभाग किया जाता है और न देवतानिर्देश ही किया जाता है। देवतानिर्देश करने के बाद ब्रह्मा (आग्नीध्र वाम हस्त में वेद को लेकर) 'इषेत्वाऽधिश्रयामि०' मन्त्र कहकर गार्हपत्य के दक्षिण भाग में आज्य का अधिश्रयण करे। यहां पर 'इषे त्वा०' ये मन्त्र पद साकांक्ष रहने से 'अधिश्रयामि' का अध्याहार किया जाता है। श्रौतसूत्र कार ने आज्याधिश्रयण का कर्ता 'अन्य' शब्द से बताया है। अतः ऋत्विजों में से वह अन्य 'ब्रह्मा' ही होगा, क्योंकि अध्वर्यु पुरोडाशाधिश्रयण में व्यापृत है। जब अध्वर्यु किसी विहित कार्य में व्यापृत न हो तब (विकृतीष्टि में) वह स्वयं ही आज्याधिश्रयण करे। अध्वर्यु और आग्नीध्र दोनों एकसाथ ही 'धर्मोऽसीति' मन्त्र बोलकर आग्नेय अग्नीषोमीय पुरोडाशों का अधिश्रयण करते है। उनमें अध्वर्यु आग्नेय पुरोडाश का और अग्नीत्, अग्नीषोमीय पुरोडाश का अधिश्रयण करता है। वह हविष्कवाली इष्टि में अन्य ऋत्विज् भी अधिश्रयण कर सकते हैं। अध्वर्यु और अग्नीत् अपने-अपने आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाशों का प्रथन करते हैं। अर्थात् 'उरु-प्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्'मन्त्र बोलकर कपालका जितना परिमाण हो उतना ही प्रथन अधिश्रित पुरोडाशका करे,

स्थानेऽमुकमिति शत्रुनाम गृह्णीयात् । उदकोपस्पर्शः । तदभावेऽभावः ततोऽपारुरुमिति १।२६ मन्त्रेण पूर्वप्रहृतादुत्तरत-स्तृणस्याधस्तात् स्फ्येन द्वितीयं प्रहरति । उदकस्पर्शः । मन्त्रस्यासुरत्वात् पूर्ववत्पुरीषादानवेदिप्रेक्षणपुरीषक्षेपणानि ततोऽग्नीत् स्फ्यं गृहीत्वा द्वाभ्यां पाणिभ्यामुत्करमभिन्यस्यति पाणिभ्यामुत्पीडयतीत्यर्थः ।

उदकोपस्पर्शः । "ततो द्रप्सत" (१।२६) इति मन्त्रेण द्वितीय प्रहृतादुत्तरतस्तृणस्याधस्तात् तृतीयं प्रहरति । अत्रापि पुरीषादानादीनि । ततस्तृतीयप्रहृतादुत्तरतस्तृणस्याधस्तात् तूष्णीं चतुर्थं प्रहरति । तूष्णीमेव सतृणं पुरीषा-दानम् । तूष्णीमेवोत्खातप्रदेशप्रक्षेपणं सतृणस्य पुरीषस्योत्करे प्रक्षेपस्तूष्णीमेव । ततो ब्रह्मन् पूर्वपरिग्रहं परिग्रहीष्या-मीति ब्रह्माणं पृच्छति । ततो ब्रह्मा बृहस्पते परिगृह्णीतेमं मन्त्रं धेहीत्यन्तमुपांशु पठित्वा ओम् परिगृहाणेत्युच्चैरध्वर्यु-मनुजानीते । ततोऽनुज्ञातोऽध्वर्युः स्फ्येन श्रोणेरारभ्य दक्षिणतो गायत्रेण त्वेति १।२७ वेदिं परिगृह्णाति । आहवनीय-खरपर्यन्तां रेखां करोति त्रैष्टुभेनेति दक्षिणश्रोणेरारभ्योत्तरश्रोणिं यावत् परिगृह्णाति । ततजागतेनेत्युत्तरश्रोणेरार-भ्योत्तरपार्श्वे परिगृह्णाति आहवनीयखरंयावत् । ततोवेद्यां प्रागायता उदक्संस्थास्तिस्रो लेखास्तूष्णीं स्फ्येन लिखित्वा हर त्रिरित्यग्नीधं प्रतिब्रूयात् । ततोऽग्नीत्ताभ्यो लेखाभ्यः पांसुमुद्धृत्योत्करे प्रक्षिप्य ता लेखाः संमृशेत् मार्जनेनस्फोट-येत् । ततोऽभ्रिमादाय प्रदक्षिणं सर्वतो वेदिं खनति त्र्यङ्गुलमू ओषधिमूलोच्छेदपर्यन्तं वा । अस्मिन् पक्षे ओषधीनां मूलोच्छेत्तवे इति प्रेषमध्वर्युरग्नीधं प्रति ब्रूयात् । स च प्रेषितो मूलोच्छेदपर्यन्तं खननं करोति । ततो ब्रह्मन् उत्तरं परिग्रहं परिग्रहीष्यामीति ब्रह्माणं पृच्छति । ब्रह्मा च पूर्ववत् बृहस्पते परिगृहाणेति पठित्वा ओम् परिगृहाणेति प्रस्तौति । ततः पूर्ववत् स्फ्येन दक्षिणपश्चिमोत्तरपार्श्वेषु वेदिं परिगृह्णाति सुक्ष्माचासीति दक्षिणतः । स्योनाचासीति पश्चात् ऊर्जस्वतीत्युत्तरतः । ततः स्फ्येन दक्षिणां दिशं प्रति वेदिपुरीषमुदुह्य पुरा क्रूरस्येति १।२८ मन्त्रेणानुमार्ष्टि प्राक्संस्थं पुरस्तादारभ्य प्रतीचीं दिशं प्रति पुराक्रूरस्येति मन्त्रेणानुमार्ष्टि । प्रत्यक्संस्थमनुमार्जनमुक्तमस्तीति तथैवानुष्ठेयम् । स्वशाखायां विशेषानुपदेशात् । अनुमार्जनश्चात्र खननेन समीकरणम् । पशुकामस्य यजमानस्य प्रागनुमार्जनाद्वेदि-

---

उस से अधिक नहीं । श्रौतसूत्रकार ने 'यावत् कपालमनतिपृथुम्' कहा है । किन्तु यावत्कपालं कहने से ही अनतिपृथुत्व सिद्ध हो ही जाता है, तब भी 'अनतिपृथु' कहने का तात्पर्य यह है कि कपालों का परिमाण, श्रुत्युक्त ही होना चाहिये । जिस पुरोडाश का जिसने अधिश्रयण किया हो, वही उसका प्रथनादि अभिमर्शनान्त कार्य करे । 'अग्निष्टे त्वचं माहिंसीत्' मन्त्र कहकर जलार्द्र हाथ से पुरोडाश का सब ओर से या तीनवार स्पर्श करे, किन्तु मन्त्र एक ही बार कहना होगा । उसी प्रकार दूसरे को भी जलार्द्र हाथ से श्लक्ष्णित करे । ऐसा करने से जहाँ कहीं प्रथन करते विस्तीर्ण-फैलाते) समय यदि विदीर्ण हो गया हो तो उसका सन्धान हो जाता है । इस अभिमर्शन के अनन्तर पात्री प्रक्षालन और अंगुलि प्रक्षालन करने के लिये यद्यपि नहीं कहा है, तथापि पिष्टलिप्त पात्री प्रक्षालन और पिष्टलिप्त अंगुलि-प्रक्षालन यहाँ पर अवश्य करना होगा, क्योंकि आगे चलकर सूत्रकार ने इस प्रक्षालन जल की प्रतिपत्ति का विधान किया है । यदि उत्पत्ति ही न हो तो प्रतिपत्ति का होना सम्भव ही नहीं होगा । अतः यहाँ पर अनुक्त रहने पर भी पात्री तथा अंगुली का प्रक्षालन तदनन्तर गार्हपत्य से अंगार लाकर 'अन्तरित ँ० रक्षोऽन्तरिता अरातयः' इस मन्त्र को बोलकर पर्यग्निकरण करे । अर्थात् आज्यस्थाली और पुरोडाशों के चारों ओर प्रदक्षिण करते हुए अंगार को घुमावे । पश्चात् अंगार को गार्हपत्य में डालकर हाथ को अप्रदक्षिण करते हुए लावे । तब उदकस्पर्श करे । तदनन्तर 'देवस्त्वा सविता' मन्त्र कहकर जलते हुए दर्भतृणों पर प्रथम पुरोडाश का श्रयण करे । उसी प्रकार दूसरे पुरोडाश का श्रयण करे । तदनन्तर उनकी पक्वता अपक्वता को जानने के लिये 'मा भेर्मासंविक्था:' (वा० सं० १।२३) मन्त्र बोलकर क्रम से दोनों पुरोडाशों का स्पर्श करे दोनों का स्पर्श करने के लिये दो बार मन्त्र बोलना होगा । यह अभि-मर्शन (स्पर्श) श्रृताश्रृत परिज्ञानार्थ होने से चरु में भी होगा । धाना में नहीं होगा, क्योंकि उनको देखने से ही उनके पाक का ज्ञान हो जाता है । यदि श्रृत (पक्व) न हुए हों तो उन्हें पुनः श्रपणार्थ-डाल दें यदि श्रृत (पक्व) हो गये हों तो 'अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजाभूयात्'—(वा० सं० १।२३) मन्त्र बोलकर वेद से अथवा उपवेष से तप्ततर अंगार मिश्रित भस्म लेकर उस से उन पुरोडाशों को आच्छादित कर दे । चरु पर भस्म से अभिवासन

पुरीषं निष्काश्योत्करे प्रक्षिप्यान्यपुरीषमानीय वेदेः पूरणम् ततोऽनुमार्जने समीकरणम्। ततोऽग्नीत्प्रोक्षणीर्गृहीत्वा वेदेरुपरिष्टात् समीप एव धारयति।

ततो धार्यमाणासु प्रोक्षणीष्वध्वर्युः स्फ्यमुद्यम्य सर्वं प्रैषजातमाह प्रोक्षणीरासादय। इध्मंबर्हिरुपसादय। स्रुचः सम्मृड्ढि। पत्नीं सन्नह्याज्येनोदेहीति। अनेकपत्नीकेऽपि पत्नीशब्दस्य नोहः। यदि प्रेषणेच्छाभवेत्तदा प्रेषणं कुर्यात्। यदि नेच्छेत् तदा अप्रेषितोऽप्याग्नीध्र एव कुक्कुटाहननादिवत् प्रोक्षण्यासनादिपदार्थान् कुर्यादिति हरिस्वामिनः। अप्रैषपक्षेऽप्यध्वर्युः करोतीत्यपरे। ततो द्विषतो वध इति मन्त्रेण स्फ्यमुत्करे प्रक्षिपति। अभिचरतोऽमुष्मै वा वज्रं प्रहरामीति विशेषः। अमुष्मै इत्यत्र शत्रोश्चतुर्थ्येकवचनान्तं नामग्रहणम्। ततोपामुपस्पर्शः। तदभावेऽभावः। ततोऽध्वर्युः स्फ्यं गृहीत्वोत्करे पाणी प्रक्षाल्य प्रणीतानां पश्चात् प्रागग्रमुदगग्रं वा स्फ्यं निदधाति। ततोऽग्नीद्वेदिमध्ये उदगग्रामग्निहोत्रहवणीमासाद्य प्रणीतानां पश्चात् स्फ्यस्योत्तरतः प्रागग्रमिध्ममासाद्येध्मादुत्तरतोबर्हिः प्रागग्रमासादयति। अथवा

(आच्छादन) नहीं किया जाता। तदनन्तर पिष्टलिप्त पात्री प्रक्षालन जल और पिष्टलिप्त अंगुली प्रक्षालन जल को पात्री में ही गार्हपत्य से लाये हुए उल्मुक (जलते हुए तृणों) से तपाकर पूर्व से आरम्भ कर पश्चिम तक उत्कर के समीप विहार के उत्तर में भूमि पर स्फ्य से प्राक्संस्थ तीन रेखाओं को कर परस्पर संसर्ग जिस तरह न हो पाये उस तरह 'त्रितामाप्त्यायत्वा' मन्त्र बोलकर त्रितादि तीन देवताओं के लिये अध्वर्यु उसका निनयन करे। अर्थात् त्रित-आप्त्य आदि देवतारूप होने से उन्हें उद्देश्य कर त्याग करे। यहां तीनों मन्त्रों में 'निनयामि' का अध्याहार करना चाहिये, यानी 'त्रिताय त्वा निनयामि, द्विताय त्वा निनयामि, एकताय त्वा निनयामि' इस प्रकार मन्त्र कहे।

कहीं पर कहा भी है - पहले द्रव्य का त्याग करे तदनन्तर होम करे। 'इदमिन्द्राय न मम' यही अपने अर्थ के अनुरूप त्याग पदार्थ है। मन और वाणी से भी अवत्त (गृहीत) अन्न का त्याग करे, तदनन्तर अग्नि में उसका प्रक्षेप करे। यही सनातन धर्म है। त्याग हमेशा प्रणव पूर्वक करना चाहिये। तदनन्तर अन्वाहार्य ओदन का दक्षिणाग्नि पर अधिश्रयण करे। दर्शपूर्णमासेष्टि में दक्षिणार्थ जो ओदन (भात) है, उसे 'अन्वाहार्य' कहते हैं। चार ऋत्विजों की तृप्ति करने में पर्याप्त उस अन्वहार्य संज्ञक दक्षिणार्थ ओदन का अधिश्रयण अध्वर्यु दक्षिणाग्नि पर करे। इस ओदन का पाक प्रणीता के जल से अथवा लौकिक जल से किया जाता है। किन्तु प्राशित्र प्रहरणपात्र का प्रक्षालन और अध्वर्यु के हाथ का प्रक्षालन प्रणीता के जल से ही करना चाहिये, क्योंकि वह सर्वार्थ होता है।

तदनन्तर वेदिखनन किया जाता है। उसके खनन करने का प्रकार यह है—पूर्व दिशा में अरत्निमात्र, चतुरस्र, द्वादशाङ्गुल उच्च और चतुरङ्गुल विस्तीर्ण मेखला वाले आहवनीयखर का निर्माण कर उसके पश्चिम में तीन अंगुल के खातवाली, और पूर्व तथा अपर भार में तीन अरत्नि प्रमाण की विस्तीर्ण, उसी तरह पश्चिम में चार अरत्नि परिमाण की दक्षिण तथा उत्तरभार में आयत (विस्तीर्ण), विषम चतुरस्र वाली वेदी का निर्माण अध्वर्यु करे। अथवा उक्त प्रमाण के बजाय यजमान कल्पित प्रमाण से पूर्वभाग या उत्तरभाग में किञ्चित् निम्ना और मध्य में अखात संग्रहवती वेदी को अध्वर्यु बनावे। यजतिस्थान और जुहोतिस्थान की 'संग्रह' शब्द से कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रथमतः पश्चिम भागे तिर्यक् व्याममात्र परिमाण और मध्यभाग में पूर्व को त्र्यरत्नि परिमाण रखना चाहिये। चार अरत्नियों का व्याम होता है। तदनन्तर सामने तीन अरत्नि परिमाण रखे। वरुण प्रघासेष्टि में 'त्रयः पुरस्तात्' (का० श्रौ० सू० ५।३।१२) पुरस्तात् भाग में में तीन अरत्नि परिमाण दृष्टिगोचर होता है। तदनन्तर दोनों श्रोणियों से आरम्भ कर दक्षिण और उत्तर वेदी को मध्य संगृहीत करे। तदनन्तर सूत्रोक्त प्रकार से अग्नि के चारों ओर अनुष्ठान करे। अग्नीत् नाम का ऋत्विज् कुशाओं से वेदि का परिसमूहन करके गार्हपत्य और आहवनीय के बीच में आहवनीय के उत्तर और वेदि के पूर्वभाग के वितृतीय देश (स्थान) में अर्थात् संग्रह स्थान में तीन अंगुल का वृत्ताकार और छह अंगुल का विस्तार जिसका हो ऐसे एक अंगुल के गर्त अर्थात् पांसु आदि के प्रक्षेप

इध्मं प्रणीत दक्षिणेन प्रदक्षिणामाहृत्य प्रणीतानां पश्चादेव प्रथममासादयति। ततो बर्हिः। तत आग्नीध्रः। खादिरं स्रुवमादाय प्रत्युष्टं रक्षः, निष्ट प्रमितिवा मन्त्रेण गार्हपत्ये प्रतप्य उपस्पृश्याग्निसमीपात् प्राच्यां गत्वा वेदाग्नेरन्तरतः प्राञ्चं संमार्ष्टि। मूलादारभ्याग्रपर्यन्तं अनिशितोऽसीति १।३० मन्त्रेण ततो वेदमूलैर्बर्हिः प्रदेशे स्रुवपुष्करस्य ब्रुध्नादारभ्य मूलपर्यन्तं प्रत्यञ्चं संमार्ष्टि अनेनैव मन्त्रेण। ततोऽग्निसमीपे गत्वा पूर्ववत्प्रतप्याप उपस्पृश्याध्वर्यवे समर्पयति। ततो जुहूमादाय प्राङुत्क्रम्यानिशितासीति स्रुवमन्तरतो बाह्यतश्च मन्त्रेण संमृज्य पूर्ववत्प्रतप्याप उपस्पृश्याध्वर्यवे प्रयच्छति। एवमेवोपभृतं ध्रुवाञ्च संमृज्यप्रतप्य प्रयच्छति। प्रततस्तूष्णीं प्राशित्रहरणे श्रृतावदानं पुरोडाशपात्रीं च प्रत्येकं प्राङुत्क्रम्य तूष्णीमन्तर्बहिश्च संमृज्याग्निसमीपमागत्य तूष्णीं प्रताप्याध्वर्यवे प्रयच्छति। तत्र रक्षोदैवतमन्त्रोचारणाभावादुदकस्पर्शाभावः। ततः सम्मार्जनानि उत्करे प्रक्षिपत्याहवनीयेवा। उत्ताना धारयमाणः स्रुचः संमार्ष्टि। संमृष्टान्यसंमृष्टैः स्पर्शयति। यथास्थानमुत्तानाः स्रुचः सादयति। शाखान्तरीया अत्रविशेषाः। इडापात्रीषडवत्तयोस्तु न संमार्गः क्वचिदपि सूत्रेऽदर्शनात्। पुरोडाशपात्री च द्वयोः पुरोडाशयोः साधारणी एकैव भवति पात्रीमित्येकवचनात्।

ततः पत्नी संनहनम्। तत्राग्नीध्रोयोक्त्रमादाय गार्हपत्यान्नैर्ऋत्यां दिशीशानाभिमुखीमुपविष्टां पत्नीं परिधानवस्त्रात् बहिर्योक्त्रेण प्रदक्षिणं वेष्टयति अदित्यै रास्नासीति (१।३०) मन्त्रेण। ततो दक्षिणं पाशमुत्तरे शङ्कुस्थानीये प्रतिमुच्य सामर्थ्याद्धि वेष्टयित्वा योक्त्रस्यान्तमूर्ध्वमुदूहति विष्णोर्वेष्पोसीति मन्त्रेण ग्रन्थि न करोति। ततो

करने के लिये एक गड्ढा करे। इसी गर्त को 'उत्कर' संज्ञा दी गई है। गार्हपत्य मध्य शंकु और आहवनीयमध्य शंकु से बँधी हुई रज्जु के मध्यवर्ती चिन्हों के पूर्वस्थान में रज्जु को लेकर उत्तर की ओर खीच ने में जहां चिन्ह होता है, उसे 'वितृतीय' देश कहते हैं। यही उत्कर स्थान कह लाता है। उसके बाद अध्वर्यु 'देवस्यत्वा स० म्। आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः' —(वा० सं० १।२४) मन्त्र से आसादित तृण के सहित स्फ्य को उठाकर उसे वामहस्त में रखकर वामहस्तस्थित उस सतृण स्फ्य को दक्षिण हस्त से स्पर्श कर 'इन्द्रस्य बाहुरसि०' मन्त्र को सस्वर जपे। इसी समय उस पर हस्त मार्जन करते हुए उस स्फ्य को तीक्ष्ण करे। 'स ऽ श्यत्येवैनमेतत्' ऐसा श्रुति कह रही है। पितृयज्ञ में मन्त्रगत 'देवेभ्यः' के बजाय 'देवपितृभ्यः' यह विपरिणाम करना चाहिये। यह स्फ्यादान और जप, स्तम्बयजुर्हरणार्थ होने से उसके अभाव में नहीं किया जाता। प्रहरण से लेकर पुरीषनिवपनान्त कर्म को 'स्तम्बयजुर्हरण' शब्द से कहा जाता है। स्तम्बयजुर्हरण से पूर्व उस वज्र से पृथिवी और आत्मा का स्पर्श न करे। 'अभिचरतो द्विषतः' के स्थान में 'अमुष्य' अर्थात् शत्रु का नाम कहना चाहिये। तदनन्तर उदक स्पर्श करे। यदि अभिचार न करना हो तो उदकस्पर्श न करे तदनन्तर 'पृथिव्यै वर्मासि' मन्त्र बोलकर भावी वेदी में अर्थात् जिस में वेदी का निर्माण किया जायेगा, उस देश में अध्वर्यु स्फ्य के साथ ग्रहण किये हुए तृण को उदगग्र रख दे तदनन्तर 'पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंऽ० सिषम्'—(वा० सं० १।२५) मन्त्र बोलकर तृण से अन्तर्हित भूमिपर वज्र से प्रहार करे। तृण पर ही प्रहरण करने का सम्प्रदाय है। वज्र के द्वारा प्रहार करने से उद्धृत मृत्तिका को यानी उसके पुरीष को 'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्' मन्त्र बोलकर हाथ से ग्रहण करे। तदनन्तर 'वर्षतु ते द्यौः' मन्त्र बोलकर वेदी की ओर अर्थात् जहां प्रहरण किया है, उस स्थान को देखे, और ग्रहण की हुई मृत्तिका (पुरीष) को 'बधान देव सवितः०' मन्त्र बोलकर उत्कर में डाल दे। यहाँ पर भी यदि अभिचार करना हो तो मन्त्रगत 'बधान देव ··········· मा मौक्' में 'तम्' के स्थान में अमुकम् अर्थात् शत्रु का नामग्रहण करे। तब उदकस्पर्श (आचमन) करे। यदि अभिचार न करना हो तो उदकस्पर्श नहीं करना होगा। शतपथ ब्राह्मण ने प्रहरणादि निक्षेपान्त कार्य के लिये 'पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते०' मन्त्र का यद्यपि अविशेषेण उपदेश किया है, तथापि अन्यशाखा (तै० ब्रा० ३।२।९) में विशेष रूप से बताया गया है, अतः विशेष (तत्तत्) कार्य में ही तत्तत् मन्त्र को कहना उचित हैं, क्योंकि 'सामान्यविधिरस्पृष्टः संह्रियेत विशेषतः'—(तं० वा० ३।४।४७) न्याय से अवयवशः ही उक्त मन्त्र का तत्तत् विशेष कार्य में विनियोग है। तात्पर्य यह है कि 'पृथिवि देवयजनि०' में चार मन्त्र हैं। उनमें प्रथम मन्त्र प्रहरण में, द्वितीय मन्त्र पुरीषादान में, तृतीय मन्त्र वेदिप्रेक्षण में और चौथा मन्त्र उत्कर में पांसु प्रक्षेपण में विनियुक्त है। तदनन्तर 'अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासम्'—

वेदोपग्रहेणोर्जे त्वेत्याज्यस्थालीमुत्तरत उद्वास्य पत्न्या अग्रे निधाय पत्न्याज्यमवेक्षस्वेति वक्ति सा पत्नी "अदब्धेने" ति-मन्त्रेणाज्यमवेक्षते। अनेकासु पत्नीषु सर्वासां योक्त्रबन्धनं पत्नीसंस्कारत्वात्। आज्यावेक्षण त्वेकयैव कार्यम् आज्य संस्कारत्वात्। ततोऽग्नीत् पत्न्या अग्रत आज्यं गृहीत्वा वेदिमध्ये प्रोक्षणीभ्योऽपरं सादयत्युपविश्य ततोऽध्वर्युर्वेदं गृहीत्वा प्रोक्षणीभ्यः पवित्रेगृहीत्वा आज्यलिप्ताभ्यामेवताभ्यां सवितुर्वः प्रसव इति मन्त्रेण प्रोक्षणीरुत्पुनाति। ततस्तेजोऽसीति १।३१ मन्त्रेणाज्यमवेक्षतेऽध्वर्युर्वा यजमानोवा वेदोपग्रहेण। ततोऽध्वर्युः सव्येन जुहूं वेदं च गृहीत्वा दक्षिणेन स्रुव-मादाय तेनाज्यस्थाल्याः सकाशात् तूष्णीमाज्यमादाय जुह्वां निनयति धामनामासीति। जुह्वां चतुरः स्रुवान् गृह्णाति तत्रैकवारं मन्त्रेण त्रिस्तूष्णीम्। केचित्तु त्रिर्मन्त्राः सकृत्तूष्णीम्। तत उपभृत्यष्टौ कृत्वा घृतं गृह्णाति। अत्रापि स्वकृद्धा मनामेति मन्त्रः सप्तकृत्वस्तूष्णीं केचित्तु त्रिर्मन्त्रः पञ्चकृत्वस्तूष्णीमित्याहुः। अष्टकृत्वो गृह्णन्नपि जौहवादाज्या-दल्पतरं यथा स्यात्तया गृह्णोयात्। जुह्वां चतुरः स्रुवान् पूर्णान् गृह्णीयात्। उपभृति तु अपूर्णान् स्रुवान् गृह्णाति।

(वा० सं० १।२६) मन्त्र बोलकर पूर्व प्रहृतस्थान से आगे तृण के नीचे भूमिपर स्फ्य से द्वितीय प्रहार करे। तदनन्तर उदकस्पर्श करे। मन्त्र की असुरता होने से पूर्ववत् पुरीषादान वेदिप्रेक्षण, पुरीषक्षेपण आदि कार्यों को करे। तदनन्तर अग्नीत् स्फ्य को लेकर दोनों हाथों से उत्कर को 'अररो दिवं मा पप्तः'—(१।२६) मन्त्र कहकर पीटे, जिससे धूल दब जाये।

तब उदकस्पर्श करे। तदनन्तर 'द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्'—(१।१६) मन्त्र कहकर द्वितीय बार प्रहृत किये गये स्थान से आगे तृण के नीचे की भूमिपर तृतीय प्रहार करे। और उत्करकरणान्त कार्य करे। अब तृतीय प्रहार के बाद तूष्णीं (बिना मन्त्र कहे) चतुर्थवार प्रहरण और उत्करकरणान्त कर्म करे। पुरीष को तृण के साथ ही चतुर्थ-बार में तूष्णीं रहकर ही डाल दे। उसके बाद 'ब्रह्मन् पूर्वपरिग्रहं परिग्रहीष्यामि' इस प्रकार ब्रह्मा से पूछे' तब ब्रह्मा, 'बृहस्पते परिगृह्णीत' इस मन्त्र को 'धेहि' तक उपांशु पढ़कर 'ॐ परिगृहाण' इतना उच्चस्वर से बोलकर—अध्वर्यु को अनुज्ञा देता है। अनुज्ञापाया हुआ अध्वर्यु स्फ्य के द्वारा श्रोणी से आरम्भकर वेदी के दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में 'गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि०' त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परि०', 'जागतेन त्वा छन्दसा परि०' मन्त्र कहकर उसका पूर्व परिग्रह करे। वेदी की इयत्ता का निश्चय करने के लिये दक्षिणादि तीनों दिशाओं में स्फ्य से जो रेखा-करण किया जाता है, उसे पूर्व परिग्रह कहते हैं। तात्पर्य यह है कि 'त्रैष्टुभेन' मन्त्र कहकर आहवनीय खर तक रेखा करता है, अर्थात् दक्षिण श्रोणि से आरम्भ कर उत्तरश्रोणि तक रेखा करे। तदनन्तर 'जागतेन०' मन्त्र कहकर उत्तरश्रोणि से आरम्भकर उत्तर पार्श्व में आहवनीय खर तक परिग्रह करे। इसके बाद वेदि में प्राक् आयत एवं उदक् संस्थ तीन रेखाओं को स्फ्य से तूष्णीं करके अग्नीध को अध्वर्यु 'हर त्रिः' यह प्रैष दे। 'हर त्रिः' इस प्रकार त्रि शब्द घटित ही मन्त्र विवक्षित है। इसी कारण वरुण प्रघास आदि में जहां दो वेदी हों वहां 'त्रि' शब्द का विपरि णाम किये विना ही 'हर त्रिस्त्रिः' इस प्रकार मन्त्र पढना चाहिये। 'त्रि' शब्द के स्थान में 'षट् कृत्वः' ऐसा ऊह नहीं होगा। तदनन्तर अग्नीत्, उन रेखाओं से पांसुओं को तीन वार लेकर उत्कर में उसे डालकर रेखाओं का संमर्शन से समीकरण करे, अर्थात् जल सिंचनकर लेप दे।

अथवा लेखाहरण और संमर्शन पितृयज्ञ और अग्निचयन में करे, यहाँ नहीं। क्योंकि उन दोनों में ही विधान दिखाई देता है। 'लिखति, हरति यत् हार्यं भवति'—(श० ब्रा० २।६।१।१२) इति पितृयज्ञे, लिखित्वाऽऽह हर त्रिरिति, हरति त्रिराग्नीध्र'—(श० ब्रा० ७।२।२।१) इति चयने च। किन्तु कर्काचार्य का कहना है कि यहाँ पर यद्यपि लेखाहरण और संमर्शन का विधान श्रुति ने नहीं किया है, तथापि विकृतियाग में दोनों का अनुष्ठान होता है, अर्थात् दोनों का विधान है, अतः प्रकृतियाग में उन दोनों के उपदेश का अनुमान कर लिया जाता है। इसलिये प्रकृति में उन दोनों का अनुष्ठान करना ही चाहिये। तदनन्तर अभ्रि (कुदाल) को लेकर वेदि को तीन अंगुल या ओषधि के मूलोच्छेद तक सब ओर से प्रदक्षिण खोदे। इस पक्ष में 'ओषधीनां मूलोच्छेत्तवे' यह प्रैष अग्नीध को

ततोध्र्वायां चतुराज्यं गृह्णाति सकृन्मन्त्रेण त्रिस्तूष्णीम्। तत आज्यस्थलीं सुगुप्तेस्थले निदधाति। यदष्टौ कृत्वो-गृह्णाति उपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तगृह्णाति' (तै० ब्रा० ३।३।५) इति प्रयाजानुयाजोभयार्थत्वादर्धं प्रयाजेषु अर्धमनु-याजेषूपयुज्यते। यत्रानुयाजाभावो यत्र वा पृषदाज्यादिना अनुयाजा विहितास्तत्र चतुर्गृहीतमेवाज्यं ग्राह्यम्। चतुरन्यत्र प्रति विभागात्' (का० श्रौ० सू० २।७।११) इति प्रमाणात्।

अध्यात्मपक्षे तु—भगवान् वेद आत्मानं सम्बोधयति—हे जीव सवितुः प्रपञ्चोत्पादयितुः परमेश्वरस्य देवस्य स्वप्रकाशस्य प्रसवे आज्ञायां वर्तमानोऽहं त्वा त्वामच्छिद्रेण निर्दोषेणापास्तसमस्तसंशयविपर्ययादिना पवित्रेण पावकेन

अध्वर्यु दे। तब वह प्रैष पाया हुआ अग्नीध मूलोच्छेदतक खनन करे। तब 'ब्रह्मन् उत्तरं परिग्रहं परिग्रहीष्यामि' इस प्रकार ब्रह्मा से पूछे। और ब्रह्मा पूर्व की तरह 'बृहस्पते परिगृहाण' ऐसा बोलकर 'ॐ परिगृहाण'—हाँ, परिग्रह करो–कहता है। तब वह (अध्वर्यु) पहले की तरह स्फ्य से दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के भागो में वेदि परिग्रह करता है। 'सूक्ष्माचासि' मन्त्र से दक्षिण भाग का और 'स्योनाचासि०' मन्त्र से पश्चिम भाग का तथा 'ऊर्जस्वती' मन्त्र से उत्तर भाग का परिग्रह करे। वेदिकरण के अनन्तर स्फ्य से पूर्ववत् तीनों दिशाओं में रेखाकरण करने को 'उत्तर परिग्रह' कहते हैं। तदनन्तर स्फ्य से दक्षिण दिशा में वेदिपुरीष को फेंक कर 'पुराक्रूरस्य' (वा० सं० १।२८) मन्त्र से पूर्व से पश्चिम दिशा तक वेदी का प्राक् संस्थ समीकरण करे। स्वशाखा में कोई विशेष (भिन्न) बात नहीं कही गई है। यहां पर अनुमार्जन का अर्थ है खोद कर एक सा करना।' यजमान यदि पशुकामनावान् हो तो वह अनुमार्जन करने के पूर्व वेदी के पुरीष को निकालकर उसे उत्कर में पटककर अन्य पुरीष से वेदी को भरकर तब अनुमार्जन से उसका समीकरण करे। तदनन्तर अग्नीत् (अध्वर्यु) वेदि के ऊपर अर्थात् वेदी के समीपमें ही दोनो हाथो से प्रोक्षणी को धारण करे। तब अध्वर्यु (अग्नीत्) वज्र उठाकर अध्वर्यु के प्रति चार प्रैषों को लगातार (सतत) दे।

वे चार प्रैष इस प्रकार हैं—(१) प्रोक्षणीरासादय, (२) इध्मं बर्हिरुपसादय, (३) स्रुचः सम्मृड्ढि, (४) पत्नीं-सन्नह्य आज्येनोदेहि। इध्म और बर्हिः शब्द जातिवाचक होने से वरुणप्रघास में उन में विपरिणाम नहीं किया जाता। गृहमेधीयेष्टि में स्रुक् एक रहने से 'स्रुचं सम्मृड्ढि' ऐसा विपरिणाम किया जाता है। वरुणप्रघास में 'प्रोक्षणीरासादयतम्' ऐसा विपरिणाम किया जाता है। अनेक पत्नियों के रहने पर भी 'पत्नी' शब्द में विपरिणाम (ऊह) नहीं किया जाता। मन्त्रगत 'आज्य' शब्द, आज्य जाति का वाचक है, अतः जहाँ वरुण प्रघास आदि में आज्य अनेक रहते हैं वहाँ भी 'आज्येनोदेहि' इसी प्रकार मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। द्विवचन में उसका विपरिणाम् नहीं किया जाता कात्यश्रौतसूत्रकार ने 'यदीच्छेत्' (२।६।२६) कहा है, इस कारण प्रैषकरण वैकल्पिक है। यदि प्रैष देने की इच्छा न हो तो बिना प्रैष प्राप्त किये ही आग्नीध्र, कुक्कुटाह्वान के समान प्रोक्षणी आसादनादि पदार्थों को करे—यह हरिस्वामी का कथन है। अप्रैषपक्ष में भी अध्वर्यु इन पदार्थों को करे—ऐसा अन्य लोग कहते हैं। तदनन्तर 'द्विषतो वधः' यह मन्त्र बोलकर स्फ्य को उदगग्र करके उत्कर में डाल दे। यदि अभिचार करना हो तो 'अस्मै वा वज्रं प्रहरामि' यह कहना होगा। 'अमुष्मै' की जगह शत्रु का चतुर्थ्येकवचनान्त नाम कहना चाहिये। तदनन्तर जलस्पर्श करे। यदि अभिचार न हो तो जलस्पर्श नहीं है। तदनन्तर अध्वयु स्फ्य को लेकर उत्कर में दोनों हाथों को धोकर प्रणीता के पश्चात् भाग में प्रागग्र अथवा उदगग्र करके स्फ्य को उदगग्र करके रखे। तदनन्तर आग्नीध्र वेदी में उदगग्र रखी हुई अग्नि होत्र हवणी को स्थापन कर प्रणीता के पश्चात् भाग में और स्फ्य के उत्तरभाग में इध्म को प्रागग्र रखकर, इध्म के उत्तर भाग में बर्हि को प्रागग्र रखे। पलाशादि वृक्षों की अरत्निमात्र परिमाण की अठारह समिधाओं को 'इध्म' कहते हैं। अथवा इध्म को प्रणीता के दक्षिण से प्रदक्षिण लेकर प्रणीता के पश्चात् भाग में ही प्रथमतः स्थापन करे, तदनन्तर बर्हि को स्थापन करे। तदन्तर अध्वर्यु (अग्नीत् ?) गार्हपत्य के पश्चात् भाग में बैठकर 'प्रत्युष्टम्०' अथवा 'निष्टप्तम्०' मन्त्र कहकर खादिर स्रुवा को गार्हपत्याग्नि पर तपावे। और

ज्ञानेन उत्पुनामि उत्कर्षेण पुनामि सूर्यस्य स्वप्रकाशस्य ज्ञानसूर्यस्य रश्मिभिस्तदनुगुणैर्विचारैश्च समस्तोपाधिनिरसनेन परिशोध्य ब्रह्मात्मतादात्म्ययोग्यतामापादयामि। सवितुर्देवस्य प्रसवे वो युष्मान् अच्छिद्रेण संशयाद्यनास्कन्दितेन ज्ञानेन सूर्यस्य तस्यैव ज्ञानसूर्यस्य रश्मिभिश्च उच्चैः पुनामि पवित्रयामि शोधयामि। हे जीव तेजोऽसि परमात्मालम्बनं तेजोऽसि। 'येन तेजसेद्धः सूर्यस्तपतीति श्रुतेः। शुक्रं दीप्तिमदसि ज्योतिष्मदसि। अमृतमसि मर्त्यं यद्देहेन्द्रियादिकं

बैठा हुआ ही किञ्चिन्मात्र पूर्व दिशा की ओर जाकर स्रुव को वामहस्त में लेकर छेदन करके वेद से पृथक् हुए वेदाग्रों से उस स्रुव को मूल से आरम्भकर मुख पर्यन्त ऊपर की ओर 'अनिशितोऽसि०' मन्त्र कहकर सम्मार्जन (स्वच्छ) करे। तदनन्तर वह (अध्वर्यु) किञ्चित् पूर्व की ओर जाकर उसी खादिर स्रुव को बाहरीभाग में विपर्यास से अर्थात् अग्र से आरम्भकर मूल पर्यन्त 'अनिशितोऽसि०' मन्त्र बोलकर वेद के मूल भागों से स्वच्छ करे। यह जो उत्क्रमण है,वह सम्मार्जनार्थ नहीं है। प्रतपनार्थ नहीं है तदनन्तर अध्वर्यु 'प्रत्युष्टम्'मन्त्र कहकर पुनः स्रुवका प्रतपन कर वेदी में रखने के लिये अग्नीत् (अध्वर्यु ?) को दे, यह प्रतपन अध्वर्यु अपने स्थान पर वापस आकर करे। क्योंकि पूर्वोक्त प्राक् उत्क्रमण संमार्ग मात्रार्थ था। तदनन्तर जुहू, उपभृत्, ध्रुवा को भी प्राय उत्क्रमण मन्त्र बोलकर वेदाग्र और वेद मूल से भीतर-बाहर क्रम-व्युत्क्रम से स्वच्छ कर प्रतपन करके अग्नीत् को दे। तदनन्तर मन्त्र को बिना बोले ही (तूष्णीं) प्राशित्रहरण, शृतावदान, दो पुरोडाशपात्री और इडा पात्री का संमार्जन प्रतपन करना चाहिये। यहाँ प्राक् उत्क्रमण नहीं करना है। तूष्णीं प्रतपन करके वेदी में स्थापन करने के लिये अग्नीत् को दे देना है। इस समय रक्षोदैवत मन्त्रोच्चारण न होने से उदकस्पर्श भी नहीं करना है। तदनन्तर संमार्जन साधनभूत वेदाग्रों को उत्कर में अथवा आहवनीय में डाल दे। स्रुचाओंको उत्तान कर उसका संमार्जन करना चाहिये। संमृष्टों (स्रुचाओं) को असंमृष्टों से स्पर्श करावे। और यथास्थान स्रुचाओं को उत्तान स्थापित करे। शाखान्तर में इस प्रसंग पर कुछ विशेष कहा है। इडापात्री और षड् अवत्तों का संमार्ग किसी सूत्र में दृष्ट न होने से उसे नहीं करना चाहिये। सूत्र में 'पात्रीम्' इस एक वचन के प्रयोग से दोनों पुरोडाशों की एक ही साधारण पुरोडाश पात्री होती है।

तदनन्तर पत्नीसंनहन किया जाता है। अध्वर्यु गार्हपत्य के निर्ऋति कोण में पहले से बैठी हुई ईशान दिशा की ओर मुख की हुई यजमान पत्नी को उसके पहने हुए परिधान वस्त्र (साड़ी) के ऊपर से मुञ्ज संज्ञक तृण-विशेष से निर्मित त्रिगुणित योक्त्र (मेखला) से नाभि के नीचे कटि प्रदेश में 'अदित्यै रास्नाऽसि' मन्त्र कहकर प्रद-क्षिण लपेट देता है। यह पत्नी सन्नहन, पत्नी का संस्कार होने से अनेक पत्नीयों के रहने पर प्रत्येक पत्नी का वह संस्कार करना चाहिये। उस योक्त्र के दक्षिणाग्रस्थित पाश को उत्तराग्रस्थित पाश के मध्य में से ऊपर की ओर प्रवेश कराकर पुनः उसे नीचे खींचकर शंकुस्थान में उसे पोकर उस दक्षिण पाश को ऊपर की ओर उरस दे अर्थात् योक्त्र में ही उसे अटकादे। योक्त्र के मध्य में से ऊर्ध्वगूह न बताने से प्रतीत होता है कि दो बार योक्त्र से वेष्ट न करना चाहिये, क्योंकि एक वेष्टन में उद्गूहन करना शक्य नहीं है ऐसा देवयाज्ञिक कहते है। 'विष्णोर्वेष्पोसि०' मन्त्र से उस में ग्रन्थि न लगावे। 'उर्जेत्वा०' मन्त्र में 'उद्वासयामि' ऐसा अध्याहार करके अध्वर्यु आज्य का उद्वासन (निकाल) कर 'अदब्धेन०' मन्त्र कहकर यजमान पत्नी को दिखावे। 'अवेक्षयति' इस णिजन्त प्रयोग के कारण 'पत्न्याज्यमवेक्षस्व' यह अध्येषणा करनी चाहिये। अनेक पत्नियों के रहने पर भी आज्यावेक्षण एक ही पत्नी करे, क्योंकि वह द्रव्यसंस्कार है, पत्नीसंस्कार नहीं है। पत्नी के अभाव में अध्वर्यु ही अवेक्षण करे। तदनन्तर अध्वर्यु (अग्नीत् ?) पत्नी के सामने से आज्य को लेकर उसे आहवनीय पर रखकर पुनः उस से निकालकर वेदि में प्रोक्षणी के पश्चिम भाग में रख दे तदनन्तर अध्वर्यु वेद का ग्रहण कर और प्रोक्षणी से पवित्रों को लेकर आज्य लिप्त हुए उन्हीं पवित्रों से 'सवितुस्त्वा०' और 'सवितुर्वः' इन दो मन्त्रों से आज्य और प्रोक्षणीजल का उत्पवन करे। तदनन्तर 'तेजोऽसि०' मन्त्र बोलकर अध्वर्यु अथवा यजमान वेद का ग्रहण कर आज्य को देखे। तत्पश्चात् अध्वर्यु सव्य (वाम) हस्त में जुहू और वेद को लेकर और अपसव्य (दक्षिण) हात में स्रुव लेकर उस से आज्यस्थाली में से तूष्णीं

तद्भिन्नोऽसि । धामासि धीयते चित्तवृत्तिर्यस्मिंस्तत् धाम परब्रह्मलक्षणं सर्वाश्रयस्वरूपमसि 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं ममे (श्रीभ० गी० १५।६) ति वचनात् । नामासि नमयति सर्वाणि भूतानि स्वात्मानं प्रतीति नाम सर्वाधिष्ठानम् तद्रूपमसि । देवानामिन्द्रियमनोबुद्धिरूपाणां ज्योतिषामिन्द्रादीनां च प्रियं परप्रेमास्पदं ब्रह्मासि । अनाधृष्टमप्रधृष्यं 'महद् भयं वज्र मुद्यतम्' 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' इत्यादि श्रुतिभ्यः । देवयजनमसि देवैरपीज्यते यत् तत् देवयजनम् असीति ।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥ ॥ वेद पुरुषाय नमः ॥ ॥ श्रीरस्तु ॥

(मन्त्र रहित) आज्य लेकर 'धाम नामासि' मन्त्र बोलकर जुहू में डाले। स्रुव से जुहू में चार बार आज्य ग्रहण करे , चारों बार स्रुव को पूर्ण भरकर ले । उनमें से प्रथम आज्य ग्रहण के समय ही मन्त्र बोलना चाहिये, और तीन बार तूष्णीं आज्य ग्रहण करना चाहिये । कुछ लोगों का कहना है कि तीन बार आज्य ग्रहण समन्त्रक करना चाहिये और एक बार तूष्णीं करना चाहिये । तदनन्तर उपभृत् में आठबार घृत (आज्य) का ग्रहण करना चाहिये । यहाँ पर भी 'धामनामासि०' मन्त्र कहकर सकृत् (एक बार) आज्यग्रहण करे, और सात बार अमन्त्रक (तूष्णीं) आज्य ग्रहण करे । कुछ लोगों का कहना है कि तीनबार समन्त्रक ग्रहण करे और पाँच बार अमन्त्रक ग्रहण करे । आज्य द्रव्यक अनुयाजसहित कर्म में स्रुव को अपूर्ण भरकर उपभृत् में आठ बार आज्य ग्रहण करे । औपभृत आज्य प्रयाज अनुयाज दोनों के लिये होता हैं । उपभृत् में अष्टगृहीत आज्य का अर्धं भाग प्रयाज में उपयुक्त किया जाता है और अवशिष्ट अर्धभाग अनुयाज में उपयुक्त होता है । तात्पर्य यह है कि 'जुहू में लिये हुए आज्य से उपभृत् में अल्पतर आज्य ग्रहण करना चाहिये । जुहू में चार स्रुव पूर्णभरकर लिये जाते हैं, किन्तु उपभृत् में अपूर्ण भरे हुए स्रुवों से आज्य ग्रहण किया जाता है । तत्पश्चात् ध्रुवा में एक बार समन्त्रक और तीन बार तूष्णीं आज्यग्रहण करे । तदनन्तर आज्यस्थाली को सुगुप्त स्थान में रखे । जहाँ अनुयाज नहीं होते अथवा पृषदाज्य आदि द्रव्यान्तर से ग्रहण करना कहा गया हो वहाँ (विकृति में) आज्य को चार बार ही ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि श्रौतसूत्रकार ने अष्टगृहीत आज्य का प्रयाज—अनुयाज के लिये विभाग कर दिया है ।

अध्यात्म पक्ष में तो भगवान् वेद, आत्मा को सम्बोधित कर रहे हैं कि हे जीव ! प्रपञ्च के उत्पादक-स्वप्रकाश परमेश्वर की आज्ञा में रहने वाला मैं, तुम्हें संशय—विपर्ययादि दोषों से रहित पवित्र ज्ञान से उत्कृष्टतया पावन कर रहा हूँ । अर्थात् स्वप्रकाश ज्ञान सूर्य की रश्मियों से यानी तदनुरूप विचारों के द्वारा समस्त उपाधियों का निरसन कर परिशोधन करते हुए तुझ में ब्रह्मतादात्म्य प्राप्त करने की योग्यता पैदा कर रहा हूँ। हे जीव ! तुम, परमात्मा का आलम्बन करने वाले तेज के स्वरूप हो । तुम दीप्तिमान् ज्योतिष्मान् हो, तुम अमृत हो यानी देह, इन्द्रिय आदि जो मर्त्य (नश्वर) है, उससे भिन्न हो, तुम धाम हो यानी जिस में चित्त की वृत्ति को स्थापित किया जाता है, उस परब्रह्म के स्वरूप अर्थात् सर्वाश्रय स्वरूप हो । "यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'—जहाँ पहुँचकर जीव वापस नहीं आता, वही मेरा परम धाम है—(गी० १५।६) ऐसा भगवद् वचन है । तुम नाम हो, अर्थात् समस्त प्राणियों को जो अपने प्रति नमा लेता हैं, उसे 'नाम' कहते हैं, यानि सर्वाधिष्ठानरूप तुम हो । इन्द्रिय, मन बुद्धिरूप देवताओं और इन्द्रादि ज्योतियों के परम प्रेमास्पद ब्रह्म, तुम ही हो । 'महद् भयं वज्र मुद्यतम्', 'भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' इत्यादि श्रुतियों ने तुम्हें अनाधृष्ट अर्थात् अप्रधृष्य बताया है । देवता भी जिसका यजन करते हैं, वह देवयजन तुम ही हो ।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥ ॥ वेद पुरुषाय नमः ॥ ॥ श्रीरस्तु ॥

卐

शुद्धि-पत्रम्

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	५	प्रार्पयतु	प्रार्पयतु
	,,	कर्मण	कर्मण
	६	इन्द्राय	इन्द्राय
	,,	प्रजावती	प्रजावती
	,,	र्षजमानस्य	र्यजमानस्य
	,,	पशून्	पशून्
	१२	उद्देश	उद्देश्य
२	११	दध्यङ्ह्णाआथर्वण	दध्यङ्ह्वाथर्वण
	१३	चितीनाँमार्षेन्यं	चितीनामार्षेयं
	१७	वागोश	वागीश
	२९	अनूपूर्वी	आनुपूर्वी
३	१	योध्वा	यो ह वा
	,,	र्षेयछन्दो	र्षेयच्छन्दो
	,,	वर्छति	वर्च्छति
	३	निर्वीर्य	निर्वीर्य
	,,	वर्छति	वर्च्छति
	६	युगं	युग
	,,	जिघृक्षायां	जिघृक्षया
	११	मुवांचेत्थं	मुवाचेत्थं
	१२	त्यर्पयत्	त्यार्पयत्
	,,	गह्णीत	गृह्णीत
	१७	अथवा यज्ञ करता	अथवा यज्ञ कराता
४	५	पौतिमार्षा	पौतिमाषी
	,,	व्राह्मणो	व्रह्मणो
	१३	याज्ञवल्वये	याज्ञवल्क्ये
	२६	प्रज्ञानम्बल	प्रज्ञानं ब्रह्म

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्धम्
४	२६	की बल	ही ब्रह्म
	२९	वह	उसकी
५	२	शयाञ्च	शयाच्च
	६	ऽध्तव्य:	ऽध्येतव्य:
	८	दृष्टार्थ	ददृष्टार्थ
	२३	अध्याय	अध्याय:
	३१	याम	याग
६	४	साधुकृत्याम्	साधुकृत्यम्
	,,	पापकृत्याम्	पापकृत्यम्
	१०	हीन	हान
	३४	प्रशंशा	प्रशंसा
७	१	निनौष्येत	निनीष्येत
	२	दूह्र्त्सु	दुह्र्त्सु
	,,	च्छ्रुततत्वात्	च्छ्रुतत्वात्
	६	निष्प्रत्ति	निष्पत्ति
	८	दृदृष्ट	ददृष्ट
	२५	(अध्ययन के)	(अध्ययन का)
	,,	रूप	रूप फल
८	१२	पश्प	पस्प
९	२८	अभिप्राय:	अभिप्राय
१०	१	विधयपि	विधयापि
	२	बुद्धया	बुद्ध्या
	६	दादाधन	दाराधन
	१३	व्यापाद्य	ण्यापाद्य
	१६	'ब्रह्मज्ञान' भी	ब्रह्मज्ञानार्थी
११	२	शब्दविद्यया	शब्दविधया
	७	साक्षत्कार	साक्षात्कार
	९	मांर्गे	मार्गे
	,,	दियितु	दयितु
	१०	निरोधार्थ	निरोधार्थं
	१३	शासकैश्च ।	शासकैश्च
	१४	सुदृढा	सुदृढा
	१६	पद्धत्ति	पद्धति

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
११	२२	एव	एवं
	३१	आकष्यित	आर्कषित
१२	५	पूर्वक	पूर्वकं
	,,	तस्मात्कम	तस्मात्कर्म
	६	सहिता	संहिता
	,,	वमेवा	वा
	७	सहिता	संहिता
	८	ग्न्युपस्थान्	ग्न्युपस्थान
	१७	अभिचारिक	आभिचारिक
१३	१	प्रवर्ग्थः	प्रवर्ग्यः
	११	प्रथमायाति	प्रथममायाति
	१३	विनियोंज्य	विनियोज्य
	१८	दृष्टियों	इष्टियों
	२०	रहना	रहता
१४	१	याज्यां	याज्या
	४	पाध्याये	याध्याये
	६	त्यादस्तु	त्यादयस्तु
	१६	तिर्थास्तोत्र आदि" को	×
१५	१	मध्यमाना	मथ्यमाना
	२	हविर्धानाभ्यां	हविर्धानाभ्यामनुब्रूहि
	५	गायन्नस्ते	गायन्नास्ते
	८	व्यवस्थाद्	व्यवस्था
	१५	········	तथा प्रोह्यमाणाभ्यामनुब्रूहि
	२३	वया	गया
	२४	कों	को
१६	१२	त्वमृ	त्वम्
	२७	यक्षत्	यक्षद्
१७	२४	शाखा	२७—शाखा
१८	२	षर्णो	पर्णो
	८	युक्ते	युंक्ते
	,,	छिनद्भी	छिनद्मी
	६	शमा	शमी
	१२	छन्दसं	छान्दसं
१६	४	वाक्यो	वाक्ययो
	६	अर्ग्रयो	ऊर्ग्रसो
	२७	पूर्ण	पर्ण
२०	२	प्रार्पयतु	प्रार्पयतु

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२०	२	श्रेष्ठतमाय	श्रेष्ठतमाय
	,,	आप्या	आप्या
	३	ईशत	ईशत
	४	बह्वी	बह्णी
		पशून्पाहि	पशून्पाहि
	,,	छिनद्मि	छिनद्मि
	१५	त्वाः	त्वा
२१	३	प्रकर्वेण	प्रकर्षेण
	६	इष मे वोर्ज	इषमेवोर्ज
	,,	दधति	दधाति
	८	प्रदानावै	प्रदानाद्
	३०	प्रदानावै	प्रदानाद्
२२	६	पशव	पशवो
	१६	यो	वो
	२६	प्रकष	प्रकर्ष
२३	६	वर्धयद्ध्र्वम्	वर्धयद्ध्वम्
	,,	चोरो	चौरो
	३२	के	को
२४	५	ब्राह्मणैव	ब्रह्मणैव
	,,	रक्षार्थ	रक्षार्थं
	१२	संस्कृतान्त	संस्कृतान्न
	२७	अस्त	अस्तु
	३४	ईषे	इषे
	,,	गते	गत
	,,	'ग'	त्वा
२५	११	त्वों	त्वो
	१६	पठतम्	पठितम्
	२५	१—इषे	४२—इषे
	३५	ईशत्	ईशत
२६	१	स्यात्	स्यात
	,,	बह्यः	बह्न्यः
	४	स्थं	स्थ
	६	परमेंश्वर	परमेश्वर

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२६	६	स्यात्	स्यात
२७	१२	के	में
	३०	का	की
२८	३	तार्नि	तानि
	४	द्वितोय	द्वितीय
	२४	कर्मं	कर्म
	३१	जीवन	जीव
२९	३	पदार्थ	पदार्था
	२८	की	भी
३०	३	धोर्मा	धोमा
	१४	नानां	नाना
	२३	प्रयोव	प्रयोग
३१	१	नि	ति
	७	तमेषा	समेषा
	१०	लेमो	लेध्मो
	१२	वर्सति	वर्च्छति
	२०	के	से
	२१	कुविदङ्गे	कुविदङ्ग
	२८	महर्षि कण्व	५८—महर्षि काण्व
	३३	सराहनीय	असराहनीय
३२	३	अन्न	अत्र
	३३	है	हैं
	३४	हैं	है
३३	१	तात्वत्वं	तावत्वं
	६	प्रसुष्टति	प्रसुष्टुति
	१०	न्द्वन्तु	न्द्रन्तु
	१६	परो	पारो
	१८	सर्वान	सर्वानु
	२५	प्रसुप्टुतिः	प्रसुष्टुतिः
	२७	ख्यन	ख्यान
	३५	पूर्व	पूर्वक
	,,	स्वेच्छा	इच्छा
३४	१	भ्यूहोऽभ्यूढो	भ्यूहाभ्यूढेना
	२	क्षयम	क्षम
	,,	तात्वं	तात्व
	८	न	नु
	,,	तर्कं	तर्क
३४	६	घार्ष	द्यार्ष
	२१	उसे भी	उसे
	,,	हो जाय	नहीं होता
	२३	परोपवर्य	पारोवर्य
	,,	परो	पारो
	२५	क्रामस्तु	क्रामत्सु
	३३	योग	योगः
३५	४	धितुं	धयितुं
	,,	तिम्	तितम्
	१४	वदतां	वदता
३६	५	ऽपिं	ऽपि
	७	अर्थ	अथर्व
	१५	नभि	नाभि
३७	१	ऊर्ज	ऊर्जे
	३	मानं	मान
	७	वैंकः	वैक
	११	नौ	न्नौ
	१२	दिम	दृमि
	१६	नियम	नियमः
	२८	प्रथञ्च	प्रथस्व
	३१	दिभ	दृमि
३८	११	ऽर्थं	ऽर्थ
	२२	हैं।	हैं,
३८	२३	किसो	किसी
	२५	सविशयक	सविषयक
	२६	त्तिर्या	त्तियाँ
३९	२	निर्णयै	निर्णये
	३	षद्विध	षड्विध
	५	र्थतां	र्थता
	७	। बहिरङ्ग	,, बहिरङ्ग
	,,	चित्यानृ	चित्यात्
	८	एष	इष
	२४	अपेक्षा	की अपेक्षा
४०	५	तुं	तु
	१०	सवत्र	सर्वत्र
	१५	दिध्रयन्ते	दृध्रियन्ते
४१	८	याज्ञंस्य	याज्ञस्य

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
४२	१	वेदं	वेद
४३	२	कौ	को
	१३	स्मिन्‌	स्मिन्
	२५	का	की
	२६	सबकी	सभी
४४	६	छान्दसं	छान्दस
४५	२	तचरादि	तृस्वरादि
	,,	सूत्रेणां	सूत्राणां
	४	त्वम्, आमन्त्रित	आमन्त्रित
	११	विजम्भि	विजृम्भि
	१६	वचनान्त्	वचनान्त
	२०	उपादन	उपपादन
४६	५	अयनं	अयनम्
	८	लुड	लुङ
	६	रङ्गा	रङा
४७	१	प्राप्ति	न प्राप्ति
	७	गर्हि	गार्ह
	८	दृढ़	दृढ
	,,	कद्रू	कद्रूः
	,,	कम्बल	कम्बलो
	१०	पुण्य	पण्य
	३७	कह	कहा
४८	१३	नित्येत्व	नित्यत्व
	१५	सूत्र	(पा० सू० ६।१।२०३)
	१८	सूत्र में	सूत्र से
	३०	कृतिवेदे	कृतिर्वेदे
४९	३०	श्रति	श्रुति
५०	११	वर्धायितु	वर्धयितु
५१	१	रोग त्वेन	रोगत्वेन
	५	धुंत्वान्	धुत्वात्
५२	१२	सख	सुख
	१४	याज्ञिकं	याज्ञिक
	२६	क्यें	क्यों
५३	८	जड़	जड
५४	१	माकं	स्माकं
५६	१७	पायगी	पायगा
	२६	एषे	इषे
	३३	कुविदङ्ग	कुविदङ्ग

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
५७	४	कण्व	काण्व
	२६	साम	सामसे
५८	७	प्रणोत	प्रणीत
	३२	यास्कने यथा ने	यास्क ने
५९	४	एक हो	एक ही
	८	श्रोत	श्रौत
	१०	नकूल	नुकूल
	१७	क्यैः	वचैः
	१८	उच्चाक्च	उच्चावच
६१	१	परमेण	परमेण
		——	— –
	१६	त्याधि	त्यधि
	१८	पूर्वयति	श्वयति
६२	२	निष्ठस्य	निष्ठस्य
	३	दाढर्य	दाढर्य
	१०	भवन्तिः	भवन्ति
	१५	बन्धी	बध्नी
	१८	तंत्क	तत्क
	१९	हत्येवै	हेत्येवै
६३	१४	मनिन	मनिन्
	१७	विशेषणाञ्च	विशेषणाच्च
	१८	शव्दस्यं	शब्दस्य
	१९	सुखं	सुख
		—	।
६४	३	त्वा	त्वा
		।	।
	४	धारेण	धारेण
	२०	क्विमात्रानां	विद्यमानानां
	२२	वैंर	वैंत
६५	२	जयं	जपं
	,,	यमान	यजमान
	५	सर्वत्रेव	सर्वत्रैव
	२४	सहस्रधा प्रकार से	सहस्रधा
६६	२	सन्तिः	सन्ति
	१६	र्यनिन	दर्निन
६७	१	सोंमेन	सोमेन
	४	वशिष्टः	वशिष्ठः
	६	नापि दधा	नापिद्धा

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
६७	१६	प्रश्ना	प्रश्नो
	,,	मद्भिः	मद्भिः सत्वादिगुणैः
	१७	मपि	मपि
६८	५	स्वल्पानः	स्वल्पाः
६९	५	चरिष्यामि	चरिष्यामि
	६	पैमि	पैमि
	७	इदह	इदमह
	१३	सं ज्ञात्वेन	संज्ञात्वेन
७०	६	रङ्गेन	रङ्गेण
	१०	धोपेयात्	वोपेयात्
	२४	परा	पदा
७२	४	णात्हव	णाहव
	८	दाह्वनीय	दाहवनीय
	,,	ह्वनीय	हवनीय
	१०	ह्वनीय	हवनीय
	१५	नुष्ठेचा	नुष्ठेया
७३	१४	ह्लियन्ते	ह्लियन्ते
	१५	अनिरुक्त	अनिरुक्त
	२२	गच्छत्यश्च	गच्छतश्च
	२७	अवथ	अथ
७४	२	ञ्चो लूख	ञ्चोलूख
	७	वांव	वाव
	९	राडयज्ञ	राड्यज्ञ
	१२	ञ्चादते	ञ्चादत्ते
	१६	दानन्	दानम्
	१७	शूपे	शूर्पे
७६	५	पन्नेन	पनेन
	७	निःशेपेण	निःशेषेण
	९	दिभि	दिभिः
	१८	काग्न्ये	काग्र्ये
७७	४	ह्ययावृत्तिः	ह्यावृत्तिः
	१३	प्रैति	प्रैति
	१५	हविनि	हर्विनि
	२२	अथं	अथ
७७	२४	ह्वणी	हवणी
	२६	अप्राप्त प्रामाण्य	अप्राप्त अप्रामाण्य
७८	४	इक्ष्यते	ईक्ष्यते
	८	तीतिञ्च	तीतञ्च
	१४	त्कवा	क्त्वा
	१६	त्यक्तवता	त्याज्यता
७९	६	धूरो	धुरो
	१४	घुर्वी	धुर्वी
८०	६	वह्निम्	वह्नि
	,,	वह्नि	वह्नि
	१४	ह्वात्	ह्वात्
	२६	ह्’	७’
८१	२	अह्नु	अह्नु
	३	स्तौत्मु	स्तौत्यु
	,,	द्रात	ध्रात
	६	ष्यय	प्ययं
	७	तयत्वा	तमत्वा
	९	हरण	ह्वरण
	१४	भगंवद	भगवद
	३५	हिंसा	हिंसा
८२	१३	अ ह्ल	अह्ल
	,,	यज्ञपति	यज्ञपति
	१४	यच्छन्तां	यच्छन्तां
	१५	ह्ल त	ह्लव
	,,	ह्नह्वो	ह्ल ह्वरे
	१९	स्वरूपके	स्वरूप
८३	१	ह्नु	ह्ल
	१६	कारित्वा	कारित्वा
	१७	भवाति	भवति
	१८	वैनत्	वैतत्
	२४	ह्वी	ह्णी
	२८	प्रथमेन प्रथमेन	प्रथमेन
८४	४	व्यांख्यं	व्याख्यं
	१०	यद्य	यद्यु

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
८४	२०	वीक्षण	वीक्षण का
	२२	अथगा	अथवा
	२७	आच्छादित	आच्छादन
८५	१	पदस्य	पयस्या
	३	अह्नु	अह्नु
	८	ह्रंहस्व	ह्रंहस्व
	,,	ह्रढ़ी	ह्रढी
	६	सत्	सन्
	१५	अह्नु	अह्न
८६	३	ह्रंह तां	ह्रंहतां
	५	तांमिति	तामिति
	१३	अह्नुत	अह्नुत
	१४	तत्रा	तत्र
	२०	आयु	वायु
	३२	अह्न	अह्नु
८७	१	अतसः	अनसः
	३	ग्रहणे	ग्रंहणे
	१६	भस्त्रायैः	भस्त्रायै
	२८	अभिर्धान	अभिधान
८८	२	धुरो	धुरि
	५	सफ्य	स्फ्य
	१२	ह्नसीयः	ह्लसीयः
	१५	सामन्यात्	सामान्यात्
	१७	धुर्यो	धुर्यो
	२६	वर्दँ	वर्द
	२७	अय	अथ
८९	१६	धूवति	धूर्वति
	२०	द्वरसि	द्वूरसि
	२४	कस्तम्भो	कस्तम्भी
९०	३	त	तं
	१५	प्यतमत्वात्	प्यातमाचात्
९१	१	अह्नुत	अह्नुत
	३	त्वेन	न्तत्वेन
	५	अह्नुतं	अह्नुत
	७	ह्रंहता	ह्रंहतां
	१५	अह्नुत	अह्नुत
	२८	त्यजे	त्यजेः
९१	३१	विग्रह	निग्रह
९२	१	अह्नुत	अह्नुत
	२	ह्नुत	ह्नुत
	६	अह्नुत	अह्नुत
	,,	पदःर्थो	पदार्थो
	१४	वृद्धचर्थता	वृंद्धचर्थता
	१६	अह्नुत	अह्नुत
	१६	ह्र ह	ह्र ह
	,,	घ्रात	द्घ्रात
	,,	गृह्वानी	गृह्णानी
	२०	वारयितुं	वारयितु
	२१	नार्थ	नार्थं
	२४	अह्नुत	अह्नुत
	३२	दयानन्द जी	दयानन्दजी ने
९३	१	घ्रातं	ध्रातं
	२	ह्वा	ह्णा
	८	एषां	एषा
	१५	व्राह्मणा	व्रह्मणा
	१७	वमृशे	नाभ्यवमृशे
	१६	द्यज्ञने	द्यज्ञनै
९४	१०	संस्कार	संस्कारं
	२४	सम्भित	सम्मित
९५	५	मासं	मांसं
	६	ह्नुत	ह्नुत
	१०	ह्रढ़ी	ह्रढी
	१७	प्युद्यै	प्युच्चै
	१८	भगवन्त	भगवन्तं
	३०	कुठिल	कुटिल
९६	५	बाह्म	बाह्य
	७	अह्नुत	अह्नुत
	२१	सन्तानों	सेवकों
	३६	हो	हों
९७	१५	न्याज	व्याज
	१६	ददाधन	दाराधन
	१८	कात्यान	कात्यायन
	२१	मिश्राण	मिश्रण
९८	६	जुष्टं	जुष्ट

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
९८	८	व्यासज्य	व्यासज्य
	१३	व्याग्नये	रग्नये
	३६	विद्य	वि
९९	६	सम्यक	सम्यक्
	१२	अध्वर्यू र	अध्वर्यू
	१३	गृह्णांतीति	गृह्णातीति
१००	६	साती	सती
	१७	त त्वा	तत्वा
	१७	जिमीषता	निनीषता
	२१	बाहुभ्याम्	बाहुभ्याम्
१०१	४	दुयुत	द्युति
	६	रेचकेण	रेचकेन
	१०	मतृद	मातृकादि
	११	पात्रषु	पात्रेषु
	१९	पिवस्वद्युत	विवस्वद्युति
	२०	करमल	कश्मल
	३४	श्रौत्र	श्रोत्र
१०२	१	विधस्तपो	विधैस्तपो
	१३	रुचतं	रुचितं
	,,	नेत्राभ्यां	नेत्राभ्या
१०३	१०	स्वर	स्वर
		—	।
	,,	व्याम्	व्या
	११	उर्व	मुर्व
		—	— ॥
१०४	९	स्वर	स्वर्
	१०	स्वर	स्वर्
	२७	सग्रह	संग्रह
१०५	१४	बाधक	बाधके
	१५	त्यादित्या	त्यदित्या
१०६	५	गु्प्त्या	गुप्त्या
१०८	५	मृत्	मत्
१०९	१५	कृपणताय	कृपणतायै
	१७	धातक	धातुक
	२७	को	की
११०	११	दृजनास्त्र	द्रजनास्त्र
	१४	दान	दानं
	२९	दिक	वैदिक
१११	९	वैष्णव्यौ	वैष्णव्यौ
		— -	—।
		।	।
	११	सुधातु	सुधातु
		।	।
	,,	यज्ञपति	यज्ञपति
		-	—
		।	।
	,,	देवयुवम्	देवयुवम्
		–	–
	१५	श्रिङ्गत	ह्विङ्गत
	२४	रैकड़ों	सैकड़ों
११२	१	कुशैछि	कुशैश्छि
	२	पर-	परः
	७	वंत्वान्	वत्वात्
	८	न्याय	न्याय्य
११३	१४	होंत्र	होत्र
	७	द्रमे	इमे
	८	तदेवा	तदेवा
	,,	हन्पथ	हन्त्यथ
	१०	प्रस्तुतो	प्रस्नुतो
	११	स्य	स्म
	१२	प्राप्राः	प्राप्ताः
	१४	ङ्गयवि	ङ्गयति
	,,	राय	राप
	१६	दिङ्क्ने	दिङ्गने
	,,	सव्यो	सव्ये
	१९	नयत्	नयत
	२०	प्रवर्तयत्	प्रवर्तयत
	३०	चाहिपे	चाहिये
११४	१	ववौ	क्वौ
	३	देवा	देव
	,,	देवायु	देवयुः
	,,	देवायुः	देवयुः
	१०	पुवोज्गे	पुवोऽग्रे
	१५	नायां	नापां
	१६	सनुद्र	समुद्र

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
११४	२०	इम यज्ञ	इमं यज्ञं
	,,	न यत	नयत
	२५	इत्युवङ्	उवङ्
	२८	इदयु: इद	इदंयु:इदं
	२९	देवायु	देवयु
११५	१	वृत्र तूर्ये	वृत्र तूर्ये
	,,	प्रोक्षिता:स्थ:	शोक्षितास्स्थ:
		।	।
	२	अग्नये	अग्नये
	१५	मपराध	मपराधं
	१६	निहुते	निह्नुते
	१७	अचलपति	अपलपति
	२२	शुन्धध्व	शुन्धध्वं
	२४	शुचित्व	शुचित्वं
	,,	तदिद	तदिदं
११६	१४	रन्त:	रान्त:
	१७	मल	मत्र
	२१	त्यस्य	इत्यस्य
	,,	षोच्छिद्र	षोऽच्छिद्र
	२२	श्रुतिमयां	श्रुतिभ्यां
	,,	भितृभेद:	भिरभेद:
	२४	पात्रा	पात्रो
११७	२	प्रसिद्धे	प्रसिद्धे:
	४	मंद्य	मद्य
	५	मग्ने	मग्रे
	१८	नयत:	नयत
११८	६	ता	तत्
	१२	ववतु	वक्तु
	१६	यथाभूत	यथाभूतं
	१७	मामेत्	मायेत्
११९	८	यथाकाल	यथाकालं
	१०	पत्री	पत्नी
	२६	कावचन	वचन
१२०	१	अशुद्धि	अशुद्धि
	३	एव भूता:	एवं भूता:
	६	तुर्ये	तूर्ये
	७	तुर्ये	तूर्ये
१२०	८	यज्ञ	यज्ञं
	२०	लग	लोग
	२४	अवगत	अनवगत
१२१	५	सम्बन्ध	सम्बन्धं
	७	मासं	मांसं
	११	तुर्ये	तूर्ये
	१५	द्विवि	दिवि
	१६	कीर्घ	कीर्ण
	१७	तत्र	तत्त
	१८	थर्म	धर्म
	,,	बद्ध	बौद्ध
	२३	उसो	उसी
	२७	शब्दार्थ	शब्दार्थसम्बन्ध
	३१	तुर्ये	तूर्ये
१२२	१	नाशे	काशे
	,,	मेव	मेवाय
	५	कथ	कथं
	७	निमित्त	निमित्तं
	८	मण्डल	मण्डले
	९	कथ	कथं
	१२	तुर्ये	तूर्ये
	१२	त	तं
	१४	जयांश्च	अपदार्थांश्च
	१७	द्वि	दि
	२१	ईये	इये
१२३	३	तुर्ये	तूर्ये
	१६	वर्धन	वर्धनं
	२९	अग्नो	अग्नी
१२४	९	छिन्द्य	छिद्य
	१४	उपपत्ति ७	उपपत्ति
	१७	यूष्मा	युष्मा
	,,	तुर्य	तूर्य
	,,	तुय	तूर्य
	१८	प्रोक्षण	प्रोक्षणं
	,,	रे	स्वे
१२५	१	शुद्धी:	शुद्धा:
	,,	न्त्रशुद्ध	मत्राशुद्ध

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२५	२	तस्म	तस्मा
	,,	ऽशुद्धीः	ऽशुद्धाः
	३	ख्यान	ख्यानं
	१०	उत	उत्
	१४	धिष्ठान	धिष्ठानं
	१६	य	यतोहि
	२१	लिङ्ग	लिङ्ग
१२६	१	त्मनः	त्मानः
	८	वात्मनः	वात्मानः
	,,	तुर्ये	तूर्ये
	९	तुर्ये	तूर्ये
	१०	तुर्ये	तूर्ये
	२५	सरवायाः	सखाया
१२७	८	भगवन्तं	येभगवन्तं
	,,	नित्यप्राप्तस्य	तेषां नित्यप्राप्तस्य
	३२	हाना	होना
१२८	१३	तुर्ये	तूर्ये
	१४	युद्धस्य	युद्धस्या
	१५	युयुधुः	पाण्डवसेनया युयुधुः
	१६	पाण्डवसेनया स्थ	स्थ
	२९	कामा	काम
१२९	४	वैज्ञानिका	वैज्ञानिकाः
	,,	तुर्ये	तूर्ये
	,,	णूद्‌जनास्त्रा	णूद्रजनास्त्रा
	६	प्राप्त्यथ	प्राप्त्यर्थ
	८	रुचिचित	रुचित
	२४	तुर्य	तूर्य
	,,	शत्रओं	शत्रुओं
	२५	उद्‌जना	उद्रजना
	२७	गया है	है
१३०	२	बुध्नङ	बुध्नः
	,,	वेत्तु	वेंत्तु
	१२	दात्वे	पात्वे
	१३	दात्वे	पात्वे
	१७	त्लोम्नो	लोमो
१३१	७	रसयिति	रसदिति
	,,	स्कन्दान्त	स्कन्दात्त
१३२	३	स्थूलमूल	स्थूलमूलः ।

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१३२	६	कण्व	काण्व
	७	वानस्पत्य	वानस्पत्यः
	९	पृथिक	पृथिव्य
	१०	स्व	स्वः
	११	ह्नि	हिन
	१४	ततत्तिः	तत्स्तुतिः
	१५	जन	जनं
	२१	शते	विशते
	३०	परस्पा	परस्परा
	३२	ही यदि	ही
१३३	१२	देवला	लोकप्रसिद्धत्वा
	१३	रूप	रुप
	१६	लोम्नां मृ	लोम्नामृ
	१८	धूननं	वधूननं
१३४	११	रिक्ष	रिक्षं
	२१	नस्पत्य	नस्पत्यो
	२३	दृढ़	दृढ
१३५	३	राजान	राजानं
	,,	त्यद्‌भय	त्यद्रय
	५	जिनायत्त	जिनाय च
	,,	सात्	सात
	,,	विधाने	निधाने
	८	ग्रावसा।	ग्रावसा-
१३६	१	यामि	याभि
	२	न्न	न
	,,	मनुष्यां	मनुष्या
	१०	बुध्न	बुध्नं
	२१	सेकडों	सैकड़ों
१३७	१	पवाम्बा	पराम्बा
	१०	पत्यड़	पत्यः
	,,	हविड़	हविः
१३८	३	यच्छेति	यच्छेदिति
	७	क्षिप्त	क्षिप्तं
	११	नीतये	वीतये
१३९	१२	कण्वो	काण्वो
	२८	सस्कार	संस्कार
१४०	१	द्वभि	द्वद्‌भि
	१०	वाधिक	वाधिकं

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१४०	१२	वार	वारं
	२७	हौम	होम
	३२	सहि	एहि
१४१	८	बहूलं	बहुलं
	,,	वत्वा	क्त्वा
	,,	त्यशुद्ध	त्यशुद्धं
	९	र्मिति	मिति
	१४	मूढ़	मूढ
	२७	महा-	महाभाष्य-
	३०	पाणिनि	पा० सू०
१४२	८	प्रासारितो	प्रसारितो
	,,	तद्दिव	तद्द्वि
	१०	सपदि	सयदिदं
	११	हव	हवि
	१२	इद	इदं
	१७	गोवा	ग्रावा
	१९	सस्क	संस्क
	२२	सस्कु	संस्कु
	३४	उससे	उसमें
१४३	३	समर्थ्य ते	समर्थ्यते
	७	हृणान	हृणानं
	८	उद्धा	उद्वा
	१०	रूपाय	रूपाया
	१६	बुद्धवैव	बुद्ध्वैव
	१८	हेत	हैत
	,,	वण	वर्ण
१४५	२	सापेक्षय	सापेक्ष
	५	कितबो	कितवो
	११	जूषं	लूषं
	२६	नपूत्रीय	नप्त्रीय
	२८	एव	एवं
१४६	२	र्जन	र्जनं
	४	मह	महं
	,,	ह्यामि	हयामि
	३१	प्रत्प्रक्ष	प्रत्यक्ष
१४७	१	कुक्कुटो	कुक्कुटो

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१४७	१	जिह्वःइष	जिह्वऽइष
	२	अरातयः।	अरातयो
	३	अप	प
	९	हेशूर्प	हेहविः
	१३	अंगुठियाँ	अँगूठियाँ
	२३	सधन	साधन
१४८	४	भावद	मावद
	६	कदाचि	न कदाचि
	१४	षर्भणेति	र्षभेणेति
	१९	छित्व	द्वित्व
	२२	विशेष	विशेषं
१४९	५	त्यस्याः	तस्याः
	९	यज्ञ	यज्ञं
	३६	मोदत्ते	मादत्ते
१५०	३	शर्पू न	शूर्पेण
	८	करण	करणम्
	११	तूषतीमि	वितुषीकृतानि
	१७	बह्वृ	बह्वृच्
	२०	रुद	रुद्व
	२६	व पुर्वः	वायुर्व
१५१	२४	अस्ति अर्थात्	असि अर्थात्
१५२	१२	नडा	नडाना
१५३	१२	अय	अयं
१५४	६	वैश्वदेव	वैश्वदेवं
	७	मन्त्र	मन्त्रं
	८	सर्वथ पि	सर्वथापि
	,,	गना	मना
	१७	शब्दमां	शब्दमा
	१९	तुण्डुल	तण्डुल
	२३	मे	से
	२६	भवनादि	सवनादि
१५५	९	प्रेष्यति	प्रेषयति
	२०	नादमृत	नादामृत
	२३	उन्त	उत्तर

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५५	३४	अज्ञा	आज्ञा
	३५	देहि	धेहि
१५६	६	हवणि स्फ्यकपाल	हवणी स्फ्यकपालं
	८	नामनि	नानि
	९	ययोः	द्वयोः
	१०	शकटः	कटः
	१५	मुत्त ७ं	मुत्तरां
	२८	पवित्रच्छेनामक	पवित्रच्छेदन
	,,	पवित्र में	पवित्र
	,,	धृष्टि यानी	धृष्टि
	३१	षडक्त	षडवत्त
	,,	शकट	कट
	३६	प्रतयन	प्रतपन
१५७	२	रक्षं	रक्ष
	७	शकेट	शकटे
	८	षां	ष
	१४	उर्वन्तर	उर्वन्तरि
	१८	मसि	नामसि
१५८	३	शेषभि	शेषाभि
	५	ग्नौ	ग्रौ
	६	हवणौ	हवणी
	१७	शकट हो	शकट न हो
	२७	द्दिङ्गन	दिङ्गन
	३०	यज्ञ	यज्ञं
१५९	१२	कुट्टर्यत	कुट्टयति
	,,	वर्षवृद्धय	वर्षवृद्धम
	१८	सञ्जरण	सञ्चरण
	१९	दिलावे	हिलावे
१६०	५	जहि	जहि
	१४	मापाय	मादाय
	२०	योग्प्रता	योग्यता
	,,	सज्ञौ	संज्ञौ
	२४	कौ	को
१६१	१	आमद	आमाद
	४	ग्नीन	ग्नीत

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१६१	२२	अमात्	आमात्
	७	मानि	मग्नि
	३१	क्रव्यात् है	क्रव्यात्
१६३	१३	तस्मदा	तस्माद
	१९	अमात्	आमात्
	३३	भ्रतृव्य	भ्रातृव्य
	३४	व्रह्मण	व्राह्मणं
१६४	३	निष्क्रव्याद्	निष्क्रव्यादं
	४	दाहक	दाहकं
	,,	प्रत्यक्ष	प्रत्यक्षं
१६५	८	ञ्चास्ति	ञ्चात्ति
	,,	द्युत्पद्यते	दुत्पद्यते
	९	या	यो
१६६	१	चान्ये	यान्ये
	,,	एत	एता
	७	यज्ञा	यज्ञ
	,,	दान्ये	यान्ये
	१०	नाग्नि	नाग्नि
	,,	वोपचारति	वोपचरति
	१६	ष्टीय	ष्टि
	२१	क्रव्याद	क्रव्यादं
१६७	१४	यन्त्रेण	मन्त्रेण
	१६	पृथिम्या	पृथिव्या
	२०	णेव	णंव
	२२	ब्राह्म	ब्रह्म
	२३	ब्राह्म	ब्रह्म
१६८	७	दृढ़ी	दृढी
	९	भृत	मृत
	१३	ववमेबत्ति	ववमेवात्ति
	,,	व्या	त्या
	१५	दृढ़ी	दृढी
	१९	क्यो	क्यों
१६	१	रक्षणाद	रक्षणार्थं
१६९	१५	त्यग्ने	त्यग्ने
	१७	कमदानी	कर्मदानी
१७०	५	वेलायां	पाकवेलायां

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१७०	६	ढयार्थं	द्व्यार्थं
	१६	हिॐ	हि
	,,	रक्षसां	रक्षसाॐ
१७१	३	वाशिष्टं	अवशिष्टं
	१०	तरन्ती	तपन्ती
	१५	पूण	पूर्ण
	१७	वध	वर्ध
	,,	एव	एवं
	३०	मैं	हे
१७२	४	यथार्थं	जीवनार्थं
	५	धेदो	वेदो
	६	विशिष्ट	विशिष्टं
	१३	सो	रसो
	,,	द्वय	द्वच
	१९	अर्थ	जीवन
१७४	५	श्वय	श्वर्य
	९	न ष्ट्रा	नाष्ट्रा
	१६	ॐ तृतीयं	तृतीयं
१७५	२	म्यस	न्यस
	८	संज्ञा	संज्ञाना
	२२	आसन्	असन्
	२७	चादिन्	चारिन्
१७६	२	ग्राह्य	ग्राहय
	,,	ग्राह्य	ग्राहय
	४	नर	नरस्य
		।	।
	१४	धिषणासि	धिषणासि
		—	—
१७७	२१	प्रतिदिन	प्रतिदिनं
	२६	दृषद्	दृषदं
	३५	पेषणाथ	पेषणार्थ
१७८	१	दृषद	दृषदम्
	६	त	तं
	८	स्वभि	स्वाभि
	१७	पाव	पार्व
	३४	वणी	वाणी
१७९	१०	पर्वणे	पर्व
१७९	१६	त्या	त्वा
	२८	पर्वणे	पर्व
१८०	६	स्पष्ट	स्पष्टं
	१३	समन्यक	समन्यकं
१८१	९	स्वामी	स्वात्मी
	१२	जड़	जड
१८२	७	धान्य	धान्य
		– –	–[illegible]
	८	पाणिडः	पाणिः
		–	–
	२६	छिनु	धिवु
१८३	१०	दीर्घा प्रासितिः	दीर्घा प्रसितिं
	१६	जालं	जलिं
१८४	१	ममु	मनु
	२	युष्यैव	युष्पस्यैव
	१४	भोवतृ	भोक्तृ
	१५	पुण्य	पुष्य
	२१	उसको स्थापन करने	उस पर बैठने
	३०	भाग्य	भोग्य
	३१	पुण्य	पुष्प
	३२	पर	पद
१८५	१	वय	वप
	४	याद	यद
	१८	उडेल	उड़ेल
१८६	१	व्या	र्व्या
	१०	अनु	अनू
	१२	पदे न	पदेन
	२९	पद का	पद का अर्थ
	३५	अचय	अन्वय
१८७	१	त्वे नोक्तं	त्वेनोक्तं
	४	तस्या	तस्याः
	७	ज्ञान	ज्ञानं
	९	शून्यं	शून्य
	१५	पेषण	पेषणं
	३५	वीण	प्रीण
	,,	ताआ	ताओं
	३६	महै	महैं

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१८८	१	विलक्षणो	विलक्षणो
	७	तच्च सु	तच्चक्षु
	१६	अङ्गारैं	अङ्गारैः
	२३	त्वेत्	त्वेति
१८९	३	नामं	नाम
	८	जुष्ट	जुष्टं
	९	भवति ।	भवति,
	१३	मन्त्र	मन्त्रं
१९०	२	यथ	यथा
	१०	धि	धि
	३०	मैं	में
	३५	प्रदि	प्रति
			।
१९१	१	सवेश्विनो	सवेश्विनो
		—	—UU
	,,	भ्याम्	भ्याम् ।।
	२	। स ७ं	।। स ७ं
		–	
	,,	भिङ्	भिः
	३	मती	मती
			–
	,,	मती	मती
		–	
	१०	ज्जन	ज्ज्वल
	२५	अग्नोत्	अग्नीत्
१९२	४	प्रकाशे वा चाश्वि	प्रकाशे चाश्वि
	,,	दृढ़	दृढ
	१४	वृष्टि	वृष्टि
	१७	धीयाँ	धियाँ
	३१	लोग	लोगों को
१९३	४	ववै	सावे
	५	पात्र्य	पात्र्या
	१५	न्तर	न्तरा
	१७	सृजन्य	सर्जन्य
१९४	९	अपो	आपो
	२४	औषधयः	ओषधयः
	३०	व्राहि	व्रीहि
१९५	१	पूष्णाः	पूष्णः
	,,	किन्तु छन्दोरूपाः रेवती	रेवती
	६	नत्वेन	न्त्वेन
	८	धर्मो	धर्मो
		--	— ⌊
	२५	तदन	तदन्
	२६	अपादान	आपादन
१९६	१३	श्रुतैः	श्रुतेः
	१८	दम्पत्ती	दम्पती
	२४	यदि मेलन होग	मेल न हो
	३१	जब	जिससे
१९७	७	म ७ं ये	माप्त्ये
	१०	थथा	यथा
	१४	वार्षि	वर्षि
	१९	प्रस्तृत	प्रसृत
	२५	अनुस्त्य	अनुक्त
	३०	चारु	चरु
१९८	३	त्वां	त्वा
	४	पूय	यूय
	६	एव	एवं
	१५	कणञ्च	कथञ्च
	३१	उसकी	उसको
१९९	१३	मि	इ
	३३	मि	इ
२००	१	सौ	सं
	२	वृत्यो	वृक्तो
	४	संवन	संयवन
	१४	द्वित्व	द्वित्वं
	१६	नानत्वम्	नानात्वम्
	२४	अष्ट्रा	अष्टा
२०१	५	मर्थो	मर्धो
	११	द्धा	द्वा
	१४	अर्क	ऊर्क्
	१५	मन्त्रे	मन्त्रेण
	३०	णक्तिः	णक्ति
	३३	विश्ववायु	विश्वायु
२०२	१४	ध्न	घ्न

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२०२	३४	द्वा	द्‌वा
२०३	६	ग्नि	ग्नि
२०४	२	त्रो	त्रा
	१३	यप्रवर्ग्य	प्रवर्ग्य
	३१	अर्थात् अभिलषपीय	अभिलषणीय
	३६	भस्राः	भस्त्राः
२०५	८	यितु	यतु
	६	। भि	त्रि
	१६	धो	धों
२०६	२	धानासू	धानासु
	४	भिवा	वभिवा
	८	७' ये	प्त्ये
	,,	न्तमान	न्दमानं
	६	ङ्गलि	ङ् गुलि
	११	ता	तात्वं
	१६	मिति	रिति
	२७	आरत्य	आप्त्य
२०७	१	तद	तदा
	२	लेमिरे	लेभिरे
	२६	अह	अहं
	२६	लिसे	लिये
२०८	१३	न्तात्तरं	न्ततारं
	,,	न्प	म्प
	३४	बैंस	वैसे
२०६	५	मंत्वेन	मत्वेन
	१३	नच्चो	नञ्चो
	१४	निनयन	निनयनं
	३०	शोधते	शोध्यते
२१०	७	घं	द्यं
	८	णत्	णत
	,,	मीषा	भीषा
	,,	ऽयः	ऽपः
	६	ऽमि	ऽभि
	,,	ष्ठ पू	ष्ठ्यू
	१२	मार्ग्नि	मर्ग्नि
	१३	मते	गते
	२१	पूव	पूर्वं

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२११	१	यथेवं	यथेदं
	५	वदप	वध्य
	६	उप	उष
	६	वेषु	वैषु
	१०	जनं	जन
	१७	दक्षिणेन	ऽदक्षिणेन
	१६	अप्त्यों	आप्त्यों
	२३	उप	उष
	३५	यजवे	यजते
२१२	२	भोति	भीति
	११	स्वा	स्या
	१३	मेघो	मेधो
	१४	मेघं	मेधं
	१६	पहूँ	पहुँ
	३१	मेघ	मेध
	३२	मेघ	मेध
	३३	मेघको	मेधको
	,,	मेघके	मेधके
	३४	मेघवत्	मेधवत्
२१३	२	हिः	हि
	,,	थास्ति	थास्थि
	,,	पिष्य	यिष्य
	३	धार	घाट
	,,	मज्जा न	मज्जानं
	,,	संपश्चत	संपद्य
	७	ह्यते	हैते
	१६	यद	यदा
	१८	मेघ	मेध
	२०	मेघके	मेधके
		|	|
२१४	१	प्रसवेऽश्वि	प्रसवेऽश्वि
		— ——	—uu
	,,	भ्याम्	भ्याम् ।।
	३	वधः	व्वधः
			–
	१०	हरणर्थ	हरणार्थं
	,,	तद्‌भावे	तदभावे

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२१४	१३	लभ्यं	लभ्य
	१५	भृष्ट	भृष्टि
२१५	१	ग्नि	नि
	७	पदार्थै	पदार्थ
	१०	दुखानां	दुःखानां
	१२	मविशिष्ट	विशिष्ट
	३४	बाहु	बाहुसे
२१६	७	तृतीाद्	तृतीयाद्
	१२	यत	यत्
	२०	कर	कह
२१७	१	भ्यां पूषाभाग-	भ्यामश्विनाव-
		दुद्यस्तत्तस्यैव	ध्वर्यू तत्तयोरेव
	३	स्मा	मा
	३१	जा	जो
२१८	२३	के	से
२१९	१	यजामे	षस्वजाते
	३	सख्य	संख्य
	९	तेजो	तेजस्त्वं
	१२	परभ	परम
	,,	शतेनपार्शैर्यो	शतेनपार्शैर्यो
		– – – –	– – –uu
२२०	८	वज्र	व्रजं
	१०	वज्र	व्रजं
२२१	३	यसा	यज्ञा
	४	ऽस्था:	ऽस्या:
	३१	जड	जड़
२२२	१	दुष्टान्तं	दुष्टानां
२२३	१९	बाधन्ते	बाधन्त
२२४	९	ग	रे
	१०	निगमन	निगमनं
	१३	व्रज	व्रज
२२५	५	पान्नेन	पापन्नेन
	१५	दिनि	दिर्नि
	१६	चेति	च्छेति
	२९	व्रज	व्रजं
२२६	८	गोष्ठाने	गोष्ठानं
	२१	वृत्र और	और वृत्र के
२२७	७	कार	कारक
	८	गोष्ठानं	गोष्ठानं
		–	– –
	९	पार्शैर्यो	पार्शैर्यो
		◡◡◡	– uu
	११	पार्शैर्यो	पार्शैर्यो
		–◡–	– uu
२२८	९	नाद्धृतां	नोद्धृतां
	१३	वार	वारं
	१५	सतृण	सतृणं
	२४	हा	हो
२२९	४	कदाचितं	कदाचित्तं
	५	मुञ्चतु	नमुञ्चतु
	८	त	तं
	९	द्वेष्टार	द्वेष्टारं
	१२	ताड़	ताड
	१३	कानि	कानिचित्
२३०	२	वथा	यथा
	२२	करनेपर	में
२३१	११	चे	चि
	१७	निसार	निःसार
२३२	१	त्ति	प्ति
	२	ऽय	त्य
	८	मन्त्रक	मन्त्रकं
	२३	(१।२।४।१७)	(१।२।४।१७) से
	२६	तित्तिरी	तित्तिरि
	२९	व्रज	व्रजं
२३३	५	व्रज	व्रजं
	९	सर्व	सर्वं
	२४	बल	बलसे
	२७	इस	इसलिये
	३०	पृथिव्यादि	पृथिव्यादि तीन लोक हैं।
२२४	२	प्रत्यक्ष	प्रत्यक्षं
	७	द्रपन	द्रप्स
	८	त्वे	त्वै
	१९	उत्पादन	उपपादन
	२७	परिणाम	परिमाण

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२३४	२८	अपूर्व	पूर्व
२३५	३	भाग	भागे
	५	भूं	भू
	६	हा	स वै
	११	सूक्ष्मा	सुक्ष्मा
	,,	जस्ब	र्जस्व
	१२	पारि	परि
	३६	सूक्ष्मा	सुक्ष्मा
२३६	६	विधा	विद्या
	८	पटनं	पठनं
	१४	नेव	न्येव
	,,	त	तं
	१६	ष्वती	स्वती
	१७	सुखदा	सुषदा
	२६	जा	जो
२३४	३	शक्यन्ते	शक्यते
	,,	मेंव	मेव
	७	त्येव	न्त्येव
	८	भूवन	भुवन
२३८	१०	अचयन्त:	पूजयन्त:
	१८	ददम्	दद्मुम
२३९	१	जिहीडिंरे	जिहीडिरे
	,,	न्देति	न्तेति
	१५	ष्यामि	ष्यन्ति
२४०	३	यूक्त	मोक्त
	८	शवय	शक्य
	१३	ङ्गु	ङ्गं
	१५	म्ला	म्लो
	१७	विष्णु	विष्णु:
	१८	ते	तै
	२१	ग्राह	ग्रह
२४१	,,	। वत	।
	२	एवमत	अतएव
	७	पूर्व	पूर्वं
	३३	छन्दसे	छन्दसा
	३४	सूक्ष्मा	सुक्ष्मा
२४२	४	अर्क	ऊर्क्
२४२	१५	ग्रह्यो	ग्रह्यो
	२३	अर्क्	ऊर्क्
	२६	प्रशंशा	प्रशंसा
	३१	उतनी	उतने
२४३	१	गृह्णाति	गृह्णामि
	४	मन्येन	मन्येत
	५	श्रतो	मतो
	६	यो षा	योषा
	,,	वैं	वै
	१४	रां सा	रांसा
	१६	व्यव	व्या
	,,	व्यव	व्या
	१९	सूक्ष्मा	सुक्ष्मा
	२०	सवत्सर	संवत्सर
	२२	स्यत्	स्यात्
	२४	रत्नी	अरत्नि
	२६	प्रग्	प्राग्
	२७	वैदि	वेदी
	३३	पश्चित	पश्चिम
	३५	रां सा	रांसा
२४४	१	वैदि:	वेदि:
	४	रां सेति	रांसेति
	३०	बाधक का	बाधक
२४५	४	ण	ण
	१३	तासु	तामु
		–	–
	,,	द्विष	द्विष
		—	–
	१४	वधोऽसि	वधोसि
		◡◡	◡∟
	२५	सुषदां	सुषदा
२४६	७	स्थल	स्थलं
	६	समन्त्र्य	सम्मन्त्र्य
	१७	मि:	मि
	२४	थूमि	भूमि
२४७	३	अग्नीध्रं	आग्नीध्रं
	७	पयित	पित

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२४७	१४	। रीत्या	रीत्या
	२५	याग हैं	याग करते हैं
	३२	क्षित्वा	जित्वा
	११	दिवि	ति
२४८	१३	बह्यः	बह्व्यः
	२५	करे	करें
	२७	थी	थीं
	२८	मसी	मसि
	३०	दयेत्	दय
२४९	१३	नदधत	न्यदधत
	१५	निः	नि
	२१	जा	जो
	२६	लगे	लेंगे
	२७	हा	ही
	२९	सपदिति	स यदिति
२५०	३	मसिस्त	मासीत्त
	,,	ह	ऽपि ह
	८	पुरुषोद	पुरुषादे
	९	वाक्याथे	वाक्यार्थ
	१२	स्तदानुः इति	रदानुः इति
	,,	जीवदानु	जीरदानु
	२०	सङ्गो	सङ्गा
	२८	दानुक्	दानुः
२५१	५	ग्रामां	ग्रामा
	६	महन्नाम स्तु	महन्नामसु
	,,	प्यादृधृत्या	प्योद्धृत्या
	८	भूतां	भूता
	१२	सरांशं	सारांशं
	१३	स्थां	सा
	१५	यज्ञय	यज्ञिय
	१६	कृष्ण	कृष्णं
२५२	३	ब्रह्म	ब्राह्म
	,,	ममं	मं
	,,	जुगु	जूगु
	५	मुद्यच्छे	मृच्छे
	६	प्रोक्षणा	प्रोक्षणी
	,,	त्यादिक	त्यादिकं
२५२	७	प्राक्षत्य	प्रोक्षत्या
	,,	तदश	तदंश
	९	जुगु	जूगु
	,,	गूपू	गुपू
	२६	अजुगुपताम्	अजूगुपताम्
२५३	१	तां	। अथैतां
	११	अमुष्यै	अमुष्मै
	,,	हैवै वै	हैवै
	१४	ह्यवेन	हैवैनं
	,,	मन्त्रार्थस्तु	। मन्त्रार्थस्तु
	,,	मित्येवं	मीत्येवं
	१६	आसुस्तः	आसुस्त—
	१८	तां	अथैतां
	२०	वेद	वेदी
	,,	को,	को
	३०	स्फ्य,	स्फ्य
२५४	१३	रस	रसः
	,,	होचुः	ते होचुः
	,,	येज	यज
	,,	उन न	उ न
	१४	न्ति	न्तीति
	३०	वाले अङ्गिरस आदि	वाले
	,,	अपने	अङ्गिरस
	३४	यते	यजे—
	३५	मही	महि
२५५	१	मनुष्यानुष्यानुक्तात्	मनुष्यानुक्तवान्
	३	रङ्गि	राङ्गि
	,,	परिषूतं	देवानां परिषूतं
	४	माचारिष्ठ	मचारिष्ट
	,,	मर्शं	मर्शं
	५	स्तर	षष्तर
	१०	नष्ट	नष्टि
	१२	वर्शं	वमर्शं
	,,	स्तर	षस्तर
	२३	मुक्तः	युक्तः
	,,	भूत	ऽभूत
	१९	मांस	मांसा

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२५५	१६	नखलग्नाभ्यामर्थात्	र्थात्
	२०	रङ्गि	राङ्गि
	२२	है कि	है
२५६	८	मश	मर्ष
	,,	नाय	नायं
	११	इति	इति ।
	१६	रोषा	दोषा
	२४	(पापभागि)	पापभागिता
२५७	६	द्वा	द्वा
			—
	८	ध्यायै	ध्यायै
		‿	–
	१९	सूयै	सूर्य
	२६	"शिता"	"अविशितोऽसि
२५८	२५	इन्ध्या	इध्या
	,,	ध्यै	ध्यायै
२५९	४	ष्टप्त	ष्टप्तं
	६	ष्ट	ष्टं
	७	ष्ट	ष्टं
	९	ताड़	ताड
	१०	कत्त	कर्त
	१२	ष्ट	ष्टं
	१४	रतयः	रातयः
	२१	जयन्तु	जंयन्तु
	३१	हूँ	है
२६०	२	निशि	अनिशि
	३	भूव	भून्
	,,	कृतो	कृत्यल्युटो
	,,	वार्तिकेन	सूत्रेण
	४	"शिशये"	'क्षि क्षये'
	७	घृणु	घृणु
	१८	निशिता	से अविशिता
	२०	कृतो	कृत्यल्युटो
	,,	इति	इस
	२१	बार्तिक	सूत्र
	,,	शिशये	क्षि क्षये
२६१	२	र्थां	र्था

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२६१	६	वर	र्वर
	१५	नार्हो	नार्हा
	१७	याय	यायै
२६२	१	स्पो	ष्पो
		—	⌊⌋।
	,,	ऽद	ऽद
		—	
	११	मितेन	मितेन
	२०	णिक्	णित
	,,	आदित्यै	अदित्यै
२६३	२	गुण	गुणं
	१५	वसि	विषि
	,,	राग्न	राग्र
२६४	३	च ।	च
	,,	सस्कृ	संस्कृ
	७	भूत	भूतं
	,,	आदित्यै	अदित्यै
	११	त	तं
	१५	रिक्ष	रिक्षं
२६६	१९	आदित्यै	अदित्यै
	२६	मन्त्रासे	मन्त्रसे ।
	३०	शब्दसे	शब्द
२६७	२	ह्न ते	ह्नुते
	३	इवे	इवै
	८	धर	ध
	१०	ह्न ते	ह्नुते
	१८	इवे	इवै
	२१	मुञ्चो	मुच्यो
	२८	देनेसे उस देवपत्नी का जो बैठने का स्थान है उसे छोड़ देनेसे उस	देने से उस
२६८	५	पद	पदं
	९	द्रव	हर
	,,	हव	तदाहव
	१०	र्थः ।	थ
	११	दना	दन्त
	१२	स्मात	स्माद

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
	१२	यस्योये	यस्य
	,,	तस्त्र	तत्र
	२१	नातेन	नार्तेन
	,,	चक्षुषा	चक्षु
२६९	५	पत्यैं	पत्ये
	८	पत्नी	पत्नीं
	२८	श्रयण	श्रवण
२७०	६	त्युप्	त्युप
	७	शास्त्र	शास्त्रं
	२६	हा	ही
	२९	राज्य	आज्य
	३३	आदित्याः	अदित्या
	३५	से	से।
	,,	उसके लिये	इसके लिये इस
		इसकी रसना	रास्ना को
२७१	१	व्याप्तो	व्याप्तौ
	६	सिद्ध्ये	सिद्धये
	११	चक्षु	चक्षुष
	१३	स्थान	स्थानं
	,,	याग	यागं
		।	।
२७२	३	तेजोऽसि	तेजोसि
	११	पुनाति	पुनाति सवितुस्त्वा
	१९	स्त्वा	सवितु स्त्वा
२७३	१	दैवै	देवै
२७४	१०	तादृशा	तादृश
२७५	१२	रूप	रूपं
२७६	१४	अतौ	अतो
	२९	का ही अवक्षेण	यजमान से ही
		करते	अवेक्षण कराते
२७७	४	वंचनम्	र्वचनम्
	७	ऽय	ऽयं
२७९	१	तस्मात्	तस्मादु
	४	मुष्यै	मुष्मै
	८	देवा	देव
	२५	तीण	तीर्णं

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७९	२६	जा	जो
	२७	स्वीक	स्वकी
२८०	२	नाम	नामा
	३	स्थ	स्य
	७	मिमदोष	मिमं दोषं
	३४	नू	नु
	४	यत्रात्रा	यत्राता
	६	माण	माणं
	१४	मे	में
	१८	भ्रतृ	भ्रातृ
	२३	है	कहा है
२८२	२	नैव	नैवं
	६	जुहोति	व्रतज्जुहोति
	६	देवय	द्य
	७	म्य	भ्य
	८	ह्वा	ह्णा
	,,	भेन	भे
	९	द्‍	ढु
	,,	ढ़	ढ
२८२	६	यत्ते	मयि यत्ते
	,,	हरोति त	ह्वरेति तं
	१०	ग्रहण	ग्रहणं
	,,	शसति	शंसति
	११	ह्वा	ह्णा
	१२	जुह्वांम	जुह्वाम
	१३	रहो	रही
	२३	फो	के
	२७	का	को
	३१	उस	उससे
२८३	१	स'	सं
	६	द्‍	ह
	८	इति	इति
	१९	समां	से
	,,	ठीक है	ठीक नहीं है
२८४	२	दृसि	दृसि
	७	तात्	तत्
	,,	त	तं

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२८४	१०	वद	वदं
	११	प्रजा	प्राजा
	१४	घर्षण	धर्षण
	१६	होने	न होने
	२४	करना	करता
	२८	अज्य	आज्य
	३४	आह्व	आहव
२८५	६	युर्यजमानयो	युर्यजमानयो
	८	ह्वयति	आह्वयति
	९	मनन्त्रा	मन्त्रा
	१८	आदित्या	अदित्या
	,,	वह अध्वर्यु	अध्वर्यु
	२२	स्त नूः	स्तनूः
	,,	ह्वा न	ह्वान
	२६	कुक्कुयेक्कुऽसि	कुक्कुटोऽसि
	२८	वर्षवृद्धिम्	वर्षवृद्धम्
	३६	रुप से	शूर्प से
२८६	१	पूर्वै	पूर्वं
	५	प्रेरयत	प्रेरयति
	४	ततोऽग्नेऽग्नि	ततोऽप्राग्नेऽग्नि
	९	ततोरुण	ततोधरुण
	१०	रख्खे	रखे
	५	ततो याज	ततो आदेवयज
	२०	यजव्व	यजंव
	२१	लायं	लाये
	२८	ह० व्रह्म०	हव्रह्म
	२९	धर्वमसि	धर्त्र मसि
२८७	३५	प्रादक्षिष्येन	प्रदक्षिष्येन
	३	तोद्वे	तो द्वे
	,,	नमू	नम्
	७	सयव	संयव
	८	पूववद्ध	पूर्ववद्धू
	१४	निमित	निर्मित
	१६	तान	तानि
२८८	२	रग्नीधा	राग्नीध्रा
	३	अग्नीधा	आग्नीध्रा
	५	धि	धि—
	८	त्रिर्वां	त्रिर्वा
	९	रितं ꣳ	रित ꣳ
	११	दर्भ	दर्भ
	१५	याद्या	याध्या
२९०	१	पारुरु	पाररु
	५	प्रहरात	प्रहरति
	६	क्षेपण	क्षेपणं
	५	तष्तृ	तस्तृ
	६	व्रह्मन्	व्रह्मन्
	,,	व्रह्माण	व्रह्माणं
	९	तता	ततो
	११	समृ	संमृ
	१२	त्र्यङ्गलमू	त्र्यङ्गुलम्
	१३	ग्नीधं	ग्नीध्रं
	३६	मरु	मेरु
२९१	५	पढा	पदा
	८	ग्नि	ग्नि—
	१९	णाडिन	णाग्नि
	२०	अन्वहार्य	अन्वाहार्य
	२८	की	को
	२९	भागे	भाग में
	३१	में में	में
	३५	अथीत्	अर्थात्
२९२	१	स्त्रुव	स्त्रुव
	३	व्रध्ना	बुध्ना
	६	ध्रुवान्च	ध्रुवञ्च
	,,	प्रतत	तत
	८	णा	णा—
	९	माष्टि	मार्ष्टि
	१४	खीचने	खींचने
	१९	कग्ना	करना
	३४	संप्ह्रियेत	संह्रियेत
२९३	३	र्यवेद	युर्वेदं
२९४	२	गृहाति	गृह्णाति
	४	मणात्	माणात्
	१७	प्रे "षों	प्रैषों
	२५	कात्यश्रौत	कात्यायनश्रौत
२९५	३	च्चैः	उच्चैः
	२१	मुज्ज	मुँज्ज
	३६	हात	हाथ
२९६	२	ममे	मम
	२८	यानि	यानी

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

भाष्यप्रणेतारः
अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

द्वितीय-तृतीयाध्यायात्मको भागः

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता • वृन्दावनम्

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

[द्वितीय-तृतीयाध्यायात्मको भागः]

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

भाषानुवादकः

डॉ० प० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकरः

मीमांसा-वेदान्त-साहित्याचार्यः, एम० ए०, पी-एच० डी०

सम्पादकः

प० व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये

सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचर आचार्यश्च

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्

कलकत्ता • वृन्दावन

श्रीवृन्दावनम् प्रथमसंस्करणम् संवत् २०४६

प्रकाशक—

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्
कलकत्ता ● वृन्दावन

●

मूल्य : साठ रुपये मात्र

●

अस्य ग्रन्थस्य सर्वेऽधिकारा राजकीयनियमानुसारेण सुरक्षिता:

●

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

१. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो कैमिकल्स लिमिटेड
११३, पार्क स्ट्रीट, साततल्ला, कलकत्ता

२. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५/१८ नारदघाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

४. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेन्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

५. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
ई० ४/२४, ईस्ट पटेल नगर
दिल्ली—८

मुद्रक—

तारा प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी

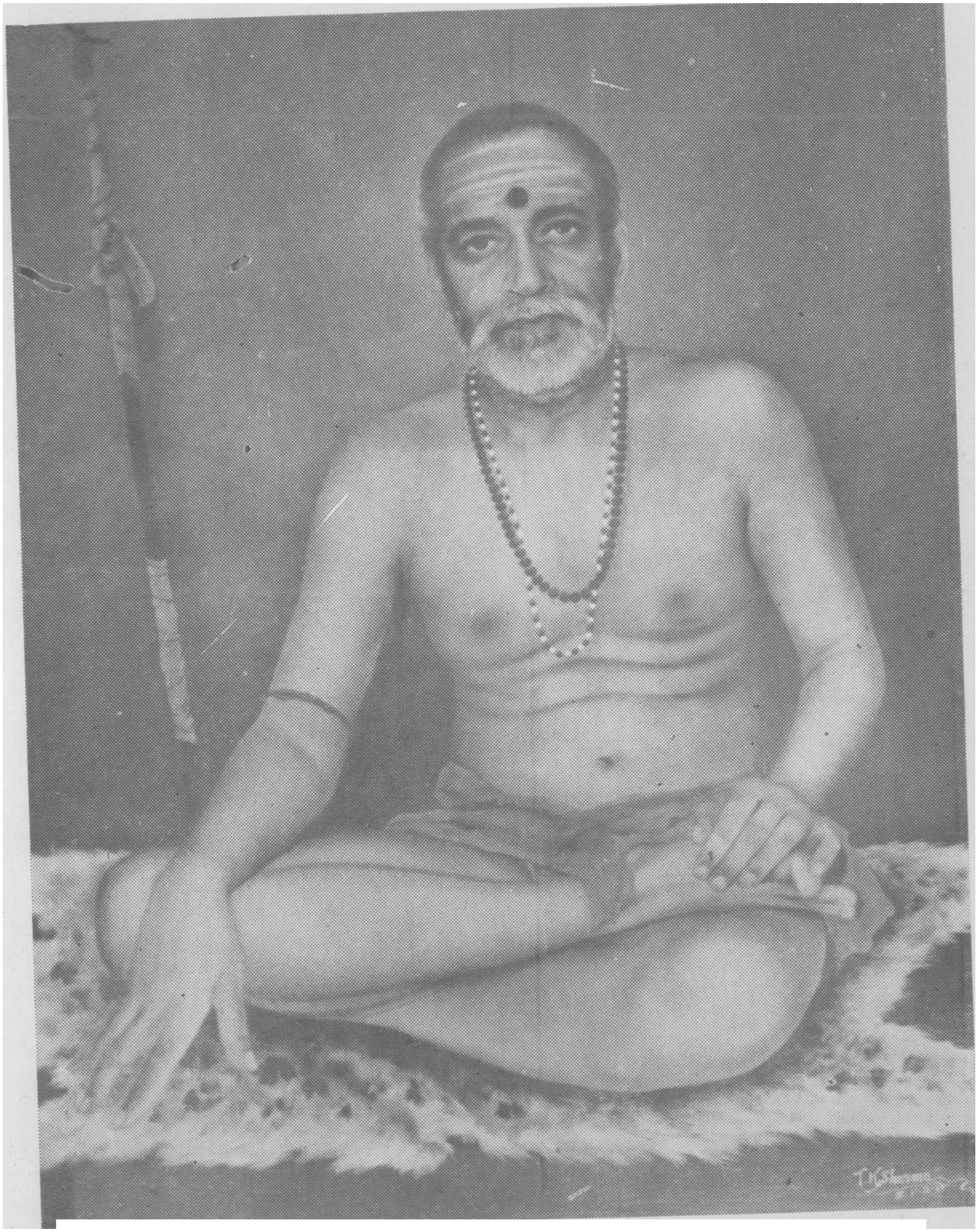

परब्रह्मस्वरूप

धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

भूमिका

अनन्तश्रीविभूषित-जगद्गुरुशङ्कराचार्य-पूर्वाम्नायगोवर्द्धनमठपुरीपीठाधीश्वर

स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवजी तीर्थ महाराज

वेदं वेदनिधिं विद्यां ब्रह्मविद्यां गणाधिपम् ।
सरस्वतीं गुरून् सर्वान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

भूमिका स्वामिपदानां भाष्यस्येयं निगद्यते ।
सारभूतैकविंशत्या विदुषां प्रीतिहेतवे ॥ २ ॥

स्वस्वरूपस्थितिर्मोक्षो वेदस्यैकं प्रयोजनम् ।
भगवद्भक्तियोगश्च द्वितीयं तत्प्रयोजनम् ॥ ३ ॥

अत्रावतारवादोऽपि बहुधा सम्प्रकीर्तितः ।
मन्त्रोऽयं स्पष्टमेवाह 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' ॥ ४ ॥

शक्या एतादृशा मन्त्राः समुद्धर्तुं सहस्रशः ।
सगुणत्वं भगवतः साकारत्वं च साधितुम् ॥ ५ ॥

कर्मकाण्डप्रवृत्तिश्च वेदोद्देश्यं तृतीयकम् ।
कर्मणामननुष्ठानात् चित्तशुद्धिः कथं भवेत् ॥ ६ ॥

कर्मोपासनबोधाख्यं त्रयं वेदेन बोध्यते ।
कर्मभिश्चित्तशुद्धिः स्याद् भक्त्या चैकाग्रता भवेत् ॥ ७ ॥

ततो ज्ञानेन मुक्तिः स्यादेष वेदस्य डिण्डिमः ।
सायणाचार्यपादेन महीधरबुधेन च ॥ ८ ॥

विदुषा चोव्वटेनापि तथा व्याख्यानमीरितम् ।
परं प्रयोजनं मोक्षो वेदस्यास्तीति निश्चितम् ॥ ९ ॥

अवान्तरं तथाप्यस्ति कर्मज्ञानं प्रयोजनम् ।
यज्ञादीनि च कर्माणि प्रशस्तानि बुधैः सदा ॥ १० ॥

अन्तःकरणशुद्धयर्थं श्रुति-स्मृतिमतानि हि ।
'तमेतं ब्राह्मणा' नूनं 'यज्ञेने'त्यादि वेदवाक् ॥ ११ ॥

ज्ञानेच्छायां नियोगं तु यज्ञादीनां ब्रवीति हि ।
अत एव महाभागैः सायणाद्यैः प्रकीर्तिताः ॥ १२ ॥

वेदार्थास्ते समीचीना नान्यैरुक्ताः कथञ्चन ।
इतिहासपुराणैश्च सूत्रवाक्यैस्तथैव च ॥ १३ ॥
निरुक्तैः प्रातिशाख्यैश्च शिक्षाव्याकृतिभिस्तथा ।
मन्वादिस्मृतिकारैश्च याज्ञिकार्थाः सुसम्मताः ॥ १४ ॥
इदानीन्तनविद्वद्भिर्दयानन्दादिभिस्तु यैः ।
पाश्चात्त्यैरपि यैः कैश्चिद् भारतीयैस्तदाश्रितैः ॥ १५ ॥
वेदार्था ये कृतास्ते वै न सत्या इति दर्शितम् ।
करपात्रमहाभागैस्ततो भाष्यं प्रकीर्तितम् ॥ १६ ॥
अत्र सर्वोऽपि वेदार्थः समीचीन उदीरितः ।
शिक्षाव्याकृतिकल्पादिसम्मतोऽथ निरुक्तगः ॥ १७ ॥
सर्वथानुमतः सत्य इतिहासपुराणगः ।
पूर्वैराचार्यवर्यैश्च मन्वादिस्मृतिभिस्तथा ॥ १८ ॥
अनुमोदित एवार्थः स्वामिपादैः प्रकीर्तितः ।
एतेषां सर्वशास्त्राणां ज्ञानं येषां न विद्यते ॥ १९ ॥
अज्ञात्वा भाष्यमेतत् ते खण्डनं कर्तुमुद्यताः ।
एतेनैव परास्तास्ते नोत्तरं तेषु विद्यते ॥ २० ॥
व्यर्थं ते खण्डनं कस्मात् कुर्वन्त्यविधिनोदिताः ।
इदं ते किं न जानन्ति स्यात्तु मोदकखण्डिका ॥ २१ ॥

—श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थः

वेद, वेदनिधि परमात्मा, वेद का ज्ञान कराने वाली अपरा विद्या, परब्रह्म का ज्ञान कराने वाली परा विद्या-ब्रह्मविद्या, विघ्नविनायक गणेश, सम्पूर्ण विद्याओं की अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती और सर्वविध ज्ञानों के स्रोत अपने सभी गुरुजनों को बार-बार प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

विद्वानों की प्रसन्नता के लिये अनन्तश्री धर्मसम्राट् ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज द्वारा विरचित वेदभाष्य की सारभूता 'भूमिका' इक्कीस श्लोकों में लिख रहा हूँ ।। २ ।।

'स्वरूप स्थिति मोक्ष का स्वरूप है'—जहाँ से कभी लौटकर नहीं आना पड़ता वही 'मोक्ष' वेदों का परम प्रयोजन, अर्थात् प्रधान प्रयोजन है । 'मोक्षोपयोगी भगवद्भक्ति का लाभ' भी वेदों का अवान्तर प्रयोजन है ।। ३ ।।

इसी प्रसंग में वेदों के मन्त्र और ब्राह्मण भाग में भगवद्भक्ति के अत्यन्त उपयोगी भगवान् के सगुण-साकार विग्रह और अवतारवाद का भी निरूपण है। **'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाᳪसुरे स्वाहा'** (शुक्लयजुर्वेदसंहिता ५.१५) इत्यादि अनेक मन्त्रों में भगवान् के वामन अवतार का स्पष्ट प्रतिपादन उपलब्ध है ॥ ४ ॥

ऐसे और भी हजारों मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनसे भगवान् का सगुण-साकार रूप स्वतः स्पष्ट सिद्ध हो जाता है ॥ ५ ॥

कर्मकाण्ड के बिना भगवान् की भक्ति हो ही नहीं सकती, अतः कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति कराना भी वेद का गौण उद्देश्य है । कर्मकाण्ड के बिना चित्त-शुद्धि नहीं हो सकती, चित्त-शुद्धि के बिना ज्ञान नहीं हो सकता । **'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां**

क्षयात् पापस्य कर्मणः। यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥' (महा० शान्ति० २०४.८), **'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥'** (कठो० १.२.२५) इत्यादि वचन-समूह से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। 'कर्मकाण्ड का चित्त शुद्धि द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा में विनियोग है' इस बात में **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'** (बृहदारण्यको० ४.४.२२) इत्यादि श्रुति तथा **'स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥'** (मनु० २.२८) इत्यादि स्मृति-वचन प्रमाण हैं। 'कर्मकाण्ड से चित्तशुद्धि और भगवान् की भक्ति से चित्त की एकाग्रता होने पर ज्ञान से मोक्ष होता है' यही वेद का डिण्डिम घोष है। इसीलिये कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों का प्रतिपादन 'वेद' करते हैं ॥ ६-११½) ॥

इसी अभिप्राय से चतुर्वेद-भाष्यकार सर्वदर्शन-पारावारपारीण सायणाचार्य, उव्वट-महीधर, वेंकटमाधव आदि प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों ने भक्ति और मोक्ष को वेद का परम प्रयोजन मानते हुए भी कर्मकाण्ड के ज्ञान को वेद का अवान्तर प्रयोजन मानकर अधिकांश मन्त्रों का कर्मकाण्डपरक भाष्य किया है। भगवत्पाद आद्यशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि सभी पावन साम्प्रदायिक आचार्यों का कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में कहीं मतभेद नहीं, जब कि ज्ञानकाण्ड में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत आदि मतभेदों की भरमार है ॥ १२ ॥

वेद मन्त्रों के प्राचीन आचार्यों द्वारा किये गये यज्ञादि कर्मकाण्डपरक अर्थ ही वास्तविक अर्थ हैं। दयानन्द आदि आधुनिक विद्वानों तथा पाश्चात्य विद्वानों एवं उनकी लकीर के फकीर कुछ भारतीय विद्वानों द्वारा किये अर्थ ठीक नहीं हैं, क्योंकि सायण, उव्वट, महीधर, वेंकटमाधव आदि आचार्यों के अर्थ शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण (प्रातिशाख्य), निरुक्त, छन्द, ज्योतिषशास्त्र—इन वेदाङ्गों के सम्मत हैं। इतिहास, पुराण, पूर्वोत्तर मीमांसा आदि सभी दर्शनशास्त्र और मन्वादि स्मृतिकार भी इन्हीं अर्थों का समर्थन करते हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् श्रीकरपात्रस्वामीजी महाराज ने 'वेदार्थपारिजात' नामक वेदभाष्यभूमिका और वेदभाष्यरूप ग्रन्थ लिखा। इसमें जो वेद के अर्थ किये गये हैं, वे शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, प्रातिशाख्य (वैदिक-व्याकरण) और इतिहास, पुराण, मन्वादि स्मृतियों से पूर्णरूपेण समर्थित हैं ॥ १३-१८½ ॥

इन सभी शास्त्रों का जिन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है और स्वामिचरणों के वेदार्थपरिजात भाष्य की भूमिका को समझने में भी जो असमर्थ हैं, ऐसे कुछ लोग ग्रन्थ के खण्डन में प्रवृत्त हुए हैं, उनका खण्डन इसी से हो गया कि उन्हें किसी भी पूर्वाचार्य का समर्थन प्राप्त नहीं है, प्रत्युत उनका सिद्धान्त सर्वाचार्यविरुद्ध है। फिर भी दुर्दैव की प्रेरणा से वे खण्डन करने का दुस्साहस कर रहे हैं, क्या वे नहीं जानते कि उनके खण्डन की 'मोदक-खण्डिका' हो जायगी ॥ १९-२१ ॥

श्री निरंजनदेव तीर्थ

॥ श्रीहरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित यजुर्वेदसंहिता के द्वितीय-तृतीय अध्याय के भाष्य को सानुवाद प्रकाशित करते हुए हमें बहुत हर्ष हो रहा है। इससे पूर्व प्रथम और चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) का भाष्य अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है, यह आप लोगों को विदित ही है।

प्रकाशन कार्य विस्तृत है। कई कठिनाइयों के कारण द्वितीय-तृतीय अध्याय का प्रकाशन शीघ्र नहीं हो पाया—देर हो गयी। चतुर्थ और पञ्चम अध्याय छप रहे हैं। प्रगति समुचित है। यथाशीघ्र आप लोगों को ये दोनों भाग प्राप्त हो सकेंगे।

विदित हो, पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज की अद्वितीय कृति देश के जिन सन्तों, विद्वानों, उच्च शिक्षाविदों और अधिकारियों के पास पहुँचती है, वे अत्यन्त प्रभावित होकर हम लोगों को शेष भाग शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा प्रदान करते हैं।

भाष्यभूमिका के लेखक, अनुवादक, समय-समय पर उचित परामर्शदाता, प्रूफ पुनरीक्षक, प्रेसकापी साधक, अनुच्छेद (पैराग्राफ) के निर्धारक के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जा को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख प्रस्तुत करने वाले के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, उन सभी परम सम्माननीय, आत्मीय, पूज्य आचार्य, विद्वन्मूर्धन्यों के चरणकमलों में धन्यवाद और अभिनन्दनस्वरूप नतमस्तक होकर हम सदा ही कृपा की आशा रखते हैं। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं, वे हैं—

(१) अनन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराज

(२) स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज

(३) पण्डित श्री गजानन मुसलगाँवकरजी

(४) पण्डित श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारीजी

(५) पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदीजी

(६) पण्डित श्री रमावंशी द्विवेदीजी

तारा प्रेस के सुयोग्य विद्वान् प्रबन्धक तथा सहृदय कर्मचारियों के स्नेहपूर्ण सौजन्यभरे मुद्रणादि कार्यों के सम्पादन को स्मरण कर इन्हें बहुत धन्यवाद देते हैं।

निवेदक

हनुमानप्रसाद धानुका

अध्यक्ष

वृन्दावन धाम

गोवर्धन प्रतिपदा

२०४६ वि० सं०

विषय-सूची

कण्डिकासंख्या	प्रतिपाद्य विषय	पृष्ठसंख्या
	द्वितीय अध्याय	
१.	इध्म, वेदि और कुशा का प्रोक्षण	१–४
२.	प्रोक्षणावशिष्ट जल का विनियोग तथा परिधि के बाहर गिरे हविर्द्रव्य की आहुति	४–१२
३.	मध्यम, दक्षिण और उत्तर परिधियों की स्थापना	१२–१५
४.	आहवनीय में इध्म काष्ठ की स्थापना	१५–१७
५.	प्रस्तर की स्थापना और उसका दोनों हाथों से स्पर्श	१७–२१
६.	जुहू, उपभृत्, ध्रुवा और हविर्द्रव्य को यथास्थान रखना	२१–२६
७.	अग्निदेव, अन्य देवों और पितरों को प्रणामांजलि एवं जुहू और उपभृत् पात्रों का ग्रहण	२६–२९
८.	पात्रों की एवं अग्नि और पृथ्वी की प्रार्थना एवं आहुति दान	२९–३२
९.	अग्निदेवता की प्रार्थना तथा जुहू और ध्रुवा पात्र का एकत्रीकरण	३३–३७
१०.	यजमान की समृद्धि की कामना तथा अग्नीध्र द्वारा पुरोडाश भक्षण	३७–४१
११.	अग्नीध्र द्वारा बिना दाँत लगाये प्राशित्र का भक्षण	४२–४५
१२.	यज्ञ और यजमान की समृद्धि के लिये प्रार्थना	४५–४७
१३.	सविता देवता की प्रार्थना और उनके द्वारा प्रयाण की अनुज्ञा	४७–५०
१४.	अग्निदेव की प्रार्थना, संमार्जन और परिक्रमण	५०–५३
१५.	जुहू और उपभृत् का परस्पर विपरीत दिशा में व्यूहन	५३–५७
१६.	परिधि पर घृतलेपन, प्रस्तर ग्रहण, दर्भ का अग्नि में प्रक्षेप और आत्मस्पर्श	५७–६३
१७.	अग्निदेव की प्रार्थना के साथ तीनों परिधियों का अग्नि में प्रक्षेप	६३–६६
१८.	विश्वेदेवों की प्रार्थना और उनके लिये संस्रव भाग की आहुति	६६–६९
१९.	जुहू और उपभृत् पात्र का शकट की धुरा पर स्थापन एवं वेदी का स्पर्श	७०–७२
२०.	गार्हपत्य अग्नि से संवेश रक्षा की प्रार्थना एवं दक्षिणाग्नि में हवन	७२–७५
२१.	कुशमुष्टिनिर्मित वेद की प्रार्थना और ध्रुवा पात्र से हवन	७५–७८
२२.	घृत से दर्भ का अंजन कर उसकी आहुति देना	७८–८०
२३.	प्रणीता पात्र की स्थापना तथा मृत्कणों का भूमि पर प्रक्षेप	८१–८३
२४.	आहवनीय अग्नि की प्रदक्षिणा, पूर्णपात्रग्रहण और मुखमार्जन	८३–८६
२५.	विष्णुपद द्वारा तीनों लोकों के अतिक्रमण की भावना एवं सूर्य आदि का अवलोकन	८६–९०
२६.	सूर्यदेव की प्रार्थना, अवलोकन एवं प्रदक्षिणा	९०–९२
२७.	गृहपालक अग्नि से गृहस्थी की गाड़ी को सकुशल चलाते रहने की प्रार्थना	९३–९५
२८.	व्रतपति अग्नि की प्रार्थना के साथ व्रत का विसर्जन	९५–९६

कण्डिकासंख्या	प्रतिपाद्य विषय	पृष्ठसंख्या
२९.	क्रव्याग्नि में पितरों के लिये मेक्षण से अग्नि और सोम के निमित्त आहुति	९६–९८
३०.	असुरों और राक्षसों के अपसारण के लिये उल्मुक प्रक्षेप	९८–१००
३१.	पितृगणों की प्रार्थना के साथ श्वासनिरोधपूर्वक मन्त्रजप	१००–१०३
३२.	पितृगणों के निमित्त प्रदत्त पिण्डों पर ऊर्णातन्तु आदि का प्रदान	१०३–१०६
३३.	यजमानपत्नी द्वारा पुत्र-प्राप्ति के लिये मध्यम पिण्ड का भक्षण	१०६–१०७
३४.	पिण्ड के मूल प्रदेश में जलसिंचन	१०७–१०८

तृतीय अध्याय

१.	अग्न्याधान के प्रसंग में घृतसिक्त तीन समिधाओं की आहुति	१०९–११४
२–४.	यजमान द्वारा ऋत्विजों को आहुति देने की अनुमति	११४–११६
५.	भूः, भुवः, स्वः—नामक तीन व्याहृतियों की प्रार्थना के साथ अग्निस्थापन	११६–१२३
६.	आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि का प्रार्थनापूर्वक आधान	१२३–१३०
७.	प्राणापानरूपी वायु के रूप में अग्नि की स्तुति	१३०–१३२
८.	अहोरात्र में व्यवहृत होने वाली वाणी के रूप में अग्नि की स्तुति	१३३–१३७
	[भाष्य में अग्नि के विविध धाम और नाम]	१३३–१३४
९–१०.	अग्निहोत्री के लिये सायंकालीन और प्रातःकालीन हवन मन्त्र	१३७–१४७
११–४०.	आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि का उपस्थान (प्रार्थना)	१४८–१९९
४१–४३.	अग्न्याधान के बाद अग्निहोत्री की गृह सम्बन्धी प्रार्थना	१९९–२०४
	[भाष्य में चातुर्मास्य के चार पर्वों तथा वेदियों पर विचार]	२०४–२०६
४४.	प्रघासी मन्त्र का यजमानपत्नी द्वारा उच्चारण	२०६–२०८
४५.	पत्नीसहित यजमान द्वारा करम्भ पात्रों का दक्षिणाग्नि में हवन	२०८–२०९
४६.	यजमान द्वारा 'मोषूण' मन्त्र का जप	२१०–२१२
४७.	यजमानपत्नी द्वारा 'अक्रन् कर्म' मन्त्र का जप	२१२–२१४
४८.	पत्नीसहित यजमान का अवभृथ स्नान	२१४–२१५
४९.	दर्वी द्वारा स्थाली में से ओदन का ग्रहण	२१६–२१७
५०.	'देहि मे' मन्त्र द्वारा ओदन का हवन	२१८–२२०
५१–५२.	पितृयज्ञसंज्ञक कर्म में आहवनीय अग्नि का उपस्थान	२२०–२२३
५३–५५.	पितृयज्ञ में गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान	२२३–२२५
५६–६२.	साकमेघ पर्व के त्र्यम्बकहवि सम्बन्धी मन्त्र और रुद्र की प्रार्थना	२२६–२४०
	[भाष्य में कालमान का निरूपण]	२४०–२४२
६३.	क्षुर की प्रार्थना एवं यजमान का वपन	२४३–२४४

द्वितीयोऽध्यायः

ॐ कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे इध्म ! कठिन वृक्षपर निवास करनेवाले तुम कृष्णमृगरूपी यज्ञ के साधन हो। इसलिये अग्नि को प्रिय लगनेवाले तुम्हें जल से मैं सिञ्चित कर रहा हूँ। हे वेदी ! देवताओं ने तुम्हें असुरों से प्राप्त किया है। इसलिये कुश धारण करनेवाले को तुम्हारा उपयोग होता है। उस कारण जल से मैं तुम्हारा सिञ्चन कर रहा हूँ। हे दर्भ ! तुम वेदी का विस्तार करने में समर्थ हो, अतः स्रुचाओं को प्रिय लगनेवाले तुमपर मैं सिञ्चन कर रहा हूँ ॥ १ ॥

'इध्मं प्रोक्षति विस्रंस्य वेदिञ्च बर्हिः प्रतिगृह्य वेद्यां कृत्वा पुरस्ताद् ग्रन्थि कृष्णोऽसीति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २।७।१९)। अध्वर्युरिध्मं तत्रस्थमेव विस्रंस्य कृष्णोसीति मन्त्रेण प्रोक्षेत। वेदिरसीति वेदिं प्रोक्षेत, अग्नीध्रार्पितं बर्हिर्हस्तेनादाय वेद्यां पुरस्ताद् ग्रन्थि यथा स्यात्तथा उदगग्रमासाद्य बर्हिरसीति बर्हिः प्रोक्षेत। मन्त्रार्थस्तु—हे इध्म त्वं कृष्णोसि कृष्णमृगरूपो यज्ञोसि, यज्ञसाधनत्वादिध्मपूले यज्ञत्वोपचारः। यद्यपि वर्णवचनोऽपि कृष्णशब्दस्तथाप्यन्तोदात्तः स भवत्ययं त्वाद्युदात्त इति कृष्णमृगपर एवायम्। तत्रापि यज्ञरूप एव कृष्णमृगो ग्राह्यः, 'यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम। स कृष्णमृगो भूत्वा चचार' (श० १।१४।१) इति श्रुतेः। यज्ञः कदाचिद्देवेभ्योऽपक्रान्तः कृष्णमृगो भूत्वा वने याज्ञियतरुषु प्रविश्य कुत्रचित् कठिने वृक्षे तस्थौ। अतः कृष्णमृगरूपयज्ञोऽसि त्वमित्यर्थः। कीदृशः ? आखरेष्ठः आसमन्तात् खरे कठिने वृक्षे तिष्ठतीति आखरेष्ठः। यद्वा आङध्यर्थकः। खं स्वर्गं राति ददातीति खर आहवनीयः। तदधि तदुपरि तिष्ठतीत्याखरेष्ठः। अतोऽग्नये त्वां जुष्टमभिप्रेतमभिरुचितं शुद्धयर्थं जलेन प्रोक्षामि। वेदिं प्रोक्षति। हे वेदे त्वं वेदिरसि देवैरसुरेभ्यो लब्धत्वाद् विद्यते लभ्यत इति वेदिः। (विद्लृ लाभे) बर्हिषे जुष्टां बर्हिषो धारणोपयोगितया जुष्टां प्रियां त्वां प्रोक्षामि। पृथिवीरूपाया वेदेः प्रजारूपस्य बर्हिषो धारयितृत्वं युज्यत एव। 'तद्यदेतेनेमां सर्वमविन्दत तस्माद्वेदिर्नाम'। बर्हिरसीति बर्हिषः प्रोक्षणम्। हे बर्हिः=दर्भ त्वं बर्हिरसि वेदिबृंहणसमर्थमसि प्रभूतैर्दर्भैर्वेदेरुपबृहणात्, अतः स्रुग्भ्यो जुष्टं स्रुचां धारकत्वात् प्रियं त्वां प्रोक्षामि।

भाष्यसार—संहितागत मन्त्रों के रहस्यप्रकाशक श्रौतसूत्रों में से कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार अध्वर्यु नाम का ऋत्विक् यज्ञिय भूमि पर रखे हुए 'इध्म' को खोल कर 'कृष्णोऽसि' इस मन्त्र से उन पर प्रोक्षण करता है। 'इध्यते अग्निः अनेन' इस निरुक्ति के अनुसार यज्ञिय अग्नि के उत्तेजक ईन्धन को 'इध्म' कहते हैं। अग्नीध्र नामक ऋत्विक् के द्वारा अर्पित बर्हि को हाथ में लेकर बर्हि की ग्रन्थि को पूर्व की ओर करके और उनको उदगग्र रखकर क्रमशः तीन मन्त्रों से उनपर प्रोक्षण करे।

हे इध्म ! तुम 'कृष्णमृगरूप यज्ञ' हो, तथा तुम कठिन वृक्ष में व्याप्त होकर रहते हो। अथवा स्वर्गप्रदायक आहवनीय खर में व्याप्त होकर रहते हो, इसलिये तुम 'आखरेष्ठ' भी हो। यह यज्ञ किसी समय देवताओं से भागकर

दयानन्दस्तु—"ईश्वरेणैतत्सर्वमाद्येऽध्याये विधायेदानीं प्राणिनां सुखार्थायोक्तकार्यस्य सिद्धिं कर्तुं विशिष्टा विद्याः प्रकाश्यन्ते। तत्रादौ वेद्यादिरचनमुपदिश्यते। अग्निना छिन्नो वायुना कर्षितो यज्ञः असि भवति। सर्वत्र व्यत्ययः। समन्तात् खनति यं तत्र तिष्ठतीति आखरेष्ठः। अग्नये हवनार्थाय त्वा तद्धविः जुष्टं प्रीत्या संशोधितं प्रोक्षामि शोधितेन घृतेनार्द्रीकरोमि। वेदिः विन्दति सुखान्यनया सा असि भवति। बर्हिषेऽन्तरिक्षगमनाय। बर्हिरन्तरिक्षनामसु पठितम् (निघण्टु १।३)। त्वा तां वेदिं जुष्टां प्रीत्या सम्पादितां प्रोक्षामि घृतादिना सिञ्चामि। बर्हिः शुद्धमुदकं असि भवति। बर्हिरुदकम् (निघ० १।१२)। स्रुग्भ्यः स्रावयन्ति गमयन्ति हविर्येभ्यस्तेभ्यस्त्वा तत् जुष्टं पुष्ट्यादिगुणयुक्तं प्रीतिकरं जलं पवनं वा प्रोक्षामि शोधयामि। यतोऽयं यज्ञ आखरेष्ठः कृष्णो भवति तस्मात् त्वा त्वामहमग्नये जुष्टं प्रोक्षामि। यत इयं वेदिरन्तरिक्षस्थासि भवति, तस्मादहं त्वा तामिमां बर्हिषे जुष्टां प्रोक्षामि। यत इदं बर्हिरुदकमन्तरिक्षस्थं सत् शुद्धकारि असि भवति, तस्मात् त्वा तच्छोधितं जुष्टं हविः स्रुग्भ्योऽहं प्रोक्षामि। भावार्थः—ईश्वर उपदिशति सर्वैर्मनुष्यैर्वेदिं रचयित्वा पात्रादिसामग्रीं गृहीत्वा सम्यक् शोधयित्वा तद्धविरग्नौ हुत्वा कृतो यज्ञः शुद्धेन वृष्टिजलेन सर्वा ओषधीः पोषयति। तेन सर्वे प्राणिनः सुखयितव्याः" इति, तदपि विसङ्गतमेव, प्रकृतमन्त्रे वेदिनिर्माणविधानानुपलम्भात्। नहि वेदिनाम्नैव वेदिनिर्माणमुपदेष्टुं शक्यम्, व्यत्ययोऽपि यथाश्रुतार्थानुपपत्तावेव सम्भवति। आसमन्तात् किं खन्यते ? यद्यपि वेदिः खन्यते, तथापि सा व्याममात्री मध्यसंग्राह्या त्र्यङ्गुला ओषधिमूलान्ता वा खन्यते। किञ्च, नहि मूर्तो यज्ञः क्वचित् खाते तिष्ठति। याज्ञिकानां व्यवहारे त्वाहवनीयगार्हपत्यान्वाहार्यपचनादिषु खरशब्दः प्रसिद्धः, न च तत्र खननं भवति। यद्यग्नौ होम एव यज्ञस्तदा तु स आहवनीयादावेव तिष्ठति न वेद्याम्। जुष्टं प्रीत्या सेवितमभिरुचितं वा भवति, न शोधनमपि तदर्थः। प्रोक्षामि घृतादिनार्द्रीकरोमीत्यपि चिन्त्यम्। वेदिशब्दोऽपि शतपथे विष्णोर्यस्य लाभाद्वेदिशब्दः प्रयुक्तः, न च वेदेः सुखलाभो दृश्यते। न च वेदिर्घृतादिभिः सिच्यते, तथा विध्यदर्शनात्। शतपथे तु—'तद्यदेनेनेमाः सर्वाः समविन्दत तस्माद्वेदिर्नाम' (श० १।२।५।७) इति श्रुतौ सर्वपृथिव्या लाभनिमित्तत्वाद् वेदिर्निरुक्ता। 'यन्नेवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद्वेदिर्नामेति निरुक्तम्' (श० १।२।५।१०)। पूर्वं कृत्स्नपृथिवीलाभहेतुत्वेन नाम निरुक्तम्, अत्र तु यज्ञात्मकस्य विष्णोर्लाभाधिकरणतया वेदित्वमुक्तम्। एवं बर्हिषेऽन्तरिक्षगमनायेत्यप्यसङ्गतम्,

अपनी रक्षा के हेतु कृष्णमृग का रूप धारण कर वन के यज्ञिय वृक्ष में प्रविष्ट होकर किसी कठिन वृक्ष में स्थित हो गया। इसी अभिप्राय से उसको 'कृष्ण' और 'आखरेष्ठ' कहा गया है। अतः अग्नि को प्रिय लगनेवाले तुम्हारी शुद्धि के लिये मैं तुम्हारा जल से प्रोक्षण करता हूँ। उसके पश्चात् 'वेदिरसि' मन्त्र से वेदि का प्रोक्षण किया जाता है। 'विद्यते लभ्यते इति वेदिः' यह 'वेदि' शब्द की निरुक्ति है। हे वेदे ! तुम 'वेदि' हो। देवताओं ने तुमको असुरों से प्राप्त किया है। बर्हि को धारण करने में तुम्हारा उपयोग होने से तुम प्रिय प्रतीत होती हो। इसलिये मैं तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। तदनन्तर 'बर्हिरसि' मन्त्र से 'बर्हि' का प्रोक्षण किया जाता है। हे दर्भ ! तुम 'बर्हि' हो। तुम परिमाण में प्रभूत हो, अतः वेदि के बृंहण करने में समर्थ हो। तुम स्रुक्पात्रों को अपने पर धारण कर लेते हो, उस कारण स्रुक्पात्रों के तुम प्रिय हो ! मैं तुम्हारा भी प्रोक्षण करता हूँ।

स्वामी दयानन्द ने उक्त मन्त्र की व्याख्या अपने मनमाने ढंग से की है, जो श्रौतसूत्र, शतपथ ब्राह्मण, तथा श्रौत यज्ञप्रक्रिया के विरुद्ध है। स्वामी दयानन्द इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि "ईश्वर ने प्रथम अध्याय में जो कहा है, उसी का सबको अनायास ज्ञान कराने के लिये इस द्वितीय अध्याय में विशिष्ट विद्याओं को प्रकाशित किया जा रहा है। उनकी सहायता से सब प्राणियों को सुखी बनाना चाहिये।"

बर्हिःशब्दस्यान्तरिक्षवाचकत्वेन नान्तरिक्षगमनं तदर्थः। अत एव—इयं वेदिरन्तरिक्षस्थास्तीत्यप्यसङ्गतम्, भूमिष्ठायास्तदसम्भवात्। बर्हिष उदकवाचकत्वे तस्य अन्तरिक्षस्थत्वमिति नार्थः सम्भवति। हिन्दी-व्याख्यारीत्या—"यतोऽयं यज्ञो वेदिरचनया खाते स्थिरः कृष्णो भौतिकाग्निना छिन्नो वायुगुणेनाकृष्टो भवति, अतो भौतिकाग्नौ होमाय प्रीत्या शोधितं यज्ञं होमसामग्रीं प्रोक्षामि घृतादिभिः स्निग्धं करोमि। यतश्च वेदिरन्तरिक्षे स्थितास्ति, अतो बर्हिषे हुतपदार्थानामन्तरिक्षे प्रेषणाय जुष्टां प्रीत्या सम्पादितां वेदितां वेदिं प्रोक्षामि घृतादिभिः सिञ्चामि स्निग्धं करोमि। यतश्च बर्हिर्जलमन्तरिक्षस्थं पदार्थशोधकं भवति, अतः पदार्थानां शुद्धये पुष्ट्यादिगुणोत्पादकं तद्धविः स्रुग्भिरग्नौ प्रक्षेपाय प्रोक्षामि शोधयामि" इत्यादिकम्, तदपि सर्वथा निर्मूलमसङ्गतं विप्रतिषिद्धं च। यज्ञशब्दार्थो होमश्चेत्, यज्ञसामग्री कथं यज्ञपदार्थः स्यात्। वेदिरन्तरिक्षस्थेत्यपि निर्मूलमेव। घृतादिना वेदेः संसेकेन कथं हुतपदार्थानामन्तरिक्षे प्रेषणं भविष्यति ?

कश्चित्तु स्वपक्षीयामनुपपत्तिमसमाधायैव उव्वटादिपक्षीयं व्याख्यानं दूषयितुं धृष्टतां करोति। तथाहि—"यत्तूव्वटमहीधराभ्याम् अस्ति कृष्णशब्दो मृगवचन आद्युदात्तः, तदिहाद्युदात्तत्वात् कृष्णमृगो गृह्यते, तदयुक्तम्; वेदेष्वन्तरेणापि •मृगार्थग्रहणमाद्युदात्तत्वस्य दर्शनात्। तद्यथा—यमाय कृष्ण (वा० सं० २४।३०) इत्यत्र विशेषणत्वे वर्णवाचीति ताभ्यामेवोपर्युक्तमन्त्रभाष्ये व्याख्यातत्वात्, अतः परस्परविरुद्धत्वादुपेक्षणीयमेतत्" इति हि तदीया पङ्क्तिः, तन्मन्दम्, भाष्यार्थानवबोधात्। तथा चान्तोदात्तः कृष्णशब्दः वर्णमात्रपर्यवसायी, आद्युदात्तस्तु विशिष्टपर्यवसायीति तदर्थत्वात्। 'यमाय कृष्णः' इत्यत्रापि कृष्णो न वर्णमात्रपर्यवसायी, किन्तु कृष्णमेषपर एव। प्रकृते तु श्रुत्यनुसारेण कृष्णशब्दः कृष्णमृगपर इत्युक्तत्वात्। अत एव सायणाचार्योऽपि काण्वभाष्ये—अन्त्योदात्तः कृष्णशब्दो वर्णवाची, अत एव 'कृष्णं वासः', 'कृष्णं रूपम्' इत्यादौ अन्तोदात्त आम्नात इति। यथा पूर्वत्र कृष्णशब्दः श्रुत्यनुसारेण कृष्णमृगपरस्तथैवोत्तरत्र कृष्णशब्दोऽपि पूर्वमन्त्राक्षरानुरोधेन कृष्णमेषपर इति न मनागपि विरोधावकाशः। 'कृष्णो मृगसंयोगे' (प्रा० २।२५) इति प्रातिशाख्यानुरोधेन कृष्णशब्दस्य मृगपरत्व आद्युदात्तत्वं विहितम्।

शतपथे तु—"प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते। स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षति कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तन्मेध्यमेवैतदग्नये करोति" (श० १।३।३।१), "अथ वेदिं प्रोक्षति। वेदिरसि बर्हिषे करोति" (श० १।३।३।२)।

अथेध्मादीनां प्रोक्षणं विधत्ते। अग्नौ हीध्म आधास्यते। अतोऽग्न्यर्थप्रोक्षणेनेध्मं मेध्यं कृतवान् भवतीत्यर्थः।

किन्तु उनका किया अर्थ सर्वत्र विसंगत ही हो गया है। जो कार्य आहवनीय अग्नि में होता है, उसे वेदि में करना बता रहे हैं। जो प्रोक्षण जल से हुआ करता है, उसे वे घृत से करने के लिये बता रहे हैं। 'बर्हि' शब्द का 'अन्तरिक्ष गमन' अर्थ करते हैं, जो लोकविरुद्ध है। लोकव्यवहार में 'बर्हि' शब्द का अर्थ 'दर्भ' प्रसिद्ध है। 'वेदी' को अन्तरिक्ष में स्थित बता रहे हैं। हिन्दी में जो अर्थ बताया है, वह भी सर्वथा निर्मूल, असंगत और विप्रतिषिद्ध है। 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'होम' कर रहे हैं, किन्तु 'यज्ञ' और 'होम' भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं।

स्वामी दयानन्द के किसी अनुयायी ने दयानन्द स्वामीकृत अर्थ में उपस्थित होनेवाली अनुपपत्तियों का समाधान किये बिना ही उव्वटादि आचार्यों की व्याख्या में दोष प्रदर्शन करने की धृष्टता भी की है। किन्तु उव्वट भाष्य का अर्थ न समझने के कारण ही वह ऐसी धृष्टता कर बैठा है। यदि सायणाचार्य के काण्वभाष्य, प्रातिशाख्य, शतपथ ब्राह्मण का अनुशीलन कर लिया होता, तो ऐसी धृष्टता करने का दुःसाहस न हुआ होता। उक्त वैदिक ग्रन्थों के द्वारा दयानन्दीय अर्थ का समर्थन अंशतः भी उपलब्ध नहीं हो रहा है। अभी तक कही गई बातों को सविस्तर जानने के

वेदिं प्रोक्षति बर्हिषे इति मन्त्रलिङ्गात् स्तरिष्यमाणबर्हिरर्थः, वेदिं शुद्धां करोमि, प्रोक्षणेन बर्हिस्तरणयोग्यतां वेदेरापादयति। नह्यत्र दयानन्दीयार्थसमर्थनं मनागपि दृश्यते।

"अथास्मै बर्हिः प्रयच्छति तत्पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि ग्रन्थि यथास्यात्तथा सादयति। तत् प्रोक्षति बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तन्मेध्यमेवैतत् स्रुग्भ्यः करोति" (श० १।३।३।३)। पुरस्तात्पूर्वभागे सन्नहनरज्जोर्ग्रन्थिर्यदा भवति तथा सादयति। तत्प्रोक्षति बर्हिरसीति मन्त्रेण, स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टम् अभिरुचितं त्वां प्रोक्षामि। बर्हिष उपरि स्रुचामासाद्यमानत्वाद् एतन्मन्त्रकरणकेन प्रोक्षणेन बर्हिषस्तद्योग्यतां सम्पादयति। एतावता याज्ञिकप्रसिद्ध एवार्थोऽभिप्रेतः। श्रुतिसूत्रसम्मत एवार्थः सायणादिभिः प्रतिपाद्यते। 'यदिमां विन्दन्ति तद्वेद्यै वेदित्वम्' (तै० ब्रा०) इति श्रुतेः, तादृशीं त्वां बर्हिषे जुष्टां बर्हिर्धारणोपयोगित्वेन प्रियां प्रोक्षामि। बर्हिषः प्रजारूपत्वाद् वेदेश्च पृथिवीरूपत्वाद् बर्हिर्धारकत्वं युक्तम्। तदप्याह तित्तिरिः—'प्रजा वै बर्हिः पृथिवी वेदिः; तेन प्रजामेवं पृथिव्यां प्रतिष्ठापयतीति'। स्रुचां यजमानरूपत्वाद् यजमानस्य प्रजानां मध्येऽवस्थातुं युक्तत्वात् प्रजारूपे बर्हिषि यजमानस्यावस्थानं युक्तमेव।

अध्यात्मपक्षेऽपि—हे जीव! त्वं कृष्णोऽसि सदानन्दरूपोऽसि। 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥' आसमन्तात् खरे कठिने कूटवदभेद्येऽधिष्ठाने ब्रह्मणि तिष्ठतीत्याखरेष्ठोऽसि। अग्नये परमात्मने जुष्टमभिरुचितं त्वा त्वामहं प्रोक्षामि कर्मोपासनादिविधानेन शोधयामि। त्वं वेदिर्ज्ञप्तिरसि। बर्हिषे परमाकाशरूपाय ब्रह्मणे तत्प्राप्तये त्वा प्रोक्षामि शोधयामि। बर्हिरसि चिदाकाशमिति। स्रावयन्ति नानाविधानि सुखानीति स्रुचो देवास्तेभ्यो जुष्टं प्रियं त्वा प्रोक्षामि, 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥' (भ० गी० ३।११) इति गीतावाक्यात्। ब्रह्मदृष्ट्या संस्कृत आत्मा क्रमेण धर्मब्रह्मप्राप्तियोग्यो भवति॥ १॥

इच्छुक वेदार्थरसिक वेदभक्त लोग ऊपर दिये गये मूल करपात्र भाष्य को सावधानी से पढ़ेंगे, तो सभी शंकाओं का यथार्थ समाधान प्राप्त कर सकेंगे।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—हे जीव! तुम कृष्ण हो, सदानन्दस्वरूप हो। भूवाचक शब्द 'कृष्' है और सुखवाचक शब्द 'ण' है, उन दोनों का जो ऐक्य है, वही 'परब्रह्म' है, वही 'कृष्ण' है। कूटवत् अभेद्य ऐसे अधिष्ठानभूत ब्रह्म में स्थित रहने के कारण तुम आखरेष्ठ हो। परमात्मा को प्रिय लगने वाले तुम्हारा हम शोधन, कर्मोपासना आदि के द्वारा करते हैं। तुम ज्ञप्तिरूप हो। परमाकाशरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिये मैं तुम्हारा शोधन करता हूँ। तुम चिदाकाशरूप हो। नानाविध सुखों को देने वाले देवताओं के तुम प्रिय हो, इसलिये मैं तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता (३।११) में भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख से कह रहे हैं—"तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवता लोग तुम लोगों की उन्नति करें। इस प्रकार आपस में कर्तव्य समझकर उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त करोगे।" इस गीतावाक्य से स्पष्ट है कि ब्रह्मदृष्टि करने से संस्कृत हुआ जीवात्मा क्रमशः धर्म-ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य होता है॥ १॥

अदि॑त्यै व्युन्द॑नमसि॒ विष्णो॑: स्तु॒पोस्यूर्ण॑म्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां दे॒वेभ्यो॒ भुव॑पतये॒ स्वाहा॒ भुव॑नपतये॒ स्वाहा॑ भू॒ताना॒म्पत॑ये॒ स्वाहा॑॥ २॥

मन्त्रार्थ—हे प्रोक्षणावशिष्ट जल! तुम पृथ्वी को आर्द्र कर देने वाले हो। हे कुशमुष्टिरूप प्रस्तर! तुम यज्ञ की शिखा के समान हो। हे वेदे! ऊर्णावस्त्र के समान मृदु और देवताओं को सुख से बैठने योग्य तुम बन सको, इसलिये

तुम पर मैं दर्भों को बिछा रहा हूँ। हविर्ग्रहण के समय हविर्द्रव्य का भाग, जो परिधि के बाहर गिर जाता है, वह अग्नि के जो तीन भाई भुवपति, भुवनपति और भूतानांपति हैं, उनके लिये सुहुत हो। (ये तीनों अग्नि के भाई, परिधिरूप बन गये, उनपर गिरा हुआ हविर्भाग उन भाइयों को देना चाहिये, यह कथा वेद में है।) ॥ २ ॥

'शेषं मूलेषूपसिञ्चन्त्यदित्यै व्युन्दनम्' (का० श्रौ० २।७।२०)। अध्वर्युः प्रोक्षणीशेषं मूले निनयेत्। हे प्रोक्षणशेषोदक! त्वमदित्यै अदित्या भूमेः, व्युन्दनमसि विशेषेण उन्दनं क्लेदनं व्युन्दनमसि। 'पवित्रे निधाय प्रणीतासु बर्हिर्विस्रंस्य पुरस्तात् प्रस्तरग्रहणं विष्णोरिति' (का० श्रौ० २।७।२१)। अध्वर्युर्हस्तेन बर्हिर्विस्रंस्य बर्हिर्भागस्य पुरस्तात् कुशमुष्टेर्ग्रहणं कुर्यात्। हे प्रस्तर दर्भमुष्टिरूप! त्वं विष्णोर्यज्ञस्य स्तुपोऽसि (ष्टुै स्त्यै शब्दसंघातयोः) धात्वोः औणादिके डुप्प्रत्यये तद्रूपनिष्पत्तिः। दर्भसङ्घातरूपत्वात् केशसङ्घातरूपा शिखेव भवसि। 'वेदिं स्तृणात्यूर्णम्रदसमिति' (का० श्रौ० २।७।२२)। अध्वर्युः प्रस्तरं ब्रह्मणे समर्प्य बन्धनरज्जुं विस्रंस्य रज्जुत्वरूपं परित्याज्य दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ उदगग्रं निधाय संनहनाच्छादनैस्तृणैः संनहनं प्रच्छाद्य ऊर्णम्रदसमिति मन्त्रावृत्त्या त्रिवृतं प्रागग्रं वेदिमाच्छादयेत्। हे वेदे! त्वां स्तृणामि बर्हिषाच्छादयामि। कीदृशीं त्वाम्? ऊर्णम्रदसम् ऊर्णमिव मृदुतराम्। अतिशयेन मृदुर्म्रदीयसी ईयलोपश्छान्दसः। तथा च ऊर्णाभिर्मृद्वीं कर्तुं स्तृणामि। यथा विशिष्ट-पुरुषाणामुपवेष्टुं कम्बलादिना भूमिराच्छाद्यते काठिन्याभावाय, तथा दर्भैराच्छादिता भूमिर्मृदुः स्यात्। पुनः कीदृशीम्? देवेभ्यः स्वासस्थां देवानामुपकाराय सुखेनासितुं स्थानभूतां सुखेन आसेन आसनेन स्थीयते यस्यां सा स्वासस्था, ताम्। सुष्ठु साधुमर्यादया यस्यामासीदन्ति देवास्तां त्वां देवेभ्योऽर्थाय स्तृणामि दर्भैराच्छादयामि। 'स्कन्नमभिमृशति भुवःपतये स्वाहेति' (का० श्रौ० २।७।२२)। भुवःपतये स्वाहा। अस्याग्नेर्ये भ्रातरः पूर्वे त्रयो बभूवुः, ते वषट्कारभयाद् इमां पृथिवीं प्राविशन्। अयं चाग्निः प्रपलाय्याप्सु प्राविविक्षत प्रवेष्टुमैक्षत। स देवैरानीय स्वाधिकारे पुनः स्थाप्यमान एवमुवाच–यदेतैर्मद्भ्रातृभिर्मां परिधत्तैषाञ्च यज्ञभागः कल्प्यताम्। ततस्तेऽग्नेर्भ्रातरः परिधयो जाताः। तेषाञ्च स्कन्नं हविर्भागः कृतः। भुवःशब्देन मध्यमा व्याहृतिरुच्यते, भुवनशब्देन जगदुच्यते, भूतानामिति शब्देन भूतान्येवोच्यन्ते। तेषां येऽधिपतयस्तेभ्यः स्वाहेति सम्बन्धः।

दयानन्दस्तु—"यतोऽयं विष्णुर्यज्ञोऽदित्या व्युन्दनकारी भवति, तस्मात्तमहमनुतिष्ठामि। अस्य विष्णोर्यज्ञस्य स्तुपः प्रस्तर उलूखलाख्यः साधकोऽस्ति। तस्मात् त्वा तमहमूर्णम्रदसं स्तृणामि। वेदिर्देवेभ्यो हिता भवति। तस्मात् तामहं स्वासस्थां रचयामि। कस्मै प्रयोजनाय? यतोऽयं भुवःपतिः, भुवनपतिः, भूतानांपतिरीश्वरः प्रसन्नो भवति, भौतिको वा सुखसाधको भवति, तस्मै भुवपतये स्वाहा विधेया, भुवनपतये स्वाहा वाच्या, भूतानां पतये स्वाहा प्रयोज्या भवतीत्यस्मै प्रयोजनाय" इत्याह। तदपि तदीयकल्पनामात्रम्। यज्ञः कथं पृथिव्या व्युन्दनम्, विविधानामोषधीनां क्लेदनं भवतीति न स्पष्टम्। यज्ञ एव उलूखलः, कथं यज्ञस्य स्तुपः शिखा।

भा० सा०—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार प्रोक्षण करके बचे हुए जल को मूल पर डाल दे। हे प्रोक्षणशेषोदक! तुम अदिति यानी भूमि को आर्द्र बना देते हो, अर्थात् भूमि के सेचक हो, अत एव 'उदक' कहलाते हो। तदनन्तर अध्वर्यु अपने हाथ से बर्हियों को खोल कर उनके अगले भाग से कुशमुष्टिरूप प्रस्तर का ग्रहण करे। अध्वर्यु कहता है कि हे प्रस्तर! तुम यज्ञरूपी विष्णु के स्तुप हो, अर्थात् दर्भसंघातरूप होने से केशसंघातरूप शिखा के समान हो। यह कहने के पश्चात् अध्वर्यु उस प्रस्तर को ब्रह्मा के हाथ में देकर बाँधी हुई रज्जु को खोल कर वेदी के दक्षिण श्रोणि

न च 'यज्ञो वै विष्णुस्तस्येयमेव शिखा स्तुपः' (श० १।३।३।५) इति श्रुतिरेव तत्र मानमिति वाच्यम्, तस्या अन्यार्थत्वात्। 'अथ विस्रंस्य ग्रन्थिं पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति विष्णोः स्तुपोऽसीति। यज्ञो वै विष्णुस्तस्येयमेव शिखा स्तुप एतामेवास्मिन्नेतद्दधाति पुरस्ताद् गृह्णाति'। अत्र उलूखलस्य प्रसङ्ग एव नास्ति। अत्र प्रस्तरग्रहणं विधत्ते–बर्हिःसन्नहनरज्जुग्रन्थिं विमुच्य पुरस्तात् पूर्वदिनभागे करोति विष्णोः स्तुपोऽसीति मन्त्रेण प्रस्तरं गृह्णीयादिति विधानम्।

मन्त्रार्थस्तु—हे प्रस्तर कुशमुष्टे! त्वं विष्णोर्यज्ञस्य स्तुपोऽसि शिखाकेशसङ्घातरूपोऽसि। आहवनीयनिकटे तद्ग्रहणात् शिखामेव तस्मिन् स्थापितवान् भवतीत्यर्थः। पिण्डीभावेन बद्धो मानुषः स्तुपः केशसङ्घातः शिरसः पूर्वभागे भवति। अतो यज्ञस्यापि पूर्वभागे स्तुपधारणाय पुरस्ताद् ग्रहणं युज्यत इत्यर्थः। इति तत्रत्यं सायणभाष्यम्। ऊर्णम्रदसमिति पदस्य पाषाणमय उलूखलोऽर्थ इत्यपि निर्मूलम्। न च ऊर्णा धान्याच्छादनानि तुषाणि म्रदयति, येन तम् ऊर्णम्रदसं पाषाणमयमिति व्युत्पत्तिस्तत्र मूलमिति वाच्यम्, ऊर्णापदस्य धान्याच्छादकतुषार्थकत्वे मानाभावात्। एवं तुषापनोदकं तं पाषाणमुलूखलं च स्तृणामि पदार्थैराच्छादयामीत्यप्युन्मत्तप्रलपितमेव, तादृग्विधानानुपलम्भात्। एवमेव वेदिर्विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो हिता भवति, तां स्वासस्थां हुतपदार्था यत्र स्थिरा भवेयुस्तथाभूतां तां करोमीत्यपि निरर्थकम्, हुतानां पदार्थानामाहवनीयादिषु खरेष्ववस्थानं भवति, न वेद्यामिति याज्ञिकविधानाज्ञानात्। वेदिनिर्माणेन संस्तरपतिः लोकलोकान्तरपतिः सांसारिकपदार्थपतिः प्रसीदतीत्यपि निर्मूलम्, प्रमाणानुपलम्भात्। स्वाहाशब्दार्थविचारः—स्वाहा विधेया, स्वाहा वाच्या, स्वाहा प्रयोज्या इत्यपि निःसारम्, स्वाहाशब्दस्यार्थैक्यात् प्रयोगभेदासम्भवात्। यत्तु –"स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति" (नि० ८।२०) इति निरुक्तमुद्धृत्य तदर्थतया 'यत् शोभनं वचनं सत्यकथनं स्वपदार्थान् प्रति ममत्ववचः, मन्त्रोच्चारणे हवनं चेति स्वाहाशब्दार्था विज्ञेयाः' इत्युक्तम्, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, 'स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः' (ऋ० सं० १०।११०।११) इति मन्त्रान्ते श्रवणात्। तस्मिन्नेवार्थे कथं स्वाहाशब्दनिरुक्तिरित्याह—अथ स्वाहेति। कस्मात् तत्राह—सुष्ठु आह इति वा यदेव सम्प्रदानदेवतायै किञ्चिदाज्यस्य इत्यनेन मन्त्रेणाह तुभ्यमिदमिति तदेव सु आह शोभनमाह। अत्र सुः पूर्वपदम्, आहेत्युत्तरपदम्। अथवा इदमन्यद् ब्राह्मणान्तर्गतं निर्वचनं स्वा वागाहेति। 'विज्ञायते हि तं स्वा वागवदज्जुहुधीति तत्स्वाहाकारस्य जन्म' (मैत्रा० सं० १।८।१) । अत्र स्वशब्दः पूर्वपदम्, आहेत्युत्तरपदम्। अथवा स्वं प्राहेति को विशेषः पूर्वस्मादिति चेत्, पूर्वपदस्य कारकान्यत्वम्, स्वा वागाहेति कर्तरि स्वं प्राहेति कर्मणि प्रपूर्वकं चोत्तरपदं प्रकर्षद्योतनाय स्वाहुतं हविर्जुहोतीति तदेव सुष्ठ्वापाद्य यथाभिधानमग्नौ जुहोति। अत एव नहि सत्यवचने शोभनवचने वेदपठने स्वस्वत्वग्रहणे वा स्वाहा-

पर उसे उदगग्र रख कर सन्नहनाच्छादन रूप तृणों से सन्नहन को आच्छादित करके 'उर्णम्रदसम्' मन्त्र की तीन बार आवृत्ति करके उसे त्रिवृत् और प्रागग्र कर के वेदि में बिछा दे। हे वेदे! मैं तुझ को बर्हि से आच्छादित करता हूँ। जिससे तू ऊर्णावस्त्र की तरह मृदुतर हो और देवताओं के लिये 'स्वासस्था' बन सको, यानी देवता तुझ पर सुख से बैठ सकें, ऐसी तुझे बना रहा हूँ। भुवपति आदि तीन भाई वषट्कार के भय से भूमि में प्रविष्ट हो गए। उससे दुःखी होकर अग्नि भी पलायन करके उदक (जल) में प्रविष्ट हो गया। पश्चात् देवगण, वहाँ से उसको लाकर अपने अधिकार में रखने लगे। तब वह अग्नि कहने लगा कि भुवपति आदि मेरे भाइयों ने मेरी रक्षा की है, इसलिये उनके भाग की भी कल्पना की जानी चाहिये। तव वे भाई अग्नि के परिधिरूप बन गये। उनके लिये स्कन्न (गिरा हुआ) हवि का भाग देने का निश्चय किया गया। 'भुवः' शब्द से मध्यमा व्यावृत्ति, 'भुवन' शब्द से जगत् और 'भूतानाम्' शब्द से समस्त भूतप्राणिवर्ग बताया गया है। उनके जो अधिपति हैं, उनके लिये यह स्वाहा

काराः शिष्टग्रन्थेषु प्रयुज्यमाना दृश्यन्ते। अधिकं तु भूमिकायामुक्तम्। भुवःपतये, भुवनपतये इत्यादौ सम्प्रदाने चतुर्थीति देवतायै हविर्दान एव स्वाहाकारो युक्तः। शतपथे तु सनातनभाष्यानुसार्येव व्याख्यानम्। तथाहि—'अथ विस्रंस्य ग्रन्थिं पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति' (श० १।३।३।५)। व्याख्यातप्रायमेतत्। 'अथ सन्नहनं विस्रंसयति प्रक्लृप्तं हैवास्य स्त्री विजायत इति तस्मात् सन्नहनं विस्रंसयति तद्दक्षिणायां श्रोणौ निदधाति। नीविर्हैवास्यैषा दक्षिणत इव हीयं नीविस्तस्माद् दक्षिणायां श्रोणौ निदधाति। तत्पुनरभिच्छादयति। अभिच्छन्नेव हीयं नीविस्तस्मात् पुनरभिच्छादयति।' (श० १।३।३।६) इति।

सन्नहनरज्जोर्विस्रंसनं विधाय प्रशंसति—अथेति। सन्नहनस्य विस्रंसने सत्यस्य यजमानस्य स्त्री प्रक्लृप्तं प्रकर्षेण क्लृप्तं दशमाससंपूर्णावयवमपत्यं विजायते प्रसूयते। इतिशब्दो हेतौ। यस्मादेवं तस्मात् सन्नहनरज्जोर्देशविशेषे स्थापनं विधत्ते दक्षिणायां श्रोणौ निदधाति। नीविर्ह वै अस्य यजमानस्य एषा रज्जुर्नीवी भवतीत्यर्थः। नीवीरूपत्वं दृष्टान्तेनोपपादयति—लोके वाससः परिधाने दक्षिणपार्श्वे एव हि नीविः परिकल्प्यते। तस्माद् दक्षिणश्रोणौ सन्नहनरज्जुनिधानं नीविपरिकल्पनमेव। सन्नहनस्योपरि दर्भान्तरैश्छादनं विधत्ते। तदुपपादयति—अथ बर्हिः स्तृणाति। अयं ह वै स्तुपः प्रस्तरोऽथ यान्यवाञ्चि लोमानि तान्येवास्य यदितरं बर्हिस्तान्येवास्मिन्नेतद्दधाति तस्माद् बर्हिः स्तृणाति। (श० १।३।३।७)

बर्हिषः स्तरणं विधत्ते—अथेति। स्तृणाति वेदिं छादयति तत्प्रशंसति—अयं हेति। अयं प्रस्तरः ऊर्ध्वबद्धकेशसंघातात्मकः स्तुपः। अथ यान्यवाञ्चि लोमानि श्मश्रुप्रभृतीनि यान्यवाङ्मुखानि लोमानि तान्येवास्मिन्निदधाति। स्तीर्यमाणेन बर्हिषा अस्य यज्ञस्य तान्येव सम्पद्यन्त इत्यर्थः। तस्माद् बर्हिः स्तृणाति। प्रकारान्तरेणापि बर्हिस्तरणं समर्थयते। योषा वै वेदिः। तामेतद्देवाश्च पर्य्यासते ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्तेष्वेवैनामेतत्पर्यासीनेष्वनग्नां करोत्यनग्नताया एव तस्माद् बर्हिः स्तृणाति। (श० १।३।३।८)

हविर्ग्रहणायागत्य ये देवा वेदेः परित उपविशन्ति, ये च शुश्रुवांसः प्रयोगाभिज्ञाना अनूचाना अनुष्ठातार ऋत्विजो ब्राह्मणास्तेषु पर्यासीनेषु स्त्रीरूपा इयं वेदिः स्वयमनावृता सती तेभ्यो लज्जावती भवति, अतस्तस्या बर्हिषाच्छादनमनग्नतायै सम्पद्यते। तस्माद् बर्हिस्तरणं कर्तव्यम्। यावती वा वेदिस्तावती पृथिव्योषधयो बर्हिस्तदस्यामेवैतत्पृथिव्यामोषधीर्दधाति। ता इमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठितास्तस्माद् बर्हिः स्तृणाति॥' (श० १।३।३।९)।

है। 'स्वाहा' शब्द 'निपात' है, देवताओं के प्रति 'दान' वाचक है, क्योंकि श्रुति ने कहा है—'स्वाहाकारं च वषट्कारं च देवा उपजीवन्ति'। स्वाहाकार और वषट्कार के आश्रय से देवता रहते हैं।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए जो कहा है, वह सब उनकी कल्पनामात्र है, उस कल्पना का कोई आधार नहीं है। यज्ञ को पृथिवी का व्युन्दन कहा है, किन्तु वह सम्भव नहीं है। विविध ओषधियों के क्लेदन की बात को स्पष्ट नहीं किया है। यज्ञ को जब उलूखल कह दिया तो वही उसकी शिखा कैसे होगी। किसी श्रुति को भी अपने समर्थन में नहीं पा सकते, क्योंकि जिस श्रुति को आप देंगे, उसमें उलूखल का प्रसंग ही नहीं है। उस श्रुति में तो प्रस्तरग्रहण का विधान किया है। अतः स्वामी दयानन्द की व्याख्या निराधार रहने से सर्वथा उपेक्षणीय है। इस सम्बन्ध में विस्तार से जानना हो तो ऊपर दिये गये करपात्रभाष्य का अध्ययन करना चाहिये। हिन्दी में तो बहुत ही संक्षेप में भाष्य का सारमात्र दे दिया गया है।

प्रकारान्तरेण तत्प्रशंसति। वेदिरियं सम्पूर्णपृथिवीरूपा बर्हींषि चौषधिरूपाणि बर्हिस्तरणं पृथिव्यामोषधीनामेव प्रतिष्ठापनं मन्तव्यम्। तस्मात्तद्युक्तमेव। तद्वै बहुलं स्तृणीयादित्याहुः। यत्र वा अस्यै बहुलतमा ओषधयस्तदस्या उपजीवनीयतमं तस्माद् बहुलं स्तृणीयादिति तद्वै तदाहर्तर्येवाधि त्रिवृत् स्तृणाति त्रिवृद्धि यज्ञोऽथो अपि प्रबर्हं स्तृणीयात् स्तृणन्ति बर्हिरानुषगिति ह्यृषिणाऽभ्यनूक्तमधरमूलं स्तृणात्यधरमूला इव हीमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठितास्तस्मादधरमूलं स्तृणाति। (श० १।३।३।१०)

स्तरणस्य श्लक्ष्णतां विधत्ते—बहुलं निरन्तरं यथा भूमिर्न दृश्येत तथा स्तृणीयादित्यभिज्ञा आहुः। तथा वदतामभिप्रायमाह—यत्र वा अस्यै इति षष्ठयर्थे चतुर्थी (पा० सू० २।३।६) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन। अस्याः पृथिव्याः संबन्धिनि स्थाने ओषधीनां बाहुल्यं भवति। तदेव स्थानं सर्वैः प्राणिभिरतिशयेनोपजीव्यं भवति। तस्मादुपजीवनीयत्वसिद्धये बहुलं स्तरणं कर्तव्यमित्यनेनाभिप्रायेण। भूमेरुपजीवनीयतमत्वेऽपि यजमानस्य को लाभ इत्यपेक्षायामाह—तद्वै तदाहर्तर्येव तस्य बर्हिषो य आहर्ता यजमानः, तस्मिन्नेव बहुलस्तरणकृतमुपजीवनीयतमं भवति, अनुष्ठेयक्रियाफलस्य कर्तृगामित्वात्।

'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्' (मी० सू० ३।७।१८)। स्तरणस्य त्रिवृत्त्वं विधत्ते—त्रिभिर्मुष्टिभिर्बर्हिस्त्रिधा यथा भवति तथा वेदिं छादयेत्। सवनत्रयवत्त्वेन त्रिवृद्धि यज्ञः। तत्रैकं मुष्टिं वेदेः पूर्वभागे स्तीर्त्वा द्वितीयं तन्मध्यभागे पूर्वमुष्टिना सम्बद्धं स्तृणीयात्। ततस्तृतीयं मुष्टिमपि वेदेरपरार्धे द्वितीयमुष्टिना संबद्धं स्तृणीयात्। एवं स्तरणं प्रत्यक्परिसमाप्तिरित्येकः पक्षः। पक्षान्तरमाह—अथो अपि प्रबर्हं प्रवृह्य प्रथममुष्टिं वेद्यपरार्धे स्तीर्त्वा तस्याग्रमुद्यम्याधस्तात् तत्सम्बद्धद्वितीयं मुष्टिं स्तृणीयात्। एवमेव तृतीयमपि। एवं मुष्टित्रयस्य परस्परसम्बन्धं ऋङ्मन्त्रोद्धरणेन द्रढयति—स्तृणन्तीति। अनुषक्तं परस्परसम्बद्धं बर्हिरध्वर्यवः स्तृणन्तीति ऋक्पादस्यार्थः। अतोऽस्मान्मन्त्रलिङ्गात् पूर्वमुष्टिं प्रवृह्य अधस्तात् तत्संसक्तमेवापरं मुष्टिं स्तृणाति। अस्मिन् पक्षे स्तरणस्य प्रागवर्गता पक्षद्वयेऽपि। बर्हिर्मूलस्याधरत्वं विधाय प्रशंसति—'स स्तृणातीति। ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्य इति साध्वीं देवेभ्य इत्येवैतदाहोर्णम्रदसं त्वेति। स्वासस्थां देवेभ्य इति स्वासदां देवेभ्य इत्येवैतदाह।' (श० १।३।३।११)। विहितं स्तरणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स स्तृणातीति। ऊर्णम्रदसमिति मन्त्रगतपदद्वयस्य पर्यवसितमर्थमाह—साध्वीमिति। ऊर्णासूत्रनिर्मितकम्बलवद् मृदुभूतां त्वां हे वेदे स्तृणामीत्यस्य साध्वीं देवेभ्यः प्रीतिकरोमित्यर्थः सम्पद्यते। मन्त्रस्य द्वितीयभागमनूद्य व्याचष्टे—स्वासस्थामिति। सुखेनासितुमुपवेष्टुं योग्यां स्वासस्थाम्। एतस्यैवाभिप्रायः स्वासदां सुखेनासितुमुपवेशनं कर्तुं शक्या स्वासदा तामित्यर्थः। अत्र ऊर्णपदस्य धान्याच्छादनतुषार्थकरणेनोलू-

मन्त्र का अर्थ यह है—हे प्रस्तर! तुम यज्ञरूप विष्णु को शिखा (स्तुप) हो, क्योंकि यज्ञ के समीप ही पूर्व भाग में तुम्हारी स्थापना होने से तुम्हें शिखा के रूप में समझा जाता है। शिखा भी निकट और शिर के पूर्वभाग में रहती है।

स्वामी दयानन्द ने 'ऊर्णम्रदसम्' का अर्थ 'पाषाणमय उलूखल' किया है, किन्तु वह निर्मूल है। आगे चलकर 'देवेभ्यः स्वासस्थाम्' का अर्थ भी याज्ञिक विधि परम्परा (प्रक्रिया) का ज्ञान न रहने से निरर्थक हो गया है। इसी तरह 'स्वाहा' शब्द का अर्थ भी नहीं कर पा रहे हैं। स्वाहा शब्दों का यहाँ एक ही अर्थ होता, तो उनके भिन्न-भिन्न प्रयोग करने की आवश्यकता ही क्यों होती? निरुक्त का उद्धरण देकर जो जो अर्थ बताया है, उससे स्पष्ट होता है कि उन्हें निरुक्त का भी ज्ञान नहीं है। 'स्वाहाकृतमदन्तु देवाः' ऋग्वेद की इस ऋचा को और मैत्रायणी श्रुति को देखने से 'स्वाहा' शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इससे सम्बद्ध चर्चा सम्यक्तया विस्तार के साथ भूमिका

खलार्थग्रहणम्, तस्य च यज्ञस्तुपत्वाङ्गीकरणं सर्वथा वैदिकसम्प्रदायानभिज्ञतामूलकमेव। शतपथदृष्ट्या मनुष्यातिरिक्ता जातिविशेषा देवा भवन्ति। तेषाञ्च यज्ञे समागमनं भवति। वेदिश्च योषारूपेति तस्या अनग्नतायै बर्हिराच्छादनं युज्यते। प्रस्तरपदेन कुशमुष्टिरभिप्रेयते। तस्मिन् ऊर्ध्वसम्बद्धकेशसङ्घातरूपत्वाद् यज्ञस्य स्तुपत्वारोपः। अथाग्निं कल्पयतीत्यग्नेः प्रबलीकरणविधानं क्लृप्तं हविर्दहनसमर्थं करोति। तच्चाहवनीयस्यैवेति तत्र शिरस्त्वारोपः। यथा देहस्य पूर्वभागः शिरो भवति, तथैवाहवनीयोऽपि वेदेः पूर्वभागेऽवस्थानाद् यज्ञस्य शिरो भवति। अत आहवनीयाग्निप्रबलीकरणेन यज्ञस्य शिर एव क्लृप्तं भवति। तदानीमेव अग्नेरत्यन्तसन्निकृष्टोपरिभागे प्रस्तरस्य धारणं विधत्ते—उपर्युपरि प्रस्तरं धारयन्तं कल्पयति। यज्ञशिरस आहवनीयस्योपरि प्रस्तरं धारयन् एतमेव केशसंघातरूपं स्तुपमेवैतस्मिन् प्रतिसन्दधातीति द्वादशकण्डिकाभिप्रायः।

'अथ परिधीन् परिदधाति' इति परिधिविधानम्। परितो धीयन्त इति परिधयः। 'उपसर्गे घोः किः' (पा० सू० ३।३।९२) कर्मणि प्रत्ययः। परिधिपरिधानोपपादनायेतिहासमाह—यत्रेममग्निं पुरा देवा होत्राय होतृकर्मणे प्रावृणत प्रवृतवन्तः। तदानीमग्निरुक्तवान्—न खल्वहमिदानीमुत्साहं करोमि यद् युष्माकं होता स्यां हव्यं च वहेयमिति। यतो हे देवा यूयं मदीयान् पूर्वपुरुषान् त्रीनग्नीन् प्रवृतवन्तः स्थ। ते च तत एव प्राधन्विषु प्रामृषन्। तच्च पूर्वमाम्नातम्—'चतुर्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास' (श० १।२।३।१)। तान् मदीयान् पूर्वजान् अवकल्पयत मूर्तिसामर्थ्ययुक्तान् कुरुत। अथ होता भवितुमुत्साहं करिष्ये। ते च देवास्तथेत्यङ्गीकृत्य एतान् समर्थान् मूर्तियुक्तानकुर्वन्। ते चेमे परिधयो जाताः। आख्यायिकारूपोऽयमितिहासः सुखावबोधार्थः, न घटनामूलकः, मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्यानादित्वात्। एवमाख्यायिकया परिधीनामुत्पत्तिं प्रतिपाद्य तैरग्नेः परिधानं कार्यमित्यपि प्रतिपादितम्। देवान् प्रत्यग्निरुवाच—प्रावृणकवषट्काराद्भीतं मां प्रकर्षेणावर्जयत रक्षत येन परिधानेन हे देवा वषट्कारात्मको वज्रो मां यथा न हिंस्यात् तदेतन्मम परिधानं कुरुत। देवास्तथाङ्गीकृत्य परिधिभिः पर्यदधुः। अतो देवैः परिधानकरणात् तमग्निं वज्रात्मको वषट्कारो नाबाधिष्ट। अतः परिधिपरिधानमग्नेः कवचबन्धनमेवेत्यवश्यं तत्कर्तव्यमिति भावार्थः। (श० १।३।३।१४)

'ते उ हैत ऊचुः। इदमु चेदस्मान् यज्ञे युङ्क्थास्त्वेवास्माकमपि यज्ञे भाग इति' (श० १।३।३।१५)। तथेति देवा अब्रुवन्। यद् बहिष्परिधि स्कन्त्स्यति तद्युष्मासु हुतमथ यद्धि उपर्युपरि होष्यन्ति तद्वोऽभविष्यत्यथ यदग्नौ होष्यन्ति तद्वो भविष्यतीति। स यदग्नौ जुह्वति तदेनानवति। अथ यदेनानुपर्युपरि जुह्वत्यथ यद् बहिष्परिधि स्कन्दति तदेतेषु हुतं तस्मादु ह नाग इव स्कन्नं स्यादिमां वैते पृथिवीं प्राविशन्। यद्वा इदं किञ्च स्कन्दत्यस्यामेव

में की गई है। शतपथ ब्राह्मण में जैसी व्याख्या है, तदनुसार ही प्राचीन आचार्यों ने व्याख्या की है। एवं च शतपथ, काण्वभाष्य, पारस्करगृह्यसूत्र, कात्यायनश्रौतसूत्र, तैत्तिरीयब्राह्मण, छान्दोग्यब्राह्मण आदि प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों के विरुद्ध व्याख्यान स्वामी दयानन्द ने किया है। अतः स्वामी दयानन्द का व्याख्यान उनका अपना कल्पनाजाल रहने से निराधार ही है। तथा भुवपति, भुवनपति, भूतानाम्पति—इन मन्त्रगत शब्दों का मन-माना अर्थ स्वामी दयानन्द ने किया है। ये तीनों नाम जिनके हैं, उनके न बताकर और ही किसी के बता रहे हैं। माता-पिता ने 'दयानन्द' नाम जिसका रखा है, उसका न बताकर, यदि 'दया का आनन्द है जिसमें, वह 'दयानन्द' है' कहा जाय, तो किसी भी व्यक्ति को 'दयानन्द' शब्द से समझा जा सकेगा, तब स्वामी जी का बोध नहीं हो पायगा। अतः 'नाम' शब्दों में मन-मानी व्युत्पत्ति नहीं की जाती। जिसका नाम है, उसी का बोधन उस नाम से किया जाता है। दयानन्द स्वामी के किसी अनुयायी ने 'परिधियों' को 'इध्म' के अवयव बताया है, जब कि 'परिधि' को पलाशरूप ब्रह्म का विकार होना शतपथ ब्राह्मण बता रहा है। अतः शतपथ ब्राह्मण के विरुद्ध व्याख्यान

तत्सर्वं प्रतितिष्ठति ।' (श० १।३।३।१६) । अथ स्कन्नमभिमृशति—भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां-पतये स्वाहेत्येतानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद्भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानांपतिस्तद्यथा वषट्कृतं हुतमेवमस्यैतेष्वग्निषु भवति ।' (श० १।३।३।१७)। प्रसङ्गाद् भुवःपतये इत्यादिमन्त्रैः स्कन्नस्य हविषोऽभिमर्शनं विधित्सुः परिधिरूपेणावस्थितानां भुवपत्यादिसंज्ञकानां तेषामग्नीनां स्कन्नद्रव्यभाक्त्वमुच्यते–ते उ हेत्यादिना । त ऊचुः— अस्मांश्चेद्यज्ञे पुनः युङ्क्थाः, तर्ह्यस्माकमपि यज्ञे कश्चिद्भागोऽस्त्विति । ते देवास्तथेति प्रत्यश्रृण्वन् चैवमब्रुवन् परिधीनां बाह्यदेशे यद्धविः स्कन्त्स्यति तद्युष्मासु हुतमस्तु, युष्मद्भागो भवत्वित्यर्थः । अथ च युष्माकमुपर्युपरि यद्धविः होष्यन्ति तद्वो युष्मान् अविष्यति तृप्तान् करिष्यति । 'अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमेषु'। यच्चाग्नौ होष्यन्ति तदपि युष्माकं तृप्तिकरमस्त्विति । एवं देवैस्तेषामग्नीनां भागो दत्तः । यस्मादेवं तस्मादिदानीमप्यग्नौ हवनादिकमेनांस्तर्पयति । यस्मादेवं परिधिरूपाग्नीनां स्कन्नं हविर्भागत्वेन परिकल्पितं तस्मात् स्कन्नं यद् आगः अपराधो न भवति । ते प्रगता अग्नय इमां भूमिं प्रविष्टाः । यदाज्यादिकं किमपि हविः स्कन्दति तत्सर्वं पृथिव्यामेव प्रतितिष्ठति । एवं तेन स्कन्नेन तत्रत्याग्नीनां सम्बन्धात् तृप्तिर्भविष्यतीति न स्कन्नदोषः । एवं स्कन्नं हविः परिधिरूपेणावस्थितानां भूमौ प्रविष्टानामग्नीनां भाग इत्युपपाद्य तत्तदग्नीनां नामधेययुक्तैर्मन्त्रैस्तस्याभिमर्शनं विधत्ते—स स्कन्नमिति । तत्रैवं नामोद्देशेनाभिमर्शने कृते सति यथा वषट्कृतं वषट्कारेण प्रत्तं हविस्तस्यै देवतायै हुतं भवति, एवमेवास्य यजमानस्य भुवपत्यादिनामकेषु परिधिरूपाग्निषु तत्स्कन्नं हविर्हुतं भवति । एतत्सर्वमविज्ञायैव भुवपतये इत्यादिभिर्भूपतिलोकलोकान्तरपतितत्रत्यभूतानांपतिभ्यः स्वाहा वाच्येत्याद्यर्थः कृतः । अत्र स्पष्टमेव तेषामग्नीनां नामानि यद्भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिरित्यग्निनामान्येतानि । नहि दयानन्दपदेन दयाया आनन्दो यत्र स दयानन्दो यः कश्चिदपि ग्रहीतुं शक्यते ।

तेषां परिधीनामिध्मावयवत्वं केचिन्मन्यन्ते, तदपाकरोति । अग्निसमिन्धनाय हीध्मः क्रियते, अतस्तदवयवानां समिन्धनसामर्थ्यमेव, न तु परिधानसामर्थ्यमिति तदनवक्लृप्तिरेव। (श० १।३।३।१८) 'ते वै पालाशाः स्युः। ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्माग्निरग्नयो हि तस्मात् पालाशाः स्युः' (श० १।३।३।१९)। परिध्युपादानवृक्षानुत्तराननुकल्पतयोपादेयान् विधत्ते—पालाशा इति । ते खलु पलाशवृक्षजा भवेयुः । 'ब्रह्म वै पलाशः। ब्रह्मविषयस्य श्रवणात् पलाशवृक्षो ब्रह्मात्मकः। देवा वै ब्रह्मन्नवदन्त तत् पर्ण उपाश्रृणादिति' (तै० ब्रा० ३ ५।७।३)। अग्निवाय्वादित्यरूपेण हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मण एवास्थानादग्निरपि ब्रह्मात्मकः । तादृगग्न्यात्मकत्वं च परिधीनां प्रतिपादितमेव । अतोऽग्निरूपब्रह्मात्मकानां परिधीनां पलाशरूपब्रह्मविकारत्वं युक्तमित्यर्थः। 'यदि पलाशान्न विन्देत्, अथो अपि वैकङ्कताः स्युर्यदि वैकङ्कतान्न विन्देदथो अपि कार्ष्मर्य्यमयाः स्युर्यदि कार्ष्मर्यमयान्न विन्देदथो अपि वैल्वाः स्युरथो खादिरा अथो औदुम्बरा एते हि वृक्षा यज्ञियास्तस्मादेतेषां वृक्षाणां

करना दयानन्दीय कल्पनाजाल होने से निराधार ही है। 'स्तुप' शब्द में सायणाचार्य के द्वारा प्रदर्शित व्याकरण प्रक्रिया को तथा महीधराचार्य की उक्ति को दूषित बताने का जो दुःसाहस किया है, वह भी व्याकरण प्रक्रिया न जानने का ही परिणाम है। अतः सायण-महीधर आदि की उक्ति युक्तियुक्त ही है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ यह होगा—हे आत्मन् ! तुम अखण्ड चिदानन्दरूप अदिति भगवती के चित्त को आर्द्र कर देने वाले हो। सर्वपालक विष्णु यज्ञ के शिखा (स्तुप) रूप हो। उसी के अंश रूप तुम हो, इसलिये ऊर्णा वस्त्र के समान कोमल भूमि बनाने के निमित्त सुखपूर्वक आसन पर बैठ सको, इस उद्देश्य से उस भूमि पर कुशाओं को बिछा रहा हूँ। जैसे प्रभु के बैठने के लिये बड़े कम्बल को तह करके पृथ्वी पर बिछाया जाता है, जिससे पृथिवी की कठोरता दूर होकर वह मृदु प्रतीत होती है, उसी तरह देवताओं के उपकारार्थ उनके सुखपूर्वक बैठने योग्य तुम्हें बना

भवन्ति' (श० १।३।३।२०)। स्पष्टमेवातो न व्याख्यायते। 'ते वा आर्द्राः स्युः। एतद्ध्येषां जीवनमेतेन सतेजस एतेन वीर्यवन्तस्तस्मादार्द्राः स्युः।' (श० १।३।४।१) इति परिधीनामार्द्रताविधानं प्रशंसनं च। आर्द्रत्वं खलु जीवतां जीवनलिङ्गम्। स्थावरजङ्गमादिशरीरे यत्र खल्वार्द्रत्वं भवति, ते सतेजसोऽवयवकान्तिलक्षणेन तेजसा युक्ता भवन्ति वीर्यवन्तश्च भवन्ति। अतः सतेजस्त्वादिसिद्धये ते परिधय आर्द्राः कार्याः। आर्द्रस्य सजीवत्वं शुष्कस्य निर्जीवत्वं छन्दोगैराम्नायते—'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याद् जीवन् स्रवेत्…… यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति' (छा० ब्रा० ८।११।१–३)। काण्वोऽपि स्कन्नमभिमृशति भुवपतये स्वाहेति … भुवपत्याद्यास्त्रयोऽग्नेर्भ्रातरः। स्वाहाशब्दो देवान् प्रति दानवाची निपातितः। अत एव बृहदारण्यके श्रूयते—देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं चेति। एतेऽग्निभ्रातरो देवेभ्यो हव्यं वहन्तो यदा मृतास्तदानीमग्निः स्कन्नं हविर्भ्रातृभ्यो भवत्विति वरं वृतवान्। अग्नेस्त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन् देवेभ्यो हव्यं वहन्तः प्रमीयन्तेत्यारभ्यान्ते स्पष्टमुवाच सोऽब्रवीद्वरं वृणै यदेवागृहीतं स्याद्धुतस्य बहिःपरिधि स्कन्देत्तन्मे भ्रातॄणां भागधेयमसदिति। तस्माद्यदगृहीतं स्यात् यद्धुतस्य बहिःपरिधिः स्कन्दति, तेषां तद्भागधेयं तानेव तेन प्रीणातीति। तस्माद्द्यानन्दीयकल्पनाजालं निराधारमेव।

स्तुप इति। 'स्त्यः सम्प्रसारणमूश्च' (उ० ३।२५) इत्यनेन स्त्यैधातोः सम्प्रसारणमिकारस्थान ऊश्चकारात् पश्च्प्रत्ययः निश्च, नित्वादाद्युदात्तः। यत्तु 'निदित्यनुवृत्तेराद्युदात्तत्वम्' इति सायणोक्ति दूषयतोक्तम्—'निद्ग्रहणं कुतोऽनुवर्तत इति न ज्ञायते, पूर्वं निद्ग्रहणस्याभावात्' इति, तदज्ञानविजृम्भितम्, 'स्त्यः सम्प्रसारणमूश्च' (उ० ३।२५), 'सशूभ्यां निच्च' (उ० ३।२६) (उणादिप्रक्रियासर्वस्वे) इत्यनुवृत्तिशब्दस्यानुकर्षार्थत्वात्। तथा च सायणोक्तिर्निदित्यनुकर्षादाद्युदात्तत्वमित्यर्थिका। वस्तुतस्तु 'उणादयो बहुलम्' (पा० सू० ३।३।१) इत्यनेनैव सर्वकार्यसिद्धेरुणादिप्रक्रियाया अव्यवस्थैवाङ्गीकार्या। अत एव 'ष्टचै स्त्यै शब्दसङ्घातयोः, औणादिको डुप्प्रत्ययः' इति महीधरोक्तिरपि समीचीनैव। यत्तु'—यलोपाभावाद्रूपासिद्धिः, प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तत्वापत्तिश्च प्रकृते चान्तोदात्त एवास्ति' इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, बाहुलकत्वेनोभयसिद्धौ बाधाभावात्। एतेन काण्वसंहिताभाष्यकारसायणोक्तिरपि समाहितैव।

अध्यात्मपक्षेऽपि—हे आत्मन् त्वमदित्यै अखण्डचिदानन्दस्वरूपाया भगवत्याश्चित्तस्य व्युन्दनमसि क्लेदनं यथा स्यात्तथा भवसि। विष्णोर्यज्ञस्य सर्वपालकस्य स्तुपोऽसि शिखारूपोऽसि, तदंशत्वात्। ऊर्णम्रदसं ऊर्णावन्मृद्वीं भूमिं त्वां स्वासदां स्तृणामि। यथा प्रभोरुपवेष्टुं कम्बलं बहुभक्तियुक्तत्वेन सङ्कोच्य भूमावास्तृणन्ति, सा च भूमिः काठिन्यं परित्यज्य मृदुर्भवति, तथा देवेभ्यः स्वासस्थां देवानामुपकारार्थं सुखेनासितुं स्थानभूतां त्वां करोमि। यथा शेषो विष्णोः शेषः सन् तत्सेवार्थं स्वात्मानं तदुपकरणभूतशय्यारूपेणोपकल्पयति, तथैव साधको भगवन्तं प्रति स्वमपि स्वासस्थामूर्णम्रदसं करोति, तादृशी भावना च वेदपुरुषेण साध्यते। अतः स एवाह—ऊर्णम्रदसं त्वां स्तृणामीति। भक्ताश्च तथैव स्वां भावनां व्यञ्जयन्ति। तथा चोक्तम्—

रहा हूँ। जैसे शेषराज भगवान् विष्णु का अंग बनकर उनकी सेवा करने के लिये अपने आपको उनके उपकरण रूप शय्या के स्थान में कल्पित करता है, उसी तरह साधक व्यक्ति भगवान् के प्रति अपने को भी सुख से बैठने योग्य ऊर्णा वस्त्र के समान कोमल बना देता है, यह भावना वेदपुरुष के द्वारा प्रकट की गई है। अत एव वह वेद ही 'ऊर्णम्रदसं त्वां स्तृणामि' कह रहा है। उसी तरह भक्तजन भी अपनी भावना को व्यक्त करते हैं। एक पद्य के द्वारा भक्त ने अपनी भावना को इस प्रकार प्रकट किया है—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशं विशन्तु स्फुटम्, धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गणव्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥

उपासकश्च स्वात्मानं सोपकरणं परमात्मने समर्पयति—भुवपतये विराड्रूपायाहं स्वीयं पार्थिवदेहादिकं समर्पयामि । भुवनपतये सर्वलोकाधिपतये हिरण्यगर्भाय भगवते सूक्ष्मदेहं मनोबुद्ध्यादिकं समर्पयामि । भूतानां प्राणिनां पतये शुद्धपरमेश्वराय शुद्धमात्मानं समर्पयामि । स्वाहाशब्दो देवान् प्रति दानवाचीत्युक्तमेव ॥ २ ॥

'गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्टयै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः । इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्टयै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः । मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्टयै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः ॥ ३ ॥

'परिधीन् परिदधाति मध्यमदक्षिणोत्तरान् गन्धर्व इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २।८।१) । गन्धर्व इति मन्त्रत्रयेण आर्द्रानेकवृक्षोद्भवान् बाहुप्रमाणान् पलाशविकङ्कतकार्ष्मरीविल्ववृक्षीयान् पूर्वपूर्वालाभे उत्तरोत्तरान् मध्यमे दक्षिणे उत्तरे च त्रीन् परिधीन् परिदध्यादध्वर्युः । हे परिधे ! विश्वावसुर्गन्धर्वः,

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशं विशन्तु स्फुटम्, धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गणव्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥

उपासक अपने को उपकरण के सहित परमात्मा के चरणारविन्द पर अर्पण कर देता है । विराट् रूप भुवपति के लिये अपने पार्थिव देह आदि को समर्पित कर देता है । सर्व लोकाधिपति भुवनपति हिरण्यगर्भ भगवान् के लिये मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म देह को अर्पण कर देता है । 'भूतानांपतये' अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र के पति शुद्ध परमेश्वर के प्रति अपनी आत्मा को ही अर्पित कर देता है । 'स्वाहा' शब्द देवताओं के प्रति दिये जाने वाले 'दान' का वाचक है ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—**हे परिधे ! विश्वावसु नाम का गन्धर्व आहवनीय अग्नि के पश्चात् चारों ओर तेरी स्थापना करे, जिससे जगत् की हिंसा नहीं हो सकेगी । तू यजमान का परिधि है और तू आहवनीय का भुवपति नाम का भाई है, इस कारण होता आदि ऋत्विजों ने तेरी स्तुति की है । हे दक्षिणपरिधे ! तू इन्द्र का दक्षिण हस्त है । तू यजमान का परिधि है और आहवनीय का तू भुवनपति नाम का दूसरा भाई है । होता आदि ऋत्विजों ने तेरी स्तुति की है । विश्व की अहिंसा के निमित्त वह इन्द्र दक्षिण की ओर तेरी स्थापना करे । हे उत्तरपरिधे ! मित्रावरुण (वायु और आदित्य) स्थिर धारणा के द्वारा विश्व की अहिंसा के हेतु उत्तर दिशा में तुम्हारी स्थापना करे । तू यजमान का परिधि है । तू आहवनीय का भूतानांपति नाम का तीसरा भाई है । होता आदि ऋत्विजों ने तुम्हारी स्तुति की है । 'गन्धर्वस्त्वा' आदि प्रत्येक मन्त्र से 'मध्यमः' दक्षिण और उत्तर की ओर परिधियों को रखे ॥ ३ ॥**

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार 'गन्धर्वः' इस मन्त्र से अध्वर्यु यज्ञिय वृक्षों से सुलभ होने वाली एक ही वृक्ष की और आर्द्र, बाहु प्रमाण के बराबरी की परिधियों को मध्यम, दक्षिण और उत्तर में स्थापित करे । इन तीन

विश्वस्मिन् सर्वस्मिन् प्रदेशे वसतीति विश्वावसुः। द्युलोकस्थं सोमं रक्षितुं तत्पार्श्वे सर्वत्र गन्धर्वोऽसदिति श्रुतिकथा। त्वां परिदधातु आहवनीयस्य पश्चात् सर्वतः स्थापयतु। किमर्थम्? विश्वस्य अरिष्टयेऽनपघाताय। (रुष रिष हिंसायाम्) रिष्टिर्हिंसा, न रिष्टिररिष्टिः। यद्वा आहवनीयस्थानरूपस्य विश्वस्य हिंसापरिहाराय। परिध्यभावेऽसुराः प्रविश्य हिंसन्ति। न केवलमाहवनीयस्य किन्तु त्वं यजमानस्यापि परिधिरसि यजमानमपि रक्षितुं पश्चिमदिशि स्थापितोऽसि। किञ्च, अग्निरसि आहवनीयस्य प्रथमो भ्राता भुवपति-नामाग्निस्त्वमसि इडे स्तोत्राय यद्वा ईडचते स्तूयते इतीड् प्रथमान्त एव, स्तुतियोग्यस्त्वमित्यर्थः। अत एव ईडितः होत्रादिभिः स्तुतः। दक्षिणं परिधिं दधाति। इन्द्रस्य बाहुरसि हे द्वितीयपरिधे त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि। रक्षणसमर्थत्वात् तत्रेन्द्रबाहुत्वोपचारः। व्याख्यातमन्यत्। अत्राग्निशब्देन भुवनपतिनामा द्वितीयो भ्रातोक्तः। तृतीयमुत्तरं परिधिं परिदधाति—हे तृतीयपरिधे! मित्रावरुणौ वाय्वादित्यौ ध्रुवेण स्थिरेण धर्मणा धारणेनोत्तरस्यां दिशि त्वां परिधत्तां परितः स्थापयताम्। अत्राग्निर्भूतानांपतिस्तृतीयो भ्राता। अन्यत् पूर्ववत्।

अत्र स्वामिदयानन्दः—'यो गां पृथिवीं वाणीं वा धरति धारयति वा स गन्धर्वः सूर्यलोकः, त्वा तं विश्वावसुं विश्वं वासयति यः स परि सर्वतोभावे दधातु दधाति, लडर्थे लोट्। विश्वस्य सर्वस्य जगतोऽरिष्टये दुःखनिवारणेन सुखाय यजमानस्य यज्ञानुष्ठातुः परिधिः परितः सर्वतः सर्वाणि वस्तूनि धीयन्ते येन सः असि भवति, पुरुषव्यत्ययः। अग्निः इडः स्तोतुमर्हः, वर्णव्यत्ययेन ह्रस्वादेशः। ईडितः स्तुतः। इन्द्रस्य सूर्यस्य बाहुः बलं बलकारी असि अस्ति। दक्षिणो वृष्टेः प्रापकः। दक्षघातोर्गत्यर्थत्वादत्र प्राप्त्यर्थो गृह्यते। विश्वस्य प्राणिसमूहस्य अरिष्टयै सुखाय यजमानस्य शिल्पविद्यां चिकीर्षोः परिधिः विद्यापरिधानम्, असि भवति। अग्निः विद्युत् इडः दाहप्रकाशादिगुणाधिक्येन स्तोतुमर्हः, ईडित अध्येषितः, मित्रावरुणौ विश्वस्य प्राणापानौ 'प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः' (श० ८।२।४।६)। त्वा तम् उत्तरत उत्तरकाले परिधत्तां सर्वतो धारयतो वा। ध्रुवेण निश्चलेन धर्मणा स्वाभाविकधारणशक्त्या विश्वस्य अरिष्टयै सुखहेतवे यजमानस्य सर्वमित्रस्य परिधिः सर्वशिल्पविद्यावधिः, असि भवति। अग्निः प्रत्यक्षो भौतिकः, इडो विद्याप्राप्तये स्तोतुमर्हः ईडितो विद्यामीप्सुभिः सम्यगध्येषितः। विद्वद्भिर्योऽयं गन्धर्वो विश्वावसुः परिधि-रिडोऽग्निरीडितोऽस्ति, स विश्वस्य यजमानस्य चारिष्टयै यज्ञं परिदधाति। तस्मात् त्वा विद्यासिद्धयर्थं मनुष्यो यथावत्परिदधातु। विदुषां यो वायुरिन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणः परिधिरिड ईडितोऽस्याग्निश्चास्ति, स सम्यक्-प्रयोजितो यजमानस्य विश्वस्य चारिष्टयै भवति। यौ ब्रह्माण्डस्थौ गमनागमनशीलौ मित्रावरुणौ प्राणापानौ स्तस्तौ ध्रुवेण धर्मणोत्तरतो विश्वस्य यजमानस्यारिष्टयै त्वा तं यज्ञं परिधत्तां सर्वतो धारयतः। यो विद्वद्भिरिडः

परिधियों के नाम क्रमशः 'भुवःपति', 'भुवनपति' और 'भूतानांपति' हैं। इनकी स्थापना करने से विश्व की रक्षा होती है।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की जो व्याख्या और मन्त्र का भावार्थ दिया है, वह सब निःसार ही है। उनकी व्याख्या और भावार्थ ऊपर भाष्य में दिया गया है। उसे पाठकगण ऊपर के मूल भाष्य में पढ़ लें। वह व्याख्या लोकसिद्ध अर्थ की ही अनुवादक होने से अनधिगत अर्थ की ज्ञापक नहीं है, अतः उसे प्रामाण्य नहीं है। 'गन्धर्व, विश्वावसु, परिधि' शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ का त्याग किया है, किन्तु वह भी निर्मूल है। सूर्य वैद्युत अग्नि को यदि जड़ मान रहे हो, तो उनकी स्तुति क्यों कर रहे हो? जहाँ-तहाँ पुरुष व्यत्यय आदि का स्वीकार किया जाना भी निर्मूल है। उक्त मन्त्र की व्याख्या में आपने 'वायु' को इन्द्र का दक्षिणबाहु बिना किसी प्रमाण के ही बता दिया है और मजे की बात तो यह है कि मूल में कहीं भी 'वायु' शब्द का प्रयोग न होने पर भी उसकी व्याख्या की जा रही है। यह

त्वा मित्रावरुणौ नामकौ देवौ ध्रुवेण स्थिरेण धर्मणा धारणेन पोषणेन वा उत्तरत उत्तरस्यां दिशि परिधत्तां परितः स्थापयताम्। विश्वस्येत्यादि पूर्ववद्व्याख्येयम्। अत्राग्निशब्देन भूतानांपतिनामकस्तृतीयो भ्राता विवक्षितः।

अध्यात्मपक्षे हे परमेश्वर! विश्वावसुगन्धर्वस्त्वा विश्वस्यारिष्टचै परिदधातु। यजमानस्य परमेश्वराराधनलक्षणे यज्ञे प्रवर्तनस्य परिधिरसि यजमानं रक्षितुं स्थापितोऽसि। त्वमेवाग्निः, इडः स्तुत्यः, ईडितोऽसि। त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि उपेन्द्ररूपत्वात्। मित्रावरुणौ देवौ त्वा उत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण स्थिरेण धर्मणा धारणेन पोषणेन वा स्थापयताम्। सर्वात्मत्वाच्च शतपथाद्युक्तभुवपत्यादिपरिध्यग्न्यादिरूपेणापि परमेश्वर एव स्तूयते ॥ ३ ॥

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ᳖ समिधीमहि।
अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥ ४ ॥

'प्रथमं परिधिं समिधोपस्पृश्य वीतिहोत्रमित्यादधाति' (श० १।२।८।२)। अग्निकल्पनार्थं गृहीतया समिधा परिधिमुपस्पृश्य उत्थाय तां समिधमाहवनीये प्रक्षिपेदध्वर्युः। इयमग्निदेवत्या गायत्रीछन्दस्का ऋक्। हे कवे सन्निकृष्टविप्रकृष्टातीतानागतवर्तमानसर्वज्ञानवत् क्रान्तदर्शिन् अग्ने! अध्वरे निमित्ते त्वां वयं समिधीमहि इध्मकाष्ठेन दीपयामः। कीदृशम्? वीतिहोत्रं विशिष्टा इतिः गतिः वीतिः पुत्रपौत्रपशुधनादिसमृद्धिः, तस्यै वीतये तादृक् समृद्धचै होत्रं होमो यस्य तं वीतिहोत्रम्, यत्र होमे कृते पुत्रादिसर्वाभीष्टसमृद्धिर्भवति, तादृशं त्वां दीपयामः। यद्वा वी गतिप्रजननकान्त्यसनस्वादनेषु। वीतिरभिलाषो होत्रे होतृकर्मणि यस्य तम्। तत एवाग्निर्देवहोतेति श्रुतिस्मृतिषु प्रसिद्धिः। पुनः कीदृशम्? द्युमन्तं द्यौः कान्तिरस्यास्तीति द्युमान्, तं द्युमन्तं स्वतो द्योतमानं स्वप्रकाशं बृहन्तं महान्तं त्वां समिधीमहि।

अत्र दयानन्दः—'वीतयो विज्ञापिता होत्राख्या यज्ञा येनेश्वरेण, यद्वा वीतयः प्राप्तिहेतवो होत्राख्या यज्ञक्रिया भवन्ति यस्मात् तं परमेश्वरं भौतिकं वा। 'वी गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनस्वादनेषु' इत्यस्य रूपम्। त्वा त्वां तं वा पक्षे व्यत्ययः, कवे सर्वज्ञक्रान्तप्रज्ञ कविं क्रान्तदर्शिनं भौतिकं वा द्युमन्तं द्यौर्बहुप्रकाशो यस्मिंस्तम्,

के लिये तुम्हारी स्थापना की गई है। तुम ही स्तुति करने योग्य 'अग्नि' स्वरूप हो, इसीलिये तुम्हारी स्तुति की जा रही है। तुम उपेन्द्र हो, अतः इन्द्र के दक्षिण बाहुरूप हो। मित्रावरुण नामक दोनों देवता, उत्तरदिशा में तुम्हारी स्थापना स्थिरतापूर्वक धारण-पोषण करते हुए करें। वह परमेश्वर सर्वात्मरूप होने से शतपथ आदि प्रामाणिक वचनों से बताये गये भुवपति आदि परिधि, अग्नि आदि के रूप में परमेश्वर की ही स्तुति की जा रही है ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे त्रिकालदर्शिन् अग्ने! समृद्धि के हेतु जिसका हवन किया जाता है, उस प्रकाशक महान् अग्नि को हम इन इध्मकाष्ठों से प्रकाशित करते हैं। प्रथम परिधि को समिध् से स्पर्श करके 'वीतिहोत्रम्' मन्त्र से आहवनीय में इध्मकाष्ठ का स्थापन करे ॥ ४ ॥

भाष्यसार—शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्नि की कल्पना करने के लिये गृहीत की हुई समिधा से परिधि का स्पर्श करके तदनन्तर खड़े होकर अध्वर्यु उस समिधा को आहवनीय में डाल दे। इस ऋक् की देवता 'अग्नि' है और 'गायत्री' छन्द है। हे कवे! तुम सन्निकृष्ट तथा विप्रकृष्ट, अतीत, अनागत और वर्तमान कालिक सर्वज्ञानवान् हो, इसीलिये तुम्हें क्रान्तदर्शी कहते हैं। अतः हे अग्ने! अध्वर (यज्ञ) के निमित्त हम तुमको इध्मकाष्ठ से सन्दीप्त करते हैं। तुम वीतिहोत्र

इधीमहि प्रकाशयेमहि । अग्ने ज्ञानस्वरूपपरमेश्वरप्राप्तिहेतु भौतिकं वा बृहन्तं सर्वेभ्यो महान्तं सुखवर्षकमीश्वरं बृहतां कार्याणां साधकं भौतिकं वा अध्वरे मित्रभावेऽहिंसनीये यज्ञे वा हे कवे अग्ने जगदीश्वर ! वयमध्वरे बृहन्तं द्युमन्तं वीतिहोत्रं त्वां समिधीमहि इत्येकः, वयमध्वरे वीतिहोत्रं द्युमन्तं बृहन्तं कवे कविं त्वां तमग्निं भौतिकं तमभिधीमहि इति द्वितीयः । भावार्थस्तु—यावन्ति क्रियासाधनानि क्रियया साध्यानि च वस्तूनि सन्ति तानि सर्वाणीश्वरेणैव रचयित्वा ध्रियन्ते । मनुष्यैस्तेषां सकाशाद् गुणज्ञानक्रियाभ्यो बहव उपकाराः संग्राह्याः' इत्याह ।

तदपि तुच्छम्, सम्भवतीष्वपि परमेश्वरपरत्वव्याख्यानेऽग्निपरत्वव्याख्याने च तादृशीषु व्युत्पत्तिषु शतपथानुसारिव्याख्याविरुद्धत्वात् । अध्वरपदस्य प्रसिद्धयज्ञार्थतावाधोऽपि दूषणमेव । शतपथे तु—'अथ समिधमभ्यादधाति । स मध्यममेवाग्नेः परिधिमुपस्पृशति । तेनैतानग्रे समिन्धेऽथाग्नावभ्यादधाति तेनो अग्निं प्रत्यक्षं समिन्धे ।' (श० १।३।४।५) । पूर्वाघारसमिधोऽभ्याधानं विधत्ते—अथ समिधमिति । वायव्यां दिशमारभ्याग्नेयदिग्भागपर्यन्तमविच्छिन्नधारया होमः पूर्वाघारः, स च यत्र समाप्यते तत्रैकां समिधमादध्यादित्यर्थः । तत्र धर्मविशेषमाह—स मध्यममेवेति । अग्रेऽभ्याधानात् पूर्वं मध्यमं परिधिं तया समिधा संस्पृशेदित्यर्थः । तस्य प्रयोजनमाह—तेनैतानिति । तेनोपस्पर्शनेन परिधिरूपानेतानग्नीन् प्रथमं समिन्धे प्रज्वालयति । अथानन्तरमग्नावभ्याधानेन तेनाहवनीयरूपेण प्रत्यक्षमग्निं समिन्धे । 'सोऽभ्यादधाति वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरे' इत्येतया गायत्र्या गायत्रीमेवैतत्समिन्धे । सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दांसि समिन्धे । छन्दांसि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ।' (श० १।३।४।६) । विहितमभ्याधानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स इति । अस्याभ्याधानसाधनमन्त्रस्य गायत्रीछन्दस्कत्वात् छन्दसां मध्ये गायत्र्याख्यमपि छन्दः प्रथमं समिन्धे सन्दीपयति । समिद्धा च सा गायत्री उष्णिगादीन्यन्यानि चतुरुत्तराणि छन्दांसि सन्दीपयति, समिद्धायाश्चतुर्विंशत्यक्षराया गायत्र्यास्तत्र सर्वत्रानुगमात् । गायत्र्या समिद्धानि तानि छन्दांसि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति प्रापयन्ति ।

ब्राह्मणानुसारेणैव सायणव्याख्यानम्—हे अग्ने ! त्वामध्वरे यागे निमित्तभूते सति समिधीमहि । अनेनाघारसमिध ऊर्ध्वस्थापनेन सम्यग्दीपयामि । कथंभूतं त्वां वीतिहोत्रम्, इण गतावित्यस्माद्धातोः । ईतिर्गतिः, विविधा ईतिर्व्याप्तिः समृद्धिः । वीतये होत्रं होमो यस्याग्नेस्तं वीतिहोम् । तथैवाह तित्तिरिः—वीतिहोत्रं त्वा··· अग्निमेव होत्रेण समर्धयतीति । द्युमन्तं स्वत एव द्योतनोपेतं बृहन्तं बृहद्यागवर्तित्वेनेति ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे कवे क्रान्तदर्शिन् परमसर्वज्ञ परमेश्वर ! वीतिहोत्रं त्वां वीतयेऽभीष्टसिद्धये होत्रं सर्वस्वसमर्पणं यस्मै तं सर्वस्वार्पणेन समर्हणीयं त्वां द्युमन्तं प्रकाशान्तरानपेक्षतया स्वप्रकाशम् । हे अग्ने सर्वकर्म-

हो । समृद्धि के लिये जो होम करता है, उसे वीतिहोत्र कहते हैं । अर्थात् जहाँ होम करने पर समृद्धि की प्राप्ति होती है, अथवा होतृकर्म में जिसका अभिलाष रहता है उसे वीतिहोत्र कहते हैं । तुम कान्तिसम्पन्न हो, अर्थात् स्व-प्रकाश हो और महान् हो, इसलिये तुमको हम प्रदीप्त कर रहे हैं ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या और भावार्थ किया है, वह अपनी कल्पित व्युत्पत्ति के द्वारा किया है, जिसे भाष्य में देखा जा सकता है । किन्तु वह सब शतपथानुसारी व्याख्यान के विरुद्ध रहने से उपेक्षणीय है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ होगा कि हे क्रान्तिदर्शिन् कवे ! परमसर्वज्ञ परमेश्वर ! अभीष्ट सिद्धि के लिये सर्वस्व समर्पण करने के कारण पूजनीय बने हुए तथा प्रकाशान्तर की अपेक्षा न रखने वाले, स्वप्रकाश रहनेवाले तुमको हे अग्ने.

इधीमहि प्रकाशयेमहि । अग्ने ज्ञानस्वरूपपरमेश्वरप्राप्तिहेतुं भौतिकं वा बृहन्तं सर्वेभ्यो महान्तं सुखवर्षकमीश्वरं बृहतां कार्याणां साधकं भौतिकं वा अध्वरे मित्रभावेऽहिंसनीये यज्ञे वा हे कवे अग्ने जगदीश्वर ! वयमध्वरे बृहन्तं द्युमन्तं वीतिहोत्रं त्वां समिधीमहि इत्येकः, वयमध्वरे वीतिहोत्रं द्युमन्तं बृहन्तं कवे कविं त्वां तमग्निं भौतिकं तमभिधीमहि इति द्वितीयः । भावार्थस्तु—यावन्ति क्रियासाधनानि क्रियया साध्यानि च वस्तूनि सन्ति तानि सर्वाणीश्वरेणैव रचयित्वा ध्रियन्ते । मनुष्यैस्तेषां सकाशाद् गुणज्ञानक्रियाभ्यो बहव उपकाराः संग्राह्याः' इत्याह ।

तदपि तुच्छम्, सम्भवतीष्वपि परमेश्वरपरत्वव्याख्यानेऽग्निपरत्वव्याख्याने च तादृशीषु व्युत्पत्तिषु शतपथानुसारिव्याख्याविरुद्धत्वात् । अध्वरपदस्य प्रसिद्धयज्ञार्थताबाधोऽपि दूषणमेव । शतपथे तु—'अथ समिधमभ्यादधाति । स मध्यममेवाग्नेः परिधिमुपस्पृशति । तेनैतानग्रे समिन्धेऽथाग्नावभ्यादधाति तेनो अग्निं प्रत्यक्षं समिन्धे ।' (श० १।३।४।५) । पूर्वाघारसमिधोऽभ्याधानं विधत्ते—अथ समिधमिति । वायव्यां दिशमारभ्याग्नेयदिग्भागपर्यन्तमविच्छिन्नधारया होमः पूर्वाघारः, स च यत्र समाप्यते तत्रैकां समिधमादध्यादित्यर्थः । तत्र धर्मविशेषमाह—स मध्यममेवेति । अग्रेऽभ्याधानात् पूर्वं मध्यमं परिधिं तया समिधा संस्पृशेदित्यर्थः । तस्य प्रयोजनमाह—तेनैतानिति । तेनोपस्पर्शनेन परिधिरूपानेतानग्नीन् प्रथमं समिन्धे प्रज्वालयति । अथानन्तरमग्नावभ्याधानेन तेनाहवनीयरूपेण प्रत्यक्षमग्निं समिन्धे । 'सोऽभ्यादधाति वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरे' इत्येतया गायत्र्या गायत्रीमेवैतत्समिन्धे । सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दांसि समिन्धे । छन्दांसि *समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ।*' (श० १।३।४।६) । विहितमभ्याधानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स इति । अस्याभ्याधानसाधनमन्त्रस्य गायत्रीछन्दस्कत्वात् छन्दसां मध्ये गायत्र्याख्यमपि छन्दः प्रथमं समिन्धे सन्दीपयति । समिद्धा च सा गायत्री उष्णिगादीन्यन्यानि चतुरुत्तराणि छन्दांसि सन्दीपयति, समिद्धायाश्चतुर्विंशत्यक्षराया गायत्र्यास्तत्र सर्वत्रानुगमात् । गायत्र्या समिद्धानि तानि छन्दांसि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति प्रापयन्ति ।

ब्राह्मणानुसारेणैव सायणव्याख्यानम्—हे अग्ने ! त्वामध्वरे यागे निमित्तभूते सति समिधीमहि । अनेनाघारसमिध ऊर्ध्वस्थापनेन सम्यग्दीपयामि । कथंभूतं त्वां वीतिहोत्रम्, इष गतावित्यस्माद्धातोः । ईतिर्गतिः, विविधा ईतिर्व्याप्तिः समृद्धिः । वीतये होत्रं होमो यस्याग्नेस्तं वीतिहोम् । तथैवाह तित्तिरिः—वीतिहोत्रं त्वा···· अग्निमेव होत्रेण समर्धयतीति । द्युमन्तं स्वत एव द्योतनोपेतं बृहन्तं बृहद्यागवर्तित्वेनेति ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे कवे क्रान्तदर्शिन् परमसर्वज्ञ परमेश्वर ! वीतिहोत्रं त्वां वीतयेऽभीष्टसिद्धये होत्रं सर्वस्वसमर्पणं यस्मै तं सर्वस्वार्पणेन समर्हणीयं त्वां द्युमन्तं प्रकाशान्तरानपेक्षतया स्वप्रकाशम् । हे अग्ने सर्वकर्म-

हो । समृद्धि के लिये जो होम करता है, उसे वीतिहोत्र कहते हैं । अर्थात् जहाँ होम करने पर समृद्धि की प्राप्ति होती है, अथवा होतृकर्म में जिसका अभिलाष रहता है उसे वीतिहोत्र कहते हैं । तुम कान्तिसम्पन्न हो, अर्थात् स्व-प्रकाश हो और महान् हो, इसलिये तुमको हम प्रदीप्त कर रहे हैं ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या और भावार्थ किया है, वह अपनी कल्पित व्युत्पत्ति के द्वारा किया है, जिसे भाष्य में देखा जा सकता है । किन्तु वह सब शतपथानुसारी व्याख्यान के विरुद्ध रहने से उपेक्षणीय है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ होगा कि हे क्रान्तिदर्शिन् कवे ! परमसर्वज्ञ परमेश्वर ! अभीष्ट सिद्धि के लिये सर्वस्व समर्पण करने के कारण पूजनीय बने हुए तथा प्रकाशान्तर की अपेक्षा न रखने वाले, स्वप्रकाश रहनेवाले तुमको हे अग्ने.

दाहक ! सूर्यकान्तमण्यभिव्यक्तसूर्याग्निवद् महावाक्यजन्यब्रह्माकारवृत्त्यभिव्यक्तब्रह्माग्ने ! अध्वरे उपासनालक्षणे यज्ञे बृहन्तं निरतिशयबृहद्रूपं परमात्मानं समिधीमहि प्रकाशयामः स्वात्मस्वरूपेण साक्षात्कुर्मः ॥ ४ ॥

समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै सवितुर्बाहू स्थ ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्य आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु ॥ ५ ॥

'अनुपस्पृश्य द्वितीयां समिदसीति' (का० श्रौ० २।८।३) द्वितीयां समिधमादाय अनुपस्पृश्याहवनीये प्रक्षिपत्यध्वर्युः । हे इध्म काष्ठ ! त्वं समिदसि अग्नेः समिन्धनं दीपनमसि । 'सूर्यस्त्वेति जपत्याहवनीयमीक्षमाणः' (का० श्रौ० २।८।४) । सूर्यस्त्वेति मन्त्रस्याहवनीयपरत्वाद् आहवनीयं विलोकयन्नमुं मन्त्रं संहितास्वरेण पठेदध्वर्युः । हे आहवनीय ! सूर्यः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि कस्याश्चिदभिशस्त्यै सर्वस्या अभिशस्तेर्हिंसायाः सकाशात् त्वां पातु रक्षतु । यः कश्चिदभिशस्तिरभिशापस्तस्मात् पातु । पञ्चम्यर्थे चतुर्थी । यद्वा या काचिदभिशस्तिर्हिंसा तां परिहरतु । इतरदिक्त्रये परिधित्रयं रक्षकम् । पूर्वस्यां तदभावात् सूर्यो रक्षकः, 'गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्ति । अथैतत् सूर्यमेव पुरस्ताद् गोप्तारं करोति ।' (श० १।३।४।८) इति श्रुतेः । 'आवृत्य वेदिं बर्हिषस्तृणे तिरश्च्यौ निदधाति सवितुरिति' (का० श्रौ० २।८।५) । अध्वर्युर्वेदिं

सर्वकर्मदाहक सूर्यकान्तमणि से अभिव्यक्त हुए सूर्याग्नि के समान महावाक्यजन्य ब्रह्माकारवृत्ति से अभिव्यक्त होनेवाले ब्रह्मज्ञानरूप अध्वर में, अर्थात् उपासनालक्षण यज्ञ में निरतिशय बृहद् रूपवाले परमात्मा को हम प्रकाशित करते हैं, अर्थात् अपने आत्मस्वरूप के रूप में ही उसका साक्षात्कार करते हैं ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ— हे इध्मकाष्ठ ! तुम अग्नि के उद्दीपक हो । हे आहवनीय अग्ने ! यह सूर्य पूर्व दिशा में किसी भी प्रकार के पाप से तुम्हारी रक्षा करे । हे दो तृणों ! तुम सविता के दो हाथ हो । ऊर्णावस्त्र के समान कोमल और देवता के लिये सुखकर 'प्रस्तर' रूप आसन के आधारहेतु हम तुम्हें रख रहे हैं । प्रस्तर के धारण करने से तुम दोनों सूर्य के दो हाथों के तुल्य हो । सवनत्रय के देवता वसु, रुद्र और आदित्य, ये तीनों तुमको सर्वतः प्रसारित करें ।

'समिदसि' मन्त्र से 'परिधि' को बिना स्पर्श किये ही द्वितीय काष्ठ को अग्नि में स्थापित करे । आहवनीय की ओर देखकर 'सूर्यस्य' मन्त्र का जप करे । प्रस्तर के स्थापनार्थ 'दो तृणों' को 'सवितुः' मन्त्र से तिर्यक् रखे । स्थापित किये हुए उन दो तृणों पर 'ऊर्णम्रदसम्' मन्त्र से 'प्रस्तर' को स्थापित करे, अर्थात् फैलावे । 'आ त्वा' मन्त्र से 'प्रस्तर' पर दोनों हाथों को टेके ॥ ५ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार अध्वर्यु द्वितीय समिधा को आहवनीय में डाल दे । आहवनीयपरक 'सूर्यस्त्वा' मन्त्र को संहितास्वर से पढ़े । सूर्य पूर्व दिशा में सभी प्रकार की हिंसाओं से आहवनीय की रक्षा करे । अन्य तीन दिशाओं में तीन परिधियाँ तुम्हारी रक्षक हों । पूर्व दिशा में तीन परिधियों के न रहने से उस दिशा में 'सूर्य' रक्षक होता है । जिन तिर्यक् रखे हुए दो तृणों पर 'प्रस्तर' का स्थापन किया है, उस प्रस्तर के आलम्बनार्थ आधारभूत रहने से उन दो तृणों को सूर्य के दो बाहुओं के तुल्य कहा गया है । वसु, रुद्र और आदित्य ये तीनों प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन के अभिमानी देवता हैं ।

प्रत्यागत्य स्तृतस्य बर्हिष उपरि उदगग्रे द्वे तृणे निदध्यात्। हे तृणे! युवामुभे सवितुर्देवस्य बाहू स्थः प्रस्तरधारणे सूर्यस्य बाहू इव भवथः। 'तयोः प्रस्तरं स्तृणात्यूर्णम्रदसमिति' (का० श्रौ० २।८।१०)। तयोर्विधृत्योरुपरि प्रागग्रं प्रस्तरं स्थापयेत। ऊर्णमिव मृदुतरं देवेभ्यो देवानां स्वासस्थं सुखेनासने स्थीयते यत्र तादृशं त्वां स्तृणामि। 'अभिनिदधात्या त्वा वसवः' (का० श्रौ० २।८।११)। अध्वर्युर्हस्तद्वयेन प्रस्तरं पीडयेत्। वसवो रुद्रा आदित्याः सवनत्रयाभिमानिनो देवास्त्वा त्वाम् आसदन्तु आसादयन्तु सर्वतः प्रसारयन्तु।

अत्र स्वामी दयानन्दः—'समित् सम्यगिध्यतेऽनयानेन वा सा समित्, अग्निप्रदीपकं काष्ठादिकं वसन्त ऋतुर्वा असि अस्ति। अत्र व्यत्ययः। सूर्यः सुवत्यैश्वर्यहेतुर्भवति सोऽयं सूर्यलोकः, त्वा तं पुरस्तात् पातु रक्षतु। कस्याः कस्यै सर्वस्यै 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। अभिशस्त्यै आभिमुख्यायै स्तुतये (शंसु स्तुतौ) सवितुः सूर्यलोकस्य बाहू बलवीर्याख्यौ स्थः स्तः। व्यत्ययः। ऊर्णम्रदसं ऊर्णानि सुखाच्छादनानि म्रदयति येन तं यज्ञं त्वा तं स्तृणामि सामग्र्याच्छादयामि। स्वासस्थं शोभने आसे उपवेशने तिष्ठतीति तं देवेभ्यो दिव्यगुणेभ्यो आसमन्तात् क्रियायोगे त्वा तं वसवोऽग्न्यादयोऽष्टौ, रुद्राः प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयाख्या दश प्राणा एकादशो जीवश्चेति एकादशरुद्राः। आदित्याः द्वादशमासाः। 'कतमे वसवः? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च ते वसवः। एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयते……' (श० १४।६।९।४-६)। सदन्तु अवस्थापयन्ति। 'षद्लृ' इत्यस्य स्थाने 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० १।४।९) वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति सीदादेशाभावो लडर्थे लोट् च। अन्वयः–चिद् यथा कश्चिन्मर्त्यः सुखार्थं क्रियासिद्धानि द्रव्याणि रक्षित्वाऽऽनन्दयते, तथैवं योऽयं यज्ञः समिदसि भवति त्वा तं सूर्यः कस्या अभिशस्त्यै पुरस्तात् पातु पाति। यौ सवितुर्बाहू स्तः, यो ह याभ्यां नित्यं विस्तार्यते त्वा तम् ऊर्णम्रदसं स्वासस्थं यज्ञं वसवो रुद्राः सदन्त्ववस्थापयन्तु प्रापयन्ति। तं यज्ञमहमपि सुखाय देवेभ्य आस्तृणामि। भावार्थस्तु—ईश्वरः सर्वेभ्य इदमुपदिशति यन्मनुष्यैर्वसुरुद्रादित्याख्येभ्यो यद्यदुपकर्तुं शक्यम्, तत्तत्सर्वस्याभिरक्षणाय नित्यमनुष्ठेयम्। योऽग्नौ द्रव्याणां प्रक्षेपः क्रियते, स सूर्यं वायुं वा प्राप्नोति। तावेव तत्पृथग्भूतं द्रव्यं रक्षित्वा पुनः पृथिवीं प्रति विमुञ्चतः। येन पृथिव्या दिव्या ओषध्यादयः पदार्था जायन्ते। येन च प्राणिनां सुखं भवति। तस्मादेतत् सदैवानुष्ठेयम्' इति।

तदेतत् सर्वं पिष्टपेषणमप्रामाणिकं व्यत्ययाश्रितं च। चिदित्यस्य निरुक्त(१।४)रीत्योपमार्थत्वे सम्भवत्यपि नहि तद्बलाद् यथा कश्चिन्मर्त्यः सुखार्थक्रियासिद्धानि द्रव्याणि रक्षित्वा आनन्दयते इत्यर्थो निःसरति, तथैव समित्पदस्य काष्ठार्थत्वेऽपि नहि सर्वं काष्ठं तदर्थः, किन्त्वश्वत्थादिपरिगणितवृक्षसम्बद्ध-काष्ठविशेष एव। वसन्तस्तु कथं समिदिति नोक्तम्। यज्ञः समिदिति सामानाधिकरण्यं कथम्?

उक्त मन्त्र की व्याख्या स्वामी दयानन्द ने जो की है, वह सब पिष्टपेषण के ही समान है, अप्रामाणिक और व्यत्यय बहुल है। 'चित्' को उपमार्थक मानकर जिस अर्थ का उद्भावन किया है, वह अर्थ नहीं निकल पाया है। तथा 'समित्' शब्द का अर्थ, काष्ठ करने पर भी उसका अर्थ साधारण काष्ठ नहीं हो सकता, अपितु अश्वत्थादि परिगणित वृक्षसम्बन्धित 'काष्ठविशेष' ही करना चाहिये। 'वसन्त' को जो 'समित्' आपने कहा है, उसमें कोई प्रमाण आपने नहीं दिया है। यज्ञ और समित् का सामानाधिकरण्य कैसे संभव हो सकता है, क्योंकि दोनों एकार्थक नहीं हैं, अपितु भिन्नार्थक हैं। इत्यादि बहुत सी बातें स्व-मनःकल्पित ही कही हैं। उसी तरह हिन्दी अर्थ में भी निरर्थक बातें

तयोर्भिन्नार्थबोधकत्वात् । सूर्यश्च समिधं काष्ठं यज्ञं वा रक्षति कथम् ? कस्या इत्यस्य सर्वस्या इति कथमर्थः ? तद्रक्षणेन च कथं सर्वस्याभिशास्तिः ? हिन्दीभाषायां सूर्यः सर्वपदार्थानां रक्षयिता । तं पुरस्तादेव रक्षति । सूर्यलोकस्य किं बलं किं वा वीर्यम् ? बलं वीर्यं च जडे निरर्थकम्, प्रयोगासम्भवात्, प्रयोगस्य चेतनधर्मत्वात् । सूर्यलोकस्य बलवीर्याभ्यां कथं यज्ञस्य विस्तार इत्यप्यस्पष्टमेव । पूर्वं चोर्णाशब्देन धान्याच्छादनानि तुषाण्युक्तानि, इदानीं सुखाच्छादनानीति तदर्थः कथम् ? कथं च यज्ञः सुखाच्छादकविघ्नान्नाशयति ? जलवायुशुद्धिमन्तरा तत्कार्यस्य त्वयानभ्युपगमात् । अन्तरिक्षलक्षणे शोभन आसने यज्ञः कथं तिष्ठति ? यज्ञस्तु हवनरूपः, स तु पृथिव्यामेव तिष्ठति । अन्तरिक्षे तु हुतद्रव्यांशा एव त्वयाभ्युपगम्यन्ते । नहि त एव यज्ञपदव्यपदेश्याः ? सुखविघ्नाच्छादकस्यान्तरिक्षमयस्वासनस्थस्य यज्ञस्य सामग्र्याच्छादनं कथं सम्भवति ? नहि यज्ञकर्तृसामाजिकप्रक्षिप्तसामग्रीभिरन्तरिक्षस्थो यज्ञ आच्छाद्यते ? तं च यज्ञं वसुरुद्रादित्यादयः कथं प्राप्नुवन्ति ? तस्य चेहैव परिसमाप्तत्वात् । दिव्यगुणप्राप्तये तस्य यज्ञस्यानुष्ठानं कर्तव्यमथवा निष्पन्नस्य यज्ञस्य सामग्रीभिराच्छादनं युक्तम् ? वस्तुतस्त्विदं सर्वमव्यापारेषु व्यापारमात्रम् ।

शतपथविरुद्धं चेदं सर्वम् । तथाहि—'अथ यां द्वितीयां समिधमादधाति वसन्तमेव तया समिन्धे । स वसन्तः समिद्धोऽन्यानृतून् समिन्धे । ऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्त्योषधीश्च पचन्ति । सोऽभ्यादधाति समिदसीति । समिद्धि वसन्तः ।' (श० १।३।४।७) ।

अथोत्तराघारसमिधोऽभ्याधानं विधत्ते—अथ यामिति । द्वितीयाघारो हि नैर्ऋतदिशमारभ्यैशानीं दिशं प्रत्यनवच्छिन्नधारया होमः । स यत्र परिसमाप्यते तत्रैकां समिधमादध्यात् । पूर्वाघारसमिदपेक्षया द्वितीयामिति व्यपदेशः । तया च समिधा वसन्त ऋतुः सन्दीप्यते । अत्र स्पष्टं समिद्वसन्तयोर्भेद उक्तः । तया समिधा वसन्तः समिध्यते । वसन्तेनेतरा ऋतवः समिध्यन्ते । ऋतवश्च समिद्धाः प्रजाः प्रजनयन्ति ओषधीश्च पचन्ति । समिदसीति मन्त्रेण द्वितीयामादधाति । वसन्ते चेतरर्तुसमिन्धनादेव समित्प्रयोगः । समिद्धि वसन्त इति समिधो यजतीति तद्विधानात् । 'अथाभ्याधाय जपति सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्या इति । गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्त्यथैतत् सूर्यमेव पुरस्ताद् गोप्तारं करोति । नेत्पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षांस्यभ्यवचरानिति । सूर्यो हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता ।' (श० १।३।४।८) ।

एवमाघारसमिदभ्याधानानन्तरं मन्त्रविशेषस्य जपं विधत्ते । मन्त्रस्य प्रयोजनमाह—राक्षसादिसञ्चरणनिरसनगोपनम् । गुप्त्यर्थं हि परिधिविधानम् । पूर्वस्यां दिशि परिधिर्नास्ति । तथा चैतत् ! एतेन सूर्यस्त्वा इति मन्त्रोच्चारणेन तमुद्यन्तं सूर्यमेव यज्ञस्य रक्षितारं करोति । अन्यत् स्पष्टमेव । तैत्तिरीयकेऽपि—'परिधीन् परिदधाति । रक्षसामपहत्यै । संस्पर्शयति रक्षसामनन्ववचाराय ! पुरस्तात् परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्ति' (तै० ब्रा० ३।३।७।८) । 'परिधय इमे अभितो गुप्तये परिहिता भवन्ति सूर्यमेवास्यैतत् पुरस्तात् पुरोगां करोतीति' काण्वश्रुतेः ।

कही गई हैं । कहीं पर 'ऊर्णा' शब्द का अर्थ 'तुष' बताया है तो दूसरी जगह 'सुखाच्छादन' बता दिया है । अन्यान्य कितनी ही बातें असम्बद्धार्थक बताकर अव्यापारेषु व्यापारमात्र का प्रदर्शन किया है । जो शतपथ के विरुद्ध है ।

अध्यात्मपक्ष में उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—हे जीवात्मन् ! तुम देह, इन्द्रिय आदि सबके अवभासक हो । सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु 'स्वरति लयं गच्छति यस्मिन् स सूर्यः'—इस निरुक्त वाक्य से 'सूर्य' का अर्थ 'परमेश्वर' है । वह परमेश्वर स्वसत्तास्फूर्ति प्रदान के द्वारा तुम्हारी रक्षा करे । अथवा जीवादि देहान्त तक प्रकाशशक्ति प्रदान के

'अथ यामेवामूं तृतीयां समिधमादधाति। अनुयाजेषु ब्राह्मणमेव तया समिन्धे। स ब्राह्मणः समिद्धो देवेभ्यो यज्ञं वहति'। अनुयाजकालेऽभ्याधानार्थैका समिदवशेषयितव्येत्यभिप्रेत्य तस्याः समिधोऽभिधास्यमानमभ्याधानमनूद्य प्रसङ्गात्तस्य प्रयोजनमाह—अमूमिति। विप्रकृष्टेऽनुयाजप्राक्काले तृतीयां समिधमभ्यादधाति। तया 'एषा तेऽग्ने समित्' (वा० सं० २।१४) इत्यादिना मन्त्रेण यजमानगामिनो वर्धनाप्यायनादिलक्षणस्य प्रतिपादनात् तेनाभ्याहितया समिधा यजमानरूपं ब्राह्मणमेव समिन्धे सन्दीपयति। ब्राह्मणः समिद्धो देवेभ्यो यज्ञं वहति। 'अथ स्तीर्णां वेदिमुपावर्तते। स द्वे तृणे आदाय तिरश्ची निदधाति। सवितुर्बाहू स्थ इत्ययं वै स्तुपः प्रस्तरोऽथास्यैते भ्रुवावेव तिरश्ची निदधाति तस्मादिमे तिरश्च्यौ भ्रुवौ क्षत्रं वै प्रस्तरो विश इतरं बर्हिः क्षत्रस्य चैव विशश्च विधृत्यै तस्मात्तिरश्चो निदधाति तस्माद्वेव विधृती नाम' (श० १।३।४।१०)।

एवमाहवनीये कर्तव्याः परिधिपरिधानानपो विहिताः। अथ वेद्यां हविरासादनार्थं प्रस्तरस्तरणं विधित्सुस्तदर्थं विधृत्योः सादनं विधत्ते। बर्हिषा स्तीर्णां वेदिमुपलक्ष्याहवनीयसमीपादुपावर्तेत। उपावृत्य च बर्हिषः सकाशाद् द्वे तृणे आदाय बर्हिष उपरि तिरश्ची तिर्यगग्रे निदधाति सवितुरिति मन्त्रेण। तन्निधानं प्रशंसति—अयं प्रस्तरो यज्ञस्य स्तुपः शिखारूपः केशसङ्घातः। बर्हिषि श्मश्रुप्रभृतीनि लोमानि तथा च बर्हिषि प्रस्तरबर्हिषोर्मध्ये तिर्यङ्निहिते एते तृणे भ्रुवावेव भ्रूस्थानीये। लोकप्रसिद्ध्यै तद् दृढयति-तस्मादिति। यस्मादेवं यज्ञे यज्ञकेशश्मश्रुरूपेण संस्तुतयोः प्रस्तरबर्हिषोर्मध्ये संस्थिते तृणे तिर्यङ्निधीयेते, तस्मात् कारणात् पुरुषस्य भ्रुवौ तिरश्च्यौ दृश्येते इत्यर्थः। तिर्यङ्निधानस्य प्रयोजनमाह—क्षत्रं वेति। क्षत्रियवैश्यजातिस्थानीये प्रस्तरबर्हिषी, अतस्तयोर्विविधं धारणाय तत्तिर्यक्तृणनिधानं सम्पद्यते। इतरथा हि प्रस्तरबर्हिषोः साङ्कर्यात् क्षत्रियवैश्ययोरपि साङ्कर्यं स्यात्। यस्मादेवमेते तृणे तिर्यङ्निहिते विधारणप्रयोजने तस्मादनयोर्विधृती इति नाम सम्पद्यते।

'तत्प्रस्तरं स्तृणाति। ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्य इति साधु देवेभ्य इत्येवैतदाह। यदाहोर्णम्रदसं त्वेति स्वासस्थं देवेभ्य इति स्वासदं देवेभ्य इत्येवैतदाह।' (श० १।३।४।११)। प्रस्तरस्य समन्त्रकं स्तरणं विधत्ते। मन्त्रस्तु व्याख्यातप्रायः। प्रस्तरणमन्त्रस्तु बर्हिषः स्तरणवदेव व्याख्येयः। तत्र स्तीर्यमाणाया वेदेरभिधेयत्वात् साध्वी देवेभ्य इति स्त्रीलिङ्गतया व्याख्यातः। अत्र प्रस्तर एवाभिधेय इति साधुं देवेभ्य इति पुल्लिङ्गतया व्याख्यायते। तथैव मन्त्रो व्याख्यात एव। 'तमभिनिदधाति। आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्त्वित्येते वै त्रयो देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या एते त्वा सीदन्त्वित्येवैतदाहाभिनिहित एव सव्येन पाणिना भवति।' (श० १।३।४।१२)। स्तीर्णस्य स्पर्शनं विधत्ते—आ त्वेति मन्त्रेण प्रस्तरस्योपरि हस्तं निदध्यादित्यर्थः। जुह्वादीनामासनपर्यन्तं प्रस्तरस्यान्वारम्भं विधत्ते—सव्यहस्तेन प्रस्तरोऽभिनिहितः संस्पृष्ट एव भवेत्।

द्वारा तुम्हारा पालन करे। स्वप्रकाश ब्रह्मात्ममान के अनन्तर ही जीव आदि पदार्थ भासमान होते हैं। अविद्यमान दोषों के आरोपों से वह परमेश्वर तुम्हारी रक्षा करे। जीवात्मा में अविद्यमान कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का आरोप किया जाता है, किन्तु ब्रह्मात्मसाक्षात्कार से उन सब का निरास हो जाता है। हे जीवात्मन्! अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के लिये तथा देवाधिदेव परमेश्वर के लिये ऊर्णासन के तुल्य कोमल-सुन्दर आसन के समान बैठने योग्य तुम्हें बना रहा हूँ। जो देवताओं के प्रति अपनी आत्मा को उनके शय्या आदि उपकरणों के रूप में परिणत करके उनकी आराधना करता है, वही व्यक्ति उन देवताओं के अनुग्रह से देवाधिदेव परमेश्वर की भी सर्वात्मभाव से अर्चना करने में समर्थ हो पाता है। किञ्च, वे वसु, रुद्र, आदित्यादि देवता भृत्यरूप से और

हे प्रस्तर एते वस्वादयो देवास्त्वां सीदन्तु त्वामभिलक्ष्य सीदन्तु तिष्ठन्तु त्वामासादयन्तु वा। नैतद् द्वयमपि जडेषु सम्भवति। तस्माद् वस्वाद्यधिष्ठातृदेवा एवेह विवक्षिताः।

अध्यात्मपक्षे—समिदसि हे जीवात्मन्! त्वं समिद् सर्वदीपको देहेन्द्रियादिसर्वभासकोऽसि। सूर्यः स्वरति लयं गच्छति यस्मिन् स सूर्यः परमेश्वरस्त्वां पुरस्तात् पूर्वं पातु स्वसत्तास्फूर्तिप्रदानेन रक्षतु, अथवा जीवादि-देहान्तप्रकाशशक्तिदानेन त्वां पालयतु, स्वप्रकाशब्रह्मात्मभानानन्तरमेव जीवादेर्भासमानत्वात्, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुतिभ्यः। कस्याश्चित् कस्या अपि अभिशस्त्यै कस्याश्चिदभिशस्त्या अविद्यमानदोषारोपणात् त्वा पातु। आत्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकं सर्वमविद्यमानमेवारोप्यते। ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण च तत्सर्वमपोद्यते। ननु सूत्रात्महिरण्यगर्भाभ्यामेव प्राणबुद्धिशक्तिभ्यामेव जीवस्य क्रियाज्ञानशक्तिदानं भवति, न परमेश्वरस्येति चेन्न, तयोरपि तद्बाहुस्थानीयत्वात्। तद्बाहू—हे सूत्रात्म-हिरण्यगर्भौ! युवां सवितुः सर्वोत्पादकस्य परमेश्वरस्य बाहू दक्षिणोत्तरभुजस्थानीयौ स्थः भवथः। प्राणबुद्ध्युपाधिकाभ्यां ताभ्यामेव सर्वकार्यनिर्वाहात्। हे जीवात्मन्, त्वा त्वां देवेभ्योऽग्नीन्द्रादिभ्यो देवदेवाय परमेश्वराय च ऊर्णासनमिव म्रदसं कोमलं स्वासस्थं शोभनासनमिवासितुं योग्यं स्वासदं करोमि। यो देवान् प्रति स्वात्मानं तदीयशय्याद्युपकरणरूपेण विपरिणमय्य संराधते, स एव तेषामनुग्रहेण देवदेवस्यापि सर्वात्मभावेन सपर्यां कर्तुं प्रभवति। किञ्च, त्वा त्वां वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु भृत्यरूपेणोपकरणरूपेण च प्राप्नुवन्तु। तदनु विशिष्टयोग्यतापूर्णः परमात्मोपासने स्वात्मसमर्पणेन सर्वात्मभावेन तदङ्गोपाङ्गः सन् तदुपासितुं प्रभवति। अत एव वर्णाश्रमाचारवता तत्तद्देवताराधनतत्परेण परमेश्वरः प्राप्तुं शक्यते॥ ५॥

घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद। ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम्॥ ६॥

'सव्याशून्ये जुहूं प्रतिगृह्य निदधाति घृताचीत्येवमितरे उत्तराभ्यां प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २।८।१२-१३)। अध्वर्युरग्नीधा समर्पितां जुहूमादाय सव्यहस्तेन अविमुक्ते प्रस्तरे प्रागग्रामासादयीत। हे जुहूः! त्वं घृताची

उपकरण रूप से तुम्हें प्राप्त हों। उसके पश्चात् विशिष्ट योग्यता से पूर्ण होकर परमात्मा की उपासना में स्वात्मसमर्पण के द्वारा सर्वात्मभाव से उसका अंग-उपांग होता हुआ उस परमेश्वर की उपासना करने में समर्थ होता है। अत एव वर्णाश्रमाचार का पालन करने वाला व्यक्ति ही तत्तद् देवताओं के आराधन में तत्पर होता हुआ परमेश्वर को प्राप्त कर सकता है॥ ५॥

मन्त्रार्थ—हे जुहू! तू घृत से पूर्ण है। तेरा नाम 'जुहू' है। तू देवताओं को प्रिय लगने वाले गृहस्वरूपी घृत के सहित इस प्रस्तर पर बैठ। हे स्रुक्! तू घृत से पूर्ण है। तेरा नाम 'उपभृत्' है। तू देवताओं को प्रिय लगने वाले गृहस्वरूपी घृत के सहित इस प्रस्तर पर बैठ। हे स्रुक्! तू घृत से पूर्ण है। तुझे 'ध्रुवा' कहते हैं। देवताओं को प्रिय लगनेवाले गृहस्वरूपी घृत के सहित तू प्रस्तर पर बैठ। हे हविर्द्रव्य! देवताओं के लिये प्रिय गृहरूपी आज्य

घृतमञ्चति प्राप्नोतीति घृताची घृतपूर्णा असि। यद्वा घृतमञ्चितं प्राप्तं यस्यां स्रुचि घृतं वा अच्यते यया सा घृताची असि। नाम्ना जुहूः। हूयतेऽनयेति जुहूः। हवनक्रिया यया क्रियते सा जुहूः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तदध्याहारः कार्यः। या त्वं घृताची असि जुहूश्च नाम्ना सा त्वं प्रियेण धाम्ना देववल्लभेन आज्येन सह इदं प्रियं सदः प्रस्तरलक्षणम् आसीद अधितिष्ठ, 'एतद्वै वेदानां प्रियतमं धाम यदाज्यम्' (श० २।३।२।१७) इति श्रुतेः। उपभृतं सादयति समीपे स्थित्वा बिभर्ति आज्यं धारयतीत्युपभृत्। एवं ध्रुवामासादयति। 'ध्रुव स्थैर्ये' यथा होमे जुहूपभृतोश्चलनं तद्वदस्याश्चलनाभावेन स्थिरत्वान्नाम्ना ध्रुवा। प्रियेण धाम्नेति हवींषि वेद्यां कृत्वा ध्रुवा असदन्निति सर्वाण्यालभते। प्रियेणेति मन्त्रेण आवृत्त्या आज्यपुरोडाशादीनि हवींषि ध्रुवाया उत्तरतो वेद्यामासाद्य ध्रुवा आसदन्नृतस्येति मन्त्रावृत्त्या आज्यस्थालीस्थाज्यस्य जुहूपभृद्ध्रुवास्थस्याऽऽज्यस्य पुरोडाशयोश्च उपयोगक्रमेणालम्भनं कुर्यात्। हे हविः! प्रियेण धाम्ना आज्येन सह प्रियं सद आसीद इत्येवमेकैकं हविः संबोध्य वचनम्। 'ध्रुवा असदन्निति सर्वाण्यालभते।' (का० श्रौ० २।८।१९)। ऋतस्यावश्यं भाविफलोपेतत्वेन सत्यस्य यज्ञस्य योनौ स्थाने ध्रुवाणि यानि हवींषि असदन्नतिष्ठन् स्थितानि, हे विष्णो व्यापक यज्ञपुरुष! तानि पाहि यज्ञपतिं यजमानं च पाहि। 'पाहि मामित्यात्मानम्' (का० श्रौ० २।८।२०) यज्ञन्यम्, यज्ञं नयतीति यज्ञनीस्तम्, यज्ञनेतारमध्वर्युं मां पाहि।

अत्र दयानन्दः—'या जुहूर्नाम्ना घृताच्यसि भवति, या यज्ञे प्रयुक्ता सती प्रियेण धाम्ना सह वर्तमानमिदं प्रियं सद आसीद आसादयति। योपभृन्नाम्ना घृताच्यसि भवति सा यज्ञे प्रयुक्ता प्रियेण धाम्नेदं प्रियं सद आसीद समन्तात् प्रापयति। या ध्रुवा नाम्ना घृताची भवति सा सम्यक् स्थापिता सती प्रियेण धाम्नेदं प्रियं सद आसीद समन्तात् प्राप्नोति सा सर्वैर्नित्यं साध्या। हे विष्णो यथेमानि ऋतस्य योनौ ध्रुवा ध्रुवाणि वस्तून्यसदन् भवेयुस्तथैव एतानि निरन्तरं पाहि। कृपया यज्ञं पाहि यज्ञन्यं यज्ञपतिं पाहि यज्ञन्यं मां पाहि। भावार्थस्तु—यो यज्ञो पूर्वोक्ते मन्त्रे वसुरुद्रादित्यैः सिद्ध्यति, स वायुजलशुद्धिद्वारा सर्वाणि स्थानानि सर्वाणि च वस्तूनि प्रियाणि निश्चलसुखसाधकानि ज्ञानवर्धकानि च करोति, तेषां वृद्धये रक्षणाय च सर्वैर्व्यापकेश्वरस्य प्रार्थना सम्यक् पुरुषार्थश्च कार्यः' इत्याह।

(घृत) के सहित तू अपने प्रिय स्थान पर बैठ। समस्त हविर्द्रव्य अभीष्ट फलदायी यज्ञ में स्थिरतापूर्वक स्थित हुए। हे व्यापक यज्ञपुरुष! उस हविर्द्रव्य का, यजमान का, यज्ञ का और मुझ अध्वर्यु का तू रक्षण कर।

वाम हस्त को प्रस्तर पर वैसे ही रखे हुए दक्षिण हस्त से 'जुहू' पात्र को लेकर 'घृताची' मन्त्र से प्रस्तर पर रखे और अन्य दो पात्रों को 'घृताची' इत्यादि दो मन्त्रों से रखे। तदनन्तर 'प्रियेण धाम्ना' मन्त्र से वेदी पर एक-एक हविर्द्रव्य को रखे। तदनन्तर 'ध्रुवा असदन्' इस मन्त्र से सब को स्पर्श करे और 'पाहि' मन्त्र से स्वयं अपने को स्पर्श करे॥ ६॥

भाष्यसार—'घृतम् अञ्चति प्राप्नोतीति घृताची' अर्थात् घृत से पूर्ण। 'हूयते अनया इति जुहूः' अर्थात् जिससे हवन किया जाता है, उसे 'जुहू' पात्र कहते हैं। उप समीपे स्थित्वा आज्यं बिभर्ति धारयति इति 'उपभृत्'। समीप रहकर जो घृत का धारण करती है, उसे 'उपभृत्' कहते हैं। जुहू और उपभृत् के समान एक 'ध्रुवा' पात्र भी है। 'ध्रुव स्थैर्ये' स्थिरता के अर्थ में 'ध्रुव' शब्द है। जैसे होमार्थ जुहू और उपभृत् का चलन होता है, वैसे इस 'ध्रुवा' का चलन न होने से, अर्थात् स्थिर रहने से इस पात्र को 'ध्रुवा' कहते हैं।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह बिना आधार के चित्र बनाने के समान ही है। वे लिखते हैं कि वसु, रुद्र, आदित्य के द्वारा किया गया यज्ञ वायु और जल की शुद्धि करता है। उसी के द्वारा सम्पूर्ण स्थानों को, समस्त

तदप्यविचारमूलकम्, प्रसिद्धार्थत्यागे व्यवहारानुपपत्तेः। अनेकार्थत्वेऽपि प्रसङ्गानुसारेणार्थो भवति। यात्राप्रसङ्गे सैन्धवमानयेत्युक्त्या न सैन्धवं लवणमानीयते। जुह्वाग्नौ घृतं हूयते तत्तु श्लिष्यते। सुखं चानया दत्ते इति कथं सङ्गतिः? पारम्पर्येण तु सर्वाभिर्विहितक्रियाभिः सुखमेवादीयते। तत्र जुह्वां को विशेषः? यत्तु—इदं प्रत्यक्षं प्रियेण सुखैस्तर्पकेण कमनीयेन धाम्ना स्थानेन प्रीणाति सुखयति यत्तत् सदः। सीदन्ति प्राप्नुवन्ति सुखानि यस्मिंस्तद् गृहम्। आ समन्तात् सीद सादयति, तदपि तुच्छम्, आदानक्रियया गृहनिर्माणासिद्धेः। एवमेवोपभृच्छब्दः। यत्तु—'यज्ञे प्रयुक्ता या होमक्रिया घृतमुदकमञ्चति प्रापयति सा घृताची' इति, तदपि तुच्छम्, जुह्वादिविशेषणत्वानुपपत्तेः। यदपि—'योपगतं बिभर्त्यनया हस्तक्रियया सा' इति, तदपि विसङ्गतम्, तथात्व उपागतग्राहिकायाश्चौरादिहस्तक्रियाया अपि उपभृत्त्वापत्तेः। वस्तुतस्तु श्रुतिसूत्रादिरीत्या यज्ञादिपात्रबोधका एते शब्दाः। यदपि—'समीपप्राप्तधारणक्रिया यज्ञोपयुक्ता। इदमोषध्यादिकं प्रियेण प्रीतिहेतुधाम्ना स्थलेन प्रियं सुखयत्यारोग्येण यत्तत् सदः सीदन्ति घ्नन्ति दुःखानि येन तदौषधसेवनं पथ्याचरणं च आसमन्तात् सीद प्रापयेति' इति, तदपि न संगतम्, तादृशप्राप्यप्रापकभावस्य निष्प्रमाणत्वात्। स्थिरसुखप्रापिकायुर्निमित्ता विद्या सोत्तमकार्येषु प्रयुक्ता प्रियेण प्रीत्युत्पादकेन धाम्ना स्थिरताया निमित्तेन प्रियमानन्दकरं सदः वस्तु आसादयति, तादृशकार्यकारणभावस्यापि प्रमाणसापेक्षत्वात्। किञ्चायुर्निमित्ता विद्या आयुष्कार्य एव प्रयुज्यते। उत्तमकार्याण्यनेकानि भवन्ति। तत्र कथं तस्याः प्रयोगः? 'सीदति जानाति येन तज्ज्ञानं तत्प्रापयति' इत्यपि यत्किञ्चित्, प्रमाणविरहादेव। यदपि च—'हे विष्णो ऋतस्य योनौ शुद्धयज्ञे यथा वस्तूनि स्थिराणि भवेयुस्तथा पाहि यज्ञं यज्ञन्यं यज्ञपतिं यजमानं यज्ञप्रकाशकं मां यजमानं होत्रादींश्च रक्ष पालय' इति, तदपि न किञ्चित्, यज्ञेन प्रार्थनया चास्थिराणां वस्तूनां स्थैर्यादर्शनात्। किञ्च, यज्ञस्य कादाचित्कत्वात् तत्रत्यानां वस्तूनां सुतरां कादाचित्कत्वमेव। सिद्धान्ते तु पूर्वोक्तो ध्रुवशब्दः स्रुग्विशेषपरः, तस्याश्चान्यापेक्षया स्थिरत्वात् तत्र ध्रुवापदप्रयोगः। द्वितीयो ध्रुवाशब्दस्तु जुह्वादीनि यज्ञसमाप्तिपर्यन्तं बर्हिषि स्थिराणि भवन्तीति ध्रुवास्तिष्ठन्त्वित्यभिप्रायेण ध्रुवाशब्दप्रयोगः।

शतपथरीत्या तु—'अथ दक्षिणेन जुहूं प्रतिगृह्णाति। नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्याविशन्तीति। ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता। तस्मादभिनिहित एव सव्येन पाणिना भवति' (श० १।३।४।१३)। अथानन्तरमेव दक्षिणेन हस्तेन जुहूं प्रतिगृह्णीयात्। जुहूसादनपर्यन्तं प्रस्तरविमोको न कार्यः। यतो ब्राह्मणो रक्षसामपहन्ता, अतस्तत्स्पर्शाभावे रक्षसामावेशः सम्भाव्यते। 'अथ जुहूं प्रतिगृह्णाति घृताच्यसि जुहूर्नाम्नेति घृताची हि जुहूर्हि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीदेति घृताच्यस्युपभृन्नेत्युपभृतं घृताची ह्युपभृद्धि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीदेति घृताच्यसि ध्रुवा नाम्नेति ध्रुवा घृताची हि ध्रुवा हि नाम्ना..........प्रियं सद आसीदेति यदन्यद्धविः' (श० १।३।४।१४)। अथ जुह्वाः सादनं विधत्ते–अथेति। जुहूमादायानेन मन्त्रेण प्रस्तरे सादयेन्न तु ग्रहणमात्रम्, मन्त्रस्य

वस्तुओं को निश्चल सुखसाधक और ज्ञानवर्धक बनाता है। उनकी वृद्धि के लिये, रक्षण करने के लिये सब लोग उस व्यापक ईश्वर की प्रार्थना और सम्यक् पुरुषार्थ करें।

किन्तु उनका किया हुआ यह सम्पूर्ण अर्थ अविचारमूलक ही है। व्यवहार की अनुपपत्ति होने पर प्रसिद्ध अर्थ का त्याग किया जाता है, अन्यथा नहीं। उसी तरह अनेकार्थक शब्दों के रहने पर प्रसंग के अनुसार अर्थ किया जाता है। 'जुहू' पात्र के विषय में सब असंगत ही लिखा गया है। 'प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद' का अर्थ भी ठीक नहीं हुआ है। तथा 'उपभृत्' का अर्थ भी ठीक नहीं है। 'घृताची' शब्द का भी अर्थ ठीक नहीं है। सबका कारण

सादनप्रकाशनलिङ्गत्वात्। 'सव्याङ्गून्ये जुहूं प्रतिगृह्य निदधाति घृताचीति' (का० श्रौ० २।८।१२) इति सूत्रेभ्यः। घृतमञ्चतीति घृताचीत्येतत्प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः। प्रसिद्धघृताञ्चनाद् नाम्ना नामधेयेन एषा स्रुग् जुहूः, केवलं होमसाधनत्वात्। एतावता जुहूनाम्नी स्रुगेव, नादानक्रिया। अथोपभृतः सादनं विधत्ते। शेषं पूर्ववत्। ध्रुवायाः सादनं विधत्ते-घृताच्यसि ध्रुवा नाम्नेति। स्रुग्गताज्यव्यतिरिक्तस्य हविषः सादनं विधत्ते— यद् आज्याद् अन्यद् हविः पुरोडाशादिकं सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीदेति (वा० सं० २।६) मन्त्रेण सादयेदिति शेषः।

'स वा उपरि जुहूं सादयति। अध इतराः स्रुचः। क्षत्रं वै जुहूर्विश इतराः स्रुचः। क्षत्रमेवैतद्विश उत्तरं करोति। तस्मादुपर्यासीनं क्षत्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते। तस्मादुपरि जुहूं सादयत्यध इतराः स्रुचः' (श० १।३।४।१५)। जुह्वादीनां सादने विशेषः। प्रस्तरस्योपरि जुहूमेव सादयेत्। तस्याधस्ताद् बर्हिषी इतरा उपभृदाद्याः स्रुचः सादयेत्। तदुपपादयति—स्वातन्त्र्येण होमसाधनत्वाद् जुहूः क्षत्रियजातिः। उपभृदादीनां तथा स्वातन्त्र्याभावे तत्स्थस्याज्यस्य जुह्वामानेयत्वात् ता वैश्यजातिस्थानीयाः। मूलं स्पष्टम्। अत्र स्पष्टमाज्यसम्बन्धेन जुहूपभृद्ध्रुवादिषु घृताचीपदप्रयोगो न होमक्रियाभिप्रायेण। सोऽभिमृशतीत्यादिना समन्त्रकमासन्नानां हविषामभिमर्शनं विधत्ते-ध्रुवा असदन्निति। कर्मसमाप्तिपर्यन्तं निश्चलतया वेद्यां जुह्वाद्या उपसन्ना इत्यर्थः।

ऋतस्य योनाविति यज्ञो वा ऋतस्य योनिर्यज्ञे ह्यसदंस्ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिमिति तद्यजमानमाह—पाहि मां यज्ञन्यं तदप्यात्मानं यज्ञान्नान्तरेति। यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञायैवैतत् सर्वं परिददाति गुप्त्यै तस्मादाह ता विष्णो पाहीति। ऋतयोनावित्यस्याभिप्रायमाह—ऋतशब्दः सत्यार्थकः, सत्यफलकारणत्वाद् यज्ञ ऋतस्य योनिः। यज्ञे खल्वेता जुह्वाद्या असान आसादिताः। अत ऋतस्य योनावित्यनेन यज्ञप्रतिपादनं युक्तम्। फलभोक्तृतया यज्ञस्वामित्वाद्यजमानो यज्ञपतिः। यज्ञं नयति निष्पादयतीति यज्ञनीरध्वर्युः। तेन यज्ञन्यमित्यनेनाध्वर्युर्न यजमानः। स्वात्मानं यज्ञसकाशान्नान्तरेति वियुक्तं न करोति। तस्माच्छतपथविरुद्धमेव दयानन्दीयं व्याख्यानम्।

एकमात्र यही प्रतीत हो रहा है कि उन्हें 'वैदिक यज्ञप्रक्रिया' का परिचय नहीं होगा। शतपथद्वारा प्रतिपादित यज्ञप्रक्रिया का परिचय प्राप्त करके यदि व्याख्या की गई होती तो ऐसी गलतियाँ न होतीं। वेद की व्याख्या करने वाले को व्याख्या का आरम्भ करने से पहिले—शतपथ, श्रौतसूत्र, प्रातिशाख्य, सायण, महीधर, उव्वट, स्कन्दस्वामी आदि पूर्वाचार्यों के भाष्यादि ग्रन्थों का अध्ययन, अवलोकन मनन कर लेना आवश्यक होता है, जिससे ऐसी गलतियां नहीं हो पाती। 'ऋत' शब्द का अर्थ 'सत्य' है। 'यज्ञ' जो है वह 'ऋत' की योनि है। अतः 'ऋतस्य योनौ' के द्वारा यज्ञ का प्रतिपादन जो उव्वट, महीधर ने किया है, वह उचित ही है। फल का भोक्ता होने के कारण 'यजमान' को यज्ञपति कहा गया है। तथा यज्ञ का निष्पादन करने के कारण 'अध्वर्यु' को 'यज्ञनी' कहा गया है। अतः 'यज्ञन्यम्' से अध्वर्यु को बताया गया है, यजमान को नहीं। इन सब बातों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्दीय व्याख्या शतपथ के विरुद्ध है।

अध्यात्मपक्ष में—हे भगवति! तुम ही यज्ञों में 'जुहू' के नाम से प्रसिद्ध हो। तुम्हारे द्वारा ही इन्द्रादि देवताओं को घृत आदि हवि की प्राप्ति होती है, इस कारण तुम ही 'घृताची' हो। देवताओं के लिये घृत आदि का आदान जिससे किया जाता है, उसे 'जुहू' कहते हैं। उसकी अधिष्ठात्री परदेवता तुम ही हो। अथवा प्रत्यक्चितिस्वरूपिणी

अध्यात्मपक्षे तु—हे भगवति ! त्वमेव यज्ञेषु जुहूनाम्ना प्रसिद्धा। घृताची घृतमञ्चतीति घृताची, त्वद्द्वारैवेन्द्रादीनामाज्यादिप्राप्तेः। देवानामर्थे जुहोति घृताद्यादत्ते यया सा जुहूः, तदधिष्ठात्री परदेवता त्वमेवासि। यद्वा जुहोत्यादत्ते सर्वमनया प्रत्यक्चितिरूपयेति जुहूः। सा त्वमिदं सदो निवासस्थानं मूर्तिमयं शरीरं भक्तहृदयं वा प्रियेण प्रेमास्पदेन स्वरूपभूतेन तेजसा अधितिष्ठ। त्वमेव उपभृन्नाम्ना घृताची घृताद्युपलक्षित दिव्यहविर्भोक्त्री असि भवसि। उप जुह्वाः समीपे स्थित्वा आज्यं बिभर्ति धारयतीत्युपभृत् पात्रविशेषस्तदधिष्ठात्री। उपेति सामीप्यवाची, सामीप्यस्य पर्यवसानमात्मन्येव। तथा च प्रत्यगात्मानं बिभर्तीत्युपभृत् परमात्मस्वरूपासि। हे राजराजेश्वरि ! त्वं ध्रुवासि नाम्ना ध्रुवा स्रुगसि। जुहूपभृतोश्चलनवदस्याश्चलनाभावेन ध्रुवात्वम्। तदधिष्ठात्री सती सर्वदेवतर्पयित्री ध्रुवा कूटवन्निर्विकारतया तिष्ठतीति वा, कूटस्था वासि। सा त्वं प्रियेण सर्वप्राणिप्रेमास्पदेन तेजसा स्वरूपभूतेन तेजसा प्रियं सदः स्थानं मूर्ति हृदयं वाधितिष्ठ। ऋतस्य सत्यस्य योनौ अङ्के जुह्वादीनि पात्राणि पुरोडाशादीनि, असदन्निति तद्रूपाणि सन्तु। विष्णो हे व्यापनशील परमेश्वर! पाहि रक्ष यज्ञं कर्मविशेषमुपासनं वा। पाहि यज्ञपतिं यजमानं यज्ञन्यं यज्ञनेतारमध्वर्युम्। यद्वा ऋतस्य सत्यस्य योनौ कारणभूतायां चिदात्मिकायां भगवत्यां सर्वाणि वस्तूनि सर्वाणि कर्माणि ध्रुवा स्थिराणि कारणात्मनाऽविनश्वराणि, असदन् आसादितानि सन्ति। हे विष्णो व्यापनशील सर्वकारण! व्यवहारेऽपि यज्ञादीनि सुखसाधनानि यज्ञपतिं यज्ञकर्तारं यज्ञन्यं यज्ञनेतारमध्वर्युं च पाहि पालय।

कश्चित्तु—'यज्ञे त्रीणि स्रुक्पदाभिधेयानि हवनसाधनानि भवन्ति—जुहूः, उपभृत्, ध्रुवा च। त्रीणि चेमानि ब्रह्माण्डे दिवोऽन्तरिक्षस्य पृथिव्याश्च प्रतीकभूतानि। राष्ट्रे च राजभृत्यप्रजाना प्रतीकानि। हे राजन्! त्वं जुहूरसि समस्तप्रजागणेभ्यः शक्तीरादाय सर्वेभ्यः सुखप्रदानसमर्थः, घृताची तेजसा पराक्रमेण च युक्तः। जुहूरिति त्वदीयं नाम। सा राजशक्तिरिदमस्मिन् राजभवने राजपदे वा प्रियं सदः स्वप्रिये आश्रये आसनेऽनुकूलतेजसान्वितः, आसीद विराजताम्। हे राजाधिकारिवर्ग ! त्वमपि घृताची असि तेजःसम्पन्नोऽसि। नाम्ना उपभृत्। कुत इति चेत्, राज्ञा स्वसमीपे त्वां रक्षित्वा भृतिं(वेतन)द्वाराप्नोति सा अधिकारिगणरूपा प्रकृतिः, इदं स्वप्रियं सदः प्रीतिकरासनमारुह्य प्रीतिकरेण तेजसा युक्त आसीद। हे प्रजागण ! त्वमपि घृताची असि घृततुल्यपुष्टिकरान्नादिपदार्थप्रापकत्वेन तेजस्वी भव। नाम्ना ध्रुवा पृथिवीवदेव स्थिरा भव। सा त्वमिदं स्वीयं प्रियमासनं प्रियेण तेजसा आसीद। सर्वेऽपि स्वीयेष्वासनेषु वा स्वानुकूलतेजसि च ऋतस्य योनौ सत्यज्ञानस्याश्रयभूतेश्वराश्रयाश्रिता भूत्वा त्रयोऽपि राज-कर्मचारि-प्रजाः स्वाश्रितैरुपादेयपदार्थैर्ध्रुवा असदन् स्थिरा भवन्तु। हे विष्णो व्यापक प्रभो ! ताः पाहि। यज्ञं रक्ष यज्ञपालकं स्वामिनं पाहि मां यज्ञन्यं यज्ञनेतारं रक्ष' इति।

तुम्हारे द्वारा ही सब कुछ ग्रहण किया जाता है, इसलिये तुम ही 'जुहू' हो। ऐसी तुम, निवासस्थानभूत मूर्तिमय शरीर में अथवा भक्त के हृदय में प्रेमास्पद स्वरूपभूत अपने तेज से निवास करो। तुम ही 'उपभृत्' नाम से घृतादि के द्वारा उपलक्षित दिव्य हवियों की भोक्त्री हो। अतः तुम ही उपभृत् नाम की घृताची हो। जुहूपात्र के समीप स्थित रहकर आज्य का धारण करने से उस पात्र विशेष को 'उपभृत्' कहते हैं, उसकी तुम अधिष्ठात्री देवता हो। 'उप' शब्द 'समीप' वाचक है। उस सामीप्य का पर्यवसान 'आत्म' में ही होता है। तथा च प्रत्यगात्मा का धारण करने से तुम परमात्मस्वरूपा हो। हे राजराजेश्वरि ! तुम 'ध्रुवा' नाम की स्रुक् हो। 'जुहू' और उपभृत् पात्रों के समान 'ध्रुवा' पात्र का चलनाभाव रहने से उस पात्रविशेष का नाम 'ध्रुवा' प्रसिद्ध हुआ है। उस पात्रविशेष की तुम अधिष्ठात्री सर्वदेवतर्पयित्री हो और कूट के समान निर्विकारभाव से स्थित रहती हो। सत्य की योनि, अर्थात् अंग में जुहू आदि पात्र

तदपि विविच्यते। अस्यां कण्डिकायां यज्ञशब्दः पठितो व्याख्यात्रा च यज्ञे तिस्रः स्रुचो भवन्तीत्युक्तम्। तत्र कोऽयं यज्ञः किं प्रमाणकश्च ? पात्राणि च किं प्रमाणकानि ? सर्वेऽपि मन्त्रा आयुष्मता राजाद्युपदेशपरा आस्थीयन्ते, यज्ञे जुहूपभृद्ध्रुवाख्यानि पात्राणि चास्थीयन्ते। कानि च तानि ? यदि च श्रौतसूत्रपद्धतियाज्ञिक-सम्प्रदायानुरोधेनैव यज्ञादिव्याख्यानमाद्रियते, तर्हि तदनुरोधि मन्त्रव्याख्यानमप्याद्रियताम्। तथात्वे हूयतेऽनयेति जुहूरित्येवं व्याख्यायताम्। न च राजा जुहूरूपः सम्भवति, तस्य होमं प्रत्यकरणत्वात्। जुह्वां यदेव घृतमादीयते तदेवाग्नौ देवतोद्देश्येन हूयते। राज्ञा तु न तथा यदेवादीयते तदेव दीयते। प्रजाभ्यः कर आदीयते न शक्तिः, प्रजाभ्यश्च सुखं तत्साधनानि च दीयन्ते, न यदेवादीयते तदेव। जुहूपभृद्ध्रुवासु यद्वैलक्षण्यं न तद्राजभृत्यप्रजासु व्यञ्जितम्। दिवादिषु किंनिमित्तकं जुह्वादित्वमिति नोक्तम्। अपि च, यथा मुख्यसिंहनिरूपणानन्तरमेव देवदत्तादिगौणसिंहनिरूपणं भवति, तथैव मुख्यजुहूपभृद्ध्रुवादिनिरूपणानन्तरमेव राजादिगौणजुह्वादिनिरूपण-मुचितम्। किञ्च, यज्ञ-यज्ञपति-यज्ञनीरक्षणं प्रार्थितम्। नहि राष्ट्रे राष्ट्रपतौ नेतृषु चैते शब्दाः प्रसिद्धाः। न च तत्र जुह्वादयोऽपेक्ष्यन्ते। अपि चैतेषां मन्त्राणां य उच्चारयिता स एव मांपदार्थः। स च नेश्वरः सम्भवति, तस्य रक्षणप्रार्थनानुपपत्तेः। न च कश्चन नेतास्य मन्त्रस्योच्चारकः, निष्प्रमाणत्वात्। सिद्धान्ते श्रौतसूत्रानु-सारेणाध्वर्युकर्तृकं मन्त्रोच्चारणम्, स एव च यज्ञनेता भवति, यजतिजुहोत्योस्तत्कर्तृकत्वात्। किञ्च, ऋतस्य योनौ परमेश्वरे कथमेषामवस्थानम् ? ता इति पदेन केषां व्यपदेशः ? राजादीनां तथात्वे च पौनरुक्त्यमेव। सिद्धान्ते सूत्रानुसारेण तु यत्तदोः सम्बन्धाद्यान्येतानि ध्रुवाणि असदन् आसादितानि ऋतस्य योनौ यज्ञस्योत्सङ्गे तास्तानि हवींषि गोपाय। अस्मिन्नर्थे मन्त्राणां परम्परमसङ्गतिस्तु स्पष्टं भासते। सिद्धान्ते तु यज्ञानुसारेण स्पष्टैव सङ्गतिः ॥ ६ ॥

अग्ने॑ वाजजिद्वाजं॑न्त्वा सरि॒ष्यन्तं॑ वाजजित॒ꣳ सम्मा॑र्ज्मि। नमो॑ दे॒वेभ्यः॑ स्व॒धा पि॒तृभ्यः॑ सु॒यमे॑ मे भूयास्तम् ॥ ७ ॥

'इध्मसंनहनैरनुपरिधि संमाष्टर्यग्ने वाजजिदिति त्रिस्त्रिः परिक्रामम्' (का० श्रौ० ३।१।१३)। इध्मबन्धनार्थैस्तृणैरग्नीत् पूर्वेण परिक्रम्य यजतिस्थानस्थः सम्मार्ज्य द्विस्तूष्णीं मार्जयेत्। ततोऽप्रादक्षिण्येन

और पुरोडाशादि हवि स्थित हैं, अतः उनके स्वरूप से तुम ही हो। हे व्यापनशील परमेश्वर ! तुम यज्ञरूप कर्मविशेष को अथवा उपासना की रक्षा करो। तथा यज्ञपति यजमान की और यज्ञन्य (यज्ञनेता) अध्वर्यु को रक्षा करो।

अथवा सत्य की कारणभूत चिदात्मिका भगवती में समस्त वस्तुजात, समस्त कर्म, स्थिर कारणरूप से अविनश्वर रूप में आसादित हैं। हे विष्णो ! व्यवहार में भी यज्ञादि सुखसाधनों को, यज्ञकर्ता को और अध्वर्यु को सुरक्षित रखो।

किसी व्याख्याता ने यज्ञपात्रों को अन्तरिक्ष और पृथिवी के प्रतीक मानकर राष्ट्र में राजा, भृत्य और प्रजा के प्रतीक रूप में माना है। किन्तु वह सब असंगत है। उस असंगति को भाष्य में अच्छी तरह से बताया गया है, वहीं पर देखना चाहिये ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अन्नोत्पादक अग्ने ! मैं अन्न के उद्देश्य से गमन करने वाले और विजय प्राप्त करने वाले तुम्हारी शुद्धि जल से करता हूँ। कर्म पर अनुग्रह करने वाले देवताओं को नमस्कार है। पालन करनेवाले पितरों को यह हवि सुहुत हो। हे जुहू और उपभृत् पात्रों ! मेरे लिये तुम स्थिर रहो, अर्थात् तुममें स्थित रहने वाले घृत को नीचे गिरने

यजतिस्थानमागत्य पश्चिमपरिधिमुदक्संस्थं सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीं सम्मार्जयेत, अनुपरिधिं परिधिसमीपे अग्निं संमृड्ढि इति प्रैषबलात् । वाजमन्नं जयतीति वाजजित्, तत्सम्बुद्धौ हे वाजजिदग्ने त्वा त्वामहं सम्मार्ज्मि शोधयामि । कीदृशं त्वां सरिष्यन्तमन्नमुद्दिश्य गमिष्यन्तम् अन्नप्रतिबन्धनिवारकम्, अन्नसम्पादनोपयुक्तमित्यर्थः । वाजं यज्ञं वा प्रापयिष्यन्तमन्नस्य जेतारमग्निं शोधयामि । 'अपरमाहवनीयादञ्जलिं करोति नमो देवेभ्यः' (का० श्रौ० ३।१।१५) । अध्वर्युरुपभृतोः पुरस्तादाहवनीयस्य पश्चाद् ओं नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्य इत्यञ्जलिपुटं निदधाति । तस्मादञ्जलिकरणस्थानाद् दक्षिणतो द्वितीयमञ्जलिमुत्तानं करोति, ये देवा अनुष्ठानमनुगृह्णन्ति तेभ्यो नमस्करोति । 'स्वधा पितृभ्य इति दक्षिणत उत्तानम्' (का० श्रौ० ३।१।१५) प्राङ्मुखेनादौ देवनत्यर्थमञ्जलिः कृतः । इदानीं पितृनत्यर्थं दक्षिणामुख उत्तानमञ्जलिं कुर्यात् । ये पितरः पालकाः सन्ति तेभ्यः स्वधाऽस्तु । स्वधाशब्दो निपातः पितॄनुद्दिश्य देयद्रव्यस्य पिण्डादेर्दाने वर्तते । अनेन मन्त्रद्वयेन देवाः पितरश्च पूज्यन्ते । 'सुयमे म इति जुहूपभृतावादाय' (का० श्रौ० ३।१।१६) । हे जुहूपभृतौ मे मदर्थं सुयमे सुष्ठु नियमने युवां भूयास्तं भवतम्, यथा युवयोः स्थितमाज्यं न स्कन्दति तथा धारयतम् । तदाह कण्वोऽपि —'अथ स्रुचाघारमाकृष्यन्नग्रेण स्रुचोरञ्जलिं निदधाति नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः' इति ।

अत्र दयानन्दः—'यतोऽयमग्निर्वाजजिद् अन्नप्रापको भूत्वा सर्वान् पदार्थान् सम्मार्ष्टि शोधयति, तस्मात् त्वा तमहं वाजं सरिष्यन्तं सर्वान् पदार्थान् अन्तरिक्षे गमिष्यन्तं वाजजितं युद्धजितं संमार्ज्मि येन यज्ञे प्रयुक्तेनाग्निना देवेभ्यः सुखकारकेभ्यो वस्वादिभ्यो नम उदकं पितृभ्यः पालनहेतुभ्य ऋतुभ्यः स्वधान्नं 'ऋतवो वै पितरः' । सुयमे सुशोभनेऽर्थे यमे यच्छन्ति बलपराक्रमौ याभ्यां ते मम भूयास्तं भूयास्ताम्' इति, तदपि निर्मूलम्, अग्नेः केवलस्यान्नप्रापकत्वाभावात् । न वाग्नेः केवलस्य युद्धजयहेतुत्वं सम्भवति । अग्निना चेहैवान्नं दह्यते न चान्तरिक्षे नीयते । न वाग्नेस्तादृशं सम्मार्जनं शोधनं दृश्यते श्रूयते वा, येन वस्वादिभ्यो जलं प्राप्येत । न तु ऋतुभ्योऽन्नं प्राप्यते, वसूनामृतूनां च समुच्चितानामेवान्नादिप्रापकत्वसम्भवात् ।

शतपथविरुद्धं चैतत् । तथाहि—'अथ संमार्ष्टि । युनक्त्येवैनमेनद्युक्तो देवेभ्यो यज्ञं वहादिति तस्मात् संमार्ष्टि । परिक्रामं सम्मार्ष्टि । परिक्रामं हि योग्यं युञ्जन्ति त्रिस्त्रिः संमार्ष्टि त्रिवृद्धि यज्ञः' (श० १।४।४।१४) । इति विधित्सितस्य सम्मार्जनस्याघारानन्तर्यमुपपादयति—यथेति । यथा अनड्हः स्कन्धदेशे धुरं युगधुरं अध्यूहेत योजयेत, एवमग्नौ धुरोऽध्यूहनमेव पूर्वाघारहोमेन क्रियते । तत्रैव लोकप्रसिद्धिमाह—अध्यूह्येति । हि

मत दो । 'अग्ने वाजजित्' इस मन्त्र से 'अग्नि' का तीन बार संमार्जन करे । आहवनीय के पश्चिम भाग में 'नमो देवेभ्यः' इस मन्त्र से नमस्काराञ्जलि करे । तदनन्तर 'स्वधा पितृभ्यः' इस मन्त्र से दक्षिण की ओर उत्तान अञ्जलि करे । 'सुयमे मे' इस मन्त्र से जहू और उपभृत् पात्रों का ग्रहण करे ॥ ७ ॥

भाष्यसार—अग्नि का संमार्जन एक बार समन्त्रक और दो बार तूष्णीं करना चाहिये । यह अग्नि अन्न-सम्पादनोपयुक्त है तथा अन्न का जेता है, अर्थात् अन्न-प्रतिबन्ध का निवारण करने वाला है । तदनन्तर देवता और पितरों को प्रणामाञ्जलि के द्वारा प्रणाम किया जाता है । तदनन्तर जुहू और उपभृत् की घृतधारण करने के लिये प्रार्थना की गई है ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह मूलरहित ही है । शतपथब्राह्मण के विरुद्ध भी है । दयानन्दजी की व्याख्या और उसका शतपथ के साथ विरोध ऊपर दिये गये भाष्य में देखना चाहिये ।

यतो रथादेर्वहनेऽनड्डुदश्वादिकं योज्यमानास्तदीयस्कन्धस्योपरि युगधुरमध्यूह्य पश्चात् पार्श्वैर्युञ्जन्ति, अतो धुरोऽध्यूहनस्थानीयः पूर्वाघारहोमः। इतः पूर्वं सामधेन्यनुवचनम्। तथेध्मसामधेनीनाम्नोर्निर्वचनम्। तत्र होतृपदमुपादेयमित्येकीयमतनिरसनम्। सामिधेनीनामृचां छन्दोदेवतासंख्यादिकं च। पञ्चदशो वज्र इत्युपपत्तिः। त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामित्येकादशानामृचां प्रथमाया उत्तमायाश्च त्रिस्त्रिरन्वाख्यानेन पञ्चदशत्वम्। तासां संख्यासाम्यात् पक्षस्य रात्र्यात्मना सम्पत्तिः। अक्षरसंख्यासाम्यात् षष्ट्युत्तरत्रिशतसंवत्सराहःसम्पत्तिः। सामिधेन्यनुवचने उपांशु हिङ्करणादिधर्मविशेषविधानम्। हिंकारप्रणवयोस्तादात्म्योपवर्णनम्। सामिधेनीनामृचां व्याख्यानम्। प्रसङ्गाद् मागध-विदेह-राजकथाप्रस्तावः। अग्नेर्दूतत्वेतिहासः। होता यो विश्ववेदस इति मानुषपरिकल्पितपाठान्तरनिरासः। सामिधेनीष्वृक्षु सप्तदशसंख्यापूरकयोर्धाय्याभूतयोर्ऋचोः स्थाननिर्धारणम्। दशम्या ऋचः प्राग् अनुयाजसमिद्वर्जमवशिष्टसर्वेध्मानामाधानम्। अन्तिमाया ऋचः प्रोक्षणीप्रैषरूपत्वम्। अध्वरपदस्य निरुक्तिपूर्वकं सोमयागे रूढिं प्रतिपाद्य दर्शपूर्णमासे तद्योगं दर्शयित्वा द्वयोः समानफलजनकत्वोक्तिः।

'अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारतेति। ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति। भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति। तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुरेष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वेवाह भारतेति।' (श० १।४।२।२)। अथार्षेयप्रवरणम्—देवेद्धमन्विद्ध ऋषिष्टुत् विप्रानुमोदित वाविशस्त ब्रह्मसँशितादिनिवित्पाठः। यथादेवतं देवतावाहनम्। सामिधेनीपुरोनुवाक्ययोस्तिष्ठतानुवचनम्। याज्याया आसीनेनानुवचनमिति धर्मविशेषविधानम्। शान्तिकर्म। तत्र सामिधेनीभिः समिद्धोऽग्निः प्रदीप्ततमो भवति। ततो रक्षःप्रभृतिभिरहिंस्यः स्प्रष्टुमशक्यश्च जायते। आघारसंज्ञकयोर्होमयोर्विधानम्। मनोवाग्देवत्यौ च तौ पूर्वोत्तरावाघारौ समिद्धेऽग्नौ होतव्यौ। तत्र पूर्वाघार उपांशु स्रुवेण तूष्णीमुत्तरतः उपविष्टेन सता होतव्यः। उत्तराघारश्चोच्चैः स्रुचा स्वाहाकारेण दक्षिणतस्तिष्ठता होतव्यः। पूर्वाघारोत्तरं सप्रैषमग्निसम्मार्जनम्। देवेभ्यो यक्ष्यमाणहविर्द्रव्यं वाहयित्वा प्रदानार्थं शकटसम्पत्त्या द्वयोराघारयोर्मध्येऽग्निसम्मार्जनानुष्ठानस्य प्रशंसनम्। 'स सम्मार्ष्टि। अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितँ संमार्ज्मीति यज्ञं त्वा वक्ष्यन्तं यज्ञियँ संमार्ज्मीत्येवैतदाहाथोपरिष्टात् तूष्णीं त्रिस्तद्यथा युक्त्वा प्राजेत्प्रेहि वहेत्येवमेवैतत् कशयोपक्षिपति प्रेहि देवेभ्यो यज्ञं वहेति। तस्मादुपरिष्टात्तूष्णीं त्रिस्तद्यदेतदन्तरेण कर्म क्रियते तस्मादिदं मनश्च वाक्च समानमेव सन्नानेव।' (श० १।४।४।१५)।

विहितं सम्मार्जनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते-स सम्मार्ष्टीति। मन्त्रस्याभिप्रायमाह—यज्ञं त्वेति। यज्ञसाधनत्वाद् हविरत्र यज्ञः। यज्ञसाधनं हविर्लक्षणमन्नं देवेभ्यो वक्ष्यन्तं वहनं करिष्यन्तं वाजं सरिष्यन्तमिति पदद्वयस्यार्थः। वाजजिदित्यस्य व्याख्या यज्ञियमिति। वाजं यज्ञसाधनं हविर्लक्षणमन्नं जयतीति वाजजित्। तथा च यज्ञ

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—वेदपुरुष अथवा आचार्य कह रहा है कि हे वाजजित् अग्ने! विविध प्रकार के अन्न को अपने कर्म से जीतने वाले भोक्ता अथवा जीवात्मन्! कर्मफल के भोगग्रहणार्थ कर्म के अनुसार वेगशाली बने हुए तुमसे गर्भाधानादि अड़तालीस संस्कारों के द्वारा समस्त मल का अपसारण कर और तुममें अतिशय का आधान कर तुम्हारा शोधन कर रहा हूँ। तदर्थ अग्नि आदि देवताओं के लिये प्रणाम कर रहा हूँ तथा पितरों के लिये स्वधा, अर्थात् दिव्यान्न अर्पित करता हूँ। हे वाणी और मन! तुम दोनों अच्छी तरह से नियमित रूप से रहना, जिससे ईश्वराराधन रूप कर्म सम्यक्तया अनुष्ठित हो सके।

अथवा हे वाजजित्! मायामय अन्न को जीतने वाले हे परमेश्वर! भोग के योग्य प्रभूत अन्न को अपने अधीन रखने वाले और भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये अथवा फलदानार्थ गमन करने वाले तुम्हारा अभिषेक हम कर रहे हैं।

यज्ञसाधनं हविरर्हतीति यज्ञियशब्दार्थः सम्पद्यते। उपरिष्टात् सम्मार्जनं विधत्ते—अथेति। परिधित्रयानुसारेण परितोऽग्निं संमृज्य तदनन्तरमग्नेरुपरिष्टात् तूष्णीं त्रिः सम्मृज्यात्। तदेतत् स्तौति—तद्यथेति। यथा लोके युगधुरेऽनड्हं संयोज्य प्रेहि प्रगच्छ वोढव्यं भारं वह इत्येवं वदन् कशया ताडनेन प्राजेत् प्रेरयेत्, एवं कशयोपक्षेपणमेव तदुपरिमार्जनम्। अन्यत् स्पष्टम्। स्रौवस्रुग्व्याघारयोर्मध्येऽनुष्ठानं संमार्जनस्य प्रशंसति—तद्यदिति। मनोवाक्संस्तुतयोरनयोराघारयोर्मध्ये सम्मार्जनस्य करणात् तद्व्यवधाने सति मनश्च वाक् च एतदुभयं समानविषयं समानाश्रयमपि नानेव भिन्नमिव भवति। एवं श्रुतिसूत्राभ्यां सायणादिपक्ष एव समर्थ्यते, न दयानन्दीयोऽन्यदीयो वा। नात्र वाजस्यान्तरिक्षे प्रेषणं न वाग्निसंशोधनेनास्त्रशस्त्रनिर्माणादिना युद्धजयः सूच्यते। सिद्धान्तपक्षीयस्त्वर्थः पूर्वमेवोक्तः।

अध्यात्मपक्षे वेदपुरुष आचार्यो वाह—हे वाजजिदग्ने वाजमन्नं विविधं स्वकर्मणा जयतीति वाजजिद् भोक्तर्जीवात्मन्! वाजजितं त्वा कर्मफलभोगाय सरिष्यन्तं कर्मानुसारेण वाजं वेगवन्तं त्वा त्वां संमार्ज्मि गर्भाधानादिभिरष्टाचत्वारिंशत्संस्कारैर्मलापनयनेनातिशयाधानेन च सम्मार्ज्मि शोधयामि। तदर्थं देवेभ्योऽन्यादिभ्यो नमः प्रह्वीभावोऽञ्जलिबन्धोऽस्तु। तथा पितृभ्यः स्वधा दिव्यान्नमर्पितमस्तु। हे वाङ्मनसी! युवां सुयमे सुष्ठु नियते भूयास्तम्, यथा परमेश्वराराधनलक्षणं कर्म स्वनुष्ठितं स्यात्। यद्वा—हे वाजजित्! वाजं मायामयमन्नं जयतीति वाजजित् तत्सम्बुद्धौ वशीकृतमाय परमेश्वर अग्ने! वाजजितं वशीकृतभोग्यं वाजं प्रभूतान्नादिमन्तं सर्वैश्वर्यशालिनं भक्तानुग्रहार्थं फलदानार्थं वा गमिष्यन्तं संमार्ज्मि अभिषिञ्चामः। तस्य त्वदभिषेकादिलक्षणस्य निर्विघ्नसिद्ध्यर्थं देवेभ्यस्त्वदंशेभ्यो नमोऽञ्जलिबन्धोऽस्तु। पितृभ्यश्च त्वदङ्गेभ्यः स्वधास्तु। तदर्थं स्वीये वाङ्मनसी पूर्ववत्सम्बोध्य सुयमे सुष्ठु नियते भवतमित्यवधापयति ॥ ७ ॥

अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यꣳसम्भ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं विष्णोः स्थानमसीत इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात् ॥ ८ ॥

यथाहं संयताभ्यां स्रुग्भ्याम् अस्कन्नं सकलं घृतमद्य अस्मिन् कर्मणि अनुष्ठानदिने वा देवेभ्यो देवोपकाराय सम्भ्रियासं सम्यक्पोषणं धारणं वा करोमि। आशीर्लिङि उत्तमे रूपम्। 'दक्षिणातिक्रामत्यङ्घ्रिणा विष्णो' (का० श्रौ० ३।१।१६) इति कात्यायनः। हे विष्णो व्यापक यज्ञपुरुष! अङ्घ्रिणा पादेन त्वा त्वामहं मा अवक्रमिषं मावक्रमणं कार्षम्। 'परिधीनपरेण सञ्चरो होष्यतः, सव्येनेतो दक्षिणेनामुतः, वसुमतीमित्यवस्थाय' (का० श्रौ० ३।१।१७-१९)। परिधीनां पश्चिमभागः सञ्चारदेशस्ततो होमायोद्युक्तस्य सव्येन पादेनेतः परिधेः

उस अभिषेक की निर्विघ्नता सिद्धि के लिये तुम्हारे अंशभूत देवताओं को प्रणाम और तुम्हारे अंगभूत पितरों को स्वधा अर्थात् जो देय है, उसे दे रहे हैं। तदर्थ हमारी वाणी और मन को सर्वदा नियत रखो ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—आज इस कर्म के दिन देवताओं के लिये तुममें (जुहू, उपभृत् पात्रों में) भरा हुआ घृत, जो पृथिवी पर न गिर सके, उस प्रकार से मेरे द्वारा उसको धारण किया जाय। उसे मेरा पाँव न लगे। हे अग्ने! तेरे समीप छाया के समान रहने वाली पृथ्वी का मैं सेवन करता हूँ। हे वसुमति! तू यज्ञ का स्थान है। हे अग्ने! धन देनेवाली वसुमती नामकी तुम्हारी छाया का मैं सेवन करता हूँ। इन्द्र इस देवयजन स्थान से ऊर्ध्व होकर ही शत्रुवधरूप कर्म कर पाया। उसी कारण यज्ञ ऊर्ध्व हुआ है। 'वसुमतीम्' इस मन्त्र से अग्नि के समीप सेवा करने के लिये खड़ा रहे। 'इत इन्द्रः' इस मन्त्र से होम करे ॥ ८ ॥

पश्चिमदिश्यवस्थानं दक्षिणेन पादेनामुतः पूर्वस्यां दिश्यवस्थानम्। परिधीनां पश्चात् स्रुचां पूर्वेण तेमं करिष्यतोऽध्वर्योर्गमनागमनमार्गो ज्ञेयः। इतो जुहोतिस्थानाद् यजतिदेशं गच्छन्नध्वर्युः सव्येन पादेन गच्छेत्। अमुतो यजतिस्थानात् प्रत्यागच्छन् दक्षिणेन पादेनागच्छेत्। एकैकेन पादेन गन्तुमशक्यत्वात् तस्य प्रथमप्रवृत्तिर्विवक्षिता। उत्तरतो जुहोतिस्थानं दक्षिणतो यजतिस्थानम्। यजतिस्थाने ईशानाभिमुखस्तिष्ठेदध्वर्युः। क्रमणदोषो मे मा भूदित्यग्निः प्रार्थ्यते। हे अग्ने! ते छायां छायावत्समीपवर्तिनीं भूमिमाश्रयभूतां वा भूमिमहमुपस्थेषम् उपतिष्ठेयं सेवेय। उपपूर्वकस्य तिष्ठतेः सेवार्थत्वात् स्तुतिरूपा सेवैवोच्यते, युष्माकं पादच्छायायां वसामीत्यादौ तथा प्रयोगदर्शनात्। तथा चादिकाव्यं रामायणम्—'पादच्छायामुपागम्य सुखमस्य महात्मनः। उपवासपरैकाग्रा वरा त्वं जनकात्मजे॥' (वा० उ० ४७।१७) इति। हे वसुमति! त्वं विष्णोर्यज्ञस्य स्थानमसि। अत्र स्थित्वा यज्ञः कर्तुं शक्यते। आहवनीयसमीपवर्तित्वाच्चास्या भूमेर्यज्ञस्थानत्वम्। यद्वा हे अग्ने! तव वसुमतीं धनवतीं धनप्राप्तिकरीं छायामाश्रयम् उपस्थेषं सेवेय। 'इत इन्द्र इति जुहोति' (का० श्रौ० ३।२।१)। यज्ञसम्बन्धि यत्स्थानमुक्तम्, तदेव देवानां विजयहेतुत्वाद् इतःशब्देन परामृश्यते। देवयजनव्यतिरिक्तभूमेरसुराधीनत्वे तत्र देवानां पराजयेऽपि यज्ञप्रदेशोऽजेयः। तदुक्तम्—'विष्णो स्थानमसीत्याह। यज्ञो वै विष्णुः। एतत्खलु देवानामपराजितमायतनं यद्यज्ञः। देवानामेवापराजित आयतने तिष्ठति' (तै० ब्रा० ३।३।७।७) इति। इत इन्द्र इतोऽस्माद् यजनस्थानात् स्वकीयभुजबलोपार्जिताद् युद्धार्थमुद्युक्तः सन् वीर्यमकृणोद् वीरस्य कर्म वीर्यं शत्रुवधरूपमकरोत्। अत एवाध्वरो यज्ञ ऊर्ध्वमास्थाद् उन्नतः स्थितः। इन्द्रेण वीर्ये कृते शत्रुकृतविघ्नाभावात् तस्यौन्नत्यमर्थसिद्धम्।

अत्र दयानन्दः—'अहं देवेभ्य उत्तमसुखप्राप्तयेऽस्कन्नमविक्षुब्धं निश्चलसुखदायकमाज्यादिपदार्थप्रापकमग्निमद्य सम्भ्रियासं धारयेयम्। विष्णो हे व्यापक परमेश्वर! त्वां तमङ्घ्रिणा गमनसाधनेनाग्निना मावक्रमिषं कदाचिदपि नोल्लङ्घयेयम्। हे अग्ने परमेश्वर भौतिकाग्ने वा! ते वसुमती बहूनि वस्तूनि भवन्ति यस्यां तां विविधपदार्थदात्रीं छायामाश्रये उपस्थेषं प्राप्नुयाम्। योऽयमग्निर्विष्णोर्यज्ञस्य स्थानमस्ति तस्याप्युत्तमपदार्थप्रापकमाश्रयं प्राप्याहं यज्ञं साधयामि। तथा य ऊर्ध्वमाकाशस्थोऽध्वरोऽग्नौ चास्थात् तिष्ठति तं यज्ञमित इन्द्रः सूर्यो वायुश्च धारयित्वा वीर्यं वीरस्य कर्म पराक्रमं वा अकृणोत् करोति' (पृ० १६०) इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणव्यत्ययादिदोषदुष्टत्वात्। देवेभ्य इत्यस्य उत्तमसुखप्राप्तिरूपोऽर्थोऽपि निष्प्रमाण एव। आज्यादिपदार्थे निश्चलसुखदायकत्वमपि निर्मूलमेव। अङ्घ्रिणा गमनागमनसाधनाग्निना धारितस्याज्यादेरग्निरेव कर्ता भवति नान्यः। उल्लङ्घनं च तस्य कीदृगित्यस्पष्टम्।

भाष्यसार—यज्ञानुष्ठान के दिन यज्ञिय पात्र, अग्नि, वसुमती, इन्द्र आदि की स्वरूपयोग्यता को बताया गया है और उनसे अपने शील के अनतिक्रमण की प्रार्थना की गई है। अध्वर्यु के गमनागमन का मार्ग नियत है। होमस्थान से यागस्थान तक अध्वर्यु को सव्य पैर से जाना चाहिये और यागस्थान से वापस आते हुए दक्षिण पैर से आना चाहिये। किन्तु एक पैर से जाना आना संभव न रहने से तत्तत् पैर की प्रथम प्रवृत्ति यहाँ विवक्षित है। जुहोतिस्थान उत्तर की ओर है और यजतिस्थान दक्षिण की ओर है। यजतिस्थान में ईशानाभिमुख होकर अध्वर्यु को खड़े रहना चाहिये। अपनी गमनागमन क्रिया में कोई दोष न हो पाये, तदर्थ अग्नि की प्रार्थना की गई है। 'उप' पूर्वक 'स्था' धातु का अर्थ 'सेवा' है। अतः यहाँ स्तुतिरूप 'सेवा' ही कही गई है। यह जो देवयजन स्थान है, वही देवताओं के विजय में कारण है। इस भूमि के अतिरिक्त जो भूमि है, वह असुरों के अधीन है। वहाँ देवताओं की पराजय होने पर भी यह यज्ञप्रदेश, अर्थात् देवयजनभूमि 'अजेय' है। इन्द्र ने यहीं से बल प्राप्त किया और शत्रुओं का वध किया। अत एव यज्ञ को उन्नतिकारक समझा जाने लगा।

'ईश्वर उपदिशति येन पूर्वोक्तेन यज्ञेनान्नजले शुद्धे पुष्कले भवतस्तदेतस्य सिद्ध्यर्थं मनुष्यैः पुष्कलाः सम्भाराः सदा चेतव्याः। नैव मम व्यापकस्याज्ञामुल्लङ्घ्य वर्तितव्यम्, किन्तु बहुसुखप्रापकं मदाश्रयं गृहीत्वा अग्नौ यो यज्ञः क्रियते, यमिन्द्रः स्वकीयैः किरणैश्छित्वा वायुना सहोर्ध्वमाकृष्योर्ध्वं मेघमण्डले स्थापयति, पुनस्तस्माद् भूमिं प्रति निपातयति, येन भूमौ महद्वीर्यं जायते, स सदानुष्ठातव्यः' (पृ० १६०) इति भावार्थोऽपि तदीयो मूलाक्षरासम्बद्ध एव, प्रकृतिप्रत्ययलिङ्गविभक्तिव्यक्तार्थविरुद्धश्च ।

'स स्रुचोत्तरमाघारमाघारयिष्यन् पूर्वेण स्रुचावञ्जलिं निदधाति नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्य इति। तद्देवेभ्यश्चैवैतत् पितृभ्यश्चार्त्विज्यं करिष्यन् निह्नुते सुयमे मे भूयास्तमिति स्रुचावादत्ते सुभरे मे भूयास्तम्। भर्तुं त्वाऽशकेयमित्येवैतदाहास्कन्नमद्य देवेभ्यः आज्यꣳसम्भ्रियासमित्यविक्षुब्धमद्य देवेभ्यः' (श० १।४।५।१)। स्रुच्याघारस्य प्रयोगः प्रतिपाद्यते। जुहूपभृतोः पूर्वभागेऽञ्जलिं निदधाति। समन्त्रकस्याञ्जलिनिधानस्य प्रयोजनमाह—तद्देवेभ्य इति। आर्त्विज्यं करिष्यन् तदतिक्रमजनितमपराधं तन्नमस्कारेण निह्नुते शमयति। समन्त्रकं जुहूपभृतोरादानं विधत्ते-सुयमे इति। मन्त्रभागस्य विवक्षितमर्थमाह—सुभरे इति। सुष्ठुमनुनियन्तुं भर्तुं शक्ये हे जुहूपभृतौ ! युवामीदृश्यौ सुभरे भूयास्तम्। भर्तुं शकेयमिति तात्पर्यम्। मन्त्रस्य द्वितीयभागमनूद्य व्याचष्टे—अस्कन्नमद्येति। यज्जुहूपभृतोः स्थितमाज्यं तद् अस्कन्नं यथा भवति तथा सम्भ्रियासं संभर्तुं शक्तो भूयासमित्यर्थः। अविक्षुब्धमिति। आज्यस्य स्कन्दने हि यज्ञस्य विक्षोभः स्यात्। स च मा भूदिति प्रार्थ्यते।

'अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषमिति। यज्ञो वै विष्णुस्तस्मा एवैतन्निह्नुते मा त्वावक्रमिषमिति वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषमिति साध्वीमग्ने ते छायामुपस्थेषमित्येवैतदाह' (श० १।४।५।२)। लिङ्गादेवातिक्रमणे विनियोगः सिद्ध इत्यभिप्रेत्य केवलं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे-अङ्घ्रिणेति। हवीरूपेण वेद्यामवस्थितो यज्ञोऽत्र विष्णुशब्देन विवक्षितः। दक्षिणातिक्रमवेलायां तस्यातिक्रमशङ्का मा भूदिति तदभावः प्रार्थ्यते। हे विष्णो हवीरूप यज्ञ ! त्वा त्वां मावक्रमिषम् अवज्ञया त्वां नावक्रमामि, अपि तु होमार्थम्। तत्रापराधो यथा न भवति तथैव सञ्चरदेशे नातिक्रमामीत्यर्थः। एतल्लिङ्गकल्पितमेव विनियोगं कात्यायन आह—'दक्षिणातिक्रामत्यङ्घ्रिणा विष्णाविति' (का० श्रौ० ३।१।१६)। स्रुग्व्याघारहोमार्थं यद्दक्षिणतोऽवस्थानं तदपि मन्त्रलिङ्गसिद्धमित्यभिप्रेत्य तं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—वसुमतीमिति। वसुमतीं प्रशस्तबहुधनवतीं वासयोग्यां साध्वीं त्वदीयां छायां हे अग्ने ! उपस्थेषम् उपेत्य तिष्ठेयम्। 'विष्णोः स्थानमसीति। यज्ञो वै विष्णुस्तस्यैव ह्येतदन्तिकं तिष्ठति तस्मादाह विष्णोः स्थानमसीतीत इन्द्रो वीर्यमकृणोदित्यतो हीन्द्रस्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपाहंस्तस्मादाहेत इन्द्रो वीर्यमकृणोदित्यूर्ध्वोऽध्वर आस्थादित्यध्वरो वै यज्ञ ऊर्ध्वो यज्ञ आस्थादित्येवैतदाह' (श० १।४।५।३)। प्रकृतमन्त्रेणाङ्घ्रिपदेन गमनागमनसाधनोऽग्निरभिप्रेतः, किन्तु हे विष्णो हवीरूपेणावस्थित-

स्वामी दयानन्दजी ने इस मन्त्र की जो व्याख्या की है, वह प्रमाणरहित है तथा व्यत्ययादि दोषों से दूषित है। 'देवेभ्यः' इत्यादि के अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति-प्रत्यय-लिङ्ग-विभक्तिव्यत्यय आदि अप्रामाणिक रहने से विरुद्ध अर्थ का ही प्रतिपादन कर दिया है। शतपथब्राह्मण के अनुसार जो यज्ञप्रक्रिया है, उसे ऊपर भाष्य में बताया है, वहीं से अवगत कर लेना चाहिये। इसी प्रक्रिया का अवलम्बन काण्वश्रुति, तैत्तिरीयश्रुति, श्रौतसूत्र आदि ने किया है। तदनुसार ही सायण, महीधर, उव्वटादि आचार्यों ने व्याख्याएँ की हैं। हमने भी उन्हीं आचार्यों के प्रदर्शित तथा श्रुति-सूत्रप्रदर्शित मार्ग का ही अनुसरण किया है।

यज्ञपुरुष ! त्वामङ्घ्रिणा पादेन मावक्रमिषं मावक्रमणं कार्षम् । पादेनातिक्रमणदोषो मे माभूदित्यर्थः । काण्वश्रुतिरपि तथैवाह—'यज्ञो वै विष्णुस्तमेतदतिक्रमिष्यन् प्रभवति तस्मा एवैतन्निह्नुते मा त्वावक्रमिषम्' इति । परिधीनां पश्चिमभागः सञ्चारदेशस्ततो होमायोद्युक्तस्य सव्येन पादेनेतः परिधेः पश्चिमदिश्यवस्थानम् । दक्षिणेन पादेनामुतः पूर्वस्यां दिश्यवस्थानमित्यर्थः । हे अग्ने ! तव छायां वसुमतीं यथा पुरुषस्य छाया समीपवर्तिनी तद्वत्तव समीपवर्तिनीं भूमिमुपतिष्ठेयं सेवेय । स एव सेवाप्रकारः स्पष्टीक्रियते—विष्णोः स्थानमसि हे वसुमति त्वं यज्ञस्य स्थानमसि, अत्र स्थित्वा यागः कर्तुं शक्यत इत्यर्थः । आहवनीयसमीपवर्तित्वादस्या भूमेर्यज्ञस्थानत्वं युक्तम् । तेनात्र वसुमती पृथिवी एव समीपवर्तित्वेन छायोच्यते । उपचारेण यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञस्य वा एतदन्तिकं तिष्ठतीति, तस्मादाह विष्णोः स्थानमसीति काण्वश्रुतेः । देवानां पराजयेऽपि यज्ञप्रदेशः पराजयरहितः । अत एवाह तित्तिरिः—'यज्ञो वै विष्णुः । एतत्खलु वै देवानामपराजितमायतनं यद्यज्ञः । देवानामेवापराजित आयतने तिष्ठति' (तै० ब्रा० ३।३।७।७) । तथाविधादितोऽस्माद् देवयजनस्थानात् स्वकीयभुजबलोपार्जिताद् युद्धार्थमुद्यत इन्द्रो वीर्यमकृणोत् । वीरस्य कर्म शत्रुघातमकरोत् । इन्द्रेण वीर्ये कृते शत्रुप्रयुक्तविघ्नाभावात् अध्वरो यज्ञ ऊर्ध्व आस्थाद् उन्नतावस्थः सञ्जातः ।

अध्यात्मपक्षेऽपि—हे अग्ने विष्णो ! त्वदंशेभ्यो देवेभ्य उपकाराय अद्यास्मिन् दिने अस्कन्नं विच्युतिरहितमाज्यं दिव्यं हविः सम्भ्रियासं संबिभ्रियाम् । हे विष्णो ! अङ्घ्रिणा त्वा सर्वात्मभूतं त्वां मावक्रमिषम्—'भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेवावलम्बनम् । त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं प्रभो ॥' वसुमतीं प्रभूतहिरण्यरत्नादिमतीं पादच्छायामुपस्थेयम् । यद्वा पद्भ्यां भूमिरित्यनुसारेण वसुमतीं भूमिं त्वदीयां छायामाश्रयमुपस्थेयं सेवेय । हे वसुमति ! त्वं विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमेश्वरस्य यज्ञस्य वा स्थानमसि, तत्रैव यज्ञसम्पत्तेः । अन्येषां तु तत्र स्वत्वाभिमानमात्रम् । इन्द्रो महेन्द्र इत एव विष्णोर्यज्ञबलेनाप्यायितो वृत्रादीन् जेतुं वीर्यं पराक्रममकरोत् । त्वत्स्थानत्वादेवात्राध्वरो भगवदाराधनलक्षणो यज्ञ ऊर्ध्व उन्नतावस्थो जातः ॥ ८ ॥

अध्यात्म पक्ष में मन्त्र का अर्थ यह है—

हे अग्ने विष्णो ! तुम्हारे अंशभूत देवताओं के उपकारार्थ आज विच्युतिरहित आज्यरूप दिव्य हवि को मैं सम्हाल कर धारण कर सकूँ । हे विष्णो ! मेरे पादस्पर्श से सर्वात्मभूत तुम्हारा अपराधी में न बन पाऊँ । क्योंकि—

भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेवावलम्बनम् ।
त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं प्रभो ॥

अर्थात् भूमि पर पैर फिसले हुए लोगों का अवलम्ब (आधार = सहारा) भूमि ही होती है । अतः तुम्हारे प्रति अपराध किये हुए अपराधियों के शरण (रक्षक) हे प्रभो ! तुम ही रहोगे । अतः मुझसे अपराध बन जाने पर मुझे क्षमा करना, मेरी रक्षा करना । यह पृथ्वी जो हिरण्य-रत्न आदि से भरी पड़ी है, वह तो तुम्हारी पैर की छाया है । तुम्हारे पैरों की छाया का आश्रय ले पाऊँ । हे वसुमति ! तुम व्यापनशील विष्णु की अथवा यज्ञ की भूमि हो, तुम पर ही यज्ञसम्पत्ति विद्यमान है । तुमसे अन्य जो लोग हैं, उनका तो केवल स्वामित्व मात्र है । इन्द्र ने इसी विष्णुस्थान से, अर्थात् यज्ञबल से परिपुष्ट होकर वृत्रादि असुरों को जीतने का पराक्रम किया था । तुम्हारे कारण ही भगवदाराधनलक्षण यज्ञ उन्नत अवस्था को प्राप्त हो पाया है ॥ ८ ॥

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा भूत्स्वाहा संज्योतिषा ज्योतिः ॥ ९ ॥

यस्मादध्वरो निर्विघ्नोऽवसितस्तस्माद् हे अग्ने ! त्वं होतुः कर्म वेर्विद्धि जानीहि। वेरिति 'विद् ज्ञाने' धातोर्लेङि अडभावे रूपम्। तथा दूत्यं दूतसम्बन्धि कर्म वेर्विद्धि। मया होत्रं कर्तव्यं दूत्यं कर्म च कर्तव्यमित्यवगतार्थो भवेत्यर्थः। होतृदूतत्वयोरग्निसम्बन्धित्वं दर्शयति कण्वोऽपि—'अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमित्युभयं ह वा एतदग्निर्देवानां होता तद्दूतश्च। उभयं वा एतदग्निर्देवानाᳬहोता दूतश्चेति' (का० श० १।४।५।४) इति श्रुतेः। त्वां द्यावापृथिवी अवतां पालयताम्। हे अग्ने ! त्वमपि द्यावापृथिवी लोकद्वयदेवते अव पालय। इत्यन्योन्यपालने सति इन्द्र आज्येन हविषाऽस्माभिर्दत्तेन देवेभ्यो देवार्थं स्विष्टकृद् भूत् सुष्ठु इदं करोतीति स्विष्टकृद् भवतु। यद्यदस्माभिरिज्यते तत्तदिष्टं वैकल्यरहितं करोतु। स्वाहा सुष्ठु हुतमस्तु। देवेभ्योऽन्येभ्यः सकाशात् प्रथमं इन्द्र आज्येनेति 'अज गतिभक्षणयोः' अजनेन हविषा हवनेन भूद् भूयात्। इन्द्रं देवमुद्दिश्य आज्यं दत्तमस्त्वित्यर्थः। देवोद्देश्येन दाने स्वाहेति निपात्यते। 'जुह्वा ध्रुवां समनक्ति संज्योतिषेति' (का० श्रौ० ३।२।२)। आघारानन्तरं जुहूपभृतोः परस्परं स्पर्शमकुर्वन्नेव यजतिस्थानाद् वेदेः पश्चादागत्य जुहूस्थेनाज्येन ध्रुवास्थमाज्यं जुह्वैव समञ्ज्यात्। ध्रौव्याज्यमध्ये जुह्वाज्यबिन्दुं सम्पातयेत्। सङ्गच्छतामित्यध्याहारः। तथा च ध्रुवास्थिताज्यरूपज्योतिषा सह ज्योतिर्जुह्वा सिच्यमानं ज्योतिः सङ्गच्छताम्। आघारशेषाज्यस्य ध्रौवाज्यस्य च संगमनम्। तथा च तैत्तिरीये—'शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदाघार आत्मा ध्रुवा आघारमाघार्य ध्रुवाᳬसमनक्त्यात्मन्नेव यज्ञस्य शिरः प्रतिदधाति'। (तै० सं० २।५।११।२४) इति।

अपरस्तु—'हे अग्ने राजन् ! अग्निर्यथा यज्ञं सम्पादयति, तथैव होत्रं राष्ट्रसुव्यवस्थां कृत्वा संग्राहकं कर्म दूत्यं सन्धिविग्रहादिलक्षणं वा कर्म वेः रक्ष। द्यावापृथिव्यौ यथा ब्रह्माण्डीयं महायज्ञं रक्षतस्तथैव द्यौः प्रकाशवत्त्वेन न्यायविभागः पृथ्वी महती राजसभा उभे अपि त्वामवतां त्वमपि ते रक्ष। त्वं देवानां विदुषां हिताय स्विष्टकृद् उत्तमकार्यकरो भव। यथैवाज्येन पुष्टिकारकेण हविषा इन्द्रो वायुरधिकमुपकारको भवति, तथैव बलकरेण हविषाऽन्नेन शस्त्रादिसामग्र्या च इन्द्रो राजा समर्थो भवति। स्वाहा देववाणी इत्युपदिशति। ज्योतिः सुवर्णादिकान्तिमद्बलैश्वर्योपेताः पदार्थास्तेजस्विना राज्ञा सङ्गता भवेयुः' इति, तदपि न शोभनम्, मुख्यार्थं परित्यज्य गौणार्थग्रहणे बीजानुक्तेः। होत्रशब्देन राष्ट्रसुव्यवस्था कथं बोध्यते ? स्वाहाशब्दे सु + आह इत्यर्थकरणे हकारे कथं दैर्घ्यम् ? इत्यप्रतिपादनान्निष्प्रमाणकोऽयमर्थः। पूर्वोक्तस्तु कात्यायनश्रौतसूत्रादिसमर्थितो ब्राह्मणादिसमर्थितश्च। अत एव सोऽर्थ एव शोभनः, स एव च ग्राह्यः।

मन्त्रार्थ – **हे अग्ने ! तुम होता का और दूत का कर्तव्य जान लो। तुम जैसे सुज्ञ का द्यावा-पृथिवी पालन करे। हे अग्ने ! तुम भी द्यावा-पृथिवी का पालन करो। इस रीति से परस्पर के द्वारा परस्पर का पालन किये जाने पर इन्द्र आज्यहवि देकर देवताओं का याग करे। अर्थात् हम लोग जो यज्ञ करते हैं, उन सबको इन्द्र पूर्ण करे। इन्द्र को दिया हुआ यह हवि सुहुत हो। ध्रुवा पात्र में स्थित और जुहू पात्र में स्थित घृतरूपी ज्योति एकत्रित हों। जुहू पात्र के और ध्रुवा पात्र के घृत को 'संज्योतिषा' मन्त्र से एकत्रित करे ॥ ९ ॥**

भाष्यसार—'होत्रं' का अर्थ है होता का कर्म। 'होतृत्व' और 'दूतत्व' ये दोनों कर्म 'अग्नि' के हैं। 'अग्नि' 'द्यावापृथिवी' का और द्यावापृथिवी 'अग्नि' का परस्पर एक-दूसरे का पालन करने पर हमारे द्वारा दिये गये

अत्र दयानन्दः—'हे अग्ने परमेश्वर भौतिकाग्ने वा ! ये द्यावापृथिवी अस्मत्प्राप्ते न्यायप्रकाशपृथिवीराज्ये त्वा तं यज्ञमवतां रक्षतः, यथायमग्निहोत्रं दूत्यं च कर्म वा प्राप्तो द्यावापृथिवी रक्षति, तथा हे भगवन् ! देवेभ्यो विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो वा स्विष्टकृत् शोभनमिष्टं करोति सः। त्वमस्मान् वेः विद्धि वेदयति प्रापयति वा पालय। यथायमाज्येन हविषा ज्योतिषा सह ज्योतिः स्विष्टकृदिन्द्रो द्यावापृथिव्यो रक्षकोऽभूद् भवति, तथा त्वं विज्ञानज्योतिःप्रदानेन अस्मान् समवेति स्वाहा। हे अग्ने परमेश्वर ! ये द्यावापृथिव्यौ न्यायप्रकाशपृथिवीराज्यरूपे त्वा तं यज्ञमवतां रक्षतः, ते त्वं वेः विद्धि पालय। यथायं भौतिकोऽग्निर्होत्रं यज्ञं दूतकर्म च प्राप्य द्यावापृथिव्यौ प्रकाशमयं सूर्यलोकं पृथिवीं च रक्षति, तथैव देवेभ्यो विद्वद्भ्यः स्विष्टकृत् तदिच्छानुसारेण शोभनकर्मकृद् अस्मान् वेः रक्ष। यथा आज्येन यज्ञनिमित्तमग्नौ त्यक्तुं योग्येन घृताद्युत्तमोत्तमपदार्थेन हविषा सम्यक् शोधितेन होमयोग्यकस्तूरीकेसरादिपदार्थेन च ज्योतिषा प्रकाशयुक्तैर्लोकैः सह प्रकाशमयैः किरणैरुत्तमोत्तमकर्मकृत् सूर्यलोकप्रकाशं पृथिवीं च रक्षति, तथैव विज्ञानस्वरूपज्योतिर्दानेन अस्मान् समव सम्यग् रक्ष। इदं कर्म स्वाहा वेदवाणी प्राह। ईश्वरो मनुष्येभ्यो वेदेषूपदिष्टवानस्ति मनुष्यैर्यद्यदग्निपृथिवीसूर्यवाय्वादिभ्यः पदार्थेभ्यो होत्रं दूत्यं च कर्म निमित्तं विदित्वानुष्ठीयते, तत्तदिष्टकारि भवति' (पृ० १६१–१६२) इति, तत्सर्वं वेदबाह्यं निर्युक्तिकं च, अग्निवाय्वादिभ्यो होत्रं दूत्यं च किं भवति ? तदनुष्ठानं च कथमिष्टकारीत्यनिरूपणात्। एवं द्यावापृथिव्यौ यज्ञं रक्षत इत्यपि निर्मूलम्, शतपथविरुद्धं चैतत्।

तत्र हि—'अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमिति। उभयं वा एतदग्निर्देवानाᳬहोता च दूतश्च। तदुभयं विद्धि यद्देवानामसीत्येवैतदाहावतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी इति नात्र तिरोहितमिवास्ति। स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा भूत् स्वाहेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्र आज्येनेति। वाचे वा एतमाघारमाघारयतीन्द्रो वागित्यु वा आहुस्तस्माद् द्वे वाहेन्द्र आज्येनेति' (श० १।४।५।४)। अग्नेर्वेरित्यनूद्य व्याचष्टे–उभयं वा इति अग्नेर्होत्रं होतृकर्म दूत्यं दूतकर्म च वेः बुध्यस्व। अग्निर्वै देवानां होता अग्निं दूतं वृणीमहे इत्यादिभिरग्नेस्तद्द्वयं प्रसिद्धम्। 'विद् ज्ञाने' (अ० प० ५४) इत्यस्माच्छान्दसो लङ् 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६), 'दश्च' (पा० सू० ८।२।७५) इति दकारस्य रुत्वे वेरिति रूपम्। उभयं वा देवानामर्थेऽग्निर्होतृत्वं दूतत्वं

हवि (आज्य) देवताओं के लिये स्विष्टकृत् हों, अर्थात् जो हमारे द्वारा यजन किया जाता है, वह समस्त 'इष्ट' वैकल्य रहित हो। स्वाहा का अर्थ 'सुहुत' रहे। इन्द्र देवता को उद्देश्य करके यह आज्य प्रदत्त किया गया है। स्वाहा इस निपात का प्रयोग देवता को उद्देश्य कर 'दान' देने में किया जाता है। 'संज्योतिषा ज्योतिः' का अर्थ यह है कि ध्रुवा स्थित आज्यरूप ज्योति के साथ जुहूपात्र के द्वारा आसिच्यमान ज्योति (आज्य) 'संगच्छताम्' एकत्रित हो जाय।

किसी व्याख्याकार ने मन्त्रगत शब्दों के मुख्यार्थ को छोड़कर गौण अर्थ को स्वीकार करके व्याख्या की है। गौणार्थ वाली व्याख्या ऊपर भाष्य में प्रदर्शित की गई है। यह गौण अर्थ वाली व्याख्या इसलिये उचित नहीं है कि मुख्यार्थ को त्याग कर गौणार्थ का स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'होत्र' शब्द का अर्थ 'राष्ट्र में सुव्यवस्था' यह किस आधार पर किया है ? 'स्वाहा' शब्द का अर्थ 'सु + आह' इस प्रकार सन्धिविच्छेद करके किया है, किन्तु 'सु + आह' में 'स्वाह' सन्धि तो हो सकती है, परन्तु मूलमन्त्र में तो 'स्वाहा' शब्द है, न कि 'स्वाह' शब्द। अतः यह अप्रामाणिक व्याख्या है। वेदमन्त्र की व्याख्या तो सर्वदा और सर्वथा श्रौतसूत्र, ब्राह्मण, प्रातिशाख्य आदि से समर्थित हुआ करती है। किन्तु इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है।

चाङ्गीकृतवान् । अवतां त्वां द्यावापृथिवी रक्षतः । त्वं च द्यावापृथिवी अव । देवेभ्यो देवानामर्थे सोऽग्निः स्विष्टकृत् शोभनस्य यागस्य कर्ता । हे अग्ने ! त्वं यस्मादेवं भवसि, तस्मादनेनाज्येन हविषा आहुतेन इन्द्रः सङ्गतो भूत् भवतु । स्वाहा स्वाहुतमिदमाज्यमस्त्विति मन्त्रवाक्यार्थः ।

ननु 'मनसे चैव वाचे च' (श० १।४।४।१) इति द्वितीयाघारस्य वाग्देवतार्थत्वं प्रागाम्नातमिति कथमिन्द्रो देवतेत्याशङ्क्य तयोस्तादात्म्यमाह – इन्द्रो वागित्यु वा आहुः । इन्द्रेण व्याकृतत्वात् तत्तादात्म्यम् । तथा च तैत्तिरीयके—'इमां नो वाचं व्याकुरु' इत्युपक्रम्याम्नातम् 'तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्' (तै० सं० ६।४।७।४) । तस्माद्वेव वाच इन्द्रस्य च भेदाभावात् । अर्थाद् हे अग्ने ! त्वं होत्रं दूत्यं च बुध्यस्व, यत उभयं वा एतदग्निर्देवानां होता च दूतश्चासि । इत्युभयं विद्धि । तादृशं त्वां द्यावापृथिवी अवतां रक्षतः । त्वं च ते द्यावापृथिवी अव रक्ष । स्पष्ट एवात्र मन्त्रार्थः, नात्र तिरोहितमिव किञ्चित् । देवेभ्यो देवानामर्थे शोभनस्य यागस्य कर्ता स्विष्टकृत् हे अग्ने ! त्वं यस्मादेवं भवसि तस्मादाज्येन आहुतेन हविषा इन्द्रः संगतो भूत् भवति । इन्द्रायेदं हविरस्त्वित्यर्थः । कुतः ? इन्द्रो वै प्रकृतस्य द्वितीयाघारयज्ञस्य देवतासम्प्रदानम् । यद्यपि मनसे वाचे इति वाग्देवतैवाभाति, तथापि वाचो व्याकर्तृत्वेनेन्द्रस्य तस्याश्चाभेदादिन्द्रो देवता भवत्येव ।

'अथासꣳस्पर्शयन् स्रुचौ पर्येत्य ध्रुवया समनक्ति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघार आत्मा वै ध्रुवा तदात्मन्येवैतच्छिरः प्रतिदधाति । शिरो वै यज्ञस्य उत्तर आघारः श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिरस्तस्याद्योऽर्धस्य श्रेष्ठो भवत्यसावमुष्यार्धस्य शिर इत्याहुः' (श० १।४।५।५) । होमानन्तरं प्रत्याक्रम्य ध्रुवासमञ्जनं विधत्ते—अथेति । ध्रुवया समनक्ति । तदेतत् समञ्जनं प्रशंसति—शिरो वा इति । उत्तराघारस्य यज्ञशिरस्त्वं प्रशंसति श्रीर्वा इति । 'आसीनस्तमाघारयति यो मूलं यज्ञस्य निषण्णमिव हीदं मूलं तिष्ठंस्तमाघारयति यः शिरो यज्ञस्य तिष्ठतीव हीदं शिरः ।' (श० १।४।४।१२) । प्राग्विहितयोरासीनस्थितयोर्मूलशिरस्त्वोपजीवनेन प्रशंसा क्रियते–यो मूलमिति । इदं वृक्षादिमूलं निषण्णमिव एकत्रोपविष्टमिव भवति, खातत्वेन चाञ्चल्याभावात् । अतो मूलभूतस्याघारस्यासनसम्बन्धो युक्तः । हि यतो मनुष्यादीनां शिरस्तिष्ठतीव अस्तीति स्थितिक्रिया-विशिष्टमिवोर्ध्वमिव दृश्यते । अतः शिरः संस्तुतस्याघारस्य तिष्ठता कर्त्रा निष्पादनं युक्तमित्यर्थः । शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघार आत्मा वै ध्रुवः, ध्रुवास्थस्याज्यस्य सर्वयज्ञसाधारण्यात् । यज्ञस्य मध्यदेह एव ध्रुवा, आघारशेषस्य तस्यां समञ्जनात् । शिर एव तस्मिन् प्रतिदधाति । यज्ञशिरस्त्वमुपजीव्य श्रीरूपत्वेनाघारं प्रशंसति—शिरो वा यज्ञस्योत्तर आघार इति । शिरसः श्रीत्वमुपपाद्यते । श्रीर्हि वै शिर इति प्रसिद्धिरेव । तस्मादर्धस्य देशभागस्य ग्रामादेर्यः श्रेष्ठो भवति, अमुष्य ग्रामादेरसौ देवदत्तादिः शिर इति लौकिकाः कथयन्ति । अतः शिरसः श्रीरूपत्वम् । 'यजमान एव ध्रुवामनु योऽस्मा अरातीयति स उपभृतमनु स यद्धोपभृता समञ्ज्याद् यो यजमानायारातीयति तस्मिञ्छ्रियं दध्यात्तद्यजमान एवैतच्छ्रियं दधाति तस्माद् ध्रुवया समनक्ति' (श० १।४।५।६) । यजमान एव ध्रुवामनु 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा० सू० २।३।८) इति

उक्त मन्त्र की व्याख्या स्वामी दयानन्द ने भी अपनी मन-मानी पद्धति से ही की है । इन्होंने अपनी व्याख्या में 'द्यावा-पृथिवी' को यज्ञ का रक्षक बताया है । 'मनुष्य जो कुछ अग्नि, वायु, सूर्य आदि पदार्थों से हौत्र और दूत्य कर्म का निमित्त जानकर करता है, वह सब इष्टकारी होता है ।' यह कहा है ।

किन्तु वह सब वेदबाह्य और युक्तिरहित है । शतपथ और श्रौतसूत्रादि के अनुकूल प्रामाणिक अर्थ ऊपर भाष्य में दिया गया है ।

द्वितीया। ध्रुवाभागो यजमानोऽतोऽस्मै योऽरातीयति शत्रुवदाचरति स उपभृद्भागः। उपभृता इति द्वितीयार्थे 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इति तृतीया। यद्ध उपभृतं समञ्ज्याद् यो यजमानायारातीयति तस्मिञ्छ्रियं दध्यात् तद्यजमान एव श्रियं दधात्यतस्तस्माद् ध्रुवया समनक्ति। 'स समनक्ति सञ्ज्योतिषा ज्योतिरिरिति ज्योतिर्वा इतरस्यामाज्यं भवति ज्योतिरितरस्यां ते ह्येतदुभे ज्योतिषी सङ्गच्छेते। तस्मादेवꣳ समनक्ति' (श० १।४।५।७)। विहितं समञ्जनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स समनक्तीति। मन्त्रगतज्योतिः-शब्दद्वयस्यार्थमाह—ज्योतिर्वा इति। ध्रुवापेक्षया इतरा जुहूस्तस्यां यदाज्यं तत्तृतीयान्तज्योतिःशब्दार्थः। जुह्वपेक्षया इतरा ध्रुवा तस्यां यदाज्यं तत्प्रथमान्तज्योतिःशब्दार्थः। एते चाज्यज्योतिषी क्रमेण सूर्याग्न्यात्मके तदुभये समञ्जनेन संगच्छेते संगते भवतः। तथा च ब्राह्मणानुसारेणायमेव मन्त्रार्थः सम्बध्यते — हे अग्ने! त्वं होत्रं होतुः कर्म दूत्यं दूतसम्बन्धि कर्म वेविद्धि। ईदृशं त्वामग्निमुभे द्यावापृथिवी देवते अवतां पालयताम्। हे अग्ने! त्वमपि द्यावापृथिवी लोकद्वयदेवते अव पालय। इत्थमन्योन्यपालने सति देवेभ्यो देवानामुपकारार्थम् इन्द्र आज्येन हविषाऽस्माभिर्दत्तेन स्विष्टकृद् भूत् तादृशो भवतु। अडभावश्छान्दसः। यद्यदस्माभिरिज्यते तत्तदिष्टं सर्वं वैकल्यरहितं करोतु। स्वाहा इन्द्रदेवमुद्दिश्य दत्तं हविः सुहुतमस्त्वित्यर्थः। अथवा शोभनस्य यागस्य कर्ता स्विष्टकृत् हे अग्ने! आज्येन हविषा इन्द्रः सङ्गतो भवतु। 'उत्तराघारमाघार्यासꣳस्पर्शयन् स्रुचावेत्य जुह्वा ध्रुवाꣳसमनक्ति संज्योतिषेति' (का० श्रौ० ३।२।१-२) इति कात्यायनः। अत्रागच्छतामित्यध्याहर्तव्यम्। ध्रुवायां स्थितमाज्यरूपं यज्ज्योतिस्तेन ज्योतिषा सह जुह्वां सिच्यमानमाज्यरूपं ज्योतिः संगच्छताम्। आघार-शेषस्याज्यस्य ध्रौवाज्यस्य च संगमनं तित्तिरिरप्याह—'शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदाघार आत्मा ध्रुवा। आघार-माघार्य ध्रुवाꣳसमनक्ति। आत्मन्येव यज्ञस्य शिरः प्रतिदधाति' (तै० सं० २।५।११।२४)। कण्वोऽपि तथैवाह।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने आत्मन् हनूमन् वा, 'आत्मा वै अग्निः' इति श्रुतेः, लौकिकव्यवहारस्याग्रेनयनाच्च। त्वं होतृकर्म लङ्कादहनकर्म दूतत्वं च वेः जानासि। द्यावापृथिवीदेवते त्वाम् अवतां पालयताम्। त्वं च द्यावापृथिवी अव। आत्मनः कर्मानुष्ठानद्वारा द्यावापृथिव्यो रक्षा भवति, ताभ्यां चात्मनो वृष्ट्यन्नादिद्वारा रक्षणं भवति। देवेभ्योऽर्थाय देवेभ्योऽन्येभ्यः सकाशात् प्रथमं स्विष्टकृद् इन्द्र आज्येन हुतेन हविषा इन्द्रः परमेश्वरः सङ्गतो भूत् भूयात्। अडभावच्छान्दसः। तस्मै स्वाहा इदं हविः सुहुतमस्तु। तेन परमेश्वराय ज्योतिर्मयस्याज्यस्य हविषो दानेन ज्योतिरिन्द्रियमनोबुद्ध्यादिप्रकाशको ज्योतिरात्मा ज्योतिषामपि ज्योतिषा परमेश्वरेण संगच्छताम् 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते' (भ० गी० १३।१७) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनात्। वायोर्जातोऽग्निर्हनुमानपि द्यावापृथिवी देवते रक्षति, ते देवते च तं रक्षतः।

आध्यात्मिक पक्ष में उक्त मन्त्र का अर्थ यह होगा—हे अग्ने! आत्मन्! हनूमन्! वा। श्रुति कहती है—'आत्मा वै अग्निः'। तथा लौकिक व्यवहार को अग्रसारित करने के कारण भी उक्त अर्थ किया गया है। होतृकर्म यानी लङ्कादहन—कर्म को दूत और तुम 'वेः' जानते हो। द्यावा और पृथिवी दोनों देवताएँ तुम्हारा पालन करें और तुम भी द्यावा-पृथिवी का पालन करो। अपने कर्मानुष्ठान के द्वारा द्यावा-पृथिवी की रक्षा होती है और उन दोनों से वृष्टि, अन्न आदि के द्वारा अपनी रक्षा होती है। अन्य लोगों से पूर्व हवि के रूप में दिये हुए आज्य हवि से परमेश्वर सङ्गत हों। उस परमेश्वर के लिये यह हवि सुहुत रहे। उस सुहुत से, अर्थात् परमेश्वर के लिये ज्योतिर्मय आज्यहवि के देने से इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रकाशक ज्योति आत्म ज्योतियों की ज्योतीरूप परमेश्वर के साथ मिल जाय। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः तमसः परमुच्यते' (भ० गी० १३।१७)। वायु से उत्पन्न हुआ अग्नि और हनुमान् भी द्यावा और पृथिवी देवता की रक्षा करते हैं और वे

स्विष्टं रामस्य शोभनं कार्यं करोतीति स्विष्टकृद् इन्द्रः कपीन्द्रो देवेभ्यो हिताय आज्येन हविषा स्निग्धहविषा भूत् सङ्गतो भवतु। तस्मा इदं स्वाहा सुहुतमस्तु। ज्योतिः सीतामयं रामाख्येन ज्योतिषा सङ्गतमस्तु ॥ ९ ॥

मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा ॥ १० ॥

'मयीदमिति यजमानो जपति' (का० श्रौ० ३।४।१८)। प्रधानयागानन्तरं पुरोडाशशेषप्राशनसमये होतरि आशिषं प्रयुञ्जाने सति यजमानो जपति। मन्त्रार्थस्तु—इन्द्रः परमेश्वर इदमिन्द्रियं मयि यजमाने दधातु। इदमित्यपेक्षितमाह—इन्द्रियमिति। वीर्यमाह—इन्द्रवद्वीर्यमिति काण्वव्याख्याने सायणः। रायो धनानि मानुषदैवभेदभिन्नानि मयि दधातु। मघवानो धनवन्तश्चास्मान् सचन्तां सेवन्ताम्। धननिधानेन नश्चास्मान् सेवन्ताम्। किञ्चास्माकमाशिषोऽभीष्टार्थस्याशंसनानि सन्तु समीचीनानि भवन्तु, केवलानामाशिषां स्वाभाविकत्वेनाभ्यर्हणीयत्वात्। 'मनश्च भद्रं भजतात्' (भा० पु० ५।१८।९), 'भद्रं कर्णेभिः' (वा० सं० २५।२१), 'भद्रं नो अपि वातय' इत्यादिवचनेभ्यः। नः पूर्वोक्ता आशिषः सत्या अवितथाः सफलाः सन्तु। 'एकैकमाहरति। द्यावापृथिव्योरुपह्वानेऽग्नीधे षडवत्तम्। प्राश्नात्युपहूता पृथिवीति' (का० श्रौ० ३।४।१५-१७)। यदा होता द्यावापृथिव्योरुपह्वानं करोति तदोभयोः पुरोडाशयोरेकैकमंशं षडवत्तं कृत्वा अग्नीधे ददाति। स चोपहूतेति मन्त्रेण तत्प्राश्नाति। अत्र चतुर्धा कृत्वादिष्टानां भागानां ब्रह्मादिभ्यो भक्षणार्थं यजमानोऽर्पयेत्। उपहूते द्यावापृथिवी इति होत्रा पठ्यमाने अग्नीधे षडवत्तं अग्नीद्भागं यजमानो दद्यात्। अत्र षडवत्तशब्दो रूढ्याऽग्नीद्भागवाचकः, न त्ववयववृत्त्याऽवदानषट्कबोधकः। अत एव द्विः समर्पणम्, द्विरभिघारणम्, द्विरवदानमिति रीत्या षडवत्ता नाभिप्रेता। उपहूता पृथिवीति षडवत्तं प्राश्नीयात्। उपहूतो द्यौरिति द्वितीयं भागं प्राश्नाति।

द्यावा-पृथिवी देवता भी अग्नि और हनुमान् की रक्षा करती हैं। रामचन्द्र के लिये शोभन कार्य का करने वाला स्विष्टकृत् यानी इन्द्र, अर्थात् कपीन्द्र (हनुमान्) देवताओं के हितार्थ स्निग्ध हवि से संगत हो। उसके लिये यह स्वाहा यानी सुहुत रहे और सीतामय ज्योति रामनाम की ज्योति के साथ संगत होती रहे ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—**मुझे अभीष्ट लगनेवाले इन्द्रियजन्य तेज को मुझमें परमेश्वर स्थापित करे। तथा दैव और मानुष द्विविध प्रकार के द्रव्य भी हम यजमानों के पास आवें। हमारे द्वारा पूर्व याचना किये गये 'वर' पूर्ण हों। जगत् की माता जो पृथिवी है, उसे मैंने अनुज्ञा दी है। हमें माता के समान प्रतीत होने वाली पृथिवी मुझे हविःशेष के भक्षण करने की आज्ञा दे। मैंने अग्नीध्र का कार्य किया है, उस कारण मैं अग्नि होकर इस हवि को भक्षण करता हूँ। यह जाठराग्नि में सुहुत हो। प्रधान याग के अनन्तर होता जब आशीर्वाद दे रहा होता है, तब यजमान 'मयीदम्' मन्त्र का जप करता रहे। 'उपहूता पृथिवी' मन्त्र से पुरोडाश का एक-एक भाग अग्नीध्र भक्षण करे ॥ १० ॥**

भाष्यसार—जब होता द्यावा-पृथिवी का उपह्वान करता है, तब दोनों पुरोडाशों के एक-एक षडवत्त करके अग्नीध्र को देता है और वह 'उपहूत' मन्त्र कह भक्षण करता है। यहाँ पर बताये गये भागों का चतुर्धाकरण करके ब्रह्मादि ऋत्विजों को भक्षण करने के लिये यजमान उन्हें अर्पित करता है। 'उपहूते द्यावापृथिवी' यह होता के द्वारा कहे जाने पर यजमान अग्नीध् नामक ऋत्विक् को षडवत्त (अग्नीद् भाग) दे। यहाँ पर 'षडवत्त'

मन्त्रार्थस्तु—उपहूता येयं पृथिवी दृश्यते सा जगतो माता निर्मात्री मयोपहूता अभ्यनुज्ञाता। सा च पृथिवी माता मातृत्वेनास्माभिर्भाविता सती मां हविःशेषभक्षणायोद्यतमुपह्वयताम् अनुजानातु हविःशेषभक्षणायानुज्ञां ददातु। अग्नीध इदं कर्म आग्नीध्रम्, तस्माद् आग्नीध्रनामकादार्त्विज्यात् कर्मणो हेतोर्वह्निस्वरूपोऽग्निः सन् तं भागं प्राश्नामीति शेषः। तस्मात् स्वाहा मदीयमुखाग्नाविदं हविः सुहुतमस्तु।

आधुनिकस्तु—'हे इन्द्र परमेश्वर! मयि इदं प्रत्यक्षमिन्द्रियं तेज आत्मबलं च दधातु। अस्मान् मघवानो बलादिपूर्णानि राय ऐश्वर्याणि प्राप्नुवन्तु। अस्माकमाशिषः कामनाः सत्याः सफलाः सन्तु। पृथिवीतुल्या अन्नदात्री माता पालयित्री उपहूता सादरास्तु। इयं पृथिवी माता विशालसुखदात्री माम् उपह्वयताम् उपदिशतु। ततः पश्चाद् आग्नीध्राद् ज्ञानोपदेशकाचार्यस्थानाद् अग्निः ज्ञानी मां स्वाहा उपदिशतु' इति, तन्न, असामञ्जस्यात्। यद्यपि इदमित्यस्य प्रत्यक्षमित्यर्थोऽपि सम्भवति, तथापीन्द्रियशब्दस्य तेज आत्मबलं च कथमर्थ इति तु नोक्तम्, कथं च तयोः प्रत्यक्षत्वम्? किञ्चाग्नीध्राद् इत्यस्य आचार्यस्थानादित्यर्थ इत्यत्र किं मूलम्? पृथिव्या उपदेशे सिद्धे किमन्येनोपदेशस्थानेन?

अत्र दयानन्दः—'इन्द्रो मयि इदं शुद्धं ज्ञानयुक्तं प्रत्यक्षं स्थानम् इन्द्रियं रायश्च दधातु। तत्कृपया स्वपुरुषार्थेन च यथा वयं मघवानो भवेम तथाऽस्मान् रायः सचन्ताम्। एवं चास्माकमाशिषः सन्तु सत्या न आशिषः सन्तु। एवं सतीयं पृथिवी विद्योपहूता च सती पृथिवी माता मामुपह्वयतामुपदिशताम्। तथा मयानुष्ठितोऽयमग्निराग्नीध्रादिष्टकृतः सन् अस्माकं सुखान्युपाह्वयति। एवं सम्यग्घुतमिष्टकारि भवतीति स्वाहा वेदवाणी आह' (पृ० १६५) इति। तदपि यत्किञ्चित्, स्वाहापदस्य वेदवाणी आहेत्यर्थस्य खण्डितत्वात्। सचन्तामिति क्रियापदेनैव मघवान इत्यस्याप्यन्वये सम्भवति भवेमेत्यध्याहारानुपपत्तेः। इदंपदस्य शुद्धज्ञानयुक्तं प्रत्यक्षमित्यपि नार्थः, तस्य सन्निकृष्टप्रत्यक्षमात्रबोधकत्वात्। इन्द्रस्यैश्वर्यप्राप्तेर्लिङ्गं चिह्नमिन्द्रियमित्यपि न सङ्गतम्, ऐश्वर्यप्राप्तेरभीष्टत्वेऽपि तच्चिह्नस्याधित्साभावात्। परमेश्वरेण दृष्टं सृष्टं वेत्यप्यसङ्गतम्, आकाशादीनामपीन्द्रेण दृष्टत्वात्सृष्टत्वाच्चेन्द्रियत्वव्यवहारास्पदत्वापातात्। एवमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिन्द्रियमित्यप्यसङ्गतम्, इन्द्रजुष्टसोमादौ इन्द्रदत्तधनादावपि तत्प्रयोगापत्तेः। न च 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तम्' (पा० सू० ५।२।९३) इति प्रमाणेन सिद्धं तदिति वाच्यम्; विशेषणपर्यवसायित्वेन तथात्वेऽपीन्द्रस्य देहादिनामकस्य जीवस्येदं लिङ्गं चिह्नमिति व्युत्पत्त्यैव तस्य प्रसिद्धेन्द्रियपरत्वोपपत्तेः। उपहूयते जनै राज्यसुखार्थं या पृथिवी पृथुसुखनिमित्तेत्यपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या जडायाः पृथिव्या उपाह्वानासिद्धेः, पृथुदुःखानामपि ततः सम्भवाद् वैपरीत्यापत्तेश्च। माता मान्यकरणहेतुरित्यपि प्रमाणसापेक्षमेव। पृथुसुखदात्री विद्या इत्यपि न शोभनम्, पृथुदुःखदात्रीत्वेनाविद्याया अपि ग्रहणापत्तेः। ह्वयतामुपदिशतामित्यपि निर्मूलम्, ह्वयतेरुपदेशार्थताऽप्रसिद्धेः। 'अग्निरीश्वरः, आग्नीध्रादग्निरिध्यते प्रदीप्यते यस्मिन् तस्येदं श्रयणमाश्रयणं तस्मात्' (पृ० १६५) इत्यपि यत्किञ्चित्, कस्मिन्नग्निः प्रदीप्यते कस्याश्रयणादग्निरीश्वरः किमिति न स्पष्टम्। हिन्दीभाष्ये तु—भौतिकोऽ-

शब्द रूढि के बल पर 'अग्नीद् भाग' का वाचक है, न कि अवयववृत्ति से 'अवदानषट्क' का बोधक है। अत एव 'दो बार समर्पण', 'दो बार अभिघारण' और 'दो बार अवदान'—इस रीति से 'षडवत्त' यहाँ अभिप्रेत नहीं है। 'उपहूता पृथिवी' इस मन्त्र से 'प्रथम षडवत्त' का प्राशन करता है और 'उपहूतो द्यौः' मन्त्र से द्वितीय भाग का प्राशन करता है। धन और धनी हमारा सेवन करें। हमारे आशीर्वाद सत्य हों। पृथिवी माता भक्षण करने की मुझे आज्ञा दे। यह अग्नीध् का कर्म होने से इसे 'आग्नीध्र' कहा गया है। उस कारण मैं अग्नि के रूप में 'होता' हुआ उस भाग को भक्षण करता हूँ।

ग्निर्यमिन्धनादिभिः प्रज्वालयन्ति स वाञ्छितसुखकरो भूत्वाऽस्मान् सुखान्युपगमयतु' (भौतिक अग्नि, जिसको कि इन्धनादि से प्रज्वलित करते हैं, वह वाञ्छित सुखों का करने वाला हमारे सुखों को आगम कराये)' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, वज्रवैयाकरणानुहारात् । स यथा मध्येमार्गं संलीनो व्याघ्रो मा पुरतो व्राजीरिति केनचिदाप्तेनोक्तो विशेषेण आसमन्ताज्जिघ्रतीति व्याघ्र इति व्युत्पत्तिबलाद् आगत्याघ्रास्यति किमन्यत् करिष्यतीति मन्वानोऽपरिगणयन्नाप्तनिषेधं पुरतो व्रजन् व्याघ्रेण व्यापाद्यते, तद्वत् । सिद्धान्ते तु ऋत्विग्विशेषपरोऽयं शब्दो व्याख्यात एव । शतपथविरुद्धं च तत्सर्वम् ।

'प्राणेष्वेव हूयते । होतरि त्वद्यजमाने त्वदध्वर्यौ त्वदथ यत्पूर्वार्धं पुरोडाशस्य प्रशीर्य पुरस्ताद् ध्रुवायै निदधाति यजमानो वै ध्रुवा तद्यजमानस्य प्राशितं भवत्यथ यत्प्रत्यक्षं न प्राश्नाति नेदसꣳस्थिते यज्ञे प्राश्नातीत्येतदेवास्य प्राशितं भवति सर्वे प्राश्नन्ति सर्वेषु मे हुतासदिति पञ्च प्राश्नन्ति पशवो वा इडा पाङ्क्ता वै पशवस्तस्मात् पञ्च प्राश्नन्ति' (श० १।८।१।३९) । अष्टमे इडाकर्मप्रसङ्गे इडोत्पत्तिसम्बन्धिन्याख्यायिकाख्याता । तस्यां च मत्स्यावतारेतिहासः । इडाया मैत्रावरुणीत्वकथनम् । प्रजाकामोऽर्चन् श्राम्यन् पाकयज्ञेन घृतादिभिरिष्टवान् । तस्मात् पाकयज्ञानां संवत्सरे पूर्णे योषिद् मिश्रीभावात्मिका संभूता । तया च मित्रावरुणौ सङ्गतौ । तौ होचतुः कासीति । सा मनोर्दुहितेत्यब्रवीत् । तौ होचतुरावयोर्दुहितेति ब्रूष्व । सा नेत्युवाच । सा यावता मैत्रावरुणी व्यपदिश्यते तावत्तयोर्दुहितृत्वमङ्गीकृतवती । तस्या मनोर्दुहितृत्वप्रतिपादनम् । मनुना आशीरूपायास्तस्या यज्ञे सम्भवकल्पनम् । ततो मनोः सर्वाशीःसम्प्राप्त्या इडायागफलनिष्पत्तिः । इडामिष्टवतस्तन्निदानं ज्ञातवतस्तदेव फलमिति कथनम् । सहेतुकपञ्चावत्तताकरणविधिः । तत्र इडायां पात्र्यां हुतशेषान् चरुपुरोडाशादीन् रक्षित्वा तामुपस्पृश्य सर्वैर्ऋत्विग्भिरिडोपह्वानं क्रियते । तां वै सर्वे प्राश्नन्ति तां नाग्नौ जुह्वति प्राणेष्वेव सा हूयते होतरि च यजमाने चाध्वर्यौ चेति । यत्पूर्वार्धं पुरोडाशस्य प्रशीर्य पुरस्ताद् ध्रुवायै निदधाति । यजमानो वै ध्रुवा । तद्यजमानस्य प्राशितं भवति । ननु प्रत्यक्षमेव यजमानः कुतो न प्राश्नाति, किमर्थं ध्रुवायै निदधातीति तत्राह—नेदसंस्थिते यज्ञे प्राश्नातीति, असंस्थितेऽसमाप्ते यज्ञे नाश्नातीति वचनात् । अग्नौ हुत्वाथ भक्षयति—दैवो वा अस्यैष आत्मा मानुषोऽयं यजमानभागमनुपहूतं प्राश्नाति । इडां तु विशेषत उपहूतां प्राश्नात्येव । इडाभक्षणकालेऽप्यनुयाजपत्नीसंयाजदेवता नेज्यन्ते इति तास्वनिष्टासु न युक्तमशनमिति तत्राह—एतदेवास्य प्राशितं भवति सर्वे प्राश्नन्ति सर्वेषु मे हुतासदिति सर्वेषु मदीयो भागो हुतः असद् इत्यर्थः । सन्धिरार्षः । पञ्च प्राश्नन्ति होमानन्तरमेव प्राशितं भवति । अन्ते तु प्रत्यक्षमेव प्राशिष्यति ।

किसी आधुनिक ने जो व्याख्या की है, वह समञ्जस न होने के कारण उचित नहीं है । आधुनिक की व्याख्या ऊपर भाष्य में देखिये । उस व्याख्या में 'इन्द्रिय' का 'तेज' और 'आत्मबल' अर्थ किया गया है, उनका प्रत्यक्ष होना कहा गया है, तथा 'आग्नीध्रात्' का अर्थ 'आचार्य स्थान से' किया है, इत्यादि अप्रामाणिक और निर्मूल अर्थ किया है । वेद का अर्थ करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है । स्वामी दयानन्द इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए यथेच्छ अध्याहार की कल्पना, मन्त्रगत शब्दों के मनसोक्त अर्थ तथा वैदिक प्रक्रिया के विपरीत व्याख्या करते हैं । 'स्वाहा' पद का अर्थ 'वेदवाणी कहती है'—किया है । 'सचन्ताम्' इस क्रिया से ही 'मघवानः' का भी अन्वय संभव रहते अध्याहार कर रहे हैं । 'इदम्' पद सन्निकृष्ट प्रत्यक्षमात्र का बोधक रहते हुए भी उसका कुछ अन्य अर्थ ही बता रहे हैं । इस प्रकार पूर्व परम्परागत वैदिक प्रक्रिया के विरुद्ध यह दयानन्दीय व्याख्यान सर्वथा उपेक्षणीय ही है । स्वामी दयानन्दजी की व्याख्या और उसका खण्डन दोनों को ऊपर के संस्कृत भाष्य में पाठकवृन्द देख लें ।

अप्राश्यमाने यजमाने भागत्वव्यपदेशानुपपत्तिः। 'अथ यत्र प्रतिपद्यते तच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा बर्हिषदं करोति तदत्र पितृणां भाजनेन। चतस्रो वा अवान्तरदिशोऽवान्तरदिशो वै पितरस्तस्माच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा बर्हिषदं करोति' (श० १।८।१।४०)। अथ यत्र प्रतिपद्यते यत्र काले होता प्रतिपद्यते इडोपहूतेत्येतं निगदं तत्तदा चतुर्धा कृत्वा पुरोडाशम्, आग्नेयं चतुर्धा करोतीति शाखान्तरात्। बर्हिषि सीदतीति बर्हिषत्। यथा बर्हिषद् भवति तथा करोति, बर्हिषि सादयतीत्यर्थः। एवमाग्नेयस्य पुरोडाशस्य चतुर्धा करणेन ब्रह्महोत्रध्वर्य्वग्नीधां भक्षः। नन्वेवमत्र अयजमानाश्चत्वारः प्राश्नन्तीति, पञ्च प्राश्नन्तीति विरोधः स्यादिति चेन्न, यतश्चतुर्धा कृतस्य बर्हिषः सादनम् अत्र दर्शपूर्णमासयोः पितृणां भाजनेन हेतुना क्रियते पितृणां संविभागार्थम्, तर्हि किं तत्पितृभ्यो दीयते? नेत्याह— किन्तर्हि चतुःसंख्यासामान्याद् बर्हिःसम्बन्धाच्च गौणमेव पितृभाजनम्। तदाह चतस्रो वै दिशः। अवान्तरदिशो वै पितरः। तासु पितृयज्ञेन तेभ्यो दीयते। तस्माच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा बर्हिषदं करोति।

'अथ यत्राहोपहूते द्यावापृथिवी इति। तदग्नीध आदधाति तदग्नीत् प्राश्नात्युपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहोपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहेति द्यावापृथिव्यौ वा एष यदाग्नीध्रस्तस्मादेवं प्राश्नाति' (श० १।८।१।४१)। अथ यत्राह उपहूते द्यावापृथिवी इति तदग्नीध आदधाति। अत्रार्पणे आदधातिः। तदग्नीत् प्राश्नाति। न चैष इडाभागः, किन्त्वन्य एवायमग्नीद्भागः, प्राशित्रं चेडा च यच्चाग्नीधे दधातीति इडाया भेदेन व्यपदेशात्। एतेन ब्रह्मभागयजमानभागयोरपीडाव्यतिरेकः सिद्धः। द्यावापृथिव्यो वा एष यदाग्नीध्रः। अग्निमिन्धे दीपयति संमार्गेणेति अग्नीत्। अग्निसमिन्धनादियोगाद् आग्नीध्रस्य तत्परत्वम्। स इन्द्रो द्यावापृथिव्यौ तर्पयति। 'धूमेनामूं वृष्ट्येमाम्' (ऋ० सं० १।१६४।५१)। धूमेन अमूं द्यां वृष्ट्या इमां पृथिवीमिति द्यावापृथिव्यौ आग्नीध्रः। तस्मिन् भक्षणादिना प्रीते सिद्धा द्यावापृथिव्योः प्रीतिः। 'अथ यत्राशिषमाशास्ते। तज्जपति मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकꣳसन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष इत्याशिषामेवैष प्रतिग्रहस्तद्या एवार्त्विजो यजमानायाशिष आशासते, ता एवैतत् प्रतिगृह्यात्मन् कुरुते' (श० १।८।१।४२)। यत्र काले आशिषमुपहूतोऽयं यजमान उत्तरस्यां देवयज्यायामिति होता आशास्ते, तत्तदा जपति यजमानः। कुतः? आशिषां तदर्थत्वात्। न होमार्थं तद्व्याख्यानं स्पृशति। आग्नीध्रपदं तु ऋत्विग्विशेषपरमेव। तस्माच्छ्रुतिसूत्रानुसारेण सिद्धान्तानुसार्येवार्थः।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार होगा—हे इन्द्र! हे राम परमेश्वर! क्योंकि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' यह श्रुति बता रही है। दृश्य होने के कारण जो इदङ्कारास्पद है, अतः अन्तःकरण और बाह्यकरण समूह ये सब परमात्मा के चिह्न हैं। इसलिये इन्हें 'इन्द्रिय' कहा जाता है। जैसे सातिशय अनित्य दाहक लौहपिण्ड को देखकर कल्पना होती है कि इससे भी अधिक, नित्य, दाहक, प्रकाशक कोई और भी हो सकता है, उसी तरह अनित्य सातिशय शब्दादि प्रकाश सामर्थ्य-सम्पन्न श्रोत्र की अपेक्षा किसी अन्य नित्य, निरतिशय, शब्दादि प्रकाश सामर्थ्य वाले श्रोत्र की, तथा उसी तरह नेत्र से नेत्र की, मन से मन की कल्पना हो सकती है। संहत वस्तु अपने से विलक्षण—असंहत वस्तु के लिये ही हुआ करती है। स्वर्गापवर्गादि पुरुषार्थोपयोगी और वीर्यविशिष्ट उसे कर दे। हे इन्द्र! हमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मोक्षरूप श्री तथा श्री से युक्त, अर्थात् भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मोक्षरूप श्रीसे युक्त लोग प्राप्त हों और वे हम पर अनुग्रह करें। अहर्निश हमारे मन में महापुरुषों की सङ्गति प्राप्त करने की उत्सुकता होती रहे।

सिद्धान्ते त्वभिमतस्य बुद्धिसिद्धत्वाद् इदमर्थतायां शङ्कापि न सम्भवति । इन्द्रस्य देवराजस्य वीर्यं प्रसिद्धमिति वीर्यमिन्द्रस्येदमिन्द्रियमिति निश्चप्रचम् । 'सत्या नः सन्त्वाशिषः' इत्यंशस्य व्याख्याने व्यस्तस्य व्याख्यातुः 'अस्माकं सन्त्वाशिषः' इति पूर्वांशस्य विस्मृतिरेव जाता । पुनरुक्तिबुद्धिरपि न जाता। किञ्च, यद्युपह्वानमुपदेशस्तदोपहूता इत्यस्योपदिष्टा इत्यर्थोऽस्तु । तथा च मयोपदिष्टा पृथिवी मामुपदिशत्विति सुव्याख्यातमार्यंब्रुवेण । 'उपहूता सादरास्तु' इत्यपि व्याख्यानं तथाविधमेव। सिद्धान्ते च—इन्द्रः परमेश्वरः, इदमस्मदपेक्षितमिन्द्रियमिन्द्रवद्वीर्यमपि यजमाने दधातु स्थापयतु। रायो धनानि दैवमानुषभेदेन द्विविधानि । मघवानो धनवन्तश्चास्मान् यजमानान् सचन्तां समवयन्तु सेवन्ताम् । किञ्चास्माकमाशिषोऽभीष्टार्थस्याशंसनानि ब्रह्मप्रेप्साद्या यज्ञादिभिः सन्तु विद्यन्ते, शुभाशंसनानामपि शुभावहत्वात् । किञ्चास्माकमाशिषः पूर्वोक्ताः सत्या अवितथा भवन्तु । अन्यत् सर्वं सिद्धान्तव्याख्याने स्पष्टम् ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे इन्द्र हे राम परमेश्वर ! 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति श्रुतेः, इदं इदङ्कारास्पदं दृश्यत्वादिन्द्रियमिन्द्रस्य परमात्मनो लिङ्गम् अन्तःकरणबाह्यकरणग्रामम् । यथा दग्धुरप्ययःपिण्डस्य सातिशयानित्यदाहकत्ववतः केनचिदन्येन नित्यदाहकत्वप्रकाशकत्ववता दग्ध्रा भाव्यम्, तथैवानित्यसातिशयस्य शब्दादिप्रकाशसामर्थ्यवतः श्रोत्रादेः केनचिदन्येन नित्यनिरतिशयशब्दादिप्रकाशसामर्थ्यवतः श्रोत्रस्य श्रोत्रेण चक्षुषश्चक्षुषा मनसो मनसावश्यं भाव्यम्, संहतानां स्वविलक्षणासंहतार्थत्वात् । तच्च दधातु स्थापयतु स्वर्गापवर्गादिपुरुषार्थोपयोगिवीर्यवत् करोति । हे इन्द्र ! अस्मान् रायो भक्तिज्ञानवैराग्यरूपाः श्रियो मघवानस्तद्वन्तो भक्तिज्ञानवैराग्यश्रद्धावन्तः सचन्तां समवयन्तु प्राप्ता भूत्वानुगृह्णन्तु । अस्माकमाशिषो भक्तिज्ञानवैराग्यभक्तज्ञानिमहापुरुषसङ्गतिसमुत्कण्ठाः सन्तु नित्यमेव विद्यन्ताम्। कदाचिदपि तेष्वनादरो मा भूत् । ताश्चाशिषः सत्या अवितथाश्च भवन्तु । उपहूता श्रद्धाऽऽकारिता पृथिवी पृथिवीजन्या सत्तासामान्यरूपा परमपुरुषार्थरूपा सीता माता सर्वप्रमापिका, सर्वस्य चिद्व्याप्यत्वेनैव भास्यमानत्वात् । मां तच्चरणानुरागिणं तदेकाश्रयं डिम्भं पृथिवी माता पृथिव्याः समुद्भूता अयोनिजा माता जननी प्रसवित्री वात्सल्यवती उपह्वयतां स्वाङ्कमुपवेशयतु । अग्निमिन्धे दीपयतीति अग्नीत् परमात्मा रामः 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः' (वा. रा. २ ।) 'अग्नीधः शरणे रण् भं च' (पा. सू. ४।३।१२०) इति सूत्रस्थवार्त्तिकेन तस्येदमाश्रयणमाग्नीध्रं तस्माद् रामाश्रयणाद्धेतोरहमग्निः सन् सर्वाणि कर्माणि ज्ञानाग्निना दग्ध्वा निरावरणश्चिदग्निः सन् स्वात्मानं तस्मा अग्नीधे रामाय समर्पयामि । इदमस्मत्समर्पितं वस्तु सुहुतमस्तु । 'आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा' इति श्रुतेः ॥ १० ॥

उसमें कभी भी किसी प्रकार का विघ्न न हो । वे आशिष् संकल्प कभी भी असत्य न हों, अपितु सर्वथा सत्य होते रहें। श्रद्धा से बुलाई हुई पृथिवीजन्या सत्तासामान्यरूपा परमपुरुषार्थरूपा सीता माता, सब जाननेवाली है । क्योंकि चिद्व्याप्य होने से ही सब भास्यमान होता है । अतः उसी को एकमात्र अपना आश्रय समझने वाले, उसके चरणों में अनुराग रखने वाले अपने बालक को, वह पृथिवी से उत्पन्न, अयोनिजा, वात्सल्यपरिपूर्णा सीता माता, मुझे अपनी गोद में बैठा ले । अग्नि को जो प्रज्वलित करता है, उसे अग्नीत् कहते हैं । वह अग्नीत् परमात्मा राम है । उस राम का आश्रय कर लेने से मैं भी अग्निरूप होता हुआ, अर्थात् ज्ञानाग्नि से समस्त कर्मों को जलाकर निरावरण हुए अपने को उस अग्नीत् रूप राम के चरणों में अर्पित करता हूँ । यह हमारी समर्पित वस्तु 'सुहुत' हो जाय । यह समस्त कथन श्रुति से समर्थित हो रहा है ।। १० ।।

उप॑हूतो द्यौष्पि॒तोप॒ मां द्यौष्पि॒ता ह्व॑यताम॒ग्निरा॑ग्नी॑ध्रात् स्वाहा॑ । दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्ब॒ाहुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्यां प्रति॑गृह्णा॒म्यग्नेष्ट्वा॒स्येन॒ प्राश्ना॑मि ॥ ११ ॥

एवं द्यौःपिता जगत्पालकः पितृत्वेनाभ्यनुज्ञातोऽस्माभिर्मामुपह्वयताम् । द्वितीयहविःशेषभक्षणोद्यतं मामभ्यजानातु । त्वद्भक्षणार्थं मुखमपि दिव्यमेवापेक्षितम्, न प्राकृतेन मुखेन त्वं भक्षणीय इत्यग्नेरास्येन अग्निदेवतासम्बन्धिना मुखेन तथा बृहस्पतिसम्बन्धिना मुखेन च भक्षयामि । पुरा कदाचिद्देवानां यागे बृहस्पतिः प्राशित्रं प्रतिगृह्णन् भक्षयंश्च मां हिंसिष्यतीति भीतः सन् हिंसापरिहाराय देवस्य त्वेति मन्त्रेण प्रतिगृह्य अग्नेष्ट्वेति मन्त्रेण प्राशितवान्, इत्येतादृशमभिप्रायं तित्तिरिराह—'सोऽबिभेत् प्रतिगृह्णन्तं मा हिंसिष्यतीति देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीत्यब्रवीत् । सवितृप्रसूत एवैतद् ब्रह्मणा देवताभिः प्रत्यगृह्णात्' (तै. सं. २।६।८।१३) । सोऽबिभेत् प्राश्नंस्तं मा हिंसिष्यतीत्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामीत्यब्रवीत् । नह्यग्नेरास्यं किञ्चन हिनस्तीति । अहमाग्नीध्रात् कर्मणो हेतोरग्निस्वरूपः सन् प्राश्नामि । मन्मुखाग्नाविदं सुहुतमस्तु । इत उत्तरम् ओं प्रतिष्ठ (ख. १३) इत्यन्तं ब्रह्मत्वम् । तस्याङ्गिरसो बृहस्पतिर्ऋषिः । 'देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति' (का. श्रौ. २।२।१४) । ब्रह्मा देवस्य त्वेति प्राशित्रं गृह्णाति । हे प्राशित्र ! त्वा त्वां सवितुः परमेश्वरस्य प्रसवे प्रेरणे सत्यश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि, न प्राकृतभौतिकप्रायाभ्यां लौकिकाभ्यां स्वीयाभ्यां बाहुभ्यां न वा तथाभूताभ्यां हस्ताभ्याम्, दिव्यस्य तव प्रतिग्रहे तादृशयोरयोग्यत्वात् । 'अग्नेष्ट्वेति प्राश्नाति दन्तैरनुपस्पृशन्' (का. श्रौ. २।२।१६) । हे प्राशित्र ! अग्नेः अग्निदेवताया आस्येन मुखेन त्वा त्वां प्राश्नामि भक्षयामि । या अप्स्वन्तर्देवतास्ता इदं शमयन्तु स्वाहा कृतं जठरमिन्द्रस्य गच्छ ऊर्ध्वं नाभेः सीद इन्द्रस्य त्वा जठरे सादयामि । अतो ममोपद्रवो न भविष्यति ।

आधुनिकस्तु—'यथा वर्षणेनाकाशं संसारपालकम्, तथैव पितापि बालानां सुखदानायोपहूतः शिक्षितोऽस्तु । मां सुखवर्षकः पितापि शिक्षयतु । आचार्यपदाद् आचार्य उत्तमं ज्ञानमुपदिशतु । हे अग्ने ! सर्वोत्पादकस्य परमेश्वरस्य प्रसवे जगत्यहं प्राणापानयोर्बाहुभ्यां पोषकस्य वायोर्हस्ताभ्यां सर्वाङ्गरसदायकाभ्यामुभाभ्यां बलाभ्यां त्वा त्वामन्नं प्रतिगृह्णामि । त्वां सदोद्दीप्तजाठराग्नेरास्येन प्राश्नामि सम्यक् खादामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आकाशस्य वर्षकत्वेन पालकत्वं शिक्षकत्वमध्यात्मविमुखानां विप्रतिपन्नमेव, तदपेक्षया लौकिकस्य पितुः पोषकत्वं शिक्षकत्वं च प्रसिद्धमेव । प्रसिद्धमुदाह्रियते नाप्रसिद्धम् । आग्नीध्रपदं कथमाचार्यपदबोधकम् ? कथं चाग्निशब्द आचार्यवाचकः । यदि प्रकाशकत्वसाम्याद् भाक्तोऽयमाचार्यस्तदाप्याग्नीध्रस्थानं कथमग्निस्थानम् ? नह्यग्निरेवाग्नीत् । अस्मिन्नर्थे सर्वत्र प्रसिद्धव्यतिक्रमो दोषः । प्राणापानयोरश्वित्वं वायोश्च

मन्त्रार्थ—मैंने द्युलोक को बुलाया है । वह द्युलोकरूपी पिता मुझे बुलाकर द्वितीय हविर्भक्षण की आज्ञा मुझे दे । मैंने अग्नीध्र का कार्य किया है । उस कारण मैं अग्निरूप होकर इस हवि का भक्षण करता हूँ । वह जठराग्नि में सुहुत होकर रहे । हे प्राशित्र ! प्रेरक परमेश्वर की प्रेरणा से अश्विनीकुमारों की दोनों बाहुओं से और पूषा देवता के दोनों हाथों से मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ और अग्नि के मुख से मैं तुम्हारा भक्षण करता हूँ । ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् 'देवस्य त्वा' मन्त्र से प्राशित्र का ग्रहण करे और 'अग्नेष्ट्वा' मन्त्र से बिना दाँत लगाये प्राशित्र का भक्षण करे ।। ११ ।।

भाष्यसार—भाष्य का सार ऊपर भावार्थ में ही दे दिया गया है । अतः पुनः उसकी आवृत्ति करना यहाँ उचित नहीं है ।

पूषत्वमप्रसिद्धमेव। नहि बाह्वादिभी रसप्राप्तिर्दृश्यते। जाठराग्नेर्मुखं क्वास्ते? सर्वोऽपि स्वप्रसिद्धमुखेनैवाश्नाति न जाठराग्निमुखेन। गौणार्थत्वेऽपि किमुद्दिश्य तथाभिधानम्? सिद्धान्ते तु 'मनो ब्रह्म' (छा० ३।१८।१), 'अन्नं ब्रह्म' (तै० ३।२।२) इति मनोऽन्नादिषु ब्रह्मदृष्टिवद् ब्रह्मनामकर्त्विजः स्वबाहुहस्तमुखेष्वश्विपूषाग्निबाहुहस्तमुखदृष्टिराधीयते वीर्यवत्तरतायै, 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति श्रुतेः।

श्रीदयानन्दस्तु—'मया द्यौःपितेश्वर उपहूतो मामुपह्वयतां स्वीकरोत्वेवं मया द्यौःपिता पालनहेतुः सूर्यलोक उपहूतः स्पर्धितः सन् मां विद्यायै उपह्वयात्। योऽग्निः स्वाहा सुहुतं भुक्तमन्नमाग्नीध्रात् पचति यो देवस्य सवितुः प्रसवे वर्तमानोऽस्ति त्वा तमहं भोगमश्विनोर्बाहुभ्यां प्रतिगृह्णामि। गृहीत्वा च प्रदीप्तस्याग्नेर्मध्ये त्वा तं पाचयित्वास्येन प्राश्नामि। सर्वैः परस्याह्वानं नित्यं कार्यम्, तथा विद्यासिद्धये चक्षुषा संशोध्य जाठराग्निं प्रदीप्य संस्कृतं मितमन्नं नित्यं भोक्तव्यम्। ईश्वरेण जगत्युत्पादितैः पदार्थैर्यः सर्वो भागः सिद्ध्यति, स च विद्याधर्मयुक्तेन व्यवहारेण भोक्तव्यो भोजयितव्यश्चेति तदीयो भावार्थः' (पृ० १६७–१६८) इति, तदपि यत्किञ्चित्, तदुक्तस्यार्थस्य लोकेनायुर्वेदेन च सिद्धत्वात्, ज्ञातज्ञापकत्वेन मन्त्रस्य तत्राप्रामाण्यात्। मन्त्रे च चक्षुषा शोधनजाठराग्निप्रदीपनाद्यर्थानां दूरतोऽपि चर्चा नास्ति। 'आग्नीध्रात् पचति' इति तु न सङ्गतम्, आग्नीध्रस्यान्नाशयार्थत्वेऽपि तस्य पाचकत्वाभावात्। यत्तु 'ल्यब्लोपेन पञ्चमीमाश्रित्य अन्नाशयं प्राप्य पचति' इति, तदपि न युक्तम्, आग्नीध्रपदस्य अन्नाशयार्थत्वासम्भवात्, अग्निरिध्यते यत्रेत्यग्नीच्छब्दस्यैव तदर्थकत्वात्। अग्नेर्मध्ये पाचयित्वाऽऽस्येन प्राश्नामीत्यपि न सङ्गतम्, अग्नेरास्येनेति सम्बन्धे सम्भवत्यग्निर्मध्ये इत्यध्याहारासङ्गतेः, वैयर्थ्याच्च। सर्वोऽप्यग्नौ पचत्यन्नं नाग्निमध्ये। न चैतद्वक्तव्यम्, सर्वोऽपि अन्नमग्नौ पच्यत इति जानात्येव।

यदत्रोक्तम्—'अयं मन्त्रः (श० १।८।१।३९–४०) इत्यत्र व्याख्यातः' इति, तदपि न सम्यक्, प्रकृतमन्त्रस्य तत्राव्याख्यानात्। 'अथ पवित्रयोर्मार्जयन्ते। पाकयज्ञिययेव वा एतदिडयाचारिषुः पवित्रपूता यदुत

किसी आधुनिक व्याख्याकार ने श्रुति-स्मृत्यनुमोदित परम्परा को त्याग कर मनमानी व्याख्या की है—जिस प्रकार वर्षा के द्वारा संसार का पालन होता है, उसी तरह पिता भी बालकों को सुख देने के लिये शिक्षित रहे। मुझपर सुख की वर्षा करने वाला पिता भी शिक्षा दे। आचार्य उत्तम ज्ञान का उपदेश दे। हे अग्ने! सर्वोत्पादक परमेश्वर के जगत् में प्राण-अपान के बाहुओं से, अर्थात् पोषक वायु के हाथों से सर्वाङ्गरसदायक दोनों बलों से अन्न को स्वीकार करता हूँ। सदा उद्दीप्त जाठराग्नि के मुख से तुम्हें अच्छी प्रकार से खाता हूँ।

किन्तु यह अर्थ परस्पर असम्बद्ध है, जो सिद्धान्त के विरुद्ध है। सैद्धान्तिक अर्थ वही होता है, जो श्रुति-स्मृत्यनुमोदित, कल्पसूत्र आदि से समर्थित रहता है।

स्वामी दयानन्द ने भी इस मन्त्र की व्याख्या के द्वारा श्रुति, कल्पसूत्र, पूर्वाचार्यों के भाष्य का ध्यान न रखते हुए स्वाभिप्रेत अर्थ को ही अभिव्यक्त किया है। तथा भावार्थ में बताया है कि ईश्वर के द्वारा उत्पन्न हुए पदार्थों से जो भाग सिद्ध होता है, उसका भोग विद्या-धर्म से युक्त व्यवहार के द्वारा करना चाहिये और कराना चाहिये।

किन्तु यह व्याख्या भी वैदिक पद्धति के विरुद्ध है, क्योंकि वैदिक पद्धति में अज्ञात-ज्ञापन करना ही विधि का कार्य होता है। स्वामी दयानन्दोक्त अर्थ तो लोकव्यवहार तथा आयुर्वेद से ही ज्ञात है। उसी ज्ञात अर्थ का ज्ञापन

ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तत्तनवा महा इति तस्मात् पवित्रयोर्मार्जयन्ते ।' (श० १।८।१।४३), 'अथ ते पवित्रे प्रस्तरेऽपि सृजति। यजमानो वै प्रस्तरः प्राणोदानौ पवित्रे यजमाने तत्प्राणोदानौ दधाति तस्मात्ते पवित्रे प्रस्तरेऽपि सृजति ।' (श० १।८।१।४४) पवित्राभ्यां (व्यत्ययेन) मार्जयन्ते पाकयज्ञसम्बन्धिन्येव एतदिड्या अचारिषुः आचरितवन्तः। कुतो व्यत्यय इति चेत्, पवित्रपूता यदत ऊर्ध्वमसꣳस्थित(मपूर्णं) यज्ञस्यांशं तत् तं तनवामहै, इति वाक्यशेषात्। तस्मात् पवित्राभ्यां मार्जयन्ते। 'अथ ते पवित्रे प्रस्तरे अपि सृजति। यजमानो वै प्रस्तरः प्राणोदानौ पवित्रे तस्मात्पवित्रयोः प्रस्तरे संसर्जनेन यजमाने प्राणापानौ दधाति तस्मात्ते पवित्रे प्रस्तरेऽपि सृजति' एतेन मन्त्रव्याख्यानरूपमेव ब्राह्मणमित्यपास्तं वेदितव्यम्, प्रकृतकण्डिकयोर्मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाभावात्। ब्राह्मणं यथा कर्मणि विद्यातदङ्गद्रव्यसंस्कारं विदधाति, तथैव कर्माङ्गमन्त्रमपि तदानुगुण्येन व्याख्याय संस्करोति।

अध्यात्मपक्षेऽपि—द्यौः द्योतनात्मकः स्वप्रकाशोऽखण्डबोधात्मको रामः पिता सर्वाधिष्ठानत्वेन सकलजगतः सत्तास्फूर्तिप्रदत्वात् सोऽस्माभिरुपहूतः श्रद्धयानुकूल्यमुपनीतो मामुपासकमुपह्वयताम् अनुग्रहपूर्णयाऽमृतवर्षिण्या कृपादृष्ट्या वात्सल्येन उपह्वयतां स्वसामीप्यमुपनयतु स्वात्मतादात्म्यं वा प्रापयतु। अग्निरहं ज्योतिर्मयोऽहं शोधितत्वंपदार्थो देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारेभ्यः संहतेभ्यः सुखदुःखमोहात्मकेभ्यो दृश्येभ्यः पराग्भ्यो वैपरीत्येनासंहतत्वेन सुखदुःखमोहातीतत्वेन दृक्त्वेन प्रत्यक्त्वेन अच्यते स्वप्रकाशत्वेनावगम्यत इति प्रत्यक्चैतन्यं तदात्मकोऽहमाग्नीध्रात् तत्पदलक्ष्यार्थस्य शुद्धब्रह्मणः समाश्रयणात् स्वाहा स्वात्मानमर्पयामि। तत्पदार्थेऽनन्तचैतन्ये प्रत्यक्चैतन्यं सुहुतमस्त्वित्यर्थः। ननु मायातत्कार्यात्मकस्य प्रपञ्चस्य जागरूकत्वे कथमात्मज्योतिषो ब्रह्मज्योतिषि प्रविलापनं सम्भवतीति चेत्तत्राह—देवस्य प्रपञ्चक्रीडापरायणस्य सवितुर्जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलस्य भगवतः प्रसवेऽनुशासनेऽश्विनोर्देवभिषजो रत्नालङ्कृताभ्यां बाहुभ्यां पूष्णः सूर्यस्य हिरण्यालङ्कृत-

करने से तो वेदवाक्य का अप्रामाण्य होने लगेगा। मन्त्रगत शब्द से जिस अर्थ की चर्चा भी नहीं है, उसकी चर्चा स्वामी दयानन्दजी कर रहे हैं। अतः उनकी व्याख्या को सारहीन ही कहना पड़ रहा है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—द्योतनात्मक स्वप्रकाश अखण्डबोधात्मक राम पिता हैं, क्योंकि सर्वाधिष्ठान होने से सम्पूर्ण जगत् को सत्तास्फूर्तिप्रद है, जो हमारे द्वारा श्रद्धापूर्वक आनुकूल्य को प्राप्त हुआ है, वह मुझ उपासक को अपनी अनुग्रहपूर्ण अमृतवर्षिणी कृपादृष्टि से अपने समीप ले आवे, अथवा स्व-तादात्म्य को प्राप्त करा दे। ज्योतिर्मय मैं (अहम्) से शोधित जो त्वम् पदार्थ है, वह यच्च-यावत् दृश्य को दृक्रूप से समझा जाता है, इसलिये प्रत्यक्चैतन्यरूप मैं आग्नीध्र से, अर्थात् तत्पदलक्ष्यार्थ शुद्धब्रह्म के आश्रय से अपने को अर्पित कर रहा हूँ। अभिप्राय यह है कि अनन्त चैतन्य तत्पदार्थ में प्रत्यक् चैतन्य सुहुत हो।

शंका—माया और उसके कार्यरूप प्रपञ्च के जागरूक रहते आत्मज्योति का ब्रह्मज्योति में प्रविलापन कैसे सम्भव होगा ?

समा०—प्रपञ्चक्रीडापरायण सविता देव के अनुशासन में अश्विनीकुमारों के रत्नालंकृत बाहुओं से और सूर्य के हिरण्यालंकृत हाथों से परापर विद्या का उपदेश देने वाले भवरोग के वैद्य कहलाने वाले गुरुओं के आचार-विचार रूप बाहुओं से ज्ञान प्रचण्डमार्तण्ड ब्रह्मविद्वरिष्ठ गुरु के परोक्ष-अपरोक्ष तत्त्वज्ञान—साक्षात्कार रूप पाणि से मुझ साधिष्ठान प्रपञ्च का ग्रहण करता हूँ। अधिष्ठानभूत परमेश्वरस्वरूप ब्रह्म के मुख से मैं प्राशन करता हूँ, अर्थात्

पाणिभ्यां परापरविद्योपदेष्टोर्भवरोगवैद्ययोर्गुर्वोराचारविचाराभ्यां बाहुभ्यां पूष्णो ज्ञानप्रचण्डमार्तण्डस्य ब्रह्मविद्वरिष्ठस्य गुरोः परोक्षापरोक्षतत्त्वज्ञानसाक्षात्काराभ्यां पाणिभ्यां त्वा त्वां साधिष्ठानं प्रपञ्चं गृह्णामि । अग्नेः परमेश्वरस्याधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मण आस्येन मुखेन प्राश्नामि स्वात्मतादात्म्यापादनं करोमि, अधिष्ठानसाक्षात्कारेण प्रपञ्चं बाधित्वा निरावरणब्रह्मात्मना स्थितो भवामीत्यर्थः ॥ ११ ॥

एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे । तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव ॥ १२ ॥

'एतं त इति समिदामन्त्रितः प्रसौति' (का० श्रौ० २।२।२१), 'ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि' (आप० श्रौ० ३।४।५) इत्यनुयाजार्थमध्वर्युणा पृष्टो ब्रह्मा एतं ते (२।१२–१३) इति मन्त्रद्वयेनाध्वर्युमाज्ञापयेत । समिच्छब्देन तदर्थत्वादनुयाजा अभिधीयन्ते । एतं त इत्यादिः ओं प्रतिष्ठ इत्यन्तो मन्त्रः । हे देव दानादिगुणयुक्त हे सवितः प्रसवितः ! एतं ते यज्ञमिदानीं क्रियमाणमिमं मखं ते तुभ्यं त्वदर्थं प्राहुर्यजमानाः कथयन्ति । उव्वटरीत्या एकवचनस्य स्थाने बहुवचनम् । प्राह ब्रवीति । 'एतत्सवितारमेव प्रसवायोपधावति' (श० १।७।४।१४) इति श्रुतिः । त्वया प्रेरितो देवानां यज्ञे यो ब्रह्मा तस्मै ब्रह्मणे बृहस्पतये च प्राहुः 'बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा' तदधिष्ठित एवायं मानुषो ब्रह्मत्वं करोति । तेन हेतुना त्वदीयत्वेन यज्ञमव रक्ष । तेनैव च यज्ञपतिं यजमानं रक्ष । तथा तेनैव च हेतुना मां ब्रह्माणमव । हे सवितर्देव ! एतं त्वा सवितृरूपं त्वां बृहस्पतिं ब्रह्माणं बृहस्पतिरूपं ब्रह्मनामकमृत्विजं वृणते याज्ञिका वरणं कुर्वन्ति । सवितृशब्दाभिधः परमेश्वर एव बृहस्पतिरूपेणावतीर्यास्मद्यागे ब्रह्मेति भावयन्ति ।

दयानन्दस्तु—'हे देव दिव्यसुखगुणानां दातः सवितः सकलैश्वर्यविधातः ! वेदा विद्वांसश्च यमेतं ते यज्ञं सुखाय यष्टुमर्हं भवत्प्रकाशितं प्राहुः, येन बृहस्पतये बृहत्या वेदवाण्याः पालकाय ब्रह्मणे चतुर्वेदाध्ययनेन ब्रह्मत्वाधिकारं प्राप्ताय सुखाधिकाराः प्राप्नुवन्ति । तेन बृहद्विज्ञानदानेन इमं यज्ञं पूर्वोक्तं त्रिविधम् अव नित्यं रक्ष । तेन कर्मानुष्ठानेन विद्याधर्मप्रकाशनेन मां अव रक्ष' (पृ० १६९), 'ईश्वरेण सृष्ट्यादौ दिव्यगुणवद्भ्योऽग्निवायुरव्यङ्गिरोभ्यश्चतुर्वेदोपदेशेन सर्वेषां मनुष्याणां विद्याप्राप्त्या सुखाय यज्ञानुष्ठानविधिरुपदिष्टोऽनेनेव सर्वरक्षाविधानं च नैव विद्याशुद्धिक्रियाभ्यां विना कस्यचित् सुखरक्षणे भवितुमर्हतः । तस्मात् सर्वैः परस्परं प्रीत्यै तयोर्वृद्धिरक्षणे प्रयत्नतः सदैव कार्ये इति भावार्थः' (पृ० १७०) इत्याह, तदपि न क्षोदक्षमम्, सर्वस्यास्यार्थस्य निर्मूलत्वात् । न च ब्राह्मणं तत्र प्रमाणम्, तस्य त्वया स्वतः प्रामाण्यानभ्युपगमात्, परतः प्रामाण्ये तु तस्य बीजत्वेन मन्त्रप्रामाण्यस्य वक्तव्यत्वापत्तेः । यज्ञानुष्ठानविधिस्तु

स्वात्मतादात्म्यापादन करता हूँ, यानी अधिष्ठान साक्षात्कार से प्रपञ्च का बाधकर निरावरण ब्रह्मरूप से स्थित होता हूँ ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे दानगुणविशिष्ट प्रेरक परमेश्वर ! यह किया हुआ यज्ञ तुम्हारे लिये है, ऐसा यजमान कहते हैं और तुम्हारी प्रेरणा से देवताओं के यज्ञ में ब्रह्मा बने हुए बृहस्पति के लिये है, ऐसा भी यजमान कहते हैं । इसलिये तुम इस अपने यज्ञ की, यजमान की और ब्रह्मा बने हुए मेरी रक्षा करो । समिधा के होम करने की आज्ञा दो—यह कहने पर ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् 'एतं ते' से 'ॐ प्रतिष्ठ' तक के दो मन्त्रों से वैसा करने की आज्ञा प्रदान करे ॥ १२ ॥

ब्राह्मण एवोपलभ्यते न मन्त्रेषु, ज्योतिष्टोमादेर्यज्ञस्य सेतिकर्तव्यताकस्य मन्त्रेष्वनुपदिष्टत्वात् । ब्राह्मणं तु त्वया नेश्वरोक्तमभ्युपगम्यते । मन्त्रब्राह्मणात्मके वेद एव यज्ञानुष्ठानविधानं सर्वरक्षणविधानमुक्तम्, न केवलेषु मन्त्रेषु । देवश्च कर्मानुसारेणैव दिव्यसुखगुणानां दाता भवति, न तन्निरपेक्षतया, अन्यथा संसारे सर्वेषामपि दिव्यसुखादिगुणवत्त्वापातात् । न च यज्ञः सुखायैव यष्टुमर्हः, निष्कामानामपि यज्ञानुष्ठानदर्शनात् । कोऽयं ब्रह्मा यो बृहत्या वेदवाण्याः पालकः ? यश्च चतुर्वेदाध्ययनेन ब्रह्मत्वाधिकारं प्राप्तः ? किं तत्र प्रमाणम् ? कीदृक् च तस्येतिवृत्तम् ? तेनेतिपदत्रयाणां बृहद्विज्ञानदानेनेति कथमर्थः ? द्वितीयेन धर्मानुष्ठानग्रहणे किं बीजम् ? तृतीयेन विद्याधर्मप्रकाशेनेति कथमर्थः ? सिद्धान्ते तु ब्रह्मा विशिष्टो भगवदवान्तरभूतस्तदर्थमेव च यज्ञः, तेन त्वदीयत्वेन हेतुना त्वं यज्ञं रक्ष, तेनैव च हेतुना यज्ञपतिं रक्ष, तेनैव च हेतुना मां ब्रह्माणं रक्षेति कथनं सङ्गच्छते।

शतपथविरुद्धं चेदम् । तथाहि—'तद्यथैवादो बृहस्पतिः सवितारं प्रसवायोपाधावत् सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्तदेनꣳसवितृप्रसूतं नाहिनद्देवमेवैष एतत्सवितारमेव प्रसवायोपधावति सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसौति तदेनꣳसवितृप्रसूतं न हिनस्ति' (श० १।७।४।१४) । बृहस्पतिः प्रसवाय सवितारमुपाधावत् । इदं मे प्रसुवेति कामनया तस्मादस्मै बृहस्पतये सविता देव एनं बृहस्पतिं प्रासुवत् तस्मादेनं बृहस्पतिं सवितृप्रसूतं नाहिनत्, न हिनस्तीत्यर्थः । इत्युपक्रम्य 'तत्प्राश्नाति·······' (श० १।७।४।१५) अग्नेरास्येन त्वामहं प्राश्नामि न मनुष्यमुखेनेत्यर्थः । अग्नेरप्रधृष्यत्वादग्निं न किञ्चन वस्तु हिनस्ति तथैवैतं भक्षितं न हिनस्ति । 'तन्न दद्भिः खादेत्·······' (श० १।७।४।१६) यत इदं रुद्रियं वस्तु मे दतो दन्तान् न हिंस्यादेतदर्थं न दद्भिः खादेत् । 'अथाप आचामति·······' (श० १।७।४।१७) शान्तिरापस्तस्माद् दद्भिरस्पर्शनेन शान्त्या च तद्रुद्रियं शमयते । अथ पात्रं परिक्षाल्य 'नाभिमालभते' इति शाखान्तरान्नाभेरालभनं तच्छेष इति हरिस्वामी । 'अथास्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति ब्रह्मा वै यज्ञस्य दक्षिणत आस्तेऽभिगोप्ता । स एतं भागं प्रतिविदान आस्ते यत् प्राशित्रं तदस्मै पर्याहार्षुस्त-त्प्राशीदथ यमस्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति तेन भागी स यदुत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तदभिगोपायति तस्माद्वा अस्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति ।' (श० १।७।४।१८), 'स वै वाचंयम एव स्यात्' (श० १।७।४।१९) । स ब्रह्मा वाचंयमः स्यात् 'ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि' इत्यध्वर्युवचनपर्यन्तम् । वि बृहन्ति विच्छिदन्ति वा एते यज्ञं सण्वन्ति ये मध्ये यज्ञस्य पाकयज्ञियया पाकयागार्हया विलक्षणयेत्याचरन्ति पाकयज्ञेषु हुतशेषो भक्ष्यते । इडाभक्षणेऽपि हुतशेषो भक्ष्यते । इत्तीडा पाकयागार्होच्यते । 'स यदि पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत् तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत् । यज्ञो वै विष्णुस्तद् यज्ञं पुनरारभते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः' (श० १।७।४।२०) ब्रह्मा वा ऋत्विजां भिषक्तमः, अतिशयेन यज्ञस्य चिकित्सकः । स प्रायश्चित्तैर्यज्ञं भिषज्यति स वाचंयमो यज्ञं सन्दधाति । अन्यथा तु

भाष्यसार—यजमान सविता से कहता है कि हे सवितृदेव ! यह अनुष्ठीयमान याग तुम्हारे लिये है । तुमसे प्रेरित होकर ही देवताओं के यज्ञ में जो ब्रह्मा है, उस ब्रह्मा और बृहस्पति के लिये कहता है । क्योंकि देवताओं का 'ब्रह्मा' बृहस्पति है । उससे अधिष्ठित होकर ही यह मनुष्य 'ब्रह्मत्व' कर पाता है । इसलिये यह यज्ञ तुम्हारा ही है । इस यज्ञ की रक्षा करो । उसीके लिये यज्ञ करने वाले यजमान की और मुझ ब्रह्मा की रक्षा करो ।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या करके निष्कर्ष बताया है कि सब लोग परस्पर प्रेमसम्पादनार्थ तपोवृद्धि और उसके रक्षणार्थ सर्वदा प्रयत्न करते रहें ।

नैनं सन्दध्यात्। तस्माद्वाचंयम एव स्यात्। 'स यत्राह—ब्रह्मन् प्रस्थास्यामीति तद्ब्रह्मा जपत्येतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुरिति तत्सवितारं प्रसवायोपधावति। सहि देवानां प्रसविता बृहस्पतये ब्रह्मण इति बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा तस्य एव देवानां ब्रह्मा तस्मा एवैतत्प्राह। तस्मादाह बृहस्पतये ब्रह्मण इति तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामवेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। (श० १।७।४।२१)। 'ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि' (आप० श्रौ० ३।४।५) इत्यध्वर्युणा समिधमाधातुमनुज्ञाप्रदानाय बोधितो ब्रह्मा 'एतं त इति समिदामन्त्रितः प्रसौति' (का० श्रौ० २।२।१९), अर्थाद् एतं त इति मन्त्रेणानुजानीयात्। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव।

अध्यात्मपक्षे तु—हे देव जगत्क्रीडाविनोदिन् सवितः प्रपञ्चोत्पादयितः! एतं पूर्वोक्तं ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं ज्ञानयज्ञं वेदा वेदान्ता ब्रह्मविद्वरिष्ठाश्च बृहस्पतये बृहत्या वाचः पतये वेदान् वाचो विधेयान् कुर्वते ब्रह्मणेऽपरब्रह्मोपासनया तद्भावितत्वेन ब्रह्मभावापन्नाय ब्रह्मभूताय प्राहुस्तात्पर्येण वर्णयन्ति। तेन हेतुना हे सवितस्तादृशं ज्ञानयज्ञमव साफल्यसम्पादनेन रक्ष। तेन साफल्येन यज्ञपालकमाचार्यमव पालय। तेनाचार्यपालनेन आचार्यप्रवचनसामर्थ्यप्रदानेन मां शिष्यं तद्ग्रहणधारणसामर्थ्यप्रदानेन अव रक्ष ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारं प्रदाय रक्ष॥ १२॥

मनो॑ जू॒तिर्जु॑षता॒माज्य॑स्य॒ बृह॒स्पति॑र्य॒ज्ञमि॒मं त॑नो॒त्वरि॑ष्टं य॒ज्ञꣳ समि॒मं द॑धातु विश्वे॑ दे॒वास॑ इ॒ह मा॑दयन्ता॒मो३म्प्रति॑ष्ठ॥ १३॥

हे सवितः! मनस्त्वदीयं चित्तम् आज्यस्य आज्यं घृतं कर्मणि षष्ठी जुषतां सेवताम्। त्वदीयं चित्तं यज्ञसम्बन्धिन्याज्ये स्थापयेत्यर्थः। कीदृशं मनः? जूतिः अतीतानागतादिसर्वपदार्थेषु गमनशीलं गतिकर्मणो जवतेः क्तिन्प्रत्ययान्तो निपातः। स्त्रीत्वं छान्दसम्। जवते शीघ्रं गच्छतीति जूतिः। किञ्च, बृहस्पतिरिमं यज्ञं तनोतु विस्तारयतु ब्रह्मत्वात्। इमं यज्ञमरिष्टं हिंसारहितं दधातु सन्दधातु। इडाभक्षणेन हि मध्ये यज्ञो

किन्तु स्वामी दयानन्दोक्त अर्थ मन्त्र के किसी शब्द से नहीं निकल रहा है। यज्ञानुष्ठान की विधि तो ब्राह्मणग्रन्थों में ही होती है, मन्त्रों में नहीं। किन्तु स्वामी दयानन्द तो ब्राह्मणग्रन्थ को 'वेद' नहीं मानते और न ही उसे ईश्वरोक्त मानते हैं। उनका स्वतःप्रामाण्य भी वे स्वीकार नहीं करते। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद में ही 'सर्वरक्षणविधान' आदि कहा गया है, केवल मन्त्रों में नहीं। देव यानी ईश्वर तो कर्म के अनुसार ही दिव्य सुखादि गुणों का दाता होता है, कर्मनिरपेक्ष होकर नहीं। अन्यथा संसार में सभी लोग दिव्य सुख गुणों से सम्पन्न हुए दिखाई देंगे। इत्यादि कारणों से दयानन्दोक्त अर्थ उचित नहीं प्रतीत हो रहा है। अतः उव्वट-महीधरोक्त अर्थ ही शतपथानुसारी होने से उचित है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—हे सवितः! तुम ही प्रपञ्च को उत्पन्न करने वाले हो। आचार्य प्रवचन का ग्रहण, धारणसामर्थ्य हमें प्रदान कर और ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार करा कर हमारी रक्षा करो॥ १२॥

मन्त्रार्थ—हे मन! तू घृत का सेवन कर। हे सविता! अपने शीघ्रगामी मन को यज्ञसम्बन्धित घृत में स्थापित करो। बृहस्पति इस यज्ञ को वृद्धिङ्गत करे और हिंसारहित करके उसे धारण करे। समस्त देवगण इस यज्ञ कर्म में सन्तुष्ट हों। इस प्रकार से प्रार्थित हुआ सूर्य 'ओम् प्रतिष्ठ' ठीक है, प्रयाण करो—ऐसी आज्ञा दे॥ १३॥

भाष्यसार—उक्त मन्त्र के द्वारा सवितृ देवता की प्रार्थना की गई है। समिदाधान काल में यजमान के अभिप्रेत प्रयाण को जानकर और उसे स्वीकार कर सविता देव प्रयाण की प्रेरणा दे।

विच्छिन्न इत्येवमुच्यते। विश्वेदेवासः सर्वे देवा इह कर्मणि मादयन्ताम्। 'मद तृप्तौ' चुरादिस्तृप्यन्तामित्यर्थः। एवं प्रार्थितः सविता देव ओं प्रतिष्ठ इत्यनुज्ञां प्रयच्छतु। ओमित्यङ्गीकारार्थः, तथास्त्वित्यर्थः। प्रतिष्ठ प्रयाणं कुरु। समिदाधानकाले यजमानस्याभिप्रेतं प्रयाणमवगम्य सविता देवोऽङ्गीकृत्य प्रयाणे प्रेरयतीत्यर्थः। 'ब्रह्मसदनात् तृणं निरस्यति निरस्तः पाप्मा' (का० श्रौ० २।१।२२) इति नैर्ऋत्यां तृणं ब्रह्म क्षिपेत्। 'इदमहं बृहस्पतेः सदसि सीदामि' (का० श्रौ० २।१।१)। ब्रह्मा इदमहमिति मन्त्रेण स्वस्थान आहवनीयाभिमुख उपविशेत्।

कश्चिदाधुनिकस्तूभयोः कण्डिकयोः सम्बन्धमाह—'हे देव सवितः सर्वप्रेरक प्रकाशक! ते तव उपर्युक्तं यज्ञं प्राहुः। अयं यज्ञो बृहस्पतये वेदलक्षणाया वाण्याः पालकाय विदुषेऽस्तु। तेन यज्ञेन मदीयमिमं यज्ञमव रक्ष तेनैव यज्ञपतिमव तेन मामपि अव। कोऽयं यज्ञ इति नात्र स्पष्टम्। स च बृहस्पतये कथमस्तु। यज्ञादीनां पालकत्वे च कथं हेतुत्वम्? मनो जूतिरिति जूतिर्वेगवत्सावधानं मन आज्यस्य ज्ञानयोग्यसाधनं जुषताम्। बृहस्पतिः वेदवाणीपरिपालको विद्वान् इमं यज्ञं तनोतु सम्पादयतु। ब्रह्मविद् इमं हिंसारहितं यज्ञं सम्यग्रीत्या पारयतु। इहलोके समस्ता विद्वांसो मादयन्ताम् आनन्दिनो भवन्तु। ओं हे विद्वन् प्रतिष्ठ त्वं प्रतिष्ठां प्राप्नुहि। योऽयं श्रौतसूत्रब्राह्मणादिनिर्दिष्टः प्रसिद्धः, मन्त्रेषु च यः प्रसिद्धस्तमनभ्युपगच्छन्नपि यज्ञस्य पालनीयत्वं पालनहेतुत्वं च कथयन्निस्त्रप एव। ओमित्यस्य रूढमर्थमुपेक्ष्यावयववृत्त्या विद्वन्नित्यर्थं लापयन् विदुषश्च प्रतिष्ठालाभे प्रेरयन् हेतुमपि नापेक्षत इति चित्रम्।

सिद्धान्ते तु—दानादिगुणयुतः सर्वोत्पादकः परमेश्वरोऽत्र प्रार्थ्यते। इमं क्रियमाणं यज्ञं त्वदर्थमेव यजमानः करोति, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (भ० गी० १८।४६) इति परमेश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानस्य यज्ञस्य प्रशस्तत्वोक्तेः। तस्यैवान्तर्यामिणः प्रेरणया देवानां यज्ञे बृहस्पतिः, मनुष्याणां यज्ञे ब्रह्मा यज्ञनिर्वाहको ब्रह्मनामक ऋत्विग्भवति। तदीयत्वेनैव यज्ञस्य यज्ञपतेर्ब्रह्मणश्च तत्कर्तृकरक्षा प्रार्थ्यते। त्रयोदश्यां कण्डिकायामपि स एव सविता प्रार्थ्यते—त्वदीयमतीतानागतवर्तमानकालान् तद्गतवस्तूनि च वेगेन युगपदेव गन्तृ मनो यज्ञसम्बन्धिन्याज्ये स्थापय। यथा भक्तः स्वनिवेदिते यथोपलब्धे नैवेद्ये भगवद्रागास्पदत्वं प्रार्थयते—हे विभो! मदीयमिदं नीरसमपि पत्रपुष्पफलं जलादिकं श्रमणा(शबरी)-फलदृष्ट्या सौदामपृथुकदृष्ट्या गोपाङ्गनार्पितदधिनवनीतदृष्ट्या यशोदास्तन्यदृष्ट्या राधाधरसुधादृष्ट्या वा गृहाणेति तद्वत्। वेगेन सर्वदेशकालवस्तुगाम्यपि त्वदीयं मनो मदीये यज्ञाज्ये स्थिरं भवत्वित्यर्थः। किञ्च, त्वदीयांशो बृहस्पतिर्ब्रह्मा सन् यज्ञमिममरिष्टं हिंसारहितं कृत्वा तनोतु सन्दधातु। सर्वे च देवा अत्र यज्ञे तृप्यन्ताम्। त्वत्तृप्तिकरो यज्ञोऽपि त्वदनुग्रहादेव सम्पद्यताम्। एवं प्रार्थितः सविता देवः ओं प्रतिष्ठ इत्यनुज्ञां प्रयच्छतु

किसी आधुनिक विद्वान् ने दोनों कण्डिकाओं का सम्बन्ध बताया है। यह यज्ञ वेदलक्षणवाणी के पालन करने वाले विद्वान् के लिये हो। उस यज्ञ से मेरे इस यज्ञ की, उसीसे यज्ञपति की और उसी से मेरी भी रक्षा करो।

किन्तु इस व्याख्या में कोई किसी प्रकार का कार्य-कारण भाव न होकर भी व्याख्या कर दी गई है, अतः कोई निष्कर्ष ही नहीं निकल पाता है। अतः निरर्थक ही है।

उव्वट-महीधर ने सैद्धान्तिक दृष्टि से जो व्याख्या की है, उससे स्पष्ट होता है कि परमेश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठीयमान यज्ञ ही प्रशस्त है। उस अन्तर्यामी की प्रेरणा से ही बृहस्पति ब्रह्मा के रूप में यज्ञ का निर्वाहक बनता है। यह उस

प्रतिष्ठ प्रयाणं कुरु । समिदाधानकाले यजमानस्याभिप्रेतं प्रयाणमवगम्य सविता देवोऽङ्गीकृत्य प्रयाणे प्रेरयतीत्यर्थः ।

अत्र दयानन्दः—'मम मनः मननशीलं ज्ञानसाधनं जूतिः वेगेन व्याप्तिकर्म आज्यस्य आज्यं यज्ञसामग्रीं 'सुपां सुलुक्..........' (पा. सू. ७।१।३९) इति द्वितीयास्थाने षष्ठी। जुषतां प्रीत्या सेवताम्। बृहस्पतिः बृहतां प्रकृत्याकाशादीनां पतिः पालक ईश्वरो यज्ञं संसाराख्यमिमं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं सुखभोगहेतुं तनोतु विस्तारयतु। अरिष्टं रिष्यते हिंस्यते यः स रिष्टो न रिष्टोऽरिष्टस्तं यज्ञमस्माभिरनुष्ठातुमहमिमं समक्षं प्रत्यक्षं विज्ञानयज्ञं सन्दधातु धारयतु। विश्वेदेवासः सर्वे विद्वांसः, अरिष्टं यज्ञद्वयं संतत्या सन्धाय अस्मिन् संसारे हृदये वा मादयन्तां हर्षन्ताम्। ओम् इतीश्वरवाचको वेदविद्या वा, प्रतिष्ठ प्रतिष्ठति। हे ओङ्कारवाच्यबृहस्पते! त्वमिह प्रतिष्ठ कृपयेमं यज्ञं विद्यां च प्रतिष्ठापय' (पृ० १७१–१७२)। 'ईश्वर आज्ञापयति—हे मनुष्याः! युष्मन्मनः सत्कर्माण्येव प्राप्नोतु। मया योऽयं संसारे यज्ञः कर्तुमाज्ञाप्यते तमेवानुष्ठाय सुखिनो भवन्तु भावयन्तु च। ओमिति परमेश्वरस्यैव नाम। नैव सत्क्रियां विना प्रतिष्ठा भवति। तस्मान्मनुष्यैः सर्वथाऽधर्मं विहाय धर्मकार्याण्येव सेवनीयानि। यतः खल्वविद्यान्धकारनिवृत्तये विद्यार्कः प्रकाशत इति भावार्थः' (पृ० १७२) इति।

तदेतत्सर्वं व्यत्ययबाहुल्येन स्वातन्त्र्येणार्थकरणे वेदाक्षरबाह्यमेवार्थो भवति, तद्रीत्या धर्माधर्मयोरप्यनिर्णयात्। येऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यज्योतिष्टोमादयो यज्ञा धर्मत्वेनाख्यायन्ते, ते तद्रीत्या वायुजलौषधिशुद्ध्यर्था एव। परोपकारो धर्म इत्यपि न सङ्गतम्, तस्याप्यनिर्णयात्। परसुखापादनं परोपकार इत्यप्यसङ्गतम्, तथा सति गुरुदारादिगमने धर्मत्वापत्तेः, शिष्यताडनादावधर्मत्वापत्तेः, रुग्णस्य कुपथ्याभिलाषिणो नियन्त्रणे वैद्यस्य पातकापातात् तद्दातुर्धार्मिकत्वापत्तेश्च। सत्यां वायुजलाद्यशुद्धावेव त्वदीयस्य यज्ञस्योपयोगः। आधुनिकसभ्यतारीत्यापि तदुपपत्तौ वैयर्थ्यमेव स्याद्यज्ञस्येति यज्ञानुष्ठानेनैव सुखिनो भवन्त्विति रिक्तं वचः। यज्ञं संसाराख्यमित्यपि चिन्त्यम्। इममित्यस्य प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं सुखहेतुमित्यपि प्रमाणसापेक्षम्। समक्षं विज्ञानयज्ञमित्यपि प्रमाणापेक्षम्। हिन्दीभाष्ये तु वेगेन सर्वगामिविचारकं मन्मन आज्यं यज्ञसामग्रीं सेवतामिति लिखितम्। वेदे तु देवतोद्देश्येनाज्यादियज्ञसामग्री प्रयुज्यते न मनःसेवनार्थमिति विचित्रोऽर्थः। किञ्च, बृहस्पतिरिमं प्रकटाप्रकटमहिंसनीययज्ञं सुखानां भोगरूपं यज्ञं तनोतु इत्यपि किं सुखभोगरूप एव यज्ञः? ओमिति चेत्, कृतं वाय्वादिशुद्ध्यर्थेनापि होमेन, प्रकटाप्रकटसुखानां भोगेनैवाहिंसनीययागोपपत्तेः।

यदुक्तं तेन 'अयं मन्त्रः शतपथे (१।७।४।२२) व्याख्यातः' इति, तदपि न त्वत्समीहितसाधनम्, तस्यान्यार्थत्वात्। तथाहि—'मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्येति। मनसा वा इद१७ सर्वमाप्तम्, तन्मनसैवैतत्सर्वमाप्नोति बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञ१७ समिमन्दधात्विति यद्विवृढं तत्सन्दधाति विश्वेदेवास इह मादयन्तामिति सर्वं वै विश्वेदेवाः सर्वेणैवैतत् सन्दधाति। स यदि कामयेत ब्रूयात् प्रतिष्ठेति यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत' (श० १।७।४।२२)। एतदर्थस्तु देवानां जूतिः वेगवन्मनः जुषतां प्रीयतां तृप्यत्वाज्येनेत्यर्थः। बृहस्पतिर्ब्रह्मरूपो

अन्तर्यामी परमेश्वर से ही सम्बन्धित होने से उसकी रक्षा की प्रार्थना उससे की गई है। तेरहवीं कण्डिका में भी उसी सविता की प्रार्थना की गई है।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, उसमें भी व्यत्ययबहुलता है, स्वतन्त्रतापूर्वक अर्थ किया गया है, अतः वेदाक्षरों से असम्बद्ध अर्थ हो गया है, उस कारण धर्माधर्म का निर्णय नहीं हो सकता। शतपथ की व्याख्या से दयानन्दोक्त अर्थ का समर्थन नहीं हो पा रहा है।

यज्ञं सन्दधातु विश्वे च देवास्तृप्यन्तु। त्वयानुज्ञातेऽध्वर्यौ तस्मादनुजानीहीत्यभिप्रायमालक्ष्य सवितुः स्वयमाह ब्रह्मा-सार्वात्म्यादहमेव सविता ततश्च प्रतिष्ठा अध्वर्यौ। अतिसर्जने लोट् (पा० सू० ३।३।१६३) इति हरिस्वामी। उव्वटस्तु—मनो जुषतां सेवतामाज्यस्य स्वमंशं जूतिः अतीतानागतवर्तमानकालेषु पदार्थेषु यद् गन्तृ तन्मन इत्यर्थः। अत्रापि छान्दसं स्त्रीत्वम्।

अध्यात्मपक्षे—हे मनः, आज्यस्येव करुणया द्रवद्धृदयस्य भगवतः स्निग्धं स्वरूपं जुषतां सेवताम्। कीदृशं मनोजूतिर्वेगेन गमनशीलं मनो भगवतः स्वरूपचिन्तनेऽपि तस्य नायासः।- नन्वेवं चाञ्चल्ये कथं नैरन्तर्येण भगवतः प्रीतिपूर्वकं सेवनं सम्भवतीति चेदाह—बृहस्पतिः बुद्धचधिष्ठातृदेव इमं चिन्तनध्यानादिलक्षणं वृत्तिनिरोधयज्ञं तनोतु विस्तारयतु। न केवलं तनोतु किन्तु अरिष्टमविनष्टं यथा स्यात्तथा इमं यज्ञं सन्दधातु व्याधिस्त्यानादिविघ्नैर्यथा न प्रतिबद्धचेत तथा इमं भगवद्धचानलक्षणं यज्ञं सन्दधातु स्वरूपसाक्षात्कारफलपर्यन्तं सम्पादयतु। इह लोकोत्तरे आध्यात्मिके यज्ञे विश्वे सर्वे देवा मादयन्तां तृप्यन्ताम्, भगवदाराधनेन सर्वेषां देवानां तृप्तिसम्भवात्। यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखास्तथैव परमात्मोपासनेन तदंशभूता देवाः स्वयमेव तृप्यन्ति। सत्यामेवमभ्यर्थनायां देवो भगवान् बृहस्पतिः ओमिति तथास्त्वित्यङ्गीकृत्य प्रतिष्ठ भगवदुपासने सुस्थिरो भवेति प्रेरयति॥ १३॥

एषा ते अग्ने समित्तया वर्द्धस्व चा च प्यायस्व। वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि। अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवांसं वाजजितं सम्मार्ज्मि॥ १४॥

'एषा त इति होतानुमन्त्रयते' (का० श्रौ० ३।५।२)। प्राकृतमार्षम्। इयमनुष्टुप् अग्निदैवत्या। हे अग्ने! एषा ते तव समित् समिन्धनहेतुः काष्ठविशेषो यः प्रक्षिप्यते, तया समिधा त्वं वर्धस्व वृद्धिं गच्छ। आप्यायस्व अस्मानपि वृद्धिं प्रापय। तथा च त्वत्प्रसादाद्वयं वर्धिषीमहि पुत्रपश्वादिभिः। आ च प्यासिषीमहि

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार होगा—हे मन! आज्य की तरह करुणा से द्रवित हुए हृदय को भगवान् के स्वरूप की सेवा में लगाओ। क्योंकि मन की गमनशीलता बहुत ही वेगवती है, अतः उस परमेश्वर के स्वरूप-चिन्तन में भी उसे कोई आयास नहीं होगा। मन की अति चंचलता रहने पर भी निरन्तर और प्रीतिपूर्वक भगवत्सेवा को, अर्थात् भगवद्ध्यानलक्षण यज्ञ को, यानी स्वरूपसाक्षात्कारात्मक फल को सम्पन्न कर सकता है। इस प्रकार भगवदाराधन करने से समस्त देवताओं को तृप्ति हो जाती है॥ १३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने! तुम्हें प्रदीप्त करने वाली यह समिध् है। उसके सम्पर्क से तुम वृद्धिङ्गत हो और हमें भी वृद्धिङ्गत करो। तुम्हारे अनुग्रह से हमारी वृद्धि होगी और तब हम अपने पुत्र-पशु आदि की सर्वथा सब प्रकार से वृद्धि कर पायेंगे। हे अन्नोत्पादक अग्ने! अन्न के उद्देश्य से गमन करने वाले और उसे प्राप्त करने वाले तुमको मैं जल से शुद्ध करता हूँ। होता नामक ऋत्विज् 'एषा ते' मन्त्र को कहे। पहले जिस प्रकार 'अग्ने वाजजित्' मन्त्र से परिक्रमण करके तीन-तीन बार अग्निसंमार्जन किया था, उसी प्रकार यहाँ परिक्रमण रहित 'प्रसृवांसम्' मन्त्र से एक बार संमार्जन करे॥ १४॥

भाष्यसार—हे अग्ने! इस समिदाधान से तुम वृद्धि को प्राप्त हो और हमें भी वृद्धि को प्राप्त कराओ। तुम्हारे प्रसाद से हम पुत्र-पशु आदि के साथ वृद्धि को प्राप्त हों। तदनन्तर अग्नि का संमार्जन करने के लिये कहा है।

आप्यासिषीमहि। आप्यायतेर्लिङि उत्तमपुरुषबहुवचनम्। सीयुटश्छान्दसोऽभ्यासः। 'संमार्ष्टि पूर्ववपदक्रामꣳ सकृत् सकृत् ससृवाꣳसमिति' (का. श्रौ. ३।५।४) पूर्वमग्ने वाजजिदिति मन्त्रेण यथेध्मसंनहनसंमार्गः कृतस्तथात्रापि संमार्ष्टि। तत्र परिक्रम्य त्रिस्त्रिः कृतः, अत्र तु परिक्रमणं विनैकैकवारमिति विशेषः। पूर्ववन्मन्त्रव्याख्यानम्। हे अग्ने त्वां संमार्ज्मि। कीदृशं त्वां वाजं ससृवांसमन्नमुद्दिश्य गतवन्तमन्नं सम्पादितवन्तम्।

आधुनिकस्तु—'हे शत्रुतापक! एषा ते समित् सम्यक् प्रदीप्ता विद्या कला वा, तया वर्धस्व आप्यायस्व सम्यक् पुष्टो भव। वयं प्रजाजनास्त्वया समृद्धा भवामः। हे अग्ने राजन्! वाजं युद्धं ससृवाꣳसं युद्धाय प्रयाणं कुर्वाणं वाजजितं युद्धविजेतारं त्वां संमार्ज्मि सम्यक् पवित्रयामि' इति। अत्रार्थे गौणार्थकता तु स्पष्टैव। अग्निसमिच्छब्दयोर्वह्नौ काष्ठविशेषे च रूढयो राज-विद्या-कलापर्यवसायित्वमप्रामाणिकम्। राज्ञश्च प्रजाजनकर्तृकं पवित्रीकरणं कीदृगित्यपि नोक्तम्। पौर्वापर्यविसङ्गतिरपि। सिद्धान्ते तु इडाभक्षणानन्तरमनुयाजार्थमध्वर्युकृत-प्रस्थानानुज्ञार्थं मन्त्रप्रसङ्गः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने परमेश्वर भौतिकाग्ने वा, एषा प्रदीप्तिहेतुस्ते तव तस्य वा। समिध्यते दीप्यतेऽनयेति समित् विद्या काष्ठादिर्वा। तया विद्यया समिधा वास्माभिः स्तुतः संस्त्वं वर्धस्व चास्मान् वर्धय। आप्यायस्वेत्यनेनैवेष्टसिद्धौ वर्धिषीमहीति स्पष्टार्थम्। हे भगवन्नेवं भवद्भिर्दिव्यगुणैरस्माभिः प्रकाशितः संस्त्वं आप्यायस्व चास्मान्नित्यं प्यायय। वयं विद्यावन्तो धार्मिकाश्च आसमन्तात् क्रियायोगे प्यासिषीमहि। प्यैङ्धातोः 'सिबुत्सर्गश्छन्दसि' (पा. सू. ३।१।२४) इत्यनेन वार्त्तिकेन सिप्प्रत्ययः। अग्ने ज्ञानस्वरूप विजयप्रद भौतिको वा, वाजं सर्वस्य वेगं जयति ईश्वरो वाजं जयति येन वा स भौतिको वाजं ज्ञानवन्तं वा त्वा त्वां तं वा ससृवांसं सर्वज्ञानवन्तं शिल्पविद्यागुणप्राप्तिमन्तं वा वाजं संग्रामं जाययति तं सम्यगर्थे मार्ज्मि शुद्धो भवामि शोधयामि वा। हे भगवन्नग्ने वाजजिद्वाजं ससृवांसं त्वां वयं वर्धिषीमहि कृपया भवान् अस्मानपि वाजजितः सस्रुषो वाजान् करोति। यथा वयं भवन्तमाप्यासिषीमहि, तथैव भवांश्चास्मान् सर्वैः शुभगुणैराप्यायतु। अहं भवन्तमाश्रित्य संमार्ज्मि भवदाज्ञानुष्ठानेन शुद्धो भवामि। यद्वा यैषा तेऽग्ने वर्धिका समिदस्ति, तया चायं वर्धते आप्यायते च वयं तं वाजं ससृवांसं वाजजितमग्निविद्यावृद्धयै वर्धिषीमहि आप्यासिषीमहि। यतोऽयं शिल्पविद्यासिद्धयै विमानादिभिर्यानैर्वाजान् सस्रुषो वाजजितोऽस्मान् विजयेन वर्धयति तमहं संमार्ज्मि। ये मनुष्याः परमेश्वराज्ञापालने क्रियाकौशले च वर्धन्ते ते विद्यायां सर्वानानन्दयित्वा शत्रून् जित्वा शुद्धा भूत्वा इष्टान् सुखयन्ति नेतरेऽलसाः। चकारचतुष्टयेन ईश्वराज्ञा धर्म्या सूक्ष्मस्थूलतयाऽनेकविधास्ति। तथा क्रियाकाण्डे कर्तव्यानि कर्माण्यनेकानि सन्तीति विज्ञेयम्।' (पृ. १७३–१७४) इति।

किसी आधुनिक विद्वान् ने व्याख्या की है कि हे शत्रुतापक! सम्यक् प्रदीप्त हुई विद्या अथवा कला से अच्छी तरह से सन्तुष्ट हो जाओ। हम प्रजा-जन तुम्हारे द्वारा समृद्ध हों। हे राजन्! युद्धार्थ प्रयाण करने वाले एवं युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले तुम्हें हम पवित्र करते हैं।

किन्तु इस अर्थ में गौणार्थकता तो स्पष्ट ही है। वह्नि और काष्ठविशेष में रूढ रहने वाले 'अग्नि' और 'समिध्' शब्दों को 'राज-विद्या-कला' के अर्थ में पर्यवसित करने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रजाजनकर्तृक राजा का पवित्रीकरण किस प्रकार का है, यह भी नहीं बताया है। तथा पौर्वापर्यविसङ्गति भी हो रही है।

मन्त्र में प्रसंग तो यह है कि इडाभक्षण के अनन्तर अनुयाज के लिये अध्वर्युकृत प्रस्थानार्थ अनुज्ञा के लिये यह सब किया जा रहा है।

तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथाहि—यद्यपि भौतिकाग्नेः समिधा वर्धनं सम्भवति, तथापि विद्यया समिधा वा न निरतिशयब्रह्मणो वर्धनसम्भवः। समिच्छब्दो विद्यायां शिष्टैरप्रयुक्तत्वान्न विद्यार्थः। यथा गमनशीलत्वेऽप्यजाविखरोष्ट्रमनुष्यादयो न गोपदार्थाः, किन्तु गलकम्बलादिमानेव पशुस्तदर्थः; एवमाप्यायनमपि ब्रह्मणो न सम्भवति, नित्यकूटस्थस्वाभाव्यात्। अग्ने ज्ञानस्वरूप विजयप्रद इत्यपि भाक्तोऽर्थः, सत्यां शक्तौ तदयुक्तत्वात्। शिल्पादिविद्याप्राप्तिमन्तमिति कस्य विशेषणम्? न परमात्मनः, तस्य नित्यज्ञानवत्त्वेन शिल्पविद्याप्राप्त्यसम्भवात्। न वा भौतिकाग्नेर्विशेषणम्, तस्य जडत्वेन विद्यावत्त्वासम्भवात्। संमार्ज्मि शुद्धो भवामीत्यपि नार्थः, मृजूष्धातोः सकर्मकत्वेन कर्मसापेक्षत्वात्। चकारचतुष्टयस्येश्वराज्ञा धर्म्येत्याद्यर्थोऽपि निर्मूल एव, प्रमाणानुपस्थापनात्। (श० १।८।२।३–७) इत्यनेनापि तद्विरुद्धमेव। 'अथ समिधमभ्यादधाति' इत्यादिना त्वाहवनीयाग्नौ समिदाधानं विहितम्, न तत्र विद्याऽऽधानप्रसङ्गः। 'ताᳪ होतानुमन्त्रयते एषा ते अग्ने समित् तया वर्धस्व' इत्यत्र सामिधेनीस्थानीयया एषा ते समिदित्यनया ऋचा होता तां समिधमनुमन्त्रयते, कात्यायनेनापि तथैव सूत्रणात्। अनुमन्त्रणात्मकं कर्म होतुर्नाध्वर्योः। यदि न मन्येत तदा स्वयमेव यजमानोऽनुमन्त्रयेत्। तस्मादत्र काष्ठात्मिकायाः समिध एवानुमन्त्रणमनुयाजीयस्याग्नेः समिन्धनञ्च।

अथ सम्मार्ष्टीति। अग्ने वाजजिद्वाजं त्वेत्यादिमन्त्रेण सकृत् सकृदग्नेः संमार्जनं विधाय जामितादोषप्रदर्शनेन त्रिस्त्रिः संमार्जनं वारितम्। नह्येतौ सम्मार्जनविधिनिषेधौ आत्मशुद्धौ युज्येते। स संमार्ष्टीति ब्राह्मणेन प्रकृते मन्त्रे ससृवाᳪसं वाजजितं संमार्ज्मीति पाठः समर्थ्यते। अग्र आह—सरिष्यन्निव हि तर्हि भवत्यथात्र ससृवाᳪसमिति ससृवेव ह्यत्र भवति। पुरुषकालव्यत्ययस्वातन्त्र्ये कथमेतत् स्यात्? अथानुयाजान् यजतीत्यनुयाजनिर्वचनमुक्तम्। 'या वा एतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वैतत्ता इष्टा भवन्ति। तद्यत्तासु सर्वास्विष्टास्वथैतत्पश्चेवानुयजति तस्मादनुयाजा नाम (श० १।८।२।७)। नहि त्वद्रीत्या यज्ञे काश्चिद्देवता इज्यन्ते, मनुष्यातिरिक्तं देवतानभ्युपगमात्। तस्मादवैदिक एव त्वदीयवायुशुद्धयर्थो होमः, धूपवर्तिकादिप्रयोगवत्। यानादिनिर्माणचर्चा प्रकृतमन्त्रेऽज्ञजनव्यामोहार्थमेव।

अध्यात्मपक्षेऽपि—हे अग्ने! परमात्मन्, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। एषा साक्षिभास्यत्वेन प्रत्यक्षा ते तव समिद्धावाग्निदीपोपासना, तया वर्धस्व भक्तहृदयेऽभिव्यक्तं स्वीयं रूपं परमसौन्दर्यमाधुर्याद्यनन्तगुणगणशालितयाविर्भावय। आप्यायस्व अचिन्त्यानन्तैश्वर्यवत्त्वेन

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की अपने ढंग से व्याख्या करके यह बताया है कि जो मनुष्य, परमेश्वर की आज्ञा का पालन करने में तथा क्रियाकौशल में निष्णात रहते हैं, वे सबको आनन्दित करके और शत्रुओं को जीतकर शुद्ध होकर अपने मित्रों को सुखी बनाते हैं। उनसे भिन्न आलसी लोग वैसा नहीं कर पाते। ईश्वर की आज्ञा धर्म्य है। वह स्थूल-सूक्ष्म भेद से अनेक प्रकार की होती है। तथा क्रियाकाण्ड में भी कर्तव्य कर्म अनेक हुआ करते हैं।

अनेक अनुपपत्तियों के कारण उनकी यह व्याख्या भी उचित नहीं है। उन्होंने यानादिनिर्माण की चर्चा प्रकृत मन्त्र में जो की है, वह अज्ञानियों के व्यामोहार्थ ही है।

अध्यात्मपक्ष में प्रकृत मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार है—हे अग्ने परमात्मन्! यह जो समिद्धावाग्निदीपनरूप उपासना हम लोग करते हैं, उसके द्वारा भक्तिमान् लोगों के हृदय में अभिव्यक्त होनेवाले अपने रूप को परम सौन्दर्य माधुर्याद्यनन्तगुणगण के रूप में प्रकट करो। अचिन्त्य-अनन्त ऐश्वर्य तथा वर्धिष्णु के रूप में अपने को प्रकट करो। तुम्हारे अनुग्रह से ही ज्ञान-वैराग्यादि की वृद्धि हममें हो सकेगी। तुम्हारी उपासना करने से ही हममें सद्गुणों की

वर्धिष्णुत्वेन स्वात्मानं प्रकटय। त्वत्प्रसादाद्वयं च वर्धिषीमहि ज्ञानवैराग्याद्यभिवृद्धिं प्राप्नुयाम। आप्यासिषीमहि त्वदुपासनानुगुणान् गुणान् वृद्धान् करवाम। हे अग्ने! त्वां संमार्ज्मि किंभूतं त्वां वाजं ससृवांसम् अभीष्टमन्त्रमुद्दिश्य गतवन्तमभीष्टं सम्पादितवन्तं कृतकार्यं त्वामभिषिञ्चामि। शेषं पूर्ववत्। श्रुतिसूत्रसम्मतं सिद्धान्तानुसारि व्याख्यानं तु पूर्वमुक्तमेव ॥ १४ ॥

अ॒ग्नीषोम॑यो॒रुज्जि॑तिम॒नूज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। अ॒ग्नीषोमौ॒ तमप॑नुदतां॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्रस॒वेनापो॑हामि। इ॒न्द्रा॒ग्न्योरुज्जि॑तिम॒नूज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। इ॒न्द्रा॒ग्नी तमप॑नुदतां॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्रस॒वेनापो॑हामि ॥ १५ ॥

'एत्य जुहूपभृतौ व्यूहत्यग्नीषोमयोरिति जुहूं प्राचीं दक्षिणेनोत्तानेनाग्नीषोमौ तमितीतरेणेतरां नीचा प्रतीचीम्' (का० श्रौ० ३।५।१७), 'यथादेवतमन्यत्' (का० श्रौ० ३।५।१८)। यजमानो वेदेः पश्चादागत्य जुहूपभृतौ प्रेरयति। अग्नीषोमयोरिति मन्त्रेण दक्षिणहस्तेनोत्तानेन जुहूं प्रस्तरात् प्राचीं प्रेरयेत्। अग्नीषोमाविति मन्त्रेण सव्येन पाणिना अधोमुखेन प्राङ्मुखीमेवोपभृतं प्रतीचीं प्रेरयेत्। विकृतौ 'शूर्पेण जुहोति' (श० २।५।२।२३) इत्यादौ जुहूस्थानापन्नानां शूर्पादीनामपि व्यूहनं भवति। जुहूपभृतोः परस्परविपरीतत्वेनापनोदनं व्यूहनम्। अग्नीषोमयोर्द्वितीयपुरोडाशदेवतयोरुज्जितिमनु अविघ्नेन हविःस्वीकाररूपमुत्कृष्टं जपमनुसृत्याहं यजमान उज्जेषमुत्कृष्टं प्रधानदेवतयोरुज्जितिमुत्कृष्टजयमनु उज्जेषं उत्कृष्टं जयं प्राप्तवानस्मि।

वृद्धि हो पायेगी। हे अग्ने! अभीष्ट का सम्पादन करने के कारण तुम कृतकार्य हो। हम तुम्हारा अभिषिंचन करते हैं। श्रुति-सूत्र सम्मत सिद्धान्त का अनुसरण करने वाली व्याख्या पहिले ही की जा चुकी है ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—अग्नीषोमरूप पुरोडाश-देवताओं के हविस्वीकाररूप जय के समान मैंने भी उत्कृष्ट जय प्राप्त किया है। पुरोडाश की आज्ञा से जुहूरूपधारी यजमान को मैं उत्साहित करता हूँ। जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं, उन आलस्यादि शत्रुओं को अग्नोषोम दूर कर दे। उपभृत्रूप शत्रु को पुरोडाश देवता की आज्ञा से मैं दूर करता हूँ। इन्द्राग्नीरूप पुरोडाश-देवताओं के हविस्वीकाररूप जय के समान मैंने भी उत्कृष्ट जय प्राप्त किया है। पुरोडाशरूप अन्न की आज्ञा से मैं उपभृत्धारी यजमान को प्रोत्साहित करता हूँ। जो हमारा द्वेष करता है और हम जिसका द्वेष करते हैं, उन आलस्यादि शत्रुओं को इन्द्राग्नी दूर कर दे। जुहूरूप शत्रु को पुरोडाश देवता की आज्ञा स मैं दूर करता हूँ। 'अग्नीषोमयोः' मन्त्र से जुहू और उपभृत् का व्यूहन करे। (व्यूहन का अर्थ है—परस्पर विरुद्ध ढकेलना, अर्थात् यजमान उपभृत् से पूर्व की ओर जुहू को ढकेल दे और जुहू से उपभृत् को पश्चिम की ओर ढकेल दे) ॥ १५ ॥

भाष्यसार—यजमान वेदी के पश्चिम भाग में आकर 'अग्नीषोमयोः' मन्त्र से जुहू और उपभृत् को प्रेरित करता है। उत्तान किये हुए दक्षिण हाथ से जुहू को प्रस्तर से पूर्व को ओर प्रेरित करे और 'अग्नीषोमौ' मन्त्र से अधोमुख (अनुत्तान) वाम हाथ से पूर्व की ओर मुखवाली उपभृत् को प्रतीची की ओर प्रेरित करे।

वाजस्यान्नस्य पुरोडाशादेः प्रसवेनाभ्यनुज्ञया मां प्रोहामि। मां यजमानं जुहूपधारिणं प्रोत्साहयामि। यद्यप्यूहतिर्वितर्कार्थः, तथाप्युपसर्गवशादत्रोत्साहार्थः। उपभृतं प्रतीचीं प्रेरयति यः शत्रुरसुरादिरस्मान् द्वेष्टि अस्मदीययज्ञविनाशाय द्वेषं करोति यं चालस्यादिरूपं यज्ञविरोधिनं शत्रुं वयं द्विष्मो विनाशायोद्योगं कुर्मः, तमुभयविधशत्रुम् अग्नीषोमौ देवौ अपनुदतां निराकुरुताम्। किञ्च, अहमप्येनं द्विविधं शत्रुं वाजस्य प्रसवेन पुरोडाशदेवताया अभ्यनुज्ञया प्रोहामि निराकरोमि। उत्तरौ मन्त्रौ दर्शदेवताविषयौ समानार्थौ इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनु उज्जेषं वाजस्य प्रसवेन मां प्रोहामि प्रोत्साहयामि योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमिन्द्राग्नी अपनुदताम्। अहमपि वाजस्य प्रसवेन तमपोहामि निराकरोमि। ऐन्द्राग्नपुरोडाशानुष्ठाने तावेतौ स्रुग्व्यूहनमन्त्रौ।

आधुनिकस्तु—'अग्निशब्देन शत्रुसन्तापकरं सेनापतिं सोमशब्देन चन्द्रवदाह्लादकं राजानं विवक्षित्वा तयोरुज्जितिमुत्तमविजयमनु अहमपि विजयलाभं कुर्याम्। मां वाजस्य प्रसवेन युद्धोपयोगिनैश्वर्येण प्रोहामि अग्रेसरं करोमि। अग्नीषोमौ पूर्वोक्तौ सेनापतिराजानौ तमपनुदतां हत्वा दूरमपसारयताम्। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। अहमपि वाजस्य युद्धस्य प्रसवेनैश्वर्येण तमपोहामि हत्वा दूरमपसारयामि। इन्द्राग्निपदाभ्यां च वायुविद्युत्तुल्यौ अस्त्रतज्ज्ञौ विवक्षित्वा तयोरुज्जयमनु अहं राजा वाजस्य प्रसवेन उत्कृष्टविजयं प्राप्नुयाम्। वाजस्य प्रसवेन मां प्रोहामि, इन्द्राग्नी तमपनुदताम्। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः, तं युद्धयोग्येनास्त्रेण दूरमपगमयामि' इति, तन्न सङ्गतम्, अर्थविषये स्वातन्त्र्याचरणात्। यद्यप्ययं पूर्वाचार्यनिर्दिष्टमार्गमनुसृत्यैव पदार्थांश्चिनोति, तथापि सेनापतिराजानौ अस्त्रतज्ज्ञौ च स्वाभ्यूहितौ गौणार्थौ गृह्णाति। 'गौणमुख्यार्थयोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायेन गौणार्थस्त्याज्य एव। 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति शाबरभाष्यवचनेनापि स्वार्थपर्यवसायिनि वाक्ये परो गौणः शब्दार्थो न युक्तः। किञ्च, अग्निशब्देन सेनापत्यर्थकरणेनास्त्रतज्ज्ञयोरपि तत्रैवान्तर्भावः। पुनरिन्द्राग्निशब्देनास्त्रतज्ज्ञयोर्ग्रहणमप्यकिञ्चित्करमेव। किञ्च, व्यक्तिद्वेषिणं व्यक्तिगतद्वेषास्पदं सेनापतिराजानौ कथं निराकरिष्यतः? निष्प्रमाणकश्चायमर्थः, व्याकरणकोषाद्यनुसारेणानेकानभिमतार्थानामपि सम्भवात्। सायणोव्वटमहीधरादिसम्मतस्त्वर्थः कात्यायनादिश्रौतसूत्रप्रमाणितः। पौर्णमाससम्बन्धिनावग्नीषोमौ देवौ। दर्शसम्बन्धिनाविन्द्राग्नी देवौ। तत एव तत्र तत्र विनियुक्तयोर्मन्त्रयोर्वर्णितौ। अत्र प्रसङ्गे वाजशब्दोऽपि न युद्धवाची, किन्त्वन्नवाच्येव। यज्ञप्रसङ्गे द्रव्यदेवतयोरेव प्रसक्तत्वादप्रसक्तत्वाच्चेतरस्य।

श्रीदयानन्दस्तु—'ईश्वर उपदिशति सर्वैर्मनुष्यैरिह विद्यायुक्तिभ्यामग्निजलयोर्मेलनेन कलाकौशलाद् वेगादिगुणानां प्रकाशेन वायुविद्युतोर्विद्यया सर्वदारिद्र्यनाशेन शत्रूणां विजयेन सुशिक्षया मनुष्याणां मूढत्वं दूरीकृत्य विद्वत्त्वं प्रापय्य विविधानि सुखानि प्राप्तव्यानि प्रापयितव्यानि च। एवं सम्यक् पदार्थविद्या जगति प्रकाशनीया' (पृ. १७७) इति। तत्तु पाश्चात्यप्रभावजनितं वेदार्थभ्रान्तेर्विलसितमेव, श्रुतिसूत्रादिभिर्मन्त्रस्य दर्शपूर्णमासादिशेषत्वतदङ्गदेवतास्मारकत्वोपपत्तेः। यत्तु 'प्रसिद्धाग्निचन्द्रलोकयोर्योत्कृष्टोज्जितिस्तामनूत्कृष्टं जयं कुर्यामिति' (पृ. १७६), तदपि न किञ्चित्, प्रसिद्धाग्निचन्द्रलोकयोः कोज्जितिः? तामनु कीदृशो विजयः प्रेप्सित इत्यनिरूपणात्। यदपि च 'वाजस्य युद्धस्य मां विजेतारं प्रसवेनोत्पादनेन प्रकृष्टैश्वर्येण सह वा प्रोहामि

'शूर्पेण जुहोति' इत्यादि विकृति स्थल में जुहूस्थानापन्न शूर्प आदि का भी व्यूहन होता है। जुहू और उपभृत् दोनों का परस्पर विपरीत अपनोदन करने को 'व्यूहन' कहते हैं।

किसी आधुनिक ने यहाँ पर 'अग्नि' शब्द से सेनापति और 'सोम' शब्द से राजा को बताया है। उन दोनों के उत्तम विजय के बाद मैं भी विजय प्राप्त करूँगा इत्यादि अर्थ किया है। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि वहां मन्त्रार्थ

प्रकृष्टतया विविधशुद्धतर्केण योजयामि' (पृ. १७६) इति, तदपि न सम्यक्, मांपदस्य विजेतारमित्यर्थकरणे मानाभावात्, उत्पादनेन प्रकृष्टैश्वर्येण वा विविधशुद्धतर्केणेत्येतेषां पदानां कथं सम्बन्ध इत्यनिरूपणात्। 'अग्नीषोमौ विद्यया सम्यक्प्रयोजितौ' (पृ. १७६), इति पदप्रघट्टकः कुतः समानीतः? कथं वा तौ तथाभूतावपि रोगं शत्रुं वा दूरमपनोत्स्यतः। एवं प्रसवेन प्रकृष्टतया युद्धविद्याप्रेरणेनेत्यपि (पृ. १७६) निर्मूलम्, ऊहामि विविधतर्केण क्षिपामीत्यपि धात्वर्थविरुद्धमेव। 'इन्द्रो वायुरग्निर्विद्युत् तयोरुज्जितिर्विद्यया सम्यगुत्कर्षः। अनुगतमुत्कर्षं प्राप्नुयामिति' (पृ. १७६) तदपि न सङ्गतम्, ज्ञानरूपाया विद्याया अज्ञातज्ञापकत्वेऽप्यकृतकर्तृत्वानुपपत्तेः। अत एव वाय्वग्न्योरुज्जित्या कथं व्यक्त्युत्कर्षः? वाजस्य प्रेरणाप्रेरणवेगप्राप्तेः। मा मां वायुविद्युद्विद्याप्राप्तप्रसवेन ऐश्वर्यार्थमुत्पादितेन प्रोहामि विविधैस्तर्कैः सुखानि प्राप्नोमि' (पृ० १७७) इत्येतत्सर्वं वेदाक्षरेषु बलात् स्वाभ्यूहाध्यारोपणमेव, शक्त्या लक्षणया वा तादृशार्थानवबोधात्। नहि विविधैस्तर्कैः सुखानि लभ्यन्ते। न वा वाजस्येति पदस्य प्रेरणाप्रेरणवेगप्राप्तिरर्थो भवति। एवं 'सम्यक्साधितौ इन्द्राग्नी अविद्वांसं द्वेष्टारमपनुदताम्' (पृ० १७७) इत्यपि न किञ्चित्, साम्प्रतं त्वदभिमतवायुविद्युद्विद्यावतामपि परस्परसंहारे सङ्घर्षदर्शनात्, अण्वस्त्रादिमतामपि सुखलेशादर्शनाच्च।

हिन्दीभाषायां तु मूलभाष्याद्विरुद्ध एवार्थो व्यञ्जितः। यथा—'मैं प्रसिद्ध भौतिक अग्नि और चन्द्रलोक के 'उज्जितिम्' दुःखके सहन योग्य शत्रुओं को यथाक्रम से जीतूँ और वाजस्य युद्ध के प्रसवेन उत्पादन से विजय करने वाले अपने आपको प्रोहामि अच्छी प्रकार तर्कों से युक्त करूँ।……मैं भी दुष्ट शत्रु को वाजस्य यानवेगादिगुणों से युक्त सेना वाले संग्राम की प्रसवेन सम्यक् प्रेरणा से दूर करता हूँ। मैं वाजस्य ज्ञान की प्रेरणा के द्वारा वेग की प्राप्ति के प्रसवेन ऐश्वर्य के अर्थ उत्पादन से वायु और बिजली की विद्या से जानने वाले अपने आपको नित्य अच्छी प्रकार तर्कों से सुखों को प्राप्त कराता हूँ।' श्रुतिबलात्कारमूलोऽयमर्थोऽक्षरासम्बद्धोऽनुपपन्नो विशृङ्खलश्चेत्यलं परच्छिद्रान्वेषणेन।

(श० १।८।३।१-६) इति शतपथवचनैरपि त्वदुक्तोऽर्थो न सङ्गतः। तथाहि—'स वै स्रुचौ व्यूहति। अग्नीषोमयोरुज्जितिमनुज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीति जुहूं प्राचीं दक्षिणेन पाणिनाऽग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। वाजस्यैवं प्रसवेनापोहामीत्युपभृतं प्रतीचीꣳसव्येन पाणिना यदि स्वयं यजमानः।' (श० १।८।३।१)। तत्रोत्तानेन दक्षिणहस्तेन जुहूं प्राचीं प्रथममन्त्रमुच्चारयन्नपनुदेत्, वामहस्तेन न्यग्भूतेनोपभृतं प्रतीचीं द्वितीयमन्त्रमुच्चारयन्नपनुदेत्। एवं तृतीयचतुर्थमन्त्राभ्यामैन्द्राग्नयागे जुहूपभृतोः पूर्ववद् व्यूहनं कुर्यात्।। 'एत्य जुहूपभृतौ व्यूहति…'(का० श्रौ० ३।५।१७)। जुहूपभृतोर्व्यूहनं नाम परस्परविपरीतत्वेनोपादानम्। अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीति जुहूं प्राचीं दक्षिणेन पाणिना व्यूहति। अग्नीषोमौ तमपनुदतामित्युपभृतं प्रतीचीं सव्येन पाणिना यदि यजमानो व्यूहति स्वयं व्यूहेत्। 'यद्यु अध्वर्युः। अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहाम्यग्नीषोमौ तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीति पौर्णमास्यामग्नीषोमीयꣳहि पौर्णमासꣳहविर्भवति' (श० १।८।३।२)। एतावता दर्शपूर्णमासयागे पूर्णमास्यामग्नीषोमीयमग्नीषोमदेवताकं हविर्भवति। तेन तत्राग्नीषोमदेवतयोर्ग्रहणं विद्यते, अमावास्यायां त्विन्द्राग्निदेवतयोः सम्बन्धि हविर्भवति।

करने में बहुत स्वतन्त्रता बरती है। जहाँ मुख्यार्थ का ग्रहण करना उचित है, वहाँ गौण अर्थ का ग्रहण किया है। 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस नियम का पालन नहीं किया गया है। तथा 'न विधौ परः शब्दार्थः' इस भाष्य वचनका भी ध्यान नहीं रखा गया है।

तेन तयोरेवोल्लेखः। तदप्युच्यते—'अथामावास्यामिन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीति यदि स्वयं यजमानः' (श० १।८।३।३)। 'यद्यु अध्वर्युः। इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीत्यमावास्यामैन्द्राग्नꣳह्यामावास्यꣳहविर्भवत्येवं यथादेवतं व्यूहति तद्यदेवं व्यूहति' (श० १।८।३।४)। अत्र यथादैवतमिति प्रदानदेवताभिप्रायेणोक्तिः, तेन प्रयाजाद्यङ्गदेवतानुसारेण व्यूहनं भवति। देवतानभ्युपगमादेव दयानन्दादय इतस्ततो वेदार्थे भ्राम्यन्ति। अतोऽत्र नाग्निचन्द्रलोकयोर्न वा वायुविद्युतोर्ग्रहणमिति शतपथवचनेन मन्यताम्।

'यजमान एव जुहूमनु। योऽस्मा अरातीयति स उपभृतमनु प्राञ्चमेवैतद्यजमानमुदूहत्यपाञ्चं तमपोहति योऽस्मा अरातीयत्यत्रैव जुहूमन्वाद्य उपभृतमनु प्राञ्चमेवैतदत्तारमुदूहत्यपाञ्चमाद्यमपोहति' (श० १।८।३।५)। जुह्वाः क्षत्रत्वेनात्तृत्वमुपभृतो वैश्यत्वेनाद्यत्वमुक्तं पूर्वम्। यश्च यजमानं प्रत्यरातिरिवाचरति स उपभृतमन्वाद्यो भूत्वात्तारं जुहूमनु यजमानं प्राञ्चं प्रति भोग्यो भवति। द्विविधं शत्रुमुपभृद्रूपं वाजस्य प्रसवेनाभ्यनुज्ञयापोहति निराकरोति। 'तद्वा एतत् समान एव कर्मन् व्याक्रियते। तस्मादु समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायेते। इदꣳहि चतुर्थे पुरुषे तृतीये सङ्गच्छामह इति विदेवं दीव्यमाना जात्या आसत एतस्मादु तत्' (श० १।८।३।६)। यस्मादेतत्समानेऽभिन्ने व्यूहनकर्मणि व्याक्रियते विलक्षणमाक्रियतेऽभिव्यज्यते। यजमान एव जुहूमनु प्राञ्चमनुगच्छति योऽस्मै यजमानायारातीयति शत्रुवदाचरति स उपभृतमनु प्रतीचीमुपगच्छति। एतेन यजमानं प्राञ्चमुदूहति ऊर्ध्वमुन्नयति। तं शत्रुमपाञ्चमपोहति निराकरोति। जुहूमनुयजमानमत्ता भवति, उपभृतमनु शत्रुराद्यो भवति। यजमानमत्तारं प्राञ्चमुदूहति। आद्यमपाञ्चमपोहति। जुहूमनु यजमानस्य भोक्तृत्वमुपभृतमनु शत्रोर्भोग्यत्वं सम्पद्यते। तस्माद्यज्ञानुसारेण भूतेष्वपि समानादभिन्नात् पुरुषाद् अत्ता च आद्यश्च भर्ता च भार्या च जायेते। यथा समाने कर्मणि जुहूपभृतौ तथैव। इदं हि प्रत्यक्षं विलक्षणमधुनापि जात्याः समानजातीया विदेवम् अन्योन्यं भोक्तारो भोग्यैः सह भोग्या भोक्तृभिः सह दीव्यमाना आसते। चतुर्थे पुरुषे तृतीये वा संगच्छामहे। वाशब्दोऽत्र लुप्तो निर्दिष्टः, काण्वानां तृतीये चतुर्थे वेति श्रवणात्। चतुर्थे सङ्गच्छामह इति सौराष्ट्राणाम्, तृतीये सङ्गच्छामह इति दाक्षिणात्यानां मातुलदुहितृषु पितृष्वसृपुत्रेषु व्यवहारः सङ्गच्छते। ते च मूलपुरुषात्तृतीया भवन्ति। एतद् एतस्मात् स्रुग्व्यूहनादेव कारणाद् भवन्तीति शेषः। वस्तुतस्तु नेयं श्रुतिर्विवहनविषया, किन्त्वियं सन्तानावध्यविभागप्रशंसा। यथा जुहूपभृतौ चिरकालं सह स्थिते, तथा तृतीयचतुर्थसन्तानावधि सहस्थितिरिति। ये त्वनया श्रुत्या मनुशातातपादिस्मृतिप्रतिपादितस्य मातुलकन्यामातुलगोत्रकन्यापरिणयननिषेधस्य बाधमिच्छन्ति, तत्तु तेषां न सङ्गतम्, प्रकृतश्रुतेर्लौकिकार्थवादघटितत्वेनार्थवादकल्पितश्रुत्या प्रत्यक्षस्मृतिबाधस्यासङ्गतत्वात्। अलौकिकार्थवादकल्पितश्रुत्यैव स्मृतिबाधस्य पूर्वतन्त्रे सिद्धान्तितत्वात्।

श्रीदयानन्दजी ने जो व्याख्या की है, वह पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित होकर की है। अतः वेदार्थ करने में अपनी भ्रान्ति का ही प्रदर्शन उन्होंने किया है। जितना भी अर्थ किया है, वह सभी शतपथ और श्रौतसूत्र के विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं है।

अध्यात्मपक्ष में—उपासक कहता है कि मैंने वियोग-संयोग में उत्कृष्ट जय प्राप्त कर लिया है। उन्हीं से रागनिष्पत्ति के होने से साधक की निष्कल्मषता, दिव्यानुरागवत्ता, रसवत्ता उपपन्न हो जाती है। प्रेमलक्षण अन्न के प्रसव से अर्थात् अभ्यनुज्ञा से मैं तुम्हें पूर्व की ओर ले चलता हूँ। जो भी जन्मान्तरीय दुष्कृत संस्कारादि शत्रु, मेरे

एवं शतपथप्रसङ्गपर्यालोचनयापि मन्त्रार्थः स्पष्टो भवति। अग्नीषोमयोर्द्वितीयपुरोडाशदेवतयोरुज्जितिमन्वविघ्नेन हविःस्वीकाररूपमुत्कृष्टं जयमनुसृत्योज्जेषं यजमानोऽहमुत्कृष्टं जयं प्राप्तवानस्मि। वाजस्य पुरोडाशादिलक्षणस्यान्नस्य प्रसवेनाभ्यनुज्ञया मां प्रोहामि। मां यजमानं जुहूरूपं प्रोहामि प्रोत्साहयामि। प्राञ्चमुद्वहामि ऊर्ध्वमुन्नयामीत्यर्थः। वितर्कार्थस्याप्यूहतेरुपसर्गवशादुत्साहार्थतैव मन्तव्या, वितर्कार्थस्य प्रकृतेऽसङ्गतेः। यः शत्रुरसुरादिरस्मान् द्वेष्टि अस्मदीययज्ञविनाशनाय द्वेषं करोति, यं चालस्यादिरूपं शत्रुं वयं द्विष्मः, उभयविधं तं शत्रुम् अग्नीषोमौ देवौ अपनुदतां निराकुरुताम्। अहमप्येवं द्विविधं शत्रुमुपभृद्रूपं वाजस्य प्रसवेन पुरोडाशदेवताया अभ्यनुज्ञया अपोहामि निराकरोमि अपाञ्चं प्रेरयामि अधो नयामीत्यर्थः। उपसर्गवशादेवात्रापि निराकरणमर्थः। तथैव तृतीयचतुर्थयोरप्यर्थो ज्ञातव्यः।

अध्यात्मपक्षे तु—उपासकोऽभिप्रैति यदग्नीषोमयोर्विप्रलम्भसंभोगयोर्वियोगसंयोगयोरुज्जितिमुत्कर्षमनूज्जेषमुत्कृष्टं जयं प्राप्तवानस्मि ताभ्यामेव रसनिष्पत्त्या साधकस्य निष्कल्मषत्वदिव्यानुरागरसवत्त्वोपपत्तेः। वाजस्य प्रेमलक्षणस्यान्नस्य प्रसवेनाभ्यनुज्ञया मामहं प्राञ्चमुन्नयामि। यश्च जन्मान्तरीयदुष्कृतसंस्कारादिः शत्रुरस्मान् द्वेष्टि ममाभीष्टलोकोत्तरपरमेश्वरानुरागसिद्धौ बाधां करोति, यं च विषयरागादिकं वयं द्विष्मस्तमुभयविधं शत्रुमग्नीषोमौ विप्रयोगसम्प्रयोगजौ सन्तापप्रह्लादौ अपनुदतां निराकुरुताम्, सन्तापेन पापसंस्कारस्य परमेश्वररसास्वादनाह्लादेन विषयरागादेर्बाधोपपत्तेः। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमेनं वाजस्य प्रेमदेवताया अभ्यनुज्ञया अहमपोहामि अपाञ्चं नयामि। इन्द्राग्न्योः परमेश्वरपरमैश्वर्यप्रतापयोरुज्जितिमुत्कर्षाभिव्यक्तिमनूज्जेषमहमपि लोकोत्तरमुत्कर्षं प्राप्नोमि। वाजस्य तन्माहात्म्यलक्षणस्यान्नस्याभ्यनुज्ञया प्रेरणयाहं मां प्रोहामि प्रोत्साहयामि। तत्स्वरूपस्य प्रेम्णः प्राप्तौ बाधकं ताविन्द्राग्नी अपनुदतां निराकुरुताम्। अहं च वाजस्य तादृशस्य माहात्म्यं ज्ञास्याम्यनुज्ञया तं विघ्नम् अपाञ्चं नयामि निराकरोमीति। इन्द्र ऐश्वर्यप्राप्तिः, अग्निः शत्रुदाहः, तयोरुज्जितिमनूज्जेषमुत्कर्षं प्राप्तवानस्मि। ऐश्वर्यप्राप्त्या शत्रुदाहेन च राज्ञो नीतिज्ञस्य वा उत्कर्षप्राप्तिर्भवति। वाजस्य भोग्यराज्यादिलक्षणस्याभ्यनुज्ञया मामहं प्रोहामि सोत्साहं करोमि। यः षाड्गुण्यविरोधी प्रमादालस्यादिरभीष्टसिद्धौ प्रवृत्तानस्मान् बाधते, यं च वयं द्विष्मस्तं ताविन्द्राग्नी अपनुदताम्। स्वयमहं च वाजस्याभ्यनुज्ञया तमपोहामीत्येवमन्येऽर्थाः सम्भवन्ति॥ १५॥

वसु॑भ्यस्त्वा रु॒द्रेभ्य॑स्त्वादि॒त्येभ्य॑स्त्वा सञ्जा॑नाथां द्यावापृथिवी मि॒त्रावरु॑णौ त्वा॒ वृष्ट्या॑वताम्। व्यन्तु॒ वयो॒क्त॒ꣳ रिहा॑णा म॒रुतां॒ पृष॑तीर्गच्छ व॒शा पृश्नि॑र्भू॒त्वा दिवं॑ गच्छ॒ ततो॑ नो॒ वृष्टि॒मा व॑ह। चक्षु॒ष्पा अ॑ग्नेऽसि॒ चक्षु॑र्मे पाहि॥ १६॥

'जुह्वा परिधीननक्ति यथापूर्वम्, वसुभ्य इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० ३।५।२०, ३।६।१)। हे मध्यमपरिधे वसुभ्यो वसुदेवताप्रीत्यर्थं त्वा त्वां मध्यमपरिधिरूपमनज्मीति शेषः। एवमेव दक्षिणोत्तरौ परिधिमन्त्रौ

अभीष्ट—लोकोत्तर परमेश्वरानुराग की प्राप्ति होने में बाधा डालता है और जिस विषयराग-आदि को हम नहीं चाहते, उन उभयविध शत्रुओं का तथा वियोग–संयोग से उत्पन्न होने वाले सन्ताप और आनन्द दोनों का निराकरण कर दो। इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना करने का अर्थ भी मन्त्र से उपपन्न होता है॥ १५॥

मन्त्रार्थ—हे मध्यम परिधे! वसु देवताओं के सन्तोषार्थ, हे दक्षिण परिधे! रुद्र देवताओं के सन्तोषार्थ, हे उत्तर परिधे! आदित्य देवताओं के सन्तोषार्थ मैं तुम्हारा अञ्जन करता हूँ। हे द्यावापृथिवी देवताओं! मेरे द्वारा ग्रहण

व्याख्यातव्यौ। परिधित्रयाञ्जनेन सवनत्रयदेवताः प्रीयन्ते। 'संजानाथामिति प्रस्तरादानम्' (का० श्रौ० ३।६।४)। हे द्यावापृथिवी द्युलोकभूर्लोकदेव्यौ युवां संजानाथां गृह्यमाणं प्रस्तरं सम्यगवगच्छतम्। हे प्रस्तर ! मित्रावरुणौ प्राणापानवायू वृष्ट्या जलवर्षणेन त्वा त्वामवतां रक्षताम्। 'अयं वै वर्षस्येष्टे योऽयं पवते' (श० १।८।३।१२) इत्युक्तत्वाद् वर्षाधीशो वायुः। स चाध्यात्मगतः प्राणोदानरूपो मित्रावरुणशब्दाभ्यामुच्यते। स च प्रस्तररूपं यजमानं वृष्ट्या अवतु, 'यजमानो वै प्रस्तरः' (श० १।८।१।४४) इति श्रुतेः। विधृती स्थाने कृत्वा अनक्त्येनं व्यन्तु वय इति। 'अग्रं जुह्वामुपभृति मध्यं मूलमितरस्याम्' (का० श्रौ० ३।६।५-६)। प्रस्तरस्याधारभूते विधृती आहवनीये प्रक्षिप्य प्रस्तरं स्रुक्षु मन्त्रावृत्त्या अञ्ज्यात्। व्यन्तु वय इत्युपभृदाद्यभावेऽपि प्रस्तरः स्थाल्याज्येनाज्यत एव संस्कारत्वात्। अध्वर्युः प्रस्तरस्याग्रं जुह्वामक्त्वा तस्य मूलं ध्रुवाया अञ्ज्यात्। मन्त्रार्थस्तु—वयः पक्षिणः, व्यन्तु गच्छन्तु। वी गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु। पक्षिरूपापन्नानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि गच्छन्तु, प्रस्तरमादायेति शेषः। कीदृशा वयः ? अक्तं रिहाणा घृतलिप्तं प्रस्तरमास्वादयन्तः। रिहाणा इत्यस्य स्थाने लिहाना इति रलयोरभेदात्। 'मरुतामिति नीचैर्हृत्वा तृणमादायानुप्रहरति' (का० श्रौ० ३।६।७)। एकं तृणं प्रस्तरात् पृथक्कृत्य प्रस्तरं नीचैरौन्नत्यं यथा न स्यात्तथा हृत्वाऽग्नौ प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः। मरुतामिति प्रस्तरदेवत्या बृहती कपिदृष्टा। चतुर्थः पाद आग्नेयः।

आधुनिकस्तु—'हे राजन् त्वा त्वां वसुभ्यः प्रजाभ्यो ब्राह्मणेभ्यो रुद्रेभ्यः शत्रूणां रोदयितृभ्यः क्षत्रियेभ्य आदित्येभ्य आदानप्रतिदानकर्तृभ्यो वैश्येभ्यः प्रजापतिमभिषिञ्चामि। द्युलोकपृथिवीलोकौ त्वां संजानाथां स्वामित्वेनावगच्छताम्। तत्तल्लोकगता जनास्तव स्वामित्वमङ्गीकुर्वन्तु। मित्रावरुणौ सूर्यमेघौ त्वदीयं राष्ट्रं वृष्ट्याऽवताम्। रिहाणाः स्तुतिकर्तारो विद्वांसो वयः पक्षिण इव अक्तं बलशालिनं त्वां व्यन्तु आगच्छन्तु। मरुतां वायुवेगेन गच्छन्तीः पृषतीर्मेघमाला इव सेना गच्छ प्राप्तो भव। वशा वशीभूता रसग्राहिणी भूमिरिवोत्तमं राज्यं प्राप्नुहि। ततो वोऽस्मभ्यं वृष्टिं सुखवृष्टिमावह। हे अग्ने ! त्वमस्मद्दर्शनशक्तिं रक्ष अस्मद्विदुषो रक्षेति।

दयानन्दस्तु—'वयं वसुभ्योऽग्न्यादिभ्यः, रुद्रेभ्य एकादशभ्यः, आदित्येभ्यो द्वादशमासेभ्यः, त्वा तं यज्ञं क्रियासमूहं नित्यं प्रोहामस्तर्कैर्विद्मः। यज्ञेनेमे द्यावापृथिवी संजानाथां जानीतः। व्यत्ययेन लडर्थे लोट्। मित्रावरुणौ प्राणोदानौ वृष्ट्या शुद्धजलवर्षणेन त्वा तमिमं संसारं द्यावापृथिवीस्थमवतामवतः। यथा वयः पक्षिण इव गायत्र्यादीनि छन्दांसि, अक्तं व्यक्तं प्रकटं वस्तु सुखं वा स्थानं व्यन्तु गच्छन्ति। सर्वत्र लडर्थे

किये गये इस प्रस्तर का तुम ज्ञान प्राप्त कर लो। हे प्रस्तर ! मित्रावरुण देव जलवृष्टि से तुम्हारा संरक्षण करें। घृत से लिप्त हुए प्रस्तर को चाटने वाले, पक्षियों का रूप धारण करने वाले गायत्री आदि छन्द, 'प्रस्तर' को ले जाँय। हे प्रस्तर ! तू मरुत् नामक देवता के चित्र-विचित्र वर्णों वाले जो वाहन हैं, उनके समीप जा, अर्थात् उन्हें लेकर अन्तरिक्ष में जा। अल्प शरीर धारण करने वाली और स्वाधीन रहने वाली गाय को लेकर तू द्युलोक में जा। तदनन्तर वहाँ से हमारे लिये वृष्टि करना। हे अग्ने ! तू नेत्रों को रक्षा करने वाला है, इस लिये हमारे नेत्रों की रक्षा कर। पहले की तरह 'वसुभ्यः' इत्यादि प्रत्येक मन्त्र से जुहू से परिधि को घृत लगावे। 'संजानाथाम्' इस मन्त्र से प्रस्तर का ग्रहण करे। 'व्यन्तु वयः' इस मन्त्र से जुहू में प्रस्तर का अग्र, उपभृत् में मध्य, ध्रुवा में मूल को घृत से भिगो दे। 'मरुताम्' इस मन्त्र से प्रस्तर में एक दर्भ निचले भाग से निकाल कर अग्नि में डाल दे। 'चक्षुष्पा' इस मन्त्र से 'आत्मा' को स्पर्श करे ॥ १६ ॥

लोट्। तथा रिहाणा अर्चका वयं छन्दोभिस्तं यज्ञं नित्यमनुतिष्ठामः। यज्ञे कृताहुतिर्वशा कामिताहुतिः पृश्निरन्तरिक्षस्था भूत्वा भावयित्वा मरुतां संगेन दिवं सूर्यप्रकाशं गच्छ गच्छति। सा ततो नोऽस्माकं वृष्टिमावह समन्ताद् वर्षयति। तज्जलं पृषतीर्नाडीर्नद्यौर्वा गच्छ गच्छति। यतोऽयमग्निश्चक्षुष्या चक्षुर्दर्शनं रक्षति सः, अस्ति। अतो मे चक्षुः पाहि पाति। चक्षुर्बाह्यमभ्यन्तरं विज्ञानं तत्साधनं वा। मनुष्यैर्याहुतिः क्रियते, सा वायोः सङ्गेन मेघमण्डलं गत्वा सूर्याकर्षितेज इमं शुद्धं भावयित्वा पुनस्तस्मात् पृथिवीमागत्यौषधीः पुष्णाति। सा वेदमन्त्रैरेव कर्तव्या, यतस्तस्याः फलज्ञाने नित्यं श्रद्धोत्पद्यते। अयमग्निः सूर्यरूपो भूत्वा सर्वं प्रकाशयत्यतो दृष्टिव्यापारस्य पालनं जायते। एतेभ्यो वस्वादिभ्यो विद्योपकारेण दुष्टानां गुणानां प्राणिनां चापोहनं निवारणं च नित्यं कर्तव्यम्। इदमेव सर्वेषां पूजनं सत्करणं च' (पृ० १७९-१८०) इति।

तदेतत्सर्वमज्ञानविजृम्भितम्, मन्त्राणां यथाश्रुतार्थाज्ञानात्। व्यत्ययस्तु यथाश्रुतार्थासम्भव एव युज्यते। 'आहुतिः सूर्याकर्षणेन मेघमण्डलं गच्छति' इदं तु बहुधाम्रेडितमपि निःसारमेव, 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥' (म० ३।७६) इति मनुस्मृत्यादावपि प्रोक्तत्वात्। देवतानङ्गीकारात् स्मृतिरपि त्वत्पक्षे न सङ्गच्छते। कथं च वस्वादिभ्यो यज्ञस्य क्रियासमूहस्य वितर्कैर्ज्ञानम्? वितर्के तज्जन्ये ज्ञाने वा कथमष्टवसूनामेकादशरुद्राणां द्वादशादित्यानामुपयोगः? यज्ञेन कथं द्यावापृथिव्योः स्वं ज्ञातृत्वम्? प्राणोदानरूपाभ्यां मित्रावरुणाभ्यां वृष्टिः केन प्रमाणेन सिद्धयति? त्वेतिपदेन द्यावापृथिवीस्थसंसारस्य कथं बोधः? यथा पक्षिणः स्वं स्वं स्थानं स्वपन्ति, तथा वयं छन्दोभिरर्चन्तस्तं यज्ञमनुतिष्ठामः, कथमत्र केनांशेन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिभावः? यज्ञेन तु सामाजिका वाय्वादिकमेव शोधयन्ति, नार्चयन्ति कश्चिदिति तदुक्त्या सिद्धान्तहानिः? पूर्वं तु भूमिकायामभ्यासार्थं मन्त्रोच्चारणमुक्तम्, इह तु वेदमन्त्रैरेवाहुतिरित्युच्यते तत्परस्परं विरुद्धयते। एतन्नियमफलं च वक्तव्यम्। श्रद्धोत्पत्तिस्तु होमप्रयोजिका। होमप्रवृत्तौ तु कृतं तया। न च श्रद्धा होमसहकारिणी, तया विनापि शुद्धेः सम्भवात्। एवं वसुभ्यः प्रजाभ्यो ब्राह्मणेभ्यो रुद्रेभ्यः क्षत्रियेभ्य इत्याद्यप्यसङ्गतम्, अप्रकृतत्वात्। राजात्र सम्बोध्य इत्यपि निर्मूलम्, व्यक्तिप्रार्थनया कथं द्युलोकपृथिवीलोकस्थाः सर्वे स्वामित्वेनाङ्गीकुर्युरित्यपि चिन्त्यम्। पृषतीपदस्य सेना, वशापदस्योत्तमराज्यम् इत्यपि निष्प्रमाणमेव। कथं च राजा वृष्टिं दर्शनशक्तिं प्रापयतीत्यपि चिन्त्यम्।

सिद्धान्ते मन्त्रार्थस्तु—हे प्रस्तर! त्वं मरुतां पृषतीर्गच्छ प्राप्नुहि, वायुवाहनवद्वेगेन गच्छेत्यर्थः। अन्तरिक्षं वशा पृश्निर्भूत्वा वशा स्वाधीना पृश्निरल्पतनुर्गौर्भूत्वा दिवं गच्छ, कामधेनुवत्तृप्तिकरी भूत्वा स्वर्गं गच्छेत्यर्थः। ततः स्वर्गप्राप्तेरनन्तरं नोऽस्मदर्थं वृष्टिमावह भूलोके वृष्टिमानय। अथवा 'इयं वै वशा पृश्निर्यदिदमस्यां मूलि चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निः' (श० १।८।३।१५) इति श्रुत्या भूमिरेव वशापृश्निशब्देनोच्यते। तथा पृथिवी भूत्वा दिवं गच्छ पृथिवीसम्बन्धिभागमादाय द्युलोकं तर्पयेत्यर्थः। हे प्रस्तर!

भाष्यसार—द्युलोक और भूलोक की देवियों! तुम दोनों ग्रहण किये हुये इस प्रस्तर को अच्छी तरह समझो। हे प्रस्तर! मित्रावरुण देवताएँ जल की वर्षा करके तुम्हारी रक्षा करें। शतपथ के अनुसार 'वायु' वर्षा का स्वामी है। वही अध्यात्मगत होने पर प्राण-अपानरूप हुआ 'मित्रावरुण' शब्द से कहा जाता है। वह प्रस्तररूप यजमान की वर्षा के द्वारा रक्षा करे। प्रस्तर की आधारभूत दोनों विधृतियों को आहवनीय में डाल दे और स्रुक् में जो घृत है, उससे प्रस्तर को अञ्जित करे।

त्वमन्तरिक्षं गत्वा तत्रस्थान् मरुतः सवाहनान् सन्तर्प्य स्वर्गं गत्वा देवांश्च सन्तर्प्य पृथिव्यां वृष्टिं कुरु। अनेनाहुतिपरिणामः सूचितः ।

'चक्षुष्पा इत्यात्मानमालभते' (का० श्रौ० ३।६।१४)। हे अग्ने ! त्वं यतश्चक्षुष्पा असि चक्षुः पातीति चक्षुष्पा। ज्वालयान्धकारं निवर्त्य चक्षुः पासि, अतो मम चक्षुः पाहि पालय। प्रस्तरप्रहरणप्रसक्तं चक्षुष उपद्रवं परिहर। 'अभ्युक्ष्य जुह्वा परिधीननक्ति यथापूर्वम्' (का० श्रौ० सू० ३।५।२०)। अध्वर्युर्वेदगृहीतैः प्रणीतोदकैर्जुहूमभ्युक्ष्य जुहूस्थेनाज्येन पश्चिमदक्षिणोत्तरपरिधीन् क्रमेणाञ्ज्यात् । इत्यादिवचनान्यपि सिद्धान्तानुसारीण्येव ।

अत्रैवार्थे शतपथवचनम्—'अथ जुह्वा परिधीन् समनक्ति। यया देवेभ्योऽहौषीद् यया यज्ञꣳसमतिष्ठिपत् तयैवैतत्परिधीन् प्रीणाति। तस्माज्जुह्वा परिधीन् समनक्ति' (श० १।८ ३।७)। जुह्वा स्रुक्पात्रेण तद्गताज्येन परिधीन् समनक्ति स्नेहयति। परिधयोऽपि ह्यग्नयो देवाः । तेऽपि देवपात्रेणान्नमर्हन्ति । तथापि न समग्रमहौषीदध्वर्युः। यया देवेभ्योऽध्वर्युरहौषीत् हुतवान् यज्ञं च संस्थापितवान्; तयैव जुह्वा एतद् एतेन जुह्वाः स्नेहनेन परिधीन् प्रीणाति। तस्माज्जुह्वा परिधीन् समनक्ति। 'स समनक्ति। वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वाऽऽदित्येभ्यस्त्वेत्येते वै त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या एतेभ्यस्त्वेत्येवैतदाह' (श० १।८।३।८)। एषामेकैकेन एकैकमुपधानक्रमेण यथाक्रममनक्ति। वसुभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वामनज्मि। त्वयि पार्थिवाग्न्यात्मके तृप्ते पार्थिवा वसवस्तृप्यन्ति। वस्वर्थं त्वामनज्मीत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम्। 'वसुभ्य इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० ३।६।१)। वसुभ्य इति त्रिभिर्मन्त्रैः परिधित्रयमञ्ज्यात्। अनज्मीत्यस्य त्रिष्वपि मन्त्रेष्वध्याहारः।

'अथ परिधिमभिपद्याश्रावयति। परिधिभ्यो ह्येतदाश्रावयति यज्ञो वा आश्रावणं यज्ञेनैवैतत् प्रत्यक्षं परिधीन् प्रीणाति। तस्मात् परिधिमभिपद्याश्रावयति' (श० १।७।३।९)। यद्यपि सूक्तवाकप्रैषायैतदाश्रावयति, तद्द्वारेण च सूक्तदेवताभ्यः प्रस्तराय वा परिधीनां कथं तदाश्रावणमभिपद्यत इति भवत्याक्षेपः, तथापि तद्देवत्वाद्यज्ञार्हाः परिधयः। तेन प्रसिद्धयज्ञोपकरणेनाश्रावणेन परार्थेनारोप्यालभ्य क्रियमाणेन तेन लेशतो यज्ञभाजः कृता भवन्तीत्युपकारमात्रलक्षणार्था तादर्थ्ये चतुर्थी। प्रत्यक्षमव्यभिचारि यज्ञरूपमाश्रावणं तेनैवत्प्रत्यक्षं यो यज्ञः। जुहूस्तु होमेष्वपि यज्ञेष्वपि भवतीति तन्न तथा प्रत्यक्षः जुह्वाञ्जने यज्ञः। तस्मात् परिधिमापद्य आश्रावणेन परिधिभ्यो ह्येतदाश्रावयति। आश्रावणं प्रत्यक्षं यज्ञस्तेनैवैतत् प्रत्यक्षं परिधीन् प्रीणाति। 'स आश्राव्याह—इषिता दैव्या होतार इति दैव्या वा एते होतारो यत्परिधयोऽग्नयो हीष्टा दैव्या होतार इत्येवैतदाह। यदा हेषित दैव्या होतार इति भद्रवाच्यायेति स्वयं वा एतस्मै युक्ता भवन्ति यत् साधु वदेयुर्यत्साधु कुर्युस्तस्मादाह भद्रवाच्यायेति। 'प्रोषितो मानुषः सूक्तवाकायेति। तदिमं मानुषꣳहोतारꣳ सूक्तवाकाय प्रसौति' (श० १।८।३।१०)। स आश्राव्याहेति—दैव्या वा एते होतारो यत्परिधय इति प्रतिज्ञा। अग्नयो हीति हेतुवचनम्। इष्टा इति इषितव्या दैव्या होतार इति भद्रवाच्यायेति। स्वयं वा एतस्मै देवा युक्ता भवन्ति, यत्साधु वदेयुर्यत्साधु कुर्युस्तस्मादाह भद्रवाच्यायेति । प्रोषितो मानुषः सूक्तवाकायेति ।

किसी आधुनिक ने इस मन्त्र को राजा-प्रजापरक लगाकर उनकी रक्षा की बात बताई है। स्वामी दयानन्दजी ने मन्त्र की व्याख्या लौकिक अर्थपरक ही की है। उस कारण मन्त्र का यथाश्रुत वास्तविक अर्थ नहीं निकल पाता। यथाश्रुत अर्थ जहाँ सम्भव नहीं हो पाता, वहीं पर 'व्यत्यय' आदि की कल्पना करने का नियम है, उसका पालन

तस्मादिमं मानुषं होतारं सूक्तवाकाय प्रसौति—'प्रथमं परिधिं गृहीत्वाऽऽश्राव्याहेषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय सूक्ता ब्रूहीति' (का० श्रौ० ३।६।२)। अध्वर्युर्मध्यमं परिधिं स्पृष्ट्वा आश्राव्य इषिता इति मन्त्रेण होतारं प्रेष्येत। दर्विहोमेषु प्रैषाभावे परिधेरप्यनालम्भः।

'अथ प्रस्तरमादत्ते—यजमानो वै प्रस्तरस्तद्यत्रास्य यज्ञोऽगंस्तदेवैतद्यजमानꣳ स्वगाकरोति। देवलोकं वा अस्य यज्ञोऽगन् देवलोकमेवैतद्यजमानमपि नयति' (श० १।८।३।११)। स्वगाशब्दः स्वस्थानगामिवाच्यव्ययः। 'सञ्जानाथामिति प्रस्तरादानम्' (का० श्रौ० ३।६।४)। स यदि वृष्टिकामः स्यात्, एतेनैवाददीत सञ्जानाथां द्यावापृथिवी इति। यदा वै द्यावापृथिवी सञ्जानाते अथ वर्षति। तस्मादाह—सञ्जानाथां द्यावापृथिवी इति मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावतामिति तद्यो वर्षस्येष्टे स त्वा वृष्ट्यावत्वित्येवैतदाह। यं वै वर्षस्येष्टे योऽयं पवत सोऽयमेक इवैव पवते। सोऽयं पुरुषोऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च ताविमौ प्राणोदानौ। प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तद्य एव वर्षस्येष्टे स त्वा वृष्ट्यावत्वित्येवैतदाह—'तमेतेनैवाददीत यदा ह्येव कदा च वृष्टिः समिव तमनक्त्याहुतिमेवैतत्करोत्याहुतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छादिति' (श० १।८।३।१२)। अथ प्रस्तरमादत्त इति प्रस्तरादानं विधाय स यदि वृष्टिकाम इत्यनूद्य सञ्जानाथामिति मन्त्रं विधत्ते। काम्यतया मन्त्रं विधाय नित्यतयापि तमेव विदधाति—तमेतेनैवाददीतेति। द्यावापृथिवी यदा सञ्जानाते पृथिवीस्था मनुष्या यज्ञं कुर्वन्ति, द्युलोकस्थास्तेन तृप्ताः पृथिवीस्थानाप्याययितुमिच्छन्ति, तदोभयेषां सहयोगेन परस्परभावनेनैव सुखदा वृष्टिर्भवति। मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्। अयं वै वर्षस्येष्टे योऽयं पवते। सोऽसौ वायुरेव पुरुषेऽन्तःप्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च प्राणोदानौ भवतस्तावेव मित्रावरुणौ। तस्माद्य एव वर्षस्येष्टे स त्वा वृष्ट्यावतु। यदा ह्येव कदा वृष्टिर्भवति समेव भवति तं प्रस्तरमनक्ति। तेनाहुतियोग्यमेवैतत्करोति। आहुतिर्भूत्वा यजमानात्मकः प्रस्तरो देवलोकं गच्छति।

'स वा अग्रं जुह्वामनक्ति मध्यमुपभृति मूलं ध्रुवायामग्रमिव हि जुहूर्मध्यमिवोपभृन्मूलमिव ध्रुवा' (श० १।८।३।१३)। 'स वा अध्वर्युः प्रस्तरस्य अग्रं जुह्वामनक्ति मध्यमुपभृति मूलं ध्रुवायामनक्ति हि यतो जुहूर् अग्रमिव भवति। सा हि उपभृतं हित्वाऽऽहवनीयं यावद्याति मध्यमिवोपभृत् सापि वेदेर्यजतिस्थानं यावदुत्क्रामति मूलमिव ध्रुवा। यतो न सा चलति। 'सोऽनक्ति व्यन्तु वयोक्तꣳरिहाणा इति वय एवैनमेतद्भूतमस्मान्मनुष्यलोकाद्देवलोकमभ्युत्पातयति तन्नीचैरिव हरति द्रव्यं तद्यस्मान्नीचैरिव हरेद्यजमानो वै प्रस्तरोऽस्या एवैनमेतत्प्रतिष्ठायै नोद्धन्तीहो एव वृष्टिं नियच्छति' (श० १।८।३।१४)। सोऽनक्तीति पूर्वविहितमञ्जनमनूद्य व्यन्त्वित्यादिकं मन्त्रं विधत्ते—व्यन्तु वयोक्तमिति। 'विधृती स्थाने कृत्वा अनक्त्येनं व्यन्तु वय इति' (का० श्रौ० ३।६।५)। प्रस्तरस्याधारभूते विधृती आहवनीये प्रक्षिप्य प्रस्तरं स्रुक्षु मन्त्रावृत्त्या अञ्ज्यात्। उपभृदाद्यभावेऽपि प्रस्तरः खल्वाज्येनाज्यत एव संस्कारत्वात्। 'अग्रं जुह्वामुपभृति

नहीं हो पाया है। स्वामी दयानन्द ने देवता का अङ्गीकार तो किया नहीं है, स्मृति की संगति कैसे हो सकेगी? इस प्रकार पूर्वापर असम्बद्ध बातें कही हैं। अतः व्याख्या में कुछ भी सार प्रतीत नहीं हो रहा है।

वास्तविक सिद्धान्त पक्ष का अर्थ तो वही कहलाता है, जो शतपथब्राह्मण, श्रौतसूत्र आदि के अनुसार किया जाता है। उसी अर्थ को ऊपर भाष्य में दिया गया है।

अध्यात्मपक्ष में—वेदपुरुष कह रहा है—हे जीवात्मन्! वसु, रुद्र, आदित्य देवताओं के लिये तुम्हें वैदिक कर्म में प्रेरित करता हूँ। तुम्हारे द्वारा अनुष्ठित हुए याग आदि से सम्पूर्ण देवताओं की तृप्ति होना संभव है। हे द्यावा-

मध्यं मूलमितरस्याम्' (का० श्रौ० ३।६।६)। अध्वर्युः प्रस्तरस्याग्रं जुह्वामञ्जित्वा मध्यमुपभृति अञ्जित्वा तस्य मूलं ध्रुवायामञ्ज्यात्। मन्त्राभिप्रायं व्याचष्टे—व्यन्तु खादन्तु इमं प्रस्तरं देवा येभ्यो होष्यते। कीदृशं वयः पक्षिभूतं गतं सद् वय एवैनमेनद् भूतमस्माद् मनुष्यलोकाद् देवलोकमभ्युत्पातयति। तन्नोचैरिव हरति यजमानो वै प्रस्तरः। अस्या एवैनत् प्रतिष्ठायै नोद्धन्ति इहो एव वृष्टिं नियच्छति। 'स हरति मरुतां पृषतीर्गच्छेति देवलोकं गच्छेत्येवैतदाह। यदाह मरुतां पृषतीर्गच्छेति वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ। ततो नो वृष्टिमावहेतीयं वै वशा पृश्निर्यदिदमस्यां मूलि चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निरियं भूत्वा दिवं गच्छेत्येवैतदाह—'ततो नो वृष्टिमावहेति वृष्टाद्वा ऊर्ग्रसः सुभूतं जायते तस्मादाह ततो नो वृष्टिमावहेति' (श० १।८।३।१५)। 'मरुतामिति नीचैर्हृत्वा तृणमादायानुप्रहरति' (का० श्रौ० ३।६।७)। प्रस्तरं स्रुचां दक्षिणेनापरेण च प्रादक्षिण्येन भूमिलग्नमिवाहवनीयसमीपे होमार्थमानीय प्रस्तरमध्यादेकं तृणं परिशेष्य प्रस्तरमाहवनीये होतृपठितसूक्तवाकान्ते प्रक्षिपेत्। 'हस्तेनाचरति' (का० श्रौ० ३।६।८)। अध्वर्युः प्रस्तरं हस्तेनैवाहवनीये प्रक्षिपेत्। हस्तशब्देन काष्ठादीनां व्यावृत्तिः। अत्र प्रस्तरस्याहवनीये प्रक्षेपमात्रं न होमः, अतो न ममेति त्यागो न कार्यः। यथेयं पृथिवी मूल्यमूला मूलवती स्वयं चामूला अन्नसंस्पृष्टा पृश्निः, तद्योगाच्च वशा काम्या, एवं त्वमपि दर्भमयत्वान्मूलिनान्तेनोपेतः। प्रस्तरस्यान्तोऽपि मूलवत्त्वान्मूलीत्युच्यते स्वयं चामूलः। घृतेन वा मूलेन। ततश्चेयमिव भूत्वा इत्येतमर्थमाह—वृष्टाद्वा ऊर्ग्रसः सुभूतं भूतानां समृद्धिर्जायत इति वृष्ट्यावाहनप्रयोजनम्। सिद्धान्तपक्षीयं व्याख्यानमेवानेन समर्थितं भवति।

'अथैकं तृणमुपगृह्णाति। यजमानो वै प्रस्तरः स यत्कृत्स्नं प्रस्तरमनुप्रहरेत् क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति यावद्वेवास्येह मानुषमायुस्तस्मा एवैतदपगृह्णाति' (श० १।८।३।१६)। यदेकं तृणमपगृह्णाति—एकं वर्जयित्वा गृह्णाति तथा सत्येव यजमानश्चिरं जीवति। एवं तावत्कृत्स्नानुप्रहरण-कृतदोषपरिहारायापगृह्णाति। अधुना त्वन्यकृतोऽप्यायुषः क्षयोऽत्र तेनापग्रहणेन रक्ष्यते। उशब्दश्चार्थः। यावच्चेह लोकेऽस्य मानुषमायुः पूर्वकर्मोपात्तं तस्मै एव एतदपगृह्णाति। 'तन्मुहूर्तं धारयित्वाऽनुप्रहरति। तद्यत्रास्येतर आत्मागंस्तदेवास्यैतद्गमयत्यथ यन्नानुप्रहरेदन्तरियाद्ध यजमानं लोकात्तथो ह यजमानं लोकान्नान्तरेति।' (श० १।८।३।१७)। तन्मुहूर्तं धारयित्वाऽनुप्रहरति किञ्चित्कालानन्तरमर्थात् सूक्तवाकान्तेऽग्नौ प्रक्षेपः। तदेव तदनुप्रहरणम्, 'सूक्तवाकान्ते' (का० श्रौ० ३।६।१२) इति कात्यायनस्मरणात्। 'अग्नीदाहानुप्रहरेति' (का० श्रौ० ३।६।१३) अग्नीदध्वर्युमनुप्रहरेत्यध्येष्यति। 'प्रास्य तृणं चक्षुष्या इत्यात्मानमालभते' (का० श्रौ० ३।६।१४)। अग्नीधाध्येषितोऽध्वर्युः प्रस्तरात् पृथक्कृतं तृणमाहवनीये तूष्णीं प्रक्षिप्य आत्मानं हृद्देशे स्पृशेत्। प्रायेण कात्यायनः श्रुतीरनुसृत्यैव क्वचिल्लिङ्गादीननुसृत्य च विनियोगान् ब्रूते। अत एव सर्वमेतन्माध्यन्दिनीय-काण्व-तैत्तिरीयादिब्राह्मणग्रन्थेषु विधानं दृश्यत एव।

'तं प्राञ्चमनु समस्यति। प्राची हि देवानां दिगथो उदञ्चमुदीची हि मनुष्याणां दिक्। तमङ्गुलिभिरेव योयुप्येरन् न काष्ठैर्दारुभिर्वा इतरꣳशवं व्युषन्ति नेत्तथा करवाम यथेतरꣳशवमिति तस्मादङ्गुलिभिरेव

पृथिवी के अधिष्ठातृ देवों! तुम अपने भरण-पोषण आदि कर्तव्य को अच्छी तरह से जान लो। प्राण-अपान वायुरूप मित्रावरुण दोनों वर्षण के द्वारा तुम्हारी रक्षा करें। गायत्री आदि छन्दोरूप पक्षीगण बड़ी भक्तिभावना से घृत के समान स्निग्ध हुए तुम्हारा आस्वादन करते हुए स्वर्ग में जाँय, अर्थात् स्वर्गीय सुख का भोग दिलाने के लिये तुम्हें स्वर्ग में पहुँचा दें। हे कर्मनिष्ठ जीवात्मन्! तुम्हें देवताओं की कामधेनु गायें प्राप्त हों। उसके द्वारा दी हुई आहुति से कहता है—तुम स्वाधीन हो, तुम छोटी-सी गाय बनकर कामधेनु की तरह तृप्तिकरी होकर स्वर्ग को जाओ और

योयुप्येरन् न काष्ठैर्यदा होता सूक्तवाकमाह' (श० १।८।३।१८)। प्रस्तरानुप्रहरणप्रकारमाह—तं प्रकृतं प्रस्तरं प्राञ्चं प्रागग्रं सूक्तवाके उक्तप्राये अनु पश्चात् समस्यति समग्रमेवाग्नौ प्रक्षिपति। प्रक्षेपात् पूर्वं तमङ्गुलिभिरेव योयुप्येरन्। युप रुप लुप विमोहने दिवादिः। पुनः पुनः मूर्छयेयुः हस्तेनोपक्षिपेयुः, न काष्ठैः। उक्तमेव कात्यायनेन 'हस्तेनाचरति' (का० श्रौ० ३।६।८)। किं कारणमित्याह—काष्ठैर्दारुभिर्वा। इतरं मानुषं शवं व्यृषन्ति। ऋष ऋषि गतौ तुदादिः। विस्तारयन्ति सुदाहार्थम्। तदुपचाराद् यज्ञियस्य विलक्षणेनोपचारेण भवितव्यमिति। नेत् इति परिभये। 'अथाग्नीदाहानुप्रहरेति। तद्यत्रास्येतर आत्मागंस्त-देवास्यैतद्गमयेत्येवैतदाह। तूष्णीमेवानुप्रहृत्य चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहीत्यात्मानमुपस्पृशति। तेनो अप्यात्मानं नानुप्रवृणक्ति' (श० १।८।३।१९)। प्रस्तरानुप्रहरणानन्तरं तस्मादवशेषिततृणस्यानुप्रहरणाय अग्नीदध्वर्युमनुप्रहरेति प्रेष्यति। तद्यत्रास्येतर आत्मा अगन् गतवान् तदेव तमेवाग्निमस्यैतदवशिष्टं भागं गमयतीत्येतदेवाहाग्नीत्। अध्वर्युरग्नीत्प्रैषानन्तरं तूष्णीमेव मन्त्रमन्तरैवानुप्रहृत्य प्रक्षिप्य चक्षुष्पा अग्नेऽसीत्यादि-मन्त्रेणात्मानमुपस्पृशति। तेन तथाकरणेन आत्मानं नानुप्रवृणक्ति आत्मानं नापवृक्तं करोति।

अध्यात्मपक्षेऽपि वेदपुरुष आह—हे जीवात्मन्! वसुभ्यो वसुदेवताभ्यो रुद्रेभ्य आदित्येभ्यो देवताभ्योऽर्थाय त्वां वैदिके कर्मणि प्रवर्तयामि, त्वत्कृतयागादिना सर्वासां देवतानां तृप्तिसम्भवात्। हे द्यावापृथिव्यौ! तत्तदधिष्ठातृदेवौ युवां सञ्जानाथाम्। एनं प्रतिभरणपोषणादिलक्षणं स्वकर्तव्यं सञ्जानाथां सम्यगवगच्छतम्। मित्रावरुणौ प्राणापानौ वायुरूपौ त्वा त्वां वृष्ट्यावतां वर्षणेन रक्षताम्, 'अयं वै वर्षस्येष्टे योऽयं पवते' (श० १।८।३।१२) इति श्रुतेः। वयो गायत्र्यादिछन्दोरूपाः पक्षिणः, अक्तं भक्तिभावनया घृतमिव स्निग्धं त्वां रिहाणा लिहाना आस्वादयन्तो व्यन्तु स्वर्गं गच्छन्तु, त्वां स्वर्गसुखभोगाय नयन्त्वित्यर्थः। हे कर्मनिष्ठ जीवात्मन्! त्वं मरुतां देवानां पृषतीः कामधेनुरूपा गा गच्छ प्राप्नुहि। तद्दत्तामाहुतिं चाह आहुः। वशा स्वाधीना त्वं पृश्निरल्पतनुर्गौर्भूत्वा कामधेनुवत्तृप्तिकरी भूत्वा दिवं स्वर्गं गच्छ। ततश्च नोऽस्मभ्यं वृष्टिमावह भूलोके वृष्टिं प्रापय। जीवः परमेश्वरं प्रार्थयते—हे अग्ने परमेश्वर! त्वं चक्षुष्पा चक्षूंषि ज्ञानानि पातीति चक्षुष्पा असि, अतो मे चक्षुर्ज्ञानं वेदादि-सकलज्ञानसाधनं पाहि ॥ १६ ॥

यं प॑रि॒धिं प॒र्यध॑त्था॒ अग्ने॑ देव प॒णिभि॑र्गु॒ह्यमा॑नः। तं त॑ ए॒तमनु॒ जोषं॑ भराम्ये॒ष नेत्त्वद॑पचे॒तया॑ता अ॒ग्नेः प्रि॒यं पाथोऽपी॑तम् ॥ १७ ॥

अत्र दयानन्दः—'हे अग्ने सर्वव्यापिन्! देवपणिभिर्दिव्यगुणवतां विदुषां स्तुतिभिर्गुह्यमानो व्रियमाणो यं जोषं प्रीत्या सेवितुं योग्यं परिधिं परितः सर्वतो धीयते यस्मिंस्तं प्रभुत्वं पर्यधत्थाः सर्वतो दधासि, तमेव एषोऽहं भरामि अनुभरामि हृदये धारयामि। तथा त्वत् त्वत्तो न अपचेतयातै विरुद्धो न भवेयम्। ते तवाग्नेः सृष्टौ मया यत्प्रियं प्रीतिवर्धकं पाथः शरीररक्षकमन्नं प्राप्तं ततोऽप्यहं न कदाचिद् अपचेतयातै विरुद्धो भवेयम्।

वहाँ से हमारे लिये भूलोक में वर्षा करवा दो। जीव परमेश्वर से प्रार्थना करता है—हे अग्ने परमेश्वर! तुम चक्षुष्पा हो, अर्थात् तुम ज्ञान के रक्षक हो। अतः मेरे ज्ञान की, अर्थात् वेदादि सकल ज्ञानसाधन की रक्षा करो ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे आहवनीय अग्ने! पणिनामक असुरों के द्वारा तुम चारों ओर से अवरुद्ध किये जाने पर पश्चिम दिशा की ओर तुमने जिस परिधि का आश्रय किया था, उस तुम्हारी प्रिय परिधि को मैं अग्नि में डालता हूँ। यह परिधि तुमसे दूर जाने की इच्छा कभी भी न करे। हे दोनों परिधियों! तुम अग्नि के प्रिय अन्न बन जाओ। 'यं परिधिम्'

तथा हे जगदीश्वर ! ते सृष्टौ योऽयं देवपणिभिर्गुह्यमानः पृथिव्यादिव्यवहारैर्व्रियमाण एषोऽग्निः, यमेतं परिधिं विद्यादिगुणैर्धारणीयं जोषं प्रीत्या सेवनीयं कर्म पर्यधत्थाः परितो दधाति, तमित् तमहमनुभरामि त्वत् तस्मात् कदाचिन्नापचेतयातै प्रतिकूलो न भवामि, तथा प्रीतिकरं शरीररक्षाकरमन्नं पाति शरीरमात्मानं च येन तदन्नम्, 'अन्ने च' (उ० ४।२०५) इति पातेरन्ने असुन्प्रत्ययः थुठागमश्च। मया यदस्याग्नेः प्रियं प्रीतिकरं पाथः शरीररक्षाकरमन्नं अपीतम्, अपि संयोगे, अपीति संसर्गं प्राह (नि० १।३), गृहीतम्, तदहं जोषं नित्यमनुभरामि' (पृ० १८२-१८३), 'सर्वैर्मनुष्यैः प्रतिवस्तुषु व्यापकत्वेन धारको विद्वद्भिः स्तोतव्यः सम्प्रीत्या नित्यमनुसेवनीयः, यतस्तदाज्ञापालनेन सर्वे सुखं प्राप्नुयुः। योऽयमीश्वरेण प्रकाशदाहवेगगुणादिसहितो मूर्तद्रव्यानुगतोऽग्नी रचितस्तस्मात् कलाकौशलादिषु प्रयोजितादग्नेर्व्यवहाराः साधनीयाः। यतः सुखानि सिद्धयेयुरिति भावार्थः' (पृ० १८३)। तदेतत्सर्वमपव्याख्यानमेव, पदार्थेऽन्वयद्वये वा क्वचिदपि परिधिपदार्थस्यानिरूपणात्। हिन्द्यां तु प्रथमव्याख्याने प्रभुता, द्वितीये तु कर्मेत्युक्तम्। निष्प्रमाणव्यत्ययादिदोषबहुलत्वाच्च। भावार्थस्त्वर्थेनानेन सर्वथाप्यसंस्पृष्टः सर्वथा स्वतन्त्र एव। यत्तु सङ्गतिनिरूपणप्रसङ्गे पूर्वस्मिन् मन्त्रे वृष्ट्यादिसाधकत्वमुक्तम्, तस्यानेन व्यापकत्वमुक्तमिति सङ्गतिः (पृ० १८३), तदपि चिन्त्यम्, मूले पदार्थेऽन्वययोश्चाग्नेर्व्यापकत्वानुक्तेः। न च पर्यधत्था इत्यनेन व्यापकत्वबोधनम्, परितो धारकत्वबोधकत्वादिति वाच्यम्, शतपथेन तद्विरोधात्। तथाहि—'अथ परिधीननुप्रहरति स मध्यममेवाग्रे परिधिमनुप्रहरति यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः। तं त एतमनुजोषं भराम्येष नेत्त्वदपचेतयाता इत्यग्नेः प्रियं पाथोऽपीतमितीतरावनुसमस्यति' (श० १।८।३।२२)। अत्र परिधीनामनुप्रहरणमग्नौ प्रक्षेप उक्तः। परिधयश्च त्रयो भवन्ति। ते चाहवनीयस्य प्राचीमपहाय तिसृषु दिक्षु स्थापिताः समिध एव। 'अथ परिधीन् परिदधाति' (श० १।३।३।१३), 'ते वै पालाशाः स्युः' (श० १।३।३।१९)। 'पालाशवैकङ्कतकाष्मर्या वैल्वाः खादिरा औदुम्बराः' इत्यादिभिः श्रुतिभिस्तेषां पालाशादियज्ञियकाष्ठमयत्वमुक्तम्। 'ते वा आर्द्राः स्युः' (श० १।३।४।१) इति तेषामार्द्रत्वं चोक्तम्। 'परिधीन् परिदधात्यार्द्रानैकवृक्षीयान् बाहुमात्रान् पालाशवैकङ्कतकाष्मर्यवैल्वान् पूर्वालाभे उत्तरान् खादिरौदुम्बरान् वा मध्यमदक्षिणोत्तरान् गन्धर्व इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २।८।१)। सोऽध्वर्युर्मध्यममेवाग्रे परिधिमनुप्रहरति—यं परिधिं पर्यधत्था इत्यादिमन्त्रेण। तादृशपरिधिपरिधानेन कथमग्नेर्व्यापकत्वमिति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु। अग्नेः प्रियं पाथोऽपीतमिति मन्त्रेणेतरौ परिधी युगपत्समस्यति, अग्नौ प्रक्षिपतीत्यर्थः। ततः पूर्वाभ्यां द्वाभ्यां कण्डिकाभ्याम् अथाह संवदस्वेत्यादीनां व्याहृतीनां बाह्योऽर्थस्तत्रैवोक्तः। तथाहि—अग्नीद् अध्वर्युं प्रेष्यति संवदस्व त्वं मया सह शंयुवाकप्रैषार्थम्। तमध्वर्युः पृच्छति-अगानग्नीत् हे अग्नीत् किमगमत् प्रस्तरशरीरो यजमानः स्वर्गं लोकम्, किं दग्धः प्रस्तर इत्यर्थः। अग्नीत्तु अगन् इति प्रतिवचनं ददाति। अगन् इति, अर्थाद् गतो यजमानः, दग्धः प्रस्तर इत्यर्थः। अध्वर्युस्तमाह—यद्येवं ततः शंयुवाक् परिधिप्रहरणयोः

इस मन्त्र से पहिली परिधि को अग्नि में डाल दे और 'अग्नेः प्रियम्' इस मन्त्र से दक्षिण एवं उत्तर परिधि को एकदम अग्नि में डाल दे ॥ १७ ॥

भाष्यसार—इस मन्त्र की व्याख्या स्वामी दयानन्द ने वेदरहस्यवित् महीधर-उव्वट के विरुद्ध की है। जैसे—'हे सर्वव्यापक अग्ने ! दिव्य गुणसम्पन्न विद्वानों की स्तुतियों से ध्रियमाण हुए तुम जिस परिधि को सेवनीय समझकर जिसका प्रभुत्व सब प्रकार रखते हो, उसी को मैं हृदय में धारण करता हूँ। तुमसे मैं विरुद्ध नहीं होऊँगा तथा तुम्हारे प्रीतिवर्धक शरीररक्षक अन्न को जो मैंने प्राप्त किया है, उसके विरुद्ध भी नहीं जाऊँगा। ईश्वर की रची हुई अग्नि से अपने समस्त व्यवहार साध लेने चाहिये। जिससे सुख प्राप्त हो सके।'

कालो वर्तते। ततश्च श्रावय होतारम् आकर्णयेत्यर्थः। अग्नीच्चाह--श्रौषड् इति। अर्थात् शृणोत्येवायमवहितः, ब्रूहि त्वं यद्विवक्षितम्। 'अथाह स्वगा दैव्या होतृभ्य इति। दैव्या वा एते होतारो यत्परिधयोऽग्नयो हि ताने-वैतत् स्वगा करोति। तस्मादाह स्वगा दैव्या होतृभ्य इति। स्वस्तिर्मानुषेभ्य इति तदस्मै मानुषाय होत्रे ह्वलामाशास्ते' (श० १।८।३।२१)। स्वगा दैव्या होतृभ्य इति शंयुवाकप्रैषः। हे होतः! शंयोर्बार्हस्पत्यस्य ऋषेरार्षं ब्रूहि स्वगा स्वस्थानगामिनं त्वां देव्या देवेभ्यो होतृभ्यः परिधिशरेभ्योऽत्र हूयन्तां परिधय इत्यर्थः। मानुषेभ्यस्तु होतृभ्यः स्वस्ति अविनाशोऽस्त्वित्येवंरूपं वाक्यं ब्रूहीति। श्रुतिस्तु साङ्केतिकं गूढतरमर्थं व्याचष्टे। तत्र च यथैव प्रहरणसम्बन्धसूक्तवाकप्रैषसम्बद्धमाश्रावणमनुषङ्गः परिधीनामुपकारकमित्युक्तम्, तथेहापि परिधि-प्रहरणसम्बन्धशंयुवाकप्रैषसम्बद्धा व्याहृतयोऽनुषङ्गात् प्रस्तरवृत्तान्तं प्रकाशयन्तीति दर्शयति—संवादयैनं देवैरिति। प्रियमिवातिथिमागतैर्देवैः सम्भाषयेत्यर्थः। अगानग्नीदिति। गमनप्रदिम्नेतमेवाग्नीधं पृच्छति किं गतोऽयं यजमानो येन संवाह्यते? न गत इतीतरेणोक्तेऽध्वर्युराह - तमेव तर्हि मद्वचनेन श्रावयैतमिति। अग्नीत्त्वाह— श्रौषडिति विदुर्वा एनमिति। जानन्त्येव देवा उपकारित्वादनाख्यातमिति। अनु वा एनमभुत्सतेति पूर्वमेवायं बुद्धो देवैरित्ययं वा श्रौषडित्यस्यार्थ इति हरिस्वामी। तदेतत्सर्वं कात्यायनोऽप्याह—'संवदस्वागानग्नीदग-च्छ्रावय श्रौषट् स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शंयोर्ब्रूहीत्येतेषाऽसंवदस्वागाच्छ्रौषडित्यग्नीच्छेषमितरो व्यत्यासं ब्रूते' (का० श्रौ० ३।६।१५)। सर्वथापि प्रकृतायां द्वाविंश्यां कण्डिकायां न मनागपि दयानन्दीयार्थ-सम्बन्धः। तस्मादत्र मन्त्रे परिधिशब्देन पालाशादिसमिद्विशेषो विवक्षितः, न प्रभुता न वा कर्म। 'परिधीननु-प्रहरति यं परिधिमिति प्रथममितरौ च युगपदग्नेः प्रियमिति' (का० श्रौ० ३।६।१६)। अध्वर्युर्हस्तेनैव परिधीनाहवनीये प्रक्षिपेत्। तत्र प्रथमं यं परिधिमिति मन्त्रेण इतरौ च युगपत्सहैव प्रक्षिपेदग्नेः प्रियमिति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः।

श्रुतिसूत्रसम्मतस्त्वयं मन्त्रार्थः—हे आहवनीयाग्ने देव। त्वं पणिभिः प्रतिपक्षभूतैरसुरैः प्राणिभिर्वा चेतनाचेतनैः, गुह्यमानः 'गुहू संवरणे' संव्रियमाणः संरुध्यमानः सन् यं परिधिं पलाशादिमयं काष्ठविशेषं भुवनपतिसंज्ञकाग्निरूपं पश्चिमदिशि पर्यधत्था असुरोपद्रवनिवारणाय परिधारितवानसि, ते तव जोषं प्रियं तमेतं परिधिम् अनुभरामि अनुक्रमेण हरामि वह्नौ प्रक्षिपामि 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ८।२।३२) इति वार्त्तिकेन हस्य भः। एष परिधिस्त्वत्तः सकाशात् अपगतः, नेत नैव अपचेतयातै नैव चेतयतु त्वत्तोऽपगन्तुं मा जानातु त्वय्येव तिष्ठत्वित्यर्थः। परिधिस्त्वत्तोऽपगतचित्तो मास्त्विति यावत्। अथवा नेत इति निपातसमाहारः

किन्तु उक्त व्याख्यान को अपव्याख्यान के सिवाय कुछ नहीं कहते बनता। हिन्दी व्याख्या में कुछ कहा गया है, तो दूसरी बार की व्याख्या में और ही कुछ कहा गया है। निष्प्रमाण व्यत्ययादि दोषों की विपुलता दिखाई दे रही है। मन्त्रार्थ का तो इस अर्थ से स्पर्श तक नहीं हो रहा है। वह सर्वथा स्वतन्त्र ही है। संगति निरूपण भी अद्भुत ही है। दयानन्दीय व्याख्या को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शतपथ और श्रौतसूत्र के एकदम विरुद्ध है।

श्रुति-सूत्र सम्मत अर्थ इस प्रकार है—आहवनीय अग्नि से कहा जा रहा है कि प्रतिपक्षी असुरों ने जब तुम्हें अवरुद्ध किया था, तब तुमने जिस पलाशादिमय काष्ठविशेषरूप परिधिविशेष को, जो भुवनपतिसंज्ञक अग्निरूप है, उसे पश्चिम दिशा में असुरों के उपद्रवों के निवारणार्थ धारण किया था, उस तुम्हारी प्रिय परिधि को अग्नि में डाल रहा हूँ, जिससे वह तुम्हारे ही समीप सदा बनी रहे। उसी तरह से दक्षिण और उत्तर अन्य दो परिधियों को जो अग्नि को अन्नरूप हैं, उन्हें भी अग्नि में युगपत् डाल दें।

परिभवार्थः। अपचेतयातै इति आशङ्कायां पञ्चमो लकारः। चिती संज्ञाने। अपचेतयतु अर्थादेष परिधिर्मा कथञ्चित्त्वत्तो वियुक्तः सन्नस्मान् विगतचेतस्कान् विमनस्कान् वा करोतु। 'इतरौ च युगपदग्नेः प्रियम्' (का० श्रौ० ३।६।१६) इति कात्यायनानुसारेण दक्षिणोत्तरपरिधी अग्नेः प्रियमिति मन्त्रेण युगपदग्नौ प्रक्षिपेत्। तथा च मन्त्रार्थः—हे दक्षिणोत्तरपरिधी युवामग्नेराहवनीयस्य प्रियमभिप्रेतं पाथोऽन्नमपीतमपिगतम्। अन्नमपि पाथ उच्यते (नैघण्टु ९।७)। अन्ने चेत्युणादिसूत्रादभिप्रेतमन्नं अपीतम् अपिगच्छतम्। अग्नेः प्रियमित्यादि पृथङ्मन्त्रः। अत एवाग्नेः प्रियमिति यजुर्देवलदृष्टमिति महीधरः।

अध्यात्मपक्षेऽपि—हे अग्ने द्योतनात्मक सर्वाधिष्ठानभूत परमात्मन्! पणिभिः प्रमात्रादिव्यवहारैर्गुह्यमानः प्रव्रियमाणो यं परिधिं परितो धीयते धातुमर्हः सर्वैरादरेण धीयते स्वरूपभूतः प्रेमा वा, तं सर्वकल्याणहेतुत्वेन पर्यधत्थ सर्वेषु प्राणिषु स्थापितवानसि। ते तव तमन्यनिष्ठत्वेन परोक्षमेतं प्रत्यगात्मस्वरूपेणापरोक्षं च जोषं प्रीत्या सेवनीयमहमनुभरामि ध्येयत्वेन धारयामि। एष प्रेमा त्वत् त्वत्तः सकाशात् नेत नैव अपचेतयातै त्वत्तो बहिर्मुखो नैव भवतु। अन्यनिष्ठो मा भूदित्यर्थः। यद्वा त्वत्तोऽस्मान्नैव विमनस्कान् करोतु। वेदपुरुष आह—अग्नेः परमात्मनः सम्बन्धि प्रियमभिप्रेतं पाथः प्रेमास्पदं पाथोऽन्नं भोग्यभूमौ युवामुपास्योपासकौ अपीतम् अपिगच्छतम्। प्रेमप्रभावेणान्नत्वं युवाभ्यां प्राप्यताम्। प्रेम्णा भक्तो भगवतो भोग्यो भवति, भगवांश्च प्रेमपरवशो भूत्वा भक्तस्य भोग्यो भवति, 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' इत्यादिश्रुतेः। यद्वा हे मनोबुद्धी! युवामग्नेः सम्बन्धि प्रियं पाथोऽन्नं भोग्यरूपम्, अपिगच्छतं युवाभ्यां तदुपलभ्यताम्॥ १७॥

सᳮस्रवभागा स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः। इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वᳮस्वाहा वाट्॥ १८॥

अत्र दयानन्दः—हे बृहन्तः वर्धयन्तश्च प्रस्तरेष्ठाः प्रस्तरे शुभे न्यायविद्यासने तिष्ठन्ति ते परिधेयाः परितः सर्वतो धातुं धापयितुमर्हाः, देवा विद्वांसः यूयमिमां प्रत्यक्षां वाचं वचन्ति वाचयन्ति सर्वा विद्या सत्यलक्षणा वेदचतुष्टयी वा तामभिगृणन्तः स्तुवन्त उपदिशन्तो वा संस्रवभागा ज्ञानेन सम्यक् स्रूयन्ते ये ते संस्रवाः, भज्यन्ते ये ते भागाः, संस्रवा भागा येषां ते, स्थ भवत। स्वाहा सु आहेत्यर्थः। वाट् वहन्ति सुखं यया क्रियया सा वाट् सद्यः अस्मिन् प्रत्यक्षे आ समन्ताद् विज्ञाय स्थित्वा वा। बर्हिषि बृहन्ते वर्धन्ते येन तद्बर्हिर्ज्ञानप्राप्तं कर्मकाण्डं वा तस्मिन् मनुष्यान् कृत्वा हर्षयत च। इति प्रथमोऽन्वयः। एवमस्मिन् बर्हिषि इमां वाचमभिगृणन्तः अभिगृणद्भिर्युष्माभिरिषा स्वाहा वाडासद्य बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः सदा परिधेयाः। तां

अध्यात्मपक्ष में—हे परमात्मन्! परोक्ष–अपरोक्ष रूप से रहने वाले तुम्हारे स्वरूप का ध्यान मैं बड़ी भक्ति से करता हूँ। मेरा प्रेम तुमको छोड़कर बहिर्मुख न हो। प्रेम के बल पर ही भक्त भगवान् का भोग्य होता है और भगवान् भी प्रेमपराधीन होकर भक्त का भोग्य बनता है। अथवा हे मन, हे बुद्धि! तुम दोनों अग्नि के भोग्य रूप अन्न के रूप में बन जाओ॥ १७॥

मन्त्रार्थ—हे विश्वेदेवों! तुम लोग संस्रव भक्षण करने वाले हो, अतः तरल घृत का भक्षण करो। इस संस्रवरूप अन्न से तुमलोग महान् बनो और प्रस्तर तथा परिधि पर अधिष्ठित होने वाले एवं 'यजमान यथाविधि यागानुष्ठान कर रहा है' इस प्रकार मेरी स्तुति (प्रशंसा) करने वाले हे विश्वेदेवों! तुम लोग इस यज्ञ में बैठकर तृप्त हो जाओ। यह हविर्भाग सर्वथैव तुम लोगों को ही अर्पित किया गया है। 'संस्रवभागाः' इस मन्त्र से 'संस्रवों' का हवन करे॥१८॥

संस्रवभागाश्च स्थ प्राप्य चास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमिति द्वितीयः। ईश्वर आज्ञापयति—ये मनुष्या धार्मिकाः पुरुषार्थिनो वेदविद्याप्रचारे उत्तमे व्यवहारे च नित्यं वर्तन्ते, तेषामेव बृहन्ति सुखानि भवन्ति' इति, तन्न, अनुपपत्तेः, सर्वेषां विदुषां न्यायाधीशत्वानुपपत्तेः। तथाहि—बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाः सर्वेऽप्येते विशेषणशब्दा निश्चितं विशेष्यमपेक्षन्ते। विनिगमनाविरहान्न कल्पनामात्रेण क्वचित् पर्यवस्यन्ति। आकाशदिगादयोऽपि बृहन्तो भवन्ति। प्रस्तरशब्देन कथञ्चित् प्रशस्तासनग्रहणेऽपि न न्यायविद्यासन एव पर्यवस्यति प्रस्तरशब्दः, राजसिंहासन-धर्मसिंहासनयोरपि प्रस्तरशब्देन ग्रहणप्रसक्तेः। तथा च न्यायविद्यासनारूढाः प्राड्विवाका न्यायमूर्तयो वा न ग्रहीतुं शक्यन्ते। परिधेयाः परिधातुं परिधापयितुमर्हाः के?

हिन्दीभाष्ये तु धारणावतीबुद्धियुक्ता इति लिखितम्। बुद्धयः कामम् आपरिधातुं परिधापयितुमर्हा भवन्तु, परन्तु न तु बुद्धिमन्तस्तथा भवन्ति। संस्रवभागा इत्यनेनापि नार्थनिर्धारणं शक्यम्, संस्रवशब्देन घृतादीनामिव पेट्रोलतैलादीनामपि सम्यक् स्रूयमाणत्वेन ग्रहीतुं शक्यत्वात्। भागशब्देनापि होमो न ग्रहीतुं शक्यते, अतः सम्यक् स्रूयन्ते ये ते संस्रवाः, भज्यन्ते ये ते भागाः, संस्रवा भागा येषामित्यनया व्युत्पत्त्या केषां बोध इति तु मूले नोक्तम्। हिन्दीभाष्ये तु घृतादिपदार्थानां होमे निक्षिप्तार इत्युक्तम्। सामाजिका ब्रह्मदत्तादयः कथयन्ति यद् हिन्दीभाष्यं तदनुयायिभिर्विद्वद्भिर्लिखितम्, अत एव तत्र तेषां प्रमादेनाशुद्धयो विद्यन्ते। 'भज्यन्ते' इत्यस्य संस्रवा घृतादिपदार्था होतव्या येषां त इति स्वीकारेऽपि कथं भजतेर्होमार्थता स्यात्? स्वाहावाट् सु आहेत्यस्मिन्नर्थे वहन्ति सुखानि यया क्रियया सा वाडित्युक्तम्। स्वाहावाडित्यनयोः कथं सम्बन्ध इति नोक्तम्। हिन्दीभाष्ये तु स्वाहा सम्यग्वचनेन वाट् प्राप्यते या सुखवर्धिनी क्रिया (स्वाहा अच्छे वचनों से वाट् प्राप्त होने और सुख बढ़ाने वाली क्रिया को प्राप्त होकर) इत्युक्तम्, कथं तत्सङ्गच्छते? सम्यग्वचनेन कीदृशी सुखवर्धिनी क्रियोत्पद्यते? इत्यादिकं सर्वं वक्तव्यमासीत्। तच्च नोक्तमिति न्यूनतैवेति मुधैव तस्य समासादितस्थिर-समाधित्वादिप्रजल्पनम्।

किञ्च, (श० १।८।३।२३–२६) इति वचनान्यपि तद्व्याख्यानप्रतिकूलान्येव। मन्ये तदनुयायिभिरेव शतपथग्रन्थसङ्केतास्तद्ग्रन्थे योजिताः, तेन तु ते नैव दृष्टाः स्युः, कथमन्यथा तद्विपरीतं व्याख्येयात्। अथवा शतपथसङ्केतं सूचयन् तदेव मुख्यं व्याख्यानम्, मया तु केवलं बहिर्मुखाणां सन्तोषाय यत्किञ्चिदुच्यत इति वाभिप्रायः स्यात्। तथाहि—'अथ जुहूं चोपभृतं च सम्प्रगृह्णाति। अदो हैवाहुतिं करोति यदनक्त्याहुति-र्भूत्वा देवलोकं गच्छादिति। तस्माज्जुहूं चोपभृतं च सम्प्रगृह्णाति' (श० १।८।३।२३)। नास्मिन् तद्व्याख्यान-सम्बन्धः। अनया श्रुत्या जुह्वा उपभृतश्च संप्रग्रहणं विधीयते। स सम्प्रगृह्णातीत्यनया तु सम्प्रग्रहणमनूद्य

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र में दो प्रकार के अन्वय किये हैं। तदनन्तर अर्थ किया है कि 'ईश्वर आज्ञा देता है—जो धार्मिक पुरुषार्थी मनुष्य हैं, वे वेदविद्या के प्रचार में और उत्तम व्यवहार में नित्य तत्पर रहते हैं। उन्हीं को विपुल सुख की प्राप्ति होती है।

किन्तु दयानन्दोक्त अर्थ उपपन्न नहीं हो रहा है। 'बृहन्तः, प्रस्तरेष्ठाः, परिधेयाः' ये सभी विशेषण शब्द हैं, अतः इन्हें विशेष्य की अपेक्षा रहना निश्चित है। कोई विनिगमक न रहने से केवल कल्पना कर लेने मात्र से इनका चाहे जहाँ पर्यवसान नहीं किया जा सकता। हिन्दी भाष्य में धारणावती बुद्धियुक्त लिखा है, वह भी उपपन्न नहीं हो रहा है। 'संस्रवभागा' कहने से भी अर्थनिश्चय कर पाना संभव नहीं है। हिन्दी भाष्य में जो भी लिखा गया है, उसकी उपपत्ति किसी प्रकार से भी नहीं हो रही है।

संस्रवभागा इति मन्त्रो विधीयते। संगते उभे उद्गृह्णाति संस्रवहोमाय स्वगाकाराय च, कुतः ? आहुतिर्भूत्वेति वाक्यशेषभूतमन्त्रवर्णात्। एतेन 'तं प्राञ्चमनुसमस्यति' (श० १।८।३।१८), 'परिधीननुप्रहरति' (श० १।८।३।२२) इत्येते तथा 'परिधीननु' (का० श्रौ० ३।१।१६) इति होमचोदने एव वक्तव्ये, अदो दैवाहुतिमिति परिधिसंस्कारशङ्का निवर्तयति। एवं ह्याशङ्क्यते—'यद्वै हविरभ्यक्तं यदभिघारितं तज्जुष्टं तन्मेध्यम्' इति वचनाद्धविरभिघारणीयम्। अनन्तरमेव च हुताः परिधयः। तेऽभिघारिता आहुतिर्भवति। अतस्तेषामाहुतित्वायैते स्रुचौ संगृह्येते। न पृथगेव संस्रवहोमकर्मेति तन्निराकरोति। अत एव परिधय आहुतिकृता ये ते आज्येन जौहवेनाक्तास्तस्मान्न तेषामाहुतित्वापस्रुचौ सम्प्रगृह्येते, किं तर्हि आहुतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छेदित्येवमर्थं सम्प्रगृह्णाति। तथैव प्रस्तरपरिधीनां स्वगाकारो ह्युक्तः, एवमाज्यशेषस्यापि विलग्नस्येत्यभिप्रायः' इति हरिस्वामी। कण्डिकार्थस्तु स्पष्ट एव।

'स वै विश्वेभ्यो देवेभ्यः सम्प्रगृह्णाति। यद्वा अनादिष्टं देवतायै हविर्गृह्यते। सर्वा वै तस्मिन् देवता अपित्विन्यो मन्यन्ते न वा एतत् कस्यैचिद्देवतायै हविर्गृह्णन्नतिदिशति यदाज्यं तस्माद्विश्वेभ्यो देवेभ्यः सम्प्रगृह्णात्येतदु वैश्वदेवꣳहविर्यज्ञे' (श० १।८।३।२४)। सोऽध्वर्युर्विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्रुचौ सम्प्रगृह्णाति। यद्धविरनादिष्टं देवताविशेषनामनिर्देशमन्तरा गृह्यते, तस्मिन् हविषि सर्वा देवता अपित्विन्यो वयंभागिन्य इति मन्यते। आज्यं च हविरनादिष्टमेव, यतो ह्येतद् गृह्णन् न कस्याश्चन देवताया नामनिर्देशं करोत्यध्वर्युः। तस्मादेतद्वैश्वदेवं हविर्यज्ञे। 'स सम्प्रगृह्णाति। सꣳस्रवभागाः स्थेषा बृहन्त इति सꣳस्रवो ह्येव खलु परिशिष्टो भवति प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवा इति। प्रस्तरश्च हि परिधयश्चानुप्रहृता भवन्तीमां वाचमभि विश्वे गृणन्त इत्येतद्वैश्वदेवं करोत्यासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वꣳ स्वाहावाडिति। तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद्भवति।' (श० १।८।३।२५)। 'स्रुचौ प्रगृह्णाति। सꣳस्रवभागा इति सꣳस्रवान् जुहोति' (का० श्रौ० ३।६।१७)। अध्वर्युर्जुहूपभृतौ तूष्णीमादाय तदुभयसंलग्नमाज्यं ताभ्यामेव जुहुयादुत्तरत उपविश्य विश्वेदेवाश्चात्र देवता। अतश्च यत्र दर्विहोमादौ मन्त्राभावस्तत्र विश्वेभ्यो देवेभ्य इत्याहुतिः। अस्य संस्रवहोमस्य प्रतिपत्त्यर्थकर्मोभयरूपत्वात् प्रतिपत्त्यंशमादायान्तेऽपच्छिन्नेऽपि प्रवृत्तिः। स्रुक्स्थस्याज्यस्य पूर्वमेव निरवशेषितत्वात् संस्रवाणां न यागाङ्गत्वम्, किन्तु पात्रसंलग्नाज्यप्रतिपत्त्यर्थतैव। अतश्च यत्र कर्मणि पूर्वकृतहोमसम्बन्ध्याज्यं पात्रे संलग्नं भवति, तत्र सर्वत्राप्ययं होमो भवत्येव।

'सꣳस्रवभागा……स्वाहावाट्' इति मन्त्रेऽन्यत्र वा स्वाहापदोच्चारणकाल एव होमः कार्यः। एवं च 'स्वाहाकारः सर्वत्र साकाङ्क्षत्वात्' (का० श्रौ० ४।४।१५) इति सूत्रेण सामान्यतया मन्त्रान्ते स्वाहाकारोच्चारणस्य विधानेऽपि यत्र मन्त्र एव स्वाहाकारपाठ आदौ मध्येऽवसाने वा तत्रैव होमः कार्यः, न पुनः स्वाहाकारस्य मन्त्रान्ते योजनम्। 'सꣳस्रवो ह्येवेति' (श० १।८।३।२५) यदा यः परिशिष्टः संश्रवस्तदा तत्र तद्भाजः संस्रवभागा एव भवन्तीत्यभिप्रायः। ते च प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च भवन्ति। प्रस्तरे परिधिषु च हुतेषु तदिन्धनोऽग्निः शरीरं येषां ते देवाः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च भवन्ति। इमां वाचमभिविश्वे गृणन्तीति मन्त्रेण एतदु पात्रलग्नमाज्यं

अतः शतपथ, श्रौतसूत्रानुसारी वैदिकसम्प्रदायानुकूल मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे विश्वेदेवों! तुम संस्रव भाग वाले हो। विलीन आज्य को 'संस्रव' कहते हैं। वही है भाग जिनका, वे संस्रवभाग वाले कहे जाते हैं। तथा संस्रव-लक्षण अन्न से तुम महान् हो। किंच, जो प्रस्तर पर स्थित रहते हैं, वे प्रस्तरेष्ठ यानी प्रस्तरस्थायी कहलाते हैं। जो परिधेय यानी परिधिमव हैं, वे विश्वेदेव मेरी वाणी (कथन) का वर्णन करते हुए, अर्थात् 'यह यजमान सम्यक् यजन (यागानुष्ठान) कर रहा है' इस प्रकार देवताओं के मध्य में कहते हुए तुम इस यज्ञ में बैठकर तृप्त होना अथवा

वैश्वदेवं सर्वदेवसम्बन्धि करोति । आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वꣳ स्वाहा वाडिति मन्त्रेण यथा वषट्कृतं हुतं भवति, तथास्याज्यशेषस्य कृतं भवतीत्यर्थः ।

तथा च श्रुतिसूत्रानुगतं सायणादिसम्मतमिदमेव मन्त्रव्याख्यानम्—हे विश्वदेवाः सर्वे देवाः ! यूयं संस्रवभागाः स्थ सम्यक् स्रवतीति संस्रवो विलीनमाज्यं भागो येषां विश्वेषां देवानां ते संस्रवभागा जुहूपभृद्गतविलीनाज्यभागिनो भवत । इषा इष्यमाणेन संस्रवलक्षणेनान्नेन बृहन्तो महान्तः स्थ । किञ्च, प्रस्तरेष्ठाः प्रस्तरस्थायिनो ये देवाः परिधयः परिधिभावमापन्नाः परिधिषु भवाः परिधिदेहा वा ये देवाः सन्ति, ते विश्वेदेवा इमां मदीयां वाचमभिगृणन्तः सर्वत्र वर्णयन्तः, अयं यजमानः सम्यग्यजतीति सर्वेषां देवानां समक्षे कथयन्तः, यूयमासद्यास्मिन् बर्हिषि एतस्मिन् मदीययज्ञे मादयध्वं हृष्टा भवत । स्वाहावाडितिशब्दौ हविर्दानार्थौ । सर्वथा दत्तमित्येवादरे दर्शयितुं शब्दद्वयम् । न च बृहदारण्यके स्वाहावषडितिशब्दद्वयं देविकं हविर्दानमाम्नातम्, 'देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं च' (बृ० उ० ५।८।१) इति श्रुतेर्नात्र वाट्शब्दः श्रुत इति वाच्यम्, वषडित्यस्यैव परोक्षत्वाय वाडिति शब्दान्तरेण प्रयुज्यमानत्वात् । 'यद् वषट् कुर्याद् यातयामो वषट्कारः स्यात्, यन्न वषट्कुर्याद् रक्षाꣳसि यज्ञꣳहन्युर्वाडित्याह परोक्षमेव वषट्करोति नास्य यातयामा वषट्कारो भवति न यज्ञꣳरक्षाꣳसि घ्नन्ति' (तै० सं० ५।१।५।५) इति वाड् इति युक्तम् । ननु 'वसवो वै रुद्रा आदित्याः सꣳस्रवभागाः' (तै० ब्रा० ३।३।९।७) इति तैत्तिरीयश्रुत्यनुसारेण वस्वादीनामेव संस्रवभागत्वमुक्तम्, न विश्वेषां देवानामिति चेन्न, विश्वशब्देन वस्वादीनामपि विवक्षितत्वात् । अत एव वस्वादीन् प्रकृत्य विश्वदेवशब्दवाच्यत्वमपि तित्तिरिणैवोक्तम्, 'एते हि विश्वेदेवाः' (तै० ब्रा० ३।३।९।८) इति तैत्तिरीयश्रुतेः ।

अध्यात्मपक्षेऽपि—हे जीवात्मानः ! यूयं संस्रवभागाः स्थ । सम्यक् स्रूयन्त इति संस्रवा दधिदुग्धाज्यसोमादयः, अब्बहुलहविर्द्रव्यरूपाः पदार्थाः । ते भागाः शरीरांशा येषां ते संस्रवभागा हविःशरीराः, 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति पञ्चाग्निविद्याश्रुतेः । तत्रापूशब्देन सोमाद्यब्बहुलद्रव्याण्युक्तानि । तान्येवाग्नौ चन्द्रलोकेऽन्तरिक्षे पृथिव्यां पुरुषे योषिति हुतानि पुरुषरूपेण परिणतानि भवन्ति । संस्रवभागा घृतसोमादिभागिनः स्थ इषा इष्यमाणया परमेश्वराराधनलक्षणया भक्त्या धर्मब्रह्मविविदिषया वा महान्त उत्कर्षं प्राप्नुवन्तः प्रकर्षेण यूयमेव प्रस्तरेष्ठाः प्रस्वराग्निशरीराः परिधिशरीरा विश्वे सर्वे देवाः स्थ भवत । विश्वे सर्वेऽपि यूयम् आसद्य स्थित्वा वर्हिषि यज्ञे इमां स्वाहावाड्रूपाम् अभिगृणन्तस्तया च देवांस्तर्पयन्तो मादयध्वं हृष्टा भवत ॥ १८ ॥

प्रसन्न होना । 'स्वाहा' और 'वाट्' दोनों शब्द 'हविर्दान' के अर्थ में हैं । यह 'संस्रव' सब तरह से (सर्वथा) आपको दिया गया है, यह आदरभाव प्रदर्शित करने के निमित्त 'स्वाहा और वाट्' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है । 'स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा' इस श्रुतिवचन से 'वषट्' शब्द भी दानार्थक है, तथापि देवताओं की परोक्षप्रियता रहने से 'प्रत्यक्षत्व'के परिहारार्थ 'वाट्' शब्द का प्रयोग किया गया है । तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार वसु आदि देवताओं के लिये ही संस्रवभाग कहा गया है, विश्वेदेवों को नहीं, यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'विश्व' शब्द से 'वसु' आदि देवताओं की भी विवक्षा की गई है ।

अध्यात्मपक्ष में—हे जीवात्माओं ! तुम घृत, सोम आदि के भागी हो । परमेश्वराराधनस्वरूप भक्ति के द्वारा अथवा धर्म-ब्रह्म को जानने की इच्छा द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुए हो, तुम ही सम्यग्रूप से प्रस्तराग्नि शरीर वाले हो, तथा परिधि शरीर वाले तुम सब विश्वेदेव हो । तुम सभी यहाँ स्थित होकर यज्ञ में इस स्वाहा-वाड्रूप वाणी की प्रशंसा करके देवताओं को तृप्त कर दो और तुम भी हर्ष को प्राप्त हो जाओ ॥ १८ ॥

घृताची स्थो धुर्यौ पात༞सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम्। यज्ञ नमश्च त उप च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्विष्टे मे सन्तिष्ठस्व ॥ १९ ॥

अत्र दयानन्दः—'यावग्निवायू यज्ञस्य धुर्यौ सुम्ने च स्थः। घृताची घृतमुदकमञ्चत इति घृताची अग्निवाय्वोर्घर्षणक्रिये, स्थः स्तः, व्यत्ययः। सर्वं जगत् पातं रक्षतः। तौ मया सम्यक् प्रयोजितौ सुम्ने सुखकारिके उक्तक्रिये सुखे मां यज्ञानुष्ठातारं धत्त धारयतः। यज्ञ इज्यते सर्वैर्जनैरिति यज्ञ ईश्वरः, तत्सम्बुद्धौ हे यज्ञ, क्रियासाध्यो वा! नमश्च नम्रीभावार्थे। यथा ते तव स्विष्टे शोभनमिष्टं याभ्यां ते शिवे सन्तिष्ठेते। ते ममाप्येवं तथैव सन्तिष्ठेताम्। तस्माद् यथाहं तस्य यज्ञस्यानुष्ठाने सन्तिष्ठे तथा त्वमप्यत्र सन्तिष्ठस्व (पृ० १८८-१८९)। 'ईश्वरोऽपि वदति हे मनुष्याः! यूयमेव तयो रसच्छेदकधारकयोर्जगत्पालनहेत्वोः सुखकारिणोः क्रियाकाण्डस्य निमित्तयोरूर्ध्वं तिर्यग्गमनशीलयोरग्निवाय्वोः सकाशात् कार्याणि साधयित्वा सुखेषु संस्थितिं कुरुत मदाज्ञापालनमाचरत तं नमस्कुरुतेति भावार्थः' (पृ० १९८) इति।

तदपि यत्किञ्चित्, ईश्वरवाक्येषु पिष्टपेषणानुपपत्तेः। अग्निवाय्वोरुपकारो ग्राह्यः, सम्यक् प्रयोजितौ वायुयानाद्यनेककार्याणि सम्पादयत इति नैकवारमुक्तमेव। कथं ताभ्यां कानि कानि कार्याणि कर्तव्यानीति कार्यपद्धतिनिर्देशस्तु नैकदापि क्रियते। नह्यग्निवायुयज्ञादिशब्दैरेव तदुपकारग्रहणप्रकारोऽवबुद्धयते। घृताचीपदेनाग्निवाय्वोर्धारणाकर्षणक्रिये बोध्येते इत्यपि निर्मूलमेव। किञ्च, यज्ञो नमश्च यथा ते तव स्विष्टे शिवे सन्तिष्ठेते मे ममाप्येते तथैव सन्तिष्ठेते इति कस्य वचनम्? जीवस्येश्वरस्य वा? नाद्यः, निष्प्रमाणत्वात्, तथात्वे वेदस्यानीश्वरवाक्यत्वापत्तेश्च। नान्त्यः, ईश्वरस्य कल्याणमयत्वात् स्वकल्याणाय तस्येश्वरान्तरानपेक्षणात्। किञ्च, तथात्वे यज्ञ इति सम्बोधनपदमपि विरुद्धयते।

शतपथाद्विरुद्धमप्येतद्व्याख्यानम्। तथाहि 'स यस्यानसो हविर्गृह्णन्ति। अनसस्तस्य धुरि विमुञ्चन्ति यतो युनजाम ततो विमुञ्चामेति यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति यस्यो पात्र्यै स्फ्ये तस्य यतो युनजाम ततो विमुञ्चामेति यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति' (श० १।८।३।२६), 'युजौ ह वा एते यज्ञस्य यत् स्रुचौ। ते एतद्युङ्क्ते यत्प्रचरति स यं निधायावद्येद्यथा वाहनमवाच्छेदेवं तत्ते एतत्स्विष्टकृति विमोचनमागच्छतस्ते तत्सादयति तद्विमुञ्चति ते एतत्पुनः प्रयुङ्क्तेऽनुयाजेषु सोऽनुयाजैश्चरित्वैतद्विमोचनमागच्छति। ते तत्सादयति तद्विमुञ्चति ते एतत् पुनः प्रयुङ्क्ते यत्सम्प्रगृह्णाति। तद्यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वा विमुञ्चते। यज्ञं वा अनु प्रजास्तस्मादयं पुरुषो युङ्क्तेऽथ विमुञ्चतेऽथ युङ्क्ते तद्यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वाऽन्ततो विमुञ्चते। स सादयति घृताची स्थो धुर्यौ पात༞सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तमिति साध्व्यौ स्थः साधौ मा धत्तमित्येवैतदाह।' (श० १।८।३।२७)। यस्य यजमानस्य यज्ञे अनसो हविर्गृह्णन्ति…… तस्यानसो धुरि विमुञ्चन्ति जुहूपभृतौ—'घृताची इति धुरि निदधाति, अनसि चेद् ग्रहणम्' (का० श्रौ० ३।६।१८), 'स्फ्ये पात्र्यां चेत्' (का० श्रौ० ३।६।१९)। यदि अनस्तो हविः पूर्वं गृहीतं तदा घृताचीति मन्त्रेणानसः शकटस्य धुरि स्रुचौ स्थापयेत्। यदि इडापात्र्यां हविर्गृहीतं तदा वेद्या

मन्त्रार्थ　हे जुहू, उपभृत् पात्रो! तुम घृत से पूर्ण हो। इस शकट के बैलों की रक्षा करो। तथा तुम सुखरूप हो, उस कारण मुझे सुख दो। हे यज्ञ! तुम्हें मेरा प्रणाम है। तुम्हारी अभिवृद्धि हो। हे नमस्कार! तुम यज्ञ के न्यूनातिरिक्त दोषों को दूर करो और मेरे यज्ञ को उत्तम करो और उसमें स्थित रहो। 'घृताची'—इस मन्त्र से जुहू और उपभृत् को शकट की धुरा पर रख दे। 'यज्ञ नमश्च' इस मन्त्र से वेदी को स्पर्श करे ॥ १९ ॥

उत्तरांशे स्फ्यमुदगग्रं निधाय तत्र प्रागग्रे जुहूपभृता आसादयेदिति सूत्रयोरर्थः। 'युजौ ह वा' इति विमोचनार्थवादः। तत्र युजौ योक्तव्यावस्थावनड्वाहौ ह वा एते यज्ञस्य यत्स्रुचौ। ते एते यज्ञे युङ्क्ते यत्प्रचरति। स यं निधायावद्येदिति प्रसङ्गेनार्थप्राप्तं चरकश्रुतिप्राप्तं निधायावदानं प्रतिषेधति। वाहयति तदेभिरिति वाहनमश्वादि। यथा तद् अवार्छेद् अधः पतेद् वाह्यमानम्, एवं निधानं स्रुचोः प्राग्विमोकादधश्चालनं तद् यज्ञस्य स्यात्। 'तत्ते एतत् स्विष्टकृति विमोचनमागच्छतः' इति ये स्रुचौ चरतां युङ्क्ते ते स्विष्टकृति अतीते इति शेषः। वि अपरिसमाप्तोऽर्थः। विमुच्यतेऽस्मिन्निति विमोचनं स्थानं तद् आगच्छतः स्विष्टकृद्यागसमाप्तौ जुहूपभृतौ विमोचनस्थानमनसो धुरादिकमागच्छतः। ते तत्र सादयत्यध्वर्युस्तत्र विमुञ्चति विश्रामार्थम्। पुनश्च अनुयाजेषु प्रयुङ्क्ते सोऽनुयाजैश्चरित्वा एतद्विमोचनमागच्छति। तदन्ते च विश्रामार्थं पुनर्विमुञ्चति पुनश्च सम्प्रगृह्णाति संस्रवहोमार्थं प्रयुङ्क्ते। तदन्ते च कृतार्थः सन् गतिं गतमभियुङ्क्ते करोति। यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वा विमुञ्चते। मन्त्रेण देशनियमेन च गम्यते इति गतिः, गन्तव्योऽध्वा। तथा च यां गतिमध्वानमभिगन्तुं युङ्क्ते तां गतिं तमध्वानं गत्वा विमुञ्चते। यज्ञं वा अनु प्रजा यज्ञमनुलक्ष्य प्रजा भवन्ति। तस्मादयं पुरुषो युङ्क्ते अथ विमुञ्चते अथ युङ्क्ते तद्यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वाऽन्ततो विमुञ्चते इत्यादिभिराधियाज्ञिकयोर्योगविमोकयोरधिभूतं वचनम्। स सादयति सोऽध्वर्युः सादयति जुहूपभृतौ घृताचीति मन्त्रेण। साध्व्यौ इति मन्त्रगतस्य सुम्ने इत्यस्य व्याख्यानम्, साध्वी इति सुम्ने इत्यस्य। सुम्नं सुखं तच्च साध्वित्यभिप्रायः। स्पष्टमेवास्य मन्त्रस्य जुहूपभृतोर्विमोचने अनो धुर्यासादने विनियुक्तत्वात् ते एवोच्येते नाग्निवायू। अत एव श्रुत्या प्रथमस्य सुम्ने इत्यस्य साध्व्यौ इति व्याख्यानं कृतम्। न चाग्निवाय्वोस्तत्सङ्गच्छते। कात्यायनसूत्रयोरप्ययमेवाभिप्रायः।

तथा चायं मन्त्रार्थः— हे जुहूपभृतौ! युवां घृताची स्थः घृतमञ्चतः प्राप्नुत आज्याहुत्यादिसाधनत्वाद् इति घृताची, पूर्वसवर्णदीर्घः, घृताची भवतः। तथाविधे युवां धुर्यौ धुरमर्हत इति धुर्यौ अनड्वाहौ पातं रक्षतम्। किञ्च, युवां सुम्ने स्थः सुखरूपे भवथः। तस्मात् सुम्ने सुखे मामाधत्त मां स्थापयतम्। 'यज्ञ नमश्च इति वेदिमालभते' (का० श्रौ० ३।६।२०)। यज्ञ नमश्चेति मन्त्रेण वेदिमालभते। अतः पूर्वस्माद्भिन्नोऽयं मन्त्रः— अस्य मन्त्रस्य [1]सूर्पं पवमान ऋषिरुद्बालवान् धनान्नवानित्येते ऋषय इत्युव्वटाचार्यः। शूर्पं यवमान् कृषिरुद्बालवान् धनान्नर्वानिति पञ्च ऋषय इति महीधराचार्यः। यज्ञो देवता।

भाष्यसार—स्वामी दयानन्दने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि जैसे मैं यज्ञ के अनुष्ठान में स्थित हूँ, वैसे ही तुम भी उसमें स्थित रहो। ईश्वर भी कहता है कि हे मनुष्यों! क्रियाकाण्ड के निमित्तभूत अग्नि, और वायु से अपने कार्यों को सम्पादित कर सुख की वृद्धि करो। मेरी आज्ञा का पालन करो, उसको नमस्कार करो।

किन्तु यह दयानन्दीय व्याख्यान नितान्त सारहीन है, क्योंकि ईश्वर के वाक्यों में पिष्टपेषण नहीं हुआ करता। कार्य सम्पादन की बात तो कही, किन्तु कार्यपद्धति का निर्देश एक बार भी नहीं किया। 'घृताची' पद से अग्नि और वायु की धारण—आकर्षण क्रिया को बोधित करना भी निर्मूल है। 'यज्ञो नमश्च' यह वाक्य जीव का है या ईश्वर का है? दोनों में से किसी का भी यह वाक्य नहीं हो सकता। अन्यथा अनेक दोष उपस्थित होंगे। तस्मात् दयानन्दीय व्याख्यान शतपथ, श्रौतसूत्र के विरुद्ध होने से नितान्त सारहीन है।

---

१. अस्य मन्त्रस्य १. सूर्पम्, २. पवमानः, ३. ऋषिः, ४. उद्बालवान्, ५. धनान्नवानिति ऋषय उव्वटाचार्यमते। महीधराचार्यमते तु १. शूर्पम्, २. यवमान्, ३. कृषिः, ४. उद्बालवान्, ५. धनान्नर्वानिति। हस्तलिखितपाठेषु भ्रंशान्न सम्यङ् निर्णेतुं पार्यते।

हे यज्ञ! प्रकृतयज्ञः, इज्यते नानाविधैर्यज्ञैर्यः स परमेश्वरो वा सम्बोध्यते। नमश्च ते तुभ्यं नमस्कारश्चास्तु। उप उपचयो वृद्धिश्च तेऽस्तु। परमेश्वरस्य लोकोत्तरमाहात्म्याभिवृद्धिः, यज्ञस्य चोत्कृष्टफलदानसामर्थ्यवृद्धिरेव वृद्धिः। चकारौ समुच्चयार्थौ नम-उपशब्दाभ्यां यज्ञस्य यदतिरिक्तं यच्च न्यूनं जातं तत्पूर्णं जायते। 'यदतिरेचयति तन्नमस्कारेण शमयति। अथ यदूनं करोत्युप चेति तेन तदन्यूनं भवति' (श० ११।२।३।९) इति श्रुतेः। किञ्च, यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व अन्यूनानतिरिक्तं यज्ञं कुरु। 'यद्वै यज्ञस्यान्यूनातिरिक्तं तच्छिवं तेन तदुभयꣳशमयति' (श० ११।२।३।९) इति श्रुतेः। मे मम स्विष्टे सन्तिष्ठस्व साधु इष्टं स्विष्टं तस्मिन् मे मम सन्तिष्ठस्व समाप्तिं याहि, पूर्णो भवेत्यर्थः।

ईश्वरपक्षे तु—हे परमेश्वर! ते तुभ्यं नमोऽस्तु। त्वत्प्रसादाद्यज्ञस्य प्रकृतस्य उपचयो वृद्धिः, अन्यूनानतिरिक्तताऽस्तु। 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥' 'मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः। सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं तव॥' (भा० पु० ८।२३।१६), 'यत्पादपद्मस्मरणाद्यस्य नामजपादपि। न्यूनं कर्म भवेत्पूर्णं तं वन्दे साम्बमीश्वरम्॥' (शि० पु० ६।१२।६०) इति पुराणवचनात्। हे यज्ञ परमेश्वर! यज्ञस्य प्रकृतस्य शिवे कल्याणे सन्तिष्ठस्व यज्ञस्य साङ्गोपाङ्गतायै त्वं यज्ञे पूज्यत्वेन भोक्तृत्वेन च सम्यक् स्थिरो भव। मे मम स्विष्टे त्वदनुग्रहेण साधुसम्पन्ने यागे सन्तिष्ठस्व तदधिष्ठातृत्वेन स्वामित्वेन च सम्यगधितिष्ठ॥ १९॥

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या अविषं नः पितुं कृणु। सुषदा योनौ स्वाहा वाडग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा॥ २०॥

दयानन्दरीत्या—'हे अग्ने अदब्धायो अदब्धमहिंसितमायुर्यस्मात्तत्सम्बुद्धौ। अशीतम अश्नुते व्याप्नोति चराचरं यज्ञं सोऽतिशयितस्तत्सम्बुद्धौ। स वा त्वं यज्ञं दुरिष्टयै दुष्टा इष्टिर्यजनं यस्याः पञ्चम्यर्थे चतुर्थी। पाहि पाति मां दिद्योः प्रमादरूपाद् दुःखात् प्रसित्यै प्रकृष्टा चासौ सितिर्बन्धनं यस्यां तस्यै पाहि। दुरद्मन्यै दुष्टा अद्मनी अदनक्रिया यस्यां तस्यै पाहि। नोऽस्माकं भविष्यविषादिदोषरहितमन्नम्, पितुरित्यन्ननामसु

मन्त्र का वास्तविक अर्थ, जो भाष्य में बताया है, उसे भावार्थ के रूप में हिन्दी में पूर्व दे चुके हैं।

अध्यात्मपक्ष में—हे परमेश्वर! तुमको प्रणाम है। तुम्हारे प्रसाद से प्रकृत यज्ञ में अन्यूनानतिरिक्तता रहे। यज्ञ की सांगोपांगता के सिद्ध्यर्थ तुम यज्ञ में पूजनीय तथा भोक्ता के रूप में सम्यक्तया स्थिर रहो। तुम्हारे अनुग्रह से साधुतया सम्पन्न होने वाले याग में उसके अधिष्ठाता और स्वामी बनकर सम्यक्तया स्थित रहो॥ १ ॥

मन्त्रार्थ उपासना करने वाले को अहिंसित आयु देने वाले और भोक्तृतम कहलाने वाले हे गार्हपत्य! शत्रु के द्वारा प्रेरित किये गये वज्र से मेरी रक्षा करो, उसी प्रकार बन्धन की प्राप्ति में कारणीभूत जाल (पाश), अशास्त्रीय याग और दुर्भोजन से मेरी रक्षा करो। मेरा अन्न निर्विष करो और अच्छी तरह से रहने योग्य गृह में मेरी स्थापना करो। ये हवि! तुम सुहुत हो। इस संवेश (साभिलाष स्त्री-पुरुषों का एकत्र शयन करना) का अधिपति जो अग्नि और यश की भगिनी जो वाणीरूप सरस्वती, उसे यह हवि सुहित हो। 'अग्ने अदब्धाया' इस मन्त्र से स्रुक् और स्रुवा का ग्रहण करे। 'अग्नये' और 'सरस्वत्यै' इन मन्त्रों से दक्षिणाग्नि में हवन करे॥ २०॥

(निघ० २।७), पितुं कृणु कुरु करोति वा। लडर्थे लोट्। नोऽस्मान् सुषदा सुखे सीदन्ति यस्यां तस्यां सुपां सुलुगिति ङेः स्थाने आकारादेशः। योनौ युवन्ति यस्यां सा योनिर्गृहं जन्मान्तरं वा। स्वाहा वाट् सु आह्वानया सा वाट् क्रियार्थे सत्क्रियायां च कृणु। वयं यशोभगिन्यै यशांसि सत्यवचनादीनि कर्माणि भजितुं शीलं यस्यास्तस्यै स्वकीयं पदार्थं प्रत्याह यस्यां क्रियायां सा। सरन्ति येन तत्सरो ज्ञानम्, तत्प्रशस्तं विद्यते यस्यां वाचि तस्याम्, 'सरस्वतीति वाङ्नामसु' (निघ० १।११)। सरस्वत्यै स्वाहा। सुष्ठु आहुतं करोति यस्यां सा। संवेशपतये सम्यग् विशन्ति ये ते पृथिव्यादयः पदार्थास्तेषां पतये पालकाय परमेश्वराय भौतिकाग्नये वा। अग्नये तुभ्यं स्वाहा नमश्च नित्यं कुर्मः' (पृ० १९१-१९२)।

हिन्दीभाषायां तु—'हे निर्विघ्नायुष्प्रद परमेश्वर हे चराचरव्यापक ! दुष्टाद्वेदविरुद्धाद् यज्ञात् पाहि। तथा मां दिद्योः अतिदुःखाद्रक्ष प्रकृष्टबन्धनात् पाहि दुष्टभोजनविपत्ते रक्ष। मदर्थं दोषरहितमन्नादिपदार्थमुत्पादय। नोऽस्मान् सुस्थैर्यदायके योनौ गृहे वेदवाक्यैः साध्यायां क्रियायां स्थिरान् कुरु। यतो वयं सत्यवचनाद्युत्तमकर्मसेवयित्र्यै पदार्थप्रकाशने श्रेष्ठज्ञानदायै वेदवाण्यै धन्यवादं कुर्मः। पृथिव्यादिपदार्थानां पालकाय च धन्यवादनमस्कारे कुर्मः। द्वितीयेऽर्थे -हे जगदीश्वर ! भवन्निर्मितोऽग्निर्दुष्टयज्ञदूषितपदार्थप्रभावात् पाति, तथा मां दुःखात् पाति, दारिद्र्यादिबन्धनात् पाति, दुष्टभोजनक्रियायाः पाति, अस्माकमन्नादिपदार्थान् निर्विषान् करोति, सुखस्थितिदायके गृहे जन्मसु वा वेदवाक्यसाध्यक्रियाणां हेतुश्च भवति। वयं पृथिव्यादिपालकं तमग्निं गृहीत्वा होमाय वेदवाणीप्राप्तये च स्वाहा परमात्मने धन्यवादं कुर्मः' (पृ० १९३) इति।

तदेतत्सर्वमसत्, त्वदभिमतस्वाहाशब्दार्थस्य पूर्वमेव खण्डितत्वात्, निष्प्रमाणव्यत्ययस्य च दूषितत्वात्। मूर्धन्यान्तस्य आयुष्शब्दस्य कथम् 'अदब्धायो' इति रूपम् ? यदि तु 'छन्दसीणः' (उ० १।२) इत्युण्प्रत्ययान्त उकारान्त आयुशब्दस्तदापि दिद्युशब्दस्यातिदुःखं कथमर्थः ? 'इषवो वै दिद्यवः' (श० ५।४।२।२) इत्यत्र त्विषूणां वज्ररूपत्वोक्तिः। अशीतम इत्यत्र कथम् 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः ? भौतिकाग्निपक्षे कथं तेन दुरिष्टेस्त्राणम्, तस्य जडत्वेनावैदिककर्मणो निवारकत्वासिद्धेः। एवं दुरद्मन्या अपि ततो निवारणमशक्यमेव, ज्ञानसाध्यत्वेन तत्रासम्भवात्। संवेशशब्देन पृथिव्यादिपदार्थग्रहणमपि सम्पूर्वकस्य विशतेः साभिलाषस्त्रीपुंसयोरेकत्र शयने रूढत्वाद् अग्नौ तत्पालकत्वमपि चिन्त्यम्। यशोभगिन्यै इत्यत्रापि भगिनीशब्दस्य स्वसृपरत्वे संभवति णिनिप्रत्ययान्तस्य छान्दसत्वेन दीर्घाभावत्वसमर्थनं निर्मूलमेव। शतपथविरुद्धत्वं च तत्।

'अथ जुहूं च स्रुवं च सम्प्रगृह्णाति। अदो हैवाहुतिं करोति यदनयाहुतिं हुत्वा देवलोकं गच्छादिति। तस्माज्जुहूं च स्रुवं च सम्प्रगृह्णाति'। (श० १।९।२।१९), 'स वा अग्नये सम्प्रगृह्णाति। अग्नेऽदब्धायो अशीतमेत्यमृतो ह्यग्निस्तस्मादाहादब्धायवित्यशीतमेत्यशिष्टो ह्यग्निस्तस्मादाहाशीतमेति पाहि मा दिद्योः····पाहि दुरद्मन्या इति सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाहाविषं नः पितुं कृण्वित्यन्नं वै पितुरनमीवं न इदमकिल्विषमन्नं कुर्वित्येवैतदाह। सुषदा योनाबित्यात्मन्येतदाह स्वाहा वाडिति। तद्यथा वषट्कृतꣳहुतमेवमस्यैतद्भवति' (श० १।९।२।२०)। अथ जुहूं च स्रुवं च सम्प्रगृह्णाति होतुं तत्स्थमाज्यं न तु चरुवत्तस्याहुतिकरणार्थं किं

भाष्यसार—स्वामी दयानन्द ने संस्कृत में कुछ अन्य व्याख्या की है और हिन्दी में कुछ अन्य व्याख्या कर दी है।

वह सब असत् व्याख्यान है। 'स्वाहा' शब्द के उनके अभिमत अर्थ का खण्डन पहले ही किया जा चुका है। दयानन्द जी ने 'आयुष्' शब्द का 'अदब्धायः' रूप बताया है, किन्तु उन्होंने यह विचार नहीं किया कि मूर्धन्यान्त

कारणं अद एव तृणमध्वर्युः आहुतिं करोति यत् तद् अनक्ति अग्रं जुह्वां मध्यमुपभृति मूलं ध्रुवायामिति। किमर्थं जुहूं च स्रुवं च सम्प्रगृह्णाति किमर्थं वा अनक्ति ? तत्राह—आहुतिर्भूत्वा ःदमाज्यं देवलोकं गच्छादिति। पूर्वोक्तं संप्रग्रहमनूद्य मन्त्रं विधत्ते-अग्नेऽदब्धायोऽशीतमेति। मन्त्रं व्याचष्टे—अशिष्ठो ह्यग्निस्तस्मादाहाशीतमेति। अश्नाति भुङ्क्ते इत्यशी अतिशयेनाशी अशीतमो भोक्तृतमः। पाहि मा दिद्योरिति भागं व्याचष्टे सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह। अविषं नः पितुं कृण्विति व्याचष्टे—गोपाय अन्नं वै पितुरनमीवं न इदमकिल्विषमन्नं कुर्वित्येवैतदाह। अमीवा व्याधिः, स यस्य कार्यतया नास्ति तदनमीवं सुषदा योनावित्यस्य व्याख्यानम् आत्मन्येतदाह—आत्मनि अग्नौ दक्षिणाग्निहोमादिशाखान्तरात्।

'शंय्वन्ते वेदतृणमादायानक्ति प्रस्तरवत् स्रुचि स्रुवे स्थाल्यां च' (का० श्रौ० ३.७।११) शंयुवाके क्रियमाणे वेदतृणं गृहीत्वा प्रस्तरवदग्रं जुह्वां मध्यं स्रुवे मूलं स्थाल्यां व्यन्तु वय इति मन्त्रावृत्याऽञ्ज्यादध्वर्युः। 'प्रास्य-तृणादिपूर्ववत्' (का० श्रौ० ३।७।१३), 'शंय्वन्ते स्रुक्स्रुवं प्रगृह्णात्यग्नेऽदब्धायविति' (का० श्रौ० ३।८।१४)। शंयोर्वाकान्ते कर्मणि कृतेऽध्वर्युः स्रुक्स्रुवं तूष्णीं प्रगृह्य गार्हपत्ये अग्ने अदब्धायविति मन्त्रेण जुहुयात्। स्वाहावाडिति तद्यथा वषट्कृतᳪहुतमेवास्यै तद्भवति।

तथा च श्रुतिसूत्रसम्मतोऽयमर्थः सम्पद्यते—'सव्येनावृत्य दक्षिणाग्नौ जुहोत्यग्नय इति सरस्वत्या इति च' (का० श्रौ० ३।७।१५)। सकृद्गृहीतमाज्यमग्नय इति सरस्वत्या इति मन्त्रेण गार्हपत्यं प्रदक्षिणं परीत्य जुहोति। अदब्धायो अदब्धः अहिंसितः आयुर्मनुष्यो यजमानरूपो यस्याग्नेः सोऽदब्धायुस्तत्सम्बुद्धौ अदब्धायो अहिंसितयजमानाग्ने ! 'आयुरिति अन्ननाम' (निघ० २।७।२३)। अथवा अदब्धमनवखण्डितमायुर्यस्य तत्सम्बुद्धौ हे अदब्धायो अग्ने ! अस्मिन् पक्षे 'छन्दसोणः' (उ० १।२) इति व्युत्पादित उकारान्त आयुशब्दः। अशीतमः अश्नातीत्यशीः 'अश भोजने' अतिशयेनाशीरित्यशीतमो भोक्तृतमः। दीर्घत्वमत्रापि छान्दसम्। यद्वा 'अशूङ् व्याप्तौ' इत्यस्माद्रूपम्। अश्नुते व्याप्नोतीत्यशी सोतिशयितोऽशीतमो व्यापकतमः। एवं स्तुत्वा याचते पाहि मा दिद्योः। उक्तविशेषणद्वययुक्ताग्ने मां दिद्योर्वज्रात्, 'दिद्युदिति वज्रनामसु पठितम्' (निघ० २।२०।१), शत्रुप्रयुक्ताद्वज्रसमादायुधाद् मां पाहि रक्ष। पञ्चम्यर्थे चतुर्थी। बन्धनहेतुर्जालविशेषः प्रसितिः, तस्याः शत्रुप्रयुक्तायाः, मां पाहि। 'प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वा' (नि० ६।१२) इति निरुक्तवचनात्। दुष्टा इष्टिः दुरिष्टिः अशास्त्रीयो यागः, तस्मान्मां पाहि। अदनमद्मनी। दुष्टा अद्मनी दुरद्मनी दुर्भोजनं ततो मां पाहि। चतुर्थ्यः सर्वत्र पञ्चम्यर्थे, 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' (पा० सू० १।४।२५) इति सूत्रात्। पितुरित्यन्ननाम। नोऽस्मदीयमन्नं विषादिकिल्विषरहितं कुरु। 'योनिरिति गृहनाम' (निघ० ३।४)। सुष्ठुसदने सम्यगवस्थानयोग्ये योनौ गृहे मां स्थापयेति शेषः। सुषद्यते स्थीयते यस्यां सा सुषदा तस्यां सुषदा। बिभक्तेराकार इति महीधरः। गृहे स्थितानां नोऽन्नमविषं कुरु। स्त्रीपुंसयोः साभिलाषमेकत्र शयनं संवेशः। तस्य पतिरग्निः। तस्मै स्वाहा हविर्दत्तमस्तु। जीवतः प्रशंसा यशः, तस्य भगिनी स्वसा वाग्रूपा सरस्वती, उभयोरेकाश्रयजन्यत्वात्। तस्यै हविर्दत्तमस्तु। स्वाहावाडिति हविर्दानसम्बन्धिपदद्वयप्रयोगेण हविर्दान आदरातिशयस्य द्योतनाय।

अध्यात्मपक्षेऽपि—हे अग्ने अदब्धायो अनुपक्षीणायो ! कूटस्थनित्यस्वरूपमात्मन् ! अशीतम व्यापकतम ! आकाशादयोऽपि व्यापनाः सन्ति, तदपेक्षयातिशयेन व्यापकः, आकाशादिष्वपि व्यापकत्वात्। मां दिद्योर्वज्रोप-

'आयुष्' शब्द का 'अदब्धायः' रूप कैसे हो पायगा ? उसी तरह 'दिद्यु' शब्द का 'अतिदुःख' अर्थ कैसे होगा ? ऐसे अनेक अप्रामाणिक विचार उन्होंने व्यक्त किये हैं, जिन्हें भाष्य पढने पर अवगत किया जा सकता है।

माद्विपाकविस्फूर्जथोर्दुःखात् पाहि जन्ममृत्युप्रहाणहेतुज्ञानोत्पादनेन रक्ष। प्रसितेः कर्मबन्धनाच्च पाहि कर्मबन्धनमेव प्रकृष्टं बन्धनम्, संसारबन्धनस्य तदपेक्षया नगण्यत्वात्। अविद्याबन्धनाद्वा प्रकृष्टबन्धनाद्रक्ष। दुरिष्टेरपि सर्वान्तर्यामित्वान्मनोबुद्धिनियामकत्वात् त्वमेव वेदशास्त्रतदुक्तार्थप्रकाशननिष्ठोत्पादनादिद्वाराऽशास्त्रीयाज्जनात् त्वमेव रक्षितुमर्हसि। दुरद्मन्या दुर्भोजनादपि विवेकोत्पादनरागादिप्रमादवारणद्वाराऽपि मां रक्ष। नोऽस्माकं पितुमन्नमन्नोपलक्षितं सकलभोग्यजातमविषं निष्किल्बिषं कृणु त्वमेव सम्पादय, आहारशुद्धेर्भगवन्निष्ठाहेतुत्वात्, 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' (छा० ७।२६।२) इति श्रुतेः। सुषदा योनौ शोभनस्थितिध्यानधारणाभक्तिसम्पादनयोग्ये गृहे मां स्थापयेति शेषः। गृहशरणादिपदमाश्रयपरम्, सुष्ठु सद्यते यस्यां सा, तस्यां सुखदस्थित्याश्रये भगवद्रूपे आश्रये मां निवेशय। संवेशपतये संविशन्ति जना यत्र ते संवेशा लोकास्तेषां पतिः परमेश्वरोऽग्निः पापतापनाशकः परमेश्वरस्तस्मै स्वाहावाट् सम्पूर्णभावेन परमादरेणाहमात्मानं समर्पयामि। अथवा संवेशस्य स्त्रीपुंसयोः साभिलाषशयनस्य पतिरग्निः, तादृशशयनमूलकविवाहस्याग्निसाक्षिकत्वात्। संवेशपतिः परमात्मा च, संवेशस्य तदुपादानवेदमूलकत्वात्। तस्मै परमात्मने समर्पणं युक्तम्। सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा यशसा प्रशंसनीयेन विश्वपावनत्वादिगुणेन सञ्जातायै तद्भगिन्यै सर्वेश्वरकृपायै स्वाहा इदमात्मस्वरूपं हविर्दत्तमस्तु ॥ २० ॥

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳस्वाहा वाते धाः ॥ २१ ॥

अत्र श्रीदयानन्दः—'हे जगदीश्वर येन त्वं वेदोऽसि परमेश्वरो ऋग्वेदादिर्वा असि सर्वं च वेद येन त्वं देवेभ्यो विद्वद्भ्यो वेदोऽभवस्ते वेदयिता भवसि भवति वा स विज्ञानप्रकाशनेन त्वं मह्यमपि वेदो ज्ञापको भूयाः। हे गातुविदो देवा गीयते स्तूयतेऽनया सा गातुः स्तुतिस्तस्य विदो वक्तारः 'गा स्तुतौ' इति 'कमिमनिजनि…' (उ० १।७३) इत्यनेन तुप्रत्ययः। भवन्तो येन विज्ञानप्रकाशेन सर्वा विद्या विदन्ति तेन यूयं गातुं गीयते ज्ञायते येन स वेदस्तं वित्त्वा लब्ध्वा गातुं गीयते शब्द्यत इति गातुर्यज्ञस्तमित प्राप्नुत। हे मनसस्पते मनसो ज्ञानस्य पालक देव ! त्वमिमं प्रत्यक्षमनुष्ठातव्यं वाते वायौ धाः धापय धापयति वा स्वाहा सुष्ठु आहुतं हविः करोत्यनया सा। हे देवास्तमिमं यज्ञं क्रियाकाण्डं संसारं वा मनसस्पतिं परमेश्वरमेव देवं नित्यमुपासीध्वम्। पक्षान्तरे सर्वत्र व्यत्ययः। हे देव येन त्वं चराचरज्ञातासि सर्वं जगज्जानासि। येन विज्ञानेन वेदेन वा विद्वद्भ्यः पदार्थानां वेदयिता भवसि, तेन विज्ञानप्रकाशेन विज्ञानजिज्ञासवे मह्यं वेदयिता भूयाः। हे गातुविदः स्तुतिविदो देवाः ! येन वेदेन मनुष्याः सर्वा विद्या जानन्ति, तेन यूयं गातुं विशेषविज्ञानं वित्त्वो-

अध्यात्मपक्ष में—प्रस्तुत मन्त्र के द्वारा परमेश्वर की अत्यधिक व्यापकता को बताया गया है और सर्वविध विपत्तियों से अपनी सुरक्षा की प्रार्थना की गई है ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—कुशमुष्टिनिर्मित हे वेदपदार्थ ! तुम ऋग्वेदादिरूप हो। हे प्रकाशक वेद ! जिस प्रकार तुम देवताओं के बोधक हुए हो, उसी प्रकार मेरे बोधक बनो। हे यज्ञवेत्ता देवताओं ! हमारा यज्ञ आरम्भ हुआ, यह ज्ञात होते ही तुम सब यज्ञ में पधारो। हमारे यज्ञ से सन्तुष्ट होने पर अपने मार्ग से जाओ। हे मन के अधिपति चन्द्ररूप परमेश्वर ! मैं इस अनुष्ठित यज्ञ को तुम्हारे स्वाधीन कर रहा हूँ। तुम उसे वायुरूप देवता में स्थापन कर दो। 'वेदोऽसि' इस मन्त्र से यजमानपत्नी वेद=कुशमुष्टि को खोल दे। 'देवा गातुविदः' इस मन्त्र से ध्रुवा पात्र से समिष्टयजुःसंज्ञक होम करना चाहिये ॥ २१ ॥

पलभ्य गातुं प्रशंसायोग्यं वेदं प्राप्नुत। हे मनसस्पते विज्ञानपालक देव सर्वजगत्प्रकाशक परमेश्वर! भवानिमं प्रत्यक्षानुष्ठानयोग्यं यज्ञं क्रियाकाण्डेन सिद्धं यज्ञरूपं संसारं स्वाहाक्रियानुकल्पे वाते पवने स्थापय। हे देवास्तं विज्ञानदातारं परमेश्वरमुपासतम्' (पृ० १९४), 'हे मनुष्याः! सर्वत्वेत्रा वेदविद्या प्रकाशिता। तमेवोपास्यं विदित्वा क्रियाकाण्डमनुष्ठाय सर्वहितं सम्पादयत, नैव वेदविज्ञानेन तत्रोक्तविधानानुकूलस्यानुष्ठानेन च विना मनुष्याणां कदाचित् सुखं भवति। वेदविद्यया सर्वसाक्षिणं सर्वतो व्यापकं मत्वैव नित्यं धर्मस्यानुष्ठातारो भवत' (पृ० १९५) इति।

तदेतत्सर्वं वेदाक्षरबाह्यमेव, अनुपपत्तेः, उक्तविधानानुकूलं किमित्यस्यानुक्तत्वात्। तदनुष्ठानेन विना मनुष्याणां नैव कदाचित्सुखं भवतीति निरर्थकमेव, यतो मन्त्ररूपे वेदे किञ्चिद्विधानं नास्त्येव, विधिनिषेधानां ब्राह्मणान्तर्गतत्वात्, तेषां च त्वया वेदत्वानभ्युपगमात्। प्रमाणविधुरो व्यत्ययोऽपि न युक्तः, यथाश्रुतानुपपत्तावेव तस्याश्रयणीयत्वात्। तस्या विदो वक्तार इत्यप्यसाम्प्रतम्, विदेर्वचनार्थतायाः प्रमाणविरहात्। गीयते शब्द्यते यः स यज्ञ इत्यप्यसङ्गतम्, सर्वस्य शब्द्यत्वाविशेषात्। न वा वायुजलशुद्धिप्रयोजनो यज्ञो वेदेन शब्द्यते, पशुपुत्रादिफलकब्राह्मणसूत्राद्युक्तयज्ञस्यैव वेदवेद्यत्वात्। न च मनस्पदेनाधुनिकविज्ञानबोधः सम्भवति, तेन तस्य शक्तिग्रहाभावात्। न वा संसारो यज्ञशब्दार्थः, व्याकरणकोशादिभिरसमर्थनात्।

शतपथे तु ब्राह्मण-सूत्र-याज्ञिकपद्धतिसम्मतस्यैव यज्ञस्य समर्थनं दृश्यते। तथाहि—'अथ वेदं पत्नी विस्र्ँसयति। योषा वै वेदिर्वृषा वेदो मिथुनाय वै वेदः क्रियतेऽथ यदेनेन यज्ञ उपालभते मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते' (श० १।९।२।२१), 'पत्नी वेदं प्रमुञ्चति वेदोऽसीति योक्त्रं च' (का० श्रौ० ३।८।२)। नहि परमात्मनो वेदस्य वा पत्नीकर्तृकं विस्रंसनं सम्भवति, तस्मात् कुशमुष्टिरेवात्र वेदपदार्थः। नहि 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इति श्रुतौ वेदिकरणात् प्राक् परमेश्वरस्य वेदस्य वा निर्माणं सम्भवति। 'प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वा बध्नातु सविता सुशेवः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि॥' (ऋ० सं० १०।८५।२४) इति पत्नी वेदं कुशमुष्टिविशेषं वेदोऽसीति मन्त्रं पठित्वा विस्रंसयेत्। 'यद्धि युक्तं न विमुच्यते प्र तद्ह्यते' (श० ६।७।४।८) इत्यत्र तदर्थवादं वक्ष्यति। पत्न्याः कर्तृत्वेऽप्यर्थवादं (श० १।९।२।२२) इत्यत्र वक्ष्यति। विस्रंसनप्रसङ्गात् तदुत्पत्तिविनियोगावाह। तत्रोत्पत्तिस्तावत् 'योषा वै वेदिः' इति। विनियोगस्तु—'अथ यत्' इति। 'अथ यत् पत्नी विस्र्ँसयति। योषा वै पत्नी वृषा वेदो मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते। तस्माद्वेदं पत्नी विस्र्ँसयति' (श० १।९।२।२२)। एतेन वेदेन यज्ञे यत्किञ्चिद् उपालभते उपगृह्णाति। गृहीतमपि सद् उपचर्याय उपकाराय सुगृहीतत्वाद् यद् गृह्णाति, यन्मिथुनं क्रियते उपग्राह्यस्य च वेदस्येत्युपग्रहणे विनियोगः—'सा विस्र्ँसयति वेदोसि…वेदो भूया इति यदि यजुषा चिकीर्षेदेतेनैव कुर्यात्' (श० १।९।२।२३)।

विस्रंसनमनूद्य वेदोऽसीति मन्त्रं विधत्ते—यदि यजुषा चिकीर्षेदेतेन वेदोऽसीति मन्त्रेणैव विस्रंसनं कुर्यात्। यदिशब्दात् पाक्षिकं वेदस्य यजुषा करणमिति गम्यते। अथ यजुषाकरणचिकीर्षाऽनुपपन्नेति सामर्थ्यात् पतिः कुर्यात् करणमासाद्याज्यनिर्वापकाले चिकीर्षति। कः पुनः कुर्याद् यजमानः शाखान्तरात् मह्यं भूया इति मन्त्रलिङ्गाच्चेति हरिस्वामी। 'तमा वेदेः स्ँस्तृणाति। योषा वै वेदिर्वृषा वेदः। पश्चाद्वै परीत्य वृषा

भाष्यसार—इस मन्त्र की स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह सब वेदाक्षरबाह्य है। स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र के द्वारा जो विधान बताये हैं, वे अनुचित हैं, क्योंकि मन्त्ररूप वेद में कोई विधि होता ही नहीं है। विधि-निषेध तो ब्राह्मणरूप वेद में हुआ करते हैं और 'ब्राह्मण' को तो स्वामी दयानन्द 'वेद' नहीं मानते। तथा

योषामभिद्रवति पश्चादेवैनामेतत्परीत्य वृष्णा वेदेनाधिद्रावयति । तस्मादा वेदेः सꣳस्तृणाति' (श० १।९।२।२४) । आङ् अभिविधौ । वेदिं व्याप्य सꣳस्तृणात्यध्वर्युः । हौत्रे विशेषवचनाद् होता संस्तृणाति । अभिव्याप्तेरर्थवादः— यथा पश्चाद्वै परीत्य वृषा योषामभिद्रवति तथैव पश्चादेवैनां वेदिं परीत्याभिव्याप्य वृष्णा वृषरूपेण वेदेनाधिद्रावयति । तस्मादावेदेः संस्तरणम् । नहि वेदेन परमात्मना वेदेः स्तरणं सम्भवति, किन्तु विस्रस्तकुशैरेव वेदेः स्तरणं सम्भवति ।

'अथ समिष्टयजुर्जुहोति। प्राङ्मे यज्ञोऽनुसन्तिष्ठाता इत्यथ यद्धुत्वा समिष्टयजुः पत्नीः संयाजयेत्। प्रत्यङ्ङु हैवास्यैष यज्ञः सन्तिष्ठेत । तस्माद्वा एतर्हि समिष्टयजुर्जुहोति प्राङ्मे यज्ञोऽनुसन्तिष्ठाता इति' (श० १।९।२।२५) 'अथ यस्मात्समिष्टयजुर्नाम । या वा एतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वै तत्ताः समिष्टा भवन्ति। तद्यत्तासु सर्वासु समिष्टास्वथैतज्जुहोति तस्मात् समिष्टयजुर्नाम' (श० १।९।२।२६), 'अथ यस्मात् समिष्टयजुर्जुहोति। या वा एतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायत उप ह वै ता आसते यावन्न समिष्टयजुर्जुह्वतीदं नु नो जुह्वत्विति ता एवैतद्यथायथं व्यवसृजति । यत्र यत्रासां चरणं तदनु यज्ञं वा एतदजीजनत यदेनमतत तं जनयित्वा यत्रास्य प्रतिष्ठा तत्प्रतिष्ठापयति । तस्मात् समिष्टयजुर्जुहोति' (श० १।९।२।२७), 'स जुहोति । देवा गातुविद इति गातुविदो हि देवा गातुं वित्त्वेति यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह गातुमितेति तदेतेन यथायथं व्यवसृजति मनसस्पत इमं देवयज्ञꣳस्वाहा वाते धा इत्ययं वै यज्ञो योऽयं पवते तदिमं यज्ञꣳ सम्भृत्यैतस्मिन् यज्ञे प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञꣳसन्दधाति तस्मादाह स्वाहा वाते धा इति' (श० १।९।२।२८) । 'स्तृणात्यावेदेः' (का० श्रौ० ३।८।३)। गार्हपत्यस्योत्तरत आरभ्य वेदेः पूर्वान्तं यावद्वेदं स्तृणीयात् । अभिविधावाङ् । 'ध्रौवꣳसमिष्टयजुर्जुहोति देवा गातुविद इति' (का० श्रौ० ३।८।४)। अध्वर्युर्ध्रौवमाज्यं जुह्वां गृहीत्वा वातोद्देशेन जुह्वा समिष्टयजुःसंज्ञकं होममाहवनीये कुर्यात् । अत्र होमे वातस्य देवतात्वमिति कर्काचार्यः । अथ समिष्टयजुर्जुहोतीति श्रुत्या समिष्टयजुर्होमविधानम् । तस्यैवार्थवादः—प्राङ्मे यज्ञोऽनुसन्तिष्ठाता । २६ कण्डिकायां समिष्टयजुर्नामनिर्वचनम् । एतेन यज्ञेन या या देवता ह्वयति याभ्यो देवताभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वैता देवतास्तत् तस्मिन् समिष्टा भवन्ति । तस्माद्यत्तासु सर्वासु समिष्टासु समिष्टयजुर्होमं करोति, तस्मादस्य समिष्टयजुर्नाम भवति । तस्मादेव यावन्न समिष्टयजुर्जुह्वति तावत् ता देवता उप ह समीप एव भवन्ति । इदं नु नोऽस्मभ्यं जुह्वत्विति । ता एवैतद्यथायथं व्यवसृजति विसृजति । यत्र यत्रासां देवतानां चरणं तदनु यज्ञं वा एतत् अजीजनत् यदेनं यज्ञं अतत विस्तीर्णवान् तं जनयित्वा यत्रास्य प्रतिष्ठा भवति तत्तत्र प्रतिष्ठापयति । तस्मात् समिष्टयजुर्जुहोति । स जुहोतीति तत्समिष्टयजुर्होममनूद्य देवा गातुविद इति मन्त्रं विधत्ते । वातेधा इति व्याचष्टे । तदिमं यज्ञं संभृत्यैतस्मिन् वातरूपे यज्ञे प्रतिष्ठापयति तदेतद् यज्ञेन यज्ञꣳसन्दधाति ।

तदनेन वेदोऽसीति मन्त्रस्यायमर्थः संपद्यते—हे वेददेव द्योतनात्मक कुशमुष्टिविशेष ! त्वं वेदोऽसि । 'विद् ज्ञाने' वेदितासि । यो ह्युपग्रहः स सन्निकर्षाद् यज्ञं जानाति । वेदश्च शतपथोक्तरीत्या यज्ञे ह्युपग्रहः, वेदेनैव यज्ञ उपगृह्णाति । यतस्त्वं वेदोऽसि, अतो ब्रवीमि येन कारणेन त्वं देवेभ्यो देवानाम्, विभक्तिव्यत्ययः, वेदोऽभवः ज्ञापकोऽभूः, तेनैव कारणेन मह्यं मम वेदो ज्ञापको भूयाः भव । अत्रापि वेदाधिष्ठातृदेव एव प्रार्थ्यते । देवा गातुविद इति समिष्टयजुर्होममन्त्रः । 'इयं विराट्छन्दस्का वातदेवत्या मनसस्पतिदृष्टा ऋक्' इति महीधराचार्यः । अस्याः पूर्वार्धेन देवता व्यवसृजति । 'कै गै शब्दे' इति गीयते प्रतिपाद्यते मन्त्रब्राह्मणात्मकैर्वेदैरिति

अप्रामाणिक व्यत्यय जो किया है, वह उचित नहीं है, क्योंकि यथाश्रुत की अनुपपत्ति होनेपर ही व्यत्यय का आश्रय लिया जाता है । इसी प्रकार अनेक त्रुटियाँ उपलब्ध हो रही हैं । अतः करपात्रभाष्य में श्रुति-सूत्र-याज्ञिक पद्धति के अनुसार उव्वट-महीधर सम्मत जो अर्थ किया गया है, वही सब तरह से समुचित है ।

गातुर्यज्ञः। तं विदन्तीति गातुविदो देवाः। हे तादृशा यज्ञविदो देवाः! गातुं यज्ञमित्वा अस्मदीयो यज्ञः प्रवृत्त इति विदित्वा गातुं यज्ञमित आगच्छत। यद्वा गातुर्गन्तव्यो मार्गः, तमित अस्मदीयेन यज्ञेन सन्तुष्टाः स्वकीयं मार्गं गच्छत। एवं देवान् यथायथं विसृज्य मनसस्पतिमाह—मनसस्पतिर्मनसोऽधिपतिश्चन्द्रमा, हे चन्द्रदेव! इमं यज्ञं वातेधाः वाते वायौ धारयति वाते हि यज्ञोऽवतिष्ठते, 'वायुरेवाग्निस्तस्माद् यदेवाध्वर्युरुत्तमं कर्म करोत्यथैतमेवाप्येति' (श० १०।४।५।१) इति श्रुतेरित्युव्वटाचार्यः। हे मनसस्पते! देवान् यष्टुमस्मदीयस्य मनसः प्रेरणेन पालक! अन्तर्यामिन्! इममनुष्ठितं यज्ञं स्वाहा त्वद्धस्ते समर्पयामि देव वातेधाः वायुरूपे देवे धाः स्थापय। 'वाताद्यज्ञः प्रयुज्यताम्' इति काण्वमन्त्रेण वातस्य यज्ञप्रवर्तकत्वमुक्तम्। अतः समाप्तावपि यज्ञस्थापनं तत्रैव युक्तम्। तथैवाह तित्तिरिः—'ब्रह्मवादिनो वदन्ति। स त्वा अध्वर्युः स्यात् यो यज्ञं प्रयुङ्क्ते। तदेनं प्रतिष्ठापयतीति' (तै० ब्रा० ३।३।९।१२)। तस्मात् श्रुतिसूत्रयाज्ञिकपद्धतिसायणोव्वटमहीधरसम्मतोऽयमेव मन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे त्वेवमपि योजयितुं शक्यते—हे देव! दीव्यति जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलया क्रीडतीति देवः परमेश्वरस्तत्सम्बुद्धौ हे देव! येन त्वं वेदः वेदिता सर्वसाक्षी असि त्वं सर्ववेदः-देवानामपि वेदो ज्ञापकोऽभवो भूः, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० उ० ६।१८) इति श्रुतेः। तेन हेतुना मह्यं मुमुक्षवे वेदः स्वरूपसाक्षात्कारकारको भूयाः भवेः। अथवा येन त्वं नित्यं विज्ञानरूपोऽसि त्वं स्वपरस्वरूपं सम्यग् वेद जानासि। त्वमेव देवेभ्यो देवानां हिताय वेदोऽभव ऋग्यजुःसामादिरूपोऽभूः, वेदतदुक्तयज्ञैरेव देवानामाप्यायनसम्भवात्। तेन मह्यमपि वेदमहातात्पर्यविषयब्रह्मात्मज्ञापको भूत्वा ब्रह्मात्मसाक्षात्कारं सम्पादय। हे गातुविदो यज्ञविदो देवा अग्न्यादयः! गातुं मदीयं यज्ञाद्याराधनं वित्त्वा ज्ञात्वा प्रसन्ना भूत्वा गातुं भगवन्मार्गं गन्तुं मामित प्रापयत। अन्तर्भावितणिजर्थोऽत्र द्रष्टव्यः। देवानामनुग्रहेण निर्विघ्नतया विविदिषावेदनादिसम्भवात्, 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति। यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० उ० ४।४।२२) इति श्रुतेः। हे मनसस्पते मनोबुद्ध्यादिप्रवर्तक परमेश्वर! 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥' (भ० गी० १८।६१) इति भगवद्वचनात्। हे देव! इमं यज्ञं मदनुष्ठितं त्वदाराधनलक्षणं स्वाहा तुभ्यं समर्पयामि वातेन प्राणेनेध्यन्ते दीप्यन्त इति वातेधाः कर्मज्ञानेन्द्रियवृत्तयः, ताश्च त्वयि स्वाहा समर्पयामः॥ २१॥

सम्बर्हिरङ्क्ताᳯहविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः। समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत्स्वाहा॥ २२॥

अत्र स्वामिदयानन्दः—'हे मनुष्य भवान् यद् यदा इदं होतव्यं द्रव्यं हविषा होतुमर्हेण शुद्धेन संस्कृतेन हविषा घृतेन सह संयुक्तं कृत्वादित्यैर्वसुभिर्मरुद्भिर्द्वादशभिर्मासैरग्न्यादिभिरष्टभिर्वसुभिर्वायुविशेषैः सह सुखं

अध्यात्मपक्ष में—परमेश्वर को सर्वसाक्षी बताया है। उसीसे अपने स्वरूपसाक्षात्कार की प्रार्थना की गई है। परमेश्वराराधनात्मक यज्ञ को परमेश्वर के ही अर्पण करने के लिये कहा गया है। अपनी दशेन्द्रियों की वृत्तियों को परमेश्वर के ही अर्पण करने की बात मन्त्र के द्वारा बताई गई है॥ २१॥

मन्त्रार्थ—इन्द्रदेवता संस्कारयुक्त घृत से दर्भ को अञ्जन करे। उसी तरह वह आदित्य, वसु, मरुत् और विश्वेदेव के सहित दर्भ को अञ्जन करे। इनके द्वारा किया हुआ वह दर्भ द्युलोक स्थित आदित्यरूप ज्योति को प्राप्त हो। ये हवि सुहुत हों। 'सम्बर्हि' इस मन्त्र से बर्हि (दर्भ) का हवन करे॥ २२॥

समङ्क्तां संयोजयतु। अयमिन्द्रः सूर्यलोको यज्ञे स्वाहा यत्सुगन्धादिद्रव्ययुक्तं हविः समङ्क्ताम्। सम्मिश्रितैर्विश्वदेवेभिर्दिव्यैः स्वकीयै रश्मिभिर्नभः सङ्गच्छतु सम्यक् प्रकटयतु' (पृ० १९७), 'यज्ञे संशोधितं यद्धविरग्नौ प्रक्षिप्यते तदन्तरिक्षे वायुजलसूर्यकिरणैः सह वर्तमानमितस्ततो गत्वा आकाशस्थान् सर्वान् पदार्थान् दिव्यं कृत्वा सततं प्रजाः सुखयति। तस्मात् सर्वैरुत्तमसामग्र्या श्रेष्ठैः साधनैस्त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेयः' (पृ० १९७) इति भावार्थः। मन्त्रे बर्हिःपदमस्ति। बृहन्ते सर्वे पदार्था यस्मिंस्तद्बर्हिरन्तरिक्षमिति व्याख्यातम्, अन्वये च तत् त्यक्तमेव। 'हे मनुष्य! भवान् यद् यदा हविर्घृतादियुक्तं होष्यते, तदा तद् आदित्यैर्मासैः, वसुभिरग्न्यादिभिरष्टनिवासस्थानैः, मरुद्भिः प्रजाजनैः सह सम्भूय सम्यक् सुखं प्रकाशयिष्यति। इन्द्रः सूर्यलोकः स्वाहा उत्तमक्रियया यज्ञे त्यक्तं सुगन्ध्यादिपदार्थयुक्तं हविः, अन्तरिक्षं सङ्गच्छतु सङ्गमयति। तेन सम्मिश्रितं विश्वदेवेभिः स्वकिरणैर्दिव्ये स्वीये प्रकाश एकत्रितं नभोजलं समङ्क्ता सम्यक् प्रकटयति' (पृ० १९७)। अत्र तदीयव्याख्यानेऽपि परस्परं समन्वयो नास्ति। पूर्वोक्तभावो हिन्दीव्याख्यानुसारेण गृहीतः। तत्राप्यन्तरिक्षपदं नास्ति। पदार्थेऽन्वयाय मया योजितम्। मरुद्भिर्वायुविशेषैरित्यर्थः कृतः, हिन्द्यां तु प्रजाजनैरित्यर्थः कृतः। स्वाहा इत्यस्य शोभनं हविर्जुहोति यया क्रियया सा इत्यादिरर्थः। इत्थमस्य व्याख्याने सर्वत्र निरङ्कुशत्वमेव दृश्यते। यथाकथञ्चित् निघण्ट्वाद्याश्रयेण मन्त्राणामभिप्रेतार्थविरुद्धोऽप्यर्थः कर्तुं शक्यते। श्रीवंशीधरेण विदुषा श्रीमद्भागवताद्यपद्यस्याभिप्रेतार्थानुगुणानि शताधिकानि व्याख्यानानि कृतान्येव।

स्वयमेवायमयं मन्त्रः (श० १।९।२।२९-३१) इत्यत्र व्याख्यात इति वदति। तदपि नानुसरत्यस्य व्याख्यानम्। तथाहि—'अथ बर्हिर्जुहोति। अयं वै लोको बर्हिरोषधयो बर्हिरस्मिन्नेवैतल्लोक ओषधीर्दधाति। ता इमा अस्मिँल्लोक ओषधयः प्रतिष्ठितास्तस्माद् बर्हिर्जुहोति' (श० १।९।२।२९)। अस्यां कण्डिकायाम् अयं लोको बर्हिरिति स्पष्टमुक्तम्। इदंपदेनापरोक्षः पृथिवीलोक एव गृह्यते। कथमयं लोको बर्हिरित्युपपादयति श्रुतिः। ओषधयो बर्हिस्तस्माद् बर्हिषो होमेनास्मिँल्लोक ओषधीर्दधाति। ताश्चौषधयो व्रीहियवाद्या अस्मिन्नेव लोके प्रतिष्ठिताः, तस्माद् बर्हिर्जुहोति। अत्र बर्हिष्पदवाच्या दर्भा एव, तत्सामान्या व्रीहियवाद्या अपि बर्हिष्पदार्थाः। ओषधीनां प्रतिष्ठाधारत्वादस्मिन् पृथिवीलोकेऽपि गौण्या वृत्त्या बर्हिःपदं प्रवर्तते। अत्र बर्हिर्होमः श्रूयते। नान्तरिक्षलोकस्य न वास्य लोकस्य होमो भवति। तस्माद् बर्हिःपदेन दर्भ एव गृह्यते। बृहि वृद्धाविति धातोर्बर्हिःपदनिष्पत्तिः। तस्मात् परिवृद्धोऽयं लोको बर्हिरुच्यते। तथा च धात्वर्थयोगादयं लोको बर्हिः, ओषधित्वांशे सर्वा ओषधयो बर्हिःपदार्थाः। ततश्च यद्बर्हिरधियज्ञं जुहोति तत एतल्लोके ओषधीः (बर्हिष ओषध्यात्मकत्वात्) दधाति। तत्रेदं तथैव दृश्यते। 'बर्हिः सम्बर्हिरिति' (का० श्रौ० ३।८।५)। अनेन वेद्यां स्तृतं बर्हिर्जुह्वां निधायाहवनीये जुहोति। 'तां वा अतिरिक्तां जुहोति। समिष्टयजुर्ह्यवान्तो यज्ञस्य यदध्यूर्ध्वं७-

भाष्यसार—स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या में मनुष्य को नित्य यज्ञानुष्ठान के लिये कहा है। मन्त्र में 'बर्हि' पद है, उसकी व्याख्या भी की है, किन्तु अन्वय करते समय उसे भूल गये। व्याख्या में पदों का परस्पर कोई समन्वय नहीं है। संस्कृत व्याख्या में कुछ अन्य अर्थ किया है और उसी की हिन्दी करते समय कुछ अन्य ही अर्थ कर दिया है। तात्पर्य यह है कि व्याख्या करने में निरङ्कुशता बरती है।

श्रुति-सूत्र-याज्ञिकपरम्परा के अनुकूल जो अर्थ करपात्रभाष्य में किया गया है, उसी को मन्त्रार्थ के रूप में लिख दिया गया है।

समिष्टयजुषोऽतिरिक्तं तद्यदा हि समिष्टयजुर्जुहोत्यथैताभ्यो जुहोति तस्मादिमा अतिरिक्ता असम्मिता ओषधयः प्रजायन्ते' (श० १।९।२।३०)। बर्हिराहुति यज्ञादतिरिक्तां जुहोति। कुतः ? समिष्टयजुर्होमस्यैव यज्ञान्तत्वात्, तस्य देवताविसर्जनार्थत्वात्। ततश्च या ऊर्ध्वं समिष्टयजुषः सातिरिक्ता। तृप्तासु गतासु देवतासु तद्यदा समिष्टयजुर्जुहोति, अथ तदनन्तरं एताभ्य ओषधिभ्योऽर्थाय तादर्थ्ये चतुर्थी। ओषधयोऽस्मिल्लोके कथं नाम भविष्यन्तीत्येवमर्थं बर्हिर्जुहोति। यस्माद्यज्ञादतिरिक्तोऽयं बर्हिर्होमस्तस्मादतिरिक्ता तस्यैव व्याख्यानमसम्मिता अधिका अपरिमिता ओषधयः प्रजायन्ते बर्हिर्होमप्रभावात्।

'स जुहोति संबर्हिरङ्क्ताꣳहविषा ··· स्वाहेति' (श० १।९।२।३१)। विहितं हविर्होममनूद्य संबर्हिरिति मन्त्रं विधत्ते—स जुहोति संबर्हिरङ्क्तामिति। इयं बर्हिर्दैवत्या विराड्रूपा त्रिष्टुब्बर्हिर्होमे विनियुक्ता। तस्मात् श्रुतिसूत्रसम्मतोऽयं सायणादिसम्मतोऽर्थः—बर्हिरिति द्वितीया। इन्द्रो देवो बर्हिः बर्हिर्होमहोतव्यं दर्भं समङ्क्तां हविषा हविःसंस्कारयुक्तेन घृतेन सम्यगञ्जनोपेतं स्निग्धं करोतु। 'अञ्जु व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु'। स चेन्द्रः नैकलः, किन्त्वादित्यैर्वसुभिश्च द्विविधैर्देवगणैश्च सहितः समङ्क्ताम्। तथा मरुद्भिर्देवगणैः सहितः समङ्क्ताम्। तथा विश्वेदेवैर्भिर्विश्वनामकैश्च देवगणैः सहितः समङ्क्ताम्। एतैर्देवैर्यद्दत्तं तदित्यध्याहारः। नभ इत्यादित्यनामसु पठ्यते। तदुक्तम्—बर्हिर्दिव्यलोके वर्तमानं नभ आदित्यं गच्छतु प्राप्नोतु। स्वाहा इदं बर्हिर्देवोद्देश्येन दत्तमस्तु। मन्त्रे समित्युपसर्गस्यावृत्त्या अङ्क्तामिति क्रियापदस्यावृत्तिर्ज्ञेया। एवं नात्र बर्हिःपदस्याकाशोऽर्थः। न वात्र मासानामग्न्यादीनां वा बर्हिःसंयोजकत्वमस्ति, तेषां जडत्वात्।

अध्यात्मपक्षे तु—बर्हिः बृहत्तमं यद् ब्रह्म तदिन्द्रो घृतेन घृतोपमेन स्नेहेन हविषा प्रेममयेन हविर्द्रव्येण समङ्क्तां स्नेहयतु, पूर्णकामस्य तस्य प्रेमातिरिक्तैर्द्रव्यैः सन्तोषासम्भवात्, 'रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय' इति शिष्टैरुक्तत्वात्। नैकल इन्द्रः, किन्त्वादित्यैस्तदधिष्ठातृदेवैर्वसुभिर्मरुद्भिश्च सह इन्द्रः समङ्क्ताम्। विश्वदेवैभिश्च देवैः सह समङ्क्ताम्, सर्वेषां देवानां प्रेममयैरुपासनैरेव तेषामुद्दिधीर्षया भगवतोऽवतरणसम्भवात्। यद्वा इन्द्र आत्मा इदं सर्वमात्मत्वेन दृष्टवान् इतीन्द्रः 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' (ऐ० उ० ३।१४)। स पूजितः प्रसन्नैरादित्यैः सह मरुद्भिर्विश्वेदेवैः सर्वैर्देवैः सह समङ्क्ताम्। तदनुग्रहैरुपबृंहितः समङ्क्ताम्। यद्यस्मात् प्रेम्णो दिव्यं नभो भूताकाशाद्विलक्षणं दिव्यं चिदाकाशात्मकं ब्रह्म, 'खं ब्रह्म' (वा० सं० ४०।१७) इति श्रुतेः। गच्छतु प्राप्नोति। स्वाहा तस्मिन् ब्रह्मणि स्वं सर्वस्वं हुतमस्तु ॥ २२ ॥

अध्यात्मपक्ष में—देव-मानवादि भक्त परमेश्वर को कोई वस्तु अर्पण करने के लिये जब विचारने लगे, तो वे कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे थे, क्योंकि वे कहने लगे कि हे भगवन् !

'रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय'।

भगवान् तो पूर्णकाम, आप्तकाम हैं। तब भक्तों ने निर्णय लिया कि प्रेम ही एकमात्र ऐसी वस्तु है, जिसे अर्पित करने पर भगवान् अवश्य सन्तुष्ट हो सकते हैं। प्रेम से भिन्न कोई भौतिक द्रव्य ऐसा नहीं है, जिससे हम भगवान् को सन्तुष्ट कर सकें। अतः हमारा जो सर्वस्व है, उसे हम भगवान् के अर्पण करें ॥ २२ ॥

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति। पोषाय रक्षसां भागोऽसि ॥ २३ ॥

अत्र श्रीदयानन्दः—'को मनुष्यस्त्वा तं यज्ञं विमुञ्चति, कोऽपि नेत्यर्थः। यश्च यज्ञं विमुञ्चति त्वा तं स यज्ञः परमेश्वरो विमुञ्चति। यज्ञकर्ता कस्मै प्रयोजनाय त्वा तं पदार्थसमूहमग्नौ विमुञ्चति ? यतः सर्वसुखप्राप्तिर्भवेत्तस्मै पोषाय त्वा तं विमुञ्चति, किन्तु यः पदार्थः सर्वोपकारे यज्ञे च न प्रयुज्यते स रक्षसां भागोऽसि भवति' (पृ० १९८) इत्यादि, तदपि यत्किञ्चित्, प्रमाणशून्यत्वात्। व्याख्यानमिदं तदभिमतशतपथविरुद्धं च।

तथाहि—'अथ प्रणीता दक्षिणतः परीत्य निनयति। युङ्क्ते वा एतद्यज्ञं यदेनं तनुते स यन्न निनयेत् पराङ् हाविमुक्त एव यज्ञो यजमानं प्रक्षिणीयात्तथो ह यज्ञो यजमानं न प्रक्षिणाति तस्मात् प्रणीता दक्षिणतः परीत्य निनयति' (श० १।९।२।३२)। (श० १२।५।२।७) इत्यत्र प्रणीताप्रणयनं वक्ष्यति। अध्वर्युरुत्तरपार्श्वाद् दक्षिणपार्श्वं (आहवनीयं प्रदक्षिणतो) गत्वा स्वदेशेऽवस्थिता एव प्रणीता निनयति। तत्रत्या आपो नीचैर्नयति। 'युङ्क्त एव वा' इत्यादिना तदर्थवादः। यन्निनयते एतत् प्रणीतानिनयनेन एनं यज्ञं तनुते यन्न निनयते पराङ् हाविमुक्तोऽनावृत्तो यज्ञो यजमानं प्रक्षिणीयाद् हिंस्यात्, तथा नीयमानासु प्रणीतासु तु न प्रक्षिणाति न हिनस्ति। 'स निनयति। कस्त्वा विमुञ्चति......पोषायेति। तत्पुष्टिमुत्तमां यजमानाय निराह स येनैव प्रणयति तेन निनयति येन ह्येव योज्यं युञ्जन्ति तेन विमुञ्चन्ति योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति योक्त्रेण विमुञ्चन्त्यथ फलीकरणान् कपालेनाधोऽधः कृष्णाजिनमुपास्यति रक्षसां भागोऽसीति' (श० १।९।२।३३)। प्राग्विहितं निनयनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते–कस्त्वेति। तथैवाह कात्यायनः—'वेद्यां प्रणीता निनयति परीत्य कस्त्वेति' (का० श्रौ० ३।८।६)। अध्वर्युर्वेदिमध्ये दक्षिणसंग्रहसमीपे प्रणीता आसाद्य स्वयमाहवनीयं प्रदक्षिणीकृत्य ब्रह्मयजमानयोरन्तराले उदङ्मुख उपविश्य कस्त्वेति मन्त्रेण प्रणीता अपो भूमौ निनयेत्। अत्र मन्त्रे निनयामीत्यध्याहारः। पोषायेति मन्त्रभागं व्याचष्टे—तत्पुष्टिमुत्तमां यजमानाय निराहेति। पुष्टेर्हेतुरापस्तासु निरस्यमानासु मा भूत् पुष्टेर्निरासः, तेन पुष्टिं निराह—उत्तमामिति। कस्त्वा युनक्तीत्ययं प्रजापतिदैवत्येन मन्त्रेण यथापूर्वं यज्ञयोग उक्तः, तथैवात्रानेन मन्त्रेण यज्ञविमोक उक्तः। किमर्थोऽयं यज्ञविमोक इति चेत्तत्राह—पोषाय यजमानं पोषयितुम्। एतस्य विमोकस्याभावे यजमानोऽप्रतिष्ठितः स्यात्। तदुभयं तित्तिरिर्दर्शयति—'यो वै यज्ञं प्रयुज्य न विमुञ्चत्यप्रतिष्ठानो वै स भवति कस्त्वा युनक्ति स त्वा विमुञ्चतीत्याह—प्रजापतिर्वै कः प्रजापतिनैवैनं युनक्ति प्रजापतिना विमुञ्चति प्रतिष्ठित्यै' (तै० सं० १।७।६।१४) इति। फलीकरणानिति। फलीक्रियन्ते तण्डुला एभिरिति फलीकरणाः। अङ्गीभवन्ति तण्डुलनिष्पत्तौ। अभूततद्भावे 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' (पा० सू० ५।४।५०) इति च्विः। फलीकरणान् तण्डुलकणान् उपास्यति उत्क्षिपति उत्करे कपालेन मध्यमेन प्रथमं नाविक्रामेत्, अधोऽधः अधस्तान्नातिदूरे कृष्णाजिनं कृष्णाजिनस्याधस्तात् समीप इत्यर्थः। तदेवाह कात्यायनः—'पुरोडाशकपालेन कणानपास्यत्यधः कृष्णाजिनꣳरक्षसामिति' (का० श्रौ० ३।८।७)। तदर्थस्तु—फलीकरणानन्तरं

मन्त्रार्थ—हे प्रणीतापात्र ! कौन तुमको छोड़ता है ? वह प्रजापति परमेश्वर तुमको छोड़ता है। वह तुमको किस लिये छोड़ता है ? वह अपने आत्मसन्तोष के लिये तुमको छोड़ता है। हे प्रणीतोदक ! यजमान को पुत्र आदि हों, एतदर्थ मैं तुमको भूमि पर छोड़ रहा हूँ। हे कणसमूह ! तू राक्षसों का भाग है। आहवनीय अग्नि की प्रदक्षिणा करके वेदी पर 'कस्त्वा' मन्त्र से प्रणीतापात्र की स्थापना करे। 'रक्षसाम्' इस मन्त्र से पुरोडाशकपाल पर के मृत्कणों को भूमि पर गिरा देना चाहिये ॥ २३ ॥

स्थापितान् कणान् प्रथमकपाले निधाय उत्करस्योपरि समीप एव कृष्णाजिनं सव्येन धारयन् कृष्णाजिनस्याधस्ताद् उत्करे कपालेनैव रक्षसामिति मन्त्रेण क्षिपेदिति ।

'देवाश्च वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिर एतस्मिन् यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरेऽस्माकमयं भविष्यत्यस्माकमयं भविष्यतीति' (श० १।९।२।३४)। स्पष्टार्था कण्डिका। 'ततो देवाः। सर्वं यज्ञꣳ संवृज्याथ यत्पापिष्ठं यज्ञस्य भागधेयमासीत्तेनैनान्निरभजन्नस्ना पशोः फलीकरणैर्हविर्यज्ञात् सुनिर्भक्ता असन्नित्येष वै सुनिर्भक्तो यं भागिनं निर्भजन्त्यथ यमभागं निर्भजन्त्यैव स तावच्छꣳसृत उत हि वशे लब्ध्वाह किं मा बभक्थेति स यमेवैभ्यो देवा भागमकल्पयंस्तमेवैभ्य एष एतद्भागं करोत्यथ यदधोऽधः कृष्णाजिनमुपास्यत्यनग्नावेवैभ्य एतदन्धे तमसि प्रवेशयति तथो एवासृक् पशो रक्षसां भागोऽसीत्यनग्नावन्धे तमसि प्रवेशयति । तस्मात् पशोस्तेदनीं न कुर्वन्ति रक्षसाꣳहि स भागः' (श० १।९।२।३५) । एवं देवानामसुराणां च यज्ञनिमित्तप्रस्पर्धायां देवाः सर्वं यज्ञं हविर्यज्ञाख्यं संवृज्य समाप्तिपूर्वं संहृत्य अथानन्तरं यज्ञस्य यज्ञसाधनस्य हविषो यत्पापिष्ठं भागधेयमासीत् तेनैवासुरान् निरभजन् निर्भक्तवन्तः, बहिर्यज्ञात् कृतवन्तः । केन कस्मादित्याह—अस्ना पशोः । असृक्शब्दस्य असन्नादेशः (पा० सू० ६।१।६२) । अस्ना लोहितेन पशोर्निरभजन् । फलीकरणैस्तण्डुलकणैर्हविर्यज्ञात् निर्भजन्तोऽभूवन् । एष वै सुनिर्भक्तः यं भागिनं स्वल्पभागेनापि भक्तं निर्भजन्ति । यमभागं भागमदत्वा ये निर्भजन्ति स भागी प्रथमं शंसत एव उतापि अबलो हि बलवतां वशे भवति । कुतश्चित्कालपर्ययाल्लब्ध्वा आसाद्य बलं आह ब्रूते मनसि किं त्वं मा मां बभक्थ किं मह्यं त्वया दत्तम् । यं भागं एभ्यो रक्षोभ्यो देवा अकल्पयन् कल्पितवन्तः, उपास्यति समीपे प्रक्षिपति । अग्निहीने अन्धे तमसि प्रवेशयति तथा पशोः असृगपि । तस्मात् पशोस्तेदनीं न कुर्वन्ति यज्ञे पशोर्जीवतश्छेदनं न कुर्वन्ति तेन लोहितं रुधिरं सिद्ध्यति । छेदनमन्तरेव संज्ञपयन्ति । अनन्तरमेव वपोद्धरणादिकं क्रियते । तथा च कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति इति मन्त्रस्य यथा व्याख्यानं तथैव प्रकृतमन्त्रस्यापि व्याख्यानं ज्ञातव्यम् ।

तत्रापां प्रणयनं कुर्वन्नध्वर्युर्यज्ञारम्भकर्मण्यात्मनः कर्तृत्वमपोह्य प्रजापतेर्यज्ञकर्तृत्वं प्रश्नोत्तराभ्यां प्रतिपादितवान् । हे प्रणीतानामपां धारकपात्र ! त्वां कः पुरुषो नियुनक्ति आहवनीयस्योत्तरभागे स्थापयतीति प्रश्नः । स इति तच्छब्दः प्रसिद्धार्थवाचकः । सर्वत्र जगन्निर्वाहकः प्रसिद्ध एव परमेश्वरः । स परमेश्वर एव त्वां युनक्ति, तस्यैव सर्वप्रेरकत्वादित्युक्तम् । कस्मै प्रयोजनाय त्वा युनक्तीति पुनः प्रश्नः । तस्मै त्वा युनक्ति । तस्मै प्रजापतये तस्य परमेश्वरस्य प्रीत्यर्थं त्वा युनक्तीत्युत्तरम् । तथैवात्रापि यज्ञविमोकप्रसङ्गेऽपि हे प्रणीतापात्र हे यज्ञ इति वा कस्त्वा विमुञ्चतीति प्रश्नः । स परमेश्वरोऽन्तर्याम्येव त्वा विमुञ्चतीत्युत्तरम् । कस्मै त्वा विमुञ्चतीति प्रश्नः । तस्मै त्वा विमुञ्चति परमेश्वराय तत्प्रीत्यै त्वा विमुञ्चति । परमेश्वर एव यज्ञयोक्ता स एव विमोक्ता स एव यज्ञस्य सम्प्रदानभूतः । हे प्रणीतापात्रस्था आपः ! तदुपलक्षितयज्ञ पोषाय यजमानस्य धनपुत्रादिभिः पुष्ट्यर्थं त्वां निनयामीति शेषः । यज्ञं प्रयुज्याविमोके यजमानस्याप्रतिष्ठापत्तेर्विमोकः कार्यः । 'यो

भाष्यसार—स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की जो व्याख्या की है, वह भी प्रमाणशून्य होने से उपेक्षणीय ही है । उनकी व्याख्या शतपथब्राह्मण के विरुद्ध है । यद्यपि मन्त्राक्षरों से ही अर्थ स्पष्ट हो रहा है, तथापि शास्त्रप्रामाण्य में दृढ़ निष्ठा न होने से और नास्तिक्य के कारण देव और राक्षसों की योनिविशेषों का स्वीकार न कर पाने से वेद की व्याख्या करने में अपनी इच्छानुसार लेखनी का उपयोग किया है ।

वास्तविक मन्त्रार्थ ऊपर दे दिया गया है ।

वै यज्ञं प्रयुज्य न विमुञ्चत्यप्रतिष्ठानो वै स भवति' (तै० सं० १।७।६।१४) इति श्रुतेः। हे कणसमूह ! त्वं रक्षसां भागोऽसि। तेषां नीचजातित्वाद् निकृष्टकणरूपो भागो युक्त एव। एवं शतपथश्रुत्या कात्यायनसूत्रेण च स्पष्टं विज्ञायते यत् फलीकरणानां पुरोडाशापेक्षिततण्डुलनिष्पत्तिशिष्टकणसमूहानामेवानेन मन्त्रांशेन रक्षसां भागकल्पनं भवति। अतिस्पष्टेऽप्यर्थे शास्त्रप्रामाण्यनिष्ठादार्ढ्याभावान्नास्तिक्याच्च देवानां रक्षसां च योनिविशेषाणामनभ्युपगमादयं वेदव्याख्यानेऽस्य कामचारो ज्ञातव्यः।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे कर्माधिकारः समाप्यते। नद्या अतितरणाय नौरिव पाशविककामकर्मज्ञानलक्षणस्य मृत्योरतितरणाय वैदिककामकर्मादिसमाश्रयणं भवति। नावा नद्यास्तरणानन्तरं नौकाया इव कर्मणोऽपि विमोक एव युक्तः। परमेश्वरानुग्रहात् कर्मणि प्रवृत्तिस्तदनुग्रहादेव च ब्रह्मात्मसाक्षात्कारपूर्विका कर्मनिवृत्तिश्च। तथा च हे साधक ! कस्त्वा विमुञ्चतीति प्रश्ने स परमेश्वर एव विमुञ्चतीत्युत्तरम्। कस्मै त्वा विमुञ्चतीति प्रश्नान्तरम्। तस्मै ब्रह्मात्मसाक्षात्कारनिष्ठादार्ढ्याय त्वा विमुञ्चति, कर्मचापल्ये सति निष्ठादार्ढ्यासम्भवात्। शतपथादिरीत्या व्याख्याने तु कर्मणां परमेश्वराराधनरूपत्वादाध्यात्मिकपक्षव्याख्यानोपपत्तिः। यद्यपि क्लिष्टकल्पनया कर्मकाण्डपराणामपि मन्त्रब्राह्मणानां ब्रह्मपरत्वं योजयितुं शक्यम्, तथापि तदस्वाभाविकं निरर्थकं च, ब्रह्मपराणां मन्त्राणां ब्राह्मणानां च विद्यमानत्वेन तदनपेक्षणात् ॥ २३ ॥

संवर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ २४ ॥

अत्र दयानन्दस्तु—'मनुष्यैः सर्वकामप्रदस्येश्वरस्याज्ञापालनसम्यक्पुरुषार्थाभ्यां विद्याध्ययनं विज्ञानं शरीरबलं मनःशुद्धिः कल्याणसिद्धिः सर्वोत्तमश्रीप्राप्तिश्च सदैव कार्या। तया सर्वे व्यवहाराः पदार्थाश्च नित्यं शुद्धा भावनीयाः' इत्याह, तच्च श्रुतिबाह्यमेव। यत्तु—'वर्चन्ते दीप्यन्ते सर्वे पदार्था यस्मिन् वेदाध्ययने तेन, पयन्ते विजानन्ति सर्वान् पदार्थान् येन ज्ञानेन तेन' (पृ० २००) इत्यादिकम्, तत्तु निरर्थकपाण्डित्यप्रदर्शनमेव, प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात्। यत्तु—'विलिष्टं परिपूर्णम्, अत्र विरुद्धार्थो विशब्दः' (पृ० २००) इति, तदपि तुच्छम्, परिपूर्णस्यानुमार्जनानपेक्षणात्। नह्यशुद्धौ सत्यां परिपूर्णता सम्भवति, श्रुतिविरोधाच्च। तथाहि शतपथश्रुतौ—'यद्वै यज्ञस्य मिथ्या क्रियते व्यस्य तद् बृहन्ति' (श० १।९।३।४) इत्युक्त्या यज्ञस्य मिथ्याकरणाकरणादिदोषनिराकरणाय यजमानाञ्जलौ पूर्णपात्रनिनयनं क्रियते, तत्रैवास्य विनियोगः। तेन विलिष्टस्य विशेषेणाल्पीभावापन्नस्य यज्ञस्य व्यङ्गतापरिहारायानेन मन्त्रेण निनयनम्। 'एतद्व चैवैतत् कर्मात्मन् कुरुते तस्मान्मुखमुपस्पृशते' (श० १।९।३।७) इति श्रुत्या च यजमानः पूर्णपात्रजलेन मुखप्रक्षालनाद् यज्ञमात्मनि करोति। तेन यज्ञस्य व्यङ्गतया यज्ञस्यात्मनि सम्बन्धात् तत्रापि व्यङ्गताऽवश्यम्भाविनीति यज्ञस्याव्यङ्गतानेन सेत्स्यतीति।

अध्यात्मपक्ष में—जिस उपासक को भगवदनुग्रह से आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, उसे पुनः कर्मकाण्ड तथा उसके विधिनिषेधों की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि साध्य की प्राप्ति होने पर साधन की आवश्यकता नहीं रहती ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हम ब्रह्मवर्चस तेज, क्षीरादि रस, अनुष्ठान के योग्य शरीर के अवयव और शान्त मन—इन सबसे युक्त हुए हैं। उत्तम दान देनेवाला त्वष्टा मुझे सम्पत्ति दे और मेरे शरीर में जो न्यूनता हो, उसे दूर करके उसका पोषण करे। आहवनीय की प्रदक्षिणा करके पूर्णपात्र का ग्रहण करे और 'संवर्चसा' मन्त्र से मुखमार्जन करे ॥ २४ ॥

सिद्धान्ते तु—त्वष्टृदेवत्या त्रिष्टुप् पूर्णपात्रनिनयने विनियुक्ता। 'पूर्णपात्रं निनयति परीत्य सन्ततं यजमानोऽञ्जलिना प्रतिगृह्णाति संवर्चसेति' (का० श्रौ० ३।८।८) अध्वर्युः पूर्णपात्रमादाय आहवनीयं प्रदक्षिणीकृत्य यजमानसमीपे उदङ्मुख उपविष्टो यजमानस्याञ्जलौ पूर्णपात्रस्थं जलमव्यवच्छिन्नं क्षिपेत्। यजमानस्तूदकं हस्ताभ्यां संवर्चसेति मन्त्रेण गृह्णीयात्। अञ्जलिप्रक्षेपश्च तथा कार्यो यथा यजमानस्य संवर्चसेति मन्त्रपाठान्ते भवेत्, 'आधारे धारायां चादिसंयोगः' (आप० श्रौ० २४।२।२) इति सूत्रात्। अत्र प्रग्रहणं प्रधानं निनयनं तदर्थम्। तेन प्रोषिते यजमाने यत्र यजमानस्तत्रैव पूर्णपात्रनिनयनं केनचित् करणीयम्, यजमानेनाञ्जलिना प्रतिग्रहश्च कार्यः। तथा च मन्त्रार्थः— वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन वयं समगन्महि सङ्गता भवामः। पयसा क्षीरेण तदुपलक्षितसर्वविद्यारसेन वा समगन्महि। तनूभिर्यज्ञाद्यनुष्ठान-भगवदुपासन-ब्रह्मात्मसाक्षात्कारक्षमैः शरीरावयवैर्भार्यापुत्रादिभिः समगन्महि। शिवेन कल्याणमयेन शान्तेन यज्ञादिश्रद्धायुक्तेन शिवसङ्कल्पेन मनसा मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वे पदार्था येन तेनान्तःकरणेन समगन्महि। समुपसर्गयुक्तमगन्महीतिपदं प्रत्येकं सम्बद्धचते। यज्ञव्यग्रस्य पुरुषस्य सर्वमेतदपैतीवेत्यनेन मन्त्रेण तत्सर्वं ब्रह्मवर्चसादिकमाप्याययति पूर्णपात्रनिनयनजलमञ्जलिना गृह्णन् यजमानः। किञ्च, सुदत्रः शोभनकल्याणदानस्त्वष्टा देवः, तक्षति सर्वान् पदार्थान् छिनत्ति सूर्यं च तनूकरोतीति त्वष्टा देवविशेषः, तदुपलक्षितः परमेश्वरश्च रायो नानाविधानि धनानि विदधातु करोतु। तन्वो मम शरीरस्य यद् विलिष्टं 'लिश् अल्पीभावे' इत्यस्य निष्ठायां रूपम्। विशेषेण लिष्टं न्यूनतामापन्नमिति विलिष्टं विशेषेण न्यूनतां गतमङ्गजातम्, तदनुमार्ष्टु न्यूनत्वपरिहारेण पूर्णं कृत्वा शोधयतु।

अयमेवार्थः शतपथे—'पूर्णं निनयति। सर्वं वै पूर्णᳪ सर्वेणैवैनमेतच्छमयति सन्ततमव्यवच्छिन्नं निनयति सन्ततेनैवैनमेदव्यवच्छिन्नेन शमयति' (श० १।९।३।३), 'सᳪस्थिते यज्ञे दक्षिणतः परीत्य पूर्णपात्रं निनयति। तथा ह्युदग्भवति। तस्माद्दक्षिणतः परीत्य पूर्णपात्रं निनयति। देवलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति। तदनूची दक्षिणा यां ददाति सैति दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः' (श० १।९।३।१)। संस्थिते समाप्ते यज्ञे दक्षिणतः परीत्याध्वर्युः पूर्णपात्रगतं जलं यजमानाञ्जलौ निनयति नीचैः पातयति। परीत्येत्युक्त्या दक्षिणादागत्य निनयनायोदग्दिगागमनं भवति। हि यतः। तथाकृते उदग्भवति। पूर्णपात्रनिनयने देवलोके मेऽप्यसदिति। देवलोकेऽयं यज्ञो मे ममोपकारको असत् भवतु। असदिति क्रियापदम्, नासत्त्वबोधकम्। एवमर्थं यजमानो यजते। यो यजतेऽस्य यजमानस्य स एष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति। आभिमुख्येन एति। मां संस्कृतवानसौ, अतो मया प्रत्युपकरणीयमित्यभिप्रैति वा। तदनूची दक्षिणायां ददाति यज्ञसमृद्धचर्थं यज्ञमनुविलग्ना दक्षिणैति यां ददाति यजमानः, समृद्धचर्थस्य दक्षधातोर्दक्षिणाशब्दनिष्पत्तेः। यद्वा तस्मादन्वगञ्चनशीलामन्वाहार्यलक्षणां यां दक्षिणां ददाति सा देवलोकमेति। दक्षिणामन्वारभ्य यजमानो यज्ञं क्रीणातीति शेषः। दक्षिणा हि परिक्रयार्था भवति। तया ऋत्विङ्निष्पादितो यज्ञः परिक्रीयते। यथा—अन्यत्र परिक्रयसम्बद्धः परिक्रेता तथैवात्रापि। यद्वा यथा यज्ञो देवलोकमेति यज्ञमनु दक्षिणा देवलोकमेति, तथैव समृद्धिस्वरूपां दक्षिणामन्वारभ्य यजमानो देवलोकमेतीति।

'स एष देवयानो वा पितृयाणो वा पन्थाः। तदुभयतोऽग्निशिखे समोषन्त्यौ तिष्ठतः। प्रति तमोषतो यः प्रत्युष्योऽत्यु तᳪ सृजेते। योऽतिसृज्यः शान्तिरापस्तदेतमेवैतत्पन्थानᳪ शमयति' (श० १।९।३ २)। पूर्णपात्र-

भाष्यसार— स्वामी दयानन्द ने मन्त्र की व्याख्या में कहा है कि ईश्वर की आज्ञा का पालन और सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा विद्याध्ययन, विज्ञान, शरीरबल, मनःशुद्धि, कल्याणसिद्धि एवं सर्वोत्तम श्रीप्राप्ति मनुष्य को सदैव करनी चाहिये।

निनयनस्य प्रयोजनमुच्यते—स एष देवयानः पन्था हिरण्यगर्भाद्युपासनासमुच्चितकर्मानुष्ठायिनो ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनभूतो मार्गो देवयानः। महाप्रलयकाले तु ब्रह्मणा सह मुक्तिर्भवति, 'ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' (तै० आ० १०।१०।२२) इति श्रुतेः। आत्मयाजिनस्त्वेभिः कर्मभिरुपासनैश्चात्मानं संस्कुर्वन्ति परब्रह्मप्राप्तियोग्यब्राह्मीतनुनिर्माणाय, 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' (म० २।२८) इति मनुस्मरणात्। इह ब्रह्मसाक्षात्काराभावेऽपि तेषामपि देवयानमार्गे गतानां ब्रह्मलोकप्राप्तिरन्ते कैवल्यमुक्तिश्च, 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।६) इति श्रुतेः। अत्र श्रुतौ 'इमं'पदं विद्यते। तत्सम्बन्धितयोपासनासमुच्चितकर्मभिस्तु ब्रह्मलोकगतानामप्यावर्तान्तरे पुनरावृत्तिर्भवत्येव, 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' (भ० गी० ८।१६) इति भगवद्वचनाच्च। केवलकर्मिणां देवयाजिनां तु पितृयाणः पन्थाः। तदुभयत उभयोरपि मार्गयोः, अग्निशिखे अग्निज्वाले ओषन्त्यौ भस्मसात्कुर्वन्त्यौ सन्तिष्ठतः। तत्र यः प्रत्युष्यः प्रतिदहनार्होऽकृतकृत्यः केवलमपि कर्म यो नानुष्ठितवान् तं प्रतिदहतः। योऽतिसृज्यो ज्ञानसहकृतकर्मानुष्ठायी यश्च केवलकर्मानुष्ठायी कृतनियतकर्मा यजमानः, तमतिसृजेते विसृजेते, न दहत इत्यर्थः। आपश्च शान्तिसाधनत्वात् शान्तिरूपा यतोऽतः, तदेतमेवैतत् पन्थानं पूर्णपात्रनिनयनेनापः शमयन्ति। ज्ञानिनः कर्मिणश्चोष्णं पन्थानं चोष्णशमनसमर्थाभिरद्भिरध्वर्युः शमयति। ज्ञानसमुच्चितकर्मफलं मलक्षालकं भवति। यस्तु केवलकर्मानुष्ठायी यजमानः स कर्मफलभोगाय पितृलोकं याति। सोऽपि देव एव, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (बृ० उ० ४।३।२) इति श्रुत्यन्तरात्।

अन्ये तु देवैः प्रायणीयो देवयानः, पितृभिः प्रायणीयः पितृयाणः पन्थाः। प्रथमोऽग्निहोत्रिणामन्योऽन्येषाम्। अग्नेराहवनीयादेर्देवयानपितृयाणौ शिखे ऊर्ध्वज्वाले ओषन्त्यौ तिष्ठतः। अपां निनयनेन देवपथः शान्तो भवति। 'पूर्णं निनयति। सर्वं वै पूर्णंꣳ सर्वेणैवैनमेतच्छमयति सन्ततमव्यवच्छिन्नं निनयति सन्ततेनैवैनमेतदव्यवच्छिन्नेन शमयति' (श० १।९।३।३)। पूर्णं सर्वं तत्रत्यं जलं निनयति। यतः सर्वं वै पूर्णम्। सर्वेणैवैतच्छमयति। तच्च सन्ततं नैरन्तर्येणाव्यवच्छिन्नमनत्रखण्डितेन धारानिनयनेन शमयति। 'यद्वेव पूर्णपात्रं निनयति। यद्वै यज्ञस्य मिथ्या क्रियते व्यस्य तद् बृहन्ति क्षण्वन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति' (श० १।९।३।४)। यद्वै यज्ञस्य मिथ्या क्रियते प्रमादादिनाऽन्यथा करणमकरणं च तद्विबृहन्ति विनाशयन्ति यज्ञिया आपः। अर्थाद्यज्ञस्य व्यङ्गतामपनीय यज्ञं पूर्णं कुर्वन्ति। क्षण्वन्ति मिथ्याकरणनिमित्तं दुःखं क्षण्वन्ति हिंसन्ति शान्त्या शान्तिसाधनभूताभिरद्भिस्तच्छमयति यज्ञं च सन्दधाति निनयनेनाध्वर्युः। 'पूर्णं निनयति‥‥सन्दधाति' (श० १।९।३।५)। शेषं तृतीयवत्। तेन यज्ञस्य प्रमादादिना अन्यथाकरणेनाकरणेन च व्यवच्छिन्नं यज्ञं पूर्णं निनयनेन सन्दधाति, यज्ञस्य पुनरनुसन्धानं करोतीत्यर्थः। 'तदञ्जलिना प्रतिगृह्णाति। संवर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति यद्विवृढं तत्सन्दधाति' (श० १।९।३।६)। यद्यप्यत्र अनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति लिङ्गादस्य मन्त्रस्य मुखोपस्पर्शनाङ्गता भाति, तथापि तदञ्जलिना प्रतिगृह्णातीति श्रुत्या प्रतिग्रहणाङ्गता, 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (मी० सू० ३।३।१४) इति जैमिनीयन्याये लिङ्गाच्छ्रुतेः प्राबल्येन तया तद्बाधात्। यद्विवृढं तत्सन्दधातीति ग्रहणार्थवाद एव परतो दृश्यते, अर्थवादान्तराभावात्,

किन्तु यह कथन श्रुति और सूत्र के अनुसार नहीं है। कहीं-कहीं निरर्थक पाण्डित्य प्रदर्शन करके प्रसिद्ध अर्थ का त्याग भी किया है। कहीं-कहीं शब्दों के अर्थ विरुद्ध भी प्रदर्शित किये हैं, जो अनावश्यक हैं। यदि श्रौत-प्रक्रिया को समझकर अर्थ किया होता, तो ऐसी अनर्गलता न होती।

अथशब्देन मुखोपस्पर्शनस्य व्यवधानादर्थवादान्तरदर्शनाच्च । लिङ्गं चाविरुद्धमेव, मुखहस्तयोः शरीरैकदेशत्वात् । यजमानस्यैव यज्ञो वर्तते । तत्रैव स्थितस्य यद्विवृद्धं व्यङ्गतामुपगतं तत्सन्दधाति । कण्वशाखीयानां तदञ्जलिना प्रतिगृह्णाति तत्र जपति संवर्चसेति । गृह्णतो यज्ञवीर्यमत्र च जप्यमानः प्रतिग्रहणाय स्पर्शनेऽपि प्रकाशयिष्यति । कः पुनर्गृह्णाति ? यजमानः । अध्वर्योर्निनयने व्यापृतत्वाद् आशीर्लिङ्त्वान्मन्त्रस्य यजमान एव गृह्णाति । 'अथ मुखमुपस्पृशते । द्वयं तद् यस्मान्मुखमुपस्पृशतेऽमृतं वा आपोऽमृतेनैवैतत् सꣳस्पृशते एतदु चैवैतत् कर्मात्मन् कुरुते । तस्मान्मुखमुपस्पृशते' (श० १।९।३।७) 'मुखं विमृष्टे' (का० श्रौ० ३।८।९) इति सूत्रेण यजमानः पूर्णपात्रजलेन तूष्णीं मुखं प्रक्षालयेत्, एतदु चैवैतत् कर्मात्मन् कुरुत इति शेषात् । यजमान आत्मीयमेव मुखमद्भिरुपस्पृशते । यस्मात् कारणान्मुखमुपस्पृशते तद् द्वयं ते द्वे कारणे । तत्रैकममृतेनैवैतदात्मानं संस्पृशते । तदाह—अमृतं वा आपः । अमृतेनैवैतत् संस्पृशते । अपरमपि एतच्च कर्म आत्मनि कुरुते यजमानः । कथम् ? यज्ञो वा आपः । आपश्च संश्लेषणहेतुरित्यभिप्रायः । सर्वथापि प्रकृतमन्त्रस्याञ्जलिना पूर्णपात्रजलप्रतिग्रहाङ्गतैव ।

अध्यात्मपक्षे तु पूर्णपात्रान्तर्यामी परमेश्वरः प्रार्थ्यते—हे भगवन् ! वर्चसा ब्राह्मेण तेजसा त्वत्प्रसादाद् वयं समगन्महि समवेता भवामः । ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसमर्थैस्तनूभिः संस्कृतैः शरीरावयवैश्च युक्ता भवामः । शिवसङ्कल्पेन ब्रह्मात्मचिन्तनपरेणान्तःकरणेन च समगन्महि । त्वष्टा सर्वजगन्निर्माता सुदत्रः सुष्ठु शोभनमभीष्टमात्मानं वा ददातीति सुदत्रः सर्वकल्याणप्रद आत्मप्रदश्च भवान् रामः शमदमादिषट्सम्पत्तीर्ब्रह्मात्मज्ञानश्रियं मोक्षलक्ष्मीं च विदधात् सम्पादयत्वित्यर्थः, त्वत्प्रसादादेव सर्वाभीष्टप्राप्तिसम्भवात् । हे परमेश्वर ! तन्वो मदीयस्य स्वात्मरूपस्य चिदात्मशरीरस्य सूक्ष्मस्थूलशरीरस्य ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसाधनस्य यद्विलिष्टम् अविद्याद्यध्यारोपेण मानसकायिकापचारैश्च यन्न्यूनतापन्नमङ्गजातं तदनुमार्ष्टु कृपाकटाक्षेण तदपनीय परिपूर्णतामापादयतु, येन निर्विघ्नं ब्रह्मात्मज्ञानं तत्फलं ब्रह्मात्मनावस्थानं सम्पद्यतामिति ॥ २४ ॥

दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया अगन्म स्वः संज्योतिषाऽभूम ॥ २५ ॥

अत्र श्रीदयानन्दः —'अस्माभिर्जागतेन छन्दसानुष्ठितोऽयं विष्णुर्यज्ञो दिवि व्यक्रंस्त । स पुनस्ततो निर्भक्तः सन् छन्दसा सर्वं जगत् प्रीणाति । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निराकुर्मः । अस्माभिर्योऽयं विष्णुर्यज्ञ-

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ होगा—इस मन्त्र में परमेश्वर की प्रार्थना की गई है । हे भगवन् ! हम लोग ब्राह्म तेज से तुम्हारे अनुग्रह के बल पर युक्त हैं । तुम्हारे प्रसाद से ही सर्वाभीष्ट की प्राप्ति का होना संभव है । हे भगवन् ! ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन जो मेरा सूक्ष्म-स्थूल शरीर है, वह अविद्या के अध्यारोप से और मानसिक तथा शारीरिक अपराधों के कारण न्यूनता को प्राप्त हुआ है, उसे अपने कृपा कटाक्ष से दूर कर परिपूर्ण कर दें । जिससे निर्विघ्नतया ब्रह्मात्मज्ञान और उसका फल हमें प्राप्त हो ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञपुरुष ने द्युलोक पर जगती छन्द से, अन्तरिक्षलोक पर त्रिष्टुप् छन्द से और पृथिवीलोक पर गायत्री छन्द से आक्रमण किया । उन तीनों लोकों से जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष

स्त्रैष्टुभेन छन्दसाग्नौ प्रयोजितः सोऽन्तरिक्षे व्यक्रंस्त। स पुनस्ततः स्थानान्निर्भक्तः सन् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वं जगत् सुखयति योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निवारयामः। अस्माभिर्योऽयं यज्ञोऽनुष्ठितो गायत्रेण छन्दसा पृथिव्यामनुष्ठीयते स पृथिव्यां व्यक्रंस्त। स ततो निर्भक्तः सन् पृथिवीस्थान् पदार्थान् पोषयति योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निषिध्यामः। वयमस्मादन्नात् स्वरगन्म वयमनेन यज्ञेनास्यै प्रतिष्ठायै ज्योतिषा संयुक्ता भवेम' (पृ० २०३) इत्यादि। तदेतत्सर्वं वेदार्थसम्प्रदायानभिज्ञानविजृम्भितम्, शतपथश्रुति-कात्यायनसूत्रविरुद्धं च।

तत्र ह्येतैर्यजमानो विष्णुक्रमान् क्रमते। तत्र देवा वै स्वरगन्म देवानित्येवैतदाह—संज्योतिषा भूमेति सं देवैरभूमेत्येवैतदाहेत्यादिभिः पदार्थाश्चानेके व्याख्याताः। तेनापि तदीयं व्याख्यानं विरुद्धं च, अनुपपत्तेश्च। तथाहि—यो वेवेष्टि व्याप्नोत्यन्तरिक्षस्थवाय्वादिपदार्थान् स यज्ञ इति, तदपि न युक्तम्, सङ्कोचार्थे मानाभावात्, द्युलोके व्याप्त्यनापत्तेश्च। अविशेषेण सर्वेषु लोकेषु सर्वान् पदार्थान् वेवेष्टीति विष्णुपदव्युत्पत्ति कुतो न स्यात्? यदपि 'जागतं सर्वलोकसुखकारकं तेन छन्दसा आह्लादकारकेण' (पृ० २०२) इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, कोऽसौ पदार्थ इत्यनुक्तेः। न च गायत्रीछन्द एव तदिति वाच्यम्, तस्य तथात्वे मानाभावात्। नहि व्युत्पत्तिरेव मानं भवति। व्याघ्रशब्दस्य विशेषेणासमन्ताज्जिघ्रतीति व्युत्पत्तावपि न तथार्थो भवति, प्रत्यक्षविरुद्धत्वात्। प्रकृते चानुपलम्भपराहता व्युत्पत्तिः। न च जगतीछन्दसा होमेन लोकसुखं लोकाह्लादो वा भवति। त्वयापि भूमिकायामभ्यासार्थको मन्त्रोच्चारोऽभ्युपगतः। कथं चोच्चारणेन सुखं भवतीति ज्ञायते? न च प्रत्यक्षेण, अनुपलम्भात्। न चोच्चारणजन्येनादृष्टेन कालान्तरे सुखं भविष्यतीति वाच्यम्, त्वया तदनभ्युपगमात्। अन्यथा यथाश्रुतार्थाभ्युपगमेऽदृष्टद्वारा पारलौकिकस्वर्गपशुपुत्रादिफलमपि कथं नाभ्युपगम्येत?

'स पुनस्ततो निर्भक्तः सन् छन्दसा सर्वं जगत् प्रीणाति' (पृ० २०३) इत्यन्वये प्रोक्तम्। स च कस्य शब्दस्यार्थः? नहि कर्मक्रिययोरुभयोरप्यध्याहारो युक्तः। अन्यथा कश्चिद् दयानन्देति नामश्रवणेनैव स्वर्गं गतो नरकं वा गतः स्वर्गं निर्मितवान् स्वर्गं नाशितवान् वेति यथेष्टं कल्पयेत। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निराकुर्म इत्यपि कुतो लब्धम्? नहि यथाश्रुतोपपत्तावध्याहारो युक्तः। सिद्धान्ते तु ततो द्युलोकान्निर्भक्तो भागरहितो निःसारितः कः? योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति सरलः सुबोधश्च यथाश्रुतार्थः।

'अस्माभिर्योऽयं यज्ञस्त्रैष्टुभेन छन्दसाग्नौ प्रयोजितः सोऽन्तरिक्षे व्यक्रंस्त। पुनस्ततः स्थानान्निर्भक्तः सन् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वं जगत् सुखयतीति कथमुपपद्यते? त्वद्रीत्या यज्ञस्त्वन्तरिक्षस्थलवाय्वादिपदार्थान् व्याप्नोति, स कथमग्नौ प्रयोक्तुं शक्यः? किञ्चान्यत्राग्नौ घृतादिप्रक्षेपरूपो यज्ञ उक्तः, सोऽपि नाग्नौ प्रयोक्तुं

करते हैं, उस शत्रु को निकाल बाहर कर दिया। तदनन्तर भी शेष शत्रुओं का उसके आगे विद्यमान यजमान-भाग से और उसके सामने विद्यमान इस यज्ञभूमि से हमने निवारण किया। यज्ञानुष्ठान से हमने स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया तथा आहवनीयरूपी तेज से हम युक्त हो गये। 'दिवि विष्णुः' इत्यादि प्रत्येक मन्त्र से विष्णुक्रमण करना चाहिये, अर्थात् हम अपने पैर जो भूमि पर रखते हैं, उन्हें विष्णु के पैर समझना चाहिये। 'अस्मादन्नात्' इस मन्त्र से अपने अंश का अवलोकन करे और 'अस्यै' इस मन्त्र से भूमि का अवलोकन करे। पूर्व दिशा में 'अगन्म' इस मन्त्र से सूर्य का और 'संज्योतिषा' मन्त्र से आहवनीय का अवलोकन करे॥ २५॥

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का—हम लोगों ने जगती छन्द से जो यज्ञ किया है, वह निर्भक्त होकर छन्द के द्वारा सम्पूर्ण जगत् को प्रसन्न करता है, इत्यादि जो अर्थ किया है, वह सब वेदार्थसम्प्रदाय

शक्यते, अग्निप्रक्षेपात्मकस्य यज्ञस्याग्नौ प्रक्षेपासम्भवात् । अग्नौ हुतं घृतादिकमन्तरिक्षे परमाणुरूपेण विभज्यत इति त्वदीयोऽभिप्रायो न वेदाक्षरार्थः। वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वं जगत् सुखयतीत्यपि त्वत्कल्पनामात्रम्, वेदाक्षरासम्बन्धात् । किञ्च, यज्ञो दिवि व्यक्रंस्त इत्यस्य कोऽर्थः ? यदि ततोऽपि तथैव परमाणुरूपेण निर्भक्तस्तदा तेनैव गतार्थता किमर्थं पुनरुक्तिः ? किञ्च, यो निर्भक्तं सर्वं जगत् सुखयति कथं तेन त्वद्विरोधिनिराकरणं सम्भवति ? तस्यापि सर्वजगदन्तःपातित्वात् । यदि वायुजलादिपदार्थास्तेन शोधितास्तदा कथं तैः सर्वस्मै जगते सुखं स्यात्, त्वद्विरोधिनश्च निराकरणं स्यात् ? नहि केनचित् सर्वव्यापिनि प्रकाशे जाते कस्यचिदप्रकाशो भवति । न च त्वयाऽदृष्टमभ्युपेयते । यो यज्ञः पृथिव्यां व्यक्रंस्त स कथं पृथिवीस्थान् पदार्थान् पोषयति ? वायुजलादिशोधनद्वारैर्वा ? अन्यथा वा ? तथैव चेत् पूर्वेणैव गतार्थता। अन्यथा चेत्, स प्रकारः प्रदर्शनीयः। एवमेव त्रैष्टुभं त्रिविधसुखहेतुछन्दसा स्वच्छन्दताप्रदेनेत्यपि निर्मूलम्, पूर्ववदनुपलम्भपराहतत्वात् । गायत्रेण रक्षणसाधनेन छन्दसा आनन्दप्रदेनेत्यपि निर्मूलम्, समेषां तत्र प्रवृत्त्यापातात् । सिद्धान्ते तु तत्तच्छन्दोविशिष्टानां विधिवदधीतानां यथावत्प्रयुक्तानां मन्त्राणामदृष्टोत्पादनद्वारा आनन्दप्रदत्वादिकं सम्भवत्यपि, नार्धनास्तिकानामदृष्टाद्यनभ्युपगन्तॄणाम् ।

सिद्धान्तीयं व्याख्यानं तु—'विष्णुक्रमान् क्रमते दिवि विष्णुरिति प्रतिमन्त्रं पृथिव्यामितीत ऊर्ध्वो वा' (का० श्रौ० ३।८।१०)। यजमान उत्थाय दक्षिणवेदिश्रोणेरारभ्य आहवनीयादर्वाक् प्राङ्मुखो दिवि विष्णुरिति त्रिभिर्मन्त्रैर्विष्णुसंज्ञकान् क्रमणान् कुर्यात् । अथवा पृथिव्यामिति प्रथमं क्रामेत्, अन्तरिक्ष इति द्वितीयम्, दिवि विष्णुरिति तृतीयमिति मन्त्रक्रमे विकल्पः। तथैव शातपथी श्रुतिः—'अथ विष्णुक्रमान् क्रमते । देवान् वा एष प्रीणाति यो यजत एतेन यज्ञेनर्ग्भिरिव त्वद्यजुर्भिरिव त्वदाहुतिभिरिव त्वत्स देवान् प्रीत्वा तेष्वपित्वी भवति तेष्वपित्वी भूत्वा तानेवाभिप्रक्रामति' (श० १।९।३।८)। यो यजते एष देवान् प्रीणाति । यज्ञेन ऋग्भिरिव यजुर्भिरिवाहुतिभिरिव तेषु विष्णोर्यज्ञस्य प्रवेशमिव दत्त्वा देवान् प्रीणाति देवान् प्रीत्वा तेषु मध्ये अपित्वीभागीभूत्वा तानेवाभिक्रामति । विष्णोर्यज्ञस्य क्रमणं विष्णुक्रमः। तं विष्णुप्रवेशमेव कुरुते । देवान् वा इति देवानेतानेष यजमानः प्रीतान् करोति यो यजते हविर्यज्ञं तनुते । त्वच्छब्दः समुच्चये । ऋग्भिश्चैव यजुर्भिश्चैव आहुतिभिश्चैव देवान् प्रीत्वा तेषु मध्ये भागवान् भवति ।

'यद्वेव विष्णुक्रमान् क्रमते । यज्ञो वै विष्णुः। स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैतामेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते । तस्माद्विष्णुक्रमान् क्रमते तद्वा इत एव पराचीनं भूयिष्ठा इव क्रमन्ते' (श० १।९।३।९)। यद्वेव विष्णुक्रमान् क्रमते यजमानशरीरस्थो यज्ञरूपो विष्णुरेव यजमानार्थं विक्रमते । तद्वै तत्र स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे, या एषा इयं विक्रान्तिः। इत एव लोकात् पराचीनमूर्ध्वमन्तरिक्षं दिवमित्येवं भूयिष्ठा इव बहुतमा इव क्रमन्ते । प्रथमेन पदेन इदं प्रत्यक्षं पुरोवर्तिलोकं पस्पार स्पृष्टवान् । स्पृ प्रीतिचलनयोः। द्वितीयेनान्तरिक्षम्, उत्तमेन तृतीयेन दिवं पस्पार । एतामु एव एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते । 'तदु तत्पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त । गायत्रेण छन्दसा ··· । इत्यथामाँल्लोकान् समारुह्याथैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति । तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतोऽथ यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकस्तदेवमिमाँल्लोकान् समारुह्याथैषां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति । पुरस्तात् त्वेवार्वाङ् क्रमेत य इतोऽनुशासनं चिकीर्षेद् द्वयं तद्यस्मात् परस्तादर्वाङ् क्रमेत' (श० १।९।३।१०)। तदु

से उनके अपरिचय को ही अभिव्यक्त कर रहा है। यह श्रुति-सूत्र के विरुद्ध भी है। मन्त्र का यथाश्रुत अर्थ ही करना चाहिये था।

तत्पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रन् विक्रान्तवान्। गायत्रेण छन्दसा ततः स्थानान्निर्भक्तो विजितो बहिष्कृतो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः'''''' '''। इत्येवमिमांल्लोकानित्युत्तरपक्षस्यार्थवादः। एषा गम्यत इति गतिः। एषा प्रतितिष्ठन्त्यस्यामिति प्रतिष्ठा। तस्यादित्यस्य ये रश्मयः कदम्बकेसरवदनन्तभेदास्ते सुकृतः सुकृतकर्मकारिणः पूर्वे तेजःशरीरा यजमानाः। अथ यत्परं भाः प्रकाशमात्रसूर्यरूपः स यज्ञरूपः प्रजापतिः स्वर्गो वा लोकः सोऽपि कर्मकर्तॄणां प्रजानां पतिः। तत्र ते गच्छन्ति। इमांल्लोकान् समारुह्य एतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छन्ति। पक्षान्तरोपन्यासः परस्तात्त्वेव अर्वाङ् क्रमते। य इत अस्मादेव लोकाद् अनुशासनम् अस्मिन्नेव लोके बहुकालं लोकभोगमाशास्ते, स तद्यस्मात् परस्तादर्वाङ् क्रमते तत्र द्वयं कारणम्—'अपसरणतो ह वा अग्रे देवा जयन्तोऽजयन्। दिवमेवाग्रेऽथेदमन्तरिक्षमथेतोऽनपसरणात् सपत्नाननुदन्त तथो एवैष एतदपसरणत एवाग्रेऽजयञ्जयति दिवमेवाग्रेऽथेदमन्तरिक्षमथेतोऽनपसरणात् सपत्नान्नुदत इयं वै पृथिवी प्रतिष्ठा तदस्यामेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति' (श० १।९।३।११)।

तत्रैकं कारणम्—अपसरणतोऽस्माल्लोकादपसृत्य ह वा अग्रे देवा जयन्तो दिवमग्रे अजयन्। ततोऽन्तरिक्षं पृथिवीम्। अथेतोऽनपसरणात् सपत्नान् नुदते। अर्थात् विष्णुक्रमेषु यत् पक्षद्वयं विद्यते तस्येदमेव मूलम्। यस्माद्देवा इतो लोकादपसृत्य अपसरणक्रमेणाग्रे दिवमजयन् ततोऽन्तरिक्षमिति हेतोरधुनापि तेनैवापसरणक्रमेण पूर्वं दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन छन्दसेति मन्त्रेण। ततोऽन्तरिक्षे विष्णुरिति मन्त्रेण ततः पृथिव्यां विष्णुरिति मन्त्रेण विष्णुक्रमान् क्रमन्ते। अथेतोऽनपसरणात् सपत्नान्नुदते। अस्माल्लोकादनपसृत्य यः शत्रून् नुदते नोदितुमिच्छति स पूर्वं पृथिव्यां विष्णुरिति मन्त्रेण विष्णुक्रमं क्रमते, ततोऽन्तरिक्षे विष्णुरिति, ततो दिवि विष्णुरिति क्रमते। तत्रोत्तरपक्षस्य प्रशंसार्थोऽर्थवादः। तत्रैकं कारणमिदं यदस्माल्लोकादनपसृत्य शत्रूणां नोदनं भवति। द्वितीयश्च फलोपभोगानन्तरं ततः प्रच्युतानामपीयं पृथिवी प्रतिष्ठा भवति। तत आगत्यास्यां प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति। तस्मादुत्तरपक्षो ज्यायानित्यर्थः।

'तदु तद्दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त। जागतेन छन्दसा''''। द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया इत्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वमन्नाद्यं प्रतिष्ठितं तस्मादाहास्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया इति' (श० १।९।३।१२), 'अथ प्राङ् प्रेक्षते। प्राची हि देवानां दिक् तस्मात्प्राङ् प्रेक्षते' (श० १।९।३।१३), 'स प्रेक्षते। अगन्म स्वरिति देवा वै स्वरगन्म देवानित्येवैतदाह संज्योतिषा भूमेति सं देवैरभूमेत्येवैतदाह' (श० १।९।३।१४)। इमानि श्रौतानि वचनान्येवाश्रित्य कात्यायनोऽप्यसूत्रयत्। तथा हि—'अस्मादन्नादिति भागमवेक्षते' (का० श्रौ० ३।८।११)। अस्मादन्नादिति मन्त्रेण यजमानः स्वकीयं हविर्भागं पश्येत् (इडाभक्षणे यजमानभागः स्पष्ट एव)। 'अस्यै प्रतिष्ठाया इति भूमिम्' (का० श्रौ० ३।८।१२) अनेन वेदिभूमिं पश्यति यजमानः। 'अगन्म स्वरिति प्राङ्' (का० श्रौ० ३।८।१३)। अगन्मेति मन्त्रेण प्राचीं दिशं पश्येद्यजमानः। 'संज्योतिषेत्याहवनीयम्' (का० श्रौ० ३।८।१४)। सञ्ज्योतिषेति मन्त्रेणाहवनीयं विलोकयेत्। मन्त्रार्था श्रुत्यैव स्पष्टीकृताः।

तथा चायं मन्त्रार्थः—अत्र महीधरः—विष्णुपादबुद्धया स्वपादस्य भूमौ प्रक्षेपा विष्णुक्रमाः। विष्णुर्यज्ञपुरुषो जागतेन छन्दसा जगतीच्छन्दोरूपेण स्वकीयपादेन दिवि द्युलोके व्यक्रंस्त विशेषेण क्रमणं कृतवान्। तथा सति ततो द्युलोकान्निर्भक्तो भागरहितं कृत्वा शत्रुर्निःसारितो भवति। कोऽसौ शत्रुः

श्रुति-सूत्र-याज्ञिकसम्प्रदाय शुद्ध अर्थ भाष्य में दिया है, जिसे मन्त्रार्थ से अंशतः अवगत किया जा सकता है। विस्तृत ज्ञान के लिये करपात्रभाष्य को ही देखना चाहिये।

योऽस्मान् यज्ञकर्तॄन् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः स द्विविधोऽपि शत्रुर्निःसारितो भवति। एवं विष्णुस्त्रैष्टुभेन छन्दसा त्रिष्टुप्छन्दोरूपेण पादेनान्तरिक्षे अन्तरिक्षलोकं व्यक्रंस्त क्रमणं कृतवान्। ततो निर्भक्तो भागरहितं कृत्वा शत्रुर्निःसारितः। स शत्रुः योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। तथैव गायत्रेण छन्दसा तद्रूपेण पादेन पृथिव्यां क्रमणं कृतवान्। ततोऽपि निर्भक्तो निःसारितः स शत्रुर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।

अथ श्रुतिसूत्रानुसारेणास्मादन्नादिति मन्त्रेण यो यजमानस्य हविर्भागस्तमवेक्षते। अस्मात्पुरोवर्तिनोऽन्नाद्यजमानसम्बन्धिनो हविर्भागान्निर्भक्त इत्यादिर्वाक्यशेषोऽनुवर्तते। अस्यै प्रतिष्ठायै इति भूमिमवेक्षते। अस्यै पुरतो दृश्यमानायाः प्रतिष्ठायै प्रतिष्ठाहेतोर्यज्ञभूमेर्निर्भक्तः शत्रुः। अगन्म ज्योतिरिति प्राचीमवेक्षते पूर्वस्यां दिश्यवस्थितः स्वर्गलोकः स्वरित्युच्यते। तं लोकं सूर्यं वा अगन्म यज्ञानुष्ठानेन वयं प्राप्ताः। संज्योतिषेत्याहवनीयं प्रेक्षते। ज्योतिषा आहवनीयरूपेण वयं समभूम एकीभावेन संगता अभूम।

अध्यात्मपक्षेऽपि—विष्णुर्व्यापनशीलो यज्ञाधिष्ठाता यज्ञभोक्ताऽनन्तब्रह्माण्डाधिपतिः परमेश्वरो दिवि द्युलोके व्यक्रंस्त तत्र पादविक्षेपं कृतवान्। छन्दोमयः स भगवान् जगतीच्छन्दोरूपेण दिवि क्रान्ति कृतवान्। तद्विक्रान्त्या असुरसमूहो निर्भक्तो भागरहितो निःसारितः। कोऽयमसुरसमूह इत्यपेक्षायामाह योऽस्मान् देवान् तदनुयायिनश्च द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। असुरसमूहो वैदिकान् यज्ञयागादिपरायणान् सनातनधर्मभक्तिज्ञाननिष्ठान् द्वेष्टि बाधितुमिच्छति। वयं देवा देवानुयायिनश्च यमसुरसमूहं द्विष्मः स्वधर्माद्यनुष्ठानाय तं बाधितुमिच्छामः। यद्वा तस्यासुरत्वमेव बाधितुमिच्छामः, स एव विष्णुस्त्रैष्टुभेन छन्दसा त्रिष्टुप्छन्दोमयेन पादेन अन्तरिक्षे व्यक्रंस्त। ततोऽपि निर्भक्तो निराकृतः सोऽसुरसमूहो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। गायत्रेण छन्दसा पादेन विष्णुः पृथिव्यां व्यक्रंस्त ततोऽप्यसुरसमूहे निर्भक्तो निष्कासितो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। त्रिष्वपि लोकेषु तेषामनेकविधत्वेन सम्भवत्येवाधिकारः, तत्र तत्र तत्कृतोपद्रवादिदर्शनात्। 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' इति मन्त्रवर्णात्। पृथिवीलोकापेक्षयाऽन्तरिक्षलोको विस्तृतः, तदपेक्षयापि द्युलोकोऽधिकविस्तृतः। छन्दांस्यपि गायत्र्यादीन्युत्तरोत्तरं विस्तृताक्षराणि। तथाहि—चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री भवति, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्, द्विपञ्चाशदक्षरा जगती भवतीति। अस्मादन्नादास्तिकानामन्नभागाद् भोग्यधनवैभवादिभागादसि निर्भक्त इत्यनुवर्तते। असुरसमूहो निर्भक्तो भागरहितो निष्कासितः। अस्यै प्रतिष्ठायै पञ्चम्यर्थे चतुर्थी। प्रतितिष्ठत्यस्यामिति प्रतिष्ठा यज्ञभूमिः। अस्या यज्ञभूमेरपि निर्भक्तः सोऽसुरसमूहः, योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। विष्णुक्रमप्रभावादेव निर्विघ्नं वयं स्वः स्वर्गं वैकुण्ठं वा अगन्म प्राप्नुमः। ज्योतिर्मयेन ब्रह्मज्योतिषा वयं समभूम सङ्गता अभूम॥ २५॥

स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥ २६॥

'अथ सूर्यमुदीक्षते''''स उदीक्षते स्वयम्भूरसि''''' (श० १।९।३।१५-१६)। शतपथश्रुत्यनुसारेणैव कात्यायनः सूत्रितवान्—'स्वयम्भूरिति सूर्यम्' (का० श्रौ० ३।८।१५)। स्वयम्भूरिति मन्त्रेण सूर्यं

अध्यात्मपक्ष में भगवान् का अधिकार तीनों लोकों पर है। उन्होंने तीनों लोकों में अपना चरण-निक्षेप करके समस्त असुरों को वहां से भगा दिया है। विष्णुक्रम के प्रभाव से ही हम वैकुण्ठ को निर्विघ्नतया प्राप्त कर सकते हैं। उस ज्योतिर्मय ब्रह्म से हम लोग संगत हों, यह प्रार्थना की गई है॥ २५॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्य! तुम स्वयंसिद्ध प्रशस्त तथा रश्मि-मण्डल-शरीराभिमानी हिरण्यगर्भसंज्ञक हो, तुम तेजःप्रद हो, अतः मुझे ब्रह्मवर्चस् तेज दो। सूर्य के समान मैं प्रदक्षिणा करता हूँ। 'स्वयंभू' इस मन्त्र से सूर्य का अवलोकन करे। तथा 'सूर्यस्य' इस मन्त्र से प्रदक्षिणा करे॥ २६॥

विलोकयेद्यजमान इति सूत्रार्थः। 'वर्चोदा इति यं वा कामं कामयते' (का० श्रौ० ३।८।१६)। स्वयम्भूरिति वर्चोदा इत्यस्य स्थाने यं कामं कामयेत तद्वाचि पदप्रयोगं कुर्यात्। यथा पुत्रदा असि पुत्रं मे देहीत्येवम् 'सूर्यस्येत्यावर्तते प्रदक्षिणम्' (का० श्रौ० ३।८।१७)। सूर्यस्येति मन्त्रेण प्रदक्षिणमावर्तेत। तथा च मन्त्रार्थः—स्वयंभूरसि हे सूर्य त्वं स्वयम्भूरसि स्वयमेवान्यनिरपेक्षो भवसीति स्वयम्भूः स्वयंसिद्धोऽकृतकोऽसीत्यर्थः। श्रेष्ठोऽत्यन्तप्रशस्तः। रश्मिरसि दीप्तिरूपोऽसि। यद्वा श्रेष्ठो रश्मिः सूर्यमण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भरूपः सप्तमः श्रेष्ठो रश्मिरसि। सूर्यस्य सप्तरश्मयः सन्ति— चतुर्दिक्षु चत्वारो रश्मयः, एकोऽधस्तात्, एक उपरिष्टात्, सप्तमो मण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भः, यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोक इति पूर्वमन्त्रव्याख्यानप्रसङ्गेनोद्धृतशतपथश्रुतेः। हे सूर्य त्वं वर्चोदा ब्रह्मवर्चसस्य स्वरसेनैव स्वभावेनैव दातासि, अतो वर्चो ब्रह्मवर्चसं मे देहि। तेजोवाचिना वर्चःशब्देनापेक्षितः सर्वोऽपि काम उपलक्ष्यते। अतो हे सूर्य त्वमपेक्षितफलप्रदोऽसि, अतो मेऽपेक्षितं प्रयच्छ, यं वा कामं कामयत इति कात्यायनसूत्रसूचनात्। सूर्यस्य पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टस्य देवस्य आवृतमावर्तनमनु अहमावर्ते प्रादक्षिण्येनावर्तनं करोमि।

'अथ सूर्यमुदीक्षते। सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति तस्मात्सूर्यमुदीक्षते' इति श्रुतेः सूर्यः खलु यज्ञकर्तृणां गतिर्गन्तव्यस्थानं प्रतिष्ठा च। तस्मादेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति याज्ञिकः, तस्मात् सूर्यमुदीक्षते। स उदीक्षते स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिरित्येष वै श्रेष्ठो रश्मिर्यत्सूर्यस्तस्मादाह—स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिरिति। 'वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति त्वेवाहं ब्रवीमीति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तद्धयेव ब्राह्मणेनैष्टव्यं यद्ब्रह्मवर्चसी स्यादिति। अतो ह स्माहौपोदितेय एष वाव मह्यं गा दास्यति गोदा गा मे देहीत्येवं यं कामं कामयते सोऽस्मै कामः समृद्धयते' (श० १।९।३।१६)। 'अथावर्तते सूर्यस्यावृतमन्वावर्त इति तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वैतस्यैवावर्तमन्वावर्तते' (श० १।९।३।१७)। एष वै श्रेष्ठो रश्मिर्यत् सूर्य इति तेजोघनः सूर्य एव श्रेष्ठो रश्मिरुच्यते। एष तेषामतिशयः वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति त्वेवाहं ब्रवीमीति। याज्ञवल्क्य आह स्म—तद्धयेव ब्राह्मणेनैष्टव्यं यदहं ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण्ययुक्तः स्यामिति। उपेत्योदिता उपोदिता काचित् स्त्री तस्या अपत्यं पुमान् औपोदितेयः। 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा० सू० ४।१।१२०) एवमाह स्म। उत एष वाव सविता मह्यं गा दास्यति गोदा असि गा मे देहीत्येवं यं कामं कामयते सोऽस्मै कामः समृद्धयते। श्रुत्यनुरोधेनैव कात्यायनेनापि तथैव सूत्रितम्। अथावर्तते प्रदक्षिणमावर्तत एवं हि तस्य सूर्यस्यावृत्तिः। 'सूर्यस्येत्यावर्तते प्रदक्षिणमिति' कात्यायनोऽपि। तस्मादेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वैतस्यावर्तनमनु आवर्तते, तत्सायुज्यमुपागतो भवति ज्ञानसमुच्चितयज्ञानुष्ठायीत्यर्थः। तस्माद्यथोक्त एव वेदार्थः।

भाष्यसार—इस मन्त्र में सूर्य को स्वयम्भू, अर्थात् अन्यनिरपेक्ष यानी स्वयंसिद्ध, अकृतक बताया गया है। वह सूर्य सबसे श्रेष्ठ, अत्यन्त प्रशस्त है। वह रश्मि है यानी दीप्तिरूप है। अथवा श्रेष्ठो रश्मि कह कर उसे सूर्यमण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भरूप सप्तम श्रेष्ठ रश्मि कहा गया है। सूर्य की सात रश्मियाँ होती हैं, चार दिशाओं में चार रश्मियाँ, एक अधस्तात् और एक उपरिष्टात्, सप्तम मण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भ है। सूर्य को ब्रह्मवर्चस का प्रदाता कहा गया है। ब्रह्मवर्चस का प्रदान करना उसका स्वभाव है। अतः ब्रह्मवर्चस प्राप्ति की प्रार्थना उससे की गई है। यहाँ तेजोवाची वर्चस् शब्द से अपेक्षित समस्त कामनाओं को उपलक्षित किया गया है। एवं च यह सूर्यदेवता अपेक्षित फल को देनेवाली है। सूर्य का दर्शन और परिक्रमा करनी चाहिये। यज्ञकर्ताओं का गन्तव्य स्थान सूर्य ही है।

स्वामी दयानन्द ने दो प्रकार से व्याख्या की है, किन्तु वे दोनों ही व्याख्यायें शतपथ के विरुद्ध रहने से उपेक्षणीय हैं। अतः पूर्वोक्त सिद्धान्तानुसारी मन्त्रार्थ ही शतपथसम्मत है।

एतेन हे जगदीश्वर! त्वं श्रेष्ठो 'रश्मिः स्वयम्भूरसि वर्चोदा असि वर्चो मे देहि। अहं सूर्यस्य तवावृतमाज्ञापालनमन्वावर्त इत्येकः, तथा यः श्रेष्ठो रश्मिः स्वयंभूः स्वयंप्रकाशोऽस्ति, वर्चोदासि यो मे मह्यं वर्चो ददाति तस्यास्य सूर्यस्यावृतं शिल्पविद्यायै अन्वावर्ते' (पृ० २०५) इत्थं दयानन्दोक्तं व्याख्यानद्वयमपि प्रत्याख्यातं वेदितव्यम्, शतपथश्रुतिविरुद्धत्वात्। तत्र स्पष्टं सूर्यमुदीक्षत इति सूर्यावलोकनेऽस्य मन्त्रस्य विनियोग उक्तः। नहि परमात्मरूपस्य सूर्यस्योदीक्षणं विधातुं शक्यम्, कर्मप्रसङ्गे तदनुपपत्तेः। एष वै श्रेष्ठो रश्मिरित्येष इति प्रत्यक्षत्वं तस्योक्तम्। न च तत्परमेश्वरस्य सम्भवति, तस्य श्रवणमननिदिध्यासनादिभिरुपलभ्यत्वात्। वर्च इत्यस्य याज्ञवल्क्यरीत्या ब्रह्मवर्चसीति व्याख्यानं श्रुत्यैव कृतम्। औपोदितेयरीत्या गौरेव वर्च इति कामितपदार्थमात्रस्योपलक्षणं वर्चःपदम्। तेन गौः प्रजा धनं विद्येत्यादिसर्वमपि कामितं ग्रहीतुं शक्यत इत्यादिकं 'यं वा कामं कामयते सोऽस्मै कामः समृध्यते' इति श्रुत्यैव स्पष्टमुक्तम्। एवम् अथावर्तते इति श्रुत्यैव सूर्यस्यावृतमन्वावर्त इति मन्त्रेण सूर्यप्रदक्षिणैव विहिता, नात्राज्ञापालनं प्रकृतं न वा तद्विहितम्, तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वेति श्रुतिविरोधात्। तस्मात्सिद्धान्तानुसारी मन्त्रार्थ एव शतपथसम्मतः।

अध्यात्मपक्षेऽपि—हे सूर्यनारायण! त्वं स्वयम्भूरकृतकः परमेश्वर एवासि, 'असावादित्यो ब्रह्मेति' सूर्योपनिषद्वचनात्। छान्दोग्येऽपि चक्षुषि सूर्यमण्डले च हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः परमात्मैवोपास्यत्वेनोक्तः। पुराणे च—'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः। केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥' इति परमेश्वर एव ध्येयत्वेनोक्तः। 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) इति ब्रह्मसूत्रे बादरायणेनापि सूर्यमण्डले हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टः परमेश्वर एवोपास्यत्वेन वर्णितः। वाल्मीकीये रामायणे परब्रह्मस्वरूपो रामोऽपि स्वात्माभिन्नं ब्रह्मस्वरूपं भगवन्तमादित्यमगस्त्योपदिष्टरीत्या संस्तुत्य परमदुर्धर्षं रावणं जघान। 'एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः। महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपांपतिः॥' इत्यादिभिः श्लोकैस्तत्र भगवत आदित्यस्य सार्वात्म्यमुक्तम्। अत एव नाचेतनः सूर्यः। तत एव सम्बोधनं स्तुतिस्ततोऽभीष्टमनोरथप्राप्तिरप्युपपद्यते, नाचेतनात् 'यं यं कामयते' इत्यादिकमुपपद्यते। सूर्यरूपेणैव परमात्मन आबाल-गोपाङ्गनं प्रसिद्धिरुदिता रुद्राध्याये—'उतैनं गोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्यः' (१६।७) इति। एनं परमेश्वरं शिवं सूर्यं गोपा उदहार्यश्च दृष्टवन्तः। शतपथश्रुतिरीत्या एष हिरण्यगर्भः पुरुष एवास्य सूर्यस्य श्रेष्ठः सप्तमो रश्मिः। आदित्यमण्डलस्थः परमेश्वरः प्रार्थ्यते—वर्चोऽसि तेजसां निधानमसि, वर्चो ब्रह्मवर्चसं मे देहि येन ब्राह्मण्येन ब्रह्मात्मानमापरोक्ष्येण साक्षात्कृत्याहं ब्रह्मविद्वरिष्ठरूपो मुख्यो ब्राह्मणः स्याम्। अथवा सर्वकामितार्थरूपः सर्वात्मासि, अतो यं यं गाः प्रजा रत्नानि ब्रह्मविद्याः शमदमादींश्च कामये तं तं देहि। नहि सर्वप्रदस्य तव किञ्चिदप्यदेयमस्ति। सूर्यस्यावृतमावर्तनमन्वावर्ते प्रादक्षिण्येन त्वदीयां गतिमहमन्वावर्ते। प्रदक्षिणावर्तनेनाहं त्वदानुकूल्यं व्यञ्जयामि, तेन त्वदीयकायच्छायमिवात्मानं त्वदनुगामिनं करोमि। त्वदिच्छानुसारिणीमिच्छां त्वन्मनोऽनुसारि मनश्च कृत्वा सर्वथा तवानुवर्तनं करिष्यामीति॥ २६॥

अध्यात्मपक्ष में—सूर्यनारायण के रूप में वह परब्रह्म परमेश्वर ही है। इस बात को उपनिषद्, पुराण, ब्रह्मसूत्र आदि ने भी बताया है। सूर्यमण्डल में हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्ट परमेश्वर ही उपास्य के रूप में बताया गया है। परब्रह्मस्वरूप रामचन्द्र ने भी अपने से अभिन्न ब्रह्मस्वरूप भगवान् आदित्य की स्तुत्यात्मक उपासना अगस्त्य मुनि के उपदेशानुसार करके ही परम दुर्धर्ष रावण का वध किया था, यह सब वाल्मीकीय रामायण में वर्णित है। अत एव 'सूर्य' को अचेतन कहना बड़ी भूल है। सूर्य अचेतन नहीं है। इसीलिये भक्त अपने आराध्यदेव सूर्य आदि का दर्शन, प्रदक्षिणा करके उसके प्रति अपनी अनूकूलता को अभिव्यक्त करता है॥ २६॥

अग्ने॑ गृहपते सुगृहप॒तिस्त्वया॑ग्ने॒ऽहं गृ॒हप॑तिना भूयास७ सुगृहप॒तिस्त्वं मया॑ग्ने गृ॒हप॑तिना भूयाः। अ॒स्थू॒रि णौ॒ गार्ह॑पत्यानि सन्तु श॒त७ हि॒माः सूर्य॑स्या॒वृत॒मन्वा॒वर्ते॑ ॥ २७ ॥

'गार्हपत्यमुपतिष्ठतेऽग्ने गृहपत इति शत७ हिमा इति ब्रूयाद्वा' (का० श्रौ० ३।८।१९.)। हे गार्हपत्याग्ने गृहपतेऽस्मदीयस्य गृहस्य पालक ! त्वया गृहपतिना त्वत्प्रसादेनाहं सुगृहपतिः शोभनो गृहपालको भूयासम्। तथा त्वमपि गृहपतिना मया मदीयसेवया गृहपतिर्भूया गृहपालको भव। एवं सति नौ आवयोर्गार्हपत्यानि गृहपतिभ्यां स्त्रीपुंसाभ्यां निष्पाद्यानि कर्माणि शतं हिमाः शतवर्षपर्यन्तम् अस्थूरि स्थूलत्वमनुष्ठानाभ्यासस्तद्रहितमस्थूरि रलयोरभेदः सम्यगनुष्ठितानि भवन्तु। हिमशब्दो हेमन्तमृतुमाचष्टे। तथैव च तित्तिरिर्व्याचष्टे—'शत७ हिमा इत्याह शतं ता हेमन्तातिष्विवायेति वैतदाहेति'। हिमशब्दसूचितैर्हेमन्तैस्तद्युक्ताः संवत्सरा लक्ष्यन्ते। यद्वा शकटयुगस्यान्यतरपार्श्वे बलीवर्दयुतं शकटं स्थूरीत्युच्यते। न स्थूरि अस्थूरि उभयतो बलीवर्दयुक्तं शकटमस्थूरीव। लुप्तोपमं चैतत्। यथोभयतो बलीवर्दयुतं शकटं निरन्तरमव्यवहितं प्रचलति, तथास्माकं गार्हपत्यानि गृहपतिभ्यां निष्पाद्यानि कर्माणि निरन्तरमव्यवहितं प्रचलन्तु। 'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः' (पा० सू० ४।४।९०)। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते 'सूर्यस्येत्यावर्तते प्रदक्षिणम्' (का० श्रौ० ३।८।२०)। सूर्यस्येति मन्त्रेण यजमानः प्रदक्षिणमावर्तत इति सूत्रार्थः। मन्त्रार्थस्तु पूर्ववदेव।

कात्यायनसूत्राणि तदनुकूलानि भाष्याणि शतपथश्रुतिमूलकान्येवेति मन्तव्यम्। तथाहि—'अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते। द्वयं तद्यस्माद् गार्हपत्यमुपतिष्ठते गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति यावद्वेवास्येह मानुषमायुस्तस्मा एवैतदुपतिष्ठते। तस्माद् गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (श० १।९।३।१८)। गार्हपत्योपस्थानस्य कारणद्वयम्–एकं यस्माद् गृहा वै गार्हपत्यं गृहा वै प्रतिष्ठा गार्हपत्योपस्थानेन स्वगृहे प्रतितिष्ठति, द्वितीयं च यावद्वास्य मानुषमायुस्तस्मै तस्य निर्विघ्नप्राप्तये उपतिष्ठते। सूर्योपस्थानादिना स्वगतिस्तूक्तैव। 'स उपतिष्ठते अग्ने गृहपते···मयाग्ने गृहपतिना भूया इति नात्र तिरोहितमिवास्त्यस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्त्वित्यनार्तानि नौ गार्हपत्यानि सन्त्वित्येवैतदाह। शत७ हिमा इति शत७वर्षाणि जीव्यासमित्येवैतदाह। तदप्येतद् ब्रुवन्नाद्रियेतापि भूया७सि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति तस्मादप्येतद् ब्रुवन्नाद्रियेत' (श० १।९।३।१९)। भूया इत्यन्तं स्पष्टमेव। अस्थूरिणौ गार्हपत्यानीति व्याचष्टे—अनार्तानि नौ गार्हपत्यानि सन्त्वित्येवैतदाह पूर्वोक्तो मन्त्रभागः। असहायगोवाह्यशकटः स्थूरः। तत्रासहायमात्रं लक्ष्यते। स्थूरोऽस्मिन्नस्तीति स्थूरि न स्थूरि अस्थूरि ससहायः अनेकबलीवर्दयुक्तः शकटः अस्थूरि तेन परिपूर्णता लक्ष्यते। तदेवाह—अनार्तानि नौ आवयोर्गार्ह-

मन्त्रार्थ—हे गृहपालक अग्ने ! तुम्हारे प्रसाद से मैं अच्छा गृहपालक बनूंगा। तथा मेरी सेवा से तुम भी गृह के पालक बनो। इस तरह से हम पति-पत्नी के कार्य सौ वर्षतक निरन्तर सावधानी से होते रहें। जिस प्रकार दोनों तरफ जुड़ी हुई बैलगाड़ी निरन्तर चलती है, उसी प्रकार हमारे कार्य प्रवृत्त होते रहें। सूर्य के समान मैं प्रदक्षिणा करता हूँ। 'अग्ने गृहपते' इस मन्त्र से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करे और 'सूर्यस्य' इस मन्त्र से प्रदक्षिणा करे ॥ २७ ॥

भाष्यसार—मन्त्र में हिम शब्द 'हेमन्त ऋतु' को बता रहा है। 'अस्थूरि णौ' अस्थूरीव लुप्तोपमा का प्रयोग किया है। जिस शकट के जुवे (धुरी) में दोनों तरफ बैल लगे होते हैं, उसे अस्थूरि कहते हैं। ऐसी दो बैलवाली गाड़ी जैसे बिना किसी व्यवधान के चलती है, वैसे ही हम पति-पत्नी के द्वारा निष्पाद्य कर्म निरन्तर चलता रहे।

पत्यानि। असहायकृतानि कर्माणि आर्तिपरिगृहीतत्वाद् आर्तान्युच्यन्ते । ससहायसाध्यानि पुनरनार्तानि साङ्गानि सुसम्पन्नानि भवन्ति। शतं हिमा इति ब्रुवन् शतं मे जीव्यासमिति नाद्रियेत यतो हि भूयांसि शताद्वर्षेभ्यो जीवति पुरुषः, सहस्रायुःपुरुषाणामपि वेदपुराणादिषु वर्णनात्।

अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने गृहपते ! आहिताग्नीनामग्निरेव गृहपतिर्भवति, सर्वेषु सुप्तेषु तस्यैव जागरूकत्वात्, 'अग्निर्जागार' इत्यादि मन्त्रवर्णात्। अत एव कृतदारस्यैवाग्न्याधानेऽधिकारः 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इति श्रुतिः, दम्पत्योः सहाधिकारात्। नात्रापि जडोऽग्निः पूज्यते, किन्तु तदधिष्ठाता देवविशेषः, तदुपहितः परमात्मैव वाराध्यते। अतो हे अग्ने गृहपते ! त्वयैव गृहपतिनाहं सुगृहपतिः शोभनो योग्यो धार्मिको भगवत्प्राप्तिसाधको गृहपतिर्भूयासम् । भगवदाराधकस्य गृहं मे सुगृहं भवति, 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' इति श्रीमद्भागवतवचनात् । हे अग्ने मया गृहपतिना त्वमपि सुगृहपतिर्भूयाः। यथा योग्याभिः प्रजाभिरेव शोभनो राजा भवति, तथैव योग्यैरेवाहिताग्निभिरग्निरपि सुगृहपतिर्भवति। हे अग्ने ! यथा शरीरत्रयलक्षणपुरत्रयनिवासित्वाज्जीवः पूर्षु शयनात् पुरुष उच्यते, तथैवानन्तब्रह्माण्डलक्षणगृहे व्यवहर्तृत्वात् परमात्मस्वरूपोऽग्निर्गृहपतिर्भवति। तदनुग्रहेणाहमपि सुगृहपतिर्भूयासं मोक्षप्रापकदेहगृहादिस्वामित्वेन सुगृहपतिर्भूयासम्, मया च त्वं सुगृहपतिर्भूयाः। सर्वेश्वरोऽपि सर्वव्यापकोऽपि सर्वत्र स्थितोऽपि भगवानसन्निव भवति धर्मोपासनतत्त्वज्ञानैर्विना, अतो मया धर्मादिमता त्वं सुगृहपतिर्भूयाः। त्वदनुग्रहेण नौ स्त्रीपुरुषयोर्गार्हपत्यानि अस्थूरीव शतं हिमाः सन्तु बहुकालपर्यन्तं त्वदाराधनलक्षणं गार्हपत्यानि गेहदेहसम्बन्धीनि अनन्तानि निरन्तरमव्याहतानि प्रचलन्तु, अहं च तवाराधकः स एव परमात्मस्वरूपोऽग्निः सूर्यरूपेणाप्याराधनीयः तस्य सूर्यस्यावृतं प्रादक्षिण्येनावर्तनमावर्ते तदवच्छिन्नस्य परमेश्वरस्यानुवर्तनं करोमीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे गृहपते जगदीश्वर ! त्वं गृहपतिरसि। त्वया गृहपतिना सहाहं सुगृहपतिर्भूयासम्। मया गृहपतिनोपासितस्त्वं गृहपतिर्भूयाः। एवं नौ स्त्रीपुरुषयोर्गार्हपत्यान्यस्थूरि सन्त्वेवं वर्तमानोऽहं वर्तमाना च सूर्यस्यावृतं शतं हिमा अन्वावर्त इत्येकः। अयमग्निर्विद्यया संगृहीतः सुगृहपतिर्भवति। अहमनेन सुसाधितेन गृहपतिनाग्निना सुगृहपतिर्भूयासम्। मया गृहपतिना संयोजितोऽयमग्निः सुगृहपतिर्भवति। अनेनावयोः स्त्रीपुरुषयोर्गार्हपत्यान्यस्थूरि सन्तु। एवं प्रयत्नं कुर्वन् कुर्वती चाहं सूर्यस्यावृतं शतं हिमा अन्वावर्त इति द्वितीयः' (पृ० २०८)। तदेतद् व्याख्यानद्वयं शतपथश्रुतिकात्यायनादिसूत्रविरुद्धत्वादुपेक्ष्यम्। सर्वाधिपतेर्जगदीश्वरस्य गृहपतित्वं किंनिबन्धनमिति वक्तव्यमासीत्। अग्निर्विद्यया संगृहीतोऽप्यग्निः कथं गृहपतिः ? सिद्धान्ते तु गार्हपत्योऽग्निरत्र सम्बोध्यः। तत्रैव गार्हपत्यानि क्रियन्ते। यदुक्तम्—'तिष्ठन्ति यस्मिन्नालस्ये तत्स्थूरं तन्निन्दितं विद्यते यस्मिन् तत्स्थूरि न स्थूरि अस्थूरि यथा स्यात्तथा' इति, तदपि न सङ्गतम्, तिष्ठन्ति यस्मिन् सत्येऽनालस्ये तत्स्थूरमिति व्युत्पत्त्या त्वदुक्ताद्विपरीतार्थस्यापि सुवचत्वात्। शतपथे

अध्यात्मपक्ष में—परमेश्वर की आराधना करने वाला कहता है कि परमात्मा 'अग्नि' रूप है और वही सूर्यरूप भी है। आहिताग्नियों का अग्नि ही गृहपति होता है, क्योंकि सबके सो जाने पर वही जागता रहता है। अत एव कृतदारपरिग्रह वाले पुरुष का ही अग्न्याधान में अधिकार बताया गया है। यह पूजन जड अग्नि का नहीं किया जाता, अपितु तदधिष्ठात्री देवता का किया जाता है। अथवा तदुपहित परमात्मा की ही आराधना की जाती है। उसी परमात्मा की उपासना से मैं सुगृहपति, योग्य धार्मिक अर्थात् भगवत्प्राप्तिसाधक गृहपति बन पाऊँगा, क्योंकि 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' मेरा घर तो निर्गुण (गुणरहित) है। अतः मैं उस परमेश्वर का अनुवर्तन करता हूँ।

तु अनार्तानीत्येवास्थूरिपदार्थत्वेनोक्तम्, गार्हपत्यकर्मणां व्यङ्गत्वमपरिपूर्णत्वमेवार्तत्वम्। तच्चासहायनिर्वर्त्यत्व एव पर्यवस्यति। आलस्येन तु कर्मप्रवृत्तिरेव न भवति। तद्व्याख्यानं तु सिद्धान्तव्याख्याने व्यक्तमेव। यच्च--'एवं वर्तमानो वर्तमाना चाहं सूर्यस्यावृतं शतं हिमा अन्वावर्ते' इत्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, अस्थूरि नौ गार्हपत्यानि शतं हिमाः सन्त्वित्यन्वयेन शान्ताकाङ्क्षत्वेन शतं हिमा इत्यस्य अन्वावर्त इत्यनेनायोगात्, श्रुत्या सूत्रेण च पृथग्विनियुक्तत्वात्, 'अथावर्तते सूर्यस्यावृतमन्वावर्त इति तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वैतस्यावृतमन्वावर्तते' (श० १।९।३।२०) 'सूर्यस्येत्यावर्तते प्रदक्षिणम्' (का० श्रौ० ३।८।२०) इति श्रुतिसूत्राभ्यां पृथगेवास्य मन्त्रस्य विनियोगात्, शतं हिमा इत्यनेन तदसम्बन्धात् अथावर्तत इति श्रुतावथपदव्यवधानाच्च तदयुक्तम् ॥ २७ ॥

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तम॑चारिषं॒ तद॑शकं॒ तन्मे॑ऽराधी॒दम॒हं य ए॒वास्मि॒ सो॑ऽस्मि ॥ २८ ॥

'व्रतं विसृजते येनोपेयात्' (का० श्रौ० ३।८।२५)। यदि पूर्वमग्ने व्रतपते इति मन्त्रेण व्रतं गृहीतं तदा अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषमिति मन्त्रेण व्रतं विसृजेत्। यदि पूर्वमिदमहमिति मन्त्रेण गृहीतं तदा इदानीमिदमहं स एवास्मि सोऽस्मीति मन्त्रेण विसृजेत्। व्रतपते व्रतस्य कर्मणः पालक हे अग्ने! व्रतमचारिषं कर्मानुष्ठितवानस्मि। तदशकं त्वदनुग्रहात् कर्म सम्पादयितुं समर्थोऽभवम्। त्वया च मदीयं तत्कर्म अराधि साधितम्। इदमहमिति प्रारम्भसमये इदं व्रतमहं करिष्य इति सङ्कल्प्य यः स्थितोऽस्मि स एवाहमिदानीं त्वत्प्रसादात् सङ्कल्पितकर्मसमाप्तिं कृत्वा स्थितोऽस्मि। यद्वा हे अग्ने त्वत्साक्षिकं व्रतं गृहीत्वा इदं कर्म समाप्य य एव कर्मणः पुरा अहमस्मि मनुष्यः स एवास्मि। कर्मकाले तु मानुषभावादनृतादुद्गत्य सत्यं देवभावमुपगतोऽभवम्।

तथैव शतपथश्रुतिः—'अथ व्रतं विसृजते। इदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्यमानुष इव वा एतद्भवति यद्व्रतमुपैति। नहि तदवकल्पते यद् ब्रूयादिदमहꣳ सत्यादनृतमुपैमीति तदु खलु पुनर्मानुषो भवति। तस्मादिदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्येवं व्रतं विसृजेत' (श० १।९।३।२३)। यद्व्रतं विसृजते तेन व्रतोऽमानुष इव देव इव भवति। यथा पूर्वं व्रतग्रहणे इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीत्युक्तं समाप्तौ इदमहं सत्यादनृतमुपैमीति यद् ब्रूयात्तन्नावकल्पते, यतो व्रतविसर्गानन्तरं मानुषो जायते। तस्मादिदमहमित्येतेन मन्त्रेण व्रतं विसृजेत्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने! मदर्थं यद् व्रतमराधि तदशकमचारिषं यन्मयाराधि तदेवाहं भुञ्जे योऽहं यादृश-कर्मकार्यस्मि सोऽहं तादृशफलभोग्यस्मि भवामि' (पृ० २१०) इति, तत्तु सर्वथा विशृङ्खलं श्रुतिसूत्रविरुद्धं च,

---

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र के दो अर्थ किये हैं, किन्तु दोनों ही शतपथ और श्रौतसूत्र के विरुद्ध हैं। साधारण लौकिक अग्नि और गार्हपत्य अग्नि में बहुत बड़ा भेद है, दोनों एक नहीं हैं। 'अस्थूरि' शब्द का अर्थ भी ठीक नहीं समझ पाये। दयानन्दीय अर्थ में विपरीत अर्थ का भी बोध होता है। अतः शतपथोक्त अर्थ की ओर ध्यान देना चाहिये ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे कर्मपालक अग्ने! मैंने सत्य भाषण आदि का व्रत किया और वह तुम्हारी कृपा से ही सम्भव हो सका, तुम्हारे कारण ही मेरा व्रत पूर्ण हो पाया। हे अग्ने! उस व्रत को मैंने समाप्त किया। जैसा मैं पहिले मनुष्य था, वैसा अब भी हूँ। अभिप्राय यह है कि व्रत समाप्ति का श्रेय तुम्हें ही है, मुझे नहीं। 'व्रतं विसृजते येनोपेयात्' इस सूत्र के अनुसार यजमान ने जिस मन्त्र से व्रतग्रहण किया हो, उसी मन्त्र से वह व्रतत्याग करे ॥ २८ ॥

भुञ्जे तादृशफलभोग्यस्मीत्यस्य निर्मूलत्वात् । व्रतचरणव्रतविसर्गयोरनवधानं स्वाभ्यूहितसत्य-न्याय-धर्मादि-ग्रहणप्रतिज्ञानकर्मानुसारफलभोगित्वाख्यानं च प्रमादविलसितमेव ॥ २८ ॥

अ॒ग्नये॑ कव्य॒वाह॑नाय॒ स्वाहा॒ सोमा॑य पितृ॒मते॒ स्वाहा॑ ।

अप॑हता॒ असु॑रा॒ रक्षा॑ᳬसि वेदि॒षदः॑ ॥ २९ ॥

अग्नये इत्यारभ्य पिण्डपितृयज्ञिया मन्त्राः । प्रजापतेरार्षम् । 'सारतण्डुलमपूर्णᳬ श्रपयित्वाऽभिघार्योद्वास्य मेक्षणेन जुहोत्यग्नय इति सोमायेति च' (का० श्रौ० ४।१।६) । शृताशृतं पितॄणामिति वाक्यात् सारशब्द ईषत्स्विन्नवाची । तण्डुलमीषत्स्विन्नं तथा शृतेन चरुणा चरुस्थाली पूर्णा यथा स्यात्तथा श्रपयित्वा आज्येनाभिघार्य दक्षिण उद्वास्य उत्तरत आनीयाध्वर्युर्मेक्षणेन कृतापसव्योऽग्नय इति सोमायेति च मन्त्राभ्यां द्वे आहुती जुहुयात् । होमस्यास्य दैवत्वेऽपि पैतृककर्माङ्गत्वादङ्गस्य प्रधानधर्मकत्वावश्यंभावात् प्राचीनावीतिनैव होमः कार्यः । चरुमालोड्य येन काष्ठेन गृहीत्वा हूयते तद् मेक्षणम् ।

मन्त्रार्थस्तु—कव्यवाहनाय कवीनां क्रान्तदर्शिनां पितॄणां सम्बन्धि हविः कव्यम् । तत् पितॄन् प्रति वहति प्रापयतीति कव्यवाहनोऽग्निः । यद्वा तत्कव्यं पितॄणां हविर्वोढुमधिकारो यस्य स कव्यवाहनः । 'त्रयो वा अग्नयो हव्यवाहनो देवानां कव्यवाहनः पितॄणां सहरक्षा असुराणाम्' (तै० सं० २।५।८।६) । तस्मै अग्नये देवाय स्वाहा हविरिदं समर्पितमस्तु । वषट्कारेण स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयत इति लिङ्गाद् दैवावेतौ मन्त्रौ । 'प्रास्य तद्दक्षिणेनोल्लिखत्यपहता इत्यपरेण वा' (का० श्रौ० ४।१।७) । होमान्तरमध्वर्यु-र्दक्षिणाग्नौ मेक्षणमपि प्रक्षिप्य दक्षिणाग्नेर्दक्षिणतः पश्चिमतो वा स्फ्येन दक्षिणाग्रां रेखां कुर्यात् । वेद्यां सीदन्तीति वेदिषदस्तथाविधा असुरा अपहता वेदेः सकाशादपनीय वारिताः । तथा रक्षांसि च अपहतानि । असुरा रक्षांसि च देवविरोधिजातिविशेषाः ।

शतपथे च —'स जघनेन गार्हपत्यं प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीन एवं गृह्णातीति' (श० २।४।२।९) । गार्हपत्यस्य पश्चिमदेशे व्रीहिपूर्णस्य निर्याणार्थस्य शकटस्य दक्षिणत आसीनः प्राचीनावीती भूत्वा पितृयज्ञार्थं हविर्गृह्णीयात् । चर्वर्थं गृहीतानां व्रीहीणामवहननं सकृत् फलीकरणं च कुर्यात् । 'तᳬ श्रपयति तस्मिन्नधिश्रित आज्यं प्रत्यानयत्यग्नौ वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैव पितॄणां तस्मादधिश्रित आज्यं प्रत्यानयति' (श० २।४।२।१०) । सकृत्फलीकृततण्डुलान् स्थाल्यां प्रक्षिप्य तं चरुं दक्षिणाग्नौ श्रपयेत् । उद्वासनात् प्रागेव तस्मिंश्चरावभिघारणं विधत्ते—अधिश्रिते अग्नेरुपरि स्थापिते तस्मिन् पक्वे सत्याज्यं प्रत्यानयति प्रक्षिपति ।

भाष्यसार—भाष्य का अभिप्राय ऊपर भावार्थ से स्पष्ट हो जाता है । अतः उसकी आवृत्ति नहीं की जा रही है । स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह श्रुति-सूत्र के विरुद्ध होने से उपेक्षणीय ही है ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—कव्य का धारण करनेवाला जो अग्नि है, उसे यह हविर्भाग दिया है । पितृयुक्त सोमसंज्ञक जो देव है, उसे यह हविर्भाग दिया है । वेदी पर रहनेवाले जो राक्षस और असुर हैं, वे वेदी से भ्रष्ट हो गये हैं । भूतकालीन कर्म को देखनेवाले जो पितृगण हैं, उन्हें 'कवि' कहते हैं और उनको दिया हुआ हविर्द्रव्य 'कव्य' कहलाता है । सम्पूर्ण चावलों को अपूर्ण (अर्ध) परिपक्व करके, उस पर घृत डालकर, उन्हें स्थाली में निकाल ले । तदनन्तर विकंकत वृक्ष से निर्मित मेक्षण से उन चावलों की 'अग्नि' और 'सोम' के लिये दो आहुतियाँ देवे ॥ २९ ॥

तदुपपादयति—अग्नौ वेति । देवार्थं यदाज्यं तद् अग्नौ जुह्वति यजमानाः । मनुष्येभ्यो यद् देयमाज्यं तत् तेषां पुरतो भोजनपात्रेषूद्धरन्ति उद्धृत्य पुरतः स्थापयन्ति । अथैव तद्वैलक्षण्येन पितॄणां त्वधिश्रितावस्थायामेव चरावाज्यमवनेयमिति । एवमेव पितृभ्य आज्यं देयम्, न त्वग्नौ होमेन न वा पुरस्तादुद्धरणेन । एतावता मनुष्येभ्यो भिन्ना देवाः पितरश्चेति । श्रुतिसिद्धाः पितरश्च देवमनुष्येभ्यो भिन्ना एव ।

'स उद्वास्याग्नौ द्वे आहुती जुहोति देवेभ्यः । देवान् वा एष उपावर्तते य आहिताग्निर्भवति । यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते । अथैतत् पितृयज्ञेनाचारीत्तदु देवेभ्यो निह्नुते स देवैः प्रसूतोऽथैतत् पितृभ्यो ददाति । तस्मादुद्वास्याग्नौ द्वे आहुती जुहोति' (श० २।४।२।११) । अथोद्वासनपूर्वकं चरोर्होमं विधत्ते—ननु पित्रर्थेन हविषा कथं देवेभ्यो होम इत्याशङ्क्य तदुपपादयति—देवान् वा एष उपावर्तत इति । उपहूतो भवति य आहिताग्निर्भवति यश्च दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते । अतस्तेभ्यो हविरवश्यं देयम् । अथ तद्वैपरीत्येन एतत् एतर्हि दैविकं कर्म परित्यज्य पित्र्येण कर्मणा अचारीत् पित्र्यं कर्म कृतवानयं यजमानः । तथास्यान्यदीयकर्मानुष्ठानेन देवानां कोपः स्यात्, अतस्तन्निवृत्तये पित्र्ये विकर्मणि देवेभ्यो होमेन तदपराधं निह्नुते क्षमापयति प्रीणयति वा । एवं होमेन तोषितैर्देवैः प्रसूतोऽनुज्ञातः स यजमानः, अथैतत् पितृभ्यो हविर्दद्यात् तस्मादुद्वास्याग्नौ द्वे आहुती जुहुयात् । 'स वा अग्नये च सोमाय च जुहोति । स यदग्नये जुहोति सर्वत्र ह्येवाग्निरन्वाभक्तोऽथ यत्सोमाय जुहोति पितृदेवत्यो वा सोमस्तस्मादग्नये च सोमाय च जुहोति' (श० २।४।२।१२) । स वा इति । इतरान् देवान् परित्यज्य अग्नेः सोमस्य च होमे कारणमाह—सर्वदेवेषु सर्वेषु कर्मसु अग्निरन्वाभक्तोऽनुप्रविष्टः । नह्यग्निमन्तरेण दैविकं पित्र्यं वा किञ्चित् कर्म निष्पद्यते, अतोऽग्नेर्होमो युक्तः । सोमश्च पितृदैवत्यः, चन्द्रमा वो ज्योतिरिति प्रजापतिः पितॄणां ज्योतिष्ट्वेन चन्द्रमसं कल्पितवान् । अत एव धूमादिमार्गेण पितॄणां चन्द्रलोकप्राप्तिरुक्ता । 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (छा० उ० ५।१०।५) । अतः पित्र्ये कर्मणि सोमाय होमो युक्त एव ।

'स जुहोति । अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहेत्यग्नौ मेक्षणमभ्यादधाति । तत् स्विष्टकृद्भाजनमथ दक्षिणेऽन्वाहार्यपचनꣳ सकृदुल्लिखति तद्वेदिभाजनꣳ सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात् सकृदुल्लिखति' (श० २।४।२।१३) । उक्तदेवतयोर्होममन्त्रं विधत्ते श्रुतिः—'अग्नये कव्यवाहनाय । कव्यं पित्र्यं हविः, तत् पितॄन् वहति प्रापयतीति 'कव्यपुरीषपुरीष्येषु' (पा० सू० ३।२।६५) इति ल्युट् । कव्यवाहनाय अग्नये स्वाहा हविरिदं दत्तमस्तु । पितृमते पितृयुक्ताय सोमाय स्वाहा सुहुतमस्तु । मेक्षणमग्नावभ्यादधाति । तच्चास्य होमस्य स्विष्टकृत्स्थानीयम् । अथ दक्षिणेनेति पिण्डप्रदानाय स्थानविशेषं तत्संस्कारं च विधाय प्रशंसति—अन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः । दक्षिणाग्नेरदूरेण स्फ्येन सकृदुल्लिखति । एकयत्नेन प्राचीं लेखां कुर्यात् तत उल्लिखितस्थलं वेदिभाजनं वेदिस्थानीयं तत्कार्यकरं यत एकवारमेव पराञ्चो गताः प्रेताः पितरोऽभवन् न तेषां पुनरावृत्तिरस्ति, अतस्तेषां सकृत्त्वमसाधारणो धर्मः । पितॄणां कालविशेषोऽपि सूचितः— 'स वा अपराह्णे ददाति । पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणां तस्मादपराह्णे ददाति'

भाष्यसार—'अग्नये और सोमाय' ये दो आहुतियाँ यद्यपि 'दैव' हैं, तथापि पैतृक कर्म का अंग होने से प्राचीनावीती (अपसव्य) करके ही होम करना चाहिये । चरु का आलोडन करके जिस काष्ठ से हवन किया जाता है, उसे 'मेक्षण' कहते हैं । वषट्कार अथवा स्वाहाकार के द्वारा देवताओं को अन्न दिया जाता है । असुर और राक्षस ये देवविरोधी जातिविशेष हैं ।

(श० २।४।२।८)। तस्माद्विद्वांसो मनुष्या एव देवाः, जीवन्तः पितृपितामहादय एव पितर इत्यर्धनास्तिकाना-मुक्तयोऽपास्ता वेदितव्याः।

अथाध्यात्मम्—अग्नये कव्यवाहनाय पितृहविःप्रापकत्वविशिष्टाय सोमाय साम्बशिवाय पितरः सन्त्यनुग्राह्या यस्य तस्मै स्वाहा हविर्दत्तमस्तु। अन्यत् पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'कुवन्ति शब्दयन्ति सर्वा विद्या ये ते कवयः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञाश्च। तेभ्यो हितानि कर्माणि कव्यानि तानि यो वहति प्रापयति तस्मै। सुष्ठु आह यस्यां सा वाक्। सुवन्त्यैश्वर्याणि प्राप्नुवन्ति यस्मिन् संसारे तस्मै। पितर ऋतवो नित्ययुक्ता विद्यन्ते यस्मिन् तस्मै। स्वाहां स्वं दधात्यनया सा स्वाहाक्रिया। अपहता अविद्वांसोऽसुराः। रक्षांसि परपीडकाः स्वार्थिनः। वेद्यां पृथिव्यां सीदन्तीति ते। 'यावती वेदिस्तावती पृथिवी' (श० १।२।५।७) इति (पृ० २११-२१२)। तदेतत्सर्वथाऽविचारितरमणीयम्, स जुहोतीत्यादिपूर्वोक्त-श्रुतिविरोधात्, तत्र जुहोतीत्यनेनाग्नौ होमोक्तेः। नहि कविहितकर्मकारिमनुष्यायाग्नौ होमो युज्यते। एवं पितृमते सोमायापि होम उक्तः। ऋतुयुक्ताय संसारायापि होमस्य किं प्रयोजनम्? एवं वेदिषद इति विशेषणमेव व्यर्थं स्यात्, अदुष्टानामपि वेदिषत्त्वाविशेषात्। कथं चासुरादयोऽपहता भवेयुः? शब्दमात्रेणापहननस्याशक्यत्वात्। किञ्च, स अपराह्णे ददातीति श्रुतौ देवानां पितॄणां च मनुष्येभ्यः पृथगुल्लेखस्तेषां कालभेदोल्लेखश्च तन्मतं सर्वथापि खण्डयति। कव्यवाहनोऽत्राग्निरुक्तो न यः कोऽपि कविहितकर्मप्रापकः। अग्निस्तु सर्वहितकर्मप्रापको भवति, दहनपचनादिभिस्तस्य सर्वोपकारकत्वात्। तस्माद्यथा पङ्कजनिकर्तृत्वेऽपि न कुमुदादीनां पङ्कजपदवाच्यता, तथैव कव्यस्यानेकैः प्रकारैर्व्युत्पन्नत्वेऽपि पितृहविष्येव कव्यशब्दस्य प्रवृत्तिर्न देवहविषि। अत एव तैत्तिरीयसंहितायां हव्यवाहनकव्यवाहनादयोऽग्निभेदा एवोक्ताः। यस्मै सोमायाहुतिः प्रदीयते स सोमो देवविशेष एव। एवमेवाङ्गति सर्वान् पदार्थान् दग्ध्वा देशान्तरे प्रापयतीत्यग्निरित्यग्निशब्दार्थोऽपि चिन्त्यः, तथात्वे देशान्तरप्राप्तीच्छया तत्त-दभीष्टपदार्थानामग्नौ प्रक्षेपणीयत्वापत्तेः। अग्नौ प्रक्षेपात् पदार्थनाशस्तु प्रत्यक्षं दृश्यते। नहि प्रत्यक्षवादिभिश्चार्वाकै-र्यज्ञादिकमनुष्ठीयते। प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तशब्दप्रामाण्यवादिभिस्तु तत्तदाहुतिजन्यैरपूर्वापरपर्यायैरदृष्टैरेव तत्तदभीष्टसिद्धिरङ्गीक्रियते। वस्तुतस्तु सिद्धान्तानुसारिव्याख्यानं श्रुतिसूत्रप्रमाणितम्, दयानन्दीयं व्याख्यानं तु निष्प्रमाणमेव, स्वाभ्यूहितानां तादृशामनेकेषामर्थानां सम्भवात्॥ २९॥

ये रू॒पाणि॑ प्रतिमु॒ञ्चमा॑ना असु॑राः॒ सन्तः॑ स्व॒धया॒ चर॑न्ति।
प॒रा॒पुरो॑ नि॒पुरो॒ ये भर॑न्त्य॒ग्निष्टाँल्लो॒कात् प्रणु॑दात्य॒स्मात्॥ ३०॥

'उल्मुकं परस्तात् करोति ये रूपाणीति' (का० श्रौ० ४।१।१८)। अध्वर्यू रेखाया अग्रतः, अर्थाद् दक्षिणप्रदेशे दक्षिणाग्न्युल्मुकमादाय निदधाति। इयं त्रिष्टुप् कव्यवाहनाग्निदेवत्या। स्वधया पित्रर्थं दीयमानया

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह अविचारित रमणीय ही है, क्योंकि श्रुतिविरोध होता है। सिद्धान्तानुसारिणी व्याख्या वही कहलाती है, जो श्रुति-सूत्र आदि के द्वारा प्रमाणित हो। दयानन्द स्वामी की व्याख्या तो उनकी कपोलकल्पित होने से अप्रामाणिक ही कही जायगी॥ २९॥

मन्त्रार्थ—पैतृक अन्न भक्षण करने के लिये अपने निजी स्वरूप को त्याग कर पितृरूप-धारण करनेवाले जो असुर इस पितृयज्ञस्थान में संचरण करते हैं, तथा जो अपना राक्षसत्व छिपाने के लिये स्थूल-सूक्ष्म शरीरों को धारण

स्वधया पैतृकान्नेन निमित्तेन पितृणामन्नमस्माभिर्भक्षणीयमिति हेतोर्ये मायावशात् स्वीयरूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः पितृसमानरूपाणि स्वीकुर्वन्तो येऽसुरा देवविरोधिनश्चरन्ति वर्तन्ते पितृयज्ञस्थाने प्रचरन्ति, तथा येऽसुराः परापुरो निपुरश्च भरन्ति। पराक्रान्ताः पुरः परापुरः स्थूलदेहान्, निपुरो न्यग्भूता निकृष्टाः पुरः सूक्ष्मदेहान् धारयन्ति स्वमसुरत्वं छादयितुं ये स्थूलसूक्ष्मशरीराणि बिभ्रति, अग्निरुल्मुकरूपोऽस्माल्लोकात् पितृयज्ञस्थानात् तानसुरान् प्रणुदाति प्रेरयतु, प्रकर्षेणापसारयत्वित्यर्थः। अग्निष्टानित्यत्र 'युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तः पादम्' (पा० सू० ८।३।१०३) इति मूर्धन्यादेशः। यद्वा परापुरो निपुरः पूरणपिण्डदानेन युक्ताः सन्तो भरन्ति हविर्हरन्ति। परा-नि-पूर्वात् पृणातेः सम्पदादिलक्षणे क्विपि बहुव्रीहिः। स च धातुरत्र पिण्डदाने वर्तते। 'तस्यां पिण्डान् निपृणीयात् पराचीनपाणिः' (आश्व० श्रौ० २।६।१५)। 'पुत्र पुरु त्रायते निपरणाद्वा, पुं नरकस्ततस्त्रायत इति वा' (नि० २।३)। यद्वा पराः प्रभूताः पुरः शरीराणि येषां ते परापुरः, नि निकृष्टा अल्पाः पुरः शरीराणि येषां ते निपुरः, महाकाया अल्पकायाश्चेत्यर्थः।

तथैव शतपथेऽपि—'अथ परस्तादुल्मुकं निदधाति। स यदनिधायोल्मुकमथैतत्पितृभ्यो दद्यादसुर-रक्षसानि हैषामेतद्विमथ्नीरंस्तथो हैतत् पितृणामसुररक्षसानि न विमथ्नते तस्मात्परस्मादुल्मुकं निदधाति' (श० २।४।२।१४)। स्फ्येनोल्लिखितप्रदेशस्यान्ते अग्नेर्निधानं विधत्ते—अथ परस्तादिति। परस्तात् परस्मिन् विप्रकृष्टे पर्यन्ते देशे। विपक्षे बाधकोपन्यासादुल्मुकनिधानमुपपादयति—स यदिति। सुरविरोधीन्यसुर-राक्षसान्येषां पितृणां स्वभूतमेतत्पिण्डरूपं हविर्विमथ्नीरन् अपहरेयुः। तथो ह तथोल्मुकनिधाने सति न विमथ्नन्ते नापहरन्ति। तस्मादुल्मुकं दधाति। 'स निदधाति ? ये रूपाणि प्रणुदत्यस्मादित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मादेवं निदधाति' (२।४।२।१५)। विहितमुल्मुकविधानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—ये रूपाणीति। अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता।

अध्यात्मपक्षे तु—येऽसुराः सुरविरोधिनः, सुष्ठु शोभनं ब्रह्म तत्र ये रमन्ते ते सुरा ब्रह्मविद्यानिष्ठास्त-द्विपरीता अनात्मनिष्ठा असुराः। अशोभने अनात्मनि असुषु प्राणेषु तदुपलक्षितेषु देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यहङ्कारेषु ये रमन्ते तादात्म्याभिमानवन्तस्ते असुराः। ते रूपाणि नानाविधान् वेषान् प्रतिमुञ्चमाना धारयमाणाश्चरन्ति ब्रह्मादिस्थावरान्तानि रूपाणि धारयन्तः संसारे स्वधया अन्नेन निमित्तेन भ्राम्यन्ति। 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। ताᳬस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥' (वा० सं० ४०) इति मन्त्रवर्णात्। ते परापुरः प्रभूतकायाः, निपुरोऽपकृष्टकायाश्च सन्तो भरन्ति हरन्ति विविधान् न्यायान्यायोपार्जितान् भोगानिति शेषः। अग्निर्ज्ञानाग्निस्तान् तेषामासुरभावाननात्मज्ञान् अस्माल्लोकात् संसारात् प्रणुदति सर्वाणि कर्माणि शरीराणि च प्रविलाप्य ब्रह्मात्मभावे प्रतिष्ठापयति। अतस्तदर्थं सर्वैः प्रयत्नवद्भिर्भाव्यम्।

दयानन्दस्तु—'ये मनुष्या रूपाणि अन्तःस्थानि ज्ञानमध्ये यादृशानि ज्ञानानि सन्ति तानि प्रतिमुञ्चमाना आभिमुख्यं ये प्रतीतं मुञ्चन्ति तेऽसुरा धर्माच्छादकाः सन्तः स्वधया पृथिव्या सह 'स्वधा' इति द्यावापृथिव्योर्नामसु

करते हैं, उन असुरों और राक्षसों को यह उल्मुकरूपी अग्नि इस पितृयज्ञस्थान से दूर कर दे। 'ये रूपाणि' इस मन्त्र से रेखा के बाहर उल्मुक को रख दे॥ ३०॥

भाष्यसार—भाष्य को मन्त्रार्थ के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है, अतः पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

अध्यात्मपक्ष में—जो सुरविरोधी होते हैं, उन्हें असुर कहा जाता है। ब्रह्मचिन्तन में रहनेवालों को सुर कहते हैं। अर्थात् जो ब्रह्मविद्यानिष्ठ रहते हैं, उन्हें सुर कहते हैं और जो अनात्मनिष्ठ रहते हैं, वे असुर कहलाते हैं। अतः

पठितम्। चरन्ति वर्तन्ते। परापुरः परागतानि स्वसुखार्थान्यधर्मकार्याणि निपुरन्ति ते निपुरो निकृष्टस्वभावान् पिपुरन्ति पूरयन्ति ते भरन्त्यन्यायेन परपदार्थान् धरन्ति, अग्निरीश्वरस्तान् दुष्टान् लोकात् स्थानात्, अस्मद्दर्शनाद्वा प्रणुदाति दूरीकरोति' (पृ० २१३) इति, तदपि यत्किञ्चित्, शतपथश्रुतिविरुद्धत्वात्। तत्र स्पष्टमुल्मुकनिधान-विधानमुक्तम्, तदभावेऽसुरराक्षसानि पितॄणां हविर्विमथ्नन्तीत्युक्तम्। अग्निर्हि रक्षसामपहन्तेत्यप्युक्तम्। न चेश्वरस्य निधानं विधातुं शक्यम्, न वा स रक्षसामपहन्ता। यदि भवेदपि हन्ता तदापि स स्वयमेव तेषां कर्मानुसारेणैव निग्राहकोऽनुग्राहकश्च। तदर्थं न स निधानविधानमपेक्षते। न च ज्ञानमध्ये ज्ञानानि सम्भवन्ति, ज्ञानस्य गुणत्वेन ज्ञानानाश्रयत्वात्। 'तानि ज्ञानान्याभिमुख्यं ये प्रतीतं मुञ्चते त्यजन्ति' इत्यप्यसाम्प्रतम्, अन्वयानुपपत्तेः। हिन्त्यां तु स्वान्तःकरणे विचारितान् भावानन्येषां समक्षे प्रच्छाद्य विपरीतभावान् ये प्रकाशयन्ति तेऽसुरा इत्युक्तम्। तद्यपि नायुक्तम्, तथापि रूपशब्दोऽत्र विद्यते। तस्य कुतो ज्ञानार्थता ? एवं स्वधया पृथिव्या चरन्त इत्यप्यनुपपन्नम्। ये पृथिव्यामेव दुष्टस्वभावा मनुष्या वर्तन्ते, तेषां स्वधया सह वर्तनमिति निरर्थकमेव वचनम्। एवं परागतानि स्वसुखार्थान्यधर्मकार्याणि पिपुरन्ति त इत्यप्यसाम्प्रतम्, पराशब्दस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्॥३०॥

अत्र॑ पितरो मादयध्वं यथाभा॒गमावृ॑षायध्वम्।
अमी॑मदन्त पि॒तरो॑ यथाभा॒गमावृ॑षायिषत॥ ३१॥

'अत्र पितर इत्युक्त्वोदङ्ङास्त आ तमनात्' (का० श्रौ० ४।१।१३)। अध्वर्युरत्रेति मन्त्रं संहितास्वरेण पठित्वाऽप्रदक्षिणमावृत्योदङ्मुखो भूत्वा श्वासं निरुद्ध्य आ तमनाद् म्लानिपर्यन्तमुपविशेत्। 'आवृत्यामीमदन्तेति जपति' (का० श्रौ० ४।१।१४)। ततोऽध्वर्युः प्रदक्षिणमावृत्य पिण्डाभिमुखो भूत्वा संहितास्वरेणामीमदन्ते-त्यावृत्या जपेत्। हे पितरः ! यूयमत्रास्मिन् बर्हिषि मादयध्वं मोदध्वं प्रसन्ना भवत। ततो हविषि यथाभागं स्वं स्वं भागमनतिक्रम्य आवृषायध्वम्। वृष इव यथेच्छं तृप्तिपर्यन्तमेतान् पिण्डानश्नीत। आङ्पूर्वाद् वृषशब्दात् 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (पा० सू० ३।१।११) इति क्यङि सलोपे आवृषायिषतेति रूपम्। तदनन्तरं जपनीयमन्त्रः— अमीमदन्तेति। यान् पितॄन् प्रति मादयध्वमित्युक्तम्, ते पितरोऽमीमदन्त हृष्टा यथाभागमावृषायिषत। स्वं भागमनतिक्रम्य वृषवद्यथेच्छं स्वीचक्रुः। आङ्पूर्वस्य वृषायतेरभ्यवहारोऽर्थः। अभुक्षतेत्यर्थः।

'अथ सकृदाच्छिन्नान्युपमूलं दिनानि भवन्ति। अग्रमिव वै देवानां मध्यमिव मनुष्याणां मूलमिव पितॄणां तस्मादुपमूलं दिनानि भवन्ति। सकृदाच्छिन्नानि भवन्ति' (श० २।४।२।१७)। तस्मिन्नुल्लिखिते स्थाने बर्हिः

मनुष्य को अपनी ज्ञानाग्नि के द्वारा आसुरभाव को दग्ध कर सुरभाव की प्राप्ति का प्रयत्न करते रहना चाहिये। वह ज्ञानाग्नि परमेश्वर के अनुग्रह से प्रज्वलित हो पाती है, अतः परमेश्वराराधन में सर्वदा ही प्रयत्नशील रहना चाहिये।

स्वामी दयानन्द ने शतपथश्रुति के विरुद्ध व्याख्या की है। अतः वह उपेक्षणीय ही है॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—हे पितरों ! तुम इस कुशापर सन्तुष्ट होकर बैठो। तदनन्तर अपने भाग का अतिक्रमण न करते हुए अपने-अपने भाग को स्वीकार करो। जिस प्रकार एक बैल अपने रुचिकर तृण को यथेच्छ भक्षण करता है, उसी प्रकार तुम अपने भाग का यथेच्छ भक्षण करो। पूर्वोक्त पितरों ने सन्तुष्ट होकर जैसे बैल तृणभक्षण करता है, वैसे ही अपने भाग का अतिक्रमण न करते हुए अपने-अपने भाग का यथेच्छ भक्षण किया। 'अत्र पितरः' इस मन्त्र से जब तक श्वास-निरोध करते बने, तब तक उत्तर की ओर मुख करके बैठे और 'अमीमदन्त' इस मन्त्र का जप करे॥ ३१॥

स्तरितुं तत्सम्पादनं विधत्ते - सकृदाच्छिन्नानीति, एकयत्नेन छिन्नानीत्यर्थः। उपमूलं मूलसमीपे दिनानि खण्डितानि बर्हींषि पितृकर्मार्थानि भवन्ति। मूलसमीपे छेदनमुपपादयति—अग्रमिव देवानामिति। तदेतत् स्पष्टार्थम्। 'यत्परुषि दिनं तद्देवानां यदन्तरा तन्मनुष्याणां यत्समूलं तत्पितॄणाम्' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। दिनं 'दोऽवखण्डने' इत्यस्य रूपम्। 'तानि दक्षिणोपस्तृणाति। तत्र ददाति स वा इति। ददातीव वै स देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैवं पितॄणां तस्माद्दिति ददाति' (श० २।४।२।१८)। बर्हिषः स्तरणं विधत्ते—तानि दक्षिणोपस्तृणातीति। दक्षिणत उल्लिखितप्रदेशे तानि बर्हींषि उपस्तृणाति। तत्र ददातीति पिण्डदानं विधत्ते। तत्र तस्मिन् बर्हिषास्तीर्णे प्रदेशे पिण्डान् दद्यादित्यर्थः। तत्र प्रकारविशेषमभिनयेन विधत्ते—स वा इतीति। अनेन प्रकारेण अङ्गुष्ठतर्जन्योर्मध्येन पित्र्येण तीर्थेन पिण्डान् दद्यादित्यर्थः। देवमनुष्यसम्प्रदानके दाने तद्वैपरीत्यकथनेनोपपादयति–देवेभ्यो हवींषि जुह्वतीति। मनुष्येभ्यो यथायोगं भोक्तव्यमन्नमुद्धरन्ति। उद्धृत्य पात्रान्तरे परिवेषयन्तीति। न तु तत्र देवपित्रादितीर्थविशेषोऽपेक्षितः। अथैवं पितॄणामथोक्तदेवमनुष्यवैलक्षण्येनोक्तेन पित्र्येण तीर्थेन पितॄणां सम्बन्धे हविर्देयमित्यर्थः।

'उपमूलꣳ सकृदाच्छिन्नानि लेखायां कृत्वा यथावनिक्तं पिण्डान् ददात्यसावेतत्त इति' (का० श्रौ० ४।१।११)। ततोऽध्वर्युर्मूलसमीपे सकृदेकशस्त्रेणैकप्रयत्नेन समूलानि दर्भतृणानि स्फ्येनोल्लिखितायां लेखायामास्फार्यावनेजनक्रमेण यजमानपितृपितामहप्रपितामहेभ्यः पिण्डान् दद्यात्। 'अमुकगोत्र अमुकशर्मन् यजमानस्य पितः! एतत्ते पिण्डान्नꣳ स्वधा' इति प्रयोगेण कुशोत्पाटनसमय एव मूलस्याधस्तादेकेनैव शस्त्रप्रहारयत्नेन यदुत्पाटितं बर्हिस्तत्सकृदाच्छिन्नमित्युच्यते। छेदनसमये मूलस्याधोभाग एव लवितव्या नोर्ध्वभागे। अतोऽमूलं बर्हिः सकृदाच्छिन्नमिति केषाञ्चनोक्तिरयुक्तैव, 'अपां मेध्यं यज्ञियमिति समूलं सकृदाच्छिन्नं बर्हिराहरति' (आप० श्रौ० १।६।३) इति वचनात्।

तदेवाह शातपथी श्रुतिः—'स ददाति। असावेतत्त इत्येव यजमानस्य पित्रे ये च त्वामन्वित्यु हैक आहुस्तदु तथा न ब्रूयात् स्वयं वा तेषाꣳ सह येषाꣳ सह तस्मादु ब्रूयादसावेतत्त इत्येव यजमानस्य पित्रेऽसावेतत्त इति पितामहायासावेतत्त इति प्रपितामहाय तद्यदितः पराग्ददाति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः' (श० २।४।२।१९)। पितृपितामहप्रपितामहानां विहिते पिण्डदाने मन्त्रानाह—असाविति। 'असौ' इति स्थाने पित्रादीनां गोत्रसहितं सम्बुद्ध्यन्तं नाम निर्देष्टव्यम्। हे अमुकगोत्र अमुकशर्मन्! एतत् पिण्डरूपं हविस्ते तुभ्यं मया दीयत इति मन्त्रार्थः। ये च त्वामिति शाखान्तराभिहितमन्त्रशेषनिरासार्थमाह। तस्य मन्त्रशेषस्यायमर्थः हे पितः! त्वामनुसृत्य ये वर्तन्ते तेभ्यश्चायं पिण्डस्तृप्तिकरोऽस्त्विति। स्वयं वा तेषामिति तन्निराकरणम्। पित्रनन्तरभाविनां यच्छब्दनिर्दिष्टानां तेषां पिण्डदाता सहभावी वा भवति। तथा य एवैषां सहभावी तेभ्यः पिण्डदाने स्वात्मने पिण्डं दत्तवान् भवति। अतस्तत्प्रतिपादको ये च त्वामन्विति मन्त्रभागो न वक्तव्य इति तदभिप्रायः। प्रथमपक्षं निगमयति–असावेतत्त इत्येव यजमानस्य पित्रेऽसावेतत्त इत्यादिभिः। तत्र प्रथमं प्रपितामहः पितृत्वं प्राप्तः पश्चात्पितामहस्ततः पितेति। इमं क्रमं परित्यज्य इतः पितृत आरभ्य प्रपितामहपर्यन्तं पराक् पराचीनं पिण्डान् दद्यात्। आवृषायध्वम् अश्नीतेति। इत्याह—तद्यदितः पराग् ददाति। यतस्ते पितरः सकृत्वपराक्त्वधर्मयुक्ताः सकृदु ह्येव पराञ्चः पितर इति।

भाष्यसार—अध्वर्यु नाम का ऋत्विक् 'अत्र पितरः' इस मन्त्र को संहितास्वर से पढ़कर और अप्रदक्षिण घूमकर तथा उदङ्मुख होकर श्वास निरोधकर जब तक ग्लानि न हो, तब तक बैठा रहे। तदनन्तर अध्वर्यु प्रदक्षिण

'तज्जपति। अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति यथाभागमश्नीतेत्येवैतदाह'। पिण्डदानानन्तरं मन्त्रजपं विधत्ते। मन्त्रगतं किञ्चिद् व्याचष्टे—अत्रास्मिन् देशे हे पितरः! मादयध्वं तृप्ता भवत। तदर्थं यथाभागं स्वं स्वं भागमनतिक्रम्य मया दत्तान् पिण्डान् आवृषायध्वम्। आवृषायिषध्वमित्यस्य अश्नीतेत्यर्थपरतां श्रुतिः स्वयं व्याचष्टे—यथाभागमश्नीतेत्येवैतदाहेति। 'अथ पराङ् पर्यावर्तते। तिर इव वै मनुष्येभ्यस्तिर इवैतद्भवति। स वा आ तमितोरासीतेत्याहुरेतावान् ह्यसुरिति स वै मुहूर्तमेवासित्वा' (श० २।४।२।२१)। 'अथोपपल्यप्य जपति-अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषतेति। यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह' (श० २।४।२।२२)। जपानन्तरं परागावर्तनं विधत्ते-पराङ् पर्यावर्तत इति। पराङ्मुखः सन् पिण्डाभिमुख्यं विहाय पर्यावर्तते। किमर्थमेतदित्याह—तिर इवेति। तिरोभूताः पितरो मनुष्येभ्यः, अन्तर्धानशक्तियोगात्। एतर्हि पिण्डदातरि पिण्डाभिमुख्यं विहाय पर्यावर्तमाने सति तेषां तिर इव तिरोधानमिव भवति। पर्यावर्तनकालस्य परिमाणं विधत्ते-स वा आ तमितोरासीतेति। स खलु पर्यावर्तमान आतमितोर्निरुद्धश्वासगतेरात्मनो यावत् तमनं ग्लानिर्भवति तावदासीतेति केचिदाहुः। 'तमु ग्लानौ' दिवादिः। 'भावलक्षणे स्थेणकृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्' (पा० सू० ३।४।१६) इति तोसुन्प्रत्यये तमितोरितिरूपम्। तत्रोपपत्तिमाह—एतावान् ह्यसुरिति। तस्मादेतावन्तं कालमासीतेति। पक्षान्तरमाह—मुहूर्तमेवासित्वेति। द्वादशक्षणात्मको यो मुहूर्तकालस्तावत्पर्यन्तमासीतेत्यर्थः। 'आतमनात्' इति सूत्रांशेन तदेतत्सर्वं कात्यायनेनोक्तम्। उक्तकालानन्तरं पर्यावर्तमानस्य मन्त्रजपं विधत्ते-अथोपपल्यप्य जपतीति। उपपल्यप्य पिण्डसमीपं परिप्राप्य। उपपरिपूर्वस्यायतेर्ल्यपि 'उपसर्गस्यायतौ' (पा० सू० ८।२।१९) इति लत्वे रूपम्। अमीमदन्तेति मन्त्रं जपति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। तत्र आवृषायिषतेति पदस्य विवक्षितमर्थमाह श्रुतिः—यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह मन्त्रः। लुङि बहुवचनान्तम्। आशिषुः 'अश भोजने' क्र्यादिः, स्वं भागं जक्षुरित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षेऽपि—पिण्डपितृयज्ञस्यापि ब्रह्मात्मसाक्षात्कार उपयोगः। 'अश्ववत्तु सर्वापेक्षा यज्ञादिश्रुतेः' (ब्र० सू० ३ ४।२५)। हे पितरः! ब्रह्मज्ञानेन संसारसागरतारका अत्र मादयध्वं प्रसन्ना भवत यथाभागमावृषायध्वं यथाभागमावृषायिषतेति।

दयानन्दस्तु पूर्वोक्तशतपथश्रुतिविरुद्धमेवार्थमाह। तथाहि—'मनुष्यैर्धार्मिका ज्ञानिनो विद्वांसः सत्कर्तव्या इत्युपदिश्यते। हे पितरो यूयमत्र यथाभागमावृषायध्वं मादयध्वमस्मान् पितरो यथाभागमावृषायिषतामीमदन्तास्मान् हर्षयत। आवृषायिषत विद्याधर्माशिक्षया हर्षकारका भवत' (पृ० २१५) इति। एतच्च श्रुतिविरुद्धमेव, श्रुत्या आशिषुरित्यर्थकरणात्। नहि जीवत्पितॄणां सम्बन्ध्ययं पिण्डपितृयज्ञः, शतपथे देवमनुष्यविलक्षणेन पित्र्येण तीर्थेन तेषां हविर्दानं विहितम्। जीवन्तः पितरस्तु मनुष्या एवेति तेभ्यः पात्रेषु परिवेषणलक्षण उद्धार एव स्यात्, कालोऽपि तेषां मध्याह्नः स्यादत्र त्वपराह्णः समय उक्तः। मनुष्यकार्ये बर्हिषो मध्यमेवोक्तम्, पितॄणां तूपमूलम्। नहि मनुष्याणां जीवतां पितॄणां गार्हपत्यस्य दक्षिणस्यां दिशि स्फ्येनोल्लिखितायां लेखायामुन्मूलाच्छिन्नानि बर्हींष्यास्तीर्य तेषु पिण्डा दीयन्ते, न च लौकिकपितॄणां भोजने मन्त्रजपो विधीयते। न वा लौकिकाः

घूमकर पिण्डाभिमुख होकर संहिता स्वर से 'अमीमदन्त' मन्त्र का जप करता रहे। इस मन्त्र में पितरों से बर्हि पर बैठने की तथा अपने भाग के भक्षण करने की प्रार्थना की गई है।

अध्यात्मपक्ष में—पिण्डपितृयज्ञ का भी ब्रह्मात्मसाक्षात्कार में उपयोग होता है।

पितरो मनुष्येभ्यस्तिरोहिता भवन्ति । न वा तेषां भोजने आ तमतोरासीतेति पराङ्पर्यावर्तनं सप्रयोजनं भवति । न वोपपत्त्यप्य जपविधानमपेक्ष्यते ॥ ३१ ॥

नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य॒ नमो॑ वः पितरः॒ शोषा॑य॒ नमो॑ वः पितरो॒ जीवा॑य॒ नमो॑ वः पितरः स्व॒धायै॒ नमो॑ वः पितरो॒ घोरा॑य॒ नमो॑ वः पितरो॒ म॒न्यवे॒ नमो॑ वः पितरः॒ पित॑रो॒ नमो॑ वो गृ॒हान्नः॑ पितरो दत्त स॒तो वः॑ पितरो द्वेष्मैतद्वः॑ पितरो॒ वास॒ आध॑त्त ॥ ३२ ॥

'अवनेज्य पूर्वदन्नीविं विस्रस्य नमो व इत्यञ्जलिं करोति' (का० श्रौ० ४।१।१५)। पूर्ववत् पिण्डोपरि प्रत्यवनेजनं कृत्वा नीविं विस्रंस्य नमो व इत्यादिषड्भिर्मन्त्रैर्नमस्कारार्थं षड्वारमञ्जलीन् कुर्यादध्वर्युः । 'षड्वा नमस्कारान्' (का० श्रौ० ५।९।१९), 'अत्र गृहान्न इति जपति' (का० श्रौ० ५।९।२०) इति पितृयज्ञो गृहान्न इत्यस्य जपश्च कार्यः, समानश्रवणात्, 'षड्वा ऋतवः' इति श्रुतेः । रसादिशब्देन वसन्तादिका ऋतव उच्यन्ते । ते च पितॄणां स्वरूपभूताः । यतो मध्वादयो रसा वृक्षेषु जायन्तेऽतो रसशब्देन वसन्तो गृह्यते । हे पितरः ! युष्माकं सम्बन्धिने रसाय रसभूताय वसन्ताय नमः । भवत्प्रसादलब्धाय पयोघृतादिरूपाय वो नमः । शोषाय शुष्यन्त्योषधयो यत्रेति शोषो ग्रीष्मस्तस्मै नमः । वो युष्माकं सम्बन्धिने जीवाय जीवनहेतुभूताय वर्षर्तवे नमः । वः स्वधायै भवदीयान्नाय शरदे नमः । 'स्वधा वै शरत्', 'स्वधा वै पितॄणामन्नम्' इति श्रुतः । शरदि हि प्रायशोऽन्नानि भवन्ति । घोराय विषमाय हेमन्ताय नमः । शीतप्रचुरत्वेन दुःखदत्वाद् घोरो हेमन्तः । मन्यवे तीव्राय क्रोधाय तद्रूपाय शिशिराय । शिशिरः सर्वौषधीर्दहति । हे पितरः ! एवंविधेभ्य ऋतुरूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमस्कारोऽस्तु । अभ्यास आदरातिशयार्थः । हे पितरः ! नोऽस्मभ्यं गृहान् भार्यापुत्रादियुक्तान् दत्त । हे पितरः ! वो युष्मभ्यं सतो विद्यमानान् धनरत्नादिपदार्थान् दद्म इति शेषः । युष्मत्प्रसादादस्माकं तथाविधधनधान्यरत्नादिपुत्रभार्यादियुक्ता गृहा भवन्तु, यथा नो गृहे सतो विद्यमानान् धनरत्नादिपदार्थान् वो युष्मभ्यं द्वेष्म दद्मः । ददतां चास्माकं कदाचिदपि द्रव्यादिक्षयो मास्त्वित्यर्थः । 'एतद्व इत्युपास्यति सूत्राणि प्रतिपिण्डमूर्णादशा वा वयस्युत्तरे यजमानलोमानि वेति' (का० श्रौ० ४।१।१६-१८)। एतद्व इति मन्त्रेण सूत्राणीति बहुवचनोपदेशात् प्रतिपिण्डं त्रीणि त्रीणि सूत्राणि निदध्यात् । अथवा प्रतिपिण्डमूर्णां निदध्यात् । अथवा वाससो दशां छित्वा निदध्यात् । अथवा यदि पञ्चाशत्तमवर्षादूर्ध्ववयस्को यजमानः स्यात्तदा तस्य हृदयस्थानि लोमानि छित्वा सूत्रस्थाने निदध्यात् । मन्त्रार्थस्तु हे पितरः ! वो युष्मभ्यं वासः सूत्रमेव परिधानमस्तु ।

स्वामी दयानन्द ने शतपथश्रुति के विरुद्ध ही अपना अर्थ किया है । यह समझने की बात है कि जीवित पितरों के लिये पिण्डपितृयज्ञ नहीं किया जाता ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—हे पितरों ! रसरूपी वसन्त, शुष्कतारूपी ग्रीष्म, जीवन हेतुभूत जलरूपी वर्षा, पित्रन्न स्वधारूपी शरद्, प्राणियों को घोर प्रतीत होनेवाला हेमन्त और क्रोधरूपी शिशिर ये तुम्हारे स्वरूप हैं । ऐसे ऋतुस्वरूपी तुमको हमारा प्रणाम रहे । हे पितरों ! तुम हमें भार्या, पुत्रादि से सम्पन्न कर दो और हम अपने पास स्थित द्रव्य आदि को तुम्हें देंगे । हे पितरों ! यह वस्त्रसूत्र तुम्हारा परिधान हो । 'नमो वः' इस मन्त्र से उत्तान अंजलिरूप

तदेतत्सर्वं शतपथे स्पष्टम् । 'अथोदपात्रमादायावनेजयति । असाववनेनिक्ष्वेत्येव यजमानस्य पितरमसाववनेनिक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहम् । तद्यथा जक्षुषेऽभिषिञ्चेदेवं तत्' इति । पिण्डदानात्प्रागिवेदानीमपि पित्रादीनामुदकावनेजनं विधत्ते— अथोदपात्रमिति । असाववनेनिक्ष्वेति तन्मन्त्रः । तत्र त्रिष्वपि मन्त्रेषु असावित्यस्य स्थाने पित्रादीनां नामानि क्रमेण निर्दिशेत् । एतदवनेजनं लोकव्यवहारेणोपपादयति—तद्यथेति । तत् तत्र विषये निदर्शनमभिधीयते-यथा जक्षुषे भुक्तवते पुरुषाय मुखप्रक्षालनार्थं हस्ते उदकमभिषिञ्चेत्, एवमेव तत् पिण्डदानानन्तरभाविजलावसेचनमित्यर्थः । अदेर्लिटः क्वसौ 'लिटयन्यतरस्याम्' (पा० सू० २।४।४०) इति घसादेशे पुनश्चतुर्थ्येकवचने सम्प्रसारणे च 'जक्षुषे' इति रूपम् । 'अथ नीविमुद्वृह्य नमस्करोति । पितृदेवत्या वै नीविस्तस्मान्नीविमुद्वृह्य नमस्करोति । यज्ञो वै नमो यज्ञियानेवैनानेतत्करोति षट्कृत्वो नमस्करोति षड्वा ऋतवः पितरस्तस्मात् षट्कृत्वो नमस्करोति गृहान्नः पितरो दत्तेति । गृहाणाᳶह पितर ईशते एषो एतस्याशीः कर्मणोऽथावजिघ्रति प्रत्यवघ्राय पिण्डान्त्स यजमानभागोऽग्नौ सकृदाच्छिन्नान्यभ्यादधाति पुनरुल्मुकमपि सृजति' (श० २।४।२।२४) । नमस्कारं विधत्ते—अथ नीविमिति । नीविः परिधानीयस्य वाससो दशा अग्रभागः । तामुद्गृह्य विस्रंस्य पितॄन् नमस्करोति । कुतो नीविविस्रंसनमित्याशङ्क्य कारणमाह पितृदेवत्येति । यतो नीविः पितृदेवत्या पितृदेवताकी पितॄणां तृप्तिकरी तस्मात्तां नीविं विस्रंस्य प्रदर्श्य ते नमस्कर्तव्याः । नीवेः पितृदेवत्यत्वं तैत्तिरीयकेऽप्याम्नातम्—'अग्नेस्तुषाधानं वायोर्वातपानं पितॄणां नीविः' (तै० सं० ६।१।१।३) । नमस्कारस्य प्रयोजनमाह—यज्ञो वै नम इति । नमस्कारेण हि पूजा गम्यते । यज्ञश्च पूजात्मकः, 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इति धातोर्निष्पन्नत्वात् । तेन नमस्कारेणैतान् यज्ञियान् यागार्हानेव करोति । स च विहितो नमस्कारो नमो व इत्यादिमन्त्रैः कर्तव्यः । तस्मिन् मन्त्रे षड्भ्यो नम इति प्रयुज्यते । तत्संख्यामनूद्य स्तौति—षट्कृत्वो नमस्करोतीति । नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय इत्येवं षड्वारं नमस्कुर्यात् । ऋतवः पितरः । वसन्तादिष्वृतुषु मृतस्य तत्तदनुरूपत्वप्राप्तेस्तादात्म्यव्यपदेशः । तथा च श्रूयते—'यस्मिन्नृतौ पुरुषः प्रमीयते सोऽस्यामुष्मिँल्लोके भवति । यदि वसन्ते प्रमीयते वसन्तो भवति' इत्यादि । तस्मात्तेषामृतूनां षट्संख्यात्वयोगात् तत्तादात्म्यापन्नानां पितॄणां नमस्कारोऽपि षड्वारो युक्तः । नमस्कारमन्त्रस्य स्पष्टार्थत्वात्तच्छेषमुपादाय व्याचष्टे—गृहान्नः पितरो दत्तेति । 'गृहाणां पितर ईशते' अस्माद्वचनादेव तेषां विशेषतो गृहाणां भार्यापुत्रपौत्रादिरूपाणां दानेऽधिकारः । तत्प्रसादात्तत्प्राप्तिर्भवति मन्त्रशेषस्य चाशीःपरत्वं विज्ञायते । एतस्य पिण्डपितृयज्ञस्य कर्मण एषा आशीः फलप्रार्थना उ एवेत्यर्थः । अथावजिघ्रतीति पिण्डशेषस्यावघ्राणं विधत्ते । पिण्डान् पिण्डपात्रे प्रत्याधायावघ्राणं कर्तव्यम् । 'घ्रा गन्धोपादाने' इत्यस्य जिघ्रादेशः । तच्चावघ्राणं यजमानभागः । 'अवघ्रायावजिघ्रति यजमानः' (का० श्रौ० ४।१।२०) । अध्वर्यौ स्थाल्यां पिण्डान् स्थापयित्वा स्थिते सति यजमानः पिण्डान् जिघ्रेत् । स्तीर्णस्य बर्हिषः प्रतिपत्तिं विधत्ते—सकृदाच्छिन्नानि बर्हींषि अग्नौ अभ्यादधातीति प्रक्षिपतीत्यर्थः । उल्मुकस्य संसर्जनं विधत्ते—पुनरुल्मुकं विसृजतीति । ये रूपाणीति मन्त्रेण यदुल्मुकं

नमस्कार करे । 'एतद्वः' इस मन्त्र से प्रत्येक पिण्ड को तीन सूत्र अथवा ऊर्णा, अथवा दशा समर्पण करे और यजमान का वय पचास से ऊपर हो तो अपने वक्षःस्थल के रोम पिण्डों पर अर्पित करे ॥ ३२ ॥

भाष्यसार—ऊपर दिया हुआ मन्त्रार्थ शतपथ में स्पष्ट है । मन्त्रशेष आशीर्वादपरक है । यहाँ पिण्डशेष के अवघ्राण का विधान किया गया है । बिछाये हुए बर्हियों के प्रतिपत्तिसंस्कार को बताया गया है । जिस उल्मुक को पहिले पृथक् किया था, उसी को अब पुनः अग्नि में डाल देना चाहिये ।

पुरस्तात् पृथक्कृतं तदिदानीं पुनः संसृजेत पुनरग्नौ निक्षिपेदित्यर्थः । 'उल्मुकसकृदाच्छिन्नान्यग्नौ' (का० श्रौ० ४।१।२१) । अध्वर्युः सकृदाच्छिन्नानि बर्हींषि अग्नौ प्रक्षिप्य उल्मुकं च तत्रैव क्षिपेत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे पितर इति जगत्कारणस्य परमेश्वरस्यादरार्थं बहुवचनान्तत्वेन सम्बोधनम् । सार्वात्म्यबोधनाय तेषां रसादिरूपत्वोक्तिः । रसाय वसन्तर्तुरूपाय पयोदधिघृतरूपाय नवरसरूपाय निर्विशेषब्रह्मरसात्मकाय च नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । तत्तत्प्रपञ्चोत्पादकत्वेन पृथक् सम्बोधनपदानि । भूतपञ्चकोत्पादकाः सप्तप्रकृत्युत्पादका ज्ञानेन्द्रियपञ्चकोत्पादकाः कर्मेन्द्रियपञ्चकोत्पादकाः । शोषाय सर्वसंहारकाय विश्वप्रपञ्चलयाधिष्ठानाय नमः । जीवाय प्रपञ्चस्थितिहेतवे 'येन जातानि जीवन्ति' (तै० उ० ३।१) इति श्रुतेः । नमो वः स्वधायै पितृतृप्तिहेतुस्वधात्मककव्यान्नरूपाय स्वधाशब्दरूपाय वा नमः । घोराय असुरप्रेतरक्षोगणादिरूपाय मन्यवे तीव्रक्रोधरूपाय, 'नमस्ते रुद्रमन्यवे' (वा० सं० १६।१) इति मन्त्रवर्णात् । व्यतिहारनिर्देशः समादरातिशयद्योतनाय । हे पितरः ! सर्वकारणभूता भगवन्तः, नोऽस्मभ्यं गृहान् शरणानि दत्त । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' (अ० को० ३।३।५३) इति कोषात् । भगवच्छरणागतेरेव सर्वकल्याणहेतुत्वात् । सतो विद्यमानान् सर्वानपि देहाद्यात्मान्तान् पदार्थान् वो युष्मभ्यं देष्मः दद्मः । हे पितरः ! वासः मायामयं वासः, आधत्त आसमन्वाद् धारयन्ति, तेनैवावृतत्वाद् न सर्वे पश्यन्ति युष्मान्, 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' (भ० गी० ७।२५) इति गीतावचनात् ।

दयानन्दस्तु—'अत्रानेके नमःशब्दा अनेकशुभगुणसत्कारद्योतनार्थाः । यथा वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिराः षड्तवो रसशोषजीवान्नघनत्वमन्यूत्पादका भवन्ति, तथैव पितरोऽनेकविद्योपदेशैर्मनुष्यान् सततं प्रीणयन्ति । तानुत्तमैः पदार्थैः सत्कृत्य तेभ्यः सततं विद्योपदेशा ग्राह्याः' (पृ० २१८) इत्याह, तच्छतपथादिविरुद्धं प्रकरणविरुद्धं च, मृतपित्रादीनामेव पिण्डपितृयज्ञेऽग्नौ पितृहविर्लक्षणस्य कव्यस्य सकृदाच्छिन्नैः समूलैर्बर्हिभिरास्तृतायां भूमौ पित्र्येण तीर्थेन निर्वापनिर्णयात् । किञ्चात्र पितृणामृतुरूपत्वमुक्तम्, तच्च तेषु तेष्वृतुषु मृतानां तत्तादात्म्यापन्नानामेव सम्भवति, न जीवतां पितृणाम् । नहि नीविविस्रंसनं जीवद्भ्यः पितृभ्य उपयुज्यते । न च सूत्राणामूर्णानां यजमानलोम्नां वा जीवतां पितॄणां कृते उपयोगः सम्भवति । यत्तु—नमो नम्रीभावे इत्यत्र यज्ञो नमः, यज्ञियानेवैतत्करोतीति प्रमाणमुक्तम्, तत्तु तद्विरुद्धमेव, तत्र नमस्कारस्य पूजात्मकयज्ञरूपत्वोक्त्या पितृणां यागार्हत्वोक्तेः । पितरो विद्यानन्ददायका इत्यपि निर्मूलम्, रसाय विद्यानन्दप्रापणायेत्यपि न युक्तम्, तत्र रसपदस्याशक्तत्वात् । 'रसो वै सः' (तै० उ० २।७) इति श्रुत्या तु रसरूपः परमात्मैवोक्तः । न तदुपदेशको रसपदवाच्यो भवितुमर्हति, लक्षणायां बीजाभावात् । पितरो धर्मजोविकाज्ञापका इत्याद्यर्थोऽपि काल्पनिक एव, पितृपदस्य तत्राशक्तेः । नम इत्यस्य शीलधारणार्थे ज्ञानग्रहणार्थे इत्यादिकमपि गौणार्थमेव । मन्यन्ते अभिमानं कुर्वन्ति यस्मिन् स मन्युः, दुष्टेषु तद्भावनायेत्यपि यत्किञ्चित्, अविवेकेऽपि मन्युपदप्रयोगापत्तेः, क्रोधस्याभिमानाविनाभावित्वायोगात् । यत्तु गृहानागत्य शिक्षा विद्या दत्तेति, तदयुक्तम्, तादृशाध्याहारस्या-

अध्यात्मपक्ष में—हे पितरों ! जगत्कारणभूत परमेश्वर के आदर प्रदर्शनार्थ बहुवचन का प्रयोग किया है । सार्वात्म्य बोधन कराने के हेतु उनको रसादिरूपा बताया गया है । इसी प्रकार उनकी सर्वरूपता बताकर उनसे अपनी रक्षा की प्रार्थना की है ।

स्वामी दयानन्द का कहना है कि इस मन्त्र में जो अनेक 'नमः' शब्दों का प्रयोग किया गया है, वह अनेक शुभगुणसत्कार के द्योतनार्थ हैं, एवं च पितर अनेक विद्याओं के उपदेशों से मनुष्यों को सतत प्रसन्न करते रहते हैं, अतः तुम भी उनको उत्तम पदार्थों से सत्कृत करके उनसे सतत विद्योपदेशों का ग्रहण करते रहो ।

प्रामाणिकत्वात् । वयं युष्मभ्यं सतः पदार्थान् नित्यं देष्मेति चायुक्तमेव, सत्यपदस्य विद्यमानार्थकत्वेन पदार्थवाचकत्वे मानाभावात् । अस्माभिर्दत्तं वासो वस्त्रादिकं स्वीकुरुतेत्यपि यत्किञ्चित्, जीवतां पित्रादीनां गृहपतित्वेन तेभ्यो वासोदानाद्यनुपपत्तेः । गृहानागत्योपदेशदानादिकमपि न सङ्गतम्, जिज्ञासूनामेव गुरुकुलादौ महर्षीणामाश्रमादौ गमनश्रवणात् । तस्मात्सिद्धान्तपक्षीयमेव व्याख्यानं युक्तम् ॥ ३२ ॥

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ३३ ॥

'आधत्तेति मध्यमपिण्डं पत्नी प्राश्नाति पुत्रकामा' (का० श्रौ० ४।१।२२) । पुत्रकामा यजमानपत्नी मध्यमं पितामहपिण्डं भुञ्जीत । इयं पितृदेवत्या गायत्री ऋक् । हे पितरः ! पुष्करस्रजमश्विभ्यां देवाभ्यां सदृशं पुष्कराणां पद्मानां स्रग् माला यस्य तम् अश्विनौ देवौ पुष्करस्रजौ पद्ममालिनौ देवानां भिषजौ तत्साम्यकथनेन रोगादिरहितं सुन्दरं धनधान्यादियुतमित्युक्तं भवति । तथाविधं कुमारं पुरुषरूपं गर्भं स्वसङ्कल्पबलेन सम्पादयत । इहास्मिन्नेव ऋतौ । पुरुषो देवपितृमनुष्याणामपेक्षितार्थस्य पूरयिता यथा असत् भवेत् तथा गर्भमाधत्त ।

अध्यात्मपक्षे—हे पितृतुल्या गुरवः ! पुष्करस्रजं कुमारमिव ब्रह्मविचाररूपं गर्भमाधत्त येनेह पुरुषः असद् भवेत् सद्विशिष्टः स्यादिति । तथा च श्रुतिः—'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥' (तै० उ० २।६।१) । अत्र 'विदुः' इति श्रुत्या ब्रह्मविचारजनितब्रह्मसत्त्वनिश्चयेनैव सत्त्वोपपत्तिरुच्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे पितरः ! यूयं यथायं ब्रह्मचारीह शरीरात्मबलं प्राप्य पुरुषो असत् भवेत् तथैव गर्भमिव पुष्करस्रजं कुमारं विद्यार्थिनमाधत्त धारयत' इति, तदसङ्गतमेव, गर्भमिवेत्यत्र इवपदाध्याहारे मानाभावात् । यदुक्तं 'विद्याग्रहणार्था स्रग्धार्यते' इति, तदपि न सङ्गतम्, ब्रह्मचारिणः स्रगादिधारणनिषेधात् । तथा च मनुः—'वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः । शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥' (२।१७७) इति । जीवतां पितॄणां पिण्डपितृयज्ञपक्षे नायं मन्त्रः कथमपि सङ्गच्छते । तथात्वे हे पितरः!

किन्तु यह दयानन्दीय व्याख्यान शतपथश्रुति के विरुद्ध है तथा प्रकरणविरुद्ध भी है, क्योंकि मृत पितरों को ही पिण्डपितृयज्ञ के समय अग्नि में पितृहविर्लक्षण कव्य का सकृत् आच्छिन्न समूल बर्हि से आस्तृत की गई भूमि पर पित्र्य तीर्थ से निर्वाप करने का निर्णय किया गया है । किञ्च, यहाँ पर पितरों को ऋतुरूप बताया गया है । वह ऋतुरूपता मृत पितरों में ही संभव हो सकती है, जीवित पितरों में नहीं । ऐसी अनेक विसंगतियाँ दिखाई देती हैं, अतः दयानन्दीय व्याख्या को उपेक्षणीय ही समझना उचित है ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—**हे पितरों ! तुम इन्हीं ऋतुओं में देव, पितृ और मनुष्यों की इच्छाओं को पूर्ण करने वाले, कमलपुष्पों की माला को धारण करनेवाले अश्विनीकुमार के तुल्य पुत्र को गर्भ में बो । यजमान की पत्नी को यदि पुत्र-प्राप्ति की कामना हो तो वह 'आधत्त' इस मन्त्र से 'मध्यम' पिण्ड का भक्षण करे ॥ ३३ ॥**

भाष्यसार—यह पितृदेवताक गायत्री ऋक् है । अश्विनीकुमार ये युगलदेवता हैं और देवताओं के वैद्य हैं । इनकी उपमा देकर यह सूचित किया गया है कि यहाँ रोगरहित, सुन्दर, धन धान्य से समृद्ध ऐसे पुत्र की कामना की गई है। इसी ऋतु में संकल्प बल पर अभीप्सित पुत्रगर्भ निष्पाद की क्षमता है ।

यूयं गर्भम् आसमन्ताद् धत्त धारयत। ये पान्ति विद्यादिदानेन तेऽपि गर्भाधाने नियुक्ता भविष्यन्ति। एकादश पुरुषाणां गर्भाधानाय नियोगो यस्य मते तस्यैवकाराध्याहारोऽनुपपन्न एव सनातनिपक्षे तु मृतानां प्रत्यक्ष-गर्भाधानासम्भवादेव स्वसङ्कल्पप्रभावेन गर्भमाधत्तेति सूपपद्यते ॥ ३३ ॥

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् । स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ ३४ ॥

'ऊर्जमित्यपो निषिञ्चतीति' (का० श्रौ० ४।१।१९)। ऊर्जमिति मन्त्रेणाध्वर्युः पिण्डमूले पिण्डसमीपे भूमावपो निषिञ्चेत्, तर्पयत मे पितॄनिति लिङ्गात्। पितॄणामधिष्ठानं पिण्डास्तेन पिण्डानामुपरि निषिञ्चेदिति देवयाज्ञिकः। इयमब्देवत्या विराट्। हे आपः! यूयं स्वधा पितृहविःस्वरूपा भवथ। स्वमात्मीयं पितॄणां धानं पोषणं स्वधा। अतो मे पितॄंस्तर्पयत। कथम्भूतास्ताः? परिस्रुतं फलपुष्पादिभ्यो निःसृतं सारं वहन्त्यः। प्रथमान्तत्वेन विपरिणामः। तच्च सारं त्रिविधम्—ऊर्जशब्देन धनशब्देन पयःशब्देन चोच्यते। तत्रोर्जशब्दो बलकरान्नगतं स्वादुत्वं बोधयति। घृतपयसी प्रसिद्धे। घृतं तच्चामृतं मधुरं सर्वरोगनिवारकं मृत्युनाशकम्, नास्ति मृतं यस्मात्तत्। पुनः कथंभूतं कीलालं कीलो बन्धः, 'कील बन्धने' धातुः। तमलति वारयतीति कीलालम्, 'अलं वारणपर्याप्त्ययोः'। सर्वबन्धनिवर्तकं तादृशस्य त्रिविधस्य सारस्य वहनादपां पितृतर्पकत्वं युक्तमेव।

अध्यात्मपक्षे तु—हे आपः! आप्नुवन्तीत्यापः परमात्मस्वरूपा आपः, मे मम सम्बन्धिनः पितॄन् देवांश्च तर्पयत, सर्वतृप्तिहेतुरसरूपत्वात्। हे आपः! यूयं स्वधास्थ पित्रन्नरूपा भवत। कथंभूता यूयं परिस्रुतं वहन्तीः। अत्र द्वितीया वहन्त्य इति प्रथमान्तत्वेन परिणमनीया। अन्यत् पूर्ववत्। तादृश्य आपोऽपि परमात्मरूपत्वात् तर्पयित्र्यः। तत्रैव तर्पकत्वमपि पर्यवस्यति।

दयानन्दस्तु—'हे पुत्रादयः! यूयं मे मम पितॄन् ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतं दत्त्वा तर्पयतैव। तत्सेवनेन विद्याः प्राप्य स्वधास्थ परस्वत्यागेन स्वसेविनो भवत' (पृ० २२१) इत्याह, तदेतत् प्रमाणशून्यम्, वैयर्थ्यादिदोषगणसम्पृक्तत्वात्। तथाहि—हे पुत्रादयः! यूयं मे पितॄन् तर्पयतेत्युक्तिरपार्थैव, स्वेनैव स्वपितॄणां तर्पणीयत्वात्। दत्त्वेति पदाध्याहाररूपं गौरवमपि। तत्सेवनेन सर्वा विद्याः प्राप्येत्यंशोऽपि वेदबाह्य एव, मन्त्रे तादृशार्थबोधकपदाभावात्। स्वमेव दधते स्वधा इत्यप्यसाम्प्रतम्, 'स्वधाः' इति विसर्गान्त-पाठाभावात्, 'स्वधा वै पितॄणामन्नम्' इति श्रुतिविरोधाच्च। तस्मान्मृतप्रेततर्पणार्था आप एवात्र सम्बोध्यन्ते, स्वधास्थेत्यनुरोधात्। वहन्तीरित्यस्य ऊर्जं वहन्त्यो हे आपः! यूयं स्वधा पितृहविःस्वरूपाः स्थ भवथ इति

स्वामी दयानन्द ने श्रुति-सूत्र-परम्परा के विरुद्ध ही व्याख्यान किया है, जो सर्वत्र असंगत हो गया है। 'गर्भमिव' यहाँ पर 'इव' पद के अध्याहार में कोई प्रमाण नहीं है। यह जो लिखा है कि 'विद्यार्थी ब्रह्मचारी विद्याग्रहणार्थ मालाधारण करते हैं', वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मचारी को तो गन्ध-माल्य, मधु-मांस आदि का निषेध किया गया है। पिण्डपितृयज्ञ के पक्ष में जीवित पितरों के निमित्त यह मन्त्र किसी तरह भी संगत नहीं हो सकता। अतः श्रुति-सूत्र और श्रौत याज्ञिक परम्परानुमोदित सिद्धान्त पक्ष का व्याख्यान ही उचित समझना चाहिये ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे उदकों! तुम अन्न, घृत और पय इन तीन शब्दों के द्वारा कहे जाने योग्य पुष्पगत सारभाग को धारण करने वाले हो। ऊर्ज, घृत और पय ये मृत्युनाशक तथा बन्धनिवारक हैं। तुम पितृहव्यस्वरूपी हो, अतः मेरे पितरों को सन्तुष्ट करो। 'ऊर्जम्' इस मन्त्र से पिण्ड के मूल प्रदेश में जल से सिञ्चन करे ॥ ३४ ॥

पूर्वोक्त एवार्थः। किञ्च, मन्त्रस्तु बलात्कारेणापि यथाकथञ्चिद् व्याख्यातुं शक्यते। तत्र सिद्धान्तपक्षीयं व्याख्यानं श्रुतिसूत्रसम्मतम्, अन्यत्तु स्वाभ्यूहितमात्रम्।

मृतपितॄणामेव पिण्डपितृयज्ञादिकं न जीवतामिति स्पष्टं सूत्रकारः कात्यायन आह—'प्रेतेभ्यो ददाति जीवत्पितृकोऽपि जीवान्तर्हितेऽपि' (का० श्रौ० ४।१।२३)। यत्पितृभ्यो दानमुक्तं तन्मृतेभ्यः पितृभ्यो दद्यात्, जीवत्पितृकोऽपि पिण्डपितृयज्ञमनुतिष्ठेदित्यर्थः। अनुतिष्ठंश्च पितृपितामहप्रपितामहेषु यः कश्चिज्जीवति तं जीवन्तं परित्यज्य मृतेभ्यः पिण्डान् दद्यादिति पूर्वपक्षः। 'जीवत्पितृकस्येति होमान्तम्' (का० श्रौ० ४।१।२४)। जीवत्पितृकस्य यजमानस्य होमान्तमेव पिण्डपितृयज्ञकर्म स्यान्न तत ऊर्ध्वं पिण्डदानादि। एवं पक्षद्वयमुपन्यस्य सिद्धान्तमाह—'अनारम्भो वा' (का० श्रौ० ४।१।२५)। वाशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। पिण्डदानस्य प्रधानत्वात् तदभावे होमस्य तदङ्गभूतस्याननुष्ठानमेव युक्तम्। अतो जीवत्पितृकेण पिण्डपितृयज्ञो नानुष्ठेयः। 'न व्यवेते जातूकर्ण्यः' (का० श्रौ० ४।१।२६)। जीवेन पित्रादिना व्यवहिते पितामहादौ पिण्डदानं न भवतीति जातूकर्ण्य आह। जातूकर्ण्यग्रहणं प्रत्ययदार्ढ्यार्थम्, 'न जीवन्तमतीत्य तद् ददातीति श्रुतेः' (का० श्रौ० ४।१।२७)। अतो जीवत्पितृकस्य प्रधाने पिण्डदाने निषिद्धेऽनारम्भपक्ष एव श्रेयान्। 'पूर्वेद्युः पितृभ्यो निष्क्रीय प्रातर्यज्ञं तनुते' (तै० ब्रा० १।३।१०) इति श्रुत्या पिण्डपितृयज्ञो दर्शात् पूर्वमनुष्ठीयते ॥ ३४ ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

भाष्यसार—सूत्रकार के अनुसार पिण्ड के समीप भूमि पर जल सिंचन करने के लिये कहा गया है। किन्तु देवयाज्ञिक का कहना है कि पितरों का अधिष्ठान पिण्ड हैं, अतः पिण्ड के ऊपर सिंचन करना चाहिये। हे जलों! तुम स्वधारूप यानी पितृहविःस्वरूप हो जाओ। पितरों के अन्न को 'स्वधा' कहते हैं। जल को पितरों का तर्पक कहा गया है। जल पुष्पों से निर्गत हुए सार को वहन करता है। वह सार तीन प्रकार का होता है, जो ऊर्जशब्द से, घृतशब्द से, पयः शब्द से कहा जाता है। 'ऊर्ज' शब्द अन्नगत स्वादुत्व को बताता है। घृत और पयस् तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं। वह त्रिविध सार पुनः कैसा है? वह अमृतरूप है, अर्थात् सर्वरोगविनाशक और मृत्युनाशक है। वह कीलाल है, यानी सर्वबन्धनिवर्तक है। 'कील बन्धने'। कीलनं कीलः, तम् अलति वारयतीति कीलालम्। वारण और पर्याप्ति अर्थ में 'अलम्' धातु है। इस प्रकार के त्रिविध सार के वहन करने से जल को जो पितृतर्पक कहा गया है, वह उचित ही है।

अध्यात्मपक्ष में—जल को परमात्मा का स्वरूप कहा गया है। अतः मेरे पितरों तथा देवों को तृप्त कर दो, क्योंकि समस्त तृप्ति के हेतुभूत रस को आपका ही स्वरूप बताते हैं। हे परमात्मन् जल! तुम मेरे पितरों के लिये अन्न (स्वधा) रूप बन जाओ। इस प्रकार से परमात्मा की प्रार्थना की गई है।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह प्रमाणरहित होने से त्याज्य है, क्योंकि वैयर्थ्यादि दोषों से वह युक्त है। 'स्वधाः' ऐसा विसर्गान्त पाठ भी मन्त्र में नहीं है। श्रुतिविरोध भी है। अतः सिद्धान्तपक्ष की व्याख्या ही श्रुति-सूत्रसम्मत है। जीवत्पितृक को पिण्डपितृयज्ञ का अनुष्ठान विहित नहीं है॥ ३४॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः

ॐ समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ १ ॥

समिधाग्निमिति । इतः पूर्वमध्यायद्वयेन दर्शपौर्णमासेष्टिसम्बन्धिनो मन्त्रा उक्ताः । इदानीमाधानमन्त्रा उच्यन्ते । प्रागग्निर्ज्योतिरित्यन्तानां मन्त्राणां प्रजापतिरग्निर्गन्धर्वा देवा ऋषय आग्नेय्यश्चतस्रो गायत्र्यः । 'आश्वत्थीस्तिस्रो घृताक्ताः समिध आदधाति अमावस्यायामग्न्याधेयम्' (का० श्रौ० ४।७।१) इति कालविशेषादीनि ब्रह्मौदनपाकपर्यन्तानि कार्याणि निरूप्य 'तं चातुष्प्राश्यं पचत्युद्वास्यासेचनं मध्ये कृत्वा सर्पिषासिच्याश्वत्थीस्तिस्रः समिधो घृताक्ता आदधातीति समिधाग्निमिति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० ४।८।२-३) इति कात्यायनः । अर्थात् चतुर्भिर्ऋत्विग्भिः प्राशितुं योग्यमोदनं पक्त्वा बहिरुद्वास्य तस्योदनस्य मध्ये घृतसेचनाय निम्नं स्थानं कृत्वा तत्सर्पिषापूर्य तिस्रः समिधस्तस्मिन् सर्पिष्यभ्यज्य तिसृभिर्ऋग्भिरग्नावादधाति । मन्त्रार्थस्तु—हे ऋत्विजो यूयं समिधा सम्यगिध्यते दीप्यतेऽग्निर्यया सा समित् तया, आश्वत्थ्या अग्निसमिन्धनहेतुभूतया अग्निं देवं दुवस्यत परिचरत, दुवस्यतेः परिचरणार्थत्वात् । घृताक्ताभिः समिद्भिर्जातं सन्तमग्निं पूर्णाहुतिसम्बन्धिभिर्होष्यमाणै-रतिथिधर्माणमातिथ्यकर्मणाराधनीयं वा बोधयत प्रबुद्धं कुरुत । प्रज्वालयतेत्यर्थः । अस्मिन् प्रज्वलितेऽग्नौ हव्या नानाविधानि हवींषि आ जुहोतन सर्वतो जुहुत । 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति तनबादेशेन जुहोतनेति रूपम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे साधका यूयं समिधा ब्रह्मविद्यया ब्रह्मस्वरूपदीपिकया ब्रह्मरूपमग्निं दुवस्यत परिचरत । 'ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' (भ० गी० ४।२४) इति गीतास्मृतेः । घृतैस्तद्विषयकैर्भक्तिपुरस्कृतैः स्नेहमयैः श्रवण-मनन-निदिध्यासनैरतिथिरिव महतादरेण पूजनीयं बोधयत प्रदीपयत । अस्मिन् प्रज्वलिते श्रवणमननादिभि-र्ब्रह्माकारवृत्तिरूपया सूर्यकान्तयाऽभिव्यक्ते चित्सूर्याग्नौ आ समन्तात् सर्वं दृश्यं तत्तद्वृत्तिस्रुग्भिः, जुहोतन सर्वं प्रविलाप्य ब्रह्मात्मनाऽवतिष्ठत ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसो यूयं समिधा घृतैरग्निं बोधयत । तमतिथिवत् दुवस्यत । अस्मिन् हव्या होतव्यानि द्रव्याण्याजुहोतन प्रक्षिपत' (पृ० २२७) इत्याह, तदतिमन्दम्, आधानादिषु कर्मसु वृतानामृत्विजा-मेवाधिकाराद् ऋत्विजामेव सम्बोधनं युक्तम्, न विद्वत्सामान्यानाम्, समिधा घृतैरिति कारणद्वयस्य क्रमेण दुवस्यत

मन्त्रार्थ – हे ऋत्विजों ! तुम लोग काष्ठरूप समिधा से अग्नि की सेवा करो और आतिथ्य कर्म से पूज्य अग्नि को पूर्णाहुति से सम्बन्धित घृत से प्रज्वलित करो । तदनन्तर प्रज्वलित हुए अग्नि में नाना प्रकार के हविर्द्रव्यों से चारों ओर से (सर्वतः) हवन करो । प्रथम और द्वितीय अध्याय में दर्शपौर्णमास इष्टि के मन्त्रों को बताया गया । उसके अनन्तर इस तृतीय अध्याय के आठ मन्त्र 'आधान' से सम्बन्धित हैं । चार ऋत्विजों के लिये पर्याप्त चावल पकाकर भात बनावे, उस भात को पृथक् पात्र में निकाल कर उस भात में घृत के लिये गर्त बनाकर उसमें यथेष्ट घृत डाले । उस घृत में तीन समिधाओं को भिगोकर उनको हाथ में ले और पूर्व के तीन ऋत्विज् उन समिधाओं का हवन करें ॥ १ ॥

बोधयतेति क्रियाद्वयेनान्वयसम्भवे एकेन करणेन शान्ताकाङ्क्षायां बोधयतिक्रियायाः करणान्तरेण सम्बन्धायोगात्, दुवस्यतेत्यस्य निष्करणत्वापत्तेश्च। यत्तु—'अविद्यमाना तिथिर्यस्य तम्' (पृ० २२५–२२६) इति, तत्तूपेक्ष्यमेव, 'नञ्सुभ्याम्' (पा० सू० ६।२।१७२) इति नियमेनाद्युदात्तस्वरानुपपत्तेः, अन्तोदात्तत्वापत्तेश्च। यत्तु—'नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्' (पा० सू० ६।३।१४) इति स्थलीयमहाभाष्ये शास्त्रवचनप्रामाण्यात् सर्वमिष्टं संगृहीतं भवति। यथोपदिष्टानां व्याकरणेन साधुत्वमात्रमन्वाख्यायते' (पृ० २२५ टि०) इति, 'अर्थनित्यः परीक्षेत न संस्कारमाद्रियेत' (नि० २।१) इति च (पृ० २२५ टि०), तथा 'पाणिनिनापि 'इन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टम्' (पा० सू० ५।२।१३) इति बहुधेन्द्रियशब्दो व्युत्पादितः' (पृ० २२५–२२६ टि०) इति, तत्तु निर्लज्जतापूर्णं धाष्ट्यमेव, सायणोव्वटमहीधरादिभाष्येषु दयानन्देनैव स्वरादिदोषोद्भावनात्। अत एव बहुव्रीहिपक्षे 'नञ्सुभ्यां' (पा० सू० ६।२।१७२) इत्येष इष्टानुरोधान्न प्रवर्तत इत्यपास्तम्। यत्तु बहुव्रीहिपक्षे मन्वादिभाष्यप्रमाणोद्धरणं (पृ० २२६ टि०), तत्तु कर्णस्पर्शे कटिचालनम्, बहुव्रीहिपक्षस्यान्यत्र सम्भवेऽपि प्रकृतमते स्वरदोषास्पदत्वेन त्याज्यत्वोक्तेः। यदपि 'हव्यादातुमादातुमर्हाणि वस्तूनि' (पृ० २२६) इति, तदपि तुच्छम्, जलवस्त्रमणिरत्नादीनां दातुमादातुमर्हत्वेऽपि हव्यत्वाभावात्। तस्माद्विहितानि हवींष्येव हव्यानीति मन्तव्यम्। यत्तु—'सुगन्ध्यादियुक्तैर्घृतादिभिर्यानेषु जलबाष्पादिभिर्बोधयत' इति, 'घृतमित्युदकनामसु पठितम्' (पृ० २२५) इत्यादि च, तदपि बालभाषितम्, श्रुतिसूत्रविरोधात्। त्वद्रीत्या भौतिकस्य जडस्य परिचरणाभ्युपगमे तवापसिद्धान्तात्, (६।८।१।६) इतिस्थलीयशतपथवचनाच्च त्वत्पक्षस्यात्यन्तमसङ्गत्वात्।

तथाहि—'समिधाग्निं दुवस्यतेति। समिधाग्निं नमस्यतेत्येतत् घृतैर्बोधयतातिथिमस्मिन् हव्या जुहोतनेति घृतैरिह बोधयतातिथिम्… ' (श० ६।८।१।६)। दुवस्यतेत्येतद् व्याचष्टे—समिधाग्निमिति। नमस्यतेत्येतदिति। अत्र श्रुत्या समिधा दुवस्यतेत्येतयोः सम्बन्धोऽभिहितः। तथैव घृतैर्बोधयतातिथिमित्यनया घृतैरतिथिं बोधयतेति सम्बन्धो बोधितः। बोधयतेत्यस्य तात्पर्यमाह—बुद्धवत्यग्नौ इत्यायै ह्येनमेतद् बोधयति। इत्यायै गमनाय, देवेभ्यो हविः प्रापयितुं गमनाय बोधयतेत्यर्थः।

केचित्तु आत्मयाजिदृष्ट्या ब्रह्मोपदेशपरत्वेन मन्त्रमिमं व्याचक्षते। तथाहि—समिधा प्राणेन 'प्राणा वै समिधः' (ऐ० ब्रा० २।४)। अग्निम् आत्माग्निम् 'आत्मा वा अग्निः' (श० ७।३।१।२)। दुवस्यत घृतैः इन्द्रियशक्तिभिः। यथा श्रुतिः—'पयः शीर्षंस्तत् प्राणम्' (श० ६।५।४।१५)। अतिथिमातिथ्यकर्मणा पूजनीयमात्माग्निं बोधयत प्रज्वालयत। आत्माग्नौ हव्या मनोवृत्तीः, यथा श्रुतिः—'सोम एवान्नमग्निरन्नादः' (श० १४।४।२।१३), 'यत्तन्मन एव स चन्द्रमाः' (श० १।३।३।७), 'चन्द्रमा वै सोमो देवानामन्नम्' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, समुद्धृतश्रुतौ आत्मशब्देन शरीरग्रहणात्। ततः पूर्वं चितो गार्हपत्यो भवति। अचित आहवनीयोऽथ राजानं क्रीणात्ययं वै लोको गार्हपत्यो द्यौराहवनीयोऽथ योऽयं वायुः पवते। एष सोम एतं तदिमौ लोकावन्तरेण दधाति तस्मादेष इमौ लोकावन्तरेण पवते' (श० ७।३।१।१) इति साग्निचित्ये क्रतौ सोमक्रयणस्य कालं विधाय स्तौति—चितो गार्हपत्य इति गार्हपत्याहवनीययोर्मध्यकाले चोदकप्राप्तः सोमक्रयः कर्तव्यः। सोमस्य गार्हपत्याहवनीययोर्मध्येऽवस्थानं लोकत्रयरूपेणोपपाद्यते—अयं वै लोको गार्हपत्य इत्यादि। भूर्लोकस्वर्लोकात्मकौ गार्हपत्याहवनीयौ। योऽयं वायुः पवते एष एव क्रीयमाणः सोमः। अत्र

भाष्यसार—भाष्यार्थ का स्पष्टीकरण उपर्युक्त मन्त्रार्थ से हो जाता है। अतः पुनरावृत्ति नहीं कर रहे है।

अध्यात्मपक्ष में—हे साधकों! तुम लोग ब्रह्मस्वरूपदीपिका (ब्रह्मविद्या) से ब्रह्मरूप अग्नि की परिचर्या करो। गीता में कहा है—'ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्'। तद्विषयक भक्तिपुरस्कृत स्नेहमय श्रवण, मनन, निदिध्यासन के

सर्वत्र स्तुत्यर्थं केनचित् साम्येन स्वर्लोकादिषु गार्हपत्यादिदृष्टिरेव क्रियते। तत्क्रयस्य गार्हपत्यचयनादूर्ध्व-माहवनीयचयनात् पूर्वमनुष्ठानात्। एतं सोमात्मकं वायु मिमौ लोकावन्तरेण अनयोर्लोकयोर्मध्ये दधाति। 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (पा० सू० २।३।४) इति द्वितीया। यस्मादेव वायुसंस्तुतः सोमो मध्ये क्रीयते, तस्मादेव दृश्यमानो वायुरिमौ लोकावन्तरेण पवते।

एवमधिलोकं स्तुत्वा सोमक्रयस्याध्यात्ममपि स्तोतुमाह—'यद्वा देवचिते गार्हपत्ये अचित आहवनीयेऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वा अग्निः प्राणः सोमः। आत्मंस्तत्प्राणं मध्यतो दधाति। तस्मादयमात्मनः प्राणो मध्यतः' (श० ७।३।१।२)। आत्मा वा अग्निः गार्हपत्याहवनीयचित्यात्मकोऽग्निः, आत्मा विस्रस्तावयवस्य प्रजापतेः शरीरम्। तन्मध्यवर्ती प्राणवायुः सोमः। अतस्तस्य गार्हपत्याहवनीयचयनयोर्मध्ये क्रीयमाणत्वाद् आत्मनः आत्मनि शरीरे प्राणमेव मध्यतो दधाति। तस्मादेव कारणात् पञ्चवृत्त्यात्मकः प्राणः। अयं प्राणः सर्वप्राणिनामात्मनि शरीरे मध्यतो दृश्यते। एतदेव सायणाचार्यैः स्पष्टमुक्तं स्वभाष्ये। एतदेव च सम्भवति। 'एतमेके वदन्त्यग्निम्' (म० १२।१२३) इति मनुरपि हिरण्यगर्भमग्निमेके वदन्तीत्याह। ततः पूर्वं षष्ठकाण्डस्य प्रथमेऽध्याये सर्वावयवसम्पन्नस्यैकस्य विराडात्मकस्य पुरुषस्योद्भवमभिधाय तस्याग्निरूपत्वमुक्तम् (श० ६।१।१।११)। 'यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते, 'प्रजापतिरेषोऽग्निः' (श० ६।८।१।४), 'स यः प्रजापतिर्व्यस्रंसत' (श० ६।१।२।१८), 'प्रजापतिरेव विस्रस्तो देवानब्रवीत्' (श० ६।१।२।२१) इत्यादिभिः प्रजापतेरग्नित्वं विस्रस्तत्वं च तत्र तत्र श्रूयते। नहि शुद्धे निरवयवे ह्यात्मतत्त्वे प्राणस्य मध्य आधानं सम्भवति। नहीन्द्रियशक्तिभिरात्मन उद्बोधनं सम्भवति, तस्य बोधरूपत्वात्।

यदपि 'पयः शीर्षंस्तत्प्राणम्' इति घृतपदेनेन्द्रियबोधने प्रमाणमुक्तम्, तदप्यविचारितरमणीयम्, अर्थान्तरत्वात्। तथाहि—'अथैनामाच्छृणत्ति स्थेम्नेन्वेवाथो कर्मणः प्रकृततायै यद्वेवाच्छृणत्ति शिर एतद्यज्ञस्य यदुखा प्राणः पयः शीर्षंस्तत्प्राणं दधात्यथो योषा वा उखा योषायां तत्पयो दधाति तस्माद्योषायां पयः' (श० ६।५।४।१५) इति हि सम्पूर्णा कण्डिका। अत्रोखायां पयःसेचनं विधाय स्तौति—एनामुखामाच्छृणत्ति आसिञ्चतीत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्। प्रकारान्तरेण प्रशंसति—शिर एतद्यज्ञस्य यदुखा। प्राधान्यादुखायाः शिरस्त्व-व्यवहारः, पयसो बलकरत्वात् प्राणत्वव्यपदेशः। तस्मात् पयोयोज्यत्वमिदानीन्तनप्रसिद्धया समर्थयते—तत्प्राणं दधातीति। स्त्रीलिङ्गत्वादुखाया योषात्वम्। पयसो रेतोवर्धकत्वाद् रेतस्त्वम्। अत्रापि गौण्या वृत्त्या बलकरत्वात् पयसः प्राणत्वमुक्तम्, न घृतस्येन्द्रियत्वम्। 'सोम एवान्नमग्निरन्नादः' इत्यादिश्रुतयो नैकार्थबोधिकाः। सङ्केतश्चाशुद्धः। अग्नीषोमात्मके जगति अग्निरन्नादः सोमोऽन्नमिति युक्तमेव। न चात्मनोऽग्नित्वमद्यापि सिद्धम्। मनसश्चन्द्रमसश्चाधिष्ठानाधिष्ठेयभावेनाभेदोपचारो नायुक्तः। मन इन्द्रियादि-वृत्तिस्रुग्भिः सर्वं दृश्यं हविष्ट्वेन विभाव्य चिदग्निमण्डले प्रविलापनमेव होम इत्यध्यात्मरसिकैरभ्युपेयत एव, तथापि नोक्तवचनैस्तत्सिद्धयति।

द्वारा ब्रह्माकारवृत्तिरूप सूर्यकान्त मणि में अभिव्यक्त होने वाले चित्सूर्यात्मक अग्नि में चारों ओर दृश्यमान सम्पूर्ण दृश्य को तत्तद्वृत्तिरूपी स्रुचाओं से होम कर दो, अर्थात् सबको उसी में विलीन करके ब्रह्मात्मरूप से स्थित रहो।

स्वामी दयानन्द इस मन्त्र की व्याख्या में सभी को हवन करने की बात कह रहे हैं।

किन्तु उनका यह व्याख्यान प्रमाणरहित है, क्योंकि आधानादि कर्मों में वरण किये हुए ऋत्विजों का ही अधिकार होता है। अतः ऋत्विजों को ही सम्बोधित करना उचित है। सर्वसाधारण विद्वानों को सम्बोधित करना

नह्यात्मयाजिभिर्मन्त्रब्राह्मणान्यन्यथा व्याख्यायन्ते। न वा तेषां कर्माणि देवयाजिनो विजातीयानि भवन्ति। मनुना तु ब्रह्मात्मदर्शी ह्येवात्मयाजीत्युच्यते—'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥' (म० १२।९१)। बृहदारण्यके श्रीशङ्कराचार्याः—'तद् द्विविधं ज्ञानपूर्वकं केवलं च। तत्र केवलं पितृलोकादिप्राप्तिफलम्, ज्ञानपूर्वकं देवलोकादिब्रह्मलोकान्तप्राप्तिफलम्। तथा च शास्त्रम्—'आत्मयाजी श्रेयान् देवयाजिनः' इत्यादि। स्मृतिश्च—'द्विविधं कर्म वैदिकम्' इति। सर्वत्र परमात्मभावनापुरःसरं नित्यं कर्मानुतिष्ठन् आत्मयाजीत्यानन्दगिरिः। कामनापुरःसरं देवान् यजमानो देवयाजी। तयोर्मध्ये कतरः श्रेयानिति विचारे सत्यात्मयाजी श्रेयानिति निर्णयः कृतः। अत्र वाचस्पतिमिश्राः—तथा च श्रुतिः—स ह वा आत्मयाजी यो वेद इदं मे अङ्गमेनेनाङ्गं सांस्क्रियते। इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते।' तत्र कल्पतरुकाराः—'अनेन कर्मणा इदं ममाङ्गमन्तःकरणं संस्क्रियते पुण्येन चोपधीयते उपचीयते' (श० ११।२।६।१३) इति यो विदित्वा चरति कर्म स आत्मशुद्ध्यर्थं यजन् आत्मयाजी। स च देवयाजिनः काम्यकर्मकर्तुः श्रेयानिति शतपथश्रुत्यर्थः। अनेन स्पष्टं व्यज्यते यन्मीमांसकादिसम्मतमेव कर्मात्मयाजिनोऽप्यनुतिष्ठन्ति, सुतरां तेषां वेदव्याख्यानमपि तादृशमेव भवति। नाध्यात्मं परमात्मयाजिनाम्ना कर्तुं शक्यमिति।

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः। विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे। नैष्कर्म्यसिद्धिं लभते रोचनार्था फलश्रुतिः॥
(भा० पु० ११।३।४५-४६)

इति श्रीमद्भागवतपद्याभ्यामपि वेदोक्तकर्मबहिर्मुखस्याधोगतिः प्रतिपाद्यते। केवलस्य देवताज्ञानसमुच्चितस्य वानुष्ठायिनः पितृदेवादिलोकप्राप्तिः, निष्कामस्य वैदिककामकर्मज्ञानैः स्वाभाविकपाशविककामकर्मज्ञानातिक्रमणविविदिषाश्रवणमननादिक्रमेण ब्रह्मात्मसाक्षात्कारप्राप्तिश्चोक्ता। कर्माणि च श्रुतिसूत्रादिप्रोक्तान्येव तेषां व्याख्या च तदनुगुणैव।

किञ्च, ये मन्त्रा ब्राह्मणानि च यानि विनियोगादिवशादन्यपराणि न तैर्निर्गुणं निर्विशेषमद्वैतं ब्रह्म प्रतिपादयितुं शक्यते, द्वैतपर्यवसायिप्रत्यक्षानुमानागमैर्विरोधात्। न चाद्वैतबोधकवचनविरोधात् तेषामेव कथं न स्वार्थप्रच्युतिरिति वाच्यम्, तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसीति न्यायेन तत्पराणां वचनानामतत्परवचनापेक्षया प्राबल्येनान्यपराणामद्वैतबोधकवचनानां बाधोपपत्तेः। तत एवेशावास्योपनिषद्भाष्ये ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः, तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रतिपादकत्वादित्यादिरीत्या तेषामकर्मशेषत्वं साधितम्। येषां मन्त्राणां श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणसमाख्याभिस्तदाश्रितैः सूत्रैश्चान्यपरत्वं सिद्धमेव, तेषामन्यपरत्वं निश्चप्रचम्। तदतिरिक्तैरनन्यशेषैरेव मन्त्रब्राह्मणोपनिषद्वाक्यैस्तत्प्रधानैः प्रत्यक्षादिबाधेनाप्यद्वैतं बोध्यते। 'ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मसु विनियुक्ताः, मन्त्रत्वात्, इषे त्वादिमन्त्रवत्' इत्यनुमानं तु न समुन्मिषति, विनियोजकप्रमाणासत्त्वस्य तत्रोपाधित्वात्। अत एव—'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च' इत्युपक्रम्य 'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' इत्यादिभिः प्रायेण समस्तवैदिकवाङ्मयस्याপर-

अनुचित है। व्याख्या करते समय कहीं नियम का उल्लंघन हुआ है, तो कहीं 'स्वर' दूषित हो गया है, कहीं जो हव्य वस्तु नहीं हैं, उनको 'हव्य' मान लिया है। कहीं 'घृत' का अर्थ 'जल' कर दिया है। अतः शतपथश्रुति, सूत्र, याज्ञिक पद्धति के विरुद्ध व्याख्या को उपेक्षणीय ही कहा जा सकता है।

विद्यात्वमुक्तम्। अनन्यशेषतत्प्रधानमन्त्रब्राह्मणोपनिषदां परविद्यात्वमुक्तम्—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यम्' (मु० उ० १.५) इत्यादिकमिति मुण्डके।

ब्राह्मणैर्लिङ्गादिभिः सूत्रैश्च येषां मन्त्राणां यत्र विनियोगः, स एव तेषां मुख्योऽर्थः। अन्यस्तु तदविरुद्धो गौणार्थ एवेति मन्तव्यम्। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० २.१५), 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (भ० गी० १५.१५) इत्यादिप्रमाणैः कर्मोपासनपराणामपि वेदानां ब्रह्मपर्यवसायित्वप्रतिपादनं तु ब्रह्मज्ञानौपयिकमलविक्षेपनिवर्तककर्मोपासनप्रतिपादकत्वेऽपि नासङ्गतम्। यद्वा यथा शय्यापादुकादिषु पादविन्यासेऽपि पृथिव्यामेव पादविन्यासस्तेषां तत्कार्यत्वात्, तथैवेन्द्रादिदेवचरुपुरोडाशादिद्रव्यदेवताप्रतिपादनमपि ब्रह्मप्रतिपादनमेव, तेषां ब्रह्मकार्यत्वेन तदनतिरिक्तत्वात्। यद्वा शब्दानां जातौ शक्त्यङ्गीकारेण घटत्वादिजातीनां च सत्तालक्षणायां परजातावन्तर्भावेन परसत्तायाश्च ब्रह्मरूपत्वेन न केवलं वैदिकानामपि तु सर्वेषामेव शब्दानां ब्रह्मणि पर्यवसानं न विरुद्धम्। एवं सत्यपि न सर्वेषां शब्दानां पर्यायवाचकत्वम्, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात्; तथैव वैदिकशब्दानामपि न पर्यायवाचकत्वं भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वादेव। यद्यपि वस्तुस्थितिरेतादृशी, तथापि मुख्यार्थाविरोधेन मन्त्राणामनेकार्थबोधकत्वमपि चत्वारि शृङ्गा इति मन्त्रस्येव नासङ्गतम्। दयानन्दोक्तार्थापेक्षया तु एतादृशा अप्यर्थाः प्रशस्ता एव।

यदपि—'कृष्णार्जुनसंवादात्मकोऽयं मन्त्रः। पार्थप्रोक्तवाक्यकलापव्यञ्जितशमदमादिसम्पत्त्या ब्रह्मविद्याधिकारमर्जुनस्य निश्चित्य भगवान् दीक्षादानाय यथा छान्दोग्योपनिषदि सत्यभाषणादिना निश्चिताधिकारो हारिद्रुमतगौतमाचार्यः सत्यकामं जाबालं दीक्षाग्रहणाय समिधमानेतुमादिदेश—'तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहर उप त्वानेष्ये न सत्यादगाः' (छा० उ० ४.४.५) इति, तथा आदिशति—समिधेति। समिधा समिदादिना। समिद्ग्रहणमुपहारोपलक्षणम्। अपि वा, समिधायुक्तः समित्पाणिः समिदाद्युपहारयुक्तः सन् 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मु० ३.२.१२) इति श्रुतेः। दुवस्यत परिचरत। गुरुं मां पूजयतेत्यर्थः। एतेन विधिवद्गुरूपसत्तिः सूचिता। तदनन्तरं श्रीकृष्णशिष्यतामुपगतोऽर्जुन आचष्टे—अतिथिं निजपादपद्मातिथिं त्वां प्रपन्नमिति यावत्। घृतैः तद्वत् स्निग्धैर्मधुरवचोभिर्बोधयत धर्मब्रह्मणोस्तत्त्वमवगमयत। मदीयं कर्तव्यमुपदिशतेति निष्कर्षः। अत एव 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (भ० गी० २.७) इति गीतोक्तं सङ्गच्छते। अथवा पूर्ववाक्य एव घृतैरिति सम्बध्यते। विनापि चकारं समुच्चयः। समिदादिना घृतपक्वमोदकादिभिश्चोपहारैर्मां प्रसादयतेति भावः। गीतासारं भगवानुपदिशति—अस्मिन् मयि हव्या हव्यानि दातव्यानि अर्पणीयानि सर्वाणि वस्तूनि आ सर्वतोभावेन जुहोतन दत्त अर्पयत। निष्कामकर्मयोगं सततमनुतिष्ठत। उक्तं हि गीतायाम्—'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥' (भ० गी० ९.२७)। अत्र सर्वत्र बहुवचनमादरातिरेकसूचनाय। अथवा दुवस्यत दुवस्य बोधयत बोधय जुहोतन जुहुधि इति वचनव्यत्यासो बोध्यः' इति।

तदेतदपि अप्रकृतगौणार्थक्लिष्टकल्पनाबाहुल्याद्यथाश्रुतोपपत्तौ अप्रामाणिकव्यत्यासादियुक्तत्वाद् नातीव मनोज्ञम्। कृष्णोऽर्जुनस्तत्संवादरूपा गीता च महाभारतादेरेव ज्ञातव्या भवन्ति। तदानुगुण्येन मन्त्राणां योजनं

कुछ लोगों ने आत्मयाजी दृष्टि से इस मन्त्र की ब्रह्मोपदेशपरक व्याख्या की है। आत्माग्नि को प्रज्वलित करने की बात की है। किन्तु उद्धृत की हुई श्रुति में 'आत्म' शब्द से 'शरीर' का ग्रहण किया गया है। आत्मयाजी विद्वान् मन्त्र-ब्राह्मणों की अन्यथा व्याख्या नहीं किया करते। तथापि इस व्याख्याकार की व्याख्या स्वामी दयानन्द की

मन्त्राणामुपबृंहणाय वा महाभारतादिनिर्माणमिति विचारणीयम् । तत्र नाद्यः पक्षः सम्भवति, अपौरुषेयवाक्यानां पौरुषेयानुसरणासम्भवात् । नान्त्यस्तथात्वे मन्त्रवैरूप्यानापत्तेः । तथाहि गीतादृष्ट्या तु नार्जुनस्य ब्रह्मविद्याधिकारः, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (भ० गी० २।४७), 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' (भ० गी० ४।१५), 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः' (भ० गी० ३।८) इत्यादिविरोधात् । न च ब्रह्मविदोऽपि कर्मण्येवाधिकार इति युक्तम्, 'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन' (भ० गी० ३।१८) इति विरोधात् । अत एवार्जुनं निमित्तीकृत्य भगवांस्तेभ्यस्तेभ्योऽधिकारिभ्यः कर्मयोगं ब्रह्मविद्यां चोपदिष्टवान् । न च गीतानुसारेण भगवतार्जुनाय काचिद्दीक्षा दत्ता । न वा दीक्षार्थं अर्जुनः समिदुपलक्षितघृतपक्वमोदकाद्याहरणाय नियुक्तः । न वार्जुनेन तन्नियोगानुसारेण मोदकादिकमाहृतम्, युद्धादिप्रकरणविरोधात् ॥ १ ॥

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये जातवेदसे ॥ २ ॥

हे ऋत्विजः ! सुसमिद्धाय साधुदीप्ताय, शोचिष्मते दीप्तिमते प्रज्वलिताय, जातवेदसे जातं वेत्ति वेदयते वेति जातवेदाः, तस्मै । जातो वेदः प्रज्ञानं वा यस्य तस्मै । जात आविर्भूतो वेदो यस्माद्वा तस्मै जातवेदसे । अग्नये घृतं तीव्रं स्वादुतमं समग्रं पटुतरं वा ग्रहणोद्वासनाधिश्रयणावेक्षणादिभिः संस्कारैः संस्कृतं जुहोतन अत्यर्थं जुहुत । अत्यर्थकं तनप्, कर्तनहन्तनयातनेत्यादौ तथार्थत्वदर्शनात् ॥ २ ॥

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि । बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ ३ ॥

हे अङ्गिरः ! अङ्गिर्गतिरस्यास्तीत्यङ्गिराः । गत्यर्थादङ्गतेर्मत्वर्थीये रसिप्रत्यये रूपसिद्धिः । तत्तद्यागेषु गतिमन्नग्ने ! 'अङ्गिरा उ अग्निः' (श० १।४।१।२५) इति श्रुतेः । तं तथोक्तगुणं त्वां समिद्भिः पूर्वोक्तगुणाभि-

व्याख्या से कुछ अच्छी कही जा सकती है । इस व्याख्याकार ने गीता का प्रसंग उद्धृत कर जो बताया है, वह गीतोक्त युद्धप्रकरण के विरुद्ध है ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों ! तुम लोग अग्नि में सुसंस्कृत घृत का हवन करो । वह अग्नि अच्छी तरह प्रदीप्त हुआ है एवं प्रकाशमान और समस्त ज्ञानों का उत्पादक है ॥ २ ॥

भाष्यसार—इस मन्त्र से यह बताया गया है कि प्रदीप्त हुए जातवेदस् (अग्नि) में ग्रहण, उद्वासन, अधिश्रयण, अवेक्षण आदि संस्कारों से संस्कृत हुए घृत का हवन करना चाहिये ।

करपात्रभाष्य में दुर्गाचार्य के अनुसार 'जातवेदस्' पद की बहुविध व्युत्पत्ति के आधार पर अनेक अर्थ किये गये हैं ।

अध्यात्मपक्ष में—कहा गया है कि वेदान्तवाक्यादि के श्रवण करने से स्वप्रकाश, ब्रह्मरूप, सर्वज्ञ अग्नि में अपने प्रेमरूपी घृत को अर्पित कर दो । उसी से संसारासक्ति की निवृत्ति हो सकती है ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह पदार्थस्वभाव के विरुद्ध है । किसी ने गमनशील अर्थ करने के लिये मत्वर्थीय इरस् प्रत्यय बताया है, किन्तु वह व्यर्थ ही है ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—प्रत्येक यज्ञ में गमन करने वाले और सर्वदा तरुण रहने वाले हे अग्ने ! हम लोग तुम्हें समिधाओं से और संस्कारयुक्त घृत से वृद्धिगत करते हैं । अतः तू अत्यधिक प्रकाशित हो जा ॥ ३ ॥

संस्कृतेनाज्येन च वर्धयामसि वर्धयामः। 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) सिकारश्छान्दसः। हे यविष्ठ्य नित्यं नवनवायमान नित्यनूतन अग्ने ! बृहत् महत् शोच दीप्यस्व। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घे शोचेति रूपम्। यविष्ठ्य अतिशयेन युवेति यविष्ठयः, तत्सम्बुद्धौ हे यविष्ठ्य। युवन्शब्दाद् इष्ठनि 'स्थूल-दूर-युव०' (पा० सू० ६।४।१५६) इत्यादिना टिलोपे गुणे च स्वार्थिकतद्धितयकारे यविष्ठ्येति रूपम् ॥ ३ ॥

उप॑ त्वाग्ने ह॒विष्म॑तीर्घृ॒ताची॑र्यन्तु हर्यत। जु॒षस्व॑ स॒मिधो॒ मम॑ ॥ ४ ॥

'उप त्वेति जपतीति' (का० श्रौ० ४।८।६) हे अग्ने ! हविष्मतीः हविष्मत्यः हविर्युक्ताः घृताचीः घृताच्यः घृतपरिप्लुताः समिधः, त्वा त्वाम् उपयन्तु प्रत्युद्गच्छन्तु। हे हर्यत प्रेप्साधन् ताः प्रत्यनुरागयुक्त ! मदीयास्ताः समिधस्त्वं जुषस्वोपसेवस्वाङ्गीकुरु। (नि० २।६।६०) इति कान्तिकर्मसु हर्य्यत इत्यस्य पठितत्वात्, कान्तेश्चेच्छार्थकत्वात्, अनुरागस्य चेच्छाविशेषत्वात्, रागातिशयस्य वस्तुनः समर्पणेनैव प्रसादातिशयसम्भवाच्च।

भाष्यसार—'अग्नि' का नाम 'अङ्गिरस्' है। 'अङ्गिरा उ अग्निः' यह श्रुतिवचन है। समिधा और संस्कृत घृत से उस अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है, तब वह वृद्धिगत होता है। उसका अत्यधिक प्रकाश होता है।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या अपने भाष्य में की है, उसमें व्यत्यय आदि का अकारण आश्रय लिया है। शतपथ श्रुति के विरुद्ध होने से वह व्याख्या उपेक्षणीय है।

अध्यात्मपक्ष में—ब्रह्माकारवृत्ति की अभिव्यक्ति होने से वह अग्नि सम्पूर्ण प्रपञ्च का दाहक है। उस अग्नि को श्रवण-मनन-निदिध्यासन और घृत के समान सुगन्धवाले अनुराग से हम वृद्धिङ्गत कर रहे हैं, अर्थात् 'ब्रह्म' नास्ति और न भाति—इन आवरणद्वय का अपसारण करके प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न अनन्तानन्द ब्रह्मात्मभाव के प्रादुर्भाव से हम उसे वृद्धिङ्गत करते हैं। यद्यपि वह अवेद्य है, तथापि वह स्वप्रकाश रहने से निरतिशय प्रकाशरूप ही है। अतः श्रवणादि के द्वारा तत्तदुपाधिनिराकरणजनित अतिशयित प्रकाशवान् हो जाय ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! हवि से युक्त और घृत से आर्द्र हुई समिधाएँ तुम्हें प्राप्त हों। उन समिधाओं की इच्छा रखने वाला तू अपने समीप आनेवाली उन मेरी समिधाओं का सेवन कर। 'उप त्वा' इस मन्त्र का जप करे ॥४॥

भाष्यसार—अग्नि को समिधा और घृत की इच्छा रहती है। जिस वस्तु में रागातिशय हो, उस वस्तु की प्राप्ति हो जाने से अत्यधिक प्रसन्नता होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि भक्त लोग भगवान् को निवेदन किये जाने वाले पदार्थों में भगवद्रागास्पदत्व की भावना करते हैं। अग्नि आदि के रूप में सर्वत्र वेद में और यज्ञ में परमेश्वर की ही अर्चना बताई गई है।

अध्यात्मपक्ष में—हे हर्यत ! अर्थात् हे कान्तिसम्पन्न ! स्वप्रकाश ! अपने सगुण स्वरूप से कोटि सूर्य के समान कान्तिवाले ! समस्त प्राणियों के परम प्रेमास्पद होने के कारण हे सर्व कमनीय ! मेरे द्वारा की जाने वाली मधुमती स्तुतियों को प्रेमपूर्वक अंगीकार करो, अर्थात् मेरी स्निग्ध ज्ञानभक्तिरूप वृत्तियाँ तुम तक प्राप्त हों। तुम उन वृत्तियों के रस का आस्वादन करो।

तत एव भक्तैर्निवेद्यमानेषु भगवद्रागास्पदत्वं भाव्यते। 'प्राज्यमाज्यमिदमुत्तमं मधु। मातरेतदमृतोपमं पयः सम्भ्रमेण परिपीयतां मुहुः॥' इति श्रीशङ्कराचार्याः। अत्र देवताविशेष एवाग्निराहवनीयादिशरीरकः सम्बोध्यते, तस्य प्रेप्सावत्त्वादिसम्भवात्। तथा च परमेश्वर एवाग्न्यादिरूपेण सर्वत्र वेदेषु यज्ञेषु चेज्यते॥ ४॥

भूर्भुवः॒स्व॒र्द्यौरि॑व भू॒म्ना पृ॑थि॒वीव॑ वरि॒म्णा। तस्या॑स्ते पृथिवि देवयजनि पृ॒ष्ठेऽग्नि-म॑न्ना॒दम॒न्नाद्या॒याद॑धे॥ ५॥

'जाते जाते विद्यते इति वा, जातवित्तो वा, जातधनो जातविद्यो वा, जातप्रज्ञानो यत्तज्जातः पशून् विन्दतेति जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति' (नि० ७।१९)। महाभाग्यात् कर्मपृथक्त्वादग्निरेव जातवेद उच्यते, यद्वा पृथगभिधानस्तुत्यन्तरसम्बन्धाद्देवतान्तरम्। जातवेदाः कस्मात्? स हि जातानि वेद। न तदस्ति जातमस्मिँल्लोके यदसौ न वेद, सर्वज्ञ इत्यर्थः। जातानि वा एनं विदुः। धातोरभेदेऽपि कारकभेदाद् भेदः, सर्वप्रसिद्ध इत्यर्थः। जाते जाते विद्यते इति वा विदेः सत्तार्थकस्याधिकरणे कारके न तदस्ति जातं यत्रासौ नास्ति, सर्वजातव्यापक इत्यर्थः। जातवित्तो वा जातधनः। जातमस्य वित्तमिति जातवेदाः। जातविद्यो जातप्रज्ञानो वा। निसर्गत एवास्य जातं प्रज्ञानमित्यर्थः। अपि भवति जनेर्विदेश्चेति जातवेदा इति ब्राह्मणम्। यत्तज्जातः पशूनविन्दत अलभत तस्माज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति विज्ञायते। यतश्चैतदेवं तस्मादद्यत्वेऽपि स्वाम्ययमस्माकमिति मन्यमानाः पशवः सर्वानृतून् प्रतिग्रीष्मे अग्निमभिसर्पन्तीति तत्रैव दुर्गाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे तु—श्रवणादिभिः सुसमिद्धाय ब्रह्मरूपायाग्नये शोचिषे स्वप्रकाशाय जातवेदसे वेदजनकाय सर्वज्ञाय ब्रह्माग्नये घृतं प्रेमाख्यं स्नेहं घृतगन्ध्यनुरागविशेषं वा तीव्रसंसाररागनिवर्तकत्वात् तीव्रं जुहोतन समर्पयत तत्प्रियत्वात्तस्य। 'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी। जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥' (भा० पु० ३।२५।३३) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। यद्वा अव्यक्तस्य असमिद्धस्याग्नेः सुसमिद्धव्यक्ताग्निरूपेणेव अव्यक्तस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य ब्रह्मणः सुसमिद्धाय अमलात्मनां परमहंसानां महामुनीनां श्रीपरमहंसत्वसम्पादनाय कोटिकोटिसूर्यचन्द्राग्निसमप्रभाय श्रीरामकृष्णादिरूपेणाभिव्यक्ताय साधुपरित्राणाय दुष्टदर्पदलनाय धर्मसंस्थापनाय वा शोचिषे दीप्तिमते जातवेदसे सर्वज्ञाय सर्वविदे अग्नये पातकपातकिदैत्यदानवादिदावदहनाय सूर्यस्यापि सूर्यायाग्नेरप्यग्नये भगवते हे आर्तजिज्ञास्वर्थार्थिज्ञानिभक्ता घृतं घृतगन्ध्यनुरागतीव्रमुत्कटं सर्वसंसाररागनिवर्तकत्वात् परमात्मवशीकारकत्वाच्च जुहोतन जुहुतेत्यर्थः। एवं श्रुतिसूत्राविरुद्धा अनेकेऽप्यर्थाः सम्भवन्ति।

दयानन्दस्तु—'सुसमिद्धे सम्यगिद्धे दीप्ते। सप्तमीस्थाने चतुर्थी। शोचिषे दोषनिवारके घृतमाज्यादिकं तीव्रं सर्वदोषाणां निवारणे तीक्ष्णस्वभावं जुहोतन प्रक्षिपत। अग्नये रूपदाहप्रकाशच्छेदनादिगुणस्वभावे जातवेदसे

स्वामी दयानन्द उक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए मनुष्यों को सम्बोधित करते हैं और उन्हें प्रतिदिन समिधाओं के संग्रहार्थ करते हैं। किन्तु मन्त्र में 'अग्नि' को सम्बोधन किया गया है। 'जुषस्व' के बजाय 'जुषते' यह व्यत्यय किया है। अनेक जगह मुख्यार्थ को त्यागकर गौणार्थ की कल्पना की है, जो निर्मूल है। अतः दयानन्दीय अर्थ उपेक्षणीय है॥ ३–४॥

मन्त्रार्थः—भूः, भुवः, स्वः—इन तीन व्याहृतियों का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य है अथवा आत्मा, प्रजा और पशु है। इन अर्थवाली व्याहृतियों से प्रार्थना करके अग्नि की स्थापना करे। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण,

जाते जात उत्पन्न उत्पन्ने पदार्थे विद्यमानस्तस्मिन्' (पृ० २२८) इत्याह, तत्तु न युक्तम्, सप्तम्यर्थस्वीकारस्य निष्कारणत्वात्। सम्प्रदानचतुर्थ्या सुसमिद्धत्वजातवेदत्वादिगुणविशिष्टाया देवताया विवक्षितत्वे तदुद्देश्येन घृतद्रव्यत्यागस्य बुबोधयिषितत्वात्। नह्यत्र दोषाणां निवारणे तीक्ष्णस्वभावत्वबोधनाय तीव्रशब्दो युज्यते, दाहकस्वभावत्वेनैतदुपपत्तेः, किन्तु स्वादुतमत्वसुसंस्कृतत्वादिभिरेव तस्य तीक्ष्णत्वं ज्ञेयम्। किञ्च, निरुक्तरीत्या जातविद्यो जातप्रज्ञानो वा जातवेदा भवति। न च तादृशोऽग्निस्त्वयाभिप्रेयते, त्वद्रीत्या घृतादिप्रक्षेपाधिकरणस्याग्नेर्जडत्वात्।

'तं त्वा समिद्भिरङ्गिर इति समिद्भिर्ह्येतदङ्गिरस ऐन्धताङ्गिर इत्यङ्गिरा उ ह्यग्निर्घृतेन वर्धयामसीति तत्सामिधेनं पदꣳ समेवैनं तेनेन्धे वीर्यमेवास्मिन् दधाति' (श० १।४।१।२५)। तृतीया सामिधेनीरूपेयमृक्। तामनूद्य व्याचष्टे श्रुतिः—समिद्भिर्ह्येतमग्निमङ्गिरसो महर्षय ऐन्धन्त समिद्धमकुर्वन्। तस्मादग्निरपि अङ्गिर इति सम्बोध्यते। तदेतन्नामाग्नेः प्रसिद्धमित्याह—'अङ्गिरा उ ह्यग्निः, इतरे येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' (ऐ० ब्रा० ६।५।१८-९) इति श्रुतेः। अङ्गिरसामङ्गारपरिणामरूपत्वादङ्गिरसशब्दाभिधेयता। अग्निरप्यङ्गाररूप इति युक्तं तस्याङ्गिरसत्वमित्यर्थः। घृतेन वर्धयामसि वर्धयामहि। वर्धयामसीति सामिधेनं पदं घृतेनैनं समिन्धे तेनास्मिन् सामिधेनपदे वीर्यमेव दधाति। 'बृहच्छोचा यविष्ठ्येति। बृहदु ह्येष शोचति समिद्धो यविष्ठ्येति। यविष्ठो ह्यग्निस्तस्मादाह यविष्ठ्येति सैषैतममेव लोकमभ्यनूक्तान्तरिक्षलोकमेव तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्ता निरुक्तो ह्येष लोक एतमेतमवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः' (श० १।४।१।२६)। यविष्ठो युवतमो नित्यं तरुणः, अजरामरत्वात्। बृहदु ह्येष शोचति दीप्यते समिद्धः अस्या ऋचोऽनुवचनमन्तरिक्षलोकगमनहेतुत्वेन प्रशंसति—.........। सामान्योक्तं विवृणोति—.........। ऋचोऽन्तरिक्षलोकस्य च निरुक्तत्वेन साम्यमाह—तस्मादिति।

दयानन्दस्तु—'तं भौतिकमग्निं त्वा य इति व्यत्ययः। समिद्भिः काष्ठादिभिरङ्गति प्रापयति यः सोऽङ्गिराः। 'अङ्गारेष्वङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः' (नि० ३।१७)। पूर्वोक्तेन घृतेन वर्धयामसि वर्धयामः। बृहत् महत् यथा स्यात्तथा शोच तिष्ठ। शोचति प्रकाशते व्यत्ययः। योऽतिशयेन युवा पदार्थानामभिश्रीकरणे बलवान् स यविष्ठः। यविष्ठ एव यविष्ठ्यः' (पृ० २३०) इत्याह, तदपि यत्किञ्चित्, विप्रतिषिद्धत्वात्। यः काष्ठादिभिर्भौतिकमग्निमङ्गति प्रापयति सोऽङ्गिराः प्रसिद्ध्यति। पूर्वोक्तशतपथश्रुत्या ऋषिविशेषा अङ्गिरसोऽभवन्। तैः समिद्धत्वादग्निरपि तच्छब्दाभिधेयत्वेन प्रसिद्धः। 'अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः' इति निरुक्तेनापि न त्वदभीष्टसिद्धिः। प्रजापतिना किल शुक्रमात्मीयमादायाग्नौ हुतम्। ततोऽर्चिषि ज्वालायां भृगुर्नाम महर्षिः सम्बभूव। व्यपगतेऽर्चिषि योऽङ्गारेषु सम्बभूव सोऽङ्गिरानामाऽभवत्। अङ्गारा अङ्कनाः। ते हि यत्र निधीयन्ते तदङ्कितं भवति, अञ्चनाः पूजावन्तश्च भवन्ति, अप्रधृष्यत्वात्।

अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने ब्रह्माकारवृत्त्यभिव्यक्त्या सर्वप्रपञ्चदाहक ! तं पूर्वोक्तं त्वा त्वां समिद्भिः श्रवण-मनन-निदिध्यासनैः, घृतेन घृतगन्ध्यनुरागेण च वर्धयामसि वर्धयामः। ब्रह्म नास्ति न भातीत्यावरणद्वयापनोदनेन प्रत्यक्चैतन्याभिन्नानन्तानन्दब्रह्मात्मभावप्रादुर्भावनेन च वर्धयामः। हे यविष्ठ्य हे युवतम नित्यं नवनवायमान तथाविधब्रह्माग्ने ! महत्प्रवृद्धं यथा स्यात् तथा शोच दीप्यस्व। यद्यप्यवेद्यत्वे सति साक्षाद-

क्षत्रिय, वैश्य अथवा आत्मा, प्रजा और पशु—ये सब मेरे अधीन हों। देवताओं के यज्ञ के लिये साधनीभूत हे पृथ्वी ! तुम्हारी पृष्ठ पर हुत अन्न का भक्षण करने वाले गार्हपत्यादि अग्नियों की मैं स्थापना करता हूँ। उस कारण मुझे भक्ष्य

परोक्षत्वात् स्वप्रकाशत्वेन निरतिशयितप्रकाशरूप एवासि त्वम्, तथापि श्रवणादिभिस्तत्तदुपाधिनिराकरणजनितातिशयितप्रकाशवान् भव ।

यत्तु—'स्वपत्न्या कृतपरामर्शनेन सन्दीपनिना गुरुदक्षिणारूपेण मृतं स्वपुत्रमानेतुमादिष्टो भगवान् कृष्णः संयमनीं पुरीमगच्छत् । कृताभ्यर्चनं यमं भगवानूचे—दण्डपाणे त्वन्नगरे गुरुपुत्रो वर्तते सपदि प्रत्यावर्तनीयः । तं गुरुदक्षिणात्मना गुरवे निवेद्य गुरोर्निदेशाद् यदुराजधानीं मधुपुरीं गन्तुमना अहमस्मि । शिरो निधाय भगवन्निदेशं गुरुपुत्रं यमः सहर्षं ददौ । भोगायतनं स्थूलं मनुष्यशरीरमन्तरा भूमिमागन्तुमक्षमाय तस्य मृतगुरुपुत्रस्य जीवात्मनः स्थूलशरीरं मानवभोगोचितं प्रयच्छन् यमो ब्रूते—हे अङ्गिरः ! गतिमन् इतो मया सार्धं भूमिं गन्तुमुत्सुक हे मृतगुरुपुत्र जीवात्मन् ! तं समुद्रे निमग्नं त्यक्तस्थूलशरीरं यमालयमागतं त्वां समिद्भिः प्राणैः, 'प्राणा वै समिधः' इति श्रुतेः । प्राणः कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षकः । घृतेन प्रकाशेन तद्धर्मकेण अन्तःकरणेन मनोबुद्धिलक्षणेन ज्ञानेन्द्रियसहितेन सप्तदशतत्त्वात्मकलिङ्गशरीरेण लक्षणया तदधिष्ठानं यद् भोगार्हं स्थूलं शरीरं तेनेति यावत्, वर्धयामसि वर्धयामः । 'घृ क्षरणदीप्त्योः' । भोगाक्षमाय जीवाय भोगायतनस्थूलशरीरप्रदानमेवात्र वर्धनम् । यविष्ठ्य युवतम अतितरुण गुरुतनय जीवात्मन् ! बृहत् यथा स्यात्तथा शोचा अतिशयेन दीप्यस्व, मत्सङ्कल्पनिर्मितनितान्तसुन्दराभिनवकलेवरलाभादिति भावः । शोकवचनोऽपि शुचिरत्र दीप्त्यर्थः' इति, अत्रेदं वक्तव्यम्—यद्यप्ययमर्थो दयानन्दीयव्याख्यानवदेव कल्पनाबहुलो गौणार्थो बलात्कृत एव, तथापि भगवत्कथापर्यवसायित्वात् सोढव्य एव । ईदृशा एतद्विपरीताश्चानेकेऽर्था बलात्कारेण योजयितुं शक्याः, परं निष्प्रमाणा एव ते । किञ्च, भगवता कृष्णेन तस्मै भोगायतनं शरीरं दत्तमिति न मानान्तरसिद्धम्, पुराणादिष्वस्मरणात् । नाप्येतन्मन्त्रसिद्धम्, मन्त्रे तादृशपदाभावात् । अङ्गिरःपदस्याग्निरूपोऽर्थस्तु शतपथश्रुतिसिद्धः । 'इतो मया सार्धं भूमिं गन्तुमुत्सुक हे मृतगुरुपुत्र जीवात्मन्' इत्यङ्गिरःपदस्यार्थस्तु सर्वथा निर्मूल एव । ईदृशेन व्याख्यानस्वातन्त्र्येणैव धर्मकीर्तिः—'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यस्य श्वमांसं भक्षयेदित्यर्थं करोति । समिद्भिः प्राणैः । अत्र समित्पदस्य प्राणो लाक्षणिकोऽर्थः । प्राणेन कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणम्, घृतशब्देन प्रकाशधर्मकमन्तःकरणम्, तेन च ज्ञानेन्द्रियसहितं लिङ्गशरीरं लक्षितम्, तेनापि स्थूलशरीरं बोध्यत इत्यस्मिन्नर्थे मन्त्रे किं बीजमिति वक्तव्यम् । अशरीरस्य यविष्ठ्य अतितरुण गुरुतनय जीवात्मन् ! इति सम्बोधनं कथं सम्भवति ?

'स यद्वा इतश्चेतश्च सम्भरति तत्सम्भाराणां सम्भारत्वं यत्र यत्राग्ने न्यक्तं ततस्तः सम्भरति' (श० २।१।१।१) । निवपनोल्लेखनाभ्युक्षणसंस्कृतेषु गार्हपत्याद्यायतनेषु उदकहिरण्योषाखुकरीषशर्करासम्भारा ध्रियन्ते । तदुक्तं कात्यायनेनापि—'स्थानमुल्लिख्याभ्युक्ष्यान्वारब्धे हिरण्यं निधायाखूत्करान्निवपत्यन्तेषु शर्करा' (का० श्रौ० ४।२।१०) । अग्नेः सम्बन्धि निलीनं तेजः, अध्वर्युरुदकहिरण्यादिद्रव्यजातादेकदेशमाहृत्य सम्भरति समूहीकरोति । 'अथोल्लिखति । तद्यदेवास्यै पृथिव्या अभिष्ठितं वाभिष्ठ्यूतं वा तदेवास्य एतदुद्धन्त्यथ यज्ञियायामेव पृथिव्यामाधत्ते तस्मादुल्लिखति' (श० २।१।१।२) । अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धि यत् अभिष्ठितं उपर्यवस्थानेन पादस्पर्शादिजनितं अभिष्ठ्यूतं निष्ठीवनादिजनितं तदेवास्या उल्लेखनेनोद्धन्ति । 'अथाद्भिरभ्युक्षति' (श० २।१।१।३) इत्युल्लिखितानामायतनानामभ्युक्षणं विधत्ते—अथाद्भिरिति । 'अथ हिरण्यं सम्भरति' (श० २।१।१।१), 'अथोषान् सम्भरति' (श० २।१।१।१), 'अथाखुकरीषं सम्भरति' (श० २।१।१।७), 'अथ

और भोज्य अन्न प्राप्त होता रहे । तुम्हारी पीठ पर अग्नि की स्थापना करके द्युलोक जिस प्रकार अनेक नक्षत्रों से विशिष्ट है, उसी प्रकार मैं अनेक पुत्र, पशु आदि से युक्त होऊँ । विस्तृत होने से पृथ्वी जैसे समस्त प्राणियों को आश्रय देती है, वैसे ही मैं सम्पूर्ण प्राणियों को आश्रय देने वाला बन पाऊँ ॥ ५ ॥

शर्कराः सम्भरति' (श० २।१।१।८)। यशःपशुमिथुनेषु विकीर्णमाग्नेयं तेज उदकादिभिराहवनीयादौ सम्भ्रियते। अपां स्त्रीलिङ्गत्वादग्नेश्च पुल्लिङ्गत्वादुभयं मिलितमेकं मिथुनं भवति। तच्च पुत्रपौत्रादि-प्रजननहेतुरित्येनमग्निं समर्धयति। अग्नेश्चाद्भिर्मिथुनीभावेन हिरण्यस्योत्पत्तिरुक्ता यस्मादग्निवीर्यं हिरण्यात्मना परिणतं तस्माद्धिरण्यमग्निसंकाशं भवति। यस्माच्चाप्सु निषिक्तं तस्माद्धिरण्यमप्सु विन्दन्ति। तस्मादेनेन दन्तान् न धावयेत्। अन्यदपि हीनं कर्म न कुर्यात्। 'अथ यशो देवरेतसꣳ हि तद्यशसैवैनꣳ समर्धयति' (श० १।१।१।५)। यस्माद्धिरण्यं देवरेतसं देवस्याग्नेर्वीर्यं तस्माद्यशोरूपम्। तस्माद्धिरण्यसम्भरणेन यशसैवैनमग्निं समृद्धं करोति। ऊषाणां पशुरूपत्वं तत्रैव षष्ठ्यां कण्डिकायामुक्तम्—पृथिव्यै द्युलोकेन पशवो दत्ताः। ऊषयुक्त-मूषरं स्थानं पशव्यं पशुभ्यो हितं भवति। पशवो हि तादृशं स्थानमासाद्य लिहन्ति। अतः पशुहितत्वात् पश्वात्मका एवैते ऊषा अत ऊषसम्भरणेन पशुभ्योऽग्निसम्भरणं भवति। आखुभिः खननेन बिलाद् बहिर्नीताः पांसवः करीषम्। तदेतत्प्रशंसति—······। यस्मादाखवः पृथिवीसंज्ञास्तस्मात् पृथिवीमध्येऽधः सञ्चरन्ति। पृथिव्या अन्तरधस्तात् समीपे चरन्ति। तत्रत्यरसास्वादनेन पीविष्ठा यत्र स्थाने गत्वा रसं विदुः, उपजीव्य बहिरुत्किरन्ति, तस्मादाखूत्करस्य पृथिवीरसत्वात् तेनैनमग्निं समर्धयति। मृन्मिश्रिताः सूक्ष्मपाषाणाः शर्कराः। तासां दार्ढ्य-हेतुत्वेन ताभिरशिथिलायामग्नीन् आदधते।

'दारुभिर्ज्वलन्तमादधाति भूर्भुव इति संभारेषु' (का० श्रौ० ४।९।११), 'भूर्भुवः स्वरिति पूर्ववदिति च' (का० श्रौ० सू० ४।९।१६) इति कात्यायनसूत्रानुसारेण आपो हिरण्यमूषाखूत्करशर्कराश्चेति पञ्चसम्भारान् सम्पाद्य स्फ्येनोल्लिखितायां शुद्धायां भूमौ तान् संभारान् संस्थाप्य तेषु शुष्ककाष्ठैर्ज्वलन्तमग्निं भूर्भुवःस्वरिति महाव्याहृतीरुच्चारयन्नादध्यात्। इदमाहवनीयाधानम्। एवमष्टाक्षरत्वादग्नेर्गायत्रत्वमुक्तम्, श्रुत्या गायत्री-सहितस्याग्नेः प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वात्। एतेष्वाधानमन्त्रेषु भूर्भुवः स्वरिति तिस्रो महाव्याहृतयः। पृथिव्यन्तरिक्ष-द्युलोका ब्रह्मक्षत्रविशो वर्णा अन्नप्रजापशवश्च तासामर्थाः। एतासामुच्चारणपूर्वकमेव प्रजापतिना लोकत्रयस्य सृष्टत्वादेतमग्निं स्थापयन् लोकत्रयं स्मरेत्। ब्रह्मक्षत्रविशः, अन्नप्रजापशवश्च सर्वे स्वात्मवशगा भूयासुरिति प्रार्थयमानोऽग्नीनादध्यादित्यर्थः। इध्मपूर्वार्धं गृहीत्वा यजमानो जपति—'इध्मपूर्वार्धं गृहीत्वा द्यौरिव भूम्ने-त्याहेति' (का० श्रौ० ४।९।१७) इति कात्यायनेन सूचितत्वात्। देवा इज्यन्ते यस्यां सा देवजयनी पृथिवी, तत्सम्बुद्धौ हे देवयजनि! देवपूजनादिशुभकर्मणामाधारभूते धरित्रि! तस्या देवयजनयोग्यायास्तव पृष्ठे तवोपरि अन्नादमन्नस्य हुतस्य हविषोऽत्तारं भक्षयितारमग्निं गार्हपत्यादिरूपमग्निमादधे स्थापयामि। किमर्थम्–अन्नाद्याय। अत्तुं योग्यमद्यम्, अन्नं च तदद्यं च अन्नाद्यम्, तस्मै अत्तुं योग्यस्यान्नस्य प्राप्त्यर्थम्, आहिताग्न्यादित्वात् परनिपातः।

यद्वा—अद्यं भक्षणम्, अन्नस्याद्यं भक्षणमन्नाद्यं तस्मै अन्नाद्याय अन्नभक्षणाय तस्याः पृथिव्याः पृष्ठे अग्निमाधायाहं यजमानः, द्यौरिव भूम्ना यथा द्यौर्नक्षत्रबहुत्वेन बह्वी तथा पुत्रपश्वादिभिर्बहु भूयासम्। बहोर्भावो भूमा तेन भूम्ना वरिम्णा पृथिवीव भूयासम्। उरोर्भावो वरिमा यथा पृथिवी उरुत्वेन विस्तीर्णत्वेन सर्वप्राणिना-माधारभूता, एवमहं महत्त्वेन सर्वप्राणिनामाश्रयभूतो भूयासम्। यद्वा अग्नेर्विशेषणत्वेन भूम्ना द्यौरिवेत्यादिकं व्याख्येयम्। कीदृशमग्निम्? भूम्ना द्यामिव वर्तमानम्। यथा द्यौर्नक्षत्रादिबहुत्वेन युक्ता तथाग्निरपि गार्हपत्या-हवनीयदक्षिणाग्निसभ्यावासथ्यादिबहुत्वेन ज्वालाबहुत्वेन वा युक्तः। वरिम्णा पृथिवीमिव स्थितम्, यथा पृथिवी

अध्यात्मपक्ष में—इस मन्त्र में तीनों व्याहृतियों के द्वारा परमात्मा को ही बताया गया है। सभी भोग्य

सर्वप्राण्याश्रयत्वेन श्रेष्ठत्वोपेता, तथा सर्वशोधकत्वरूपेण श्रेष्ठत्वेनोपेतोऽग्निः, अग्नेः पावकाभिधानत्वात्। मन्त्रान्तरे चाग्निः शुचिव्रतमित्याम्नातम्।

उप त्वेति चतुर्थमन्त्रस्याध्यात्मपक्षीयोऽर्थः—हे ब्रह्माग्ने! हविष्मतीः हविष्मत्यः त्वदीयप्रीतिहेतुस्तुतिरूपहविर्युक्ताः, घृताचीः घृताच्यः त्वदीयस्नेहोत्पादिकाः समिधस्त्वत्स्वरूपद्योतिका गिरः, त्वां प्रत्युपगच्छन्तु। हे अर्यत हे कान्तिमन् स्वप्रकाशसगुणरूपेण कोटिसूर्यसमप्रभ सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वेन हे सर्वकमनीय! मे मदीया इमाः समिधः मधुमती स्तुतीः प्रीत्या सेवस्व अङ्गीकुरु। मदीयाः स्निग्धा ज्ञानभक्तिरूपा वृत्तयस्त्वामुपयन्तु। त्वं च तासां रसास्वादनं कुरु।

अत्र दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! यो हर्यत प्रापकः कमनीयोऽग्निर्मम समिधो जुषस्व जुषते सेवते यथा त्वा तमेताः समिध उपयन्तु प्राप्नुवन्तु। तथास्मिन् यूयं हविष्मतीर्घृताचीः समिधः प्रतिदिनं संचिनुत' (पृ० २३२) इत्याह, तदपि यत्किञ्चित्, 'अग्ने' इति प्रत्यक्षसम्बोधनमपहाय हे मनुष्या इति सम्बोधनाङ्गीकारेण व्याख्याने सर्वथा स्वातन्त्र्यबोधनात्। जुषत इति व्यत्ययाश्रयणमपि निर्मूलमेव। तमेताः समिधो यन्तु तयास्मिन् यूयं हविष्मतीर्घृताचीः प्रतिदिनं संचिनुतेति च निर्मूलमेव, संचिनुतेति क्रियापदस्य मूलेऽभावात्।

एतेन 'हे आत्माग्ने हविष्मतीः मनोवृत्तियुक्ताः घृताचीः घृताच्यो ज्ञानेन्द्रियसत्त्वयुक्ताः प्राणास्त्वामुपयन्तु प्रत्युपगच्छन्तु' इत्ययमप्यर्थः स्वारस्यहीनो ज्ञातव्यः, स्वीकृतायामपि क्लिष्टकल्पनायां वैरस्यात्, जीवात्मनामविद्यादशायां कर्मवशात् प्राणादिसम्बन्धस्य स्वाभाविकत्वेनानभ्यर्थनीयत्वात्। 'हः चन्द्रः, तया योक्तृयोग्ययोरुपयोगेन तद् अमृतस्वरूपम्' इत्यादिकं त्वशुद्धमेव, भोक्तृभोग्ययोरग्नीषोमयोर्योगेन जन्यं तु नामृतं सम्भवति, आगमापायित्वात्।

'भगवता समानीतं प्रदीप्तकायं स्वचरणयोः प्रणिपातं कुर्वाणं दर्शं दर्शं सञ्जातप्रसादः सन्दीपनिर्भगवन्तमाशास्ते हे अग्ने जगद्भक्षकस्य कृतान्तस्यापि विजेतः! अद्यावधि केनापि कश्चिद्यमालयान्न प्रत्यावर्तितः। त्वं च स्वतेजसा तं पराजित्य ममात्मजं समानीतवानिति तवातितेजस्वित्वे को विप्रतिपद्येत' इत्यादि वस्तुदृष्ट्या सत्यमपि नास्य मन्त्रस्य व्याख्यारूढं भवितुमर्हति, अपदार्थत्वात्। हर्यत उत्तरोत्तरां प्रगतिमासादन्नित्यपि न सम्भवति, भगवति तस्य निरतिशयैश्वर्यवत्त्वेनोत्तरोत्तरप्रगत्ययोगात्। 'हर्य गतिकान्त्योः' इति धात्वर्थासङ्गतेश्च। हविष्मतीः हविष्मत्यः प्रशस्तहविर्दानादिवैदिककृत्योपदेशयुक्ताः, दर्शपूर्णमासाग्निचयनादिकर्मप्रधाना विद्या न केवलं किन्तु घृताचीः घृताच्यः, घृतं प्रकाश आत्मदर्शनं तद ·········· आत्मविद्या मम मदीयाः समिधः समीचीनाः, त्वा त्वाम् उपयन्तु उपगच्छन्तु' इत्यप्यविचारितरमणीयम्, आत्मदर्शनात्मविद्ययोर्भेदाभावेन स्वेनैव स्वात्मत्वायोगात्, समिध इत्यस्य नैरर्थक्याच्च। किञ्च, दर्शपूर्णमासादिकप्रधाना विद्याः कथं हविष्मत्यः सम्भवन्ति? अन्यत्तु अल्पज्ञजनव्यामोहनाय वागाडम्बरमात्रम्। सर्वत्रैवेदृशेष्वर्थेषु मुख्यार्थत्यागगौणार्थकल्पनया वेदार्थविभ्रंश एव।

भूर्भुवःस्वरिति (३।५) मन्त्रः। तत्राध्यात्मपक्षीयोऽर्थो यथा—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति रीत्या सर्वे वेदाः साक्षात् परम्परया च परमात्मपर्यवसायिनो भवन्तीति परमात्मैवात्र तिसृभिर्व्याहृतिभिर्बोध्यते।

वस्तुओं को उस परमात्मा के लिये ही अर्पण करना है। इस प्रकार भक्ति का उद्रेक होने पर प्रेम स्पर्शवशात् परमात्मा भक्त के अधीन हो जाते हैं और भक्त स्वाधीन हो जाता है।

भवति सर्वं जगदस्मादिति भूः जगदुत्पादकः। भूत्वा वसति सर्वं जगत् यस्मिन् स भुवः सर्वस्थितिहेतुः। स्वरति लयं गच्छति यस्मिन् स स्वः। जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणभूत हे परमात्मन्! त्वं भूम्ना नक्षत्रादिबाहुल्येन द्यौरिव वा भूम्ना अचिन्त्यानन्तकल्याणगुणबाहुल्येन युक्तोऽसि। पृथिवीव वरिम्णा महत्त्वेन सर्वप्राणिनामाश्रयभूतोऽसि। देवा इन्द्रादयः, देवो विष्णुश्चेज्यन्ते यस्यां सा देवयजनी तत्सम्बुद्धौ हे देवयजनि, हे पृथिवि, हे धरित्रि! तस्या विष्णुपादभूतायाः, 'पद्भ्यां भूमिः' इति मन्त्रवर्णात्। 'पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः' इति श्रीमद्भागवतवचनाच्च। तव पृष्ठे अन्नादम् अन्नं भोग्यं सर्वरसरूपत्वाद् ब्रह्म, तदत्ति भुङ्क्ते इत्यन्नादो ब्रह्मविद्वरिष्ठस्तमग्निं ब्रह्मज्ञानेन सर्वकर्मतत्फलादिप्रपञ्चदाहकम्, अन्नाद्याय अन्येषामपि ब्रह्मसुखसम्भोगाय आदधे जगति तत्परम्परां स्थापयामीत्यर्थः। सर्वेश्वरो भगवानेव परमः स्वतन्त्रः, जीवास्तु तदधीनाः। एवं भगवतः स्वातन्त्र्यं पुंस्त्वम्, पारतन्त्र्यमेव जीवानां स्त्रीत्वम्। प्रथमं साधकाः सर्वभोक्तारं सर्वाधिष्ठानरूपं सर्वशेषिणं भगवन्तं प्रति स्वं भोग्यत्वेनान्नरूपेणोपस्थाप्य समर्पयन्ति। तदीयकायच्छायत्वेन तदधीनस्थितिगतिप्रवृत्तित्वेन तच्छेषत्वेन तदधीनतां स्वस्य भावयन्ति। निष्ठापरिपाके सति सर्वगुणालया भवन्ति, 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः। हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः.........' (भा० पु० ५।१८।१२) इत्युक्तेः। ततो भक्त्युद्रेके सति प्रेमस्पर्शवशाद् भगवान् भक्तपराधीनो भवति, भक्तश्च स्वाधीनो भवति। 'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥' (भा० पु० ९।४।६८), 'वशे कुर्वन्ति मां नित्यं सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा' (भा० पु० ९।४।६६)। शृङ्गारे वैपरीत्यमिव भगवान् भोग्यो भवति। भक्तश्च भोक्ता भवति। अत एव जीवः पूर्वं भोग्यत्वेनान्नं भवति, पश्चादन्नादो भवति। परमरसमयस्य भगवद्रूपस्यान्नस्य भोक्तृत्वाद् ब्रह्मविद्वरिष्ठोऽन्नादो भवति, 'आत्मरतिः, आत्मक्रीडः, आत्ममिथुनः' इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अत्र दयानन्दः—'अहमन्नाद्याय भूम्ना विभुना द्यौरिव वरिम्णा श्रेष्ठगुणसमूहेन पृथिवीव तेऽस्याः प्रत्यक्षायास्तस्या अप्रत्यक्षाया अन्तरिक्षलोकस्थाया देवयजनि देवयजन्याः पृथिवि पृथिव्याः पृष्ठे पृष्ठोपरि भूर्भुवःस्वर्लोकान्तर्गतमन्नादमग्निमादधे स्थापयामि' (पृ० २३४) इति, तदपि यत्किञ्चित्, निराधारत्वात्। यतो भूम्ना विभुना इति व्याख्यानं प्रमाणसापेक्षम्, तथैते इत्यस्य अस्याः प्रत्यक्षायास्तस्या अप्रत्यक्षाया इत्यर्थोऽपि निर्मूलः। तादृशव्यत्यासाङ्गीकारे नास्तिकवादस्यापि मन्त्राक्षरैः साधयितुं शक्यत्वात्। सम्बोधनरूपस्य देवयजनिशब्दस्य षष्ठ्यन्तेन विपरिणामोऽपि निर्मूल एव। हिन्दीव्याख्याने तु—'अहं भक्षणयोग्याय अन्नाय ऐश्वर्येण आकाशे सूर्यमिव उत्तमगुणैर्विस्तृतभूमितुल्यं ते अस्याः प्रत्यक्षायाः ते तस्या आकाशयुक्तलोकस्थाया अप्रत्यक्षाया वा देवयजन्या भूमेः पृष्ठोपरि भूम्यन्तरिक्षसूर्यलोकेषु अन्नादं यवान्नादिभक्षकमग्निं स्थापयामि' इति, तत्रेदं पृष्टो व्याचष्टाम्—भूर्भुवःस्वरिति पदैस्तत्रत्योऽग्निः कथं बोध्यते? अन्तरिक्षलोकस्था पृथिवी भवति, तत्र चाग्निस्थापनं कथं केन क्रियते? यदि भूरादिष्वग्नेः स्थापनमिष्टं तदा प्रत्यक्षाया अप्रत्यक्षायाश्च भूमेः पृष्ठ इत्याद्युक्तिर्व्यर्थैव स्यात्। किञ्च, को वाऽनेनार्थः सिद्ध्यति? कश्चाभिप्रायः? इति तु सामाजिका एव जानन्तु। एवं व्यत्ययबाहुल्याङ्गीकारेऽपि न किञ्चित् सिद्ध्यति। हे मनुष्याः! यूयमीश्वरेण रचितत्रैलोक्योपकारकं स्वव्याप्त्या सूर्यप्रकाशसदृशं श्रेष्ठैर्गुणैः पृथिवीसमानं स्वस्वलोके सन्निहितमिममग्निं कार्यसिद्ध्यर्थं प्रयत्नेनोपयोजयतेति भावार्थोऽपि तथाविध एव।

स्वामी दयानन्द ने निराधार ही व्याख्या की है। व्यत्यास का आश्रय कर नास्तिकवाद को भी सूचित किया

शतपथे तु 'भूरिति वै प्रजापतिरिमामजनयत, भुव इत्यन्तरिक्षम्, स्वरिति दिवमेतावद्वा इदꣳ सर्वं यावदिमे लोकाः सर्वेणैवाधीयते' (श० २।१।४।११)। अत्र व्याहृतीनां सत्यरूपत्वोपपत्तिपूर्वकं प्रशंसनम्। सृष्टिसमये प्रजापतिर्भूरिति व्याहृत्य इमां भूमिमजनयत्। भुव इत्यनयाऽन्तरिक्षम्। स्वरिति दिवम्। 'भूरिति ब्रह्म। भुव इति क्षत्रम्। स्वरिति विशम्' (श० २।१।४।१२), 'भूरित्यात्मानम्। भुव इति प्रजाः। स्वरिति पशून्' (श० २।१।४।१३)। एवं साधारण्येन व्याहृतीनामाधानसाधनत्वमुक्त्वा गार्हपत्याधाने—'स वै भूर्भुव इत्येतावतैव गार्हपत्यमादधाति' इत्युक्त्वा तिसृभिर्व्याहृतिभिर्गार्हपत्याधाने आहवनीयाधानस्य मन्त्रो न स्यादतः सुवरिति द्वे अक्षरे परिशेषयेत्। तेन परिशिष्टाक्षरद्वयसहितानि भूरादीन्ययातयामानि भवन्ति। तैः पञ्चभिराहवनीयमादधाति। 'भूर्भुवःस्वरिति तान्यष्टाक्षराणि सम्पद्यन्ते। अष्टाक्षरा वै गायत्री। गायत्रमग्नेश्छन्दः। स्वेनैवैनमेतच्छन्दसाधत्ते' (श० २।१।४।१४)। भूर्भुव इति त्र्यक्षरैर्गार्हपत्यस्य भूर्भुवःसुवरिति पञ्चाक्षरैराहवनीयस्याधानादग्नेरष्टाक्षरत्वं सम्पद्यत इत्यर्थः। 'त्रिभिरक्षरैर्गार्हपत्यमादधाति, पञ्चभिराहवनीयम्। अष्टौ सम्पद्यन्ते' इति वित्तिरिश्रुतेः।

तत्राग्निमन्थनसमये पूर्ववाटः प्रथमवयस्कस्याश्वस्य पुरस्ताद्धारणं तदभावेऽनडुहो धारणमुक्तं (१६–१७) कण्डिकयोः। आहवनीयदेशं प्रत्यग्नेर्हरणसमयेऽश्वस्यापि पुरस्तान्निधानं विहितम्। 'तं यत्र प्राञ्चꣳ हरन्ति तत्पुरस्तादश्वं नयन्ति' (श० २।१।४।१८)। ततोऽग्नेर्यज्ञरूपत्वेन प्रत्यगावर्तनं प्रतिपाद्य प्राणात्मकत्वेन प्रत्यङ्ङभिमुख्येनोपवर्तनमुक्तम्। वाय्वात्मकमग्निं प्राणरूपतया स्तुत्वा आहवनीयायतने सम्भारान्निधाय दक्षिणपूर्वपादेनाश्वं प्राञ्चं नीत्वा तं पुनरावर्तयति आवृत्य स्थापयति, अनन्तरं तमश्वम् उदञ्चम् उदङ्मुखं प्रमुञ्चति। तदुक्तं कात्यायनेन—'सम्भारानधिष्ठाय दक्षिणपूर्वपादेन प्राञ्चं नीत्वाऽऽवर्त्य स्थापयति' (का० श्रौ० ४।९।१०)। पुनरावर्तनस्य प्रयोजनमाह—'नेदस्मादिदं पराग्वीर्यमसदिति तस्मात् पुनरावर्तयति' (श० २।१।४।२३)। अश्वलक्षणं यद्वीर्यं नेत् नैव अस्मात्पराग्भूतं भवेदित्यभिप्रायेण तस्याश्वस्य पुनरावर्तनं कार्यम्। 'तमश्वस्य पद आधत्ते। वीर्यं वा अश्वो वीर्य एवैनमेतदाधत्ते। तस्मादश्वस्य पद आधत्ते' (श० २।१।४।२४)। तत्र प्रथममश्वस्य पदमग्निना तूष्णीमुपस्पृशति। तमग्निमुद्यम्य पुनरप्युपस्पृशति। एवं द्विरुपस्पृश्य तृतीयेनोपस्पर्शनेन व्याहृतिभिस्तमग्निं तस्मिन् पदे स्थापयति। तत्र पक्षान्तरमपि (२६–२७) कण्डिकयोरुपन्यस्तम्। कात्यायनेनापि 'अग्निना पदं द्विरुपस्पृश्य तृतीयेनादधाति द्वितीयेन प्रथमेन वा भूर्भुवः स्वरिति' (का० श्रौ० ४।९।११)।

'अथ पुरस्तात् परीत्य पूर्वार्धमुलमुकानामभिपद्य जपति द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णेति यथासौ द्यौर्बह्वी नक्षत्रैरेवं बहुर्भूयासमित्येवैतदाह। यदाह द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णेति। यथेयं पृथिव्युर्व्येवमुरुर्भूयासमित्येवैतदाह तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठ इत्यस्यै ह्येनं पृष्ठ आधत्तेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादध इत्यन्नादोऽग्निरन्नादो भूयासमित्येवैतदाह सैषाशीरेव स यदि कामयेत जपेदेतद्य उ कामयेतापि नाद्रियेत' (श० २।१।४।२८)। आहितस्याग्नेः पूर्वभागस्थमुलमुकमन्वारभ्य द्यौरिवेति मन्त्रस्य जपं विधत्ते—अथ पुरस्तादिति। मन्त्रतात्पर्यमाह—बहुभिर्नक्षत्रैर्यथासौ द्यौर्बह्वी बहुत्वोपेता, एवमहमपि पुत्रपौत्रादिबहुत्वेन बहुर्भूयासमिति द्यौरिव भूम्नेति भागस्यार्थः। पृथिवीत्यादिकमनूद्य तात्पर्यमाह—यथेति। यथेयमुर्वी विस्तीर्णा एवमहमपि वरिम्णा उरुत्वेन सुविस्तीर्णो भूयासमिति। भागान्तरमनूद्य व्याचष्टे—तस्यास्त इति। उरुत्वं प्रत्युपमानभूतायास्तस्यास्ते तव पृष्ठे उपरिभागे अग्निमादधे इति सम्बन्धः। अन्तिमं भागमनूद्य व्याचष्टे—अग्निमन्नादमिति। आहवनीयादि-

है। 'देवयजनि' इस सम्बोधन का षष्ठी विभक्ति में विपरिणाम कर दिया है, जो निर्मूल है। शतपथ के विरुद्ध होने से दयानन्दीय व्याख्यान उचित नहीं है।

रूपेण जाठररूपेण च हविर्लक्षणं तद्विलक्षणं च सर्वमन्नमत्तीत्यन्नादोऽग्निः। एवमन्नादशब्देनाग्नेर्विशेषणादहमप्यन्नादो भूयासमिति तात्पर्यम्। एषा मन्त्रात्मिका आशीः फलप्रार्थनमेव, अतः सत्यां कामनायां मन्त्रजपः। कामनाभावे तु नाद्रियेत जपमपि। इति शतपथीयं व्याख्यानं न मनागपि स्पृशति दयानन्दीयं व्याख्यानम्।

यत्तु—'या त्वं भूम्ना ज्योतिर्बाहुल्येन द्यौरिव स्वर्गतुल्या वरिम्णा उरुत्वेन पृथिवीव तथा भूर्भुवःस्वरिति त्रैलोक्यरूपासि। हे देवयजनि! देवो विष्णुरिज्यते यस्यां सा देवयजनी तत्सम्बुद्धौ। पृथिवि हार्दभूमे! तस्यास्ते पृष्ठे उपरि अन्नादं हुतस्यात्तारमात्माग्निमन्नाद्याय प्राणेन्द्रियरूपस्यान्नस्याद्याय भक्षणाय प्रत्याहारद्वारा त्वयि योजनाय वशीकरणाय वा आदधे ध्यानेन स्थापयामि' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, हार्दभूमेस्तथात्वे मानाभावात्। पुण्डरीकाकारस्य मांसपिण्डस्य तत्स्थाया बुद्धेर्वा बुद्ध्यभिव्यक्तस्य ब्रह्मणो वा हार्दभूमिपदेन ग्रहणं कर्तुं शक्यम्। तत्र नान्त्यः पक्षः संभवति, तस्य तत्रोपास्यत्वेन वर्ण्यमानत्वात्। नाद्यौ, तयोः परिच्छिन्नत्वेन त्रैलोक्यरूपत्वासम्भवात्। तत्र बुद्धौ नान्नादो ध्येयस्तस्य भोक्तुर्जीवत्वेन ध्यातृत्वात्। ध्येयस्तु परमात्मा यो 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति प्रतिपाद्यः।

एवं 'स्वसुते नरकासुरे निहते स्वपौत्रस्य भगदत्तस्यानिष्टमाशङ्कमाना त्रस्तहृदया पृथिवी भगवन्तं कृष्णं स्तौति भूरिति', अत्रार्थे मूलं चिन्त्यम्। 'भूः स न सत्यः। भुवः भातेर्डुवसि पृषोदरादित्वात् साधुः। स्वप्रकाशचिदात्मन् सुष्ठु शोभनकर्मानुष्ठानेनार्यते गम्यत इति स्वः सुखमानन्दः। निरतिशयानन्दात्मन्' इति तु न विरुद्धम्, व्याहृतीनां भगवति पर्यवसानस्याविरुद्धत्वात्। 'वसुधेव वरिम्णा महत्त्वेन युक्तोऽसि। सहिष्णुः बहुपरिवारो विशालहृदयश्च त्वमस्माकमपराधं क्षन्तुमर्हसि' इति कृष्णस्य संबोध्यत्वे न विरुद्धमेतत्, तथापि तच्चिन्त्यमेव, मूलानुद्धरणात्। 'पृथिवि देवयजनि' इति सम्बन्धनं यद्यपि निर्विवादम्, तथापि सम्बोधयिता विप्रतिपन्न एव। तेन मातुरनुहर्त्रा भाव्यम्, तावदास्तां देवानुग्रहः। अयं तु विश्ववन्द्याया देवराजमातुः कुण्डले, अपि च भूयसां भूभुजां कुमारिका अपजहारेत्यादिकम्, तथा तत्सुतेनेत्यादिकमपि वेदाक्षरबाह्यमेव। 'एष भगदत्तस्तव पौत्रस्तवानुरोधादुन्नते राजसिंहासनेऽग्निं तद्वत्तेजस्विनम्, अन्नादम् अन्नं पृथिवी तस्य भोक्तारं भूभुजं राजानम्, अन्नाद्याय चिरं विविधराज्यवैभवोपभोगाय आदधे यथाविधि राज्याभिषेकेणास्य जनपदस्य स्वामिनं शासकं करोमि' इत्ययमर्थो यद्यपि दयानन्दीयव्याख्यानात् साधुतरस्तथापि तद्वदेव वेदाक्षराद् दूरमेव। ते पृष्ठे इत्यनयोः पदयोर्यथाश्रुतं सम्बन्धमपहाय तवानुरोधात् पृष्ठे पृष्ठवदुन्नते राज्यसिंहासन इत्यर्थकल्पनं श्रद्धातिरेकमूलकमेव। सिद्धान्तपक्षे तु श्रुतिसूत्रादिभिः संबोध्यसम्बोधयितृभेदो ज्ञायते। तदनुसारेणार्थभेदोऽपि युक्त एव। प्रकृते तु काल्पनिकमेव सर्वम् ॥ ५ ॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ ६ ॥

सार्पराज्ञ्या आर्षम्। गायत्र्यस्तृच आहवनीयाग्न्युपस्थाने विनियुक्ताः। 'आयं गौरिति चोपतिष्ठते सर्पराज्ञीभिर्दक्षिणाग्निमादधाति' (का० श्रौ० ४।९।१३-१४)। आयं गौरित्यादीनां तिसृणामृचां सर्पराज्ञ्या

किसी ने और भी व्याख्या की, किन्तु वह भी काल्पनिक होने से सिद्धान्त में ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥ ३-५ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञसिद्धि के लिये भिन्न-भिन्न यजमानों के घर जाने वाले और लोहित, शुक्ल प्रभृति वर्णों की ज्वालाओं से युक्त अग्नि ने आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के स्थानों पर आरोहण किया। पूर्व दिशा में आहवनीय-

कद्र्वा दृष्टत्वात् सार्पराज्ञीति नामधेयम् । पृथिव्यभिमानिनी वा कद्रूः सर्पराज्ञी, ताभिर्दक्षिणाग्निमादधातीति सूत्रार्थः । परापररूपेणाग्निरत्र स्तूयते । अयं दृश्यमानोऽग्निः, गौः गच्छतीति गौः । यज्ञनिष्पत्तये तत्तद्यजमान-गृहेषु गन्ता । पृश्निश्चित्रवर्णः । लोहितशुक्लकृष्णादिबहुविधज्वालत्वात् स तथाविधोऽग्निः, आसमन्ताद् आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्निस्थानेषु । अक्रमीत् पादविक्षेपं कृतवान् । तदेव स्पष्टयति—पुरः प्राच्यां दिशि मातरं पृथिवीम्, आसदद् आसीदत् प्राच्यामाहवनीयरूपेण प्राप्तः । तथा स्वः प्रयन् आदित्यरूपेण स्वर्गे सञ्चरन् पितरं द्युलोकमसदत् प्राप्तवान् । 'स्वः सूर्यः' (निघ० १।४।१) द्यौः पिता पृथिवी माता इत्यत्रापि द्यावापृथिव्योः मातापितृत्वोक्तिः ।

दयानन्दस्त्वनेन मन्त्रेण पृथिव्या भ्रमणं साधयति । तथा च तदक्षराणि—'मनुष्यैर्यस्मात् जलाग्निनिमित्तो-त्पन्नोऽयं भूगोलोऽन्तरिक्षे स्वकक्ष्यायामाकर्षणेन रक्षकस्य सूर्यस्याभितः प्रतिक्षणं भ्रमति, तस्मादहोरात्रशुक्ल-कृष्णपक्षर्त्वयनादयः कालविभागाः क्रमशः सम्भवन्तीति वेद्यम्' (पृ० २३७-२३९) इति, तच्चासङ्गतमेव, मन्त्रस्यास्याहवनीयाग्न्युपस्थाने विनियुक्तत्वेन तद्विरोधात् ।

सूर्यसिद्धान्तादिरीत्या पृथिवी तु स्थिरैव । 'मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति । बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम् ॥' (सू० सि० १२।३२) अत्र भूमेः स्थितिरेवोक्ता न तु गतिः । यत्तु केनचित् 'भ्राम्यन्नवस्थितो भूगोलः' इत्युक्तम्, तत्तु स्वकपोलकल्पितमेव, तिष्ठतेर्गतिनिवृत्त्यर्थत्वात् । यत्तु—'सव्यं भ्रमति देवानामपसव्यं सुरद्विषाम् । उपरिष्टाद् भगोलोऽयं…' (सू० सि० १२।५५) इति पद्येन भूगोलस्य भ्रमणसाधनप्रयत्नस्तत्तुच्छम्, भगोलशब्दस्य भूगोलार्थकत्वे मानाभावात्, भगोलशब्देन (नक्षत्रगोलस्य) खगोलस्यैव विवक्षितत्वात् । भास्कराचार्योऽपि भुवनकोशनिरूपणे—'मरुच्चलो भूरचला स्वभावतः' इत्याह । भूमेः पिण्डः………नान्याधारः………स्वशक्त्यैव वियति नियतं तिष्ठति । 'अचला' 'स्थिरा' इत्यमरकोषेऽपि (२।१।१) । निघण्टुग्रन्थे पृथिव्या गौरिति नाम पठितम् । तथापि तत्र यास्केन न गच्छतीति निर्वचनं कृतम्, किन्तु दूरं गता इत्यर्थः कृतः । गच्छतीति व्युत्पत्त्या गौरिति सूर्य इत्युक्तम् (नि० २।१४) । पृथिव्यर्थके गोशब्दे गम्यतेऽथवा गम्यतेऽनयेति व्युत्पत्तिरुक्ता । वेदेऽपि—'अस्थात् पृथिवी' (अथर्ववेदसंहिता ६।४४।१०), 'ध्रुवा पृथिवी' (अ० वे० ६।८८।१), 'तस्थतुः' (द्यावापृथिव्यौ), (ऋ० सं० ४।५६।२), 'द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः' (ऋ० सं० १०।८।२) इत्यादिमन्त्रेषु पृथिव्याः स्थिरत्वैवोक्ता । यच्च ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां व्याख्या कृता सा त्वशुद्धैव । यतो हि—आयं गौः पृश्निरक्रमीदिति मन्त्रस्य न पृथिवीदेवतेति कुतः पृथिवीपरत्वमस्य मन्त्रस्य ? अजमेरीयतद्यन्त्रालयमुद्रितायां यजुःसंहितायामग्निर्देवतोक्ता । तदीयायामृग्वेद-संहितायां सूर्यदेवतोक्ता । 'यस्य मन्त्रस्य या देवता तेन सैव स्तूयते' (नि० ७।१) इति नैरुक्तप्रक्रियया नास्मिन् मन्त्रे पृथिवीवर्णनं सङ्गच्छते । किञ्च, पृथिवीवाचको गोशब्दः स्त्रीलिङ्गः । तेनात्र 'अयं गौः' इति पुल्लिङ्गनिर्देशो न सम्भवति । भूगोलपरत्वेऽपि गोशब्दः पृथिवीवाचकः स्त्रीलिङ्ग एव भवति । प्रकृतमन्त्रे गोशब्दस्य विशेषणं पृश्निशब्दस्तस्मात् सूर्य एवार्थः । निरुक्ताच्च गोशब्दस्य सूर्य एवार्थः । तथाहि—'गौरादित्यो भवति, गच्छत्यन्तरिक्षे' (नि० २।१४) । एवमेव पृश्निशब्दोऽपि सूर्यपर एव न पृथिव्यर्थकः, 'पृश्निरादित्यो भवति, प्राश्नुवते एनं वर्णाः' (नि० २।४) इति निरुक्तात् ।

रूप से पृथिवी पर बैठा, तथैव आदित्य रूप से स्वर्ग में संचार करने वाला यह पितृभूत द्युलोक के प्रति भी प्राप्त हुआ । 'आयं गौः' इत्यादि तीन मन्त्रों से आहवनीय का उपस्थान करे, तदन्तर दक्षिणाग्नि का आधान करे ॥ ६ ॥

यत्तु दयानन्देन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां गौरितिशब्दस्य विशेषणभूतमपि पृश्निशब्दं प्रथमान्तं सन्तमपि द्वितीयान्तत्वेन विपरिणमय्य पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमणं कुर्वन्नित्युक्तम्, तत्तु तस्य स्वाच्छन्द्यमेव, प्रमाणशून्यत्वात्। पुनश्च स्वः सूर्यं पितरं पुरः पूर्वं सूर्यस्य परितो यातीति तेनैव प्रक्षिप्तमित्युक्तम्। तत्र पूर्वमित्यस्य परितः कथमर्थः? तेन तदीयो वेदार्थः श्रुतिबलात्कार एवेति मन्तव्यम्। वस्तुतस्तु पाश्चात्यमतमेव तेन वेदार्थत्वेन प्रख्यापितमिति वैदिकम्मन्याः सामाजिका विचारयन्तु। मन्त्रेऽस्मिन् गौरितिपदस्य पृथिव्यर्थकत्वे मातरं पितरं स्वरिति त्रीण्यपि पदान्यसम्बद्धानि स्युः। तस्मान्मातरं पृथिवीं पितरं द्युलोकमित्यर्थ एव सङ्गतः, 'द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता' (अ० वे० १।२८।४), 'भूमिर्माता······ द्यौर्नः पिता···' (अ० वे० ६।१२०।२), 'द्यौष्पितः पृथिवि मातः' (अ० वे० ६।५१।५), 'द्यौर्नः पिता माता पृथिवी' (अ० वे० ९।१५।१२) इत्यादिमन्त्रेभ्यः। तथा च गौर्गमनशीलः पृश्निः प्राष्टवर्णो व्याप्ततेजा अयं सूर्यः, अक्रमीत् आक्रान्तवान्। आक्रम्य पुरः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि परिदृश्यमानः, मातरं सर्वभूतजनयित्रीम्, असदद् व्याप्नोत्। ततः पितरं वृष्टिलक्षणस्य रेतसो निषेकेण सर्वस्य प्रपञ्चस्य जनकं स्वः स्वर्गलोकं चकारादन्तरिक्षं च प्रयन् गच्छन् स (सूर्यः) एव वृष्ट्युदकलक्षणस्यामृतस्य दोहनाद् गौः (अथर्ववेदसंहिता ६।३१।१, ऋ० सं० १०।१८९।१) इति सायणसम्मत एवार्थो युक्तः। एतेन सूर्यस्य भ्रमणं सिद्धयति न पृथिव्याः। अन्यार्थकत्वे क्लिष्टकल्पना श्रुतिबलात्कार एव।

यत्तु जिज्ञासुना ब्रह्मदत्तेन दयानन्दभाष्यविवरणे उक्तम्—'आयं गौरित्यत्र गौरित्यस्य दयानन्दीयभाष्ये गौरिति पृथिवीनामसु पठितम्, गौरिति पृथिव्या नामधेयम्, यद्दूरं गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति' (नि० २।५) इत्यादिरीत्या पृथिव्या भ्रमणं प्रतिपादितम्। तत्र मया प्रबलः पूर्वपक्ष उत्थापितः। 'आदित्योऽपि गौरुच्यते' (नि० २।१४), अतः सूर्यः कथं न गौः? सायणाचार्यैरपि गौरित्यस्य सूर्य एवार्थः कृतः। एवं पूर्वं पूर्वपक्षमुत्थापने व्याकुलता वृद्धिंगता। अन्ते 'वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता' (अथर्ववेदसंहिता १२।१।५२) इत्यथर्ववेदमन्त्रेण समाधानं जातम्। तदर्थस्तु 'वर्षेण कालेन भूमिः स्वभूमिचक्रं पूरयति' इति, तदपि श्रद्धाजाड्यविजृम्भितमेव, दयानन्दीयार्थपोषणायैव श्रुतिविरुद्धार्थस्य तेनाङ्गीकृतत्वात्। यास्करीत्या पृथिवीवाचकस्य गोशब्दस्य गत्यर्थता यास्केन क्वापि नोक्ता। वैदिकैरेव वचनैः सूर्यस्य गतिः स्थैर्यं च पृथिव्या उक्तमेव। उद्धृतस्य वर्षेण भूमिरित्यथर्वमन्त्रस्यापि न तदभिमतोऽर्थः, तत्र वर्षशब्दस्य वृष्टिबोधकत्वात्। पृथिवी वर्षेण वृष्ट्यावृता युक्ता भूमिः, आवृता आच्छन्ना च भवति। वर्षाशब्दः स्त्रीलिङ्गः। बहुवचने वर्षाशब्द ऋतुवाचको भवति। वर्षं वर्षणमत्रास्तीति अर्शआद्यचि टापि वर्षाशब्दो निष्पद्यते। नपुंसकलिङ्गो वर्षशब्दो वृष्टिवाचको भवति, 'वृष्टिर्वर्षम्' (२।२) इत्यमरकोषात्, 'वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीम्' (नि० २।५) इति निरुक्तवचनाच्च, 'मयादीनामुपसंख्यानं नपुंसके क्तादिनिवृत्त्यर्थम्' (पा० सू० ३।३।५६) इति वार्त्तिकात्। मन्त्रस्य पूर्वार्धे यस्यां भूम्यामहोरात्रे संहिते क्रमश आगच्छतः, तस्माद् वर्षपदस्य संवत्सरः काल इत्यर्थस्तु सर्वथा भ्रान्तिमूलक एव। निरुक्तादिषु नायमर्थः कृतः। 'गता' 'आवृता' इत्यनयोर्गच्छति प्रत्यागच्छति चेत्यर्थो निराधार एव। ग्रहनक्षत्रादयः स्वगत्या पश्चिमायाः पूर्वस्यां दिशि यान्ति, तथापि प्रवह परिवहवायुप्रवाहात् पूर्वस्या दिशः प्रतीच्यां यान्तीव प्रतीयन्ते। योगभाष्ये ३।२६, सूर्यसिद्धान्ते १२।७३

भाष्यसार—'आयं गौः' इत्यादि तीन ऋचाओं की संज्ञा 'सार्पराज्ञी' है, क्योंकि सर्पराज्ञी कद्रू के द्वारा वे दृष्ट हैं। शेष अर्थ भावार्थ से कृतार्थ है।

यश्चैव महत्याः पृथिव्या आकाशे[1] उत्पतनमङ्गीकरोति, स पुराणोक्तं पर्वतोत्पतनं कथं न मन्यत इत्यपि वक्तव्यम् ?

यत्तूक्तम्—'सूर्योऽयं पृथिव्यास्त्रयोदशलक्षगुणादप्यधिको वर्तते, स कथं पृथिवीभ्रमणं कर्तुं पारयेत् ? न चातिबृहतः कस्यचित्पदार्थस्यातिलघोः परिक्रमणं युक्तम्' (पृ० २३७ टि०) इति, तत्तु मूढजनजल्पितम्। दृश्यते हि हस्त्यारोहो हस्तिना लघुभूतस्य तुलसीवृक्षस्य परिक्रमणं कुर्वन्। यदुक्तम्—'प्रजा ह तिस्रोऽत्याय-मीयुर्नान्या अर्कमभितो विविश्रे। बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश॥' (ऋ० सं० ८।१०१।१४) इति भुवनेष्वन्तः सूर्यस्य स्थितिः पृथिव्यादीनां परितो भ्रमणं च सिद्ध्यति' (पृ० २३८ टि०) इति, तत्तुच्छम्, मन्त्रार्थानवबोधात्। अस्य मन्त्रस्य सायणसम्मतोऽर्थो यथा—यास्तिस्रः प्रजाः अत्यायमीयुः अत्यायमायन्, अन्यास्ता इमाः प्रजा अर्कम् अर्चनीयमग्निम् अभितो विविश्रे अभितो निविष्टास्ततो न पराबभूवुः। भुवनेष्वन्तः मध्ये बृहत् महानसावादित्यः, प्रजापतिरित्येके। तस्थौ प्रकाशयन्नतिष्ठत्। हरितो दिशः पवमानो वायुः आविवेश आविष्टः। ऐतरेयब्राह्मणे व्याख्यातोऽयं मन्त्रः—'प्रजा ह तिस्रोऽत्यायमीयुरिति या वै ता इमाः प्रजास्तिस्रो अत्यायायं-स्तानीमानि वयांसि वङ्गा वगधाश्चेरपादाः न्यन्या अर्कमभितो विविश्र इति ता इमाः प्रजा अर्कमभितो निविष्टा इममेवाग्निम्। बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तरित्यद उ एव बृहद्भुवनेष्वन्तरसावादित्यः पवमानो हरित आविवेशेति वायुरेव पवमानो दिशो हरित आविष्टः' (ऐ० आ० २।१)। वाजसनेयिनोऽप्यामनन्ति—'स तपोऽतप्यत' इत्युपक्रम्य 'प्रजा ह तिस्रोऽत्यायमीयुरिति या अमूः प्रजा अत्यायन् न्यन्या अर्कमभितो विविश्र इत्यग्निर्वा अर्कः। तमिमाः प्रजा अभितो निविष्टास्ता इमाः पराभूताः। बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तरिति प्रजापति-मेवैतदभ्यनूक्तम्। पवमानो हरित आविवेशेति दिशो वै हरितस्तद्यदयं पवमान आविष्टः' (श० २।५।१।१-५)। तथा चानेन मन्त्रेण पृथिव्यादीनां गतिः सिद्ध्यतीत्यशुद्धमेव। सूर्यस्य तु गतिमतोऽपि भुवनेष्वेवावस्थानं सूर्यभ्रमणवादिभिरप्युपेयत एव। यथा गच्छन्त्यपि पिपीलिका चक्रेऽवतिष्ठते, तद्वत्।

यदपि—'या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः। सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते॥' (ऋ० सं० १०।६५।६) इत्यनेन मन्त्रेण पृथिवी स्वकीयमार्गे भ्रमन्ती सूर्यस्य परितो गच्छति' (पृ० २३८ टि०) इति, तदपि तुच्छम्, मन्त्रार्थानवबोधात्। मन्त्रार्थस्तु—या इयं मदीया पयः क्षीरादिकं दुहाना व्रतनीः आश्रयणपयःप्रदानेन कर्मणो नेत्री गौः निष्कृतं संस्कृतं वर्तनिम् आवासस्थानं यज्ञम् अवारतः अवरणेनैव अप्रार्थनेनैव पर्येति परिगच्छति स्वयमेवागच्छति प्रब्रुवाणा मया प्रस्तूयमाना सा गौः दाशुषे हविर्दत्तवते वरुणाय देवेभ्योऽन्येभ्य इन्द्रादिभ्यश्च हविषान्नेन विवस्वते देवान् परिचरते मह्यं मां परोक्षितुं दाशत् पयः प्रयच्छतु। यद्वा गौरिति माध्यमिका वाक्।

यत्तु—'अहस्ता यदपदी वर्धतक्षाः शचीभिर्वेद्यानां शुष्णं परि प्रदक्षिणित्। विश्वायवे निशिश्नथा॥' (ऋ० सं० १०।२२।४)। अहं सूर्यतः अहस्ता हस्तरहिता अपदी पादरहिता शुष्णं सामर्थ्यशोषयितारं आदित्यं परि सर्वतः प्रदक्षिणित् प्रदक्षिणां करोति' (पृ० २३८ टि०) इति, तदपि निःसारम्, मन्त्रस्यान्यार्थत्वात्।

अध्यात्मपक्ष में—वह परब्रह्मरूप भगवान् श्रीकृष्ण, राम आदि के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए और सूर्य के रूप में द्युलोक को भी प्राप्त हुए। कृष्ण-पीत-रक्त त्रिविध रूपों को धारण करने वाले विष्णु अथवा कृष्ण ही हैं। वे सर्वत्र संचरण करते हैं।

---

१. अत्र भूमिकोक्तो भूभ्रमणशास्त्रार्थो द्रष्टव्यः।

ऐन्द्रसूक्तत्वादिन्द्र एवात्र सम्बोध्यः। हे इन्द्र यत् यदा सा भूमिः अहस्ता पाणिरहिता अपदी चरणवर्जिता अमनुष्यकर्मकेत्यर्थः, वेद्यानां स्तोत्रयोग्यानां त्वत्प्रभृतीनां देवानां सम्बन्धिभिः शचीभिः कर्मभिः वर्धत अवर्धत धनधान्यादिभिः समृद्धेत्यर्थः, तदा त्वं परि प्रदक्षिणित् एवंभूतां पृथिवीं परिवेष्ट्य प्रदक्षिणं यथा भवति तथा स्थितं शुष्णम् असुरं विश्वायवे तादर्थ्ये चतुर्थी सर्वत्राप्रतिहतगामिन एतदाख्यस्य औवंशेयराज्ञोऽर्थाय निशिश्नथः नितरां ताडितवानसि। यद्वा यदा शुष्णस्याच्छादनार्थं हस्तपादरहिता काचित् पृथिवी वेदितव्यानामसुराणां मायारूपैः कर्मभिः शुष्णमसुरं परिवेष्ट्य प्रदक्षिणं यथा भवति तथावस्थिताऽवर्धत तदानीं तां मायोत्पादितां विश्वायवे सर्वव्यापकस्य मरुद्गणस्य प्रवेशनार्थं निशिश्नथ इति। तस्मादनेन मन्त्रेण पृथिव्या भ्रमणसाधनं भ्रान्तिमूलकमेव।

यदपि च—'अहं पुरस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत्। अह७ सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्॥' (वा० सं० ८।९)। अहं सूर्यमुभयतः पश्यामि पूर्वं पश्चिमं वा ममैवैतद्दर्शनम्, न तु सूर्यः पूर्वं वा पश्चाद्वा गच्छतीति भावः' (पृ० २३८ टि०) इति, तदपि निःसारम्, मन्त्रार्थानवबोधात्। अत्र मन्त्रद्रष्टा स्वस्य सर्वगतपरमात्मरूपत्वमभिप्रेत्य वदति—अहं परमात्मरूपः स नः परस्तात् उपरि द्युलोकादौ तथाहमवस्तात् अधस्तात् तिष्ठामीति शेषः। यदन्तरिक्षं मध्यवर्तिलोकरूपमस्ति, तदु तदेव मे मम देहधारिणः पिता पितृवत् परिपालक भवति। अहं परमात्मरूपः सन्नुभयत उपरिष्टादधस्ताच्च स्थित्वा सूर्यं ददर्श पश्यामि। देवानामिन्द्रादीनां यत्परमं गुहा अत्यन्तं गोप्ये हृदयेऽस्ति, तदेवाहमस्मि।

'अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्। सकद्रीची कंस्विदर्धं परागात् क्वस्वित्सूते नहि यूथे अन्तः॥' (ऋ० सं० १।१६४।१७)। इयं पृथिवी सूर्यादध ऊर्ध्वं दक्षिणमुत्तरतश्च गच्छति। अस्याः परेऽर्धे सदान्धकारः पूर्वेऽर्धे प्रकाशश्च वर्तते। मध्ये सर्व पदार्था वर्तन्ते। सेयं पृथिवी जननीव सर्वान् पाति' (पृ० २३८ टि०) इति, तदपि कल्पनामात्रम्, मन्त्राक्षराननुगमात्। वस्तुतस्त्वत्राग्नौ हूयमानाहुतिर्गोरूपेण स्तूयते। गौः गोरूपा गमनशीला एषा आहुतिसंघेन पोष्यं वत्सं वत्सस्थानीयमग्निम् अवः अधस्तात् अधोदेशे परेण पदा पदद्वयेन स्वावयवेनाकृष्य बिभ्रती धारयन्ती। तथा परः परस्तात् उपरिदेशे एना अनेन अवरेण च पदा पादद्वयेन आकृष्य तमेव वत्सं बिभ्रती उदस्थात् सूर्यं प्रति तिष्ठति। तथा परः परस्तात् उपरिप्रदेशे एना एनेन 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते' (म० ३।७६), अथैवं कृतवती सा आहुतिः कद्रीची क्व गतेत्यनिश्चितगमना आदित्यं प्राप्तवतीत्यर्थः। कंस्वित् कं फलभाजं पुरुषं प्रति अर्धम् अर्धभागमागत्य यद्वा अर्धमृद्धं परागात् परागागच्छति, आगत्य च क्वस्वित् सूते कुत्र प्रदेशे फलमुत्पादयति? नह्यितरगोवदियं यूथे अन्तःसजातीयगोमध्ये सूते साधारण्येन यत्र क्वचिन्न सूते, अपि तु कस्मिंश्चिदनुष्ठातरि। अतः स महान् को नु खल्विति। यद्वा आदित्यरश्मिसमूह एव गोरूपेण स्तूयते। गौरुक्तलक्षणा गौः, वत्सं वत्सवद्रक्षणीयं यजमानम्, उक्तक्रमेण बिभ्रती उदस्थात्। अथ तथा कृत्वा कद्रीची अदृश्यगमना सती कंस्वित् अर्धं समृद्धमर्धस्थानभाजं वा कंस्वित्पुरुषम् आदित्यपुरुषम् आदित्यं परागात्। अप्रतिनिवृत्ता गता तं नयन्त्येताः सूर्यरश्मयो 'यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः' (मु० उ० १।२।५)। तथा कृत्वा क्वचित्सूते कस्मिन्निन्द्रादिलोके जनयति न सर्वत्र। शिष्टं समानम्।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या में पृथिवी का भ्रमण सिद्ध किया है। किन्तु यह प्रकरण विरुद्ध है, क्योंकि इस मन्त्र का विनियोग आहवनीयाग्नि के उपस्थान में किया गया है। सूर्यसिद्धान्त की रीति से पृथिवी को

यत्तु—'अवर्तयत् सूर्यो न चक्रम्' (ऋ० सं० २।११।२०) यथा सूर्यश्चक्रं वर्तयति सामर्थ्यात् पृथिव्या न चक्रं करोति, अपि तु भूचक्रं निर्वर्तयतीति स्पष्टम्' (पृ० २३८ टि०) इति, तदपि कुशकाशावलम्बनम्, प्रकरणविरुद्धत्वात् । तथाहि समस्तमन्त्रः—'अस्य सुवानस्य मन्दिनस्त्रितस्य न्यर्बुदं वावृधानो अस्तः। अवर्तयत् सूर्यो न चक्रं भिनद् बलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान् ॥' (ऋ० सं० २।११।२०)। मन्दिनः अस्य मदकरमिमं सुवानस्य सुतवतः त्रितस्य तीर्णतमस्कस्य महर्षेरर्थं वावृधानः सोमेन वर्धमान इन्द्रः अर्वुदं अम्बूनि ददातीत्यर्बुदो मेघः। अनुस्वारस्य रेफश्छान्दसः। यद्वा नामैतत् अर्बुदाख्यमसुरं नि अस्तः नितरामवधीत्। स्तॄ हिंसायाम्। लिङि तिपि बहुलं छन्दसि विकरणस्य लुक्। गुणे कृते हल्ङ्यादिना तिलोपः, 'महान्तं चिदर्बुदं निक्रमीः पदा' (ऋ० सं० १।५१।६) इत्यादिष्वर्बुदवधश्रवणात्। अङ्गिरस्वान् अङ्गिरोभिः सहित इन्द्रः अवर्तयत् असुरहननार्थं वज्रमभ्रामयत्। सूर्यो न यथा सूर्यः चक्रं भ्रामयति तद्वत्। नात्र सूर्यकर्तृकं पृथिवीभ्रामणमुक्तम्। यद्वा यस्मादसुराद्भिया सूर्यः स्वकीयं चक्रं नावर्तयद् इति निषेधार्थको नकारः। वर्तयितुं नाशकत् तं बलं. पणीनां प्रभुमसुरं भिनद् वज्रेण अभिनत्।

यदपि च—'स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तमित्वाऽथात्मान विपर्यस्यते। रात्रीवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरवतन्तभित्वाथात्मानं विपर्यस्यते अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात्। स वा एष न कदाचिन्निम्लोचति' (ऐ० ब्रा० अध्याय १४, खण्ड ६) इति ब्राह्मणेन यत्सूर्यो गच्छन्निव प्रतिभाति, वस्तुतस्तु न सूर्य उदेति न च कदाचिदस्तं याति, भ्रमवशादेव जनाः सूर्यो गच्छतीति मन्यन्ते' (पृ० २३८-२३९ टि०) इति, तदत्यज्ञानविजृम्भितम्, 'स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेवाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता' (छा० उ० ३।६।४) इति, छान्दोग्योपनिषदि, 'स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणां तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता' (छा० उ० ३।७।४), 'यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत् पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेतादित्यानां तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता' (छा० उ० ३।८।४), 'स यावदादित्यः' पश्चादुदेता पुरस्वादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरतः उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यं करोति (छा० उ० ३।९।४), 'स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्व उदेता अवाङ् अस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यं करोति' (छा० ३।१०।४) इत्यादिविरोधात्। नहि भ्रान्तिमूलकस्योदयादेर्वर्णनं सम्भवति, अपौरुषेयश्रुतौ त्वत्कल्पनायोगात्, त्वद्रीत्याप्यार्षत्वाभ्युपगमाच्च ।

'अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेता एकल एव मध्ये स्थाता' (छा० ३।११।१), 'तदेष श्लोको भवति—न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन। देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणा' (छा० ३।११।२), 'न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' (छा० ३।११।३)। अत्र शङ्करभगवत्पादाः—'उदयश्च नाम सवितुस्तन्निवासिनां प्राणिनां चक्षुर्गोचरतापत्तिः। तदत्ययश्चास्तगमनम्। न परमार्थे उदयास्तमये स्तः'।

'स्थिर' ही माना गया है। अत एव उसको 'अचला' नाम दिया गया है। अतः महीधर-उव्वट-सायणादि भाष्यकारों का अर्थ ही उचित है। एवं च 'सूर्य' का ही भ्रमण सिद्ध होता है, पृथिवी का नहीं। वेद भगवान् स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं—हिरण्मयेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्' इति ॥ ६ ॥

तन्निवासिनां च प्राणिनामभावे तान् प्रति तेनैव मार्गेण गच्छन्नपि नैवोदेता नास्तमेता चक्षुर्गोचरतापत्तेस्तदत्ययस्य चाभावात् । तथा चामरावत्याः सकाशाद् द्विगुणं कालं संयमिनीं पुरीं वसत्यतस्तन्निवासिनां प्राणिनां दक्षिण इवोदेतोत्तरतोऽस्तमेतेत्युच्यतेऽस्मद्बुद्धिमपेक्ष्य । तथोत्तरास्वपि पुरीषु योजना । सर्वेषां मेरुरुत्तरतो भवति । यदाऽमरावत्यां मध्याह्नगतः सविता तदा संयमिन्यामुद्यन् दृश्यते, तथोत्तरस्यां प्रदक्षिणावृत्तेस्तुल्यत्वात् । तत्रैवानन्दगिरिः—'यैर्यत्र दृश्यते भास्वान् स तेषामुदयः स्मृतः । तिरोभावं च यत्रैति तदेवास्तमनं रवेः ॥ नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः । उदयास्तमने नाम दर्शनादर्शने रवेः ॥' अमरावत्यादिपुरीषु पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरत्रोद्वासकालद्वैगुण्यमस्तु, स्तां च दर्शनादर्शने सवितुरुदयास्तमयौ । 'स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति' इति श्रुतेर्वस्तुतो नोदयास्तमयौ स्तः । तथा च पुरीषु तुल्यत्वेन गच्छतः सवितुरुदयास्त-कालवैषम्यमप्युक्तमित्याशङ्क्याह—तन्निवासिनामिति । भोगकालद्वैगुण्यं न सवितृगतेराधिक्यापेक्षया श्रुत्योच्यते, येन पुराणविरोधः स्यात्, किन्त्वमरावत्यादीनां पुरीणां दैत्योपहतानां पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरपुरीणां द्विगुणेन कालेनोद्वासात्तदपेक्षयोत्तरोत्तरस्थानेषु भोगकाले द्वैगुण्यं श्रुत्योक्तम् । न चैतावता सूर्यस्योदयास्तमननिषेधेन तद्गमनागमननिषेधो भवति । ब्रह्मलोके तु भ्रमणेऽपि सदैव स्थित्या सदैवोदय एवेत्यादिकं तत्रैव कणेहत्यालोचनीयम् । गोपथब्राह्मणादीनामपि तदेव समाधानम् । आर्यसिद्धान्तपक्षीयखण्डनं तु पूर्वमेव कृतम् ।

कस्योपस्थानमिति प्रश्ने प्रकरणादग्निरेव ज्ञायते, अग्न्याधानस्यैव प्रकृतत्वात् । 'आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती । व्यख्यन् महिषो दिवम् ॥ त्रिंशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते । प्रतिवस्तो रह द्युभिरिति तद्यदेवास्यात्र सम्भारैर्वा नक्षत्रैर्वर्तुभिर्वाधानेन वानाप्तं भवति तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति तस्मात्सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठते' (श० २।१।४।२९) । सर्पणशीलानां प्राणिनां राज्ञी तत्सम्बन्धिनीभिर्ऋग्भिरग्निमुपतिष्ठत इति हरिस्वामी । अस्मिन्नाधाने सम्भारादिभिर्विकल्प-निमित्ते यदनाप्तम्, एतेनोपस्थानेन तत्सर्वमाप्यते, सर्पराज्ञ्याः सर्वाधिष्ठानभूतत्वात्, 'इयं वै सर्पराज्ञी । देवा वै सर्पास्तेषामियं राज्ञी' (ऐ० ब्रा० ५।४।४) इति श्रुतेः । एतेनासामृचां पृथिव्यधिष्ठात्री देवता, द्रष्ट्री देवता त्वग्निरेव । नहि पृथिव्या उपस्थानम्, तस्या अप्रकृतत्वात् । न च पृथिव्या उपस्थानेऽग्न्याधानसम्भारादिविकल्पेनानाप्तं वस्तु प्राप्तुं शक्यते । तस्माद् दयानन्दरीत्यापि तत्पक्षः खण्डितो भवति । तत्रैव—'तदाहुः । न सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठेतेतीयं वै सर्पराज्ञी स यदेवास्यामाधत्ते तत्सर्वान् कामानाप्नोति । तस्मान्न सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठेतेति' (श० २।१।४।३०) । तेषां पृथिव्यामाधानादेव सम्भारादीनां सर्वेषामवाप्तत्वात् तदवाप्तये सर्पराज्ञीभिरुपस्थानं न कार्यमिति । एतेनाप्यग्नीनामेवोपस्थानं विहितं पूर्वोक्तया कण्डिकया, उत्तरया तु पृथिव्यामेवाग्नीनामाधानात् सर्वप्राप्त्या तदनपेक्षोक्ता ।

यत्तु—'अयं पुरस्ताद्वर्तमानो गौर्वृषभः कपटबलीवर्दो वृषभासुरः पृश्निर्विचित्रवर्णो नीलवृषः, अक्रमीत् कृष्णमाक्रान्तवान् पुरः पूर्वं मातरं कृष्णजन्मभूमिं व्रजमसदत्, आ इत्यनुषङ्गः । किं कुर्वन् निशितशृङ्गो भीषणाकृति-र्व्रजवासिजनानात्रासयन् खुरैर्भुवमाघ्नन् खुरशृङ्गोत्खातरजःपुञ्जप्रक्षेपेण स्वः पितरं स्वर्गलोकं प्रयन् व्याप्नुवन् भगवता असौ दुर्वृत्तः शृङ्गं गृहीत्वा भुवि पातितो गतासुर्बभूव' इति, तद्भगवत्कथास्मारकत्वात् प्रशस्तं व्याख्यानम्, परं मन्त्राक्षरैर्नैतत्सङ्गतम्, क्रमणाक्रमणयोर्भेदात् । मातरं कृष्णजन्मभूमिं व्रजमिति न मनोरमम्, यतो हि मातृभूमिस्तु मथुराभूमिः । ततस्तु स आगत आसीत् । यदि कुतश्चिदन्यत आगतः स्यात् तदा तु मथुरामण्ड-लान्तर्गतत्वाद् व्रजभूमिरपि मातृभूमिः स्यात् । पांसुप्रक्षेपेण न तस्य द्युलोकगमनं सिद्ध्यति । तद्वधस्तु सर्वथा मन्त्राक्षराद् बहिर्भूत एव । मन्त्रेण वृषभासुरस्वरूपमहत्त्ववर्णनं तद्वधस्यावर्णनं न्यूनतैव स्यात् ।

अथाध्यात्मिकोऽर्थः—अयं गौरग्न्यवच्छिन्नचेतनोपलक्षितः सर्वगतो वा पृश्निः शुक्लश्यामलोहितः शिव-विष्णुब्रह्मरूपधारकः, विष्णुरेव वा कृष्ण-रक्त-पीतत्रिविधरूपधारकः, 'शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः' (भा० पु० १०।८।१३) इति श्रीमद्भागवतोक्तेः। अक्रमीत् सर्वत्राक्रमणं कृतवान्। पुरः प्राच्यां मातरं पृथिवीमसदद् रामकृष्णादिरूपेण असीदत्। स्वः सूर्यं च हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टरूपेण पितरं द्युलोकं प्रयन् सञ्चरन् प्राप्तवान् ॥ ६ ॥

अ॒न्तश्च॑रति रोच॒नास्य प्रा॒णाद॑पान॒ती। व्य॑ख्यन् महि॒षो दिव॑म् ॥ ७ ॥

पूर्वमन्त्रेणाग्निमादित्यरूपेण स्तुत्वाऽनेन मन्त्रेण वायुरूपेण स्तौति यजमानः। अस्य प्रकृतस्याग्ने रोचना दीप्तिः, 'रुच दीप्तौ' काचिच्छक्तिर्वायुरूपा अन्तर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये शरीरमध्ये च चरति, 'अन्तरिक्षेऽयं तिर्यग्वायुः पवते' इति श्रुतेः। किं कुर्वती, प्राणादपानती सर्वशरीरेषु प्राणव्यापारादनन्तरमपानव्यापारं कुर्वती, अर्थादपानादनन्तरं प्राणितीत्यर्थोऽपि लभ्येत। महिषो दिवं व्यख्यत्। द्युलोकं भोगस्थानमनुष्ठातृभ्यो विशेषेण प्रकाशितवत् प्रकाशयति च। महि माहात्म्यं यागकर्तृत्वस्वरूपं सनोति ददातीति महिषः, 'अग्निर्वै महिषः, स इदं जातो महान्' इति श्रुतेः। विपूर्वस्य 'ख्या प्रकथने' इत्यस्य रूपं व्यख्यदिति। अस्मात् 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति सर्वकालेषु लुङि 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा० सू० ३।१।५२) इति च्लेरङि आलोपेऽडागमे यणि च व्यख्यदिति। अपान इवाचरतीत्यपानती क्विबन्तान्ङीपि अपानतीति। यद्वा प्राणादपानती प्राणव्यापारादूर्ध्वमपानव्यापारं कुर्वती, प्राणापानयोर्वायुविशेषयोः प्रेरिकेत्यर्थः। सति हि जाठराग्नौ जीवनहेतोरौष्ण्यस्य शरीरे सद्भावात् प्राणापानौ प्रवर्तेते। शरीरौष्ण्यस्य पुरुषजीवनत्वमन्यत्र श्रुतम्—'उष्ण एव जीविष्यन् शान्तो मरिष्यन्' इति। एवं प्राणिमात्रं जीवयन्नयमग्निः स्वोपासकस्य महदुपकरोति। महिषः महि महत्त्वोपेतं कर्मफलं सनोति ददातीति महिषो दिवं द्युलोकं पुण्यफलभोगार्थं व्यख्यत्।

अथाध्यात्मिकोऽर्थः—अस्य प्रत्यगभिन्नत्वेन प्रत्यक्षस्य त्वंपदार्थाभिन्नस्य तत्पदार्थस्य अन्तः शरीरस्य ब्रह्माण्डानां वा मध्ये बहिश्चरन्ती, रोचना रोचन्ते दीप्यन्ते सर्वे पदार्थाः सर्वाणि बाह्यान्यादित्यादीनि ज्योतींष्यान्तराणि जीवाहङ्कारादीनि च ज्योतींषि यया सा चिदानन्दरूपा, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' इति श्रुतेः। प्राणापानयोर्व्यापारयित्री, 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेता उपाश्रितौ ॥' इति श्रुतेः। यद्वा प्राणिनां कर्मानुसारेण प्राणनानन्तरमपाननमपाननानन्तरं प्राणनं जनयन्ती। उपलक्षणमेतत्। धर्माधर्मादिषु प्रवर्तयित्री तदनुसारेण चोच्चावचानि फलानि प्रापयित्री। स महिषो यागादिफलदाता परमेश्वरः, संराधितः सन्निति शेषः, दिवं द्युलोकं स्वर्गादिकं द्योतनात्मकं मोदमयं मोक्षं च व्यख्यत् प्रदर्शयति अनुभावयति। अन्तर्भावितणिजर्थस्य रूपम्। यद्वा अस्य परमात्मनः शक्ती रोचना शरीरदीप्तिहेतुः प्राणशक्तिः, तस्यां सत्यामेव देहे मुखादौ दीप्तिदर्शनात्, अन्तः शरीरे चरति। सा च प्राणात् प्राणनाद् अपानती अपानव्यापारेण

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण शरीर में प्राण व अपान वायुओं को प्रेरणा देनेवाली इस अग्नि की 'वायु' संज्ञक एक अनिर्वचनीय शक्ति द्युलोक और पृथिवी लोक में शरीर के भीतर संचार कर रही है। यजमानों को यागकर्तृत्व का स्वरूप प्रदान करनेवाले अग्नि ने उनको द्युलोकरूप उपभोगस्थान प्रकाशित कर दिया, अर्थात् प्रदर्शित कर दिया ॥ ७ ॥

वायुमन्तरा कर्षन्ती दिवं द्योतनात्मकं परमात्मानं व्यख्यद् विशेषेण प्रकाशितवती। महिषः महि महत्त्वोपेतं फलं सनोति ददातीति महिषः परमात्मा, 'सुपां सुलुक्' इति षष्ठ्याः सुः, महिषस्य दिवं द्योतनात्मकं मोदकं वा स्वप्रकाशमपरोक्षं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नस्वरूपं व्यख्यत् प्रकाशितवती।

दयानन्दस्तु—'अस्याग्नेः प्राणादपानती सती रोचना दीप्तिर्विद्युत् शरीरब्रह्माण्डयोरन्तर्मध्ये चरति। स महिषोऽग्निर्दिवं व्यख्यत् विख्यापयति' (पृ० २४४) इति, तदपि न सङ्गच्छते, तद्रीत्या पूर्वमन्त्रेऽग्नेरनुक्तत्वात्। शतपथे तु तिसृभिरप्यृग्भिरग्निरेवोपस्थातव्यत्वेनोक्तः। रोचनापदेन विद्युतो ग्रहणे प्रमाणानुपलब्धेः, तस्याश्च प्राणापानव्यापारहेतुत्वासम्प्रतिपत्तेश्च वायुरेव सा शक्तिरिति मन्तव्यम्।

कश्चित्तु—'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि', अयं दर्शनेऽपि। विपूर्वकश्चष्टिः प्रकाशनार्थः। लोडर्थे लुङि प्रथमपुरुषैकवचने 'चक्षिङः ख्याञ्' (पा० सू० २।४।५४) इति ख्याञादेशे रूपम्। महीधरस्त्वप्रसन्नतर्कः' इति, तत्तु दयानन्दानुकरणमात्रम्, प्रथमाध्याये अभिविख्येषमिति व्याख्यानप्रसङ्गे तेनैव तथोक्तत्वात्। विपूर्वस्य चक्षिङोऽपि ख्याञादेशसापेक्षस्यैव तादृशरूपसिद्धिः। तदपेक्षया लाघवाद् विपूर्वस्य ख्यातेरेव रूपसिद्धिर्युक्ता। यत्तु—'अदादिकस्य तस्य धातोः सार्वधातुकमात्रविषयत्वाद् आर्धधातुके तदप्रयोगात्' इति, तदपि तुच्छम्।

यदपि च—'वृन्दावनतो रथेन रामकृष्णौ मधुपुरीं नयन् अक्रूरो रथे उपवेश्य तौ तयोर्निर्देशाद् यमुनायां स्नातुं जगाम। तत्र बलरामसहितकृष्णस्य दिव्यं विग्रहमपश्यत्, विस्मयं च लेभे। मध्येजलं भगवतो दुर्निरीक्ष्याऽभूतपूर्वा युगपदुत्थितसूर्यसहस्रभासोपमिता कान्तिः पार्थेनानुभूता, विजृम्भमाणस्य भगवतो मुखे यशोदया च दृष्टा रोचना दीप्तिरस्य भगवतो अन्तः कालिन्दीवारिमध्ये चरति प्रसरति। तां विशिनष्टि—प्राणादपानती। उपलक्षणमेतत्, अपानात् प्राणती। प्राणः प्रकृष्टजीवनः समुन्नमनमूर्ध्वगतिः, अपानोऽपकृष्टजीवनोऽधोगतिः। तथा च समुन्नतेरनन्तरमवनमयन्ती उत्कृष्टान् राज्ञः क्षणादिव निकृष्टान् भिक्षुकान् विदधाना क्षणमात्रेणावनतेरनन्तरं समुन्नमनमयन्ती भिक्षुकान् लोकोत्तरवैभवसम्पन्नान् कुर्वाणा अन्तर्ब्रह्माण्डमध्ये वर्तते सा रोचना। लोकानामुत्कर्षापकर्षौ यदधीनौ सा भगवद्दीप्तिरक्रूरेण दृष्टेति भावः। कदा? यदा महिषः (निघण्टु ३।३।८) श्रीकृष्णः 'मह पूजायाम्' इत्यस्मात् 'अविमह्योष्टिषच्' इत्यौणादिकः टिषच् प्रत्ययः। महतेः क्विपि सप्तम्येकवचने महीत्युपपदे सदेः अन्येष्वपि दृश्यते' (पा० सू० ३।२।१०१) 'तत्पुरुषे कृति' (पा० सू० ६।३।१४) इति सप्तम्या अलुकि महति स्थाने सीदतीति महिष इति देवराजः। व्यख्यद् अन्तर्भावितण्यर्थस्य चक्षेर्लुङि रूपम्, दर्शयामास। दिवं दिव्यमद्भुतं स्वकीयं विश्वरूपम्। अपि वा, भगवत्पितृव्यो महिषो महान् अक्रूरो दिव्यं भगवतो रूपं व्यख्यद् विस्पष्टं दृष्टवान्।

यद्यपि शतपथश्रुतिसूत्रसम्मतत्वात् प्रकृतत्वाच्चाग्निरेवात्र सर्वनाम्ना परामृश्यते, तदीया च वायुरूपैव रोचनाशक्तिः, अक्रूरकथायाः कृष्णस्य चाप्रकृतत्वात् तत्परामर्शो दुर्लभः, अक्रूरेण दृष्टेत्यध्याहारश्च प्रमाणसापेक्षः, महिषपदस्याक्रूरोऽर्थो न महत्त्वाभिप्रायेण तत्र वर्तते, तादृशानामन्येषामप्यर्थानां सम्भवेन विनिगमनाविरहात्, तथापि मुख्यार्थाविरुद्धत्वात् तत्परत्वेन योजनं नासङ्गतम्। सर्वनाम्नां प्रसिद्धपरामर्शित्वात् कृष्णस्य लोके वेदे च प्रसिद्धत्वाद् अस्येति पदेन तत्परामर्शोऽपि युक्त एव।

भाष्यसार—पूर्व मन्त्र में अग्नि की आदित्य के रूप में स्तुति की थी, अब इस मन्त्र के द्वारा उसकी वायु के रूप में स्तुति की जा रही है।

कश्चित्तु—'उद्दीपनसाधनैः काष्ठैर्यथाग्निस्तर्प्यते, तथैव सम्यक्तेजस्वित्वापादकैः साधनैः परमेश्वरोपासना कार्या। यथा घृतादिपदार्थैरग्निः प्रबोध्यते, तथैवोद्दीपकैः साधनैरनुष्ठानैश्चातिथिवत्पूज्यः परमेशः प्रबोधनीयः। अग्नौ हविरिव परमेश्वरे कर्मफलान्याहुतिरूपेण समर्प्यन्ताम्' इत्याह, स्पष्टमत्र कल्पनाबहुलोऽर्थो मूलाक्षरस्पर्शशून्य एव, अभिधया लक्षणया वा तादृशार्थासम्भवात्। मन्त्रस्य स्पष्टोऽयमेवार्थः—समिधाग्निं दुवस्यत सपर्यत घृतैस्तं बोधयत अस्मिन्नासमन्तात् हव्या हवींषि जुहुत। वैदिकपारम्पर्येण ब्राह्मणसूत्रादिभिश्च विनियोगानुसारेणाधानमन्त्रा इमे। अतोऽग्निरेवात्र समिद्वतीभिर्घृतवतीभिर्ऋग्भिरर्चनीयः। अग्नेरर्चनेनाग्न्यवच्छिन्नचैतन्यरूपः परमात्मैव पूज्यते, स्वातन्त्र्येणाग्निपूजनानुसारेण परमात्मपूजनस्यानिर्देशात्।

कश्चिदाह—'सम्यक्प्रदीप्ताग्निवत् प्रतिवस्तु व्यापिने परमेश्वरायातितीव्रमाज्यं जलमुपायनानि च सम्यक् प्रदेयानि' इति, अत्रापि न दृष्टान्तरूपेणाग्निवर्णनम्, दार्ष्टान्तिकस्यानिर्देशात्। किञ्च, घृतं तीव्रं कथं भवतीति तु नोक्तम्। सिद्धान्ते तु ग्रहणोद्वासनाधिश्रयणावेक्षणादिभिः संस्कारैरेव तत्रातिशयः सम्भवति।

तं त्वा समिद्भिरङ्गिर इति तृतीयं मन्त्रं कश्चिदेवं विवृणोति—हे अङ्गेषु रसवद्व्यापक अग्ने! परमेश्वरमुत्तमप्रकाशसाधनैः समिद्भिर्योगैः घृतादितेजोभिः तपसा च वर्धयामः। हे पदार्थानां संयोगवियोगयोरनुपमशक्तिमन्! त्वं महान् भूत्वा प्रकाशवान् भव' इति, अयमर्थोऽप्यक्षराननुगत एव। यविष्ठ्यशब्दस्य पदार्थानां संयोगवियोगयोरनुपमशक्तिमत्त्वमर्थः कया रीत्या गृह्यत इति तु नोक्तम्। मिश्रणामिश्रणार्थस्य यौतेर्निष्पन्नत्वेऽप्यतिशयेन मिश्रणामिश्रणकर्तृत्वशक्तिमानेवार्थः, तेन कश्चिदन्योऽपि ग्रहीतुं शक्यते। परमेश्वरस्याग्नेश्च सृष्टिकर्तृत्वेन सृष्टिनिर्माणकौशलम्।

चतुर्थकण्डिकाविवरणम्—'हे कान्तिमयाग्ने हे परमेश्वर! त्वत्सविधे घृतयुताः समिध उपतिष्ठन्ताम्। त्वं वा मदीयाः समिधो जुषस्व सेवस्व' इति। यदि मन्त्रस्यास्य यागे विनियोगो नाभिप्रेयते, तदा तादृशी प्रार्थनाप्यपार्थैव। अग्नेः समिद्भोक्तृत्वस्य सम्भवेऽपि परमेश्वरस्य कथं तदित्यपि चिन्त्यम्।

पञ्चमकण्डिकाविवरणम्—'भूर्भुवःस्वरादिलोकानां हितायाहं तथैवाधिकप्रजाधनैर्युक्तः स्यां यथा नक्षत्रैर्युक्ता द्यौर्विशालत्वात् पृथिवी सर्वस्याश्रयभूता तथैवाहं सर्वस्याश्रयभूतः स्याम्। विदुषां यज्ञाश्रयभूते हे पृथिवि! तस्यास्तव पृष्ठेऽन्नोपभोक्ताग्निरिव प्रजापती राजा स्थाप्यतेऽस्माभिः।' को वा राजा कथं च तत्स्थापनं केन क्रियते, कश्च तत्सम्बन्ध इति विभावनीयम्।

षष्ठकण्डिकाविवरणम्—गमनशीलो रसान् ज्योतींषि च स्वस्मिन् धारयन्नादित्यो मातुः पृथिव्या उपरिष्टात् प्राच्यां दिशि विराजते। चतुर्दिक्षु व्यापकः सन् सर्वपालकमाकाशमपि स्ववेगेन गच्छन् व्याप्नोति।

सप्तमकण्डिकाविवरणम्—अस्य महतोऽग्नेरेव वायुरपि दीप्तिः। अन्तः यश्च शरीरस्य ब्रह्माण्डस्य चाभ्यन्तरे प्राणादनन्तरं प्राणरूपो भूत्वाऽपानस्वरूपं धारयति। अयमेवानन्तमहिम्ना युक्तो द्युलोकं विशेषेण प्रतिपादयति' इति, तत्तु महीधराद्युक्तस्यैवार्थस्य किञ्चिद् व्यत्यासेनेहोपन्यासः।

अध्यात्म पक्ष में—अन्तर्बाह्य समस्त पदार्थ चिदानन्दरूप ही हैं।

दयानन्दीय व्याख्या और उसकी सारहीनता को ऊपर दिये गये भाष्य से ही अवगत कर लेना चाहिये ॥ ७ ॥

त्रिꣳशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रतिवस्तोरह द्युभिः ॥ ८ ॥

अष्टमकण्डिकाविवरणम्—'त्रिंशद्धाम त्रिंशत्सु धामसु। त्रिंशच्छब्दाद्धामशब्दाच्च 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति सप्तम्या लुक्। धामशब्देनात्र स्थानं गृह्यते, 'धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानि च' (नि० ९।२८।२९) इति वचनात्। अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्ता धामशब्देनाभिप्रेयन्ते। त्रिंशन्मुहूर्तरूपेषु स्थानेषु या वाग् विराजति विशेषेण स्तुतिभिर्यज्ञे स्तूयमाना शोभते सा वाक् पतङ्गाय अग्नये धीयते उच्चार्यते। तादर्थ्ये चतुर्थी। पतन् गच्छतीति पतङ्गोऽग्निः। स ह्यरण्याः पतन् गार्हपत्यभावं गच्छति, गार्हपत्याच्चाहवनीयताम्। तेन सर्वदेवस्तुतिभिरग्निरेव स्तूयते, तस्यैव सर्वदेवमयत्वात् सर्वात्मत्वात्। न केवलं त्रिंशत्सु मुहूर्तेषु विराजमाना वागेवाग्नये धीयते, किन्तु प्रतिवस्तोः प्रतिदिनं या स्तुतिरूपा, या च द्युभिः यागपारायणाद्युत्सवभूतैरहोभिः स्तुतिलक्षणा वाक् सापि पतङ्गायाग्नय एव धीयते नान्यदेवताभ्यः। वस्तोरित्यस्य दिनमर्थः, 'वस्तोः। द्युः। भानुः' (निघ० १।९।१) इत्यहर्नामसु पठितत्वात्। अह इति निपातस्य विनिग्रहो नियमनमर्थः, सर्वकालं सर्वा स्तुतिरूपा वागग्न्यर्थैवेति यावत्। यद्वा विराजतीत्यस्य क्रियापदस्य कर्तृरूपं त्रिंशद्धामेति प्रथमान्तमेव, न सप्तम्यन्तम्। मासे त्रिंशद्दिनानि भवन्ति। तेन मासगतदिनभेदेन त्रिंशत्संख्याकं धाम स्थानं विराजति विशेषेण राजते शोभते। प्रमादालस्यादिरहितानां यजमानानामनुष्ठानेनाहवनीयाद्यग्नीनां स्थानं मासगतेषु त्रिंशत्संख्याकेषु दिनेषु विशेषेण शोभत इत्यर्थः। पतङ्गः पक्षी यथैकस्मात् स्थानात् स्थानान्तरं गच्छति, तद्वदग्निरप्यरण्या गार्हपत्यस्थानं तत आहवनीयस्थानं गच्छतीति सोऽपि पतङ्गसदृशत्वात् पतङ्ग इत्याख्यायते। तथाविधस्याग्नेः प्रीत्यर्थं धीयते स्तुतिरूपा वागुच्चार्यते।

पुराणेष्वग्नेर्विविधानि धामानि नामानि चोक्तानि। यथोक्तं विधानपारिजाते—

'लौकिके पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्तितः। अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने प्रकीर्तितः॥
पुंसवे चमसो नाम शोभनः शुभकर्मसु।
अत्र शुङ्गकर्मणीति रघुनन्दनः। तच्च सीमन्तान्तर्गतकर्मभेदः।
सीमन्ते ह्यनलो नाम प्रगल्भो जातकर्मणि। पार्थिवो नामकरणे प्राशनेऽन्नस्य वै शुचिः॥
सभ्यनामा तु चूडायां व्रतादेशे समुद्भवः। गोदाने सूर्यनामा स्यात् केशान्ते याजकः स्मृतः॥
वैश्वानरो विसर्गे स्याद् विवाहे बलदः स्मृतः। चतुर्थीकर्मणि शिखी धृतिरग्निस्तथापरे॥
आवसथ्यस्तथाधाने वैश्वदेवे तु पावकः। ब्रह्माग्निर्गार्हपत्ये स्याद् दक्षिणाग्निरथेश्वरः॥
विष्णुराहवनीये स्याद् अग्निहोत्रे त्रयो मताः। लक्षहोमेऽभीष्टदः स्यात् कोटिहोमे महाशनः॥
एके घृतार्चिषं प्राहुरग्निध्यानपरायणाः। रुद्रादौ तु मृडो नाम शान्तिके शुभकृत्तथा॥
आदिशब्दाल्लघुरुद्रशतरुद्रातिरुद्रा लक्ष्यन्ते। पूर्णाहुत्यां मृडो नामेति रघुनन्दनः।

मन्त्रार्थ—आलसरहित यजमानों के अनुष्ठान करने से आहवनीय आदि अग्नियों के स्थान (शालागृह) महीने के तीसों दिन विशेषतया शोभित रहते हैं। जिस प्रकार कोई पक्षी एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाता है, उसी प्रकार अग्नि भी गार्हपत्य से आहवनीय में जाता है। इस रीति से पक्षी के रूप में अग्नि की स्तुति की जाती है और प्रतिदिन प्रकाशित होने से भी उसकी स्तुति की जाती है॥ ८॥

पौष्टिके वरदश्चैव क्रोधाग्निश्चाभिचारके। वश्यार्थे वशकृत् प्रोक्तो वनदाहे तु पोषकः॥
उदरे जठरो नाम क्रव्यादः शवभक्षणे। समुद्रे वाडवो ह्यग्निर्लये संवर्तकस्तथा॥
सप्तविंशतिसंख्याता अग्नयः कर्मसु स्मृताः। तं तमाहूय होतव्यं यो यत्र विहितोऽनलः॥
अन्यथा विफलं कर्म सर्वं तद्राक्षसं भवेत्। आदित्यादिग्रहाणां च साम्प्रतं ह्यग्निरुच्यते॥
आदित्ये कपिलो नाम पिङ्गलः सोम उच्यते। धूमकेतुस्तथा भौमे जठरोऽग्निर्बुधे स्मृतः॥
बृहस्पतौ शिखी नाम शुक्रे भवति हाटकः। शनैश्चरे महातेजा राहौ केतौ हुताशनः॥' इति।

अहेति निपातः पूर्वोक्तनिषेधार्थकः। अर्थादस्या ऋचः पूर्वार्धेऽग्निमाहात्म्यख्यापनाय तद्वाक्यद्वयेनार्थद्वयमुक्तम्। तावदेव न भवति, किन्त्वन्यदपि माहात्म्यमुच्यते—प्रतिवस्तोः प्रतिदिनं द्युभिः क्रीडाविशेषैर्द्योतनैर्वायमग्निः स्तूयत इत्यध्याहारः, दीव्यतेर्धातोर्द्युतिक्रीडाद्यर्थकत्वात्।

अन्यस्तु—'यः प्रकाशक ईश्वररूपोऽग्निस्त्रिंशत्संख्याकान् पदार्थान् व्याप्य प्रकाशयति, तस्यैव परमेश्वरस्य ज्ञानार्थं देववाणी पठ्यते प्रतिदिनं तत्प्रकाशकैर्वाक्यैर्निश्चयेन तन्मननं कर्तव्यम्' इति, किन्तु नैतद्युक्तम्, यतो हि धामपदेन स्थानानि नामानि जन्मानीति (नि० ९।२८-२९) रीत्या धारकाः पदार्था न ग्रहीतुं शक्यन्ते, तद्वचनविरोधात्। कथञ्चित्तेषामपि स्थानरूपत्वापादनेन तत्सम्भवेऽपि तानभिव्याप्य यः प्रकाशयति स परमात्मरूपोऽग्निरित्यस्य गमकः कश्चन शब्दस्तत्र नास्ति। विराजतिक्रियायाः कर्तृत्वेन त्रिंशद्धाम वाग्वा सम्बन्धमर्हति, नाश्रुतोऽग्निरीश्वरो वा, उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभावात्। विराजतिश्चाकर्मको धातुः। तेन तत्क्रियायाः कर्ता स्वयं विशेषेण राजते दीप्यत इत्येवार्थः, न प्रकाशयतीति। मूले वाक् पतङ्गायाग्नये धीयते इत्यत्र पतङ्गपदेनाग्नेरीश्वरस्य वा ग्रहणेऽपि तज्ज्ञानं कस्य शब्दस्यार्थ इत्यपि न व्यक्तम्। एवमेव द्युभिरिति पदेन कथञ्चित् प्रकाशकवाक्यानां ग्रहणसम्भवेऽपि तैर्मननं कर्तव्यमिति कुतो लब्धम्?

दयानन्दोऽत्रैवमाह—'योऽग्निः प्रतिदिनं त्रिंशत्संख्याकानां धर्माणां धारकान् पदार्थान् प्रकाशयति, तस्य पतनपातनादिगुणैः प्रकाशितस्य स्वयं गतिशीलस्यान्येषां प्रेरकस्याग्नेः प्रतिदिनं विद्वद्भिर्वाग्वेदोऽध्येतव्यः। सा वाक् शरीरस्थेन वैद्युतेनाग्निना प्रकाश्यते तदीयगुणप्रकाशनायास्या वाचो वेदलक्षणायाः श्रवणमुपदेशश्च कर्तव्यम्। अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः, प्रजापतिः। एतेषु आदित्यमग्निं च परित्यज्य त्रिंशत्संख्याका अवशिष्यन्ते। एते धर्माणां धारकाः पदार्थाः। पतङ्गः परमेश्वरः, अथवा 'प्राणो वै पतङ्गः' (कौ० ८४), 'पतन्निव हि अङ्गेषु' (जै० ३।३।३५) इति। अयमप्यर्थो मन्त्राक्षराणि न स्पृशति। त्रिंशत्संख्याकाः पदार्थाः के इत्यपेक्षायां बृहदारण्यकोपनिषत्स्थास्त्रयस्त्रिंशत्संख्याका देवा उक्ताः। 'अग्निः पृथिवी वाय्वन्तरिक्षादित्या द्यौश्चन्द्रमाश्चेति अष्टौ वसवः, सर्वमेषु वसतीति वसवः। पुरुषे दशेन्द्रियरूपाः प्राणा एकादश आत्मा इत्येकादशरुद्राः। एते यदा शरीरादुत्क्रामन्ति तदा रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा उच्यन्ते। संवत्सरस्य द्वादश मासा द्वादशादित्याः, ते हि सर्वमाददाना यान्ति तस्मादादित्या उच्यन्ते। अशनिरूपः स्तनयित्नुरिन्द्रः पशुसाधनको यज्ञ एव प्रजापतिः' इति, तदपि न मनोज्ञम्, अस्पष्टार्थत्वात्। तथाहि—त्रिंशत्संख्याका धर्माः के? येषां धारणेनैते धामपदव्यपदेश्या भवन्तीति तु नोक्तम्। किञ्चात्र त्रयस्त्रिंशत्संख्याका देवा उक्ताः। यदि मन्त्रेऽस्मिन्नेते विवक्षिता भवेयुस्तदा त्रिंशद्धामेति स्यात्। कुतश्चादित्यमग्निं च परित्यज्य ततस्त्रिंशत्-

भाष्यसार—यहाँ पर 'धाम' शब्द से 'अहोरात्र' के 'तीस मुहूर्त' अभिप्रेत हैं। अहोरात्र व्यवहृत होने वाली वाणी से अग्नि की स्तुति की गई है।

संख्याकानामेव ग्रहणम् ? किं परमेश्वरस्तौ न व्याप्नोति, न वा प्रकाशयति ? एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिरिति न्यायविरोधात्। तस्मात् पूर्वोक्तव्याख्यानुसारेण दिनव्यापिनस्त्रिंशन्मुहूर्ता मासव्यापिनस्तावन्तो दिवसा एव वा त्रिंशद्धामपदव्यपदेश्याः, उव्वटसायणादिभिस्तथैव व्याख्यातत्वात्। पतङ्गेति व्याख्याघटकाः पतनपातनादयः के गुणाः ? किं प्रमाणकास्ते दोषा वा गुणा वा ? प्रकाशकत्वगतिशीलत्वमन्यप्रेरकत्वमिति पतङ्गशब्दात् कथमायातीत्यपि प्रमाणसापेक्षमेव। पतङ्गशब्दः परमेशपरश्चेत्, तदा स एव चतुर्थ्यन्तपदार्थो न तज्ज्ञानमिति तज्ज्ञानाय वेदा अध्येतव्या इत्यपि नार्थः सम्भवति। तस्मादुव्वटसायणमहीधरादिसम्मत एव वेदार्थो ग्राह्यः। किञ्च, पतङ्गशब्देन सूर्यः कुतो न गृह्यते, तस्मिन् पतङ्गशब्दप्रसिद्धेः। न चाग्नेः प्रक्रान्तत्वात् तथार्थग्रहणम्, त्वद्रीत्याग्निशब्दस्यापि परमात्मपरत्वेन तदसिद्धेः। सिद्धान्ते तु अग्न्याधानमन्त्रा एत इति शतपथश्रुत्या कात्यायनादिसूत्रैर्ज्ञायते। यथा चैतत् तथा सूचितमेव व्याख्याने।

अध्यात्मपक्षे तु—या वाग् अनादिनिधना ब्रह्मरूपा वाक्, 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥' (वा० प० १।१), 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' (वा० प० १।१२३) इत्याप्तवचनेभ्यः। त्रिंशद्धाम त्रिंशत्संख्याकेषु धामसु स्थानेषु विराजते। प्रकृतिस्त्रयो गुणा महान् राजसतामसवैकारिका अहङ्कारा दशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राः पञ्चप्राणाः जीवात्मेश्वरौ—इति प्रकृत्यादिरूपेण विवर्तते। सैव वाग् मन्त्रब्राह्मणरूपा पतङ्गाय पक्षिसदृशाय जीवाय जीवहिताय कर्मोपासनाज्ञानप्रतिपादकत्वेन धीयते। यद्वा पतङ्गाय परमेश्वररूपपक्षिणे धीयते तात्पर्यावसायितया धार्यते। अहेति निपातः पूर्वोक्तनिषेधार्थः पूर्ववदेव। नैतावदेव, किन्तु प्रतिवस्तोः प्रत्यहं कर्मठैरुपासकैश्च द्युभिः कर्मोपासनव्यवहारैर्द्योतनैर्निदिध्यासनादिरूपैर्ज्ञानैश्च मन्त्रब्राह्मणमहातात्पर्यविषयत्वेन लक्ष्यार्थभूता सैव वाग् धीयते प्राप्यते।

यत्तु—'वेदलक्षणा वाक् ब्रह्मणे पतङ्गाय सूर्याय चोपदिष्टा ब्रह्मादित्यभेदेन वैदिकसम्प्रदायद्वैविध्यात्' इति, तन्न, ब्रह्मण इति पदाभावेन न्यूनत्वापत्तेः। अथवा भगवन्तं प्रत्याह साधकः—हे अह परमात्मन्! 'अह व्याप्तौ' इति निष्पत्तेः। वाग्रूपो भवान् त्रिंशद्धाम विराजति। प्रतिवस्तोः प्रत्यहं द्युभिः स्नेहमयैर्ज्ञानैरहं त्वामाश्रये।

यत्तु—'आयं गौरित्यस्य अयं पुरो दृश्यमानः पृश्निः चित्रवर्णः, सप्तरश्मिमयत्वात्। गौर्गमनशीलः सूर्यः पुरः प्राच्यां दिशि प्रातरित्यर्थः। मातरं पृथिवीं पृथिव्या अङ्के इत्यर्थः। असदत् असीदत् सीदतीत्यर्थः। छान्दसो लकारव्यत्ययः। ततश्च पितरं द्युलोकं प्रयन् गच्छन् स्वः स्वर्गमक्रमीत् क्रमते, पृथिवीतो द्युलोकपर्यन्तं च जगद् व्याप्नोतीत्यर्थः' इति विज्ञानपक्षे मन्त्रयोजनम्, तच्च पूर्वोक्तशतपथश्रुतिविरुद्धमेव, तत्राग्न्याधानप्रसङ्गेऽग्न्युपस्थाने तिसृणामासामृचां विनियोगात्। किञ्च, द्यावापृथिव्योरन्तराले सूर्यस्य विद्यमानत्वेऽपि न पृथिव्या अङ्के तत्सत्त्वं सम्भवति, तथात्वप्रतीतेर्भ्रमत्वात्। न च लोकसिद्धं प्रतिपादनं वेदे सम्भवति, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामज्ञातज्ञापकत्वेनैव तत्प्रामाण्यात्।

स्वामी दयानन्द कहते हैं कि जो अग्नि प्रतिदिन तीस धर्मों को धारण करनेवाले पदार्थों को प्रकाशित करता है, उस अग्नि के द्वारा प्रकाशित वाग्रूपी वेद का अध्ययन करना चाहिये। किन्तु यह अर्थ मन्त्राक्षरों से नहीं निकल पा रहा है, अतः उव्वट, महीधर, सायणादिसम्मत अर्थ को ही स्वीकार करना उचित है। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार ये मन्त्र अग्न्याधान के हैं।

यदपि—'अन्तश्चरति अस्य सूर्यस्य रोचना रश्मिमयी दीप्तिः प्राणादपानती प्राणनापाननादिव्यापारं कुर्वती। अग्रे गमनं प्राणनं पश्चाद्गमनमपाननम्। सूर्यस्य रश्मयो हि प्राणनापानने गमनागमने कुर्वन्तः प्रयान्ति। छायायामिदं प्रत्यक्षमनुभूयते। छाया हि पूर्वं पुरः प्रयाति, ततः स्वल्पं पश्चात् प्रसरति, ततश्च पुनरग्रे प्रयाति। छायायां यत्प्राणनमपाननं च दृश्यते, तत्सूर्यरश्मीनां प्राणनापाननव्यापारेणैव वर्तते, छायायां स्वतो गत्यभावात्। यथा बहिर्लोके सूर्यरश्मयः प्राणनापाननव्यापारं कुर्वन्त एव प्रयान्ति, तथा प्राणिनां प्राणाः प्राणनापाननव्यापारं श्वासोच्छ्वासरूपं कुर्वन्त एव यान्ति। प्राणिनां हृदये यः श्वासोच्छ्वासरूपो व्यापारः प्राणिहृदये प्रविष्टः स सूर्यरश्मिकृत एव। यतो हि सूर्यः सर्वप्राणिहृदयं प्रविश्यात्मरूपेण विराजति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वमन्त्रे सूर्यस्याप्रकृतत्वादस्येतिपदेन तद्ग्रहणासंगतेः। रश्मिमयी दीप्तिश्च गमनागमने कुर्वन्ती यातीत्यप्यसिद्धमेव। न च छायाया गमनागमनाभ्यां तत्सिद्धयतीति वाच्यम्, वैद्युताग्नेयचान्द्रमसदीप्तिष्वतिव्याप्तेः। यत्तु—तेषामपि सौरानतिरिक्तत्वमेवेति तन्न, तथात्वे शतपथश्रुत्यनुसारेणाग्न्युपस्थानमेव मन्यताम्, कुतः सूर्यपरत्वयोजनाग्रहः। किञ्च, छायाया अपि न प्रतिक्षणं गमनागमने अनुभूयेते, आलोकस्यापवरकस्य च गमनागमनाभ्यां छायागमनागमनानुभवात्। न च तयोर्गमनागमने प्रतिक्षणमनुभूयेते। गमनकाले गमनमेवानुभूयते नागमनम्, तथैवागमनकाले तदेवानुभूयते न गमनम्। श्रुतिस्मृत्यादिभिः प्रत्यक्षैश्च प्राणव्यापारौ श्वासोच्छ्वासौ सिद्धौ। प्राणश्च वायुविशेष इति ब्रह्मसूत्रे तद्भाष्ये च विचारितम्। तयोः सूर्यरश्मिमूलकत्वकल्पनं न युक्तम्। सूर्यो यद्यपि मण्डलान्तर्गतो हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टः परमात्मैव, यद्यपि च व्याहृत्यवयवात्मा हिरण्यगर्भः समष्टिप्राणबुद्धयुपाधिः प्राणादिसर्वव्यापाराणामीष्टे, तथापि तेजोमयो रश्मिसमूहस्त्वग्निमय एव। वायोरग्निरिति रीत्या तस्य वायोरुत्पत्तिर्भवति। एवं कारणहिरण्यगर्भान्वालोचनया, प्राणमूलकत्वमेव श्वासोच्छ्वासयोः सिद्धयति। तद्दृष्ट्यैव च सूर्यस्य सर्वात्मत्वं सम्भवति न सूर्यरश्मिमात्रदृष्ट्या, रात्रौ तदभावेऽपि प्राणनादिकर्मदर्शनात्। हिरण्यगर्भरूपेणैवादित्यो जगतस्तस्थुषश्चात्मा भवति। अन्तर्यामिरूपेण शुद्धात्मा भवति, हिरण्यगर्भरूपेण सोपाधिक आत्मा भवति।

यदपि—'रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्' इति विलिख्य (बृ० आ० ७।५।२) इति सङ्केतो दत्तः, स तु सङ्केतोऽशुद्ध एव, (बृ० आ० ५।५।२) इति सङ्केतस्योचितत्वात्। अपरं च नानया श्रुत्या रश्मीनां श्वासोच्छ्वासनिर्वर्तयितृत्वमुक्तम्, किन्तु 'तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ। रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्' (बृ० उ० ५।५।२)। 'य एतस्मिन्नादित्यमण्डले पुरुषोऽभिमानी सोऽसौ सत्यं ब्रह्म। यश्चायं दक्षिणेऽक्षिणि पुरुषस्तावेतावादित्याक्षिस्थौ पुरुषौ एकस्य सत्यस्य ब्रह्मणः संस्थानविशेषौ यस्मात्तस्मादन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ। आदित्यश्चाक्षुषे चाक्षुषश्चादित्ये प्रतिष्ठितः। तदेवोच्यते—रश्मिभिः प्रकाशेनानुग्रहं कुर्वन्नेष आदित्योऽस्मिंश्चाक्षुषेऽध्यात्मे प्रतिष्ठितः। अयं च चाक्षुषः प्राणैरादित्यमनुगृह्णन् आदित्येऽधिदेवे प्रतिष्ठितः' इति शङ्करभाष्यम्। तत्रैवानन्दगिरिः-प्राणैश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैरिति यावत्। अनुगृह्णन्नादित्यमण्डलमात्मानं प्रकाशयन्नित्यर्थः। तथा च नेदमुपनिषद्वाक्यं सूर्यरश्मीनां प्राणापाननिर्वर्तयितृत्वं साधयति। एवमेव—'तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं च····चामुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते। ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये····'

अध्यात्मपक्ष में—जो 'वाक्' अनादिनिधना ब्रह्मरूपा है, वह तीस स्थानों में विराज रही है। उसी को, अर्थात् मन्त्र-ब्राह्मण रूपा वाक् को जीव के लिये, जो पक्षी के समान है, उसके कल्याणार्थ, कर्म-उपासना-ज्ञान का बोध कराने

(छा० उ० ७।६२) इति । अत्रापि सङ्केतोऽशुद्धः । (८।६।२) इति भाव्यम् । भाष्यकाररीत्या यथा लोके महान् विस्तीर्णः पन्था महापथ आततो व्याप्त उभौ ग्रामौ गच्छति, इमं सन्निहितममुं विप्रकृष्टस्थम्, यथा महापथ उभौ ग्रामौ प्रविष्टः, एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ अमुं चादित्यमण्डलमिमं च पुरुषं गच्छन्ति उभयत्र प्रविष्टाः । अमुष्मादादित्यमण्डलात्प्रतायन्ते सन्तता भवन्ति ता अध्यात्ममासु पिङ्गलादिवर्णासु यथोक्तासु नाडीषु सृप्ता गताः प्रविष्टा इत्यर्थः । आभ्यो नाडीभ्य प्रतायन्ते प्रवृत्ताः सन्तानभूताः सत्यस्तेऽमुष्मिन् मण्डले गछन्ति । रश्मिशब्दस्योभयलिङ्गत्वात्ता इत्युच्यते । वस्तुतस्त्वत्रापि न रश्मीनां श्वासोच्छ्वासहेतुत्व-मुक्तम् ।

'अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः' (छा० उ० ८।६।१) ।अथ या एता वक्ष्यमाणा हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मोपासनस्थानस्य सम्बन्धिन्यो नाड्यो हृदयमांसपिण्डात् सर्वतो विनिःसृता आदित्यमण्डलादिव रश्मयस्ताश्चैताः पिङ्गलस्य वर्णविशेषस्याणिम्नः सूक्ष्मरसस्य पूर्णा अन्नरसेन पूर्णास्तदाकारा एव तिष्ठन्ति । तथा शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य रसस्य पूर्णा इति सर्वत्राध्याहार्यम् । कथमन्नरसस्य पिङ्गलादिर्विचित्रो वर्णविशेषः सिद्ध्यतीत्याशङ्क्योक्तं शङ्कराचार्येण सौरेण तेजसा पित्ताख्येन पाकाभिनिर्वृत्तेन कफेनाल्पेन सम्पर्कात् पिङ्गलं भवति । सौरं तेजः पित्ताख्यं तदेव च वातभूयस्त्वान्नीलं भवति । तदेव च कफभूयस्त्वात् शुक्लं कफेन समतायां पीतं शोणितबाहुल्येन लोहितम्' इति । 'वैद्यकाद्वा वर्णविशेषा अन्वेष्टव्याः । श्रुतिस्त्वादित्यसम्बन्धादेव तत्तेजसो नाडीष्वनुगतस्यैते वर्णविशेषाः' इति । 'कथमसावादित्यः पिङ्गलो वर्णाद् एष आदित्यः शुक्लोऽप्येष नील एष पीत एष लोहित आदित्य एव । आदित्यस्य पैङ्गल्यादयो वर्णविशेषाः शास्त्राप्रामाण्यादेव प्रत्येतव्या' इत्यानन्दगिरिः ॥ ८ ॥

अ॒ग्निर्ज्योति॒र्ज्योति॑र॒ग्निः स्वाहा॒ सूर्यो॒ ज्योति॒र्ज्योतिः॒ सूर्यः॒ स्वाहा॑ । अ॒ग्निर्वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्चः॒ स्वाहा॒ सूर्यो॒ वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्चः॒ स्वाहा॑ । ज्योतिः॒ सूर्यः॒ सूर्यो॒ ज्योतिः॒ स्वाहा॑ ॥ ९ ॥

अत्र सायणः काण्वसंहिताभाष्ये—'प्रथमेऽनुवाकेऽग्न्याधानमन्त्रा उक्ताः, द्वितीये त्वग्निहोत्रमन्त्राः । प्रागुपप्रयन्त इत्येतस्मात्तन्मन्त्राणां सामान्यतः प्रजापतिर्ऋषिः, लिङ्गोक्ताः सप्त देवताः, आद्याः पञ्चैकपदाः, 'अग्निर्ज्योतिः सूर्यो ज्योतिः' एते द्वे एकपदे विशेषतो गायत्र्यौ तक्षा मुनिरपश्यत् परां ज्योतिर्ज्योतिरितीमां चेलकस्य पुत्रो जीवल ऋषिरपश्यत्, यथाऽग्निर्वर्चो द्वे तक्षापश्यत् परां जीवलश्चैलकिरित्यनुक्रमणी (१।११)-वचनात्' । 'अथ प्रदीप्तामभिजुहोत्यग्निर्ज्योतिरिति' (का० श्रौ० ४।१४।१४) इति । या समित्प्रदीप्ता तामभिलक्ष्य जुहुयात् । अग्निज्योतिषमिति काण्वशाखोक्तमन्त्रेण (३।२।१) समित्प्रक्षेपः । काण्वमन्त्रपाठस्तु 'अग्निज्योतिषं त्वा वायुमतीं प्राणवतीꣳ स्वर्ग्याꣳ स्वर्गायोपदधामि भास्वतीम्' इति, तदर्थश्चेत्थम्—हे समित् ! स्वर्गाय स्वर्गप्राप्तये विविधविशेषणां त्वामुपदधामि अग्नौ प्रक्षिपामि । कीदृशीं त्वाम् ? अग्निज्योतिषम् अग्नि-

के हेतु दी गई है । अतः हे भगवन् ! आप वाग्रूप हैं, आप सर्वत्र विराज रहे हैं । मैं प्रतिदिन इस स्नेहमय ज्ञान से तुम्हारे ही शरण हूँ ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—यह जो अग्निदेव है, वही दृश्यमान ज्वाला का स्वरूप है और जो दिखाई देनेवाला ज्वाला का स्वरूप है, वही अग्नि है । अग्नि और ज्वाला इन दोनों का किसी भी समय वियोग न रहने से उन दोनों की एकता बताई गई है । ज्योतिःस्वरूप अग्नि को दिया हुआ हवि 'सुहुत' हो । ('सूर्यो ज्योतिः' यह मन्त्र, प्रातःकालीन होम का

सम्बन्धिज्योतिर्यस्यां समिध्यभिव्यज्यते तादृशीम्, शुष्कसमिधामग्निज्वालाहेतुत्वप्रसिद्धेः। पुनः कीदृशीम्? वायुमतीं वायुसहायोपेतां वायुसाहाय्येनैव समित्सु ज्वलाप्राबल्यदर्शनात्। प्राणवतीं बलवतीं शुष्कतृणपर्णादिष्विवाग्निज्वाला समिध्यपि सहसा न शाम्यति। स्वर्ग्यामनुष्ठातॄणां स्वर्गहेतुत्वात्। भास्वतीमग्नेः समिन्धनेन सूर्यवत्प्रकाशोपेताम्। एवं काण्वोक्तमन्त्रेण समिदाधानं कृत्वा अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रेण प्रतिजुहुयात्।

मन्त्रार्थस्तु—योऽयमग्निर्देवः स एव ज्योतिर्दृश्यमानज्योतिःस्वरूपम्। यच्चेदं ज्योतिर्दृश्यते तदेवाग्निर्देवः। अग्नेर्ज्योतिषश्च कदाचिदपि वियोगाभावात् तयोरैक्यमिहोच्यते। स्वाहा ज्योतीरूपायाग्निदेवाय हविः प्रदत्तमस्तु। स्वाहाशब्दस्य देवतामुद्दिश्य विहितद्रव्यत्यागोऽर्थः। अत्र 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधा' (पा० सू० २।३।१६) इत्यादिसूत्रानुसारं प्रथमा चतुर्थ्यन्तत्वेन विपरिणमय्य व्याख्येया। अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरित्यभ्यासोऽनुपचरितैक्यरूपभूयस्त्वार्थबोधनाय ज्ञेयः। अग्निमुद्दिश्य ज्योतिष्ट्वविधानाय प्रथमः, ज्योतिरुद्दिश्याग्नित्वविधानाय द्वितीय इति, त्वं वै भगवो देवते अहमस्मि, अहं वै भगवो देवते त्वमसीतिवद्। अत्यन्ताभेदबोधनाय व्यतिहारनिर्देशो वा। हानं हा, न हा अहा, स्वस्य अहा अपरित्यागः स्वाहा। स्वस्य आत्मन आत्मीयस्य वा अहानं रक्षणं भवति देवतोद्देश्येन विहितद्रव्यत्यागात्। यथा क्षेत्रेष्वेकैकव्रीहियवगोधूमादिनिक्षेपो न स्वार्थत्यागः, एकैकस्य बीजस्य फलरूपेण शताधिकसंख्यानां तेषां लाभदर्शनात्। देवतोद्देश्येनाग्निमुखे तत्त्यागे त्वनन्तगुणसुखादिलाभश्रवणात् सुष्ठु आसमन्ताद् हानं देवतायै विहितद्रव्यस्य दानं वा स्वाहापदस्यार्थः, विहितद्रव्ये स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकदेवतास्वत्वोपपादनस्यैव स्वाहापदार्थत्वात्।

अयं सायंकालिकाग्निहोत्रहोममन्त्रः। सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य इति प्रातरग्निहोत्रमन्त्रः। पूर्वमन्त्रवदेवास्यापि मन्त्रस्यार्थः। सूर्यज्योतिरग्नौ सायं प्रविशति। तत एव दिनापेक्षयाऽग्नेर्ज्योतिराधिक्यं भवति। उदयकालेऽग्निज्योतिः सूर्यं प्रविशति। तस्मादेव प्रातः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरिति मन्त्रेण होमः। अत एव–'स जुहोत्यग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायम्, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः' इति कण्वो व्यवस्थामुक्तवान्। 'अग्निमादित्यः सायं प्रविशति। तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे। उभे हि तेजसी सम्पद्येते। उद्यन्तं वादित्यमग्निरनुसमारोहति। तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्य' (का० श्रौ० ४।१४।१५) ब्रह्मवर्चसकामस्त्वग्निर्वर्चः सूर्यो वर्च इति सायं प्रातश्च जुहुयात्। 'योऽग्निर्वर्चोऽनन्यो यस्य च ज्योतिर्वर्चसानन्य हुतम्, तस्मै सुहुतमस्तु। यज्ज्योतिः सूर्य एव यः सूर्यः स ज्योतिरेव तस्मै स्वाहा।'

अन्यस्तु—'भौतिकोऽग्निः परमात्मज्योतिःप्रतिनिधिभूतः परमज्योतिर्भौतिकमग्निं प्रकटयति, इदं सत्यं वचः। भौतिकः सूर्यः परमात्मज्योतिषः प्रतिनिधिः परमात्मज्योतिरेव भौतिकसूर्यं प्रकटयति, इदमपि सत्यं वचनम्, अग्निपरमात्मनोरुभयोरपि दीप्तिमत्त्वात्, ईदृशीं वाचमवितथामवेहि। भौतिकः सूर्यो दीप्तिमान् तथैव परमात्मज्योतिरपि दीप्तिमद् इदं सत्यं ज्ञानम्, सूर्यो ज्योतीरूपम्, ज्योतिश्च सूर्यरूपमिदमपि सत्यम्' इति, तदपि

है) ज्योति और सूर्य दोनों एक ही हैं, अतः ज्योतीरूपी सूर्य को दिया हुआ हवि 'सुहुत' हो। उसी तरह वर्चस् (तेज) और अग्नि तथा वर्चस् और सूर्य दोनों एक ही हैं। ज्योति और वर्चस् ये भी दोनों एक ही हैं। इसलिये उस अग्नि और सूर्य को दिया हुआ हवि 'सुहुत' हो। ज्योति और सूर्य एकरूप होने से उनको दिया हुआ हवि सुहुत हो। यह नवाँ और दसवाँ मन्त्र 'अग्निहोत्र' होम के हैं। ब्रह्मवर्चस् की इच्छा रखनेवाला अग्निहोत्री 'अग्निर्वर्चः' मन्त्र से सायंकाल और 'सूर्यो वर्चः' मन्त्र से प्रातःकाल होम करे, अथवा 'ज्योतिः सूर्यः' यह भी प्रातःकाल का मन्त्र है ॥ ९ ॥

किञ्चित्, मन्त्रे तादृशार्थबोधजनकपदाभावात्, मन्त्राक्षरैस्तथार्थासिद्धेः। प्रसिद्ध्यनुसारेण शब्दानां तेषु तेष्वर्थेषु शक्तिग्रहो भवति। एवं रीत्या ज्योतिःशब्दस्य अग्नि-सूर्य-परमात्मसाधारणज्योतिषां बोधकत्वेन परमात्मपरत्वे मानाभावात्। लक्षणादिभिस्तु समेषां शब्दानां तत्तज्जातिवाचकत्वेन जातीनां च परसत्तारूपायां जातौ पर्यवसानात् परसत्तायाश्च परमात्मरूपत्वेन पारम्पर्येण समेषां शब्दानां परमात्मपर्यवसायित्वं सम्भवत्येव, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्यः। स्वाहाशब्दस्य देवहविर्दाने प्रसिद्धत्वात् सत्यवचनार्थकत्वं गौणवृत्याश्रयणेनैव, तत्तु नैव शोभनं प्रमाणहीनमिति नैकधा कथितम्।

दयानन्दस्तु—'अग्निर्जगदीश्वरः स्वाहाज्योतिः सर्वस्मै ददाति। एवं भौतिकोऽग्निः सर्वप्रकाशकैर्ज्योतिर्ददाति। सूर्यश्चराचरात्मा स्वाहाज्योतिः सर्वात्मज्ञानं ददाति। एवमयं सूर्यः सूर्यलोको ज्योतिर्दानं मूर्तद्रव्यप्रकाशनं च करोति। सर्वविद्याप्रकाशकोऽग्निर्जगदीश्वरः मनुष्यार्थं सर्वविद्याधिकरणं स्वाहा वेदचतुष्टयं प्रादुर्भावयति। एवं ज्योतिर्विद्युदाख्योऽयमग्निः शरीरब्रह्माण्डस्थो वर्चो विद्यावृष्टिहेतुर्भवति। सूर्यः सकलविद्याप्रकाशको जगदीश्वरः सर्वमनुष्यार्थं स्वाहा वर्चः प्रकाशकं विद्युत्सूर्यप्रसिद्धाग्न्याख्यं तेजः करोति। एवं ज्योतिः सूर्यलोकोऽपि वर्चः शरीरात्मबलं प्रकाशयति। सूर्यः प्राणो ज्योतिः सकलविद्याप्रकाशकं ज्ञानं कारयति तथाऽयं ज्योतिर्ज्योतिर्मयः सूर्यो जगदीश्वरः स्वाहा स्वाहुतं हविः स्वसृष्टपदार्थेषु स्वशक्त्या सर्वत्र प्रसारयति' (पृ. २४८) इति, तदपि न सङ्गतम्, श्रुतिसूत्रादिविरुद्धत्वात्। स्वाहापदार्थास्तदुक्तास्तु पूर्वमेव निरस्ताः, निरुक्तवचनानामन्यार्थत्वोक्तेः। 'ज्योतिः सर्वव्यवहारप्रकाशकम्, वर्चः चक्रवर्त्यादिराज्यदीपकम्' इत्यादिकं तु निर्मूलमेव। प्रत्यक्षविरुद्धं चैतत्। नहि परमेश्वरः सर्वस्मै सत्यवाणीयुक्तविज्ञानप्रकाशयुक्ता विद्या ददाति, तथात्वे मिथ्याऽविद्यायुक्तमनुष्यानुपलम्भापत्तेः। हिन्द्यामेव—'एवमग्निः शिल्पविद्यासाधनप्रकाशं ददाति' इत्यपि रिक्तं वचः, त्वद्रीत्या जडस्याग्नेर्विद्यासाधनप्रकाशदातृत्वानुपपत्तेः। एवं वेदानां विद्याधिकरणत्वमपि चिन्त्यम्, चेतनात्मनामेव विद्याधिकरणत्वात्।

अत्र विषये शतपथे (२।३।१।१–३३) स्थले विस्तरेण विचारो दृश्यते। 'सूर्यो ह वा अग्निहोत्रं तद्यदेतस्या अग्र आहुतेरुदैत्तस्मात् सूर्योऽग्निहोत्रम्'। सायंप्रातर्होमयोः कालविशेषविधित्सया अग्निहोत्रं सूर्यात्मना प्रशंसति—एतस्या सृष्ट्यादौ प्रजापतिना प्रथमं हुताया आहुतेः सूर्य उदैत् तस्मात् सूर्योऽग्निहोत्रम्, 'य इह अग्नौ तस्मिन् सूर्ये सति इदं हविर्जुह्वानीति मन्यते स सायमग्निहोत्रमस्तमिते कुर्यात् प्रातर्होमं चानुदिते कुर्यात्। अनुदितो हि सूर्योऽग्निनैकीभूतो वर्तते। अग्निं वादित्यः सायं प्रविशति' (तै० ब्रा० २।१।३।९) इति श्रुतेः। अतोऽपि सूर्यसम्बद्धमग्निहोत्रम्। अथ यदस्तमेतीति तदग्नावेव योनौ गर्भो भूत्वा प्रविशतीति सूर्यस्य गर्भभावमनु रात्रौ सर्वाः प्रजाः गर्भा एव भवन्ति। रात्रौ सर्वाः प्रजा एकविधं ज्ञानं प्राप्ताः शेरते। अग्नौ गर्भरूपेण प्रविशन्तमभि होमं कुर्वन् परस्मिन् दिवसे पुनर्जनयितुं वर्धयति। सायंहोमस्य गर्भवृद्धिहेतुतामभिधाय प्रातर्होमस्य तज्जननहेतुत्वमुक्तम्। 'अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति प्रजनयत्येवैनमेतत्सोऽयं तजो भूत्वा विभ्राजमान उदेति। यदस्मिन्नाहुतिं न जुहुयात् तदा शश्वद्ध नोदियात्। यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येत, एवं सूर्यो रात्रेः पाप्मनो निर्मुच्यते सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति। अनुदितहोमान्ते सूर्यस्योदये सति यथाप्रयोजनं सर्वाः प्रजा विसृज्यन्ते'। सायमग्निहोत्रस्याहवनीयस्य विहरणमस्तमयात् प्रागेव कर्तव्यमित्याहवनीयमुद्धरति। गार्हपत्यादाह-

भाष्यसार—काण्वसंहिता भाष्य के प्रथम अनुवाक में अग्न्याधान के मन्त्र और द्वितीय अनुवाक में अग्निहोत्र के मन्त्र बताये गये हैं। काण्वोक्त मन्त्र से समिदाधान करके 'अग्निर्ज्योतिः' मन्त्र से पुनः हवन करे। यहाँ मन्त्र में

वनीयं प्रणयेत् । कुत एतदिति तत्रोक्तम्—एते खलु सूर्यस्य रश्मयो विश्वेदेवा यत्परं भा रश्मीनामुपर्यवस्थितं सूर्याख्यं ज्योतिः स प्रजापतिर्वा इन्द्रो वा तद् ज्योतिः । तद्ु ह वै विश्वेदेवाः । तेऽस्तमयात् प्रागवस्थिता विश्वेदेवा अग्निहोत्रं जुह्वतो गृहान्तर्गच्छन्ति । स यस्यानुद्धृतमागच्छन्ति तस्माद्देवा अपप्रयन्ति, आहवनीयानुद्धरणे सत्याश्रयाभावाद् निवर्तन्ते । आगतानां देवानां यदपागमनं तद् यजमानस्याग्निहोत्रव्यृद्धिरेव । तस्याग्निहोत्रस्य व्यृद्धिमनुलक्ष्य यश्च वेद यश्च न वेद ते सर्वेऽनुद्धृतमाहवनीयमभिलक्ष्य सूर्योऽस्तमगादिति निन्दन्ति । अथ यः पुरादित्यस्यास्तमयाद् आहवनीयमुद्धरति यथा आसनेनोपक्लृप्तेनायास्यन्तं श्रेयांसं यथोपासीत तथास्तमयात् प्राग् आहवनीयोद्धरणम् । तेन यस्योद्धृतमागच्छन्ति तस्याहवनीयं प्रविशन्ति ।

विज्ञानभाष्याभिमानिनस्तु आहवनीयकुण्डाद् भस्मोद्धरणमेवाहवनीयोद्धरणं मन्यन्ते । तच्च हरिस्वामिस्वाम्यादिभाष्यविरुद्धम्, मूलशतपथविरुद्धं च । यदि सूर्यास्तमयात्पूर्वं भस्मोद्धरणं क्रियेत तदा भस्मोद्धरणेन साधं तत्रत्या विश्वेदेवा अपि उद्धृता भवेयुस्तस्मात्प्राणानामुद्धरणात् तदग्निहोत्रमेव ऋद्धिशून्यं भवेदिति तन्मतम् । मूले तु—यस्यानुद्धृतमागच्छन्ति तस्मादपप्रयन्ति । यस्यास्तमयात्प्राग् आहवनीयस्योद्धरणं गार्हपत्यादाहवनीयेऽग्निप्रणयनं न कृतं भवेत् तस्य गृहे देवा आयान्ति, परमाहवनीयाग्निरूपाश्रयस्याभावाद् अपप्रयन्ति । तस्मादशुद्धमेव तद्व्याख्यानम् । कात्यायनोऽपि—'गार्हपत्यादाहवनीयस्योद्धरणमनस्तमितानुदितयोः' (का० श्रौ० ४।१३।२) । अनस्तमितानुदितयोर्गार्हपत्यादग्नेः प्रणयनम् । आहवनीयखरे पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा तत उद्धरणं कृत्वा प्राञ्चं नीत्वा स्थापयेत् ।

'स यत्सायमस्तमिते जुहोति, अग्नावेवैभ्य एतत्प्रविष्टेभ्यो जुहोति । अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति, अप्रेतेभ्य एवैतज्जुहोति । तस्मादुदितहोमिनां विच्छिन्नमग्निहोत्रं मन्यामह इति ह स्माहासुरिः' (श० २।३।१।९) । यथा आगतेऽतिथौ गृहादपगते सति शून्यं तदावासस्थानं प्रतिपन्नमिति तर्पणीयान्नादिकमाहरेत्, एवमाहवनीयाद्रश्मिरूपेषु देवेष्वपयातेषु तेषूदितं सूर्यं प्रति गतेषु तदुद्देश्येनाहवनीयहोमशून्ये गृह आहार्याहरणमिव व्यर्थमेव स्यात्तद्धवनम् । देवशून्ये गृहेऽग्निहरणमिति तु निरर्थकमेव ।

प्रकारान्तरेणाप्यस्तमितानुदितहोमौ प्रशंसति—द्वयं वेति । द्वयं वा इदं जीवनं मूलि चैवामूलं च । तदुभयं देवानाꣳ सन्मनुष्या उपजीवन्ति । पशवो मूला ओषधयो मूलिन्यः । ते पशवो मूला ओषधीर्मूलिनीर्जग्ध्वाऽपः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति' (श० २।३।१।१०) । मूलयुक्ता ओषधयो मूलिन्यस्तद्रहिताः पशवोऽमूलाः । अत एव पशवो मूला इत्यस्य अमूला इत्यर्थः कार्यः । मूले मूलाभावान्मूलस्याप्यमूलत्वसाम्यान्मूलाः पशवोऽमूलिनीरोषधीर्जग्ध्वाऽपः पीत्वा दुग्धं प्रयच्छन्ति । तस्मात् क्षीरादिरसो मूल्यमूलोभयनिष्पन्नो भवति । 'स यत्सायमस्तमिते जुहोति । अस्य रसस्य जीवनस्य देवेभ्यो जुहवानि यदेषामिदꣳ सदुपजीवाम इति स यत्ततो रात्र्याश्नाति हुतोच्छिष्टमेव तन्निरवत्तवल्यश्नाति हुतोच्छिष्टस्य ह्येवाग्निहोत्रं जुह्वदशिता' (श० २।३।१।११) । अर्थान्मूल्यमूलोभयनिष्पन्नसर्वप्राणिजीवनहेतोः क्षीरात्मकस्य रसस्य भागं प्रथमं देवेभ्यस्तत्स्वामिभ्यो जुहवानि, पश्चात्तदुपभुक्तशेषैः सर्वे वयमुपजीवाम इत्यनेनाभिप्रायेण पयसाऽग्निहोत्रं जुहुयात् । अतो होमानन्तरं रात्र्या कालेन यद् अशितं भवति तत् हुतोच्छिष्टमेव भुक्तं भवति । निष्कृष्यावत्तो वलिर्देवभागो यस्मात्तन्निरवत्तवलिः । एवमग्निहोत्रं कुर्वन् पुरुषो हुतोच्छिष्टस्यैव रात्रौ अशिता भवति ।

अग्नि और ज्योति की एकता बताई गई है । प्रातः अग्निज्योति सूर्य में प्रविष्ट हो जाती है और सायं सूर्यज्योति अग्नि में प्रविष्ट हुआ करती है ।

'अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति—अस्य रसस्य जीवनस्य देवेभ्यो जुहवानि·····' (श० २।३।१।१२), प्रातर्होमेऽपि तथैव। अन्ये ज्योतिष्टोमादयो यज्ञाः सन्तिष्ठन्ते समाप्यन्त एव। द्वादशसंवत्सरसाध्यमपि सत्रमन्तवदेव भवति। अग्निहोत्रं त्वनन्तत्वादसंस्थितमेव भवति। 'सायं हुत्वा वेद प्रातर्होष्यामीति, प्रातर्हुत्वा वेद पुनः साय७ँहोष्यामीति। तत् तस्मादेतदग्निहोत्रम् अनुपस्थितमपरिसमाप्तं भवति तस्यानुपस्थितिमपरिसमाप्तिमनु इमाः प्रजा अनुपस्थिता अपरिसमाप्ताः प्रजायन्ते। अनुपस्थितः अपरिसमाप्तः सदा तद्युक्तः श्रिया प्रजया प्रजायते य एवमेतदनुपस्थितमग्निहोत्रं वेद' (श० २।३।१।१३)।

'तद्दुग्ध्वाधिश्रयति' इति चतुर्दशकण्डिकासारः—इति पयसो होमसाधनत्वं विधाय दोहानन्तरमग्नावधिश्रयणम्। यस्मिन् काले तत्पय उदन्तं पाकवशादुद्गतान्तं बुद्बुदवद् भवति, तस्मिन् काले तच्छृतं भवति। तदवस्थापन्नेन पयसा जुहुयादित्येकेषां मतं निरस्य पक्षान्तरमाह—रेतःसंस्तुतं ह्येतत्पयः, तच्चोपदग्धम् अजानि अप्रजननशीलं प्रजोत्पादकं न भवति। कथं तर्हि होतव्यमित्याह—'अधिश्रित्यैव जुहुयात्·····' (श० २।३।१।१५)। न तु पाकेनोदन्तं करोति। 'यन्नु एतदग्नेरेतस्तस्या७ँ रेतः प्रासिञ्चत् तत्पयोऽभवत्' (श० २।२।४।१५)। तथा चाग्निरेतस्त्वादेव पयः शृतमेव सर्वदा। अतश्चाधिश्रयणमात्रादेव तच्छृतं भवतीति तदवस्थेनैवजुहुयात्। 'तदवज्योतयति' (श० २।३।१।१६)। ज्वालायुक्तेन दर्भाग्रेण अवाङ्मुखं पयः प्रकाशति पश्यति। अथापः प्रत्यानयति तत्र पयसि जलं निक्षिपति। तेन तप्तस्य पयसः शान्तिर्भवति रसस्य पूर्तिश्च भवति। जलवृष्ट्यैवौषधयो जायन्ते। ता जग्ध्वाऽपः पीत्वा तत एव रसो भवति। अतो रसपरिपूर्णतायै पयसि उदकस्तोकबिन्दुर्निक्षेप्यः। यज्ञादन्यत्रापि शान्त्यै रसस्य परिपूर्णतायै उदकस्तोकमाश्च्योतवै ब्रूयात्—'तृणेनावज्योत्यासिच्यापः पुनरवज्योत्य निधाय त्रिरुद्वासयत्युदक्' (का० श्रौ० ४।१४।५)। अधिश्रितं पयो दर्भतृणज्योतिषावज्योत्य स्रुवेण पयसि अप आसिच्य पुनरवज्योत्य निधाय मुक्त्वा त्रिरुदीच्यां दिश्युद्वासयेत। अवज्योतनस्य (प्रकाशनस्य) शृताशृताज्ञानरूपदृष्टार्थत्वात् तदधिश्रयणाभावे तण्डुलदध्यादावभावः। अवसेकोऽपि दृष्टार्थ एव, उदकस्य क्षयो यथा न स्यात् स पयसः पुनरवज्योतनस्याप्युदकक्षयवित्त्यर्थत्वान्न तण्डुलादाववसेकादिकम्। 'चतुरः स्रुवानुन्नयति' (का० श्रौ० ४।१४।१०)। 'अथ चतुरुन्नयति' (श० २।३।१।१७)। चतुर्भ्यः स्तनेभ्यो दुग्धत्वाच्चतुर्धा विहितं होदं पयश्चतुरः स्रुवानुन्नयति। वैकङ्कत्यां स्रुचि निःक्षिपति। समिद्धेऽग्नौ होमार्थमुन्नीतपयस्कायां वैकङ्कत्यां स्रुचि एकां समिधमुपरि निधाय गार्हपत्यदेशादाहवनीयं प्रति गच्छेत्। गत्वा च तस्मिन्नाहवनीयापरभागे होमद्रव्यमनुपसाद्य अभिघार्य हस्ते धृत्वैव गार्हपत्यदेशादाहवनीयं प्रतिसृत्यैव पूर्वामाहुतिं जुहुयात्।

'उपरि समिधं धारयन् वार्क्षीमध्यधि गार्हपत्यादाहवनीय७ँ हरति मुखमात्रे धारयन्'(का.श्रौ. ४।१४।१२)। चतुर्गृहीतपयस उपरि पलाशादिवृक्षीयां समिधमङ्गुल्यन्तरितां धारयन् अध्यधि गार्हपत्यस्योपरि समीप एव स्रुचं धारयित्वा मुखमात्रे स्रुचं धारयन् आहवनीयं प्रति होमार्थं नयेत्। 'मध्ये निगृह्योद्गृह्योपविश्य समिधमादधात्यग्निज्योतिषं त्वा वायुमतीं प्राणवती७ँ स्वर्ग्या७ँ स्वर्गायोपदधामि भास्वतीमिति' (का० श्रौ० ४।१४।१३)।

किसी ने कहा है कि यह भौतिक अग्नि ही परमात्मज्योति की प्रतिनिधिभूत है, क्योंकि अग्नि और परमात्मा दोनों ही दीप्तिमान् हैं। किन्तु उक्तार्थ का प्रतिपादक वैसा शब्द मन्त्र में उपलब्ध न होने से वैसा अर्थ करना उचित नहीं है। शब्दों का शक्तिग्रह प्रसिद्धि के अनुसार तत्तद् अर्थों में हुआ करता है, अतः गौण वृत्ति का आश्रय लेकर अर्थ करना शोभा नहीं देता और प्रमाणहीन भी है।

गार्हपत्याहवनीययोरन्तराले मुखमात्रधृतां स्रुचं नाभिप्रदेशं यावन्नीचैर्गृहीत्वा पुनर्मुखमात्रे एव गृहीत्वा आहवनीयं प्राप्योपविश्य स्रुचं वामहस्ते कृत्वा दक्षिणेन समिधमादध्यादग्निज्योतिषमिति मन्त्रेण आज्यस्थाल्याः सकाशात् चतुरः स्रुवान् स्रुचि उन्नयेत्, चतुर्गृहीतस्याहुतिद्वयार्थत्वात्। पूर्वाहुत्यनन्तरं द्रव्यनाशादौ उत्तराहुत्यर्थं पुनश्चतुर्गृहीतं ग्राह्यम्। भक्षार्थस्य नाशादौ भक्षणस्य लोप एव न तदर्थं पुनर्ग्रहणम्। 'होष्यन्नुपसादयति' इति यदुपसादनं तैत्तिरीयके समाम्नातं तदनूद्य तस्यायुक्तत्वं दृष्टान्तेनोपपादयति—भोक्तुमुपविष्टस्य पुरः स्थितं पात्रमप्राप्य मध्यमार्गेऽशनं दित्सितान्नादिकं निदध्यात्, एवं तत उपसादनम्। अथ यदनुपसाद्य यथा यस्मा अशनमाहरेत्तस्मा-आहृत्यैवोपनिदध्यादेवं तत्। प्रथमामाहुतिं हुत्वा उपसादनपुरःसरमेव द्वितीयामाहुतिं जुहुयादिति विधत्ते। एवमनुपसादनोपसादनलक्षणधर्मभेदादेते आहुती नानावीर्ये एव करोति। किञ्चेमे द्वे आहुती मनोवाग्रूपे। तस्माद्यथा मनश्च वाक् च समानमेव समाने एव, तद्वदाहुतित्वेन समाने अपि अनुपसादनोपसादनत्वेन विलक्षणे भवतः। इति सप्तदशकण्डिकाभिप्रायः।

होमोपमार्जनप्राशनोन्नयनानां संख्यामनूद्य प्रशंसति—स वै द्विरग्नौ जुहोति द्विरुपमार्ष्टि द्विः प्राश्नाति चतुरुन्नयति तद्दशाक्षरा वै विराड् विराड् वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद् यज्ञं सम्पादयति। उपमार्जनप्राशनयोर्विहितयोः स्तोतुमयोग्यत्वात् तयोरपि विधिरनुमेयः। होमोपमार्जनप्राशनानामुपयोगमाह—स यदग्नौ जुहोति तद्देवेषु जुहोति। तस्माद्देवाः सन्ति। (अग्नौ प्रक्षिप्तेनाग्निहोत्रहविषोपहितावयवाः सन्तः सर्वदा विद्यन्ते)। प्रथमोपमार्जनेन चौषधीनां तृप्तिः, द्वितीयेन पितॄणाम्। तस्मात्पितरश्चौषधयश्च सर्वदा विद्यन्ते। स यद्धुत्वा प्राश्नाति तन्मनुष्येषु जुहोति। तस्मान्मनुष्याः सन्ति, सर्वदा विद्यन्त इत्यर्थः। विंशकण्डिकासारः।

अग्निहोत्रहोमे याज्ञवल्क्याभिमतपाकयज्ञियत्वमुच्यते—'तदुहोवाच याज्ञवल्क्यः' (श० २।३।१।२१) इत्यादिना। दर्शपूर्णमासादिवदग्निहोत्रहोमो न केवलं यज्ञः, किन्तु पाकयज्ञ इवाग्निहोत्रहोमो भवति। यदन्यस्मिन् यज्ञे स्रुच्यवद्यति सर्वं तदग्नौ जुहोत्यथैतदग्नौ हुत्वोत्सृप्याचामति निर्लेढि तदस्य पाकयज्ञस्येवेति। तदस्य तत् पशव्यं रूपम्। पशव्यो हि पाकयज्ञः। अग्नौ हुत्वा किञ्चिदवशेषमुत्सृप्य बहिर्निर्गम्य आचमनलेहनादिकः पाकयज्ञधर्मोऽस्मिन् विद्यते तत् पाकयज्ञियमस्य पशव्यं पशुभ्यो हितं पशुप्राप्तिसाधनं भवति। 'सैषैकाहुतिरेवाग्रे यामेवामूं प्रजापतिरजुहोदथ यदेत एतत् पश्चेवाध्रियन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यस्तस्मादेषा द्वितीयाहुतिर्हूयते' (श० २।३।१।२२)। याममूं विप्रकृष्टामाहुतिं प्रजापतिः सृष्टिकाले प्रथममजुहोत् सैषैका अग्निहोत्रस्य पूर्वाहुतिः। अनन्तरं च यदेते अग्निवायुसूर्याः पश्चादिव अवस्थिता अतस्तदनुप्रीतये द्वितीयाहुतिः। सा या पूर्वाहुतिः साग्निहोत्रस्य देवता प्रधानदेवताप्रीतिकरी तस्मात्तस्यै जुहोत्यथ योत्तरा स्विष्टकृद्भाजनमेव सा। दुरिष्टिकृद्दोष-मार्जनपूर्वकस्विष्टकृत्त्वसम्पादनाय यो होमो भवति स स्विष्टकृद्धोमः। तत्स्थानीयात्तस्मादुत्तरार्धे जुहोत्येषा हि दिक्। स्विष्टकृतस्तन्मिथुनायैव द्वितीयाहुतिर्हूयते। द्वन्द्वं हि मिथुनं प्रजननम्। तद् द्वयमेवैते आहुती भूतं चैव भविष्यं च, जातं च जनिष्यमाणं चागतं चाशा चाद्य च श्वश्च तद् द्वयमेवानु .... उत्सृप्य निर्लेढ्या-चम्योत्सिञ्चति देवान् जिन्व पितॄन् जिन्व तृतीयामुदुक्षति सप्त ऋषीन् जिन्वेति। स्रुक्स्थं हुतशेषं पात्रान्तरे हस्ते वा कृत्वा तद् द्रव्यमाचम्य भक्षयित्वा तत्पात्रं वा जिह्वया सकृदास्वादयति। ततः स्रुचं जलेन पूरयित्वा देवान् जिन्वेति मन्त्रेण दैवत्वादुत्तरतो जलमुच्छालयति, पुनर्जलेनापूर्य पितॄन् जिन्वेति दक्षिणत उच्छालयति, पुनस्तृतीयवारं

उसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने भी कहा है कि जगदीश्वर अग्नि स्वाहाज्योति सबको देता है, उसी प्रकार भौतिक अग्नि सब को ज्योति देता है। सूर्यलोक ज्योतिर्दान और मूर्त द्रव्य का प्रकाशन करता है। सर्वविद्याप्रकाशक

जलमापूर्य तज्जलमैशान्यामुच्छालयेत्। चतुर्थीं कूर्चस्थाने त्रिर्निषिञ्चत्यग्नय पृथिवीक्षिते स्वाहा''''। प्राक्संस्थं नीचैः क्षिपति।

भूतम् अतीतकालावच्छिन्नं भविष्यद् आगामिकालावच्छिन्नम्। एवं बहुविधं तद्द्वयमेवानु तद्भागरूपे यथाक्रममेते आहुती भवतः। तयोराहुत्योः समन्त्रकामन्त्रकत्वे विधास्यन् भूतभविष्यदादिद्वन्द्वस्यात्मप्रजारूपत्वमद्धानद्धारूपत्वं च दर्शयति—'आत्मैव भूतम् अद्धा हि तद् यद् भूतम् अद्धो तद्यदात्मा प्रजैव भविष्यदनद्धो तद् यत्प्रजाः' (श० २।३।१।२५)। 'आत्मैव जातम् अद्धा हि तद्यज्जातम् अद्धो तद्यदात्मा प्रजैव जनिष्यमाणमनद्धा हि तद् यज्जनिष्यमाणमनद्धो तद्यत् प्रजाः' (श० २।३।१।२६)। 'आत्मैवागतं प्रजैवाशा' (श० २।३।१।२७)। 'आत्मैवाद्य प्रजैव श्वः' (श० २।३।१।२८)। सा या पूर्वाहुतिः सात्मानमभि हूयते तां मन्त्रेण जुहोत्यद्धा हि तद्यन्मन्त्रः (एतेन यज्ञेषु मन्त्रोच्चारणमभ्यासार्थमेवेति सामाजिकानां मतमपास्तम्)। अद्धो तद्यदात्माऽथ योत्तरा सा प्रजामभि हूयते। तां तूष्णीं जुहोत्यनद्धा हि तद्यत्तूष्णीमनद्धो तद्यत्प्रजा' (श० २।३।१।२९)। उत्तराहुतिः भविष्यज्जनिष्यमाणानागताद्यात्मकप्रजास्थानीया चानद्धारूपा। अमन्त्रकत्वमपि तथेति तूष्णीमेव सा होतव्या। पूर्वा त्वात्मादिस्थानीयाऽतो समन्त्रका सा होतव्या कालद्वयेऽपि। पूर्वस्या आहुतेः क्रमेण मन्त्रं दर्शयति—स जुहोतीति। अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेत्यथ प्रातः, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तत्सत्येनैव हूयते। यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेत्यथाग्निर्ज्योतिः। यदा सूर्य उदेत्यथ सूर्यो ज्योतिर्यद्वै सत्येन हूयते तद्देवान् गच्छति' (श० २।३।१।३०)। मन्त्रयोः सत्यरूपत्वमुपपादयितुमर्थतस्तद्भावमाह—यदा हीति। अस्तंगतः सूर्योऽग्निमेवानुप्रविशति रात्रावग्निर्ज्योतीरूपो भवति। पुनरुद्यन्तं सूर्यमग्निः प्रविशतीत्यहनि सूर्यो ज्योतीरूपो भवति। अतश्च कालद्वयेऽग्निर्ज्योति', सूर्यो ज्योतिरित्येतन्मन्त्रवाक्यद्वयं समवेतार्थत्वात् सत्यम्।

'तदु हैतदेवारुणये ब्रह्मवर्चसकामाय तक्षानूवाचाग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसी हैव भवति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' (श० २।३।१।३१)। तक्षाख्य ऋषिर्ब्रह्मवर्चसकामायारुणये अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्च इति मन्त्रद्वयेन होममुपदिदेश। ब्रह्मवर्चसकामस्य मन्त्रविशेषौ दर्शयति—'अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्य' (का० श्रौ० ४।१४।१५)। 'तदस्त्येव प्रजननस्येव रूपम्। अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति। तदुभयतो ज्योती रेतोदेवतया परिगृह्णात्युभयतः परिगृहीतं वै रेतः प्रजायते तदुभयत एवैतत्परिगृह्य प्रजनयति' (श० २।३।१।३२)। तस्मिन् होममन्त्रे प्रजननस्य रूपमिव रूपं दृश्यते ज्योतिःशब्दाभिधेयं मध्येऽवस्थितं रेत उभयतो देवतावाचिपदाभ्यां परिगृह्णाति, उभयतः परिगृहीतत्वं रेतसः प्रजननरूपं मन्त्रयोः प्रजननरूपसद्भावात्। ताभ्यां होमे प्रजासम्पत्तिर्भवति। 'तदु होवाच जीवलश्चैलकिः। गर्भमेवारुणिः करोति न प्रजनयतीति स एतेनैव सायं जुहुयात्' (श० २।३।१।३४)। एलकस्य पुत्र ऐलकिः, जीवलनामा महर्षिरुवाच। अनुक्रमण्यां तु चैलकिर्जीवल ऋषिः। आरुणिः गर्भमेव करोति न प्रजनयतीति। कालद्वयेऽपि ज्योतिःशब्दस्य देवतावाचिपदगृहीतत्वाद् रेतःपरिगृहीतमन्तरवस्थितं गर्भावस्थमेव भवति। न प्रजारूपेणोत्पद्यते, उभयतो देवताप्रतिरुद्धत्वाद् इत्युक्तदोषस्य परिहारमाह—स एतेनैव सायं जुहुयात् तेन गर्भो धृतो भवति। प्रातःकाले तु सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति मन्त्रेण होमे सति रेतोरूपस्य ज्योतिः-

जगदीश्वर अग्नि मनुष्य के लिये चारों वेदों को प्रकट कर देता है। इसी प्रकार अपनी कल्पना से प्रभुत बहुत सा अर्थ किया है, किन्तु वह भी श्रुति, सूत्र आदि के विरुद्ध होने से संग्रह के योग्य नहीं है।

शब्दस्य बहिर्धाकरणाद् अन्तर्गतो गर्भो बहिः प्रजायते। 'अथ प्रातः। ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहेति तद्बहिर्धा ज्योती रेतो देवतया करोति। बहिर्धा वै रेतः प्रजातं भवति तदेनमेतत् प्रजनयति' (श० २।३।१।३५)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्। 'तदाहुः। अग्नावेवैतत् साय७ं सूर्यं जुहोति सूर्ये प्रातरग्निमिति। तद्वै तदुदितहोमिनामेव। यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेत्यथाग्निर्ज्योतिर्यदा सूर्य उदेत्यथ सूर्यो ज्योतिर्नास्य सा परिचक्षेयमेव परिचक्षा यत्तस्यै नाद्धा देवतायै हूयते। याग्निहोत्रस्य देवताऽग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति तत्र नाग्नये स्वाहेत्यथ प्रातः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तत्र न सूर्याय स्वाहेति' (श० २।३।१।३६)।

अध्यात्मपक्षे तु अग्निरग्रणीत्वादिविशिष्टो देवो हिरण्यगर्भः सर्वजीवसमष्टिः, 'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्' (म० १२।१२३) इति मनुस्मृतेः। स ज्योतिर्ज्योतिषामपि ज्योतिर्ब्रह्मरूप एव, तत्त्वमस्यादिश्रुतेः। ज्योतिर्ब्रह्म चाग्निः समष्टिजीवरूपः। व्यतिहारनिर्देशोऽत्यन्ताभेदसिद्धयर्थः, 'अहं वै भगवो देवते त्वमसि त्वं वै भगवो देवते अहमस्मि' इति श्रुतेः। तस्मै प्रत्यक्चैतन्याभिन्नाय ब्रह्मणे स्वाहा। चतुर्थ्यर्थे प्रथमा। सर्वमिदं दृश्यं हुतमस्तु, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात्। एवं सूर्यो व्याहृत्यवयवो हिरण्यगर्भो ज्योतिर्ब्रह्मस्वरूपः। ज्योतिश्च सूर्यः। तस्मै ज्योतिःस्वरूपाभिन्नाय सूर्याय सूर्याभिन्नाय ज्योतिर्ब्रह्मणे स्वाहा। अग्निर्वर्चः ब्राह्मं तेजो ज्योतिश्चन्द्रादिश्च वर्चस्तस्मै स्वाहा। एवं सूर्यो वर्चः, तस्मै वर्चोऽभिन्नाय सूर्याय सूर्याभिन्नाय वर्चसे ब्रह्मणे स्वाहा सर्वमिदं हुतमस्तु। यथा मधुब्राह्मणे पृथिव्यामप्सु ज्योतिषि सूर्यादौ स्थितस्य तस्य तस्यामृतमयस्यात्मनो ब्रह्मणाऽभेद उक्तः सर्वात्मत्वबोधनाय, तथैवाग्नेः सूर्यस्य च ब्रह्मज्योतिषाऽभेदप्रदर्शनम्। अग्नेः सूर्यस्य अन्यस्य च विद्युच्चन्द्रादिज्योतिषो वर्चःस्वरूपेण ब्रह्मणाऽभेदप्रदर्शनं सर्वात्मत्वप्रदर्शनायैव। सूर्योपनिषदादौ सूर्यस्य ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्ररूपत्वं सर्वकारणब्रह्मरूपत्वं चोक्तम्।

अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रेण जुह्वद् अग्नावेव सन्तं सूर्यं जुहोति। तथा च ज्योतिःशब्दः सूर्यवचनः। प्रातःकाले सूर्ये सन्तमग्निं जुहोति। अतः सूर्यो ज्योतिरिति ज्योतिःशब्दोऽग्निवचनः। अतो यथापठिताभ्यामेव मन्त्राभ्यां होम उदितहोमिनामेव सम्भवति नानुदितहोमिनाम्।

स॒जूर्दे॒वेन॑ सवि॒त्रा स॒जू रात्र्येन्द्र॑वत्या। जु॒षा॒णो अ॒ग्निर्वे॑तु॒ स्वाहा॑। स॒जूर्दे॒वेन॑ सवि॒त्रा स॒जूरु॒षसेन्द्र॑वत्या। जु॒षा॒णः सूर्यो॑ वे॒तु स्वाहा॑ ॥ १० ॥

'सजूरिति वा' (का. श्रौ. ४।१४।१४)। पूर्वोक्ताभ्यामग्निर्ज्योतिः सूर्यो ज्योतिरिति मन्त्राभ्यां सजूरित्यादिमन्त्रद्वयं विकल्पितमिति सूत्राभिप्रायः। देवेन सवित्रा प्रेरकेण परमेश्वरेण सह सजूः। सह जुषत इति कर्तरि क्विपि सजूः। यद्वा जोषणं जूः, समाना जूः प्रीतिर्यस्यासौ सजूः। परमेश्वरेण सह समानप्रीतिः 'जुषी

अध्यात्मपक्ष में—यह अग्नि सर्वजीव समष्टि हिरण्यगर्भ ही है। उस चैतन्याऽभिन्न ब्रह्म के लिये स्वाहा। चतुर्थी के अर्थ में प्रथमा है। यह सम्पूर्ण दृश्य हुत रहे। अधिष्ठान सत्ता के अतिरिक्त कल्पित सत्ता को नहीं माना जाता ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—प्रेरणा देनेवाले सवितृ देवता पर और इन्द्र के सहित रात्रि देवता पर समान प्रीति रखनेवाला अग्नि हम पर वैसी ही प्रीति करे और हमारे द्वारा अनुष्ठीयमान कर्म में आकर आहुति का भक्षण करे। अग्नि को दिया हुआ यह द्रव्य सुहुत हो। (इस मन्त्र को रात्रि में कहे और उत्तरार्ध सूर्य का मन्त्र है, उसे प्रातः कहे)।

प्रीतिसेवनयोः'। इन्द्रेण परमैश्वर्यवता देवेनोपेतया रात्र्या रात्रिदेवतया रात्रिसूक्तोक्तया सजूः समानप्रीतिरस्मासु जुषाणः प्रीतियुक्तः, हविर्वा जुषाणः सेवमान आहुतिमास्वादयन्नग्निर्वेतु हूयमानं हविर्भक्षयतु। 'वी प्रजननकान्त्यसनखादनेषु'। तस्मै स्वाहा हूयमानं हविरर्पितमस्त्विति सायंकालिकहोममन्त्रार्थः। इन्द्रवत्या देवेन सवित्रा सजूः उषसा सजूः जुषाणः सूर्यो वेतु हूयमानामाहुतिमास्वादयत्विति प्रातःकालिकहोममन्त्रार्थः। अस्तसमये सूर्योऽग्निं प्रविशतीत्युक्तत्वात् सूर्याग्न्योः सहावस्थानात् समानप्रीतिः। 'अग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे' इति रात्रेरग्नेश्च समानप्रीतिर्ज्ञायते।

अपर आह—'अयं भौतिकोऽग्निः सर्वप्रकाशकस्य सर्वोत्पादकस्य परमेश्वरस्य बलेन सेवनयोग्यः, तथा परमेश्वरीयशक्तिरूपाया रात्र्या बलेन सेवितुं योग्यः, सोऽग्निः सर्वं सेवमानः स्वमहिम्ना सर्वत्र व्याप्नोति। तथैव सर्वप्रकाशकस्य परमेश्वरस्य बलेन सूर्यः सेवनयोग्यः सर्वं सेवमानः स्वीयया महाशक्त्या सर्वत्र व्याप्नोति' इति। अत्र मन्त्रस्य कोऽभिप्रायः? पूर्वैर्मन्त्रैः सार्धमस्य मन्त्रस्य कीदृशी सङ्गतिः? अस्य रात्र्या उषसश्च विशेषणभूत इन्द्रः कः? कश्च तस्य ताभ्यां सम्बन्धः? सजूरित्यस्य सेवनयोग्य इति कथमर्थः? इत्यादिसर्वमप्याकाङ्क्षितमस्पष्टमेव। किञ्च, वेत्विति विध्यर्थो लोट् लकारः। न च व्यापकस्य व्याप्तिर्विधातुं प्रेरयितुं वा शक्या। सिद्धान्ते त्वस्याग्निहोत्रमन्त्रत्वाद् अनेनाग्नये हविर्दानम्। अग्निश्च ऐश्वर्यवान् देवः। स च स्वप्रकाशस्य सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य प्रीतिपात्रं तत्प्रीतिमांश्च। तयोः परस्परं समाना प्रीतिः। इन्द्रश्च परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः। तद्वती रात्रिः साधिष्ठाना प्रकृतिर्देवता। तयेन्द्रवत्या रात्र्या च सोऽग्निः प्रीतिमान् तत्प्रीतिपात्रं च। देवराजो वा इन्द्रो रात्रिस्तत्पूज्या सर्वप्रपञ्चस्वामिनी महाशक्तिः। स्वापोन्मुखायास्तस्या रात्रिपदव्यपदेश्यता प्रबोधोन्मुखाया उषस्पदव्यपदेश्यता च। तदंशभूता देवराजशक्तिर्वा रात्रिः। इन्द्रस्याग्नेश्च समानप्रीतिमत्त्वं वेदेषु पुराणेषु च बहुधा वर्णितम्। एवंविशिष्टगुणोऽग्निरस्मासु प्रीतिमान् भूत्वा अस्मद्दत्तामाहुतिं वेतु प्राप्नोतु आस्वादयतु भक्षयतु वा। एवमेव सूर्यसम्बन्धिमन्त्रार्थोऽपि ज्ञातव्यः। सूर्योऽप्यैश्वर्यवान् दिव्यो देवः। तन्मण्डले हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशो हिरण्यवर्णः परमात्मदेवस्तेन जुषमाण आस्ते। इन्द्रवत्योषसा पारमेश्वर्या शक्त्या च सूर्यस्यानुग्राह्यानुग्राहकभावसम्बन्धोऽस्ति। इन्द्रवत्या उषसः प्रीतिपात्रं तत्प्रीतिमांश्च सूर्योऽस्मासु प्रीतिमानस्मदाहुतिं प्राप्नोतु आस्वादयतु भक्षयतु वा। आदित्यहृदयादौ सूर्यस्यैव विष्णुरुद्रेन्द्ररूपत्वमप्युक्तम्। तेन तेषां समानप्रीतिमत्त्वं युज्यते। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इति मन्त्रेऽप्यग्निमित्रेन्द्रादीनामभेद उक्तः।

कथमिति चेदुच्यते—सूर्येऽस्तंगतेऽग्निर्ज्योतिः प्रकाशमानो भवति। उदिते त्वाग्नेयतेजःसंक्रमात् सूर्यश्च प्रकाशवान् भवति। तस्माद् अग्निर्ज्योतिः सूर्यो ज्योतिरिति मन्त्रनिष्पन्नाग्निहोत्रहोमे गर्भमेव करोति न प्रजनयतीति पूर्वोक्तदोषो नास्त्येव। तर्ह्युदितपक्ष एवाश्रयणीय इत्याशङ्क्य तत्र दोषान्तरमाह—इयमेव परिचक्षेति। यद् यस्माद् अग्नये स्वाहा सूर्याय स्वाहा इति तस्यै देवतायै प्रत्यक्षं न हूयते, किन्त्वग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिति प्रथमान्तत्वेन सम्प्रदानविभक्तेरभावाद् देवतात्वस्य परोक्षमेवास्य पक्षस्य निन्देत्यर्थः।

प्रेरणा देनेवाले सविता परमेश्वर पर और इन्द्र से युक्त उषा देवता पर समान रूप से प्रीति करनेवाला सूर्य हम पर वैसी ही प्रीति करे और हमारे द्वारा अनुष्ठित होनेवाले कर्म में आकर आहुति का भक्षण करे। सूर्य को दिया हुआ यह द्रव्य सुहुत हो। अथवा 'सजूः' मन्त्र से होम करे, अर्थात् होम करने में नवें और दसवें मन्त्र का विकल्प है॥ १०॥

अनिन्द्यं पक्षान्तरमाह—'अनेनैव जुहुयात् सजूर्देवेन सवित्रेति। तत्सवितृमत्प्रसवाय सजू रात्र्येन्द्रवत्येति तद्रात्र्या मिथुनं करोति सेन्द्रं करोति। इन्द्रो हि यज्ञस्य देवता जुषाणोऽग्निर्वेतु स्वाहेति तदग्नये प्रत्यक्षं जुहोति' (श० २।३।१।३७)। तदेव कात्यायनेनोक्तम्—'प्रदीप्तामभिजुहोत्यग्निर्ज्योतिरिति सजूरिति वा' (का० श्रौ० ४।१४।१४)। प्रक्षिप्तां समिधं प्रदीप्तामभिलक्ष्य तदुपरि मध्येऽल्पद्रव्येण प्रथमाहुतिं जुहुयात्। अनेन मन्त्रेण होमे 'जुषाणोऽग्निर्वेतु' इत्युक्त्या यजमानोऽग्नये प्रत्यक्षं जुहोति। सवितृमत्प्रसवाय सजूरुषसेन्द्रवत्येत्यह्नेति। अह्ना वोषसा वा मिथुनं करोति सेन्द्रं करोतीन्द्रो हि यज्ञस्य देवता जुषाणः सेवमानोऽग्निः, वेतु कामयतामिति प्रतिपादनात्। अग्नेर्होमः प्रत्यक्ष इति प्रागुक्तपक्षाद्वैलक्षण्यम्। तत्र सवित्रेत्युक्त्या प्रजननप्रेरणा भवति, तस्यैव प्रेरकत्वात्। सजू रात्र्येन्द्रवत्येति कथनेन मिथुनसम्पत्तिद्वारा प्रजननसम्पत्तिरुपपद्यते। 'अथ प्रातः सजूर्देवेन सवित्रेति सवितृमत्प्रसवाय सजूरुषसेन्द्रवत्येह्नेति वा तदह्नां वोषसां वा मिथुनं करोति सेन्द्रं करोतीन्द्रो हि यज्ञस्य देवता जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहेति तत्सूर्याय प्रत्यक्षं जुहोति। तस्मादेवमेव जुहुयात्' (श० २।३।१।३८)। उक्तव्याख्यावदेव व्याख्येयम्।

'ते होचुः को न इदꣳ होष्यतीति ब्राह्मण एवेति ब्राह्मणेदं नो जुहुधीति किं मे ततो भविष्यतीत्यग्निहोत्रोच्छिष्टमेवेति स यत्स्रुचि परिशिनष्टि तदग्निहोत्रोच्छिष्टमथ यत्स्थाल्यां यथा परीणहो निर्वपेदेवं तत्तस्मात्तद्य एव कश्चन पिबेत्तद्वै नाब्राह्मणः पिबेदग्नौ ह्यधिश्रयन्ति तस्मान्नाब्राह्मणः पिबेत्' (श० २।३।१।३९)। हुतशिष्टस्थालीमध्यस्थपयसो ब्राह्मणानां पानं विधित्सुस्ततोऽन्य एव ब्राह्मणोऽग्निहोत्रस्याध्वर्युरिति प्रतिपादयति—ते होचुरिति। ते होचुः—नोऽस्माकमभावे को हीदं होष्यति। तत्रोत्तरं ब्राह्मण एव यजमानाभावे होष्यति। अत एव हे ब्राह्मण इदं जुहुधि। ब्राह्मणः पृच्छति किं मे ततो भविष्यति? तत्रोत्तरम्—अग्निहोत्रोच्छिष्टलाभो भविष्यति। अग्निहोत्रसाधनभूतायां स्रुचि यद् हुतशिष्टं तस्यैव द्विः प्राश्नानीति प्राशनं विहितम्। यत्तु स्थाल्यामवशिष्यते तद् नाग्निहोत्रोच्छिष्टम्। तत्र दृष्टान्तः—यथा परीणहः परितो नद्धं परिश्रितं धान्यपूर्णं शकटोपरि स्थापितं यथा तस्माद् हविषो निर्वापयितुं तद्गतं धान्यं न शिष्यते, किन्तु पुनरपि यागान्तरयोग्यमेव, एवं तत्स्थाल्यां पय इत्यर्थः। तथा चाध्वर्योरेव तत्पानमिति नियमाभावाद् यः कोऽपि ब्राह्मणस्तत्पिबेत्।

दयानन्दस्तु—'अयमग्निर्देवेन सवित्रा जगदीश्वरेणोत्पादितया सृष्ट्या सजूः सह जुषाण इन्द्रवत्या रात्र्या सह सजूः स्वाहा जुषाणः सन् वेतु पदार्थान् व्याप्नोति। एवं सूर्यो देवेन सवित्रा सकलजगदुत्पादकेन धारितया सृष्ट्या सह जुषाण इन्द्रवत्योषसा सह स्वाहा जुषाणः सन् हुतं द्रव्यं वेतु व्याप्नोति' इति, तत्तु यत्किञ्चित्, सवित्रेतिपदेन तदुत्पादितायाः सृष्टेर्ग्रहणे मानाभावात्। एवं 'विद्युत्समूहवत्या रात्र्या सह जुषतेऽग्निर्व्याप्नोति' इति कोऽस्याभिप्रायः? रात्राविव दिनेऽपि विद्युत्समूहस्य विद्यमानत्वात् तत्राप्यग्निर्व्याप्नोत्येव। उत्तरत्र तु इन्द्रवत्या सूर्यप्रकाशसहितयोषसा जुषाणः सेवमानः सूर्यो व्याप्नोतीति तादृश एव। भावार्थे तु—'ईश्वरेण निर्मितोऽग्निस्वसत्तया स्वरूपं धारयन् रात्रिस्थान् व्यवहारान् प्रकाशयति।

भाष्यसार—सूर्य देवता सबके सेवन करने योग्य हैं, वह अपनी महाशक्ति से सर्वत्र व्याप्त हैं, ऐसा अर्थ किसी ने किया है। परन्तु मन्त्र का अभिप्राय क्या है? पूर्व मन्त्र से प्रस्तुत मन्त्र की संगति क्या है? इत्यादि अनेक प्रश्नों को मन्त्रार्थ करने के पूर्व समझ लेना चाहिये था। मन्त्र में तो अग्नि, मित्र, इन्द्र आदि देवताओं का अभेद बताया गया है।

एवं सूर्यं उषःकालमेत्य सर्वाणि मूर्तद्रव्याणि प्रकाशयितुं शक्नोतीति परमेश्वरो मनुष्येभ्य उपदिशति' इति, परमेतत्तु प्रसिद्धमेवेति कृतमीश्वरोपदेशेन। त्वद्रीत्या अग्नेर्जडस्य कथमिन्द्रवत्या रात्र्या जुषमाणत्वं कथं वा तथाविधस्य सूर्यस्योषसा जुषमाणत्वम्। शतपथविरोधस्तु स्पष्ट एव। यत्तु—'समाना प्रीतिर्यस्यासौ सजूरिति बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरप्राप्तेः सर्वमयुक्तम्। तत्पक्षे कथं कृत्स्वरेणेष्टस्वरसिद्धिः' इति, तदपि तुच्छम्, 'व्यत्ययो बहुलम्' इति सूत्रेण तत्समाधानात्, त्वयापि तत्र तत्र तथैवाभ्युपगमात्।

अध्यात्मपक्षे तु—देवेन द्योतनात्मकेन सवित्रा सर्वजगदुत्पादकेन परमात्मना सह जुषत इति सजूः समानप्रीतिरग्निरग्रणीर्यजमानः 'यजमानोऽग्निः' (श० ६।५।४।४) इति जीवात्मा तद्विषयकप्रीतिमान् तत्प्रीतिपात्रं च, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' इति श्रुतेः। इन्द्रवत्या इन्द्रसंयुक्तया इन्द्रः परमात्मा अधिष्ठानभूतोऽस्या अस्तीति इन्द्रवती तया इन्द्रवत्या साधिष्ठानया रात्र्या भगवत्या सजूः समानप्रीतिः तत्प्रीतिमान् तत्प्रीतिपात्रं च जुषाणो नानाविधान् भोगान् सेवमानस्तथाविधोऽग्निर्वेतु सर्वं त्यक्त्वा ब्रह्मात्मकं सुखं वेतु कामयताम्। तस्मै स्वाहा इदं ब्रह्मात्मकं हविरर्पितमस्तु। तथैव सवित्रा देवेन सजूः समानप्रीतिः, इन्द्रवत्योषसा इन्द्रः परमात्मा तद्वत्योषसा रात्र्यंशभूतया प्रबोधोन्मुखया सजूः समानप्रीतिः सूर्यः क्षेत्रप्रकाशकः क्षेत्री जुषाणः संसारं सेवमानस्ततो विरज्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं परमात्मानमेव वेतु कामयताम्। तस्मै परमात्माभिन्नाय क्षेत्रिणे स्वाहा सर्वमिदं स्वाहा। तस्मिन्नेव साक्षात्कारेण प्रविलापितमस्तु।

स संसारः, ज् जयः, ऊः रतिः, संसारजये रतः सवित्रा नारायणेन जुषाणः प्रीतियुक्तो नारायणार्पणं कर्म कुर्वाणः, अथवा संसारजये रत इन्द्रदेवतावत्या रात्र्या पितृयाणाधिष्ठात्र्या देवतया जुषाणः प्रीतियुक्तः, अग्निर्यजमानः, 'यजमानोऽग्निः' (श० ६।५।४।४) स्वाहा ब्रह्मार्पणकर्मणा सकामकर्मणा वा वेतु वं विष्णुं वसतिं स्वर्गं वा एतु प्राप्नोतु। सजूः देवेन सवित्रा कैवल्यमोक्षाधिष्ठातृदेवतया प्रीतियुक्तः सूर्यो ब्रह्मभावं प्राप्तो योगी स्वाहामहावाक्योपदेशेन वेतु ब्रह्म प्राप्नोतु' इत्यादिव्याख्यानं तु क्लिष्टकल्पनाबहुलं निर्मूलं च, स्वाहापदस्य निष्कामकर्माद्यर्थत्वे मानाभावात्। तथा स्वाहापदस्य महावाक्योपदेशरूपोऽर्थोऽपि चिन्त्य एव। श्रुतिसूत्रादिविरोधस्त्वस्मिन्नर्थे स्फुट एव।

एवम्—'विविधं नवनीतादिभोगजातं कृष्णाय भगवते निवेदयन् भक्तः प्रार्थयते सवित्रा देवेन भास्करेण सजूः प्रीतिमान् यजुर्वेदमुखेन भगवता तस्मै कर्मयोगस्योपदिष्टत्वे स्वशिष्यत्वात् तत्रानुरागो युक्तः। स्वप्रियायाः कालिन्द्याः पितृत्वेन श्वसुरत्वादपि तत्रानुरागो युक्तः। इन्द्रवत्या इन्द्रो योगेश्वरः कृष्णो विद्यते यस्यां रासक्रीडारजन्यां सा इन्द्रवती शारदी राका। तया रात्र्या प्रीतिमान् अग्निः स्वोपासकानां पापराशिदग्धा परमात्मा श्रीकृष्णोऽस्माभिरपि जुषाणः"'अस्मास्वपि प्रीतो वेतु अस्मदर्पितं विविधभोजनवस्तुजातं भक्षयतु। इन्द्रः स्वभर्ताऽनिरुद्धः, तद्वती उषा वरुणपुत्री श्रीकृष्णस्य पौत्रवधूस्तया सजूः स्नेहातिरेकवान् वात्सल्यादिति भावः। सूर्यः अविद्यातमोनिरासकः श्रीकृष्णो वेतु' इति व्याख्यानं दयानन्दीयव्याख्यानापेक्षयाऽतीव सुन्दरम्, परं सिद्धान्तदृष्ट्या तु गौणार्थमेव ॥ १० ॥

स्वामी दयानन्द कहते हैं कि ईश्वर के द्वारा निर्मित अग्नि रात्रि के व्यवहारों को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार सूर्य भी उषाकाल में समस्त मूर्त द्रव्यों को प्रकाशित करता है। यह उपदेश परमेश्वर मनुष्यों को देता है और भी अन्यान्य बातें इसी प्रकार उन्होंने लिखी हैं, जो श्रौतसूत्र, शतपथ, पूर्वाचार्यों के तथा व्याकरण की दृष्टि से भी विरुद्ध हैं।

अध्यात्मपक्ष में—भगवान् श्रीकृष्ण हमारे द्वारा समर्पित वस्तुओं को स्वीकार करें। हम पर वे सर्वदा प्रसन्न रहें ॥ १० ॥

उप प्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये । आरे अस्मे च शृण्वते ॥ ११ ॥

'सायमाहुत्याᳫं हुतायां यजमानोऽग्नी उपतिष्ठते वात्सप्रेण । न वा । तिस्रस्त्रिरुपप्रयन्तोऽस्य प्रत्नां परिते चित्रावसविति चेति' (का० ४।१२।१-३) । सायं हि देवा उपविष्ठन्त इति वचनाद् वात्सप्रमिति चोपस्थानक्रिया नाम यद्यपि हुतायामित्युक्तम्, तथापि समिदाधानमन्त्रक्रमानन्तर्यात् तदनन्तरमेवोपस्थानं कर्तव्यम् । हुतशब्दो हुतप्रायविषयः । आहवनीयगार्हपत्यावग्नी उप प्रयन्तोऽध्वरमित्यारभ्य सुपोषः पोषैरित्यन्तं बृहदुपस्थानं देवदृष्टम् । तत्राद्ये द्वे आग्नेय्यौ गायत्र्यौ क्रमेण गोतमविरूपाभ्यामपि दृष्टे। तत्रादावाहवनीयोपस्थानमन्त्राः— वयं यज्ञानुष्ठातारः, उपप्रयन्त उपगच्छन्तः, अग्नयेऽग्न्यर्थमग्निप्रीत्यर्थम्, मन्त्रं मननेन त्राणकरमार्षमपौरुषेयशब्दसमूहं वोचेम उच्याम अब्रूयाम । कीदृशायाग्नये आरे दूरे अस्मे अस्माकं शृण्वते दूरेऽपि स्थिताय समीप इवास्माकं मन्त्रवाक्यं श्रोतुमुद्युक्ताय श्रवणाभिमुखाय वोचेमेति वचधातोराशीर्लिङि रूपम् । यद्वा आरे दूरे अस्मै अस्माकं समीपे च स्थिताय ।

अपरस्तु—'यज्ञमागच्छन्तः परमेश्वरस्योपासनायै मन्त्रानुच्चारयामः । सोऽस्माकं दूरे समीपे सर्वत्र शृणोति' इति । स्पष्टमत्रार्थो मन्त्राक्षराणि न स्पृशति । उपप्रयन्त इति प्रथमाबहुवचनमुपस्थानकर्तृबोधकम्, परमत्र अध्वरमुपगच्छतः परमेश्वरस्येत्यर्थो विभक्तिविपरीतः । 'अग्नये' इत्यस्यापि शब्दस्य विभक्तिविपरीतोऽर्थः । 'शृण्वते' इत्येतस्यापि विपरीतोऽर्थः । सिद्धान्ते तु वयं यजमाना अध्वरं यज्ञमुपप्रयन्तः, अग्नयेऽग्निप्रीतये मन्त्रसमूहं वोचेम उच्चारयामः । कीदृशायाग्नये ? आरे दूरे स्थितायापि, अस्मै अस्माकं समीपेऽपि स्थिताय शृण्वते मन्त्रं श्रोतुमभिमुखाय । अत्राग्निर्देवता । अग्निहोत्रे यदुद्देश्येनाहुतिर्दीयते तत्प्रीतये मन्त्रोच्चारणमुपासनमेव, सर्वात्मन ईश्वरस्यैवाग्न्यादिरूपेणाप्यवस्थानात् । 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥' (भ० गी० ९।२७) इति श्रीमद्भगवद्गीतारीत्याग्निहोत्रादीनि सर्वाण्यपि कर्माणि तदर्पणानि क्रियन्ते ।

सूत्रार्थस्तु—अग्नी आवहनीयगार्हपत्यौ वात्सप्रसंज्ञकेनोपस्थानेन वक्ष्यमाणेन 'उपप्रयन्त' (वा० सं० ३।११) इत्यारभ्य 'परि ते' (वा० सं० ३।३६) इत्यन्तेनानुवाकेन तिष्ठन्नुपतिष्ठेत । इदमेवोपस्थानं बृहदुपस्थानमुच्यते । तिस्र ऋचः, चित्रावसो इति यजुश्च यथास्थानस्थित एव त्रिर्जपेत् । नामग्रहणादेव त्रित्वसिद्धेस्तिस्र इति ग्रहणं स्वस्थानस्थितानामेव मन्त्राणां त्रिर्जपप्राप्त्यर्थम् ।

दयानन्दस्तु—'उपप्रयन्त उत्कृष्टं निष्पादयन्तो जानन्तः, अध्वरं क्रियामययज्ञं मन्त्रं वेद वेदस्थं विज्ञानहेतुं वोचेम उच्याम । अग्नये विज्ञानस्वरूपायान्तर्यामिणे जगदीश्वराय आरे दूरे, अस्मे अस्माकं शृण्वते यो यथार्थतया शृणोति तस्मै, अध्वरमुपप्रयन्तो वयम् अस्मे अस्माकं दूरे चकारात् समीपे शृण्वतेऽग्नये जगदीश्वराय मन्त्रं वोचेमोच्याम' इति, तच्च न सङ्गतम्, उपपूर्वस्येण्धातोरुत्कृष्टनिष्पत्त्यर्थत्वे मानाभावात् । शतपथे सूत्रे चाग्नेरुपस्थाने मन्त्रोऽयं प्रयुक्तः । तथाहि —'प्रजापतिर्वा एष भूत्वा यावत ईष्टे यावदेनमनु तस्य रेतः सिञ्चति । यदग्निहोत्रं जुहोतीदमेवैतत् सर्वमुपतिष्ठमानोऽनुविकरोतीदᳫं सर्वमनुप्रजनयति' (श० २।३।४।८) । यस्मात् कारणादग्न्युपस्थानमवश्यं कर्तव्यं तदुच्यते—प्रजापतिर्वेति । अग्निहोत्रहोमो हि रेतःसेकस्थानीयगर्भाशये

मन्त्रार्थ—यज्ञ में उपस्थित होनेवाले हम लोग दूर से तथा समीप से श्रवण करनेवाले अग्नि को उद्देश्य करके मन्त्र कहते हैं । सायंकाल की आहुति का होम करने के पश्चात् इस मन्त्र से लेकर सेंतीस संख्या तक के मन्त्रों से आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों का उपस्थान करना चाहिये ॥ ११ ॥

निषिक्तस्य रेतसो हस्तपादादिमत्त्वेन यद्विशिष्टरूपकरणं तदग्न्युपस्थानसाध्यम्। अतोऽग्निमुपतिष्ठमानो यजमानः सर्वमिदं निषिक्तं विशिष्टरूपं कुर्वन् अनुप्रजनयति अनुक्रमेणोत्पादयति। तस्मादवश्यमग्न्युपस्थानं कर्तव्यम्।

'स वा उपवत्या प्रतिपद्यते। इयं वा उप द्वयेनेयमुप यद्धीदं किञ्च जायतेऽस्यां तदुपजायते। अथ यन्मृच्छत्यस्यामेव तदुपोप्यते तदह्ना रात्र्या भूयो भूय एवाक्षय्यं भवति। तदक्षय्येणैवैनद् भूम्ना प्रतिपद्यते' (श० २।३।४।९)। तत्रोपस्थानाङ्गभूतायाः प्रथमाया ऋचो लिङ्गविशेषमुपन्यस्य प्रशंसति—स वेति। उपवत्या उपशब्दयुक्तया ऋचा प्रतिपद्यते उपतिष्ठते इयं वा उप योऽयमुपेत्युपसर्गः, इयं भूमिरेव सः। द्वयेन द्विप्रकारेण इयं भूमिर् उपशब्दवाच्या। तदेव प्रकारद्वयं दर्शयति—यद्धीदमिति। यत्किञ्च जायमानं तत्सर्वमस्यामुपजायते यन्मृच्छति नितरामार्तिं प्राप्नोति तदप्यस्यामेव उपोप्यते निलीयते। अतो जायमानेन लीयमानेन चेयं भूमिरुपगम्यत इत्युपशब्दवाच्या सा। यत्रेदं जायमानं लीयमानं यत् तद्भूय एव अहोरात्राभ्यामक्षय्यं भवति। तत्सम्बद्धोपशब्दयुक्तया ऋचा प्रतिपद्यमानः क्षयरहितेन भूम्ना प्रतिपद्यते। उपस्थानं प्रारभ्यते। कश्चित्तूत्पत्तिप्रलयाभावेनाहोरात्रं मन्यते। 'स आह। उपप्रयन्तोऽध्वरमित्यध्वरो वै यज्ञः। उपप्रयन्तो यज्ञमित्येवैतदाह। मन्त्रं वोचेमाग्नय इति मन्त्रमु ह्यस्मा एतद्वक्ष्यन् भवत्यारे अस्मे च शृण्वत इति। यद्यप्यस्मदारकादस्यथ न एतच्छृण्वेवैवमेवैतन्मन्यस्वेत्येवैतदाह' (श० २।३।४।१०)। क्रमेणोपस्थानमन्त्रान् विधित्सुरुपवतीमृचं विधाय प्रशंसति—यद्यप्यस्मदारकादसीति। स्पष्टार्थमेतत्। आरे अस्मे चेत्यस्मच्छब्दात् पञ्चम्यर्थे शे आदेश इति व्याचष्टे—अस्मदारकादिति। हे अग्ने! त्वं दिव्यदेवरूपत्वाद्यद्यप्यस्मत्त आरकाद् दूरे असि, तथापि शृण्वते अस्मदीयवाक्यं श्रोतुमुद्युक्ताय। अनेन शतपथीयव्याख्यानेन दिव्यत्वाल्लौकिकपुरुषेभ्यो दूरत्वमेवाग्नेरुक्तम्। अग्निशब्दस्येश्वरार्थत्वे तु दूरे स्थितिर्न सम्भवत्येव, तस्य व्यापकत्वेन सर्वगतत्वात्। दूरे स्थितस्यापि देवस्याग्नेस्तु महाभाग्यादैश्वर्यवशाद् दूरादपि श्रवणं सम्भवति। शैघ्र्येण समीपमागत्यापि श्रवणं सम्भवति। एतेन आरे समीपे 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरात्' इत्यपि न युक्तम्, शतपथश्रुतिविरोधात्।

अध्यात्मपक्षे तु—अध्वरं हिंसारहितं वैदिकमार्गप्रदातारं वा यज्ञं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदं व्यापनशीलं विष्णुम् उपप्रयन्त उपतिष्ठमाना मन्त्रं मननात् त्राणकरं तदीयं मन्त्रमष्टाक्षरं द्वादशाक्षरं वा तदवबोधकं वेदवेदान्तवाक्यसमूहं वा, अग्नये सर्वपातकपुञ्जदाहकाय ब्रह्माकारवृत्तावभिव्यक्त्या स्वातिरिक्तसर्वप्रपञ्चदाहकाय विष्णवे वोचेम उच्चारयामः। कीदृशाय? अस्मे अस्माकम् आरे दूरे स्थितायापि, चकारोऽप्यर्थकः, शृण्वते आकर्णयते स्तुतिस्तोमं श्रोतुं समुद्यताय वैकुण्ठवासिरूपदृष्ट्या व्यापकस्यापि दूरस्थायित्वसम्भवात्। यद्वा आरे वैकुण्ठपतिरूपेण चात् समीपे च प्रत्यगात्मरूपेण स्थित्वा भक्ताह्वानं शृण्वते आकर्णयते। भगवान् क्वचिदपि स्थितानां प्राणिनां

भाष्यसार—यज्ञ के समय उच्चारण किये जानेवाले मन्त्रों को सुनने के लिये अग्नि के रूप में परमेश्वर ही सम्मुख रहता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार अग्निहोत्रादि सभी कर्म उसीको अर्पित किये जाते हैं। यह मन्त्रोच्चारण उस परमेश्वर की उपासना ही है।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ करते हुए 'उप' पूर्वक 'इण्' धातु का 'उत्कृष्ट निष्पत्ति' अर्थ किया है, किन्तु वैसा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। निष्कर्ष यही है कि शतपथ, श्रौतसूत्रादि के विरुद्ध होने से वह अर्थ उपेक्षणीय है।

अध्यात्मपक्ष में—वैदिक यज्ञमार्ग के प्रदर्शक भगवान् ही हैं। उनकी कृपा से ही ब्रह्माकार वृत्ति अभिव्यक्त हो पाती है। हमारे द्वारा उच्चारित अष्टाक्षर अथवा द्वादशाक्षरादि मन्त्रों को वे सुनते रहते हैं।

प्रार्थनाः शृणोति। यत्तु—'यज्ञकरणार्थं कृष्णेन सह मन्त्रणाय धर्मराजो व्याहरत्युपप्रयन्त इति। अध्वरो हिंसारहितो यज्ञस्तमुपप्रयन्तः, अर्थादग्निष्टोमादियज्ञेऽग्नीषोमीयाः पशवो हिंसनीया इत्येकदेशिमतं निरस्तम्। तमध्वरम् उपप्रयन्तो मनसिकृतानुष्ठाननिश्चयाः, अग्नये नीतिविदग्रेसराय श्रीकृष्णाय वोचेम। कीदृशाय आरे दूरे समीपे च, अस्मे अस्माकं प्रार्थनां शृण्वते आकर्णयते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिसूत्रादिविरोधात्। यज्ञिया हिंसा त्वहिंसैव, 'तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः' (म० स्मृ०) इति मनुस्मरणात्, 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत', 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (ब्र० सू० ३।१।२५) इत्यादिश्रुतिसूत्रादीनां विद्यमानत्वात् ॥ ११ ॥

अ॒ग्निर्मू॒र्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः॑ पृथि॒व्या अ॒यम् । अ॒पाꣳ रेताꣳसि जिन्वति ॥ १२ ॥

अयं दृश्यमानोऽग्निः, दिवो द्युलोकस्य मूर्धा शिरः, अङ्गेषु मूर्धेव देवेषु प्रधानत्वात्। यथा वा मूर्धा देहस्योपरि भवति, तथाग्निरप्यहनि स्वतेजसादित्ये प्रविष्टत्वाद् आदित्यरूपेण द्युलोकस्योपरि वर्तते। सर्वोपरि वर्तमानत्वादेवायमग्निः ककुदित्युच्यते, गवां गलपृष्ठोन्नतावयवः ककुत्, तद्वदादित्यरूपेण सर्वोपरि विराजमानत्वात् ककुत्सदृश इत्यर्थः। यद्वा 'ककुदमिति महन्नाम' (निघ० ३।३।१९)। पृषोदरादित्वात् ककुद् महानात्मा हिरण्यगर्भरूपेण जगत्कारणत्वात्, 'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्' (म० १२।१२३) इति मनुवचनात्। अयमेव पृथिव्याः पतिः पालकः, दाहपाकप्रकाशादिभिः पृथ्वीलोकस्योपकारकत्वात्। तादृशादित्यरूपोऽग्निः, अपां द्युलोकाद् वृष्टिरूपेण पतन्तीनां रेतांसि साराणि व्रीहियवादिरूपेण परिणतानि जिन्वति प्रीणयति वर्धयति। यद्वा अपां रेतांसि कारणानि पुष्णाति व्रीहियवाद्याहुतिपरिणामेन वृष्टिं जनयति, 'ते वा एते आहुती उत्क्रामतः' इत्यारभ्य 'यतस्ततः पुत्रो जायते स लोकः' इति श्रुतेः।

अपरस्तु—'सर्वस्वामी परमेश्वरः सर्वोपरि विराजते। स हि लोकादाकाशादादित्याच्च महान् सोऽपामुत्पादकसामर्थ्यानि पोषयति' इति। अस्मिन् व्याख्याने पतिः पृथिव्या इत्यंशो न व्याख्यातः। रेतःपदं स्वसामर्थ्यपरमित्यत्र मूलं चिन्त्यम्। सूत्रेण चाग्न्युपस्थाने विनियुक्तस्य मन्त्रस्याग्निस्तुतावेव तात्पर्यम्, परमात्मपरत्वेन तद्विरोधः स्फुट एव।

किसी ने 'अग्नीषोमीय पश्वालम्भन' को जो 'हिंसा' शब्द से कहा है, वह उचित नहीं है, क्योंकि भगवान् ने 'यज्ञिय हिंसा' को 'अहिंसा' शब्द से कहा है। अतः वेदमन्त्र की व्याख्या वही यथार्थ कही जाती है, जो शतपथादि ब्राह्मण, श्रौतसूत्र और याज्ञिक परम्परा के विरुद्ध नहीं होती ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक का मस्तकरूप तथा वृषभ के ककुद् के समान आदित्य के रूप में सबके ऊपर रहनेवाला और सम्पूर्ण जगत् का कारण तथा पृथिवी का पालन करनेवाला यह अग्नि वृष्टि के रूप में बरसनेवाले जल के परिणामस्वरूप व्रीहि-यवरूप धान्य का संवर्धन करता है ॥ १२ ॥

भाष्यसार—ऊपर दिये गये भावार्थ में भाष्य का सार गतार्थ है, अतः पृथक् से उसको नहीं दे रहे हैं।

किसी ने अग्नि की स्तुति में इसका तात्पर्य न बताकर कुछ पृथक् अर्थ ही बताया है, किन्तु वैसा मनःकल्पित पृथक् अर्थ करने में विरोध स्पष्ट प्रतीत हो जाता है।

दयानन्दस्तु—'अग्निरीश्वरो भौतिको वा मूर्धा सर्वोपरि विराजमानो दिवः सूर्यादेर्जगतः ककुद् महान् पृथिव्यादेः पतिः। अयमपां प्राणानां जलानां रेतांसि जिन्वति रचयितुं जानाति प्रापयति वा। 'जिन्वतीति गतिकर्मसु पठितम्' (निघण्टु २।१४)। यः प्रकाशवत् सूर्यादिकमप्रकाशवत् पृथिव्यादिकं रचयित्वा प्राणेषु बलं दधाति, योऽयं पृथिव्यादिजगतः पालनहेतुर्भूत्वा विद्युज्जाठरादिरूपः प्राणानां जलानां वीर्याणि जनयतिः स एव सुखसाधको भवति' इति, तत्तु यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारबहुलव्याख्यानत्वात्।

शतपथे तु 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपाꣳसि रेताꣳसि जिन्वतीत्यन्वेव धावति। तद्यथा याचन् कल्याणं वदेदामुष्यायणो वै त्वमस्यलं वै त्वमेतस्मा असीत्येवमेषा' (श० २।३।४।११) इति सिद्धवदनूद्य तात्पर्यमाह—अन्वेव धावतीति। अनुसृत्य प्रशंसति-यथा याचक इति। याचको यथा याचन् कल्याणं वदेद् आमुष्यायण अमुकस्य विशिष्टस्य वंशज! त्वमेतस्मै याच्यमानवस्तुदानाय त्वमलं समर्थस्तथैवानयाग्निः प्रार्थ्यते। पृथिव्याः पतिर्दिव. ककुत् समर्थोऽसि त्वमस्मान् स्वर्गं प्रापयितुमित्यग्निदेवताविशेषोपस्थानपरोऽयं मन्त्र इति स्पष्टं प्रतीयते।

अध्यात्मपक्षे तु—अग्निः परमेश्वरः, दिवो द्युतेः प्रकाशस्य मूर्धा मूर्धेव मूर्धा, सर्वनैरपेक्ष्येण प्रकाशमानत्वात् सूर्यादयः प्रकाशाः स्वसजातीयप्रकाशनैरपेक्ष्येऽपि चक्षुर्मनआदिप्रकाशसापेक्षा एव। ज्योतिषामपि ज्योतिःस्वरूपः परमेश्वरस्तु सजातीयविजातीयसर्वविधप्रकाशान्तरनैरपेक्ष्येण भासमानस्तेषां मूर्धेव भवति। पृथिव्याः पृथिव्युपलक्षितस्य सर्वस्यैव जगतः सत्तास्फूर्तिप्रदानेनायमेव पालकः पतिः। स एव च अपां दुग्धदध्याज्यसोमादिलक्षणजलबहुलानामप्सुसमवेतानां कर्मणां रेतांसि तत्परिणामभूतानि शरीराणि फलानि च जिन्वति प्रीणयति पोषयति 'जिवि प्राणने'।

यत्तु—'युधिष्ठिरः सख्युः कृष्णस्य सामर्थ्यं वर्णयति—अयमग्निर्निगिरतो बकासुरस्य तालुमूलदाहकः, दिवः स्वर्गस्य ब्रह्मेन्द्रादेः ककुद् ककुदः अभिभविता महान् कृष्णेन निर्जितत्वात्। 'ककि सहने'। 'ककेरुहः' इति उह् प्रत्ययः। मूर्धा साम्प्रतं राजन्यवर्गस्य मूर्धा पराक्रमेण श्रेष्ठत्वात्। पृथिव्याः सत्राजित्सुतायाः सत्यभामायाः पतिः। एतेन कलङ्कमार्जनप्रसङ्गे बलभृतांवरो लङ्कासंग्रामेऽप्यमृतो जाम्बवान् ऋक्षराजोऽपि पराजित इति सर्वातिशायी पराक्रमोऽस्येति ध्वन्यते। अयमपां रेतांसि साराणि जलाध्यक्षं वरुणं जिन्वति प्रीणयति। स्वपित्रानयनप्रसङ्गेन तत्र गत्वा स्वदर्शनेन (बहुवचनमादरार्थम्)' इति, तत्तु भगवत्स्मारकत्वात् सिद्धान्ताविरुद्धत्वाच्च क्लिष्टकल्पनाबहुलमप्यादरणीयमेव। पृथिव्याः सत्यभामाया इत्यर्थे तु बीजं चिन्त्यम्॥ १२॥

स्वामी दयानन्द ने बताया है कि पृथिव्यादि जगत् का पालन-हेतु बनकर विद्युत् जाठरादिरूप होकर प्राण-जल के वीर्य को उत्पन्न करता है, वही सुखसाधक होता है। किन्तु यह व्याख्या निर्मूल और अध्याहारबहुल है। शतपथ के विरुद्ध होने से यह मन-मानी व्याख्या उचित प्रतीत नहीं हो रही है।

अध्यात्मपक्ष में सम्पूर्ण जगत् को सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करने के कारण परमेश्वर ही सम्पूर्ण जगत् का पालक है।

किसी ने कृष्ण के सामर्थ्य का वर्णन इसमें बताया है। इस अर्थ में क्लिष्टकल्पना के रहने पर भी उसे उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। तथापि 'पृथिवी' का अर्थ 'सत्यभामा' जो किया है, उसका हेतु चिन्तनीय है॥ १२॥

उभा वामिन्द्राग्नी आ हुवध्यै उभा राधसः सह मादयध्यै ।
उभा दातारविषाᳬ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ॥ १३ ॥

इयमैन्द्राग्नी त्रिष्टुप् । इन्द्रशब्देनात्र सूर्यो गृह्यते । 'एष वा इन्द्रो य एष तपति' । अग्निपदेन चाहवनीयाग्निः । 'स यदस्तमेति तदाहवनीयं प्रविशति तदुभावेवैतत्सह सन्ता उपतिष्ठते' (श० २।३।४।१२) इति श्रुतेः । युवामुभौ इषामन्नानां रयीणां धनानां दातारौ । अत उभौ वां युवां वाजस्यान्नस्य सातये दानाय हुवे आह्वयामि । उभशब्दस्य विभक्तेराकारः 'षणु दाने' इति धातोः 'ऊतियूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' (पा० सू० ३।३।९७) इति निपातनात् सातिः । 'ह्वेञ् आह्वाने' इति धातोः शपि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ६।१।३४) इति सम्प्रसारणे उवङि 'हुवे' इति रूपम् ।

अस्य तात्पर्यं कण्वो दर्शयति—उभौ मे दातारौ सन्तौ दत्तमित्येवैतदाहेति सायणः । अपरस्तु राजपरत्वेनैतं मन्त्रं व्याख्याति । हे ऐश्वर्यवद् राजन्, हे शत्रुसन्तापक सेनापते, उभौ युवामैश्वर्येणानन्दलाभार्थमाह्वयामि । उभौ युवामन्नानामैश्वर्यस्य च दातारौ उत्तमान्नोपलब्धये भोगाय चाहमाह्वयामि' इति, अत्र व्याख्यातुः स्वाच्छन्द्यमेव । अग्न्युपस्थानमन्त्राणां राज-सेनापतिपरत्वयोजने, वाजस्यैकपदस्याप्यन्नस्य भोगस्य प्राप्त्य इत्यर्थकरणमपि निरङ्कुशमेव । कश्चायं राजसेनापत्योराह्वाता ? किं तदाह्वानेनैव धनैश्वर्यलाभः सेत्स्यति ? किमुत्कोचदानेन भोजनदानेन वा ततो बहुलिप्सुरेवमाह्वयति, कुतश्च वेदे तदुल्लेखः ? किमीश्वरवाणीरूपे वेदे एतादृगेवोपदेशः ? यद्वा इन्द्रशब्देनात्र यज्ञसाधकत्वरूपैश्वर्यवशादाहवनीयोऽग्निरुक्तः । अग्निशब्देन च गार्हपत्योऽग्निरुक्तः, अग्रे नयतीति यास्कोक्तेः, तस्यैव प्रथममाधीयमानत्वात् । हे इन्द्राग्नी वां युवामुभौ आहुवध्यै आह्वातुमिच्छामि । ह्वयतेस्तुमर्थे 'तुमर्थे सेसेन' (पा० सू० ३।४।९) इति कध्यैप्रत्ययः । राधसो हविस्वरूपाद्धनात् (राध्नोति हिनस्ति दारिद्र्यमिति देवयज्वा) सह मादयध्यै युगपदेककर्मणि युवां मादयितुं हर्षयितुमिच्छामीति शेषः । 'मदो हर्षे, मदी तृप्तौ' इति वा धातोर्विजन्तात् तुमर्थे शध्यैप्रत्ययः ।

यत्तु आङ्पूर्वकाद् ह्वयतेः ध्यैप्रत्ययेन आहुवध्यै इत्यस्य साधुत्वमुक्तम्, तदसङ्गतम्, 'तुमर्थे सेसेन' इति सूत्रे ध्यैप्रत्ययस्यानिर्देशात् । सम्पूर्णसूत्रस्वरूपं तु—'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यै-शध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः' (पा० सू० ३।४।९) इति । उव्वटस्तु उत्तमपुरुषस्यैकवचनस्थाने कध्यैप्रत्ययेन व्याचक्षाणो विमृश्य इत्युक्तिरेव विमृश्या, तत्पक्षे इच्छामीत्यध्याहारमन्तरैव व्यत्ययेन आह्वयामीत्यर्थापनस्य वैशिष्ट्यात् ।

दयानन्दस्तु—'इन्द्राग्नी इन्द्रो वायुः, विद्युदादिरग्निश्च । येऽग्निवायुगुणानविदित्वैतौ सम्प्रयुज्य कार्याणि साधयन्ति, ते सर्वाणि धनानि प्राप्य मोदन्ते नेतरे' इति, तदपि मन्दम्, मुख्यार्थत्यागस्य गौणार्थाश्रयणस्या-

मन्त्रार्थ—हे इन्द्राग्नी देवताओं ! मैं तुमको बुलाने की इच्छा करता हूँ और इस कर्म में तुम हविर्भाग को ग्रहण करके सन्तुष्ट हो जाओ, यह इच्छा करता हूँ । तुम धन देनेवाले हो, अतः धन देने के लिए मैं तुम्हें बुला रहा हूँ ॥ १३ ॥

भाष्यसार—'इन्द्र' शब्द से यहाँ 'सूर्य' का ग्रहण किया गया है । उपर्युक्त भावार्थ के अनुकूल ही सायण ने कहा है । किसी ने इस मन्त्र की व्याख्या राजपरक की है, किन्तु वह स्वच्छन्दता से भरी हुई है । उव्वट-महीधरोक्त अर्थानुकूल व्याख्या को ही सिद्धान्त समझना उचित है ।

युक्तत्वात् । नहि त्वद्रीत्या जडयोरग्निवाय्वोरिषां रयीणां च दातृत्वं सम्भवति, न तयोराह्वानं न वा मादनं सम्भवति ।

शतपथे तु—'अथैन्द्राग्नी । उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या उभा राधसः सह मादयध्यै । उभा दाताराविषा७ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वामित्येष वा इन्द्रो य एष तपति स यदस्तमेति तदाहवनीयं प्रविशति तदुभावेवैतत्सह सन्ता उपतिष्ठते । उभौ मे सह सन्तौ दत्तामिति तस्मादैन्द्राग्नी' (श० २।३।४।१२) । अस्यामृचि इन्द्रशब्देन य एष तपति स सूर्य उच्यते । स यदस्तमेति तदाहवनीयं प्रविशति । तदुभावेव सह सन्तौ उपतिष्ठते । किमर्थम् ? सह सन्तौ दत्तं मह्यमभीष्टमित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे तु—उभा उभौ इन्द्राग्नी, इन्द्रः परमैश्वर्यवान् रामः, अग्निश्च लक्ष्मणः, दनुजवनकृशानुत्वात् । तौ रामलक्ष्मणौ कृष्णबलदेवौ वा वां युवाम् आहुवध्यै आह्वातुमिच्छामि । उभौ सहैव राधसः, राध्नुवन्ति साधयन्ति पुरुषार्थाननेन धर्मानुष्ठानेनोपासनेनाराधनेन वेति राधस्तस्माद् राधसः प्रेमधनात् प्रेममयादाराधनाद्वा मादयध्यै युवां हर्षयितुमिच्छामि उभाविषामिष्यमाणानां पदार्थानां रयीणां तत्साधनभूतानां धनानां च दातारौ वाजस्य परमपुरुषार्थभूतस्य प्रेमलक्षणस्यान्नस्य सातये दानाय वां युवां हुवे आह्वयामि । 'वज गतौ' वज्यतेऽभिगम्यते सर्वैरिति वाजः । 'हुवे' इत्यत्र छान्दसत्वात् सम्प्रसारणम् ।

कश्चित्तु—इन्द्रोऽर्जुनः, अग्निर्दैत्यदानवदहनः कृष्णस्तौ कलिन्दनन्दिनी प्रार्थयते—उभौ युवामहमाह्वातुमिच्छामि । राधस आराधनात् यथाविधिसत्कारादिसेवनात् सह युगपद् हर्षयितुमिच्छामि । युवामिषामभिलषितानां विष्णुपाणिग्रहणतत्पादपद्मसेवादिधनानां दातारौ, एकः साक्षादपरः प्रेरकत्वादिति । उभौ युवां वाजस्य विविधरुचिरभोजनस्य सातये दानाय ॥ १३ ॥

अ॒यं ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्वियो॒ यतो॑ जा॒तो अरो॑चथाः ।
तं जा॒नन्न॑ग्न आ॒रोहाथा॑ नो वर्धया र॒यिम् ॥ १४ ॥

तिस्र आग्नेय्योऽनुष्टुब्जगतीगायत्र्यः । तत्र प्रथमा देवश्रवोदेववातदृष्टा । पूर्वमन्त्रेऽग्निपदेन गार्हपत्यग्रहणेऽपि न तथात्र ग्रहणम्, यागे आहवनीयस्यैव प्राधान्यात्, मन्त्रार्थानुगमाच्च । हे अग्ने आहवनीय ! ते तवायं गार्हपत्यो योनिर् उत्पत्तिस्थानम् । कीदृशः ? ऋत्वियः । उत्पत्तियोग्यः काल ऋतुरुच्यते । ऋतुः प्राप्तोऽस्येति ऋत्वियः । सायंप्रातरादौ तत्रोत्पादकत्वेन तथाविधकालोपेतः । ऋतुशब्दात्प्राप्तोऽस्येत्यर्थे 'छन्दसि घस्' (पा० सू० ५।१।१०६) इति घसि ऋत्वियरूपनिष्पत्तिः । सायंप्रातःकाल उत्पादनयोग्यो योनिः, यतो

स्वामी दयानन्द ने मुख्यार्थ को त्यागकर गौण अर्थ का जो आश्रय किया है, वह भी अनुचित है । क्योंकि वह शतपथ, श्रौतसूत्र, याज्ञिक परम्परा तथा व्याकरण के विरुद्ध है ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे आहवनीय अग्ने ! सायं और प्रातः उत्पन्न होने योग्य जो 'गार्हपत्य' अग्नि है, वह तुम्हारा उत्पत्तिस्थान है । तुम गार्हपत्य से उत्पन्न होकर कर्मकाल में प्रकट हुए हो, इसलिये हे अग्ने ! तुम गार्हपत्य को अपना उत्पत्तिस्थान समझकर कर्म के समाप्त होने पर उसमें प्रवेश करो । तदनन्तर यागानुष्ठानार्थ हमारे द्रव्य का संवर्धन करो ॥ १४ ॥

यस्माद् ऋतुकालोपेताद् गार्हपत्याद् जात उत्पन्न उद्धृतस्त्वमरोचथाः कर्मकाले दीप्तिमानभूः। तं गार्हपत्यं स्वजनकं जानन् हे अग्ने, आरोह कर्मान्ते तत्रैव प्रविश पुनरुद्धरणाय। अथानन्तरं नः अस्माकं रयिं वर्धय पुनर्यागाय स्फीतं धनं कुरु। तथैव पुष्टं वै रयिर्यदस्माकं पुष्टं तन्नो भूय एव कुरु तन्नो वर्धयेत्येवैतदाह (श० २।३।४।१३)।

आधुनिकस्तु—'हे राजाग्ने! तव तन्मूलमाश्रयस्थानम् ऋतुषु राजकर्तृषु सदस्येष्वाश्रितम्, यतः सामर्थ्योपेतो भूत्वा त्वं प्रकाशवान् भवसि। तन्मूलकारणं सम्यग् जानन् त्वमुच्चसिंहासनारूढो भव। अस्माकमैश्वर्यं वर्धय। पूर्वमन्त्रेऽग्निपदेन सेनापतिर्गृहीतः, इह तु राजाग्निसम्बोधनं किमाधृत्य धृतमिति तु नोक्तम्। मन्त्रे—अयं योनिरित्येकवचनेन मूलकारणस्यैकत्वमुक्तम्। ऋत्वियशब्दोऽपि तस्यैव विशेषणीभूतः। परं व्याख्यात्रा तु स्वाच्छन्द्येन क्रतूनां राजकर्तॄणां सदस्यानां चाश्रयत्वमुक्तम्। मूले योनित्वमुक्तम्, व्याख्यात्रा तु ततः सामर्थ्यलाभ उच्यते। यदि निर्वाचनप्रथाङ्गीक्रियेत, तदा तु राजोत्पादकत्वमपि तत्रोपपन्नं स्यात्, किन्तु सर्वमेतद् व्याख्यानं ब्राह्मणसूत्रादिविरुद्धमेव। तत्पोषणाय 'क्रतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य वै' (१।१) इति वचनमुद्धृतम्, परं न तत्पोषकम्, यतस्तत्र सोमस्य राज्ञो राजभ्रातृत्वं क्रतूनामुक्तम्। क्रतूनां सोमस्य राज्ञः पोषकत्वात्। अयमिह प्रथमोऽधायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः। यमप्नवाना भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विम्वं विशेविश इति।

दयानन्दस्तु—'अयं वायुस्तवेश्वरस्याग्नेर्वा सृष्टौ योनिः निमित्तकारणम्, ऋत्वियः ऋतुः प्राप्तोऽस्य सः। यतो जातो अरोचथा दीपयति व्यत्ययः। हे अग्ने ईश्वर विद्युद्वा, आ समन्ताद् रोह उन्नतिं गमय गमयति वा। अथास्माकं वर्धय सर्वोत्कृष्टत्वां सम्पादयति वेति' (पृ० २५७), तदेतदपि प्रकरणविरुद्धम्, यदपि 'यथावद्विदित्वा सम्प्रयोज्य कार्याणि साधनीयानि' इति, तदपि निःसारं प्रयोगस्यानुक्तत्वात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर! 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। अयमपरोक्षः प्रत्यगात्मा योनिर् आविर्भावस्थानम्, प्रत्यगभेदेनैव परमेश्वरस्य स्वप्रकाशत्वपरप्रेमास्पदत्वपरमानन्दत्वाद्याविर्भावसम्भवात्। स्वतस्तु परोक्षत्वादिकमेवानुभूयते। ऋत्विय आविर्भावयोग्यः काल ऋतुः। ब्रह्माकारवृत्त्युत्पत्तिकाले प्रादुर्भावयोग्यः। यतः स्वप्रकाशपरमानन्दरूपेणाविर्भूतो भवति, तमारोह प्रत्यगात्मरूपेणाविर्भव। अथानन्तरं रयिं ब्रह्मात्मनिष्ठारूपां सम्पत्तिं वर्धय उत्कृष्टभूमिकां प्रापय॥ १४॥

भाष्यसार—पूर्व मन्त्र में 'अग्नि' पद से 'गार्हपत्य' का ग्रहण किया गया था, किन्तु इस मन्त्र में वैसा नहीं है, क्योंकि मन्त्रार्थ के अनुगमानुरोध से यहाँ 'आहवनीय' की ही प्रधानता है।

किसी आधुनिक व्याख्याकार ने राजाग्निपरक व्याख्या की है, किन्तु ऐसी व्याख्या करने का कोई आधार स्पष्ट नहीं है। शतपथादि ब्राह्मण, सूत्र आदि के विरुद्ध रहने से इस प्रकार की व्याख्या को त्याज्य कोटि में समझना चाहिये।

स्वामी दयानन्द ने भी प्रकरणविरुद्ध ही अर्थ किया है। यह श्रुति-सूत्र विरुद्ध भी है, अतः उपेक्षणीय ही है।

अध्यात्मपक्ष में—ज्ञाननिष्ठा में तत्पर रहने वाले के लिये कहा गया है कि ब्रह्मात्मनिष्ठारूप सम्पत्ति को वृद्धिगत करो॥ १४॥

अयमिह प्रथमोऽधायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ १५ ॥

इयं जगती वामदेवदृष्टा । अयमाहवनीय इह कर्मानुष्ठानस्थाने प्रथमः मुख्यः । धातृभिर् आधानकर्तृभिरधायि आहितः । होता देवानामाह्वाता । यजिष्ठो मानुषाद्धोतुरग्निरूपो होता यष्टृतमः, देवानामाह्वानाय यजिष्ठोऽतिशयेन यागोपयुक्तो वा । अध्वरेषु सोमादियज्ञेषु । ईड्यः स्तुत्यः । यमप्नवानो यमग्निं वनेषु वन्यारणिष्वास्थितमाधाय पूर्वेऽपि ऋषय अप्नवानप्रभृतयो भृगवो भृगोरपत्यानि, विरुरुचुः विविधां दीप्तिं प्राप्तवन्तः । कीदृशम् ? चित्रं चयनयागादिषु चयनीयम् । पुनः कीदृशम् ? विशेविशे विभ्वं विशिष्टजनेषु व्यापकं विभूतिशक्तियुतं वा ।

सायणरीत्या तु—अप्नशब्दस्य अपत्यनामसु पठितत्वाद् अप्नवानः पुत्रवन्तः भृगवो भृगुवंशोत्पन्नाः सर्वे महर्षयो विशेविशे विडिति मनुष्यनाम तस्मै तस्मै यजमानरूपाय मनुष्याय तस्योपकारार्थं वनेषु ग्रामाद् बहिर्यजनाख्येषु अरण्यप्रदेशेषु यमाहवनीयमग्निं रुरुचुर्विशेषेण दीपितवन्तः । कीदृशमग्निम् ? चित्रं विविधकर्मोपयोगित्वेन विचित्रमाश्चर्यकारिणं विभ्वं विभुत्वशक्तियुक्तम् । अयमित्यस्य मुख्यार्थपरत्वं तित्तिरिर्दर्शयति—'अयमिह प्रथमोऽधायि धातृभिरित्याह मुख्यमेवैनं करोति' इति ।

अध्यात्मपक्षे—इहलोके वेदे चायमपरोक्षः प्रत्यगात्मा प्रथमः प्रामुख्येन धातृभिर्लौकिकवैदिकव्यवहारपरायणैर्धायि न्यधायि पुरस्कृतः । अयमेव होता देवानामाह्वाता । अयमेव यजिष्ठो यष्टृतमः । अध्वरेषु प्रस्तुतेष्वयमेव यागादिकर्तृयजमानरूपेण हिरण्यगर्भादिरूपेण परमात्मरूपेण च ईड्यः स्तुत्यः । ध्यायिभिः प्रसंख्यानपरायणैश्चायमेव परमात्मरूपेण हृदये धायि ध्येयत्वेन धारितः । अप्नवन्तः पुत्रवन्तो भृगवो भृगुपत्न्या रक्षिताः सर्वे ऋषय आत्मरूपेण परमात्मरूपेण वने विरुरुचुः विशेषेण दीपितवन्तः प्रकाशितवन्तः, विशेविशे प्रतिजनं प्रतिप्रजनं चित्रमद्भुतमनेकधा देवतिर्यगादिरूपेणावस्थितं विभ्वं विभुताशक्तियुतं रोचयामासुः । अन्तर्भावितणिजर्थाद्विपूर्वकाद् रोचते रूपम् । अयं परमात्मा निर्गुणः सगुणो निराकारो वा साकारो वा रामः कृष्णः परशुरामो वा प्रथमः प्राथम्येन प्रामुख्येन धातृभिः श्रुतिशास्त्रकारकैर्ब्राह्मणैः, अधायि सर्वकार्येषु पुरस्कृतः, तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धच च' (भ० गी० ८।७) इति भगवत्स्मरणात् । होता पुण्याचरणाय सर्वेषां देवानां दानवानां मानवानां च आह्वाता अध्वरेषु यज्ञेषु याजकैर्यष्टृभिश्च स एवेड्यः । स्वयं च यजिष्ठो यष्टृतमो यजमानेषु शक्तिप्रदानेन रामकृष्णपरशुरामादिरूपेण च यजमानो भूत्वा अतिशयेन

मन्त्रार्थ—यह आहवनीय अग्नि इस स्थान में मुख्य है और आधान करनेवाले यजमान के द्वारा उसका स्थापन किया गया है। यह अग्नि देवताओं का आवाहन करनेवाला (बुलानेवाला) और उत्कृष्ट प्रकार से याग करने वाला है। यज्ञ में ऋत्विग् लोग उसकी स्तुति करते हैं। भृगुकुलोत्पन्न पुत्रवान् मुनियों ने प्रत्येक यजमान के लिये अरण्य में इस अग्नि को प्रदीप्त किया था। इस अग्नि का भिन्न-भिन्न कर्मों में उपयोग होता है, अतः वह महान् आश्चर्यकारक और व्यापक है ॥ १५ ॥

भाष्यसार—यजिष्ठः, अर्थात् मनुष्य होता की अपेक्षा यह अग्निरूप होता यष्टृतम, अर्थात् देवों को बुलाने में अधिक कुशल है। चयनादि यागों में चयनीय होने से इसे 'चित्र' कहा गया है।

यष्टा, अप्नवानः पुत्रवन्तो वनेषु भृगूपलक्षिता मुनय ऋषयश्च यं ध्यात्वा विरुरुचुः लोके वेदे च दीप्तिमन्तोऽभूवन्, वेदपुराणादिशास्त्रैः कर्मोपासनज्ञानैर्यं विरोचयामासुश्च। कीदृशं तम्? चित्रमाश्चर्यमयम् 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (भ० गी० २।२९) इत्यादिस्मरणात्। विभ्वं व्यापकं विशेविशे प्रतिजनं विरुरुचुः प्रकाशितवन्तः।

दयानन्दस्तु—'अप्नवानो भृगवो विद्वांस इह वनेष्वध्वरेषु विशेविशे विभ्वं चित्रं यमग्निं विरुरुचुर्विदीपयन्ति सोऽयं धातृभिः प्रथम ईड्यः। होता यजिष्ठोऽग्निरिह धायि ध्रियते। अप्नवान इति अप्नान् विद्यासन्तानान् कुर्वन्ति ते अप्नवानः। 'अप्न इति अपत्यनामसु पठितम्' (निघण्टु २।२), 'भृगव इति पदनामसु' (निघण्टु ५।५) अनेन ज्ञानवत्त्वं गृह्यते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वायुजलादिशुद्ध्यर्थमग्नौ घृतादिनिःक्षेपस्य अध्वरयज्ञादिशब्दव्यपदेश्यताऽसम्भवात्, श्रुतिसूत्रादिविरोधाच्च ॥ १५ ॥

अस्य प्रत्नामनु द्युतꣳ शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम् ॥ १६ ॥

अवत्सारदृष्टा गायत्री गोऽग्निपयोदेवत्या अग्न्युपस्थाने विनियुक्ता। 'स वै त्रिः प्रथमां जपति त्रिरुत्तमाम्' इति 'उपप्रयन्त' इत्यस्या इव 'अस्य प्रत्नाम्' इत्यस्या अपि उत्थाय त्रिर्जपः कार्यः। अस्याग्नेः प्रत्नां चिरन्तनीं द्युतं दीप्तिमनुसृत्य अह्रयो लज्जारहिता दोग्धारम् ऋषिम् अर्षति दोहनस्थाने गच्छतीति ऋषिर्गौः, ऋषी गताविति तन्निष्पत्तेः। तामृषिं गां शुक्रं शुक्लं श्वेतवर्णं पयः दुह्रे दुदुहेऽग्निहोत्रहोमार्थं दुग्धवन्तः। सायंदोहनकालेऽग्निसम्बन्धिदीप्ति(प्रकाशा)भावे दुह्यमानं क्षीरं भूमौ निपतिष्यतीत्येवं दोग्धॄणां लज्जा भवति। अग्निदीप्तौ सत्यां तु दुग्धपतनशङ्काभावाद् लज्जादोषो नास्ति। सहस्रसामिति गोर्विशेषणम्। सहस्रसंख्याकानि कर्माणि स्यति क्षीरदध्याज्यादिप्रदानेन समापयति पूरयतीति सहस्रसा, तां सहस्रसामिति सायणानुसारी भावः।

अपरस्तु—'दूराद् दूरं प्रज्ञया व्याप्नुवन्तो विद्वांसोऽस्य राज्ञः श्रेष्ठां कान्तिं सहस्रसंख्याकानां जनानामन्नवस्त्रशरणप्रदं पुष्टिकारकं बलं च गोदुग्धमिव प्राप्नुवन्ति' इति, अत्र विद्वांसोऽविद्वांसो वा कथमन्यनिष्ठां कान्तिं बलं च प्राप्तुं शक्नुवन्तीति न विचारितम्, अन्यनिष्ठरूपस्येवान्यनिष्ठकान्तेरन्यत्र संक्रान्त्यसम्भवात्। प्रत्नां सहस्रसामित्यादीनां पदानामर्थास्तु नोक्ताः। पदानपेक्षेच्छामात्रेण यत्किञ्चित् कथनं तु न वेदार्थः। सिद्धान्ते तूपस्थाप्यत्वेन प्रकृतस्याग्नेः प्रकृतपरामर्शिनेदमा ग्रहणं युक्तम्। राज्ञो ग्रहणे प्रकृतहान्यप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम्।

अध्यात्मपक्ष में—यह परमात्मा निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, राम-कृष्ण, परशुराम आदि सभी रूपों में वेद-शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मणों के द्वारा प्रमुखतया पुरस्कृत किया जाता है।

स्वामी दयानन्द ने वायु-जल आदि की शुद्धि के लिये अग्नि में घृत के प्रक्षेप को 'अध्वर' कहा है, किन्तु यह अर्थ तो श्रुति-सूत्र आदि के विरुद्ध रहने से ग्राह्य नहीं है ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—बहुत प्राचीन काल से इस अग्नि की कान्ति का अनुसरण करके (अग्नि की दीप्ति की ओर ध्यान देकर) दोहनेवाले लोग, निःसङ्कोच होकर जिसके दूध का उपयोग हजारों कार्यों में किया जाता है, ऐसी गौ के दूध का दोहन किया करते थे ॥ १६ ॥

उव्वटमहीधररीत्या तु—'तामुहाग्निरभिदध्यौ मिथुन्येन यास्यामीति ताँ᳭ह सम्बभूव तस्यां रेतः प्रासिञ्चत्' इत्यग्निहोत्रब्राह्मणोक्तमर्थमभिवदतीयमृक्। ब्राह्मणार्थस्तु—अग्निस्तां गामभिलक्ष्य दध्यौ चिन्तनं कृतवान् मिथुनधर्मेणैतामुपयास्यामीत्येवं ध्यात्वा तां सम्बभूव तया मिथुनीभूतस्तस्यां रेतः प्रसिक्तवान्। ननु चेदमश्लीलमिति चेन्न, श्रुतेरपौरुषेयत्वेनापास्तसमस्तकलङ्कपङ्कछाया अपर्यनुयोज्यत्वात्। तेनार्थमेवावगन्तुं शक्ष्यामो न पर्यनुयोक्तुम्। सत्यघटनायाः स्वानभीष्टाया अपि वर्णनं न दूषणम्। वस्तुतस्तु नेदमश्लीलम्, 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' (भ० गी० १४।३) इतिवत्तत्समाधानोपपत्तेः। परमेश्वरः प्राकृतपुरुषवत् प्रकृतियोनौ न गर्भं दधाति, किन्तु स्वप्रतिबिम्बरूपं तेजस्तत्र निःक्षिपति। तेनैवाचेतनापि प्रकृतिश्चेतना भवति ततो महदादिप्रपञ्चं प्रसूते, तथैवाग्निरपि गोषु विलक्षणसामर्थ्योपेतं तेजो निक्षिपति, तेनैव तद्गतं घासादिकमुज्ज्वलदुग्धरूपेण परिणमते। उपलक्षणमिदम्। सर्वत्रैव स्त्रीष्वग्नितेजसैव दुग्धं भवति, तेनैवान्नादिपरिणामसम्भवात्। अत्र त्वग्नि-गो-पयसामग्निहोत्रादियज्ञसम्बन्धेन प्रशंसामिषेणैव तथोक्तिः, विधिना त्वेकवाक्यत्वेनार्थवादानां विधेयार्थप्राशस्त्यबोधपर्यवसायित्वात्। सामान्यस्त्रीणामपि—'अग्निष्टे प्रथमः पतिः' इति मन्त्रेणैवाग्नेः प्रथमपतित्वमुक्तम्।

मन्त्रार्थस्तु—अह्रयो गावः, नास्ति ह्रीर्यासां ता अह्रयः अलज्जाः प्रशस्ताः। मलिनो हि लज्जते न निर्मलः। निर्मला हि गावः, ब्राह्मणोक्ताग्निकृत्तेजोनिःक्षेपस्य लज्जानास्पदत्वात्। तादृश्योऽह्रयो गावोऽग्नेः प्रत्नां स्वभावसिद्धां चिरन्तनीं द्युतं द्युतिमात्मनि सिक्तां शुक्रं शुक्ररूपापन्नां द्युतमेव पयो दुग्धं दुहन्ति क्षरन्ति। अग्निना शुक्ररूपेण सिक्तां तदीयकान्तिमेव गावो दुग्धरूपेण क्षरन्ति। अस्मिन् व्याख्याने सहस्रसामृषिमिति च पयसो विशेषणे सहस्रं सनोतीति सहस्रसा तं 'षण् संभक्तौ' चातुर्मास्यपशुसोमानां संभक्तारम्। पुंस्त्वमार्षम्। संभक्तृसम्पादयित्रि इत्यर्थः, पयसैव तन्निष्पत्तेः। ऋषिं द्रष्टारम्, सामहिंकारद्रष्ट्रित्यर्थः। गत्रि वर्तमानं द्रष्टृत्वं तत्पयस्युपचर्यते, सा हैनानुदीक्ष्य हिंचकारेत्युपक्रम्य ते देवा विदाञ्चक्रुरेष साम्नो हिंकार इति श्रुत्या गोर्हिङ्कारद्रष्टृत्वोक्तेः। विभक्तिलिङ्गवचनव्यत्ययेन तु अह्रिय इत्यस्यैव तद्विशेषणम्। तेनाह्रियो गाव एव चातुर्मास्यादियागसम्पादयित्र्यः। ता एव हिंकारद्रष्ट्र्यः। उव्वटभाष्ये—शुक्ररूपापन्नां गां दुग्धं क्षरन्ति। का दुहन्ति रक्षन्तिका इति वाक्यानि संशोधकप्रमादजनितान्येव। तत्र गामिति स्थाने गावः, रक्षन्तीति स्थाने क्षरन्ति, का दुहन्ति रक्षन्तीति स्थाने का दुहन्ति क्षरन्तीति शोधने पूर्वोक्त एवार्थः। तज्ज्ञात्वैव महीधरेण तदनुसारेणैव व्याख्यातम्।

अध्यात्मपक्षे तु—अह्रयो लज्जाभयशोकादिवर्जिता वीतरागा अस्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नस्य परमेश्वरस्य प्रत्नां पुराणीं पुराप्यभिनवां सहस्रसां स्वज्योतिषा सूर्यचन्द्रादिसहस्रप्रकाशप्रदां द्युतं स्वरूपभूतां दीप्तिमृषिं सर्वद्रष्ट्रीमनुसृत्य शुक्रं शुद्धं तद्विषयमपरोक्षसाक्षात्काररूपं पयो दुदुह्रिरे प्रपूरितवन्तः।

भाष्यसार—यहाँ 'ऋषि' शब्द का अर्थ 'गो' है। सायंकाल के समय दोहनकाल में प्रकाश न रहने से भूमि पर दूध के गिरने से दोहनेवाले को लज्जा होना स्वाभाविक है। किन्तु अग्नि का प्रकाश होने पर दूध के गिरने की शङ्का नहीं रहती, इसलिये ग्वाले लज्जारहित हो जाते हैं।

किसी ने अपनी स्वच्छन्द व्याख्या को ही वेदमन्त्र की व्याख्या समझ लिया है, किन्तु वैसा साहस दिखाना उचित नहीं है। उव्वट-महीधर की व्याख्या ही वस्तुतः व्याख्या है, क्योंकि शतपथ, सूत्र, परम्परा आदि सभी व्याख्यागुणों से युक्त है। उव्वट की व्याख्या में किसी को 'अश्लीलता' दोष दिखाई देता है, किन्तु वह देखने वाले के

'अस्य जमदग्नेः प्रत्नामतिप्राचीनां द्युतं सर्वाभिलषितप्रदत्वेन द्योतमानां कामधेनुमनुभूय मयासौ क्रेतव्येति निश्चित्य अह्रियो निर्लज्जा राजानुचराः सत्कर्तुरपि मुनेर्धेनुं नेतारः । ऋषिं ऋषेः, गौणकर्मणि द्वितीया । सहस्रसां सहस्रप्रदाद् गोः शुक्रं शुद्धं पयो दुग्धमिव दुदुह्रिरे । दोहनं चात्र सारयुक्तवस्तुनः सारस्य पृथक्करणम्' इति, तत्तु बलादिव स्वाभिमतेऽर्थे मन्त्रस्य योजनमिव, दयानन्दीयव्याख्यानवत् क्लिष्टकल्पनाबहुलं च ।

दयानन्दस्तु—'अस्याग्नेः प्रत्नामनादिवर्तमानां पुराणीमनादिं स्वरूपेण नित्याम् अनु पश्चाद् द्युतं कारणस्थां दीप्तिं शुक्रं कार्यकरं साधनं दुदुह्रे प्रपूरयन्ति । अह्रयः अह्नुवन्ति व्याप्नुवन्ति सर्वा विद्या ये ते विद्वांसः । 'अह व्याप्तौ' इत्यस्माद् बाहुलकेनौणादिकः क्विन्प्रत्ययः । पयो जलं सहस्रसां या सहस्राण्यसंख्यातानि कार्याणि सनोति ताम् ऋषिं कार्यसिद्धिप्राप्तिहेतुम् । अन्वयस्तु—अह्रयो विद्वांसोऽस्याग्नेः सहस्रसामृषिं प्रत्नां द्युतं ज्ञात्वा शुक्रं पयश्चानु दुदुह्रे प्रपूरयन्ति । सर्वविद्याव्यापका विद्वांसोऽस्याग्नेः सहस्रसामसंख्यातकार्यप्रदामृषिं कार्यसिद्धिप्रापिकां प्रत्नां द्युतं कारणस्थां दीप्तिं ज्ञात्वा शुक्रं कार्याणां साधनरूपं पयो जलमनुदुदुह्रे अनुपूरयन्ति, अर्थाद् अग्नौ हवनादिकं कृत्वा वृष्ट्या संसारं पूरयन्ति' इति हिन्दीभाषार्थ इति, तदप्यसाम्प्रतम्, अनिरूपणात् । अग्नेः सा कारणस्था द्युतिर्या असंख्यातकार्याणां प्रापिका अग्नेः कारणं वायुर्भवति तत्र द्युतिरेव नास्ति । शुक्रं कार्यकरं साधनमिति तु निर्मूलमेव । अत्र ज्ञात्वेत्यध्याहारोऽपि निर्मूलः । अग्नौ हवनादिकं कृत्वेत्यादिकमप्यक्षरबाह्यमेव । 'अह व्याप्तौ' इति धातोर् अह्रय इति साधनमपि निरर्थकम्, विदुषां जीवानामणुत्वेन व्यापकत्वासम्भवात् । न च जीवानां सर्वविद्याव्यापकत्वमपि, जीवस्य सार्वज्ञ्याभावात् । नहि धनादिप्रापकस्यापि देवदत्तस्य तद्व्यापकत्वमुच्यते ।

यत्तु—'अह्लोतेर्वा क्विन्प्रत्ययः, ज्ञातार इति भट्टभास्करः' (पृ० २६१) इति, तत्तु धातोरनेकार्थत्वाश्रयेण ज्ञातव्यम् । न च प्रसिद्धार्थत्वे सम्भवत्यप्रसिद्धार्थाश्रयणं युक्तम्, तस्मादुव्वटसायणमहीधराणां नास्ति ह्रीर्लज्जा यासां ता अह्रय इति व्याख्यानमेव विजयते । वस्तुतस्तूव्वटाद्युद्धृतब्राह्मणानुसारेणाग्ने रेतोगर्भाधानप्रसङ्गेन गवां लज्जा प्राप्ता, तन्निवारणाय अह्रयो लज्जारहिता इत्येवार्थो युक्तः, व्याप्त्यर्थस्य धातोस्तत्रासङ्गतेः, अर्थानुसारेण स्वरव्यत्ययस्यापीष्टत्वात् ।

यत्तु कश्चित्तदनुकरणं कृत्वा 'पयोदोहने व्याप्तिमन्तस्त्वरया गोदोहनसम्भारमाप्नुवानाः' इत्युक्तवान्, तदपि तथाविधमेव युक्तिशून्यम्, कर्तॄणां कार्यव्यापकत्वासम्भवात् । नहि सर्वभूमिप्रापकोऽपि राजा भूमिं व्याप्नोति । तद्गतस्वामित्वमात्रेणौपचारिकमेव तद्व्यापकत्वमिति मन्तव्यम् ।

एवमेव 'वेदे पश्यत्यर्थं ऋषिः, दोग्धारः कदा मां दुहन्तीति कालं प्रतीक्षमाणाम्' इत्यपि यत्किञ्चित्, दर्शनप्रतीक्षयोर्भेदप्रसिद्धेः ।

मन में जमी अपनी अश्लीलता ही उसके सामने उपस्थित होती है और उसे दिखाई देती है, जिसे वह विश्वमान्य प्राचीन व्याख्याकारों की व्याख्या पर मढ़ने का प्रयत्न करता है ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, उसमें न तो कार्य-कारणभाव ही ठीक बैठ पा रहा है और न व्याकरण की संगति ही हो रही है । शतपथ, सूत्र आदि से तो व्याख्या का कोई मेल ही नहीं है, अतः ऐसी व्याख्या को सारहीन ही कहना होगा ।

शतपथे च—'अस्य प्रत्नाम् । अनुद्युतꣳ शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः । पयः सहस्रसामृषिमिति परमा वा एषा सनीनां यत्सहस्रसनिस्तदेतस्यावरुद्ध्यै तस्मादाह पयः सहस्रसामृषिमिति' (श० २।३।४।१५) । षष्ठीमृचं विधातुं प्रशंसति—परमा वा एषा इति । सनीनां दानानां मध्ये यत् सहस्रसनि सहस्रसंख्याकस्य दानम्, एषा परमा सनिः ॥ १६ ॥

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥ १७ ॥

यजूंष्येतानि चत्वारि अग्निदेवत्यानि । हे अग्ने ! यस्त्वं स्वभावत एव तनूपा असि प्रकरणादग्निहोत्रिणां तनूः शरीराणि पासि गोपायिता, स त्वं मे मम तन्वं शरीरं पाहि गोपाय । यस्त्वमायुर्दा आयुषो दातासि हे अग्ने ! स त्वं मे मम आयुर्देहि । अत एव शरीरेषु यावदग्नेरौष्ण्यं पाचकत्वं च भवति तावदेव जीवनं भवति । हे अग्ने ! त्वं वर्चोदा वर्चसो वैदिकानुष्ठानप्रयुक्तस्य तेजसो दातासि, अतो मे वर्चो देहि येनाहं वर्चस्वी स्याम् । हे अग्ने ! मे मम तन्वाः शरीरस्य यत् चक्षुराद्यङ्गम् ऊनं न्यूनं दृष्टिपाटवादिरहितं तन्मे मम आपृण आसमन्तात् पूरय । अग्नेरनुग्रहेणैव समुचितरसपाकादिनिष्पत्त्या शरीरस्य व्यङ्गतानिवृत्त्या पूर्णं सौष्ठवं जायते ।

आधुनिकस्तु अग्निशब्देन परमेश्वरो बोध्यत इति वक्ति, तत्तु श्रुतिविरुद्धमेव, मन्त्रस्यास्य कर्मसु विनियोगात् । 'यस्तनूपाः सर्वपदार्थदेहान् पाति परमेश्वरो भौतिकोऽग्निर्वा असि अस्ति । सर्वत्र व्यत्ययः । तन्वं शरीरं पाहि पाति वा । अग्ने विज्ञानरूपेश्वर विज्ञाननिमित्तोऽग्निर्वा असि । आयुर्जीवनं मे देहि ददाति । वर्चो विज्ञानं ददातीति वर्चोदाः । अग्ने सर्वविद्यामयेश्वर विद्याहेतुर्वा वर्चो विद्याप्राप्तिं मे देहि । हे अग्ने ! कामानां प्रपूरकेश्वर कामपूर्तिहेतुर्वा मम तन्वा अन्तःकरणाख्यस्य बाह्यस्य शरीरस्य वा ऊनमपर्याप्तं तत् तावत् तस्माद्वा आपृण पूरयति वा' (पृ० २६३) इति दयानन्दीयं व्याख्यानं त्वसङ्गतमेव, प्रकरणविरोधादसङ्गतेः, भौतिकाग्निपक्षे जडादायुरादिप्रार्थनासङ्गतेश्च ।

शतपथे—'यद्ध वा अग्निहोत्रं जुह्वद् बाह्येन कर्मणा वा मिथ्या करोत्यात्मनस्तदवघात्यायुषो वर्चसो वा प्रजायै वा' (श० २।३।४।२०), 'तदु खलु तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृणेति' (श० २।३।४।१९) । तनूपा अग्नेऽसीत्यादिमन्त्रैराहवनीयोपस्थानं विधित्सुस्तन्निवर्त्यं दोषमुपन्यस्यति यद्ध वा इति । अग्निहोत्रहोमं कुर्वन्

अध्यात्मपक्ष में—प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमेश्वर की प्रकाशप्रद सूर्य-चन्द्रादिरूप कान्ति का आश्रय कर वीतराग, ज्ञानी, भक्त आदि जन अपरोक्ष साक्षात्कार किया करते हैं ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! स्वाभाविक रूप से ही तुम अग्निहोत्री के शरीर के रक्षक हो, अतः मेरे शरीर का पालन करो । उसी प्रकार तुम आयु और तेज के देने वाले हो, अतः मुझे आयु और तेज दो । हे अग्ने ! मेरे शरीर और इन्द्रियों में जो न्यूनता हो, उसे तुम पूर्ण कर दो ॥ १७ ॥

भाष्यसार—'तनूं पाति' शरीर का जो पालन करता है, उसे 'तनूपा' कहते हैं । उदराग्नि में अन्न के जीर्ण होने पर ही शरीरपालन होता है । अपमृत्यु के परिहार के द्वारा आयु की कामना की गई है, क्योंकि अग्नि ही आयु का दाता है । जितने समय तक शरीर में उदराग्नि की उष्णता उपलब्ध होती है, तब तक मनुष्य मरता नहीं है ।

बाह्येन व्यवहारसाध्येन मन्त्रोच्चारणेन शरीरसाध्येन कर्मणा यन्मिथ्याकरोति अन्यथानुतिष्ठति तत् तेन आत्मनो यजमानस्य आयुषो जीवनस्य वर्चसस्तेजसः प्रजायाश्च अवद्यति । वाशब्दश्चार्थे । तद्दोषपरिजिहीर्षया तदुचितमन्त्रकरणकोपस्थानं कर्तव्यम् । तदु खलु तत्र खलु दोषे सति तनूपा अग्ने इत्यादिमन्त्रेणोपस्थानं कार्यम् । मन्त्रार्थस्तूक्त एव । दयानन्दीयं व्याख्यानं नैनमर्थं मनागपि स्पृशति ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने परमेश्वर ! त्वं तनूपा असि । सर्वेषामपि पदार्थानां तनूः शरीराणि स्वसत्तया स्फूर्त्या च सत्तावन्ति स्फूर्तिमन्ति च करोषि । अतो मे मम जिज्ञासोः, तन्वं स्वरूपं प्रत्यक्चैतन्यरूपं पाहि विवेकप्रदानेन अनात्मतादात्म्याध्यासाद् रक्ष । हे अग्ने ! आयुर्जीवनं ददासि स्वसत्तया सर्वपदार्थसत्त्वं सम्पादयसि, अतो मे मह्यमपि, आयुर् अनात्मनैरपेक्ष्येण स्वात्मनावस्थानहेतुभूतं स्वरूपसत्त्वं देहि; घटाकाशस्य महाकाशेनेव प्रतीचः परमात्मसत्त्वेन सत्तावत्त्वात् । हे अग्ने ! स्वप्रकाशपरमात्मन् ! त्वं वर्चोदाः सूक्तादिषु कर्मोपासनादिपरिनिष्ठितेषु च वर्चस्तेजः प्रकाशं ब्रह्मतेजश्च ददासि । अतो मे वर्चः प्रत्यगभिन्नब्रह्मापवरकाज्ञानापनोदनेन निवारणात्मप्रकाशरूपं वर्चो देहि । यन्मे तन्वश्चिदात्मशरीरस्योनमनात्मारोपेणाविवेकेन वा न्यूनत्वं व्यङ्गत्वं कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यारोपेणापरिच्छिन्नत्वं पूर्णत्वं परमानन्दरूपत्वमावृतं तदावरणेन आपृण आसमन्तात् पूरय ।

यत्तु—'हे अग्ने जगदग्रणीः ! मे तत्त्वं तनूं सगर्भां पाहि रक्ष त्वं जगतस्तनूनां पालकोऽसि' इत्यादिनोत्तराकृतस्वगर्भरक्षणप्रार्थनापरत्वेन योजितम्, तत्तु यत्किञ्चित्, 'कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम्' (भा० पु० १।८।१०) इति श्रीमद्भागवतविरोधात् । मन्त्रे तु तन्वा रक्षा प्रार्थिता न गर्भरक्षेति ॥ १७ ॥

इन्धा॑नास्त्वा श॒तꣳ हिमा॑ द्यु॒मन्त॒ꣳ समि॑धीमहि । वय॑स्वन्तो वय॒स्कृत॒ꣳ सह॑स्वन्तः सह॒स्कृत॑म् । अग्ने॑ सपत्न॒दम्भ॑न॒मद॑ब्धासो॒ अदा॑भ्यम् । चित्रा॑वसो स्व॒स्ति ते॑ पा॒रम॑शीय ॥ १८ ॥

अग्निदेवत्या महापङ्क्तिः, यस्यामष्टाक्षराः षट्पादा भवन्ति सा पङ्क्तिः, षष्ठः पादस्त्वत्र सप्ताक्षर एव । हे अग्ने शतं हिमा शतं वर्षाणि त्वा त्वां समिधीमहि नैरन्तर्येण त्वत्परिचर्यया त्वां वर्धयामः । यथा शरच्छब्देन संवत्सरोऽभिधीयते, तथैव हिमशब्देनापि संवत्सरो बोध्यते । यथेदानीं वसन्तसम्पाताद्वसन्तेन संवत्सरः प्रवर्तते, तथैव कदाचिच्छरदा कदाचिच्च हेमन्तेनापि सम्पातानुसारेण संवत्सरप्रतीतिरासीत् । नित्यया श्रुत्या शरद्धिमशब्दाभ्यां संवत्सरव्यवहृतिरुच्यते । हिमशरदो रोगबाहुल्यशीताधिक्यादिभिर्दुरत्ययत्वात् तदुत्पद्यते, संवत्सरजीवनं निश्चप्रचं भवतीति वा हिमादिशब्दैः संवत्सराभिधानम् । कीदृशा वयम् ? इन्धानास्त्वदनुग्रहेण दीप्यमानदैवब्रह्मवर्चस्विनः सन्तः सम्पन्नास्तथा वयस्वन्तः अन्नवन्तो दैववित्तमानुषवित्तपूर्णाः, सहस्वन्तः बलवीर्यवन्तः, अदब्धासः केनचिदनुपद्रुताः शाल्वादिकृतबाधारहितास्त्वत्प्रसादेसर्वेन षड्गुणसामग्र्यादिसम्पन्नाः सर्वोपद्रवरहितास्त्वा

वैदिकानुष्ठान से प्राप्त होने वाले 'तेज' को 'वर्च' कहते हैं । जिसके देखते ही दर्शकों को यह अनुभव होता है कि यह ब्राह्मण महान् व्यक्ति है, महान् विद्वान् है, यह अपनी तपस्या से अग्नि के समान जाज्वल्यमान कान्ति से चमक रहा है, उसे 'वर्चस्' = तेज कहते हैं ।

स्वामी दयानन्द ने भौतिक अग्निपरक व्याख्या की है, किन्तु वह प्रकरणविरुद्ध होने से असंगत ही है ।

अध्यात्मपक्ष में—जितने जड़ पदार्थ हैं, वे सब परमेश्वर के अनुग्रह से सत्ता-स्फूर्तिमान् हो पाते हैं । अतः मुझे विवेक प्रदान कर अनात्म-तादात्म्याध्यास से मेरी रक्षा करो, इत्यादि प्रार्थना की गई है ॥ १७ ॥

सन्दीपयाम आहुत्यादिप्रदानेनार्चयामः। कीदृशं त्वाम्? द्युमन्तं दीप्तिमन्तम्। अग्नेः प्रसिद्धं दीप्तिमत्त्वम्। तथा वयस्कृतं वयोऽन्नं करोतीति वयस्कृत् तम्, अग्निप्रत्ताहुतीनामेव वृष्ट्यादिक्रमेण व्रीहियवान्नादिहेतुत्वस्मरणात्। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥' (म० ३।७६) इति मनुवचनात्। सहस्कृतं सहो बलं करोतीति सहस्कृत् तं बलवीर्यकरम्, अग्नेरौष्ण्याभावे महाबलवतामपि बलरहितस्य मरणस्य च दर्शनात्। अदाभ्यं केनापि हिंसितुमशक्यम् अप्रधृष्यम्, व्यापकस्याग्नेरस्त्राद्यगोचरत्वात्। स्थूलाग्निर्यद्यपि जलेन हिंस्यते न तु व्यापकः, तस्य जलस्यापि कारणत्वेन तद्व्यापकत्वात्, 'अग्नेरापः' इति श्रुतेः। 'वय इत्यन्ननाम' (निघ० २।७।७), 'सह इति बलनाम' (निघ० २।९।७)। सपत्नदम्भनं सपत्नानां शत्रूणां दम्भनम्, अग्निमान्द्यादिरुजोत्पादनेन नाशकम्। 'चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय' इति यजुः, ऋषिदृष्टं रात्रिदेवत्यम्। चित्राणि विचित्राणि चन्द्रनक्षत्रग्रहान्धकाररूपाणि वसन्ति यस्यां सा चित्रावसुः रात्रिः। हे चित्रावसो रात्रे! 'रात्रिर्वै चित्रावसुः सा हीयꣳ सङ्गृह्येव चित्राणि वसति' (श० २।३।४।२२)। चित्रावसो हे रात्रे! स्वस्ति क्षेमं यथा स्यात्तथा ते तव रात्रेः पारं समाप्तिमशीय व्याप्नुयाम। सुप्तेषु जनेषु चौराद्युपद्रवाद्देवयजने राक्षसाद्युपद्रवो मा भूदित्यग्निः प्रार्थ्यते। रात्र्युपलक्षिता रात्रिसूक्तप्रतिपादिता साधिष्ठाना परमात्मशक्तिरूपा, तादृशी प्रकृतिर्वात्र सम्बोध्यते। विचित्राणि जगन्ति तत्र निवसन्तीति सा सर्वकारणरूपा रात्रिश्चित्रावसुपदेन सम्बोध्यते, पञ्चदश्यादिवेदान्तग्रन्थेषु चित्रदीपादिप्रसङ्गेन तस्या विचित्रजगदाश्रयत्ववर्णनात्। तस्याः पारगमनाय तदीयकैवल्यात्मकमुक्तोपसृप्यस्वरूपप्रापणाय सा प्रार्थ्यते, 'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये' (सप्तशती १।५७), 'भोगस्वर्गापवर्गदा' (सप्तशती १३।५) इत्यादिवचनेभ्यः, 'मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः। शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति॥' (भा० पु० २।७।५३) इत्युक्तेश्च। अन्यस्तु चित्रावसुशब्देनापि परमेश्वरो गृह्यत इत्याह, तन्मते चित्रावसो रात्रित्वबोधकश्रुतिविरोधः स्फुट एव।

दयानन्दस्तु भावार्थं निरूपयन्नाह—'मनुष्यैः पुरुषार्थेनेश्वरोपासनयाऽग्न्यादिपदार्थेभ्य उपकारकरणेन सर्वदुःखान्तं गत्वा परं सुखं प्राप्य शतवर्षपर्यन्तं जीवितव्यम्, एकक्षणमप्यालस्येन न स्थातव्यम्' इति, तत्तु विसङ्गतमेव, जिजीविषाया रागप्राप्तत्वेन विधेयत्वायोगात्। यत्तु—'द्यौरनन्तः प्रकाशो विद्यते यस्मिन् परमेश्वरे' इति, तत्तु निर्मूलम्, द्युशब्दस्यानन्तप्रकाशवाचकत्वे मानाभावात्।

शतपथे—'इन्धानास्त्वा शतꣳ हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहीति शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाह तावत्त्वा महान्तꣳ समिधीमहीति यदाह द्युमन्तꣳ समिधीमहीति वयस्वन्तो वयस्कृतꣳ सहस्वन्तः सहस्कृतमिति वयस्वन्तो वयं भूयास्म इति वयस्कृत्त्वं भूया इत्येवैतदाहाग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासोऽदाभ्यमिति त्वया वयꣳ सपत्नान् पापीयसः क्रियास्मेत्येवैतदाह। चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीयेति। त्रिरेतज्जपति रात्रिर्वै चित्रावसुः सा हीयꣳ संगृह्येव चित्राणि वसति तस्मान्नारकाच्चित्रं ददृशे। एतेन ह स्म वा ऋषयो रात्रेः स्वस्ति पारꣳ समश्नुवत एतेनो ह स्मैनान्रात्रेर्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न विन्दन्त्येतेनो ह एवैष एतद्रात्रेः स्वस्ति पारꣳ समश्नुत एतेनो एनꣳ रात्रेर्नाष्ट्रा

मन्त्रार्थ—हे अग्ने! सौ वर्ष तक हम तुम्हें प्रकाशित करते रहें। तुम्हारी कृपा से हम प्रकाशित होंगे। हमें अन्न और बल प्राप्त होगा। कोई भी हमारी हिंसा नहीं कर पायेगा। क्योंकि तुम प्रकाशमान् हो, अन्न और बल के देने वाले हो, शत्रुओं के विनाशक हो, तथा सभी के लिये अहिंस्य हो। चन्द्र-नक्षत्रादि विविध पदार्थों को धारण करनेवाली हे रात्रि! हम कल्याणमय पद्धति से तेरी समाप्ति तक प्राप्त हों, अर्थात् सम्पूर्ण रात्रि तक हमें चोरों से और राक्षसों से पीड़ा न हो॥ १८॥

रक्षाꣳसि न विन्दन्त्येतावन्नु तिष्ठन् जपति' (श० २।३।४।२१-२३)। शतं हिमा इत्यस्य तात्पर्यं शतं वर्षाणि। अत एव शतं हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहीत्यस्य शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवार्थः। तैत्तिरीयकेऽपि—'शतं हिमा इत्याह शतं त्वा हेमन्तानिन्धिषीयेति वावैतदाह' (तै० १।५।८।५)। द्युमन्तमित्यस्यार्थमाह-तावत्त्वेति। शतसंवत्सर-जीवनावधि हे अग्ने ! त्वां द्युमन्तं दीप्तिमन्तं महान्तं समिधीमहि सन्दीपयेमेत्यर्थः। वयस्वन्तः प्रभूतान्नयुक्ता भूत्वा वयसोऽन्नस्य कर्तारं त्वामुपतिष्ठेमहि। सहः शत्रूणामभिभवनम्, तद्वन्तो वयं तादृशं सहः शत्रुविषयकमभि-भवनं करोतीति सहस्कृत् तं वयमुपतिष्ठेमहि। अग्ने सपत्नदम्भनमिति। हे अग्ने ! सपत्नो दभ्यते हिंस्यतेऽनेनेति सपत्नदम्भनोऽग्निः, त्वामदाभ्यमदब्धासो वयमुपतिष्ठेमहि त्वया वयं सपत्नान् पापीयसः क्रियास्म अतिशयेन निकृष्टान् क्रियास्म करवामेति विशेषणतात्पर्यकथनम्। चित्रावसोरित्यादिमन्त्रस्य त्रिर्जपं विधत्ते—हि यस्मादियं रात्रिः ग्रहनक्षत्रादीनि चित्राणि सङ्गृह्य इव वसति तस्माच्चित्रावसुरग्नेर्नामधेयम्। अत एव तारकालक्षणं चित्रं ददृशे दृश्यते। नारकापदं तारकापरम्। मन्त्रजपस्य प्रयोजनं वक्तुं पुरावृत्तमुदाहरति—एतेन मन्त्रेण रात्रेः पारमवसानं स्वस्ति क्षेमेण समश्नुवते स्म सम्प्राप्नुवन्। एनान् ऋषीन् एतन्मन्त्रजपेनैव रात्रेः प्रीणनात् तत्सम्बन्धिनो राक्षसादयो न विन्दन्ति। इदानीन्तनस्य मन्त्रमिममग्न्युपस्थाने जपतस्तत्फलमाह—एतेना एवेति। 'एतावन्ना उपप्रयन्त' इत्यारभ्य 'चित्रावसो' इत्येतावत्पर्यन्तमाहवनीयस्य समीपे तिष्ठन् जपेत्।

यत्तु—'शतं हिमा अनन्तान् हिमाः' इति, तदसङ्गतम्, जीवनानन्त्यस्याप्रामाणिकत्वात्। यत्तु 'सह उत्साहं करोति वर्धयतीति सहस्कृत्' इति, तदप्यसङ्गतम्, करोतेर्वर्धनार्थत्वायोगात्, पूर्वोक्तशतपथवचनविरुद्ध-त्वाच्च। तेन अदब्धासो दम्भाहङ्काररहिता इत्यपि व्याख्यानमसङ्गतमेव, धात्वर्थविरोधात्।

अध्यात्मपक्षे—भगवन्तं निर्गुणं सगुणं श्रीरामं श्रीकृष्णं श्रीविष्णुं श्रीशिवं वा भक्तास्तदनुगामिनो देवा मानवा वानरा भल्लूका वा वदन्ति—हे अग्ने परमेश्वर ! त्वदनुग्रहेण इन्धाना दीप्यमाना ज्ञानक्रियासमृद्धिभिर्लब्ध-ज्ञानादयस्त्वां शतं हिमाः शतं वर्षाणि इह परत्र च द्युमन्तं द्योतनवन्तं स्वप्रकाशं परमात्मानं त्वां समिधीमहि महावाक्यजन्यज्ञानेन त्वद्विषयकमनिर्वचनीयमावरणमपास्य स्वप्रकाशत्वेन साक्षात्कुर्मः। यद्वा द्युमन्तं कोटिसूर्यसम-प्रभं सूर्यचन्द्रादिप्रकाशकं त्वां समिधीमहि दीपैः सूर्यमिव विविधोपचारैरनन्तानन्दसूर्यचन्द्रादिदीपैश्च नीराजयामः। त्वत्कृपया वयस्वन्तोऽन्नवन्तो वयं प्रशस्तनानोपकरणवन्तो वयस्कृतमन्नबलकृतं त्वां सर्वस्यास्य परमेश्वरशेषत्वात् सर्वशेषिणं त्वामुपतिष्ठेमहि। सहस्कृतम् आन्तरबाह्यसर्वविधसपत्नाभिभवनं सहस्तत्करोतीति सहस्कृत् तं सहस्कृतं त्वां त्वत्कृपया बाह्यसपत्नजेतारः कामादिसपत्नाभिभवनसामर्थ्यवन्तश्च भूत्वा वयं त्वामुपतिष्ठेमहि। बाह्या आन्तराश्च दम्यन्ते हिंस्यन्ते येन तं सपत्नदम्भनम्, अदाभ्यं दैत्यैर्दानवैर्मायया च सर्वैरहिंसनीयं त्वां त्वत्कृपया अदब्धासः कैश्चिदप्यनुपहिंसिता मदमत्सरादिभिरनुपहिंसिताश्च वयं त्वां प्रत्यक्चैतन्याभेदेन त्वामुप-

भाष्यसार—हे अग्ने ! सौ वर्ष तक हम समिदाधान करते रहें, अर्थात् निरन्तर तुम्हारी सेवा करके तुमको वृद्धिङ्गत करते रहें। जैसे 'शरद्' शब्द 'संवत्सर' को बताता है, वैसे 'हिम' शब्द भी 'संवत्सर' का बोधन करता है। जैसे आजकल वसन्त सम्पात से (वसन्त ऋतु से) संवत्सर का आरंभ होता है, उसी तरह किसी समय 'शरद् ऋतु' से, किसी समय 'हेमन्त ऋतु' से भी संपात के अनुसार संवत्सर का आरंभ हुआ करता था।

स्वामी दयानन्द ने व्याख्या करते हुए 'मनुष्य को सौ वर्ष तक जीवित रहना चाहिये' इत्यादि जो कहा है, वह विसंगत ही है, क्योंकि जिजीविषा तो रागप्राप्त है, अतः वह 'विधेय' कैसे हो सकेगी ? एवं शतपथ, तैत्तिरीयादिश्रुति-सूत्रादि से विरुद्ध व्याख्या है, अतः उसे उपेक्षणीय ही समझना चाहिये।

तिष्ठेमहि। हे चित्रावसो रात्रिसूक्तस्तुते साधिष्ठानप्रकृते भगवच्छक्तिरूपे वा! स्वस्ति क्षेमं यथा स्यात्तथा ते ते संसारमूलभूताविद्यारूपं तीर्त्वा चिदानन्दमयं पारमशीय प्राप्नवानि, 'या देवी सर्वभूतेषु चितिरूपेण संस्थिता' (सप्तशती ५।७८) इति स्मरणात्। यद्वा चित्रदीपरीत्या संसारचित्रं चेतनाचेतनात्मकं पशु-पक्षि-मनुष्य-देव-यक्ष-गन्धर्व-सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादिमयस्य सर्वस्य जगतो निवासभूत हे चित्रावसो! ते तव प्रसादात् स्वस्ति निर्विघ्नं पारं विपदां पारं युद्धादिपारं संसारपारं वा अशीय प्राप्नुयाम्। श्रुतिसूत्राविरोधिनोऽनेके मन्त्राणामर्थाः सम्भवन्तीति तथाविधा अनेके अर्थाः कर्तुं शक्यन्ते ॥ १८ ॥

सन्त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणाᳬ स्तुतेन। सम्प्रियेण धाम्ना समहमायुषा संवर्चसा सम्प्रजया सᳬरायस्पोषेण ग्मिषीय ॥ १९ ॥

'सं त्वमित्युपविश्येति' (का० श्रौ० ४।१२।४), जपतीति शेषः। इतः पूर्वतनैर्मन्त्रैरुत्थायोपस्थानं कर्तव्यमनेन तूपविश्येति विशेषः। हे अग्ने! त्वं सूर्यस्य वर्चसा तेजसा समगथाः। समित्युपसर्गस्य अगथेत्याख्यातेन सम्बन्धः, रात्रौ सङ्गतो भवसि, 'तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैतदाह' (श० २।३।४।२४) इति श्रुत्या तथैव मन्त्रार्थवर्णनात्। ऋषीणां मन्त्राणां स्तुतेन स्तोत्रेण समगथाः। समुपसर्गस्यावृत्त्या अगथा इत्यस्याख्यातस्याश्रुताप्यावृत्तिः कर्तव्या। बहवो मन्त्रा अग्निं स्तुवन्ति। तेषां मन्त्राणां स्तुतेन मन्त्रसम्बन्धिना स्तोत्रेण स्तुत्या त्वं सङ्गतोऽसि। बहुभिर्मन्त्रैस्त्वं स्तूयस इत्यर्थः, 'तद्यदुपतिष्ठते तेनैवेतदाह' (श० २।३।४।२४) इति श्रुतेः। प्रियेण धाम्ना समगथाः सङ्गतोऽसि। यद्वा प्रियेण धाम्ना स्थानेन नाम्ना जन्मना च समगथाः, स्थानानि नामानि जन्मानीति वेति निरुक्तवचनात्। 'आहुतयो वा अस्य प्रियं धाम' (श० २।३।४।२४) इति श्रुत्या धामशब्देनाहुतयो बोध्यन्ते। तेन प्रियाभिराहुतिभिर्वा सङ्गतोऽसि। हे अग्ने! यथा त्वमेतैस्त्रिभिः संगतस्तथैव त्वदनुग्रहादहमप्यायुषा आरोग्यानपमृत्य्वादिभिः सग्मिषीय संगतो भूयासम्, तथैव वर्चसा विद्यैश्वर्यप्रयुक्ततेजसा संग्मिषीय तथा रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या संग्मिषीय प्रजया पुत्रपौत्रादिरूपया संग्मिषीय संगतो भूयासम्। 'समो गम्यृच्छि' (पा० सू० १।३।२९) इत्यादिना मध्यमपुरुषैकवचने लुङि सिचि 'गमश्च' (पा० सू० १।२।१३) इति सिचः क्वित्वे 'अनुदात्तोपदेश' (पा० सू० ६।४।३७) इति मलोपे 'ह्रस्वादङ्गात्' (पा० सू० ८।२।२७) इति सिचो लोपे समगथा इति रूपम्। गमेराशीर्लिङि उत्तमपुरुषैकवचने 'इटोऽत्' (पा० सू० ३।४।१०६) इत्यकारे परे सीयुटि कृते छान्दसे इडागमे 'गमहन' (पा० सू० ६।४।९८) इत्युपधालोपे संग्मिषीयेति रूपम्।

अध्यात्मपक्ष में—भक्तजन भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं कि हे भगवन्! हम लोग महावाक्यजन्य ज्ञान से त्वद्विषयक अनिर्वचनीय आवरणात्मक अज्ञान को नष्ट कर सौ वर्ष तक तुम्हारा साक्षात्कार करते रहें। श्रुति-सूत्र के विरोध को बचाकर मन्त्रों के अनेकानेक अर्थ भी संभव हो सकते हैं ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने! तुम रात्रि के समय सूर्य के तेज से युक्त हुए हो। तथा ऋषियों के स्तोत्रों से और प्रिय आहुतियों से युक्त हुए हो। जिस प्रकार इन तीन वस्तुओं से तुम युक्त हुए हो, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे अनुग्रह से आयु, वैदिक तेज, पुत्रादि प्रजा और धन की वृद्धि से युक्त होऊँ, अर्थात् आयु आदि मुझे प्राप्त हो। उपस्थान करते समय पूर्वोक्त मन्त्र तक खड़े रहना है और प्रस्तुत 'सं त्वम्' (३।१९) मन्त्र से बैठकर उपस्थान करना है ॥ १९ ॥

भाष्यसार—इस मन्त्र से अपने आयुरादि की कामना की गई है।

'अथासीनः सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसा गथा इति । तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैतदाह—समृषीणाᳪ स्तुतेनेति । तदुपतिष्ठते तेनैतदाह—सम्प्रियेण धाम्नेत्याहुतयो वास्य प्रियं धामाहुतिभिरेव तदाह समहमायुषा संवर्चसा संप्रजया सᳪरायस्योषेण ग्मिषीयेति यथा त्वमेतैः समगथा एवमहमायुषा वर्चसा प्रजया रायस्पोषेणेति । यद्भूम्नेति तदेवमहमेतैः संगच्छा इत्येवैतदाह' (श० २।३।४।२४)। 'सं त्वमग्ने' इत्येवमादिकान् मन्त्रानासीनो जपति । हे अग्ने ! त्वं सूर्यस्य वर्चसा तेजसा समगथाः संगतवानसीति प्रतीयमानमर्थमुपपादयति—अस्तं यन् गच्छन् आहवनीयं प्रविशतीति । अग्निज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति प्रसङ्गे उक्त एव । ऋषीणां सम्बन्धि यत्स्तुतं स्तोत्रं तेन समगथाः । प्रकृताग्न्युपस्थानाभिप्रायमाह—तद्यदिति । अस्याग्नेः आज्यदधिक्षीराद्याहुतय एव प्रियं धाम तज्ज्योतिर्मयं शरीरं तथा च संप्रियेण धाम्ना संगतोऽसीत्यस्याहुतिभिरेव सङ्गतोऽसीत्यभिप्रायः । हे अग्ने ! त्वमेतैरायुरादिभिः संगतवानसि तथाहमप्येतैः संगच्छेयेति । यद् भूम्नेति रायस्पोषेणेत्यस्य व्याख्यानम् । भूम्ना धनकनकादिबहुत्वेनेत्युक्ते यावानर्थो भवति रायस्पोषेणेत्यनेन तावानर्थो भवति ।

अध्यात्मपक्षे—भगवन्तं श्रीरामं श्रीकृष्णं वा प्रार्थयन्ते भक्ताः—हे अग्ने नराकार परमेश्वर ! त्वं सूर्यस्य कोटिकोटिसूर्यसमूहस्य वर्चसाऽनन्तदीप्त्या समगथाः संगतोऽसि, सूर्यस्यापि सूर्यत्वात् । 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यः' इति वाल्मीकीयरामायणवचनात् कोटिकोटिसूर्यसमप्रभत्वाच्च । 'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता । यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥' (भ० गी० ११।१२) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनात् । ऋषीणां मन्त्रद्रष्टॄणां स्तुतेन स्तोत्रसमूहेन स्तोत्रसमूहस्तुतेन निरतिशयैश्वर्येण माहात्म्यातिशयेन वा समगथाः । रावणवधान्ते ब्रह्मादिदेवैर्महर्षिभिश्च संस्तुतत्वात् । कृष्णावतारे च गर्भस्तुत्यादिषु ब्रह्मादिभिः स्तुतत्वाच्च । संप्रियेण सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदेन धाम्ना साकेतधाम्ना गोलोकधाम्ना स्थानेन दिव्येन लोकोत्तरेण भक्तप्रियतमेन जन्मना च संगतोऽसि । 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥' (भ० गी० ४।९) इति गीतावचनात् । तथैव संप्रियेण संसारतारकेण पापतापहारकेण च नाम्ना संगतोऽसि । धामानि स्थानानि नामानि जन्मानि वेति निरुक्तेः । अहं च त्वत्प्रसादाद् आयुषा सफलेन भक्तिज्ञानवैराग्यादियुक्तेन पूर्णायुषा वर्चसा ब्रह्मचर्यवेदाध्ययनादिजनितेन तेजसा प्रजया लोकपरलोककल्याणकारिण्या धर्म-भक्ति-ज्ञाननिष्ठया रायस्पोषेण कर्मोपासनाद्युपयोगिनोत्तमधनेन संग्मिषीय ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने जगदीश्वर ! यस्त्वं सूर्यस्य प्राणस्यर्षीणां येन संस्कृतेन सम्प्रियेण वर्चसा धाम्ना समायुषा संप्रजया रायस्पोषेण सह समगथाः, तेनैवाहमपि सर्वाणि सुखानि संग्मिषीय सम्यक् प्राप्नुयाम्—इत्येकः, योऽग्निः सूर्यस्य प्रत्यक्षस्य सवितृमण्डलस्यर्षीणां संस्तुतेन संप्रियेण संवर्चसा धाम्ना समायुषा संप्रजया रायस्पोषेण समगथाः संगतो भूत्वा राजते तेन संसाधितेनाहं सर्वाणि व्यवहारसुखानि संग्मिषीय' इत्यपरः । तदेतद् द्वयमप्यसङ्गतमेव, परमेश्वरस्य नित्यस्य सर्वज्ञस्याप्तसमस्तकामस्य विद्याध्ययनस्थानसमायुःसन्तानोत्तमधनभोगपुष्टिसंगत्यसङ्गतेः । भौतिकोऽप्यग्निर्नहि विद्याध्ययनराज्यसंप्रजोत्तमधनभोगादिभिः संगतो भवति, तस्य जडत्वात् । शतपथविरुद्धं चैतत् । त्वद्रीत्या कथं सूर्योऽग्निं प्रविशति ? तस्मादत्र देवविशेषश्चेतनो देवो महाभाग्यादेवमुपस्थीयत इत्येव मन्तव्यम् ॥ १९ ॥

अध्यात्मपक्ष में—भक्तजन भगवान् श्रीराम अथवा श्रीकृष्णचन्द्र की प्रार्थना अपने अभ्युदय हेतु कर रहे हैं ।

स्वामी दयानन्द ने दो अर्थ किये हैं, किन्तु दोनों असंगत हैं । शतपथ के विरुद्ध भी हैं ॥ १९ ॥

अन्धस्थान्धो वो भक्षीय महस्थ महो वो भक्षीयोर्जस्थोर्जं वो भक्षीय रायस्पोषस्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ॥ २० ॥

'गां गच्छत्यन्धस्थेति' (का० श्रौ० ४।१२।५)। अन्धस्था रेवती रमध्वमिति यजुर्द्वयेन गां गच्छति, कर्माङ्गभूतां गामुपतिष्ठत इत्यर्थः। हे गावः ! यूयमन्धःस्थ अन्नरूपा भवथ। क्षीराज्यादिरूपस्यान्नस्य जनकत्वाद् गोष्वन्नत्वोपचारः। श्रुत्या त्वन्धपदेन लक्षणया वीर्यमुच्यते। यानि वो वीर्याणि यानि वो महांसीति यतो यूयं वीर्यहेतुभूतमन्धः स्थ भवथ, अतो अन्धो वो युष्मत्सम्बन्धि वीर्यं भक्षीय भजेयम्। 'भज सेवायाम्' इति धातोराशीर्लिङि उत्तमपुरुषैकवचने रूपम्, न भक्षतेस्तदर्थाननुगमात्। क्षीराज्यादिरूपं वा अन्नमहं भजेयम्। तथा यूयं महः स्थ। महःशब्देन गौर्वै प्रतिधुक् तस्यै श्रृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनमिति दश वीर्याणीत्युच्यन्ते। तत्कालं दुग्धं प्रतिधुक्, उष्णं ततः श्रृतम्, शरो दुग्धमण्डः, मस्तु दधिरसः, आतञ्चनं दधिपिण्डः, आमिक्षा स्फुटितं दुग्धम्, वाजिनस्तच्छेषभूतं जलम्। यतो महः स्थ, अतो वो महो वीर्यं भजेयम्। यद्वा—'मह पूजायाम्'। पूज्यरूपाः, अतोऽहं वः पूज्यत्वं भक्षीय सेवेय। गौर्न पदा स्प्रष्टव्येति स्मृतेर्गवां पूज्यत्वं प्रसिद्धमेव। तामेतां प्रसिद्धिं तित्तिरिः सूचयति—'महसा महो वा भक्षीयेत्याह महो होता' इति। यूयम् ऊर्जः स्थ बलरूपाः स्थ, गोक्षीरादेर्बलहेतुत्वाद् गोषु बलरूपत्वोपचारः। 'ऊर्ज बलप्राणनयोः'। वो युष्माकमनुग्रहेण ऊर्जं बलं भक्षीय सेवेय। तथा रायस्पोषाः स्थ यूयं धनपुष्टिरूपाः स्थ क्षीराज्यादिक्षेत्रोपत्र(खाद)गोमूत्रगोमयादिद्वारा धनपुष्टिहेतुत्वात् तत्र रायस्पोषत्वोपचारः। वो युष्माकं प्रसादाद्वा धनपुष्टी भक्षीय सेवेय। अन्धः स्थेत्यादिषु सर्वत्र 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' (पा० सू० ८।३।३६ स्थलीयं वार्त्तिकम्) इति विसर्गलोपः।

अन्यस्तु—'जलमाप्तपुरुषा गावो भूमयश्चानेन मन्त्रेण वर्ण्यन्ते। हे आपः ! अन्नोत्पादका हे भूमयः ! हे गावः ! यूयं प्राणप्रदान्नरूपाः स्थ। अतो युष्मत्प्राप्तान्नं भक्षयामि। यूयं बलवीर्यरूपाः, वयं त्वदीयबलादिकमुपभोक्ष्यामः' इति। तन्न मनोरमम्, भक्षीयेत्यस्य क्वचिद् भक्षणं क्वचिद्भोगः क्वचित्प्राप्तिश्चेति यथेष्टमेवार्थो वर्ण्यते। तदेषा वेदेषु स्वच्छन्दचारिता दोष एव। कश्च प्रार्थयिता कथं स तेभ्यस्तत्तदभीष्टान्नबलवीर्यादिकं प्राप्स्यतीति तु चिन्त्यम्। सिद्धान्ते त्वार्षप्रमाणेन कर्माङ्गगवामुपस्थानेऽस्य मन्त्रस्य विनियोगः। तत्तदधिष्ठात्र्या देवतायाः प्रसादादेव तत्तत्सेवनं काम्यते।

अध्यात्मपक्षे—'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वभूतमहेश्वरम्' (भ० गी० ५।२९) इति गीतानुसारेण भगवानेव चेतनाचेतनसर्वभोक्ता। सर्वे च तद्भोग्यत्वेनात्मानं कृतार्थं मन्यन्ते। भोक्तृभोग्यरूपाः परापरप्रकृतयः स्वात्मानं

मन्त्रार्थ—हे गोमाताओं ! तुम अन्नरूप हो, अतः तुम्हारे प्रसाद से मैं क्षीरादि अन्न का भक्षण करूँगा तथा तुम पूजनीय हो, अतः तुम्हारे प्रसाद से मुझे पूज्यत्व प्राप्त हो। तुम बलस्वरूप हो, अतः तुम्हारे प्रसाद से मुझे बल प्राप्त हो। तथा तुम धनपोषण करने वाली हो, अतः तुम्हारे प्रसाद से मेरे धन का पोषण होता रहे। 'अन्धस्थ' और अग्रिम 'रेवती' इन दो मन्त्रों से गौओं के समीप गमन करे ॥ २० ॥

भोग्यत्वेन सर्वभोक्त्रे भगवते समर्पयन्त्यः स्वीकाराय च प्रार्थयन्ते—परमेश्वरः परापरप्रकृतिरूपान् भोक्तृ-भोग्यवर्गानुपलक्ष्याह—अन्धस्थ यूयमन्नरूपाः स्थ परमेश्वरीयसृष्ट्युपकरणत्वेन भोग्यत्वाद् वो युष्माकं सम्बन्धि अन्नं भुञ्जीय सेवेय । महः परप्रकृतयो जीवाश्चिद्रूपत्वात् तेजोरूपाः, अपरप्रकृतयस्तु मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारेन्द्रिय-रूपाश्चिदभिव्यञ्जकवृत्तिजनकत्वात्, सूर्यचन्द्रनक्षत्रादयस्त्वन्धकारनाशकत्वात् तेजोरूपा वो युष्माकं महो भक्षीय युष्मत्कृतोपकारान् युष्मांश्च भक्षीय आत्मसात्करणेन सेवेय । ऊर्जःस्थ बलप्राणरूपा वो युष्माकं सम्बन्धि ऊर्जं भक्षीय यूयं धनपुष्टिरूपाः स्थ वो युष्माकं रायस्पोषं धनपुष्टिं भक्षीय । संहतानां परार्थत्वाद् भोक्तृभोग्यात्मकस्य सर्वस्यैव जगतः परार्थत्वात् तत्कृतं सर्वं कार्यं तदीयम्, तच्च भगवत्येव पर्यवस्यतीति भगवत एव तद्भोक्तृत्वम् ।

दयानन्दस्तु—'येन्धस्थान्धो वीर्यवन्तो वृक्षौषध्यादयः पदार्थाः सन्ति, वस्तेषां सकाशादहमन्धो वीर्य-कराण्यन्नानि भक्षीय स्वीकुर्याम् । ये महः स्थो महान्तो वाय्वग्न्यादयो विद्यादयो वा सन्ति वस्तेषां सकाशान्महः महांसि क्रियासिद्धिकराण्यहं भक्षीय भुञ्जीय । य ऊर्जस्थोर्जो रसवन्तो जलदुग्धघृतमधुफलादयः सन्ति, वस्तेषां सकाशादूर्जं रसमहं भुञ्जीय । ये रायस्पोषः स्थ रायस्पोषो बहुगुणसमूहयुक्ताः पदार्थाः सन्ति, वस्तेषां सकाशादहं रायस्पोषं बहुशुभगुणैः पोषं भक्षीय सेवेय' इति, तदपि शतपथविरुद्धमेव, तत्रानेन मन्त्रेण गोरुपस्थीयमानत्वात् । न च अन्धआदिपदेन वृक्षौषध्यादयो ग्रहीतुं शक्यन्ते, तस्य तत्राशक्तत्वात् । न वा कश्चिदिच्छामात्रेण तेषां सकाशाद् बलवीर्यकराण्यन्नानि भोक्तुं शक्नोति, तथैव महःशब्दस्याग्निवाय्वादिपदार्था अर्थाः, तेषां सकाशाच्च क्रियासिद्धिकराणि सम्पादयितुं शक्नोति, वैज्ञानिकानां चोपायानां लेशस्याप्यनिर्देशात् । शतपथे तु स्पष्टमेवास्य मन्त्रस्य अथ गामभ्यैतीति कर्माङ्गभूताया गोरुपस्थानेऽयं मन्त्रो विनियुक्तः । तथाहि—'अथ गामभ्यैति । अन्धः स्थान्धो वो भक्षीय महः स्थ महो वो भक्षीयेति यानि वो वीर्याणि यानि वो महा꣡ꣳसि तानि वो भक्षीयेत्येवैतदाहोर्जस्थ ऊर्जं वो भक्षीयेति रसस्थ रसं वो भक्षीयेत्येवैतदाह रायस्पोषस्थ रायस्पोषं वो भक्षीयेति भूमा स्थ भूमानं वो भक्षीयेत्येवैतदाह' (श० २।३।४।२५) ॥ २० ॥

भाष्यसार—मनुष्य को अपने अभ्युदयार्थ जो कुछ भी अपेक्षित है, वह सब गोमाता में विद्यमान है । गोमाता पूजनीय है । उसके गोमय-गोमूत्र से धन की समृद्धि होती है ।

किसीने गोमाता को बलवीर्यरूप बताकर उसके बल आदि के उपभोग करने की बात अपनी व्याख्या में लिखी है, किन्तु यह लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रद्धालु भक्तजन प्रत्येक वस्तु की अधिष्ठात्री देवता के अनुग्रह से ही प्रत्येक वस्तु का सेवन करना चाहते हैं ।

अध्यात्मपक्ष में—भगवान् ही चेतन-अचेतन सब का भोक्ता है और सब उसके भोग्य बनकर अपने को कृतार्थ मानते हैं । भोक्तृ-भोग्यरूप परापर प्रकृतियाँ भोग्य होने से अपने को सर्वभोक्ता भगवान् के अर्पण करती हुई अपने स्वीकार के लिये उसकी प्रार्थना करती हैं । परमेश्वर भोक्तृ-भोग्यरूप परापर प्रकृतियों को उद्देश्य कर कह रहे हैं ।

स्वामी दयानन्द ने मन्त्रगत 'अन्ध' आदि पद से वृक्ष-औषधि आदि जो अर्थ बताये हैं तथा वैज्ञानिक उपायों का निरूपण किया है, वह नितान्त अनुचित है । प्रस्तुत मन्त्र से तो गोमाता का उपस्थान किया जा रहा है । अतः दयानन्दोक्त अर्थ का मन्त्र के शब्दों से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है ॥ २० ॥

रेवती रमध्वमस्मिन् योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिल्लोकेऽस्मिन् क्षये। इहैव स्त मापगात ॥२१॥

हे रेवतीः ! रेवत्यो गावः ! अस्मिन् दृश्यमाने योनौ अग्निहोत्रहविर्दोहनस्थाने रमध्वं क्रीडत। दोहनादूर्ध्वमस्मिन् गोष्ठे गृहाद् बहिर्विश्रम्भेण गवामावासस्थाने व्रजेऽस्मिन् यजमानलोके दृष्टिविषये लोकदर्शने रमध्वं रात्रौ अस्मिन् क्षये यजमानगृहे 'क्षि निवासगत्योः' रमध्वम्। किं बहुना, इहैव यजमानदृष्टिविषये स्त यूयं भवत मा अपगात इतः स्थानाद् अन्यत्र मा गच्छत। रेवतीशब्दस्य गोविषयत्वं कण्वो दर्शयति—पशवो वै रेवतीरिति। तित्तिरिश्चेति सायणः। रयिर्विद्यते यासां ता रेवत्यः। रयिशब्दान्मतुप्। 'रयेर्मतौ बहुलम्' (पा० सू० ६।१।३७) इति स्थलीयवार्तिकाद् रयेर्मतौ सम्प्रसारणम्, 'सम्प्रसारणाच्च' (पा० सू० ६।१।१०८) इति पररूपम् 'आद्गुणः' (पा० सू० ६।१।८७) इति गुणः, तथा च रेवतीति रूपसिद्धिः। पुत्रपौत्राद्यभिवृद्धया धनयुक्ताः क्षीरदध्याज्यादियुक्ताः पशवो रयिमत्त्वात् पशवो देवता उच्यन्ते।

अध्यात्मपक्षे—रेवत्यो धनवत्यो जीवरूपाः परप्रकृतयः सम्बोध्यन्ते। ताश्च बाह्याध्यात्मिकधन-सम्पन्नत्वाद् रेवत्यः। पशुपतेः पशुरूपेण रेवताश्च वक्तुं शक्यन्ते। हे रेवत्यः ! अस्मिन् योनौ सर्वकारणे परमात्मनि रमध्वम्। अस्मिन् गावो जीवरूपाः पशवो यत्र तिष्ठन्ति स पशुपतिरेव गोष्ठः। एवं च लोकः, लोक्यते दृश्यते भुज्यते इति लोकः फलम्, परमात्मन एव सर्वोत्कृष्टफलरूपत्वात्, 'येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' इति श्रुतेः। 'क्षयन्ति निवसन्ति सर्वे यत्र गोष्ठे' इत्यनेन जीवानां विशेषतः स्थितिस्थानत्वमुक्तम्, इह तु समेषामिति विशेषः। प्रत्यक्चैतन्याभिन्नत्वेन शास्त्रदृष्ट्या अपरोक्षत्वादस्मिन्निहैवेत्यादिप्रयोगाः। इहैव स्त मनसापि तदेव चिन्तयन्त्यस्तस्मिन्नेव तिष्ठत। मापगात ततोऽन्यन्मनसापि मा चिन्तयत, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तकल्पितसत्ताया अभावात्। प्रपञ्चस्य बाधितत्वं भावयतेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'रेवतीः विद्याधनसहिताः प्रशस्ता नीतयो गाव इन्द्रियाणि पशवः पृथिवीराज्यादियुक्ता यासु ताः, हे मनुष्याः ! प्रशस्ता नीत्यादयो रेवत्योऽस्मिन् योनौ जन्मनि स्थले वा, अस्मिन् समक्षे गोष्ठे गावः पशव इन्द्रियाणि यस्मिंस्तिष्ठन्ति तस्मिन् अस्मिल्लोके संसारे क्षये निवसनीये गृहे रमध्वं रमन्ताम्। स्त सन्ति इहैव स्त भवन्त एतेभ्यो मापगात दूरं मा गच्छन्तु। यत्र विद्वांसो निवसन्ति तत्र विद्यादीनां गुणानां निवासात् प्रजा विद्यासु शिक्षाधनवत्यो भूत्वा नित्यं सुखे युञ्जते। तस्मादेवं सर्वैरिच्छा कार्या। अस्माकं समीपाद्विद्वांसो विदुषां सकाशाच्च वयं कदाचिद् दूरे मा भवेमेति भावार्थः।' इति। स्पष्टमेवात्र यथाश्रुतान् श्रौतान् शब्दान् विपरिणमय्य व्यत्यासादिनाऽर्थापनम्। रमध्वमिति यथाश्रुतार्थाङ्गीकारेऽभिमतस्थाने रेवतीनां रमणं प्रार्थ्यते। तासां स्थानविशेषेऽवस्थानं ततोऽपगमनाभावश्च प्रार्थ्यते। नीतयो धनविद्याश्च कथमेवं प्रार्थयितुं शक्यन्ते। ताश्चेल्लोके सन्ति स्थास्यन्त्येव। तत्कथनं निरर्थकमेव। संसाराच्च तासामपगमनमपि न सम्भवतीति तदपि कथनं व्यर्थमेव। विदुषां स्थितया तासामवस्थाने तेषामेव प्रार्थनं युक्तम्। गोष्ठपदमपि न संसारपरम्, लोकपदेनैव गतार्थत्वात्।

मन्त्रार्थ—हे धनयुक्त गौओं ! आगे रहनेवाले अग्निहोत्र से सम्बन्धित हविर्द्रव्य के दोहनस्थान में स्वस्थ चित से आप रहें और दोहन होने के पश्चात् यजमान के गोचर क्षेत्र में सुख से संचार करें। रात में यजमान के घर गोष्ठ में शान्ति से रहें, अन्यत्र आप न जांय ॥ २१ ॥

भाष्यसार—क्षीर, दधि, आज्य से युक्त पशु, धनवान् होने से उन्हें देवता शब्द से कहा जाता है।

शतपथे—'रेवती रमध्वमिति रेवन्तो हि पशवस्तस्मादाह रेवती रमध्वमित्यस्मिन् योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिन् क्षये इहैव स्त मापगातेत्यात्मन एवैतदाह मदेव मापगातेति' (श० २।३।४।२६)। आत्मन एवैतदाह—स्वस्यैवैतत् फलमाशास्यते। हे गावो यूयम् इहैव मदीये गोष्ठे स्त भवत मापगच्छतेत्यत्रापगमनावधेरनुपादानात् तमुपन्यस्य योजयति। मदेव मत्सकाशात् मापगच्छतेत्यर्थः। नैतदपि दयानन्दीयव्याख्यानानुगुणम्।

कश्चित्तु—'रेवतीः शमादिधनवत्यो वागादयोऽस्मिन् योनौ जीवरूपायां परशक्तौ 'इयं वा अस्य सर्वस्य योनिरस्यै वा इमाः प्रजाः' (श० ४।१।२।९)। अस्मिन् गोष्ठे इन्द्रियालये अस्मिल्लोके शरीरे क्षये संसारे रमध्वम् इह संसार एव स्त मापगात समाध्यादौ मापगच्छतेति' इति, तदसङ्गतमेव, उदाहृतश्रुतौ पृथिवी विवक्षिता न जीवरूपा पराशक्तिः, पृथिव्या एव प्रजानां योनित्वात्, तस्या एव प्रजानां प्रजातत्वात्। वागादयस्तु स्वयमेव देह एव भवन्ति, ततोऽन्यत्र गन्तुं तेषामसामर्थ्यात्। समाध्यादौ मनसो गमनेऽपि वागादीनां तत्राप्रवेशाद्; गमनेऽपि तदिष्टमेवेति कुतो निषेधः। समाध्यभावे कथमात्मनि रमणं वागादीनां संभवति?

'श्रीकृष्णेन रेवत्यो गावः सम्बोध्यन्ते—इहैव स्तेति। मापगात प्रदेशान्तरं मा व्रजत, तथा सति गोपानां मद्गवेषणक्लेशः सिंहाद्याक्रमणशङ्का च स्यात्' इत्यादिकं तु न विरुध्यते। कृष्णवेणुगीतपीयूषमास्वाद्य तत्पादमुपागता गोप्यो रेवत्यो गवादिधनसम्पन्ना वस्त्रालङ्कारसमलङ्कृतगात्रा यूयं योनौ जन्मभूमौ पितृगृहे गोष्ठे ग्रामतो नातिदवीयसि गवावासस्थाने दोहनाय लोके उपभोगस्थाने पतिगृहे क्षये निवासे पत्यादिनिर्मितनूतननिवासस्थाने इहैव एतेषु स्थानेषु भवतीनां रमणमवस्थानं च युज्यते। मापगात ततोऽपेत्य दूरे मागात तानि स्थानानि परित्यज्य अस्मत्समीपं न गच्छत' इति, तदपि न मनोज्ञम्, लोके उपभोगस्थाने क्षये नूतनगृहे अस्मत् समीपं न गच्छतेत्यादिव्याख्यानस्य विमृश्यत्वात्।

'योनौ जगत्कारणे गोष्ठे सर्वजगतोऽधिष्ठाने लोके सर्वलोकसाक्षिणि क्षये सर्वनिवासस्थाने मत्समीपे रमध्वम्, इहैव स्त मापयात व्रजं न गच्छत' इत्येतदपि न मनोज्ञम्, स्वभावत एव सर्वस्य कारणेऽवस्थानं ततोऽपगमनं च न सम्भवति, उपादानं परित्यज्य कार्याणां स्थातुमशक्तत्वात्। ततश्च सगुणसाकारकृष्णरूपेणावतीर्णे मयि मत्समीपे वा रमध्वमितो न गन्तव्यमित्युपपत्तौ सत्यामपि क्लिष्टकल्पनाबहुलमेवैतत्॥ २१॥

अध्यात्मपक्ष में—यहाँ जीवरूप पर प्रकृतियों को सम्बोधित किया गया है। उन्हीं को बाह्य-आध्यात्मिक धनसम्पन्नता के कारण 'रेवती' शब्द से कहा गया है। सर्वत्र वही चैतन्य ब्रह्म भरा हुआ है, उसकी सत्ता पर ही यह सब प्रतिष्ठित है। अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त कल्पित की सत्ता है ही नहीं। अतः प्रपञ्च को बाधित ही समझो।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, उसमें श्रौत शब्दों का यथेष्ट विपरिणाम-व्यत्यास आदि करके अर्थ किया गया है। कहीं पर तो ऐसा अर्थ किया है कि जो उन्हीं के व्याख्यान के प्रतिकूल हो गया है। अतः यह दयानन्दीय व्याख्यान विश्वासार्ह नहीं हो पाया है।

किसी ने एक अन्य ढंग से भी व्याख्या की है, जो अंशतः ठीक है, कहीं असंगत भी है॥ २१॥

सꣳहितासि विश्वरूप्यूर्जामाविश गौपत्येन। उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमोभरन्त एमसि॥ २२॥

मन्त्रेणानेन यजमानो गां स्पृशति, 'सꣳहितेत्यालभते' (का० श्रौ० ४।१२।६)। हे गौः! त्वं संहितासि क्षीराज्यहविर्दानेन संलग्नासि यज्ञहोमादिकर्मभिः। यद्वा सन्दधासि क्षीणान् प्राणिनः पोषयसि क्षीराज्यादिभिस्तेन संहितासि। विश्वानि सर्वाणि शुक्ल-कृष्ण-रोहितादिरूपाणि यस्याः सा विश्वरूपी। जात्यभिप्रायेण शुक्लकृष्णादि-बहुरूपवती सा त्वमूर्जान्नरसेन गौपत्येन गवां स्वामित्वेन मां यजमानमाविश आसमन्तात् प्रविश। त्वत्प्रसादाद् बहुविधः क्षीराज्यादिरसो बहुविधं गोस्वामित्वं सम्पद्यताम्। 'गार्हपत्यं गत्वोपतिष्ठत उप त्वेतीति' (का० श्रौ० ४।१२।७)।

तिस्रो गायत्र्य आग्नेय्यो मधुच्छन्दोदृष्टाः। अनेन मन्त्रेण गार्हपत्योपस्थानम्। कण्वोऽप्याह—'अथ गार्हपत्यमुपैत्युप त्वेति'। हे दोषावस्तः! दोषा रात्रिस्तस्यामपि वसतीति दोषावस्तोऽग्निः, अजस्रं धार्यमाणत्वाद् रात्रावप्यनुशान्तत्वात्। यद्वा—'अग्नौ ह वै देवाः सर्वान् पशून्निदधिरे। ये च ग्राम्या ये चारण्या विजयं वोपप्रयन्तः कामचारस्य वां कामायायं नो गोपष्ठो गोपायादिति वा तानु हाग्निर्निचक्रमे तैः संगृह्य रात्रिं प्रविवेश' (श० २।३।४।१-२) इतीतिहासानुसारेण दोषावस्तः! रात्रौ वसनशील हे गार्हपत्याग्ने हे तथाविधाग्ने! दिवेदिवे प्रतिदिनं धिया श्रद्धावत्या बुद्ध्या वयं यजमाना नमस्कारं सम्पादयन्त उप समीपे त्वा एमसि त्वां प्रत्यागच्छामः। 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६)। यद्वा 'नम इत्यन्ननाम' (निघण्टु २।७।२१) अन्नं हविर्बिभ्रतः। ऋक्संहिता-भाष्ये (१।१।७ स्थले) सायणाचार्यस्तु दोषा रात्रौ वस्तर् अहनि चेति द्वन्द्वसमासे 'कार्तकौजपादयश्च' (पा० सू० ६।२।३७) इत्याद्युदात्तत्वमुक्तवान्।

यत्तु—'मन्त्रपठितेन दिवेदिवे इत्यनेनैवाहर्निशमित्यर्थस्य गतार्थत्वान्नास्मभ्यं रोचते' इति केनचिदुक्तम्, तन्न, दिवेदिवे इत्यस्य प्रतिदिनमित्येवार्थः। तथा च प्रतिदिनं रात्रौ अहनि चेत्यर्थविशेषलाभाय सायणीय-व्याख्यानस्यौचित्यात्। वस्तःशब्दोऽहर्वाची, तस्य दोषाच्छादकत्वात्, 'वस आच्छादने' इति धातोर्निष्पन्नत्वात्। 'दिवेदिवे' (११)। 'द्यविद्यवि' (१२) इति द्वादश अहर्नामानि (निघण्टु १।९) 'अहर्दिवम्' अहनि अहनि इति तत्त्वबोधनी। 'अहर्दिवं दिवः' (शि० का० १।५१) अहनि च दिवा चेति अहर्दिवम् अहनि अहनीति

मन्त्रार्थ—हे गोमातः! तू यज्ञकर्म से संयुक्त है। शुक्ल-कृष्ण आदि अनेक रूपोंवाली तू अपने क्षीरादि रस को मुझे दे और मेरे स्वामित्व को स्वीकार कर। रात्रि में भी उपासना करने वाले के घर में निवास करने वाले, अर्थात् यज्ञशाला में रहने वाले हे गार्हपत्यसंज्ञक अग्ने! प्रतिदिन हम यज्ञ करने के लिये श्रद्धापूर्ण हृदय से तुम्हारे सन्मुख होते हैं और तुम्हें प्रणाम करते हैं। 'सꣳहिता' इस मन्त्र से गौ को स्पर्श करे। 'उप त्वा' इस मन्त्र से गार्हपत्य के समीप जाकर उपस्थान करे॥ २२॥

भाष्यसार—किसीका कथन है कि 'दिवे-दिवे' कहने मात्र से ही 'अहर्निश' अर्थ उपलब्ध हो जाता है। अतः उसे अलग से बताना ठीक नहीं है। किन्तु उनका यह कथन साहसपूर्ण ही है। 'दिवे-दिवे' का अर्थ प्रतिदिन किया गया है, जिसे साहसी व्यक्ति ने 'अहर्निश' के रूप में समझ लिया है। 'दिवे-दिवे' को 'अहर्निशार्थक' कहने में कोई प्रमाण नहीं है। तथा च 'प्रतिदिन' अर्थात् 'रात में और दिन में' इस अर्थविशेष के लाभार्थ सायण ने 'दिवे-दिवे' का अर्थ 'प्रतिदिन' किया है। यह समझने की बात है।

मल्लिनाथः । 'दोषावस्तर्धिया वयम्' (ऋ० सं० १।१।७) दोषावस्तः रात्रावहनि च । दोषाशब्दो रात्रिवाची वस्तर् इति अहर्वाचीति सायणः । 'दोषावस्तर्दीदिवांसम्' (ऋ० सं० ४।४।९) दोषावस्तः रात्रावहनि च । यद्वा दोषाया रात्रिकृतस्य तमसो वस्त आच्छादयितः निवारयित इति सायणः । 'त्वं नः पाह्यंहसो दोषा वस्तरघायतः । दिवा नक्तमदाभ्यः ॥' (ऋ० सं० ७।१५।१५)। दोषावस्तः रात्रेराच्छादयितः । तमसो वारयित इत्यर्थ इति'सायणः।

'अथ गामभिमृशति सꣳहितासि विश्वरूपीति । विश्वरूपा इव हि पशवस्तस्मादाह विश्वरूपीत्यूर्जामाविश गौपत्येनेत्यूर्जेति यदाह रसेनेति तदाह गौपत्येनेति यदाह भूम्नेति तदाह । अथ गार्हपत्यमभ्यैति स गार्हपत्य-मुपतिष्ठत उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसीति नम एवास्मा एतत्करोति यथैतं न हिंस्यात् ।' (श० २।३।४।२७-२८)। अथ गामभिमृशतीति श्रुतिः सꣳहितासीति मन्त्रेण गोस्पर्शनं विधाय प्रशंसति। विश्वानि सर्वाणि शुक्लकृष्णादीनि रूपाणि यस्यासाविति व्युत्पत्तिमपेक्ष्य व्याचष्टे—विश्वरूपा इव हि पशव इति । ऊर्जेति व्याचष्टे—रसेनेति । गौपत्येनेति व्याचष्टे—भूम्नेति तदाहेति । मतुपो भूमार्थत्वाभिप्रायेण बहुविधेन गौपत्येन मामाविशेति । एवमाहवनीयस्य समन्त्रकं सप्रपञ्चमुपस्थानं विधाय गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते-अथ गार्हपत्यमभ्यैतीति श्रुतिः । नमो भरन्त इति नमस्कारस्य सम्पाद्यत्वावगमाद् आहवनीयस्य योनिभूतं गार्हपत्यं त्यक्त्वा पूर्वमाहवनीयोपस्थानेन तदतिक्रमजनितापराधापनोदनाय गार्हपत्याय नमस्करोति । इतरथा प्रथमाग्निमतिक्रम्य आहवनीयोपस्थानकरणाद् गार्हपत्यः क्रुद्धः सन् यजमानं हिंस्यात् । तस्माद्यथा न हिंस्यात् तथा नमस्कारः क्रियते ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे राजराजेश्वरि चिद्रूपे भगवति ! त्वं संहितासि सर्वैः प्राणिभिः सत्तास्फूर्तिप्रदानेन संपृक्तासि । क्षीणानां बुद्धिबलादिहीनानाम् अनात्मतादात्म्यापत्त्या स्वरूपप्रच्युतानाम् अनुग्रहपारवश्येन बुद्धिबलादिप्रदानेन स्वात्मसाक्षात्कारप्रदानेन सन्दधासि सन्धानं स्वास्थ्यसम्पादनं करोष्यतः संहितासि । विश्वानि सर्वाणि रूपाणि लोहितादीनि ऊर्जा गोक्षीराज्यादिरसेन बलेन स्वरूपानुभवजनितेन लोकोत्तरानन्देन निष्ठादार्ढ्य-लक्षणेन बलेन वा गौपत्येन गवां धेनूनामिन्द्रियाणां वा स्वामित्वेन नियन्तृत्वेन वा मामाविश । हे अग्ने परमेश्वर ! दोषावस्तः स्वीयज्ञानात्मकेन तेजसा अविद्यालक्षणाया रात्रेराच्छादक निवारयितः ! दिवेदिवे प्रतिदिनं धिया ब्रह्माकारया स्निग्धया बुद्धिवृत्त्या नमो नमस्कारं भरन्तो बिभ्रतः, त्वाम् उपैमसि प्राप्नुमः । यद्वा—हे अग्ने अविद्यातत्कार्यदाहक ! दिवेदिवे प्रतिदिनं दोषावस्तः रात्रावहनि च वयं नमस्कारं भरन्तः सम्पादयन्तः, उप सामीप्येन प्रत्यगात्मत्वेन त्वा आ इमसि अवगच्छामः साक्षात्कुर्मः ।

'आहवनीय' का अर्थ योनिभूत 'गार्हपत्य' है । उसे त्यागकर प्रथमतः 'आहवनीय' का उपस्थान करने से जो अतिक्रमणरूप अपराध होता है, उसको दूर करने के लिये गार्हपत्य को नमस्कार किया जा रहा है । अन्यथा प्रथमाग्नि का अतिक्रमण करके आहवनीय का उपस्थान करने से 'गार्हपत्य' को क्रोध हो आवेगा, जिससे यजमान की हिंसा भी हो सकती है। अतः किसी भी प्रकार से यजमान की कोई हिंसा न हो पाय, तदर्थ नमस्कार किया जा रहा है ।

अध्यात्मपक्ष में—हे राजराजेश्वरि चिद्रूपे भगवति ! तुम समस्त प्राणियों से सम्पृक्त हो और सबको स्वस्थ रखती हो । मेरी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखकर अपने स्वरूप का अनुभव कराती हुई मुझे अलौकिक आनन्द से भर दो । हे परमेश्वर ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, मेरी अविद्या को दूर करते हुए मेरी बुद्धि ब्रह्माकार हो, ऐसी कृपा करो ।

किसी ने—कामधेनु को सम्बोधित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, इस अर्थ को व्यक्त किया है । वह अर्थ करना दयानन्दीय अर्थ से अच्छा ही है ।

केचित्तु—'श्रीकृष्णस्याभिषेकार्थं गोविन्दनामकरणायेन्द्रेण सार्धमागतां कामधेनुं सम्बोध्य कृष्णो वक्ति—हे कामधेनो ! त्वं संहिता सन्निहिता मम सन्निधावागतासि। सम्यग् हिता अभीष्टप्रदानाद् हितकारिणी विश्वरूपी सङ्कल्पवशाद् बहुरूपधारिणी वशिष्ठेन स्पर्धमानस्य ससैन्यस्य विश्वामित्रस्य प्रबलसेनारूपधारिणी भूत्वा तत्पराजयकारिणी यथाकामं रूपधारणक्षमा त्वं गौपत्ये गवामिन्द्रत्वे ऊर्जा क्षीरदध्यादिरसेन मामभिषिञ्चती अनुग्रहीत्रीत्वेन आसमन्तात् प्रविश' इति, तदपि दयानन्दीयाद् व्याख्यानात्तु सुश्लिष्टमेव।

दयानन्दस्तु—'संहिता सर्वपदार्थैः सह वर्तमाना विद्युत् सर्वव्यापकः परमेश्वरो वा। विश्वरूपी विश्वं सर्वं रूपं यस्याः सा विश्वरूपी। अत्र—'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' (पा० सू० ४।१।६३) इति ङीप्प्रत्ययः। ऊर्जा वेगपराक्रमादियुक्ता मामाविश गौपत्येन गवामिन्द्रियाणां पशूनां वा पतिः पालकः, तस्य भावः कर्म वा। उप त्वा त्वां तं वा अग्ने अग्नि दिवेदिवे ज्ञानस्य प्रकाशाय प्रतिदिनं वा दोषावस्तः दोषां रात्रिं वस्ते स्वतेजसाच्छाद्य निवारयति सोऽग्निस्तं धिया कर्मणा प्रज्ञया वा वयं नमः अन्नं भरन्तः धारयन्तः आसमन्तात् इमसि प्राप्नुमः' इति, तदपि न युक्तम्, पूर्वोक्तशतपथश्रुत्या संहितासीति मन्त्रस्य गवामुपस्पर्शने, उप त्वेति मन्त्रान्तरस्य च गार्हपत्योपस्थाने विनियुक्तत्वात्। विश्वरूपीत्यत्र ङीप्प्रत्ययोऽपि न युक्तः, विश्वरूपशब्दस्य गुणवाचकत्वेन जातिवाचकत्वाभावात्। किन्तु 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० सू० ४।१।४१) इति ङीष्प्रत्ययो युक्तः, गौरादेराकृतिगणत्वात् ॥ २२ ॥

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानꣳ स्वे दमे ॥ २३ ॥

अत्र क्रियापदं पूर्वस्मादनुवर्तते। वयं यष्टारो राजन्तं दीप्यमानमध्वराणां यज्ञानां गोपां गोप्तारं गोपायतीति गोपाः। ऋतस्य सत्यवचनरूपस्य व्रतस्य दीदिविं दीपयितारम् अग्निसमीपे यजमानो व्रतं गृहीत्वा सत्यमेव वदतीत्यस्यार्थस्य द्योतकमिदं विशेषणम्। स्वे दमे दाम्यन्ति दुर्जयानिन्द्रियारातीन् जयन्ति गृहस्था यत्र तस्मिन् दमे गृहे। 'दम इति गृहनामसु' (निघण्टु ३।४।१२)। स्वीयेऽस्मदीये गृहे वर्धमानं चातुर्मास्य-सोम-पश्वादिभिर्वृद्धिं गच्छन्तम्, ईदृशमग्निम् उप आ इमसि उपैम इत्यर्थः। वर्धमानशब्दस्य तात्पर्यं कण्वो दर्शयति—'यदस्माकमिष्टं त्वं नो भूय एव कुरु तन्नो वर्धयेत्येतदाह' इति।

अपरस्तु राजपरत्वेनैतन्मन्त्रं योजयति। मन्त्राणां सङ्गतिस्त्वेतन्मते नापेक्षिता। अग्नि राजानं गां परमेश्वरं वोद्दिश्य संगतिमन्तरा वदन्नुन्मत्तवदेव भाति। यशसा प्रतापेन प्रकाशमानं शत्रुभिरप्रधृष्यं दुर्गाणां रक्षकं साधनानां च रक्षकं सत्यज्ञानप्रकाशकं स्वीये दमनकार्ये सर्वतोऽधिकं वर्धमानं त्वां राजानं वयमन्नमुपहरामः। अध्वरशब्दस्य प्रसिद्धं मुख्यमर्थमुपेक्ष्य रक्षासाधनदुर्गाद्यर्थकरणमपि स्वैरित्वमेव।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह शातपथी श्रुति के विरुद्ध है। श्रुति ने तो उपस्पर्शन और मन्त्रान्तर का उपस्थान में विनियोग बताया है। 'विश्वरूपी' में जो व्याकरण बताया है, वह भी प्रमादपूर्ण है। २२ ॥

मन्त्रार्थ—प्रकाशमान यज्ञ का रक्षक, सत्यवचन का प्रकाशक तथा हमारे घर में चातुर्मास्यादि यज्ञ के रूप में वृद्धि को प्राप्त होने वाला जो अग्नि है, उसके प्रति हम लोग प्राप्त हों ॥ २३ ॥

भाष्यसार—मन्त्र का भाष्य मन्त्रार्थ से ही स्पष्ट हो जाता है। 'वर्धमान' शब्द के तात्पर्य को कण्व ने भी बताया है। किसी व्याख्याकार ने इस मन्त्र की व्याख्या 'राजपरक' की है, किन्तु उस अर्थ में मन्त्रसंगति नहीं होती। संगतिहीन अर्थ करना उन्मत्तप्रलाप के समान ही है।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर ! राजन्तं स्वप्रकाशत्वेन विभ्राजमानम् अध्वराणां गोपां गोप्तारम् ऋतस्य सत्यस्य स्वस्वरूपस्य तज्ज्ञानस्य वा दीदिविं प्रद्योतयितारं स्वे दमे स्वस्वरूपभूते गृहे वर्धमानं नित्यं नवनवायमानत्वेनानुभूयमानं त्वा वयं धिया भक्त्या त्वदर्पितेन कर्मणा वा प्राप्तुं श्रीरामं श्रीकृष्णं कामेश्वरं वा उपैमसि राजन्तं नित्यसिद्धस्वमहसा कोटिकोटिसूर्यसमप्रभेण विभ्राजमानम् अध्वराणां यज्ञानां गोपां स्वयमनुष्ठानेन तदनुष्ठानप्रोत्साहनेन वा त्रातारम् अध्वना शास्त्रीयेण यथा ये रान्ति दानयज्ञादि कुर्वन्ति तेषां वा रक्षकं ऋतस्य सत्यज्ञानादिलक्षणस्य स्वरूपस्य दीदिविं प्रद्योतयितारं स्वे दमे स्वीये धाम्नि स्वरूपे वा वर्धमानम् उपैमसि ।

दयानन्दस्तु—'अध्वराणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाध्यानां वा सर्वथा रक्ष्याणां यज्ञानां गोपाम् इन्द्रियपश्वादीनां रक्षकम्, ऋतस्यानादिस्वरूपस्य सत्यस्य कारणस्य जलस्य वा दीदिवं व्यवहारयन्तं वर्धमानं हानिरहितं स्वे स्वकीये दमे दाम्यन्त्युपशाम्यन्ति यस्मिन् तत्र स्वस्थाने परमोत्कृष्टे प्राप्तुमर्हे पदे राजन्तं प्रकाशमानमग्निं जगदीश्वरं भौतिकं वा नमो भरन्तो वयं धिया बुद्धचा कर्मणा वा उपैमसि नित्यमाप्नुम' इत्यादि, तदपि श्रुतिसूत्रविरोधादुपेक्ष्यम् । अध्वरपदस्य शिल्पविद्यासाध्याः सर्वथा रक्ष्या यज्ञा अर्थः, इत्यस्य निर्मूलत्वाच्च । 'येन परमात्मना अध्वराणां गोपा ऋतस्य दीदिविः स्वे दमे वर्धमानोऽग्निः प्रकाशितोऽस्ति, तं नमो भरन्तो वयं धियोपैमसि नित्यमाप्नुम' इत्यपि वेदबाह्यमेव, तादृशार्थबोधकस्य पदसमुदायस्य मन्त्रेऽदर्शनात्, येनाग्निः प्रकाशित इत्यर्थबोधकस्य पदस्य तत्रासत्त्वात् ।

शतपथे तु—'राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविं वर्धमानꣳ स्वे दम इति स्वं वै त इदं यन्मम तन्नो भूयोभूय एवं कुर्वित्येवैतदाह' (श० २।३।४।२९) । मन्त्रं पठित्वा तात्पर्यमाह—स्वं वै त इदमिति । हे अग्ने ! यन्मदीयं गृहं ते तव स्वभूतम्, अतस्तथाविधं नः अस्माकं पुनः पुनः कुरु । यन्मम स्वं गृहमिदं ते तव स्वभूतम्, अत एव नात्र दमपदस्य सर्वोत्कृष्टमोक्षोऽर्थः, तस्य भूयोभूयः करणासम्भवात् ॥ २३ ॥

स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व । सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑ ॥ २४ ॥

हे गार्हपत्याग्ने ! स पूर्वोक्तगुणविशिष्टस्त्वं सूनवे पुत्रायौरसाय पिता जनक इव नोऽस्मभ्यं सूपायनः सुष्ठु शोभनमुपायनमासन्नप्रापणमुपचरणं नमस्कारादिभिरुपचारैरुपचरणं यस्य सः सूपायनः सुखोपगमनः सूपचरो भव । यथा पुत्राय पिता भयं विना सुखेनैव प्राप्तुं नमस्कारादिभिरुपचारैरुपचरितुं च शक्यते, तथास्माकं सुष्ठूपप्राप्तुं सूपचरितुं शक्यो भव । अन्येषां कृते भयानकोऽपि सिंहो यथा पुत्राय सूपगमनो भवति, तथा सूपगमनो भव । सर्वैर्देवैर्दानवैर्लक्ष्म्या च दुरासदोऽपि नृसिंहो यथा प्रह्लादाय सूपायनो जातः, तथास्माकं सूपचरो भव ।

शोभनानि उपायनानि उपहारा दातव्यत्वेन यस्येति तु न युक्तम्, पूज्यं प्रत्येवोपायनानामुपस्थानीयत्वात् । नः स्वस्तये क्षेमाय आसमन्तात् सचस्व अनेन कर्मणा समवेतो भव । सांहितिको वा दीर्घः । 'षच्

अध्यात्मपक्ष में—हम लोग यज्ञयागादि के अनुष्ठान से उस स्वप्रकाश परमेश्वर को ही प्राप्त करते हैं ।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह श्रुति-सूत्र के विरुद्ध होने से उपेक्षणीय ही है ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हे गार्हपत्य अग्ने ! जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के घर निर्भय होकर जाता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त गुणों से युक्त तुम हमारे घर भी सुख से आओ और हमारे कल्याणार्थ उत्तम कर्म से युक्त होकर रहो ॥ २४ ॥

समवाये' इति धातोर्यद्वा 'षच् सेवने' इति धातोः सचस्वेति रूपम्। नोऽस्माकं स्वस्तये कल्याणाय अस्मद्दत्तं हविः आसमन्तात् सेवस्य। स्वयमवाप्तसमस्तकामत्वेऽप्यस्मद्धितायास्मद्दत्तं हविरुपभुङ्क्ष्व। यतो हि—'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते। यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥' (भा० ७।९।११) इति वचनान्निजलाभपूर्णो भगवान् आत्मनो मानम् अर्चनादिलक्षणं सम्मानं यद्यपि न वृणीते, तथापि करुणाक्रान्तमानसत्वाद् भक्तजनोपस्थापितं सम्मानं वृणीते कामयते स्वीकुरुते च। ननु तत्तदैश्वर्यदाने कारुण्यं युक्तमादाने कुतः कारुण्यमिति चेत्, शृणु तदादानस्यैव जीवकल्याणहेतुत्वादादत्ते। जनो भगवते यन्मानं सम्मानं विदधीत विदधाति तत् सर्वमात्मने स्वात्महितायैव। यथा बिम्बरूपे समर्पिता श्रीः शोभाधायकालङ्करणादिकं प्रतिमुखस्य प्रतिबिम्बस्य भवति, प्रतिमुखे मुखप्रतिबिम्बे मुकुटकुण्डलादिसमर्पणस्यायमेवोपायो यद् बिम्बे समर्पणम्, तथैव बिम्बरूपे भगवति समर्पितानामैश्वर्याणामेव प्रतिबिम्बभूतेषु जीवेषु संक्रान्तिः। तस्मात् पूर्णकामोऽपि भगवान् भक्तकृतां सपर्यां स्वीकरोति भक्तार्थमेव कामयते तत्समर्पितं हविः सेवते च। दृष्टान्ततात्पर्यं कण्वो दर्शयति—'यथा पिता पुत्राय सूपचरः, एवं नः सूपचर एधीत्येवैतदाहेति'। एतेन सनातनधर्मसम्मत एवार्थ आर्षः।

अध्यात्मपक्षेऽपि तथैव। हे अग्ने परमात्मन्! सूनवे पुत्राय पितेव नः सूपायनो भव सुष्ठूपगन्तुं योग्यो भव। शोभनमुपायनमिव प्रेमास्पदीभूयाभिव्यक्तो भव। नोऽस्माकं स्वस्तये परमकल्याणाय सचस्व समवेतो भव नित्यतादात्म्यसम्बन्धावरणापनयनेनाभिव्यक्तप्रत्यक्चैतन्याभेदवान् भव। श्रीकृष्णः श्रीरामः श्रीविष्णुः शिवो गुरुश्चानेन मन्त्रेण प्रार्थयितुं शक्यन्ते।

दयानन्दस्तु—'स जगदीश्वरः नोऽस्मभ्यं पितेव जनक इव सूनवे औरसाय सन्तानाय अग्ने करुणामय विज्ञानस्वरूप सर्वपितः! सूपायनः। सुष्ठूपगतमयनं ज्ञानप्रापणं यस्मात् स भव भवति। सचस्व संयोजय नः अस्मान् स्वस्तये सुखाय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकरणविरुद्धत्वात्। शतपथरीत्यात्रापि गार्हपत्योपस्थानमेव प्रकृतम्। सूपायन इत्यनेन सुखोपगमनतैव विवक्षिता। तस्यां सत्यामेव ततो ज्ञानप्राप्तिसम्भवोऽपि। सचस्वेत्यस्य संयोजयेत्यप्यसाम्प्रतम्, समवायार्थस्य सचधातोः संयोजनार्थत्वायोगात्।

शतपथे च—'स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव सचस्वा नः स्वस्तय इति यथा पिता पुत्राय सूपचरो नैवैनं केनचन हिनस्त्येवं नः सूपचर एधि मैव त्वा केनचन हिꣳसिष्मेत्येवैतदाह' (श० २।३।४।३०)। दृष्टान्तसिद्धयर्थं निष्कृष्यानुवदति—यथा पितेति। सूपचरः सुष्ठूपचरितुं पुत्रस्य सेवितुं योग्य एव भवति, स च पुत्र एनं पितरं न केनचनापि साधनेन हिनस्ति, एवं हे गार्हपत्याग्ने! त्वं नः अस्माकं सूपचर एधि। सुष्ठूपचरितुं योग्यो भव। वयमपि त्वां न केनचिदपि साधनेन हिंसिष्मेति॥ २४॥

भाष्यसार—हे गार्हपत्याग्ने! हमारे लिये तुम्हारी प्राप्ति सुलभ रहे। दूसरों के लिये भयानक प्रतीत होने वाला भी सिंह अपने बच्चे के लिये सुप्राप्य रहता है, उसी प्रकार तुम भी हमारे लिये सुप्राप्य रहो। सम्पूर्ण देव-दानव और लक्ष्मी के द्वारा भी नृसिंहावतार धारण किये हुए भगवान् यद्यपि दुष्प्राप्य थे, तथापि प्रह्लाद के लिये वे सुप्राप्य हो गये थे। उसी तरह तुम हमारे लिये सुप्राप्य बने रहो।

अध्यात्मपक्ष में—अधिकारी भक्त श्रीराम, श्रीविष्णु, शिव, गुरु आदि की इस मन्त्र से प्रार्थना कर सकता है।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह प्रकरणविरुद्ध है। अतः उपेक्षणीय है॥ २४॥

अग्ने॒ त्वं नो॒ अन्त॑म उ॒त त्रा॒ता शि॒वो भ॑वा वरू॒थ्यः॑ ।
वसु॑र॒ग्निर्वसु॑श्रवा॒ अच्छा॑ नक्षि द्यु॒मत्त॑मꣳ र॒यिं दाः॑ ॥ २५ ॥

चतस्रो द्विपदा विराज आग्नेय्यो बन्ध्वादिदृष्टाः, दशार्णपादा विराट् । हे गार्हपत्याग्ने ! त्वं नः अस्माकं अन्तमः अन्तिकतमः सदा अत्यन्तसमीपवर्ती भवा 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।११५) इति दीर्घः। 'अन्तम इति समीपनाम' (निघण्टु २।१६९) । अन्तिकशब्दस्य तमपि पृषोदरादित्वेनान्तमेति रूपं वा, यद्वा 'अम् गतौ' अमति समीपं प्राप्नोतीत्यम् अतिशयेन अम् इति अन्तमः, अम्शब्दात्तमप् । यो हि ब्रह्मचर्यप्रभृति अग्निं परिचरति, तस्याग्निर्निकटतमो भवति । देशविवक्षया परोक्षान्यदेवतापेक्षयाऽपरोक्षोऽग्निः सन्निकृष्ट एव । उतापि च त्राता सर्वरक्षक ऊष्मरूपेण जाठराग्निरूपेण वा, ऊष्माभावे अग्निमान्द्ये मरणदर्शनात् । शिवः कल्याणरूपः । वरूथ्यो भव पुत्रपौत्रादिसमूहो वरूथम्, गृहं वा वरूथम्, तस्मै हितो वरूथ्यः, गृहस्य साङ्गोपाङ्गस्य सकुटुम्बस्य मम अत्यन्तसमीपवर्ती कल्याणकल्पतरुर्हितसाधको भव । हे अग्ने ! त्वं वसुः सर्वेषु प्राणिषु वसति वासयति वा सर्वानिति वसुः सर्वजनानां वासयिता सर्ववासी वा, तापपाकप्रकाशोपकारकत्वात्, वसु धनम्, उपासकानाम् उपास्यस्यैव सर्वप्रियधनरूपत्वाद्वा । अग्निः अङ्गतीत्यग्निः । 'अगि गतौ'। आहवनीयादिरूपेण गमनशीलः, गार्हपत्याग्नेरेवाहवनीयखरेऽङ्गनात् । वसुश्रवा वसुना धनेन श्रवः कीर्तिर्यस्य सः, धनप्रदोऽग्निरिति कीर्तिरग्नेराहिताग्निषु प्रसिद्धा । हे अच्छ निर्मलस्वभाव अग्ने ! त्वं नक्षि अस्मदीयं होमस्थानं गच्छ 'नक्ष गतौ' । यदा यदा होमः स्यात्तदा तदा तत्रागच्छेति भावः । यद्वा हे अग्ने ! त्वं अच्छानक्षि अच्छ त्वां प्राप्तुं नक्षि अस्मानभिव्याप्नुहि । 'णशिराप्नोति कर्मेति । अच्छा मेराप्तुमिति शाकपूणिः' (नि० ५।२८) । अर्थात् 'अच्छेतिशब्दो अभेरर्थे भवति, आप्तुमिति योऽर्थ उक्तः, स एवार्थोऽच्छेत्यनेनोक्तो भवति' इति दुर्गाचार्यः । 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घे 'अच्छा' इति रूपम् । त्वत्प्राप्तये त्वमस्मानाप्नुहि द्युमत्तमं रयिं दाः धनं देहि । ददातेर्लुङि रूपं दा इति । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इति ।

सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर एवाग्नीन्द्रादिरूपेण तत्तद्यागेष्विज्यते, मन्त्रैश्च स्तूयते । यथा पादुकारथादिष्वपि वैदिकदत्तानि पदानि भूमावेव दत्तानि भवन्ति, पादुकादीनां भूमिविकारत्वात्; तथैव तत्तद्देवताभिधायिनां मन्त्राणां परब्रह्माभिधायित्वमेव, सर्वेषां तद्विकारत्वात् । 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'तज्जलान् इति शान्त उपासीत' इत्यादिश्रुतिभ्यः । मन्त्रब्राह्मणात्मका वैदिका मन्त्राः शब्दाश्च क्वचित्परोक्षरूपेण क्वचिदपरोक्षरूपेण वा, क्वचिदवान्तरतात्पर्यविधया क्वचिन्महातात्पर्यविधया वा परमात्मानमेवाभिव्याहरन्ति । तदधिष्ठात्र्यो देवताः कृष्णस्य भगवतोऽनन्यपूर्विकाः स्वकीया अन्यपूर्विकाः परकीयाभासाश्च व्रजसीमन्तिन्य आसन् । तत्र यासां 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१),

मन्त्रार्थ—हे गार्हपत्य अग्ने ! तुम सर्वदा हमारे समीप रहो, हमारा पालन करो और शान्त होकर हमारे पुत्रादि का रक्षण करो । तुम समस्त लोगों के आश्रयस्थान हो । आहवनीयादि रूप से गमन करने वाले और धनदाता के रूप में जिसका यश सर्वत्र विस्तीर्ण है, ऐसे हे अग्ने ! तुम निर्मल स्वभाव के होकर हमारे हवन स्थान में आओ । अर्थात् जब-जब हम हवन करें, तब प्रत्येक समय तुम हवनशाला में आकर उपस्थित रहो और अत्यन्त प्रकाशमय द्रव्य हमें दो ॥ २५ ॥

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० उ० ३।९।३४) इत्यादीनां श्रुतीनां साक्षाद् भगवत्येव पर्यवसानं ता एवानन्यपूर्विकास्तासामन्यसम्बन्धाभावात् । यासां पुनः 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१) 'राजन्तमध्वराणाम्', (शु० य० ३।२३), 'अग्ने त्वं नो अन्तम' (साम० ४४८) इत्यादिश्रुतीनामवान्तरस्य तात्पर्यस्य तासु तासु कर्माङ्गदेवतासु सत्त्वेऽपि महातात्पर्यं ब्रह्मण्येवेति ता अन्यपूर्विकाः परकीयाभासाः । वस्तुतस्तु स्वकीयाः सत्योऽपि दौर्लभ्यादिप्रयुक्तरसविशेषास्वादनाय परकीया इवावभासन्ते, स्वकीयापेक्षयापि भगवत्प्रियतमा यथा तासां तासां गोपसीमन्तिनीनां ते ते गोपाः पत्याभासाः सन्तोऽपि मुख्यः पतिर्भगवानेव, तथैव तासां तासां श्रुतीनां तत्तद्देवतास्ववान्तरतात्पर्यविषयतासत्त्वेऽपि महातात्पर्यविषयता भगवत्येव, तैस्तैर्वैदिककामकर्मज्ञानैः पाशविककामकर्मज्ञानरूपं मृत्युं तीर्त्वा परमात्मसाक्षात्कारेण परमात्मप्राप्तेरेवेष्टतमत्वात्, 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (वा० सं० ४०।१४) इति मन्त्रवर्णात् । जलविकारभूतानां तरङ्गाणां मुख्यः सम्बन्धो जलेनैव, तरङ्गान्तरैः सम्बन्धस्त्वनित्य एव, तथैव परमात्मविकाराणां जीवानां मुख्यः सम्बन्धः परमात्मनैव, जीवान्तरैः सम्बन्धस्त्वनित्य एव । तेन सर्वेषां जीवानां पतिपुत्रभ्रातृमातृपत्न्यादिसम्बन्धोऽनित्य एव परमात्मसम्बन्ध एव नित्यः ।

मीमांसकनये घटपटादितत्तत्पदानां घटत्वपटत्वादिजातिष्वेव शक्तत्वेन, जातीनां च परजातिरूपायां सत्तायामेव पर्यवसानात्, सत्ताया अपि स्वप्रकाशे सद्रूपेऽपरोक्षब्रह्मण्येव पर्यवसानं सेत्स्यति । एवं च समेषामपि वस्तूनां पर्यवसानं स्वस्वकारणे भवति, कारणानां च परमकारणे कार्यकारणातीते ब्रह्मण्येव पर्यवसानम् । तदुक्तं श्रीमद्भागवते—'सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः । तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥' (भा० १०।१४।५७) भवति कार्याकारेण परिणामं प्राप्नोतीति भवत् कारणम्, तस्मिन् भवति कारणे । तेनाग्नेः परमात्मरूपेण सर्वान्तरत्वेनान्तिकतमत्वं शिवत्वं सर्वहिततमत्वं च स्वभावसिद्धं भवति । सच्चिदानन्दमहासमुद्रेऽभिधानात्मकप्रपञ्चोत्पादनानुकूलशक्त्यवच्छिन्नचिदानन्दविवर्तरूपाः प्रणवस्तद्विकारभूता वाचकाः शब्दाश्च तरङ्गरूपाः, अभिधेयात्मकप्रपञ्चोत्पादनानुगुणशक्त्यवच्छिन्नसदानन्दविवर्तभूता अव्याकृत-हिरण्यगर्भविराडादिसमष्टिव्यष्टिपदार्था अपि तरङ्गरूपा एव । तरङ्गाणां जलेनैव स्वाभाविकोऽविच्छेद्यः सम्बन्धः, तरङ्गान्तरैस्तु सम्बन्धोऽस्वाभाविकोऽनित्यश्च । ततः स्वाभाविक एव श्रुतीनां सर्वाधिष्ठानरूपेण परमात्मनैव सम्बन्धः, तद्विकारैस्त्वनित्य एव सम्बन्धः । तस्मादेव 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० २।१५), 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (भ० गी० १५।१५) इत्यादयः श्रुतिस्मृतिवादाः सङ्गच्छन्ते, तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमेन शब्दार्थानामपि परस्परं तादात्म्यसम्बन्धावगमात् ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने परमात्मन् ! त्वमस्माकम् अन्तमः अन्तिकतमः सामीप्यस्य प्रत्यगात्मनि पर्यवसानेन प्रत्यगात्मासि, प्रत्यगात्मत्वेन सर्वान्तरतमत्वात् प्रियतमश्चासि, त्राता रक्षकश्चासि, प्रत्यगात्मतया ज्ञातस्य मोक्षप्रदत्वेन संसारभयात् त्रातृत्वात् । शिवो मोक्षरूपश्चासि, निरावरणस्यात्मन एव मोक्षरूपत्वात् । 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः' इत्याप्तोक्तेः । वरूथ्यः वरूथं गृहमाश्रयस्तत्र साधुर्वरूथ्यः शरण्योऽसि

भाष्यसार—जो ब्रह्मचर्याश्रम से ही अग्नि की परिचर्या करता है, उसके समीप ही अग्नि सर्वदा रहता है । ऊष्मा के रूप में अथवा जाठराग्नि के रूप में अग्नि सभी का रक्षक है । अग्नि के रूप में सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर की ही तत्तद् यज्ञों में पूजा होती है । मन्त्रों के द्वारा उसी की स्तुति की जाती है । मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक मन्त्र और शब्द सभी कुत्रचित् परोक्षतया, क्वचित् अपरोक्षतया, कहीं अवान्तर तात्पर्य के रूप में, तो कहीं महातात्पर्य के रूप में उस परमात्मा को ही बताते हैं ।

'वृञ् वरणे'। वृणोति परित आच्छादयतीति वरूथः कवचवद्रक्षकः क्षान्तिशान्तिसन्तोषादिसमूहस्तत्र हितो वा वरूथ्योऽसिः, त्वदनुग्रहेणैव तद्दार्ढ्योपपत्तेः। त्वं वसुः सर्वस्मिन् जगति वससि, जगच्च स्वस्मिन् वासयसीति वा वसुः। वसुश्रवा वसु सर्वोत्कृष्टधनरूपं श्रवः कीर्तिर्यस्य स वसुश्रवाः। यशोधन इत्यर्थः। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥' (वि० पु० ६।५।७४) इति षड्भिर्भगैः पूर्णत्वाद् वसुश्रवाः। हे अच्छ मायातत्कार्यसम्बन्धशून्य ! त्वम् अग्निः ब्रह्माकारवृत्तावभिव्यज्य संसारदाहकोऽसि। नक्षि सर्वत्र व्यापकोऽसि, सर्वकारणत्वात्। यद्वा अच्छानक्षि त्वां प्राप्तुमभिमुख्येनास्मान् व्याप्नुहि। हे परमेश्वर ! द्युमत्तमं रयिम् अतिशयेन द्योतमानं ब्रह्मात्मसाक्षात्काराख्यं ज्ञानं साक्षादपरोक्षं स्वात्मानमेवादाः देहि।

यत्तु 'महीधरः 'अम् गतौ' इत्यतः अमति समीपं प्राप्नोतीति कर्तरि क्विपा अम्शब्दं संसाध्य तमपि अन्तम इति शब्दसिद्धिमाह। अर्वाचीनश्च कश्चन (दयानन्दः) 'अन् प्राणने' आदादिकः, इत्यतः अनिति जीवति सोऽतिशयित इत्याह, तदुभयं न साधु, पुरीतत् संयत् इत्यादिषु 'गमादीनामपि वक्तव्यः' (पा० सू० ६।४।४०) इति वार्त्तिकेन क्विपि 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) तुगागमे अम् अन् इत्यनयोरपि अनुनासिकलोपादिप्रसक्तेः' इति, तत्तुच्छम्, गणपाठेषु गमादिगणस्यानुक्तत्वात्। तथा च तत्र महाभाष्ये परिगणितानामेव गमादित्वेन, महाभाष्ये च अम् इत्यस्य अपरिगणितत्वेनानुनासिकलोपाद्यप्रसक्तेः। तथाहि—'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (पा० सू० ६।४।३७) अनुनासिकेति लुप्तषष्ठीकं वनतीतरेषां विशेषणम्। अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याद् झलादौ किति ङिति परे इति सूत्रार्थः। यमिरमिनमिगमिहनिमन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः। तनुषणुक्षणुक्षिणुऋणुतृणुघृणुवनुमनुतनोत्यादयः। तस्मादेतेषामनुनासिकलोपो भवति। 'वा ल्यपि' (पा० सू० ६।४।३८) आगत्य, आगम्येत्यादिरूपाणि भवन्ति। 'न क्तिचि दीर्घश्च' (पा० सू० ६।४।३९) क्तिचि लोपो दीर्घश्च न भवतः। तेन यन्तिः, रन्तिः, वन्तिः, तन्तिः— इत्यादि रूपाणि भवन्ति। 'गमः क्वौ' (पा० सू० ६।४।४०) इति गमधातोः क्वौ अनुनासिकलोपः, तेन 'अङ्गमत्' इति रूपं निष्पद्यते। अत्र सूत्रे वार्त्तिकम्—'गमादीनामिति वक्तव्यम्' परीतत्, संयत्, सुनुत्,। अपरं चात्र वार्तिकम्—'ऊङ् च गमादीनामिति वक्तव्यम्' चादल्लोपश्च। तेन अग्रेगूः, अग्रेभ्रूः। अत्र गणपाठे गमादीनामुल्लेखाभावात्, महाभाष्ये च तनुयमिनमिभ्रमीतिधातूनामुदाहरणात् पञ्चैव गमादय इति। तस्मान्मुधैव महीधरदोषान्वेषणम्। ननु तर्ह्यनतेरेवैतद्रूपं किं न स्यादिति चेन्न, मन्त्रस्येश्वरपरत्वे तथात्वेऽग्निपरत्वे तदनुपपत्त्या अमतेरेव रूपस्य युक्तत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने ईश्वर ! त्वं करुणामयो नोऽस्माकमस्मभ्यं वा अन्तमः आत्मान्तःस्थः अनिति जीवति सोऽतिशयितः 'स उ प्राणस्य प्राणः' (के० उ० १।१) ! उतापि त्राता रक्षकः शिवः मङ्गलकारी भव। वरूथ्यः वरूथेषु श्रेष्ठेषु गुणकर्मस्वभावेषु भवो वरूथ्यः। हे अग्ने ! यस्त्वं वसुश्रवाः वसुरग्निः नक्षि सर्वत्र प्राप्तोऽसि स त्वं नोऽस्माकमन्तमस्त्राता वरूथ्यः शिवो भव। उतापि नोऽस्मभ्यं रयिमच्छ दाः सम्यग्देहि' इति, तदपि श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव। 'अथ द्विपदा……अग्ने त्वं नोऽन्तमः' (श० २।३।४।३१) इत्यनया कण्डिकया चतसृभिर्द्विपदाभिर्गार्हपत्यस्याग्नेरुपस्थानमाह—अग्ने त्वमिति प्रथमा, वसुरग्निरिति द्वितीया, तं त्वा शोचिष्ठेति तृतीया, स नो बोधि इति चतुर्थी॥ २५॥

अध्यात्मपक्ष में—हे अग्निरूप परमात्मन् ! तुम ही हमारे प्रत्यगात्मरूप होने से प्रियतम हो, रक्षक हो। यशोधन हो, इत्यादि अर्थ भी मन्त्र से अभिव्यक्त होता है।

तं त्वा॑ शोचिष्ठ दीदिवः सु॒म्नाय॑ नू॒नमी॑महे॒ सखि॑भ्यः ।
स नो॑ बोधि श्रु॒धी हव॑मरु॒ष्या णो॑ अघाय॒तः सम॑स्मात् ॥ २६ ॥

हे शोचिष्ठ शोचिष्मत्तम ! शोचिरिति ज्वालोच्यते, दीप्तिमत्तम ! छान्दसो मतुब्लोपः । हे दीदिवः सर्वस्य दीपयितः ! हे सर्वप्रकाशक ! तं पूर्वोक्तगुणविशिष्टं त्वामग्निं सखिभ्यो मित्रेभ्योऽर्थाय नूनं निश्चयेन सुम्नाय सुखं द्वितीयार्थे चतुर्थी । नूनं निश्चयेन ईमहे याचामहे । यद्वा निम्नाय सुखार्थमस्मत्सखीनामुपकाराय त्वामीमहे । 'सुम्नमिति सुखनाम' (निघण्टु ३।६।१६) । स त्वं नोऽस्मान् भवद्भक्तानबोधि बुद्धचस्व अनुग्रहेणावलोकय । हवं श्रुधी अस्मदीयाह्वानं शृणु । श्रुधीत्यत्र 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः । समस्मात् सर्वस्मात्, अघायतः शत्रोरस्मानुरुष्य रक्ष । परस्याघं पापं य इच्छति स अघायत् । तस्मादघायतः शत्रोः 'छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम्' (पा० सू० ३।१।८) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन क्यचि रूपसिद्धिः । सर्वेभ्योऽघकारिभ्यः शत्रुभ्योऽस्मान् रक्ष । उरुष्यती रक्षणकर्मा (नि० ५।२३) ।

अध्यात्मपक्षे—हे शोचिष्ठ ज्योतिष्मत्तम कोटिकोटिसूर्यसमप्रभ परमात्मन् आन्तराणां बुद्धयादीनां बाह्यानां सूर्यादीनामपि प्रकाशक 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठो० ५।१५), 'येन सूर्य्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९७) इत्यादिश्रुतिभ्यः । दीदिवः अनन्तानन्तविश्वब्रह्माण्डप्रकाशक तं वेदान्तेषु प्रसिद्धं त्वा त्वां सखिभ्यः त्वदीयसमानख्यानेभ्यो मित्रेभ्यो जीवेभ्यस्तेषां हिताय पापताप-वारणाय सुम्नाय ब्रह्मात्मप्राप्तिसुखाय च नूनं निश्चयेन ईमहे याचामहे । स त्वं नोऽस्मान् बोधि अनुग्रहपूर्ण-दृष्टयावलोकय । हवं मदीयमाह्वानं प्रार्थनामयं श्रुधि शृणु । समस्मात् सर्वस्माद् अघायतः अस्मासु पापमाचरतो बाह्यादान्तराच्च पापकामादेः, नोऽस्मान् उरुष्य रक्ष स्वात्मप्रकाशनेन । अनेन मन्त्रेण संसारदावानले दंदह्यमाना जीवा वृन्दावने दावानलपरीता गोपबाला लाक्षागृहदाहपीडिताः पाण्डवाश्च भगवन्तं प्रार्थयन्ते ।

अन्यस्तु—'हे तेजसातिशयेन दीप्तिमन् राजन् निश्चयेन प्रसिद्धान् त्वत्तो मित्राणां कृते प्रार्थयामः । अस्मदभिप्रायं बुद्ध्वा ज्ञानवतो वाऽस्मान् कृत्वा अस्मत्कृतां प्रार्थनां शृणु । त्वमस्मान् पापकृताद् हिंसकात् पुरुषात् सर्वतो रक्ष' इत्याह । अयं तु महीधरादिभाष्येभ्योऽर्थं बुध्वा व्याख्याय तत्र स्वाभिप्रायं योजयित्वा यत्किञ्चिद् वक्ति । वैदिकदेवतादिषु विश्वासराहित्यात् क्वचित् परमात्मपरत्वेन क्वचिन्नृपमन्त्रिसेनापति-सैनिकादिपरत्वेन मन्त्रान् यथेच्छं योजयति ।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ अपनी बुद्धि के अनुसार किया है, वह श्रुति और सूत्र के विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—ज्वालायुक्त तथा सर्वप्रकाशक अग्ने ! पूर्वोक्तगुणविशिष्ट तुमसे हम लोग अपने मित्र के कल्याणार्थ निश्चित रूप से याचना करते हैं । अतः तुम हमारे अभिप्राय को जानकर हमारी आमन्त्रणरूप प्रार्थना को सुनो, समस्त शत्रुओं से हमारी रक्षा करो ।। २६ ॥

भाष्यसार—हे दीप्तिमत्तम, हे सर्वप्रकाशक ! हमारे मित्रों को निश्चित सुख प्राप्त हो, यह हमारी याचना तुमसे है । तथा पापी शत्रुओं से हमारी रक्षा करो ।

अध्यात्मपक्ष में—हे भगवन् ! हमारे पाप-ताप का निवारण करते हुए ब्रह्मात्मप्राप्ति के सुख की हमारी कामना को मित्रों के साथ ही पूर्ण करें, ऐसी हमारी याचना है ।

यत्तु दयानन्दः—'तं जगदीश्वरं त्वां हे शोचिष्ठ पवित्रतम दीदिवः प्रकाशमयानन्दप्रद ! वयं नोऽस्माकं सखिभ्यश्च नूनं सुम्नाय त्वामीमहे। यो भवान्नोऽस्मान् बोधि सम्यग् विज्ञानं बोधयति स त्वं नोऽस्माकं हवं श्रोतुं श्रावयितुमर्हं स्तुतिसमूहं यज्ञं श्रुधि कृपया शृणु। नोऽस्मान् समस्माद् अघायतः परपीडाकरणरूपात् पापाद् उरुष्य सततं पृथग् रक्ष' इत्याह, तन्न मनोज्ञम्, गार्हपत्योपस्थानविनियोगविरोधात्। अग्निपरत्वे च दीप्त्यर्थक एव शुचिर्युक्तः। दीदिव इत्यस्यापि योग्यत्वादग्नौ दीपयितृत्वमेवार्थः। हवमित्यस्याह्वानमेव मुख्यार्थः। स्तुतिसमूहो यज्ञो वा गौणार्थ एव। न च मुख्यार्थसम्भवे गौणार्थाश्रयणं युक्तम्। सम्यग्विज्ञानं बोधयतीति चासङ्गतम्, प्रकाशप्रकाशनस्येव विज्ञानबोधनस्यानपेक्षणात्। यद्वा—'आहवनीयमुपतिष्ठते। पशूंस्तद्याचते। तस्मात्तमुच्चावचैश्छन्दोभिरुपतिष्ठत उच्चावचा इव हि पशवः' इति द्विपदाभिर्गार्हपत्योपस्थानस्य पुरुषप्राप्तिहेतुतां वक्तुमाहवनीयोपस्थानस्य पशुप्राप्तिहेतुत्वमुक्त्वा—'अथ द्विपदाः पुरुषश्छन्दसां वै द्विपदा द्विपाद्वा अयं पुरुषः पुरुषानेवैतद्याचते' (श० २।३।४।३२-३३)। पुरुषवत् पादद्वयोपेतत्वात् पुरुषप्राप्तिहेतुत्वम् ॥ २६ ॥

इड॒ एह्यदि॑त॒ एहि॒ काम्या॒ एत॑। मयि॑ वः काम॒धर॑णं भूयात् ॥ २७ ॥

'गां गच्छतीड एहीति' (का० श्रौ० ४।१२।८)। कर्माङ्गभूतां गां प्रति गच्छेत्। द्वे यजुषी गोदेवत्ये। हे इडे इडारूपे गौः। 'इडेति गोनाम' (निघण्टु १।१।१५)। मातः 'अदितिरदीना देवमाता' (नि० ४।२२)। अदितिरूपे धेनो मनोर्दुहिता। इडा मनुमिवास्मानेहि होमस्थानं वा आगच्छ। अदितिरादित्यानिवास्मानेहि। अत्रानिडायामनदितौ च गवि इडादितिशब्दप्रयोग उपमार्थः। अतस्मिंस्तच्छब्दस्तद्वदतिदेशार्थः। 'काम्या एतेत्यालभते' (का० श्रौ० ४।१२।९)। काम्येति मन्त्रेण तामेव गां स्पृशति, 'मनुष्याणां ह्येतासु कामाः प्रविष्टाः' (श० २।३।४।३४) इति श्रुतेः। हे काम्याः सर्वैः कामयितव्याः, यूयं एत आ इत आगच्छत। वः युष्माकं कामधरणं कामा ध्रियन्ते यस्मिन् तत्कामधरणम्, अभीष्टफलधारकत्वं मयि यज्ञानुष्ठातरि भूयात्। युष्माकमनुग्रहेणाहमभीष्टफलभाग् भूयासम्। अहं वः प्रियो भूयासम्। यद्वा अदिते अखण्डनीयेऽहन्तव्ये अघ्न्ये, 'दोऽवखण्डने' इति धातो रूपम्। इडादितिशब्दौ गोनामत्वेन प्रसिद्धौ। मनुष्याणां क्षीरदध्याज्यादिविषयाः कामा हि यस्मादेतासु गोषु प्रविष्टाः, तस्मादेताः कामनाविषयत्वात् काम्याः। तथा च शातपथी श्रुतिः—'अथ गामभ्यैति। इड एह्यदित एहीतीडा हि गौरदितिर्हि गौस्तामभिमृशति काम्या एतेति। मनुष्याणाꣳ ह्येतासु कामाः

किसी व्यक्ति ने महीधरादिभाष्योक्त अर्थ को ही बताकर साथ-साथ अपने अभिप्राय को भी जोड़ दिया है। किन्तु वैदिक देवताओं पर विश्वास न होने से कहीं तो परमात्मपरक और कहीं राजा-मन्त्री-सेनापति परक अर्थ करते हुए अपनी उन्मुक्त कल्पना का परिचय दिया है।

स्वामी दयानन्द ने श्रुत्युक्त विनियोग के विरुद्ध ही यथेष्ट व्याख्या कर दी है। अतः उसे प्रामाणिक कैसे कहा जा सकता है ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ – **हे इडे (मनुदुहिते)! हे अदिति ! तुम सभी प्रार्थनीय हो। तुम सब हमारे होमस्थान (हवनशाला) में आओ। तुम्हारा अपेक्षित काम (अभिलषित फल) के धारण (सुरक्षित) करने का जो धर्म (कर्तव्य) है, मुझ में (मेरे विषय में) सर्वदा बना रहे। अर्थात् तुम्हारी कृपा से मैं अभीष्ट फल से युक्त रहूँ। 'इड एहि' इस मन्त्र से गौ के समीप खड़ा रहे और 'काम्या एत' इस मन्त्र से उसे स्पर्श करे ॥ २७ ॥**

प्रविष्टास्तस्मादाह काम्या एतेति मयि वः कामधरणं भूयादित्यहं वः प्रियो भूयासमित्येवैतदाह' (श० २।३।४।३४)। अनया कण्डिकया गोसमीपगमनं तदुपस्पर्शनं च समन्त्रकं विधत्ते।

अध्यात्मपक्षे—हे इडे संविद्रूपे परा वाक्! एहि स्वरूपप्राकटयेन मत्सन्निधावागच्छ, 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥' (वा० प० १।१) इति वाक्यपदीयवचनात्। हे अदिते अखण्डनीये अपरिच्छिन्ने चिन्मयि त्रिपुरे! एहि प्रत्यगानन्दरूपेणात्मानं मयि स्वात्मानं प्रकाशय स्वविषयकावरणापनयनेनेत्यर्थः। हे काम्याः कामेश्वरीरूपा दशमहाविद्यारूपाः! सर्वा यूयम् एत अस्मत्सन्निधावागच्छत। स्वस्वरूपं प्रादुर्भावयत। वो युष्माकं कामधरणं सर्वाभीष्टधारणसामर्थ्यं मयि युष्माकमुपासके मयि भूयात्।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर भवत्कृपयेडेयं पृथिवी मह्यं राज्यकरणाय एहि समन्तात् प्राप्नुयात्। एवमदितिः सर्वसुखप्रापिका नाशरहिता राज्यनीतिरेहि प्राप्नुयात्। एवं हे भगवन्! पृथिवीराज्यनीतिभ्यां मह्यं काम्याः पदार्था एत समन्तात् प्राप्नुवन्तु। तथा मयि वस्तेषां कामानां धरणं भूयात्' इत्याह, तदपि पूर्वोक्तशतपथश्रुतिविरोधादुपेक्ष्यम्, अश्रुतसम्बोधनपुरुषव्यत्ययादिकल्पनादोषाच्च। इडापदेन पृथिवीराज्यस्यादितिपदेन नाशरहितराज्यनीतेर्ग्रहणे प्रमाणाभावाच्च ॥ २७ ॥

सोमानꣳ स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ २८ ॥

'सोमानमित्यनुदकं व्रतोपायनवत्' (का० श्रौ० ४।१२।१०)। अथान्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्नग्निमीक्षमाणो जपति दाशुष इत्यन्तम्। सोमानं स्वरणं तृचो गायत्रो ब्रह्मणस्पतिदैवत्यस्तेनैव दृष्टः। हे ब्रह्मणस्पते ब्रह्मणो वेदस्य पालक! सोमानं सोमानामभिषोतारं स्वरणं शब्दयितारं प्रकाशनवन्तं वा। 'स्वृ शब्दोपतापयोः'। कृणुहि मामिति शेषः। त्वत्प्रसादादहं सोमयागे सोमानां लताविशेषाणां सोमराज्ञामभिषोता स्तोता च स्यामित्यर्थः। सुनोतीति सोमा, 'षुञ् अभिषवे' इति धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिन्प्रत्यये रूपसिद्धिः। सोमानं सोमयागकर्तारम्। सोमानं सोतारं पातारमिति पर्याया इत्युव्वटाचार्याः। सोतारं पातारं सामर्थ्यात् प्रसङ्गाच्च सोमानां पातारं वा कुरु। तत्रोपमानमुच्यते—कक्षीवन्तं

भाष्यसार—'गौ' को 'अदिति' कहकर उसे अवध्य बताया है। 'इडा' यह 'गौ' का नाम है।

अध्यात्मपक्ष में—हे चिन्मयि त्रिपुरे! स्वविषयक आवरण को दूर करके प्रत्यगानन्दरूप से अपने को प्रकट करने की कृपा करो। मैं तुम्हारा उपासक हूँ।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह शतपथश्रुति के विरुद्ध रहने से उपेक्षा के ही योग्य है। साथ ही अश्रुत सम्बोधन और पुरुषव्यत्ययादि कल्पना तथा प्रमाणरहित अर्थ की कल्पना आदि दोषों से परिपूर्ण वह अर्थ है ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे ब्रह्मणस्पते वेदपालक! जिस प्रकार तुमने दीर्घतमस्संज्ञक पिता और उशिक्संज्ञक माता से उत्पन्न हुए कक्षीवान् नामक ऋषि को सोमयाग और स्तुति से युक्त कर दिया था, उसी प्रकार मुझे भी वैसा कर दे। 'सोमानम्' इन नौ मन्त्रों का ('सोमानम्' इस मन्त्र से लेकर 'परि ते दूडभो' इस ३६ वें मन्त्र तक नौ मन्त्रों से) आहवनीय के समीप पूर्वाभिमुख खड़ा रहकर जप करे ॥ २८ ॥

कक्षीवानिति नामकमृषिं दीर्घतमसः पुत्रं धनदानेन यथा सोमपायिनं स्तुतिशब्दयुक्तं स्तोतारं कृतवानसि तथैव मामपि कुरु। इवशब्दो लुप्तो ज्ञातव्यः। कोऽसौ कक्षीवानित्याह—यः औशिजः, उशिग्नाम्नी कक्षीवतो माता, तस्याः पुत्र औशिजः कक्षीवान्। अनुष्ठातृषु मुनिषु कक्षीवतः प्रसिद्धिः। तथाहि तैत्तिरीयश्रुतौ—'एतं वै अपृणारः कक्षीवाँ औशिजो वीतहव्यः श्रायसस्त्रसद्दस्युः पौरुकुत्स्यः प्रजाकामा अनिन्वत' (तै०सं० ५।६।५।३), 'अहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः' (ऋ० सं० ४।२६।१)।

यास्कस्तु—'सोमानं सोतारं प्रकाशवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः कक्षीवान् कक्ष्यावानौशिज उशिजः पुत्र उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणोऽपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्। सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु.........' (नि० ६।१०) इति निरुक्ते मन्त्रमिमं व्याख्यातवान्। सोमानमनेकेषां सोमानां सोतारमभिषोतारं मां स्वरणं शब्दयितारं स्तुवन्तं यशस्विनं प्रकाशनवन्तं कुरु। कथं य औशिजः कक्षीवान् तमिव। कक्षीवान् कक्षे भवा कक्ष्या अश्वोदरसम्बन्धिनी रज्जुः, साऽस्यास्तीति कक्षीवान्। निरुक्तदृष्ट्या मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः। स हि कक्ष उत्पन्नः। तदुत्पत्तिसंयोगात् कक्षीवान्। औशिजः उशिजः पुत्रः। उशिग् इति कान्तिकर्मणो वष्टे रूपम्। तमिव मां सोमानं स्वरणं कुरु। तैत्तिरीयाश्च तथैवाहुः—'सोमानं स्वरणमित्याह सोमपीथमेवावरुन्धे कृणुहि ब्रह्मणस्पत इत्याह ब्रह्मवर्चसमेवावरुन्धे' (तै० सं० १।५।८।४) इति। तथैव शतपथे—'अथान्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्नग्निमीक्षमाणो जपति सोपानꣳ स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तं य औशिजः' (श० २।३।४।३५)। 'यद्वा आहवनीयमुपतिष्ठते दिवं तदुपतिष्ठतेऽथ यद् गार्हपत्यं पृथिवीं तदथैतदन्तरिक्षमेषा हि दिग् बृहस्पतेरेषा हि दिग् बृहस्पतेरेताꣳ ह्येतद्दिशमुपतिष्ठते। तस्माद् बार्हस्पत्यं जपति' (श० २।३।४।३६)। गोरुपस्थानानन्तरं प्राङ् गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये तिष्ठन्नग्निमीक्षमाणो जपति सोमानमिति। मन्त्रव्याख्यानं तूक्तमेव। सोमानमित्यस्य जप्यस्य तृचस्य प्रयोजनमाह—यद्वेति। आहवनीयगार्हपत्योपस्थानाभ्यां द्यावापृथिव्योस्तन्मध्यवर्तिनोऽन्तरिक्षस्य चोपस्थानं कृतं भवति। तस्य देवताविशेषसम्बन्धं प्रशंसति—एषा हीति। द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमाना येयमूर्ध्वा दिक्, एषा बृहस्पतेः स्वभूता। 'ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिर्देवता'। बृहस्पतिब्रह्मणस्पत्योरभेदान्न विरोधः। अतएव दाशतय्यां 'गणानां त्वा....' (ऋ० सं० २।२३।१) इति ब्रह्मणस्पत्यसूक्तेषु बृहस्पतिः स्तूयते।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मणस्पते! वेदस्य तद्धारयितुर्ब्राह्मणस्य च पालक! त्वं तं स्वोपासकं सोमानं त्वदाराधनबुद्ध्या अभिषोतारं ज्योतिष्टोमादियागानुष्ठातारं स्वरणं शब्दयितारं देवब्राह्मणातिथीनां स्तोतारं दीयतां भुज्यतामिति बृहत्या वाचो वक्तारं वा कृणुहि कुरु धनबुद्ध्यादिप्रदानेन। कमिव औशिजं कक्षीवन्तमृषिमिव उपमानबोधक इवशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः। यद्वा उशिक् कमनीयं सगुणसाकारं ब्रह्म, 'न यत्र हंसा निरयन्त्युशिक्क्षयाः' इति श्रीमद्भागवतवचनात्। तत्सम्बन्धी तदीयो भक्त औशिजः कक्षीवान् कक्ष्या रज्जुरविद्यारूपा साऽस्यास्तीत्यविद्यावान् जीवात्मा शास्त्रीयनियमो वा कक्ष्या तद्वान् नियन्त्रितकार्यकरणसंघातो यः परमात्मभक्तस्तमिव। यद्वा मां जीवात्मानं सोमानमभिषोतारं स्वधर्मानुष्ठानेन शुद्धं निर्मलं स्वरणं वेदान्ताभ्यासपरायणं महावाक्यशब्दवन्तं कृणुहि। 'अरुन्मुखान् यतीन्

भाष्यसार—मन्त्रार्थ से भाष्यार्थ स्पष्ट है। ब्रह्मणस्पति, कक्षीवान्, सोम आदि शब्दों की व्युत्पत्तियों को भाष्य से अवगत कर लेना चाहिये।

अध्यात्मपक्ष में—भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि मुझ नियन्त्रित सगुण भगवद्भक्त को तत्त्वसाक्षात्कार जिस प्रकार कराना चाहो, वैसा कर दो।

शालावृकेभ्यः प्रायच्छमित्यरुन्मुखत्वस्य निन्दितत्वात् । नियन्त्रितं नियतात्मानं सगुणभगवद्भक्तं तत्त्वसाक्षात्कारवन्तं यथा करोषि तथा कुरु। 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥' (भ० गी० १०।११), 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयन्ति ते' (भ० गी० १०।१०) इत्यादिश्रीमद्भगवद्गीतावचनात् ।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मणस्पते ! योऽहमौशिजः, तं मां सोमानं सुनोति निष्पादयत्योषधिरसान् विद्यासिद्धीश्च येन तं स्वरणं सर्वविद्याग्रप्रवक्तारं कृणुहि सम्पादय। कक्षेषु विद्याध्ययनकर्मसु साध्वी नीतिः कक्ष्या, सा बह्वी विद्यते यस्य विद्यां जिघृक्षोः, तं भूमार्थे मतुप्। 'संज्ञायां मतौ सम्प्रसारणम्' (पा० सू० ६।१।३७) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन सम्प्रसारणादेशः। यः सर्वा विद्या वष्टि स उशिक् तस्य विद्यापुत्र इव' इत्यादि, तच्चाविचारितरमणीयम्, प्रसिद्धस्य औशिजस्य कक्षीवतो दीर्घतमसः पुत्रस्यार्थस्य परित्यागेऽर्थान्तरस्य कल्पने मानाभावात् । उशिक्पदवाच्यापि तस्यर्षेर्मातृत्वेन प्रसिद्धा काचित् स्त्रीति उशिक्पदेन सैव ग्राह्या । अन्यथा सर्वा विद्या एकां वा विद्यां परमेश्वरं धनं वा वष्टीति विनिगमनाविरहाद् उशिक्पदार्थोऽनिर्णीत एव स्यात् । कक्षेषु विद्याध्ययनकर्मसु साध्वी नीतिरित्यप्यर्थो निर्मूल एव, मानाभावात् ।

यत्तु कश्चित्—'सोमानमित्यत्र छान्दसो मनिःप्रत्यय औणादिकप्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । कर्तरि मनिन्प्रत्ययं व्याचक्षाणौ उव्वटमहीधरौ स्वरदोषान्न रमणीयौ' इति, तत्तुच्छम्, नित्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्तेऽपि 'उञ्छादीनां च' (पा० सू० ६।१।१६०) इत्यन्तोदात्तस्वरसिद्धौ बाधाभावात् । किञ्च, यथा छान्दसत्वाद् मनिप्रत्ययः साध्यते, तथैव छान्दसत्वेनान्तोदात्तत्वमपि किं न साध्यते ? प्रक्रियागौरवापेक्षया स्वरस्य छान्दसत्वाश्रयणे लाघवात् ।

यत्तु केनचित्—'यत्तु सायणभाष्ये (ऋ० १।१८।१) 'भवेच्छन्दसि' इति यप्रत्यय ···प्रत्ययस्वरेण ईकार उदात्तः' इति, तदयुक्तम्, 'भवेच्छन्दसि' (४।४।११०) इत्यत्राधिकारप्राप्तो यत्प्रत्यय एव सर्वसम्मतः। अतो यप्रत्ययेनेष्टस्वरसिद्धेरपि यत एव सर्वसम्मतत्वात् छान्दसत्वादेवेष्टस्वरसिद्धिरिति साधीयान् स्यात्' इति, तदपि तुच्छम्, यप्रत्ययेनेष्टस्वरसिद्धौ छान्दसत्वाश्रयणस्यायुक्तत्वात्, तस्यागतिकगतित्वाच्च ॥ २८ ॥

यो रे॒वान् यो अ॑मीव॒हा व॑सु॒वित् पु॑ष्टि॒वर्ध॑नः । स नः॑ सिषक्तु॒ यस्तु॒रः ॥ २९ ॥

यो ब्रह्मणस्पतिः, रेवान् रै धनं तद्वान् धनवान्। यश्चामीवहा व्याधिहन्ता। वसुविद् वसुनो धनस्य सारासारतां वेत्ति जानाति वेदयति च ददाति च स्तोतृभ्यो भक्तेभ्यः स वसुवित्। पुष्टिवर्धनः पुष्टेः पोषणस्य वर्धयिता। यश्च तुरः स नोऽस्मान् सिषक्तु सेवताम्। 'सिषक्ति सचते इति सेवमानस्य' (नि० ३।२१)।

स्वामी दयानन्द ने स्व-कल्पित अर्थ करके प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग अकारण ही किया है। अतः उस अर्थ को प्रामाणिक नहीं कह सकते।

किसी आधुनिक व्याख्याकार ने 'सोमानम्' शब्द की व्युत्पत्ति के प्रदर्शन में जो व्याकरण का पाण्डित्य बताया है, वह उपहासास्पद ही हो गया है। कुछ आधुनिक व्याख्याकार अपनी अल्पज्ञता को न पहिचान कर उव्वट-महीधर-सायणादि महान् आचार्यों की हँसी उड़ाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु सूर्य पर धूलिप्रक्षेप के समान वे स्वयं ही अपने को हँसी का पात्र बना लेते हैं ॥ २८ ॥

अविलम्बेन स्तोतॄणां कामपूरकस्त्वरणस्तूर्णकारी पूर्वोक्तधनवत्त्वादिगुणविशिष्टो ब्रह्मणस्पतिः बृहस्पतिः, तेनोपलक्षितः परमात्माऽस्मान् सेवतां सेवनीयविशेषणीभूतगुणादिवस्तुप्रदानेनानुगृह्णातु इत्यर्थः। प्रभूणां सेवकेष्वनुग्रहणमेव तत्सेवनम्। यद्यद्गुणो देव उपास्यते तत्तद्गुणाः फलरूपेणोपासकायोपतिष्ठन्ते। विशेषणीभूतैर्गुणैः समवेतं कुरु, गुणादिसर्वानपेक्षस्य देवस्य परमबृहतः परमानन्दस्य नित्यनिरस्तसर्वानर्थस्य गुणसम्पादितानां महत्त्वातिशयानन्दातिशयाधानानर्थनिबर्हणादीनां कृत्यानामसम्भवेन भक्तार्थमेव गुणधारणसम्भवात्। यद्वानेन मन्त्रेण पुत्रः प्रार्थ्यते—हे ब्रह्मणस्पते ! यः पुत्रो धनवान् यश्च व्याधिहन्ता लब्धधनस्य पुष्टेश्च वर्धयिता यश्चतुरः शीघ्रकारी त्वत्प्रसादात् सोऽस्मान् सेवताम्। कालातिक्रमो हि प्रत्यग्रं रसं पिबति। तथा च राजनीतिः—'आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः। क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥' इति।

अन्यस्त्वनेन मन्त्रेण परमेश्वराद् राजा काम्यते। 'हे वेदपते ! यो धनवान् रोगाणां दोषाणां च निरसिता रत्नानां ज्ञाता वासयोग्यस्थानानां नगरग्रामादीनां लोकलोकान्तराणां च ज्ञाता शरीराणां वर्धयिता यश्चाविलम्बेन यथाकालं कार्याणां सम्पादयिता स राजा मह्यं प्राप्तोऽस्तु' इति, परं नैतन्मनोरमम्। शब्दानां यथा तथा योजनेनानेकेऽर्था लापयितुं शक्यन्ते। अत एव श्रीमद्भागवतटीकाकृता वंशीधरेण तदीयाद्यपद्यस्य जन्माद्यस्य यत इत्यस्याष्टोत्तरशतसंख्याका अर्थाः प्रदर्शिताः। तथापि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायेन शब्दतात्पर्यानुसारेणार्थो युज्यते। राज्ञश्च समष्टिराज्यस्योपकारकत्वेन नैककामनास्पदत्वं सम्भवति। तस्मात् पुत्रकामनापरत्वे देवविशेषणानुभूतफलपरत्वेनैव वा मन्त्रव्याख्यानं युक्तम्, अग्निहोत्रादिकर्मणां प्रातिस्विकत्वेन प्रातिस्विकफलपरत्वस्यैवौचित्यात्।

अध्यात्मपक्षे—यः परमेश्वरः सगुणो निर्गुणः, साकारो निराकारो वा रेवान् विविधैश्वर्यमाधुर्यादिगुणोपेतः, अमीवहा विविधानामाध्यात्मिकाधिभौतिकादिजरामरणक्रामक्रोधादिरोगाणां हन्ता ब्रह्मज्ञानरूपस्य वसुनो धनस्य वेदयिता पुष्टिवर्धनलब्धज्ञानदाढर्यस्य वर्धयिता तुरः त्वरावान् द्रौपद्यास्त्राणे गजोद्धरण इव वा अविलम्बेनाभीष्टकार्यसाधकः, 'या त्वरा द्रौपदीत्राणे या त्वरा गजमोक्षणे। मय्यार्ते करुणामूर्ते सा त्वरा क्व गता हरे ॥' इत्याप्तोक्तेः। स त्वं नोऽस्मान् सिषक्तु मदभीष्टभक्तिज्ञानवैराग्यादिभिरस्मान् समवेतान् कुरु।

दयानन्दस्तु—'यो रेवान् अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनो यस्तुरो ब्रह्मणस्पतिरीश्वरः स नोऽस्मान् शुभैर्गुणैः कर्मभिश्च सह सिषक्तु संयोजयतु' इति, तदपि न, गुणैः कर्मभिश्चात्मनः संयोगासम्भवात्, द्रव्ययोरेव संयोगनियमात् ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—धनवान्, रोगहारक, धन को जानने वाला, पुष्ट करने वाला और शीघ्र कार्य करने वाला जो ब्रह्मणस्पति है, वह हमारा सेवन करे, अर्थात् वह हमें प्राप्त हो ॥ २९ ॥

भाष्यसार—स्वामी का अपने सेवक पर जो अनुग्रह होता है, वही स्वामी के द्वारा सेवक का सेवन (सेवा) है। जिस-जिस गुण के कारण देवता की उपासना की जाती है, वे-वे गुण फल के रूप में उपासक को प्राप्त होते हैं।

अध्यात्मपक्ष में—जो परमेश्वर साकार-निराकार, अनेक ऐश्वर्यमाधुर्यादि गुणों से युक्त और विविध रोगों का नाशक, ज्ञान-विज्ञान का वर्धक और कार्य को शीघ्र करने वाला है, वह परमेश्वर हमें हमारे अभीष्ट भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों से युक्त कर दे।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि वे 'द्रव्य-द्रव्ययोरेव संयोगः' इस नियम को भूल गये हैं ॥ २९ ॥

मा नः शᳫंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य । रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ ३० ॥

अररुषो दानादिधर्मरहितस्य मर्त्यस्य कृपणमनुष्यस्य शंसोऽनिष्टचिन्तनम्, तत्कृता धूर्तिर्हिंसा च नोऽस्मान् मा प्रणग् मा व्याप्नोतु मा नाशयतु वा । हे ब्रह्मणस्पते अग्ने ! अस्मान् रक्ष । रराविति ररिवान् (दानवान्) 'रा दाने' इत्यस्माद् धातोः क्वसुनि प्रत्यये ररिवानिति रूपम् । तस्यैव षष्ठ्यां ररुष इति रूपम् । नञ्योगे अररुष इति रूपम् । णशिर्व्याप्त्यर्थकोऽदर्शनार्थकश्च । धूर्वतिर्वधकर्मसु पठितः । अररुषोऽदानशीलस्येत्यत्रादानमिति दानादिधर्मरहितस्योपलक्षणम् । दानादिधर्मरहितस्य परलोकबुद्ध्यभावेनान्येषामनिष्टचिन्तने हनने च प्रवृत्ति-सम्भवान्न केवलस्यादानवतस्तत्त्वस्याभावमूलकत्वस्यापि सम्भवात् । यद्वा काण्वसंहितास्थसायणभाष्यरीत्या हे ब्रह्मणस्पते ! अररुषः कदाचिदपि हविर्दानमकृतवतो यज्ञदानादिशून्यस्य मर्त्यस्य मनुष्यस्य शंसः प्रशंसिता धूर्तिः कर्माननुष्ठानप्रशंसारूपेण धौर्त्येन युक्तः पुत्रो नोऽस्मान् मा प्रणग् मा व्याप्नोतु मा प्राप्नोतु, नोऽस्मान् मा विनाशयतु वा । हे ब्रह्मणस्पते ! नोऽस्मान् रक्ष नास्तिकः पुत्रो यथा नोत्पद्येत तथा पालय ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे ब्रह्मणस्पते वेदरक्षक विष्णो श्रीराम श्रीकृष्ण वा, अररुषः स्वसर्वस्वमनिवेदयतो देहादितादात्म्याध्यासेन मरणधर्मकस्य बहिर्मुखस्य शंसः अनिष्टचिन्तनं धूर्तिः हिंसा चास्मान् मा प्रणग् मा पृणक्तु । अस्मान् ब्रह्मात्मनिष्ठादार्ढ्यसम्पादनेन रक्ष ।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मणस्पते ! भवत्कृपया नोऽस्माकं शंसो मा प्रणक् कदाचिन्मा प्रणश्यतु । या अररुषः परस्वादायिनो मर्त्यस्य धूर्तिर्हिंसास्ति तस्याः सकाशादस्मान् सततं रक्ष' इति, तदपि न सङ्गतम्, शंस इत्यनेन वेदविद्याग्रहणे मानाभावात् । अररुष इत्यस्य परस्वादानं नार्थः, रातेर्धात्वर्थाननुगमात् । एवमेव मूले प्रथमान्तस्य धूर्तिपदस्य पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणामस्तस्या इत्यध्याहारो वा अप्रामाणिक एव ।

ऋक्संहितासायणभाष्यरीत्या तु अररुषो मर्त्यस्य उपद्रवं कर्तुमस्मत्समीपं प्राप्तस्य शत्रुरूपस्य मनुष्यस्य धूर्तिः हिंसकः शंसः शंसनमधिक्षेपस्तादृशो वाग्विशेषः, नः अस्मान् मा प्रणग् मा सम्पृणक्तु शत्रुणा प्रयुक्तोऽधिक्षेपः कदाचिदस्मान् मा प्राप्नोतु । तदर्थं हे ब्रह्मणस्पते ! नोऽस्मान् रक्ष पालय । 'अर्तेररुः' (उ० सू० ४।५१९)। अन्तर्भावितण्यर्थात् 'ऋ गतौ' इत्यस्माद् अररुष इति रूपम् । धूर्तिः, धूर्वी हिंसार्थः । प्रणक् 'पृची सम्पर्चने' इत्यस्माल्लङि तिपि 'इतश्च' (पा० सू० ३।४।१००) इतीकारलोपे हल्ङ्यादिलोपे कुत्वे 'रुधादिभ्यः श्नम्' (पा० सू० ३।१।७८) तस्य 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इत्यडागमे यणादेशेऽकारस्य आगमानुदात्तं बाधित्वा व्यत्ययेनोदात्तत्वे 'चादिलोपे विभाषा' (पा० सू० ८।१।६३) इति निघाताभावः ।

यत्तु—'मन्त्रे घसह्वरणश…' (पा० सू० २।४।८०) इति णशधातोर्लेर्लुग्विधानात् तदयुक्तम्' इति, तत्तुच्छम्, णशधातोस्तादृग्रूपसिद्धावपि प्रकृते तदर्थासम्भवेन पृचे रूपसाधने दोषाभावात् । यत्तु पदमञ्जरीन्यास-कारादयः 'प्रणङ् मर्त्यस्य' इति प्रकृतमन्त्रस्यैवोदाहरणं प्रदर्शयन्तीति, तदपि न किञ्चित्, णशेर्व्याप्त्यर्थतायां तदुक्तेरपि निर्दोषत्वात् । सम्पर्कार्थे क्लृप्तार्थस्य पृचेर्ग्रहणे मन्त्रस्य स्वारस्याधिक्यादेव सायणाचार्योक्तिर्विजयते-

मन्त्रार्थ—कभी भी हविर्दान न करनेवाले मनुष्य के द्वारा किया जानेवाला हमारे सम्बन्ध में जो अनिष्ट चिन्तन और हिंसा है, वह हमारा विनाश न करे । हे ब्रह्मणस्पते वेदपालक अग्ने ! तुम हमारी रक्षा करो ॥ ३० ॥

भाष्यसार—हमारे कुल में ऐसा धूर्त पुत्र न हो, जो यज्ञ दान न करनेवाले की भी कर्माननुष्ठानरूप मिथ्या प्रशंसा करे । हे ब्रह्मणस्पते ! नास्तिक पुत्र हमारे कुल में उत्पन्न न हो, उस तरह हमारी रक्षा करो ।

तराम् । पाणिनिसूत्रं णशेः प्रणगिति रूपं साधयति, नास्य धात्वन्तरात् प्रकारान्तरेण वा सिद्धि वारयति, वाक्यभेदप्रसङ्गात् । यदपि च पृचीधातोः प्र इति रेफस्य कथं निर्वृत्तिः स्यादिति, तदपि न किञ्चित्, छन्दसि दृष्टानुविधित्वेन तन्निर्वृत्तौ बाधाभावात् । आश्चर्यमिदं यद् यः पदे पदे 'अर्थनित्यः परीक्षेत यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्' (नि० २।१) इत्यादीनि वचनान्याश्रित्य यथेष्टं मन्त्रेषु स्वैरित्वं प्रदर्शयति, स एव सायणाचार्यस्यार्थप्राधान्येन परीक्षणे दोषमाविष्करोति ॥ ३० ॥

महि॒ त्रीणा॒मवो॑ऽस्तु द्यु॒क्षं मि॒त्रस्या॑र्य॒म्णः । दु॒रा॒धर्षं॒ वरु॑णस्य ॥ ३१ ॥

सत्यधृतिदृष्ट आदित्यदेवत्यस्तृचो गायत्रीजपे विनियुक्तः पथिजातोपद्रवनाशकश्चेति महीधरः । एतदपि सूक्तमन्तराग्नी तिष्ठन् जपेत् । मित्रस्यार्यम्णो वरुणस्येति त्रीणां त्रयाणामादित्यानामवः अवनम्, तत्कर्तृकपालनमस्तु । 'त्रेरामि छन्दसि त्रयादेशो वेति वाच्यम्' (पा० सू० ७।१।५३) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन त्रीणामिति रूपसिद्धिः । कीदृशं पालनम् ? महि महत् सर्वापद्विनाशकम् । द्युक्षं द्युमन्ति सुवर्णरत्नादीनि द्रव्याणि क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिन् पालने तादृशं पालनम् । पुनः कीदृशम् ? दुराधर्षम्, अन्यैर्दुराधर्षयितुं तिरस्कर्तुमशक्यम्, अर्थाद् मित्रार्यमवरुणास्त्रय आदित्या देवा एवंविधं पालनं कुर्वन्तु, येन सर्वापद्विनिवारणम्, रत्नसुवर्णादिदीप्तिमद्धनलाभः, असुरराक्षससर्पव्याघ्राद्युपद्रवादिनिवारणं च भवेत् ।

अध्यात्मपक्षे तु साधका भगवन्तं प्रार्थयन्ते—त्रीणां त्रयाणां त्रिविधानां मानसवाचिककायिककर्मणामवोऽवनं रक्षणं भगवत्यर्पणेन भवतु, भगवदर्पणमन्तरा तेषां संसारहेतुत्वेन नैरर्थक्यापातात् ।

अन्यस्तु सायणादिव्याख्यानानुसार्यर्थमेव गृहीत्वा तत्र स्वाभिप्रेतमर्थं संयोज्य मित्रपदेन रक्षाविभागम्, अर्यमशब्देन न्यायविभागम्, वरुणशब्देन च योद्धृवर्गं गृह्णाति । त्रयाणां विभागानामच्छेद्यमाज्ञापालनमस्ति, तच्च तत्कल्पनामात्रमूलकम् । तथा च शातपथी श्रुतिः—'महित्रीणामवोऽस्तु । द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णो दुराधर्षं वरुणस्य नहि तेषाममाचन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुमघशꣳसः । ते हि पुत्रासोऽदितेः प्र जीवसे मर्त्याय ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रमिति तत्रास्ति नाध्वसु वारणेष्वित्येते ह वा अध्वानो वारणा य इमेऽन्तरेण द्यावापृथिवी एतान् ह्येतदुपतिष्ठते । तस्मादाह नाध्वसु वारणेष्विति' (श० २।३।४।३७) । महित्रीणां ३१, नहि तेषाममाचन ३२,

अध्यात्मपक्ष में—हे ब्रह्मणस्पते वेदरक्षक ! हे विष्णो ! हे श्रीराम ! हे श्रीकृष्ण ! जिसने आपके चरणारविन्द पर अपना सर्वस्व अर्पित नहीं किया, अर्थात् देहादि तादात्म्याध्यास के कारण मृत्युधर्मा बहिर्मुख व्यक्ति के द्वारा किया अनिष्टचिन्तन और हिंसा का हमें स्पर्श तक न हो । ब्रह्मात्मनिष्ठ दृढता सम्पादन कराकर हमारी रक्षा करो ॥

स्वामी दयानन्दोक्त अर्थ मन्त्रगत शब्दों का न होने से तथा विपरिणाम, अध्याहार आदि का स्वीकार करने में कोई प्रमाण न होने से त्याज्य है ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—मित्र, अर्यमा और वरुण ये तीनों हमारा रक्षण करें। वह रक्षणसामर्थ्य (बल) महान् हैं और उसमें सुवर्णादि द्रव्य निवास करते हैं। दूसरे के द्वारा उसका तिरस्कार करना शक्य न हो पाय, अर्थात् अशक्य रहे ॥ ३१ ॥

भाष्यसार—मित्र, अर्यमा और वरुण ये तीनों देवता ऐसा पालन करें, जिससे सर्वविध विपत्तियों का निवारण हो जाय और रत्न-सुवर्णादि धन का लाभ होता रहे ।

तत्सवितु ३३ रिति तृचस्य प्रयोजनमाह। तत्र न अध्वसु वारणेषु इत्यस्ति। तस्याभिप्रायो वर्ण्यते—एते ह वेति। द्यावापृथिव्योर्मध्ये य इमेऽध्वानो वितताः, एते खलु पुरुषस्य फलप्राप्तिवारणाय भवन्ति। अतो द्यावापृथिवीसंस्तुतयोर्गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये स्थित्वा इमं तृचं जपन् एतानेव मार्गानुपतिष्ठते। एवमध्वनामुपस्थितत्वात् तं न कोऽपि वारयितुमीश्वरः। मित्रवरुणार्यमरक्षितानां तेषां यष्टॄणाम् अघशंसो रिपुः पृथिव्यन्तरिक्षदिव्यमार्गेषु वारणेषु न ईशे समर्थो भवति। ते मित्रादयः अदितेः पुत्रासो भवन्ति। ते मर्त्या यज्ञकर्तुर्यजमानस्य जीवसे जीवनाय अजस्रं ज्योतिः प्रयच्छन्ति। द्यावापृथिव्योर्मध्ये ये वितता मार्गाः सन्ति, ते वारणाः पुरुषस्य फलप्राप्तौ वारणा बाधका भवन्ति। एतेषु विद्यमाना असुरादयो नाष्ट्राः स्वर्गगतौ प्रतिबन्धकाः, अतः स्वर्गगमने बाधावारणाय गार्हपत्याहवनीययोर्द्यावापृथिवीरूपयोर्मध्ये स्थित्वा अस्य तृचस्य जपेन मार्गानेवोपतिष्ठते। तस्मात्तन्मार्गेभ्योऽपसारणे न कोऽपि समर्थो भवति।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मणस्पते! तव कृपया मित्रस्य बाह्याभ्यन्तरस्य प्राणस्य अर्यम्णः, य ऋच्छति नियच्छत्याकर्षणेन पृथिव्यादीन् सोऽर्यमा सूर्यलोकस्तस्य, वरुणस्य वायोर्जलस्य वा च त्रीणां त्रयाणां सकाशान्नोऽस्माकं द्युक्षं दुराधर्षं महि महद्वोऽस्तु। द्यौर्नीतिः प्रकाशः क्षियति निवसति यस्मिंस्तत् द्युक्षम्' इति, तदेतच्छतपथश्रुतविरुद्धमेव। यद्येते मित्रादयो भयहेतवस्तस्मादेतेषां सकाशादात्मरक्षाभिप्रेता, तदा तेषां भयहेतुत्वे कारणं वाच्यम्, यतो हि तेषामुपकारकत्वस्यैव प्रसिद्धिः। यद्येतेषां रक्षकत्वेनैतेषां सकाशाद् रक्षणमभीष्टम्, तदापि तव कृपयेत्यस्य स्वारस्यं वाच्यम्, परमेश्वरकृपयैव रक्षोपपत्तौ तदपेक्षणस्याकिञ्चित्करत्वात्॥ ३१॥

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघशंसः॥ ३२॥

अमा चन गृहेऽपि वर्तमानानाम्, अमाशब्दस्य गृहनामसु पठितत्वात्। अपीत्यर्थे चनशब्दः। मित्रार्यमवरुणैस्त्रिभिर्देवैः पालितानां यजमानानामुपद्रवार्थमिति शेषः। अघशंसः पापप्रशंसको रिपुः, न ईशे न समर्थो भवति। तथा वारणेषु चोरव्याघ्रादयो यत्र स्थिता निवारयन्ति पथिकान् ते वारणास्तेषु, येषु चोरव्याघ्रादिभयवशान्निवारितेष्वपि, अध्वसु चोरव्याघ्राद्युपद्रुतेषु मार्गेषु रिपुर्नेशे अनिष्टसम्पादनाय समर्थो न भवति, मित्रादिदेवपालितानां गृहेऽरण्ये वा शत्रुचोरव्याघ्रादिकृता बाधा न भवतीत्यर्थः। तथैव परमेशपालितानां कामक्रोधादीनामान्तराणां बाह्यानां च रिपूणां न भवतीति।

अध्यात्मपक्ष में—साधक भक्त अपने भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि हमारे मानस, वाचिक और कायिक कर्म सर्वदा भगवान् के अर्पण होकर ही चलते रहें।

किसी अन्य व्याख्याकार ने सायणाचार्य के अर्थ की छाया का आश्रय लेकर अपनी कल्पनाओं का मिश्रण कर दिया है, जिससे वह शतपथश्रुति के प्रतिकूल हो गया है।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या भी शतपथश्रुति के विरुद्ध ही है। अतः वह भी उपेक्षा के ही योग्य है॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—घर में रहनेवाले तथा चोर और व्याघ्रों के भय से पूर्ण मार्ग में रहने वाले यजमानों को उपद्रव पहुँचाने के लिये पापकर्म की बड़ाई मारनेवाला शत्रु समर्थ नहीं होता, क्योंकि मित्र, अर्यमा और वरुण इन तीन देवताओं से उस यजमान की रक्षा की गई है॥ ३२॥

अन्यस्तु—'तेषां राष्ट्रवासिनां गृहेषु मार्गेषु शत्रुचोरव्याघ्रादिनिवारकेषु कार्येषु पापकर्मोपदेशका दुष्टाः षड्यन्त्रकारिणो बलवन्तो न भवेयुरितीश्वरः प्रार्थ्यते। सङ्गतिनैरपेक्ष्येण व्याख्याने केनापि पदेन स्वाच्छन्द्येन किमपि ग्रहीतुं शक्यते, अन्यथा तेषांपदेन कथमिव राष्ट्रवासिनां ग्रहणम्? मार्गवाचकस्य अध्वपदस्य सत्त्वेऽपि तस्य तद्विशेषणस्य वारणशब्दस्य व्याघ्रादिनिवारककार्यपरत्वयोजनमुच्छृङ्खलत्वमेव।

यत्तु—'शंसनं शंसः, भावे घञ्। अघस्य पापस्यैव शंसश्चिन्तनं कथनं वा यस्येति बहुव्रीहिसमासे पूर्वपद-प्रकृतिस्वरः' इति, तन्न, तथात्वेऽघशंसपदस्य शत्रुबोधकत्वासम्भवात्। अघस्य शंसश्चिन्तनं कथनं वा अघजिहासोरपि सम्भवति। अतोऽत्र शत्रुविवक्षया अघं पापं शंसति, अथवा अघेन तीव्रपापेन भक्षणादिना शंसो घातक इत्येवार्थो युक्तः। यत्त्वत्र बहुव्रीहेरभावात् पूर्वपदप्रकृतिस्वराभावो दोष इति, तन्न, 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया-सप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः' (पा० सू० ६।२।२) इत्यादिभिः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वोपपत्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मणस्पते! य ईश्वरोपासकास्तेषां गृहेषु अध्वसु वारणेषु चनाप्यघशंसो रिपुर्नह्युप-तिष्ठते न खलु तान् क्लेशयितुं शक्नोति तं तांश्चाहं प्राप्नुमोशे' इति, तन्न, तच्छब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वात्। पूर्वमन्त्रे ईश्वरोपासकानामप्रकृतत्वेन तदसङ्गतेः। गृहेष्वध्वसु इत्याभ्यामेव पदाभ्यां गृहे मार्गे च रिपुकृत-बाधाभावेनैव चोरव्याघ्रादिबाधावारणेन वारणेष्वपि रिपुबाधाभावोपपत्तौ वारणेष्वित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, तस्माच्चौराद्युपद्रुतेषु मार्गेषु शत्रुकृतबाधाभावसिद्धयेऽध्वविशेषणत्वेनैव तद्योगस्यौचित्यात्।

अध्यात्मपक्षे तु—मित्रस्य सर्वमित्रस्य परमात्मनः, अरीनन्तरङ्गान् कामादीन् बहिरङ्गानग्निदगरदान् नियच्छतीत्यर्यमा आदित्यः। तस्य आदित्यमण्डलान्तर्गतस्य पुरुषस्य अरीणां तमसामज्ञानानां वा नियन्तु; अर्यम्णः सूर्यस्य महावाक्यजन्यवृत्त्यारूढस्य संशयविपर्ययविप्रतिपत्त्यज्ञानाद्यपनोदकस्य 'अर्यमा आदित्योऽ-रीन्नियच्छतीति' (नि० ११।२३)। वरुणस्य वरणीयस्य सर्वसम्भजनीयस्य सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदस्य प्रत्यक्-चैतन्याभिन्नस्य इत्येतेषां भगवद्रूपाणां सम्बन्धी अवस्तत्कर्तृकं मत्कर्मकं पालनमस्तु। कीदृक् तत्पालनम्? महत् सर्वोत्कृष्टं तदपेक्षयेतरदेवमनुष्यादिकर्तृकं रक्षणं तु लघ्वेव, तद्रक्षितानामपि पराभवदर्शनात्। द्योतमानाः शमादयो गुणा रत्नसुवर्णादयः पदार्थाः क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिंस्तद् दुराधर्षं केनापि धर्षयितुमशक्यम्। तच्चावनं सर्वापद्भ्यः कामक्रोधादिभ्योऽन्तरङ्गेभ्यो बहिरङ्गेभ्यश्च शत्रुभ्यः, अविद्यापनोदनेनाविद्यातत्का-र्यात्मकात् संसाराच्च संसरणं मास्त्विति।

मित्रस्य नन्दस्य व्रजराजपुत्रस्य अर्यम्णः पूतनादिकंसान्तानरीन्नियच्छतस्तव कृष्णस्य। यद्वा अर्यं स्वामिनं राजानम्, 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३), निर्मिमीते कंसस्य स्थाने तत्पितुरुग्रसेनस्य राज्ञो निर्माता अर्यमा, तस्य तव त्वदुपलक्षितस्य यदुकुलस्य वरुणस्य वरणीयस्य संभजनीयस्य भगिनीपुत्रत्वात् स्नेहास्पदस्य पाण्डवकुलस्य त्रयाणां रक्षणमस्तु। यद्वा मित्रस्य युधिष्ठिरस्य, अर्यम्णो निवातकवचादिघातकस्य भीमार्जुनयुगलस्य, वरुणस्य लोकस्पृहणीयस्य नकुलसहदेवयुगलस्य रक्षणमस्त्वित्यादिकं यद्यपि भगवच्चरित्र-

भाष्यसार—मन्त्रार्थ से ही भाष्य का अर्थ स्पष्ट हो रहा है।

किसी अन्य व्यक्ति ने जो व्याख्या की है, वह व्याकरण नियमों के विरुद्ध है, तथा सङ्गति-रहित होने से उसमें उच्छृङ्खलता के सिवाय ग्राह्य अंश कुछ भी नहीं है।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या भी उन्हीं दोषों से पूर्ण है। अतः उसे त्याज्य ही समझना चाहिये।

परत्वेन स्पृहणीयं व्याख्यानम्, तथापि न तन्मन्त्राक्षराणां स्वारसिकं व्याख्यानम्, किन्तु बलादिवाभिमतेऽर्थे योजनम्, क्लिष्टकल्पनाबाहुल्यात् ॥ ३२ ॥

ते हि पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥ ३३ ॥

कस्मान्मित्रादिदेवरक्षितानां गृहे वने वा शत्र्वादिभयाभावः, यतस्तेऽदितेरखण्डितायाः शक्तेर्देवमातुः पुत्रासः पुत्रा मित्रार्यमवरुणा मर्त्याय मनुष्याय यजमानाय प्रजीवसे चिरं जीवनाय अजस्रं निरन्तरमनुपक्षीणं ज्योतिर्ज्ञानरूपं तेजः प्रयच्छन्ति । किमर्थम् ? जीवसे यथा चिरं जीवनं भवति तथा त उपायज्ञानं प्रयच्छन्तीत्यर्थः । विशिष्टशक्तिरूपाया अदितेः पुत्रत्वाद् विशिष्टशक्तिमन्तस्तेऽतस्तद्रक्षितत्वादेव तद्रक्षितानां भयाभावः । दीर्घजीवनोपायज्ञानरूपानुपक्षीणज्योतिःप्रदातृत्वाच्च तद्रक्षितानामकुतोभयत्वम् ।

अध्यात्मपक्षे तु—ते पूर्वोक्ता मित्रादयो देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्याया ब्रह्मरूपायाः स्वच्छसंविदः पुत्रासस्तदवस्थाविशेषाः । तस्या एव पूर्वोक्ताया मित्रार्यमवरुणा अवस्थाविशेषविशिष्टरूपाः । अत एव ते विशेषानुग्रहेण मर्त्याय जीवसे ब्रह्मात्मभावानुप्राणनाय अजस्रमनुपक्षीणज्ञानज्योतिः प्रयच्छन्ति । गोपा यादवाः पाण्डवा मित्रार्यमवरुणा अदितेः पुत्रास्ते मर्त्येभ्योऽजस्रं ज्योतिर्ज्ञानं प्रयच्छन्ति प्रददति, येन तैर्दर्शितभगवद्भक्तिमार्गाः प्रभुमाराधयन्तः ससुखमुपजीवन्ति । तेषामाचरणेन ज्योतिःप्राप्तौ सत्यामपि तद्दाने तेषामन्यथासिद्धतैव, तथापि दयानन्दीयव्याख्यानादुत्कृष्टतरमेव ।

स्वामिदयानन्दस्तु—'ये अदितेः पुत्रास्ते मर्त्याय जीवसे अजस्रं ज्योतिः प्रयच्छन्ति' इति, तच्च तद्रीत्या कथं मित्रादयः कारणशक्तेः पुत्राः, सर्वस्यैव कार्यस्य तत्पुत्रत्वेन पुत्रत्वावैशेष्यात् ।

अन्यस्तु—'ते मित्रार्यमवरुणाः, अदितेः अखण्डशासनस्य पृथिव्या वा पुत्रान् पापेभ्यो दुःखेभ्यश्च त्रायन्ते मनुष्यजीवनायाविनाशिप्रकाशं प्रयच्छन्ति' इति, तन्न, मन्त्रे पुत्रास इति प्रथमान्तत्वान्न ते कर्मभूताः । कथञ्चित् व्यत्ययेन तत्स्वीकारेऽपि त्रातृबोधकपदाभावात् ते पृथिव्या अखण्डशास्त्रा शासनस्य वा पुत्रान् त्रायन्ते इति कथमवगन्तुं शक्यते ? मन्त्रे दुःखपापबोधकपदमपि नास्ति । ततो यत्किञ्चिदेव तत् । क्वचिददितिशब्देन

अध्यात्मपक्ष में—भगवत्कर्तृक रक्षण ही सर्वोपरि रक्षण है, उसकी तुलना में मनुष्यादिकर्तृक रक्षण तो बहुत लघुकोटि का है ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—क्योंकि वे मित्र, अर्यमा और वरुण जो हैं, वे उस अखण्डित शक्ति अदिति के पुत्र हैं। अतः वे यजमान को चिरकालतक जीवित रहने के लिये निरन्तर तेज देते रहते हैं ॥ ३३ ॥

भाष्यसार—उक्त तीनों देवता विशिष्ट शक्तिरूप अदिति के पुत्र होने से वे भी विशिष्ट शक्तिसम्पन्न हैं। ऐसे शक्तिशाली उन देवताओं से सुरक्षित होने के कारण ही उन्हें किसी प्रकार के भय की सम्भावना नहीं है ।

अध्यात्मपक्ष में—परिच्छेदरहित ब्रह्मरूपिणी विशुद्ध संवित् की विशेष अवस्था रूप ये मित्र आदि हैं। अत एव वे बहुत अनुग्रह करके मर्त्य जीव को ब्रह्मात्मभाव के अनुप्राणनार्थं निरन्तर अनुपक्षीण ज्ञानज्योति दिया करते हैं ।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में कार्य-कारणभाव की संगति नहीं हो रही है ।

देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यः परमात्मैव बोध्यते। प्रकृते त्वादित्यादिदेवानां माता अखण्डभगवच्छक्तिरूपा कश्यपपत्नीरूपाऽदितिः ॥ ३३ ॥

कदाच न स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ३४ ॥

इयमैन्द्री पथ्याबृहती मधुच्छन्दोदृष्टा जपे विनियुक्ता। यस्यास्तृतीयः पादो द्वादशार्णोऽन्ये च त्रयः पादा अष्टाक्षराः सा पथ्याबृहती। हे इन्द्र! परमैश्वर्यशालिन्! त्वं कदाचन कदापि भूयो भूयो याच्यमानो न स्तरीरसि न स्तृणासि। स्तृणातेर्हिंसार्थस्यैतद्रूपम्। न क्रुध्यसि, किन्तु दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय सश्चसि धनपुत्रादिसमृद्धिं प्रापयसि। 'गतिकर्मसु सश्चतिः पठितः' (नि० २।१४।४१)। यद्वा द्वितीयार्थे चतुर्थी। दाश्वांसं त्वदनुग्रहार्थमाहुतिप्रदातारं यजमानं सश्चसि सेवसे अभीष्टदानेन प्रीणयसे। 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा० सू० ८।१।६) एक उपशब्दः पादपूरणे। इच्छब्द एवार्थकः। नुशब्दः क्षिप्रवचनः। एवमुपपदं पृच्यत इत्यनेन युज्यते। तथा च हे मघवन्! धनोपलक्षितविविधैश्वर्यवन्! देवस्य प्रकाशमानस्य ते तव भूय इद् बहुतरमेव दानं नु इद् क्षिप्रमेव दाश्वांसमुपपृच्यते। 'पृची सम्पर्के' यजमानेन सम्पृक्तं भवति। अन्ये याच्ञया क्रुध्यन्ति, त्वं पुनर्याच्यमानोऽपि न क्रुध्यसि, हविर्दानपरायणं सदा प्रीणयसे, त्वत्कर्तृकदानं यजमानेन सम्पृच्यते। तेन त्वत्कृतदानेन त्वद्भक्तः कृतार्थो भवतीत्यर्थः। यद्वा वेदे मात्रा-मात्रस्याप्यानर्थक्यायोगाद् उपोपेत्यस्यात्यन्तसामीप्यमर्थः। उपोप सश्चसि अत्यन्तानुग्रहेण सेवकवत् क्षिप्रमेवातिसमीपमागच्छसीत्यर्थः।

कश्चित्तु राजन्निति सम्बोधयन् इन्द्रपदेन राजानमवगच्छति, तथा दाशुष इत्यात्मसमर्पणमभिप्रैति। यद्यपि परमात्मपरत्वे सर्वथापि श्लिष्यते बृहतीयम्, निरङ्कुशस्य परमैश्वर्यस्य तत्रैव सम्भवात्। दाशुषे आत्मसमर्पणं कृतवते भक्ताय एवात्यन्तानुग्रहेणातिसामीप्यमात्मभावमुपयाति—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इति रीत्या आत्मसमर्पयित्रे सोऽपि तस्मै स्वात्मानमर्पयति। सामीप्यस्य पर्यवसानमात्मन्येव भवति, तस्यैव सर्वान्तरतमत्वात्। तत्कर्तृकमेवामोघदानं सम्पृक्तं सद् भक्तं कृतार्थयति। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० सं० ६।४७।१८) इत्यादिमन्त्रेषु परमात्मन एवेन्द्रशब्देन ग्रहणं भवति। अत्रापि परमार्थदृष्ट्या सर्ववेदादिशास्त्रमहातात्पर्यविषयत्वेन परमात्मपरैवेयमित्यध्यात्मव्याख्यानम्' तथापि यज्ञादिव्यावहारिकदृष्ट्या यज्ञदेवतापरैवेयमिति, तथैव माध्यन्दिनाद्युक्तेः। देवताया विग्रहवत्त्वेन प्रतिकल्पं भेदेऽपि मीमांसकानां सिद्धान्ते जातौ शक्त्यङ्गीकारेण इन्द्रत्वजातेर्नित्यत्वेन नित्यैर्वैदिकैः शब्दैर्नित्यः सम्बन्धो नानुपपन्नः।

किसी अन्य के व्याख्यान में भी वैसी ही असंगति हो रही है ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र! तुम कभी भी हिंसक नहीं होते और हविर्दान करनेवाले यजमान का सेवन तुम किया करते हो। हे धनवान् इन्द्र! प्रकाशमान रहनेवाले तुम्हें दिया हुआ पुष्कल द्रव्य शीघ्र ही हविर्भाग देनेवाले यजमान को प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

यत्तु केनचिदुच्यते—'सायणादिभिर्भूमिकायां ववरः प्रावाहणिरकामयतेत्यादिस्थलेषु शब्दार्थसम्बन्धानित्यत्वभिया श्रुतिसामान्याभिप्रायेण नित्यवाय्वादिपरा एव वैदिकाः शब्दा नानित्यजरामरणादिधर्मव्यक्तिपरा इत्युद्घोषितम्, परं भाष्येऽनेकेषां मन्त्राणां व्यक्तिपरत्वं व्याचक्षाणैर्विस्मृतमेव तत्' इति, तदपास्तम्, उक्तदृष्ट्या सम्बन्धनित्यत्वोपपत्तेः। उर्वशीपुरूरवआद्याख्यानेष्वपि कैमर्थ्याकाङ्क्षावशाल्लक्षितार्थपरत्वेनाख्यानानां स्वार्थेषु वाच्यार्थेषु तात्पर्याभावेन तददोषात्।

यद्यपीयमैन्द्री ऋग् इन्द्रपरैव, तथापि 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति गार्हपत्योपस्थाने विनियोगात् पारमैश्वर्यस्य लक्ष्यमाणस्य गुणस्य योगेन गार्हपत्याग्निपरोऽपीन्द्रशब्दः। शतपथे तु—'अथैन्द्री। इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सेन्द्रमेवैतदग्न्युपस्थानं कुरुते कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे इति यजमानो वै दाश्वान्न यजमानाय द्रुह्यसीत्येवैतदाहोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत इति भूयोभूय एव न इदं पुष्टं कुर्वित्येवैतदाह' (श० २।३।४।३८)। ऐन्द्री इन्द्रदेवताका कदाचन स्तरीरसीत्यादिका अग्न्युपस्थाने प्रयोक्तव्या। तथा च तदग्न्युपस्थानमिन्द्रसहितं सद् यज्ञात्मना निष्पद्यते। तदेतदुच्यते इन्द्रो यज्ञस्य देवता तस्मात् सेन्द्रमेवैतदग्न्युपस्थानम्। पूर्वार्धमनूद्य तात्पर्यमाह—कदाचनेति। 'दाशृ दाने'। 'दाश्वान् साह्वान्...' (पा० सू० ६।१।१२) इति निपातनाद् हविषां दाता यष्टा यजमानस्तस्मै कदाचिदपि स्तरीः हिंसको नासि न भवसि न द्रुह्यसीति। उत्तरार्धं व्याचष्टे—हे मघवन्! अस्मभ्यं दीयमानं त्वदीयं धनं भूयोभूय एव उपपृच्यते समीपं प्राप्नोति। नोऽस्माकमिदं पुष्टं कुरु।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र! यदा त्वं स्तरीरसि सदा दाशुषे कदाचनेन्नु न सश्चसि तदा हे मघवन्! देवस्य ते तव दानं तस्मै दाशुषे भूयः कदाचनेन्नु नोपपृच्यते' इति, तन्न समीचीनम्, अन्वयस्यास्पष्टत्वात्। तत्रत्यटिप्पणीकारोऽपि तथैवाह—'अन्वयोऽयमस्पष्टः प्रतीयते' इति। 'यदीश्वरः कर्मफलदाता न स्यात् तर्हि न कश्चिदपि जीवो व्यवस्थया कर्मफलं प्राप्नुयादिति भावार्थः। प्रायेणायमेवार्थो हिन्दीभाष्येऽपि। अस्मिन्नर्थे इदित्यर्थस्य ज्ञानमर्थः, स क्वोपयुज्यत इति न स्पष्टम्। आच्छादनार्थस्य स्तृणातेर्ग्रहणेऽपि सुखैराच्छादयति यः स स्तरीरिति ग्रहीतुं दुःखैः सुखाच्छादकेऽपि तदन्वयस्य तुल्यत्वात्। मन्त्रे नेत्येकमेव निषेधार्थकं पदम्, तत्कथं न सश्चसि इत्यन्वयेन शान्ताकाङ्क्षं सत् पुनरुपपृच्यत इत्यनेन सम्बध्येत? अत्रार्थे शतपथविरोधोऽपि स्पष्ट एव।

'गोवर्धनोद्धरणानन्तरं क्षमाप्रार्थनार्थमागतायेन्द्राय भगवान् कृष्ण उपदिशति—हे इन्द्र! दाशुषे मह्यमात्मानं निवेदयते मद्भक्ताय तमपकर्तुमधुना व्रजजनमिमं कदाचित् कदापि स्तरीः घातकः असि न मा भूद् मा भव। विस्मृत्यापि मद्भक्तस्यावज्ञां मा कुरुष्व। क्षमे कृतमपराधं व्रजोपप्लावनलक्षणम्। सश्चसि यथासुखं राजधानीं गच्छ, छन्दसि कालानियमात्। हे मघवन्! देवस्य देवेन मया दीयमानं भूयो यद् बहुलमेव वैभवम्, तत् क्षिप्रमेव तवोपपृच्यते सम्पृक्तं भवतु। मद्दत्तवैभवस्य त्वं स्वामी न मनागपि ते स्वकीयं वर्तते। धिक् त्वां न त्रपसे मदाश्रितोऽपि मद्भक्तान् दुःखीकर्तुं समीहसे। अत ऊर्ध्वं न प्रमदितव्यम्' इत्येतद् व्याख्यानं सर्वथाऽमनोज्ञमेव,

भाष्यसार—हे परमैश्वर्यशालिन्! बार-बार याचना करने पर भी तुम कभी क्रुद्ध नहीं होते हो। तुम्हारा अनुग्रह प्राप्त करने के लिये हवि देने वाले यजमान को तुम उसका अभीष्ट प्रदान कर प्रसन्न कर देते हो। अन्य लोग तो याचना करने पर क्रुद्ध होते हैं।

किसी ने राजन् ऐसा सम्बोधन करते हुए 'इन्द्र' पद से राजा को समझ लिया है।

उपपत्तिमन्तरा निष्प्रमाणलिङ्गविभक्तिव्यत्ययेन स्वेच्छानुसारेण मन्त्रार्थापनत्वात्। न च तद्युक्तम्, स्वेच्छाया अव्याहतप्रसरत्वात्। पूर्वाचार्यास्तु श्रुतिसूत्राद्यनुसारेणार्थापने तदनुरोधेनैव क्वचित् किञ्चिद् व्यत्ययादिकमिच्छन्ति स्म। इमामेव पद्धतिमाश्रित्य दयानन्दो यथेष्टं योजयति मन्त्रान्। केचिच्च स्वस्वसम्प्रदायाचार्यव्याख्यानमपि मन्त्रैरेव साधयन्ति। केचित्तु—'अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' (तै० उ० ३।१०।६) इति श्रौतवचनेन अहमदपदवाच्यस्य नादं वेदेषु साधयन्ति। तदेतत् सर्वमुच्छृङ्खलमेव। एवंप्रकारेण सङ्गतिहीनतया मन्त्राणां यथेष्टार्थबोधकत्वे प्रमत्तगीतत्वापत्तेः ॥ ३४ ॥

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि। धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥ ३५ ॥

तदिति लुप्तषष्ठीकं पदम्। तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवकर्तुः। सूतिरुपलक्षणं स्थितिप्रलययोरपि। जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलस्य परमात्मन आदित्यस्य, 'सूर्याद्वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इति सूर्योपनिषच्छ्रुतेः। सूर्यमण्डलान्तर्गतस्य हिरण्यश्मश्रोर्हिरण्यकेशस्य आप्रणखाग्रं हिरण्यशरीरस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्य तदुपलक्षितस्याशेषविशेषातीतस्य शुद्धब्रह्मणो वा देवस्य द्योतनात्मकस्य। अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वेन स्वप्रकाशस्य वरेण्यं वरणीयं संभजनीयं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदं भर्गः स्वरूपभूतं ज्योतिः सर्वपापानामविद्यातत्कार्यात्मकस्य सर्वसंसारस्यैव वा भर्जनसमर्थं तेजः, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७), 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (योगशिखो० ३।२२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। धीमहि ध्यायामः चिन्तयामः, तन्निदिध्यासनं कुर्म इत्यर्थः। 'ध्यै चिन्तायाम्'। छान्दसं सम्प्रसारणम्। तत्र प्रत्ययैकतानता-ध्यानमिति स्मृतेः। तस्य कस्य ? यः सविता नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात् प्रकर्षेण सत्तामात्रेण प्रेरयति। यथायःकान्तः सन्निधानमात्रेणायसः प्रवर्तकस्तथैव तस्य निर्विकारकूटस्थस्य सत्तामात्रेण बुद्धीन्द्रियादीनि प्रवर्तन्ते। 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳ स प्राणस्य: प्राणः' (केनो० १।२), 'येनेषिता वागसवश्चरन्ति', 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना। अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥' (भा० पु० ४।९।६) इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणवचनेभ्यः। 'यः' इति लिङ्गव्यत्ययेन 'यत्' इत्यवगन्तव्यम्। यद्वा धीशब्दो बुद्धिवचनः कर्मवचनो वाग्वचनश्चेति। यश्च नो बुद्धिं कर्माणि वाचो वा प्रेरयति, तदनुग्रहेणैव बुद्ध्यादिप्रवृत्तेः। यद्वा सवितुर्देवस्य तद् भर्गो धीमहि यो यद् भर्गो नो बुद्धीः प्रचोदयात्। राहोः शिरः, पुरुषस्य चैतन्यमितिवदभेदे षष्ठी। तेन सवितुः स्वरूपाभिन्नमेव तद् भर्गोऽस्य बुद्धीः प्रचोदयादिति कामना सत्कर्मानुष्ठानाय परमात्मोपासनाय प्रत्यक्-चैतन्याभिन्नपरात्मसाक्षात्काराय प्रचोदयात् प्रेरयेदिति। भर्गशब्देन मण्डलं पुरुषो रश्मयश्चोच्यन्ते। तथा चाधिकारभेदेन भगवत आदित्यस्य रश्मीन् मण्डलं तदन्तर्गतं पुरुषं वा ध्यायाम इत्यर्थो भवति। वीर्यं वा भर्गः, 'वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानाद् भर्गोऽपचक्राम। वीर्यं वै भर्गः' (श० ५।४।५।१) इति श्रुतेः। भृज्यते सर्वं पातकमत्रेति भर्गः। पौनःपुन्येनाभिषिच्यमानाद् वरुणाद् वीर्यलक्षणं भर्गोऽपचक्रामेति तदर्थः। तथा सवितुर्देवस्य वीर्यं पराक्रमं जगदुत्पादनादिलक्षणं ध्यायामः।

स्वामी दयानन्द ने अपनी इच्छा के अनुसार ही सर्वत्र मन्त्रों की योजना कर दी है ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—उस प्रकाशक प्रेरक आदित्यान्तर्गत पुरुषरूप ब्रह्म का सभी के द्वारा प्रार्थनीय जो सम्पूर्ण संसारनाशक तेज है, उसका हम ध्यान करते हैं। वह सविता हमारी बुद्धि को सत्कर्मानुष्ठान की प्रेरणा दे ॥ ३५ ॥

कण्वसंहितायां वरेणियमिति पाठः। माध्यन्दिनीयैस्तु 'पाठकाले वरेण्यं स्याज्जपकाले वरेणियम्' इत्यङ्गीक्रियते, अन्यथा चतुर्विंशत्यक्षरत्वानुपपत्तिः। 'पाठकाले वरेण्यं स्याज्जपकाले वरेणियम्' इति स्मरणात् तथैव पारम्पर्याच्च तदुपपादनीयम्। सवितृपदेन जगत्कारणत्वबोधनात् श्रुतिस्मृतिपुराणाद्यनुसारेण सूर्यो विष्णुः शिवो रामः कृष्णस्त्रिपुरसुन्दर्यादयोऽपि गृह्यन्ते। तेषां सगुणसाकाराणां भर्गस्तेजः प्रकाशः स्वरूप-सौन्दर्यं चिन्त्यते, सगुणनिराकाराणां सर्वकारणत्वसर्वशक्तिमत्त्वसर्वकर्मफलप्रदत्वादिकं वीर्यं चिन्त्यते। निर्गुण-निराकारस्य तु स्वरूपभूतं ज्योतिरेव भर्गश्चिन्त्यते। यद्वा सवितुर्देवस्येति तत्पदार्थः परमात्मोच्यते। धियो यो नः प्रचोदयादिति त्वंपदार्थो बोध्यते। भर्गःपदेन तयोरैक्यं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरमात्मरूपमुच्यते। यः स्वप्रकाशः सर्वकारणभूतः परमात्मा, यश्च सर्वबुद्ध्यादिप्रवर्तकः प्रत्यगात्मा, तयोरभिन्नं सर्वोपाधिविवर्जित-मैक्योपलक्षितमनन्तसदात्मकं ज्योतिषामपि ज्योतिर्ध्यायाम इति निष्कर्षः। सवितृपदस्य तात्पर्यं कण्वो दर्शयति—'सविता वै देवानां प्रसविता, तथो हास्मा एते सवितृप्रसूताः सर्वे कामाः समृद्ध्यन्ते' इति सायणोद्धरणात्। शतपथे तु—'अथ सावित्री। सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्मा एते सवितृप्रसूता एव सर्वे कामाः समृद्ध्यन्ते तत्सवितुर्वरेण्यमित्यादि' (श० २।३।४।३९) इति श्रुतेः सर्वभूतानां सवनात् पावनाच्च सविता, दीव्यते क्रीडते द्योतते दिवि रोचते तस्माद् देवः, सर्वैः स्तूयमानत्वाच्च देवः, तस्य सवितुर्देवस्य भर्गो धीमहि चिन्तयामः, यो नः धियो बुद्धिवृत्तीः, धर्मार्थकाममोक्षेषु प्रचोदयात्। भर्गः भृज्जति पातकानि पाचयतीति भर्गः, अथवा भ्राजते दीप्यते सर्वं जगद् यस्मात् स भर्गः, अथवा कालाग्निरूपेणान्ते हरतीति भर्गः, अथवा स्वरूपे यो भ्राजते स भर्गः, अथवा लोकान् भासयति भीषयति वेति भर्गः, अथवा प्रजा रज्यन्ते यस्मिन् स भर्गः, अथवा गच्छति सर्वत्र व्याप्नोतीति भर्गः, अथवा भास्य रज्यते गच्छति च सर्वं जगद्यस्मात् स भर्गः, वरेण्यं संसारभयभीरुभिर्यद्वरणीयं तच्चिन्तयामः। तदुक्तम्—'सवनात् पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते' इत्यादिना।

आध्यात्मिकोऽर्थः—सवितुः सृष्टिस्थितिलयलीलस्य विष्णोर्देवस्य रामकृष्णाद्यवताररूपेण क्रीडतः, असुरान् विजिगीषतः, भर्गः स्वरूपभूतं तेजो धीमहि। यो नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयति, तत्परमानन्दमयं वरेण्यं भर्गो धीमहि। तथैव सवितुः शिवस्य 'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' (माण्डूक्यो० ७) इत्यादि-श्रुतेः, देवस्य सर्वप्रकाशकस्य 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डको० २।२।१०) इति श्रुतेः। तद् वेदान्तेषु ब्रह्मविद्वरिष्ठेषु प्रसिद्धं नित्यज्ञानात्मकं वरेण्यं सर्वजनसंभजनीयं त्रिपुरान्धकादिविविधासुरव्रातं भृज्जत्यनेनेति भर्गः, एवं रावणादिभर्जकत्वेन रामः, कंसादिभर्जकत्वेन कृष्णः, भण्डासुरादिभर्जकत्वेन त्रैपुरं महः सवितुर्देवस्य सवित्रुपलक्षितस्य देवसमूहस्य वरेण्यं संभजनीयं तेजो धीमहि॥ ३५॥

परिं ते दूडभो रथोऽस्माँ२अंश्नोतु विश्वतः। येन रक्षसि दाशुषः॥ ३६॥

वामदेवदृष्टा आग्नेयी गायत्री। हे अग्ने! येन रथेन त्वं दाशुषो हविर्दत्तवतो यजमानान् रक्षसि पालयसि, 'यजमानो वै दाश्वान्' (श० २।३।४।३८) इति श्रुतेः। स ते तव रथो अस्मान् यजमानान् विश्वतः सर्वासु दिक्षु परि परितो अश्नोतु व्याप्नोतु, अस्मद्रक्षणाय सर्वतस्तिष्ठतु। कस्याञ्चिदपि दिश्यल्पमपि स्थानमपरि-त्यज्यास्मद्रक्षणाय व्याप्नोत्वित्यर्थः। इति परि विश्वत इत्यपुनरुक्तिः। कथंभूतो रथः? दूडभः दुर्दमः

अध्यात्मपक्ष में—सृष्टि-स्थिति-लय की लीला करने वाले, असुरों पर विजय प्राप्त करने वाले भगवान् के तेज का हम ध्यान करते हैं॥ ३५॥

हिंसितुमशक्यः । प्रतिषेधार्थकदुरित्युपसर्गपूर्वकस्य हिंसार्थकस्य दभ्नोतेः खल्प्रत्यये 'दुरोदाशनाशदमध्येषूत्व-मुत्तरपदादेष्टुत्वं च' (पा० सू० ६।३।१०९) इति स्थलीयेन भाष्यवार्त्तिकेन नलोपे 'उकारं दुर्दे' (प्रा० का० ३।३।४) इति प्रातिशाख्यसूत्रेण दुरो रेफस्योकारः पूर्वसवर्णदीर्घः। अप्रधृष्यानाहतव्यापकरथारूढः स नो रक्षतु सर्वतोऽस्मानित्यर्थः। 'रथो रंहतेर्गतिकर्मण', स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा रसतेर्वा। यज्ञसंयोगाद्राजा स्तुतिं लभेत, राजसंयोगाद्युद्धोपकरणानि। तेषां रथः प्रथमागामी भवति। रंहति वेगेन धावतीति रथः, स्थिरतेर्विपरीतस्य। तत्र हि सुप्रतिष्ठितो भवति योद्धा न तथाश्वादिषु। रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठति रपति रसति वेति रथः' (नि० ९।११)।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन् विष्णो ! ते तव रथो गरुडध्वजोऽस्मान् विश्वतः सर्वासु दिक्षु परितः सर्वतोऽश्नोतु व्याप्नोतु। येन दाशुषः सर्वस्वात्मनि वेदयितॄन् रक्षसि पासि।

'कृष्णे इन्द्रप्रस्थं गते शाल्वत्रस्ता यदुनार्यः सविनयं भगवन्तमाचक्षते—येन रथेन दाशुष आत्मनिवेदकान् त्वं रक्षसि, स त्वदीयो दूडभो दुर्दमनीयो रथोऽस्मान् विश्वतः सर्वतः पर्यश्नोतु'। अयमर्थो न विरुद्धः।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश ! येन रथेन त्वं दाशुषो विश्वतो रक्षसि, स ते तव दूडभो रथो विज्ञानं विश्वतो रक्षितुमस्मान् पर्यश्नोतु सर्वतः प्राप्नोतु। रयते जानाति येन स रथः' इति, तन्न, ज्ञानस्य रथपदवाच्यत्वे प्रमाणाभावात्। न च 'रथो रंहतेर्गतिकर्मणः' इति निरुक्तमेव प्रमाणमिति वाच्यम्, 'राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि, तेषां रथः' (नि० ९।११) इत्युपक्रमविरोधात्। युद्धोपकरणभूतस्यैव रथस्यात्र निर्वचनम्। नानेन रथस्य ज्ञानत्वं सिद्ध्यति। रंहतीत्यादीनामिव रयतेरपि तत्रैव सङ्गतिः। न च त्वन्मते निराकारस्येश्वरस्य रथः सम्भवति, निराकारत्वादेव। किञ्चात्र सर्वत्र व्यापनार्थमेव रथोपयोग उक्तः, स्वतो व्यापकस्य रथानुपयोगात्।

शतपथविरुद्धमप्येतत्। तथाहि—'अथाग्नेयी। तदग्नय एवैतदात्मानमन्ततः परिददाति गुप्त्यै परि ते दूडभो रथो···दाशुष इति यजमाना वै दाश्वांसो यो ह वा अस्यानाधृष्यतमो रथस्तेनैष यजमानानभिरक्षति तेन नः सर्वतोऽभिगोपायेत्येवैतदाह त्रिरेतज्जपति' (श० २।३।४।४०)। आग्नेयीमग्निदेवताकामृचं विधत्ते—तदग्नय एवैतदात्मानमन्ततः परिददातीति। परिदानं रक्षणार्थं दानं गुप्त्यै। मन्त्रमुपन्यस्य व्याचष्टे—यजमाना वै दाश्वांस इति। योऽस्याग्नेरप्रधृष्यतमो रथस्तेनैष यजमानमभिरक्षति तेन नः सर्वतोऽभिगोपाय। अस्या ऋचस्त्रिर्जपं विधत्ते—त्रिरेतज्जपतीति ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! जिस साधन से तुम हविर्दान करनेवाले समस्त यजमानों की रक्षा करते हो, वह तुम्हारा अविनाशी रथ हमारी सर्वत्र रक्षा करे ॥ ३६ ॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ का ज्ञान मन्त्रार्थ से ही स्पष्ट हो रहा है।

अध्यात्मपक्ष में—हे अग्ने परमात्मन् ! विष्णो ! आपका गरुडध्वज रथ सभी दिशाओं में व्याप्त हो जाय।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह उनके ही मन्तव्यों के तथा शतपथश्रुति के विरुद्ध हो गया है ॥ ३६ ॥

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः । नर्य प्रजां मे पाहि शᳬंस्य पशून्मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ ३७ ॥

'भूर्भुवः स्वरिति वोभौ' (का० श्रौ० ४।१२।१२) । पूर्वोक्तेन 'उपप्रयन्त' (का० श्रौ० ४।१२।३) । इत्यादिना वक्ष्यमाणेन भूर्भुवः स्वरित्यादिना वा विकल्पेनोभावग्नी उपतिष्ठेतेति सूत्रार्थः। आसुरेशर्षम् । मन्त्रार्थस्तु—हे अग्ने ! त्वं भूर्भुवःस्वरिति व्याहृतित्रयात्मकः, तदभिधेयलोकत्रयात्मकश्च । त्वत्प्रसादादहं प्रजाभिर्बन्धुभृत्यादिरूपाभिः सुप्रजाः शोभना अनुकूलाः शोभनगुणयुक्ताः प्रजा यस्य सोऽनुकूलप्रजावान् भवेयम् । तथा वीरैः पुत्रैः सुवीरैः शोभनसन्मार्गस्थस्वस्थपुत्रपौत्रादिमान् भवेयम् । पोषैर्गोभूहिरण्यरत्नधान्यादिभिः सुपोषो बहुमूल्यसुखदगोभू-हिरण्यरत्नधान्यादिसम्पन्नः स्याम् । हे व्याहृतित्रयात्मकाग्ने ! भवत्प्रसादादहं यदा बन्धुभृत्यादिरूपया प्रजया युज्येयं तदानीमनुकूलप्रजावानेव भूयासम् । वीरैः स्वस्वकार्येषु शूरैर्यदा युज्येयं तदा शास्त्रानुमोदितमार्गवर्ति-शोभनपुत्रो भूयासम् । यदा पोषैः पुष्टिकारकैर्युज्येयं तदा बहुमूल्यार्हहिरण्यादियुक्तो भूयासमिति सायणाचार्यः । प्रवत्स्यदुपस्थानमागतोपस्थानं चादित्यदृष्टम् । 'प्रवत्स्यन् सर्वान्नर्येति प्रतिमन्त्रम्' (का० ४।१२।१३) । यजमानो ग्रामान्तरं जिगमिषुः सर्वानग्नीन् नर्येत्यादिभिर्मन्त्रैरुपतिष्ठेत । मन्त्रार्थस्तु—हे नर्य नरेभ्यो हित गार्हपत्य ! मे मम प्रजां पाहि पालय । हे शंस्य अनुष्ठातृभिः स्तोतुं योग्य आहवनीय ! मे पशून् पाहि । हे अथर्य दक्षिणाग्ने ! मे पितुमन्नं पाहि । दक्षिणाग्निः सततं गार्हपत्यात् स्वस्थानं नीयतेऽतः सातत्यगमनादथर्यः, अतनवानुच्यते । 'अत सातत्यगमने' इत्यस्माद्धातोर्निपातनादथर्येति रूपसिद्धिः । 'पितुरित्यन्ननाम' (निघ० २।७।६)। 'पा रक्षणे' इत्यस्माद् बाहुलकात् तुप्रत्ययो धातोरकारस्येकारश्च ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने ! परमेश्वरो हिरण्यगर्भो वाग्निः । त्वं भूरादिलोकत्रयरूपोऽसि । त्वत्प्रसादादहं प्रजाभिः परिपालनीयप्रजाभिः पुत्रशिष्यादिरूपाभिर्वा शोभनप्रजावान् स्याम् । वीरैर्योद्धृभिः साधनानुष्ठानदृढैः साधकैर्वा सुवीरः, दृढनिष्ठावद्भिर्योद्धृभिः साधकैश्चाहं सुवीरः स्याम् । पोषैः पुष्टिसाधनैर्धनादिभिर्भक्तिज्ञान-निष्ठापोषकैः शमदमादिभिरमानित्वादम्भित्वादिभिर्वा सुपोषः शोभनधनादिसम्पन्नः शमदमादिसाधनसम्पन्नो वा स्याम् । हे नर्य नरेभ्यो हित सर्वभूतसुहृत् परमेश्वर ! 'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति' (भ० गी० ५।२९) इति गीतावचनात् । मे प्रजां पूर्वोक्तां पाहि । शंस्य स्तोतुं योग्य प्रभो ! मे पशून् गवादीन् उपकरणभूतान् देहेन्द्रियादीन् वा पाहि सेवोपयोगिनः कुरु संसारान्निवर्त्य परमात्मनिष्ठान् कुरु । हे अथर्य ! भक्तरक्षार्थं सतत-गमनशील ! मे मम पितुमन्नं व्रीहियवादिकमन्नमयं शरीरं च रक्ष भगवत्प्राप्तिसाधनानुष्ठाननिष्ठतासम्पादनेन भोगपरायणताया रक्ष । यद्वा भूः भवति सर्वं जगदस्मादिति भूः सर्वजगदुत्पादकोऽसि त्वम्, भुवः भूत्वा वसति सर्वं यस्मिन् स त्वं भुवः विश्वपालकोऽसि, स्वः स्वरति सर्वं तापयति प्रलय इति स्वः, अथवा स्वरति लयं गच्छति सर्वं यस्मिन् स त्वं स्वः सर्वलयाधिष्ठानभूतोऽसि ।

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! तुम 'भूः भुवः स्वः' इन तीन व्याहृतियों के स्वरूप हो । अतः तुम्हारे प्रसाद से मैं बन्धु, भृत्यादि प्रजा से युक्त और अनुकूल प्रजावान् हो सकूंगा तथा शास्त्रमार्गवर्ती पुत्रों से युक्त होऊँगा, हिरण्यादि द्रव्य से पुष्ट होऊँगा । मनुष्यों का हित करनेवाले हे गार्हपत्याग्ने ! मेरी प्रजा का रक्षण करो । अनुष्ठान कर्ताओं के द्वारा स्तुति करने योग्य हे आहवनीय अग्ने ! मेरी प्रजा का रक्षण करो । हे अथर्य ! अर्थात् सर्वदा रहनेवाले हे दक्षिणाग्ने ! हमारे अन्न की रक्षा करो ॥ ३७ ॥

श्रुतदेवबहुलाश्वकर्तृककृष्णस्तुतिपरत्वेन मन्त्रयोजनमपि नासङ्गतम्, परं मुख्योऽर्थस्तु श्रुतिसूत्रानुसार्येव 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १।२।१५) इति रीत्या परमेश्वराराधनबुद्धयानुष्ठीयमानकर्मप्रतिपादन-चित्तशुद्धयादिद्वारा कर्मपराणामपि मन्त्राणां ब्रह्मणि पर्यवसानात्, विनियोगवशात्कर्मपरत्वेऽपि शक्त्या भक्त्या (गौण्या) वा वृत्त्या मन्त्राणां ब्रह्मबोधकत्वं नानुपपन्नम् ।

कश्चित्तु—'प्राणोदानव्यानानां बलैरहं पुत्रपौत्रादिसन्तानवान् भवेयम् । वीर्यवद्भिः शूरवीरपुरुषैरहं पुत्रवान् भवेयम्' इति, अत्र प्रजाभिरिति पदेन प्राणोदानव्यानबलं कथं गृहीतम् ? तत्र किं मूलमिति चिन्त्यम् । यस्य स्वयं पुत्रोत्पादने शक्तिर्न भवति स एवान्यैर्वीर्यवद्भिः पुत्रवान् भवति । तद्रीत्या नर्यशंस्यादिभिरेक एव कश्चिद्धितकारी सम्बोद्धयते । अथर्येत्यस्य संशयरहितेति कथमर्थः ? तेषां तेषां सम्बोद्धयानां प्रार्थनीय-प्रजादिभिः कः सम्बन्धः ? इत्यादिकं तु नोक्तमेव ।

सिद्धान्ते तु कात्यायनकाण्वादिविनियोगवशाद् गार्हपत्यादयोऽग्नय एव सम्बोध्याः । 'अथ हुतेऽग्निहोत्र उपतिष्ठते । भूर्भुवः स्वरिति तत्सत्येनैवैतद्वाचꣳ समर्धयति यदाह तया समृद्धयाशिषमाशास्ते सुप्रजाः प्रजाभिः स्यामिति तत्प्रजामाशास्ते सुवीरो वीरैरिति तद्वीरानाशास्ते सुपोषः पोषैरिति तत्पुष्टिमाशास्ते ॥ यद्वा अदो दीर्घमग्न्युपस्थानम् । आशीरेव साशीरियं तदेतावतैवैतत्सर्वमाप्नोति तस्मादेतेनैवोपतिष्ठेतैतेन न्वेव वयमुपचराम इति ह स्माहासुरिः' (श० २।४।१।१-२) । एवमग्निहोत्रहोमोपस्थानमन्त्राणामनन्तरं लघूपस्थानमन्त्रा उच्यन्ते । भूर्भुवः स्वरित्यादिमन्त्रेणाहवनीयमुपतिष्ठते—अथ हुत इति । पूर्वोक्तादग्निहोत्रादनन्तरं मन्त्रस्यातिशयमाह—सत्यरूपा एता व्याहृतयः, त्रयीसारत्वात् । 'भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात् स्वरिति सामवेदात्' (ऐ० ब्रा० ५।३२)। एवं व्याहृतिरूपेण सत्येनैव इमां मन्त्ररूपां समर्धयति तया समृद्धया वाचा प्रागुक्तां सर्वामप्याशिषमाशास्ते प्रार्थयते । तदाशासनप्रकारमेवाह—स प्रजामाशास्ते प्रजाभिः पुत्रपौत्रादिभिः सुप्रजाः शोभनप्रजोपेतः स्याम् । एकः प्रजाशब्दोऽनुवादः । सुवीरो वीरैः । वीर्यवन्तः पुत्रा वीराः । तेषां प्रजाशब्देन परिगृहीतत्वेऽपि पुनः प्राधान्यख्यापनार्थं पृथगाशासनमिति । प्रागुक्तेन महोपस्थानेनास्य लघूपस्थानस्य समानकार्यकारित्वाद् विकल्पमाह—यद्वेति । अदः पूर्वोक्तं बहुकर्तव्योपेतं बहुमन्त्रसाध्यं यदग्न्युपस्थानम्, तद् आशीः फलप्रार्थनमेव । तथा भूर्भुवः स्वरिति मन्त्रसाध्यमुपस्थानमपि तादृगाशीर्भिर्युक्तम् । तत् तत एतावतैवोप-स्थानेन एतत् प्रागुक्तं फलमाप्नोति । अस्मिन्नुपस्थाने ऋषिवचनं सम्पादयति—तस्मादेतेनैवोपतिष्ठेतैतेनैव लघूपस्थानेन वयमग्निमुपपरिचराम । यस्मादेवमासुरिर्महर्षिराह स्म उक्तवान् तस्मादिदमेवोपस्थानं कर्तव्यम् ।

'अथ प्रवत्स्यन् । गार्हपत्यमेवाग्र उपतिष्ठतेऽथाहवनीयम्' (श० २।४।१।३), 'स गार्हपत्यमुपतिष्ठते । नर्य प्रजां मे पाहीति प्रजाया हैष ईष्टे तत्प्रजामेवास्या एतत्परिददाति गुप्त्यै' (श० २।४।१।४) । अथ प्रवासं

भाष्यसार—यजमान जब प्रवास करना चाहता है तब वह 'नर्य' इत्यादि मन्त्रों से सभी अग्नियों का उपस्थान करता है ।

अध्यात्मपक्ष में—परमेश्वर को व्याहृतिरूप बताने से वही सृष्टि-स्थिति-लय कर्ता है । तथा कृष्णस्तुतिपरक बताकर इस मन्त्र को ब्रह्मबोधक भी गौणी वृत्ति के बलपर कह सकते हैं ।

किसी व्याख्याकार ने मन्त्रगत 'प्रजाभिः' पद से प्राण-उदान-व्यानादि वायुओं का ग्रहण किया है । किन्तु वह निराधार है । तथैव शतपथश्रुति के विरुद्ध रहने से अप्रमाण है ।

कुर्वता यजमानेन कर्तव्यमुपस्थानं दर्शयति—गार्हपत्यमेवाग्र इति। विहिते गार्हपत्योपस्थाने मन्त्रं विधत्ते—नर्य प्रजामिति। मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—एष हि गार्हपत्य इति। प्रजाया ईष्टे, कृत्स्नाग्नियोनिभूतत्वात्। अतोऽस्मै गार्हपत्याय रक्षणार्थं प्रजाया परिदानं क्रियते। 'अथाहवनीयमुपतिष्ठते। शꣳस्य पशून् मे पाहीति पशूनाꣳ हैष ईष्टे तत्पशूनेवास्मा एतत्परिददाति गुप्त्यै' (श० २।४।१।५)।

दयानन्दस्तु—'हे नर्य त्वं कृपया मे प्रजां पाहि मे पशून् पाहि ये अथर्य मे पितुं पाहि हे शंस्य जगदीश्वर! भवत्कृपयाहं भूर्भुवःस्वःप्राणापानव्यानैर्युक्तः सन् प्रजाभिः सुप्रजाः, वीरैः सुवीरः, पोषैः सह सुपोषः स्यां नित्यं भवेयम्' इति, तन्न, भूरित्यादिभिर्व्याहृतिभिः प्राणादिग्रहणे हेत्वनुक्तेः। भूः प्रियस्वरूपः प्राणः, भुवः बलनिमित्त उदानः, स्वः सर्वचेष्टानिमित्तो व्यान इत्यपि निर्मूलम्। यत्तु—'थर्वतिश्चरतिकर्मा' (नि० ११।१८) थर्वति संशेते यः स थर्यो न थर्य्योऽथर्य्यः, वर्णव्यत्ययेन वकारस्थाने यकारः' इति, तदपि न, परमेश्वरे संशयाप्राप्तेर्निषेधस्य व्यर्थत्वात्। तस्मादत्र शतपथानुसारेणाग्न्युपस्थानमन्त्रा इमे, अत्राग्नय एव सम्बोधनीयाः। अथर्य्य इत्यनेन 'अत सातत्यगमने' इति धातोर्निपातसिद्धेन सातत्येन गार्हपत्याद् दक्षिणाग्निस्थानगमनाद् दक्षिणाग्निरेव सम्बोधनीयः। अत एव गार्हपत्यमुपतिष्ठेत नर्य्य प्रजां मे पाहि……आहवनीयमुपतिष्ठेत शंस्य पशून् पाहीति श्रुतिभ्यां शंस्यनर्यशब्दाभ्यां स्पष्टमेव गार्हपत्याहवनीयौ सम्बोधनीयौ विज्ञायेते ॥ ३७ ॥

आग॑न्म विश्ववे॑दसम॒स्मभ्यं॑ वसु॒वित्त॑मम्।
अग्ने॑ सम्राड॒भि द्यु॒म्नम॒भि सह॒ आय॑च्छस्व ॥ ३८ ॥

'समित्पाणिरनुपेत्य कञ्चिदुपतिष्ठते आवहनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नीनागन्मेति प्रतिमन्त्रम्' (का० ४।१२।१७)। प्रत्यागतः समिधं हस्त आदाय कञ्चिदपि जनमगत्वैव प्रथममेवाग्न्यागारं गत्वाऽऽगन्मेत्यादिमन्त्रत्रयेणाहवनीयादीनग्नीनुपतिष्ठेत। आवहनीयदेवत्याऽनुष्टुप्। हे आहवनीय! सम्राट् सम्यग् राजते दीप्यते यः स सम्राट् अग्ने! वयं त्वामगन्म त्वामुद्दिश्य ग्रामान्तरात् प्रत्यागताः। कीदृशं त्वाम्? विश्ववेदसं विश्वं वेत्तीति वेदयतीति वा विश्ववेदास्तं सर्वज्ञं सर्वज्ञानप्रदातारं वा विश्वं वेदो धनं वा यस्य स विश्ववेदास्तं सर्वधनं वा। पुनः कथम्भूतम्? अस्मभ्यं वसुवित्तमम् अस्मदर्थमतिशयेन वसुनो धनस्य वेदितारं दातारं वसुनो लम्भयितृतमं वा। यद्वा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। अस्माकमतिशयेन धनस्य वेदितारम्। हे अग्ने! अभिद्युम्नं सर्वतोऽवस्थितं यशोऽन्नं वा द्योततेर्निष्पन्नत्वात्। 'द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा' (नि० ५।५)। अभिसहः रिपूनभिभवितुं सहो बलं 'षह मर्षणे'। 'सह इति बलनाम' (निघ० २।९।१७)। आयच्छस्व अन्नं यशो बलं गृह्णीष्व। पूर्णकामस्य तवावाप्तसमस्तकामत्वेऽपि स्वोपासकार्थमेव अन्नादीन् गृह्णीष्व। अभ्यायच्छस्व अभिगमय वा विस्तारय वा।

स्वामी दयानन्द ने भी स्व-मनःकल्पित निराधार व्याख्या की है, अतः वह भी उपेक्षणीय है। शतपथानुसारी व्याख्या जो भाष्यकार ने की है, वही सिद्धान्तरूप होने से ग्राह्य है ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वप्रकाशमान् हे आहवनीय अग्ने! हम ग्रामान्तर से तुम्हारे निमित्त आये हैं। तुम सर्वज्ञ और सम्पूर्ण धन से युक्त हो। हमारे लिये धन का संग्रह किया करते हो। हे अग्ने! तुम हमें यश और बल प्रदान करो ॥ ३८ ॥

भाष्यसार—ऊपर दिये गये मन्त्रार्थ से ही भाष्य का अभिप्राय स्पष्ट हो रहा है।

अथवा 'दाण् दाने' इत्यस्य 'पाघ्राध्मा ……' (पा० सू० ७।३।७८) इत्यादिना यच्छादेशः। यशो बलं चास्मभ्यं देहि। स्थापनार्थो वा यच्छतिः। अस्मासु यशो बलं स्थापयेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे सम्राट्! सम्यक् स्वप्रकाशत्वेन राजमान दीप्यमान अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधिपते निरङ्कुशैश्वर्यवत्त्वेन निरतिशयैश्वर्यवन् अग्ने परमेश्वर! विश्ववेदसं सर्वज्ञं सर्वसाक्षिणं वसुवित्तमं वसुनः साम्राज्यलक्ष्म्या मोक्षलक्ष्म्याश्च लम्भयितृतमं त्वाम् अभ्यागन्म आभिमुख्येन भक्त्या प्रपन्नाः स्म। द्युम्नं ज्ञानरूपं द्योतमानं धनं सहस्तन्निष्ठादाढर्यं च अस्मभ्यम् आयच्छस्व विस्तारय च।

यत्तु— समस्तज्ञानधनादियुक्तं सर्वाधिकैश्वर्यप्रदायिनं श्रेष्ठपुरुषमभिप्रपद्याहमिदं वदेयम्—हे अस्माकमग्रणीः! त्वं नः सम्राडसि त्वं धनमन्नं समस्तबलं च सर्वतः संगृह्णीष्व अस्मभ्यं च तत्प्रयच्छ' इति, तत्तु कल्पनामात्रम्, अक्षराननुगुणं च, वाक्यमेतत्प्रसङ्गं च प्रपद्याहमेवं वदेयमित्यर्थबोधकपदाभावात्। नह्यमूढः कश्चिदपि यं कञ्चित् श्रेष्ठपुरुषं गत्वा तं प्रति कथयति त्वं नः सम्राडसीति। सम्राजमभिलक्ष्यैव सम्राडित्युक्तिः सङ्गच्छते। निर्वाचनप्रथायामपि न तथा सङ्गतिः, बहुमतापेक्षत्वात् साम्राज्यवादस्य घृणास्पदत्वाच्च। सर्वतो धनबलाद्याहृत्य केभ्यश्चिद्दानं चापि निर्वाचनप्रथायां दूषणमेव, कात्यायनादिसूत्रविरोधश्च।

अत्र शातपथी श्रुतिः—'अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति। स यत्र वेलां मन्यते तत्स्यन्त्वा वाचं विसृजतेऽथ प्रोष्य परेक्ष्य यत्र वेलां मन्यते तद्वाचं यच्छति स यद्यपि राजान्तरेण स्यान्नैव तमुपेयात्' (श० २।४।१।६)। एवं गार्हपत्याहवनीययोः समन्त्रकमुपस्थानं कृत्वा वाहनहीनश्चेत् स्वयं प्रव्रजति गच्छति। सवाहनश्चेदश्वरथादीन् धावयेत् प्रगमयेदिति। स गच्छन् यत्र यस्मिन् देशे वेलां स्वनिवासग्राममर्यादां मन्यते तत्स्थानपर्यन्तं वाचंयमो गत्वा तदनन्तरं वाचं विसृजेत्, न तु ततः प्राक्। एवं पुनरागमनकालेऽपि तत्स्थानप्रभृति अग्निसमीपगमनपर्यन्तं वाग्यमनं विधत्ते—अथ प्रोष्येति। प्रोष्य प्रवासं कृत्वा पुनरागत्य यत्र ग्राममर्यादां मन्यते तत्र वाचंयमो भवेत्। एव वाग्यतस्य यजमानस्य अग्न्यगारस्य च मध्ये यदि राजा स्यात् तमपि नैवोपेयात्। वाग्यमनानन्तरं राजादिपूज्यजनसन्निधानेऽपि तदनादरेण अग्निगतमनस्क एवाग्निसमीपं गच्छेत्। तदेतदापस्तम्बेनाप्युक्तम्—'आरादग्निभ्यो वाचं यच्छति। यद्यन्तरा राजा पिताचार्यो वाऽन्तरेणाग्नीन् स्याच्छदिर्दर्शनेनैनमाद्रियेत' (आप० श्रौ० २५।५।६)। दर्शने छदिर्व्यवधायकत्वेन स्यात्, नैनमाद्रियेतेति।

'स आहवनीयमेवाग्र उपतिष्ठते। अथ गार्हपत्यं गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति' (श० २।४।१।७)। प्रवत्स्यत उपस्थानवैपरीत्येनागतोपस्थानस्य विधानम्—गमनकाले गार्हपत्योपस्थानमग्रे पश्चादाहवनीयोपस्थानं प्रत्यागमनवेलायामाहवनीयोपस्थानमग्रे पश्चाद् गार्हपत्योपस्थानम्। तदुपपादयति— सर्वाग्नीनां योनित्वाद् गृहपतिना संयुक्तत्वाद् गार्हपत्यस्य गृहशब्दाभिधेयत्वम्। गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा गृहेष्वेव प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति। तस्माद् गार्हपत्यस्य पश्चादुपस्थानम्। 'स आहवनीयमुपतिष्ठते।

अध्यात्मपक्ष में—हे अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक! निरंकुश ऐश्वर्यशालिन्! परमेश्वर! आप सब कुछ जानते हैं। आप ही साम्राज्यलक्ष्मी तथा मोक्षलक्ष्मी दोनों को दे सकते हैं। हम भक्तिपूर्वक आपके शरण में हैं। आप हमें ज्ञानरूप धन और उसमें दृढनिष्ठा देकर उसका विस्तार करें॥

किसी अन्य व्यक्ति ने जो स्व-कल्पना प्रसूत व्याख्या की है, वह मन्त्र के शब्दों से कोई सम्बन्ध नहीं रख रही है तथा श्रौतसूत्र, शतपथश्रुति के विरुद्ध भी है, अतः उसे त्याज्य ही समझना चाहिये।

आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम् । अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्वेत्यथोपविश्य तृणान्यपलुम्पति' (श० २।४।१।८) । प्रथमकर्तव्योपस्थानं समन्त्रकं दर्शयति—स आहवनीयमिति । समिदाधानं विधत्ते—अथेति । उपस्थानानन्तरमाहवनीयाग्निसमीपे उपविश्य तृणानि तृणोपलक्षितानि समिदादीनि अवलुम्पति प्रच्छिद्य तस्मिन्नग्नौ प्रक्षिपति 'लुप्लृ छेदने' ।

दयानन्दस्तु—'हे सम्राडग्ने जगदीश्वर ! त्वमस्मभ्यं द्युम्नं सहश्चाभ्यायच्छस्व विस्तारय । एतदर्थं वयं वसुवित्तमं त्वामभ्यागन्म प्राप्नुयाम इत्येकोऽन्वयः । यः सम्राडग्नेयमग्निरस्मभ्यं द्युम्नं सहश्चाभ्यायच्छस्व अभ्यायच्छति । तं वसुवित्तमं विश्ववेदसमग्निं वयमभ्यागन्म' इति, तदेतस्येश्वरपरत्वेनादोषेऽपि शतपथविरुद्धत्वाद् हेयमेवैतत्, तत्रास्य मन्त्रस्याहवनीयोपस्थाने विनियुक्तत्वात् । भौतिकाग्निपक्षे पृथिव्यादिलोकान् वेदयति सूर्यरूपेणाग्निरेतान् प्रकाश्य प्रापयति स वसुविदित्यसङ्गतमेव, अग्नेः सूर्यरूपेण प्रकाशकत्वे सत्यपि प्रापकत्वासिद्धेः, तस्य त्वया जडत्वाभ्युपगमात् ॥ ३८ ॥

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ ३९ ॥

गार्हपत्यमुपतिष्ठते''''न्यङ्कुसारिणी बृहती । यत्र द्वितीयः पादो द्वादशाक्षरोऽन्यत्र त्रयोदशाक्षराणि सा न्यङ्कुसारिणी । अत्र तृतीयो नवार्णस्तेनैकाधिका । अयं पुरोवर्ती गार्हपत्यस्तन्नामकोऽग्निर्गृहपतिः गृहपालकः, प्रजायाः पुत्रपौत्रादिरूपायाः सन्ततेरनुग्रहार्थं वसुवित्तमः, अतिशयेन धनस्य लब्धा दाता वा । हे अग्ने ! स त्वं द्युम्नं सहश्च अस्मा यच्छस्व ।

अध्यात्मपक्षे—अयमपरोक्षः प्रत्यगात्मा क्षेत्रज्ञः, गृहपतिः गृहस्य क्षेत्रस्य कार्यकरणसंघातस्य परार्थत्वेन पतिः स्वामी । यथा शय्याप्रासादादिकं न स्वार्थं किन्तु स्वविलक्षणान्यचेतनार्थप्रयुक्तं भवति, तथैव देहेन्द्रियादिकमपि सुखदुःखमोहात्मकमनेकात्मकं न स्वार्थं किन्तु स्वविलक्षणसुखदुःखमोहातीतासंहतैकचेतनार्थ-प्रयुक्तम् । स च गार्हपत्यो गृहपतिना अनन्तब्रह्माण्डात्मकस्य पत्या सत्तास्फूर्तिप्रदेन पालकेन परमात्मना युक्तः । 'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः' (पा० सू० ४।४।९०) इति ञ्यप्रत्ययेन रूपसिद्धिः । क्षेत्रज्ञः शोधितस्त्वंपदार्थः, अनन्तब्रह्माण्डवेदित्रा परमेश्वरेण युक्तः सदैव तादात्म्यलक्षणेन सम्बन्धेन सम्पृक्तः, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति श्रुतेः । परमेश्वरेण सम्पृक्तत्वादेवायं क्षेत्रज्ञः प्रजायाः प्राणलक्षणाया अनुग्रहार्थं वसुवित्तमः । कर्मानुष्ठानार्थं वसूनां गोभूहिरण्यादिलक्षणानां मानुषवित्तानां कर्मदेवतादिज्ञानलक्षणानां

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह भी शतपथश्रुति के विरुद्ध होने से त्याज्य है ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—यह सामने अवस्थित रहने वाला गार्हपत्यसंज्ञक अग्नि गृह-रक्षक है और पुत्र-पौत्रादि प्रजा के निमित्त अत्यधिक धन-संग्राहक है । हे गार्हपत्य अग्ने ! तुम हमें यश और बल प्रदान करो ॥ ३९ ॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ की स्पष्टता मन्त्रार्थ से हो रही है ।

अध्यात्मपक्ष में—यह गृहपतिरूप गार्हपत्याग्नि अनन्तब्रह्माण्डात्मक गृह का पति जो परमात्मा है, उससे युक्त है । अतः वही गार्हपत्याग्नि हमारी प्रजा पर अनुग्रह करने के लिये हमें ज्ञानरूप धन और योगशक्तिरूप बल प्रदान करे अथवा उसका विस्तार करे ।

दैवविशानां च लब्धृतमः। हे अग्ने परमेश्वर गृहपते निखिलब्रह्माण्डपालक! अभिद्युम्नं अभि सह सहश्च विद्यादिधनं तदीयदार्ढ्यं च आयच्छस्व देहि वर्धय विस्तारय वा। यद्वा निखिलब्रह्माण्डाधिपतिरेव गृहपतिरत्र सम्बोध्यः। स च गृहपतिभिः क्षेत्रज्ञैः संयुक्तत्वात् तेषामनुग्राहकत्वाच्च गार्हपत्योऽप्युच्यते। स त्वमस्माकं सम्बन्धित्वादस्माकं प्रजाया अनुग्रहार्थं वसुवित्तमः वसूनां लम्भयितृतमः। अस्मभ्यं द्युम्नं ज्ञानादिलक्षणं द्योतमानं धनं योगज्ञानादिशक्तिरूपं बलं च प्रयच्छ विस्तारय वा।

अन्यस्तु सम्राजमेव गृहस्वामितुल्यत्वाद् गृहपतिं गार्हपत्याग्नितुल्यत्वात् समस्तगृहस्वामिसंयुक्तं राष्ट्रपतिं च वक्ति, तदपि स्वाभ्यूहितमेव, तुल्यत्वबोधकपदाभावात्। 'अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते। अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः। अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्वेत्यथोपविश्य तृणान्यपलुम्पत्येतन्नु जपेनैतेन न्वेव भूयिष्ठा इवोपतिष्ठन्ते' (श० २।४।१।९)। एतेन जपेन भूयिष्ठा इवोपतिष्ठन्ते।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने गृहपते परमात्मन्! योऽयं भवान् गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया बहुवित्तमोऽग्निः, तस्मात्त्वमस्मदर्थं द्युम्नं सहश्चायच्छस्व' इत्येको भौतिकाग्निपरत्वेनान्योऽप्यन्वयो दर्शितः, तदुभयमसङ्गतम्, शतपथश्रुतौ गार्हपत्याग्निपरत्वेन मन्त्रस्योक्तत्वात्। एवमेव सर्वेश्वरस्य गृहपतित्वं गृहपतिसंयुक्तत्वकथनमपि निर्मूलमेव। यदुक्तम्—'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः' (पा० सू० ४।४।९०) इत्यनेन गृहपतिना संयुक्त इत्यर्थे ञ्यः प्रत्ययः। 'इदं पदं महीधरादिभिर्व्याकरणज्ञानविरहाद् गृहस्य पतिः पालक इत्यशुद्धं व्याख्यातम्' इति, तदेतद्दयानन्दस्यास्थाने पाण्डित्यप्रदर्शनम्, महीधरादिभाष्यानवबोधात्। 'नह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' (नि० १।१६)। तथा चेदं महीधरभाष्यम्—'अयं पुरोऽवस्थितो गार्हपत्य एतन्नामकोऽग्निर्गृहस्य पतिः पालकः। विदाङ्कुर्वन्तु विद्वांसोऽस्य दयानन्दस्वामिनो धार्ष्ट्यं साहसं च। मन्त्रे गृहपतिशब्दः पठितः। तस्येदं व्याख्यानं गृहस्य पालकः। न गार्हपत्य इत्यस्य तद्व्याख्यानम्। अत एव टिप्पणीकारोऽछद्मना तत्स्वीकरोति, यदि गृहस्य पतिर्गार्हपत्यार्थे तदैवायं दोषः स्यादिति ॥ ३९ ॥

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनः।
अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ ४० ॥

आसुरेरार्षम्। अनुष्टुप्। आहवनीयं गार्हपत्यं चोपस्थाय दक्षिणाग्निमुपतिष्ठते—अयं प्रत्यक्षो दक्षिणाग्निः पुरीष्यः पशव्यः, 'पशवो वै पुरीषम्' (श० ७।५।१।१९) इति श्रुतेः। पुरीषेभ्यो हितं पुरीष्यम्। रयिमान् धनवान्। पुष्टिवर्धनः पुष्टेर्धनधान्यादिसमृद्धेर्वर्धयिता। हे पशव्य दक्षिणाग्ने! अभि द्युम्नम् अभि सह आयच्छस्व।

अध्यात्मपक्षे—अयं परमेश्वरोऽग्निः, महावाक्यजन्यवृत्त्यारूढस्य तस्य अविद्यातत्कार्यात्मकप्रपञ्चदाहकत्वात्। स च पुरीष्यः पृणाति पश्यति स्वेन रूपेण सर्वमिति पुरीषम्, 'पॄ पालनपूरणयोः' इत्यस्मात् 'शॄपॄभ्यां

किसी व्याख्याकार ने राष्ट्रपतिपरक मन्त्र को लगाया है, किन्तु वह भी स्वकपोलकल्पित ही है।

स्वामी दयानन्द ने भौतिक अग्निपरक अर्थ लगाकर व्याख्या की है, वह भी असंगत है। शतपथश्रुति के भी विरुद्ध है, अतः उपेक्षणीय है ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—यह दक्षिणाग्नि पशुओं के लिये हितकारक, धनवान् और पोषण करने वाला है। अतः हे पशुहित करने वाले दक्षिणाग्ने! हमें कीर्ति और बल दो ॥ ४० ॥

विच्च' (उ० ४।२७)-इत्यौणादिक ईषन्प्रत्यये पुरीषम्, तत्र साधुरिति वा, छान्दसत्वाद्वा स्वार्थिके यत्प्रत्यये पुरीष्यः। रयिर्धनादिर्दातव्यत्वेनास्त्यस्येति रयिमान् पुष्टिवर्धनो ब्रह्मादिनिष्ठाया वर्धयिता। स त्वम् अग्ने! अभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व।

दयानन्दस्तु—'हे पुरीष्याग्ने जगदीश्वर! योऽयं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनोऽग्निरस्ति, तस्मादस्मभ्य-मभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व। पृणन्ति पूरयन्ति सुखानि यैर्गुणैः, पृणन्ति यानि कर्माणि तानि पुरीषाणि, तेषु साधुः पुरीष्यः' इति, तदप्यसङ्गतम्, व्युत्पत्त्या गुणानां कर्मणामन्येषां वा पुरीषपदवाच्यत्वेन विनिगमनाविरहेणै-कस्याप्यर्थस्यानिश्चयात्। तस्मात् 'पशवो वै पुरीषम्' (श० ७।५।१।९) इति श्रुत्यनुरोधेन पुरीषपदेन पशव एव ग्रहीतुं योग्याः। किञ्च, गुणेषु कर्मसु च साधुत्वमसाधुत्वं वा कर्तुर्भवति नाग्नेर्जडस्येति। श्रुतिसूत्रादिषु तु दक्षिणाग्न्युपस्थानमन्त्रत्वाद् दक्षिणाग्निरेवात्र प्रतिपाद्यः ॥ ४० ॥

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ४१ ॥

सुमनाः शोभनमनस्कः। सुमेधाः शोभनया धारणावत्या मेधया प्रज्ञया युक्तः। मनसा मोदमानः दुःखरहितेन हृष्यन् वो युष्मान् गृहान् एम आ इमः आ एमि आगच्छामि। आ इम इति बहुवचनम् 'अस्मदो द्वयोश्च' (पा० सू० १।२।५९) इति बहुवचनस्मरणात्।

अध्यात्मपक्षे तु—नामरूपलीलाधाम्नां भगवद्रूपत्वेन भगवद्धामानि भगवता सम्बोधयितुं शक्यन्ते, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति श्रुतेः। तथा च वनवासादागतः श्रीरामः कुतश्चित् प्रवासादागतः श्रीकृष्णो गृहान् सम्बोध्याश्वासयति—हे गृहा यूयं मा बिभीत युष्मांस्त्यक्ष्यामीति भयं मा कार्ष्ट। असुरराक्षसाद्युपद्रवभीत्या मा कम्पध्वम्। किं तर्हि ऊर्जं बलं रसं वा धारयन्तः स्थिरा भवतेति शेषः। ऊर्जं बलं रसं च बिभ्रत धारयत। युष्मान् रसितुमेमि। सुमना भक्तविषयकेण शोभनेन मनसा भक्तकल्याणधारणावत्या च मेधया युक्तो मोदमानः प्रहृष्यमाणः प्रहर्षयंश्च स्वीयान् एमि।

अन्यस्तु—'गृहपदेन गृहस्थाः पुरुषा उच्यन्ते। हे गृहस्थाः! (सैनिकाः कथयन्ति यदा वयं विशेषबलं धारयमाणा आगच्छामस्तदा) सैनिकराजपुरुषेभ्यो भयं मा कुरुत मा कम्पत। शोभनेन मनसा सुमेधया मोदमाना गृहस्थान् प्राप्नुमः' इति, अस्मिन् व्याख्याने वक्तृकल्पना स्वातन्त्र्येण कृता। सनातनिव्याख्याने

अध्यात्मपक्ष में—यह परमेश्वररूप अग्नि महावाक्यजन्य वृत्त्यारूढ है, अतः अविद्या-तत्प्रपञ्च का दाहक है, पशुओं का हित करने वाला है। वही धनवान् है, वही पुष्टिवर्धन है, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा का वर्धक है। अतः जो तुम्हारे पास है, वह मुझे भी दो।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या को असङ्गत ही कहना होगा, क्योंकि वह किसी अर्थ का निश्चय ही नहीं कर पा रही है तथा श्रुति-सूत्र के विरुद्ध मार्ग से चलती है ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—**हे गृहों! अपना पालक यजमान ग्रामान्तर को गया है, यह समझकर भयभीत मत होना। तथा कोई शत्रु आकर तुम्हारा नाश कर देगा, इस विचार से कम्पित मत होना। क्योंकि हम बलप्राप्त किये तुम्हारे पास आ**

कात्यायनादिसूत्रानुसारेण प्रत्यागता यजमाना वास्तुदेवताविशिष्टान् गृहान् प्रतिवदन्ति । अत एतदेव व्याख्यानं साधीयः । 'गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि । ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः' (वा० स० ३।४१), 'गृहा मा बिभीतेति गृहानुपैति' (का० श्रौ० ४।१२।२१)। ग्रामान्तरादागतो गृहा मेत्यादिमन्त्रत्रयेण गृहं प्राप्नुयात् । तिस्रोऽपि वास्तुदेवत्याः शंयुदृष्टास्त्रिष्टुब्विराड्रूपाः । हे गृहा यूयं मा बिभीत भयं मुञ्चत गृहपतिर्गत इति भयं मा कुरुत मा वेपध्वं कम्पनं मुञ्चत कश्चिदरातिर्विनाशयिष्यतीति बुद्ध्या कम्पं मा कार्ष्ट, यतो वयं युष्मान् ऊर्जमन्नं बिभ्रतो धारयमाणाननुपक्षीणान् अन्नेनैव आ इमसि आगताः स्मः । अहमपि ऊर्जमन्नं बिभ्रद् धारयन् वः युष्मान् प्रति सुमनाः शोभनमनाः सुमेधाः शोभनप्रज्ञः सन् गृहान् प्रति ऐमि आगच्छामि । मनसा मोदमानो दुःखरहितेन मनसा हृष्यन् ।

'अथातो गृहाणामेवोपचारः । एतद्ध वै गृहपतेः प्रोषुष आगताद् गृहाः समुत्रस्ता इव भवन्ति किमयमिह वदिष्यति किं वा करिष्यतीति स यो ह तत्र किञ्चिद्वदति वा करोति वा तस्माद् गृहाः प्र त्रसन्ति तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोरथ यो ह तत्र न वदति न किञ्चन करोति तं गृहा उपसꣳश्रयन्ते न वा अयमिहावादीन्न किञ्चनाकरदिति । स यदिहापि सुक्रुद्ध इव स्याच्छ्व एव ततस्तत्कुर्याद् यद्वदिष्यन् वा करिष्यन् वा स्यादेष उ गृहाणामुपचारः' (श० २।४।१।१४)। एवं प्रवासादागतस्य यजमानस्याग्निविषयं कर्तव्यमुपदिश्य गृहविषयं वक्तुं प्रतिजानीते—अथातो गृहाणामुपचार इति । उपचरणमुपचारः समाश्वासनम्, वक्ष्यत इति शेषः । गृहा मा बिभीतेति मन्त्रेण तेषामुपस्थानं विधित्सुस्तेषां भयसम्भावनां साधयति—एतद्ध वा इति । प्रोषुषः प्रवासं कृतवतो यजमानाद् गृहाः समुत्त्रस्ता भीता इव भवन्ति । भीतिकारणमाह—किं वदिष्यति किं वा करिष्यतीत्यभिप्रायेण तेषां भयशङ्का । स खलु यजमान आगत्य गृहा मा बिभीतेत्युपस्थानं विना यत्किञ्चन वदन् कुर्वन् वा भवति, अस्मद्विषये क्रुद्ध एवासौ वर्तत इति । तस्माद् यजमानाद् गृहाः प्रत्रसन्ति प्रोद्विजन्ते । ननु तेषां त्रासेन को दोष इत्याह—तस्येश्वरः तस्य यजमानस्य कुलं वंशं विक्षोब्धोः विनष्टं कर्तुमीश्वरः । व्यत्ययेनैकवचनम् । ईश्वराः समर्था इत्यर्थः । यस्तु गृहानुपागत्य किमपि न वदति मौनमेव भजते गृहा मा बिभीतेत्युपस्थानं वा करोति तं गृहा उपसंश्रयन्ते उपगच्छन्ति । तेषामभिप्रायमाह—न खल्वयं यजमान इहास्मिन् समये किमप्यवादीत्, किमपि च नाकरत् नाकार्षीत् । यदि अस्मदपराधः स्यात् तदा तद्विषयं वदिष्यति । तस्माद् यजमानस्यास्मद्विषये क्रोधो नास्तीत्यनेनाभिप्रायेण तमुपश्रयन्ते । स यदिहापीति—इहास्मिन् गृहविषये यद्यपि स आगतो यजमानोऽपराधश्रवणात् क्रुद्ध इव स्यात् ततस्तस्मादागमनदिवसात् श्वः अनन्तरदिवस एव तद् वक्तव्यं कर्तव्यं वोपचारनिर्वृत्तये प्रयुञ्जीत, न त्वागमनदिवसे । तदुक्तं सूत्रकृतापि—'गृहा मा बिभीतेति गृहानुपैति, क्षेमाय व इति प्रविशति, न हिंस्यात् गृह्यान्

पहुँचे हैं । जैसे तुमने बल धारण किया है, वैसे ही मैं भी बल प्राप्त कर तथा उत्तम मनोभावना और सद्बुद्धि से युक्त हुआ, दुःखरहित अन्तःकरण से तुम्हारे समीप आया हूँ । 'गृहा मा' आदि तीन मन्त्रों का उच्चारण कर अपने निवासगृह में आवे ॥ ४१ ॥

भाष्यसार—दिये गये मन्त्रार्थ के द्वारा भाष्य का भाव स्पष्ट हो जाता है ।

अध्यात्मपक्ष में—वनवास की अवधि समाप्त कर वापस आये हुए भगवान् रामचन्द्र अथवा कभी प्रवास के पश्चात् कहीं से वापस आये हुए भगवान् श्रीकृष्ण अपने निवासगृह को सम्बोधित कर आश्वासन दे रहे हैं । अग्रिम भाव स्पष्ट है ।

किसी व्यक्ति ने बिना किसी आधार के ही अपनी स्वतन्त्र कल्पना से पूर्ण व्याख्या कर दी है, जो **शतपथश्रुति, श्रौतसूत्र-परम्परा के विरुद्ध है ।**

कामं श्वः' (का० श्रौ० ४।१२।२१-२३)। अत्र न केवलं जडभूतानां गृहाणामुपस्थानं किन्तु गृहाधिष्ठातॄणां वास्तुदेवतानामेवैतदुपस्थानम्, तेषामेव भयाशङ्कायां अनिष्टकरणादिसामर्थ्यस्य च सम्भवात् ।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मचर्येण कृतविद्या गृहा गृहाश्रमिणो मनुष्या ऊर्जं बिभ्रतो यूयं गृहाश्रमं प्राप्नुत । तदनुष्ठानान्मा बिभीत मा वेपध्वम् । ऊर्जं बिभ्रतो वयं युष्मान् गृहान् एमसि समन्तात् प्राप्नुमः । वो युष्माकं मध्ये स्थित्वैवं गृहाश्रमे वर्तमानः सुमनाः सुमेधा मनसा मोदमान ऊर्जं बिभ्रत् सन्नहं सुखान्येमि नित्यं प्राप्नुयाम् । गृहा गृह्णन्ति ब्रह्मचर्याश्रमानन्तरं गृहाश्रमं ये मनुष्यास्ते गृहाः' इति, तन्न, गौणार्थग्रहणात्, गृहपदेन गृहस्थानां ग्रहणे मानाभावात् । अन्यथा व्युत्पत्तिलभ्यार्थग्रहणे ये ब्रह्मचर्याश्रमानन्तरं संन्यासाश्रमं गृह्णन्ति तेऽपि कुतो न गृहपदव्यपदेश्या भवेयुः ? शतपथे सूत्रे च यथाग्नीनामुपस्थानमुक्तम्, तथैव गृहाणामपि । उपस्थानस्य गृहपति-कर्तृकत्वेन न प्रथमतो गृहपतिरेव गृहपदेन सम्बोधनीयः सम्भवति ।

एवमेव 'शाल्वत्रस्तानां द्वारकास्थानां नरनारीणां दाराणां वा सम्बोधनेन श्रीकृष्णस्तानाश्वासयति' इत्यपि कल्पनामात्रम्, गृहशब्देन व्युत्पत्त्या तथैवान्येषां गृहस्थानामपि सम्बोधनसम्भवे तादृशार्थग्रहणे विनिगमनाविरहात् ॥ ४१ ॥

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न्येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः । गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः ॥ ४२ ॥

अनुष्टुप् । प्रवसन् देशान्तरं गच्छन् गृहपतिर्यजमानः, येषामध्येति 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (पा० २।३।५२) इति षष्ठी, यान् गृहान् स्मरति गृहविषयं क्षेमं चिन्तयति, तथा येषु गृहेषु यजमानस्य बहुप्रकारं सौमनसः सौमनस्यं प्रसन्नतातिशयश्च भवति, तान् गृहाभिमानिनो वास्तुदेवानुपह्वयामहे आह्वयामः । ते गृहदेवा आहूताः सन्तो जानत उपकाराभिज्ञान् कृतज्ञानस्मान् जानन्तु, एते कृतघ्ना न सन्तीत्यवगच्छन्तु ।

अध्यात्मपक्षे यान् गृहान् धामानि प्रवसन् कार्यवशात् प्रवासं कुर्वन् भगवानपि स्मरति, येषु भगवतः प्रीत्यतिशयस्तान् गृहान् भगवद्धामानि वयं भक्ता उपह्वयामहे । भगवत्प्रीत्यास्पदत्वाद् भगवद्रूपत्वाच्च ते तन्माहात्म्यं जानतोऽस्मान् जानन्तु कृपापात्रतयाऽनुग्रहबुद्ध्याऽवगच्छन्तु ।

अन्यस्तु 'सैनिकानां राजपुरुषाणामुक्तिः । प्रवसन् मनुष्यो यान् गृहस्थान् स्मरति, येषु सौमनस्येन सुहृद्भावेन तिष्ठति, वयमधिकारिजनास्तान् पुरुषान् स्वसमीपे मानपूर्वकमाह्वयामहे । ते प्रत्यभिज्ञावतोऽस्मान् जानन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजनयिकव्यवहारेषु सैनिका राजपुरुषाश्च स्वे स्वे कार्ये संलग्ना

स्वामी दयानन्द ने भी अपने स्वभावानुसार मन्त्रगत शब्दों के मुख्यार्थ को त्याग कर गौण अर्थ को ही स्वीकार करके व्याख्या की है । अतः वह भी श्रुति-सूत्र के विरुद्ध होने से त्याज्य ही है ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—प्रवास पर जाते समय (देशान्तर-ग्रामान्तर जाते समय) यजमान जिस गृह (घर) का स्मरण करता है और जिस घर के विषय में उसे अतिशय प्रेम रहता है, उन घरों (गृहों) को हम आमन्त्रित कर रहे हैं । वे गृह अर्थात्, वे गृहदेवताएँ हमें कृतज्ञ समझें । तात्पर्य यह है कि हम उनके प्रति कृतघ्न नहीं हैं, इस बात को गृहदेवताएँ स्मरण रखें ॥ ४२ ॥

भाष्यसार—भाष्य का सार मन्त्रार्थ के पढ़ लेने से स्पष्ट हो रहा है ।

भवन्ति न गृहस्थेषु सज्जन्ते, पक्षपातादिदोषोद्गमसम्भवात्। तेषामाह्वानं च न कुर्वन्ति, समेषामाह्वानासम्भवात्, केषाञ्चिदाह्वाने वैषम्यापातात्। वेदा लोकानवगतबोधनाय प्रवर्तन्ते न लोकसिद्धव्यवहारप्रवर्तनाय, तथा सति पिष्टपेषणापत्तेः। लोकायतपथे वेदप्रवर्तनमेवेह दूषणम्।

दयानन्दस्तु—'प्रवसन्नतिथिर्येषामध्येति येषु बहुः सौमनसोऽस्ति तान् गृहान् गृहस्थान् वयमतिथय उपह्वयामहे। ये सुहृदो गृहस्थास्ते जानतो नोऽस्मान् अतिथीन् जानन्तु' इति, तत्तु निरर्गलमेव, मन्त्रेऽतिथिबोधकपदाभावात्। तस्माद् ब्राह्मणसूत्रसम्मतत्वात् सिद्धान्तव्याख्यानमेव युक्तम् ॥ ४२ ॥

उप॑हूता इ॒ह गाव॒ उप॑हूता अ॒जाव॑यः। अथो॒ अन्न॑स्य की॒लाल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः। क्षेमा॑य वः॒ शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ॒ शंयोः॑ शंयोः॑ ॥ ४३ ॥

त्र्यवसाना महापङ्क्तिः। यस्या अष्टार्णाः षट्पादाः सा पङ्क्तिः। पञ्चमो नवार्णस्तेनैकाधिका। इहास्माकं गृहेषु गावो गोत्वजातिविशिष्टा धेनवो बलीवर्दा अस्माभिरनुज्ञाताः सुखेन तिष्ठन्तु, तथा अजावयः अजात्वावित्वजातिद्वयविशिष्टाः पशव उपहूताः सुखेन वर्तन्ताम्। अथो अपि च अन्नस्य कीलालो रसः अन्नसम्बन्धिबहुरसोऽस्मदीयगृहेषूपहूतः समृद्धस्तिष्ठतु। 'क्षेमाय व इति प्रविशति' (का० श्रौ० ४।१२।२३)। हे गृहाः! क्षेमाय विद्यमानधनादे रक्षणाय शान्त्यै सर्वारिष्टशमनाय वो युष्मान् प्रपद्ये प्रविशामि। शं सुखं कामयत इति शंयुः। 'इदंयुरिदं कामयमानः' (नि० ६।३१)। इतिवत्। तस्य शंयोः सुखं कामयमानस्य मम शिवं लौकिकं सुखं शग्ममामुष्मिकमित्युभयविधं बहुविधं वा सुखं भवत्विति शेषः। शिवं शग्मं द्वे अप्येते सुखस्य नामनी। शंयोरिति द्विरुक्तिरत्यादरार्था।

अध्यात्मपक्षे—नोऽस्माकं गृहेषु शरीरेषु उपहूता गाव इन्द्रियाणि वेदवाचश्चोपहूताः। अजा प्रकृतिः, अवयो महदाद्याश्च सान्निध्यमुपगताः। अथो अन्नस्य भोग्यजातस्य कीलालो रस उपहूतः। अहं च क्षेत्रज्ञो वो युष्मान् तादृग्प्रसादिसम्पन्नान् गृहान् प्रपद्ये प्राप्नोमि। किमर्थं शंयोः मोक्षलक्षणं परमानुरागात्मकं भक्तिरूपं सुखं कामयमानस्य मम शान्तये सर्वानर्थनिवृत्तिपूर्वकपरमोपशमलक्षणस्य मोक्षस्य निरावरणभगवत्स्वरूपलक्षणस्य सुखस्य प्राप्तये क्षेमाय प्राप्तस्य तादृशस्य सुखस्य तदुपकरणस्य च रक्षणाय शंयोः शं सुखं मोक्षं वा कामयमानस्य मम शिवं मोक्षरूपं शग्मं भगवत्प्रापकं भक्तिसुखं च भूयादिति शेषः। शं सुखं गम्यतेऽनेनेति शग्मम्।

अध्यात्मपक्ष में—भगवान् के चारों धामों तथा अन्यान्य भगवत्सम्बन्धी धामों की यात्रा श्रद्धा-भक्ति-भगवत्स्मरण के साथ जो भक्त जन किया करते हैं, उनपर भगवान् अनुग्रह करते हैं। भगवान् उन भक्तों को कृतघ्न नहीं समझते, अपितु कृतज्ञ समझते हैं।

किसी व्यक्ति ने राजनयिक व्यवहारपरक व्याख्या की है। वेद को उसने अनुवादक ही समझ लिया है, जो वेद के स्वरूप के विरुद्ध है। अतः ऐसी व्याख्या को त्याज्य ही समझना चाहिये।

स्वामी दयानन्द ने भी निरर्गल व्याख्या की है, क्योंकि मन्त्र में उन अर्थों के बोधक शब्द ही नहीं हैं और श्रुति सूत्र के विरुद्ध व्याख्या है। अतः उसे उपेक्षणीय ही समझना होगा ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—हमारी अनुज्ञा से इस घर में धेनु, बैल, अजा, मेष सुखपूर्वक रहें। उसी प्रकार अन्न का विशेष रस हमारे घर में हमारी अनुज्ञा से समृद्ध रहे। हे गृहो! मैं तुमको प्राप्त हो रहा हूँ (मैं तुममें प्रवेश कर रहा हूँ)। तुम हमारे द्रव्य की रक्षा करो और हमारे समस्त अनिष्टों की शान्ति करो। मैं महान् सुख की कामना करता हूँ, अतः मुझे

अपरस्तु—'राष्ट्रे गृहेषु च पयस्विन्यो गावः, अजाश्चावयश्च प्राणधारका उत्तमान्नादिपदार्थाः प्राप्नुवन्तु। हे गृहस्थाः! युष्माकं कुशलक्षेमाय विघ्नानां विघ्नकारिणां च शमनाय सुखप्रदानाय युष्मान् प्राप्नुयाम' इति, तदप्यविचारचारु, उपहूता इत्यस्य प्राप्त्यर्थताभावात्। तथा सकृदुच्चरितस्य 'वः' इत्यस्य 'युष्मान्' 'युष्माकम्' इति द्व्यर्थतायाः 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' इति सिद्धान्तविरोधात्, आवृत्तौ च प्रमाणाभावात्।

दयानन्दस्तु—'इहास्मिन् संसारे वो युष्माकं शान्त्यै नोऽस्माकं क्षेमाय गृहेषु गाव उपहूताः। अथोऽन्नस्य कीलाल उपहूतोऽस्त्येवं कुर्वन्नहं गृहस्थः शंयोः शिवं शर्म्मं च प्रपद्ये' इति, तदप्यसङ्गतम्, पौर्वापर्यविरोधात्। तथाहि—गृहा मा बिभीतेत्यत्र गृहपदेन गृहाश्रमं प्राप्ता मनुष्या उक्ताः। तेषामेव भयकम्पादिनिषेधः कृतः। इह तु येषामध्येतीति मन्त्रे येषां गृहस्थानामित्यर्थ उक्तः। पुनः कथमिहाकस्मात् 'गृहेषु' इति तृतीयमन्त्रे प्रासादेष्वित्यर्थः कृतः। अत्र मन्त्रव्याख्याने युष्माकमित्यनेन केषां ग्रहणमस्माकमित्यनेन च केषां ग्रहणमित्यस्पष्टमेव। किमर्थं युष्माकं शान्त्यै किमर्थं चास्माकं क्षेमायेत्यर्थः? एवं शंयोरित्यस्य कल्याणवतः साधनात् कर्मणो वा सुखवतो वा इत्यर्थे, अपरत्र शंयोः सुखाद् इत्यर्थे च भेदे किं बीजम्? 'कंशंभ्यां वभयुस्तितुतयसः' (पा० सू० ५।२।१३८) इति विधीयमानयुप्रत्ययस्योभयत्र समानत्वात्। सिद्धान्ते तु त्रिष्वपि मन्त्रेषु गृहपदस्य गृहा एवार्थः। 'वः' इत्यस्य वो युष्मान् गृहान् प्रपद्य इत्येवार्थः, 'क्षेमाय व इति प्रविशति' (का० श्रौ० ४।१२।२२) इति कात्यायनसूत्रस्वारस्यात्। किमर्थं क्षेमाय विद्यमानस्य वसुनो रक्षणाय शान्त्यै मम सर्वारिष्टनिवृत्त्यै शंयोरित्यस्य सुखं कामयमानस्य मम शिवं शग्मम् अनेकप्रकारकं सुखमस्तु। द्विरुक्तिस्त्वादरार्था। 'इदंयुरिदं कामयमानः' (नि० ६।३१) इति प्रमाणादत्र युस्प्रत्ययस्य कामयमान इत्येवार्थः।

यत्त्वत्र कश्चित्—'एवमेतत्पदमेव दुर्गाचार्येण (ऋ० सं० १०।१५।४) इति निरुक्तोद्धृतमन्त्र-व्याख्यानानन्तरम् अर्थसम्भवाद् द्विधा विभज्य भाष्यकारेण निरुक्तम्' इति, तदप्यसत्, निरुक्तोद्धृतमन्त्रे शंयोरिति पदस्य सर्वोदात्तत्वात् पदद्वयमेव सम्भवति, कुतोऽत्र मन्त्रे एकपदत्वसम्भवः स्यादिति तत्तुच्छम्, पदद्वयसत्त्वे शंयोरिति पदस्येति त्वदुक्तेरेवाशुद्धत्वापातात्, 'शाचीन्' (वा० सं० २३।८) इत्यादिषु सर्वोदात्तत्वस्य दृष्टत्वात्। निरुक्तोद्धृतमन्त्रेऽप्येकपदत्वमेव प्रतीयते, प्रतीत्यभिप्रायेणैवैकपदत्वमालम्ब्यार्थ-विचारे तदुक्तेः सार्थक्यात्। स्कन्दस्वामिनापि तदेवोक्तम्—'शंयोरिति द्वैपदमनवगतम्, शमित्येकम-नवगतम्, शमनमित्यवगमः, योरिति द्वितीयम्। अन्यस्यापि यावनमिति'।…… तथैव दुर्गाचार्योऽपि—'शंयोरित्यनवगतं पञ्चम्यन्तं वा षष्ठ्यन्तं वा सत्। न चैवं यजमानोऽर्थात्तस्माद् बृहस्पतिपुत्रादर्थमपेक्षते ममैते पितरः किञ्चिदर्थं विदध्युरिति। किं कारणम्? स्वत एव ते विधातुं समर्थाः। न च

ऐहिक और पारलौकिक उभयविध सुख की प्राप्ति हो। 'क्षेमाय वः' यह मन्त्र कहकर गृह में प्रवेश करे। उपस्थान मन्त्र यहाँ समाप्त हुए॥ ४३॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ स्पष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में—जीव कह रहा है कि इस शरीरात्मक गृह में मैं प्रवेश कर रहा हूं। इन्द्रिय, वाणी, प्रकृति, भोग्य रस आदि से सम्पन्न यह गृह है। मैं मोक्षरूप और परमानुरागात्मक भक्तिरूप सुख चाहता हूँ। अतः सर्वानर्थ-निवृत्तिपूर्वक परमोपशमात्मक मोक्ष की, निरावरण भगवत्स्वरूपात्मक सुख की प्राप्ति मुझे हो।

बृहस्पतिपुत्रस्य शंयोः किञ्चिदेभिः पितृभिर्विधीयेतेति । एवं पञ्चम्यर्थासंभवं षष्ठ्यर्थासंभवं च पश्यन् भाष्यकारः शंयोरित्येकं पदं द्वितीयान्ते द्वे पदे चकार शमिति योरिति च । शमित्यस्य शमनमित्यर्थं निराह, योरित्यस्य यावनमिति । एवं द्वितीयान्तेन विपरिणामं कृत्वार्थं निराह । कस्य शमनं कस्य वा यावनमिति पुनः पर्यनुयोगे रोगाणां भयानां चेत्यध्याजहार भाष्यकारः । शान्तरोगाश्च प्रहीणभयाश्च यथा स्याम तथाकुरुतेत्यभिप्रायः । (निरु० ४।२१) । सम्पूर्णो मन्त्रश्चेत्थम्—

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आगतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात ।। (ऋ० सं० १०।१५।४)

'हे बर्हिषदः पितरः ! 'ये वै यज्वानस्ते पितरो बर्हिषदः' (तै० ब्रा० १।६।९।६) इति श्रुतेः । अर्वाग् अर्वाचीनानामस्माकम् ऊती रक्षा कर्तव्येति शेषः । वो युष्मभ्यं इमा हव्या एतानि हवींषि चकृम । तानि जुषध्वम् । ते यूयं शन्तमेन सुखतमेन अवसा रक्षणेन आगत आभिमुख्येनास्मान् प्राप्नुत । अथ नोऽस्मभ्यं शं सुखं योः दुःखवियोगं अरपः पापरहितं दधात दत्त । एवमेतत् पदमेकमप्यर्थासम्भवाद् द्विधा विभज्य भाष्यकारेण निरुक्तम् इयमप्यर्थासम्भवे सति निर्वचनप्राप्तिरस्तीत्यर्थस्य ख्यापनाय । टिप्पणीकारैस्त्वत्रानेकेषां पुस्तकानां विभिन्नान् पाठान् विमृश्योक्तम् । मूलपाठोऽपि दुर्बोधः, अशुद्धत्वाद् गलितशब्दत्वाच्च ।

'प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास । स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत । स प्रजा असृजत । ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुस्तानीमानि वयाꣳसि । पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठं द्विपाद्वा अयं पुरुषस्तस्माद् द्विपादो वयाꣳसि' (श० २।५।१।१) इत्यादिना चातुर्मास्यविधित्सया वैश्वदेवस्य प्रजासृष्टिहेतुत्वमुक्तम् । प्रजापतिना तपसा प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुस्तानीमानि वयांसि पक्षिरूपेणाभवन् । पुरुषो मनुष्यः सृष्टानां प्रजानां मध्ये प्रजापतेर्नेदिष्ठं कार्यं स च द्विपात् । तत्परिणामत्वात् पक्षिणोऽपि पादद्वयोपेताः । पुनः प्रजापतिना प्रजा सृष्टास्ता अपि पराबभूवुः । तदिदं क्षुद्रं सरीसृपं पुनश्च तृतीयायां सृष्टौ सृष्टाः प्रजाः पराभूताः सर्पा अभवन् । प्रजापतिस्त्रिवारं सृष्टानां प्रजानां पराभवकारणं किमिति विचार्य उत्पन्नानां प्रजानामशनराहित्यं पराभवकारणमिति ददर्श । ततः स्वसम्बन्धिनोः स्तनयोः पय आप्याययाञ्चक्रे । एवमशनं परिकल्प्य ततः प्रजापतेः सृष्टाः प्रजाः पयसा पूर्णौ स्तनावभिपद्य जीवनवत्योऽभवन् । अनन्तरं प्रजाः सम्यगुत्पन्नाः, न पराबभूवुः । 'तद्वै पय एवान्नम्' (श० २।५।१।६) इत्यादिना इतरान्नसृष्टेः प्राक् पयस एवान्नत्वमुक्तम् । इदानीं स्त्रियाः स्तनौ पयसा पूरितौ भवतः । प्रजारक्षणाय गवादिपशूनामूधः पयसा पूर्णं भवति । उत्पन्नाः प्रजाः स्तनौ प्राप्य प्रवर्धन्ते । अनन्तरं 'स यः प्रजाकाम एतेन हविषा यजत आत्मानमेवैतद्यज्ञं विधत्ते प्रजापतिं भूतम्' (श० २।५।१।७) इति वैश्वदेवाख्यस्य चातुर्मास्यस्य प्रथमपर्वणो विधानम् ।

अयमभिप्रायः—चतुर्षु मासेष्वनुष्ठेयत्वाच्चातुर्मास्यानीति कर्मणां संज्ञा । तत्र चत्वारि पर्वाणि—१. वैश्वदेवम्, २. वरुणप्रघासाः, ३. साकमेधा, ४. शुनासीरीयम् । तत्र प्रथमं पर्व फाल्गुन्यां पूर्णिमायामनुष्ठेयम् । ततश्चतुर्षु मासेषु गतेष्वाषाढ्यां पूर्णिमायां द्वितीयं पर्व । ततश्चतुर्षु मासेषु गतेषु कार्तिक्यां पूर्णिमायां तृतीयं पर्व । ततः फाल्गुनशुक्लप्रतिपदि चतुर्थं पर्वानुष्ठीयते । एवं पुनः पुनरावर्तनम् । तत्र प्रथमे

स्वामी दयानन्द तथा अन्य किसी व्याख्याकार ने भी जो व्याख्या की है, वह स्व-कपोलकल्पित होने से निराधार है, श्रुति-सूत्र के विरुद्ध है । अतः उसे अग्राह्य ही कहना चाहिये ।। ४३ ।।

पर्वण्याग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशः सारस्वतश्चरुः पौष्णः पैष्टश्चरुः केवलेभ्यो मरुद्भ्यः स्वतवद्गुणविशिष्टेभ्यो वा सप्तकपालः पुरोडाशो वैश्वदेवी पयस्या द्यावापृथिवीय एककपाल इत्यष्टौ हवींषि। वरुणप्रघासाख्यं द्वितीयं पर्व आषाढ्यां प्रारभ्यते। वैश्वदेवे यानि हवींषि तेष्वादितः पञ्चहवींष्यत्राप्यनुष्ठेयानि। ततोऽधिकानि चत्वारि—ऐन्द्राग्नोऽष्टाकपालः, वारुण्यामिक्षा, मारुत्यामिक्षा, काय एककपाल इति। 'वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः। प्रजाः ससृजे ता अस्य प्रजाः सृष्टा वरुणस्य यवान् जक्षुर्वरुण्यो ह वा अग्रे यवस्तद् यन्न्वेव वरुणस्य यवान् प्रादंस्तस्माद्वरुणप्रघासा नाम' (श० २।५।२।१)। 'ता वरुणो जग्राह। ता वरुणगृहीताः परिदीर्णा अनत्यश्च प्राणत्यश्च शिश्यिरे च निषेदुश्च प्राणोदानौ हैवाभ्यो नापचक्रमतुरथान्याः सर्वा देवता अपचक्रमुस्तयोर्हैवास्य हेतोः प्रजा न पराबभूवुः'। (श० २।५।२।२)। 'ता एतेन हविषा प्रजापतिरभिषिज्यत्।…ता अस्यानमीवा अकिल्बिषाः प्रजाः प्राजायन्त। (श० २।५।२।३)। पुरा वैश्वदेवेन प्रजापतिना सृष्टाः प्रजा वरुणसम्बन्धिनो यवान् भक्षयामासुः। सृष्टिसमये सृज्यमानो यवो वरुणसम्बन्धी एवासीत्। अतो यवो वरुणस्य स्वभूतः। तत्प्रसङ्गाद्वरुणप्रघासो नाम निर्वृत्तम्। एवं वरुणसम्बन्धियवप्रघासनात् (प्रभक्षणात्) पाशगृहीतानां पाशविमोक्षणाय क्रियमाणा यागा अप्युपचारेण वरुणप्रघासाख्या जाताः। वरुणसम्बन्धियवभक्षणेन वरुणस्ता जग्राह। ते परिदीर्णाः परितो दीर्यमाणावयवा अनत्यश्चेष्टमाना हस्तपादादिविधूननं कुर्वाणाः प्राणत्यः श्वासोच्छ्वासं कुर्वत्यः शिश्यिरे निषेदुश्च शयनासनाभ्यामेव कालं नीतवत्यः, व्यापारान्तराक्षमा बभूवुः। केवलं प्राणोदानौ नापचक्रमतुः। अन्या वाक्-चक्षुरादीन्द्रियदेवा अग्न्यादयोऽपचक्रमुः। प्राणापानयोरनपक्रमणान्न विनष्टाः। वरुणपाशजनितामुक्तावस्थां विलोक्य प्रजापतिर् एतेन वरुणप्रघासाख्येन हविषा ताः प्रजा अभिषज्यद् अचिकित्सत्। तेन प्रजा वरुणपाशात् प्रामुञ्चत। ततः प्रजापतेः प्रजा अनमीवा रोगरहिता अकिल्विषा रोगनिदानभूतपापरहिताश्चाभवन्। इत्यादिभिश्चातुर्मास्यविधानम्।

तत्र वेदिद्वयम्—दक्षिणा वेदिरुत्तरा वेदिश्च। ऋत्विजो यथा वैश्वदेवपर्वणि। एकः प्रतिप्रस्थाताऽधिकः। तत्र दक्षिणोत्तरयोर्द्वयोर्वेद्योर्हविःष्वासादितेषु प्रतिप्रस्थाता पत्नीमुदानयंस्तदीयजारं पृच्छेत् केन चरसीति। सापि तं ब्रूयात्। नन्वेवं जारसम्बन्धवत्या अपि पत्न्या यागाधिकारे सिद्धे व्यभिचारप्रश्रयेण ब्राह्मणत्वादिजाति-निर्णयोऽपि दुर्लभो भविष्यति, तत एव 'वयं ब्राह्मणा वा अब्राह्मणा वा' इति ब्राह्मण्यादिसन्देहवचनमपि स्वार्थपर्यवसाय्येव स्यात्, इष्टापत्तौ च ज्योतिष्टोमादिकर्मलोपप्रसङ्गः, वर्णाश्रमाधिकारिविशेषकर्तृकत्वादिति चेन्न, व्यभिचारनिषेधकश्रुतिस्मृतिवचनानुरोधेन श्रौतस्मार्तलक्षणानां कर्मणां वर्णाश्रममूलकत्वेन ब्राह्मणादिसन्देह-वचनस्य प्रवरानुमन्त्रणविधेरर्थवादत्वेन स्वार्थे तात्पर्याभावेन व्यभिचाराभावस्यैव स्वाभाविकत्वेनास्य वचनस्य मानसव्यभिचारपरत्वेन दोषाभावात्, प्रश्नस्य तादृशव्यभिचारजनितपापनिवृत्त्यर्थत्वेनोपपत्तेः। तदाह—'स पत्नीमुदानेष्यन् पृच्छति केन चरसीति वरुण्यं वा एतत्स्वीकरोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरत्यथो नेन्मेऽन्तःशल्या जुहवदिति तस्मात्पृच्छति निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति सत्यꣳ हि भवति तस्माद्वेव पृच्छति सा यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो हास्यै तदहितꣳ स्यात्' (श० २।५।२।२०)। करम्भपात्राणां होमस्य पत्नीकर्तृकत्वेन तच्छुद्ध्यै प्रश्नः—हे पत्नि! केन जारेण चरसि। पुरुषान्तरसङ्गतेर्दोषेण वरुणपाशसम्बन्धो भवति। यदन्यस्य सती अन्येन सह वर्तते एषा पत्नी अन्तःशल्या पापरूपेण शल्येन युक्ता सती नैव मदीयेऽग्नौ जुहुयात्। तस्मात् पृच्छति सा यदि पृष्टमर्थं न प्रब्रूयात् तदा तस्या ज्ञातिभ्योऽनिष्टं भवति। तस्माद् विद्यमानं वृत्तान्तमाचक्षीत। असौ मे जार इति निर्दिशेत्। ततः प्रतिप्रस्थाता प्रघासिन इति मन्त्रं वाचयति। कण्वोऽपि—'केन चरसीति वरुण्यं ह वा एतत्स्वीकरोति यदन्यस्य सत्यन्येन' इति, वरुण्यमपकृत्यत्वेन निवारणीयमित्यर्थः। तित्तिरिरप्याह—'पत्नीं वाचयति मेध्यामेवैनां करोति, अथो तप एवैनामुपनयति यज्जारꣳ सन्तं न ब्रूयात् प्रियं ज्ञातिꣳ

रुन्ध्यात् । असौ मे जार इति निर्दिशेत् । निर्दिश्यैवैनं वरुणपाशेन ग्राहयतीति' (तै०ब्रा० १।६।५।२)। आपस्तम्बोऽपि दर्शयति --'प्रतिप्रस्थाता पत्नीं कति ते जाराः ? यानाचष्टे तान् वरुणो गृह्णात्विति निर्दिशति । कात्यायनोऽपि --'आख्याते प्रघासिन इत्येनां वाचयति नयन्निति' (का० श्रौ० ५ ५।९) । जारे पत्न्या कथिते सत्येनां पत्नीं नयन् प्रतिप्रस्थाता प्रघासिन इति मन्त्रं वाचयेत् । यथा प्रवरानुमन्त्रणमन्त्रैः सन्दिग्धब्राह्मण्यस्यापि ब्राह्मण्यं जायते । तत्रैव कस्यचिदेवं मतिः स्यादहं तु ब्राह्मण एवेति किमर्थं प्रवरानुमन्त्रणमन्त्रमाश्रयेयेति, तदर्थमेवार्थवादः --'ब्राह्मणा वा अब्राह्मणा वा' इति, मातुश्चारित्र्ये सन्देहसम्भवादवश्यमेव तदाश्रयणं युक्तम्, तथैव मानसव्यभिचारजनितपातकनिराकरणाय प्रश्नोत्तरोपयोगः । 'संस्तुतानाचष्टे, तृणानि वोद्गृह्णाति प्रतिसंस्तुतम्' (का० श्रौ० ५।५।६-७) । अर्थाद् यदि लज्जावशान्न कथयेत्तदा प्रतिजारं तृणानि उद्गृह्णाति, 'अनाख्यातमहितं ज्ञातिभ्य इति श्रुतेः' (का० श्रौ० ५।५।८) इति सूत्रात् । 'यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो ह्यस्यै तदहितꣳ स्यात्' (श० २।५।२।२०) इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

प्रघासिनो॑ हवामहे म॒रुत॑श्च रि॒शाद॑सः । क॒र॒म्भेण॑ स॒जोष॑सः ॥ ४४ ॥

मारुती गायत्री । वयं मरुतश्चकारात् तत्परिचारकांश्च हवामहे । कथंभूतान् ? प्रघासिनः प्रकर्षेण घस्यते भक्ष्यत इति प्रघासो हविर्विशेषः, सोऽस्त्येषां ते प्रघासिनः, तान् एतन्नामकान् देवान्, शुक्रज्योतिरित्यादयः सप्तसप्तका मारुतगणाः, तत्र स्वतवांश्च प्रघासी चेति पठ्यते (१७।८५), प्रघास्युपलक्षितान् मरुत आह्वयामः । पुनः कीदृशान् ? रिशादसः रिषतिर्हिंसार्थः, रिशो वैरिकृतां हिंसां दस्यन्ति उपक्षयन्तीति रिशादसः । यद्वा रिशन्ति हिंसन्तीति रिशा हिंसकाः, तान् दस्यन्ति क्षपयन्तीति रिशादसः । यद्वा रिशान् हिंसकान् दस्यन्तीति रिशादसः, रिशतोऽस्यन्तीति क्षिपन्तीति रिशादसः । अस्यतेर्विच् । करम्भेण सजोषसः समानप्रीतयः, तांस्तथाविधान् मरुतो हवामहे । ये वैरिकृतां हिंसां क्षपयन्ति, हिंसकान् वा क्षपयन्ति, रिशतो हिंसां कुर्वतः क्षिपन्ति, ये च यवमयहविर्विशेषात्मककरम्भेण सप्रीतयः, तान् प्रघास्युपलक्षितान् सपरिचारकान् मरुद्गणान् हवामहे । मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् करम्भपूर्णत्वात् करम्भपात्रेषु करम्भपदप्रयोगः ।

अध्यात्मपक्षे तु—प्रघासिनः प्रकर्षेण घस्यते भक्ष्यत इति प्रघासो हविः, सोऽस्त्येषामिति प्रघासिनो मरुतो मरुद्विशेषाः प्राणास्तान् हवामहे । कीदृशान् ? रिशादसः रिशतो हिंसकान् दस्यन्ति उपक्षियन्तीति रिशादसस्तान् । करम्भेण सजोषसः करम्भः पूर्वोक्तभृष्टयवमयचरुविशेषपूर्णः पात्रविशेषः, तेन सजोषसः समानप्रीतयः करम्भोपलक्षितान्नविशेषेण समानप्रीतयः । छान्दोग्यबृहदारण्यकादिषु प्राणोपासनं विहितम्, प्राणस्य न किञ्चनान्नमित्यादिना तस्यैव सर्वात्तृत्ववर्णनात् ।

मन्त्रार्थ—हम मरुद्गणों को बुलाते हैं । वे मरुद् देव 'प्रघासी' नाम के हैं, अर्थात् 'प्रघासी' संज्ञक हविर्भाग विशेष का भक्षण किया करते हैं । इन मरुद्गणों की 'शुक्रज्योति' आदि संज्ञा भी है और वे हिंसा करने वालों के नाशक हैं । उसी प्रकार उन्हें 'करम्भ' संज्ञक यवमय हविर्द्रव्य रुचिकर रहता है । चातुर्मास्येष्टि में प्रतिप्रस्थाता नाम का ऋत्विग् यजमान पत्नी के मुख से 'प्रघासिनः' मन्त्र को कहलावे ॥ ४४ ॥

भाष्यसार—ये चातुर्मास्य याग के मन्त्र 'प्रजापति' के द्वारा दृष्ट हैं । इस चातुर्मास्य याग में चार पर्व होते हैं । वे चार पर्व—वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय—इन नामों से प्रसिद्ध हैं । यह मन्त्र द्वितीय पर्व से सम्बद्ध है ।

अध्यात्मपक्ष में—इस मन्त्र के द्वारा प्राणोपासना बताई गई है ।

कश्चित्तु—'उत्तमान्नभोजिनो हिंसकविनाशकान् साधुकर्मकृत्प्रीतिमतः शूरान् स्वगृहे निमन्त्रयामः' इति, तत्तु प्रघास-करम्भ-मदादिशब्दानां वैदिकद्रव्यदेवतासम्बन्धाज्ञानविजृम्भितमेव। एतद्रीत्या वैदिकदेवतानां स्थाने राजकर्मचारिणः सैनिका एवाहूयन्ते पूज्यन्ते च।

शतपथे च—'तां वाचयति। प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः। करम्भेण सजोषस इति यथा पुरोऽनुवाक्यैवमेषैतयैवैनानेतेभ्यः पात्रेभ्यो ह्वयति' (श० २।५।२।२१)। तां वाचयतीति वाचनं विधत्ते। आशीर्वाचनीयो मन्त्रार्थस्तूक्त एव। एतन्मन्त्रं पुरोऽनुवाक्यासादृश्येन स्तौति—यथेति। पुरोऽनुवाक्या हि यक्ष्यमाणदेवताह्वानार्था। एवमेव एषा प्रघासिन इति ऋक्। एतया एव एनान् मरुत एतेभ्यः पात्रेभ्यः करम्भपात्रेभ्यो ह्वयति, होष्यमाणं करम्भपात्रलक्षणं हविर्भोक्तुमाह्वयतीत्यर्थः। करम्भपात्रस्वरूपमुच्यते—'अथ पूर्वेद्युः। अन्वाहार्यपचनेऽतुषानिव यवान् कृत्वा तानीषदिवोपतप्य तेषां करम्भपात्राणि कुर्वन्ति यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि' (श० २।५।२।१४)। यस्मिन् दिवसे वरुणप्रघासयागो भवति, ततः पूर्वेद्युर् अतुषान् तुषरहितान् यवान् कृत्वा तैः पात्राणि सम्पूर्य तानत्यल्पमिवोपतप्य श्रपयित्वोदकेनालोड्य तैः करम्भपात्राणि, भृष्टयवचूर्णाः करम्भाः, तन्मयानि पात्राणि करम्भपात्राणि, अध्वर्युयजमानदयः कुर्वन्ति। कियन्ति तानीत्यपेक्षायां यावत्संख्याका यजमानस्य पुत्रपौत्रादिरूपा ज्ञातयो भवेयुस्तावन्ति जनिष्यमाणापत्यार्थमेकेनाधिकानि कार्याणि।

तदुक्तं शतपथे—'तानि वै प्रतिपूरुषम्। यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति' (श० २।५।२।२२) इत्यादिभिः। यजमानस्य याः प्रजाः प्रजाताः, ताः प्रतिपुरुषं प्रत्येकम् एकैकेन पात्रेण वरुणपाशात् प्रमुञ्चति। जनिष्यमाणानां प्रजानां वरुणपाशविमोचनार्थमेकमतिरिक्तं कर्तव्यमित्युक्तम्। 'पात्राणि भवन्ति। पात्रेषु ह्यशनमश्यते यवमयानि भवन्ति। यवान् हि जक्षुषीर्वरुणो गृह्णात् शूर्पेण जुहोति शूर्पेण ह्यशनं क्रियते पत्नी जुहोति मिथुनादेवैतद् वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति' (श० २।५।२।२३)। पुरोडाशादिरूपतां विहाय पात्ररूपेण निर्माणमुपपाद्य तर्हि यस्मात् पात्रेषु कांस्यादिनिर्मितेष्वशनमन्नमश्यते, अतो मरुतां पयस्यारूपस्यान्नस्य भोजनीयपात्ररूपेणैवैतानि निर्मातव्यानि, तानि च यवमयानि निर्मातव्यानि। तत्प्रशंसति—यवमयानीति। जक्षुषीः भक्षितवतीः प्रजाः वरुणोऽगृह्णात्। तस्माद्यवमयान्येव तानि स्युः। तेषां होमं विधत्ते—शूर्पेण जुहोतीति। यतः शूर्पेण तुषापाकरणद्वारा अन्नं क्रियते, अतः शूर्पहवनं प्रशस्तम्। पत्नी जुहोतीति कर्तृविधिः। स्त्रिया अपि कर्तृत्वेन होमेऽन्वयाद् मिथुनं सम्पद्यते। तस्माद् यजमानपत्नीरूपाद् मिथुनादेव वरुणपाशात् प्रमुक्तिः।

'पुरा यज्ञात् पुराहुतिभ्यो जुहोति। अहुतादो वै विशो विशो वै मरुतः' (श० २।५।२।२४) इत्यादिना स्रुवाघारहोमादेः करम्भपात्रहोमस्य पूर्वभावित्वं विहितम्। यज्ञो वषट्कारप्रदानो यजतिचोदित आग्नेयः। आहुतयः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतिचोदिताः। यतोऽहुतं होमसंस्काररहितम् अदन्ति तस्मादहुतादः। मरुतां वैश्यजातित्वेन अहुतादानधर्मवत्त्वात् सर्वहोमात्पूर्वं तेभ्यो हविःप्रदानं युक्तम्। यदा प्रजापतेः प्रजा वरुणगृहीताः परिदीर्णा रोगगृहीतास्तदा तासां प्रजानां पाप्मानं मरुतो विमेथिरे विलोपयन्ति स्म। तथैव यजमानस्य प्रजानां वरुणगृहीतानां पाप्मानं पाशविमोचनाद् मरुतो विमथ्नन्ति। तस्माद् यज्ञाद् आहुतिभ्यश्च पूर्वमेव करम्भपात्राणां होमेन मरुतां शमनं युक्तम्।

दयानन्दस्तु—'प्रघासिनः प्रघस्तुं शीलमेषां तान् मरुतोऽतिथीन् रिशादसः रिशान् दोषान् शत्रूंश्च हिंसन्ति तान् करम्भेण अविद्याहिंसनेन सजोषसः समानप्रीतिसेविन ऋत्विजो हवामहे' इत्याह, तच्च निर्मूलम्। करम्भेणे-

किसी व्याख्याता ने वैदिक देवताओं के बजाय राजकर्मचारी सैनिकों को बुलाना और पूजना बताया है।

त्यस्य विद्याहिंसनमर्थः कथं ग्रहीतुं शक्यः ? शतपथश्रुतिविरोधस्त्वस्मिन्नर्थे स्पष्ट एव, तस्य वरुणप्रघासे विनियुक्तत्वात् ।

यत्तु—'क् विष्णुः, अ ब्रह्मा, रः अग्निः, म् शिवः, भः पराशक्तिः, तेषां समूहः करम्भः' इति, तन्न, एकाक्षरकोशाधारेण ये मन्त्रास्तेषामेवानेन प्रकारेण बोधो युक्तः, नहि गवानयनादौ प्रयुक्तस्य गामानयेति वाक्यस्यैकाक्षरानुसारेणार्थापनं युक्तम्, अभिप्रायाननुरोधिनस्तात्पर्याविषयस्याप्यर्थस्य एकाक्षरकोषाद्यनुसारेण बोधसम्भवात् ॥ ४४ ॥

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।

यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥ ४५ ॥

'करम्भपात्राणि जुहोति शूर्पेण मूर्धनि कृत्वा दक्षिणेऽग्नौ प्रत्यङ्मुखी जायापती वा दक्षिणेनाहृत्य तीर्थेन पूर्वेण वेदिमपरेण वा यद् ग्राम इति' (का० श्रौ० ५।५।१०)। यवपिष्टनिर्मितानि सन्तानपरिमितान्येकाधिकानि करम्भपात्राणि पत्नी मस्तकस्योपरि शूर्पे निधाय जुहूस्थानापन्नेन शूर्पेण प्रत्यङ्मुखी दक्षिणाग्नौ जुहोतीत्येकः पक्षः । दक्षिणस्यां वेद्यां स्थित आहवनीयेऽग्नौ जुहोतीत्यभिप्रायः, नान्वाहार्यपचनरूपे दक्षिणाग्नौ । तौ च दक्षिणेन मार्गेण तानि पात्राण्याहृत्य वेदेः पूर्वदिशि पश्चिमदिशि वा स्थित्वा जुहुयातामित्यपरः पक्षः । मन्त्रार्थस्तु—ग्रामे निवसन्तो वयं यदेनः पापं ग्राम्योपद्रवरूपं चकृमा कृतवन्तः । 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः । तथा अरण्ये निवसन्तो यदेनो मृगवृक्षाद्युपद्रवरूपं कृतवन्तः । यच्च सभायां महाजनतिरस्कारादिरूपम् एनः चकृम । यच्चेन्द्रिये जिह्वोपस्थरूपे प्रीतियुक्ता वयमेनः कलञ्जभक्षणपरस्त्रीगमनादिकं चकृम तथान्यत्रापि भृत्यस्वाम्यादौ यदेनस्ताडनावज्ञादिकं चकृम तदिदं सर्वं पापमवयजामहे विनाशयामः । अवपूर्वो यजिर्नाशार्थः । स्वाहेत्येतद्धविर्देवतायै पापविनाशिन्यै दत्तमस्तु । यत्र यत्र ग्रामादिष्ववस्थिताः सन्तस्तत्सम्बन्धि पापं कृतवन्तो वयं तत् सर्वं नाशयामः ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर ! यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये मनसा वाचा कायेन वा एनो निषिद्धाचरणं भूतावमानलक्षणं भगवदवमानलक्षणं वा चकृम अकार्ष्म तत्सर्वं नाशयामः । त्वयि स्वसर्वस्वनिवेदनलक्षणेन स्वाहाकारेण सुष्ठुरीत्या सम्यग् आसमन्ताद् मनसा वाचा कायेन स्वसर्वस्वत्यागः स्वाहा । 'ओहाक् त्यागे' । प्रह्लादध्रुवादयो विष्णुं ब्रह्मविष्ण्वादयः शिवं सर्वे भक्ता वानरभल्लूकादयो रामम् अर्जुनादयः कृष्णं भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा स्वकर्तृकभगवदवज्ञादिलक्षणम् एनः क्षमापयन्तः प्रार्थयन्ते—यद् ग्राम इति ।

स्वामी दयानन्द ने मन्त्रगत शब्दों का मन-माना अर्थ किया है, उस कारण श्रुतिविरोध उपस्थित होता है। अतः वह व्याख्या उपेक्षा के ही योग्य है ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—ग्राम में रहते हुए, वन में रहते हुए, सभा में बैठे हुए और इन्द्रियों की प्रीति के कारण जो पाप हमसे हुआ हो तथा भृत्यादि वर्गों की ताड़ना करके जो पाप हमसे हुआ हो, उन समस्त पापों का विनाश इस आहुति से हम कर रहे हैं। यह आहुति पाप का विनाश करने वाली देवता को प्राप्त हो। यजमानपत्नी अथवा यजमान और यजमानपत्नी दोनों ही एक सूर्प में यव के पिष्ट से निर्मित करम्भ पात्रों को रखकर दक्षिणाग्नि में 'यद्ग्रामे' इस मन्त्र से उनका हवन करे ॥ ४५ ॥

कश्चित्तु—'वयं यत्पापमयुक्तकार्यं निषिद्धाचरणं ग्रामेषु अरण्येषु सभायां चक्षुरादीन्द्रियसम्बन्धि निषिद्धाचरणं कुर्मः, तत्परित्यक्ष्याम इति सर्वोऽपि भावयेत्' इति, तदप्यविचाररमणीयम्, तादृशभावनाविधायकपदाभावात् । भावनायाः प्रभावेण तदुत्तरभाविपापनिरोधसम्भवेऽपि पुराकृतानां विनाशः कथं स्यादित्यसमाधानात् । इदमपि वेदस्य लोकायतिकमतपरत्वापादनम् ।

शतपथे तु—'सा वै दक्षिणेऽग्नौ जुहोति । यद्ग्रामे""यन्मानुष इति तदाह यदिन्द्रिय इति यद्देवत्रेति तदाह यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहेति यत्किञ्च वयमेनश्चकृमेदं वयं तस्मात् सर्वस्मात् प्रमुच्यामह इत्येवैतदाह' (श० २ ५।२।२५) । दक्षिणेऽग्नौ दक्षिणस्यां वेद्यामवस्थिते आहवनीयेऽग्नौ जुहोति । पदशोऽनूद्य व्याचष्टे—यत्सभायामिति । सभाशब्दं व्याचष्टे—यत्सभायामिति । यन्मानुषसंघैरेनः क्रियत इति तदर्थः । इन्द्रियपदस्य देवपरत्वमाह—इन्द्रियसम्बन्धिनि देवसमूहे निमित्तभूते यदेनः क्रियत इति । मन्त्रांशस्यार्थः करम्भपात्रलक्षणेन हविषा अवयजामहे समर्पयामः । स्वाहेति निपातो दानार्थः । सुहुतमस्त्वित्यर्थः । अवयजनं नाम तस्मात् सर्वस्मात् प्रमोचनं विश्लेषः । ग्रामारण्यादिस्थानभेदेन बहुविधस्यैनसः संग्रहाय सर्वस्मादिति विशेषणम् ।

दयानन्दस्तु—'स्वयं यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये यद्यत्रैनश्चकृमेदं तदवयजामहे दूरीकुर्मः । यद्यत्र ते स्वाहा सत्यवाचा पुण्यकर्म चकृम तत्सर्वं सङ्गच्छामहे' इति, तदपि न सङ्गतम्, शतपथादिसिद्धकरम्भहोमे मन्त्रस्य विनियुक्तत्वात् ।

यत्तु कश्चित्—'पत्नी मन्त्रं पठति' इत्याह, तन्निर्मूलम्, 'तां वाचयति' (श० २।५।२।२१) इति श्रुतिविरोधात् ॥ ४५ ॥

'अथैन्द्रीं मरुत्वतीं जपति । यत्र वै प्रजापतेः प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमेथिरे तद्धेक्षाञ्चक्र इमे ह मे प्रजा न विमथ्नीरन्निति । स एतामैन्द्रीं मरुत्वतीमजपत् । क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः क्षत्रं वै विशो निषेद्धा निषिद्धा असन्निति तस्मादैन्द्री' (श० २।५।२।२६–२७) । पाशबद्धानां प्रजानां प्रमोकाय प्रजापतिरिमामैन्द्रीं मरुत्वतीमजपत् । तस्माद्यजमानोऽपि जपेत्—

भाष्यसार—भाष्यार्थ की स्पष्टता मन्त्रार्थ से हो जाती है ।

अध्यात्मपक्ष में—भक्तजन अपने कायिक वाचिक-मानसिक सभी कर्मों का समर्पण भगवच्चरणारविन्द में किया करते हैं ।

किसी व्याख्याकार ने इस मन्त्र को भावनापरक बताकर उससे पूर्वकृत पापों का विनाश करने की बात कही है । किन्तु मन्त्र में वैसी भावना का विधायक पद कोई है ही नहीं । भावना के प्रभाव से उत्तरभावी पापों का तो निरोध कदाचित् हो भी सकता है, तथापि उससे पूर्वकृत पापों का नाश कैसे हो सकेगा ? अतः शतपथानुसारी व्याख्या यदि की होती, तभी वह प्रामाणिक होती, अन्यथा नहीं ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह प्रस्तुत प्रसङ्ग से कोई सम्बन्ध नहीं रख रही है । प्रस्तुत प्रसंग तो करम्भहोम का चल रहा है ॥ ४५ ॥

मोषूण इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः ।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः ॥ ४६ ॥

ऐन्द्रमरुद्देवत्या विराट् । तत्र दशाक्षराश्चत्वारः पादाः । अत्र चतुर्थ एकाधिकः । 'मोषूण इति यजमानो जपति' (का० श्रौ० ५।५।११) । 'पृत्स्विति संग्रामवचनम्' (नि० २।१७।२१) । हे इन्द्र ! पृत्सु संग्रामेषु वर्तमानो देवैर्मरुद्भिस्त्वया सह सख्यं प्राप्तैर्मरुन्नामकैर्देवैः सहितस्त्वं मा विमन्थीर्मा हिंसीः । मोशब्दः प्रतिषेधार्थको निपातः पुरस्तादाख्यातस्य भवति । 'सु' इति सौष्ठववाची निषेधस्य सौष्ठवं वक्ति । मन्त्र आख्याताभावात् 'यत्र वै प्रजापतिः प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमेथिरे' इति श्रुत्युक्तमध्याह्रियते । निषेधबलाद्विनाशरूपनिषेध्यस्याक्षेपो वा । तथा चास्मद्विनाशलेशोऽपि मा भूदित्यर्थः । कः प्रसङ्गो विनाशस्येत्याशङ्क्य अस्ति हीत्यादिना प्रसङ्गोऽभिधीयते । हे शुष्मिन् ! बलवन् ते तव अवया अवेक्षारूपो व्यापारः, अस्ति हि स्म विद्योतत एव । अवपूर्वस्य अयतेर् अवया इति रूपम्, यजतेर्वा । अवयुतो यागोऽवयाः यागाभावः । यद्यप्येवं तत्कालोचितत्वाद्यजनाभावरूपोऽपराधोऽस्त्येवास्मासु, तथापि दयापारवश्यात् त्वमस्मान् मो सु किञ्चिदपि मा हिंसीः । मो निषेधार्थक एव । मीढुषः वृष्टिप्रदत्वेन सेक्तुः । हविष्मतो हविर्भागयोग्यस्य तव यव्या यवमयैः पिष्टैः करम्भपात्रैर्निष्पाद्या होमादिक्रिया महश्चित् पूजा । तस्य तव यथोक्तपूजोपेतस्य तव कृपालुत्वं युक्तमेव । किञ्च, गीः स्तुतिरूपा मदीया वाग् मरुतेन भवत्सखीन् वन्दते नमस्करोति । 'नमो मरुद्भ्यः' इत्येवमादिकायाः स्तुतेर्मरुद्विषयकनमस्कारेणापि तुष्टस्य तव कृपैव युक्तेति ।

उव्वटरीत्या तु क उपकारः, उपकृत्य हि प्रत्युपकारः प्रार्थ्यते, अस्ति हि यस्मात् स्मेत्यनर्थकः । हे शुष्मिन् ! अवयाः अवयुतो यागोऽवयाः । 'अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च' (पा० सू० ८।२।६७) । पृथक् त्वदीययागभागोऽस्ति । महश्चित् पूजा । यद्वा महतश्चिद्यस्य तव मीढुषो महतः सेक्तुः । मत्सम्पादितः पृथग् यागभागोऽस्ति । तस्मात्तवास्मासु कृपा युक्ता । यवमयैः करम्भपात्रैर्हविष्मतो हविर्योग्यस्य तव मरुतः स्वभूतान् गीः वाक् स्तोतॄणां स्तुतिरुपवन्दते स्तौति । 'मोषूण' अत्र 'सुञः' (पा० सू० ८।३।१०७) इति षत्वम् । 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः । 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा० सू० ८।४।२७) इति नस्य णत्वम् । स्मेत्यस्यापि 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' (पा० सू० ८।४।३) इति षत्वम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर ! अत्र पृत्सु संसारसंघर्षमयेषु संग्रामेषु नोऽस्माकं विनाशः पराभवो मैव भूत् । कुत इति चेत् ? हे शुष्मिन् अतुलितबलशालिन् ! अस्ति हि देवैर्द्योतनवद्भिरिन्द्रियमनोबुद्धिरूपैरनुष्ठीयमानः अवयाः त्वदीयो यागभागः, त्वदाराधनबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानस्वधर्मलक्षणो मानसाराधनरूपो वा । तेनास्मासु तवानुग्रहोऽस्तु । स च तव महश्चित् पूजा । यद्वा यस्य महतो निरतिशयबृहतः, चिन्मीढुषोऽभीष्टवर्षणशीलस्य

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! इस संग्राम में देवताओं के साथ रहनेवाले तुम हमारा किञ्चिन्मात्र भी नाश मत करना। हे शक्तिसम्पन्न इन्द्र ! इस यज्ञ में तुम्हारा भाग पृथक् है। वृष्टि के द्वारा जलसिञ्चन करने वाले तथा हवि के योग्य समझे जानेवाले तुम्हारी यवमय करम्भपात्र से की जानेवाली हवनक्रिया पूजा ही है। उस पूजा का स्वीकार करके तुम हम पर अनुग्रह करो। हमारी स्तुतिरूपा वाणी मरुत् देवताओं को नमस्कार कर रही है। यजमान 'मोषूण' इस मन्त्र का जप करे ॥ ४६ ॥

भाष्यसार—भाष्य का अर्थ मन्त्रार्थ से ही स्पष्ट हो जाता है ।

हविष्मतस्तव यव्यानि यवादिनिर्मितानि विविधानि हव्यानि वेदेषु प्रसिद्धानि तस्य तव मरुतः प्राणरूपान् गुणान् गीः मदीया स्तुतिरूपा गीः वेदरूपा वा गीः सरस्वती वन्दते। तावतैव प्रसन्नः सन् संसारपराभवादस्मान् रक्ष जननमरणाविच्छेदलक्षणायाः संसृतेरुद्धृत्य स्वात्मनावस्थानं सम्पादयेति भावः।

कश्चित्तु—'हे राजन्! राष्ट्रियानस्मान् मा मारय प्रत्युत सम्यग् रक्ष। हे बलशालिन्! विनयिनः ससैनिकस्य तव पृथग् भागोऽस्ति। राज्ञा प्रजाभ्यो नियतो निजभागोऽन्नाद्यर्थं ग्राह्यः। तदर्थं प्रजोत्सादं न कुर्यात्। सुखप्रवर्षकाय राज्ञे अन्नं निर्मिताः पदार्था महान् सत्कारः। अन्नैरस्त्रादिभिश्च सम्पन्नानां प्रजागणानामधिकारिगणानां च वाणीयं वन्दते तस्येन्द्रस्य कृतेऽवश्यं पृथग्भागः' इति, तदयं महीधरादिभाष्येभ्योऽर्थं गृहीत्वा स्वाभिप्रायानुसारेण विकृतिं नीतवान्। अथ चास्मिन्नर्थे इन्द्रशब्दस्य राजा, देवशब्दस्य सैनिकाः, पृत्स्वित्यस्य राष्ट्रम्, अवया इत्यस्य राजभाग इत्यादयोऽर्थाः किंमूलका इत्यपि चिन्त्यम्।

शतपथे—'मोषूण इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः। महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः॥' (श० २।५।२।२८)। तामृचं पठति मोषूण इति। अवपूर्वाद् यजेः 'अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च' (पा० सू० ८।२।६७) इति निपात्यत इति सायणः।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र! शूरवीर ईश्वर वा। कृपया त्वमत्र पृत्सु देवैर्विद्वद्भिः सहितान् नोऽस्मान् सुरक्ष मो हिन्धि। हे शुष्मिन् स्म ते महो गीर्ह्येतान् यस्य मीढुषो हविष्मतो मरुतो वन्दते चिदेते त्वां सततं वन्दन्ते, अभिवाद्यानन्दयन्तीव। योऽवया यजमानोऽस्ति स त्वदाज्ञया यानि यव्या यव्यानि हवींष्यग्नौ जुहोति तानि सर्वान् प्राणिनः सुखयन्ति' इति, तन्न सङ्गतम्, मन्त्रे रक्षहिन्धिपदाभावात्। मह इति पदं गिरो विशेषणं महः पूर्वस्या गिरो वेदवाचकत्वे हेतुर्वक्तव्यः। 'एते त्वां सततं वन्दन्ते' इत्यपि निर्मूलम्। शतपथविरोधस्तु स्पष्ट एव। सिद्धान्ते तु श्रुत्युक्तस्यैव विमन्थोरित्यस्याध्याहारः। अध्याहारोऽपि यावता विनाऽर्थो नोपपद्यते तावत एव।

यत्तु—'हे इन्द्र अर्जुन! इन्द्रांशत्वात्, शुष्मिन् महापराक्रम नः सुहृदो मैव ग्लासीः। अस्माकं राज्यं कपटद्यूतेनापहृतं दुर्योधनादिभिः। न केवलमेतावदेव, इन्द्रप्रस्थान्निष्कासिता वयं वनं प्रेषिताश्च। द्वादशवर्षाणि वस्तव्यमरण्ये। त्रयोदशेऽज्ञातवासैः स्थातव्यम्। ज्ञाते पुनर्दण्डावृत्तिः। कीदृशोऽस्माकमनागतसमयो बोभविता। दुस्तरे दुःखसागरे निमग्नान्न कश्चिदुद्धर्तुं करं गृह्णाति। वामो विधाता। नियतिरपि अतितरां दुःसहदुःखदानदक्षा। न जाने कदा को विपत्पर्वतपातो नः शिरसि भवेत्, इत्यनुतापं मा कार्षीः। हि यस्मात् पृत्सु प्रवर्तिष्यमाणेषु संग्रामेषु देवैरिन्द्राग्न्यादिभिरनुगृह्यमाणस्य ते तव अवयाः, अवयजति पृथक्करोति इतरेभ्यो भिनत्ति कोऽपि विशेषः। अग्निना अक्षय्यमहेषुधिदिव्यरथगाण्डीवधनूंषि प्रदत्तानि। वनवासव्याजेन युधि प्रसादितात् त्रिशूलपाणेः पाशुपतास्त्रं तपसैव परितुष्टात् तातात् सस्नेहं समाहूतो भवान् पञ्चवर्षाणि तत्पादमूलमुपासीनः प्रहारप्रतिसंहारकृत्स्नविधिसंयुक्तदिव्यास्त्रपञ्चदशकैः, अन्येभ्योऽपि वरुणयमकुबेरेभ्यो दण्ड-पाशान्तर्धान-प्रक्षेपणास्त्रं च लप्स्यते। इन्द्रेणैव गुरुदक्षिणां याचितोऽधि समुद्रं युधि व्यापादितनिवातकवचाद्यसुरगणः

अध्यात्मपक्ष में—संसार के संघर्षमय संग्राम में हमारा पराभव न हो। हमारे द्वारा स्तुति, पूजा आदि के द्वारा जो अर्चन किया जा रहा है, वह सब तुम्हारा ही हो रहा है। उससे प्रसन्न होकर जन्म-मरणरूपी संसार से हमारा उद्धार कर दो और अपने में हमें मिला लो।

किसी अन्य व्याख्याकार ने महीधरादि के भाष्यों से ही अर्थग्रहण कर अपने अभिप्राय के अनुसार उसे विकृत कर दिया है। अतः वह उचित नहीं है।

स्वर्गं प्रत्यावर्त्य हिरण्मयीं मालां देवदत्तं शङ्खं दुर्भेद्यकवचं हृष्टात् शक्रादवाप्स्यति। ततो लब्धविविधास्त्रं भवन्तं कोऽपि जेतुं न शक्ष्यते, का कथा कौरवाणां वराकाणाम्। तस्माद्वनवासोऽपि नाभिशापः, किन्तु वर एव। निखिलसपत्नविजयक्षमदिव्यशक्तिसम्पादनहेतुः दुर्दैवोपनतदुर्बुद्धिना दुर्योधनेन भवद्भ्यो वनवासं प्रयच्छता नूनं विहितः स्वपादे कुठाराघातः। उषित्वा वने न चेद्दिव्यानि देवानुग्रहसमासादितान्यस्त्राणि लभेथास्त्वं तदा कथं कथापथातीतपराक्रमान् भीष्मद्रोणकर्णप्रमुखान् जेतुं क्षमेथाः। अतो देवानुग्रहलक्षणो विशेषस्त्वयि वर्तते। अतोऽनागतकालोऽतीव शोभनः। शत्रुभिरपहृतं राज्यमनायासेन प्रत्यायास्यति……। किञ्च, मीढुषोऽभीष्टवर्षकस्य देवगणस्य यव्या यौति कुटुम्बिभ्यो वियुनक्तीति यवस्तपश्चर्या, तत्र भवा तत्साध्या महादेवेन्द्रादिसाक्षात्कृतिः, महश्चित् महती प्रसक्ता एव। तस्य देववर्गस्य हविष्मतो मरुतं महैश्वर्यलक्षणं गीः वेदवाक् वन्दते' इति, तदेतत् सर्वं रोचकं दयानन्दादिव्याख्यानादतिसुन्दरमपि कल्पनाबहुलमस्वाभाविकमेव ॥ ४६ ॥

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥ ४७ ॥

आग्नेय्यनुष्टुप्। 'अक्रन् कर्मेत्येनां वाचयति प्रतिनयन्' (का० श्रौ० ५।५।१२)। पत्नी ऋत्विजो ब्रवीति—हे सचाभुवः परस्परं यजमानेन तत्पत्न्या वा सचा सहावस्थिता ऋत्विजः कर्मकृतो वरुणप्रघासाख्य-कर्मकारिण ऋत्विजः, मयोभुवा मयः सुखं भवति यया सा मयोभूस्तया सुखोत्पादयित्र्या वाचा मन्त्रस्तुतिरूपया सह कर्म वरुणप्रघासाख्यं अक्रन् अकृतवन्तः। देवेभ्यो देवार्थं कर्म कृत्वा वरुणप्रघासाख्यं कर्मानुष्ठाय अस्तं गृहं प्रेत गच्छत। मय इति सुखनाम। सचेति सहार्थमव्ययम्। अस्तमिति गृहनाम (निघ० ३।४।५)। सचाभुवः पत्न्या यजमानेन च सह वर्तमानाः। अयमेव मन्त्रार्थ इति तित्तिरिराह—'अक्रन् कर्म कर्मकृत इत्याह। देवानृणं निरवदाय अनृणा गृहानुपप्रेतेति। वा वैतदाह' (तै० ब्रा० १।६।५।५) देवानुद्दिश्य कर्तव्यो यज्ञ ऋणं तन्निरवदाय निःशेषेण परिहृत्येति सायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—हे कर्मकृतः कर्माधिकारिणः! यूयं मयोभुवा सुखप्रसवित्र्या मन्त्रस्तुतिलक्षणया वाचा सह कर्म श्रौतस्मार्तलक्षणम् अक्रन् कृतवन्तः। सचाभुवः सहभवनशीलाः परस्परं यजमानेन पत्न्या च कर्मसु सहावस्थिताः। देवेभ्यः पूजायां बहुवचनम्, देवाय परमेश्वराय तत्समर्पणबुद्ध्या कर्मानुष्ठाय तत्प्रसादेन तद्धामलक्षणमस्तं गृहं प्रेत प्रगच्छत। वागादयो वा सम्बोध्यन्ते, तेषामेव कर्मकर्तृत्वात्। वाचा मन्त्ररूपया मयोभुवा सुखयित्र्या देवेभ्यः कर्म अक्रन् कृतवन्तः। ते च शरीरे सचा सुहृद्भावेन वर्तमानाः कर्म कृत्वा अस्तं भगवद्धामलक्षणं प्रेत। यत्तु आत्मरूपं अस्तं यातेति तन्न, वागादीनां कैवल्यमोक्षेऽनन्वितत्वात्। ब्रह्मेन्द्रादयो भगवन्तं श्रीरामं श्रीकृष्णं वा वैकुण्ठं नेतुं प्रार्थयन्ते। बहुवचनमादरार्थम्, अवतारानेकत्वाभिप्रायेण वा।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह भी असंगत ही है। किसी अन्य व्याख्याकार ने पाण्डवपरक व्याख्या की है, वह यद्यपि रोचक है और दयानन्द की व्याख्या से कहीं सुन्दर है, तथापि कल्पना का बाहुल्य है, जो अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—वरुणप्रघास कर्म करनेवाले ऋत्विजों ने सुखकारक मन्त्रात्मक स्तुति के द्वारा उस कर्म को किया है। यजमान और यजमानपत्नी सहित हे ऋत्विजों! तुम लोग देवताओं के निमित्त वरुणप्रघास कर्म का अनुष्ठान करके अपने घर जाओ। 'अक्रन् कर्म' इस मन्त्र को यजमान पत्नी से कहलावे ॥ ४७ ॥

हे भगवन्तः ! कर्म विश्वपालनलक्षणं कुर्वन्तीति कर्मकृतः, यद्वा दुष्टनिग्रह-साधुपरित्राण-धर्मसंस्थापनलक्षणं कर्म कुर्वन्तीति। देवेभ्यो देवानां हिताय अक्रन् कृतवन्तः। मयोभुवा सुखयित्र्या वाचा भक्ता आश्वासिता इति शेषः। देवेभ्यो द्योतनात्मकेभ्यो भक्तेभ्यो हिताय श्रवणाय वर्णनाय च दिव्यं कर्म कृत्वा अस्तं स्वभवनं सचाभुवा पार्षदैः भक्तैः प्रजाभिश्च सह वर्तन्त इति सचाभुवा भवन्तः स्वभक्तैः सार्धं वैकुण्ठं साकेतं गोलोकं वा प्रेत प्रगच्छत। साधारणस्य त्वेकस्यैव गतिर्भवति।

दयानन्दस्तु—'ये मयोभुवा वाचा सह सचाभुवः कर्मकृतः कर्माक्रंस्त एतत्कर्म कृत्वा देवेभ्योऽस्तं सुखमयं गृहं प्रेत प्राप्नुवन्ति। पदार्थव्याख्याने कर्म 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा० सू० १।४।४९) कर्तुर्यदीप्सिततममभीष्ट-योग्यं चेष्टामयमुत्क्षेपणादिकर्म....वाचा वेदवाण्या स्वकीयया वा' इत्याह, तदेतत्सर्वं प्रकरणविरुद्धम्। वरुणप्रघास-सम्बन्धी मन्त्रोऽयम्। तस्मान्नोत्क्षेपणादिलक्षणं कर्म, किन्तु कर्मसामान्यमत्र गृहीतम्। वाक् चात्र प्रकृतिविहितमन्त्र-लक्षणा स्तुतिरेव।

शतपथविरुद्धं चैतत्। तथाहि—'अथैनां वाचयति। अक्रन् कर्म कर्मकृत इत्यक्रन् हि कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवेति सह हि वाचाऽक्रन् देवेभ्यः कर्म कृत्वेति देवेभ्यो हि कर्म कृत्वाऽस्तं प्रेत सचाभुव इत्यन्यतो होढया सह भवन्ति तस्मादाह सचाभुव इत्यस्तं प्रेतेति जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी तामेतत्प्राचीं यज्ञं प्रासीषदद् गृहा वा अस्तं गृहाः प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैनामेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति' (श० २।५।२।२९)। पत्न्या वाचनं विधत्ते—अथैनामिति। वाचनीयं मन्त्रं पदशोऽनूद्य व्याचष्टे—कर्म कुर्वन्तीति कर्मकृतः। ये यजमानस्या-मात्यरूपा ऋत्विजस्ते हीदानीं करम्भपात्रहोमरूपं कर्म अक्रन् अकार्षुः। द्वितीयपादस्यार्थः प्रसिद्ध इत्याह—सह हि मयोभुवो मयसः सुखस्य भावयित्र्या मन्त्ररूपया वाचा सह एतत् कर्म अक्रन्। परस्परसहयोगेन यज्ञकर्मकर्तार ऋत्विजो यूयं वरुणप्रघासाख्यं करम्भपात्रहोमाख्यं कर्म देवार्थं कृत्वा अस्तं यजमानस्य गृहान् सचाभुवो यजमानपत्न्या सह वर्तमानाः प्रेत आगच्छत। सचाभुव इत्येतद् व्याचष्टे—इत्यन्यत इति। अन्यस्माद् देशात् पत्न्यासनलक्षणाद् ऊढया आहवनीयसमीपं प्रापितया पत्न्या सह खल्विदानीं वर्तन्ते, तस्मात् सचाभुव इत्येतद् यथार्थम्। जघनार्धो वा एतद्यज्ञस्य यत् पत्नी। एतत् एतर्हि प्राचीं प्रागगच्छन्तीं पूर्वभागसम्बन्धिनीं यज्ञं प्रासीषदत् प्रापीपत् प्रतिप्रस्थाता। गृहा वा अस्तमिति। सर्वाणि वस्तून्यत्र क्षिप्यन्त इति अस्तम्। गृहा प्रतिष्ठा। एषु प्रतितिष्ठति। तस्मात्तत्र ये प्रतितिष्ठन्ति तत्प्रतिष्ठायामेव प्रतितिष्ठन्ति।

अन्यस्तु—'कर्मकृतो वाचा परस्परसुखशान्तिप्रदानं कुर्वन्तः कर्म कुर्युः। हे कर्मचारिपुरुषाः ! विदुषां राज्ञां धनदातॄणां पूज्यपुरुषाणां वा कृते कार्याणि सेवां वा कृत्वा परस्परसाहाय्येन समर्थाः सुप्रसन्ना

भाष्यसार—'मय' शब्द 'सुख' की संज्ञा है। 'सच' सहार्थक अव्यय है। 'अस्तम्' शब्द 'गृह' वाचक है। देवों के उद्देश्य से किया गया यज्ञ 'देवऋण' का अपाकरण करता है।

अध्यात्मपक्ष में—कर्म के अनुष्ठाताओं से कहा जा रहा है कि भगवत्समर्पण बुद्धि से कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे भगवत्प्रसाद प्राप्त कर तुम वैकुण्ठादि धाम को जा सको। वाणी को भी सम्बोधित किया गया है तथा ब्रह्मादि देवता भगवान् श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण से वैकुण्ठ ले चलने की प्रार्थना कर रहे हैं। इत्यादि अनेक अर्थ भाष्यकार ने किये हैं।

स्वामी दयानन्द ने प्रकरण के विरुद्ध ही व्याख्या की है।

गृहानागच्छत' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, 'मयोभुवा वाचा' इत्यंशस्य सुखयित्र्या वाचेत्यर्थः। परन्तु परस्परं सुखशान्तिप्रदानं कुर्वन्तः कर्म कुर्वन्त्विति कस्य पदस्यार्थः? सचेति सहार्थकम्। सचाभुव इत्यस्य सहभाविन इत्यर्थस्य सत्त्वेऽपि सामर्थ्यवान् भूत्वा प्रसन्ना गच्छत इत्ययमप्यर्थो निर्मूल एव ॥ ४७ ॥

अव॑भृथ निचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचु॒म्पु॒णः। अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑त॒मेनो॑ऽयासिष॒मव॒ मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतं पु॒रु॒राव्णो॑ देव रि॒षस्पा॑हि ॥ ४८ ॥

यज्ञदैवतं यजुः। 'मज्जयत्यवभृथेति' (का० श्रौ० ५।५।२९)। वरुणप्रघासकर्मान्ते तदङ्गभूतमवभृथाख्यं कर्म जलसमीपे क्रियते। तत्रानेन मन्त्रेण दम्पतीभ्यां स्नानं कार्यम्। अवाचीनानि पात्राणि भ्रियन्ते जलमध्ये क्रियन्ते यस्मिन् यज्ञविशेषे सोऽवभृथ इति सायणः। हे अवभृथ यज्ञ! त्वं निचुम्पुण नितरां मन्दं गच्छ। 'चुप मन्दायां गतौ' उणप्रत्ययो मुमागमश्च। निचेरुरसि नितरां चरतीत्येवं शीलोऽत्यन्तशीघ्रगमनशीलोऽसि तथाप्यत्र निचुम्पुणो नितरां मन्दगमनशीलो भव। यद्वा—हे निचुम्पुण इति सम्बोधनम्, नितरां मन्दं चोपति गच्छतीति निचुम्पुणस्तत्सम्बुद्धौ। यद्वा नीचैरुपांशु क्रणन्ति चलन्ति ऋत्विजोऽस्मिन्निति निचुम्पुणः, 'उपांशु अवभृथेष्ट्या चरन्ति' इति श्रुतेः। 'वीण-स्थूणव्रण-भ्रूण' इत्यादिना नीचैरित्युपपदात् क्रणतेः णक्प्रत्ययान्तो निपातः। धातोः पुंभाव उपपदस्य निचुम्भावश्च निपातितः। अवभृथोऽपि निचुम्पुण उच्यते। नीचैरस्मिन् क्रणन्ति नीचैर्दधतीति वा। 'अवभृथ निचुम्पुण इत्यपि निगमो भवति' (नि० ५।१८)। हे अवभृथदेवते वरुण! नीचक्रणनो भूत्वा गृहे गृहे यज्ञेऽवतिष्ठसे। मन्दगमनस्य किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते– देवैर्विषयावद्योतनस्वभावैरिन्द्रियैर्देवकृतं देवेषु हविःस्वामिषु कृतमेनः पापं तदवयासिषम् अस्मिन् जलेऽहमवनीतवानस्मि। तथा अमात्यैरस्मत्सहायभूतैर्ऋत्विग्भिर्मर्त्यकृतं मर्त्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञारूपं यदेनोऽस्ति तदप्यहमवासिषमित्यनुवर्तते। इदमस्माभिः परित्यक्तमेनो यथा त्वां न प्राप्नोति तथा हे अवभृथ!

किसी अन्य व्यक्ति ने कर्मचारी पुरुषपरक व्याख्या की है, वह भी अविचारितरमणीय है। मन्त्रगत शब्दों के स्वकल्पित नवीन अर्थ कर दिये हैं, जो निर्मूल हैं। अतः ऐसी व्याख्या को उपेक्षणीय ही समझना चाहिये ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—**हे अवभृथ यज्ञ! (इस यज्ञ में वरुणप्रघास कर्म के अन्त में यज्ञपात्रों को ओंधा करके जल में डुबाया जाता है, इसलिये इसे अवभृथ कहते हैं। यह अवभृथ संज्ञक कर्म, वरुणप्रघास कर्म का अंगभूत है। इस यज्ञ के कर्म मन्द स्वर से ऋत्विजों के द्वारा किये जाते हैं, इसलिये इसे 'निचुम्पुण' कहते हैं। 'चुप् मन्दायां गतौ' धातु है। नितरां चोपति मन्दं गच्छति निचुम्पुणः।) यद्यपि तुम अत्यधिक वेगयुक्त गमन करते हो, तथापि अपनी गति को मन्द कर लेना, अर्थात् मन्दगतिवाले हो जाओ, क्योंकि हविर्भागों के स्वामी जो देवता हैं, उनके विषय में हमारी इन्द्रियों के द्वारा किये गये पापों को हम जल में डुबा रहे हैं। उसी तरह हमारी सहायता करनेवाले ऋत्विजों के द्वारा यज्ञदर्शनार्थ आये हुए लोगों का अपमान कर जो पाप किया है, उसे भी मैं जल में डुबा रहा हूँ। हमारे द्वारा त्यागा हुआ यह पाप तुम्हें व्याप्त न कर पाये, तदर्थ तुम मन्दगतिशील हो जाओ और हे अवभृथ यज्ञ! तुम्हारे प्रसाद से हमारा विरुद्ध फलदायी वध न हो, अर्थात् हमें विरुद्ध फल देनेवाला पाप न लगे। अवभृथ कर्म में 'अवभृथ०' इस मन्त्र से यजमान अपनी पत्नी सहित जल में स्नान करे ॥ ४८ ॥**

भाष्यसार—हे अवभृथाख्य यज्ञ! संसार-बन्धन से हमारी रक्षा करो।

मन्दं गच्छ। हे देव अवभृथाख्य यज्ञ ! रिषो वधात् पाहि। रिषतेर्हिंसार्थस्य क्विबन्तस्य पञ्चम्यन्तम्। कथम्भूताद् रिषः ? पुरुराव्णः पुरु बहु विरुद्धं फलं राति ददातीति पुरुरावा, तस्मात् पुरुराव्णः। 'रा दाने'। वधात् पाहि पालय। त्वप्रसादाद्विरुद्धफलदायिपापकर्मरूपो वधोऽस्माकं मा भूदित्यर्थः। यद्वा रुवन्ति शब्दं कुर्वन्ति प्राणिनो यस्मिन् संसार्यमाणाः स पुरुरावा संसारः, तस्मात् संसारबन्धनरूपाद् वधाद् बन्धनाद्वा अस्मान् पाहि रक्ष।

अध्यात्मपक्षे—हे निचुम्पुण समुद्र! 'समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते निचमनेन पूर्यते' (नि० ५।१८)। निचमनेन उदकेन लक्षणया। परमानन्दसमुद्र परमेश्वर ! अवभृथ अनेकशताश्वमेधावभृथादपि प्रणतानां पावन ! 'एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः। दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥' (म० भा० शा० ४७।९१) इति श्रीमन्महाभारतवचनात्। अवाचीनान् पतितान् बिभर्ति धारयति पोषयति चेत्यवभृथः पतितपावनः, तत्सम्बुद्धौ। त्वं बाललीलायां निचेरुर्नितरां चरणस्वभावश्चपलोऽपि निचुम्पुणो योगेश्वररूपेण नितरां मन्दगतिः निश्चलोऽसि, 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥' (कठो० २।३।१०) इति श्रुतेः। यद्वा सोपाधिकरूपेण निचेरुरसि, निरुपाधिकरूपेणाचलोऽसि, 'तदेजति तन्नैजति' (वा० सं० ४०।५) इति श्रुतेः। देवैर्ज्ञानेन्द्रियैः सह देवकृतमेनः पापम् अवायासिषं त्वदीयज्ञानामृतावगाहनेन कथामृताब्धिपरिवर्तन मर्त्यैर्देवैः सह मर्त्यकृतं देहकृतमेनः पापमवायासिषम्। हे देव स्वप्रकाश जगदुद्धरणक्रीडापरायण ! पुरुराव्णो रिष आत्महननलक्षणात् पातकाद् ब्रह्मात्मनिष्ठासम्पादनेन पाहि।

अपरस्तु—'हे अवभृथ ! नीचैरुच्चैश्च भरणपोषणकारिन् हे मन्दगते ! नीचैः स्वरेण सभ्यतापूर्वकवदनशील ज्ञानिपुरुष' इत्यादि। दयानन्दस्तु—'अवभृथ विद्याधर्मानुष्ठानेन शुद्ध निचुम्पुण धैर्येण शब्दविद्याध्यापक' इत्यादि। एतदुभयमपि व्याख्यानं कात्यायनसूत्रश्रुत्यादिविरुद्धमेव, तत्रास्य मन्त्रस्य अवभृथस्नाने विनियुक्तत्वात्।

तथाहि—'वरुणप्रघासैर्वै प्रजापतिः प्रजा वरुणपाशात् प्रामुञ्चत्ता अस्यानमीवा अकिल्बिषाः प्रजाः प्राजायन्ताथैतैः साकमेधैरेतैर्वै देवा वृत्रमघ्नन्नेतैर्वेव व्यजयन्त। येयमेषां विजितिस्तां तथो एवैष एतैः पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हन्ति। तथो एव विजयते। तस्माद्वा एष एतैश्चतुर्थे मासि यजते स वै द्व्यहमनूचीनाहं यजते' (श० २।५।३।१)। प्रजापतिर्वरुणप्रघासैः प्रजा वरुणपाशादमुञ्चत् ताश्चानमीवा अकिल्विषाश्च प्राजायन्त। एतैर्विधित्सितैः साकमेधैः प्रजापतिः प्रजा विजितपापा अकरोत्। देवाः साकमेधैर्वृत्रमघ्नन्। एतैरेव व्यजयन्। एषां देवानां येयं वृत्रहननकर्मणा विजितिः प्रसिद्धा, तां विजितिमेतैरेवाप्नुवन्। एष यजमान एतैरेव पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति तथो एव विजयते। तस्मादेतैश्चतुर्थे मासि यजते। अनीकवत्यादीनां साकमेधगतानामिष्टीनां बाहुल्यादेतैरिति बहुवचनम्। द्वयोरह्नोः समाहारो द्व्यहम्। अनु सम्यगञ्चतीति अन्वक्। अन्वगेवानूचीनम्। अनूचीने नैरन्तर्येण वर्तमानमहोऽनूचीनाहं यजते दिनद्वयं यावन्नैरन्तर्येण साकमेधैर्यजते ॥ ४८ ॥

अध्यात्मपक्ष में—हे परमानन्दसमुद्र परमेश्वर ! हमें आत्महनन पातक से बचाकर ब्रह्मात्मनिष्ठा का सम्पादन कराकर हमारी रक्षा करो।

स्वामी दयानन्द तथा अन्य किसी और का भी व्याख्यान दोनों ही सूत्र और शतपथ के विरुद्ध हैं, अतः त्याज्य हैं ॥ ४८ ॥

पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत । वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो ॥ ४९ ॥

द्वे ऐन्द्र्यावनुष्टुभौ । 'स्थाल्या दर्व्यादत्ते पूर्णा दर्वीति' (का० श्रौ० ५।६।३०) । चातुर्मास्यस्य पर्वविशेषे साकमेधे किञ्चित् कर्मोच्यते । तत्र प्रथमयाऽनुष्टुभाज्यस्थालीत ओदनग्रहणं करोति, द्वितीयया तं जुहोति । यजमानोऽध्वर्युर्वा वदति—हे दर्वि ! अन्नप्रदानसाधनभूते काष्ठनिर्मितपात्रविशेषरूपे ! त्वं पूर्णा स्थाल्याः सकाशादन्नं गृहीत्वा पूर्णत्वादेव परा उत्कृष्टा सती पत इन्द्रं प्रति गच्छ । सुपूर्णा कर्मफलेन सुष्ठु पूर्णा सती पुनरापत भूयोऽस्मान् प्रत्यागच्छ । एवं दर्वीमुक्त्वा इन्द्रमाह—हे शतक्रतो ! शतमनन्ताः क्रतवो यदुद्देश्येन प्रवर्तन्ते, अर्थाद् बहुकर्मन् इन्द्र ! त्वं चाहं चोभौ वस्नेव मूल्येनेव, तृतीयायाः पूर्वसवर्णः । वस्नशब्दो मूल्यवचनः । इषमभीष्टहवीरूपमन्नमूर्जं हविर्दानफलरूपं रसविशेषं परस्परद्रव्यविनिमयरूपं विक्रीणावहै विक्रयं करवावहै । तुभ्यमहं हविर्ददामि त्वं मह्यं फलं देहि ।

अध्यात्मपक्षे—हे दर्वि बुद्धिरूपे ! दृश्यरूपेण पूर्णानुरागरूपेण वा हविषा पूर्णा सती स्वप्रकाशपरमात्मरूपं परमात्मानं परापत प्रतिगच्छ, ततो ब्रह्मात्मभावेन तत्कृपाप्रसादरूपेण वा सुष्ठु पूर्णा सती पुनरापत । हे शतक्रतो सृष्ट्यादिशतलोकोत्तरालौकिककर्मकृत् ! वस्नेव मूल्येनेव आवामिषमूर्जं च विक्रीणावहै । यथा कश्चिद्वणिग् वस्तुविनिमयेन पण्यं ददात्येवमावां विक्रीणावहै । अहं तुभ्यं दृश्यमयं विश्वं हविः समर्पयामि, त्वं च मह्यं स्वस्वरूपानन्दमनुग्रहप्रसादं वा प्रयच्छ ।

दयानन्दस्तु—'या दर्वी परापत ऊर्ध्वं द्रव्यं गमयति याऽऽहुतिराकाशं गत्वा वृष्ट्या पूर्णा भूत्वा पुनरापतति, हे शतक्रतो ! तव कृपया आवामृत्विग्यज्ञपती वस्नेवेषमूर्जं च विक्रीणावहै व्यवहारयोग्यानि वस्तूनि दद्याव गृह्णीयाव' इति, तदपि न संगतम्, संबोध्येनैव विक्रीणनस्य न्यायप्राप्तत्वात् तव कृपयेत्यध्याहारस्य निर्मूलत्वात्, किं देयं किं ग्राह्यमित्यस्यानुक्तत्वाच्च ।

शतपथे तु—'अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि·······' (श० २।५।३।१५) इत्यादिना स्विष्टकृद्यागेडोपह्वान-समनन्तरं यत्प्राशनं तत्र गृह्याणां पुत्रपौत्रादीनामृत्विजामन्येषां च ब्राह्मणानां समावेश उक्तः । तत्र कुम्भीनिधानम्—'अथैतामनिरशितां कुम्भीमपिधाय निदधाति पूर्णदर्वाय मातृभिर्वत्सान् समवार्जन्ति' (श० २।५।३।१६) । निःशेषेणाशिता निरशिता तद्विपरीतमनिरशिता तां शेषसहितां पात्रान्तरेणापिधाय पूर्णदर्वाय पूर्णा दर्वी यस्मिन् कर्मणि तत्पूर्णदर्वं तस्मै कर्मणे तदर्थं स्थापयेत् । अस्यां रात्रौ वत्सानां मातृभिः सहवासं विधत्ते—मातृभिरिति । तेन वत्ससंगमेन पशवोऽपि मेधमात्मीयं सारं दधते । अग्निहोत्रार्थमपि तस्यां रात्रौ पयो न दोग्धव्यमिति द्रव्यान्तरं विधत्ते—तत्रैव यवाग्वैतां रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति । एवं समेषां वत्सानां मातृसमावर्जनप्राप्तौ 'अर्ज गतिस्थानार्जनेषु' पितृयज्ञार्थं दोह्याया निवान्याया गोर्वत्सस्य बन्धनं कर्तव्यमित्यभिप्रेत्याह—'निवान्यां

मन्त्रार्थ—अन्नदान की साधनभूत हे काष्ठनिर्मित दर्वि ! तुम स्थाली में से अन्न को लेकर पूर्ण हो जाओ । पूर्ण हुई तुमको उठाने पर तुम इन्द्र के समीप जाओ । वहाँ कर्मफल से पूर्ण होकर पुनः तुम हमारे समीप आओ । हे इन्द्र ! तुम और मैं दोनों परस्पर मूल्य देकर एक-दूसरे से हविरूप अन्न और उस हविर्दान के फलरूप रस का क्रय करेंगे, यानी हे इन्द्र ! मैं तुम्हें हविर्दान करता हूँ और तू मुझे फल दे । इस प्रकार हम दोनों परस्पर लेन-देन करें । 'पूर्णा दर्वि' इस मन्त्र से दर्वी (करछी) के द्वारा स्थाली में से ओदन का ग्रहण करे । यह कर्म 'साकमेध' संज्ञक तृतीय पर्व का है ॥ ४९ ॥

प्रातर्दुहन्ति पितृयज्ञाय' (श० २।५।३।१६)। स्वयं नष्टवत्सा अन्यदीयेन वत्सेन या गौर्दुह्यते सा निवान्या। तां प्रातः पितृयज्ञार्थं यतो दुहन्ति तस्मात्तद्वत्सस्य बन्धनं कर्तव्यम्। 'मातृभिर्वत्सान् संसृज्य निवान्यावत्सं बध्नाति' (का० श्रौ० ५।६।२८)। 'अथ प्रातर्हुते वाऽहुते वा। यतरथा कामयेत सोऽस्या अनिरशितायै कुम्भ्यै दर्व्योपहन्ति पूर्णा दर्वि परापत ......शतक्रतविति यथा पुरोऽनुवाक्यैवमेषैतयैवैनमेतस्मै भागाय ह्वयति' (श० २।५।३।१७)। पूर्णदर्व्याख्यस्य कर्मणः कालं विधत्ते–अथेति। प्रातः अग्निहोत्रे हुते वा अहुते वा अनयोः पक्षयोः यतरथा येन प्रकारेण कामयेत तथैवानुष्ठेयम्। होमाय समन्त्रकहविर्ग्रहणं विधत्ते—सोऽस्या इति। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। सोखाया गृहमेधीयकुम्भ्याः सकाशात् पूर्णा दर्वि इति मन्त्रेण दर्व्या आघातेन उपहत्य निगृह्णीयात्। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। एतन्मन्त्रोच्चारणं प्रशंसति—एनमिति। एनमिन्द्रम्, एतस्मै पूर्णदर्व्याख्याय भागाय पुरोवाक्यास्थानीयया पुरावक्तव्यया एतया आह्वयति। श्रुतौ एनमित्यनेन शतक्रतुरेवोक्तः। वस्तुतस्तु याज्ञिकसमयानभिज्ञतया एष यत्किञ्चित् प्रलपति।

यत्तु—दर्वि भोजनपरिवेषणसाधिके! पूर्णा स्थालीं प्रवेश्य भृता भोक्तृभ्यः परापत प्रत्यावर्तस्व। पुनर्वारं वारं वीप्सार्थगर्भितः पुनःशब्दः। सुपूर्णा अतिशयेन शोभनान्नादिना भृता आपत आगच्छ। धौम्योपदिष्टयुधिष्ठिरानुष्ठितसूर्याराधनेन सूर्याल्लब्धा अक्षय्यभोजनस्थाली यावद् द्रौपदी न भुङ्क्ते कृत्स्नस्यापि विश्वस्य परितर्पणक्षमा। तस्यां दर्व्यां सहस्रशोऽप्योदनाद्यादाने सा न क्षीयते स्म। स्थाली वस्ना वस्नेन मूल्येनेव विक्रीडावहै विक्रीडामहे वयं सपत्नीकाः पाण्डुतनयाः। शतक्रतो हे इन्द्र! इषमन्नमूर्जं बलं दध्यादिरसं विशेषेण सम्पादयामः। विपूर्वकः क्रीडतिः सम्पादनकर्मा। यथा मूल्येन किञ्चिदात्मसात्क्रियते तथा भास्कराराधनेन हीयमक्षय्यस्थाली लब्धेति भावः' इति, तदसङ्गतमेव, अक्षरार्थाननुगमात्। 'परापत' 'आपत' शब्दयोर्गमनप्रत्यागमनरूपावर्थावपहाय परापतेत्यस्य प्रत्यावर्तस्वेति, आपतेत्यस्य आगच्छेत्यर्थकरणस्यासङ्गतेः, उभयोरैकार्थ्यापत्तेः। एवं विक्रीणावहै इत्यस्यापि विक्रीडामहै इति वचनव्यत्ययः प्रकृतिव्यत्ययश्च निष्प्रमाणक एव। सम्बोध्यसम्बोधपेक्षया 'विक्रीडावहै' इति द्विवचनमेव स्वाभाविकम्। तयोश्चादानप्रत्यादानाभ्यामेव वस्तुविनिमयरूपं विक्रीडनं सङ्गच्छते, विपूर्वस्य क्रीडतेः सम्पादनार्थतायां प्रमाणानुपलब्धेश्च। किञ्चोभयोः साकाङ्क्षत्वेन वस्तुविनिमयरूपो व्यापारो भववि। उभाभ्यां च स्वस्वलाभोऽभिप्रेयते। हविर्भुजो देवा यष्टारश्च कथञ्चित्तत्र युज्यन्ते। सूर्यविष्ण्वादयस्त्वीश्वरा आप्तकामाः पूर्णकामाः स्वल्पेनाप्याराधनेन दयापरवशा उपासकहितकामनया बहु प्रयच्छन्तीति न ते तत्रोपमानमर्हन्ति॥ ४९॥

भाष्यसार—भाष्य का अर्थ स्पष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में—मन्त्र को बुद्धिपरक लगाकर बुद्धि को सम्बोधित किया गया है कि तुम अनुराग से पूर्ण होकर उस स्वप्रकाश परमात्मा के पास जाओ और ब्रह्मात्मभाव से पूर्ण होकर वापस आओ। इस प्रकार अन्न और रस का हम लेन-देन करें।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में कोई संगति ही नहीं है, याज्ञिक परम्परा तथा उनके सिद्धान्तों का ज्ञान न रहने से इस प्रकार असंगत व्याख्या होना स्वाभाविक ही है।

किसी अन्य व्यक्ति ने इस मन्त्र को पाण्डवों की कथापरक बताया है, किन्तु वह भी असंगत ही है, क्योंकि इसमें मन्त्राक्षरों का अनुगमन नहीं है॥ ४९॥

दे॒हि मे॒ ददा॑मि ते॒ नि मे॒ धे॑हि॒ नि ते॑ दधे।
नि॒हारं॑ च॒ हरा॑सि मे नि॒हारं॒ निह॑राणि ते॒ स्वाहा॑ ॥ ५० ॥

'देहि म इति जुहोति' (का० श्रौ० ५।६।३४)। इन्द्रो वक्ति—हे यजमान त्वं मह्यमिन्द्राय देहि हविः प्रयच्छ। ते तुभ्यं ददामि अपेक्षितं फलं पश्चात् प्रयच्छामि। पुनरपि द्वितीयपादेनादरातिशयार्थमुच्यते-मे निधेहि, प्रथमं त्वं हविर्नितरां सम्पादय। अपेक्षितं फलं ते तुभ्यं यजमानाय निदधे पश्चान्नितरां सम्पादयामि। एवमिन्द्रवाक्यं श्रुत्वा यजमान आह— नितरां ह्रियते निहारो मूल्येन क्रेतव्यपदार्थोऽर्थात् क्रेतव्यवस्तुस्वरूपं फलं मे मह्यं यजमानाय हरासि प्रयच्छ। हरतेः 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागमे हरासीति रूपम्। उत्तरो निहारशब्दो मूल्यवाची। तत्रापि नितरां ह्रियत इत्येव व्युत्पत्तिः। निहारं मूल्यभूतं हविस्तुभ्यमिन्द्राय निहराणि नितरां प्रयच्छामि। स्वाहेति हविर्दानात्मकः। पूर्वार्धे पादद्वयेनेन्द्रेणोक्तमर्थमुत्तरार्धेन यजमानः सम्यगङ्गीकरोति। हे इन्द्र! वस्ना मूल्येनेव आवामिषमिष्यमाणमन्नमूर्जं बलकरं रसं च विक्रीणावहै। त्वया दत्तं फलं स्वीकृत्य हविर्दास्यामि त्वयि, मया दत्तं हविर्गृहीत्वा मह्यं फलं दास्यसि त्वम्। एवं व्यतिहारेण कर्म क्रीणावहा इति।

यत्तु कश्चित्—'निहारं देयमभीष्टफलं निहृत्य अवचित्यावचित्य। निपूर्वकाद् हरतेर्णमुलन्तस्येदं रूपम्। नितरां ह्रियत इति निहारो घञन्तः क्रेतव्यपदार्थपर्याय इतीवाभिमानो महीधरः स्वरदोषादमान्यः…… इन्द्राय निहारं निहृत्य चित्वा चित्वा यन्मत्समीपे सर्वोत्तमं देयं द्रव्यं तद् निहराणि निःशेषेण नितरां समर्पयामि' इति, तदसङ्गतमेव, वैदिके कर्मणि देयद्रव्यस्य तदीयमात्रायाश्च नियतत्वात्। नहि यजमानगृहे यद्यदुत्तमं देयद्रव्यमस्ति तन्निःशेषेण दीयते, प्रवृत्तिनिवृत्त्यादेर्वेदवचनायत्तत्वात्। अत एव नातिथ्यादिपूजनवद् वैदिककर्मणा देवतापूजनम्। अतिथिर्यद् भोजनादिकं कामयते यावच्च कामयते तद्दातव्यं भवति। इह तु यद् यावच्च दातव्यत्वेन विहितं तत्तावच्च दीयते। विहितत्वादेव स्वरोः काष्ठविशेषस्यापि होमो भवति। एवं फलमपि नियतमेव। नह्यवचित्यावचित्य यद्यद्यजमानाभीष्टं भवति तत्तद्दीयते। तथात्वे एकेनैव कर्मणा सर्वाभीष्टसिद्धौ फलभेदेन कर्मभेदानुपपत्तेः। अत एव न केवलो महीधरः, किन्तु सायणाचार्योऽपि काण्वसंहितायां तथैव व्याख्याति। स्वरदोषस्तु व्यत्ययेनाप्यपाकर्तुं शक्यः।

दयानन्दस्तु—'त्वं यथा स्वाहा सत्या वागाहेत्येवं मे मह्यमिदं देहि, अहं च ते तुभ्यमिदं ददामि, त्वं मे ममेदं वस्तु निधेहि, अहं च ते तवेदं निदधे। त्वं मे मह्यं निहारं हरासि, अहं ते तुभ्यं निहारं निहराणि। सर्वैर्मनुष्यैर्दानग्रहणनिःक्षेपोपनिध्यादिव्यवहाराः सत्यत्वेनैव कार्याः …' इत्यादि, तदसत्। 'देहि मे ददामि ते' इति दानप्रतिबोधेऽपि सर्वव्यवहाराणां सत्यत्वेन कर्तव्यतानवबोधात्, स्वाहाशब्दस्य नियतार्थातिरिक्तसत्यवागर्थत्वासिद्धेः।

'अथर्षभमाह्वयितवै ब्रूयात्। स यदि रुयात् स वषट्कार इत्यु हैक आहुस्तस्मिन् वषट्कारे जुहुयादित्यथो इन्द्रमेवैतत् स्वेन रूपेण ह्वयति वृत्रस्य वधायैतद्वा इन्द्रस्य रूपं यदृषभस्तत्स्वेनैवैनमेतद्रूपेण ह्वयति वृत्रस्य

मन्त्रार्थ—हे यजमान! तू मेरे लिये प्रथमतः हवि दे, मैं इन्द्र तुम्हें अपेक्षित पुष्कल फल दूँगा। इन्द्र के इस वचन को सुनकर यजमान कहता है कि हे इन्द्र! मूल्य देकर क्रय करने योग्य फल तू मुझे दे और मूल्यभूत हविर्द्रव्य मैं तुमको देता हूँ। यह हवि सुहुत बनी रहे। 'देहि मे' इस मन्त्र से उस ओदन का होम करे ॥ ५० ॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ सरल है।

वधाय स यदि रुयादा म इन्द्रो यज्ञमगन्त्सेन्द्रो मे यज्ञ इति ह विद्याद्यद्यु न रुयाद् ब्राह्मण एव दक्षिणत आसीनो ब्रूयाज्जुहुधीति सैवैन्द्री वाक्' (श० २।५।३।१८) । ऋषभध्वनौ होतव्यमिति विधित्सुराह—अथेति । आह्वयितवै आह्वातुं स यदि आहूत ऋषभो रुयात् स वषट्कारः, तस्मिन् वषट्कारे जुहुयादित्येक आहुः । तथा चोक्तं तैत्तिरीयके—'ऋषभमाह्वयति । वषट्कार एवास्य स' इति (तै० ब्रा० १।६।७।४) । तस्मिन् वषट्कारे जुहुयादित्येकं मतम् । पक्षान्तरमाह—अथो इति । योऽयमृषभस्य ध्वनिर्नासौ वषट्कारः, किन्तु इन्द्रस्य स्वभूतेन ऋषभाख्येन स्वरूपेण तमेव इन्द्रम् एतेन शब्देन ह्वयति । किमर्थम् ? वृत्रस्य वधाय वृत्रमसुरं हन्तुम् । एतदेव विवृणोति—एतद्वा । अभिभवनशीलो वृषभ इन्द्रस्य रूपम्, नहीन्द्रादन्यस्याभिभवनसामर्थ्यमस्तीत्यभिप्रायः । यदि स ऋषभः शब्दं कुर्यात् तदा आ म इन्द्रो यज्ञमगन् आगमत् । तथा च मदीयो यज्ञ इन्द्रसहितोऽभवदिति विद्यात् । यज्ञे ऋषभस्य शब्दाकरणेऽनुष्ठानप्रकारमाह—यद्यु न रुयादिति । यदि शब्दं न कुर्यात्तदा दक्षिणत उपविष्टो ब्राह्मणो ब्रह्मैव जुहुधीत्यध्वर्युं प्रति ब्रूयात् । सैवैन्द्री इन्द्राह्वानार्था वाक् । 'स जुहोति देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे । निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहेति ॥' (श० २।५।३।१९) । दर्व्या गृहीतं हविः 'देहि मे' इत्यादिमन्त्रेण तयैव दर्व्या आहवनीये जुहोति । 'प्रातर्हुत्वाऽहुत्वा वा स्थाल्या दर्व्यादत्ते पूर्णा दर्वीति । ऋषभमाह्वयितवै ब्रूयात् । रुते जुहोति । अव्याहरति ब्रह्मा जुहुधीत्याह । देहि म इति जुहोति' (का० श्रौ० ५।६।३०-३४) । पूर्णिमायां प्रातरग्निहोत्रं हुत्वाऽहुत्वा वा सशेषाया गृहमेधीयचरुस्थाल्याः सकाशात् पूर्णा दर्वीति मन्त्रेण दर्व्याम् ओदनं गृह्णीयात् । अत्र दर्वीहोमे होममात्रं भवति न यजतयः । 'परतन्त्रोत्पत्तयो जुहोतिमात्राः' (का० श्रौ० ६।१०।२५) । परतन्त्रे उत्पत्तिर्येषां ते परतन्त्रोत्पत्तयो जुहोतयः । ते जुहोतिमात्रा होममात्रावसानाः । अर्थाद् ये होमा अन्यस्य कर्मणः प्रयोगमध्ये विहितास्तेषां यानि होमस्वरूप-निष्पादकद्रव्यनिष्पादकानि सन्निपत्योपकारकाण्यङ्गानि, तादृशाङ्गानुष्ठानपूर्वकं होमाः कर्तव्याः, न तु तदङ्गत्वेन प्रयाजानुयाजाद्यारादुपकारकाङ्गकलापानुष्ठानम् । यथा वाजपेये सर्वान्नहोमो विहितः, तादृशान्ननिष्पादकानि यान्यवहननपाकादीनि सन्निपत्योपकारकाणि तदनुष्ठानपूर्वकहोमः कार्यः । ऋषभो यथा शब्दं करोति तथाह्वाने यत्नं कुर्याद् इति प्रैषार्थः । ऋषभे कृतशब्दे दर्व्या जुहुयात् । ऋषभे शब्दमकुर्वति ब्रह्मा जुहुधीति ब्रूयात् । देहि म इति मन्त्रेण जुहुयादिति सूत्रार्थः ।

अध्यात्मपक्षे सर्वेश्वरो वेदमुखेन जीवात्मानं प्राह—हे प्रत्यगात्मन् ! त्वं मे मह्यं शोधितत्वंपदार्थं त्वंपदलक्ष्यं देहि समर्पय त्वंपदलक्ष्यस्य तत्पदलक्ष्यार्थेनाभेदमनुसन्धेहि । अहमपि ते तुभ्यं स्वात्मस्वरूपं ददामि त्वंपदलक्ष्यार्थेनात्मनोऽभेदं पश्यामि । ते तत्पदार्थस्य प्रत्यक्चैतन्याभेदेन स्वप्रकाशत्वं परमानन्दरूपत्वं व्यज्यते । त्वंपदार्थे च पूर्णत्वमपरिच्छिन्नत्वं च व्यज्यते । तदन्तरा तु तत्पदार्थः परोक्ष एवापरमानन्दरूप इव भवति । त्वंपदार्थस्तु अपरोक्षोऽपि परमानन्दरूपोऽपि परिच्छिन्न इवापूर्ण इव च भवति । तदेवादरातिशयार्थं द्वितीय-पादेनापि वदति—मह्यं निधेहीति । नितरां सर्वस्वं समर्पय । अहमपि तुभ्यं स्वात्मानं निदधे स्वात्मानं समर्पयामि । ब्रह्मविदपि तथैवाह—हे सर्वेश्वर ! निहारं भक्तिपूर्वकं तुलस्यादिमूल्येन क्रेतव्यं स्वात्मानं मे मह्यं हरासि प्रददासि, निहारं तन्मूल्यभूतं तुलस्यादिपुष्पफलादिसहितं स्वात्मानमहं ते तुभ्यं निहराणि समर्पयानि ।

किसी व्याख्याकार ने समीप स्थित द्रव्य के निःशेष देने की जो बात कही है, वह असङ्गत है, क्योंकि वैदिक कर्म में देय द्रव्य और उसकी मात्रा नियत बताई गई है ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह भी असंगत है, क्योंकि मन्त्रगत पदों से वह अर्थ नहीं निकल रहा है ।

स्वाहा मदीयं सर्वस्वं त्वयि सुहुतमस्तु, 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च। विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥' इति सूक्तेः, 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति' (भ० गी० ९।२६) इत्यादिगीतावचनाच्च।

दध्यादिविक्रेतुं ग्रामान्तरं गच्छन्तं व्रजसीमन्तिनीजनमवरुद्धय सगोपालमण्डलः कृष्णः कथयति—देहि मे दध्यादिकम्, अहमपि तुभ्यं सर्वविधं पुरुषार्थं स्वात्मानं च ददामि। किञ्च, त्वं मे मह्यं मनः स्वात्मानमपि निधेहि, ततोऽहं ते तुभ्यम् ऋणित्वेन स्वात्मानं निदधे त्वदधीनमात्मानं सम्पादयामि, 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः' (भा० पु० १०।३२।२२) इत्यादिवचनात्। निहारं सर्वस्वं मे मह्यं हरासि अर्पयसि तदाऽहमपि ते तुभ्यं निहारं हरणीयं स्वात्मानं तुभ्यमहं निहराणि स्वाहा सुष्ठु आह—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इति गीतावचनं चेह संवादि। दध्यादिविक्रेतुं ग्रामान्तरं गच्छन् दध्यादिकं याचितो गोपिकागणो ब्रवीति—हे कृष्ण! त्वं प्रथमं मे मह्यं स्वपादपद्मानुरागं स्वसन्निधिवसनं वा देहि, ततः परमहं ते तुभ्यं दध्यादिकं ददामि। त्वं मे शिरसि स्वकरसरोरुहं धेहि, ततः परमहं ते हस्ते आत्मीयं सर्वस्वं निदधे। निहारमनन्यभावं हरासि मह्यं प्रापयसि, अहं नितरां हरणीयं वस्तुजातं निहराणि श्रीचरणयोः। भगवाननुमोदते सु आह साधु ब्रूते गोपिकागणः' इति, तत्तु सुन्दरमेव यद्यपि, तथापि कर्मसु विनियुक्तानां मन्त्राणामन्यशेषत्वान्न प्रमाणान्तरासिद्धार्थसाधने सामर्थ्यम्, स्वप्रधानत्वाभावात्। न वाऽयमेवार्थ इति नियन्तुं शक्यते, अर्थान्तरस्यापि सम्भवेन विनिगमनाविरहात्।

इदमिह विचारणीयमध्यात्मपक्षीयेऽर्थे कथं नैष आक्षेप इति? मैवम्, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १।२।१५) इति रीत्याऽध्यात्मप्रतिपादनेऽपि वेदानां तात्पर्यात्, विनियोगाविरोधेनैवाध्यात्मार्थस्य ग्राह्यत्वाच्च।

यत्तु—'अनेन साधकेन गुरवे देवाधिदेवाय च तनुरन्ते धनानि च समर्पणीयानि। जनको भूपतिः स्वाचार्याय याज्ञवल्क्याय तत्त्रयमर्पयाञ्चकार—'नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मीति' (बृ० ४।२।४) इत्यादिना प्रथमचरणेन धनस्य, द्वितीयेन मनसः, उत्तरार्धेन शरीरस्य समर्पणम्' इति, तत्तु लोकप्रतारणामात्रम्, पादत्रयस्य तदर्थत्वे मानाभावात्, मन्त्रस्य तादृशार्थे विनियोगाभावाच्च, विनियोगानान्यपरस्य मन्त्रस्यान्यार्थबोधने तात्पर्याभावाच्च ॥ ५० ॥

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ ५१ ॥

सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि। प्र नूनं पूर्णबन्धुरः स्तुतो यासि वशाँ अनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ ५२ ॥

अध्यात्मपक्ष में—सर्वेश्वर वेदमुख से जीवात्मा से कह रहा है कि हे जीवात्मन्! तू मुझे शोधित 'त्वम्' पदार्थ का अर्पण कर। मैं भी तुझे स्वात्मस्वरूप देता हूँ ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—पितृयज्ञसंज्ञक कर्म में जो पितर हैं, उन्होंने हमारे दिये हुए हवि का भक्षण किया और सन्तुष्ट होकर हमारी भक्ति को देख अपना शिर हिलाकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। स्वयम्प्रकाश ब्राह्मणों ने धारणा शक्ति से युक्त होकर तथा नवीन बुद्धि धारण कर उनकी स्तुति की। (इस यजमान ने पर्याप्त मधु-अन्न

ऐन्द्र्यौ पङ्क्त्यौ। तयोः साकमेधगतपितृयज्ञकर्मण्याहवनीयोपस्थाने विनियोगः। 'यज्ञोपवीतिनः सर्वे निष्क्रम्योदञ्चोऽक्षन्नमीमदन्तेत्याहवनीयमुपतिष्ठन्ते' (का० श्रौ० ५।९।१६)। कण्वोऽप्याह—'ऐन्द्रीभ्यामुपतिष्ठते। इन्द्रो ह्याहवनीयोऽक्षन्नमीमदन्त' इति। 'अद् भक्षणे' इति धातोर्लुटि घस्लादेशे अक्षन्निति रूपम्। पितृयज्ञकर्मणि ये पितरः सन्ति, तेऽस्माभिर्दत्तं हविःस्वरूपमन्नमक्षन् भक्षितवन्तः। कथमेतदवगम्यत इति चेदुच्यते—यतोऽमीमदन्त हर्षं प्राप्ताः, 'मदी हर्षे'। तृप्ता वा संजाताः, 'मदी तृप्तौ'। अत्रास्माकं भक्तिमवगत्य प्रीताः, अवप्रिया अतिप्रीताः, अधूषत स्वकीयं शिरः कम्पितवन्तः, 'धूञ् कम्पने'। स्वभानवः स्वेनैव प्रकाशवन्तः, विप्रा मेधाविनः सन्तो नविष्ठया नवतमया मती मत्या युक्ता अस्तोषत स्तुतिं कृतवन्तः। यद्यपि ते स्तुतिभाजस्तथापि अहो स्वादु हविर्बहु दत्तमहो भक्तिरिति भक्तिप्रशंसां कृतवन्तः। हे इन्द्र! नु क्षिप्रं ते हरी हरिनामकावश्वौ योज गमनाय रथे योजय, अहं वा योजयामि, त्वदभीष्टायाः पितृतृप्तेः सम्पन्नत्वे त्वद्गमनवेलाया अप्युपस्थितत्वात्।

हे मघवन्! सुसन्दृशं सु सम्यक् पश्यतीति सुसन्दृशं शोभनदर्शनं त्वा त्वां वयमनुष्ठातारः, वन्दिषीमहि अभिवादयामः। पूर्णबन्धुरः (बन्धुरशब्दो रथनीडवाची) स्तोतृभ्यो देयैर्धनैः सम्पूर्णरथनीडोपेतो भूत्वा स्तुतः स्तूयमानः, वशान् कामान् 'वश कान्तौ'। अनु अस्मत्कामाननुलक्ष्य नूनं प्रयासि गच्छसि। अस्मत्कामान् दातुमेव स्वस्थानं गच्छसि। हे मघवन् धनवन् परमानन्दमयधनसम्पन्न परमेश्वर! सुसन्दृशं सुष्ठु सम्यग् द्रष्टारं सुष्ठु सम्यग् दर्शनीयं वा त्वा त्वां वन्दिषीमहि। स्तुतस्त्वं वशान् कामयमानान् भक्ताननुलक्ष्य नूनं प्रयासि। पूर्णबन्धुरो दातव्यपरिपूर्णरथनीडोपेतो गच्छसि। स त्वं हरी अश्वौ रथे योज।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर! श्रोत्रादयः प्राणा दिव्यानि ब्रह्मात्मकानि त्वदीयदिव्यशब्दस्पर्शादीनि, अक्षन् अभुक्षत, यतो अमीमदन्त परमतृप्ता बाह्यविषयेभ्यस्तृप्तिमुपगतास्ततो विरक्ता इत्यर्थः। प्रहृष्टा वा। अवप्रिया लोकोत्तरं माधुर्यमनुभूय प्रीता अधूषत बाह्यरूपादिविषयिणीं तृष्णामवाधूषत व्यापादितवन्तः। स्वेनैवात्मनैव भानुः प्रकाशो येषां ते स्वभानवः, 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यत्' (केनोप० १।२) इति श्रुतेः। विशेषेण प्रान्ति अखण्डानन्दं पूरयन्तीति विप्राः नविष्ठया नवतमया मती मत्या स्तुत्या त्वामेव प्रतिक्षणं अस्तोषत स्तुवन्ति। हे इन्द्र! नु क्षिप्रं तान् स्वसमीपमानेतुं हरी अश्वौ योज योजय। 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' (कठोप० २।१।१) इति स्वयम्भुवा निर्मितानि पराञ्चीन्द्रियाणि भगवद्वियोगेन स्वहिंसामवगत्य तपश्चेरुः। तत्तपस्तुष्ट इव भगवान् स्वीयया अचिन्त्यदिव्यलीलाशक्त्या स्वात्मानमदृश्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमशब्दमस्पर्शमरूपमगन्धमपि दिव्यशब्दस्पर्शादिविशिष्टरूपेण प्रादुर्भावितवान्। तेनैवेन्द्रियाणां भगवत्स्वरूपानुभवेन पूर्णतृप्तिर्भगवत्प्राप्तिश्च।

यत्तु—'अव अधूषत स्वीयानि शिरांसि अधस्तात् कम्पितवन्तः। अवधूननं नाम कव्यस्वीकारार्थमधस्तात् शिरःकम्पनम्' इति, तन्न, अवेत्यस्य प्रियेति सम्बन्धेन गतार्थत्वात्, अत एव अवप्रिया इत्यस्य अस्माकं भक्तिमवगम्य प्रीताः प्रसन्ना इत्येवार्थः। हविःस्वीकारार्थमधस्तात् शिरःकम्पनं तु भोजनात् प्रागेव सङ्गच्छते।

हमको दिया। इस यजमान की भक्ति प्रशंसनीय है)। अतः हे इन्द्र! हरित वर्ण के दो घोड़ों को अपने रथ में शीघ्र जोतकर और तृप्त होकर पितरों के सहित गमन करो। साकमेधान्तर्गत पितृयज्ञ कर्म में सब लोग यज्ञोपवीती होकर 'अक्षन्नमीमदन्त' इत्यादि दो मन्त्रों से आहवनीय का उपस्थान करें॥ ५१॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ स्पष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में—भगवत्स्वरूप का अनुभव होने से इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से तृप्त हो गई हैं और भगवत्प्राप्ति हो गई है।

अत्र तु अक्षन्निति पितृयज्ञाख्ये कर्मणि श्रद्धया मयोपनतमन्नमक्षन्निति त्वयाप्यर्थापितम्। तदनन्तरं हविःस्वीकारार्थमधस्तात् शिरःकम्पनस्य प्रसङ्ग एव नास्ति। यत्तु—'अथवा कव्यदातार एव पितॄन् दृष्ट्वा प्रसन्नतातिशयेन सुदीप्तमुखा नवनवया स्तुत्या तान् स्तवन्ते' इति, तदप्यसङ्गतम्, विनियोगानुसारेण कव्यदातॄणामेव मन्त्रोच्चारयितृत्वेन स्वकर्तृकस्तुतेस्तत्रोल्लेखासम्भवात्। न च यजमानः प्रत्यक्षं पितॄन् पश्यति, तेषामतीन्द्रियत्वात्। ईश्वरोऽनादिर्वेदो वा सर्वज्ञत्वेन शक्नोत्येव तथा वर्णयितुम्।

सर्वमेतच्छतपथे—'ते सर्व एव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा उदञ्च उपनिष्क्रम्याहवनीयमुपतिष्ठन्ते। देवान् वा एष उपावर्तते य आहिताग्निर्भवति यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजतेऽथैतत् पितृयज्ञेनेवाचारिषुस्तदु देवेभ्यो निह्नुवते' (श० २।६।१।३७)। आहवनीयोपस्थानं विधत्ते—ते सर्व इति। ते सर्वे ऋत्विजो यजमानाश्च यज्ञोपवीतिनो भूत्वा (पूर्वं प्राचीनावीतिन आसन्) उदङ्मुखाः पिण्डपितृयज्ञस्थानान्निर्गत्य आहवनीयमुपतिष्ठन्ते। य आहिताग्निर्भवति यश्च दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते एष देवान् उपावर्तते उपगतो भवति। देवतासम्बन्धगतस्य यजमानस्य देवान् परित्यज्य यत् पिण्डपितृयज्ञाचरणभूतेन देवानां मनसि क्रोधोऽभूत्, पुनरावृत्याहवनीयोपस्थानेन उदासीनताजनितापराधं निह्नुवते शमयन्ति। 'ऐन्द्रीभ्यामाहवनीयमुपतिष्ठन्ते। इन्द्रो ह्याहवनीयोऽक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी॥ सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि। प्र नूनं पूर्णबन्धुरः स्तुतो यासि वशाँ२ अनु योजा न्विन्द्र ते हरी इति' (श० २।६।१।३८)। ननु ऐन्द्र्या कथमग्न्युपस्थानम्? लिङ्गविरोधादिति चेत्तत्राह—इन्द्रो ह्याहवनीय इति। परमैश्वर्ययोगादाहवनीय एवेन्द्रः। अतस्तदुपस्थाने ऐन्द्र्याः करणत्वं न विरुद्ध्यते। अत एवैन्द्र्यौ पठति—अक्षन्निति। व्याख्याते च। यद्वा सायणरीत्येत्थं व्याख्यानम्—अक्षन् अस्माभिर्दत्तं हविः पितरोऽभुक्षत। अदेर्लुङि 'लुङ्सनोर्घस्लृ' (पा० सू० २।४।३७) इति घस्लादेशे 'मन्त्रे घसह्वरणश·····' (पा० सू० २।४।८०) इति च्लेर्लुकि 'गमहन····' (पा० सू० ६।४।९८) इत्युपधालोपे रूपम्। हि यस्मादेवंमनसः पितरो हविःस्वीकारेण अमीमदन्त तृप्ता अभवन्, 'मद तृप्तियोगे'। तृप्तिरपि कुतो ज्ञायते तत्राह—अवप्रिया आत्मीयास्तनूः पितरः अधूषत भुक्तस्य हविषो रसातिशयस्याभिव्यक्त्यर्थम् अवाकम्पयन्, 'धूञ् कम्पने'। तदनन्तरं स्वभानवः स्वायत्तदीप्तयो विप्रा मेधाविनस्ते पितरो हविःप्रदातारं यजमानं नविष्ठया अतिशयेन नवा नविष्ठा तया नवतरया, मती मत्या स्तुत्या अस्तोषत। उपभुक्तं हविः प्राशंसन् सम्यगेतत् सञ्जातमिति। आहवनीयस्थित हे इन्द्र! त्वमपि ते त्वदीयौ हरी अश्वौ नु क्षिप्रं योज योजयेति। हे मघवन् धनवन् आहवनीयरूपेन्द्र! सुष्ठु सम्यग् दर्शनीयं त्वा त्वां वन्दिषीमहि नुमोऽभिवादयामो वा। अस्माभिर्वन्दितस्त्वं पूर्णबन्धुरो दत्तेन हविषा पूर्णेन रथनीडेन युक्तः स्तुतः सन् अस्माभिः कृतं स्तोत्रं हविश्च स्वीकृत्य वशान् कामान् अनु यथाकामं यथेष्टं प्रयासि।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र! ते तव ये स्वभानवोऽवप्रिया विप्रा नविष्ठया मती मत्या हि खलु परमेश्वरमस्तोषत स्तुवन्त्यक्षन् श्रेष्ठान्नादिकमदन्ति अमीमदन्तानन्दयन्ति च तस्मात्ते शत्रून् दुःखानि च न्वधूषत क्षिप्रं धुन्वन्ति।

किसी व्याख्याकार ने 'अव अधूषत' का अर्थ 'शिरांसि अधस्तात् कम्पितवन्तः' किया है, वह उचित नहीं है। स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह भी विशृङ्खल है॥ ५१॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र! तुम सभी पर अनुग्रह करने वाले हो, तुम्हारी हम स्तुति करते हैं। इस प्रकार हमारे द्वारा स्तुति किये गये तुम कामना करनेवाले यजमान के यहाँ अवश्य जाते हो और जाते समय अपनी स्तुति करने वालों के लिये देय द्रव्यों को अपने रथ में भरकर ले जाते हो। हे इन्द्र! तुम अपने हरित वर्ण के घोड़ों को रथ में जोतो॥ ५२॥

त्वमप्येतेषु स्वकीयौ हरी बलपराक्रमौ योज संयोजय' इति, तदपि न सङ्गतम्, निष्प्रमाणव्यत्ययाश्रयणादिदोष-बाहुल्यात् । ये, ते, शत्रून्, दुःखानि चेति पदानि मूले न सन्त्येव । किञ्च, परमेश्वरस्तुतेर्दुःखावधूननहेतुत्वेऽपि भक्षणानन्दनयोः कथं तत्र हेतुत्वम् ? हरी इत्यस्येन्द्राश्वत्वे तु निघण्टुः कोषश्च प्रमाणम्, किन्तु बलपराक्रमार्थे प्रमाणं वक्तव्यम् । कथं च परमेश्वरीयबलपराक्रमयोर्जीवेषु योगः सम्भवति, अन्यसमवेतस्यान्यत्र समवायायोगात् ।

यदपि च—'हे मघवन्निन्द्र ! वयं सुसन्दृशं त्वा त्वां नूनं वन्दिषीमहि, अस्माभिः स्तुतः पूर्णबन्धुरः पूर्णश्चासौ बन्धुरो बन्धनहेतुर्वा', हिन्दीव्याख्याने तु पूर्णबन्धुरिति संस्त्वं वशान् कामान् यासि प्रापयसि ते तव हरी त्वमनुप्रयोज इत्येकः, वयं सुसन्दृशं मघवन् मघवन्तं पूर्णबन्धुरं त्वा तमिमं सूर्यलोकं नूनं वन्दिषीमहि । स्तुतः प्रकाशितगुणः सन्नयं वशानुत्कृष्टव्यवहारसाधकान् प्रति यासि प्रापयति । हे विद्वंस्त्वं ! यथा तेऽस्येन्द्रस्य हरी अस्मिन् जगति युक्ते, तथैव विद्यासिद्धिकराण्यनुप्रयोज इति द्वितीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विश्रृङ्खलत्वात्, बन्धुरशब्दस्य बन्धवर्थत्वे मानानुपलब्धेः । त्वद्रीत्या सूर्यलोको जडः, स कथं स्तुतिं ज्ञास्यति ? स्तुतिं विनापि यत्करोति तत्करिष्यत्येव, गुणप्रकाशस्य तत्राकिञ्चित्करत्वात् ॥ ५१–५२ ॥

मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन । पितृणां च मन्मभिः ॥ ५३ ॥

तिस्रो मनोदेवत्या गायत्र्यो बन्धुदृष्टा ऋचः । 'मनो न्वाह्वामह इति गार्हपत्यं तिसृभिः' (का० श्रौ० ५।९।१७) । उपतिष्ठन्त इत्यनुवर्तते । नु क्षिप्रं मन आह्वामहे । ननु चित्तं प्रतिपुरुषं विद्यत एवेति चेत्सत्यम्, तथापि पितृयज्ञानुष्ठानेन पितृलोकं गतमिव भवतीति तदाह्वानं युक्तम् । यद्वा मनःपदेन मनोऽभिमानिदैवतस्यैवाह्वानमत्र क्रियते । केन स्तोमेन स्तोत्रेण, कीदृशेन नाराशंसेन नराणां मनुष्याणां शंसः प्रशंसनं येन सः, यद्वा नराः प्रशंस्यन्ते दीर्घायुषः पुत्रवन्तो भूयासुरित्यादिभिर्गुणैर्येन स नाराशंसः स्तोमस्तेन । यत्र देवाः स्तूयन्ते तद्दैवं स्तोत्रं यत्र मनुष्याः स्तूयन्ते तन्मानुषं स्तोत्रम् । पुनः कीदृशैः ? पितृणां च मन्मभिः । पितरो यैः स्तोत्रैर्मन्यन्ते अवगम्यन्ते ते मन्मानस्तैः, पितृयाथात्म्यबोधकैः स्तोत्रैरित्यर्थः । पितृणां मननीयैर्वा स्तोत्रैर्मन आह्वायामः ॥ ५३ ॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ स्पष्ट है ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, उसमें अनेक दोष हैं, जो भाष्य में दिखाये गये हैं ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ पितृयज्ञ के अनुष्ठान से चित्त परलोक में गया हुआ-सा प्रतीत होता है । इस कारण नाराशंस नामक स्तोत्र से उसे हम बुलाते हैं । (मनुष्य की उचित स्तुति को नाराशंस कहते हैं और तत्सम्बन्धी जो स्तोत्र है, उसे भी नाराशंस कहा गया है । यह स्तोत्र दैव और मानुष भेद से दो प्रकार का है । जिससे देवता की स्तुति की जाती है, उसे 'दैव' और जिससे मनुष्य की स्तुति की जाती है, उसे 'मानुष' कहते हैं ।) उसी प्रकार हम पितरों को मननीय स्तोत्रों से भी पितृलोकगमन का आह्वान करते हैं । 'मनो न्वाह्वामहे' इत्यादि तीन मन्त्रों से सब लोग गार्हपत्य का उपस्थान करें ॥ ५३ ॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ स्पष्ट है । मन्त्र ५३, ५४, ५५ का अर्थ संसृष्ट रहने से अग्रिम दो मन्त्रों को एक साथ देकर उनकी व्याख्या भाष्यकार ने की है ॥ ५३ ॥

इत आरभ्य त्रयाणां मन्त्राणां संसृष्टार्थत्वाद् अधस्तान्मन्त्रद्वयं व्याख्यायते—

आ न॑ एतु मन॒: पुन॒: क्रत्वे॒ दक्षा॑य जी॒वसे॑ । ज्योक् च॒ सूर्यं॑ दृ॒शे ॥ ५४ ॥

पुन॑र्नः पि॒तरो॒ मनो॒ ददा॑तु॒ दैव्यो॒ जन॑: । जी॒वं व्रात॑ᳪ सचेमहि ॥ ५५ ॥

आ एतु आगच्छतु नोऽस्माकं मनः पुनः । किमर्थं क्रत्वे क्रतुः सङ्कल्पो यज्ञो वा दक्षाय सङ्कल्पसमृद्धये कर्मण्युत्साहाय वा, 'स यदेव मनसा कामयते इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुरथ यदास्मै तत् समृद्धयते' (श० ४।१।४।१) इति श्रुतेः । ज्योक् चिराय जीवसे जीवनाय सूर्यं दृशे द्रष्टुम् ।

हे पितरः ! पुनरस्माकं मनो ददातु दैव्यो जनो देवसम्बन्धी जनः । भवदनुज्ञया देवसम्बन्धी जनोऽस्मभ्यं चित्तं पुनर्भूयः प्रयच्छत्वित्यर्थः । जीवं जीवनवन्तं व्रातं पुत्रपौत्रपश्वादिगणं सचेमहि सेवेमहि ।

अध्यात्मपक्षे तु—नोऽस्माकं मनः चेतः, एतु वशमागच्छतु किमर्थं क्रत्वे क्रतवे निर्गुणसगुणोपासनलक्षणाय क्रतवे उपासनाय दक्षाय बलाय उपासनस्य दार्ढ्याय जीवसे जीवितुम्, उपासनपरायणानामुपासनमेव जीवनम् । ज्योक् चिरकालं सूर्यं दृशे स्वप्रकाशं परमात्मानं सगुणं निर्गुणं च द्रष्टुं साक्षात्कर्तुम् ।

हे पितरः गुरवः ! भवदनुग्रहेण दैव्यो जनो देवानां सम्बन्धी जनो देवदेवः परमेश्वरः, मनो ब्रह्माकाराकारितं मनः प्रयच्छतु । केवलस्य मनसः प्राप्तत्वादेव सामर्थ्याद् विशिष्टं भगवदाकाराकारितं मनः प्रयच्छतु । तदर्थं जीवं जीवनवन्तं सप्राणं व्रातं सत्यादिव्रतानां समूहं सचेमहि सेवेमहि, दृढप्राणसत्यादिसेवनस्य ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपे मनसि हेतुत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'वयं नाराशंसेन स्तोमेन पितॄणां मन्मभिर्मनो न्वाह्वामहे स्पर्धामहे । नराणां समन्तात् शंसः प्रशंसनम्, तेन निर्वृत्तम् इत्यर्थे 'तेन निर्वृत्तम्' (पा० सू० ४।२।६८) इत्यणि नाराशंसेन स्तुतियुक्तेन व्यवहारेण पितॄणां पालकानामृतूनां ज्ञानवतां मनुष्याणां वा । मनुष्यैर्जन्मसाफल्यार्थं विद्यादिगुणयुक्तं मनः कर्तव्यम् । यथर्तवः स्वान् स्वान् गुणान् क्रमेण प्रकाशयन्ति, यथा च विद्वांसः क्रमशोऽन्यामन्यां विद्यां साक्षात्कुर्वन्ति, तथैव सततमनुष्ठाय विद्याप्रकाशौ प्राप्तव्या इति भावार्थः' इति, तदपि विशृङ्खलम्, मन्त्रशब्दैस्तथार्थाननुगमात् । मन्त्रे स्पष्टमेव मनस आह्वानमुक्तम्, व्याख्यायां तु 'स्पर्धामहे' इत्युक्तम्, भावार्थे तु विद्यादिगुणयुक्तं मनः कर्तव्यमित्युक्तम्, हिन्द्यां तु दृढं करोमीत्युक्तम् । द्वितीयमन्त्रव्याख्यायामेतन्मतं यथा—'यन्मनश्चित्तं ज्योग् निरन्तरं सूर्यं दृशे क्रत्वे दक्षाय जीवसे चान्येषां शुभकर्मणामनुष्ठानायास्ति तन्नोऽस्मान् पुनरा समन्तादेतु प्राप्नोतु' इति, एतदपि निरर्थकम्, निरन्तरजन्महेतुकर्मभिर्जन्मप्राप्तौ चित्तप्राप्तेर्नान्तरीयकत्वेन तदर्थं प्रार्थनाया

मन्त्रार्थ—हमारा मन यज्ञ का संकल्प करने के निमित्त तथा कर्मानुष्ठान में उत्साह प्राप्त होने के लिये पुनः हमें प्राप्त हो और चिरकाल तक जीवन प्राप्त करने के लिये तथा चिरकाल तक सूर्य का अवलोकन करने के लिये वह मन पुनः हमें प्राप्त हो ॥ ५४ ॥

हे पितरो ! तुम्हारी आज्ञा से देवसम्बन्धी पुरुष हमारा मन हमें पुनः प्रदान करे । तदनन्तर तुम्हारे प्रसाद से जीवित पुत्र और पशुसमूह हमें प्राप्त हो ॥ ५५ ॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ स्पष्ट है ।

अनावश्यकत्वात् । एतदीयं तृतीयमन्त्रव्याख्यानं यथा—'हे पितरो जनका विद्याप्रदाश्च भवच्छिक्षया दैव्यो जनो विद्वान् नोऽस्मभ्यं पुनर्मनोधारणावतीं बुद्धिं ददातु येन वयं जीवं व्रातं सचेमहि समवेयाम' इति, तदपि यत्किञ्चिदसङ्गतेः । त्वद्रीत्या विदुष एव देवत्वेन देवेत्युक्त्यैव समीहितसिद्धौ यञ्प्रत्ययप्रयोगवैयर्थ्यापत्तिः । विद्वांसः शिक्षया बुद्धिदातारो भवन्ति, धारणावत्या बुद्धेः प्रदाने ते कथं क्षमन्ते ?

शतपथविरुद्धं चैतत् । तत्र हि—'अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यमुपतिष्ठन्ते । मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन पितॄणां च मन्मभिः । आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ज्योक् च सूर्यं दृशे । पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनो जीवं व्रातं सचेमहीति पितृयज्ञेनेव वा एतदचारिषुस्तदु खलु पुनर्जीवानपिपद्यन्ते तस्मादाह जीवं व्रातं सचेमहीति' (श० २।६।१।३९) । गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते—अथेति । प्रतिपरेत्य आहवनीयस्थानात् प्रतिनिवृत्य गार्हपत्यसमीपमागत्य गार्हपत्यमुपतिष्ठन्त इत्यर्थः । तदर्थं त्रयो मन्त्राः पठिताः । तेषामयमर्थः—अस्मदीयं मनो नु क्षिप्रं नाराशंसेन स्तोमेन साधनेन नरैः शंसनीयेन स्तोमेन स्तोत्रेण च पितॄणां सम्बन्धिभिः मन्मभिः मननैश्च आह्वामहे । पितृयज्ञकरणादपक्रान्तं मनः पुनरस्मानेतु आगच्छतु । किमर्थं क्रत्वे क्रतुलक्षणाय कर्मणे दक्षाय बलाय जीवसे जीवनाय ज्योक् चिरकालं सूर्यं च दृशे द्रष्टुम्, 'दृशे विख्ये च' (पा० सू० ३।४।११) इति तुमर्थे निपात्यते । मनोऽन्तरा न क्रतुर्न बलं न जीवनं न वा चिरं सूर्यदर्शनं सम्पद्यतेऽतस्तदाह्वानं क्रियते । हे पितरः ! दैव्यो देवसम्बन्धी जनो नः अस्मभ्यं मनः पुनः ददातु । जीवं जीवनवन्तं व्रातं गणं पुत्रपौत्रादिसमूहं सचेमहि प्राप्नुयाम । अन्तिमपादस्थजीवपदस्याभिप्रायं श्रुतिराह—पितृयज्ञेनेवेति । पितृयज्ञे खलु एत इदानीमचारिषुः । अतः पितृयज्ञस्य कर्तार ऋत्विग्यजमानाः पितृसंभक्ताः सन्तः प्रजायुक्ता भवेयुः । तत् तथा सति जीवं व्रातमनेन मन्त्रभागेन जीवान् पुत्रपौत्रादीन् स्वयं जीवन् पुनरपि गच्छन्ति ।

यत्तु—'विदूषितान्नपानेन गोभिः सह मृतान् गोपालान् पुनरुज्जीवयितुकामो भगवान् कथयति—भो व्रजवासिनो न खिद्यध्वम्, एतेषु मृतशरीरेषु मनः अन्तःकरणोपलक्षितं सूक्ष्मशरीरं आह्वामहे । केन ? नाराशंसेन आशंसनमाशंसः शुभाशंसनम्, नराणामाशंसो मनुष्याभिलाषपूरकेण अमृतवर्षिकृपादृष्टिसमूहेन पितॄणां पितृतुल्यानां व्रजौकसां वयोवृद्धानां मन्मभिः आकाङ्क्षाभिः वयोवृद्धानामनुरोधाद् दृष्टिपातमात्रेण लिङ्गशरीरमाहूय मृतशरीरेषु चानुप्रवेश्य गोभिः सहितान् गोपालान् पुनरुज्जीवयामि' इति, एतत् कृष्णचरित्रस्मारकत्वाद् रोचकमपि कल्पनागौरवावहमेव । एवं युधिष्ठिरदत्तस्वप्रश्नोत्तरतुष्टहृदयं वरं दातुमुद्यतं यक्षं प्रति युधिष्ठिर आह—नः त्वदवज्ञावशान्मृतानामस्माकं भ्रातॄणां चैतन्यसम्पादकं मनो लिङ्गशरीरं पुनरेतु तेषां शरीरेषु पुनः प्रविशतु । क्रत्वे श्रौतकर्मार्थं दक्षाय स्मार्तपूर्तदत्तादिकर्मसमर्थाय जीवसे जीवनाय ज्योक् च सूर्यं दृशे चिरं सूर्यं द्रष्टुम्' इति, तदपि गौणार्थमेव मन्तव्यम्, श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वात् ॥ ५४–५५ ॥

•

अध्यात्मपक्ष में—हमारा मन सम्पूर्ण जीवन चिरकाल तक हे भगवन् ! तुम्हारी निर्गुण-सगुण उपासना में लगा रहे तथा चिरकाल तक तुम्हारा ही साक्षात्कार करता रहे ।

हे पितरों ! आपके अनुग्रह से दैव्य जन हमें ब्रह्माकाराकारित मन दें ।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या मन्त्र के शब्दों के अनुसार न हो पाने से विशृङ्खल है तथा शतपथ के भी विरुद्ध है ।

किसी अन्य व्यक्ति ने जो व्याख्या की है, वह भी गौण अर्थ से ही भरी है और श्रुति-सूत्र के विरुद्ध है ॥ ५४–५५ ॥

वयꣳसोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः । प्रजावन्तः सचेमहि ॥ ५६ ॥

अस्य मन्त्रस्य बन्धुर्ऋषिर्गायत्री छन्दः सोमो देवता जपे विनियोगः । पितृयज्ञे सोमनामको देवोऽस्ति, सोमाय पितृमत इत्येवं हविषो विहितत्वात्, 'सोमाय पितृमते स्वाहा' (वा० सं० २।२९) इति श्रुतेः । वयं यष्टारस्तव व्रते त्वसम्बन्धिनि कर्मणि वर्तमानाः । 'व्रतमिति कर्मनाम' (निघण्टु २।१।७) तनूषु भवदीयशरीरेषु नानावस्थाभेदभिन्नेषु मनो बिभ्रतः अस्मदीयचित्तं धारयन्तः, त्वत्कारुण्यात् प्रजावन्तः पुत्रपौत्रादिसम्पन्नाः सचेमहि सर्वदा भवन्तं सेवेमहि ।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम ! उमया पार्वत्या सहितः सोमस्तत्सम्बुद्धौ हे सोम ! वयं तव परमेश्वरस्य तोषणार्थे व्रते संराधने वर्तमाना विविधासु त्वदीयासु तनूषु विशुद्धसत्त्वोपहितचिन्मयशरीरेषु मनोऽन्तःकरणं बिभ्रतो धारयन्तः प्रजावन्तः पुत्रशिष्यादिसहिताः, त्वां सचेमहि सेवेमहि ।

दयानन्दरीत्या तु—'सुवति चराचरं जगदिति सोमस्तत्सम्बुद्धौ हे सोम परमेश्वर ! सूयन्ते वा रसा यस्मात् स ओषधिराजः, तव व्रते सत्याचरणरूपे वर्तमानाः, तनुषु विस्तृतसुखशरीरेषु मनोऽन्तःकरणस्याहङ्कारादिवृत्तिं धारयन्तः प्रजावन्तः सन्तः सर्वैः सुखैः सचेमहि समवेयाम । सोमस्योषधिराजस्य वा व्रते सत्याचरणनिमित्ते तनुषु मनो बिभ्रतः सन्तः प्रजावन्तो वयं सर्वैः सुखैः सचेमहि' इति, तत्तु श्रुतिविरुद्धमेव, तद्रीत्या मन्त्रस्य देवताविशेषस्य सोमस्य स्तुतौ पर्यवसानात् ।

यत्तु—'राज्ञीभिरर्थितः श्रीकृष्णः शैवाचार्यादुपमन्योः शैवीं दीक्षामवाप्य भगवन्तं शिवं प्रार्थयते—हे सोम ! वयं तनूषु गौणात्मसु पुत्रपौत्रादिसन्ततिषु मनो बिभ्रतः संलग्नचेतसः, तव व्रते संराधने वर्तमानास्त्वत्प्रसादात्प्रजावन्तो भूत्वा त्वां सेवेमहि' इत्यादिकम्, तत्तु महाभारतादिसिद्धार्थद्योतकमपि व्याख्यानं युक्तमेव ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम ! तुम्हारा कर्म करनेवाले हम तुम्हारे शरीर में अपने चित को स्थापन करेंगे । तुम्हारे प्रसाद से पुत्र-पौत्रादिकों से युक्त होकर सेवनीय वस्तुओं का सेवन करेंगे । 'वयꣳसोम' इस सोमदेवताक गायत्री मन्त्र का उपयोग जप में होता है ॥ ५६ ॥

(**मन्त्रसंख्या ५६ के आगे साकमेध पर्व के त्र्यम्बक हवि से सम्बद्ध मन्त्र हैं**) ।

भाष्यसार—भाष्यार्थ स्पष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में—पार्वती के सहित रहने वाले हे सोम परमेश्वर ! हम भक्तगण 'परमेश्वर' के सन्तोषार्थ आराधना में लगे रहते हैं । तुम्हारे विशुद्धसत्त्वोपहित चिन्मय शरीर में अपने मन को लगाने वाले पुत्र-शिष्यादिकों के सहित हम लोग तुम्हारी ही सेवा करते रहें ।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या श्रुतिविरुद्ध होने से उपेक्षणीय है ।

किसी व्याख्याकार ने महाभारतादि प्रसिद्धार्थ द्योतक व्याख्या की है और वह ठीक भी है ॥ ५६ ॥

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः ॥ ५७ ॥

अत्र द्वौ मन्त्रौ, उभयोर्बन्धुर्ऋषिः, रुद्रो देवता (पूर्वमन्त्रस्य प्राजापत्या बृहती) याजुषी जगती च्छन्दः । पूर्वमन्त्रस्यावदानहोमे द्वितीयस्याखूत्करे पुरोडाशनिर्वापार्थे विनियोगः । 'पात्र्यां कृत्वा दक्षिणाग्न्युल्मुकमादाय चतुष्पथे पलाशपत्रमध्यमेन होमः' (का० श्रौ० ५।१०।७) । पुरोडाशान् पात्र्यां निधाय दक्षिणाग्न्युल्मुकमादाय चतुष्पथे गत्वा तत्रोल्मुकं संस्थाप्य तत्र पलाशपत्राणां यन्मध्यमं तेन जुहूस्थानीयेन होमः कार्यः । 'एष त इति जुहोति' (का० श्रौ० ५।१०।१०) । हे रुद्र रुतो रोगान् द्रावयतीति रुद्रः । 'यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१) । रोदयति शत्रूनिति वा रुद्रः । ते तव स्वस्रा भगिन्या अम्बिकानाम्न्या सह एषोऽस्माभिर्दीयमानः पुरोडाशो भागो भजनीयः स्वीकर्तुं योग्यस्तं जुषस्व सेवस्व । स्वाहा इदं हविर्दत्तमस्तु । अम्बिकाया रुद्रभगिनीत्वं च श्रुत्युक्तम्—'अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा तयास्यैष सह भागः' (श० २।६।२।९) । योऽयं रुद्राख्यो देवस्तस्य विरोधिनं हन्तुमिच्छा भवति, तदानया भगिन्या क्रूरदेवतया साधनभूतया तं हन्ति । सा चाम्बिका शरद्रूपं प्राप्य जरादिकमुत्पाद्य तं हन्ति । रुद्रात्मकयो रुद्रत्वमनेन हविषा शान्तं भवति । तथा च तित्तिरिः—एष ते रुद्रभागः सह स्वस्राम्बिकयेत्याह । शरद्वा अस्याम्बिका स्वसा तया वा एष हिनस्ति ! यꣳ हिनस्ति । तयैवैनꣳ सह शमयति' (तै० ब्रा० १।६।१०।४) ।

ननु रुद्रस्य पत्नीत्वेनाम्बिका प्रसिद्धा, कथमत्र स्वसेत्युच्यते ? इति चेन्न, व्युत्पत्त्या स्वसृशब्देन पत्न्या अपि बोधसम्भवात् । तथाहि—स्वमात्मानं सरति भजतीति स्वसा, आहोस्वित् सुष्ठु आत्मना अस्यते प्राप्यत इति स्वसा । 'असु गत्यादिषु' रूपसिद्धिः ।

'अतिरिक्तमाखूत्कर उपकिरत्येष त इति' (का० श्रौ० ५।१०।११) । यजमानस्य यावन्तः पुत्रभृत्यादयः पुरुषाः सन्ति तान् गणयित्वा प्रतिपुरुषमेकैकं पुरोडाशं ततोऽप्यधिकमेकैकं निर्वपेत् । सोऽयमतिरिक्त उच्यते, 'त्रैयम्बकान् निर्वपति रौद्रानेककपालान् यावन्तो यजमानगृह्या एकाधिकान्' (का० श्रौ० ५।१०।१) इति कात्यायनोक्तेः । तत्र योऽयमतिरिक्तस्तं न जुहुयात्, किन्तु मूषकोत्खातेऽतिरिक्तं रौद्रं पुरोडाशं मूषकैरुत्कीर्णे पांसुराशौ उपगूहति पांशुभिरन्तर्हितं करोति—एष त इत्यनेनेति । हे रुद्र ! एषोऽस्माभिरुत्कीर्यमाणोऽतिरिक्तः पुरोडाशस्ते भागो भजनीयः । तथा ते तव आखुः मूषकः पशुत्वेन कल्पितः । आखुदानेन तुष्टो रुद्रस्तयाम्बिकया यजमानपशून्न मारयतीत्यर्थः । यथाह तित्तिरिः—'प्रतिपुरुषमेककपालान्निर्वपत्येकमतिरिक्तम्' (तै० सं० १।८।६।१) । इति काण्वसंहितासायणभाष्यानुसारि व्याख्यानम् ।

•शतपथे च—'ते वै रौद्रा भवन्ति । रुद्रस्य हीषुस्तस्माद्रौद्रा भवन्त्येककपाला भवन्त्येकदेवत्या असन्निति तस्मादेककपाला भवन्ति । ते वै प्रतिपुरुषं यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त एकेनातिरिक्ता भवन्ति तत्प्रतिपुरुषमेवै-तदेकैकेन या अस्य प्रजा जातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चन्त्येकेनातिरिक्ता भवन्ति' (श० २।६।२।३–४) । 'महाहविषा

मन्त्रार्थ—हे रुद्र ! तुम अपनी अम्बिकानामक बहिन के सहित हमारे द्वारा दिये गये पुरोडाश (हविर्द्रव्य) का सेवन करो । हमारे द्वारा दिया हुआ हवि सुहुत रहे । हे रुद्र ! हमारे द्वारा दिया गया यह पुरोडाश तुम्हारे द्वारा सेवन किया जाय । मूषकसंज्ञक पशु को हमने तुम्हें अर्पित किया है । 'एष ते' इस मन्त्र से अवदानहोम करना चाहिये ॥ ५७ ॥

ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः' (श० २।६।२।१) इत्यादिना विधित्सितानां त्र्यम्बकहविषां शल्यनिर्हरणहेतुत्वमितिहासमुखेनोक्तम् । तस्मिन् संग्रामे देवानां मध्ये यानेवेन्द्रप्रभृतीन् वृत्रमुक्ता इषव आर्छन् प्राप्नुवन् तान् देवान् एतैरेव त्र्यम्बकहविर्भिस्तस्माच्छल्यान्निरहरन्त वियोजितवन्तः । निर्हरणप्रकारमाह—तानिति । व्यबृहन्त शल्यप्रोतांस्तान् अस्माच्छल्याद् एतैरेव त्र्यम्बकैर्हविर्भिर्निरहरन्त । अम्बिकानाम स्त्री अस्य स्वसा । अतस्त्र्यम्बको रुद्रः । देवतावाचिना शब्देन लक्षणयात्र हवींष्युच्यन्ते । अथेदानीन्तनो यजमान एतैर्यजते । तेन त्रैयम्बकहविर्योगेनाद्यापि यजमानस्य सम्बन्धिनं कमपि पुरुषं इषुर्नैव ऋच्छति । तस्य प्रजा जाता अजाताश्च प्रजनिष्यमाणाश्च ताः सर्वा रुद्रियात् रुद्रकृताद् हिंसनात् प्रमुञ्चन्ति, प्रतिपुरुषं संख्याय क्रियमाणैस्त्र्यम्बकैर्हविर्भी रुद्रस्य प्रीणितत्वात् । रुद्रा देवता एषां ते रौद्राः । रुद्रसम्बन्धी इषुस्त्रिपुरविजयार्थं रुद्रस्यायुधत्वेन निर्मितः, 'त इषुं समस्कुर्वत' (तै० सं० ६।२।३।१) इति त्रिपुरविजयप्रस्तावे उक्तत्वात् । ते रौद्रा एककपाला एकस्मिन् कपाले संस्कृता एकदेवत्या असन् भवन्ति । कियन्तस्त्र्यम्बकाः कार्या इत्याह—ते वा इति । यावत्परिमाणविशिष्टा यजमानस्य गृह्या ज्ञातयः, तत्र प्रतिपुरुषमेकैकस्य एकैकः पुरोडाश इति गणयित्वा एकेनाधिकाः कार्याः । तेन जाता अजाताश्च प्रजा रुद्रियात् प्रमुञ्चन्ति ।

स्त्रीरूपाम्बिकासम्बन्धाद् रुद्रस्यैते पुरोडाशा आदिवर्णलोपेन त्र्यम्बका इत्याख्यायन्ते । यावदुक्तचोदना ह्येते पुरोडाशाः, अतस्तेषां संस्कारप्रकारोऽपि तत्रैव पञ्चम्या कण्डिकयोक्तः । गार्हपत्यस्य पश्चाद् यज्ञोपवीती भूत्वा उदङ्मुख आसीन एतान् पुरोडाशान् निर्वपेत् । 'जुहोतयोऽवषट्कारान्' (का० श्रौ० ५।१०।५) । त्रैयम्बका जुहोतयो न यजतयः । अत एव अवषट्कारान् प्रतीयात् । प्रागुदीच्यां रुद्राधिष्ठितत्वेनोत्तरदिशो रुद्रसम्बन्धित्वाच्च तत्कर्मस्ववहननादिष्वपि सर्वत्रोदक्सम्बन्धः कार्यः । पुरोडाशाश्च त आज्येनाभिघारिता अक्ता एव स्युरित्येकः, अनक्ताः स्युरित्यपरः पक्षः । 'तान् सार्धं पात्र्यां७ समुद्वास्य । अन्वाहार्यपचनादुल्मुकमादायोदङ् परेत्य जुहोत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक् पथि जुहोति पथा हि स देवश्चरति चतुष्पथे जुहोत्येतद्धि वा अस्य जान्धितं प्रज्ञातमवसानं यच्चतुष्पथं तस्माच्चतुष्पथे जुहोति' (श० २।६।२।७) । पुरोडाशपात्र्यां सार्धमेव तान् समुद्वास्य अन्वाहार्यपचनादुल्मुकमादायोदङ् परेत्य एतस्य रुद्रस्योत्तरस्यां दिशि यः पन्था विद्यते तत्रोमुल्कं निधाय तस्मिन् पुरोडाशान् जुहुयात् । यतः खलु स रुद्रो देवः पथा मार्गेण हि चरति । पथ्यपि किञ्चिद्विशेषं विधत्ते—चतुष्पथे जुहोतीति । चतसृभ्यो दिग्भ्य आगताः पन्थानो यत्र सङ्गच्छन्ते तत्र जुहुयात् । एतद्रुद्रस्य जान्धितं जनैः परिकल्पितं प्रज्ञातमवसानं स्थानं यच्चतुष्पथम्, 'वटे वटे वैश्रवणश्चत्वरे चत्वरे शिवः' इत्यभियुक्तोक्तेः । 'पलाशस्य पलाशेन मध्यमेन जुहोति । ब्रह्म वै पलाशस्य पलाशं ब्रह्मणैवैतज्जुहोति स सर्वेषामेवावद्यत्येकस्यैव नावद्यति य एषोऽतिरिक्तो भवति' (श० २।६।२।८) । तस्मिन् होमे साधनं विधत्ते—पलाशस्येति । पलाशवृक्षस्य पलाशेन मध्यमेन पर्णेन जुहूस्थानीयेन जुहोति । पलाशवृक्षस्य ब्रह्मत्वश्रवणात् पर्णमपि ब्रह्मैव भवति । 'देवा वै ब्रह्मन्नवदन्त तत्पर्णं उपाशृणोत्' (तै० सं० ३।५।७।३) । यावन्तः पुरोडाशाः कृतास्तत्रैकमतिरिक्तं विहाय सर्वेषामेव सकाशात् तस्मिन् मध्यमपत्रेऽवद्येत ।

'स जुहोति । एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहेत्यम्बिका ह वै नामास्य स्वसा तयास्यैष सहभागस्तद्यदस्यैष स्त्रिया सह भागस्तस्मात् त्र्यम्बका नाम तद्या अस्य प्रजा जातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति'

भाष्यसार—इस रुद्रसंज्ञक देव की अपने विरोधी को मारने की जब इच्छा होती है, तब वह अपनी भगिनी के द्वारा उस विरोधी का नाश करवा देता है । वह भगिनी अम्बिका शरद् रूप बनकर जरा आदि रोग-व्याधियों को उत्पन्न कर उस विरोधी का नाश कर देती है । उस समय के रुद्रत्व की शान्ति इस हवि से होती है ।

(श० २।६।२।९)। इत्थं सर्वेभ्यः समवत्तस्य हविषः समन्त्रकं होमं विधत्ते—स जुहोतीति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। सह स्वस्राम्बिकयेति मन्त्रभागस्याभिप्रायमाविष्कुर्वन् तेषां हविषां त्र्यम्बकनाम निर्ब्रूते—अम्बिका ह वा इति। ततः तथा सति अस्य रुद्रस्य तया स्त्रिया सह एष भागः कल्पितः। तस्मात् स्त्रीरूपाम्बिकासम्बन्धात् रुद्रस्यैते पुरोडाशा आदिवर्णलोपेन त्र्यम्बका इत्याख्यायन्ते। 'अथ य एष एकोऽतिरिक्तो भवति। तमाखूत्कर उपकिरत्येष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुरिति। तदस्मा आखुमेव पशूनामनुदिशति तेनो इतरान् पशून् न हिनस्ति तद्यदुपकिरति तिर इव वै गर्भस्तिर इवैतद्यदुपकीर्णं तस्माद्वा उपकिरति तद्या एवास्य प्रजा अजातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति' (श० २।६।२।१०)। अवदानकाले परिशेषितस्यैकस्य पुरोडाशस्य विनियोगमाह—अथेति। आखुभिः कृते आखूत्करे तमतिरिक्तं पुरोडाशम् उपकिरति उपक्षिपति तेन मन्त्रेण आखुमेवास्मै रुद्राय पशुत्वेन निर्दिशति। तेन कारणेन नृगवाश्वादिपशून् स रुद्रो न हिनस्ति। अतिरिक्तस्यैकस्य यदुपक्षेपणं विहितं तदुपपादयति—तिर इवेति। तिरोहिता इव हि गर्भा भवन्ति, उत्कीर्णं च द्रव्यमपि तिरोहितं भवति, अतो गर्भस्थानामजातानां प्रजानां रुद्रकृतहिंसनविमोचनाय पुरोडाशस्योपकीर्णत्वं युक्तमेव।

अध्यात्मपक्षे—हे रुद्र हे परमेश्वर! 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' (श्वे० उ० ३।२) इति श्रुतेः। एष अपरोक्षः प्रत्यगात्मा ते तव भागो भजनीयोंऽशः, स्वस्रा सौभाग्यवत्या पत्न्याम्बिकया पराशक्त्या तं जुषस्व, त्वद्भोग्यरूपेण समर्पितस्तं जुषस्व सेवस्व। भक्ताः साधकाः स्वात्मानं भगवदुपकरणवल्युपहारादिरूपेण परिकल्पयन्ति, 'अहमन्नमहमन्नम्' (तै० उ० ३।१०।६) इति श्रुतेः। हे रुद्र! एष ते भागः, आखुः मूषकः तद्वत्सर्वहरः कालस्ते पशुरुपभोग्यो नियोज्यश्च। आखुर्मूषकश्चौरो रागादिर्वा पशुः, 'तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्' (भा० पु० १०।१४।३६) इति श्रीमद्भागवतवचनात्।

श्रीदयानन्दरीत्या तु—'हे रुद्र स्तोतस्ते तवैष भागोऽस्ति, तं स्वस्राम्बिकया सह जुषस्व। हे रुद्र तवैष भागः स्वाहास्ति तं सेवस्व। तवैष आखुः पशुश्चास्ति तं जुषस्वेत्येकः, योऽयं रुद्रः प्राणस्तेऽस्य रुद्रस्य योऽयं भागोऽयमम्बिकया स्वस्रा सह जुषस्व सेवते तेऽस्य रुद्रस्यैषोऽयं स्वाहाभागः, तथा यस्तेऽस्याखुः पशुश्चास्ति यमयं सततं सेवते तं सर्वे मनुष्याः सेवन्ताम् इति द्वितीयः। रुद्रपदेन रोदयत्यपकारिणो जनान् स रुद्रः स्तोता प्राणो वा, सुष्ठु अस्यति प्रक्षिपति यया विद्यया क्रियया वा। अम्बते शब्दयति यया सा अम्बिका वेदवाणी तया, शोभनं देयमदेयमाह यया सा स्वाहा। आ समन्तात् खनति दृणाति येन भोजनसाधनेन स आखुः पशुः, यो दृश्यते भोग्यपदार्थसमूहः समक्षे स्थापितः। हिन्द्यां तु—हे विद्वन् यस्तवैष भोगयोग्यः पदार्थसमूहोऽस्ति, तं त्वमम्बिकया वेदवाण्या उत्तमविद्यया क्रियया वा सह जुषस्व। तथा यस्ते भागो धर्मसिद्धोंऽशो वेदवाणी अस्ति तां सेवस्व। यश्च ते खननयोग्यं शस्त्रं वा पशुः भोग्यपदार्थस्तं जुषस्वेति प्रथमः, य एष रुद्रः प्राणोऽस्ति तस्यैष भागो यमम्बिकया वाण्या स्वस्रा विद्यया क्रियया वा सह सेवते यस्य सत्यवाणीरूपो भागः, यश्च ते आखुः खनितृपदार्थो दर्शनीयो भोग्यपदार्थस्तं जुषस्व सेवते सर्वे तं सेवेरन्' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, स्तोतृषु रोदयितृत्वानुपपत्तेः। सुष्ठु अस्यतीति व्युत्पत्त्या क्रिया विद्या वा कथं बोध्यते? न च भोग्यपदार्थभोगे विद्याकर्मसम्बन्धोऽनिवार्यः। एवमेव स्वाहापश्वादिशब्दार्थोऽपि चिन्त्यः।

अध्यात्मपक्ष में—साधक भक्तगण भगवान् के उपकरण—बलि आदि के रूप में अपने को समझा करते हैं और अहर्निश भगवदाराधना में तत्पर रहा करते हैं।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह मन्त्राक्षरों के अनुगुण नहीं है। शतपथ, निरुक्त आदि के विरुद्ध होने से वह उपेक्षणीय है।

निरुक्ते तु—'रुद्रो रौतीति सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्। यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्' (नि० १०।५) इति। 'रुद्रः कस्मात्? रौतीति सतः। स हि स्तनयित्नुशब्दं करोति, रोरूयमाणो द्रवतीति वा। शब्दं कुर्वाणो मेघोदरस्थो द्रवतीति। रोदयतेर्वा शत्रूनसौ रोदयति दुःखयति। ब्राह्मणमपि च भवति—'यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्'। ऐतिहासिकैस्तत्सङ्गच्छते। स किल पितरं प्रजापतिमिषुणा विध्यन्तमनुशोचन्नरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं यदरोदीदिति हारिद्रविकम्' इति दुर्गाचार्यः। नहि स्तोतृष्वयमर्थः सङ्गच्छते, न वा प्राणे सम्भवति, रोदनादेः शरीरिधर्मत्वात्, पूर्वोक्तशतपथविरोधाच्च।

यच्च—'सुभद्राहरणानन्तरं बलरामोऽर्जुनाय कथयति—हे रुद्र! शत्रुरोदक, महाभारतसारानुसारेण रुद्रावतार वा, एष ते भागो भजनीयो वरवधूपहरणलक्षणः, तं मयोपहूतं स्वस्रा मम पितृभगिन्या कुन्त्या सहेति पुनरुक्तिरादरार्था। पशुरनागत(दूर)दर्शी मानुषः, बुद्धिरिति यावत्, ते तव आखुः मूषक इव धरायामाखननेन यथार्थतत्त्वे अन्तः प्रविशति। सत्तर्कादिना मीमांसैवात्र खननम्' इति, तदेतन्न मनोज्ञम्, तादृशाध्याहारादीनां निर्मूलत्वात् ॥ ५७ ॥

अव॑ रु॒द्र म॑दीमह्यव॑ दे॒व त्र्य॑म्बकम्। यथा॑ नो॒ वस्य॑सस्कर॒द्यथा॑ नः॒ श्रेय॑सस्कर॒द्यथा॑ नो व्यवसा॒यया॑त् ॥ ५८ ॥

द्वे रौद्रयौ पङ्क्तिककुभौ। बन्धोरार्षम्। यस्य द्वितीयः पादो द्वादशाक्षरः प्रथमतृतीयावष्टाक्षरौ सा ककुप्। द्वयोरपि जपे विनियोगः। 'आगम्यावरुद्र मदीमहीति जपन्ति' (का० श्रौ० ५।१०।१२)। 'अथ पुनरेत्य जपन्ति। अव रुद्र' इत्याशीरेवैषैतस्य कर्मणः' (श० २।६।२।११)। अथ तदनन्तरं चतुष्पथादग्निसमीपमागत्य अवरुद्र भेषजमिति च मन्त्रौ सर्वे जपेयुः। मन्त्रार्थस्तु—अवादीमहि अवदीयामहै हविर्भागेन रुद्रमयुत्य पृथक्कृत्य प्रजा रक्षामहै दुःखानि नाशयामः। 'दीङ् क्षये, दीङ् रक्षणे' लोटि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) शब्लुकि 'घुमास्था…' (पा० सू० ६।४।६६) इतीत्वम्। देवं देवनशीलं त्र्यम्बकं स्त्रियाम्बिकया सहितम् अवादीमहि। स च रुद्रो यथा येन प्रकारेण नो अस्मान् वस्यसो वसीयसो वसुमत्तमान् करत् कुर्यात्, नो यथा श्रेयसः प्रशस्यतरान् करत् कुर्यात्, यथा नो व्यवसाययाद् व्यवस्येत व्यवसितार्थान् करत् कुर्यात्, तथा अवादीमहीति। यद्वा—रुद्रं रागादिद्रावकं देवमसौ रुद्र इति मनसावगम्य अवादीमहि। यथा त्वदनुग्रहादन्नं भक्षयेम तथा त्र्यम्बकं त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य तं तादृशं देवमवगम्य त्रिनेत्रोऽयमिति मनसावगम्य अवादीमहीत्यनुवर्तते, यथा नोऽस्मान् वस्यसः वसुमत्तमान् करत् कुर्यात्, यथा नः श्रेयसः प्रशस्यतरान् कुर्यात्, यथा येन

किसी ने इस मन्त्र को बलराम-अर्जुन संवादपरक लगाया है। वह भी उचित नहीं है, क्योंकि जो अध्याहार आदि किये हैं, वे सब निर्मूल हैं ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—**चित्त में रुद्र का और त्र्यम्बक का ध्यान करके अथवा अन्य देवताओं से पृथक् करके हम रुद्र को अन्न खिलाते हैं। वह रुद्र हमें निवसनशील और ज्ञाति में श्रेष्ठ कर दे। तथा वह हमें समस्त कार्यों में शीघ्र निर्णय लेने की शक्ति प्रदान करे, एतदर्थ हम उसका जप करते हैं। 'अव रुद्र मदीमहि' इत्यादि दो मन्त्रों का जप करे ॥ ५८ ॥**

भाष्यसार—वह रुद्र हमें धन-पुत्र-धर्म-दीप्ति को यथेष्ट दे। हम अच्छी तरह से अपने घर में रह सकें, ऐसा गृह, सुन्दर यश-प्रतिष्ठा और निर्णायक शक्ति हमें वह प्रदान करे। यह प्रार्थना की गई है।

प्रकारेण नो व्यवसाययात् सर्वेषु कार्येषु निश्चययुक्तान् कुर्यात्, तथैवैनं भजामः। यद्वा अवयुत्य अन्याभ्यो देवताभ्यः पृथक्कृत्य रुद्रं अदीमहि आदयामो भोजयामः। 'अद् भक्षणे' इत्यस्मात् 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इत्यार्धधातुकत्वाल्लिङि णिचो लोप । अवगम्य त्र्यम्बकमादयामः। यथा नो वस्यसः वस्तुतरान् अतिशयेन वसनशीलान् दीप्तिमत्तमान् वा करत् कुर्यात्, सर्वकार्येषु निश्चययुक्तान् कुर्यात्, तथैवैनं जपामः। धनपुत्रादिभिर्दीप्तिमत्तमान् स्थितिशीलान् प्रशस्यतमान् व्यवसितमतीन् यथा भगवान् कुर्यात्तथा जपामः।

अध्यात्मपक्षे—रुद्रं सर्वदुःखद्रावकं दुष्टरोदकं वा देवं जगद्रूपेण क्रीडमानं द्योतमानं वा त्र्यम्बकं त्रिनेत्रं त्रिकालज्ञं वा भगवन्तं शिवं परप्रेमास्पदप्रत्यगात्मत्वेनावगम्य अदीमहि सर्वदुःखमयं संसारं नाशयामः, आत्मानं रक्षयामो वा। यथा भगवान् नो वस्यसो ब्रह्मणि स्थितिशीलान् करत् कुर्यात्, यथा नः श्रेयसो ब्रह्मात्मरूपान् करत्, यथा सोऽस्मान् परावरे ब्रह्मणि व्यवसितमतीन् करत्, तथा तमनुकूलयामः।

दयानन्दस्तु—'वयं त्र्यम्बकं देवं रुद्रं जगदीश्वरमुपास्य दुःखान्यवादीमहि अवक्षयायेम, स यथा नोऽस्मान् वस्यसोऽवकरत्, यथा नोऽस्मान् श्रेयसोऽकरत्, यथा नो व्यवसाययेत्, तथा तं वसीयांसं श्रेयांसं व्यवसायप्रदं परमेश्वरमेव प्रार्थयामः' इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, त्रिषु कालेष्वेकरसं ज्ञानं यस्येत्यत्र कालाद्यध्याहारापेक्षया त्रीण्यम्बकानि यस्येति व्युत्पत्तेर्लाघवयुक्तत्वात्। शतपथरीत्या तु मन्त्रस्य रुद्रदेवपरत्वमेव युक्तम् ॥ ५८ ॥

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै ॥ ५९ ॥

हे रुद्र! त्वं स्वरूपेणैव भेषजम् औषधमसि, सर्वरोगमूलदुरितनिबर्हणहेतुत्वात्। अतस्त्वं सुखं सुप्राप्तं भेषजम् अस्मदीयेभ्यो गवाश्वादिभ्यो देहि। यद्वा भेषजवत् सर्वोपद्रवनिवारकोऽसि, अतोऽस्मदीयेभ्यो गवाश्वपुरुषेभ्यः सुखं प्राप्तुं शक्यं यद् भेषजं सर्वव्याधिनिवारकमस्ति तद्देहि, 'यावन्त एव ग्राम्याः पशवस्तेभ्यो भेषजं करोति' (तै० ब्रा० १।६।१०।४) इति तित्तिरिश्रुतेः। मेषाय मेष्यै च सुखं देहि, सु हितं खेभ्यः प्राणेभ्य इति सुखम्।

अध्यात्मपक्षे तु—'हे रुद्र परमेश्वर! त्वं भेषजमसि ब्रह्माकारवृत्तावभिव्यक्तः सन् सर्वस्यैवाविद्यातत्कार्यात्मकप्रपञ्चस्य बाधकत्वाद् अस्मदीयगवे इन्द्रियोपलक्षिताय बाह्यान्तःकरणसमूहाय भेषजमसि भवदीयध्यानेन

अध्यात्मपक्ष में—भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि वह हमारी बुद्धि को परावर ब्रह्म में स्थिर कर दे।

स्वामी दयानन्द ने शतपथ के विपरीत ही अर्थ किया है, अतः उसे अप्रामाणिक ही कहा जायगा ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ **हे रुद्र! तुम औषधि के तुल्य समस्त अपद्रवों के निवारक हो। अतः हमारे गाय, अश्व और भृत्य आदि को सर्वव्याधिनिवारक औषधि दो और मेष तथा मेषी के प्राणों की हितकारक औषधि को दो ॥ ५९ ॥**

भाष्यसार—रुद्रदेवता स्वरूपतः ही औषधिरूप हैं, क्योंकि वे समस्त रोगों के मूलभूत पापों के नाशक हैं। अतः तुम सुप्राप्त औषध हमारे गवाश्वादिकों को दो।

अध्यात्मपक्ष में—हे रुद्र परमेश्वर! तुम ब्रह्माकारवृत्ति में अभिव्यक्त होकर सम्पूर्ण अविद्या और उससे उत्पन्न हुए प्रपञ्च के नाशक हो। अतः हमारे बाह्याभ्यन्तर करणसमूह के लिये भेषज (औषध) रूप हो, अर्थात् आपके अनुग्रह से समस्त करणों के दोष दूर हो जाते हैं और सादुगुण्य का लाभ होता है।

भवदनुग्रहेण तस्य सर्वदोषबाधात् साद्गुण्यसम्पत्तेश्च। पुरुषाय प्रत्यगात्मने च भेषजमसि, अविद्यादिदोषनिवर्तकत्वात्। मेषाय 'मिषु सेचने' सेक्त्रे सर्वाभीष्टवर्षकाय, मेष्यै सर्वाभीष्टवर्षित्र्यै बुद्ध्यै च, अश्वाय व्यापनशीलाय प्राणाय च सुखं देहि स्वात्मतादात्म्यापादनेन स्वात्मरूपान् कुरु।

दयानन्दस्तु—'हे रुद्र जगदीश्वर! यस्त्वं शरीररोगनाशकत्वाद् भेषजमसि, आत्मरोगदूरीकरणाद् भेषजमसि, एवं सर्वेषां दुःखनिवारकत्वाद् भेषजमसि, स त्वं नोऽस्माकं गवेऽश्वाय पुरुषाय मेषाय मेष्यै सुखं देहि' इति, तत्तु श्रुतिसूत्रविनियोगविरुद्धत्वान्न सङ्गतम् ॥ ५९ ॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥ ६० ॥

द्वे अनुष्टुभौ! उभयोः परिक्रमणार्थे विनियोगः। 'अग्निं त्रिः परियन्ति पितृवत् सव्योरूनाघ्नानास्त्र्यम्बकमिति' (का० श्रौ० ५।१०।१३)। सर्वेऽप्रदक्षिणं दक्षिणेन पाणिना सव्यानूरूंस्ताडयन्तः परियन्ति। 'अथापसलवि त्रिः परियन्ति। सव्यानूरूनुपघ्नानास्त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव ''' मामृतादित्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते तदु ह्येव शमिव यो मृत्योर्मुच्यातै नामृतात्तस्मादाह मृत्योर्मुक्षीय मामृतादिति' (श० २।६।२।१२)। अथाप्रदक्षिणं त्रिरग्नेः परिगमनं विधत्ते—अथापसलवीति। त्र्यम्बकस्य हविषः कर्तारः सर्वे चतुष्पथेऽग्निमपसलवि अपसव्यं त्र्यम्बकमिति मन्त्रेण परियन्ति। किं कुर्वन्तः सव्यान् वामानूरून् उपघ्नाना हस्तेन वादयन्तः।

मन्त्रार्थस्तु—त्रीणि अम्बकानि सूर्यशशाङ्कवह्निरूपाणि नेत्राणि यस्य सः, यद्वा स्त्री अम्बिका स्वसा पत्नी यस्य सः। सुगन्धिं शोभनो गन्धो यस्यासौ सुगन्धिस्तं दिव्यगन्धोपेतं पुष्टिवर्धनं पुष्टेर्धनधान्यबुद्धिवैभवादेर्वर्धयितारं रुद्रं वयं यजामहे पूजयामः। तत्प्रसादादहम् उर्वारुकं कर्कटीफलं परिपक्वं सद् यथा प्रसवबन्धनात् स्वयमेव मुच्यते, तथा मृत्योर् अपमृत्योर् मरणात् संसारमृत्योर्वा मुक्षीय मुक्तो भूयासम्। अमृताद् अमरणात् स्वर्गरूपाद् मुक्तिरूपाद्वा मा मुक्षीय मा वियोगो भवत्विति—आशीरेवैषा। ब्राह्मणं तात्पर्यमाह—मृत्योर् मरणाद्

स्वामी दयानन्द की व्याख्या श्रुति-सूत्र प्रतिपादित विनियोग के विरुद्ध होने से असंगत है ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य गन्ध से युक्त, मृत्युरहित, धन-धान्यवर्धक, त्रिनेत्र जो रुद्र, उसकी हम पूजा करते हैं। उस कारण हम अपमृत्यु और संसाररूप मृत्यु से मुक्त हो जायेंगे। जिस प्रकार ककड़ी का फल अत्यधिक पक्व होनेपर अपने वृन्त (डण्ठल) से टूट जाता है (मुक्त हो जाता है), उसी प्रकार हम भी, मृत्यु से छूट (मुक्त) जायेंगे। किन्तु अभ्युदय और निःश्रेयसरूप अमृत से मात्र हमारा सम्बन्ध न छूटने पावे। (अग्रिम वाक्य कुमारिकाओं का है) पति की प्राप्ति करानेवाला, सुगन्धविशिष्ट त्रिनेत्र जो इन्द्र, उसकी हम पूजा करती हैं! ककड़ी का फल परिपक्व होने पर जैसे अपने डण्ठल से छूट जाता है, उसी प्रकार हम कुमारियाँ माता, पिता, भाई आदि मातृगृह के बन्धुजनों से, उस कुल से, उस घर से दूर जायेंगी। किन्तु त्र्यम्बक के प्रसाद से हम अपने पति से दूर न जाँय, अर्थात् पतिगोत्र में ही बनी रहें।

जिस प्रकार पितृमेध में पुत्रादिकों के द्वारा तीन बार उलटी प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करनी होती है और देवता के पूजन में तीन बार सीधी प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करनी होती है, उसी प्रकार यहाँ पर सबको 'त्र्यम्बकम्' इस मन्त्र

मुच्यातै मुक्तो भवेत् सोऽमृतान्न मुक्तो भवति, एतदेव प्राणिनां शमिव सुखं भवति। 'तदु हापि कुमार्यः परीयुः। भगस्य भजामहा इति या ह वै सा रुद्रस्य स्वसा अम्बिका नाम सा ह वै भगस्येष्टे तस्मादु हापि कुमार्यः परीयुर्भगस्य भजामहा इति' (श० २।६।२।१३)। अस्य परिगमनस्य भगप्रसिद्धिहेतुत्वमुपपादयति—तस्मादिति। तदा कुमार्यस्तमग्निमुक्तप्रकारेण परीयुः। भगस्य सौभाग्यस्य कर्मणि षष्ठी, सौभाग्यं भजामहै प्राप्नुयामहै। अम्बिका नाम या रुद्रस्य स्वसा सा भगस्येष्टे सौभाग्यस्य स्वामिनी। तस्माद्भगप्राप्तिकामाः कुमार्योऽपि परीयुः। तत्र कुमारीणां परिगमनेऽन्योऽपि मन्त्रस्तमाह—'तासामुतासां मन्त्रोऽस्ति। त्र्यम्बकं···मामुत इति। सा यदित इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह मामुत इति। पतिभ्यस्तदाह पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा तस्मादाह–मामुत इति' (श० २।६।२।१४)। त्र्यम्बकं त्रिनेत्रं सूर्यशशाङ्कवह्निनयनं पतिवेदनं पतिर्विद्यते लभ्यते 'विद्लृ लाभे' अनेनेति पतिवेदनः पतिलम्भयिता रुद्रस्तम्। अन्यत् पूर्ववदेव। चतुर्थपादस्य तात्पर्यमाह—इत इति। इदंशब्देन पितृकुलं परामृश्यते। अस्मात् पितृकुलाद् ज्ञातिभ्यः सकाशादहं मुक्षीय मुक्ता भूयासम्। अमुतोऽमुष्माद् विवाहादूर्ध्वं पत्युः कुलाद् मा मुक्षीय विप्रयुक्ता न भवेयम्। जनकस्य कुलं गोत्रं च परित्यज्य पत्युर्गेहे गोत्रे सर्वदा वसामीति। अग्निहोत्रादिधर्मे पत्या सहैव स्त्रिया अधिकारः। अतः स्त्रीणां पतय एव प्रतिष्ठा। एतेन नियोगेनैकादशपतिवरणमत्यन्तमेव वेदबाह्यमिति मन्तव्यम्।

अध्यात्मपक्षे तु—त्र्यम्बकं त्रिनेत्रं सगुणसाकारं सूर्यशशाङ्कवह्निनयनं महाविराजं तदुपलक्षितं निर्गुणं निराकारं परमेश्वरं यजामहे भेदेनाभेदेन वा समर्चयामः। सुगन्धिं दिव्यगन्धं सुयशसं वा, परमेश्वरस्य सर्वकामसर्वरससर्वगन्धादिविशिष्टत्वादशेषविशेषातीतत्वाच्च। सर्वाभीष्टानां पुष्टेः पोषणस्य वर्धयितारं प्राणान्तःकरणादेर्विशिष्टरूपेण तस्यैव सर्ववृद्धिहेतुत्वात्, 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते' इति छान्दोग्यश्रुतेः। बन्धनाद् वृन्तादुर्वारुकमिवाहं तत्प्रसादात् संसारबन्धनाद् मुक्षीय मुक्तो भूयासम्। तथैव पतिवेदनं जीवानां पत्युः परमेश्वरस्य प्रापकम्, तदनुग्रहादेव तत्प्राप्तिप्रसिद्धेः, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठोप० १।२।२२) इति श्रुतेः। इतः कर्मबन्धनाद् देहादिपञ्चकोशबन्धनाद् वृन्तादुर्वारुकमिव मुक्षीय, अमृतात् पत्युः परमेश्वरस्य सान्निध्यलक्षणादमृतान्न मुक्षीयेति।

दयानन्दस्तु—'वयं सुगन्धिं पुष्टिवर्धनं देवं यजामहे नित्यं पूजयेमहि। एतस्य कृपयाहं बन्धनादुर्वारुकमिव मृत्योर्मुक्षीय मुक्तो भूयासम्। अमृतान्मा मुक्षीमहि मा श्रद्धारहिता भूयास्म वयं सुगन्धिनं पतिवेदनं त्र्यम्बकं जगदीश्वरं यजामहे। एतदनुग्रहेण वयं बन्धनादुर्वारुकमिवेतो मुक्षीय, अमुतो मोक्षसुखात् सर्वस्य सुखफलाद् धर्माद् विरक्ता मा भूयास्म' इति, तदपि शतपथविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव। सुगन्धीत्यत्र गन्धपदेन कीर्तिग्रहणं मुख्यार्थ(गन्ध)त्यागश्च निर्मूले एव। तस्मात् त्र्यम्बकपदेन त्रिनेत्रः सुगन्धिपदेन दिव्यगन्धोपेतः सगुणः

से अग्नि की तीन परिक्रमा उलटी और तीन परिक्रमा सीधी लगानी चाहिये। उसी तरह यजमान के घर की कुमारिकाएँ भी उत्तरार्ध के 'त्र्यम्बकम्' मन्त्र से अग्नि की तीन प्रदक्षिणा करें॥ ६०॥

भाष्यसार—अग्निहोत्रादि धर्मानुष्ठान में पति के सहित ही स्त्री को अधिकार है, अतः पति के रहने में ही स्त्रियों की प्रतिष्ठा है।

अध्यात्मपक्ष में—ककडी के फल की तरह देहादि पञ्चकोष रूप बन्धन से हमारा छुटकारा हो, किन्तु परमेश्वर के सान्निध्य लक्षण अमृत से हम दूर न हो पावें।

साकारश्च भगवानित्येव सिद्धयति। शतपथे द्वितीयस्य मन्त्रस्य कुमारीणामग्निपरिक्रमणे विनियोग उक्तः। एकस्यैवार्थस्य बोधकत्वे पौनरुक्त्यापातश्च।

यत्तु—'अर्जुनोऽन्ये वा त्र्यम्बकप्रार्थनया मृत्योः संसारभयात् प्रतिज्ञाभङ्गभयाद्वा भगवन्तं प्रसाद्याभीष्टं प्राप्नुवन्ति। सीतारुक्मिणीसुभद्राद्याः कुमार्योऽपि भगवन्तमभ्यर्थ्य स्वाभीष्टं पतिं लभन्ते। एतेन मोक्षात्पुनरावृत्ति-सिद्धान्तो जीवन्तं मृतं वा पतिं पतिकुलं परित्यज्य पत्यन्तरस्वीकरणसिद्धान्तश्चापास्तो वेदितव्यः॥ ६०॥

एतत्ते रुद्राऽवसं तेन परो मूजवतोऽतीहि। अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिꣳसन्नः शिवोऽतीहि॥ ६१॥

इयमपि रौद्री तारपङ्क्तिश्छन्दः। यस्या अन्त्यौ द्वादशाक्षरावाद्यावष्टाक्षरौ पादौ सा तारपङ्क्तिः। सर्वे चैते प्रजापतिदृष्टाश्चातुर्मास्यमन्त्राः। 'अथैतान् यजमानोऽञ्जलौ समोप्य। ऊर्ध्वानुदस्यति यथा गौर्नोदाप्नुयात् तदात्मभ्य एवैतच्छल्यान् निर्मिमते। तान् विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति भेषजमेवैतत्कुर्वते तस्माद्विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति' (श० २।६।२।१६)। अत्र हुतावशिष्टानां त्रैयम्बकानां पुरोडाशानां प्रतिपत्तिं विधत्ते—अथैतानिति। उपयुक्तद्रव्याणां विधिनोत्सर्गः प्रतिपत्तिः। एतान् पुरोडाशान् यजमानस्याञ्जलावध्वर्युः संवपेत्। यजमानश्च तान् ऊर्ध्वानुत्क्षिपति यथा गौः पृथिवी तान् पुरोडाशान् नोदाप्नुयात् उत्क्षिप्ताः पुरोडाशा यथा भूमौ न पतन्ति तथान्तरिक्षे पुनरञ्जलिना धारयेत्। तदुक्तं कात्यायनेन 'रौद्रान् यजमानोऽञ्जलिनोदस्यत्यगोः प्रापणम्' (का० श्रौ० ५।१०।१७)। एतेन उदसनेन (उत्क्षेपणेन) आत्मभ्य ऋत्विग्यजमानाः स्वस्वशरीरेभ्य एव शल्यान् निर्मिमते निर्हरन्ति। तेषामुत्क्षिप्तानां पुरोडाशानां पुनर्ग्रहणाशक्तौ उपस्पर्शनं विधत्ते— तान् विलिप्सन्त इति। लब्धुमिच्छन्तो लिप्सन्तः, तद्विपरीता विलिप्सन्तः लब्धुमशक्ताः, भूमौ पतितान् तान् पुरोडाशान् पश्चादुपस्पृशन्ति। 'प्रतिगृह्णात्येनानशक्य उपस्पर्शनम्' (का० श्रौ० ५।१०।१८)। अशक्ये अन्तरिक्षात् पततो ग्रहणे भूमौ पतितानुपस्पृशेदिति सूत्रार्थः। 'तान् द्वयोर्मूतकयोरुपनह्य वेणुयष्ट्यां वा कुपे वोभयत आबध्योदङ परेत्य यदि वृक्षं वा स्थाणुं वा वेणुं वा वल्मीकं वा विन्देत्तस्मिन्नासजत्येतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहीत्यवसेन वा अध्वानं यन्ति। तदेनꣳ सावसमेवान्ववार्जति यत्र यत्रास्य चरणं तदन्वत्र ह वा अस्य परो मूजवद्भ्यश्चरणम्। तस्मादाह तेन परो मूजवतोऽतीहीत्यवततधन्वा पिनाकावस इत्यहिꣳसन्नः

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह शतपथ के विरुद्ध है। मुख्यार्थ का त्याग करने में कोई कारण भी नहीं है॥ ६०॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र! तुम्हारा यह 'अवस' संज्ञक हविःशेष भोज्य है ('अवस' का अर्थ है—प्रवास में किसी सरोवर के समीप विश्राम करने पर भक्षण योग्य ओदनविशेष)। उसके सहित तुम अपने धनुष की प्रत्यंचा को एक प्रान्तभाग से हटाकर मूजवान् पर्वत के उस पार जाओ। (मूजवान् पर्वत पर रुद्र निवास करते हैं)। प्रवास करते समय तुम अपने 'पिनाक' नामक धनुष को सब ओर से आच्छादित कर लेना, जिससे कोई भी प्राणी तुम्हारे धनुष को देखकर भयभीत नहीं होगा। हे रुद्र! तुम चर्माम्बर धारण करके हिंसा न करते हुए हमारी पूजा से सन्तुष्ट होकर मूजवान् पर्वत को लाँघ जाओ। व्रीहि और यव की गड्डी बाँधकर बाँस की कावड के दोनों छींकों में हविर्द्रव्य का अवशिष्ट भाग डालकर उस कावड़ को ऊँचे वृक्ष पर, बाँस पर या बामी पर 'एतत्ते' इस मन्त्र से रख दे॥ ६१॥

शिवोऽतीहीत्येवैतदाह कृत्तिवासा इति निष्वापयत्येवैनमेतत्स्वपन्नु हि न कश्चन हिनस्ति तस्मादाह कृत्तिवासा इति' (श० २।६।२।१७) । द्वयोर्मूतकयोः, यत्र तृणमय आवपने व्रीहियवादिधान्यमाबध्यते तन्मूतम्, मूतमेव मूतकम्, तयोर्द्वयोर्मूतकयोः, रौद्रान् पुरोडाशानुपनह्य वेणुयष्ट्यामुभयत आबध्य यद्वा कुपे, वेणुनिर्मितभाजनद्वययुक्तो यज्ञियवृक्षजो दारुविशेषो वीवधापरपर्यायः (तुलादण्डः), तस्मिन्नुभयत उभयपार्श्वयो-र्वैणवभाजनयोस्तान् पुरोडाशानाबद्ध्य स्कन्धेनादाय उदङ् परेत्य उदङ्मुखो दूरं गत्वा वृक्षस्थाण्वादीनामन्यतम-स्मिन्नुपलब्धे मूतकद्वयोपेतां यष्टिं वीवधं वा आसजति आलगयति । ततो गोभिराघ्रातुमशक्यत्वाद् गावो रोगं न प्राप्नुवन्ति । तदप्युक्तं सूत्रकृता—'मूतयो कृत्वा वेणुयष्ट्यां कुपे वाऽऽसज्योभयतः स्थाणुवृक्षवंशवल्मीकाना-मन्यतमस्मिन्नुत्क्षेपणवदासजत्येतत्त इति' (का० श्रौ० ५।१०।१९) । आसजने मन्त्रमाह—एतत्त इति ।

मन्त्रार्थस्तु—हे रुद्र ! ते तव एतत् तृप्तिकरं हविःशेषाख्यं भोज्यम् असवं पाथेयमन्नं तत्स्वीकृत्य तेन साधनेन मूजवतः परो मूजवान्नामोदीच्यः पर्वतः तस्य परः परस्तात् भागम् अतीहि अतिक्रम्य गच्छ । मास्मानधितिष्ठेति भावः । मूजवान्नाम कश्चित्पर्वतो रुद्रस्य वासस्थानं 'मूजवान् पर्वतः' (नि० ९।८) । अवस-शब्देन देशान्तरं गच्छतो मार्गे तडागादिसमीपे भोक्तव्यो भोज्यविशेष उच्यते । हे रुद्र ! एतेन मूतद्वयगतेन हविः-शेषाख्येन भोज्येन सहितस्त्वं मूजवतः परस्ताद्भागमतीहि अतिक्रम गच्छ । कथंभूतस्त्वम् ? अवततधन्वा आरोपितधनुष्कः, अस्मद्विरोधिनां निवारितत्वादित ऊर्ध्वं ज्यासमारोपणस्य प्रयोजनाभावादवरोपणमेव युक्तम् । पुनः कीदृशः ? पिनाकावसः । 'पिनाकः प्रतिपिनष्टि अनेनेति' (नि० ३।२१) पिनाकाख्यं त्वदीयं धनुरावस्ते सर्वत आच्छादयतीति पिनाकावसः । यथा धनुर्दृष्ट्वा प्राणिनो न बिभ्यति तथा त्वदीयं धनुर्वस्त्रादिना प्रच्छाद्य गच्छेत्यादि सायणसम्मतोऽर्थः । 'कृत्तिवासा इति । अनपेक्षमेत्योपस्पृशन्त्यपः (का० श्रौ० ५।१०।२०-२१) इति । कृत्तिवासा इति मन्त्रेण आसक्तानवलग्नान् पुरोडाशान् निश्चलीकुर्यात् । उन्नते वृक्षादौ मूतद्वयमवसज्य प्रत्यावर्तमाना मूतद्वयस्यावेक्षणमकृत्वा वेदिसमीपे समागत्योदकमुपस्पृशेयुः ।

शतपथार्थस्तु—हे रुद्र ! त्वं कृत्तिवासा हस्तिचर्माम्बरो नोऽस्मानहिंसन् हिंसामकुर्वन् शिवः अस्मदीयपूजया सन्तुष्टः शान्तः कोपरहितो भूत्वा अतीहि पर्वतमतिक्रम्य गच्छ । पूर्वोक्तशतपथब्राह्मणे मन्त्रगतमवसमिति शब्दं प्रशंसति - अवसेन वा इति । लोके अवसेन अन्नेन पाथेयेन हि जना दूरमध्वानं यन्ति । तत् तथा सति एनं रुद्रं सावसं वससहितमेव अस्मात् स्थानाद् अन्ववार्जति अनुगमयति रुद्रस्य गन्तव्यप्रदेशम् । यत्र यत्रेति । यस्मिन् यस्मिन् स्थाने अस्य देवस्य चरणं वर्तनं भवति तत्तत्स्थानमनुलक्ष्य मूजवतः परस्ताद् भागमतीहि । परो मूजवत इति भागस्याभिप्रायमाह—अत्र ह वेति । अस्य रुद्रस्य अत्र मूजवत्पर्वतसम्बन्धिनि परः परस्ताद् भागे चरणं वर्तनं भवति । तस्मात् तेन परो मूजवतः । द्वितीयभागमनूद्य व्याचष्टे—अवततधन्वेति । अवततमनारोपितज्यं धनुर्यस्य स तथोक्तः । पिनाकावसः पिनाक इति तस्य धनुषो नामधेयम् । तस्य अवसो व्यापारो परमो यस्य स तथा । एतेन विशेषणद्वयेन फलितमर्थमाह—अहिंसन्निति । हे रुद्र ! नः अस्माकं हिंसामकुर्वन् शिवः सुखकरः सन्नतीहि अतिक्रम्य गच्छेति । अन्तिमं भागमनूद्य तात्पर्यमाह—कृत्तिवासा इति । कृत्तिः त्वग् वास आच्छादनं

भाष्यसार—हुतावशिष्ट त्रैयम्बक पुरोडाशों की प्रतिपत्ति का विधान किया गया है । रुद्र के लिये तृप्तिकर पर्याप्त पाथेय के रूप में यह हविःशेष है, उसको स्वीकार कर के उत्तर दिशा में स्थित मूजवान् पर्वत के उस पार चले जाओ । हमारे बीच में मत रहो ।

अध्यात्मपक्ष में—हे रुद्र परमेश्वर ! तुम्हारा जो यह वेदान्त प्रसिद्ध 'रुद्र' नाम है, वह भक्तों के लिये पाथेय रूप है । भक्तों के लिये तुम स्वात्मतादात्म्य रूप से प्राप्त हो जाओ ।

यस्य सः। निःष्वापयत्येवैतत् स्वपन्नुहि न कञ्चन हिनस्ति। कृत्तिवासा इत्यनेन विशेषणेन कृत्तेर्मृदुतरत्वेन सुखकरत्वात् रुद्रस्वापो भवति। स्वापोऽपि किमर्थमित्यत आह—स्वपन्नुहीति। अत्र खलु लोके स्वपन् निद्रालुः पुरुषः कञ्चन न हिनस्ति। अतो रुद्रकृतबाधाविरहाय तस्य स्वापो युक्तः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे रुद्र परमेश्वर! ते तव एतत् प्रसिद्धं रुद्रनाम वेदान्तप्रसिद्धं जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलं स्वरूपं वा अवसं पाथेयं भक्तानामिति शेषः। शब्दादिमतो जगतः परः परस्ताद् भागमतीहि अतिक्रम्य प्रपञ्चातीतरूपेण इहि भक्तसाक्षात्कारगोचरो भव। शब्दार्थकस्य मुज्धातोश्छान्दसं दैर्घ्यम्। सगुणरूपेण अवततधन्वा अवतारितज्यधनुष्क आच्छन्नपिनाकः कृत्तिवासास्त्वं नोऽस्मान् अहिंसन् शिवः कल्याणरूपः सन्नतीहि स्वात्मतादात्म्येन प्राप्तो भव।

दयानन्दस्तु—'हे रुद्र शूरवीर युद्धविद्याविचक्षण सेनाध्यक्ष! अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाः परः प्रकृष्टसामर्थ्यः संस्त्वं मूजवतः पर्वतात् परं शत्रूनतीह्युल्लङ्घ्य तस्मात् परं गमय। यदेवत्ते तवावसं पालनमस्ति तेन नोऽस्मान् अहिंसन्नतीहि' इति, तदसङ्गतमेव, सम्भवति शक्यार्थे भाक्तस्यार्थस्याग्राह्यत्वात्। रुद्रपदस्य वेदेतिहासपुराणप्रसिद्धस्य सेनाध्यक्षपरत्वे मानाभावात्। बहूनां शत्रुरोदकानां मध्ये सेनाध्यक्षस्यैतन्नामत्वे विनिगमनाविरहाच्च। किञ्च, अतीहीत्यत्रापि ण्यर्थताङ्गीकारोऽपि निर्मूल एव। पिनाकपदं शिवधनुषि प्रसिद्धम्। तथा चामरसिंहः—'पिनाकोऽजगवं धनुः' (१।१।३५)। कृत्तिवद्वास इत्यपि गौणार्थतैव, कृत्तिर्वासो यस्येत्यर्थस्यैव स्वाभाविकत्वात्। शतपथविरोधस्तु स्पष्ट एव।

यत्तु कश्चित्—'पिनाको रुद्राङ्कुशो रुद्रधनुर्वा, तेनैवावसं रक्षणं कुशलं यस्य सः, स्वधनुष्कृतकुशलस्त्वमसि। वस्त्रापरपर्यायोऽवसशब्दो महीधराभिप्रेतो न मनोज्ञः' इति, तत्तुच्छम्, हेत्वनुक्तेः। सङ्कल्पमात्रेण सर्वसंहारकस्य रोगदोषादीनां द्रावकस्य नित्यनिरस्तारात्यादिसमस्तानर्थव्रातस्याकुशलत्वाप्रसक्त्या धनुष्कृतरक्षणानपेक्षणात्, भक्तानां रक्षणाश्वासनायैव तु धनुरादि धार्यते। भक्तविरोधिनां निवारितत्वेन यथा अवततज्यधनुष्कत्वमुक्तम्, तथैव लोकभयवारणाय पिनाकावरणस्यैवापेक्षितत्वात्।

यत्तु—'हे रुद्र प्राण! एतद् ब्रह्माण्डं ते अवसमन्नम्, तेन साधनेन परः श्रेष्ठः सन् मूजवतो नाडीवेष्टितहृदयस्थलस्योन्नतस्थानमतिक्रम्य भ्रुकुटिं गच्छ' इति, तदसङ्गतमेव, प्राणस्य जडत्वेन प्रार्थनाप्रेरणयोरविषयत्वात्, मूजवत्पदेन हृदयोन्नतस्थलग्रहणे प्रमाणाभावाच्च। अवततधन्वा अवरोपितप्रणवधन्वेत्यप्यसङ्गतम्, प्राणस्य प्रणवधन्वत्वाभावात्, साधकस्यैव तत्त्वाद् भ्रुकुटीं प्रति प्राणप्रवेशाय समाततप्रणवधनुष्कत्वापेक्षणात्। पिनाकः प्रणवोऽवसः अन्नं यस्य तथाभूतः स्वात्मनि प्रणवस्य लयस्य कारक इत्यपि बालभाषितम्, प्रणवस्यैव प्राणादीनां लयाधिकरणत्वात्, माण्डूक्यादौ व्यष्टिसमष्टिमयस्य स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चस्य प्रणवे लयप्रतिपादनात्। समष्टिप्राणो हिरण्यगर्भोऽपि तत्रैवान्तर्भूतः, 'यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव' (माण्डूक्योप० १।१) इति श्रुतेः। 'कृत्तिर्गृहमेव वासो यस्य' इत्यप्यसङ्गतम्, प्राणस्य पाण्डरवासस्त्वप्रसिद्धेः। अत एवाजातशत्रवे 'बृहन् पाण्डरवासाः सोमो राजेति गार्ग्येण प्राण उपदिष्टः। पाण्डरं शुक्लं वासो यस्य सोऽयं पाण्डरवासाः, अप्शरीरत्वात् प्राणस्य। अजातशत्रुणा सुप्तं पुरुषं प्रति बृहत् पाण्डरवासः सोम राजन्नित्यादिभिः प्राणः

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह असंगत ही है, क्योंकि शक्यार्थ के संभव रहते भाक्त (लाक्षणिक) अर्थ ग्राह्य नहीं होता। यह व्याख्या शतपथ के विरुद्ध भी है, अतः उपेक्षणीय ही उसे समझना चाहिये।

सम्बोधितः (बृ० उ० २।१।१५)। गगनमण्डलमतिक्रम्य प्राणप्रेषणादिप्रलापोऽपि मूढजनप्रतारणायैव, मन्त्रे तद्बोधकपदाभावात्।

एवमेव बाणासुरयुद्धप्रसङ्गे बाणरक्षणायागतं शिवं जृम्भणास्त्रेण मोहयित्वा श्रीकृष्णो रुद्रमाह—'गच्छ रुद्र ! स्वस्थानं मुञ्जवन्नामपर्वतं ततोऽपि वा परस्ताद् गच्छ शिवमिच्छसि चेत्परित्यज भक्तपक्षपातम्' इत्यादि, तदुन्मत्तप्रलपितमेव, श्रीमद्भागवतविरुद्धत्वात्। 'यदात्थ भगवंस्त्वं नः करवाम प्रियं तव। भवता यद् व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम्॥' (भा० पु० १०।६३।४६) इति हि श्रीमद्भागवतीयं पद्यम्। अनेन भगवता कृष्णेन भगवन्तं शिवं प्रति श्रद्धैव प्रकटिता ॥ ६१ ॥

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ ६२ ॥

आशीर्देवतोष्णिक्। यस्याश्चत्वारः पादाः सप्ताक्षराः सोष्णिक्। 'त्र्यायुषमिति यजमानो जपतीति' (का० श्रौ० ५।२।१६)। जपश्चायं वपनकालिकः। मन्त्रार्थस्तु—कश्यपस्य कश्यपनाम्नः प्रजापतेः सम्बन्धि त्र्यायुषं त्रयाणां बाल्य-यौवन-स्थविररूपाणामायुषां समाहाररूपम्। तथा जमदग्नेस्तन्नामकस्यर्षेस्त्र्यायुषं देवानामिन्द्रादीनां च यत् त्र्यायुषमस्ति तत् त्र्यायुषं सर्वं ममास्तु। अर्थात् कश्यपादीनां बाल्यादिषु यादृशं चरितं तादृशं चरितं मम भूयात्।

अध्यात्मपक्षेऽपि—साधका भगवन्तं प्रति जमदग्न्यादीनामिव ब्रह्मात्मसाक्षात्कारोपयोगिबहिरङ्गान्त-रङ्गसर्वविधसाधनमुक्तं त्र्यायुषं प्रार्थयन्ते। योगाभ्यासेन तपस्यया दीर्घायुष्ट्वं भवत्येव, 'ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः' (म० स्मृ० ४।९४) इत्यादिस्मरणात्। मार्कण्डेयादीनां दीर्घायुष्ट्वमपि स्मर्यते।

यत्तु कश्चित्—'आयुषां पूर्णत्वमभिप्रेतम्' इति, तत्तुच्छम्, तथात्वे कश्यपस्य जमदग्नेर्देवेष्विति प्रयोगवैयर्थ्यापत्तेः। न च कश्यपादीनामिवायुष्ट्वं सम्भवति, मनुष्येषु तादृङ्मन्त्रपरायणानामपि तादृशायुष्ट्वादर्शनात्।

दयानन्दस्तु—'हे रुद्र जगदीश्वर ! तव कृपया यद् देवेषु त्र्यायुषं यज्जमदग्नेस्त्र्यायुषं यत्कश्यपस्य त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु···' इति, भावार्थवर्णनप्रसङ्गे तूक्तम्—'अत्र चक्षुरिन्द्रियाणां कश्यप ईश्वरः स्रष्टॄणामुत्तमोऽस्तीति विज्ञेयम्। त्र्यायुषमित्यस्य चतुरावृत्त्या त्रिगुणादधिकं चतुर्गुणमप्याहुः। संगृह्यैतत्प्राप्त्यर्थं जगदीश्वरं प्रार्थ्य स्वेन पुरुषार्थश्च कर्तव्यः। तद्यथा—हे जगदीश्वर! भवत्कृपया यथा विद्वांसो विद्यापरोपकारधर्मानुष्ठानेनानादितया त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत् तावदायुर्भुञ्जते। तद्वयं प्राप्य त्रिशतवर्षं चतुःशतवर्षं वायुः सुखेन भुञ्जीमहि' इति, तदेतत्सर्वं मूर्खजनव्यामोहनमेव, प्रकृते चक्षुष इन्द्रियोत्तमत्वस्य कश्यपस्य स्रष्ट्रुत्तमत्वस्य चाप्रसक्तत्वात्, मन्त्रे

किसी अन्य व्याख्याकार ने भी जो मनमानी व्याख्या की है, वह भी 'हेतु' पूर्वक न रहने से निःसार है। मन्त्र में तदर्थबोधक कोई शब्द ही नहीं हैं। शब्द के बिना भी अर्थ बताना प्रतारणा मात्र है। श्रीकृष्ण-रुद्र संवादपरक व्याख्या तो उन्मत्तप्रलाप के समान ही की गई है ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—जमदग्नि, कश्यप और इन्द्रादि देवताओं ने अपनी बाल्य, यौवन और वार्धक्य अवस्थाओं में जो प्रशंसनीय चरित्र किये, वैसे चरित्र हमसे भी सम्पन्न हों। 'त्र्यायुषम्' इस मन्त्र का जप यजमान करे ॥ ६२ ॥

तादृशार्थबोधकपदाभावाच्च । न चात्र जमदग्निकश्यपपदाभ्यां चक्षुरीश्वरयोर्विवक्षा, तयोस्त्र्यायुषत्वाप्रसिद्धेः। कश्यपस्य प्रजापतेर्महर्षेर्जमदग्नेर्देवानां च बाल्ययौवनवार्धकप्रसिद्धिः । देवानाममरत्वमिव निर्जरत्वमप्यापेक्षिकमेव ।

यदुक्तम्—'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः' (श० ८।१।२।३), 'जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवति' (नि० ७।२४)। अनेनापि प्रमाणेन रूपगुणग्राहकं चक्षुर्गृह्यते। कश्यपस्य आदित्यस्येश्वरस्य। 'प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात् तत्कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति' (श० ७।५।१।५)। अनेन प्रमाणेनेश्वरस्य कश्यपसंज्ञा। एतन्निर्मितं त्रिगुणमायुर्लभेमहि' इति, तदपि न सङ्गतम्, प्रकृतमन्त्रे तदसङ्गतेरुक्तत्वात् । न च नित्यस्येश्वरस्यायुः परिमितम्, नित्यत्वेनैवेश्वरस्यानन्तत्वात् । अत एव त्रिगुणितत्वमपि न तस्य सम्भवति, अनन्ते त्रिगुणत्वायोगात् । न चेश्वरेण त्रिगुणं किञ्चिदायुर्निर्मितमित्यत्र प्रमाणमस्ति । न चायमेव मन्त्रस्तत्र प्रमाणम्, तस्य प्रसिद्धप्रजापतेस्त्र्यायुषानुवादेनापि सार्थकत्वोपपत्तेः ।

किञ्च, नात्र वस्तुतश्चक्षुरेव जमदग्निः, किन्तु गुणवृत्त्यैव चक्षुषि जमदग्नित्वारोप एव, त्वदुद्धृतनिरुक्तविरोधात् । तत्र हि जमदग्नेर्होतृत्वं प्रज्वलिताग्नित्वं चोक्तम् । न च तच्चक्षुषि सम्भवति, शतपथोक्तिविरोधात् । तथाहि शतपथस्याष्टमः काण्डश्चितिनाम्ना प्रसिद्धः । तत्र प्रथमाध्यायारम्भ एव प्राणभृत्संज्ञकानामिष्टकानामुपधानं विहितम् । तत्र प्राणभृतां प्राणरूपत्वमुक्तम् । तत्प्रशंसार्थानि—'प्राणा वै प्राणभृतः प्राणानेवैतदुपदधाति' (श० ८।१।१।१) इत्यादीनि वचनानि । याः प्राणभृदाख्या इष्टकास्ताश्चक्षुरादिप्राणात्मिकाः । एतेन प्राणभृदुपधानेनाग्नौ प्राणनेवोपदधाति । ताश्च प्राणभृदाख्या इष्टकाः पञ्चाशत्संख्याका दश दश उपधेया इत्यपि तत्रैवोक्तम्। 'ता दश दशोपदधाति' (श० ८।१।१।२)। दशसंख्याकाः प्राणाः सप्त शीर्षण्या द्राववाञ्चौ नाभिर्दशमीति संख्यासामान्यात् तासां प्राणरूपता सिद्धेति । ताश्च दशदशसंख्याका इष्टकाः पञ्चकृत्व उपदधाति । तेनाध्वर्युः पञ्चसंख्याकान् पशूनुपदधाति । एकैकस्मिन् पशौ दश दश प्राणान् स्थापितवान् भवति । तत एव तासामुपहितानां पशुशीर्षाणां समीप उपधानं विहितम् । 'अनन्तर्हिताः पशुभ्य उपदधाति' (श० ८।१।१।२) इति । तत्रैव तृतीयकण्डिकायां प्राणभृदुपधानेन प्रजापतेर्विस्रस्तप्राणानामुपधानमुक्तम् । पृष्ठसाम्नो वशिष्ठ उत्पन्न इत्युक्तम् । 'पृष्ठं निरमिमीत' (श० ८।१।१।५)। तत्रैव प्रसङ्गेन 'वशिष्ठ ऋषिः । प्राणो वै वशिष्ठ ऋषिः । यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वशिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः' (श० ८।१।१।६) इति श्रेष्ठयोगेन प्राणो वसिष्ठ उक्तः । तथैव 'मनो वै भरद्वाजः' (श० ८।१।१।९), तथैव—'यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः' (श० ८।१।२।३) इति । तेन गौण्या वृत्त्यैव चक्षुषो जमदग्नित्वमुक्तम् । यथा योषाया अग्नित्वम् । न तावता प्रसिद्धजमदग्न्यादिमहर्षीणामपलापः सम्भवति । जमदग्निप्रसङ्गस्तु निरुक्ते (७।२४) इत्थं प्रतिपादितो दुर्गाचार्येण—'छन्दोभयज्ञेषु दाशरात्रिकेषु यत्सूक्तं तत्सौर्यवैश्वानरम्, तदस्यैवाग्नेः । कुतस्तत्र ह्येतद्विशिष्टं पार्थिवाग्नेर्वाचकं लिङ्गं भवति—'जमदग्निभिराहुतः' (आ० श्रौ० ८।९) इति । जमदग्नयो ह्येनमाहुतिभिर्जुह्वति नादित्यमविधानादसम्भवाच्च । तस्मादत्रापि वैश्वानरलिङ्गं तदप्यस्य पार्थिवस्याग्नेर्व्यञ्जकं भवति ।

भाष्यसार—भाष्यार्थ सुबोध है ।

अध्यात्मपक्ष में—साधक मनुष्य भगवान् से प्रार्थना कर रहा है कि जमदग्नि आदि के समान ब्रह्मसाक्षात्कारोपयोगी बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग सर्वविध साधनयुक्त त्र्यायुष हमें प्राप्त हो । योगाभ्यास से दीर्घायुष्ट्व प्राप्त होता है ।

किसी व्याख्याकार ने आयु की पूर्णता अभिप्रेत बताई है, किन्तु वह व्याख्या ठीक नहीं है ।

'वृषा पावक दीदिहि' इति मन्त्रभागः। वृषा वर्षिता हे वैश्वानर पावक ! द्युमद् दीप्तिमद् यस्त्वं जमदग्निभिराहुतः अभिहुतः स त्वमस्माकं कर्मसु नित्यं दीदिहि दीप्यस्व। के जमदग्नय इत्यत आह—नित्यं प्रजमिताग्नयः प्रभूताग्नयः प्रज्वलिताग्नयो वा। इत्येवमत्र न जमदग्निपदेन चक्षुरुच्यते, किन्तु ये प्रभूताग्नय ऋषयो ये यज्ञार्थं नित्यं प्रज्वलिताग्नयस्त एवात्र जमदग्निपदेनोच्यन्ते। तैरेवाग्नेरभिहुतत्वमपि सम्भवति। नात्र जमदग्निपदेन चक्षुषो ग्रहणं सम्भवति, तस्याहुतिकर्तृत्वासम्भवात्। तथैव कश्यपस्य प्रजापतेः कूर्मत्वोक्त्यापि न तत्स्वरूपापलापः सम्भवति। अत्रापि 'कूर्ममुपदधाति रसो वै कूर्मः' (श० ७।५।१।१) इत्यादिना कूर्मोपधानमुक्तम्। तत्रैव कूर्मस्य पृथिव्यादिलोकत्रयात्मकत्वमुक्तम्। 'तस्य यदधरं कपालम्। अयꣳ स लोकः''''यदुत्तरꣳ सा द्यौः''''यदन्तरा तदन्तरिक्षम्' (श० ७।५।१।२)। अतः कूर्मोपधानेन लोकत्रयस्योपधानं सम्पद्यते। अथ कूर्म इति नाम्नः प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति—'स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति' (श० ७।५।१।५)। एतत्कूर्मसम्बन्धिरूपात्मनः कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। असृजतेत्यस्य व्याख्यानमकरोदिति। तेन कूर्मरूपेणाकरोत्। यस्मात्तदकरोत्तस्मात् कूर्म इति नामधेयम्। करोतेरौणादिके 'इषुयुधीन्दि०' (उ० सू० १।१०) इति मक्प्रत्यये 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।१।१०३) इत्युत्वे 'हलि च' (पा० सू० ८।२।७७) इति दीर्घे कूर्म इति रूपं भवति। कूर्मशब्दस्य करणप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात् कश्यपस्य प्रजापतित्वेन प्रजाकारकत्वात् कश्यपः कूर्मः खलु। अत एव सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इत्याहुः। अतश्च कूर्मस्य कश्यपात्मकत्वात् कूर्मोपधानं प्रशस्तमिति निर्गलितार्थः। तेन नात्र कश्यपप्रजापतेरपलापः। परमेश्वरस्य सर्वाधिपत्वेऽपि प्रजापतिशब्देनावान्तरसृष्टिकर्तार एव विवक्ष्यन्ते। तेन मन्त्रे कश्यपप्रजापतेर्यत् त्र्यायुषं जमदग्ने-र्ऋषेर्यत् त्र्यायुषं तथा देवेषु यत् त्र्यायुषं तादृशं सुचरितं त्र्यायुषं ममास्त्वित्येवं प्रार्थ्यते। नात्र त्रीणि चत्वारि वा वर्षाणां शतानि प्रार्थ्यन्ते, तादृगर्थबोधने प्रमाणाभावात्, तादृशायुष्मतामदर्शनाच्च। ईश्वरस्य नित्यत्वादनन्त-मेवायुर्भवति। न तस्य त्रिगुणितत्वं सम्भवति। तस्माद्यत्किञ्चिदेव तादृशं व्याख्यानम्।

अत एव 'जमदग्नेर्महर्षेर्यत्प्रमाणं त्र्यायुषं कश्यपनाम्नः प्रजापतेर्यत्प्रमाणं त्र्यायुषमिन्द्रादिदेवेषु यत्प्रमाणं त्र्यायुषं तत् तावत्प्रमाणमस्माकं यजमानसहितानां त्र्यायुषं बाल्यतारुण्यवार्धकानामायुषां पूर्णत्वमस्तु' इति यत्, तदप्यसङ्गतम्, केषाञ्चिदपि यजमानानामृत्विजां च देवप्रमाणायुष्ट्वादर्शनात्। सम्भावितमेव प्रार्थ्यते नासम्भावितम्। तस्माद्यादृशं जमदग्नेर्महर्षेस्तपोमयं सुचरितं शास्त्रसम्मतं त्र्यायुषं यादृशं च कश्यपस्य दैत्यदानवकाद्रवेयवैनतेयादिविविधप्रजावत्त्वेऽपि सहिष्णुत्व-सामरस्यसर्वहितकारित्व-ब्रह्मात्मनिष्ठत्वयुक्तं त्र्यायुषम्, यादृशं च देवेष्विन्द्रादिषु विविधैश्वर्यवत्त्वेऽपि सत्त्वमयं भगवदाश्रितं त्र्यायुषम्, तथैवास्माकमपि धर्मब्रह्मभावोपेतं शास्त्रीयसदाचारधैर्यविवेकसमत्वाद्युपेतं त्र्यायुषमस्त्वित्येव तु युक्तम्। यद्यपि मार्कण्डेयादीनां दीर्घायुष्ट्वमपि स्मर्यते; तथाप्यनेन मन्त्रेण त्रिगुणितायुःप्राप्त्यर्थं जपो विधीयत इति निर्मूलमेव, तादृग्विधानस्यादर्शनात्।

यत्तु—'पुरा भारते बभूवुस्त्रीण्यायुर्वर्धनप्रयोगभवनानि—जमदग्नेः, कश्यपस्य, इन्द्रादिदेवस्य च। प्रथमे भवने शतायुषे पुरुषाय अपरे द्वे आयुषी शतवर्षपरिमिते स्वाविष्कारप्रभावात्प्रदाय शतत्रयपरिमितजीवनं तं नरं विधातुं क्षमन्ते। तद्भवनानुगृहीता जनास्त्रीणि शतानि वर्षाणि जीवन्ति स्म। द्वितीयभवने एकमायुर्दश-

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह भी मूर्खों के लिये व्यामोहन मात्र ही है, क्योंकि उस अर्थ के बोधक कोई शब्द यहां नहीं हैं ॥ ६२ ॥

सहस्रपरिमितं प्राकृतजनानां शतं दिनानि दशाधिकास्त्रयो मासास्तेषामेकदिनमासीत्। एकमायुर्दशसहस्रपरिमितं प्राकृतजनानां शतं दिनानि दशाधिकास्त्रयो मासास्तेषामेकं दिनमासीत्। अतस्तत्परिमाणानुरूपं तदीयं वर्षशतं प्राकृतजनानां वर्षदशसहस्रम्। तस्मात्तेष्वाश्रितं जनं त्रिंशद्वर्षपरिमितायुष्कं कर्तुं शेकिरे। तृतीये भवने मानवानां षट्त्रिंशद्वर्षसहस्रात्मकं तत्त्रिगुणितं षट्सहस्राधिकंलक्षपरिमितं जायते। तदेवं तद्भुवनं प्रपन्नास्तावद्दीर्घं जीवितं समापेदिरे' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, तद्बोधकश्रुतिस्मृतिपुराणादिवचसां प्रमाणत्वेनोपस्थापयितव्यत्वात्। न चोपस्थापितम्। प्रमाणमन्तरा सुसूक्ष्मस्यापि कल्पयितुमशक्यत्वात्। तादृशानि भवनानि भारते बभूवुरिति तथ्यापेतं वचः। किञ्च, प्रकृतमन्त्रे तु प्रथमो जमदग्निर्द्वितीयः कश्यपस्तृतीयकोटौ देवाः समायान्ति। कश्यपस्तु प्रजापतिर्देवानामपि जनकत्वेन प्रसिद्धः। उपनिषत्सु देवानन्दापेक्षया प्राजापत्यानन्दस्योत्कर्ष उक्तः। इति द्वितीयापेक्षया तृतीयस्य दीर्घायुष्ट्वमसङ्गतमेव। देवानां षण्मासा दक्षिणायनं रात्रिः। षण्मासा उत्तरायणं दिनम्। कृष्णपक्षः पितृणां दिनम्। शुक्लपक्षश्च रात्रिः।

अथ प्रसङ्गप्राप्तं कालविभागनिरूपणं प्रस्तूयते। तद्यथा मनुस्मृतौ—

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला। त्रिंशत्कला मूहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः॥ (१।६४)

अक्षिपक्ष्मणोः स्वाभाविकस्योन्मेषस्य सहकारी निमेषः। तेऽष्टादश काष्ठानाम कालः। त्रिंशच्च काष्ठाः कलासंज्ञकः कालः। त्रिंशत्कला मुहूर्ताख्यः कालः। त्रिंशन्मुहूर्तैरहोरात्रं भवति।

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके। रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः॥ (१।६५)

मानुषदैवसम्बन्धिनौ दिवसरात्रिकालौ सूर्यः पृथक्करोति। तयोर्मध्ये भूतानां स्वप्नार्थं रात्रिर्भवति, कर्मानुष्ठानार्थं चाहो भवति।

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः। कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी॥ (१।६६)

मानुषाणां मासः पितॄणामहोरात्रे भवतः। कर्मानुष्ठानाय कृष्णपक्षोऽहः। स्वापार्थं शुक्लपक्षो रात्रिः।

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः। अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम्॥ (१।६७)

मानुषाणां वर्षं देवानामहोरात्रे। तयोरप्येवं विभागः—नराणामुत्तरायणं देवानामहः, दक्षिणायनं तु रात्रिः।

ब्राह्मस्य तु क्षयाहस्य यत्प्रमाणं समासतः। एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत॥ (१।६८)

ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य प्रत्येकं युगानां कृतादीनां च यत्प्रमाणं तत्संक्षेपतः प्रवक्ष्यामि, शृणुतेत्यर्थः।

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्। तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः॥ (१।६९)

देवानां मानेन त्रिशता अहोरात्रैर्मासः, द्वादशभिश्च मासैर्वर्षः। अर्थान्मानुषाणां त्रिशता वर्षैर्देवानां मासः। षष्ट्युत्तरशतत्रयवर्षैश्च (३६० वर्षं) देवानां वर्षः। एतेन मानेन कृतयुगस्य चतुर्वर्षसहस्राणि, अर्थान्मानुषवर्षप्रमाणेन ४०० × ३६० = १४४००० वर्षाणि कृतयुगस्य कालः, अर्थाच्चत्वारिंशत्सहस्रोत्तरचतुर्दशलक्षवर्षाणि। तथा देवानां मानेन चतुर्वर्षशतानि, अर्थान्मानुषवर्षेण ४०० × ३६० = १४४००० सन्ध्याकालः। एतावानेव च सन्ध्यांशकालः, अर्थाच्चतुश्चत्वारिंशत्सहस्रोत्तरलक्षैकवर्षमितः सन्ध्याकालः। तावानेव सन्ध्यांशकालः।

तथा च सन्ध्यासन्ध्यांशसहितस्य कृतयुगस्य १७२८००० मानुषवर्षाणि कालः। अष्टाविंशतिसहस्रोत्तर-सप्तदशलक्षमानववर्षाणि यावत् कृतयुगस्य कालः। युगस्य पूर्वं सन्ध्याकालः, युगस्यानन्तरं सन्ध्यांशकालः। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

तत्प्रमाणैः शतैः सन्ध्या पूर्वा तत्राभिधीयते। सन्ध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि सः॥
सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तमः। युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञकः॥ इति।
(१।३।१३-१४)

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु। एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥ (१।७०)

अन्येषु त्रेता-द्वापर-कलियुगेषु सन्ध्यासन्ध्यांशसहितेषु एकहान्या सहस्राणि शतानि च भवन्ति। तथा च देववर्षाणि ३००० (अर्थात् ३०००×३६०=१०८०००० मानुषवर्षाणि) त्रेताकालः। तस्य सन्ध्याकालः ३०० दैववर्षाणि (अर्थात् ३००×३६०=१०८००० मानुषवर्षाणि), सन्ध्यांशकालश्च ३०० दैववर्षाणि (अर्थात् ३००×३६०=१०८००० मानुषवर्षाणि सम्भूय १२९६००० मानुषवर्षाणि) त्रेताकालः। द्वापरस्य च २००० दैववर्षाणि (अर्थात् २०००×३६०=७२०००० मानुषवर्षाणि) कालः। तस्य सन्ध्याकालः २०० दैववर्षाणि (अर्थात् २००×३६०=७२००० मानुषवर्षाणि), सन्ध्यांशकालश्च तावत्परिमाण एव, सम्भूय ८६४००० वर्षाणि द्वापरकालः। कलयुगस्य च १००० दैववर्षाणि (अर्थात् १०००×३६०=३६०००० मानुषवर्षाणि)। तस्य सन्ध्याकालः १०० दैववर्षाणि (अर्थात् १००×३६०=३६००० मानुषवर्षाणि), सन्ध्यांशकालश्चैतावानेव। सम्भूय ४३२००० वर्षाणि कलियुगस्य कालः। तथा च ४३२०००० वर्षाणि, विंशतिसहस्रोत्तरत्रिचत्वारिंशल्लक्षवर्षाणि चतुर्युगीसमयः।

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्। एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥ (१।७१)

यदेतच्चतुर्युगं परिसंख्यातं देवानां वर्षमानेन कृतस्य चत्वारि शतानि सन्ध्या चत्वारि शतानि सन्ध्यांशश्चत्वारि सहस्राणि कृतस्य भोगः, त्रेतायास्त्रिशती सन्ध्या त्रिशती च सन्ध्यांशस्त्रीणि सहस्राणि त्रेताया भोगः, द्वापरस्य द्वे शते सन्ध्या द्वे शते सन्ध्यांशो द्वे सहस्रे च द्वापरस्य भोगः, शतमेकं सन्ध्या शतमेकं सन्ध्यांशः सहस्रमेकं च कलेर्भोगः, तदेतत् सम्भूय देवानां मानेन द्वादशसहस्रवर्षाणि चतुर्युगीमानम्। मानुषं यच्चतुर्युगं तदेव देवानां युगमिति।

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च॥ (१।७२)

देवयुगानां सहस्रम्, अर्थान्मानुषचतुर्युगसहस्रं मानवर्षसंख्यया ४३२०००००० द्वात्रिंशत्कोट्युत्तर-चतुरर्बुदवर्षाणि यावद् ब्राह्ममेकमहः। एतावन्त्येव मानववर्षाणि यावद् रात्रिः। तदेवं ८६४००००००

चतुःषष्टिकोटयुत्तराष्टार्बुदवर्षपरिमितं ब्रह्मणोऽहोरात्रं भवति। ब्रह्मण एकस्मिन् दिने चतुर्दशमनवो व्यतियन्ति। तदेवं साग्रमेकसप्ततिर्दैवयुगमेकस्य मनोर्भोगकालः। तथा च मनुः—

यत्प्राग्द्वादशसहस्रमुदितं दैविकं युगम्। तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते॥ (१।७९)

कृतयुगे निरुपद्रवा अरोगाश्च मनुष्या जायन्ते। तथा च मनुः—

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः। कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः॥-(१।८३)

इत्येतान्युपरि निर्दिष्टानि मनुसंहितायाः प्रथमाध्यायगतानि प्रमाणानि।

एवं तु ब्रह्मणो वर्षं तथा वर्षशतं भवेत्। गते वर्षशते ब्रह्मा परमात्मनि लीयते॥ (अग्निपु०)
ब्रह्मा विष्णुदिने चैकः पतत्येवं वदन्ति ते। मनीषिणस्तथा विष्णुरहन्युग्रस्य शङ्करः॥
ईश्वरस्य तथा चासौ स सांख्यप्रकृतेस्तथा। अतः परं परे धाम्नि कालसंख्या न विद्यते॥

इति शब्दकल्पद्रुमे।

चतुर्युगसहस्रेण ब्रह्मणो दिनमुच्यते। पितामहसहस्रेण विष्णोश्च घटिका स्मृता॥
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि कलार्धं रौद्रमुच्यते। रुद्रस्यार्बुदसंख्यानां ततो ब्रह्माक्षरं भवेत्॥

इति पञ्चाङ्गेषु। शिवमहापुराणरीत्या तु—

चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते। रात्रिश्च तावती तस्य मानमेतत् क्रमेण ह॥
तेषां त्रिशद्दिनैर्मासो द्वादशैस्तैश्च वत्सरः। शतवर्षप्रमाणेन ब्रह्मायुः परिकीर्तितम्॥
ब्रह्मणो वर्षमात्रेण दिनं वैष्णवमुच्यते। सोऽपि वर्षशतं यावदात्ममानेन जीवति॥
वैष्णवेन तु वर्षेण दिनं रौद्रं भवेद् ध्रुवम्। हरो वर्षशते याते नररूपेण संस्थितः॥
(रुद्रसंहितासृष्टिखण्डे १०।१६-१९)

'श्रीकृष्णस्य निमेषेण ब्रह्मणः पतनं भवेत्' (१।१४।१९) इति च नारदपञ्चरात्रे।

यद्यप्यायुर्वेदेषु तन्त्रेषु च त्रिगर्भकुटीरप्रवेशपूर्वकतत्तद्रसायनसेवनेन ब्रह्मविष्ण्वायुष्ट्वमानन्दकन्दादौ वर्णितम्, परं प्रकृतमन्त्रे तादृशी चर्चापि नास्ति।

यदपि च—'अपि वा चतुर्थचरणस्य नः अस्माकं चतुर्वक्त्र-चतुर्भुज-पञ्चवक्त्राणां त्रि इति लुप्तषष्ठी। त्रयाणां रजःसत्त्वतमोगुणानां हरेर्ब्रह्मणः शिवस्य आयुरेव त्र्यायुषम्, स्वार्थिकोऽण्' इति, तदप्यसत्, यत्तदोः सम्बन्धविच्छेदापत्तेः, यज्जमदग्न्यादिषु त्र्यायुषं तत् त्र्यायुषं नोऽस्त्वित्यस्यैव श्लिष्टत्वात्। यथाश्रुतसमस्तपदार्थानुपपत्तावेव त्रीत्यस्य लुप्तषष्ठीकत्वं कल्पनीयम्। न चात्रानुपपत्तिः, सायणादिरीत्याप्युपपन्नत्वात्। कथञ्चित्तदभ्युपगमेऽपि त्रयाणामित्युपस्थितत्वात् प्रथमं बाल्यादीनामेवोपस्थितिर्न गुणानाम्, तेषामप्रत्यासन्नत्वात्,

गुणानामपि स्वीकारे ततो विष्ण्वादिग्रहणे लक्षितलक्षणाप्रसङ्गात् । यदपि च—'ब्राह्माहोरात्रपरिमाणेन वर्षशतं द्विपरार्धपरिमितं यद् ब्राह्ममहस्तत्ते भूयात्' इति, तदतीव मन्दम्, त्र्यायुषमित्यसम्बद्धत्वात् ।

यदपि च—'तद्यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा महर्षीणामित्यत्र ऋषिमनुष्याभ्यां सह देवस्य पाठो दृष्टः, तस्माद्यद्देवेष्वित्यस्मिन् मन्त्रे देवसहचरिता मनुष्या ऋषयश्च ग्राह्याः । तदेवं जमदग्निपदेन मनुष्यस्य कश्यपपदेन ऋषेश्चोपलक्षणान्मानुषमार्षं दैवं चतुर्थं च ब्राह्ममायुः पर्यवस्यति । आर्षं मानुषादधिकं दशसहस्रपरिमितम् । मानुषाणां शतं दिनानि ऋषीणामेकं दिनमित्युक्तमेव । युक्तं चैतद् यत्सुवर्णकारस्य प्रहरणं शतं तदेकमयस्कारस्येति न्यायेनाल्पशक्तेर्यच्छतं तत्तुल्यं बलवत एकमिति लोकप्रसिद्धेः' इति, तदपि निर्मूलमेव, यतो हीदृशेन न्यायेनायस्कारस्य स्वर्णकारापेक्षया शतगुणायुष्ट्वापत्तेः । तेन मानुषायुषापेक्षया ऋष्यायुषः शतगुणितत्वे किमप्यार्षं वचनमपेक्षितम् । तदस्ति चेदुपस्थापयितव्यम् । चतुर्थस्य ब्राह्मायुषः सत्त्वेऽपि प्रकृतमन्त्रेण तस्य कः सम्बन्धः ? तस्मात् सर्वमेतत् प्रलापमात्रमेव । भवनत्रयकल्पनमपि निर्मूलमेव, 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यन्ते सुबहून्यपि । अदृष्टशतभागोऽपि न कल्प्यो ह्यप्रमाणकः ॥' (तन्त्रवार्त्तिके, २।१।२) इत्युक्तेः ।

यच्च सम्प्रति तपस्यता तेन षट्पदार्थान् शिवो याचित इत्याह, अथवा युधि शौर्यानुरूपात् शिवं प्रति साक्षेपवचनान्न सोऽकुप्यदित्यत आह— नमस्कुर्वन्निति, तत्त्वसम्बद्धमेव ॥। ६२ ॥

शिवो नामा॑सि स्वधि॑तिस्ते पि॒ता नम॑स्ते अस्तु मा मा॑ हिꣳसीः । निव॑र्तयाम्यायु॑षेऽन्ना॒द्या॑य प्रज॑ननाय रा॒यस्पोषा॑य सुप्रजा॒स्त्वाय॑ सु॒वीर्या॑य ॥ ६३ ॥

[अस्य मन्त्रस्य स्वामिपादविरचितं भाष्यं नोपलब्धमिति तत्स्थाने उव्वट-महीधरभाष्ये दीयेते ।]

उव्वटभाष्यम्

लोहक्षुरमादत्ते—शिवो नामासि । हे क्षुर ! यतस्त्वं शान्तनामासि, यस्य च तव स्वधितिः पिता । स्वधितिः वज्रः । तस्मै नमः ते तुभ्यं भवतु । मा मां मा हिंसीः मा विनाशय । वपति—निवर्तयामि । निपूर्वो वपतिरिह मुण्डनार्थः । मुण्डयामि त्वाम् । आयुरर्थम्, अन्नाद्यर्थम्, धनस्य पोषार्थम्, शोभनापत्यतायै, शोभनवीर्याय च ॥ ६३ ॥

महीधरभाष्यम्

क्षुरदैवतं यजुः । 'शिवो नामेति लोहक्षुरमादाय' (का० श्रौ० ५।२।१७) । हे क्षुर ! त्वं नाम नाम्ना शिवः शान्तोऽसि । स्वधितिः वज्रं ते तव पिता । ते तुभ्यं नमोऽस्तु । मां मा हिंसीः । 'निवर्तयामीति वपति' (का० श्रौ० ५।२।१७) । यजमानदैवतं यजुः । निपूर्वो वृतिर्मुण्डनार्थः । हे यजमान ! त्वां निवर्तयामि

मुण्डयापि। किमर्थम् ? आयुषे जीवनाय, अन्नाद्यायान्नभक्षणाय, प्रजननाय सन्तानाय, रायो धनस्य पोषाय पुष्ट्यै, सुप्रजास्त्वाय शोभनापत्यतायै, सुवीर्याय शोभनसामर्थ्याय ॥ ६३ ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—हे क्षुर ! तुम्हारा नाम 'शान्त' है। तुम्हारा पिता वज्र है। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम हिंसा मत करना। हे यजमान ! बहुत दिनों तक जीवित रहने के लिये, अन्न भक्षण करने के लिये, सन्तति के लिये, द्रव्यवृद्धि के लिये तथा उत्तम अपत्य उत्पन्न होने के लिये और उत्तम सामर्थ्य की प्राप्ति के लिये मैं तुम्हारा वपन (मुण्डन) करता हूँ। 'शिवो नामासि' इस मन्त्र से लौह क्षुर (उस्तरे) का ग्रहण करे और 'निवर्तयामि' इस मन्त्र से वपन करे ॥ ६३ ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

भाष्यप्रणेतारः
अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

४—६ अध्यायात्मको भागः

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता * वृन्दावनम्

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

(४-६ अध्यायात्मको भागः)

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

सम्पादको भाष्यनिष्कर्षलेखकश्च

प. व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये

सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचर आचार्यश्च

भाष्यसार-निबन्धकः

श्री श्रीकिशोरमिश्रो वेदाचार्यः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालये संस्कृतविभागे उपाचार्यः

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्

कलकत्ता ■ वृन्दावन

प्रथमसंस्करणम्

प्रकाशक—

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्
कलकत्ता □ वृन्दावन

■

मूल्यम् ९०.०० रूप्यकाणि

■

अस्य ग्रन्थस्य सर्वेऽधिकारा राजकीयनियमानुसारेण सुरक्षिताः

■

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

१. **श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान**
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
११३ पार्क स्ट्रीट, पोद्दार पाइन्ट, कलकत्ता–७०००१६

२. **श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान**
ब्रह्मकुटीर, डी. २५/१८ नारद घाट
वाराणसी (उ.प्र.)

३. **राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान**
धर्मसंघ विद्यालय, रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ.प्र.)

४. **श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान**
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेन्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई–४०००२१

५. **श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान**
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
ई. ४/२४, ईस्ट पटेल नगर
दिल्ली–८

मुद्रक—

अध्याय ४-५ — **तारा प्रिंटिग वर्क्स, वाराणसी।**

अध्याय ६ — **आनन्द मुद्रणालय, जगतगंज, वाराणसी।**

॥ श्रीहरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित यजुर्वेदसंहिता के ४-६ अध्यायों के भाष्य को मन्त्रार्थ और भाष्यसार के साथ प्रकाशित करते हुए हमें बहुत हर्ष का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व तीन अध्यायों का और चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) का भाष्य अनुवाद सहित और ११-१५ अध्यायों का भाष्य भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित हो चुका है, यह आप लोगों को विदित ही है।

प्रकाशन कार्य विस्तृत है। कई कठिनाइयों के कारण प्रकाशन का कार्य त्वरित गति से नहीं हो पा रहा था। अब १६-२० अध्याय वाला भाग और २१-३९ अध्याय तक का भाग अलग-अलग प्रेसों में छप चुका है। जिल्दबन्दी का कार्य बस बचा है। इसी तरह से ७-१० अध्यायों का भाग भी प्रेस में दे दिया गया है। प्रगति समुचित है। यथाशीघ्र आप लोगों को ये सभी भाग प्राप्त हो सकेंगे। हम इस प्रयत्न में है कि आगामी दो चार महीनों में पूरा भाष्य विज्ञ पाठकों के करकमलों तक पहुँचा दिया जाय।

विदित हो, पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज की अद्वितीय कृति देश के जिन सन्तों, विद्वानों, उच्च शिक्षाविदों और अधिकारियों के पास पहुँचती है, वे अत्यन्त प्रभावित होकर हम लोगों को शेष भाग शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा प्रदान करते हैं।

भाष्यभूमिका के लेखक, अनुवादक, समय-समय पर उचित परामर्शदाता, प्रूफ पुनरीक्षक, प्रेसकापी साधक, अनुच्छेद (पैराग्राफ) के निर्धारक के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जा को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख प्रस्तुत करने वालों के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, उन सभी परम सम्माननीय, आत्मीय, पूज्य आचार्य, विद्वन्मूर्धन्यों के चरणकमलों में धन्यवाद और अभिनन्दनस्वरूप नतमस्तक होकर हम सदा ही कृपा की आशा रखते है। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं, वे है—

(१) अन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरी पीठाधीश्वर स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराज

(२) स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज

(३) पण्डित श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारी जी

(४) पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदीजी

(५) पण्डित श्री जनार्दन पाण्डेयजी

(६) पण्डित श्री जनार्दन चतुर्वेदी जी

(७) पण्डित श्री राजवंशी द्विवेदी जी

(८) पण्डित श्री श्रीकिशोर मिश्र जी

• तारा प्रेस और आनन्द मुद्रणालय के सुयोग्य प्रबन्धक तथा सहृदय कर्मचारियों के सौजन्य भरे मुद्रणादि कार्यों के सम्पादन को स्मरण कर हम इन्हें बहुत धन्यवाद देते हैं।

वृन्दावन धाम
अक्षय तृतीया
२०४९ वि. सं.

निवेदक
हनुमानप्रसाद धानुका
अध्यक्ष

परब्रह्मस्वरूप

धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

विषय-सूची

कण्डिकासंख्या | **प्रतिपाद्य विषय** | **पृष्ठसंख्या**

चतुर्थ अध्याय

(भाष्य में सोमयाग का संक्षिप्त निरूपण) १-३

१. देवयजन स्थान में यजमान का प्रवेश, कुशतरुण और क्षुर के अधिष्ठात्री देवताओं से यजमान को पीडा न पहुँचाने की प्रार्थना ३-६

२. केशवपन के बाद यजमान का स्नान एवं नूतन वस्त्रधारण ७-१०

३. यजमान के मस्तक पर नवनीत का लेपन तथा आँखों में अंजन १०-१२

४. सात कुशाओं के बनाये पवित्र से अध्वर्यु द्वारा यजमान का शोधन १३-१४

५. अर्ध्वयु-प्रेरित यजमान द्वारा इस मन्त्र का वाचन १५-१६

६. मन्त्रोच्चार के साथ यजमान का मुट्ठी बांध कर स्वाहाकार करना और मौन होकर मुट्ठी को खोलना १६-१८

७. यजमान द्वारा यज्ञारंभसूचक आहुतियों का प्रदान १८-२२

८. ध्रुवा स्थित घृत का जुहू में ग्रहण कर औद्ग्रभण होम करना २२-२३

९. कृष्ण मृगचर्म के सन्धिस्थल का स्पर्श तथा उस पर आरोहण २४-२७

१०. यजमान द्वारा मेखला-बन्धन और उष्णीष, दण्ड आदि का धारण २७-३३

११. यजमान द्वारा वाग् विसर्जन कर ऋत्विजों को यज्ञारंभ के लिये कहना ३३-३७

१२. यजमान द्वारा अपनी नाभि का स्पर्श ३७-३९

१३. यजमान द्वारा मृग के शृंग से मिट्टी या तृण के खोद कर अपवित्र भूमि पर डालना ३९-४०

१४. यजमान का आहवनीय अग्नि के दक्षिण में उत्तर या पूर्व की तरफ सिर करके अग्नि की अपेक्षा नीची भूमि पर शयन ४१-४२

१५. जागने के बाद पुनः न सोने की स्थिति में यजमान द्वारा मन्त्रपाठ ४२-४४

१६. यजमान के क्रोधाभिभूत होने या अश्लील आचरण करने पर प्रायश्चित्तस्वरूप मन्त्र का पाठ, यज्ञ के निमित्त लाये गये द्रव्यों का स्पर्श ४४-४६

१७. ध्रुवा से जुहू में लिये गये घृत में सुवर्ण खण्ड का प्रक्षेप तथा उसकी आहवनीय अग्नि में आहुति ४६-४९

१८. घृत से सुवर्ण खण्ड को निकाल कर तृणबद्ध सुवर्ण को वेदि पर रखना ४९-५१

१९-२०. सोमक्रयणी गौ की वाणी के रूप में स्तुति ५२-५६

२१. अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता द्वारा सोमक्रयणी गौ का अनुगमन ५६-६०

२२. सोमक्रयणी गौ के सातवें पादप्रक्षेप पर हवन, रेखाकरण, पदधूलिग्रहण, यजमान और यजमान-पत्नी को उसका प्रदान ६१-६३

२३. सोमक्रयणी गौ को देखती हुई यजमानपत्नी का मन्त्रवाचन ६३-६६

२४. यजमान का सोम की तरफ जाते हुए मन्त्रवाचन, सोमस्पर्श ६६-७१

२५. कपड़े को दुहरा-तिहरा कर उसमें सोम को बाँधना ७१-७६

२६. स्वर्ण तथा गौ, अजा आदि से सोमविक्रेता को प्रलोभित करना ७६-८१

२७. बांये हाथ से सोमविक्रेता को आज्ञा देकर दाहिने हाथ से सोम का ग्रहण, यजमान की गोद में उसको रखना तथा रक्षा के लिये प्रार्थना ८१-८४

२८. क्रीत सोम को लेकर मन्त्रोच्चार के साथ उठ कर यजमान का शकट की ओर प्रस्थान का उद्यम ८४-८६

२९. गृहीत सोम को सिर पर रख कर उस पर हाथ धरे हुए यजमान का शकट की तरफ गमन ८६-८८

३०. शकट पर मृगचर्म बिछा कर यजमान द्वारा उस पर सोम का स्थापन और स्पर्श ८८-९१

३१. यजमान का सोम को वस्त्र में बाँध कर रखना ९१-९३

३२. आसन के लिये बिछाये गये दो मृगचर्मों में से एक को शकट पर ध्वजा की भांति लगाना, मृगचर्म के एक होने पर उसके ग्रीवा की ओर के भाग को शकट पर लगाना ९३-९५

३३. शकट में बैलों को जोत कर उनको हांकना ९५-९७

३४. सोम को लेकर यज्ञशाला की तरफ जाते हुए यजमान का मन्त्रोच्चार ९७-१००

३५. प्रतिप्रस्थाता द्वारा यज्ञशाला के पूर्व भाग में कृष्ण अथवा लोहित सारंग का आलभन १००-१०३

३६. यज्ञशाला के समीप शकट को खड़ा कर बैलों को जुए से अगल करना, मृगचर्म बिछाकर उस पर सोमवल्ली की गांठ को रखना १०३-१०७

३७. अध्वर्यु आदि ऋत्विक् गणों का यजमान को यज्ञशाला में ले जाना, यजमान द्वारा मन्त्रोच्चार १०७-१०९

पंचम अध्याय

१. हविर्द्रव्य का निर्वाप (ग्रहण) ११०-११५

२. वेदि पर काष्ठखण्ड और दो कुशाओं की स्थापना, अधरारणि और उत्तरारणि की स्थापना तथा अग्निमन्थन ११५-११८

३. अरणि-मन्थन से उत्पन्न अग्नि को आहवनीय अग्नि से संयोजित कर यज्ञ और यज्ञपति के कल्याण की प्रार्थना ११८-१२०

४. अध्वर्यु का आज्यस्थाली में घृत लेकर स्रुवे से इस संयोजित अग्नि में आहुति देना १२०-१२३

५. तानूनप्त्र आज्य का स्रुवे से दो बार ग्रहण, वेदि के नैर्ऋत्य कोण पर आज्यपात्र का स्थापन, ऋत्विक् और यजमान द्वारा पात्र का स्पर्श १२३-१२९

६. आहवनीय अग्नि में समिधा की आहुति १२९-१३१

७. पांचों ऋत्विजों और यजमान द्वारा जल से सोम का सिंचन एवं रक्षा के लिये हाथ उठा कर सोम की प्रार्थना १३१-१३६

८. जुहू आदि में प्रस्तर को लगा कर परिधि-स्थापन पूर्वक स्रुवे से उपसद् अग्नि में आहुति देना १३६-१३९

९. चारों दिशाओं में शम्या गाड़ कर स्फ्य से चौकोर रेखाएं खींचना और उन पर चात्वाल बनाना, देवताओं की प्रार्थना १३९-१४३

१०. वेदि को शम्या से ठोक कर चारों ओर तथा मध्य भाग में समान करना, मन्त्रोच्चार के साथ प्रोक्षण कर वेदि के कंकड़ आदि को दूर करना १४३-१४५

११. वेदि की चारों दिशाओं का मन्त्रोच्चार के साथ जल से मार्जन, बचे हुए जल का बाहर प्रक्षेप १४५-१४७

१२. वेदि की दोनों श्रोणियों, दोनों आँखों तथा नाभि में कुछ सुवर्ण रख कर अध्वर्यु का जुहू में आज्य लेकर पाँच आहुतियां देना १४७-१४९

१३. परिधियों का परिधान तथा गुग्गुलु आदि का वेदि के नाभिदेश में निधान १४९-१५१

१४. हविर्धान मण्डप बना कर अध्वर्यु का शाला में प्रवेश, आज्य का संस्कार कर चार बार ग्रहण और परिस्तरण-समिदाधान पूर्वक अग्नि में आहुति १५१-१५४

१५. चतुर्गृहीत आज्य की दक्षिण शकट के दक्षिण चक्र के मार्ग में हिरण्यनिधान पूर्वक आहुति १५४-१५५

१६. आहवनीय अग्नि के ईशान कोण में रक्षित उत्तर हविर्धान (शकट) के दक्षिण चक्र मार्ग सुवर्ण रख कर यजमान का आहुति देना १५५-१५७

१७. यजमानपत्नी द्वारा आज्य से अक्षधुरा का अंजन और शकट के चलने के साथ यजमान द्वारा मन्त्र का वाचन १५७-१६०

१८. दक्षिण शकट का प्रतिष्ठापन तथा स्थूणास्तम्भ का निखनन १६०-१६२

१९. प्रतिप्रस्थाता द्वारा उत्तर शकट का प्रतिष्ठापन तथा स्थूणास्तम्भ का निखनन १६२-१६४

२०. हविर्धान मण्डप की मध्यम छदि का स्पर्श १६४-१६५

२१. हविर्धान मण्डप के पूर्व द्वार के स्तंभों के बीच गूंथी गई दर्भ की माला और तृणनिर्मित छदियों का स्पर्श, काठ की सुई से रज्जु के द्वारा द्वार-शाखाओं का बन्धन तथा सुनिर्मित हविर्धान मण्डप का स्पर्श १६५-१६७
२२. अभ्रि से दक्षिण हविर्धान शकट के नीचे की भूमि को नियमानुसार विभक्त कर उपरव नाम के चार गर्तों का खनन १६८-१७०
२३. उपरव से मिट्टी निकाल कर उसे बाहर फेंकना १७०-१७३
२४. प्रस्तुत कण्डिका के चार मन्त्रों से उक्त गर्तों का यजमान द्वारा स्पर्श १७३-१७५
२५. इन गर्तों का जल से प्रोक्षण, शेष जल का प्रक्षेप, कुशाओं को बिछाना, अधिषवण फलक की स्थापना, मृत्तिका द्वारा दृढीकरण, चर्मास्तरण और उस पर सोम को कूटने के लिये पांच पाषाणों की स्थापना १७५-१७७
२६. गूलर की शाखा को गाड़ने के लिये अभ्रि का उपादान, जलपात्र में यवप्रक्षेप, जल से प्रोक्षण, शेष जल का गर्त में प्रक्षेप तथा कुशाओं का आस्तरण १७८-१८१
२७. गूलर की डाल को गड्ढे में डाल कर, उसे जल और मिट्टी से भर कर मैत्रावरुण दण्ड से कूट कर दृढ करना १८१-१८३
२८. गूलर की शाखा का स्पर्श करते हुए मन्त्रवाचन, शाखा के मूल में घृत की आहुति, मण्डप बना कर उसका तृण व चटाई से छादन १८३-१८६
२९. सदोमण्डप का आच्छादन कर हविर्धान मण्डप की विधि से ग्रन्थिस्पर्श आदि विधियों का अनुष्ठान १८६-१८७
३०. मण्डप के चारों तरफ रस्सी बाँधना, सभा को संबोधित करना और हविर्धान मण्डप के वायव्य कोण के उत्तर भाग में अग्नीध्र नामक अग्नि का स्थान बना कर उसका स्पर्श १८७-१८९
३१. अध्वर्यु द्वारा धिष्ण्य नामक स्थण्डिलों का निर्माण १८९-१९१
३२. आठ धिष्ण्यों के निर्माण के बाद उन पर अधिष्ठित अग्नियों का अवलोकन १९२-१९४
३३. विभिन्न अग्न्यालयों को संबोधित करने के बाद सदोमण्डप के द्वारास्तंभों का स्पर्श तथा अभिमन्त्रण १९४-१९६
३४. यजमान द्वारा ऋत्विजों का अभिमन्त्रण तथा अध्वर्यु द्वारा आठों धिष्ण्यों की प्रार्थना १९६-१९७
३५. प्रज्वलित समिधा के ऊपर दधिमिश्रित घृत की आहुति तथा सोम से प्रार्थना १९७-१९९
३६. आग्नीध्र के प्रति जाते हुए यजमान के लिये अध्वर्युकृत प्रार्थना २००-२०१
३७. आग्नीध्रीय धिष्ण्य में अग्निस्थापन के अनन्तर प्रचरणी स्रुक् से घृत की आहुति २०२-२०३
३८. उत्तरवेदि के आहवनीय अग्नि के कुण्ड में वैसर्जन होम के निमित्त आहुति २०३-२०४
३९. कृष्णाजिन पर सोम की स्थापना, उपस्थान तथा निष्क्रमण २०५-२०७
४०. आहवनीय अग्नि में समिदाधान करने के बाद यजमान के द्वारा मुष्टिविसर्जन २०७-२०९
४१. यूपनिर्माण के लिये वृक्षछेदन हेतु वन में जाते हुए यजमान द्वारा आहवनीय अग्नि में घृत की आहुति २०९
४२. यजमान का हुतशेष घृत को लेकर बढई के साथ वन में जाना, यूपयोग्य वृक्ष का अभिमर्शन, हुतशेष घृत को वृक्ष पर लगाना, वहाँ कुशतरुण को रख कुठार चलाना २१०-२१२
४३. छेदन से गिरने पर यूपवृक्ष का अभिमन्त्रण तथा शोधन, आज्यस्थाली से जुहू में घृत लेकर काटने के स्थान पर आहुति देना २१२-२१५

षष्ठ अध्याय

१. अभ्रि हाथ में लेकर आहवनीय के पूर्व भाग में यूप गाड़ने के लिये स्थान का खोदना, उसमें जल भरना तथा कुशाप्रक्षेप १-२
२. गर्त में शकलप्रक्षेप, प्रथम शकल की स्थापना, चषाल का रखना, यूप पर घृतलेपन तथा यूप का उच्छ्रयण २-६
३. यूप के पंचमांश को भूमि में गाड़ना, घृतलिप्त भाग का आहवनीय के समक्ष निधान, यूप के गर्त को मिट्टी से भरना तथा मैत्रारुणदण्ड से मिट्टी को दबाना ६-८
४. यूप के गर्त को समतल कर उसमें जलसेचन, यूप का स्पर्श करते समय अध्वर्यु-प्रेरित यजमान का मन्त्रवाचन ९-१०
५. अध्वर्यु-प्रेरित यजमान द्वारा प्रस्तुत द्वितीय मन्त्र का भी वाचन १०-११

६.यूप में लपेटने के लिये त्रिगुणित तीन व्याम परिमाण वाली कुशा की बनी रस्सी का ग्रहण ११-१५
७.दर्भतृण से पशु का स्पर्श १६-१८
८.कुशा की रस्सी से पशु के दाहिने पैर को बांधना १८-२०
९.पशु का यूप में नियोजन तथा प्रोक्षणीजल से उसका प्रोक्षण २०-२१
१०.पशु को जल पिलाने के बाद उसका प्रोक्षण तथा लेपन आदि २१-२३
११.पशु के ललाट का स्पर्श,यजमान द्वारा मन्त्रवाचन तथा आहुति २३-२७
१२.पशु को बाँधने वाली रस्सी का अग्नि में प्रक्षेप तथा पत्नी द्वारा मन्त्रवाचन २७-२८
१३.पशु के प्रोक्षण के लिये जल का संस्कार २८-२९
१४.यजमानपत्नी द्वारा पशु के मुख,नासिका आदि अंगों को जल से शुद्ध करना २९-३१
१५.यजमान द्वारा पशु के अंगों का प्रोक्षण ३१-३३
१६.कुशा के मूल और अग्र भाग का छेदन कर उसका उत्कर में प्रक्षेप ३३-३७
१७.सपत्नीक यजमान तथा ऋत्विक्गण द्वारा अपने-अपने शरीर का जल से प्रोक्षण ३७-३८
१८.हविर्द्रव्य का अभिघारण तथा हविर्ग्रहण ३८-४१
१९.हविः प्रदान पूर्वक दिशाओं का व्याघारण ४१-४२
२०.अवदानीय द्रव्य का स्पर्श ४२-४५
२१.प्रतिप्रस्थाता द्वारा आहुति प्रदान,मुखस्पर्श तथा स्वरु होम ४५-४८
२२.जलाशय के किनारे अध्वर्यु द्वारा शूल को गाड़ कर छिपाना तथा यजमान एवं ऋत्विग्गण का जलस्पर्श ४९-५१
२३.वसतीवरी नामक जल का ग्रहण ५१-५३
२४.वसतीवरी जल की विविध स्थानों में स्थापना ५४-५६
२५.तृतीय सवन के लिये सोमलता को प्रस्तरखण्ड पर रखना ५६-५८
२६.सोम का उपस्थान कर घृत की आहुति देना ५८-६०
२७.प्रैषपूर्वक जल के पास जाकर जल में आज्याहुति देना ६१-६३
२८ .हुत आज्य का दूरीकरण,मैत्रावरुण चमस से जलग्रहण और वसतीवरी जल के साथ उसको मिलाना ६३-६६
२९.अग्निष्टोम संस्था वाले यज्ञ में घृत की आहुति,उक्थ्यसंस्थ यज्ञ में प्रथम परिधि का स्पर्श,षोडशी में रराटी का स्पर्श और अतिरात्र में छदि का स्पर्श ६६-६८
३०.अध्वर्यु का मौन धारण कर सोमाभिषव के लिये पाषाण का ग्रहण तथा यजमान का मन्त्रवाचन ६८-७०
३१.निग्राभ्या नामक जल से अधिष्ठातृ देवताओं की प्रार्थना ७०-७१
३२.प्रस्तुत कण्डिका के पांच मन्त्रों से अध्वर्यु द्वारा उपांशुसवन पर पांच बार सोमलता को मुष्टि से नाम पर रखना ७२-७४
३३.रखे गये सोम का अध्वर्यु द्वारा स्पर्श ७४-७५
३४.अध्वर्यु द्वारा निग्राभ्या जल से सोम का उपसेचन ७५-७७
३५.सोम का रस निकालने के लिये सोमलता को कूटना ७७-७९
३६-३७.निग्राभ नामक प्रस्तुत दो कण्डिकाओं का अध्वर्यु-प्रेरित यजमान द्वारा पाठ ७९-८२

चतुर्थोऽध्यायः

सोमयागनिरूपणम्

अत्र कल्पद्वयम्— यदा सोमेन यियक्षति तदा वसन्तेऽग्नीनाधाय समनन्तरमेव सोमेनेष्ट्वा दर्शपूर्णमासादिकमनुतिष्ठेदित्येकः पक्षः। आधानानन्तरं दर्शपूर्णमासादिकमिष्ट्वैव सोमेन यजेदित्यपरः। साम्प्रतं सोमलतानुपलम्भात् पूतिकालतायामेव सर्वे सोमसंस्काराः क्रियन्ते। यद्यप्येकदिनसाध्योऽयं यज्ञस्तथापि स्वाङ्गैः सहितः पञ्चभिर्दिनैरनुष्ठीयते। तत्र षोडशसंख्याका ऋत्विजो भवन्ति। अध्वर्युः, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेतेत्यध्वर्युगणः। ब्रह्म, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्रः, पोतेति ब्रह्मगणः। होता, मैत्रावरुणः, अच्छावाकः, ग्रावस्तुद् इति होतृगणः। उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य इत्युद्गातृगणः। यावत्यो गोरूपा दक्षिणा देयत्वेनोक्तास्ताः समशश्चतुर्धा विभज्य एकैकस्मै गणाय एकैकं भागं दद्यात्। तत्राप्येकैकभागस्य विषमशो विभज्य दानम्, यथा—अध्वर्योरर्धं प्रतिप्रस्थातुस्तृतीयो नेष्टुश्चतुर्थो भाग उन्नेतुश्चतुर्थो भागः। अत एवैषामर्धिनस्तृतीयिनः पादिन इत्यपि संज्ञा।

'यज्ञं व्याख्यास्यामः स त्रिभिर्वेदैः' (आप. श्रौ. २४.१.१.२)। वेदत्रयसाध्योऽयं यज्ञः। अग्निहोत्रं तु युजर्वेदेनैव साध्यते। दर्शपूर्णमासाद्या इष्टयः कैश्चिदृग्वेदयजुर्वेदाभ्यां कैश्चिद्यजुर्वेदेनैवानुष्ठीयन्ते। पशुयाग ऋग्वेदयजुर्वेदाभ्यां सर्वैरेव क्रियते। सोमयागात्प्रभृत्येव वेदत्रयसम्बन्धः। तत्र याजुषकर्मण्यध्वर्युगणः, हौत्रानुष्ठानाय होतृगणः, सामानुष्ठानाय उद्गातृगणः, गणत्रयेणानुष्ठीयमानकर्मविक्षणाय ब्रह्मगण उपयुज्यते। तत्र सोमयागस्य येन साम्ना समाप्तिर्भवति तन्नाम्ना व्यवहारः। अग्निष्टोमसाम्ना यस्य समाप्तिस्तस्याग्निष्टोमेति संज्ञा। उक्थ्येन समाप्यमानत्वाद् उक्थ्यः। षोडशिसामस्तोत्रेण समाप्यमानत्वात् षोडशी। अतिरात्रसामस्तोत्रेण समाप्यमानत्वाद् अतिरात्रसंज्ञो यागो भवति। संख्याचतुष्टयविशिष्टस्य क्रतोर्ज्योतिष्टोमेति संज्ञा भवति। त्रिवृत्, पञ्चदशः, सप्तदशः, एकविंश इति चत्वारः स्तोमा ज्योतिःपदेनाभिधीयन्ते। ज्योतींषि स्तोमा यस्य स ज्योतिष्टोमः। तत्राप्यग्निष्टोमादिवत् षोडशी न स्वतन्त्रः, किन्तु पृष्ठ्यषडहचतुर्थेऽहनि प्रयुज्यते। एतासामेव चतसृणां संस्थानां क्वचिदावापोद्वापादिना अपरास्तिस्रः संस्था अत्यग्निष्टोमः, वाजपेयः, आप्तोर्यामश्च सम्पद्यन्ते।

तत्र सोमयागः सर्वसोमयागप्रकृतिभूतः। स च वसन्ते प्रायशः शुक्लैकादश्यां प्रारभ्य पूर्णिमायां समाप्यते। आभ्युदयिकानन्तरमृत्विग्वरणम्। तत्र प्रवाकनामानमृत्विजं प्रथमं वृणुयात्। स वृतोऽध्वर्य्वादीनां गृहं गत्वा तान्

भाष्यसार— चतुर्थ अध्याय से सोमयाग का निरूपण है। यद्यपि यह एक-दिन-साध्य यज्ञ है, तथापि समस्त अंगों के साथ पांच दिनों में अनुष्ठित होता है। इसमें सोलह ऋत्विक् होते हैं। 'यज्ञं व्याख्यास्यामः स त्रिभिर्वेदैः' (आप. श्रौ. २४.१.१.२) इस

यथाविधि निमन्त्र्य यजमानगृहमानयेत्। तान् वृणीते। वृतेभ्यस्तेभ्यो मधुपर्कदानम्। ततोऽग्नीन् समारोप्य देवयजनं गत्वा शालां निर्मायारणीं मथित्वा खरेषु स्थापयेत्। अपराह्णे दम्पत्योरभीष्टभोजनम्। ततश्चतुर्षु दिवसेषूपवास एव प्रायः। अवभृथानन्तरं पुनरभीष्टभोजनम्। मध्ये तु व्रतप्राशनम्। यजमानस्य वपनं स्नानं ततो दीक्षणीयेष्टिः। नवनीतेन दम्पत्योः शिरस आरभ्य पादपर्यन्तमभ्यञ्जनम्। ततस्तयोर्मुष्टिबन्धनं हस्तद्वयेऽपि। वस्त्रादिना सर्वा अङ्गुलीर्बध्वा अङ्गुष्ठप्रदेशिन्यौ विसृजेत्। माध्यन्दिनसवनं यावद् बद्धमुष्टिभ्यामेव दम्पतीभ्यां कार्याणि सम्पादनीयानि। तत औद्ग्रभणहोमाः। ततः कृष्णाजिनदीक्षा। तत्र कृष्णाजिनमारुह्य मेखलां बध्वा उष्णीषेण शिरसः प्रावरणं पत्न्याः कृष्णाजिनाभावः। कण्डूयनार्थं कृष्णमृगशृङ्गं रक्षेत्। ततो दण्डग्रहणं यजमानस्य। ततः सायं दीक्षितोऽयं ब्राह्मण इति प्रतिप्रस्थातोच्चैर्निवेदयेत्। ततः प्रभृति यावदवभृथं दन्तधावनस्नानाग्निहोत्रहोमदर्शपूर्णमासादिवैश्वदेवार्थपाकस्मार्तोपासनानुष्ठानदानशूद्रसम्भाषणप्रत्युत्थानाभिवादनजलावगाहनानि न कर्तव्यानि।

ततः प्रवर्ग्यार्थं महावीरसम्भरणं ततोऽस्तमिते व्रतभक्षणम्। व्रतपदेन पय उच्यते। प्रथमदिने गामेकां शालासमीपमानीय तस्या एकमेव स्तनं दुह्यात्। तदेव द्विधा कृत्वा गार्हपत्ये यजमानार्थं दक्षिणाग्नौ पत्न्यर्थं श्रपयित्वा प्रयच्छेत्। द्वितीयतृतीयदिवसयोर्मध्याह्ने रात्रौ च वारद्वयं व्रतप्राशनम्। द्वितीयदिने स्तनद्वयं तृतीये स्तनत्रयं दुह्यात्। चतुर्थपञ्चमयोस्तु केवलं हविःशेषभक्षः। ततो भूमौ दक्षिणतोऽग्निमुखः शयीत। द्वितीयेऽह्नि प्रायणीयेष्टिः। तत्र अदितिः, पथ्या, स्वस्तिः, अग्निः, सोमः, सविता च देवताः। अदित्यै चरुः, शिष्टेभ्य आज्यम्। इष्ट्यन्ते चरुस्थालीं मेक्षणं चोदयनीयार्थं निदध्यात्। ततः सोमक्रयः। क्रीतं तमध्वर्युः शकटे निधायानडुद्भ्यामूढं शकटं शालायामानाय्य तं सोममौदुम्बर्यामासन्द्यां निधाय शालायां स्थापयेत्। तत आतिथ्येष्टिः। तत्र विष्णुर्देवता नवकपालः पुरोडाशो द्रव्यम्। ततः परं मदन्तीसंज्ञकाभिस्तप्ताभिरद्भिरेव सर्वाण्युदककार्याणि दम्पतीभ्यां कर्तव्यानि, न शीतोदकस्पर्शः। ततः सर्वेषामृत्विजां यजमानस्य च तानूनप्त्रसंज्ञकाज्यस्पर्शो यावदवभृथं परस्परमद्रोहार्थं शपथरूपः।

ततः प्रवर्ग्यानुष्ठानम्। तत्पत्न्याऽवेक्षणीयम्। अत्र गार्हपत्याहवनीयौ उत्तरेण द्वौ खरौ हस्तमात्रावङ्गुलोत्सेधौ दक्षिणतस्तृतीयं तावन्मात्रं सिकताभिः कृत्वा सम्राडासन्दीमाहवनीयपूर्वेण संस्थाप्य द्वौ महावीरावासादयेत्। ततो मुञ्जनिर्मितानिण्ड्वानादीप्य तान् खरे संस्थाप्य तत्राज्यपूर्णं महावीरं निधाय होत्रा मन्त्रगणे पठ्यमाने प्रतिप्रणवं स्रौवमाज्यमासिञ्चेत्। ततो रौहिणपुरोडाशयोः प्रचारः। तत्रादौ दक्षिणं पुरोडाशं हुत्वा गां दुग्ध्वा महावीरमादाय तत्राऽजापयः प्रक्षिप्य शान्ते पयसि गोपयः प्रक्षिपेत्। अयं घर्म उच्यते। तत उत्तरं रौहिणं जुहुयात्। एवमपराह्णेऽपि प्रवर्ग्यानुष्ठानम्। तत्र उपसदिष्टिः। तत्राज्यं द्रव्यम्। अग्निः सोमो विष्णुश्च देवताः। ततः प्रातरुपसद्धोमः। एवं सायमपि। एवं द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु दिवसेषु षडुपसदः क्रियन्ते। प्रवर्ग्यश्च तृतीयदिने। प्रातः प्रवर्ग्यमुपसदं च हुत्वा सौमिकीं महावेदिं निर्माय आपराह्णिक्यौ प्रवर्ग्योपसदौ कुर्यात्। चतुर्थे दिनेऽग्नीषोमीयः पशुः। अनेनैव पशुना सार्धं दौर्ब्राह्मण्यनिवृत्त्यर्थः पशुरपि समानतन्त्रेणाधुनैव संस्कर्तव्यः। ततस्तद्देवत्यं पशुपुरोडाशमन्यानि च पश्वङ्गानि यथावदनुष्ठाय तद्वपामार्जनान्ते वसतीवरीग्रहणार्थं बहिर्गत्वा यत्रापः स्यन्दन्ते ता वसतीवरीः पात्रे गृह्णीयादस्तमयात् पूर्वम्। सोमाभिषवकाले रसवृद्ध्यर्थं या आपः प्रक्षिप्यन्ते ता वसतीवर्य इत्युच्यन्ते। ता गृहीत्वा येन पथा तदानयनं विहितं तेनैव ता आनीयाग्नीध्रे ता निदध्यात्।

आपस्तम्ब परिभाषा के अनुसार यह तीन वेदों द्वारा अनुष्ठेय यज्ञ है। अग्निहोत्र तो केवल यजुर्वेद द्वारा ही साध्य है। दर्शपूर्णमास आदि इष्टियां कुछ लोगों द्वारा ऋग्वेद एवं यजुर्वेद दोनों से अथवा केवल यजुर्वेद से ही अनुष्ठित की जाती हैं। पशुयाग सभी

पञ्चमे सुत्यादिवसे सोमाभिषवग्रहग्रहणतद्धोमादीनामनुष्ठानम्। चतुर्थदिनस्यापरान्ते एवावबुद्ध्य स्नाता ऋत्विज आज्यासनान्तं कृत्वा सोमं द्वेधा विभज्य ग्राव्णां मुखे निदध्युः। ततः प्रातरनुवाकस्य शस्त्रं होता पठति। तच्च पक्षिणां वागुत्थानात् पूर्वमेवारब्धव्यम्। तत्काले जाग्रदेवाध्वर्युर्होतृसमीपे आसीत। ततः प्रातःसवनीयपुरोडाशानां निर्वापोऽग्नीत्कर्तृकः। तत्र पञ्च हवींषि पञ्चदेवताः, ऐन्द्र एकादशकपालः। इन्द्राय हरिवते धानाः, इन्द्राय पूषण्वते करम्भः, इन्द्राय सरस्वतिमते दधि, इन्द्राय वरुणवते पयस्येति। एवं पुरोडाशादिनिर्वापान् पयस्यां च प्रातरनुवाकशस्त्रकाल एवाग्नीद् यथावत् सम्पाद्य तत उन्नेता ऐन्द्रवायवादीनि पात्राणि योजयेत्। योजितेषु चत्वार ऋत्विजः सोमाभिषवार्थमधिषवणफलकयोः सर्वत उपविशेयुः। तत्रोत्तरतोऽध्वर्युयजमानौ, दक्षिणतो ब्रह्मप्रतिप्रस्थातृन्नेतृनेष्टारश्च। अभिषवार्थानां पदार्थानामीषान्तरेणैवानयनम्। ततोऽध्वर्युरधिषवणफलके उपांशुसवनाख्यं पाषाणं निधाय तदुपरि पञ्चकृत्वः सोममभिषुणुयात्।

महाभिषवेऽध्वर्युप्रतिप्रस्थातृनेष्टृन्नेतारः कर्तारः। तेऽभिषवसोमं चतुर्धा विभज्य चत्वारः प्रहरेयुः। प्रहारश्चामितकृत्वः। यावता रसप्रच्युतिस्तावत्पर्यन्तं निग्राभ्या आसिच्याभिषुणुयुरिति महाभिषवः। अथ क्षुल्लकाभिषवः। तत्राध्वर्युरेकः कर्ता। स एवोपांश्वभिषवः। तत्र क्षुल्लकाभिषवणार्थं पूर्वमितात् सोमादल्पांशूनपकृष्य पात्रान्तरे स्थापिता निग्राभ्याश्च होतृचमसे कृत्वा सोमोपरि आसिच्य अष्टकृत्वः प्रहरणम्। अभिषवान्ते प्रतिप्रस्थाता उपांशुग्रहपात्रं स्वहस्ते धारयेत्। अध्वर्युर्मुष्टिनाभिषुतं सोमं निष्पीड्य उपांशुग्रहं गृह्णीयात्। एवमादिरीत्या क्षुल्लकाभिषवः। अथ माध्यन्दिनसवनम्। अथ तृतीयसवनम्। ततोऽवभृथः।

शतपथे तृतीयकाण्डस्य प्रथमाध्याये शालानिर्माणप्रभृतिदीक्षाहुतिपर्यन्तमुक्तम्। शालानिर्माणार्थं देवयजनपरिग्रहो विहितः — देवयजनं जोषयन्त इत्यादिना। 'स वै न सर्वेणेव संवदेत। देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा ते हि यज्ञियास्तस्माद्यद्येनꣳ शूद्रेण संवादो विन्देदेतेषामेवैकं ब्रूयादिममिति विचक्ष्वेममिति विचक्ष्वेत्येष उ तत्र दीक्षितस्योपचारः' (श. ३.१.१.१०), 'अथारणी पाणौ कृत्वा। शालामध्यवस्यति स पूर्वार्ध्यꣳ स्थूणाराजमभिपद्यैतद्यजुराहेदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्व इति तदस्य विश्वैश्च देवैर्जुष्टं भवति ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचाना यदहास्य तेऽक्षिभ्यामीक्षन्ते ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसस्तदहास्य तैर्जुष्टं भवति' (श. ३.१.१.११)। समन्त्रकं शालाप्रवेशं विधत्ते—अथारणीति। अरणी पाणौ कृत्वा शालां प्रविश्य मन्त्रेणैतद्देवयजनं निश्चिनुयात्। अध्यवसानप्रकारमाह—स पूर्वार्ध्यमिति। स्थूणाराजो मध्ये स्थितः, महती स्थूणा स्थूणाराज उन्नतस्तम्भः, तस्य पूर्वार्ध्यमभिपद्य गृहीत्वा एदमगन्मेति यजुर्ब्रूयात्। तथा च कात्यायनः — 'समारोप्याग्नी शालास्तम्भं पूर्वार्ध्यं गृहीत्वाऽरणिपाणिराहेदगन्मेति' (का. श्रौ. ७.१.३०)। गृहे अग्नी अरण्योरारोप्य देवयजनमागत्य शालां प्रविश्य शालायाः पूर्वो भागः पूर्वार्धस्तत्र भवः पूर्वार्ध्यस्तं शालास्तम्भं गृहीत्वा अरणिपाणिर्यजमान एदमगन्मेति मन्त्रं पठेत्—

लोगों द्वारा ऋग्वेद एवं यजुर्वेद दोनों से किये जाते हैं। सोमयाग से प्रारम्भ करके अन्य यागों में तीन वेदों का संबन्ध है।

शतपथ ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के प्रथम अध्याय में सोमयाग की शालानिर्माण से लेकर दीक्षाहुतिपर्यन्त की विधि कही गई है। तदनुसार कात्यायन श्रौतसूत्र (७.१.३०) में शाला के पूर्व भाग में स्थित स्तम्भ का ग्रहण करते हुए, अरणि हाथ में लिये

एदमंगन्म देवुयजंनं पृथिव्या यत्रं द्वेवासो अजुंषन्त विश्वें। ऋक्सामाभ्याꣳसन्तरंन्तो यजुंर्भी रायस्पोषेंण समिषा मंदेम। इमा आपः शमुं मे सन्तु देवीरोषंधे त्रायंस्व स्वधिंते मैनंꣳ हिꣳसीः ॥१ ॥

चतुर्थाध्यायमारभ्याष्टमाध्यायस्य द्वात्रिंशत्कण्डिकापर्यन्तमग्निष्टोममन्त्राः। तेषां प्रजापतिर् ऋषिः। तत्र चतुर्थे यजमानसंस्कारपूर्वकं सोमक्रयमन्त्राः प्राधान्येनोच्यन्ते। तत्र द्वे अत्यष्टी त्र्यवसाने। तयोः कण्डिकयोः सप्त मन्त्राः। आद्यावध्यर्चौ देवयजनदेवत्यौ। वयं सयजमाना ऋत्विजः, आ इदं पृथिव्याः सम्बन्धि इदमुत्कृष्टं देवयजनम्, देवा इज्यन्ते यस्मिंस्तद् देवयजनं स्थानं यष्टुकामा आ अगन्म आगताः स्मः, गच्छतेर्लटि उत्तमबहुवचने व्यत्ययेन शपो लुकि, 'व्यवहिताश्च' (पा. सू. १.४.८२) इत्युपसर्गक्रियापदयोर्व्यवधानम्। यत्र यस्मिन् देवयजने विश्वेदेवासः सर्वे देवा अजुषन्ताऽप्रीयन्त। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः'। प्रीत्या स्थिताः कामान् वा सेवितवन्तः। मन्त्रेऽस्मिन् ब्राह्मणा अनूचानाः शुश्रुवांसो देवा इति ज्ञेयम्, तथैव श्रुत्या व्याख्यातत्वात्। वयं रायो धनस्य पोषेण पुष्ट्या संवृद्ध्या इषा इष्यमाणेनान्नेन च संमदेम हृष्टा भवेम धनैरन्नैश्च तृप्येम। किं कुर्वन्तः? ऋक्सामाभ्यां ऋक् च साम च ऋक्सामे 'अचतुरविचतुरसुचतुर' (पा. सू. ५.४.७७) इति सूत्रेणाजन्तो निपातः। ताभ्यां यजुर्भिश्च वेदत्रयगतैर्मन्त्रैः सन्तरन्तः समुद्रवद्गम्भीरं सोमयागं समापयन्तः। 'दक्षिणं गोदानं वितार्योनत्तीमा आप इति' (का. श्रौ. ७.२.७)। शिरसो दक्षिणं प्रदेशं कङ्कतादिना विविच्य तत्स्थान् केशान् विजटान् कृत्वा आर्द्रीकरोतीति सूत्रार्थः।

मन्त्रार्थस्तु—इमा आपो देवताः शिरःक्लेदाय सिच्यमाना एता आपो यजमानस्य शमु शं सुखार्थम् उ एव सुखकारिण्य एव सन्तु। किंभूता आपः? देव्यः, दीव्यन्तीति देव्यो द्योतनाः, निर्मला इति यावत्। 'यूपवत्कुशतरुणं क्षुरेण चाभिनिधाय छित्वोदपात्रे प्रास्यति' (का. श्रौ. ७.२.८-११)। केशमध्ये कुशपत्रं दध्यात्। यूपवदोषध इति मन्त्रेण। चशब्दाद् यूपवदेव क्षुरधारनिहिततृणस्योपरि निदध्यात्। 'स्वधिते' इति सतृणान् केशान् छित्वोदपात्रे क्षिपेत्। यथा पश्वर्थयूपस्य छेदे मन्त्रः, एवमत्रापि तृणान्तर्धानं क्षुरस्थापनं च मन्त्रद्वयेन कर्तव्यमित्यर्थः। कुशतरुणं देवता। हे ओषधे कुशतरुण, त्वं यजमानं त्रायस्व क्षुराद्रक्ष। कुशतरुणं सूक्ष्मं कुशाग्रं दर्भतरुणमिति हरिस्वामिनः। क्षुरो देवता। हे क्षुर स्वधिते, एनं यजमानं मा हिंसीः। 'मो नो धातोः' (पा. सू. ८.२.६४) इति मकारस्य नकारः, अडागमश्च। वज्रकर्म कुर्वन्नवज्रोऽपि वज्र उच्यते। मन्त्रस्य द्वितीयं पादं देवतात्पर्याभिधानेन व्याचष्टे श्रुतिः—'तदस्य विश्वैर्देवैर्जुष्टं भवति। ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचाना यदहास्य ते अक्षिभ्यामीक्षन्ते ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसस्तदहास्य तैर्जुष्टं भवति'। अत्र मन्त्रे देवा अजुषन्त इति यदुक्तम्, तस्येदमेव तात्पर्यं यदत्र शुश्रुवांसोऽनूचाना ब्राह्मणा यदेनद्देवयजनमक्षिभ्यामीक्षन्ते, तदेव तैर्देवैर्देवयजनं जुष्टं भवति। 'यद्वाह। यत्र देवासो अजुषन्त विश्व इति तदस्य विश्वैर्देवैर्जुष्टं भवत्यृक्सामाभ्याꣳ

हुए यजमान 'एदमगन्म' इस मन्त्र का पाठ करे। यह याज्ञिक विनियोग है। 'इमा आपः' इत्यादि मन्त्रों से सिर के केशों को आर्द्र कर वपन किया जाता है। तदनुसार याज्ञिक पक्ष में मन्त्रों का अर्थ कहा गया है।

मन्त्रार्थ— हम इस पृथ्वी संबन्धी देवयजन स्थान में आये हैं, जहां सब देवता प्रीतिपूर्वक स्थित हैं। हम ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के मन्त्रों से समुद्र के समान गम्भीर सोम याग को करते हुए धन से पुष्ट और इच्छित अन्न से हृष्ट और तृप्त हों। प्रकाशयुक्त, निर्मल, सिर पर लगाये हुए जल मुझ यजमान के निमित्त सुखदायक हों। हे कुशतरुण! ओषधि के देवता! यजमान की छुरे से रक्षा करो। हे क्षुर के अधिष्ठात्री देवता! इस यजमान को पीड़ा मत दो।

तीसरे अध्याय में आधान, अग्निहोत्र, उपस्थान और चातुर्मास्य के मन्त्र कहे गये हैं। अब चौथे अध्याय में ३२ वीं कण्डिका तक अग्निष्टोम के मन्त्र कहे जायेंगे। प्रथम मन्त्र में क्षुर से यजमान को पीड़ा न पहुंचाने की प्रार्थना की गई है ॥१ ॥

सन्तरन्तो यजुर्भिरित्यृक्सामाभ्यां वै यजुर्भिर्यज्ञस्योदृचं गच्छन्ति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह रायस्पोषेण समिषा मदेमेति भूमा वै रायस्पोषः श्रीर्वै भूमाशिषमेवैतदाशास्ते समिषा मदेमेतीषं मदतीति वै तमाहुर्यः श्रियमश्नुते यः परमतां गच्छति तस्मादाह समिषा मदेमेति' (श. ३.१.१.१२)।

मन्त्रस्य तृतीयं पादं व्याचष्टे—ऋक्सामाभ्यामिति। यजुर्भि: क्रियमाणं यज्ञस्वरूपमृक्सामाभ्यां स्तोत्रशस्त्राभ्यां सन्तरन्तः पारं प्रापयन्त इति सन्तरन्त इत्यंशस्यार्थः। यजुषा ऋक्सामाभ्यां ये तरन्ति ते यज्ञस्योदृचमेव परिसमाप्तिं गच्छन्ति। अत एतेन यज्ञस्य उदृचं परिसमाप्तिं प्राप्नोमीत्युक्तवान् भवति। चतुर्थपादस्य प्रथमभागं व्याचष्टे—रायस्पोषेणेति। भूमा बहुभाव एव। रायस्पोषो धनपुष्टिः। स च भूमा साक्षात् श्रीरेव, तस्मादेतद्भागपाठेन आशिषमेवाशास्ते। चतुर्थपादस्य द्वितीयभागस्य तात्पर्यमाह—समिषेति। लोके यः श्रियः परमतां गच्छति तमिषमन्नमदति मोदत इत्याहुः। अतो मन्त्रे समिषेति भागमाहेत्यर्थः।

'अपराह्णे दीक्षेत' (श. ३.१.२.१) इत्यपराह्णेऽह्नस्तृतीये भागे दीक्षाविधानम्। अथ दीक्षिताशनविषये सर्वान्नमभ्यनुजानाति—'यत्कामयेत' इत्यादिना। यतोऽतः परं व्रतं केवलं पयःपानमेव, अतः क्षौरकर्मणः प्राग् यथेष्टं भोक्तुं शक्यते। यद्यु नाशिषेदपि कामं नाश्नीयादिति तत्रैव यथेष्टानशनपक्षोऽप्युक्तः। ततः शालाया उत्तरभागे क्षौरार्थं परिश्रयणं तदत्रोदकुम्भपरिवृते देशे नापितः केशश्मश्रुवपनं नखनिकृन्तनं च कुर्यात्। अमेध्यानां केशनखानां निरवशेषेण सुखच्छेदनाय उदकुम्भसन्निधानमावश्यकम्। तदुक्तं कात्यायनेन—'उत्तरे परिवृत उदकुम्भवत्यप्सु दीक्षा। नापित उत्तरत उपतिष्ठते' (का. श्रौ. ७.२.५-६)। यजमानः क्रतुसाधनभूतं धान्यघृतहिरण्यादि वा क्रत्वर्थं मे गोपाय यथाकालं सम्पादयेत्येवमन्यस्मा उक्त्वा ततस्तेनाप्सु दीक्षा कार्या। अप्सु दीक्षेति वक्ष्यमाणस्य केशश्मश्रुवपनस्नानादिसंस्कारस्य नामधेयम्। परिवृतमध्ये हस्तमितं गर्तं कृत्वा तत्रोदकुम्भनिधानम्। 'नापित उत्तरत उपतिष्ठते नखानि निकृन्तत्यङ्गुष्ठप्रभृतीनि दक्षिणहस्तस्य प्रथमम्' (का. श्रौ. ७.२.६)।

सर्वाङ्गवपनपक्षमुपन्यस्य निराकृत्य केशश्मश्रुवपनमुक्तम्। तत्रापि मानुषत्वव्यावृत्त्युपन्यासमुखेन नखानामेव, तत्रापि याम्यपाणिपादस्यैव, तत्राप्यङ्गुष्ठयोरेवेति त्रयाणां प्राथम्यमुक्तम्। 'स वै नखान्येवाग्रे निकृन्तते। दक्षिणस्यैवाग्रे सव्यस्य वा अग्रे मानुषेऽथैवं देवत्राङ्गुष्ठयोरेवाग्रे कनिष्ठिकयोर्वा अग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा' (श. ३.१.२.४)। 'स दक्षिणमेवाग्रे गोदानं विस्तारयति। सव्यं वा अग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा' (श. ३.१.२.५)। वपनेऽपि दक्षिणस्य भागस्य प्राथम्यमाह—गोदानमिति। गोदानं नाम कर्णस्योपरि प्रदेशः। स्वपद्भिर्गवि पृथिव्यां दीयत इति गोदानं कर्णः, तं विस्तारयति विभजेत्। यस्य चाग्रे वपनं तस्यैव चोन्दनप्राथम्यं युक्तम्। 'स दक्षिणमेवाग्रे गोदानमभ्युनत्ति। इमा आपः शमु मे सन्तु देवीरिति स यदाहेमा आपः शमु मे सन्तु देवीरिति वज्रो हि वा आपो वज्रो वा आपस्तस्माद्येनैता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति तत्तदेतमेवैतद्वज्रꣳ शमयति तथो हैनमेष वज्रः शान्तो न हिनस्ति तस्मादाहेमा आपः शमु मे सन्तु देवीरिति' (श. ३.१.२.६)। आपः शं सन्त्विति शान्तिप्रार्थनायाः क्रौर्यप्रसङ्गं दर्शयति—वज्रो वा आप इति। 'अथ दर्भतरुणकमन्तर्दधाति। ओषधे त्रायस्वेति वज्रो वै क्षुरस्तथो हैनमेष वज्रः क्षुरो न हिनस्त्यथ क्षुरेणाभिनिदधाति स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीरिति वज्रो वै क्षुरस्तथो हैनमेष वज्रः क्षुरो न हिनस्ति' (श. ३.१.२.७)। क्षुरकृतविदारणपरिहाराय केशानामुपरि दर्भस्थापनं समन्त्रकमाह—अथेति। क्षुरस्य हिंसकत्वात् ततः पालनप्रार्थना। समन्त्रकं क्षुरनिधानमाह—स्वधित इति। स्पष्टमन्यत्। 'प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति। तूष्णीमेवोत्तरं गोदानमभ्युनत्ति तूष्णीं दर्भतरुणकमन्तर्दधाति तूष्णीं क्षुरेणाभिनिधाय प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति' (श. ३.१.२.८)। अत्र मन्त्रमन्तरैव तूष्णीमुत्तरगोदानोन्दनादिकम्। 'अथ नापिताय क्षुरं प्रयच्छति। स केशश्मश्रु वपति' (श. ३.१.२.९)।

अध्यात्मपक्षे तु—इदं मानवशरीरं देवयजनं देवा इज्यन्ते येन तद् देवयजनं देवादिपूजनसाधनं पूर्वसुकृतैः परमेश्वरानुग्रहेण पृथिव्याः पृथिव्युपलक्षितानां पञ्चभूतानां सम्बन्धि उत्कृष्टं परिणामभूतम् अगन्म प्राप्तवन्तो वयम्। यत्र यस्मिन् निमित्ते सति विश्वे सर्वे देवासो देवा अजुषन्त प्रीतिमन्तः सन्तोऽभीष्टान् कामान् हविर्भागान् वा अजुषन्त सेवितवन्तः। यत्र स्थिता वयम् ऋक्सामाभ्यां यजुर्भिश्च रायस्पोषेण ब्रह्मविद्यारूपाया लक्ष्म्याः पोषेण पुष्ट्या स्वाभाविककामकर्माज्ञानरूपं मृत्युं तरन्तः, इषा ब्रह्मरूपेणान्नेन संमदेम हृष्येमहि तुष्येमहि, 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' (तै. उ. ३.१०.६) इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणोऽन्नान्नादत्वोक्तेः। इमा आपो व्यापनशीला जलादिरूपेण परिणताः परमात्मदेवता देवीः द्योतमानाः स्वप्रकाशाः। पूजायां बहुवचनम्। मह्यं शम् उ सुखकारिण्य एव सन्तु। हे ओषधे संसाररोगनिवर्तक, एनं प्रत्यगात्मानं मा हिंसीः स्वात्मवैमुख्यापादनेन हननं मा कार्षीः। किन्तु त्रायस्व प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मात्मस्वरूपप्रकाशेन जननमरणाविच्छेदलक्षणायाः संसृते रक्ष।

दयानन्दस्तु— 'हे विद्वन्! यथा पृथिव्या मध्ये मनुष्यजन्मा इदं देवयजनं च प्राप्य यत्र ऋक्सामाभ्यां यजुर्भी रायस्पोषेण दुःखानि समिषा सन्तरन्तो विश्वेदेवा अगन्मा अजुषन्त मदेम सुखयेम। उ इति वितर्के। मे मम विद्यासुशिक्षाभ्यां सेविता इमा देवीर् देव्य आपः सुखकारिकाः सन्ति, तथैव तत्र त्वं ता जुषस्व। तवैताः सन्तु सुखकारिका भवन्तु। यथौषधे सोमलताद्योषधिगणो रोगेभ्यस्त्रायते, तथा त्वं नस्त्रायस्वैनं स्वधितिर्वज्रस्त्वमेनं जीवं मा हिंसीर्हननं मा कुर्याः' इति, तच्च विसंगतमेव, पृथिव्या इदं देवयजनमिति सम्बन्धसम्भवे 'पृथिव्या मध्ये' इत्यध्याहारस्याप्रामाणिकत्वात्। एवं 'सन्तरन्तो दुःखस्यान्तं प्राप्नुवन्तः' इत्यपि तथाविधमेव, निर्मूलत्वात्। एवमेव 'ओषधे' 'स्वधिते' इति श्रुतां संबोधनविभक्तिमपहायार्थान्तरकल्पनमपि निर्मूलम्। शतपथविरुद्धं चैतत्। तत्र तु—'ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचाना यदहास्य तेऽक्षिभ्यामीक्षन्ते . . . . तदहास्य तैर्जुष्टं भवति' (श. ३.१.१.११) इत्युक्तम्। दक्षिणगोदानवितारण उन्दने च इमा आप इति मन्त्रो विनियुक्तः, 'ओषधे त्रायस्व' इत्यस्य च तत्र दर्भतरुणकस्य केशानामुपरि धारणे विनियोग उक्तः। स्वधितिपदेन तत्र क्षुर एव सम्बोध्यत्वेनोक्तः। 'अथ स्नाति। अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वा आपो मेध्यो भूत्वा दीक्षा इति पवित्रं वा आपः पवित्रपूतो दीक्षा इति तस्माद्वै स्नाति' (श. ३.१.२.१०)। अनृतवदनेनान्तःपूतिः पुरुषोऽमेध्यो भवति, आपश्च मेध्या भवन्ति, तस्मात् स्नाति ॥१॥

अध्यात्मपक्ष में तो यह अर्थ है—देवताओं का यजन इससे किया जाता है, अतः यह मानव शरीर देवयजन है। इस देवादिपूजन के साधन पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों से संबद्ध शरीर को हमनें परमेश्वर के अनुग्रह से प्राप्त किया है। जिसके निमित्त होने पर ही समस्त देवगण अभीष्ट कामों अथवा हविर्द्रव्यों का सेवन करते हैं। इस शरीर में स्थित हम लोग ऋक्, साम एवं यजुर्मन्त्रों से ब्रह्मविद्यारूप लक्ष्मी की पुष्टि के द्वारा मृत्यु को पार कर ब्रह्मरूप अन्न से तुष्ट रहें। ये व्यापनशील जलादिरूप से परिणत स्वप्रकाशरूपिणी परमात्मदेवताएं मेरे लिये सुखकारिणी हों। हे संसाररोगनिवर्तक ओषधि, इस प्रत्यगात्मा को अपने से विमुख करते हुए विनष्ट मत होने दो, अपितु सृष्टिप्रपंच से इसकी रक्षा करो।

स्वामी दयानन्द का अर्थ तो असंगत है, क्योंकि 'यह पृथिवी का देवयजन है' इस प्रकार संबन्धकारक होजाने पर 'पृथिवी के मध्य में' इस तरह का अध्याहार अप्रामाणिक है। 'सन्तरन्तः' का 'दुःख का अन्त प्राप्त करते हुए' यह अर्थ भी निर्मूल है। 'ओषधे, स्वधिते' इन पदों में मन्त्रोक्त संबोधन विभक्तियों को छोड़कर अन्य अर्थ की कल्पना अनुचित है। यह शतपथ ब्राह्मण के भी विरुद्ध है॥१॥

आपो॑ अ॒स्मान्मा॒तरः॑ शुन्धयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्वः॑ पुनन्तु। विश्व॒ꣳहि रि॒प्रं प्र॒वह॑न्ति दे॒वीरुदिदा॑भ्य॒ः शुचि॒रा पू॒त ए॑मि। दी॒क्षा॒त॒पसो॑स्त॒नूर॑सि॒ तां त्वा॑ शि॒वाꣳ श॒ग्मां परि॑दधे भ॒द्रं वर्णं॒ पुष्य॑न्॥२॥

'स स्नाति' इति शतपथश्रुत्या, 'आपो अस्मानिति स्नात्वोदिदाभ्य इत्युत्क्रामत्युत्तरपूर्वार्धम्' (का. श्रौ. ७.२.१५) इति मन्त्रः स्नाने विनियुक्तः। या एता आपो मातर ओषधिवनस्पत्यादिसकलजगन्निर्मात्र्यः, ता अस्मान् शुन्धयन्तु शोधयन्तु। मिमत इति मातरः, मातृवत् पालयित्र्यो वा एता आपः कृतक्षौरानस्मान् यजमानान् शुन्धयन्तु पुनन्तु क्षौर-कर्मनिमित्तामपहितिमशुद्धिं निवारयन्तु। 'घृ क्षरणदीप्त्योः'। जिघर्ति क्षरतीति घृतं तेन क्षरणोपेतेन जलेन पुनन्तीति घृतप्वः। जलदेवताश्च नोऽस्मान् क्षरणयुक्तेन जलेन पुनन्तु शुद्धान् कुर्वन्तु। देवीर् द्योतमाना आपः, विश्वं हि सर्वमेव रिप्रं पापम् अस्मद्यजमानेभ्यः प्रवहन्तु प्रकर्षेण अपनयन्तु। 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' (निरु. ४.२१)।

यद्वा घृतेन पुनन्तीति घृतप्वः। घृतम् अपां परमं तेजः पवित्रं च। 'तद्वै सुपूतं यं घृतेन पुनन्' (श. ३.१.२.११) इति श्रुतिः। 'सुवर्णप्राशो घृतप्राश इति मेध्यानि' इति गोतमः। हीति यस्मादर्थे। यस्मात् स्वभावत एव सर्वं पापं प्रकर्षेण वहन्ति देव्यस्तस्मात् पुनन्तु। 'उदिदाभ्य इत्युत्क्रामत्युत्तरपूर्वार्धम्' (का. श्रौ. ७.२.१५)। पूर्वं परिवृतेन निहितेन उदकुम्भोदकेन स्नात्वा उदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमीति मन्त्रेण उत्तरपूर्वार्धे निगच्छेत्। शुचिः पूत इति शब्दद्वयेन स्नानाचमनाभ्यां बहिरन्तश्च शुद्धिद्वयमभिधीयते। इच्छब्दः समुच्चयार्थकः। तथाविधशुद्धिद्वयोपेतोऽहम् आभ्योऽद्भ्य उत्सह्य उद्गम्य एमि भूमिमागच्छामि। शुचिः शुद्धः स्नानेन तथा आपूत आसमन्ताद् भावेनान्तरेणाप्याचमनेन शुचिर्ज-लान्निर्गच्छामीति। 'क्षौमं वस्ते निष्पेष्टवै ब्रूयादहतं चेदद्भिरभ्युक्ष्य, स्नातवस्यं वाऽमौत्रधौतं विचितकेशं प्रसारितदशं दीक्षातपसोरिति' (का. श्रौ. ७.२.१६-१८)। स्नानानन्तरं क्षौमं वासः परिदधीत यजमानः। अहतं यन्त्रनिर्मुक्तमधौतं वासो निष्पेष्टवै ब्रूयात्। प्रतिप्रस्थात्रे प्रैषं दत्त्वा तेन च प्रक्षालितं परिदध्यात्। चेदद्भिरभ्युक्ष्य चेच्छब्दो वाशब्दार्थे। अथवा अभ्युक्षणमात्रं कृत्वा परिधत्ते। यद्वा हस्ताभ्यां सम्पेष्टव्यमिति प्रैषार्थः। ततश्च ब्राह्मणहस्तसम्पर्काद् मेध्यता भवति। अहतं चेदद्भिरभ्युक्ष्य वा परिधत्ते। अत्र ब्राह्मणहस्तस्पर्शाऽभ्युक्षणयोर्विकल्पः। अथवा प्रत्यहं कृतस्नानेन सदा परिधीयमानं यद् वासस्तत्परिधत्ते। कीदृशं तत्? अमौत्रधौतम् अरजकप्रक्षालितं विचिता निष्काशिताः केशाः सूत्राणि यस्माद् तद् विचितकेशम्, प्रसारिता दशा अग्रभागो यस्य तत् प्रसारितदशम्, तादृशं वासः परिदधीत।

मन्त्रार्थस्तु—अत्र वासो देवता। हे क्षौमवस्त्र, त्वं दीक्षातपसोस्तनूरसि। दीक्षा दीक्षणीयेष्टिः, तप उपसदिष्टिः। दीक्षाभिमानिदेवतायास्तपोऽभिमानिदेवतायाश्च त्वं शरीरवत् प्रियमसि। तां दीक्षातपसोस्तनूं तद्देवताद्वयशरीरभूतां त्वामहं

मन्त्रार्थ— माता के समान पालन करने वाले हे जलदेवता! तुम हमें शुद्ध करो। निश्चय ही दीप्तिमान् निर्मल जल सम्पूर्ण पापों को धो डालते हैं। इस जल में स्नान कर बाहर-भीतर से शुद्ध हुआ मैं जल से बाहर आता हूँ। हे क्षौम वस्त्र! तुम दीक्षाभिमानी और तपोभिमानी देवता के शरीर के समान प्रिय हो। तुमको धारण कर मैं कल्याण रूप कान्ति से पुष्ट होता हूँ॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान तालाब आदि में स्नान करता है और रेशमी वस्त्र धारण करता है॥२॥

भाष्यसार— शतपथश्रुति के अनुसार 'आपो अस्मान्' इस मन्त्र से स्नान करना चाहिये, यह कात्यायन श्रौतसूत्र (७.२.१५) में कहा गया है। तदनन्तर 'दीक्षातपसोः' इत्यादि मन्त्र से वस्त्रधारण करे। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन (७.२.१५-१८) ने बताया है। याज्ञिक प्रक्रिया में विनियोग के अनुसार इस कण्डिका का अर्थ किया गया है।

परिदधे। कीदृशीं त्वाम्? शिवां शग्मां द्वयोरपि शब्दयोः सुखार्थकत्वाद् अत्यन्तसुखरूपां कोमलत्वादिना। भद्रं वर्णं पुष्यन् त्वत्परिधाने कल्याणीं कान्तिं बिभ्रत्। यद्वा शिवां शान्तां शग्मां ससुखां साध्वीं वा त्वां परिदध इति सायणादिसम्मतोऽर्थः।

शतपथे च— 'स स्नाति। आपोऽस्मान् मातरः शुन्धयन्त्विति...घृतेन नो घृतप्वः पुनन्त्विति.... विश्वꣳ हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरिति यद्वै विश्वꣳ सर्वं यद्यदमेध्यꣳ रिप्रं तत्सर्वꣳ ह्यस्मादमेध्यं प्रवहन्ति तस्मादाह विश्वꣳ हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरिति' (श. ३.१.२.११)। मन्त्रो व्याख्यात एव। तृतीयपादस्य तात्पर्यमाह—विश्वं हीति। यद् विश्वं तत्सर्वमुच्यते, यदमेध्यं तद् रिप्रम्, अतो देहगतं मालिन्यमात्मगतं पातकं सर्वं द्योतमाना आपोऽस्माद् यजमानादपगमयन्ति यतोऽत एवाह मन्त्रः। 'अथ प्राङिवोदङ्ङुत्क्रामति। उदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमीत्युद्ध्याभ्यः शुचिः पूत एति' (श. ३.१.२.१२)। 'अथ वासः परिधत्ते। सर्वत्वायैव स्वामेवास्मिन्नेतत्त्वचं दधाति या ह वा इयं गोस्त्वक् पुरुषे हैषाग्र आस' (श. ३.१.२.१३)। 'ते देवा अब्रुवन्। गौर्वा इदꣳ सर्वं बिभर्ति हन्त येयं पुरुषे त्वग् गव्येतां दधाम तयैषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षिष्यत इति' (श. ३.१.२.१४)। 'तेऽवच्छाय पुरुषम्। गव्येतां त्वचमदधुस्तयैषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षते' (श. ३.१.२.१५)। 'अवच्छिन्नो हि वै पुरुषः। तस्मादस्य यत्रैव क्व च कुशो वा यद्वा विकृन्तति तत एव लोहितमुत्पतति तस्मिन्नेतां त्वचमदधुर्वास एव तस्मान्नान्यः पुरुषाद्वासो बिभर्त्येताꣳ ह्यस्मिंस्त्वचमदधुस्तस्मादु सुवासा एव बुभूषेत् स्वया त्वचा समृद्ध्या इति तस्मादप्यश्लीलꣳ सुवाससं दिदृक्षन्ते स्वया हि त्वचा समृद्धो भवति' (श. ३.१.२.१६)। 'नो हान्ते गोर्नग्नः स्यात्। वेद ह गौरहमस्य त्वचं बिभर्मीति सा बिभ्यती त्रसति त्वचं म आदास्यत इति तस्मादु गावः सुवाससमुपैव निश्रयन्ते' (श. ३.१.२.१७)। 'तस्य वा एतस्य वाससः। अग्नेः पर्य्यासो भवति वायोरनुच्छादो नीविः पितॄणाꣳ सर्पाणां प्रघातो विश्वेषां देवानां तन्तव आरोका नक्षत्राणामेवꣳ हि वा एतत्सर्वे देवा अन्वायत्तास्तस्माद्दीक्षितवसनं भवति' (श. ३.१.२.१८)।

मन्त्रगतस्य उदिदाभ्य इति चरमपादस्य पृथग्विनियोगमाह—शुचिः पूत इति। आभ्योऽद्भ्यः सकाशात् शुद्ध एव सन् उद्गच्छामीति तस्यार्थः। वासःपरिधानं विधाय प्रशंसति—सर्वत्वायेति। सर्वस्यैव दीक्षितस्य सर्वत्वाय वस्त्रपरिधानम्। वासोधारणेन त्वचमेव धारितवान् भवति। तत एतद्धारणवतः सर्वत्वं सम्पद्यते। इदानीं गव्याश्रिता त्वग् अग्रे पुरा पुरुषे आस। ते देवाः किमर्थमियं त्वक् पुरुषे वर्तते? गौस्तु बहूपकारवती, अतस्तां त्वचं तत आदाय गवि स्थापयामः, वृष्टिहिमादिकमेतया गौः परिहरत्विति गव्यधारयन्। पुरुषादपगमे लिङ्गमाह—तस्मादिति। अस्य कुशाद्युपघाते रक्तस्रावदर्शनाद् देवैस्त्वचो विकर्तनं सिद्ध्यति। तदा पुरुषाणां निस्त्वक्त्वपरिहाराय वस्त्रमकल्पयन्। तस्मात्तत् तेषामेवासाधारणमभूत्। भृतेन च सम्भूषितो भवति। तथा च लौकिका आहुः—वस्त्रं पुरुषस्यालङ्कार इति। लोके निन्दितमपि सुवाससं समाजादौ सम्यक् पश्यन्ति। पुरुषस्य त्वचो गवि स्थापनं यदस्ति तत्किमर्थमिति प्रसङ्गात् कश्चित् पुरुषार्थनियममाह—कदाचिदपि गोः समीपे विवासा न भवेत्। यस्मात्तु सा अस्य त्वचं धारयामीति जानीत इत्यतो न नग्नः स्यात्। सा बिभ्यती पुनस्त्वगपच्छेदभयात् त्रसति। विहितवस्त्रं सर्वदेवतात्मकत्वेन प्रशंसति—तस्य वा एतस्येति। वस्त्रस्य परितस्तिर्यगस्यत इति विपर्यासस्तिर्यक्तन्तुसन्दर्भः सोऽग्नेर्भवति, अग्निदेवताको भवतीत्यर्थः। अनुच्छादोऽनुलोमाच्छाद्यत इति स वायोर्भवति। नीविराद्यन्तप्रदेशः पितॄणां प्रघातः सर्वहननस्थानम्, निबिडीभूतप्रदेशः सर्पाणाम्, तन्तवः स्वरूपेण विश्वेषां देवानाम्, आरोका मध्यच्छिद्राणि नक्षत्राणाम्। तस्मात् सकलदेवत्यत्वाद् दीक्षितवसनेनावश्यं भवितव्यम्।

'तद्वा अहतꣳ स्यात्। अयातयामतायै तद्वै निष्पेष्टवै ब्रूयाद्यदेवाऽस्यात्राऽमेध्यमा कृणत्ति वा वयति वा तदस्य मेध्यमसदिति यद्यु अहतꣳ स्यादद्भिरभ्युक्षेन्मेध्यमसदित्यथो यदिदꣳ स्नातवस्यं निहितमपल्यूलनकृतं भवति तेनो ह्यपि दीक्षेत' (३.१.२.१९)। तस्य वस्त्रस्य नूतनत्वं विधत्ते—तद्वा अहतं स्यादिति। अयातयामतायै अशिथिलत्वाय तद् अहतं वस्त्रं निष्पेष्टवै क्षालयितुमन्यं ब्रूयात्। अस्य वस्त्रस्य यदमेध्यम् आकृणत्ति आकृणोति आश्लिष्टं करोति निर्माणकाले, सहैव वपति च। अहतं चेदभ्युक्षणमेव कर्तव्यमिति तत्प्रयोजनम्। मेध्यमसद् मेध्यार्हं भवेदिति क्षालनमिति सायणः। देवयाज्ञिकरीत्या वासस उपघातः परिधानेन रागेण वा भवति, अतोऽहत-मपरिहितमरक्तं च निष्पेष्टवै, 'पिष्लृ सञ्चूर्णने' इति धातुः। तेन हस्ताभ्यां संपेष्टव्यमिति पेषणार्थः। ततश्च ब्राह्मणहस्तसम्पर्काद् मेध्यता भवतीत्यभिप्रायः। अहतं चेदद्भिरभ्युक्ष्य वा परिधत्त इति वासोधावनाद्भिरभ्युक्षणयो-र्विकल्पः। उत्तरीयं च वासः काण्वश्रुतेः। तस्मादेतद्दीक्षणीयं तदहतꣳ स्यादित्याहुस्तदुभयं निष्पेष्टवै ब्रूयात्। हरिस्वामिनस्तु एकमेव वासः परिधानीयमाहुः। तथाहि—'तदेकमेव, सर्वत्रैकत्वदर्शनात्, उपादेयगतस्यैकत्वस्यावि-वक्षाकारणाभावात्। 'तस्य वा एतस्य वाससः' (श. ३.१.२.१८), 'नेदिदं दीक्षितवसनं परिधाय' (श. ३.१.३.६), 'अन्तरं दीक्षितवसनात्' (श. ५.२.१.१८), 'अथैनं पुनर्दीक्षितवसनं परिधापयन्ति' (श. ५.३.५.२५) इति सर्वत्रैकमेव दृश्यते। 'तावन्ये वाससी परिधाय' (श. ४.४.५.२३), 'अथैनं वासाꣳसि परिधापयन्ति' (श. ५.३.५.२०) इति बहुषु बहुवचनदर्शनात्। तेनाविवक्षितमेवैकत्वम्। यद्वा अधोवसनसम्बन्ध एवैकत्वं विवक्षितम्, परिदधातेस्तत्रैव रूढ-त्वात्। कर्करीत्या तु उत्तरीयं सामर्थ्यप्रापितमेवेति सूत्रकृता नोपनिबद्धम्। तथा च—'कृष्णविषाणां त्रिवलिं पञ्चवलिं वोत्तानां दशायां बध्नीते' (का. श्रौ. ७.३.२५) इत्यत्र सामर्थ्यप्रापितत्वाच्चोत्तरे सिचि बध्नातीति नोक्तमिति कर्काचार्यः। काण्वश्रुतौ तु निगदोक्तत्वादुत्तरीयमपि भवत्येव। अथो यदिदं स्नातेन पुरुषेणाच्छाद्य अपल्यूलनकृतं क्षारद्रव्यसहितेनाधौतं प्रतिदिनं प्रक्षाल्य यदेव धार्यते तत् तेन वा दीक्षेत। 'तत्परिधत्ते। दीक्षातपसोस्तनूरसीत्यदी-क्षितस्य वा अस्यैषाऽग्रे तनूर्भवत्यथात्र दीक्षातपसोस्तस्मादाह दीक्षातपसोस्तनूरसीति तां त्वा शिवाꣳ शग्मां परिदध इति तां त्वा शिवाꣳ साध्वीं परिदध इत्येवैतदाह भद्रं वर्णं पुष्यन्निति पापं वा एषोऽग्रे वर्णं पुष्यति यममुमदीक्षितोऽथात्र भद्रं तस्मादाह भद्रं वर्णं पुष्यन्निति' (श. ३.१.२.२०)।

उक्तविधस्य वाससः समन्त्रकं परिधानं विधत्ते—तत्परिधत्त इति। दीक्षातपसोस्तनूरिति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। अत्र तु श्रुतिरेव मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—अस्यैषा अग्रे तनूर्भवतीति। अग्रे प्राग् अदीक्षितस्यैषा तनूरासीत्। अथेदानीं तु दीक्षा दीक्षितदण्डकृष्णाजिनधारणनवनीताभ्यङ्गादिसाध्यः संस्कारः, तपोऽशनवर्जनादिजन्यक्लेशसहनात्मकम्, तदु-भयमनेन प्राप्तत्वाद् दीक्षातपसोस्तनूरसीत्याह। इतिशब्दस्य तात्पर्यमाह—साध्वीमिति। वस्त्रस्य तनुत्वाभिधानात् स्त्रीलिङ्गता। तृतीयभागमनूद्य व्याचष्टे—भद्रं वर्णं पुष्यन्निति। भद्रत्वसमर्थनाय पूर्वत्राभद्रत्वं प्रसञ्जयति—पापं वा एषोऽग्रे वर्णं पुष्यति यमदीक्षितो धारयति।

अध्यात्मपक्षे तु— हे आपः! आप्नुवन्ति व्याप्नुवन्तीत्यापः, पूजायां बहुवचनम्, हे व्यापक परमेश्वर! नोऽस्मान् मातृवत् पालयित्र्यः शुन्धयन्तु शोधयन्तु घृतेन घृततुल्येन स्नेहेन भक्त्या पुनन्तीति घृतप्वो भवत्यो घृतेन स्नेहेनास्मान् पुनन्तु पवित्रयन्तु भवत्यो विश्वं सर्वं रिप्रं पापं प्रवहन्ति प्रकर्षेणापगमयन्ति नाम्ना रूपेण स्वरूपेण वा स्मृतिगोचराः

अध्यात्मपक्ष में तो अर्थ इस प्रकार है— हे आपः! अर्थात् हे व्यापक परमेश्वर! हमको मातृरूप से पालन करते हुए शुद्ध करें तथा अपने स्नेह से पवित्र (निर्मल) करें। आप नाम-रूप अथवा स्वरूप से स्मरण किये जाने पर समस्त पापों को विनष्ट करते

सत्यः सर्वं पापं विनाशयन्ति । आभ्यो भवतीभ्यः शुचिर्बहिः शुद्धः, आपूतः अन्तःपवित्रः सन् उदेमि उद्गच्छामि संसारादूर्ध्वं ब्रह्मात्मभावं गच्छामि प्राप्नोमि । त्वं दीक्षायास्तपसश्च तनूः शरीरमसि, परमेश्वरीयपावनशक्त्यैव तयोः पावयितृत्वात् । तां दीक्षातपसोस्तनूरूपां शिवां कल्याणमयीं शग्मां सुखरूपां त्वां भद्रं सुखावहं वर्णं तमसः परमादित्यवर्णं पुष्यन् पोषयन् परिदधे सर्वतो धारयामि ।

दयानन्दस्तु— 'हे मनुष्याः, यथा भद्रं वर्णं पुष्यन्नहं या घृतप्वो देवीः देव्यो रिप्रं प्रवहन्ति, विद्वांसो मातरो या घृतप्वो घृतेन सन्ति याभिरस्मान् सुखयन्ति, ताभिर्नोऽस्मान् भवन्तः शुन्धन्तु पुनन्तु च यथाहमुदिदाभ्यः शुचिः पवित्र आपूतः शुद्धो भूत्वा या दीक्षातपसोस्तनूरस्यस्ति, त्वामेतां शिवां शग्माम् एमि प्राप्नोमि । परिदधे सर्वतो धरामि । यथा तास्तां च यूयमपि धरत' इत्यन्वयः । भावार्थे तु— 'याः सर्वसुखप्रापिका आपः प्राणधारिका मातृवत्पालनहेतव आपः सन्ति, ताभ्यः सर्वतः पवित्रतां सम्पाद्यैताः शोधयित्वा मनुष्यैर्नित्यं संसेव्याः । ततः सुन्दरं वर्णं रोगरहितं शरीरं च सम्पाद्य नित्यं प्रयत्नेन धर्ममनुष्ठाय पुरुषार्थेनानन्दः कर्तव्यः' इति, तदेतत् सर्वं विशृङ्खलमेव, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—कोऽयं सम्बोधकः ? ईश्वरो जीवो वा ? नाद्यः, यथाहं भद्रं वर्णं पुष्यन्नित्यसङ्गतेः । नहीश्वरस्य वर्णं सम्भवति, तस्य निराकारत्वात् । कथं चापो घृतं पुनन्ति । रिप्रमित्यस्य व्यक्तवाणीप्राप्तव्यभिचारेति कथमर्थः ? ज्ञातुं योग्यं विश्वमापः कथं प्रवहन्ति ? घृतेनापः कथं पुष्टियोग्याः ? इत्यपि स्पष्टयितव्यम् । नान्त्यः, अपसिद्धान्तापातात् । नहि त्वया वेदा जीवोपदिष्टा मन्यन्ते । शतपथविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥२ ॥

म॒हीना॒ं पयो॑ऽसि वर्चो॒दा अ॑सि॒ वर्चो॑ मे देहि। वृ॒त्रस्या॑सि क॒नीन॑कश्चक्षु॒र्दा अ॑सि॒ चक्षु॑र्मे देहि ॥३ ॥

'शालां पूर्वेण तिष्ठन्नभ्यङ्क्ते कुशेषु नवनीतेन शीर्ष्णोऽध्यनुलोमꣳ सपादको महीनां पयोऽसीति' (का. श्रौ. ७.२.३२) । शालायाः पुरस्तात् कुशेषु तिष्ठन्नध्वर्युर्यजमानं गव्येन नवनीतेन शिर आरभ्य अनुलोमं सपादकं पादविशिष्टं यथा स्यात्तथाऽभ्यङ्क्ते । सपादकमिति विभक्तिव्यत्ययो द्रष्टव्य इति सूत्रार्थः । हे नवनीत ! त्वं महीनां

हैं। अतः आपके द्वारा बाह्य एवं आन्तर रूप से पवित्र होकर जगत् से उत्तर (उच्च) ब्रह्मात्मभाव को प्राप्त करता हूँ। आप दीक्षा एवं तपःस्वरूप हैं। अतः हे दीक्षा एवं तप की कल्याणमयी, सुखरूपिणी मूर्ति, आपके तमोविरहित तेज का पोषण करते हुए मैं उसे सर्वतोभावेन धारण करता हूँ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ विशृंखलित है, क्योंकि तदनुसार यहां कौन सम्बोधनकर्ता है ? ईश्वर या जीव ? यह ज्ञात नहीं होता। ईश्वर सम्बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि 'अहं भद्रं वर्णं पुष्यन्' इसमें निराकार होने के कारण ईश्वर के वर्ण का कथन असम्भव है। अन्यत्र भी अर्थों में अस्पष्टता है। जीव को भी इस मन्त्र में सम्बोधनकर्ता नहीं माना जासकता, क्योंकि दयानन्दीय मतानुसार वेदमन्त्र जीव द्वारा उपदिष्ट नहीं हैं। इस अर्थ में शतपथ ब्राह्मण के साथ विरोध तो स्पष्ट ही है ॥२ ॥

मन्त्रार्थ— हे नवनीत! तुम गायों के दूध के रूप हो, तेज का सम्पादन करने में समर्थ हो, मुझे तेज दो। हे अंजन! तुम वृत्रासुर की काली पुतली के समान हो, चक्षु इन्द्रिय को शक्ति देने वाले हो, मुझे दृष्टि दो॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान मस्तक पर नवनीत लगाता है और आंखों में अंजन लगाता है॥३ ॥

भाष्यसार— याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'महीनां पयोऽसि' मन्त्र से गौ के नवनीत से यजमान के शरीर का लिम्पन किया जाता है तथा 'वृत्रस्यासि' मन्त्र से अध्वर्यु यजमान की आंखों में अंजन करता है। यह विनियोग कात्यायन

गवां पयोऽसि। 'महीति गोनामसु पठितम्' (निघ. २.११.५)। नवनीतस्य क्षीरजन्यत्वात् पयस्त्वोपचारः। वर्चोदा असि स्निग्धत्वेन कान्तिप्रदोऽसि। अतो मे मह्यं यजमानाय वर्चो देहि कान्तिं प्रयच्छेति सायणः। पुंस्त्वमार्षम्। 'वृत्रस्येत्यक्ष्यावनक्ति त्रैककुदाञ्जनेन, अभावेऽन्यदिति' (का. श्रौ. ७.२.३३-३४)। वृत्रस्येति मन्त्रेण त्रिककुत्पर्वतीयेन सौवीराञ्जनेन यजमानस्याक्षिणी अञ्ज्यादध्वर्युः। तदभावेऽन्यदञ्जनं ग्राह्यम्। अञ्जनं देवता। हे अञ्जन! त्वं वृत्रस्यासुरस्य कनीनकोऽसि नेत्रमध्यगतकृष्णमण्डलरूपोऽसि, 'इन्द्रो वृत्रमहनत्। तस्य कनीनिका परापतत्। तदाञ्जनमभवत्' (तै. सं. ६.१.१.१७) इति श्रुतेः। त्वं कनीनिकारूपत्वाच्चक्षुर्दा असि दृष्टिप्रदोऽसि। अतो मे मह्यं चक्षुर्देहि चाक्षुषपाटवं प्रयच्छेति सायणसम्मतं व्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे— हे परमेश्वर! महीनां महनीयानां (पूज्यानां) गवामन्येषां पूज्यानां पवित्राणां पयः सारोऽसि सर्वपूज्यतमोऽसि। वर्चोदाः, वर्चस्तेजो ददातीति वर्चोदाः, वर्चो भजनध्यानादिजन्यो दीप्तिविशेषः, वर्चो मे देहि। वृत्रस्य सर्वावरकस्याच्छादकस्याज्ञानस्य कनीनकः प्रकाशकोऽसि। अज्ञानस्य तदवच्छिन्नचैतन्येनावृतेन साक्षिणैव प्रकाशनाच्चक्षुर्ज्ञानरूपं मे मह्यं देहि।

दयानन्दस्तु— 'यो महीनां पयोऽस्यस्ति, यो मे मह्यं वर्चो देहि ददाति, वृत्रस्य कनीनकोऽस्यस्ति, चक्षुर्दा अस्ति, स सूर्यो मे मह्यं चक्षुर्देहि ददाति। सर्वत्र व्यत्ययः' इति, तदप्यसङ्गतम्, अनुपपत्तेः। तथाहि तद्दृष्ट्यात्र सूर्यः प्रार्थ्यते, तच्च नोपपद्यते, पृथिव्या एकत्वादत्र महीनामिति बहुवचनमनुपपन्नम्। न च सूर्यो महीनां पयोऽस्ति। यत्तु 'जलरसनिमित्तोऽसि' इत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतम्, तथात्वे महीनामित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, पयःपदस्य पयोनिमित्तार्थकत्वे मानाभावात्, 'वालाग्रशतभागोऽपि न कल्प्यो ह्यप्रमाणकः' इत्याप्तोक्तेः। सर्वस्यैव रूपवद् द्रव्यस्य प्रकाशकत्वे मेघप्रकाशकत्वोक्तेः प्रयोजनं वक्तव्यम्। तेन च कथं चक्षुर्दातृत्वम्। चक्षुःपदस्य चक्षुर्व्यवहारलक्षणायां बीजं वक्तव्यम्, अन्यथा लक्षणानुपपत्तेः।

सिद्धान्तानुसारिव्याख्यानं तु शतपथसम्मतम्। तथाहि — 'अथाग्रेण शालां तिष्ठन्नभ्यङ्क्ते। अरुर्वै पुरुषोऽवच्छितोऽनरुरेवैतद् भवति यदभ्यङ्क्ते गवि वै पुरुषस्य त्वग्गोर्वा एतन्नवनीतं भवति स्वयैवैनमेतत्त्वचा समर्धयति तस्माद्वा अभ्यङ्क्ते' (श. ३.१.३.७)। 'तद्वै नवनीतं भवति। घृतं वै देवानां फाण्टं मनुष्याणामथैतन्नाहैव घृतं नो फाण्टꣳ स्यादेव घृतꣳ स्यात् फाण्टमयातयामतायै तदेनमयातयाम्नैवाऽयातयामानं करोति' (श. ३.१.३.८)। दीक्षितस्य स्वधर्मकमभ्यङ्गं विधत्ते—अथाग्रेणेति। शालायाः पुरोदेशे तिष्ठन् सर्वाङ्गे नवनीताभ्यञ्जनं कुर्यादिति विशिष्टविधिः।अभ्यङ्गप्रयोजनमाह—अरुर्वा इति।अवच्छितः, अवपूर्वकात् 'छो छेदने' इति धातोर्निष्ठायां

श्रौतसूत्र (७.२.३०-३२) में निरूपित है। इसीके अनुसार सायण आदि ने व्याख्या की है।

• अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है— हे परमेश्वर! आप पूज्य गायों तथा अन्य पूज्य पवित्र पदार्थों के सारभूत हैं, सबके पूज्यतम हैं। भजन, ध्यान आदि से उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट तेज के आप प्रदाता हैं। अतः मुझे वह तेज प्रदान करें। सबके आवरणकर्ता अज्ञान को आप अनावृत करते हैं, अतः ज्ञानरूपी चक्षु मुझे प्रदान करें।

स्वामी दयानन्द की अर्थदृष्टि में यहां सूर्य की प्रार्थना की गई है, वह उपपन्न नहीं होती। पृथिवी के एक होने के कारण 'महीनाम्' इस पद में बहुवचन संगत नहीं है। सूर्य 'महीनां पयः' नहीं हो सकता। 'जलरस के निमित्त हो' यह कहना भी असंगत है, क्योंकि तब 'महीनाम्' यह पद व्यर्थ हो जायगा। हमारे सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या तो शतपथ ब्राह्मण से संमत है ॥३॥

रूपम्, त्वचा निर्मुक्तः पुरुषः, अरुर्वै व्रणात्मकः खलु। तदेतेनाभ्यङ्गेन परिहरति—समर्धयतीति। एतदेव स्पष्टमुच्यते। तत्र परिधानार्थवादे पुरुषत्वचो गवि धारणमुक्तम्। गोश्च नवनीतोत्पत्तिः प्रसिद्धैव। अतो गोसम्बन्धिनवनीतधारणेन स्वकीयत्वचैव समृद्धो भवति। अत एव स्वत्वचः पुनः प्राप्तेरव्रणत्वेनानरुत्वसम्पादनायाभ्यङ्गाय नवनीतद्रव्यमुपयुज्यते। नवनीताभ्यङ्गं प्रशंसति—घृतं वै देवानामिति। नवनीतभावात् प्रागवस्थापन्नं द्रव्यं फाण्टम्, तन्मनुष्याणाम्।यस्मान्नवनीतं फाण्टघृतयोरन्तरालवर्तित्वात् तदन्यदन्यच्च भवति, तस्मान्मनुष्यदेवताभ्यामन्यस्यान्यस्य दीक्षितस्य तद्युक्तम्। अत एव पूर्वोत्तरभावात् प्रच्यवाप्रच्यवादयातयामता। तेनाभ्यञ्जनेनाध्वर्युर्दीक्षितमप्ययातयामानं करोति।

'तमभ्यनक्ति। शीर्षतोऽग्र आपादाभ्यामनुलोमं महीनां पयोऽसीति मह्य इति हं वा एतासामेकं नाम यद्गवां तासां वा एतत्पयो भवति तस्मादाह महीनां पयोऽसीति वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति' (श. ३.१.३.९)। अभ्यङ्गस्योपक्रमोपसंहारौ विधत्ते—तमभ्यनक्तीति। अधोमुखावस्थानादवरोहाभ्यङ्गे आनुलोम्यं स्यात्। शीर्षतोऽग्र आपादाभ्यामानुलोम्यमिति मन्त्रमाह—महीनां पयोऽसि। मन्त्रस्य पूर्वभागं व्याचष्टे—मह्य इति। 'इडेरन्ते' इत्युपक्रम्य 'महि विश्रुति' इत्यन्तानि 'अघ्निये ते नामानीति' (तै. सं. ७.१.६.१८) तैत्तिरीयश्रुतौ गवां महीति नाम। अन्यत् स्पष्टम्। 'अथाक्ष्यावानक्ति। अरुर्वै पुरुषस्याक्षि प्रशान् ममेति ह स्माह याज्ञवल्क्यो दुरक्ष इव हास पूयो हैवास्य दूषीका ते एवैतदनरुष्करोति यदक्ष्यावानक्ति' (श. ३.१.३.१०)। अक्ष्णोरञ्जनं विधत्ते—अथेत्यादि। इतरावयवसंस्पर्शासहिष्णुत्वादक्षि अरुः व्रणो भवति। स मम व्रणः प्रशान् प्रशाम्येत इत्यञ्जनं कर्तव्यमिति याज्ञवल्क्य आह। दुरक्षं नेत्रमालिन्यमेवारुरिति तत्परिहारायाञ्जनम्। दूषिका नेत्रयोर्मलम्। सा ह्यस्य पुरुषस्य भूय एवेत्यक्ष्णो दुरक्षत्वमेव। तदनेन नाशयति। 'यत्र वै देवाः। असुररक्षसानि जघ्नुस्तच्छुष्णो दानवः प्रत्यङ् पतित्वा मनुष्याणामक्षीणि प्रविवेश स एष कनीनकः कुमारक इव परिभासते तस्मा एवैतद्यज्ञमुपप्रयन्त्सर्वतोऽश्मपुरां परिदधात्यश्मा ह्याञ्जनम्' (श. ३.१.३.११)। अञ्जनं प्रकारान्तरेण प्रशंसति—यत्र वा इति। यत्र वा इत्यसुरवधसमये शुष्णः प्रत्यङ्त्वा तद्भयात् पुरुषाणामक्षिमध्यं प्रविश्य कनीनिकारूपेण कुमारकः सन् वर्तते। तस्मै तस्य यज्ञं उपगच्छन् सर्वतः अश्मपुरोरक्षार्थं कृतवान् भवति। कोऽयमश्मेत्यश्मशब्दार्थमाह — अश्मा ह्याञ्जनम्। 'त्रैककुदं भवति। यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीत्तं गिरिं त्रिककुदमकरोत्तद्यत्त्रैककुदं भवति .... यदि त्रैककुदं न विन्देदप्यत्रैककककुदमेव स्यात् समानी ह्येवाञ्जनस्य बन्धुता' (श.३.१.३.१२)। अञ्जनं विशिनष्टि। त्रिककुत् पर्वतः, तत्सम्बन्धि त्रैककुदम्। शिष्टं स्पष्टम्। यदि त्रैककुदं न विन्देत्तत्राऽत्रैककककुदमपि ग्राह्यम्। अञ्जनस्य बन्धुता बन्धु ब्राह्मणं तद्भावो बन्धुता सा समानी 'अरुर्वै पुरुषस्याक्षि' इत्यादिकं ब्राह्मणं त्रैककुदाऽत्रैककककुदयोः समानमित्यर्थः। 'शरेषीकयाऽनक्ति। वज्रो वै शरो विरक्षस्तायै सतूला भवत्यमूलं वा इदमुभयतः .... परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति' (श. ३.१.३.१३) इत्यादिभिः शरस्य तृणविशेषस्य शलाका इषीका विरक्षस्तायै सतूला कर्तव्या। राक्षसजातिरमूलं सदन्तरिक्षमनुचरति, उभयतः परिधिभ्यः परिच्छिन्नोऽमूलः सन् पुरुषोऽप्यनन्तरिक्षमनुचरति। तस्मात् पुरुषसमानदेशवति रक्षोनिर्हरणाय शरेषीका सतूला कर्तव्या। 'स दक्षिणमेवाग्र आनक्ति। सव्यं वा अग्रे मानुषेऽथैवं देवत्राः' (श. ३.१.३.१४)। 'स आनक्ति। वृत्रस्यासि कनीनक इति वृत्रस्य ह्येष कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षु में देहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति' (श. ३.१.३.१५)। स दक्षिणꣳ सकृद्यजुषाऽनक्ति। सकृत्तूष्णीमथोत्तरꣳ सकृद्यजुषाऽनक्ति द्विस्तूष्णीं तदुत्तरमेवैतदुत्तरावत् करोति' (श. ३.१.३.१६)। कनीनकोऽक्षिमध्यकार्ष्ण्यम्, 'इन्द्रो वृत्रमहन् तस्य कनीनका परापतत् तदाञ्जनमभवत्' (तै. सं. ६.१.१.५)। यजुषा उक्तमन्त्रेण। एवं श्रुत्या विनियोगस्तात्पर्यं चोच्यते॥३॥

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम्॥४॥

'कुशपवित्रैश्चित्पतिर्मेति पावयति सप्तभिः सप्तभिः प्रतिमन्त्रमच्छिद्रेणेति सर्वत्रेति' (का. श्रौ. ७.३.१)। प्रतिमन्त्रं कुशा एव पवित्राणि, तैः सप्तभिः सप्तभिः कुशैरध्वर्युर्यजमानं शोधयेत। तत्र सर्वेषु मन्त्रेष्वच्छिद्रेणेत्यनुषञ्जनीयम्। प्रतिमन्त्रं पृथक् सप्तभिः कुशैः शोधने क्रियमाणे मिलित्वा कुशपवित्राण्येकविंशतिर्भवन्ति, 'एकविंशत्या पावयति दशहस्त्या अङ्गुलयो दशपद्या आत्मैकविंशो यावानेव पुरुषस्तमपरिवर्गं पावयति' (तै. सं. ६.१.१.२०) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। नाभेरुपरि प्रदक्षिणं द्विरुन्मार्जनम् , नाभेरधः सकृत्। 'चित्पतिर्मा पुनात्विति प्रजापतिर्वै चित्पतिः' (श. ३.१.३.२२)। यद्वा चितां ज्ञानानां पतिर्मनोऽभिमानी देवो मा मां यजमानं पुनातु शोधयतु, 'मनो वै चित्पतिः' (तै. सं. ६.१.१.९) इति तैत्तिरीयकश्रुतेः। अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः किरणैः, वायुरच्छिद्रं पवित्रं शुद्धिहेतुत्वात्। यद्वा आदित्यमण्डलमच्छिद्रम्, 'असौ वा आदित्योऽच्छिद्रं पवित्रम्' (तै. ब्रा. ३.२.५.२) इति श्रुतेः। हे पवित्रपते, पवित्रान् शुद्धान् पातीति पवित्रयतीति पवित्रपतिस्तत्सम्बुद्धौ हे पवित्रपते शुद्धपालक, ते पवित्रपूतस्य तव पवित्रेण पूर्वोक्तेन शुद्धस्य यजमानस्याभीष्टं भूयादित्यर्थः। तदेव स्पष्टयति—यत्काम इति। यत्कामो यस्मिन् कामो यस्य स यत्कामोऽहं पुने आत्मानं शोधयामि तच्छकेयम्। यद्वा यः कामो यस्य स सोमयागानुष्ठाने कामवानहं तत्सोमयागानुष्ठाने शक्तः स्याम्। सोमयागानुष्ठानसमर्थोऽहं भूयासम्। वाक्पतिर्वाचां पतिर्बृहस्पतिर्देवो मा मां पुनातु। 'सविता विश्वप्रसविता देवोऽन्तर्यामी मा मां पुनातु' इति काण्वसंहिताव्याख्याने सायणभाष्यम्। यद्वा तस्य मम पवित्रपूतस्य सतस्ते तव प्रसवे वर्तमानस्य हे पवित्रपते देव सवितः, एतद्भवतु यत्कामोऽहमात्मानं पावयामि तच्छकेयं शक्नुयाम् , 'यज्ञस्योदृचं गच्छानि' (श. ३.१.३.२३) इति श्रुतेरित्युव्वटाचार्यः। शतपथेऽपि—अथैनं दर्भपवित्रेण पावयति। अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वै दर्भा मेध्यो भूत्वा दीक्षा इति पवित्रं वै दर्भाः पवित्रपूतो दीक्षा इति तस्मादेनं दर्भपवित्रेण पावयति' (श. ३.१.३.१८)। तत्र—'तद्वा एकꣳ स्यादिति। एको ह्येवायं पवते तदेतस्यैव रूपेण तस्मादेकꣳ स्यात्' (श. ३.१.३.१९) इति कुशैकत्वपक्षम् , 'अथो अपि त्रीणि स्युः। एको ह्येवायं पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टस्त्रेधा विहितः प्राण उदानो व्यान इति तदेतस्यैवानुमात्रां तस्मात् त्रीणि स्युः' (श. ३.१.३.२०) इति त्रित्वपक्षमुपक्षिप्य, 'अथो अपि सप्त स्युः। सप्त वा इमे शीर्षन् प्राणास्तस्मात् सप्त स्युस्त्रिः सप्तान्येव स्युरेकविꣳशतिरेषैव सम्पत्' (श. ३.१.३.२१) इति शीर्षन् शिरसि भवा मुखादिच्छिद्रगताः सप्त स्युः। सप्तसंख्यायास्त्रिरावृत्तौ एकविंशतिः स्युः। एषैव पुरुषरूपा सम्पत्, 'दशहस्त्या अङ्गुलयो दश पद्या आत्मैकविंशः' (तै. सं. ६.१.१.८) इति श्रुत्यन्तरात्।

मन्त्रार्थ— **ज्ञानाधीश ब्रह्मा वायुरूप पवित्र से, सूर्य की किरणों से मुझे पवित्र करें। वाणी की अधिष्ठात्री देवता मुझे पवित्र करें। सर्वान्तर्यामी देव मुझे पवित्र करें। हे पवित्र आत्मा के रक्षक! उस पवित्रपूत आपके पवित्र से मैं पवित्र हुआ हूँ। जिस कामना से मैं पवित्र हुआ हूँ, उसको करने में मैं समर्थ होऊँ॥ इस मन्त्र को सात बार पढ़कर कुशा से यजमान अपने सिर पर मार्जन करता है।।४॥**

भाष्यसार— 'चित्पतिर्मा' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा सात सात कुशात्मक पवित्रों से (कुशाओं से) अध्वर्यु यजमान को पवित्र करता है, यह याज्ञिक विनियोग का. श्रौ. (७. ३. १) में है। शतपथ आदि ब्राह्मणों में इस कण्डिका का याज्ञिक विनियोगानुसारी विवरण उल्लिखित है।

'तꣳ सप्तभिः सप्तभिः पावयति। चित्पतिर्मा पुनात्विति प्रजापतिर्वै चित्पतिः प्रजापतिर्मा पुनात्वित्येवैतदाह वाक्पतिर्मा पुनात्विति प्रजापतिर्वै वाक्पतिः प्रजापतिर्मा पुनात्वित्येवैतदाह देवो मा सविता पुनात्विति तद्वै सुपूतं यं देवः सविता पुनात्तस्मादाह देवो मा सविता पुनात्वित्यच्छिद्रेण पवित्रेणेति यो वा अयं पवत एषोऽच्छिद्रं पवित्रमेतेनैतदाह सूर्यस्य रश्मिभिरित्येते वै पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयस्तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति' (श. ३.१. ३.२२)। एकविंशतिपक्षे एकविंशतिं दर्भान् त्रेधा विभज्य सप्तभिः सप्तभिः 'चित्पतिर्मा वाक्पतिर्मा देवो मा' इति त्रिषु मन्त्रेष्वेकैकेन मन्त्रेणाध्वर्युर्यजमानं पावयते। अच्छिद्रेण पवित्रेणेति मन्त्रशेषः सर्वत्रानुषञ्जनीयः। तत्राप्येवं विभागः — सप्तभिः प्रथममन्त्रेण नाभित आरभ्योर्ध्वमुन्मृज्यात्, पुनश्च सप्तभिर्द्वितीयमन्त्रेणाप्येवम्, अवशिष्टैः सप्तभिः कुशैस्तृतीयमन्त्रेण नाभेरध आरभ्यावमृज्यात्। तत्सर्वं कात्यायनवचनेन मन्त्रव्याख्यानप्रसङ्ग उक्तमेव। तत्र चित्पतिवाक्पतिशब्दयोः प्रजापतिरेवार्थः। चित्पतिपदेन मनोऽभिमानी देवोऽर्थ इत्यप्युक्तमेव। देवः सवितेति प्रसिद्ध एव। सर्वशेषभूतस्याच्छिद्रेणेत्यस्यार्थमाह श्रुतिः—'यो वा अयं पवते एषोऽच्छिद्रं पवित्रम्' इति। सर्वदा सर्वत्र पवनादेष वायुरच्छिद्रं पवित्रम्। सूर्यस्य रश्मिभिरित्येते वै पवितारो यत्सूर्यरश्मयस्तस्मादाह—सूर्यस्य रश्मिभिरिति। 'तस्य ते पवित्रपत इति। पवित्रपतिर्हि भवति पवित्रपूतस्येति पवित्रपूतो हि भवति यत्कामः पुने तच्छकेयमिति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह' (श. ३.१.३.२३)। मन्त्रशेषं व्याचष्टे—तस्य त इति। 'पवित्राणि रश्मयः शोधकत्वात्' (निरु. ५.२), 'अग्निः पवित्रपतिः' (निरु. ५.२)। तत्पाठात् स्वरूपमपि पवित्रपतिर्भवति। उदृचम् उपरि भाविनी ऋग् उदृक्, अनेन च समाप्तिर्लक्ष्यते। तेन यज्ञस्यान्तं प्राप्नवानीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे— हे परमात्मन्, चित्पतिः चितां ज्ञानानां पतिः परमात्मा मां पुनातु, वाक्पतिः वाचां परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीणां पतिः स्वामी प्रजापतिर्मा मां पुनातु। देवो द्योतमानः सविता विश्वप्रसविता अच्छिद्रेण निर्विघ्नेन पवित्रेण पावनेन ज्ञानेन मां पुनातु। सूर्यस्य ज्ञानसूर्यस्य सच्चिदानन्दसूर्यस्य वा रश्मिभिरात्मानात्मविज्ञानैर्मननरूपैर्वा मां पुनातु। हे पवित्रपते पावनानां पावन, पवित्रपूतस्य पवित्रेण नाम्ना स्वरूपेण वा पूतस्य नित्यशुद्धस्य तव कृपया यत्कामोऽहं यस्मिन् ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे ब्रह्मप्राप्तौ वा कामो यस्य सोऽहं यत्कामः पवित्रो भवामि, तत्सम्पादयितुमहं समर्थः स्याम्।

दयानन्दस्तु— 'हे पवित्रपते परात्मन्, चित्पतिर्वाक्पतिः सविता देवो भवान् पवित्रेणाच्छिद्रेण विज्ञानेन सूर्यस्य रश्मिभिश्च मा मां मम चित्तं च पुनातु। मा मां मम वाचं च पुनातु। मा मां मम चक्षुश्च पुनातु। यस्य पवित्रपूतस्य कृपया यत्कामोऽहं पुने पवित्रो भवामि, यस्य ते तवोपासनया तत्पवित्रं कर्म कर्तुं शकेयं शक्नुयाम्, तस्य सेवां कर्तुं योग्यता मे कथं न भवेत्' इति, तदेतत्सर्वं शतपथविरुद्धमेव, तत्रास्य मन्त्रस्याध्वर्युकर्तृकैकविंशतिकुशकरणकयजमानकर्मकपावने स्फुटमुपवर्णनात् ॥४॥

आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है— हे परमात्मन्! ज्ञानों का पालक परमात्मा मुझे पवित्र करे। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इन वाणियों का स्वामी मुझे पवित्र करे। द्योतमान तथा विश्व का संचालक, विघ्नरहित पावन ज्ञान से मुझे पवित्र करे। ज्ञानसूर्य अथवा सच्चिदानन्द सूर्य की मननरूपी रश्मियों से मुझे पवित्र करे। हे पावनों के पावन, नाम अथवा स्वरूप के द्वारा नित्य शुद्ध आपकी कृपा से जिस ब्रह्मात्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्मप्राप्ति में मेरी कामना है, ऐसा कामनावान् मैं पवित्र होऊँ तथा उसे पूर्ण करने में समर्थ होऊँ।

स्वामी दयानन्द ने— 'हे परात्मन् सविता देव, आप पवित्र विज्ञान एवं सूर्यरश्मियों से मेरे चित्त, वाणी और चक्षु को पवित्र करें' इत्यादि अर्थ किया है, वह सब शतपथ ब्राह्मण के विरुद्ध है। शतपथ ब्राह्मण में इस मन्त्र का वर्णन अध्वर्युकर्तृक कुशकरणक यजमानकर्मक पवित्रीकरण के लिये स्पष्टतया किया गया है ॥४॥

आ वो॑ देवास ईमहे वा॒मं प्र॑य॒त्य॑ध्व॒रे ।
आ वो॑ देवास आ॒शिषो॑ य॒ज्ञिया॑सो हवामहे ॥५ ॥

'आ वो देवास इति वाचयति' (का. श्रौ. ७.३.४)। अध्वर्युर्यजमानं वाचयति। दैवी अनुष्टुप्। हे देवासो देवाः, अध्वरे अस्मदीये यज्ञे प्रयति प्रैतीति प्रयन् तस्मिन् प्रवर्तमाने वामं वननीयं सम्भजनीयमनुष्ठानं प्राप्नुवति सति तदीयं सम्भावितं फलं वो युष्मान् आ ईमहे आ समन्तात् साकल्येन ईमहे याचामहे। 'वन षण सम्भक्तौ'। किञ्च, हे देवासो देवाः, यज्ञियास आशिषो यज्ञसम्बन्धीनि फलान्यासमन्तान्नेतुं वो युष्मान् हवामहे आह्वयामः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे देवास इन्द्रियाद्यधिष्ठातारो देवाः, वो युष्मान् वामं शोभनं भगवत्प्राप्तिलक्षणं संभजनीयं फलम् आ साकल्येन ईमहे याचामहे, युष्माकं भगवत्परायणतायां सत्यामेव तत्फललाभसम्भवात्। युष्मदधीनमेव तत्फलम्, 'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥' (भ. गी. १०.९), 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥' (भ. गी. १०.११) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनाभ्याम्। अध्वरे ज्ञानयज्ञे प्रयति वर्तमाने हे देवासो वो युष्मान् यज्ञियासो ज्ञानयज्ञसम्बन्धिन्य आशिषः सम्यग् आनेतुं युष्माकमानुकूल्याय युष्मानाह्वामहे।

दयानन्दस्तु—'हे देवासः, यथा वयं वो युष्मान् प्रयत्यध्वरे वो युष्माकं वा भूमे समन्ताद्याचामहे' इति, 'यत्तु प्रकृष्टं सुखमेति येन तस्मिन् प्रयति सुखयुक्ते अध्वरे' इति च, तन्मन्दम्, क्रियारूपस्य यज्ञस्य क्लेशात्मकत्वेन सुखयोगायोगात्। अन्यथा सुखप्रदे भोजनादाविव तस्मिन्नपि सर्वरागास्पदत्वापत्तेः। 'हे यज्ञियासो देवासः, यथास्मिन् संसारे वो युष्माकं सकाशाद् यज्ञियास आशिष आहवामहेऽभितः स्वीकुर्वीमहि, तथैवास्मदर्थं भवद्भिः सततमनुष्ठेयम्' इति, तदप्यसङ्गतम्, स्वसिद्धान्तव्याकोपात्। तथाहि—तन्मतरीत्या देवा मनुष्या एव। ते च वामं प्रशस्तं गुणसमूहमपि दातुं न शक्नुवन्ति, विद्वद्भ्योऽध्ययनादिभिरेव गुणप्राप्तिसम्भवात्। सिद्धान्ते त्वैश्वर्यवन्तो देवा वामं सम्भजनीयं फलं दातुं शक्नुवन्त्येव। किञ्च, त्वद्रीत्या वाय्वादिशुद्धयेऽग्नौ घृतादिनिक्षेप एव कर्तव्यः। तत्र न गुणसमूहोऽपेक्षितः।

मन्त्रार्थ— हे देवताओं, इस यज्ञ में प्रवृत्त होकर हम आपसे माँगने योग्य कर्मफल की कामना करते हैं। हे देवताओं, यज्ञ संबन्धी फल रूप आशीर्वादों को प्राप्त करने के लिये हम आपका आह्वान करते हैं॥ अध्वर्यु यजमान द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण करवाता है ॥५ ॥

भाष्यसार— कात्यायन श्रौतसूत्र (७.३.४) के विनियोगानुसार अध्वर्यु यजमान को 'आ वो देवासः' इस ऋचा का वाचन कराता है।

• आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ है— हे इन्द्रियादि के अधिष्ठाता देवगण, आप लोगों से हम सुन्दर भगवत्प्राप्तिरूपी वाञ्छित फल की पूर्ण रूप से याचना करते हैं। भगवद्गीता (१०.९,११) के वचनानुसार जीव के भगवत्परायण होने पर ही उसकी फलप्राप्ति सम्भव है तथा आप लोगों के अधीन ही वह फल है। इस प्रवर्तमान ज्ञानयज्ञ में हे देवगण, आप लोगों को ज्ञानयज्ञसम्बन्धी आशीः सम्यक् प्राप्त करने हेतु आपकी अनुकूलता के लिये आहूत करते हैं।

स्वामी दयानन्द ने 'प्रयति' का अर्थ 'सुखयुक्त अध्वर में' किया है, यह अनुचित है। क्रियारूपी यज्ञ के क्लेशात्मक होने के कारण सुखयोग अयुक्त है। अन्यथा भोजनादि की भांति यज्ञ में भी रागास्पदता हो जायगी। स्वामी दयानन्द के मत में देवता

यज्ञसम्पादिन्य आशिष इच्छाश्च स्वेनैव पूरयितुं शक्याः, किमर्थं विद्वांसोऽभ्यर्थनीयाः। शतपथे तु सिद्धान्तसम्मत एवार्थः प्रतिपादितः—'अथाशिषामारम्भं वाचयति। आ वो देवास .... हवामह इति तदस्मै स्वाः सतीर् ऋत्विज आशिष आशासते' (श. ३.१.३.२४)। आ वो देवास इति मन्त्रस्य आशिषामारम्भ इति नाम, भाव्याशिषामारम्भरूपत्वात्। मन्त्रपाठस्य प्रयोजनमाह—तदस्मा इति। तत् तेन सर्वासामाशिषामादावेव यजमानेन परिगृहीतत्वात्, स्वाः स्वकीया एव सतीस्ता आशिष ऋत्विजस्तत्तन्मन्त्रेषु यजमानार्थमाशासते ॥५॥

स्वाहा॑ य॒ज्ञं मन॑सः॒ स्वाहो॒रोर॒न्तरि॑क्षा॒त् स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ᳬं स्वाहा॒ वाता॒दार॑भे॒ स्वाहा॑ ॥६॥

'स्वाहा यज्ञमित्यङ्गुली अचते नानाहस्तयोरेवꣳ शेषं प्रतिमन्त्रमुत्तमेन मुष्टी कृत्वा स्वाहेत्युक्त्वा वाग्यतोऽङ्गुष्ठौ तत्सहिते चोत्सृजति' (का. श्रौ. ७.३.५-८)। द्वयोर्हस्तयोर्युगपदेकैकां कनिष्ठिके अङ्गुली सङ्कोचयति यजमानः। एवमेव वाव यद्वा नाना पृथग् हस्तयोरङ्गुली सङ्कोचयति नैकस्यैव हस्तस्य द्वे, किन्त्वेकैकस्यैकैकाम्, अन्ते मुष्टीकरोति। वचनात् प्रथमं द्वे कनिष्ठिके। हस्तद्वयस्यानामिके मध्यमे क्रमेण सङ्कोचयेदित्यर्थः। उत्तमेन स्वाहा वातादारभ इति मन्त्रेण तर्जनीमङ्गुष्ठं च संकोच्य मुष्टीकृत्वा स्वाहा इति मन्त्रमुच्चार्य यजमानो वाग्यतो भवेत्।

अत्र सायणाचार्यः—द्यावापृथिवीभ्यामेतत्पदं यथा मन्त्रद्वयं भवति तथा विच्छेदनीयम्। ततश्चत्वारो मन्त्राः सम्पद्यन्ते। तदेतत्सर्वमापस्तम्बो विस्पष्टयति—'स्वाहा यज्ञं मनसेति द्वे स्वाहा पृथिव्या इति द्वे स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति द्वे स्वाहा यज्ञं वातादारभ इति मुष्टीकरोति'। मनःशब्दस्तैत्तिरीयके तृतीयान्तः, अत्र तु पञ्चम्यन्त इति। चतुर्णां यजुषां यज्ञो देवता। स्वाहाशब्दस्य निपातत्वेनानेकार्थत्वादुचिता अर्था ब्राह्मणानुसारेण ग्राह्याः। स्वाहा यज्ञं मनसः। मनस इति पञ्चमी तृतीयार्थे। मनसा यज्ञं स्वाहा चित्तेन यज्ञमभिगच्छामि। अत्र स्वाहाशब्दोऽभिगमनार्थः। स्वाहोरोरन्तरिक्षात्। अत्र पञ्चमी सप्तम्यर्थे। उरौ विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे स्वाहा यज्ञ आश्रितः। स्वाहाशब्दो यज्ञार्थोऽतः प्रभृति। स्वाहा द्यावा-पृथिवीभ्यां द्यावापृथिव्योः स्वाहा यज्ञः श्रितः। लोकत्रयव्यापी यज्ञ इत्यर्थः। स्वाहा वातादारभे वाताद्वायुप्रसादात् स्वाहा यज्ञमारभे प्रवर्तयामि, वायोः सर्वकर्मप्रवर्तकत्वात् स्वाहा यज्ञः, एवं सिद्ध इति शेषः। तित्तिरिश्रुतौ सर्वमेतत् स्पष्टम्—'स्वाहा यज्ञं मनसेत्याह। मनसा हि पुरुषो यज्ञमभिगच्छति। स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामित्याह द्यावापृथिव्योर्हि यज्ञः,

---

मनुष्य ही हैं। अतः वे प्रशस्त गुणसमूह प्रदान करने में समर्थ नहीं हैं। हमारे सिद्धान्त पक्ष में तो ऐश्वर्यसम्पन्न देवगण फलप्रदान में समर्थ माने गये हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी सिद्धान्त पक्ष से संमत अर्थ प्रतिपादित है ॥५॥

मन्त्रार्थ— मैं चित्त से यज्ञ को आरम्भ करता हूँ, यह सुसिद्ध हो। विस्तीर्ण अन्तरिक्ष से, द्युलोक और भूलोक से मैं यज्ञ लाभ करता हूँ। प्रवहमान वायु से मैं यज्ञ लाभ करता हूँ। यह अनुष्ठान सुसिद्ध हो॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान मुट्ठी बांधकर स्वाहा कहता है और मौन होकर फिर मुट्ठी खोलता है ॥६॥

भाष्यसार— 'स्वाहा यज्ञम्' इत्यादि मन्त्रों से यज्ञकर्ता यजमान क्रमशः कनिष्ठिका आदि अंगुलियों को संकुचित करे (सिकोड़ कर मोड़ ले)। सबके अन्त में अंगूठे को मोड़ कर मुट्ठी बांध ले तथा मौन व्रत धारण करे। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.३.५-८) आदि में प्रतिपादित इस यज्ञप्रक्रिया के अनुसार सायणाचार्य ने इस कण्डिका के मन्त्रों का पदच्छेद करते हुए अर्थ किया है। सायणाचार्य की व्याख्या माध्यन्दिनीय, काण्व, तैत्तिरीय आदि श्रुतियों तथा कात्यायनादि सूत्रों से संमत है।

स्वाहोरोरन्तरिक्षादित्याहान्तरिक्षे हि यज्ञः, स्वाहा यज्ञं वातादारभ इत्याहायं वाव यः पवते स यज्ञस्तमेव साक्षादारभते मुष्टीकरोति वाचं यच्छति यज्ञस्य धृत्या' (तै. सं. ६.१.४.४-५) इति। वातस्य क्रियारूपत्वाद् यज्ञरूपत्वम्।

उव्वटाचार्यरीत्या तु यज्ञं मनसः सकाशादहमारभ इत्यनुषङ्गः। उरोर्विस्तीर्णादन्तरिक्षादहमारभे यज्ञम्, द्यावापृथिवीभ्यामहमारभे यज्ञम्, वातादहमारभे यज्ञम्। पञ्च स्वाहाकारा येषु यज्ञेषु तत्रार्थवादः—'यज्ञो वै स्वाहाकारो यज्ञमेवैतदात्मन् धत्ते' (श. ३.१.३.२७) इति स्वाहाकारेण हविः प्रदीयत इति स्वाहाकारो यज्ञः।

शतपथे सर्वमेतत्। 'अथाङ्गुलीर्न्यचति स्वाहा यज्ञं मनस इति द्वे स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति द्वे स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामिति द्वे स्वाहा वातादारभ इति मुष्टीकरोति। न वै यज्ञः प्रत्यक्षमिवारभे यथायं दण्डो वा वासो वा परोक्षं वै देवाः परोक्षं यज्ञः' (श. ३.१.३.२५)। न्यचति सङ्कोचयति, एकैकेन मन्त्रेण हस्तद्वयेऽपि कनिष्ठिकादिक्रमेण द्वे द्वे अङ्गुली न्यचतीत्यर्थः। एवं करद्वयाङ्गुलिन्यञ्चनक्रमेणोत्तमेन मन्त्रेण पाणी मुष्टीकुर्यात्। तत्प्रयोजनमाह—यज्ञस्य वासो दण्डादिवद् धारयितुमशक्यत्वात् परोक्षभावेन मन्त्रेणोच्यते मुष्टीकरोतीति। मुष्टिबन्धनमेव यज्ञधारणमित्यर्थः। 'स यदाह। स्वाहा यज्ञं मनस इति तन्मनस आरभते स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति तदन्तरिक्षादारभते स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामिति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामारभते ययोरिदꣳ सर्वमधि स्वाहा वातादारभ इति वातो वै यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमारभते' (श. ३.१.३.२६)। मन्त्रस्य क्रमेण व्याख्यानं स्पष्टम्। वातेन प्राणेन व्याप्रियमाणत्वाद् वातो यज्ञः। वैशब्देन वातो यज्ञः प्रयुज्यतामिति मन्त्रप्रसिद्धिर्द्योत्यते। 'अथ यत् स्वाहा स्वाहेति करोति। यज्ञो वै स्वाहाकारो यज्ञमेवैतदात्मन् धत्तेऽत्रो एव वाचं यच्छति वाग्वै यज्ञो यज्ञमेवैतदात्मन् धत्ते' (श. ३.१.३.२७)। हविस्त्यागस्य यज्ञत्वात् स्वाहाकारेण हविःप्रदानात् स्वाहाकारस्य यज्ञात्मकता। अनन्तरं वाग्यमनं विधत्ते—वाचं यच्छतीति। वाग्व्यवहारमन्त्रेण यज्ञनिष्पत्तेर्वाग्यज्ञः। तस्या बहिर्निगमनमकृत्वा आत्मनि निगमनाद् यज्ञमेवात्मन् धत्ते धृतवान् भवति। एतेन सायणादिव्याख्यानमेव माध्यन्दिन-काण्व-तैत्तिरीयकादिश्रुतिकात्यायनादिसूत्रसम्मतमिति स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे तु—हे परमेश्वर, भवत्प्रसादार्थमहं मनसः सकाशाद्यज्ञमारभे ब्रह्मयज्ञं ज्ञानोपासनादिलक्षणं यज्ञमारभे। उरो विस्तीर्णादन्तरिक्षादहं यज्ञं भवदुपासनमारभे। अन्तरिक्षस्येव सूक्ष्मत्वं व्यापकत्वमसङ्गतत्वं च भावत्कं भावयामि। द्यावापृथिवीभ्यामप्यहं यज्ञमारभे द्यावापृथिव्योरिव सर्वधारकत्वं भावयामि। वातात् प्राणादहमारभे यज्ञं वायोरपि कोटिकोटिगुणितत्वेन त्वदीयसर्वकर्मप्रवर्तकत्वं भावयामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'स्वाहा प्रत्यक्षलक्षणया वेदस्थया वाचा यज्ञं क्रियाजन्यं मनसो विज्ञानात् स्वाहा सुशिक्षितया वाचा, उरोः बहुनः, लिङ्गव्यत्ययेन पुंस्त्वम्। अन्तरिक्षाद् द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानादाकाशात् स्वाहा विद्याप्रकाशिकया वाण्या द्यावापृथिवीभ्यां प्रकाशभूम्योः शुद्धये स्वाहा सत्यप्रियत्वादिगुणविशिष्टया वाताद्वायोरा समन्ताद् रभे कुर्वे।

• अध्यात्मपक्ष के अनुसार यह अर्थ है— हे परमेश्वर, आपकी कृपा के लिये मैं मन से ज्ञानोपासनादिरूप ब्रह्मयज्ञ प्रारम्भ करता हूँ। अन्तरिक्ष की भांति आपके सूक्ष्मत्व, व्यापकत्व एवं निःसंगत्व का अवधारण करते हुए तथा द्यावापृथिवी की भांति आपके सर्वधारकत्व का अनुभव करते हुए मैं इनसे यज्ञ प्रारम्भ करता हूँ। वायु से भी करोड़ों गुना अधिक आपके सर्वकर्मप्रवर्तकत्व का अनुभव करते हुए यज्ञारम्भ करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ समुचित नहीं है, क्योंकि उस मत में यह ईश्वरकर्तृक उपदेश है अथवा जीवकर्तृक है? ईश्वरकर्तृक नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्णकाम होने के कारण परमेश्वर द्वारा पुरुषार्थ के लिये यज्ञारम्भ असंगत है। जीवकर्तृक

स्वाहा सुष्ठु जुहोति गृह्णाति ददाति यया क्रियया, तया हे मनुष्याः, यथाहं स्वाहा वेदोक्तया स्वाहा सुशिक्षितया स्वाहा विद्याप्रकाशिकया स्वाहा सत्यप्रियत्वादिगुणयुक्तया वाचा स्वाहा सुष्ठुक्रियया चोरोर्मनसोऽन्तरिक्षाद् वाताद् द्यावापृथिवीभ्यां यज्ञमारभे नित्यं कुर्वे, तथा भवन्तोऽप्यारभन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विकल्पासहत्वात्। अयमीश्वरकर्तृक उपदेशो जीवकर्तृको वा ? नाद्यः, परमेश्वरस्य पूर्णकामत्वेन पुरुषार्थाय यज्ञारम्भानुपपत्तेः। नान्त्यः, तथात्वे वेदस्य पौरुषेयत्वापत्तेः, तादृशस्यादर्शभूतस्य जीवस्याप्रामाणिकत्वात्। स्वाहाशब्दस्य बह्वर्थबोधकत्वेऽपि प्रकृते तत्तदर्थकत्वे हेतुर्वक्तव्यः। काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यस्तु—'तत्र तत्रोचिता अर्था ब्राह्मणानुसारेणोपलक्षणीयाः' इत्याह। ब्राह्मणानि तु सिद्धान्तव्याख्यानपोषकत्वेनोपस्थापितान्येव ॥६ ॥

आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा। आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ॥७ ॥

'औदग्रभणानि जुहोति स्थाल्याः स्रुवेणाकूत्या इति प्रतिमन्त्रमिति' (का. श्रौ. ७.३.१३)। स्थाल्याः सकाशादाज्यं स्रुवेण जुहुयादध्वर्युः। एषां मन्त्राणामौदग्रभणानीति वैदिकी संज्ञा संव्यवहारार्था। मन्त्रार्थस्त्वेवम्—आकूत्यै, यज्ञं करिष्यामीत्येवंविधो मानससङ्कल्प आकूतिः, तस्यै आकूत्यै तत्सम्पूर्त्यर्थं प्रयुजे निर्विघ्नेन प्रेरयते अग्नये देवाय स्वाहा इदं हुतमस्तु। मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा। यद्वा आकुवनमाकूतिः प्रयत्न आत्मनो धर्मस्तस्मै। मेधायै धारणशक्तिर्मेधा तत्सिद्ध्यर्थं मनसे मनोऽभिमानिने अग्नये हुतमस्तु। दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा। व्रतनियमो दीक्षा, तत्सिद्ध्यर्थं मदीयशरीरतपोभिमानिनेऽग्नये इदं हुतमस्तु। सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा। मन्त्रोच्चारणशक्तिः सरस्वती, तत्सिद्ध्यर्थं वागिन्द्रियाय तत्पोषकाय वह्नये हुतमस्तु। यद्वा आकूताद्या अपि देवता एव। आकूतये प्रयुजेऽग्नये स्वाहा, मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा, दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहेति जपार्था मन्त्राः। तपःशब्दोऽत्रोपसदिष्टिपरः। सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति। तदन्ये होमार्था मन्त्राः। आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी उर्वन्तरिक्ष बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहेति। हे आपः! यूयं ये द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ यच्चोरु विस्तीर्णमन्तरिक्षं तेषामबादिसर्वदेवानामनुग्रहादिति

उपदेश मानने पर वेद की पौरुषेयता की आशंका होती है। अत एव सायणाचार्य ने काण्वसंहिता के भाष्य में 'ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार अर्थालोचन करना चाहिये' यह कहा है। हमारे सिद्धान्तपक्षीय व्याख्यान में ब्राह्मणवाक्य पोषक हैं ॥६ ॥

मन्त्रार्थ— यज्ञ करने की मन की प्रबल इच्छा को पूरी करने के लिये प्रेरित अग्नि के निमित्त यह आहुति सुसिद्ध हो। व्रत, नियम आदि दीक्षा की सिद्धि के लिये तप के प्रवर्तक अग्निदेव के निमित्त यह आहुति सुसिद्ध हो। मन्त्रोच्चारण की शक्ति के लिये पुष्टि के साधक अग्निदेव के निमित्त यह आहुति सुसिद्ध हो। महान् जगत् के सुखदाता हे प्रकाशवान् जलों, हे पृथ्वी द्युलोक, हे विस्तीर्ण अन्तरिक्ष! तुम्हारे और बृहस्पति के निमित्त दी गई यह हवि सुहुत हो॥ यजमान यहाँ अन्न ग्रहण करके कार्यारम्भ सूचक आहुतियाँ देता है ॥७ ॥

भाष्यसार— 'आकूत्यै प्रयुजे' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा अध्वर्यु आज्यस्थाली से घृत लेकर हवन करता है। यज्ञीय व्यवहार के लिये इन मन्त्रों की वैदिक संज्ञा 'औदग्रभण' है। औदग्रभण होम का विधान कात्यायन श्रौतसूत्र (७.३.१३) और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार किया गया है।

शेषः। बृहस्पतये तन्नामकाय देवाय हविषा विधेम आज्येन परिचर्यां करवाम। कथंभूता आपः? देवीर्द्योतमानाः। बृहतीः बृहत्यः प्रभूताः। विश्वशम्भुवः विश्वं शं भुवो विश्वं सुखेन भावयित्र्यः। एतानि विशेषणानि वृष्टिजन्यास्वप्सु युज्यन्ते। तदाह तित्तिरिः—'या वै वर्ष्यास्ता आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवः' (तै. सं. ६.१.२.३) इति। यद्वा हे आपः, हे द्यावापृथिव्यौ, हे उरो, युष्मभ्यं बृहस्पतये च हविषा विधेम हविर्दद्मः। द्वितीयार्थे तृतीया। विधतिर्दानकर्मा। स्वाहा सुहुतमस्तु। देव्यो द्योतमानाः, बृहतीर्बृहत्यः प्रभूताः। पूर्वत्र पूर्वसवर्णदीर्घः। विश्वस्य जगतः शं सुखं भावयन्ति जनयन्ति वेति विश्वशम्भुवः। अत्र लिङ्गोक्ता देवताः। विराट् छन्दः। यस्या एकादशाक्षरास्त्रयः पादाः सा विराट्, 'दशकास्त्रयो विराडेकादशका वा' इत्युक्तेः। प्रथमो द्वादशार्णस्तेनैकाधिका।

शतपथे च—'सर्वाणि ह वै दीक्षाया यजूꣳष्यौद्ग्रभणानि। उद्गृभ्णीते वा एषोऽस्माल्लोकाद् देवलोकमभि यो दीक्षत एतैरेव तद्यजुर्भिरुद्गृभ्णीते तस्मादाहुः सर्वाणि दीक्षाया यजूꣳष्यौद्ग्रभणानीति तत एतान्यवान्तरामाचक्षत औद्ग्रभणानीत्याहुतयो ह्येता आहुतिर्हि यज्ञः परोक्षं वै यजुर्जपत्यथैष प्रत्यक्षं यज्ञो यदाहुतिस्तदेतेन यज्ञेनोद्गृभ्णीतेऽस्माल्लोकाद्देवलोकमभि' (श. ३.१.४.१)। दीक्षाहुतीर्विधातुमाह—सर्वाणि ह वा इति। यजुःसम्बन्धाद् दीक्षासम्बन्धीनि यजूंषि औद्ग्रभणानि। तत् तदा एतैर्दीक्षाङ्गभूतैः सर्वैर्यजुर्भिर्दीक्षाप्रकरण उक्तानि सर्वाण्यपि यजूंषि औद्ग्रभणसंज्ञकानि। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति 'दादेर्धातोर्घः' (पा. सू. ८.२.३२) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन हस्य घः। तेष्वेतानि दीक्षाहुतिसाधनान्याकूत्यादीनि। अस्माल्लोकाद्देवलोकमुद्गृभ्णाति, तस्मादेतानि औद्ग्रभणानि। आहुतयो वा एता आहुतिर्हि यज्ञः। जप्यानां होम्यानां च तारतम्यमाह—परोक्षं वै यजुर्जपत्यथैष प्रत्यक्षो यज्ञो यदाहुतिस्तदेतेन यज्ञेनोद्गृभ्णीतेऽस्माल्लोकाद्देवलोकमभि। 'ततो यानि त्रीणि स्रुवेण जुहोति। तान्याधीतयजूꣳषीत्याचक्षते सम्पद एव कामाय चतुर्थꣳ हूयतेऽथ यत्पञ्चमꣳ स्रुचा जुहोति तदेव प्रत्यक्षमौद्ग्रभणमनुष्टुभा हि तज्जुहोति वाग्घ्यनुष्टुब् वाग्घि यज्ञः' (श. ३.१.४.२)। आदितो यानि त्रीणि यजूंषि पठित्वा स्रुवेण जुहोति, तान्याधीतयजूंषीत्याचक्षत आधानलिङ्गकानि, तन्मन्त्रेष्वाधानव्यापारलिङ्गदर्शनात्। सम्पदे कामाय। सम्पद्यत इति सम्पत्, काम्यत इति कामः, सम्पाद्याय स्वर्गफलायेति। यथा लोके किञ्चित्फलं सिषाधयिषुरादौ फलानि तत्साधनानि च ज्ञात्वा ततः कामयित्वा तत्साधनमनुष्ठायान्ते फलं लभते, एवं त्रिभिः स्वर्गफलमाध्याय चतुर्थेन तत्साधनमनुष्ठाय पञ्चमेन तदुद्गृहीतवान् भवतीति। अथ चतुर्थस्य होमसाधनानभिधानेनापि पञ्चमस्य विशेषितत्वात् त्रीणि स्रुवेण जुहोतीतिवत् चतुर्थमपि स्रुवेणैव हवनं वेदितव्यम्।

'अथ यत्पञ्चमꣳ स्रुचा जुहोति' इति यत् पञ्चमस्य साक्षादुद्ग्रहणं तन्मन्त्रस्यानुष्टुप्त्वे सिद्धम्, अनुष्टुभा वाचा मन्त्रेण साध्यत्वात्। तथा च श्रुतिः—'वाग्घ्यनुष्टुप्। वाग्घि यज्ञः' (श. ३.१.४.२)। 'यज्ञेन वै देवाः। इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम' (श. ३.१.४.३)। पुरातनवृत्तान्तप्रदर्शनमुखेनैतेषां यजुषां स्वर्गोद्ग्रहणे साधनतामुपपादयति—यज्ञेन वा इति। पुरा किल देवा इमां जितिमिदानीं परिदृश्यमानप्रकारं स्वर्गजयं यज्ञेनैव साधनेन जिग्युर्जितवन्तः। ते देवाः स्वैर्जितं स्वर्गस्थानं तुच्छैर्मनुष्यैः कथमारोहणार्हं न भवेदिति परस्परमुक्त्वा यज्ञस्य रसं धीत्वा पीत्वा 'धेट् पाने' यथा मधुकृतो मधु निःशेषेणास्राव्य गतसारमेव परिशेषयन्ति, एवं यज्ञं विदुह्य विदोहं कृत्वा तं यूपेनाच्छाद्य तिरोहिता अभवन्। योपनसाधनत्वाद् यूपस्य यूपेति नाम सम्पन्नम्। तद्देवैः कृतं यज्ञविदोहनमृषीणामनुश्रुतमासीत्। 'तद्वा ऋषीणामनुश्रुतमास। ते यज्ञꣳ समभरन् यथायं यज्ञः सम्भृत एवं वा एष यज्ञꣳ सम्भरति यदेतानि जुहोति' (श. ३.१.४.४)। तदेतद्देवानुष्ठितप्रकारं जानद्भिर् ऋषिभिरयं

यज्ञ औद्‌ग्रभणहोमेन संभृतः। एवमेतेषामनुष्ठानेन यजमानोऽपि यज्ञं सम्भृतवान्।

'तानि वै पञ्च जुहोति। संवत्सरसम्मितो वै यज्ञः पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात् पञ्च जुहोति' (श. ३.१.४.५)। संख्यां प्रशंसति—तानि वै पञ्चेति। 'अथातो होमस्यैव। आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेत्या वा अग्रे कुवते यजेयेति तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत् संभृत्यात्मन् कुरुते' (श. ३.१.४.६)। होमस्यैव मन्त्रा व्याख्यायन्त इति शेषः। अग्रे यागानुष्ठानात् पूर्वमाकुवते खलु। कुवनशब्देन प्राग्भावी मनोव्यापारो लक्ष्यते। यजेयमिति सङ्कल्पयतीत्यर्थः। अतो यज्ञस्य यदेव कर्तव्यमङ्गजातं सर्वं सम्भृत्य सङ्कल्प्यात्मन्येकीकृत्य स्वात्मनि कुरुते स्थापयति। 'मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहेति। मेधया वै मनसाऽधिगच्छति यजेयेति तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत् संभृत्यात्मन् कुरुते' (श. ३.१.४.७)। द्वितीयमन्त्रस्य तात्पर्यमाह—मेधयेति। सङ्कल्पितस्यार्थस्य धारयित्री बुद्धिर्मेधा, तया मनसा च साधनेन उभाभ्यामधिगच्छति। यथा कश्चित् प्रथममिदं सम्यगिति सङ्कल्प्य तत्साधनप्रकारविशेष-मवबुद्ध्यते, तद्वदित्यर्थः। 'दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहेति। अन्वेवैतदुच्यते नेत्तु हूयते' (श. ३.१.४.८)। तृतीयस्यापि मन्त्रस्य होमसाधनत्वप्रसक्तौ जप्यतामाह—'तृतीयं जपत्येव' (का. श्रौ. ७.३.१४) इति।

'सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति। वाग्वै सरस्वती वाग्यज्ञः पशवो वै पूषा पुष्टिर्वै पूषा पुष्टिः पशवः पशवो हि यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत् संभृत्यात्मन् कुरुते' (श. ३.१.४.९)। वाग्वै सरस्वती वाग्यज्ञः पशवः पूषेति पशूनां पूषत्वमुक्तम्, पूषगतपुष्टिधर्मसद्भावात् पूष्णोऽपि पोषकत्वम्। 'पोषँ अपुष्यत्' (तै. सं. ७.१.९.१)। गवादि-पशुगतक्षीरादिसाध्यत्वात् पशवो यज्ञः, तदेवैतत् सम्भृत्यात्मन् कुरुते। इमे त्रयो होममन्त्रा आत्मन्यङ्गजातस्याधान-मन्त्रत्वादाधानमन्त्रा उच्यन्ते, तत्साधनानि यजूंषि चाधीतयजूंष्युक्तानि। उक्तमन्त्रत्रयेऽप्यग्नये यदस्ति तत्राग्नेः कः प्रसङ्ग इति दर्शयितुमाह—'तदाहुः।अनद्धेवैता आहुतयो हूयन्तेऽप्रतिष्ठिता अदेवकास्तत्र नेन्द्रो न सोमो नाग्निरिति' (श. ३.१.४.१०)। अप्रत्यक्षमिव एतास्तिस्र आहुतयो हूयन्ते। अप्रतिष्ठिता एताः कुत इति चेत्तत्राह—अदेवका इति। यद्यप्याकूत्याद्या देवताः सन्त्येव, तथापि तासां प्रसिद्ध्यभावादिन्द्रादिना भवितव्यमिति प्रदर्शयति—तत्र नेन्द्रो न सोमो नाग्निरिति। प्रसिद्धदेवतानामभावं दर्शयितुमनुवदति—'आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेति। नात एकश्चना-ग्निर्वा अद्धेवाग्निः प्रतिष्ठितः स यदग्नौ जुहोति तेनैवैता अद्धेव तेन प्रतिष्ठितास्तस्मादु सर्वास्वेवाग्नये स्वाहेति जुहोति तत एतान्याधीतयजूꣳषीत्याचक्षते' (श. ३.१.४.११)। अतोऽस्मादाकूत्या इत्येवमादिकाद् वाक्यादेकमपी-न्द्रादिकं नोपलभामह इति वदतोऽयमभिप्रायः—तेषु मन्त्रेष्वाकूतिमेधादेः प्रशंसितत्वेनाग्निमतिविहायायमाक्षेपः। अनद्धात्वपरिहारमाह—अग्निर्वा इति। स यजमानो यस्मादग्नौ प्रत्यक्षेण जुहोति, अत एवाग्निरद्धा इव प्रत्यक्ष-मिव। अत एव प्रतिष्ठितश्च, तेन खल्वेतास्तिस्रोऽप्यद्धेव प्रतिष्ठिताः। यत उक्तरीत्याऽग्निप्राधान्यम्, तत इत्थमग्निं प्रशस्यावशिष्टाकूतिप्रयुगग्निदेवतात्रयस्याध्यानसम्बन्धेनैतान्याधीताग्नियजूंषीत्याचक्षते।

'आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेति। आत्मना वा अग्र आकुवते यजेयेति तमात्मन एव प्रयुङ्क्ते यत्तनुते ते अस्यैते आत्मन् देवते आधीते भवत आकूतिश्च प्रयुक् च' (श. ३.१.४.१२)। अग्रे प्रथमं आत्मना बुद्ध्येति वा यजेयेत्याकुवते सङ्कल्पयति। तं सङ्कल्पितमात्मन्येव विस्तीर्य प्रयुङ्क्ते। प्रयुज्यत इति प्रयुक्। उभयोरपि बुद्धिविषयभावादुभे अपि देवते आकूतिप्रयुजौ अस्य यजमानस्य आत्मन् आत्मनि आधीते आध्यानेन विषयीकृते भवतः। आधीतप्रतिपादक-त्वादाधीतयजूंषीत्युच्यन्ते। एवमुत्तरवाक्यान्यपि योज्यानि। 'मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहेति। मेधया वै मनसाऽभिगच्छति यजेयेति ते अस्यैते आत्मन् देवते आधीते भवतो मेधा च मनश्च' (श. ३.१.४.१३)। 'सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति।

वाग्वै सरस्वती वाग्यज्ञः साऽस्यैषात्मन् देवताऽधीता भवति। वाक् पशवो वै पूषा पुष्टिर्वै पूषा पुष्टिः पशवः पशवो हि यज्ञस्तेऽस्यैत आत्मन् पशव आधीता भवन्ति तद्यदस्यैता आत्मन् देवता आधीता भवन्ति तस्मादाधीतयजूꣳषि नाम' (श. ३.१.४.१४)। व्याख्यातं प्राक्। 'अथ चतुर्थीं जुहोति। आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहेत्येषा ह नेदीयो यज्ञस्यापाꣳहि कीर्तयत्यापो हि यज्ञो द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्षेति लोकानाꣳ हि कीर्तयति बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहेति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्म यज्ञ एतेनो हैषा नेदीयो यज्ञस्य' (श. ३.१.४.१५)। इत्थमाधीतत्वसमानधर्मसम्भवादाहुतित्रयं पृथग्विधाय प्रशस्य च चतुर्थीमाहुतिं तन्मन्त्रं च विधत्ते— अथ चतुर्थीमिति। मन्त्रवाक्यानि क्रमेणोदाहृत्य व्याचष्टे— एषा हेति। एषा ऋगित्यर्थः। नेदीयो यज्ञस्याऽत्यन्तं सन्निहितम्। कथम्? यस्मादेषा अपां कीर्तयति तस्मान्नेदीयस्तत्कीर्तनेन यज्ञं प्रति नेदीयस्त्वमिति तत्राह—आपो हीति। अभिषवसंयवनादिसाधनत्वादपां यज्ञत्वम्। अन्यत् स्पष्टम्। 'अथ यां पञ्चमीं स्रुचा जुहोति। सा हैव प्रत्यक्षं यज्ञोऽनुष्टुभा हि तां जुहोति वाग्घ्यनुष्टुप् वाग्घि यज्ञः' (श. ३.१.४.१६)।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणः सार्वात्म्यद्योतनाय आकूत्यादिरूपैर्व्यज्यमानाय परमात्मने स्वात्मलक्षणं हविरर्पयन् सार्वात्म्यमनुभवति साधकः। यज्ञादिसङ्कल्पपूर्तये निर्विघ्नं प्रेरयतेऽग्नये परमात्मने स्वाहा ममात्मसमर्पणमस्तु। धारणाशक्तिमत्यै मेधायै मनसे मेधामनोऽन्तर्यामिणेऽग्नये स्वाहा आत्मानं निवेदयामि। एवं दीक्षाभिमानिने तपसे तपोऽन्तर्यामिणे स्वाहा। सरस्वत्यै वागधिष्ठात्र्यै ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्र्यै चिते तदन्तर्यामिणे स्वाहा पूष्णे वागादिपोषकायाग्नये स्वाहा। हे आपः, द्यावापृथिव्यौ हे उरो ततदन्तर्यामिणो युष्मभ्यं बृहस्पतिरूपायाग्नये तदधिष्ठात्रेऽन्तर्यामिणे हविषा विधेम। विदधातिर्दानकर्मा। हविषेति द्वितीयार्थे तृतीया। हविर्दद्मः। स्वाहा। कीदृश्य आपः? विश्वशंभुव विश्वस्य जगतः शं भावयन्ति जनयन्तीति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयमाकूत्यै उत्साहाय प्रयुजेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णे बृहस्पतयेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा या बृहती बृहत्यो विश्वशंभुवो देवीर् देव्य आपः स्वाहा वाग् द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्षस्थे च स्तस्तथा स्वाहाक्रियया हविषा च शुद्धा विधेम, तथा यूयमपि विदधत' इति, तत्तु सर्वथा वेदबाह्यमेव, शतपथविरुद्धत्वात्। यत्तु—'प्रयुजे धर्मक्रियाः प्रकृष्टैर्गुणैर्युनक्ति योजयति वा तस्याः' इति, तत्तुच्छम्, प्रयोक्तुः प्रयोजयितुः कर्तुः कारयितुरग्रहणे विनिगमनाविरहात्। अग्नये इत्यस्य अग्निदीपनायेति नार्थः, लाक्षणिकत्वप्रसङ्गात्। स्वाहेत्यस्य वेदवाणीप्रचार इत्यपि नार्थो मानाभावात्। मेधायै इत्यस्य प्रज्ञोन्नतये इत्यपि नार्थः, लाक्षणिकत्वात्। अग्नये विद्युद्विद्याग्रहणायेत्यपि न युक्तम्, अग्निशब्दस्य तादृशार्थेऽशक्तत्वात्। स्वाहा परोपकारिकायै इत्यपि स्वेच्छाचारितैव। तपसे प्रतापकाग्नये कारणरूपाय स्वाहा अध्ययनाध्यापनविद्यायै सरस्वत्यै विद्यासुशिक्षास-

---

अध्यात्मपक्ष में कण्डिका का अर्थ इस प्रकार है— यज्ञादि संकल्प की पूर्ति के लिये निर्विघ्न प्रेरणा देने वाले परमात्मा के लिये मेरा समर्पण हो। धारणाशक्तिवाली मेधा एवं मन के अन्तर्यामी अग्नि के लिये स्वयं को निवेदित करता हूँ। इसी प्रकार दीक्षाधिष्ठाता तपोऽन्तर्यामी देव के लिये, वागधिष्ठात्री सरस्वती, ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री चिति के अन्तर्यामी देव के लिये, वाक् आदि के पोषक पूषा, अग्नि के लिये निवेदित करता हूँ। विश्व की कल्याणकारिणी जल, द्यावापृथिवी तथा विस्तीर्ण अन्तरिक्ष की अन्तर्यामी देवताओं के लिये, बृहस्पति रूप अग्न्यधिष्ठाता अन्तर्यामी के लिये हविष्य प्रदान करता हूँ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ तो शतपथ श्रुति से विरुद्ध होने के कारण सर्वथा वेदबाह्य है। 'स्वाहा' इस पद का 'वेदवाणीप्रचार' यह अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। 'मेधायै' इस पद का 'प्रज्ञा की उन्नति के लिये' यह अर्थ

हितायै वाचेऽग्नये जाठराग्निशोधनाय स्वाहा सत्यवाक्प्रवृत्तये बृहती महागुणविशिष्टा उरो बहुसुखप्रतिपादकोऽन्तरीक्षस्थो याज्ञ इत्यादयोऽर्था भाक्ता एव । सम्भवन्त्यां शक्तौ भक्तेरनौचित्यमेव । अन्वयानुपपत्तौ तात्पर्यानुपपत्तौ वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तौ च गौणार्थग्रहणं सम्भवति । न चात्रानुपपत्तयः, शतपथादिरीत्या सायणादिभिर्व्याख्यातत्वात् ॥७॥

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्। विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥८॥

सवितृदेवत्याऽनुष्टुप् स्वस्त्यात्रेयदृष्टा । विश्वो मर्तः सर्वो मनुष्यो नेतुः फलप्रापकस्य देवस्य दानादिगुणयुक्तस्य देवस्य सवितुः सख्यं सखिभावं वुरीते वृणुते प्रार्थयते, 'वृञ् वरणे' इत्यस्य लिङि तङि प्रथमैकवचने व्यत्ययेन शपो लुकि 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा. सू. ७.१.१०२) इत्युदादेशः । किञ्च, विश्वः सर्वो जनो राये धनाय सवितारम् इषुध्यति प्रार्थयते । किञ्च, पुष्यसे पोषणाय द्युम्नं यशोऽन्नं वा वृणीते सर्वो जनः प्रार्थयते । स्वाहा तस्मै प्रेरकाय सवित्रे वा सुहुतमस्तु । पुषेस्तुमर्थे असेप्रत्ययः । 'इषुध्यति याच्ञाकर्मसु पठितः' (निघ. ३.१९.१४) । षष्ठोऽयमौद्ग्रभणमन्त्रः समाप्तः ।

शतपथे च—'अथ यद् ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति । तज्जुह्वामानयति त्रिः स्रुवेणाज्यविलापन्या अधि जुह्वां गृह्णाति यत्तृतीयं गृह्णाति तत्स्रुवमभिपूरयति' (श. ३.१.४.१७), 'स जुहोति । विश्वो देवस्य. . . . स्वाहेति' (श. ३.१.४.१८)', 'सैषा देवताभिः पङ्क्तिर्भवति । विश्वो देवस्येति वैश्वदेवं नेतुरिति सावित्रं मर्तो वुरीतेति मैत्रं द्युम्नं वृणीतेति बार्हस्पत्यं द्युम्नꣳ हि बृहस्पतिः पुष्यस इति पौष्णम्' (श. ३.१.४.१९) । पञ्चमस्य होमस्य द्रव्यमाह—अथ यद् ध्रुवायामाज्यमिति । अयमर्थः—दीक्षणीयेष्टेः सम्बन्धि यदाज्यं ध्रुवायामवशिष्टं तत्पञ्चमाहुत्यर्थं जुह्वामवनयेत् । एतदेकमवत्तम् । अथाज्यस्थाल्याः सकाशात् स्रुवेण जुह्वामुपरि त्रिर्निनयति । एवं चतुरवत्तं भवति । तत्र यत् तृतीयं तदाज्यविलापन्या अधि जुह्वा उपरि उत्तानं स्रुवं निधाय यथा पूर्णं भवति तथा स्रुवस्याभित आज्येन पूरयेत् । तथैव सूत्रम्—'जुह्वां ध्रौवमासिच्य द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण तृतीयꣳ स्रुवमभिपूरयति विश्वो देवस्येति' (का. श्रौ. ७.३.१५) । पञ्चममौद्ग्रभणसंज्ञकं होमं प्रति ध्रुवास्थमाज्यं जुह्वामासिच्य द्विश्च स्थाल्याः सकाशात् स्रुवेणासिच्य स्थालीतस्तृतीयं

भी लाक्षणिक होने के कारण उचित नहीं है । 'अग्नये' का अर्थ 'विद्युद्विद्या के ग्रहण के लिये' इस प्रकार करना अनुचित है, क्योंकि अग्नि शब्द इस अर्थ के प्रकाशन में असमर्थ है । इस प्रकार के अर्थ भाक्त (लाक्षणिक) हैं । शक्ति के सम्भव होने पर भक्ति का अनौचित्य होता है । अन्वयानुपपत्ति, तात्पर्यानुपपत्ति और वाक्यप्रामाण्यानुपपत्ति होने पर ही गौण अर्थ का ग्रहण सम्भव है ॥७॥

मन्त्रार्थ— सकल मनुष्यों के कर्मानुसार नियामक, दानादि गुणयुक्त परमात्मा को हम भक्तिभाव से चाहते हैं । कर्म, उपासना और ज्ञान की पुष्टि के लिये अन्न को चाहते हैं । सकल मनुष्य धन के लिये परमात्मा की प्रार्थना करते हैं । उस परमेश्वर के लिये यह अनुष्ठान सुसिद्ध हो ॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए औद्ग्रभण का हवन किया जाता है ॥८॥

भाष्यसार— समस्त मनुष्य फल प्रदान करनेवाले सविता देव की मित्रता की कामना करते हैं । समस्त मानव धन के लिये सविता की प्रार्थना करते हैं । पोषण के लिये यश अथवा अन्न की प्रार्थना करते हैं । उस प्रेरक सविता के लिये यह सुहुत हो । यह मन्त्रार्थ है ।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार कात्यायन श्रौतसूत्र (७.३.१५) में ध्रुवा में स्थित घृत के जुहू में ग्रहण करने में इस मन्त्र का विनियोग किया गया है ।

स्रुवमभिपूरयेत्। अभिपूर्य जुह्वामासिच्य जुहूस्थमाज्यं विश्वो देवस्येति मन्त्रेण जुहुयादिति सूत्रार्थः। पञ्चमस्य होमस्य मन्त्रमाह—विश्वो देवस्येति। तं प्रशंसति—सैषा देवताभिरिति। 'पञ्चाक्षरा पङ्क्तिः' (तै. ब्रा. २.७.१०.२) इति श्रुतेः पञ्चसंख्यासम्बन्धाद् एषा पङ्क्तिर्भवति। सैषा पञ्चदेवताभिः पङ्क्तिर्भवति। तद्योजयति—विश्वदेवशब्दश्रवणादिदं मन्त्रवाक्यं वैश्वदेवम्। नयनस्य सवितृव्यापारत्वान्नेतृशब्दश्रवणात् सावित्रम्। 'मर्तो वुरीत' इत्येतेन मनुष्यैर्वरणीयत्वाभिधानान्मैत्रम्। मित्रस्य हि वरणीयत्वं प्रसिद्धम्। मैत्रत्वं बार्हस्पतमन्त्रेषु द्रविणं धेहि चित्रमिति द्युम्नसमानार्थस्य द्रविणस्य दाने बृहस्पतिसम्बन्धश्रवणाद् द्युम्नं वृणीत इति बार्हस्पत्यम्। पुष्यस इति पोषणधर्मश्रवणात् पौष्णम्। एवं वैश्वदेवं सावित्रं मैत्रं बार्हस्पत्यं पौष्णमिति पञ्चदेवतासम्बन्धादस्य मन्त्रस्य पञ्चसंख्यायोगात् पङ्क्तित्वं ज्ञेयम्। 'पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चर्तवः संवत्सरस्यैतमेवैतयाप्नोति यद्देवताभिः पङ्क्तिर्भवति' (श. ३.१.४.२०), 'तां वा अनुष्टुभा जुहोति' (श. ३.१.४.२१)। एवं पञ्चानामाहुतीनां समुच्चयपक्षमुक्त्वा केषाञ्चिद्रीत्या पञ्चमीमेवैकामाहुतिं जुहुयात्—'यस्मै कामायेतरा हूयन्त एतयैव तं काममाप्नोतीति तां वै यद्येकां जुहुयात् पूर्णां जुहुयात् सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वमेवैनयैतदाप्नोत्यथ यत्स्रुवमभिपूरयति स्रुचं तदभिपूरयति तां पूर्णां जुहोत्यन्वेवैतदुच्यते सर्वास्त्वेव हूयन्ते' (श. ३.१.४.२२), 'तां वा अनुष्टभा जुहोति। सैषाऽनुष्टुप् सत्येकत्रिꣳशदक्षरा भवति दश पाण्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा आत्मैकत्रिꣳशो यस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिष्ठिता एतावान् वै पुरुषः पुरुषो यज्ञः पुरुषसम्मितो यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनयैतदाप्नोति यदनुष्टुभैकत्रिꣳशदक्षरया जुहोति' (श. ३.१.४.२३)। एवं श्रुतिभिरेषोऽर्थः प्रतिपादितः।

अध्यात्मपक्षे तु—देवस्य स्वप्रकाशस्य विश्वोत्पत्त्यादिक्रीडापरायणस्य नेतुः फलप्रापकस्य सवितुर्जगदुत्पादयितुः परमेश्वरस्य विश्वो मर्तः सर्वो जनः सख्यं सखिभावं वुरीते वृणुते। विश्वः सर्वोऽपि राये धनाय परमेश्वरं सवितारं इषुध्यति प्रार्थयते। पुष्यसे प्रजापुत्रादि पोषयितुं पालयितुं द्युम्नं धनं यशो वा वृणुते। द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा। सकामा निष्कामाः सर्वेऽपि भगवन्तमेव प्रार्थयन्ते। 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥' (भा. पु. २.३.१०)। अन्येऽपि देवा भगवदंशत्वाद्भगवद्रूपाः, तैर्दत्तानि फलान्यपि भगवद्दत्तान्येव भवन्ति। 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥' (भ. गी. ९.२३), 'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्' (भ. गी. ७.२२) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनात्।

दयानन्दस्तु—'यथा विश्वो मर्तो नेतुर्देवस्य जगदीश्वरस्य सख्यं वुरीते राय इषुध्यति शरान् धारयति स द्युम्नं धनं वृणीते। हे मनुष्य! एतत्सर्वमनुष्ठाय स्वाहा सत्क्रियया त्वमपि पुष्यसे पुष्टो भवेः' इत्येवं लुप्तोपमालङ्कारं मत्वा यथापदं योजयित्वा व्याख्यातवान्। तत्सर्वं निर्मूलमेव, लुप्तोपमत्वे मानाभावात्। नहि सर्वो मनुष्यः परमेश्वरस्य सख्यं वृणीते, न वा सर्वो धनाय शरान् धारयति, धनप्राप्तये शरधारणस्याव्यभिचरितहेतुत्वाभावात्। 'एतत्सर्वमनुष्ठाय' इत्यपि निर्मूलम्, तादृशार्थकपदाभावात्। स्वाहेत्यस्य सत्क्रिययेत्यर्थोऽपि निर्मूल एव॥८॥

• अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है — स्वप्रकाशक, फलप्रापक, जगदुत्पादक परमेश्वर के सहयोग की समस्त प्राणी कामना करते हैं। सभी व्यक्ति धन के लिये परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं। प्रजा-पुत्रादि के पोषणार्थ धन अथवा यश की इच्छा करते हैं। अर्थात् सकाम अथवा निष्काम सभी भगवान् की ही प्रार्थना करते हैं (द्र. श्रीमद्भागवत २.३.१०)।

स्वामी दयानन्द ने इस कण्डिका में लुप्तोपमा अलंकार मान कर 'यथा' पद जोड़ कर व्याख्या की है, वह निर्मूल है, क्योंकि लुप्तोपमा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। 'एतत्सर्वमनुष्ठाय' यह कथन भी मन्त्र में इस प्रकार का पद न होने से निर्मूल है। स्वाहा का अर्थ सत्क्रिया करना भी मूलरहित है॥८॥

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारंभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः। शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मा हिंᳲसीः ॥९॥

'शुक्लकृष्णसन्धिमालभत ऋक्सामयोरिति' (का. श्रौ. ७.३.२०)। यजमानः कृष्णाजिनयोः शुक्लकृष्णसन्धिमालभेत ऋक्सामयोरिति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु—हे शुक्लकृष्णरेखे कृष्णाजिनगते, युवां ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः, ऋगभिमानि-सामाभिमानिदेवतयोर्ये शिल्पे चातुर्ये तद्रूपे भवथः, 'यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्' (श. ३.२.१.५) इति श्रुतेः। ते वां तथाविधे युवां आरभे आलभे अहं स्पृशामि, रलयोः सावर्ण्यात्। ते मा मां पातं पालयतम्। कियन्तं कालमिति चेदुच्यते—अस्य यज्ञस्य उदृचः, आ उद् उत्तमा चरमा ऋग् उदृक्, तस्या उदृचः, आ तत्पर्यन्तम्। अनुष्ठीयमानस्य यज्ञस्य येयमृग् उत्तमास्ति तत्पर्यन्तम्, यज्ञसमाप्तिपर्यन्तमित्यर्थः। ऋक्सामाभिमानिन्यौ देवते केनापि निमित्तेन देवानां यज्ञार्थमवस्थिते सत्यौ कृष्णमृगौ भूत्वा तदीयं रूपं सम्यक्कृत्वा देवेभ्योऽपक्रम्य तिष्ठताम्। तस्य मृगस्य चर्मणि यः शुक्लो वर्णः सोऽयमृचः शिल्परूपम्, यश्च कृष्णवर्णः सोऽयं साम्नः शिल्परूपम्। 'ऋक्सामे वै देवेभ्यो यज्ञायातिष्ठमाने कृष्णो रूपं कृत्वाऽपक्रम्यातिष्ठतामिति' (तै. सं. ६.१.३.१), 'एष वा ऋचो वर्णो यच्छुक्लं कृष्णाजिनस्यैष साम्नो यत्कृष्णमिति' (तै. सं. ६.१.३.१) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'दक्षिणजानुनारोहति शर्मासीति' (का. श्रौ. ७.३.२१)। हे कृष्णाजिन, त्वं शर्म शरणमसि, अतो मे मह्यं शरणं यच्छ देहि स्वकीयत्वेन स्वीकुरु। ते तुभ्यं कृष्णाजिनाय नमोऽस्तु। मा मां यजमानं मा हिंसीर्मा जहि।

शतपथे च—'अथ जघनेन कृष्णाजिने पश्चात्। प्राङ् जान्वाक्न उपविशति स यत्र शुक्लानां च कृष्णानां च सन्धिर्भवति तदेवमभिमृश्य जपत्यृक्सामयोः शिल्पे स्थ इति यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पमृचां च साम्नां च प्रतिरूपे स्थ इत्येवैतदाह' (श. ३.२.१.५)। कृष्णाजिनदीक्षार्थमुपवेशनप्रकारमाह—अथ जघनेनेति। कृष्णाजिनयोः पश्चाद्भागेन स्वयमपि पश्चात् प्राङ्मुखो दक्षिणजान्वाक्नः सङ्कुचितदक्षिणजानुक आरुह्योपविशेत्। 'दक्षिणं जान्वाच्यास्ते पश्चादेनयोः' (का. श्रौ. ७.३.१९)। दक्षिणं जान्वाच्य भूमिसंलग्नं स्पृष्टं कृत्वा एनयोः पश्चाद् यजमान उपविशेत्। एवमभिमृश्य जपति—ऋक्सामयोः शिल्पे स्थ इति। शिल्पपदं व्याचष्टे—यद्वा इति। प्रतिरूपं प्रतिकृतिः, लौकिका हि हरितुरगादिप्रतिरूपं शिल्पमित्याहुः। 'दक्षिणेनाहवनीयं प्राचीनग्रीवे कृष्णाजिने उपस्तृणाति। तयोरेनमधि दीक्षयति यदि द्वे भवतस्तदनयोर्लोकयो रूपं तदेनमनयोर्लोकयोरधि दीक्षयति' (श. ३.२.१.१)। आहवनीयस्य दक्षिणे देशे कृष्णाजिने द्वे आस्तीर्य तत्रैनं यजमानं दीक्षयतीत्युक्तम्। ते च परस्परं सम्बद्धपर्यन्तप्रदेशे कुर्यात्।

मन्त्रार्थ— हे मृगचर्म की श्वेत-श्याम रेखाओं! तुम ऋक्साम मन्त्रों के अधिष्ठात्री देवताओं के चातुर्य हो। मैं तुम्हारा स्पर्श करता हूँ। तुम मेरी यज्ञ की समाप्ति तक रक्षा करो। हे मृगचर्म ! तुम शरणदाता हो, मुझे शरण दो, मैं तुम्हारा नमन करता हूँ। मुझे किसी प्रकार की पीड़ा मत पहुँचाने दो॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान मृगचर्म पर बैठता है ॥९॥

भाष्यसार — याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'ऋक्सामयोः शिल्पे' मन्त्र से यजमान कृष्ण मृगचर्म के सफेद एवं काले वर्णों के सन्धिस्थल का स्पर्श करता है तथा 'शर्मासि' मन्त्र से दक्षिण जानु से कृष्णाजिन पर आरोहण करता है। इस विनियोग के अनुसार सायणादि द्वारा सम्मत अर्थ ही शतपथ श्रुति तथा कात्यायन सूत्र (७.३.२०-२१) द्वारा भी समर्थित है।

तथैवोक्तं कात्यायनेन—'आहवनीयं दक्षिणेन कृष्णाजिने माꣳससꣳहिते स्यूतान्ते तर्द्मसु पश्चादासञ्जनवती निदधाति' (का. श्रौ. ७.३.१७)। दीक्षणीयासमाप्त्यनन्तरमाहवनीयस्य दक्षिणस्यां दिशि द्वे कृष्णाजिने प्राग्ग्रीवे स्तृणीयात्। कीदृशे? मांससंहिते। मांसशब्देन तत्सहितो देश उच्यते। ते संहिते उपरि लोमानि यथा भवेयुस्तथेत्यर्थः। तर्द्मसु पश्चात् स्यूतान्ते। तृद्यत इति तर्द्म छिद्रं चर्मणो मृगशरीराद् विकर्तनानन्तरं भूमौ कीलकान्निखाय परितश्छिद्राणि कृत्वा तानि कीलकेषु प्रोतयित्वास्तरणं क्रियते यथा चर्म विस्तृतं भवेत्। तदानीं तस्मिंश्चर्मणि कृताश्छिद्रा भवन्ति। तत्रेदमुच्यते—चर्मणः पश्चाद्भागकल्पितेषु छिद्रेषु स्यूतान्ते स्यूता दोरकेण तन्तुना परस्परं संश्लेषिता अन्ता ययोस्ते। चर्मणोः पश्चाद्भागे यानि छिद्राणि तेष्ववश्यं परिषीवणं भवति नान्यछिद्रेषु। आसञ्जनवती नागदन्तकादावासज्यते येन तदासञ्जनमवलगनरज्जुपाशः, तद्वति। श्रुतावपि—'संबद्धान्ते भवतः। संबद्धान्ताविव हीमौ लोकौ तर्द्मसमुते पश्चाद्भवतस्तदिमावेव लोकौ मिथुनीकृत्य तयोरेनमधि दीक्षयति' (श. ३.२.१.२)। यथोभयोर्मांसप्रदेशः सम्बद्धो भवति, यथा च तर्दनप्रदेशेषु पश्चाद्भागे ऊते परस्परस्यूते भवतः, तथैकस्योपर्यपरमास्तृणुयात्। आपस्तम्बोऽपि—'अन्तर्मांसाभ्यां बहिर्लोमभ्याम्' (आप. श्रौ. १०.८.१२) इति। तेनोभौ लोकौ मिथुनीकृत्य तयोरुपर्येनं दीक्षयति।

'यद्यु एकं भवति। तदेषां लोकानाꣳ रूपं तदेनमेषु लोकेष्वधि दीक्षयति यानि शुक्लानि तानि दिवो रूपं यानि कृष्णानि तान्यस्यै यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि दिवो रूपं यानि शुक्लानि तान्यस्यै यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तान्यन्तरिक्षस्य रूपं तदेनमेषु लोकेष्वधि दीक्षयति' (श. ३.२.१.३)। एककृष्णाजिनपक्षमुक्त्वा प्रशंसति—यद्यु एकमिति। तदेकमेव कृष्णाजिनं लोकत्रयात्मकम्, अत एकेनापि दीक्षयेत्। दिवो द्योतमानत्वेन शुक्लरोमांशस्तद्रूपम्, पृथिव्याः श्यामत्वात् कृष्णानां तद्रूपत्वम्। यद्वा भूर्लोकस्वर्गलोकयोर्मनुष्यैः परिदृश्यमानापरिदृश्यमानत्वमपेक्ष्य वैपरीत्योपन्यासः। यान्येव लोमानि बभ्रूणि बभ्रुवर्णानि हरीणि हरितवर्णानि, तान्यन्तरिक्षस्य रूपम्, नीलं नभ इति लोकप्रसिद्धेः। 'अन्तकमु तर्हि पश्चात् प्रत्यस्येत्। तदिमानेव लोकान् मिथुनीकृत्य तेष्वेनमधि दीक्षयति' (श.३.२.१.४)। तस्मिन्नेकाजिनपक्षे, अन्तकमु अन्तप्रदेशमेव पश्चाद्भागे प्रत्यस्येत् संकोचयेत् सन्धिप्रदेशेन द्विगुणीकुर्यात्। तथा च सूत्रम्—'एकं चेत् पश्चात् पादद्विगुणम्' (का. श्रौ. ७.३.१८)। यद्येकं कृष्णाजिनं भवति, तदा कृष्णाजिनस्य पश्चात् पादद्विगुणं कार्यम्। पश्चात्पादौ मोटनेन हि द्विगुणीकृतौ संभुग्नीकृतौ यस्य तत्।

'ते वामारभ इति। गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते स छन्दाꣳसि प्रविशति तस्मान्न्यक्नाङ्गुलिरिव भवति न्यक्नाङ्गुलय इव हि गर्भाः'(श. ३.२.१.६)। द्वितीयं भागं व्याचष्टे—ते वामारभ इति। ते वाम् ऋक्सामरूपे शुक्लकृष्णरेखे आरभे आलभे, स्पृशामीत्यर्थः। गर्भो वा एष भवति। वैशब्देन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिरुच्यते। तथा चैतरेयके—'पुनर्वा एतमृत्विजो गर्भं कुर्वन्ति यं दीक्षयन्ति' (ऐ. ब्रा. १.३)। छन्दांसि गायत्र्यादीनि। न्यक्नाङ्गुलिर्मुष्टीकरणेन सङ्कुचिताङ्गुलिः, एष यजमानश्छन्दांसि प्रविशति। शेषमतिरोहितार्थम्।

'स यदाह। ते वामारभ इति ते वां प्रविशामीत्येवैतदाह ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृच इति ते मा गोपायतमास्य यज्ञस्य सꣳस्थाया इत्येवैतदाह' (श. ३.२.१.७)। स यजमानो यदाह ते वामारभ इति, तस्यायमर्थः—वां युवामहं प्रविशामि। तथा सति ऋक्सामरूपयोः शुक्लकृष्णरूपशिल्पयोः स्पर्शनेन छन्दःस्वेव प्रवेशो भवति। ते मा मां पातं पालयतम्। कियन्तं कालमित्याकाङ्क्षायामाह— आस्य यज्ञस्योदृचमिति। उदृक्शब्दार्थमाह—अस्य यज्ञस्य संस्थाया इत्येवैतदाहेति। यज्ञस्य संस्थायाः समाप्तेः, समाप्तिपर्यन्तमित्यर्थः। 'अथ दक्षिणेन जानुनारोहति। शर्मासि

शर्म मे यच्छेति चर्म वा एतत् कृष्णस्य तदस्य तन्मानुषᳪ शर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मासि शर्म मे यच्छेति नमस्ते अस्तु मा मा हिᳪसीरिति श्रेयाᳪसं वा एष उपाधिरोहति यो यज्ञं यज्ञो हि कृष्णाजिनं तस्मा एवैतद्यज्ञाय निह्नुते तथो हैनमेष यज्ञो न हिनस्ति तस्मादाह नमस्ते अस्तु मा मा हिᳪसीरिति' (श. ३.२.१.८) ।अनन्तरं कृष्णाजिनारोहणं विधत्ते— अथ दक्षिणेनेति। दक्षिणेन जानुना कृष्णाजिनमारोहति शर्मेत्यादिमन्त्रेण । मनुष्येषु यत् चर्मेति प्रसिद्धम्, एतद् देवत्रा देवेषु सुखहेतुत्वात् शर्मेति शब्दाभिधेयम् ।अतो वैदिकेन स्वरूपेण शर्मासीति कृष्णाजिनस्य स्तुतिः ।मा मा हिंसीरिति हिंसापरिहारप्रसक्तिं दर्शयति—श्रेयांसं वा एष यजमानो यज्ञमुपाधिरोहतीति ।कुत इति चेत्, यज्ञो हि कृष्णाजिनम्, तेन यज्ञाख्यश्रेयोऽतिक्रमणापराधप्रार्थनं युक्तमेव ।तथो हैनमेष यज्ञो न हिनस्ति तस्मादाह नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीरिति ।

'स वै जघनार्ध इहैवाग्र आसीत ।अथ यदग्र एव मध्य उपविशेद्य एनं तत्रानुष्ठ्याहरेद् द्रप्स्यति वा प्र वा पतिष्यतीति तथा हैव स्यात् तस्माज्जघनार्ध इवैवाग्र आसीत' (श. ३.२.१.९) ।स यजमान आरूढः कृष्णाजिनस्य पश्चाद्भाग एव अग्रे प्रथममासीत ।विपक्षे बाधकमाह—यदग्र एवं मध्यप्रदेशमारूढं ब्रूयात्, अन्यो द्रप्स्यति दृप्तः कुत्सितगतिर्भविष्यति ततः पतिष्यति चेति । तथा हैव स्यात्तस्माज्जघनार्ध इवैवाग्र आसीत । तथैवोक्तं कात्यायनेनापि— 'दक्षिणजानुनारोहति शर्मासीति तेनास्तेऽपरेऽन्ते'(का. श्रौ. ७.३.२१) । दक्षिणजानुना भुग्नेन कृष्णाजिने यजमान आरोहेत । आरुह्य तयोः पश्चिमे भागे दक्षिणेनैव जानुनोपविशेत् । एतेन सायणादिसम्मत एवार्थः शतपथश्रुत्या कात्यायनसूत्रेणापि समर्थ्यते ।

अध्यात्मपक्षे तु—कृष्णाजिन उपवेक्ष्यमाणो यजमानः साधको वा सर्वत्रैव परमेश्वरस्य माहात्म्यं पश्यन् कृष्णाजिनगते शुक्लकृष्णरूपे एव सम्बोध्याह— हे शुक्लकृष्णरेखे ! युवां ऋक्सामयोर्भगवन्निःश्वसितयोः शिल्पे चातुर्यरूपे स्थः । ते वाम् आरभे आलभे स्पृशामि परमेश्वरीयज्ञानचातुर्यमनुभवामि । ते मां यज्ञस्य प्रसिद्धयज्ञस्य विष्णोर्वा आ उदृचः, उद् उत्तमा चरमा ऋग् उदृक्, तस्या उदृच आ तत्पर्यन्तम्, अथवा उद् उत्तमा ऋक् प्राप्तिः स्तुतिर्वा उदृक्, तस्या आ पर्यन्तं मां पातम् । हे परमेश्वर, त्वं शर्मासि सुखरूपमसि सुखं मे देहि नमस्ते अस्तु । मा मां मा हिंसीः स्वरूपतिरोधानेन जननमरणाविच्छेदलक्षणायां संसृतौ मा पातय । ब्राह्मणोक्तव्याख्यानस्य तु कर्मकाण्डप्रतिपादनद्वारा नित्यकर्मानुष्ठानेनोपात्तदुरितक्षयद्वारा काम्यानामपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन विविदिषोत्पादनद्वारा इष्यमाणवेदनसाधनत्वेन वा ब्रह्मपरत्वं सम्पद्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, अहं ऋक्सामयोरध्ययनानन्तरम् उदृचोऽस्य यज्ञस्य सम्बन्धिनीं वां ये शिल्पे मानसप्रसिद्धक्रियया सिद्धे स्थः भवतः, ते आरभे । या मा माम् आ अभितः पातं रक्षतः । यस्य तव सकाशाद् मया गृह्येते ते तुभ्यं मम नमोऽस्तु । त्वं मा मां शिल्पविद्यां शिक्षस्व । मा हिंसीर् विचालनं मा कुर्याः । यच्छर्म सुखमस्यास्ति तच्छर्म मे मह्यं देहि । उदृच उत्कृष्टा अधीताः प्रत्यक्षीकृता ऋचो यस्मिंस्तस्य' इति । हिन्दीव्याख्याने तु—'हे विद्वन्

अध्यात्मपक्ष में तो अर्थ इस प्रकार है — कृष्णाजिन पर बैठने वाला यजमान साधक सर्वत्र ही परमेश्वर के माहात्म्य का दर्शन करते हुए कृष्णाजिन में स्थित शुक्ल एवं कृष्ण रूपों को सम्बोधित करता है : हे शुक्ल एवं कृष्ण रेखाओं ! आप लोग ऋक् एवं सामात्मक भगवान् के निश्वासों के ज्ञान चातुर्यरूपी हो । उन आपका मैं स्पर्शानुभव करता हूँ । उस विष्णु की सम्पूर्ण स्तुतिपर्यन्त मेरी रक्षा करें । हे परमेश्वर ! आप सुखस्वरूप हैं, मुझे सुख प्रदान करें । आपको नमस्कार है, संसार में मेरी रक्षा करें ।

स्वामी दयानन्द ने 'ऋक् एवं साम के अध्ययनानन्तर' यह अर्थ किया है, वह निर्मूल है, क्योंकि मन्त्र में 'अध्ययनानन्तर' पद नहीं है । यज्ञ शिल्पविद्यासाध्य है, यह कथन भी निर्मूल है । फिर यज्ञ में ऋचाओं का प्रत्यक्षीकरण कैसे होता है ? प्रत्यक्षीकरण

ऋक्सामयोरध्ययनस्य पश्चाद् यस्मिनृचः सम्यक् प्रत्यक्षीक्रियन्ते, तस्य यज्ञस्य शिल्पे मनसा प्रसिद्धक्रियया प्रसिद्धे शिल्पविद्ये योऽहमारभे ये मां पातं ते विद्ये यस्य तव सकाशाद् मया गृह्येते ते तुभ्यं मन्त्रादिसत्कारपूर्वकं नमस्करोमि, विदितोऽस्तु। त्वं मां शिल्पविद्यां शिक्षस्व ततो मां विचालय यत्सुखं तन्मह्यं यच्छ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः। तथाहि—ऋक्सामयोरिति पदस्यैव मन्त्रे सत्त्वेन 'अध्ययनानन्तरम्' इत्यस्य निर्मूलत्वात्। 'शिल्पे' इति पदेन शिल्पविद्या चेज्जिघृक्षिता स्यात्तदा द्विवचनस्य किं स्वारस्यम्? नहि मनसा क्रियया च सिद्धत्वादेव द्विवचनोपपत्तिः, साधनभेदेऽप्यनेकसाधनसिद्धाया विद्याया द्वित्वानुपपत्तेः। यज्ञोऽपि मनसा क्रियया च सिद्ध्यति। न तावतापि तत्र द्वित्वमनुभूयते। यज्ञः शिल्पविद्यासाध्य इत्यपि निर्मूलम्। यज्ञे च कथमृचः प्रत्यक्षीक्रियन्ते ? किञ्च तासां प्रत्यक्षीकरणम्? तदीयशब्दानां तु समेषां प्रत्यक्षतैवास्ति। अर्थस्य प्रत्यक्षत्वमपि किं ताभिरेव यत्नान्तरैर्वा ? ताभिरेव चेत्कथं शब्दस्यापरोक्षत्वम्, तस्य परोक्षत्वस्वाभाव्यात्। यत्नान्तरैश्चेद् ऋचां साक्षात्कारः स्यात्तर्हि किं वेदैः ? न च शिल्पविद्यैव वेदानां विषयः, तथात्वे तेषां दृष्टार्थत्वेन लोकप्रसिद्धशिल्पविद्यासाधारण्येन धर्मशास्त्रत्वव्याघातात्। शतपथे च स्पष्टमेवास्य मन्त्रस्य कृष्णाजिनस्पर्शनाङ्गत्वेन जपे विनियोग उक्तः। 'तदेवमभिमृश्य जपत्यृक्सामयोः शिल्पे इति' (श. ३.२.१.५)। तत्रैव कृष्णस्य चर्मेति मानुषं शर्म देवत्रेति नवम्यां कण्डिकायामुक्तम्। उदृच इत्यस्यापि ते मा गोपायत माऽस्य यज्ञस्य संस्थाया इत्येवैतदाहेति स्पष्टं व्याख्यानं कृतम्। न चात्राध्यापकाय नमस्कारोऽभिधीयते, तस्यात्राप्रसक्तत्वात्, मन्त्रे तद्बोधकपदाभावाच्च। 'यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्' (श. ३.२.१.५) इति श्रुत्यैव शिल्पपदमपि व्याख्यातमेव 'यानि शुक्लानि तानि दिवो रूपं यानि कृष्णानि तान्यस्यै' (श. ३.२.१.३) इत्यादिभिः ॥९॥

ऊर्ग॑स्याङ्गिर॒स्यूर्ण॑म्रदा ऊर्जं॒ मयि॑ धेहि। सोम॑स्य नी॒विर॑सि॒ विष्णोः॒ शर्मा॑सि॒ शर्म॒ यज॑मान॒स्येन्द्र॑स्य॒ योनि॑रसि सुस॒स्याः कृ॒षीस्कृ॑धि। उच्छ्र॑यस्व वनस्पत ऊ॒र्ध्वो मा॑ पा॒ह्यꣳह॑स॒ आस्य य॒ज्ञस्यो॒दृचः॑ ॥१०॥

'अथ मेखलां परिहरते....' (श. ३.२.१.१०)। परिहरति मध्ये परितो वेष्टयति। 'मेखलां बध्नीते वेणिं त्रिवृतꣳ शणमुञ्जमिश्रामन्तरां वासस ऊर्गसीति' (का. श्रौ. ७.३.२२)। अध्वर्युर्यजमानस्य कटीप्रदेशे परिधानवस्त्रस्यान्तर्मेखलां प्रदक्षिणं बध्नीते। कीदृशीम्? वेणिं वेण्याकारां त्रिगुणया रज्ज्वा ग्रथितां शणतृणैर्मुञ्जतृणैश्च निर्मितां शरमयीं मौञ्जीं

क्या है? शिल्पविद्या ही वेद का विषय नहीं है। ऐसा होने पर दृष्टार्थत्व होने के कारण वेद का धर्मशास्त्रत्व व्याहत हो जायगा। शतपथ ब्राह्मण में तो स्पष्ट ही इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। वहां शिल्प पद की व्याख्या भी की गई है ॥९॥

मन्त्रार्थ— हे उष्णीष ! तुम बहुव्यापी यज्ञ का कल्याणमय रूप हो, मुझ यजमान का कल्याण करो। हे मेखले ! तुम अंगिरा वंश के ऋषियों से संबन्ध रखने वाली, अन्नरसरूप और ऊन के समान कोमल हो, अन्नरस को मुझ में स्थापित करो। हे मेखले ! तुम सोम देवता की नीवी हो। हे विषाण! तुम जैसे इन्द्र के स्थान हो, वैसे ही मेरे भी स्थान बनो। हे विषाण ! तुम खेती को सुन्दर धान्य वाली बनाओ। हे वनस्पति के दण्ड ! तुम ऊंचे होओ और ऊंचे होकर इस यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त पापों से मेरी रक्षा करो॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान मेखला, उष्णीष, दण्ड आदि धारण करता है ॥१०॥

भाष्यसार— इस कण्डिका के याज्ञिक विनियोग के अनुसार यजमान को 'ऊर्गसि' मन्त्र से मेखलाबन्धन, 'सोमस्य नीविः' से नीवि (ग्रन्थि) का बन्धन, 'विष्णो शर्म' से उष्णीष (पगड़ी) बन्धन, खुजलाने के लिये कृष्णमृग के शृंग का धारण तथा दण्डधारण किया जाता है (का. श्रौ. ७.३.२२-२६)। तदनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

वा मेखलां त्रिवृत् पृथ्यन् प्रतरतः पाशा तया यजमानं दीक्षयतीत्यापस्तम्बोऽपि। हे मेखले, त्वमाङ्गिरसी अङ्गिरोनामकानामृषीणां सम्बन्धिनी ऊर्गस्यन्नरसरूपासि। ऊर्णम्रदा असि कम्बलवन्मृदुरसि। तथाविधा त्वमूर्जमन्नरसं मे यच्छ। अस्याः शरमय्या मेखलाया अङ्गिरोभिः सम्बन्धं तित्तिरिरपि दर्शयति—'अङ्गिरसः सुवर्गं लोकं यन्त ऊर्जं व्यभजन्त ततो यदत्यशिष्यत ते शरा अभवन् ऊर्ग्वै शरा यच्छरमयी मेखला भवत्यूर्जमेवावरुन्धे' (तै. सं. ६.१.३.३)। अङ्गिरसां परस्परमन्नरसे विभज्यमाने यदवशिष्टोऽन्नरसो भूमौ पतितः, तच्छरनामकतृणविशेषरूपेणाविर्भूतः, तस्मादूर्गसीत्यादिमन्त्र उपपद्यते। अङ्गिरोभिर्दृष्टं मेखलादेवताकं यजुः।

शतपथे च—'अङ्गिरसो ह वै दीक्षिता न बल्यमविन्दंस्ते नान्यद्व्रतादशनमवाकल्पयंस्त एतामूर्जमपश्यन्त्समाप्तिं तां मध्यत आत्मन ऊर्जमदधत समाप्तिं तया समाप्नुवंस्तथो एवैष एतां मध्यत आत्मन ऊर्जं धत्ते समाप्तिं तया समाप्नोति' (श. ३.२.१.१०)। पुरावृत्तान्तमुखेन मेखलां प्रशंसति—अङ्गिरस इति। दीक्षिता अङ्गिरसो बल्यं बलार्हं बलकरं वस्तु नाविन्दन्, यतस्ते व्रतात् तत्साधनात् पयसोऽन्यदशनं न अवाकल्पयन्। अतस्ते एतामूर्जं बलम्, तत्साधनत्वान्मेखला ऊर्गित्युच्यते। कीदृशीं मेखलामिति तां विशिनष्टि—समाप्तिं सम्यगाप्यायते बलमनयेति समाप्तिर्मेखला, ताम्। स्पष्टमन्यत्।

'सा वै शाणी भवति। मृद्व्यसदिति न्वेव शाणी यत्र वै प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञात् तस्य यन्नेदिष्ठमुल्बमासीत्ते शणास्तस्मात्ते पूतयो वान्ति यद्वस्य जराय्वासीत् तद्दीक्षितवसनमन्तरं वा उल्बं जरायुणो भवति तस्मादेषान्तरा वाससो भवति स यथैवान्तः प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञादेवमेवैषोऽतो जायते गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञात्' (श. ३.२.१.११)। मेखलाया उपादानद्रव्यमाह—सा समाप्तिर्मेखला शाणी शणमयी भवेत्। मृद्वी सुखसंस्पर्शा असद् भवेत्, गर्भाणां मार्दवस्यापेक्षितत्वात्। यदा प्रजापतिर्यज्ञसकाशादुत्पन्नस्तस्य गर्भभूतस्य प्रजापतेर्नेदिष्ठं यदुल्बमासीत्ते शणा अभवन्। तस्माद् गर्भमालिन्यसम्भवात् ते शणाः पूतयो वान्ति दुर्गन्धा भवन्ति। उल्बं नाम पटसदृशं गर्भस्यान्तर्वेष्टनम्। यदु अस्य प्रजापतेर्जरायुर्बहिर्वेष्टनं तद् दीक्षितेन धार्यं वसनमभूत्। उभे अपि गर्भरूपप्रजापतिवद् दीक्षितस्यापि गर्भत्वाद् धार्ये अभूताम्। मेखलाया वसनादान्तरत्वं विधत्ते—अन्तरं वा उल्बं जरायुणो भवतीति। तस्मादेषान्तरा वाससो भवतीत्यादि स्पष्टम्। 'सा वै त्रिवृद् भवति। त्रिवृद्ध्यन्नं पशवो ह्यन्नं पिता माता यज्जायते तत् तृतीयं तस्मात् त्रिवृद् भवति।' (श. ३.२.१.१२)। अजाव्यादयः पशवो ह्यन्नम्, तच्च पितृमातृपुत्रात्मना त्रिवृद् भवति। तस्मान्मेखलापि त्रिवृद् भवति।

'मुञ्जवल्शेनान्वस्ता भवति। वज्रो वै शरो विरक्षस्तायै स्तुकासर्गꣳसृष्टा भवति सा यत् प्रसलविसृष्टा स्याद् यथेदमन्या रज्जवो मानुषी स्याद्यद्यपसलविसृष्टा स्यात् पितृदेवत्या स्यात् तस्मात् स्तुकासर्गꣳ सृष्टा भवति' (श. ३.२.१.१३)। तस्य मुञ्जशाखामिश्रितत्वं विधत्ते—मुञ्जवल्शेनान्वस्तेति। मुञ्जशाखयान्वस्ता मिश्रिता। वज्रो वै शरः, वज्रावयवत्वात्। तस्य च रक्षोविवासकत्वम्। 'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार। स प्रहृतश्चतुर्धाऽभवत् तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा यूपस्तृतीयं वा यावद्वा रथस्तृतीयं वा यावद्वाथ यत्र प्राहरत्तच्छकलोऽशीर्यत स पतित्वा शरोऽभवत् तस्माच्छरो नाम यदशीर्यतैवमु स चतुर्धा वज्रोऽभवत्' (श. १.२.४.१)। मेखलायाः केशवेणीव निर्माणं विधत्ते—स्तुकासर्गं सृष्टा भवतीति। स्तुका केशवेणी, सा यथा सृज्यते तथा सृष्टा भवेत्। उक्तप्रकारनिर्माणं प्रशंसितुं प्रकारान्तरयोर्दोषमाह—सा मेखला यद् यदि प्रसलविसृष्टा दक्षिणपाणेर्व्यापारेण निर्मिता स्यात्, तदा यथाऽन्या गवादिबन्धनरज्जवो मानुष्या भवन्ति, एवमियमपि मानुषी भवेत्। यद् यदि, अपसलविसृष्टा सव्यपाणिनोपरि व्यापृतेन निर्मिता स्यात्, तदा पितृदेवत्या

स्यात्। तस्मात् स्तुकासर्गं सृष्टा स्यात्। 'तां परिहरते। ऊर्गस्याङ्गिरसीत्याङ्गिरसो ह्येतामूर्जमपश्यन्नूर्णम्रदा ऊर्जं मयि धेहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति' (श. ३.२.१.१४)। बन्धनमन्त्रं विधाय व्याचष्टे—तामिति। 'नीविं कुरुते सोमस्य नीविरिति' (का. श्रौ. ७.३.२३)। वेष्टितवसनग्रन्थिर्नीविः। शतपथे—'नीविमुद्गूहते सोमस्य नीविरसीत्यदीक्षितस्य वा अस्यैषाग्रे नीविर्भवत्यथात्र दीक्षितस्य सोमस्य तस्मादाह सोमस्य नीविरसीति' (श. ३.२.१.१५)। वस्त्रान्तस्य समन्त्रकमुद्गूहनमाह—सोमस्य नीविरसीति मन्त्रेण। अग्रे सोमयागात् पूर्वमदीक्षितस्येदानीं तु दीक्षितस्य सोमस्य सोमयागकर्तृकत्वाद् दीक्षितो ह्युपचारेण सोम उच्यते।

मन्त्रार्थस्तु—हे मेखले ! त्वं सोमस्य सोमदेवतायाः प्रियभूता ग्रन्थिरसि। मूलाग्रयोरेकीकरणेन ग्रन्थिविशेषो नीविरुच्यते। अदीक्षितस्य पितृदेवत्या नीविर्भवति। सोमयागाय दीक्षितस्य तु नीविः सोमेन व्यपदिश्यते। 'अथ प्रोर्णुते। गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते प्रावृता वै गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव तस्माद्वै प्रोर्णुते' (श. ३.२.१.१६)। वाससा आच्छादनं विधत्ते—अथ प्रोर्णुत इति। शेषं स्पष्टम्। 'स प्रोर्णुते। विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येत्युभयं वा एषोऽत्र भवति यो दीक्षते विष्णुश्च यजमानश्च यदह दीक्षते तद्विष्णुर्भवति यद्यजते तद्यजमानस्तस्मादाह विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येति' (श. ३.२.१.१७)। आच्छाद्यप्रदेशः सूत्रे स्पष्टमुक्तः—'शिरः प्रोर्णुते विष्णोः शर्मेति' (का. श्रौ. ७.३.२४)। उष्णीषेण स्वं शिरः प्रदक्षिणमाच्छादयेद्यजमानो विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येत्युभयं वा एषोऽत्र भवति। विष्णुशब्दः पुरुषोत्तमे प्रसिद्धः। अत आह— विष्णुश्च यजमानश्चेति। कुत एतदित्याह— यदह दीक्षते तद्विष्णुर्भवति। दीक्षणीयेष्टौ आग्नावैष्णवे हविषि विष्णुर्देवतेति तत्संस्कारसंस्कृतो यजमानोऽपि विष्णुर्भवति। तदेवाह श्रुतिः— यद्यजते तद्यजमानस्तस्मादाह विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येति। मन्त्रार्थस्तु—हे वस्त्र, त्वं विष्णोर्व्यापकस्य यज्ञस्य शर्मासि सुखहेतुर्भवसि, अतो यजमानस्य सुखं कुर्विति शेषः।

'अथ कृष्णविषाणꣳ सिचि बध्नीते। देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुर्मन एव देवा उपायन् वाचमसुरा यज्ञमेव तद्देवा उपायन् वाचमसुरा अमूमेव देवा उपायन्निमामसुराः' (श. ३.२.१.१८)। वस्त्रान्ते कृष्णविषाणाबन्धनमाह—अथेति। सिग् वस्त्रान्तम्, तत्र कृष्णविषाणं बध्नीतेऽध्वर्युः। कृष्णविषाणोत्पत्त्यर्थमाख्यायिकामाह—देवाश्चासुराश्चेति। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या दायं पैतृकं धनमुपेयुः। इन्द्रियेषु मध्ये मन एव देवाः प्राप्तवन्तः, वाचं वागिन्द्रियमसुराः। तथा यज्ञमेव देवा उपगता वाचमसुराः। अमूं दिवं देवा इमां पृथिवीमसुराः।

'ते देवा यज्ञमब्रुवन्। योषा वा इयं वागुपमन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति स्वयं वा हैवैक्षत योषा वा इयं वागुपमन्त्रयै ह्वयिष्यते वै मेति तामुपामन्त्रयत सा हास्मा आरकादिवैवाग्र आसूयत्तस्मादु स्त्री पुꣳसोपमन्त्रितारकादिवैवाग्रेऽसूयति स होवाचारकादिव वै म आसूयीदिति' (श. ३.२.१.१९)। ते देवा वाचोऽपि स्वाधीनत्वापादनाय यज्ञमेवमब्रुवन्— यज्ञ ! इयं वाग् योषा स्त्री त्वं तु पुमान् तस्मात्तामुपामन्त्रयस्व सङ्केतेनाह्वय सापि त्वा त्वां ह्वयिष्यत आकारयिष्यति। तद्वृत्तान्तं जानती श्रुतिर्ब्रूते न केवलं तेषां वचनमेव, किन्तु 'स्वयं वा ह एव, वाशब्दश्चार्थे। यज्ञः स्वयमप्यैक्षत विचारितवान्। ईक्षणप्रकारमेवानुवदति—योषा वा इयं वागुपमन्त्रयै ह्वयिष्यते मेति। उपमन्त्रिता सा अग्रे प्रथमवारम् आरकाद् आरमेवारकम्, तेन चारकाग्रेण व्यथिता इव आसूयद् आरकाग्रनुन्नो बलीवर्दादिरिवासूयामकरोत्। तथैव लोकवृत्तान्तोऽपि—स्त्री पुंसोपमन्त्रिताऽऽरकादिवाग्रेऽसूयति। एवं पुनर्देवैर्याच्यमानो यज्ञस्तामुपामन्त्रयत्। सापि निपलाशमिव निपतितपर्णं वृक्षादिकमिव तद्यथा केवलं कम्पते, एवं शिरश्चालनेनोवाच, अथवा पलाशनिपतनमिव ओष्ठचालनेनोवाच। तृतीयवारे त्वाहूतवती। आह्वानवृत्तान्तं ज्ञातवन्तो देवा ईक्षाञ्चक्रिरे इयं वाग्

योषा यद्यस्मादेनं यज्ञं न युविता मिलितवती, अतो न विश्वसितव्या। एवमीक्षित्वा ते यज्ञमब्रुवन्—हे यज्ञ, इहैव मा मां तिष्ठन्तमभ्येहीति तां ब्रूहि। आगतां तां वाचं नोऽस्माकं प्रतिब्रूताद् निवेदयत्विति चाब्रुवन्। सापि यज्ञेनाकारिता वाक् तस्मिन्नेव सङ्केतप्रदेशे तिष्ठन्तं यज्ञमभ्येयाय। तस्मादु स्त्री पुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्यैति। तामागतामेभ्यो देवेभ्यो यज्ञः प्रतिप्रोवाच। ते देवास्तां वाचमसुरेभ्योऽन्तरायन् तथा वर्जितानकुर्वन्। स्वीकृत्य चाग्निमुखमन्तरेण स्वभोगायोगादग्नावेव तां वाचमनुष्टुभा विश्वो देवस्य नेतुरित्येतया कृत्वा यथा पुनरसुराणां निराशा भवति तथा अजुहवुः। केवला किं न स्वीकृतेत्यत आह—आहुतिर्हि आहुतिरूपेणाग्नौ दत्तमेव देवानां प्रियं भवति। ते असुरा आत्तवचसो देवैः स्वीकृतवचसो 'हे अरयो हे अरयः' इत्युच्चारयितुमशक्ता 'हेलवो हेलवः' इति वदन्तः पराभूताः।

'तत्रैतामपि वाचमूचुः। उपजिज्ञास्याꣳ स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसुर्या हैषा वागेवमेवैष द्विषताꣳ सपत्नानामादत्ते वाचं तेऽस्यात्तवचसः पराभवन्ति य एवमेतद्वेद' (श. ३.२.१.२४)। असुरा उपजिज्ञास्यां सन्दिग्धां वाचमूचुः। सन्दिग्धार्थस्यापभ्रंशरूपस्य वचसो यद्भाषणं तन्म्लेच्छमित्यर्थः। यद्वा य ईदृशीं वाचं वदति स म्लेच्छः। तस्माद् ब्राह्मणो न म्लेच्छेत् तदीयामपार्थिकां वाचं न ब्रूयात्। असुर्या हैषा वाक्। उक्तार्थज्ञानं प्रशंसति—एवमेवैष इति। एष ज्ञाता द्विषतां सपत्नानां वाचमादत्ते। अस्य सपत्ना अनेन ज्ञात्राऽपहृतवचसः सन्तः पराभवन्ति य एवं वेद। यदर्थमाख्यायिका प्रपञ्चिता तमर्थं विधातुमाह—'सोऽयं यज्ञो वाचमभिदध्यौ। मिथुन्येनया स्यामिति ताꣳ सम्बभूव' (श. ३.२.१.२५)। तया सङ्गतो बभूवेत्यर्थः। 'इन्द्रो ह वा ईक्षाञ्चक्रे। महद्वा इतोऽभ्वं जनिष्यते यज्ञस्य च मिथुनाद् वाचश्च यन्मा नाभिभवेदिति स इन्द्र एव गर्भो भूत्वैतन्मिथुनं प्रविवेश' (श. ३.२.१.२६)। 'स ह संवत्सरे जायमान ईक्षाञ्चक्रे। महावीर्या वा इयं योनिर्या मामदीधरत यद्वै मेतो महदेवाभ्वं नानुप्रजायेत यन्मा तन्नाभिभवेदिति' (श. ३.२.१.२७)। इन्द्रो विचारितवान् अस्मान् मिथुनाद् यज्ञवाचो मिथुनाद् यद् अभ्वमपत्यं जनिष्यते तन्मां नाभिभवेदित्येवं विचार्यान्योत्पत्तिभयात् स इन्द्र एव वाग्योन्यां गर्भो भूत्वा प्रविष्टः। स तत्र संवत्सरमुषित्वा अजायत। योनिं प्रशंसति—महावीर्येयं योनिर्या मामदीधरतेति। एतस्मान्मिथुनान्मामनु अन्यन्महदपत्यं यद्युत्पद्येत तन्मामभिभवेत्। 'तां प्रतिपरामृश्यावेष्ट्याच्छिनत्। तां यज्ञस्य शीर्षन् प्रत्यदधाद् यज्ञो हि कृष्णः स यः स यज्ञस्तत्कृष्णाजिनं योषा योनिः सा कृष्णविषाणाऽथ यदेनामिन्द्र आवेष्ट्याच्छिनत् तस्मादावेष्टितेव स यथैवात इन्द्रोऽजायत गर्भो भूत्वैतदस्मान्मिथुनादेवमेवैषोऽतो जायते गर्भो भूत्वैतस्मान्मिथुनात्' (श. ३.२.१.२८)। एवं प्रतिपरामृश्य योनिदेशे किमुत्पादकमिति विचार्य तामावेष्ट्य हस्तेनावेष्टनं कृत्वाऽऽच्छिद्य अदधाद् यज्ञशिरसि स्थापितवान्। यज्ञो हि कृष्णः, 'यज्ञो देवेभ्यो निलायत कृष्णो रूपं कृत्वा' (तै. ब्रा. ३.२.५.६) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेः। यः कृष्णो मृगः स एव निदानेन यज्ञः। तदेव यजमानेन धार्यते कृष्णाजिनं तस्या वाचो योनिः सा कृष्णविषाणा। कृष्णविषाणाधारणे लिङ्गं दर्शयति—'यदेनामिन्द्र आवेष्ट्याच्छिनत् तस्मादावेष्टितेव कृष्णविषाणा भवतीति। 'तां वा उत्तानामिव बध्नाति। उत्तानेव वै योनिर्गर्भं बिभर्त्यथ दक्षिणां भ्रुवमुपर्युपरि ललाटमुपस्पृशतीन्द्रस्य योनिरसीतीन्द्रस्य ह्येषा योनिरतो वा ह्येनां प्रविशन् प्रविशत्यतो वा जायमानो जायते तस्मादाहेन्द्रस्य योनिरसीति' (श. ३.२.१.२९)। योनिर्यद्यधोमुखं गर्भं बिभृयात्, तदा पतेदेव, अत उत्तानभरणं सिद्धम्। अत उत्तानां बध्नीयात्। बन्धनप्रकारमाह—दक्षिणां भ्रुवमारभ्य ललाटस्येषदुपरिप्रदेशं स्पृशेत्। तथा च सूत्रम्—'कृष्णविषाणां त्रिवलिं पञ्चवलिं वोत्तानां दशायां बध्नीते' (का. श्रौ. ७.३.२५)। कृष्णमृगस्य शृङ्गं ग्रन्थित्रययुतं पञ्चग्रन्थियुतं वा प्रादेशं प्रादेशमात्रमूर्ध्वाग्रं परिधानीयस्य दशायां बध्नीयाद् यजमानः। वलयः कृष्णविषाणागता उच्चप्रदेशाः। 'तया कण्डूयनम्' (का. श्रौ. ७.३.२६)। कण्डूरुत्पद्यते चेत्, तया कण्डूयनं कार्यम्, न तु नखैः काष्ठादिभिर्वा।

'अथ न दीक्षितः। काष्ठेन नखेन वा कण्डूयेत गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते यो वै गर्भस्य काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेदपास्यन् मृत्येत्ततो दीक्षितः पामनो भवितोर्दीक्षितं वा अनु रेताꣳसि ततो रेताꣳसि पामनानि जनितोः स्वा वै योनी रेतो न हिनस्त्येषा वा एतस्य स्वा योनिर्भवति यत्कृष्णविषाणा तथो हैनमेषा न हिनस्ति तस्माद्दीक्षितः कृष्णविषाणयैव कण्डूयेत नान्येन कृष्णविषाणायाः' (श. ३.२.१.३१)। यो गर्भं कृष्णविषाणाया अन्येन काष्ठादिना विकर्षेत्, तदा स गर्भोऽपगच्छन् मृतिं प्राप्नुयात्। ततोऽन्यस्य दुष्टत्वाद् विकर्षमाणो दीक्षितः पामनो भवितोः। पामा विचर्चिका तद्वान् भवितुं समर्थो भवति। मत्वर्थीयो नः, 'लोमादि' (पा. सू. ५.२.१००) इति सूत्रेण। न केवलं दीक्षितः पामनो भवति, किन्तु तदुत्पन्नाः पुत्रा अपि तादृशा भवन्तीत्याह— दीक्षितं वा अन्विति। विपक्षे दोषमुक्त्वा स्वपक्षे तदभावमाह—स्वा इति। कृष्णविषाणाया योनित्वाद् दीक्षितस्य गर्भत्वाद् हिंसाभावाय कृष्णविषाणयैव कण्डूयेतेति विधिः। अन्येन कण्डूयने गर्भस्यैव कर्षणम्, तेन गर्भस्य मरणमिवानिष्टमेव भवति दीक्षितस्य, अतः खर्जूयुक्तो भवति। दीक्षितस्य पश्चाद्भावीनि रेतांसि पुत्रादयोऽपि। वै योनी रेतो गर्भं न हिनस्ति। तेन तया कण्डूयनेन न दोष इत्यर्थः।

'उपस्पृशत्येनया दक्षिणस्या भ्रुव उपरीन्द्रस्य योनिरिति' (का. श्रौ. ७.३.२७)। यजमान एनया कृष्णविषाणया दक्षिणस्या भ्रुव उपरि ललाटं स्पृशेत्। मन्त्रार्थस्तु— हे कृष्णविषाणे, त्वं यथा पूर्वमिन्द्रस्य योनिरसि तथेदानीं यजमानस्य स्थानं भवेति शेषः। पुरा कदाचिद्यज्ञपुरुषो दक्षिणां देवीं समभवत्। तस्मात् सम्भवनादिन्द्रोऽजायत। तदानीमत्रान्य-स्योत्पत्तिर्मा भूदिति विचार्येन्द्रस्तद्योनिमाच्छिद्य मृगेषु न्यदधात्। निहिता सा योनिः कृष्णविषाणाऽभूत्। सोऽयमर्थ-स्तित्तिरिणा—'यज्ञो दक्षिणामभ्यध्यायत्' (तै. सं. ६.१.३.१५) इत्यस्मिन्नाख्याने समाख्यात इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यः। शतपथीयवृत्तान्तस्तु पूर्वमेवोक्तः। 'भूमौ चोल्लिखति सुसस्या' इति। (का. श्रौ. ७.३.२८)। शृङ्गेण भूमौ रेखां कुर्यात् सुसस्येति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु—सस्यं व्रीहियवादि, तदर्थो भूमिगतो व्यापारः कृषिः। याः कृषयः सन्ति ताः सर्वाः सुसस्याः शोभनधान्याः कृधि। हे कृष्णविषाणे ! त्वं कृषीः सुसस्याः कुरु। मन्त्रलभ्यं फलं तित्तिरिराह— 'कृष्यै त्वा सुसस्याया इत्याह तस्मादकृष्टपच्या ओषधयः पच्यन्ते' (तै. सं. ६.१.३.१६) इति। शतपथेऽपि—'अथो-ल्लिखति। सुसस्याः कृषीष्कृधीति यज्ञमेवैतज्जनयति यदा वै सुषमं भवत्यथालं यज्ञाय भवति यदो दुःषमं भवति न तर्ह्यात्मने च नालं भवति तद्यज्ञमेवैतज्जनयति' (श. ३.२.१.३०)। तथा भूमेरुपरि समन्त्रकमुल्लेखनं विधत्ते—कृष्टस्थलीः समृद्धसस्याः कृधीति मन्त्रार्थः। एतद् एतेनोल्लेखनेन। स्पष्टमन्यत्। यदा कृष्यादिसम्पत्त्या सुषमं सुखप्रदः संवत्सरो भवति, तदैव यज्ञो अनुष्ठानाय प्रभवति। यदोक्तवैपरीत्येन दुःषमं दुःखहेतुः संवत्सरः स्यात्, तदा आत्मने स्वशरीर-रक्षणायापि न प्रभवति, का कथा यज्ञस्येति।

'अथास्मै दण्डं प्रयच्छति। वज्रो वै दण्डो विरक्षस्तायै' (श. ३.२.१.३२)। अथ दण्डेन दीक्षां विधत्ते— अथास्मै दण्डमिति। प्रहारसाधनत्वाद् दण्डस्य वज्रत्वम्। 'औदुम्बरो भवति। अन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरो भवति' (श. ३.२.१.३३), 'मुखसम्मितो भवति। एतावद्वै वीर्यꣳ स यावदेव वीर्यं तावांस्तद् भवति यन्मुखसम्मितः' (श. ३.२.१.३४), 'तमुच्छ्रयति। उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यꣳहस आस्य यज्ञस्योदृच इत्यूर्ध्वो मा गोपायास्य यज्ञस्य सꣳस्थाया इत्येवैतदाह' (श. ३.२.१.३५)। बलकररसरूपमन्नमुदुम्बरो भवति। तथा च श्रुतिः— 'देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठत्' (तै. ब्रा. १.१.३.१०) इति। 'मुखसम्मितमौदुम्बरं दण्डं प्रयच्छति' (का. श्रौ. ७.४.१)। अध्वर्युर्यजमानायोदगग्रम्, ऊर्ध्वोष्ठपर्यन्तं मुखम्, तत्सम्मितम्। 'उच्छ्रयस्वेत्येनमुच्छ्रयति' (का.

श्रौ. ७.४.२)। मन्त्रार्थस्तु—अत्र दण्डो देवता। हे वनस्पते वृक्षावयव दण्ड, उच्छ्रयस्व उन्नतो भव। ऊर्ध्वो भूत्वा मा माम् अंहसः पापात् पाहि रक्ष। कियन्तं कालमित्यपेक्षायामाह—यज्ञस्योदृच इति। अस्य यज्ञस्योदृच उत्तमाया समाप्तिं गताया ऋच आ तादृक्पर्यन्तमित्यर्थ इति काण्वसंहितायां सायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—हे राजराजेश्वरि, त्वमङ्गिरोनामकानामृषीणां सम्बन्धिनी ऊर्गसि अन्नरसरूपासि, 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥' (भ. गी. १०.४१) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनात्, ऊर्जं मयि धेहि। कीदृशी सा ऊर्क्? ऊर्णम्रदा ऊर्णेव कम्बलमिव म्रदीयसी। सा त्वं सोमस्य उमया सहितस्य शिवस्य नीविरसि नाविरिवाच्छादिकासि। विष्णोर्व्यापकस्य शिवस्य परमेश्वरस्य शर्मासि सुखजनकत्वात् सुखरूपासि, अतो यजमानस्य त्वदाराधकस्य मम सुखं प्रयच्छेति शेषः। इन्द्रस्य परमैश्वर्यवतः परमेश्वरस्य योनिरसि परमकारणरूपासि, सर्वविश्वपालकत्वात्। कृषीः सुसस्याः कृधि शोभिनव्रीहियवादियुक्ताः कुरु। हे वनस्पते, वनस्पतिरूपे! त्वमुच्छ्रयस्व सर्वदा निरतिशयोत्कृष्टरूपापि स्वोत्कर्षमाविर्भावय। मां यजमानं त्वत्सेवकमंहसः पाहि रक्ष, संसारबन्धनान्मोक्षप्रदानेन रक्ष।

दयानन्दस्तु—हे वनस्पते विद्वंस्त्वं याङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऊर्क् शिल्पविद्यास्यस्ति योर्जं दधाति या सोमस्य नीविरसि या विष्णोर्यजमानस्य शर्म सुखकारिका योनिरसि योऽस्योदृचो विष्णोर्यज्ञस्य शर्मास्ति·मय्याधेहि सुसस्याः कृषीः कृधि कुरु कारय वा ऊर्ध्वा मामुच्छ्रयस्व अंहसो मा पाहि विमानादिषु यानेषु यो वनस्पतिरूर्ध्वं स्थाप्यते तमप्युच्छ्रयस्व। सर्वत्र व्यत्ययेन असि अस्ति पदानि त्वेवं व्याख्यातानि। ऊर्क्पराक्रमान्नादिप्रदा शिल्पविद्या आङ्गिरसी याङ्गिरोभिरग्न्यादिभिर्निर्वृत्ता सा शिल्पविद्या ऊर्णम्रदा ऊर्णमाच्छादनं मृद्नन्ति यया सा मयि शिल्पिनि धेहि दधाति। सोमस्य उत्पन्नस्य पदार्थसमूहस्य नीविः, या नितरां व्ययति संवृणोति विष्णोः शिल्पविद्याव्यापकस्य विदुषः सकाशात् प्राप्य शर्म सुखं यजमानस्य शिल्पविद्याविद इन्द्रस्य परमैश्वर्येण युक्तस्य योजकस्य वा। वनस्पते! वनानां विद्याप्रकाशानां पतिः पालयिता, तत्सम्बुद्धौ। यज्ञस्य शिल्पविद्यासाध्यस्य' इत्यादि, तदेतत् सर्वमुच्छृङ्खलतामूलकमेव, मुख्यार्थत्यागे कारणाभावात्, लाक्षणिकार्थग्रहणे मानाभावाच्च। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव।यत्तु आङ्गिरसीत्यत्र दयानन्देनोक्तम्— उव्वटमहीधराभ्यामिदं निघातत्वात् सम्बोधनान्तं पदमबुध्वा व्याख्यातम्, एतयोः स्वरज्ञानमपि नास्ति, अर्थज्ञानस्य तु का कथा' इति, तत्तु प्रमत्तप्रलपितमेव, स्वपक्षे गुणस्य तयोः पक्षे दोषस्य प्रदर्शनीयत्वात्। यत्तु कश्चित्—दयानन्देनात्र मन्त्रे सर्वत्र व्यत्यय इत्युपरिष्टादेवोक्तम्, तेनात्र सम्बोधने निघाते सत्यपि प्रथमान्तं पदमिदं व्याख्यातम्, उव्वटमहीधराभ्यां तु भ्रान्त्या (न तु व्यत्ययेन) 'आङ्गिरसि' इति प्रथमान्तमिदं पदं ज्ञात्वा व्याख्यानं कृतम्, अत्रायमेव दोष इति ध्येयम्' इति, तदपि तदीयान्धानुकरणमेव, दयानन्देनापि

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है— हे राजराजेश्वरि भगवति! आप आंगिरस ऋषियों से सम्बद्ध अन्नरस (ऊर्जा) स्वरूपिणी हैं, अतः ऊन के समान मृदु ऊर्जा मुझमें प्रतिष्ठित करें। आप उमासहित शिव की आच्छादिका शक्ति हैं। व्यापनशील शिव की सुखस्वरूपा हैं, अतः मुझे सुख प्रदान करें। परमैश्वर्य युक्त तत्त्व की कारणभूता हैं, अतः सम्पूर्ण विश्व का पालन करने के कारण आप सुन्दर अन्न से युक्त कृषि प्रदान करें। हे वनस्पति के रूप में विद्यमान, आप निरन्तर उत्कर्ष का प्रकाशन करें तथा मुझे पापों से बचायें, संसारबन्धन से सुरक्षित रखें।

स्वामी दयानन्द ने सर्वत्र 'असि' पदों का 'अस्ति' के रूप में व्यत्यय करके व्याख्या की है। वह अर्थ उच्छृंखलतामूलक है, क्योंकि मुख्यार्थ के त्याग तथा लाक्षणिक अर्थ के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है। 'आंगिरसी' इस पद पर दयानन्द ने कहा है

प्रथमान्तेनैव व्याख्यातत्वात्। न च स्वरव्यत्ययानुक्तिरेव दूषणम्, त्वयापि तदनुक्तत्वात्। न च सर्वत्र व्यत्यय इत्युक्त्यैव सर्वत्र तदुक्तिर्ज्ञेयेति वाच्यम्, तस्य 'असि, धेहि' इत्यादिषु चरितार्थत्वात्। यदि विशिष्टानुक्तावपि तज्ज्ञातव्यं तदा तथैव प्रकृतेऽपि किं न स्यात्? शतपथश्रुतिद्रष्टॄणां तु सायणोव्वटमहीधराणां व्याख्यानमेव शतपथसम्मतमिति स्पष्टमेव। तत्र कृष्णविषाणाया एव योनित्वमुक्तम्। कृष्णविषाणोल्लेखन-कण्डूयन-नीविकरण-दण्डोच्छ्रयणादिषु मन्त्राणां विनियोगदर्शनात्, शिल्पविद्यातद्याजकादीनां शतपथे सर्वथाप्यश्रवणात्। स्वामी दयानन्दस्तु सर्वत्र देवपदेन विदुषो मनुष्यानेव गृह्णाति, तदपि शतपथविरुद्धमेव, तत्र मुनष्येभ्योऽतिरिक्तानां देवानां वर्णनात्। तथा च श्रुतिः—'द्वया वै देवा देवाः। अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः' (श. २.४.३.१४) इति ॥१०॥

व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः। दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वशे। ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा ॥११॥

'अग्निमभ्यावृत्य व्रतं कृणुतेति वाग्विसर्जनं त्रिरुक्त्वाग्निर्ब्रह्मेति च सकृत्' (का. श्रौ. ७.४.१४)। आहवनीयाभिमुखो भूत्वा व्रतं कृणुतेति त्रिरुक्त्वा अग्निर्ब्रह्मेति सकृत् पठित्वा वाचं विसृजेत्।मौनव्रतस्य यजमानस्यैतन्मन्त्रोच्चारणं वाग्विसर्जनसाधनम्। मन्त्रार्थस्तु—हे परिचारकाः, व्रतं कृणुत दोहनादिना क्षीरं निष्पादयत। त्रिवारं वाक्यावृत्तिरादरार्था। अत्र व्रतशब्देन दीक्षितस्य भोजनाय यत् पयो नियतं तदुच्यते। अनेन मन्त्रेण मौनत्यागं स्पष्टं तितिरिराह— 'व्रतं कुरुतेति वाचं विसृजति' (तै. सं. ६.१.४.४) इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यः। अग्निर्ब्रह्मेति मन्त्रं सकृदुच्चारयेत। ब्रह्मशब्देनात्र वेदत्रयमभिधीयते, ब्रह्मपरत्वात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो. १.२.१५) इति श्रुतेः। तस्य वेदत्रयस्याग्नित्वमौपचारिकम्, आधाननिष्पन्नाग्नेर्वेदैकसाध्यत्वात्। तस्य चाग्नेर्यज्ञसाधनत्वादौपचारिकं यज्ञत्वमपि। तथैव यज्ञयोग्यस्य खादिरादेर्वनस्पतेर्यज्ञसाधनत्वात् तत्रापि यज्ञत्वोपचारः। तथा चायं श्रौतोऽग्निर्ब्रह्मैव वेदरूप एव। यज्ञयोग्यो यो वनस्पतिः खादिरादिः, सोऽपि यज्ञ इत्यनुवर्तते, 'नहि मनुष्या यजेरन् यद्वनस्पतयो न स्युः' (श. ३.२.२.९) इति श्रुतेः। 'दैवीं धियमिति व्रतायोपस्पर्शनꣳ स्वासने' (का. श्रौ. ७.४.२६) इति कृष्णाजिन उपविष्टो

कि उव्वट एवं महीधर दोनों ने इसे सर्वानुदात्त होने के कारण सम्बोधनान्त पद न समझ कर व्याख्या की है, अतः इनको स्वरज्ञान भी नहीं है, परन्तु दयानन्द ने भी इस की प्रथमान्त पद के रूप में ही व्याख्या की है ॥१०॥

मन्त्रार्थ— हे ऋत्विजों! यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ करो, यज्ञ के लिये आवश्यक सामग्री ब्रह्माग्नि, वनस्पति आदि को इकट्ठा करो। ये सब यज्ञस्वरूप ही हैं। इस अनुष्ठान की सिद्धि के लिये हम सुखकारिणी तेजोधारिणी बुद्धि के लिये परमात्मा से प्रार्थना करते हैं। इच्छा के अनुरूप रूप धारण कर सत्संकल्प वाले चक्षु आदि इन्द्रिय रूप प्राण देवता विघ्नों को दूर करें। उनके लिये यह क्षीर की आहुति सुफल हो॥ इस मन्त्र के द्वारा यजमान वाग्-विसर्जन कर ऋत्विजों को यज्ञ प्रारम्भ करने को कहता है ॥११॥

भाष्यसार—याज्ञिक विनियोग के अनुसार कात्यायन श्रौतसूत्र (७.४.१५, २७-२८) में विधान किया गया है कि 'व्रतं कृणुत' इत्यादि मन्त्र से वाग्विसर्जन (मौनत्याग), 'दैवीं धियम्' मन्त्र से आचमन तथा 'ये देवाः' मन्त्र से दुग्धादि व्रतरूपी आहार का ग्रहण यजमान करे।

यजमानो दैवीमिति मन्त्रेण व्रतार्थमाचामेत्, 'दैवीं धियं मनामह इति हस्तावविनिज्येति' (आप. श्रौ.) । अभिष्टयेऽभिमुखत्वेन प्राप्तस्य यज्ञस्य सिद्ध्यर्थं धियमनुष्ठानविषयां बुद्धिं मनामहे याचामहे । 'याच्ञाकर्मसु पठितः' (निघ. ३.१९.१६) । कीदृशीं दैवीं देवसम्बन्धिनीं देवतोद्देशेन प्रवृत्तां सुमृडीकां सुष्ठु मृडयतीति सुमृडीकां तां शोभनसुखहेतुम्, वर्चोधां वर्चो दधातीति वर्चोधा तामनुष्ठानविषयकतेजसो धारयित्रीम्, यज्ञवाहसं यज्ञं वहतीति यज्ञवाहास्तं यज्ञनिर्वाहयित्रीम् । शक्वरी अतिशक्वरी वा अस्याः पूर्वेणार्धर्चेन व्रतायोपस्पृशति । तादृशी धीः सुतीर्था सुखेन तरीतुं प्राप्तुं शक्या सुतीर्था सुष्ठु तीर्थमवतरणमार्गो यस्यां सा सुतीर्था सती नो वशे असद् अस्मदायत्ता भवतु । 'ये देवा इति व्रतयत्यमृन्मये' (का. श्रौ. ७.४.२७) । स्वासन उपविष्टः कांस्यपात्रेण पयः पिबेत् । 'अथास्मै कंसे चमसे वा निषिच्य व्रतं प्रयच्छति । तद्दक्षिणः परिश्रित्य व्रतयति ये देवाः' इति बोधायनः । दीव्यन्ति द्योतन्ते देवाश्चक्षुरादीन्द्रियरूपाः प्राणा मनोजाता दर्शनश्रवणादीच्छारूपान्मनस उत्पन्नाः, तादृश्यामिच्छायां सत्यामेव चक्षुरादीनां प्रवर्तमानत्वात् । तथा मनोयुजो मनसा युक्ता एव वर्तन्ते, अन्यमनस्कस्य रूपादिप्रतिभासासम्भवात्, 'प्राणा वै देवा मनोजाता मनोयुजः' (तै. सं. ६.१.४.५) इति तित्तिरिश्रुतेः । स्वप्नावस्थायां वा मनसा युज्यन्ते । ते च दक्षक्रतवो दक्षाः कुशलाः क्रतवः सङ्कल्पा येषां ते कुशलसंकल्पाः शुभसङ्कल्पाःसङ्कल्पार्थकारिण इत्यर्थः । ते देवा नोऽस्मानवन्तु अनुष्ठानविघ्ननिवारणेनास्मान् पालयन्तु । तेऽस्मान् पान्तु फलप्रापणेन रक्षन्तु । तेभ्यः प्राणरूपेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं क्षीरं हुतमस्तु, 'वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ चक्षुरादित्यः श्रोत्रं विश्वे देवाः' (श. ३.२.२.१३) इति श्रुतेः ।

अध्यात्मपक्षे तु वेदः साधकानाह—हे साधकाः, व्रतं शुभसङ्कल्परूपं कृणुत । कीदृशं कथमिति चेत्, तत्राह—अग्निः परमेश्वर एव ब्रह्म वेदत्रयम्, तस्यैव तदात्मना प्रादुर्भावात्, 'वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम' (भा. पु. ६.१.४०) इति श्रीमद्भागवतवचनात् । अग्निः स एव यज्ञः, तस्यैव यागैः समर्हणीयत्वात् । वनस्पतिस्तदुपलक्षितः सर्वोऽपि प्रपञ्चो यज्ञियो यज्ञार्हो यज्ञोपकरणं यज्ञफलं च । वेदोपदेशेन सावधाना साधकास्तां शुभसङ्कल्परूपां धियं प्रार्थयन्ते । वयं सर्वे दैवीं धियम्, देवः परमेश्वरः सर्वभूतेषु गूढः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे. ६.११) इत्यादिश्रुतेः । तत्सम्बन्धिनीमुपासनालक्षणां शुभसङ्कल्परूपां धियं मनामहे भगवन्तं प्रति याचामहे । कीदृशीं किमर्थम्? अभिष्टये अभिमतस्य भगवत्साक्षात्कारस्य प्रेम्णो वा सिद्ध्यर्थम् । कीदृशीं दैवीं परमात्मविषयां तथा सुमृडीकां सुष्ठु मृडयति सुखयतीति सुमृडीकां परमानन्ददायिनी तद्रूपा च तां वर्चोधां वर्चसो ब्रह्मसम्बन्धिनो वर्चसो धारयित्रीं यज्ञवाहसं ब्रह्मयज्ञज्ञानध्यानयज्ञादिनिर्वाहयित्रीं मनामह इति । तादृशी धीः सुतीर्था सुष्ठुतया संसारसागरतरणहेतुभूता नो वशे असद् भवतु । ये देवा दीव्यन्ते द्योतन्त इति देवाश्चक्षुरादय आध्यात्मिका अग्न्यादय आधिदैविकाश्च मनोजाता हिरण्यगर्भमनसो जाता उत्पन्नाः, तथा मनोयुजो मनसा युज्यन्त इति मनोयुजः, दक्षक्रतवः कुशलसङ्कल्पाः कुशलकर्माणश्च ते देवा भगवदंशभूता नोऽस्मानवन्तु । निर्विघ्नभगवत्प्रेमभगवत्साक्षात्कारसम्पादनेन पालयन्तु । ते नः पान्तु रक्षन्तु, फलपर्यवसायिज्ञानभक्तिप्रापणेनेति शेषः । श्रुतिसूत्रसम्मतं मुख्यं व्याख्यानं तूक्तमेव ।

अध्यात्मपक्ष में इस मन्त्र का अर्थ यह है— वेद का साधकों के प्रति निर्देश है कि हे साधकगण, शुभ संकल्प रूपी व्रत करें । अग्नि परमेश्वर ही वेद है, अग्नि यज्ञ है तथा वनस्पति आदि समस्त विश्वप्रपंच यज्ञ का साधन है । साधक उस शुभसंकल्पात्मक मति के लिये प्रार्थना करते हैं । अभिमत की सिद्धि के लिये सुखकारिणी, ब्रह्म की धारयित्री, ब्रह्मयज्ञ की निर्वाहकारिणी बुद्धि की याचना करते हैं । संसारतारण की हेतुभूता बुद्धि हमारे पास रहे । द्योतमान, मन से उत्पन्न, मन से संयुक्त, कुशलसंकल्पवान्, भगवदंशभूत वे देवगण हमारी रक्षा करें, हमारा पालन करें ।

दयानन्दस्तु— 'मनुष्यैर्यस्याग्निसंज्ञा, तद् ब्रह्म विज्ञायोपास्य सुप्रज्ञा प्राप्तव्या, यां बुद्धिं विद्वांसः स्वीकुर्वन्ति। तथा शिल्पयज्ञान् संसेव्य विदुषां सङ्गमेन विद्यां प्राप्य स्वतन्त्रे व्यवहारे सदा स्थातव्यम्। नहि प्रज्ञया विना कश्चित् सुखमेधते। तस्मात् सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यो ब्रह्मविद्यां बुद्धिं च दत्त्वैते सततं रक्ष्याः। रक्षिताश्चैते परमेश्वरस्य धार्मिकाणां च विदुषां प्रियाणि कर्माणि नित्यमाचरेयुः' इति भावार्थमाह। पदार्थनिरूपणे तु—'व्रतं नियमपूर्वकं धर्म्याचरणम्, अग्निर्वाचकः, ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं वाच्यम्। अग्निरभिधायकः, यज्ञोऽभिधेयः। वनस्पतिर्वनानां पालयिताग्निसंज्ञकः' इत्याह, तत्तु निर्मूलमेव, श्रुतिसूत्रादिविरोधात्।

श्रुतिसूत्रसम्मतश्च सायणादिव्याख्यातः पूर्वोक्त एवार्थः। तथाहि— 'वाचं यच्छति'(श. ३.२.२.१) इति वाङ्नियमनं विहितम्। तस्य 'तद्धैके नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसर्जयन्ति' (श. ३.२.२.५) इति केषाञ्चिद्रीत्या नक्षत्रदर्शनकाले वाग्विसर्जनमनुष्ठ्या, सम्यगित्यर्थः। तदानीं सर्वैः प्रज्ञातत्वेन सूर्योऽस्तमितो भवति। तन्मतं निराकृतम्। यदि नक्षत्राच्छादको मेघस्तदा क्व वाग्विसर्जनं कुर्युः? 'तस्माद्यत्रैवानुष्ठ्या सम्यगस्तमितं मन्येत तदेव वाचं विसर्जयेत्' (श. ३.२.२.५)। यत्र कालेऽस्तमितमनुष्ठ्या सम्यक् प्रज्ञातं मन्येत, तदैव विसर्जयेत्। एवमेव केषाञ्चिद्रीत्या भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रेण वाग्विसर्जनमनूद्य तदपि यज्ञाप्यायनसन्धानयोस्तन्मन्त्रे स्फुटाप्रतिभानात् प्रतिक्षिप्य 'अनेनैव वाचं विसर्जयेत्। व्रतं कृणुत व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञिय इत्येष ह्यस्यात्र यज्ञो भवत्येतद्धविर्यथा पुराग्निहोत्रं तद्यज्ञेनैवैतद्यज्ञꣳ संभृत्य यज्ञे यज्ञं प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञꣳ सन्तनोति संततꣳ ह्येवास्यैतद् व्रतं भवत्यासुत्यायै त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः' (श. ३.२.२.७) इति सिद्धान्तपक्षमाह—अनेन वाचं विसर्जयति, यतोऽत्र व्रतं कृणुतेति। व्रतग्रहणार्थत्वं सामर्थ्यादवसीयते। वीप्सया सूत्रानुसारेण च त्रिर्ब्रूयादित्युक्तमेव। व्रतकरणं प्रशंसति—एष हीति। एष व्रताख्यः पदार्थः, अत्र दीक्षाकाले यज्ञो भवति तथा एतद् व्रतं हविरपि भवति, यथा पुरा दीक्षादिवसात् पूर्वमग्निहोत्रमेवमिदमप्यग्निहोत्रप्रत्याम्नाय एवेत्यर्थः। तदुक्तमापस्तम्बेनापि—'न त्वेव न व्रतयेदग्निहोत्रस्याविच्छेदाय' (आप. श्रौ. १०.१६.११)। अत एव एतद्व्रताख्येन यज्ञेन प्रवर्तमानेन चिकीर्षितं ज्योतिष्टोमं यज्ञं व्रताख्यं संभृत्य एकीकृत्य तत्रैव प्रतिष्ठाप्य तं ज्योतिष्टोममेतेन विस्तारितवान् भवति। अत एतन्मन्त्रेणाभिमतयज्ञसन्धानसम्भवादयं पक्ष एव श्रेयानित्यर्थः। विहितव्रतं सुत्यापर्यन्तं कर्तव्यमित्याह—सन्ततं ह्येवास्यैतद् व्रतं भवत्यासुत्यायै। व्रतं कृणुतेति त्रिष्कृत्व आह हि यतो यज्ञस्त्रिवृत्। मन्त्रे व्रतशब्दो यजमानभोजनीयपयःपर एव। दीक्षाकाले व्रताख्यः पेयरूपः पदार्थो यज्ञो भवति, यज्ञान्तरस्य दीक्षाकाले निषेधात्। अग्निहोत्रमपि दीक्षाकाले निषिद्धम्। तत्प्रत्याम्नाय एवायमत्र यज्ञे हविरपि। एतदेव पयोरूपमेव। तदनेन व्रताख्येन यज्ञेन चिकीर्षितं यज्ञं सम्भृत्य विस्तारितवान् भवतीत्युक्तमेव।

'अथाग्निमभ्यावृत्य वाचं विसृजते। न ह स यज्ञमाप्याययति न सन्दधाति योऽतोऽन्येन वाचं विसृजते स प्रथमं व्याहरन् सत्यं वाचोऽभिव्याहरति' (श. ३.२.२.८)। वाग्विसर्जनमग्न्यभिमुखं कर्तव्यमित्याह—अथाग्निमिति। उक्तमर्थं व्यतिरेकेण प्रशंसति—अतोऽन्येनेति। अस्मान्मन्त्रादन्येन भूर्भुवःस्वरित्यनेन यो वाचं विसृजते,

---

स्वामी दयानन्द ने वनस्पति का अर्थ 'वनों का पालक अग्नि' किया है। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ में वनस्पति को स्पष्ट ही यज्ञार्ह कहा गया है, अतः वनस्पति यज्ञार्ह द्रव्य है। इससे वनों का पालक अग्नि वनस्पति है, यह मत निरस्त हो जाता है। 'व्रत का अर्थ नियमपूर्वक धर्माचरण है' यह स्वामी दयानन्द द्वारा कथित व्याख्या भी निरस्त माननी चाहिये, क्योंकि उसका श्रपण सम्भव नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में व्रत के श्रपण का विधान किया गया है। अतः श्रुतिवाक्यों तथा सूत्रनिर्देशों के विरुद्ध यह व्याख्यान उपेक्षा के योग्य है ॥११॥

स न यज्ञमाप्याययति न सन्दधाति। तस्माद् व्रतं कृणुतेत्यनेनैव मन्त्रेण वाचं विसृजेदिति ।मन्त्रपदानि व्याचष्टे—स प्रथममिति। स वाग्व्यवहारस्यादावग्निर्ब्रह्मेति ब्रुवन् सत्यमेवोक्तवान् भवति, 'सत्यं ब्रह्म' (बृ. उ. ५.४.१.) इति श्रुतेः। 'अग्निर्ब्रह्मेति। अग्निर्ह्येव ब्रह्माग्निर्यज्ञ इत्यग्निर्ह्येव यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञिय इति वनस्पतयो हि यज्ञिया नहि मनुष्या यजेरन् यद्वनस्पतयो न स्युस्तस्मादाह वनस्पतिर्यज्ञिय इति' (श. ३.२.२.९)। अत्र स्पष्टमग्निर्ह्येव ब्रह्मेत्युक्त्याग्नेर्वाचकत्वप्रत्याख्यानेनाग्नेर्ब्रह्मत्वमुक्तम्। तच्च पूर्वोक्तरीत्यैव सङ्गच्छते। ब्रह्मपदेन वेदत्रयमुच्यते। तत्साध्यत्वाद् वैदिकाग्नेर्ब्रह्मरूपत्वमेव युक्तम्। अग्नेर्यज्ञसाधनत्वात् तत्र यज्ञत्वमप्युपचर्यते। वनस्पतेर्यज्ञियत्वमपि स्पष्टमेव ब्राह्मणेनोच्यते। यदि वनस्पतयो न भवेयुस्तदा मनुष्याः साधनाभावाद् यज्ञं न कुर्युः, तस्माद्वनस्पतिर्यज्ञः। एतावता वनस्पतिर्वनानां पालकोऽग्निरिति निरस्तमेव।

'अथास्मै व्रतं श्रपयन्ति। देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति, शृतं वै देवानाꣳ हविर्नाशृतं तस्माच्छ्रपयन्ति तदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति तद्यदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति' (श. ३.२.२.१०)। व्रतपदेन यजमानभक्षणीयं पय एवेत्यत्र स्पष्टमिदं ब्राह्मणवचनं प्रमाणम्। अथास्मै यजमानाय व्रतं तद्भक्षणीयं पयः श्रपयन्ति। तेन व्रतं नियमपूर्वकधर्माचरणमिति दयानन्दोक्तं व्याख्यानं परास्तं वेदितव्यम्, तस्य श्रपणासम्भवात्। ननु यजमानो न देव इति कथं तत्पयः श्रपणीयमिति चेत्तत्राह— देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षत इति। तस्माद् दीक्षितो देवानामेको भवति। देवानां च नाशृतं हविर्भवति। तस्माच्छ्रपणीयमेव। ननु देवा अग्निमुखा भवन्तीत्यग्नावेव होतव्यमिति तत्राप्याह— एष एव यजमान एव व्रतयति पिबति नाग्नौ जुहोति। 'यज्ञेन वै देवा इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम' (श. ३.२.२.११)। आत्मन्येव होमं पुरातनवृत्तान्तेन प्रशंसति—यज्ञेन वा इति। श्रुतिस्तु व्याख्याता। प्रसङ्गान्तरे देवैराच्छादितस्यापि पयोव्रतस्य तदवगच्छद्भिः पूर्वोक्तर्षिभिः सम्भृतत्वादनेनापि संभर्तव्यमित्यपि तत्रैवोक्तम्। 'तद्वा ऋषीणामनुश्रुतमास। ते यज्ञꣳ समभरन् यथायं यज्ञः संभृत एष वा अत्र यज्ञो भवति यो दीक्षत एष ह्येनं तनुत एष एनं जनयति तद्यदेवात्र यज्ञस्य निर्धीतं यद्विदुग्धं तदेवैतत् पुनराप्याययति यदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति न हाप्याययेद्यदग्नौ जुहुयाद्। जुह्वदु हैव मन्येत नाजुह्वत्' (श. ३.२.२.१२)। ननु सर्वेषामपि हविरग्नौ हूयते, पयोऽपि हविरिति किमिदं पीयते, कुतो न हूयत इति चेत्तत्रापि दीक्षितस्याग्नित्वमुपपादयति—एव वा अत्र यज्ञोऽग्निर्भवति यो दीक्षते। कुत एतदित्याह—एष ह्येनं यज्ञं तनुते, एनं जनयतीति। अत्र यज्ञशब्देनाग्निरभिधीयते, यज्ञोत्पादकत्वात्। अतः स्वात्माग्नौ होमेन यज्ञस्य ज्योतिष्टोमस्य यन्निर्धीतं निष्पीतमनुष्ठानेन विफलम्, यच्च विदुग्धं विपरीतानुष्ठानेन विपरीतफलमङ्गम्, तत्पुनराप्यायितवान् भवति। व्यतिरेके दोषमाह—नाग्नौ जुहोत्यादिना।

'इमे वै प्राणाः मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवो वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ चक्षुरादित्यः श्रोत्रं विश्वे देवा एतासु हैवास्यैतद्देवतासु हुतं भवति' (श. ३.२.२.१३)। ननु देवताप्रीणनाभावात् कथं यज्ञबुद्धिरिति चेत्, तत्राह— इमे वा इति। वागादीनां मुख्यप्राणप्रवेशेन प्राणशब्दव्यवहारस्य इमे प्राणा वागादयो मनोजाता मनसः सकाशादुत्पन्नाः, मनोव्यतिरेकेण शब्दादिषु प्रवृत्त्यसम्भवात्। मनोयुजः, स्वस्वव्यापारेषु मनसः कर्तृत्वात्। त एव दक्षक्रतवो दक्षाः प्रवृद्धा स्वस्वोचिताः क्रतवः कर्माणि येषां ते दक्षक्रतवः। तेषां देवता विभज्य योजयति—वागेवाग्निरित्यादिना। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ.आ. २.४.२)। इन्द्रियतदभिमानिदेवतयोरभेदव्यवहारः। एतासु देवतासु प्रीणयति, तस्मादेतासु निमित्तभूतासु स्वात्मनि हुतं भवति। यद्वा अग्नौ चेदेकस्मिन्नेव हुतं भवेत्, आत्मनि तु तत्तदिन्द्रियदेवतासु

सर्वास्वपि हुतं भवति। तस्माज्जुह्वन्मन्येत। एवं यजमानस्य दीक्षितस्य यज्ञनिर्वर्तकत्वेन यज्ञरूपत्वात् तदीयवागादिषु प्राणेष्वग्न्यादिदेवतानां सत्त्वात् तत्पानेन सर्वदेवतासु तद्धुतं भवति। तद्धैके प्रथमे व्रत उभौ व्रीहियवावावपतीत्यादिना केषाञ्चिद्रीत्या व्रीहियवयोर्व्रतत्वमन्येषां व्रीहियवप्रियङ्गुगोधूमादि यच्च सुरभिपिप्पल्यादि तस्य सर्वौषधस्य व्रतत्वमुपक्षिप्य तौ पक्षौ प्रत्याख्याय पयस एव व्रतत्वं प्रशस्य 'अथास्मै व्रतं प्रयच्छति। अतिनीय मानुषं कालꣳ सायं दुग्धमपररात्रे प्रातर्दुग्धमपराह्णे व्याकृत्या एव दैवं चैवैतन्मानुषं च व्याकरोति' (श. ३.२.२.१६)। मानुषं कालमतिनीयातिक्रम्य सायं दुग्धमपररात्रे प्रातर्दुग्धमपराह्णे दैवं च मानुषं च कालं व्याकृत्य विभज्य प्रयच्छति। तदुक्तं कात्यायनेन—'व्रतं प्रयच्छत्यनुत्सिक्तमपररात्रे सायंदोहमपराह्णे प्रातर्दोहम्' (का. श्रौ. ७.४.२५)। व्रतयतीति व्रतं पयः, अनुत्सिक्तं पयो भोजनार्थं यजमानाय प्रयच्छत्यध्वर्युः। तत्र सायंदोहमपररात्रे दद्यात्, प्रातर्दोहं चापराह्णे दद्यात्। व्रतं दुग्धमल्पं दृष्ट्वा यदि कश्चित् स्नेहदयादियुक्तः पुरुषोऽन्यद् दुग्धमानीय व्रतमध्ये निनयति तदुत्सिक्तम्, तद्विपरीतमनुत्सिक्तं क्षीरान्तरेणासंसृष्टमित्यर्थः। प्रकृते चानुत्सिक्तमेव व्रतं दद्यात्।

'अथास्मै व्रतं प्रदास्यन्नप उपस्पर्शयति। दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वश इति मानुषाय वा एष पुराऽशनायावनेनिक्तेऽथात्र देव्यै धिये तस्मादाह दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वश इति स यावत्कियच्च व्रतं व्रतयिष्यन्नप उपस्पृशेदेतेनैवोपस्पृशेत्' (श. ३.२.२.१७)। अध्वर्युकारयितृकं यजमानकर्तृकमुपस्पर्शनं विधत्ते—अथास्मै व्रतं प्रदास्यन्निति। लौकिकाशनाय हस्तावनेजनव्यापृतये मन्त्रेणावनेजनं युक्तमिति तदुच्यते। तत्रापि पयोव्रतस्य दीक्षितविषयत्वेन देवाशनत्वाद् दैवीं धियमिति मन्त्रेणावनेजनं युक्तम्। प्रकरणात् पयोव्रत एव हस्तप्रक्षालनेऽयं मन्त्र इति प्राप्तिस्तथापि सर्वव्रतावनेजनसाधारणतामाह—स यावदिति। उपस्पर्शनमाचमनमिति कर्कः। उदकस्पर्शमात्रमेवेति सम्प्रदाय इति हरिस्वामी च।

'अथ व्रतं व्रतयति। ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहेति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद् भवति' (श. ३.२.२.१८)। समन्त्रकं व्रत(पयः) पानं विधत्ते— अथ व्रतमिति। एवमस्य समन्त्रकं व्रतं स्वाहाकृतत्वाद् हुतमेव भवति। मन्त्रव्याख्यानं तु तदनुगुणं कृतमेव। तस्माच्छ्रुतिसूत्रविरुद्धं व्याख्यानमुपेक्षणीयमेव ॥११॥

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः।
ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः ॥१२॥

'श्वात्राः पीता इति नाभिमालभते' (का. श्रौ. ७.४.२९)। श्वात्राः पीता इति मन्त्रेण यजमानो नाभिमालभते। अब्दैवत्या जगती। हे क्षीररूपा आपः! यूयं मया पीता सत्यः श्वात्राः क्षिप्रपरिणामाः शीघ्रं जीर्णा भवत। 'श्वात्रमिति क्षिप्रनामसु' (निरु. ५.३)। किञ्चास्माकं पीतवतामन्तरुदरे जलपाकस्थाने सुशेवाः शोभनसुखाः, भवतेत्यनुवर्तते।

मन्त्रार्थ— हे दुग्धरूप जलदेवता! पीये जाने पर तुम शीघ्र जीर्ण (पच) हो जाओ। हम पीने वालों के उदर में सुखकारी, सभी रोगों को दूर करने वाले, भूख-प्यास आदि को मिटाने वाले, यज्ञ को समृद्ध करने वाले, मृत्यु को दूर करने वाले, मरण-रहित तुम हमारे लिये स्वादयुक्त बनो॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान अपनी नाभि का स्पर्श करता है ॥१२॥

भाष्यसार — कात्यायन श्रौतसूत्र (७.४.३०) के याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'श्वात्राः पीताः' इस कण्डिका से यजमान नाभि का स्पर्श करता है। तदनुसार इस मन्त्र का जलदेवतापरक अर्थ किया गया है।

'शेवमिति सुखनामसु' (निरु. १०.१७)। तास्तथाविधा आपोऽस्मभ्यमस्मद्धितार्थं स्वदन्तु स्वादुत्वयुक्ता भवन्तु। कथंभूतास्ताः? अयक्ष्माः प्रबलरोगविशेषरहिताः, अनमीवा अल्पेन रोगसामान्येनापि रहिताः, अनागसो निष्पापा निरुपद्रवा देवीः देवेभ्यो शरीरादिपुष्टिहेतुत्वेन द्योतमाना अमृता अपमृत्युरहिता ऋतावृध ऋतं यज्ञं वर्धयन्तीति ऋतावृधः, यज्ञपोषिका इत्यर्थः। यद्वा देवीरिति द्वितीयान्तं पदम्। एतत्पदसामानाधिकरण्यात्तु ता इत्यादीन्यपि द्वितीयान्तान्येव पदानि। ता युष्मान् अस्मभ्यमस्मदर्थमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु आस्वादयन्तु। अमृता ऋतावृधः प्राणाः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वाण्यपि वस्तूनि सर्वशेषिणो भगवतः शेषभूतान्येवेति तदधिगमतद्भक्तितत्सेवौपयिकत्वेनैव सर्वेषां साफल्यम्। शरीरस्थितिरपि भगवद्भक्तिसदुपयोगेनैवेप्सिता। तथैव जलान्नादिकमपि तदर्थमेवोपयोगीति तदाह—हे आपः! आप्नुवन्तीत्यापः, यूयं पीताः सत्यः श्वात्राः क्षिप्रविपरिणामा जीर्णाः, अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः शोभनसुखा भगवद्भक्त्युपयोगिस्वास्थ्यसम्पादिका भवत। 'शेवमिति सुखनामसु' (निरु.१०.१७)। सुखशोभनत्वमिदमेव यद् भगवत्सम्बन्धित्वम्। वैषयिकसुखस्य विषवत् त्याज्यत्वोक्त्याऽशोभनत्वमेव, 'मोक्षमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज' इत्यभियुक्तोक्तेः। किञ्चास्माकं हिताय भगवत्परायणतायै स्वदन्तु स्वादुत्वादिगुणविशिष्टा भवन्तु। अयक्ष्मा प्रबलरोगशून्याः, अनमीवाः सामान्यरोगनिवर्तिकाः, अनागसोऽपराधहारिण्यः, ऋतावृध ऋतं सत्यं ध्यानज्ञानादिलक्षणं यज्ञं वर्धयन्तीति ऋतावृधः, देवीः देव्यो द्योतमाना भगवत्सुखप्रकाशिकाः, अमृता अमरणहेतवो भगवत्प्रापणेन मरणनिवर्तिका भवन्तु।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, या अस्माभिः पीता अस्माकमन्तरुदरेऽस्मभ्यं श्वात्राः सुशेवा अयक्ष्मा अनमीवा अनागस ऋतावृधोऽमृता देवीः देव्यस्ता भवन्तः स्वदन्तु सुसेवन्ताम्। तदेतदनुष्ठाय यूयं सुखिनो भवत। श्वात्रं प्रशस्तं विज्ञानं धनं वा विद्यते यासां ताः, अर्शआद्यच्। 'श्वात्रं पदनामसु पठितम्' (निघ. ४.२.१४), 'धननामसु च' (निघ. २.१०.६) इति, तदसङ्गतमेव, स्वसिद्धान्तव्याकोपात्। तथाहि त्वद्रीत्या अपां जडत्वेन तासु विज्ञानाभावेन सुतरामसङ्गतिः। प्रशस्तज्ञानस्य तु तत्र का कथा? तासु प्रशस्तं धनमपि न सम्भवति, अन्यथा जलस्य सौलभ्याद् धनसौलभ्यमपि स्यात्। तस्मात् क्षिप्रपरिणामा इत्येवार्थः। अपां सेवनं जीवनहेतुत्वादनिवार्यमेवेति रागप्राप्तत्वात् तद्विधानं व्यर्थमेव स्यात्।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है — समस्त वस्तुएं भगवदवयवभूत हैं। अतः भगवत्सेवा के द्वारा ही सबकी सफलता है। इस आशय से कहा गया है कि हे व्यापनशील जलधाराओं, आप पीने पर शीघ्र पचनशील होकर हमारे उदर के अन्तर्गत सुखकर भगवद्भक्ति की सम्पादिनी हों तथा रोगशून्य,रोगनिवर्तक,दोषहारक,सत्य एवं यज्ञ की परिवर्धक,भगवत्सुख की प्रकाशक,अमृतत्वप्रापक होकर स्वादुत्वादि गुणविशेष से युक्त हों।

स्वामी दयानन्द ने 'श्वात्राः' का अर्थ प्रशस्त विज्ञान अथवा धनवाली किया है,वह असंगत है,क्योंकि इससे स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त का ही खण्डन होता है। उनके मत में जल के जड होने के कारण उसमें ज्ञान का अभाव होने से इस अर्थ की कथमपि संगति नहीं है। उस मत में प्रशस्त ज्ञान की तो बात ही नहीं हो सकती। जल में प्रशस्त धन की संभावना भी नहीं है। अन्यथा जल की प्राप्ति से धन की प्राप्ति भी कही जायगी। अतः 'श्वात्राः' का अर्थ शीघ्र पचनशील ही ठीक है। शतपथ ब्राह्मण में भी हमारे सिद्धान्त से सम्मत व्याख्यान ही उपदिष्ट है॥१२॥

शतपथे तु सिद्धान्तसम्मतमेव व्याख्यानं समर्थितम्। 'अथ व्रतं व्रतयित्वा नाभिमुपस्पृशते श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवास्ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृध इति देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवत्यनुत्सिक्तं वै देवानाꣳ हविरथैतद् व्रतप्रदो मिथ्याकरोति व्रतमुपोत्सिञ्चन् व्रतं प्रमीणाति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्या कृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह श्वात्राः पीता भवत यूयमापो. . . . . इति स यावत्किंच्च व्रतं व्रतयित्वा नाभिमुपस्पृशेदेतेनैवोपस्पृशेत् कस्तद्वेद यद् व्रतप्रदो व्रतमुपोत्सिञ्चेत्' (श. ३.२.२.१९)। समन्त्रकनाभ्युपस्पर्शनस्य विधानं तत्प्रयोजनं चाह—अथ व्रतं व्रतयित्वेति। देवार्थस्य हविषः स्कन्दनायोग्यत्वाद् दीक्षितस्यापि देवत्वाद् व्रतप्रदानेऽप्यध्वर्योः प्रमादात् स्कन्दनादेः सम्भवाद् यज्ञदोषः सम्भाव्येत, तस्यायं मन्त्रः प्रायश्चित्तमित्यर्थः। अस्मिन् मन्त्रे पयसामितस्ततः पतनराहित्येन शीघ्रपीतत्वस्योदरान्तःप्रवेशस्य च प्रार्थितत्वादुदकोपस्पर्शनमन्त्रवत् तन्नाभ्युपस्पर्शनमन्त्रस्यापि सर्वव्रतसाधारण्यमाह—स यावत्कियदिति। नाभ्युपस्पर्शनात्मकप्रायश्चित्तमन्त्रस्य सर्वत्र कर्तव्यत्वे कारणमाह—कस्तदिति। उपोत्सिञ्चेत् सर्वतो विकिरेत् ॥१२॥

इ॒यं ते॑ य॒ज्ञिया॑ त॒नूर॒पो मु॑ञ्चामि॒ न प्र॒जाम्। अ॒ꣳहो॒मुचः॒ स्वाहा॑कृताः पृथि॒वीमावि॑शत पृथि॒व्या सम्भ॑व ॥१३॥

'मेक्ष्यन् कृष्णविषाणया लोष्टं किञ्चिद्वादत्त इयं त इति' (का. श्रौ. ७.४.३०)। मूत्रं करिष्यन् शृङ्गेण लोष्टं किञ्चिद्वा तृणादिकं वा गृह्णाति। हे यज्ञपुरुष! इयं पृथिवी ते तव यज्ञिया तनूः यज्ञार्हो देहः, अतोऽस्या मूत्रोपहतिपरिहाराय व्यवधानं कर्तुं लोष्टं तृणं वा स्वीकरोमि। यद्वा पृथिवी प्रोच्यते इयं तव यज्ञिया तनूः, तामाददे इति शेषः। 'अपो मुञ्चामीति मेहति' (का. श्रौ. ७.४.३१)। अपो मुञ्चामीति मेहतीत्यस्यां लोष्टव्यवहितायां पृथिव्यामपो मूत्ररूपा अहं मुञ्चामि न प्रजां प्रजोत्पत्तिनिमित्तं रेतो मुञ्चामि। हे आपः! मूत्ररूपा यूयं पृथिवीमाविशत प्रविशत। कीदृश्यः? अंहोमुचः अंहसः पापाद् मुञ्चन्ति पुरुषं पृथक्कुर्वन्तीति। स्वाहाकृताः पूर्वं क्षीरपानकाले स्वाहेति मन्त्रेण स्वीकृताः, अथवा स्वाहाकृताः सत्यो भूमिमाविशत। 'पृथिव्या सम्भवेत्यात्तं निदधाति' (का. श्रौ. ७.४.३२)। गृहीतलोष्टादिकं मूत्रणस्थाने क्षिपेत्। हे लोष्टादिक! पृथिव्या सह त्वं सम्भव एकीभव। 'अथ यत्र मेक्ष्यन् भवति। तत्कृष्णविषाणया लोष्टं वा किञ्चिद्वोपहन्तीयं ते यज्ञिया तनूरितीयं वै पृथिवी देवी देवयजनी सा दीक्षितेन नाभिमिह्या तस्या एतदुद्गृह्यैव यज्ञियां तनूमथायज्ञियꣳ शरीरमभिमेहत्यपो मुञ्चामि न प्रजामित्युभयं वा अत एत्यापश्च रेतश्च स एतदप एव मुञ्चति न प्रजामꣳहोमुचः स्वाहाकृता इत्यꣳहस इव ह्येता मुञ्चन्ति यदुदरे गुण्ठितं भवति तस्मादाहाꣳहोमुच इति स्वाहाकृताः

मन्त्रार्थ— हे यज्ञपुरुष! यह पृथ्वी तुम्हारे लिये शरीर का काम करती है, अतः इसकी अपवित्रता को दूर करने के लिये मैं मिट्टी के ढेले या तृण को ग्रहण करता हूँ। मैं मूत्ररूप जल को छोड़ता हूँ। हे मूत्ररूप जल! तुम अशुचि हो। दूध पीते समय स्वाहा मन्त्र से स्वीकृत तुम पृथ्वी में प्रवेश करो। हे लोष्ट आदि, तुम पृथ्वी के साथ एक रूप हो जाओ॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान हिरण के सींग से मिट्टी या तृण को ग्रहण कर अपवित्र भूमि पर डालता है ॥१३॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.४.३१-३३) में 'इयं ते' इत्यादि मन्त्रों में सोमयाग में दीक्षित यजमान की दैहिक जलोत्सर्जन शंका के निवारणहेतु विनियोगविधान का निर्देश किया गया है।

पृथिवीमाविशतेत्याहुतयो भूत्वा शान्ताः पृथिवीमाविशतेत्येवैतदाह' (श. ३.२.२.२०)। दीक्षितस्य मूत्रोत्सर्गे विशेषमाह—अथ यत्रेति। यत्र प्रदेशे मेक्ष्यन् मूत्रसेकं करिष्यन् भवति, तत्र किञ्चिद्वा लोष्टाभावे तत्सम्बन्धि मृदादिकं कृष्णविषाणया उपहन्ति उपाददीत लोष्टं वा किञ्चिद्वा। मन्त्रमाह—इयं त इति। व्याचष्टे— इयं वा इति। पृथिव्या देवयजनार्हत्वं कृतवान् भवति। मेहनमन्त्रमाह—अपो मुञ्चामीति। अंहोमुच इति देहान्तर्गतेन पापेन सहैवैता मूत्ररूपा अपो मुञ्चन्तीति तस्मादंहोमुच इति पठेत्।

अध्यात्मपक्षेऽपि—सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मरूपत्वमभिप्रेत्य न साक्षात्पृथिव्यामपां विमोकः, पृथिव्या ब्रह्मरूपत्वात्, किन्तु लोष्टादिव्यवहितायामेवापो मूत्ररूपा मुञ्चामि। हे आपः! अंहोमुचः, अंहसः सकाशात्पुरुषं मुञ्चन्ति पृथक्कुर्वन्ति स्वाहाकृताः स्वाहाकारेण ज्योतिष्टोमादौ व्रतरूपा यजमानेन स्वाहेति मन्त्रेण स्वीकृता यूयं पृथिवीमाविशत, हे लोष्टादिक! पृथिव्या सहैकीभव। यद्वा आप्नुवन्तीत्यापो व्यापकब्रह्मविवर्तत्वेन ब्रह्मरूपाः।

दयानन्दस्तु—'इयं वक्ष्यमाणा ते तव यज्ञिया यज्ञमर्हति सा यज्ञिया तनूः शरीरम् अपः संस्कृतजलानि मुञ्चामि प्रक्षिपामि, न प्रजाम्। अंहोमुचो दुःखमोचयित्र्यः स्वाहाकृता यत्क्रियया सुसंस्कृताः क्रियन्ते ताः। पृथिवीं भूमिम् आसमन्ताद् विशत। पृथिव्या भूम्या सह सम्भव सम्पद्यस्व। हे विद्वन्, यथा ते येयं यज्ञिया तनूरपः प्राणान् प्रजां पालनीयां न त्यजति यं त्वं न मुञ्चसि, तथैवाहमेता ईदृशं स्वशरीरं च न मुञ्चामि न त्यजामि। हे मनुष्याः, यथा यूयं पृथिव्या सह सम्भवतांहोमुचः स्वाहाकृता अपः पृथिवीं चाविशत विज्ञानेनासमन्तात् प्रवेशं कुरुताहं च सम्भवाम्याविशामि च, तथा त्वमपि सम्भव चाविश' इति, हिन्दीभाष्ये च— 'हे विद्वन्, यथा ते इयं यज्ञिया तनूः यज्ञयोग्यो देहः, अपो जलं प्राणान् प्रजां वा न त्यजसि रक्षसि, तथैवाहं मदीयं शरीरं पूर्णमायुर्भोगमन्तरा मध्य एव प्रमादेन न मुञ्चामि। हे मनुष्याः, यूयं पृथिव्या भूम्या वैभवेन युक्ताः सन्तः, अंहोमुचो दुःखमोचयितृभ्यः स्वाहाकृता वाण्या सिद्धा अपो भूमिं च आविशत अहं चैश्वर्यसहित इमान् प्रविशामि, तथैव त्वमपि सम्भव प्रविश च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तशतपथवचनविरुद्धत्वात् अनुपपत्तेश्च। नात्र परमेश्वरो वक्ता, तस्याशरीरत्वात्। न जीवः, समत्वात्। हे विद्वन्निति सम्बोधनेन विद्वानुपदेश्यः प्रतीयते, उपदेष्टुश्चातथात्वं ज्ञायते। न च विद्वानुपदेष्टव्यो वैदुष्यादेव। नहि यज्ञियैव तनूः प्राणान् प्रजां च न त्यजति, किन्त्वयज्ञियापि तथैव। न च केचिज्जलं पृथिवीं प्रविशमाना उपलभ्यन्ते, न वा तदनुकुर्वाणा केचित्तथाभूता दृश्यन्ते, उपपद्यते वा ॥१३॥

इस कण्डिका का आध्यात्मिक पक्ष में इस प्रकार अर्थ है—समस्त विश्वप्रपञ्च की ब्रह्मरूपता मानने पर पृथ्वी के भी ब्रह्मरूप होने के कारण साक्षात् पृथ्वी पर जलोत्सर्ग नहीं किया जाता, अपि तु लोष्ट (ढेला) आदि का व्यवधान रखते हैं। हे जल, पाप से पुरुष को मुक्त करने वाले, यज्ञों में यजमान के द्वारा स्वाहा-मन्त्रों से परिगृहीत आप पृथिवी में प्रविष्ट हों। तथा हे लोष्टादि द्रव्य, आप सब पृथिवी से संयुक्त हों।

स्वामी दयानन्द ने भाष्य तथा हिन्दी व्याख्या में जो अर्थ किया है, वह शतपथ ब्राह्मण से विरुद्ध होने के कारण तथा संगति न रहने के कारण समीचीन नहीं है। इनके मत में परमेश्वर शरीररहित होने के कारण वक्ता नहीं हो सकता। समान होने के कारण जीव भी वक्ता नहीं हो सकता। 'हे विद्वन्' इस प्रकार विद्वान् को उपदेश देना उसके वैदुष्य रहने पर उचित नहीं है। स्वामी दयानन्द के अर्थानुसार जल और पृथ्वी में प्रविष्ट होते हुए कोई उपलब्ध नहीं होते। उनका अनुकरण करने वाले भी इस प्रकार के व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होते। यह अर्थ संगत भी नहीं है॥१३॥

अग्ने त्वᳬ सुजागृहि वयᳬ सुमन्दिषीमहि।
रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥१४॥

'अग्ने त्वमित्युक्त्वा स्वपित्यधः प्राङ् दक्षिणत इति' (का. श्रौ. ७.४.३३)। अग्निदेवत्याऽनुष्टुप्। हे अग्ने, त्वं सुजागृहि निद्राणस्य मम भयपरिहाराय सुष्ठु विनिद्रो भव। वयं यष्टारः सुमन्दिषीमहि साधु स्वप्स्यामः। मन्दति स्वापार्थः। स्वापविघाते सति मोदस्याभावादेवं प्रार्थना। अप्रयुच्छन्नप्रमाद्यन् नो रक्ष अस्मान् पालय। युच्छतिः प्रमादार्थः। नोऽस्माकं प्रबुधे प्रबोधाय पुनस्कृधि भूयोऽपि कुरु, प्रयत्नमिति शेषः, 'अग्निमेवाधिपं कृत्वा स्वपिति रक्षसामपहत्यै' (तै. सं. ६.१.४.६) इति श्रुतेः। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा. सू. ८.४.२७) इति नस्य णत्वम्। नोऽप्रयुच्छन्नित्यत्र 'एङः पदान्तादति' (पा. सू. ६.१.१०९) इति पूर्वरूपे प्राप्ते 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा. सू. ६.१.११५) इति प्रकृतिभावः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं नोऽस्माकं रक्षणाय सुजागृहि विनिद्रो भव। सदा सावधानोऽपि परमेश्वरः स्वात्मरक्षणाय तज्जागरणाय प्रार्थ्यते। येन मद्रक्षणाय त्वत्कर्तृकजागरणेन च वयं सुमन्दिषीमहि निर्भयं सुखं शयीमहि, 'यस्याङ्के शिर आधाय लोकः स्वपिति निर्वृतः' (भा. पु. ६.२.५) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। अप्रयुच्छन् सावधानः, नोऽस्मान् रक्ष पालय। दैन्यातिशयात् सावधानेऽप्रमत्तेऽपि भगवति सावधानतायै प्रार्थना भवति। यथोक्तमभियुक्तैः— 'या त्वरा द्रौपदीत्राणे या त्वरा गजमोक्षणे। मय्यार्ते करुणामूर्ते सा त्वरा क्व गता हरे ॥' इति। यथा वा केनचिद् भाषाकविना—'बाण सेरान कि सिंह हेरान कि ध्यान धरे प्रभु को जपती हो। की कहुँ सेवक कष्ट परो तँह अष्टभुजा बल दे लड़ती हो। सिंह चढ़े देवी छत्र विराजत लाल ध्वजा रण में फिरती हो।- - - मोंहि पुकारत देर भयी जगदम्ब विलम्ब कहाँ करती हो ॥' अर्थात् किं बाणा समाप्ताः कि व सिंहो(वाहनम्)ऽपगतो ध्याने वा संलग्ना क्वचिदार्तत्राणे वा दत्तचित्तासि, कुतो मद्रक्षणे विलम्ब इति। हे परमेश्वर, स्वापकालेऽस्मान् रक्ष पालय सर्वतो भयात् प्रबोधाय जागरणाय पुरुषार्थसाधनोद्योगाय पुनः कृधि कुरु, प्रयत्नमिति शेषः।

दयानन्दस्तु—अग्ने त्वमिति योऽग्निः प्रबुधे जागरिते नोऽस्मान् सुजागृहि सुजागरयति, येन वयं सुमन्दिषीमहि शयीमहि, अप्रयुच्छन्नोऽस्मान् रक्ष रक्षति प्रयुच्छतश्च हिनस्ति, यो नोऽस्मान् पुनरेवं कृधि करोति, सोऽस्माभिर्युक्त्या

मन्त्रार्थ— हे अग्निदेवता! आप भली प्रकार जागिये, जिससे कि हम सुखपूर्वक सो सकें। हमारे सो जाने पर हमारी चारों तरफ से आप सावधानी से रक्षा कीजिये और उचित समय पर हमें जगा दीजिये॥ इस मन्त्र से यजमान आहवनीय अग्नि के दक्षिण में उत्तर या पूर्व में सिर करके अग्नि की अपेक्षा नीची भूमि में सोवे ॥१४॥

भाष्यसार— याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार सोमयागकर्ता यजमान रात्रि में भूमि पर शयन करने से पूर्व 'अग्ने त्वम्' इस ऋचा का पाठ करे। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.४.३९) के इस विनियोग से संमत अर्थ ही शतपथ ब्राह्मण में भी निर्दिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है — हे परमेश्वर अग्निदेव! आप हमारी रक्षा के लिये भलीभांति जाग्रत् हो जाइये, जिससे हम लोग निर्भय होकर सुखपूर्वक शयन करें। श्रीमद्भागवत (६.२.५) के वचन से भी यह प्रार्थना संमत है। हे देव, सावधान होकर हमारी रक्षा करें। यहां दैन्य के अतिशय के कारण सर्वदा सावधान तथा प्रमादशून्य भगवान् के प्रति भी सावधान रहने के लिये प्रार्थना की गई है। हे परमेश्वर, हमारे सर्वविध भय से प्रबोधन-हेतु पुरुषार्थ के साधन-हेतु उद्योग के लिये पुनः प्रयत्न करें।

स्वामी दयानन्द के संस्कृत भाष्य एवं हिन्दी अर्थ दोनों ही मन्त्र के अनुसार न होने के कारण ठीक नहीं हैं। जागरण हो जाने पर अग्नि द्वारा कर्ता के जागरण के लिये किया गया व्यापार निरर्थक हो जायगा। 'अप्रयुच्छन्' यह रक्षक का विशेषण है।

सम्यक् सेवनीयः' इति। हिन्दीभाष्ये तु—'हे अग्ने, यस्त्वं प्रबुधे जागरणसमये सम्यग् जागरयति यतो वयं जगत्कर्मानुष्ठातार आनन्दपूर्वकं शयीमहि, अप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन् प्रमादरहितानस्मान् रक्ष रक्षति, प्रमादसहितान् नो हिनस्ति, यश्चास्माभिः सार्धं पुनः पुनरेवं व्यवहरति, स युक्त्यास्माभिः सेवनीयः' इति, तदुभयं यत्किञ्चित्, मन्त्राननुसारित्वात्। जागरणे जाते सत्यग्निप्रयोजककर्तृजागरणानुकूलव्यापारस्य निरर्थकत्वात्। 'येन वयं सुमन्दिषीमहि' इत्यत्रापि येनेत्यंशोऽश्रौत एव। 'अप्रयुच्छन्' इति रक्षकस्य विशेषणम्। तेनाप्रयुच्छतो रक्षसि प्रयुच्छतो हिनस्तीत्येतदश्रौतमेव व्याख्यानम्, वालाग्रशतभागोऽपि न कल्प्यो ह्यप्रमाणकः' इत्यभियुक्तोक्तेः।

शतपथे तु सिद्धान्तानुसारि व्याख्यानमेव समर्थितम्। तथाहि—'अथाग्नये परिदाय स्वपिति। देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति न वै देवाः स्वपन्त्यनवरुद्धो वा एतस्यास्वप्नो भवत्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्मा एवैतत्परिदाय स्वपित्यग्ने त्वꣳ सुजागृहि वयꣳ सुमन्दिषीमहीत्यग्ने त्वं जागृहि वयꣳ स्वप्स्याम इत्येवैतदाह रक्षाणो अप्रयुच्छन्निति गोपाय नोऽप्रमत्त इत्येवैतदाह प्रबुधे नः पुनस्कृधीति यथेतः सुप्त्वा स्वस्ति प्रबुद्ध्यामहा एवं नः कुर्वित्येवैतदाह' (श. ३.२.२.२२)। अत्र स्पष्टं दीक्षितस्य स्वापकालेऽग्नये परिदानमुक्तम्। परिदानं हि रक्षणार्थं दानम्। यो दीक्षते स देवानुपावर्तते। अतः स दीक्षितो देवतानामेको भवति। न वै देवाः स्वपन्ति।अतोऽनवरुद्ध एतस्यास्वप्नो भवति। अग्निर्वै देवानां व्रतपतिरिति तस्मै अग्नये रक्षणार्थं दत्त्वायं स्वपिति।तदनेन मन्त्रेण परिदानमुच्यते। मन्त्रपदानि व्याचष्टे श्रुतिः। तत्र प्रथमभागस्य तात्पर्यमाह—अग्ने त्वं जागृहि वयं स्वप्स्याम इति। अप्रयुच्छन्नित्यस्य तात्पर्यमल—गोपाय नोऽप्रमत्त इति। नात्राप्रमत्तस्य रक्षणं प्रमत्तस्य हिंसनं वोक्तम्। प्रबुधे नः पुनस्कृधीत्यस्य तात्पर्यमाह—यथेतः सुप्त्वा स्वस्ति प्रबुध्यामहा एवं कुर्वित्येवैतदाहेति। इतोऽस्मात् स्थानात् स्वापानन्तरं स्वस्ति क्षेमेण ज्वरशिरोव्यथादिराहित्येन यथा प्रबुद्ध्यामहे तथा कुर्विति मन्त्रभाग आहेत्यर्थः। तस्माद्यथाव्याख्यात एवार्थः ॥१४॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥१५॥

'अग्निमभ्यावृत्तं विबुद्धमस्वप्स्यन्तं पुनर्मन इति वाचयति' (का. श्रौ. ७.४.३४-७.५.१)। अग्निमभ्यावृत्तो बुद्धश्च यजमानो यदि पुनर्न स्वपितुमिच्छति, तदा पुनर्मन इति मन्त्रं वाचयेत्। मन्त्रार्थस्तु— मे मम यजमानस्य

अतः अप्रमत्त की रक्षा करते हो तथा प्रमाद करने वाले की हिंसा करते हो, यह व्याख्या श्रुतिवाक्य से विपरीत है। जब कि प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि वाल के अग्र भाग के सौवें हिस्से की भी प्रमाणरहित कल्पना नहीं करनी चाहिये। शतपथ श्रुति में तो हमारे सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या ही समर्थित है ॥१४॥

मन्त्रार्थ— मेरा मन सुषुप्ति काल में विलीन होकर जागने पर फिर शरीर में आ गया, स्वप्न में नष्टप्राय हुई आयु फिर प्राप्त हुई, वही प्राण फिर प्राप्त हुए, मेरा जीवात्मा फिर प्राप्त हुआ, मेरी चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियां फिर प्राप्त हुईं। सब मनुष्यों का उपकारक, अविनाशी हमारे शरीर का रक्षक ईशानाग्नि निन्दित पाप से हमारी रक्षा करे॥ जागने के बाद यजमान इस मन्त्र को पढ़ता है ॥१५॥

भाष्यसार—यजमान के उठ जाने पर पुनः न सोने की स्थिति में 'पुनर्मनः' इस मन्त्र के वाचन का विधान कात्यायन श्रौतसूत्र (७.४.३५) में किया गया है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार ही शतपथ ब्राह्मण में मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

मनः पुनरागन् सुषुप्तिकाले स्वकारणेऽज्ञाने विलीय पुनरिदानीं शरीरे आगतम् 'मो नो धातोः' (पा. सू. ८.२.६४) इति मकारस्य नकारः। किञ्च, स्वापकाले मे मदीयमायुर्नष्टप्रायं भूत्वा पुनरागन् पुनरुत्पन्नमिवासीत्। तथा मे चक्षुः पुनरागन् तथा मे श्रोत्रं पुनरागन् तथा मे प्राणो घ्राणेन्द्रियं पुनरागन् न प्राणः। श्रुतौ तु प्राण इत्येव पाठः। किन्तु प्राणानामपगमे पुनः शरीरे तदप्रवेशात् प्राणपदेन घ्राणेन्द्रियमेव ग्राह्यम्। तथा मे आत्मा बुद्धिः पुनरागन्। एवं सर्वेष्वागतेष्वत ऊर्ध्वमग्निरवद्याद् जिह्वया वदितुमयोग्याद् निन्दिताद् दुरितात् पापाद् मा पातु मां पालयतु। कीदृशः सोऽग्निः? वैश्वानरः, विश्वान् नृणाति नयतीति विश्वानरः, स एव वैश्वानरः। विश्वेषां नराणामुपकारको वा, तदुपलक्षितः परमात्मा। 'नरे संज्ञायाम्' (पा. सू. ६.३.१२९) इति दीर्घः। अदब्धः केनापि हिंसितुमशक्यः। तनूपा अस्मदीयशरीरस्य पालकः सर्वतनूनां पालको वा।

अध्यात्मपक्षे—अनेन मन्त्रेणात्मनो मनआदिभ्यो भिन्नत्वं बोध्यते, तेषां गमनागमनशीलत्वादात्मनश्चानागन्तुकत्वात्। वैश्वानरः समष्टिप्रपञ्चाभिमानी अग्निरग्रणीर्देवः परमात्माऽवद्याद् दुरितात् पातकाद् दुरितं पुण्यपापलक्षणं कर्म। बन्धनहेतुत्वात् पुण्यमपि दुरितमेव। तद्धेतोरज्ञानात् पातु। ब्रह्मात्मसाक्षात्कारप्रदानेन पातु रक्षतु।

दयानन्दस्तु—'पुनः शयनानन्तरं मरणानन्तरं वा द्वितीये जन्मनि वा मनो विज्ञानसाधनमायुर्जीवनम्, आगन् प्राप्नोति। पुनः प्राणः शरीरधारकः पुनरात्मा अतति सर्वत्र व्याप्नोतीति सर्वान्तर्यामी परमात्मा स्वस्वभावो वा मे मह्यम् अभित आगन् प्राप्नोति, पुनः चक्षुश्चष्टे येन तद्रूपग्राहकमिन्द्रियम्, श्रोत्रं शृणोति शब्दान् येन तत्, शब्दग्राहकमिन्द्रियमागन्, वैश्वानरः शरीरनेता जाठराग्निः सर्वस्य नेता परमेश्वरो वा अदब्धो हिंसितुमनर्हः, तनूपा यः शरीरमात्मानं च रक्षति, अग्निरन्तस्थो विज्ञानस्वरूपो नः पातु दुरितात् पापजन्यात् प्राप्तव्याद् दुःखाद् दुष्कर्मणो अवद्यात् पापाचरणात्। यस्य सम्बन्धेन कृपया वा मह्यं पुनर्जागरणे पुनर्जन्मनि वा आयुः पुनरागन्, सोऽदब्धो नोऽवद्याद् दुरितात् पातु' इति, तदप्यसङ्गतमेव, यस्य प्रसादात् कृपया वेत्यंशस्य मन्त्रासंस्पर्शित्वात्। आत्मा आगन् इत्यत्रात्मशब्दस्यान्तर्याम्यर्थकत्वेऽसङ्गतिः, व्यापकस्यागमनायोगात्। दुरितशब्दस्य पापार्थकत्वं दुष्टकर्मार्थकत्वं वा प्रसिद्धम्। दुःखार्थकत्वं तु लाक्षणिकमेव, तन्न युक्तम्, सम्भवति मुख्यार्थत्वे लक्षणायां बीजाभावात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च। कात्यायनादिभिर्यजमानस्य पुनरस्वापेच्छायामयं मन्त्रो यजमानवाचने विनियुक्तः।

शतपथे च—'अथ यत्र सुप्त्वा पुनर्नावनिद्रास्यन् भवति। तद्वाचयति। पुनर्मनः - - - पुनः श्रोत्रं म आगन्निति। सर्वे ह वा एते स्वपतोऽपक्रामन्ति प्राण एव न तैरेवैतत् सुप्त्वा पुनः सङ्गच्छते तस्मादाह पुनर्मनः पुनरायुर्म

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है — इस मन्त्र के पूर्वार्ध द्वारा आत्मा की मन आदि इन्द्रियों से भिन्नता बताई गई है, क्योंकि इन्द्रियां गमनागमनशील हैं और आत्मा अनागन्तुक (स्थायी) है। वैश्वानर, अर्थात् समष्टि प्रपंच का अभिमानी अग्रणी देव परमात्मा निन्दित पातकादि बन्धनकारक कर्म से अथवा बन्धन के कारणभूत अज्ञान से रक्षा करे।

स्वामी दयानन्द द्वारा अभिहित अर्थ असंगत है, क्योंकि आत्मा प्राप्त हुई है इस प्रकार आत्मशब्द की 'अन्तर्यामी' इस अर्थ में व्यापक तत्त्व की गमन परिस्थिति न रहने के कारण संगति नहीं हो सकती। दुरित शब्द का अर्थ पाप अथवा दुष्ट कर्म प्रसिद्ध है, दुःख अर्थ तो लाक्षणिक है। मुख्य अर्थ के सम्भव होने पर लक्षणा करने में कोई हेतु नहीं है। श्रुतिवाक्यों तथा सूत्रविधान के विरुद्ध होने के कारण भी यह असंगत है। कात्यायन आदि आचार्यों ने यजमान की पुनः न सोने की इच्छा (अर्थात् पूर्ण जागरण की परिस्थिति) में इस मन्त्र का यजमान द्वारा वाचन में विनियोग किया है ।।१५ ॥

····दुरितादवद्यादिति तद्यदेवात्र स्वप्नेन वा येन वा मिथ्याकर्म तस्मान्नः सर्वस्मादग्निर्गोपायत्वित्येवैतदाह तस्मादाह वैश्वानरो ···· दुरितादवद्यादिति' (श. ३.२.२.२३)। दीक्षितस्य स्वापानन्तरं प्रबोधे सति पुनर्निद्राया अप्राप्तौ तदा समन्त्रकं जपं विधत्ते— अथ यत्रेति । यत्र यस्मिन् काले सुप्त्वा पुनर्नावद्रास्यन् भवति पुनर्न स्वप्स्यन् निद्राणो भवति, तत् तदा मनआदेः पुनःप्राप्तिसमर्थनाय तदपगमनप्रसक्तिं प्रदर्शयति— सर्वे ह वा इति। एते स्वपतः पुरुषस्य मनआ-दयोऽपक्रामन्ति, प्राण एव नापक्रामतीति शेषः, प्राणस्यापि गमने सर्वात्मना मृतिप्रसङ्गात्। मन्त्रे प्राणशब्दो घ्राणेन्द्रियपरः। आत्मा बुद्धिर्न जीवात्मा परमात्मा वा, जीवतस्तदपगमासम्भवात्। द्वितीयभागस्य तात्पर्यमाह—स्वप्नेन साधनेन येन वाऽन्येन्द्रियद्वारा मलनिर्गमनादिनिमित्तेन मिथ्या अशास्त्रीयं कृतवन्तः स्म, तस्मात् सर्वस्मान्नोऽग्निर्गोपायतु ॥१५॥

त्वम॑ग्ने व्रत॒पा अ॑सि दे॒व आ मर्त्ये॒ष्वा। त्वं य॒ज्ञेष्वीड्यः॑। रास्वेय॑त् सो॒मा भूयो॑ भर दे॒वो नः॑ सवि॒ता वसो॑र्दा॒ता वस्व॑दात्॥१६॥

'त्वमग्न इत्याह क्रुद्ध्वाऽव्रत्यं वा व्याहृत्य' (का. श्रौ. ७.५.२)। यजमानः क्रोधं कृत्वा व्रतविरुद्धमश्लीला-दिकं व्याहृत्य वा त्वमग्न इति मन्त्रं प्रायश्चित्तार्थं पठेत्। मन्त्रार्थस्तु—हे अग्ने ! देवो द्योतनात्मकस्त्वम् आमर्त्येषु मनुष्यपर्यन्तेषु सर्वत्र प्राणिषु व्रतस्य कर्मणः पालकोऽसि। यद्वा आकारद्वयं समुच्चयार्थम्, देवे इति सप्तम्यन्तम्। हे अग्ने, त्वं देवेषु च मर्त्येषु च आ व्रतपा असि, देवानां मनुष्याणां च व्रतस्य संकल्पस्य कर्मणो वा सिद्धेस्त्वत्कृपायत्तत्वात्। तथा त्वमासमन्ताद् यज्ञेष्वध्वरेष्वीड्यः स्तुत्योऽसि, याचितव्यः पूजयितव्यो भवति। 'ईडिरध्येषणाकर्मा वा पूजाकर्मा वा' (निरु. ७.१५) इति यास्कः। सत्कारपूर्वकव्यापारोऽध्येषणा। अध्येषितव्यो याचितव्य इत्युव्वटाचार्यः। स्वापस्यापि व्रतविरोधित्वात् तत्परिहारोऽप्यनेन मन्त्रेण क्रियते, 'अव्रत्यमिव वा एष करोति यो दीक्षितः स्वपिति। त्वमग्ने व्रतपा असीत्याहाग्निर्वै देवानां व्रतपतिः स एवैनं व्रतमालम्भयति' (तै. सं. ६.१.४.१४) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'लब्धमालभ्य वाचयति रास्वेयदिति' (का. श्रौ. ७.५.३)। क्रतौ देयद्रव्यं यद्यत् परिचारकैरानीतं तत्सर्वमुपस्पृश्येमं मन्त्रं पठेत्। हे सोम, इयदिति लब्धद्रव्यपरिमाणवचनम्। इयद्रास्व एतावद् धनं रास्व देहि 'रा दाने' सोमदेवत्यं यजुः। भूयः पुनरपि आभर धनमाहर। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा. सू. ८.२.३२) इति वार्त्तिकेन हस्य भः। वसोर्धनस्य दाता सविता देवो नोऽस्मभ्यं वस्वदात् पूर्वमपि धनं दत्तवान्। भूय इत्यस्याप-रिमितपशुरूपधनाहरणे तात्पर्यम् । 'सोमा भूयो भरेत्याहापरिमितानेव पशूनवरुन्धे' (तै. सं. ६.१.४.१८) इति तित्तिरिरिति काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यः।

मन्त्रार्थ— हे अग्ने! तुम मनुष्य पर्यन्त सब प्राणियों के यज्ञकर्म के रक्षक हो, यज्ञों में सब प्रकार से पूजनीय हो। हे सोम! हमें ढेर सारा धन दीजिये, बार-बार धन दीजिये, क्योंकि धन के दाता सविता देवता ने भी हमको धन दिया था॥ इस मन्त्र से यजमान किसी कारण क्रुद्ध हो गया हो या यज्ञविरुद्ध भाषण करना पड़ा हो, तो उसका प्रायश्चित्त करता है तथा सुवर्ण का स्पर्श करता है॥१६॥

भाष्यसार — कात्यायन श्रौतसूत्र (७.५.१-२) के अनुसार सोमयाग में दीक्षित यजमान यदि क्रोधाभिभूत हो जाय, अथवा व्रत के विरुद्ध अश्लीलादि का उच्चारण कर दे, तब 'त्वमग्ने' इस मन्त्र को प्रायश्चित्त के लिये पढ़े। 'रास्वेयत्' इस मन्त्र का पाठ यजमान यज्ञ के लिये लाये गये द्रव्यों का स्पर्श करते हुए करता है।

अध्यात्मपक्षेऽपि—अग्ने परमेश्वर, त्वं व्रतपा असि व्रतं सत्यसङ्कल्पं यज्ञीयनियमाचरणं वा पातीति व्रतपा असि, परमात्माश्रयणेनैव व्रतरक्षणसिद्धेः। देवो द्योतनात्मकः स्वप्रकाशत्वात् त्वम् आमर्त्येषु मनुष्यपर्यन्तेषु सर्वप्राणिषु व्रतस्य नियमाचरणस्य वैदिककर्मणो वा पालकोऽसि। यद्वा आकारद्वयं समुच्चयार्थम्। त्वं देवे आ देवेषु च मर्त्येषु च व्रतपा असि देवानां मनुष्याणां च समेषां त्वमेव व्रतस्य रक्षकोऽसि। तस्मान्मदीयत्वद्भक्तिज्ञानतत्साधनादिसङ्कल्पोऽपि त्वत्कृपया पूर्णतामुपैतु। त्वमेव च हे अग्ने, आसमन्ताद् यज्ञेषु ईड्यः स्तुत्यः पूज्योऽध्येषणीयो याचितव्यो वा। अतो मे व्रतं पाहीति शेषः। सोम, उमया सहितो महादेवः सोमस्तत्सम्बुद्धौ हे सोम, इयद् अस्मदभिलषितं त्वद्विषयकं लोकोत्तरं प्रेम अपरोक्षज्ञानं वा रास्व। न केवलमेतदेव, किन्तु भूयः पुनरपि आभर धनमाहर, यतो वसोर्धनस्य दाता सविता देवो जगदुत्पादकः सर्वजनकोऽस्मभ्यं पूर्वमपि धनं देहेन्द्रियादिलक्षणं दत्तवान्।

'अशक्येऽभिमन्त्रणम्' (का. श्रौ. ७.५.४)। आलम्भनाशक्तावनेनाभिमन्त्रणं कुर्यात्। यावदवभृथं दीक्षितः 'शूद्र-सम्प्रवेशसंभाषाप्रत्युत्थानाभिवादनोदकावायवर्षाणि वर्जयेत् प्रागवभृथात्' (का. श्रौ. ७.५.५)। वर्षं वृष्टिस्तत्सम्बन्धि जलं च वर्जयेदिति।

अत्र दयानन्दः—हे सोमाग्ने, यस्त्वं मर्त्येषु व्रतपा सविता (देवो) यज्ञेष्वीड्यो देवोऽसि स भवान्नोऽस्मभ्यं वसोर्दाता सन् वस्वदाद् विज्ञानधनं ददाति, स भूयो वस्वारस्वेयत् संस्त्वमेतान्यस्मदर्थमाभरेत्येकः। योऽग्नेऽयमग्निर्मर्त्येषु व्रतपाः सविता देवो यज्ञेष्वीड्योऽध्येषितव्यः सोमो देवोऽस्ति, स त्वं नोऽस्मभ्यं वसोर्दाता सन् भूयो वस्वदात्। सर्वकार्येष्वारास्वारासते आभराभितः सुखैर्भरति पुष्णातीति द्वितीयः। त्वं स वा अग्ने जगदीश्वर अग्निर्वा यो व्रतं सत्यं धर्माद्याचरणनियमं पाति, असि अस्ति, पक्षे व्यत्ययः। देवो दाता प्रकाशको वा आसमन्ताद् मर्त्येषु मरणधर्मेषु मनुष्येषु कार्येषु वा आ अभितः स्वं स वा यज्ञेषु सत्कारेषूपासनाद्यग्निहोत्रेषु शिल्पेषु ईड्यः स्तोतुमध्येषितुं वाऽर्हः। रास्व देहि। आ अभितो भूयोऽतिशयेन बहु भर भरति वा। देवो द्योतकः, नोऽस्मभ्यं सवितोत्पादकः प्रेरको वा वसोर्धनस्य दाता प्रापको वसु धनमदात्' इति, तदपि निर्मूलमेव, श्रुतिसूत्रविरोधात्।

सूत्राण्युक्तानि। अथ शातपथी श्रुतिरुदाह्रियते। तथाहि—'अथ यद्दीक्षितोऽव्रत्यं वा व्याहरति क्रुद्ध्यति वा तन्मिथ्या करोति व्रतं प्रमीणात्यक्रोधो ह्येव दीक्षितस्याग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तमेवैतदुपधावति त्वमग्ने व्रतपा असि देव आमर्त्येष्वा त्वं यज्ञेष्वीड्य इति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्या कृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा त्वं यज्ञेष्वीड्य इति' (श. ३.२.२.२४)। अव्रत्यं व्रतं दीक्षा व्रतविरोधि

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे परमेश्वर अग्निदेव, आप सत्यसंकल्प व्रत अथवा यज्ञ के नियमाचरणों के रक्षक हैं। स्वप्रकाशात्मक आप मनुष्य पर्यन्त समस्त प्राणियों में व्रत के रक्षणकर्ता हैं। अथवा यहां समुच्चयार्थक दो आकार मानकर आप देवताओं में भी तथा मनुष्यों में भी व्रतरक्षणकर्ता हैं। अतः आपकी कृपा से मेरा यह संकल्प पूर्णता को प्राप्त करे। आप ही यज्ञों में स्तुत्य अथवा प्रार्थनीय हैं। हे उमासंयुक्त महादेव, हमारे द्वारा अभिलषित ज्ञान अथवा प्रेम (भक्ति) को प्रदान करें। केवल इतना ही नहीं, अपितु और भी प्रदान करें। समस्त धनों के दाता जगदुत्पादक सविता ने हमको पूर्व में भी देहेन्द्रियादिरूप धन प्रदान किया है।

इस मन्त्र में स्वामी दयानन्द का अर्थ श्रुति एवं सूत्र से विरुद्ध होने के कारण निर्मूल है। यहां स्वामी दयानन्द का अर्थकथन शतपथ श्रुति का किञ्चिन्मात्र भी स्पर्श नहीं करता। इस मन्त्र में शिल्प अथवा सत्कार का कोई प्रसंग भी नहीं है। इनके अर्थ में गौणार्थकता का दोष आ जाता है ॥१६॥

व्यर्थं वचनमभिवदेत् क्रोधं वा तत् तेनोभयेन मिथ्या यज्ञविरोध्येव करोति, तेन व्रतं प्रमीणाति हिनस्ति। अक्रोधो ह्येव दीक्षितस्य व्रतं भवति। अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः। व्रतहिंसासमाधानाय एतद् एतेन त्वमग्ने व्रतपा इत्यनेन साक्षाद् व्रतपतिं तमेवाग्निमेवोपधावति व्रतरक्षणाय प्राप्तवान् भवति। तस्य उ ह एषा प्रायश्चित्तिः। तथा सत्यस्य यजमानस्य न मिथ्या कृतं भवति। कथञ्चित् तत्सत्त्वेऽपि न व्रतं प्रमीणाति। तस्मादाह—त्वमग्ने व्रतपा इति। 'अथ यद्दीक्षितायाभिहरन्ति। तस्मिन् वाचयति रास्वेयत्सोमा भूयो भरेति सोमो ह वा अस्मा एतद्युते यद्दीक्षितायाभिहरन्ति स यदाह रास्वेयत्सोमेति रास्व न इयत्सोमेत्येवैतदाहा भूयो भरेत्या नो भूयो हरेत्येवैतदाह देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदादिति तथो हास्मा एतत् सवितृप्रसूतमेव दानाय भवति' (श. ३.२.२.२५)। दीक्षितस्य यज्ञार्थगवादिधनलाभे वाच्यं मन्त्रमाह—अथेति। रास्वेयत्सोमा भूयो भरेति मन्त्रं वाचयत्यध्वर्युः। दाने सोमसम्बन्धस्य कः प्रसङ्ग इत्यत्राह—सोमो ह वा अस्मै यजमानाय एतद्धनं खलु युते मिश्रयति, 'यु मिश्रणामिश्रणयोः', यद् धनं दीक्षिताय अभिहरन्ति इयत् तदिति प्रदेयं धनं हस्तेनोपस्पृश्य मन्त्रं पठति। मन्त्रभागं व्याचष्टे—आ नो भूय इति। इयद् एतावत्परिमितं धनं हे सोम रास्व देहि। न केवलमेतावत्परिमितमेव, किन्तु आ नो भूयो भरेति, किन्तु ततो भूयोऽन्यदपि बहु धनम् आहर मह्यमानय। देवो नः सविता वसोर्दाता स एव वस्वदात्। एतन्मन्त्रभागपाठेन सवित्राभ्यनुज्ञातत्वाल्लब्धं धनं दक्षिणार्हं भवति। तदेवोच्यते—एतत्सवितृप्रसूतमेव दानाय भवतीति। अत्र न दयानन्दोक्तिर्मनागपि शातपथीं श्रुतिं स्पृशति। नात्र शिल्पस्य सत्कारस्य वा प्रसङ्गोऽपि, गौणार्थकत्वप्रसङ्गश्च ॥ १६ ॥

एषा ते॑ शुक्र त॒नूरे॒तद्वर्च॒स्तया॒ सम्भ॑व॒ भ्राजं॑ गच्छ। जूर॑सि धृ॒ता मन॑सा॒ जुष्टा॒ विष्ण॑वे ॥१७॥

'शालाद्वाराण्यपिधाय ध्रौवं जुह्वां चतुर्विगृह्णाति, बर्हिस्तृणेन हिरण्यं बद्ध्वावदधात्येषा त इति' (का. श्रौ. ७.६.५-६)। ततोऽध्वर्युर्वस्त्रादिना शालाद्वाराण्यपिधाय ध्रौवमाज्यं जुह्वां चतुर्विगृह्णाति। आस्तृतस्य बर्हिषः सम्बन्धिनि तृणे हिरण्यं बद्ध्वा ध्रुवातो गृहीतस्याज्यस्य मध्ये तन्निक्षिपेत् 'एषा ते' इति मन्त्रेण। अत्र पूर्वोऽर्धर्चो हिरण्याज्यदैवतम्। अनुष्टुप्। मन्त्रार्थस्तु—हे शुक्र दीप्यमानाग्ने, तव एषा तनूर् दृश्यमानमाज्यरूपं शरीरमेतदाज्ये प्रक्षिप्यमाणं हिरण्यं वर्चस्तदीयं तेजस्तया सम्भव आज्यरूपया तन्वा एकीभव। ततो भ्राजं गच्छ हिरण्यगतां दीप्तिं प्राप्नुहि। एतन्मन्त्रपाठेनाग्नेः सतेजस्त्वं सतनुत्वं सम्पद्यते, 'सतेजसमेवैनꣳ सतनुं करोति' (तै. सं. ६.१.७.१) इति तित्तिरिश्रुतेः। यद्वा हे शुक्र आज्य, एषा हिरण्यलक्षणा ते तनूः, एतत्ते वर्चः, 'समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं चोभयꣳ, ह्यग्निरेतसम्' (श. ३.२.४.८) इति श्रुतेः। तया हिरण्यलक्षणया तन्वा सम्भव एकीभव। भ्राजं सोमं गच्छ। भ्राजते दीप्यतेऽसाविति भ्राट्, तं भ्राजम्, 'सोमो वै भ्राट्' (श. ३.२.४.९) इति श्रुतेः। 'जूरसीति जुहोति' (का. श्रौ. ७.६.७)। चतुर्गृहीतमाज्यं जूरसीति मन्त्रेणाहवनीये

मन्त्रार्थ— हे दीप्यमान अग्ने! यह घृत तुम्हारा शरीर है और यह सुवर्ण तेज है। इन दोनों में एक ही भाव द्वारा आप सुवर्ण की कान्ति को प्राप्त कीजिये। हे वाणि! तुम वेगवान् हो, जीवन देने वाली हो। आप मन से धारण की हुई यज्ञपुरुष के लिये प्रीति युक्त होइये॥ इस मन्त्र से यजमान घी में दर्भ से बंधे हुए सुवर्ण को छोड़ता है और समिदाधान करता हुआ अग्नि में आहुति देता है॥१७॥

भाष्यसार— याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार ध्रुवा से जुहू नामक स्रुक्पात्र में लिये गये घृत में स्वर्ण का खण्ड 'एषा ते' इस मन्त्र के द्वारा रखा जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु 'जूरसि' मन्त्र से आहवनीय अग्नि में घृत का हवन करता है (का. श्रौ. ७.६.५-७)। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में इस मन्त्र का व्याख्यान इसी प्रकार किया गया है।

जुहोत्यध्वर्युः। उत्तरोऽर्धर्चो वाग्देवत्योऽनुष्टुप्। हे सोमक्रयणि, वाग्रूपा त्वं जूरसि वेगयुक्तासि। यद्वा 'जीव प्राणधारणे' इत्यस्य क्विबन्तस्य डूप्रत्ययेन जूरिति रूपसिद्धिः। या त्वं जूरसि जीवनमसि, तथा मनसा धृता नियमितासि, विष्णवे यज्ञाय जुष्टासि प्रीतियुक्तासि। यद्वा यज्ञस्याभिरुचितासि। तमेतं मन्त्रं तित्तिरिर्व्याचष्टे—'वाग्वा एषा यत् सोमक्रयणी जूरसीत्याह यन्मनसा जवते तद्वाचा वदति धृता मनसेत्याह मनसा हि वाग्धृता जुष्टा विष्णव इत्याह यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञायैवैनां जुष्टां करोति तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसव इत्याह सवितृप्रसूतामेव वाचमवरुन्धे' (तै. सं. ६.१.७.६-७) इति जवतेः शीघ्रकर्तव्यतामवगच्छति।

अध्यात्मपक्षे—हे शुक्र, ब्रह्मज्योतिरेषा अपरोक्षभूता प्रत्यक्चितिस्ते तव तनूः स्वरूपम्, 'तत्त्वमसि' (छा. उ. ६.८.७) इत्यादिश्रुतिभ्यः। एतज्ज्ञानं ते वर्चः प्रकाशः, तया प्रत्यक्चित्या सम्भव अनात्मतादात्म्यादिनिबन्धनभेदापोहे-नैकीभव। भ्राजमपरोक्षात्मतादात्म्यं गच्छ, तदभावे तत्पदार्थस्य ब्रह्मणोऽपरोक्षत्वानुपपत्तेः। प्रत्यग्ब्रह्मैक्येन प्रतीचि पूर्णत्वमानन्त्यं सिद्ध्यति, परस्मिंस्तु स्वप्रकाशत्वमपरोक्षत्वं निरुपाधिकनिरतिशयपरप्रेमास्पदत्वं च सिद्ध्यति। हे प्रत्य-क्चिते! त्वं जूरसि मनउपाधिना वेगवत्यसि, 'मनसो जवीयः' (वा. सं. ४०.४) इति श्रुतेः। मनसा शास्त्राचार्योपदेश-संस्कारसंस्कृतेन धृता आवरणनिवृत्तये वृत्तिव्याप्त्या विषयीकृता विष्णवे व्यापनशीलाय परमात्मने तादर्थ्याय जुष्टा प्रीत्या सेविता तमेव प्राप्नुहीति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे शुक्र विद्वन्, ते तव या एषा विष्णवे तनूरस्यस्ति, या त्वया धृता जुष्टा च तया जूः सन् त्वमेतद्वर्चः सम्भव सम्यग्भावय। भ्राजं गच्छ मनसैतेन पुरुषार्थं प्राप्नुहि। भ्राजं प्रकाशम्। जूः ज्ञानी वेगवान् वा विष्णवे परमात्मने यज्ञाय वा' इति, हिन्दीभाष्ये तु—'हे वीर्यपराक्रमवन्, ते तवैषा यद्विष्णवे यज्ञाय वा तनूः शरीरमस्ति, त्वया या धृता प्रीत्या सेविता च, तया त्वं ज्ञानी वेगवान् वा भूत्वा एतद्वर्चो विज्ञानं तेजो वा सम्यग् भावय प्रकाशं प्राप्नुहि, मनसा विज्ञानेन पुरुषार्थं प्राप्नुहि' इति, तदेतत्सर्वमपि निर्मूलम्, शुक्रशब्दस्य तथार्थत्वे मानाभावात्। वर्चःपदमपि तेजःपरमेव। विज्ञानं तु गौणार्थकमेव। तन्वा धारणं प्रीतिपूर्वकं सेवनं च कर्मायत्तं भवति, न विद्वदादितन्त्रम्। अस्मिन्नर्थे सूत्रविरोधोऽपि। सूत्रानुसारि व्याख्यानं तूक्तमेव।

शतपथश्रुतिरपि सूत्राणि समर्थयति। तथाहि—'दिवि वै सोम आसीत्। अथेह देवास्ते देवा अकामयन्ता नः सोमो गच्छेत् तेनागतेन यजेमहीति त एते माये असृजन्त सुपर्णीं च कद्रूं च तद्धिष्ण्यानां ब्राह्मणे व्याख्यायते सौपर्णीकाद्रवं यथा तदास' (श. ३.२.४.१) इत्यादिभिः सोमक्रयं विधातुमाख्यायिकया सोमस्य तृतीयस्यां दिवि सत्त्वम्, तस्य भूमावानयनाय देवा माये असृजन्त। परव्यामोहनकारिणी शक्तिर्माया। द्वे मायाभिरूपे सौपर्णी

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है— हे ब्रह्मज्योति! यह अपरोक्षभूता प्रत्यक् चिति तुम्हारा स्वरूप है। यह ज्ञान तुम्हारा प्रकाश है। इस प्रत्यक्चिति से एकीभूत हो जाओ। अपरोक्ष तादात्म्य को प्राप्त करो। हे प्रत्यक्चिति, तुम मन से उपहित होने के कारण वेगवती हो। संस्कारों से संस्कृत मन के द्वारा आवरण निवृत्ति के लिये विषयीकृत होकर व्यापनशील परमात्मा के लिये प्रीतिपूर्वक सेवित होकर उसे प्राप्त करो।

स्वामी दयानन्द का संस्कृत एवं हिन्दी अर्थ मूलरहित है, क्योंकि शुक्र शब्द के 'विद्वान्' इस अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है। वर्चस् पद भी तेजस् अर्थपरक है। इसका विज्ञान अर्थ तो गौण ही है। शरीरधारण तथा प्रीतिपूर्वक सेवन विद्वान् आदि के अधीन नहीं होता, अपितु कर्म के अधीन होता है। अतः यह कथन उचित नहीं है। इस अर्थ में सूत्रग्रन्थों का विरोध भी होता है। सूत्र के अनुसार हमारा व्याख्यान उपयुक्त है। शतपथ श्रुति भी सूत्रों का समर्थन करती है ॥१७॥

कद्रूं च सोमरक्षकाणां गन्धर्वाणां स्त्रियां मोहाय सृष्टवन्तः (श. ३.६.२.७) इत्यत्रोक्तम्। तत्र मायामय्योः सुपर्णी-कद्र्वोरुत्पत्तिस्तयोर्मिथः कलहः परस्परजयपराजयनिमित्तकः समयबन्धः, ततः कद्रूजयः, पराजितायाः सुपर्ण्याः स्वात्मनिष्क्रयाय सोमोपहरणार्थं छन्दसां सुपर्ण्याः सकाशादुत्पत्तिः, गायत्र्या च सोमाहरणमित्यादयोऽर्था उक्ताः। तत्र 'वागेव सुपर्णीयं कद्रूः' (श. ३.६.२.२) इत्यादिना होतृमैत्रावरुणादीनां शंसनप्रदेशेषु पुरतः स्थापिता अग्नयो धिष्ण्या होत्रीयादयः। ते खलु पुरा दिवि सोमरक्षकाः, पश्चात् सोम आहृते सति तेन सार्धं भूमावागत्य देवेभ्यो लब्धवराः सन्तोऽत्रापि सोमरक्षणाय धिष्ण्यतां प्राप्ताः। 'तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षा जुगुपुरिमे धिष्ण्या इमे होत्राः' (श. ३.६.२.९), 'तेभ्यो गायत्री सोममच्छापतत्' (श. ३.२.४.२)। गायत्रीच्छन्दोदेवता पक्षिरूपेण दिवि स्थितं सोममच्छ अभिमुख-मपतद् अगमत्। आहरन्त्यास्तस्याः स्वभूतं सोमं विश्वावसुर्नाम गन्धर्वः पर्यमुष्णाद् अपजहार। ततस्ते देवा द्युलोकात् सोमः प्रच्युत इति विविदुः। अथ अस्मान्नागच्छति गन्धर्वा विश्वावसोर्भृत्याः पर्यमोषिषुः। त होचुर्योषित्कामा गन्धर्वा इत्येभ्यो व्यामोहाय वाचं प्रेषयामः। सा नः सोमेनागमिष्यतीति सोममुपायेनानयन्ती स्वमपि प्रतिनिवर्तिष्यत इति ते गन्धर्वा अन्वागत्याऽब्रुवन् सोमो युष्माकं वागेवास्माकम्। तथेति देवा अब्रुवन् गन्धर्वावि-रोधेनैव देवैर्दृष्टं वाग्लाभोपायं विचारयन्तो हे गन्धर्वा एनामिहागतां प्रेषयामो बलात्कारेण मा नैष्ट यूयं वयं च वाचं विह्वयामहै वाचं विविधमाकारयामः। एवं मिथः समयं कृत्वा गन्धर्वास्तां व्यह्वयन्त तस्यै गन्धर्वा वेदानेव प्रोचिरे वाचां वशीकरणाय। अथ देवा वाणीमेव सृष्ट्वा वादयन्ति निषादादिस्वरानुकूल्येन ध्वनिमुत्पादयन्तः, तदनु स्वयं गायन्तो निषेदुः। ते त्वदर्थं गास्यामः। न केवलमीदृशं गानमस्माकम्, किन्तु हे वाग्देवते! त्वा त्वामेवंप्रकारेण तोषयाम इत्युक्तवन्तः। सा देवानुपावर्तत उपावर्तते स्म प्रत्यावृत्ता वाक् स्तुवद्भ्यः शंसद्भ्यः स्तोत्रशस्त्ररूपं प्रवचनं कुर्वद्भ्यो गन्धर्वेभ्यः सकाशाद् देवैः कृतं नृत्तं गीतं चोपावृत्ता सा पूर्वं सोमाहरणाय प्रेषिता वाग् इदानीं मोघं व्यर्थमेव चोपवृत्ता। तस्मादिदानीमपि मोघसंहिता योषा य एवं नृत्यति यो वा गायति तस्मिन्नेवैता अत्यन्तमनुरक्ता भवन्ति, तद्वा एतदुभयं देवेष्वासीत् सोमश्च वाक् च तस्मात् सोमप्राप्त्या सोमं क्रीणीयात्, अक्रीतस्य यागानर्हत्वात्, आगतोऽपि सोमो क्रयसंस्कारेणानागतत्वादनागत उच्यते।

एवं महतोपक्रमेण सोमक्रयणं विधाय सोमक्रयणात् पूर्वं कञ्चिद्धोमं विदधाति—'अथ यद् ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति। तज्जुह्वां चतुष्कृत्वो विगृह्णाति बर्हिषा हिरण्यं प्रबध्यावधाय जुहोति कृत्स्नेन पयसा जुहवानीति समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं चोभयꣳ ह्यग्निरेतसम्' (श. ३.२.४.८)। प्रायणीयार्थमुपयुज्य यद्घृतं ध्रुवायामवशिष्टं तद् जुह्वां चतुष्कृत्वश्चतुर्वारं गृहीत्वा बर्हिषा हिरण्यं प्रबध्य जुह्वामाधाय जुहुयात्। एतदेव कात्यायनोक्तम्— 'शालाद्वाराण्यपिधाय ध्रौवं जुह्वां चतुर्विगृह्णाति' (का. श्रौ. ७.६.५) इत्यादिना। तच्च सिद्धान्तव्याख्यान उक्तमेव। हिरण्यावधानप्रयोजन-माह—कृत्स्नेन पयसा जुहवानीति। पयःप्रकृतिकत्वादाज्यं पयः। हिरण्यस्यापि पयस्त्वे भवत्येव पयसः कात्स्न्यम्। तदेव कुत इत्यत आह—समानजन्म वा इति। पयश्च हिरण्यं च वस्तुद्वयं समानजन्म समानोत्पत्तिकम्। कथं समानत्वं जन्मनः? हि यस्मादुभयमपि अग्निरेतसमग्ने रेतो वीर्यं यस्योभयस्य तत् तथोक्तम्। पयसोऽग्निरेतस्त्वं द्वितीयकाण्डे प्रोक्तम्—'तामुहाग्निरभिदध्यौ मिथुन्यनया स्यामिति ताꣳ सम्बभूव तस्याꣳ रेतः प्रासिञ्चत् तत्पयोऽभवत्' (श. २.२.४.१५)। व्याख्यातं च पूर्वमेतत्। हिरण्यस्याग्निरेतस्त्वं तैत्तिरीयक आम्नातम्— 'आपो वरुणस्य पत्नय आसन् ता अग्निरभ्यध्यायत् ताः समभवत् तस्य रेतः परापतत्' (तै. ब्रा. १.१.३.८), 'स हिरण्यमवदधाति। एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्च इति वर्चो वा एतद्यद्धिरण्यं तया सम्भव भ्राजं गच्छेति स यदाह तया संभवेति तया सम्पृच्यस्वेत्येवैतदाह भ्राजं गच्छेति सोमो वै भ्राट् सोमं गच्छेत्येवैतदाह' (श. ३.२.४.९)। समन्त्रं हिरण्यावधानमाह—स हिरण्यमवदधातीति।

स अध्वर्युः। हिरण्यनिधानमन्त्रं त्रेधा विभज्य व्याचष्टे—एषा त इत्यादिना। हे शुक्र, एषा एतद्धिरण्यं ते तनूः शरीरम् तनुशब्दापेक्षया स्त्रीत्वम्। अथवा एषा जुहूस्ते तनूः, एतदेवाज्यं ते वर्चस्तेजः। स मन्त्रः। यदाह तया सम्भवेत्यस्यायमर्थस्तया सम्पृच्यस्व इत्येवाह। सम्पर्कोऽत्रैकीभावः। भ्राट्शब्दार्थमाह—सोमो वै भ्राडिति। भ्राजमानत्वाद् भ्राट् सोम इत्युक्तमेव। अत आज्यं भ्राजं गच्छेति ब्रुवती श्रुतिः सोमं गच्छेत्युक्तवतीत्यर्थः।

सोमप्राप्तिप्रकारस्त्वित्थम्—हिरण्यसंस्कृताज्यहोमः सोमक्रयणार्थः। स च क्रेतव्यसोमार्थ इति विहितामाहुतिं सोमक्रयणीप्रीतिहेतुत्वेन प्रशंसयन् तदर्थम्—'तां यथैवादो देवाः। प्राहिण्वन्त्सोममच्छैवमेवैनामेष एतत्प्रहिणोति सोममच्छ वाग्वै सोमक्रयणी निदानेन तमेतयाहुत्या प्रीणाति प्रीतया सोमं क्रीणानीति' (श. ३.२.४.१०) इति सोमक्रयण्यानयनप्रयोजनप्रकारमाह—तामिति। अदो व्यवहितकाले तां वाचं प्राहिण्वन् गन्धर्वापहृतां प्रति प्रागगमयन्। एवमेवाध्वर्युरेतेन सोमक्रयणीप्रेरणेन प्रेरितवान् भवति। तयोः कः सम्बन्ध इति तत्राह—वाग्वा इति। वाग्वै सोमक्रयणीनिदानं वास्तवं स्वरूपम्, तेन वाग्रूपां सोमक्रयणीमेतयाहुत्या प्रीणाति।

'स जुहोति। जूरसीत्येतद्ध वा अस्या एकं नाम यज्जूरसीति धृता मनसेति मनसा वा इयं वाग्धृता मनो वा इदं पुरस्ताद् वाच इत्थं वद मैतद्वादीरित्यलग्लामिव ह वै वाग्वदेद्यन्मनो न स्यात्तस्मादाह धृता मनसेति' (श. ३.२.४.११)। होममन्त्रं पञ्चधा विभज्य व्याचष्टे—जूरिति। जूरिति सौत्रो गत्यर्थो धातुः। जवति सोमं प्रति गच्छतीति जूः। अस्या वाग्रूपायाः सोमक्रयण्या जूरित्येकं नाम। मनसा धृता। मनसो वागाधारत्वं साधयति—मनो वेति। 'मनो वा इदं पुरस्ताद्वाचो रूपम्। यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' (श. १२.९.१.१३)। धारणप्रकारं दर्शयति—इत्थं वद मैतद्वादीरिति। यद्यपि हितोपदेष्टृवद् मनो न वाग्व्यापारं करोति, तथापीदं वक्तव्यमिदं नेति गुणदोषविकल्पनस्य मनोव्यापारत्वाद् वाग्विधिनिषेधकर्तृत्वव्यवहारः। व्यतिरेकदोषोपन्यासेन मनोवाचोरेकत्वं द्रढयति—यन्मनो न स्यादिति। पूर्वोक्तरीत्या गुणदोषावालोच्य मनःकर्तृकविधिनिषेधौ न स्याताम्, तदा वाग् अलग्लामिव अलग्नामिव वक्तव्यपदार्थेनासंसृष्टामिव वाचं वदेत्, हृदयपूर्वकत्वाभावात्। एतावता स्वीया तनूरेव त्वया धृता प्रीत्या च सेवितेत्यादिव्याख्यानमपास्तं वेदितव्यम् ॥१७॥

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा। शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ॥१८॥

सत्यमवितथं सवोऽनुज्ञा यस्यास्तथाभूतायास्ते वाग्रूपायाः सोमक्रयण्याः प्रसवेऽनुज्ञायां वर्तमानोऽहं तन्वः शरीरस्य नियमनं दार्ढ्यं वा अशीय प्राप्नुयाम्। स्वाहा इदमाज्यं हुतमस्तु। 'शुक्रमसीति हिरण्यमुद्धृत्य वेद्यां तृणं

मन्त्रार्थ— सत्य अनुज्ञा वाली देववाणी की आज्ञा में वर्तमान रह कर मैं शरीर के नियमन की दृढ़ता प्राप्त करूँ। इस घृत की सुन्दर आहुति हो। हे सुवर्ण! तुम दीप्यमान हो, आह्लाद को देने वाले हो, जीवन के उपाय हो, सब देवताओं के सम्बन्धी हो, क्योंकि सब देवता सुवर्ण दान से तृप्त होते हैं॥ इस मन्त्र से यजमान घृत में से निकाल कर सुवर्ण को वेदी पर रखता है॥१८॥

भाष्यसार — कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रतिपादित (७.६.८) विनियोग के अनुसार 'शुक्रमसि' इत्यादि मन्त्र से वेदि पर स्वर्ण खण्ड को स्थापन किया जाता है।

निदधाति' (का. श्रौ. ७.६.८)। तृणबद्धं हिरण्यमुद्धृत्य विस्रंस्य हिरण्यं हस्ते कृत्वा तृणं वेद्यां निदधाति शुक्रमसीति मन्त्रेणेति। हे हिरण्य, त्वं शुक्रमसि। शोचत इति शुक्रम्, 'शुच दीप्तौ', दीप्यमानमसि तथा चन्द्रमसि आह्लादकमसि, 'चदि आह्लादने', अमृतं मरणरहितमसि, सर्वनाशकस्याप्यग्नेः संयोगेऽपि हिरण्यस्य विनाशादर्शनात्। वैश्वदेवमसि सर्वदेवसम्बन्ध्यसि, हिरण्यदानेन सर्वेषामपि देवानां तोषणात्।

अध्यात्मपक्षेऽपि—तस्यास्ते प्रत्यक्चित्यभिन्नायाः सत्यसवसोऽवितथसङ्कल्पायाः प्रसवे प्रेरणे त्वदीयतनुभूताया अपरोक्षज्ञप्तिलक्षणाया यन्त्रं नियमनमेकाग्रतां दार्ढ्यं वा अशीय प्राप्नुयाम। तदेव स्तौति—हे ब्रह्मात्मापरोक्षज्ञान, त्वं शुक्रमसि दीप्यमानमसि, चन्द्रमाह्लादकमसि, अमृतमसि, अमृतमोक्षफलकत्वात्। वैश्वदेवमसि, सार्वात्म्यबोधकत्वात्।

दयानन्दस्तु—'तस्या वाचो विद्युतो वा ते तव सत्यसवसः सत्यं सव ऐश्वर्यं जगत्कारणं यस्य तस्य परमात्मनः प्रसवे उत्पादिते संसारे तन्वः शरीरस्य यन्त्रयति सङ्कुचति चालयति निबध्नाति वा येन तद् अशीय प्राप्नुयाम्। स्वाहा वाचं विद्युतं वा शुक्रं शुद्धमसि अस्ति, चन्द्रमाह्लादकममृतमसि, वैश्वदेवं यद्विश्वेषामिदं तत्' इति, हिन्दीभाष्ये—'हे जगदीश्वर, सत्यैश्वर्ययुक्तस्य जगन्निमित्तकारणस्य ते तवोत्पादिते संसारे तन्वः शरीरस्य सम्बन्धिन्या वाण्या विद्युतो वा सकाशाद्विद्यां प्राप्य शुद्धं चन्द्रमाह्लादकममृतं सर्वविद्वत्सु कारकं यन्त्रं संकोचविकाशचालनबन्धनकारकं यन्त्रमशीय प्राप्नुयाम्' इति, तदेतदनाकलितपौर्वापर्यस्य अनाघ्रातास्तिकसिद्धान्तस्य पाश्चात्यनेयबुद्धेर्दुश्चेष्टितम्, तन्वः सम्बन्धिन्या विद्युतो वाण्या वा सकाशाद् यन्त्रोत्पत्त्यसम्भवात्। न च स्वाहापदस्य वाणी विद्युद्वार्थः सम्भवति, तत्रास्य पदस्याशक्तत्वात्, तथा तन्व इति पदस्य वैयर्थ्यापातात्, अतनोर्वाण्या अदर्शनात्, तन्वश्च विद्युदसिद्धेः, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च।

शतपथे तु—'जुष्टा विष्णव इति जुष्टा सोमायेत्येवैतदाह यमच्छेम इति। तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसव इति सत्यप्रसवा न एधि सोमं नोच्छेहीत्येवैतदाह तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहेति स ह वै तन्वो यन्त्रमश्नुते यो यज्ञस्योदृचं गच्छति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह' (श. ३.२.४.१२)। विष्णुपदस्याभिमतमर्थमाह—जुष्टा सोमायेति। भुवनत्रयव्यापकत्वात् सोमो विष्णुः, सर्वस्यैव लोकस्याग्नीषोमात्मकत्वात्। 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (पा. सू. १.४.३३) इति जुषतियोगे चतुर्थी। यं सोममच्छ अभिमुखमिमो गच्छेम वयम्, अनेनाभिप्रायेण सोमायेत्याहेत्यर्थः। सत्यसवसः सत्यानुज्ञायास्तस्या देवैः प्रेरिताया वाचः प्रसवेऽनुज्ञायां सत्यामिति मन्त्रभागस्यार्थः। अस्य भागस्य तात्पर्यमाह—सत्यप्रसवा न एधीति। नोऽस्माकं सत्यानुज्ञा भवेत्यर्थः। न एधीत्यत्र न इत्यस्य नः सोममित्यर्थ इति व्याचष्टे—सोमं नोऽच्छेहीति। चरमभागस्य

अध्यात्मपक्ष में सम्पूर्ण कण्डिका का अर्थ इस प्रकार है— उस तुम्हारी प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न सत्यसङ्कल्पशीला देहभूता अपरोक्ष ज्ञप्ति की प्रेरणा में हम नियमन अथवा दृढ़ता को प्राप्त करें। हे ब्रह्मात्मसम्बन्धी अपरोक्ष ज्ञान, तुम प्रकाशशील हो, आह्लादक हो, मोक्षफलदाता अमृतरूप हो तथा सर्वात्मबोधक होने के कारण वैश्वदेव हो।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह पौर्वापर्य का विचार किये बिना, आस्तिक सिद्धान्त की गन्ध से रहित पाश्चात्यों का अनुकरण करनेवाली बुद्धि की दुश्चेष्टा है, क्योंकि शरीर से सम्बद्ध विद्युत् अथवा वाणी से यन्त्र की उत्पत्ति सम्भव नहीं है और स्वाहा पद का वाणी अथवा विद्युत् अर्थ भी सम्भव नहीं है। इस अर्थ के अभिधान में स्वाहा पद समर्थ नहीं है। साथ ही 'तन्वः' पद की व्यर्थता भी हो जाती है, क्योंकि शरीर (आकृति) से रहित वाणी दृष्टिगोचर नहीं होती तथा शरीर से विद्युत् की सिद्धि भी सम्भव नही हैं। शतपथश्रुति तथा सूत्रों का विरोध भी इस अर्थ में है ॥१८॥

तात्पर्यमाह—तन्वो यन्त्रमिति । उदृचम् उत्तमा ऋग् उदृक्, तया यज्ञसमाप्तिर्लक्ष्यते । अतो यो यज्ञसमाप्तिं गच्छति, स एव तन्वो यन्त्रमश्नुते । तेन तन्वो यन्त्रमशीयेत्यनेन यज्ञस्योदृचं यज्ञसमाप्तिं गच्छानीत्येवैतदाह । एतेन 'सव ऐश्वर्यम्, प्रसव उत्पादिते संसारे, यन्त्रं सङ्कोचविकाशचालनादियन्त्रम्' इत्यादिव्याख्यानमपव्याख्यानमेवेति सिद्ध्यति । 'अथ हिरण्यमपोद्धरति । तन्मनुष्येषु हिरण्यं करोति स यत्सहिरण्यं जुहुयात् परागु हैवैतन्मनुष्येभ्यो हिरण्यं प्रवृञ्ज्यात् । तन्न मनुष्येषु हिरण्यमभिगम्येत' (श. ३.२.४.१३) । हिरण्यस्यापोद्धारं विधाय प्रशंसति—अथेति । प्राण्युपभोगस्य धन-मूलत्वाद् हिरण्यस्यापोद्धारेण मनुष्येषु हिरण्यस्थापनं कृतं भवति । विपक्षे बाधदर्शनेन विहितमर्थं प्रशंसति—स यत् सहिरण्यं जुहुयात् परागु हैवैतन्मनुष्येभ्यो हिरण्यं प्रवृञ्ज्यादिति । स यदि हिरण्येन सहितमाज्यं जुहुयाद् अपुनरागमनं मनुष्येभ्यः सकाशाद् वर्जयेत् । अस्तु किं तत इत्यत आह—तन्नेति । तर्हि मनुष्येषु हिरण्यं नानुवर्तेत तस्माद्धिरण्य-संस्कृतमाज्यमेव जुहुयान्न सहिरण्यमाज्यमित्यर्थः । अत एव शुक्रममृतं चन्द्रमित्यादीनि हिरण्यप्रशंसकानि विशेषणानि । न यन्त्रमित्यस्येति तथा व्याख्यानमश्रौतमेव ।

'सोऽपोद्धरति । शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसीति कृत्स्नेन पयसा हुत्वा यदेवैतत्तदाह शुक्रमसीति शुक्रꣳ ह्येतच्चन्द्रमसीति चन्द्रꣳ ह्येतदमृतमसीत्यमृतꣳ ह्येतद्वैश्वदेवमिति वैश्वदेवꣳ ह्येतत्प्रमुच्य तृणं बर्हिष्यपसृजति सूत्रेण हिरण्यं प्रबध्नीते' (श. ३.२.४.४) । अपोद्धारमनूद्य मन्त्रमाह—सोऽपोद्धरतीति । हे हिरण्य, त्वं शुक्रं दीप्तमसि, चन्द्रं सर्वाह्लादकमसि, अमृतममरणधर्मकमसि, अत्यन्ताग्निसंयोगेऽप्यविनाशात् । वैश्वदेवस्य सर्वदेवताप्रीतिकरत्वात् तदीयोऽयमपोद्धारो होमानन्तरं कार्य इत्याह—कृत्स्नेनेति । प्रागेव चेदपोद्धरेत्तदा हिरण्यात्मकस्य पयसोऽभावादाज्यं रूपं पयसोऽकृत्स्नं स्यात् । तस्मादुच्यते कृत्स्नेन पयसा हुत्वेति । मन्त्रगतं हिरण्यस्य शुक्राद्यात्मकत्वं न स्तुत्यर्थ-मित्याह—यदेवैतत्तदाह शुक्रमसीत्यादिना । यदेवैतद् हिरण्यस्य स्वाभाविकं रूपं शुक्रं शुक्ररूपं तत् । एष मन्त्र आह । यद्यपि हिरण्यमाग्नेयं तथापि सर्वप्रियत्वाद् वैश्वदेवमुच्यते । प्रमुच्य तृणमिति हिरण्ये बद्धं तृणं विमुच्य बर्हिष्यपसृज्य पुनः सूत्रेण बध्नीयात्, 'शुक्रमसीति हिरण्यमुद्धृत्य वेद्यां तृणं निदधाति, सूत्रबद्धं हिरण्यं कुरुते' (का. श्रौ. ७.६.८-९) इति कात्यायनसूत्राभ्याम् ।

'अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । अन्वारभस्व यजमानेत्याहापोर्णुवन्ति शालायै द्वारे दक्षिणतः सोमक्रयण्यु-पतिष्ठते तत्प्रहितामेवैनामेतत्सतीं प्राहैषीद् वाग् वै सोमक्रयणी निदानेन तामेतयाहुत्या प्रैषीत् प्रीतया सोमं क्रीणानीति' (श. ३.२.४.१५) । पूर्वोक्तप्रायणीशेषादेवान्यतश्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा यजमान अन्वारभस्वेति ब्रूयात् । अध्वर्योरनु-स्पर्शोऽन्वारम्भः । शालायै शालायाः, अपोर्णुवन्ति, द्वाराणीति शेषः, शालाया द्वाराण्यपिधायेति कात्यायनेनोक्तत्वात् । तथा च सर्वाणि शालायाः पूर्वं पिहितानि द्वाराण्यपवृत्तानि कुर्युरित्यर्थः । 'अपावृतद्वारे निष्क्रामतः' (का. श्रौ. ७.६.११) । विमिते उद्घाटितद्वारे सति विमितादध्वर्युयजमानौ निष्क्रामेताम् । द्वारे दक्षिणत आहवनीयात् प्राक्तने द्वारे सोमक्रयार्थं दक्षिणतो दक्षिणदेशे सोमक्रयणी गौरुपतिष्ठते उपावर्तते । तदुक्तम्—'दक्षिणेन द्वारꣳ सोमक्रयणी तिष्ठत्यल-क्षिताऽव्यङ्गाऽप्रवीताऽरज्जुबद्धा बभ्रूः पिङ्गलाभावेऽरुणाऽरुणाभावे रोहिण्यश्येताक्षी' (का. श्रौ. ७.६.१२) । स्वामि-बोधकचिह्नेनानङ्किता अप्रवीता वृषभेणाकामिता अरुणा अव्यक्तरागा रोहिणी रक्तवर्णा अरक्ताक्षी । सोमक्रयण्यवस्थापनं प्रशंसति—तत्प्रहितामेवैनामिति । देवैः प्रेषितया वाचा प्रेरितां सतीम्, अथवा तत् तथा सतीव प्रहितामेवेमां सोमक्रयार्थं गमयति स्वप्रेरितां सतीमेवैतामेतदेतेनावस्थापनेन प्राहैषीत् प्रेषितवान् भवति । तस्या इतरगोसाधारण्यं वारयति—वाग् वै सोमक्रयणी । तामेतयेति तां वाग्रूपां सोमक्रयणीं यस्मादेतया पूर्वविहितया धूरसीत्यादिमन्त्रदेवतयाऽप्रैषीदध्वर्युः प्रेरितवान् । कया बुद्ध्या ? प्रीतया तृप्तया सोमं क्रीणानीति ॥१८ ॥

चिदसि मनोऽसि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतःशीर्ष्णी। सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥१९ ॥

'चिदसीत्येनामभिमन्त्रयते' (का. श्रौ. ७.६.१३)। एनां सोमक्रयणीं गां चिदसीति मन्त्रेणाभिमन्त्रयते—हे वाग्देवतारूपे सोमक्रयणि, त्वं चिदसि मनोऽसि धीरसि। अन्तःकरणस्य चित्तमनोबुद्धय इति तिस्रो वृत्तयः। देहेन्द्रियादिलक्षणस्याचेतनस्य सङ्घातस्य चेतनतां सम्पादयन्ती बाह्यवस्तुषु वा निर्विकल्परूपं सामान्यज्ञानं जनयन्ती वृत्तिश्चित्तम्। चित्तमेवेह चिदित्याख्यायते। देहव्यापिनी चेतनाख्या वृत्तिर्वा चित्, 'सङ्घातश्चेतना धृतिः' (भ. गी. १३.६) इति गीतावचनात्। अथवा वाग्रूपाध्यारोपकल्पनया कयाचिद् वृत्त्या चिच्छक्तिरूपैवासीत्यपि सम्भवति। लोके यं कश्चित् पदार्थं दृष्ट्वा एवमनेवं वेति सङ्कल्पविकल्पौ कुर्वाणा वृत्तिर्मन इत्युच्यते। त्वं मनोऽसि। इदमेवेति निश्चयात्मिका वृत्तिर्धीशब्देनोच्यते। एवं वाग्रूपायाः सोमक्रयण्याश्चिन्मनोधीरूपत्वेन प्रशंसा क्रियते। चित्तेन ज्ञातं मनसा मतमेवार्थं वाक् प्रकाशयतीति वाग्रूपायास्तस्याश्चित्तमनोरूपत्वं युक्तम्, 'चित्तं वा इदं मनो वागनुवदति' (श. ३.२.४.१६) इति श्रुतेः। चेतनावस्थापन्ना सती त्वं चिदसि तथा मननेन मनोऽप्यसि। धिया 'धिया ह्येतया मनुष्या जुज्यूषन्ति' (श. ३.२.४.१६) (जीवितुमिच्छन्तीत्यर्थः) इति श्रुत्या इत्थं वदिष्यामीति बुद्ध्या चित्तवदभिवदन् रूपेण कर्मणा वा। 'धीरिति कर्मनामसु'। वेदाध्ययनेन स्वच्छन्दैर्भाषणैर्गाथाभिश्च मनुष्या जीवितुमिच्छन्ति। एवं वाचो धीत्वं जीवनसाधनकर्मत्वं च सिद्ध्यति। तथैवाह तित्तिरिः—'वाग्वा एषा यत्सोमक्रयणी चिदसि मनोऽसीत्याह शास्त्येवैनामेतदिति' (तै. सं. ६.१.७.६)। वागात्मिकां सोमक्रयणीं चिदादिशब्दवाच्यामेवं प्रशंसतीत्यर्थः।

तेन पूर्वं चिदादिरूपत्वं सम्पाद्योपचारेण प्रशंसा कृता, दक्षिणादिरूपेण तु विद्यमानमेव प्राशस्त्यमुच्यते। हे सोमक्रयणि, त्वं दक्षिणासि गवां देवद्रव्यत्वेन कर्मसु दक्षिणात्वं सिद्धमेव। यद्वा वाग्दानस्य प्रशस्तत्वात् त्वं दक्षिणासि, वाचैव विद्यादानसम्भवात्। क्षत्रियासि, क्षत्रं बलं तदर्हत्वात् क्षत्रिया गौः, पयोघृतादिसाधनत्वात् तस्या बलकरत्वसिद्धेः। सोमक्रयसाधनत्वाच्च क्षत्रियात्वम्, देवेषु सोमस्य क्षत्रजात्यभिमानित्वात्, 'सोमो वै राजा' (ऐ. ब्रा. १.१५) इत्यादिश्रुतिषु सोमे राजशब्दव्यवहारात्, 'यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः' (श. १४.४.२.२३) इति श्रुतेः। तेन सोमेन क्षत्रेणाभिमन्तव्यस्य सोमलताद्रव्यस्य क्रयहेतुत्वात् त्वं क्षत्रियासि, क्रयद्वारा तत्सम्बन्धित्वादस्या अपि क्षत्रियत्वोपचारात्। यज्ञियासि, यज्ञार्हत्वात्। सोमयज्ञापेक्षितमुख्यसोमक्रयहेतुत्वादेव त्वं यज्ञियासि। अदितिः, नास्ति दितिः खण्डनं यस्या सा, अखण्डिता, 'दोऽवखण्डने' इति धातोर्निष्पन्नत्वात्। अदीना देवमातृरूपा चासि, 'अदितिरदीना देवमाता' (निरु. ४.२२) इति यास्कोक्तेः। ज्योतिष्टोमस्याद्यन्तयोः प्रायणीयोदयनीययोरदितिदेवताकत्वेन सेयं सोमक्रयणी गौरुभयतःशीर्ष्णी, उभयतः शीर्षे यस्याः सा तथोक्ता, प्रायणीयोदयनीययोः शीर्षत्वोपचारात्, 'द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये' (निरु. १३.७) इति निरुक्तवचनात्। यद्वोभयतःशीर्ष्णी सर्वतोमुखी, वाग्रूपत्वात्, 'स यदेनया समानꣳ सद्विपर्यासं वदति' (श. ३.२.४.१६) इति श्रुतेः। वाक्येऽन्यथाऽन्यथा क्रमस्य सम्भवात् सा पूर्वोक्ता चिदादिरूपा त्वं नोऽस्मदर्थे सुप्राची

मन्त्रार्थ—हे सोमक्रयणि गौ ! तुम चिदात्मा हो, बुद्धिस्वरूपा हो, मनःस्वरूपा हो, दक्षिणारूप हो, दाता की कष्ट से रक्षा करने वाली हो, यज्ञसंबन्धिनी होने से यज्ञ के योग्य हो, देवमाता अदितिस्वरूपा हो, पृथ्वी और स्वर्ग दोनों ओर सिर रखने वाली, अर्थात् दिव्य और भौम भोगों को देने वाली हो। तुम हमारे लिये पूर्वमुखी, पश्चिममुखी होओ। सूर्य दक्षिण पाद से तुमको बांधे। पूषा देवता यज्ञ के स्वामी इन्द्र देवता की प्रसन्नता के लिये मार्ग में तुम्हारी रक्षा करें॥ इस मन्त्र से वाणी का रूप मानकर सोमक्रयणी गौ की स्तुति की जाती है॥१९॥

सुप्रतीची एधि भव। सु प्राङञ्चतीति सुप्राची, सुष्ठु प्रत्यङ्ङञ्चतीति सुप्रतीची। प्रथमं सोमस्य क्रेतारं प्रति प्राङ्मुखी भूत्वा पश्चात् सोमेन सह अस्मान् प्रत्यागन्तुं प्रत्यङ्मुखी भव, 'सुप्राची न एधि सोमं नोच्छेहीत्येवैतदाह सुप्रतीची न एधि सोमेन नः सह पुनरेहीत्येवैतदाह' (श. ३.२.४.१७) इति श्रुतेः। किञ्च, मित्रो हितकारी सूर्यो देवो यदि दक्षिणपादे त्वा त्वां बध्नीतां बन्धनं करोतु, अप्रणाशाय ते पूषा सर्वपोषको देवः सूर्य एवाध्वनो भयोपेतान्मार्गात् त्वां पातु रक्षतु। अथवा पूषेति टाबन्तं स्त्रीलिङ्गपदम्, पूषा पृथिवी त्वां मार्गात् पातु, 'इयं वै पृथिवी पूषा' (श. ३.२.४.१९) इति श्रुतेः। किमर्थम्? इन्द्राय इन्द्रप्रीत्यर्थम्। कीदृशायेन्द्राय? अध्यक्षाय अधि उपरि अक्षिणी यस्य सोऽध्यक्षस्तस्मै द्रष्ट्रे, यज्ञस्वामिन इत्यर्थः। यद्वा चतुर्थ्याः षष्ठ्या विपरिणामः। इन्द्रस्याध्यक्षस्य सोमयागस्वामिने हितायेति शेषः ॥१९॥

अनु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यता॒मनु॑ पि॒तानु॒ भ्रा॒ता सग॒र्भ्योऽनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः। सा दे॑वि दे॒वमच्छेहीन्द्रा॑य॒ सोम॑ꣳ रु॒द्रस्त्वाव॑र्तयतु स्व॒स्ति सोम॑सखा॒ पुन॒रेहि॑ ॥२०॥

सोमयागस्याध्यक्षायेन्द्राय तत्स्वामिने देवाय प्रीत्यर्थं सोमक्रयसाधनत्वेन सोमाहरणे प्रवृत्तां त्वां माता त्वदीया त्वा त्वामनुमन्यतां त्वामङ्गीकरोत्वनुज्ञां ददातु। पित्रादयोऽप्यनुमन्यन्ताम्। सगर्भ्यः समानगर्भभवः सहोदरो भ्राता अनुमन्यताम्। 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' (पा. सू. ६.३.८४) इति समानस्य सादेशः। त्वया सहैकस्मिन् गर्भेऽवस्थितो वत्सो भ्राताऽनुज्ञां करोतु। सयूथ्यः सखा सह सञ्चारी वत्सः स एव सयूथ्यः सखानुमन्यताम्। हे देवि सोमक्रयणि, या त्वमस्माभिः कृतसामग्रीका सा त्वमिन्द्राय इन्द्रार्थं हे देवि दानादिगुणयुक्ते, सोमं देवं सोमम्, अच्छेहि सोमद्रव्यं प्राप्तुं गच्छ, 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (निरु. ५.२८)। सोमं गृहीत्वा स्थितां त्वां रुद्रो देवो वर्तयतु अस्मान् प्रति निवर्तयतु। यद्वा रुद्रो देवस्त्वां वर्तयतु प्रवर्तयतु, पशूनां रुद्राज्ञावशवर्तित्वात्। सोमो देवः सखा यस्याः सा त्वं सोमसखा सोमसहिता स्वस्ति क्षेमेण पुनरेहि भूयोऽप्यागच्छ।

तित्तिरिर्विस्पष्टमेनमर्थं प्रपञ्चयामास। शतपथेऽपि स्पष्टमुक्तम्। तथाहि—'अथोपनिष्क्रम्याभिमन्त्रयते। चिदसि मनासीति चित्तं वा इदं मनो वागनुवदति धीरसि दक्षिणेति धिया धिया ह्येतया मनुष्या जुज्यूषन्त्यनूक्तेनेव प्रकामोद्येनेव गाथाभिरिव तस्मादाह धीरसीति दक्षिणेति दक्षिणा ह्येषा क्षत्रियासि यज्ञियासीति क्षत्रिया ह्येषा यज्ञिया ह्येषादितिरस्युभयतःशीर्ष्णीति स यदेनया समानꣳ सद्विपर्यासं वदति यदपरं तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वं तदपरं तेनोभयतःशीर्ष्णी तस्मादाहादितिरस्युभयतःशीर्ष्णीति' (श. ३.२.४.१६)। तस्या अभिमन्त्रणं विधत्ते—अथेति। उपनिष्क्रम्य यज्ञशालाया निर्गम्य। अभिमन्त्रणमन्त्रं व्याचष्टे—चिदसि मनासीति। इदमिदानीं सर्वविदितप्रकारेण चित्तं मनः, मनसा वागनुवदति, चित्तेन ज्ञातं मनसा मतमेवार्थं वाक् प्रकाशयति। अतो हे सोमक्रयणि, वाग्रूपा त्वं

• **मन्त्रार्थ— हे वाणी रूपी गौ! सोम लाने में प्रवृत्त तुमको तुम्हारी पृथ्वी माता आज्ञा दे, स्वर्ग पिता आज्ञा दे, सहोदर भाई ईश आज्ञा दे, एक यूथ (समूह) में प्रकट होने वाला आत्मप्रतिबिम्ब सखा आज्ञा दे। हे दिव्यगुणयुक्त सोमक्रयणि! तुम इन्द्र के लिये सोमलता लाने को जाओ। रुद्र देवता तुमको पुनः हमारी तरफ लौटावें, सोम को लेकर तुम क्षेमपूर्वक फिर हमारे पास आ जाओ॥ इस मन्त्र में भी वाणी रूपी गौ की स्तुति की गई है॥२०॥**

भाष्यसार—'चिदसि' इत्यादि दो कण्डिकाओं से सोमक्रय के लिये निर्धारित सोमक्रयणी गौ का अभिमन्त्रण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (७.६.१३) में निर्दिष्ट है।

चेतनावस्थापन्ना सती चिदसि तथा मननेन मना अपि असि। धीरसि धीरूपाप्यसि। कुत इत्याह—धिया इत्थं वदिष्यामीति बुद्ध्या चित्तवदभिवदनरूपेण वा कर्मणा, 'धीरिति कर्मनाम' (निघ. २.१.२१), जुज्यूषन्ति जीवितुमिच्छन्ति मनुष्याः। तया जीवनप्रकारं स्वयमेव दर्शयति श्रुतिः—अनूक्तेनेति। अनूक्तेन अनुवचनेन वेदाध्ययनेन, प्रकामोद्येन इच्छया लौकिकभाषणेन, गाथाभिर्गद्यपद्यमयीभिः कथाभिः। सर्वत्र इवेति वाक्यालङ्कारे। एवंविधैर्वाग्विशेषैर्जीवितुमिच्छन्ति। एवं वाग्रूपायास्तव चित्तमनोधीरूपत्वमुपपद्यते।

दक्षिणेति सोमविक्रयिण आनत्यर्थं दीयमानत्वात् साक्षाद् दक्षिणापि खल्वेषा वस्तुतो भवति। क्षत्रं बलं तदर्हतीति क्षत्रिया गौः, पयआदिसाधनत्वेन तस्या बलकरत्वोपपत्तेः। अथवा क्षत्रं सोमः, 'सोमो वै राजा' (ऐ. ब्रा. १.१५) इति राजशब्देन व्यवहारात्। न यज्ञयोगादेव राजत्वम्, किन्तु जात्यापि क्षत्रियत्वम्। 'यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यः' (श. १४.४.२.२३)। अतः सोमसम्बन्धात् क्षत्रियैवैषा। हे वाग्रूपे, त्वमदितिरसि, उभयतःशीर्ष्णी अदितिरसि, प्रदेशद्वयशिरोयुक्ता अखण्डनीया गौरसि। कुत एतदित्याह—स यदेनया समानं सद्विपर्यासमिति। स वक्ता यद् यस्माद् एनया अदित्या उभयशिरस्कया निमित्तभूतया समानमेकमेव वाक्यं विपर्यासं व्यत्यासेन वदति। तथाहि—भुङ्क्ष्व देवदत्त तिष्ठ विष्णुमित्र इत्यादौ यदेवापरं वचनं देवदत्तेत्येवमादि तदेव पूर्वं करोति। उक्तवैपरीत्येन यत्पूर्वं भुङ्क्ष्वेत्यादिकं तदपरं देवदत्त भुङ्क्ष्व विष्णुमित्र तिष्ठेत्येवंरूपेणापरं च करोति। तस्माद् वाग्रूपतया सोमक्रयणी उभयतःशीर्ष्णी अदितिरसीत्युच्यते। तैत्तिरीयके तु—'अदितिरस्युभयतःशीर्ष्णीत्याह यदेवादित्यः प्रायणीयो यज्ञानामादित्य उदयनीयः' (तै. सं. ६.१.७.५) इति शिरोवत् प्रधानभूतयोः सोमयागस्याद्यन्तभूतयोः प्रायणीयोदयनीययोरदितिर्देवतास्तीति सोभयतःशीर्ष्णीत्युच्यते।

'सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधीति। सुप्राची न एधि सोमं नोऽच्छेहीत्येवैतदाह सुप्रतीची न एधि सोमेन नः सह पुनरेहीत्येवैतदाह तस्मादाह सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधीति' (श. ३.२.४.१७)। सोमक्रयणावसरे सुप्राची भव, पुनर्यजमानगृहप्राप्त्यवसरे क्रीतेन सोमेन सह सुप्रतीची भव। यथा देवप्रेरिता वाक् सोमेन सह पुनरागता, तदात्मकत्वात्, त्वमपि सोमक्रयं साधयित्वा क्रीतेन सोमेन सार्धं पुनरावर्तस्वेत्यर्थः। मित्रस्त्वा पदि बन्धीतामिति। वरुण्या वा एषा यद्रज्जुः सा यद्रज्ज्वाभिहिता स्याद्वरुण्या स्याद्यद्वनभिहिता स्यादयतेव स्यादेतद्वा अवरुण्यं यन्मैत्रꣳ सा यथा रज्ज्वाभिहिता यतैवमस्यैतद् भवति यदाह मित्रस्त्वा पदि बन्धीतामिति' (श. ३.२.४.१८)। मित्रदेवतायाः पादबन्धनोपयोगं दर्शयति—वरुण्या वा इति। पाशस्य वरुणस्वामिकत्वाद् वरुणदेवताका रज्जुः। यद् यदि तया अभिहिता बद्धा स्यात्तदा वरुण्या स्यात् सोमार्थता न स्यात्, यद्यनभिहिता अबद्धा तदा अयता अस्वाधीना स्यात्। अत एतद्दोषपरिहाराय मन्त्रे मित्रकर्तृकपादबन्धनमित्याह—एतद्वा अवरुण्यं यन्मैत्रꣳ सा यथा रज्ज्वाऽभिहिता यतैवमस्यैतद् भवति यदाह मित्रस्त्वा पदि बन्धीतामिति। 'पूषाऽध्वनस्पात्विति। इयं वै पृथिवी पूषा यस्य वा इयमध्वन् गोप्त्री भवति तस्य न काचन ह्वला भवति तस्मादाह पूषाऽध्वनस्पात्विति' (श. ३.२.४.१८-१९)। यस्या वा इयं पृथिवी पूषा स्यात्, अध्वनि काचन ह्वला प्रच्युतिर्विनाशो न भवति, 'ह्वल चलने'। यस्मात् पूष्णा रक्षितस्य प्रच्युतिर्विनाशो नास्ति, तस्मात् पूषाऽध्वनस्पातु। पूष्णो मार्गाणां नेतृत्वं 'पूषा त्वेतो नयतु' (ऋ. सं. १०.८५.२६) इति श्रुतिसिद्धम्।

'इन्द्रायाध्यक्षायेति। स्वध्यक्षा सदित्येवैतदाह यदाहेन्द्रायाध्यक्षायेत्यनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य इति सा यत्ते जन्म तेन नोऽनुमता सोममच्छेहीत्येवैतदाह सा देवि देवमच्छेहीति देवी ह्येषा देवमच्छैति यद् वाक् सोमं तस्मादाह सा देवि देवमच्छेहीतीन्द्राय सोममितीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्राय

सोममिति रुद्रस्त्वावर्तयत्वित्यप्रणाशायैतदाह रुद्रꣳ हि नाति पशवः स्वस्ति सोमसखा पुनरेहीति स्वस्ति नः सोमेन सह पुनरेहीत्येवैतदाह' (श. ३.२.४.२०)। अध्यक्षः स्वामी यज्ञस्य तथाविधायेन्द्राय पूषा पातु। सोमस्येन्द्रस्वामिकत्वात् सोमार्थायाः सोमक्रयण्या अपि तत्स्वामित्वम्। तेन एषा स्वध्यक्षा शोभनस्वामिका असद् भवेद् इत्यनेनाभिप्रायेण मन्त्र एवमाह—अनु त्वा मातेति। हे सोमक्रयणि, त्वा त्वां मात्रादिबन्धुवर्गः क्रयार्थं गमनमनुमन्यताम् अनुमतिं करोत्विति मन्त्रभागस्यार्थः। सगर्भ्यः समाने गर्भे भवः, अनेन भ्राता विशेष्यते। सयूथ्यो यूथं सजातीयानां सङ्घः, समाने यूथे भवः सयूथ्यः, तादृशः सखा अनुमन्यताम्। यत्ते जन्मेति तादृश्यास्तव सम्बन्धि यज्जन्म यद् यत्र जायते तेन मात्रादिबन्धुवर्गेणानुमता सोमममच्छेहि सोमं प्राप्तुमेहि। हे देवि, सा त्वं देवं सोमममच्छेहि। देवि देवमित्यत्र सोमस्य देवत्वं विधित्सितम्, सोमेनानन्यत्वाच्च सिद्धं सोमक्रयण्या देवीत्वं न स्तुत्यर्थमित्यवगमयितुं यद् वाक् सोममित्युक्तम्। यथा वाक् सोमं गतवती, तथैवेयं सोमक्रयणी सोमं प्रति गच्छतीति। 'इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता' (श. ३.२.४.२०)। यज्ञस्य तत्साधनस्य सोमस्येन्द्रो देवता। तथा च तैत्तिरीयके—'इन्द्राय हि सोम आह्रियते' (तै. सं. ६.१.७.७) इति। रुद्रस्त्वावर्तयत्विति। रुद्रस्य पश्वधिपतित्वात् स्वयमगृह्णन् पुनरावर्तयत्वित्यभिधानं तस्या अप्रणाशाय भवति। कथं हिंसाप्रसङ्ग इति तत्राह—रुद्रं हि पशवो नाति, वर्तन्त इति शेषः। स्वस्ति सोमसखेति। 'स्वस्तीत्यविनाशनाम' (निरु. ३.२१) इति निरुक्तादुक्तोऽनाशप्रसङ्गः। अतः क्षेमेण सोमसखा सोमेन सहिता पुनरागच्छेति मन्त्रार्थः।

'तां यथैवादो देवाः। प्राहिण्वन् सोमममच्छ सेनान्त्सह सोमेनागच्छ देवमेवैनामेष एतत् प्रहिणोति सोमममच्छ सैनꣳ सह सोमेनागच्छति' (श. ३.२.४.२१)। 'तां यथैवादो देवाः। व्यह्वयन्ते गन्धर्वैः सा देवानुपावर्ततैवमेवैनामेतद्यजमानो विह्वयते सा यजमानमुपावर्तते तामुदीचीमत्याकुर्वन्त्युदीची हि मनुष्याणां दिक् सो एव यजमानस्य तस्मादुदीचीमत्याकुर्वन्ति' (श. ३.२.४.२२)। मन्त्रभागानां विभागेनाभिप्रायमुक्त्वा सम्पूर्णमन्त्रतात्पर्यमाह—तां यथैवादो देवा इति। सोमक्रयण्या वागात्मकत्वात् तस्याः सोमक्रयप्रदेशप्राप्तिप्रार्थनं देवैः कृतं सोमानयनार्थं वाक्प्रेषणस्थानीयम्, पुनरागमनप्रार्थनं तु देवानां पुनर्वागाह्वानस्थानीयमिति संग्रहार्थः। तां यथैवाद इति। विप्रकृष्टे काले गन्धर्वैः सोमपालैर्विश्वावसुप्रभृतिभिः साकं देवा व्यह्वयन्त विविधमाह्वयन्, तथैव यथा तत्र वाग्देवानुपावर्तत, एवमेव यजमानो विह्वयते तथैव च सा यजमानमुपावर्तते। गन्तव्यद्वारदक्षिणदेशस्थायाः सोमक्रयण्या उदक्प्रापणं सार्थवादं विधत्ते—तामुदीचीमत्याकुर्वन्तीति। उदङ्मुखा अध्वर्युप्रमुखा उदीचीं नीयमानामनुगच्छन्ति, उदीचीमतिक्रमणायाकुर्वन्ति अभिमुखीकुर्वन्ति अतिक्रमयन्ति यजमानपुरुषाः, सो एव सैव मनुष्यान्तर्वर्तित्वाद् यजमानस्यापि दिक्। 'उदीचीं नीयमानामनुगच्छतो वस्व्यसीति' (का. श्रौ. ७.६.१४)। दक्षिणद्वारात् सोमक्रयणार्थमुक्तदेशं प्रति नीयमानामुदङ्मुखीं गामध्वर्युप्रतिप्रस्थातारावनुगच्छेतां वस्व्यसीति मन्त्रेण, पत्नी-यजमान-ब्रह्माणस्तूष्णीम्।

अध्यात्मपक्षेऽपि— हे राजराजेश्वरि, त्वं चिदसि अखण्डबोधरूपासि, त्वमेव मनोऽसि अखण्डचिद्रूपाया ब्रह्मरूपायाश्चितेरेव मनाङ् मननीशक्तिधारणेन मनस्त्वापत्तिः। 'स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान्। स मनाङ् मननीशक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥' इति योगवाशिष्ठवचनात्। त्वमेव धीर्बुद्धिरसि, 'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है— हे राजराजेश्वरि, आप अखण्डबोधरूपा हैं। आप ही ब्रह्मस्वरूपिणी चिद्रूपिणी मननशक्ति हैं। आप ही बुद्धरूपा हैं। आप ही यज्ञ की पूर्णता की कारणरूपा दक्षिणा भी हैं। आप ही तेजःप्रधाना क्षत्र शक्ति हैं। देवमाता अथवा अखण्ड चिद्रूपा आप ही हैं। अविद्या तथा विद्या रूपी संसार के बन्धन एवं मोक्ष के कारणभूत शीर्ष को

संस्थिता' इति सप्तशतीवचनात्। त्वमेव यज्ञतृप्तिहेतुर्गवादिर्देयद्रव्यरूपा दक्षिणाऽप्यसि। त्वमेव क्षत्रियासि, तेजःप्रधानायाः क्षत्रशक्तेरपि शक्तिसामान्यान्तर्भावात्। अदितिर्देवमातृरूपापि त्वमेवासि, अखण्डचिद्रूपापि त्वमेवासि। उभयतो विद्याऽविद्यारूपे संसारबन्धमोक्षहेतुभूते शीर्षे यस्याः सोभयतःशीर्ष्णी सा त्वं नोऽस्मभ्यं सुप्राची अभ्युदयहेतुत्वेन सुप्राची निःश्रेयसहेतुत्वेन सुप्रतीची एधि भव। संसारोऽयमभ्युदयेन प्रारभ्यते निःश्रेयसेन च समाप्यते। हे प्रत्यक्चिते, मित्रः सूर्यो ज्ञानरूपः, यदि दक्षिणपादे त्वां बध्नीताम्, स्वशक्त्या त्वां योजयतु, तेन निवृत्तिमार्गः सिद्ध्यति। पूषा पोषको देवः, अध्वनो दुर्गात् त्वां पातु, 'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' (कठो. १.३.१४) इति श्रुतेः। एवं देवं भगवन्तं प्राप्तुमुद्यतां त्वां माता प्रकृतिस्तदवच्छिन्ना चिद्वा अनुमन्यतामनुजानातु। पिता परमेश्वरः, सगर्भ्यो भ्राता व्यावहारिकोऽनुमन्यताम्, सयूथ्यः सखा चानुमन्यताम्। हे देवि प्रत्यक्चिते, त्वं देवं परमात्मानमच्छ प्राप्तुमेहि। कीदृशं देवम्? सोममुमया सहितम्। रुद्रो देवस्त्वामावर्तयतु विघ्नान् विद्राव्य परमात्मप्राप्तये प्रवर्तयतु। सोमः साम्बशिवः सखा सहायको यस्याः सा त्वं स्वस्ति सकुशलं पुनरेहि पुनः स्वस्वरूपं प्राप्नुहि ॥२० ॥

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि। बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके ॥२१ ॥

'उदीचीं नीयमानामनुगच्छतो वस्व्यसीति' (का. श्रौ. ७.६.१४)। सायणरीत्याऽध्वर्युयजमानावनुगच्छतः, अन्यदृष्ट्या तु सूत्रं व्याख्यातमेव। अनुष्टुप्, बृहती वा। सोमक्रयणी स्तूयते—हे सोमक्रयणि, त्वं वस्वी वसुरूपासि। रुद्रा एकादशरुद्ररूपासि। चन्द्ररूपा चासि। किञ्च, बृहस्पतिः सुम्ने सुखे सुखकरे मार्गे वा त्वा त्वां रम्णातु रमयतु। रमतेर्व्यत्ययेन श्नाप्रत्ययः। यद्वा रम्णातु संयमयतु, 'रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा' (नि १०.९) इति यास्कोक्तेः। रुद्रो वसुभिरष्टदेवैः सहितस्त्वामाचके रक्षितुं कामयताम्। आचक इति, चकमानः कान्तिकर्मसु पठितः (निघ. २.६.१६)।

आप धारण करती हैं। ऐसी आप हमारे लिये अभ्युदय के रूप से सम्मुख तथा निश्रेयस के रूप से पश्चात् दोनों तरफ स्थित रहें, क्योंकि यह जगत् अभ्युदय से प्रारम्भ होता है तथा निश्रेयस द्वारा समाप्त होता है। हे प्रत्यक् चितिस्वरूपा, ज्ञानरूपी सूर्य आपको दक्षिण पाद में अपनी शक्ति से संयुक्त करे। इस प्रकार से निवृत्ति मार्ग की सिद्धि होती है। पोषक देव (पूषा) दुर्गम पथ से रक्षा करें।

द्वितीय कण्डिका का आध्यात्मिक अर्थ यह है—उपर्युक्त प्रकार से भगवत्प्राप्तिहेतु उद्यत आपको माता प्रकृति अथवा प्रकृत्यवच्छिन्ना चिति अनुज्ञा प्रदान करे। पिता परमेश्वर तथा व्यावहारिक भ्राता भी अनुज्ञा प्रदान करें। समान स्तर के मित्र भी अनुमति दें। हे प्रत्यक्चितिरूपा देवि ! आप उमासहित विद्योतमान परमात्मा की प्राप्ति के लिये जाँय। रुद्र देव आपको विघ्ननिवारण पूर्वक परमात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त करें। साम्ब सदाशिव से सहायताप्राप्त आप सकुशल पुनः स्वस्वरूप को प्राप्त करें ॥१९-२० ॥

मन्त्रार्थ—हे वाक्! हे गौ! तुम वसु देवता की शक्तिरूपा हो, देवमाता रूप हो, द्वादश आदित्य रूप हो , एकादश रुद्र रूप हो, चन्द्र रूप हो, बृहस्पति देवता तुमको सुख पहुंचावें, रुद्र देवता आठ वसुओं के साथ तुम्हारी रक्षा की कामना करें॥ इस मन्त्र से सोमक्रमणी को यजमान उत्तर की ओर ले जाते हुए उसकी स्तुति करता है ॥२१ ॥

भाष्यसार— कात्यायन श्रौतसूत्र (७.६.१४) के अनुसार 'वस्व्यसि' इस मन्त्र से अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता (सायण के मत से अध्वर्यु तथा यजमान) सोमक्रयणी गौ का अनुगमन करते हैं। इस याज्ञिक विनियोग के अनुसार शतपथ ब्राह्मण में व्याख्या उपदिष्ट है।

'सप्तपदान्यनु निक्रामति' (श. ३.३.१.१) इति सोमक्रयण्या अनुक्रमणं विहितम्। सा यदा प्रथमं पदं निष्क्रामति, तदनु अध्वर्युः स्वयमपि प्रथमं पदं निष्क्रामति, द्वितीयमनु द्वितीयम्। वृङ्क्ते एवैनाम्, केवलो वृजिराङ्पूर्वो द्रष्टव्यः, आवर्जितवानेनाम्। सप्तसंख्यां प्रशंसति—यत्र वा इति। सुपर्णीरूपेणावस्थिताया वाचः सकाशाच्छन्दानामुत्पत्तिकाले तेषां छन्दसां परार्ध्या शक्वरी, परार्धे उपरिभागे भवा परार्ध्या। शक्वर्याः सप्तपदत्वं प्रसिद्धम्, 'सप्तपदा शक्वरी' (तै. सं. ६.१.८.१)। परस्तादर्वाचीं वृङ्क्ते स्वाभिमुखमावर्जितवान् भवति। 'षट् पदान्यतीत्य सप्तमं पर्युपविशन्ति' (का. श्रौ. ७.६.१५)। नीयमाना सोमक्रयणी यत्र पदानि निक्षिपति, तानि दक्षिणोत्तराणि गमयित्वा षट्पदान्यतीत्य सप्तमे पदनिक्षेपस्थानेऽध्वर्यु-ब्रह्म-यजमानप्रतिप्रस्थातार उपविशेयुः। तत्र दक्षिणतो ब्रह्मयजमानौ, पश्चादध्वर्युरुत्तरतः प्रतिप्रस्थातेति।

'स वै वाच एव रूपेणानु निक्रामति। वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासीति वस्वी ह्येषादितिर्ह्येषादित्या ह्येषा रुद्रा ह्येषा चन्द्रा ह्येषा बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णात्विति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्बृहस्पतिष्ट्वा साधुना वर्तयत्वित्येवैतदाह रुद्रो वसुभिराचक इत्यप्रणाशायैतदाह रुद्रꣳहि नाति पशवः' (श. ३.३.१.२)। अनुक्रमणं समन्त्रकं कर्तव्यमित्याह—स वै वाच इति। अनुक्रमणमन्त्रे सोमक्रयण्यवस्थादिरूपत्वाभिधानं न स्तुत्यर्थमित्याह—वस्वी ह्येषादितिर्ह्येषेत्यादिना। वसुरुद्रादित्याः सवनत्रयदेवताः, अदितिः प्रायणीयोदयनीयदेवता, चन्द्रशब्देनाह्लादकत्वादियुक्तं सुवर्णमुक्तम्। हे सोमक्रयणि, त्वं वस्वादीनां स्वरूपमसि, तदपेक्षितसोमसाधनत्वाद् वस्वी ह्येषा इत्याद्यभिधानम्। रम्णात्वित्यादिकं स्पष्टार्थम्। बृहस्पतिष्ट्वेत्यस्य तात्पर्यमाह—ब्रह्म वै बृहद् बृहतो मन्त्रस्य पालयिता। तदभिमानिदेवता गच्छन्तीं त्वां सुम्ने सुखकरे यत्सुखकरं तत्साधुः, अतः सुम्ने रम्णात्विति यदाह तेन साधुना मार्गेण आवर्तयत्वित्येवैतदाह—रुद्रो देवो वसुभिरिति। हे सोमक्रयणि, तव सुखं वसुभिः सहितो रुद्र आचके कामयत इति मन्त्रभागस्यार्थः। रुद्रप्रार्थनाया उपयोगं दर्शयति—अप्रणाशायेति। 'अथ सप्तमं पदं पर्युपविशन्ति। स हिरण्यं पदे निधाय जुहोति न वा अनग्नावाहुतिर्हूयते। अग्निरेतसं वै हिरण्यं तथोहास्यैषा अग्निमत्येवाहुतिर्हुता भवति वज्रो वा आज्यं वज्रेणैवैतदाज्येन स्पृणुते ताꣳ स्पृत्वा स्वीकुरुते' (श. ३.३.१.३)। यजमानमितरांश्चर्त्विजोऽपेक्ष्य पर्युपविशन्तीति बहुवचनम्। परितः सप्तमपदस्य सर्वतो दिक्षूपविशन्ति। क्रमस्तूक्त एव। सोऽध्वर्युर्हिरण्यं पदे निधाय जुहोति। होमाय हिरण्यनिधानं प्रशंसति—न वानग्नावाहुतिः क्रियत इति। हिरण्यस्याग्निरेतस्त्वमुक्तमेव। होमसाधनमाज्यम्। तथा सत्यग्निमेवाहुतिर्हुता भवति। होमसाधनमाज्यं प्रशंसति—वज्रो वा इति। 'घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्' (तै. सं. ६.२.३.४) इति श्रुत्यन्तरात्। स्पृणुते हिनस्ति, तां पदप्रदेशस्थां मृदमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सैव प्रत्यक्चितिस्तत्त्वज्ञानेन ब्रह्मात्मभावमापन्ना सार्वात्म्यं भजते। हे प्रत्यक्चिते, त्वं वसुरूपासि अदितिरूपासि आदित्यासि रुद्रचन्द्रादिरूपासि। बृहस्पतिर्ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री देवता त्वा त्वां सुम्ने सुखरूपे सुखकरे ब्रह्मणि रम्णातु रमयतु रुद्रो देवो वसुभिः सह त्वा त्वां रक्षितुमाचके कामयताम्। तत्त्वज्ञानप्रदानेनाज्ञानतत्कार्यात्मकप्रपञ्चबाधनमेव रक्षणम्। तच्च रुद्रानुग्रहेणैव सम्भवति, 'विद्याकामस्तु गिरिशम्' (भा. पु. २.३.७) इति श्रीमद्भागवतवचनात्।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—वही प्रत्यक्चिति तत्त्वज्ञान के द्वारा ब्रह्मात्मभाव को प्राप्त करके सर्वात्मता धारण करती है। हे प्रत्यक्चिति, तुम वसुरूपा हो, अदितिरूपा हो, आदित्यरूपिणी हो, रुद्रचन्द्रादिस्वरूपा हो। ज्ञानविज्ञानाधिष्ठातृ देवता बृहस्पति

पूर्वोक्तानां चतुर्णां मन्त्राणां सम्बन्धे दयानन्दस्वामिनः—'चिद् या विद्याव्यवहारस्य चेतयमाना वाग् विद्युद्वा असि अस्ति। सर्वत्र व्यत्ययः। मना ज्ञानसाधिका असि अस्ति, धीः प्रज्ञा कर्मविद्याधारिका दक्षिणा दक्षन्ते प्राप्नुवन्ति विज्ञानं विजयश्च यया सा अस्ति, क्षत्रिया या क्षत्रस्यापत्यवद् वर्तते अस्ति, यज्ञिया या च यज्ञमर्हति सा अस्ति, अदितिरविनाशिनी अस्ति, उभयतःशीर्ष्णी उभयतः शिरोवदुत्तमा गुणा यस्यां सा। अत्र पञ्चम्या अलुक्। सा नोऽस्मभ्यं सुप्राची शोभनः प्राक् पूर्वः कालो यस्यां सा, सुप्रतीची सुष्ठु प्रत्यक् पश्चिमः कालो यस्यां सा, एधि भवतु। मित्रः सखा त्वा तां यदि पद्यते जानाति प्राप्नोति येन व्यवहारेण तस्मिन् बध्नीतां बद्धां कुरुताम्। पूषा पुष्टिकर्ता अध्वनो मार्गस्य मध्ये पातु रक्षतु। इन्द्राय परमैश्वर्यवते परमेश्वराय स्वामिने व्यवहाराय वा अध्यक्षाय अधि उपरि अन्वेक्षणे अक्षाण्यक्षिणी वा यस्य यस्माद्वा तस्मै' इति, तदपि चिन्त्यम्, चित्पदेन वाचो विद्युतो वा बोधासम्भवात्, 'चिती संज्ञाने' इति धातोर्निष्पद्यमानस्यापि चिच्छब्दस्य विद्युदर्थासङ्गतेः, ज्ञानजनकत्वेन वाचि कथञ्चित् प्रवर्तमानत्वेऽपि ज्ञानजनकेषु चक्षुरादिष्वपि तत्प्रयोगापत्तेः। 'मना असि ज्ञानसाधिका' इत्यप्यसङ्गतम्, चिदसीत्यनेनैव गतार्थत्वात्। 'धीः कर्मविद्याधारिका' इत्यप्यसङ्गतम्, विद्युति कर्मधारकत्वोपपत्तावपि विद्याधारकत्वानुपपत्तेः। वाच्यपि विद्याधारकत्वं न सम्भवति, वाचो ज्ञानाधिकरणत्वायोगात्। व्यत्ययश्च निष्प्रमाणकः। एवं दक्षिणापदमपि वाचि विद्युति च नोपपद्यते, विज्ञानसाधने चक्षुरादौ विजयसाधने शस्त्रादौ च दक्षिणापदप्रयोगापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, लोके तथाऽप्रयोगात्। 'क्षत्रस्यापत्यवद् वर्तते या सा क्षत्रिया' इत्यपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागे गौणार्थग्रहणे च मानायोगात्। 'उभयतःशीर्ष्णी उभयतः शिवोवदुत्तमा गुणा यस्यां सा' इत्यपि न किञ्चित्, उभयत इत्यस्यानिरुक्तेः। अदितिरित्यपि न सङ्गच्छते, वाचो विद्युतश्च विनाशदर्शनात्। सुप्राचीत्यस्यापि व्याख्यानमसङ्गतम्, प्राक्कालेऽविद्यमानत्वेन सुखसाधनत्वायोगात्। एवमेव पश्चिमकालेऽपि सुखसाधनत्वं नोपपद्यते, तदानीं तस्या असत्त्वात्। वाचो विद्युतश्च प्राक्काले यथाऽसत्त्वं पश्चिमकालेऽपि तथैवासत्त्वम्, कार्यमात्रस्य प्राक्पश्चिमकालयोरसत्त्वनिश्चयात्। कश्च सखा तां वाचं व्यवहारे बध्नाति? यदुक्तं 'सर्वस्य मित्रः' इति, तदप्यसङ्गतम्, परमात्मानमन्तरा क्वचिदपि तदसम्भवात्। मित्रत्वार्थकत्वे मित्रशब्दस्य गौणार्थतैव स्यात्। पूषापि कः? वाग् विद्युच्च उपयोक्तॄणां कौशालादकौशलाच्च शुभाशुभव्यवहारयोरुपयुक्ते भवतः। 'इन्द्राय परमैश्वर्यवते परमेश्वराय' इत्यनेन किमुक्तम्? तदपि न स्पष्टम्। अध्वनः पात्विति समन्वये सम्भवति मध्य इत्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव। श्रुतिसूत्रस्वारस्यं तु सिद्धान्तव्याख्यान एव सङ्गच्छत इति पूर्वोक्तव्याख्यानपरिशीलिनां न तिरोहितम्।

एवमेव 'अनु त्वा माता' इत्यत्रापि 'हे मनुष्य, यथा रुद्रः परमेश्वरो विद्वान् वा यां वाणीं विद्युतं सोमं देवं स्वस्ति सुखं यस्मा इन्द्राय आवर्तयतु स सोमसखा, देवी वाग् विद्युद् देवं विद्वांसमेति, तथैव त्वं तस्मै पुनरच्छेहि

तुमको सुखस्वरूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित करें। रुद्रदेव वसुओं के साथ रक्षणहेतु कामना करें। तत्त्वज्ञान के प्रदान द्वारा अज्ञानप्रपञ्च का बाधन ही रक्षण है। यह रुद्र के अनुग्रह से ही हो सकता है, यह श्रीमद्भागवत (२.३.७) का वचन है।

पूर्व के चार मन्त्रों के सम्बन्ध में दयानन्द स्वामी का व्याख्यान असंगत है, क्योंकि 'चित्' शब्द से वाणी अथवा विद्युत् का बोधन असम्भव है। 'चिती संज्ञाने' इस धातु से निष्पन्न होने वाले चित् शब्द की विद्युत् अर्थ से संगति नहीं है। ज्ञानजनक होने के कारण वाणी के अर्थ में यदि कथञ्चित् प्रयोग हो भी, तो ज्ञानजनक चक्षु आदि इन्द्रियों के लिये भी उसका प्रयोग हो जायगा। रुद्र का अर्थ 'चौआलीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यानुष्ठाता' करना भी प्रमाण न होने के कारण असंगत है।

पुनः पुनः समन्तात् सम्यग्रीत्या प्राप्नुहि। एतद्विद्यां ग्रहीतुं त्वां मातानुमन्यताम्, पितानुमन्यताम्, सगर्भ्यो भ्रातानुमन्यताम्, सयूथ्यः सखानुमन्यताम्। त्वं चैताः पुनः पुरुषार्थेनैहि प्राप्नुहि। देवि देदीप्यमाना देवं परमेश्वरं विद्यायुक्तं शुद्धव्यवहारं वा अच्छ सम्यग्रीत्या ···· इन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये ···· सोममुत्तमपदार्थसमूहं रुद्रः परमेश्वरश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षकृतब्रह्मचर्यो विद्वान् वा त्वां ताम् आसमन्ताद् वर्तयतु प्रवृत्तं कारयतु। स्वस्ति शोभनमस्ति यस्मिन् प्राप्तव्ये तत्सुखम्, सोमसखा सोमः परमेश्वरः सोमविद्याविन्मनुष्यो वा सखा सुहृद् यस्य सः' इत्यादि, तदेतत् सर्वथाऽसङ्गतमेव, रुद्रशब्दस्य चतुश्चत्वारिंशद्वर्षकृतब्रह्मचर्यार्थत्वे मानाभावात्। सोमपदस्याप्युत्तमपदार्थसमूहार्थता काल्पनिक्येव, निर्मूलत्वात्। सोमपदस्य सोमविद्याविन्मनुष्य इत्यपि निर्मूलम्, सोमः परमेश्वरस्तादृङ्मनुष्यः सुहृद्यस्येत्यप्यसङ्गतम्, स सोमसखा इत्यन्वयविरोधात्। विद्याग्रहणविधानस्य मन्त्रे बोधकं किमपि पदं न लक्ष्यते। स्वस्तिपदस्य सुखमिति न सङ्गतम्, सुखातिरिक्तानामपि प्राप्तव्यत्वसम्भवेन व्यभिचारात्। देविपदं किं सम्बोधनमन्यद्वा? न प्रथमः, त्वया तदनङ्गीकारात्। न प्रथमान्तम्, ह्रस्वत्वस्य कारणानुक्तेः। तावताप्यर्थोऽस्फुट एव। हिन्दीव्याख्यानमपि न स्फुटम्—'हे मनुष्य यथा रुद्रश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यन्ताखण्डब्रह्मचर्यपालकः पूर्णविद्यान्वितो विद्वान् वा त्वां यां वाणीं विद्युतं सोममुत्तमपदार्थसमूहं स्वस्ति सुखं च इन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये आवर्तयतु प्रवर्तयतु तथा सोमसखा परमेश्वरः सोमविद्याविन्मनुष्ययुक्तः। देवी विद्याप्रकाशयुक्ता वाणी तथा दिव्यगुणयुक्ता विद्युद् देवमुत्तमधर्मात्मानं प्राप्नोति, तथा तां ग्रहीतुं त्वां मात्रादयोऽनुमन्यन्ताम्' इति, तदेतत् सर्वथाप्यस्फुटं संस्कृतार्थविरुद्धं च। दृष्टान्तस्तु स एव भवति यः प्रयोक्तृप्रतिपत्तृभयसम्मतः स्यात्। परमेश्वरो विद्वान् वा सम्बन्धनीयं मनुष्यं वाणीं विद्युतं शोभनपदार्थसमूहं प्रापयतीति नोभयसम्मतम्। तथा वाणी विद्युद्वा धर्मात्मानं विद्वांसं प्राप्नोतीत्यपि रिक्तं वचः, विपरीतं प्रत्यपि तदुपगमनदर्शनात्। तथैव त्वं तां प्राप्नुहीत्यपि निरर्थकम्, परमेश्वरेण विदुषा वा तत्प्रापणस्योक्तत्वात्। मात्राद्यनुमतिरपि न तत्र हेतुः, अन्यथासिद्धत्वात्। शतपथविरोधोऽपि स्फुट एव।

वस्व्यसीत्यत्र—'वस्वीयाग्न्यादिपदार्थाख्यवसुविद्यासम्बन्धिनी वसुभिश्चतुर्विंशतिवर्षकृतब्रह्मचर्यैः प्राप्ता सा असि अस्ति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। अदितिः प्रकाशवन्नित्या। आदित्या आदित्यवत्प्रकाशिका अष्टत्वारिंशद्वत्सरपर्यन्तानुष्ठितब्रह्मचर्यैः स्वीकृता सा असि अस्ति। रुद्रा या प्राणवायुसम्बन्धिनी चतुश्चत्वारिंशद्धायनसेवितब्रह्मचर्यैः स्वीकृता सा चन्द्रा आह्लादयित्री असि अस्ति। बृहस्पतिः परमेश्वरो विद्वान् वा तां सुम्ने सुखे रम्णातु रमयतु। अत्रान्तर्गतो ण्यर्थो विकरणव्यत्ययश्च। रुद्रो दुष्टानां रोदयिता विद्वान् वसुभिरुषितसर्वविद्यैर्विद्वद्भिः सह आ समन्ताद् आचके कमितवान् कामयतां वा' इति, तदपि निर्मूलमसङ्गतं च, असम्बद्धत्वात्। अग्न्यादिपदार्थाख्यवसुविद्या तत्सम्बन्धिनी वाणी विद्युच्च चतुर्विंशतिवर्षकृतब्रह्मचर्यैः प्राप्यते, किञ्च तत्र मानमित्यनिरूपणाच्च। रुद्रा आदित्यवत् सर्वविद्याप्रकाशिका या वाणी विद्युच्च अष्टचत्वारिंशद्धायनावधिसेवितब्रह्मचर्यैः स्वीकर्तव्या, तत्रापि किं मानम्? कथञ्चिद् वाक्षु वैलक्षण्येऽपि विद्युति कीदृग्वैलक्षण्यम्? अमुकामुकवर्षपर्यन्तकृतब्रह्मचर्याणां तत्र कथमुपयोगः? तथार्थबोधकपदाभावात्। किमप्येतत्पदं निर्मूलतां नातिवर्तते। तां वाणीं परमेश्वरो विद्वान् वा कथं सुखे रमयिष्यति? वाचो विद्युतश्च जडत्वेन सुखरमणाद्यसम्भवात्। किञ्च, बृहस्पतिरुद्रशब्दावुभावपि यदि परमेश्वरबोधकौ तदान्यतरप्रयोगो व्यर्थ एव स्यात्। वसुरुद्रादित्यदिशब्दा लक्षणया अष्टैकादशद्वादशादिसंख्याबोधका भवन्ति, परं प्रकृते चतुर्विंशत्यादिवर्षपर्यन्तकृतब्रह्मचर्यप्राप्यार्थबोधकत्वं तेषां कथम्? 'वालाग्रशतभागोऽपि न कल्प्यो ह्यप्रमाणकः' इत्याप्तोक्तिविरोधात्। शतपथव्याख्याविरोधश्च स्पष्ट एव।

'आदित्यास्त्वा' इत्यत्र यदुक्तम्—'आदित्या अन्तरिक्षस्य त्वा तां मूर्धन् मूर्धनि वर्तमानाम् आसमन्ताज्जिघर्मि प्रदीप्ये सञ्चालयामि वा देवयजने देवानां विदुषां संगतिकरण एतेभ्यो दाने वा पृथिव्या भूमेर्मध्ये इडायाः स्तोतुमन्वेष्टुमर्हाया वेदवाण्याः, 'इडेति वाङ्नामसु पठितम्' (निघ. १.११.३), पदं वेदितव्यं प्राप्तव्यं वा असि अस्ति। घृतवद् घृतेन पुष्टिदीप्तिकारकेण तुल्या स्वाहा यया क्रियया सुहुतं यजति तस्याः, अस्मे अस्मासु रमतां रमयतु वा। अस्मे अस्माकम्, ते तव बन्धुर्भ्राता त्वे त्वयि रायो विद्यादिसुवर्णधनं मे मयि रायो धनं वयं मनुष्या राय उक्तधनस्य पोषेण मा वियुक्ता भवेम। तोतः, तुवन्ति जानन्ति प्राप्नुवन्ति हिंसन्ति वा येन स, 'तु गतिवृद्धिहिंसास्तुतिषु' इति धातोर्बाहुलक औणादिकस्तन्प्रत्ययः। रायो विद्याराज्यसमृद्धयः" इति, तदपि यत्किञ्चित्, कपोलकल्पितत्वात्।

'हे विद्वन् मनुष्य, त्वं यथा या देवयजनेऽदित्याः पृथिव्या इडायाः स्वाहा मूर्धन् घृतवत्पदमस्यस्ति, यामहं जिघर्मि त्वा तां त्वमपि जिघृहि। या अस्मे अस्मासु रमते सा युष्मास्वपि रमस्व रमताम्। यामहं रमयामि तां भवानपि स्वस्मिन् रमयतु। योऽस्मे अस्माकं बन्धुरस्ति स ते तवाप्यस्तु। यो रायो धनसमूहस्ते त्वय्यस्ति स मे मय्यप्यस्तु। तोतो भवान् या रायो विद्याधनसमृद्धीः प्राप्नोति, ता मे मय्यपि सन्तु, या मयि वर्तन्ते तास्त्वय्यपि सन्तु। एता रायः समृद्धयः, ताः सर्वेषां सुखायापि सम्प्रयुक्ताः सन्तु। यथैवं जानन्तो निश्चिन्वन्तोऽनुतिष्ठन्तो यूयं वयं च रायस्पोषेण कदाचिन्मा वियौष्म वियुक्ता मा भवेम, तथैव सर्वे भवन्तु' इति, तदेतत्सर्वं तत्कपोलकल्पितम्।

यदुक्तम्—'अदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ . सं . १.८९.१०) इत्यस्मादयमर्थो गृह्यते, तत्तुच्छम्, अदित्यन्तरिक्षशब्दयोः पर्यायवाचकत्वे घटकलशवत् सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः। एतेन 'अदितिर्द्यौः' (ऋ . सं . १.८९.१०) इति प्रकाशकारकोऽर्थो गृह्यते' इत्यप्यपास्तम्, सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः। अन्तरिक्षादीनां मूर्धनि वर्तमानानामिति पदार्थव्याख्याने उक्तम्, अन्वये च 'अदित्याः पृथिव्या इडायाः स्वाहा मूर्धन् घृतवत्पदमस्यास्ति, यामहमाजिघर्मि त्वा तां त्वमपि जिघृहि' इत्यस्य सन्दर्भस्य को वार्थ इति न स्पष्टम्। हिन्द्यां तु पदं पदवी इत्युक्तम्। क एतेषां सन्दर्भाणां सम्बन्ध इति विद्वांसो विभावयन्तु। पदव्याः प्रदीपनं सञ्चालनं कथं भवति, घृतवच्च पुष्टिकारकत्वं तत्र कथं सेत्स्यतीत्यपि विमर्शनीयम्। अदित्या एव मूर्धनि तस्या वर्तमानत्वमदित्यादीनां वा मूर्धसु वर्तमानत्वं विवक्षितम्? प्रथमे पृथिव्यादीनां कथं सम्बन्धः? अन्त्ये कथमदित्यादीनामेक एव मूर्धा स्यात्? अपि च, प्राणिनां कर्मभेदात् समृद्ध्यादिभेदोऽनिवार्यः स्यात्। तथा च यास्त्वयि सन्ति ता मय्यपि सन्त्विति कथं सङ्गच्छते? सर्वथापि दुरूहोऽयं दयानन्दोक्तोऽर्थः। पदार्थेऽन्योऽर्थोऽन्वयेऽन्यः, भावार्थेऽन्यो हिन्दीभाष्ये चान्योऽर्थो व्यज्यते। मन्त्राक्षरासम्बद्धः शतपथादिविरुद्धश्चायमर्थः ॥२१ ॥

अग्रिम कण्डिका 'अदित्यास्त्वा' के अर्थ में भी जो स्वामी दयानन्द ने प्रतिपादित किया है, वह कपोलकल्पित ही है। अदिति तथा अन्तरिक्ष शब्द के पर्यायवाची होने में घट-कलश शब्दों की भाँति सामानाधिकरण्य संगत नहीं होता। हिन्दी व्याख्या में पदवी (पदम्) यह अर्थ कहा गया है। पदवी का अर्थ प्रदीपन, संचालन किस प्रकार होता है और घृत के समान पुष्टिकारकता उसमें कैसे संगत होगी, यह भी विचारणीय है। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित यह अर्थ सर्वथा दुरूह है। पदार्थ में कुछ दूसरा अर्थ, अन्वय में उससे भिन्न, भावार्थ में भिन्न तथा हिन्दी व्याख्या में दूसरा ही अर्थ कहा जाता है। मन्त्राक्षरों से सम्बन्धविहीन तथा शतपथ ब्राह्मण आदि से विरुद्ध यह अर्थ है ॥२१ ॥

अदि॑त्यास्त्वा मू॒र्धन्नाजि॑घर्मि देव॒यज॑ने पृथि॒व्या इडा॑यास्प॒दम॑सि घृ॒तव॒त् स्वाहा॑। अ॒स्मे र॑मस्वा॒स्मे ते॒ बन्धु॒स्त्वे रा॒यो मे रा॒यो मा व॒यꣳ रा॒यस्पोषे॑ण॒ वियो॑ष्म॒ तोतो॒ राय॑ः ॥२२॥

'षट्पदान्यतीत्य सप्तमं पर्युपविशन्ति, हिरण्यमस्मिन्निधायाभिजुहोत्यदित्यास्त्वेति' (का. श्रौ. ७.६.१५-१६)। षट्पदान्यतीत्य सप्तमपदप्रदेशं परितोऽध्वर्युब्रह्मयजमानप्रतिप्रस्थातार उपविशन्ति। अस्मिन् सप्तमे पदे हिरण्यं निधाय जुहुयादध्वर्युः। अदित्या अखण्डितायाः पृथिव्या भुवो मूर्धन् मूर्धनि शिरोरूपे देवयजने देवानां यागयोग्यस्थाने देवा हविर्भुज इज्यन्त आराध्यन्ते हविरादिप्रदानेन यत्र तादृशे स्थाने त्वा त्वाम् आजिघर्मि। हे सोमक्रयणीपद, त्वा त्वामाक्षारयामि आ सर्वतः क्षारयामि, 'घृ क्षरणदीप्त्योः' देवयजनस्य पृथिवीमूर्धत्वप्रसिद्धिं तित्तिरिर्दर्शयति— 'पृथिव्या ह्येष मूर्धा यद्देवयजनम्' (तै. सं. ६.१.८.५) इति। किञ्च, इडायास्पदमसि, हे स्थानविशेष, इडाया गोः पदं पादोऽसि तत्पदेनाङ्कितत्वात् तद्रूपमसि, तच्च पदं घृतवद् घृतयुक्तं कर्तुं स्वाहा जुहोमि, उव्वटाचार्यस्तु— देवयजने पृथिव्या इडाया गोः पदं यतस्त्वमसि, अतो घृतवद् घृतयुक्तं त्वां कर्तुं जुहोमीति शेषः। तदप्याह तित्तिरिः—'यदेवास्यै पदाद् घृतमपी""यत तस्मादेवमाह' (तै. सं. ६.१.८.५) इति, 'सा यत्र यत्र न्यक्रामत ततो घृतमपी""यत (तै. सं. २.६.७.१)। इति च।

'स्फ्येन पदं त्रिः परिलिखत्यस्मे रमस्वेति' (का. श्रौ. ७.६.१७)। होमानन्तरमध्वर्युस्तत्पदक्षेपस्थानं त्रिः परिलिखति परितो रेखां करोति, सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम्। हे गोः पद, त्वमस्मदीये यजमाने रमस्व क्रीडां कुरु। 'समुद्धृत्य पदꣳ स्थाल्यामावपत्यस्मे ते बन्धुरिति' (का. श्रौ. ७.६.१८)। हिरण्यमपसार्य निक्षेपस्थानीयान् पदपांसून् हस्तेन गृहीत्वा स्थाल्यामावपेत्—हे सोमक्रमणीपद, ते तव अस्मे बन्धुर्वयं बन्धुभूताः स्मः। 'सुपां सुलुक् . . .' (पा. सू. ७.१.३९) इति जसः शे आदेशे 'अस्मे' इति रूपम्। यद्वा ते तव बन्धुः स्नेहबन्धुः स्नेहबन्धनम्, अस्मे अस्मदीये यजमानेऽस्तु, 'अस्मे ते बन्धुरिति यजमाने ते बन्धुरित्येवैतदाह' (श. ३.३.१.६) इति श्रुतेः। 'अपः स्थाने निषिच्य यजमानाय पदं प्रयच्छति त्वे राय इति' (का. श्रौ. ७.६.१९)। उद्धृतस्य पदस्य स्थाने भूमावपो निषिच्याध्वर्युर्यजमानाय पदपांसून् प्रयच्छति—'हे यजमान, ते त्वयि रायो धनानि, एतत्पदरूपेण तिष्ठन्त्विति शेषः। अथवा रायः पशवः, ते त्वयि सन्तु, 'पशवो वै रायः' (श. ३.३.१.८) इति श्रुतेः। 'मे राय इति यजमानः प्रतिगृह्णाति पदम्' (का. श्रौ. ७.६.२०)। मे राय इति मन्त्रेण यजमानः पदमध्वर्युप्रत्तान् पदपांसून् प्रतिगृह्णाति।

मन्त्रार्थ—अखण्डित पृथ्वी के शिरस्वरूप हे घृत! देवताओं के यज्ञयोग्य स्थान में तुमको टपकाता हूँ। हे स्थान! तुम गौ के चरणचिह्न हो, यहां मैं घृत की आहुति देता हूँ। हे गोपद! तुम हमें सुख पहुँचाओ, हम तुम्हारे बन्धुरूप हैं। हे यजमान! तुममें धन इस पदरूप से स्थित हों। ये मेरे धन और पशु हैं। हम धन की पुष्टि से न वियुक्त हों। ब्रह्मा, विष्णु, महेश पत्नीसहित यजमान को धन और पशुओं से संपन्न करें॥ यजमान सोमक्रयणी के पीछे ६ पग चलकर जहां सातवां पग पड़कर खुर का चिह्न बने, उसमें सोने का टुकड़ा डाल कर उस पर घी की आहुति देता हुआ इस मन्त्र का उच्चारण करता है॥२२॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.६.१५-२३) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'अदित्यास्त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों के द्वारा सोमक्रयणी गौ के सातवें पादप्रक्षेप के स्थान पर हवन, रेखाकरण, पदधूलि का ग्रहण, यजमान को गौपदधूलि का प्रदान तथा पत्नी द्वारा मन्त्रोच्चारण एवं गौ की चरणरेणु का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में इन याज्ञिक विनियोगों के अनुसार ही मन्त्रों की व्याख्या उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थस्तु—'मे मयि यजमाने रायः पशवः पदरूपेण तिष्ठन्तु। ङेः शेरादेशः। 'मा वयमित्यध्वर्युरात्मानꣳसꣳस्पृशति' (का. श्रौ. ७.६.२१)। वयमध्वर्युप्रभृतयो रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या मा वियौष्म वियुक्ता मा भवामः। यौतेः 'माङि लुङ्' (पा. सू. ३.३.१७५) इति लुङि उत्तमपुरुषबहुवचने वियौष्मेति रूपम्। 'हत्वा पत्न्यै पदं प्रयच्छति, नेष्टा तोत इत्येनां वाचयति' (का. श्रौ. ७.६.२२-२३)। तोतशब्दः कलत्रवाची। नेष्टा ऋत्विग्विशेषो मन्त्रं वाचयति। तस्मिन् कलत्रे रायः पदरूपाणि धनानि तिष्ठन्त्विति मन्त्रार्थः। तथा च श्रुतिः— 'अथ पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति' (श. ३.३.१.१०) इति। पत्न्यै पदप्रदानं तित्तिरिरपि प्रतिपादयति—'अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी' (तै. ब्रा. ३.३.४.५)। तथा गृहे निधत्ते तादृगेव तदिति सायणाचार्यः। अव्ययानामनेकार्थत्वाच्च तोतस्त्वयि रायः सन्त्विति वा मन्त्रार्थः। तोतस्तोकसमानार्थको वा। रायो धनानि तोकः पुत्रः स्वीकरोत्वित्यर्थः। उव्वटमहीधररीत्या प्रथममाज्यदैवतं यजुः। तेन हे आज्य, अदित्या अखण्डितायाः पृथिव्या मूर्धनि देवयजने त्वा त्वाम् आजिघर्मि आक्षारयामीति तदर्थः।

शतपथेऽप्ययमर्थः—'स जुहोति। अदित्यास्त्वा मूर्धन्नाजिघर्मीतीयं वै पृथिव्यदितिरस्यै हि मूर्धन् जुहोति देवयजनेति पृथिव्या इति देवयजने हि पृथिव्यै जुहोतीडायास्पदमसि घृतवत्स्वाहेति गौर्वा इडा गोर्हि पदे जुहोति घृतवत्स्वाहेति घृतवद्ध्येतदभिहुतं भवति' (श. ३.३.१.४)। पदे समन्त्रकं होमं विधत्ते—स जुहोतीति। हे आज्य, त्वा त्वाम् अदित्याः पृथिव्या मूर्धन् मूर्धनि, आजिघर्मि सर्वतः क्षारयामि जुहोमि। अत्र क्षरणमर्थः। कीदृशे ? पृथिव्या अवयवभूते देवयजने, देवा इज्यन्तेऽत्रेति देवयजनं तस्मिन्। इयं पृथिव्यदितिः, अस्यै अस्याः पृथिव्या मूर्धन् मूर्धनि देवयजने जुहोति। इडायास्पदमसि। अत्र इडेतिपदेन गौरुच्यते। गोर्हि पदे जुहोति। घृतोपेतमेतद्धुतं भवति। तस्याः सोमक्रयण्याः पदं पादनिधानस्थानमसि। अत इदं स्वाहा स्वाहुतमस्तु। इडापदस्य घृतोपेतत्वं तैत्तिरीयके श्रुतम्—'यदेवास्यै पदाद् घृतमपीड्यत तस्मादेवमाह' (तै. सं. ६.१.८.२)। सा यत्र यत्र न्यक्रामत्ततो घृतमपीड्यत तस्माद् घृतपद्युच्यते। घृतवत्स्वाहेत्यस्य तात्पर्यमाह—घृतवद्ध्येतदिति। एतद् एतेन मन्त्रभागपाठेन घृतयुक्तमेव सत् पुनराज्येन चापि संयुक्तं स्यादित्यर्थः। एतदभिप्रायेणैव सायणाचार्येण काण्वसंहिताभाष्ये प्रथममन्त्रव्याख्याने हे सोमक्रयणीपदमिति सम्बोधनमुक्तम्, अत्र ब्राह्मणव्याख्याने तु उव्वटवद् हे आज्य इति सम्बोधनमुक्तम्, सोमक्रयणीपदस्याज्याभिन्नत्वात्। 'यत्सोमक्रयण्यै घृतवति स्वाहेत्याह यदेवास्यै पदाद् घृतमपीड्यत तस्मादेवमाह' (तै. सं. ६.१.८.५) सोमक्रयणीपदे हिरण्यप्रक्षेपं विधत्ते—यदध्वर्युरनग्नावाहुतिं जुहुयादन्धोऽध्वर्यू रक्षाꣳसि यज्ञꣳ हन्युर्हिरण्यमुपास्य जुहोत्यग्निवत्येव जुहोति नान्धोऽध्वर्युर्भवति न यज्ञꣳ रक्षाꣳसि घ्नन्ति' (तै. सं. ६.१.८.६) इति।

'अथ स्फ्यमादाय परिलिखति। वज्रो वै स्फ्यः ...... त्रिष्कृत्वः परिलिखति त्रिवृतैवैतद्वज्रेण समन्तं परिगृह्णात्यनतिक्रमाय' (श. ३.३.१.५)। सार्थवादं परिलेखनं विधत्ते—अथ स्फ्यमिति। तस्य त्रिरावृत्तिरुक्ता। 'स परिलिखति। अस्मे रमस्वेति यजमाने रमस्वेत्येवैतदाहाथ समुल्लिख्य पदꣳ स्थाल्याꣳ संवपत्यस्मे ते बन्धुरिति यजमाने ते बन्धुरित्येवैतदाह' (श. ३.३.१.६)। 'अस्मे' इत्यस्य तात्पर्यमाह—यजमाने इति। अस्मे अस्मदीये यजमाने। सुप्तमपदपांसोः स्थाल्यां स्थापनं समन्त्रकं विधत्ते—अथ समुल्लिख्येति। हे पादपांसो, तव बन्धुः स्नेहबन्धुः स्नेहबन्धनमस्मेऽस्मदीये यजमानेऽस्तु। 'अथाप उपनिनयति। यत्र वा अस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति तस्मादप उपनिनयति' (श. ३.३.१.७)। परिलिखितप्रदेशेऽपां निनयनं विधाय

इसका अर्थ है — हे सोमक्रयणी गौ के चरणस्थान, मैं तुमको अखण्डनीया पृथ्वी के शिरोरूप देवयजन स्थान में सर्वतः घृतप्लुत करता हूँ। हे चरणस्थान, तुम गौ के पादस्वरूप हो। तुमको घृतयुक्त करने के लिये हवन करता हूँ। तुम हमारे यजमान

प्रशंसति—शान्तिराप इति। खननं हि हिंसात्मकत्वात् क्रूरीकरणम्। अपां त्वौष्ण्यनिवारकत्वात् शान्तिरूपत्वं प्रसिद्धम्। अतः शान्त्या अद्भिः शान्तिरूपाभिरद्भिस्तत्क्रौर्यं शमितवान् भवति। निनयनस्य प्रयोजनान्तरमाह—तदद्भिः सन्दधातीति। 'अथ यजमानाय पदं प्रयच्छति। त्वे राय इति पशवो वै रायस्त्वयि पशव इत्येवैतदाह तद्यजमानः प्रतिगृह्णाति मे राय इति पशवो वै रायो मयि पशव इत्येवैतदाह' (श. ३.३.१.८)। पदं स्थालीस्थं पदपांसुं यजमानाय प्रयच्छति। रैशब्दार्थमाह—पशवो वै राय इति। 'त्वे' इत्येतत्सप्तम्यन्तमिति व्याचष्टे—त्वयि पशव इति। अध्वर्युदत्तस्य पांसोः समन्त्रकं प्रतिग्रहं विधत्ते—तद्यजमान इति। 'अथाध्वर्युरात्मानमुपस्पृशति। मा वयꣳ रायस्पोषेण वियौष्मेति तथो हाध्वर्युः पशुभ्य आत्मानं नान्तरेति' (श. ३.३.१.९)। अध्वर्युरात्मानमुपस्पृशति मा वयं रायस्पोषेण वियौष्मेति। तथो हाध्वर्युः पशुभ्य आत्मानं नान्तरेति। 'अथ पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति। गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैनामेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तस्मात् पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति' (श. ३.३.१.१०)। प्रतिपराहरन्ति प्रयच्छेयुरिति। 'हृत्वा पत्न्यै पदं प्रयच्छति' (का. श्रौ. ७.६.२२)। यजमानहस्तात् स्थालीस्थं पदं गृहीत्वाध्वर्युः पत्न्यै प्रयच्छेत्। सा च सुगुप्तस्थाने स्थापयेत्। पत्नी खलु प्रतिष्ठा निलयनरूपा। गृहाणां बहुत्वेऽपि प्रतिष्ठाया एकत्वादेकवचनम्। गृहं यथा धान्यादिनिक्षेपस्थानमेवं पत्न्यपि। अन्यत् स्पष्टम्।

'तां नेष्टा वाचयति। तोतो राय इत्यथैनाꣳ सोमक्रयण्या संख्यापयति वृषा वै सोमो योषा पत्न्येष वा अत्र सोमो भवति यत्सोमक्रयणी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादेनाꣳ सोमक्रयण्या संख्यापयति' (श. ३.३.१.११)। तां गृहीतपांसुं पत्नीम्। तोतः तोकसमानार्थः। रायो धनानि तोतः पुत्रः स्वीकरोत्वित्यर्थः। यद्वा तोतस्त्वत्तस्त्वयि रायः सन्त्वित्यर्थः। अथैनां सोमक्रयण्येति। एनां पत्नीं सोमक्रयण्या संख्यापयति, दर्शयतीत्यर्थः। नेष्टा सोमक्रयणी सेयं तया पत्नीमनेन मन्त्रेण दर्शयेत्। गतिबुद्ध्याद्यर्थाभावात् सोमक्रयण्याः कर्मत्वाभावः। संख्यापनं प्रशंसति—एष वा अत्र सोम इति। अत्र सोमक्रयप्रस्तावे सोमक्रयण्याः सोमसम्पत्त्यर्थत्वात् सैव एष सोमः। सोम इति विधेयस्य पुल्लिङ्गत्वमपेक्ष्यैष इति पुल्लिङ्गत्वम्। अत एतद् एतेन उभयोः सम्बन्धेन उत्पादनसमर्थं मिथुनमेव सम्पादितम्॥२२॥

समंख्ये देव्या धिया सन्दक्षिणयोरुचक्षसा। मा म आयुः प्रमोषीर्मो अहं तवं। वीरं विंदेय तवं देवि संदृशिं॥२३॥

'सोमक्रयण्या च समीक्ष्यमाणाꣳ समख्य इति' (का. श्रौ. ७.६.२४)। सोमक्रयण्या गवा समीक्ष्यमाणां पत्नीं समख्य इति मन्त्रं नेष्टा वाचयति। आस्तारपङ्क्तिः, अन्त्यौ चेदास्तारपङ्क्तिरिति वचनात्। सोमक्रयण्या आशिष

के प्रति सन्तुष्ट रहो, हम तुम्हारे आत्मीय हैं। हे यजमान, इस पादधूलि के रूप में धन अथवा पशुगण तुम्हारे पास रहें, मेरे पास सदा वर्तमान रहें। हम धन-पुष्टि से कभी वियुक्त न होवें। पत्नियों के पास भी धन रहे॥२२॥

मन्त्रार्थ— हे सोमक्रयणि गौ ! तुम यज्ञ की प्रधान दक्षिणा के योग्य विशाल दर्शन वाली हो, तुम्हारी सहायता से मैं बुद्धिपूर्वक यज्ञपुरुष को देखती हूँ। तुम मेरी आयु को खण्डित मत करो, मैं तुम्हारी आयु को खण्डित न करूँ। हे पराशक्ति ! तेरा सुन्दर दर्शन होने पर बली पुत्र को प्राप्त करूँ॥ सोमक्रयणी गौ को देखने वाली पत्नी से अध्वर्यु इस मन्त्र का पाठ करावे॥२३॥

भाष्यसार—'समख्ये देव्या' इस ऋचा का सोमक्रयणी गौ के द्वारा देखी जाती हुई यजमानपत्नी वाचन करे। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (७.६.२४) में उपदिष्ट है। तदनुसार सायण, उव्वट, महीधर आदि आचार्यों ने अर्थनिरूपण किया है।

आशास्ते पत्नी । देव्या द्योतमानया धिया बुद्ध्या समख्येऽहं पत्नी सोमक्रयणीं सम्यग् यथा भवति तथा विस्तीर्णदर्शनया दक्षिणात्वयोग्यया गवा सोमक्रयण्या समित्यनेनोपसर्गेण संयुज्य स्थितास्मीत्ययमर्थ उपलक्ष्यते । तथाविधे हे सोमक्रयणि, त्वं मे पत्न्या आयुर्मा प्रमोषीः प्रमुषितं विनष्टं मा कार्षीः । मो अहं तव सोमक्रयण्या आयुरहं पत्नी मो प्रमोषिषमित्यध्याह्रियते, प्रमुषितं माऽकार्षम् । किञ्च, तव संदृशि सन्दर्शने सति वीरान् पुत्रान् विदेय लभेयेति सायणाचार्यः ।

यद्वा उव्वटमहीधररीत्याऽयमर्थः—हे सोमक्रयणि, देव्या दानादिगुणयुक्तया द्योतमानया वा त्वया धिया बुद्ध्या सह बुद्धिपूर्वकमहं समख्ये अदृक्षि, दृष्टेत्यर्थः । प्रकथनार्थायाः ख्यातेः सम्पूर्वस्य लुङि तङि 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा. सू. ३.१.५२) इति च्लेरङि उत्तमैकवचने कर्मणि 'समख्ये' इति रूपम् । अपरं समिति पादपूरणार्थम् । कीदृश्या त्वया, दक्षिणया दक्षिणात्वयोग्यया, पुनः कीदृश्या? उरुचक्षसा उरु चष्टे या सोरुचक्षास्तया विस्तीर्णदर्शनया । एवंभूता त्वं मे मम यजमानपत्न्या आयुर्मा प्रमोषीर्माऽवखण्डय । मो तव सोमक्रयण्या आयुरहं यजमानपत्नी मा उ मैव प्रमोषिषमिति शेषः । 'मो' इति निषेधार्थकमव्ययं वा । 'विद्लृ लाभे' इत्यस्य 'तुदादिभ्यः शः' (पा. सू. ३.१.७७) इति शप्रत्यये व्यत्ययेन 'शे मुचादीनाम्' (पा. सू. ७.१.५९) इति नुमभावे लिङि विदेयेति रूपम् । अन्यत् पूर्ववत् ।

अध्यात्मपक्षे तु—अहं द्योतमानया स्वप्रकाशया धिया नित्यविज्ञानरूपया सन्दक्षिणया अवामया अनुकूलया उरुचक्षसा विस्तीर्णदर्शनया सर्वज्ञया त्वया समख्ये दृष्टास्मि, अनुग्रहपूर्णया त्वदीययाऽनुकूलदृष्ट्यैव जीवानां कल्याणसम्भवात् । हे राजराजेश्वरि, त्वमस्माकमायुर्जीवनं मा प्रमोषीः, त्वत्सत्तयैव मत्पूर्णत्वसम्भवात्, तत्प्रमोषेण मम तद्विलोपप्रसङ्गात् । अहं च तवायुर्जीवनं तवापरोक्षत्वं स्वप्रकाशत्वं मा प्रमोषिषम्, प्रत्यञ्चमन्तरा तत्पदार्थस्य पराक्त्वापत्त्या स्वप्रकाशत्वपरप्रेमास्पदत्वविलोपप्रसङ्गात्, 'माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्' (औपनिषदशान्तिपाठेषु) इत्यादिश्रुतेः, 'यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति । निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥' (वा. रा. २.१७.१४) इति श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणवचनाच्च । तव संदृशि संदर्शने सति तवानुग्रहपूर्णया दृष्ट्या अहं वीरमज्ञाननाशकं प्रबोधरूपं पुत्रं विदेय लभेय ।

श्रीदयानन्दस्तु—'समख्ये सम्प्रकथयामीति व्यत्ययेनात्मनेपदम् । लडर्थे लुङ् । देव्या देदीप्यमानया धिया प्रज्ञया कर्मणा वा । समेकीभावे, दक्षिणया ज्ञानसाधिकया अज्ञाननाशिकया च, उरुचक्षसा उरुचक्षो व्यक्तं वचनं दर्शनं वा यस्यास्तया मे ममायुर्जीवनं मा प्रमोषीर् मुष्णीयात् खण्डयेत् । अत्र लिङर्थे लुङ् । अहं सर्वप्रियं प्रेप्सु तव सर्वसुहृदो वीरं विक्रान्तं जनं मो विन्देय अन्यायेन न विन्देय । अत्र 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति'

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—मैं स्वप्रकाशात्मक नित्यविज्ञानरूपा, अवामा, अनुकूला, विस्तीर्ण दर्शनवाली सर्वज्ञा आपके द्वारा देखी गयी हूँ । अनुग्रहपूर्ण आपकी अनुकूल दृष्टि से ही जीवों का कल्याण सम्भव है । हे राजराजेश्वरि, आप मेरी आयु का विलोप न करें । मैं भी आपके अपरोक्षत्व स्वप्रकाशकत्व का अपलाप न करूँ । वाल्मीकि रामायण (२.१७.१४) तथा औपनिषद शान्तिपाठ में भी यह भावना व्यक्त की गई है । आपका सन्दर्शन हो जाने पर मैं आपकी अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से अज्ञाननाशक प्रबोधरूपी पुत्र को प्राप्त करूँ ।

श्री दयानन्द का कहा गया अर्थ प्रमाणरहित तथा व्यत्यय आदि से ग्रस्त होने के कारण निस्सार है । 'दक्षिणया' का 'ज्ञानसाधिका अथवा अज्ञाननाशिका द्वारा' इस प्रकार अर्थ करना निर्मूल है । 'विदेय' इस पद में महीधराचार्य ने व्यत्यय के द्वारा

(पा. सू. १.४.९) इति नुमभावः। तव तस्या देवि देव्या दिव्यगुणैर्विराजमानायाः, अत्रार्थाद्विभक्तेर्विपरिणामः, (पा. सू. १.३.९) भाष्यवचनाद् विभक्तेर्विपरिणामः। सन्दृशि समीचीनं दृग्दर्शनं यस्मिन् व्यवहारे तस्मिन्। हे विद्वन् मनुष्य, यथाहं दक्षिणया उरुचक्षसा देव्या धिया तव देवि तस्या दिव्यैर्गुणैर्विराजमानाया वाचो विद्युतो वा संदृशि जीवनं समख्ये सा मे ममायुर्मा प्रमोषीः खण्डनं न कुर्यादहमेतां समख्ये प्रख्यातां कुर्यामन्यायेन तव वीरं मो मा संविदेय, तथैव त्वमेतत्सर्वमाचर्यान्यायेनापि मम वीरं च मा संविदस्व' इति। हिन्दीभाष्ये तु — 'हे विद्वन् मनुष्य, यथाहं ज्ञानसाधिकयाऽज्ञाननाशिकया उरुचक्षसा बहुप्रकटवचनेन दर्शने वा देव्या देदीप्यमानया धिया कर्मणा वा तव तस्या देवि सर्वोत्कृष्टगुणैर्युक्ताया वाचो विद्युतो वा संदृशि सम्यग्दर्शनार्हे व्यवहारे जीवनं समख्ये कथनेन प्रकटयामि, सा मे मायुर्जीवनं मा प्रमोषीर्न नाशयेत्। तामहमविद्यया न नाशयामि। तव सर्वमित्रस्यान्यायेन वीरं शूरमहं मो प्राप्नुयाम्, तथैव त्वमपि मम शूरमन्यायेन मा प्राप्नुहि' इति, तत्सर्वमेतन्निःसारं प्रलपितमात्रम्, निष्प्रमाणव्यत्ययादिमूलकत्वात्।

दक्षिणया ज्ञानसाधिकयाऽज्ञाननाशिकयेत्यपि निर्मूलम्! किञ्च, मूले संदृशिपदं विद्यते, वाचो विद्युतो वा तेन कः सम्बन्धः? संदृशिपदस्य व्यवहारार्थकताप्यसिद्धैव, सम्यग्दर्शनार्हताया रूपादौ व्यभिचारात्। 'देवि' इति पदस्य विपरिणामेऽपि दिव्यैर्गुणैर्विराजमानाया वाचो विद्युतो वा ग्रहणे किं बीजम्? भागवत्याः शक्तेरपि तथात्वसम्भवात्, सामान्यभूतायां वाचि विद्युति तदसम्भवाच्च। जडां वाचं विद्युतं प्रति जीवनप्रमोषाभावप्रार्थनापि नोपपद्यते। अन्यायेन वीरप्राप्तिः कीदृशी? सा प्रकृते कथं प्रसक्ता? किमर्थं च सा निवार्यते? 'तव सर्वसुहृदः' इत्यपि कल्पनामात्रम्। अहं सर्वप्रियं प्रेप्सुरित्यपि निर्मूलम्, तत्पदयोस्तत्राशक्तत्वात्।

यत्तु—'अत्रावैयाकरणेन महीधरेण भ्रान्त्या 'विद्लृ लाभे' इत्यस्य व्यत्ययेन तुदादिभ्यः शप्रत्ययेन लिङि रूपमित्यशुद्धं व्याख्यातम्, कुतः? विद्लृधातोः स्वत एव तुदादित्वं वर्तते' इति, तदेतदज्ञानविजृम्भितम्, नहि महीधराचार्यो व्यत्ययेन तुदादित्वं साधयति, यत एवमाक्षिप्येत, किन्तु व्यत्ययेन 'तुदादिभ्यः शः' (पा. सू. ३.१.७७)। इति शप्रत्ययाभावेन नुमभावे शपि विदेयेति रूपं साधयति। तत्र लेखकप्रमादान्मुद्रणादिदोषाद्वा 'शप्रत्ययाभावे' इति स्थाने 'शप्रत्ययः' इति मुद्रितम्। तदज्ञानेनैव वैयाकरणम्मानिना दयानन्देन तुदादित्वं व्यत्ययेनेत्यवगतम्। 'नह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'।

'स संख्यापयति। समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा मा म आयुः प्रमोषीर्मो अहं तव वीरं विदेय तव देवि संदृशीत्याशिषमेवैतदाशास्ते पुत्रो वै वीरः पुत्रं विदेय तव संदृशीत्येवैतदाह' (श. ३.३.१.१२)। अहं धिया देव्या, धीर्देवी हि सोमक्रयणी प्रागुक्ता, 'धीरसि दक्षिणासि' (वा. सं. ४.१९) इत्यत्र। अतो वाग्रूपया सोमक्रयण्या समख्ये दृष्टा भवामीत्यर्थः। 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा. सू. ३.१.५२) इत्यङ् कर्मणि, अत

तुदादित्व साधन की चेष्टा नहीं की है, जिससे इस प्रकार का आक्षेप किया जा सके। अपितु व्यत्यय से शप्रत्यय के अभाव में नुम् के न होने पर शप् द्वारा 'विदेय' इस पद को सिद्ध किया है। उसमें लिपिकर्ता के प्रमाद अथवा मुद्रण के दोष के कारण 'शप्रत्ययाऽभावे' इसके स्थान पर 'शप्रत्यये' इस प्रकार मुद्रित हो गया। वैयाकरणमानी स्वामी दयानन्द ने अज्ञान से इसमें व्यत्यय से तुदादित्व समझ लिया है ॥२३॥

एवात्मनेपदम्। दक्षिणापि सोमक्रयणी, 'दक्षिणा ह्येषा क्षत्रियासि यज्ञियासीति' (श. ३.२.४.१६) इत्यत्रोक्तत्वात्। उरुचक्षसा प्रभूतदर्शनया तया समख्ये। अथ प्रत्यक्षवादः— हे सोमक्रयणि, मे आयुर्मा प्रमोषीः, मा उ अहमपि तवायुर्मा प्रमोषिषम्। हे देवि, तव सन्दर्शने सति वीरं पुत्रं विदेय लभेय। आशीःपरोऽयं मन्त्रः। अत्र शतपथश्रुत्या मन्त्रस्यास्याशीःपरत्वमुच्यते, वीरपदेन पुत्र उच्यते। तेन स्पष्टं सोमक्रयण्या संदृशि तत्कर्तृके सन्दर्शने सति यजमानपत्नी पुत्रमाशास्ते। नात्र दयानन्दरीत्या अहं तव वीरमन्यायेन मा विन्देय त्वमेतत्सर्वमन्यायेनापि मम वीरं च मा विन्दस्वेत्यादिकं विवक्षितम्। अत एव लुप्तोपमालङ्कारश्चापास्तो वेदितव्यः। सोमक्रयण्येवात्र 'धीरसि दक्षिणासि' इति पूर्वोक्तमन्त्र उक्ता। तस्माद् वाग् विद्युद्वा नात्र विवक्षिता। शतपथे सोमक्रयण्येव वाग्रूपा विवक्षिता, देवैः सोमानयनाय प्रेषिताया वाच इव सोमक्रयण्या अपि नियुक्तत्वात्॥२३॥

एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाᳬं साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माकोऽसि शुक्रस्ते ग्रह्यो विचितस्त्वा विचिन्वन्तु॥२४॥

'सोमं गच्छन्त्येष त इति वाचयति' (का. श्रौ. ७.७.६)। ब्रह्मयजमानाध्वर्युप्रतिप्रस्थातारः सोमं गच्छन्ति, गच्छन्तं यजमानम् एष त इति मन्त्रं वाचयेदध्वर्युरिति सूत्रार्थः। हे सोम, ते तव एष पुरो दृश्यमानो भागोंऽशः, गायत्रो गायत्रीसम्बन्धी। प्रातःसवनो गायत्र्याः सम्बन्धी, अतो गायत्र्यादिदेवताप्रीत्यर्थ एष तव क्रयो न वधार्थ इत्यभिप्रायः। इति एवम्। 'मे' इति यजमानाभिधायकं पदम्। एवंप्रकारं मम यजमानस्य सोमस्तुत्यात्मकं वचनं सोमाय ब्रूतात्। हे अध्वर्यो, सोमाभिमानिने देवाय ब्रूहि, गायत्रीच्छन्दोऽर्थं सोमस्य क्रयो न तु वधार्थमिति यजमानोक्त्यभिप्रायः। तमेतमभिप्रायं हे अध्वर्यो! सोमाय कथयेत्यर्थः। एष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात्, त्रिष्टुप्छन्दसः सम्बन्धी भाग इति मे यजमानस्य वचनं सोमाय ब्रूहि। एष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात्, जगतीच्छन्दसः सम्बन्धी भाग इति मे मम यजमानस्य वचनं सोमाय ब्रूहि। हे अध्वर्यो! छन्दोनामानां छन्द इति नाम येषामन्येषामप्युष्णिगादीनां ते छन्दोनामानस्तेषां छन्दसां साम्राज्यं गच्छ सर्वेषां छन्दसामाधिपत्यं प्राप्नुहि, इति मे वचः सोमाय ब्रूतात् कथय। यः सोमाय छन्दसामाधिपत्यं दत्त्वा क्रीणाति, स स्वानामाधिपत्यं प्राप्नोति, 'यो वै सोमᳬं राजानᳬं साम्राज्यं लोकं गमयित्वा क्रीणाति गच्छति स्वानाᳬं साम्राज्यम्' (तै. सं. ३.१.२.२) इति

मन्त्रार्थ—हे अध्वर्यु! सोमाधिष्ठात्री देवता के लिये यह वचन कहो कि तुम्हारा यह भाग गायत्री संबन्धी है, त्रिष्टुप् संबन्धी है, जगती संबन्धी है। तुम उष्णिक् आदि सब छन्दों के अधिपति बन जाओ। हे सोम! तुमको मैंने खरीद कर प्राप्त किया है। अब तुम हमारे हो। यह शुक्र नामक सव तुम्हारे ग्रहण करने योग्य है, सारासार जानने में समर्थ है। यह तुम्हारे सार भाग को ग्रहण करे॥ सोम की ओर जाते समय यजमान इस मन्त्र का उच्चारण करता है और पूर्व मुख बैठ कर सोम का स्पर्श करता है॥२४॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.७.६-७) में निर्दिष्ट याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुसार 'एष ते' इस मन्त्र को सोम के लिये जाते हुए यजमान से अध्वर्यु पाठ करावे। तदनन्तर सोम के पास बैठ कर 'कोऽसि' इस मन्त्र से अध्वर्यु सोम का स्पर्श करे। इस विनियोग के आधार पर शतपथ ब्राह्मण में मन्त्र का अर्थ प्रतिपादित है।

तैत्तिरीयश्रुतेः। अत एतैर्मन्त्रैः सोमस्य राज्याप्तिः सूच्यते। गायत्र्यादिच्छन्दोदेवता यत्र तिष्ठन्ति स छन्दोलोकः। तदाधिपत्यं प्रापय्य सोमं क्रीणानः स्वानामाधिपत्यं प्राप्नोतीत्यर्थः।

'प्राङुपविश्यास्माकोऽसीति सोममालभते' (का. श्रौ. ७.७.७)। सोमस्य पश्चादध्वर्युस्तदुत्तरतः प्रतिप्रस्थाता दक्षिणेन ब्रह्मयजमानौ तत्पश्चात्पत्नी चोपविश्य प्राङ्मुखोऽध्वर्युः सोममालभते। हे सोम, त्वं क्रयपथमागतः सन्नास्माकोऽसि मदीयः सञ्जातः। 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' (पा. सू. ४.३.२) इत्यस्माकादेशः। शुक्रः शुक्लसंज्ञस्ते तव ग्रह्यो ग्रहः। शुक्रपदमैन्द्रवायवादिग्रहाणामुपलक्षणम्। शुक्लादयः सर्वे ते ग्रह्याः, ग्रहा एव ग्रह्याः, ग्रहा इत्यर्थः। यद्वा शुक्रनामको यस्ते ग्रहः, स ग्रह्यो ग्रहेषु साधुः। ते सर्वेऽपि ग्रहाः साधव इत्यर्थ इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणोक्तोऽर्थः। किञ्च, विचितो विचयनकर्तारस्त्वां विचिन्वन्तु विविक्तं कुर्वन्तु, ग्राह्याग्राह्यविवेकं कृत्वा सारभूतं समूहयन्तु।

काण्वास्तु छन्दोमानानामिति पठन्ति। तद्रीत्या अस्मिंश्छन्दस्येतावन्त्यक्षराणीति मानं परिमाणं यैर्देवैर्ज्ञायते ते छन्दोमानास्तेषां सम्बन्धी लोकः साम्राज्यः समीचीनराज्योपेतस्तं लोकं हे सोम, त्वं गच्छतात् प्राप्नुहि। योऽयं यजमानः सोमाभिप्रेतं समीचीनराजार्हं लोकं प्रथमतो वाचा प्रापय्य सन्तोषं जनयित्वा पश्चात् सोमं क्रीणाति, स यजमानो जातानां मध्ये साम्राज्यं प्राप्नोति। सोमस्य तथाविधो लोकः क इति चेत्, गायत्र्यादिछन्दोदेवता यत्र तिष्ठन्ति स एव तथाविधो लोक इति।

अध्यात्मपक्षे तु—उमया सहितः सोमो देवः शिवः, तस्य सार्वात्म्यमिह निरूप्यते—हे सोम, मनुष्येषु पशुषु वृक्षेषु पाषाणेषु य एष ब्राह्मणसमुदायः, एष ते गायत्रो भागो गायत्रीसम्बन्धी, गायत्र्या निर्मितत्वात्, गायत्र्या संस्कृतत्वाच्च। य एष क्षत्रियसमुदायः, एष ते त्रैष्टुभो भागः, त्रिष्टुभा निर्मितत्वात्। य एष वैश्यसमुदायः, स जागतो भागः, जगत्या निर्मितत्वात्। इत्येवं मे वेदस्य वचनं सोमाय हे साधक! ब्रूताद् ब्रूहि। तेन तत्कृपया तस्य सार्वात्म्यमवगतं भविष्यति। हे सोम, छन्दोनामानां समेषां छन्दसां साम्राज्यं गच्छ सर्वछन्दःप्रतिपाद्यत्वेन सर्ववेद-महातात्पर्यविषयत्वेन स्वीयं सार्वात्म्यमाविर्भावय, मम हृदय इति शेषः। हे देव, त्वं सर्वात्मापि सन् विशेषत आस्माकोऽसि मदीयोऽसि, मया तथात्वेन साक्षात्कृतत्वात्। ते तव शुक्रः स्वप्रकाशः स्वरूपो भास्वरो वा रजतगिरिनिभो मुक्ताकुन्देन्दुगौरो ग्रह्यो विशुद्धेन चेतसा ग्रहीतुं शक्यः। विचितो विचयनकर्तारो विवेकिनः, देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभ्यो विविक्तः प्रत्यक्चैतन्याभिन्नो भगवान् सोमः साम्बसदाशिवो ब्रह्मात्मनाऽभिव्यज्यत इति विचिन्वन्तु, अनात्मप्रपञ्चाद् भगवन्तं विचिन्वन्तु, अनात्मविवेकेन प्रत्यगभेदेन साक्षात्कुर्वन्तु।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे उमासहित महेश्वर शिव! मनुष्य, पशु, वृक्ष, पाषाण आदि में यह जो ब्राह्मण-समुदाय है, वह आपका गायत्री सम्बन्धी अथवा गायत्री से संस्कृत होने के कारण गायत्र भाग है। यह क्षत्रिय-समुदाय त्रिष्टुप् से निर्मित होने के कारण त्रैष्टुभ भाग है। जगती से निर्मित होने के कारण यह वैश्य-समुदाय जागत भाग है। हे साधक ! इस प्रकार मेरा वचन साम्बशिव से कहो। हे साम्बशिव! समस्त छन्दों के साम्राज्य के प्रति गमन करो, अर्थात् समस्त छन्दों के प्रतिपाद्य होने के कारण, समस्त वेदों के महातात्पर्य के विषय होने के कारण (मेरे हृदय में) अपनी सर्वात्मता प्रकाशित करें। हे देव! आप सर्वात्मा होते हुए भी मेरे आत्मीय हैं। आपका स्वप्रकाशत्व विशुद्ध चित्त द्वारा ही ग्राह्य है। विवेकी जन अनात्म प्रपञ्च के मध्य से अन्वेषण कर भगवान का साक्षात्कार करें।

श्रीदयानन्दस्तु—'एष प्रत्यक्षस्तव गायत्रो गायत्रीच्छन्द आदिरस्य प्रगाथस्य सः, 'सोऽस्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु' (पा. सू. ४.२.५५) अनेन प्रगाथविषये प्रत्ययः। भागः सेवनीयः, इति प्रकारार्थे। मे मह्यं सोमाय पदार्थविद्यासम्पादकाय ब्रूताद् ब्रवीतु। एष यो विज्ञातुं योग्यः, स ते तव त्रैष्टुभस्त्रिष्टुप्छन्द आदिरस्य प्रगाथस्य स भागोंऽश इत्येवं मे मह्यं सोमाय उत्तरभागसम्पादकाय ब्रूतात्। एष योक्तुमर्हस्ते तव जागतो जगतीच्छन्द आदिरस्य प्रगाथस्य स भागः स्वीकर्तुमर्ह इत्येवं मे मह्यं सोमाय पदार्थविद्यास्वीकाराय ब्रूताद् उपदिशतु। छन्दोनामानां यानि छन्दसामुष्णिगादीनां नामानि तेषाम्, 'अनसन्तान्नपुं.' (पा. सू. ५.४.१०३) इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः। साम्राज्यं गच्छ साम्राज्यं प्राप्नुहि प्रापय वा। सम्यग्राजन्ते प्रकाशन्ते ते सम्राजो राजानः, तेषां भावः कर्म वा तत्। मे मह्यं सोमाय ऐश्वर्ययुक्ताय राज्याय ब्रूतात्। आस्माको योऽयमस्माकमुपदेष्टाऽधिपतिः, स असि वर्तसे, शुक्रः पवित्रः पवित्रता-कारको वा ते तव ग्रह्यो ग्रहीतुं योग्यः। विचितो विविधविद्याशुभगुणधनादिभिश्चितः संयुक्तः, त्वा त्वां तं वा विचिन्वन्तु विविधं वर्धयन्तु, अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः। हे विद्वंस्त्वं विद्वांसं प्रति कोऽस्य यज्ञस्य गायत्रो भागोऽस्तीति पृच्छ। स विद्वान् ते तव एषोऽयमस्तीति मे मह्यं सोमायैतं ब्रूयात्। कोऽस्य त्रैष्टुभो भागोऽस्तीति पृच्छ। स ते एषोऽयमस्तीति समक्षे खल्वेतं मे मह्यं सोमायैतं ब्रवीतु। एवं जागतो . . . यथा भवान् छन्दोनामानामुष्णिगादीनां छन्दसां मध्ये प्रतिपादितस्य यज्ञस्योपदेशे साम्राज्यं गच्छ गच्छतु, तथैवैतेषामेनं सोमाय मे ब्रूतात्, यतस्त्वमास्माकः शुक्रोऽसि, तस्मात्तेऽहं विचितो ग्राह्योऽस्मि। त्वं मां सर्वैरेतैर्विचिनु। अहं त्वां विचिनोम्येव। तेऽपि त्वामेतं यज्ञं मां च विचिन्वन्तु वर्धयन्तु। अस्य भावस्तु—मनुष्या विद्वद्भ्यः पृष्ट्वा सर्वा विद्याः संगृह्णीरन्। विद्वांसः खल्वेता ग्राहयन्तु। परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकभावेन वर्तित्वा सर्वे वृद्धिं प्राप्य चक्रवर्तिराज्यं सेवेरन्' इति।

विचित्रमिदं व्याख्यानम्, भावार्थस्य पदार्थैरन्वयेन च दूरतोऽपि सम्बन्धादर्शनात्। पूर्वोक्तैः प्रश्नैरुत्तरैश्च कस्या अपि विद्याया ज्ञानं न भवति, किमुत सर्वविद्यानाम्? हिन्दीभाष्ये तु—'हे विद्वन्, मनुष्य कौन इस यज्ञ का वेदस्थ गायत्री च्छन्द युक्त मन्त्रों के समूहों से प्रतिपादित (भाग) सेवनयोग्य भाग है, इस प्रकार तू विद्वान् से पूँछ। वह विद्वान् (ते) तुझको उस यज्ञ का (एष) यह प्रत्यक्ष भाग है, इस प्रकार से (सोमाय) पदार्थविद्यासम्पादन करने वाले (मे) मेरे लिये (ब्रूतात्) कहे' इति, तदप्यपेशलम्, किञ्चित्समाधानादर्शनात्। यदि यज्ञस्य को भागो गायत्रीच्छन्दस्कैर्मन्त्रसमूहैः प्रतिपादितः? इति चेत् प्रश्नस्तदास्य यज्ञस्यामुको भागस्तथाविध इत्युत्तरणीयम्, तत्र प्रमाणं च वक्तव्यम्! किञ्च, यज्ञस्य भजनीयोंऽशः कः ? अभजनीयश्च कः ? यज्ञोऽपि त्वदीयो वायुशुद्ध्यर्थो होमश्चेत्तत्र गायत्र्यादिच्छन्दस्कानां मन्त्राणां नास्त्येवोपयोगः। केवलमभ्यासार्थं मन्त्राः पठनीया इति ते सिद्धान्तः। तथा च तस्य यज्ञस्य गायत्रीच्छन्दस्कप्रतिपाद्यः कोऽपि भागो नास्त्येव। किञ्च, यस्य प्रश्नस्तस्मै प्रतिवचनं देयम्, प्रश्नप्रेरकाय किमर्थमुत्तरं देयम्? प्रेरकश्च कः? किं सोम एव प्रेरकः ? किञ्च प्रयोजनं प्रेरणस्य? स एव कथं नोपदिशेत्? किञ्चैकत्र सोमशब्दस्य पदार्थविद्यासम्पादकोऽर्थः, अन्यत्र रससम्पादकोऽर्थः, किमत्र मूलम् ? जिज्ञा-

---

श्री दयानन्द ने इसका विचित्र रीति से व्याख्यान किया है। भावार्थ का पदार्थ एवं अन्वय से दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। यज्ञ का भजनीय अंश क्या है? तथा अभजनीय (असेवनीय) अंश क्या है? प्रगाथ का प्रसंग भी यहां दृष्टिगोचर नहीं होता। हिन्दी व्याख्या में सोम पदार्थ सर्वैश्वर्ययुक्त कहा गया है। फिर वही सार्वभौम राज्य की प्राप्ति का उपाय भी पूँछता है, यह व्याख्या की विचित्रता है ॥२४॥

सवे प्रतिवचनं भवति, न पदार्थविद्यासम्पादकस्य तत्सम्बन्धे प्रश्नो भवति। न वा तदर्थं प्रतिवचनमपेक्षितम्। प्रगाथप्रसङ्गोऽपि नात्र दृश्यते।

'कौन इस यज्ञ का त्रैष्टुभ भाग है, त्रिष्टुप् छन्द से प्रतिपादित भाग है, तू इस प्रकार विद्वान् से पूँछ। उत्तम रस के सम्पादन करने वाले मेरे लिए कहे कौन इस यज्ञ का जागत भाग है, जगती छन्द से कथित भाग है, इस प्रकार तू आप्त से पूँछ। वह तुझको इस यज्ञ का यह प्रसिद्ध भाग है, इसी प्रकार पदार्थविद्या सम्पादन करने वाले मेरे लिए उत्तर कहे। जैसे आप 'छन्दोनामानामुष्णिक्' आदि छन्दों के मध्य में कहे हुए यज्ञ के उपदेश में साम्राज्य' भले प्रकार राज्य को प्राप्त हों, (इति) इस प्रकार (सोमाय) ऐश्वर्ययुक्त मेरे लिए सार्वभौम राज्य की प्राप्ति होने के उपाय कहिए'। अत्र सोमपदार्थः सर्वैश्वर्ययुक्तः सञ्जातः। पुनश्च स सार्वभौमराज्यप्राप्त्युपायमपि जिज्ञासत इति व्याख्यावैचित्र्यम्। 'जिस कारण आप हम लोगों के पवित्र करने वाले उपदेशक हैं, वैसे में आपके (ग्रह्य) ग्रहण करने योग्य हूँ। (विचित) उत्तम धनादि द्रव्य गुणों से युक्त शिष्य हूँ, आप मुझको गुणों से बढ़ाइये। इस कारण मैं आपको वृद्धियुक्त करता हूँ और सब मनुष्य आप इस यज्ञ को तथा मुझको वृद्धि युक्त करें'। प्रकृतमन्त्रे कस्य शब्दस्यायमर्थ इति दयानन्द एव जानातु। यः प्रश्नप्रयोजकः स पदार्थविद्यासम्पादकः, रससम्पादकः, सर्वैश्वर्ययुक्तः सोम उक्तः। छन्दोनामानां साम्राज्यमित्यस्य को वार्थ इति त्वद्यापि त्वद्व्याख्यानेऽव्यक्त एव। यज्ञोपदेशे साम्राज्यं किं भवति ? स चोपदेशकानां शिष्योऽपि संवृत्तः। सामाजिका अस्यैव वेदार्थस्य माहात्म्यं वर्णयन्तो भ्राम्यन्ति। यथाऽऽधुनिकश्छायावादी लेखकोऽपि स्ववाक्यार्थं न प्रत्येति, तथैव दयानन्दोऽपि स्वभाष्यार्थं न जानातीत्येवं तस्य माहात्म्यमिति स्यात्।

शतपथे तु—'सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी' (श. ३.३.१.१४) इति कण्डिकायां सोमक्रयण्या भेदा उक्ताः। बभ्रुश्चतुर्वर्णा पिङ्गाक्षी सोमदेवताऱ्हत्वात् सोमक्रयणी। अथ या रोहिणी रोहितवर्णा सा वार्त्रघ्नी। यां रोहिणीमिदानीन्तनो राजा संग्रामं जित्वा परकीयाद्राष्ट्रादानयति सा वार्त्रघ्नी वृत्रहदेवत्या। या श्येताक्षी कृष्णलोचना सा पितृदेवत्या। बभ्रुः पिङ्गाक्षी सोमक्रये मुख्या। तदभावेऽरुणा। तदभावे रोहिणी। अरुणाभावे श्येताक्षी। 'सा स्यादप्रवीता' (श. ३.३.१.१६) अप्रवीता अगृहीतगर्भा। अयातयाम्नी बहुभिरसकृदुच्यमानाया अपि वाचोऽगतरसत्वं प्रसिद्धम्, अतः सोमक्रयण्या वाग्रूपत्वादयातयाम्न्या भवितव्यम्। अत एकहायनीपरिग्रहे गर्भरूपरसनिर्गमाभावाद् वागनुगुण्यं भवति। तस्मादप्रवीता भवेत्। सा चाङ्गवैकल्यरहिता। वण्डा वर्धिष्णुस्तद्विपरीता अवण्डा। कूटा एकशृङ्गी। काणा एकाक्षी। कर्णा छिन्नकर्णा। लक्षिता तप्तायःशलाकया चिह्निता। सप्तशफा एकस्मिन् पादे एकेन शफेन हीना। अवण्डा कूटादिभिन्ना एकरूपा सम्पूर्णावयवा गौः सोमक्रयणी युज्यते। 'पदᳬ समुप्य पाणी अवनेनिक्ते' (श. ३.३.२.१) इत्यादिनाऽध्वर्योः पात्रे सोमक्रयण्याः पदपांसुप्रक्षेपानन्तरं हस्तप्रक्षालनं विहितम्। 'अथास्याᳬ हिरण्यं बध्नीते' (श.३.३.२.२) इत्यध्वर्योः स्वाङ्गुल्यामनामिकायां हिरण्यबन्धनं विहितम्। तत्रैव हिरण्यस्य देवसम्बन्धद्वारा सत्यत्वमभिधाय तेन 'अंशूनुपस्पृशानि' अभिषवाप्यायनादिषु, तेन 'सोमं पराहराणि' व्यापारयाणि। उपस्पर्शाद्युपयोगाय हिरण्यं धारयेदित्यर्थः।

'अथ सम्प्रेष्यति। सोमोपनहनमाहर सोमपर्याणहनमाहरोष्णीषमाहरेति स यदेव शोभनं तत्सोमोपनहनᳬ स्याद्वासो ह्यस्यैतद् भवति शोभनᳬ ह्येतस्य वासः स यो हैनᳬ शोभनेनोपचरति शोभते हाथ य आह यदेव

किञ्चेति यद्धैव किञ्च भवति तस्माद्यदेव शोभनं तत्सोमोपनहनꣳ स्याद्यदेव किञ्च सोमपर्याणहनम्' (श. ३.३.२.३)। सोमार्थमध्वर्योः प्रैषो दर्शितः। सोम उपनह्यते येन तत् सोमोपनहनं बन्धनवस्त्रम्। सोमो लताविशेषः। इदानीं तदभावे पूतिकालता गृह्यते। सोमपर्याणहनं शकटेन सह सोमस्य परितो बन्धनवासः। तदर्थमुष्णीषमाहरेति सम्प्रैषः। यद् वस्त्रं शोभनं बहुमूल्यं तत्सोमोपनहनं कर्तव्यम्। कात्यायनेनाप्युक्तम्— 'शोभनꣳ सोमोपनहनम्' (का. श्रौ. ७.७.३)। सोमस्याच्छादनार्थत्वात् तेन वस्त्रेण शोभनेन भवितव्यम्। यः शोभनेन सोममुपचरति, स स्वयं वस्त्रादिना शोभते। तद्विपर्ययेण यत्किञ्चिद्वासः सोमायानयेति ब्रुवन् स्वयं यत्किञ्चिद् भवति। सोमपर्याणहने तु नायं नियमः। 'यद्युष्णीषं विन्देत्' (श. ३.३.२.४)। उष्णीषः स्वीकार्यः। तदभावे कर्तितवासस्तत्स्थाने ग्राह्यः। सोमोपनहनस्यादानमध्वर्युयजमानयोरन्यतरेण कार्यम्। 'अथाग्रेण राजानं विचिन्वन्ति। तदुदकुम्भ उपनिहितो भवति तद् ब्राह्मण उपास्ते तदभ्यायन्ति प्राञ्चः' (श. ३.३.२.५)। प्राचीनवंशस्य पुरोदेशे विचिन्वन्ति अपनेयाशमपनयन्ति। तत् तत्र क्रयप्रदेशे निहितोदकुम्भस्य समीपे ब्राह्मणः सोमविक्रयी निवसेत्। तत्स्थानं प्रत्यभिगच्छन्ति प्राञ्चः सोमक्रयप्रदेशाभिमुखाः।

'तदा यत् सुवाचयति। एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाꣳ साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादित्येकं वा एष क्रीयमाणोऽभिक्रीयते छन्दसामेव राज्याय छन्दसाꣳ साम्राज्याय घ्नन्ति वा एनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तमेतदाह छन्दसामेव त्वा राज्याय क्रीणामि छन्दसाꣳ साम्राज्याय न वधायेत्यथैत्य प्राङुपविशति'। (श. ३.३.२.६), 'सोऽभिमृशति। आस्माकोऽसीति स्व इव ह्यस्यैतद् भवति यदागतस्तस्मादाहास्माकोऽसीति शुक्रस्ते ग्रह्य इति शुक्रꣳ ह्यस्माद् ग्रहं ग्रहीष्यन् भवति विचितस्त्वा विचिन्वन्त्विति सर्वत्वायैतदाह'। (श. ३.३.२.७)। आयत्सु ऋत्विग्यजमानेषु क्रयदेशं समागच्छत्सु एष त इत्यमुं मन्त्रं वाचयति यजमानमध्वर्युः। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। 'गायत्रं प्रातःसवनम्, त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्' (तै. सं. २.२.९.५-६; ऐ. ब्रा. ६.१०) इत्यादिभिः प्रातःसवनादीनां गायत्र्याद्यभिमानात् तत्सवनार्हाणां गायत्र्यादिसम्बन्धः। छन्दसां साम्राज्यप्राप्तिर्नाम सवनत्रयप्राप्तिरेव। एतत्प्रशंसति—एकं वा एष क्रीयमाणोऽभिक्रीयत इति। एष क्रीयमाणः क्रयेण स्वीयत्वमापाद्यमानः, एकं वै खलु प्रयोजनमभिलक्ष्य क्रीयते विक्रीयते, अभिषवादिना रसात्मना संस्क्रियते। किं तदेकम्? तदुच्यते—छन्दसां राज्याय तत्प्राप्तये, न केवलाय राज्याय, किन्तु साम्राज्याय। प्रोत्साहनस्यार्थवत्तायै बाधप्रसक्तिं दर्शयति—घ्नन्ति वा एनमेतद्यदभिषुण्वन्तीति। यथा पशूनामालम्भनादिना हननं भवति, तथैवाभिषवादिना रसनिष्पादनेन सोमस्यापि हननमेव भवति। यथा तत्र—'न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ २॥ इदेषि पथिभिः सुगेभिः। यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥' (वा. सं. २३.१६)। हे अश्व, अस्माभिर्यत् त्वं संज्ञप्यसे एतत् त्वं न म्रियसे न च रिष्यसि विनश्यसि। विशस्यमानः सुगेभिः सुगैः साधुगमनैः पथिभिर्देवयानैर्देवान् इत् प्रति एषि गच्छसि। सुकृतः साधुकारिणो नरा यत्र लोक आसते तिष्ठन्ति, यत्र च ते सुकृतो ययुः, तत्र लोके सविता देवस्त्वा त्वां दधातु स्थापयत्विति। तथैव सोमं प्रत्याह—हे सोम, छन्दसां साम्राज्याय तत्प्राप्तये त्वां क्रीणामि न वधाय। नैष तव वधः, परिणामे हितकारित्वात्, हिंसनीयानुग्राहकत्वविशिष्टप्राणवियोगानुकूलव्यापारस्यैव हिंसापदार्थत्वात्। नात्राऽननुग्राहको व्यापारः; किन्त्वनुग्राहक एव, छन्दसां साम्राज्यप्राप्तिहेतुत्वात्। वस्तुत एवं सत्यपि भीत्यपगमाय तं सोमं प्रति छन्दसां साम्राज्याय न वधायेत्याद्युक्तिः।

अथ सोमं प्रत्येत्य प्राङ् प्राङ्मुख उपविशति ऋत्विग्भिः सहितो यजमानः। सोऽभिमृशति— आस्माकोऽसीति मन्त्रेण। हे सोम, त्वमास्माकोऽसि अस्माकं सम्बन्ध्यसि। एतेन पाठेन स्व इव भवति सोमो भवत्यस्य यजमानस्येति। य एव भवति शुक्रः शुक्राख्यस्ते ग्रह्यो ग्रहीतव्यः। 'प्रत्यपिभ्यां ग्रहेश्छन्दसि' (पा. सू. ३.१.११८) इत्यनुपसृष्टादपि ग्रहेश्छान्दसः क्यप्, ग्राह्य इत्यर्थः। 'अमात्योऽसि शुक्रस्ते ग्रहः' (तै. सं. १.२.६.१) इति श्रुतेः। विचितो विचयनस्य शोधनस्य कर्तारस्त्वां विचिन्वन्तु शोधयन्तु, विचिन्वद्भिरेव विवेके सति वैगुण्यासम्भवात् सर्वत्वं कात्स्र्न्यं भवति। एतेन सिद्धान्तानुसार्येव व्याख्यानं समर्थयते शातपथी श्रुतिर्न दयानन्दोक्तमर्थम्। 'अत्र हैके। तृणं वा काष्ठं वा वित्वाऽपास्यन्ति तदु तथा न कुर्यात् क्षत्रं वै सोमो विडन्या ओषधयोऽन्नं वै क्षत्रियस्य विट् स यथा ग्रसितमनुहायाच्छिद्य परास्येदेवं तत्तस्मादभ्येव मृशेद्विचितस्त्वा विचिन्वन्त्विति तद्य एवास्य विचेतारस्त एनं विचिन्वन्ति' (श. ३.३.२.८) इति प्रशंसार्थं पक्षान्तरनिरासः ॥२४॥

अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः। प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वानुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि ॥२५॥

सोमोपनहनं द्विगुणं चतुर्गुणं वा स्तृणाति प्राग्दशमुदग् वा, तस्मिन् सोमं मिमीते दशकृत्वोऽभि त्यमिति' (का. श्रौ. ७.७.९-१०)। सोमोपनहनं वासो द्विगुणं चतुर्गुणं वा कृत्वा यथा तस्य वाससो दशा वस्त्राग्रं प्राच्यामुदीच्यां वा भवेत्, तथा तत् चर्मणि स्तृणीयात्। सोमोपनहने वाससि दशकृत्वः सोमं प्रक्षिपेदध्वर्युः। दशसु 'अभि त्यम्' इति मन्त्रेण तूष्णीमेकादशम्। सावित्र्यष्टिः, 'अभि त्यं सावित्र्यष्टिः' इति कात्यायनसर्वानुक्रमात्। चतुःषष्ट्यक्षरा अष्टिः। अष्टेरेव नामान्तरमतिच्छन्द इति। त्यं तं देवं सोमाख्यं मिमीते तमभ्यर्चामि आभिमुख्येन पूजयामि। कीदृशं देवम्? ओण्योः द्यावापृथिव्योः सवितारम्, 'ओण्याविति द्यावापृथिवीनामसु पठितम्' (निघ. ३.३०.१५), द्यावापृथिव्योरुत्पादयितारम्। 'ओणृ अपनयने' उणादिप्रत्ययेन सिद्धिः। ये द्यावापृथिव्यौ स्वाश्रितानां क्लेशानपनयतस्ते। यद्वा त्यं तं देवं सवितारमभ्यर्चामि, आभिमुख्येन सर्वतो वा पूजयामि। कीदृशम्? ओण्योर्द्यावापृथिव्योरन्तरा, वर्तमानमिति शेषः। तथा कविक्रतुं कविर्मेधावी क्रतुः कर्म यस्य तं मेधाविकर्माणम्। सत्यसवं सत्योऽवितथः सवः प्रेरणं यस्य तमवितथप्रेरणम्। रत्नधां रमणीयानां गोभूहिरण्यादिधनानां दातारं

मन्त्रार्थ— उस द्यावापृथिवी के प्रकाशक, ब्रह्म-संकल्प से प्रकट, सत्य प्रेरणा वाले, रत्नों के धारक, समस्त चराचर के प्रिय, अनुपम कल्पना शक्ति वाले सूर्य देव की सब तरह से पूजा करता हूँ। इन्हीं की अनन्त आकाशाभिमुखी दीप्ति आकाश अथवा परा प्रकृति रूप ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करती है। ज्योतिःस्वरूप हाथ वाले सत्यसंकल्प भगवान् सूर्य की मैं पूजा करता हूँ, जिनकी कृपा से स्वर्ग रचा गया है। हे सोम! प्रजा के उपकार के लिये मैं तुम्हें बांधता हूँ। हे सोम! प्रजा श्वास लेते हुए तुम्हारा अनुकरण कर जीवित रहे, तुम श्वास लेने वाली प्रजा का अनुसरण करो॥ इस मन्त्र से सोम को बांधने वाले कपड़े को दुहरा-तिहरा कर उसमें सोम डाला जाता है ॥२५॥

भाष्यसार—'अभि त्यं देवम्' इत्यादि मन्त्रों द्वारा सोमग्रहण के लिये फैलाये गये वस्त्र पर अध्वर्यु दस बार सोम रखे। तदनन्तर वस्त्र के कोनों को इकट्ठा करके 'प्रजाभ्यस्त्वा' इस मन्त्र से ऊपर से बाँधे। 'प्रजाभ्यस्त्वानु' मन्त्र से ऊपर की ओर अंगुलि से विवर प्रदेश बनावे। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (७.७.९-१०, १७-१८) में निर्दिष्ट है।

हीरकादिरत्नानां वा धारकं पोषकं वा अभि सर्वतो देवानां सर्वजनानां वा प्रीतिविषयं प्रेमास्पदम्, मतिं मन्यते चिन्त्यते ज्ञानिभिर्योऽसौ मतिस्तम्। यद्वा मतिं व्याप्यावस्थितम्। यद्वा मतिं मननयोग्यम्, मतीनां हि सविताधिष्ठात्री देवता। कविं क्रान्तदर्शिनमतीतानागतवर्तमानानां द्रष्टारम्। केचित्तु—'कवयति ग्रथ्नातीति कविः, अपरे क्राम्यतीति कविः, क्रामतेः कवतेश्च औणादिक इनिप्रत्यये क्रामते, रेफलोपे मस्य वत्वे कविरिति रूपम्, अन्ये क्रान्तमस्यास्तीति कविः, इत्थं रूपं साधयन्ति। यस्यामतिर् भा अदिद्युतत् सवीमनि। यस्यादित्यस्य भा दीप्तिरमतिः केनापि मन्तुमशक्या सती ऊर्ध्वा ऊर्ध्वगमनाभिमुखी सवीमनि प्रसवविशेषवति देशे यत्र नक्षत्रादीनां प्रसवः प्रवृत्तस्तत्र अदिद्युतत् सर्वाणि वस्तूनि द्योतितवती। सवः प्रसवः प्रवृत्तिर्नक्षत्रादीनां यस्मिन्नाकाशप्रदेशे स सवीमा, तस्मिन् सवीमनि। 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' इति धातोः 'हृभृधृसृस्तृशृभ्य इमनिच्' (उ. सू. ४.१४७) इतीमनिचि गुणावादेशौ, 'सवीमा प्रसवोऽनुज्ञा' इति कोषात्।

यद्वा उव्वटाचार्यरीत्या अमतिरात्ममयी मतिरनन्यभूता भा दीप्तिरदिद्युतद् द्योतयते। अकारो वासुदेव आत्मा वा, तद्रूपा मतिरमतिः। आत्मनो मतिविज्ञानादिरूपत्वं प्रसिद्धमेव। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. उ. २.१.१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ. उ. ३.९.२८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। महीधराचार्यस्तु—अमाशब्द आत्मवचनः। आत्ममयी ततिर्मतिर्वा अमतिः। तन्यत इति ततिर्दीप्तिः। मतिरपि प्रकाशरूपत्वाद् दीप्तिरेव। अमाततिशब्दस्य अमतिभाव इति। आत्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्वा यस्य भाः सर्वमदिद्युतत्। अन्ये तु 'अमेरतिः' (उ. सू. ४.५९) इत्यमेरतिप्रत्ययः। हिरण्यपाणिः सुवर्णाभरणयुक्तः स्वरादित्यः सुक्रतुः साधुसङ्कल्पः, कृपा कृपावान् अत्यन्तदयालुः, अमिमीत पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टो देवः सोमं मिमीतवान्। एतावान् सोम इति त्वदीयं परिमाणं निश्चितवान्। न साधारणमनुष्यास्तत्परिमाणमवगन्तुं समर्था इत्यर्थः। यद्वा—कृपा कल्पनं कृप् तया कृपा कल्पनया अमिमीत, सोममिति शेषः। विशिष्टसामर्थ्येन स देवः सोमपरिमाणं निश्चितवानित्यर्थः। यद्वा सोऽपि कल्पनयैव निश्चितवान्, वस्तुतस्त्वपरिमेय एव सोम इति सोमस्तुतिः। 'अन्तान् संगृह्योष्णीषेण बध्नाति प्रजाभ्यस्त्वेति' (का. श्रौ. ७.७.१७)। अध्वर्युरास्तीर्णस्य प्रक्षिप्तसोमकस्य सोमोपनहनवाससोऽग्रभागानूर्ध्वं समुन्नीय हस्ते गृहीत्वा एकत्र संकलय्योष्णीषेण बध्नीयादिति सूत्रार्थः। मन्त्रार्थस्तु—हे सोम, प्रजाभ्यः प्रजानामुपकाराय त्वा त्वां बध्नामीति शेषः। प्रजाभ्यः सदस्येभ्य ऋत्विग्भ्य इति शतपथे सायणाचार्यः। 'अङ्गुल्या मध्ये विवृणोति प्रजाभ्यस्त्वानुप्राणन्त्विति' (का. श्रौ. ७.७.१८)। बन्धनानन्तरं सोमोपनहनस्यान्तानां मध्येऽङ्गुल्या छिद्रं करोति। उष्णीषेण बद्धस्य सोमदेवस्य श्वासनिरोधो मा भूदिति विवरं करोतीत्यर्थः। हे सोम, त्वा नु प्रथमतः श्वासं कुर्वन्तमनुसृत्य सर्वाः प्रजाः प्राणन्तु श्वासं कुर्वन्तु। तथा हे सोम, त्वमपि प्रजा अनु प्रथमश्वासं कुर्वतीः प्रजा अनुसृत्य प्राणिहि श्वासं कुरु। प्रजानां तव च कदाचिदपि श्वासनिरोधो मा भूत्। परस्परमनुसृत्य श्वासः प्रवर्ततामित्यभिप्रायेण विवरणमिति सायणीयव्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे तु— त्यं तं वेदान्तेषु प्रसिद्धं देवं सृष्टिस्थितिलयलीलाभिः क्रीडमानं स्वप्रकाशं परमात्मानमभितोऽर्चामि पूजयामि समादरेण चिन्तयामि। कीदृशम्? ओण्योर्द्यावापृथिव्योः सवितारं निर्मातारं प्रेरयितारं वा। कविः क्रान्तदर्शी ब्रह्मा क्रतुः कर्म यस्य तं ब्रह्मादिक्रान्तदर्शिनां रचयितारं सर्वोत्कृष्टज्ञानक्रियादिमन्तं सत्यसवं

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—वेदान्तों में प्रसिद्ध उस स्वप्रकाश परमात्मा का मैं सर्वतः पूजन करता हूँ। द्यावापृथिवी के निर्माता, ब्रह्मादि के भी रचयिता, सत्य संकल्प के प्रेरक, ज्ञानवैराग्यादि सत्त्वमय दीप्त रत्नों के पोषक, सर्वप्रिय, विद्वानों द्वारा मननीय,

सफलप्रेरणम्, सत्यसङ्कल्पत्वात्। रत्नधां रत्नानि ज्ञानवैराग्यशमदमादीनि सत्त्वमयानि दीप्तिमन्ति धारयति पोषयतीति तम्। अभिप्रियं सर्वतः प्रियम्, 'प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्माच्च सर्वस्मात्' इति श्रवणात्। निरतिशयप्रेमास्पदं मतिं ब्रह्मविद्भिर्मन्यते चिन्त्यत उपास्यत इति विद्वन्मननीयं परं कविं क्रान्तदर्शिनं सर्वज्ञं यस्य परमात्मनः सवितुः सर्वोत्पादयितुर्भाः स्वरूपभूता नित्यज्ञानलक्षणा दीप्तिरमतिर्मन्तुमशक्या, 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥' (केनो.२.३), 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केनो.१.३)। सवीमनि सूर्यादिप्रसवप्रदेशेऽप्यूर्ध्वा सर्वोत्कृष्टा सती अदिद्युतद् द्योतते स्वप्रकाशतया राजते, सर्वप्रकाशनिरपेक्षत्वात्, 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ. उ. ३.४.१) इति श्रुतेः। स स्वश्चिदादित्यः परमात्मा हिरण्यपाणिः हिरण्यं ज्योतिर्मयं ब्रह्मात्मज्ञानं पाणौ यस्य स ब्रह्मात्मज्ञानप्रदः। हिरण्मयो ज्योतिर्मयः पाणिर्यस्य स हिरण्यपाणिर्भगवान शिवः, 'नमो हिरण्यबाहवे' (वा. सं. १६.१७) इति मन्त्रवर्णात्। पाणिरुपलक्षणम्, ज्योतिर्मयविग्रह इत्यर्थः। सुक्रतुः शुभः कल्याणमयः क्रतुः सङ्कल्पो यस्य सः। कृपा कृपया अमिमीत सर्वं जगत् त्रेधा पद्भ्यां परिमितं कृतवान्। किमर्थम्? प्रजाभ्यः प्रजाहिताय, अन्यथा सर्वमसुरायत्तं स्यात्, 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (वा. सं. ५.१५) इति मन्त्रवर्णात्। हे सोम साम्बसदाशिव, प्रजाः सर्वास्त्वामनुप्राणन्तु। त्वां प्राणन्तमनुप्राणन्तु, सर्वप्रजाजीवनस्य त्वज्जीवनायत्तत्वात्, सोपाधिकानां जीवानां निरुपाधिकब्रह्मैकजीवनत्वात्। त्वं च प्रजा अनुप्राणिहि प्रजाजनजीवनानुजीवातुर्भव प्रत्यगापरोक्ष्यपरप्रेमास्पदत्वायत्तापरोक्ष्यपरप्रेमास्पदत्ववान् भव, तत्पदार्थस्य त्वंपदार्थात्मनैवापरोक्षत्वपरप्रेमास्पदत्वसम्भवात्।

श्रीदयानन्दस्तु—'हे परमात्मन् समाध्यक्ष प्रजापुरुष वा, अहं यस्य सवीमन्यूर्ध्वा मतिर्या अदिद्युतत् कृपा स्वः सुखं करोति, यो हिरण्यपाणिः सुक्रतुः स्वरमिमीत दिव्यं वा निर्मितवान्, ओण्योः सवितारं कविक्रतुं रत्नधां सत्यसवं प्रियं मतिं कविं देवं त्वां प्रजाभ्योऽर्चामि, तं त्वा प्रजा अभि अनुप्राणन्तु कृपया त्वं प्रजा अनुप्राणिहि। त्यं जगदीश्वरं राजसभास्थजनसमूहं वा देवं सुखदातारं सवितारं देवानामग्न्यादीनां रसानां वा प्रसवितारमोण्योर्द्यावापृथिव्योः कविः सर्वज्ञा सर्वा च विद्या युक्ता। क्रतुः प्रज्ञा क्रमदर्शनं वा यस्य तम्, अर्चामि पूजयामि। सत्यं सवमैश्वर्यं जगद्वा यस्मिन् तम्, रत्नधां यो रत्नानि रमणीयानि विज्ञानानि हीरकादीनि भुवनानि वा दधातीति तम्, अभि आभिमुख्येन प्रियं यः प्रीणाति तम्, मतिं यो वेदादिशास्त्रैर्विद्वद्भिश्च मन्यते। कविं वेदविद्याया उपदेष्टारं निमित्तं वा। ऊर्ध्वा उत्कृष्टा यस्य सच्चिदानन्दस्वरूपस्य शुभगुणयुक्तस्य वा अमतिः स्वरूपम्। 'अमतिरिति रूपनामसु पठितम्' (निघ. ३.७.५)। भा यो भाति प्रकाशते सः, अदिद्युतत् प्रकाशितवान् प्रकाशयति। सवीमनि यः सूयते संसारस्तस्मिन्, हिरण्यपाणिः, हिरण्यानि ज्योतींषि सूर्यादीनि सुवर्णादीनि वा पाणौ व्यवहारे यस्य सः,

---

क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ की मैं अर्चना करता हूँ। जिस परमात्मा की नित्यज्ञानलक्षणा दीप्ति अचिन्त्य है तथा सूर्यादि के उद्गम प्रदेश में भी सर्वोत्कृष्ट होकर विद्योतित रहती है, स्वप्रकाशभूता है, वह हिरण्यबाहु परमात्मा शिव कल्याणमय संकल्प वाले अपनी कृपा से समस्त जगत् को प्रजा के हितार्थ परिमित कर चुके हैं। हे साम्ब सदाशिव! समग्र प्रजाएं आपके अधीन संजीवित रहें। आप प्रजाओं को संजीवित करें।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या मन्त्र से संगत न होने के कारण समीचीन नहीं है। परमेश्वर के साथ धार्मिक सभापति अथवा प्रजाजन का कोई प्रसंग नहीं है। 'अनुप्राणन' का 'आयुर्भोग' अर्थ करना भी शोचनीय है। प्रजाओं के लिये पूजन क्या है? शतपथ ब्राह्मण के व्याख्यान से भी सायणादि सम्मत अर्थ की ही संगति होती है, स्वामी दयानन्द के अर्थ की नहीं॥२५॥

अमिमीत निर्मितवान् निर्मिमीते वा। सुक्रतुः शोभनः क्रतुः प्रज्ञा कर्म वा यस्य। कृपा करुणा। स्वसुखमादित्यं वा प्रजाभ्य उत्पन्नाभ्यः सृष्टिभ्यस्त्वा त्वां प्रजा मनुष्यादिसृष्टयस्त्वा त्वामनुप्राणन्तु आयुर्भुञ्जताम्। प्रजा. जगतस्था त्वमयं वा अनुप्राणिहि जीवतोऽनुजीवनं धर धरति वा' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, मन्त्रासङ्गतेः, परमेश्वरस्य धार्मिकसभापतेः प्रजाजनस्य वाऽप्रसङ्गात्। 'सवीमनि उत्पन्नसंसारे' इत्यसङ्गतिः, उत्पत्तिमतां प्रातिस्विकवस्तूनामपि ग्रहणसम्भवात्। हिरण्यादीनि पाणौ व्यवहारे यस्येत्यप्यपव्याख्यानम्, कार्ष्णायसादीनामपि व्यवहारे सत्त्वाविशेषात्। 'कृपा करुणाऽनाश्रया सुखं करोति यस्य करुणा' इति व्याख्याने मूलं मृग्यम्, मन्त्रे द्वितीयस्य यस्येत्यस्य पाठाभावात्। एकस्य 'यस्य'पदस्य अमतिरित्यनेन सम्बद्धत्वेन गतार्थत्वात्। 'प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वानुप्राणन्तु' इत्यप्यस्पष्टमेव। अनुप्राणनस्य आयुर्भोगोऽर्थ इत्यपि चिन्त्यम्। प्रजाभ्यः पूजनं किम्? सृष्ट्यापि कथं पूजनम्? 'जीवतोऽनुजीवने धर धरति वा' इत्यपि यत्किञ्चित्।

'अथ वासः। द्विगुणं वा चतुर्गुणं वा प्राग्दशं वोदग्दशं वोपस्तृणाति तद्राजानं मिमीते स यद्राजानं मिमीते तस्मान्मात्रा मनुष्येषु मात्रो यो चाप्यन्या मात्रा' (श. ३.३.२.९)। सोमोपनहनार्थं वासो द्विगुणं चतुर्गुणं प्राग्दशमुदग्दशं वा उपस्तृणाति। आस्तृते वाससि राजानं मिमीते। सोमोन्मानाद्धेतोर्मनुष्येषु मात्रा षण्णवत्यङ्गुल्यादिरूपा इदानीं वर्तते। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादिरीत्या सोमस्य जगत्कारणत्वात् सोमस्यैव मात्रा मनुष्यादिषु। न केवलं मनुष्यगतैव मात्रा, अपि तु पक्षिमृगवृक्षादिष्वपि या उ यैव खलु मात्रा सापि सोममात्रात्मिकैव। 'सावित्र्या मिमीते। सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्मा एष सवितृप्रसूत एव क्रयाय भवति' (श. ३.३.२.१०)। विधीयमानोन्मानमन्त्रं देवताद्वारा प्रशंसति—सावित्र्या मिमीत इति। देवानां प्रसविता सर्वकर्मविषयानुज्ञाप्रदो देवः सविता, तत्सम्बन्धिन्या सावित्र्या सोमोन्मानमतीव प्रशस्तमिति सर्वथाप्यत्र सोमस्य राज्ञः प्रसङ्गः। नात्र दयानन्दीयस्यार्थस्य लेशोऽपि सङ्गच्छते। 'अतिच्छन्दसा मिमीते। एषा वै सर्वाणि छन्दाꣳसि यदतिच्छन्दास्तथो हास्यैव सर्वैरेव छन्दोभिर्मितो भवति तस्मादतिच्छन्दसा मिमीते'(श. ३.३.२.११)। मन्त्रगतं छन्दः प्रशंसति—अतिच्छन्दसेति। अष्टिरतिच्छन्द एवास्य छन्दोऽतोऽतिच्छन्दस्त्वम्। तस्मिन् छन्दसि चतुर्णां चतुर्णामक्षराणां परित्यागेनाधस्तनानां छन्दसामुत्पत्तेः सर्वछन्दस्त्वम्।

'स मिमीते। अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम् ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वरिति' (श. ३.३.२.१२)। उन्मानमन्त्रं विधत्ते—स मिमीत इति। तथा च सिद्धान्तानुसार्ययमर्थः सम्पद्यते—त्यं तं सवितारं देवम् अभ्यर्चामि आभिमुख्येन सर्वतो वा पूजयामि। कथंभूतम्? ओण्योर् अवित्र्योः क्लेशापनयित्र्योर्वा द्यावापृथिव्योर्वर्तमानम्। कविक्रतुं क्रान्तकर्माणम्। सत्यसवम् अवितथानुज्ञम्। यस्य सवितुरमतिरन्येषामविषया मतिरमतिः। भा दीप्तिः। ऊर्ध्वा उत्कृष्टा। अदिद्युतद् द्योतते। कुत्र द्योतत इत्यत आह—सवीमनि नक्षत्रादीनां प्रवृत्तिस्थाने आकाशप्रदेशे। अथवा सवीमनि प्रसवे निमित्तभूते सत्यनुज्ञार्थमूर्ध्वा सती तदीया भा द्योतते। स स्वः स्वरणः शोभनगमन आदित्यः कृपा कृपया हिरण्यपाणिः स्वर्णमयहस्तः स्वर्णाभरणपवित्रपाणिर्वा सन् अमिमीत मिमीते सोमोन्मानं करोति, करोत्वित्यर्थः।

'एतया सर्वाभिः। एतया चतसृभिरेतया तिसृभिरेतया द्वाभ्यामेतयैकयैतयैवैकयैतया द्वाभ्यामेतया तिसृभिरेतया चतसृभिरेतया सर्वाभिः समस्याञ्जलिनाऽध्यावपति' (श. ३.३.२.१३)। दशकृत्व उन्मानेऽप्ययमेव मन्त्र इत्यादिसमानप्रकारं दर्शयति—एतया सर्वाभिरिति। एतया 'अभि त्यं देवम्' इत्यनयैवाष्ट्या सर्वाभिरङ्गुलीभिः पञ्चभिर्मिमीते। एतयैव चतसृभिरप्यङ्गुलीभिर्मिमीते। एवमवरोहक्रमेणैकैकाङ्गुल्युत्सर्गेण पञ्चवारं मीत्वा पुनरारोह-

क्रमेणैकैकाङ्गुलिसंयोजनेन पुनरेतयैवर्चा पञ्चवारं मिमीते। एवं दशवारमुन्माय अनन्तरं पाणिद्वयं समस्याञ्जलिं कृत्वा तेनैकवारमभिमतस्य सोमस्योपरि आवपति। तथैव सूत्राणि— 'सर्वाभिः प्रथमम्, अङ्गुष्ठप्रभृति चैकोत्सर्गम्, द्विः कनिष्ठिकया, एकोपचयं च, अञ्जलिना दशमम्, अन्यद्वा अध्यावापश्रुतेः' (का. श्रौ. ७.७.११-१६)। अध्यावापश्रुत्या समन्त्रकं दशकृत्वो मानाद्बहिरेकादशं तूष्णीममानरूपमध्यावापं ब्रवीति सूत्रकारः। 'अन्यद्वाऽध्यावापश्रुतेः' (का. श्रौ. ७.७-१६) इत्यत्र याज्ञिकोऽनन्तदेवः—'दशभ्योऽन्यदिदमेकादशं मानमध्यावापोऽञ्जलिना। कुतः? अध्यावापश्रुतेः। अधीत्युपरिभाववचनोऽधिकवचनो वा। न चात्रोपरिभावोऽर्थः सम्भवति, वस्त्वन्तराभावात्। तेन सोमस्यावशिष्टं मानादेकत्र राशीकृत्याञ्जलिना गृहीत्वाऽधिकं मितादावपतीत्यर्थः। तथा चाधिकः स्याद्यदा दशकृत्वो मानादन्यदावपनं स्यात्। तस्मादेकादश एवाध्यावापः। यदा चोपरिभावार्थक एवाधीति स्यात्, तदापि नियताच्छास्त्रोदितादधिकं तदुपर्येव वर्तत एक इत्येकादशमेव।

नन्वेतया सर्वाभिः समस्याञ्जलिनाध्यावपतीति सामानाधिकरण्येन दशममेव प्रतीयते, तथा च सर्वं मानमभिधायोच्यते दशकृत्वो मिमीत इति, तेन दशममेव युक्तमिति चेदत्रोच्यते—एतयर्चा सर्वाभिरित्यारभ्य दशमान्तं पुनरेतया सर्वाभिरित्युक्ते मिमीत इत्यनेनैव निराकाङ्क्षीकृतम्। तेन मन्त्रयुक्तानि दश मानानि। तान्येवोपसंहारेऽथ दशकृत्वो मिमीत इति सम्पादनार्थं परामृश्यन्ते। अध्यावापस्य त्वावापरूपत्वेनामानरूपत्वान्न परिगणनम्, तेनाधिकमेव। अपि च, एतयैतस्य सर्वत्र मिमीत इत्यनेनासम्बद्धत्वान्नाध्यावापेन सम्बन्धाकाङ्क्षा। ततोऽप्यावापस्य स्वातन्त्र्यान्न पूर्वेणैकवाक्यता। सूत्रार्थस्तु—प्रथमवारं सोमस्य प्रक्षेपः साङ्गुष्ठाभिः सर्वाभिरङ्गुलीभिः कार्यः, द्वितीयादिप्रक्षेपेष्वङ्गुष्ठमारभ्य क्रमश एकैकामङ्गुलीमुत्सृजेत्, अर्थाद् द्वितीयोऽङ्गुष्ठवर्जिताभिश्चतसृभिरङ्गुलीभिः, तृतीयोऽङ्गुष्ठतर्जनीवर्जिताभिस्तिसृभिः, चतुर्थोऽनामिकाकनिष्ठिकाभ्यामिति, पञ्चमः षष्ठश्च प्रक्षेपः केवलकनिष्ठिकयैव कर्तव्यः, सप्तमादिदशमान्तः प्रक्षेप एकैकस्या अङ्गुल्या उपचयं कृत्वा कर्तव्यः। अर्थात् सप्तमः प्रक्षेपोऽनामिकयोपचितया कनिष्ठिकया, अष्टमः कनिष्ठिकानामिकामध्यमाभिः, नवमः प्रदेशिन्यादिचतसृभिः, दशमः प्रक्षेपोऽञ्जलिना कर्तव्यः। प्रसारितो हस्तः प्रसृतिः, प्रसृतिद्वयमञ्जलिः। एवं प्राप्ते सिद्धान्तयति—अन्यद्वाध्यावापश्रुतेः। अत्र वाऽवधारणे। दशमप्रक्षेपादन्यद् एकादशः प्रक्षेपोऽञ्जलिना कार्यो न दशमः। कुतः? अध्यावापश्रुतेः। 'एतया' (श. ३.३.२.१३) इत्यादिना सर्वाभिरङ्गुलीभिः पृथक् पृथग् दशकृत्वः प्रक्षेपं विधाय ततोऽधिकस्यैव एकादशस्य प्रक्षेपस्य 'समस्याञ्जलिनाऽध्यावपति' (श. ३.३.२.१३) इति विधानादिति टिप्पणीकारेण श्रीधरेण समन्वय उक्तः।

'स वा उदाचं न्याचं मिमीते। स यदुदाचं न्याचं मिमीत इमा एवैतदङ्गुलीर्नानाजानाः करोति तस्मादिमा नाना जायन्तेऽथ यत्सह सर्वाभिर्मिमीते सꣳश्लिष्टा इव हैवैमा जायेरंस्तस्माद्वा उदाचं न्याचं मिमीते' (श. ३.३.२.१४)। अङ्गुलीनां क्रमेणोत्सर्गे संयोजने च कृते योऽर्थसिद्धो मानविषयः समञ्चनप्रसारणभावस्तमनूद्य बहुधा प्रशंसति—स वा उदाचं न्याचमित्यादिना। उदाचं न्याचमङ्गुलीः समच्य प्रसार्य चेत्यर्थः। तेनोक्तप्रकारमानेन अङ्गुलीर्नानाजानाः पृथक् पृथग् जन्मयुक्ताः करोति, कर्मभोगार्थत्वात् सृष्टेः। व्यतिरेके दोषमाह—अथ यत्सह सर्वाभिर्मिमीत इति। सर्वाभिः संहताभिरङ्गुलीभिर्दशवारमपि मानं यदि कुर्यात्, तथा सति संश्लिष्टाः परस्परसंहता एवाङ्गुलयो जायेरन्, तस्मादुदाचं न्याचं मिमीते। 'यद्वेवोदाचं न्याचं मिमीते। इमा एवैतन्नानावीर्याः करोति तस्मादिमा नानावीर्यास्तस्माद्वा उदाचं न्याचं मिमीते' (श. ३.३.२.१५)। उक्तरीत्या मानेन नानावीर्याः पृथक् पृथक् कार्यसमर्थाः करोति। 'यद्वेवोदाचं न्याचं मिमीते। विराजमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति। पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहत्यर्वाची मनुष्यानवति तस्माद्वा उदाचं न्याचं

मिमीते' (श. ३.३.२.१६)। एतद् एतेन, अर्वाक् पराग्गतेन विराट्छन्दोदेवतामेव संख्याद्वारा अवाक् च पराक् च सोमे योजितवान् भवत्यध्वर्युः। सा सोमयुक्ता विराट्। पराच्यहेति पराची पराग्भूता ऊर्ध्वमुखी सती उदञ्चनसामर्थेन यज्ञं सोमरसं देवेभ्यो वहति। तथैव अर्वाची अवाङ्मुखी सती समञ्चनसामर्थ्येन मनुष्यान् ऋत्विगादीन् अवति। 'अह इति विनिग्रहार्थो निपातः' (निरु. १.५)।

'अथ यद्दशकृत्वो मिमीते। दशाक्षरा वै विराट् वैराजः सोमस्तस्माद्दशकृत्वो मिमीते' (श. ३.३.२.१७)। मानगतसंख्यां प्रशंसति—अथ यद्दशकृत्व इति। विराजो दशाक्षरत्वं प्रसिद्धम्। सोमोऽपि दशसंख्याकैर्द्रव्यैः क्रीयमाणत्वात् संख्याद्वारा विराट्सम्बन्धाद् वैराजो भवति। 'अथ सोमोपनहनस्य समुत्पार्यान्तान्। उष्णीषेण विग्रथ्नाति प्रजाभ्यस्त्वेति प्रजाभ्यो ह्येनं क्रीणाति स यदेवेदꣳ शिरश्चाꣳसौ चान्तरोपेनितमिव तदेवास्यैतत्करोति' (श. ३.३.२.१८)। अथेति। अन्तान् समुत्पार्य अधः प्रसारितस्य वस्त्रस्य पर्यन्तप्रदेशानेकत्र उच्चं संगृह्य उष्णीषेण ग्रन्थिं कुर्यात्। तत्र मन्त्रः—प्रजाभ्यस्त्वेति। प्रजाभ्यः सदस्येभ्य ऋत्विग्भ्यो ह्येनं क्रीणाति। उष्णीषेण ग्रथनं प्रशंसति—स यदेवेदमिति। शिरसोंऽसयोश्चान्तरालप्रदेशो यथा विलग्न इव वर्तते, एवं ग्रन्थिकरणेन कृतवान् भवति। 'अथ मध्येऽङ्गुल्याकाशं करोति। प्रजाभ्यस्त्वानुप्राणन्त्विति तमयतीव वा एनमेतत् समायच्छन्नप्राणमिव करोति तत्यैतदत एव मध्यतः प्राणमुत्सृजति तं ततः प्राणन्तं प्रजा अनुप्राणन्ति तस्मादाह प्रजास्त्वानुप्राणन्त्विति तꣳ सोमविक्रयिणे प्रयच्छत्यथातः पणनस्यैव' (श. ३.३.२.१९)। ग्रन्थिमध्ये सुषिरं समन्त्रकं विधत्ते—अथ मध्येऽङ्गुल्यावकाशं करोतीति। मध्ये सोमग्रन्थिमध्ये सुषिरकरणेन प्राणन्तं त्वा सर्वाः प्रजा अपि प्राणन्त्विति समायच्छन् सोमोपहननवाससोऽन्तान् संगृह्णन् तमयतीव ग्लपयतीव, अप्राणं सोमं प्राणरहितमिव करोति। अत एवोपद्रवसम्भवाद्धेतोस्तत्परिहाराय देहमध्ये उच्छ्वासरूपं प्राणमुद्गमयति। तस्मात् प्रजास्त्वेत्यादिमन्त्रं पठेत्। तं सोमोपहननवस्त्रे बद्धं सोमं सोमविक्रयिणे प्रयच्छति। अथातः पणनस्य क्रयस्य विधिरुच्यत इति शेषः। अनेन शतपथीयवृत्तान्तेन सायणादिसम्मतस्यैवार्थस्य सङ्गतिर्भवति, न दयानन्दीयार्थस्य ॥२५॥

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणाऽमृतममृतेन। सग्मे ते गौरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम्॥२६॥

'शुक्रं त्वेति हिरण्यमालभ्य वाचयति' (का. श्रौ. ७.८.१५)। हे सोम, शुक्रमक्लिष्टकर्माणं दीप्यमानं वा त्वा त्वां शुक्रेण दीप्तिमता हिरण्येन क्रीणामि व्यवहारेण गृह्णामि। कीदृशं त्वाम्? चन्द्रं 'चदि आह्लादने' दिव्यफलहेतुत्वेनाह्लादकरम्, तथा अमृतम् अमृतत्वफलत्वात् स्वादुत्वेनामृतसमानम्। कीदृशेन शुक्रेण? चन्द्रेण सुवर्णेन

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम आह्लादकारक, अमृत के समान स्वादु और दीप्तिमान् हो, मैं तुम्हे दीप्तिमान् विनाशरहित आह्लादकारक सुवर्ण से खरीदता हूँ। हे सोम बेचने वाले! सोम के मूल्य में दी गई गौ अब तुम्हारी है, वह फिर लौटकर यजमान के घर न आ जाय। हे सोमविक्रेता! तुम्हें दिया हुआ सुवर्ण फिर हमारे पास न आ जाय। हे अजा! तुम पुण्य का शरीर, प्रजापति का शरीर हो। हे सोम! उत्तम लक्षण वाले इस अजा रूपी पशु के द्वारा तुम्हें खरीदा जाता है। तुम्हारे अनुग्रह से हमारे घर में पुत्र, पशु आदि की पुष्टि हो, जिससे कि मैं भी पुष्ट हो जाऊँ॥ इस मन्त्र का उच्चारण सोमविक्रेता को सुवर्ण देकर गाय को वापस लेते समय किया जाता है॥२६॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.८.१५-१९) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'शुक्रं त्वा' इस कण्डिका के द्वारा सोम खरीदने के लिये स्वर्ण तथा अजा-द्रव्यों से सोमविक्रेता को मूल्य निर्धारण हेतु प्रलोभन दिया जाता है। इस याज्ञिक विनियोग के अनुसार ही मन्त्रार्थ का निर्देश शतपथ ब्राह्मण में किया गया है।

'चन्द्रमिति हिरण्यनामसु पठितम्' (निघ. १.२.२), चन्द्रवदाह्लादकरेण तथाऽमृतेन वह्निसंयोगादिनाप्यनाशिना। 'सग्मे त इति सोमविक्रयिणꣳ हिरण्येनाभिकम्पयति' (का. श्रौ. ७.८.१६)। सोमविक्रयिहस्ते हिरण्यं दत्तवा स्वीकुर्वंस्तं निराशं कुर्यात्। हे सोमविक्रयिन्, गोः गौः, सोममूल्यत्वेन तुभ्यं दत्ता। सा त्वदीया गौः पुनः प्रत्यावृत्य सग्मे मदीयसङ्गवति यजमाने तिष्ठतु। ऋत्विग्भिः सह गच्छति तत्तत्कर्मस्विति सग्मो यजमानः, 'सग्मे ते गोरिति यजमाने ते गौरित्येवैतदाह' (श. ३.३.३.७) इति श्रुतेः। तयैव श्रुत्या गोरिति गौरिति ज्ञातव्यम्। हिरण्यमेव तवास्तु गौर्मा भूत्। यद्वा ग्मा गौस्तया ग्मया सह वर्तत इति सग्मो यजमानस्तत्र गौस्तिष्ठतु। अनेन सोमविक्रयिणं निराशं करोति, हिरण्येन प्रलोभनमिति वा, 'गौः ग्मा ज्मा क्ष्मा क्षा क्षमा' (निघ. १.१) इत्युक्तेः। तथा च ते गौः गोरिति मन्त्रशेषः। औकारस्य स्थाने ओकारश्छान्दसः। 'अस्मे त इति यजमानसहितं निदधाति' (का. श्रौ. ७.८.१७)। यजमानेन प्रत्यर्पितं यद्वोद्रव्यं तत्पुनर्यजमानसहितं सोमविक्रयिणः पुरतो निदधाति। हे सोमविक्रयिन्, ते चन्द्राणि तुभ्यं दत्तानि यानि सुवर्णानि तान्यस्मे अस्मासु प्रत्यावृत्य तिष्ठन्तु। तव गौरैवास्तु सोममूल्यम्, हिरण्यानि मा भूवन्। 'अजां प्रत्यङ्मुखीमालभ्य वाचयति तपसस्तनूरिति' (का. श्रौ. ७.८.१९)। सोमविक्रयिणे सव्यहस्तेनाजां दत्त्वा दक्षिणहस्तेन स्वयं गृहीत्वाऽध्वर्यौ आगते सति यजमानस्य वैकल्पिकमुत्थानम्। अर्धे अजा देवतास्य यजुषोऽर्धे सोमः। हे अजे, त्वं तपसः पुण्यस्य तनूरसि देहोऽसि, तपोविग्रहोऽसीत्यर्थः। दिवि स्थितस्य यज्ञियस्य यज्ञनिष्पादकस्य सोमस्यानयनायाजां गृहीत्वा गायत्री देवता जगामेति तित्तिरिणा सोमाहरणोपाख्याने गदितत्वा-दजायाः पुण्यशरीरत्वम्। किञ्च, हे अजे, त्वं प्रजापतेर्वर्णोऽसि। वर्णोऽत्र देहः। यथा प्रजापतिः सर्वदेवताप्रियः, एवं त्वमपि, 'सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजा' (तै. सं. ३.४.३.२) इति तैत्तिरीयोक्तेः। हे सोम, त्वं परमेणोत्तमेन पशुनाऽजेनानेन क्रीयसे। तपोविग्रहत्वेनाजपशोरुत्तमत्वमुक्तमेव। अतोऽस्य प्रसादात् सहस्रपोषं पुत्रपश्वादिसह-स्राणां यथा भवति तथा पुषेयं पुष्टो भूयासमिति सायणाचार्यः। यद्वा हे अजे, त्वं प्रजापतेस्तपसस्तनूरसि, तपस उत्पन्नत्वात् 'तपसो ह वा एषा प्रजापतेः सम्भूता यदजा' (श. ३.३.३.८) इति श्रुतेः। किञ्च, त्वं प्रजापतेर्वर्णो रूपमसि। प्रजापतेस्त्रिगुणत्वात् त्रिरूपत्वम्। अजापि प्रतिसंवत्सरं त्रिवारं प्रसूते, तस्मात् प्रजापतेर्वर्णत्वम्, 'सा यत् त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन प्रजापतेर्वर्णः' (श. ३.३.३.८) इति श्रुतेः। एवमजां सोमसमक्षमभिष्टुत्य सोममाह—हे सोम, परमेणोत्कृष्टेन पशुनाऽजया त्वं क्रीयसे। ततोऽहं सहस्रपोषं सहस्रं प्राणिनां पुष्णातीति सहस्रपोषं धनं पुषेयं पुष्णीयाम्, वर्धयेयमित्यर्थः। पुष्णातेर्व्यत्ययेन शेप्रत्यये लिङि पुषेयमिति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, उमया सह वर्तत इति सोमस्तत्सम्बुद्धौ, शुक्रमक्लिष्टकर्माणं त्वामहं शुक्रेण दीप्तिमता स्वात्मना क्रीणामि, अर्थात् स्वात्मसमर्पणेन त्वामहं स्वायत्तं करोमि। चन्द्रं परमाह्लादकं त्वां चन्द्रेण परमप्रेमास्पदेनात्मना त्वां क्रीणामि। अमृतं सर्वविधभावविकारशून्यं त्वामव्ययमहममृतेन सुखरूपेण क्रीणामि। ग्मा गाव इन्द्रियाणि सन्ति यस्मिन्नसौ सग्मः साधकस्तस्मिन् ते तव गौर्धर्मरूपोऽस्तु। अस्मे अस्मासु ते तव सम्बन्धीनि चन्द्राणि हिरण्यानि तदुपलक्षितान्यैश्वर्याणि सन्तु। त्वं तपसस्तनूरसि शरीरमसि, तपसोऽपि तद्विभूति-

---

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे साम्ब सदाशिव, उत्तम कार्यों के सम्पादक ! आपको मैं दीप्तिमान् स्वात्मतत्त्व के समर्पण द्वारा स्वायत्त करता हूँ। हे परमाह्लादक ! आपको प्रेमास्पद स्वात्मतत्त्व के समर्पण से स्वायत्त करता हूँ। हे सर्वविकारशून्य अव्यय ! आपको मैं अमृतत्व से स्वीकृत करता हूँ। इन्द्रियवान् साधक में आपका धर्मात्मक स्वरूप हो। हम लोगों में आपके

त्वात्। प्रजापतेः सर्वेश्वरस्य वर्णं रूपमसि, तवैव सर्वेश्वरत्वात्। हे सोम, त्वं परमेण उत्कृष्टेन पशुना मनोरूपेण क्रीयसे। सहस्रपोषं सहस्रं प्राणिनां यत्पुष्णाति तव प्रसादात्तदहं तादृशं धनं पुषेयं वर्धयेयम्।

दयानन्दस्तु—'शुक्रं शुद्धिकारकं त्वा तं क्रियामयं यज्ञं शुक्रेण शुक्रभावेन क्रीणामि गृह्णामि चन्द्रं सुवर्णं चन्द्रेण सुवर्णेन अमृतं मोक्षसुखममृतेन नाशरहितेन विज्ञानेन सग्मे गच्छतीति ग्मा पृथिवी, तया सह वर्तत इति सग्मस्तस्मिन् यज्ञे। 'ग्मेति पृथिवीनामसु पठितम्' (निघ. १.१.२)। ते तव गोः पृथिव्याः सकाशाद् अस्मे अस्मभ्यं ते तव सकाशाच्चन्द्राणि काञ्चनादयो धातवस्तपसो धर्मानुष्ठानस्याग्नेस्तापसस्य वा तनूः शरीरमसि अस्ति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। प्रजापतेः प्रजानां पतिः पालनहेतुः सूर्यस्तस्य वर्णो वरीतुं योग्यः परमेण प्रकृष्टेन पशुना व्यवहृते विक्रीतेन गवादिना क्रीयसे क्रीयते। सहस्रपोषम् असंख्यातपुष्टिं पुषेयं पुष्टो भवेयम्' इति। हिन्दीभाष्येऽस्यार्थो यथा—'यः पृथिव्या सह वर्तमाने यज्ञे तपसः प्रतापयुक्तस्याग्नेर्विदुषस्तपस्विनो वा तनूः शरीरमस्ति, तथा शिल्पविद्यायाः सत्योपदेशस्य च सिद्धये पशुना विक्रीतेन गवादिना प्रजापतेः सूर्यस्य वर्णः स्वीकारयोग्यं तेजः क्रीयते, तेन सहस्रपोषम् असंख्यातपुष्टिं प्राप्य पुष्टः स्यामहम्। हे विद्वन्, यत्ते तव गोः पृथिवीराज्यात् सुवर्णादिधातवः प्राप्यन्ते, ते अस्मे अस्मभ्यमपि सन्तु। यथाहं ते तव परमेण उत्तमेन शुक्रेण शुद्धभावेन शुक्रं शुद्धिकारकं यज्ञं चन्द्रेण सुवर्णेन चन्द्रं सुवर्णं तथा अमृतेन नाशरहितेन विज्ञानेन अमृतं मोक्षसुखं क्रीणामि गृह्णामि, तथैव त्वमपि तं गृहाण' इत्यादि, तदपि सर्वथा निःसारं निरर्थकमक्षरासम्बद्धं च, क्रीणामीत्यस्य ग्रहणार्थकत्वे मानाभावात्, चन्द्रेण चन्द्रमित्यस्य सुवर्णेन सुवर्णमित्यर्थकरणस्य निरर्थकत्वात्। अमृतेन नाशरहितेन विज्ञानेनेत्यपि निर्मूलम्, विज्ञानस्य नित्यत्वादर्शनात्। त्वद्रीत्या मोक्षस्यापि नाशरहितत्वं नास्ति, मुक्तेरावृत्त्यभ्युपगमात्। गम्यत्वादपि पृथिव्या ग्मात्वं सिद्ध्यतीति न तस्या गमनशीलत्वम्, 'ध्रुवा द्यौः' (अथर्व. ६.८८.१) इत्यादिमन्त्रविरोधात्। न वान्यस्य धातवोऽन्यस्य सम्भवन्ति, व्यवहारविरोधात्। पशुना विक्रीतेन गवादिनेत्यपि निरर्थकम्, अक्रीतस्यापि गवादेः पशुत्वाविशेषात्। तेन च कथं प्रजापतेर्वरीतुमर्हं तेजः क्रीयत इत्युपपादनीयमेव। कोऽत्र वक्ता? न परमेश्वरः, तस्यान्योपार्जितसुवर्णादिनिरपेक्षत्वात्। श्रुतिसूत्रविरोधाच्चानादेयोऽयमर्थः।

शतपथे सोमयज्ञप्रसङ्गे सोमक्रयः प्रकृतः। 'स वै राजानं पणते। स यद्राजानं पणते तस्मादिदꣳ सकृत्सर्वं पण्यꣳ स आह सोमविक्रयिन् क्रय्यस्ते सोमो राजा३ इति क्रय्य इत्याह सोमविक्रयी तं वै ते क्रीणानीति क्रीणीहीत्याह सोमविक्रयी कलया ते क्रीणानीति भूयो वा अतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी भूय एवातः सोमो राजार्हति महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युः' (श. ३.३.३.१)। अत्र सोमक्रयार्थं व्यवहारं विधत्ते श्रुतिः—पणत इति। पणते व्यवहरते। तस्मात् सोमस्य व्यवहारभूतत्वादिदमिदानीमपि सर्वं दधिमधुघृतादिवस्तु सकृत् पण्यं पणितव्यं भवति। व्यवहारप्रकारं दर्शयति—स आहेति। सोऽध्वर्युः क्रय्यस्ते सोमो राजेति पृच्छेत्। क्रय्य इति

प्रदत्त ऐश्वर्य हों। आप तपोविग्रह हैं, सर्वेश्वर प्रजापति की मूर्ति हैं, हे साम्बशिव! आप सर्वोत्तम मनोरूप पशु से उपलब्ध होते हैं। आपकी कृपा से मैं सहस्रों प्राणियों के पोषणयोग्य धन से वर्धित होऊँ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ मन्त्राक्षरों से असम्बद्ध है। 'चन्द्रेण चन्द्रम्' का 'सुवर्णेन सुवर्णम्' इस प्रकार अर्थ करना निष्प्रयोजन है। अमृत का अर्थ 'नाशरहित विज्ञान' करना भी निर्मूल है, क्योंकि उनके मत में तो मोक्ष भी नाशरहित नहीं है। शतपथ श्रुति तथा सूत्र-ग्रन्थों के विरोध के कारण यह अर्थ ग्राह्य नहीं है ॥२६॥

सोमविक्रयी प्रतिब्रूयात्। क्रय्यः क्रयार्थं प्रसारितः, 'क्रय्यस्तदर्थे' (पा. सू. ६.१.८२) प्रश्नार्थे प्लुतिः। तत् तर्हि ते स्वभूतं सोमं क्रीणानीत्यध्वर्युर्ब्रूयात्। अथ तेन विक्रयिणा क्रीणीहीत्युक्तोऽध्वर्युर्ब्रूयात् कलया गोरेकदेशेन तव सोमं क्रीणानीति। स विक्रेता अतोऽस्मात् कलालक्षणान्मूल्यात् प्रभूतमधिकमूल्यमर्हति सोमो राजेति ब्रूयात्। अथ तेन तथोक्तोऽध्वर्युर्गोर्महत्त्वमाविष्करोति—महांस्त्वेवेति। यदि सोमो बहुमूल्यमर्हति, तर्हि कृत्स्ना गौर्दातव्या भवति। तथा सति गोर्महिमा महानिति ब्रूयात्।

'गौर्वै प्रतिधुक्। तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनम्' (श. ३.३.३.२)। गोर्महत्त्वमेव दर्शयति—गोर्वा इति। गोः सकाशात् प्रतिधुगादिकमुपलभ्यते। प्रतिधुक् सद्योदुग्धम्। इदमेकं वीर्यम्। तस्याः शृतं पक्वं पयः। शरः पक्वक्षीरस्योपरि सारभूतं मलायीपदवाच्यम्। तस्यै दधि घनीभूतमम्लास्वादं वस्तु। मस्तु दधिभवं सारभूतमुदकम्। आतञ्चनं दधिभावकारणं दध्येव। आमिक्षा तप्ते पयसि दध्यानयने सति यद् घनीभूतं वस्तु जायते सा आमिक्षा। द्रवात्मकं वस्तु वाजिनम्। एवंविधानि गोर्वीर्याणि प्रख्यापयेत्।

'शफेन ते क्रीणानीति। भूयो वा अतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी भूय एवातः सोमो राजार्हति महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युरितान्येव दश वीर्याण्युदाख्यायाह पदा तेऽर्धेन ते गवा ते क्रीणानीति क्रीतः सोमो राजेत्याह सोमविक्रयी वयाꣳसि प्रब्रूहीति (श. ३.३.३.३)। द्वितीयवारक्रये शफेन ते क्रीणामीति ब्रूयात्। शफः पादाग्रस्यार्धभागः। भूयो वाऽत इत्यादिकं स्पष्टम्। अध्वर्युरेतानि पूर्वोक्तान्येव प्रतिधुगादीनि दश वीर्याणि पुनर्ब्रूयात्। तृतीयवारक्रये पदा त इति ब्रूयात्। चतुर्थवारेऽर्धेन त इति ब्रूयात्। भूयो वेत्यादि पूर्ववत्। पञ्चमवारे गवा ते क्रीणामीति ब्रूयादध्वर्युः। एवमुक्ते सोमो राजा त्वया क्रीत उचितमूल्यस्य दत्तत्वादथ वयांसि ब्रूहीति सोमविक्रयी ब्रूयात्। 'स आह। चन्द्रं ते वस्त्रं ते छागा ते धेनुस्ते मिथुनौ ते गावौ तिस्रस्ते अन्या इति स यदार्वाक् पणन्ते परः सम्पादयन्ति. . . अथ यदध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोमस्य सोमविक्रयी महितो वै सोमो देवो हि सोमोऽथैतदध्वर्युर्गां महयति तस्यै पश्यन् वीर्याणि क्रीणादिति तस्मादध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोमस्य सोमविक्रयी' (श. ३.३.३.४)। वयःशब्दार्थं स्वयमेवाह श्रुतिः—चन्द्रं त इत्यादिना।

कात्यायनोऽपि तथैवाह—'क्रीतः सोमो राजेत्यन्ते वयाꣳसि प्रब्रूहीत्याह सोमविक्रयी' (का. श्रौ. ७.८.१३), 'पञ्चकृत्वः सोमं पणते' (का. श्रौ. ७.८.१), 'स आह सोमविक्रयिन् क्रय्यस्ते सोमो राजा३ इति' (का. श्रौ. ७.८.२), 'क्रय्य इत्याह सोमविक्रयी' (का. श्रौ. ७.८.३), 'तं वै ते क्रीणानीति' (का. श्रौ. ७.८.४), 'क्रीणीहीत्याह सोमविक्रयी' (का. श्रौ. ७.८.५), 'कलया ते क्रीणानीति' (का. श्रौ. ७.८.६), 'भूयो वा अतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी' (का. श्रौ. ७.८.७), 'भूय एवातः सोमो राजार्हति महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युर्गोर्वै प्रतिधुक् तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनमिति' (का. श्रौ. ७.८.८), 'भूय एवेत्यतः प्रभृति चतुरावर्तयति' (का. श्रौ. ७.८.९), 'एकैकेनान्ते पणते शफेन पदार्धेन गवा' (का श्रौ. ७.८.१०), 'ते क्रीणामीत्यन्ततः' (का. श्रौ. ७.८.११), 'प्रश्नान्ते प्रश्नान्ते' (का. श्रौ. ७.८.१२)।

भूय एवेत्यादीनामयमर्थः—शफेन ते क्रीणामि, पदा ते क्रीणामि, अर्धेन ते क्रीणामि। सोमक्रयिणा च भूयोऽत इत्याद्युक्ते भूय एवेत्यादिकमध्वर्युः पठति। एवमेकैकस्य प्रश्नस्यान्ते उक्त्वा ततोऽन्त्यपणनं गवा ते

क्रीणानीति कुर्यात्। एवं च 'भूयो वा' इत्यस्य विक्रेत्रा वारचतुष्टयं पठनं तत्प्रश्नस्यान्ते भूय एवेत्यध्वर्युणापि वारचतुष्टयं गवा ते क्रीणानीत्यतः पूर्वमिति फलितम्। 'क्रीतः सोमो राजेत्यन्ते वयाꣳसि प्रब्रूहीत्याह सोमविक्रयी' (का. श्रौ. ७.८.१३)। वयांसि अन्यान् पशून् प्रब्रूहीति। 'स आह चन्द्रं ते वस्त्रं ते छागा ते धेनुस्ते मिथुनौ ते गावौ तिस्रस्ते अन्या इति' (का. श्रौ. ७.८.१४)। व्यवहारपूर्वकक्रय्यं प्रशंसति—स यदर्वागित्यादि शतपथश्रुतिः। अर्वाक् सम्पादनात् प्राग् व्यवहारं कृत्वा परः परस्तात् सम्पादयन्ति, अथवा अर्वाग् अल्पमेव व्यवहारकाले व्यवहरन्ति, सम्पादनकाले तु परः देयं मूल्यमधिकं कृत्वा। तस्मादिदानीमपि सर्वं पण्यं वस्तु सकृद् एकवारम् अर्वाक् पणन्ते परः परस्तात् सम्पादयन्ति। तस्मात् पणनपूर्वक एव क्रयो युक्तः। गोर्वीर्याणामुदाख्यानवत् सोमवीर्याण्यप्युदाख्यातव्यानि। तथाऽकरणे कारणमाह—अथ यदध्वर्युरिव गोर्वीर्याण्याचष्टे न सोमस्य वीर्याणि सोमविक्रयी आचष्टे, तस्येदं कारणं यत्सोमो राजा महितो महत्त्वोपेतः। तत्कथमित्याह—दिवि खलु दिवि वर्तमानस्य चन्द्रस्य सोमवल्लीरूपेण परिणामात्, 'दिवि वै सोम आसीत्' (श. ३.२.४.१) इत्युक्तत्वात्। अतो हेतोः सोमस्य महत्त्वोपेतत्वं प्रसिद्धेन तद्वीर्योदाख्यानेन युक्तमपेक्षितम्। अध्वर्युर्गां महयति तां पश्यन् तस्या वीर्याणि प्रतिधुगादीनि वर्णयति। तत्तु सोममनया क्रीणामीत्यभिप्रायेणेति। तस्मादध्वर्युरिव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोमस्य सोमविक्रयीति। 'अथ यत् पञ्चकृत्वः पणते। संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभि-राप्नोति। तस्मात् पञ्चकृत्वः पणते' (श. ३.३.३.५)। स्पष्टम्। 'अथ हिरण्ये वाचयति। शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामीति शुक्रꣳ ह्येतच्छुक्रेण क्रीणाति यत्सोमꣳ हिरण्येन चन्द्रं चन्द्रेणेति चन्द्रꣳ ह्येतच्चन्द्रेण क्रीणाति यत्सोमꣳ हिरण्येनामृतममृतेनेत्यमृतꣳ ह्येतदमृतेन क्रीणाति यत्सोमꣳ हिरण्येन' (श. ३.३.३.६)। एकहायन्या गवा सह देयेषु हिरण्यवस्त्रछागादिदशसु द्रव्येषु मध्ये हिरण्ये दीयमाने सति यजमानं वाचयति शुक्रं त्वेति मन्त्रम्। अत्र मन्त्रे शुक्रचन्द्रामृतपदानि तृतीयान्तानि हिरण्यनामानि, द्वितीयान्तानि सोमस्येति व्याचष्टे—शुक्रं ह्येतच्छुक्रेणेति।

'अथ सोमविक्रयिणमभिप्रकम्पयति। सग्मे ते गोरिति यजमाने ते गौरित्येवैतदाह तद्यजमानमभ्याहृत्य न्यस्यत्यस्मे ते चन्द्राणीति स आत्मन्येव वीर्यं धत्ते शरीरमेव सोमविक्रयी हरते ततः सोमविक्रय्यादत्ते' (श. ३.३.३.७)। समन्त्रकं सोमविक्रयिणो हिरण्येनाभिप्रकम्पनं विधत्ते—अथ सोमविक्रयिणमिति। अभिप्रकम्पनं नाम प्रलोभनम्। मन्त्रगतं सग्मपदं व्याचष्टे—सग्मे ते गोरिति यजमाने ते गौरित्येवैतदाह। तद्यजमानमभ्याहृत्य न्यस्यति। एतेन गोरिति न पञ्चम्यन्तं षष्ठ्यन्तं वा, किन्तु प्रथमान्तमेव ज्ञातव्यम्। तच्चौकारस्योकारादेशेन वा विपरिणामेन वा। सग्मपदमपि यजमानपरम्, न दयानन्दोक्तरीत्या पृथिवीसहितयज्ञपरम्, प्रकृतशतपथश्रुतिविरोधात्। तथा च सायणाचार्यरीत्या ऋत्विग्भिः सह गच्छति तत्तत्कर्मस्विति सग्मो यजमान इत्येव युक्तम्। तथा च सग्मे यजमाने ते गौरस्तु इति सोमविक्रयिणं हिरण्येन प्रलोभयति। तत्प्रलोभनसाधनं हिरण्यं यजमानं प्रत्यानीय 'अस्मे ते' इति मन्त्रेण स्थापयेत्, अस्मे अस्मदीये यजमान इत्यर्थः। हिरण्यस्य वीर्यरूपत्वात् तत्स्वीकारेणात्मनि वीर्यधारणं कृतं भवति। मन्त्रसामर्थ्येन वीर्यस्य स्वीकारमुक्त्वा हिरण्यशरीरमात्रमेव सोमविक्रयी हरते, ततो यजमानसमर्पणानन्तरं तद्यजमानसमीपे न्यस्तं सोमविक्रयी स्वीकुर्यात्। 'सोमविक्रय्येतदादत्ते' (का. श्रौ. ७.८.१८), 'अस्मे त इति यजमान्सहितं निदधाति' (का. श्रौ. ७.८.१७) अस्मे त इति मन्त्रेण यजमानसमीपे निदधाति। तेन यजमाने हिरण्यगतं वीर्यं निदधाति। ततो यजमानसमीपे स्थितं हिरण्यं हिरण्यमात्रं वीर्यरहितं सोमविक्रयी आदत्ते।

'अथाजायां प्रतीचीनमुख्यां वाचयति। तपसस्तनूरसीति तपसो ह वा एषा प्रजापतेः सम्भूता यदजा तस्मादाह तपसस्तनूरसीति प्रजापतेर्वर्ण इति सा यत्त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयस इति सा यत् त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन परमः पशुः सहस्रपोषं पुषेयमित्याशिषमेवैतदाशास्ते भूमा वै सहस्रं भूमानं गच्छानीत्येवैतदाह' (श. ३.३.३.८)। अथाजायामिति। क्रयाय दत्तामजां प्रतीचीनमुखीं कृत्वाऽध्वर्युस्तामालभ्य स्थितं यजमानं तपसस्तनूरिति मन्त्रं वाचयेत्। तथैव सूत्रमप्याह। मन्त्रार्थस्तु—हे अजे, त्वं प्रजापतेस्तपसस्तनूः शरीरमसि, तत्परिणामरूपत्वात्। 'संवत्सरो वै प्रजापतिः' (ऐ. ब्रा. १.१) इति श्रुत्या संवत्सररूपः प्रजापतिः संवत्सरसम्बन्धिनि काले त्रिर्जायमानत्वेन संवत्सरद्वारा त्रिगुणात्मकसंवत्सररूपप्रजापतिशरीरसारूप्यात् प्रजापतिवर्णात्मकत्वम्। संवत्सरे त्रिर्जायमानत्वादेवेतरपशोरप्यजाया उत्कर्षः। अजा परमः पशुः, तेन क्रीयसे। हे सोम! अतोऽहं तवानुग्रहात् सहस्रपोषं पुत्रपौत्रादिरूपेण बहुविधपुष्टिं प्राप्नवानीति ॥२६॥

मित्रो न एहि सुमित्रध इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन्नुशन्तꣳ स्योनः स्योनम्। स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान् रक्षध्वं मा वो दभन् ॥२७॥

'सव्येनाजां प्रयच्छन् मित्रो न इति दक्षिणेन सोममादायागत उत्तिष्ठति वा' (का. श्रौ. ७. ८. २०)। सोमविक्रयिणे सव्यहस्तेनाजां मित्रो न इति प्रयच्छन् दक्षिणेन सोममादायागतेऽध्वर्यौ यजमान उत्तिष्ठति न वेति विकल्पः। मन्त्रार्थस्तु—हे सोम, त्वं नोऽस्माकं मित्रः प्रीतियुक्तो भूत्वा सुमित्रध शोभनानां मित्राणां धारकः सन् एहि आगच्छ। शोभनानि मित्राणि दधाति पुष्यतीति सुमित्रधः। यद्वा नोऽस्मान् प्रति एहि। उव्वटाचार्यरीत्या पुंल्लिङ्गत्वात् मित्रोऽत्र सूर्यरूपः। वाससा बद्धस्य क्रीतस्य सोमस्य वरुणदेवताकत्वेन क्रूरत्वात् तच्छान्त्यर्थं मित्रत्वादिना प्रार्थनम्। तदुक्तं तित्तिरिणा—'वारुणो वै क्रीतः सोम उपनद्धो मित्रो न एहि सुमित्रध इत्याह शान्त्या' (तै. सं. ६.१.११.१)। 'दीक्षितोरौ दक्षिणे प्रत्युह्य वासो निदधातीन्द्रस्योरुमिति' (का. श्रौ. ७.८.२१)। अध्वर्युर्दीक्षितस्य दक्षिण उरौ तत्रस्थं वासोऽपसार्य सोमं निदध्यादिति सूत्रार्थः। सायणाचार्यरीत्या तु उपवस्त्रमुपरि स्थाप्य सोमं निदध्यात्। यजनरूपेण परमैश्वर्येणोपेतत्वादत्रेन्द्रशब्देन यजमानो विवक्षितः, 'एष वा अत्रेन्द्रो भवति यद् यजमानः' (श. ३.३.३.१०) इति श्रुतेः।

मन्त्रार्थ—हे सोमसखा!-प्रीतियुक्त मित्रों के पोषक हमारे पास आओ। हे सोम! ऊरु की इच्छा करने वाले सुखरूप तुम ऐश्वर्यवान् सोम के इच्छुक यजमान की सुखकारी दाहिनी जंघा पर विश्राम करो। हे सोम के रक्षक देवताओं! आप सब शास्त्र का उपदेश करने वाले, प्रकाशवान्, पाप के शत्रु, विश्व के पोषक, सर्वदा प्रसन्नचित्त, सुन्दर हाथ वाले और दुर्बल की रक्षा करने वाले हो। यहां स्थापित सभी पदार्थों की आप लोग रक्षा करें, शत्रु आप लोगों को किसी प्रकार की हानि न पहुंचावे॥ इस मन्त्र से बांये हाथ से सोमविक्रेता को अजा देकर दाहिने हाथ से सोम लिया जाता है और इस सोम द्रव्य की रक्षा के लिये देवताओं से प्रार्थना की जाती है॥२७॥

भाष्यसार — कात्यायन श्रौतसूत्र (७.८.२०-२२) के याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'मित्रो नः' मन्त्र से क्रीत सोम का ग्रहण, 'इन्द्रस्योरुम्' मन्त्र से यजमान की गोद में सोम का संस्थापन तथा 'स्वान भ्राज' मन्त्र से सोमविक्रेता का ईक्षण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में इस विनियोग के अनुसार अर्थ उपदिष्ट है।

तथा चायं मन्त्रार्थः— हे सोम, त्वमिन्द्रस्य यजमानस्य दक्षिणमूरुं विश दक्षिणेऽस्मिन्नूरावुपविश। कीदृशस्त्वम्? उशन् दक्षिणमूरुं कामयमानः। स्योनः सुखरूपः। कथम्भूतमूरुम्? उशन्तं त्वद्विषयककामनोपेतं स्योनं सुखकरम्। 'वश कान्तौ'। कामयमानस्त्वं कामयमानमेव यजमानस्य दक्षिणमूरुमुपविशेत्यर्थः। परस्परं प्रीत्याऽवियुक्तौ भवेतामित्यभिप्रायः। पुरा देवाः क्रीतं सोममिन्द्रस्योरावुपावेशयन्। तस्मादत्र यजमानस्येन्द्रशब्देन व्यवहार इति। तदुक्तं तित्तिरिणा—'देवा वैवꣳ सोममक्रीणन् तमिन्द्रस्योरौ दक्षिण आसादयन्नेष खलु वा एतर्हीन्द्रो यो यजते तस्मादेवमाह' (तै. सं. ६.१.११.१) इति। 'स्वान भ्राजेति जपति सोमविक्रयिणमीक्षमाणः' (का. श्रौ. ७.८.२२), यजमान इति शेषः। हे स्वानादयो धिष्ण्याधिष्ठातारः सप्त देवाः, वो युष्माकं सोमक्रयणान् सोमं क्रेतुमानीता नो हिरण्यादिपदार्था एते पुरतः स्थापितास्तान् पदार्थान् यूयं रक्षध्वम्। मा वो दभन् वो युष्मान् तेऽपि वैरिणो मा हिंसिषत। स्वानादीनां द्युलोके सोमरक्षकत्वं तित्तिरिर्दर्शयति—'स्वान भ्राजेत्याहैते वामुष्मिंल्लोके सोममरक्षन्' (तै. सं. ६.१.१०.९) इति। के ते स्वानादय इत्याह—स्वान भ्राजेति। स्वनतीति स्वानः। भ्राजते शोभते यः स भ्राजः। अङ्घस्य पापस्यारिः। बिभर्ति पुष्णाति विश्वमिति बम्भारिः। हसतीति हस्तः, सर्वदा हृष्टरूपः। शोभनौ हस्तौ यस्य स सुहस्तः। कृशं दुर्बलमनिति जीवतीति कृशानुः। एते स्वानादयः सप्त देवाः सोमरक्षकाः। अथवा स्वानभ्राजसप्तदशानां मध्यात् सप्त तावत् सोमक्रयणाननुदिशति—हे स्वान, भ्राज, अङ्घारे, बम्भारे, हस्त, सुहस्त, कृशानो! एवं सप्त धिष्ण्यान् सम्बोध्य अथेतरानाह—एते वः सोमक्रयणाः, एते वो युष्माकं मध्ये सोमक्रयणाः, यैर्हिरण्यादिभिः सोमः क्रीयते, तदभिमानिनः स्वानादयस्तान् रक्षध्वं गोपायत। एते होतृका वो युष्मान् स्वानादीन् मा दभन् मा हिंसिषत। 'धिष्ण्यानां वा एते भाजनेनैतानि वै धिष्ण्यानां नामानि तान्येवैभ्य एतदन्वदिक्षत्' (श. ३.३.३.११)। भाजयतीति भाजनं स्थानम्, तेन तत्स्थानेनोपाधिना एते स्वानादयो धिष्ण्यानां सम्बन्धिनः। कथं तेषां धिष्ण्यसम्बन्ध इति तत्राह—एतानि वै धिष्ण्यानां नामानि। नन्वेते गवादिपदार्था धिष्ण्यानामेव, न तु स्वानादयः सोमरक्षकाः, अतस्तेषामेवानुदेश इति, तत्राह—एतानि वा इति। तथा चोत्तरत्र वक्ष्यति—'तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षका जुगुपुः। इमे धिष्ण्या इमा होत्राः' (श. ३.६.२.९)। सोमरक्षका एते गन्धर्वास्तं सोमं जुगुपुः। ते के? य इमे सदसि वर्तमाना धिष्ण्याः, इमा होत्रा इमे होत्रकाः, होतृवर्जमैत्रावरुणादय इत्यर्थः। तान्येव दशक्रयद्रव्याण्येतद् एतेन एते वः सोमक्रमणा इति पाठेन एभ्यो धिष्ण्यभूतेभ्यः स्वानादिभ्योऽन्वदिक्षन् अनुदिष्टवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वं समेषां भूतानां मित्रः सुहृद्भूतः, अज्ञानान्धकारनाशको मित्रः सूर्यरूपो वा अस्मान् आ समन्ताद् इहि प्राप्नुहि, प्रत्यक्चैतन्याभेदेनाभिव्यक्तो भवेत्यर्थः। कीदृशस्त्वम्? सुमित्रधः शोभनानि मित्राणि दधाति पुष्णातीति। इन्द्रस्येदं सर्वं स्वात्मत्वेन दृष्टवानिति इदन्द्रः, इदन्द्र एव परोक्षेणन्द्र इत्याख्यायते। श्रुतिषु इन्द्रो ब्रह्मवित्, तस्य दक्षिणमुत्कृष्टं तदुपलक्षितमुशन्तं कामयमानमङ्कं हृदयं वा उशन् कामयानो विश। कीदृशस्त्वम्? स्योनः सुखरूपः। कीदृशं चोरुम्? स्योनं सुखकरम्। उशन्नुशन्तं स्योनः स्योनं विशेत्युक्त्या शिवः शिवं शान्तः शान्तं सुखात्मकः सुखात्मकं विश, तेन साजात्यमुभयोर्विवक्षितम्, 'देवो भूत्वा यजेद्देवान्' इत्युक्तेः। दिव्यो दिव्यमुपैति। तत एव भूभूतादिशुद्धियज्ञमहायज्ञादिभिर्दिव्यत्वापादने प्रयासो भवति। स्वानः स्वनति ब्रह्मात्मतत्त्वमुपदिशतीति स्वानो गुरुः। भ्राजते प्रकाशते परमात्मतत्त्वं यत्र स भ्राजस्तत्त्वबोधः।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे साम्बमहेश्वर! आप समस्त जीवों के सुहृद् अथवा अज्ञानान्धकार के विनाशक हैं, आप हमारे पास आवें। कल्याणकारी मित्रों के पोषक, सुखप्रदाता आप स्वात्मज्ञ हैं, आपकी कामना रखने वाले सुखकर हृदय में प्रविष्ट

अङ्गारिः, भगवन्नामात्मकः शब्दः। बम्भारिः, बिभर्ति विश्वमिति बम्भारिर्धर्मः। हस्तो मनःप्रसादः। सुहस्तः शोभनो हस्तः करो येन स दानधर्मः। कृशं दुर्बलमनिति जीवतीति कृशानुर्दयाधर्मः। सम्बोधने ते तथोक्ताः। हे स्वानादयः, वो युष्माकमेते उपदेशादयो धर्माः स्वरूपाश्च सोमक्रयणाः सोमः साम्बशिवः क्रीयत एभिस्ते सोमक्रयणाः, अतस्तान् रक्षध्वम्। वो युष्मान् अहङ्काररागादयो मा दभन् मा हिंसिषत। यत्तु 'दुष्टान् कृशतीति कृशानुः' इति, तन्न, कृशधातोरकर्मकत्वेनार्थासङ्गतेः। यत्तु—'कृशाननतीति धातुद्वयापत्तिः' इति, तदपि न, तस्येष्टत्वात्। न चोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वापत्तिरिति वाच्यम्, व्यत्ययेनाभीष्टस्वरसिद्धेः।

स्वामिदयानन्दस्तु—'मित्रः सुहृत् सन् नोऽस्मान् एहि प्राप्नुहि। यः शोभनानि मित्राणि दधाति सः। इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्य सभाध्यक्षस्य विदुष ऊरू बह्वाच्छादनं स्वीकरणं आसमन्ताद् विश। दक्षिणमुत्तमाङ्गं दक्षिणभागमुशन् कामयमान उशन्तं कामयमानं स्योनः सुखकारकः स्योनं सुखकारकम्। 'स्योनमिति सुखनामसु पठितम्' (निघ. ३.६.१५)। स्वान स्वनत्युपदिशति यतस्तत्सम्बुद्धौ। भ्राज यो भ्राजते प्रकाशते तत्सम्बुद्धौ। अङ्घस्य छलस्यारिः शत्रुस्तत्सम्बुद्धौ। बम्भारे बन्धानां सुविचारनिरोधकानामरिः शत्रुः। अत्र वर्णव्यत्ययेन धस्य भः। हस्त हसन्ति प्रसन्ना भवन्ति यस्मात्तत्सम्बुद्धौ। सुहस्त शोभना हस्तक्रिया यस्य तत्सम्बुद्धौ। कृशानो कृशति यस्तत्सम्बुद्धौ। एते सर्वे धार्मिकाः प्रजास्था भृत्या वा वो युष्मान् सोमक्रयणाः, ये सोमानुत्तमान् पदार्थान् क्रीणन्ति ते तान् सर्वान् रक्षध्वं सततं पालयत। अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम्। वो युष्मान् मा दभन् मा हिंसेयुः। अत्र विकरणप्रत्ययो लिङर्थे लुङ् च। अर्थाद् हे उपदेशक, हे प्रकाशक, हे छलारे, हे विचारविरोधिशत्रो, हे प्रसन्न, हे समीचीनहस्तक्रियावित्, हे दुष्टदुर्बलकारक, हे सुमित्रधारक, हे सर्वमित्र, सुखकाम सभाध्यक्ष, त्वमस्मानेहि तथा दक्षिणमुत्तमाङ्गयुक्तमुरुं बहुगुणयुक्तपदार्थयुक्तं स्वीकारार्हं वा कामयितव्यं स्योनं सुखमाविश। हे मनुष्याः, एते ये इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य विदुषः सोमक्रयणा उत्तमपदार्थक्रेतारः प्रजाजना भृत्या वा वो युष्मान् रक्षन्तु। भवन्तोऽपि तान् रक्षध्वम्। यथा ते शत्रवो युष्मान् हन्तुं समर्था न भवेयुस्तथा सम्यक् प्रीत्या परस्परं वर्तध्वमिति हिन्दीभाष्यार्थः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राष्ट्रे बहूनां तादृशानां सम्भवात्, एकवचनेन सम्बोधयितुमशक्यत्वात्। न वा जात्या तथा सम्बोधनम्, सङ्करादिना जात्यसम्भवात्, उपाधिभिर्व्यवहारसम्भवात्, हस्तसुहस्तादीनामन्यथार्थत्वोपपत्तेः। न च सभाध्यक्ष एव सुखकामयिता सम्भवति, अन्येषामपि तथात्वोपपत्तेः। उशन्तमित्यस्य कामनायोग्यमिति नार्थः सम्भवति, कर्तृशतुर्विरोधात्। सोमपदस्य उत्तमपदार्थ इति कथमर्थः? कथं च तत्क्रेतारो रक्षकास्ते च कथं सभाध्यक्षीयाः। सभाध्यक्ष एव कथमिन्द्रपदार्थः? श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव। तत्रेन्द्रपदेन यागकर्तुर्यजमानस्योक्तत्वात्।

शतपथे तु—'स वा अनेनैवाजां प्रयच्छति। अनेन राजानमादत्त आजा ह वै नामैषा यदजैतया ह्येनमन्तत आजति तामेतत्परोक्षमजेत्याचक्षते' (श. ३.३.३.९)। अत्र वामदक्षिणबाहू क्रमेण अजाप्रदाने सोमादाने च निर्दिशति

होइये। हे गुरुदेव! तत्त्वज्ञान, नाम-शब्द, धर्म, चित्तप्रसाद, दानधर्म, दयाधर्म आदि तत्त्वगण आप लोगों के उपदेशादि धर्म और स्वरूप ही साम्बशिव को प्राप्त करने के उपाय हैं। अतः उनकी रक्षा करें। आपको अहंकार आदि दोष अभिभूत न करें।

स्वामी दयानन्द के संस्कृत एवं हिन्दी अर्थ ठीक नहीं हैं। सभाध्यक्ष ही सुखकामयिता नहीं हो सकता, अन्य भी सुख चाहने वाले होते हैं। सोम शब्द का अर्थ उत्तम पदार्थ कैसे है? उसके क्रेतागण रक्षक कैसे हो गये? सभाध्यक्ष ही इन्द्र पद का अर्थ कैसे है? इसके अतिरिक्त श्रुति एवं सूत्र के वाक्यों का विरोध इस अर्थ में स्पष्टतः है॥२७॥

—स वा अनेनैवाजां प्रयच्छतीति । 'सव्येनाजां प्रयच्छन् मित्रो न इति दक्षिणेन सोममादायागत उत्तिष्ठति वा' (७.८.२०) इति कात्यायनेनोक्तत्वात् । अजाप्रदानेन सोमादानं तन्निर्वचनद्वारेण प्रशंसति—अजा ह वा इति । यस्मादेतयाऽजया एनं सोममेकाहनि हिरण्यादिक्रयं द्रव्याणामन्तत आजद् आभिमुखेनागच्छति, आजनसाधनत्वादाजा वस्तुतस्तां परोक्षेण अजेत्याचक्षते । 'अथ राजानमादत्ते । मित्रो न एहि सुमित्रध इति शिवो नः शान्त एहीत्येवैतदाह' (श. ३.३.३.१०) । सोमस्यादाने मन्त्रं विधत्ते—अथ राजानमादत्ते मित्रो न एहीति । हे सोम, त्वं सुमित्रधः शोभनमित्रधारकः, त्वं मित्रो मित्रभूतः प्रियभूतः सन् आगच्छेत्यर्थः । अस्मिन् मन्त्रे मित्रशब्दार्थमाह श्रुतिः—शिवो नः शान्त इति । शिवशब्दस्य व्याख्यानं शान्त इति । तं सोमं यजमानस्य दक्षिण ऊरौ प्रत्युह्य वासो निदधाति, ऊरुप्रदेशे तत्रान्तर्धायकं वासः प्रत्युह्य प्रसार्य तत्र सोमं निदध्यात् । एष वा अत्रेन्द्रो भवति यजमान इति । मन्त्रेऽस्मिन् इन्द्रपदेन यजमानो विवक्षितः, यजनेन परमैश्वर्येण युक्तत्वात् । उशन्नुशन्तमित्यस्याभिप्रायमाह—प्रियः प्रियमित्येवैतदाह । एवमेव स्योनः स्योनमित्यस्य शिवः शिवमित्येवैतदाहेति । एतेन सिद्धान्तानुसार्यर्थ एव श्रुतिसूत्रसम्मत इति ।

'अथ सोमक्रयणाननुदिशति । स्वान. . . दभन्निति धिष्ण्यानां वा एते भाजनेनैतानि वै धिष्ण्यानां नामानि तान्येवैभ्य एतमन्वदिक्षत्' (श. ३.३.३.११) । सोमक्रयसाधनपदार्थानामनु पश्चाद् देशनं निर्देशनमनुदेशनम् । स्वान-भ्राजादिशब्देन त एवानुदेश्यन्ते । एते वो युष्माकं मध्यात् सोमक्रमणाः, तान् रक्षध्वम्, हे स्वानादयः, तत्सम्बन्धिदेवास्तान् सोमक्रयणान् हिरण्यादिपदार्थान् रक्षध्वम् । मा वो दभन् वो युष्मानपि शत्रवो मा दभन् मा दभ्नुयुः । एते धिष्ण्यानां वा एते सम्बन्धिनः, भाजनेन भाजयतीति भाजनं स्थानम्, तत्तत्स्थानेनोपाधिना एते स्वानादयो धिष्ण्यानां सम्बन्धिनः खलु । कथं तेषां धिष्ण्यसम्बन्ध इति तत्राह—एतानि वै धिष्ण्यानां नामानीति । अथवा अनुदेशनार्हा एते सोमक्रयणा गवादिपदार्था धिष्ण्यानामेव सम्बन्धिनः, न स्वानादयः सोमरक्षकाः । अतस्तेषामेवैते न धिष्ण्यानामिति तत्राह—एतानि वा इति । शेषं मन्त्रव्याख्यानप्रसङ्गे पूर्वं द्रष्टव्यम् ॥२७ ॥

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज ।

उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ२॥ अनु ॥२८ ॥

'गृहीतसोमं परि माग्न इति वाचयति, उत्तरे च' (का. श्रौ. ७.९.१-२) । परि माग्न इति मन्त्रेणोत्थानमनः प्रति गमनं च गृहीतसोमो यजमान एव कुर्यात् । अग्निदेवत्या पुरस्ताद्बृहती । यस्या आद्यो द्वादशाक्षरः, त्रयोऽष्टाक्षराः पादाः, सा पुरस्ताद्बृहती 'आद्यश्चेत् पुरस्ताद्बृहती' इत्युक्तेः । हे अग्ने, दुश्चरिताद् दुष्टं चरितं चरणं दुश्चरितं पापं तस्मात्, मा मां परिबाधस्व परित्रायस्व, सर्वतो निवारय पापादित्यर्थः । सुष्ठु चरितं पुण्याचरणं तत्र सदाचाररूपे पुण्ये मा मां

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! मुझे आप सब तरह के पापों से हटाइये, मुझ यजमान को सदाचार रूपी पुण्य कार्य में सदा सब तरह से स्थापित कीजिये । उत्तम चिरजीवन रूप आयु से तथा यज्ञ, दान आदि के द्वारा शोभित होता हुआ मैं सोम आदि देवताओं को लेकर उठता हूँ ।। सोम ग्रहण करने वाला यजमान इस मन्त्र को पढ़ता है ॥२८ ॥

भाष्यसार — क्रीत सोम का ग्रहण करके 'परि मा' इस ऋचा का उच्चारण करते हुए यजमान उठ कर शकट के प्रति प्रस्थान का उद्यम करे । कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.१-२) में प्रतिपादित इस याज्ञिक विनियोग के अनुसार शतपथ ब्राह्मण में मन्त्र का अर्थ उपदिष्ट है ।

यजमानमा भज सर्वतो भज भाजय स्थापय। सुचरिते वर्तमानं मां वा आभज आसेवस्व वा अनुगृहाण। देवता-प्रसादादेवानिष्टकर्मणो निवृत्तिः सत्कर्मणि स्थितिश्च सम्भवति। सत्कर्मणि वर्तमानमेव देवताऽभीष्टप्रदानादिभिः साधकमाभजति, अनुगृह्णातीत्यर्थः। 'उदायुषेत्युत्थानꣳ शीर्ष्णि सोमं कृत्वा पाणिमन्तर्धाय' (का. श्रौ. ७.९.३)। यजमानः स्वशिरस्यधोमुखं स्वकीयं पाणिं निधाय पाण्यन्तर्हिते शिरसि सोमं (वाससा बद्धम्) निधाय उदायुषेति मन्त्रेणोत्तिष्ठेतेति सूत्रार्थः। अथ मन्त्रार्थः—उदायुषा उत्कृष्टेन चिरजीवनलक्षणेन आयुषा निमित्तभूतेन अमृतान् अमरणधर्मान् सोमाधिदेवाननुसृत्य उदस्थाम् अहमुत्थितवानस्मि। देवाननुसृत्योत्थानं दर्शयति तित्तिरिश्रुतिः— 'उदायुषा स्वायुषेत्याह देवता एवान्वारभ्योत्तिष्ठति' (तै. सं. ६.१.११.३)। आयुःसाधनेनायुष्करणेन सोमेन वा सह उदस्थामहमुत्थितवानस्मि वा। अमृतान् सोमांशून् वा अनुसृत्याहमुत्थितवानस्मि।

अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने परमेश्वर, मा मां दुश्चरितात् पातकात् परिबाधस्व परित्रायस्व। सुचरिते आभज आभाजय प्रतिष्ठापय। सुचरिते सदाचारे वर्तमानं मामाभज अनुगृहाण। उदायुषा उत्कृष्टेन दीर्घकालिकेन जीवनेन स्वायुषा ज्ञानध्यानादिनिष्ठेन शोभनेन जीवनेन अमृतान्, पूजायां बहुवचनम्, भगवन्तमनुलक्ष्याहमुत्तिष्ठेय परमात्मप्राप्तये सफलोत्थानः स्यामित्याशिषं पूरयितुमनुगृहाणेत्यर्थः।

श्रीदयानन्दस्तु—'अग्ने विज्ञानस्वरूप, परि सर्वतो मा बाधस्व निवर्तय। आसमन्ताद् मां सुचरिते यस्मिन् शोभनानि चरितानि धर्म्ये व्यवहारे तस्मिन् भज स्थापय। उद् अपि आयुषा जीवनेन स्वायुषा शोभनमायुर्जीवनं प्राणधारणं यस्मिंस्तेन सह उदस्थामुत्तिष्ठेयम्, अमृतान् प्राप्तमोक्षान् सदेहान् विगतदेहान् वा विदुषः, मुक्त्यानन्दानुत्तमान् भोगान् वा अनु आनुकूल्येन' इति, तदपि न युक्तम्, अग्निपदस्य विज्ञानार्थत्वे मानाभावात्। उच्छब्दोऽप्यर्थकोऽभिप्रेतः। तथा च आयुषापि स्वायुषेति केन किं श्लिष्यते? वस्तुतस्तु न हलन्तोच्छब्दोऽप्यर्थकः, अदन्तस्यैव तथात्वात्। किञ्च, शोभनमायुर्जीवनं प्राणधारणं यस्मिन् तेन सहेत्यत्र यत्तत्पदार्थः कः? हिन्दीभाष्ये तु जीवनमित्युक्तम्। जीवनमपि प्राणधारणमेव। प्राणधारणे किमन्यत् प्राणधारणम्? अमृतान् प्राप्तमोक्षान् सदेहानित्यपि न सङ्गतम्, त्वद्रीत्या मोक्षो देहपातानन्तरभावी भवति, न देहकाले, देहसद्भावे दुःखप्राप्तेरनिवार्यत्वात्। नहि ब्रह्मात्मसाक्षात्कारलक्षणं ज्ञानमेव मोक्षः, तथात्वे मोक्षादावृत्त्यनुपपत्तेः। न चेष्टापत्तिः, अपसिद्धान्तापातात्।

अत्र शतपथश्रुतिः—'अथात्रापोर्णुते। गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते प्रावृता वै गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव तमत्राजीजनत तस्मादपोर्णुत एष वा अत्र गर्भो भवति तस्मात् परिवृतो भवति परिवृता इव हि गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव' (श. ३.३.३.१२)। दीक्षासमये धृतस्य शिरःप्रावरणस्यापवारणं विधत्ते—अथेति। धृतस्य शिरःप्रावरणस्यापवारणं प्रशंसति—प्रावृता वा इति। उल्बं गर्भस्यान्तरमावरणम्, जरायुर्बाह्यमावरणम्। 'अन्तरं वा

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है— हे परमेश्वर अग्नि, पाप से मेरी रक्षा करें तथा सदाचार में मेरी स्थापना करें, सदाचार में अवस्थित मुझे अंगीकृत करें। उत्कृष्ट दीर्घजीवन से तथा सुन्दर जीवनायुष्य द्वारा अमृतमय परमेश्वर के प्रति मैं सन्नद्ध होऊँ।

श्री दयानन्द का अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि अग्नि पद विज्ञानार्थक है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। 'उत्' शब्द 'अपि' के अर्थ में माना है, परन्तु वस्तुतः हलन्त 'उत्' अपि के अर्थ में नहीं होता, अदन्त 'उत' ही अप्यर्थक है। 'अमृतान्' का अर्थ 'मोक्ष प्राप्त कर चुके सदेह विद्वान्' यह करना भी असंगत है, क्योंकि उस मत में देहपात के अनन्तर ही मोक्ष सम्भव है, सदेह सम्भव नहीं है। देह रहने पर दुःखप्राप्ति अनिवार्य है ॥२८॥

उल्बं जरायुणो भवति' (श. ३.२.१.११)। उभयत्र इवशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। अन्यत् स्पष्टम्। तं गर्भभूतं यजमानम्, अत्र सोमविक्रयसमनन्तरकाले अजीजनत् प्रादुरभावयदध्वर्युः। उत्पन्नस्यावरणयोगादपवरणं युक्तम्। पूर्वं सति प्रावरणे पश्चादपवरणं युज्यते। तदेव कुत इत्यत आह—एष वा अत्र गर्भो भवतीति। 'अथ वाचयति। परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भजेत्यासीनं वा एनमेष आगच्छति स आगत उत्तिष्ठति तन्मिथ्याकरोति व्रतं प्रमीणाति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भजेति' (श. ३.३.३.१३)। अध्वर्युः परि माग्न इति मन्त्रं यजमानं वाचयति। मां दुश्चरितात् सकाशात् परिबाधस्व परित्रायस्व। सुचरिते सदाचारे आभज आभाजय, सुचरिते वर्तमानं मामनुगृहाणेति वा। मन्त्रतात्पर्यं स्वयमेव श्रुतिराह—आसीनं वेति। आसीनं वा एनं यजमानमेष सोमो राजा आगच्छति। श्रेष्ठस्यागमनात् प्रागेवोत्थानेन भाव्यम्। तद्वैपरीत्यान्मिथ्याकरणं तदनुत्थानलक्षणं मिथ्याकरणं व्रतं प्रमीणाति प्रहिनस्ति, तदनेन मन्त्रवाचनेन समाधीयत इति। 'अथ राजानमादायोत्तिष्ठति। उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ २॥ अन्वित्यमृतं वा एषोऽनूत्तिष्ठति यः सोमं क्रीतं तस्मादाहोदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ २॥ अन्विति' (श. ३.३.३.१४)। उत्थानमन्त्रस्यार्थमाह—उदायुषेति। आयुषा स्वायुषा च सह तत्साधनत्वेन आयुष्करणेन सोमेन सह उदस्थाम् उत्तिष्ठामि। आयुषा स्वायुषा निमित्तेन चिरजीवनेन निमित्तभूतेन यागदानहोमादियुक्तेन शोभनेन जीवनेन प्राणधारणेन निमित्तभूतेन उदस्थाम्। अमृतान् सोमांशून्, अवयवापेक्षया बहुवचनम्, अनुसृत्य उदस्थाम्। अमृत-शब्दस्य तात्पर्यमाह—अमृतं वेति। अमृतं वा एषोऽनूत्तिष्ठति यः सोमं क्रीतमनूत्तिष्ठतीति शेषः ॥२८॥

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्ति गामनेहसम्।

येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥२९॥

'शीर्ष्णि सोमं कृत्वा पाणिमन्तर्धाय, प्रति पन्थामित्यनोऽभ्येति दक्षिणतस्तिष्ठंश्छन्नꣳ समङ्गि धौतं प्रउगाच्चोद्धते फलके' (का. श्रौ. ७.९.३-४)। यजमानः प्रति पन्थामिति मन्त्रेण सोमक्रयदेशस्य दक्षिणतोऽवस्थितमाच्छादितं युगयोक्त्रानुडुदादिभिः सर्वाङ्गैर्युक्तं प्रक्षालितशकटमभिलक्ष्य तत्सम्मुखो गच्छेत् प्रउगादिति। शकटे प्रागपरायतः काष्ठविशेष ईषा यत्र युगं सम्बद्ध्यते। तस्या ईषायाः पार्श्वद्वयेऽपि काष्ठद्वयं सङ्घटितं भवति। तयोरीषायाश्च योऽन्तरालदेशः स प्रउगसंज्ञकः। तस्मात् प्रउगात् शकटस्य मध्यभागादुपरि काष्ठमयं फलकं सन्तर्दनीयं तादृशमनः शकटमभिगच्छेदिति सूत्रार्थः। अनुष्टुप् पथिदेवत्या। मन्त्रार्थस्तु—पन्थां पन्थानं मार्गं प्रत्यपद्महि वयं प्रतिपद्येमहि, प्रतिपन्नाः प्राप्ता अभूमेत्यर्थः। 'पद् गतौ' इत्यस्य व्यत्ययेन शपि लुप्ते लङि रूपम्। विभक्तेः पूर्वसवर्णे पन्थामिति रूपम्। कीदृशं पन्थानम्? स्वस्तिगां शोभनगमनम्। स्वस्ति क्षेमेण गम्यते यत्र स

मन्त्रार्थ—क्षेमपूर्वक गमन करने योग्य, चोर आदि की बाधाओं से रहित, पथिकों के सुखदायक उस मार्ग को हम प्राप्त हों, जिस मार्ग से पुरुष मार्ग की चोर आदि की सब बाधाओं को दूर करता है, धन और मोक्ष को पाता है॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए यजमान अपने सिर पर सोम को रखकर और सिर पर अपना हाथ रखकर शकट की ओर जाता है ॥२९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.३-४) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुसार 'प्रति पन्थाम्' ऋचा से गृहीत सोम को सिर पर रख कर शकट की ओर गमन करे। शतपथ ब्राह्मण में इसी के अनुसार अर्थ निर्दिष्ट है।

तं क्षेमेण गन्तुं योग्यम्। गमेः 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा. सू. ६.४.४१) इति मकारस्याकारे रूपम्। तथा अनेहसम् एहः पापम्, पापश्चोरादिबाधो न विद्यते यत्र तादृशम्। यद्वा एह इत्यपराधनाम। यत्र गतानामपराधो न भवति तादृशम्। येन पथा गच्छन् पुरुषो विश्वा विश्वान् सर्वान् द्विषो द्वेष्टॄन् द्विषतः शत्रून् परिवृणक्ति परिवर्जयति, 'वृजी वर्जने', वसु धनं च लभते, तं पन्थानं प्रतिपन्नाः स्मेत्यर्थः। इति पथिस्तुतिः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमात्मन्, पन्थां तत्त्वज्ञानलक्षणं पन्थानं प्रतिपद्येमहि प्राप्नुयाम, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वा. सं. ३१.१८) इति मन्त्रवर्णात्। कीदृशं पन्थानम्? स्वस्तिगां स्वस्ति परमकल्याणमयं ब्रह्म गम्यते प्राप्यते येन तम्, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (वा. सं. ३१.१८) इति श्रुतेः। अनेहसम् एहो हननादिलक्षणं पापं न भवति येन तम्। एहोऽत्र पुण्यस्याप्युपलक्षणम्, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु. उ. २.२.८) इति श्रुतेः। येन ज्ञानमार्गेण पुरुषो विश्वा विश्वान् अज्ञानाहङ्कारादिरूपान् द्विषतः परिवृणक्ति परिबाधते ब्रह्मात्मरूपं वसु लोकोत्तरं धनं च विन्दते लभते।

स्वामिदयानन्दस्तु—'प्रति पक्षे वीप्सायां च पन्थां मार्गं मार्गमपद्महि प्राप्नुयाम स्वस्ति सुखं गच्छति येन तम्। अविध्यमानानि एहांसि हननानि यस्मिन्, 'नञि हन एह च' (उ. सू. ४. २२४) इति सूत्रात्। येन मार्गेण विश्वाः सर्वाः परितः सर्वतो द्विषो द्विषन्त्यप्रीणयन्ति याभ्यः शत्रुसेनाभ्यो दुःखक्रियाभ्यो वा ताः। 'कृतो बहुलम्' (पा. सू. ३.३.११३ भाष्यवा.) इति हेतौ क्विप्। वृणक्ति वर्जयति, अन्तर्भावितण्यर्थः, विन्दते लभते वसु धनम्। हे जगदीश्वराग्ने त्वदनुगृहीताः पुरुषार्थिनो भूत्वा वयं येन विद्वान् विश्वा द्विषः परिवृणक्ति वस्तु विन्दते, तमनेहसं स्वस्तिगां पन्थां प्रत्यपद्महि प्रत्यक्षतया व्याप्त्या प्राप्नुयाम' इति, तदपि तुच्छम्, निष्प्रमाणमध्याहारादिदोषबाहुल्यात्। त्वदनुगृतीताः, विद्वान्, तमित्यादीनि पदानि न सन्त्येव मूले, न वा तदर्थकानि पदान्तराणि। किञ्च, विद्वान् कथं शत्रुसेनाः परिवर्जयति? विद्यामात्रेण तद्वर्जनासम्भवात्। मनुष्यैर्द्वेषादित्यागाय विद्याधनप्राप्तये धर्ममार्गप्रकाशनायेश्वरप्रार्थना धर्मविद्वत्सेवा च नित्यं कार्येति भावार्थस्तु ततोऽप्यसम्बद्ध एव। शतपथविरोधश्च स्पष्टः।

तथाहि—'अथ राजानमादायारोहणमभिप्रैति। प्रतिपन्थां . . . वस्विति' (श. ३.३.३.१५)। आरोहन्त्यत्रेत्यारोहणं शकटमभिलक्ष्य प्रैति गच्छति। तथा शकटाभिमुखगमनेऽयं मन्त्रो विनियुक्तः। तेन तदनुसार्येवार्थः। मन्त्रार्थस्तु सिद्धान्तानुसार्येव। अमुं मन्त्रमाख्यायिकया प्रशंसति श्रुतिः—'देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्त एतद्यजुः स्वस्त्ययनं ददृशुस्त एतेन यजुषा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपहत्यै तस्य यजुषोऽभयेऽनाष्ट्रे निवाते स्वस्ति समाश्नुवत तथो एवैष एतेन यजुषा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपहत्यैतस्य यजुषोऽभयेऽनाष्ट्रे निवाते स्वस्ति समश्नुते तस्मादाह प्रतिपन्थामपद्महि. . . वस्विति' (श. ३.३.३.१६)। पुरा किल देवा देवत्वप्राप्तये यज्ञं तन्वाना

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे परमात्मन्! कल्याणमय ब्रह्म के प्रापक, निष्पाप, बन्धनकारक कर्मों से रहित, तत्त्वज्ञानात्मक पथ को मैं प्राप्त करूँ, जिस ज्ञानमार्ग के द्वारा पुरुष समस्त अज्ञान, अहंकार आदि शत्रुओं को विनष्ट करता है तथा ब्रह्मात्मरूपी लोकोत्तर धन को प्राप्त करता है।

स्वामी दयानन्द का अर्थ प्रमाणरहित होने के कारण तथा अध्याहार आदि दोषों से ग्रस्त होने के कारण अयुक्त है। विद्वान् आदि पद मूल मन्त्रपाठ में नहीं हैं और उनके समानार्थक दूसरे पद भी मूल में नहीं हैं। विद्वान् शत्रुसेनाओं का निराकरण कैसे कर सकता है, क्योंकि मात्र विद्या से सैन्य-निराकरण सम्भव नहीं है। इस अर्थ में शतपथ श्रुति का तो स्पष्टतः विरोध होता ही है॥२९॥

असुराद्यासङ्गेन भीतास्तत्परिहारोपायत्वेन क्षेमप्रापकमेतद्यजुरिमं मन्त्रं दृष्ट्वा प्रयुज्य नाष्ट्रा रक्षांसि नाशकारिणो राक्षसान् घातयित्वा एतन्मन्त्रसम्बन्धिनि भयरहिते बाधरहिते स्थाने विनाशरहितं क्षेमं प्राप्ताः। तस्मादिदानीमपि तद्यजुःप्रयोगेण पुरुषः क्षेमं विन्दते। यस्मादस्य मन्त्रस्य सामर्थ्यमेवंविधम्, तस्माच्छकटसमीपं गच्छन् प्रतिपन्थामिति मन्त्रं ब्रूयादिति ब्राह्मणाभिप्रायः। चार्वाकप्रायो मन्त्रसामर्थ्ये विश्वासरहितः कथं कश्चित् शत्रुसेनाः परिवर्जयितुं शक्नोति? आस्तिकस्तु मन्त्रप्रभावाद् द्विषः परिवृणक्त्येव। 'तं वा इति हरन्ति। अनसा परिवहन्ति महयन्त्येवैनमेतत्तस्माच्छीर्ष्णा बीजꣳ हरन्त्यनसोदावहन्ति' (श. ३.३.३.१७)। अनेन पूर्वोक्तप्रकारेण शिरसा धृत्वा हरन्ति प्रथमं क्रयात् पर्वतात् पश्चात्त्वनसा शकटेन परिवहन्ति। अनेन सोमं महयन्ति सत्कुर्वन्ति। यस्मात् पूर्वमेवं कृतम्, तस्मादिदानीमप्यावापसमये कृष्टक्षेत्रं प्रति बीजं शीर्ष्णा हरन्ति, पश्चात् फलितानामानयनसमयेऽनसा उदावहन्ति। उदकुम्भसमीपे क्रयं प्रशंसति—'अथ यदपामन्ते क्रीणाति। रसो वा आपः सरसमेतत्क्रीणाति' (श. ३.३.३.१८) इति। हिरण्यादिदशरूपं द्रव्यं क्रमेणानूद्य प्रशंसति—'अथ यद्धिरण्यं भवति सशुक्रमेवैतत् क्रीणात्यथ यद्वासो भवति सत्वचसमेवैतत् क्रीणात्यथ यदजा भवति सतपसमेवैतत् क्रीणात्यथ यद्धेनुर्भवति सशिरमेवैतत् क्रीणात्यथ यन्मिथुनौ भवतः समिथुनमेवैतत्क्रीणाति तं वै दशभिरेव क्रीणीयान्नादशभिर्दशाक्षरा वै विराड् वैराजः सोमस्तस्माद्दशभिरेव क्रीणीयान्नादशभिः' (श. ३.३.३.१८)। स्पष्टमत्र सिद्धान्तव्याख्यानं समर्थ्यते, न दयानन्दीयमिति ॥२९॥

अदि॑त्या॒स्त्वग॒स्यदि॑त्यै॒ सद॒ आसी॑द। अस्त॑भ्ना॒द् द्यां वृ॑ष॒भो अ॒न्तरि॑क्षममि॑मीत वरि॒माणं॑ पृथि॒व्याः। आसी॑द॒द्विश्वा॒ भुव॑नानि स॒म्राड् विश्वेत्तानि॒ वरु॑णस्य व्र॒तानि॑ ॥३०॥

'कृष्णाजिनमस्मिन्नास्तृणात्यदित्यास्त्वगिति' (का. श्रौ. ७.९.५), 'तस्मिन् सोमं निदधात्यदित्यै सद इति' (का. श्रौ. ७.९.६)। तस्मिन् कृष्णाजिने। हे कृष्णाजिन! त्वमदित्यास्त्वगसि, अखण्डितायाः पृथिव्यास्त्वग्रूपं भवसि। हे सोम, त्वमदित्यै अदित्याः सदोऽदित्या भूमेः सम्बन्धि सदनं स्थानम् आसीद सर्वतः प्राप्नुहि, तत्रोपविशेत्यर्थः। 'अस्तभ्नाद् द्यामिति सोममालभ्य वाचयति' (का. श्रौ. ७.९.७)। वरुणदेवते त्रिष्टुभौ क्रीतसोमस्य वरुणदेवताकत्वाद् वरुणो ब्रह्मरूपेण स्तूयते। सोम एव वा सर्वदेवश्रेष्ठत्वादिना स्तूयते—वृषभः श्रेष्ठो वरुणः, अपां वर्षिता कामानां वा वर्षिता, द्यामस्तभ्नाद् द्युलोकं धारितवान्, द्युलोको यथा न पतति तथा स्वकीययाऽऽज्ञया स्तम्भितवान्। सर्वप्राणिरक्षणाय तथान्तरिक्षमप्यस्तभ्नात्। तथा पृथिव्या वरिमाणं गुरुत्वं भूमेरुरुत्वं वा, उरोर्भावो वरिमा, तममिमीत मिमीते, एतावती भूमिरिति तत्परिमाणमहत्त्वं जानाति। तथा सम्राट् लोकत्रयेऽपि सम्यग्राजमानो वरुणो

मन्त्रार्थ—हे कृष्णाजिन! तुम पृथ्वी के त्वचा रूप हो, इस पवित्र भूमि पर आराम से बैठो। पृथ्वी के विस्तार को जानने वाला सम्यक् प्रकाशमान ब्रह्म वरुण, आकाश और अन्तरिक्ष को स्थिर करता हुआ संसार को नियमित करता है। यह सब कुछ जगत् का सृष्टि आदि कार्य वरुण देव ही करता है॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए यजमान शकट पर मृगचर्म बिछाता है ॥३०॥

भाष्यसार—याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अदित्यास्त्वक्' इस मन्त्र से कृष्ण मृगचर्म बिछा कर उस पर 'अदित्यै' मन्त्र से सोम का स्थापन किया जाता है। तदनन्तर सोम का स्पर्श करते हुए 'अस्तभ्नात्' मन्त्र का पाठ करता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.५-७) में प्रतिपादित इस विनियोग के अनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है।

विश्वानि सर्वाणि भुवनानि लोकान् भूतजातानि वा आसीदद् व्याप्नोति। यद्वा इदित्यव्यय इत्थमर्थे। इद् इत्थं तानि द्युलोकस्तम्भनादीनि वरुणस्य व्रतानि व्रतवन्नियतानि, सर्वदैव वरुणस्तानि करोतीत्यर्थः। अथवा यश्च सम्राड् आसीदद्विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि आत्मत्वेनाधिपत्येन च आसीदति प्राप्नोति, अधितिष्ठति वा। विश्वेत्तानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि, इद् एव सर्वाण्येव तानि द्युस्तम्भनादीनि वरुणस्य सर्वपापनिवारकस्य सोमस्य वा व्रतानि कर्माणि, अर्थाद् य इमांल्लोकान् स्तभ्नुवन्ति, ये च सर्वजनान् व्याप्नुवन्ति, तेऽपि वरुणस्याज्ञामेवानुसरन्तीति परब्रह्मरूपेण वरुणस्तुतिः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वमदित्याः पृथिव्यास्तदुपलक्षितस्य सर्वस्यैव, त्वगसि त्वग्वत् परिवृत्य स्थितोऽसि। अदित्याः सम्बन्धि सदः सदनं स्थानमा समन्तात् सीद प्राप्नोषि। किञ्च, त्वं वृषभः कामानां वर्षयिता सर्वश्रेष्ठो वा। सर्वप्राणिनां हिताय द्यां दिवमस्तभ्नाद् धारितवानसि, अन्तरिक्षं चाऽस्तभ्नात्, पृथिव्याश्च वरिमाणं परिमाणमहत्त्वम् अमिमीत मिमीते। तथा सम्राट् सर्वत्र स्वप्रकाशत्वेन राजमानो विश्वानि इत् सर्वाण्यपि, भुवनान्यासीदद् लोकान् व्याप्नोषि। इद् इत्थं तानि सर्वाण्यपि पूर्वोक्तानि व्रतानि कर्माणि वरुणस्य सर्वपापनिवारकस्य सर्ववरणीयस्य तव सम्बन्धीनि।

दयानन्दस्तु—'अदित्याः पृथिव्यादेः, त्वग् यस्त्वचति संवृणोति सः, असि अस्ति वा। अत्र पक्षे सर्वत्र व्यत्ययः। अदित्यै पृथिव्यादिसृष्टये सदः स्थापनम् आसमन्तात् सीद सादयति सादयसि वा, व्यत्ययः। अस्तभ्नात् स्तभ्नासि स्तभ्नाति धरति वा। द्यां सूर्यादिकं प्रकाशं वा। वृषभः श्रेष्ठः, अन्तरिक्षमवकाशम्, अमिमीत निर्मिमीते वा निर्मिमीषे वा। वरिमाणं वरस्य भावम्। पृथिव्या अन्तरिक्षस्य आकाशस्य मध्ये, 'पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु' (निघ. १.३.९)। आ सर्वतः, असीदत् सादयसि, सादयत्यवसादयति वा। विश्वा सर्वाणि भुवनानि लोकान् सम्राड् यः सम्यग्राजते स विश्वा अखिलानि इद् एव तान्येतानि वरुणस्य परमेश्वरस्य सूर्यस्य वायोर्वा व्रतानि शीलानि' इति। अन्वयस्तु—'हे जगदीश्वर, यतो वृषभस्त्वमदित्यास्त्वगसि अस्ति, अदित्यै सद आसीद आसादयसि, द्यामस्तभ्नात् स्तभ्नासि, वरिमाणमन्तरिक्षममिमीत निर्मिमीषे, सम्राट् सन् पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये विश्वा भुवनान्यासीद आसादयसि, अस्मात्तान्येतानि विश्वा सर्वाणि वरुणस्य सूर्यस्य वायोश्च तव देवव्रतानि शीलानि सन्तीति वयमपद्यहि विजानीयामेत्येकः, यो वृषभः सम्राट् सूर्यो वायुश्चादित्यास्त्वगसि अस्ति, संवृणोत्यदित्यै सद आसीद आसादयति, द्यामस्तभ्नात् स्तभ्नाति वरिमाणमन्तरिक्षमवकाशममिमीत निर्मिमीते, पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये विश्वा भुवनानि आसीद आसादयति, तस्य तान्येतानि विश्वा सर्वाणि वरुणस्य सूर्यस्य वायोश्चैतान्येव व्रतानि शीलानि सन्तीति वयमपद्महीति द्वितीयः' इति, तदेतदसङ्गतमेव, परमेश्वरस्य त्वक्त्वानुपपत्तेः। न च सर्वव्यापकस्य सर्वावरकत्वेन पृथिव्या अपि तथात्वेनादित्यास्त्वक्त्वोपपत्तिरिति वाच्यम्, सर्वव्यापकत्वेन सर्वत्वक्त्वोपपत्त्या पृथिव्या इति

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है— हे साम्बशिव! आप पृथिवी एवं समस्त पदार्थों को त्वचा की भाँति व्याप्त करके स्थित हैं, अदिति के आश्रय हैं, कामनाओं के पूरयिता अथवा सर्वोत्कृष्ट हैं। प्राणियों के हितार्थ द्युलोक तथा अन्तरिक्ष को आपने धारण किया है, पृथिवी के महत्त्व का निर्माण किया है। सर्वत्र स्वयंप्रकाश के रूप में प्रदीप्त रहते हुए समस्त लोकों को आप व्याप्त करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पापों का निवारण करने वाले पूर्वोक्त समस्त विशिष्ट कार्य आपके ही हैं।

स्वामी दयानन्द का अर्थ असंगत है, क्योंकि परमेश्वर का त्वचा होना युक्तियुक्त नहीं है। 'अदित्यै' का 'पृथिवी आदि पदार्थों की सृष्टि के लिये' यह अर्थ भी उचित नहीं है। लोक-व्यवस्था की स्थापना परमेश्वर का स्वभाव होने के कारण प्रलय की

विशेष्योक्तेरयोगात्। 'अदित्यै' इत्यस्य पृथिव्यादिसृष्टय इत्यर्थोऽपि नोपपद्यते, अदितिशब्दस्य तथार्थत्वे मानाभावात्। तथा च लक्षणापि नोपपद्यते, अन्वयाद्यनुपपत्तेरभावात्। हिन्दीव्याख्यारीत्या—'सद आसीद' इत्यस्य व्यवस्थापनमपि नार्थः, मानाभावात्। 'सदः स्थापनं सीद सादयसि' इत्यपि न किञ्चित्, स्थापनस्यासादनासङ्गतेः। स्थापनमित्यस्य स्थापनयोग्यमित्यपि नार्थः, सदः स्थापन इत्युभयोरपि तद्योग्यता नार्थः, पदयोस्तत्राशक्तेः। अन्तरिक्षस्य वरिमत्वं कथम्, तदपेक्षयापि दिवो वरिमत्वोपपत्तेः। पृथिव्या इत्यस्य अन्तरिक्षार्थत्वेऽपि 'मध्ये' इति पदं कुतः समानीतम्? मूले तदभावात्। सूर्यस्य वायोश्चापि त्वक्त्वानुपपत्तौ पूर्वोक्त एव न्यायः। किञ्च, लोकव्यवस्थापनस्य तच्छीलत्वे प्रलयानुपपत्तौ सदैव सृष्ट्यापत्तिः, तथात्वे प्रलयप्रतिपादकशास्त्रविरोधश्च। अतः सिद्धान्तानुसार्येवार्थः समीचीनः।

शतपथेऽपि सिद्धान्तसम्मत एवार्थः समर्थितः। तथाहि—'नीडे कृष्णाजिनमास्तृणाति। अदित्यास्त्वगसीति सोऽसावेव बन्धुरथैनमासादयत्यदित्यै सद आसीदेतीयं वै पृथिव्यदितिः सेयं प्रतिष्ठा तदस्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तस्मादाहादित्यै सद आसीदेति' (श. ३.३.४.१)। शकटमध्ये सोमस्थापनाय कृष्णाजिनास्तरणं समन्त्रकं विधत्ते—कृष्णाजिनमिति। 'उद्धते प्रउग्ये फलके भवतः' (श. ३.३.४.९)। तदुद्धतप्रउग्ये फलकद्वयोपेतस्यानसो नीडे, परितः प्रावृतः शकटमध्यदेशो नीडम्, अस्मिन् कृष्णाजिनं प्रसारयेत्। तत्रैवायं मन्त्रो विनियुक्तः। तस्मादयमेव मन्त्रार्थः—हे कृष्णाजिन, त्वमदित्या भूमेस्त्वग्रूपमसि, यद्यत् पृथिव्या उपरि स्तृतं तत्सर्वं तस्यास्त्वक्स्थानीयमित्यर्थः। अर्थवादरूपत्वात् कृष्णाजिनमास्तृणातीति विधिस्तुतावेवास्य तात्पर्यम्। दर्शपौर्णमासगतं कृष्णाजिनस्तरणब्राह्मणम् (श. १.१.४.५) अतिदिशति—सोऽसावेव बन्धुरिति। स एवास्य समानार्थकोऽर्थवादो ज्ञेय इत्यर्थः। अथैनं सोममासादयति—अदित्यै सद इत्यनेन मन्त्रेण। तदर्थस्तु—हे सोम, त्वमदित्यै अदित्याः सम्बन्धि सदः सदनं स्थानम्, आसीद सर्वतः प्राप्नुहि, तत्रोपविशेत्यर्थः। पृथिव्याः पार्थिवादिसर्वास्पदत्वेन प्रतिष्ठात्वम्। तस्मात् प्रतिष्ठात्मकत्वादिति भावनया कृष्णाजिने आसादितोऽपि सोमोऽदित्यां प्रतिष्ठापितो भवति। तेनामुं मन्त्रं पठेत्। [१]"अथैवमभिपद्य वाचयति। अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षमिति देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्त एनमेतज्ज्यायाꣳसमेव वधाच्चक्रुर्यदाहास्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽन्तरिक्षमिति' (श. ३.३.४.२)। अथैनमिति। एनं सोममभिपद्य आलभ्य अस्तभ्नादिति मन्त्रं वाचयत्यध्वर्युः। 'सोममालभ्य वाचयति' (का. श्रौ. ७.९.७) इति सूत्रमपि तथैवाह। मन्त्रार्थस्तु पूर्वोक्तरीत्यैव ज्ञेयः। वृषभोऽपां वर्षिता सोमः, अथवा सर्वदेवश्रेष्ठः सोमः, उपरि द्यां दिवमस्तभ्नात् सर्वप्राणिरक्षणाय स्तम्भितवान्। किञ्च, पृथिव्या वरिमाणं परिमाणमहत्त्वमप्यमिमीत इयती पृथिवीति मानं कृतवान्। स तादृशः सम्राट् सम्यग् राजमानः सोमो विश्वा विश्वानि भूतजातानि आसीददधिपतित्वेन अधिष्ठितवान्। तानीमानि विश्वानि सर्वाणि इद् अपि व्रतानि द्युस्तम्भनादीनि वरुणस्य पापनिवारकस्य सोमदेवस्य सम्बन्धीनि, सर्वे देवादयस्तमेवानुसरन्तीत्यर्थः। द्वयोरप्यनुष्टुभोर्वरुणदेवताकत्वेन क्रीतसोमस्य वरुणदेवताकत्वेन च वरुणो वा परब्रह्मबुद्ध्या स्तूयते। अमुं मन्त्रं चतुर्धा विभज्य व्याचष्टे—देवा ह वै यज्ञमित्यादिना। पुरा देवा एनमेव सोमम्, एतद् एतस्मिन् प्रस्तुते कर्मणि, वधाद् असुररक्षःकृतोद्वेगात्,

---

सिद्धि नहीं होती तथा सर्वदा ही सृष्टि की स्थिति रहती है। ऐसी स्थिति में प्रलय प्रतिपादक शास्त्रों का विरोध भी होता है, अतः हमारे सिद्धान्तपक्ष के अनुसार अर्थ करना ही ठीक है॥३०॥

---

(१) अथैनमिति सायणसम्मतः पाठः। तथैव च व्याख्यायते ब्राह्मणम्।

तत्परिहाराय ज्यायांसं प्रशस्यतरं श्रेष्ठं चक्रुः। यदाह मन्त्रः— अस्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽन्तरिक्षमिति। स पूर्वोक्त-ब्राह्मणोक्तप्रकारेण देवैः कृतत्वादाहेत्यर्थः। तस्मिन् मन्त्रभागे श्रेष्ठवाचकवृषभशब्दस्य श्रवणान्मन्त्रप्रभावाद्यशोवर्ण-नाच्च सोमस्य प्रतापवृद्धेरसुरादिपराभवाच्च।

'अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः' इत्यत्र श्रुत्या अमिमीत वरिमाणं पृथिव्या इति सम्बन्धप्रदर्शनेन पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये विश्वा भुवनान्यासादयतीति व्याख्यानमपास्तम्, 'अथैनमभिपद्य वाचयति' (श. ३.३.३.२) इति श्रुत्या सोमस्तुतौ मन्त्रस्य विनियुक्तत्वात्। हे जगदीश्वरेत्यादि सम्बोधनमप्यसङ्गतमेव, 'आसीदद्विश्वा भूतानि सम्रा-डिति। तदेनेनेदꣳ सर्वमास्पृणोति तस्य हि न हन्तास्ति न वधो येनेदꣳ सर्वमास्पृतं तस्मादाहासीदद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति' (श. ३.३.४.४)। तत् तस्मात् सोमेन पृथिव्या मितत्वात्। एनेन बलप्रकाशनमन्त्रपाठेन, अथवा एनेन पृथिवीमानकर्त्रा सोमेन, इमान् द्युलोकादीन् त्रीनपि लोकान्, आस्पृणोति सर्वतो बलिनः कारयति। सोमस्य बलवत्त्वमर्थापत्त्या द्रढयति—तस्य हि न हन्तास्तीति। हन्तुर्हननस्य च लोकत्रयान्तःपातित्वात् तस्य चैतदार्थापत्यं येनेमे लोका आस्पृता बलिनः कृतास्तस्य सोमस्य सुतरां परमबलवत्त्वान्न कोऽपि हन्ता, न वा तस्य वधः सम्भवति। यस्मादेवं तस्मादमिमीत वरिमाणं पृथिव्या इति मन्त्रभागस्तमर्थमाह। अथवा तस्मात्तं मन्त्रभागं ब्रूयात्, 'सोममालभ्य' (का. श्रौ. ७.९.७) इति सूत्रात्। तृतीयपादस्यापि बलप्रकाशनार्थत्वात् पूर्वमेव ब्राह्मणं पुनः पठितम्-'सर्वमास्पृणोति . . . येनेदꣳ सर्वमास्पृतमित्येव तस्माद् ब्राह्मणाद् विशेषः। 'विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानीति। तदस्मा इदꣳ सर्वमनुवर्त्म करोति यदिदं किञ्च न कश्चन प्रत्युद्यामिनं तस्मादाह विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानीति' (श. ३.३.४.५)। चतुर्थपादार्थमाह—तदस्मा इति। इदं सर्वं भूतजातमनुवर्त्म तदधीनस्थितिकं कृतवान् भवति। प्रत्युद्यामः प्रतिकूलोद्योगः, तत्कर्तारं प्रत्युद्यामिनं न करोतीति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव ॥३०॥

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पयं उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ॥३१॥

'वनेषु व्यन्तरिक्षमिति सोमपर्याणहनेन परितत्य कृष्णाजिनं पुरस्तादासजति सूर्यस्य चक्षुरिति' (का. श्रौ. ७.९.८)। वनेषु व्यन्तरिक्षमिति मन्त्रेण सोमपर्याणहनेन सोमबन्धनेन वाससा बद्धं सोममत्यन्तं वेष्टयित्वा सूर्यस्य चक्षुरिति मन्त्रेण आसनार्थयोः कृष्णाजिनयोर्मध्ये एकं कृष्णाजिनं ध्वजस्थानीयं शकटस्य पूर्वभागे युगसमीपे उच्छ्रितदण्डेऽवगलयेत्। 'अथैनं वाससा परितनोति वनेषु' इति बौधायनोऽपि तथैवाह। वरुणः सर्वावरणसमर्थः सोऽग्रेषु वनेषु वनगतवृक्षाग्रेष्वन्तरिक्षं वितताम। वीत्युपसर्गस्तततानेति क्रियापदेन सम्बद्ध्यते। तत्रावरणद्रव्याभावा-

---

मन्त्रार्थ—वरुणस्वरूप विष्णु ने वन के वृक्षों के ऊपर आकाश को फैलाया है। पुरुषों में वीर्य को, गायों में दूध को, हृदय में संकल्पात्मक मन को, प्रजाओं में जाठर अग्नि को, द्युलोक में सूर्य को, पर्वतों पर वल्ली (लता) रूप सोम को स्थापित करने वाला वरुण देवता ही है॥ इस मन्त्र से यजमान सोम को वस्त्र में बांध कर रखता है॥३१॥

भाष्यसार — कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.८) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'वनेषु' इस कण्डिका के द्वारा सोम का बन्धन किया जाता है। तैत्तिरीय श्रुति तथा शतपथ ब्राह्मण आदि में इस विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपलब्ध होता है।

दत्यन्तं विस्तारितवान्। तथा अर्वत्सु अश्वेषु। 'अर्वेत्यश्वनामसु पठितम्' (निघ. १.१४.३)। बलं वितताननेत्यनुवृत्तिः। यद्वा अर्वत्सु पुरुषेषु वाजं वीर्यं ततान, 'वीर्यं वै वाजाः पुमाꣳसोऽर्वन्तः' (श. ३.३.४.७) इति श्रुतेः। उस्रियासु गोषु। 'उस्रियेति गोनामसु पठितम्' (निघ. २.११.३)। पयः क्षीरं विततान। हृत्सु हृदयेषु क्रतुं सङ्कल्पशक्तियुतं मनो विततान। विक्षु प्रजास्वग्निं जाठराग्निं विततान। द्युलोके सूर्यं विततान। अद्रौ पर्वते सोमवल्लीरूपमदधात् स्थापितवान्, परमेश्वरस्यैव सोमदेवतारूपेणावतीर्णत्वात्। मन्त्रद्वयोक्तं द्युलोकस्तम्भनादिसामर्थ्यं विज्ञेयम्। पर्वतगतानां पाषाणानां सन्धिषु सोमवल्ल्या उत्पद्यमानत्वाददद्रौ सोमस्थापनमपि द्रष्टव्यम्। तदुक्तं तित्तिरिणा—'सोममद्रावित्याह ग्रावाणो वा अद्रयस्तेषु वा एष सोमं दधाति' (तै. सं. ६.१.११.४) इति।

अध्यात्मपक्षेऽपि तथैवार्थो योजयितुं शक्यते—उमया परया शक्त्या सहितो देवः सोमः परमेश्वरो वनेषु वृक्षसमूहेष्वन्तरिक्षं विस्तारितवान्। अर्वत्सु पुरुषेषु वीर्यं विततान। उस्रियासु पयः, हृत्सु क्रतुं सङ्कल्पं तद्विशिष्टं मनो विततान। विक्षु जाठराग्निं पर्वतपाषाणसन्धिषु सोमं वल्लीरूपमदधात्। परमेश्वरस्यैव सर्वकारणत्वात् तेषां तेषां वस्तूनां तेषु तेषु योग्यस्थानेषु तस्यैव विधातृत्वमुपपद्यते। शेषं पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

श्रीदयानन्दस्तु—'वनेषु रश्मिषु वृक्षसमूहेषु वा, 'वनमिति रश्मिनामसु पठितम्' (निघ. १.५.८), अन्तरिक्षमाकाशं विशेषेण ततान। वाजं वेगमर्वत्सु अश्वेषु प्राप्तवेगगुणेषु विद्युदादिषु उस्रियासु गोषु हृत्सु क्रतुं प्रज्ञां कर्म वा वरुणः परमेश्वरः सूर्यो वायुर्वा विक्षु प्रजासु अग्निं विद्युतं प्रसिद्धमग्निं वा दिवि प्रकाशे सूर्यमदधात्। सोमममृतात्मकं रसं सोमवल्ल्याद्योषधिगणं वा अद्रौ मेघे शैले वा' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, श्रुत्यादिविरोधात्। शतपथानुसारेण सोमस्यैव प्रकृतत्वात्, सोमवेष्टने मन्त्रस्य विनियोगाच्च तदनुगुण एवार्थो युक्तः। न च हृदयेषु प्रज्ञा कर्म वा वितन्यते। किञ्च, हृदये सङ्कल्पशक्तियुतस्य मनस एव विततिसम्भवः।

शतपथे तु—'अथ सोमपर्याणहनेन पर्याणह्यति। नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि प्रमृशानिति गर्भो वा एष भवति तिर इव वै गर्भास्तिर इवैतद् यत्पर्याणद्धं तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यस्तिर इवैतद्यत्पर्याणद्धं तस्माद्वै पर्याणह्यति' (श. ३.३.४.६)। शकटेन सार्धं सोमस्य वेष्टनसाधनं वासः पर्याणहनम्। तत्प्रयोजनं कथयति—नेदेनं राष्ट्रा रक्षांसीति। नेद् इति परिभये। 'नेत्येष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये' (निरु. १.१०)। यदि पर्याणहनं न कुर्यात्तदा नाष्ट्रा नाशकराणि रक्षांस्येनं प्रमृशान् प्रमृशेयुः। तदेतद् भयकरम्। तस्मात्तत्परिहाराय पर्याणहनमावश्यकम्। प्रकारान्तरेण तदेव प्रशंसति—गर्भो वा एष भवतीति। तिर इव वै गर्भा अन्तर्हिता वर्तन्ते। यस्माद्गर्भाणां तिरोधानमपेक्षितम्, यस्माच्च मनुष्येभ्यो देवास्तिर इव भवन्ति, तस्मात् सोमस्य देवस्य पर्याणहनं युक्तमेव। मन्त्रे

अध्यात्मपक्ष में भी उसी रीति से अर्थयोजना की जा सकती है। परा शक्ति उमा के सहित परमेश्वर ने वनों में अन्तरिक्ष का विस्तार किया है, पुरुषों में बल का संचार किया है, गायों में दुग्ध, हृदयों में संकल्प शक्ति, प्राणियों में जाठराग्नि, द्युलोक में सूर्य तथा पर्वतों में सोमवल्ली के रूप में वह प्रकाशित हुआ है। यह परमेश्वर ही सर्वकारणभूत है। तत्तद् वस्तुओं के तत्तद् योग्य स्थानों में उसी परमेश्वर का विधातृत्व सिद्ध होता है।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या श्रुतिवाक्यों के विरुद्ध होने के कारण अनुपयोगी है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मन्त्रार्थ में सोम ही प्रसंगानुकूल है। सोम के बन्धन में मन्त्र का विनियोग होने के कारण उसके अनुकूल अर्थ करना ही उपयुक्त है। हृदयों में प्रज्ञा अथवा कर्म का विस्तार नहीं होता। हृदय में संकल्पशक्ति से युक्त मन का विस्तार ही सम्भव है। 'वनेषु' का अर्थ रश्मियों में तथा 'अश्वेषु' का अर्थ विद्युदादि में, इस प्रकार करना शतपथ ब्राह्मण के विरुद्ध है ॥३१॥

विधाय प्रशंसति—स पर्याणह्यति वनेषु व्यन्तरिक्षमित्यादिना। वनेषु वृक्षसमूहेष्वन्तरिक्षं वितत्वान सोमो विस्तारितवान्। तद् यद् वाजं वेगं बलं वा अर्वत्सु अरणवत्सु पुरुषेषु अश्वेषु वा व्यदधात्, उस्रियासु गोषु पयः क्षीरम्, हृत्सु हृदयेषु, प्राणिबहुत्वापेक्षया बहुवचनम्, क्रतुं सङ्कल्पम्, विक्षु प्रजास्वग्निं भुक्तपीतान्नपानादिपाकसाधनम्, दिवि सूर्यम्, अद्रौ पर्वतेषु सोमम्, वरुणः पापनिवारकः सोमो देवः, अदधात्। वनशब्दस्यार्थान्तरभ्रमं निवारयन् वनेष्वन्तरिक्षविस्तरणं लोकसिद्धमित्याह—वनेषु हीदं विततमन्तरिक्षं वृक्षाग्रेषु, यद्यपि सर्वत्रान्तरिक्षं विततम्, तथापि सामान्यजनदृष्ट्या सान्द्रवृक्षाग्रेषु पटास्तरणवत् प्रतिभासात् तथोक्तिः। अर्वत्सु पुंस्त्वसम्भवाद् वाजस्य वीर्यत्वात् पुंस्वेव वीर्यं स्थापितवान्। उस्रियाहृदादिषु पयःक्रत्वादिस्थितेर्लोकप्रसिद्धिरिति हृत्सु ह्ययमिति हिकारेण द्योत्यते। एतेन वनेषु रश्मिष्वश्वेषु विद्युदादिष्विति विवरणं शतपथविरुद्धमेव। परमेश्वरस्यैव तत्तद्देवतात्मना विराजमानत्वादत्र सोमदेवोपलक्षितः परमात्मैवान्तरिक्षादिविततिहेतुत्वेनोक्तः ॥३१॥

सूर्य॑स्य॒ चक्षु॒रारो॑हा॒ऽग्नेर॒क्ष्णः क॒नीन॑कम्।
यत्रैत॑शेभि॒रीय॑से॒ भ्राज॑मानो विप॒श्चिता॑ ॥३२॥

'कृष्णाजिनं पुरस्तादासजति सूर्यस्य चक्षुरिति' (का. श्रौ. ७.९.८)। शकटस्य पूर्वभागे युगसमीपे उच्छ्रिते दण्डे एकं कृष्णाजिनं ध्वजस्थानीयं संल्लगयेत्। उव्वटादिरीत्या कृष्णाजिनदेवत्याऽनुष्टुप्। हे कृष्णाजिन, त्वं सूर्यस्य सवितुश्चक्षुर्नेत्रमारोह, तथाभ्युच्छ्रितो भव यथा सूर्यश्चक्षुषा त्वां पश्येत्। अग्नेर्वैश्वानरस्य देवस्य अक्ष्णो नेत्रस्य कनीनिकां तारिकामारोह, यथाग्निः स्वचक्षुस्तारिकया त्वां पश्येत्। यत्र यस्मिन्नेतयोर्दर्शने विपश्चिता सर्वज्ञेन सूर्येणाग्निना च सहितो भ्राजमानो दीप्यमानः, एतशेभिरश्वैः, ईयसे नीयसे गच्छसि। 'ई गतौ' आत्मनेपदी। एतशैरिति करणे तृतीया। यदि ईयस इति कर्मणि रूपं चेत्, तदा एतशैरिति कर्तरि तृतीया। यत्राश्वैस्त्वं नीयस इत्यर्थः। भ्राजमान इति पुंस्त्वं कृष्णाजिनस्य पुंस्त्वविवक्षया। सूर्याग्निदृष्टिविषयत्वेन मार्गोऽसुरराक्षसादिनाष्ट्रोबाधरहितो भवति, 'एष खलु वा अरक्षोहतः पन्था योऽग्नेश्च सूर्यस्य च' (तै. सं. ६.१.७.३) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। इत्युव्वटमहीधरयोराशयः।

काण्वसंहितायां सायणाचार्यस्तु—'हे सोम, त्वं सूर्यसम्बन्धि यच्चक्षुरस्ति तदारोह, तत्समानचक्षुर्युक्तो भव। तथाग्नेः सम्बन्धि यदक्षि विद्यते, तस्याक्ष्णः सम्बन्धिनी या कनीनिका तारिका, तामारोहेत्यनुवर्तते, तत्समानदृष्टिपाटवयुक्तो भवेत्यर्थः। यत्र यस्मिन् देवयजने एतशेभिरश्वैर्गच्छसि, 'एतश इत्यश्वनामसु पठितम्' (निघ. १.१४.१०), तत्रेत्यध्याहारः। तस्मिन् देवयजने विपश्चिता विदुषा सर्वज्ञेनाग्निना सह भ्राजमानो दीप्यमानस्तिष्ठेति शेषः।

मन्त्रार्थ—हे कृष्णाजिन! तुम सूर्य के नेत्र और अग्नि के नेत्र की पलकों पर आरोहण करो, जहां इन दोनों के दर्शन या प्रकाश से सर्वज्ञ सूर्य या अग्नि से प्रकाशित होता हुआ अश्वों के द्वारा गमन करता है। सूर्य और अग्नि की दृष्टि पड़ने से ही मार्ग राक्षसों की बाधा से मुक्त होता है॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए यजमान आसन के लिये बिछाये दो मृगचर्मों में से एक को शकट के पूर्व भाग में जुए के समीप ऊँचे दण्ड में लगावे। यदि आसन का मृगचर्म एक ही हो, तो उसकी ग्रीवा की ओर के भाग को अलग करके शकट के पूर्व भाग में लगाते हैं॥३२॥

भाष्यसार—'सूर्यस्य चक्षुः' ऋचा के द्वारा कृष्णाजिन को ध्वजा की भांति शकट पर लगाया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.८) में प्रतिपादित इस याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उव्वट, महीधर तथा काण्वसंहिता के भाष्य में सायणाचार्य ने किया है। शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या में भी सायणाचार्य ने कृष्णाजिन को सम्बोधित करते हुए इस मन्त्र का अर्थ किया है।

कृष्णाजिनं सोमस्य चिह्नरूपं ध्वजस्थानीयमिति तद्द्वारापि सोमस्यैव स्तुतिः। शतपथव्याख्यानप्रसङ्गे तु कृष्णाजिनमेव सम्बोध्यायं मन्त्रः सायणाचार्येणापि व्याख्यातः। तथाहि—'हे कृष्णाजिन, त्वं सूर्यस्य चक्षुश्चक्षुस्थानीयम्, प्रकाशस्थानमित्यर्थः। उपरि हि सूर्यः प्रकाशते, अतस्त्वमनसि ऊर्ध्वदिशमारोह। तथाग्नेर्देवस्याक्ष्णः सम्बन्धि कनीनकमक्षिमध्यगतः कृष्णप्रदेशः कनीनिका, तामारोह, अग्नेरक्ष्णः कनीनिकास्थानमन्तरिक्षं नीलं नभ इति प्रसिद्धेः। कृष्णाजिनस्य सोमध्वजस्थानीयस्य अनस उपर्यारोहे सत्येतदुभयारोहणं सम्पद्यते, उपर्येव सुर्यचक्षरूपस्य प्रकाशस्याग्नेरक्ष्णः कनीनिकारूपस्य नीलान्तरिक्षस्य सत्त्वात्। यत्र यस्मिन्नारोहे सत्येतशेभिरश्वैः, ईयसे गच्छसि, विपश्चिता मेधाविना सोमेन सह भ्राजमानो दीप्यमानः सन्' इति।

अध्यात्मपक्षेऽपि— हे आत्मन्, त्वं सूर्यस्य सर्वप्रकाशकस्य परमेश्वरस्य चक्षुरारोह तदीयानुग्रहपूर्णदृष्टिगोचरो भव। ज्ञानाग्निमतां ज्ञानिनामक्ष्णः कनीनकं तारकमारोह तदीयानुग्रहभाजनं भव। 'यस्यानुग्रहपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वार्थगोचरा। तद्दृष्टिगोचराः सर्वे पूता एव न संशयः॥' इति वचनात्। यत्र ययोर्दर्शने सत्येतशेभिरश्वैरिव तयोः कृपाकटाक्षकिरणैः परमपदमीयसे गच्छसि विपश्चिता सर्वसाक्षिणा परमेश्वरेण तद्रूपतया भ्राजमानो दीप्यमानः सन् तिष्ठसि।

दयानन्दस्तु—'सूर्यस्य सवितृमण्डलस्य विद्युतो वा चक्षुर्दर्शकम् आ समन्ताद् रोह दर्शयसि दर्शयति वा। अग्नेर्भौतिकस्य अक्ष्णो दर्शनसाधकस्य कनीनकं कनति प्रकाशते येन तद् यत्र यस्मिन् एतशेभिर्विज्ञाने वेगादिभिरागन्तुकैर्गुणैरश्वैश्च ईयसे विज्ञायसे विज्ञायते वा, भ्राजमानः प्रकाशमानो विपश्चिता। हे परमेश्वर, यत्र त्वमेतशैर्भ्राजमानो विपश्चिता परो यत्र वा प्राणो विद्युद्वैतशेभिर्विपश्चिता भ्राजमानो विज्ञायते, यत्र त्वं स सा च सूर्याग्नेरक्ष्णः कनीनकं समन्ताद् दर्शयति, तत्र वयं त्वां तं चोपासीमहि युञ्ज्याम वा' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, एतशैरित्यनेन विज्ञानवेगादिभिरागन्तुकैर्गुणैरित्यर्थग्रहणे मानाभावात्, 'एतश इत्यश्वनामसु' (निघ. १.१४.१०) इत्यश्वनामत्वेऽपि विज्ञानाद्यर्थकत्वस्य निर्मूलत्वात्। चक्षुरित्यस्य दर्शकमित्यर्थोऽपि निर्मूलः। तथैव रोहेत्यस्य दर्शयतीत्यर्थोऽपि निर्मूलः। अग्नेरक्ष्णो दर्शनसाधकस्य कनीनकमित्यस्यापि न सङ्गतिः, भौतिकाग्नेर्भिन्नस्य दर्शनसाधनस्य तत्रानुपलब्धेः। कनीनकमित्यस्यापि प्रकाशकत्वमेवार्थः। तथा चाग्नेरक्ष्णः कनीनकमित्यत्र कथं नाम दयानन्दीयैः सम्बन्धः साध्यते? एतस्य हिन्दीभाष्यमपि न सङ्गच्छते। तथाहि—'अग्नि भौतिक अग्नि के (अक्ष्णः) देखने के साधन (कनीनकं) प्रकाश करने वाले (चक्षु) नेत्रों को (आरोह) देखने योग्य कराते हो।' कोऽस्य वाक्यस्यार्थः? सिद्धान्ते तु विशिष्टैश्वर्यशालिनोऽग्नेर्देवस्य विग्रहवतोऽक्षि नेत्रगोलकं भवति। तत्र नीलं कनीनकं तारिकापदवाच्यं भवति, यत्रेन्द्रियं विशेषतो व्यज्यते। ऐतशपदमश्वपरम्। अश्वश्च गमनसाधनं भवति। तस्मादीयसे गच्छसीत्येवार्थः, 'ई गतौ' इति धातोर्निष्पत्तेः। कृष्णाजिनदेवत्याऽनुष्टुबियम्।

अध्यात्मपक्ष में भी मन्त्रार्थ प्रायः उसी प्रकार है। हे आत्मन्! तुम सर्वप्रकाशक परमेश्वर की अनुग्रहपूर्ण दृष्टि में उन्नत रहो, ज्ञानियों के नेत्रगोलक में अनुग्रहपात्र बनो। इनका दर्शन हो जाने पर (तुम) अश्वों के समान उनकी कृपादृष्टि की रश्मियों से अनुत्तम पद को प्राप्त करते हो तथा सर्वसाक्षी परमेश्वर के साथ तद्रूप होकर प्रकाशित होते हो।

स्वामी दयानन्द का अर्थ उचित नहीं है। 'एतश' शब्द से 'विज्ञान, वेग आदि आगन्तुक गुण' इस अर्थ को ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि 'एतश' शब्द अश्व के नामों के अन्तर्गत निघण्टु में पठित होने के कारण उसके विज्ञान आदि अर्थों की कल्पना निर्मूल है। 'चक्षु' शब्द का 'दर्शक' अर्थ करना भी निर्मूल है। इसकी हिन्दी व्याख्या भी संगत नहीं है। जैसे — '(अग्नि) — भौतिक अग्नि के (अक्ष्णः) देखने के साधन (कनीनकं) प्रकाश करनेवाले (चक्षु) नेत्रों को आरोह देखने योग्य कराते हो' इस वाक्य का क्या अर्थ है? शतपथ श्रुति तथा सूत्र आदि का विरोध तो इस अर्थ में स्पष्ट ही है ॥३२॥

तस्मात् कृष्णाजिनमेव सम्बोधयतीयम्। शकटयुगसमीपस्थोच्छ्रितदण्डे सोमध्वजरूपस्य कृष्णाजिनस्यासजने विनियुक्तत्वात् सोमो वा सम्बोधनीयः। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव।

तथाहि—'अथ यदि द्वे कृष्णाजिने भवतः। तयोरन्यतरत् प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनं यद्यु एकं भवति कृष्णाजिनग्रीवा एवावकृत्य प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनꣳ सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकं यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चितेति सूर्यमेवैतत्पुरस्तात् करोति सूर्यः पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानाष्ट्रेण परिवहन्ति' (श. ३.३.४.८)। अथ यदि द्वे इति। दीक्षाप्रसङ्गे यदि द्वे कृष्णाजिने स्वीकृते, तयोरेकं कृष्णाजिनं प्रतिनाहभाजनं भवति। नद्धस्य सोमस्य पुरोदेशे प्रसारितो ध्वजः प्रतिनाहः, तद्भाजनं तत्स्थानीयं भवतीत्यर्थः। द्वितीयालाभे उपायमाह—यद्यु एकं भवतीति। कृष्णाजिनग्रीवा एवावकृत्य प्रत्यानह्यतीति। तत्र प्रतिनाहमन्त्रः— सूर्यस्य चक्षुरिति। तथा च कात्यायनः—'कृष्णाजिनं पुरस्तादासजति सूर्यस्य चक्षुरिति. . . एकं चेद् ग्रीवा अवकृत्य' (का. श्रौ. ७.९.८-९)। आसनार्थमेकमेव कृष्णाजिनं यदि स्यात्, तदा तस्य कृष्णाजिनस्य ग्रीवाः कण्ठं छित्त्वा शकटस्य पुरस्तादासजेत्। उत्तमाङ्गे त्वादरार्थं बहुवचनम्। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। सर्वथाप्यत्र सोमस्य सोमध्वजस्य कृष्णाजिनस्यैव स्तुतिर्विद्यते। एतन्मन्त्रपाठं स्तौति—सूर्यमेवैतत् पुरस्तादिति। मन्त्रे सूर्यस्य चक्षुरित्यभिधानेन सूर्यमेव सोमस्य पुरस्तात् कृतवान् भवति। ततः किमित्यथ—सूर्यः पुरस्तान्नाष्ट्रेति। सूर्यो नाष्ट्राणि यज्ञनाशकानि रक्षांस्यपघ्नन् हिंसन् पुरो गच्छति। तस्मिन् सत्यभयेन नाशकरहितेन मार्गेण सोमं परिवहन्ति। वोढारोऽश्वा अनड्वाहो वा॥३२॥

उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ। स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम् ॥३३॥

'अनड्वाहौ युनक्त्युस्रावेतमिति युगपत् तद्वचनत्वात्' (का. श्रौ. ७.९.१०)। अनसि युगपदनड्वाहौ योजयेत्, कुतः? तद्वचनत्वात्, उस्रावेतमिति मन्त्रे द्विवचनश्रवणात्। आनडुही ऊर्ध्वबृहती। यस्यास्त्रयः पादा द्वादशाक्षरा सोर्ध्वबृहती, 'त्रिजागतोर्ध्वबृहती' इत्युक्तेः। अत्राद्यो दशार्णः, द्वितीयस्त्रयोदशार्णः, तेनैकोना। हे उस्रौ ! अनड्वाहौ, 'उस्रेति गोनामसु' (निघ. २.११.२)। आ इतं युवां वहनाय प्रत्यागच्छतम्। एत्य च स्वयमेव युज्येथां रथे युक्तौ भवतम्। कथंभूतावस्रौ? धूर्षाहौ धुरं सहेते इति धूर्षाहौ, 'षह मर्षणे' शकटस्य धुरं वोढुं समर्थौ, अनश्रू नेत्राश्रुरहितौ, अनार्तौ सोत्साहौ हृष्टौ, अवीरहणौ न वीरान् भ्रातृपुत्रादीन् शिशूंश्च हत इति अवीरहणौ शृङ्गादिभिरहन्तारौ प्रशान्तौ, ब्रह्मचोदनौ ब्राह्मणानां धर्मब्रह्मणी प्रति प्रेरकौ, ब्रह्मणो विप्रान् चोदयतः प्रेरयतस्तौ, ब्रह्मणा मन्त्रेण प्रेरितौ वा, एवंविशेषणविशिष्टौ युवां क्षेमेण यजमानस्य गृहं सोममादाय गच्छतम्।

मन्त्रार्थ—हे शकट में जुड़े बैलों! तुम शकट की धुरा को धारण करने में समर्थ हो, उत्साहसम्पन्न हो, सींगों से बालकों को न मारने वाले, ब्राह्मण को यज्ञ में प्रेरित करने वाले तुम दोनों इस शकट में जुत जाओ, कुशलतापूर्वक यजमान के घर की तरफ जाओ॥ यजमान इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए बैलों को शकट (गाड़ी) में जोतता है ॥३३॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.१०-१२) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'उस्रावेतम्' ऋचा के द्वारा शकट में बैलों को संयोजित करके उन्हें गमन के लिये प्रेरित किया जाता है।

अध्यात्मपक्षे—उस्रौ सत्त्वक्षेत्रज्ञरूपौ बलीवर्दौ संसारशकटस्य धुरो वोढारौ युवामेतं संसारभारवहनाय आगच्छतम्, एत्य च कर्मानुसारं युक्तौ भवतम्। कीदृशौ तौ? अनश्रू अनार्तौ संसारसम्बन्धेनार्तिप्राप्तावपि तत्त्वज्ञान-महिम्नाऽव्यथौ सोत्साहौ, अवीरहणौ अपापकृतौ तत्त्वज्ञानेन दग्धशुभाशुभकर्माणौ, ब्रह्मचोदनौ ब्रह्मणा वेदेन चोदितौ धर्मब्रह्मणोः प्रति प्रेरितौ, स्वस्ति यथा स्यात्तथा यजमानस्य धर्मानुष्ठातुर्विशुद्धसत्त्वस्य गृहान् शरणान् मुक्तोपसृप्यस्वरूपान्, प्राप्तृभेदेन प्राप्तव्येऽपि भेदोपचाराद् बहुवचनम्, गच्छतं प्रतिगच्छतम्। तत्त्वज्ञानेन सत्त्वस्य बाधसामानाधिकरण्येन मुक्तोपसृप्यब्रह्मप्राप्तिरिति।

सूत्रदृष्ट्याप्युस्राविति बलीवर्दाविव जिघृक्षितौ। 'अनड्वाहौ युनक्ति' (का. श्रौ. ७.९.१०), 'भेदे मन्त्रावृत्तिः सान्निपातितत्वात्' (का. श्रौ. ७.९.११)। भेदेन योजनं कर्तव्यं न युगपत्। कुतः? अनडुहः कण्ठे योक्त्रपरिणहनस्यैव योजनपदार्थत्वात्, तस्य दक्षिणेनैकपाणिना कर्तुमशक्यत्वात्। भेदेन योजने क्रियमाणे मन्त्रस्यावृत्तिः कर्तव्या। कुतः? मन्त्रस्य सान्निपातितत्वात् समवेतार्थत्वाद् द्विवचनमविवक्षितम्, प्रातिपदिकार्थस्यैव विवक्षितत्वात्।

दयानन्दस्तु—'उस्रौ रश्मिमन्तौ निवासहेतू सूर्यवायू। 'उस्रा इति रश्मिनामसु पठितम्' (निघ. १.५.९)। आ इतं प्राप्नुतः। धूर्षाहौ यौ धुरं पृथिव्याः शरीरस्य ज्ञानानां च धारणं सहेते, तौ युज्येथां युज्येते युक्तौ कुरुतः। अनश्रू अव्यापिनौ। अवीरहणौ वीरहननरहितौ ब्रह्मचोदनौ आत्मान्नप्राप्तिप्रेरकौ। स्वस्ति सुखं सुखेन वा यजमानस्य धार्मिकस्य जीवस्य गृहान् गृहाणि गच्छतो गमयतः' इति, तदपि न किञ्चित्, विसङ्गतेः। उस्रावित्यस्य रश्मिवाचकत्वेऽपि सूर्यस्य रश्मिमत्त्वेऽपि वायोस्तदयोगेन वायुसूर्ययो रश्मिपदेनोस्रपदेन वा ग्रहणासम्भवात्, जीवैस्तयोरनियोज्यत्वाच्च, त्वया तयोर्जडत्वाभ्युपगमाच्च, पृथिव्याकाशयोर्निवासहेतुत्वव्यभिचाराच्च, पृथिवी-शरीर-ज्ञानादिषु धुरोऽप्रसिद्धत्वात् शकटस्य प्रसिद्धत्वाच्च, जडयोस्तयोर्धूर्षहत्वासम्भवाच्च, युज्येथामिति यथाश्रुतोपपत्तौ णिजन्तकल्पनानुपपत्तेश्च। प्रशंसाप्रसङ्गेऽनश्रुपदेनाव्यापकत्वनिरूपणमप्यनर्थकमेव, तयोः सर्वानुग्राहकत्वेन वीरहननस्याप्रसक्तत्वेनावीरहणत्वकथनमपि तथाविधमेव। जडत्वादेवात्मान्नप्राप्तिप्रेरकत्वं गृहगमयितृत्वं चापि नोपपद्येते।

'उद्धते प्रउग्ये फलके भवतः। तदन्तेरण तिष्ठन् सुब्रह्मण्यः प्राजति श्रेयान् वा एषोऽभ्यारोहाद् भवति को ह्येतमर्हत्यभ्यारोढुं तस्मादन्तरेण तिष्ठन् प्राजति' (श. ३.३.४.९)। प्रउग्ये फलके युगसम्बन्धिफलके उद्धते प्रउगादप्युन्नते चुबुकप्रमाणे भवतः 'प्रउगाच्चोद्धते फलके भवतः' (का. श्रौ. ७.९.४)। तदन्तरेण तत् तयोः फलकयोरन्तरेण मध्ये तिष्ठन् सुब्रह्मण्यनामक ऋत्विक् 'ईषान्तरे भूमिष्ठः सुब्रह्मण्यः पलाशशाखया प्राजति' (का. श्रौ. ७.९.१२)। ईषान्तराले

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है — सत्त्व तथा क्षेत्रज्ञ रूपी संसारात्मक शकट का वहन करने वाले हे दो वृषभों, आप लोग संसार-वहन के लिये आवें। आर्ति से रहित, तत्त्वज्ञान के कारण शुभाशुभ कर्मों से निवृत्त, वेद से प्रवर्तित आप दोनों कल्याणपथ से विशुद्धसत्त्व धर्मानुष्ठान करने वाले यजमान के अधिष्ठानों के प्रति आवें।

कात्यायन श्रौतसूत्र की दृष्टि से भी यहां 'उस्रौ' शब्द से दो वृषभ ही वाञ्छित हैं। स्वामी दयानन्द का अर्थ असंगत होने के कारण समीचीन नहीं है। वायु तथा सूर्य का 'उस्र' पद से ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि वे जीवों के द्वारा नियोक्तव्य नहीं है। इस मत में वायु तथा सूर्य का जडत्व भी प्राप्त हो जायगा। पृथ्वी, शरीर, ज्ञान आदि अर्थों में 'धुर' शब्द प्रसिद्ध नहीं है। अपितु शकट के एक भाग लिये धुर शब्द की प्रसिद्धि है। वायु एवं सूर्य के सर्वहितैषी होने के कारण उनमें हिंसा की प्राप्ति ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उनके लिये 'अवीरहणौ' विशेषण का कथन भी असंगत है। शतपथ श्रुति के द्वारा भी उस्र शब्द से वृषभ ही प्रतिपादित है, सूर्य तथा वायु का कथन नहीं है। अतः हमारा सिद्धान्तपक्ष-सम्मत अर्थ ही श्रुति प्रतिपादित है ॥३३॥

भूमौ तिष्ठन् सुब्रह्मण्यः पलाशशाखया अनड्वाहौ गमनाय प्रेरयेत्, भूमिष्ठ एव सन् प्राजति प्रेरयत्यनड्वाहौ । अधःस्थितिं प्रशंसति—श्रेयान् वेति । करितुरगाद्यारूढस्य प्रशस्तत्वं लोकप्रसिद्धम्, अतस्तदभ्यारोहात् सोमः श्रेयान् भवति । अतस्तदधिष्ठितं शकटमभ्यारोढुं कोऽर्हति ? न कोऽपीत्यर्थः । 'पलाशशाखया प्राजति । यत्र वै गायत्री सोममच्छा-पतत्तदस्या आहरन्त्या अपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत्तस्मात् पर्णो नाम तद्यदेवात्र सोमस्य न्यक्तं तदिहाप्यसदिति तस्मात् पलाशशाखया प्राजति' (श. ३.३.४.१०) । पलाशशाखया प्राजति भूमिष्ठास्वेव प्राजनयोग्यासु सतीष्वन्यशाखासु पलाशशाखायाः कोऽतिशय इति जिज्ञासायां तस्याः सोमस्य सम्बन्धं दर्शयति—यत्र वै गायत्रीति । व्याख्यातमिदं पूर्वत्र । यदेव सोमस्याङ्गं न्यक्तमवाङ्निपतितमासीत्, तदङ्ग-मिहाप्यस्मिन् सोम एव असद् भवेदिति पलाशशाखया प्राजनस्याभिप्रायः ।

'अथानड्वाहावाजति । तौ यदि कृष्णौ स्यातामन्यतरो वा कृष्णस्तत्र विद्याद्वर्षिष्यत्यैषमः पर्जन्यो वृष्टिमान् भविष्यतीत्येतदु विज्ञानम्' (श. ३.३.४.११) । अनडुहोर्वर्णविशेषमभिधातुं पुनरनुवदति—अथानड्वाहाविति । आजति युगवहनाय प्रेरयति । उभयोरन्यतरस्य वा यदि कृष्णत्वं लभ्येत, तत्र पर्जन्यवर्णसाम्यादनुडुत्कृष्णत्वेन निमित्तेन ऐषमोऽस्मिन् संवत्सरे पर्जन्यो बहुवृष्टिप्रदो भविष्यतीति एतद् उ विज्ञानं वृष्टेः परिज्ञानं तदुपाय इत्यर्थः । अत्र श्रुतौ — 'अनड्वाहावाजति तौ यदि कृष्णौ स्यातामन्यतरो वा कृष्णः' इत्युक्त्या उस्रावित्यनड्वाहावेवोक्तौ न सूर्यवायू । अथ युनक्तीति तयोरेव शकटस्य धूर्वहने योजनमुच्यते । तस्मात् सिद्धान्तसम्मत एवार्थः श्रौत इति । 'अथ युनक्ति । उस्रावेतं धूर्षाहावित्युस्रौ हि भवतो धूर्षाहाविति धूर्षाहौ हि भवतो युज्येथामनश्रू इति युज्येते ह्यनश्रू इत्यनार्ताविति तदवीरहणावित्यपापकृताविति तद्ब्रह्मचोदनाविति ब्रह्मचोदनौ हि भवतः स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतमिति यथै-नावन्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न हिꣳस्युरेवमेतदाह' (श. ३.३.४.१२) । इदानीं समन्त्रकमुस्रयोजनं विधत्ते — अथ युनक्तीति । मन्त्रार्थस्तूक्त एव । श्रुतिरपि मन्त्रं विभज्य व्याचष्टे—उस्रौ हि भवत इत्यादिना । उस्राविणावनयोर्भोगावित्युस्रौ । एषा प्रसिद्धिर्हिशब्देन द्योत्यते । धूर्षाहावित्यस्य तात्पर्यमाह — धूर्षाहाविति । अनश्रू अनार्तौ, आर्तेषु अश्रुपातस्य दर्शनात् । एतेन अनश्रू अव्यापकावित्यपास्तम् । वीरहत्यायाः पापसाधनत्वादपापकृतावित्यवीरहणावित्यस्य तात्पर्याख्यानम् । ब्रह्मणा उस्राविति मन्त्रेणेदानीं चोद्यमानत्वाद् ब्रह्मचोदनाप्रसिद्धिः । स्वस्तिशब्दाभिप्रायमाह — यथैनावन्तरेति । यथा एनावनड्वाहौ अन्तरा मध्ये मार्गे नाष्ट्रा हिंस्रा न हिंस्युस्तथा भवेदिति मन्त्रे स्वस्तिशब्दस्याभिप्रायः ॥३३॥

भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि । मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृका अघायवो विदन् । श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सꣳस्कृतम् ॥३४॥

सौम्यं यजुः । 'भद्रो म इति वाचयति' (का. श्रौ. ७.९.१६) । हे सोम, मे मह्यं मम यजमानस्योपकाराय भद्रोऽसि कल्याणरूपोऽसि कल्याणकरो वासि । 'भदि कल्याणे सुखे च' इति धातोर्भद्र इति रूपम् । भन्दनीय इत्यर्थः । मे

मन्त्रार्थ—हे सोम ! तुम मुझ यजमान के लिये कल्याणरूप हो । अध्वर्यु आदि के प्रतिपालक हे यजमान ! तुम पत्नीशाला, हविर्धान आदि स्थानों को देख कर चलो । तुमको सब ओर फिरने वाले तस्कर (चोर) न जानें, यज्ञद्रोही तुमको न जानें, दूसरों का अपराध करने वाले दुर्जन तुमको न जानें । श्येन (बाज) के समान तीव्रगामी होकर सामने चलो, यजमान के घर चलो । वह यज्ञस्थान हम तुम दोनों के लिये सब सामग्री से परिपूर्ण है ॥ सोम लेकर यज्ञशाला की तरफ जाने वाले यजमान से अध्वर्यु यह मन्त्र कहलवावे ॥३४॥

मम भन्दनीयः स्तुत्यस्त्वमसि। हे भुवस्पते भुवनानां पालक! यद्वात्र भुवस्पदेन भूमौ स्थितानि भूतानि यजमानाध्वर्युप्रभृतीन्युपलक्ष्यन्ते। तेषां भूतानां पालकत्वाद् भुवस्पतिः। 'प्रच्यवस्व भुवस्पत इत्याह भूतानाᳬ ह्येष पतिः' (तै. सं. ६.१.११.११)। तथाविध हे सोम, विश्वानि सर्वाणि धामानि स्थानानि पत्नीशालाहविर्धानप्रभृतीनि ग्रहचमसादीनि वा 'अङ्गानि वै विश्वानि धामानि' (श. ब्रा. ३.३.४.१४) इति श्रुतेः। प्रच्यवस्व, प्रकर्षेण गच्छ। 'च्युङ् गतौ' प्रच्यवमानं त्वा त्वां परिपरिणो माविदन् सोमं मा जानन्तु। परिपरिण इत्यनेन सर्वत्र सञ्चरन्तस्तस्करविशेषा उच्यन्ते। तथा परिपन्थिनो यजमानयागस्य बाधका विद्वेषिणः, त्वा त्वां मा विदन्, 'छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि' (पा. सू. ५.२.८९) इति निपातनात्। अघायवोऽघं पापं हिंसारूपमिच्छन्तो वृका विकर्तनशीला अरण्यश्वानः परिणेतारो दुर्जना वा त्वा मा-विदन् यजमानगृहं गच्छन्तं मा जानन्तु। किञ्च, श्येनः शंसनीयगमनः पक्षी भूत्वा त्वमपि श्येनपक्षिवत् शीघ्रगामी भूत्वा बलिष्ठोत्पतनशीलः सन्नस्मदीयस्य यजमानस्य गृहान् परापत शीघ्रं गच्छ। तत्र गृहेषु नौ आवयोस्तव मम च संस्कृतं सर्वोपस्करणसंयुक्तं स्थानं विद्यत इति शेषः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वं मे भद्रोऽसि कल्याणकरोऽसि। हे भुवस्पते भुवनानां सर्वेषां लोकानां पालक, विश्वानि सर्वाणि धामानि स्थानानि वैकुण्ठकैलाशादीन्यभिलक्ष्य प्रच्यवस्व प्रगच्छसि। लट्स्थाने लोट्। यद्वा विश्वानि सर्वाणि धामानि भक्तानां हृदयान्यभिलक्ष्य प्रच्यवस्व प्रगच्छ, तेष्वभिव्यक्तो भवेत्यर्थः। मा त्वा परिपरिणो परस्वापहारिणो विदन् जानन्तु। परिपन्थिनो वृका धर्मद्विषो विकर्तनशालिनोऽघायवः परस्याघं विनाशमिच्छवो मा त्वा विदन् जानन्तु। हृदयेषु परमेश्वरप्राकट्ये बाधका इमे दोषा इति ज्ञात्वा तद्राहित्यं सम्पादनीयमित्यर्थः। हे सोम, श्येनो भूत्वा श्येनपक्षिवदोजसा वेगेन च सर्वान् विघ्नानविगणय्य यजमानस्योपासकस्य धार्मिकस्य गृहान् गन्तव्यानि स्थानानि हृदयानि परापत गच्छ। तत् तत्र नौ तवेश्वरस्य ममोपासकस्य यजमानस्य च संस्कृतं सर्वोपस्करणयुक्तं स्थानं विद्यत इति शेषः। तत्रैव तत्त्वमर्थयोरभेदेन जीवस्य पूर्णत्वमपरिच्छिन्नत्वं परमेश्वरस्यापरोक्षत्वं परप्रेमास्पदत्वमानन्दरूपत्वं च व्यज्यते।

स्वामिदयानन्दस्तु—'हे भुवस्पते! भुवः पृथिव्याः पते स्वामिन् विद्वन्, त्वं मम भद्रोऽसि सुखकार्यसि। यन्नौ तव मम च संस्कृतं शिल्पविद्यासंस्कारयुक्तं सर्वर्तुकं यानमस्ति, तत् तेन विश्वानि धामानि स्थानान्यभिप्रच्यवस्व अभि प्रकृष्टतया गच्छ। यथा सर्वत्राभिगच्छन्तं त्वां परिपरिणश्चौरा वृका मा विदन् मा लभन्तां तथा प्रयतस्व परदेशसेविनं त्वां यथा परिपन्थिन उत्कोचका दस्यवो वृकाः स्तेना मा विदन् तथानुतिष्ठ। यथा परदेशसेविनं त्वाम् अघायवः

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.१६) में निरूपित याज्ञिक विनियोग के अनुसार यजमान 'भद्रो मे' इस मन्त्र का वाचन करता है। सोम को सम्बोधित करते हुए इस मन्त्र का व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे साम्बसदाशिव! आप मेरे लिये कल्याणकारी हैं। हे समस्त लोकों के पालनकर्ता! आप समस्त वैकुण्ठ, कैलास आदि धामों के प्रति प्रस्थान करते हैं, अथवा समस्त भक्तों के हृदयों में गमन करते हैं। आपको दूसरों के अपकारक जन न जानें। धर्म के द्वेषी, अपकारक, दूसरों के विनाश की इच्छा रखने वाले आपको न जानें। अर्थात् हृदयों में परमेश्वर के साक्षात्कार में ये दोष बाधक हैं, यह जानकर उनका निराकरण सम्पादित करना चाहिये। हे साम्बशिव! श्येन (बाज) पक्षी के समान अत्यन्त वेग से समस्त विघ्नों की गणना न करते हुए उपासक यजमान के हृदय के प्रति आवें। वह परमेश्वर आपका तथा मेरा भी समग्र उपकरणों से युक्त स्थान है।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या तथा भावार्थ दोनों ही विसंगत होने के कारण उचित नहीं हैं। उस अर्थ के अनुसार यहां परमेश्वर अथवा जीव में से कौन वक्ता है? परमेश्वर नहीं हो सकते, क्योंकि 'नौ' अर्थात् 'तुम्हारा एवं मेरा संस्कृत यान' यह अर्थ

पापिनो मनुष्या यथा मा विदन् तथानुजानीहि। त्वं श्येनो भूत्वा तेभ्यः परापत गच्छैतान् वा परापत दूरे गमय। एवं कृत्वा यजमानस्य योग्यस्य पूज्यस्य संगमं कर्तुं गृहान् द्वीपखण्डानि देशान्तरस्थानि गच्छ, यतो मार्गे किञ्चिदपि दुःखं न स्यात्' इति। भावार्थस्तु— 'मनुष्यैरुत्तमानि विमानादीनि यानानि निर्माय तत्र स्थित्वा यथायोग्यं प्रचाल्य श्येन इव द्वीपाद्यन्तरं देशं गत्वा धनं प्राप्य तस्मादागत्य दुष्टेभ्यः प्राणिभ्यो दूरे स्थित्वा सर्वदा सुखं भोक्तव्यम्' इति, तदुभयमपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः। तथाहि—कोऽयमुपदेष्टा? परमेश्वरो जीवो वा? न तावत् परमेश्वरः, नौ तव मम च संस्कृतं यानमित्यसङ्गतेः, सर्वव्यापिनः परमेश्वरस्य यानानपेक्षणात्। न खलु जीवः, तस्योपदेष्टव्यत्वाविशेषात्। 'धामानि द्वीपान्तरस्थानानि' इत्यप्यसङ्गतम्। 'न जनमियान्नान्तमियात्' (बृ. उ. १.३.१०) इति श्रुत्या प्रत्यन्तगमनस्य निषेधात्। सर्वत्राभिगच्छन्तं चोरा मा विदन्त्वित्यप्यसङ्गतम्, भुवस्पतेर्द्वीपान्तराणि गत्वा प्रभूतधनान्याहरतोऽज्ञानासम्भवात्। किञ्च, किमेतद् वरशापादिवद् अलौकिकशक्तिकृतं चोरादिकर्तृकं भुवस्पतिविषयं ज्ञानं वार्यते, नियोगविशेषाद्वा? नाद्यः, तथानभ्युपगमात्। नान्त्यः, वस्तुतन्त्रे ज्ञाने पुरुषस्वातन्त्र्यायोगात्। किञ्च, न ज्ञानानि नियुज्यन्ते, किन्तु कर्तैव नियोक्तव्यः स्यात्, परिपरिणः परिपन्थिनो वृका इति पदानां चोरबोधकत्वे पदान्तरवैयर्थ्यापाताच्च। तेभ्यः परापत इत्यप्यसङ्गतम्, भुवस्पतेश्चोरेभ्यो दूरगमनं पलायनमेव स्यात्। यजमानस्य गृहान् पूज्यस्य द्वीपान्तरस्थगृहान् गच्छेत्याद्यपि प्रमत्तप्रलपितमेव, तथार्थग्रहणे बीजाभावात्। मनुस्तु— एतद्देशप्रसूतादग्रजन्मनो द्वीपान्तरस्था अपि मनुष्याः स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्नित्याह। त्वया तु द्वीपान्तरस्थानां सङ्गमार्थं वायुयानादिना आर्याणां वैदिकानां गमनमुच्यते। तथात्वे यजमानस्येत्येकवचनस्य किं तात्पर्यमित्यपि वक्तव्यम्। श्रुतिसूत्रविरुद्धं चैतत्।

तथाहि शतपथे—'अथ पश्चात् परिक्रम्य। अपालम्ब .... मभिपद्याह सोमाय क्रीतायानुब्रूहीति सोमाय पर्युह्यमाणायेति वाऽतो यतरथा कामयेत' (श. ३.३.४.१३) इति। शकटस्य पश्चाद्भागं गत्वा अपकृष्य आलम्ब्यत इत्यपालम्बः शकटस्य पश्चाद्भागः, तमालम्ब्य ब्रूयात्। 'अपालम्बशब्देन पश्चाद्बद्धा रज्जुरभिधीयते। ययाऽवतारेऽनः प्रवर्तमानं निवार्यते' इति कर्काचार्यः। 'पश्चाद्भागे लम्बमानं काष्ठमपालम्बः। येनोर्ध्वप्रदेशे प्रचलतः शकटस्य पर्यावर्तनं वार्यते' इति हरिस्वामिनः। सोमाय क्रीताय पर्युह्यमाणाय इति वाऽनुब्रूहि। अनुवचनविकल्पस्याभिप्रायमाह—सोमे क्रीते सत्यनन्तरं यत्कर्तव्यं तत्परिवहणमेव। तच्च क्रयानन्तरभावीत्यन्यतरोपादानेऽन्यतरस्यार्थात् सिद्धिः। ऐतरेयब्राह्मणे तु समुच्चयोपदेश उक्तः। सोमाय क्रीताय प्रोह्यमाणायानुब्रूहीत्याहाध्वर्युरिति। अयं विकल्पो न व्यवस्थितः, किन्त्वैच्छिक इत्याह—अतो यतरथेति। अतोऽनयोः पक्षयोर्मध्ये यतरथा कामयेत तथेति। कात्यायनोऽपि तथैवाह—'पश्चात् परीत्यापालम्बं गृहीत्वा सोमाय क्रीतायानुवाचयति पर्युह्यमाणायेति वा' (का. श्रौ. ७.९.१३)। अध्वर्युरनसः पश्चाद्भागे आगत्य पूर्वोक्तमपालम्बं गृहीत्वा होतारं वाचयेत।

'अथ वाचयति। भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पत इति भद्रो ह्यस्यैष भवति तस्मान्नान्यमाद्रियतेऽप्यस्य राजानः सभागा आगच्छन्ति पूर्वो राज्ञोऽभिवदति भद्रो हि भवति तस्मादाह भद्रो मेऽसीति प्रच्यवस्व भुवस्पत इति भुवनानाꣳ ह्येष पतिर्विश्वान्यभि धामानीत्यङ्गानि वै विश्वानि धामान्यङ्गान्येवैतदभ्याह मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृका अघायवो विदन्निति यथैनमन्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न विन्देयुरेवमेतदाह' (श. ३.३.४.१४)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। भद्रो मेऽसीत्यत्र भद्रशब्दस्य तात्पर्यमाह—भद्रो ह्यस्यैष भवतीति। अस्य यजमानस्य एष सोमो यस्माद्भद्रो

संगत नहीं होगा। सर्वव्यापी परमेश्वर को यान की अपेक्षा नहीं है। जीव भी वक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि उसका उपदेष्टा होना असंगत है। 'यजमान के गृहों को' इसका अर्थ 'पूज्य के दूसरे द्वीपों में स्थित गृहों के प्रति जाओ' इत्यादि करना भी असंगत है, क्योंकि इस प्रकार का अर्थ करने में कोई मूल नहीं है ॥३४॥

भवति, तस्मान्मन्त्रभाग एवमाह। यतोऽसावेव यजमानस्य भद्रकारी तस्मादन्यं सोमव्यतिरिक्तमयं यजमानो नाद्रियते आदरं न करोति। अन्यशब्दार्थं विशिनष्टि—अप्यस्य राजान इति। सभागा इत्यनेन राज्ञोऽनतिक्रमणीयत्वमुक्तम्। अपिः सम्भावनायाम्। 'मधुपर्कमाहरेद्राज्ञे चाचार्यर्त्विक्स्नातकप्रियातिथिश्वशुरमातुलानां च' इति सम्भावनीयानां मध्ये राज्ञां प्रथमतो निर्देशेन श्रैष्ठ्यावगमादितरपूज्योपलक्षकत्वेनाप्यस्य राजानः सभागाः सभाजनीया आगच्छन्ति। राज्ञ आगमनात् स्वयमप्रह्व एव सन् पूर्वस्तेभ्यः प्रागेवाभिवदति वाग्व्यवहारं करोति किमिति भद्रो हि भवति तस्माद् भद्रो मेऽसीति युक्तम्। भुवस्पत इत्यत्र भूशब्देन सर्वाण्यपि भुवनान्युपलक्षितानीति व्याचष्टे—भुवनानां ह्येष पतिरिति। धामशब्दतात्पर्यमाह—अङ्गानि वै विश्वानि धामानीति। अत्राङ्गानि ग्रहचमसादीन्येव धामानि स्थानानि, क्रयप्रदेशादागमनस्य तदर्थत्वात्। परिपरि-परिपन्थि-वृकशब्दानामवयवार्थभेदेऽपि पर्यवसितार्थमाह—यथैनमन्तरा नाष्ट्रा रक्षांसि न विन्देयुरिति।

'श्येनो भूत्वा परापतेति। वय एवैनमेतद्भूतं प्रपातयति यद्वा उग्रं तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि नान्ववयन्त्येतद्वै वयसामोजिष्ठं बलिष्ठं यच्छ्येनस्तमेवैतद्भूतं प्रपातयति यदाह श्येनो भूत्वा परापतेति' (श. ३.३.४.१५)। श्येनो भूत्वेत्यस्य तात्पर्यमाह—वय एवैनमिति। एतेन पाठेन पक्षिरूपमेव सन्तं सोमं प्रापितवान् भवति। यद्वै उग्रं भवति तन्नाष्ट्रा रक्षांसि नान्ववयन्ति हन्तुं नानुगच्छन्ति। वयसां पक्षिणां मध्ये यदोजिष्ठं बलिष्ठं च भवति तद्वै श्येनः। एतन्मन्त्रपाठेन श्येनभूतमेवौजिष्ठं बलिष्ठं च सोमं प्रपातयति यजमानस्य गृहं प्रापयति नाष्ट्रा रक्षाꣳसि च नैनं हन्तुमनुगच्छन्ति। 'अथ शरीरमेवान्ववहन्ति। यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सꣳस्कृतमिति नात्र तिरोहितमिवास्ति' (श. ३.३.४.१६)। अथ शरीरमिति। यदि प्रमादात् सोमं रक्षादिर्हन्यात्, तदानीं श्येनो भूत्वेति मन्त्रसामर्थ्याच्छ्येनीभावादुपादेयस्य सारांशस्य बाधाभावाद् हन्ता स्वशरीरमेवानुगत्य हन्ति न सोममित्यर्थः। यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतमिति स्पष्टमेवेत्याह—नात्र तिरोहितमिवेति। एवं श्रुतिसूत्रानुसारेण सोमस्य यजमानगृहप्रापणे नाष्ट्रराक्षसादिकृतबाधादिनिवारण एवास्य मन्त्रस्य पाठो विनियुक्तः। तस्मान्नात्र भुवस्पती राजा वायुयानादिनिर्माणाय नियुज्यते ॥३४॥

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तꣳ स॑पर्यत। दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य शꣳसत ॥३५॥

'शालां पूर्वेण प्रतिप्रस्थाताऽग्नीषोमीयं पशुमादाय तिष्ठति कृष्णसारङ्गं मेध्यमभावे लोहितसारङ्गम्, नमो मित्रस्येत्येनमालभ्य वाचयति' (का. श्रौ. ७.९.१८-१९)। शालां पूर्वेण प्रतिप्रस्थाता कृष्णसारङ्गं कृष्णवर्णेन कर्बुरं मेध्यं मेदुरं मत्तं तदभावे लोहितसारङ्गं मित्रस्येति मन्त्रेणैनं पशुमालभ्य वाचयति। सौरी जगती द्वादशाक्षरचतुःपादा जगती सूर्यदृष्टा। सोमोऽत्र सूर्यरूपेण स्तूयते। मित्रस्य वरुणस्येति चतुर्थ्यर्थे षष्ठ्यौ। मित्राय मितेस्त्राता मित्रः सूर्यस्तस्मै

मन्त्रार्थ—चराचर के मित्र, सबके दुःखों को दूर करने वाले सूर्य देवता के सम्मुख महान् तेजःस्वरूप प्रकाशमान, सब जगत् को दूर से ही देखने वाले, देवताओं पर अनुग्रह करने के लिये उत्पन्न हुए, प्रज्ञानघन, द्युलोक के पुत्रवत् प्रिय सूर्य देवता के लिये मैं नमस्कार करता हूँ। हमें उस सत्य ब्रह्म का भजन करना चाहिये, उसकी स्तुति करनी चाहिये॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए प्रतिप्रस्थाता यज्ञशाला के पूर्व में कृष्ण सारंग पशु को ले आवे। उसके अभाव में लोहित सारंग को लावे ॥३५॥

भाष्यसार—'नमो मित्रस्य' इस मन्त्र का प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विक् अग्नीषोमीय पशु का स्पर्श करते हुए वाचन करता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.१८-१९) की इस याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुकूल ही मन्त्रार्थ शतपथ ब्राह्मण में प्रतिपादित है।

मित्राय सूर्यरूपाय सोमाय नमोऽस्तु। कीदृशाय मित्राय? वरुणाय स्वरश्मिभिर्जगदावृणोतीति वरुणस्तस्मै तमोनिवारकाय। पुनः कीदृशाय मित्राय? चक्षसे, चष्टे इति चक्षास्तस्मै चक्षुष्मते द्रष्ट्रे। 'मैत्रं वा अहर्वारुणी रात्रिः' (तै. सं. २.२.७.३) इति रीत्या अहरभिमानिदेवाय मित्राय रात्र्यभिमानिदेवाय वरुणाय च नमः। महो महते महसे तेजोरूपाय वा देवाय द्योतमानाय। हे ऋत्विजः, तं ज्योतिष्टोमरूपमृतं सत्यमवश्यफलप्रदम्, कर्मानुष्ठायेति शेषः, सपर्यत सपर्यया परिचर्यां कुरुत। किञ्च, दूरेदृशे दूरे द्युलोकात्मके दृश्यते प्राणिभिरिति दूरदृक्, तस्मै। देवजाताय देवाद् द्योतमानात् परमात्मनो जात उत्पन्नो देवजातः, तस्मै। केतवे अक्ष्णो लक्षणरूपाय दिवस्पुत्राय द्युलोकस्य पुत्राय सुतायेव प्रियाय सूर्याय शंसत सूर्यप्रीत्यर्थं शंसनं प्रशंसनं कुरुत। यद्वा परब्रह्मरूपेणादित्यमवगम्य नमस्कारं कृत्वाऽन्येभ्यः कथयति—नमः सूर्यायेति। स्वरत्येक एवाकाश उपतापयति गच्छति वेति सूर्यः, 'स्वृ गत्युपतापयोः' तस्मै। कीदृशाय? मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे। उपलक्षणमेतद् द्यावापृथिवीनिवासिसर्वलोकस्य, 'अयं वै लोको मित्रोऽसौ वरुणः' (श. १२.९.२.१२) इति श्रुतेः। चक्षसे सर्वस्यैव जगतो द्रष्ट्रे परमेश्वररूपेण सर्वाध्यक्षाय, सर्वसाक्षिण इत्यर्थः। 'महोदेवाय तदृतꣳ सपर्यत' महते देवाय द्योतमानाय हे ब्राह्मणास्तत्सत्यं सपर्यत पूजयत। दूरेदृशे दूरे स्थितो दृश्यते प्राणिभिरिति दूरेदृक्, तस्मै। दूरे स्थितैर्वा दृश्यते। दूरे पश्यतीति वा दूरेदृक्, तस्मै। नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। दूरेऽतीतानागतवर्तमानकालिकान् प्राणिनः पदार्थांश्च पश्यतीति दूरेदृक्, तस्मै। देवजाताय देवानुग्रहार्थं जाताय। जाता देवा अस्माद्वेति देवजातस्तस्मै। 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' (पा. सू. २.२.३७) इति बहुव्रीहौ जातशब्दस्य परनिपातः। केतवे प्रज्ञारूपाय विज्ञानघनाय। 'केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्' (निघ. ३.९.१)। दिवस्पुत्राय द्युलोकात् सूर्यस्योत्पन्नत्वात्, दिवः पुरुधा त्रायत इति दिवस्पुत्रस्तस्मै दिवः पालकायेति वा। एवंविधाय सूर्याय शंसत स्तुतीः कुरुत, शस्त्राणि पठत, यागे तदपेक्षणात्, 'शंसु स्तुतौ'।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम सदाशिव, मित्राय सूर्यरूपाय वरुणाय तमोनिवारकाय तुभ्यं नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। चतुर्थ्यर्थे षष्ठ्यौ। यद्वा मित्रस्य वरुणस्य तदुपलक्षितस्य सर्वस्यैव जगतश्चक्षसे द्रष्ट्रे तुभ्यं सर्वज्ञाय परमात्मने नमः। महो महसे तेजःस्वरूपाय महतेऽपरिच्छिन्नाय। पुनः कीदृशाय? देवाय जगदुत्पत्त्यादिक्रीडाकर्त्रे तादृशाय देवाय परमात्मने सोमाय स्वयं नत्वाऽन्येभ्यो मन्त्रद्रष्टोपदिशति—हे ब्राह्मणा ऋत्विजः, तत्तोषणाय तदृतं ज्योतिष्टोमाख्यं यज्ञमनुष्ठाय सपर्यत तं पूजयत। कीदृशाय तस्मै? दूरेदृशे दूरे दुर्लभं दर्शनं यस्य तस्मै, विप्रकृष्टव्यवहितद्रष्ट्रे वा, अतीतादिद्रष्ट्रे वा। देवजाताय देवानामनुग्रहाय जाताय लीलाविग्रहधारिणे देवोत्पत्तिहेतवे वा केतवे विज्ञानानन्दस्वरूपिणे दिवस्पुत्राय द्युलोकादेः पुरुधा त्रात्रे सूर्याय सूर्यार्थं शंसत स्तुतिं कुरुतेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं यन्मित्रस्य वरुणस्य दिव ऋतं सत्यं स्वरूपमस्ति, तद् यूयमपि सपर्यत। यस्य महो महसे दूरदृशे चक्षसे देवजाताय केतवे देवाय पुत्राय पवित्रकर्त्रे सूर्याय परमात्मने वयं नमस्कुर्मः, तथा

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है — हे साम्बसदाशिव! मित्ररूप तथा तमोनिवारक आपके लिये नमस्कार है। अथवा मित्र-वरुणादि सम्पूर्ण जगत् के द्रष्टा हे सर्वज्ञ परमात्मा! आपको नमस्कार है। तेजःस्वरूप, अपरिच्छिन्न, जगदुत्पत्त्यादि क्रीडा करने वाले परमात्मा को नमस्कार है। हे ऋत्विग्गण! आप लोग उस परमेश्वर की सन्तुष्टि के लिये यज्ञों द्वारा उसकी पूजा करें। दुर्लभ दर्शन वाले अथवा अतीन्द्रिय दृष्टि रखने वाले देवताओं की कृपा के लिये अवतार धारण करने वाले, विज्ञानानन्द स्वरूप, द्युलोकादि की सर्वविध रक्षा करने वाले उस तेजःस्वरूप के लिये स्तुति करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा कथित प्रथम अन्वय में परमेश्वर की स्तुति है तथा द्वितीय में सूर्यलोक की स्तुति है। यह परस्पर विसंगति के कारण अनुपयुक्त है। प्रसंगानुगत 'नमः' शब्द का अत्र अर्थ युक्त नहीं है। सूर्य के पक्ष में 'सत्कार करना' यह अर्थ

यूयमपि शंसत कुरुत इत्येकः, नमः सत्करणमन्नं वा, नम इत्यन्ननामसु पठितम्। मित्रस्य सर्वसुहृदः प्रकाशकस्य वा वरुणस्य श्रेष्ठस्य चक्षसे सर्वद्रष्टुर्दर्शयितुर्वा, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। महो महसे, देवाय दिव्यगुणाय। तत् चेतनस्वरूपं प्रकाशस्वरूपम् ऋतं सत्यं सपर्यत परिचरत। दूरेदृशे दूरे स्थितान् दर्शयति तस्मै। देवजाताय दिव्यगुणैः प्रसिद्धाय। केतवे विज्ञानस्वरूपाय ज्ञापकाय वा। दिवः प्रकाशस्वरूपस्य पुत्राय पवित्रकारकाय अग्निपुत्राय वा सूर्याय चराचरात्मने परमैश्वर्यहेतवे शंसत प्रशंसत इति पदार्थः। हे मनुष्याः, यथा वयं यन्मित्रस्य वरुणस्य दिवः प्रकाशस्वरूपस्य सूर्यलोकस्य यथार्थस्वरूपं सेवेमहि तद् यूयमपि विद्यया सपर्यत। यथा वयं यस्मै चक्षसे देवजाताय केतवे दिवोऽग्नेः पुत्राय दूरेदृशे महो देवाय सूर्याय लोकाय प्राप्त्यर्थं प्रवर्तेमहि,तथा यूयमपि प्रवर्तध्वमिति द्वितीयोऽन्वयः। प्रथमान्वये परमेश्वरस्य स्तुतिः, द्वितीये सूर्यलोकस्य' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः, नम इत्यस्य प्रकृतेऽन्नार्थतानुपपत्तेश्च। सूर्यपक्षे सत्करणमप्यसङ्गतम्, त्वया तस्य जडत्वाभ्युपगमात्, जडपूजाया अपसिद्धान्ताच्च। दिव्यगुणैः प्रसिद्धायेत्यप्यसङ्गतम्, जातपदस्य प्रसिद्धार्थतासङ्गतेः। दिवस्पुत्रायाग्निपुत्रायेत्यप्यसङ्गतम्, तस्याग्निवाचकत्वे प्रमाणाभावात्। द्योतनात्मकत्वं तु विद्युत्सूर्यादिषु व्यभिचरति। यथा वयं तथा यूयमित्यादिलुप्तोपमालङ्काराश्रयणमपि निर्मूलमेव, श्रुतिसूत्रविरोधाच्चेति।

शतपथे तु—'अथ सुब्रह्मण्यामाह्वयति। यथा येभ्यः पक्ष्यन् स्यात्तान् ब्रूयादित्यहे वः पक्ताऽस्मीत्येवमेवैतद् देवेभ्यो यज्ञं निवेदयति सुब्रह्मण्योꣳ३ सुब्रह्मण्योꣳ३मिति ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः' (श. ३.३.४.१७)। देवानामाह्वानसाधनो मन्त्रोऽत्र ब्रह्मपदेनोच्यते। शोभनं ब्रह्म सुब्रह्म, तदर्हतीति सुब्रह्मण्या काचन देवता, तामाह्वयति सुब्रह्मण्यो३मिति निगदेन त्रिराह्वानम्। यथा लोके येभ्योऽर्थाय पक्ष्यन् पाकं कर्तुमिच्छन् भवति तान् ब्रूयाद् इत्यहे वः पक्तास्मीति। इतो द्वितीये तृतीये वा दिवस इत्येवंरूपेण तथैव देवेभ्यो वक्तव्यम्। ननु मन्त्रेणाह्वानेऽपि परमैश्वर्यशाली इन्द्रः कथमेष्यतीति तत्राह—ब्रह्म देवान् प्रच्यावयतीति, 'वायवायाहि दर्शत' (ऋ. सं. १.२.१) इति मन्त्रवर्णात्। सवनत्रयापेक्षया यज्ञस्य त्रिवृत्त्वम्। 'इन्द्रागच्छेति। इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रागच्छेति हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेषवृषणश्वस्य मेने गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत् प्रमुमोदयिषति' (श. ३.३.४.१८)। इन्द्रागच्छेत्यादिभिरिन्द्रस्याह्वानम्। सवितैवाहनि लीयमानतया रात्रेरहल्यापदवाच्यायाः क्षयात्मकजरणहेतुत्वाज्जीर्यत्यस्मादित्यहल्यायै जार इन्द्र उच्यते। पुराणप्रसिद्धाहल्यायाः परस्त्रियः सम्बन्धेन वा देवराजस्याहल्याजारत्वप्रसिद्धिः। तस्य ब्रह्मविद्याप्रशंसार्थमुच्यते—'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम्, अवाङ्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्। तस्य मे तत्र न लोम च नामीयत' (कौ. ब्रा. उ. ३.१) इति ब्रह्मविद्याप्रभावेण निषिद्धादपि कर्मणस्तस्य लोमापि च न विकृतमिति तदीयतथाचरणवर्णनापि स्तुतिरेव। 'कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेति' (श. ३.३.४.१९)। यान्येव चरणानि चरित्राणि पूर्वपक्षापरपक्षलक्षणाभ्यामभिमतस्य वस्तुनो हरणं मेधातिथेः काण्वायनेर्मेषो भूत्वा हरणम्, तैरेवैनं प्रमुमोदयितुमिच्छति, 'देवा ब्रह्माण आगच्छतेति' (श. ३.३.४.२०)। तद्देवांश्च ब्राह्मणांश्चात्रास्मिन् यज्ञे द्विविधैरुभयैर्देवैर्ब्राह्मणैश्च यष्टव्यत्वेन याजकत्वेनार्थः प्रयोजनं यज्ञसिद्धिर्यजमानस्येति द्विविधानामपि देवानामाह्वानं भवति। 'अथ प्रतिप्रस्थाता। अग्रेण शालामग्नीषोमीयेण पशुना प्रत्युपतिष्ठतेऽग्नीषोमौ वा एतमन्तर्जम्भ आदधाते यो दीक्षत आग्नावैष्णवꣳ ह्यदो दीक्षणीयꣳ हविर्भवति यो वै विष्णुः सोमः स हविर्वा एष देवानां भवति यो दीक्षते तदेनमन्तर्जम्भ आदधाते तत्पशुनात्मानं निष्क्रीणीते' (श. ३.३.४.२१)। अथ सुब्रह्मण्याह्वानानन्तरं प्रतिप्रस्थाताऽग्नीषोमीयेण पशुना

भी असंगत है, क्योंकि उनके मत में सूर्य जड है तथा इस प्रकार का अर्थ करने पर जडपूजा का सिद्धान्त स्वीकार करना होगा, जो कि उनको अभीष्ट नहीं है। 'दिवस्पुत्राय' का अर्थ 'अग्निपुत्र के लिये' करना भी असंगत है, क्योंकि इस शब्द के अग्निवाचकत्व में कोई प्रमाण नहीं है ॥३५॥

प्रत्युपतिष्ठते। प्रतिप्रस्थाता शालायाः पुरो देशेऽग्नीषोमीयं पशुमादाय गच्छतः सोमस्याभिमुखं स्थापयेत्। अग्नीषोमीयस्यावस्थितिं यजमानस्यात्मनिष्क्रयरूपेण प्रशंसति—'यो दीक्षते अग्नीषोमौ वेति। एतं दीक्षितमन्तर्जम्भे, अन्नखादनस्थानं जम्भः, दन्तपङ्क्त्योरन्तराले आदधाते। तदेवोपपादयति—आग्नावैष्णवं ह्यद इति। यस्मादस्य यजमानस्य अदो विप्रकृष्टकाले दीक्षणीयेष्टौ हविरभूत्। अस्तु किं तत इत्याह—तत्र विष्णुर्योऽस्ति स सोमः। सोमस्य यागनिर्वर्तकत्वेन यज्ञत्वम्। यज्ञस्य च विष्णुत्वं प्रसिद्धमेव, 'यज्ञो वै विष्णुः' (श. १.१.२.१३) इति श्रुतेः। दीक्षा संस्कारः। दीक्षणीयेष्टिसंस्कृतत्वादेव दीक्षणीयेष्टिदेवतयोश्च हविश्च एनं जम्भे स्थितं यजमानम्, अतो जम्भाद्विमोक्षायाग्नीषोमीयं पशुं दत्वा आत्मनिष्क्रयणं कृतवान् भवतीत्यर्थः।

'तद्धैके। आहवनीयादुल्मुकमाहरन्त्ययमग्निरयꣳ सोमस्ताभ्याꣳ सहसद्भ्यां निष्क्रेष्यामह इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात् यत्र वा एतौ क्व च तत्सहैव' (श. ३.३.४.२२)। अयमुल्मुकरूपोऽग्निः, अयं सोमः, ताभ्यां सकाशादात्मानं निष्क्रेष्यामह इत्युल्मुकस्याहर्तुरभिप्रायः। अमुं पक्षं निराकरोति—तदु तथा न कुर्यादिति। तर्हि कथं सहभाव इति, तत्राह—यत्र वा एतौ क्व च तत्सहैव। एतौ अग्नीषोमौ यत्र क्व च स्थाने वर्तेते तत्तादृद्रूपा स्थितिरेव सहभावः। 'स वै द्विरूपो भवति। द्विदेवत्यो हि भवति देवतयोरसमदे कृष्णसारङ्गः स्यात्' (श. ३.३.४.२३)। द्वैरूप्यसिद्धयेऽपेक्षितौ वर्णावाह—कृष्णसारङ्गः स्यादित्याहुरिति। देवतयोरसमदेऽविरोधाय। सारङ्गः शबलवर्णः। कृष्णत्वं शबलत्वमेतयोरग्नीषोमयो रूपतममिवात्यन्तमभिमतं रूपम्, 'आग्नेयः कृष्णग्रीवः' (वा. सं. २४.१), 'कृष्णग्रीवा आग्नेयाः' (वा. स. २४.६,९,१४) इत्यादावग्नेः कार्ष्ण्यसम्बन्धश्रवणात् तदेव तदुचितं रूपम्। सारङ्गरूपस्य सोमयोग्यत्वमपि श्राद्धावल्यां द्रष्टव्यम्। तदलाभे वा लोहितसारङ्गः, लोहितस्याग्निवर्णसाम्यं प्रसिद्धम्। 'तस्मिन् वाचयति नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय... शꣳसतेति नम एवास्मा एतत्करोति मित्रधेयमेवैनेनैतत्कुरुते' (श. ३.३.४.२४)। तस्मिन् कृष्णसारङ्गे, आगत इति शेषः। 'नमो मित्रस्येत्येनमालभ्य वाचयति' (का. श्रौ. ७.९.१९) इति कात्यायनः। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। अनेन मन्त्रेणास्मानेवं करोति, एनं मित्रधेयमेव करोति ॥३५॥

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥३६॥

'समीपेऽन उपस्थाप्योत्तम्भनेनोपस्तभ्नाति वरुणस्योत्तम्भनमिति' (का. श्रौ. ७.९.२२)। शालायाः समीपे शकटमुपस्थाप्य उत्तम्भनकाष्ठेन निरुणद्धि वरुणस्योत्तम्भनमिति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु—उत्तम्भनम्, उत्तभ्यते शक-

---

मन्त्रार्थ—हे काष्ठाभिमानी देवता! तुम वरुण देवता की प्रीति के लिये इस शकट में वस्त्र से बँधे सोम के उन्नायक हो। हे शम्या! तुम दोनों वरुण को रोकने वाली हो। हे आसनादि! तुम वरुण देवता की प्रीति के लिये यज्ञ की प्रीति का स्थान हो। हे कृष्णाजिन! तुम वरुण की प्रीति के लिये अथवा कपड़े में बंधे सोम के यज्ञ के निमित्त बैठने के स्थान हो। हे सोम! तुम वरुण देवता की प्रीति के लिये लाये गये हो। तुम यज्ञसंबन्धी आसनादि पर बिछे हुए मृगचर्म पर आराम से बैठो॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए यजमान यज्ञशाला के नजदीक शकट को पूर्वमुख या उत्तरमुख खड़ा करता है और बैलों को जुए से अलग कर देता है। बाद में आसनादि पर मृगचर्म बिछा कर उस पर सोमवल्ली की गांठ को रखता है॥३६॥

भाष्यसार — कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.२२-२७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'वरुणस्य' इत्यादि कण्डिकागत मन्त्रों का शकट के स्थापन, सोम को स्थापित करने के लिये गूलर की आसन्दी (मंचिका) के आहरण एवं स्पर्श, उस मंचिका (चौकी) पर कृष्ण मृगचर्म के आस्तरण, सोम के स्थापन-इन कार्यों में विनियोग है।

टस्य मुखाग्रमुन्नतत्वेन स्थाप्यते यस्मिन् काष्ठे तत्काष्ठमुत्तम्भनम्। हे काष्ठ, त्वं वरुणस्य व्रियते वेष्ट्यते वस्त्रादिनेति वरुणः सोमः। वरुणदैवतत्वाच्च पञ्चस्वपि मन्त्रेषु वरुणपदेन सोमो गृह्यते। उपचाराच्च सायणाचार्येण शकटोऽपि वरुणशब्देन गृहीतः। वरुणस्य बन्धकारित्वाद् वस्त्रादिबद्धः सोमोऽपि वरुणशब्देनोच्यते। तस्य शकटे स्थितत्वाद् वरुणशब्देन शकटमुपचर्यते। यद्वा वरुणस्य वस्त्रबद्धस्य सोमस्यैवोत्तम्भनमसि न शकटस्य। उपनह्य स्थापितस्य सोमस्य त्वमुत्तम्भनमसि। यद्यप्युपस्तम्भनकाष्ठस्य शकटेनैव सम्बन्धः, तथापि शकटस्योत्तम्भकत्वात् तद्द्वारा वरुणस्योपनह्य तत्र स्थापितस्य सोमस्याप्युपस्तम्भकत्वमिति। 'शम्ये चोद्वृहति वरुणस्य स्कम्भसर्जनी-स्थेति' (का. श्रौ. ७.९.२३) इति शम्ये युगकीलके ऊर्ध्वं निष्काशयेत्। वरुणस्य शकटस्य युगे बद्धयोर्बलीवर्दयो-र्गलस्य बहिर्भागे काष्ठनिर्मिते शम्ये स्थाप्येते। ताभ्यां बलीवर्दयोरितस्ततो गमननिवारणं भवति। ते ततः स्कम्भशब्देनोच्येते। हे शम्ये, वरुणस्य शकटस्य बद्धस्य सोमस्य वा युवां स्कम्भनी स्कम्भितुमवरोद्धुं सृज्यमाने भवथः। 'स्कम्भ रोधने, सर्ज अर्जने'। स्कम्भनं स्कम्भो रोधः, सर्ज्यते क्रियते याभ्यां ते स्कम्भसर्जन्यौ। विभक्तेः पूर्वसवर्णः। यद्वा स्कम्भशब्देन युगमुच्यते, तस्य सर्जनी वशीकरण्यौ वरुणस्य युवां हे शम्यौ स्कम्भसर्जनी स्थो भवथः। 'औदुम्बरीमासन्दीं नाभिदघ्नामरत्निमात्राङ्गीमूतामाहरन्ति चत्वारः, अभिमृशत्येनां वरुणस्य ऋतसदन्यसीति' (का. श्रौ. ७.९.२४-२५), 'अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थातृ-नेष्टृ-नेतारः' (आप. श्रौ. १०.२९.७)। नाभिप्रमाणपादयुतामरत्नि-मात्राङ्गीं मुञ्जरज्ज्वा व्यूतामौदुम्बरीमासन्दीं मञ्चिकामानयेयुः। एनामासन्दीं हस्तेन स्पृशति यजमानो वरुणस्य ऋतसदन्यसीति मन्त्रेण। वरुणशब्देनात्र बद्धः सोम उपलक्ष्यते। हे आसन्दि, त्वं वरुणस्य वस्त्रादिना बद्धस्य सोमस्य सम्बन्धिनी ऋतसदनी ऋतं यज्ञस्तन्निष्पत्त्यर्थमुपवेशनस्थानभूतासि। ऋताय यज्ञाय सद्यत उपविश्यते यस्यां सा ऋतसदनी, 'करणाधिकरणयोश्च' (पा. सू. ३.३.११७) इति ल्युटि रूपम्। 'कृष्णाजिनमस्यामास्तृणाति वरुणस्य ऋतसदनमसीति' (का. श्रौ. ७.९.२६)। हे कृष्णाजिन, त्वं वरुणस्य बद्धस्य सोमस्य सम्बन्धि ऋतसदन-मसि यज्ञार्थमुपवेशनस्थानमसीति। 'तस्मिन् सोमं निदधाति वरुणस्य ऋतसदनमासीदेति' (का. श्रौ. ७.९.२७)। तस्मिन् कृष्णाजिने हे सोम, त्वं वरुणस्य वस्त्रबद्धस्य तव सम्बन्धिनीमृतसदनीं यज्ञार्थमुपवेशनस्थानभूतामासन्दीं प्राप्य आसीद सुखेनोपविश।

अध्यात्मपक्षे तु—'हे सोम परमेश्वर, त्वं वरुणस्य वरणीयस्य मोक्षादेरुत्तम्भनमसि धारकोऽसि। हे चितिप्रकृती, युवां स्कम्भस्य दोषाणामवरोधाय सृष्टे स्थः। उभयोरनादित्वेऽपि तत्तदुपाधिभिः सृष्टत्वव्यवहारः। यद्वा स्कभ्नोति निगृह्णाति सर्वान् दोषान् सर्वाणि कर्माणि सर्वान् संशयानिति स्कम्भो ब्रह्मात्मसाक्षात्कारः, तस्य सर्जन्यौ निर्मात्र्यौ स्थः, चरमवृत्तिरूपस्य ब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्योभयात्मकत्वात्। हे चिते, त्वं वरुणस्य वरणीयस्य मोक्षस्य ऋताय अबा-धितपदप्राप्तये सद्यत उपविश्यते तादात्म्येन यस्यां सा ऋतसदनी असि। हे जीवात्मन्, त्वं ऋतस्य **ब्रह्मणः सत्यस्य** सदनमावासस्थानमसि, प्रत्यक्चैतन्याभेदेन तस्य परमानन्दात्मनाऽभिव्यञ्जनात्। हे ब्रह्मन्, ऋतसदन**मृतस्य सत्यादे-र्गुणसमूहस्य सदनं जीवात्मानमभिलक्ष्य तदभेदेन चासीद प्रादुर्भूय स्थिरो भव।**

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है — हे साम्बपरमेश्वर! आप प्राप्तव्य वांछित मोक्षादि के धारक हैं। हे चिति एवं प्रकृति शक्तियों, आप दोनों दोषों के अवरोध के लिये बनाई गई है अथवा ब्रह्मात्मसाक्षात्कार की निर्मात्री हैं। हे चिति! तुम प्राप्तव्य मोक्ष की प्राप्ति की स्थानभूता हो। हे जीवात्मा! तुम सत्य ब्रह्म के आवासस्थान हो! हे ब्रह्मन्! आप सत्यादि गुणसमूह के स्थान जीवात्मा के प्रति सुस्थिर हों।

श्रीदयानन्दस्तु—'वरुणस्य वरितुं प्राप्तुं योग्यस्य श्रेष्ठस्य जगत उत्तम्भनम् उत्कृष्टं बन्धनमसि, अस्ति वा। वरुणस्य वायोः, 'वरुण इति पदनामसु' (निरु. ५.४), अनेन ज्ञानप्राप्तिगमनवतोऽर्थस्य ग्रहणम्। स्कम्भसर्जनी या क्रिया स्कम्भानामाधारकाणां सर्जनी उत्पादिका सा स्थः स्तः। वरुणस्य सूर्यस्य ऋतसदनी या क्रिया ऋतानां जलानां सदनी गमनागमनकारिणी असि, अस्ति वा। वरुणस्य वरपदार्थसमूहस्य ऋतसदनम् ऋतानां यथार्थानां पदार्थानां सदनं स्थानम्। वरुणस्य उत्कृष्टगुणसमूहस्य ऋतसदनं यदृतानां सत्यानां बोधानां स्थानम्, तत आसमन्तात् सीद प्रापयसि, प्रापयति वा' इत्यादिकम्, तदपि मोहमूलकमेव, शब्दमर्यादातिक्रमणात्। तथाहि—वरितुं प्राप्तुं योग्यस्य जगतो वरुणत्वे मोक्षाकाङ्क्षानुपपत्तेः। परमेश्वरं सम्बोध्य हे परमेश्वर, त्वं वरुणस्य श्रेष्ठस्य जगत उत्कृष्टं प्रतिबन्धनमसीति निरर्थकं वचः। नहीश्वरः श्रेष्ठस्य जगतः प्रतिबन्धनं भवति, प्रत्युत निकृष्टस्यैव प्रतिबन्धनमस्ति। तथैव वरुणपदस्य पदनामत्वेऽपि ज्ञानप्राप्तिगमनवान् पदार्थः कथं गृह्येत? यदि तु 'वरुणपदेन वायुपदं गृह्यते, वायुपदेन 'वा गतिगन्धनयोः' इति निष्पन्नेन गत्यर्थतायां प्राप्तिज्ञाने गृह्येते' इति, तदपि रिक्तं वचः, इन्द्रपदादिग्रहणे विनिगमनाविरहात्। एवं 'हे जगदीश्वर, या क्रिया स्कम्भानामाधारकाणां सर्जनी सा त्वमसि' इत्यप्यसङ्गतम्, ईश्वरस्य क्रियारूपत्वेऽनित्यत्वापत्तेः। क्रियायाः साश्रयत्वनियमादीश्वरस्याप्यन्याश्रयत्वापत्तिः। तथात्वे आधेयानां सर्जनी काचिदन्या क्रिया वक्तव्या। सा च नोपपद्यते, परमेश्वरस्यैव सर्वोत्पादकत्वाङ्गीकारविरोधात्। यद्यपि 'वरुण एव सविता' (जै. उ. ४.२७.३), 'स वा एष अपः प्रविश्य वरुणो भवति' (कौ. १८.९), 'वरुणो वै देवानां राजा' (श. १२.८.३.११) इत्यादिभिर्वरुणपदस्य सूर्यादयोऽर्थाः सम्भवन्ति, तथापि सूर्यस्य ऋतानां जलानां सदनी गमनागमनकारिणी क्रियापि परमेश्वर एव चेत्, तदा तस्यानेकरूपत्वापत्तिः स्यात्। तथात्वे तवापसिद्धान्तापातः, परमात्मनः सर्वरूपत्वेऽद्वैतप्रसक्तिश्च। एवं वरपदार्थसमूहस्य ऋतानां यथार्थानां पदार्थानां सदनं स्थानमसीत्यप्यपव्याख्यानम्, वरपदार्थेषु वरपदार्थान्तरासम्भवात्। नहि वरपदार्थेषु यथार्थाः पदार्था अन्ये सम्भवन्ति, तथात्वे वरपदार्थानामयथार्थपदार्थत्वापातात्। सीदेत्यस्य प्रापयसीत्यर्थोऽप्यसङ्गतः, लक्षणायां बीजाभावात्। द्वितीयान्वयेऽपि 'यो वरुणस्योत्तम्भनं धारकोऽस्ति, या वरुणस्य स्कम्भसर्जनी, या च वरुणस्य ऋतसदनी क्रिये स्थः, तयोर्धारकोऽस्ति' इत्यत्र स क इति न निरूपितम्, ईश्वरस्याभिन्ननिमित्तोपादानकत्ववादिरीत्या सर्वात्मत्वे सम्भवत्यपि तदन्यस्य तदनुपपत्तेः। किञ्च, 'स्थः' इति क्रियापदं 'स्कम्भसर्जनी' इति पदेन सम्बद्ध्यते, न ऋतसदनीति पदेन, 'ऋतसदन्यसीति' विरोधात्। तस्मात् सर्वथा पदपदार्थसम्बन्धबोधविधुरस्यैव तादृशं व्याख्यानं शोभते। एवं पदे पदे स्खलन्नपि परमाचार्याणामुव्वटसायणमहीधराणां दोषाभासानुद्घाटयन्न जिह्रेतीत्याश्चर्यमेव।

शतपथश्रुतिस्तु सिद्धान्तसम्मतमेव व्याख्यानं समर्थयते। तथाहि—'अथाध्वर्युरारोहणं विमुञ्चति। वरुणस्योत्तम्भनमसीत्युपस्तम्भनेनोपस्तभ्नाति वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थ इति शम्ये उद्वृहति स यदाह वरुणस्य

स्वामी दयानन्द का अर्थ शब्दों की मर्यादा का अतिक्रमण करने के कारण अज्ञानजन्य ही है। उस अर्थ के अनुसार वरणीय प्राप्तव्य जगत् के वरुण होने पर मोक्ष की आकांक्षा ही संगत नहीं होती। परमेश्वर को सम्बोधित करते हुए—'हे परमेश्वर, आप वरुण अर्थात् श्रेष्ठ जगत् के उत्कृष्ट प्रतिबन्धक हैं' यह वाक्यरचना निरर्थक है, क्योंकि ईश्वर श्रेष्ठ जगत् का प्रतिबन्धक नहीं होता, अपितु निकृष्ट का ही प्रतिबन्धक है। इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रत्येक पद पर त्रुटि करते हुए भी प्राचीन आचार्यों—उव्वट, सायण, महीधर आदि के वृथा दोषों का उल्लेख करते हुए इनको संकोच नहीं होता, यह आश्चर्य ही है। शतपथ श्रुति भी हमारे सिद्धान्तसम्मत व्याख्यान का ही समर्थन करती है ॥३६॥

स्कम्भसर्जनी स्थ इति वरुण्यो ह्येष एतर्हि भवति यत्सोमः क्रीतः' (श. ३.३.४.२५)। अथाध्वर्युरारोहणमारुह्यतेऽस्मिन्नित्यारोहणं शकटं विमुञ्चति बलीवर्दस्कन्धाभ्यां शकटयुगात् शम्ये ऊर्ध्वं निष्काश्य बलीवर्दौ पृथक्कृत्य शकटाग्रमुपस्तम्भनेनोपस्तभ्नाति। उपस्तभ्यते प्रतिबध्यत इत्युपस्तम्भः शकटाग्राधारकाष्ठम्, तेनोपस्तभ्नाति शकटाग्रम्। हे काष्ठ, त्वमुपनह्य स्थापितस्य सोमस्योत्तम्भनमसि शकटस्योत्तम्भकत्वात् तद्द्वारा वरुणस्याप्युत्तम्भकत्वमिति। 'हे शम्ये' इति द्विवचनेन सम्बोध्य 'स्कम्भसर्जनी स्थ' इति शम्ययोः समन्त्रकमुद्धरणं विधत्ते—वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः। वरुणस्य सोमस्य तदाश्रयभूतस्य शकटस्याङ्गस्य यत्स्कम्भनं तस्य सर्जन्यौ स्रष्ट्र्यौ स्थः, तस्यावरोधार्थं वा सृष्टे स्थः। तादृश्यौ युवामुद्गृह्णामीत्यर्थः। ततः 'स्थः' इति द्विवचनान्तक्रिया सङ्गच्छते। एतेन स्कम्भसर्जनी आधारकाणामुत्पादिका क्रियेत्यादिव्याख्यानमज्ञानमूलकमेव। 'वरुण्यो ह्येष एतर्हि भवति यत्सोमः' (श. ३.३.४.२५) (एतस्मिन्नवसरे क्रीतावसरे सोमो वरुण्यो भवति) इति श्रुत्या क्रीतस्य वाससा वेष्टितस्य सोमस्य वरुण्योक्त्या मन्त्रे वरुणपदेन सोमो गृह्यते। एतेन 'वरुणपदेन श्रेष्ठं जगत्, वायुर्वा सूर्यो वा, उत्कृष्टगुणसमूहः श्रेष्ठपदार्थसमूहो वा' इत्यादिव्याख्यानमप्यपव्याख्यानमेव मन्तव्यम्, स्वेच्छाचारमूलकत्वात्।

'अथ चत्वारो राजासन्दीमाददते। द्वौ वा अस्मै मानुषाय राज्ञ आददाते अथैतां चत्वारो योऽस्य सकृत् सर्वस्येष्टे' (श. ३.३.४.२६)। कात्यायनादिसूत्राणि ब्राह्मणानुसारीण्येव। तेष्वप्रामाण्यशङ्कोत्थापनमप्यनभिज्ञतामूलकमेव। चत्वारोऽत्राध्वर्युप्रतिप्रस्थात्रादयोऽध्वर्युवर्ग्या एव। तथा चापस्तम्बः—'तां सर्वेऽध्वर्यवोऽग्रेण प्राग्वंशं राजन्योद्गृह्यमान उद्गृह्णन्ति' (आप. श्रौ. १०.२९.७)। व्यतिरेकप्रदर्शनमुखेन ऋत्विक्चतुष्ट्वं प्रशंसति—द्वौ वेति। मानुषाय राज्ञ आन्दोलिकां द्वौ पुरुषा आददाते। योऽस्य प्रतीयमानस्य सर्वस्यैव जगतः सकृद् उपायेनैव ईष्टे ईश्वरो भवति। अथ एतामेतदीयां सोमसम्बन्धिनीमासन्दीं चत्वार आददते।

'औदुम्बरी भवति। अन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरी भवति' (श. ३.३.४.२७)। आसन्द्या औदुम्बरीत्वविधानं प्रशंसति—औदुम्बरीति। 'देवा इषमूर्जं व्यभजन्त' (ऐ. ब्रा. ५.२४)। अन्नमूर्क्, ऊर्गुदुम्बरो भवति। तस्मादन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै वशीकाराय औदुम्बरी आसन्दी भवति। नन्वन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै इत्युदुम्बरस्य फलविधानम्, कुतः? 'अवरुद्ध्यै' इति चतुर्थ्या फलत्वप्रतिभानादिति चेन्न, औदुम्बरी भवतीत्यत्र वर्तमानव्यपदेशेन विधिप्रत्ययाभावेन विध्यभावात्। किन्त्वर्थवादेन विधिः कल्पनीयः, औदुम्बरस्य विधातुमशक्यत्वात् तत्फलत्वानुपपत्तेः। न च फलं स्तुतिं चार्थवाद एव सम्पादयत्विति वाच्यम्, वाक्यभेदप्रसङ्गात्। तेन स्तावकमेवेदं वचनम्। 'नाभिदघ्ना भवति। अत्र वा अन्नं प्रतितिष्ठत्यन्नꣳ सोमस्तस्मान्नाभिदघ्ना भवत्यत्रो एव रेतस आशयो रेतः सोमस्तस्मादन्नदघ्ना भवति' (श. ३.३.४.२८)। नाभिप्रमाणा आसन्दी। 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (पा. सू. ५.२.३७) इति दघ्नञ्प्रत्ययः। अत्रेति पदेन नाभेरभिनयः। कुत एतदिति तत्राह—अत्र वान्नं प्रतितिष्ठतीति। नन्वन्नस्य प्रतिष्ठितत्वेऽपि सोमस्य किमायातमिति चेत्तत्राह—अन्नं सोम इति। सोमस्याप्यन्नत्वात्तस्य नाभिदघ्नायामासन्द्यां प्रतिष्ठितत्वं युक्तमेव। प्रकारान्तरेण नाभिदघ्नत्वं प्रशंसति—अत्रो एव रेतस इति। अत्रो अत्रैव। नाभावेव रेतस आशयो भवति। सोमोऽपि रेत एव। तस्मादपि नाभिदघ्ना सा युक्ता। 'तामभिमृशति। वरुणस्य ऋतसदन्यसीत्यथ कृष्णाजिनमास्तृणाति वरुणस्य ऋतसदनमसीत्यथैनमासादयति वरुणस्य ऋतसदनमासीदेति स यदाह वरुणस्य ऋतसदनमासीदेति वरुण्यो ह्येष एतर्हि भवति' (श. ३.३.४.२९)। तस्या अभिमर्शनं समन्त्रकं विधत्ते—तामभिमृशतीति। तामासन्दीम्। कृष्णाजिनमास्तृणाति। हे आसन्दि, त्वं वरुणस्य ऋतसदनम-

सीति, ऋतमिति यज्ञनाम, 'सत्यं वा यज्ञं वा' (निरु. ४.१९), यज्ञार्हं स्थानमसीत्यर्थः। आसन्दीवत् कृष्णाजिनस्य सोमासादनार्हत्वाद् आसन्दीस्पर्शनमन्त्र एव कृष्णाजिनस्पर्शेऽपि विनियुक्तः। सोमासादनमन्त्रे त्वासीदेति विशेषः। अत्रापि स यदाह—वरुणस्य ऋतसदनमिति वरुण्यो ह्येष एतर्हीत्यपि प्राग्वद् व्याख्येयम् ॥३६॥

या ते धामा॑नि ह॒विषा॒ यज॑न्ति॒ ता ते॒ विश्वा॑ परि॒भूर॑स्तु य॒ज्ञम्।
गय॒स्फान॑: प्र॒तर॑णः सु॒वीरोऽवी॑रहा॒ प्रच॑रा सोम॒ दुर्या॑न् ॥३७॥

इति वाजसनेयसंहितायां चतुर्थोऽध्यायः ॥

'शालां प्रवेशयन्ति दीक्षितसञ्चरेण, या त इति वाचयति' (का. ७.९.२८-२९)। आसन्दीस्थं सोमं पूर्वोक्तेन यजमानसञ्चरेण नयेयुरध्वर्यवः। तदानीं या त इति मन्त्रं वाचयति यजमानमध्वर्युः। सोमदेवत्या त्रिष्टुप्। गौतमस्यार्षम्। हे सोम, ते तव या यानि प्रातःसवनादीनि स्थानानि, प्राप्येति शेषः। हविषा यजन्ति ऋत्विजस्त्वदीयरसरूपेण हविषा यागं कुर्वन्ति, अतो यज्ञमभिलक्ष्येति शेषः। ते तव सम्बन्धीनि ता तानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि स्थानानि परिभूरस्तु भवान् परितः प्राप्तवान् भवतु, यत्र ऋत्विजो यजन्ति तानि स्थानानि त्वं प्राप्नुहि। यद्वा—ऋत्विजो यानि धामानि प्राप्य यजन्ति तानि सर्वाणि ते तव यज्ञं परिभूरस्तु यज्ञमभिलक्ष्य परितो भवितॄणि यज्ञव्यापकानि सन्तु। किञ्च, गयस्फानो गयान् गृहान् स्फाययति पशुपुत्रहिरण्यादिभिर्वर्धयति यः स गयस्फानः, 'गय इति गृहनामसु' (निघ. ३.४.१), 'स्फायी वृद्धौ', गृहाभिवर्धकः। प्रतरणः प्रतारयति यज्ञपारं प्रापयतीति प्रकर्षेण यज्ञपारं प्रत्यस्मांस्तारयिता, यद्वा प्रकर्षेण तरन्त्यापदो येन स प्रतरणः। सुवीरः शोभनास्त्वत्प्रसादाल्लब्धा वीरा अस्मत्पुत्रपौत्रादयो यस्य स सुवीरस्त्वम्। अवीरहा यो वीराणां महतां पालकः। हे सोम, यथोक्तगुणयुक्तः सन् दुर्यान् गृहान् प्रचर प्राप्नुहि। 'दुर्या इति गृहनामसु' (निघ. ३.४.९)। यद्वा हे सोम, या यानि ते तव सम्बन्धीनि धामानि नामानि स्थानानि जन्मानि, त्रीण्यपि वा। 'धामानि त्रयाणि भवन्ति—स्थानानि, नामानि, जन्मानि च' (निरु. ९.२८) इति यास्कोक्तेः। हविषा यजन्ति यष्टारः। ता तानि ते तव विश्वा विश्वानि सर्वाणि परिभूः सर्वतो भवितॄणि। नपुंसकबहुवचनस्थाने पुंल्लिङ्गैकवचनं छान्दसम्। अस्तु सन्तु। बहुवचनान्तकर्तृकारकसंयोगात् क्रियाया अपि बहुवचनोपपत्तेः, यज्ञं यज्ञं प्रति व्याप्नुवन्तीत्यर्थः। सोमस्य परमेश्वरात्मत्वेन स्तुतिः। परमेश्वरस्य च नामानि स्थानानि जन्मानि त्रीण्यपि व्यापकान्येव भवन्ति। यद्वा यज्ञमिति प्रथमार्थे द्वितीया। ते तव यानि विश्वानि धामानि नामानि, तानि यज्ञः परिभूरस्तु यज्ञः परिगृह्य वर्तताम्। शेषं पूर्ववत्।

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम्हारे जिन प्रातःसोम आदि स्थानों को पाकर तुम्हारे रसरूप हवि से हम यज्ञरूप हवि का भोजन करते हैं, तुम्हारे वह सम्पूर्ण स्थान तुमसे सब ओर से व्याप्त हों। घर की वृद्धि करने वाले यज्ञ को प्राप्त कराने वाले हम ऋत्विग् और यजमान पुत्र-पौत्र आदि से सम्पन्न हों, तुम वीर पुरुष आदि को पालने वाले हो। हमारे यज्ञगृह में तुम आओ॥ सोम को स्थापित कर अध्वर्यु यजमान से इस मन्त्र को पढ़वाता है॥३७॥

भाष्यसार—'या ते धामानि' इस ऋचा द्वारा अध्वर्यु आदि ऋत्विग्गण यजमान को यज्ञशाला में ले जाते हैं तथा इस ऋचा का वाचन अध्वर्यु यजमान से कराता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.२८-२९) में निरूपित इस याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होता है।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सोम परमेश्वर, या यानि तव धामानि स्थानानि नामानि जन्मानि च यष्टारो हविषा चरुपुराडाशसोमादिभिर्यजन्ति पञ्च-दश-षोडश-चतुःषष्ट्युपचारैः पूजयन्ति, ता तानि विश्वा सर्वाणि यज्ञं यज्ञं प्रति यजनं परिभूः परिभूरीणि, अस्तु सन्तु, तानि सर्वाणि व्यापकानि सन्तीत्यर्थः। तथाहि—नहि परमेश्वरस्य स्थानं तद्भिन्नं भवति, सर्वाधारस्य स्वयमनाधारत्वेन स्वप्रतिष्ठितत्वात्, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा. उ. ७.२४.१) इति श्रुतेः। नामानि तत्तद्रूपेण जन्मानि च तद्रूपाण्येव। यथा वैयाकरणानां रीत्या शब्दा अर्थाश्च बौद्धा एव, तथैव वेदान्तिरीत्या रूपाणि नामानि च परमेश्वरस्य चिन्मयान्येव। 'ओम् इत्येत दक्षरमिदꣳ सर्वम्' (माण्डू. उ. १), 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' (मु. २.२.११) इति माण्डूक्यादिश्रुतिभ्यः। यद्वा यज्ञं यज्ञः परमेश्वरार्चनम्, तानि धामानि परिगृह्य वर्तताम्। कीदृशस्त्वम्? गयस्फानो गृहस्थानामर्थे गृहस्य धनपुत्रादिभिर्वर्धयिता। आर्तानामापन्नानामार्तिभ्य आपद्भ्यस्तारयिता, मुमुक्षूणां संसारसिन्धुतारकः। भक्तानां मदमानादिनिवारणाय शोभनाः शमदमादयो वीरा यस्य स सुवीरः। अवीरहा अहन्ता रक्षको वीराणां स्वपक्षीयाणाम्। इत्थंभूतस्त्वं हे भगवन्, भक्तानां दुर्यान् हृदयगृहाणि प्रचर प्रविश्य स्थिरो भव।

दयानन्दस्तु—'या यानि ते तव तस्य वा धामान्यधिकरणद्रव्याणि हविषा ग्राह्येण दातव्येन पदार्थेन साधकेन वा यजन्ति पूजयन्ति संगमयन्ति वा, ता तानि ते तव तस्य वा विश्वा सर्वाणि परिभूः परितो भवतीति परिभूः, अस्तु भवतु। यज्ञं यष्टुमर्हं गयस्फानो गयानामपत्यधनगृहाणां स्फानो वर्धयिता, गय इत्यपत्यनामसु (निघ. २.२.८), धननामसु (निघ. २.१०.१२), गृहनामसु (निघ. ३.४.१)। प्रतरणः प्रतरन्ति दुःखानि येन सः। सुवीरः। अवीरहा अवीरान् कातरान् हन्ति येन सः। प्रचर विजानीहि, अनुतिष्ठ। हे सोम, सोमविद्यासम्पादक विद्वन्, दुर्यान् गृहाणि' इति। अन्वयस्तु—'हे जगदीश्वर, यथा विद्वांसो यानि ते नामानि हविषा यजन्ति, तथा तानि विश्वा वयमपि यजेम। एतेषां यथा यस्ते तव गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा परिभूर्यज्ञः सुखप्रदोऽस्ति, तथा भवत्कृपयाऽस्मभ्यमपि सुखकार्यस्तु। हे सोम विद्वन्, यथा वयमेतं यज्ञमनुष्ठाय गृहेषु प्रचरेम विजानीयामानुतिष्ठेम, तथा त्वमप्येतं दुर्या गृहाणि प्रचर विजानीह्यनुतिष्ठ। श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लुप्तोपमालङ्कारस्य प्रकृतमन्त्रे सत्त्वे मानाभावात्। अत एव 'यथा विद्वांसो धामानि यजन्ति, तथा वयमपि' इत्यादि निर्मूलमेव। किञ्च, विदुषामनुकरणं कथञ्चित् सङ्गच्छेतापि, किन्तु विद्वत्कर्तृकमविद्वदनुकरणं तु सर्वथाऽसङ्गतमेव।

शतपथे तु—'अथैनꣳ शालां प्रपादयति। स प्रपादयन् वाचयति या ते धामानि .... दुर्यानिति गृहा वै दुर्या गृहान्नः शिवः शान्तोऽपापकृत् प्रचरेत्येवैतदाह' (श. ३.३.४.३०)। अथैनं शालामिति प्राग्वंशस्य पुरोदेशे

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे उमासहित परमेश्वर! आपके जिन स्थानों, नामों तथा जन्मावतारों का उपासकगण चरु, पुरोडाश, सोम आदि हविर्द्रव्यों से यजन करते हैं, अथवा पांच, दस, सोलह, चौंसठ आदि उपचारों से पूजन करते हैं, वे सभी प्रत्येक यजन, अर्चन परिपूर्ण, व्यापक हों। अथवा यजन, परमेश्वरार्चन उन स्थानों को प्राप्त करके स्थित रहें। धनपुत्रादि गृह्य पदार्थों को बढ़ाने वाले, आपत्तियों से तारने वाले अथवा मुमुक्षु जनों को संसाररूपी सिन्धु से पार कराने वाले, शम-दम आदि सुन्दर बलों से युक्त, वीरों के संरक्षणकर्ता हे भगवन्, आप भक्तों के हृदयावास में प्रविष्ट होकर स्थिर रहें।

स्वामी दयानन्द का अर्थ इस मन्त्र में लुप्तोपमा अलंकार की स्थिति के लिये प्रमाण न होने के कारण उचित नहीं है। इस मन्त्रार्थ में विद्वानों का अनुकरण तो किसी प्रकार उचित माना भी जा सकता है, किन्तु विद्वान् (सोम) द्वारा अविद्वान् साधारण जनों का अनुकरण करना सर्वथा असंगत है ॥३७॥

आसन्द्यां स्थापितं सोममासन्द्या सह प्राचीनवंशं गमयेदित्यर्थः। प्रपादन(प्रापण)समये या ते धामानीति मन्त्रं यजमानो वाचयेत्। अध्वर्योः प्राधान्यात्तदपेक्षया एकवचनम्। वस्तुतस्तु चत्वारोऽध्वर्युवर्ग्या ऋत्विजः प्रपादयन्तीत्येवार्थः, सूत्रकारेण तथैवोक्तत्वात्, 'आहवनीयं दक्षिणेन स्थापयन्ति' (का. श्रौ. ७.९.३०) इति, आसन्दीमिति शेषः। तथा च सिद्धान्तानुसार्ययमर्थः—हे सोम, ते या यानि धामानि स्थानानि नामानि जन्मानि त्रीण्यपि (निरु. ९.२८) धामशब्दवाच्यानि हविषा त्वदीयरसेन यजन्ति, ते तव तानि सम्बन्धीनि विश्वा विश्वान्यपि, 'यज्ञम्', व्यत्ययेन अयं यज्ञः, परिभूः परितो भावयिता अस्तु भवतु। त्वं च गयस्फानः पशुपुत्रादिना गृहस्य वर्धयिता, प्रतरण आपद्भ्यस्तारयिता, सुवीरः शोभनवीरोपेतस्तत्प्रदः, अवीरहा पुत्रादेरहन्ता सन् दुर्यान् गृहान् प्रचर प्रकरोषि। चतुर्थपादगतदुर्यशब्दार्थं ब्रुवन् कृत्स्नमन्त्रतात्पर्यमाह—गृहा वै दुर्या इत्यादिना ॥३७॥

इति वेदार्थपारिजातभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॒ सोम॑स्य त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे॒ त्वाऽति॑थेराति॒थ्यम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृते॒ विष्ण॑वे त्वा॒ऽग्नये॑ त्वा रायस्पोष॒दे विष्ण॑वे त्वा॥१॥

अथ ज्योतिष्टोमप्रकरणम्। तत्र यजमानो यथाविधि द्रव्यविनिमयेन सोमं (लतां) क्रीत्वा तं शकटयोः समारोप्य शकटाभ्यामृत्विग्भिश्च सह शालां प्राग्वंशाभिधां प्रविशेत्। ऐतत्सम्बन्धिनो मन्त्राश्चतुर्थाध्याय उक्ताः। पञ्चमेऽस्मिन्नध्याये आतिथ्येष्टेर्हविषो ग्रहणमन्त्रा आदावुच्यन्ते। आतिथ्येष्टौ विष्णुर्देवता नवकपालः पुरोडाशश्च द्रव्यम्, 'वैष्णवो भवति' (ऐ. ब्रा. १.१५), 'नवकपालो भवति' (ऐ. ब्रा. १.१५) इति विधेः। इयमिष्टिः सोमस्य राज्ञो यजमानगृहानागतस्यातिथेः सत्कारायानुष्ठीयते, 'अतिथेरातिथ्यमसि' इति मन्त्रलिङ्गात्। तत्र प्रथमं हविर्निर्वापः प्राप्नोति, 'तूर्णमेकविमुक्ते[१] वा निर्वपेत्' (का. श्रौ. ८.१.२) इति सौत्रविधेः। अतो निर्वापाङ्गमयं मन्त्रः। अत एव 'निर्वपामि' अथवा 'गृह्णामि' इत्यध्याहारेण पूरणीयोऽयं मन्त्रभागः, [२]अर्थैकत्वाधिकरणन्यायात्। अत्र त्वान्ताः पञ्च मन्त्रा आम्नाताः। तथा च 'अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा जुष्टं निर्वपामि' (गृह्णामि), 'सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा जुष्टं निर्वपामि' इत्यादयः पञ्च मन्त्रा जायन्ते। प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोः 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्' इति निर्वापमन्त्रः। सोऽयमत्रातिदेशेन प्राप्तः प्रकृतमन्त्रेण बाध्यत इति केचनाचार्या आशेरते, त्वाशब्दद्वयविरोधात्। प्राकृतसवितृमन्त्रेऽपि

मन्त्रार्थ — हे सोम! तुम अग्नि के शरीर हो, परमात्मा की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ। तुम सोम देवता के शरीर हो, विष्णु के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे सोम! तुम यज्ञमण्डप में आये अतिथि को अतिथिसत्कार से सन्तुष्ट करने वाले हो, विष्णुदेव की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ। सोम को लाने वाले, शत्रु के दमन करने को श्येन (बाज) के समान उद्योगी मुझ यजमान के कल्याणार्थ, यज्ञाधिष्ठात्री विष्णु देवता की प्रसन्नता के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे धनसम्बन्धी पुष्टि देने वाले, अग्नि के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ, यज्ञदेव विष्णु की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ॥ चौथे अध्याय में ऋत्विक् सहित यजमान के शाला-प्रवेश से लेकर सोमक्रय करके शाला-आगमन तक के मन्त्र कहे गये हैं। इस पाँचवे अध्याय में पहले आतिथ्येष्टि , हविर्ग्रहण आदि के मन्त्रों का वर्णन है। यहाँ प्रथम मन्त्र से हवि का ग्रहण किया जाता है ॥१॥

भाष्यसार—ज्योतिष्टोम यज्ञ के प्रकरण में यजमान विधि के अनुसार द्रव्यों का विनिमय करते हुए सोमलता खरीदता है। तदनन्तर सोमलता को गाड़ियों पर रख कर ऋत्विग्गणों तथा गाड़ियों के साथ 'प्राग्वंशशाला' में आता है। इस यज्ञप्रक्रिया से सम्बद्ध मन्त्र चतुर्थ अध्याय में प्रतिपादित किये गये हैं।

---

१. सोमं क्रीत्वा तं द्वयोः शकटयोः समारोप्य शालामानीयोत्तरदक्षिणपार्श्वयोः शकटाववस्थाप्य शकटादनड्वाहौ मोचनीयौ। तत्र विकल्पः— 'एकविमुक्ते वा' (का. श्रौ. ८.१.२) इति। उभयोर्मोचनानन्तरं निर्वापश्चेत् कदाचिद्विलम्बः स्यादिति पक्षान्तरमभिहितम्।

२. 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्' (मी. सू. २.१.४६) इत्यधिकरणे विभागे साकाङ्क्षे सत्येकार्थप्रतिपादकत्वमेकवाक्यत्वमिति यजुर्मन्त्रपरिमाणं व्यवस्थापितं जैमिनिना।

'देवस्य त्वा' इति त्वाशब्दः। वैकृतमन्त्रेऽपि 'विष्णवे त्वा' इति त्वाशब्दः। उभयोरप्येकार्थत्वात् प्रयोगो नोचित इति तेषामाशयः। 'पञ्चसु सावित्रं जुष्टं चानुषजतिनोत्तरयोरित्येके' इति सूत्रयन्त आपस्तम्बाचार्याः प्राकृतमन्त्रस्य समुच्चयमभिप्रयन्ति। तत्र त्वाशब्दद्वयविरोधस्तु नाशङ्कनीयः, तथाविधविधेः सत्त्वात्, 'श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा' इति वैकृतमन्त्रे त्वाशब्दद्वयश्रवणाच्च। कर्काचार्या अपि समुच्चयपक्षमेव समर्थयन्ते। तथा च समुच्चयपक्षे 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा जुष्टं निर्वपामि' इत्यादय आकारा मन्त्राणां जायन्त इति स्थितिः। अस्यां स्थितौ महीधरभाष्यं प्रवृत्तम्।

सोमस्य राज्ञः पञ्चानुचराः— १. अग्निः, २. सोमः, ३. अतिथिः, ४. श्येनः, ५. रायस्पोषदोऽग्निश्चेति। तत्राद्याश्चत्वारः क्रमेण गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-गायत्रीच्छन्दोऽधिष्ठातारः, अन्त्यस्तु सर्वच्छन्दोऽधिष्ठाता। अत आद्यस्याग्नेरन्तिमस्य चाग्नेर्भेदः। मन्त्रे 'असि' इति मध्यमपुरुषैकवचनश्रवणात्तदनुकूलं प्रकृतं हविःपदं सम्बुद्ध्यन्तमध्याह्रियते, वाक्यपूरणाय च 'निर्वपामि, गृह्णामि' इति वाऽध्याह्रियते। तथा च मन्त्रस्यायमर्थः— हे हविः, त्वं सोमस्य राज्ञोऽनुचरस्याग्निसंज्ञकस्य तनूः शरीरमसि, तृप्तिजनकत्वात्। अतस्त्वा त्वां विष्णवे व्यापनशीलाय प्रकृतसोमाय प्रीतिजननार्थं निर्वपामि निर्वापसंस्कारेण संस्करोमि। तथैव सोमसंज्ञः कश्चित् सोमस्य राज्ञो भृत्यस्त्रिष्टुप्छन्दोऽधिष्ठाता। हे हविः! तस्य त्वं तनूरसि, तृप्तिहेतुत्वादेव। एवमतिथिसंज्ञोऽपि सोमानुचरस्तस्यातिथ्यमसि, आतिथ्यसंस्काररूपमसि। 'निर्णीततिथिविशेषं विनैवागते विप्रादौ तत्सत्काराय क्रियमाणः पादप्रक्षालनभोजनसंवहनादिसंस्कार आतिथ्यमुच्यते' इति सायणः। तथाविधत्वं हविषोऽत्र विवक्ष्यते। विष्णवे त्वा निर्वपामि। श्येनाय त्वा निर्वपामि। श्येनसंज्ञको देवः सोमराजानुचरः स्वर्गात् सोमहर्ता श्येनरूपधारिगायत्र्यधिष्ठातेति महीधरः। स च नानाविधोपपन्नादिसमर्पणेन सोमराजानं बिभर्तीति सोमभृत्, तस्मै सोमभृते श्येनाय हे हविस्त्वां निर्वपामि। यद्वा सोमं हरतीति सोमहृत्, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा. सू. ३.१.८४) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन हस्य भः। सोमानयनकर्त्रे श्येनाय देवाय त्वां निर्वपामीति, 'सा यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममहरत्' (श. ३.४.१.१२) इति श्रुतेः। अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वेत्यपरोऽपि कश्चिदग्निनामकः सोमराजानुचरो रायस्पोषदः, रायस्पोषं तुष्टिं ददातीति रायस्पोषदस्तस्मै। राज्ञो गृहे यद्धनमस्ति तत्क्रयविक्रयादिना बहुधा पोषयित्वा राज्ञे समर्पयतीति। तथाविधायाग्नये रायस्पोषदे हे हविस्त्वां निर्वपामि। 'रायस्पोषदे' इति क्विप्प्रत्ययान्तश्चतुर्थ्यन्तः। स चानुक्तच्छन्दोऽधिष्ठाता। विष्णुशब्दाभिधेयस्य सोमस्य राज्ञो हविषा तदनुचराणामग्न्यादिदेवानां तद्द्वारा तत्सम्बन्धिगायत्र्यादिच्छन्दोदेवतानां च तृप्तिर्भवति। तदेतदभिप्रेत्य लौकिकन्यायवचनेन तित्तिरिर्विस्पष्टमाह— 'यावद्भिर्वै राजानुचरैरागच्छति सर्वेभ्यो वैतेभ्य आतिथ्यं क्रियते छन्दांꣳसि खलु वै सोमस्य राज्ञोऽनुचराणीति' (तै. सं. ६.२.१.३) इति काण्वभाष्ये सायणाचार्यः।

इस पञ्चम अध्याय में यज्ञप्रक्रिया की दृष्टि से 'आतिथ्या' नामक इष्टि के मन्त्र हैं। प्रारम्भ में आतिथ्येष्टि में हविर्द्रव्य के ग्रहण के मन्त्र उपदिष्ट हैं। आतिथ्येष्टि में प्रधान देवता विष्णु के लिये नवकपाल पुरोडाश हविर्द्रव्य प्रदान किया जाता है। यह इष्टि यजमान के घर में आये हुए अतिथियों के राजा सोम के सत्कार के लिये अनुष्ठित की जाती है।

कात्यायन श्रौतसूत्र (८.१.२) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार इस मन्त्र से हविर्द्रव्य का निर्वाप (ग्रहण) किया जाता है। इस हेतु से 'निर्वपामि' अथवा 'गृह्णामि' इस प्रकार पद के अध्याहार से इस कण्डिका के मन्त्रभाग पूर्ण किये जाते हैं। इसमें 'त्वा' अन्तिम पद वाले पांच मन्त्र कहे गये हैं।

आध्यात्मिकोऽर्थो यथा— भक्तिसिद्धान्ते स्वसर्वस्वात्मनिवेदनं देवतायै क्रियते। ज्ञानयज्ञे च ब्रह्मैव यज्ञो भवति, 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥' (भ. गी. ४.२४) इति गीतोक्तेः। तथा च स्वात्मानमेव हविष्ट्वेन भावयित्वा यः स्थितः स स्वात्मानमेव हविष्ट्वेन सम्बोधयति। हे हविस्त्वमग्नेस्तनूः स्वरूपमसि। अग्निरत्र परमात्मैव। यः परमात्मने हविष्ट्वेन भावयित्वात्मानं जुहोति स परमात्मस्वरूप एव भवति। विष्णवे तदाराधनभूताय यज्ञाय त्वा गृह्णामि भावयामि। सोमस्य विमर्शात्मकस्य तनूः स्वरूपमसि। अग्नीषोमौ पुरुषप्रकृत्यात्मकौ जगत्कारणभूतौ, सोपाधिकस्य जीवस्योभयात्मत्वात्। अतिथेरतिथित्वेन सत्करणीयस्येष्टदेवस्यातिथ्यमसि सत्करणरूपमसि। यज्ञाय त्वा गृह्णामि। सोमभृते सोमाहरणकर्त्रे गायत्र्यधिष्ठायिने देवाय त्वा अग्नये त्वा रायस्पोषाय धनपोषाय तद्विशेषणविशिष्टाय श्येनाय पातकपोतकपक्षिसंहर्त्रे त्वा गृह्णामि, साङ्गोपाङ्गाय भगवते त्वा समर्पणीयहविष्ट्वेन भावयामीत्यर्थः।

अत्र मन्त्रे दयानन्देन मन्त्रगतपदानामर्थाः, तेषामन्वयः, भावार्थश्च पृथक् पृथग् निर्दिष्टाः। मध्यमपुरुषैकवचनम् 'असि' पदं प्रथमपुरुषैकवचनान्ततया व्यत्यस्य 'त्वा'पदस्य तच्छब्दार्थकत्वं स्वीकृत्य पदार्था वर्णिताः। अग्नेः प्रसिद्धस्य ज्वलनस्य, तनूः शरीरवद् भवति, विष्णवे यज्ञानुष्ठानाय त्वा तद्धविरिति। अन्वयप्रतिपादनावसरे— हे मनुष्याः! यथाहं यद्धविरग्नेस्तनूरसि भवति, त्वा तद्धविर्विष्णवे यज्ञानुष्ठानाय स्वीकरोमि। तथैवैतत्सर्वं यूयमपि सेवध्वमिति वाक्यार्थः प्रतिपादितः। एवं सोमस्य या तनूः सामग्री वर्तते त्वा तां विष्णवे उपयुञ्जेऽहं यथा तथा यूयमप्युपयुङ्ध्वमित्यादयो वाक्यार्थाः प्रदर्शिताः। अत्र त्वाशब्दस्य तच्छब्दार्थकत्वं तस्य हविःपरामर्शकत्वं च कथमवधृतं दयानन्देन? तनूशब्दः शरीरवाची प्रसिद्धः। 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' (अ. को. २.६.७१), 'तनुर्वपुस्त्वचोः। विरलेऽल्पे कृशे' (अ. चि. २.२७०), 'तनुः काये त्वचि स्त्री स्यात् त्रिष्वल्पे विरले कृशे' इत्यादिकोशेभ्यः। तस्य क्वचिच्छरीरवदिति क्वचिच्च विस्तारकमिति चार्थो लक्षणयैव वाच्यः। लक्षणायाश्चान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा बीजम्। अग्नेस्तनूः शरीरं त्वमसि, अतस्त्वां गृह्णामीत्यन्वयोपपत्तेः। तात्पर्यानुपपत्तौ किमत्र मन्त्रतात्पर्यानुपपत्तिः, दयानन्दतात्पर्यानुपपत्तिर्वा? मन्त्रतात्पर्यं

इस कण्डिका का आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है — भक्तिसिद्धान्त में देवता के लिये अपने सर्वस्व सहित आत्मनिवेदन किया जाता है। ज्ञानयज्ञ में तो ब्रह्म ही यज्ञ होता है। श्रीमद्भगवद्गीता (४.२४) में भी यह कहा गया है। इस प्रकार स्वात्मतत्त्व को ही हविर्द्रव्य के रूप में मानकर जो साधक अवस्थित है, वह स्वात्मा को ही हवि के रूप में सम्बोधित करता है कि—हे हविर्द्रव्य, तुम अग्नि के स्वरूप हो। अग्नि तो परमात्मा ही है। जो परमात्मा के प्रति हविर्द्रव्य के रूप में स्वयं को समर्पित करता है, वह परमात्म-स्वरूप ही हो जाता है। विष्णु के आराधनात्मक यज्ञ के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। तुम विमर्शात्मक सोम के स्वरूप हो, क्योंकि पुरुष एवं प्रकृत्यात्मक अग्नि तथा सोम सोपाधिक जीव के उभयात्मक होने के कारण जगत् के हेतुभूत हैं। तुम अतिथि के रूप में सत्कार करने योग्य इष्टदेव के सत्कारभूत हो। यज्ञ के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। सोम का आहरण करने वाले गायत्री के अधिष्ठाता देव, अग्नि के लिये धनपुष्टि से विशिष्ट पापरूपी पक्षी का संहार करने वाले देव के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। अर्थात् अङ्ग, उपाङ्गों के सहित भगवान् के लिये समर्पणीय हविर्द्रव्य के रूप में तुमको निवेदित करता हूँ।

इस मन्त्र में स्वामी दयानन्द ने मन्त्रगत पदों का अर्थ, उनका अन्वय, तथा भावार्थ अलग-अलग किया है। इसमें 'त्वा' शब्द का अर्थ 'तत्' करना तथा उससे हवि का बोधन होना स्वामी दयानन्द ने कैसे माना है? 'तनु' शब्द का कहीं शरीर अर्थ तथा कहीं विस्तारक अर्थ लक्षणा के द्वारा ही किया जा सकता है। लक्षणा करने में अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति ही कारण होते हैं। यहां मन्त्रतात्पर्य में क्या अनुपपत्ति है? इसमें उपमान-उपमेय का सम्बन्ध भी प्रदर्शित किया गया है। 'अहम्' यह उपमान है तथा 'यूयम्' उपमेय है। इसमें 'अहं' पदार्थ क्या है? अध्वर्यु है, यजमान है, अथवा स्वामी दयानन्द? हिन्दीभाष्य भी मन्त्रगत पदों के कहे गये उन उन अर्थों के खण्डित हो जाने के कारण बालोक्ति की भाँति ही है ॥१॥

च निर्वापसंस्कारेण संस्क्रियमाणे हविषि वर्तते, तत्र न काचिदनुपपत्तिर्येन लक्षणा स्यात्। दयानन्दतात्पर्यं चेत्, तत्र व्यवस्थितम्, अप्रयोजकं च। वेदस्य तात्पर्यनिर्णायकत्वेन षट् प्रमाणानि परिगणितानि — 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये'॥ इति।

किञ्च, त्वाशब्दस्य तच्छब्दार्थकत्वमाश्रित्य तस्य हविःपरामर्शकत्वं वर्ण्यते— त्वा तद्धविरिति। किञ्च तद्धविः? केन च प्रमाणेन तत्प्राप्तम्? यदत्र त्वाशब्देन परामृश्यते। सर्वनाम्नां बुद्धिस्थत्वावच्छिन्नपदार्थे शक्तिः। बुद्धिस्थत्वं च प्रापकप्रमाणेन वक्तव्यम्। सिद्धान्तपक्षे तत्प्रापकं प्रमाणं ब्राह्मणवाक्यं वा सूत्रं वा मन्त्रगततनूःपदं वा। तदेव चेत्प्रमाणं दयानन्दस्य न तर्हि त्वाशब्दस्य तच्छब्दार्थकत्वम्, त्वा त्वां हविर्गृह्णामीत्युपपत्तेः। "सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा' इत्यत्राप्येवमेव वाक्यार्थे सम्पद्यमाने किं निष्प्रमाणकेन क्लेशेन। 'अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा' इत्यत्रापि विपरिणामाध्याहारादिक्लेशोऽनुचित एव। किञ्चात्र 'स्वीकरोमि, उपयुञ्जे, परिगृह्णामि, प्रक्षिपामि, आददे, स्वीकरोमि, संगृह्णामि' इति सप्त क्रियापदान्यध्याहृत्य वाक्यार्थाः प्रदर्शिताः। एवं च तत्तत्क्रियायां तत्तन्मन्त्रस्य विनियोग इत्यापतति। आसु क्रियास्वन्यतः प्राप्तासु तत्र मन्त्रा अङ्गमिति सिद्ध्यति। कस्मादिमाः क्रियाः प्राप्ता इति प्रश्नस्य किमुत्तरं भवेत्? यथेच्छं स्वेनोन्नीतासु क्रियासु नहि मन्त्राणामङ्गत्वम्। मन्त्राणामङ्गत्वग्राहकं प्रमाणं लिङ्गं वा वाक्यं वेति शास्त्रमर्यादा। तदत्र किं प्रमाणमिति वक्तव्यम्।

किञ्च, यथाहं - - - तथैवैतत्सर्वं यूयमपि, इत्युपमानोपमेयभावः प्रदर्शितः। अहमित्युपमानम्, यूयमिति चोपमेयम्। तत्राहंपदार्थः कः? किमध्वर्युः, उत यजमानः, आहोस्विद्दयानन्दः? अध्वर्युस्तु हविर्निर्वपति, न स्वीकरोति नाप्युपयुङ्क्ते। नहीमानि कार्याणि विहितान्यध्वर्योः। यानि विहितानि निर्वापप्रोक्षणावहननादीनि, तान्येव करोत्यध्वर्युः। यजमानश्चेदहंपदार्थः, तर्हि स्वयं स्वीकृत्य तदुपयुज्य कथं देवेभ्यः प्रदद्यात्? यदि दयानन्दोऽहंपदार्थः, स यद्यत्करोति तत्तन्मनुष्यैः कर्तव्यमिति न निर्बन्धः। अतो नात्र क्वचिदुपमानं प्रसिद्धं पश्यामः। प्रसिद्धमेव भवत्युपमानम्। अतः सर्वथोपमानोपमेयभावोऽसङ्गतः। किञ्च, वाचकलुप्तोपमालङ्कार इति दयानन्दः कथयति। वाचकं तु इवादिपदम्। तदत्र मन्त्रे नास्तीति तु सत्यम्, किन्तूपमानोपमेयसाधारणधर्मा अप्यत्र मन्त्रे न सन्ति। सर्वलुप्तोपमालङ्कारश्च न कैश्चनालङ्कारिकैः परिगणितः। 'यथाहं तथा यूयम्' इति दयानन्दकृतविवरणे वर्तते। वाचकलुप्तोपमालङ्कारः किं मन्त्रस्य? उत दयानन्दविवरणस्य? मन्त्रस्येति तु न सङ्गतम्, तत्र कस्याप्यसत्त्वात्। दयानन्दविवरणस्येति चेन्न, तस्यानुपादेयत्वात्। अतः सर्वथा दयानन्दकृतमिदं मन्त्रविवरणमप्रामाणिकं निर्युक्तिकं च। किञ्च, भावार्थतया लिखितम्—'मनुष्यैरेतत्फलप्राप्तये' इति। न खलु मन्त्रे किञ्चित्फलमभिहितमुपलभामहे, यदवाप्तये मनुष्यास्तत्र प्रवर्तेरन्, त्रिविधं यज्ञं चानुतिष्ठेयुः। यज्ञानामनुष्ठेयत्वं विधिद्वारा सिद्ध्यति। कोऽयं विधिः? यश्च त्रिविधान् यज्ञान् विधत्ते। दयानन्दवाक्यं चेद् विधिः, सोऽनादेय एव।

किञ्च, पदार्थनिरूपणावसरे—'श्येनाय श्येनवदितस्ततः सद्यो गमनाय, त्वा तद्धवनं कर्म' इत्यभिधाय वाक्यार्थनिरूपणावसरे स लिखति—'यत् श्येनाय श्येनवच्छीघ्रगमनाय प्रवर्तते त्वा तद् अग्न्यादिषु प्रक्षिपामि' इति। पदैरभिहिताः पदार्था वाक्यार्थे भासन्त इति शास्त्रीया सरणिः। त्वापदस्यार्थः 'तद्धवनं कर्म' इति। वाक्यार्थेऽपि 'त्वा तत्' इति तच्छब्देन तदेव हवनं कर्म वक्तव्यम्। तस्य हवनस्य कर्मणः 'अग्न्यादिषु प्रक्षिपामि' इत्यग्नौ प्रक्षेपः कथमुपपद्येत? नहि कर्म अग्न्यादिषु प्रक्षेप्तुं शक्यते, अतः सर्वथा विसङ्गतमेवेदं विवरणं दयानन्दस्य।

किञ्च, भावार्थे त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेय इति लिखितम्। त्रैविध्यं च यज्ञस्यान्वयप्रतिपादितमिति टिप्पण्यां परिदृश्यते। अन्वये च—'तथैवैतत्सर्वं यूयमपि सेवध्वम्' इति वाक्ये 'सेवध्वम्' इति विधिना यज्ञो विधातव्यः। स

च यज्ञः 'एतत् सर्वम्' इत्यनेनोच्यत इति स्वीकर्तव्यम्। तत्रैतच्छब्दः पूर्वोक्तानि परामृशति। पूर्वोक्तानि स्वीकारादीनि सप्त कर्माणि दृश्यन्ते। एतेषां कर्मणामेव किं यज्ञत्वमभिप्रेतं दयानन्दस्य? यद्योमिति, तर्हि तानि सप्त सन्तीति कथं त्रैविध्यम्? यद्याध्यात्मिकाधिदैविकाधियाज्ञिकरूपेण यज्ञानां त्रैविध्यमभिप्रेतम्, तर्हि तेषां प्रापकं प्रमाणं किमिति वक्तव्यम्? 'विष्णवे' इत्यस्य यज्ञानुष्ठानायेत्यपि गौण एवार्थः। सोमस्य जगदुत्पन्नस्य पदार्थसमूहस्येत्यर्थापनेऽपि किं मूलम्? 'विष्णवे व्यापनशीलस्य वायोश्च शुद्धये' इत्यत्रापि मूलं चिन्त्यम्। कथञ्चिद् विष्णुपदस्य वाय्वर्थकत्वेऽपि शुद्धिः कस्य पदस्यार्थः? वस्तुतस्तु न वायोर्व्यापकत्वम्, आकाशाहमादौ तदभावात्। विज्ञानप्राप्तेरपि न व्यापकत्वं सम्भवति। 'अग्नये पावकवर्धनाय, त्वा तदिदं धनादिकम्' इत्यादिकमपि न शब्दमर्यादामनुरुणद्धि। 'हे मनुष्याः, यथाहमग्नेः शरीरवत्प्रसिद्धं हविर्यज्ञसिद्धये स्वीकरोमि, यथा च पदार्थसमूहस्य विस्तारकसामग्री विष्णवे वायुशुद्धये उपयुञ्जे, यथा चातिथेरातिथ्यं सेवाकर्म विज्ञानप्राप्तये गृह्णामि, श्येनपक्षिवच्छीघ्रगमनागमनशीलं द्रव्यमग्न्यादिषु प्रक्षिपामि, यच्च विष्णवे सर्वविद्याकर्मसोमधारिणो यजमानस्य सुखमस्ति तद् गृह्णामि, अग्निवर्धनाय काष्ठादिकं स्वीकरोमि, ये च रायस्पोषदे धनपुष्टिदानाय विष्णवे उत्तमगुणविद्याव्याप्तये पदार्थाः सन्ति, तान् गृह्णामि, तथैव यूयमपि सेवध्वम्' इत्यादिकं हिन्दीभाष्यमपि बालभाषितमेव, मन्त्रपदानां तत्तदुक्तार्थकत्वस्य खण्डिततत्वात्।

शतपथे त्वातिथ्येष्टिप्रसङ्गेऽयं मन्त्रो व्याख्यातः। 'अथ यस्मादातिथ्यं नाम। अतिथिर्वा एष एतस्यागच्छति यत्सोमः क्रीतस्तस्मा एतद्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्तदह मानुषꣳ हविर्देवानामेवमस्मा एतदातिथ्यं करोति' (श. ३.४.१.२)। यत्सम्बन्धादिदं हविरातिथ्यं तस्य सोमस्य कथमतिथित्वमिति निर्वचनेन दर्शयति—यस्मादातिथ्यं नामेति। एतस्य यजमानस्य वसतिं योऽतिथिः सन् यस्मादागच्छति, न विद्यते नियता तिथिर्यस्य सोऽतिथिस्तस्मादतिथये सोमाय राज्ञे चैतद्धविर्निरुप्यत इत्यातिथ्यं नाम सम्पन्नम्। राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा, महोक्षं वृषभोत्पादितं व्रीहियवादिकम्, महाजं वा पचेत्। 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ. सं. ९.४६.४) इत्यत्र यथा गोपदं गोविकारे दुग्धे प्रयुज्यते, तथैव महोक्षशब्दोऽपि महोक्षोत्पादिते व्रीहियवादौ प्रयुज्यते, अघ्न्यादिश्रुतिविरोधात्। तदह तदेव। मानुषमातिथ्यम्। देवानां तु हविरेवातिथ्यम्। अत एव तस्मै सोमाय राज्ञ एतदातिथ्यं करोति।

'स गृह्णाति। अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वेत्यग्निर्वै गायत्री तद्गायत्रीमन्वाभजति॥ सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वेति। क्षत्रं वै सोमः क्षत्रं त्रिष्टुप् त्रिष्टुभमन्वाभजति॥ अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वेति। सोऽस्योद्धारो यथा श्रेष्ठस्योद्धार एवमस्यैष ऋते छन्दोभ्यः॥ श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वेति। तद्गायत्रीमन्वाभजति सा यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्तेन सा श्येनः सोमभृत्तेनैवैनामेतद्वीर्येण द्वितीयमन्वाभजति॥ अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वेति। पशवो वै रायस्पोषः पशवो जगती तज्जगतीमन्वाभजति॥ अथ यत्पञ्चकृत्वो गृह्णाति। संवत्सरसम्मितो वै यज्ञः पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात् पञ्चकृत्वो गृह्णात्यथ यद्विष्णवे त्वा विष्णवे त्वेति गृह्णाति विष्णवे हि गृह्णाति यो यज्ञाय गृह्णाति॥' (श. ३.४.१.९-१४)।

हविर्ग्रहणे मन्त्रं विधत्ते—अग्नेस्तनूरसीति। स्वं शरीरं भवति शरीरोपचयहेतुत्वात्तनूवदाच्छादकत्वाद्वा तनूत्वम्। सवनत्रयव्यापित्वात् सोमो विष्णुः सोमाय त्वा गृह्णामि, अथवा 'विष्णवे हि गृह्णाति यो यज्ञाय गृह्णाति' (श. ३.४.१.१४) इति श्रुत्या यज्ञाय त्वा गृह्णामीत्यर्थः। मन्त्रगतमग्निपदं गायत्र्यन्वाभक्तिसाधनत्वेन प्रशंसति—अग्निर्वै गायत्रीत्यादिना। अग्नेर्गायत्रीरूपत्वं तु प्रजापतेर्मुखात् सहोत्पन्नत्वात्, 'तमग्निर्देवोऽन्वसृज्यत गायत्री छन्दः' (तै. सं. ७.१.१.४) इति श्रुतेः। सोमस्यान्नत्वात् साक्षाच्छरीरोपचयहेतुत्वात् तनूत्वम्। सोमस्य राज्ञः क्षत्रत्वमसकृदुक्तम्। प्रजा-

पतेरुरसो बाहुभ्यां च राजन्येन सह त्रिष्टुभोऽप्युत्पत्तेः क्षत्रत्वम् (तै. सं. ७.१.१.४)। अतिथिशब्दस्य तात्पर्यमाह—सोऽस्योद्धार इति। उद्‍ध्रियतेऽसाधारण्येन विभज्यत इत्युद्धारः प्रतिनियतभागः। गायत्र्या अन्वाभजनरूपतया श्येनशब्दं प्रशंसति—गायत्री श्येनो भूत्वेति। श्येनरूपं धृत्वा सोमाहरणाद् गायत्री सोमभृत् श्येनः। तदेवाह—सा यद्गायत्रीति। तेनैव वीर्येण हेतुना एनां गायत्रीं द्वितीयं भागं प्रत्यन्वाभजत्यध्वर्युरितद्भागपाठेनेत्यर्थः। अग्नये त्वेति। अङ्गनादिगुणविशिष्टाय रायस्पोषदे धनपोषप्रदात्रे विष्णवे सोमाय हे हविस्त्वां गृह्णामि। जगत्यन्वाभजनरूपतया मन्त्रभागं प्रशंसति—पशवो वै रायस्पोष इति। पशूनामेव वर्धमानधनरूपत्वात् पशवो रायस्पोष इत्युक्तिः। पशूनां जगतीत्वं जगत्या सोमाहरणसमये आहृतत्वात्। 'सा पशुभिश्च दीक्षया चागच्छदिति' (तै. सं. ६.१.६.२)। प्रकृतौ चतुःकृत्वो ग्रहणादत्रापि चोदकेन तत्प्राप्त्या पञ्चसंख्यां विधाय प्रशंसति—अथ यत्पञ्चकृत्व इति। यज्ञस्य संवत्सरसम्मितत्वं गवामयनादिसत्ररूपस्य यज्ञस्य संवत्सरसाध्यत्वाद्वा संवत्सरात्मकप्रजापतिसम्मितत्वाद्वा, 'द्वादशस्तोत्राण्यग्निष्टोमः' (ता. म. ब्रा. ४.२.१२) इति श्रुतेस्तद्गतसंख्यया संवत्सरसाम्याद्वा द्रष्टव्यम्। ग्रहणमन्त्रेषु सर्वत्र विष्णुशब्दोपादानं प्रशंसति—अथ यद्विष्णव इति। यत्र यत्र हविर्गृह्यते तत्र तत्र यज्ञार्थत्वनियमात् सोमस्य हविष्ट्वेन यज्ञार्थत्वाद् विष्णवे ग्रहणं युक्तमित्यर्थः।

एवं शतपथेनापि सायणादिसम्मत एवार्थः समर्थ्यते—'आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा। तान् समदवियन् ते चतुर्धा व्यद्रवन्नन्योऽन्यस्य श्रिया अतिष्ठमाना अग्निर्वसुभिः सोमो रुद्रैर्वरुण आदित्यैरिन्द्रो मरुद्भिर्बृहस्पतिर्विश्वैर्देवैरित्यु हैक आहुरेते ह त्वेव ते विश्वे देवा ये ते चतुर्धा व्यद्रवंस्तान् विद्रुतानसुररक्षसान्यनुव्येयुः' (श. ३.४.२.१)। तान् विद्रुतानसुरराक्षसांश्चायमवसर इति निश्चित्यानुप्राप्ता इत्यर्थः ॥१॥

अ॒ग्नेर्ज॒नित्र॑मसि॒ वृष॑णौ स्थ उ॒र्वश्य॑स्या॒युर॑सि पु॒रू॒रवा॑ असि। गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॑ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒ जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि ॥२॥

[१]ब्राह्मणविहितानि षट्कर्माणि—(१) शकलस्य वेद्यां निधानम्, (२) तदुपरि द्वयोः कुशयोर्निधानम्, (३) तयोरुपर्यधरारणिनिधानम्, (४) उत्तरारण्या आज्यस्य संस्पर्शनम्, (५) तस्या अधरारणेरुपरि निधानम्, (६) अग्निमन्थनं चेति। षडिमानि कर्माणि सम्पादयितुं 'अग्नेः' इति मन्त्रः प्रवृत्तः। यथाब्राह्मणं [२]सूत्रकारोऽपीमानि कर्माणि प्रदर्श्य तत्र

मन्त्रार्थ — हे काष्ठखण्ड! तुम अग्नि को उत्पन्न करने वाले हो। हे कुशों! तुम सींचने वाले, अर्थात् अरणि-काष्ठों में अग्नि उत्पन्न करने की शक्ति देने वाले हो। हे नीचे की अरणि! अग्नि की उत्पत्ति के लिये हमने तुमको स्त्रीरूप माना है, अब तुम उर्वशी नाम वाली हो। हे स्थाली के घृत! तुम अग्नि की आयु हो। हे उत्तरारणि! हम अग्नि उत्पन्न करने के निमित्त तुम्हारी पुरुषरूप में कल्पना करते हैं, अतः तुम पुरूरवा नाम के हो। हे अग्नि! गायत्री छन्द के अधिष्ठाता अग्नि देवता के बल से तुमको मन्थन से प्रकट करता हूँ, त्रिष्टुप् छन्द के अधिष्ठाता इन्द्रदेवता के बल से तुमको दो अरणियों के द्वारा मथता हूँ। हे अग्निदेव! जगती छन्द के अधिष्ठाता विश्वेदेवों के बल से तुमको दो अरणियों के द्वारा मथता हूँ॥२॥

भाष्यसार—'अग्नेर्जनित्रमसि' इस कण्डिका द्वारा शतपथ ब्राह्मण में प्रतिपादित छः कार्य किये जाते हैं— वेदि पर काष्ठखण्ड का स्थापन, दो कुशाओं का स्थापन, उन पर अधरारणि का स्थापन, उत्तरारणि द्वारा घृत का स्पर्श, अधरारणि पर उत्तरारणि द्वारा घृत

---

१. 'शकलमादत्ते, दर्भतरुणके निदधाति, अथाधरारणिं निदधाति, उत्तरारण्याज्यविलापनीमुपस्पृशति, तामभिनिदधाति, स मन्थति' (श. ३.४.१.२०-२३) इति विषयः।

२. का. श्रौ. ५.१.२२-२५, ५.२.२

मन्त्रान् विनियुङ्क्ते। अग्निमन्थनार्थमधरारणिरुत्तरारणिरित्यरणिद्वयम्। तत्राधरारणेर्वेद्यां निक्षेपणात् पूर्वं शकलमेकं निक्षिप्य तदुपरि द्वौ कुशौ प्रागग्रतया प्रसारणीयौ। तदुपर्यधरारणिः, तदुपरि चोत्तरारणिः, ततश्च मन्थानमिति प्रक्रिया।

'अग्नेर्जनित्रमिति शकलमादाय तूष्णीं वेद्यां करोति' (का. श्रौ. ५.१.२२)। हे शकल! त्वमग्नेर्जनित्रमसि, जायतेऽस्मिन्निति जनित्रम्, अग्निजननाधारभूतमसि। 'वृषणाविति कुशतरुणे तस्मिन्' (का. श्रौ. ५.१.२३) इति कात्यायनः। आदायेत्यनुवर्तते। तस्मिन् शकले द्वे दर्भतृणे प्रागग्रे निदध्यात्। हे दर्भौ, युवां वृषणौ सेक्तारौ भवतः। यथा पुत्रजननाय स्त्रीपुरुषौ वीर्यस्य सेक्तारौ तद्वद् युवामप्यरण्योरग्निजननसामर्थ्यसम्पादकौ स्त इत्यर्थः। 'उर्वशीत्यधरारणिं तयोः' (का. श्रौ. ५.१.२४)। तयोर्दर्भतरुणयोरुपरि उत्तराग्रामधरारणिं निदध्यात्। हे अधरारणे, त्वमुर्वश्यसि यथोर्वशी पुरुषभोगायाधस्ताच्छेते तद्वत्त्वमधोऽवस्थितासीत्यर्थः। 'आयुरसीत्युत्तरयाज्यस्थालीꣳ सꣳस्पृश्य पुरूरवा इत्यभिनिधानं तया' (का. श्रौ. ५.१.२५) येयमुत्तरारणिर्निधास्यते तया आजस्थालीस्थमाज्यं स्पृशेत्। स्पृष्ट्वा पुरूरवा इति मन्त्रेण तया उत्तरया अरण्या अभिनिधानं कुर्यात्, अधरारणेरुपरि उत्तरारणिं निदध्यादिति सूत्रार्थः। हे स्थालीगताज्य, त्वमायुरसि। अरणिद्वयेन जायमानस्याग्नेरायुःप्रदमसीत्यर्थः। हे उत्तरारणे, त्वं पुरूरवा असि। यथा पुरूरवा इति शब्दाभिधेयः पुरुष उर्वश्या अभिमुखत्वेनोपरि वर्तते, तथा त्वमपीत्यर्थः। तथैवापस्तम्बोऽपि—'अग्नेर्जनित्रमसीत्यधिमन्थनशकलं निदधाति, वृषणौ स्थ इति प्राञ्चौ दर्भावुर्वश्यसीत्यधरारणिमादत्ते पुरूरवा इत्युत्तरारणिमिति' (आप. श्रौ. ७.१२)। 'मन्थति गायत्रेणेति प्रतिमन्त्रं त्रिः प्रदक्षिणम्' (का. श्रौ. ५.२.२)। अध्वर्युर्गायत्रेति मन्त्रत्रयेणारण्योर्मन्थनं कुर्यात्। प्रदक्षिणमप्रदक्षिणं च मन्थनं भवति। तत्राह—प्रदक्षिणमिति। त्रिः प्रदक्षिणं मन्थनं कुर्यात्। हे अग्ने, गायत्रीच्छन्दोऽभिमानिना देवेनाहं त्वां मन्थामि अरण्योर्मन्थनेनोत्पादयामि।

दयानन्दस्तु—'अग्नेराग्नेयास्त्रादेः सिद्धिकरस्य पावकस्य जनित्रं जनकं हविः, असि भवति' इति पदार्थः। तत्रेदं वक्तव्यम्—अग्निस्तु पाकस्यापि सिद्धिकरः, तर्हि आग्नेयास्त्रादेरिति कुतो लब्धम्? जनित्रपदेनात्र हविरभिप्रेतम्। 'आग्नेयास्त्रादेः' इति पदघटकादिपदेन पाकोऽपि चेदभिप्रेयते, तर्हि तज्जनकं हविरिति कथं सिद्ध्यति? किं हविरग्नौ हुत्वाऽग्निं सम्पाद्य ततः पाक इति स्यात्? विनैव हविषो होमेनाग्निं सम्पाद्य तेन किं पाको न सिद्ध्येत्? यदि हविर्होमो नियम्यते, हविर्होमेनैवाग्निं सम्पाद्य पाकः कर्तव्य इति, तर्हि नेदं भवदभिमतयज्ञस्वरूपं सिद्ध्येत्। सर्वथाऽप्यसम्बद्धः पदार्थः। सत्यं वृषणौ वर्षयितारौ भवतः, किन्तु तौ कौ कस्येति न प्रतिपादितं दयानन्देन। महीधरमते तु वृषणौ कुशौ भवतः, 'दर्भतरुणके निदधाति' (श. ३.४.१.२१) इति ब्राह्मणात्। यथा वृषणयोर्वर्षयितृत्वं तथा कुशयोरपीति न किमप्यसामञ्जस्यम्। दयानन्दमते तु सर्वथाऽनन्वित एव मन्त्रार्थः। उर्वशीशब्दः पुरूरवःशब्दश्च यौगिकव्युत्पत्त्या

का स्पर्श, अधरारणि पर उत्तरारणि का स्थापन तथा अग्निमन्थन। ब्राह्मणोक्ति के अनुसार सूत्रकार कात्यायन ने भी (का. श्रौ. ५.१.२२-२५, ५.२.२) इन्हीं कर्मों को प्रदर्शित करते हुए उनमें मन्त्रों का विनियोग किया है।

तदनुसार मन्त्रार्थ इस प्रकार है — हे काष्ठशकल, तुम अग्नि के उत्पादनाधार हो। हे दर्भद्वय, तुम अग्नि के उत्पादन हेतु सामर्थ्य के सम्पादक हो। हे अधरारणि, तुम उर्वशी के समान हो। हे उत्तरारणि, तुम पुरूरवा के स्वरूप हो। हे अग्निदेव, मैं गायत्री छन्द से मन्थन करता हुआ आपका प्रादुर्भाव करता हूँ, त्रिष्टुप् छन्द के द्वारा मन्थन करता हुआ आपको प्रादुर्भूत करता हूँ तथा जगती छन्द के द्वारा मन्थन से आपको प्रादुर्भूत करता हूँ।

स्वामी दयानन्द ने अग्नि का 'आग्नेयास्त्र आदि का साधक' अर्थ किया है। अग्नि तो पाक का भी साधक है, अतः आग्नेयास्त्रादि अर्थ ही कैसे प्राप्त हुआ। 'वृषणौ' का अर्थ वर्षण करने वाले हैं, यह तो ठीक है, किन्तु वे कौन हैं? किसके

यज्ञक्रियायाः शास्त्रोपदेशकगुरोश्च बोधकौ। आयुःशब्दश्च एति जीवनं येनेति व्युत्पत्त्या घृताद्यभिधायी। एवं च या यज्ञक्रिया यश्च तादृशो गुरुः, यश्च जीवनप्रापको घृतादिः, त्वा तं गायत्र-त्रैष्टुभ-जागतैश्छन्दोभिर्मन्थामीति निष्पद्यते। तत्र 'त्वा'शब्दस्य प्रथममग्निः, अनन्तरं सोमाद्योषधिसमूहः, तृतीय'त्वा'शब्दस्य सामग्रीसमूहः, शत्रुदुःखसमूहो वाऽर्था निर्दिष्टाः। छन्दःशब्दस्यानन्दकर्तरि, सुखकारके, सुखसम्पादके च प्रयोगः कृतः। मन्थामिशब्दस्य च सर्वत्र विलोडन-क्रियाकरणकनिष्पादनं निवारणं चार्थः। तथा चायमर्थः सम्पद्यते—यद्धविः, यौ वृषणौ, या यज्ञक्रिया, यश्चायुःप्रापकपदार्थः, यश्च शास्त्रोपदेशको गुरुस्तमग्निं तं सोमाद्योषधिसमूहं तं सामग्रीसमूहं शत्रुदुःखसमूहं वा आनन्दकर्त्रा सुखकारकेण सुखसम्पादकेन च विलोडनक्रियया निष्पादयामि निवारयामि च। यच्छब्देन यस्य ग्रहणं तस्यैव तच्छब्दो वक्ता भवतीति सर्वसम्प्रतिपन्नम्। प्रथमं यदग्नेर्जनित्रं हविरित्युक्त्वाऽनन्तरं त्वा तमग्निं मन्थामि विलोडनक्रियया निष्पादयामीति प्रति-पादिते किं केन सम्बद्धमिति विचारयन्तु सुधियः। उर्वशी यज्ञक्रिया, पुरूरवाः शास्त्रोपदेशको गुरुः, अनयोर्विलोडन-क्रियया निष्पादनम्, आयुष्करस्य वस्तुनस्तादृशं निष्पादनं कीदृशमिति न बुद्धिमारोहति। 'यौ वृषणौ स्थो भवतः' इत्यभिधाय तयोर्मन्थनं परित्यक्तम्। अत्रापि वाचकलुप्तोपमालङ्कारोऽसङ्गत एव, पूर्वमेवासङ्गतेः प्रदर्शितत्वात्। भावार्थस्तु सर्वथाऽसङ्गतः। हविषो यज्ञक्रियायाः, गुरोः, आयुःप्रापकपदार्थस्य च मन्थनेन कः परोपकारः स्यात्? अतः सर्वांशेन दयानन्दविवरणमिदमसम्बद्धम्, अनन्वितम्, निष्प्रमाणकं चेति सिद्धम्।

यदपि च—'अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु। उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाऽभ्यूर्णवाना प्रभृथस्यायोः॥' (ऋ. सं. ५.४१.१९), 'अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वशिष्ठः' (ऋ. सं. १०.९५.१७) एभिः प्रमाणैरुर्वशी विद्युत्। नैरुक्तपक्षे तु पुरूरवा मध्यस्थानो वाय्वादीनामन्यतमः। पुरु रौतीति पुरूरवाः। उर्वशी विद्युत्, उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमश्नुत इत्युर्वशी। वर्षाकाले विद्युति विनष्टायां तया वियुक्तः स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं कुर्वन् विलपति। 'तस्याग्नेः (औषाधयोऽप्सरसः)' (वा. सं. १८.३८; श. १३.४.३.८), 'तस्य चन्द्रमसः (नक्षत्राण्यप्सरसः) (वा. सं. १८.४०; श. ९.४.१.९), 'तस्य मनस ऋक्सामान्यप्सरसः' (वा. सं. १८.४३; श. ९.४.१.१२), सूर्यस्य मरीचयो रश्मयः, अप्सरसोऽपो जलानि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रार्थानवगमात्। मन्त्रार्थस्तु—अभिगृणातु नोऽस्मान् इला भूमिः, यूथस्य गोसङ्घस्य माता निर्मात्री, यद्वा इडा गोरूपधरा मनोः पुत्री, यद्वा यूथस्य मरुद्गणस्य निर्मात्रीडा माध्यमिकी वाग्, नदीभिः गङ्गादिभिः सह गृणातु, स्मच्छब्दः प्रशस्तवचनः, प्राशस्त्यं गृणातु। अथवा उर्वशी बृहद्दिवा प्रभूतदीप्तिः, गृणाना शब्दयन्ती अस्मदीयं कर्म प्रशंसन्ती अभ्यूर्णवाना आच्छादयन्ती, आयोरायुं मनुष्यो यजमानः केन प्रभृथस्य तेजसो वोदकस्य दानेन 'प्रभृथस्य.... ज्योतिषो वोदकस्य' (निरु. ११.४९), अथवा प्रभृथस्य प्रभरणवत आयो-र्यज्ञमभ्यूर्णवानाच्छादयन्ती। नहि विद्युद्रूपोर्वशी गृणाना शब्दयन्ती वा भवति।

किञ्च, तत्तद्ब्राह्मणानुसारेण काममन्यत्रान्येऽप्यर्था भवन्तूर्वश्यादिशब्दानाम्, प्रकृते त्वधरोत्तरारण्योरुर्वशीपुरू-रवस्त्वदृष्ट्या तज्जनिते यज्ञसाधनोऽग्नौ चोर्वशीपुरूरवोमिथुनादुत्पन्नायुर्दृष्ट्या वर्णनम्। तथाहि—'स मन्थति। गाय-त्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामीति तं वै छन्दोभिरेव मन्थति छन्दाꣳसि मथ्यमानायान्वाह छन्दाꣳस्येवैतद्यज्ञमन्वायातयति यथामुमादित्यꣳ रश्मयो जातायानुब्रूहीत्याह यदा जायते प्रह्रियमाणायेत्यनुप्रहरन्' (श. ३.४.१.२३)। समन्त्रकं मन्थनं विधत्ते—स मन्थतीति- - - - तं छन्दोभिरेवेति। यद्यप्यन्यैः

वर्षक हैं? यह स्वामी दयानन्द ने प्रतिपादित नहीं किया। भावार्थ भी सर्वथा असंगत है, अतः स्वामी दयानन्द का अर्थ पूर्णतः असम्बद्ध है॥२॥

साधनैर्मथ्नाति, तथापि गायत्रेण त्वेति मन्त्रसामर्थ्येन छन्दोभिरेव साधनैर्मन्थनं कृतवान् भवति। अस्त्वेवं छन्दसां किं फलमिति तत्राह — छन्दांस्येवैतं यज्ञमन्वायातयति। छन्दसामनुप्रवेशनं न केवलं छन्दोलिङ्गकैर्मन्त्रैर्मन्थनाद् भवति, अपि तु तस्मिन् काले होत्रा छन्दसामनुवचनादपि भवतीत्याह। तत्र दृष्टान्तः— यथामुमादित्यमिति। यथादित्यं रश्मयोऽन्वायन्ति, तथा छन्दांसि यज्ञमन्वायत्तानीत्याहवनीये प्रह्रियमाणाय प्रक्षिप्यमाणायानुप्रहरन्ननुब्रूहीत्यनुषज्यते।

शतपथे तु—'सोऽधिमन्थनꣳ शकलमादत्ते। अग्नेर्जनित्रमसीत्यत्र ह्यग्निर्जायते तस्मादाहाग्नेर्जनित्रमसीति' (श. ३.४.१.२०)। यूपतक्षणोत्पन्नोऽधरारण्या अधः स्थाप्यमानः शकलोऽधिमन्थनशकलः। यस्योपरि मथ्यते, तमादत्ते। हे शकल! त्वमग्नेर्जनित्रमुत्पादकमसि। कथमस्य जनित्रत्वमिति तत्राह—अत्र हीति। अत्र ह्यधरारणिव्यवहिते शकलेऽग्निर्जायते। नात्र व्याख्यानेऽप्याग्नेयास्त्रादिकमुक्तम्। 'अथ दर्भतरुणके निदधाति। वृषणौ स्थ इति तद्यावेवेमौ स्त्रियै साकञ्जावेतावेवैतौ' (श. ३.४.१.२१)। अत्र दर्भतरुणके कोमलौ परस्परसदृशौ दर्भावुद्दिश्य वृषणौ स्थ इत्याह। नात्र सूर्यवायू विवक्षितौ, श्रुतिविरुद्धत्वात्। हे दर्भौ, युवां वृषणौ अभिमतवर्षितारौ स्थः। तौ प्रशंसति—तद्याविति। स्त्रियै स्त्रियाः सकाशात् साकञ्जौ सहोत्पन्नौ याविमौ परस्परसदृशौ पुत्रौ, तावेव युगलौ पुत्रावेव, रूपकोपन्यासेनात्यन्तसादृश्यमभिमतमिति। 'अथाधरारणिं निदधाति। उर्वश्यसीत्यथोत्तरारण्याज्यविलापनीमुपस्पृशत्यायुरसीति तामभिनिदधाति पुरूरवा असीत्युर्वशी वा अप्सराः पुरूरवाः पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायुरेवमेवैष एतस्मान्मिथुनाद्यज्ञं जनयत्यथाहाग्नये मथ्यमानायानुब्रूहीति' (श. ३.४.१.२२)। अधरारणिनिधाने मन्त्रः— उर्वश्यसीति। हे अधरारणे! त्वमुर्वशी भवसि। आज्यं विलाप्यते यस्यां सा आज्यविलापनी स्थाली, तामुत्तरारण्या संस्पृशेद् आयुरसीति मन्त्रेण। तामुत्तरारणिं पुरूरवा असीति मन्त्रेण तस्या उपरि निदध्यात्। अरण्योराज्यविलापन्याश्च यदुर्वश्याद्यात्मकत्वम्, तत् त्रयं प्रशंसितुं पुरावृत्तदृष्टान्तमाह—उर्वशी वा अप्सराः पत्नी आसीत् पुरूरवाः पतिरभवत्। अन्यत्रोर्वशीशब्दस्य कामं भवत्वन्योऽर्थः, परं प्रकृते तु शतपथप्रामाण्यात् पुरूरवाः पतिरुर्वशी च तत्पत्न्येवाभिप्रेता, पतिसम्बन्धस्यान्यत्रासम्भवात्। तस्मान्मिथुनादायुर्नामा पुत्रोऽजायत। तत्सर्वमग्रे समाम्नास्यते —'उर्वशी हाप्सराः पुरूरवसमैलं चकमे' (श. ११.५.१.१-१७) इति। एवमेवैष इति दार्ष्टान्तिकाभिधानम्। एतस्मान्मिथुनाद् यज्ञमग्निं जनयति, यज्ञसाधनत्वादग्नेः। अथारण्योरासादनानन्तरमग्नये मथ्यमानाय अनुब्रूहीति होतारमाह॥ २॥

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः॥३॥

मन्थनानन्तरं निष्पन्नस्याग्नेराहवनीयाग्निना योजनम्—'सोऽनुप्रहरति भवतं नः' (श. ३.४.१.२४) इति विधेः, 'भवतं न इति प्रास्यति' (का. श्रौ. ५.२.५) इति कात्यायनसूत्राच्च। एतेनाहवनीयाग्निः, निर्मथ्याग्निश्चेति द्वावग्नी सिद्ध्यतः।

मन्त्रार्थ — हे दोनों अग्नियों! हमारी कार्यसिद्धि के लिये एकाग्र मन, समान चित्त वाले होइये, हम पर क्रोध न कीजिये। यज्ञ को नष्ट न होने दीजिये, यज्ञपति (यजमान) को क्षतिग्रस्त न होने दीजिये। आज आप लोग हमारे निमित्त कल्याणकारक होइये॥ पहले मन्त्र से अरणि-मन्थन द्वारा उत्पन्न की गई अग्नि को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए आहवनीय अग्नि के साथ संयुक्त कर यज्ञ और यज्ञपति के कल्याण के लिये प्रार्थना की जाती है॥३॥

भाष्यसार—'भवतं नः' इस मन्त्र से याज्ञिक विनियोग के अनुसार अरणिमन्थन से उद्भूत अग्नि को आहवनीय अग्नि से संयुक्त किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (५.२.५) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

'तत्र भवतम्' इत्यादयो मन्त्रगता द्विवचनान्ताः शब्दा उपपन्ना भवन्ति। यद्यप्याहवनीयेऽपि निर्मन्थ्यत्वमस्ति, तथापि निर्मन्थ्याधिकरणन्यायेन[१] (मी. सू. १.४.१०) अचिरनिर्मथिताग्नावेव निर्मन्थ्यशब्दस्य प्रवृत्तिरिति द्वावग्नी सिद्ध्यतः। प्रार्थनायां लोट्। हे जातवेदसौ मन्त्रोक्तगुणयुक्तौ, युवां कल्याणकारिणौ भवतमिति। सुगममन्यत्। 'भवतमिति प्रास्यति' (का. श्रौ. ५.२.५)। आहवनीये जातमग्निं प्रक्षिपेदध्वर्युः। पङ्क्तिश्छन्दः। यस्या अष्टार्णाः पञ्चपादाः सा पङ्क्तिरिति। अत्र तु तृतीयः षडक्षरः, चतुर्थो दशार्णः। निर्मथ्याहवनीयावग्नी देवते इति महीधरः। भवतं नः समनसावित्यग्रेणोत्तरं परिधिमाहवनीये प्रहरतीत्यापस्तम्बः। भवतं नः समनसावित्यग्रेणोत्तरं परिधिमाहवनीये प्रहरतीति सायणः। प्रहरति प्रास्यतीत्यर्थः। योऽयमाहवनीयोऽग्निः, यश्चायं मथितोऽग्निस्तावुभौ हे जातवेदसौ, नोऽस्मदर्थं समनसौ मनसा सहितौ (सचेतसौ) समानप्रज्ञौ परस्परसमानचित्तौ वा अन्यविषयं मनः परित्यज्यास्मदनुग्रहाभिमुखत्वं समनस्त्वं तत्रानुग्रहं परस्परविप्रतिपत्तिराहित्यं वा सचेतस्त्वमित्यपुनरुक्तता। अरेपसौ पापरहितौ। रेप इति पापनाम। अस्मद्विषये प्रामादिकेनापराधेनापि कोपाभावः पापराहित्यम्। यथोक्तगुणयुक्तावुभौ तिष्ठतम्। तदेव स्पष्टयति—'यज्ञं मा हिꣳसिष्टम्' अस्मदीयं कर्म मा विनाशयतम्। हे जातवेदसा उभावग्नी, अद्य अस्मिन्ननुष्ठानदिने नोऽस्मदर्थं शिवौ शान्तौ भवतमिति सायणाद्यनुसारि व्याख्यानम्। शतपथे च—'सोऽनुप्रहरति। भवतं नः समनसौ... भवतमद्य न इति शान्तिमेवाभ्यामेतद्वदति यथा नान्योऽन्यꣳ हिꣳस्याताम्' (श.३.४.१.२४)। व्याख्यानं तूक्तमेव। तात्पर्यमाह— शान्तिमेवाभ्यामेतन्मन्त्रवचनं वदति। कुतस्तत्प्रसङ्ग इति तत्राह— नान्योन्यं हिंस्यातामिति।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदसौ, जातो वेदो ज्ञानं याभ्यां तौ जातवेदसौ ज्ञानोत्पादकौ शमदमौ, युवां समनसौ अन्यविषयत्वं परिहृत्य मदभिमुखौ अनुग्रहवैमत्यराहित्येनैकमत्येन अरेपसौ प्रमादेऽपि कोपरहितौ मम यज्ञमुपासनालक्षणं ज्ञानलक्षणं वा यज्ञं मा विनाशयतम्। यज्ञपतिमुपासकं ज्ञानाभ्यासिनं वा मा विनाशयतम्। नोऽस्मभ्यं हिताय शिवौ कल्याणकारिणौ भवतम्।

'यजमानयज्ञसम्पादकौ कीदृशौ भवेतामित्युपदिश्यते' इत्युपक्रम्य दयानन्दो मन्त्रं व्याख्यातवान्। तत्र यज्ञसम्पादकशब्देन किं यज्ञानुष्ठाताभिमतः? उत यज्ञसामग्रीसम्पादकः? आद्ये द्विवचनानुपपत्तिः, यजमानयज्ञानुष्ठात्रोरभेदात्। द्वितीयेऽपि स एव दोषः, सामग्रीसम्पादकानां बहूनामपि सम्भवात्। अत्र मन्त्रे द्विवचनान्तानां पदानामुपपादनाय 'यजमान-यज्ञसम्पादकौ' इति निर्दिष्टं दयानन्देन। मन्त्रे च 'यज्ञम्' इति, 'यज्ञपतिम्' इति च पदद्वयोल्लेखो दृश्यते। एत-

---

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे ज्ञानोत्पादक शम तथा दम, आप दोनों अन्यविषयकत्व का परित्याग करके मेरे अभिमुख एकमत रहते हुए मेरे प्रमाद में भी कोपरहित होकर मेरे उपासनात्मक अथवा ज्ञानात्मक यज्ञ को हीन न करें, उपासक अथवा ज्ञान का अभ्यास करने वाले मुझको हिंसित न करें तथा हमारे लिये कल्याणकारी हों।

यजमान तथा यज्ञ के सम्पादक कैसे हों? इस आशय से स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या की है। यज्ञसम्पादक शब्द का अभिप्राय यज्ञ का अनुष्ठाता है अथवा यज्ञ की सामग्री को जुटाने वाला है। यज्ञानुष्ठाता होने पर मन्त्रोक्त द्विवचन से विसंगति होती है, क्योंकि यजमान तथा यज्ञानुष्ठाता एक ही हैं। सामग्रीसम्पादक अर्थ में भी वही दोष है, क्योंकि सामग्री का

---

१. प्रथमः - चतुर्थ-दशमाधिकरणे 'निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति' इति वाक्यमुदाहृत्य विचारः प्रवर्तितः—किं निर्मन्थ्यशब्दः संस्कारप्रवृत्तिनिमित्तकः? उत जातिप्रवृत्तिनिमित्तको बर्हिराज्यादिवत्? आहोस्विदचिरमन्थनक्रियाप्रवृत्तिनिमित्तकः? इति त्रेधा सन्दिह्य 'निर्मन्थ्यमानायोदनं पक्ष्यामहे' इति जातौ लौकिकप्रयोगदर्शनात् संस्कारनिमित्तत्वं निरस्य जातिप्रवृत्तिनिमित्तत्वमेवेति पूर्वपक्षयित्वा निष्पूर्वाद् मन्थतेः 'ऋहलोर्ण्यत्' (पा.सू.३.१.१२४) इति कर्मणि ण्यति निष्पन्नस्य निर्मन्थ्यशब्दस्यावयवार्थयोगेन मन्थनकर्मतावाचित्वसम्भवाद् यौगिकत्वमेवेति सिद्धान्तितम्।

त्स्वारस्येनापि यजमानयज्ञसम्पादकयोर्लाभो न भवति, 'यज्ञम्' इत्यस्य 'अध्ययनाध्यापनाख्यं कर्म' इति, 'यज्ञपतिम्' इत्यस्य 'एतद्यज्ञपालयितारम्' इति च तेन स्वयं व्याख्याततत्वात्। 'एष वाव प्रथमो यज्ञानाम्' (ताण्ड्यब्रा. १६.१.२), 'तं न प्रथमयज्ञे प्रवृञ्ज्यात्' (श. १४.२.२.४४), 'तस्माद्दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विजः' (तै. ब्रा. २.३.६.२), 'यज्ञो वै देवेभ्यः' (ताण्ड्यब्रा. १४.३.१०) इत्यादिश्रुतिवाक्येषु यज्ञशब्दस्यान्यार्थकत्वदर्शनात्, अध्ययनाध्यापनाख्ये कर्मणि क्वापि यज्ञशब्दप्रयोगादर्शनाच्च यज्ञपदार्थोऽयमनुपपन्नः। 'उरु प्रथस्वेति प्रथयत्येवैनमेतदुरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्' (श. १.२.२.८) इत्यादिश्रुतिषु यज्ञपतिशब्दो नाध्ययनाध्यापनाख्यकर्मपरिपालयितरि प्रयुक्तः, तत्र तस्यान्यार्थकत्वात्। यथेच्छं शब्दानामर्थविवरणं न खलु समुचितम्। मनःशब्दस्य विज्ञानम्, चेतःशब्दस्य च संज्ञानं विज्ञापनमिति चार्थः कृतः। विज्ञानस्य मनः साधनं भवति, न तु तद् विज्ञानमेव भवति, मनसा विज्ञायत इति प्रयोगात्। ज्ञानस्य प्रकारा विज्ञानसंज्ञानादयः, तत्साधनं च मनश्चेतः। साध्यसाधनयोरेकरूपत्वं न खलु सङ्गतम्। जातवेदःशब्दोऽग्निवाची प्रसिद्धः। 'जातवेदसे सुनवाम सोमम्' (ऋ. सं. १.९९.१) इत्यादिमन्त्रेषु तस्याग्निरेवार्थो गृहीतः शास्त्रकारैः। व्युत्पत्तिरस्तीति यथा तथा वार्थकथनं न शोभायै स्यात्। 'जातवेदा' इत्यस्य व्युत्पत्तिरस्ति—जातं वेदो धनं यस्मादिति। यस्माद् धनं जातं स जातवेदा आढ्यः। तस्य द्विवचने आढ्याविति सम्पद्यते। आढ्यौ समनसौ सचेतसावरेपसौ सन्तौ यज्ञं यज्ञपतिं च मा हिंसिष्टमिति मन्त्रविवरणं किं रोचेत दयानन्दाय? प्रकरणेऽत्र द्वावग्नी भवतः— आहवनीयो निर्मन्थ्यश्च। उभावपि तौ जातवेदःपदेन निर्दिश्य मन्त्रार्थवर्णने या सङ्गतिर्न सा दयानन्दविवरण इति पश्यामः ॥३ ॥

अ॒ग्नाव॒ग्निश्च॑रति॒ प्रवि॑ष्ट॒ ऋषी॑णां पु॒त्रो अ॑भिशस्ति॒पावा॑। स नः॑ स्यो॒नः सु॒यजा॑ यजे॒ह दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यꣳ सद॒मप्र॑युच्छ॒न् स्वाहा॑ ॥४ ॥

'अग्नावग्निरिति जुहोति स्थाल्याः स्रुवेण' (का. श्रौ. ५.२.६)। स्थाल्या आज्यं गृहीत्वा स्रुवेण जुहुयादध्वर्युः। विराट् छन्दः। दशाक्षरैश्चतुर्भिः पादैर्विराट्। अत्र तु द्वितीयतुर्यावेकादशार्णौ ततो द्व्यधिका। अग्नावाहवनीयाख्ये यः प्रविष्टोऽग्निर्मथ्यमानः, सोऽयं चरति हविर्भक्षयति, इतस्ततो ज्वालाभिः सञ्चरति वा, 'चर गतिभक्षणयोः' इति धातोः। कीदृशोऽग्निरित्याह—ऋषीणां पुत्र इति। ऋत्विजो वेदविदश्चात्र ऋषय उच्यन्ते। तैरुत्पादितत्वात् पुत्र इव पुत्रः। अभिशस्तिपावा, अभिशस्तिर्वैकल्यनिमित्तोऽभिशापो निन्दालक्षणो वा शापः, तस्मात् पाति रक्षतीत्यभिशस्तिपावा। 'आतो मनिन्. . .' (पा. सू. ३.२.७४) इति वनिप्प्रत्ययः। हे अग्ने, स तथाविधस्त्वं नोऽस्माकं स्योनः सुखरूपो भूत्वा सुयजा

संकलन करनेवाले बहुत भी हो सकते हैं। जातवेद शब्द अग्निवाचक ही प्रसिद्ध है। शास्त्रकारों ने इसका अग्नि अर्थ ही लिया है। अन्य व्युत्पत्ति भी हो सकती है, इसके लिये जैसे तैसे अर्थ कर देना शोभनीय नहीं है ॥३ ॥

मन्त्रार्थ— वेदवेत्ता ऋषियों के द्वारा उत्पन्न किया हुआ अग्निरूप ऋषिकुमार अथवा वैकल्य-निमित्तक अभिशाप से या दुष्टों के आक्रमण से रक्षा करने वाला मथित अग्नि आहवनीय अग्नि में प्रविष्ट हुआ हवि को भक्षण करता है। हे अग्निदेव! वह तुम ही हो। तुम हमारे लिये सुखरूप हो कर इस सुन्दर यज्ञस्थान में सदा प्रमादरहित होकर इन्द्रादि देवताओं के निमित्त हवि ले जाओ। मैं तुम्हें यह घृत की श्रेष्ठ आहुति देता हूँ॥ इस मन्त्र को बोलते हुए स्रुवे से आज्यस्थाली का घी लेकर अग्नि में आहुति दी जाती है ॥४ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (५.२.६) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'अग्नावग्निः' इस मन्त्र द्वारा अध्वर्यु आज्यस्थाली से घृत लेकर स्रुव से हवन करे। शतपथ ब्राह्मण में भी इस स्रुवाहुति का विधान किया गया है।

शोभनेन यागेन इह स्थाने देवेभ्य इन्द्रादिभ्यो हव्यं सोमादिरूपं यज देहि सङ्गमय वा । अस्माभिर्दत्तं हविर्देवान् प्रापय । किं कुर्वन्? सदं सदा अप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन्, उच्छिष्टेषु देवेषु कमप्यपरित्यजन्, 'युच्छ प्रमादे' । स्वाहा तुभ्यमिदमाज्यं हुतमस्तु । यद्वा सोऽग्निर्नो हविर्देवेभ्यो यज यजतु ददातु । पुरुषव्यत्ययः ।

निर्मन्थ्यमाहवनीये प्रक्षिपेदित्युक्तम् । द्वयोरग्न्योर्निमन्थ्याहवनीययोर्मेलनेनानिष्टोत्पत्तिर्मा भूदिति तावग्नी सम्प्रार्थितौ—'जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः' (श. ३.४.१.२४) इति । तदूर्ध्वं तत्र स्रुवाहुतिर्विहिता—'अग्निमभिजुहोति' (श. ३.४.१.२५) इति । तत्रायं मन्त्रो विनियुक्तः—अग्नावग्निश्चरतीति । अत्र कात्यायनः— 'अग्नावग्निरिति जुहोति स्थाल्याः स्रुवेण' (का. श्रौ. ५.२.६) इति । आज्यस्थालीतः स्रुवेणाज्यमादायाऽग्नावग्निरिति मन्त्रेण जुहुयादित्यर्थः । आरादुपकारकोऽयं होमः, यागीयद्रव्यदेवताद्यनुद्दिश्य विहितत्वात् । तथा च—आहवनीयाग्नौ निर्मन्थ्याग्निरयं प्रविष्टोऽस्माभिर्दीयमानं हविश्चरति भक्षयति । अयं च ऋत्विग्रूपेभ्य ऋषिभ्य उत्पन्नः, अत एव तेषां पुत्र इव, अपि चाभिशस्तिपावा अभिशापात्पालकः । एतादृशः सोऽस्मदर्थमिह यज्ञे देवेभ्य इन्द्रादिभ्योऽस्मद्धुतमाज्यादिकं हविः प्रापयतु ।

अध्यात्मपक्षेऽपि — जीवः परमात्मानमुपास्ते । तदग्निश्चिद्रूपो जीवोऽग्नौ परमात्मनि चरति विहरति । उपासकस्य उपास्यतत्त्वे मनसा सञ्चार एवोपासनप्रयोजनम् । तथा च कारिकासु 'देवो भूत्वा यजेद्देवान्' इति । तदर्थमेव भूशुद्धि-भूतशुद्ध्यादिभिर्जीवरूपस्य साधकस्य देवात्मभावापादनम् । स उपासक ऋषीणां वेदविदामुपदेशेन संस्कृतः सन् नवीनं जन्म प्राप्य तत्पुत्रो भूत्वा अभिशस्तेर्निन्दिताद् असुर्याद् भावादात्मनः पाता भूत्वा स्योनः सुखस्वरूपब्रह्मरूपः सन् हे साधक, त्वं सुयजा शोभनेन उपासनालक्षणेन यागेन नः सर्वेभ्यो हिताय इहास्यां व्यवहारभूमौ देवेभ्य उपास्यतदङ्गोपाङ्गेभ्यो हव्यं समर्पणीयं बाह्यमान्तरं मनोमयं विविधं समर्पणीयमात्मरूपं च यज सङ्गमय ।

दयानन्दस्तु—'अत्र महीधरेण विराडित्यशुद्धं व्याख्यातम्' इत्युक्त्वा स्वयं 'आर्षी त्रिष्टुप्' इति वदति । तत्पूर्वं विचारणीयम् । 'तानि त्रीणि समागम्य सनामानि सनाम तत्' इति, 'एकं भवत्यृषिश्छन्दस्तथा गच्छति सम्पदम्' इति ऋक्प्रातिशाख्ये षोडशे पटले सप्तमं सूत्रम् । एवम् 'प्राग्यजुषामार्ष्यः' (२.१५) इति च पिङ्गलसूत्रम् । छन्दोनिर्णये प्रातिशाख्यं वा पिङ्गलसूत्रं वा न प्रमाणमिति न कोऽपि हृदयवान् विद्वान् कथयेत् । अनयोः सन्दर्भयोरयमर्थः—[1]गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि प्राजापत्यानि, दैवानि, आसुराणि, आर्षाणीति चतुर्धा विभक्तानि । प्राजापत्या गायत्री, दैवी गायत्री, आसुरी गायत्री, आर्षी गायत्रीत्येवं सप्तानामपि छन्दसां विभागः । तत्र प्राजापत्या गायत्री अष्टाक्षरा । तदूर्ध्व-

---

अध्यात्मपक्ष में इस मन्त्र से जीव परमात्मा की उपासना करता है । चिद्रूप जीव अग्निरूपी परमात्मा में विहरण करता है । उपास्य तत्त्व में उपासक का मानसिक संचार ही उपासना का प्रयोजन है । एतदर्थ ही भूशुद्धि, भूतशुद्धि आदि के द्वारा जीवरूपी साधक का देवात्मभाव सम्पादित होता है । वह उपासक वेदवेत्ताओं के उपदेश से संस्कृत होकर नवीन जन्म प्राप्त करके उनका पुत्र होकर निन्दित आसुर भाव से अपनी रक्षा करता है । तदनन्तर सुखस्वरूप ब्रह्मरूप होकर हे साधक ! तुम सुन्दर उपासनात्मक यज्ञ से हम सबके हितार्थ इस कर्मभूमि पर देवताओं तथा उनके उपास्य अंगों-उपांगों के लिये समर्पणीय बाह्य तथा आभ्यन्तर मनोमय आत्मरूपी हविर्द्रव्य का यजन करो ।

स्वामी दयानन्द ने—'यहाँ महीधर द्वारा 'विराट्' यह त्रुटिपूर्ण व्याख्या की गयी है' कह कर स्वयं यहाँ आर्षी त्रिष्टुप् छन्द प्रतिपादित किया है । चारों पादों के समानाक्षर होने पर ही 'आर्षी' इत्यादि का निर्देश करना शास्त्रसम्मत है । अतः आर्षी त्रिष्टुप्

---

१. गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्तिः, त्रिष्टुप्, जगती इति सप्त ।

मुष्णिगादिछन्दस्सु 'चतुर्भूयः परं परम्' (ऋ. प्रा. १६.२) इति सूत्रेण पूर्वस्मात् पूर्वस्माच्छन्दस उत्तरमुत्तरं चतुर्भिरक्षरैर्भूयो भवतीत्यर्थकेण चतुर्णां चतुर्णामक्षराणामाधिक्ये प्राजापत्या उष्णिक्, प्राजापत्या अनुष्टुबित्येवं सप्त प्राजापत्यानि छन्दांसि भवन्ति। एवं दैवान्यपि सप्त छन्दांसि, तानि चैकोत्तराणि। दैवी गायत्र्या एकमक्षरम्, दैव्युष्णिहोऽक्षरद्वयम्, दैव्यनुष्टुभोऽक्षरत्रयमित्येवं दैवानि सप्त छन्दांसि। आसुराण्यपि छन्दांसि सप्त। तत्र आसुरीगायत्र्याः पञ्चदशाक्षराणि, आसुर्या उष्णिहश्चतुर्दश, आसुर्या अनुष्टुभस्त्रयोदशेत्येवमेकन्यूनान्यक्षराणि सप्तानां छन्दसां भवन्ति, 'एकावमान्यसुराणां ततः पञ्चदशाक्षरात्' (ऋ. प्रा. १६.६) इत्युक्तत्वान्। इदं सर्वमभिधायानन्तरमिदं सूत्रम्—'तानि त्रीणि' इति। तानि पूर्वोक्तानि प्राजापत्यदैवासुराणि त्रीणि समानानामानि समागम्य एकीभूय सनाम तदेकमृषिच्छन्दो भवति, अर्थात् प्राजापत्यगायत्र्या अष्टावक्षराणि, दैवीगायत्र्या एकमक्षरम्, आसुरीगायत्र्याः पञ्चदशाक्षराणि। एतेषामक्षराणां योगेन चतुर्विंशत्यक्षराणि भवन्ति। चतुर्विंशत्यक्षरयुक्ता गायत्री आर्षी भवति। उत्तरमुत्तरं चतुःसंख्यावर्धनेन आर्षी उष्णिग् अष्टाविंशत्यक्षरा, आर्षी अनुष्टुब् द्वात्रिंशदक्षरा, आर्षी बृहती षट्त्रिंशदक्षरा, आर्षी पङ्क्तिश्चत्वारिंशदक्षरा, आर्षी त्रिष्टुप् चतुश्चत्वारिंशदक्षरा, आर्षी जगती अष्टाचत्वारिंशदक्षरा इति। अयमेवार्थः पिङ्गलसूत्रस्यापि। एवं च चतुश्चत्वारिंशदक्षरात्मिकायास्त्रिष्टुभ एव आर्षीत्वमायाति। अस्मिंश्च मन्त्रे चतुश्चत्वारिंशदक्षराणि सन्तीति भ्रान्त इव दयानन्दो भाति। एकैकस्य पादस्यैकादशाक्षरवत्त्वनियमस्तेन विस्मृत इव। चतुर्णां पादानां समानाक्षरवत्त्वे एवार्षीत्वादिव्यवहारः शास्त्रसम्मतः। अतः सर्वथा आर्षी त्रिष्टुबित्यशुद्धमेव।

अथ महीधरोक्तिं विमृशामः—'विराट्। दशाक्षरैश्चतुर्भिः पादैर्विराट्' इति विराट्छन्दसः स्थितिमभिधाय 'अत्र द्वितीयचतुर्थावेकादशार्णौ, ततो द्व्यधिका' इति महीधराचार्यो वदति। प्रथम-तृतीयपादयोर्दश दशाक्षराणि, तृतीयचतुर्थपादयोरेकादशैकादशाक्षराणि। चतुर्थपादेऽक्षरद्वयमधिकमित्यर्थो महीधरभाष्यस्य। तत्तच्छन्दसो नियतानामक्षराणां न्यूनाधिकभावे जाते तत्र संज्ञान्तरव्यवहारश्छन्दोविचितेः। प्रकृते त्रिष्टुभो नियतानां चतुश्चत्वारिंशदक्षराणां सत्त्वेऽपि द्वयोः पादयोर्विराण्णियताक्षरवत्त्वाद्विराडिति व्यवहारः कृतः। 'विराट्' इत्यस्य 'विराट्स्थाना'[1] इति तात्पर्यम्। तदिदमृक्प्रातिशाख्ये स्पष्टम्। प्रकृतमन्त्रे विराट्त्वं त्वस्ति, आर्षीत्वं तु सर्वथा नास्तीति दयानन्दवचनमेवाशुद्धम्।

'विद्युद्विद्वदग्नी कीदृशावित्युपदिश्यते' इत्यवतरणिकापङ्क्तिः। तत्र मन्त्रगतं सप्तम्यन्तं 'अग्नौ' इति पदं विद्युतो बोधकम्, प्रथमान्तं च 'अग्निः' इति पदं विदुषो बोधकम्। तत्र विदुष एव कीदृक्त्वं मन्त्रेण बोध्यते, विद्युच्च कीदृशीति न मन्त्रः प्रतिपादयति। विद्युदग्नेर्विद्वदग्नेश्च प्राप्तौ सत्यां तौ कीदृशाविति कथनमुचितम्। तयोः प्राप्तिस्तु दयानन्देन न प्रदर्शिता। अतोऽवतरणिकैवानन्विता।

'मन्त्रोक्तविशेषणविशिष्टोऽग्निर्विद्वान् नोऽस्मभ्यं देवेभ्यः स्योनः सुखकारी, सुयजा सुष्ठु यजन्ति यस्मिन् यज्ञे तेन हव्यं दातुं ग्रहीतुं योग्यं पदार्थं स्वाहा यज सङ्गमयतु' इति पदार्थो निरूपितः। अत्र हव्यमिति शब्दस्य दातुं ग्रहीतुं योग्यं पदार्थमित्यर्थकस्य दयानन्दाभिमतस्वाहाशब्दार्थस्यान्नस्यापि बोधकत्वे सम्भवति पृथङ्मन्त्रे स्वाहाशब्दोपादानं

कहना सर्वथा अशुद्ध है। विराट् का तात्पर्य विराट्स्थाना है। यह ऋक्प्रातिशाख्य में स्पष्ट है। हव्य शब्द देवताओं के लिये दातव्य पदार्थ के लिये प्रयुक्त किया जाता है, अन्यत्र नहीं। दयानन्द भाष्य के अनुसार 'हव्य' पद से जो भी अभिलषित हो, सबका बोधन किया जायगा। यह अर्थ सर्वथा असंगत है॥४॥

---

१. नवको दशको वा स्यादेकोऽनेकोऽपि त्रिष्टुभः।
एकादशाक्षरश्चापि विराट्स्थानाह नाम सा॥ (ऋ.प्रा.१६ . ६३)

कस्मै प्रयोजनाय भवेत्? विद्वदग्निर्विद्युदग्नौ प्रविष्टो हव्यमन्नं च प्रयच्छति। एवं प्रयच्छन् 'स भवान् यज यजतु' इति किं केन सम्बद्धम्? असम्बद्धमेव किमप्युच्यत इति चेत्, जोषम्भावमाश्रयामः। सम्बद्धमुच्यत इति चेत्, वक्तव्यं 'यज यजतु' किमिति। 'यजतु' इति किं प्रार्थनायामाहोस्विद् विधौ? प्रार्थनायामिति चेत्, कः प्रार्थ्यते? किं विद्वदग्निः? उतान्यः? यदि विद्वदग्निस्तर्हि स विद्युदग्नौ प्रविष्ट एव सन्नन्नं प्रयच्छति, तर्हि स किमर्थं यजतु? यदि द्वितीयः कल्पः, तर्हि नास्ति सोऽन्यो मन्त्रे यः प्रार्थ्येत। विधौ वर्तत इति चेद्वक्तव्यं कोऽयं यागः? किञ्चात्र द्रव्यम्? का च देवता? कश्च यागानुष्ठानप्रकारः? मन्त्रे च विधेः कः प्रसर इति?

किञ्च, विद्युदग्नौ 'विज्ञानेन प्रविश्य' इति विज्ञानपदप्रयोगमात्रेण नहि वेदस्य विज्ञानार्थप्रतिपादकता सिद्ध्येत्। अधुना वैज्ञानिकाः सुचिरं परिश्रम्य नैकविधान् पदार्थानाविष्कुर्वन्ति। तैश्च पदार्थैर्भूयान् लाभोऽनुभूयते। अतस्तथाविधानि वैज्ञानिकानि कर्माणि कर्तव्यानीत्येतावन्मात्रकथनेन नहि मन्त्रस्य विज्ञानसम्बन्ध्यर्थप्रकाशकता सिद्ध्यति। लोकान् केवलं सम्मोहयितुमेव दयानन्दो मन्त्रस्य तादृशमर्थं ब्रवीति। न चात्र काञ्चन सङ्गतिं पश्यामः। किञ्च, दानादनार्थकहुधातोर्यत्प्रत्यये कृते हव्यशब्दो निष्पद्यते, 'हु दानादनयोः' इति पाठात्। सत्यं हव्यशब्दो दातुं ग्रहीतुं वा योग्यं पदार्थमवबोधयति, किन्तु हव्यपदेन जलवासआदिकः पदार्थो न ग्रहीतुं शक्यते, नहि 'हव्यमानय मुखं प्रक्षालयामि', 'हव्यं परिधत्स्व' इत्यादयः प्रयोगा भवन्ति। हव्यशब्दस्तु देवान्ने प्रयुज्यते नान्यत्र। दयानन्दविवरणेन हव्यपदं यद्यदभिलष्यते तत्सर्वं बोधयेत्। स्वाहाशब्दस्य 'सुहुतं हविरन्नादिकम्' इत्यर्थः कृतो दयानन्देन। सर्वथाऽयमर्थोऽसङ्गतः। 'सुष्ठु आहूयन्ते देवा अनया' इति डप्रत्ययान्तः स्वाहाशब्दोऽग्नेः प्रियाया वाचकः, 'अथाग्नायी स्वाहा च हुतभुक्प्रिया' (अ. को. २.७.२१) इति कोशात्। असङ्गतोऽयं सर्वोऽपि सन्दर्भो दयानन्दस्य।

शतपथे तु—'अथ स्रुवेणोपहत्याज्यम्। अग्निमभिजुहोत्यग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा। स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳ सदमप्रयुच्छन् स्वाहेत्याहुत्यै वा एतमजीजनत तमेतयाऽऽहुत्याऽप्रैषीत्तस्मादेवमभिजुहोति' (श. ३.४.१.२५)। अनुप्रहृतेऽग्नौ समन्त्रकं होमं विधत्ते—अथ स्रुवेणेति। उपहत्यावदाय। अग्निमभिप्रहृत्य अग्नेरुपरि जुहुयात्। अग्नावाहवनीये निर्मथितः प्रविष्टः सन् चरति, इतस्ततो ज्वालाभिः सञ्चरति, ऋषीणां पुत्रः। अभिशस्तेर्निन्दातः पाता। स त्वं नोऽस्मदर्थं हविरिह स्थाने सुयजा शोभनेन यागेन यज संगमय। केभ्यः? देवेभ्यः। सदं सदा। अप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन्। उद्दिष्टेषु देवेषु कमप्यपरित्यजन्। स्वाहा इदं घृतात्मकं द्रव्यं सुहुतमस्तु। आहुत्यै वा एतमग्निमध्वर्युरजीजनत उदपादयत्। अप्रैषीत् तर्पितवान् भवति ॥४॥

आप॑तये त्वा॒ परि॑पतये गृह्णामि॒ तनू॒नप्त्रे॑ शाक्व॒राय॒ शक्व॑न॒ ओजि॑ष्ठाय। अना॑धृष्टमस्यनाधृ॒ष्यं दे॒वाना॒मोजो॒ऽन॑भिशस्त्यभिश॒स्ति॒पा अ॑नभिशस्ते॒न्यमञ्ज॑सा स॒त्यमुप॑गेषꣳ स्वि॒ते मा॑ धाः ॥५॥

तानूनप्त्रमाज्यं गृह्णातीत्युव्वटाचार्यः। 'ध्रौवं व्रतप्रदाने गृह्णात्यापतय इति' (का. श्रौ. ८.१.१४), 'द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण तनूनप्त्रे शाक्वरायेति शक्वन ओजिष्ठायेति' (का. श्रौ. ८.१.१५)। येन पात्रेण यजमानाय व्रतं प्रदीयते तद्

मन्त्रार्थ — हे आज्य (घृत), तुमको सर्वज्ञ, सब जगत् के विस्तारकर्ता, आत्मा के पौत्र, आकाश के पुत्र, सब कर्मों में समर्थ बलवान् सदागति वायुदेवता के लिये ग्रहण करता हूँ। हे आज्य! तुम आज तक किसी से तिरस्कार न पाने वाले,

व्रतप्रदानम्। तस्मिन् ध्रुवास्थमाज्यं गृह्णीयात् सशेषमध्वर्युः सकृत् स्थालीतोऽपि व्रतप्रदाने पात्रे द्विवारमाज्यं गृह्णीयान्मन्त्रद्वयेन। पूर्वेण मन्त्रेण 'अग्नावग्निश्चरति' इत्यनेन दर्विहोमरूपा स्रुवाहुतिरारादुपकारिका प्रतिपादिता। दर्शपूर्णमासविकृतिरियमातिथ्येष्टिः। प्रकृतितो ये विशेषाः पदार्था हविर्निर्वाप-तदासादन- अग्निमन्थन- तद्धोम- स्रुवाहुतिरूपास्तेऽभिहिताः। सम्प्रति सौमिका ये तानूनप्त्रादयस्तत्सम्बन्धिनो मन्त्रा व्याख्यायन्ते। 'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य', 'यवागू राजन्यस्य' (तै. सं. ६.२.५.४) इत्यादिना व्रतं विहितम्। येन पात्रेण यजमानाय व्रतं पयआदिकं प्रदीयते तद् व्रतप्रदानम्। तस्मिन् 'सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्' (तै. ब्रा. ३.३.५.५.) इति विध्यनुसारेण ध्रौवस्याज्यस्य सकृद् ग्रहणम्, 'द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण' (का. श्रौ. ८.१.१५) इति वारद्वयं चाज्यग्रहणं कात्यायनेन विहितम्। इदमाज्यग्रहणं न केवलमध्वर्योरेव, किन्तु वरणक्रमेण सर्वैरेव ब्रह्मादिभिः समन्त्रकमाज्यग्रहणं कर्तव्यम्। तदिदं गृहीतमाज्यं तानूनप्त्रमित्युच्यते। तानूनप्त्रमिति वैदिकी समाख्येति स्थितिः। चतुर्थ्यन्तैः 'आपतये' इत्यादिविशेषणैर्वायुदेवताकत्वं यजुषोऽवगम्यते। 'गृह्णामि' इति पदेन च ग्रहणसाधनता मन्त्रस्य प्रतीयते। एवं च मन्त्रोक्तविशेषणविशिष्टाय वायवे त्वा त्वामाज्यं गृह्णामीति मन्त्रवाक्यार्थः पर्यवसन्नः। एवं व्रतप्रदाने गृहीतं तानूनप्त्रसंज्ञकमाज्यं दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधाय तत् सयजमाना ऋत्विजः स्पृशेयुः। तत्र 'अनाधृष्टमसि' इत्यादिमन्त्रस्य विनियोगः। हे आज्य! त्वमनाधृष्टमित्यादिविशेषणैर्विशिष्टमसि, अतस्त्वामहमवमृशामीत्येकैकोऽपि ऋत्विगवमृशेदिति मन्त्रसङ्गतिः।

अथ मन्त्रार्थः— आपतये आसमन्तात् पतति गच्छतीत्यापतिः सततगतिर्वायुस्तस्मै। पुनः कीदृशाय? परिपतये परितः पततीति परिपतिस्तस्मै सर्वव्यापिने, तथा तनूनप्त्रे तनोति विस्तारयति विश्वमिति तनूरात्मा, तस्य नप्त्रे पौत्राय, शाक्वराय शक्नुवन्ति स्थातुं यत्र स शक्वर आकाशस्तस्यापत्यं शाक्वरस्तस्मै, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः' (तै. उ. ८.१) इति श्रुतेः। तथा शक्वने शक्नोति सर्वं कर्तुमिति शक्वा तस्मै, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा. सू. ३.२.७५) इति वनिप्प्रत्ययः। ओजिष्ठाय ओजो बलमस्यास्तीत्योजस्वी, अतिशयेन ओजस्वीत्योजिष्ठस्तस्मै। अस्मिन् सर्वैरापत्यादिशब्दैर्वायुरेव गृह्यते। अत एवोव्वटः— 'उभयगुणविशिष्टाय वायवे, शक्वरादाकाशाज्जातत्वात् शाक्वरोऽपि वायुः। आत्मनः पौत्रत्वात् तनूनप्ता वायुः' इति। तित्तिरिरीत्या त्वापतिः प्राणस्तत्प्रीतये पात्रे स्वीकरोमि। यद्वा 'प्राणो वा आतिः प्राणमेव प्रीणातीति'। हे आज्य, आपतये प्राणदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामि, अस्मिन् पात्रे स्वीकरोमीत्यर्थः। यद्वा इष्टप्राप्त्युपायमनिष्टपरिहारोपायं च चिन्तयित्वा परितः पाति पालयतीति परिपतिर्मनः, तस्मै तत्प्रीत्यै गृह्णामि। तदप्याह तित्तिरिः— 'मनो वै परिपतिर्मन एव प्रीणातीति' (तै. सं. ६.२.२.३)। हे आज्य, त्वा परिपतये मनोदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामि। तनूं शरीरं न पातयति विनाशयति, अपि तु जाठररूपेण धारयतीति तनूनप्ता जाठरोऽग्निः। हे आज्य, त्वां तनूनप्त्रे जाठराग्नये तद्देवताप्रीत्यर्थं गृह्णामि। शाक्वराय शाकनशीलः शाक्वरः शक्तिमान् पुरुषः, तत्सम्बन्धि शाक्वरम्। शक्तिस्वरूप हे आज्य, त्वां शाक्वराय शक्तिस्वरूपाभिमानिदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामि। 'शक्वने' इति चतुर्थी सप्तम्यर्थे।

आगे भी किसी से तिरस्कार न पाने वाले देवताओं के सार पदार्थ हो, स्वयं अनिन्दनीय हो और हमारी भी निन्दित कर्मों से रक्षा करने वाले हो। इसी कारण तुम हमें मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले हो। आज हम सरल अन्तःकरण से तुमको स्पर्श कर शपथपूर्वक यज्ञ करने का भार लेते हैं। इस शुभ यज्ञानुष्ठान में आप मुझे प्रेरित करें॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए स्रुवे से दो बार घृत लेकर वेदि के नैर्ऋत्य कोण पर आज्य पात्र रखकर ऋत्विक् और यजमान मिलकर पात्र का स्पर्श करते हैं ॥५॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.१.१४-२१) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'आपतये त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों से तानूनप्त्र आज्य का ग्रहण किया जाता है तथा गृहीत आज्य को वेदि के दक्षिण की ओर रख कर यजमान और ऋत्विक्गण उसका स्पर्श करते हैं। तैत्तिरीय एवं शतपथ श्रुतियों में याज्ञिक विनियोग के अनुसार अर्थ उपदिष्ट है।

तथा च शक्तिमत्पुरुषे यदोजिष्ठं तस्मै त्वां गृह्णामि। ओजो नामाष्टमो धातुः। तस्य सारमोजिष्ठम्। तदवष्टम्भेनैव शरीरे शक्तिरवतिष्ठते। ओजःसाराभिमानिदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामीत्यर्थः। तनूनप्त्रसंज्ञकजाठराग्निदेवता-विषयस्य शपथकर्मणो हेतुभूतमाज्यं तनूनप्त्रसंज्ञकम्। तदेतदुक्तैः पञ्चभिर्मन्त्रैर्गृहीतमिति सायणाचार्यः।

कात्यायनरीत्या—'गृह्णामीति सर्वत्र साकाङ्क्षत्वात्' (का. श्रौ. ८.१.१६) मन्त्रेषु सर्वत्र गृह्णामीत्यस्यानुषङ्गः कर्तव्यः। 'पूर्वशेषौ वोत्तरौ' (का. श्रौ. ८.१.१७)। वाऽवधारणे। तनूनप्त्र इत्यादि न पृथङ्मन्त्रद्वयम्, पूर्वमन्त्रेणैव सहानयोरपि मन्त्रयोरेकवाक्यतासम्भवे वाक्यभेदस्यान्याय्यत्वात्, अनेकविशेषणविशिष्टस्य वायोरेवानेन मन्त्रेण स्तुते-रवगमात्, 'यो वा अयं पवते' (श. ३.४.२.१०) इति श्रुत्या एकस्यैव वायोः स्तुत्यवगमात्। 'प्रतिपुरुषं च ग्रहणमाज्यानि गृह्णाना इति श्रुतेः' (का. श्रौ. ८.१.१८)। सर्वैर्ब्रह्मादिभिर्वरणक्रमेणाज्यग्रहणं कार्यम्, 'आज्यान्येव गृह्णाना' (श. ३.४.२.९) इति ग्रहणकर्तृषु बहुत्वश्रवणात् सर्वेषामाज्यग्रहणं मन्त्रेणैव। 'दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधायावमृशन्त्यृत्विजो यजमान-श्चानाधृष्टमिति' (का. श्रौ. ८.१.२०)। तानूनप्त्रमाज्यं दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ स्थापयित्वा हिरण्यहस्तावरणक्रमेण ऋत्विजो यजमानश्च युगपदभिमृशेयुः, न क्रमशः। 'अद्रोहस्तेभ्यो न सतानूनप्त्रिणे द्रोग्धव्यम्' (श. ३.४.२.९) इति श्रुतेः' (का. श्रौ. ८.१.२१)। यैः सह तानूनप्त्रमाज्यं स्पृष्टं तैः परस्परं द्रोहो (अपकारः) न कर्तव्यः। कुतः? श्रुतेः। समानं साधारणं तानूनप्त्रमस्य विद्यत इति स तानूनप्त्री, तस्मै।

शिष्टमन्त्रार्थस्तु—हे आज्य, त्वमनाधृष्टमसि, इतः पूर्वं केनाप्यतिरस्कृतमसि, आधर्षणमप्राप्तं भवसि। अनाधृ-ष्यमितः परमप्यतिरस्कार्यमसि। देवानामोजोऽग्न्यादीनां सम्बन्धि सारमसि। अनभिशस्ति, अभिपूर्वः शंसतिर्गर्हायां वर्तते, तद्रहितमनभिशस्ति त्वमसि। अभिशस्तिपा ऋत्विजां परस्परविरोधेन निन्दनमभिशस्तिस्तस्याः पातीत्यभिशस्तिपाः, लिङ्गव्यत्ययादभिशस्तिपम्। अनभिशस्तेन्यमनभिशस्तमनभिनिन्दितं यत् स्वर्गादिफलं तद्धेतुत्वादनभिशस्तेन्यम्। अथवाऽनभिशस्ते स्वर्गादौ नयतीत्यनभिशस्तेनीस्तम्, द्वितीया प्रथमार्थे, पुंस्त्वं व्यत्ययेन। यद्वाऽनभिशस्तेन्यमहिंस्यम्। 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' (पा. सू. ३.४.१४) इति केन्यप्रत्ययः। तथा च यस्त्वमीदृशमसि, अतो हे तानूनप्त्र आज्य, अहमृत्विग् अञ्जसा प्रगुणेन मुख्यया वृत्त्या ऋजुमार्गेण मानसकौटिल्यरहितेन वा सत्यमाज्यस्पर्शरूपं शपथमुपगेषमु-पगच्छेयम्। उपपूर्वस्य गायतेर्लट्युत्तमैकवचने 'सिब्बहुलं लेटि' (पा. सू. ३.१.३४) इति सिपि इडागमे 'लेटोऽडाटौ' (पा. सू. ३.४.९४) इत्यडागमे 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा.सू. ३.४.९७) इतीकारलोपे च रूपम्। 'गाङ् गतौ' इत्यस्य वा 'लिङर्थे लेट्' (पा. सू.३.४.७) इत्यादिना लेटि पूर्ववदेव प्रयोगसिद्धिः। उपगेषम् उपपूर्वकाद् गाधातोर्लेट्युत्तमपु-रुषैकवचने मिपीकारलोपे 'सिब्बहुलं लेटि' इति सिप्प्रत्यये तस्येडागमे गुणे षत्वे च 'उपगेषम्' इति सिद्धम्। यत्तु केनचिदत्राक्षिप्यते—'केनचिदवैयाकरणेन सिप इटं कृत्वाऽयं प्रयोगः साधितः। स तु साधनप्रकारः सर्वथाऽनुचितः, गाधातोरनिट्कत्वात्, 'आतो लोपः' इत्यस्य प्रसङ्गाच्च। अतो लिङ्लकारेऽस्य साधुता करणीया' इति। स चायमाक्षेप आक्षेप्तुरेवावैयाकरणत्वं नितान्तं सूचयति। तथा हि—गाधातोरनुदात्तत्वेनानिट्कत्वेऽपि वेदेऽनुदात्तस्थाने उदात्तस्वरः स्वीकर्तव्यः, ततश्चेडागमस्योपपत्तिर्निराबाधा स्यात्। भवति च छन्दसि स्वरव्यत्ययः। तदुक्तं 'व्यत्ययो बहुलम्' इति सूत्रे—'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुल-केन॥' इति। सूत्रकृता भगवता पाणिनिना लौकिकप्रयोगेऽप्यादन्तानां धातूनां लुङि लकारे 'यमरमनमातां सक् च' (पा. सू. ७.२.७३) इति सूत्रेण सिच इटं विधायाकारान्तधातूनामुदात्तत्वं तस्मिन् प्रयोगे स्वीकृतप्रायम्, आंशिकं तदित्यन्यत्। अत एवातो लोपशङ्काऽपि निराकृता, अनुदात्तस्यैवाकारस्य तेन सर्वत्र 'पपिथ' इत्यादौ लोपविधानात्।

अस्मात् सरलो लघीयान् साधनप्रकारोऽन्यो नास्तीति सर्वथा समुचितोऽयमेव प्रकार इति। हे तानूनप्त्राज्य, स्विते शोभनमार्गे यज्ञकर्मणि मा मां त्वं धा धेहि स्थापय।

अध्यात्मपक्षे तु—हे ब्रह्मन्, आपतये सततगतये वायवे परिपतये सर्वव्यापिने तनूनप्त्रे ब्रह्मणः पौत्ररूपाय आकाशापत्याय ओजिष्ठाय सर्वबलसाररूपाय सर्वकरणसमर्थाय वायवे वायुवशीकाराय त्वां गृह्णामि मनसा धारयामि, परमेश्वरकृपया वायुवशीकारेण योगादिसर्वसिद्धिप्राप्तिसम्भवात्। यद्वा सायणरीत्या प्रशस्तप्राणमनआदीनां प्राप्तये वा त्वां गृह्णामि। त्वं चानाधृष्टमसि, असङ्गकूटस्थाद् आधर्षितुमशक्यमसि, सर्वात्मत्वात् सर्वक्रियाया अविषयत्वाच्च देवानामग्निवाय्वादीनामोजोऽसि, त्वद्बलेनैव तेषां बलवत्त्वात्। केनोपनिषदि ब्रह्मणः समक्षेऽग्निवाय्वोर्नगण्यतृणस्यापि दग्धुमुत्पातयितुं च अशक्यता जाता। अनभिशस्त्यमनिन्द्यम्, सर्वप्रपञ्चातीतत्वेन निर्मलत्वात्।

अत्र दयानन्दो मन्त्रस्यास्य विद्युद्देवतां पूर्वस्य मन्त्रस्य च आर्षीमुष्णिजं छन्दो मनुते। तत्रेदमवधेयम्—शास्त्रकारैर्दैवतानिर्णायकानि प्रमाणानि तावत्—'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन चेष्यते। देवता सङ्गतिस्तत्र' (जै. सू. २.२.२३ तन्त्रवार्त्तिके) इत्यवधृतानि। मन्त्रे च 'आपतये, परिपतये' इत्यादीनि चतुर्थ्यन्तानि सन्ति पदानि। इमानि च विशेषणानि। अत्र विशेष्यं किमिति पूर्वं तावन्निश्चेतव्यम्। विशेषणानि यत्र सङ्गतार्थानि तत्र विशेष्यत्वमवधारणीयम्। 'आपतये आसमन्तात् पतिः पालको यस्मिंस्तस्मै, त्वा परमेश्वरं विद्युतं वा, परिपतये परितः सर्वतः पतयो यस्मिंस्तस्मै' इति पदद्वयार्थौ वर्ण्यते दयानन्देन। तत्र 'आपतये परिपतये' इति शब्दयोर्विग्रहवाक्ये यच्छब्दार्थः कः? किं गृहम्? उत ग्रामः? अथवा नगरम्? आहोस्विद् देशः? अपि वा कर्म? यस्मिन्नासमन्तात् पतिः पालकः परितश्च पतयः पालकाः, तस्मा इत्युक्ते सर्व इमे पूर्वोक्ताः सम्भवितुमर्हन्ति। 'तस्मै फलाय त्वा परमेश्वरं विद्युतं वा गृह्णामि स्वीकरोमि' इति वाक्यार्थः सम्पद्यते। गृह्णामिपदार्थस्य स्वीकारस्य परमेश्वरो विद्युद्वा कर्म ईप्सिततमरूपम्। फलमेव खल्वीप्सिततमं भवति। फलं च न क्वापि देवतात्वेन परिगण्यते। 'आपतये, परिपतये' इति चतुर्थ्यपि फलमेव बोधयति। एवं सत्यापतिपरिपत्योर्देवतात्वं कुतो नोच्यते? दयानन्दमते खलु विद्युत्परमेश्वरयोः कर्मत्वम्। तत्र परमेश्वरो देवता विद्युद्वेति कुतो नोक्तम्? विद्युतैव किं सुकृतमनुष्ठितम्, येन तस्या एव देवतात्वमभिधीयते। सायणमहीधरमते वायुर्देवता प्राणो देवतेत्यत्र प्रमाणमस्ति। आपतिशब्दस्य सततगतिशीलोऽर्थः। स च वायुर्वा प्राणो वा भवति। तत्र च 'यो वा अयं पवत एष आ च पतति परि च पतत्येतस्मा उ हि गृह्णाति' (श. ३.४.२.१०) इति ब्राह्मणमनुकूलम्। मीमांसाशास्त्रपरिज्ञानेन सम्प्रदायपरिज्ञानेन च विमुखो दयानन्दो यद्यन्मनसि समागच्छति, तत्तत्प्रलपतीत्येव स्वीकर्तव्यम्।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे ब्रह्मन्! सतत गतिशील, सर्वव्यापी, ब्रह्म के पौत्रस्वरूप, आकाश के पुत्र, समस्त बलों के सारभूत, सर्वसमर्थ वायु के वशीकरण के लिये आपको मन से धारण करता हूँ। परमेश्वर की कृपा से वायुवशीकरण के द्वारा योगादि समस्त सिद्धियों की प्राप्ति सम्भव है। अथवा सायण के अनुसार प्रशस्त प्राण, मन आदि की प्राप्ति के लिये आपका ग्रहण करता हूँ। आप असंग कूटस्थ होने के कारण अधर्षित हैं, समस्त क्रियाकलाप के विषय न होने के कारण अग्नि, वायु आदि देवों के भी बल हैं। सर्वप्रपंचातीत होने के कारण अनिन्द्य हैं।

दयानन्द के अनुसार इस मन्त्र की देवता विद्युत् तथा मन्त्र का आर्षी उष्णिक् छन्द है। स्वामी दयानन्द के मत में इस मन्त्र में विद्युत् तथा परमेश्वर दोनों कर्म हैं। अतः परमेश्वर अथवा विद्युत् देवता है, इस प्रकार क्यों नहीं कहा जा सकता। मुद्रित पुस्तकों में पूर्णविराम देखकर प्रथम मन्त्र का छन्द लिखा गया है। यह भ्रममूलक है। केवल मन्त्रोक्त 'त्वा' शब्द के दो अर्थ प्रदर्शित किये गये हैं। ये दोनों अर्थ वस्तुतः भिन्न हैं, किन्तु 'वा' शब्द के कारण एक ही अर्थ अभिमत है, यह प्रतीत होता है। अतः वहां श्लेषालंकार की स्थिति नहीं है। धातु के अर्थभेद को भी श्लेषालंकार का प्रयोजक आलंकारिकों ने कहीं नहीं माना ॥५॥

'पूर्वस्यार्ष्युष्णिक् छन्दः, अनाधृष्टमित्यग्रस्य भूरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः' इत्यनालोच्यैव शास्त्राणि लिखति दयानन्दः। मुद्रितपुस्तकेषु पूर्णविराममवलोक्य ब्रवीति 'पूर्वस्य' इति। 'आपतये' इत्यारभ्य 'ओजिष्ठाय' इत्यन्तभागेऽस्ति पूर्णविरामः। पूर्णविराम एव पूर्णमन्त्रस्य परिचायक इति मन्यते दयानन्दः। अत एव 'ओजिष्ठाय' इत्यन्तं भागमेकं पूर्णं मन्त्रं मत्वा पूर्वस्येति लिखति। पूर्णविरामान्ते सन्दर्भे सत्यं सन्त्यष्टाविंशत्यक्षराणि। उष्णिक् चाष्टाविंशत्यक्षरा। अतो वदति 'पूर्वस्य' इति। सर्वथा भ्रममूलकमिदं कथनं दयानन्दस्य। आश्वलायनादयः सूत्रकारा मन्त्राणां विनियोगं प्रदर्शयन्तो मन्त्रप्रतीकं गृह्णन्ति। प्रथमप्रतीकग्रहणानन्तरं द्वितीयं प्रतीकं यत आरभ्यते तावत्पर्यन्तं प्रथमो मन्त्रः, यतश्च तृतीयं प्रतीकं तत्पर्यन्तं द्वितीयो मन्त्रः, एवमुत्तरत्रापि। शुक्लयजुःशाखायाः प्रामाणिकः सूत्रकारः कात्यायनः। स सूत्रयति—'ध्रौवं व्रतप्रदाने गृह्णात्यापतय इति' (का. श्रौ. ८.१.१४), 'द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण तनूनप्त्रे शाक्वरायेति शक्वन ओजिष्ठायेति (८.१.१५)। तत्रानुषङ्गाधिकरणन्यायेन त्वा गृह्णामीति पदयोरनुषङ्गे जाते 'आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि', 'तनूनप्त्रे शाक्वराय त्वा गृह्णामि', 'शक्वन ओजिष्ठाय त्वा गृह्णामि' इति मन्त्रत्रयं सिध्यति। अस्यां प्रामाणिक्यां स्थितौ विद्यमानायां दयानन्दः—'पूर्वस्यार्ष्युष्णिक् छन्दः' इति निःसङ्कोचं लिखति। विनियोगानुसारेण मन्त्राणां भवन्ति छन्दांसि। विनियोगश्च सम्प्रदायतः सिद्धो न स्वेच्छानुसारेण। सर्वथा श्रौतप्रक्रियानभिज्ञो दयानन्दः।

'अनाधृष्टमित्यग्रस्य भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः' इति दयानन्दः। तस्य तस्य छन्दसो नियतेषु पादेष्वक्षराणां न्यूनाधिकभावे 'भुरिक्' इत्यादयः संज्ञा भवन्ति। यथा गायत्र्याः पादत्रयं नियतम्। तत्राक्षराणि प्रतिपादमष्टौ नियतानि। अत्र यदि क्वचिल्लक्ष्ये न्यूनाधिकभावः, तदा भुरिग्गायत्रीति संज्ञा, 'अष्टको दशकः सप्तको विद्वांसाविति सा भुरिक्' (ऋ. प्रा. १६.१७) इति प्रातिशाख्यात्। यत्र च छन्दसि नियतान्यक्षराणि तत्रार्षीत्वव्यवहारः। भुरिक्त्वस्य आर्षीत्वस्य च सामानाधिकरण्यं सर्वथानुपपन्नम्—'भुरिगार्षीति'। प्रकृतमन्त्रे एकचत्वारिंशदक्षराणि सन्ति। आर्ष्याः पङ्क्तेश्चत्वारिंशदक्षराणि नियतानि। अतो भुरिक्पङ्क्तिरित्येव वक्तव्यम्, न तु भुरिगार्षीति। यत्तु 'उपगेषम्' इत्यधिकृत्य 'इदं पदमवैयाकरणेन महीधरेण लेट्लकारस्य रूपमित्यशुद्धं व्याख्यातम्' इत्युक्तं दयानन्देन, तत्तुच्छम्, 'गै शब्दे' इत्यस्माल्लिङर्थे लेटि मिपि 'सिब्बहुलं लेटि' इति सिपि बाहुलकादिटि, आतो लोपाभावे च उपगेषमिति रूपसिद्धौ बाधाभावात्। अन्यथा तवापि कथं सार्वधातुकत्वादङ्, आर्धधातुकत्वाच्च सलोपाभावः स्यात्। 'छन्दस्युभयथा' (पा. सू. ३.४.११७) इत्यनेनापि युगपदेकस्यैव सार्वधातुकत्वमार्धधातुकत्वं च कथं स्यात्?

अस्मिन् मन्त्रे श्लेषालङ्कारं मनुते दयानन्दः। अहो अलङ्कारप्रियता ग्रन्थकर्तुः। अलङ्कारशब्दोपादानमात्रेण कामं पामरा जना आकृष्टा भवेयुः, न विद्वज्जनाः। पदार्थनिरूपणावसरे केवलं मन्त्रगतस्य त्वाशब्दस्यार्थद्वयं प्रदर्शितम् — 'त्वा परमेश्वरं विद्युतं वा' इति। अर्थद्वयमिदं वस्तुतो भिन्नम्। किन्तु वाशब्दग्रहणेनैक एवार्थोऽभिमत इति प्रतिभाति। तत्र न श्लेषस्यावसरः। युष्मच्छब्दस्य द्वितीयायां त्वेति। तस्य चार्थद्वयं नाभिधया भवितुमर्हति। यदि च तस्यार्थद्वये तात्पर्यं तर्हि तद्विशेषणद्वारा वक्तव्यम्। मन्त्रे च त्वापदस्यैकमपि विशेषणं नास्ति, येन विशेषणगतार्थभेदेन विशेष्यस्य त्वेत्यस्यार्थद्वयमापतेत्। अतस्त्वाशब्दद्वारा श्लेष इति न सिद्ध्यति। त्वाशब्दं विहाय मन्त्रगतस्य कस्यापि पदस्यार्थद्वयं न निरूपितम्। 'अन्वयः' इत्यारभ्य 'उपगेषम्' प्राप्नुयामित्येक इति, 'उपगेषम्' विजानीयामिति द्वितीय इति द्वावन्वयौ प्रदर्शितौ। धातूनामनेकार्थत्वमिति न्यायेन 'उपगेषम्' इत्यस्य प्राप्तिरेकोऽर्थः, विज्ञानं च द्वितीय इत्यर्थद्वयं निर्दिष्टम्। नहि धात्वर्थभेदस्य श्लेषालङ्कारप्रयोजकत्वमालङ्कारिकैः क्वचित् साधितम्।

अत्र टिप्पणकारो ब्रह्मदत्तजिज्ञासुर्लिखति—'श्लेषालङ्कारेणाध्यात्मिकाधिदैविकार्थौ प्रदर्शिताविति । मन्त्रगत-पदानामर्थं निरूपयन् दयानन्दो न कस्यापि पदस्याध्यात्मिकाधिदैविकार्थपरतां प्रदर्शयति । अन्वयप्रदर्शनावसरे मन्त्रपदानि वारद्वयं प्रदर्श्य 'प्राप्नुयाम्, विजानीयाम्' इति निरूपयति । नहि 'प्राप्नुयाम्' इत्यस्याध्यात्मिकार्थपरत्वम्, 'विजानीयाम्' इत्यस्याधिदैविकार्थपरत्वमिति सङ्गच्छते । केवलं लोकप्रतारणायैवायमाडम्बरो दयानन्दस्य ब्रह्मदत्तजिज्ञासोश्चेति प्रतीयते । समग्रस्य दयानन्दग्रन्थसन्दर्भस्य असङ्गत्यलङ्कारः स्यात्, न तु मन्त्रस्य श्लेषालङ्कारः ।

शतपथे च—'अथातो गृह्णात्येव । आपतये त्वा परिपतये गृह्णामीति यो वा अयं पवत एष आ च पतति परि च पतत्येतस्मा उ हि गृह्णाति तस्मादाहापतये त्वा... गृह्णामीति' (श. ३.४.२.१०) । अथ तानूनप्त्रार्थमाज्यग्रहणं समन्त्रकं विधत्ते—अथातो गृह्णातीति । अत्र गृह्णामीत्यन्त एको मन्त्रो माध्यन्दिनरीत्या, 'तनूनप्त्रे शाक्वराय' इति द्वितीयः, 'शक्वन ओजिष्ठाय' इति तृतीयः । अस्मिन् पक्षे गृह्णामीत्ययमुत्तरयोरपि मन्त्रयोरनुषज्यते । तत्र स्रुवेण सर्वस्य ध्रौवाज्यस्यैकवारं ग्रहणम्, स्थाल्याः स्रुवेण द्विर्ग्रहणम् । अथवा 'तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय' इत्येतौ पूर्वमन्त्रशेषौ । तथा सत्येक एव मन्त्रः । 'तनूनप्त्रे शाक्वरायेति यो वा अयं पवत एष तनूनप्ता शाक्वर एतस्मा उ हि गृह्णाति तस्मादाह तनूनप्त्रे शाक्वरायेति' (श. ३.४.२.११), 'शक्वन ओजिष्ठायेति । एष वै शक्वौजिष्ठ एतस्मा उ हि गृह्णाति तस्मादाह शक्वन ओजिष्ठायेति' (श. ३.४.२.१२) । शक्वने सर्वत्र शक्ताय । ओजिष्ठाय अतिशयेन बलवते । 'अथातः समवमृशन्त्येव । एतद्ध देवा भूयः समामिर इत्थं नः सोऽमुथाऽसद्यो न एतदतिक्रामादिति तथो एवैत एतत् सममन्त इत्थं नः सोऽमुथाऽसद्यो न एतदतिक्रामादिति' (श. ३.४.२.१३) । गृहीतस्याज्यस्य सर्वैरवमर्शनं विधत्ते—अथातः समवमृशन्त्येवेति । स्पर्शकाले देवैः कृतमन्यसंकेतं दर्शयति—एतद्ध वै देवा भूयः समामिर इति । एतद्वक्ष्यमाणं भूयः समामिरे पूर्वोक्तसङ्केतमन्तरेण पुनः सङ्गता अभवन्, 'अम गत्यादिषु' । यो नोऽस्माकं मध्ये एतदतिक्रामाद् अतिक्रामेत्, स इत्थं देवभूत एव सन् अमुथा अन्यथा प्रकारेण असद् देवभावाद् विनश्येदित्यर्थः । न केवलं देवानामयं सङ्केतः, किन्त्विदानीन्तनानुष्ठातॄणामित्याह— तथो इति । 'ते समवमृशन्ति । अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोज इत्यनाधृष्टा हे देवा आसन्ननाधृष्याः सह सन्तः समानं वदन्तः समानं दधाणा देवानामोज इति देवानां वै जुष्टास्तन्वः प्रियाणि धामान्यनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्यमिति सर्वाꣳ हि देवा अभिशस्तिं तीर्णा अञ्जसा सत्यमुपगेषमिति सत्यं वदानि मेदमतिक्रमिषमित्येवैतदाह स्विते मा धा इति स्विते हि तद्देवा आत्मानमदधत यत्सत्यमवदन् यत्सत्यमकुर्वंस्तस्मादाह स्विते मा धा इति' (श. ३.४.२.१४) । ते समवमृशन्ति । अवमर्शनमन्त्रस्याभिप्रायमाह—अनाधृष्टा हि देवा आसन्ननाधृष्या इति । पूर्वं कैरप्यनाधृष्टा अपि देवाः परस्परापरागेणाधर्मविषया अपि सन्तः पश्चात् सङ्केतपूर्वकेणाज्यग्रहणेन स्वशरीराण्यवमर्शन्तः पुनरनाधृष्या आसन् । अतो हे आज्य, त्वमनाधृष्टानां पुनरनाधर्षहेतुत्वात् तद्रूपमसि । सह सन्त इत्यादिपदत्रयमनाधृष्यत्वे हेतुत्वेन निर्दिष्टम् । सह सन्तः परस्परमैकमत्येन वर्तमानास्तथा समानं वदन्तः, यदेको ब्रूते तदन्येऽप्यनुकुर्वन्तः समानमेकमेव कार्यं मनसि दधाणा धारयमाणा आसन्नतो देवा अनाधृष्या जाता इत्यर्थः । द्वितीयभागस्य तात्पर्यमाह—देवानामोज इति । देवानां वै जुष्टास्तन्वः प्रियाणि धामानि, ओजोरूपाणां प्रियधाम्नामाज्ये स्थापनात् । अनभिशस्त्यादिपदत्रयस्यैकतात्पर्यतामाह —यदवमर्शात् सर्वां हि देवा अभिशस्तिं तीर्णा इति । तस्य सत्यस्य यथार्थस्वरूपस्यावमर्शनेनाहमृत्विक् सत्यमुपगेषमित्येतस्य सत्यप्राप्तेः प्रतिज्ञारूपत्वेन वागात्मकत्वात् सत्यं वदानीत्येवंरूपा सत्यप्राप्तिरुक्ता । मेदमतिक्रमिषमित्येवैतदाहेति । स्वितशब्दार्थमाह—स्विते हि तद्देवा इति । सुष्ठु प्राप्तव्यं स्वितम् । तदत्र सत्यमेव वदानीति प्रतिज्ञापूर्वकं तदनुष्ठानमेव । अनाधृष्टा अपि देवाः परस्परापरागेण कदाचिद्द्वैमत्येन पराभवमिव प्राप्ताः प्रकृततानूनप्त्राज्यावमर्शनेन तत्प्रभावात् सह सन्तः समानं वदन्त एकमेव कार्यं मनसि

दधाणा अनाधृष्या जाताः । यानि प्रियाणि धामानि देवानां जुष्टा देवैर्जुष्टास्तन्वः, देवैः सेवितानि शरीराणि, तेषामोजोरूपाणां देवानां प्रियधाम्नामाज्ये स्थापनात् तदवमर्शनपूर्वकं परस्परमद्रोहेण सत्यं वदानीति प्रतिज्ञापूर्वकं सोमयागानुष्ठाने हे आज्य, मामृत्विजं यजमानं वा धेहि । तदेवाह— 'स्विते हि तद्देवा आत्मानमदधन् यत्सत्यमवदन् यत्सत्यमकुर्वंस्तस्मादाह स्विते मा धा इति' (श. ३.४.२.१४), 'अथ यास्तद्देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवददिरे तदिन्द्रे सन्यदधतैष वा इन्द्रो ए एष तपति । न ह वा एषोऽग्रे ततापं यथा हैवेदमन्यत् कृष्णमेवꣳ हैवास तेनैवैतद्वीर्येण तपति तस्माद्यदि बहवो दीक्षेरन् गृहपतय एव व्रतमभ्युत्सिच्य प्रयच्छेयुः स हि तेषामिन्द्रभाजनं भवति यद्यु दक्षिणावता दीक्षेत यजमानायैव व्रतमभ्युत्सिच्य प्रयच्छेयुरिदꣳ ह्याहुरिन्द्रो यजमान इति' (श. ३.४.२.१५) । तानूनप्त्रमाज्यं सर्वैः स्पृष्टमपि सद् यजमानायैव दातव्यमिति विधातुमाह—अथ या इति । इन्द्रशब्दस्य विवक्षितमर्थमाह—देवा जुष्टा तनूरिति । प्रियाणि धामानि सार्धमेव समवददिरे संकलितवन्तः । तदिन्द्रे सन्यदधत सन्निहितवन्तः । कोऽयमिन्द्र इत्याह—य एष तपतीति । कोऽतिशयस्तत्र जात इति तत्राह—न ह वा एष अग्रे पूर्वं ततापं, तापकतया न ततापेत्यर्थः । यथा ह एव इदमिदानीं परिदृश्यमानं तपनम् । तर्हि कथमास—कृष्णमेव । कृष्णरूपमेवास । तस्मात्तेनैव तानूनप्त्राज्यस्वीकारजनितेनैव वीर्येण दुर्धर्षः सन् तपति । तस्माद्यदि बहवो गृहपतयो दीक्षेरन् अभ्युत्सिच्य उपरि तदाज्यमासिच्य । स हि तेषामिन्द्रभाजनं भवति, इन्द्रस्थानीयो भवतीत्यर्थः । फलस्य साम्येऽपि गृहपतित्वेन वरणे प्राधान्यादिन्द्रत्वम् । यद्यु यदि तु दक्षिणायुक्तेनैकाहादिना सोमयागेन दीक्षेत, यजमानायैव व्रतमुत्सिच्य प्रयच्छेयुरिन्द्रो यजमान इति । 'अथ यास्तद्देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवददिरे तत्सार्धꣳ संजघ्ने तत्सामाऽभवत्तस्मादाहुः सत्यꣳ साम देवजꣳ सामेति' (श. ३.४.२.१६) । यजमानेन क्रियमाणस्य सामोपायस्य देवैः कृतं साम मूलमित्याह— अथ यास्तद्देवा इत्यादिना । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धं समवत्तानि । तद् अवत्तं सार्धं संजघ्ने तदाज्येन साकं प्रक्षिप्तं शरीरकदम्बकं संहतमेकमभूत्, तत्सामाऽभवत् । देवानां सत्येनोत्पन्नत्वात् सत्यं देवजं च साम ॥५॥

अग्ने॑ व्रतपा॒स्त्वे व्र॑तपा॒ या तव॑ त॒नूरि॒यꣳ सा मयि॒ या मम॑ त॒नूरे॒षा सा त्वयि॑। स॒ह नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒र्मन्य॑ता॒मनु॒ तप॒स्तप॑स्पतिः॥६॥

'अग्ने व्रतपा इत्याहवनीये समिधमादधाति' (का. श्रौ. ८.२.४) । आग्नेयं यजुः । यजमानोऽनेन यजुषाऽग्निशरीरात्मशरीरयोर्व्यत्ययं करोति । हे व्रतपा, सर्वेषां व्रतानां पालकाग्ने, त्वे त्वमस्मदीयस्य व्रतस्य पालकः, भवसीति शेषः । विभक्तेः शे आदेशे 'त्वे' इति रूपम् । तव तथाविधस्य व्रतपालकस्य या तनूः शरीरमस्ति, सेयं तनूर्मयि, भवत्विति शेषः । या उ या च मम तनूर्मदीयं शरीरम्, सैषा तनूस्त्वयि भवतु । तथा सति हे व्रतपते, व्रतान्यनुष्ठेयानि कर्माणि नौ आवयोरग्नियजमानयोः, सह प्रवर्तन्तामिति शेषः । यावानेव व्रतेषु ममादरस्तावानेव तवापि भवत्वित्यर्थः ।

मन्त्रार्थ — हे सब व्रतों के रक्षक अग्निदेव। तुम हमारे व्रत की रक्षा करो। तुम्हारा यह जो शरीर है, वह मुझमें हो और जो मेरा शरीर है, वह तुममें हो। हे व्रतरक्षक! हम दोनों के अनुष्ठित कर्म साथ हों। दीक्षा का रक्षक सोम मेरी दीक्षा को माने। उस सद्रूप तप का रक्षक सोम देवता मेरे सद्रूप तप को माने॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुये आहवनीय और गार्हपत्य अग्नि में समिधा दी जाती है ॥६॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.२.४) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अग्ने व्रतपाः' इस यजुर्मन्त्र द्वारा आहवनीय अग्नि में समिधा का हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोगानुसार ही मन्त्र का विवरण उपदिष्ट है।

दीक्षापतिः दीक्षायाः पालकः सोमो मे मम दीक्षामनुमन्यताम्। तथा तपस्पतिः, उपसद्रूपस्य तपसः पालकः सोमः, तपो मदीयमुपसद्रूपमनुमन्यतामित्यनुवृत्तिरित्युव्वटसायणमहीधराणामभिप्रायः।

यथायमर्थः कात्यायनसम्मतस्तथैव शतपथश्रुतिसम्मतोऽपि। तथाहि—'स समिधमभ्यादधाति। अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा इत्यग्निर्हि देवानां व्रतपतिस्तस्मादाहाग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा इति या तव तनूरियꣳ सा मयि या मम तनूरेषा सा त्वयि सह नौ व्रतपते व्रतानीति तदग्निना त्वचं विपल्याङ्ग्यतेऽनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिरिति तदवान्तरां दीक्षामुपैति सन्तरामङ्गुलीरचते सन्तरां मेखलां पर्यस्तामेवैनामेतत्सतीं पर्यस्यते' (श. ३.४.३.९)। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव। तदग्निना त्वचं विपल्याङ्ग्यतेऽग्निशरीरात्मशरीरयोर्व्यत्यासं करोति, विपल्याङ्ग्यते विविधं परित आङ्ग्यन्नवेष्टयन्नग्निमेव त्वचमकुर्वन्नित्यर्थः। अग्नेस्त्वग्भावे कः सम्बन्ध इति तत्रोच्यते—तपो वाग्निः। तपनसाधनत्वादग्निस्तपः, दीक्षापि क्लेशात्मकत्वात्तपः। अवान्तरदीक्षां नामनिर्वचनेन प्रशंसति—सन्तरामङ्गुलीरचतेऽतिशयेन संश्लिष्टा अङ्गुलीः कुर्वन् तथा मेखलामपि पूर्वां शिथिलबद्धां पुनः संलग्नां दृढामकुर्वन्। तदेवाह—पर्यस्तामिति। परितः क्षिप्तामेवेति। तथो एवैष एतद्यदतः प्राचीनमव्रत्यं वा करोत्यव्रत्यं वा वदति अवान्तरदीक्षाख्यं कर्म प्रायश्चित्तं तस्य पापस्य निर्हरणमित्यर्थः। तत्रैव तृतीयया कण्डिकया प्रजासाधनत्वेनावान्तरदीक्षा प्रशस्ता। वधूवरयोर्युग्मीभावस्याग्निसापेक्षत्वेन मिथुनकर्ताग्निरुच्यते। अशितपीतयोः शुक्रशोणितरूपेण परिणामस्य चाग्न्यधीनत्वात् प्रजनयिता तत्प्रजामुपायन्त्सन्तरामङ्गुलीराचं च मेखलां सन्तरां मेखलां तत्प्रजामात्मन्नकुर्वन्त। अथवा कथमग्निर्मिथुनस्य कर्ता, यतोऽसौ मिथुनस्य प्रजनयिता। देवानां प्रजार्थत्वमुक्त्वा इदानीन्तनयजमानस्यापि तदर्थत्वमुक्तम्। तत्तेन तनूविनिमयेन मन्त्रगतेन 'अनु मे दीक्षाम्' इति मन्त्रभागे दीक्षाशब्दश्रवणात् तन्मन्त्रभागपाठेनावान्तरदीक्षां प्राप्तवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे तु — हे अग्ने परमेश्वर, त्वं व्रतपा व्रतरक्षकोऽसि। तव व्रतपस्य या तनूः शरीरं तेजोमयं स्वरूपं वा मयि भवतु। या च मम तनूर्मदीयं शरीरं सैषा त्वयि भवतु त्वदायत्ता त्वत्सेवापरायणा भवतु। यद्वा मम सूक्ष्मं शरीरं स्वरूपं वा त्वयि सायुज्यमुपगच्छतु। तनूशब्दः स्वरूपेऽपि प्रयुज्यते, 'विवृणुते तनूꣳ स्वाम्' इति श्रुतेः, 'सुखबोधतनावनन्ते' इति श्रीमद्भागवतवचनाच्च। तत्त्वज्ञानेनौपाधिकभेदमपहाय त्वया ममाभेदो मया च तवाभेदो भवतु। 'त्वं वै भगवो देवते अहमस्मि, अहं वै भगवो देवते त्वमसि' इति श्रुतेः। हे व्रतपते, नौ आवयोः, व्रतानि सदैव प्रवर्तन्ताम्, मम श्रद्धाभक्तिभ्यां त्वदनुसरणं व्रतम्, तव तु शरणागतपालनं व्रतम्, 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥' इति श्रीरामोक्तेः। किञ्च, दीक्षापतिः, दीक्षा शुभकर्मणां वा त्वदुपासनसम्बन्धिनी वा, तस्याः पतिः पालकः सर्वेश्वरः, एतत्सङ्कल्पेनैव शुभकर्मसिद्धेः। मे मदीयां दीक्षामनुमन्यताम्। तथा तपस्पतिः, तप एकादश्यादिव्रतम्, मनस इन्द्रियाणां च त्वय्यैकाग्र्यं वा, 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः' इत्युक्तेः, तस्य पतिः स्वामी परमेश्वरः, तस्मिन्नेव समर्पणीयत्वात्। 'यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्' (भ. गी. ९.२७) इति गीतोक्तेः। तपो मदीयमनुमन्यतां स्वीकरोतु, त्वदनुज्ञया कृतानां व्रतानां तपसां च साद्गुण्यसम्भवात्।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे अग्नि परमेश्वर, आप व्रत के रक्षक हैं। व्रतों के रक्षणकर्ता आपका तेजोमय स्वरूप मुझमें सन्निहित रहे। अथवा मेरा सूक्ष्म शरीर आपका सायुज्य प्राप्त करे। हे व्रतपते, श्रद्धाभक्ति द्वारा आपके अनुसरण का मेरा व्रत तथा शरणागत के पालन का आपका व्रत दोनों साथ ही प्रवृत्त रहें। आपकी उपासनारूपी दीक्षा के पालक सर्वेश्वर मेरी दीक्षा को स्वीकार करें तथा व्रतों के रक्षक परमेश्वर मेरे तपोव्रत को स्वीकार करें।

अत्र दयानन्दः—'हे अग्ने ! विज्ञानस्वरूप ब्रह्मन् विद्युद्वा, व्रतपा व्रतानि सत्यभाषणादीनि पाति यस्माद्यया वा, त्वे त्वयि तस्यां वा व्रतपा व्रतानि सुशीलादीनि येन यया वा । या वक्ष्यमाणा तव भवतस्तस्या वा तनूर्विस्तृता व्याप्तिः, इयं प्रत्यक्षा सा प्रतिपादितपूर्वा मयि मम मध्ये मम तनूर्विस्तृतं शरीरम्, एषा प्रत्यक्षा या उक्तपूर्वा त्वयि जगदीश्वरे तस्यां वा सह परस्परं नौ आवामावयोर्वा व्रतपते व्रतादीनां वेदादिविद्यानां पालयितः पालननिमित्ता वा व्रतानि ब्रह्मचर्यादीनि, अनु पश्चात्, मे मम दीक्षां व्रतादेशं दीक्षापतिर्व्रतादेशानामुपदेशपालको रक्षणनिमित्ता वा मन्यतां स्वीकरोति स्वीकारयति वा, अनु आनुकूल्ये तपो जितेन्द्रियत्वादिपुरःसरं धर्मानुष्ठानं तपस्पतिस्तपसः पालयिता । हे अग्ने परमात्मन् विद्युद्वा व्रतपालयितः, व्रतनिमित्तं वा त्वे त्वयि तस्यां वा अहं व्रतपा अस्मि । येयं तव तस्या वा तनूरस्ति सा मयि वर्तते । या यैषा मम तनूरस्ति सा त्वयि तस्यां वर्तते । यानि तव तस्या वा व्रतानि तानि मयि सन्तु । यानि ममोत्तमानि व्रतानि सन्ति तानि त्वयि तस्यां वा वर्तन्ताम् । यो भवानियं वा तपस्पतिरस्ति, स सा वा मे मह्यं तपोऽनुमन्यतामनुज्ञापयतु ज्ञापयति वा । यो भवानियं वा दीक्षापतिः स सा मे मह्यं दीक्षामनुमन्यतामनुज्ञापयतु, अनुज्ञायतु, अनुज्ञापयति वा । एवं हे अध्यापक ! त्वमहं चैतौ विदित्वा सह परस्परं धार्मिकौ विद्वांसौ भवेव, यतो नावावयोर्विद्यावृद्धिः सततं भवेत्' इति, तदेतत्सर्वमसत्, परमात्मनश्चेतनस्य सत्यादिपालकत्वसम्भवेऽपि विद्युतस्तदसम्भवात् । न च पतिशब्दस्य पालननिमित्तत्वमर्थः, कथञ्चित्तदङ्गीकारेऽपि विद्युतो व्रतादिनिमित्तत्वस्याप्यसम्भवात्, यथाकथाञ्चित्तु तस्याः सर्वस्यैव निमित्तत्वेऽन्यथासिद्धेः । न वा निराकारस्य परमात्मनो विद्युतो वा त्वद्रीत्या तनूसम्भवः । न वा अन्यसम्बन्धिन्यास्तन्वाः परमात्मनि विद्युति वा प्रवेशः सम्भवति । व्रतानि च परमेश्वरे विद्युति वा न सम्भवन्ति, परमेश्वरस्य पूर्णकामत्वेन व्रतानपेक्षणात्, तस्या जडत्वेनासम्भवाच्च । एवमेव तपस्पतित्वं दीक्षापतित्वं चोभयत्र न सम्भवति, तस्य सर्वाधिपतित्वेनाकिञ्चित्करत्वात्, तस्याश्च तदसम्भवात् । यदपि च 'या उ इत्यशुद्धम्' इति, तदपि न, अशुद्धिनिमित्तस्य हेतोरनुपन्यासात्, हेत्वनुपन्यासेन चैतल्लेखस्यैवाशुद्धिग्रस्तत्वात् । यस्तु—'पदकारेणात्र प्रकृतिभावेनैकपदत्वं प्रदर्शितम्, अतः पदकारविरोधात् पदद्वयोक्तिर्विरुद्धेति, तदपि न, या उ इति प्रकृतिनिर्देशस्य दिदर्शयिषितत्वेनादोषात् । वस्तुतस्तु शतपथविरोधात् सर्वमिदं दयानन्दीयं व्याख्यानमेवाशुद्धम् ॥६ ॥

अ॒ꣳशुरꣳशुष्टे देव सो॒माप्या॑यता॒मिन्द्रा॒यैकधन॒विदे॑ । आ तुभ्य॒मिन्द्रः॒ प्याय॑ता॒मा त्वमिन्द्रा॑य प्यायस्व । आप्या॑यया॒ऽस्मान् सखी॑न् स॒न्या मे॒धया॑ स्व॒स्ति ते॑ देव सोम सु॒त्याम॑शीय । एष्टा॒ राय॒: प्रेषे भगा॑य ऋ॒तमृ॑तवा॒दिभ्यो॒ नमो॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॑म् ॥७ ॥

'मदन्तीरुपस्पृश्य यजमानषष्ठाः सोममाप्याययन्त्यꣳशुरꣳशुरिति' (का. श्रौ. ८.२.६.) । ब्रह्मोद्गातृहोत्रध्वर्य्वग्नीध्राः पञ्चर्त्विजः षष्ठो यजमान इत्येते यजमानषष्ठा मदन्तीरुपस्पृश्य सोममुपस्पृशेयुर्हिरण्यहस्ताः । पञ्चमः प्रतिप्रस्थातेति

इस मन्त्र का स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्यान अनुचित है। विद्युत् का सत्यादि का पालक होना असम्भव है और निराकार परमात्मा अथवा विद्युत् का उनके मत में शरीर भी संभव नहीं है। व्रत भी परमेश्वर अथवा विद्युत् दोनों में सम्भव नहीं है, क्योंकि पूर्णकाम होने के कारण परमेश्वर व्रतनिरपेक्ष हैं तथा विद्युत् के जड होने के कारण व्रत असंगत है। शतपथ श्रुति से विरुद्ध होने के कारण भी यह व्याख्या अशुद्ध है ॥६ ॥

मन्त्रार्थ — हे सोम देवता ! तुम्हारे सब अवयव धन प्राप्त कराने वाले इन्द्रदेव की प्रीति के लिये वृद्धि पावें। तुम्हें पीने के लिये इन्द्र यहाँ आवें। तुम इन्द्र के पान के लिये सब ओर से वृद्धि पाओ। हे सोम ! सखा के समान प्रीति के पात्र

सम्प्रदायः। अत्र सोमाप्यायनं हस्तेन सोमस्य स्पर्शमात्रम्, न तु सोमान्तरस्य तत्र प्रक्षेप इति कर्काचार्यः। 'अथैनमतो मदन्तीभिरुपचरन्ति तपो वा अग्निस्तपो मदन्त्यस्तस्मादेनं मदन्तीभिरुपचरन्ति' (श. ३.४.३.१०)। एनं सोमं यजमानं वा मदन्तीभिरुपचरन्ति। तप्ता आपो मदन्त्यः। अग्नेर्मदन्तीनां च सन्तापकत्वात् तपोरूपत्वम्। चतुरवसाना चतुरशीत्यक्षरा प्रकृतिः सौमी, अन्त्योऽर्धर्चो लिङ्गोक्तः सोमो देवता। हे सोमदेव, ते तव, अंशुः सर्वोऽप्यवयवः, इन्द्राय इन्द्रप्रीत्यर्थ-माप्यायतामुपचीयताम्, अनेन प्रोक्षणेन सर्वतो वर्धतामित्यर्थः। चिरकालावस्थानेन सोमस्य योऽवयवो म्लानो भवति, यश्च शुष्यति, तदुभयमनेन मन्त्रपूर्वकस्पर्शनेनाप्यायितं भवत्विति तात्पर्यम्, 'यदैवास्या युवायते यन्त्रीयते तदेवास्यै तेनाप्यायति' इति तित्तिरिश्रुतेरिति सायणाचार्यः। कीदृशायेन्द्राय ? एकधनविदे, यावन्तः सोमयागाः सन्ति तेषु सर्वेषु सोमरूपमिदं द्रव्यमेकमेव धनं विन्दते लभत इत्येकधनवित्, तस्मै। यद्वा सोमकण्डनाय यैर्जलमानीयते ते कुम्भा एकधनाः, एकं धनं सोमरूपं यत्रेति व्युत्पत्तेः। तान् वेत्ति जानातीत्येकधनवित्, तस्मै। अर्थात् सोमकण्डनाय जलकुम्भा आनीता इति जानातीत्यर्थः। यद्वा एकधनान् वेत्तीत्येकधनवित्, तस्मै। कथंभूतान् वेत्तीति चेत्, 'एकैकोंऽशुः सोमस्य देवान् प्रति भक्षत्वेन गच्छन् शतमेकधनानाप्यायति दश दश सोमस्य ईदृशी शक्तिः' इति श्रुतिः। हे सोम, तुभ्यं त्वत्पानार्थम्, इन्द्र आप्यायतां वर्धताम्, बहुसोमपानेन इन्द्रो वर्धताम्। तथा हे सोम, त्वमपि इन्द्राय इन्द्रपानार्थम्, आप्यायस्व सर्वतः प्रवृद्धो भव। तदाह तित्तिरिः—'उभावेवेन्द्रं च सोमं चाप्यायति' इति। यद्वा तुभ्यमिन्द्र आप्याय-तामुपचीयताम्। उपचितो हीन्द्रो बहुसोमं पिबति, अतस्त्वमिन्द्राय आप्यायस्व इन्द्रार्थमात्मानं वर्धयेत्युव्वटः। किञ्च, हे सोम, सखीन् सखिवत्तव प्रीतिविषयान् अस्मान् ऋत्विजः सन्या धनदानेन मेधयाऽनुष्ठानेनार्थज्ञानधारणशक्त्या चाप्यायय प्रवृद्धान् कुरु, 'ऋत्विजो वा अस्य सखायः' इति श्रुतेः। हे सोम, ते स्वस्ति क्षेमो विनाशाभावोऽस्तु। तव प्रसादादहं सुत्यां सोमाभिषवक्रियां समाप्तिदिनमशीय प्राप्नुयाम्। यद्वा स्वस्ति विनाशाभावेन तव सम्बन्धिसवनेन सुत्यामशीय।

'प्रत्येत्य प्रस्तरे निह्नवत उत्तानहस्ता दक्षिणोत्ताना वेष्टा राय इति' (का. श्रौ. ८.२.७)। आहवनीयाद्दक्षिणस्यां दिशि स्थापितस्य सोमस्य समीपे आहवनीयं पूर्वेण गत्वा सोमाप्यायनं क्रियते। ततः प्रत्येत्य तेनैव मार्गेण प्रत्यागत्य सर्वे ब्रह्मादयः षडपि उत्तानहस्ता दक्षिणोत्ताना वा प्रस्तरे सोमं परिचरन्ति, प्रस्तरस्योपरि उभावपि पाणी उत्तानौ कुर्वते। दक्षिणो वोत्तानः सव्यो नीच एव। निह्नवश्च प्रस्तरे पाण्योः करणम्। तत्रस्थैरेव प्रस्तरे निह्नवो न कार्य इत्येतदर्थं प्रत्यागमनविधानमिति सूत्रार्थः। सोमाप्यायनकाले सर्वदेवात्मकस्य गार्हपत्याग्नेः पृष्ठतः करणेन सर्वदेवानां पृष्ठतः करणं भवति। तेन तेषां सान्त्वनमेव निह्नवः। प्रस्तरस्य सर्वदेवपरिचरणस्थानेन सर्वदेवात्मकत्वात् तत्र पाणिनिह्नवेन

हम ऋत्विजों को धनदान और धारणा शक्ति से बढ़ाओ। हे सोम देवता! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारी कृपा से मैं सोम यज्ञ के अन्तिम स्नान दिन को निर्विघ्न पाऊँ। हे सोम! हमारा इच्छित धन, ऐश्वर्य आदि हमें प्राप्त हो। सत्यपरक हमारे कर्म को आप पूरा करें। स्वर्ग-पृथ्वी के अभिमानी देवताओं को हम नमस्कार करते हैं॥ ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्यु, अग्नीध्र नामक पाँचों ऋत्विक् और छठा यजमान इस मन्त्र को पढते हुए जल से सोम को सींचते हैं और दाहिने हाथ को ऊंचा कर रक्षा के लिये सोम की प्रार्थना करते हैं॥७॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.२.६) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अंशुरंशुः' इस मन्त्र से ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्यु, अग्नीध्र तथा यजमान मिल कर मदन्ती पात्र से जल लेकर सोम का स्पर्श करते हुए आर्द्र करते हैं। तैत्तिरीय तथा शतपथ श्रुतियों के आधार पर सायणाचार्य ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार भाष्य किया है।

सर्वनिह्नवः सम्पद्यते। हे सोम, रायो धनानि आ इष्टा आसमन्तादस्माकमिष्टाः, त्वत्प्रसादादस्माकं धनानीष्टानि भवन्त्वित्यर्थः। यद्वा दक्षिणालक्षणा राय एष्टा आसमन्ताद्दत्ताः। इष्टा इति यजतेर्दानार्थकस्य रूपम्। दक्षिणा दास्यन्त इत्यर्थः। किमर्थम्? प्रेषे भगाय प्रकर्षेणेष्यत इति प्रेट्, तस्मै प्रकर्षेण काम्यमानाय भगाय ऐश्वर्याय। यद्वा हे एष्टः, तृजन्तस्य सम्बुद्धिः, अर्थाद् धनं यजमानार्थमिच्छन् अग्ने! अत्र ब्राह्मणे सोमाप्यायननिह्नवातिक्रमस्योक्तत्वात् स एव प्रसाध्यः। यद्वा प्रकर्षेणेषे अन्नाय भगाय च, ऋतवादिभ्यः सत्यवादिभ्योऽग्निहोत्रिभ्य ऋतं सत्यं तत्प्रीत्यर्थमवश्यम्भाविफलवत्कर्म सम्पादयेति शेषः। यद्वा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। ऋतवादिनामस्माकं कर्मफलमस्त्विति शेषः। द्यावापृथिवीभ्यां तदभिमानिदेवताभ्यां नमोऽस्तु। तयोरनुग्रहेण यजमानस्य निर्विघ्नस्थितये नमस्कृतिः, 'द्यावापृथिवीभ्यामेव नमस्कृत्यास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति' इति तित्तिरिश्रुतेः।

'अथ मदन्तीरुपस्पृश्य। राजानमाप्याययन्ति तद्यन्मदन्तीभिरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति वज्रो वा आज्यꣳ रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमꣳ हिनसामेति तस्मान्मदन्तीभिरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति' (श. ३.४.३.११)। मदन्त्युपस्पर्शनपूर्वकं राजाप्यायनं विधत्ते—अथ मदन्तीरुपस्पृश्येति। 'घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्' (तै. सं. ६.२.२.४) इति श्रुतेराज्यस्य वज्रत्वम्। सोमस्य सर्वौषध्यनुप्रवेशाद् रेतसश्चौषधिजन्यत्वाद्रेतस्त्वं सोमस्य। अथवा 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा. उ. ७.९.१) इत्याहुतिरूपस्य सोमस्य क्रमेण रेतोरूपेण परिणामाद्रेतस्त्वम्। तदेवाह श्रुतिः—'तदाहुः' (श. ३.४.३.१२) इत्यादिना। यस्मै सोमायातिथ्यं क्रियते, तमेवाग्रे आप्यायनादिभिः सत्कर्तुं युक्तमिति सोमसम्बन्धेन केषाञ्चिद्रीत्या चोद्यमुद्भाव्य यज्ञस्य वा एवं कर्मेत्यादिना तत्समाधानम्। एवम्प्रकारकक्रमविशिष्टं कर्मजातं यज्ञस्य खलु क्रियते। अत्र खल्वेनान् देवान् समत् कलहः, अविन्ददाप्नोत्। ते च देवाः पूर्वकलहोपशमनरूपं तानूनप्त्रं कृतवन्तः। ततः शपथजनितदोषपरिहारायानान्तरमेवावान्तरदीक्षा कार्या, परिशेषादाप्यायनस्यान्ते निवेश इति।

'तद्यदाप्याययन्ति। देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तदेषोऽशाना नामौषधिर्जायत इति ह स्माह श्वेतकेतुरौद्दालकिस्तामेतदाहृत्याभिषुण्वन्ति तां दीक्षोपसद्भिस्तानूनप्त्रैराप्यायनेन सोमं कुर्वन्तीति तथो एवैनामेष एतद्दीक्षोपसद्भिस्तानूनप्त्रैराप्यायनेन सोमं करोति' (श. ३.४.३.१३)। आप्यायनं प्रशंसति—तद्यदाप्याययन्तीति। सोमस्य देवत्वमाह— देवो वै सोमो दिवीति। तथापि सोमस्याप्यायनेन किं स्यादित्यत आह—वृत्रो वै सोम आसीदिति। त्वष्ट्रेन्द्रघातकोत्पत्त्यर्थं हुतस्येन्द्रपीतसोमशेषस्य वृत्रत्वेनोत्पत्तेः सोमस्य वृत्रत्वम्। तस्येन्द्रेण हतस्य वृत्रस्य शरीरं गिरयोऽश्मानोऽभवन्। सोमाख्यं वस्त्वेव सोमशरीरभूतेषु गिर्यादिषु वर्तते। तदेष अशानाख्या ओषधिर्जायते। एवं श्वेतकेतुरौद्दालकिराह स्म। अतस्तामेव गिरावुत्पन्नामेव इदानीन्तना यजमाना अभिषुण्वन्ति न साक्षात् सोमम्। अतस्तामोषधिं दीक्षादिभिः संस्कारैः साक्षात्सोमं कुर्वन्तीत्याह—तथो एवैनामेष इति। 'मधु सारघमिति वा आहुः। यज्ञो वै मधु सारघमथैत एव सरघो मधुकृतो यदृत्विजस्तद्यथा मधु मधुकृत आप्याययेयुरेवमेवैतद्यज्ञमाप्याययन्ति' (श. ३.४.३.१४)। ऋत्विग्यजमानकर्तृकमाप्यायनं मधुसारघकल्पनया प्रशंसति—मधु सारघमिति। तस्यैवाप्यायनस्य १६-१७ कण्डिकाभिर्गतसारत्वपरिहाररूपेण प्रशंसनम् — 'यज्ञस्य निर्धीतं यद्विदुग्धं तदेवैतत् पुनराप्याययन्ति॥ ते वै षड् भूत्वाऽऽप्याययन्ति। षड् वा ऋतवः' इति। तेनर्तुभिरेवाप्यायनं सम्पद्यते।

आप्यायनमन्त्रस्तदभिप्रायश्चोच्यते—'त आप्याययन्ति। अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्यायतामिति तदस्याꣳशुमꣳशुमेवाप्याययन्तीन्द्रायैकधनविद इतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रायेत्येकधनविद इति शतꣳ शतꣳ ह स्म वा एष देवान् प्रत्येकैक एवाꣳशुरेकधनानाप्यायते दश दश वा तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्वेतीन्द्रो वै

यज्ञस्य देवता सा यैव यज्ञस्य देवता तामेवैतदाप्याययत्या त्वमिन्द्राय प्यायस्वेति तदेतस्मिन्नाप्यायनं दधात्याप्याययाऽस्मान्त्सखीन् सन्या मेधयेति स यत्सनोति तत्तदाह यत्सन्येत्यथ यदनुब्रूते तदु तदाह यन्मेधयेति स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीयेत्येका वा एतेषामाशीर्भवत्यृत्विजां च यजमानस्य च यज्ञस्योदृचं गच्छेमेति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह' (श. ३.४.३.१८)। मन्त्रस्य प्रथमभागं व्याचष्टे—अंशुरंशुष्ट इति। यद्यप्याप्यायने सोमस्य सर्वोऽशुर्नाप्यायते, तथापि मन्त्रे अंशुरंशुरिति वीप्साभिधानसामर्थ्येनैव प्रत्यंशु आप्यायनवद् भवति, मन्त्राणामचिन्त्यशक्तित्वेन तथा सामर्थ्यावगमात्। इन्द्रायैकधनविद इत्यत्रेन्द्रशब्दतात्पर्यमाह—इन्द्रो वै यज्ञस्य देवतेति। एकधनानाप्यायते दश दश वेति। एकः सोमादिरूपो हविःपदार्थ एव धनं येषां ते देवा एकधनाः, तान् विन्दति यज्ञे सोमपानाय लभत इतीन्द्र एकधनवित्। तस्मादेकैक एवांशुः शतशो दशशो वा एकधनान् देवान् आप्याययति वर्धयति, तेषां शरीरोपचयं करोति। अत उक्तप्रकारेण सोमाख्यैकधनेन देवानामेकधनत्वान्मन्त्र इन्द्रायैकधनविद इत्याह—आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामिति। हे सोम, तुभ्यं त्वदर्थं पातुं स इन्द्रः समर्थो भवतु। यज्ञसाधनभूतस्येन्द्रार्थत्वावगमादिन्द्रस्यैवाप्यायनं कृतं भवतीत्यर्थः।आ त्वमिन्द्राय प्यायस्वेति। अत्र सोमाप्यायनस्येन्द्रार्थत्वावगतेस्तस्मिन्नेवाप्यायनं दधातीत्युक्तम्। आप्याययास्मान् सखीन् सन्या मेधयेति। अनेन मन्त्रभागेन धनमेषां दित्सयाऽऽप्यायनायास्मत्सखिभूतानामृत्विजामाशासनं क्रियते। अत्र सनिमेधाशब्दयोर्दातव्यं धनमनुवचनीयं मन्त्रादिकं चार्थ इत्याह—स यत्सनोति तत्तदाह यत्सन्येति। सन्या इत्येवंरूपेण शब्देन यदाहार्थजातं तद्यत् सनोति धनं यज्ञेन यजमानस्तदाह। एवमुत्तरवाक्यमपि योज्यम्। पूर्वापरभूतस्यानुवचनस्य मेधामन्तरेणासम्भवान्मेधाशब्दस्यानुवचनमर्थ इति व्याख्यातम्। स्वस्ति ते सोमेति। क्षेमो विनाशाभावः। सुत्यां सोमाभिषवमशीय प्राप्नुयाम्। सुत्याप्राप्तिप्रार्थनायास्तात्पर्यमाह—एको वा तेषामाशीर्भवतीति। यज्ञस्योदृचमिति। उपरिभाविनी ऋग् उदृक्, तया समाप्तिर्लक्ष्यते।

'अथ प्रस्तरे निह्नुवते। उत्तरत उपचारो वै यज्ञोऽथैतद्दक्षिणेवान्वित्याप्याययन्त्यग्निर्वै यज्ञस्तद् यज्ञं पृष्ठतः कुर्वन्ति देवेभ्य आवृश्च्यते यज्ञो वै प्रस्तरस्तद्यज्ञं पुनरारभन्ते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हैषामेतन्न मिथ्याकृतं भवति न देवेभ्य आवृश्च्यन्ते तस्मात् प्रस्तरे निह्नुवते' (श. ३.४.३.१९)। आप्यायनमभिधाय निह्नवमाह—अथ प्रस्तरं निह्नुवत इति। प्रस्तरस्योपरि पाणी सम्पुटीकृत्य अंशुरंशुष्ट इति मन्त्रजपो निह्नवः। निह्नवशब्दोऽपलापार्थको दृष्टः। इह तु देवानां नमस्कारादिना सान्त्वनं विहितम्। सोमाप्यायनकाले सम्भावितस्यातिक्रमस्य परिहाररूपेण निह्नवं प्रशंसति—उत्तरत उपचारो वै यज्ञ इति। उत्तरत उपचार इति व्यतिरेकप्रदर्शनायाभिधानं साध्यसाधनयोरभेदाभिप्रायेण। अग्नेर्यज्ञत्वमृत्विजां दक्षिणत उपचारेण पश्चाद्भागस्थितस्य गार्हपत्यस्य पृष्ठतः करणं भवति। तेन मिथ्या अकृतं कुर्वन्ति। अग्नेः सर्वदेवात्मकत्वात् सर्वदेवेभ्यो वर्जितो भवति तत्पृष्ठतः करणेन। तर्हि प्रस्तरनिह्नवेन कथं तत्समाधानमिति तत्राह—यज्ञो वै प्रस्तरः। हविराधारकत्वेन यज्ञनिर्वर्तकत्वात् प्रस्तरस्य यज्ञत्वोपचारः। तेन तस्य निह्नवेन देवानां सान्त्वनं सम्पद्यते। तेन नैषां मिथ्याकृतम्। न च देवेभ्यो वृश्च्यन्ते। तस्मात् प्रस्तरे निह्नुवते। २० कण्डिकया निह्नवस्य कालं निर्धारयितुं ब्रह्मवादिनां विचारो दर्शितः। किम्वक्ते प्रस्तरे निह्नवः कर्तव्य उतानक्त इति विचार्यमाणत्वात् प्लुतिः। अक्तस्याविलम्बेनाग्नौ प्रहरणादनक्त एव प्रस्तरे कर्तव्यमित्यर्थः। 'अक्ते निह्नुवीरा३ननक्ता३ इत्यनक्ते हैव निह्नुवीरन्न नु प्रहरणꣳ ह्येवाक्तस्य॥ ते निह्नुवते। एष्टा रायः प्रेषे भगाय ऋतमृतवादिभ्य इति सत्यꣳ सत्यवादिभ्य इत्येवैतदाह नमो द्यावापृथिवीभ्यामिति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां निह्नुवते ययोरिदꣳ सर्वमधि' (श. ३.४.३.२० - २१)। निह्नवमन्त्रस्यायमभिप्रायः—हे एष्टः, यजमानार्थं धनमिच्छन् सोम, रायो धनानि प्रयच्छेति शेषः। किमर्थम्? इषे अन्नाय भगाय सौख्याय ऐश्वर्याय वा। ऋतवादिभ्योऽस्मभ्यमृतं प्रयच्छ क्रियमाणं कर्म यथा न वृथा स्यात्तथा

कुर्वित्यर्थः। सर्वदेवाश्रयाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां नमः। ऋतशब्दस्योदकयज्ञाद्यर्थेष्वभिमतमर्थमाह— सत्यवादिभ्य इतीति। द्यावापृथिवीभ्यां नमस्कार एव निह्नव इत्याह—द्यावापृथिवीभ्यां निह्नुवत इति। ननु कथं तयोर्निह्नवेनेतरदेवानां निह्नवः स्यादिति तत्राह—ययोरिदं सर्वमधीति। यस्मात्तयोरन्त इदं सर्वं परिदृश्यमानमधि, स्थितमिति शेषः। तस्मात्तयोर्निह्नवेनेतर- देवानामपि निह्नवः स्यादेवेति। यद्वाऽधीति सप्तम्यर्थानुवादी, तयोरधीदं सर्वमिति। आपः किम्? मदन्तीः, मदन्त्यस्तप्ता आसन्। 'अथाह समुल्लुम्प्य' प्रस्तर इत्युपक्रम्य २२ कण्डिकया प्रस्तरं सम्यगाहत्य हे अग्नीत्, ताभिरेहि, इत्याहेति शेषः। तं प्रस्तरमग्निमुपर्युपर्यग्नेरूर्ध्वोर्ध्वभावेऽतिहरत्यनुप्रहरति, तमध्वर्युणा दत्तं प्रस्तरमग्नीत् सुरक्षिते देशे निदधाति। एवं शतपथब्राह्मणानुसारेणैव कात्यायनेन सायणादिभिश्च मन्त्रो व्याख्यातः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सोम साम्बसदाशिव, ते तव, अंशुरंशुः प्यायताम्, सर्वेऽप्यवयवभूता रश्मयः प्रभावा गुणा आप्यायन्तामुपचीयन्ताम्, उत्तरोत्तरं निरन्तरमुत्कर्षं प्राप्नुवन्तु। कस्मै प्रयोजनाय? एकं मुख्यं त्वां परमात्मानमेव धनं वेत्ति विन्दते वा योऽसौ एकधनवित् त्वदनन्योपासकस्तस्मै। भगवतः सर्वे गुणाः प्रभावा ऐश्वर्याणि च भक्तार्थान्येव भवन्ति। 'जयत्यतिबलो रामः' इतिवद्भगवद्वर्धापनम्। हे सोम, इन्द्र इन्ध एवेन्द्रः, 'ञिइन्धी दीप्तौ' इन्धे देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारान् दीपयति स्वयं च दीप्यत इतीन्धो जीवः, इन्ध एव परोक्षभाषया इन्द्र उच्यते। यद्वा इदं सर्वं स्वात्मत्वेन दृष्टवानितीदन्द्रो ब्रह्मवित्, इदन्द्र एव इन्द्र उच्यते परोक्षभाषया, तुभ्यं त्वदुपासनार्थमेव आप्यायताम्, त्वत्प्रदत्तसामर्थ्येनैव त्वदुपासनसम्भवात्। त्वं च हे सोम, इन्द्राय तस्मै ज्ञानिभक्ताय आप्यायतामुपचीयताम्। भक्तभगवतोः परस्परहितायैवाप्यायनं भवति। हे सोम, अस्मान् सखीन् सखिभूतान् जीवान् सख्यभावेनोपासकान् भक्तोपासकान् वा, 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः' (मुण्डको. ३.१.१०) इति श्रुतेः। सन्या शमदमादिदैवीसम्पत्प्रदानेन मेधया स्वात्मसाक्षात्कारलक्षणया प्रज्ञया तत्प्रदानेन चाप्यायय प्रवर्धय। हे सोम देवते, तव कृपयेति शेषः। स्वस्ति यथा स्यात्तथाऽविघ्नेन सुत्यां सोमाभिषवोपलक्षितां त्वत्साक्षात्कारपर्यवसायिनीं त्वदाराधनामशीय प्राप्नुयाम्। आसमन्तादिष्टा रायस्तदनुगुणा अपेक्षिताः सम्पत्तयः प्रेषे प्रकृष्टाय इष्यमाणायान्नाद्याय भगायैश्वर्याय चास्माकं सन्त्विति भावः। ऋतवादिभ्यः सत्यवादिभ्यः, ऋतं सत्यम्, अत्यन्ताबाध्यं भगवत्पदं वा, प्रयच्छेति शेषः। द्यावापृथिवीभ्यां नमः, तयोः शिवशक्तिरूपयोरनुग्रहेणेष्टसिद्धेः।

दयानन्दस्तु—'हे सोम देवेश्वर विद्वन् विद्युद्वा, यतस्ते तव तस्या वा सामर्थ्यमंशुरंशुर् अङ्गमङ्गं सोमेनाप्यायताम् आप्यायति वेन्द्रः सोमो भवानियं वा एकधनविदे य एकेन धर्मेण विज्ञानेन वा धनं विन्दति तस्मै, आ अभितः, तुभ्यम् अध्यापकाय मह्यमध्येत्रे वा इन्द्रः परमात्मा विद्युद्वा आप्यायतामाप्याययति वा। त्वमिन्द्राय दुःखविदारणायाप्यायस्व वर्धयस्व वर्धयेद्वा। अतः सन्या समानान् पदार्थान्नयति यया तया मेधया प्रज्ञया सखीनस्मान् आप्यायायाप्याययेद्वा। हे सोम देव, तव शिक्षयाऽहं सुत्यां दिव्यगुणसम्पन्नो भूत्वेष्टारायः प्राशीयाम्, इषे भगायर्तवादिभ्यो विद्वद्भ्य एतद्धनं

अध्यात्मपक्ष में अर्थ यह है — हे साम्ब सदाशिव, आपकी समस्त अवयवभूत रश्मियां, प्रभावगुण एकमात्र आपको धन मानने वाले अनन्य उपासक जीव के लिये उत्तरोत्तर उत्कर्ष, वृद्धि को प्राप्त करें। अथवा इदन्द्र अर्थात् ब्रह्मविद् आपकी उपासना हेतु समर्थ करें। भक्त एवं भगवान् के परस्पर हितार्थ आप्यायन किया जाता है। हे साम्बशिव ! सख्यभाव से उपासना करने वाले हम भक्त जीवों को प्रज्ञादान द्वारा वर्धित करें। मंगलपूर्वक निर्विघ्नता से हे देव, आपकी आराधना को प्राप्त करें। हमारी अपेक्षित सम्पत्तियां अन्न तथा ऐश्वर्य के लिये हों। सत्यवादियों के लिये भगवत्पद प्रदान करें। शिवशक्तिरूपी देवों के लिये नमस्कार है।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में सोम शब्द का 'पदार्थविद्यावेदिता' अर्थ प्रमाण के अभाव में कैसे हो सकता है? एक ही पद के धर्म तथा विज्ञान दोनों अर्थ मानने में कोई प्रमाण नहीं है। धर्म तथा विज्ञान एक नहीं है॥७॥

दत्त्वा ऋतं सत्यां विद्यां द्यावापृथिवीभ्यां नमोऽन्नं प्राप्य सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयाम्' इति, तत्तु यत्किञ्चित्, सर्वपक्षेष्वसङ्गतेः। सोमपदस्य पदार्थविद्यावेदितेति कथमर्थः? प्रमाणानुपन्यासात्। जगदीश्वरस्य विदुषो विद्युतो वा सामर्थ्यमिति कुतो लब्धम्? मूले सामर्थ्यबोधकपदाभावात्। 'अंशुः सोमेन आप्यायताम्' इति सोमेनेति पदं कुतो लब्धम्? तृतीयान्त-सोमपदस्य मूलेऽभावात्। यदि सामर्थ्यमित्यंशुपदस्यार्थ इति चेत्तत्रापि प्रमाणमावश्यकम्? परमेश्वरीयसामर्थ्यस्य कथं सोमेनाप्यायनम्, तस्य नित्यत्वात्। न चाङ्गं परमेश्वरस्य सम्भवति, तस्य निराकारत्वाभ्युपगमात्। अध्यापकोऽध्येता वा कथं परमैश्वर्ययुक्तः सम्भवति? तस्य परमेश्वर एव सत्त्वात्, धर्मेण विज्ञानेन सीमितैश्वर्यस्यैव प्राप्तिसम्भवात्। हिन्दीभाषायां तु 'हे सोम पदार्थविद्याविद् दिव्यगुणसम्पन्न जगदीश्वर विद्वन् विद्युद्वा, ते तव तस्या वा सामर्थ्यमङ्गमङ्गं वर्धयतु वर्धयति वा' इति, तच्चैतन्मूलानन्वितमेव। एकेन धर्मेण विज्ञानेन धनं विन्दतीत्यप्यशुद्धम्, एकपदस्य धर्मो विज्ञानं वार्थ इत्यत्र प्रमाणाभावात्। नहि धर्मस्य विज्ञानस्य वैकत्वम्, धर्मविज्ञानयोरनेकत्वप्रसिद्धेः। इन्द्रपदस्य दुःख-विदारणमपि नार्थः, प्रमाणाभावात्। एकपदस्य मुख्यः प्रधानः परमेश्वर आकाशो वा कथं नार्थः? समानान् पदार्थान् मेधया कः कथं नयति? मेधया साधर्म्यवैधर्म्ययोरपि नयनात्। 'हे सोम, तव शिक्षयाहं सुत्यां दिव्यगुणसम्पन्नो भूत्वैष्टारायः प्राशीय' अत्र शिक्षा कस्य मन्त्रगतशब्दस्यार्थः? सुत्याशब्दस्य को वार्थः? सुन्वन्ति यया क्रियया सेति चेत्, का सा क्रिया? सुनोतिरपि क्रियैव। दिव्यगुणसम्पन्नो भूत्वेति तदर्थः कथम्? हिन्द्यां वा 'उत्तम-उत्तम उत्पन्न करने वाली क्रिया में कुशल होके' इत्युक्तम्, तत्र च किं मानम्? 'मनुष्यैः परमेश्वरमुपास्य विद्वांसमुपचर्य विद्युद्विद्यां प्राप्य शरीरात्मपुष्टिकरानोषधिसमूहान् धनसमूहांश्च संगृह्य वैद्यकविद्यानुसारेण सर्वानन्दा भोक्तव्याः' इति भावार्थस्तु सर्वथा मन्त्राक्षरबाह्य एव ॥७॥

या ते॑ अग्नेऽयःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ अपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ अपा॑वधी॒त् स्वाहा॑। या ते॑ अग्ने रजःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ अपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ अपा॑वधी॒त् स्वाहा॑। या ते॑ अग्ने हरिश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ अपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ अपा॑वधी॒त् स्वाहा॑ ॥८॥

'अक्त्वा प्रस्तरमुपसदं जुहोति स्रुवेण या ते इत्ययःशयामन्वारब्धे' (का. श्रौ. ८.२.३१)। जुहूपभृदाज्यस्थालीषु प्रस्तरमक्त्वा परिदध्यात्, दानात् पूर्वं स्रुवेणोपभृत्संज्ञकं होमं कुर्यात्, या ते अग्नेऽयःशया इति मन्त्रेणान्वारब्धे यजमाने।

मन्त्रार्थ— हे उपसद् नामक अग्ने! जो तुम्हारा लोहपुरवासी शरीर देवताओं को इच्छित फल देने वाला और असुरों के विषम देश में रहने वाला है, उसने दैत्यों की कठोर वाणी को प्रत्येक कल्प में नष्ट किया है। असुरों के कहे आक्षेपरूप वाक्यों को नष्ट करने वाले तुम्हारे जैसे उपकारक अग्नि के लिये हम यह श्रेष्ठ आहुति देते हैं। हे उपसद् अग्ने! जो तुम्हारा रजतपुरवासी शरीर देवताओं को इच्छित फल देनेवाला और असुरों के विषम देश में स्थित रहने वाला है, उसने असुरों की उग्र वाणी को, आक्षेपरूप वचनों को नष्ट किया था। ऐसे उपकारक अग्नि के लिये हम श्रेष्ठ आहुति देते हैं। हे अग्ने! तुम्हारा सुवर्णपुरवासी शरीर देवताओं को इच्छित फल देने वाला और असुरों के विषम देश में स्थित रहने वाला है। उसने असुरों के तीखे वचनों को विनष्ट किया है। असुरों के आक्षेपरूप वचनों को नष्ट करने वाले उस उपकारक अग्नि के लिये हम यह श्रेष्ठ आहुति देते हैं॥ इस मन्त्र से जुहू आदि में प्रस्तर को लगाकर परिधि-स्थापनपूर्वक स्रुवे से उपसद् अग्नि में आहुतियां दी जाती हैं॥८॥

आग्नेयानि त्रीणि यजूंषि। 'ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः शिरः प्रवर्ग्यः' इत्युपक्रम्य प्रवर्ग्यानन्तरमुपसदनुष्ठानेन यज्ञं शिरसा योजयतीत्युक्तम्। ततः 'तद् याः पूर्वाह्णेऽनुवाक्या भवन्ति ता अपराह्णे याज्या या याज्यास्ता अनुवाक्यास्तद् व्यतिषजति तस्मादिमानि... पर्वाणि व्यतिषक्तानीमान्यस्थीनि' (श. ३.४.४.१२)। 'अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्... य उग्र इव शर्यहा' (ऋ. ६.१६.३४-३९), 'त्वं सोमासि सत्पतिः... गयस्फानो अमीवहा' (ऋ. सं. १.९१.५-१२), 'इदं विष्णुर्वि चक्रमे' (ऋ. सं. १.२२.१७), 'त्रीणि पदा वि चक्रमे' (ऋ. सं. १.२२.१८) इति त्रीणि युगलानि क्रमेणाग्निसोमविष्णूनां युगलानि याज्याः पुरोऽनुवाक्याः (ऐ. ब्रा. १.४.८)। तेष्वाद्याः प्रातःकालोपसदि पुरोऽनुवाक्या भवन्ति द्वितीया याज्याः, सायंकालोपसदि तु द्वितीयाः पुरोनुवाक्याः प्रथमा याज्या इत्यर्थः। तत्रोपसदां लोकत्रयसाधनत्वेनेतिहासमुखेन प्रशंसोक्ता। 'देवाश्च वासुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरेऽयस्मयीमेवास्मिंल्लोके रजतामन्तरिक्षे हरिणां दिवि' (श. ३.४.४.३), 'तद्वै देवा अस्पृण्वत। त एताभिरुपसद्भिरुपासीदंस्तद्यदुपासीदंस्तस्मादुपसदो नाम ते पुरः प्रभिन्दन्निमांल्लोकान् प्राजयंस्तस्मादाहुरुपसदा पुरं जयन्तीति यदहोपासते तेनेमां मानुषीं पुरं जयन्ति' (श. ३.४.४.४), 'एताभिर्वै देवा उपसद्भिः। पुरः प्राभिन्दन्निमांल्लोकान् प्राजयन् तथो एवैष एतन्नाहैवास्मा अस्मिंल्लोके कश्चन पुरः कुरुत इमानेवैतल्लोकान् प्रभिनत्तीमांल्लोकान् प्रजयति.... तस्मादाज्यहविषो भवन्ति' (श. ३.४.४.५-६)। देवैः पराजिता असुरास्तपस्तप्त्वा त्रैलोक्ये त्रीणि पुराणि चक्रुर्लोहमयीं भूमौ राजतीमन्तरिक्षे हरिणीं हैमीं दिवि। तद्वै देवा अस्पृण्वत हिंसितवन्तः, त्रिभिरुपसदाख्याभिरिष्टिभिरुपासीदन्। असुरनिर्गमनप्रतिबन्धात् त्रीणि पुराण्यावृत्त्य न्यवसन्। तेनोपसदनसाधनत्वादासामुपसन्नाम सम्पन्नम्। लोकेऽप्युपसदा दुर्गवेष्टनेन पुरं जयन्तीति प्रसिद्धम्। एताभिर्देवा असुराणां पुरः प्राभिन्दन्निमांल्लोकान् प्राजयन् तथैवैतयोपसदा यजमानोऽपि पुरः प्रभिनत्ति। न हैवास्मिंल्लोके कश्चन तद्विरोधी पुरः कुरुते। उपसद्देवतारूपोऽग्निर्यदा तासु पूर्षु प्रविश्य ददाह, तदा तिस्रः पुरोऽग्नेस्तनवोऽभूवन्। तदेतदाह तित्तिरिः—'तेषामसुराणां तिस्रः पुर आसन्नयस्मय्येवाथ राजती हारिणी ता एतास्तिस्रः पुरो दग्युपसद्देवतारूपोऽग्निर्यदा तासु पूर्षु प्रविश्य व्याप्नोति तदानीमेतास्तिस्रः पुरोऽग्नेस्तनवो भवन्ति' इति।

मन्त्रार्थस्तु—हे अग्ने, तव या तनूरयःशया अयसि शेत इत्ययःशया लोहमयी लोहमयपुरोव्यापित्वेन तद्रूपा सती वर्षिष्ठा उरुतमा विस्तीर्णतमा देवानामतिशयेनाभिमतफलवर्षिणी वा, तथा गह्वरेष्ठा असुरसम्बन्धितया गह्वरे निगूढे विषये परैरगम्ये देशे तिष्ठतीति सा तथोक्ता ते तनूः। उग्रं वचो छिन्धि-भिन्धीत्यादिकमसुरतीव्रं वचनं तथा त्वेषं वचोऽसुरैः प्रोक्तं देवाधिक्षेपरूपत्वेन प्रदीप्तं धृष्टं वाक्यमपावधीत्। तेन निहतसर्वोद्यमा असुरा निर्वाचः संवृत्ताः सन्तु वा। स्वाहा तथाविधदेवोपकारवते तुभ्यमग्नये हविर्दत्तमस्तु। यद्वा—असुरैरुपद्रुता देवा अन्नपानादिकमलभमाना क्षुत्पिपासाभ्यां पीडिता वयमिति वदन्ति तदेतदुग्रं वचः। तथा किं वीरहत्यादिकं पातकमस्माभिः कृतमिति क्लिश्नन्तो देवा यद्वाक्यं वदन्ति तत्सन्तापहेतुत्वेन प्रदीप्तम्, 'त्वेषं वच इति' (तै. सं. १.२.११) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'एवमितरे अन्वहꣳ रजःशयाꣳ हरिशयां चेति' (का. श्रौ. ८.२.३३)। इतरे द्वितीयतृतीये उपसदौ एवमेवान्वहं द्वितीयतृतीययोर्दिनयोः कर्तव्ये। ज्योतिष्टोमे उपसत्त्रयं विहितम्। तत्र प्रथमामुपसदं प्रथमदिने सायं प्रातश्च आवृत्त्या द्विरनुतिष्ठेत्, एकैकामुपसदं द्विरभ्यस्येदित्यर्थः। द्वितीयतृतीयदिनयोरपि द्वे द्वे उपसदौ कर्तव्ये। 'तत्र रजःशया-हरिशया' इति मन्त्राभ्यां क्रमेण होमः

भाष्यसार—'या ते अग्ने' इत्यादि तीन यजुर्मन्त्रों के द्वारा उपसद् होम किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में इन मन्त्रों का याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से व्याख्यान उपदिष्ट है। तदनुसार कात्यायन श्रौतसूत्र (८.२.३३-३६) में उपसदिष्टियों में इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है।

कार्यः। ततश्च षडुपसदो भवन्ति। तत्र द्वितीयस्यामुपसदि रजःशयेति, तृतीयस्यां हरिशयेति मन्त्रभेदः। रजःशया रजतमयीत्यर्थः। हरिशया हिरण्मयी। शेषं पूर्ववत्।

शतपथे च—'स जुहोति। यया द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन् भवति या ते अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा. . . . स्वाहेत्येवꣳरूपा हि सासीदयस्मयी हि सासीत्' (श. ३.४.४.२३), 'अथ जुहोति। यया द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन् भवति या तेऽग्ने रजःशया. . . . स्वाहेत्येवꣳरूपा हि सासीद्रजता हि सासीत्' (श. ३.४.४.२४), 'अथ जुहोति। यया द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन् भवति या तेऽग्ने हरिशया. . . . स्वाहेत्येवंरूपा सासीद्धरिणी हि सासीद्यद्यु द्वादशोपसद उपेयाच्चतुरहमेकया प्रचरेच्चतुरहमेकया' (३.४.४.२५)। एवमुपसत्त्रयस्य मन्त्रान् निर्दिश्य द्वादशोपसत्पक्षे न्यायसिद्धमर्थं ब्राह्मणं स्वयमेव विस्पष्टं दर्शयति—यद्यु द्वादशेति। अयःशयेत्येतन्मन्त्रसाध्या एकोपसत्। तादृशीं चतुर्ष्वहस्सु आवर्तयेत्। पुनश्च द्वितीयमन्त्रसाध्ययापि चतुर्दिनमावर्तयते। तृतीययाप्येवम्। एवं द्वादश सम्पाद्याः। अर्थाद् अयःशयादीनां मन्त्राणां मध्ये एकैकस्य मन्त्रस्यैकैकोपसदं गत्वा चतुर्षु दिनेषु प्रथमं या ते अग्ने अयःशया इति मन्त्रमावर्तयेत्। पुनः पञ्चमादिचतुर्षु दिनेषु रजःशयेति मन्त्रमावर्तयेत्। ततो नवमादिषु चतुर्षु दिनेषु हरिशयेति मन्त्रमावर्तयेत्।

अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने! अग्न्युपलक्षितानन्तचैतन्यात्मक परमेश्वर, सर्वव्यापकत्वात् सर्वरूपत्वात् सर्वाधिष्ठानत्वाद् या तेऽयःशया अयउपलक्षितेषु तामसेषु पदार्थेषु शेत इत्ययःशया रुद्ररूपा, वर्षिष्ठा उपासकानामतिशयेनाभिमतफलवर्षिणी गह्वरेष्ठा भोगिभिरगम्ये श्मशानारण्यपर्वतादौ तिष्ठतीति गह्वरेष्ठा तनूः स्वरूपम्, उग्रं वचो जहि जहि मारय मारयेत्यादिकं शत्रूणां राक्षसादीनां वा उग्रं वचो हन्ति, तस्मै तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु। या च ते रजःशया राजसी चतुर्मुखप्रजापत्यादिरूपा वर्षिष्ठा भोगैश्वर्यवर्षिणी गह्वरेष्ठा नास्तिकैरगम्या विस्तीर्णतया तनूः, उग्रं वचो हन्ति त्वेषं च वचो हन्ति, तस्मै तुभ्यं विविधा सपर्या समर्पितास्तु। या च हरिशया सुवर्णाद्युपलक्षितसत्त्वोपाधिका विष्ण्वादिरूपा तनूः, वर्षिष्ठा ज्ञानवैराग्यादिवर्षिणी गह्वरेष्ठाऽकृतपुण्यैर्दुष्प्रापा तनूः, उग्रं वचो नास्तिक्यपूर्णं वचः, त्वेषं भोगवासनोत्तेजकं वचो हन्ति, तस्मै तुभ्यं स्वात्मानं समर्पयामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं या ते अग्ने अस्या विद्युतोऽयःशया सुवर्णादिषु शेते सा तनूः, व्याप्तं विस्तृतं शरीरं वर्षिष्ठातिशयेन वृद्धा गह्वरेष्ठा गहने गभीर आभ्यन्तरे तिष्ठतीति, उग्रं क्रूरं भयकरं वचः, अवधीद् हन्ति। त्वेषं प्रदीप्तं वचः परिभाषणम् अपवधीत् स्वाहा सुहुतं हविरन्नम्। या ते अग्ने, अस्या विद्युतो गह्वरेष्ठा रजःशया रजःसु सूर्यादिलोकेषु शेते सा तनूरुग्रं वचोऽपवधीत्। त्वेषं प्रकाशितं वचः शब्दनम्। स्वाहा सुहुतं वाचं चापवधीत्। या ते अग्ने अस्या हरिशया हरिषु सूर्यादिष्वश्वादिषु वा शेते उग्रं वचः, त्वेषं प्रकाशकं स्वाहा स्वकीयां वाचं चापवधीत्,

---

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है— हे अग्निदेव! अर्थात् अनन्तचैतन्यात्मक परमेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वस्वरूप तथा सर्वाधिष्ठान होने के कारण आपकी जो तामस पदार्थों में विद्यमान रुद्ररूपिणी, अतिशय फल का वर्षण करनेवाली, भोगियों के लिये अगम्य, श्मशान, अरण्य, पर्वत आदि दुर्गम स्थानों पर रहनेवाली मूर्ति है, उग्र तीक्ष्ण वचनों का नाश करनेवाली है, उसके लिये समर्पण हो। आपकी जो राजसी चतुर्मुखब्रह्मादिरूपा भोगैश्वर्यवर्षिणी, नास्तिकों के लिये अगम्या मूर्ति है, उसके लिये समर्पण हो। आपकी जो सत्त्वोपाधिका विष्णुरूपिणी, ज्ञानवैराग्यवर्षिणी, पुण्यविरहित जनों के लिये अप्राप्य, नास्तिक एवं भोगवासनोत्तेजक वचनों की विनाशक मूर्ति है, उसके लिये स्वयं का समर्पण करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ उचित नहीं है। विद्युत् की अयःशया आदि मूर्तियों (शरीरों) के लिये प्रमाण होना चाहिये। वह विद्युत् उग्र, भयंकर वचन को कैसे नष्ट करती है॥८॥

तां सम्यग्विदित्वोपकुरुत। मनुष्यैर्विद्युतो या व्याप्तिर्मूर्तामूर्तद्रव्यस्था वर्तते, तां युक्त्या सम्यग्विदित्वोपसम्प्रयोज्य सर्वाणि दुःखान्यपहन्तव्यानि' इति, तन्मन्दम्, तथा सम्प्रयोगेऽप्याध्यात्मिकादिसर्वदुःखानिवृत्तेः, तथा विज्ञानप्रयोगयुक्तीनामनुक्तेश्च, मन्त्रस्य तथार्थत्वानुपपत्तेश्च। विद्युतोऽयःशयादितनूनां सत्त्वे प्रमाणमपि वक्तव्यम्। सा च कथमुग्रं भयङ्करवचनं नाशयति? प्रदीप्तपरिभाषणं च कथं हन्ति? सूर्यादिष्वश्वादिषु या शेते तस्या हरिशयेति कथं नाम? कथं च अयःशयायाः सा व्यतिरिच्यत इति सर्वमेतदनुपपन्नं निष्फलं शतपथविरुद्धं च ॥८॥

त॒प्ताय॑नी मेऽसि वि॒त्ताय॑नी मे॒ऽस्यव॑तान्मा नाथि॒तादव॑तान्मा व्यथि॒तात्। वि॒दे॒द॒ग्निर्नभो॒ नामाऽग्ने॑ अङ्गि॒र॒ आयु॑ना॒ नाम्ने॒हि॒ यो॒ऽस्यां पृ॑थि॒व्याम॑सि॒ यत्तेऽना॑धृष्टं॒ नाम॑ य॒ज्ञियं॒ तेन॒ त्वा॒ द॑धे वि॒दे॒द॒ग्निर्नभो॒ नामाऽग्ने॑ अङ्गि॒र॒ आयु॑ना॒ नाम्ने॒हि॒ यो द्वि॒तीय॑स्यां पृथि॒व्याम॑सि॒ यत्तेऽना॑धृष्टं॒ नाम॑ य॒ज्ञियं॒ तेन॒ त्वा द॑धे वि॒दे॒द॒ग्निर्नभो॒ नामाऽग्ने॑ अङ्गि॒र॒ आयु॑ना॒ नाम्ने॒हि॒ यस्तृ॒तीय॑स्यां पृथि॒व्याम॑सि॒ यत्तेऽना॑धृष्टं॒ नाम॑ य॒ज्ञियं॒ तेन॒ त्वा द॑धे। अनु॑ त्वा दे॒ववी॑तये ॥९॥

'शम्यामादाय चात्वालं मिमीते पूर्वेणोत्करꣳ सञ्चरं परिहाप्य, शम्यामुदीचीं निदधाति पुरस्ताच्च, दक्षिणतः प्राचीमुत्तरतश्च, स्फ्येनान्तर्लिखति तप्तायनीति प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ५.३.१९-२२)। द्वात्रिंशदङ्गुलपरिमाणां सगर्तां वारणीं शम्यामुत्करात् पूर्वस्यां दिशि सञ्चरणार्थं द्वात्रिंशङ्गुलं मार्गं मुक्त्वा चात्वालं द्वात्रिंशदङ्गुलं समचतुरस्रं मानादिसंस्कारसंस्कृतं गर्तं मिमीतेऽध्वर्युः। शम्यादानस्याप्राकृतकार्यत्वान्न शम्याया आसादनप्रोक्षणे। उत्तरवेदिनिचयार्थं यत्र भूप्रदेशे मृदं खनति, स प्रदेशश्चात्वाल उच्यते। तत्रोत्करात् पूर्वस्यां दिशि सञ्चरपरिहारेणोदगग्रां शम्यां निधाय तत्प्रमाणां तत्पूर्वपार्श्वे स्फ्येन रेखां कुर्यात्। तथा तत्पूर्वपार्श्वे तथैव शम्यां निधाय रेखां कुर्यात्। अभ्यन्तरे एवं दक्षिणोत्तरयोरपि प्रागग्रां शम्यां निधाय रेखाद्वयं कुर्यात्। अत्र चतुर्दशमन्त्राः। तत्र चत्वारो मन्त्राः पृथिवीदेवत्याः। तदेतदापस्तम्बोऽप्याह—शम्यां पुरस्तादुदगग्रां निधाय स्फ्येनोदीचीमभ्यन्तरमुपविशति वित्तायनी मेऽसीत्येनेन दक्षिणतः प्राचीं तप्तायनी मेऽसीति पश्चादुदीचीमवतान्मा नाथितमित्युत्तरतः प्राचीमवतान्मा व्यथितमिति प्रथमं परिलिखति।

मन्त्रार्थ—हे भूमि! तुम मेरे ऊपर अनुग्रह करने वाली, निर्धनता से दुःखी पुरुषों को शरण देने वाली हो। हे भूमि! तुम धन की कामना वालों के लिये धन की खान हो, याचना से मेरी रक्षा करो, मन की पीड़ा से भी रक्षा करो। हे चत्वाल की मृत्तिके! नभ नाम वाला तेरा अधिष्ठाता अग्नि तुम्हें जाने। हे गतिमान् अग्ने! आयु नाम से तुम इस स्थान में आओ। हे अग्ने! तुम इस पृथ्वी में हो; अतः तुम्हारा जो यज्ञ के योग्य अनिन्दनीय नाम है, उससे तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ। हे मृत्तिके! तुम नभ नामक अग्नि हो। हे गतिमान् अग्ने! तुम यहाँ आयु नाम से आओ। हे अग्ने! क्योंकि तुम दूसरी पृथ्वी, अर्थात् अन्तरिक्ष में हो, इस कारण तुम्हारा जो यज्ञ के योग्य अनिन्दनीय नाम है, उससे तुम्हे यहाँ स्थापित करता हूँ। हे अग्ने! तुम तीसरी पृथ्वी द्युलोक में स्थित हो, अतः यज्ञ के योग्य अनिन्दनीय नाम से तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ। हे मृत्तिके! देवताओं की प्रीति के निमित्त यहां उत्तरवेदि बनेगी। अतः पूर्ववत् तुम्हारा आहरण करता हूँ॥ चारों दिशाओं में शम्या गाड़ कर स्फ्य से चोकोर रेखाएं करे। उन रेखाओं के आगे स्फ्य से चत्वाल खोदे और देवताओं की प्रार्थना करते हुए इस मन्त्र का उच्चारण करे ॥९॥

भाष्यसार—'तप्तायनी मेऽसि' इस कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (५.३.१९-२८) में चात्वाल गर्त के निर्माण के लिये मृत्तिका के खनन में किया गया है। तदनन्तर खोदने से प्राप्त मृत्तिका को एकत्र किया जाता है। इस याज्ञिक विनियोग के अनुकूल ही शतपथ ब्राह्मण में अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थस्तु—हे पृथिवि, त्वं मे ममानुग्रहार्थं तप्तायन्यसि तप्त इव पुरुषो वृत्त्यर्थमस्यामेति। तप्तं पुरुषमयति प्राप्नोतीति वा तप्तायनी। यो हि दरिद्रः क्षेत्ररहितोऽहमिति सन्तप्यते तं पुरुषं तापोपशान्त्यर्थं प्राप्नोषीति। द्वितीयं परिलिखति—वित्तायनी मेऽसीति। धनरहितं तं पुरुषं वित्तार्थं प्राप्नोषीति वित्तायनी मेऽसीति, वित्तार्थं नरो यस्यामेति वा। पृथिव्यां प्राप्तायां सस्यनिष्पत्तिद्वारा महद् धनं लभ्यते। तृतीयम्—अवतान्मां नाथिताद् याचितात्, यथा याच्ञा न कर्तव्या स्यात्तथा मां कुरु। नाथतिर्याच्ञाद्यर्थः। यथाऽहं न कञ्चन याचे तथा पृथिवी मां करोत्वित्यर्थः। नाथिताद् याचिताद् हिरण्यादिरूपादर्थाद् मावतात्, 'यत्र नाथैतन्माऽवतात्' इति शतपथश्रुतेः। व्यथिताद् भयात् चलात् स्थानभ्रंशाच्च मामवतात्। 'व्यथ भयचलनयोः'। 'विदेदग्निरिति चात्वाले प्रहरति स्फ्येनान्वारब्धे' (का. श्रौ. ५.३.२३)। अध्वर्युमन्वारब्धवति यजमानेऽध्वर्युश्चात्वाले स्फ्येन पुरीषखननार्थं प्रहारं कुर्यात्। आग्नेयं यजुः। हे चात्वालगतमृत्तिके, अग्निस्त्वदभिमानी देवो नभो नाम विदेत्, नभ इत्येतादृशं नामधेयोऽग्निस्त्वां जानीयाद् विन्देद्वा। हे मृत्तिके, न भातीति नभ इति। काण्वरीत्या तु विदेर् अग्नेर्नभ इति नाम जानीयाः। मया खन्यमानां त्वां त्वदधिष्ठानाग्निरनुजानात्वित्यर्थः। अग्निनामोच्चारणपूर्वकं प्रहरेत्, 'स वा अग्नीनामेव नामानि गृह्णन् हरति' (श. ३.५.१.३१) इति श्रुतेः। 'अग्ने अङ्गिर इति पुरीषꣳ हरति, हस्तेन च' (का. श्रौ. ५.३.२४.२५)। अध्वर्युः खातां मृदं हस्तेन स्फ्येन च गृह्णाति — हे अग्ने, हे अङ्गिरः, अङ्गिर्गतिरस्यास्तीत्यङ्गिराः। मत्वर्थे रस्प्रत्ययः। तत्सम्बुद्धौ हे अङ्गिरः, हे अग्ने! अङ्गानां रसत्वाद्वाङ्गिराः, भुक्तान्नपचनहेतुत्वादुदराग्नेः शरीरावयवानां मध्ये सारत्वं प्रसिद्धमेव। यद्वा अङ्गिरोनामकर्षिरूप हे अग्ने, 'येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' (ऐ. ब्रा. ३.३.१०) इति श्रुतेः। त्वमायुना नाम्नाभिहितः सन् एहि आगच्छ। तत्तत्कर्मस्वेति गच्छतीत्यायुः। आयुरित्यग्नेर्नाम। 'योऽस्यामिति निवपति पूर्वार्धे शङ्कुसहितम्' (का. श्रौ. ३.५.२६)। गृहीतं पुरीषं स्थण्डिलस्य पूर्वभागे प्राङ्निहितं शङ्कुसंल्लग्नं प्रक्षिपेद् योऽस्यामिति मन्त्रेण। अस्यां दृश्यमानायां पृथिव्यां योऽग्निर्वर्तसे, स त्वं हे अग्ने, ते तव यज्ञियं यज्ञयोग्यं यन्नाम प्रसिद्धमग्निरित्येतादृशं नामानाधृष्टं केनापि याज्ञिकेनातिरस्कृतं तेन त्वादधे। तेन नाम्ना युक्तं त्वामादधे स्थापयामि। 'एवं द्विरपरं द्वितीयस्यां तृतीयस्यामिति विशेषः' (का. श्रौ. ५.३.२८)। यथा पूर्वैस्त्रिभिर्मन्त्रैः खात्वा हृत्वा मृत्प्रक्षिप्ता वेद्यर्थमेतत्त्रितयं पुनरपि द्विः कुर्यादिति मन्त्रयोः, तत्रास्यामिति पदस्थाने द्वितीयस्यां तृतीयस्यामिति पाठविशेष इति सूत्रार्थः। यद्यपि पृथिवीशब्दस्य प्रकृतत्वाद् द्वितीयतृतीयशब्दयोर्विशेष्यत्वेन स एवानुवर्तते, तथाप्यौचित्याद् द्वितीया पृथिव्यन्तरिक्षं तृतीया पृथिवी द्यौरित्यवगन्तव्यमिति सायणः। तथैवोव्वटमहीधरावपि। शेषं पूर्ववत्।

'अनु त्वेति चतुर्थं यथार्थमाहृत्य सिꣳह्यसीति व्यूहत्युत्तरवेदिम्' (का. श्रौ. ५.३.२९)। चतुर्थवारं यावता पुरीषेणोत्तरवेदिनिष्पन्नरूपोऽर्थः सम्पन्नो भवेत्, तावत्पुरीषं पात्रेणानीय शङ्कुसमीपे प्रक्षिप्य सिꣳह्यसीति मन्त्रेण पुरीषं (मृदं) भूसंल्लग्नमेव हस्तेन सर्वतः प्रसार्य समीकरणेन उत्तरवेदिं निष्पादयेत्। मन्त्रार्थस्तु—हे मृत्तिके, त्वामनु पूर्वोक्तमाहरणमनुसृत्य। किमर्थम्? देवानां हविर्भुजां वीतये प्रीतये। वीतिस्तर्पणार्थः। यद्वा देवा व्यन्ति हविर्भक्षयन्त्यत्रेति वीतिर्यज्ञस्तदर्थम्। शतपथे च—'तद्य एष पूर्वार्द्ध्यो वर्षिष्ठः स्थूणाराजो भवति। तस्मात्प्राङ् प्रक्रामति त्रीन् विक्रमांस्तच्छङ्कुं निहन्ति सोऽन्तःपातः' (श. ३.५.१.१) इत्युपक्रम्य सौमिककरणमुक्तम्। प्राचीनवंशस्य पूर्वभागे आहवनीयपुरोदेशे वर्तमानः पृथुस्तम्भः स्थूणाराजः। तस्मात् स्तम्भात् प्राङ् त्रीन् क्रमान् प्रक्रामति। तृतीयक्रमावसाने शङ्कुं स्थापयेत्। सोऽन्तःपात ऐष्टिकवेदेर्महावेदेश्चान्तरालसञ्चरः, तस्माच्छङ्कोर्दक्षिणतः पञ्चदशविक्रमावसाने शङ्कुं स्थापयेत्। सा दक्षिणा श्रोणिः। तथैवोदीच्यामुत्तरा श्रोणिः। मध्यमाच्छङ्कोः षट्त्रिंशतं विक्रमान् प्रक्रामति स पूर्वार्धः। तस्मात्पुरोदेशस्थाद् मध्यमाच्छङ्कोर्दक्षिणोत्तरयोर्द्वादश द्वादश विक्रमान् प्रक्रामति दक्षिणोत्तरावंशौ। एषा वेदेर्मात्रा। तां वेदिं विविधरूपेण प्रशस्य

मध्येऽन्यं तत्प्रपञ्चमुक्त्वा चात्वालस्य सर्वतः परिलेखनप्रकारं तन्मन्त्रांश्च दर्शयति—'स वेद्यन्तादुदीचीꣳ शम्या निदधाति स परिलिखति तप्तायनी मेऽसीतीमामेवैतदाहास्याꣳ हि तप्त एति' (श. ३.५.१.२७)। दक्षिणश्रोणिरूपवेद्यन्तात् स परिलिखति शम्यानुगुण्येन लेखनं कुर्यात्। अनेनैव पश्चादवधिनिर्देशः कृतो भवति। तस्य मन्त्रः तप्तायनी मेऽसीति। हे भूमे, तप्तः पुमान् यस्यामेति सा त्वं तप्तायनीरूपासि। इमामेवैतदाहेति मन्त्रं व्याचष्टे—हि यस्मात् तप्तः पुरुषो दारिद्र्येण दुःखितः सन् धनादिसाधनेच्छया एति। तस्मात्तप्तायनी असि। 'अथ पुरस्तात् उदीचीं शम्यां निदधाति स परिलिखति वित्तायनी मेऽसीतीमामेवैतदाहास्याꣳ हि विविदान एति' (श. ३.५.१.२८)। अस्यां हि विविदानो धनादिकं लब्धवान् पुरुषः पुनरस्यामेव खल्वेति गच्छति। अतो वित्तायनीत्यपि भूम्यभिधानं युक्तम्।

'अथानुवेद्यन्तम्। प्राचीꣳ शम्यां निदधाति स परिलिखत्यवतान्मां नाथितादितीमामेवैतदाह यत्र नाथै तन्माऽवतादिति' (श. ३.५.१.२९)। अनुवेद्यन्तं प्राचीं शम्यां निदधातीत्यनेन चात्वालस्य दक्षिणसीमोक्ता। मा मां नाथिताद्याचिताद् हिरण्यादिरूपादर्थात्, हे भूमे, मा मामवताद् यत्र यस्मिन् विषये नाथै याचै धनादिकम्, तत् तस्माद् मामवतात्। 'अथोत्तरतः। प्राचीं शम्यां निदधाति स परिलिखत्यवतान्मा व्यथितादितीमामेवैतदाह यत्र व्यथै तन्माऽवतादिति' (श. ३.५.१.३०)। यत्र यस्मिन् धनादिविषये व्यथै लाभोपायमजानानो व्यथितः स्याम्, तत् तस्मात् सकाशादवतात्। 'अथ हरति। यत्र हरति तदग्नीदुपसीदति स वा अग्नीनामेव नामानि गृह्णन् हरति यान् वा अमून् देवा अग्रेऽग्नीन् होत्राय प्रावृणत ते प्राधन्वंस्त इमा एव पृथिवीरुपासर्पन्निमामहैव द्वे अस्याः परे तेनैवैतन्निदानेन हरति' (श. ३.५.१.३१)। खाताया मृदश्चात्वालादुत्तरवेदिं प्रति हरणं विधत्ते—अथ हरतीति। यत्र हरति तत् तत्र उत्तरवेदिप्रदेशे, अग्नीद् आग्नीध्रोऽग्नीनां नामानि— 'ते वा एते सोमस्यैव गुप्त्यै न्युप्यन्त आहवनीयः पुरस्तान्मार्जालीयो दक्षिणत आग्नीध्रीय उत्तरतोऽथ ये सदसि ते पश्चात्' (श. ३.६.२.२१) इति गृह्णन्नेव हरेत्। सत्स्वग्निषु चात्वालप्रदेशे तन्नामग्रहणमुपपद्यते। त एवात्र कुतः? इत्यत्राह — यान् वा अमून् देवा अग्नीन् होत्रायेति। होत्राय होमनिष्पादनाय हविर्वहनाय प्रावृणत प्रावृण्वन्। ते प्राधन्वन्। धन्वतिर्गतिकर्मा। इमामहैव 'अहेति विनिग्रहार्थीयः' (निरु. १.५), इमां पृथिवीं परिविद्वेष्य असुरादयोऽप्युपासर्पन्। एतद् एतेन निदानकारणेन मूलकारणेनैव हरणं कृतवान् भवति।

'स प्रहरति। विदेदग्निर्नभो नामाग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहीति . . योऽस्यां पृथिव्यामसीति हृत्वा निदधाति यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वादध इति यत्तेऽनाधृष्टꣳ रक्षोभिर्नाम यज्ञियं तेन त्वादध इत्येवैतदाहानु त्वा देववीतय इति चतुर्थꣳ हरति देवेभ्यस्त्वाजुष्टाꣳ हरामीत्येवैतदाह तां वै चतुस्रक्तेश्चात्वालाद्धरति चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनामेतद्दिग्भ्यो हरति' (श. ३.५.१.३२)। स मृदो हर्ता अध्वर्युः स्फ्येन प्रहरति खनेत्। हे अग्ने, त्वमङ्गिरा असि। अग्निराहुत्याधारभूतः। नभो नाम विन्देद् नभ इति नाम विन्देत्। त्वं च आयुना अभिधानेन युक्त एहि आगच्छ। स यत् प्राधन्वंस्तदायुर्दधाति। एतन्नाम्ना हरणेन यजमान आयुर्दधाति। तदवदारितं समीरयत्युत्तरवेदिं प्रति सम्यक् प्रेरयति। तत्र मन्त्रः— योऽस्यामिति। यस्त्वमस्यां चात्वाललक्षणायां पृथिव्यां भूम्यामसि भवसि, स त्वमायुनाम्नैहि। अथवा यो मृन्निचयरूपस्त्वमस्यां खातायां भूम्यां भवसि, तं त्वां समीरयामीत्यर्थः। आनीताया मृदो वेद्याकारेण स्थापनं समन्त्रकं विधत्ते—हृत्वा निदधातीति। हे मृदात्मना एकीभूताग्ने, हे तिरोहिताग्निविशिष्टे मृत्तिके वा, यत् तेऽनाधृष्टं रक्षोभिरहिंस्यं यज्ञियं यज्ञार्हं नाम, तेन नाम्ना त्वा त्वामदधे। योऽस्यामिति मन्त्रेण त्रिवारं हरेत्। चतुर्थवारहरणमन्त्रस्यायमर्थः—हे आह्रियमाणपदार्थ, त्वा त्वामनु पूर्वं हरणत्रयमनुकृत्य देवेभ्यो

जुष्टां त्वामाहरामि। किमर्थम्? देववीतये देवा व्यन्ति हविर्भक्षयन्त्यत्रेति देववीतिर्यज्ञस्तदर्थम्। अर्थसिद्धमनूद्य प्रशंसति— चतुःस्रक्तेरिति। चतस्रः स्रक्तयो यस्य चात्वालस्य तस्मात् चतुरस्रात् साकल्येन हरणे सर्वाभ्यो दिग्भ्य एवैनां हरतीति। एवं शतपथेनापि पूर्वोक्त एवार्थः समर्थितो भवति।

अध्यात्मपक्षे तु—हे राजराजेश्वरि त्रिपुरसुन्दरि, त्वं तप्तायनी स्मृतिमात्रेण तप्तानां पुरुषाणां तापोपशान्त्यर्थं प्राप्नोषि। तथैव त्वं वित्तायनी वित्तार्थं निर्धनं पुरुषमयसीति वित्तायनी भवसि। यद्वा तप्तो नरो यामयते तापोपशान्त्यर्थं दरिद्रो नरो यामयते वित्तार्थं सा तथोक्ता। हे देवि, नाथिताद् याचिताद् भयहेतोर्याचनकर्मणो मामवतात्, त्वामुपेत्येतरत्र याच्ञाऽनौचित्यात्। तथैव व्यथिताद् भयात् स्थानभ्रंशाच्च मामवतात्। हे अग्ने, अङ्गानां रसभूतविमर्शभावापन्नप्र-काशाग्ने, यद्वा नभोनामाग्निः, न भातीति नभोऽदृश्यो दृग्रूपोऽग्निस्त्वां विदेद् विन्देज्जानीयात्, तत्संवेदनेनैव सर्वज्ञता-द्यैश्वर्याभिव्यक्तिसिद्धेः। एत्यागच्छति तत्तत्कार्यात्मनेत्यायुस्तेनायुना प्रसिद्धेन नाम्ना एहि आगच्छ। यस्त्वमस्यां पृथिव्यामसि, यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं रूपं तेन त्वा त्वामादधे उपास्यत्वेन हृदये धारयामि। भगवत्या राजराजेश्वर्याः प्रकाशाख्यं विमर्शाख्यं च रूपद्वयं विमर्शात्मना प्रपञ्चात्मना परिणमते। प्रकाशात्मना कूटस्थप्रकाशात्मना भाति विम-र्शात्मकं तत्तदात्मनोपेत्यायुनाम्ना प्रसिध्यति। तदेव अनाधृष्टं यज्ञियं यजनादिसम्बन्धि दिव्यं प्रभावात्मकं तेजस्तेन रूपेणाहं त्वामादधे। नभःसंज्ञकोऽदृश्योऽग्निः प्रकाशात्मकस्त्वा त्वां विदेद् विन्देद् अनुजानातु वा। तथैव द्वितीयस्यां पृथिव्यामन्तरिक्षे तृतीयस्यां पृथिव्यां दिवि योऽसि तत्तद्रूपेण परिणतोऽसि, तेनायुना प्रसिद्धेन, कार्यात्मना कारणस्य परिणतिस्थैर्यमेव कार्यस्यायुर्भवति, तेनायुना नाम्ना त्वामहमादधे। तेनैव रूपेण प्रकाशाख्यः शिवस्त्वां विन्देदनुजानातु वा। किमर्थम्? देवानां द्योतनवतां जीवानां वीतये तात्कालिक्यै आत्यन्तिक्यै च तृप्तये। दिव्यभोगादिप्राप्त्या तात्कालिकी तृप्तिः, ब्रह्मात्मज्ञानलक्षणसामरस्यप्राप्त्या चात्यन्तिकी तृप्तिर्भवति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यां जिघृक्षो! यथाहं तेन यत् तृप्तायन्यस्यस्ति वित्तायनी विद्युदस्ति त्वा तां वेद्मि। तथा त्वमेनेनैतद्विद्यां मे मम सकाशादेहि प्राप्नुहीति रीत्या यः प्रसिद्धसूर्यविद्युद्रूपेण त्रिविधोऽग्निः सर्वेषु लोकेषु बाह्याभ्यन्तरतो वर्तते, तं विदित्वा विज्ञाप्य च सर्वैर्मनुष्यैः सर्वकार्यसिद्धिः सम्पादनीया' इति, तदेतत्सर्वं बालजनप्रतारणमेव, असङ्गतेः, श्रुतिविरोधाच्च। शतपथश्रुतिसम्मतस्तु यज्ञपरोऽर्थ उक्त एव। पदार्थासङ्गतिश्चैवमूह्या—'तप्तानि स्थापनीयानि वस्तून्ययनं यस्याः सा विद्युत्' इति, तदसङ्गतमेव, तत्पदेन स्थापनीयवस्तुग्रहणे मानाभावात्। किञ्च, तथात्वेऽपि न निस्तारः, चराचरेषु सर्वेष्वेव वस्तुषु विद्युतः सत्त्वात्। तत्र मेऽसीत्यर्थस्य कथं सार्थक्यम्? तस्याः सर्वसाधारण्यात्। न च तद्विद्या

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे राजराजेश्वरि त्रिपुरसुन्दरि! आप स्मृतिमात्र से दुःखतप्त जनों के शान्त्यर्थ आती हैं, धनप्रदान के लिये निर्धन के पास आती हैं, भयात्मक यातना से मेरी रक्षा करें तथा स्थानभ्रंश से मेरी रक्षा करें। हे अग्निरूपा, दृष्टिरूपी अग्नि आपको जान ले। कार्यसिद्धि हेतु आने वाले अपने नामस्वरूप द्वारा आप आइये। आप पृथिव्यादि प्रपंच में जिस रूप से हैं, उसी कूटस्थ प्रकाशात्मा यजनादि सम्बन्धी दिव्य प्रभावात्मक तेज के रूप से मैं आपको हृदय में धारण करता हूँ। नभो नामक अदृश्य प्रकाशात्मक अग्नि आपको प्राप्त करे। इसी प्रकार द्वितीय अन्तरिक्ष तथा तृतीय द्युलोक में भी जीवों की तात्कालिक तथा आत्यन्तिक तृप्ति के लिये प्रकाशात्मक शिव आपको प्राप्त करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ असंगत है। 'तप्त' पद से 'स्थापनीय वस्तु' इस अर्थ का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'तप्तायनी' पद का 'विद्युद्विद्या' अर्थ भी प्रमाणरहित है। उसके ज्ञान से दिव्य भोग की प्राप्ति कैसे होगी? चार्वाक की भाँति स्वर्गादि लोक का प्रामाण्य स्वीकार न करने वाले उस मत में यह दिव्य भोग किस प्रकार हो सकता है? ॥९॥

मेऽस्तीत्यभिप्रायार्थकं तदिति वाच्यम्, तप्तायनीपदस्य विद्युद्विद्यापरत्वे मानाभावात्। त्वद्व्युत्पत्त्यापि तप्तायनीशब्दो विद्युत्परो न तु तद्विद्यापरः। 'वित्तानां भोगानां प्रतीतानां पदार्थानामयन्ती प्रापिका सा वित्तायनी' इत्यपि न सम्यक्, विद्युतः सर्वपदार्थानां सर्वभोगानां वा प्रापकत्वायोगात्, प्रतीतायाः पृथिव्याः पार्थिवभोगानां च प्रापकत्वादर्शनात्। तथैव नाथितादैश्वर्यात् कथं रक्षणस्य प्रसङ्गः? 'सुसेवितोऽग्निः सूर्यः, नभो जलम्, 'नभ इति जलनामसु पठितम्', प्रकाशं प्रयच्छन् मां व्यथितादवतात्, नाथितादैश्वर्याच्चावतात्' इत्यप्यसङ्गतम्, ऐश्वर्यस्याकामयितव्यत्वापत्तेः। यदि तु नाथितादैश्वर्यदानाद्रक्षणमभीष्टम्, तर्हि व्यथितादित्यत्रापि तथा प्रसङ्गः स्यात्। 'हे अग्ने जाठरस्थ! अङ्गानां रस आयुना नाम्ना प्रसिद्धोऽस्ति, तं देववीतये दिव्यानां भोगानां प्राप्तये जानामि' इति, तदप्यसङ्गतम्, आयुना नाम्ना जाठरस्थरसस्याप्रसिद्धत्वात्। कथं च तज्ज्ञानेन दिव्यभोगप्राप्तिः? चार्वाकप्रायस्य स्वर्गादिलोकमनभ्युपगच्छतस्तव कोऽयं दिव्यो भोगः? 'सर्वत्रापि तथात्वं मम सकाशात् संजानीहि' इत्यादिकमपि निर्मूलमेव। पृथिव्यामिति शब्दत्रयस्यार्थस्तु नोक्त एव, पृथिव्याः कक्षात्रयस्य प्रमाणसापेक्षत्वात्। यदपि—'यथाहं तेन नाम्ना यदनाधृष्टं यज्ञियं नाम तेज आदधे, तथा तेन त्वा तं त्वमेतेनैनमस्मानन्विहि सर्वो जनश्चानुविन्देत्' इत्यादिकमपि निर्मूलमेव, यज्ञस्य क्रियारूपस्य तेजोऽसिद्धेः। शिल्पविद्यायज्ञस्तु त्वत्कपोलकल्पितः, क्वचिदपि शास्त्रेषु तदनुक्तेः। मन्त्रे त्वमादिशब्दाभावाद् यथाकथञ्चित् तदनुगुणार्थवर्णनमसङ्गतमेव। वाचकलुप्तोपमालङ्कारकल्पनमप्यसङ्गतम्, 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति शाबरभाष्यविरोधात्। सर्वमेतन्निरर्थकं घटाटोपमात्रम्, दिव्यभोगादिप्राप्तिविज्ञानस्य दयानन्दीयेष्वविद्यमानत्वात्॥९॥

सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ कल्पस्व सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शुन्धस्व सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शुम्भस्व ॥१०॥

'सिꣳह्यसीति व्यूहत्युत्तरवेदिꣳ शम्यामात्रीम्' (का. श्रौ. ५.३.२९-३०)। व्याख्यातोऽयमपि सूत्रांशोऽतीतमन्त्रव्याख्यानप्रसङ्गे। त्रयाणां मन्त्राणां वेदिर्देवता। 'द्वय्यो ह वा इदमग्रे प्रजा आसुः' इत्युत्तरवेदिव्यवधारणविध्यर्थाख्यायिकायामुक्तम्—आदित्याश्चाङ्गिरसश्च द्विविधा एव प्रजा आसुः। तेऽङ्गिरसः पूर्वे आदित्येभ्यः पूर्वभाविनो यज्ञं सम्भृतवन्तः। तेऽग्निमूचुः— हे अग्ने, त्वं न इमां श्वः सुत्यां परेद्युः क्रियमाणमभिषवमादित्येभ्यः प्रब्रूहि। अनेन सोमयज्ञेन नोऽस्मान् याजयेति। एवमुक्तोऽग्निरादित्येभ्यः पूर्वभाविनो वृत्तान्तं प्रोवाच। ते आदित्या आहूता एवं व्यचारयन् कथमङ्गिरस एवास्मान् याजयेरन्। ते विचार्येत्थमूचुः— वयं तु तुभ्यमङ्गिरोभ्योऽद्य क्रियमाणां सुत्यां प्रब्रूमः। तेषां तथा कुर्वतामस्माकं त्वं होता भव। अङ्गिरसस्तद्वृत्तान्तावगमायाग्निप्रतिनिधिमन्यं प्रेषितवन्तः। तेऽग्नयेऽन्वागताय चक्रुधुः। सोऽग्निरनिन्द्या वै माऽवृषत सोऽनिन्द्यैर्वृतो नाशकत् तमपक्रमितुम्। तस्मादु हानिन्द्यस्य वृतो नापक्रमेत्। एतेन सद्यःक्रियाङ्गिरस आदि-

---

मन्त्रार्थ—हे वेदि! तुम सिंहनी के समान शत्रुओं का तिरस्कार करने वाली हो, देवताओं के उपकारार्थ उत्तर वेदि के रूप में समर्थ हो जाओ, देवताओं की प्रीति के निमित्त शुद्ध हो जाओ। हे उत्तरवेदि! तुम सिंहनी के समान शत्रुओं का तिरस्कार करने वाली हो। देवताओं की प्रीति के लिये सिकता (बालू) पड़ने से तुम शोभित हो जाओ॥ वेदि को शम्या से ठीक कर चारों ओर मध्य भाग में समान करे, मन्त्र पढ़ कर उसका प्रोक्षण करे और वेदि के कंकड़ आदि दूर करे॥१०॥

भाष्यसार—'सिंह्यसि' इत्यादि कण्डिकान्तर्गत मन्त्रों का उत्तरवेदि के निर्माण, प्रोक्षण तथा मृत्तिका को फैलाने आदि कार्यों में विनियोग किया गया है। कात्यायन श्रौतसूत्र (५.३.२९-३२) में यह याज्ञिक विनियोग शतपथ ब्राह्मण के अर्थानुसार उल्लिखित है।

त्यानयाजयन् स सद्यःक्रीः । एकाहः सोमयागः सद्यःक्रीः । दीक्षासोमक्रयादीनां सद्यः क्रियमाणत्वात् 'सद्यःक्रीः' इति नाम । तेभ्यः साद्यस्कयाजकेभ्यो वाचं दक्षिणात्वेन ते आदित्याः प्रादुः । तेऽङ्गिरसस्तान् प्रत्यगृह्णन् । निराकरणस्यायमभिप्रायो यदि स्वीकरिष्यामस्तर्हि त्यक्ष्यामः, दक्षिणोत्तरकालमपि वाचोऽपेक्षितत्वात् । तथा सति यज्ञोऽदक्षिणः स्यात् । अथैभ्यः सूर्यं दक्षिणामानयन् । तं प्रत्यगृह्णन् तेभ्यो ह वाक् चुक्रोध केन मत्तः सकाशात् केन बन्धुना केन विशेषगुणेन एष सूर्यः श्रेयान् यदेनं प्रत्यग्रहीष्ट । उभयान् संयत्तान् देवासुरान् कलहायोद्यतानन्तरेण सोऽङ्गिरोभ्योऽपक्रान्ता वाक् सिंही भूत्वा आददाना समीपस्थं सर्वं जिघत्सन्ती चचार । उभयैरप्याहूता सती वाक् पूर्वं देवान् प्रत्येव उपावर्तमाना आगमनोत्कोचरूपं किञ्चिदर्थयामास । देवा अग्नेः पूर्वभाविनीमाहुतिमागमनोपाधिना प्राहुः । सा देवानाह यां मया काञ्चनाशिषमाशासिष्यध्वे सा वः सर्वा समर्धिष्यते । अग्नावुत्तरवेदेरुपरि धार्यमाणे सत्युत्तरवेदिं व्याघारयति । एतद्व्याघारणेन या आहुतिरपवृत्तायै वेदिरूपायै वाचे देवैः कल्पिता, सा कृता भवेदिति (श. ३.५.२.१३-२३) ।

मन्त्रार्थस्तु—हे उत्तरवेदे, त्वं सिंह्यसि, त्वं सिंहसमाना भूत्वा सपत्नसाही सपत्नान् सहत इति सपत्नसाही शत्रूणामभिभवित्री भवसि, अतो देवेभ्यो देवोपकारार्थं कल्पस्व समर्था भव । 'प्रोक्षत्युत्तरवेदिꣳ सिकताश्च प्रकिरति सिꣳह्यसीति प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ५.३.३३) । हे उत्तरवेदे, त्वं शुन्धस्व शुद्धा भव । सिकताप्रक्षेपेण शुम्भस्व शोभिता भव । शुम्भतिरलङ्कारार्थः । शतपथे च—'अथानुव्यूहति । सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्वेति सा यद्देवाद्‌सिꣳही भूत्वा शान्तेवाचरत्तदेवैनामेतदाह सिꣳह्यसीति सपत्नसाहीति त्वया वयꣳ सपत्नान् पापीयसः क्रियास्मेत्येवैतदाह देवेभ्यः कल्पस्वेति योषा वा उत्तरवेदिस्तामेवैतद्देवेभ्यः कल्पयति' (श. ३.५.१.३३) । अनुक्रमेण व्यूहनं मृत्प्रसारणमनुव्यूहनं कुर्यात् सिंह्यसीति मन्त्रेण । मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—हे व्यूह्यमाने वेदे, त्वं सिंही असि । त्वया वयं सपत्नान् पापीयसः क्रियास्मेति ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे त्रिपुरसुन्दरि, त्वं सिंही असि सिंहवद् दैत्यदानवमृगान् हंसि । सपत्नसाही सपत्नान् दुर्दान्तान् मधुकैटभ-महिषासुर-शुम्भनिशुम्भ-भण्डासुरादीन् सोढुं शीलमस्याः सा सपत्नाभिभवित्री असि । सा त्वमस्माभिरभ्यर्थ्यमाना देवेभ्यो देवानां दिव्यगुणसम्पन्नानां त्वदुपासकानां चार्थाय कल्पस्व स्वर्गापवर्गादिसम्पादनसमर्था भव । शुन्धस्व देवान् भक्तान् शोधयस्व तत्त्वज्ञानेन सर्वोपाधितादात्म्यबाधनादिना । णिजर्थोऽयं लक्षणया नेयः । अन्तर्भावितण्यर्थो वा मन्तव्यः, नित्यशुद्धेऽन्यथानुपपत्तेः । सपत्नान् कामादिशत्रून् सोढुं शीलवती सपत्नसाही देवेभ्यो हिताय शुम्भस्व शोभिताऽलङ्कृता भव, अनन्तकल्याणगुणगणालङ्कृता सती तेषां हृदयकमले स्वात्मानं प्रकटय ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वंस्त्वं सपत्नसाही सिंही वागस्यस्ति, तां देवेभ्यः कल्पस्व, तां देवेभ्यः शुन्धस्व तां देवेभ्यः शुम्भस्व । शिक्षाविद्यासंस्कृता सत्यभाषणा मधुरा त्रिविधा वाग् मनुष्यैः सर्वदा कार्या' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रार्था-

---

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे त्रिपुरसुन्दरि देवि, आप सिंह के समान दैत्यदानवरूपी पशुओं का हनन करती हैं तथा दुर्दान्त शत्रुओं को, मधु-कैटभ, महिषासुर, शुम्भ-निशुम्भ आदि को पराभूत करने वाली हैं । हमारे द्वारा प्रार्थित आप दिव्यगुणसम्पन्न देवों तथा आपके भक्तों के लिये स्वर्गापवर्ग आदि पदार्थों के सम्पादन में समर्थ हों । तत्त्वज्ञान के द्वारा भक्तों को विशुद्ध करें तथा कामादि शत्रुओं को विनष्ट करने वाली आप देवों के हितार्थ सुशोभित, अलंकृत हों । अनन्त कल्याणगुणों के समूह से अलंकृत होकर उनके हृदयकमल में स्वयं को प्रकट करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में विद्या, बुद्धि आदि के द्वारा भी दोषों को विनष्ट करने के कारण, तथा क्यारी आदि के द्वारा भी सिंचन किये जाने के कारण, इनमें भी 'सिंही' शब्द का प्रयोग प्राप्त हो जायगा । इस मन्त्र में 'हे विद्वन्'

ननुगमात्। यत्तु—'हिनस्ति दोषान् यया सा सिंही, सिञ्चत्युच्चारयति यया वा सा सिंही' इति, तदपि तुच्छम्, विद्याबुद्ध्यादिभिरपि दोषाणां हिंसनात् कुल्यादिभिश्च सिञ्चनात् तत्र तथा प्रयोगापत्तेः। 'हिंसेः सिंहः' इति महाभाष्योक्तिस्तु शब्दसाधुत्वाय, न वागर्थत्वप्रतिपादनाय। यदपि—'देवेभ्यो विद्यां चिकीर्षुभ्यः कल्पस्व अध्यापनोपदेशाभ्यां समर्थय' इति, तदपि न सङ्गतम्, विद्वांस एव देवा इति त्वदभ्युपगमविरोधात्। यदि देवशब्दस्य दिव्यगुणा अर्थस्तदा विद्यां चिकीर्षुभ्य इति कस्य शब्दस्यार्थ इति वक्तव्यम्। किञ्च, कल्पस्वेति न णिजन्तप्रयोगः, तथा च तस्य विवरणं समर्थयेत्यसङ्गतमेव। किञ्च, नात्र विद्वन्निति सम्बोधनपदं दृश्यते। वाक् च त्वद्रीत्या जडेति न सम्बोध्या। न वाध्यापनोपदेशाभ्यां कश्चित्समर्थयितुं शक्नोतीति वृथैव प्रलपनम् ॥१०॥

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥११॥

'वेद्यन्तरे स्थित्वोदङ्ङुत्तरवेदिं प्रोक्षतीन्द्रघोषस्त्वेति प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्गम्' (का. श्रौ. ५.४.१०)। वेदिद्वयमध्ये स्थित्वा उदङ्मुखोऽध्वर्युश्चतुर्भिर्मन्त्रैर्यथालिङ्गमुत्तरवेदिं प्रोक्षेत्। 'घोष इति वाङ्नामसु पठितम्'। इन्द्रशब्दवाच्यो देवः। यद्वा इन्द्र इति शब्देन घुष्यते विस्पष्टं कथ्यते यो देवः, सोऽयमिन्द्रो देवः, वसुभिरष्टसंख्याकैर्गणदेवैर्युक्तः, स देवः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि त्वां पातु रक्षतु। अथ द्वितीयो मन्त्रः—प्रचेताः प्रकृष्टज्ञानो वरुणस्त्वां रुद्रैरेकादशसंख्याकैर्गणदेवैः सहितः पश्चात् प्रतीच्यां दिशि पातु। मनोजवा मनोवदत्यन्तवेगयुक्तो यमो देवः पितृभिरग्निष्वात्तादिपितृगणैः स्वर्लोकवासिभिर्देवताविशेषैर्युक्तो दक्षिणस्यां दिशि त्वां पातु। विश्वकर्मा विश्वानि जगदुत्पत्त्यादिविषयाणि कर्माणि यस्यासौ विश्वकर्मा, विश्वं वा कर्म रचना यस्य सोऽसौ देव आदित्यैर्द्वादशादित्यैः सह युक्त उत्तरस्यां दिशि त्वां पातु। अत्र सायणाचार्यः—उत्तरवेदिशब्दोदिता देवता यदा देवान् प्राप्नोति, तदानीमसुरा देवान् हन्तुमुद्यताः समागताः। तस्मिन्नवसरे देवसेनाधिपतय इन्द्रघोषादयश्चतसृषु दिक्षु तानसुरानपाकुर्वन्। तस्मादेतैर्मन्त्रैर्दिक्चतुष्टये रक्षा प्रार्थनीया। तदेतदाह तित्तिरिः—'देवाꣳश्चेदुत्तरवेदिरूपावर्वर्ती हैव विजयामहा इत्यसुरा वज्रमुद्यम्य देवानभ्यायन्त। तामिन्द्रघोषो वसुभिः पुरस्तादपानुदत' इति, 'दक्षिणाꣳससहितं बहिर्वेदि शेषं निषिञ्चतीदमहं तप्तं वारिति' (का. श्रौ ५.४.११)। प्रोक्षणशेषमुदकं दक्षिणांससंलग्नमेव वेदिबहिःप्रदेशे (अग्निकोणे) निनयेत्। तत्रेदमहं तप्तं वारुदकं बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामीति पठेद-

---

इस प्रकार सम्बोधन पद नहीं है। उनके मत में वाक् के जड़ होने के कारण वह सम्बोधित नहीं की जा सकती। अतः यह निरर्थक है ॥१०॥

मन्त्रार्थ—हे उत्तरवेदि! इन्द्र नाम से प्रसिद्ध देवता आठ वसुओं के साथ पूर्व दिशा में तुम्हारी रक्षा करें। वरुण देवता ग्यारह रुद्रों के साथ पश्चिम दिशा में तुम्हारी रक्षा करें। मन के समान वेगवाले यम देवता दिव्य पितरों के साथ दक्षिण दिशा में तुम्हारी रक्षा करें। विश्वकर्मा बारह आदित्यों के साथ उत्तर दिशा में तुम्हारी रक्षा करें। मैंने असुरों के निवारण के लिये जिस जल से वेदि का प्रोक्षण किया है, उस अग्राह्य जल को अब यज्ञ की वेदि के बाहर डालता हूँ॥ इस मन्त्र से वेदि की चारों दिशाओं में जल द्वारा मार्जन किया जाता है और मार्जन से बचे जल को बाहर फेंक दिया जाता है ॥११॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (५.४.१०-११) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'इन्द्रघोषस्त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों से प्रत्येक दिशा में उत्तरवेदि का प्रोक्षण किया जाता है तथा शेष बचे हुए जल को वेदि के बाहर गिराया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में इस याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अर्थ उपदिष्ट है।

भिचरंश्चेदध्वर्युः। असुरनिवारणाय येनोदकेन प्रोक्षणं क्रियते, तदुग्ररूपत्वात् तप्तमित्युच्यते। वेद्याः सिंहीरूपायाः क्रौर्यव्युत्सादनतस्तस्मिन् सन्तापप्राप्तेः सम्भवादवशिष्टमम्भस्तप्तं भवति। तादृशमिदं वाः वारि एतदुदकं प्रोक्षणशेषभूतमहमनुष्ठाता यज्ञाद् बहिर्धा यज्ञप्रदेशाद् बाह्यस्थले निःसृजामि निःसारयामि।

तदेतत्सर्वं शतपथे स्पष्टमुक्तम्। तथाहि—'प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते। स पुरस्तादेवाग्रे प्रोक्षत्युदङ्ङुत्तिष्ठन्निन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः परस्तात्पात्वितीन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्ताद् गोपायत्वित्येवैतदाह' (श. ३.५.२.४), 'प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात् पात्विति प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चाद्गोपायत्वित्येवैतदाह' (श. ३.५.३-५), 'अथ दक्षिणतः' (श. ३.५.२.६), 'अथोत्तरतः प्रोक्षति' (श. ३.५.२.७)। निनेतव्याया दक्षिणपूर्वस्रक्तेः स्पष्टप्रदर्शनाय पूर्वदिग्गतस्रक्तिद्वयोपन्यासः। 'अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते। तद्ये एते पूर्वे स्रक्ती तयोर्या दक्षिणा ता न्यन्तेन बहिर्वेदि निनयतीदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामीति सा यदेवादः सिंही भूत्वाऽशान्तेवाचरत्तमेवास्या एतच्छुचं बहिर्धा यज्ञान्निःसृजति यदि नाभिचरे. . . दादिशेदिदमहं तप्तं वारमुमभिनिःसृजामीति तमेतया शुचा विध्यति स शोचन्नेवामुं लोकमेति' (श. ३.५.२.८)। ता न्यन्तेनेति ताः प्रोक्षणीः, न्यन्तेन अत्यन्तान्तदेशेन। तत्रापि स्रक्त्यन्ते प्रोक्षणीये शेषनिनयनप्रसक्तावाह—बहिर्वेदीति। यद्यभिचारं कर्तुमिच्छेत् ततो यज्ञाद्बहिःस्थानेऽमुमभिनिःसृजामीति। अमुमित्यत्र द्वेष्यस्य नाम गृह्णीयात्। सोऽभितप्तः शोचन्नेवामुं लोकमेति, दुःखेन प्राणान् जहातीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे तु—युद्धोद्यताया भगवत्या भक्ता भक्त्या सर्वतो रक्षां कुर्वन्ति। इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु। यद्वा देवब्राह्मणादिरक्षणार्थं वनाय गन्तुमुद्यतं भगवन्तं रामं कौसल्या वात्सल्येन रक्षां विदधाति— इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु। प्रचेता रुद्रैः सह पश्चात् पातु। मनोजवा मनोगतिर्यमः पितृभिः सह त्वां दक्षिणतः पातु। विश्वकर्मा ब्रह्मा आदित्यैः सह त्वामुत्तरतः पातु। इदमहं मन्त्रैरभिमन्त्रितं यज्ञाद् देवार्चनदानादिलक्षणाद्यागात् तप्तं ब्राह्मणानां तपोभिर्जुष्टमुग्रं वाः वारि बहिर्धा त्वद्रक्षणार्थं निःसृजामि निक्षिपामि। यद्वा यज्ञाद् यज्ञमयात् त्वच्छरीराद् बहिर्धा चतुर्दिक्षु प्रक्षिपामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा प्रचेता इन्द्रघोषो विश्वकर्माहं यज्ञादिदमन्तःस्थमुदकं तप्तं बहिर्धा वर्तमानं शीतलं वा उदकं च निःसृजामि तथा यूयमपि कुरुत। या वसुभिः सह वर्तमानेन्द्रघोषो वागस्ति त्वा तां पुरस्ताद्रक्षामि, तथा भवानपि पातु। या रुद्रैः सह वर्तमाना प्रचेता वागस्ति तां पश्चात् पालयामि तथा भवानपि पातु। या पितृभिः सह वर्तमाना मनोजवा वागस्ति तां दक्षिणतोऽवामि, तथा भवानपि पातु। या आदित्यैः सह वर्तमाना वागस्ति,

---

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—भक्तगण भक्ति के कारण युद्ध के लिये उद्यत भगवती के प्रति सर्वतः रक्षा का प्रतिपादन करते हैं। अथवा देवब्राह्मणादि की सुरक्षा के लिये वन जाने के लिये उद्यत भगवान् राम की रक्षार्थ वात्सल्य के कारण माता कौसल्या इस प्रकार कहती हैं—इन्द्र नामक देव वसुओं के साथ पूर्व में तुम्हारी रक्षा करें। प्रकृष्ट ज्ञानवान् वरुण रुद्रों के साथ पश्चिम में तुम्हारी रक्षा करें। मन के समान वेगवान् यम पितृगणों के साथ दक्षिण में तुम्हारी रक्षा करें। जगत् के रचयिता विश्वकर्मा आदित्यों के साथ उत्तर में तुम्हारी रक्षा करें। मैं यह मन्त्रों से अभिमन्त्रित, यज्ञ से अथवा तप से प्रदीप्त, उग्र बलवान् जल रक्षा के लिये प्रक्षिप्त करती हूँ, अथवा यज्ञमय तुम्हारे शरीर से बाहर चारों दिशाओं में गिराती हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ मन्त्रगत अक्षरों से असम्बद्ध होने के कारण उचित नहीं है। वाणी का बोधक होने पर 'इन्द्रघोष' पद का स्त्रीलिङ्गत्व आपतित होगा। इन्द्र शब्द के वेदपरक होने में भी प्रमाण नहीं है। 'पितरः' शब्द का अर्थ ज्ञानीगण कैसे हो सकता है? उन उन वाणियों के लिये पूर्व आदि दिशाओं से क्या भय है, जिससे रक्षा अपेक्षित है ॥११॥

तामुत्तरतो रक्षामि, तथा भवानपि पातु। भावार्थस्तु—मनुष्यैर्वसुरुद्रादित्यपितृभिः सेवितां यज्ञाधिकृतां वाचमुदकं च विद्यया सत्क्रियया सह सेवित्वा शुद्धं निर्मलं च सततं भावनीयम्' इति, तदेतत्सर्वं यत्कञ्चित्, मन्त्राक्षरासम्बद्धत्वात्।

यदुक्तम्—'इन्द्रस्य परमेश्वरस्य वेदाख्याया विद्युतो वा घोषो विविधशब्दार्थसम्बन्धो यस्य यस्या वा सा वाग्' इति, तत्तुच्छम्, वाचो बोधकत्व इन्द्रघोषेति स्त्रीलिङ्गत्वापत्तेः। इन्द्रशब्दस्य परमेश्वरार्थकत्वे सम्भवत्यपि वेदपरत्वे मानाभावात्। यद्यपि वाङ्नामसु घोषशब्दस्य पाठाद् वागर्थत्वं सम्भवति, तथापि शब्दार्थसम्बन्धपरत्वं निर्मूलमेव। एवमेव वसुभिरग्न्यादिभिः कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यैर्वा सह वर्तमानेत्यप्यसङ्गतम्, वाचोऽग्निपृथिवीवाय्वन्तरिक्षादित्यद्युचन्द्रनक्षत्राख्यैर्वसुभिः सहभावानिरूपणात्, वसुपदस्य कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यार्थत्वे मानाभावात्। तथैव प्रकृष्टविज्ञानाया वाचः प्राणैः कीदृशः सम्बन्धः? इन्द्रघोषायास्तैः कथं सम्बन्धाभावो निश्चीयते? इन्द्रघोषया प्रकृष्टतया न चेतन्ति तर्हि कथमन्यया प्रकृष्टतया चेतन्ति जना येन सा वाक् प्रचेताः स्यात्, कथं च रुद्रपदस्य कृतचतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यार्थता? मनोजवा वाक् कथं भवति? कथं च तस्या ज्ञानिभिः सम्बन्धः? कथं च कृताष्टाचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यैः सम्बन्धः? पितर इत्यस्य पदनामसु पाठेऽपि ज्ञानिन इति कथं तदर्थः? ताभिस्ताभिर्दिग्भिरपि तस्यास्तेषां च कः सम्बन्धः, येनेन्द्रघोषादयस्तत्सहभाविनश्च पूर्वादिभ्यो रक्षन्ति? एवमेव 'विश्वानि सर्वाणि कर्माणि यस्या यस्य वा' इत्यपि यत्किञ्चित्, चक्षुःश्रोत्रादिकर्मणां वाक्कर्मत्वायोगात्। आदित्यैर्मासैः कृताष्टाचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यैः सहेत्यपि निर्मूलम्। किञ्च, सा वाक् कं पातु? पदार्थे तु 'त्वा तां पातु' इत्युक्तम्। अत्र तामिति पदेन वागेव ग्राह्या, त्वद्रीत्या तस्या एव प्रकृतत्वात्। तर्हि कथं वागेव वाचं पातु? यदपि—'इदमन्तःस्थमुदकमहं धर्मेणाध्ययनाध्यापनश्रमेण संतप्तं वाः बाह्यमुदकं बहिर्धा या बाह्ये देशे धारयति शब्दान् सा यज्ञाद् अध्ययनाध्यापनाद् होमलक्षणाद्वा निः नितरां सृजामि सम्पद्ये प्रक्षिपामि वा' इति, तदपि तात्पर्यशून्यमेव, असङ्गतिश्च। 'इदमित्युदकनामसु'(निघ. १.१२) इदं वारित्युभयोः शब्दयोरुदकवाचकत्वेऽपि कथमेकस्यान्तःस्थमपरस्य बाह्यं जलमित्यर्थः? अन्वयरीत्या कथमन्तःस्थं तप्तं बहिर्धा शीतलमित्यर्थभेदः? यद्यन्तःस्थमध्ययनादिश्रमेण सन्तप्तं भवति, तदा बाह्यमपि सूर्यादिना तप्तं भवत्येव। यथाहं तथा यूयमपीति को वक्ति? परमेश्वरश्चेत्, स कथमध्ययनाध्यापनश्रमवान् भवति, तस्य नित्यसर्वज्ञत्वात्। जीवश्चेत्, कथं स परमेश्वरवदाभ्यन्तरं तप्तं बाह्यं शीतलं जलं स्रष्टुं शक्नोति। निःक्षेपेण च को लाभः? हिन्द्यां तु—'यथा विश्वकर्माहं यज्ञात् पठनपाठनाभ्यां होमाद्वा इदमाभ्यन्तरं तप्तं जलं बहिर्धा बाह्यं शीतलं जलं सम्पादयामि निःक्षिपामि च, तथैव भवानपि करोतु। अग्न्यादिपदार्थैः कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यैर्मनुष्यैर्वर्तमानां परमेश्वरस्य जीवस्य विद्युतो वानेकसम्बन्धवाणीं यथा पूर्वदेशाद्रक्षामि, तथैव भवानपि पातु' इति, को वास्य वाग्जालस्यार्थः? तासां तासां वाणीनां कृते पूर्वादिदेशेभ्यः किं भयम्, यतो रक्षणमपेक्षितम्? मूले तु—इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु, प्रचेता रुद्रैः सह त्वा पश्चात् पात्विति सरलोऽन्वयो भाति ॥११॥

सि॒ꣳह्य॑सि॒ स्वाहा॑ सि॒ꣳह्य॑स्यादित्य॒वनि॑ः स्वाहा॑ सि॒ꣳह्य॑सि ब्रह्म॒वनि॑ः क्षत्र॒वनि॑ः स्वाहा॑ सि॒ꣳह्य॑सि सुप्रजा॒वनी॑ रायस्पोष॒वनि॑ः स्वाहा॑ सि॒ꣳह्य॑स्याव॑ह दे॒वान्यज॑मानाय॒ स्वाहा॑ भू॒तेभ्य॑स्त्वा ॥१२॥

मन्त्रार्थ—हे उत्तरवेदि! तुम असुरों का भक्षण करने वाली हो, हम लोग तुम्हें यह शोभन आहुति देते हैं। हे उत्तरवेदि! तुम आदित्यों को प्रसन्न करने वाली सिंहिनी हो, तुम्हारे लिये हम यह शोभन आहुति देते हैं। हे उत्तरवेदि! तुम ब्राह्मण-क्षत्रियों को प्रीति देने वाली हो, सिंहिनी के समान पराक्रमी हो, हम यह सुन्दर आहुति तुम्हें देते हैं। हे उत्तरवेदि! तुम अच्छी प्रजा

'नाभ्याः श्रोण्यꣳसेषु पञ्चगृहीतं जुहोत्यक्ष्णया दक्षिणेंऽसे श्रोण्याꣳ श्रोण्यामꣳसे मध्ये च हिरण्यं पश्यन् सिꣳह्यसीति प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ५.४.१२)। अध्वर्युरुत्तरवेदेरुत्तरत उपविश्य नाभ्याः श्रोणिद्वये, अंसद्वये, मध्ये च निहितं सुवर्णं विलोकयन् अक्ष्णया कौटल्येन जुह्वां पञ्चवारं गृहीतमाज्यं जुहुयात्। आदौ नाभेर्दक्षिणेंऽसे तत उत्तरश्रोण्यां ततो दक्षिणश्रोण्यां तत उत्तरेंऽसे ततो मध्य इति सूत्रार्थः। आपस्तम्बोऽपि तदेतत्कौटल्य(वक्रता)प्रकारं विस्पष्टमाह—'दक्षिणमंसमुत्तरां श्रोणिं दक्षिणामुत्तरांसमध्यम्' इति। पुरा पूर्वोक्तप्रकारेण वाग्रूपा वेदिदेवता केनापि निमित्तेन देवेभ्योऽपाक्रम्य तदानीमसुरान् प्राप्य देवासुरसेनयोर्मध्ये सिंहरूपं धृत्वा तस्थौ। तेभ्य उत्तरवेदिः सिंहीरूपं कृत्वोभयानन्तरा प्रक्रम्यातिष्ठदिति शतपथोक्तवृत्तान्तस्तु पूर्वमेवोक्तः। हे उत्तरवेदे, त्वं सिंही असि सिंहरूपा भवसि। तादृश्यै तुभ्यं नमः। स्वाहा हविः सुहुतमस्तु। सिंही असि। आदित्यवनिर् आदित्यान् वनुते सम्भजते प्रीणयति वेत्यादित्यवनिः। सिंही असि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिर्ब्राह्मणक्षत्रियजात्योः प्रीणयित्री। सिंही असि सुप्रजावनिः पुत्रपौत्रादिरूपायाः शोभनायाः प्रजायाः सम्पादयित्री। रायस्पोषवनिः स्वाहा सुवर्णरजतादिधनपुष्टेः सम्पादयित्री तादृश्यै तुभ्यं स्वाहा। सिंही असि आवह देवान् यजमानाय स्वाहा। यजमानोपकारार्थं देवानस्मिन् कर्मण्यानयेति। 'भूतेभ्यस्त्वेति स्रुचमुद्यच्छतीति' (का. श्रौ. ५.४.१३)। होमार्थं नीचैः कृतां स्रुचमूर्ध्वां करोतीति। होमशेषाज्ययुक्ते हे जुहूस्त्वा त्वां भूतेभ्यो जरायुजाण्डजादिचतुर्विधभूतग्रामप्रीत्यर्थमुद्यच्छामीति शेषः। तमेतं मन्त्रार्थं विनियोगपुरःसरं तित्तिरिर्विस्पष्टं दर्शयति—'भूतेभ्यस्त्वेति स्रुचमुद्गृह्णाति या एव देवतास्तास्तेषां तद्भागधेयं तानेव तेन प्रीणामि' इति।

अध्यात्मपक्षे तु—सैव राजराजेश्वरी मन्त्रेऽत्र स्तूयते—सिंही असि सिंहसदृशी शौर्याद्युपेता आदित्यान् स्वशक्त्या तेजोदानेन प्रीणयसि। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः', 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डको. २.२.१०) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तादृश्यै तुभ्यं स्वाहा स्वसर्वस्वं स्वं च समर्पयामि। सिंही असि, अज्ञानानैश्वर्यव्यापादिका। ब्रह्मक्षत्रजात्योः प्रीणयित्री, ब्राह्मक्षात्रतेजःप्रदानेन। सिंही असि, प्रजाप्राप्तिप्रतिबन्धहन्त्री पुत्रपौत्रादिशोभनप्रजासम्पादयित्री असि। तस्यै तुभ्यं स्वाहा तत्तदुपचारानर्पयामि। सिंही असि सुवर्णादिधनपुष्टेः सम्पादयित्री। यजमानोपकारार्थं देवानावहसि। त्वच्छक्त्यैव मन्त्रैर्देवानामावाहनं सिध्यति, मन्त्राणां देवानां च त्वच्छक्त्यैवोपोद्बलितत्वादिति भावः।

और धन-पुष्टि को देने वाली, पराक्रम में सिंहिनी के समान हो। हमारी दी हुई इस शोभन आहुति को तुम स्वीकार करो। हे उत्तरवेदि! तुम सिंहिनी के समान हो, यजमान के उपकारार्थ देवताओं को यहाँ पहुँचाओ। तुम्हारे लिये हम यह सुन्दर आहुति देते हैं। हे घृतयुक्त जुहु! सब प्राणियों की प्रीति के लिये तुमको वेदि के ऊपर ग्रहण करता हूँ, तुम जरायुज आदि के भाग हो॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए वेदि की दोनों श्रोणियों, दोनों अंशों तथा नाभि में कुछ सुवर्ण रख कर अध्वर्यु जुहू में आज्य लेकर पाँच आहुतियाँ देता है ॥१२॥

भाष्यसार—'सिंह्यसि स्वाहा' इत्यादि कण्डिकान्तर्गत मन्त्रों का याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (५.४.१२-१३) में पाँच बार घृताहुति के प्रदान तथा स्रुव के उन्नयन में किया गया है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ ही शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—इस मन्त्र में उन्हीं राजराजेश्वरी भगवती की स्तुति है। आप सिंह के समान शौर्यादि से युक्त हैं तथा आदित्यों को भी अपने तेजःप्रदान से पुष्ट करती हैं। इस प्रकार की महिमा से मंडित आपके लिये मैं अपने सर्वस्व को तथा स्वयं को समर्पित करता हूँ। आप अज्ञान, अनैश्वर्य की नाशयित्री हैं, ब्राह्म एवं क्षात्र तेज प्रदान करके मनुष्यों का पोषण करती हैं। आप प्रजा-प्राप्ति के प्रतिबन्धों की नाशिका, पुत्र-पौत्रादि सुन्दर सन्ततियों की सम्पादिका हैं। मैं आपके लिये उन उन उपचारों का समर्पण करता हूँ। आप सुवर्ण आदि धन की वृद्धि करने वाली हैं, भक्त के उपकारार्थ देवताओं को बुलाती हैं, आपकी शक्ति से ही मन्त्रों के द्वारा देवताओं का आह्वान सिद्ध होता है।

दयानन्दस्तु—'अहं यादित्यवनिः सिंही स्वाहास्यस्ति, या ब्रह्मवनिः सिंही स्वाहास्यस्ति, या क्षत्रवनिः सिंही स्वाहास्यस्ति, या रायस्पोषवनिः सिंही या सुप्रजावनिर्या यजमानाय देवानावह प्रापयति, त्वा तां भूतेभ्यो यज्ञान्निःसृजामि। मनुष्यैरध्ययनादिनेदृग्लक्षणां वेदादिवाणीं प्राप्यैतां सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽध्याप्यानन्दयितव्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अक्षरार्थाननुगमात्। यदपि—'अहं या मासानां सेविनी क्रूरत्वादिदोषनिवारिणी ज्योतिःसंस्कारोपेता वागस्ति, या च परमात्मानं वेदं वेदज्ञान् मनुष्यान् सेवते, सिंहबलेन जाड्यापहाऽध्ययनाध्यापनव्यवहारोपेताऽस्ति, या च धनुर्विद्या तद्वतो मनुष्यान् सेवते, चौरादीनन्यायांश्च नाशयति, राज्यव्यवहारे कुशला वागस्ति, या च विद्याधनादिपोषिका अविद्याद्यपहन्त्री वागस्ति, या चोत्तमप्रजासेविनी दुःखनाशिनी व्यवहारेण धनप्रापयित्री वागस्ति, या च विद्वत्पूजकयजमानाय दिव्यविद्यासम्पन्ना दिव्यान् गुणान् भोगान् वा प्रापयन्ती वागस्ति, तां सर्वप्राणिभ्यो यज्ञात् सम्पादयामि' इति, तदपि मन्दम्, व्यत्ययादिदोषबाहुल्यात्, मन्त्रे यज्ञान्निःसृजामीति पदाभावादनुवृत्तौ मानाभावाच्च। सिंही स्वयं क्रूरा सती कथं क्रूरत्वं नाशयिष्यति? सा च मासान् ब्रह्मक्षत्रादीन् कथं सेवते? सिद्धान्ते तूत्तरवेद्यधिष्ठात्री देवता तादृशी, माहाभाग्याद्देवतानाम्। 'यया ब्रह्मविदो मनुष्या ब्रह्म परमात्मानं वेदं वा वनन्ति सा, यया क्षत्रं राज्यं धनुर्विद्यां शूरवीरान् पुरुषान् वा वनन्ति' इत्याद्यपि तादृशमेव, वाङ्मात्रेण तदसिद्धेः। 'पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः। सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥' इति नीतिविरोधाच्च, शतपथोक्तिविरोधाच्च ॥१२॥

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृꣳह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳहाच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहाग्नेः पुरीषमसि ॥१३॥

'नाभिं पैतुदारवैः परिदधाति पूर्ववद् ध्रुवोऽसीति प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ५.४.१४)। पीतुदारुशब्देन देवदारुवृक्षविशेष उच्यते। यद्वा पीतुदारु उदुम्बरविशेषः। 'स यां वनस्पतिष्ववसत् तां पितुद्रौ' (तै. सं. ६.२.८.४) इति श्रवणात् पीतुदारुणोऽग्नेः शरीरत्वम्। तदीयैः परिधिभिर्मध्यदेशरूपां नाभिं परिदध्यात्। पूर्ववद्दर्शपूर्णमासेष्टौ यथा पश्चिमदक्षिणोत्तरेषु, तथात्रापीति सूत्रार्थः।

मन्त्रार्थस्तु—हे मध्यपरिधे, त्वं ध्रुवः स्थिरोऽसि, अतः पृथिवीं दृंह दृढीकुरु। ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृंह, हे दक्षिणपरिधे, त्वं ध्रुवक्षिद् ध्रुवे स्थिरे क्षियसि निवससीति ध्रुवक्षित् तादृशोऽसि, तस्मादन्तरिक्षं दृढीकुरु। हे उत्तरपरिधे, त्वम् अच्युतक्षिदसि, अच्युते च्युतिरहितेऽविनाशिते यज्ञे क्षियसीत्यच्युतक्षिदसि, यद्वा अच्युतं परैरच्यावितं यथा न चलति न क्षियत्यच्युतक्षित्, तस्माद् दिवं दृंह द्युलोकं स्थिरीकुरु। 'अग्नेः पुरीषमिति निवपति गुग्गुलुसुगन्धितेजनवृष्णेः स्तुकाश्चोपरि शीर्षण्या अभावेऽन्याः' (का. श्रौ. ५.४.१५)। नाभेरुपरि गुग्गुल्वादीन्निदध्यात्। गुग्गुलुशब्देन धूपार्थ

मन्त्रार्थ—हे मध्यम परिधि! तुम स्थिर हो, यहाँ की पृथ्वी को दृढ़ करो। हे दक्षिण परिधि! तुम स्थिर यज्ञ में निवास करती हो, अन्तरिक्ष को दृढ़ करो। हे उत्तर परिधि! तुम अविनाशी यज्ञ में निवास करती हो, द्युलोक को दृढ़ करो। हे सम्भार! तुम अग्नि के पूर्णकर्ता हो॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए देवदारु की तीन-तीन परिधियों के द्वारा उत्तर वेदि की नाभि से दर्शपौर्णमास इष्टि के समान पश्चिम, दक्षिण, उत्तर इन तीन दिशाओं में परिधियों और संभारों को स्थापित करे ॥१३॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (५.४.१४-१५) में निर्दिष्ट याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'ध्रुवोऽसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से परिधियों का परिधान तथा गुग्गुलु आदि द्रव्यों का नाभिदेश पर निधान किया जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप ही मन्त्रों का अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है। सायण, उव्वट तथा महीधर ने भी शतपथ-सम्मत व्याख्या की है।

द्रव्यमुच्यते। सुगन्धितेजनं रोहितः। वृष्णेर्मेषस्य स्तुका रोमाणि। ताश्च शीर्ष्णि भवास्तदभावेऽशीर्षण्या अन्यस्मिन् मेषस्य शरीरप्रदेशे जाताः, एतानि प्रक्षिपेदिति। हे गुग्गुलुप्रभृतिसम्भारसमूह, त्वमग्नेः पुरीषं पूरकमसि। पूरयतीति पुरीषम्, 'अग्नेर्ह्येतत्पुरीषं यत् संभारः' इति तित्तिरिश्रुतेः। सम्भारनिवापोऽग्नेः सर्वत्वाय। गुग्गुल्वादीनामग्न्यवयवत्वं शतपथश्रुत्या स्पष्टमुक्तम्। तथाहि—'तस्यामाघारयति। सिꣳह्यसि स्वाहेत्यथापरयोरुत्तरस्याꣳ सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहेत्यथापरयोर्दक्षिणस्याꣳ सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहेति बह्वी वै यजुःष्वाशीस्तद् ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्त उभे वीर्ये' (श. ३.५.२.११), 'अथ पूर्वयोरुत्तरस्याꣳ सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहेति तत्प्रजामाशास्ते यदाह सुप्रजावनिरिति रायस्पोषवनिरिति भूमा वै रायस्पोषस्तद्भूमानमाशास्ते (श. ३.५.२.१-२),'तद्वा एतदेकं कुर्वन् द्वयं करोति यदुत्तरवेदिं व्याघारयत्यथ यैषां मध्ये नाभिकेव भवति तस्यै ये पूर्वे स्रक्ती तयोर्या दक्षिणा' (श. ३.५.२.१०)। एकमुत्तरवेदिव्याघारणं कुर्वन् द्वयं व्याघारणं यजमानाशीराशासनं चेति द्वयं करोति। उत्तरवेदिमध्यङ्गतायाश्चतुःस्रक्तेरुत्तरनाभेर्दक्षिणया व्याघारप्रकार उच्यते—अथ यैषां मध्ये नाभिकेव भवति तस्या इति। तस्यै तस्या ये पूर्वे स्रक्ती ईशानाग्नेयदिग्गते, तयोर्मध्ये दक्षिणा स्रक्तिराग्नेयदिग्गता, तस्यां सिंह्यसि स्वाहेति व्याघारयति। अथापरयोर्नाभेः पश्चाद्दिग्गतयोर्मध्ये उत्तरस्यां वायव्यदिगवस्थितायां स्रक्त्यामादित्यान् यजमानार्थं वनति भजत इत्यादित्यवनिस्तादृशी सिंह्यसि तुभ्यं सुहुतमस्तु। अथापरयोर्दक्षिणस्यां नैर्ऋत्यकोणकोष्ठे। अत्र ब्रह्मक्षत्रोभयाशासनस्याभिप्रायमाह—यजुःषु आशीःपरेषु प्रायेण बह्वी आशीर्बहुविधान्याशासनान्युपलभ्यन्ते। अथ पूर्वयोरुत्तरस्यामीशानस्रक्त्यां सुप्रजावनिः शोभनपुत्रादिलक्षणप्रजासम्भक्तिः, रायस्पोषवनिर्धनपुष्टिः। 'अथ मध्ये आघारयति। सिꣳह्यस्यावह देवान् यजमानाय स्वाहेति तद्देवान् यजमानायावाहयत्यथ स्रुचमुद्यच्छति भूतेभ्यस्त्वेति प्रजा वै भूतानि प्रजाभ्यस्त्वेत्येवैतदाह' (श. ३.५.२.१३)। अथ नाभिव्याघारणमन्त्रः—'अथ परिधीन् परिदधाति। ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृꣳहेति मध्यमं ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳहेति दक्षिणमच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहेत्युत्तरमग्नेः पुरीषमसीति सम्भारानुपनिवपति तद्यत्सम्भारा भवन्त्यग्नेरेव सर्वत्वाय' (श. ३.५.२.१४)। 'शरीरꣳ हैवास्यै पीतुदारु। तद्यत् पैतुदारवाः परिधयो भवन्ति शरीरेणैवैनमेतत्समर्द्धयति कृत्स्नं करोति' (श. ३.५.२.१५)। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव।

शरीरं ह एव अस्य अग्नेः पीतुदारु उदुम्बरविशेषः, 'स यां वनस्पतिष्ववसत् तां पितुद्रौ' (तै. सं. ६.२.८.४) इति श्रवणात् पीतुदारुणोऽग्नेः शरीरत्वम्। तद्यत् पैतुदारवाः परिधयो भवन्ति शरीरेणैवैनमग्निं समर्धयन्ति कृत्स्नत्वं सम्पादयन्ति। 'माꣳसꣳ ह वास्य गुल्गुलु। माꣳसेनैव तत्समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श. ३.५.२.१६)। यथा पीतुदारु तस्याग्नेः शरीरं भवति, तथैव गुल्गुलु तस्य मांसं भवति, 'यन्माꣳसमुपस्रुतं तद् गुल्गुलु' (तै. सं. ६.२.८.४) इति श्रुतेः। 'गन्धो हैवास्य सुगन्धितेजनं तद्यत्सुगन्धितेजनं भवति गन्धेनैवैनमेतत्समर्द्धयति कृत्स्नं करोति' (श. ३.५.२.१७)। सुगन्धितेजनाख्य ओषधिविशेषोऽस्याग्नेर्गन्धो भवति। तेन तस्य समर्द्धनं कार्त्स्न्यं च सम्पद्यते। 'यामोषधीषु तां सुगन्धितेजने' (तै. सं. ६.२.८.४) इति श्रुतिरीत्या सुगन्धतेजनाख्यौषधिविशेषेऽग्नेरेकरात्रनिवासादग्नेर्गन्धः सुगन्धितेजने संक्रान्तः। तदुपनिवापेनाग्नेर्गन्धाख्यांशस्य पुनर्योजनात् कार्त्स्न्यं सम्पद्यते। 'अथ यद्वृष्णेः स्तुका भवति।... तस्माद्या शीर्ष्णो नेदिष्ठꣳ स्यात्तामाच्छिद्याहरेद्यद्यु तां न विन्देदपि यामेव काञ्चाहरेत् तद्यत्परिधयो भवन्ति गुप्त्या एव दूर इव ह्येनमुत्तरे परिधय आगच्छन्ति' (श. ३.५.१.८)। वृष्णिर्मेषस्तस्य स्तुका रोमः, 'वृष्णेर्ह वै विषाणे अन्तरेणाग्निरेकां रात्रिमुवास यां पशुषु तां पेत्वस्यान्तरा शृङ्गे' (तै. सं. ६.२.८.४) इति श्रुतेः। तद्यदेवाग्नेर्न्यक्तं तदिहाप्यसदिति तस्मा शीर्ष्णो नेदिष्ठं स्यात्तामेव स्तुकामाहरेत्, तदलाभे तां यामेव काञ्चनाहरेत् तदवान्तरजातिसम्बन्धामपि निवपेत्। परिधीनां परिधानं तद्दारुविशेषत्वं चोक्तम्, इदानीं तदावश्यकत्वमाह—तद्यत् परिधयो भवन्ति, यस्मादुत्तरे उपरि क्रियमाणाः

परिधयो दूरे विप्रकृष्टकाले होमकाले आगच्छन्ति, अतोऽग्नेर्गुप्तिस्तावत्पर्यन्तमपेक्षिता। तस्मादिदानीमवश्यं कर्तव्यमित्यर्थः। एवं शतपथादिसम्मतमेव पूर्वोक्तं सायणोव्वटमहीधरव्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे तु—हे कूटस्थचिद्रूप त्रिपुरसुन्दर कामेश्वर! त्वं ध्रुवोऽसि, षड्विधभावविकारवर्जितत्वात्। पृथिवीं दृꣳह स्थिरां कुरु। ध्रुवक्षिद् ध्रुवाणि मोक्षरूपाणि सुखानि क्षियति निवासयतीति ध्रुवक्षित्, तद्रूपोऽसि, तस्मादन्तरिक्षं दृꣳह। अच्युतक्षित्, न केनापि च्युतं यथा न चलति तथा क्षियति निवसतीत्यच्युतक्षित् तद्रूपोऽसि। अग्नेः पुरीषमसि अग्नेस्तदुपलक्षितानां समेषां ज्योतिषां पूरकमसि, 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (भ. गी. १३.१८) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यो यज्ञो ध्रुवोऽस्ति पृथिवीं वर्धयति तं त्वं दृंह। यौ ध्रुवक्षिदस्यस्ति, अन्तरिक्षमाकाशस्थान् पदार्थान् पोषयति, तं त्वं दृंह। योऽच्युतक्षिदस्यस्ति दिवं प्रकाशयति तं त्वं दृंह। योऽग्नेः पुरीषमस्यस्ति तं त्वमनुतिष्ठ। मनुष्यैर्विद्याक्रियासिद्धं त्रैलोक्यस्थपदार्थपोषकं विद्याक्रियामयं यज्ञमनुष्ठाय सुखयितव्यम्' इति, तदपि न किञ्चित्, यज्ञस्य क्रियात्मकस्य ध्रौव्यायोगात्, ध्रौव्ये वा तस्य वर्धापनासम्भवः। न च कूटस्थः पृथिव्यादीन् वर्धयितुं शक्नोति। दिवं प्रकाशयेत्यर्थबोधकपदाभावोऽपि। व्यत्ययाद्याश्रयणात् शतपथविरोधाच्च तदयुक्तमेव। सिद्धान्ते तु तत्तदवच्छिन्नचैतन्यकूटस्थत्वाभिप्रायेण ध्रौव्यं सम्भवत्येव ॥१३॥

युञ्जते मनं उत युंञ्जते धियो विप्रा विप्रंस्य बृहतो विंपश्चितः। वि होत्रां दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्यं सवितुः परिंष्टुतिः स्वाहां ॥१४॥

अत्र सायणाचार्याः काण्वसंहिताभाष्ये प्राहुः— 'अस्ति तावत्प्राचीनवंशाख्या काचिच्छाला। तस्यामाहवनीयाद्यग्नित्रयमैष्टिकवेदिश्च वर्तते। तस्याः शालायाः पुरतः षट्त्रिंशत्पददीर्घा सौमिकवेदिर्निर्मातव्या। तस्या वेद्या अग्रभागे पूर्वोक्तोत्तरवेदिः१ ततः पश्चान्मध्यभागे हविर्धानाख्यो मण्डपो निर्मातव्यः। ततोऽपि पश्चात् सदोऽभिधाना काचिच्छाला

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे कूटस्थ चिद्रूप त्रिपुरसुन्दर! आप छः प्रकार के भावविकारों से रहित होने के कारण ध्रुव हैं, अतः पृथिवी को स्थिर करें। मोक्षरूप स्थिर सुखों के आप निवासभूत हैं, अतः अन्तरिक्ष को सुदृढ़ करें। आप अविचल निवासरूप हैं तथा अग्नि आदि समस्त ज्योतिष्पिण्डों के भी पूरक हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में क्रियात्मक यज्ञ के ध्रुव न होने के कारण अनौचित्य है। ध्रुव होने पर उसकी वृद्धि करना भी संभव नहीं है। कूटस्थ तत्त्व पृथिवी आदि का वर्धन करने में भी सक्षम नहीं है। व्यत्यय आदि का आश्रय ग्रहण करने के कारण तथा शतपथ-श्रुति से विरुद्ध होने के कारण भी वह अर्थ युक्त नहीं है। हमारे सिद्धान्तपक्ष में तो अवच्छिन्न चैतन्य के कूटस्थत्व के अभिप्राय से ध्रुवत्व संगत है ॥१३॥

मन्त्रार्थ—वेदपाठ से महत्त्व को प्राप्त, सर्वज्ञ यजमान के वेदवेत्ता होम करने वाले ऋत्विक् यज्ञानुष्ठान में मन और इन्द्रियों को लगाते हैं, क्योंकि सब प्राणियों के मन की वृत्ति को जानने वाले सृष्टिकर्ता ने ही इन ब्राह्मणों को मनोवशीकार की सामर्थ्य के साथ रचा है। प्रेरक अन्तर्यामी परमात्मा की सच्ची स्तुति मनोवशीकार ही है। उस परमात्मा के निमित्त हम यह श्रेष्ठ आहुति देते हैं॥ हविर्धान मण्डप बनाकर अध्वर्यु शाला में प्रवेश कर आज्य का संस्कार करके चार बार ग्रहण किये हुए आज्य की परिस्तरण-समिदाधानपूर्वक अग्नि में इस मन्त्र से आहुति दे ॥१४॥

भाष्यसार—सोमयाग में प्राचीन वंशशाला के द्वार के समीप पूर्व स्थापित आहवनीय अग्नि में 'युञ्जते मनः' इस ऋचा के द्वारा चतुर्गृहीत आज्य का हवन किया जाता है। इस याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में उपदिष्ट है।

निर्मातव्या । तस्याः स्थाने प्राचीनशालायाः पुरतो दक्षिणोत्तरभागयोर्हविर्धाननामके द्वे शकटे स्थापिते भवतः । तच्छकटद्वयं पुरतः प्रवर्त्य तदावरकत्वेन हविर्धानाख्यमण्डपो निर्मातव्यः । तच्च शकटद्वयं सावित्रमन्त्रहोमादूर्ध्वं प्रवर्तनीयम् । तदाह तित्तिरिः—'सावित्र्यर्चा हुत्वा हविर्धाने प्रवर्तयति', शतपथे च 'पुरुषो वै यज्ञः' इत्युपक्रम्य यज्ञाधारभूतसदोहविर्धान-मण्डपस्य पुरुषसन्निवेशतामुक्त्वा हविर्धानस्य शिरस्त्वमाहवनीयस्य मुखत्वं यूपस्य स्तूपत्वं (शिखात्वम्) आग्नीध्री-यमार्जालीययोर्बाहुत्वं सदस उदरत्वं सौमिकवेदेः पश्चाद्भागे स्थितयोराहवनीयगार्हपत्ययोर्जघनदेशवृत्तित्वात् पादत्वम् । उभयतोद्वारं हविर्धानमुभयतोद्वारं च सदः । तस्मादेव पुरुषोऽप्यन्तपर्यन्तं सुषिरवान् भवति । तत्र हविर्धानप्रवर्तनाभ्य-नुज्ञापनाय सावित्रं होमं विधत्ते—'चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा सावित्रं प्रसवाय जुहोतीति' (श. ३.५.३.१०) । तत्र मन्त्रो युञ्जते मन इति । प्राचीनशालाया द्वारसमीपे पूर्वसिद्ध आहवनीयो वर्तते, तस्मिन् जुहोति । स च पूर्वमाहवनीयोऽपि सन्नुत्तरवेद्याख्येऽन्यस्मिन्नाहवनीये निष्पन्ने तदपेक्षया गार्हपत्यो भवति' इति । मन्त्रस्यास्य सविता देवता जगतीच्छन्दः श्यावाश्व ऋषिः ।

मन्त्रार्थस्तु—विप्रा मेधाविनोऽध्वर्युप्रमुखा ऋत्विजः, विप्रस्य विशेषेणाभिमतफलपूरकस्य प्रापकस्य, बृहतो महतो विपश्चितो मेधाविनः । यज्ञापेक्षयाऽन्ये विपश्चितस्त्वल्पविपश्चितः, यज्ञस्तु बृहद्विपश्चित्, तस्य विष्णुत्वेन परमेश्वरत्वात् । पदद्वयसामर्थ्याद्यज्ञ एवाभिमतः । तं यज्ञं द्वितीयार्थे षष्ठी । सावित्रं प्रसूतं मनो धियो बुद्धीश्च युञ्जते । मनसा वाचा च यज्ञं यज्ञसम्बन्धि कर्म तन्वते, यज्ञस्य कर्मणि वा मनो वाचं च प्रेरयन्ति । यद्वान्यतो व्यावर्त्य तत्रैव मनो वाचं च नियमयन्ति । धियो मनसः पृथङ्निर्देशाद् धीशब्देन धीपूर्विका वागुच्यते । तथा होत्रा वषट्कर्तारः सप्त होत्रकाश्च यज्ञे यज्ञविषये सवित्रानुज्ञाता एव मनो धियश्च विदधे विदधते कुर्वते । 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा. सू. ७.१.४१) इति तलोपः । कथमीदृङ्माहात्म्यः सवितेति तत्राह—यस्मात् सविता एक इत् एक एव वयुनावित् प्रज्ञावान् । 'वयुनमिति प्रज्ञानामसु' (निघ. ३.९.१०) । यद्वा वीयते गम्यत इति वयुनं यज्ञमार्गः, 'वयुनं वेतेः' (निरु. ५.१४) इति निरुक्तवचनात् । तस्य यज्ञमार्गस्य वेदिता एक एव । तस्य सवितुर्देवस्य परिष्टुतिः, मही महती स्वाहा स्तुतिरूपमिदं द्रव्यं सुहुतमस्तु । अध्वर्युप्रमुखा ऋत्विजो बृहतो विपश्चितो यज्ञस्य विषये मनोऽन्तःकरणं वाचं च नियुञ्जतेऽन्यतो व्यावर्त्य तत्र नियच्छन्ति । होत्रा वषट्कर्तारश्च सवितुर्देवस्यानुज्ञयाऽनुज्ञातास्तत्र मनो धियश्च विदधते । सविता चैक एव । स्वाहेति तस्य सवितुर्मही महती परिष्टुतिः ।

काण्वशाखीयसायणभाष्यरीत्या तु—विप्रस्य ब्राह्मणस्य यजमानस्य सम्बन्धिनो विप्रा ब्राह्मणा ऋत्विजः, मनो युञ्जते संसारचिन्ताभ्यो मनो निवार्य यज्ञचिन्तायां प्रथमं नियमयन्ति । ततो धिय इन्द्रियाण्यपि यज्ञार्थेषु नियमयन्ति । कीदृशस्य विप्रस्य ? यजमानस्य बृहतो विपश्चितः, अधीतवेदत्वाद् बृहत्त्वम्, अर्थाभिज्ञत्वाच्च विपश्चित्त्वम् । कीदृशा विप्राः ? होत्रा होमकर्तारः । तदिदं विप्राणां मनोनियमादिसामर्थ्यमेक इद्विदधे एक एव ससर्ज । कीदृश एकः ? वयुनावित् सर्वज्ञः, वयुनं सर्वविषयिणीं प्रज्ञां विन्दते लभत इति तथोक्तः । संहितायां दीर्घः । न चैकस्य सर्वसृष्टौ विस्मयः कार्यः, यतः सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो देवस्य परिष्टुतिः सर्ववेदोक्तस्तुतिः, मही महती । 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः' (मुण्डको. १.१.९), 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे. उ. ६.८) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

उव्वटरीत्या तु—सवित्रा प्रसूता ऋत्विजः, मनो मनांसि, उत युञ्जते प्रेरयन्ति, धियो वाचश्च । कथंभूता ऋत्विजः ? विप्रा ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानाः । क्व प्रेरयन्ति मनांसि वाचश्चेति तत्राह—विप्रस्य यज्ञस्य कर्मणीति शेषः । विशेषेण प्राति प्रपूरयति जनानां मनोरथानिति विप्रो यज्ञः, फलदानं प्रति प्राप्तक्रियाशक्तेर्विप्रस्य यजमानस्य वा । ननु क्षत्रियवैश्यावपि

यजमानौ भवत इति कुतो विप्रपदस्य यजमानार्थत्वमिति चेन्न, अग्निष्टोमे 'दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः' इति क्षत्रियवैश्ययोरपि तत्काले ब्राह्मणत्वोक्तौ दोषाभावात्। होत्राः सप्त वषट्कर्तारः। अथ होत्राः सप्त वषट्कर्तारो होत्रा इत्युच्यन्ते, 'अथ होत्राः संयाजयन्ति' इति श्रुतेः। सौत्येऽहनि सप्त होतारो वषट्कुर्वन्ति। वयुनाविद् एक इत्। वयुनं वेत्तेः, कान्तिर्वा प्रज्ञा वा। तेषामृत्विजां मध्ये सवित्रा प्रसूतो ब्रह्माख्य एक एव ऋत्विग् वयुनावित् त्रिवेदज्ञानान्वितो भैषज्यं करोति। दानादिगुणयुक्तस्य देवस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः परिष्टुतिर्मही महती। यतः स एव यज्ञं प्रेर्य ऋत्विजः प्रस्तूय समापयति यज्ञम्। यज्ञो हि वृष्टिद्वारा समस्तं जगद्बिभर्तीति सवितुर्महती स्तुतिरित्युक्तम्।

शतपथे च—'स जुहोति। युञ्जते मन उत युञ्जते धिय इति मनसा वै च वाचा च यज्ञं तन्वते स यदाह युञ्जते मन इति तन्मनो युनक्त्युत युञ्जते धिय इति तद्वाचं युनक्ति धिया धिया ह्येतया मनुष्या जुज्यूषन्त्यनूक्तेनेव प्रकामोद्येनेव गाथाभिरिव ताभ्यां युक्ताभ्यां यज्ञं तन्वते' (श. ३.५.३.११)। अत्र स्पष्टमेव धीपदेन वागेव विवक्षितेत्युक्तम्। 'युञ्जते' इत्यस्या मनसा वाचा यज्ञं तन्वत इत्युक्तम्। यदा यदा बुद्धिर्जायते तदा तदा खल्वेतया वाचा जुज्यूषन्ति जीवितुमिच्छन्ति। अतः केवलबुद्धेर्जीवनसाधनत्वाभावेन वाचोऽपेक्षितत्वाद्धीशब्देन तत्पूर्विका वागुच्यते। जीवनसाधनत्वं विशदयति—अनूक्तेनेति। अनूक्तमनुवचनमध्ययनादिकम्, प्रकामः स्वैच्छिकभाषायां गाथा गद्यपद्यात्मिका वाणी, ताभिरेव जुज्यूषन्ति तस्मात्ताभ्यां युक्ताभ्यामेव मनोवाग्भ्यां युक्ताभ्यामेव यज्ञं तन्वते। विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित इति। ये वै ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते विप्रास्तानेवैतदभ्याह बृहतो विपश्चित इति यज्ञो वै बृहद्विपश्चिद्यज्ञमेवैतदभ्याह वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इदिति वि होत्रा दधते यज्ञं तन्वाना मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहेति तत्सावित्रं प्रसवाय जुहोति। द्वादशतममन्त्रगतप्रथमविपश्चिच्छब्दस्य ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना ऋत्विज इत्यर्थो विवक्षित इत्यर्थः। विप्रा इति पदं तानेवाभ्याह ब्रूते। बृहद्विपश्चिच्छब्दाभ्यां यज्ञो विवक्षित इत्याह—यज्ञो वै बृहद्विपश्चिदिति। होत्राशब्देन यज्ञकर्तारोऽभिप्रेताः। 'दधे' इत्येतत् 'दधते' इत्यस्य बहुवचनस्य स्थाने रूपम्। तद् व्याचष्टे—वि होत्रा दधते यज्ञं तन्वाना इति। यस्मान्मन्त्रे सवितुर्देवस्येति सविता देवः श्रूयते, तत् तस्मान्मन्त्रसाध्यं सावित्रं होमं प्रसवाय जुहुयात्।

अध्यात्मपक्षे तु—विप्रा मेधाविनो विप्रस्य प्रजापतेः परमेश्वरस्य बृहतो विपश्चितोऽनन्तज्ञानस्य सम्बन्धिनि स्वरूपे मनो युञ्जते योजयन्ति तस्मिन्नेव मनः स्थापयन्ति। ततः पूर्वं तु धियो वाग्व्यापारानपि तत्रैव योजयन्ति, 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥' (कठो. ३.१३) इति श्रुतेः। यद्वा धियः सर्वेन्द्रियाणि तत्रैव योजयन्ति। 'वाचं यच्छ मनो यच्छ यच्छ सर्वेन्द्रियाणि च' (भा. पु. ११.१६.४२) इति श्रीमद्भागवतस्मरणात्। होत्राः सप्त वषट्कर्तारस्तत्रैव मनो वाचं च दधे दधते। कीदृशस्य विप्रस्य? सवितुः सर्वप्रेरयितुः सर्वान्तर्यामिणो देवस्य जगदुत्पत्त्याद्याक्रीडस्य स्वप्रकाशस्य वा। कीदृशा विप्राः? होत्राः सर्वस्वार्पयितारः। नन्वन्यत्र कुतो मनो वाचो न नियमयितव्या इति तत्राह— एक इदिति। एक एव स वयुनावित् सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षी, तस्य सर्वात्मत्वात् तदानुकूल्येन सर्वानुकूल्योपपत्तेः। स्वाहा सर्वार्पणमेव तस्य मही महती परिष्टुतिर्महत् स्तवनम्।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—विद्वान् लोग प्रजापति परमेश्वर के अनन्त ज्ञानसम्बन्धी स्वरूप के विषय में मन का योग करते हैं, अर्थात् उसी में मन स्थापित करते हैं। उससे पूर्व अपने वाग्व्यापार को भी उसी में संयोजित करते हैं। अथवा अपनी समस्त इन्द्रियों को उसमें नियुक्त करते हैं। सर्वस्व अर्पण करने वाले होतृगण सबके प्रेरक सर्वान्तर्यामी स्वप्रकाशात्मक उसी देव के विषय में मन तथा वाणी स्थापित करते हैं, क्योंकि वही एकमात्र सर्वबुद्धि-प्रत्ययगम्य है। उसके सर्वात्मक होने के कारण उसकी अनुकूलता से सभी की अनुकूलता हो जाती है। सर्वस्व का अर्पण करना ही उसकी सर्वश्रेष्ठ स्तुति है।

दयानन्दस्तु—'यथा ये होत्रा विप्राः सन्ति, या बृहतो विप्रस्य विपश्चितः सवितुर्देवस्य यस्य महेश्वरस्य मही परिष्टुतिरूपा स्वाहास्ति, तां विज्ञायैतस्मिन्नेव देवे मनो उतापि धियो युञ्जते, तथैवैतां विदित्वाऽस्मिन् वयुनाविदेकोऽहं मनो विदधे युञ्जे धियं च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लुप्तोपमालङ्कारबलेन यथा-तथेति कल्पने मानाभावात्। त्वद्रीत्या कस्यचित् साधकस्येदं वचनं न परमेश्वरस्य, तस्य साधकत्वायोगात्। तथात्वे च मन्त्रस्य मनुष्यकर्तृकत्वापत्तिः। यदपि—'मनो युञ्जते समादधते धियो बुद्धीः कर्माणि वा युञ्जते स्थिराः कुर्वते' इति, तदपि न, श्रुत्या 'तन्वते' इत्यर्थापनात्, कर्मणां चलस्वभावत्वेन स्थैर्यासम्भवाच्च। 'विप्रस्यानन्तप्रज्ञाकर्मणो बृहतो व्यापकस्य' इत्यप्यनर्थ एव, प्रमाणानुल्लेखात्। यत्तु— 'प्रजापतिर्वै विप्रः' (श. ६.३.१.१६) इति प्रमाणमुपन्यस्तम्, तत्तु प्रजापतिबोधकत्वे सम्भवति प्रमाणम्। अनन्तज्ञानकर्मत्वं तु परमेश्वरत्वान्न विप्रपदार्थत्वात्। 'स्वाहा सत्यां वाचम्' इति च निर्मूलम्, मूलाभावात्। शतपथश्रुतिविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥१४॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ॥१५॥

'अपरं दक्षिणे वर्त्मनि दक्षिणस्यानसो हिरण्यं निधायाभिजुहोतीदं विष्णुरिति' (का. श्रौ. ८.३.२७)। पुनरपरमाज्यं शालाद्वार्येव संस्कृत्य चतुर्गृहीतं गृहीत्वा दक्षिणस्यानसो दक्षिणचक्रमार्गे हिरण्यं निधाय समिद्वर्जं सशेषमिदं विष्णुरिति जुहुयात्। विष्णुदेवत्या गायत्री मेधातिथिदृष्टा। विष्णुः, वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुर्व्यापनशीलः परमेश्वरस्त्रिविक्रमावतारं धृत्वा इदं विश्वं विचक्रमे विभज्य क्रमते भूमावेकपदं द्वितीयमन्तरिक्षे तृतीयं दिवीत्येवं त्रेधापदं निदधे। पांसुरे पांसवो भूम्यादिलोकरूपाः सन्ति यस्य तत् पांसुरम्, तस्मिन् पांसुरे पदे विश्वं समूढं सम्यगन्तर्भूतम्।

आध्यात्मिकोऽर्थः— सर्वप्राणिनो भूतेन्द्रियमनोजीवभावेनाविशतीति विष्णुः परमेश्वरः, त्रेधा पदं निदधे। पद्यते ज्ञायतेऽनेनेति पदम्, भूम्यन्तरिक्षद्युलोकेष्वग्निवाय्वादित्यरूपेण त्रेधा निहितवान्। समूढमस्य पांसुरे। अस्यैव विष्णोरन्यत् पदान्तरं विज्ञानघनानन्दमजमद्वैतमक्षरं समूढमन्तर्हितमविज्ञातं शास्त्राचार्योपदेशविधुरैः। कस्मिन्निव ? पांसुरे इव। लुप्तो-

---

स्वामी दयानन्द के अर्थ के अनुसार यह किसी साधक का वचन हो सकता है, परमेश्वर का नहीं। क्योंकि परमेश्वर का साधक होना अयुक्त है तथा ऐसा होने पर मन्त्र की मनुष्यकर्तृकता प्राप्त हो जायगी। 'युञ्जते' का अर्थ 'स्थिर करते हैं' इस प्रकार करना उचित नहीं है, क्योंकि श्रुति ने इसका अर्थ 'तन्वते' किया है तथा कर्मों के चलस्वभाव वाले होने के कारण उनमें स्थिरत्व सम्भव नहीं है। इस अर्थ में शतपथ श्रुति का विरोध तो स्पष्ट ही है ॥१४॥

मन्त्रार्थ—सर्वव्यापी त्रिविक्रम का अवतार लेने वाले विष्णु ने इस विश्व को विभागपूर्वक लाँघ लिया। पहले डग से भूमि, दूसरे से अन्तरिक्ष और तीसरे से द्युलोक (आकाश) को नापा। विष्णु के इन तीन पदों (डगों) में यह सारा विश्व अन्तर्भूत है। उस परमात्मा को हम हवि देते हैं॥ घृत का संस्कार कर दक्षिण हविर्धान (शकट) के दक्षिण चक्र मार्ग में सुवर्ण को रख कर शालाद्वार की अग्नि में इस मन्त्र से होम करे। इस मन्त्र में वामनावतार की कथा भी सूचित है ॥१५॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'इदं विष्णुः' इस ऋचा से चतुर्गृहीत आज्य का हवन दक्षिण शकट के दक्षिण चक्र के मार्ग में किया जाता है। यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (८.३.२७) में प्रतिपादित है। व्यापनशील परमेश्वर त्रिविक्रमावतार धारण करके इस विश्व का विभागशः क्रमण करते हैं। भूमि पर प्रथम पद, अन्तरिक्ष में द्वितीय तथा द्युलोक में तृतीय पद—इस प्रकार तीन पदों का निधान उन्होंने किया है। उनके पद में सम्पूर्ण विश्व अन्तर्भूत है।

आध्यात्मिक अर्थ की योजना इस प्रकार है—समस्त प्राणियों में निविष्ट विष्णु परमेश्वर ने त्रिविध पदों का स्थापन किया है। भूमि, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में अग्नि, वायु तथा आदित्य रूप से तीन ज्ञानसाधनों को निहित किया है। इन्हीं विष्णु का दूसरा

पममेतत्। पांसुले रजस्वले प्रदेशे यथा निहितं वस्तु नोपलभ्यते तद्वत्, 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्' ॥ (वा. सं. ६.५) इति मन्त्रवर्णात्। यद्वा विष्णुस्त्रिविक्रमावतारधारी इदं विश्वं विक्रान्तवान् त्रिप्रकारेण क्षित्यादिषु पदं निदधे स्थापितवान्। अस्य पांसुरे रजोयुक्ते पदे लोकत्रयं समूढं सम्मितमासीत्। स्वाहा तस्मै सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—'इदं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं जगत्, विष्णुर्यो वेवेष्टि चराचरं जगत् स ईश्वरो विविधं क्रान्तवान् क्राम्यति क्रमिष्यति वा। त्रेधा त्रिप्रकारं नितरां दधे निहितवान् दधाति धास्यति वा। पदं पद्यते गम्यते यत्तत् पदम्। समूढं सम्यगुह्यतेऽनुमीयते शब्द्यते यत् तत्। अस्य त्रिविधस्य जगतः पांसुरे पांसवो रेणवो रजांसि रमन्ते यस्मिन्नन्तरिक्षे तस्मिन् स्वाहा सुहुतम्' इति, तदपि न सम्यक्, क्रमते रचनार्थत्वाप्रसिद्धेः। 'क्रमु पादविक्षेपे' इति धातोर्विपूर्वकस्य सुतरां पादविक्षेपार्थत्वप्रसिद्धेः। पद्यते गम्यत इति व्युत्पत्त्यापि किं तत्पदनीयम्? यदि स्वरूपमेव, तदा स्वरूपस्य कथं त्रेधा निधानम्? यदपि 'परमेश्वरेण प्रथमं प्रकाशवत् सूर्यादि, द्वितीयं प्रकाशवत् पृथिव्यादि प्रसिद्धम्, यच्च तृतीयं परमाण्वाद्यदृश्यं सर्वमेतत् कारणावयवै रचयित्वाऽन्तरिक्षे स्थापितम्। तत्रौषध्यादि पृथिव्यामग्न्यादिकं सूर्ये परमाण्वादिकमाकाशे निहितम्। सर्वमेतत् प्राणानां शिरसि स्थापितवान्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पृथिव्यादीनामपि पदनीयत्वाभावेन पदत्वायोगात्। यदुक्तम्— 'महीधरः प्रबुक्कति त्रिविक्रमावतारं कृत्वेत्यादिकम्' इति, तदपि घटादिकार्यपूर्ववर्तिपञ्चमान्यथासिद्धरेकणमेव, प्रतिज्ञामात्रेण वस्त्वसिद्धेः, परप्रत्यायनार्थं पञ्चावयवप्रयोगस्यापरिहार्यत्वात्, अत्र तथाप्रयोगाभावात्, सायणाचार्येणापि त्रिविक्रमावतारस्योक्तत्वात्, तस्य मन्त्रसिद्धत्वाच्च ॥१५॥

इरावती धेनुमती हि भूतꣳ सूयवसिनी मनवे दशस्या। व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा ॥१६॥

'स्रुक्स्थाल्यौ प्रतिगृह्य प्रतिप्रस्थातोत्तरस्येरावती इति पूर्ववत्' (का. श्रौ. ८.३.३०)। अध्वर्युणा समर्पिते स्रुक्स्थाल्यौ प्रतिगृह्य उत्तरस्यानसो दक्षिणे चक्रमार्गे हिरण्यं निधाय इरावतीति चतुर्गृहीतं जुहुयात्। वैष्णवी त्रिष्टुप्, वशिष्ठ ऋषिः। हे रोदसी, द्यावापृथिव्यौ युवां मनवे मन्वानाय मनुष्याय यजमानाय इरावत्यौ अन्नवत्यौ। 'इरेत्यन्ननामसु पठितम्' (निघ. २.७.१२)। धेनुमती बहुप्रशस्तधेनुयुक्ते च भूतं भवतम्। तथा सूयवसिनी शोभनैर्यवसैरभ्यवहार्यै-

---

पद विज्ञानघनानन्द, अज, अद्वैत, अक्षरात्मक शास्त्राचार्यों के उपदेश से संस्कृत जनों के हृदय में उसी प्रकार निगूढ है, जैसे कि बालुकामय स्थान में रखी गई वस्तु अन्तर्हित हो जाती है। उस भगवान् विष्णु को हम अपने को समर्पित करते हैं।

मन्त्रार्थ—हे द्यावापृथिवी, तुम इस यजमान के कल्याणार्थ अन्न-जल वाली बहुत सी धेनुओं से युक्त, बहुत से उत्तम खाने के पदार्थ वाली, ज्ञानी यजमान के लिये यज्ञसाधनों को देनेवाली हो। हे सर्वव्यापी परमात्मन्! आप स्वर्ग और पृथ्वी को स्तंभित किये हुए हैं, पृथ्वी को अपने तेजःस्वरूप सूर्य-चन्द्र आदि के द्वारा सब ओर से धारण किये हुए हैं। उस विष्णु को हम यह आहुति देते हैं॥ आहवनीय अग्नि के ईशान कोण में रक्षित उत्तर हविर्धान (शकट) के दक्षिण चक्र-मार्ग में सुवर्ण रख कर यजमान स्रुवे और स्थाली को लेकर बार-बार आहुति दे॥१६॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.३.३०) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'इरावती धेनुमती' इस ऋचा से उत्तर शकट के दक्षिण चक्र के मार्ग में आज्य का हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

र्घृतक्षीरादिभिरमृताद्यैश्च युक्ते दशस्या दशस्यौ अभिमतफलानां यज्ञसाधनानां वा दात्र्यौ भवतम्। 'दाशृ दाने' दशतोऽसुन्प्रत्यये औविभक्तेर्यादेशश्च। एवं महानुभावे एते रोदस्यौ हे विष्णो त्वं व्यस्कभ्ना विविधं स्कम्भितवानसि। तथा विशेषेण पृथिवीमभितः सर्वतः मयूखैर्मयूखवत् सन्ततैर्जीवैस्तेजोभिर्वा दाधर्थ धारयसि। 'दाधर्ति' (पा. सू. ७.४.६५) इति निपातः। तादृशाय तुभ्यमिदमुत्तरहविर्धानदक्षिणचक्रमार्गे हूयमानमन्नं स्वाहा सुहुतमस्तु।

शतपथे च—'चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा। प्रतिप्रस्थातोत्तरस्य हविर्धानस्य दक्षिणायां वर्तन्याᳯ हिरण्यं निधाय जुहोतीरावती धेनुमती... स्वाहेति सᳯस्रवं पत्न्यै पाणावानयति साक्षस्य सन्तापमुपानक्ति देवश्रुतौ देवेष्वा घोषतमिति तद्यदेवं जुहोति' (श. ३.५.३.१४)। संस्रवमित्यादि पूर्ववत्। तद्यदेवं जुहोति यद् यदा एवं वर्त्मद्वये जुहोति, तत् तदा संस्रवं पत्न्याः पाणौ। 'देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः' इत्यादिनाऽऽज्याञ्जनप्रशंसा। नंनु वैष्णवीभ्यामृग्भ्यां कथं हविर्धानयोः सम्बन्ध इति चेत्तत्राह—'वैष्णवं हि हविर्धानम्' (श. ३.५.३.१५)। मन्त्रयोर्विष्णुदेवताकत्वेन हविर्धानयोर्विष्णुदेवताकत्वं युक्तमेव। 'शिर एवास्य हविर्धानम्' (श. ३.५.३.२) इत्यत्र यज्ञरूपस्य विष्णोः शिरो हविर्धानमुक्तम्। 'अथ यत्पत्न्यक्षस्य सन्तापमुपानक्ति' (श. ३.५.३.१६) इति सन्ताप्यमानस्याक्षस्योपाञ्जनं प्रजननोत्पादनम्। सन्तापेन श्रमरूपेण रेतस उत्पादद्वारा प्रजननसम्भवात् सन्तापोपाञ्जनकरणम्। उपाञ्जनस्य पराग्रूपतामपि प्रशंसति—'परागुपानक्ति पराग्घ्येव रेतः सिच्यते' (श. ३.५.३.१६) इति।

अध्यात्मपक्षे—हे विष्णो, इरावत्यौ विविधप्रशस्तभोग्यान्नवत्यौ बहुप्रशस्तधेनुमत्यौ सूयवसिन्यौ बहुविधाभ्यवहार्यैर्युक्ते रोदसी रोदस्यौ द्यावापृथिव्यौ अभिमतफलदात्र्यौ व्यस्कभ्ना विविधं धारितवानसि। यथा पृथिवी व्रीहियवादिपूर्णा गवादिपशुपूर्णा सस्योपेता, तथैव द्यौरपि दिव्यामृतस्रक्चन्दनवनितादिभोगयुक्ता कामधेनुचिन्तामणिसमलङ्कृता कल्पवृक्षादियुक्तेति रोदस्योस्तत्तद्योग्यान्नादिमत्त्वेनेरावत्यादिविशेषणानां सूपपत्तिः। विशेषेण पृथिवीमभितः सर्वतो मयूखैर्मयूखवत्सन्ततैर्जीवैस्तेजोभिः प्रभावैः शक्तिभिर्वा दाधर्थ धारयसि। जीवा अपि कर्मानुष्ठानद्वारा रोदस्योर्धारण उपयुज्यन्ते, उभयोर्जीवानां कर्मफलत्वात्, परमेश्वरस्य सामर्थ्यरूपैः प्रभावैः शक्तिभिश्च सर्वस्य विधृतत्वाच्च। मयूखैः पर्वतैर्वा अभितः पृथिवीं धारयसि, तेषां धराधरत्वात्, भगवच्छक्त्युपबृंहितत्वात्, तत्रापि तन्मयूखोपपत्तेः। रोदस्योरन्नवृष्ट्यादिद्वारा देवत्वाद्दिव्यसामर्थ्येनाप्यभीष्टदातृत्वात् ते दशस्यौ।

दयानन्दस्तु—'यथा सूर्यः स्वकिरणैः स्वकान्तिभिः सर्वं भूम्यादिकं जगत् संस्तभ्याकृष्य धरति, तथैव परमेश्वरः प्राणो वा स्वसामर्थ्येन सर्वं प्राणादिकं जगद्रचयित्वा सन्धार्य व्यवस्थापयति' इति, तदप्यसङ्गतम्, किरणैः कान्तिभिश्च

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे विष्णुदेव, विविध तथा प्रशस्त भोग्य अन्नों से युक्त, विशिष्ट धेनुओं से युक्त, अनेकविध सस्यों से पूर्ण, अभिमत फलों को प्रदान करने वाले द्युलोक तथा पृथिवीलोक को आपने सन्धारित किया है। विशेषतः पृथिवी को किरणों की भाँति फैले जीवों से अथवा अपने प्रभाव से आप सर्वतः धारण करते हैं। जीवगण भी कर्मानुष्ठानों के माध्यम से द्युलोक एवं पृथिवी के धारण करने हेतु उपयुक्त किये जाते हैं। द्युलोक तथा पृथिवी का अन्न वृष्टि के प्रदान से देवमय है तथा दिव्य सामर्थ्य से भी अभीष्ट फल प्रदान करने के कारण वह 'दशस्य' शब्द से अभिहित है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ असंगत है, क्योंकि 'इरावती, धेनुमती' इत्यादि रोदसी के विशेषणों का भूमि तथा वाणी का बोधकत्व युक्त नहीं है। 'रोदसी' के धारण से ही समस्त विश्व का धारण उपपन्न हो जाने पर पृथिवी तथा वाणी की किरणों की कल्पना और उनके द्वारा सम्पूर्ण जगत् के धारण की कल्पना करना निरर्थक परिश्रम है। 'दशा' शब्द का दशन अथवा दन्त तथा जिह्वा अर्थ कैसे हो सकता है? यह सब स्वेच्छाचारिता मात्र है ॥१६॥

पृथिव्यादिधारकत्वे मानाभावात्। प्रकाशकत्वं तु सम्भवति तैः। मन्त्रे यथातथापदाभावाच्च दृष्टान्तासङ्गतिः। यदपि—'हे विष्णो, यस्त्वमिरावती धेनुमती सूयवसिनी भूमिर्वाग् वास्ति, तां भूमिं स्वाहा हि किल वाणीं भूतमुत्पन्नं सकलं जगच्च मयूखैरभितो दाधर्थ धरसि रोदसी व्यस्कभ्नाः प्रतिबध्नासि, तस्मै दशस्याय मनवे वयमेते च सर्वं जगन्निवेदयामो निवेदयन्तीत्येकः' इत्यप्यसङ्गतम्, इरावतीधेनुमतीत्यादीनां रोदसीविशेषणत्वेन भूमिवाचोर्बोधकत्वायोगात्। रोदस्योर्धारणेनैव सर्वधारणोपपत्तौ पृथिव्या वाण्याश्च मयूखकल्पनं तद्द्वारोत्पन्नसर्वजगद्धारणकल्पनमव्यापारेषु व्यापारायितमेव। 'वयमेते सर्वं जगन्निवेदयामो निवेदयन्ति' इत्यपि निर्मूलमेव। यत्तु 'दशास्य' इत्यत्र 'दशा इवाचरति तस्मै' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथात्वेऽपि स्पष्टार्थानुक्तेः। प्रथमहिन्दीभाष्ये तु—'दन्तमध्यस्थजिह्वावदाचरणशीलाय तुभ्यम्' इत्युक्तम्, द्वितीये तु दशनवद् दन्तवच्चाचरणशीलायेत्युक्तम्, तद् द्वयमपि परस्परविरुद्धं निरर्थकम्। दशाशब्दस्य दशनं दन्ता जिह्वा चेति कथमर्थ इति सर्वमेतत् सर्वतन्त्रोच्छृङ्खलस्यैव शोभते ॥१६॥

दे॒व॒श्रुतौ॑ दे॒वेष्वा घो॑षतं॒ प्राची॒ प्रेतमध्व॒रं क॒ल्पय॑न्ती ऊ॒र्ध्वं य॒ज्ञं न॑यतं॒ मा जि॑ह्वरतम्। स्वं गो॒ष्ठमा व॑दतं देवी दु॒र्ये आयु॒र्मा निर्वा॑दिष्टं प्र॒जां मा निर्वा॑दिष्ट॒मत्र॑ रमेथां॒ वर्ष्म॑न् पृथि॒व्याः ॥१७॥

'दक्षिणया द्वाराऽऽनीता पत्नी पाणिभ्यांꣳ शेषं प्रतिगृह्याक्षधुरावनक्ति परागदेवश्रुताविति' (का. श्रौ. ८. ३. २८)। प्रतिप्रस्थात्रा समानीता पत्नी होमशेषेणाज्येनाक्षस्योभावग्रभागावञ्ज्याद् देवश्रुताविति मन्त्रेण। हे हविर्द्धनि, देवश्रुतौ देवसभायां प्रसिद्धौ अक्षाग्रभागौ युवां यजमानोऽयं यक्ष्यतीति देवेष्वाघोषतमुच्चध्वनिना कथयतम्। 'प्राची प्रेतमिति वाचयति' (का. श्रौ. ८.४.३)। हविर्धानयोः शकटयोः प्रवर्त्यमानयोः प्राची प्रेतमिति मन्त्रं यजमानं वाचयेत्। हे उभे शकटे, युवां प्राची प्राङ्मुखे प्रेतं प्रकर्षेण गच्छतम्। कीदृशे युवाम्? अध्वरं कल्पयन्ती इदं कर्म फलजननसमर्थं कुर्वाणे। किञ्चोर्ध्वमुपरिवर्तिदेवान् प्रति यज्ञं नयतं प्रापयतम्, मा जिह्वरतं मा कुटिले भवतम्। 'ह्वृ कौटिल्ये' इति धातोः, यद्वा 'ह्वल चलने' इति धातो रूपम्, चलनं भ्रंशं मा कुरुतम्। 'स्वं गोष्ठमिति च खर्जतीति' (का. श्रौ. ८.४.४)। हविर्धानयोरनसोः प्रवर्त्यमानयोः प्रमादात् खर्जति चक्रसंघर्षजं ध्वनिं कुर्वति सति स्वं गोष्ठमिति मन्त्रं वाचयेदिति तत्प्रायश्चित्तम्। अक्षशब्दाभावे तु नेदं वाचनम्। 'गृहा वै दुर्याः' (श. ३.५.३.१८) इति श्रुतेर्दुर्येशब्देन गृहसदृशे शकटे लक्ष्येते। हे देवी हविर्धानि दुर्ये गृहसदृशशकटद्वयरूपे देवते, स्वं गोष्ठं यजमानस्य स्वकीयं वा स्थानमावदतं सर्वतः कथयतम्। हे दुर्येषु गृहेषु साधुरूपे हविर्धानि वा, योऽयमक्षशब्दस्तेन यजमानस्य गृहं यथा बहूनां गवां स्थानं भवति, तथा कथयतम्, युवाभ्यामुच्चारितं तथैव स्यादिति। यजमानस्य पशवः समृद्धाः स्युरिति ब्रूतमित्यर्थः। किञ्च, आयुर्मा

मन्त्रार्थ—हे अक्षधुरों! तुम देवसभा में प्रसिद्ध हो, देवताओं से उच्च स्वर में कहो कि यजमान यज्ञ करता है। हे शकट! यज्ञ का समर्थन करते हुए पूर्वमुख जाओ, यज्ञ को ऊर्ध्वलोकवासी देवताओं के समीप ले जाओ, कुटिल मत बनो। हे गृहसमान शकटरूप देवताओं! अपने गोष्ठ को सब ओर से कहो कि वे यजमान की आयु को पशु-पुत्र आदि से सम्पन्न बनावें, उसके प्रति दुर्भावना न रखें। आप सब लोग पृथ्वी के इस देवयजनरूप स्थान में क्रीड़ा करें ॥१७॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.४.३-५) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'देवश्रुतौ देवेषु' इस कण्डिका के मन्त्रों से शकटों के चलने के समय यजमान द्वारा वाचन तथा अभिमन्त्रण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप अर्थ उपदिष्ट है।

निर्वादिष्टं यजमानस्य यावदायुरस्ति तावत्सर्वं मा निराकार्ष्टम्। वदतेर्लुङि मध्यमपुरुषद्विवचने रूपम्। यद्वा निः कुत्सायाम्। निकृष्टं पशुधनादिरहितमायुर्मा उच्चारयतम्। प्रजां च निकृष्टां निरंशां मा निर्वादिष्टं मा उच्चारयतम्, अर्थाद् युवाभ्यामुच्चारितं तथैव स्यादित्यभिप्रायः। यजमानाय प्रजां पुत्रादिरूपां मा निराकार्ष्टं वा। अनेनाक्षशब्देनायुःप्रजयोनिराकरणं मा भूत्। उभयबद्धो योऽक्षः, स दुष्टवाग् वरुणदेवरूपः। 'वरुणो वा एष दुर्वागुभयतोबद्धो यदक्षः' (श. ३.५.३.१९)। तस्मात् शापरूपदुर्वाक्यपरिहारायाशीर्वादरूपं सुवाक्यमनेन मन्त्रेण प्रार्थ्यते, 'सुवाग्देव दुर्य आवद' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'पश्चादुत्तरवेदेस्त्रिषु प्रक्रमेषु मत्या वा नभ्यस्थेऽभिमन्त्रयतेऽत्र रमेथामिति' (का. श्रौ. ८.४.५)। अनभ्यस्थप्रवर्तनं परित्यज्य स्थापिते शकटे उभे अभिमन्त्रयेत। कुत्र स्थापिते ? इति चेदुच्यते—पश्चादुत्तरवेदेस्त्रिषु प्रक्रमेष्वित्येकः पक्षः, मत्या चेत्यपरः पक्षः। यत्र स्थापनीये इति स्वस्य मतिस्तत्रेत्यर्थः। शेषं सूत्रं तूपरिष्टाद् व्याख्यास्यते। हे शकटे, पृथिव्या वर्ष्मन् वर्ष्मणि भूमेः शरीरभूतेऽत्रास्मिन् देवयजने युवां रमेथां क्रीडां कुरुतम्। 'वर्ष्मन्' इत्यत्र 'सुपां सुलुक्' (पा. सू. ७.१.३९) इति सुपो लुकि, 'न ङिसम्बुद्ध्योः' (पा. सू. ८.२.८) इति नलोपाभावः। देवयजनस्य भूमेः शरीरत्वं तु—'वर्ष्म ह्येतत् पृथिव्या यद्देवयजनम्' इति।

शतपथे च—'अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा। उपनिष्क्रामति दक्षिणया द्वारा पत्नीं निष्क्रामयन्ति स दक्षिणस्य हविर्धानस्य दक्षिणायां वर्तन्याꣳ हिरण्यं निधाय जुहोतीदं विष्णुर्विचक्रमे - - - स्वाहेति संस्रवं पत्न्यै पाणावानयति साक्षस्य सन्तापमुपानक्ति देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतमिति प्रयच्छति प्रतिप्रस्थात्रे स्रुचं चाज्यविलापनीं च पर्याणयन्ति पत्नीमुभौ जघनेनाग्नी' (श. ३.५.३.१३)। दक्षिणहविर्धानशकटवर्त्मनि होत्रार्थमन्यच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा प्राचीनवंशादुपनिष्क्रामेत् पत्नीं चाक्षधुराभ्यञ्जनाय दक्षिणया द्वारा निष्क्रामयेत्। सोऽध्वर्युर्दक्षिणस्य हविर्धानस्य शकटस्य दक्षिणचक्ररेखायां हिरण्यं निधाय जुहुयात् संस्रवं जुहूलिप्तम्। सा पत्नी संस्रवेण आज्येन अक्षस्य सन्तापं सन्तप्यते चक्रसङ्घर्षेणेति सन्तापश्चक्रवलयसंस्पर्शप्रदेशः, तं चक्रद्वय उपानक्ति। अनुलोमाञ्जनं कुर्यान्न प्रतिलोमम्। पुनः पाणिमावर्तयेत्। 'पत्नी पाणिभ्यां शेषं प्रतिगृह्याक्षधुरावनक्ति पराग् देवश्रुताविति' (का. श्रौ. ८.३.२८)। शालाया दक्षिणेन द्वारेणाध्वर्युणानीता पत्नी प्रागगतं हस्तं प्रत्यगनया कर्षन्ती उभाभ्यां हस्ताभ्यां चतुर्गृहीतस्य हुतशेषं प्रतिगृह्य अक्षस्य धुरौ पराग् अनभ्यावृत्तम् उत्तानेन दक्षिणेन हस्तेन देवश्रुताविति मन्त्रेणाज्यादुदक्संस्थम्। 'न च हस्तमावर्तयति' (११.६) इत्यापस्तम्बः। युगपदुभयोर्धुरोरञ्जनं न पृथक्, देवश्रुताविति मन्त्रस्य द्विवचनान्तत्वात्।

'अथ वाचयति। प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती इत्यध्वरो वै यज्ञः प्राची प्रेतं यज्ञं कल्पयन्ती इत्येवैतदाहोर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतमित्यूर्ध्वमिमं यज्ञं देवलोकं नयतमित्येवैतदाह मा जिह्वरतमिति तदेतदस्मा अह्वलामाशास्ते समुद्रह्येव प्रवर्तयेयुर्यथा नोत्सर्जेतामसुर्या वा एषा वाग् याऽक्षे नेदिहासुर्या वाग्वदादिति यद्युत्सर्जेताम्' (श. ३.५.३.१७)। प्रैषानन्तरं हविर्धानयोः प्रवर्तनकाले वाचयति प्राची प्रेतमिति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। 'अध्वरो वै यज्ञः, ध्वरतिर्हिंसाकर्मा' (निरु. १.८)। हिंसा नास्तीत्यध्वरः स यज्ञः। 'या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ'॥ (म. ५.४४)। मा जिह्वरतमित्यस्याभिप्रायमाह—अह्वलामाशास्त इति। समुद्रह्येव प्रवर्तयेयुः शकटम्, तस्य व्याख्यानम्- यथा नोत्सर्जेतामिति। यथाऽत्यन्तनिघर्षेण दुष्टध्वनिविसर्गो न स्यात्तथा प्रवर्तयेयुरित्यर्थः। अक्षध्वनेः श्रवणकटुत्वादसुर्यत्वम्। तदाह—असुर्या वा एषा वाग् याऽक्ष इति। 'एतद्वाचयेत्। स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां वा निर्वादिष्टमिति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः' (श. ३.५.३.१८)। प्रमादाद् ध्वन्युत्पत्तौ स्वं गोष्ठमिति मन्त्रं वाचयेत्। यजमानस्य गोष्ठं गवां स्थानमावदतं सर्वतः शब्दयतम्, समृद्धं स्यादिति ब्रूतम्। आयुरस्मदायुः प्रजां

च पुत्रादिरूपां मा निर्बाधिष्टमिति सायणाचार्यः। मूले तु निर्वादिष्टमित्येव पाठः, तस्यैवायमर्थः। तस्यासुर्यस्य ध्वनेरियं प्रायश्चित्तिः।

केषाञ्चिद्रीत्या उत्तरवेदेः पश्चात् सञ्चाराद् विक्रमत्रयं परित्यज्य यत्र देशे तयोः स्थापनं भवति, सा हविर्धानयोर्मात्रा स्थापनदेशप्रमाणम्। स्वपक्षे तु नात्र मात्रास्ति। यत्रैव स्वयं मनसा मन्येत, तत्राप्यतिदूरं च विसृज्य मध्ये स्थापयेदिति तत्रैव शतपथे (३.५.३.१९) कण्डिकायामुक्तम्। 'ते अभिमन्त्रयते। अत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्या इति वर्ष्म ह्येतत् पृथिव्यै भवति दिवि ह्यस्याहवनीयो भवति नभ्यस्थे करोति तद्धि क्षेमस्य रूपम्' (श. ३.५.३.२०)। स्थापनान्तरं हविर्धानेऽभिमन्त्रयेत—अत्र रमेथामिति मन्त्रेण। पृथिव्या वर्ष्मणि शरीरेऽत्र देशे हे हविर्धाने, रमेथां रतिं कुरुतम्। दिवि ह्यस्येति तत्र हेतुः। यस्मादुत्तरवेदिरूप आहवनीयो द्युलोकस्थानीयोऽतस्तदधोवर्तिदेशस्य पृथिवीशरीरत्वं युज्यते। नभ्यस्थे यथा नाभ्याधारफलके भूमिष्ठे भवतस्तथा कुर्यात्। 'नाभि नभं च' (पा. सू. ५.१.२) इति नाभिशब्दस्य यत्प्रत्ययप्रयोगे नभादेशः। उत्तरत्र प्रदेशस्य भूस्पर्शे भ्रंशः कदाचिद्भवेत्, अत एव क्षेमस्य रूपं भवति। तदुक्तं कात्यायनेनापि—'पश्चादुत्तरवेदेस्त्रिषु प्रक्रमेषु मत्या वा नभ्यस्थेऽभिमन्त्रयतेऽत्र रमेथामिति' (का. श्रौ. ८.४.५)। अयमभिप्रायः—नाभौ भवं नभ्यं चक्रं तत्र फलकत्रयं भवति। तत्र यन्मध्यमं फलकं तन्नभ्यस्थमित्युच्यते। उत्तरवेदिर्वक्ष्यते। यत्र प्रणीत आहवनीयोऽग्निः स्थाप्यते, तस्याः पश्चाद् द्विपदात्मकं प्रक्रमत्रयं परित्यज्य तत्र स्वमतिपरिकल्पिते देशे वा नातिदूरे नातिसमीपे द्वे अपि अनसी युगपत्स्थापिते भवतः। तत्र तन्नभ्यस्थमेकैकस्यापि शकटस्य यथा भवेत्, तथा शकटद्वयं स्थापयित्वाऽभिमन्त्रयेत। इदानीं तथाविधं चक्रमनो वा न प्रचलति, यादृशं सूत्रकृता व्याख्यातृभिर्वाभिप्रेतमिति वृत्तिकृत्। एवं श्रुतिसूत्रसम्मतमेव पूर्वोक्तव्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे तु — हे देवश्रुतौ प्रकृतिपुरुषौ उमामहेश्वरौ लक्ष्मीनारायणौ सीतारामौ राधाकृष्णौ वा, युवां देवेष्वग्नीन्द्रादिषु-देवश्रुतौ देवत्वेन जगन्नाटकसूत्रधारत्वेन जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलाकर्तृत्वेन वा श्रुतौ विश्रुतौ प्रसिद्धौ युवां शरणागतरक्षकौ इत्यभयवाच आघोषयतम् उच्चध्वनिना कथयतम्। युवां प्राचीनभक्तानामाभिमुख्येन प्रागञ्चतः प्राङ्मुखौ प्रेतं प्रकर्षेण गच्छतम्। स्त्रीत्वं छान्दसम्। कीदृशौ युवाम्? अध्वरं वैदिकहिंसारहितं यज्ञं कल्पयन्ती कल्पयन्तौ फलजननसमर्थं कुर्वाणौ यज्ञं चोर्ध्वमुपरिवर्तिदेवान् प्रापयतम्, अग्निमन्त्रशक्त्यादिरूपेण तयोरेव हविर्भुग्भ्यो हविःप्रापकत्वात्। हे शरणागतवत्सलौ, कथञ्चित् प्रमादेन बहिर्मुखान् दुश्चरितानप्यस्मान् भक्तान् प्रति मा जिह्वरतं कुटिलौ प्रतिकूलौ मा भवतम्। हे देवी, हे देवौ विविधक्रीडापरायणौ, युवां दुर्ये गृहरूपौ भक्तानामाश्रयभूतौ। भक्तानां स्वं स्वीयं गोष्ठं गवां त्वदाराधनार्थं दधिदुग्धघृतादिसाधनानां धेनूनां स्थानं व्रजम्, अथवा गवां वाचामिन्द्रियाणां च स्थानं शरीरं सर्वतः कथयतम्, समृद्धमिति शेषः। युवयोः सत्यसङ्कल्पत्वेनामोघवाक्त्वेन च युवाभ्यामुच्चारितस्य क्रिया-

---

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे प्रकृति-पुरुष, उमामहेश्वर, लक्ष्मीनारायण, सीताराम अथवा राधाकृष्ण! आप दोनों अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं में जगन्नाटक के सूत्रधार के रूप में अथवा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विलय की लीला करने वाले के रूप में प्रसिद्ध हैं। आप शरणागत के रक्षक हैं, अतः अभय वाणी का उद्घोष करें। आप प्राचीन भक्तों के अभिमुख आगमन करें। वैदिक हिंसारहित यज्ञ को फलप्रद बनाते हुए उसको उपरि लोकों में स्थित देवताओं तक प्राप्त करावें। हे शरणागतवत्सल, प्रमाद से बहिर्मुख वृत्तिवाले हमारे दुश्चरित होने पर भी हम लोगों के प्रतिकूल न हों। हे विविध क्रीडा करने वाले, आप दोनों भक्तों के आश्रयस्थल हैं, भक्तों को अपनी आराधना के साधनों के स्थल अथवा वाणी तथा इन्द्रियों के स्थान शरीर की समृद्धि निर्दिष्ट करें। हमारी देव, ऋषि आदि से सम्मत आयु को विच्छिन्न न करें। पुत्रादि प्रजाओं को बाधित न होने दें तथा हे देवों, भूमि के शरीररूपी देवयजनस्थान हमारे हृदय में आप क्रीडा करें।

फलाश्रयत्वोपपत्तेः । किञ्च, नोऽस्माकमायुर्देवर्ष्यादिसम्मतमायुः, निर्वादिष्टं मा बाधिष्टं मा निराकार्ष्टम् । त्वदुपासनासहकारि पुत्रादिरूपां प्रजां च मा निराकार्ष्टम् । हे देवेषु देवश्रुतौ, पृथिव्या भूमेर्वर्ष्मणि शरीरभूते देवयजनेऽस्मद्धृदये रमेथां क्रीडां कुरुतमिति ।

स्वामिदयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यथा यो देवेषु देवश्रुतौ घोषतं व्यक्तं शब्दं कुरुते, यः प्राचीं कल्पयत्यध्वरं यज्ञं प्रेतं प्रेत आनयतं नयतस्ते च रोदसी यथा मा जिह्वरतं कुटिले न भवेतां तथा कुरुतम् । ये देवी दुर्ये स्वं गोष्ठं समन्तात् प्राप्नुतस्ताभ्यां कस्याप्यायुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टं विनष्टां मा कुरुतम् । पृथिव्यामन्तरिक्षस्य मध्यवर्ष्मणि जगति रमेथां तथानुतिष्ठतम्' इति । भावार्थस्तु—'मनुष्यैर्यावज्जगदन्तरिक्षस्य मध्ये वर्तते, तावता सर्वेण बहूनि सुखानि सम्पादनीयानि' इति, तत्सर्वमपि स्वाभ्यूहितमात्रम्, पदार्थासङ्गतेः । यदुक्तम्—'देवश्रुतौ यथा दिव्यविद्याश्रुतौ विद्वांसौ' इति, तदप्यसङ्गतम्, मूले यथापदाभावात्, लुप्तोपमालङ्काराश्रयणे मानाभावात् । देवपदेन दिव्यविद्याग्रहणमपि निर्मूलम्, 'देवेषु विद्वत्सु दिव्यगुणेषु वा' इत्यप्यसङ्गतम्, मनुष्यादिवद् देवजातेः साधितत्वेन देवपदेन तदतिरिक्तग्रहणे मानाभावात् । कथञ्चित्तदङ्गीकारेऽपि त्वद्रीत्या जडाभ्यां ताभ्यां कः कथं प्रकृष्टमञ्चति ? तथात्वे वा सर्वोऽपि तथैव प्रकृष्टमञ्चेत्, देशाकाशयोः साधारणकारणत्वेन विशिष्टहेतुत्वानुपपत्तेश्च । कथं च तयोरहिंसनीयकल्पकत्वम् ? कथं वा तयोरुत्कृष्ट-विज्ञानशिल्पसङ्गमनीयप्रापकत्वम् ? यज्ञपदस्य विज्ञानशिल्पगमनीयमर्थ इत्यपि प्रमाणापेक्षम् । तयोः कौटल्यमपि कथं सम्भाव्यते ? यदि प्रकृतिजं कौटल्यं तदा कथं त्वदुक्त्या तन्निरोधः ? अप्राप्तौ च निषेधायोगः । 'देवी दिव्यगुणसम्पन्ने' इत्यप्यसङ्गतम्, प्रमाणानुपलम्भात् । 'दुर्ये गृहस्वरूपे' इत्यपि निर्मूलम् । स्वं गोष्ठं गवां स्थानं किं कथं च ते तत्राप्स्यतः ? वर्ष्मन् सुखवृष्टियुक्ते पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये रमेथामिति कयोर्नियोगः सम्भवति ? वर्ष्मन्नित्यस्य सुखवृष्ट्युपेतार्थत्वे मानाभावश्च । हिन्द्यां तु 'स्वं गोष्ठं किरणानामवयवानां च स्थानस्य आवदतमुपदेशनिमित्तकत्वमस्तु' इत्युक्तम्, तदपि निरर्थकं निष्प्रमाणं च । हिन्दीव्याख्यानमपि न संस्कृतव्याख्यानमनुसरति ॥१७ ॥

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांᳬसि । यो अस्कभायदुत्तरᳬ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा ॥१८॥

'उत्तरेण परिक्रम्य दक्षिणमुपस्तभ्नाति विष्णोर्नुकमिति' (का. श्रौ. ८.४.६) । अध्वर्युर्द्वयोरप्यनसोरुत्तरेण परिक्रम्य दक्षिणमनो निरुणद्धि । शकटाग्रं (यत्र युगं बध्यते) वोढुमुपस्तम्भनकाष्ठस्योपरि स्थापयेदित्यर्थः । तिस्रो वैष्णव्यस्त्रिष्टुभः । द्वयोरन्ते विष्णवे त्वेति यजुः । 'नु' 'कम्' इत्यवधारणार्थको निपातसमुदायः । विष्णोर्व्यापनशीलस्य त्रिविक्रमावतारस्य

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित मन्त्रार्थ तथा भावार्थ पदों के अर्थ की संगति न होने के कारण स्वेच्छाकृत है। देवपद से दिव्य विद्या अर्थ ग्रहण करना मूलरहित है। 'दुर्ये' का अर्थ 'गृहरूपवाली' करना भी निर्मूल है। हिन्दी व्याख्या भी संस्कृत व्याख्या से सम्बद्ध नहीं है ॥१७ ॥

मन्त्रार्थ—मैं सर्वव्यापी भगवान् विष्णु के किन-किन कर्मों का गुणगान करूँ, अर्थात् परमात्मा की क्या स्तुति करूँ, उनकी तो महिमा अपार है। उस परमात्मा ने भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्गसम्बन्धी ज्योतियों को रचा है। जो परमात्मा तीन लोक में अग्नि, वायु और सूर्य के रूप से तीन पद धारण करता हुआ महात्माओं से गाया गया है, उसने ऊपर के देवताओं के स्थानरूप द्युलोक को स्तम्भित किया है। हे स्थूण काष्ठ! विष्णु देव की प्रसन्नता के लिये मैं तुमको गाड़ता हूँ॥ अध्वर्यु दोनों हविर्धानों (शकटों) को उत्तर की ओर से परिक्रमण कर दक्षिण हविर्धान को इस मन्त्र से स्तम्भ पर खड़ा करे और अग्निकोण में स्थूण गाड़े ॥१८ ॥

वा कर्माणि प्रपञ्चोत्पत्त्यादिलक्षणानि प्रवोचं प्रब्रवीमि। कथंभूतस्य विष्णोरिति तत्राह—यो विष्णुः पार्थिवानि रजांसि परमाणून् पृथिव्यन्तरिक्षादिलोकान् वा, 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (निरु. ४.१९), विममे निर्मितवान् परिगणितवांश्च। पुनरपि कथंभूतस्य? यो विष्णुरुत्तरमुपरितनं सधस्थं देवानां सहवासस्थानं सह देवास्तिष्ठन्ति यस्मिंस्तत् सधस्थम्, 'सधमादस्थयोश्छन्दसि' (पा. सू. ३.६.९६) इति सहस्य सधादेशः। द्युलोकरूपमस्कभायद् यथा द्यौर्न पतति तथा स्तम्भितवान्। 'स्कम्भ रोधने' 'क्र्यादिभ्यः श्नः' (पा. सू.३.१.८३) इत्यत्र हेरनुवृत्तौ 'छन्दसि शायजपि' (पा. सू. ३.१.८४) इत्यनेन शायजादेशः। यद्यपि हौपरे श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशो विहितो नास्ति, तथापि व्यत्ययेन लट्यपि श्नः शायजादेशः। पुनरपि कथंभूतस्य? यस्त्रिधा विचक्रमाणस्त्रिषु लोकेषु पदत्रयं निदधौ। उरुगाय उरुभिर्महात्मभिर्गीयत इत्युरुगायः, उरुधा बहुविधं वा गीयत इत्युरुगाय उरुगमनो वा। 'दक्षिणतः स्थूणामुपनिहन्ति विष्णवे त्वेति' (का. श्रौ. ८.४.७)। हे स्थूणे काष्ठ, विष्णवे हविर्धानशकटाभिमानिविष्णुप्रीत्यर्थं त्वां निहन्मि, निखनामीति शेषः।

शतपथे च—'अथोत्तरेण पर्येत्याध्वर्युर्दक्षिणꣳ हविर्धानमुपस्तभ्नाति विष्णोर्नुकं - - - विष्णवे त्वेति मेथीमुपनिहन्तीतरतस्ततो यदु च मानुषे' (श. ३.५.३.२१)। अथोत्तरेणेति। दक्षिणहविर्धानस्योत्तरतः परीत्य पुरोदेशं गत्वा दक्षिणं हविर्धानमुपस्तभ्नाति। यथाऽधो न पतेत् तथोपरतम्भनकाष्ठे स्थापयेत्। मन्त्रार्थस्तूक्तः।

विष्णवे त्वेति। हे मेथीस्तम्भ, विष्णवे हविर्धानशकटाय त्वा उपहन्मीत्यर्थः। कुत्र निहन्यादिति तत्राह—इतरतस्ततो यदु च मानुष इति। मानुषे शकटधारणे यत्स्थानमीषाग्रेतरभागस्तदुत्तरत्र मेथीं निहन्यादित्यर्थः। 'उत्तरतः स्थूणां पूर्ववत्, उभे वा दक्षिणतः, इतरतस्ततः, यदु च मानुष इति श्रुतेरिति' (का. श्रौ. ८.४.९-१२)। मण्डपस्योत्तरतो हविर्धानयोः पश्चिमेन गत्वा हविर्धानशकटस्योत्तरपूर्वकोणेऽध्वर्युरेव विष्णवे त्वेति स्थूणामुपनिहन्यात्, अथवा उभे स्थूणाहविर्धानस्य दक्षिणपार्श्वे एवाध्वर्युर्निहन्यात्। ततोऽनन्तरं ययोः कोणयोः पूर्वनिखाते ततोऽन्ययोः कोणयोरेकैकामुपनिहन्यात्। यदि प्रथममंशयोर्निखाते तदा श्रोण्योः, यदि प्रथमं दक्षिणतस्तत उत्तरत इति चतस्रोऽपि स्थूणा दाक्षिण्येनोपहताः स्युरिति। यच्च मानुषे लोकविषयेऽनसः प्रसिद्धमुपरि वलकानिधानबन्धनाधिकस्थूणानिखननादि यच्च दशारत्निपरिमितहविर्धाननिष्पादने वलकानिधानादि प्राप्नोति, तदपि दृढीकरणार्थं कुर्यात्।

अध्यात्मपक्षे तु—यः कश्चन लोकोत्तरः पार्थिवानि रजांसि पार्थिवपरमाणून् विविधतया विममे परिगणयति, सोऽपि विष्णोः श्रीमन्नारायणस्य वीर्याणि रामकृष्णादिरूपेणाचरितानि पराक्रमबहुलानि सुखरूपाणि कर्माणि, नु वितर्के, किं परिगणयितुं शक्नोति? न शक्नोतीत्यर्थः। 'विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि' (भा. पु. २. ७. ४०), 'काले यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः' इत्यार्षभाष्यरूपपुराणवचनात्। य उत्तरमुपरितनं सधस्थं देवानां सहस्थानं द्युलोकाख्यमस्कभायत स्कम्भितवान्, स एव उरुगाय उरुभिरपरिगणितैः कविभिरुरुधा बहुधा गीयते। त्रिविक्रमो भगवान् विश्वं विचक्रमाणस्त्रेधा भुवि दिव्यन्तरिक्षेषु पदत्रयं निदधाति। किमर्थम्? विष्णवे यज्ञाय यज्ञस्य रक्षणाय। अन्यथाऽसुरायत्ते संसारे यज्ञा लुप्येरन्। तादृशं त्वां परमात्मानमहं संश्रय इति

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.४.६-७, ९-१२) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'विष्णोर्नुकम्' इस कण्डिका के मन्त्रों से दक्षिण शकट का प्रतिष्ठापन तथा स्थूणास्तम्भ का निखनन (गाड़ना) किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—जो कोई लोकोत्तर पार्थिव परमाणुओं को परिगणित करता है, वह भी श्रीमन्नारायण विष्णु के राम-कृष्णादि रूपों से पराक्रम वाले सुखरूप कर्मों को क्या गिन सकता है? अर्थात् नहीं गिन सकता। जिसने ऊपर के

शेषः। अथवा तादृशाय विष्णवे व्यापनशीलाय परमात्मने त्वदर्थमेव त्वां वयं भजाम इति शेषः, भगवद्भजनस्य भगवदर्थत्वोपपत्तेः, 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥' (भ. गी. ९.२७) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'विष्णोः परमेश्वरस्य नु शीघ्रं कं सुखरूपं वीर्याणि प्रकथयेयम्, यः पार्थिवानि पृथिव्या विकारान् अन्तरिक्षे विहितानि विममे विविधतया मिमीते, रजांसि लोकाः, यः सर्वाधारोऽस्कभायत प्रतिबध्नाति, उत्तरमन्तावयवं सधस्थं यत् सह तिष्ठति तत् कारणं संगृह्य विचक्रमाणो यथायोग्यं जगद्रचनाय कारणपादान् प्रक्षिपन् त्रेधा त्रिप्रकाराणि, उरुगायो यो बहूनर्थान् वेदद्वारा गायत्युपदिशति सः, विष्णवे व्यापनशीलाय यज्ञाय त्वा तं परमेश्वरं जानीथ' इति। अन्वये तु—'यस्य वीर्याणि विद्वांसो वदन्ति, यं सर्वे संश्रयन्ते, तं देवमहं प्रवोचं नु शीघ्रमाश्रये, तं जानीथ' इति, तदुभयमपि यत्किञ्चित्, अध्याहारबाहुल्यात्, सरलव्याख्यानमपहाय द्रविडप्राणायामाश्रयणाच्च। यच्च 'सह तिष्ठति यत्तत्कारणं संगृह्य विचक्रमाणो जगद्रचनाय कारणपादान् प्रक्षिपन्' इत्युक्तम्, तदसङ्गतम्, सत्कार्यवादे कारणात्मकस्य कार्यस्य कारणाभिन्नत्वात् तत्सहभावानुपपत्तेः। असत्कार्यवादस्त्वनुपपन्न एव, तन्त्वादिकारणभेदेन पटादिकार्यानिरूपणात्, प्रक्षेपस्य नियोगार्थत्वानुपपत्तेश्च, कारणेषु पदत्वानुपपत्तेश्च। यत्तु हिन्द्याम्—'कारणस्यांशान् योजयति' इत्युक्तम्, तदपि कुशकाशावलम्बनम्, प्रत्यक्षश्रुतस्य विष्णोरित्यस्य सम्बन्धमपहाय कारणपदस्यान्वेषणस्योपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पनायाः सदोषत्वेनानौचित्यात्। 'पृथिव्या गुणैरुत्पन्ना विकाराः' इत्यप्ययुक्तम्, गुणानां द्रव्यानुत्पादकत्वात्। 'पाश्चात्यैरवयवैः सहभावीनि कारणानि रुरोध' इत्यप्यनर्थः, पाश्चात्यपौरस्त्ययोः कालभेदेन सहभावाभावात्॥१८॥

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्। उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा ॥१९॥

'दिवो वेत्युत्तरं प्रतिप्रस्थातोत्तरतः स्थूणां पूर्ववदिति' (का. श्रौ. ८.४.८-९)। यथाध्वर्युर्दक्षिणशकटं मन्त्रेणोपष्टभ्य विष्णवे त्वेति स्थूणां निखातवान्, एवं प्रतिप्रस्थातोत्तरशकटे कुर्यात्। हे विष्णो, दिवो द्युलोकाद्वा पृथिव्या भूर्लोकाद्वा उरोर्विस्तीर्णादन्तरिक्षलोकाद्वा समानीतेन वसुना द्रव्येण उभा हि हस्ता उभावपि स्वकीयौ हस्तौ पृणस्व पूरयस्व।

देवों के निवास द्युलोक को स्थिर रखा है, वही ऋषियों द्वारा बहुधा प्रशंसित त्रिविक्रम भगवान् यज्ञ के रक्षणार्थ विश्व को व्याप्त करते हुए भूलोक, द्युलोक तथा अन्तरिक्ष में अपने तीन पादों को स्थापित करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ तथा अन्वय दोनों ही अध्याहारों की अधिकता के कारण उचित नहीं हैं। सरल व्याख्या को छोड़ कर द्रविड़ प्राणायाम का आश्रय युक्तियुक्त नहीं होता। 'जगत् की रचना के लिये कारणभूत पादों को स्थापित करते हुए' यह कहना असंगत है, क्योंकि सत्कार्यवाद में कारणात्मक कार्य कारण से भिन्न नहीं होता। अतः दोनों का एक साथ रहना असिद्ध नहीं है। असत्कार्यवाद तो असिद्ध है ही। हिन्दी अर्थ में भी 'पृथिवी के गुणों से उत्पन्न विकार' यह कहना अनुचित है, क्योंकि गुण द्रव्यों के उत्पादक नहीं होते ॥१८॥

मन्त्रार्थ—हे सर्वव्यापी परमात्मा! आप स्वर्गलोक से, पृथ्वीलोक से और विस्तीर्ण अन्तरिक्षलोक से भी धन लाकर हमारे दोनों हाथ भर दो, धन से भरे दाहिने या बाएँ हाथ से अनेक प्रकार के धनरत्न लाकर हमें दो। हे काष्ठस्तम्भ! विष्णुदेव की प्रीति के लिये मैं तुमको गाड़ता हूँ॥ इस मन्त्र से प्रतिप्रस्थाता उत्तर में शकट को खड़ा करता हुआ भूमि का खनन कर पूर्ववत् स्तम्भ को गाड़े ॥१९॥

ततो धनपूर्णाद्दक्षिणाद् आ उत सव्याच्च हस्तात् प्रयच्छ बहुकृत्व आवृत्त्या प्रकृष्टं मणिमुक्तादिधनमस्मभ्यं देहि। तृतीयया व्यत्ययेन वा दक्षिणेन, अपि च सव्येन हस्तेन उभाभ्यां हस्ताभ्यामौदार्येण प्रयच्छ। हे स्थूणे, विष्णवे विष्णुप्रीत्यर्थं त्वा निहन्मि।

शतपथे च—'अथ प्रतिप्रस्थाता। उत्तरꣳ हविर्धानमुपस्तभ्नाति दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्। उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वेति मेथीमुपनिहन्तीतरतस्ततो यदु च मानषे तद्यद्वैष्णवैर्यजुर्भिरुपचरन्ति वैष्णवꣳ हि हविर्धानम्' (श. ३.५.३.२२) इति पूर्वोक्त एवार्थः समर्थ्यते।

अध्यात्मपक्षे तु—हे विष्णो व्यापनशील परमेश्वर, दिवो वा पृथिव्या वा महत उरोरन्तरिक्षात् समानीतेन वसुना धनेन उभौ हस्तौ करौ आपृणस्व पूरयस्व। दक्षिणात् सव्याच्च हस्ताद् धनमभीष्टं प्रयच्छ। विष्णवे विष्णुप्रीत्यर्थमेव त्वा त्वां वयं भजामः। यद्वा हे विष्णो व्यापनशील व्यापकविष्णोरंशभूत जीवात्मन्, तपस्यया उपासनया दिवो द्युलोकात् पृथिव्या उरोर्विस्तीर्णादन्तरिक्षादानीतेन वसुना उभौ हस्तौ आपृणस्व पूरयस्व, दक्षिणात् सव्याच्च हस्तात् प्रयच्छ। विष्णवे विष्णुप्रीत्यर्थम्। अत्र विष्णुपदं परमेश्वरपरम्।

दयानन्दस्तु—'हे विष्णो, त्वं कृपयाऽस्मान् दिवः प्रसिद्धादग्नेर्विद्युतो वा उभौ हस्तौ बलवीर्यौ वसुनाऽऽपृणस्व सुखानि प्रयच्छ, प्रीणीहि प्रीणय। दक्षिणाद् दक्षिणपार्श्वाद् आ अभितः, उत च सव्याद् वामपार्श्वात् पृथिव्याः सकाशादुत्पन्नेभ्यः पदार्थेभ्यः, महो महत्तत्त्वाच्चाव्यक्तादुतोरोरन्तरिक्षाद् वा वसुना द्यां पृणस्व तं त्वां विष्णवे यज्ञाय वयमर्चयेम' इति। हिन्दीभाष्ये तु—'हे विष्णो, दिवः प्रसिद्धादग्नेर्विद्युत उभौ हस्तौ वसुना द्रव्येण सार्धमापृणस्व सुखैः पूरयस्व। पृथिव्या उत्पन्नैः पदार्थैरपि महत्तत्त्वादव्यक्ताद्वा उरोरन्तरिक्षाद् द्रव्येण सार्धं दक्षिणवामपार्श्वाभ्यां सुखानि प्रयच्छ। त्वां यज्ञाय योगविज्ञानाय वयमर्चयेम' इति, तदुभयमपि न, बहुभिर्निरर्थकैः शब्दैः प्रयुक्तैरप्यभिप्रायस्यास्पष्टत्वात्। 'दिवः' इति पदस्य अग्निना विद्युता च कः सम्बन्धः? हस्ता इति हस्तशब्दस्य वाच्यार्थमपहाय 'बलवीर्यौ' इत्यर्थकरणमपि निर्मूलमेव। परमेश्वरस्य साकारत्वापत्तिभयाद्यदि मुख्यार्थत्यागेन लाक्षणिकार्थाश्रयणम्, तदा तत्साकारत्वाङ्गीकरणमेव कुतो न क्रियते? हस्तप्रसङ्गाद् दक्षिणाद्धस्तात् सव्याद्धस्तादित्येवार्थो युक्तः, सव्यदक्षिणपार्श्वयोरपि निराकारेऽनुपपत्तेः। वस्तुतस्त्वत्र यत्किञ्चित्प्रलापेन धूलिप्रक्षेप एव कृतो दयानन्देन। उत्पत्तिबोधकं

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.४.८-९) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'दिवो वा' इस कण्डिका द्वारा प्रतिप्रस्थाता ऋत्विक् उत्तर शंकट का स्थापन तथा स्थूणास्तम्भ का निखनन करता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे व्यापनशील परमेश्वर विष्णु! द्युलोक अथवा पृथिवी अथवा विस्तीर्ण अन्तरिक्ष से आनीत धन के द्वारा दोनों हाथों को परिपूर्ण करें। दाहिने तथा बाएं दोनों हाथों से हमें वांछित धन प्रदान करें। विष्णुदेव की प्रसन्नता के लिये हम आपकी आराधना करते हैं।

अथवा हे व्यापक विष्णु के अंशभूत जीवात्मा, तपस्या के द्वारा द्युलोक, पृथ्वी अथवा विस्तृत अन्तरिक्ष से लाये गये धन से दोनों हाथों को पूर्ण करो तथा दाहिने एवं बाएं दोनों हाथों से परमेश्वर के प्रीत्यर्थ वितरित करो।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्याओं में मन्त्र में अनुक्त बहुत से शब्दों के अध्याहार के बाद भी अस्पष्टता है। 'दिवः' पद का अग्नि तथा विद्युत् से क्या सम्बन्ध है? हस्त शब्द के वाचक अर्थ को छोड़कर बल तथा वीर्य अर्थ

पदमत्र मन्त्रे नास्त्येव। तस्मात् पृथिव्याः सकाशान्महत्तत्त्वादव्यक्ततत्त्वादुत्पन्नैर्द्रव्यैः सार्धं सुखस्य याच्आप्यसङ्गतैव, महःपदस्य महत्तत्त्वार्थत्वे मानाभावश्च। अव्यक्ततत्त्वपदं तु मन्त्रे नतरां विद्यते। सुखबोधकमपि पदं मन्त्रे नास्त्येव। तस्मादयमर्थः यत्किञ्चित्प्रलपनान्नातिरिच्यते ॥१९॥

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२०॥

'प्र तद्विष्णुरिति वाचयति मध्यमं छदिरालभ्येति' (का. श्रौ. ८.४.१३)। हविर्धानं काष्ठैर्निष्पाद्य उपरि छादनादिकं कुर्यादित्याह। पूर्वं या हविर्धानमण्डपनिर्माणसामग्री शकटस्योपरि निहिता, तया सामग्र्या हविर्धानमण्डपं चतुःस्तम्भं निष्पाद्य तत्र तत्र यत् छदिस्त्रयनिधानं कृतम्, तत्र यन्मध्यमं छदिरालभस्वेत्यध्येषणया यजमानेन मध्यमच्छदिष आलम्भं कारयित्वा प्र तद्विष्णुरिति यजमानं वाचयेत्। हविर्धानशकटाच्छादनं तु वस्त्रादिना कर्तव्यम्। यस्य विष्णोः, उरुषु लोकत्रयव्यापकत्वेनातिविस्तृतेषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनान्यधिक्षियन्त्यधिवसन्त्यन्तर्भवन्ति, ततः स लोकवेदप्रसिद्धो विष्णुः, वीर्येण वीरस्य कर्म वीर्यं तेन वीर्येण साधारणभूतेन वीरकर्मादिना प्रस्तवते प्रस्तूयते प्रकर्षेण स्तूयते, व्यत्ययेन यकः स्थाने शप्। यथा गिरिष्ठाः पर्वतस्थितः कुचरः कुत्सितं हिंसनं चरतीति कुचरः, भीमो बिभेत्यस्मादिति भीमः सर्वप्राणिभीतिजनकः, गिरिस्थायी गिरिष्ठाः, मृगो न सिंह इव वीर्येण निमित्तेन वीरकर्मणा स्तूयते तद्वत्।

हीनोपमानत्वात् पूर्वोक्तादन्यद् व्याख्यात्युव्वटाचार्यः। तथाहि—मृगो मृग्यते भक्तैर्यः स मृगः, 'मृजूष् शुद्धौ' इति धातोः। मार्ष्टि शोधयतीति वा मृग इन्द्रः। भीमो भीषणः। कुचरः क्वायं चरतीति भक्तैरन्वेष्यत इति कुचरः। क्वशब्दस्य सम्प्रसारणं छान्दसम्। गिरिष्ठा गिरिर्मेघः, तत्र वृष्ट्यर्थं तिष्ठतीति गिरिष्ठास्तथाविध इन्द्र इव प्रस्तूयते। यद्वा नशब्दोऽनर्थकः पादपूरणः। तथा च मृगः शोधकत्वेन पावकः। भीमो बिभेत्यस्मादिति भीमः, 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' (तै. उ. २.८) इति श्रुतेः। कुचरः कौ पृथिव्यां रामकृष्णादिरूपेण चरतीति कुचरो विष्णुरेव। गिरिष्ठा गिरि वाण्यां गिरौ देहे वान्तर्यामिरूपेण तिष्ठतीति गिरिष्ठाः। अयमेवाध्यात्मिकोऽप्यर्थः।

ब्राह्मणानुसारेण तु विष्णुर्हविर्धानाख्यः शकटः, तस्य यदुपरि वर्तमानं मध्यमं छदिरस्ति तत्स्तूयते। उत्तरवेदेः प्रत्यक् त्रिषु विक्रमणेष्वतीतेषु निधीयमानस्य यस्योपरि शीर्षकपालस्थानीयं मध्यमं छदिरस्ति, तस्य अधि उपरि सर्वतो

करना भी मूलरहित है। परमेश्वर के साकार सिद्ध होने के भय से यदि वाच्यार्थ को छोड़कर लाक्षणिक अर्थ का आश्रय लिया गया है, तो परमेश्वर की साकारता ही क्यों नहीं स्वीकार की जाती? निराकार होने पर तो बाएं तथा दाहिने पार्श्व की भी संगति नहीं होती है। अतः यह अर्थ समीचीन नहीं है ॥१९॥

मन्त्रार्थ— वह परमात्मा, जिससे चराचर जगत् भयभीत रहता है, जो सिंह के समान पराक्रमी है, जो पृथ्वी पर मत्स्य आदि के रूप में अवतार लेता है, जो देह में अन्तर्यामी के रूप में स्थित है, वह सर्वव्यापी परमात्मा असुरों का वध कर तथा भक्तों की और धर्म की रक्षा कर अपने इन पराक्रमों के कारण स्तुतियोग्य है, जिस परमात्मा के तीन महान् डगों के रखने के स्थान तीन लोकों में सब लोक निवास करते हैं॥ मध्यम छदि का स्पर्श कर इस मन्त्र को पढ़े॥२०॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.४.१३) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'प्र तद् विष्णुः' इस ऋचा का पाठ हविर्धान मण्डप की मध्यम छदि (मण्डपाच्छादन) का स्पर्श करते हुए यजमान से कराया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में हविर्धान शकट को विष्णुरूप कहा गया है।

विश्वा भुवनानि शीर्षकलापस्थानान्यन्यानि छदींषि निवसन्तीति सायणाचार्यः। 'अथ मध्यमं छदिरुपस्पृश्य वाचयति प्र तद्विष्णुः स्तवते ..... विश्वेतीदᳬं हैवास्यैतच्छीर्षकपालं यदिदमुपरिष्टादधीव ह्येतत्क्षियन्त्यन्यानि शीर्षकपालानि तस्मादाहाधिक्षियन्तीति' (श. ३.५.३.२३)। एतदनुगुणोऽर्थस्तूक्त।

दयानन्दस्तु—'यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वानि भुवनानि अधिक्षियन्ति, यश्चासौ विष्णुर्वीर्येण भीमः कुचरो गिरिष्ठा मृगो न सिंह इव विचरन् प्रस्तवते उपदिशति, तत् तस्मात् स नैव कदापि विस्मरणीयः' इत्याह। यद्यप्ययमर्थो नातीव विरुद्धस्तथापि 'उरुषु विक्रमणेषु' इत्यस्य स्वारस्यं त्रिविक्रमावतारधारिण उरुषु विस्तीर्णेषु विक्रमेषु पादविक्षेपेषु सर्वाणि भूतान्यन्तर्भूतानीत्यत्रैवेति ॥२०॥

विष्णो॑ र॒राट॑मसि॒ विष्णो॑ः श्नप्त्रे॑ स्थो॒ विष्णो॑ः स्यूर॑सि॒ विष्णो॑र्ध्रु॒वो॑ऽसि। वै॒ष्ण॒वम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा ॥२१॥

'विष्णो रराटमिति रराट्यामिति' (का. श्रौ. ८.४.१५)। रराट्यामालभस्वेत्यध्येषणया यजमानेन रराट्यां स्पर्शयित्वा वाचयेत्। हविर्धानाख्ये पूर्वोक्ते द्वे शकटे दक्षिणोत्तरभागयोः स्थापयित्वा तदावरकत्वेन परितो हविर्धानाख्यं मण्डपं कुर्यात्। स च मण्डपो विष्णुदेवताकत्वाद् विष्णुरित्युपचर्यते। विष्णोश्च मूर्तिधरस्य सर्वावयवसद्भावाल्लाटस्थोऽवयवोऽप्यस्ति। तद्वद् हविर्धानमण्डपस्यापि पूर्वद्वारवर्तिस्तम्भयोर्मध्ये काचिद् दर्भमयी माला ग्रथ्यते। सा तदाधारभूतस्तिर्यग् बन्धो वात्र सम्बोध्योच्यते—हे माले, अथवा हे तदाधारभूत तिर्यग्वंश, त्वं विष्णोर्मूर्तित्वेनोपचरितस्य हविर्धानमण्डपस्य रराटमसि ललाटस्थानीयोऽसीति काण्वसंहितास्थसायणभाष्याशयः।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—जिन विष्णुदेव के त्रिलोकव्यापी, अतिविस्तृत तीन पादों में समस्त लोक अधिष्ठित हैं, अर्थात् अन्तर्भूत हैं, वही लोक तथा वेदों में प्रसिद्ध विष्णु वीर कर्मों के संकीर्तनादि से संस्तुत किये जाते हैं। वे विष्णु (भक्तों को) पवित्र करने वाले,(दुष्टों के लिये) भीषण अथवा अनुशासनकर्ता, राम-कृष्ण आदि रूपों से पृथिवी पर अवतरित होने वाले तथा वाणी में अथवा शरीर में अन्तर्यामी रूप से अवस्थित हैं।

यद्यपि इस मन्त्र में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ हमारे सिद्धान्तानुसारी अर्थ से अधिक विरुद्ध नहीं है, तथापि 'विस्तीर्ण पादों में' इसका तात्पर्य त्रिविक्रमावतार धारण करने वाले (वामनावतार विष्णु) के विस्तीर्ण पादप्रक्षेपों में समस्त प्राणी अन्तर्भूत हैं, यही है ॥२०॥

मन्त्रार्थ— हे दर्भमालाकार वंश! तुम यज्ञरूप विष्णु के ललाटस्थानीय हो। हे ललाट के प्रान्त! तुम दोनों यज्ञरूप विष्णु के ओष्ठसन्धि रूप हो। हे बृहत् सूची! तुम यज्ञीय मण्डप की सूची हो। हे ग्रन्थि! तुम यज्ञीय विष्णुरूप मण्डप की मजबूत गाँठ हो। हे हविर्धान! तुम विष्णुसम्बन्धी हो, इस कारण विष्णु की प्रीति के लिये तुम्हारा स्पर्श करता हूँ॥ दोनों हविर्धानों (शकटों) को दक्षिणोत्तर स्थापित करके उनके ढकनों का मण्डप बनावे। हविर्धान मण्डप के पूर्वद्वारवर्ती स्तम्भ के मध्य में कुशों की माला गूँथे ॥२१॥

भाष्यसार— कात्यायन श्रौतसूत्र (८.४.१५-१९) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'विष्णो रराटम्' इस कण्डिका के मन्त्रों से हविर्धान-मण्डप के पूर्व द्वार के स्तम्भों के बीच में गूंथी गई दर्भ की माला का स्पर्श, बगल के दो तृणनिर्मित छादनों का स्पर्श, काठ की बनी हुई बड़ी सूई से रज्जु के द्वारा द्वार-शाखाओं का बन्धन, ग्रन्थि का बन्धन तथा सुनिर्मित हविर्धान-मण्डप का स्पर्श इत्यादि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। तैत्तिरीय तथा शतपथ श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

'विष्णोः श्नप्त्रे स्थ इत्युच्छ्राय्यौ' (का. श्रौ. ८.४.१६)। उच्छ्राय्यावालभस्वेत्यध्येषणया द्वयोरुच्छ्राय्ययोर्यजमानेनालम्भं कारयित्वा विष्णोः श्नप्त्रे स्थ इति मन्त्रं वाचयेत। आलम्भनस्य युगपत्कर्तुमशक्यत्वाद् भेदेन प्रत्येकं रराट्योरुच्छ्राय्ययोश्च वाचनप्रेषालम्भनानि भवन्ति। उच्छ्राय्यौ रराटौ प्रान्तावुपस्पृश्य वाचयतीत्यर्थः। उच्छ्रीयेते इत्युच्छ्राय्यौ दशारत्निप्रमाणौ पार्श्वस्थौ कटौ। तथा च हे रराट्यौ, युवां विष्णोर्विष्णुनामकस्य हविर्धानमण्डपस्य श्नप्त्रे स्थः श्नप्त्रे सृक्किणी ओष्ठसन्धिरूपे भवथः। 'द्वार्याः परिषीव्यति लस्पूजनिप्रतिहतया रज्ज्वा विष्णोः स्यूरसीति' (का. श्रौ. ८.४.१८), 'प्राग्वꣳशꣳ हविर्धानम्' (का. श्रौ. ८.४.२१) इत्यादिना हविर्धानमण्डपकरणं वक्ष्यति सूत्रकारः। तत्र पूर्वमपरं च द्वारद्वयं द्व्यरत्निविस्तारं कर्तव्यम्, 'पूर्वमपरं च द्वारे कुरुतः' (७.५) इति सत्याषाढसूत्राच्च। एवमेकैकस्यापि द्वारस्य द्वारि स्थितं स्थूणाद्वयं भवति। द्वारद्वयस्य चतस्रो द्वार्याः। ताश्छदींषि। लस्पूजन्यां बृहत्यां काष्ठमय्यां सूच्यां प्रोतया रज्ज्वा द्वारशाखाः सीव्यति, बध्नीयाद् एकीकृत्य दृढाः कुर्यात्। हे लस्पूजनि, त्वं विष्णोर्विष्णुनामकस्य हविर्धानमण्डपस्य सम्बन्धिनी स्यूरसि। सीव्यत्यनेनेति स्यूः सूचिरसि। 'षिवु तन्तुसन्ताने'। 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (पा. सू.६.४.१६) इति वस्योडादेशः। 'विष्णोर्ध्रुवोऽसीति ग्रन्थिं करोति' (का. श्रौ. ८.४.१९)। परिषीवणारम्भे रज्जुमूले ग्रन्थिं कुर्यात्। हे रज्जुग्रन्थे, त्वं हविर्धानस्य सम्बन्धी भूत्वा ध्रुवोऽसि स्थिरो भवसि। 'प्राग्वꣳशꣳ हविर्धानं निष्ठाप्य वैष्णवमसीत्यालभते' (का. श्रौ. ८.४.२१-२२) इति प्रागग्रैर्वंशैर्मण्डपं निर्मायानेन मन्त्रेण स्पृशेत्। हे हविर्धान, त्वं वैष्णवमसि विष्णुदेवताकत्वेन तत्सम्बन्धि भवसि। तस्माद्विष्णवे विष्णुप्रीत्यर्थं त्वा त्वां स्पृशामीति शेषः। हविर्धानस्य विष्णुदेवताकत्वं तित्तिरिर्दर्शयति—'वैष्णवꣳ हि देवतं हविर्धानमिति' इति।

शतपथे—'अथ रराट्यामुपस्पृश्य वाचयति। विष्णो रराटमसीति ललाटꣳ हैवास्यैतदथोच्छ्राया उपस्पृश्य वाचयति विष्णोः श्नप्त्रे स्थ इति स्रक्के हैवास्यैते अथ यदिदं पश्चाच्छदिर्भवतीदꣳ हैवास्यैतच्छीर्षकपालं यदिदं पश्चात्' (श. ३.५.३.२४)। रराट्यां रराटीम्। अस्य हविर्धानस्य एतद् रराट्याख्यमङ्गं ललाटं खल्वसि। तस्माद् उच्छ्रायौ द्वारशाखे द्वारस्योभयपार्श्ववर्तिनी तृणादिनिर्मिते प्रावरणे तावुपस्पृश्य वाचयति—विष्णोरिति। विष्णोर्हविर्धानस्य श्नप्त्रे सृक्किणी ओष्ठसम्बन्धिनी स्थः। पश्चाच्छदिषः स्थानं प्रशंसति—इदं पश्चाच्छदिर्हविर्धानाख्यस्य यज्ञशिरसः पश्चात् कपालस्थानीयं छदिस्तृणमयः कटः। हविर्धानमण्डपनिर्माणप्रसङ्गे कात्यायनेनोक्तम्—'तयोश्छदिरध्यस्यति' (का. श्रौ. ८.३.२०)। तयोर्हविर्धानयोरुपरि हविर्धानाख्यमण्डपाच्छादनायोदगग्रमेकं छदिस्तृणमयं कटं मध्ये निदध्यादिति। उपरि छादनार्थाः कटाश्च छदींषि। तानि च दशारत्निदीर्घाणि त्र्यंशेन विपुलानि। हविर्धानशकटाच्छादनं वस्त्रादिना, 'भित्तिं वाऽभावे' (का. श्रौ. ८.३.२१)। छदिषोऽभावे छदिषा तुल्यां वेणुशकलैः कृतां भित्तिं वा तयोरुपरि निदध्यात्। शतपथेऽपि (३.५.३.९) तदेवोक्तम्।

'अथ लस्पूजन्या स्पन्द्यया प्रसीव्यति। विष्णोः स्यूरसीत्यथ ग्रन्थिं करोति विष्णोर्ध्रुवोऽसीति नेद् व्यपद्याता इति तं प्रकृते कर्मन् विष्यति तथो हाध्वर्युं वा यजमानं वा ग्राहो न विन्दति तन्निष्ठितमभिमृशति वैष्णवमसीति वैष्णवꣳ हविर्धानम्' (श.३.५.३.२५) । 'लस्पूजनी नाम सीवनसाधनसूच्यादिः, तत्र सम्बद्धया रज्ज्वा द्वारशाखां दर्भैरावेष्ट्य रज्ज्वा विष्णोः स्यूरिति मन्त्रेण सीव्येत्। हे द्वार्ये, हे रज्जो वा, त्वं विष्णोर्हविर्धानमण्डपस्य स्यूः स्यूतप्रदेशोऽसि। हे ग्रथ्यमानप्रदेश, त्वं विष्णोर्हविर्धानस्य ध्रुवोऽच्युतावयवोऽसि' इति सायणाचार्यः। मध्यच्छदिष उपरि गतानि त्रीण्यपि छदींष्युदगग्राणि कर्तव्यानि। त्रयाणामपि प्रागग्रीकरणे पश्चाच्छदिरिति श्रूयमाणा पश्चादित्युक्तिर्न युज्येत। 'उदगग्राणि

छदीꣳषि पश्चाच्छ्रुतेः' (का. श्रौ. ८.४.१७)। त्रीण्यपि छदींष्युदगग्राणि कार्याणि, कुतः? यदिदं पश्चाच्छदींषीत्याद्येकस्य छदिषश्छदिरन्तरस्य पश्चाद्विधानात्। अयमभिप्रायः—'छदिस्त्रयेण हविर्धानमण्डपस्याच्छादनं कार्यम्। तत्र यदि छदिः पूर्वापरायतं भवेत्, तदा छदिरन्तरस्य पूर्वं निहिताच्छदिषो दक्षिणत उत्तरतो वाऽवस्थितिर्भवेत्, न तु पश्चाद्भागे। यदि तूदगग्राणि छदींषि क्रियन्ते, तदा पूर्वस्माच्छदिषः पश्चाद्भागे छदिरन्तरं भवितुमर्हति' इति वृत्तिकारो म. म. विद्याधरशर्मा।

अध्यात्मपक्षे तु—प्रत्यक्चैतन्यमेव योग्यत्वात् सम्बोध्यते। हे प्रत्यक्चैतन्य, त्वं विष्णोर्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणो रराटं ललाटमसि प्रधानत्वात्, प्रत्यगात्मनैव ब्रह्मणोऽपरोक्षत्वसम्भवात्। हे भोक्तृभोग्ये, युवां विष्णोः श्नप्त्रे सृक्किणी स्थो भवथः। कूटस्थचैतन्यं सम्बोध्याह—हे कूटस्थचैतन्य, त्वं ध्रुवोऽसि, ब्रह्मात्मस्वरूपत्वात्। किं बहुना, सर्वमपि जगच्चेतनाचेतनात्मकं सम्बोध्यते—हे सर्वजगत्, त्वं वैष्णवमसि विष्णुकार्यत्वाद्विष्णोरिदं वैष्णवमसि भवसि। विष्णवे त्वत्प्रीत्यर्थं त्वामेवाश्रयामः।

दयानन्दस्तु—'विष्णोर्व्यापकस्य सकाशाद् रराटं परिभाषितं जगत्, असि अस्ति। विष्णोः सर्वत्राभिनिविष्टस्य श्नप्त्रे शुद्धे इव स्थः तिष्ठतः। विष्णोः सर्वसुखाभिव्याप्तात् स्यूर्यः सीव्यति स असि अस्ति। विष्णोः सर्वजगत्पालकाद् ध्रुवो निश्चलः, असि अस्ति। वैष्णवं विष्णोर्यज्ञस्येदं साधनं साधकं वा असि अस्ति। विष्णवे यज्ञाय त्वा यदिदं विविधं जगदस्ति, तद्विष्णो रराटमस्ति विष्णोः सकाशादुत्पद्य वर्तते। विष्णोः स्यूरस्ति विष्णोर्ध्रुवोऽस्ति सर्वं जगद्वैष्णवमस्ति। यस्य विष्णोर्जगति द्वे श्नप्त्रे इव जडचेतनसमूहौ स्तः, तं जगदीश्वरं त्वा यज्ञानुष्ठानाय वयमाश्रयामः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परस्परविरुद्धत्वात्। पदार्थव्याख्याने रराटं परिभाषितमस्तीत्युक्तम्, अन्वये तूत्पद्य वर्तत इत्युक्तम्। सोऽयं परस्परविरोधः। 'रट परिभाषणे' इति धातुरीत्या यद्यपि पदसिद्धिर्भवति, तथापि तन्निरर्थकमेव, विशेष्यबोधकपदस्य मूलेऽभावात्। विविधं जगदिति तु दयानन्दस्य स्वकपोलकल्पितमेव। अध्याहारेऽपि न निस्तारः, सर्वस्यैव परिभाषितत्वेन व्यावर्त्याभावेन विशेषणत्वानुपपत्तेः। तथैव 'श्नप्त्रे शुद्धे' इत्यपि निरर्थकम्, विशेष्यानिर्देशादेव। जडचेतनसमूहावित्यध्याहारोऽपि निर्मूलः 'स्यूः यः सीव्यति', 'ध्रुवो निश्चलोऽसि' इत्यपि च निरर्थकम्, विशेष्यानिश्चयादेव। हिन्दीभाष्ये तु — 'विस्तृतः' इत्युक्तम्, तदपि निर्मूलम्। 'ईश्वरोत्पन्नत्वात् स्वसत्तया ध्रुवः' इति च हिन्दीभाष्योक्तं निर्मूलम्, उत्पन्नत्वेन कार्यत्वादनित्यत्वेन भङ्गुरत्वान्निश्चलत्वानुपपत्तेः। विशेष्यानिर्देशस्त्वत्रापि समान एव। सिद्धान्तव्याख्याने तु श्रुतिसूत्रोक्ताः सम्बोधनीया एव विशेष्या इत्युक्तमेव ॥२१॥

अध्यात्मपक्ष के अर्थ के अनुसार तो प्रत्यक् चैतन्य को ही सर्वप्रथम सम्बोधित किया गया है। हे प्रत्यक्चैतन्य, तुम व्यापनशील ब्रह्म के ललाटरूप हो, प्रधान होने के कारण प्रत्यगात्मा के साथ ही ब्रह्म का साक्षात्कार संभव है। हे भोक्ता तथा भोग्य, तुम दोनों विष्णुदेव के ओष्ठसन्धिरूपी हो। कूटस्थ चैतन्य को सम्बोधित करते हैं कि हे कूटस्थ चैतन्य! तुम ब्रह्मात्मस्वरूप होने के कारण स्थिर हो। तदनन्तर चेतन एवं अचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् को सम्बोधित किया गया है—हे समस्त जगत्, तुम विष्णु द्वारा निर्मित होने के कारण विष्णु के हो, विष्णुदेव की प्रसन्नता के लिये हम तुम्हारा ही आश्रय लेते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ परस्परविरुद्ध होने के कारण असंगत है। 'श्नप्त्रे' का अर्थ 'शुद्धे' करना भी निरर्थक है, क्योंकि विशेष्य का निर्देश नहीं किया गया है। हिन्दी भाष्य में 'स्यूः' का अर्थ विस्तृत किया गया है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। 'ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण अपनी सत्ता से स्थिर है' यह हिन्दी भाष्य में कहा गया है। परन्तु यह अप्रामाणिक है, क्योंकि उत्पन्न होने के कारण कार्यत्व हो जाता है तथा अनित्य होने के कारण विनाशशीलता के द्वारा स्थिरता या निश्चलता सिद्ध नहीं हो सकती ॥२१॥

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वा अपि॑ कृन्तामि। बृ॒हन्न॑सि बृ॒हद्र॑वा बृ॒हती॒मिन्द्रा॑य॒ वाचं॑ वद ॥२२॥

इत उत्तरमुपरवमन्त्रा देवस्य त्वेत्यस्मात् (५.२६) प्राक्। 'दक्षिणस्यानसोऽधः प्रउगं खनत्युपरवानभ्र्यादि करोत्यवटवदिति' (का. श्रौ. ८.४.२६)। दक्षिणस्य हविर्धानशकटस्याधस्तात् प्रउगं पूर्वभागेऽनसोऽधोभागस्थितां भूमिं द्विधा कृत्वा तत्र पूर्वस्मिन् प्रदेशे उपरवान् चतुरो गर्तविशेषान् खनेत्। उप उपरि ग्राव्णां रवः शब्दो यत्र ते उपरवाः। एतेषामेवोपर्युपांशुसवनसंज्ञकं ग्रावाणं निधाय तत्र सोमाभिषवस्य क्रियमाणत्वात् ते उपरवसंज्ञकाः। यथा यूपस्यावटः क्रियते, तथात्राप्युपरवसंज्ञकांश्चतुरो गर्तान् अभ्रिस्वीकारमारभ्य परिलेखनपूर्वकं कुर्यात्। 'अभ्र्यादि करोत्यवटवदापरिलेखनात्' (का. श्रौ. ८.५.१)। आहरन्ति मृदमनयेत्यभ्रिर्दारुजं खनित्रम्, यथा पशौ यूपावटकरणेऽभ्र्यादानादिपरिलेखनपर्यन्तं क्रियते, तथैवेहापि कर्तव्यम्। हे अभ्रे, सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणे वर्तमानोऽहमश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे। नार्यसि नराणामनुष्ठातॄणां सम्बन्धिनी नारी, उपरवाख्यगर्तखननसाधनत्वात्। अथवा नरस्यापत्यं स्त्री नारी। महीधरदृष्ट्या—'देवस्य त्वेत्यभ्रिमादाय यूपावटं परिलिखतीदमिति' (का. श्रौ. ६.२.८)। इदमिति विभक्तिव्यत्ययः। योऽहं चतुरोऽवटान् परिलिखामि, सोऽहमनेन परिलेखनेन रक्षसां यज्ञघ्नानां ग्रीवा अपि कृन्तामि कण्ठदेशान् छिनद्मि। 'बृहन्नसीति यथापरिलिखितं खनति' (का. श्रौ. ८.५.८)। लेखनक्रमेणोपरवान् खनेत्। आग्नेयीं विदिशमारभ्य चतसृषु विदिक्षु चतुर उपरवान् खातुं येन क्रमेण भूमिः परिलिखिता, तेनैव क्रमेणावटान् खनेत्। हे उपरवाख्यगर्त, त्वं बृहन्नसि महानसि। वर्तुलस्य गर्तस्य प्रादेशपरिमाणेन विस्तृतत्वाद् बाहुपरिमाणेन खातत्वाच्च महत्त्वम्। तथा त्वं बृहन्महान् रवो ध्वनिर्यस्य स बृहद्रवाः, सकारान्तो रवस्शब्दः। भूमौ अभ्र्यां प्रहतायां महान् शब्दो भवति। तस्मात्त्वमिन्द्रायेन्द्रप्रीत्यर्थं बृहतीं वाचं वद प्रौढध्वनियुक्तं वाक्यं वद।

शतपथे तु—'द्वयं वा अभ्युपरवाः खायन्ते। शिरो वै यज्ञस्य हविर्धानं तद्य इमे शीर्षंश्चत्वारः कूपा इमावह द्वाविमौ द्वौ तानेवैतत्करोति तस्मादुपरवान् खनति' (श. ३.५.४.१)। सोमाभिषवाय उपरवाणां खननविधित्सया खननस्योभयार्थतोच्यते। यस्मात् शिरसि चत्वारः कूपाः, द्वे कर्णछिद्रे द्वे नासिकाछिद्रे इति चत्वारः कूपाः, कूपवन्निम्नप्रदेशाः, तदेवाभिनयेनोच्यते—द्वाविमौ द्वौ तानेवैतत्करोति। हविर्धानस्यापि यज्ञशिरोरूपत्वात् तत्र चतुर उपरवान् खनेत्। 'देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा एषु लोकेषु कृत्यां वलगान्निचख्नुरुतैवञ्चिद् देवानभिभवेमेति' (श. ३.५.४.२)। द्वेष्यवधार्थं भूमौ स्थापिताः कृत्याविशेषा वलगाः, तान्निखातवन्तः।

मन्त्रार्थ—हे अभ्रि (काठ की कुदाल) ! सविता देवता की प्रेरणा से, अश्विनीकुमार के बाहुभाव को प्राप्त अपनी भुजाओं से, पूषा देवता के हस्तभाव को प्राप्त अपने हाथों से खनन कार्य के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे अभ्रि! तुम हमारा उपकार करने वाली हो, मैं अध्वर्यु यज्ञविनाशक राक्षसों की गर्दनों को काटता हूँ। हे घोरतर शब्द करने वाले उपरव! तुम महान् शब्द करते हो। इन्द्र देवता की प्रीति के लिये तुम ऐसी उच्च ध्वनि वाली वाणी बोलो॥ काठ की कुदाल ले कर इस मन्त्र को बोलते हुए यूपावट की तरह चार गड्डों का चिह्न करे और कुदाल को मजबूती से पकड़ कर प्रादेश भर गोल आकार के चार गड्ढे बनावे॥२२॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.४.२६; ८.५.१) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'देवस्य त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों द्वारा दक्षिण हविर्धान शकट के नीचे की भूमि को नियमानुसार विभक्त करके 'उपरव' संज्ञक चार गर्तों का खनन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

उत एवञ्चिद् एवमपि युद्धेनाशक्नुवन्तः, अनेनाप्युपायेन देवानभिभवेमेत्यभिप्रायेण । 'तद्वै देवा अस्पृण्वत् । त एतैः कृत्यां वलगानुदखनन् यदा वै कृत्यामुत्खनन्त्यथ सालसा मोघा भवति तथो एवैष एतद्यद्यस्मा अत्र कश्चिद् द्विषन् भ्रातृव्यः कृत्यां वलगां निखनति तानेवैतदुत्किरति तस्मादुपरवान् खनति स दक्षिणस्य हविर्धानस्याधोऽधः प्रउगं खनति' (श. ३.५.४.३)। तदसुरैः कृतं खननाख्यं कृत्याविशेषं देवास्तदुत्खननेन हिंसितवन्तः। हिंसाप्रकारमाह— एतैरुपरवैः कृत्यां वलगानुदखनन्निति। अथ कृत्योत्खननानन्तरमेव सा कृत्या अलसा हननं कर्तुमसहमाना अत एव मोघा व्यर्था भवति। यथा देवेष्वयं कृत्यापरिहारोपायस्तथैव मनुष्येष्वपि भवति। तस्माद् दक्षिणस्य हविर्धानस्याधोऽधः प्रउगं खनति। ईषाद्वयसंयोजनप्रदेशः प्रउगम्, तस्याधोऽधः सन्निहिताधःप्रदेशे उपरवान् खनति। अधोऽधः-शब्दयोगात् प्रउगमिति द्वितीया (पा. सू. २.३; वार्त्तिकम् १.४.४८)।

खननाय समन्त्रकमभ्र्यादानं विधत्ते—'सोऽभ्रिमादत्ते। देवस्य त्वा सवितुः - - - नार्यसीति' इत्यपि स्तुतिः। यत् प्राग् देवस्य त्वेति ब्राह्मणमुक्तम् (श. १.१.२.२७), तदत्रातिदिशति—समान एतस्य बन्धुरिति। समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषा वा एषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसीति (श. ३.५.४.४)। एतस्य यजुर्मन्त्रस्य आदीयमानाया अभ्र्याः स्त्रीत्वान्मन्त्रे नारीशब्देनाभ्रिरभिहिता। एतस्य यजुषो देवस्य त्वेति। 'तान् प्रादेशमात्रं विना परिलिखति। इदमहꣳ रक्षसा ग्रीवा अपि कृन्तामीति वज्रो वा अभ्रिर्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्राणाꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तति' (श. ३.५.४.५)। विना मध्ये प्रादेशमात्रान्तरालं विहाय समचतुरस्रे खननप्रदेशे चतुरोऽवटान् प्रादेशमात्रान् परिलिखेत्। 'तद्यावेतौ पूर्वौ तयोर्दक्षिणमेवाग्रे परिलिखेदथापरयोरुत्तरमथापरयोर्दक्षिणमथ पूर्वयोरुत्तरम्' (श. ३.५.४.६)। अवटखनने द्वौ प्रकारौ, अक्षणया तिरश्चीनं सम्यक् च ऋजुमार्गेण च। अक्षणयापि द्विप्रकारौ तद्यावेतौ पूर्वौ तयोर्दक्षिणमेवाग्र इत्यादिना। आग्नेयवायव्यनैर्ऋतैशानक्रमेणेत्येकः प्रकारः। द्वितीयं प्रकारमाह—'अथो इतरथाहुः। अपरयोरेवाग्र उत्तरं परिलिखेदथ पूर्वयोर्दक्षिणमथापरयोर्दक्षिणमथ पूर्वयोरुत्तरमित्यथो अपि समीच एव परिलिखेदेतं त्वेवोत्तमं परिलिखेद्य एष पूर्वयोरुत्तरो भवति' (श. ३.५.४.७)। स्वकीयं सम्यक्परिलेखनप्रकारमाह— अथो इतरथेति। आग्नेयादिप्रादक्षिण्यक्रमेणेत्यर्थः। अथो अपि समीच एव परिलिखेदिति सम्यक्पक्षमेव समर्थयते। 'तान् यथापरिलिखितमेव यथापूर्वं खनति। बृहन्नसि बृहद्रवा इत्युपस्तौत्येवैनानेतन्महयत्येव यदाह बृहन्नसि बृहद्रवा इति बृहतीमिन्द्राय वाचं वदेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता वैष्णवꣳ हविर्धानं तत्सेन्द्रं करोति तस्मादाह बृहतीमिन्द्राय वाचं वदेति' (श. ३.५.४.८)। य एष पूर्वयोरुत्तरस्तमुत्तरं कुर्यादित्यभिधानात् खननमपि परिलेखनक्रमेण कर्तव्यमित्याह—तान् यथापरिलिखितमेवेति। तत्र मन्त्रो बृहन्नसीति। हे अवट, हे उपरव, त्वं बृहन् स्वरूपतो महानसि। तथा बृहद्रवाः प्रभूतध्वनिरसि, अतो बृहतीं महतीं वाचमिन्द्राय इन्द्रार्थं सोमस्येन्द्रार्थत्वात् तदर्थत्वादुपरवखननस्य स्तुतिकरीं बृहतीं वाचं वद शब्दय।

अध्यात्मपक्षे—साधको भगवदाराधनोपयोगिधूपदीपनैवेद्यादिपदार्थान् परिकल्पयन्नाह— हे धूपादिपदार्थसमूह, त्वामहमश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे देवदेवस्यार्चनार्थं गृह्णामि। अश्विबाहुपूषहस्ताभेदभावापन्नाभ्यां दिव्याभ्यां बाहुभ्यां हस्ताभ्यां च त्वा आददे। हे संगृहीतसामग्रि, त्वं परमेश्वरोपभोग्यत्वान्नार्यसि भार्यावत् सुखदायिकासि। अहमिदमनेन त्वदाराधनेन रक्षसां राक्षसजातीयानां विघ्नानां वा ग्रीवाः कण्ठान् अपि कृन्तामि, अपिशब्देन कृत्स्नमपि विघ्नशरीरं नाशयामीत्यर्थो द्योत्यते।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—साधक भगवदाराधन के लिये उपयोगी धूप, दीप, नैवेद्य आदि पदार्थों को संगृहीत करता हुआ कहता है कि हे धूपादि पदार्थसमूह ! मैं तुमको अश्विनी देवों के बाहुओं तथा पूषा के हाथों से भगवान् की अर्चना के

दयानन्दस्तु—'देवस्य सर्वप्रकाशकस्यानन्दप्रदस्येश्वरस्य' इत्याह, तन्मन्दम्, 'दिवु क्रीडाविजिगीषाद्यर्थेषु' क्रीडा-विजिगीषाद्यर्थकस्य दीव्यतेः प्रकाशाद्यर्थकत्वेऽप्यानन्दप्रदत्वार्थस्य चिन्त्यत्वात्। यदपि—'अश्विनोः प्राणापानयोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्याम्' इति, तदपि मन्दम्, प्राणापानयोर्बाहुत्वासम्भवात्, बाहुशब्दस्य बलवीर्यार्थत्वस्य च चिन्त्यत्वात्। तथैव पूष्णः पुष्टिकारिकायाः पृथिव्या हस्ताभ्यामाकर्षणविकर्षणाभ्यामित्यपि निर्मूलम्, हस्तशब्दस्य तथार्थत्वे मानाभावात्। यदपि—'नारि नरामियं क्रिया, इदं यज्ञानुष्ठानं कर्म चाददे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथात्वे नारीमिति द्वितीयापत्तेः। 'यज्ञमाददे' इत्यपि निर्मूलम्, मूले यज्ञपदाभावात्। 'यथाहं तथा त्वमप्यादत्स्व' इति च निर्मूलम्, मूले यथातथापदाभावात्। 'यथाहं रक्षसां दुष्टस्वभावानां ग्रीवाः कण्ठान् अपि कृन्तामि छिनद्मि, तथा त्वमपि कृन्त' इत्यपि मन्दम्, विकल्पानुपपत्तेः। को वक्तीदम्? यद्यनीश्वरस्तर्हि पौरुषेयत्वापत्तिः, यदीश्वरस्तर्हि तस्य सावयवत्वापत्तिः, निरवयवस्य कण्ठच्छेतृत्वानुपपत्तेः। ईश्वरस्य कर्मफलदातृत्वेन कर्मानुसारेण कथञ्चित् तत्सम्भवेऽपि न जीवेषु तत्सम्भवति, तथात्वेऽराजकतापत्तेः। यथा-हमेतदनुष्ठानेन बृहद्रवा बृहद्भवामि, तथा त्वमपि भवेत्यप्यसङ्गतम्, परमेश्वरीयबृहत्त्वस्य नित्यत्वेन कर्मानुष्ठानजन्य-त्वायोगात्॥२२॥

रक्षोहणं वलगहनं वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्यां किरामि॥२३॥

पूर्वमन्त्रोक्तां वाचमेव विशिनष्टि—रक्षोहणं वलगहनमिति। रक्षांसि हन्तीति रक्षोहा, तां रक्षोवधविषयाम्, तथा वलगहनं वलगान् हन्तीति वलगहा तम्। पराजयं प्राप्तैः पलायमानै राक्षसैरिन्द्रवधार्थमभिचाररूपेण भूमौ निखाता

लिये ग्रहण करता हूँ, अर्थात् दिव्य बाहुओं एवं हाथों से तुम्हें लेता हूँ। हे संगृहीत सामग्री, तुम परमेश्वर के उपभोगयोग्य होने के कारण भार्या के समान सुखदायिनी हो। मैं इस तुम्हारी आराधना से राक्षस जाति की अथवा विघ्नों की ग्रीवा भी काटता हूँ, अर्थात् सम्पूर्ण विघ्नशरीर को नष्ट करता हूँ।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में 'दिवु' धातु से आनन्दप्रद अर्थ करना चिन्तनीय है। अश्विनों की, अर्थात् प्राण तथा अपान की भुजाएं भी असम्भव हैं। 'हस्त' शब्द का आकर्षण-विकर्षण अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। यह किसके द्वारा उपदिष्ट है? यदि ईश्वरोपदिष्ट नहीं है, तो पौरुषेयत्व प्राप्त होगा। यदि ईश्वर वक्ता है, तो उसकी साकारता प्राप्त होगी, क्योंकि अंग के बिना कण्ठछेदन करना सिद्ध नहीं होगा॥२२॥

मन्त्रार्थ—हे उपरव! यह गड्ढा राक्षसों का वध करने वाला, कृत्या का नाश करने वाला और यज्ञरक्षक विष्णु से सम्बन्ध रखने वाला है, यह बात तुम इन्द्र से कहो। अत्यन्त संघातरूप से वर्तमान चाण्डाल आदि ने या मेरे सम्बन्धियों ने मेरे अनिष्ट के लिये जो कृत्या का प्रयोग किया है, उस अभिचार को मैं दूर करता हूँ। जिस कृत्या को धन, सुवर्ण आदि के समान मेरे शत्रुओं ने मेरे वध के निमित्त यहाँ गाड़ दिया है, मैं उस कृत्या को जड़सहित निकाल फेंकता हूँ। मातुल आदि के कुल वालों ने अथवा अन्य जनों ने मेरे निमित्त जिस कृत्या का प्रयोग किया है, मैं उसको दूर फेंक देता हूँ। मेरे समान आयु वालों ने अथवा छोटी-बड़ी उम्र वालों ने जिस कृत्या का मेरे लिये प्रयोग किया है, उसे मैं उखाड़ फेंकता हूँ। शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त कृत्या को मैं निकाल फेंकता हूँ॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए चारों कोनों से और बीच से सारी मिट्टी निकाल कर बाहर फेंक दे॥२३॥

अस्थिकेशनखादिपदार्था वलगा उच्यन्ते । यथाह तित्तिरिः— 'असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान्न्यखनत' इति । 'वलगो वृणातेः' (निरु. ६.२) इति वचनाद् यस्य वधार्थं क्रियते, तं वृण्वन्नाच्छादयन् गच्छतीति वलगः । 'तान् बाहुमात्रे त्ववन्दिन् तस्माद्बाहुमात्राः खायन्त इति तान् वलगान् हन्तीति वलगहा वाक् । सा च यज्ञरक्षकस्य विष्णोः सम्बन्धिनी । तादृशीं वाचं ब्रूहि । हे उपरवरूपावट । 'इदमहमित्युत्किरति यथाखातं प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ८.५.९) । खननानन्तरं खननक्रमानुसारेण सर्वेभ्य उपरवेभ्य उत्खातान् पांसून् चतुर्भिर्मन्त्रैर्बहिः क्षिपेत् । तत्रायं प्रथमो मन्त्रः—'इदमहं तं वलगमुत्किरामि' इति । निष्ट्यो नितरां स्त्यायति संघातरूपेण सह वर्तत इति निष्ट्यः पुत्रः । 'ष्ट्यै स्त्यै शब्दसङ्घातयोः' । यद्वा निर्गत्य शरीरात् स्त्यायति विस्तीर्णो भवतीति पुत्रादिः शरीरान्निर्गत्य विस्तीर्णो भवति । अथवा निर्गतो वर्णाश्रमेभ्य इति निष्ट्यश्चाण्डालादिः । 'निसो गते' (पा. सू. ४.२.१०४) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन भावार्थे त्यप् । इदमहं यत्करोमि तद्वलगं कृत्याविशेषमुत्किरामि । अमात्यः, अमा सह गृहे भवोऽमात्यः, 'अव्ययात्त्यप्' (पा. सू. ४.२.१०४) इति त्यप् । धनिकस्य स्वामिधनगृहादिनिर्वाहकः । स च केनापि निमित्तेन कुपितः पुत्रोऽमात्यो वा नोऽस्मानुद्दिश्य वधार्थं यं वलगं निचखान नितरां खातवान्, तं वलगमुद्वपामीत्यर्थः । उद्धृत्यान्यत्र परित्यजामि । इदंशब्दः क्रियाविशेषणम् । इदं प्रत्यक्षं यथा स्यात्तथोद्वपामीत्यर्थः । द्वितीयमुत्किरति—समानः कुलादिभिः सदृशः, असमानो न्यूनोऽधिको वा यं निचखान तमहमुत्किरामि । समानासमानशब्दौ द्वावेव शत्रुवाचकावभिहितौ । एतदेवाभिप्रेत्य तित्तिरिराह—'द्वौ वाव पुरुषौ यश्चैष समानो यश्चासमानोऽयमेवास्मै तौ वलगं निखनतस्तमेवोद्वपति' इति । अथ तृतीयः—इदमहं तं वलगमुद्वपामि यं नः सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखान । कुलशीलादिभिः समानो मातुलपैतृष्वसेयादिः सबन्धुः, तद्विपरीतोऽसबन्धुः । यं वलगं निचखान तमहमिदं प्रत्यक्षं यथा स्यात्तथा तं वलगमुत्किरामि । चतुर्थमुत्किरति—सजातः समानजन्मा भ्राता तद्विपरीतोऽसजातः, यमेव वलगं निचखान इदमहं तमुत्किरामि । 'उत्कृत्यां किरामीति पश्चात् सर्वेभ्यः' (का. श्रौ. ८.५.१०) । आदौ पूर्वोक्तक्रमेणासाधारणैर्मन्त्रैरुद्वापं कृत्वा पश्चादुत्कृत्यां किरामीति साधारणेन मन्त्रेणावृत्तेन सर्वेभ्यो गर्तेभ्यः प्रादक्षिण्येनोत्तरस्यां पूर्वस्यां वा दिशि पांसूनुत्किरेत् । येयं कृत्या शत्रुभिरभिचरद्भिः सम्पादिता वलगरूपा, तामुत्किरामि उद्धृत्य दूरे क्षिपामीति सायणादिसम्मतमन्त्रव्याख्यानम् ।

उव्वटाचार्यरीत्या तु रक्षांसि या वागपहन्ति सा रक्षोहा ताम्, वलगान् कृत्याविशेषान् भूमौ खनितान् शत्रुभिर्विनाशार्थं हन्तीति वलगहा, तां वैष्णवीं विष्णुदेवत्यां वाचं॰वदेति पूर्वमन्त्रेण सम्बन्धः । शतपथे च तथैव व्याख्यातम्—'रक्षोहणं वलगहनमिति । रक्षसाँ ह्येते वलगानां वधाय खायन्ते वैष्णवीमिति वैष्णवी हि हविर्धाने वाक्' (श. ३.५.४.९) । रक्षोभिः कृतानां वलगानां वधाय खायन्ते उपरवाः खन्यते । वैष्णवं हविर्धानं तदन्तर्गतोपरवखननसम्बन्धिनी वाग् वैष्णवी वाग् भवति, हे उपरव, तां वद शब्दय । 'तान् यथाखातमेवोत्किरति । इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेति निष्ट्यो वा अमात्यो वा कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरति' (श. ३.५.४.१०) । खाताया मृद उद्वपनेऽपि खननक्रम एवेत्याह—तान् यथाखातमेवोत्किरतीति । तत्र चत्वारो मन्त्राः । यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेति मन्त्रेण प्रथमगर्तात् पांसूत्किरणम्, यं मे समानो यमसमान इति द्वितीयात्, यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुरिति तृतीयात्, यं मे सजातो यमसजात इति चतुर्थात् । इदमहं तं वलगमुत्किरामीति निचखानेति च सर्वशेषाः ।

भाष्यसार—'रक्षोहणं वलगहनम्' इत्यादि कण्डिकागत मन्त्रों से उपरव नामक गर्तों से मिट्टी निकाल कर उसे बाहर फेंका जाता है, यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (८.५.८) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुकूल अर्थ तैत्तिरीय श्रुति तथा शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

'इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेति समानो वा असमानो वा कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरति' (श. ३.५.४.११)। इदं मृदुत्किरणं प्रकारान्तरेणाह— 'इदमहं तं वलगमुत्किरामि। यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेति सबन्धुर्वा असबन्धुर्वा कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरति' (श. ३.५.४.१२), 'इदमहं तं वलगमुत्किरामि। यं मे सजातो यमसजातो निचखानेति सजातो वा असजातो वा वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरत्युत्कृत्यां किरामीत्यन्तत उद्वपति तत्कृत्यामुत्किरति' (श. ३.५.४.१३), निष्ट्येन वाऽमात्येन खातं वलगं कृत्याविशेषं मृद्व्याजेनोत्किरामि ऊर्ध्वं क्षिपामि। निष्ट्योऽस्मत्तो नीच इति सायणः। 'सनाभिर्यश्च निष्ट्यः' (ऋ सं. १०.१३३.५) इत्यादिमन्त्रवर्णान्नीचार्थता निष्ट्यशब्दस्य। अमात्यः सह वर्तमानः, अमाशब्दः सहवचनो गृहवचनो वा, तत्र भवोऽमात्य एकगृहवासी, तयोरेव कलहस्य सम्भावितत्वात्। सहोत्पन्नो वा निखातवान्। निष्ट्यामात्ययोर्वलगोत्किरणम्। समानः सदृशो बन्धुः समानबन्धनः, एकस्मिन्नेव विषये व्यापारवानित्यर्थः। सहोत्पन्नः सजात इति तत्र सायणः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे विष्णो, रक्षोहणं वलगहनं वलगानभिचारान् हन्तीति वलगहा, तां तादृशीं वैष्णवीं वाचं वद, त्वद्वचनेन रक्षसां कृत्यानां चोपरामेण भक्तानां कल्याणसम्भवात्। मे मम निष्ट्यः पुत्रादिरमात्यो गृहवासी सहवासी वा यं वलगमभिचारं निचखान केशादिनिखननेन कृतवान्, इदं प्रत्यक्षं यथा स्यात्तथाहं तं वलगमुत्किरामि, ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य नाशयामीत्यर्थः। यं मे मम निष्ट्यः पुत्रोऽमात्यो वा यं वलगं निचखान, तमुत्किरामि। यं समानोऽसमानो वा वलगं निचखान, सबन्धुरसबन्धुर्वा यं निचखान, तमुत्किरामि।

स्वामिदयानन्दस्तु—वाचकलुप्तोपमालङ्कारमङ्गीकृत्य मनुष्यैरस्यामीश्वरसृष्टौ धार्मिकविद्वदनुकरणं कार्यं नेतरेषामिति भावार्थमाह, तदतिमन्दम्, मन्त्रस्य तथार्थानवगमात्। यदपि च—'येन धार्मिकेण पुरुषेण रक्षांसि हन्यन्ते तथा' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रकर्मणोरपि रक्षोघ्नत्वाविशेषात्। यच्च—'वलानि गाहते यस्तम्' इति, तदपि न, कर्मणो यज्ञस्य वाऽचेतनत्वेन वलगाहकत्वायोगात्। अत एव 'हे विद्वन्मनुष्य, यथाहं वलगहनं रक्षोहणं वाचमनुष्ठाय यं वलगमुत्किरामि, तथा त्वमपि तमेतमुत्किर' इति, तदप्यसङ्गतम्, वाचोऽनुष्ठानायोगात्। यच्च हिन्द्याम्—'हे विद्वन्, यथाहं वलगहनं वलविलोडकं रक्षोहणं (रक्षोघ्नं) कर्म वैष्णवीं वाचं व्यापकपरमेश्वरस्य वाचं वेदवाणीमनुष्ठाय यं वलगं बलप्रापकं यज्ञमुत्किराम्युत्कृष्टतया प्रेरयामि संसारे प्रकाशयामि, तथैव तं यज्ञं त्वमपि प्रकाशय' इति, तदप्यसङ्गतम्, उपमानस्य परमेश्वरत्वे तस्य नित्यसिद्धत्वेन वाचोऽनुष्ठातृत्वायोगात्, वेदवाण्या अपि नित्यसिद्धत्वेनानुष्ठेयत्वासम्भवाच्च। उत्पूर्वस्य किरतेः प्रकाशार्थकत्वमप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्। वलगपदं बलप्रापकपरमित्यपि चिन्त्यम्, णिजर्थकत्वे बीजाभावात्। यदपि च—'यथा मे मम निष्ट्यो यज्ञकुशलोऽमात्यो मेधावी यं यज्ञं (इदं) भूगर्भविद्यापरीक्षार्थं स्थानं

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे विष्णुदेव, आप राक्षसों की नाशयित्री तथा अभिचारों को विनष्ट करनेवाली वैष्णवी वाणी का उच्चारण करें, क्योंकि आपकी वाणी से राक्षसों एवं कृत्याओं की शान्ति के द्वारा ही भक्तों का कल्याण हो सकता है। मेरे पारिवारिक जन, गृहवासी अथवा सहवासी ने जो अभिचार स्थापित किया है, उसे मैं उखाड़ कर विनष्ट करता हूँ। इसी प्रकार मेरे समान, असमान, सबन्धु, असबन्धु, सजातीय, असजातीय आदि के द्वारा स्थापित अभिचार को विनष्ट करता हूँ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ असंगत है, क्योंकि वाणी का अनुष्ठान संगत नहीं होता। वेदवाणी भी नित्यसिद्ध है, अतः उसकी अनुष्ठेयता सम्भव नहीं है। 'उत्' उपसर्गपूर्वक 'किर' धातु का प्रकाश अर्थ करना भी प्रमाण के अभाव के कारण असंगत है। 'वलग' पद बलप्रापक का बोधक है, यह भी चिन्तनीय है। इसी प्रकार 'वलग' पद का कृषिरूपी यज्ञ अर्थ है, यह भी निर्मूल है। परमेश्वर के सबन्धु, सजात आदि के सम्भव न होने के कारण भी व्याख्या अशुद्ध है ॥२३॥

निखनति, तथैव तं भृत्यः खनेत्। यथाह भूगर्भविद्यावान् यं वलगं बलप्रापकं कृषिरूपं यज्ञमिदं खननरूपं कर्म उत्किरामि सम्यक् सम्पादयामि, तथैव तं त्वमपि कुरु' इति, तदपि न सङ्गतम्, निष्ट्यो यज्ञकुशलः, अमात्यो मेधावीति व्याख्यानयोर्निर्मूलत्वात्। तथैव वलगपदस्य कृषिरूपो यज्ञोऽर्थ इत्यपि निर्मूलम्, तथा भोजनस्यापि बलप्रापकत्वेन तस्यैव वलगत्वापातात्। स्थानं निचखानेत्यत्र स्थानमिति कुत आनीतम्? मूलमन्त्रे तदभावात्। तथैव 'भृत्यः खनेत्' इति कथम्, यतो भृत्यपदमपि मूले नास्ति। मे मम समानोऽसमानः, मे मम सबन्धुरसबन्धुः, मे मम सजातोऽसजातः' इत्याद्यप्यशुद्धं व्याख्यानम्, परमेश्वरस्य सबन्धुसजाताद्यभावात्। यदपि—'अहमध्ययनाध्यापनादि यं वलगं भक्ति-बलप्रापकं यज्ञं पठनपाठनरूपं कर्म करोमि, तथा त्वमपि कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथार्थकल्पनाया निर्मूलत्वाद-तिप्रसङ्गाच्च। 'सबन्धुर्बन्धुर्मित्रं वा, असबन्धुस्तुल्यबन्धुरहितोऽमित्रो यं पालनरूपं यज्ञं कर्म निचखान निश्चितं करोमि, तथा त्वमपि कुरु। यथाहं सर्वस्य मित्रं यं राज्यबलप्रापकं यज्ञं कर्म वा सम्पादयामि, तथा त्वमपि कुरु, यथा मे सजातः सहोत्पन्नस्तद्विपरीतो यमुत्कृत्यामुत्तमक्रियां करोति, तथैव यज्ञक्रियां वा कुरु' इत्यादिकमपि न सङ्गतम्, पठन-पाठनपालनादीनां गौणवृत्त्यैव यज्ञत्वं न मुख्यवृत्त्या, मुख्यवृत्त्यार्थसम्भवे भाक्तस्य पक्षस्याग्राह्यत्वात्। वलगपदेन यज्ञ-स्यापि बोधनं व्यभिचरितमेव, यौगिकवृत्त्याऽपरिगणितवस्तूनां वलगत्वसम्भवात्। किञ्च, यं वलगं निचखानेत्यस्यानेकधावृत्तेः किं फलम्? एकेन वाक्येनैव तदर्थस्य ग्रहीतुं शक्यत्वात्। सिद्धान्ते तूपरवाणां चतुष्ट्वेन चतुर्धावृत्तिर्युक्तैव ॥२३॥

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा ॥२४॥

'स्वराडसीत्यवमर्शयति यथाखातं प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ८.५.१३)। स्वराडिति मन्त्रैः खननक्रमेण उपरवा-नवमृशस्वेत्यध्येषणया यजमानमवमर्शयत्यध्वर्युः। तत्रायं प्रथमः स्वराडसि सपत्नहेति। हे प्रथमगर्त! त्वं स्वराडसि स्वयमेव राजसे स्वकीयमेव राज्यमस्येति वा स्वयं राजमानोऽसीति स्वराड् भवसि, अतः सपत्नहा शत्रुघाती, भवेति शेषः। अथ द्वितीयः—सत्रराडसि। सत्रेषु बहुयजमानकर्तृकेषु द्वादशाहादिषु राजत इति वा सत्रराडसि। अभिमातिहा, अभिमातिरननुकूलः शत्रुस्तं हन्तीति तथोक्तः, अभितो हिंसकोऽभिमातिस्तस्य हन्ता शत्रुघाती भव। अथ तृतीयः—जनराडसि जनेषु यजमानेषु राजत इति जनराडसि, रक्षांसि हन्तीति रक्षोहा भव। सोऽस्मानपि तथाभूतान् कुरु। सर्वत्र राजत इति सर्वराडसि, अमित्रान् हन्तीत्यमित्रहा, मितः सकाशात् त्राता मित्रमतथाभूतोऽमित्रस्तं हन्तीति तथोक्तः।

शतपथे तु—'तान् बाहुमात्रान् खनेत्। अन्तो वा एषोऽन्तेनैवैतत्कृत्यां मोहयति तानक्षणया सन्तृन्दन्ति यद्यक्षणया न शक्नुयादपि समीचस्तस्मादिमे प्राणाः परः सन्तृण्णाः' (श. ३.५.४.१४)। खननस्य प्रमाणमाह—बाहुमात्रान् खनेदिति।

मन्त्रार्थ—हे प्रथम गर्त! तुम स्वयं दीप्तिमान् हो, अतः शत्रुघाती हो। तुम्हारे अनुग्रह से हमारे शत्रु नष्ट हों। हे द्वितीय अवट! तुम द्वादशाह आदि सत्रों में दीप्तिमान् हो, हमसे घमण्ड करने वालों का नाश करो। हे तीसरे गर्त! तुम सबके सामने दीप्तिमान् हो, तुम राक्षसों का नाश करो। हे चतुर्थ गर्त! तुम सबके अधिपति और शत्रुघाती हो, तुम्हारे अनुग्रह से हमारे शत्रु नष्ट हों॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु क्रम से आग्नेय आदि कोणों में जलयुक्त हाथ से उपरवों (गर्तों) को चिकना करे॥२४॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.५.१२) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'स्वराडसि' इस कण्डिका के चार मन्त्रों द्वारा 'उपरव' नामक खोदे गये चार गर्तों का स्पर्श अध्वर्यु के निर्देशानुसार यजमान करता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

दीर्घदण्डाकारो भुजपर्यन्तो बाहुः। अङ्गुलिप्रादेशाद्यपेक्षया बाहुप्रमाणस्यान्तत्वात् ततोऽधिकात् प्रदेशाद् मृदुद्धरणस्याशक्यत्वाद् बाहुमात्रस्यान्तत्वम्। छिद्राणामन्तरप्रदेशसन्तर्दनं तत्प्रकारं च विधत्ते—तानक्षणयेति। तिरश्चीनपूर्वयोर्दक्षिणस्यापरयोरुत्तरस्यान्तरालदेशं सतृन्दन्ति परस्याछेदनेन संयोजयन्ति। तेनावशिष्टयोरप्युक्तं भवति। तिरश्चीनवक्रस्याशक्यत्वे समीचेव ऋजुमार्गेण प्रादक्षिण्येनैव सन्तृद्यात् सम्भेदयेत्। तस्मादित्युभयसाधारणोऽर्थवादः। इमे प्राणा मुखच्छिद्राण्यन्तः सन्तृण्णानि। 'अक्षणया सम्भिन्द्यादशक्तौ सम्यक्' (का. श्रौ. ८.५.१२)। उपरवान् तिर्यग्रूपेणाधस्तात् परस्परच्छिद्रेण संयोजयेन्नोपरिष्टात्। 'सन्तृण्णा अधस्ताद्विधृता उपरिष्टात्' इत्यापस्तम्बः (७.६), सत्याषाढश्च (११.११.५)। आग्नेयं वायव्यं नैर्ऋत्यमैशानं च परस्परं सम्भेदयेत्। यद्यक्षणया तिरश्चीनं सम्भेत्तुं-न शक्नुयात्तदा ऋजुभावेनैव सम्भिन्द्यात्। आग्नेयनैर्ऋत्यौ, नैर्ऋत्यवायव्यौ, वायव्यैशान्यौ, ऐशानाग्नेयावित्येवं परस्परम्। अत्र पक्षे पूर्वयोः परस्परमसम्भेदनमिति कर्काचार्यः।

'तान् यथाखातमेवावमर्शयति। स्वराडसि सपत्नहा - - - सर्वराडस्यमित्रहेत्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते' (श. ३.५.४.१५)। अवमर्शयत्यन्तःप्रदेशस्य निम्नोन्नतत्वपरिहाराय सम्मृशेत्। 'पूर्वयोर्दक्षिणेऽध्वर्युर्भवत्यपरयोरुत्तरे यजमानः सोऽध्वर्युः पृच्छति यजमान किमत्रेति भद्रमित्याह तन्नौ सहेत्युपाꣳशुरध्वर्युः' (श. ३.५.४.१६)। अध्वर्युश्च यजमानश्च परस्परं हस्तस्पर्शं कुर्यातामित्यर्थः। तयोर्दिशं व्यवस्थापयति— 'पूर्वयोरुत्तरे यजमानः स यजमानः पृच्छत्यध्वर्यो किमत्रेति भद्रमित्याह तन्म इति यजमानस्तद्यदेवꣳ सम्मृशेते प्राणानेवैतत् सयुजः कुरुतस्तस्मादिमे प्राणाः परः संविद्रेऽथ यत्पृष्टो भद्रमिति प्रत्याह कल्याणमेवैतन्मानुष्यै वाचो वदति तस्मात् पृष्टो भद्रमिति प्रत्याहाथ प्रोक्षत्येको प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यानेवैतत्करोति' (श. ३.५.४.१७)। पूर्वस्मिन् संमर्शनवाक्येऽध्वर्युः पृच्छेत्, अत्र तु यजमान इति विशेषः। यजमानस्य स्वामित्वेन स्वातन्त्र्यादध्वर्युदृष्टस्यापि भद्रस्य स्वद्रव्यत्वात् 'तन्मे' इति ब्रूयात्। सम्मर्शनं प्राणसंयोगहेतुत्वेन प्रशंसति—तद्यदेवमिति। सह युञ्जत इति सयुजः, अन्तरेकीभूतान् कृतवन्तौ भवतः। अत इदानीन्तना मनुष्यशिरःस्थाः प्राणाः संविद्रे संविद्रते सङ्गता भवन्ति। 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा. सू. ७.१.४१) इति तलोपः। 'वेत्तेर्विभाषा' (पा. सू. ७.१.७) इति रुट्। भद्रमिति यत्प्रतिवदनं तत्। एतन्मनुष्यैर्वाचः कल्याणं वदति, हस्तसंस्पर्शनकालकृतभद्रवचनप्रतिवदनमित्यर्थः। तस्माल्लौकिकवचनेषु भद्रत्वायावश्यं भद्रवचनं कर्तव्यम्। अथ प्रोक्षतीति प्रतिगर्तं प्रोक्षणस्य मेध्यत्वलक्षणोऽर्थवादः सर्वत्रैकविध एवेत्याह—एको प्रोक्षणस्य बन्धुरिति।

अध्यात्मपक्षे तु परमेश्वर एव सम्बोध्य स्तूयते—हे परमेश्वर, त्वं स्वेनैव राजसे दीप्यस इति स्वराडसि। सूर्यादीनामपि सापेक्षमेव स्वराट्त्वादिकम्। तस्य स्वसजातीयप्रकाशान्तरानपेक्षत्वेऽपि चक्षुर्मनोबुद्ध्यात्मप्रकाशसापेक्षत्वात्। परमेश्वरस्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नतयाऽवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वेन निरपेक्षमेव स्वप्रकाशत्वादिकम्। अतः सपत्नान् हंसीति सपत्नहाऽसि परमैश्वर्यवत्त्वेन कामितार्थदातृत्वात्। हे प्रभो, त्वं सत्रराडसि सत्रेषु राजमानत्वात् सत्रराडसि, सर्वयज्ञैरिज्यत्वात् सर्वयज्ञभोक्तृत्वाच्च। अत एव अभिमातिहाऽसि प्रतिकूलशत्रुविघातको भवेति शेषः। हे शिव, त्वं

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—परमेश्वर को सम्बोधित करते हुए स्तुति की गई है कि हे परमेश्वर, आप स्वयंप्रकाश हैं, अतः स्वराट् हैं। सूर्यादि का भी स्वराट् होना सापेक्ष है, क्योंकि उनको स्वसजातीय दूसरे प्रकाश की अपेक्षा न होते हुए भी चक्षु, मन, बुद्धि तथा आत्मप्रकाश की अपेक्षा है। परमेश्वर का तो निरपेक्ष स्वप्रकाशत्व है। परमैश्वर्ययुक्त होने के कारण वे अभिलषित पदार्थों के प्रदाता होकर शत्रुओं को विनष्ट करते हैं। हे प्रभो, आप समस्त यज्ञों के द्वारा यजनीय तथा सभी यज्ञों के भोक्ता होने के कारण यज्ञों में प्रकाशित होते हैं, हमारे प्रतिकूल शत्रुओं को विनष्ट करते हैं। हे शिवस्वरूप, आप समस्त प्राणियों में साक्षी के

जनराडसि जनेष्वपि सर्वसाक्षित्वेन त्वमेव राजसे तेन जनराडसि, तस्माद् रक्षोहा भव। सर्वराडसि सर्वेषु तेन तेन रूपेण त्वमेव राजसे, तस्मात् सर्वराडसि, तस्मादमित्रहासि, परमेश्वरस्य सर्ववाञ्छाकल्पतरुत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् मनुष्य, यतस्त्वं स्वराडसि तस्मात् सपत्नहा भवसि। यतस्त्वं सत्रराडसि तस्मादभिमातिहाऽसि। योजनेषु धार्मिकेषु विद्वत्सु राजते स असि अस्ति वा। रक्षोहो रक्षांसि दुष्टान् हन्ति सः। यः सर्वस्मिन् राजते स अस्त्यमित्रहा यो येन वा शत्रून् हन्ति सः'। द्वितीयान्वये—'यतोऽयं सूर्यलोकः स्वराडस्ति, तस्मात् सपत्नहा भवति। यतोऽयं सत्रराडस्ति तस्मादभिमातिहा वर्तते' इत्यादिकम्, तत्सर्वमसङ्गतम्, मनुष्यमात्रस्य स्वराट्त्वसत्रराट्त्व-जनराट्त्वाद्ययोगात्। सूर्यलोकोऽपि त्वद्रीत्याऽचेतन एवास्ते, तस्मात्तत्रापि स्वराट्त्वसपत्नहन्तृत्वादिकं नोपपद्यते। सिद्धान्ते तूपरवाधिष्ठातारो देवाश्चेतना ऐश्वर्यवन्तश्चेति तत्र स्वराट्त्व-सपत्नहन्तृत्वादिकमुपपद्यत एव ॥२४॥

रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान् रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान् रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान् रक्षोहणौ वां वलगहना उपदधामि वैष्णवी रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी वैष्णवमसि वैष्णवाः स्थ ॥२५॥

'प्रोक्षत्येनान् रक्षोहण इति भेदे मन्त्रावृत्तिः सान्निपातित्वात्' (का. श्रौ. ८.५.१९-२०)। लौकिकोदकेन आग्नेयकोणोपरवानारभ्य प्रदक्षिणं हस्तेनाध्वर्युरुपरवान् प्रोक्षेत्। भिन्नदेशानामुपरवाणामेकेन पाणिना युगपत्प्रोक्षणा-सम्भवेन भेदेन प्रोक्षणम्। भेदे च मन्त्रस्यावृत्तिः, सन्निपत्य हि करणमन्त्र उपकरोति। एवं च प्रथम उपरवे प्रयुक्तो मन्त्रो नेतरानभिदध्यात्। वैष्णवान् विष्णुदेवताकानुपरवान् प्रोक्षामि। कीदृशान्? रक्षोहणः राक्षसादिहन्तॄन्। वलगहनोऽभिचारहर्तॄन्। 'अवनयनावस्तरणे चावटवद्रक्षोहणो रक्षोहण इति' (का. श्रौ. ८.५.२१)। प्रोक्षणशेषोदकस्य खातगर्त आसेचनमवनयनम्। गर्तानामुपरि लौकिकानां कुशानां खातक्रमेणावास्तरणमास्तरणम्। ते च यूपावटवत् कुर्यात्। मन्त्राभ्यां क्रमेण रक्षोहणो वलगहनोऽवनयामि, वैष्णवानवनयामि, अवाचीनमपः प्रापयामि,

---

रूप से विद्यमान होने के कारण 'जनराट्' हैं, अतः राक्षसों के विनाशक हैं। समस्त पदार्थों में उस उस रूप से प्रतिष्ठित होने के कारण आप 'सर्वराट्' हैं। अतः हे परमेश्वर, सम्पूर्ण कामनाओं के पूरक होने के कारण आप अमित्रों के विनाशक हैं।

स्वामी दयानन्द के अर्थ में मनुष्यमात्र के स्वराट्, सत्रराट्, जनराट् आदि न हो सकने के कारण असंगति है। उनके मत में सूर्यलोक भी अचेतन है, अतः उसमें भी स्वराट्त्व, शत्रुनाशकत्व आदि की संगति नहीं हो सकती ॥२४॥

मन्त्रार्थ—राक्षसों के नाशक, मारण-प्रयोग के नाशक, विष्णु सम्बन्धी उपरवों (गर्तों) का मैं प्रोक्षण करता हूँ। राक्षस-घाती अभिचारनाशक विष्णुसम्बन्धी तुमको सींच कर शेष जल अलग करता हूँ। तुमको मैं कुशाओं से ढकता हूँ। तुमको दो गर्तों पर रखता हूँ, तुम दोनों का पर्यूहण करता हूँ, फलक के मुख पर मिट्टी लगाकर दोनों फलकों को दृढ़ करता हूँ। हे अधिषवण! तुम विष्णुसम्बन्धी यज्ञ के रक्षक हो। हे पाषाणों! तुम यज्ञरक्षक विष्णु से सम्बद्ध हो॥ इस मन्त्र को पढ़ कर जल द्वारा उपरवों का प्रोक्षण कर गर्तों पर कुश बिछाकर अधिषवण चर्म को और सोमशिला को रखा जाता है॥२५॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.५.१९-२४) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'रक्षोहणो वः' इस कण्डिका के मन्त्रों से खोदे गये 'उपरव' नामक गर्तों का प्रोक्षण, शेष जल का प्रक्षेप, कुशाओं का आस्तरण (बिछाना), गर्तों के ऊपर सोम कूटने के साधन 'अधिषवण फलक' नामक पात्रों का स्थापन, मृत्तिका से अधिषवण फलक का दृढीकरण, चर्मास्तरण तथा उस पर पाँच पाषाणों का सोम कूटने के लिये स्थापन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

सिञ्चामीत्यर्थः। तथैव रक्षोहणो वलगहनो वैष्णवानुपरवानवस्तृणामि, अवाचीनान् दर्भांस्तृणामि, दर्भैराच्छादयामि। अन्यत् पूर्ववत्। 'तनूनुपरि कुशान् कृत्वाऽधिषवणे फलके द्व्यङ्गुलान्तरे प्रक्षालिते प्राची अरत्निमात्रे सन्तृण्णे वोपदधाति पर्यूहति च रक्षोहणौ रक्षोहणाविति' (का. श्रौ. ८.५.२२)। उपरवाणामुपरि सूक्ष्मान् कुशान् प्रागग्रानुदगग्रान् वाऽन्वास्तीर्य रक्षोहणौ वां वलगहना उपदधामि वैष्णवान् इति मन्त्रेण वैकङ्कतेऽधिषवणफलके द्वे स्थापयेत। भेदे मन्त्रावृत्तिः। अधि उपरि षूयते कुट्यते सोमो ययोस्ते अधिषवणे, अधिषवणे च ते फलके (प्रस्तरे) चेत्यधिषवणफलके वारणे प्रादेशमात्रस्थूले। कीदृशे? परस्परं द्व्यङ्गुलान्तराले अद्भिः शोधिते प्रागग्रेऽरत्निमात्रदीर्घे सन्तृण्णे कीलकैः संयोजिते वा। द्व्यङ्गुलान्तराल इत्यनेनायं इत्यनेनायं विकल्पः। स च व्यवस्थितो विकल्पः। तत्राग्निष्टोमेऽसन्तृण्णे एव उक्थादावनेकसुत्ये च सन्तृण्णे एव। ततस्ते अधिषवणफलके पांसुभिस्तदन्तरालं द्व्यङ्गुलं परितश्च दाढर्याय चात्वालं मृदा पूरयति रक्षोहणाविति मन्त्रेण पर्यूहति च। सन्तर्दनं कपालवत् कीलेनोपश्लेषणमिति हरदत्तः।

मन्त्रार्थस्तु — यावधिषवणफलकविशेषौ, तौ रक्षसां वलगहनौ रक्षसां वलगापरपर्यायस्याभिचारस्य विनाशकौ वैष्णवी वैष्णवौ, लिङ्गव्यत्ययः, विष्णुदेवताकौ वां युवामुपदधामि, द्वयोर्गर्तयोरुपर्येकैकं फलकं स्थापयामि। अथ पर्यूहणमन्त्रः—रक्षोहणौ वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी पर्यूहामि मृदा परितश्छादयामि। 'तयोश्चर्माधिषवणं परिकृत्तꣳ सर्वरोहितं निदधाति वैष्णवमसीति' (का. श्रौ. ८.५.२३)। अधिषवणफलकयोरुपरि सर्वतो रक्तं कर्तनेन समीकृतं प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम आनडुहमधिषवणं चर्म निदध्यात्। अधि उपरि सोमः सूयते यत्र चर्मणि तच्चर्माधिषवणम्। हे चर्म, त्वं वैष्णवमसि यज्ञरक्षकविष्णुसम्बन्धि भवसि। 'तस्मिन् ग्राव्णः पञ्च वैष्णवाः स्थेति' (का. श्रौ. ८.५.२४)। तस्मिन्नधिषवणफलकेऽभिषवार्थान् पञ्च पाषाणान् निदध्याद् वैष्णवाः स्थेति मन्त्रेण। भेदे मन्त्रावृत्तिः। हे ग्रावाणः, यूयं वैष्णवाः स्थ यज्ञरक्षकविष्णुसम्बन्धिनो भवथ।

शतपथे—'स प्रोक्षति। रक्षोहणो वो वलगहन इति रक्षोहणो ह्येते वलगहनो ह्येते प्रोक्षामि वैष्णवानिति वैष्णवा ह्येते' (श. ३.५.४.१८)। समन्त्रकं प्रोक्षणं विधत्ते—'अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते। ता अवटेष्ववनयति तद्या इमाः प्राणेष्वापस्ता एवैतद्दधाति तस्मादेषु प्राणेष्विमा आपः' (श. ३.५.४.१९)। अवटेषु प्रोक्षणीशेषावनयनं प्रशंसति—तद्या इति। प्राणेषु कर्णनासादिविवरेषु या आपः सन्ति, ता एवैतदेतेनावनयनेन यज्ञशिरःस्थोपरवाख्यप्राणेषु स्थापितवान् भवति। तस्मादेषु मनुष्यप्राणेष्विमा आपः सन्ति। 'सोऽवनयति। रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवानित्यथ बर्हीꣳषि प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि चावस्तृणाति तद्यानीमानि प्राणे लोमानि तान्येवैतद्दधाति तस्मादेषु प्राणेष्विमानि लोमानि' (श. ३.४.५.२०)। उपरवेषु प्रागग्राण्युदगग्राणि च बर्हींष्यवस्तृणाति। मनुष्यप्राणेषु मुखादिलोमान्येवैतद्दधाति। तस्मादेषु प्राणेष्विमानि लोमानि भवन्ति। 'सोऽवस्तृणाति। रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवानित्यथ बर्हींषि तनूनीवोपरिष्टात् प्रच्छादयति केशा हैवास्यैते' (श. ३.४.५.२१)। अवटानामुपर्यपि सूक्ष्माणां बर्हिषामाच्छादनं विधत्ते—अथ बर्हींषीति। केशा हैवास्यैत इति निर्दिश्यमानानि यद्यपि बर्हींषि, तथापि प्रतिनिर्दिश्यमानकेशापेक्षया 'एते' इति पुल्लिङ्गता। 'अथाधिषवणे फलके उपादधाति। रक्षोहणौ वां वलगहना उपदधामि वैष्णवी इति हनू हैवास्यैते अथ पर्यूहति रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी इति दृꣳहत्येवैते एतदशिथिले करोति' (श. ३.४.५.२२)। ते चाधिषवणफलके अस्य हविर्धानस्य शिरसो हनुस्थानीये। फलके परिदृंइति परितो मृदा दृढीकुर्यात्। 'अथाधिषवणं परिकृत्तं भवति। सर्वरोहितं जिह्वा हैवास्यैषा तद्यत्सर्वं रोहितं भवति लोहिनीव हीयं जिह्वा तन्निदधाति वैष्णवमसीति

वैष्णवꣳ ह्येतत्' (श.३.४.५.२३)। रक्तवर्णं परिकृत्तमेतद् रक्तवर्णाया जिह्वायाः स्थाने भवति। तच्च वैष्णवमसीति मन्त्रेण निदध्यात्। 'अथ ग्राव्ण उपावरति। दन्ता हैवास्य ग्रावाणस्तद्यद् ग्रावभिरभिषुण्वन्ति यथा दद्भिः प्सायादेवं तत्तान्निदधाति वैष्णवाः स्थेति वैष्णवा ह्येत एतदु यज्ञस्य शिरः सꣳस्कृतम्' (श. ३.४.५.२४)। अधिषवणचर्मण्यभिषवसाधनान् पाषाणान् पञ्च आहरन्ति। ते चास्य हविर्धानस्य दन्तस्थानीयाः। तदेवोपपादयति—तद् यद् ग्रावभिरिति। यथा दन्तैर्भक्षयति, एवं तत्, 'प्सा भक्षणे'। पुरुषो वै यज्ञ इति प्रतिज्ञाय शिर एवास्य हविर्धानमिति यद्धविर्धानस्य शिरस्त्वं निर्दिष्टम् (श. ३.५.३.१-२), तदिदं यज्ञस्य शिरः संस्कृतम्। मध्यमच्छदिरादिसोमाभिषवप्रयोगजातमानुपूर्व्येणाभिधाय तत्तदवयवकल्पनयाऽभिहितम्। तेन तत्तदङ्गजातं तत्तदवयवध्यानेनानुष्ठीयमानं सन्महते फलाय भवतीति (तै. सं. ६.२.११) तैत्तिरीयश्रुतौ स्पष्टम्। ब्राह्मणानुसारेणैव कात्यायनादिभिः प्रयोगजातं सूत्रितम्, सायणोव्वटमहीधरादिभिश्च तथैव व्याख्याता मन्त्राः।

अध्यात्मपक्षे तु—रक्षोहणो राक्षसादिहन्तॄन् तथा वलगहनो भगवदंशभूतानुपासकान् प्रोक्षामि प्रोक्षणेन शोधयामि। कीदृशान्? वैष्णवान् विष्णुसम्बन्धिनः। तादृशानेव वो युष्मानहमवनयामि प्रापयामि, शक्तिमिति शेषः। तादृशानेव वैष्णवानवस्तृणामि बलवीर्यादिभिश्च छादयामि। किञ्च, युवामृत्विग्यजमानौ शिष्याचार्यौ वां युवां रक्षोहणौ वलगहनौ वैष्णवौ युवामुपदधामि स्थापयामि तन्निष्ठतोत्पादनेन। तथाविधौ तौ युवां पर्यूहामि दृढीकरोमि। हे साधकाः, यूयं वैष्णवा विष्णोः परमेश्वरस्य पुत्रा वा स्थ। हे समर्चासाधनजात, त्वं वैष्णवमसि विष्णुसम्बन्धित्वाद् वैष्णवमसीति परमेश्वरो जनान् सत्कर्मण्युपासने साधकान् प्रोत्साहयति।

दयानन्दस्तु—'हे सभाध्यक्षादयो मनुष्याः, यूयं यथा रक्षोहणः स्थ, तथा वलगहनोऽहं वैष्णवान् वो युष्मान् सत्कृत्यैतान् दुष्टान् युद्धे शस्त्रैः प्रोक्षामि। यथा रक्षोहणो यूयं नो दुःखानि हथ, तथा वलगहनोऽहं वो युष्मान् सुखैः सम्मान्यैतानवनयामि। यथा रक्षोहणो वो युष्मानेतांश्चावस्तृणीथ, तथा वलगहनोऽहमेवैतानवस्तृणामि। यथा रक्षोहणौ वलगहनौ यज्ञस्वामिसम्पादकौ वामुपधत्तस्तथैवाहमेतानुपदधामि। यथा रक्षोहणौ वलगहनौ वां या वैष्णवी क्रियास्ति, तथा पर्यूहतस्तथैवाहमपि तां पर्यूहामि। यद्वैष्णवं ज्ञानं वैष्णवी अस्यस्ति यूयं सर्वत ऊहथ, तथाहमपि पर्यूहामि। यथा यूयं वैष्णवाः स्थ, तथा वयमपि भवेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तशतपथादिव्याख्यानविरोधात्, अध्याहारबाहुल्याच्च। समाध्यक्षादयः सम्बोध्या इत्यत्र प्रमाणाभावोऽपि। सम्बोधकः परमेश्वरश्चेत्, तदा तस्य यथा यूयं वैष्णवाः स्थ, तथा वयमपि भवेम इत्याशास्त्यसम्भवात्। यथा यूयं रक्षोहणो दुःखानि हथेत्यादि तु निर्मूलमेव, मूले तथाविधपदाभावात् ॥२५ ॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—राक्षस आदि के नाशक तथा भगवान् के अंशभूत वैष्णव उपासकों को मैं शुद्ध करता हूँ। इसी प्रकार आपको मैं शक्ति प्राप्त कराता हूँ। उन वैष्णवों का मैं बल-वीर्य आदि से आच्छादन करता हूँ और ऋत्विक् तथा यजमान अथवा शिष्य एवं गुरु दोनों में मैं भगवन्निष्ठता उत्पन्न करता हुआ प्रतिष्ठित होता हूँ, दोनों को मैं सुदृढ़ करता हूँ। हे साधकगण, आप लोग परमेश्वर विष्णु के पुत्र हैं। हे भगवदुपासना के साधन, तुम विष्णु से ही सम्बद्ध, अर्थात् वैष्णव हो। इस प्रकार परमेश्वर भगवान् प्राणियों को, साधकों को सत्कर्म एवं उपासना के लिये प्रोत्साहित करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ शतपथ ब्राह्मण आदि से विरुद्ध होने के कारण तथा अध्याहार की अधिकता के कारण उचित नहीं है। इन मन्त्रों से सभाध्यक्ष आदि सम्बोधित किये जाते हैं, इस कथन में भी कोई प्रमाण नहीं है। सम्बोधनकर्ता यदि परमेश्वर है, तो 'हम भी वैष्णव हों' इस प्रकार की कामना असम्भव है ॥२५ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि। यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥२६ ॥

अथौदुम्बरीमन्त्राः— 'औदुम्बरीं मिनोति यजमानमात्रीं यूपवच्छेतेऽभ्र्यादि करोत्यावस्तरणादिति' (का. श्रौ. ८.६.२६-२७)। उदुम्बरवृक्षसम्बन्धिनीं काञ्चिच्छाखां सदोमण्डपमध्ये निखनेत्। सा च यजमानदेहपरिमिता पूर्वभूमौ शयित्वा वर्तते। अन्ये तु—'अन्तःपात्यात् षट् प्रक्रमान् यात्वा दक्षिणा सप्तमं महान्तं तत्रौदुम्बरीं मिनोति' इत्याहुः। अन्तःपात्यात् शङ्कोः षट् प्रक्रमान् प्राच्यां दिशि यात्वा शङ्कुं निखन्य तस्मात् सप्तमं महान्तं प्रक्रमं दक्षिणस्यां दिशि गच्छेत्। स च महान् प्रक्रमः पञ्चारत्न्यात्मकस्त्रिपदप्रक्रमात्मको वा सार्धचतुष्टयारत्न्यात्मको वाऽष्टोत्तरशताङ्गुलात्मको वा। तत्र सप्तमप्रपदान्ते यजमानप्रमाणामौदुम्बरीं शाखां गर्तं कृत्वा निखन्यात्। यजमानप्रमाणा च गर्तादुपरि कार्या। निखननार्हप्रदेशस्तु पञ्चमांशरूपस्ततोऽधिकः। यथा यूपस्यावटं खनितुमभ्रिस्वीकारमारभ्य दर्व्योपस्तरणपर्यन्तास्तत्तन्मन्त्रैरनुष्ठितास्तथैवात्राप्यनुतिष्ठेद् अभ्रिमादत्त इत्यादिरीत्या। हे अभ्रे, सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा त्वामाददे। त्वं तु नार्यसि। खननसाधनत्वेन कर्मोपयोगित्वान्नराणां सम्बन्धिन्यसि। अनेन परिलेखनेन रक्षसां यज्ञघ्नानां ग्रीवाः कण्ठप्रदेशान् छिनद्मि। 'यवोऽसीत्यप्सु यवानोप्य' (का. श्रौ. ६.२.१५)। क्वचित् पात्रस्थास्वप्सु यवान् प्रक्षिप्य प्रोक्षति — हे यव, धान्यविशेष! त्वं यवोऽसि, यौति पृथक्करोतीति यवः, मिश्रणभूतस्य यवनस्य कर्तासि। अस्मद् द्वेषो द्वेष्टॄन् शत्रून् दौर्भाग्यं वा अस्मद् अस्मत्तो यवय पृथक्कुरु। तथा रातीरस्मद् धनमपहृत्य पुनरस्मभ्यमदातॄनपि यवय पृथक्कुरु। अनेन सौभाग्यं प्रार्थ्यते। 'प्रोक्षत्यग्रमध्यमूलानि दिवे त्वेति प्रतिमन्त्रम्, प्रोक्षामीति सर्वत्र साकाङ्क्षत्वादिति, अवटे शेषमासिञ्चतीति' (का. श्रौ. ६.२.१५-१७)। क्वचित् पात्रस्थास्वप्सु यवान् प्रक्षिप्य ताभिरौदुम्बरीशाखाया अग्रं मध्यं मूलं च प्रोक्षेत। दिवे त्वेत्यादिषु त्रिषु मन्त्रेषु निराकाङ्क्षीकरणाय प्रोक्षामीति क्रियापदं प्रयोज्यम्, यतः साकाङ्क्षा ह्येते मन्त्राः, क्रियापदाभावात्। प्रोक्षणशेषं जलं गर्ते शुन्धन्तामिति मन्त्रेण क्षिपेत्। हे औदुम्बर्यग्रभाग, त्वां दिवे द्युलोकप्रीत्यर्थं प्रोक्षामीति शेषः। हे औदुम्बरीमध्यभाग, त्वामन्तरिक्षाय अन्तरिक्षलोकप्रीत्यर्थं प्रोक्षामि। हे औदुम्बर्याः शाखाया मूलभाग, त्वां पृथिवीलोकप्रीत्यर्थं प्रोक्षामि। 'अवटे शेषमासिञ्चति शुन्धन्तामिति'

मन्त्रार्थ—हे अभ्रि! सविता देवता की प्रेरणा होने पर अश्विनीकुमार के बाहुभाव को प्राप्त अपनी भुजाओं से, पूषा देवता के हस्तभाव को प्राप्त अपने हाथों से तुम्हारा उपरव कार्य के लिये ग्रहण करता हूँ। मैं अध्वर्यु यज्ञविनाशक राक्षसों की गर्दनों को काटता हूँ। हे शस्य! तुम यव हो, हमारे शत्रु या दुर्भाग्य को हमसे दूर करो। हे गूलर की शाखा के अग्र भाग! द्युलोक की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। हे मध्य भाग! अन्तरिक्ष की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। हे मूल भाग! पृथ्वी की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। पितरों के निवासस्थान रूपी लोक शुद्ध हो। हे कुशाओं! तुम पितरों के बैठने के आसन हो॥ इस मन्त्र से गर्त के चारों ओर जल छिड़क कर जौ बोये जाते हैं, गूलर की शाखा को सींचा जाता है और गर्त के चारों ओर उत्तराग्र कुश बिछाये जाते हैं॥२६॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.६.२६-२७, ६.२.१५-१८) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'देवस्य त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों के द्वारा उदुम्बर (गूलर) वृक्ष की शाखा गाड़ने के लिये खोदने के साधन 'अभ्रि' नामक यज्ञायुध का ग्रहण, जलपात्र में यवप्रक्षेप, जल से प्रोक्षण, शेष जल का गर्त में प्रक्षेप, तथा कुशाओं का आस्तरण—ये सब कार्य सम्पादित किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि में उपदिष्ट अर्थ याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल है।

(का. श्रौ. ६.२.१७)। पितरः सीदन्ति येषु लोकेषु ते पितृषदना लोकाः शुन्धन्तामुदकसेचनेन शुद्धा भवन्तु। खननोत्पन्नस्य क्रौर्यस्य शान्त्यर्थमिदमुदकसेचनम्, 'क्रूरमिव वा एतत्करोति यत्खनति यत्पयोऽवनयति शान्त्या तदिति' इति तित्तिरिवचनात्। 'बर्हींषि प्राञ्च्युदञ्चि च प्रास्यति पितृषदनमसीति' (का. श्रौ. ३.२.१८)। प्रागग्रानुदगग्रांश्च कुशान् तस्मिन्नवटे आस्तृणीत। पितरः सीदन्त्युपविशन्ति यस्मिंस्तत् पितृषदनम्। हे बर्हिस्त्वं पितृषदनमसि पितॄणामुपवेशनस्थानमसि।

सर्वमेतत् शतपथे स्पष्टम्। 'उदरमेवास्य सदस्तस्मात् सदसि भक्षयन्ति यद्धीदं किञ्चाश्नन्त्युदर एवेदꣳ सर्वं प्रतितिष्ठत्यथ यदस्मिन् विश्वे देवा असीदंस्तस्मात् सदो नाम त उ एवास्मिन्नेते ब्राह्मणा विश्वगोत्राः सीदन्त्यैन्द्रं देवतया' (श. ३.६.१.१)। हविर्द्धानस्य यज्ञशिरस्त्वमुक्त्वोपपाद्येदानीं सदसो यज्ञोदरत्वमुच्यते—उदरमेवास्य सदस्तस्मात् सदसि भक्षयन्ति। ऐन्द्रं देवतयेति। यथा हविर्धानं विष्णुदेवत्यम्, एवं सद इन्द्रदेवत्यमित्यर्थः। तृतीयाविधाने 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' (पा. सू. २.३.१) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन तृतीया। 'तन्मध्य औदुम्बरीं मिनोति' (श. ३.६.१.२) इति सदोमध्ये औदुम्बरीं शाखां पुरुषमितां स्थूणारूपां मिनुयात्। औदुम्बर्या मध्यस्थानस्थापनयोग्यता दर्शिता— 'अन्नं वा ऊर्क्, ऊर्ग्वा उदुम्बरः' इति, 'देवा वै ऊर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठद् ऊर्ग्वा उदुम्बरः' (तै. ब्रा. १.१.२.१०) इति श्रुतेः। मध्ये हुतशेषस्य भक्षणात् सदस उदरत्वं युक्तमेव। अतः सदोमध्ये औदुम्बरीमानेनोदरमध्येऽन्नं स्थापितं भवति।

'अथ य एष मध्यमः शङ्कुर्भवति। वेदेर्जघनार्धे तस्मात् प्राङ् प्रक्रामति षड् विक्रमान् दक्षिणा सप्तममपक्रामति सम्पदः कामाय तदवटं परिलिखति' (श. ३.६.१.३)। मध्यदेशं विशिनष्टि—अथ य एष मध्यमः शङ्कुरित्यादि। सौमिकवेद्या जघनार्धस्य मध्यदेशे यः शङ्कुर्निखातः, ततः प्राक् षट् प्रक्रमान् विक्रम्य सप्तमं दक्षिणाभिमुखं विक्रम्य तत्र अवटं परिलिखेत्। 'सोऽभ्रिमादत्ते। देवस्य त्वा - - - नार्यसीति समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषा वा एषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसीति' (श. ३.६.१.४)। 'अथावटं परिलिखति। इदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा - - - वज्रो वा अभ्रिर्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्राणाꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि' (श. ३.६.१.५)। 'अथ खनति। प्राञ्चमुत्करमुत्किरति यजमानेन सम्मायोदुम्बरीं परिवासयति तामग्रेण प्राचीं निदधात्येतावन्मात्राणि बर्हीꣳष्युपरिष्टादधि निदधाति' (श. ३.६.१.६)। उत्करं खातं मृन्निचयं प्राञ्चमवटस्य समीपे प्राग्देशे उत्किरति। यजमानेन सम्माय यजमानप्रमाणं कृत्वा परिवासयति, अवशिष्टमंशं छिनत्ति। तामौदुम्बरीं शाखामग्रेण अवटस्य प्राग्देशे प्राचीं प्रागग्रां स्थापयेत्। एतावन्मात्राण्यौदुम्बरीप्रमाणानि बर्हींषि, उपरिष्टाद् औदुम्बर्या उपरि निदधाति, आच्छादयेदित्यर्थः।

'अथ यवमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति। आपो ह वा ओषधीनाꣳ रसस्तस्मादोषधयः केवल्यः खादिता न धिन्वन्त्योषधय उ हापाꣳ रसस्तस्मादापः पीताः केवल्यो न धिन्वन्ति यदैवोभय्यः सꣳसृष्टा भवन्त्यथैव धिन्वन्ति तर्हि हि सरसा भवन्ति सरसाभिः प्रोक्षाणीति' (श. ३.६.१.७)। औदुम्बरीप्रोक्षणसाधनानामपां यवसाहित्यं विधाय प्रशंसति—अथेति। उक्तमपां रसत्वं युक्त्या समर्थयते—तस्मादोषधयः केवल्यः खादिता न धिन्वन्तीति। गतरसत्वान्न प्रीणयन्ति, केवलतण्डुलभक्षणे तृप्तेरदर्शनात्। 'धिन्विकृण्व्योर च' (पा. सू. ३.१.८०) इत्युप्रत्ययः, तत्सन्नियोगेन वकारस्याकारादेशः। ओषधीनां प्रतिज्ञातमब्रसत्वमुपपादयति—तस्मादापः पीताः केवल्यो न धिन्वन्तीति। यदा उभय्य ओषधय आपश्च संसृष्टाः स्युः, अथ तथा सति धिन्वन्ति। तर्हि तथा सति सरसा भवन्ति भवेयुः। केनाभिप्रायेणेत्याह—सरसाभिः प्रोक्षाणीति। तत्रैव शब्दव्युत्पत्तिप्रदर्शनमुखेन यवान् प्रशंसति—'तद्वै देवा अस्पृण्वत। त एतैः सर्वाः सपत्नानामोष-

धीरयुवत यदयुवत तस्माद्यवा नाम' (श. ३.६.१.९)। अस्पृण्वत सर्वा औषधीर्वाञ्छितवन्तः। त एतैर्यवैः सपत्नानामोषधीरयुवत अमिश्रयन्त, तस्माद् यवनसाधनत्वाद् यवा इति तन्नामनिर्वचनम्।

'ते होचुः। हन्त यः सर्वासामोषधीनाᳬं रसस्तं यवेषु दधामेति स यः सर्वासामोषधीनाᳬं रस आसीत्तं यवेष्वदधुस्तस्माद्यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ति तदेते मोदमाना वर्धन्त एवᳬं ह्येषु रसमदधुस्तथो एवैष एतैः सर्वाः सपत्नानामोषधीर्युते तस्माद्यवमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति' (श. ३.६.१.१०)। सर्वौषधिरसानां यवेषु स्थापनं प्रत्यक्षप्रमाणेन द्रढयति—तस्मादिति। 'स यवानावपति। यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीरिति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यामेवैतत्करोति' (श. ३.६.१.११)। हे यवपदार्थ, त्वं यवोऽसि पृथक्कर्तासि, अतो यवय अस्मत्तोऽरातीनदानशीलानस्मत्तः पृथक्कुरु। अथ प्रोक्षतीति। एको वै प्रोक्षणस्य बन्धुः, यत्र यत्र प्रोक्षणमस्ति, तस्य सर्वस्यापि मेध्यमेवैतत् करोतीत्येवंरूपं ब्राह्मणमेकमेवेत्यर्थः। 'स प्रोक्षति। दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वेतीमानेवैतल्लोकानूर्जा रसेन भाजयत्येषु लोकेषूर्जᳬं रसं दधाति' (श. ३.६.१.१२)। हे उदुम्बरशाखाग्र, दिवे द्युलोकप्राप्त्यर्थं त्वां प्रोक्षामि। हे तन्मध्यभाग, अन्तरिक्षलोकप्राप्त्यर्थं त्वां प्रोक्षामि। हे तन्मूलभाग, पृथिवीलोकप्राप्त्यर्थं त्वा प्रोक्षामि। 'अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते। ता अवटेऽवनयति शुन्धन्तां लोकाः पितृषदना इति पितृदेवत्यो वै कूपः खातस्तमेवैतन्मेध्यं करोति' (श. ३.६.१.१३)। शुन्धन्तामिति मन्त्रेण प्रोक्षणीशेषमवटेऽवनयेत्। पितरः सीदन्त्येष्विति ते पितृषदना भूम्यधोवर्तिनो लोकाः। प्रायेण गर्तस्य पित्र्यकार्येषु दर्शनादवटस्य पितृषदनत्वम्। तदेवाह—पितृदेवत्यो वै कूपः खातः। 'अथ बर्हीᳬंषि। प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि चावस्तृणाति पितृषदनमसीति पितृदेवत्यं वा अस्या एतद्भवति यन्निखातᳬं सा यथा निखातौषधिषु मिता स्यादेवमेतास्वोषधिषु मिता भवति' (श. ३.६.१.१४)। स्पष्टम्। सा यथा निखातौषधिष्विति। यथा वनेऽनिखाता स्वभावेनोत्पन्ना दृढमूला काचिदोषधिरोषधिषु सदोत्पन्नेषु तृणगुल्मादिषु मध्ये मिता भवति, तथैव सबर्हिष्के गर्ते मिता शाखाप्येवं भवति, मिता भवति।

अध्यात्मपक्षे तु—हे भगवदाराधनसामग्रि, सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे। त्वं परमेश्वरस्य नारि भार्यावत् सुखकरी असि। अहं भगवतोऽनुग्रहाद् रक्षसां विघ्नकारिणां ग्रीवाः कण्ठावयवानपि कृन्तामि। हे परमेश, त्वं यवोऽसि यवाद्यन्नवद् भक्तस्य भोग्योऽसि, 'अहमन्नम्, अहमन्नम्, अहमन्नम्' (तै. उ. ३. १०. ६) इत्यादिश्रुतेः। अस्मद् अस्मत्तो द्वेषो द्वेष्टॄनरातीन् बाह्यानाभ्यन्तरांश्च शत्रून् यवयापगमय पृथक्कुरु। हे परमेश्वर, त्वा त्वामहं द्युलोकसुखाय अन्तरिक्षलोकसुखाय पृथिव्याः सुखाय तत्स्वामित्वाय तत्तद्धिताय वा समाश्रये भजामि। लोकाः सर्वे त्वदनुग्रहात् शुन्धन्तां पूता भवन्तु। त्वं पितॄणां तदुपलक्षितानां सर्वप्राणिनां सदनमाश्रयोऽसि। अतस्त्वदाश्रयणमेव सर्वयोगक्षेमकरम्।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे भगवदाराधन की सामग्री, सविता देवता की प्रेरणा से, अश्विनी देवों की भुजाओं से तथा पूषा देव के हाथों से मैं तुमको ग्रहण करता हूँ। तुम परमेश्वर के लिये भार्या की भाँति सुखकर हो। मैं भगवान् के अनुग्रह से विघ्नकारी राक्षसों की ग्रीवाओं को विच्छिन्न करता हूँ। हे परमेश्वर, आप यवादि अन्नों की भाँति भक्त के लिये भजनीय हैं। हमारे द्वेषी बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं को हमसे पृथक् कीजिये। हे परमेश्वर, मैं द्युलोकगत, अन्तरिक्षगत तथा पृथिवीगत सुख, स्वामित्व अथवा हित के लिये आपका आश्रय ग्रहण करता हूँ। समस्त लोकों के प्राणी आपके अनुग्रह से पवित्र हो जाँय। आप पितृगण आदि सम्पूर्ण प्राणियों के आश्रयभूत हैं। अतः आपका आश्रयण ही समस्त योगक्षेम का सम्पादक है।

दयानन्दस्तु —'हे मनुष्य, यथाहं सवितुः प्रसवे त्वाश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामनेकानुपकारानाददे, इदं विश्वं संरक्ष्य रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि, यथा पदार्थान् यावयामि तथा त्वमप्यादत्स्व। यतस्त्वं यवोऽसि। यवय च यथाहं द्वेषोऽरातीः शत्रूनस्मद्दूरीकारयामि तथा त्वमपि यवय। हे विद्वन्, यथाहं दिवे त्वा त्वामन्तरिक्षाय त्वा त्वां पृथिव्यै त्वामाश्रयामि, तथा सर्वे जना आश्रयन्ताम्। यथा पितृषदनमस्त्यस्ति, येन पितृषदना लोकाः शुन्धन्ति यदहं शुन्धे तथेदं सर्वे शुन्धन्ताम्। हे नारि, या त्वमेवंभूतासि त्वमप्येतत्सर्वमेव समाचर' इति, तदपि बालभाषितम्, मूले यथा-तथापदाभावात्, लुप्तोपमालङ्कारे च मानाभावात्। उपदेष्टुः साधारणत्वे तदनुकरणमनर्थकम्, परमेश्वरत्वे तथोपदेशासम्भवात्। नहि परमेश्वरस्य द्वेषोऽरातयो वा सम्भवन्ति, न च द्युलोकाद्यर्थं स कञ्चिच्छ्रयते, तस्य स्वातन्त्र्येणाप्तकामत्वात्। मूले 'त्वा आददे' इत्युक्तम्, त्वया तु 'अनेकानुपकारानाददे' इत्युच्यते, तच्च सर्वथा निर्मूलम्। इदं विश्वं संरक्ष्य ईश्वरो रक्षसां ग्रीवा अपि कर्तितुं शक्नोति, पदार्थांश्च यावयितुं शक्नोति, न तथाऽन्ये कर्तुं पारयन्तीति तथोपदेशो व्यर्थ एव। ईश्वरोऽपञ्चीकृतानि भूतानि यावनेन पञ्चीकरोति, न तथा जीवाः पञ्चीकरणं कर्तुं प्रभवन्ति। न चेश्वरो दिवे सत्यधर्मप्रकाशाय अन्तरिक्षगमनाय पार्थिवपदार्थानां पुष्टये विद्वांसमाश्रयते। पितृपदेन ज्ञानिपुरुषाणां ग्रहणमपि निर्मूलम्। 'यथा ज्ञानिषु स्थित्वा लोकाः शुन्धन्ति, तथाहं शुन्धे, सर्वे शुन्धन्ताम्' इत्यादिकमपि प्रलापमात्रम्, ज्ञानिनां स्थित्यनाधारत्वात्, परमेश्वरस्य नित्यं शुद्धिमत्त्वाच्च। अत्र प्रसङ्गे 'हे नारि, त्वमपि तथैव समाचर' इत्येतत्प्रलपनं मूर्खजनप्रतारणायैव, मूले समाचरणबोधकस्य पदस्याभावात्, मनुष्येष्वेव नारीणामप्यन्तर्भावेन पार्थक्येन तद्बोधनस्य व्यर्थत्वात् ॥२६॥

उद्दिवꣳ स्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह ॥२७॥

'तामुच्छ्रयति, अथ मिनोति, अथ पर्यूहति, अथ पर्यृषति, अथाप उपनिनयति, अथैवमभिपद्य वाचयति' (श. ३.६.१.१५-२०) इत्यादिशतपथश्रुत्यनुसारेणैव कात्यायनेनापि सूत्रितम्। तथाहि—'उद्दिवमित्युच्छ्रयति' (का. श्रौ. ८.५.२९)। औदुम्बरीमूर्ध्वाग्रत्वेन स्थापयेदुद्दिवमिति मन्त्रेण। 'द्युतान इति मिनोति' (का. श्रौ. ८.५.३०)। द्युतान इति

स्वामी दयानन्द के अर्थ में लुप्तोपमा अलंकार मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इस उपदेश के कर्ता के साधारण जन होने पर उसका अनुकरण निरर्थक होगा। परमेश्वर के उपदेष्टा होने पर इस प्रकार का उपदेश संगत नहीं होगा। परमेश्वर के द्वेषी अथवा शत्रु सम्भव नहीं हैं और परमेश्वर द्युलोक के लिये किसी का आश्रय ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह स्वतन्त्र तथा पूर्णकाम है। पितृशब्द से ज्ञानी पुरुषों का अर्थबोधन भी मूलप्रमाण से रहित है ॥२६॥

मन्त्रार्थ—हे औदुम्बरी देवता! द्युलोक को स्तम्भित करो, अन्तरिक्ष को पूरित करो, पृथ्वी को दृढ़ करो। हे गूलर की शाखा! मित्रावरुण नामक दोनों देवता, दीप्तिमान् वायु देवता स्थिर रूप से तुमको गड्ढे में डालें। हे गूलर की शाखा! ब्राह्मणों और क्षत्रियों से सेवनीय, धनपुष्टि के लिये सेवनीय तुमको इस गड्ढे में मिट्टी डालकर दृढ़ करता हूँ। हे शाखे! तुम ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति को दृढ़ करो, जीवन को दृढ़ करो, पुत्र आदि प्रजा को दृढ़ करो॥ इस मन्त्र से गूलर की डाल को गड्ढे में डालकर उसे जल से और मिट्टी से भरकर एवं मैत्रावरुण दण्ड से कूट कर दृढ़ किया जाता है ॥२७॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.५.२९-३१, ६.३.९-११) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'उद्दिवम्' इस कण्डिका के मन्त्रों द्वारा औदुम्बरी शाखा को उठाकर विधिपूर्वक गाड़ना तथा मैत्रावरुण नामक दण्ड से उसके चारों तरफ मिट्टी को सुदृढ़ करने का विधान किया गया है। शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रेण औदुम्बरीं गर्ते प्रक्षिपेत्। 'पर्यूहणाद्योपसेचनात् कृत्वा ध्रुवासीति वाचयत्यौदुम्बरीमालभ्य प्रजया भूयादिति पशुभिरिति वा' (का. श्रौ. ८.५.३१)। अवटे प्रक्षेपानन्तरं पांसुभिरवटपूरणाद्यारभ्य अद्भिरुपसिच्य—इत्येतत्पर्यन्तं यूपवदेव कृत्वा 'ब्रह्म दृꣳहेति मैत्रावरुणदण्डेन समन्तं त्रिः पर्यृषति' (का. श्रौ. ६.३.१०)। पांसुभिः पूरितं गर्तं सर्वतस्त्रिः कुट्टयेति। मैत्रावरुणदण्डेन पांसूनवटेऽधः प्रवेशयेत्। एवं श्रुतिसूत्रसम्मतविनियोगानुसारेणैव मन्त्रार्थाः प्रत्येतव्याः।

हे औदुम्बरि, त्वं दिवं द्युलोकमुत्तभान स्तम्भय। ऊर्ध्वं स्थित्वा यथा न पतेत् तथा द्युलोकं धारय। अन्तरिक्षं पृण सर्वतः पूरय, 'पृ पालनपूरणयोः'। पृथिव्यां दृꣳहस्व दृढा भव। सप्तमी द्वितीयार्थे वा, पृथिवीं दृढां कुरु, पृथिव्यामवस्थिता सती पृथिवीं दृढां कुरु वा। यद्वा—हे उदुम्बरशाखे, तवाग्रभागेन दिवमुत्तभान दिव उत्तम्भनं कुरु। स्वशरीरस्थौल्येनान्तरिक्षं पूरय। पृथिव्यां स्थिता पृथिवीमपि दृढां कुरु, पृथिव्याः शैथिल्येन शाखाया अपि दार्ढ्यायोगात्। हे औदुम्बरि, त्वा त्वां द्युतानो दीप्यमानो दिवि विततो वा, मारुतो मरुतां सम्बन्धी तन्नामको देवः, ध्रुवेण स्थैर्येण धर्मणा धारणेन मिनोतु अवटे प्रक्षिपतु, 'डुमिञ् प्रक्षेपणे', तथा मित्रावरुणौ तन्नामकौ देवौ मिनुतां त्वा प्रक्षिपताम्। हे औदुम्बरि, त्वां पर्यूहामि परितो मृत्तिकां क्षिपामि। कीदृशीं त्वाम्? ब्रह्मवनि, ब्रह्म ब्राह्मणजातिं वनस्यति संभजत इति ब्रह्मवनिः। क्षत्रवनि क्षत्रं क्षत्रियजातिं वनस्यति सम्भजत इति क्षत्रवनिः। रायो धनस्य पोषं पुष्टिं वनस्यति सम्भजत इति रायस्पोषवनिः। सर्वत्र 'सुपां सुलुक्' (पा. सू. ७.१.३९) इति विभक्तेर्लुक्। क्रियाविशेषणतया वा पर्यूहणविशेषणतया वा नपुंसकत्वमित्युव्वटः। वितर्कार्थ ऊहतिः परिपूर्वकोऽत्र पूरणार्थः। हे औदुम्बरि, मैत्रावरुणयोर्दण्डेन दृढीभूता सती ब्राह्मणजातिं क्षत्रियजातिमायुष्यं पुत्रादिरूपां प्रजां च दृढीकुरु। शतपथे तदभिप्रायोऽप्यर्थवादरूपेणोक्तः— 'उद्दिवꣳ स्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यामितीमानेवैतल्लोकानूर्जा रसेन भाजयत्येषु लोकेषूर्जꣳ रसं दधाति' (श. ३.६.१.१५)। ऊर्ध्वपोदुम्बरस्योच्छ्रयणेन द्युलोकादीन् ऊर्जा रसेन युक्तान् करोति, तत्र रसं दधाति, तेन मन्त्रपूर्वकेणौदुम्बर्या उच्छ्रयणेन सर्वलोका अन्नरसपूर्णा भवन्ति।

'द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोत्विति यो वा अयं पवत एष द्युतानो मारुतस्तदेतेन मिनोति मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणेति प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ। एतदधिदैवतम्, अहोरात्राभिमानौ देवौ' (ऐ. ब्रा. ४.२.४)। 'ब्रह्मवनि . . . . बह्वी वै यजुःष्वाशीस्तद् ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्त उभे वीर्ये रायस्पोषवनीति भूमा वै रायस्पोषस्तस्माद्भूमानमाशास्ते' (श. ३.६.१.१७)। ब्रह्मक्षत्ररूपे उभे वीर्ये रायस्पोषं चाशास्ते— 'ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳह प्रजां दृꣳहेत्याशीरेवैवैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते समं भूमिपर्यूहणं करोति गर्तस्य वा उपरि भूम्यथैवं देवत्रा तथा ह्यगर्तमिद्भवति' (श. ३.६.१.१८)। पर्यृषणं परितः संघट्टनम्, 'ऋषि गतौ' इति धातोर्निष्पन्नं रूपम्। ब्रह्म दृंहेति मन्त्रो यजमानापेक्षितस्य फलस्य प्रतिपादक इत्याह—आशीरेवैतस्य कर्मण इति। एतस्य शाखादृंहणकर्मणः फलरूपाशीः प्रतिपाद्यते। परिघट्टनं पर्यृषणं भूमिप्रमाणमद्भिर्भूम्या समं समम्भूमि भूमिसमं करोति। व्यतिरेकमाह-गर्तस्य वा उपरिभूमि। अथैवं देवत्रेति देवेष्वन्वितो भवति। तथाहाऽगर्तमिद् भवति। तथा सति भूमिसाम्ये सत्यगर्तमिद् अगर्तमिता भवति शाखा। मिनोतेः कर्मणि क्विप्।

अध्यात्मपक्षे तु—त्रीन् लोकान् विक्रममाणं भगवन्तं वामनं भक्ताः स्तुवन्ति। हे वामन विष्णो, त्वं दिवं द्युलोकं स्वतेजसा उत्तभान धारय, अन्तरिक्षं च स्वसत्तया आपूरय पृथिवीं च दृढां कुरु। द्युताना दिवि विस्तारवान् मातरिश्वा

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—भक्तगण तीनों लोकों को अधिकृत करने वाले भगवान् वामन की स्तुति करते हैं कि हे विष्णुदेव, आप द्युलोक को अपने तेज से धारण करें, अन्तरिक्ष को अपनी सत्ता से व्याप्त करें तथा पृथिवी को सुदृढ़ करें। द्युलोक

त्वां ध्रुवेण धर्मणा स्थिरेण धारकेण प्रयत्नेन त्वामभिलक्ष्य मिनोतु प्रक्षिपतु, अस्मत्समर्पितं पुष्पाञ्जलिमिति शेषः। मित्रावरुणौ वसुविशेषौ प्राणोदानौ च मनुतः, सपर्यां समर्पयतः। ब्रह्मवनि क्षत्रवनि त्वा ब्राह्मक्षात्रतेजःप्रदं त्वां रायस्पोषवनि धनानामाध्यात्मिकानां ज्ञानवैराग्यादीनां भौतिकानां गोभूहिरण्यादीनां संविभक्तारं त्वामहं त्वदुपासकः पर्यूहामि स्तुतिभिर्वर्धयामि। त्वं च ब्रह्म ब्राह्मं क्षात्रं च तेजो दृंह, आयुः सफलय, सदाचारमयीं प्रजां च त्वदाराधनोपयोगिनीं वर्धय।

दयानन्दस्तु—'हे परमविद्वन्, यथा त्वां मारुतो वायुः, ध्रुवेण निश्चलेन धर्मणा धर्मेण मिनोतु प्रक्षिपति (हिन्दीभाष्ये प्रयुङ्क्ते), मित्रावरुणौ प्राणापानौ मिनुतस्तथा त्वं कृपयास्मदर्थं दिवं गुणानां प्रकाशमुत्तभान अज्ञानादुद्घाटय (हिन्दी) तथान्तरिक्षं पृण परिपूरय। पृथिव्यां द्युतानः सुखानि दृंहस्व। सद्विद्यागुणान् प्रकाशयन् सुखानि वर्धय। ब्रह्म वेदविद्यां विद्वांसं वा क्षत्रं राज्यं वीरं वा वर्धय, आयुर्जीवनं प्रजामुत्पादनीयां धनसमूहं पुष्टिं वर्धय। ब्रह्मविद्यासेवितारं सेवयितारं क्षत्रस्य संसेवयितारं रायस्पोषस्य सेवयितारं त्वां पर्यूहामि सर्वप्रकारेण तर्कैर्निश्चिनोमि। तथैव त्वं मां सर्वसुखदायको भव, सर्वे मनुष्यास्तर्कैस्त्वां जानन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्राक्षराननुगुणत्वात्। परमविद्वानत्र केन प्रमाणेन सम्बोध्यते? औदुम्बरीशाखावच्छिन्नचैतन्यरूपा तदधिष्ठात्री देवताऽत्र सम्बोधनीयेत्यत्र तु श्रुतिसूत्राणि प्रमाणानीति दर्शितमेव। वायुर्विद्वांसं प्रक्षिपति वा प्रयुङ्क्ते वेत्यपि प्रमाणशून्यमेव। कथं च मिनोतिः प्रक्षेपणार्थः? कथं वा दिवमित्यस्य विद्याप्रकाशोऽर्थः? कथं वा उत्तभानेत्यस्योद्घाटनमर्थः? परमविद्वान् कथमायुर्वर्धयिष्यति? कथं च प्रजां वर्धयिष्यति? अत्र किं नियोगादिना प्रयोजनम्? सर्वत्र मनुष्याः कथमेकं विद्वांसं तर्कैर्ज्ञास्यन्ति? प्रश्नोत्तराभ्यामेव तज्ज्ञानं सम्भवति, ऊहायास्तत्र किं प्रयोजनम्? किं च तज्ज्ञानफलम्? इत्याद्यसमाहितमेव। शतपथविरोधस्तु स्पष्ट एव॥२७॥

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात्। घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य च्छदिरसि विश्वजनस्य छाया॥२८॥

'अथाप उपनिनयति। यत्र वा अस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति तस्मादप उपनिनयति' (श. ३.६.१.१९)। मृत्परमाणूनां संश्लेषायापः सिञ्चति। अस्या भूम्या भागं खनन्त-

---

में विस्तृत वायु हमारे द्वारा प्रदत्त पुष्पाञ्जलि आदि को स्थिर एवं धारण करने वाले प्रयत्न से आपके प्रति प्रेषित करे। प्राण एवं उदान वायु विशेष सपर्या का समर्पण करते हैं। ब्राह्म एवं क्षात्र तेज को प्रदान करने वाले, आध्यात्मिक ज्ञान-वैराग्य आदि धनों का तथा भौतिक धनों का वितरण करने वाले आपका मैं उपासक स्तुतियों से अभिवर्धन करता हूँ। आप ब्राह्म एवं क्षात्र तेज सुदृढ़ करें तथा आयुष्य को सफल करें। सदाचारमयी आपकी आराधना के लिये उपयोगी प्रजाओं को बढ़ावें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ मन्त्राक्षरों के अनुकूल न होने के कारण असम्बद्ध है। परम विद्वान् इस मन्त्र में किस प्रमाण से सम्बोधित है? 'दिवम्' इसका अर्थ विद्याप्रकाश कैसे है? 'उत्तभान' का अर्थ 'उद्घाटन करो' यह कैसे हो सकता है? इत्यादि प्रश्न अनुत्तरित ही रहते हैं॥२७॥

मन्त्रार्थ—हे शाखा! तुम स्थिर हो। यह यजमान भी सन्तान और पशुओं के साथ अपने स्थान में स्थिरता से रहे। घृत की आहुति से पृथ्वी और स्वर्गलोक पूरित हों। हे तृण की चटाई! तुम ऐश्वर्यवान् यजमान के इस मण्डप को छाने वाली, सब लोगों की छायारूप हो॥ इस मन्त्र से गूलर की शाखा का स्पर्श करे, शाखा की जड़ में घृत की आहुति दे और मण्डप बना कर तृण की चटाई से उसे छा दे॥२८॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.५.३१-३३, ८.६.७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'ध्रुवासि' इस कण्डिका के मन्त्रों से औदुम्बरी शाखा का स्पर्श करते हुए मन्त्रवाचन, द्विशाख प्रदेश में होम, छदि (छादन या छप्पर) का आच्छादन आदि कार्य किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

स्तामेव भूमिमक्रूरां सतीं क्रूरीकुर्वन्ति। तत्रापः शमनहेतुत्वात् शान्तिः, अतोऽद्भिः शान्त्या क्रौर्यशमनमदृष्टं प्रयोजनम्, सन्धानं तु संहतिहेतुत्वेन दृष्टं प्रयोजनम्। 'अथैवमभिपद्य वाचयति ध्रुवासीति... स्रुवेणोपहत्याज्यं विष्टपमभिजुहोति घृतेन द्यावापृथिवीति' (श. ३.६.१.२०-२१)। विष्टपं विशाखमभितो विष्टपस्याग्रभागस्याभितो यथा शाखाया अग्रभागो मूलभागो मध्यभागश्चाक्ता भवेयुस्तथाज्यं जुहोति घृतेनेति मन्त्रेण। 'अथ छदिरधिनिदधाति इन्द्रस्य छदिरिति' (श. ३.६.१.२२)।

तथैव कात्यायनोऽपि—'पर्यूहणाद्योपसेचनात् कृत्वा ध्रुवासीति वाचयत्यौदुम्बरीमालम्भ्य प्रजया भूयादिति पशुभिरिति वा' (का. श्रौ. ८.५.३१)। अवटे प्रक्षेपानन्तरं पांसुभिरवटपूरणाद्यारभ्य अद्भिरुपसिच्येत्येतत्पर्यन्तं यूप इव औदुम्बर्यामपि कृत्वा औदुम्बरीमालभस्वेत्यध्येषणया यजमानेन औदुम्बर्या आलम्भनं कारयित्वा ध्रुवासीति मन्त्रं वाचयेत्। आलम्भनं स्पर्शनम्। तत्र मन्त्रे प्रजया भूयात् पशुभिर्भूयादिति वोच्चारयेत्, नोभयं प्रजया पशुभिरिति। 'स्रुवेण विशाखे जुहोति घृतेन द्यावापृथिवी इति' (का. श्रौ. ८.५.३२)। यत्र द्विविधशाखोत्पत्तिस्तत्र कर्णे वलिकानिधानप्रदेशे हिरण्यं निधाय स्रुवेण जुहुयात्। 'भूमिप्राप्ते स्वाहाकरोति' (का. श्रौ. ८.५.३२)। औदुम्बर्या द्विशाखे प्रक्षिप्तमाज्यं यदा भूमिं प्राप्नोति, तदा मन्त्रान्ते स्वाहाकारं कुर्यात्। 'इन्द्रस्य छदिरिति मध्यमं छदिरारोप्यापरपूर्वे च' (का. श्रौ. ८.६.७)। सदस उपरि नव छदींषि भवन्ति। तानि सर्वाण्युदगग्राण्येव। तत्र दक्षिणतस्त्रीणि मध्ये त्रीणि उत्तरतस्त्रीणि—इति नवानां छदिषां स्थापनम्। तत्रापि दक्षिणतो यानि छदींषि सन्ति, तेषु मध्यमच्छदिर्मन्त्रेणारोप्य ततस्तमेव मन्त्रमनुकृष्य तेनैव मन्त्रेण पूर्वनिहिताच्छदिषोऽपरस्मिन् भागे एकं छदिरारोपयेदुदगग्रम्, एवं पूर्वभागेऽप्येकमुदगग्रं तेनैव मन्त्रेणारोपयेत्। 'नवच्छदिः सदो नवाग्निष्टोमे पञ्चदशोक्थ्ये षोडश षोडशिनि सप्तदश वाजपेये एकविंशतिः सत्राहीनाना त्रीणि मध्यमानि त्रीणि दक्षिणानि त्रीण्युत्तराणि' (१०.११.१२) इत्यापस्तम्बः।

मन्त्रार्थस्तु—हे औदुम्बरि, त्वं ध्रुवा स्थिरासि। त्वमिव यजमानोऽस्मिंल्लोके स्वकीय आयतने ध्रुवो भूयात् स्थिरो भवतु। हे द्यावापृथिव्यौ शाखाग्रमूलवर्तिन्यौ, हूयमानेन घृतेन युवां पूरिते भवेताम्। सदोनामकस्य मण्डपस्य प्रावरणार्थं मध्यमं कटमारोपयन्नाह—हे तृणनिर्मितकट, त्वमिन्द्रस्य सदोमण्डपस्य छदिरसि प्रच्छादकमसि। अतस्त्वां प्रावरणायारोपयामि। त्वं सदोमण्डपवर्तिनो विश्वजनस्य यजमानत्वग्रूपस्य सर्वप्राणिनश्छाया भवेति शेषः। विश्वगोत्रा ह्यस्मिन् ब्राह्मणा आसन्। सदस इन्द्रदेवताकत्वेनेन्द्रत्वम्। शतपथे द्यावापृथिवीपूर्त्यभिधानस्य प्रयोजनमुक्तम्— 'तदिमे द्यावापृथिवी ऊर्जा रसेन भाजयत्यनयोरूर्जꣳ रसं दधाति ते रसवत्या उपजीवनीये इमा प्रजा उपजीवन्ति' (श. ३.६.१.२१)। ऊर्ग्रूपौदुम्बरयुक्तेन आज्येन यद् द्यावापृथिवीपूरणम्, तदूर्ग्रसेनैव द्यावापृथिवीपूरणं कृतं स्यात्। तेनानयो रसं दधाति ते रसवत्यौ उपजीवनीये इमाः प्रजा उपजीवन्ति। 'इन्द्रस्य छदिरसीत्यैन्द्रꣳ हि सदो विश्वजनस्य छायेति विश्वगोत्रा ह्यस्मिन् ब्राह्मणा आसते तदुभयतश्छदिषी उपदधात्युत्तरतस्त्रीणि परतस्त्रीणि तानि नव भवन्ति त्रिवृद्वै यज्ञो नव वै त्रिवृत् तस्मान्नव भवन्ति' (श. ३.६.१.२२)। इन्द्रदेवताकत्वात् सदोऽत्रेन्द्रः। तस्याच्छादकमसि। तथा विश्वजनस्य विश्वेषां सदसि स्थितानां जनानां छायाहेतुत्वाच्छायासि। उभयतश्छदिषी उपदधातीति। मध्यमस्य छदिष उभयतो दक्षिणोत्तरयोस्तानि मध्यमच्छर्दींषि त्रीण्यप्युपधाय तेषामुत्तरतस्त्रीणि छदींष्युपदध्यात्। परः परस्तादपि दक्षिणतोऽपि त्रीण्युपदधाति। छदिषो नवत्वं प्रशंसति—तानि नव भवन्ति त्रिवृद्वै यज्ञ इति। त्रिवृत्स्तोमसाध्यत्वाद् यज्ञस्य त्रिवृत्त्वम्। स च त्रिवृत्स्तोमो नव वै नवस्तोत्रियात्मकः खलु, तिसृभ्यो हिङ्करोति स एकया' (३.१) इत्यादिसामताण्ड्यब्राह्मणानुसारेण त्रिवृत्स्तोमे तिसृणामृचां नवत्वसम्पादनात्। तस्माच्छदिषां नवत्वं युक्तम्।

'तदुदीचीनवꣳशꣳ सदो भवति प्राचीनवꣳशꣳ हविर्धानमेतद्वै देवानां निष्केवल्यं यद्धविर्धानं तस्मात्तत्र नाश्नन्ति न भक्षयन्ति निष्केवल्यꣳ ह्येतद्देवानाꣳ स यो हात्राश्नीयाद्वा भक्षयेद्वा मूर्धा हास्य विपतेदथैते मित्रे यदाग्नीध्रं च सदश्च तस्मात्तयोरश्नन्ति तस्माद् भक्षयन्ति मिश्रे ह्येते उदीची वै मनुष्याणां दिक् तस्मादुदीचीनवꣳशꣳ सदो भवति' (श. ३.६.१.२३)। सदस उदगायतत्वं विधायोदीचीनवंशत्वं प्रशंसति — तदुदीचीनवंशं सदो भवतीति। निःशेषेण देवानामेव भवति हविर्धानं तस्मात्तस्य निष्केवल्यरूपत्वम्। तस्मादेव तत्र पुरोडाशादिकं नाश्नन्ति सोमादिकं न भक्षयन्ति। अशनादौ भक्षणे च मूर्धपातलक्षणं दोषमुक्त्वा आग्नीध्रसदसोर्मिश्रत्वं स्तोत्रशस्त्राद्याश्रयत्वाद्दैवम्, भक्षणादिसम्भवान्मानुषं च, तस्मान्मिश्रत्वं तयोः। प्रायेणोदीच्यां मनुष्यवृद्धिदर्शनान्मनुष्यसम्बन्धोक्तिः। सदोनिर्माणप्रकारश्च 'नाभिदघ्नं सदो मत्या वा (यथाबुद्धि वा) उदग्वंशमष्टादशारत्नि एकविंशतिश्चतुर्विंशतिर्वा नव तिर्यग् अर्धायामो वा औदुम्बरीं मध्ये पृष्ठ्यामेके इन्द्रस्य छदिरिति मध्यमं छदिरारोप्यापरपूर्वे च त्रिवर्गौ चोत्तरतः' (का. श्रौ. ८.६.१-८)। नाभिप्रमाणं सदोमण्डपं प्रान्तेपून्नतं भवति। इच्छया प्रान्तेषून्नता कार्या। मध्यमो वंश उदगायतो भवति। त्रिष्वपि पक्षेषु नवारत्नयो विस्तारप्रमाणं भवति। अथवा आयामस्य दैर्घ्यस्यार्धप्रमाणो विस्तारः कार्यः। सदसस्तिर्यक्प्रमाणस्य मध्ये, अर्थान्नवारत्नयस्तिर्यक्-प्रमाणं तस्यार्धं सार्धचतुररत्नयः। तत्रौदुम्बरी यथा स्यात्तथा सदोमण्डपं कुर्यात्। एके पृष्ठ्यां मध्यस्थां कुर्वते। 'वेदेर्मध्यरेखा पृष्ठ्या' (का. श्रौ. ८.३.१२)। इन्द्रस्य छदिरिति व्याख्यातमेव।

अध्यात्मपक्षे तु—हे राजराजेश्वरि, त्वं कूटस्थचिद्रूपत्वाद् ध्रुवासि। त्वत्प्रसादादयं यजमानः स्वकर्मणा त्वदा-राधनमीहमान उपासकोऽपि पशुभिः प्रजाभिश्च ध्रुवः प्रतिष्ठितः स्यात्। बहिरङ्गान्तरङ्गसाधनैश्च त्वयि चित्तस्थैर्यवान् भूयात्। युवामुपास्योपासकौ घृतेन स्वास्थ्यकरेण ब्रह्मानन्दात्मकेन रसेन द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ तत्स्थान् प्राणिनश्च पूर्येथां पूरयेथाम्, अन्तर्भाविणिजर्थः। यद्वा सीतारामौ रुक्मिणीकृष्णाविह चर्चितौ। हे सीते, रुक्मिणि वा, त्वं कूटस्थ-चिद्रूपत्वाद् विश्वभर्तुः परमेश्वरस्य यजमानस्य लोकसंग्रहाय यज्ञे दीक्षितस्य पत्नीत्वाद् ध्रुवासि पत्नीशालायां स्थिरासि। यजमानोऽयं श्रीरामः श्रीकृष्णो वा प्रजया पशुभिरस्मिन् विस्तृते विश्वस्मिन्नायतने ध्रुवो भूयात्, भगवत्याः प्रभावादेव परस्मिन् पारमैश्वर्यदर्शनात्, 'पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम्' इत्याद्युक्तेः। युवां घृतेन सर्वसुखतत्सा-धनादिभिः, द्यावापृथिव्यौ पूर्येथां पूरयेथामिति भक्तानामाशीः। सर्वस्यैव वेदस्य धर्मब्रह्मपरत्वेन सीतारामयो रुक्मिणी-कृष्णयोश्च दिव्यदम्पत्योर्ब्रह्मरूपत्वेन तत्परं व्याख्यानं नासमञ्जसम्।

दयानन्दस्तु—'हे यज्ञानुष्ठात्रि यजमानपत्नि, यथा त्वमस्मिन्नायतने जगति स्वस्थाने यज्ञे वा प्रजया पशुभिः सह ध्रुवासि, तथा यजमानोऽपि ध्रुवोऽस्ति। युवां घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथां पूरणे कुर्यातम्।इन्द्रस्य छदिरसि। विश्व-

---

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—'हे राजराजेश्वरि, आप कूटस्थ चिद्रूपिणी होने के कारण ध्रुव हैं। आपके अनुग्रह से यह यजमान उपासक भी आपकी आराधना की इच्छा रखता हुआ पशुओं तथा प्रजाओं से सुप्रतिष्ठित हो जाय, बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों से आपके प्रति स्थिरचित्तयुक्त हो जाय। आप दोनों उपास्य तथा उपासक, स्वस्थता प्रदान करने वाले ब्रह्मानन्दरूपी रस से द्युलोक एवं पृथिवी में स्थित प्राणियों को परिपूर्ण बनावें। अथवा श्रीसीताराम और श्रीरुक्मिणीकृष्ण यहाँ वर्णित हैं। हे सीता अथवा रुक्मिणी, आप चिद्रूप विश्वपालक परमेश्वर लोकपालक के यज्ञ में दीक्षित भगवान् की पत्नी होने के कारण स्थिर हैं। यजमानरूपी श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण भगवान् प्रजाओं एवं पशुओं से विस्तृत इस विश्वायतन में स्थिर रहें। आप दोनों समस्त सुखसाधनों से द्युलोक एवं पृथिवी को परिपूर्ण करें।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या मूलरहित होने के कारण असंगत है। यजमानपत्नी में स्थिरता अथवा यजमान में स्थिरता का विधान नहीं किया गया है, क्योंकि व्यवहारदशा में कर्म की ही प्रधानता है, स्थिरता तो दोष है॥२८॥

जनस्य छायासि, यत्सङ्गेन प्राणिसमूहः सुखीभूयात्। अस्मात् तां तं वयं प्रशंसामः' इति, तदप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्। ध्रुवेति स्त्रीलिङ्गदर्शनमेव मूलमिति चेत्, वेदेरपि स्त्रीलिङ्गत्वेन व्यभिचारात्, शतपथादिप्रमाणेन तु तत्रोदुम्बरशाखाया एव प्रकृतत्वेन सम्बोधनीयत्वात्। न च यजमानपत्न्यां ध्रौव्यं सम्भवति, न वा यजमानस्य ध्रौव्यं विधीयते, व्यवहारे कर्मण एव प्राधान्येन स्थैर्यस्य दूषणत्वात्। पशुभिः प्रजाभिश्च प्रतिष्ठालक्षणं ध्रौव्यं तु फलमुक्तम्। यदपि हिन्दी-भाष्यानुसारेण 'दृढसङ्कल्पत्वमेव ध्रौव्यम्' इति, तदपि तुच्छम्, तथात्वे यजमानस्येव यजमानपत्न्या अपि तस्य साध्यत्वेन दृष्टान्तानुपपत्तेः, सिद्धस्योदाहरणत्वसम्भवात्॥२८॥

परि॑ त्वा गिर्वणो॒ गिर॑ इ॒मा भ॑वन्तु वि॒श्वतः॑। वृ॒द्धायु॒मनु॒ वृद्ध॑यो॒ जुष्टा॑ भवन्तु॒ जुष्ट॑यः॥२९॥

'तत्परिश्रयन्ति परि त्वेति' (श. ३.६.१.२४) इति सदसः समन्त्रकं परिश्रयणं विहितम्। कात्यायनेनापि—'परि त्वेति परिवार्य परिषीवणग्रन्थ्यभिमर्शनान्यैन्द्रैः' (का. श्रौ. ८.६.९)। पूर्वादिक्रमेण कटैः परि त्वेति मन्त्रेण सदोमण्डपं सर्वत आच्छाद्य (प्रतिकटं मन्त्रावृत्तिः) हविर्धानमण्डपे यानि परिषीवणग्रन्थ्यभिमर्शनानि पूर्वपश्चिमद्वारद्वये कृतानि, तानि सर्वाणि प्रकृतसदोमण्डपेऽप्यैन्द्रमन्त्रेण कर्तव्यानि। ऐन्द्र्यनुष्टुब् निरुक्ता मधुच्छन्दोदृष्टा। मन्त्रार्थस्तु—इन्द्रः सदोऽभिमानी गिर्वणः। हे गिर्वण! सदोमण्डपगीर्भिर्वननीय सम्भजनीय हे इन्द्र, अस्माभिः प्रयुज्यमाना इमाः स्तोत्रशस्त्ररूपा गिरः, त्वां विश्वतः सर्वतः कटरूपेण परिभवन्तु वेष्टयन्तु परिगृह्णन्तु वा। कीदृश्यो गिरः? वृद्धायुं दीर्घायुषं त्वामनु। किञ्च जुष्टयः, अस्मत्सेवास्तव जुष्टाः प्रिया भवन्तु। जुष्टयः प्रीणयन्त्यो वाचः, जुष्टाः प्रीता भवन्तु, त्वां परिगृह्णानास्त्वया परिषेविताः प्रीतिकरा भवन्तु। तव गिरां च वृद्धिजोषावुपर्युपरि वर्धेतामित्यर्थः। यद्यपि 'परौ भुवोऽवज्ञाने' (पा. सू. ३.३.५५) इति परिपूर्वो भवतिरवज्ञानार्थक एव, तथापि प्रकृते परिभवन्त्वित्यस्य वेष्टयन्तु गृह्णन्तु वेत्येवार्थः। कीदृश्यो गिरः? अनुवृद्धाः। अनु सवनक्रमेण वृद्धा वृद्धिमापादिताः। यथा प्रातःसवनं शनैः, माध्यन्दिनं सवनमुच्चैः, तारस्वरेण तृतीयं (सायंसवनम्)। यद्वा वृद्धा आयवो मनुष्या ऋत्विग्यजमानलक्षणा मरुतो वा यस्य स तं त्वामनु वृद्धयः समृद्धिमत्यो भवन्तु, स्वयमपि वृद्धिमत्यः। यद्वा वृद्धश्चायुश्च महामनुष्य इत्यर्थः।

शतपथे तु—'इन्द्रो वै गिर्वा विशो गिरो विशैवैतत् क्षत्रं परिबृꣳहति तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिवृढम्' (श. ३.६.१.२४)। मन्त्रस्य प्रथमं पादं व्याचष्टे—इन्द्रो वेति। इन्द्रस्य देवानां मध्ये क्षत्रियजातित्वात्, गिरां च स्त्रीत्वाद् बहुत्वाच्च विशां रूपत्वम्। अतो गीर्भिरिन्द्रपरिग्रहाभिधानात् क्षत्रियस्योभयतः क्षेमार्थं प्रजाः कल्पितवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे तु—हे गिर्वण! गीर्भिर्वननीय सम्भजनीय परमेश्वर, त्वा त्वामिमा वैदिक्यस्तान्त्रिक्योऽन्याश्च गिरः स्तुतयस्त्वामभिलक्ष्य विश्वतः सर्वतः परिभवन्तु सर्वतस्त्वामेव परमतात्पर्यविषयत्वेन परिगृह्णन्तु। वृद्धायुमन-

---

मन्त्रार्थ—हे स्तुतियोग्य सभा के अधिष्ठाता! इस सवन क्रम से स्तोत्र-शस्त्र रूपी वाणी को तुम सब ओर से ग्रहण करो। हे धनधान्य से सम्पन्न! तुम हमारी सहायता करो॥ इस मन्त्र से छत को चारों ओर से आच्छादित करे॥२९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.६.९) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'परि त्वा' इस ऋचा से सदोमण्डप का आच्छादन करके हविर्धान मण्डप की विधि के अनुसार ग्रन्थिस्पर्श आदि कार्य किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है— हे वाणियों के द्वारा उपास्य परमेश्वर, ये वैदिक, तान्त्रिक तथा अन्य स्तुतिवाणियां सर्वतोभावेन आपके प्रति हों, अर्थात् आपको ही परम तात्पर्य के विषय के रूप में ग्रहण करें। अनन्त आयुष्य

न्तायुषं नित्यमनुवृद्धयस्तदनुगुणा नित्याः समृद्धिमत्यश्च सन्ति। जुष्टास्त्वया सेविता अङ्गीकृता जुष्टयः, त्वां त्वद्भक्तांश्च सुखयन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे गिर्वण! ईश्वर सभाध्यक्ष वा, इमा मत्कृता विश्वतो गिरस्त्वां परितो भवन्तु। न तत्क्षण एव, किन्तु वृद्धायुं त्वां वृद्धयो जुष्टया जुष्टाश्च भवन्तु' इति, तदपि न, अर्थासङ्गतेः। तथाहि—गिर्वणः स्तोतुमर्ह इत्यर्थोऽसङ्गत एव, गीर्भिः स्तुतिभिः स्तोत्रशस्त्रैर्ऋग्यजुःसामाथर्वलक्षणाभिर्वा वननीयः सम्भजनीय इत्यस्यैवार्थस्य सुश्लिष्टत्वात्। यदपि—'वृद्ध इवाचरन्तं वृद्धायुमनु वृद्धय' इति, तदप्यसङ्गतम्, वृद्धस्येवाचरणानुगुण्यस्य वृद्धिष्वनिरूपणात्। 'जुष्टयः प्रीतियोग्याः' इत्यप्यसङ्गतम्, अर्हार्थप्रत्ययायोगात्॥२९॥

इन्द्र॑स्य॒ स्यूर॒सीन्द्र॑स्य ध्रु॒वो॒ऽसि। ऐ॒न्द्रम॑सि वैश्वदे॒वम॑सि॥ ३०॥

'अथ लस्पूजन्या स्पन्द्यया प्रसीव्यति इन्द्रस्य स्यूरसीति' (श. ३.६.१.२५), 'अथ हविर्धानयोर्जघनार्धꣳ समन्वीक्ष्योत्तरेणाग्नीध्रं मिनोति' (श. ३.६.१.२६) इति सदसो द्वारशाखाप्रभृतीनां हविर्धानं च दर्भैराच्छाद्य सीवनादिकं विधत्ते— लस्पूजन्येति। सीवनसाधनसूच्यादि लस्पूजनी, तत्सम्बद्धया रज्ज्वा लस्पूजन्या स्पन्द्यया रज्ज्वा द्वारशाखां दर्भैरावेष्ट्य सीव्येत। हविर्धानमण्डप इवात्रापि सीवनग्रन्थीकरणाभिमर्शनानि कार्याणीति। हविर्धानशकटयोः पश्चाद्भागस्य साम्येन य उत्तरो देशस्तत्राग्नीध्रीयं मण्डपं कुर्यात्। तत्रापि त्रयः पक्षाः। आग्नीध्रीयं यावत्परिमाणं तस्यार्धं सौमिकवेद्या उत्तरभागे स्वीकुर्यादित्येकः, अर्धादधिकमंशं वेद्याः स्वीकुर्यादित्यपरः, सर्वमपि सौमिकवेद्यामिति तृतीयः। तदपि तत्रैव स्पष्टम्—'तस्यार्धमन्तर्वेदि स्यादर्धं बहिर्वेद्यथो अपि भूयोऽर्धादन्तर्वेदि स्यात् कनीयो बहिर्वेद्यथो अपि सर्वमेवान्तर्वेदि स्यात् तन्निष्ठितमभिमृशति वैश्वदेवमसीति द्वयेनैतद्वैश्वदेवं यदस्मिन् पूर्वेद्युर्विश्वे देवा वसतीवरीषूपवसन्तीति तेन वैश्वदेव्यम्' (श. ३.६.१.२६)। निष्ठितं निष्पन्नमाग्नीध्रीयं वैश्वदेवमिति मन्त्रेण अभिमृशेत्। तस्य वैश्वदेवत्वं कारणद्वयेनोच्यते—यदस्मिन् पूर्वेद्युर्वसतीवर्यः सोमाभिषवार्था आपस्तत्र विश्वेदेवाः सुत्यादिनान्ते पूर्वेद्युरधिवसन्ति, तेन वैश्वदेवत्वम्, 'ता आग्नीध्रे सादयति विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थेति' (श. ३.९.२१६) इति श्रुतेः। एवं विश्वेषां देवानामाश्रयत्वादाग्नीध्रीयमण्डपस्य वैश्वदेवत्वमुक्तम्। तदपि तत्रैव प्रपञ्चितम्—'देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुः। तान् दक्षिणतो असुररक्षसान्यासेजुस्तान्

वाले आपके अनुगत नित्य समृद्धियां हों। आपके द्वारा सेवित तथा अंगीकार की गई (प्रीतियां) आपको तथा भक्तों को सुख प्रदान करें।

स्वामी दयानन्द के अर्थ की संगति नहीं है। 'गिर्वणः' का 'स्तुति के योग्य' अर्थ करना असंगत है। 'स्तुतियों से भजनीय' अर्थ ही ठीक बैठता है॥२९॥

मन्त्रार्थ—हे रज्जु! तुम सभा के अधिष्ठाता इन्द्र देवता की सीवन हो। हे गांठ! तुम इन्द्र देवता को स्थिर करने वाली हो। हे सभा! तुम इन्द्र देवता की प्रसन्नता के लिये निर्मित हो। हे आग्नीध्र! तुम सब देवताओं के आवाहन स्थान हो॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए मण्डप के चारों ओर रस्सी बाँधे, सभा को सम्बोधित करे और हविर्धान मण्डप के वायव्य कोण के उत्तर भाग में आग्नीध्र नामक अग्नि-स्थान बना कर उसका स्पर्श करे॥३०॥

भाष्यसार—शतपथ ब्राह्मण तथा कात्यायन श्रौतसूत्र (८.६.११) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'इन्द्रस्य स्यूरसि' आदि मन्त्रों से मण्डपाच्छादनों को सीना तथा स्पर्श करना आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ ब्राह्मणादि में उपदिष्ट है।

सदसो जिग्युस्तेषामेतान् धिष्ण्यानुद्वापयाञ्चक्रुर्य एते अन्तःसदसम्' (श. ३.६.१.२७)। यज्ञं तन्वाना देवा असुरादिभ्य आसङ्गाद् भीतास्तान् सदोनिविष्टान् देवान् दक्षिणेऽसुररक्षसान्यासेजुरासङ्गं कृतवन्तः, सदसः सकाशाद् जिग्युर्जितवन्तः। ततो देवान् निष्कासितवन्तोऽसुरराक्षसाः। न केवलमेतावदेव, किन्त्वन्तः सदसि सदोमध्ये स्थितान् धिष्ण्यानग्नीनप्युद्वापयाञ्चक्रुरनाशयन्।

'सर्वे ह स्म वा एते पुरा ज्वलन्ति। यथायमाहवनीयो यथा गार्हपत्यो यथा आग्नीध्रीयस्तद्यत एनानुदवापयंस्तत एवैतन्न ज्वलन्ति तानाग्नीध्रमभि सꣳरुरुधुस्तानप्यर्धमाग्नीध्रस्य जिग्युस्ततो विश्वे देवा अमृतत्वमयाजयंस्तस्माद्वैश्वदेवम्' (श. ३.६.१.२८)। धिष्ण्यानामुद्वापमुपपादयति— पुरा ज्वलन्तीति। यथाहवनीयो गार्हपत्यो यथाग्नीध्रीयः प्रज्वलति, तथैवैते धिष्ण्याग्नयोऽपि ज्वलन्ति स्म। यत एनानसुरा उदवापयन् तत एवैते तथा न प्रज्वलन्ति। सदसो निष्कासिता देवा आग्नीध्रं प्रविष्टास्तत्राप्यसुरैः संरुद्धाः। ते देवा आग्नीध्रधिष्ण्यगतस्याग्नेरर्धं समीपं प्राप्य तानसुरान् जिग्युः। तत आग्नीध्रस्याग्नेः सामर्थ्याद् विश्वे देवा अमृतत्वमसुरकृतहिंसारहितत्वं प्राप्ताः। तस्माद्विश्वेषां देवानामाश्रयत्वादाग्नीध्रस्य वैश्वदेवत्वं युक्तमेव। 'तान् देवाः प्रतिसमैन्धत . . . . ' (श. ३.६.१.२९)। तानुद्घाटितान् धिष्ण्यान् देवाः पुनरदीपयन्। कात्यायनेनापि परिषीवणग्रन्थ्यभिमर्शनान्यैन्द्रैरिन्द्रदेवताकैस्त्रिभिर्मन्त्रैरुक्तानि। 'निष्टाप्य वैश्वदेवमसीत्यालभते' (का. श्रौ. ८.६.११) इति स्पर्शनं विहितम्।

अथ श्रुतिसूत्रानुसारेणायं मन्त्रार्थः—हे लस्पूजनि स्पन्द्ये सूच्यनुस्यूतरज्जो, त्वं सदोऽभिदेवस्येन्द्रस्य सम्बन्धिनी सती इन्द्ररूपस्य सदोमण्डपस्य वा स्यूरसि सीवनमसि ग्रन्थिसिद्ध्यर्थं स्यूता भवसि साधनभूतासि। हे ग्रन्थे, त्वमिन्द्रस्य तद्देवताकस्य मण्डपस्य सम्बन्धी भूत्वा स्थिरो भवसि। ऐन्द्रमसि हे सदः, त्वमैन्द्रमसि इन्द्रदेवताकमसि। आग्नीध्रनामकमग्निस्थानं निर्माय तस्य स्पर्शनं करोति—हे आग्नीध्र, त्वं वैश्वदेवमसि सर्वदेवाश्रयत्वाद् वैश्वदेवमसि सर्वदेवसम्बन्धी भवसि।

अध्यात्मपक्षे—हे कूटस्थ निर्विकार निर्गुण परमात्मन्, त्वमिन्द्रस्य मायाविशिष्टस्य परमैश्वर्यशालिनः परमेश्वरस्य स्यूरसि, सीव्यते सर्वमस्मिन्निति स्यूः। त्वं तु ध्रुवो निश्चलः कूटस्थ एवासि, 'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्' इति रीत्या अन्तिमकारणस्याकारणकत्वेनात्यन्तनिर्विकारत्वात्। इन्द्रस्य परमेश्वरस्य जीवस्य वा सम्बन्धि अधिष्ठानमसि। न केवलमिन्द्रस्य, किन्तु विश्वेषां देवानां त्वमेवाधिष्ठानमसि, अतो वैश्वदेवमसि। सूत्रे मणिगणा इव सर्वे देवा सर्वाणि वस्तूनि सर्वे जीवाः सर्वेश्वरश्च त्वय्येव परिकल्पिताः, अतस्त्वमेव सर्वमसीत्यभिप्रायः।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर सभाध्यक्ष वा, यथा वैश्वदेवमन्तरिक्षमस्ति, तथा त्वमैन्द्रं पारमैश्वर्यस्याधिकरणमसि। अत इन्द्रस्य स्यूरसि। इन्द्रस्य सूर्यादिलोकस्य राज्यस्य वा ध्रुवोऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सभाध्यक्षे

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे कूटस्थ, निर्विकार, निर्गुण, परमात्मा ! आप मायाविशिष्ट परमैश्वर्यशाली परमेश्वर के सम्बन्धाधिष्ठान हैं। आप तो ध्रुव, निश्चल तथा कूटस्थ ही हैं, क्योंकि अन्तिम कारण अकारणक होने के कारण अत्यन्त निर्विकार रहता है। आप परमेश्वर अथवा जीव से सम्बद्ध अधिष्ठान हैं, मात्र इन्द्र के ही नहीं, अपितु समस्त देवताओं के अधिष्ठान हैं, अतः आप वैश्वदेव हैं। सभी देवगण, समस्त वस्तुएं, सभी जीव, सभी कुछ आपमें ही विद्यमान हैं, अतः आप ही सर्वस्वरूप हैं।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में सभाध्यक्ष का पारमैश्वर्य-युक्त न होने के कारण औचित्य नहीं है। निरतिशय ऐश्वर्य ही पारमैश्वर्य होता है तथा वह पारमैश्वर्य परमेश्वर में ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं। सर्वाधार होना भी सभाध्यक्ष में सम्भव नहीं है। शतपथ श्रुति का विरोध इस अर्थ में स्पष्ट ही है ॥३०॥

पारमैश्वर्यायोगात्। निरतिशयं ह्यैश्वर्यं पारमैश्वर्यं भवति। तच्च परमेश्वर एव सम्भवति नान्यत्र। सर्वाधारत्वमपि तत्र न सम्भवत्येव। शतपथश्रुतिविरोधश्च स्पष्ट एव ॥३०॥

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः। श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः ॥३१॥

'विजामानो हैवास्य धिष्ण्याः' (श. ३.६.२.१) इत्यादिषु ये यज्ञस्य धिष्ण्यास्ते विजामानो भ्रातरो बान्धवा आसन्। यत इमे समङ्काः समानचिह्नाः। ये वै समङ्कास्ते विजामानः। एते खलु यज्ञस्यात्मानः, अतोऽपि विजामानस्तस्मात् सोमयागे धिष्ण्याः कर्तव्याः। तत्स्पष्टीकरणाय 'दिवि वै सोम आसीत्' इतीयमाख्यायिकोक्ता। सोमप्रेप्सया देवाः सुपर्णीं कद्रूं च मायामसृजन्त। ते कलहायमाने ऊचतुः। नौ यतरा अत्यन्तं दूरं पश्येत् सा दूरदर्शिनी। सुपर्णी उवाच—सलिलस्य पारे अश्वः श्वेतः स्थाणौ सेवते, तमहं पश्यामि। तमेव त्वं पश्य। सा कद्रूर्दूरं विलोक्योवाच—तमश्वं पश्यामि तस्य पुच्छं स्थाणौ निषक्तं तं वातो धुनोतीत्यपि पश्यामि। श्रुतिरेव तदुक्त्योस्तात्पर्यमुक्तवती—सलिलं सागरादिसंबद्धं यथाऽनतिलङ्घ्यं भवति, एवं वेदिः सलिलत्वेन निरूप्यते। अग्नेः शुक्लभास्वरत्वात् सर्वाशनत्वाच्च श्वेतरूपत्वमश्वत्वं च। यूपस्य स्थाणुत्वं साक्षादेव। कद्रूक्तेस्तु तात्पर्यमिदम्—वालवदतिदैर्घ्याद्युपवेष्टिता रशना वालं पुच्छमुच्यते। आवयोः कस्या जय इति कद्र्वाः प्रश्ने सुपर्ण्योक्तं त्वमजैषीः। पराजितया सुपर्ण्या गायत्र्यादिच्छन्दांसि सृष्ट्वा दिवं स्थितं सोममाहृत्य देवेभ्यः सकाशादात्मनिष्क्रयणं कृतम्। सा गायत्री दिवः सोममहरत्। हिरण्मय्यो-रायुधयोराच्छन्नः सोमोऽभूत्। ते कुश्यौ क्षुरधारे इव तीक्ष्णाग्रे निमेषं निमेषं सर्वदा अपि सन्धत्तः, यथान्यो नाहरेत्तथा रक्षतः। दीक्षातपसावेव तावायुधौ स्तः। तं सोममेते गन्धर्वाः सोमरक्षायै जुगुपुः। ते के? य इमे सदसि वर्तमाना धिष्ण्या इमेऽहोत्रका होतृवर्जं मैत्रावरुणादयः। गायत्री तयोरन्यतरां कुशीं छित्वा देवेभ्यः सोमं प्रददौ। सा च दीक्षा। तया देवा अदीक्षन्त। अथ द्वितीयां छित्त्वा देवेभ्यो ददौ। सा तपोनामोपसदः। तया देवास्तप उपायन्। सोमाहरणसमये खदिरस्यातिसारत्वात् तं साधनं कृत्वा सोमं भक्षितवती गायत्री। अतः खादनसाधनत्वात् खदिरेति नाम सम्पन्नम्। सोमाहरणोपयोगादेव सोमयागे यूपः स्फ्यश्च खादिरौ कर्तव्यौ। होत्रकाणामेव सोमरक्षकगन्धर्वरूपत्वादच्छावाकाख्यो होत्रको यदा सोमरक्षकेषु मध्ये रक्षितवान् तदा गायत्री सोमं जहार। सोऽच्छावाकोऽहीयत हीनो निकृष्टोऽभूत्। अत एवेतरहोत्रकवत् प्रथमत एव सदःप्रवेशमपि न समालभत। तं हीनमच्छावाकमिन्द्राग्नी ऐन्द्राग्नशस्त्रपाठेन सन्तुष्टौ सन्तानमनुप्रवेशमकुरुताम्, अतोऽच्छावाक इन्द्राग्निदेवताकः।

तथा चोत्तरत्राच्छावाकश्चमसहोमकाले आम्नास्यते—'अहीयत वा अच्छावाकस्तमिन्द्राग्नी' (श. ४.३.१.१-२)। तस्माद्दीक्षिता राजानं गोपायन्ति। यस्य गोपनायामपहरन्ति हीयते ह सः। तस्माद् ब्रह्मचारिण आचार्यं गोपायन्ति।

मन्त्रार्थ—हे आग्नीध्रीय धिष्ण्य के अग्नि! तुम नाना रूप धारक हो, हवि को पहुँचाने वाले हो। हे होतृधिष्ण्य की अग्नि! तुम यज्ञकर्म के निर्वाहक हो, देवताओं को हवि प्राप्त कराने वाले हो। हे मैत्रावरुण धिष्ण्य की अग्नि! तुम शीघ्रगामी मित्ररूप हो, श्रेष्ठ ज्ञान वाले वरुण रूप हो। हे ब्राह्मणाच्छंसी धिष्ण्य के अग्नि! तुम ब्रह्मरूप हो, देवताओं में दक्षिणा का विभाग करने वाले हो, सर्वज्ञ हो॥ इस मन्त्र से अध्वर्यु उत्तरमुख बैठ कर अग्नियों की आश्रय छोटी वेदि रूप धिष्ण्यों को मिट्टी से बनावे। इसी तरह से पश्चिममुख, उत्तरमुख और दक्षिणमुख हो विभिन्न देवताओं के धिष्ण्यों को बनावे॥३१॥

भाष्यसार—'विभूरसि' इस कण्डिका के मन्त्रों के द्वारा अध्वर्यु धिष्ण्य नामक स्थण्डिल (अग्निके स्थापनहेतु वेदिविशेष) का निर्माण करता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (८.६.१२-१३, १६-२०) तथा मानव, आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्रों में भी प्रतिपादित है। तैत्तिरीय श्रुति तथा शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

गायत्र्या हृतेन तेन सोमेन देवा अयजन्त। तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षा अन्वाजग्मुः। नो यज्ञ आभजत इत्यब्रुवन्। ते होचुः किं नस्ततः स्यादिति यथैवास्यामुत्र गोप्तारोऽभूमैवमेवास्येह गोप्तारो भविष्यामः। तथेति देवा अब्रुवन्। सोमक्रयणा वो भागाः। सोमः क्रीयते यैस्ते सोमक्रयणाः। तृतीयसवने घृत्या(घृतसाध्या)हुतिर्युष्मान् प्राप्स्यति। न सोम्या यूयम्। अपहृतो हि सोमः। ययाहुत्या तृणसमूहैर्विहृतान् धिष्ण्यान् घृतेन व्याघारयति सैषा घृत्या। अथ यत्रदीप्तेऽग्नौ होष्यन्ति तदाज्यं वस्तर्पयिष्यति। अथ यद्वः सोमं बिभ्रत उपर्युपरि चरिष्यन्ति तद्वोऽविष्यति। तस्मादध्वर्युः समयाधिष्ण्यान्नातीयात्। देवानामर्थे सोमं धारयन्नध्वर्युः। यतस्तमध्वर्युमेते विवृतेनास्येन प्रतीक्ष्य निवसन्ति। सोऽपि धिष्ण्यानतिक्रामन्नेतेषां विवृतं मुखं प्रविशति। तमग्निर्वाभिदहेत योऽयं देवः पशूनामीष्टे स वा एनमभिमन्येत हिंसितुमिच्छेत। अभिमानोऽत्र हिंसेच्छैव। तस्माद्यदाध्वर्योः शालायां प्राग्वंशे यद्यर्थः प्रयोजनं स्यात्तदाग्नीध्रीयमुत्तरेण सञ्चरेत्। 'ते वा एते सोमस्यैव गुप्त्यै न्युप्यन्ते। आहवनीयः पुरस्ताद् मार्जालीयो दक्षिणत आग्नीध्रीय उत्तरतोऽथ ये सदसि ते पश्चात्' (श. ३.६.२.२१)। सर्वेषां सोमरक्षकत्वे समाने सदोगतानां धिष्ण्यानामिव कथमितरेषामनुदेशनं नास्ति? इत्यत आह— तेषां वार्धानुपकिरन्ति, अर्धाननुदिशन्ति। अनुदेशो नाम विद्यमानं पदार्थमन्वेवं भवतीति निर्देशः। अत एव आहवनीयादौ तत्तद्गन्धर्वात्मना 'सम्राडसि कृशानुः' (वा. सं. ५.३२) इत्याद्यनुदेशः क्रियते। 'अर्धाननुदिशन्त्येत उ हैवैतद्दधिरे . . . यानुपकिरन्ति तेनास्मिंल्लोके प्रत्यक्षं भवन्ति। याननुदिशन्ति तेनामुष्मिंल्लोके प्रत्यक्षं भवन्ति'। यथा स्थानद्वैविध्यं तथैव नामद्वैविध्यमपि—'ते वै द्विनामानो भवन्ति। एत उ हैवैतद् दधिरे' नामान्तरधारणविषये मतिं चक्रुः। नाम्नामपरितोषे कारणमाह—'न वा एभिर्नामभिररात्स्म येषां नः सोममपाहार्षुर्हन्त द्वितीयानि नामानि करवामहा इति ते द्वितीयानि नामान्यकुर्वंस्तैरराध्नुवन् यानपहृतसोमपीथान् सतोऽथ यज्ञ आभजंस्तस्माद् द्विनामानस्तस्माद् ब्राह्मणोऽनृद्ध्यमाने द्वितीयं नाम कुर्वीत राध्नोति हैव य एवं विद्वान् द्वितीयं नाम कुरुते' (श. ३.६.२.२४)। न अरात्स्म समृद्धा न भवामः। यज्ञभागप्राप्तिरुक्तैव।

'धिष्ण्यान्निवपत्युद्धतावोक्षिते पुरीषं निवपति स्फ्येनान्वारब्ध उदङ्ङुपविश्य विभूरसीति प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ८.६.१२)। सर्वत्र प्राङ्मुखोऽध्वर्युः पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा पुनरप्युद्धतावोक्षिते देशे धिष्ण्यान् कुर्यात्। तदर्थं च स्फ्येन अन्वारब्धे यजमाने होतृधिष्ण्यवर्जमुदङ्मुखोऽध्वर्युरुपविश्य एकैकेन मन्त्रेण यथाक्रममेकैकस्मिन् धिष्ण्ये हस्तेनैव चात्वालानीतं पुरीषं निवपेत्। इमानि पुरीषाणि चात्वालादानेयानि। (का. श्रौ. १.८.३८)। धिष्ण्यः स्थण्डिलविशेषः। यत्राग्निं संस्थाप्य होत्रादयः स्वानि शस्त्राणि शंसन्ति। 'आग्नीध्रीयं पूर्वमिति' (का. श्रौ. ८.६.१३)। तेषां धिष्ण्यानां मध्ये आग्नीध्रीयस्य गृहस्य मध्ये प्रथमं विभुरसीत्याग्नीध्रीयं धिष्ण्यं निर्वपेत्। अष्टयजुषां धिष्ण्या अग्नयो देवताः। तत्रायं प्रथमो मन्त्रः—विभुरसीति। विभुशब्दः प्रवाहणशब्दो वाग्नीध्रधिष्ण्यस्य नामनी, 'ते वै द्विनामानो भवन्ति' (श. ३.६.२.२४) इति श्रुतेः। तथा च हे आग्नीध्र धिष्ण्य, त्वं विभुः प्रवाहणश्चासि। विविधं भवतीति विभुः। एतस्मादेव धिष्ण्यादितरधिष्ण्येष्वग्निविहरणादेतस्य विविधभवनाद्विभुत्वम्। प्रवाहयतीति प्रवाहणः। हविषः प्रवाहणपरत्वात् प्रवाहणं चास्यैव। एतस्य मन्त्रस्याग्नीध्रीयधिष्ण्यविषयत्वं बौधायनोऽप्याह—'आग्नीध्रं कृत्वा स्फ्येनोद्धृत्यावेक्ष्य चात्वालपुरीषं सिकता इति निर्वपति'। अथ द्वितीयः—हे होतृधिष्ण्य, त्वं वह्निरसि हव्यवाहनः, यज्ञकर्मणो निर्वाहकत्वाद् वह्निरसि, देवान् प्रति हविःप्रापणाद् हव्यवाहनोऽसि। एवं होतृधिष्ण्यस्यापि द्विनामत्वं द्रष्टव्यम्। धिष्ण्यगतानग्नीन् प्रत्यन्ये देवाः प्रत्येकं नामद्वयं सम्पादयतेत्यूचुः, 'तान् देवा अब्रुवन् द्वे द्वे नामनी कुरुतम्' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'षट् सदसि' (का. श्रौ. ८.६.१६)। सदसि षड् धिष्ण्यान् निर्वपेत्। 'प्रत्यङ्मुखो द्वारमपरेण होतुः' (का. श्रौ. ८.६.१७)। सदसः पूर्वद्वारमपरेण एकं प्रक्रमं परित्यज्य पृष्ठ्यामध्य एव यथा पृष्ठ्या मध्ये भवेत्तथा होत्रीयं निर्वपेत् प्रत्य-

ङ्मुखोऽध्वर्युः, 'वह्निरसीति पृष्ठ्यायां होत्रीयम्' (आप. श्रौ. १२.४.४) इत्यापस्तम्बवचनात्। 'दक्षिणपूर्वेणौदुम्बरीं मैत्रावरुणस्य' (का. श्रौ. ८.६.१८)। औदुम्बर्या आग्नेय्यां दिशि मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यमुदङ्मुखो निर्वपेत् श्वात्रोऽसीति मन्त्रेण। होतृधिष्ण्याद् दक्षिणस्यां दिश्यरत्निचतुष्टये सार्धे पदाधिके प्रशास्तृधिष्ण्यं निर्वपेदिति मानवे। 'होतृधिष्ण्यमुत्तरेण चतुरः समान्तरान् ब्राह्मणाच्छꣳसि-पोतृ-नेष्टृच्छावाकानाम्' (का. श्रौ. ८.६.१९)। उत्तरोत्तरक्रमेण तुल्यान्तरानष्टादशाङ्गुलपरिमितान् धिष्ण्यान् तावदन्तरालांश्च तुथोऽसि, उशिगसि, अङ्गारिरसि, अवस्यूरसि—इति मन्त्रैः क्रमेण कुर्यात्। 'आग्नीध्राद् दक्षिणꣳ सम्प्रति वेद्यन्ते दक्षिणामूलो मार्जालीयम्' (का. श्रौ. ८.६.२०)। आग्नीध्राद् दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणामुखोऽध्वर्युर्वेद्यन्ते सम्प्रति मार्जालीयं धिष्ण्यं शुन्ध्युरिति निर्वपेत्। अथ तृतीयः—श्वात्रोऽसि हे मैत्रावरुण धिष्ण्य, त्वं श्वात्रः प्रचेताश्चासि शु क्षिप्रमततीति श्वात्रः मित्रोऽसि। प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं यस्य स त्वं प्रचेता असि वरुणस्तद्रूपोऽसि। अथ तुरीयः—हे ब्राह्मणाच्छंसिधिष्ण्य, त्वं तुथोऽसि विश्ववेदाः, 'ब्रह्म वै तुथः' (श. ४.३.४.१५) इति श्रुतेर्ब्रह्मरूपोऽसि। विश्वं वेत्तीति विश्ववेदाः सर्वज्ञ इत्युव्वटः। सायणरीत्या तु तुथशब्देन देवान् प्रति दक्षिणानां विभागकर्ता पुरुष उच्यते, 'तुथो ह स्म वै विश्ववेदा देवानां दक्षिणा विभजति' इति तैत्तिरीयश्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो. १.२.१५) इति श्रुतिरीत्या परमात्मपरत्वं तु न विरुद्ध्यते। हे सर्वेश्वर, त्वं विभुरसि व्यापको विविधरूपेण वा भवसि, 'एकोऽहं बहु स्याम्' (छा. उ. ३.६.२३) इति श्रुतेः। यतः प्रवाहणः संसारं प्रवाहयसीति प्रवाहणः, जननमरणाविच्छेदलक्षणायाः संसृतेर्बीजत्वात्। त्वं वह्निरसि यतो हव्यवाहनो हविषां प्रापकोऽसि। त्वमेव श्वात्रोऽसि शु क्षिप्तं सततगमनवानात्मासि, 'यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते॥' इत्युक्तेः। यतः प्रचेताः प्रकृष्टं चेतो यस्यासौ प्रचेताः, त्वमेव तुथो ब्रह्मरूपोऽसि, यतो विश्ववेदाः सर्वज्ञोऽसि। एवं हेतुहेतुमद्भावेन नामद्वयं परमात्मपक्षे युज्यते।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर विद्वन् वा, यस्मात्त्वं यथाकाशो वैभवयुक्तो राजा वा तथा विभुरसि। यथा वायुर्महान् देवस्तथा प्रवाहणोऽसि। यथा वह्निस्तथा हव्यवाहनोऽसि। यथा प्राणस्तथा प्रचेताः श्वात्रोऽसि। यथा सूत्रात्मा तथा पवनस्तथा विश्ववेदास्तुथश्चासि। तस्मात् सत्कर्तव्योऽसीति वयं विजानीम इति श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ स्तः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लुप्तोपमालङ्कारस्य यथेष्टाङ्गीकारे सर्वत्र शाक्तवाक्यार्थबाधापत्तेः। किञ्च, लुप्तोपमालङ्काराश्रयणेऽपि प्रवाहणोऽसि हव्यवाहनोऽसीति द्वितीयनाम्नोऽसीति क्रियायोगाभावे किं मूलमित्यपि विचारणीयम्। श्रुतिविरोधस्तु स्फुट एव, धिष्ण्यानां द्विनामत्वेन मन्त्रस्य तत्परत्वावगमात्॥३१॥

अध्यात्मपक्ष में 'समस्त वेद जिस तत्त्व का निरूपण करते हैं' इस कठोपनिषद् के वचन के अनुसार परमात्मपरक व्याख्या करना विरुद्ध नहीं है। तदनुसार अर्थयोजना इस प्रकार है — हे सर्वेश्वर, आप व्यापक हैं अथवा विविध रूपों में हैं, क्योंकि आप जननमरण के सातत्यवाली सृष्टि के मूल होने के कारण संसार के प्रवाहकर्ता हैं। आप हविष्य को पहुँचाने के कारण वह्निरूप हैं। आप ही शीघ्र एवं सतत गमनशील आत्मा हैं। आप प्रकृष्ट चित्त वाले तथा ब्रह्मरूप हैं, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ समीचीन नहीं है, क्योंकि स्वेच्छा से ही लुप्तोपमा अलंकार का आश्रय लेने पर सर्वत्र मुख्य वाक्यार्थ का बाध प्राप्त हो जायगा। लुप्तोपमा अलंकार का आश्रय लेने पर भी 'प्रवाहण, हव्यवाहन' इन नामों के साथ 'असि' (हो) इस क्रिया के न होने में क्या कारण है, यह भी विचारणीय होगा। इस अर्थ में शतपथ श्रुति आदि का विरोध तो स्पष्ट ही है॥३१॥

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदन ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः ॥३२॥

हे पोतृधिष्ण्य, त्वमुशिक् कमनीयोऽसि। कविः क्रान्तदर्शनोऽसि, 'वश कान्तौ'। हे नेष्टृधिष्ण्य, त्वमङ्घस्यां-हसोऽरिः शत्रुरसि। अंहःशब्दः पापवचनः। हकारस्य घकारश्छान्दसः। बम्भारिः, बिभर्तीति बम्भारिः सर्वधारकोऽसि। दिवि सोमरक्षकौ अङ्घारिबम्भारी, 'स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे' (वा. सं. ४.२७) इति सोमरक्षकमन्त्रवर्णात्। तयोर्नाम-द्वयमस्मिन् नेष्ट्रीयधिष्ण्ये उपचर्यते। हे अच्छावाकधिष्ण्य, त्वमवस्यूरसि दुवस्वांश्चासि। अवोऽन्नमिच्छतीत्यवस्यूरि-त्युव्वटाचार्यः, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा. सू. ३.१.८) इति क्यचि, 'क्याच्छन्दसि' (पा. सू. ३.२.१७) इति क्यजन्तादुप्रत्यये दीर्घश्छान्दस इति महीधराचार्यः, औणादिक ऊप्रत्ययो वा। दुवोऽस्यास्तीति दुवस्वान् हविष्मान्। दुव इति हविर्नाम, अच्छावाकस्य पुरोडाशहविर्भाक्त्वात्। सायणाचार्यरीत्या एतौ शब्दौ वायुविशेषवाचकौ, 'अवस्यवे त्वा वाताय दुवस्वते त्वा वाताय स्वाहा' इति मन्त्रान्तरे समाम्नानात्। तदेतन्नामद्वयमच्छावाकस्य धिष्ण्ये उपचर्यते। तान् होत्रादिधिष्ण्यान् सदसि निर्माय वेदेर्दक्षिणभागे मार्जालीयधिष्ण्यो निर्मातव्यः। शुन्धयतीति शुन्ध्यूः। मार्ष्टीति मार्जालीयः। तत्र हि पात्राणि प्रक्षाल्यन्ते। पात्रप्रक्षालनेन लेपमार्जनभूतो मार्जालीयः। तदेतन्मार्जालीयधिष्ण्यस्य नामद्वयम्। 'सदोद्वारं पूर्वेण तिष्ठन्ननुदिशत्याहवनीयबहिष्पवमानदेशचात्वालशामित्रौदुम्बरिब्रह्मासनशालाद्वार्यप्राजहितान् सम्राडसीति प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ८.६.२१)। अष्टधिष्ण्यनिवापानन्तरं सदसः पूर्वद्वारस्य पुरस्तात् तिष्ठन्नध्वर्युः सम्राडसीत्यादिमन्त्रैः प्रतिमन्त्रमा-हवनीयादीन् विलोकयन्ननुदिशेत्। अनुदेशो नाम विद्यमानमेव पदार्थमनु त्वमेव भवसीति निर्देशः। आहवनीय औत्त-रवेदिकः। चात्वालस्य समीपदेशे दक्षिणतोऽन्तर्वेदिर्बहिष्पवमानदेशः, यत्र ऋत्विजो बहिष्पवमानाख्यं स्तोत्रं स्तु-वन्ति। प्राजहितः पुरातनो गार्हपत्यः, आहवनीयादीन् गार्हपत्यान्तान् विलोकयेदिति सूत्रार्थः।

हे उत्तरवेदिगताहवनीय, त्वं सम्राडसि, कृशानुश्चासि। बहुविधाहुत्याधारत्वेन सम्यग्राजमानः सञ्जतदीप्तिः सम्राडसि। कृशो यजमानः पयोव्रतैरुपक्षीणः, एनमनुगच्छतीति कृशानुः, कृशं यजमानमनुगच्छतीति वा कृशानुः। बहि-ष्पवमानदेशमनुदिशेत्। हे बहिष्पवमानदेश, त्वं परिषद्यः पवमानश्चासि। स्तोतुं समवेता ऋत्विजः परिषद्, तद्योग्यः

मन्त्रार्थ—हे पोतृधिष्ण्याग्ने ! तुम कमनीय और क्रान्तदर्शी होने से कवि नाम वाले हो। हे नेष्टृधिष्ण्य के अग्नि ! तुम पापनाशक होने से अंघारि और पोषक होने से बंभारि हो। हे अच्छावाकधिष्ण्य के अग्नि ! तुम अन्न चाहने वाले हविष्मान् हो। हे मार्जालीय धिष्ण्य के अग्नि ! तुम पवित्र करने वाले, मार्जन करने वाले हो। हे उत्तरवेदि के आहवनीय अग्नि! तुम बहुत प्रकार की आहुतियों को धारण करने से भली प्रकार शोभायमान और पयोव्रत आदि से कृश यजमान के अनुगामी हो। हे बहिष्पवमान देश ! तुम स्तुतिकारक ऋत्विजों की सभा के योग्य हो, उसको पवित्र करने वाले हो। हे चत्वाल ! तुम छिद्र-युक्त होने से आकाशस्वरूप और ऋत्विजों के प्रदक्षिण चलने से प्रतक्वा नाम वाले हो। हे शामित्र ! तुम पवित्र और हवि के पाक के कारण हो। हे औदुम्बरि ! तुम उद्गाता की प्रधान कार्यस्थान और स्वर्ग की प्रकाशक हो।

इस मन्त्र से विभिन्न धिष्ण्यों को बना कर उन पर अधिष्ठित अग्नियों का नामकरण किया जाता है ॥३१॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.६.२१) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'उशिगसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से आठ धिष्ण्य नामक स्थण्डिल स्थापित करने के बाद 'सम्राडसि' इत्यादि मन्त्रों से आहवनीय आदि अग्न्यायतनों का अवलोकन किया जाता है। उव्वट आदि आचार्यों ने यज्ञप्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ किया है।

परिषद्यः, उद्गातृप्रभृतिभिः परिषदनीयो वा। शुद्धत्वाच्छोधकत्वाच्च पवमानोऽसि। तथैव चात्वालम्। हे चात्वाल, त्वं नभोऽसि, खननेन छिद्ररूपत्वादाकाशरूपोऽसि, प्रतक्वा प्रदक्षिणं तक्वन्ति गच्छन्ति ऋत्विजो यत्र स प्रतक्वा, तक्वतिर्गत्यर्थः, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा. सू. ३.२.७५) इति वनिप्। हे शामित्र, (शामित्रं पशुविशसनदेशः) त्वं मृष्टोऽसि, पशुविशसनस्य विहितत्वेनाशुद्धिहेतुत्वाभावात् सत्यपि विशसने शुद्धोऽसि, 'अविशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (ब्र. सू. ३.१.२५) इत्यत्र श्रीमच्छङ्करभगवत्पादैर्भगवद्रामानुजादिभिश्चाग्नीषोमीयालम्भनादीनामविशुद्धिराहित्येन शुद्धत्वप्रतिपादनात्। यद्वा शृतत्वान्मृष्टम्, पक्वं हरिर्मृष्टं भवति, मृष्टो मृष्टकारी, तथा हव्यसूदनः, हव्यस्य हृदयजिह्वादिरूपस्य सूदनः पाकहेतुश्चासि। सूदः सूपकार उच्यते हविषः पक्ता। हे औदुम्बरि, त्वमृतधामासि ऋतं सामगानं धाम उपवेशनस्थानं यस्याः सा, 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' इति श्रुतेः। सामगानामृतमवश्यंभावि धामोपवेशनस्थानं यस्यास्तादृशी त्वमसीति। ऋतो यज्ञस्तस्य धाम स्थानं जन्म वा, तत्र हि उद्गातारो यज्ञस्य कारणभूतास्तिष्ठन्ति, जनयन्ति वा यज्ञम्। स्वर्ज्योतिः, आदित्यज्योतिः, उन्नतत्वेन स्वर्गे प्रकाशकः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वमुशिक् कमनीयोऽसि। श्रीरामश्रीकृष्णकामेश्वर्यादिरूपेणैव कमनीयतमत्वप्रसिद्धेः। कविः क्रान्तदर्शी सर्वज्ञत्वादतीतानागतादिसर्वदर्शी। अङ्घारिः, अंहोरूपस्याघासुरस्य हन्तासि, स्मृतिमात्रेण पापनाशको वा, 'अघि गत्याक्षेपे', अङ्घन्ति पलायन्तेऽरयः शत्रवो यस्य सः। बिभर्ति विश्वं पालयतीति बम्भारिः, परमेश्वरस्य सर्वधारणपोषणकर्तृत्वप्रसिद्धेः। अवस्युः, अवसमन्नं भक्तानां विविधमभीष्टं भोग्यमिच्छतीत्यवस्युः। यद्वा पूर्णत्वादाप्तकामत्वान्निरिच्छोऽपि करुणत्वाद् भक्तप्रदत्तं पत्रं पुष्पं फलं जलं च भगवानिच्छत्येव, 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥' (भ. गी. ९.२६), 'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते। यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥' (भा. पु. ७.९.११) इत्यादिवचनेभ्यः। दुवस्वान् प्रशस्तहविष्मान्। दुवः परिचरणं तत्प्रशस्तं विद्यतेऽस्येति दुवस्वान्। शुन्ध्यूः शुद्धोऽसि, निःसङ्गत्वात्। मार्जालीयो मार्ष्टि पवित्रयतीति मार्जालीयो जगच्छोधकोऽसि, मृजेरालीयप्रत्यये रूपसिद्धिः, 'स्थाचतिमृजेरालज्वालजालीयचः' (उ. १.११६)। सम्राडसि सम्यक् सर्वनैरपेक्ष्येण राजत इति सम्राट् स्वप्रकाशः। कृशानुः कृशं तपोभिस्तापैश्च विप्रलम्भैश्च क्षीणा अनुगच्छन्त्येनमिति कृशानुः, यद्वा कृशाननुगच्छति करुणयेति कृशानुः। परिषद्यो ब्रह्मविदां परिषदि प्रतिपाद्यत्वेन ध्येयत्वेन भवः परिषद्यः। पवमानः स्मरणमात्रेण जनान् पावयतीति पवमानः। नभोऽसि नभोवदपरिच्छिन्नोऽसि, न भाति बहिर्मुखान् प्रतीति वा नभः, न भाति फलव्याप्त्येति वा, विदुषामन्तर्मुखानामेव वृत्तिव्याप्त्यैव भातीत्यर्थः। प्रतक्वा प्रदक्षिणं तक्वन्ति उपासका यस्य स प्रतक्वा, प्रकर्षेण तकति हर्षति तकयति हर्षयति वा यः स प्रतक्वा, 'पदे पदे या परिपूजकेभ्यः सद्योऽश्वमेधादिफलं ददाति। तां सर्वपापक्षयहेतुभूतां प्रदक्षिणां ते परितः करोमि॥' इत्याद्यशङ्कराचार्यवचनात्। मृष्टोऽसि शुद्धोऽसि मधुरोऽसि, परमानन्दरूपत्वात्, 'मधुराधिपतेरखिलं

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे परमेश्वर, आप कमनीय हैं, क्रान्तदर्शी हैं, अर्थात् सर्वज्ञ होने के कारण भूत, भविष्य आदि के सर्वदर्शी हैं। अघासुर के हन्ता अथवा स्मृतिमात्र से पाप के नाशक हैं। विश्व का भरण, पालन करने वाले हैं। भक्तों के विविध अभीष्ट भोग्य की इच्छा करते हैं। अथवा पूर्णकाम होने के कारण इच्छारहित होने पर भी भक्त के द्वारा प्रदत्त पत्र, पुष्प, फल और जल की इच्छा भगवान् रखते हैं। आप प्रशस्त हवियों से युक्त हैं। निस्संग होने के कारण शुद्ध हैं, जगत् के शोधक हैं। स्वप्रकाश तथा सन्तप्त जनों के गमनाश्रय हैं। अथवा कृश, दुर्बल भक्तों के प्रति करुणापूर्वक स्वयं जाने वाले हैं। ब्रह्मवेत्ताओं की परिषद् में ध्येय हैं। स्मरण मात्र से जनों को पवित्र करने वाले, आकाश की भाँति अपरिच्छिन्न हैं। अथवा बहिर्मुख जनों के लिये अगम्य हैं। प्रदक्षिणा के आश्रय हैं या परम आनन्दस्वरूप अथवा परमानन्दप्रद हैं। शुद्ध एवं मधुर हैं। अथवा क्षमा करने वाले हैं। परा

मधुरम्' इत्यभियुक्तोक्तेः। मर्षति मर्षयति वा स मृष्टः। देवद्विजादीनां कृते हव्यस्य सूदनः सूपकारः पाचकोऽसि। पराभट्टारिकायुक्तत्वाद् महागृहमेधीयः सन् देवानां द्विजानां कृते महाहविषां पाचकोऽसि। ऋतधामासि ऋतं सत्यमेव धाम निवासस्थानं यस्य सः। स्वर्ज्योतिः स्वरूपलक्षितानां सर्वेषां लोकानां ज्योतिः प्रकाशरूपम्, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डको. २.२.१०) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—परमेश्वरपरत्वेन मन्त्रं व्याख्यातवान्। तत्र श्रुतिसूत्रादिविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥३२॥

स॒मु॒द्रोऽसि वि॒श्वव्यं॑चा अ॒जोऽस्येकं॑पा॒दहिं॑रसि बु॒ध्न्यो॒ वाग॑स्यै॒न्द्रम॑सि॒ सदो॒ऽस्यृत॑स्य द्वारौ॒ मा मा॒ सन्ता॑प्त॒मध्व॑नामध्वपते॒ प्र मा॑ तिर स्व॒स्ति मे॒ऽस्मिन् प॒थि दे॑व॒या॑ने॑ भूयात्॥३३॥

हे ब्रह्मासनप्रदेश, त्वं समुद्रोऽसि सर्वे देवाः सम्यगुत्कर्षेण द्रवन्त्यस्मिन्निति समुद्रः, समुद्र इवागाधो ज्ञानेन ब्रह्मा यत्र तिष्ठति। स त्वं विश्वव्यचाश्चासि, विश्वं सर्वं यज्ञं व्यचति गच्छति कृताकृतप्रत्यवेक्षणायेति विश्वव्यचाः। शालाद्वार्यमनुदिशति—अजोऽस्येकपात्। हे शालाद्वार्य, प्राचीनवंशद्वारवर्तिन्नग्ने, त्वमजोऽसि, अजत्याहवनीयरूपेण यज्ञप्रदेशेषु गच्छतीत्यजः, यद्वा न जायत इत्यजः, परब्रह्मरूपोऽसि। एकः पातीत्येकपात्, यद्वा एकः पादः सर्वभूतानि यस्य स एकपात्, 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' (वा. सं. ३१.३) इति श्रुतेः। प्राजहितं पत्नीशालापश्चिमभागवर्तिनं पुरातनं गार्हपत्याग्निमनुदिशति। हे प्राजहित गार्हपत्याग्ने, त्वमहिरसि। न हीयत इत्यहिः, शालाद्वारीये नूतने गार्हपत्ये जातेऽप्ययं पुरातनो गार्हपत्यः स्वरूपेण न हीयते। बुध्नो मूलं तत्र भवो बुध्न्यः, आधानकाले प्रथममाहितत्वात् तस्य मूलभावित्वात्। स हि प्रथमं मथ्यते, ततोऽपि मूलभावित्वं तस्य। नाम्नैवात्र धिष्ण्यानां स्तुतिः। तदेवोक्तं कात्यायनेन—'स्तुतिः स्वनाम्ना कर्मणा वाथ रूपैः' (का. श्रौ. ९.८.१०) ?, 'वागसीति सदोऽभिमर्शनम्' (का. श्रौ. ९.८.१३)। हे सदः, त्वं वागसि वाचाऽस्मिन् कर्म कुर्वन्तीति वाक्शब्देनाभेदोपचारात् सदो वागुच्यते। ऐन्द्रमिन्द्रदेवताकं चासि। सीदन्त्यस्मिन्निति सदः। 'ऋतस्य द्वाराविति द्वार्ये' (का. श्रौ. ९.८.१३)। सदसो द्वारभवे स्थूणे अभिमृशेत्। हे ऋतस्य यज्ञस्य द्वारौ द्वारदेशस्थायिन्यौ शाखे, युवां मा मां मा सन्तप्तं मा सन्तापयतं प्रवेशनिष्क्रमणे स्खलनादिना, सन्तपतेर्लुङि मध्य-

---

माता से युक्त जगद्रूपी महागृह के गृहस्थ होकर देव, द्विज आदि प्राणियों के लिये हविष्यान्नों के निर्माता हैं। सत्यरूपी निवासस्थान वाले तथा समस्त लोकों के प्रकाशक हैं।

स्वामी दयानन्द ने परमेश्वरपरक ही मन्त्र की व्याख्या की है, परन्तु उसमें शतपथ श्रुति तथा सूत्र आदि से विरोध स्पष्ट है ॥३२॥

मन्त्रार्थ — हे ब्रह्मासन! तुम सब देवताओं के संमुख आने के स्थान अथवा समुद्रतुल्य ज्ञान से गम्भीर ब्रह्मा के आसन हो, यज्ञ में कृत और अकृत को देखने के स्थान हो। हे शालाद्वार के अग्निदेव! तुम आहवनीय रूप से यज्ञ में जाने जाते हो, अजन्मा अद्वितीय रक्षक और सब प्राणियों के शरण्य हो। हे प्राजहित नामक गार्हपत्य अग्ने! तुम शालाद्वार के नये गार्हपत्य अग्नि से उत्पन्न होने पर भी अक्षय रूप हो, आधानकाल में प्रथम स्थापित होने के कारण मूलरूप हो। हे सभामण्डप! तुम अपने मध्य कर्म होने के कारण वाणी रूप हो, इन्द्र को देवता के रूप में रखने वाले हो, बैठने के स्थान हो। हे यज्ञद्वार की शाखाओं! तुम मुझे सन्तप्त मत करो। हे मार्ग के रक्षक सूर्य! मार्ग में वर्तमान मुझे आगे बढ़ाओ, इस देवयान मार्ग में मेरा कल्याण हो॥ इस मन्त्र से सदोमण्डप के पूर्व द्वार के पूर्व भाग में स्थित हो ब्रह्मासन, शालाद्वार और प्राजहित अग्नि को देखे, शालाद्वार का मार्जन करे और सूर्य का अभिमन्त्रण करे॥३३॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९.८.१८-२१) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'समुद्रोऽसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से विभिन्न अग्न्यायतनों को सम्बोधित करने के बाद सदोमण्डप के द्वारस्तम्भों का स्पर्श तथा अभिमन्त्रण किया जाता है।

मैकवचने सिलोपे रूपम्। 'अभिमन्त्रणमुत्तरैरध्वनामध्वपत इति सूर्यम्' (का. श्रौ. ९.८.१४-१५)। उत्तरैस्त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रयाणामभिमन्त्रणं दर्शनम्। हे अध्वपते मार्गपालक सूर्य, अध्वनां मार्गाणां मध्ये वर्तमानं मा मां त्वं प्रतिर प्रवर्धय। तिरतिर्वृद्ध्यर्थः। अस्मिन् देवयाने देवभावप्रापके पथि मार्गे मे मम स्वस्त्यविनाशः कल्याणं भूयात्।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वं समुद्रोऽसि समुद्रवद् दुरवगाह्योऽसि, 'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव' (वा. रा. १.१.१७) इति श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणवचनात्। विश्वं विशेषेणाञ्चति सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनेति विश्वव्यचाः, ब्रह्मणः सत्तास्फूर्तिभ्यामेव विश्वस्य सत्तास्फूर्तिमत्त्वात्। अजोऽसि षड्विधभावविकारवर्जितोऽसि। जातिनिषेध इतरेषामुपलक्षणम्। विश्वमेकस्मिन् पादे यस्य सः, सर्वप्रपञ्चस्य तस्यैकांशस्थितत्वात्, 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ. गी. १०.४२) इति गीतोक्तेः। त्वमेवाहिः, विश्वस्मिन् व्याप्नोषि, 'अह व्याप्तौ'। बुध्न्यः, बुध्ने मूले प्रकृतिरूपे भवत्वात्, कारणस्यैव कार्येषु व्याप्तिसम्भवात्। वागसि परावाग्रूपोऽसि, अनादिनिधनब्रह्मण एव परावाक्त्वोपपत्तेः। सार्वात्म्याद्वा वाचोऽपि परमेश्वरत्वं सम्भवति। ऐन्द्रमसि हे ब्रह्मचैतन्य, त्वमैन्द्रमसि इन्द्रस्य मायिनो मायाविशिष्टस्येदं सर्वं जगत् त्वमेवासि, सर्वस्याधिष्ठानपर्यवसायित्वात्। सदः सर्वस्य सदो निवासस्थानमसि। सीदन्ति सर्वाणि वस्तूनि यस्मिन् तत्। ऋतस्यावश्यंभाविकर्मफलस्य द्वारौ प्रापकौ प्रकृतिपुरुषौ सीतारामौ राधाकृष्णौ वा मां भक्तं त्वदाज्ञापालकं मा सन्ताप्तम्। हे अध्वपते! अध्वनां कर्मोपासनाज्ञानयोगादिमार्गाणां पते परमेश्वर, अध्वनां मध्ये वर्तमानं मां प्रतिर प्रवर्धयाध्वपस्य विष्णोः पदस्य प्रापणेन देवस्य शुद्धब्रह्मणः— 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वेता. ६.११), याने प्रापके ब्रह्मात्मैक्यज्ञानाभ्यासे स्वस्त्यविघ्नं मे भूयाद् भवतु, भगवदनुग्रहादित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'यथेश्वरः समुद्रः समुद्रवन्ति भूतानि यस्मात् सः। विश्वस्मिन् व्यचो व्याप्तिर्यस्य सः। अजः कदाचिन्न जायते। एकस्मिन् पादे विश्वं यस्यास्ति। अहिः समस्तविद्यासु व्यापनशीलः। बुध्नेऽन्तरिक्षे भवः। 'बुध्नमन्तरिक्षम्' (निरु. १०.४४)। वाग् यया वक्ति सा असि। ऐन्द्रं परमेश्वरस्येदं सदः सीदन्त्यस्मिन्। ऋतस्य सत्यस्य कारणस्य व्यवहारस्य वा द्वारौ। बाह्यान्तरस्थे मुखे मा मां तप्तम्। लिङर्थे लुङ्। अध्वनां विद्याधर्मशिल्पमार्गाणाम्, अध्वपाः प्र मां तिर तारय। स्वस्ति सुखं मेऽस्मिन् प्रत्यक्षे पथि मार्गे देवयाने विदुषां गमनागमनाधिकरणे तथा भूयात्। यथेश्वरः समुद्रः सर्वोत्पादको व्यापकः, तथा हे अध्वपते! धर्मव्यवहारमार्गपालक विद्वन्, त्वं परमैश्वर्यस्य निमित्तमसि सदः स्थानरूपोऽसि। यथेश्वर ऋतसत्यद्वारमुखेन सन्तापयति, तथा त्वमपि मां मा तपेः। हे ईश्वर, मां धर्मशिल्पमार्गेभ्यः पारं तारय। मे देवयाने विदुषां गमनागमनयोग्ये मार्गे यथा सुखं भूयात्तथाऽनुगृहाण' इति, तदपि

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर! आप समुद्र की भाँति अगाध हैं। विश्व को सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करते हैं। जन्मादि छः प्रकार के भावविकारों से रहित हैं। सम्पूर्ण विश्व आपके एक पाद में अन्तर्भुक्त है। आप विश्वव्याप्त हैं, सृष्टि के मूल में प्रकृति के रूप में स्थित हैं। परा वाणी स्वरूप आप ही हैं। हे ब्रह्मचैतन्य, मायाविशिष्ट ईश्वर के सम्पूर्ण जगद्रूपी आप ही हैं। सबके आश्रयभूत हैं। अवश्यम्भावी कर्मफल को प्राप्त कराने वाले सीताराम अथवा राधाकृष्ण स्वरूप आप दोनों आपके आज्ञापालक मुझ भक्त को सतृष्ण न करें। कर्म, उपासना, ज्ञान, योग आदि विविध मार्गों के पालक हे परमेश्वर! मार्ग के बीच में अवस्थित मुझे आगे बढ़ावें। मार्ग के रक्षक विष्णुदेव के पद की प्राप्ति के द्वारा शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त कराने वाले ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानाभ्यास में भगवदनुग्रह से मेरी निर्विघ्नता हो।

स्वामी दयानन्द के अर्थ में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार को स्वीकार करने में कोई प्रमाण न होने के कारण मन्त्राक्षरों से विसंगति है। उस मत में परमेश्वर वाक् नहीं हैं, क्योंकि परमेश्वर की सर्वात्मता नहीं मानी जाती। ऋत तथा सत्य को बाह्य तथा आभ्यन्तर द्वार मानने में भी प्रमाण की अपेक्षा है ॥३३॥

सर्वमुदक्षरमेव, वाचकलुप्तोपमालङ्काराश्रयणे प्रमाणाभावश्च। व्यचधातोर्व्याप्त्यर्थकत्वे प्रमाणाभावोऽपि, 'व्यच व्याजीकरणे' इत्यस्य तदर्थाननुगुणत्वात्। किञ्च, विश्वव्यापकत्वे तस्यान्तरिक्षव्याप्तिकथनं निरर्थकमेव, तेनैव गतार्थत्वात्। त्वद्रीत्या न च परमेश्वरो वागस्ति, सार्वात्म्यानङ्गीकारात्। ऋतसत्ययोर्बाह्याभ्यन्तरद्वारत्वमपि प्रमाणसापेक्षमेव। न वा यथेश्वरो व्यापकः सर्वोत्पादकस्तथा विद्वान् भवति, तस्य परिच्छिन्नत्वात्। तथा च कथं लुप्तोपमालङ्कारोऽपि। न चैकपादत्वमपि तस्य सम्भवति। न च देवयानपदेन विदुषां गमनागमनमार्गोऽभिधीयते, देवपदेन मनुष्येतरजातिविशेषस्य साधितत्वात्। यथेश्वरो ऋतस्य द्वारौ न सन्तापयति, तथा त्वमपि मां मा तपेरिति विचित्रमेव, विदुषां तापकत्वासिद्धेः, द्वाराविवेत्यस्य स्वारस्यानुक्तेः ॥३३॥

मि॒त्रस्य॑ मा॒ चक्षु॑षेक्षध्व॒मग्न॑यः सग॒राः सग॑राः स्थ॒ सग॑रेण॒ नाम्ना॒ रौद्रे॒णानी॑केन पा॒त माग्नयः पिपृ॒त माग्नयो गोपायत॑ मा नमो॑ वोऽस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसिष्ट ॥३४॥

'मित्रस्येत्यृत्विजः' (का. श्रौ. ९.८.१६), अभिमन्त्रयत इति शेषः। हे ऋत्विजः, मित्रस्यादित्यस्य चक्षुषा नेत्रेण मामीक्षध्वं पश्यत। शान्तं खल्वादित्यचक्षुः। मित्रस्य सख्युर्वा नेत्रेण पश्यत। यथा सखा सखायं हितयुक्तेन चक्षुषा पश्यति, तथा मां यजमानं पश्यध्वम्। 'अग्नयः सगरा इति धिष्ण्यान्' (का. श्रौ. ९.८.१७)। आग्नीध्रीयादीनष्टौ धिष्ण्यान् अभिमन्त्रयेत यजमान एवेति कर्कः, अध्वर्युरेव इत्यपरे। हे अग्नयः, सगरा गरेण स्तुत्या सहिताः सगराः 'गृ स्तुतौ', यूयं सगरेण नाम्ना स्तुतिसहितेन नाम्ना धिष्ण्या इति नाम्ना वा व्यवह्रियमाणाः सगराः स्थ समानस्तुतिभाजो भवथ। समानो गरो येषां ते सगराः। हे अग्नयः, ते यूयं रौद्रेणानीकेन शत्रुविनाशकत्वादुग्रेण भवदीयेन सैन्येन मा मां पात रक्षत। यद्वा रुद्रदेवत्येन मुखेन मां पात। अनीकं मुखं सैन्यं च। हे अग्नयः, मा मां पिपृत धनादिभिः पूरयत। अथवा मा मां गोपायत निरन्तरं रक्षतेत्यर्थः, 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु. १०.४२) इति वचनात्। तेन न पौनरुक्त्यदोषोऽपि। वो युष्मभ्यं नमोऽस्तु। मा मां हिंसिष्ट वधिष्ट। ये धिष्ण्यरूपा अग्नयस्ते सर्वे कर्मणि न्यूनातिरिक्तांशप्रतिष्ठापूर्तिहेतवो भवन्ति। विहितैकदेशपरित्यागे कर्म न्यूनं भवति। अधिकस्य कस्यचिदनुष्ठानेऽतिरिक्तं भवति। तदुभयदोषपरिहारेण सम्पूर्तिमेते कुर्वन्ति, द्विनामत्वात् समानस्तुतयो भवन्ति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्नयः, राम-कृष्ण-विष्णु-शिव-सूर्य-गणपति-शक्त्यादिरूपेण [१]परमेश्वरस्यानेकरूपत्वं श्रुति-स्मृति-पुराणादिष्वपि स्पष्टमेव। तदपेक्ष्यैव परमेश्वरवाचकेऽप्यग्निशब्दे बहुवचनम्। मा मां मित्रस्य सख्युश्चक्षुषा नेत्रेण

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों! मित्र की दृष्टि से मुझे देखो। हे स्तुतियोग्य धिष्ण्यों की अग्नियों! मैंने आप सबकी नामोच्चारण पूर्वक स्तुति की है, अतः हे अग्नियों! उग्र सेना से मेरी रक्षा करो। हे अग्नियों! मुझे धन आदि से पूर्ण करो, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। मेरे इस यज्ञ में आपकी कृपा से कोई विघ्न न हो॥ इस मन्त्र से यजमान सब ऋत्विजों का अभिमन्त्रण करे और अध्वर्यु आठों धिष्ण्यों को देखता हुआ प्रार्थना करे॥३४॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९.८.२२,९.४.२३) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'मित्रस्य मा' इस कण्डिका के मन्त्रों से ऋत्विजों का तथा धिष्ण्यों का अभिमन्त्रण किया जाता है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे अग्नि आदि परमेश्वर के अनेक स्वरूपों! मुझे आप लोग सख्यपूर्ण नेत्रों से देखें अथवा आदित्य के शान्त नेत्रों से अवलोकन करें। आप लोग समान स्तुति वाले हैं, अतः स्तुतियुक्त नाम के द्वारा समान रूप

---

१. परमेश्वरस्यैव लीलयाऽनेकरूपधारित्वमुक्तं मीमांसाशास्त्रे दाशकितवाद्यधिकरणे।

पश्यध्वम्। आदित्यस्य वा शन्तमेन चक्षुषा मामीक्षध्वम्। सगराः समानस्तुतयो यूयम्। अत एव सगरेण स्तुतियुक्तेन नाम्ना सगराः समानस्तुतयो भवथ, अत्यन्ताभिन्नत्वात्। हे अग्नयः, रौद्रेण रागद्वेषाद्यान्तरबाह्यसर्वविधशत्रुविनाशकत्वादुग्रेण भवदीयेनानीकेन सैन्येन मा मां पात रक्षत। हे अग्नयः, मां बाह्यैर्गोभूहिरण्यरत्नादिभिरान्तरैर्ज्ञानवैराग्यशमदमादिभिश्च पूरयत। मां गोपायत ब्रह्मात्मस्वरूपज्ञानसम्पादनेन पालयत। वो युष्मभ्यं नमोऽस्तु। मां मा हिंसिष्ट बहिर्मुखतोत्पादनेन मा वधिष्ट, निर्विघ्नब्रह्मज्ञानोपासनादिकं निर्वर्तयतेत्यर्थः।

स्वामी दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः सगरा अग्नयः, यूयं मा मां चक्षुषेक्षध्वं यूयं सगराः स्थ। हे अग्नयः, सगरेण रौद्रेण नाम्नानीकेन मां पात, मां पिपृत, मा गोपायत, मा हिंसिष्ट। एतदर्थं वो युष्मभ्यं नमोऽस्तु। अग्नयो नेतारो नयन्ति श्रेष्ठानिति। सगरोऽन्तरिक्षमवकाशो येषां ते सगराः, अन्तरिक्षेण रौद्रेण शत्रुरोदयितॄणामिदं तेन सैन्येन रक्षत सभाध्यक्षादयो गोपायत पालयत नमः' इति, तन्न, सगरपदेनान्तरिक्षग्रहणे प्रमाणानुपलम्भात्। विवरणकृतापि— 'सह गरेण समानो गरो वा यस्य' इत्येवोक्तम्, न त्वन्तरिक्षरूपोऽर्थः समर्थितः। 'अग्नये' इत्येतेनापि यद्यप्यग्निदेवता परमेश्वरो वा ग्रहीतुं शक्यते, तथापि 'श्रेष्ठानां पदार्थानां नेतारः' इत्यर्थे न किमपि प्रमाणं पश्यामः। सगर इत्यस्यान्तरिक्षमर्थः, तेन चावकाशो लक्ष्यते, तेन च विद्योपदेशावकाशग्रहणमिति वैदिकशब्देषु बलात्कार एव। हिन्दीव्याख्याने 'अग्नये' इत्यनेन संसाधितविद्युदाद्यग्निवेत्तारो विद्वांस इत्यर्थापनमपि निर्मूलमेव। विदुषां शत्रुरोदयितारः के? तेषां सैन्येन विदुषां कः सम्बन्धः? सैन्येन रक्षणाय राजानः शासका वा अभ्यर्थनीयाः, विद्वांसस्तु विद्यादानार्थं प्रार्थनीयाः। सर्वथापि केवलमूर्खजनप्रतारणाय एतादृशं व्याख्यानमित्युपेक्षणीयमेव ॥३४॥

ज्योति॑रसि वि॒श्वरू॑पं॒ विश्वे॑षां दे॒वाना॑ᳪं स॒मित्। त्वᳪं सो॑म तनू॒कृद्भ्यो॒ द्वेषो॑भ्यो॒ न्य॒कृ॑तेभ्य उ॒रु य॒न्तासि॒ वरू॑थ॒ᳪं स्वाहा॑ जुषा॒णो अ॒प्तुराज्य॑स्य वेतु॒ स्वाहा॑ ॥३५॥

'ध्रुवायाः पुरस्तात् पृषदाज्यमाज्यं दधिमिश्रं पञ्चगृहीतं ज्योतिरसीति समिदन्तेन' (का. श्रौ. ५.४.२४)। जुहूपभृतोराज्यग्रहणमनुयाजार्थं सर्वत्र पश्चादौ भवति, अतः पृषदाज्येनानुयाजा अनुष्ठेयाः। हे पृषदाज्य, त्वं ज्योतिर्द्योतमानं द्योतकं वा असि भवसि। कीदृशम्? विश्वरूपं विश्वं सर्वं रूपं यस्य तत्, बहुष्वाहुतिषूपयुक्तत्वाद्

से संस्तुत हों। हे अग्न्यादि रूपों! रागद्वेषादि आन्तरिक तथा बाह्य सभी शत्रुओं के विनाशक होने के कारण अत्यन्त उग्र अपनी सेना से मेरी रक्षा करें। हे अग्न्यादि मूर्तियों! मुझे बाह्य हिरण्य, रत्न आदि तथा आन्तरिक ज्ञान, वैराग्य आदि से परिपूर्ण करें, मेरा पालन करें। आप लोगों के लिये नमस्कार है। बहिर्मुखता के उत्पादन के द्वारा मुझे हीन न करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्या उचित नहीं है, क्योंकि सगर शब्द से अन्तरिक्ष अर्थ का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है। उससे विद्योपदेशावकाश का ग्रहण करना तो वैदिक शब्दों पर बलात्कार ही है। हिन्दी व्याख्या में अग्नि शब्द का 'अग्निवेत्ता विद्वान्' अर्थ करना भी निर्मूल है ॥३४॥

मन्त्रार्थ—हे आज्य! तुम विश्व को रूप देने से विश्वरूप और दीप्ति देने से ज्योतीरूप हो, सब देवताओं के प्रकाशक हो। हे सोम! तुम हमारे विरोधियों द्वारा प्रेरित शत्रुओं और शरीर-छेदक राक्षसों के लिये दण्डदाता हो, बड़े बलवान् हो। तुम्हारे लिये मैं यह आहुति देता हूँ। हे प्रसन्न सोम! मेरे दिये हुए घृत का पान करो, इस आहुति को सम्यक् रूप से ग्रहण करो॥ इस मन्त्र से प्रज्वलित समिधा के ऊपर घृत की आहुति दी जाती है और सोम से प्रार्थना की जाती है ॥३५॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (५.४.२४,८.७.१-२) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'ज्योतिरसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से दधिमिश्रित घृत का हवन तथा 'प्रचरणी' नामक पलाश की स्रुची से घृत का हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय संहिता में याज्ञिक प्रक्रिया के अनकल व्याख्यान उपलब्ध है।

विश्वरूपत्वमाज्यस्य युक्तमेव। वैचित्र्याद्वा विश्वरूपत्वम्, आज्यस्य साधारण्येनेतरद्रव्यवत् प्रतिनियतदैवतत्वाभावात्। पृषदाज्यमिति विश्वेषां देवानां समिदित्युच्यते, अनेकद्रव्यात्मकत्वाद्वा वैश्वदेवत्वम्, दीप्यमानत्वाच्च ज्योतिष्ट्वमपि तस्य सङ्गच्छते। त्वं विश्वेषां देवानां समित्, समिन्धत इति समित्, दीपकमसि। देवा ह्याज्याहुतिं गृहीत्वा दीप्यन्ते। 'प्रदीप्तमिध्मं त्वꣳ सोमेति प्रचरण्याऽभिजुहोति' (का. श्रौ. ८.७.१)। आग्नीध्रे नयनार्थं शालाद्वार्ये विहितस्य प्रदीप्तस्येध्मस्योपरि त्वं सोमेति मन्त्रेण प्रचरण्या स्रुचा सकृद्गृहीतमाज्यं समिद्वर्जं जुहुयात्। अन्यासु व्यापृतासु तया प्रचर्यत इति प्रचरणी नाम पालाशी जुहूरेव, अग्निहोत्रहवणीति कर्काचार्यः।

अवसानरहिता सोमदेवत्या गायत्री भृगुपुत्रक्रतुदृष्टा। तनूः शरीरं तत्कृन्तन्ति छिन्दन्तीति तनूकृतो वृकादयो राक्षसा असुरा वा, तेभ्यो द्विषन्तीति द्वेषांसि दौर्भाग्यानि दुर्जनाद्यन्यकृतानि जन्मान्तरीयकर्मकृतानि वा, तेभ्यश्च गोपाय। यद्वा तनूकृद्भ्य इति द्वेषेभ्य इत्यस्य विशेषणम्। तस्मिन् पक्षे तनूः शरीरं कृन्तन्तीति तनूकृन्ति, द्विषन्तीति द्वेषांसि, तादृशानि रक्षांसि तनूकृद्भ्यो द्वेषेभ्यो यतस्त्वमुरु यन्तासि बहुप्रकारं नियन्तासि, यथा तादृशा अपि मां न बाधेरन्, तथा सुरक्षितप्रदेशे रक्षित्वा मां पालयसि, तस्मात्त्वमेवास्माकमुरु प्रभूतं वरूथं बलमसि। तुभ्यमिदं हुतमस्तु। वरूथं गृहं च यज्ञरूपं मे गोपाय। यद्वा तन्वा शरीरेण क्रियन्ते यानि द्वेषांसि, अन्यकृतानि पुत्रदारप्रभृतिभिः कृतानि वा तेभ्यो गोपायेति तुल्यम्। शालामुखीयो योऽग्निः, यश्च तस्याग्नेः समीपे स्थापितः सोमस्तदुभयमाग्नीध्रादिप्रदेशेषु नीत्वा पश्चादग्नीषोमीयः पशुरालब्धव्यः, ततः सोमं नेतुं तमुद्दिश्याज्याहुतिर्हुता। 'जुषाणो अप्तुरिति द्वितीयाम्' (का. श्रौ. ८.७.२)। प्रदीप्तस्येध्मस्योपरि प्रचरण्या सकृद्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽऽहुतिं जुहुयात्। अप्तुदेवत्या एकपदा विराड् यजुरन्ता, विराजो दशेत्युक्तेर्दशाक्षरत्वाद्विराट्। जुषाणोऽस्मासु प्रीयमाणः सेवमानो वा अप्तुः सोमः, आप्नोति व्याप्नोति तूर्णं पीतः सन् शरीरमित्यप्तुः, आज्यस्य वेतु आज्यं पिबतु, कर्मणि षष्ठी, स्वाहा तस्मै अप्तवे सोमायेदं हुतमस्तु। यद्वा हे सोम, अस्मासु जुषाणः प्रीतिमान् रक्षसामदर्शनायाप्तुल्यदेहः सन् आज्यस्य वेतु आज्यं पिब।

शतपथे—'अथोत्पूयाज्यं चतुर्गृहीते जुह्वां चोपभृति च गृह्णाति पञ्चगृहीतं पृषदाज्यं ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाꣳ समिदिति वैश्वदेवꣳ हि पृषदाज्यं धारयन्ति स्रुचो यदा प्रदीप्त इध्मो भवति' (श. ३.६.३.६)। अग्नीषोमीयार्थमाज्यपृषदाज्ययोर्ग्रहणं विधत्ते— अथोत्पूयेति। पृषदाज्यग्रहणमन्त्रमाह—ज्योतिरसीति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। 'अथ जुहोति। त्वꣳ सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य उरु यन्तासि वरूथꣳ स्वाहेति तदेतेनैवास्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनेमं लोकꣳ स्पृणुते' (श. ३.६.३.७)। इदानीं समन्त्रकमाहवनीये वैसर्जनहोमं विधत्ते—अथ जुहोतीति। जुह्वा व्यापृतत्वात् प्रचरण्या पालाश्या जुह्वा अग्निहोत्रहवण्या जुहोति—हे सोम, त्वं तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्यः, तनूं शरीरं कृन्तन्ति तृन्दन्तीति तनूकृन्ति रक्षांसि, द्विषन्तीति द्वेषांसि, अन्यैरस्मद्विरोधिभिरभिचरद्भिः कृतानि प्रेरितानि, तादृशेभ्यो नियन्तासि, यथा तादृशानि तनूकृन्ति द्वेषांसि रक्षांसि विरोधिभिरभिचरद्भिः प्रेरितानि न बाधन्ते तथा पालयसि। तस्मात्त्वमेवास्माकं उरु प्रभूतं वरूथं बलमसि। तस्मै तुभ्यमिदं सुहुतमस्तु। तदेतेनेममिति वैसर्जनानां लोकत्रयजयरूपत्वस्योक्तत्वाद् गार्हपत्यहोमः पृथिव्यां प्रतिष्ठारूपः, अस्या जायापत्ययोश्च प्रतिष्ठोपपद्यत इति तदर्थमाह—'एतेनेमं लोकम्' (तै. सं. ६.३.२.२)।

'अथाप्तवे द्वितीयामाहुतिं जुहोति। जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहेत्येष उ हैवैतदुवाच रक्षोभ्यो वै बिभेमि यथा माऽन्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न हिनसन्नेवं मा कनीयाꣳसमेव वधात् कृत्वाऽतिनयतं स्तोकमेव स्तोको ह्यप्तुरिति

तमेतत्कनीयाꣳसमेव वधात् कृत्वाऽत्यनयन्स्तोकमेव स्तोको ह्यप्तू रक्षोभ्यो भीषा तस्मादप्तवे द्वितीयामाहुतिं जुहोति' (श. ३.६.३.८)। आहुत्यन्तरं समन्त्रकं विधत्ते—अथाप्तव इति। अप्तुः सूक्ष्मरूपः सोमो जुषाणः प्रीयमाण आज्यस्य वेतु आज्यं पिबतु। मन्त्रतात्पर्यमाह—एष उ हैवेति। एष मन्त्र एवैतद् वक्ष्यमाणमुवाच 'रक्षोभ्यः' इत्यादि। यथा मान्तरेति प्रणयनकाले मध्यमार्गे शालामुखीयहविर्धानयोरन्तराले नाष्ट्रा रक्षांसि न हिंसेयुरिति रक्षःकृतानवधानहेतोः कनीयांसं स्तोकं कृत्वाऽनयन् तस्मादप्तवे स्तोकभूताय सोमाय द्वितीयामाहुतिं जुहुयात्।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, उमया सहितः सोमो देवः साम्बसदाशिवः, तत्सम्बुद्धौ। त्वं ज्योतिरसि चैतन्यात्मकं निर्विकारं ब्रह्मज्योतिरसि। कीदृशं तत्? विश्वरूपम्, विश्वं निखिलं चेतनाचेतनात्मकं रूपं यस्य तत्। 'ब्रह्मैव विश्वमखिलम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा. उ. ३.१४.१) इति श्रुतेः। विश्वेषां समेषां देवानां चक्षुःश्रोत्रादीन्द्रियाणां समित् समिद्ध्यन्ते सर्वाणीन्द्रियाणि येन तत् समिद् दीपकम्, 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (भ. गी. १३.१८), 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः' (केनो. १.२) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। तनूकृद्भ्यः शरीरघातकेभ्यो द्वेषोभ्यो द्विषद्भ्यो रक्षोभ्यः, अन्यप्रेरितेभ्यश्च तेभ्यः, उरु यन्तासि सर्वान् नियन्तुं शक्नोषि। यद्वा तन्वा शरीरेण क्रियन्ते यानि द्वेषांसि पातकानि दौर्भाग्यानि, तेभ्योऽन्यैः पुत्रदारादिभिश्च कृतेभ्यो द्वेषोभ्योऽस्मान् वरूथं गृहं च, गोपायेति शेषः। यतस्त्वमुरु यन्ता बहुधा सर्वनियामकोऽसि। हे सोम, अप्तुर्व्यापको जुषाणोऽस्मासु प्रीयमाण आज्यस्य आज्यं वेतु भवान् पिबतु, तस्मै भवते सुहुतमस्तु। यद्वास्माकमाज्यं स्नेहं वेतु जानातु। त्वमेवास्माकमुरु प्रभूतं वरूथं बलमसि। भक्तानां भगवानेव बलमिति प्रसिद्धमेव। तुभ्यं स्वाहा मदीयं सर्वस्वमर्पितमस्तु।

स्वामिदयानन्दस्तु—'हे सोम, यथा त्वं विश्वेषां देवानां विदुषां विश्वरूपं विश्वं रूपं यस्मिन् तज्ज्योतिः समिदसि। तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यश्च यन्तासि। तथा य उरु वरूथं स्वाहा सन् मनुष्यः स्वाहा वेतु। हे जगदीश्वर, त्वं विश्वेषां देवानां विदुषां सर्वरूपयुक्तसर्वप्रकाशकसमित्प्रकाशितोऽसि। शरीरकृद्भ्यो द्विषद्भ्यो जीवेभ्यस्तथान्यमनुष्यकृतेभ्यो दुष्टकर्मभ्यो नियन्तासि तेभ्य उरु प्रभूतं वरूथमुत्तमं गृहं स्वाहा वाणीमप्तुर्व्यापकं विज्ञानं जुषाणो मनुष्यः स्वाहा वेदवाणीं वेतु जानातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात्। सर्वप्रकाशकं च ब्रह्म वस्तुतो भारूपमेव न दृश्यम्, दृश्यत्वे तस्य मिथ्यात्वापत्तेः। शरीरकृद्भ्यो द्वेषोभ्य इत्यत्र चिद्विशेष्यविशेषणानुपपत्तिः। 'द्विषन्तो जीवाः शरीरकृतः' इत्यस्य किं तात्पर्यम्? न च जीवाः शरीरकृतो भवन्ति। तेषामेव शरीरकृत्वेऽशुभशरीरानारम्भापातात्। 'आज्य'-'स्वाहा'पदाभ्यां विज्ञानवाण्योर्ग्रहणमपि निर्मूलमेव। मनुष्यपदमपि मन्त्रे नास्त्येव। तस्मात् शतपथकात्यायनादिसूत्रसंमतं पूर्वमेव व्याख्यानं ज्यायः ॥३५॥

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे साम्ब सदाशिव! आप चैतन्यात्मक निर्विकार ब्रह्मज्योतिष् हैं। निखिल चेतनाचेतनात्मक रूप वाले हैं। समस्त इन्द्रियों को प्रदीप्त करने वाले हैं। शरीरघातक राक्षसों को तथा उनसे प्रेरित अन्य शत्रुओं को भी नियन्त्रित करने में समर्थ हैं। आप शरीर के द्वारा क्रियमाण तथा पुत्र-कलत्रादि अन्यों के द्वारा किये गये पापों से हमारे गृह की रक्षा करें, क्योंकि आप सर्वनियन्ता हैं। हे व्यापक साम्बशिव! आप प्रसन्न होते हुए हविर्द्रव्य ग्रहण करें, यह आपके लिये समर्पित है। अथवा हमारा स्नेह जान लें, क्योंकि आप ही हमारे बल हैं। भक्तों के बल भगवान् हैं, यह प्रसिद्ध ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ निर्मूल एवं अध्याहारों की बहुलता के कारण असमीचीन है। 'आज्य' तथा 'स्वाहा' शब्दों से विज्ञान तथा वाणी अर्थ लेना भी अप्रामाणिक है॥३५॥

अग्ने॒ नय॑ सु॒पथा॑ रा॒ये अ॒स्मान् विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्। यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑उक्तिं विधेम ॥३६ ॥

'अग्ने नयेति वाचयति' (का. श्रौ. ८.७.५)। आग्नीध्रं प्रति गमनार्थं प्रवृत्तं यजमानं 'अग्ने नय' इति मन्त्रं वाचयत्यध्वर्युः। शतपथे चापि—'उद्यच्छन्तीध्म म उपयच्छन्त्युपयमनीरथाहाग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि सोमाय प्रणीयमानायेति वाग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहीति त्वेव ब्रूयात्' (श. ३.६.३.९), 'इध्ममभ्यादधति। उपयमनीरुपकल्पयन्त्याज्यमधिश्रयति स्रुवं च स्रुचं च सम्मार्ष्ट्यथोत्पूयाज्यं पञ्चगृहीतं गृह्णीते यदा प्रदीप्त इध्मो भवति' (श. ३.५.२.१) इत्यनुसारेणेध्माधानोपयमन्युपकल्पादीनामनन्तरं प्रदीप्तेध्मगतमग्निमुद्यच्छन्ति, ऊर्ध्वं धारयन्ति, तदाधारेषु नीयमानाः सिकता अप्युपयच्छन्त्यधो धारयन्ति। अग्नीषोमप्रणयनप्रैषविषये विकल्पपक्षं निरस्याग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहीति पक्षं सिद्धान्तयति—अग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहीति त्वेव ब्रूयादिति।

'आददते ग्राव्णः। द्रोणकलशं वायव्यानीध्मं काष्मर्यमयान् परिधीनाश्ववालं प्रस्तरमैक्षव्यौ विधृती तद्बर्हिरुपसन्नद्धं भवति वपाश्रपण्यौ रशने अरणी अधिमन्थनः शकलो वृषणौ तत्समादाय प्राञ्च आयन्ति स एष ऊर्ध्वो यज्ञ एति' (श. ३.६.३.१०)। ग्राव्णोऽभिषवार्थान्, पाषाणान् द्रोणकलशं सोमाधारभूतं प्रभूतं पात्रविशेषं वायव्यान् वायुदेवताकान्। 'सोमपात्राणि ग्राव्णो वायव्यानि' (तै. सं. ६.३.२.३) इति श्रुत्या पात्राणामेव वायव्यत्वम्। इध्मं काष्मर्यपरिध्यादिकं तद्बर्हिरुपसन्नद्धं भवत्यातिथ्यायामास्तीर्णं भवति, 'यदातिथ्यायां बर्हिस्तदुपसदसस्तदग्नीषोमीयस्य' (ऐ. ब्रा. १.४.८.२५)। वपाश्रपण्यौ वपायाः श्रपणसाधने काष्मर्यशाखे। रशने यूपपश्वर्थे द्वे। अरणी द्वे। अधिमन्थनः शकल उत्तरारणेरधस्तात् स्थाप्यः। वृषणौ वृषणस्थानीयौ दर्भौ। एतान् सोमार्थानग्नीषोमीयार्थांश्च समादाय प्राञ्च आयन्ति आगच्छेयुः। स एष ऊर्ध्वो यज्ञ एति, ऊर्ध्वं गतो भवति, अध्वर्युप्रमुखैर्यज्ञाङ्गानामुद्यमनात्। 'तदायत्सु वाचयति। अग्ने नय . . . . विधेमेत्यग्निमेवैतत् पुरस्तात् करोत्यग्निः पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षांꣳस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानानाष्ट्रेण हरन्ति त आयन्त्यागच्छन्त्याग्नीध्रं तमाग्नीध्रे निदधाति' (श. ३.६.३.११)। तेष्वागच्छत्सु 'अग्ने नय' इति मन्त्रं वाचयत्यध्वर्युः।

मन्त्रार्थस्तु—हे अग्ने देव, नय प्रापय अस्मान् राये धनाय यज्ञफलाय, इहाभीष्टगोभूहिरण्यादिलाभाय, परत्र च स्वर्गादिसुखभोगाय, सुपथा शोभनेन मार्गेण त्वं विश्वानि सर्वाणि वयुनानि मार्गान् विद्वान् जानन्। यद्वा—अस्माकं वयुनानि ज्ञानानि, उपासनानि प्रशस्तानि कर्माणि च, 'वयुनमिति प्रशस्तनामसु' (निघ. ३.८.१०), 'प्रज्ञानामसु च (निघ. ३.९.१०), जानन्। किञ्च, जुहुराणम्, हूर्च्छितुं कुटिलीकर्तुमिच्छतीति जुहुराणम्, अभिलषित-

---

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! सब ज्ञानों को जानने वाले आप हमको धन और यज्ञफल की प्राप्ति के लिये श्रेष्ठ मार्ग दिखावें। हमारी इच्छाओं के प्रतिबन्धक दुरित (पाप) को दूर करो। आपके लिये हम बार-बार नमस्कार वचन कहते हैं॥ इस मन्त्र को पढ़ता हुआ अध्वर्यु आग्नीध्र के समीप आता हुआ यजमान के लिये प्रार्थना करे॥३६॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.७.६) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार अध्वर्यु गमन के लिये प्रवृत्त यजमान से 'अग्ने नय' मन्त्र का वाचन कराता है। इस याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय ब्राह्मण आदि में उपदिष्ट है।

क्रियातत्फलप्रतिबन्धि पापम्, 'हूर्छा कौटल्ये' कुटिलं फलप्रतिबन्धकं च यदेनः पापं तत्सर्वमस्मदस्मत्तो युयोधि पृथक्कुरु, 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। ते तुभ्यं भूयिष्ठां बहुलतमां नमउक्तिं विधेम नमस्कारविषयां वाचं करवाम सम्पादयाम, नमसा हविर्लक्षणेन वा, पुरोऽनुवाक्यायाज्यावचनलक्षणया वा नमउक्त्या त्वां परिचरेम। 'नम इत्यन्ननामसु' (निघ. २.७.२२)। ते आयन्ति प्राञ्चो गता आगच्छेयुराग्नीध्रस्थानं सौमिकवेदेरुत्तरेण मार्गेण। तं प्रणीतमग्निं तत्र निदधाति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, प्राणिनामुन्नतिमार्गेष्वग्रेनयनशील परमेश्वर, नोऽस्मान् त्वदुपासकान् त्वदाराधन-बुद्ध्या अग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठातॄन् राये ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयपरमनिःश्रेयसरूपभगवत्पदप्राप्तये नय। त्वमस्माकं वयुनानि प्रज्ञानान्युपासनानि कर्माणि वा जानन् जानास्यतः कर्मफलदातृत्वात् प्रज्ञानकर्मानुरोधेन तत्तत्फलानि निष्कामानां सत्त्वशुद्धितत्त्वज्ञानादिप्रदानद्वारा स्वरूपावस्थानलक्षणं मोक्षं च प्रापयसि। अस्मद् अस्मत्तः, जुहुराणं वञ्चकं कुटिलमेनः पापं युयोधि वियोजय दुरीकुरु। तदर्थं नमउक्तिं हविर्लक्षणस्य नमस उक्त्या सम्पादनेन पुरोवाक्यायाज्यालक्षणस्य नमस उक्त्या विधेम परिचरेम। यद्वा अन्यत्कर्तुमक्षमा भूयिष्ठां नमउक्तिं करवाम तावतैव भगवन्तं प्रसादयाम।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने देव, विद्वांस्त्वं यथा सुकृतो राये सुपथा विश्वानि वयुनानि प्राप्नुवन्ति तथास्मान्नय। जुहुराणमेनोऽस्मद्युयोधि। वयं ते भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम। यथा सुकृतः शोभनेन धर्म्यमार्गेण गच्छन्ति, तथा राये परमश्रीमोक्षसुखप्राप्तयेऽस्मानभ्युदयनिःश्रेयससुखस्पृहावतो विश्वानि प्रशस्तानि कर्माणि प्रज्ञाश्च जानन् अस्मत्सका-शाद् जुहुराणं कुटिलमेनो दुःखफलं पापं युयोधि दूरीकुरु। ते नमउक्तिं यथा नमोभिरुक्तिं विदधति, तथा विधेम वदेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मूले (मन्त्रे) यथा सुकृतो गच्छन्तीत्यादिपदानामभावेन दृष्टान्तोपादानानुपपत्तेः। किञ्च, दृष्टान्तो वादि-प्रतिवाद्युभयसम्मतो भवति। न चात्र सुकृतां शोभनेन मार्गेण परलोकगमनं प्रसिद्धम्। न चागमो दृष्टान्तमपेक्षते, तस्यानुमानान्तर्भूतत्वात्। किञ्च, प्राणिकृतं कुटिलमेनः कथं फलदानमन्तरा दूरीकर्तुं शक्यते? यदि परमेश्वरप्रार्थनया तत्सम्भाव्यते, तर्हि भगवन्नामादिस्तुत्यादिभिर्न किमपि पुण्यं भवतीत्यादिका त्वदुक्तिर्निरर्थिकैव स्यात्। अत एव नमउक्तिवदनमपि निरर्थकमेव। न च मोक्षफलं गतिसाध्यम्, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ. उ. ४.४.६) इत्यादिश्रुतिविरोधात्, त्वद्रीत्या लोकान्तरानभ्युपगमात् ॥३६॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—प्राणियों को उन्नति-मार्गों में आगे ले जाने वाले हे परमेश्वर! आपके उपासकों, आपके आराधन की भावना से अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करने वाले हम लोगों को ऐहिक तथा पारलौकिक अभ्युदय तथा परम निःश्रेयसरूपी भगवत्पद की प्राप्ति के लिये ले चलें। आप हमारे ज्ञान, उपासना अथवा कर्मों को जानते हैं। अतः कर्मफल-प्रदाता होने के कारण उन उन फलों को तथा निष्काम भक्तों को सत्त्वशुद्धि, तत्त्वज्ञान आदि के द्वारा मोक्ष प्रदान करते हैं। वंचक, कुटिल पाप को हमसे दूर करें। एतदर्थ हविर्द्रव्य आदि से नमनपूर्वक उक्तियों के द्वारा हम उपासना करते हैं। अथवा अन्य कुछ भी करने में अशक्त हम लोग बार बार नमनात्मक स्तुति करते हैं।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में मूल मन्त्र में 'पुण्य करने वाले जाते हैं' इत्यादि शब्द न रहने के कारण दृष्टान्त-प्रदर्शन संगत नहीं है। आगम में दृष्टान्त की अपेक्षा भी नहीं है, क्योंकि वह अनुमान के अन्तर्गत है। मोक्ष फल भी गतिसाध्य नहीं है। उनके मत में दूसरे लोक को न मानने के कारण भी यह संगत नहीं हो सकता ॥३६॥

अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन्। अयं वाजाञ्जयतु वाजसाता-वयꣳ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥३७॥

'स निहिते जुहोति। अयं नोऽग्नि .... स्वाहेति तदेतेनैवैतस्मिन्नन्तरिक्षे प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनैतꣳल्लोकꣳ स्पृणुते' (श. ३.६.३.१२)। सोऽध्वर्युर्निहितेऽग्नौ स्थापिते जुहोति। तत्र होममन्त्रमाह—अयमित्यादि। तदेतेन शालामुखीयाग्नीध्रीयोत्तरवेदीनां क्रमेण भूम्यादिलोकत्रयात्मकत्वादन्तरिक्षे स्पृणुते पालयति प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति। एतेनैतं लोकं स्पृणुते। कात्यायनोऽपि तथैवाह—'उत्तरेण सदो हृत्वाऽऽग्नीध्रेऽग्निं निदधाति, ग्रावद्रोणकलशसोमपात्राणि चायं न इति जुहोत्यस्मिन्' (का. श्रौ. ८.७.६-८)। सद उत्तरेण तत्सर्वं हृत्वा आग्नीध्रगृहमध्ये आग्नीध्रीयधिष्ण्येऽग्निं स्थापयेत्, ग्राव-द्रोणकलश-सोमपात्राणि च तत्रैव स्थापयेत्। आग्नीध्रीयेऽग्नौ प्रचरण्या सकृद्गृहीतमाज्यं जुहुयात्। आग्नेयी त्रिष्टुब् यजुरन्ता। मन्त्रार्थस्तु—अयमग्निर्नोऽस्माकं वरिवोऽभीष्टं धनं कृणोतु सम्पादयतु। तथायमेव मृधः संग्रामान् प्रभिन्दन् वैरिणो विदारयन् एतु गच्छतु, पुरोऽग्रतो गच्छतु, यथायं वाजसातौ वाजानामन्नानां सातिः सम्भजनं सेवनं वा वाजसातिस्तस्मिन् निमित्ते सतीत्यर्थः, शत्रुसम्बन्धीन्यन्नान्यस्मभ्यं दातुं संग्रामेऽस्मदर्थं वाजान् जयतु। अयं जर्हृषाणः पुनः पुनर्हृष्यन् शत्रून् जयतु, तस्मा इदमाज्यं सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—उपासकानां रीत्याऽयं भगवान् रामः कृष्णो विष्णुः साम्बः शिवो वा, नोऽस्माकं पातकानामग्निरिव दग्धा, अज्ञानविभ्रमादीनां चाग्निरिव दग्धा, ब्रह्माकारवृत्तावभिव्यक्तं ब्रह्मैव सर्वभासकमपि स्वातिरिक्तं सर्वमज्ञानतत्कार्यात्मकं जगद् दहति। यथा सौरालोकस्तूलराशिप्रकाशकोऽपि सूर्यकान्तमणावग्निरूपेणाभिव्यक्तस्तूलराशिं दहतीति, तद्वत्। अयं नोऽस्माकं वरिवस्तत्त्वज्ञानलक्षणं शमदमादिषट्कसम्पत्तिलक्षणं वा धनं कृणोतु सम्पादयतु। अयं भगवान् मृधः संग्रामान् पुरोऽग्रतः प्रभिन्दन् वैरिणो विदारयन्नेतु। अयमेव वाजसातौ संग्रामे वाजान् धनान्यस्मभ्यं दातुं जयतु। कामक्रोधादीन् वा शत्रून् विजित्य विवेकविज्ञानं सम्पादयितुं जयतु। ए एव भगवान् जर्हृषाणोऽत्यर्थं हृष्यन् शत्रून् जयतु।

मन्त्रार्थ—यह अग्नि हमें धन प्राप्त करावे, संग्राम में शत्रुसेनाओं को छिन्न-भिन्न करता हुआ यह अग्नि शत्रुसेनाओं से धन-धान्य जीतकर हमें दिलावे। अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ यह अग्नि शत्रुओं को जीते। हमारे द्वारा दी गई आहुति को सुन्दर रूप से ग्रहण करे॥ इस मन्त्र को पढ़ता हुआ अध्वर्यु सबको मण्डप के उत्तर भाग में ले जा कर आग्नीध्रीय धिष्ण्य में अग्नि की स्थापना करे॥३७॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.७.७-९) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अयं नः' इस मन्त्र से आग्नीध्रीय धिष्ण्य में अग्निस्थापन के अनन्तर प्रचरणी स्रुक् के द्वारा घृत का हवन किया जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—उपासकों के सिद्धान्त के अनुसार ये भगवान् राम, कृष्ण, विष्णु अथवा साम्बशिव हमारे पापों को अग्नि की भाँति जलाकर, अज्ञान-भ्रम आदि को अग्नि की तरह भस्म करके अज्ञानकार्यात्मक जगत्-प्रपंच का नाश करते हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश रुई के ढेर को प्रकाशित करता हुआ भी सूर्यकान्त मणि में अग्नि के रूप में अभिव्यक्त होकर उसी रुई के ढेर को भस्म कर देता है, उसी प्रकार यह भी है। ये भगवान् हमारे तत्त्वज्ञानात्मक शमदमादि षट्क-सम्पत्ति रूपी धन का सम्पादन करें। ये भगवान् संग्रामों के आगे ही वैरियों का नाश करते हुए गमन करें तथा ये ही संग्रामों में जित धन

दयानन्दस्तु—'अयं परमेश्वरोपासकः, नोऽस्माकं जीवानामग्निः स्वयंप्रकाशोऽग्निरिव पापानां दग्धा रक्षणं करोतु। अयं युद्धकुशलो मृधः कुत्सितान् यथा कश्चिद् धीरो वाजसातौ मृधः शत्रून् पुर एति तथायं पुर एतु। यथा कश्चिद्वीरो मृधः शत्रून् प्रभिन्दन् वाजान् जयति तथायं जयतु। तथायं जर्हषाणः स्वाहा शोभनां वाचं वदन् जयतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात्। प्रजास्थानां जीवानामित्यपि निरर्थकम्, समेषां जीवानां प्रजास्थत्वाविशेषात्, प्रजायन्त इति प्रजा इति व्युत्पत्त्या जायमानानां चेतनाचेतनलक्षणानां सर्वकार्याणामेव प्रजाशब्दवाच्यत्वात्। अग्निरिवेत्यादिकमपि गौणार्थकमेव, सत्यां शक्त्यां भक्तेरनुपपत्तेः॥३७॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्र प्रं यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥३८॥

'तदेव निदधाति ग्राव्णः। द्रोणकलशं वायव्यान् यथेतरमादायायन्ति तदुत्तरेणाहवनीयमुपसादयन्ति' (श. ३.६.३.१३)। यथा इध्मबर्हिरादिकं तथैव द्रोणकलशं वायव्यान् ग्रहांश्चादाय उत्तरवेदिस्थस्याहवनीयस्योत्तरेणासादयन्ति। 'प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते। स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षत्यथ वेदिमथास्मै बर्हिः प्रयच्छन्ति तत्पुरस्ताद् ग्रन्थ्यासादयति तत्प्रोक्ष्योपनिनीय विस्रꣳस्य ग्रन्थिमाश्ववालः प्रस्तर उपसन्नद्धो भवति तं गृह्णाति गृहीत्वा प्रस्तरमेकवृद्बर्हिः स्तृणाति स्तीर्त्वा बर्हिः कार्ष्मर्यमयान् परिधीन् परिदधाति परिधाय परिधीन् समिधावभ्यादधात्यभ्याधाय समिधौ' (श. ३.६.३.१४)। प्रोक्षणीरादायाध्वर्युरिध्ममेव पूर्वं प्रोक्षेतेत्यादिना प्राकृतः प्रयोगः पुनरभिधीयते। तत्र तत्र विशेषविधानार्थं प्रस्तरं पृथग्गृहीत्वा बर्हिरेकावृत्त्यैव स्तृणीयात्। 'अथ जुहोति। उरु विष्णो - - - स्वाहेति तदेतेनैवैतस्यां दिवि प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनैतं लोकꣳ स्पृणुते यदेतया जुहोति' (श. ३.६.३.१५)। अथाधानसमिदाधानपर्यन्तं पश्वर्थमङ्गजातं कृत्वा पश्चाद्वैसर्जनीयं होमं तुरीयं जुहोति। तत्र मन्त्रः— 'उरु विष्णो' इति।

कात्यायनोऽपि — 'इध्मप्रोक्षणादि करोति' (का. श्रौ. ८.७.११), 'खरोत्तरार्ध एकवृत्स्तरणं पश्चाद्वोत्तरवेदेः' (का. श्रौ. ८.७.१२)। बर्हिस्तरणकाले खरस्योत्तरभागे आतिथ्याबर्हिष एकावृत्ति सकृत् स्तरणं कुर्यात्। 'आहवनीयेक्षणान्तं कृत्वोरु विष्णाविति जुहोति' (का. श्रौ. ८.७.१३)। सूरयस्त्वेत्याहवनीयेक्षणान्तं कर्म कृत्वा सकृद्गृहीतमाज्यं प्रचरण्या आहवनीये जुहुयात्। 'पुरस्ताद्वा समिधावाधायेति श्रुतेः' (का. श्रौ. ८.७.१४)। वाशब्दोऽवधारणे। नाहवनीयेक्षणान्ते होमः, किं तर्हि आहवनीयेक्षणात् प्रागेव होमः, 'अभ्याधाय समिधावथ जुहोति' इति श्रुतेः। वैष्णवी अनुष्टुप्।

हमें प्रदान करें, अथवा काम-क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित कर विवेक ज्ञान प्रदान करें। वही भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होकर शत्रुओं को जीतें।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या मूलरहित अध्याहारों की अधिकता के कारण असंगत है। 'अग्नि के समान' इत्यादि अर्थ करना भी गौण अर्थ ही है। मुख्यार्थ के उपपन्न होने पर गौणार्थ की कल्पना असमीचीन है॥३७॥

मन्त्रार्थ—हे व्यापक आहवनीय अग्निरूप परमात्मन्! आपके पराक्रम की हमें अपेक्षा है। ब्रह्मसद् में निवास के निमित्त हमें आप समृद्ध बनाइये। हे घृत से बढ़ने वाले अग्निदेव! आप घृत को पीजिये, यजमान को समृद्ध कीजिये। हम आपके निमित्त यह आहुति देते हैं॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए उत्तरवेदि के आहवनीय अग्नि के कुण्ड में आहुति दी जाती है॥३८॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.७.१२-१५) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'उरु विष्णो' मन्त्र का विनियोग वैसर्जनीय होम में आहुति प्रदान करने में उल्लिखित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थस्तु—हे विष्णो यज्ञात्मक, त्वम् उरु प्रभूतं द्युलोकपर्यन्तं विक्रमस्व विक्रमणं कुरु। देवयानाभिप्रायं त्रिलोकाभिप्रायं वा। किमर्थं क्षयाय ब्रह्मगृहनिवासाय, नोऽस्मान् उरु विस्तीर्णं यथा स्यात्तथा कृधि कुरु, विस्तीर्णशरीरान् वा कृधि। घृतयोने हे अग्ने, घृतं हुतं पिब यज्ञपतिं यजमानं प्रतिर वर्धयस्व। प्रपूर्वकस्तिरतिर्वर्धनार्थः। स्वाहा इदं घृतं तुभ्यं सुहुतमस्तु। यद्वा हे विष्णो व्यापिन्नाहवनीयाग्ने, उरु विक्रमस्व शत्रुषु बहुलं पराक्रमं कुरु। नोऽस्माकं क्षयाय निवासार्थं उरु कृधि बहुधनादिकं सम्पादय। हे घृतयोने घृतेन ज्वालोद्भवाद् घृतयोने, 'अग्निर्यस्यै योनेरसृज्यत तस्यै घृतमुल्बमासीत्' इति श्रुतेः। हूयमानमिदं घृतं पिब। यज्ञपतिं यजमानं प्रतिर अतिशयेन वर्धय। प्रशब्दस्य द्वित्वं पादपूरणार्थम्, 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा. सू. ८.१.६)। 'यद्वेव वैष्णव्यर्चा जुहोति कनीयाᳬंसं वा एनमेद्वधात्कृत्वात्यनैषु स्तोकमेव स्तोको ह्यप्तुस्तमेतदभयं प्राप्य य एवैष तं करोति यज्ञमेव यज्ञो हि विष्णुस्तस्माद्वैष्णव्यर्चा जुहोति' (श. ३.६.३.१६)। मन्त्रे यद्वैष्णवत्वमुक्तं तस्याल्पत्वपरिहारेण स्वाभाविकरूपप्राप्तिरूपत्वकरणेन प्रशंसति—यद्वेवेति। एतद् एतेन वैष्णवत्वकरणेनाभयं नाशकारिरक्षोभयरहितं कृत्वा एष सोमः पूर्वं य एव यादृग् यज्ञरूप आसीत्तं करोति। अन्यत् स्पष्टम्। अनया कण्डिकयापि रक्षोभयात् स्तोकरूपकरणादेव सोमस्याप्तुत्वं समर्थ्यते।

अध्यात्मपक्षे — हे विष्णो व्यापनशील विष्णो, भक्तानामनुग्रहाय क्षयाय ब्रह्मात्मपुरनिवासाय विक्रमस्व विक्रमं पराक्रमं त्रैलोक्यक्रमणादिकं कुरु, तल्लीलावर्णनश्रवणादिभिरेव भक्तानां तत्पदप्राप्तिसम्भवात्। नोऽस्मान् उरु विस्तीर्णान् ब्रह्मरूपान् उपाध्यध्यारोपापोहनेन कृधि कुरु। हे घृतयोने, घृतं स्नेहो योनिः कारणं यस्य प्राकट्ये स घृतयोनिः, तत्सम्बुद्धौ। घृतं स्नेहं पिब प्रेमरसमास्वादय। प्रेमपरिप्लुतं पत्रपुष्पादिकमपि भगवानश्नाति, 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥' (भ. गी. ९.२६) इति गीतोक्तेः। यज्ञपतिं ज्ञानोपासनादिनिर्वर्तयितारं प्र प्र तिर प्रकर्षेण वर्धय ज्ञानध्यानसामर्थ्यप्रदानादिना। तस्मै तुभ्यं स्वाहा मदीयं सर्वस्वमर्पितमस्तु।

दयानन्दस्तु—'यथा विष्णुर्विक्रमते, तथा हे विष्णो विद्यादिगुणैर्व्यापनशील वीरपुरुष, त्वमुरु विक्रमस्व विद्याफलमुरु क्रमस्व प्राप्नुहि। निवासार्थाय गृहाय विज्ञानादिप्राप्तये वा नोऽस्मान् कृधि घृतमाज्यं यथा घृतयोनिरग्निर्यथा पिबति तथा त्वं घृतं प्रपिब। यथा ऋत्विगादयो यज्ञपतिं संरक्ष्य दुःखं तरन्ति, तथा त्वं स्वाहावाचं वदन् सन् विजयेन यज्ञेन यज्ञं प्र प्र तिर' इति, तदपि न किञ्चित्, निर्मूलाध्याहार-विपरिणाम-मुख्यार्थत्याग-गौणार्थस्वीकारबाहुल्यात्। 'हे घृतयोने विद्यादिसुशिक्षायुक्त, यथाग्निर्घृतं पीत्वा प्रदीप्यते, तथा त्वं स्वीयैर्गुणैर्घृतं वारं वारं पीत्वा बलादिभिः प्रकाशितो भव' इत्यपि न सङ्गतम्, अक्षरबाह्यत्वात्। कथं गुणैर्वारं वारं घृतपानं भवति? 'यथा ऋत्विगादयो यजमानं रक्षित्वा यज्ञात् पारं कुर्वन्ति, तथा त्वं यज्ञस्य क्रियया यज्ञं प्लवस्व' इत्यप्यस्पष्टमेव। यज्ञस्य क्रियात्मकत्वेन यज्ञक्रियया यज्ञस्य पारगमनमर्थशून्यं वचः। भावार्थस्तु सर्वथा अक्षरासम्बद्ध एवेत्युपेक्षणीयः॥३८॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे व्यापनशील विष्णुदेव! भक्तों के अनुग्रह के लिये निवासार्थ त्रैलोक्य का क्रमण करें, हम लोगों को विस्तीर्ण ब्रह्मरूप बनावें। हे स्नेह के कारण प्रादुर्भूत होने वाले! आप स्नेह, प्रेमरस का आस्वादन करें। ज्ञान, उपासना आदि का अत्यन्त अभिवर्धन करें। इस प्रकार के आपके लिये मेरा सर्वस्व समर्पित हो।

स्वामी दयानन्द का व्याख्यान मूलरहित अध्याहार, विपरिणाम (परिवर्तन), मुख्यार्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ के ग्रहण की अधिकता के कारण अनुचित है। 'यज्ञक्रिया के द्वारा यज्ञ का पारगमन' यह अर्थहीन उक्ति है, क्योंकि यज्ञ क्रियात्मक ही होता है॥३८॥

दे॒वं स॑वितरे॒ष ते॒ सोम॒स्तꣳ रक्ष॑स्व॒ मा त्वा॑ दभन्। ए॒तत्त्वं दे॑व सोम दे॒वो दे॒वाँ२॥ उपा॑गा इ॒दम॒हं म॑नु॒ष्यान् स॒ह रा॒यस्पोषे॑ण॒ स्वाहा॒ निर्वरु॑णस्य॒ पाशा॑न्मुच्ये ॥३९ ॥

'अथासाद्य स्रुचः। अप उपस्पृश्य राजानं प्रपादयति' (श. ३.६.३.१७)। उत्तरवेदेः पश्चाद्देशे बर्हिषि स्रुच आसाद्य राजानं सोमं प्रपादयति हविर्धानं प्रवेशयति। 'स दक्षिणस्य हविर्धानस्य नीडे कृष्णाजिनमास्तृणाति। तदेनमासादयति देव सवितरेष . . . . दभन्निति तदेनं देवायैव सवित्रे परिददाति गुप्त्यै' (श. ३.६.३.१८)। दक्षिणस्य हविर्धानस्य नीडे परिवृते मध्यप्रदेशे कृष्णाजिनोपरि सोमं निदध्यात्। कात्यायनोऽपि तथैवाह—'आसाद्याज्यानि दक्षिणेऽनसि कृष्णाजिनमास्तीर्य तस्मिन् सोमं निदधाति देव सवितरिति' (का. श्रौ. ८.७.१५)। उत्तरत्र विसर्गोपदेशाद् यजमानान्वारब्धोऽध्वर्युः सोमं निदध्यादित्यर्थः। 'अथानुसृज्योपतिष्ठते। एतत् त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ उपागा . . . . रायस्पोषेणेत्यग्नीषोमौ वा एतमन्तर्जम्भ आदधाते यो दीक्षत आग्नावैष्णवꣳ ह्यदो दीक्षणीयꣳ हविर्भवति यो वै विष्णुः सोमः स हविर्वा एष देवानां भवति यो दीक्षते तदेनमन्तर्जम्भ आदधाते तत्प्रत्यक्षꣳ सोमान्निर्मुच्यते यदाहैतत् त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ उपागा . . . रायस्पोषेणेति भूमा वै रायस्पोषः सह भूम्नेत्येवैतदाह' (श. ३.६.३.१९)। 'एतत् त्वमिति विसृज्योपतिष्ठते' (का. श्रौ. ८.७.१६)। कृष्णाजिनस्योपरि सोमनिधानकाले सोमस्यान्वारम्भं कुर्वन् यजमानः सोमं विसृज्य हस्तेन मुक्त्वा एतत् त्वमित्युपतिष्ठेत। काण्वशाखीयसायणभाष्यरीत्या तु कृष्णाजिने स्थापितं बद्धं सोमं विस्रंस्योपस्थानं कुर्यात्। महीधराचार्योऽपि तथैव। अग्नीषोमौ वा एतमन्तर्जम्भे दंष्ट्राकराले मुखे आदधाते यो दीक्षते। आग्नावैष्णवं ह्यदो दीक्षणीयं हविः। यो वै विष्णुः सोमः स हविर्वा एष देवानां भवति यो दीक्षते। सोमोऽयं यजमानस्यात्मनिष्क्रयरूपः। यस्मादस्य यजमानस्यादो विप्रकृष्टकाले दीक्षणीयेष्टौ हविरभूद् यो विष्णुः स सोमः, सोमस्य यज्ञनिर्वर्तकत्वाद् यज्ञत्वम्। यज्ञद्वारा विष्णोः सोमत्वम्। दीक्षा संस्कारः। दीक्षणीयेष्ट्या संस्कृतत्वादेव दीक्षणीयेष्टिदेवतयोर्हविश्च एनं जम्भे स्थितम्। अतो जम्भाद्विमोक्षायाग्नीषोमीयं सोमं दत्वा आत्मनिष्क्रयणं कृतवान् भवतीत्यर्थः। तत्प्रत्यक्षं सोमान्निर्मुच्यते। यदाह — एतत् त्वं देव सोम देवान् उपागा इति। 'अथोपनिष्क्रामति। स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्य इति वरुणपाशे वा एषोऽन्तर्भवति योऽन्यस्यासंस्तत्प्रत्यक्षं वरुणपाशान्निर्मुच्यते यदाह स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान् मुच्य इति' (श. ३.६.३.२०)। 'स्वाहा निरिति निष्क्रम्य' (का. श्रौ. ८.७.१७)। हविर्धानान्निष्क्रम्य पूर्वं सङ्कोचिता अङ्गुलीर्विसृजेद्यजमानः।

मन्त्रार्थ—हे सबके प्रेरक सविता देवता! आपको हम यह सोमरस अर्पित करते हैं, इसकी आप रक्षा कीजिये, आपके रक्षा कार्य में कोई विघ्न (उपद्रव) न हो। हे सोमदेव! तुम देवता हो, अतः देवताओं के पास चले जाओ। मैं यजमान धन और पुष्टि के साथ अपने परिजनों के साथ सुख से रहूँ। सोमरूप अन्न देवताओं को पहुँचे। उस सोमदान के प्रभाव से मैं वरुण के पाश से मुक्त हो जाऊँ॥ जुहू आदि आज्यस्थाली पर्यन्त पात्रों को स्थापित करके यजमान से सोम लेकर अध्वर्यु हविर्धान में प्रवेश करे। वह दक्षिण हविर्धान में मृगचर्म बिछाकर उस पर सोम रखे, सोम का उपस्थान करे और हविर्धान मण्डप से बाहर निकले ॥३९ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.७.१६-१८) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'देव सवितः' इस कण्डिका के मन्त्रों से कृष्णाजिन पर सोम का स्थापन, उपस्थान तथा निष्क्रमण आदि कार्य किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में तथा तदनुसार महीधर आदि आचार्यों के द्वारा याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट किया गया है।

मन्त्रार्थस्तु—हे देव द्योतमान सवितः सर्वस्य प्रेरक, एष सोमस्ते तवार्पितः। तं सोमं रक्षस्व। तादृशं सोमस्य पातारं त्वामसुरा मा दभन् मा हिंसिषुः। सौम्यं यजुः। हे सोम देव, त्वमिदानीं भवदीयान् देवान् उपागाः प्राप्तोऽसि। अहमपि मनुष्यः सन् एतदिदानीं मनुष्यानस्मदीयानुपागां प्राप्तोऽस्मि। न केवलमहमेव, किन्तु रायस्पोषेण सह धन-पोषणसहित एव, यजमानस्याग्नीषोमयोर्जम्भानुप्रवेशेन तदीयधनस्याप्यनुप्रवेशात्। स्वाहा सोमरूपमन्नं देवेभ्यो दत्त-मस्तु। अनेन देवानां सोमप्रदानेनाहं वरुणस्य पाशान्निर्मुच्ये निर्मुक्तोऽस्मि। यद्वा हानं हा, न हा अहा, स्वस्य अहा स्वाहा स्वात्यागः, सोमेनात्मानं निष्क्रीयात्मीयोऽहमस्मीत्यर्थः। तस्माद्धेतोर्निर्मुक्तोऽहं वरुणस्य सम्बन्धिनः पाशात्। ननु कुतो वरुणपाशप्रसङ्गः? इति तत्राह—वरुणपाशे वा एषोऽन्तर्भवति योऽन्यस्यासन् भवतीति तस्मात् स्वाहेति। स्वस्य देवानामात्मीयत्वसम्पादनेनान्यदीयत्वव्यावृत्त्या वरुणपाशान्निर्मुक्तिः, तथैव स्वीयस्य द्रव्यस्य देवार्थं दत्तत्वेनापि। यद्वा स्वाहा स्वः अहमिति विगृह्य वचनम्, तदनेन स्वःस्वरूपस्य सोमस्य देवानां प्रदानेन स्वस्य देवानामात्मीयत्वं सम्पद्यते। तस्मादप्यन्यत्वव्यावृत्त्या वरुणपाशान्निर्मुक्तिः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे देव जगदुत्पत्त्यादिक्रीडनपरायण सवितः, जगत्प्रेरकान्तर्यामिन्, एष प्रत्यगात्मा ते तव सोमः सोमोपलक्षितः समर्पणीयः पदार्थः, 'अहमन्नम्' (तै. उ. ३.१०) इति श्रुतेः। तं रक्षस्व मायामयेभ्यः कामक्रोधादिभ्य. शान्तिदान्तिब्रह्मात्मज्ञानादिसम्पादनेन पालय। नन्वेते बलवन्तो मामेव बाधिष्यन्त इति तत्राह — मा त्वा दभन्निति। एते मायासहिता अपि कामादयः शरणागतपालकं त्वां मा दभन्, किं हिंसितुं समर्था भविष्यन्ति? कथमपि न, तव नित्यनिरस्तसमस्तानर्थसत्ताकत्वात्। यथा सूर्यस्य संमुखे तमिस्रा (रात्रिः) स्थातुं न शक्नोति, तथा मायापि त्वत्संमुखे स्थातुं न शक्नोति, किमुत कामादयः? 'विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया' (२.५.१३) इति श्रीमद्भागवत-वचनात्। हे सोमभूत द्योतमान प्रत्यगात्मन्, देवः सन् त्वं देवान् देवदेवं परमात्मानमुपागाः प्राप्तवानसि। पूजायां बहुवचनम्। साधकश्च तथैवानुभूय वक्ति—इदं प्रत्यक्षमहं रायस्पोषेण रायो लक्ष्म्या दैवीसम्पदः पोषेण भगवदनुग्रहेण पुष्ट्या मनुष्यान् मननशीलान् तत्त्वविद उपागां प्राप्तोऽस्मि। तत्प्रसादात्तस्मै ब्रह्मणे परमात्मने स्वाहा स्वात्मानमर्पयामि। तत एव वरुणस्य सर्वावरकस्याज्ञानस्य पाशात् संसारबन्धनान्निर्मुच्ये निर्मुक्तो भवामि।

दयानन्दस्तु — 'हे देव सवितः सभाध्यक्ष, यथाहं भवत्सहायेन स्वकीयमैश्वर्यं रक्षामि, तथा त्वं य एष ते सोमोऽस्ति, तं रक्षस्व। यथा मां शत्रवो न हिंसन्ति तथा त्वामस्मत्सहायेन मा दभन्। हे देव सोम, देवस्त्वं यथैतदस्माद् देवानुपागाः, तथाहमप्युपागाम्। यथाहमिदमनुष्ठाय रायस्पोषेण सह वर्तमानो मनुष्यान् देवांश्चेत्य स्वाहा वरुणस्य पाशान्निर्मुच्ये, तथा त्वमपि निर्मुच्यस्व' इति, तथा हिन्दीभाष्ये तु—'हे देव सर्वविद्याप्रकाशक सवित ऐश्वर्यवन् सभाध्यक्ष,

---

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे देव! जगदुत्पत्ति आदि क्रीडा करनेवाले, जगत् के प्रेरक, अन्तर्यामी, यह प्रत्यगात्मा आपका सोम के समान समर्पणीय पदार्थ है। इसे मायामय काम, क्रोध आदि पदार्थों से शान्ति, ज्ञान आदि के सम्पादन द्वारा सुरक्षित कीजिये। ये मायासहित काम आदि शरणागतपालक आपको क्या दबा सकेंगे? जिस प्रकार सूर्य के संमुख रात्रि नहीं टिक सकती, उसी प्रकार माया भी आपके संमुख नहीं स्थित हो सकती। हे सोमरूप प्रत्यगात्मा, तुमने देव होकर देवाधिदेव परमात्मा को प्राप्त किया है। साधक कहता है कि मैं दैवी सम्पत् तथा भगवदनुग्रह से तत्त्ववेत्ताओं को प्राप्त हूँ। उसकी कृपा से परमात्मा के लिये स्वयं को समर्पित करता हूँ। उससे आवरणकर्ता अज्ञान के पाश, संसारबन्धन से मुक्त होता हूँ।

स्वामी दयानन्द के संस्कृत तथा हिन्दी अर्थ की उक्तियों के प्रामाण्य में कोई मूल न होने के कारण अनौचित्य है। सोम शब्द का अर्थ 'ऐश्वर्यसमूह' करना भी अप्रामाणिक है॥३९॥

यथाहं भवत्साहाय्येन स्वीयमैश्वर्यं रक्षामि, तथैव त्वं स्वीयं सोममैश्वर्यसमूहं रक्षस्व। यथा मां शत्रवो न हिंसन्ति, तथैव मत्साहाय्येन त्वामपि मा दभन्। हे देव सुखदातः सोम, सज्जनमार्गेषु जलानां सञ्चालक, त्वमेतस्मात् कारणाद् हे सभाध्यक्ष, पूर्णविद्याप्रकाशे तिष्ठन् देवानुपागाः श्रेष्ठविदुषां समीपं गच्छ, अहमपि गच्छामि। यथाहमेतदाचर्य अत्यन्तधनस्य पुष्ट्या सह मनुष्यान् देवान् विदुषः प्राप्य स्वाहा समीचीनां वाणीं वदामि, दुःखैराच्छादकानां दुष्टानां जनानां तिरस्कारकारकान् पाशान् बन्धनान्निरन्तरं मुच्ये मुक्तः स्याम्, तथा त्वमपि मुच्यस्व' इति, तदुभयमपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैतस्य संवादस्य प्रामाणिकत्वे मानाभावात्। न च तत्रास्य मन्त्रस्यैव प्रामाण्यम्, मन्त्रे तादृशपदानामभावात्, लुप्तोपमालङ्कारादिकल्पनया त्वद्वाक्यानामप्यन्यथानयनसम्भवात्। सोमपदस्य ऐश्वर्यसमूहोऽर्थ इत्यपि निर्मूलम्। 'यथा मां शत्रवो न हिंसन्ति' इत्यपि मन्त्रबाह्यमेव। यः सर्वविद्याप्रकाशको यश्चैश्वर्यसमूहवान् यश्च जनानां सन्मार्गेषु प्रवर्तकः, स विद्वांसं किमर्थमुपगच्छेत्? उपदेष्टव्यश्च ततोऽन्यं विद्वांसं किमर्थमुपयास्यति? दुःखैराच्छादकानां तिरस्कारकारकस्य कुतः पाशत्वमित्यपि चिन्त्यमेव ॥३९॥

अग्ने॑ व्रतपा॒स्त्वे व्र॑तपा॒ या तव॑ त॒नूर्मय्य॑भू॒देषा सा त्वयि॒ या मम॑ त॒नूस्त्वय्य॑भू॒दि॒यꣳ सा मयि॑। य॒था॒य॒थं नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒रमꣳस्तानु॒ तप॒स्तप॑स्पतिः ॥४०॥

'अथेत्याहवनीये समिधमभ्यादधाति। अग्ने व्रतपा... अथात्राङ्गुलीर्विसृजते' (श. ३.६.३.२१)। अग्ने व्रतपा इत्याहवनीये समिधमाधाय मदन्तीरुपस्पृश्याङ्गुलीर्विसृजते। पत्नी गार्हपत्ये तूष्णीं समिधमाधाय स्वमदन्तीरुपस्पृश्याङ्गुलीर्विसृजते। तप्ता आपो मदन्त्यः। आग्नेयं यजुः। हे अग्ने, व्रतपाः स्वभावतस्त्वं सर्वेषां व्रतानां पालकोऽसि। तस्मादिदानीमपि त्वमेव व्रतपाः। त्वं मदीयस्य व्रतस्य पालको भवेति शेषः। अग्ने व्रतपते त्वं व्रतानां पतिः। पूर्वत्र यजमानोऽग्निशरीरस्वशरीरयोर्व्यत्ययं कृत्वा स्वकीयव्रतपालनं प्रार्थितवान्। इदानीं व्रतस्य पालितत्वाद् व्यत्ययं परिहृत्य स्वशरीरस्वीकाराभिप्रायेण व्रतपास्तव तनूरित्याह—हे अग्ने, व्रतपालनप्रार्थनाकाले तव सम्बन्धिनी या तनूर्मय्यवस्थितासीत्, सैषा तनूरद्य त्वय्यवतिष्ठताम्। यो या उ या च मम तनूस्त्वय्यासीत्, सा इयं मयि भवतु। हे व्रतपते व्रतपरिपालकाग्ने, नौ व्रतानि आवयोः कर्माणि यथायथं स्वस्वसम्बन्धमनतिक्रम्यातिष्ठन्ताम्। अनुष्ठानरूपं व्रतं ममास्तु। तत्पालनरूपं व्रतं तवास्तु। किञ्च, दीक्षापतिर्दीक्षायाः पालकोऽग्निर्मे दीक्षां मदीयदीक्षार्थं व्रतं नियममन्वमंस्त अनुमतवान् अङ्गीकृतवान्। तपस्पतिः तपसः पालकोऽग्निः, तपोऽनु मदीयं तपोऽनुमतवान्, उपसद्रूपतपोऽङ्गीकृतवानित्यर्थः। तपःप्रधानत्वात् तपःशब्देनोपसद उच्यन्ते। यद्वा—'व्रतपा' इत्यामन्त्रितस्याभ्यासभूयस्त्वबोधनाय। 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' इति यास्कोक्तेः। 'त्वे' इत्यत्र द्वितीयार्थे शेप्रत्ययः। अतिशयेन त्वं व्रतपस्य गोपा।

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! आप स्वभाव से सब व्रतों के रक्षक हैं, अतः मेरे व्रत की भी आप रक्षा कीजिये। आपका जो शरीर मुझमें स्थित हुआ था, वह पुनः आपका ही हो जाय और जो यह मेरा शरीर आपमें स्थित था, अब वह मेरा हो जाय। हे व्रत के पालक! हमारा और तुम्हारा कर्म का सम्बन्ध कभी न टूटे। हे दीक्षा के स्वामिन्! आपने मेरी दीक्षा को अंगीकार किया है। हे उपसद के पालक अग्नि! आपने मेरे उपसदरूप व्रतपालन (तप) को स्वीकार किया है॥ इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि में समिधा रख कर मदन्ती का स्पर्श कर उसे गाड़ कर मुष्टि की मेखला बनावे॥४०॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.७.१९-२१) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुसार 'अग्ने व्रतपाः' इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि में समिदाधान करने के अनन्तर यजमान अङ्गुलि-विसर्ग करता है। याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

'अग्ने - - - तपस्पतिरिति तत्रत्यक्षमग्नेर्निर्मुच्यते स स्वेन सतात्मना यजते तस्मादस्यात्राश्नन्ति मानुषो भवति तस्मादस्यात्र गृह्णन्ति मानुषो हि भवत्यथ यत्पुरा नाश्नन्ति यथा हविषोऽहुतस्य नाश्नीयादेवं तत्तस्माद्दीक्षितस्य नाश्नीयादथात्राङ्गुलीर्विसृजते' (श. ३.६.३.२१)। स्वशरीराग्निशरीरयोर्व्यत्ययपरिहारेण स्वशरीरस्वीकारेण तत्प्रतीत्यर्थमग्नेर्निर्मुच्यते। पूर्वमग्न्यात्मना सता इदानीं स स्वेन सतात्मना यजते, स्वशरीरस्य पुनः प्राप्तत्वात्। दीक्षितान्ननिषेधभावाभावयोरयमेवाभिप्राय इत्याह—तस्मादस्यात्राश्नन्तीति। तस्मादिति हेतुमेव विवृणोति—मानुषो हीति। नामग्रहणस्यापि मानुषभावः। अतो वैसर्जनहोमपर्यन्तं दीक्षितस्य नाम न गृह्णीयादिति विधिः परिकल्प्यते। यथा देवातिथिषु मनुष्यो नाश्नीयात्, एवं तदपि भवति, धनस्यापि यजमानेन सह प्रवेशादित्यभिप्रायः। 'नामग्रहणभोजने अस्यातः कुर्वन्ति' (का. श्रौ. ८.७.२१)। अत ऊर्ध्वमस्य दीक्षितस्य नामोच्चारणं भोजनं च कुर्युः, अर्थादतः पूर्वं न कुर्युः, 'न दीक्षितस्यान्नमश्नीयात्', 'न दीक्षितस्य नाम गृह्णीयात्' इति वचनाभ्याम्। व्यतिक्रमे भोक्त्रादीनां प्रायश्चित्तम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने हे परमेश्वर ! त्वमतिशयेन व्रतपालकोऽसि। या तव तनूः शरीरं मयि ध्येयरूपेणासीत्, सा त्वयि भवतु। या च मम तनूस्त्वय्यनुग्राह्यरूपेणासीत्, इयं सा मयि तिष्ठतु। यथायथं नौ आवयोर्व्रतानि कर्माणि यथायथं यथास्वं सम्बन्धमनतिक्रम्य सन्तु। मय्यनुग्राह्यानुगुणानि त्वयि चानुग्राहकानुगुणानि व्रतानि भवन्तु। किञ्च, त्वत्प्रसादनाय तदनुगुणकर्मोपासनादिदीक्षाया अपि त्वमेव पालकः, त्वदनुग्रहमन्तरेण तदसिद्धेः, 'सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये। पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥' (भा. पु. १०.४०.२८) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। मे दीक्षां दीक्षार्थं नियमममंस्त अङ्गीकृतवान्, त्वदङ्गीकारेणैव तत्पूर्तेरपि सम्पन्नत्वात्।

दयानन्दस्तु —'यथा व्रतपाः सत्यपालको विद्वान् स्यात्तथैव हे अग्ने विशेषज्ञानवन्, यथा सत्यविद्यागुणोपेत आचार्य आसीत्तथैवाहं तव स्याम्। या तव तनूर्विद्यादिगुणेषु व्यापको देहोऽस्ति, सा मयि। यैषा त्वयि मतिरस्ति सा मयि स्यात्। यो या मम तनूः सा त्वयि भवतु। यथाऽयं जनो व्रतपतिर्भवति तथा त्वं चाहं च नौ सखायौ भूत्वा यथायथं व्रतानि सत्याचरणान्यनुचरेव। हे मित्र, यथा तव दीक्षापतिस्तुभ्यं दीक्षामन्वमंस्त, तथा मम दीक्षामन्वमंस्त। यथा ते तव तपस्पतिस्त्वदर्थं तपोऽन्वमंस्त, तथा मे ममापि तपस्पतिर्मदर्थं तपोऽन्वमंस्त' इति, हिन्द्यां तु—'तव मित्रं मय्यपि भवतु मम मित्रं त्वयि बुद्धिर्भवतु। या मे तनूर्विद्याविततिः सा त्वयि। मम पाठकास्त्वयि सन्तु। अयं तव शिष्यो मयि बुद्धिर्भवतु। हे सत्याचरणपालक, यथा सत्यगुणानां सत्योपदेशानां च पालको विद्वान् भवति, तथा आवां मित्रे भूत्वा सत्याचरणान्यनुचरेव। हे मित्र, यथा ते दीक्षापतिर्यथोपदेशपालयितारं त्वां सत्योपकरणममंस्त, तथा ममापि मामनुजानातु। यथा ते तपस्पतिराचार्योऽखण्डब्रह्मचर्यपालकस्तुभ्यं प्रथमं क्लेशकरं पश्चात् सुखकरं ब्रह्मचर्यमनुजानाति,

---

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे अग्नि परमेश्वर ! आप श्रेष्ठ व्रतरक्षक हैं। आपकी जो मूर्ति ध्येय रूप से मुझमें विद्यमान थी, वह आपमें स्थित हो तथा जो मेरा शरीर अनुग्राह्य के रूप में आपकी दृष्टि में था, वह मुझमें बना रहे। यथावत् हम दोनों अपने अपने कार्यों को सम्पादित करें। मुझमें अनुग्राह्य गुण तथा आपमें अनुग्राहक गुण व्रत के रूप में रहें। आपकी प्रसन्नता के लिये किये जाने वाले उपासना, कर्म आदि के भी आप ही रक्षक हैं। आपकी कृपा के बिना वह सिद्ध नहीं होंगे। मैंने दीक्षा के लिये नियम को स्वीकृत किया है, क्योंकि आपकी स्वीकृति से ही व्रतपूर्ति सम्भव हो सकती है।

स्वामी दयानन्द के व्याख्यान के अनुरूप अर्थ वाले शब्द मूल मन्त्र में नहीं है। अतः वह व्याख्या बालभाषित की भाँति है। 'तनु' शब्द से 'मति' अर्थ का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है ॥४० ॥

तथा ममापि तथाभूत आचार्यो मामनुजानातु' इति, तदेतत्सर्वं केवलं बालविलसितम्, तथार्थकानां पदानां मूलेऽभावात्, तनुपदेन मतेर्ग्रहणे मानाभावात्। मतेः परिवर्तनमपि निर्मूलं निष्प्रयोजनं च। कथञ्चिदाचार्यमतिः शिष्यायापेक्षितापि स्यात्, तथापि शिष्यमतिराचार्याय नापेक्षिता भवति। 'यथा ते दीक्षापतिस्तथा ममापि स्यात्' इत्याद्यपि निरर्थकं प्रलापमात्रम्। एकस्य सौष्ठवे निश्चित एव तादृशस्य कामना सम्भवति। तव शिष्यो मयि बुद्धिरित्यादिकं तु विचित्रमेव पाण्डित्यम्। वस्तुतस्तु तद्व्याख्यानस्य स्वरूपनिरूपणमेव तन्निराकरणम्॥४०॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्र प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥४१॥

यूपसम्पादनमन्त्राः—'गृहेषु, यूपाहुतिं जुहोति चतुर्गृहीतꣳ स्रुवेण वोरु विष्णविति' (का. श्रौ. ६.१.३-४)। यूपच्छेदनार्थमरण्यं गच्छन् स्रुवेण स्रुचा वा चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा यूपाहुतिमाहवनीये जुहुयात्। शतपथे च—'यूपं व्रक्ष्यन् वैष्णव्यर्चा जुहोति' (श. ३.६.४.१)। व्रक्ष्यन् छेत्स्यन्, वैष्णव्या 'उरु विष्णो विक्रमस्व' इत्यनयर्चा आहवनीये यूपाहुतिं जुहुयात्। 'द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिꣳसी पृथिव्या सम्भव' (वा. सं. ५.४३) इति मन्त्रेण वा। मन्त्रादौ लोकत्रयाक्रमणस्योक्तत्वेन विष्णुसाम्याद्वैष्णवत्वम्। तदर्थवाच्यृचो वैष्णवत्वं युक्तम्। 'यद्वेव वैष्णव्या जुहोति। यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञेनैवैतद्यूपमच्छैति तस्माद्वैष्णव्यर्चा जुहोति' (श. ३.६.४.२)। ऋचो वैष्णवत्वं प्रशंसति—यद्वेवेति। यज्ञेनैव यूपमभिलक्ष्य गतवान् भवति। 'स यदि स्रुचा जुहोति। चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहोति यद्यु स्रुवेण स्रुवेणैवोपहत्य जुहोत्युरु विष्णो .... स्वाहेति' (श. ३.६.४.३)। मन्त्रव्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

अध्यात्मपक्षे—हे विष्णो व्यापनशील जीवात्मन्, क्षयाय दोषाणामपगमाय ब्रह्मनिवासाय उरु विक्रमस्व बहुधा साधनानुष्ठानलक्षणं पराक्रमं कुरु। नोऽस्मान् त्वत्सम्बन्धिन उरु कृधि गौरवान्वितान् कुरु। हे घृतयोने, घृतं रसः, रसो ब्रह्म, 'रसो वै सः' (तै. उ. २. ७) इति श्रुतेः। तद्योनिः कारणं यस्यासौ घृतयोनिः, तत्सम्बुद्धौ हे ब्रह्मपुत्र, 'अमृतस्य पुत्राः' (वा. सं.) इति मन्त्रवर्णात्। घृतं रसं (भक्तिरसं) पिब सेवस्व। परमात्मरूपो रस एव भक्तिरसतामुपगच्छति। 'भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि। मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम्॥' इत्यभियुक्तोक्तेः। तेनैव भक्तिरसेनैव यज्ञपतिं यज्ञभोक्तारं परमात्मानं प्र प्र तिर प्रवर्धय प्रहर्षय, स्वाहा तस्मै स्वाहा त्वदीयं सर्वं सुहुतमस्तु॥४१॥

मन्त्रार्थ—हे व्यापक आहवनीय अग्निरूप परमात्मन्! आपके पराक्रम की हमें अपेक्षा है। ब्रह्मसद् में निवास के निमित्त हमें आप समृद्ध बनाइये। हे घृत से बढ़ने वाले अग्निदेव! आप घृत पीजिये, यजमान को समृद्ध कीजिये। हम आपके निमित्त यह आहुति देते हैं॥ यूप काटने के लिये वन को जाता हुआ यजमान अपनी सफलता के लिये स्रुवे में घी लेकर इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि में हवन करे॥४१॥

भाष्यसार—यूपनिर्माण के लिये काष्ठच्छेदन हेतु वन में जाते हुए 'उरु विष्णो' इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि में घृत की आहुति प्रदान करे, यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६.१.४) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे व्यापक जीवात्मा! दोषों के निराकरण तथा ब्रह्म में निवास के लिये अनेकविध साधनानुष्ठान आदि पराक्रम का सम्पादन करो। तुमसे सम्बद्ध हम लोगों को गौरवान्वित करो। हे ब्रह्मरूप रस के तनय, तुम भक्तिरस का सेवन करो। परमात्मरूप रस ही भक्तिरस के रूप में प्राप्त होता है। उस भक्तिरस से ही यज्ञभोक्ता परमात्मा को निरन्तर प्रसन्न करो। उस परमात्मतत्त्व के लिये तुम्हारा सर्वस्व समर्पित हो।

स्वामी दयानन्द के अर्थ की समीक्षा के लिये पूर्वभाष्य (५.३८) द्रष्टव्य है॥४१॥

अत्य॒न्याँ२॥ अग॒ां नान्याँ२॥ उपा॑गाम॒र्वाक् त्वा॒ पर॒॑भ्योऽवि॑दं प॒रोऽव॑रेभ्यः। तं त्वा॑ जुषामहे देव वनस्पते देवय॒ज्यायै॑ दे॒वास्त्वा॑ देवय॒ज्यायै॑ जुषन्तां॒ विष्ण॑वे त्वा। ओष॑धे॒ त्राय॑स्व॒ स्वधि॑ते॒ मैनं॑ᳪ हिᳪसीः ॥४२॥

'यदाज्यं परिशिष्टं भवति। तदादत्ते यत्तक्षणः शस्त्रं भवति तत्तक्षादत्ते त आयन्ति स यं यूपं जोषयन्ते' (श. ३.६.४.४), 'तमेवमभिमृश्य जपति' (श. ३.६.४.५)। अवशिष्टमाज्यमध्वर्युरादत्ते। यत्तक्षकस्य शस्त्रं वास्यादिकं तत्तक्षा आदत्ते। तत् शिलादौ जोषयन्ते वासीनिशानाय तं यूपमेवमभिमृश्य जपति 'अत्यन्यान्' इत्यादिमन्त्रम्। अथवा अभिमर्शनं न कर्तव्यम्। पश्चात् प्राङ् तिष्ठन्नेवाभिमन्त्रयते। कात्यायनोऽपि 'आज्यशेषमादाय सतक्षा गच्छति यूपमभिमृशत्यन्यानिति प्राङ् तिष्ठन्नभिमन्त्रयते वेति'। (का. श्रौ. ६.१.५-७)। तक्ष्णा वर्धकिना सहितो यूपाहुतिशेषमाज्यमादाय यूपच्छेदनायारण्यं गच्छेत्। तत्र यूपीयं वृक्षमभिमृशेत्। अथवा यूपस्य वृक्षस्य पश्चात् प्राङ् तिष्ठन् यूपवृक्षं विलोकयन् अमुं मन्त्रं पठेत्। वृक्षा द्विविधा यूपा अयूपाश्च। पलाशखदिरादयो यूपाः, निम्बजम्बीरादयस्त्वयूपाः। तदाह कात्यायनः—'पालाशं बहुलपर्णमशुष्काग्रमूर्ध्वशकलशाखं मध्याग्रोपनतमव्रणम्' (का. श्रौ. ६.१.८), 'अभावे खदिर-विल्व-रौहितकान्' (का. श्रौ. ६.१.९)। अशुष्कमार्द्रमग्रं यस्य तम्, ऊर्ध्वाः सकलावेष्टनत्वचः शाखाप्ररोहाश्च यस्य तम्, मध्येऽग्रे च वक्रत्वचम्, नास्ति व्रणं ग्रन्थिर्यस्य तमिति।

मन्त्रार्थस्तु—हे पुरोवर्तियूपवृक्ष, त्वत्तोऽन्यान् कांश्चिद्यूप्यानपि समप्रदेशादिजन्मादिलक्षणरहितान् अत्यगाम् अतिक्रान्तवानस्मि। अन्यांस्त्वयूपान् नोपागां न प्राप्तवानस्मि। अर्वाक् परेभ्य उत्कृष्टेभ्यो लक्षणेभ्यः प्रत्यासन्नं लक्षणयुक्तं त्वामविदं लब्धवानस्मि। पुनः कीदृशम्? परोवरेभ्योऽत्यन्तनिकृष्टलक्षणेभ्यो दूरवर्तिनं तद्रहितमिति यावत्। अर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं ये त्वत्तः पराञ्चो वृक्षास्तेभ्यस्त्वामर्वाग् अविदम्, विदिर्लाभार्थो ज्ञानार्थो वा, लब्धवान् ज्ञातवान् वा। परः परस्तादवरेभ्यस्त्वामविदमित्यनुवर्तते। तं त्वा लक्षण्यं जुषामहे लक्षणानामुत्कर्षापकर्षापेक्षयैव निकटत्वदूरत्वाऽर्वाक्त्वपराक्त्वादिकं मन्तव्यम्। तथा च पूर्वस्मिन् सायणसम्मते व्याख्याने उक्तमेव। हे वनस्पते देव, तस्य पालक दीप्यमान वृक्ष, तं तादृशं त्वा देवयज्यायै देवयागार्थं जुषामहे सेवामहे। देवा अपि देवयागार्थं त्वां सेवन्ताम्। हे यूपवृक्ष, त्वा त्वां विष्णवे यज्ञार्थमुपस्पृशानीति शेषः। यद्वा परेभ्यो दूरवर्तिभ्योऽर्वाग् निकटं त्वामविदम्। अवरेभ्यो निकटेभ्यः परः परस्तादतिनिकटमविदम्, 'विद्लृ लाभे', 'पुषादिभ्योऽङ्' (पा. सू. ३.१.५५) इत्यङ्, लुङि रूपम्। 'अथ

मन्त्रार्थ—हे आगे वर्तमान यूप वृक्ष! मैं तुम्हारे पास अन्य वृक्षों को छोड़ कर आया हूँ, यूप के योग्य अन्य वृक्षों के समीप नहीं गया। तुमको दूर के वृक्षों से निकट और निकट के वृक्षों में श्रेष्ठ पाकर आया हूँ। हे वन के पालक देव! देवयज्ञ के निमित्त हम तुम्हारी सेवा करते हैं। देवता भी देवयजन के निमित्त तुम्हारी सेवा करें। हे यूपवृक्ष! परमात्मा की प्रीति के लिये हम तुम्हारा स्पर्श करते हैं। हे औषध! तुम वज्र के भय से मेरी रक्षा करो। हे कुठार! इस यूप के अन्य स्थान का व्याघात मत करो॥ यजमान हुतशेष घृत लेकर तक्षा (बढ़ई) के साथ वन में जाकर इस मन्त्र का पाठ करता हुआ यूप के योग्य एक वृक्ष का पूर्वाभिमुख हो अभिमर्शन और अभिमन्त्रण करे। स्रुवे में विद्यमान हुतशेष घृत को वृक्ष पर लगावे और कुशतरुण को रखकर उसके ऊपर कुठार से प्रहार करे॥४२॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (६.१.५-१२) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'अत्यन्याम्' इस कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग यूप-वृक्ष का स्पर्श करते हुए अभिमन्त्रण में, स्रुव द्वारा स्पर्श तथा परशु से प्रहार करने में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट व्याख्यान याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल है।

स्रुवेणोपस्पृशति । विष्णवे त्वेति .... विष्णवे त्वेति' (श. ३.६.४.९), 'अथ दर्भतरुणकमन्तर्दधाति । ओषधे त्रायस्वेति' (श.३.६.४.१०) । कात्यायनोऽपि— 'स्रुवेणोपस्पृशति विष्णवे त्वेति' (का. श्रौ. ६.१.११) । घृताक्तेन स्रुवेण छेदनप्रदेशे यूपवृक्षमुपस्पृशेदिति । 'ओषध इति कुशतरुणकं तिरस्कृत्य स्वधित इति परशुना प्रहरति' (का. श्रौ. ६.१.१२) । कुशपत्रमेकं सन्धाय कुठारेणान्तर्हितस्य तृणस्योपरि छेदनाय प्रहारं कुर्यात् ।

तथा च मन्त्रार्थः—हे यूपवृक्ष, त्वा त्वां विष्णवे यज्ञार्थमुपस्पृशामीति शेषः, 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः । हे ओषधे, त्रायस्व मां स्वधितिभयाद्रक्ष । स्वधिते परशो एनं यूपं मा हिꣳसीः मा वधीः । मन्त्रमिमं शातपथी श्रुतिरेवं व्याख्यातंवती—'अर्वाग्घ्येनं परेभ्यो वृश्चति य एतस्मात् पराञ्चो भवन्ति परोऽवरेभ्य इति परो ह्येनमवरेभ्यो वृश्चति य एतस्मादर्वाञ्चो भवन्ति तस्मादाहार्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्य इति' (श. ३.६.४.६) । परेभ्योऽर्वाग्घ्येनं वृश्चति, अवरेभ्यश्च परस्तादेनं वृश्चति ।' तद्यथा बहूनां मध्यात् साधवे कर्मणे जुषेत, स रातमनास्तस्मै कर्मणे स्यादेवमेवैनमेतद्बहूनां मध्यात् साधवे कर्मणे जुषते स रातमना व्रश्चनाय भवति' (श. ३.६.४.७) । मन्त्रतात्पर्यमाह—यथा बहूनां पुरुषाणां मध्यादेकमवकृष्य साधवे शोभनाय कर्मणे जुषेत सेवेत, स जोष्टा रातमना दत्तचित्तः कर्मार्थमङ्गीकृतमनस्कः सन् तस्मै कर्मणे तत्कर्म कर्तुं प्रवृत्तो भवेत्, एवमेव बहूनां वृक्षाणां मध्यादेकं वृक्षं साधवे कर्मणे जुषामि । 'तद्वै समृद्धं यं देवाः साधवे कर्मणे जुषान्तै तस्मादाह देवास्त्वा देवयज्यायै' (श. ३.६.४.८) । जुषान्तै जुषेरन् । देवानां जोषणाभिधानस्य प्रार्थनायाः प्रयोजनमाह—तद्वै समृद्धं यं देवाः साधवे कर्मणे जुषेरन्निति । 'वज्रो वै परशुस्तथो हैनमेष वज्रः परशुर्न हिनस्त्यथ परशुना प्रहरति' (श. ३.६.४.१०) । एवं पूर्वोक्तब्राह्मणानुसारेण मन्त्रस्यायमर्थः सायणेन स्पष्टीकृतः—'हे पुरोवर्तिपालाशादिरूप वृक्ष, तव प्राप्तेः पूर्वमन्यान् यूप्यानपि नानाजातीयान् वृक्षानत्यगाम् अतिक्रम्य त्वां प्राप्तोऽस्मि । एवमन्यान् ब्राह्मणोक्तातिरिक्तानितः परमपि नोपागां नोपगच्छामि । त्वा त्वां परेभ्यस्त्वत्तोऽप्युपरि वर्तमाना ये सन्ति, तेभ्योऽर्वागधस्तात् प्रथमं वर्तमानमविदम् । तथा अवरेभ्यः पूर्वभाविभ्यः सकाशात् त्वां परः परस्ताद्वर्तमानमविदं लब्धवानस्मि । आद्यन्तयोर्वर्तमानानां वातातपादिकृतदोषसम्भवान्निकृष्टत्वम् । अतः सर्वेषां मध्ये वर्तमानं त्वामेव निर्दोषमविदं ज्ञातवानस्मि । हे देव वनस्पते, तादृशं वर्तमानं यूपार्हं त्वां देवयज्यायै यागार्थं जुषामहे प्रीत्या सेवामहे' इति ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सर्वेश्वर, अन्यान् त्वदतिरिक्तान् सर्वानतीत्य त्वामगां त्वां परित्यज्य नान्यान् कदाचिदप्युपागामुपगच्छामि । परेभ्यः परः परस्ताद् महतो महीयांसमवरेभ्योऽर्वाग् अणोरणीयांसं त्वामेवाविदं विज्ञातवानस्मि, विज्ञाय च प्राप्तवानस्मि । तं तादृशं त्वां सकलविरुद्धधर्माश्रयत्वात् सर्वकारणं परमेश्वरं त्वा जुषामहे प्रीत्या सेवामहे । हे देव द्योतमान स्वप्रकाश परमेश्वर वनस्पते, (वनस्पतिशब्दो यद्यप्यश्वत्थादिषु रुढस्तथापि यौगिकीं वृत्तिमाश्रित्य) संसारारण्यपते संसारपालक हे परमेश्वर, त्वां देवयज्यायै देवानां यजनाय देवानामपि देवं सर्वदेवात्मकं त्वामस्माकमिन्द्रियाणि मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराश्च त्वां प्रीत्या सेवन्ताम् । विष्णवे व्यापनशीलाय त्वत्प्राप्तय एव त्वां जुषामः । हे

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है — हे सर्वेश्वर परमात्मन्, आपके अतिरिक्त सबको छोड़कर मैं आपके पास आया हूँ । मैं आपको छोड़कर अन्यों के प्रति कभी न जाऊँ । महान् से भी महत्तर तथा अणु से भी अणुतर आपको ही मैंने जाना है, तथा जान कर प्राप्त किया है । ऐसे समस्त विरुद्ध धर्मों के आश्रय रूप होने के कारण सबके कारणभूत आप परमेश्वर की हम प्रीतिपुरःसर सेवा करते हैं । हे स्वप्रकाश परमेश्वर ! संसाररूपी अरण्य के पालक, देवताओं के यजन के लिये सर्वदेवात्मक आपको हमारी सब इन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि प्रीति से सेवित करें । हे व्यापक ! आपकी प्राप्ति के लिये हम आपकी सेवा करते हैं । हे संसाररोग की महौषधिरूप ! संसार-बन्धन का विच्छेद करने वाले ! इस शरणागत की रक्षा करें, तथा इसे हिंसित न होने दें ।

ओषधे भवरोगमहौषधरूप, हे स्वधिते संसारबन्धच्छेदक, एनं शरणागतं त्रायस्व भवरोगनिवर्तनेन पालय, चिज्जड-ग्रन्थिच्छेदनेन च स्वात्मतादात्म्यसम्पादनेनैनं मा हिंसीर्मा परादाः, 'देवास्तं परादुर्यो देवानन्यत्रात्मनो वेद' (बृ. उ. २.४.६) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

दयानन्दस्तु—'हे वनस्पते वनरक्षक विद्वन्, यथा त्वमन्यानतीत्यान्यानुपगच्छसि मूर्खानतीत्य तद्विरोधिनो विदुष उपगच्छसि, तथैवाहमपि विद्वद्विरोधिनस्त्यक्त्वा विदुषां समीपं गच्छामि' इति हिन्दीभाष्ये, संस्कृतान्वये तु—'तथाहमन्यान् नागामन्यानुपागाम्' इत्युक्तवान् । 'यस्त्वं परेभ्यः परोऽसि, अवरेभ्योऽर्वाक् च तं त्वामहं प्राप्नुयाम् । यथा देवा देवयज्यायै उत्तमगुणदानाय त्वां कामयन्ते, तथैव वयमपि त्वां जुषामहे । यथा वयं देवयज्यायै उत्तमगुणसङ्गतये त्वां कामयामहे, तथैवेमेऽपि जुषन्ताम् । यथा ओषधिसमूहो यज्ञाय सम्भूय सिद्धः सर्वं त्रायते, तथैव हे औषधे सर्वरोगनिवारक स्वधिते दुःखविच्छेदक विद्वन्, वयं त्वां यज्ञाय कामयामहे । यथाहमस्य विनाशं न कामये, तथा त्वमपि यज्ञं मा हिंसीः' इत्यादिकं व्याख्यायामुक्तवान्, तदेतत्सर्वमव्यापारेषु व्यापार एव, वाचकलुप्तोपमालङ्कारस्य दुरुपयोगश्च । मुख्यार्थपरित्यागादसङ्गतगौणार्थस्वीकाराच्च तत्रार्थे नितरां दोषाधायकता । 'अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः' (१.४७) इति मनुपरिभाषया वनस्पतिशब्दस्य महावृक्षेषु रूढत्वात्, तथैव कोषेषूल्लेखाच्च तदीयो गौणार्थो हेय एव । न चैक एव मनुष्यः परेभ्यः परोऽवरेभ्यश्चार्वाग् भवति, परस्परविरोधात् । देवपदेन गुणानां ग्रहणमपि निर्मूलमेव । नहि जडस्यौषधिगणस्य स्वतः सम्भूय सर्वत्राणकरत्वं सम्भवति, तस्य विशेषज्ञाधीनस्यैव कार्यकरत्वोपपत्तेः । न च विदुष ओषधित्वेन स्वधितित्वेन वा सम्बोधनं सम्भवति, 'गौणमुख्यार्थयोर्मुख्यार्थे कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायात् ॥४२ ॥

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिꣳसीः पृथिव्या सम्भव । अयꣳ हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय । अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयꣳ रुहेम ॥४३ ॥

'स यं प्रथमꣳ शकलमपच्छिनत्ति । तमादत्ते तं वा अनक्षस्तम्भं वृश्चेदुत ह्येनमनसा वहन्ति तथोऽनो न प्रतिबाधते' (श. ३.६.४.११) । प्रथमच्छिन्नयूपोपादानवृक्षच्छिन्नकाष्ठशकलं यूपावटे प्रक्षेपार्थमाददीत । 'प्रथमशकलं निदधाति' (का. श्रौ. ६.१.१३), 'अनक्षस्तम्भं वृश्चति' (का. श्रौ. ६.१.१४) । गच्छतः शकटस्याक्षं छेदनावशिष्टः स्थाणुर्यथा न

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में वाचक लुप्तोपमा का दुरुपयोग ही किया गया है । मुख्य अर्थ को छोड़ देने तथा असंगत गौण अर्थ को ग्रहण करने के कारण उसमें दोष प्राप्त हो जाता है । देव शब्द से गुणों का ग्रहण करना भी अप्रामाणिक है ॥४२ ॥

मन्त्रार्थ—हे यूपवृक्ष ! तुम द्युलोक को मत बिगाड़ो, अन्तरिक्ष को पीड़ा मत दो, पृथ्वी के साथ मिलो, अर्थात् तीनों लोकों में शान्ति हो । यह अतितीक्ष्ण कुठार बड़ा भारी ऐश्वर्य पाने के लिये तुमको यूप बनाता है । हे वृक्षदेवता ! इस स्थाणु से तुम बहुत अंकुर वाले होते हुए उपजो और हम भी पुत्र-पौत्र आदि बहुत सी शाखा वाले हों ॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान यूप के निमित्त कट कर गिरती हुई शाखा का अभिमन्त्रण करे, उस शाखा के पत्ते आदि दूर करे और आज्यस्थाली में से जुहू में घृत लेकर काटने के स्थान पर एक आहुति दे ॥४३ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (६.१.१३-१९) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'द्यां मा लेखीः' इस कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग छेदन से गिरते हुए यूपवृक्ष का अभिमन्त्रण तथा शोधन आदि कर्मों में किया गया है । शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

स्तभ्नाति, तथा नीचं यूपवृक्षं छिन्द्यात्। अनसोऽक्षं स्तभ्नातीत्यक्षस्तम्भः, न अक्षस्तम्भोऽनक्षस्तम्भः। एतेन न वृक्षशाखां छित्त्वा तेन यूपः कार्यः, किन्तु समग्रस्यैव वृक्षस्य नातिस्थूलस्य छेदनमभिप्रेतं भवति। उत ह्येनमनसा वहन्ति तथा सत्यवशिष्टः स्थाणुरनसो गमने बाधको न भविष्यति। 'तं प्राञ्चं पातयेत्। प्राची हि देवानां दिगथो उदञ्चमुदीची हि मनुष्याणां दिगथो प्रत्यञ्चं दक्षिणायै त्वेवैनं दिशः परिविबाधिषेतैषा हि दिक् पितृणां तस्मादेनं दक्षिणायै दिशः परिविबाधिषेत' (श. ३. ६.४.१२)। यूपस्याधःपातनविषये प्रागादिदिक्त्रयं विकल्पयति—तं प्राञ्चमित्यादि। दक्षिणस्यां पातनं निषेधति—दक्षिणायै त्वेवैनं दिश इति। एनं यूपं दक्षिणायै दक्षिणस्या दिशः परिबाधकं कारयितुमिच्छेत्, तस्याः पितृदेवत्यत्वात्। 'तं प्रच्यवमानमनुमन्त्रयते। द्यां मा लेखीरन्तरिक्षम्. . . . पृथिव्या सम्भवेति वज्रो वा एष भवति यं यूपाय वृश्चन्ति तस्माद् वज्रात् प्रच्यवमानादिमे लोकाः सꣳरेजन्ते तदेभ्य एवैनमेतल्लोकेभ्यः शमयति तथेमांल्लोकान् शान्तो न हिनस्ति' (श. ३.६.४.१३)। अधः पतन्तं द्यामिति मन्त्रेणानुमन्त्रयते। 'स्फ्यस्तृतीयः, रथस्तृतीयः, यूपस्तृतीयः' (तै. सं. ५.२.६.२) इति वज्रावयवत्वाद् यूपस्य वज्रत्वम्। अतो वज्रपात इव यूपार्थवृक्षपातः। लोकाः संरेजन्ते भीत्या वेपन्ते, 'भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः' (निरु. ३.२१) इति यास्कोक्तेः।

'द्यां मा लेखीरिति पतन्तमभिमन्त्रयते' (का. श्रौ. ६.१.१६)। हे यूपवृक्ष, त्वं पतन् द्यां द्युलोकं मा लेखीर्मा हिंसीः। अन्तरिक्षलोकं च मा हिंसीः। पृथिव्या सम्भव सङ्गतो भव। यूपस्य वज्ररूपत्वाल्लोकानामतः शान्तिराशास्यते। शतपथे स्पष्टमुक्तम्—वज्रात् प्रच्यवमानादिमे लोकाः संरेजन्ते भीत्या वेपन्ते तदेभ्यः शमयति तथेमांल्लोकान् शान्तो न हिनस्तीति। यद्यप्यन्यत्र लिखधातुरक्षरविन्यासे वर्तते, तथाप्यत्र हिंसार्थकः, 'स यदाह द्यां मा लेखीरिति दिवं मा हिꣳसीरित्येवैतदाह' (श. ३.६.४.१४) इति श्रुतेः। पृथिव्या सम्भवेत्यस्यापि तात्पर्यमाह श्रुतिः—'पृथिव्या सम्भवेति पृथिव्या सञ्जानीष्वेत्येवैतदाह' (श. ३.६.४.१४)। पृथिव्या सम्मतिमैकमत्यं प्राप्नुहीत्यर्थः। 'अयꣳ हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगायेत्येष ह्येनꣳ स्वधितिस्तेतिजानः प्रणयति' (श. ३.६.४.१४)। 'न दक्षिणा पतेत्' (का. श्रौ. ६.१.१७) तथा यत्नः कार्यो यथा यूपवृक्षो दक्षिणस्यां दिशि न पतेत्। 'अयꣳ हि त्वेति शोधनम्' (का. श्रौ. ६.१.१८) छिन्नस्य यूपवृक्षस्य कुठारेण शाखापर्णादिपातनं कुर्यात्, तदेव शोधनम्। 'अभिमन्त्रणशेषो वा विशेषोपदेशात्' (का. श्रौ. ६.१.१९)। वाशब्दः पक्षव्यावृत्तौ। अयं हि त्वेति मन्त्रो न मन्त्रान्तरमतोऽभिमन्त्रणमन्त्रस्य 'द्यां मा लेखीः' इत्यस्यैव शेषः। अतो नानेन शोधनं कार्यम्। कुतः? विशेषोपदेशात्, तं प्रच्यवमानमभिमन्त्रयते द्यां मा लेखीरिति शतपथे विशिष्याभिमन्त्रणमुद्दिश्यैव विधानात्। अर्थप्राप्तं शोधनं तु तूष्णीं कार्यम्।

तथा चायं मन्त्रार्थः—अयं खलु स्वधितिश्छेदनसाधनभूतः परशुः, तेतिजानो निशितो भवन्, महते सौभगाय सुभगत्वाय, अष्टास्राकाराश्रयणाद्धि सुभगवत्ता, अथवा सुभगो यज्ञः, स एव सौभगः, तदर्थत्वाय यूपप्रणयनस्य प्रणिनाय प्रणयनं कृतवान्, पृथक् कृतवानित्यर्थः छेदनाभावे प्रणयनासम्भवात्। पूर्वशेषत्वपक्षे परशुना छिन्नस्त्वं लोकत्रयमपीडयन्नधः पतेत्यर्थः। पृथग्विनियोगपक्षे उक्तलक्षणं त्वां शोधयामीत्यर्थः। यद्वा हे छिन्नवृक्ष, तेतिजानोऽतितीक्ष्णोऽयं स्वधितिः परशुर्महते सौभगाय सौभाग्याय दर्शनीयत्वाय तिर्यक्शाखोच्छेदनेन प्रणिनाय प्रकृष्टं यूपत्वं प्रापयामास, छेदनमन्तरा अष्टास्रीकरणाद्यभावेन तदसम्भवात्। यद्वा यज्ञाय त्वा प्रणिनाय कुठार एव त्वा यूपत्वं प्रापयति, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा. सू. ३.४.६) इति कालसामान्ये लिट्। अतस्त्वया छेदनात्र भेतव्यमित्यभिप्रायः। 'अथाव्रश्चनमभिजुहोति' (श. ३.६.४.१५)। अतस्त्वमित्याव्रश्चने जुहोति यूपे वा तत्संस्कारात्। आवृश्च्यते यूपोऽस्मादित्याव्रश्चनः। यूपोपादानस्थाणौ छेदनप्रदेशः, तत्र स्रुवेण जुहुयात्। अथवा. . . यूप एव जुहुयान्न स्थाणौ, कुतः? यूपसंस्कारात्,

तत्संस्कारस्य तत्रैव करणौचित्यात्। हे दीप्यमान वनस्पते, त्वमतोऽस्मात् स्थाणोः शतवल्शो बह्वङ्कुरः शतशाखो विरोह विशेषेण जायस्व। वयं च सहस्रवल्शाः पुत्रपौत्रादिभिर्बहुशाखोपेता विशेषेण रुहेम प्रजायेमहीति यजमानेन आशास्यते।

होमसाधनस्याज्यस्य द्वे सामर्थ्ये—वज्ररूपेण रक्षकत्वम्, रेतोरूपेणोत्पादकत्वं च। तस्मात् स्थानाद् राक्षसादिकमुत्पन्नं न भवेदुत्पन्नं च परिकृतं भवति, तथा तत्र व्रश्चनप्रदेशे रेतःस्थापनात् शाखा बहुधा जायन्ते। तदप्युक्तं शतपथे—'नेदतो नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यनूत्तिष्ठानिति वज्रो वा आज्यं वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवबाधते .... रेतो वा आज्यं तद्वनस्पतिष्वेवैतद्रेतो दधाति तस्माद्रेतस आव्रश्चनाद्वनस्पतयोऽनु प्रजायन्ते' (श. ३.६.४.१५) इति।

अध्यात्मपक्षे तु—प्रह्लादाऽनुग्रहाय हिरण्यकशिपोर्वक्षःस्थलं नखैर्विदार्याप्यशान्तं भगवन्तं त्रिलोकीरक्षणाय देवाः प्रार्थयन्ते। अथवा सीताहरणेन कुपितं त्रिलोकीसंहाराय प्रवृत्तं भगवन्तं श्रीरामं भक्ताः प्राहुः—हे भगवन्, द्यां द्युलोकं मा लेखीर्मा हिंसीः, अन्तरिक्षं च मा हिंसीः। पृथिव्या सम्भव सञ्जानीष्वैकमत्यं सम्पादय, तामपि रक्षेत्यर्थः। अयं हि तेतिजानोऽतितीक्ष्णीकृतः स्वधितिरेव वियद्विदारकः। अतः सर्वं रक्ष। यद्वा श्रुतिर्भक्तान् प्रेरयति— हे भक्तसमूह, त्वा त्वां महते सौभगाय सौभाग्याय ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयाय परमपदप्राप्तये च प्रणिनाय त्वद्विरोधिसंहारेण प्रापयति। अतोऽस्माद्भक्तसौभाग्यदानाद् हे वनस्पते संसारारण्यरक्षक हे देव, शतवल्शः शतशाखो भूत्वा विरोह। वयं भक्ताः श्रुतयो वा सहस्रवल्शा विरुहेम पुत्रपौत्रादिसहस्रशाखाः सन्तः प्रजायेमहि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथाहं द्यां न लिखामि तथा त्वमेनां मा लेखीः। यथाहमन्तरिक्षं न हिंसामि तथा त्वमपि मा हिंसीः। यथाहं पृथिव्या सह सम्भवामि तथैतया सह त्वमपि सम्भव। हि यतः कारणात्। यथा तेतिजानः स्वधितिः शत्रून् विच्छिद्यैश्वर्यं प्रापयति तथा त्वमपि प्रापयेः। अतो वयं त्वां महते सौभगाय सम्भावयेम। यथा कश्चिदैश्वर्यं प्रणिनाय प्रापयति, तथा वयं त्वां प्रापयेम। हे देव वनस्पते, पूर्वोक्तेन महता सौभगेन यथा शतवल्शो वृक्षो विरोहति तथा विरोह। यथा सहस्रवल्शा वनस्पतयो विरोहन्ति, तथा वयमपि विरोहेम' इति, तदप्यसङ्गतम्, विप्रतिषिद्धत्वात्। पदार्थे 'द्यां सूर्यप्रकाशम्' इत्युक्तवान्, हिन्द्यां तु 'सुखस्वरूपं मा नाशय' इत्युक्तम्, न च तद् द्वयमपि सम्भवति, स्वरूपसुखस्य सूर्यप्रकाशस्य वा नाशयितुमशक्यत्वेन नाशाप्राप्तौ निषेधायोगात्। अन्तरिक्षपदेन तत्स्थपदार्थग्रहणेऽपि बीजं वक्तव्यम्। पृथिव्या सह सम्भवनं कीदृशमिति नोक्तम्। हिन्द्यां तु 'निष्पादनं कुरु' इत्युक्तम्, तदपि

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—प्रह्लाद पर कृपा करने के लिये हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल को नखों से विदीर्ण करने के बाद भी अशान्त भगवान् नृसिंह की अथवा सीताहरण से क्रुद्ध, त्रिलोकसंहार के लिये उद्यत भगवान् राम की प्रार्थना भक्तगण करते हैं कि हे भगवन्! द्युलोक का संहार न करें, अन्तरिक्ष का विनाश न करें तथा पृथिवी के प्रति भी ऐकमत्य रखें, अर्थात् उसकी रक्षा करें। यह अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र ही विदारक है, अतः इससे सबकी रक्षा करें। अथवा हे भक्तों, तुम्हारे ऐहिक आमुष्मिक सौभाग्याभ्युदय के लिये यह विरोधियों के संहार के द्वारा परम पद प्राप्त कराता है। अतः इस भक्तसौभाग्य दान से हे संसाररक्षक देव! आप शताधिक शाखाओं से वृद्धिंगत हों, तथा हम भक्तगण भी हजारों पुत्र-पौत्रादि शाखाओं से परिवर्धित होवें।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या असंगत है, क्योंकि स्वरूपसुख अथवा सूर्यप्रकाश को विनष्ट करना असम्भव है, अतः नाश प्राप्त न होने पर उसका निषेध संगत नहीं होता। स्वधिति का अर्थ यज्ञ कहा गया है, यह भी अनुचित है। तब तो भोजन भी क्षुधाविनाशक तथा बलोत्पादक होने के कारण स्वधिति हो जायगा। यहां लुप्तोपमा अलंकार भी प्रमाणरहित है। हमारे सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मात्मपरक अर्थ करना श्रुत्यादि-विरुद्ध नहीं है। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस श्रुतिवचन के अनुसार आध्यात्मिक अर्थ उचित ही है ॥४३॥

निर्मूलम्। न च तया मिथुनीभावः सम्भवति। संस्कृते स्वधितिः शत्रून् विच्छिद्यैश्वर्यं प्रापयतीत्युक्तम्, तथा त्वमपि प्रापयेरित्यपि निरर्थकम्, शत्रुविच्छेद ऐश्वर्यप्राप्तिश्च स्वप्रयासेन साध्यते, परमेशप्रार्थनया वा, न विद्वत्प्रार्थनया, तस्या-समर्थत्वात्। हिन्द्यां तु 'स्वधितिर्दुर्गन्धादिदोषोत्पन्नदुःखनाशकत्वात् स्वधितिर्यज्ञ उक्तः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भोजनमपि क्षुधामपनीय बलवत्त्वमापादयतीति तस्यापि स्वधितित्वापत्तेः, अस्मिन् पर्यनुयोगे प्रतिवचनाभावात्। तत्र तेतिजान इति विशेषणं कथं सङ्गच्छत इत्यपि विचारणीयम्। 'यथा कश्चिद् ऐश्वर्यं प्रापयति तथा वयं त्वां प्रापयेम' इत्यपि निरर्थकमेव वचः। के यूयमैश्वर्यप्रापकाः ? किञ्च प्रयोजनं तत्कथनस्य ? लुप्तोपमालङ्कारोऽप्यत्र निष्प्रमाणक एव, यथा तथा तदाश्रयणस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। शतपथविरुद्धं च सर्वमेतत्। आशीरपि चार्वाकप्रायस्य तव मते न सम्भवति। ब्रह्मात्मपरत्वं तु न विरुध्यते, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो. १.२.१५) इति श्रुतेः ॥४३॥

इति माध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः॥

षष्ठोऽध्यायः

सौमिकवेदिप्रधाने पञ्चमेऽध्याये आतिथ्येष्टिमारभ्य यूपनिर्माणमन्त्रा उक्ताः। अग्नीषोमीयपशुप्रधाने षष्ठेऽध्याये यूपसंस्कारमारभ्य सोमाभिषवोद्योगपर्यन्ता मन्त्रा उच्यन्ते – 'अभ्रिमादत्ते देवस्य त्वा....नार्यसीति समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषा वा एषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसीति' (श.३।७।१।१)। 'देवस्य त्वेत्यभ्रिमादाय यूपावटं परिलिखतीदमहमित्याहवनीयस्य पुरस्तादन्तर्वेद्यर्धम्' (का.श्रौ.६।२।८)। आज्यासादनानन्तरं देवस्य त्वेतिमन्त्रेणाभ्रिमादाय आहवनीयस्य पुरस्ताद् यूपनिखननार्थमिदमहमिति मन्त्रेण देशं परिलिखेत्। तस्य देशस्यार्धभागो वेद्यामन्तः, भागार्धं वेदेर्बहिर्यथा स्यात् तथा गर्तयोग्यं देशं परिलिखेदित्यर्थः। सूत्रमिदं शतपथादिब्राह्मणानुसार्येव। पूष्णो हस्ताभ्यामित्यन्तो मन्त्रो व्याख्यातपूर्वः।

ॐ देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वा अपि॑कृन्तामि। यवो॑ऽसि य॒वया॒स्मद् द्वेषो॑ य॒वयाऽरा॑ती॒र्दि॒वे त्वा॒ऽन्तरि॑क्षाय त्वा पृथि॒व्यै त्वा॒ शुन्ध॑न्ताँल्लो॒काः पि॑तृ॒षद॑नाः पितृ॒षद॑नमसि ॥१॥

'यवोऽसीत्यप्सु यवानोप्य प्रोक्षत्यग्रमध्यमूलानि दिवेति प्रतिमन्त्रम्' (का.श्रौ.६।२।१५)। 'अवटे शेषमासिञ्चति। क्वचित्पात्रस्थासु लौकिकीष्वप्सु यवान् प्रक्षिप्य यूपस्याग्रं मध्यं मूलं च प्रोक्षेच्छुन्धन्तामिति' (का.श्रौ.६।२।१७)। बर्हींषि प्राञ्चि उदञ्चि च प्रास्यति पितृषदनमसीति। दिवे त्वेत्यादिषु त्रिषु मन्त्रेषु निराकाङ्क्षीकरणाय प्रोक्षामीति क्रियापदं योज्यम्। प्रोक्षणशेषं जलं गर्ते क्षिपेत्। प्रागग्रानुदगग्रांश्च कुशान् पूर्वं यूपस्योपरि निहितान् गर्ते प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः। मन्त्रार्थास्तु औदुम्बरीविषये यथा व्याख्यातास्तथैवात्र यूपविषये व्याख्यातव्याः।

अध्यात्मपक्षे – भगवदाराधनाय पूजोपकरणानि गृह्णन् साधकः प्रार्थयते – हे पूजोपकरणानि, त्वा युष्मान् अहम् अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे। ध्वजारोपणाय लेखनेन च रक्षसां यज्ञघ्नानां ग्रीवा अपि कृन्तामि। पूजास्थानोपशोभनाय यवानुप्यन् प्रार्थयते – हे यव, त्वं यवोऽसि। अस्मद् द्वेषो यवय अदानानि च पृथक्कुरु। भगवदीयं ध्वजं च स्थापयन् प्रार्थयते। शेषं यज्ञव्याख्यानवदेव प्रत्येतव्यम्।

मन्त्रार्थ – 'देवस्य ...कृन्तामि' का अर्थ ५।२२ पर दिया जा चुका है। हे शस्य, तुम यव हो। हमारे शत्रु अथवा दुर्भाग्य को हमसे दूर करो, हमारे वैरियों को दूर करो। हे गूलर की शाखा के अग्र भाग, द्युलोक की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। हे मध्य भाग, अन्तरिक्ष की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। हे मूल भाग, पृथ्वी की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। पितरों के निवासस्थान लोक इससे शुद्ध हों। हे कुशाओं, तुम पितरों के बैठने के लिये आसन बनो ॥१॥

भाष्यसार – पंचम अध्याय में आतिथ्या इष्टि से प्रारम्भ करके यूपनिर्माण तक के मन्त्र उपदिष्ट हैं। छठे अध्याय में अग्नीषोमीय पशु की प्रधानता है तथा यूप के संस्कार से लेकर सोम के अभिषव की तैयारी तक के मन्त्र उपदिष्ट हैं। शतपथ ब्राह्मण तथा कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार आज्यासादन के बाद 'देवस्य त्वा' इस मन्त्र से अभ्रि हाथ में लेकर आहवनीय के पूर्व भाग में यूप गाड़ने के लिये 'इदमहम्' इस मन्त्र से स्थान खोदा जाता है। उस स्थान का आधा हिस्सा वेदि के भीतर तथा आधा हिस्सा वेदि के बाहर जैसे रहे, इस प्रकार खोदना चाहिये।

दयानन्दस्तु – 'देवस्येति देवस्य द्योतमानस्य त्वा त्वां सभाध्यक्षं सवितुः सर्वविश्वोत्पादकस्य प्रसवे सृष्टौ अश्विनोः प्राणोदानयोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां पूष्णः पुष्टिनिमित्तस्य प्राणस्य हस्ताभ्यां धारणाकर्षणाभ्यामाददे गृह्णामि । नारि यज्ञसहकारिणि असि । इदं युद्धाख्यमहं रक्षसां दुष्टकर्मकारिणां ग्रीवाः कण्ठान् अपिकृन्तामि छिनद्मि । यतः संयोगविभागकर्ता असि । यवय वियुहि । अरातीः शत्रून् दिवे विद्यादिप्रकाशनाय त्वा त्वां न्यायप्रकाशम् अन्तरिक्षाय त्वा सत्यानुष्ठानाय प्रकाशं पृथिव्यै भूमिराज्याय त्वा राज्यविस्तारकं शुन्धन्ताम् । लोका न्यायदृष्ट्या समीक्षणीयाः पितृषदना यथा पितृषु विद्वत्सु रक्षितृषु सीदन्ति ते पितृषदनाः, यथा विद्वत्स्थाने' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्बीजलाक्षणिकार्थाश्रयणमूलकत्वात् । 'इदम्' इत्यनेन युद्धं कथं गृह्यते ? युद्धग्रहणे च नार्या यज्ञसहकारिण्याः कः प्रसङ्गः ? समाध्यक्षश्च कथं सम्बोधनीयः ? 'त्वां न्यायप्रकाशम्, लोका न्यायदृष्ट्या समीक्षणीयाः' इत्यादयोऽर्था निर्मूला एव, कैश्चिदपि ऋषिभिस्तथाऽव्याख्यानात् । सायणादिव्याख्यानानि तु श्रुतिसूत्रमूलकत्वादेवोपादेयानि विश्वसनीयानि च ॥१॥

अ॒ग्रे॒णीर॑सि स्वावे॒श उ॑न्नेतॄ॒णामे॒तस्य॑ वि॒त्ताद॑धि॑ त्वा स्थास्यति दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता मध्वा॑नक्तु सुपिप्प॒लाभ्य॒स्त्वौष॑धीभ्यः । द्यामग्रे॑णास्पृक्ष॒ आन्तरि॑क्षं॒ मध्ये॑नाप्राः पृथि॒वीमुप॑रेणादृꣳहीः ॥२॥

'प्रथमशकलं चाग्रेणीरसीति' (का.श्रौ.६।२।१९) । यूपावटे शकलं निःक्षिपेत् प्रथमशकलं च यूपस्योपरि प्रथमच्छिन्नं शकलं निदध्यात् । अग्रमुत्तरेण चषालम् । यूपाग्रस्योत्तरतः समीप एव चषालं निदध्यात् । मन्त्रार्थस्तु – हे यूपशकल, स्वावेशः सुष्ठु शोभन आवेशो यूपावस्थितिलक्षणो यस्मिंस्तादृशस्त्वम् । यूपस्य त्रयो नेतारः – (१) प्रथमशकलः, (२) स्वरुः, (३) चषालश्चेति । तेषामूर्ध्वनेतॄणां मध्येऽग्रेऽवस्थितो यूपोऽवटं प्रति नीयत इत्यग्रेणीरसि । यूपस्य प्रथमावयवभूतोऽसीत्यर्थः । यद्वा अग्रे प्रथमं यूपस्य छिद्यमानस्यापनीयत इत्यग्रेणीः, यूपावयवभूतोऽसि । अग्रेऽवस्थितो यूपमवटं प्रति नयतीत्यग्रेणीः पुरःसरोऽसीति वा । कथम्भूतस्त्वम् ? उन्नेतॄणामुन्नयनकर्तॄणामध्वर्यूणां स्वावेशः सुखेनावेशयितुं शक्यः । त एव यूपावटे यूपशकलमेनं सुखेनावेशयन्ति स्थापयन्ति, लघुप्रमाणत्वात् । तादृशस्त्वं हे यूपशकल, एतस्य कर्मणो वित्तात् । कर्मणि षष्ठी । एतत्कर्म विद्धि ।

कात्यायन श्रौतसूत्र (६।२।१५-१७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'यवोऽसि' इस मन्त्र से किसी पात्र में रखे हुए लौकिक जल में जौ डालकर उससे यूप के अग्रभाग, मध्यभाग तथा मूलभाग का प्रोक्षण करे । प्रोक्षण के बाद यूप के ऊपर प्रागग्र तथा उत्तराग्र रखी गई कुशाओं को 'पितृषदनमसि' इस मन्त्र से गड्ढे में फेक देता है । प्रोक्षण के 'दिवे त्वा' इत्यादि तीन मन्त्रों में वाक्यपूर्ति के लिये 'प्रोक्षामि' यह क्रियापद लगाना चाहिये । प्रोक्षण से बचा हुआ जल गड्ढे में गिरा दिया जाता है । इन मन्त्रों के अर्थ औदुम्बरी के प्रसङ्ग में जिस प्रकार वर्णित किये जा चुके हैं, उसी प्रकार यहाँ भी व्याख्या की जानी चाहिये ॥१॥

मन्त्रार्थ– हे यूपखण्ड, उठाने वाले ऋत्विजों के लिये हल्के बनकर सुख से प्रवेशयोग्य होकर आगे बढ़ो । तुम इस बात को जानो कि तुम्हारे ऊपर दूसरा और खण्ड स्थापित होगा । सबके प्रेरक सविता देव मधु और घृत से तुमको सींचे । हे चषाल, शुभ फलयुक्त औषधियों के निमित्त तुमको यूपखण्ड पर स्थापित करता हूँ । हे यूप, तुमने अग्र भाग से द्युलोक को स्पर्श किया है, मध्य भाग से अन्तरिक्ष को पूर्ण किया है और अधो भाग से पृथ्वी को दृढ़ किया है ॥२॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।२।१९, ६।३।२-४,७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'अग्रेणीरसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से यूप के लिये खोदे गये गड्ढे में शकलप्रक्षेप, प्रथम शकल का स्थापन, चषाल का निधान, यूप का घृत से लेपन तथा यूप

कतमत् कर्म ? यद् अधि त्वा स्थास्यति । अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा । यूपस्त्वामधिष्ठास्यति त्वदुपर्यवस्थानं करिष्यतीति त्वया बोद्धव्यमित्यर्थः । सायणरीत्या तु – त्वा त्वां यस्मात् कर्मण्यध्वर्युरधिष्ठास्यति स्थापयिष्यति त्वमेतद्विद्धीति । 'देवस्त्वेत्यनक्ति' (का.श्रौ.६।३।२) । 'आज्येन यूपमञ्ज्यादुपरवर्जम्' (६।३।२) इत्युपरस्याग्रेऽञ्जनविधानाद् यूपस्य निखननीयः पञ्चमो भाग उपरो नामेत्युक्तमेव । हे यूप, त्वा त्वां सविता प्रेरको देवः, मध्वा मधुरेणाज्येन आनक्तु । 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' । म्रक्षयतु श्लक्ष्णं करोतु । आगमशास्त्रस्यानित्यत्वान्नुमभावे रूपम् । 'चषालमुभयतोऽक्तं प्रतिमुञ्चति सुपिप्पलाभ्य इति' (का.श्रौ.६।३।३-४) । चषालो यूपस्योपरि प्रतिमोक्तव्योऽष्टाश्रिर्मध्ये सन्ततो वलयः । तं चषालमुपरिष्टादधस्ताच्च अन्तबर्हिश्चानेनैव मन्त्रेणाञ्ज्यात् । अक्तं चषालमधस्तादुपरिष्टादाज्येन सिक्तं यूपचूडायां सुपिप्पलाभ्य इति मन्त्रेण प्रतिमुञ्चेत् । 'अग्रमुत्तरेण चषालम्' (का.श्रौ.६।२।१४) यूपाग्रस्योत्तरतः समीप एव चषालं निदध्यात् । हे चषाल, त्वा त्वां सुपिप्पलाभ्यः, पिप्पलं फलम्, शोभनफलोपेताभ्य ओषधीभ्यस्तन्निष्पत्त्यर्थं यूपस्याग्रे प्रतिमुञ्चामीति शेषः । 'द्यामग्रेणेत्युच्छ्रयतीति' (का.श्रौ.६।३।७) । तं नाभिमात्रे सर्वतो गृहीतं यूपमुच्छ्रयेत् । हे यूप, तवाग्रेण द्यां द्युलोकमस्पृक्षः, त्वं स्पृष्टवानसि । तथा अन्तरिक्षमन्तरिक्षलोकं मध्येन मध्यप्रदेशेनासमन्तात् प्राः पूरितवानसि । 'प्रा प्रपूरणे' । तथा पृथिवीं भूलोकमुपरेण पूर्वोक्तेन भूमिष्ठेन निखननीयेन पञ्चमभागेन तव मूलभागेन अदृंहीः दृढीकृतवानसि । अस्पृक्ष इति स्पृशतेर्लुङि 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (पा.सू.३।१।४५) इति क्सप्रत्यये रूपम् ।

सिद्धान्तरीत्या तु औदुम्बरीविषय इवात्रापि मन्त्रा व्याख्येयाः । हे अभ्रे ! काष्ठनिर्मितखननसाधनविशेष, त्वा त्वां सवितुः परमेश्वरस्य देवस्य प्रसवे प्रेरणे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे, न तु प्राकृताभ्यां स्वीयाभ्यां बाहुभ्यां न वा स्वाभ्यां हस्ताभ्याम् । अत्र स्वबाह्वोर्हस्तयोश्चाश्विबाहुपूषहस्तभावना कर्तव्या कर्मसाद्गुण्याय । त्वं नार्यसि खननसाधनत्वेन कर्मोपयोगित्वेन च नराणामनुष्ठातॄणां सम्बन्धिन्यसि 'योषा वा एषा' (श.३।७।१।१) इति श्रुत्यनुसारेण स्त्रीलिङ्गत्वाद् नार्यसि । यूपावटपरिलेखमभिलक्ष्याह – इदमिति । व्यत्ययेन अनेनेति । अनेन अवटपरिलेखनेन रक्षसां यज्ञघ्नानां ग्रीवाः कण्ठान् अपिकृन्तामि छिनद्मि । यवोऽसीत्यप्सु यवानोप्येति कात्यायनरीत्या हे यव धान्यविशेष, त्वं यवोऽसि 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' पृथक्करोषि । अस्मद् अस्माकं सकाशाद् द्वेषो द्वेष्टॄन् दौर्भाग्यं च यवय पृथक्कुरु । अरातीः अदानानि शत्रून् वा यवय पृथक्कुरु । 'प्रोक्षत्यग्रमूलानि दिवे त्वेति प्रतिमन्त्रं 'प्रोक्षामीति सर्वत्र साकाङ्क्षत्वादिति' (का.श्रौ.६।२।१६) । हे यूपाग्रभाग, दिवे द्युलोकप्रीत्यर्थं त्वा प्रोक्षामि । हे मध्यमाग, अन्तरिक्षाय अन्तरिक्षलोकप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि । हे मूलभाग, पृथव्यै पृथिवीलोकप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि । 'अवटे (प्रोक्षण) शेषमासिञ्चति शुन्धन्तामिति' (का.श्रौ.६।२।१७) अनेनोदकसेचनेन पितृषदनाः पितृदेवमनुष्यनिवासभूता लोकाः शुन्धन्तां शुद्धा भवन्तु । खननेनोत्पन्नस्य क्रौर्यस्य शान्त्यर्थमिदमुदकसेचनम् । 'बर्हीꣳषि प्राञ्च्युदञ्चि च प्रास्यति पितृषदनमसीति' (का.श्रौ.६।२।१८) । तस्मिन्नवटे प्रागग्रानुदगग्रांश्च दर्भानास्तृणाति । हे बर्हिः, त्वं पितृसदनमसि पितरः सीदन्त्युपविशन्त्यस्मिन्निति तदसीति । 'सोऽभ्रिमादत्ते योषा वा एषा । अथावटं परिलिखति । अथ खनति प्राञ्चमुत्करमुत्किरत्युपरेण सम्मायावटं खनति तदग्रेण प्राञ्चं यूपं निदधात्येतावन्मात्राणि बर्हीꣳष्युपरिष्टादधिनिदधाति तदुपरिष्टाद्यूपशकलमधिनिदधाति पुरस्तात्पार्श्वतश्चषालमुपनिदधात्यथ यवमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति सोऽसावेव बन्धुः' (श.३।७।१।१ -३) । यूपस्याष्टमो भागो मूलभाग उपरः । तावत्परिमितं यूपावटं कुर्यात् । मुष्टिपरिमितानि बर्हींषि यूपाग्रे निदध्याद् यूपशकलं च ।

'सयवानावपति । यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयाऽरातीरिति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत् करोति' (श.३।७।१।४) । 'स प्रोक्षति । दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वेति वज्रो वै यूप एषां लोकानामभिगुप्त्यै एषां त्वा लोकानामभिगुप्त्यै प्रोक्षामीत्येवैतदाह' (श.३।७।१।५) । 'अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । ता अवटेऽवनयति शुन्धन्तां लोकाः पितृषदना इति पितृदेवत्यो वै कूपः खातस्तमेवैतन्मेध्यं करोति' (श.३।७।१।६) । 'अथ बर्हीꣳषि । प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि चावस्तृणाति पितृषदनमसीति पितृदेवत्यं वा अस्यैतद् भवति यन्निखातꣳ स यथानिखात ओषधिषु मितः स्यादेवमेतास्वोषधिषु मितो भवति' (श.३।७।१।७) 'अथ यूपशकलं प्रास्यति । तेजो ह वा एतद्वनस्पतीनां यद्बाह्याशकलस्तस्माद्यदा बाह्याशकलमपतक्ष्णुवन्त्यथ शुष्यन्ति तेजो ह्येषामेतद्यद्यूपशकलं प्रास्यति सुतेजसं मिनवानीति तद्यदेष एव भवति नान्य एष हि यजुष्कृतो मेध्यस्तस्माद्यूपशकलं प्रास्यति' (श.३।७।१।८)। यूपशकलस्य गर्ते प्रक्षेपं सार्थवादमाह– 'अथ यूपशकलं प्रास्यतीति । तेजो वा एतद्वनस्पतीनां यद्बाह्याशकलस्तस्मादेव यदा बाह्याशकलमपतक्ष्णुवन्ति बाह्यशकलं तक्षणेन पृथक्कुर्वन्ति, अथानन्तरमेव वनस्पतयः शुष्यन्ति । अतो बाह्यशकलमेव वनस्पतीनां तेजः, जीवनहेतुभूतं सारतत्त्वम् । यूपावटे तस्य बाह्यशकलस्य स्थापनेन यूपं सतेजसं करोति । 'यूपं तक्षति, यूपमष्टास्रीकरोति' इत्यादिभिस्तक्षणादिभिर्निस्त्वचं यूपं सत्वचमेव करोति । एष हि यजुष्कृतो मेध्यस्तस्माद्यूपशकलं प्रास्यति । 'स प्रास्यति अग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतॄणामित्येतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यतीत्यधि ह्येनं तिष्ठति तस्मादाहैतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यतीति' (श.३।७।१।९) । शकलप्रासनं समन्त्रकं विधत्ते – स प्रास्यति अग्रेणीरसीति । इत्याद्युपर्युक्तासु शातपथीषु श्रुतिषु स्पष्टमेव सिद्धान्तपक्षः समर्थितः ।

मन्त्रस्तु व्याख्यातः । श्रुतिरेव मन्त्रतात्पर्यमाह – पुरस्ताद्वा अस्मादेषोऽपच्छिद्यते यस्मादेष शकलोऽस्माद् यूपात् पुरस्तादपि च्छिद्यते तस्मादाह अग्रेणीरिति । अस्य प्रथमशकलत्वाद् यूपात् प्रथमं नीयमानत्वाद् अग्रेणीः स्वावेश इत्यर्थः । अधि त्वा स्थास्यतीत्यस्य तात्पर्यमाह – त्वामधि तवोपरि यूपः स्थास्यतीति तस्यावस्थानं वित्ताद् विजानीहीत्यर्थः । 'अथ स्रुवेणोपहत्याज्यम् । अवटमभिजुहोति नेदधस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्युपोत्तिष्ठानिति वज्रो वा आज्यं तद्वज्रेणैवैतं नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपबाधते तथाधस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि नोपोत्तिष्ठन्त्यथ पुरस्तात्परीत्योदङ्ङासीनो यूपमनक्ति स आह यूपायाज्यमानायानुब्रूहीति' (श.३।७।३।१०) । आज्यमुपहत्य स्रुवेणादाय अवटमभि तूष्णीं जुहोति । 'स्रुवेणावटे जुहोति तूष्णीम्' (का.श्रौ.६।२।२०) । होमसाधनस्याज्यस्य द्वे सामर्थ्ये – वज्ररूपेण रक्षकत्वम्, रेतोरूपेणोत्पादकत्वं च । अतो नाष्ट्रा नाशकानि रक्षांसि नोत्तिष्ठेरन्निति वज्ररूपेण आज्येन रक्षांस्यपबाधते ।। अथ अवटस्य पुरस्तात् परीत्य परिक्रम्य उदङ्मुख आसीनोऽध्वर्युर्यजमानो वा यूपमनक्ति । 'पुरस्तात्परिक्रम्याध्वर्युर्यजमानो वा यूपमनक्ति उदङ्ङुपविश्येति' (का.श्रौ.६।२।२१) । स यूपायाज्यमानायानुब्रूहीति यूपाञ्जनप्रैषः । 'सोऽनक्ति । देवस्त्वा सविता मध्वानक्त्विति सविता वै देवानां प्रसविता यजमानो वा एष निदानेन यद् यूपः, सर्वं वा इदं मधु यदिदं किञ्च तदेनमनेन सर्वेण सꣳस्पर्शयति तदस्मै सविता प्रसविता प्रसौति तस्मादाह देवस्त्वा सविता मध्वानक्त्विति' (श.३।७।३।११) । देवस्त्वेत्यञ्जनमन्त्रस्य तात्पर्यमाह – सविता वै देवानामिति । यजमाननिष्पाद्यस्य यागस्य यूपेनापि निष्पाद्यत्वात् तत्सिद्धिन्यायाद् यजमानो यूपत्वेनोपचर्यते । यजमानो वा एष निदानेन यद् यूपः । सर्वं वा इदं मधु यदिदं किञ्चेति सर्वस्य मधुरूपत्वमुच्यते । 'इयं वै पृथिवी सर्वेषां मधु' (श.१४।५।५।१) इति मधुब्राह्मणेन सर्वं सर्वस्योपकारकत्वेन मोदकत्वान्मधूच्यते । तत् तत एनं यूपमेव यूपद्वारेणानेन सर्वेण मधुभूतेन चराचरेण आज्यद्वारेण संस्पर्शयति । 'अथ चषालमुभयतः प्रत्यज्य प्रतिमुञ्चति ।

सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्य इति पिप्पलꣳहैवास्यैतद्यन्मध्ये संगृहीतमिव भवति तिर्यग्वा इदं वृक्षे पिप्पलमाहतꣳ स यदेवेदꣳ सम्बन्धनं चान्तरोपेनितमिव तदेवैतत्करोति तस्मान्मध्ये संगृहीतमिव भवति' (श०३।७।३।१२) । चषालं पूर्वोक्तप्रकारं वलयमाज्येन प्रत्यज्य प्रतिमुञ्चति उपरि बध्नाति । मन्त्रार्थस्तूक्त एवानुसन्धेयः । अस्य यूपस्य चषालं सुपिप्पलं सुफलं खलु । तच्च मध्ये संगृहीतमिव कुर्यात् । उक्तं यूपफलरूपत्वं लौकिकवृक्षदृष्टान्तेन द्रढयति – तिर्यग्वा इदं पिप्पलं फलं वृक्षे आदृतं सम्बद्धं भवति । यदेवेदं सम्बन्धनं सम्यग्बन्धनसाधनं वृन्तं फलं चान्तरा वृन्तफलयोर्मध्ये उपेनितमिव उपेनितम् अल्पपरिमाणं विद्यते, तदेव एतद् एतेन चषालोपेनितेन कृतवान् भवति तस्मान्मध्ये संगृहीतमिव भवति ।

'आन्तमग्निष्ठामनक्ति । यजमानो वा अग्निष्ठा रस आज्यꣳ रसेनैवैतद्यजमानमनक्ति तस्मादान्तमग्निष्ठामनक्त्यथ परिव्ययणं प्रति समन्तं परिमृशत्यथाहोच्छ्रीयमाणायानुब्रूहीति' (श.३।७।३।१३) पुनरञ्जनं विधत्ते – अग्निष्ठा अग्नेरभिमुखाश्रिस्तामग्रिष्ठाम् आन्तम् उपरिप्रदेशपर्यन्तमनक्ति। 'सोपरमग्निष्ठादेशमङ्क्त्वा परिव्ययणदेशꣳ समन्तं परिमृश्याध्वर्युर्नावसृजेदापरिव्ययणात्' (का.श्रौ.६।३।५) । उपरेण सह वर्तते सोपरम्, अग्निसमीपे तिष्ठतीत्यग्निष्ठा अग्नेरभिमुखीभूता प्रत्यासन्ना यूपस्याश्रिर्यूपस्य सोपरमग्निसम्मुखाश्रिदेशं पुनस्तेनैव मन्त्रेणैवाक्त्वा परिव्ययणदेशं यूपस्य रशनाबन्धनस्थानं सर्वतो हस्तेन गृहीत्वाऽपरिव्ययणादध्वर्युर्न विसृजेत । अधुना अग्निसमीपेऽवस्थानाभावादग्निष्ठादेशमित्युक्तमिति सूत्राभिप्रायः । सोपरं मूलभागसहितं समन्तमुपरिदेशपर्यन्तम् अग्निष्ठादेशमञ्ज्यादित्याद्युक्तमेव । यजमानो वा एष अग्निष्ठा, अग्निसन्निधिसाम्याद् रस आज्यं यदग्निष्ठामाज्येनानक्ति तद्यजमानं रसेनानक्ति तस्मादान्तमग्निष्ठानक्ति । अथ परिव्ययणमिति । परिव्ययणो रशनावेष्टनप्रदेशस्तं प्रति समन्तम् आज्येन परिमृशति परिमृशेत् । उच्छ्रीयमाणायानुब्रूहीति सम्प्रैषः । 'स उच्छ्रयति । द्यामग्रेणास्पृक्ष आन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृꣳहीरिति वज्रो वै यूप एषां लोकानामभिजित्यै तेन वज्रेणेमाँल्लोकान् स्पृणुत एभ्यो लोकेभ्यः सपत्नान् निर्भजति' (श.३।७।१।१४) । द्यामग्रेणेति मन्त्रेण यूपोच्छ्रयणं कुर्यात् । अन्यत् सर्वं स्पष्टम् ।

अध्यात्मपक्षेऽपि – हे यूपशकलोपलक्षित शुद्धचैतन्य, त्वमग्रेणीरसि सर्वासु वृत्तिषु स्वस्वविषयप्रकाशनायाग्रे नीयसे, वृत्तिपुरःसरोऽसि । उन्नेतॄणामुन्नयनकर्तॄणां स्वावेशोऽसि सुष्ठु सर्वे उन्नयनकर्तार आविशन्ति यस्मिन् स त्वं सर्वाधिष्ठानभूतपरमात्मस्वरूपोऽसि । एतस्य वित्ताद् एतत् त्वं विद्धि । अधिष्ठानतत्त्वाज्ञानादेव नानाविधाः परिच्छेदा भवन्ति । अधिष्ठानसाक्षात्कारादेव तद्बाधात् शुद्धमधिष्ठानभूतं चैतन्यं त्वामधिष्ठास्यति तवोपरि स्थास्यति, अधिष्ठानस्यैव स्वाध्यस्तनियन्तृत्वात् । देवः परमेश्वरः सविता प्रेरकस्त्वा त्वामनक्तु श्लक्ष्णं करोतु भक्तिभावनया स्नेहवन्तं करोतु, मधुना मधुरेण घृतगन्धिना स्नेहेन भक्त्या विशुद्ध एवाधिष्ठानचैतन्यस्याभिव्यक्तेः । सुपिप्पलाभ्यः सुफलाभ्य ओषधिभ्यस्तन्निष्पत्त्यर्थं त्वा त्वां प्रतिमुञ्चामि, अधिष्ठानचैतन्येऽवलगयामि । हे विराट्,

---

का उच्छ्रयण आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे यूपशकल से सङ्केतित शुद्ध चैतन्य, आप अग्रणी हैं, समस्त वृत्तियों में अपने-अपने विषय के प्रकाशन के लिये आगे नयन किये जाते हैं । उन्नयन कर्ताओं के अधिष्ठानभूत हैं, अर्थात् सभी उन्नयनकर्ता भली भांति जिसमें निविष्ट होते हैं, इस प्रकार के परमात्मस्वरूप हैं, यह जानें । अधिष्ठान तत्त्व के अपरिज्ञान के कारण ही अनेक प्रकार के बन्धन होते हैं, अधिष्ठान के साक्षात्कार से ही उनका बाध होता है । शुद्ध अधिष्ठानभूत चैतन्य तुम पर अधिष्ठित होगा, क्योंकि अध्यस्त

त्वमग्रेणाग्रभागेन द्यां द्युलोकं स्पृष्टवानसि, मध्येन मध्यभागेन अन्तरिक्षमाप्राः पूरितवानसि, उपरेण मूलभागेन पृथिवीमदृंहीः दृढीकृतवानसि ।

दयानन्दस्तु – 'यथाध्यापकः शिष्यान् पिता स्वसन्तानान् पुरस्तादेव सुशिक्षया विद्यां प्रापयति, तथा असि स्वावेशः । यथा शोभनं धर्ममाविशति तथा नेता । उन्नेतॄणां यथोन्नेतॄणामुत्कर्षं प्रापयितॄणां राज्यमेतस्य प्रकृतं राज्यं पालयितुं वित्ताद् विजानीहि । अधि त्वां स्थास्यति । देवः अखिलराज्येश्वरस्त्वां सविता सर्वस्य जनयिता मध्वा मधुरगुणेन अनक्तु सिञ्चतु । सुपिप्पलाभ्यः सुष्ठुफलाभ्यस्त्वामोषधीभ्यः प्रसिद्धाभ्यो द्यां विद्यान्यायप्रकाशमग्रेण पुरस्ताद् अस्पृक्षः । स्पृशेर्लोडर्थे लुङ् । आसमन्ताद् अन्तरिक्षं धर्मप्रचारस्यावकाशं मध्येन मध्यमावस्थाविशेषेण आप्राः पिपृहि । पृथिवीं भूमिराज्यम् उपरेण उत्कृष्टनियमेन अदृंहीः प्राप्य वर्धस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्रेणीत्यादेरध्यापकादिबोधने मानाभावात् । 'नेता यथा धर्मपथमाविशति' इत्यर्थोऽपि निर्मूल एव, 'एतस्य' इति प्रकृतराज्यं पालयितुमित्यपि स्वाभ्यूहितमेव । अन्तरिक्षमित्यस्य धर्मप्रचारस्यावकाशम् अग्रेण प्रथमयशसा मध्येन यशसा' इत्याद्यपि सर्वथा निर्मूलम् । उपरेण उत्कृष्टनियमेनेत्यपि प्रमाणशून्यमेव ॥२॥

या ते धामा॑न्युश्मसि॒ गम॑ध्यै॒ यत्र॒ गावो॒ भूरि॑शृङ्गा अ॒यास॑: । अत्राह॒ तदु॑रुगा॒यस्य॒ विष्णो॑: पर॒मं प॒दमव॑ भारि॒ भूरि॑ । ब्र॒ह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ रायस्पोष॒वनि॒ पर्यू॑हामि । ब्रह्म॑ दृꣳह क्ष॒त्रं दृꣳहायु॑र्दृꣳह प्र॒जां दृꣳह ॥३॥

'या त इति मिनोत्यग्निष्ठा सम्प्रत्याहवनीयम्' (का.श्रौ.६।३।८) । यूपस्य पञ्चमांशं गर्ते प्रक्षिप्य या अश्रिः पूर्वं सोपरा अक्ता तां चिह्नितां कृत्वा तामाहवनीयसमीपे कुर्यादिति सूत्रार्थः । यूपदेवत्या त्रिष्टुप्, दीर्घतमोदृष्टा । हे यूप, या यानि तव सम्बन्धीनि धामानि स्थानानि गमध्यै गन्तुं 'तुमर्थे सेसेन...' (पा.सू.३।४।९) इति कध्यैन्प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः । उश्मसि उश्मः, वयं कामयामहे । 'वश कान्तौ' । लटि उत्तमबहुवचने शपो लोपे सम्प्रसारणे 'इदन्तो मसि' (पा.सू.७।१।४६) [illegible]ईकारः । यत्र येषु स्थानेषु उरुगायस्य उरुभिः प्रभूताभिर्वाग्भिः प्रभूतैर्महात्मभिर्वा गेयस्य गीयमानस्य विष्णोर्व्यापकस्य भगवतः परममुत्कृष्टं भूरि महत्पदमवभारि अवभाति । तकारस्य छान्दसो रेफः । तादृशस्थानप्राप्तिहेतुभूताय ज्योतिष्टोमादिकर्मणे हे यूप, अवटे तिष्ठेत्यर्थः । यत्र येषु स्थानेषु

का नियन्ता अधिष्ठान ही है । प्रेरक परमेश्वर तुमको निर्मल भक्तिभावना के द्वारा स्नेह युक्त करें, क्योंकि मधुर भक्ति के द्वारा विशुद्ध चित्त में ही अधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति हो सकती है । सुफल औषधियों की निष्पत्ति के लिये तुमको अधिष्ठान चैतन्य में संधृत करता हूँ । हे विराट्, तुमने अग्रभाग से द्युलोक का स्पर्श किया है, मध्यभाग से अन्तरिक्ष को परिपूर्ण किया है तथा मूलभाग से पृथिवी को सुदृढ़ किया है ॥२॥

मन्त्रार्थ – हे यूप, जो तुम्हारे स्थान पर गमन करने की कामना करे, जहाँ सूर्य देवता की अति प्रकाशवान् किरणें विस्तृत होती हैं, जिस स्थान को महात्माओं से प्रशंसित व्यापक परमात्मा का उत्तम स्थान कहते हैं, वह स्थान अनेक प्रकार से प्रकाशित है । हे यूप, ब्राह्मणों के स्वीकार योग्य, क्षत्रियों के चाहने योग्य धन और पुष्टि के निमित्त तुम पर चारों ओर से मिट्टी डालता हूँ । हे यूप, तुम ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति को दृढ़ करो, आयु और संतान को दृढ़ करो ॥३॥

भाष्यसार – 'या ते' इस ऋचा से यूप के पांचवें हिस्से को भूमि में गाड़ा जाता है तथा यूप के जिस भाग पर घृत लगाया गया है, उसे आहवनीय अग्नि के सामने रखा जाना चाहिये । तदनन्तर इस कण्डिका के परवर्ती मन्त्र 'ब्रह्मवनि त्वा' से यूप के गर्त को

गावो रश्मयः, अयासः अयन्त इत्ययासो गन्तारो वर्तन्ते, सर्वे किरणा येषु गता इत्यर्थः । कीदृशा गावः ? भूरिशृङ्गा भूरि बहु शृङ्गं दीप्तिर्येषां ते भूरिशृङ्गाः । 'प्रज्वलननामसु शृङ्गाणीति पठितम्' (निघ.१।१७) । यद्वा भूरि बहुप्रकारं यथा स्यात्तथा, अत्राह अहेत्यर्थकः, अत्रैव एष्वेव स्थानेषु भूरि आदित्यमण्डललक्षणं पदम् अवभारि अवभाति शोभते । अव अवाचीनं वा भाति । उरुगायस्य महागतेः, 'गाङ् गतौ' इति धातो रूपम् ।

'ब्रह्मवनि त्वेति पाꣳसुभिः पर्य्यूहति' (का.श्रौ.६।३।९) । यूपावटं पांसुभिर्ब्रह्मवनीति मन्त्रेण पूरयति । 'ब्रह्म दृꣳहेति मैत्रावरुणदण्डेन समन्तं त्रिः पर्यूहति' (का.श्रौ.६।३।१०) । पांसुभिः पूरितं गर्तं सर्वतस्त्रिः कुट्टयति । कुट्टनेन च पांसूनवटे प्रवेशयेत् । हे यूप, त्वा त्वां पर्यूहामि परितो मृत्तिकां प्रक्षिपामि । कीदृशं त्वाम् ? ब्रह्मवनि । ब्रह्म वनोतीति ब्रह्मवनिः । मन्त्रेऽविभक्तिको निर्देशः । क्रियाविशेषणतया वा क्लीबत्वम् । क्षत्रं क्षत्रियजातिं वनोतीति क्षत्रवनिः । रायस्पोषवनि रायो धनस्य पोषं पुष्टिं वनतीति तथोक्तम् । सर्वत्र 'सुपां सुलुक्....' (पा.सू.७।१।३९) इति विभक्तिलोपः । ब्रह्म ब्राह्मणजातिं क्षत्रं क्षत्रियजातिम् आयुर्जीवनं प्रजां पुत्रादिरूपां च दृंह दृढीकुरु । सिद्धान्ते तु यूपावच्छिन्नचैतन्यरूपस्तदधिष्ठातृदेवोऽत्र प्रार्थ्यते । ब्रह्मजातिं क्षत्रजातिं रायस्पोषं यजमानस्य ब्रह्मक्षत्ररायस्पोषादिकामयितारं संविभक्तारं तादृशं देवमनुकूलयितुं यूपं यज्ञाङ्गं पांसुभिः स्थिरं करोमि । स त्वं हे यूप, मम ब्रह्मक्षत्रादिकं दृढीकुरु – इत्यर्थकेन मन्त्रेण मैत्रावरुणदण्डेन समन्तं त्रिः पर्यूहामि दृढीकरोमीति । श्रुतिसम्मतश्चायमर्थः । सूत्राणि तु सव्याख्यानान्युक्तानि ।

दयानन्दीयं तु व्याख्यानं तन्मनोराज्यमात्रम् । तथाहि – 'पुनस्तं कीदृशमिति वाणिज्यकर्म कुर्वाणा जना आश्रयन्तीत्युच्यते उपदिश्यते । हे सभाध्यक्ष, यानि ते तव धामानि दधति सुखानि येषु तानि राज्यप्रबन्धस्थानानि देशदेशान्तरवाणिज्यार्हाणि इति तदीयोऽर्थः । स तु निर्मूल एव, वाणिज्यस्थानापेक्षयापि भोजनरमणादिस्थानान्यधिकसुखदानि भवन्तीति तान्येव कुतो न गृह्येरन्निति विनिगमनाभावात् । यदपि 'मारि. म्रियते लडर्थे लुङ्, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा.सू.६।४।७५) इत्यडभावः' इति, तदपि तुच्छम्, तादृग्गौरवापेक्षया तकारस्य छान्दसो रेफ इति पक्षे लाघवात् । यत्तु हिन्दीभाष्ये –'विष्णोः परमेश्वरस्य भूरिशृङ्गा अत्यन्तप्रकाशवन्तः किरणाश्चैतन्यकला अयासो विस्तृताः' इति, तद पि निर्मूलम्, निष्कलस्य चैतन्यकलाऽयोगात् । नहि सूर्यस्य किरणा एव परमेश्वरस्य तत्स्वरूपातिरिक्ताश्चैतन्यात्मिकाः कलाः सन्तीत्यत्र प्रमाणमस्ति । 'विद्वद्भिर्भ्रियतेऽवधार्यते' इत्यपि निर्मूलम्, मन्त्रे तथाभूतपदानुपलब्धेः । 'त्वा त्वां परमेश्वरं वेदविज्ञानं वा कामयानं राज्यं वीरांश्च वा कामयानं धनपोषसंविभक्तारमहं पर्यूहामि विविधैस्तर्केरवगच्छामि' इत्यादिकमप्युपहासास्पदम्, विकल्पासहत्वात् । सभाध्यक्षस्योपदेष्टा कोऽस्ति ? परमेश्वरोऽन्यो वा ? नान्त्यः, तथात्वे वेदस्य पौरुषेयत्वापत्तेः । नाद्यः, तस्य सर्वज्ञस्य ज्ञाने तर्कानपेक्षणात् । ब्रह्म दृंहेत्यत्रापि 'ब्रह्म परमेश्वरं वेदं वा दृंह स्वचित्ते स्थिरं कुरु, क्षत्रं धनुर्वेदवेत्तारं दृंह उन्नमय । आयुः स्वीयावस्थां वर्धय । प्रजां रक्षायोग्यं प्रजाजनमुन्नमय' इत्यादिकं सर्वमपि विसङ्गतमेव, धात्वर्थविरोधात् । दृढीकरणमेव दृंहतेरर्थः । तत् परिहाय लक्षणायां लक्षितलक्षणायां वा बीजं वक्तव्यम् । तत्तु नोक्तम् ।

मिट्टी से पूर्ण किया जाता है तथा 'ब्रह्म दृंह' इस मन्त्र से मैत्रावरुण दण्ड से यूप के गर्त की मिट्टी को दबाया जाता है । कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।८-१०) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

सैद्धान्तिकेऽर्थे शातपथी श्रुतिरुद्ध्रियते – 'अथ मिनोति। या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमव भारि भूरीत्येतया त्रिष्टुभा मिनोति वज्रस्त्रिष्टुप् वज्रो यूपस्तस्मात् त्रिष्टुभा मिनोति' (श.३।७।१।१५)। या त इति मन्त्रेण यूपं मिनुयात्। यानि धामानि स्थानानि गमध्यै गमनाय प्राप्तये उश्मसि कामयामहे। यत्र येषु धामसु गावो रश्मयो भूरिशृङ्गाः प्रभूतोर्ध्वप्रदेशाः। अयासो गन्तारो रश्मयः। तं परिवेषं हे विष्णो, अत्र एषु स्थानेषु उरुगायस्य प्रभूताभिर्वाग्भिः प्रभूतैर्ऋषिभिर्वा गीयमानस्य विष्णोर्व्याप्तस्य तव श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धं परममुत्कृष्टं पदं भूरि प्रभूतमवभाति सर्वदा प्रकाशते, तत्प्रार्थयामह इति शेषः। अधियज्ञपरतया तु विष्णोः सवनत्रयव्याप्तस्य यज्ञस्य धामानि स्थानानि गमध्यै प्रापणाय उश्मसि कामयामहे। अत्राह अत्रैवोरुगायस्य उरुभिर्वेदैर्याज्ञिकैश्च गीयमानस्य विष्णोस्ते राध्यं पदं यूपाख्यमवभाति। मन्त्रस्य त्रिष्टुप्त्वं यूपमानस्योचितमिति प्रशंसति–एतया त्रिष्टुभामिनोतीति। 'सम्प्रत्यग्निमग्निष्ठां मिनोति। यजमानो वा अग्निष्ठाग्निरु वै यज्ञः स यदग्नेरग्निष्ठाऽ ह्वलयेद्ध्वलेद्ध यज्ञाद्यजमानस्तस्मात्सम्प्रत्यग्निमग्निष्ठां मिनोत्यथ पर्यूहत्यथ पर्यूषत्यथाप निनयति' (श.३।७।१।१६)। माने विशेषमाह– सम्प्रत्यग्निष्ठामिति। अग्न्यभिमुखं मिनोति प्रक्रमार्थम्। विपक्षे दोषदर्शनेन द्रढयति–यजमानो वाग्निष्ठाग्निः। उ एव यज्ञः। सोऽध्वर्युर्यद् यदि, अग्नेः सकाशादग्निष्ठां ह्वलयेत् चालयेत यज्ञाद् यजमानोऽपि ह्वलेद् नश्येत्। तस्मात् सम्प्रत्यग्निमग्न्यभिमुखमेव मिनुयात्। अथ पर्यूहति। मृदामेकीभावापादने पर्यूहणादि मन्त्राणामौदुम्बर्यामुक्तत्वात् (श.३।७।१।१७-१९) समानत्वादत्र नोक्ता। मन्त्रव्याख्याने तु स्पष्टं पांसुभिः 'पर्यूहणम्', मैत्रावरुणदण्डेन समन्तं त्रिः पर्यूषणं चोक्तमेव।

अध्यात्मपक्षे – हे विष्णो व्यापनशील परमेश्वर, यानि ते वैकुण्ठगोलोकसाकेतादिधामानि स्थानानि गमध्यै गन्तुं वयमुश्मसि कामयामहे, यत्र च भूरिशृङ्गा बृहच्छृङ्गा बहुदीप्तयो वा गावो धेनवः, अयासो विचरन्ति, अत्र एषु स्थानेषु, अह एव एषु स्थानेष्वेव, उरुगायस्य वेदैर्वेदज्ञैमहर्षिभिश्चोरुभिर्गीयमानस्य परममुत्कृष्टं पदं पद्यते गम्यते प्राप्यत इति पदं प्रापणीयं परप्रेमास्पदं भूरि बहुधा अवभाति श्रीविष्णुरूपेण श्रीकृष्णरूपेण श्रीरामरूपेण अवभाति। हे विष्णो, भक्तानां हिताय ब्रह्मवनि ब्रह्म वेदं ब्राह्मणजातिं वा वनुते संभजत इति ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि क्षत्रं क्षत्रजातिं क्षात्रमैश्वर्यं वा वनुत इति क्षत्रवनि, रायस्पोषवनि रायो धनस्य पोषं पोषकं वनुते संभजते भक्तानां कृते ब्रह्मक्षत्ररायस्पोषादिकामयितारं त्वा त्वां पर्यूहामि परितोऽवगच्छामि साक्षात्करोमि। हे प्रभो, प्राप्तान् ब्रह्मक्षत्रादीन् दृंह दृढीकुरु, अर्थादप्राप्तान् ब्रह्मादीन् प्रापय प्राप्तांश्च तान् सर्वतो रक्ष, परमेश्वरस्यैव योगक्षेमयोः सम्पादकत्वात्। आयुर्दीर्घजीवनं प्रजां च दृंह सुस्थिरं कुरु॥३॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – हे व्यापनशील परमेश्वर ! आपके जिन वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत आदि धामों में जाने की हम इच्छा करते हैं और जहाँ बड़े शृंगों से युक्त अथवा दीप्तिमती गायें विचरण करती हैं, उन धामों में ही वेदज्ञ महर्षियों के द्वारा स्तुति किये जाने वाले का परम उत्कृष्ट स्थान श्रीविष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीराम के रूप से अत्यन्त प्रकाशित होता है। हे विष्णुदेव, भक्तों के हित के लिये वेद अथवा ब्राह्मण्य को धारण करने वाले, ऐश्वर्य अथवा क्षत्रियत्व को सेवन करने वाले, धन के पोषण को धारण करने वाले आपका मैं सर्वतोभावेन साक्षात्कार करता हूँ। हे प्रभो, प्राप्त ब्रह्म-क्षत्र आदि को मुझमें दृढ़ करें, अर्थात् अप्राप्त ब्रह्मक्षत्रादि को प्रदान करें तथा प्राप्त का रक्षण करें, क्योंकि परमेश्वर ही योगक्षेम के सम्पादक हैं। दीर्घजीवन तथा प्रजा को भी सुस्थिर करें॥३॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥४॥

'समं भूमि कृत्वाद्भिरुपसिच्य विष्णोः कर्माणीति वाचयति यूपमन्वारब्धमिति' (का.श्रौ.६।३।११) तमवटं परिपिष्टनेन वर्तमानया भूम्या समं कृत्वा लौकिकाद्भिरुपसिच्य यूपकृतान्वारम्भं यजमानं विष्णोः कर्माणीति मन्त्रमध्वर्युर्वाचयेत्। यूपमन्वारभस्वेत्यध्येषणा कार्येति कर्कादयः। द्वे वैष्णव्यौ गायत्र्यौ मेघातिथिदृष्टे। हे ऋत्विजः, विष्णोः परमेश्वरस्य कर्माणि सृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहादीनि, हिरण्याक्षहिरण्यकशिपु-रावणशिशुपालादिवध –भक्तानुग्रहादीनि चरितानि पश्यत चिन्तयत। यतो यैः कर्मभिर्व्रतानि भावत्कानि लौकिकवैदिककर्माणि पस्पशे बद्धवान् निर्मितवान्, 'स्पश बन्धने' सृष्ट्यादिभिर्देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारादिसत्त्व एव लौकिकवैदिककर्मणामनुष्ठानसम्भवात्। स विष्णुरिन्द्रस्य परमैश्वर्यशालिनः शतक्रतोः, युज्यो योग्यः सखा स्निग्धं मित्रमस्ति। यद्वा विष्णोर्यज्ञस्य सम्बन्धीनि कर्माणि वीर्याणि पश्यत, यतो यैर्वीर्यैर्व्रतान्याधानपशुसोमादीनि कर्माणि पस्पशे बद्धवान्। अन्यत् पूर्ववत्। व्रतमिति कर्मनाम। विष्णुर्हि यज्ञानामधिष्ठात्री देवता। यद्वा विष्णोः कर्माणि वीर्याणि पश्यत यैर्वीर्यैस्तानि व्रतानि कर्माण्यग्निवायुसूर्याणां स्वानि स्वान्यप्रमत्ता एतानि कुरुतेत्येवं नियमैः पस्पशे निबद्धवान्। यश्च विष्णुरिन्द्रस्य सखा वृत्रवधादिकर्मसु सहायकः। युज्यो योगार्हः, अनुरूप इत्यर्थः।

आध्यात्मिकोऽपि पूर्वोक्त एवार्थः।

स्वामिदयानन्दस्तु–'यतो येन विज्ञानेन व्रतानि नियतसत्यभाषणादीनि पस्पशे बध्नामि, लडर्थे लिट्। हे सभ्यजनाः, यूयं यथेन्द्रस्य युज्यः सखा विष्णोः कर्माणि पश्यन्नहं यतो विज्ञानेन मनसि व्रतानि सत्यभाषणादिनियमान् पस्पशे बध्नामि, तथैवानेनैव विज्ञानेन तानि पश्यत, यतो राज्यकर्मणि सत्यानुष्ठातारो भवत' इति, तदपि विसङ्गतमेव, कोऽत्र वक्तेत्यनिर्णयात्। न चेश्वरो वक्ता, तस्य द्रष्टव्यकर्मसम्बन्धित्वेनोक्तत्वात्। नापि जीवः, तस्योपदेष्टव्यसाधारण्यात्। नापि तस्य युज्यत्वं सखित्वं च विशेषः, 'सयुजा सखाया' (मु.उ.३।१) इति तस्यापि सर्वजीवसाधारण्यात्।

मन्त्रार्थ – हे ऋत्विजों, तुम लोग परमात्मा के सृष्टि-संहार आदि कार्यों को देखो। वह इन्द्र का अनुरूप मित्र है, उसने लौकिक और वैदिक कर्मों की रचना की है ॥४॥

भाष्यसार – यूप के गर्त को समतल करके उसमें जलसेचन के अनन्तर यूप का स्पर्श करते हुए यजमान से 'विष्णोः कर्माणि' इस ऋचा का पाठ अध्वर्यु कराता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।११-१२) में उपदिष्ट है। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे ऋत्विग्गण! श्रीविष्णु परमेश्वर के सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह आदि कर्मों को; हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, शिशुपाल आदि के वधरूपी भक्तों के प्रति अनुग्रहात्मक चरितों को देखिये, जिन कर्मों के द्वारा आप लोगों के लौकिक, वैदिक कर्मों को निर्मित किया है, क्योंकि सृष्टि आदि के द्वारा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि के होने पर ही लौकिक-वैदिक कर्मों का अनुष्ठान सम्भव है। वे विष्णु ही परमैश्वर्यवान् शतक्रतु इन्द्र के प्रिय मित्र हैं। अथवा विष्णुदेव के यज्ञसम्बन्धी कर्मों को देखें, जिनसे उन्होंने आधान, पशु, सोम आदि कार्यों का निर्माण किया है। अथवा विष्णुदेव के उन कर्मों को देखिये, जिनके द्वारा अग्नि, वायु, सूर्य के अपने-अपने कार्यों में नियत रहने के नियमों से कर्मों का नियन्त्रण किया है। आध्यात्मिक अर्थ भी पूर्वोक्त की भाँति ही है।

स्वामी दयानन्द का अर्थ विसंगत है, क्योंकि यहां वक्ता कौन है, यह निर्णय नहीं किया गया। द्रष्टव्य कर्म से सम्बद्ध कहे जाने के कारण ईश्वर वक्ता नहीं हो सकता। उपदेश का पात्र होने के कारण जीव भी वक्ता नहीं हो सकता। इन्द्र शब्द का भी

अत्र शातपथी श्रुतिरुद्ध्रियते – 'अथैवमभिपद्य वाचयति विष्णोः कर्माणि.... सखेति वज्रं वा एष प्राहार्षीद्यो यूपमुदशिश्रियद्विष्णोर्विजितिं पश्यतेत्येवैतदाह यदाह विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे इन्द्रस्य युज्यः सखेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता वैष्णवो यूपस्तꣳ सेन्द्रं करोति तस्मादाहेन्द्रस्य युज्यः सखेति' (श.३।७।१।१७) । एवं कर्मकलापं कृत्वा यूपमन्वारभ्य वाचयति । 'विष्णोः कर्माणीति वाचयति यूपमन्वारब्धमिति' (का.श्रौ.६।३।११) । मन्त्रार्थस्तूक्तः । श्रुतिर्मन्त्रतात्पर्यमाह – उदशिश्रियत यो यूपमुदशिश्रियत यूपमुच्छ्राययति वज्रं वा एष प्रहरति, उभयत्र लडर्थे लुङ्, रक्षोभ्योऽरातिभ्यः कर्माणि पश्यतेति विष्णोर्विजितिं विजयमुत्कर्षं पश्यतेत्येवार्थः । यो विष्णुरिन्द्रस्य यज्ञाभिमानिनो देवस्य युज्यः सखा सखिभूतः । अत्र विष्णुरेव इन्द्रस्य युज्यः सखा गदितः । इन्द्रपदस्यापि विष्ण्वर्थत्वेन दयानन्दरीत्या कथं सङ्गतिः स्यात् ? इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता प्रोक्ता । वाय्वादिशुद्धिप्रयोजनकस्य यज्ञस्य देवता किमर्थमुपदिश्यते ? त्वद्रीत्या देवानां हविर्भुक्त्वानुपपत्तेः । यूपस्य वैष्णवत्वकथनेन यज्ञे यूपस्य प्रयोगेण यूपं सेन्द्रं करोतीदमेव विष्णोरिन्द्रस्य सखित्वम्, तदेतदपि कथं तद्रीत्या सङ्गच्छते ? ॥४॥

तद्विष्णोः॒ प॒र॒मं प॒दꣳ सदा॑ पश्यन्ति सू॒रयः॑ । दि॒वी॒व॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥५॥

'तद्विष्णोरिति चषालमीक्षमाणम्' (का.श्रौ.६।३।१२) । यूपवलयं चषालं यजमानं प्रेक्षमाणं वाचयेत् । मन्त्रार्थस्तु – सूरयो विद्वांसो वेदवेदान्तपारगा विष्णोस्तत्प्रसिद्धं परममुत्कृष्टं पदं पद्यते गम्यत इति पदं सदा पश्यन्ति । कीदृशं तत्? दिवि आकाशे निरावरणे चक्षुरिवाततं व्याप्तम् । यद्वा यद् दिवि आकाशे चक्षुरादित्यमण्डलं ततं विस्तारितम् । इवोऽनर्थकः । 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य' (वा.स.७।४२) इत्यत्र 'तच्चक्षुर्देवहितम्' (वा.स.३६।२४) इत्यत्र च चक्षुःपदेन आदित्यमण्डलस्योक्तत्वात् । 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यत्र तदित्यनेन यदित्याक्षिप्यते । यद्विज्ञानानन्दघनं ब्रह्म, तद्विष्णोः परमेश्वरस्य परमं पदं स्वरूपं सूरयो वेदान्तविदः पश्यन्ति । कीदृशं तत् ? दिवीव चक्षुर्द्युलोकगतमादित्यमण्डलम् आततं विस्तारितम् । निरावरणे आकाशे आततं आसमन्तात् प्रसृतं चक्षुरिव विष्णोः पदं व्याप्तम् । यद्यपि चक्षुषो व्याप्तिः सापेक्षैव, सा हि नीरूपस्य चाक्षुषालोकस्य यथा तत्रत्यप्रकाश्यप्रकाशनाद् विज्ञायते, तथैव व्यापकस्य विष्णोर्नित्यापरिच्छिन्ननित्यज्ञानरूपस्य सर्वावभासकस्य सत्त्वं विज्ञायते। यज्ञपक्षे तु विष्णोर्यज्ञस्य तत् परमं पदं पद्यत इति पदं दिवि निरावरण आकाशे चक्षुरिव आततं प्रसृतम् । अन्यत् समानम् ।

शतपथे तु – 'अथ चषालमुदीक्षते । तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततमिति वज्रं वा एष प्राहार्षीद्यो यूपमुदशिश्रियत् तां विष्णोर्विजितिं पश्यतेत्येवैतदाह यदाह तद्विष्णोः....ततमिति'

विष्णु अर्थ मानने पर उसकी संगति कैसे संभव है ? वायु आदि की शुद्धि के उद्देश्य से किये जाने वाले यज्ञ के लिये देवता का उपदेश क्यों किया जा रहा है ? क्योंकि उनके मत के अनुसार देवताओं का हविर्भुक् होना असिद्ध है ॥४॥

मन्त्रार्थ – वेदान्त के वेत्ता योगी सर्वव्यापक परमात्मा के उस मोक्षस्वरूप परम पद को सदा देखते हैं, जो कि निरावरण आकाश में चक्षु के समान व्याप्त है ॥५॥

भाष्यसार – 'तद् विष्णोः' इस ऋचा का पाठ अध्वर्यु यजमान से कराता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।१२) में निर्दिष्ट है । शतपथ ब्राह्मण में भी यज्ञप्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

मन्त्र की अर्थ योजना इस प्रकार है – विद्वान् लोग वेदवेदान्त के ज्ञाता, विष्णु के उस प्रसिद्ध परम उत्कृष्ट स्वरूप को सदा देखते हैं, जो निरावरण आकाश में चक्षु की भांति व्याप्त है, अथवा जो आकाश में आदित्यमण्डल के रूप में विस्तीर्ण है । याज्ञिक

(श.३।७।१।१८)। 'अथ परिव्ययति। अनग्नतायै न्वेव परिव्ययति तस्मादत्रेव.... हीदं वासो भवत्यन्नाद्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यत्रेव हीदमन्नं प्रतितिष्ठति तस्मादत्रेव परिव्ययति' (श.३।७।१।१९)। तद्विष्णोरिति मन्त्रेण चषालमुदीक्षते ऊर्ध्वमुदीक्षते विष्णोर्यज्ञस्य तत्परमं पदं पद्यत इति पदं यूपस्तं सदा पश्यन्ति सूरयो विद्वांसः। कीदृशम्? दिवि निरावरण आकाश आततं प्रसृतं चक्षुरिव। मन्त्रस्य तात्पर्यमाह – परमपदस्य यूपस्य शत्रुवधार्थमुद्यतवज्ररूपत्वात्, तद्दर्शनेन यज्ञविघातकासुराणां पलायनात्। उच्छ्रितयूप एव विष्णोर्विजितिस्तं पश्यतेति मन्त्र आह। अनेन विवरणेनाध्यात्मपक्षोऽप्युक्तप्रायः।

दयानन्दस्तु – 'सूरयः स्तोतारः। सूरीति स्तोत्रनामसु पठितम्' (निघ.३।१६) इति, तन्न, स्तोतारस्तु दर्शनमन्तरापि स्तुवन्त्येव। प्रकृते पश्यन्तीत्युक्तम्, दर्शनं तु वेदविदामेवोपपद्यते। यदपि – 'दिवीति आदित्यप्रकाश इव' इति, तदपि न युक्तम्, प्रकाशरहितेऽपि चक्षुषो व्याप्तिमत्त्वाविशेषात्। यत्तु – 'पदधातोः 'खनो घ च' (पा.सू.३।३।१२५) इति घप्रत्ययः। यतः खनेर्घो विधीयते, न खनेः कश्चिदवयवः कुत्वभागिति तेन घित्करणमर्थकं सद् ज्ञापयत्यन्येभ्योऽप्ययं भवतीति। तेन भर्जेर्भगः, पदेः पदम्, खलेरधिकरणे खल् इत्यादयः सिद्ध्यन्ति। तेन पदशब्दः पचाद्यजन्तः, 'चितः' (पा.सू.६।१।१६३) इत्यन्तोदात्त इति सायणः (ऋ.सं.१।२२।५)। 'पदं यजमानेन प्राप्यं स्थानमिति स्वोक्तार्थविरोधादयुक्तम्' इति, तदप्ययुक्तम्, बाहुलकाद्वा समाधानमिति 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा.सू.३।३।११३)। इति तद् भङ्क्त्वा भाष्यकार आह 'कृतो बहुलम्', अर्थात् सर्वे कृतो बाहुलकात् कर्मादौ भवन्तीति सायणोक्तस्यार्थस्य साधुत्वात् ॥५॥

परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानꣳ रायो मनुष्याणाम्। दिवः सूनुरस्येष ते पृथिव्यां लोक आरण्यस्ते पशुः ॥६॥

'परिवीयमाणायानुवाचयति त्रिगुणा त्रिव्यामा कौशी रशना तया नाभिमात्रे त्रिवृतं परिव्ययति परिवीरसीति' (का.श्रौ.६।३।१३)। यूपाय परिवीयमाणायानुब्रूहीति होतारं प्रेष्येदध्वर्युः। त्रिगुणिता व्यामत्रयप्रमाणा (प्रसारितभुजयोरन्तरालं व्यामः) कौशी रशना रज्जुः, तया रज्ज्वा मध्यभागे वासःपरिधानस्थाने यजमाननाभिसम्मिते यूपस्य प्रदेशे प्रदक्षिणं यूपं त्रिर्वेष्टयेत्। हे यूप, त्वं परिवीरसि 'व्येञ् संवरणे' इत्यस्य स्वार्थे क्विपि सम्प्रसारणे रूपम्।

पक्ष में तो विष्णु, अर्थात् यज्ञ का परम पद व्याप्त है, इस प्रकार अर्थ है।

स्वामी दयानन्द के अर्थ में 'सूरयः' का अर्थ स्तोतागण करना उचित नहीं है, क्योंकि स्तोता तो दर्शन के बिना भी स्तुति करते हैं। मन्त्र में 'पश्यन्ति' यह कहा गया है। दर्शन तो वेदवेत्ताओं को ही संभव है और 'पद' धातु से घ प्रत्यय आदि कथन भी अनुचित है, क्योंकि भाष्यकार ने कहा है कि सभी कृत् प्रत्यय बाहुलक से कर्मादि में होते हैं। अतः सायणाचार्य द्वारा प्रतिपादित अर्थ ही समीचीन है ॥५॥

मन्त्रार्थ – हे यूप, तुम चारों ओर रस्सी से और हमसे घिरे हुये हो, देवताओं की मरुद्गण आदि प्रजा अथवा पशु तुमको चारों ओर से घेरे हुए हैं। इसी तरह से मनुष्य सम्बन्धी धन इस यजमान को चारों ओर से घेरे। हे स्फ्य, तुम स्वर्ग के पुत्र हो, अर्थात् द्युलोक से वर्षा होने पर वृक्ष से यूप और यूप से स्फ्य बनता है, इस कारण स्फ्य स्वर्ग का पुत्र कहलाता है। हे यूप, तुम्हारा आश्रयस्थान यह पृथ्वी है, वन सम्बन्धी पशु भी तुम्हारे लिये ही हैं ॥६॥

भाष्यसार – यूप में लपेटने के लिये त्रिगुणित तथा तीन व्याम की कुशा की रस्सी ग्रहण की जाती है। यूप के परिव्ययण के समय 'परिवीरसि' यह मन्त्र पढ़ा जाता है। कण्डिका के अन्य मन्त्रों से यूप के खण्ड का स्थापन आदि कार्य किये जाते हैं। यह

हे यूप, त्वं परिवीरसि । परितो रशनयाऽस्माभिश्च वीतो वेष्टितो भवसि । दैवीर्विशो देवसम्बन्धिनीः प्रजा मरुद्गणादयः पशवो वा त्वां परितो व्ययन्तां वेष्टयन्तु, 'देव्यो वा एता विशो यत्पशवः' इति श्रुतेः । तद्वदिमं यजमानं मनुष्याणां सम्बन्धीनि, मनुष्याणां मध्ये वा इमं यजमानं रायो धनानि परिवेष्टयन्तु । 'यूपशकलमस्यामुपगूहत्युत्तरेणाग्निष्ठां दिवः सूनुरसीति' (का.श्रौ.६।३।१५) । अग्निष्ठामस्रिमुत्तरेण यूपे त्रिर्वेष्टितायामस्यां रशनायां यूपशकलं स्वरुमधोमुखं रशनायूपान्तराले प्रवेशयेत् । यूपनिर्माणोपक्रमे कुठाराघातेन प्रथमच्छिन्नकाष्ठशकलं स्वरुपदवाच्यं भवति । स्वरुहोमश्च भवति । अष्टास्रेर्यूपस्य याग्निसमीपस्थिता तस्या उत्तरभागे रशनायां स्वरुनामकं शकलमवसजेदित्यर्थः । हे शकल, त्वं दिवः सूनुरसि द्युलोकस्य पुत्रोऽसि । द्युलोकाद्वर्षति ततो यूपो जायते यूपात् स्वरुरिति रीत्या दिवः सूनुः स्वरुः । 'वर्षिष्ठाद् दक्षिणं वितष्टं द्वादशं निदधात्येष त इति' (का.श्रौ.८।८।२२) । यूपैकादशिनीपक्षे द्वादशं यूपं सकलमप्यतष्टम् । सायणरीत्या तु विशेषेणोपरप्रदेशे तष्टो वितष्टः । अतिशयेन महतो दक्षिणाद्यूपाद् दक्षिणं भूमौ स्थापयेत्, न निखन्यात् । अयमेव 'उपशयो यूप' इत्युच्यते, यूपानां समीपे शेत इत्युपशयः । अस्य च प्रयोजनम् – 'आरण्यं पशुमाखुं वोपशये निर्दिशेत्' (आपस्तम्बश्रौतसूत्र १४।७।१) इत्युक्तम् । तथा च हे उपशय यूप ! यूपानां दक्षिणप्रदेश, पृथिव्या ते तव लोकः स्थानम्, न भूम्यामन्तर्मिनामीत्यर्थः । ननु 'पशवो वै यूपमुच्छ्रयन्ति' (श.३।७।३।४) इति श्रुतेर्यूपे पशुना भवितव्यमित्यत आह – ते तव आरण्योऽरण्ये भवोऽरण्यसम्बन्धी पशुर्वने वर्तमानः पशुरस्तीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु – 'यथा परितः सर्वा विद्या व्येति व्याप्नोति तथासि । परि सर्वतस्त्वां सभाध्यक्षं देवानां विदुषामिमा विशः प्रजा व्ययन्तां विशिष्टतया प्राप्नुवन्तु, जानन्तु वा । परि सर्वत इमं प्रत्यक्षं यजमानं रायो धनानि दिवः प्रकाशमयात् सूर्यात् सूनुः सूयत उत्पद्यत इति सूनुः किरणसमूह इव असि । एष ते तव पृथिव्यां लोके राष्ट्रं राज्यस्थानम् आरण्यः अरण्ये भवस्ते पशुः पश्यकश्चतुष्पात् सिंहात्' इति । सर्वमेतन्निष्प्रमाणं प्रलापमात्रम्, शाक्तेऽर्थे सम्भवति भाक्तस्यार्थस्याप्रामाणिकत्वात् । यूपः सम्बोधनीय इत्यर्थे तु श्रुतयः सूत्राणि च प्रमाणम् । सभाध्यक्षस्य सम्बोधनीयत्वे तु न किमपि बीजम् । सभाध्यक्षस्य विद्याव्यापकत्वमप्यौपचारिकमेव । अत एव व्यापकवदसीति तेनाप्युक्तम् । देवानां विदुषामिमाः प्रजा इत्यपि निर्मूलम्, प्रजानां राजसम्बन्धनियमात्, देवानां मनुष्यमित्रत्वस्य भूमिकायां साधितत्वाच्च । विदुषां सन्तानवत् प्रजास्त्वां व्याप्नुवन्त्विति हिन्दीभाष्यमपि निष्प्रमाणमेव, दृष्टान्तस्वारस्यस्यानिरूपणात् । दिवः सूनुरसि प्रकाशपुञ्जतुल्योऽसीत्यपि यत्किञ्चित्, गौणार्थकत्वे मानाभावात् । पृथिव्यां ते तव लोको राष्ट्रं राज्यस्थानमित्यपि निरर्थकम्, पृथिव्या अन्यत्र तदसम्भवेन व्यावर्त्याभावेन विशेषणवैयर्थ्यात् । लोकपदस्य राष्ट्रमर्थ इत्यपि निर्मूलम्, तथा शक्तिग्रहाभावात् । आरण्यस्ते पशुः सिंहस्ते वशेऽस्त्वित्यपि निर्मूलम्, तद्बोधकपदाभावात् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' श्रुत्या त्वध्यात्मपक्षोऽपि समर्थित एवेति ।

शतपथे तु – 'अथ परिव्ययति । अनग्नतायै न्वेव परिव्ययति तस्मादत्रेव परिव्ययतीत्यत्रेव हीदं वासो भवत्यन्नाद्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यत्रेव हीदमन्नं प्रतितिष्ठति तस्मादत्रेव परिव्ययति' (श.३।७।१।१९) । रशना – परिव्ययणं विधाय प्रशंसति – अथेति । अनग्नतायै परिव्ययति । परिव्ययणप्रदेशमभिनयेन निर्दिशति – अत्रेवेति । नाभिप्रदेशे 'नाभिदघ्ने' (तै.सं.६।३।४) । उक्तार्थे लोकस्थितिं हेतुत्वेन वक्ति – अत्रेव हीदमिति । लोके शरीरस्य मध्यदेशे । खल्विदं वसनं भवति । अन्नाद्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यत्रेव हीदमन्नं प्रतितिष्ठति, रशनाया

याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।१३-१५) में प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अन्नसम्बन्धिविकारत्वेनान्नरूपत्वादन्नमेवास्मिन्नुपस्थापितवान् भवति । तत्रैवाशितमन्नमपि प्रतितिष्ठति, तस्मादन्नेन परिव्ययति । नात्र कश्चित् सभाध्यक्षो विवक्षितो न वा तस्य प्राप्तिरपि विवक्षिता । तस्मान्मुधैव दयानन्दीयमभ्यूहनम् । 'त्रिवृता परिव्ययति । त्रिवृद्ध्यन्नं पशवो ह्यन्नं पिता माता यज्जायते तत्तृतीयं तस्मात् त्रिवृता परिव्ययति' (श.३।७।१।२०) । रशनायास्त्रैगुण्यमाह – अन्नस्य त्रिवृत्त्वमिति, पशवो ह्यन्नम् । कथं तेषु त्रिवृत्त्वमिति तदुपपादयति – पिता माता यज्जायते तत्तृतीयमिति । दधिपयोरूपस्यान्नस्य त्रयाणामपि कारणत्वात् तेषामप्यन्नत्वोपचारः । तस्मात् त्रिवृता रशनया परिव्ययति 'परिवीरसि....रायो मनुष्याणामिति तद्यजमानायाशिषमाशास्ते यदाह परीमं यजमानꣳ रायो मनुष्याणामिति' (श.३।७।१।२१) । परिव्ययणे मन्त्रमाह – परिवीरसीति । मन्त्रो व्याख्यात एव ।

'अथ यूपशकलमवगूहति । दिवः सूनुरसीति प्रजा हैवास्यैषा तस्माद्यदि यूपैकादशिनी स्यात् स्वꣳ स्वमेवावगूहेदविपर्यासं तस्य हैषा मुग्धानुव्रता प्रजा जायतेऽथ यो विपर्यासमवगूहति न स्वꣳ स्वं तस्य हैषा मुग्धाननुव्रता प्रजा जायते तस्मादु स्वꣳ स्वमेवागूहेदविपर्यासम्' (श.३।७।१।२२) । यूपशकलं स्वरुमवगूहेद् रशनामध्ये तस्मात् स्वरोर्यूपरूपत्वात्, एवं सर्वथाऽवगूहनीयत्वाद् यूपैकादशित्वपक्षेऽपि स्वस्वयूपानतिक्रमेणैवावगूहयेत्, यस्य यूपस्यांशो यः स्वरुः स तत्रैवावगूहनीयः । अविपर्यासं विपर्यासाया एकादशिन्याः क्रमेणाग्रहणात्, दोषाविधानेन विपर्यासं प्रशंसति –तस्य हैषा मुग्धानुव्रता प्रजा जायत इति । अनुव्रता यजमानव्यापारानुकूला प्रजा जायते । यो विपर्यासमवगूहति, अन्यदीयं स्वरुमन्यत्रावगूहति, तस्य मुग्धा अननुव्रता यजमानव्यापारप्रतिकूला प्रजा जायते । तस्मात् स्वं स्वमेवावगूहेदविपर्यासम् । 'स्वर्गस्यो हैष लोकस्य समारोहणः क्रियते । यद्यूपशकल इयꣳ रशना रशनायै यूपशकलो यूपशकलाच्चषालं चषालात् स्वर्गं लोकꣳ समश्नुते' (श.३।७।१।२३) । यूपशकलरशनाचषालानां क्रमेणोर्ध्वभावित्वात् स्वर्गारोहणसोपानत्वेन प्रशंसति – 'अथ यस्मात् स्वरुर्नाम । एतस्माद्वा एषोऽपच्छिद्यते तदस्यैतत् स्वमेवारुर्भवति तस्मात् स्वरुर्नाम' (श.३।७।१।२४) । यूपावयवत्वेन स्वरोः सर्वथावगूहनं प्रशंसितुं तन्नाम निर्वक्ति - एतस्माद्वा इति । एतस्मादेव एष यूपशकलोऽपच्छिद्यते । तद् एतत् छिन्नं द्रव्यम् अस्य यूपसम्बन्धि पुनः स्वकीयमेव अरुर् गन्ता भवति । स्वमियर्तीति स्वरुः, 'त एतं स्वरुमपश्यन् यूपशकलम्' (ऐ.ब्रा.२।१।३) इति नाम सम्पद्यते । 'तस्य यन्निखातम्। तेन पितृलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं निखातादा रशनायै तेन मनुष्यलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वꣳ रशनाया आचषालात्तेन देवलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं चषालाद् द्व्यङ्गुलं वा त्र्यङ्गुलं वा साध्या इति देवास्तेन तेषां लोकं जयति स लोको ह वै साध्यैर्देवैर्भवति य एवमेतद्वेद' (श.३।७।१।२५) । यूपं लोकत्रयजयात्मना प्रशंसति – तस्य यन्निखातमिति । निखन्यत इति निखातो गर्तगतो भागस्तेन पितृलोकं जयति । यदूर्ध्वं निखातादा रशनायास्तेन मनुष्यलोकं जयति । चषालादुपरि यूपाग्रं हि त्र्यङ्गुलभागः, तेन साध्या इति प्रसिद्धास्तेषां साध्यानां देवानां लोकं जयति । 'तेषां लोकं जयति' (तै.सं. ६।३।४।७) । वेदितुः फलमाह – स लोको ह वै साध्यैर्देवैर्भवति य एवमेतद्वेद । 'तं वै पूर्वार्धे मिनोति । वज्रो वै यूपो वज्रो दण्डः पूर्वार्धं वै दण्डस्याभिपद्य प्रहरति पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मात्पूर्वार्धे मिनोति' (श.३।७।१।२६) । यूपस्य पूर्वार्धं भूमौ यन्मानं तद्दण्डसाम्यतः स्तौति – वज्रो वै यूपो वज्रो दण्ड इति । यज्ञस्य प्रहरणसाधनत्वाद् दीर्घत्वाच्च वज्रो दण्डो दण्डस्य पूर्वार्धम् अभिपद्य गृहीत्वा प्रहरति । यज्ञस्याप्येष यूपः पूर्वार्धः, होमात् पूर्वमनुष्ठेयत्वात् । तस्मात् पूर्वार्धे पूर्वभागे मिनोति ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे परमेश्वर, आप महदादि से, पांच कोषों से परिवेष्टित हैं । दिव्य प्रजाएं आपको परिवेष्टित करती हैं । आपके आराधक इस यजमान का सम्पूर्ण धन आवृत करे । हे उपासक जीव, तुम स्वप्रकाश ब्रह्म के पुत्ररूप हो । यह देह आदि तुम्हारा कर्मफल है । भोगभूमि पृथ्वी पर तुम उससे पृथक् चिद्रूप हो । संसाररूपी अरण्य में सब तुम्हारे ही पशु हैं ।

प्रकारान्तरेण पूर्वार्धमभिमातुं भूयो द्योतयति – 'यज्ञेन वै देवाः।इमां जितिं जिग्युर्येषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम पुरस्ताद्वै प्रज्ञा पुरस्तान्मनोजवस्तस्मात्पूर्वार्धे मिनोति। देवैस्तिरोभावितस्य यज्ञस्य यूपस्य इतरेषामनुष्ठातॄणां प्रज्ञापकत्वात्, प्रज्ञापकस्य पुरस्ताद्भावित्वदर्शनाद् यूपोऽपि पुरस्ताद्देशे स्थाप्य इत्यर्थः । यूपस्य देवैराच्छादितयज्ञस्य प्रज्ञापालकत्वं तैत्तिरीयकेऽप्युक्तम् – 'यज्ञेन वै देवाः सुवर्गं लोकमायन् तेऽमन्यन्त मनुष्या नोऽन्वाभविष्यन्तीति ते यूपेन योपयित्वा सुवर्गं लोकमायन्। तमृषयो यूपेनैवानुप्राजानन् तद् यूपस्य यूपत्वम्' (तै.६।३।४।७) । 'स वा अष्टास्रिर्भवति । अष्टाक्षरा वै गायत्री पूर्वार्धो वा यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मादष्टास्रिर्भवति' (श.३।७।१।२८) । अष्टसंख्यासाम्येन च गायत्र्या अष्टास्रियूपस्य चैक्यम् । 'तꣳह स्मैतं देवा अनुप्रहरन्ति यथेदमप्येतर्ह्येकेऽनुप्रहरन्तीति देवा अकुर्वन्निति ततो रक्षाꣳसि यज्ञमनूदपिबन्त' (श.३।७।१।२९) । 'ते देवा अध्वर्युमब्रुवन् । यूपशकलमेव जुहुधि तदा हैष स्वगाकृतो भविष्यति तथो रक्षाꣳसि यज्ञं नानूत्पास्यन्तेऽयं वै वज्र उद्यत इति' (श.३।७।१।३०) । यूपे निगूढस्य स्वरोरुत्तरत्र प्रतिपत्तिकर्मत्वेन यूपप्रतिनिध्यात्मना होममभिधातुमाह – 'तं ह स्मेति । अप्येतर्हि इदानीमपि एके अनुष्ठातारः। इदमित्यनुप्रहरणक्रियाविशेषणम् । देवा यथा अनुप्रहरन्ति तथानुप्रहरन्तीति । इदानीमप्यनुप्रहरणमेव कुर्वन्ति । देवा अकुर्वन्निति । तेन यज्ञस्थानीयस्य यूपस्य दग्धत्वेन बाधकाभावाद् यथाकामं रक्षांसि यज्ञमुदपिबन्त । अत एव देवा अध्वर्युमब्रुवन् यूपशकलमेव जुहुधीति । तेनैव एष यूपः स्वगाकृतो भविष्यति । होमे कृतप्रतिपत्तिकोऽनुभवति, तत्प्रतिनिधिभूतस्य यूपशकलस्य स्वगाकृतत्वात् । तथा उ रक्षांसि यज्ञं नानूत्पास्यन्ते, यतोऽयं यूप उद्यतवज्र इव तेषां बाधको भविष्यति । 'सोऽध्वर्युः । यूपशकलमेवाजुहोत् तदु हैष स्वगाकृत आसीत् तथो रक्षाꣳसि यज्ञं नानूदपिबन्तायं वै वज्र उद्यत इति' (श.३।७।१।३१) उक्तार्थमेतत् । 'तथो एवैष एतत् । यूपशकलमेव जुहोति तदु हैष स्वगाकृतो भवति तथो रक्षाꣳसि यज्ञं नानूत्पिबन्तेऽयं वै वज्र उद्यत इति स जुहोति दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मना पृण स्वाहेति' (श.३।७।१।३२) । यूपशकलहोतुरभिप्रायं वक्ति – दिवं ते धूमो गच्छत्वित्यादिना ।

अत्रैव शतपथेऽग्नीषोमीययूपप्रसङ्गाद् यूपैकादशिनीपक्षोऽप्युक्तः । 'यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी । वज्रा वै यूपास्तदिमामेतत्पृथिवीमेतैर्वज्रैः स्पृणुतेऽस्यै सपत्नान्निर्भजति तस्माद्यूपैकादशिनी भवति द्वादश उपशयो भवति वितष्टस्तं दक्षिणत उपनिदधाति तद् द्वादश उपशयो भवति' (श.३।७।२।१) । एतैर्यूपैः पृथिव्यात्मिकां वेदिं स्पृणुते बलवतीं करोति । अतोऽत्यन्तदाढर्याय यूपैकादशिनी कर्तव्या । तस्मिन् पक्षे उप यूपानां समीपे शेते इत्युपशयोऽन्यो यूपः (तै.सं.६।६।४) । 'स द्वादशो भवति स च वितष्टः, विशेषेणोपरप्रदेशेऽपि तष्टः । केचित्तु वितष्ट इत्यस्य तक्षणरहित इत्यर्थं वदन्ति । तं यूपानां दक्षिणदेशे भूमौ निखातं कृत्वा तूष्णीं स्थापयेत् । 'देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । ते असुरराक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्तद्य एत उच्छ्रिता यथेषुरस्ता तया वै स्तृणुते वा न वा स्तृणुते यथा दण्डः प्रहृतस्तेन वै स्तृणुते वा न वा स्तृणुतेऽथ य एष द्वादश उपशयो भवति यथेषुरायतानस्ता यथोद्यतमप्रहृतमेवमेष

पशु की भाँति आपके भोगसाधन होने के कारण आपके उपकरण ही हैं । अतः अनात्मा के प्रति तादात्म्य को छोड़ कर चिदात्मक तुम ब्रह्माभिमुख होओ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ शक्तार्थ संभव होने पर अन्य वृत्ति के द्वारा उपलब्ध अर्थ के अप्रामाणिक होने के कारण असंगत ही है । सभाध्यक्ष को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण नहीं है । विद्वान् देवों की ये प्रजाएँ हैं, यह कहना भी अप्रामाणिक

वज्र उद्यतो दक्षिणतो नाष्ट्राणाᳫ रक्षसामपहत्यै तस्माद् द्वादश उपशयो भवति' (श.३।७।२।२)। उपशयं रक्षोनाशकत्वेन प्रशंसति – तद्य एत इति । यथा मुक्तेषुः प्रहतो दन्तिदण्डो वा यदा ऋजुर्गच्छति तदा लक्ष्यं विध्यति न चेन्नैवं यूपोऽपि स्थापितस्तत्पतनाशङ्काया अपगतत्वाद् रक्षसां यूपविषयं भयं नोदियादतो यूपस्य सोपशयत्वे सति यथेषुरनायता यथोद्यतमप्रहृतं यदोपशयाख्यं वज्रमुद्यच्छतीति रक्षसां भयमुत्पद्यते, तस्मादुपशयः कर्तव्यः ।

'तं निदधाति । एष ते पृथिव्यां लोक आरण्यस्ते पशुरिति पशुश्च वै यूपश्च तदस्मा आरण्यमेव पशूनामनुदिशति तेनो एष पशुमान् भवति तद् द्वयं यूपैकादशिन्यै सम्मयनमाहुः श्वः सुत्यायै ह न्वेवैके सम्मिन्वन्ति प्रकुब्रतायै चैव श्वः सुत्यायै यूपं मिन्वन्तीत्यु च' (श.३।७।२।३) । निधानमन्त्रमाह – हे उपशय यूप , त्वं यूपानां दक्षिणप्रदेशः । पृथिव्यां ते तव लोकः स्थानम्, अतो भूम्यामन्तर्मिनामीत्यर्थः । तर्ह्यस्थै कः पशुरिति तं दर्शयति – आरण्यस्ते पशुरिति । अरण्ये भव आरण्यो व्याघ्रादिः, स एव ते पशुः । तथा च सूत्रम् – 'वितष्टं द्वादशं निदधात्येष त इति' (का.श्रौ.८।८।२२) । सर्वथापि लोको राष्ट्रं राज्यं पृथिव्यां सभाध्यक्षस्य भवतीति विशृङ्खलमेव व्याख्यानम् । यूपस्य सर्वथा पशुसम्बन्धोऽपेक्षित इत्याह – पशुश्च वै यूपश्चेति । एतावविनाभूतावित्यर्थः । वैशब्द इतरयूपानां पशुसम्बन्धनियमप्रसिद्धिद्योतनार्थः । तत् तस्माद् अव्यभिचाराद् आरण्यमेव पशूनामनुदिशति – तेनो एष इति । तेन उ एष यजमानः पशुमान् भवति । तद्द्वयं यूपैकादशिन्यां सम्मयनं द्वयं द्विविधमाहुर्विवदन्ते, अभिज्ञा इति शेषः । तत्रैकेषां पक्षमाह – श्वः सुत्यायै ह त्वेवैके सम्मिन्वन्तीति । श्वः परेद्युः क्रियमाणायाः सुत्यायाः पूर्वस्मिन् दिनेऽग्निष्ठप्रमुखाः सर्वान् यूपान् निखनन्ति । कीदृश्यै सुत्याया इत्याह – प्रकुब्रताया इति । कुबिति ककुप् प्रकृष्ट कुप् प्रकुप् दक्षिणा दिक्, तस्यां रता दक्षिणमार्गप्रापिकेति यावत् । तस्यै सुत्याया इत्यर्थः । अत्र खननमेव सम्मयनम् । 'तदु तथा न कुर्यात् । अग्निष्ठमेवोच्छ्रयेदिदं वै यूपमुच्छ्रित्याध्वर्युरापरिव्ययणान्नान्वर्जत्यपरिवीता वा एत एताᳫ रात्रिं वसन्ति सान्वेव परिचक्षा पशवे वै यूपमुच्छ्रयन्ति प्रातर्वै पशूनालभन्ते तस्मादु प्रातरेवोच्छ्रयेत्' (श.३।७।२।४) । तं पक्षं निराकरोति – तदु तथा न कुर्यादिति । तस्मिन् कालेऽग्निष्ठमेकमेव उत्तरवेदेः पुरो-देशस्थमेवाग्नीषोमीयपश्वर्थमुच्छ्रयेत् । अन्येषामपि पूर्वेद्युरुच्छ्रयणे दोषमाह – अग्निष्ठमेवेति । इदं वै वक्ष्यमाणं भवति । यूपमुच्छृत्याध्वर्युरा परिव्ययणाद् रशनापरिव्ययणपर्यन्तं नान्वर्जति नैव हस्तस्य स्पर्शं परित्यजेत् । अतोऽग्निव्यतिरिक्तानां परिव्ययणस्य प्रातः परेद्युः पशूपकरणकाले कर्तव्यत्वात् कृत्स्नां रात्रिम् अपरिवीता नग्ना वसन्ति यूपाः । सा न्वेव सैव उक्तलक्षणैव परिचक्षा पूर्वेद्युरुच्छ्रयणस्य निन्दा भवति । स्वपक्षे युक्तिमाह – पशवे वै यूपमुच्छ्रयन्तीति । तस्मात् प्रातरेव परेद्युरेव उच्छ्रयणं कुर्यात् । ततः क्रमेण यूपोच्छ्रयणम् । ततो यूपस्य पशोश्चाविनाभावो दर्शितः । ततः पशूपाकरणं ततोऽग्निमन्थनं ततो यूपे पशुनियोजनम् ।

अध्यात्मपक्षे तु – हे परमेश्वर, त्वं परिवीरसि महदादिभिः पञ्चकोषैश्च परिवेष्टितोऽसि । दैवीर्विशो दिव्याः प्रजास्त्वां परिव्ययन्तां परिवेष्टयन्ति । लकारव्यत्ययः । इमं त्वदुपासकं मनुष्याणां रायः सर्वाणि धनानीमं यजमानं त्वदीयमाराधकं परिव्ययन्ताम् । हे उपासक जीव, त्वं दिवः स्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः सूनुः पुत्रोऽसि, 'अमृतस्य पुत्राः' इति मन्त्रवर्णात् । एष देहादिस्ते लोकः कर्मफलम्, पृथिव्यां भोगभूमौ त्वं तु ततो विलक्षणश्चिद्रूपोऽसि । आरण्यः संसारारण्ये सर्वोऽपि प्रपञ्चस्ते पशुः । पशुवत् त्वदीयभोगसाधनत्वात् त्वदुपकरणभूत एव । तस्मादनात्मतादात्म्यमपहाय चिदात्मकस्त्वं दिवः सूनुत्वात् तदभिमुखो भवेत्यभिप्रायः ॥६॥

है, क्योंकि प्रजाओं का सम्बन्ध राजा से नियत है । लोक शब्द का 'राष्ट्र' अर्थ भी निर्मूल है । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से अध्यात्मपक्ष तो समर्थित ही है ॥६॥

उपावीरस्युप देवान् दैवीर्विशोपागुरुशिजो वह्नितमान् । देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ॥७॥

'उपावीरसीति तृणमादाय तेन पशुमुपस्पृशत्युपदेवानिति' (का.श्रौ.६।३।१७) । स्तृतबर्हिषोऽन्यद् दर्भतृणमादाय तेन तृणेन पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखमवस्थितं पशुमुपस्पृशेत् । हे तृणविशेष, त्वमुपावीरसि उप समीपमवतीत्युपावीः, उप समीपेऽवस्थितः सन्नवतीति वा, पशोर्द्वितीयः सखा त्वमसीत्यर्थः । तेन गृहीतेन तृणेन पशुं प्रत्यञ्चं स्थितं स्पृशति उपदेवानिति मन्त्रेण । उपदेवानग्नीषोमादीन् प्रति दैवीर्विशो देवसम्बन्धिन्यः प्रजाः पशवः, प्रथमार्थे द्वितीया, उपागुर् उपगच्छन्तु, 'दैव्यो एता विशो यत्पशवः' इति श्रुतेः । 'इण् गतौ' इत्यस्मात् 'छन्दसि लुङ्लिङ्लिटः' (पा.सू.३।४।६) इति कालसामान्ये लुङ्, 'इणो गा लुङि' (पा.सू.२।४।४५) इति गादेशः । कीदृशान् देवान् ? उशिजो मेधाविनः, हवींषि कामयमानान् वा । वह्नितमान् वहन्तीति वह्नयः, अतिशयेन वह्नय इति वह्नितमास्तान् यजमानं स्वर्गं प्रति वहतां देवानां मध्ये श्रेष्ठतमान् । वहन्ति हि ते देवा यजमानं स्वर्गं प्रति कर्मस्वङ्गभावमुपगच्छन्तः । सायणाचार्यरीत्या तु वह्नितमान् यजमानं प्रति स्वर्गं वहतां प्रापयतां देवानां मध्ये श्रेष्ठतमान् तानुशिजो हवींषि कामयमानान् अग्नीषोमादीन् देवान् दैवीर्विशस्तत्सम्बन्धिनीः प्रजाश्च हे पशो, त्वदीयानि हृदयाद्यङ्गानि, उपागुर् उपागच्छन्तु । एवं स्वपशून् प्रार्थ्य त्वष्टारमाह – हे त्वष्टृनामकदेव, वसु पशुलक्षणं धनं रम रमयस्व । 'छन्दस्युभयथा' (पा.सू.३।४।११७) इति शपोऽप्यार्धधातुकसंज्ञत्वात् णिचो लोपः । हे पशो, त्वदीयानि हव्यानि हवींषि स्वदन्तां स्वादूनि भवन्तु । 'स्वद स्वाद आस्वादने' । यद्वा हवींषि स्वदन्ताम् आस्वादयन्तु, देवा इति शेषः । अत्रापि णिचो लोपः ।

अध्यात्मपक्षे तु – हे परमेश्वर, त्वमुपावीरसि समीपेऽवस्थितः सन् सर्वान् जीवान् विशेषत उपासकान् अवसि । त्वमेव द्वितीयः सखासि । 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु.उ.३।१) इति श्रुतेः । दैवीर्विशो दिव्याः प्रजा देवानुपप्रागुर् अग्नीषोमादीन् देवानुपाश्रयन्ते । कीदृशो देवान् ? उशिजो मेधाविनो हवींषि कामयमानान् वा, हे त्वष्टर्देव हे सर्वप्रपञ्चनिर्माणकुशल शिल्पिन्, त्वं वसुस्वरूपभूतं धनं नियोजय, स्वभक्तेभ्य इति शेषः । 'यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः । भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥'(भ.गी.९।२५) इति गीतावचनात् । हे उपासक, ते तव त्वदीयानि हव्यानि हवींषि त्वदनुग्रहाय स्वदन्ताम् आस्वादयन्तु, त्वदीया इष्टदेवता इति शेषः । 'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते । यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥' (भा.पु.७।९।११) इति श्रीमद्भागवतवचनात् ।

मन्त्रार्थ– हे सुषुम्ना के अधिष्ठात्री देव, तुम प्राण वायु के निकट रह कर उसके रक्षक सखा हो । योगसाधना करने वाले के प्राण योगयुक्तों को चाहने वाले श्रेष्ठ अग्नि के समान प्रकाश स्वरूप नरनारायण को प्राप्त हों । हे दिव्यस्वरूप भगवन् योगी के आत्मप्रतिबिम्ब में या प्राणरूप धन में रमण कीजिये । हे भूतात्मन्,यह प्राणरूप हवि आपको रुचिकर हो ॥७॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।१७) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'उपवीरसि' इस ऋचा से कुशा के तृण से पशु का स्पर्श किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में तथा सायणादि द्वारा रचित भाष्यों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – हे परमेश्वर, आप समीप में रहते हैं तथा समस्त जीवों की, विशेषतः उपासकों

दयानन्दस्तु– 'हे देव त्वष्टः सभापते, यतस्त्वम् उपावीर् उपागतपालक इवासि उपदेवान् विदुषो दैवीर्देवसम्बन्धिनीर्दिव्या विशः प्रजाः प्रागुर् उशिजः कमनीयान् वह्नितमान् अतिशयितान् वोढॄन्, देव दिव्यगुणसम्पन्न त्वष्टः सर्वदुःखच्छिद् वसु वसूनि धनानि रम रमस्व । व्यत्ययेन परस्मैपदम् । हव्या होतुमर्हाणि हव्यानि वसूनि ते तव स्वदन्तां भुञ्जताम्' इति, हिन्दीभाष्ये तु– 'हे दिव्यगुणसम्पन्न सर्वदुःखच्छित् सभाध्यक्ष, यस्मात्त्वं शरणागतपालकसदृशोऽसि, अतो दैवीर्विद्वत्सम्बन्धिन्यो दिव्याः प्रजा यथा उशिजः श्रेष्ठगुणशोभितान् कामनायोग्यान् अतिशयेन धर्ममार्गे गच्छतो गमयितॄंश्च विदुषो उपप्रागुस्तथैव त्वामपि प्राप्नुवन्तु । यथा त्वदाश्रयेण प्रजा धनाढ्या भूत्वा सुखिन्यो भवन्ति, तथैव त्वमपि प्रजाजनैः सत्कृतो रम । यथा त्वं प्रजायाः पदार्थान् स्वदसे, तथैव प्रजा अपि त्वदीयानि हव्यानि अमूल्यानि वसूनि स्वदन्ताम्' इति, भावार्थे तु– 'यथा गुणग्राहिण उत्तमगुणं विद्वांसं सेवन्ते, तथा न्यायविचक्षणं राजानं प्रजाः सेवन्ते, येन मिथः प्रीत्या परस्परोन्नतिर्भवति' इति, तदेतत् त्रिधापि व्याख्यानं सर्वथा स्वाभ्यूहितत्वात् श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वाद् मन्त्रविरुद्धत्वात् परस्परमसम्बन्धाच्च हेयमेव । कथं तावत् 'देव त्वष्ट' इतिपदेन सभापतिपदार्थोपलब्धिः ? किं त्वष्टृपदं दुःखच्छेतृषु क्वचिदपि प्रयुक्तमार्षग्रन्थेषु ? पूर्वमीमांसायां तु लोकवेदाधिकरणे स्पष्टमिदं निर्णीतं यद् य एव लौकिकाः शब्दास्तदर्थाश्च त एव वेदेष्वपि ग्राह्या इति । अन्यथा शक्तिग्रहोऽपि पृथगपेक्षितः स्यात् । दिव्याः प्रजाः का भवन्ति ? त्वद्प्रीत्या देवोऽपि न मनुष्यातिरिक्तः सम्भवति, विदुषां मनुष्याणामेव त्वया देवत्वोपगमात् । तत्प्रजासु दिव्यत्वमपि दुर्निरूपमेव। विशां राज्ञां सम्बन्धो भवति विद्वांसस्तु प्रजाजना अपि भवन्त्येव ।' शरणागतपालकतुल्यस्तद्भिन्न एव भवति । तथात्वे च स शरणागतपालको न भवतीत्येवायातम् । मूलमन्त्रे कश्चिदपि यथातथाशब्दो न दृश्यते । तस्माद्यथा दिव्याः प्रजा उशिजः प्राप्नुवन्ति, तथैव त्वामपि प्राप्नुवन्तु; यथा त्वदाश्रयेण धनाढ्या भूत्वा प्रजाः सुखिन्यो भवन्ति, तथा त्वमपि प्रजाजनैः सत्कृतो भूत्वा; यथा त्वं प्रजा भुङ्क्ते, तथा त्वदीयानि रत्नानि प्रजाः स्वदन्तु' इत्यादिकमपि निर्मूलमेव ।

शतपथे तु– 'अथ तृणमादायोपाकरोति– द्वितीयवान्निरुणधा इति द्वितीयवान् हि वीर्यवान् भवति' (श.३।७।३।८) । 'स तृणमादत्ते उपावीरसीत्युप हि द्वितीयोऽवति तस्मादाहोपावीरसीत्युप देवान् दैवीर्विशः प्रागुरिति दैव्यो वा एता विशो यत्पशवोऽस्थिषत देवेभ्य इत्येवैतदाह यदाहोप देवान् दैवीर्विशः प्रागुरिति' (श.३।७।३।९) । क्रममुक्त्वा सार्थवादमुपाकरणं विधत्ते–स तृणमुपादत्त इति । तृणादानस्य प्रयोजनमाह– द्वितीयवान् भवतीति । निरुणधै पशोर्निरोधं करवाणीति । तावता किमायातमित्यत आह– द्वितीयवान् हि वीर्यवान् भवतीति । असहायस्य व्यापाराक्षमत्वं लोकसिद्धम् । स तृणमादत्त इति तदङ्गभूतं सव्याख्यानं मन्त्रेणाह श्रुतिः–उपावीरसीति । समीपे स्थित्वा रक्षकोऽसि द्वितीय एकः कार्यकरोऽसीति । 'अवितॄस्तृ' (उ.३।४३८) इतीप्रत्ययः । दैवीर्विशः पशुलक्षणा देवसम्बन्धिन्यः प्रजा देवान् उपप्रागुः प्राप्ता देवतार्थमुपस्थिताः । 'उशिजो वह्नितमानिति । विद्वाꣳसो हि देवास्तस्मादाहोशिजो वह्नितमानिति' (श.३।७।३।१०) । उशिजो मेधाविनामैतत् ।

की रक्षा करते हैं । आप ही सखा हैं । दिव्य प्रजाएँ मेधावी अथवा हविष्कामी अग्नीषोम आदि देवताओं का आश्रय ग्रहण करती हैं । हे सर्वप्रपञ्च के शिल्पी त्वष्टा, आप अपने भक्तों के लिये वसुस्वरूप धन को नियुक्त करें । हे उपासकों, तुम्हारे इष्टदेव तुम लोगों के द्वारा प्रदत्त हविर्द्रव्यों को तुम्हारे प्रति अनुग्रह के लिये आस्वादित करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित संस्कृत एवं हिन्दी अर्थ तथा भावार्थ तीनों ही सर्वथा स्वकल्पित होने के कारण, श्रुति-सूत्रों से विरुद्ध होने के कारण, मन्त्र से विरोध के कारण तथा परस्पर भी असम्बद्ध होने के कारण अग्राह्य है । 'देव त्वष्टः' इस पद से 'सभापति' यह अर्थ कैसे प्राप्त होता है । प्राचीन ग्रन्थों में क्या कहीं भी 'त्वष्टा' पद दुःखविनाशक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ?

'वह्नितमान् वोढृतमान् । 'देव त्वष्टर्वसु रमेति । त्वष्टा वै पशूनामीष्टे पशवो वसु तानेतद् देवा अतिष्ठमानांस्त्वष्टारमब्रुवन्नुपनिमदेति यदाह देव त्वष्टर्वसु रमेति' (श.३।७।३।११) । मन्त्रं व्याचष्टे – उप हि द्वितीय इत्यादिना । लोक एकः कर्म कर्तुमशक्त इति द्वितीयः साहाय्यकरणेन तमवतीति प्रसिद्धम् । यथा विशः स्वामिनमुपकुर्वन्ति, एवं पशवो हविषा देवान् पुष्णन्तीति तेषां प्रजारूपत्वोपचारः । अस्थिषत देवेभ्य इतीति, तेषामर्थायात्मानं प्रकाशितवन्त इत्यर्थः । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (पा.सू.१।३।२३) इत्यात्मनेपदम् । उशिक्शब्दार्थमाह – विद्वांसो हि देवा इति । त्वष्टुः प्रार्थनायाः कारणमाह – त्वष्टा वै पशूनामीष्ट इति । अतिष्ठमानान् पशून् प्रति त्वष्टारं देवा उपनिमद इति यदब्रुवन् एतदेवाह – उपनिमद अस्मत्समीपे नितरां मादयेति तदर्थः । अथवा यदध्वर्युणा देव त्वष्टुरित्यभिधानम्, तत् पुरा यद् देवैरुक्तलक्षणं त्वष्टृप्रार्थनमुक्तं तत्स्थानीयम् । हव्या ते स्वदन्ताम् । यद्यप्युपाकरणकाले हविषामनिष्पत्तेः स्वदनं नोपपद्यते, तथापि पलायनमकृत्वा यदावृता अभवन् तदेव हविर्भविष्यतीत्यर्थः । त्वष्टर्देव पशुस्वामिन् वसु वस्वाख्यं धनं रम रमय, नियोजयेत्यर्थः । 'हव्या ते स्वदन्तामिति (श.३।७।३।१२) । यदा वा एव एतस्मा अध्रियन्त यद्धविरभविष्यंस्तस्मादाह हव्या ते स्वदन्तामिति । यदा एते पशव एतस्मै देवाय अध्रियन्त तदा यदेते हविर्भूता भविष्यन्ति तदाह पशोर्हव्या हवींषि तदङ्गानि हृदयादीनि स्वदन्ताम् । एतद्ब्राह्मणवचनैः सायणादिसम्मतमेव व्याख्यानं समर्थ्यते । दैवीर्विश इत्यस्य स्पष्टमेव पशवो देवसम्बन्धिन्यो विश उक्ताः । त्वष्टा देवविशेषः । स खलु विशेषतः पशूनामीष्ट इति ब्राह्मणवचनसिद्धम् । तस्माद् दुःखच्छित्त्वेन सभाध्यक्ष एव त्वष्टेत्यपास्तमेव ॥७॥

रेव॑ती॒ रम॑ध्वं॒ बृह॑स्पते धा॒रया॒ वसू॑नि । ऋ॒तस्य॑ त्वा देवहवि॒ः पाशे॑न॒ प्रति॑मुञ्चामि॒ धर्षा॒ मानु॑षः ॥८॥

रेवती लिङ्गव्यत्ययेन हे रेवन्तः, क्षीरादिलक्षणधनवन्तः पशवः, रमध्वं यूयं क्रीडध्वम्, यजमानगृह इति शेषः । हे बृहस्पते, बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पते तदधिष्ठातृदैवत ब्रह्मन्, वसूनि पशुलक्षणानि धनानि धारय निश्चलीकुरु । 'धारया' इति 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा.सू.६।३।१३६) इति दीर्घः । 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः पशवो वसु' (श.३।७।३।१३) इति श्रुतिः। 'द्विगुणरशनया द्विव्यामया कौश्या पाशं कृत्वा अन्तरा शृङ्गमभिदक्षिणं बध्नाति ऋतस्य त्वेति' (का.श्रौ.६।३।२४) । अवयवद्वयोपेतया व्यामद्वयपरिमितया कुशदर्भनिर्मितरशनया दक्षिणं पादं बध्नीयात् । शृङ्गद्वयमध्ये ता रशनामानीय बन्धकारणरशनाग्रवर्तिनं नागपाशं कृत्वा तेनाभिदक्षिणं

पूर्वमीमांसा के लोकवेदाधिकरण में यह स्पष्ट निर्णय है कि जो लौकिक शब्द एवं उनके अर्थ हैं, वेद में भी वही ग्रहण किये जाते हैं । दिव्य प्रजाएँ क्या हैं ? उनके मत में मनुष्य से अतिरिक्त देवता भी नहीं होते । अतः प्रजाओं में दिव्यत्व भी निरूपित करना कठिन है । मूल मन्त्र में 'यथा, तथा' शब्दों का कहीं भी प्रयोग न होने के कारण इस प्रकार व्याख्या करना अप्रामाणिक है ।।७।।

मन्त्रार्थ– दूध आदि धन वाली गायों के समान, शम-दम आदि धन से युक्त इन्द्रियरूप पशु आत्मस्वरूप यजमान के शरीर में क्रीड़ा करें । हे परमात्मन्, प्राण और इन्द्रियों को योगलक्ष्मी के द्वारा पुष्ट करो । हे भूतात्मन् , योगयज्ञ के पाश से मैं तुमको बाँधता हूँ और कर्मबन्धन के पाश से योगयज्ञ के द्वारा मुक्त करता हूँ । विष्णुरूप प्राणाभिमानी देवता तुमको शान्ति प्रदान करें ।।८।।

भाष्यसार – 'रेवती रमध्वम्' इत्यादि कण्डिका के मन्त्रों से कुशा की रस्सी के द्वारा पशु के दाहिने पैर को बांधा जाता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।२४) में प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

दक्षिणशृङ्गमभिमुखं पाशं प्रतिमुच्य बध्नीयादिति तदर्थः । हे देवहविः, देवानां हवीरूपपशो ! ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य अवश्यंभाविफलोपेतत्वाद् यज्ञस्य सत्यत्वात् तादृशस्य यज्ञस्य सिद्ध्यर्थं त्वां पाशेन प्रतिमुञ्चामि बध्नामि, प्रतिपूर्वस्य मुञ्चतेर्बध्नार्थत्वात् । धर्षा मानुषो धर्षेति विकरणव्यत्ययश्छान्दसः । प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषः । धृष्णोतु शक्नोतु शमयितुं मानुषः । यद्वा यस्मादृतस्य यज्ञस्य त्वां हे देवहविः, पाशेन प्रतिमुञ्चामि तस्माद् धृष्णोतु त्वां मानुषः । पाशेन बद्धत्वादेव धर्षा । 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा.सू.६।३।१३५) इति धर्षेत्यत्र दीर्घः ।

अध्यात्मपक्षे तु – रेवन्तो दैवीसम्पत्तिमन्तः साधका ब्रह्मात्मतत्त्वे रमध्वं क्रीडध्वम् । हे बृहस्पते, बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पते पालक परमेश्वर, साधकानां वसूनि धनानि शमदमादीनि दिव्यसम्पल्लक्षणानि धनानि धारया धारय निश्चलानि कुरु । हे देवहविः, देवस्य परमात्मनो हविरन्नं भोग्यमिति देवहविः । उपासको हि भगवन्तं भोक्तारं मत्वा स्वात्मानं हविष्ट्वेन भोग्यत्वेन तदुपकरणत्वेनोपस्थापयति, यथा शेषः स्वात्मानमेव भगवतः शय्यासिंहासनछत्रपादुकादिरूपेणोपकल्पयतिः, तथा भक्ता अपि स्वात्मानं भगवद्भोग्यत्वेनोपकल्पयन्ति । ऋतस्य सत्यस्य पाशेन त्वा प्रतिबध्नामि । एवं वेदेन गुरुणा वा ऋतस्य सत्यस्य पाशेन बद्धो नियन्त्रितः सन् मानुषो धर्षा भगवन्तं वशीकर्तुं प्रगल्भो भवतीत्यर्थः । अन्यो न कोऽपि तं वशीकर्तुं शक्नोति ।

दयानन्दस्तु – 'रायो धनानि यासु विद्यन्ते ताः प्रजा रमध्वं क्रीडध्वम्, बृहत्या वेदवाचः पते परमविद्वन् धारय । ऋतस्य सत्यन्यायाख्यस्य यज्ञस्य त्वा त्वां देवहविः, यथा देवानां हविरादातुं चरित्रमस्ति, तथा पाशेन बन्धनेन प्रतिमुञ्चामि । धर्षा धृष्णुहि । मानुषः सर्वशास्त्रमननशीलः' इति । हिन्दीव्याख्यानरीत्या तु – 'हे प्रजाजनाः, यूयं विद्यादिशिक्षासु रमध्वम्, हे विद्वन् ! ऋतस्य सत्यन्यायव्यवहारप्राप्तस्य धनस्य अस्मदर्थं धारय स्वीकुरु' इति । उत्तरत्र – 'अध्यापकः शिष्यायोपदिशति – हे राजन्, प्रजापुरुषा वा अहं मानुषः सर्वशास्त्रविचारकः पाशेन अविद्याबन्धनाद् यथा देवानां विदुषां हविर्ग्राह्यचरित्रं तुभ्यं प्राप्नोतु, तथा त्वां प्रतिमुञ्चामि मोचयामि त्वं विद्यायां शिक्षायां धर्ष प्रगल्भो भव' इति, तदेतत् सर्वमनाकलितपौर्वापर्यस्य तस्य धार्ष्ट्यमेव, निर्मूलत्वात् । सिद्धान्ते तु 'रेवन्तो हि पशवः' (श.३।७।३।१३) इति श्रुतिबलेन रेवन्त इत्यस्य पशव एवार्थः । 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः, पशवो वसुः' (श.३।७।३।१३) इति श्रुत्यनुसारेण शब्दार्था निश्चिताः । सूत्राणि च तत्रानुगुणानि । विद्यायां रमध्वमित्याक्षेपोऽपि निराधारः । देवानां हविरादातुं चरित्रमित्यपि निर्मूलमेव । पाशेनेत्यस्याविद्याबन्धनादिति च कथमर्थः ? तृतीयायाः पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणामे किं मूलम् ? पाशेन प्रतिबध्नामीति यथाश्रुतार्थे किं बाधकम् ? णिजर्थः कुतो लब्धः ? अध्यापकस्य शिष्यायोपदेश इत्यत्रापि किं मूलम् ? सिद्धान्तव्याख्याने तु श्रुतयः सूत्राणि च मूलमिति स्फुटमेव ।

शतपथे हि – 'रेवती रमध्वमिति । रेवन्तो हि पशवस्तस्मादाह रेवती रमध्वमिति बृहस्पते धारया वसूनीति ब्रह्म वै बृहस्पतिः पशवो वसु तानेतद् देवा अतिष्ठमानान् ब्रह्मणैव परस्तात्....परिदधाति तन्नातियन्ति तस्मादाह

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे दैवी सम्पत्ति से युक्त साधकगण, आप लोग ब्रह्मात्मतत्त्व में रमण कीजिये । हे वेदवाणी के पालक परमेश्वर, साधकों के शम, दम आदि दिव्यलक्षणसम्पन्न धनों को निश्चल करें । हे परमात्मा के भोग्य उपासकों, सत्य के पाश से तुमको प्रतिबद्ध करता हूँ । इस प्रकार वेद से अथवा गुरु से सत्य के पाश द्वारा नियन्त्रित होकर भगवान् को वश में करने के लिये समर्थ होता है । दूसरा कोई उसको वश में नहीं कर सकता ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ पौर्वापर्य की संगति से रहित है । 'विद्या में रमण करें' इसमें अध्याहार करना भी निर्मूल

बृहस्पते धारया वसूनीति पाशं कृत्वा प्रतिमुञ्चत्यथातो नियोजनस्यैव' (श.३।७।३।१३)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्। अतिष्ठमानान् पशून् ब्रह्मणैव परस्तात् परे देशे पर्यदधुः परितोऽधारयन्। तत् तेन अत्यापनमतिक्रमणं न कृतवन्तः। एनान् एतद् ब्रह्मणैव परिदधाति तन्नातियन्ति। अथातो नियोजनस्यैव, विधानमभिधीयत इति शेषः। 'पाशं कृत्वा प्रतिमुञ्चति। ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामीति वरुण्या वा एषा यद्रज्जुस्तदेनमेतदृतस्यैव पाशेन प्रतिमुञ्चति तथो हैनमेषा वरुण्या रज्जुर्न हिनस्ति' (श.३।७।४।१)। समन्त्रकं सम्बन्धनमाह– पाशं कृत्वा प्रतिमुञ्चतीति। पाशाग्रग्रन्थ्याः सुषिरं कृत्वा तस्मिन्नितरमग्रं बहिः प्रसार्य बहिर्गतं पाशमाकृष्य यथा शिरो न गलति तथा कृत्वा बध्नीयादिति सायणः। ऋतस्य त्वेति। हे देवहविः पशो, त्वाम् ऋतस्य पाशेन प्रतिमुञ्चामि बध्नामि। कृतव्याख्यान एव मन्त्रः। बन्धनकर्मणो वरुणाभिमानिकत्वाद् वरुण्या वा एषा यद्रज्जुः, बन्धनसाधनभूताया वरुणसम्बन्धिरज्जोस्तत्त्वम्, तदपि परिहाय मन्त्रेण बन्धे सति ऋतपाशेन बन्धो भवति।'धर्षा मानुष इति। न वा एतमग्रे मनुष्योऽधृष्णोत् स यदैवर्तस्य पाशेनैतद्देवहविः प्रतिमुञ्चत्यथैनं मनुष्यो धृष्णोति तस्मादाह धर्षा मानुष इति' (श.३।७।४।२)। मन्त्रभागस्य तात्पर्यमाह– न वा एतमग्रे मनुष्योऽधृष्णादिति। यस्मात् पशुधर्षणसामर्थ्यं मनुष्यस्य देवकृतपाशविमोकायत्तम्, अतो मन्त्रो धर्षा मानुष इति ब्रूते ॥८॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॒ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। अ॒ग्नीषोमा॑भ्यां॒ जुष्टं॑ नियु॑नज्मि। अ॒द्भ्यस्त्वौष॑धी॒भ्योऽनु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यता॒मनु॑ पि॒ताऽनु॒ भ्राता॒ सग॑र्भ्योऽनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः। अ॒ग्नीषोमा॑भ्यां॒ त्वा॒ जुष्टं॒ प्रोक्षा॑मि ॥९॥

'अथ नियुनक्ति....स प्रोक्षति.... अनु त्वा माता' (श.३।७।४।३-५)। 'देवस्य त्वेति यूपे' (का.श्रौ.६।३।२५)। रज्जुबद्धं पशुं यूपे बध्नीयादित्यर्थः। 'अद्भ्यस्त्वेति पशुं प्रोक्षणीभिः प्रोक्षति' (का.श्रौ.६।३।२७)। प्रोक्षणीशब्दो यौगिकोऽपि संस्कृतप्रोक्षणीविषयः, प्रोक्षणोपादानसामर्थ्यात्। पूर्वोक्तश्रुतिप्रामाण्येन मन्त्रस्यायमर्थः– हे पशो, देवस्य सवितुः प्रसवे प्रेरणे त्वा त्वामश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् अग्नीषोमाभ्यां सम्मिलितदेवताभ्यां जुष्टमभिरुचितं त्वां पशुं नियुनज्मि बध्नामि। हे पशो, त्वामद्भिरोषधीभिश्च प्रोक्षामि मेध्यं करोमि। दर्भैरपामुत्पूतत्वादस्त्योषधीनामपि प्रोक्षणसाधनत्वम्। स्वमातृस्वीकृताभ्यां तृणोदकाभ्यां पशोरुत्पन्नत्वात् तेनोभयेन युक्तमिति। 'अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः प्रोक्षामीत्याहाद्भ्यो ह्येष ओषधीभ्यः सम्भवति यत्पशुरिति' इति तित्तिरिश्रुतेः।

है। 'पाशेन' इसका अर्थ 'अविद्या के बन्धन से' इस प्रकार कैसे हो सकता है ? 'यह अध्यापक का शिष्य के लिये उपदेश है' इस प्रकार कहने में क्या प्रमाण है ? हमारे सिद्धान्त पक्ष के व्याख्यान में तो श्रुतिवाक्य तथा सूत्र प्रमाण हैं, यह स्पष्ट ही है ॥८॥

मन्त्रार्थ – हे भूतात्मन्, आत्मविचार की प्रेरणा देनेवाले गुरु की प्रेरणा से मैं प्रकृति-पुरुष के प्रिय तुमको मन- (हृदय) की ग्रहण करने की शक्ति रूप बाहुओं से और मानस सूर्य के शक्तिरूप हाथों से निश्चल करता हूँ। हे भूतात्मन्, प्रकृति-पुरुष के प्रिय तुमको ज्योतिरस रूप जल और जन्म रूप रोग का नाश करने वाली ज्ञान-स्वरूप औषधियों से प्रोक्षित करता हूँ। प्रोक्षित हुए तुमको प्रकृति और पुरुष आज्ञा दें, सहोदर भ्राता के समान जीवात्मा अनुमति दें, समान यूथ वाले मित्र भी आज्ञा दें ॥९॥

भाष्यसार – 'देवस्य त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों के द्वारा पशु का यूप में नियोजन तथा प्रोक्षणी जलों से पशु का प्रोक्षण आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।२५-२७) में उल्लिखित है।

हे पशो, एवं प्रोक्ष्यमाणं त्वां माता भूमिरनुमन्यताम्, तथा पिता द्यौरनुमन्यताम् । एवमुत्तरत्राप्यनुमन्यतामिति प्रत्येकं सम्बद्ध्यते । भ्राता समानजन्मा सगर्भ्यः समाने गर्भे उदरे भवः सगर्भ्यः सोदरः, सहैव ख्यायत इति सखा सुहृत्, समानयूथे भवः सयूथ्यः, अग्नीषोमाभ्यामेवं त्वां जुष्टमभिरुचितं प्रोक्षामि, 'इदꣳहि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्ते (श.३।७।४।४) इति श्रुतेः । 'तद्यथैवादौ देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशत्येवमेवैतद्देवताभ्योऽप्यादिशति....प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति' (श.३।७।४।३) । यथैवामुष्मिन् दर्शपूर्णमासयागे हविर्निवापे देवतादेशनम्, तथैवात्राप्यग्नीषोमाभ्यां देवताभ्यामेव हविरादिशति । प्रोक्षणस्य प्रयोजनमप्याह – मेध्यमेवैतद्धविः करोतीति । 'अद्भ्यस्त्वौषधीभ्य इति तद्यत एव सम्भवति, तत एवैतन्मेध्यं करोतीदꣳहि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्ते.....' (श.३।७।४।४) । अद्भ्य ओषधीभ्यश्च संभूतं त्वां प्रोक्षामि । यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्ते । ओषधीनां भक्षणादपां पानाच्च रसो जायते, तस्माद्रेतो जायते, तदैव पित्रोः शुक्रशोणिताभ्यां पशवो जायन्ते । तस्मादोषधीभ्योऽद्भ्यश्च सम्भूतमद्भिरोषधीभिश्च प्रोक्षति । संज्ञपनार्थं प्रोक्ष्यमाणं त्वां मात्रादिरनुमन्यतामिति । 'तद्यत एव जायते तत एवैतन्मेध्यं करोति....स यत्ते जन्म तेन त्वानुमतमारभे' (श.३।७।४।५) । मन्त्रस्य परमं प्रयोजनमाह – तद् यत इति । आपश्चौषधयश्चोपादानकारणम्, मातापितरावाश्रयत्वेन निमित्तकारणत्वम् । अतस्तत्सकाशाद् मेध्यं करोति । सगर्भ्यादीनामपि जन्मसम्बन्धसम्भवात् तेन सम्बन्धिना सगर्भ्यादिना अनुमन्यत इत्युक्तं भवति ॥९॥

अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविः ।
सं ते प्राणो वातेन गच्छताꣳ समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा ॥१०॥

'अथोपगृह्णाति । अपां पेरुरसीति' (श.३।७।४।६), 'उ प्रोक्षत्यापो देवीः' (श.३।७।४।६), 'अपां पेरुरित्यास्य उपगृह्णाति' (का.श्रौ.६।३।२८) । पशोरास्ये मुखे प्रोक्षणीरपः प्रक्षिपेत्, अर्थात् तृडभावेऽपि पाययेत् । मुखस्याधस्तात् संलग्ना एव प्रोक्षणीर्धारयेत् । 'आपो देवीरित्यधस्तादुपोक्षति' (२९) । पशोरुदरप्रदेशे प्रोक्षेत । हे पशो, त्वमपां पेरुरसि उदकस्य पानशीलोऽसि । हे पशो, त्वाम् आपो देवीर् अब्रूपा देव्यः स्वदन्तु आस्वादयन्तु । स्वात्तं स्वकीयतया प्राप्तं चिद् अतिस्वादु सद् आपो देव्यः स्वदन्तु स्वादयन्तु । देवहविर्देवानामेव योग्यं हविर्भूयात् ।

शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे पशु, सविता देवता की प्रेरणा में, अश्विनीकुमार देवताओं की भुजाओं से, पूषा देवता के हाथों से, अग्नीषोम देवताओं के लिये अत्यन्त प्रिय तुमको नियुक्त करता हूँ । हे पशु, तुम्हें जल से तथा ओषधियों से प्रोक्षित करता हूँ । हे पशु, इस प्रकार प्रोक्षित किये जाते हुए तुमको माता भूमि तथा पिता द्युलोक अनुमत करें । इसी प्रकार भ्राता, सगर्भ्य, सखा तथा सयूथ्य अनुमत करें । अग्नीषोम देवताओं के लिये अभिरुचित तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ ।

आध्यात्मिक अर्थ अग्रिम मन्त्र में संयुक्त है ॥९॥

मन्त्रार्थ – हे भूतात्मन्, तुम ब्रह्म-ज्योति के रसरूप अमृत का पान करने वाले हो, ब्रह्मज्योति के रसरूप जल को स्वीकार करो । हे भूतात्मन्, तुम्हारा प्राण समष्टि प्राण से संयुक्त हो, तुम्हारे अंग योगयज्ञ की साधना में लगें, आत्मारूप यजमान योगयज्ञ के फलरूप आशीर्वाद से युक्त हो ॥१०॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।२८-२९,६।४।२) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'अपां पेरुः' इस कण्डिका के मन्त्र पशु को जल पिलाना, प्रोक्षण तथा जल का लेपन इत्यादि कार्यों में विनियुक्त हैं । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक विनियोग

तथा स पशुः स्वात्तं सुष्ठु स्वीकृतं भवतु । पशुर्विशेष्यते – देवहविरिति । देवतयोरग्नीषोमयोर्हविर्भूतं स पशुः स्वात्तं भवतु । यद्वा – हे आ अद्भ्य एतन्मन्त्रत्रयेण प्रोक्षणादिकमवश्यमनुष्ठेयमिति तित्तिरिः – 'उपरिष्टात् प्रोक्षत्युपरिष्टादेवैनं मेध्यं करोति पावयत्युत्तर एवैनं मेध्यं करोत्यधस्तादुपोक्षति सर्वत एवैनं मेध्यं करोति' । शतपथेऽपि – 'अपां पेरुरसीति तदेनमन्तरतो मेध्यं करोत्यधस्तादुपोक्षत्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित् सद्देवहविरिति तदेनꣳ सर्वतो मेध्यं करोति' (श.३।७।४।६) । 'स उत्तरमाघारमाघार्यासꣳ स्पर्शयन् स्रुचो पर्येत्य जुह्वा पशुꣳ समनक्ति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघारः ....। 'स ललाटे समनक्ति । सन्ते प्राणो वातेन गच्छतामिति समङ्गानि यजत्रैरित्यꣳसयोः सं यज्ञपतिराशिषेति श्रोण्योः स यस्मै कामाय पशुमालभन्ते तदाप्नुहीति' (श.३।७।४।८) । 'उत्तराघारमाघार्य पशुं पूर्वꣳ समनक्ति ललाटाꣳसश्रोणिषु सन्त इति प्रतिमन्त्रम्' (का.श्रौ.६।४।२) ।उत्तराघारहोमानन्तरं ध्रुवासमञ्जनात् प्राग् ललाटे दक्षिणोत्तरस्कन्धयोर्दक्षिणोत्तरकट्योश्च जुहूस्थाज्येन जुह्वैव समनक्ति । अंसयोः श्रोण्योश्च मन्त्रावृत्तिः । पशुदैवतानि यजूंषि । हे पशो, ते तव प्राणो वातेन वायुना सङ्गच्छतामिति मन्त्रेण ललाटे । अंसाद्यङ्गानि यजत्रैर्यागैः सङ्गच्छन्तामित्यंसयोः । सं यजमान आशिषेत्ययं यजमानो दीर्घेणायुषा संगच्छताम् । शतपथे स्पष्टमुक्तम् –प्राणो वातमभिपद्यते....यत्तेऽङ्गैर्यजान्ता....सं यज्ञपतिराशिषेति यजमानाय वा एतेनाशिषमाशासते' (श.३।७।४।९) ।

अध्यात्मपक्षे तु – हे साधक, देवस्य सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् अग्नीषोमाभ्यां दान्तिशान्तिभ्यां तपःक्षान्तिभ्यां जुष्टं सेवितं त्वां नियुजज्मि परमेश्वरोपासनायां प्रवर्तयामि, अद्भ्य ओषधीभ्यश्च त्वा प्रोक्षामि मेध्यं करोमि । तदर्थं ते तव मातानुमन्यतां पितानुमन्यताम्, मातृमान् पितृमान् 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'(छा.उ ६।१४।२) इति श्रुतेः । तदनु भ्राता सगर्भ्यः सखा सयूथ्योऽनुमन्यताम्, सर्वेषां तत्रानुकूल्यस्यापेक्षितत्वात् । तैस्तैरनुमतं त्वां तपःक्षान्तिभ्यां जुष्टं प्रोक्षामि भगवदुपासनाय प्रोक्षणेन मेध्यं करोमि ।

हे साधक, त्वमपां लोकानां पेरुः पानशीलोऽसि । 'मिपीभ्यां रुः' (उ.४।१०१) इति रुः । ज्ञानी पुरुषः प्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरब्रह्मसाक्षात्कारेण सर्वांल्लोकान् स्वात्मनि प्रविलापयति, 'दृश्यं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं पश्यन्नात्मनि मायया' इत्याद्यजगद्गुरुशङ्कराचार्योक्तेः । हे साधक, आपो देव्यः स्वदन्तु । अब्रूपा देव्यस्त्वां स्वदन्तु । ब्रह्मात्मरूपं त्वामास्वादयन्तु । त्वत्सत्तया सत्तावत्यस्त्वत्स्फूर्त्या स्फूर्तिमत्यस्त्वद्रसेन रसवत्यश्च भवन्तु । यद्वा आपो देवीर्दिव्या आपो गङ्गादिगतास्त्वा त्वां स्वदन्तु उक्षयन्तु समुक्षणेन त्वां पवित्रयन्तु । चिद् यस्मात् (चिदित्यव्ययं

के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में दो कण्डिकाओं का अर्थ इस प्रकार है – हे साधक, सविता देवता की आज्ञा में, अश्विनी कुमार देवों की भुजाओं से, पूषा देव के हाथों से, दान्ति एवं शान्ति के लिये अथवा तप एवं क्षान्ति के लिये सेवित तुमको नियुक्त करता हूँ, परमेश्वर की उपासना में प्रवर्तित करता हूँ । जल तथा औषधियों से तुमको प्रोक्षित करता हूँ, पवित्र करता हूँ । एतदर्थ तुमको मातापिता अनुमत करें तथा भ्राता सगर्भ्य, सखा सयूथ्य अनुमत करें । उनके द्वारा अनुज्ञात तुमको तप एवं क्षान्ति के लिये सेवित, भगवान् की उपासना के लिये प्रोक्षण के द्वारा पवित्र करता हूँ ।

हे साधक, तुम लोकों का पान करने वाले, अर्थात् स्वात्मा में विलीन करने वाले हो । जलरूपिणी देवियां तुम्हारा ब्रह्मात्मरूप से आस्वादन करें, अथवा गङ्गा आदि की दिव्य जलधाराएं प्रोक्षण के द्वारा तुमको पवित्र करें, क्योंकि उन तीर्थगत पवित्र जल से

हेत्वर्थे) ताभिस्तीर्थगताभिः पवित्राद्भिः स्वात्तं स्वादितं सत् शोभनं देवस्य भगवतो योग्यं हविर्भोग्यं भवति । उपासको भगवतो भोग्यो भवति, भगवांश्च भक्तभोग्यो भवति । यमुपासकं भगवान् स्वात्मतादात्म्यमापादयति स एव भगवद्भोग्यो भवति । हे साधक, भगवद्भावापत्तौ ते प्राणो वातेन सङ्गच्छतां वाततादात्म्यापन्नो भवतु । ते तव अङ्गानि चक्षुःश्रोत्रादीनि यजत्रा यजनात् त्रायन्त इति यजत्रा देवास्तैः सङ्गच्छन्तां तत्तद्देवतादात्म्यापन्नानि भवन्तु । इज्यन्ते वा यजत्रा देवा यज्ञपतिर्यजमान उपासक आशिषा स्वाभीष्टेन सङ्गच्छतां संयुज्यतामिति मन्त्रद्वयस्याध्यात्मिकोऽर्थः ।

दयानन्दस्तु – देवस्य त्वेत्यत्राह – 'हे शिष्य, अहं सवितुर्देवस्य प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वाददे । अग्नीषोमाभ्यां तयोस्तेजःशान्तिगुणाभ्यां जुष्टं प्रीतं त्वां या ब्रह्मचर्यधर्मानुकूला आप ओषधयश्च सन्ति, ताभ्योऽद्भ्य ओषधीभ्यश्च त्वा मत्समीपे स्थातुं माताऽनुमन्यतां पिता भ्राता सगर्भ्यः सोदरः सखा सुहृत् सयूथ्यः सैन्यश्चानुमन्यताम् । अग्नीषोमाभ्यां पूर्वोक्ताभ्यां जुष्टं प्रीतम् उक्षामि सिञ्चामि' इति, तत्तु शतपथविरुद्धमेव, तादृशेऽर्थे मन्त्रविनियोगोऽपि प्रमाणशून्यः, मुख्यार्थत्यागे गौणार्थग्रहणे प्रमाणाभावश्च ।

अपां पेरुरिति मन्त्रे स आह – 'हे शिष्य, त्वमपां जलानां पेरू रक्षकोऽसि । आपो देवीः शुद्धा दिव्यसुखप्रदाः स्वेन समन्ताद् गृहीतं चिद् अपि स्वधर्मानुष्ठाने स्वीकृतं सद् देवहविरिव स्वदन्तु । मदाशिषा तवाङ्गानि यजत्रैः सह सङ्गच्छन्ताम् । प्राणो वातेन सङ्गच्छताम् । त्वं यज्ञपतिर्भव' इति, तदपि सर्वं तुच्छम्, निर्मूलत्वादध्याहारबाहुल्याच्च ॥१०॥

घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथाꣳ रेवति यजमाने प्रियं धा आविश। उरोरन्तरिक्षात् सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव। वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥११॥

स्वादित सुन्दर होकर उपासक भगवान् के योग्य भोग्य होता है, भगवान् भी भक्त के भोग्य हो जाते हैं । हे साधक, भगवद्भाव की प्राप्ति में तुम्हारा प्राण वायु से तादात्म्य प्राप्त करे । तुम्हारे नेत्र, कर्ण आदि अंग देवताओं से तादात्म्य प्राप्त करें । यज्ञपति उपासक भी आशीर्वाद के द्वारा अपने अभीष्ट से संयुक्त हो ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित 'देवस्य त्वा' इस मन्त्र का अर्थ शतपथश्रुति से विरुद्ध है । उस प्रकार के अर्थ में मुख्यार्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है । 'अपां पेरुः' इस मन्त्र में स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ मूलरहित तथा अध्याहारों की अधिकता के कारण अग्राह्य है ॥१०॥

मन्त्रार्थ – हे बुद्धि और मन, तुम दोनों अग्नि की समीपता से घृत के समान विषयों की समीपता से पिघलने वाली इन्द्रियों की सकल शक्तियों से लिप्त होकर भूतात्मा के अंग, प्राण आदि की रक्षा करो । हे महावाणी, आत्मरूप यजमान के मोक्ष को धारण करो । प्रकाशवान् प्राण के साथ प्रीतियुक्त होकर गुरु के हृदयाकाश से ज्ञान-दान के द्वारा यजमान में प्रवेश कर इस भूतात्मा के हविरूप शरीर की आहुति दो । इस भूतात्मा के शरीर से ब्रह्माकार में प्रकट होओ । हे विस्तार वाली सुषुम्ना, अति विस्तार वाले विष्णु परमात्मा में योगयज्ञ के कर्ता को स्थापित कर कर्मेन्द्रियों के लयस्थान में देवताओं के निमित्त उनकी आहुति दो, ज्ञानेन्द्रियों के लयस्थान में देवताओं के निमित्त ज्ञानेन्द्रियों की आहुति दो ॥११॥

'ते वा एत एकादश प्रयाजा भवन्ति । दश वा इमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशो यस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिष्ठिता एतावान् वै पुरुषस्तदस्य सर्वमात्मानमाप्याययन्ति तस्मादेकादश प्रयाजा भवन्ति' (श.३।८।१।३) । सप्त शीर्षण्याः प्राणा द्वावपानौ (पायूपस्थौ) नाभिर्दशमी तेषामाधारो देह एकादशः । 'स आश्राव्याह । समिधः.... प्रेष्य प्रेष्येति चतुर्थे चतुर्थे प्रयाजे समानयमानो दशभिः प्रयाजैश्चरति दश प्रयाजानिष्ट्वाह शासमाहरेत्यसिं वै शास इत्याचक्षते' (श०३।८।१।४) । समिद्याग एव समिधः प्रेष्य, तथैव तनूनपात्प्रभृतीनां प्रेष्य.....जुहूगतेनाज्येन प्रयाजत्रयं कृत्वा पुनरुपभृति स्थितमाज्यमथ चतुर्थादिसप्तमान्त प्रयाजचतुष्टयाय समवनीय पुनरष्टमाद्येकादशान्तं प्रयाजचतुष्टयार्थमष्टममवनयेद् दशमप्रयाजानन्तरं शासमसिमाहरेति ब्रूयात् । शस्यते हिंस्यतेऽनेनेति शासोऽसिः, 'शसु हिंसायाम्', शासशब्दस्याप्रसिद्धार्थतामभिप्रेत्य व्याचष्टे– असिं वै शासमित्याचक्षत इति । 'अथ यूपशकलमादत्ते । नावग्रे जुह्वा अक्ता पशोर्ललाटमुपस्पृशति घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथामिति वज्रो वा यूपशकलो वज्रः शासो वज्र आज्यं तमेवैतत्कृत्स्नं वज्रᳬं सम्भृत्य तमस्याभिगोप्तारं करोति नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाᳬंसि हिनसन्निति पुनर्यूपशकलमवगूहत्येषा ते प्रज्ञाताश्रिरस्त्वित्याह शासं प्रयच्छन् सादयति स्रुचौ' (श. ३।८।१।५) । यूपशकलौ जुह्वा अग्रगतेनाज्येन समज्य ताभ्यामक्ताभ्यां पशोर्ललाटमुपस्पृशति ।

कात्यायनोऽपि – 'एकादश प्रयाजा अनुयाजाश्च' (का.श्रौ.६।४।७), 'दशेष्ट्वा प्रयाजानाह शासमाहरेति' (का.श्रौ.६।४।९) । शासहस्तं विशसितारं प्रत्यध्वर्युर्ब्रूयात् । 'स्वरुमादायाक्त्वोभौ जुह्वग्रे ताभ्यां पशोर्ललाटमुपस्पृशति घृतेनाक्ताविति' (का.श्रौ.६।४।१०) । विशसित्रा दत्तं शासमादाय यूपात् स्वरुं च स्वयमेवादाय उभौ असिस्वरू जुह्वा अग्रे प्रणालिकाया घृतेनाक्त्वा ताभ्यां स्वसिभ्यां पशोर्ललाटमालभेत । हे शास, हे यूपशकल, युवामुभौ घृतेनाक्तौ सन्तौ पशुमेनं त्रायेथां पालयेथां स्वर्गप्रापणेन दिव्यस्वर्गसुखादिप्रदानेन पालनं कुरुताम् । वज्रो वै यूपः शकलो वज्रः शासो वज्र आज्यं तमेवैतत्कृत्स्नं वज्रं सम्भृत्य तं वज्रसमूहमस्य पशोरभिगोप्तारं करोति तेनैनं पशुं नाष्ट्रा रक्षांसि न हिंसिष्यन्ति । पुनर्यूपशकलमवगूहति– हे शमितः ! एषा अष्टाश्रिस्ते प्रज्ञातास्तु । शासं प्रयच्छन् स्रुचावासादयति । 'स्वरुमवगुह्यासिं प्रयच्छन्नाहैषा ते प्रज्ञाताऽश्रिरस्त्विति' (का.श्रौ.६।४।११) स्वरुं यूपे यथास्थानेऽवगूह्य शमित्रेऽसिं प्रयच्छन् ब्रूयात्– एषा अश्रिधारा ते तव चिह्निता भवतु । असेर्धाराद्वयम् तत्रैका अक्ता, अपरा अनक्ता । त्वया अनक्तया धारया पशुविशसनं कर्तव्यम् । अक्तया तु शृतपशोरवदानं भविष्यति । 'सादयित्वा स्रुचौ चात्वालमुत्तरेण शामित्रायोल्लिखति' (का.श्रौ.६।४।१२) । शामित्राग्नेः स्थापनार्थमुल्लिखति । अत्रोल्लेखनोपलक्षिताः स्मार्ताः पञ्च भूसंस्काराः कर्तव्याः । शामित्रः पशुश्रपणोऽग्निरुच्यते । "अभिपर्यग्निकृते देशे उल्मुकं निदधाति स शामित्रः' (आप.श्रौ.७।१६।२ - ३) । स्रुचोः सादनानन्तरं पर्यग्नयेऽनुब्रूहीति पर्यग्निं करोति । आग्नीध्र उल्मुके पशोः परितोऽग्निं करोति' (श.३।८।१।६) । 'आहवनीयोल्मुकमादायाग्नीत् त्रिः समन्तं पर्येति पश्वाज्यशामित्रदेशयूपचात्वालाहवनीयान्' (का.श्रौ.६।५।२) । अग्नीत् त्रिः त्रिवारं सर्वतः प्रदक्षिणं पश्वाज्यशामित्रदेशयूपचात्वालाहवनीयान् पर्यग्निं करोति, 'आज्यपशुशामित्रान् वा' (का.श्रौ.६।५।३) ।

'अथोल्मुकमादायाग्नीत् पुरस्तात् प्रतिपद्यते । अग्निमेवैतत् पुरस्तात् करोत्यग्निः पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाᳬंस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानाष्ट्रेण पशुं नयन्ति तं वपाश्रपणीभ्यां प्रतिप्रस्थाताऽन्वारभते प्रतिप्रस्थातारमध्वर्युरध्वर्युं यजमानः' (श.३।८।१।९) । 'न वा एतं मृत्यवे नयन्ति यं यज्ञाय नयन्ति' (श.३।८।१।१०) । 'अथ स्तीर्णायै

भाष्यसार – 'घृतेनाक्तौ' इस कण्डिका के मन्त्रों से पशु के ललाट का स्पर्श, यजमान द्वारा मन्त्रवाचन तथा आहुतिप्रदान आदि

वेदेः । द्वे तृणे अध्वर्युरादत्ते स आश्राव्याहोपप्रेष्य होतर्हव्या देवेभ्य इत्येतदु वैश्वदेवं पशौ' (श.३।८।१।११)। अन्वारम्भसमये वेद्यास्तीर्णे बर्हिषि तृणद्वयमादायान्वारभते । स तृणं गृहीत्वा अध्वर्युराश्रावणमुक्त्वा प्रपद्य होतर्हव्या देवेभ्य इत्याह, होतुर्हव्यान्युद्दिश्य देवेभ्य उपप्रैष्य मैत्रावरुणप्रैषादनन्तरमध्वर्युः प्रैषं पठतीति तस्यार्थः । देवेभ्य इत्यभिधानादेव पशौ वैश्वदेवत्वापादनम् । 'अथ वाचयति । रेवति यजमान इति' (श.३।८।१।१२)। 'रेवति यजमान इति वाचयति' (का.श्रौ.६।५।१०) । अध्वर्युर्यजमानं वाचयति – हे रेवति रयिमति वाग्देवते, यजमानेऽस्मिन् प्रियमभिप्रेतमनार्तिलक्षणमभिमतं वा धा धेहि । आविश ज्ञानप्रदानेन यजमानं प्रविश । 'वाग्वै रेवती सा यद्वाग् बहु वदति तेन वाग्रेवती प्रियं धा आविशेत्यनार्तिमाविशेत्येवैतदाह' (श.३।८।१।१२) इति श्रुतेः । हे रेवति, वातेन वायुना देवेन सजूः समानप्रीतिर्भूत्वा उरोर्विस्तीर्णादन्तरिक्षाद्यजमानं गोपायेति शेषः । 'अन्तरिक्षं वाऽनु रक्षश्चरत्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथाऽयं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति तद्वातेनैनꣳ संविदानादन्तरिक्षाद् गोपायेत्येवैतदाह यदाहोरोरन्तरिक्षादिति' (श.३।८।१।१२) । अमूलं मूलसम्बन्धरहितम् उभयत उपरिष्टादधस्ताच्च संश्लेषरहितम् । तेनान्तरिक्षे रक्षःसञ्चारकारणेन वातादन्तरिक्षाच्च गोपायतीत्याह मन्त्रः । किञ्चास्य पशुलक्षणस्य हविषः, त्मना आत्मना यज । 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा.सू.६।४।१४१) इत्याकारलोपः । तथा चास्य पशोर्हविष आत्मना यज, अस्य पशोस्तन्वा शरीरेण सम्भव एकीभव । हे रेवति, यजमानरूपेण वात्मना पशुरूपेण चात्मना भूत्वा त्मनैव यज । यद्वा अनार्तस्यास्य हविष आत्मना यजेत्युक्तत्वादनार्तिं कर्तुं पशूनाविशेत्यर्थः । शतपथेऽपि – 'अस्य हविषस्त्मना यजेति । वाचमेवैतदाहानार्तस्यास्य हविष आत्मना यजेति समस्य तन्वा भवेति वाचमेवैतदाहानार्तस्य हविषस्तन्वा सम्भवेति' (श.३।८।१।१३) ।

तद्यत्रैनं विशसन्ति तत्पुरस्तात्तृणमुपास्यति वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः । पश्चात्तृणमुपास्यति वर्षो वर्षीयसीति शामित्रस्य पश्चाद् विशसनप्रदेशेऽध्वर्युर्हस्तस्थयोर्वेदितृणयोर्मध्येऽन्यतरत्तृणं प्रागग्रं प्रक्षिपेत् । हे वर्षो ! वर्षादुत्पन्नं वर्षुः, तत्सम्बोधने हे वर्षो, वृष्टिजन्यतृणदेवते, वर्षीयसि विस्तीर्णतरे यज्ञे यज्ञपतिं यजमानं धाः धेहि । एतद्बर्हिस्तरणेन स्थापनीयमिति स्तौति – 'बर्हिरेवास्मा एतत् स्तृणात्यस्कन्नꣳ हविरसदिति तद्यदेवास्य विशस्यमानस्य किञ्चित् स्कन्दति तदेतस्मिन् प्रतितिष्ठति तथा नामुया भवति' (श०३।८।१।१४) इति । तथा कृते सत्यन्यत्र पतितमङ्गममुयाऽमुत्रान्तरिक्षेऽनभिमतप्रदेशे न भवति न विनश्यतीत्यर्थः । 'तद्यत्रैनं निविद्धयन्ति तत्पुरा संज्ञपनाज्जुहोति स्वाहा देवेभ्य इत्यथ यदा प्राह संज्ञप्तः पशुरित्यथ जुहोति देवेभ्यः स्वाहेति' (श.३।८।१।१६) । 'स्वाहा देवेभ्य इति जुहोति' (का.श्रौ.६।५।२१) । अध्वर्युः सकृद्गृहीतमाज्यं पूर्णाहुतिधर्मेण जुहुयात् । 'संज्ञप्तः पशुरिति प्रोक्ते शेतान्नु मुहूर्तमित्याहाऽसोमे' (का.श्रौ.६।५।२२) । संज्ञप्तः पशुरिति शमित्रा प्रोक्ते अध्वर्युः सोमादन्यत्र निरूढे पशौ शेतान्नु मुहूर्तमिति ब्रूयात् । 'देवेभ्यः स्वाहेति जुहोति' (का.श्रौ.६।५।२३) । पूर्णाहुतिसंस्कृतेनैवाज्येन मन्त्रयोरनयोरर्थैक्येऽपि पाठभेदस्य तात्पर्यं श्रुतिः स्वयमेवाह – 'पुरस्तात् स्वाहाकृतयो वा अन्ये देवा उपरिष्टात् स्वाहाकृतयोऽन्ये तानेवैतत् प्रीणाति त एनमुभये देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति ते वा एते परिपशव्ये इत्याहुती' (श.३।८।१।१६) । उक्ते परिपशव्ये इति नामधेये परित आज्यं तयोः पशोर्हितं यतोऽतः नरिपशव्ये संज्ञपनात् प्राक् स्वाहा देवेभ्य इति जुहुयात्, संज्ञपनादूर्ध्वं देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात् ।

कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।४।७-६।५।२३) में प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे तु – हे कामेश्वरीकामेश्वरौ सीतारामौ राधाकृष्णौ लक्ष्मीनारायणौ वा, युवां घृतगन्धिना स्नेहेनाक्तौ व्याप्तौ परस्पराश्रयाभ्यां परस्परविषयाभ्यां स्नेहाभ्यामक्तौ परिप्लुतौ पशून् अनादिमायामोहितान् जीवान् परिपूर्णानुग्रहदृष्टिवृष्ट्या त्रायेथां पालयेथाम् । हे रेवति, प्रशस्तधनाद्यैश्वर्यवति राजराजेश्वरि भगवति, विशेषेण त्वं यजमान उपासके भवतोरर्चनापरायणे जने प्रियं धा विशेषानुग्रहं कुरु, त्वदनुग्रहादेव साधकानां पुरुषार्थसिद्धिसम्भवात् । आविश विद्यादिरूपेण तत्र प्रविश, स्वाहा-स्वधा-विद्या-वार्तादिरूपेण तवैव सर्वपुरुषार्थसाधकत्वात् । देवेन परमात्मना कामेश्वरेण श्रीरामेण श्रीकृष्णेन श्रीविष्णुना वातेन प्राणानां प्राणेन, सजूः समानप्रीतिमती सती हे रेवति, उरोरपरिच्छिन्नादन्तरिक्षाद् अपरिच्छिन्नानन्दमयाकाशात् तादृशस्वरूपाविर्भावनेन साधकं पालयेति शेषः । हे रेवति, अस्य साधकस्य हविषः, त्मना आत्मना, स्वात्मानमेव हविष्ट्वेन सङ्कल्प्य यजमानस्य हविषो रूपेण यज, भगवन्तं सङ्गमय प्रापय, यजेः सङ्गतिकरणार्थत्वात् । अस्य तन्वा शरीरेण सम्भव एकीभव । एकीभूतया तन्वा च परमेश्वरं सङ्गमय त्वदनुग्रहेण त्वद्रूपो भूत्वा साधकस्त्वत्प्राणनाथं भगवन्तं प्राप्नोत्वित्यर्थः । हे वर्षो ! हे कृपामृतवर्षिन् भगवन् कामेश्वर, वर्षीयसि विस्तीर्णतमे ब्रह्मात्मनि यज्ञपतिं यजमानमुपासकं धाः धेहि । स्वाहा देवेभ्यः । हे साधक, साधनारम्भात् प्राग् देवेभ्यो देवदेवाय भगवते स्वाहा सर्वस्वं निवेदय, साधनसम्पत्तेरूर्ध्वं च देवेभ्यः सर्वस्वं निवेदय । पूर्वं स्वात्मसमर्पणेन देवा आवर्जनीयाः, पश्चादावर्जितेभ्यस्तेभ्यः साधनं तत्फलं च निवेद्य कृतार्थो भवेत्यर्थः । अत्र पूजायां बहुवचनम् ।

दयानन्दस्तु – 'हे कर्ताकारयितारौ घृतेनाक्तौ घृतमनस्कौ युवां पशून् त्रायेथाम् । त्वमेकैकेन देवेन वातेन सजूरुरोरन्तरिक्षात् प्रियं प्रेमोत्पादकं सुखं रेवति प्रशस्तैश्वर्यवति यजमाने धास्तथा आविश, तत्स्वान्तवृत्तमाप्नुहि । अस्य हविष आत्मना यज अस्य तन्वा सम्भव एकीभव । हे वर्षो ! यज्ञकर्मणा सुखसेचक, त्वं देवेभ्यः स्वाहा तद्यज्ञं दिदृक्षुभ्यः पुनः पुनरागतेभ्यो विद्वद्भ्योऽसकृत् सत्कृत्य वाचमुदीरयन् वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वात्, असम्बद्धत्वाच्च । 'वातेन पवनेन समानप्रीतिमान् भूत्वा विस्तृतादन्तरिक्षादुत्पन्नं प्रियं सुखं यजमाने स्थापय' इति हिन्द्यामुक्तम् । तच्च कथमुपपद्यते ? कथं यज्ञकर्तुर्यज्ञकारयितुर्वा सर्वगतेन वातेन प्रीतिमत्ता ? कथं चान्तरिक्षात् प्रीतिकारकं सुखमुत्पद्यते ? यदि तु सुगन्धिद्रव्यादिहोमेन वायोः शुद्धत्वापादनमेव

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – हे कामेश्वरी तथा कामेश्वर, सीता एवं राम, राधा और कृष्ण, अथवा लक्ष्मीनारायण, आप परस्पराश्रय तथा परस्परविषयत्व के स्नेहों से परिपूर्ण होते हुए अनादि माया से मोहित जीवों को पूर्ण अनुग्रह दृष्टि की वर्षा से रक्षित कीजिये । हे प्रशस्त धन ऐश्वर्य आदि की स्वामिनी, भगवती राजराजेश्वरी, विशेष रूप से आप उपासना में निरत भक्तजन पर अनुग्रह करें, क्योंकि आपके अनुग्रह से ही साधकों की पुरुषार्थसिद्धि सम्भव होती है । विद्या आदि के रूपों से उसमें निविष्ट होइये । परमात्मा कामेश्वर, श्रीराम, श्रीकृष्ण अथवा विष्णु से प्राणरूपी देव से समान प्रीतियुक्त होकर हे धनवती, आप अपरिच्छिन्न आनन्दमय आकाश के स्वरूपाविर्भाव के द्वारा साधक का पालन करें । हे रेवती, इस साधक के स्वात्मा को ही हवि के रूप में संकल्पित करके भगवान् से संगत करें । इसके शरीर से एकीकृत हों तथा उसे परमेश्वर से संगत करें, अर्थात् आपके अनुग्रह से तद्रूप होकर साधक भगवान् को प्राप्त करे । कृपामृत की वर्षा करने वाले हे भगवन् विस्तीर्ण ब्रह्मात्मा में उपासक को अवस्थित करें । हे साधक, साधना आरम्भ करने के पूर्व देवाधिदेव भगवान् के लिये सर्वस्व निवेदित करें, तथा साधना से सम्पन्न होने के पश्चात् भी देवताओं के लिये सर्वस्व निवेदित करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ श्रुति तथा सूत्र से विरुद्ध होने के कारण तथा असम्बद्ध होने के कारण असंगत है । यज्ञकर्ता अथवा कारयिता की सर्वगत वायु से प्रीतियुक्तता कैसे होगी ? अन्तरिक्ष से सुख उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि सुख

प्रीतिमत्त्वम्, तदपि नोपपद्यते, परिच्छिन्नद्रव्याहुत्या व्यापकस्य वायोस्तदसम्भवात् । न चान्तरिक्षात् सुखमुत्पद्यते, सुखस्यात्मधर्मत्वात् । सुखनिमित्तत्वमपि नाकाशस्य सम्भवति, तस्य सर्वत्र सत्त्वेन कार्यमात्रं प्रति साधारणकारणत्वात् । अन्तरिक्षात् सौगन्ध्योपेताद् वान्तरिक्षादुत्पन्नं सुखं नह्यन्येनान्यत्र स्थापयितुं शक्यम्, तस्य तत्रत्यान् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥११॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त आतानानर्वा प्रेहि । घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु ॥१२॥

'यदा प्राह संज्ञप्तः पशुरिति । अथाध्वर्युराह नेष्टः पत्नीमुदानयेत्युदानयति नेष्टा पत्नीं पान्नेजनं बिभ्रतीं तां वाचयति नमस्ते' (श.३।८।२।१-२) । 'वपाश्रपणीभ्यां नियोजनीं चात्वाले प्रास्यति माऽहिर्भूरिति' (का.श्रौ.६।५।२५) । पशुबन्धनरज्जुं नियोजनीं चात्वाले क्षिपेदध्वर्युः । पान्नेजनहस्तां वाचयति नयन्नमस्त आतानेति । पादग्रहणमवयवप्रदर्शनार्थम् । पादौ निज्येते अनेनेति पान्नेजनो मुखाद्यवयवशोधनार्थो जलकलशो हस्ते यस्याः सा तां पत्नीं सोमे नेष्टा गार्हपत्यसमीपात् पशुशोधनाय नयन् वाचयेद् नमस्त इति मन्त्रम् । अध्वर्युराह – हे रज्जो, त्वमहिः सर्पाकारो मा भूः, पृदाकुरजगरो मा भूः । यज्ञदेवत्यं यजुः । नमस्त आतानेति । आ समन्तात् तन्यत इत्यातानो यज्ञः । हे आतान, ते तुभ्यं नमः । हे यज्ञ, त्वम् अनर्वा, इयर्ति वधार्थमित्यर्वा, नास्त्यर्वा यस्यासावनर्वा, असपत्नः सन् प्रेहि समाप्तिपर्यन्तं प्रकर्षेणागच्छ, 'अनर्वा प्रेहीत्याह । भ्रातृव्यो वा अर्वा भ्रातृव्यापनुत्यै' इति तित्तिरिश्रुतेः । इमं मन्त्रभागं शत्रुराहित्यार्थमुच्चारयेदिति तित्तिरिराह । घृतकुल्या जुह्वादिस्रुचिषु आगच्छ, जुह्वादिषु बह्वाज्यसम्भवात् । ता विशिनष्टि – ऋतस्य यज्ञस्य पथ्याः पथिभवास्तादृशीर्नदीरनुलक्ष्य उपप्रेहीत्यर्थः । सान्नाय्यपृषदाज्यकुल्योपलक्षणार्थं घृतकुल्याग्रहणम् ।

अयमेवार्थः शतपथे समर्थितः – 'यज्ञो वा आतानो वा यज्ञꣳहि तन्वते तेन यज्ञ आतानो जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी तामेतत् प्राचीं यज्ञं प्रसादयिष्यन् भवति तस्मा एवैतद्यज्ञाय निह्नुते तथो हैनामेष यज्ञो न हिनस्ति तस्मादाह नमस्त आतानेति' (श.३।८।२।२) । नमस्कारवचनं यज्ञातिक्रमपरिहारत्वेन प्रशंसति – जघनार्धो वा इति । यज्ञस्य जघनार्धे पत्नीशालायामवस्थिता पत्न्यपि जघनार्ध इत्युच्यते । तां प्राङ् नयति । तस्मिन् यज्ञायतने जघननिह्नवनकृतस्तस्या आगोऽनेन नमस्कारवचनेन च यज्ञातिक्रमक्षमापनं सम्पद्यते ।

आत्मा का धर्म है । आकाश का सुखनिमित्त होना भी संभव नहीं है, क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त होने के कारण प्रत्येक कार्य के प्रति साधारण कारण है ॥११॥

मन्त्रार्थ – हे सुषुम्ना, तुम सर्प के समान कुटिल चाल चलने वाली और बिच्छू के समान मर्म-स्थान को पीड़ा देने वाली मत बनो । हे योगयज्ञ, तुम्हारे लिये भूतात्मारूप अन्न विद्यमान है । हे योगयज्ञ के साधक, तुम काम आदि शत्रुओं से रहित होकर सुषुम्ना मार्ग से गमन करो, ब्रह्ममार्ग में हितकारी इन्द्रियों की सकल शक्तियों की प्रवाहरूप नदियों को देख कर त्रिदेव रूपधारी महाविष्णु को प्राप्त करो ॥१२॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।५।२५) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'माहिर्भूः' इस कण्डिका के मन्त्रों से पशु को बांधने वाली रस्सी का अग्नि में प्रक्षेप तथा पत्नी द्वारा मन्त्रपाठ आदि कार्य सम्पादित किये जाते हैं । शतपथ तथा तैत्तिरीय श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे तु – हे साधक, त्वमहिः सर्पतुल्यः पृदाकुरजगरतुल्यश्च मा भूः । आतानो यज्ञ इव पावनः, अनर्वा असपत्नः, प्रेहि प्रकर्षेण परमात्मानमेव गच्छ । घृतस्य भक्तिलक्षणस्नेहस्य कुल्या नदी, ऋतस्य परमेश्वरस्य प्राप्त्यै पथि मार्गे भवा पथ्या, ता अनुलक्ष्य परमात्मानं प्रेहि ।

दयानन्दस्तु – 'हे आतान विद्वन्, त्वमहिर्मा भूः । पृदाकुः मूढवदभिमानी व्याघ्रवद्धिंसको मा भूः । नमोऽस्तु त्वत्सुखायान्नादिपदार्थः पुरत एव वर्तते । अनर्वा अश्वहीनो घृतस्य कुल्या इवर्तस्य पथ्याः प्रोपेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिविरोधात् । 'यज्ञो वै आतानः' इति श्रुतिरुक्तैव । अहिपदस्य कुटिलगामीत्यादिगौणार्थाश्रयणमयुक्तम्, मुख्यार्थत्यागे कारणाभावात् । तत्र विदुषां सुखार्थे घृतकुल्याः प्रवर्तिता दृश्यन्ते चेत्, तथात्वे विदुषामर्थार्जने प्रवृत्त्यभावापातात् । 'अनर्वा' इत्यस्य अश्वराहित्यार्थकरणे न किञ्चित् स्वारस्यम् । 'असपत्नेन' इति श्रुतिविरोधश्च ॥ १२॥

देवी॑रापः शुद्धा वो॑ढ्वꣳ सुप॑रिविष्टा दे॒वेषु सुप॑रिविष्टा व॒यं प॑रिवे॒ष्टारो॑ भूयास्म ॥१३॥

'अथ पशोः प्राणानद्भिः पत्न्युपस्पृशति' (श.३।८।२।४) । 'पशोः प्राणाञ्छुन्धति पत्नी । मुखं नासिके चक्षुषी कर्णौ नाभिं मेढ्रं पायुं पादान् सꣳहृत्य वाचं ते शुन्धामीति प्रतिमन्त्रम्' (का.श्रौ.६।६।२-३) । नासिकयोश्चक्षुषोर्युगपत् स्पर्शासम्भवाद् भेदेन प्रवृत्तौ मन्त्रावृत्तिः । एवं यज्ञं स्तुत्वा आप इदानीं स्तूयन्ते । हे सुपरिविष्टाः ! पात्नेजनीपात्रेषु पूरिता देवीः ! हे देव्य आपः, यूयं स्वभावतः संस्कारतश्च शुद्धाः सत्यो देवेषु विषयभूतेषु वोढ्वं वहत, पशुमिति शेषः । एनं पशुं देवान् प्रति वहत प्रापयत । 'वह प्रापणे' इत्यस्य लुङि तङि मध्यमबहुवचनेऽडभावे रूपम् । किञ्च, वयमपि सुपरिविष्टाः, देवेष्विति पदमिहाप्यनुवर्तनीयम्, वयमपि देवेषु मध्येऽवस्थितास्तैरेव देवेषु सुपरिविष्टास्तर्पिताः सन्तस्तेषामेव देवानां परिवेष्टारः परिवेषणकर्तारो भूयास्मेत्याशीः । 'देवीरापः शुद्धा....भूयास्मेत्यप एवैतत् पावयति' (श.३।८।२।३) । देवीरित्यादिमन्त्रेण अप एव पावयति ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – हे साधक, तुम सर्प की भाँति तथा अजगर की भाँति न बनो । यज्ञ के समान पवित्र तथा शत्रुरहित होकर परमात्मा के प्रति गति करो । भक्तिरूपी स्नेह की नदी परमेश्वर की प्राप्ति के लिये मार्ग में विद्यमान है, उसको लक्षित करके परमात्मा के प्रति जाओ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ श्रुतिवाक्यों के विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है । 'अहि' शब्द का गौण अर्थ कुटिलगामी करना उचित नहीं है, क्योंकि मुख्य अर्थ के परित्याग में कोई कारण नहीं है । 'अनर्वा' शब्द का अर्थ भी 'अश्वरहित' करने में कोई प्रयोजन नहीं है ॥१२॥

मन्त्रार्थ – हे इन्द्रियसम्बन्धी गोलकरूप अन्तरिक्षों, सांसारिक सुख और शयन का दाता जो सुख है, उसको धारण करने वाले देह में प्रविष्ट होकर तुम भूतात्मा को देवताओं तक पहुँचाओ, अर्थात् उसकी ज्ञानदशा की प्राप्ति के साधन बनो । तुम्हारे प्रसाद से योगयज्ञ में प्रतिष्ठित होकर तृप्त हुए हम वाक् आदि ऋत्विग्गण देवताओं को कर्म का फल अर्पित करने वाले बनें ॥१३॥

भाष्यसार – 'देवीरापः' इस मन्त्र से पशु को प्रेक्षित करने के लिये जल का संस्कार किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक दृष्टि से अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे तु – हे देव्यः ! महाकालीमहालक्ष्मीमहासरस्वत्यः, यूयम् आपो व्यापनशीलाः, **व्यापकस्य** परमात्मन उत्पादनपालनसंहरणशक्तित्वात् । अत एव शुद्धा निर्मला देवेषु सुष्ठु रीत्या परितश्च पूरिता **निविष्टाः**, अथवा देवेषु देवकार्येषु सुपरिविष्टा अभिनिविष्टाः, वोड्ढ्वं वहत प्रापयत , तत्सुखावहं हविरादिकमिति **शेषः** । हे भगवत्यः, वयं सुपरिविष्टा युष्माभिः, अर्थाद् युष्मत्कर्तृकाभीष्टपरिवेषणेन तर्पिताः सन्तो युष्माकं **परिवेष्टारः** परिवेषणकर्तारो भूयास्म ।

दयानन्दस्तु – 'हे कुमार्यः, यथापः सद्गुणेषु व्याप्ताः शुद्धा देवीर्देव्यो विदुष्यः सत्स्त्रियो देवेषु सद्विद्यादि**गुणेषु** विद्वत्सु सुपरिविष्टाः कृतब्रह्मचर्याः स्वसमानवरान् स्वीकृतवत्यः, तथा च ते विद्वांसस्ता विदुषीः प्राप्ता**स्तथा यूयं** वोड्ढ्वं प्राप्नुतैवं वयमपि सुपरिविष्टाः परिवेष्टारो भूयास्मेति ब्रह्मचारिब्रह्मचारिणीनां परस्परं **वरत्वेन पत्नीत्वेन** च वरणमुपदिश्यते' इति, तन्न, निर्मूलत्वात् , श्रुतिसूत्रादिषु तथा विनियोगादर्शनात् । 'हे कुमार्यः' इति **सम्बोधनमपि** निर्मूलम् । यथातथापदानामुपस्थापनाय वाचकलुप्तोपमालङ्काराश्रयणमपि निर्मूलम्, अत एव वोड्ढ्वं स्वयंवरविवाहविधिं प्राप्नुतेत्यपि निर्मूलम् । सुपरिविष्टास्तत्तत्सेवासम्मुख्य इत्यपि निर्मूलम् । 'वयमपि सुपरिविष्टाः परिवेष्टारः परितो व्याप्ताः' इति, हिन्द्यां तु 'तत्कर्मयोग्यतामुपगच्छामः' इत्युक्तम्, तत्तु सर्वमसम्बद्धमुपहासास्पदं च । योऽन्यान् विदुषो विदुषीश्च विवाहाय प्रेरयति, स स्वयं तदयोग्यः, तद्योग्यतां प्राप्तुं कामयत इति चित्रम् ॥१३॥

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्रांꣳस्ते शुन्धामि ॥१४॥

'पशोः प्राणाञ्छुन्धति पत्नी । मुखं नासिके चक्षुषी कर्णौ नाभिं मेढ्रं पायुं पादान् सꣳहृत्य वाचं ते शुन्धामीति प्रतिमन्त्रम्' (का.श्रौ.६।६।२-३) । नासिकयोश्चक्षुषोर्युगपत् स्पर्शासम्भवात् भेदेन प्रवृत्तौ मन्त्रावृत्तिः । हे यज्ञियपशो, ते तव सम्बन्धिनीं वाचं वागिन्द्रियं शुन्धामि शोधयामि । प्राणं प्राणवायुं घ्राणेन्द्रियं

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – हे महाकाली महालक्ष्मी महासरस्वती देवियों, आप लोग व्यापनशील हैं, क्योंकि आप सब व्यापक परमात्मा की उत्पादन, पालन तथा संहरणात्मक शक्तियाँ हैं । अतः निर्मल तथा देवताओं में पूर्णतः निविष्ट अथवा देवकार्यो में अभिनिविष्ट होकर हविष्य आदि को पहुँचावें । हे भगवती, हम लोग आपके द्वारा सम्पादित अभीष्टपूरण से तृप्त होते हुए आपके लिये प्रदानशील हों ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ श्रुति तथा सूत्र में तदनुकूल विनियोग न उपलब्ध होने के कारण अप्रामाणिक है । 'हे कुमारियों' इस प्रकार के सम्बोधन में भी प्रमाण नहीं है । किसी भी प्रकार से पदों को जोड़ने के लिये वाचकलुप्तोपमा अलंकार की सहायता लेना अनुचित है । अतः 'स्वयंवर विवाह की विधि को प्राप्त करें' यह कहना भी निर्मूल है । हिन्दी अर्थ में 'उस कर्म की योग्यता को प्राप्त करें' यह कहना असम्बद्ध तथा उपहासास्पद है । जो दूसरे विद्वान् तथा विदुषी स्त्रियों को विवाह के लिये प्रेरणा देता है, वह स्वयं को उसके अयोग्य मानकर उसकी योग्यता की प्राप्ति के लिये इच्छा कर रहा है, यह विचित्र कल्पना है ॥१३॥

मन्त्रार्थ– बुद्धि कहती है कि हे भूतात्माओं, मैं तुम्हारी वाक् इन्द्रिय को शुद्ध करती हूँ, तुम्हारे प्राण, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय और नाभि को शुद्ध करती हूँ, तुम्हारी लिंगेन्द्रिय, गुदेन्द्रिय और चरणों को शुद्ध करती हूँ ॥१४॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।६।३) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'वाचं ते' इस कण्डिका के मन्त्रों से

वा, तथा चक्षुरिन्द्रियं शुद्धं करोमि। श्रोत्रेन्द्रियं नाभिच्छिद्रं मेढ्रं लिङ्गं पायुं गुदं गुह्येन्द्रियं चरित्रान् चरण(गमन)साधनभूतान् पादान्, चरन्ति गच्छन्त्येभिरिति, एवमादीनि त्वदीयानि सर्वाणीन्द्रियाणि शुन्धामि। 'तद्यदद्भिः प्राणानुपस्पृशति जीवं वै देवानाꣳ हविरमृतममृतानामथैतत् पशुं घ्नन्ति यत्संज्ञपयन्ति यद्विशासत्यापो वै प्राणास्तदस्मिन्नेतान् प्राणान् दधाति तथैतमेतज्जीवमेव देवानाꣳ हविर्भवत्यमृतममृताम्' (श.३।८।२।४)। पशोः प्राणमुखनासाचक्षुरादीन्यद्भिः पत्नी उपस्पृशति, प्रक्षालयतीत्यर्थः। उपस्पर्शनं पशोः सजीवत्वकरणात्मना प्रशंसति – जीवं वै देवानां हविरमृतमिति। पदद्वयं व्याचष्टे – देवा अमृता अमृतधर्माणः, जीवनमप्यमृतं मृतिरहितम्, अतो योग्यत्वाद्देवानां जीवनं युज्यते। तस्मादमृतानीति देवानां हविरप्यमृतं जीवनयुक्तमेव युक्तम्। यत्पशुं घ्नन्ति संज्ञपयन्ति तद् हननात्मकमेव भवति। अतो हेतोरस्य देवहविषः पशोः प्राणापेक्षणात्, अपाम् 'आपोमयः प्राणः' (छा.उ.६।५।४) इति श्रुत्या प्राणरूपत्वाद् मुखादिच्छिद्रेष्वपां क्षेपेण प्राणधारणं सम्पद्यते, ततश्चामृतानां देवानां सजीवनं हविर्दत्तं भवति। अपामुपस्पर्शनं प्रशस्य तस्य पत्नीकर्तृकत्वं प्रशंसति – 'अथ यत्पत्न्युपस्पृशति। योषा वै पत्नी योषायै वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते तदेनमेतस्यै योषायै प्रजनयति तस्मात् पत्न्युपस्पृशति' (श.३।४।२।५)। योषायै योषायाः सकाशाद् इमाः प्रजाः प्रजायन्ते। तस्मात्तस्या योषायाः पत्न्याः सकाशादेव तत्कर्तृकोपस्पर्शनेन पशोरपि जीवनं जायते।

'सोपस्पृशति वाचं ते शुन्धामीति मुखं प्राणं ते शुन्धामीति नासिके चक्षुस्ते शुन्धामीत्यक्ष्यौ श्रोत्रं ते शुन्धामीति कर्णौ नाभिं ते शुन्धामीति योऽयमनिरुक्तः प्राणो मेढ्रं ते शुन्धामीति वा पायुं ते शुन्धामीति योऽयं पश्चात् प्राणस्तत्प्राणान् दधाति तत्समीरयत्यथ सꣳहृत्य पदश्चरित्रांस्ते शुन्धामीति पद्भिर्वै प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठित्या एव तदेनं प्रतिष्ठापयति' (श.३।४।२।६)। अवयवावयविभेदेनोपस्पर्शनमन्त्रभागमाह – वाचं ते शुन्धामीतीति। मुखं वदनम्। हे पशो, ते प्राणं प्राणनं मुखनासिकाभ्यामुत्पद्यमानं प्राणवायुं शुन्धामि विशुद्धं करोमि। चक्षुःश्रोत्रे दर्शनश्रवणशक्तीन्द्रिये। नाभिं ते शुन्धामीति। योऽयमनिरुक्तोऽनभिव्यक्तप्राणस्तं शुन्धामि। पश्चात् प्राणः, अधस्ताद्वर्तमानोऽपानः, तं तत्र पायौ स्थापयति। अथ संहृत्य पदः पादानेकीकृत्य चरित्रांस्ते शुन्धामीति पादानपि शोधयति। पादशोधनं प्रशंसति – पद्भिरिति। पद्भिर्वै प्रतितिष्ठति। तस्मात् तदुपस्पर्शनेनैनं प्रतिष्ठापयति।

अध्यात्मपक्षे तु – साधकप्रार्थितो भगवानेव साधकमाश्वास्य स्वानुग्रहेण साधकस्य वागादीनि शोधयति शुद्धानि करोति। येन शुद्धान्तर्बाह्यकरणः साधकः परमेश्वरं प्रपद्यते। आचार्योऽप्यभिमन्त्रितजलसिञ्चनेन शिष्यमभिषिच्य वागादीनि शोधयति। मन्त्रव्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

यजमानपत्नी पशु के मुख, नासिका आदि अंगों को जल से शुद्ध करती है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – साधक के द्वारा प्रार्थित भगवान् ही साधक को आश्वस्त करते हुए अपने अनुग्रह के द्वारा साधक की वाणी आदि को शुद्ध करते हैं, जिससे अन्तःकरण तथा बाह्य इन्द्रियों से साधक शुद्ध होकर परमेश्वर को प्राप्त करता है। गुरु भी अभिमन्त्रित जल के सिंचन से शिष्य को अभिषिक्त करते हुए वाणी आदि का शोधन करता है। मन्त्रार्थ तो पूर्व की ही भांति इस प्रकार है – तुम्हारी वाणी, नासिका, नेत्र, नाभि, मेढ्र, गुह्य तथा पैरों को शुद्ध करता हूँ।

दयानन्दस्तु – 'कथं ता गुरुपत्न्यो गुरवश्च यथायोग्यशिक्षया स्वस्वान्तेवासिनं सद्गुणेषु प्रकाशयन्तीत्यनेनोपदिश्यते । हे शिष्य, विविधशिक्षाभिस्तेऽहं वाचं शुन्धामि । प्राणं चक्षुः श्रोत्रं नाभिं मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं तु शुन्धामि' इति, तदपि निर्मूलं निरर्थकं च, शिक्षाभिर्मुखप्राणमेढ्रपाय्वादिशोधनासम्भवात् । दयानन्दस्तु – 'गणानां त्वा गणपतिम्' (वा.सं.२३।१९) इति स्थलीयं मृताश्वशोधनपरं महीधरादिव्याख्यानमश्लीलत्वेन दूषयति । यद्यपि तद् व्याख्यानं ब्राह्मणादिसम्मतमिति भूमिकायां प्रदर्शितम्, परं स्वयं कीदृशं व्याख्यातीति न वेत्ति । अध्यापका अध्यापयित्र्यश्च कथं ब्रह्मचारिब्रह्मचारिणीनां मेढ्रपाय्वादीनि शिक्षया शोधयिष्यन्तीत्यपि तेन वक्तव्यमासीत् । अस्य व्याख्याने श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥१४॥

मनस्त आप्यायतां वाक्त आप्यायतां प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायताᳬं श्रोत्रं त आप्यायताम् । यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः । ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनᳬं हिᳬंसीः ॥१५॥

'अथ या आपः परिशिष्यन्ते । अर्धा वा यावत्यो वा ताभिरेनं यजमानश्च शीर्षतोऽग्रेऽनुषिञ्चतस्तत्प्राणांश्चैवास्मिंस्तत्तौ धत्तस्तच्चैनमतः समीरयतः' (श.३।८।२।७) । परिशिष्टाभिरर्धाभिरल्पीयसीभिर्वाद्भिर्यजमानश्चकारादध्वर्युश्च पशोः शीर्षाग्रं प्रथमं तदारभ्य निषिञ्चतः । तौ यजमानाध्वर्यू तत् तेन निषिञ्चनेन पशोः प्राणान् धत्तो धारयतः । तत् तेनैनं पशुमतोऽस्मात् स्थानात् समीरयतः सजीवत्वं कुरुतः । कात्यायनोऽपि – 'शेषेण यजमानश्च शिरःप्रभृत्यनुषिञ्चतो मनस्त इति शिरः' (का.श्रौ.६।६।४) । पात्नेजनशेषेण यजमानोऽध्वर्युश्च पशोः शिरःप्रभृत्यङ्गान्यनुषिञ्चेतामिति विलिङ्गत्वादस्य मन्त्रस्योक्तसूत्रेण विनियोगमुक्तवान् । वाक् त आप्यायतामित्यादिमन्त्राणां तु लिङ्गबलादेव विनियोगः सिद्ध इति स सूत्रकृता नोक्त इति । शतपथीयसायणभाष्ये तु पत्नीयजमानौ शिरःप्रभृत्यनुषिञ्चत इत्युक्तम् । काण्वसंहितासायणभाष्ये तु पत्न्या पश्ववयवजातं येनोदकेन शोधितं तेनोदकशेषेणाध्वर्युयजमानौ पशोः शिरआद्यङ्गान्यनुक्रमेण सिञ्चेतामित्युक्तम् । उव्वटमहीधराभ्यामपि तदेवोक्तम् । सूत्रभाष्यकारादयोऽपि तथैव वदन्ति । तस्माच्छतपथीयं व्याख्यानं

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में शिक्षाओं के द्वारा मुख, प्राण आदि की शुद्धि असंभव होने के कारण **निरर्थकता है** । यद्यपि स्वामी दयानन्द ने 'गणानां त्वा' आदि मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में महीधर आदि आचार्यों के अर्थ को **अश्लील मानते हुए** आलोचना की है । परन्तु उन्होंने स्वयं इस मन्त्र की कैसी व्याख्या की है ? अध्यापक तथा अध्यापिकाएं **कैसे ब्रह्मचारी तथा** ब्रह्मचारिणियों के गुह्यादि को शिक्षा के द्वारा शुद्ध करेंगे, यह भी वक्तव्य है ? इस व्याख्या में श्रुति तथा सूत्र का **विरोध तो स्पष्ट** ही है ॥१४॥

मन्त्रार्थ– हे भूतात्मन्, तुम्हारा मन सारूप्य मोक्ष को पाने के लिये समष्टिभाव को प्राणरूप में प्राप्त करे, तुम्हारी वागिन्द्रिय, तुम्हारे प्राण, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय समष्टिभाव को पावें । तुम्हारा कष्टदायक संसारबन्धन शान्त होकर द्वैतभाव-रहित होकर एकीभावरूप ब्रह्मभाव को प्राप्त करे । तुम्हारे देवयान सम्बन्धी दिन कल्याणमय हों । हे इन्द्रियों की शक्तियों, मेरी रक्षा करो, उन्मार्ग में मत जाओ । हे मन, इस भूतात्मा को संसारबन्धन में डाल कर नष्ट मत करो ॥१५॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।६।४-९) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'मनस्ते' इस कण्डिका के मन्त्र **यजमान**

शोधकप्रमादादशुद्धमेवेति मन्तव्यम् । हे पशो, ते त्वदीयं मन आप्यायतां शाम्यतु । एवं त्वदीयानि वाक्पाणिचक्षुःश्रोत्राणि शाम्यन्तु ।

'तद्यत् क्रूरीकुर्वन्ति यदास्थापयन्ति तदद्भिः शान्त्या शमयत सादं सन्धत्तः' (श.३।८।२।८) । 'तावनुषिञ्चतः मनस्त....' (श.३।८।२।९) । 'यत्ते क्रूरमित्यङ्गानि' (का.श्रौ.६।६।५) । सर्वाण्यङ्गान्यनुषिञ्चतः । हे पशो, ते तव यद्बन्धनमुखनिरोधादिकं क्रूरमस्माभिः कृतम्, यच्च च्छेदादिकमास्थितं कर्तुमास्थितं शमित्रा, तत्सर्वमाप्यायतां शाम्यतु । किञ्च, तत्सर्वं तव निष्ट्यायतां सहतं भवतु । 'ष्ट्यै संघाते' । तत्सर्वं तव शुद्ध्यतु शुद्धं भवतु । 'शमहोभ्य इति जघनेन पशुं निनयतः' (श.३।८।२।११) । शमहोभ्य इति पशोर्जघनप्रदेशं निनयतः । 'शमहोभ्य इति पश्चात् पशोर्निषिञ्चतः' (का.श्रौ.६।८।६) । पशोर्जघनप्रदेशे पान्नेजनशेषमुभावपि निनयतः ।

मन्त्रार्थस्तु – दिवसादिकालविशेषेभ्यः शं सुखमस्माकं पशोश्च भूयात् । 'अथोत्तानं पशुं पर्यस्यन्ति । स तृणमन्तर्दधात्योषधे त्रायस्व उत्तानं पशुं कृत्वाऽग्रेण नाभिं तृणं निदधात्योषध इति । अध्वर्युः पशुमुत्तानं कृत्वा नाभेरग्रतो वपायाः स्थाने अङ्गुलचतुष्टयं त्यक्त्वा प्रागग्रतृणं निदध्यात् । हे ओषधे दर्भतृण, एनं त्रायस्व हननादिदुःखादेनं रक्ष । 'सा या प्रज्ञाताश्रिः । तयाभिनिदधाति सा हि यजुष्कृता मेध्या' (श.३।८।२।१३) । या पूर्वं पश्वञ्जनायासीद् याभिर्निदध्यात् सा यथा पशोरुपरि भवति, तथा स्थापयित्वा छिन्द्यात् । 'स्वधित इति प्रज्ञतयाऽभिनिधाय छित्त्वा' (का.श्रौ.६।६।९) । स्वधित इति मन्त्रेण कृतचिह्नां घृताक्तामसिधारां तृणस्योपरि निधाय तूष्णीं सतृणामुदरत्वचं तिर्यक् पाटयेत्, हे स्वधिते ! एनं मा हिंसीरिति ।

अध्यात्मपक्षे तु – परमेश्वरः प्रसन्न आचार्यो वा साधकं शिष्यमाशीर्भिराप्याययति । हे साधक, ते मन आप्यायतां ज्ञानवैराग्यविवेकादिभिराप्यायताम्, विशिष्टसामर्थ्यशालितामुपगच्छतु । तथैव वाग् हितमितसत्यसूनृतभाषणादिभिराप्यायताम् अवन्ध्यतामुपैतु । प्राणो मुखनासिकाभ्यामुत्पद्यमानः प्रच्छर्दनविधारणादिभिर्विशिष्टशक्तिमत्तामुपगच्छतु । चक्षुः श्रोत्रं च नियन्त्रणजनितलोकोत्तरसामर्थ्यप्राप्त्या दूरदर्शनदूरश्रवणोपेते सम्पद्येताम् । यत्ते प्रमादात् क्रूरं क्रूरभाषणाचरणादि यच्चास्थितं संज्ञपनादिकं तत्सर्वमाप्यायतां शाम्यतु । तादृशक्रौर्यसञ्जातशक्तिक्षयेण परिम्लानस्तवात्मा कार्यकरणसङ्घातः शुभाचरणतपोभिर्गुरुपरमेश्वराशीर्भिश्च पुनराप्यायतां वर्धताम् । निष्ट्यायतां संहतो भवतु । तत्सर्वं ते शुद्ध्यतु । अहोभ्यो दिनोपलक्षितेभ्यः कालविशेषेभ्यस्तव शं कल्याणं भवतु । ओषधे, जातावेकवचनम्, ओषधय एनं साधकं स्वप्रभावैरेनं त्रायन्ताम् ।

के द्वारा पशु के प्रोक्षण, अंगों के प्रोक्षण आदि क्रियाओं में विनियुक्त हैं । शतपथ श्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – परमेश्वर अथवा प्रसन्न गुरु साधक शिष्य को आशीर्वादों से अभिषिक्त करता है कि हे साधक, तुम्हारा मन ज्ञान, वैराग्य आदि से विशिष्ट सामर्थ्य को प्राप्त करे । इसी प्रकार वाणी भी हित, मित, सत्य, सूनृत आदि भाषण से अमोघ हो । मुख, नासिका से उत्पन्न होने वाला प्राणवायु विशिष्ट शक्तिमान् बने । नेत्र तथा कर्ण भी लोकोत्तर सामर्थ्य की प्राप्ति के द्वारा दूरदृष्टि तथा दूरश्रवण के सामर्थ्य से युक्त हों । प्रमाद के कारण तुम्हारा जो क्रूर आचरण तथा हिंसादि व्यापार है, वह सब शान्त हो जाय । शुभ आचरण, तपस्या, गुरु तथा परमेश्वर के आशीर्वाद से तुम्हारी आत्मा पुनः परिवर्धित हो, संहत हो तथा परिशुद्ध हो । दिन आदि समस्त कालों में तुम्हारा कल्याण हो । हे औषधियों, इस साधक को अपने प्रभाव से रक्षित कीजिये । हे शस्त्रास्त्र, अभिचारादि, मेरी आज्ञा से तथा आशीः से इसको हिंसित मत करो । जिस प्रकार वाल्मीकिरामायण

स्वधितयः शस्त्रास्त्राणि पराभिचारादयश्च घातका मदाज्ञयाशीर्भिश्चैनं मा हिंसीर्न घ्नन्तु । यथा 'शीतो भव हनूमतः' (वा.रा.सु.५३।२८) इति सीताया आशिषाज्ञया च दाहकोऽपि वह्निः शीतः सम्पन्न इति तद्वत् ।

दयानन्दस्तु – 'हे शिष्य, मदीयशिक्षणेन ते तव मन आप्यायताम् । ते वाक्....चक्षुः...श्रोत्रं....तद्यत् क्रूरं दुश्चरित्रं तन्निष्ट्यायतां दूरं गच्छतु । यत्ते तवास्थितं निश्चितं तदाप्यायताम् । इत्थं ते सर्वं शुद्ध्यतु । अहोभ्यो दिनेभ्यस्तुभ्यं शमस्तु । अथ स्वस्वामिनि शिष्यलालनापरं गुरुपत्नीवाक्यम् – हे ओषधे विज्ञानवराध्यापक, त्वमेनं शिष्यं त्रायस्व मा हिंसीः । स च स्वपत्नीं प्रत्याह – स्वधितेऽध्यापिके स्त्रि, त्वमेनां त्रायस्व मा हिंसीश्च' इति, तत्सर्वमेव स्वातन्त्र्यमूलकम्, शिक्षणेन मनसि ज्ञानसम्भवेऽपि शुद्धेः शिक्षणजन्यत्वे प्रमाणाभावात्, स्वधर्मानुष्ठानादधर्मपरिवर्जनाच्च शुद्धिसम्भवात् । एवं प्राणचक्षुराद्याप्यायनानामपि शिक्षणजन्यत्वं चिन्त्यम् । क्रूरपदेन दुश्चरित्रग्रहणमपि निष्प्रमाणमेव, अक्रूराणां परस्त्र्यादिसंसर्गाणामपि दुश्चरित्रत्वानपायात् । तथैव 'निष्ट्यायतां दूरीगच्छतु' इत्यपि निर्मूलम् । ओषधिस्वधितिशब्दाभ्यामध्यापकाध्यापिकाग्रहणमपि स्वेच्छामूलकमेव । पदार्थभाष्ये संहन्यतामित्यर्थकरणमपि तत्प्रतिकूलमेव । मैनमिति स्थाने मैनामिति कल्पनमपि स्वैरितैव, विपरिणामस्वातन्त्र्ये वेदार्थेऽनाश्वासप्रसङ्गात् । सनातनिसम्मतेषु भाष्येषु श्रुतिसूत्रानुसारेणैव तत्र तत्र वक्तृश्रोतृकल्पनमिति स्पष्टमेव ॥१५॥

रक्षसां भागोऽसि निरस्तꣳ रक्ष इदमहꣳ रक्षोऽभितिष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाध इदमहꣳ रक्षोऽधमं तमो नयामि । घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वेस्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम् ॥१६॥

में – 'शीतो भव हनूमतः' माता सीता की इस आज्ञा तथा आशीर्वाद से अग्नि शीतल हो गई ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ स्वच्छन्दतामूलक है । प्राण, चक्षु आदि का आप्यायन शिक्षा से होना शोचनीय है । क्रूर शब्द से 'दुश्चरित्र' अर्थ ग्रहण करना अप्रामाणिक है । क्रूर न होने वाले परस्त्रीसंसर्गादि कर्ताओं का दुश्चरित्रत्व भी संभव ही है । 'निष्ट्यायताम्' का अर्थ 'दूर चला जाय' इस प्रकार करना भी निर्मूल है । ओषधि तथा स्वधिति शब्दों से अध्यापक तथा अध्यापिका अर्थ निकालना भी स्वेच्छाचारिता है । सनातनधर्म-संमत भाष्यों में श्रुति तथा सूत्र के वचनों के अनुसार ही वक्ता तथा श्रोता का निर्देश स्थान-स्थान पर किया गया है ॥१५॥

मन्त्रार्थ– हे क्रोध आदि के समूह, तुम राक्षस के समान काम आदि के भाग हो, योगयज्ञ में विघ्न करने वाला अज्ञान नष्ट हो गया है । मैं इस राक्षस रूप अज्ञान को पावों तले रौंद रहा हूँ, इस अज्ञान को पूरी तरह से नष्ट कर रहा हूँ । मैं इस अज्ञान को उसके अतिनिकृष्ट उत्पत्तिस्थान तमोगुण में पहुँचाता हूँ । हे मेरे हृदय और मन, तुम दोनों इन्द्रियों की शक्ति से अपनी आत्मा को परिपूर्ण करो । हे प्राणवायु, तुम ब्रह्मरन्ध्र से टपकने वाली अमृतरस की बूँदों का पान करो, आत्माग्नि इन्द्रियों की शक्तियों का पान करे, ब्रह्मज्ञान का उपदेश पाकर तुम दोनों व्यष्टि और समष्टि के प्रतिबिम्ब ब्रह्मरन्ध्ररूप आकाश में वर्तमान समष्टि वायु का पान करो ॥१६॥

'तद्यदग्रं तृणस्य तत्सव्ये पाणौ कुरुतेऽथ यद्बुध्नं तद्दक्षिणेनादत्ते' (श.३।८।२।१३) । 'स यत्राच्छयति यद् एतल्लोहितमुत्पतति तदुभयतोऽनक्ति रक्षसां भागोऽसीति रक्षसाꣳ ह्येष भागो यदसृक्' (श.३।८।२।१४) । तत् तस्य छिन्नस्य दर्भस्य यदग्रं तत् सव्ये पाणौ गृहीत्वा यन्मूलं तद्दक्षिणेनादाय यत्र यस्मिन् प्रदेशे आच्छयति आच्छिनत्ति, तत्र प्रदेशे यतो यस्माल्लोहितमुत्पतति तत्र च मूलतृणस्य उभयतो मूलमग्रं चानक्ति रक्षसामिति मन्त्रेण । कात्यायनोऽपि तथैवाह – 'अग्रꣳ सव्ये कृत्वा दक्षिणेन मूलमुभयतोऽनक्ति लोहितेन रक्षसामिति' (का.श्रौ.६।६।८) । सतृणाया उदरत्वचश्छेदने तृणाग्रपृथग्भूतं सव्ये हस्ते कृत्वा दक्षिणहस्तेन तृणमूलं द्विगुणीकृत्य अग्रे मूले च छेदनस्थाने समुत्पन्नेन पशो रुधिरेणाञ्जयात् । तेनायं मन्त्रार्थः – हे लोहिताक्त तृण, त्वं रक्षसां भागोऽसि । 'तदुपास्याभितिष्ठति । इदमहꣳ रक्षो.....नयामीति' (श.३।८।२।१५) । तद् दर्भाग्रम् इदमहमिति यजमानोऽतिक्रामति । कात्यायनोऽपि –'निरस्तमित्यपास्यति' (का.श्रौ.६।६।९) । अध्वर्यू रुधिराक्तं तृणमूलमुत्करे प्रक्षिपेत् । 'इदमहमित्यभितिष्ठति यजमानः' (का.श्रौ.६।६।१०) । अध्वर्युणा उत्करे क्षिप्तं तृणमूलं पादेनाक्रमेद् यजमानः । तथा चायं मन्त्रार्थः – तदिदं रक्षः, अहं यजमानोऽभितः पादेनाक्रम्य तिष्ठामि, न केवलं स्थितिमात्रम्, किन्तु अहमिदं रक्षोऽवबाधे, अवाचीनं यथा भवति तथा नाशयामि । अहमिदं रक्षोऽधममत्यन्तं निकृष्टं तमो नयामि नरकं प्रापयामि । निकृष्टमन्धकारं भूमेरधस्ताद्वर्तमानं तम एव प्रापयामि । 'अथ वपामुत्खिदति । तया वपाश्रपण्यौ प्रोर्णौति घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथामिति' (श.३।८।२।१६) । तया उद्धृतया वपया वपाश्रपण्योः शाखयोरुपरि प्रोर्णौति प्रच्छादयेद् घृतेन द्यावापृथिवीति मन्त्रेण । कात्यायनोऽपि – 'वपामुत्खिद्य वपाश्रपण्यौ प्रोर्णौति घृतेन द्यावापृथिवीति' (का.श्रौ.६।६।११) । पाटितात् पशोरुदराद् वपां निष्काश्य तया वपया वपाश्रपण्यौ प्रकर्षेणाच्छादयेद् घृतेनेति । उदरदेशेऽवस्थितो वपाख्यो मांसविशेषः । तां श्रपयतीति वपाश्रपणी । हे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ द्युलोकभूलोकसदृश्यौ वपाश्रपण्यौ, भवदीयस्वरूपं घृतेन आज्येन तत्सदृश्या वपया प्रोर्णुवाथामाच्छादयतम् । यद्वा युवां वपाश्रपण्योराच्छादनद्वारा घृतेन दीप्यमानेन वपापदार्थेन प्रोर्णुवाथां प्रकर्षेणाच्छादयेथाम् ।

अत्रैव शतपथे देवानां पश्वालम्भे – उदीच आकृष्यमाणस्यावाङ् मेघः पपात स एष वनस्पतिरजायत । यद्यत् कृष्यमाणस्यावाङ्पतनात् तस्य कष्मरीति नामधेयं जातं तेन मेघेन समर्धति कृत्स्नं करोति तस्मात् काष्मर्यमय्यौ वपाश्रपण्यौ भवत इत्युक्तम् – काष्मर्यमय्यौ वपाश्रपण्यौ भवतः' (श.३।८।२।१७) । यद्वा हे द्यावापृथिव्यौ, युवां घृतेनोदकेन आत्मानं प्रोर्णुवाथाम् आच्छादयेथाम् । परस्परम् आहुतिपरिणामाभिप्रायेणैतत् ,'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः' इत्युपक्रम्य 'आहुतिपरिणाममिदं जगत्' इति श्रुतेः । 'तदिमे द्यावापृथिवी उर्जा रसेन मार्जयत्यनयोरूर्जꣳ रसं दधाति ते रसवत्या उपजीवनीये इमाः प्रजा उपजीवन्ति' (श.३।६।१।२१) । घृतेन यद् द्यावापृथिवीपूरणम्, तदूर्ग्ररसेनैव द्यावापृथिवीपूरणं कृतं भवति, तेन द्यावापृथिवी रसवत्यौ उपजीवनीये इमाः प्रजा उपजीवन्तीति । 'तां परिवासयति । तां पशुश्रपणे प्रतपति तथो हास्यात्रापि शृता भवति पुनरुल्मुकमग्नीदादत्ते तेन जघनेन चात्वालं यन्ति ता आयन्त्यागच्छन्त्याहवनीयꣳ स एतत्तृणमध्वर्युराहवनीये प्रास्यति वायो वेः स्तोकानामिति स्तोकानाꣳ ह्येषा समित्' (श.३।८।२।१८) । तां तयोरुपसृतां परिवासयति पशोः सकाशाच्छिनत्ति । छिन्नां तां पशुश्रपणे पशुः श्रप्यतेऽस्मिन्नग्नौ स तत्र प्रतपति । तथा सत्यस्य पशोर्वपाऽत्रापि शृता भवति । अत्रापीत्यत्र अपिशब्द आहवनीयेन समुच्चयार्थः । पुनरुल्मुकमिति । प्रागाहृतमुल्मुकं श्रपणार्थमाहृताङ्गारं पुनरग्नीदादाय सर्वेऽपि चात्वालात् पश्चाद्

भाष्यसार – 'रक्षसां भागः' इस कण्डिका के मन्त्रों के द्वारा कुशा के मूल एवं अग्रभाग का अंजन, उत्कर में प्रक्षेप आदि कार्य

भागादाहवनीयं प्राप्नुयुः । तत्राध्वर्युरितत्पुरा सव्ये धृतं तृणाग्रमाहवनीये 'वायो वेः' इति प्रास्येत् । तथैव कात्यायनोऽपि – 'परिवास्य चात्वालेऽवसिच्य शामित्रे प्रतपति' (का.श्रौ.६।६।१२) । तां वपामुदरसंलग्नां छेदनेन पृथक्कृत्य चात्वाले वपाश्रपणीस्थामेव वपामुदकेन परिषिच्य शामित्रेऽग्नौ प्रतपति प्रतिप्रस्थाता । 'शामित्रैकदेशमाहवनीये प्रास्यत्यग्नीत्' (का.श्रौ.६।६।१३) । सव्ये हस्ते कृतं तृणाग्रं चाहवनीयेऽधुना प्रक्षिपेदध्वर्युः, स्तोकानामिति मन्त्रशेषः । हे वायो, स्तोकानां वपासम्बन्धिनां विप्रुषां वेः, वपाया उपरि आज्याभिघारणकाले पतिता बिन्दवः स्तोकाः, तेषामाधारत्वेन तृणाग्रं समित्स्थानीयम् । स्तोकान् वपाया विप्रुषो जानीहि ज्ञात्वा च पिबेत्यर्थः । स्तोकानामिति कर्मणि षष्ठी । 'विद् ज्ञाने' इत्यस्य लुङि मध्यमैकवचने दस्य 'दश्च' (पा.सू.८।२।७५) इति रुत्वे कृते रूपमिति । अडभाव आर्ष इत्युव्वटमहीधराचार्यौ ।

'अथोत्तरतस्तिष्ठन् वपां प्रतपति' (श.३।८।२।२०) । 'अथ स्रुवेणोपहत्याज्यमध्वर्युर्वपामभिजुहोत्यग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा' (श.३।८।२।२१) । 'अथाज्यमुपस्तृणीते । अथ हिरण्यशकलमवदधात्यथ वपामवद्यन्नाहाग्नीषोमाभ्यां छागस्य वपायै मेदसोऽनुब्रूहि' (श.३।८।२।२६) । 'हुत्वा वपाꣳ समीच्यौ । वपाश्रपण्यौ कृत्वाऽनुप्रास्यति.... ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतमिति' (श.३।८।२।२८) । कात्यायनोऽपि – 'उत्तरतस्तिष्ठन् प्रतप्य वपामन्तरा यूपाग्नी हृत्वा दक्षिणतः प्रतिप्रस्थाता श्रपयति परीत्य' (का.श्रौ.६।६।१५) । प्रतिप्रस्थाता आहवनीयादुत्तरे तिष्ठन् वपां प्रतप्य ततोऽग्नियूपयोरन्तरालेन वपां हृत्वा स्वयमपि परीत्य, न तूत्तरस्थित एव, आहवनीयाद्दक्षिणदिश्यासीन आहवनीय एव वपां श्रपयेत् ।'वपाꣳ स्रुवेणाभिघारयत्यग्निराज्यस्येति' (का.श्रौ.६।६।१६) । आहवनीयस्योपरि धृतां वपां स्रुवेणाभिघारयेत् । 'स्तोकेभ्योऽनुवाचयति' (का.श्रौ.६।६।१७) । स्तोकेभ्योऽनुब्रूहीति मैत्रावरुणं प्रेष्येत् । 'शृतायाꣳ शृता प्रचरेत्याह प्रतिप्रस्थाता' (का.श्रौ.६।६।१७) । तत उत्तमप्रयाजप्रैषादिकमङ्गग्रामं निर्वर्त्य 'हुत्वा वपाश्रपण्यावनुप्रास्यति प्राचीं विशाखां प्रतीचीमितराꣳ स्वाहाकृते इति' (का.श्रौ.६।६।२४) । अग्निराहवनीय आज्यस्य वेतु आज्यं पिबतु स्वाहा तस्मै सुहुतमस्तु । वपां हुत्वा वपाश्रपण्यावाहवनीये प्रक्षिपेत् । प्रक्षेपप्रकारमाह – विशाखां द्विशृङ्गां प्रागग्राम्, इतरामेकशृङ्गां प्रत्यगग्रां निक्षिपेत् । स्वाहाकृते उच्चारिते प्रास्यति । तत्र प्रासने मन्त्रः – ऊर्ध्वनभसमिति । ऊर्ध्वमुपरिभूतं नभोऽन्तरिक्षं यस्य वायोः स तथोक्तस्तमूर्ध्वनभसं तं मारुतं वायुं हे वपाश्रपण्यौ, स्वाहाकृते स्वाहाकारेण आहुतिभावमुपगते सत्यौ, हे वपाश्रपण्यौ, युवामागच्छतम् । वायुर्हि प्रतिष्ठा यज्ञस्य । याभ्यां शाखाभ्यां वपामशिश्रियां वपाश्रपणमकार्ष्म, ते इमे अमुका अमुत्र समुच्छ्रयरहितेऽनमिते देशे प्रणष्टे न भवत इत्यभिप्रायेणाग्नौ प्रास्यते । अयं वपायोगो विप्रकृष्टकालीनस्याङ्गयागस्य मध्यवर्तिव्यवधानेन क्षुधार्ताया देवताया अवान्तरक्षुन्निवर्तकत्वेन विहितोऽतोऽयं क्रोधशान्तिहेतुर्भवतीति स्पष्टम् । 'तद्यद् द्वयया चरन्ति यस्यै देवतायै पशुमालभन्ते तामेवैतद्देवतामेतेन मेधेन प्रीणाति सैषा देवतैतेन मेधेन प्रीता शान्तोत्तराणि हवींषि श्रप्यमाणान्युपरमति तस्माद्वपया चरन्ति ।'

अध्यात्मपक्षे तु – भगवत्पदप्राप्तिप्रतिबन्धकविघ्नसमूहमनुलक्ष्याह – हे विघ्नसमूह, त्वं रक्षसां विघ्नकारिणां रक्षोजातीयानां भागोंऽशोऽसि । भगवदनुसन्धानेन दिव्यदृष्ट्यवलोकनादिना निरस्तं रक्षो दिव्यान्तरिक्ष गौमरक्षसां निरसनेन त्वमपि निरस्तो भवेत्यर्थः । अहं गुरुपरमेश्वरादिकृपापीयूषाप्यायितो रक्षोऽभितिष्ठाम्यतिक्रम्य तिष्ठामि ।

किये जाते हैं । याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।६।८-१८,२५) में उल्लिखित है । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

न केवलमेतावदेव, किन्त्वहमिदं रक्षोऽवबाधे समूलमुन्मूलयामि । 'अधममिदं रक्षः । अधमं तमो नयामि निकृष्टं तमो नयामि । हे द्यावापृथिवी, युवां घृतेन प्रोर्णुवाथां मातापितृरूपे दिव्यदम्पती गौरीशङ्करौ सीतारामौ राधाकृष्णौ वा घृतेन स्नेहेन परस्परमात्मानमाच्छादयेथाम्, तदनुभवेनैव भक्तानामभीष्टसिद्धेः । परस्परगौरश्यामतेजःसंवलितं परस्परालिङ्गितं प्रहृष्टं ब्रह्मज्योतिर्भक्तानां सर्वपुरुषार्थसाधकं भवति । हे वायो मत्प्राणभूत, त्वं स्तोकानां दिव्यदम्पत्योः प्रेमबिन्दून् वेः पिब, पीत्वा कृतार्थो भव । अग्निः परमेश्वरः शक्तिमदधिष्ठानचेतनमाज्यस्यआज्यम् , शेषे षष्ठी, त्वद्विषयकं भक्ताश्रयं प्रेम वेतु जानातु । तस्मै स्वाहा सर्वस्वं निवेदितमस्तु । हे दिव्यदम्पती द्यावापृथिव्यौ, युवां स्वाहाकृते परस्परात्मसमर्पणेनान्योन्यात्मतामुपगते । ऊर्ध्वं नभ आकाशो यस्मात् तम् ऊर्ध्वनभसं मारुतं बहिश्चरं प्राणं त्वत्प्रियमुपासकमुपगच्छतम् ।

दयानन्दस्तु – 'शिष्यवर्गेषु यथायोग्योपदेशकरणमनेन मन्त्रेणाह – हे दुष्टकर्मकारिन्, त्वं रक्षसां भागोऽसि, अतो रक्षो निरस्तं भव । अहमिदं रक्षोऽधितिष्ठामि, तिरस्करणाय तदभिमुखमुपविशामि । अहमिदं दुष्टस्वभाविनमवबाधे अर्वाचीनो यथा स्यात्तथा हन्मि । अहमिदं रक्षोऽधमं तमो नयामि दुःसहदुःखं प्रापयामि । श्रेष्ठगुणग्राहिणं शिष्यमुपदिशति – हे वायो गुणग्राहकशिष्य, त्वं स्तोकान् सूक्ष्मेभ्योऽपि सूक्ष्मान् व्यवहारान् वेः विद्धि । त्वद्यज्ञशोधितेन घृतेन द्यावापृथिवी आच्छादयेताम् । अग्निः समस्तविद्यापन्नो विद्वान् , तवाज्यस्य स्नेहद्रव्यं स्वाहा वेतु जानातु । तथा स्वाहाकृते पूर्वोक्ते द्यावापृथिव्यौ ऊर्ध्वनभसं त्वद्यज्ञशोधितजलमूर्ध्वप्रापकं मारुतं गच्छतम्' इति, तदपि बालप्रलपितमेव, विरुद्धत्वात् । नहि रक्षसां भागोऽसीत्युपदेशवचनं सम्भवति, न चामुखस्थितिस्तिरस्कारकारणं भवति, प्रसादनायापि तत्सम्भवात् । न चोपदेष्टॄणां हनने प्रवृत्तिः सम्भवति, तस्य शासनकार्यत्वात्, प्रमादात्तथात्वे दण्ड्यत्वापातात्, स्तोकशब्दस्य स्वल्पार्थत्वे सत्यपि सूक्ष्मार्थत्वाभावाच्च । अत एव 'स्तोकान् विद्धि' इत्यस्य स्वल्पान् विद्धीत्येवार्थः सम्भवति, न तु सूक्ष्मान् , नेतरान् सूक्ष्मेभ्योऽपि सूक्ष्मानिति । त्वद्यज्ञशोधितेन घृतेनेत्यपि निर्मूलम्, शब्दार्थबहिर्भूतत्वात् । न च शोधितेनापि घृतेन द्यावापृथिव्योराच्छादनं सम्भवति । वायुपदस्य गुणग्राहकशिष्योऽर्थ इत्यपि निर्मूलम् , तथैवाग्निपदस्य प्राप्तविद्यो विद्वानर्थ इत्यपि प्रसिद्धिविरुद्धमेव । कथं च द्यावापृथिव्योर्मारुतं प्रति

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – भगवत्पद की प्राप्ति के प्रतिबन्धक विघ्नसमूह को लक्ष्य करके कहा गया है कि हे विघ्नसमूह, तुम विघ्नकारी राक्षसों के अंश हो, भगवदन्वेषण से दिव्य दृष्टि के अवलोकन के द्वारा अन्य राक्षसों के निरास के साथ ही तुम भी निरस्त हो जाओ । मैं गुरु, परमेश्वर आदि की कृपासुधा से सिंचित होकर राक्षसों का अतिक्रमण करके खड़ा हूँ । इतना ही नहीं, मैं राक्षसों को समूल नष्ट करता हूँ । इस अधम राक्षस को निकृष्ट अन्धकार में पहुँचाता हूँ । हे द्यावापृथिवी, मातापितारूपी दिव्यदम्पती गौरीशंकर, अथवा सीताराम या राधाकृष्ण, आप दोनों स्नेह से परस्पर समाच्छादित रहें, क्योंकि इसके अनुभव से ही भक्तों के अभीष्ट की सिद्धि होती है । परस्पर गौरश्याम तेज से संवलित आनन्दरूप ब्रह्मज्योति भक्तों के सम्पूर्ण पुरुषार्थ की साधिका है । ओ मेरे प्राणवायु, तुम दिव्य दम्पती के स्नेहबिन्दुओं को पीकर कृतार्थ होओ । परमेश्वर तुमसे सम्बद्ध भक्ताश्रय प्रेम को जानें । उसके लिये सर्वस्व निवेदित है । हे दिव्यदम्पती, आप दोनों परस्पर आत्मसमर्पण के द्वारा अन्योन्याश्रित हैं । बहिश्चर प्राण आपके उपासक को प्राप्त हों ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ विरुद्ध होने के कारण बालोक्ति की भांति है । 'तुम राक्षसों के भाग हो' उपदेशवचन इस प्रकार होना संभव नहीं है । उपदेशकों की प्रवृत्ति हिंसा में नहीं हो सकती, क्योंकि यह तो शासन का कार्य है । यदि प्रमाद से कोई हिंसा करना है, तो वह दण्ड का भागी हो जाता है । स्तोक शब्द 'स्वल्प' अर्थ का बोधक होने पर भी 'सूक्ष्म' अर्थ का

गमनं सम्भवति ? मूले स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतमित्युक्तम्, त्वया तु तद्यज्ञशोधितजलमूर्ध्वप्रापकं मारुतं गच्छतमित्युच्यते, तच्चाशुद्धमेव ॥१६॥

इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत् । यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् । आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥१७॥

'अथ चात्वाले मार्जयन्ते । क्रूरी वा एतत्कुर्वन्ति यत्संज्ञपयन्ति यद्विशासति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयन्ते तदद्भिः सन्दधते तस्माच्चात्वाले मार्जयन्ते' (श.३।८।२।३०) । कात्यायनोऽपि – 'चात्वाले मार्जयन्ते सपत्नीका इदमापः प्रवहतेति' (का.श्रौ.६।६।२५) । चात्वालसमीपे षड् ऋत्विजो यजमानः पत्नी चाद्भिरात्मानं मार्जयन्ते अभ्युक्षन्ति । मार्जयन्त इति स्वार्थे णिच् । अब्देवत्या त्र्यवसाना महापङ्क्तिः । पावमानश्चान्त्यः पादः । यस्याः षट् पादा अष्टाक्षरा सा महापङ्क्तिः । हे आपः, इदं पशुसंज्ञपनादिनिमित्तं पापं प्रवहत मत्तोऽपनयत । यच्चावद्यमवदनीयमभिशापादि यच्च मलं शरीरलग्नं प्रसिद्धं तच्च प्रवहत । किञ्च, यदहमनृतमसत्यमुक्त्वाऽभिदुद्रोह द्रुग्धवानस्मि 'द्रुह जिघांसायाम्', यच्चाहमभीरुणं बिभेतीति भीरुर्न भीरुरभीरुस्तमभीरुणमनपराधिनम् । अपराधी हि बिभेति नानपराधी । तादृशमनपराधिनं शेपे शपितवानस्मि । अनपराधिनं प्रति मया शापो दत्तः, तस्मादेनसः पापाद् आपो मा मां मुञ्चन्तु पृथक्कुर्वन्तु । पवमानश्च वायुः सोमो वा तस्मादेनसो मां मुञ्चतु ।

अध्यात्मपक्षे – आपो गङ्गादिगता मन्त्रैरभिमन्त्रिता वा । हे आपः, यूयमिदं पापं प्रवहतु, यच्चावदनीयमभिशापादि यच्च मलं प्रमादकृतं शरीरलग्नं यच्चानृतमभिदुद्रोह यच्च शेपेऽभीरुणम्, यद्वा अभितो लुनाति छिनत्ति सत्कर्माणि यदुच्चरितं सत्तदभीरुणम् अनृतभाषणं तस्माद् मां साधकमापो मुञ्चन्तु । पवमानो वायुः सोमो वा नाममात्रेण पवमानो भगवान् परमेश्वरश्च मां सर्वस्मात् पापाद् मुञ्चतु मोचयतु ।

दयानन्दस्तु – 'भो आपः, सर्वविद्याव्यापिनो विपश्चितः, यूयं यथापः शुद्धिकरास्तथा मम यदवद्यं निन्द्यं कर्म यच्च मलमविद्यारूपं तदिदं प्रवहत । यदहमनृतं कञ्चनाभिदुद्रोह यद् अभीरुणमनपराधिनं पुरुषं शेपे, तस्मादेनसो

बोध नहीं करा सकता । वायु शब्द का 'गुणग्राहक शिष्य' अर्थ करना, 'अग्नि' शब्द का अर्थ विद्वान् करना प्रसिद्धि के विरुद्ध है ॥१६॥

मन्त्रार्थ – हे ज्योतिरसामृतरूप जलदेवता, कामनाओं के दाता, हमारे इस अज्ञान को दूर करो, निन्दित विषयभोग, ज्ञान का आवरक मल और अहंकारममकार युक्त मिथ्यामोह, इन सबको आप नष्ट कर दो । अद्वैत आत्मा को ब्रह्म से पृथक् जान कर जो हमने भूल की है, ब्रह्मामृतरूप जल और समष्टि वायु इस अज्ञान से हमें छुड़ावें ॥१७॥

भाष्यसार – 'इदमापः' इस ऋचा के द्वारा सपत्नीक यजमान तथा छः ऋत्विग्गण जल से अपना प्रोक्षण करते हैं । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।६।२७) में उल्लिखित है । शतपथ ब्राह्मण में जल की स्तुति के रूप में मन्त्रार्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – गंगा आदि पुण्य नदियों के अथवा अभिमन्त्रित किये गये हे जलदेवता, आप इस पाप को बहा दीजिये, जो अभिशाप आदि के द्वारा और प्रमाद के कारण शरीर में संलग्न हो गया है । अथवा सत्कर्मों को विनष्ट करने वाले उच्चरित असत्यभाषण से मुझ साधक को जल देवता मुक्त करें । नामग्रहण मात्र से पवित्र करने वाले भगवान् परमेश्वर मुझे समस्त पापों से मुक्त करें ।

मां पृथग् रक्षत । यथा पवमानो मालिन्याद् मां सद्यो दूरीकरोति, तथा चान्यानपि पृथक् करोतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकृते लुप्तोपमालङ्कारे मानाभावात् । न च विद्वांसो ब्रह्महत्यादिकं पापमपनयन्ति, तथात्वे प्रायश्चित्तोपदेशवैयर्थ्यापत्तेः । त्वद्रीत्या आपोऽपि न तथा कर्तुं प्रभवन्ति । पवमानः क इति तु अन्वये नोक्तम् । हिन्द्यां तु– 'पवमानः पवित्रकारको व्यवहारः' इत्युक्तम्, तदप्यसम्यक्, अनिन्द्यव्यवहारस्य पापाजनकत्वेऽपि पापनाशकत्वे मानाभावेन तदसङ्गतेः । परोपकारादिस्तु यद्यपि पवित्रकारकस्तथापि स न व्यवहारः, तस्य शास्त्रमात्रैकगम्यत्वान् ॥१७॥

सं ते मनो मन॑सा सं प्राणः प्राणेन॑ गच्छताम् । रेड॑स्यग्निष्ट्वा॑ श्रीणात्वाप॑स्त्वा सम॑रिणन् वात॑स्य त्वा ध्राज्यै॑ पूष्णो रꣳह्या॑ ऊष्मणो॑ व्यथिषत् प्रयु॑तं द्वेषः ॥१८॥

'सोऽभिघारयति सं ते मनो स हृदयमेवाग्रेऽभिघारयति । आत्मा वै मनो हृदयं प्राणः पृषदाज्यमात्मन्येवैतन्मनसि प्राणं दधाति तथैतज्जीवमेव देवानाꣳ हविर्भवत्यमृतममृतानाम्.... मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छतामिति न स्वाहा करोति न ह्येषाहुति–रुद्वासयन्ति पशुम्' (श.३।८।३।८-९) । पशुहृदयाभिघारणं प्रशंसति–आत्मा वै मन इति । यदेतद् हृदयाख्यमङ्गं तन्मनआख्यक आत्मा खलु, 'एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति' (तै.उ. २।८) इत्यादौ आत्मत्वव्यवहारात् । यद्वा मनउपाधिक आत्मा परिपूर्णस्य परमात्मनः परिच्छेदेन जीवभावः, मनस उपाधित्वात् पृषदाज्यस्य प्राणत्वमुक्तम् । एतेन हृदयाभिघारणेन आत्मभूते मनसि प्राणं स्थापितवान् भवति । तथा सति हृदयद्वारा प्राणप्रज्ञयोः स्थापितत्वाद् देवानामिदं सजीवं हविः सम्पद्यते, अग्रशब्दश्रुतेः सामर्थ्यादितराण्यङ्गानि पश्चादाज्येनाभिघारयेत् । सं ते मन इत्यभिघारयति । कात्यायनोऽपि – 'सं ते मन इति हृदयमभिघार्य सर्वमिति' (का.श्रौ.६।८।६) । जुहूस्थेन पृषदाज्येन पूर्वं सन्त इति हृदयमभिघार्य ततस्तूष्णी सर्वं पशुमभिघारयेत् । हृदयदेवत्यं यजुः । हे हृदय, ते पशोस्तव मनः पृषदाज्येनाघारितं सद् देवानां मनसा संगच्छताम् । त्वदीयः प्राणोऽपि पृषदाज्येनाघारितः सन् प्राणेन संगच्छताम् । यद्वा हे अभिघार्यमाण हृदय, ते मनः, मनःप्राणयोर्हृद्यवस्थानादाश्रयाश्रयिणोरभेदान्मन इति, स्वस्वामिभावसम्बन्धोपचाराद्वा

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ लुप्तोपमा अलंकार में प्रमाण न होने के कारण अनुचित है । विद्वान् लोग ब्रह्महत्या आदि के पाप को समाप्त नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा होने पर प्रायश्चित्त का निरूपण ही व्यर्थ हो जायगा । आपके मत में तो जल भी पाप का विनाश नहीं कर सकते । पवमान कौन है ? यह भी अन्वय में नहीं कहा गया है । हिन्दी अर्थ में 'पवमान पवित्र करने वाला व्यवहार है' यह कहा गया है । परन्तु यह भी अनुचित है । अनिन्द्य व्यवहार पाप का उत्पादक न होने पर भी पापनाशक है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । परोपकार आदि यद्यपि पवित्र करने वाले हैं, परन्तु वे व्यवहार नहीं हैं, क्योंकि वे केवल शास्त्रगम्य ही हैं ॥१७॥

मन्त्रार्थ – हे भूतात्मा के हृदय, तुम्हारा मन समष्टि हृदय से संयुक्त हो, प्राण समष्टि प्राण से संयुक्त हो । हे मानस सूर्य, तुम परिच्छिन्न होकर नष्टप्राय हो गये हो, ब्रह्माग्नि तुम्हारी रक्षा करे । प्राण को दहराकाश में पहुँचाने के लिये और मानस सूर्य की भ्रूकुटि में गति के लिये तुम्हें स्वीकार करता हूँ । ब्रह्माग्नि की क्षुधा वृद्धिगत हो, कामना रूप राक्षस का नाश हो ॥१८॥

भाष्यसार – 'सं ते मनः' इस कण्डिका के मन्त्रों से हविर्द्रव्य का अभिघारण तथा हविर्ग्रहण आदि कर्म अनुष्ठित किये जाते

मन इति । मनसा पृषदाज्यलक्षणेन, पृषदाज्यस्य मनोलक्षणतया स्तुतत्वात्, प्राणमनसोरवियोगात्, पृषदाज्यमपि मन उच्यते, तेन संगच्छतां संगतं भवति, तथा प्राणः प्राणेन पृषदाज्यलक्षणेन संगतं भवतु । यद्वा हे पशो, ते यौ मनःप्राणावपगतौ ताभ्यां हृदयरूपेणावस्थिताभ्यां संगच्छताम् । तदेषाहुतिरित्यभिघारणरूपत्वेनाहुतिसंस्कारत्वात् स्वत आहुतित्वाभावान्न स्वाहाकुर्यात् । 'अथ वसाहोमं गृह्णाति रेडसीति' (श.३।८।३।२०) 'रेडसीति वसां गृहीत्वा' (का.श्रौ.६।८।११) । वसां मांसपाकरसं वसाहोमहवन्या गृह्णाति । वसादेवत्यं यजुः । हे वसे, त्वं रेडसि रिष्टा हिंसिता इव भवसि, अल्पत्वात् । पूष्णोऽल्पत्वं श्रुतिराह – 'लेलयेव हि यूरिति' (श.३।८।३।२०) लेलयाशब्दोऽल्पवचनः । रिषतिर्हिंसार्थः । कर्मणि विच् । लघूपधगुणे रेडिति रूपम् । तस्मादाहवनीयोऽग्निस्त्वां श्रीणातु श्रपयतु, श्रपयति श्रपयन् भूयसीं करोति । यद्वाग्निस्त्वा श्रीणातु स्वीकरोतु । आपश्च त्वा समरिणन् सम्यक् प्राप्नुवन्तु । अर्थात् तव शोषो मा भूत् । हे वसे, त्वां दधामीति शेषः । किमर्थम् ? वाताय वायोर्ध्राज्यै गत्यै । पूष्ण आदित्यस्य रंह्यै गत्यै । रंहतिर्गतिकर्मा । वाय्वादित्ययोरप्रतिहतगमनसिद्ध्यर्थं त्वां दधामीत्यर्थः । ऊष्मणः, ऊष्मान्तरिक्षम्, तदर्थं त्वां गृह्णामि । विशेषेणाधिक्येन सीदतीति व्यथिषद् वसारूपं हविः, तथाभूतं भवतु । यद्वा हे वसाद्रव्य, त्वं रेट् हिंसकमसि । ब्राह्मणानुगुणं लत्वादिकं कृत्वा लेलयारूपम् । लेलयेवेति द्रवद्रव्यत्वादितस्ततश्चलनं विवक्षित्वा शतपथे व्याख्यातम् । तादृशमाहवनीयोऽग्निः श्रीणातु क्षपयतु । आपस्त्वा समरिणन् 'री गतिरेषणयोः' इत्यस्य लुङि रूपम् । उदकानि त्वां समतरन्, उदकैः सह सर्वाङ्गेभ्यो निःसृतत्वात् । यद्वा 'री वधे गतौ च' क्र्यादिः । अत्र बिभर्त्यर्थः, समभरन्नपुष्यन्नित्यर्थः । वातस्य वायोः, ध्राज्यै गत्यै गृह्णामि । तथा पूष्णः रंह्यै वेगाय गृह्णामि । वाय्वादित्ययोरन्तरिक्षाश्रयत्वाद् ध्राजिरंही अन्तरिक्षपरतया ब्राह्मणेन व्याख्याते । ऊष्मणे व्यथिषद् इति वसाविशेषणम् । ऊष्मान्तरिक्षं ततः सकाशाद् व्यथयतीति व्यथिषत् । अन्तरिक्षं ब्रह्मण ऊष्मेव । ऊष्माणमन्तरिक्षं वसा व्यथयतु, कर्मणि षष्ठी । यद्वा व्यत्ययेन प्रथमार्थे षष्ठी । ऊष्मा व्यथिषद् व्यथताम् । वसां पीत्वा तृष्णाधिक्येन यथा सीदति वसारूपं हविस्तथाविधं भवत्वित्यर्थः । अन्तरिक्षार्थं च वसा गृह्यते, होममन्त्रेऽन्तरिक्षस्य हविरसीति लिङ्गात् । इयं वसा ऊष्मणोऽन्तरिक्षस्य या भोक्त्री शक्तिस्तां व्यथिषद् व्यथतु, तत्तृप्तिं कृत्वातिरिक्ता भवत्वित्यर्थः । अन्तरिक्षे तृप्ते तत्प्रभवत्वाद् वायुसूर्ययोरपि स्वकर्मक्षमता भवति ।

रेट्शब्दस्य शतपथश्रुतिव्याख्यानं यथा – 'रेडसीति लेलयेव हि यूस्तस्मादाह रेडसीत्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वित्यग्निर्ह्येतच्छ्रपयति तस्मादाहाग्निष्ट्वा श्रीणात्वित्यापस्त्वा समरिणन्नित्यापो ह्येतमङ्गेभ्यो रसꣳ सम्भरन्ति तस्मादाहापस्त्वा समरिणन्निति' (श.३।८।३।२०) । रेट्शब्दं व्याचष्ट – यौतीति यूः वसा, सा लेलयेव गमनेनेतस्ततश्चलनमुपमीयते । श्रीणात्वित्यस्य पाकोऽर्थ इति व्याचष्टे – अग्निर्ह्येतत् श्रपयति । आपस्त्वा समरिणन्नित्यापो ह्येत्मङ्गेभ्यो रसं संभरन्ति । अत एव रिणातिर्बिभर्त्यर्थः । आपो हि पच्यमानेभ्यः पश्वङ्गेभ्यो यं रसमाददतेऽसौ वसेत्युच्यते । 'वातस्य त्वा ध्राज्या इति । अन्तरिक्षं वा अयमनुपवते योऽयं पवतेऽन्तरिक्षाय वै गृह्णाति तस्मादाह वातस्य त्वा ध्राज्या इति' (श.३।८।३।२१) । 'पूष्णो रꣳह्या इति । एष वै पूष्णो रꣳहिरेतस्मा उ गृह्णाति....' (श.३।८।३।२२) । वातस्य ध्राजिः पूष्णो रंहिश्चान्तरिक्षपराविति व्याचष्टे, वातपूष्णोरुभयोरन्तरिक्षाश्रयत्वात् । एषोऽन्तरिक्ष एव पूष्णो रंहिर्गतिर्वेगो वा । तस्मात् पूष्णो रंह्याश्रयायान्तरिक्षाय

हैं । कात्यायन श्रौतसूत्र (६।८।६-११) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है । शतपथ श्रुति में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

गृह्णाति । 'ऊष्मणो व्यथिषदिति । एष वा ऊष्मैतस्मा उ हि गृह्णाति तस्मादाहोष्मणो व्यथिषदिति....' (श.३।८।३।२३) । ऊष्मशब्दोऽप्यन्तरिक्षपरः । 'अथोपरिष्टाद् द्विराज्यस्यभिघारयति । अथ पार्श्वेन वासिना वा प्रयौति । प्रयुतं द्वेष इति तन्नाष्ट्र एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति' (श.३।८।३।२३-२४) । कात्यायनोऽपि – 'द्विरभिघार्य प्रयुतमिति पार्श्वेन सꣳसृजत्यसिना वा' (का.श्रौ.६।८।११) । मांसपाकरसं वसाहोमहवन्या गृहीत्वोपरिष्टाद् द्विरभिघार्य पार्श्वेन पार्श्वास्थ्ना असिना, कट्टारिकया वा आज्यं वसां च मिश्रयेत् । अत्र काण्वसंहितायां सायणाचार्यस्तु पार्श्वगतेन मांसेन मिश्रीकुर्यादित्याह, पार्श्वेन वसाहोमं प्रयौतीति श्रुत्यन्तरात् । शतपथीयसायणभाष्ये तु पार्श्वेन पार्श्वास्थिना असिना वेत्युक्तम् । श्रुतौ सूत्रे चासिना वेत्युक्तेर्मिश्रणसाधनत्वेनासेरिव पशोः पार्श्वस्थस्यास्थ्नो ग्रहणं प्रतीयते । सूत्रभाष्यकारा अपि तथैव व्याचक्षते ।

मन्त्रार्थस्तु – द्वेषः अप्रियम्, 'द्विष अप्रीतौ' । सायणीयकाण्वभाष्यरीत्या वसापार्श्वमांसयोः परस्परं मिश्रणेन यदप्रियमस्ति, तदुभयोः सकाशात् प्रयुतं पृथग्भूतं भवतु । महीधररीत्या द्वेषो दौर्भाग्यं प्रयुतं पृथग्भूतं वसायाः सकाशाद् घृतमिश्रणेन । शतपथीयसायणभाष्यरीत्या तु पार्श्वेन मांसास्थिना असिना वा गृहीतां वसां विभजति । द्वेषोऽनिष्टेभ्यः सकाशात् प्रयुतं पृथक्कृतं भवति । तत्र सूत्रस्थैर्द्विरभिघार्य संसृजतीति पदैः श्रुतिस्थद्विराज्यस्याभिघारयति पार्श्वेनासिना वा प्रयौतीति पदैश्च पार्श्वस्थेनास्थ्ना असिना वाज्यवसारसयोर्मिश्रणमेव प्रतीयते । तत एव द्वेषस्य दौर्भाग्यस्य, उभयगतस्याप्रियस्य वा पृथक्करणं सङ्गच्छते ।

अध्यात्मपक्षे – हे भगवत्परायणोपासक, ते तव मनः परमेशमनसा, ते प्राणः परमेशप्राणेन सङ्गच्छताम् । कायानुसारिणी छायेव त्वं प्रियतमस्य भगवतो मनसा स्वं मनः संयोजय, अर्थात् तन्मनसि ते मनः, तत्प्राणे ते प्राणः सङ्गच्छताम्, तदधीनस्थितिगतिप्रवृत्तिर्भवेत्यर्थः । त्वं रेट् कामादिदोषाणां घातकोऽसि । अग्निस्तपोरूपः प्रियविप्रलम्भरूपो वा त्वा श्रीणातु परिपचतु । त्वदीयदेहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादीनां लौकिकत्वं भौतिकत्वं प्राकृतत्वं चापनोद्य तन्मूलतो दहतु, देवत्वं च सम्पादयतु । आपः शमादयः, त्वा त्वां समरिणन् प्राप्नुवन्तु, त्वां देवभावमुपनयन्तु वा । ध्यानप्राप्तभगवत्संश्लेषजनितरसोद्रेको वा त्वां दिव्यं देवभावं प्रापयतु, अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र द्रष्टव्यः । 'अतप्ततनूर्न तदामोऽश्नुते दिवम्' (ऋ.सं.९।८३।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'देवो भूत्वा यजेद्देवान्नादेवो देवमर्चयेत्' इत्यादिकारिकाभ्यश्च, 'दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः । ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्त्या क्षीणमङ्गलाः ॥' (भा.पु.१०।२९।१०) इति श्रीमद्भागवतवचनाच्च । भगवत्पदप्राप्तये त्वां वातस्य सूत्रात्मनो ध्राज्यै गत्यै पूष्णो हिरण्यगर्भस्य रंह्यै वेगाय अहमाचार्यः प्रेरयामि प्रोत्साहयामि वेति शेषः । ऊष्मणोऽनादिकालात् प्रवृत्तान् त्रिविधांस्तापान् भगवत्पदप्राप्त्या व्यथिषद् व्यथयतु, नाशयत्वित्यर्थः । द्वेषे दौर्भाग्यं प्रयुतं त्वत्तः सकाशाद् अनन्तकालाय पृथग्भूतं भवतु ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे भगवत्परायण उपासक, तुम्हारा मन परमेश्वर के मन से तथा तुम्हारा प्राण परमेश्वर के प्राण से संयुक्त हो । शरीर का अनुसरण करने वाली छाया की भाँति तुम प्रियतम भगवान् के मन से अपना मन संयुक्त करो, अर्थात् उसके अधीन स्थिति, गति तथा प्रवृत्ति से युक्त बनो । तुम कामादि दोषों के नाशक हो । तपोरूप अथवा प्रियविप्रलम्भ-स्वरूप अग्नि तुमको परिपक्व करे । तुम्हारे देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का लौकिकत्व, भौतिकत्व और प्राकृतत्व हटाकर उसको दग्ध करे और देवत्व सम्पादित करे । शम, दम आदि तुमको प्राप्त करें तथा देवत्व प्राप्त करावें । अथवा ध्यान से प्राप्त भगवान् के अनुभव से उत्पन्न रसोद्रेक ही तुमको दिव्यभाव प्राप्त करावे । भगवत्पद-प्राप्ति के लिये, सूत्रात्मा की गति के लिये, पूषा हिरण्यगर्भ के वेग के लिये मैं गुरु तुमको प्रोत्साहित अथवा प्रेरित करता हूँ । अनादि काल से प्रवृत्त त्रिविध तापों को भगवत्पदप्राप्ति के द्वारा विनष्ट करे । दौर्भाग्य तुमसे अनन्त काल के लियें दूर हो जाय ।

दयानन्दस्तु – 'हे योद्धः, संग्रामे ते मनो मनसा प्राणः प्राणेन च सङ्गच्छताम् । हे वीर, त्वं रेडसि । त्वामग्निर्युद्धजन्यक्रोधाग्निः श्रीणातु । त्वं प्रयुतं शत्रुसैन्यं प्राप्य तज्जन्यादूष्मणो द्वेषो मा त्वां संव्यथिषत् । वातस्य ध्राज्यै वातस्य गतिरिव युद्धकर्मणि गत्यै, यद्वा पूष्णो रंह्यै सूर्यगतिरिव युद्धभूमिषु गत्यै यथार्थतया युद्धकर्मणि प्रवृत्त्यै आपस्त्वां समरिणन्' इति, तदप्यसङ्गतमस्पष्टं च, योद्धुरन्यस्य वात्र सम्बोधनीयत्वे विनिगमनाभावात् । सायणादिव्याख्यानेषु तु श्रुतिसूत्राणि प्रमाणानि, तथा नात्र किञ्चन प्रमाणमस्ति । किञ्च, मनो मनसा कथं सङ्गतं भवेत्, कथं च प्राणः प्राणेन ? तृतीयान्तयोर्मनःप्राणशब्दयोर्विज्ञानबले अर्थः, इत्यत्रापि न किञ्चिदपि मूलमस्ति । एवमग्निपदेन युद्धाग्निः क्रोधाग्निः कामाग्निर्भौतिको वाग्निरित्यत्र किं गमकम् ? 'श्रीणातु' इत्यस्य दृढीकरोत्वित्यर्थ इति हिन्द्यामुक्तम् । तदपि मूलसापेक्षम्, सति मुख्यार्थसम्भवे गौणार्थाश्रयणायोगात् । तज्जन्यादूष्मणो द्वेषो त्वा मा व्यथिषदित्यपि न सङ्गतम्, मूले मापदस्य अन्यस्य वा निषेधबोधकस्य पदस्याभावात् । युद्धकर्मणि वातस्येव ध्राज्यै पूष्णो रंह्यै नह्यपां प्राप्तिरेव साधनम्, शत्रूणामपि तत्सौलभ्यात् । प्रयुतपदं संख्यापरम्, न तेन शत्रुसैन्यं ग्रहीतुं शक्यते । प्राप्येत्यपि निर्मूलम् । तस्मान्मूर्खजनप्रतारणमात्रमेतत् ॥१८॥

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा । दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा ॥१९॥

'स जुहोति घृतं घृतपावानः.....स्वाहेत्येतेन वैश्वदेवेन यजुषा जुहोति वैश्वदेवं वान्तरिक्षं तद्यदेनेनेमाः प्रजाः प्राणत्यश्चोदानत्यश्चान्तरिक्षमनुचरन्ति तेन वैश्वदेवं वषट्कृते जुहोति यानि जुह्वामवदानानि भवन्ति' (श.३।८।३।३२) । वसाहोममन्त्रमाह – 'अर्धर्चान्तरे याज्यायै वसैकदेशं जुहोति घृतं घृतपावानः' (का.श्रौ.६।८।१६) । याज्याया अर्धर्चयोरन्तराले एकस्मिन्नर्धर्चे उक्ते द्वितीये चानुक्ते सति सव्ये स्रुचौ कृत्वा दक्षिणेन वसाहोमहवन्या वसाया एकदेशं जुहुयात् । वैश्वदेवं यजुः । हे घृतपावानः, घृतस्य पातार उपभोक्तारः, यूयं घृतं द्रवरूपं हविः

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ असपष्ट तथा असंगत है, क्योंकि यहाँ योद्धा तथा किसी अन्य को सम्बोधित करने में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है । सायण आदि की व्याख्याओं में तो श्रुति तथा सूत्रवाक्य प्रमाण हैं, परन्तु यहाँ कोई प्रमाण नहीं है । 'श्रीणातु' इसका अर्थ हिन्दी में 'दृढ़ करे' इस प्रकार किया गया है, इसमें भी मूल की अपेक्षा है । मुख्यार्थ सम्भव रहने पर गौण अर्थ का अवलम्बन अनुचित है । 'प्रयुत' शब्द संख्यापरक है, उससे शत्रुसेना का ग्रहण नहीं किया जा सकता । 'प्राप्त करके' यह कहना भी निर्मूल ही है, अतः यह व्याख्या केवल अज्ञ जनों को दिग्भ्रान्त करने वाली है ॥१८॥

मन्त्रार्थ – हे इन्द्रियों की शक्तियों को पीने वाले समष्टिरूप मन, बुद्धि और प्राण, तुम सब इन्द्रियों की सकल शक्तियों का पान करो । हे मानससूर्य का पान करने वाले ब्रह्मपरायण नारायण नामक देवताओं, तुम सब मानससूर्य का पान करो । हे मानससूर्य, तुम हार्द अन्तरिक्ष से श्रेष्ठ हवि प्रदान करो, विशेष रूप से ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा तीन प्रकार के हैं– सावित्री का उपदेष्टा, निर्गुण और सगुण ब्रह्म का उपदेष्टा और उत्तम योगमार्ग का उपदेष्टा । ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप ये तीनों प्रकार के गुरु हमें उपदेश करते हैं । इनके लिये हम श्रेष्ठ हवि प्रदान करते हैं ॥१९॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।८।१६-२०,४।४।१८) में निरूपित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'घृतं घृतपावानः' इस

पिबत । हे वसायाः पातारो देवाः, अत्रत्यं वसारूपमिदं हविः पिबत । वसायां द्विरभिघारणस्य विहितत्वाद् घृतस्य विद्यमानत्वाद् घृतपातृत्वं सङ्गच्छते । यद्वा 'घृ क्षरणदीप्त्योः' इत्यनुसारेण क्षरणरूपं रसात्मकमिदं हविः । तेन घृतस्य रसद्रव्यस्य पातारः, अन्तरिक्षस्य सर्वदेवाश्रयत्वादस्यापि तदर्थत्वादन्तरिक्षस्य देवताद्वारा अन्तरिक्षस्यैव हविष्ट्वम् । हे पशो हे वसे वा, त्वमन्तरिक्षवासिनो देवगणस्य हविरसि, स्वाहा सुहुतमस्तु । मन्त्रस्य वैश्वदेवत्वं प्रकृतहोमसङ्गतमित्याह – वैश्वदेवेन यजुषा जुहोतीति । वैश्वदेवं वा अन्तरिक्षम्, तत्रैव समेषां देवानां सत्त्वात् । यदेतेन वैश्वदेवेन इमाः प्रजाः प्राणत्यः प्राणनं कुर्वन्त्यः, उदानत्य उदानं कुर्वन्त्यः, अन्तरिक्षमनुचरन्ति । बहुत्वलिङ्गाद्वैश्वदेवत्वं यजुषः । अन्तरिक्षमपि सर्वासां देवतानां प्राणोदानव्यापाराश्रयत्वेन वैश्वदेवम् । अन्तरिक्षार्थश्च वसाहोमः । तेन होमस्य वैश्वदेवत्वे एतदपि वैश्वदेवं यजुरत्र युज्यते । मन्त्रे होतव्यवसाहोममभिधाय प्रधानहोममाह – 'वषट्कृते जुहोति यानि जुह्वामिति । अथ जुह्वा पृषदाज्यस्योपघ्नन्नाह – वनस्पतयेऽनुब्रूहीति' (श.३।८।३।३३) 'प्रत्येत्य दिशो व्याघारयति वसाशेषेण वाजिनवदिति' (का.श्रौ.६।८।२०) । यजतिस्थानवज्जुहोतिस्थानं प्रत्येत्य स्रुचौ सव्ये कृत्वा वसाशेषेण वाजिनवद् दिग्व्यवघारणं कुर्यात् । वसाहोमानन्तरं जुह्वा पृषदाज्यस्यैकदेशमवद्यन् वनस्पतयेऽनुब्रूहीति होतारं ब्रूयात् । 'अथ यद्वसाहोमस्य परिशिष्यते तेन दिशो व्याघारयति' (श.) । दिशो व्याघारयतीति श्रुतेरेकैको मन्त्र एकैकदिगर्थः । दिशः प्राग्दिग्भ्यः स्वाहा, प्रदिशो दक्षिणदिग्भ्यः स्वाहा, आदिशः पश्चिमदिग्भ्यः स्वाहा, विदिश उत्तरदिग्भ्यः स्वाहा, उद्दिश ऊर्ध्वदिग्भ्यः स्वाहा, दिग्भ्यः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः स्वाहा, वसाहोमो रसो वै द्रवद्रव्यात्मकः खलु दिशि सम्भूतो रसोऽभिगम्यते । 'षड् दिग्दैवतानि स्वाहाकारः सर्वत्र साकाङ्क्षत्वादिति' (का.श्रौ.४।४।१८) 'रसो वै वसाहोमः सर्वास्वेवैतद्दिक्षु रसं दधाति तस्मादयं दिशि दिशि रसोऽभिगम्यते' (श.३।८।३।३५) ॥१९॥

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यदैन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीतः। देव त्वष्टर्भूरि ते सꣳ समेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति । देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥२०॥

कण्डिका के मन्त्रों से होम तथा दिशाओं का व्याघारण किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षीय मन्त्रार्थ का निरूपण अग्रिम मन्त्र के साथ संयुक्त है ॥१९॥

मन्त्रार्थ– भूतात्मा का प्राण ईश्वर के अंग-अंग में स्थित हुआ, भूतात्मा का उदान ईश्वर के अंगों में निहित हुआ । हे ज्योतिस्वरूप ईश्वर, तुम्हारा विष्णु रूप परिपूर्ण है । हे सर्वव्यापिन्, निवृत्त आत्मा बाणरूप होता है, अतः अंगुष्ठ-प्रमाण आत्मा विष्णु को प्राप्त हो । हे सायुज्य के अधिकारी आत्मा, संसार से त्राण पाने के लिये विष्णुरूप अग्नि में जाने वाले तुमको प्राण आदि अनुमति दें ॥२०॥

'अथ पशुꣳसंमृशति । एतर्हि संमर्शनस्य कालेऽथ यः पुरा संमृशति य इममुपतिष्ठन्ते ते विमथिष्यन्त इति शङ्कमानो यद्यु विमाथान्न शङ्केतात्रैव संमृशेत' (श.३।८।३।३६)। दिग्घोमानन्तरमेतर्हि एतस्मिन् काले पशुसंमर्शनं कुर्यात् । ये च राक्षसा इमे मदीयं यज्ञमुपतिष्ठन्ति प्राप्नुवन्ति, ते पशुं विमथिष्यन्त इति शङ्कमानश्चेत्, पूर्वस्मिन् काले संमृशेत् । अन्यथा दिग्घोमानन्तरे काले संमृशेत् । 'ऐन्द्रः प्राण इति पशुꣳ संमृशतीति' (का.श्रौ.६।९।१) । अवशिष्टानि पश्ववदानान्यालभते ।

ऐन्द्र इन्द्र आत्मा तस्य सम्बन्धी प्राणवायुः, अङ्गे अङ्गे वीप्सा, पशोः सर्वाङ्गेषु निदीध्यत्, 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' निधीयते निहितः । कर्मणि लकारश्छान्दसः । इन्द्रसम्बन्धी उदानवायुः पशोः सर्वाङ्गेषु निधीतः, निक्षिप्तो भवत्वित्यर्थः । 'धीङ् आदरानादरयोः' । एवं पश्वङ्गेषु प्राणं दत्त्वा त्वष्टारमाह – हे त्वष्टः, त्वष्टृनामकदेव, यत्पशोरङ्गजातं सलक्ष्म समानलक्षणं सत् छेदनेन विषुरूपं सर्वतो नानारूपं भवति, तत्सर्वं तवानुग्रहेण भूरि बहुलमत्यन्तम्, समित्येकीभावे, अत्यन्तमेकीकृत्य समेतु सङ्गच्छताम् । 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा.सू. ८।१।६) इति समित्यस्य द्वित्वम् । हे पशो, प्राणैश्चाङ्गैश्चानेन मन्त्रेण कृत्स्नीकृतं दृढीकृतं सन्तं देवत्रा देवेषु यन्तं गच्छन्तं त्वामवसे अवनाय पशवो मातापितरश्चानुमोदन्तां हर्षं कुर्वन्तु । यद्वा अवसे त्वन्मुखेन स्वर्गप्राप्त्या स्वकुलं सर्वमवितुं प्रीणयितुम्, तुमर्थे असेप्रत्ययः ।

'ऐन्द्रः प्राणोऽङ्गे अङ्गे....निधीत इति यदङ्गशो विकृत्तो भवति तत्प्राणोदानाभ्याꣳ सन्दधाति देव त्वष्टर्भूरिति ते सꣳ समेतु भवातीति कृत्स्नवृतमेवैतत्करोति देवत्रा यन्तमवसे सखायो मदन्त्विति तद्यत्रैनमहौषीत्तदेनं कृत्स्नं कृत्वाऽनुसमस्यति सोऽस्य कृत्स्नोऽमुष्मिंल्लोक आत्मा भवति' (श.३।८।३।३७) इति ब्राह्मणरीत्या त्वयमर्थः – इन्द्रः परमात्मा, तत्सम्बन्धी ऐन्द्रः प्राणः । हे पशो, ते अङ्गे अङ्गे सर्वेष्वङ्गेषु निदीध्यत नितरां दीप्तो भवतु, दीव्यतु वा । एवं व्यानोऽपि । अत्र सर्वत्र व्यानस्थान उदानव्यवहारः । हे त्वष्टः, पशुरूपकर्तः, 'देवस्त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत्' (तै.सं.६।३।३।११) इति श्रुतेः । ते तव पशोर्यदङ्गं छेदनेन सलक्ष्मा (सलक्ष्म), अत एव विषुरूपं भवाति भवति, तत् ते त्वत्सम्बन्धि सं सम्यक् पूर्वस्मादपि भूरि प्रभूतं समेतु संगतो भवतु । पूर्वं यादृशसन्निवेशविशिष्टं तादृशसन्निवेशेनाविशिष्टं भवेदिति, प्रवृद्धं भवत्वित्यर्थः । अस्माकमवसे रक्षणाय देवानां प्रीतये वा देवेषु मध्ये यन्तं त्वां सखायो मातापितरश्च अनुमदन्तु साधु जातमित्यनुमोदन्ताम् । श्रुतिश्च व्याचष्टे – 'यदङ्गशो विकृत्त' इत्यादिना । कृत्स्नमेवैतत्करोतीत्येतत् पशुद्रव्यम् । यद्वा एतद् एतेन देव त्वष्टरिति मन्त्रेण मन्त्रोच्चारणसामर्थ्येन कृत्स्नैरङ्गैर्वृतं व्याप्तं करोति । यत्र यस्मिन् प्रदेशे एनं पशुमहौषीत्, तत् तेन एनं कृत्स्नं कृत्वा विकलं सकलं करोति । अनुसमस्यति गतप्राणेन त्वगस्थिमांसेन सह प्राणान् अङ्गानि चानुक्रमेण संघट्टनं कृतवान् भवति । तेन स पशुरमुष्मिंल्लोके स्वर्गे लोके सात्मा सजीवो भवति ।

अध्यात्मपक्षे तु– घृतं भक्त्याख्यं प्रेमरसं पिबन्ति ये ते घृतपावानो भक्ताः, घृतं प्रेमरसं पिबत, तस्यैवैहिकामुष्मिकाभ्युदयपरमनिःश्रेयसहेतुत्वात् । वसन्ति सर्वे जना यया सा वसा हार्दकला, ताः पिबन्तीति

भाष्यसार – 'ऐन्द्रः प्राणः' इस मन्त्र से अवदान द्रव्य का स्पर्श किया जाता है । कात्यायन श्रौतसूत्र (६।९।१) में यह याज्ञिक विनियोग उल्लिखित है । शतपथ तथा तैत्तिरीय श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में पूर्व मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है – भक्तिरूपी प्रेमरस का पान करने वाले हे भक्तजनों ! प्रेमरस का पान करो, क्योंकि वही लौकिक, पारलौकिक अभ्युदय तथा परम मोक्ष का कारण है । हे सांसारिक जनों, आप लोग कामेश्वर एवं कामेश्वरी

वसापावानः संसारिजना भवन्तः सर्वे वसां कामेश्वरकामेश्वरीसम्बन्धिनीं हार्दकलां पिबत । तत्त्वंपदार्थयोरैक्यानुसन्धानेन स्वात्मतादात्म्यमनुभवत । जगत्सम्बन्धिन्या हार्दरूपया स्नेहकलया संसारिणः संसरन्ति, भगवत्सम्बन्धिन्या च विमुच्यन्ते । **हे** जीव, त्वमन्तरिक्षस्य आकाशपदार्थस्य परमेश्वरस्य हविरादातुं योग्यं हविर्भोग्यरूपोऽसि, 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र.सू.१।१।२२) इति न्यायात् । तस्मै परमात्मने स्वाहा सर्वं त्वदीयं सुहुतमस्तु । सर्वमिदं दिग्भ्यः **सुहुतमस्तु**, सर्वस्य दिगन्तर्गतत्वात् । दिशः प्रदिशो विदिश उद्दिशश्च सर्वास्तस्मिन् परमात्मनि सुहुता भवन्तु । **दिक्स्थानि** वस्तूनि दिक्षु प्रलीनानि विभाव्य दिशश्च सर्वा अन्तरिक्षात्मके परमात्मनि प्रविलाप्य सुखी भवेत्यर्थः ।

ऐन्द्र इति । इन्द्र ऐश्वर्यवान् हिरण्यगर्भः, तस्य स्वांशभूतः प्राणः । हे साधक, ते तव अङ्गमङ्गं यावन्त्यङ्गानि सन्ति, तेषु निदीध्यत नितरां प्रकाशते । प्राणप्रभावादेवेन्द्रियेष्वङ्गेषु च प्रकाशो भवति, प्राणाभावे तदभावात् । ऐन्द्र उदान आत्मसम्बन्धी उदानः, अङ्गेऽङ्गे निधीतो निहितः । हे देव द्योतमान त्वष्टः, विश्वशिल्पिन् हिरण्यगर्भ ! भूरि पूर्वतोऽपि बहुलं यथा स्यात्तथा सम्यक् ते तव विषुरूपं नानारूपं सम्यक् सलक्ष्मा दिव्यलक्षणोपेतं समेतु साधकं प्राप्य शरीरे एकीभवतु । हे साधक, एवं हिरण्यगर्भसम्बन्धिन्, प्राणैश्चाङ्गैश्च कृत्स्नीभूतं सुसम्पन्नं देवत्रा यन्तं देवेषु देवभावान् गच्छन्तं त्वामवसेऽवनाय तव प्रीत्यै सखायो मातापितरः, पूजार्थं बहुवचनम्, अनुमदन्तु अभ्यनुजानन्तु हर्षयन्तु वा । स वै हिरण्यगर्भस्य दिव्यप्राणोदानाभ्यां तदनुग्रहेण दिव्यप्राणाङ्गादिभिरुपेतं देवभावं प्राप्नुवन्तं त्वां सर्वे पूर्वसम्बन्धिनोऽनुमोदन्तु हर्षयन्तु वेति । एवं देवयानेन सगुणब्रह्मानुग्रहेण दिव्यप्राणेन्द्रियविग्रहो भूत्वा साधको ब्रह्मविष्णुरुद्रादिलोकान् गच्छतीति पुराणेषूपनिषत्सु च प्रसिद्धमेव ।

दयानन्दस्तु – 'हे घृतपावानो वीराः, यूयं घृतं पिबत । हे वसापावानः, यूयं वसां पिबत । हे सेनाध्यक्ष चक्रव्यूहादिसेनारचक, त्वं प्रतिवीरमन्तरिक्षस्य हविरसीति स्वाहा । शोभनया वाचा सर्वान् वीरान् प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशश्च सन्ति ताभ्यः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः सेना विभज्य शत्रून् विजयध्वम्' इति, तत्तु केवलं कल्पनामूलकम्,

---

से सम्बद्ध हार्दकला का आस्वादन करो । तत् तथा त्वं पदार्थों के अभेद का अन्वेषण करके स्वात्मतादात्म्य का अनुभव करो । जगत्सम्बन्धी स्नेहकला से प्राणी संसृति में पड़ते हैं, तथा भगवत्सम्बन्धी स्नेहकला से मुक्त होते हैं । हे जीव, तुम आकाशपदार्थ परमेश्वर के हविर्भोग्यरूपी हो । उस परमात्मा के लिये तुम्हारा सर्वस्व समर्पित हो । यह सब दिशाओं में अर्पित हो । समस्त पदार्थों के दिगन्तर्गत होने के कारण दिशाएं, प्रदिशाएं, विदिशाएं तथा उद्दिशाएं सभी उस परमात्मा में समर्पित हों, अर्थात् दिशाओं में स्थित वस्तुओं को दिशाओं में प्रलीन समझ कर तथा दिशाओं को अन्तरिक्षात्मक परमात्मा में विलीन करके सुखी हो जाओ ।

द्वितीय कण्डिका का अर्थ इस प्रकार है – हे साधक, ऐश्वर्यवान् हिरण्यगर्भ का स्वांशभूत प्राण तुम्हारे प्रत्येक अंग में प्रकाशित हो रहा है । प्राण के प्रभाव से ही इन्द्रियों तथा अंगों में प्रकाश होता है । आत्मसम्बन्धी उदान भी अंग-अंग में अवस्थित है । हे विद्योतमान विश्वनिर्माता हिरण्यगर्भ, पहले से भी विपुल जिस प्रकार होसके, उस प्रकार का आपका वैविध्यपूर्ण दिव्य लक्षणों से सम्पन्न स्वरूप साधक के शरीर को प्राप्त करके एकाकार हो जाय । हे साधक, इस प्रकार हिरण्यगर्भ से सम्बद्ध प्राण तथा अंगों से सुसम्पन्न होकर देवभाव की ओर जाते हुए तुम्हारी रक्षा तथा प्रसन्नता के लिये मित्रगण, माता-पिता आदि अनुज्ञा दें अथवा अभिनन्दित करें । हिरण्यगर्भ के दिव्य प्राण, उदान के द्वारा, उसके अनुग्रह से दिव्य प्राण अंग आदि से युक्त देवभाव को प्राप्त करने वाले तुमको सभी पूर्वोक्त प्रकारों से अनुमोदित करें । इस प्रकार सगुण ब्रह्म की कृपा से साधक दिव्य प्राण, इन्द्रिय से सम्पन्न होकर ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, शिवलोक आदि को जाता है, यह पुराणों तथा उपनिषदों में प्रसिद्ध ही है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्यान कल्पनामूलक ही है । 'वसा' का अर्थ 'वीररस नीति' करना निर्मूल है । सेना, विजय

उदकपातृत्वस्य सर्वत्राविशेषात्। यत्तु 'वसा वीररसनीतिः' इति, तत्तु निर्मूलमेव। यदपि वासनहेतुत्वाद् वीररसनीतिरिह ग्राह्या, तथात्वे साक्षाद्वासनहेतुत्वाद्वसतिरेव गृह्यताम्, राजनीतिरेव वा गृह्यताम्, तथात्वेऽपि न तस्याः पानार्हता। वसां निवासं यातीत्यपि निर्मूलम्, वसेति टाबन्ततताया नैरर्थक्यात्। अन्तरिक्षस्य हविरसीत्यस्य यदाकाशस्य हविर्हूयत आदीयत इति स्वाहा। युद्धानुकूलं शोभनां वाचमिति यद् व्याख्यानम्, तदपि निर्मूलं निरर्थकं च। एवमेव दिग्भ्यः सर्वाः सेना विभज्य शत्रून् विजयध्वमित्यपि निर्मूलम्, सेनाविजयादिपदानां मूलेऽसत्त्वात्। एवमेव 'हे त्वष्टर्देव सेनापते, भवान् अङ्गे अङ्गे ऐन्द्र इव अवसे सङ्ग्रामे निदीध्यत्, यद्वा अङ्गे ऐन्द्र उदान इव सङ्ग्रामे निधीतो भवति, ते तव विषुरूपं सलक्ष्म भवति, तत्सङ्ग्रामे भूरि यथा स्यात्तथा सं समेतु सखायो मातापितरश्च देवत्रा धर्मयुद्धव्यवहारं यन्तं त्वामनुमदन्तु' इति, तदपि निर्मूलम्, सेनापतिपदाध्याहारे मानाभावात्। इवपदमपि निर्मूलमेव, मूलेऽभावात्। नितरां दीध्यदित्यस्य शत्रून् वञ्चित्वा स्वयं प्रकाशेत्, इत्यप्यैच्छिकमेव। 'विषुरूपं सलक्ष्म च संग्रामे यथा स्यात्तथा सं समेतु' इत्यपि तथैव निर्मूलम्, मूले संग्रामपदाभावात्। एवं 'धर्मं युद्धव्यवहारं वा यन्तम्' इति च निर्मूलम्, धर्मयुद्धादिपदानामभावात् ॥२०॥

समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा देवꣳ सवितारं गच्छ स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाऽहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दांꣳसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाऽग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा मनो मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनाऽऽपृण स्वाहा ॥२१॥

'प्रतिप्रस्थातोपयजति गुदतृतीयस्य प्रच्छेदमनुयाजेषु समुद्रं गच्छेति प्रतिमन्त्रम्' (का.श्रौ.६।९।१०)। अनुयाजेषु हूयमानेषु वेदिश्रोण्यां होतृधिष्ण्ये वा न्युप्तेष्वङ्गारेषु प्रतिप्रस्थाता प्रच्छिद्य प्रच्छिद्य एकादशधा हस्तेन गुदकाण्डं तृतीयं जुहोति। सूत्रार्थस्तु – औपयजेष्वङ्गारेषु पूर्वं स्थापितं वर्षिष्ठं गुदतृतीयमेकादशधा प्रच्छिद्य प्रच्छिद्य

आदि पद भी मूल मन्त्र में नही हैं। इसी प्रकार 'हे सेनापति' इस सम्बोधन पद के अध्याहार करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। मन्त्र में संग्राम, धर्मयुद्ध आदि शब्दों के न रहने के कारण यह अर्थ निर्मूल है ॥२०॥

मन्त्रार्थ– देह के अवयवों में प्रत्येक को उपदेश करती हुई श्रुति कहती है कि हे भूतात्मा के जल, तुम अपने समष्टिरूप समुद्र में लीन हो जाओ। हे भूतात्मा के वायु, तुम अन्तरिक्ष में चले जाओ। हे, आत्मप्रतिबिम्ब, तुम सूर्य देवता में विलीन हो जाओ। हे जीवात्मा, तुम नरनारायण के पास चले जाओ। हे जन्ममरण के काल, तुम अहोरात्रि में विलीन हो जाओ। हे शरीर के अवयवों, तुम समष्टि शरीर के अंगों में विलीन हो जाओ। हे मन (हृदय) आदि के कमलों, तुम पृथ्वी और स्वर्ग के अधिष्ठाता देवों के पास पहुँचो। हे यज्ञक्रियाओं, तुम यज्ञपुरुष विष्णु के पास पहुँचो। हे अन्न-पान आदि भोगों के समूह, तुम सोम देवता के पास पहुँचो। हे भूतात्मा के आकाश, तुम दिव्य आकाश में जा मिलो। हे जठराग्नि, तुम वैश्वानर अग्निदेवता के पास पहुँचो। हे योगशक्ति, तुम मेरे हृदय सम्बन्धी मन को रोको। हे भूतात्मा, तुम्हारा धूम्र स्वर्ग हो जाय, आत्मा रूपी ज्योति स्वर्ग को प्राप्त हो, भस्म के द्वारा पृथ्वी को पूर्ण करो और इस प्रकार उन-उन देवताओं को दी गई इन आहुतियों से यह प्राकृतिक होम सम्पन्न हो ॥२१॥

भाष्यसार – 'समुद्रं गच्छ' इस कण्डिका के मन्त्रों से प्रतिप्रस्थाता ऋत्विक् हवन करता है तथा 'मनो मे' आदि से मुखस्पर्श

अनुयाजानां वषट्कृते एकैकं गुदकाण्डं प्रतिप्रस्थाता हस्तेन जुहुयात् । अध्वर्युणा एकैकमनुयाजे हूयमाने पश्चात् **प्रतिप्रस्थाता** जुहुयात् । तदेतच्छतपथे स्पष्टम् – 'त्रीणि वै पशोरेकादशानि । एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयजो दश पाण्या अङ्गुल्यो दश पाद्या दश प्राणा प्राण उदानो व्यान इत्येतावान् वै पुरुषो यः पराद्ध्र्यः पशूनां यꣳसर्वोऽनुपशवः' (श.३।८।४।१) । अत्र प्राणस्य श्रेष्ठत्वकारणाभिधानमुखेन गुदस्य प्रधानस्विष्टकृदुपदिष्ट्यर्थं त्रेधा विभज्य विनियोगं प्रशंसन् प्रयाजादीनामितराङ्गत्वमाह – प्रयाजा अनुयाजाश्चैकादशैकादश प्रसिद्धाः । एकादशोपयाजा उपरिष्टादाम्नास्यन्ते तदेतदेकादशत्रयं मिलित्वा त्रयस्त्रिंशत् सम्पद्यन्ते । पशुषूत्कृष्टस्य द्विपात्पशोः पुरुषस्य सप्त शीर्षण्याः प्राणा अवाञ्चौ द्वौ नाभिर्दशमी दश प्राणाः । ते च पाणिपादगतविंशत्यङ्गुलिभिः सहितास्त्रिंशद् भवन्ति । प्राण उदानो व्यान इति त्रयो मुख्यप्राणाः । त्रयस्त्रिंशदेव यज्ञाङ्गानि सम्पद्यन्ते । तत्रायं प्रश्नः – 'तदाहुः किं तद्यज्ञे क्रियते येन प्राणः सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः शिव इति' (श.३।८।४।२) । अर्थात् पुरुषपशोर्हस्तपादाङ्गुल्यः प्राणरूपाङ्गानि भवन्ति । मुख्यप्राणस्य इतराङ्गुलिवत् साधारण्यमेव न प्राप्तं न श्रेष्ठत्वमतो यज्ञे सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः सकाशात् प्राणस्य श्रेष्ठत्वं केन प्रकारेणेति प्रश्नाभिप्रायः । तस्योत्तरं तु – 'यदेव गुदं त्रेधा करोति प्राणो वै गुदः सोऽयं प्राङाततस्तमयं प्राणोऽनुसञ्चरति' (श.३।८।४।३) । 'स यदेव गुदं त्रेधा करोति तृतीयमुपयड्भ्यस्तृतीयं जुह्वां तृतीयमुपभृति तेन प्राणः सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः शिवः'(श.३।८।४।४) । प्राणो वै गुदः प्राणसञ्चरणाधिष्ठानत्वात् प्राण एव गुद इत्युक्तम् । कथं गुदस्य प्राणत्वमित्युपपादयति – सोऽयं प्राङातत इति । गुदः प्राङाततः शरीरमध्ये ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तमूर्ध्वं प्रवृत्तः सन् वर्तते, तं गुदमन्वयं प्राणः सञ्चरति, अतः प्राणसञ्चरणाधिष्ठानत्वात् प्राण एव गुदः । तस्य प्रधानस्विष्टकृदुपयड्भेदेन त्रिषु स्थानेषु विभज्य विनियोग एव सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः श्रेष्ठत्वकारणम् । तेनैव प्राणस्यापि सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः शिवत्वमिति, गुदस्य प्राणत्वेन श्रेष्ठत्वाभिधानत्वप्रसङ्गात् । यदि कथञ्चित् तत्पशोः कृशत्वं स्यात्, तर्हि गुदस्य सम्पूर्णत्वाय उदर्यं मांसं तेन सह मिश्रणीयमिति । सर्वावयवपूर्णमेव पशुमालभेत न कृशमित्यादिकम्, तथापि तदलाभे कृशस्यापि पशोरुदर्याद् मेदस उद्धृत्य अल्पीयसि गुदे न्यृषेत्, निगमयेत् । अनुयाजार्थं पृषदाज्यग्रहणं विधाय प्रशंसति – अथ पृषदाज्यं गृह्णातीति । द्वयं वा इदं सर्पिश्च दधि चेत्यादिना । उपयड्भ्यः पुरस्तादनुयाजेषु पृषदाज्यानुष्ठानेन पुरस्तात् प्राणं मुखस्थप्राणमप्राणे पशौ निहितवान् भवति । पश्चादुपयडनुष्ठानस्य पश्चात् प्राणमुदानाख्यं पशौ स्थापितवान् भवति । तद्वा एतदेको द्वाभ्यां वषट्करोति' (श.३।८।४।११) । उपयष्ट्रे प्रतिप्रस्थात्रे च प्रयाजार्थमुपयाजार्थं च वषट् कुर्यात् ।

काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यस्तु – 'गुदकाण्डस्य तृतीयभागमेकादशधा तिर्यक् छित्त्वा अनुयाजानामेकैकस्मिन् वषट्कारे कृते सति समुद्रं गच्छ स्वाहेत्येतदादिभिरग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा इत्येतदन्तैरेकादशभिर्मन्त्रैरेकैकं गुदकाण्डभागं प्रतिप्रस्थाता जुहुयात् । हे गुदावयवरूप हविस्त्वं समुद्रादिनामकान् देवान् गच्छ प्राप्नुहि सुहुतमस्तु । एवमेव 'देवꣳ सवितारं गच्छ स्वाहा', 'अहोरात्रे गच्छ स्वाहा' अहोरात्राभिमानिदेवते गच्छ, अग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहेति शतपथे । 'समुद्र आपो रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति' (श.३।८।४।११), 'अन्तरिक्षं वा अनु प्रजाः प्रजायन्ते' (श.३।८।४।१२), 'देवानां प्रसविता सवितृप्रसूत एवैतत्प्रजनयति' (श.३।८।४।१३), 'मित्रावरुणौ प्राणोदानावेवैतत्प्रजासु दधाति' (श.३।८।४।१४), 'अहोरात्रे वा अनु प्रजाः प्रजायन्तेऽहोरात्रे एवैतदनु प्रजनयति'

तथा स्वरुहोम करता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।९।१०-१२) में प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप अर्थ उपदिष्ट है ।

(श.३।८।४।१५), 'छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा सप्त वै छन्दाꣳसि सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्यास्तेनैवैतदुभयान् प्रजनयति (श.३।८।४।१६), 'द्यावापृथिवी प्रजापतिर्वै प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां पर्यगृह्णात्ता इमा द्यावापृथिवीभ्यां परिगृहीतास्तथो एवैष एतत्प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति' (श.३।८।४।१७), 'अथात्युपयजति' (श.३।८।४।१८), स यन्नात्युपयजेद्यावत्यो हैवाग्रे प्रजाः सृष्टास्तावत्यो हैव स्युर्न प्रजायेरन्नथ यदत्युपयजति प्रैवैतज्जनयति तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्त प्रजायन्ते। अत्युपाजनामकाश्चत्वार उपयागाः सप्तकानामनन्तरमाधिक्येन यष्टव्याः। विहितानत्युपयागानन्वयव्यतिरेकाभ्यां पुनः पुनः प्रजावृद्धिहेतुतया प्रशंसति – 'सोऽत्युपयजति यज्ञं गच्छ स्वाहेत्यापो वै यज्ञ आपोरेतं एवैतत्सिञ्चति' (श.३।८।५।१)। 'सोमं गच्छेति....सोमो रेतः' (श.३।८।५।२)। 'दिव्यं तमो गच्छेति। आपो वै दिव्यमापो रेत एवैतत्सिञ्चति' (श.३।८।५।३)। 'अग्निं वैश्वानरं गच्छेति। इयं वै पृथिवी अग्निर्वैश्वानरः सेयं प्रतिष्ठे मामेवैतत्प्रतिष्ठामभिजनयति' (श.३।८।५।४)। 'अथ मुखं विमृष्टे' (श.३।८।५।५)। 'प्रतिवषट्कारꣳ हुत्वा मनो म इति मुखोपस्पर्शनम्' (का.श्रौ.६।९।११)। प्रतिप्रस्थाता प्रतिवषट्कारमेकैकं गुदकाण्डं हुत्वा सर्वान्ते मुखमालभते।

मन्त्रार्थस्तु – हे समुद्रादिदेवतासमूह, हार्दि हृदयसम्बन्धि मे मनो यच्छ निबध्नीहि। निबद्धं **मनो हि** स्वादायतनान्न च्यवते। 'तथोप्रयष्टाऽऽत्मानं नानुप्रवृणक्ति' (श.३।८।५।५)। हार्दि हृदये स्थापितस्य **पशोः** प्राणरूपस्य गुदस्य विच्छिद्य विच्छिद्य होमादुपयष्टुर्मनोऽपि प्राणाविनाभूतमपगच्छति। तदेवोक्तम् – तथोप**यष्टात्मानं** नानुप्रवृणक्ति। 'अनुयाजान्ते स्वरुं जुहोति दिवं ते धूम इति' (का.श्रौ.६।९।१२)। अन्तग्रहणाच्च धारा**नुयाजान्ते** जुह्वां स्वरुमवधाय जुहुयात्। हे स्वरो, ते तव सम्बन्धी धूमो दिवं द्युलोकं गच्छतु। तव ज्योतिर्ज्वाला **स्वरादित्यं** गच्छतु, स्वरादित्योऽन्तरिक्षं वा। भस्मना पृथिवीमापृण समन्तात् पूरय। स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे – ब्रह्म प्रविविक्षुः स्वात्मानं तदुपाधींश्च व्यष्टीन् समष्टिषु प्रविलाप्य समष्टीनुपाधीनुपहितांश्च परमात्मनि प्रविलापयति। हे देहाद्युपाधिगत जल, त्वं समुद्रं समष्टिजलं गच्छ, तच्च परमात्मनि स्वाहा समर्पितं प्रविलापितमस्तु। हे व्यष्ट्यवकाश, त्वमन्तरिक्षमाकाशं गच्छ, तच्च परमात्मनि स्वाहा। हे चक्षुः, सवितारं देवं गच्छ तच्च परमात्मनि समर्पितमस्तु। हे प्राणापानद्वय, त्वं मित्रावरुणौ तदधिष्ठातारौ देवौ गच्छ, तौ च स्वाहा परमात्मनि समर्पितौ भवेताम्। हे क्षणमुहूर्तादिसमूह, त्वमहोरात्रे गच्छ ते चेशे स्वाहा। हे व्यष्टिवाक्समूह, त्वं छन्दांसि गच्छ, तानि परमात्मने स्वाहा। हे द्यावापृथिव्योर्विकारसमूह, त्वं स्वोद्गमभूते द्यावापृथिवी गच्छ, ते च परेशाय स्वाहा। हे व्रताद्यनुष्ठानसमूह, त्वं यज्ञं गच्छ, स च परेशाय स्वाहा। हे उपयुज्यमानौषधिसमूह, त्वं सोमं गच्छ, स

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – ब्रह्म में एकत्व प्राप्त करने की इच्छा वाला साधक स्वयं को तथा व्यष्टिगत उपाधियों को समष्टि में एवं समष्टिगत उपाधियों को परमात्मा में विलीन करता है। हे देहादि उपाधियुक्त जल, तुम समष्टि जल में चले जाओ और वह भी परमात्मा मे समर्पित हो जाय। हे व्यष्टि आकाश, तुम अन्तरिक्ष में लीन हो जाओ तथा वह परमात्मा में विलीन हो जाय। हे चक्षु, तुम सविता देवता को प्राप्त करो और वे परमात्मा में विलीन हों। हे प्राण तथा अपान, तुम दोनों मित्रावरुण देवताओं को प्राप्त करो और वे परमात्मा में विलीन हों। हे क्षणादि कालसमूह, तुम अहोरात्र में लीन हो जाओ तथा वे ईश्वर में अर्पित हों। हे वाणीसमूह, तुम छन्दों में लीन हो जाओ। हे द्यावापृथिवी के विकारगण, तुम अपने उद्‌गम स्थान द्यावापृथिवी को प्राप्त करो। हे व्रतानुष्ठान आदि, तुम यज्ञ में लीन हो जाओ। हे ओषधियों, तुम लोग सोम में लीन हो जाओ। हे दधि-दुग्ध आदि द्रवों, तुम दिव्य जल में लीन हो जाओ। हे विविध ज्योतिःसमूहों, तुम वैश्वानर अग्नि में लीन हो जाओ तथा यह परमात्मा में विलीन हो जाय।

च परमात्मने स्वाहा । हे दधिदुग्धाज्यजलादिसमूह, त्वं दिव्यं नभो दिव्या अपो गच्छ, ताश्च परेशाय स्वाहा । हे विविधज्योतिःसमूह, त्वं वैश्वानरमग्निं गच्छ, स चेशे स्वाहा । हे परमात्मन्, मे मम हार्दि हृदि भवं हार्दि मनो यच्छ स्वस्वरूपे निबधीहि । हे चितास्थदेह, त्वद्दहनोत्थो धूमो दिवं गच्छतु, ज्योतिः स्वरादित्यं गच्छतु । त्वदीयभस्मना पृथिवीं पृण पूरय, तानि च सर्वाणि परमात्मनि प्रविलापितानि सन्तु, कल्पितानामधिष्ठानसत्तयैव सत्तावत्त्वात्, सर्वस्यापि कार्यस्य परमकारणानन्यत्वाच्च ।

दयानन्दस्तु – 'हे धर्मार्थकाममोक्षराजकर्मानुष्ठानार्ह विद्वन्, त्वं समुद्रमुदधिं गच्छ स्वाहा । बृहन्नौकारचनादिविद्यासिद्धेन यानेन अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा । खगोलप्रकाशिकया विद्यया सम्पादितेन विमानेन देवं द्योतमानं सवितारं परमेश्वरं गच्छ जानीहि' इत्यादिकमवोचत्, तदपि निर्मूलं निरर्थकं च । किमर्थं समुद्रं किमर्थं वान्तरिक्षं गच्छेदित्युक्त्यभावात्, स्वाहापदेन तदलाभाच्च । 'बृहन्नौकादिविद्यासिद्धेन यानेन' इत्यादिकमपि निर्मूलम् । तथैव स्वाहा वेदवाचा सत्संगसंस्कृतया वा मित्रावरुणौ प्राणापानौ गच्छ विद्धीत्यपि यत्किञ्चित् । 'स्वाहा प्राणायामाभ्यासेन योगयुक्तया वाचा' इत्यपि स्वाभ्यूहमात्रम्, निर्मूलत्वात् । अहोरात्रे स्वाहा कालविद्यया ज्योतिर्बोधयुक्तया वाचा गच्छ जानीहि याहि वेत्यादि सर्वमेतन्निर्मूलम्, स्वाहापदेन यथेष्टार्थग्रहणे शब्दार्थमर्यादाभङ्गापत्तेः । एवं 'छन्दांसि ऋग्युजःसामाथर्वाणश्चतुरो वेदान् गच्छ विजानीहि स्वाहा, पठनपाठनपुरःसरेण श्रवणमनननिदिध्यासनसाक्षात्कारेण वेदाङ्गादिविज्ञानसहितया वाचा' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदस्य आनुश्रविकत्वेन गुरुपारम्पर्येणैव ज्ञातव्यत्वेन तत्र मनननिदिध्यासनसाक्षात्कारानपेक्षणात् । एवमेव – 'द्यावापृथिवी भूमिसूर्यौ तद्गताभीष्टदेशदेशान्तरौ भूमियानाकाशयानरचनभूगोलभूगर्भखगोलविद्यया जानीहि' इति, तदपि निर्मूलम्, स्वाहापदस्य तादृशेऽर्थे शक्त्यग्रहात्, देशदेशान्तरादिज्ञानस्य रागप्राप्तत्वेन विधानायोगात् । यच्च 'यज्ञमग्निहोत्रं शिल्पं राज्यव्यवहारादिकं गच्छ प्राप्नुहि स्वाहा' इति, तथा 'राजनीतिसंस्कृतया वाचा' इत्यपि निर्मूलम्, यज्ञशब्दस्य तथार्थत्वे बीजाभावात्, श्रौतसूत्रादिबोधितयागार्थत्यागस्यायुक्तत्वात् । 'सोममोषधिसमूहं गच्छ स्वाहा' इत्यस्य 'वैद्यकशास्त्रबोधार्हया वाचा' इत्यपि व्याख्यानं निर्मूलम्, प्रस्तुतशब्दयोस्तादृशार्थत्वे प्रमाणाभावात् । 'दिव्यं व्यवहर्तव्यं नभो जलं गच्छ, तद्गुणविज्ञापयित्र्या वाचा अग्निविद्युद्वैश्वानरं सर्वत्र प्रकाशमानं गच्छ जानीहि तद्बोधयुक्तया वाण्या' इत्यादिकमपि मनःकल्पितमेव, वैश्वानरशब्दस्य सर्वत्र प्रकाशमानमित्यर्थकत्वे प्रमाणस्य वक्तव्यत्वात् । 'मनश्चित्तं मे मम हार्दि हृदयस्यातिशयेन प्रियं यच्छ निधेहि दिवं सूर्यम्' इत्यादिकं तु सर्वथाऽप्यस्पष्टमेव । हिन्दीव्याख्याने तु – 'सत्यधर्मे स्थितो मदुपदेशानुकूलं वर्तताम् । तव धूमशकलानां यज्ञाग्नेर्वा दिवं सूर्यप्रकाशं तथा ज्योतिः स्वरन्तरिक्षं गच्छतु' इति, तदपि निरर्थकमेव, एवमुपदेशमन्तरापि धूमज्योतिषोस्तादृग्गतेः प्राप्तत्वात् । अस्मिन् व्याख्याने शतपथश्रुतिविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥२१॥

हे परमात्मा, मेरे हृद्गत मन को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित कीजिये । हे चितास्थित शरीर, तुम्हारे दाह से उद्गत हुआ धूम द्युलोक में जाय तथा ज्योति आदित्य को प्राप्त करे । तुम्हारी भस्म से पृथिवी को पूर्ण करो । ये सभी परमात्मा में विलीन हो जाँय ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ निर्मूल है, क्योंकि समुद्र अथवा अन्तरिक्ष में क्यों जाय, इसका निरूपण नहीं किया गया है । स्वाहा शब्द से भी इसका ज्ञान नहीं होता । स्वाहा शब्द का स्वेच्छानुसार अर्थ करने पर शब्दार्थ की मर्यादा का अतिक्रमण होता है । देश-देशान्तर का ज्ञान करना तो रागतः प्राप्त है, इसके लिये विधान करना अयुक्त है । इस व्याख्या में शतपथ श्रुति का विरोध भी स्पष्ट ही है ॥२१॥

माऽपो मौषधीर्हिꣳसीर्धाम्नो धाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च। यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च। सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥२२॥

'अथ हृदयशूलेनावभृथं यन्ति। पशोर्ह आलभ्यमानस्य हृदयꣳ शुक् समभ्यवैति हृदयाद्धृदयशूलमथ यच्छृतस्य परितृन्दन्ति तदलञ्जुषं तस्मादु परितृद्यैव शूलाकुर्यात् तत् त्रिः प्रच्युते पशौ हृदयप्रवृह्योत्तमं प्रत्यवदधाति' (श.३।८।५।८)। निरुद्धश्वासस्यालभ्यमानस्य पशोः सुखदुःखयोर्हृदयेऽनुभूयमानत्वात् पशोः शुक् शोको हृदयमभिगच्छति। हृदयाद् हृदयशूलमभिगच्छति। अथ यच्छृतस्य पक्वस्य हृदयस्य पश्चात् शूलेन परितर्दने तद् जोषाय भक्षणाय अलं पर्याप्तं भवति, शुगनुविद्धत्वाद् यागार्हं न स्यादित्यर्थः। तस्मात् पाकात् पूर्वं शूलं परितृद्य पाकं कुर्यात्। अतः पाकात् पूर्वं शूलेन परितर्दनात् शुग् हृदयशूलं प्राप्नोतीत्यर्थः। त्रिः प्रच्युते पशौ पाकोत्तरकालं हृदयं शूलात् प्रवृह्य उत्तमं प्रत्यवदधाति, इतरावयवानामुपरि स्थापयेत्। 'अथ हृदयशूलं प्रयच्छति। तन्न पृथिव्यां परास्येन्नाप्सु स यत्पृथिव्यां परास्येदोषधीश्च वनस्पतींश्चैषा शुक् प्रविशेद्यदप्सु परास्येदप एषा शुक् प्रविशेत् तस्मान्न पृथिव्यां नाप्सु' (श.३।८।५।९)। 'अप एवाभ्यवेत्य। यत्र शुष्कस्य चार्द्रस्य च सन्धिः स्यात् तदुपगूहेद्यद्यु अभ्यवायनाय ग्लायेदग्रेण यूपमुदपात्रं निनीय यत्र शुष्कस्य चार्द्रस्य सन्धिर्भवति तदुपगूहति मापो....यदाहुरघ्या इति....मुञ्चेति तदेनꣳ सर्वस्माद्वरुणपाशात् प्रमुञ्चति' (श.३।८।५।१०)। यद्यु तत्रैवोक्तदोषाभावायोपापमाद् अपः सम्प्राप्य यत्रातीवारसः सरसश्च न भवति तत्रोपगूहेत्। यदाब्विषये ग्लानिं प्राप्नुयात् तदा यूपस्य प्राग्देशे उदपात्रनिनयनं कृत्वा तत्रापीषदार्द्रप्रदेशे उपगूहेत। तत्रायं मन्त्रः – मापो मौषधीरिति। कात्यायनोऽपि – 'अभ्यवेत्य शुष्कार्द्रसन्धौ हृदयशूलमुपगूहति शुगसि तमभिशोच योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो मापो मौषधीरिति' (का.श्रौ.६।१०।३)। अध्वर्युरुदके प्रविश्य यत्र भूमौ शुष्कस्यार्द्रस्य च सन्धिः स्यात्, तत्र हृदयशूलं भूमिमध्येऽधोमुखं बलात् प्रवेशयेत्। हृदयशूलदैवतं यजुः।

मन्त्रार्थस्तु – हे हृदयशूल, त्वमपः अब्देवता मा हिंसीः, ओषधीश्च मा हिंसीः। ईषदार्द्रे उपगूहनादपां हिंसाप्रसङ्गः। पृथिव्यामुपगूहनादोषधीनां बाधप्रसङ्गः। अतस्तदुभयहिंसापरिहारः प्रार्थ्यते – 'अथाभिमन्त्रयते। सुमित्रिया' (श.३।८।५।११)। 'धाम्नो धाम्नः सुमित्रिया न इत्युपस्पृशन्त्यपः' (का.श्रौ.६।१०।५)। तडागादिस्थमुदकं

मन्त्रार्थ – हे मन, तुम इन्द्रियाग्नियों के अन्तरिक्ष को नष्ट मत करो, इन्द्रियों की शक्तियों को नष्ट मत करो। हे राजन् मन, अपने पाशरूप प्रत्येक इन्द्रिय से हमें मुक्त करो। ईश्वर के पूजक देह के अवयव अवध्य हैं, ऐसा शास्त्रों का कहना है। हे मन, हम तो इस योग की विधि से इनका वध कर रहे हैं, अतः इस पाप से हमें मुक्त करो। इन्द्रिय स्थित आकाश और इन्द्रियां हमारी श्रेष्ठ मित्र हो। जो काम हमारे प्रतिकूल होता है और जिस कार्य को हम शत्रुदृष्टि से देखते हैं, उस काम के लिये इन्द्रियों का अन्तरिक्ष और इन्द्रियाँ शत्रुरूप हों, अर्थात् हमारी इन्द्रियों में किसी प्रकार की विषयवासना उत्पन्न न हो ॥२२॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।१०।३,५) में निरूपित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'माऽपः' इस कण्डिका के मन्त्रों से जलाशय के प्रारम्भिक स्थान पर भूमि में शूल गाड़ कर अध्वर्यु छिपाता है तथा यजमान एवं ऋत्विक् जल का स्पर्श करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

यूपं पूर्वेण निषिक्तं वोदकमालभन्ते मन्त्राभ्यां सर्वे ऋत्विग्यजमानाः । तत्र निगूहनस्य बन्धनरूपत्वाद् बन्धनस्य च वरुणाधिष्ठातृकत्वाद् वरुणस्य सम्बोधनम् । हे राजन् वरुण, यस्मिन् पापरूपबन्धनेऽनवस्थाने बद्धाः स्मः, ततस्तस्माद् धाम्नो बन्धनस्थानान्नोऽस्मान् मुञ्च पापेन मुक्तान् कुरु । किञ्च, यस्मिन्नागसि सम्भाविते आगस्कर्तारोऽघ्न्या अहन्तव्या रक्षणीया वयमित्याहुर्मनुष्या इत्येवं प्रकारेणापराधिनोऽप्यघ्न्या वयं किन्तु पालयितव्या इति शपामहे आक्रोशामः, ततोऽपि नोऽस्मान् मुञ्च । तत्तेन धाम्नो धाम्न इति मन्त्रपाठे वरुण्यादिति पुनरभिधानाद् वारुण्यपाशात्तदतिरिक्ताच्च सर्वस्मात् पाशाद् विमोक्षः प्रार्थ्यते । किञ्च, हे वरुण, भवदाद्याः सर्वा देवता अघ्न्या अहन्तव्याः पूजनीया इति यदाहुर्ब्रह्मवादिनो वदन्ति, इत्येवं सत्यस्माकमनिष्टपरिहारार्थं वयं ता देवताः शपामहे ततस्तस्मात् पापान्नोऽस्मान् मुञ्च । यद्वा त्वदीयपाशसमन्वितात् स्थानाद् वयं बिभीमः, तस्मात् स्थानान्नोऽस्मान् मुञ्च मोचय । यदाहुरघ्न्या इति । अघ्न्या इति गवां नाम । प्रकरणादिहानुवन्ध्याविषयं बहुवचनमनुवन्ध्याबहुत्वेऽर्थवत्, एकानुवन्ध्यापक्षे पूजार्थम् । यद्वेदस्मृतिलोकवाक्यान्याहुः – अघ्न्या अहन्तव्या वन्ध्याः पूजनीया इति करणेन वाक्यस्याभिनयं दर्शयति । हे वरुण, वयं तु इति शपामहे, इतिकरणं प्रदर्शनार्थम् । शपतिर्हिंसार्थः । एवमनेन विधिना अघ्न्या हिंस्मः । अत एव त्वां याचामहे । हे वरुण, ततस्तस्मादघ्न्यावधजातादेनसोऽस्मान् मुञ्च मोचय । सुमित्रिया आप ओषधयश्च नोऽस्माकं साधु मित्ररूपाः सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि वयं च यं द्विष्मः, तस्मै शत्रवे आप ओषधयश्च अमित्ररूपा भवन्तु । एवं मन्त्रेण वरुणप्रार्थनया 'सर्वस्माद् वरुणपाशात् सर्वस्माद्वरुण्यात् प्रमुञ्चति' (श.३।८।५।१०) इति श्रुतिरेव तत्फलं दर्शयति – 'यत्र वा एतेन प्रचरन्त्यापश्च ह वा अस्मात्तावदोषधयश्चापक्रम्येव तिष्ठन्ति तदु ताभिर्मित्रधेयं कुरुते तथो हैनं ताः पुनः प्रविशन्त्येषो तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते' (श.३।८।५।११) । एतेन हृदयशूलनिगूहनेन आपश्च ओषधयश्च अस्मात् स्थानाद् अपक्रम्य अपसृत्येव तिष्ठन्ति । तदु तस्मादेव कारणात् ताभिः सह सुमित्रिया इति पाठेन मित्रत्वं कृतवान् भवति । तथा सति ताः पुनः प्रविशन्ति । एषा उ तत्र प्रायश्चित्तिः ।

अध्यात्मपक्षे – हे राजन्, सर्वोपरि दीप्यमान परमेश्वर, अस्माकं दुष्कर्मवशाद् अपामोषधीनां च विनाशे प्राप्ते त्वमस्मासु करुणया ता मा हिंसीः । हे वरुण, धाम्नो धाम्नः स्थानात् स्थानाद् अवरोधकात् तत्स्थानान्नोऽस्मान् मुञ्च मोचय । स्थीयतेऽवरोधपूर्वकमनेनेति स्थानम्, तस्माद् बन्धनरूपात् स्थानाद् नोऽस्मान् मुञ्च मोचय । अन्तर्भावितण्यर्थः। यच्च अघ्न्या इति (अघ्न्या गावः) लोके अहन्तव्या इत्याहुः शिष्टास्तथैव वयमप्यहन्तव्याः पालनीयाः, शरणागतत्वात् । हे वरुण, आश्रयत्वेन रक्षकत्वेन च वरणीय वरीतुं योग्य, शपामहे आक्रोशाम आर्ताः सन्तस्त्वामेवाह्वयामहे । त्वत्कृपया ओषधय आपश्च सुमित्रियाः सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मै दुर्मित्रियाः सन्तु, त्वद्भक्तविरोधित्वात् ।

अध्यात्मक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – सर्वोपरि दीप्यमान हे परमेश्वर, हमारे दुष्कर्मों के कारण जल तथा ओषधियों का विनाश उपस्थित होने पर आप हमारे ऊपर कृपा करके उन्हें विनष्ट न होने दें । हे वरुण, अवरोध करने वाले उन स्थानों से हमें मुक्त कीजिये । जिस प्रकार जगत् में गायें अहन्तव्य कही जाती हैं, उसी प्रकार हम भी शरणागत होने के कारण पालनीय हैं । आश्रय के रूप में तथा रक्षक के रूप में वरणीय हे वरुणदेव, हम आर्त होकर आपको ही पुकारते हैं । आपकी कृपा से ओषधियां तथा जल मित्रभूत हो जाँय । जो हमसे द्वेष करता है तथा जिससे हम द्वेष करते हैं, उसके लिये आपके भक्तों के विरोधी होने के कारण ये सभी अमित्र रूपी रहें ।

दयानन्दस्तु – 'हे राजन्, त्वमप ओषधीश्च न केवलमिदमेव कुर्याः, किन्तु ततो धाम्नो नोऽस्मान् मुञ्च । हे वरुण, अघ्न्या इति यद् भवन्त आहुर्वयं चेति शपामहे ततस्त्वं नोऽस्मान् मा मुञ्च वयमपि न मुञ्चामः । हे वरुण, नोऽस्मभ्यम् आप ओषधयश्च सुमित्रिया सुमित्रवत् सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि....तस्मै दुर्मित्रिया शत्रुवत् सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राज्ञोऽपामोषधीनां च हिंसने प्रवृत्त्यसम्भवेन तन्निषेधायोगात् । एवं स्थानात् स्थानाद् राजकर्तृकप्रजाकर्मकपरित्यागोऽप्यप्राप्त एवेति तन्निषेधोऽपि व्यर्थ एव । यदपि 'न्याये गवादयः पशवोऽघ्न्या अहन्तव्या इति यद् भवन्त आहुर्वयं च तथैव शपामहे' इति, तदपि न स्पष्टम् । आप ओषधयश्च राजप्रार्थनया कथं सुमित्रवद् भविष्यन्ति, कथं च तया ता एव प्रार्थयितृशत्रूणां कृते दुर्मित्रवद् भविष्यन्तीति सर्वथा युक्तिशून्यं वचः । मन्त्रपाठादिजनितेनादृष्टेन तथा कल्पनमपि सिद्धान्तहानिकरमेव, सामाजिकैस्तथानभ्युपगमात् ॥२२॥

ह॒विष्म॑तीरि॒मा आपो॑ ह॒विष्माँ॑२॥ आ विवा॑सति ।
ह॒विष्मा॑न् दे॒वो अ॑ध्व॒रो ह॒विष्माँ॑२॥ अस्तु॒ सूर्यः॑ ॥२३॥

अथ सोमाभिषवोपयुक्तानां वसतीवरीसंज्ञकानामुपादानं विधीयते – 'यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश तेनैवैतद्रसेनापः स्यन्दन्ते तमेवैतद्रसꣳ स्यन्दमानं मन्यन्ते' (श.३।९।२।१) । यस्मिन् काले यज्ञरूपस्य विष्णोर्देवतानां यश आहृत्य गतवत्यो वधार्थं देवैः प्रेषिता उपदीका धनुर्ज्याछेदनेन तच्छिरश्चिच्छिदुः, स कालोऽत्र यत्रेतिशब्देन विवक्षितः । तस्मिन् काले छिन्नशिरसो यज्ञस्य रसोऽद्रवत्, रसो द्रुत्वा धावित्वा अपउदकानि प्रविवेश । तेनैव रसेनेदानीमपि यथापूर्वं स्यन्दमानस्वभावा आपः स्यन्दन्ते । तमेव रसमिदानीमप्सु स्यन्दमानं मन्यन्तेऽभिज्ञाः । 'स यद्वसतीवरीरच्छैति । तमेवैतद्रसं यज्ञे दधाति रसवन्तं यज्ञं करोति' (श.३।९।२।२) । वसतीवरीग्रहणं विधत्ते – स यदिति । अच्छैति अभिमुखं गच्छति, तमेव रसं पुनराहृत्य यज्ञे सन्दधाति । 'अग्नीषोमीयस्य वपामार्जनान्ते वसतीवरीग्रहणꣳ स्यन्दमानानामनस्तमिते' (का.श्रौ.८।९।६) इति सूत्रे वपाहवनानन्तरं तद्ग्रहणमुक्तम् । अग्नीषोमीयस्य पशोर्वपामार्जनान्ते कर्मणि कृते सत्यनस्तमिते सूर्ये नद्यादौ प्रवहन्तीनामपां वसतीवरीनाम्नां ग्रहणं कुर्यात् कुम्भेषु। अभिषुतस्य सोमस्य वर्धनार्थमिमा आपः सोमरसेन संसृज्यन्ते, ता वसतीवर्य उच्यन्ते । 'ता एव सर्वेषु सवनेषु विभजति' (श.३।९।२।३) । 'गोपीथाय वा एता

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ विसंगत है । जल तथा ओषधियों की हिंसा में राजा की प्रवृत्ति न होने के कारण उसका निषेध करना युक्त नहीं है । राजा की प्रार्थना से जल तथा ओषधियां कैसे सुमित्र की भांति हो जायंगी तथा इसी प्रकार की प्रार्थना करने वाले के शत्रुओं के लिये दुर्मित्र हो जायंगी, यह कथन सर्वथा युक्तिशून्य है । मन्त्रपाठ आदि से उत्पन्न अदृष्ट के द्वारा इस प्रकार कल्पना करना भी उनके मत में हानिप्रद है, क्योंकि आर्यसमाजी अदृष्ट को नहीं मानते ॥२२॥

मन्त्रार्थ – सूर्यास्त से पहले नदी आदि में बहते हुए वसतीवरी नामक जल को ग्रहण कर प्रार्थना की जाती है कि हवि से युक्त यजमान वसतीवरी नामक जल की परिचर्या करता है, अर्थात् जल के समूह से उसे पृथक् करता है । इससे प्रकाशवान् यज्ञ हवि से युक्त हो, सूर्य भी हविष्मान् हो, क्योंकि सूर्य जल को अन्य सब देवताओं के लिये ग्रहण करता है, अतः सब देवता इस विराडात्मक सूर्य की किरणें हैं ॥२३॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (८।९।६-९) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'हविष्मतीरिमाः' इस ऋचा से यजमान

गृह्यन्ते । सर्वं वा इदमन्यदिलयति यदिदं किञ्च योऽयं पवतेऽथैता एव नेलयन्ति' (श.३।९।२।५)। प्रवाहोदकव्यतिरिक्तमुदकमिदं यत्किञ्च इलयति इतस्ततश्चलयति योऽयं वायुः पवते । एतस्यापि चलनं तत्कृतमेव । एताः स्यन्दमाना एवापो नेलयन्ति । 'दिवा गृह्णीयात् । पश्यन् यज्ञस्य रसं गृह्णानीति....य एष तपति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णाति....' (श.३।९।२।६) ।

दर्शनपूर्वकग्रहणे सति यज्ञरसस्य परिज्ञातत्वात् तथाविधाभिरद्भिः क्रियमाणोऽभिषवः साङ्गो भवतीति । किञ्च, विश्वेभ्यो देवेभ्य एना अपो गृह्णाति । विश्वेदेवाश्च सवितू रश्मिरूपाः । अतो रश्मिरूपाणां विश्वेषां देवानां तदधिपतेः सवितुश्च दिवैव सम्भवाद् दिवैव गृह्णीयात् । 'एतद्ध वै विश्वेदेवाः । यजमानस्य गृहानागच्छन्ति स यः पुरादित्यस्यास्तमयाद् वसतीवरीर्गृह्णाति यथा श्रेयस्यागमिष्यत्यावसथेनोपक्लृप्तेनोपासीतैवं तत्त एतद्धविः प्रविशन्ति ता एतासु वसतीवरीषूपविशन्ति स उपवसथः' (श.३।९।२।७) । लोके यथा गुर्वादेः पूज्यस्यागमनात् पूर्वमुपक्लृप्तेनावसथेनोपासीत, एवं तत्तद्यज्ञोपकरणं संस्करोति, तेन संस्कारोचितेन पूजोपकरणेन देवान् सम्भावयति। एतत् खल्वतिथिभूतानां विश्वेषां देवानामागमनात् पूर्वं यद् वसतीवरीणां ग्रहणमस्ति, तत्तत्सम्मानस्थानीयसोमरसेष्वनुप्रवेशाद्धविः सम्पद्यन्ते ता आपः । उपवसन्त्यासु वसतीवरीषु देवा अस्मिन् काले इत्युपवसथः, उपवासकाल इत्यर्थः । 'स यस्यागृहीता अभ्यस्तमियात् । तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते यदि पुरेजानः स्यान्निनाह्याद् गृह्णीयाद् दिवा हि तस्य ताः पुरा गृहीता भवन्ति यद्यु अनीजानः स्याद्य एनमीजान उपावसितो वा पर्यवसितो वा स्यात्तस्य.... ताः पुरा गृहीता भवन्ति' (श.३।९।२।८) । तत्रैव वसतीवरीणां ग्रहणात् प्रागस्तमये सति तद्ग्रहणोपाय उच्यते–स यस्या इति । प्रायश्चित्तिभिर्दिवाग्रहणे दोषस्पर्शाभावोपायः । स यजमानो यदि पुरेजान इष्टप्रथमसोमयागः स्यात्, तदा स निनाह्यात् स्वगृहस्थितप्रभूतघटादेः सकाशाद् गृह्णीयात् । एवंकरणात्तस्य ता आपोऽस्तमयात् पूर्वं गृहीता भवन्ति, प्रथमानुष्ठानेऽस्तमयात् पूर्वं गृहीतत्वादिति । स्वयमनीजानश्चेद् य एनं यजमानमीजान इष्टवानन्य उपावसितः समीपे गृहेऽवस्थितः पर्यवसितो दूरगृहस्थितो वा ईजानः स्यात्, तस्य निनाह्याद् घटादेः सकाशाद् गृह्णीयात् । एवं सत्यपि ता पुरा दिवा गृहीता भवन्ति ।

'यद्यु एतदुभयं न विन्देत् । उल्कुषीमेवादायोपपरेयात्तामुपर्युपरि धारयन् गृह्णीयाद् हिरण्यं वोपर्युपरि धारयन् गृह्णीयात्तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति' (श.३।९।२।९) । उल्कुषीमुल्कां हिरण्यं वोपर्युपरि धारयन् गृह्णीयात् । उल्काया हिरण्यस्य च सूर्यवर्णसाम्यात् तद्रूपकरणम्। तदेतत्सर्वमुक्तं कात्यायनेनापि – 'अस्तमितश्चेन्निनाह्यात् पुरेजानश्चेत्' (का.श्रौ.८।९।७) । यदिग्रहणात् पूर्वं सोमेनेष्टवान् स्यात् । 'अनीजानोऽन्यस्यापि समीपावसितस्य' (का.श्रौ.८।९।८)। यदि यजमानः स्वयमकृतसोमः स्यात्, तदान्यस्यापि कृतसोमस्य पार्श्ववर्तिनो निनाह्याद् गृह्णीयात् । 'उभयाभाव उल्कुषीꣳ हिरण्यं वोपर्युपरि धारयन् हविष्मतीरिति' (का.श्रौ.८।९।९) । यदा स्वयं नेष्टवान् समीपवासी च नेष्टवान्, तदा उल्कां हिरण्यं वा स्यन्दमानानामपामुपरि धारयन् वसतीवरीर्गृह्णीयात् । इमाश्च प्रवाहाभिमुखं तिष्ठता ग्रहीतव्याः, 'प्रतीपं तिष्ठन् गृह्णाति' इति तैत्तिरीयसंहितावचनात् ।

अनुष्टुप्, लिङ्गोक्ता देवता । हविष्मतीरभिषूयमाणेन हविषा सोमेन युक्ताः, स्वासु प्रविष्टेन यज्ञरसरूपेण हविषा वा हविष्मत्यः । इमा गृह्यमाणा वसतीवरीरप आविवासति परिचरति । ततो देवो द्योतमानोऽध्वरो यागोऽपि

'वसतीवरी' नामक जल का ग्रहण करता है । शतपथ तथा तैत्तिरीय श्रुतियों में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

स्वशरीरनिष्पत्त्यर्थं हविष्मान् भवतु वसतीवरीभिः । किञ्च, सूर्योऽपि देवो यजमानस्य फलदानाय स्वसन्तृप्त्यर्थं हविष्मान् हविःसम्पन्नो भवतु । एताभिर्निष्पन्नेन सोमेन हविषा हविष्मान् यजमानः । 'यज्ञस्य ह्यासु रसः प्राविशत्....हविष्मान् ह्येना यजमान आविवासति....' (श.३।९।२।१०) इति श्रुत्या यज्ञरसे प्रवेशादपां हविष्मत्त्वमुक्तम् । हविष्मानत्र यजमानो ग्राह्य इत्यपि निगदव्याख्यातम् । 'हविष्मान् देवोऽध्वरः' (श.३।९।२।११) इत्यनया श्रुत्या यज्ञ एवात्र देवोऽध्वरः । 'हविष्माँ अस्तु सूर्य इति । एतस्मै वै गृह्णाति य एष तपति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णाति रश्मयो ह्यस्य विश्वे देवाः....' (श.३।९।२।१२) इति श्रुतिः । रश्मिमालिन आदित्याय वसतीवरीर्गृह्णाति । रश्मयश्च सर्वरूपास्ते चांशिनो जगत्स्रष्टुर्भगवतः सूर्यस्यांशरूपा एव । तस्मात् सूर्यस्य हविष्मत्त्वे सर्वदेवानां हविष्मत्त्वं सम्पद्यते ।

अध्यात्मपक्षे – साधको भगवन्तं प्रार्थयते । हे परमेश्वर, त्वत्कृपया इमाः परिदृश्यमाना आपस्त्वदर्थनैवेद्यनिर्माणार्थं समर्पणीयेन हविषा विविधपक्वान्नलक्षणेन हविष्मत्यो भवन्तु । हविष्मान् प्रशस्तविविधसमर्पणीयपक्वान्नादिहविषा हविष्मान् साधकस्त्वामाविवासति परिचरति, तेनैव हविषा देवो द्योतमानो भगवान् हविष्मान् भवतु । त्वदीयः पूजालक्षणोऽध्वरोऽपि स्वस्वरूपनिष्पत्तये हविष्मान् भवतु । सूर्यो भगवान् भास्करः सर्वकर्मसाक्षी हविष्मान् अस्तु, सूर्यादेव पर्जन्यादिक्रमेण हविषामुत्पत्तेः । भगवत्पूजार्थं सूर्योऽपि जन्यजनकभावेन हविष्मान् भवत्वित्यर्थः । भगवतो दिव्यत्वात् पूजापि दिव्या। तदर्थं सूर्यादुत्पन्नानि हवींष्यपि दिव्यानि । तन्निर्माणोपयोगिन्य आपोऽपि दिव्याः । तादृग् दिव्यपक्वान्नादिलक्षणेन हविषा युक्तो यजमानस्त्वां परिचरति, परिचरेदित्यर्थः ।

दयानन्दस्तु – 'हे विद्वांसः, यथेमा आपो हविष्मतीर्हविष्मत्यः स्युरयं वायुर्हविष्मानेवाविवासति सर्वान् परिचरति, देवोऽध्वरो हविष्मान् स्यात्, सूर्यो हविष्मानस्तु, तथा भवन्तो यज्ञेनैतान् शुद्धान् कुर्वन्तु' इति, तदप्यसङ्गतम्, अनुपपत्तेः । यत्तु 'दानादानाभ्यां तासां सुखशुद्धिभ्यामुपकारत्वमेव हविष्मत्त्वम्' इति, तत्तुच्छम्, तद्भिन्नस्य हविष्ट्वेनैव तासां हविष्मत्त्वोपपत्तेः, अन्यथा मतुप आनर्थक्यात् । वायुपदं तु मूले नास्त्येव । 'तथा भवन्तो यज्ञेनैतान् शुद्धान् कुर्वन्तु' इत्यंशस्य सर्वथा निर्मूलत्वमेव ॥२३॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – साधक भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे परमेश्वर, आपकी कृपा से दृश्यमान जल आपके नैवेद्यनिर्माण के लिये समर्पणीय विविध पक्वान्नरूपी हविर्द्रव्य से हविष्मान् हों । प्रशस्त तथा विविध समर्पणयोग्य पक्वान्न आदि हविर्द्रव्यों से हविष्मान् साधक आपकी परिचर्या करता है । उस हविर्द्रव्य से विद्योतमान भगवान् हविष्मान् हों । आपका पूजारूपी यज्ञ अपने स्वरूप की पूर्णता के लिये हविष्मान् हो । सब कर्मों के साक्षी भगवान् भास्कर हविष्मान् हों, क्योंकि सूर्य से ही पर्जन्य आदि के क्रम से हविर्द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् भगवान् की पूजा के लिये सूर्य भी जन्यजनकभाव से हविष्मान् हों । भगवान् के दिव्य होने के करण पूजा भी दिव्य है । एतदर्थ सूर्य से उत्पन्न हविर्द्रव्य भी दिव्य हैं । उनके निर्माण में उपयोगी जल भी दिव्य हैं । इस प्रकार के दिव्य पक्वान्न आदि हविर्द्रव्यों से युक्त यजमान आपकी परिचर्या करे ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अनुपपन्न होने के कारण अग्राह्य है । वायु शब्द तो मूल मन्त्र में है ही नहीं । 'आप लोग यज्ञ के द्वारा इनको शुद्ध करें' यह अंश तो सर्वथा निर्मूल है ॥२३॥

अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ। अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥२४॥

'ता आहृत्य जघनेन गार्हपत्यꣳ सादयति। अग्नेर्वोऽपन्न....' (श.३।९।२।१३) इति समन्त्रकं वसतीवरीणामपां गार्हपत्यस्य पश्चाद्भागे सादनं विधत्ते। कात्यायनोऽपि – 'अग्नेर्व इति निदधाति शालाद्वार्यमपरेण' (का.श्रौ.८।९।१०)। ता आनीता वसतीवरीः शालाद्वार्यस्य पश्चिमतो निदध्यात्। हे वसतीवर्यः, वो युष्मान् अपन्नगृहस्य अपतितगृहस्य अशीर्णगृहस्य अविनश्वरगृहस्य शालामुखीयाग्नेः सदसि समीपस्थाने सादयामि स्थापयामि, 'अनार्तगृहस्य सदसि' इति तत्रैव श्रुतेः। 'यदाग्नीषोमीयः पशुः सन्तिष्ठते अथ परिहरति व्युत्क्रामतेत्याहाग्रेण हविर्धाने यजमान आस्ते ता आदत्ते' (श.३।९।२।१३)। अथ यदाग्नीषोमीयः पशुः सन्तिष्ठते पत्नीसंयाजान्तः समाप्तो भवति, वसतीवरीर्वेदेः परितो नयेत्। वेदिमध्ये स्थिता दीक्षिता व्युत्क्रामत इत्याह – अध्वर्युस्त्रिर्ब्रूयाद् हविर्धानस्य पुरो देशे यजमान आस्ते, उत्तरवेदिमपरेण उपस्थे सोमं कृत्वा। 'स दक्षिणेन निष्क्रामति। ता दक्षिणायाꣳ श्रोणौ सादयतीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थेति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णातीन्द्राग्नी हि विश्वेदेवास्ताः पुनराहृत्याग्रेण पत्नीं सादयति स जघनेन पत्नीं पर्येत्य ता आदत्ते' (श.३।९।२।१४)। अथ ता अध्वर्युरादाय दक्षिणेन द्वारेण प्राग्वंशान्निष्क्रम्य उत्तरवेद्या दक्षिणश्रोणौ सादयति। इन्द्राग्न्योभार्गधेयी स्थ इति भागधेय्यौ भवथ। 'स उत्तरेण निष्क्रामति। ता उत्तरायाꣳ श्रोणौ सादयति मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थेति नैवꣳ सादयेदतिरिक्तमेतन्नैवꣳ सम्पत् सम्पद्यत इन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थेत्येव ब्रूयात् तदेवानतिरिक्तं तथा संपत् सम्पद्यते' (श.३।९।२।१५)। आदायोत्तरेण मार्गेण निष्क्रामति। निष्क्रम्य उत्तरवेदेरुत्तरश्रोण्यां सादने कश्चिन्मन्त्रं निर्दिश्य तस्य वक्ष्यमाणसप्तपदोपेतशक्वरीच्छन्दःप्राप्तिलक्षणायाः सम्पदोऽतिरेकेणाधिक्येन प्रातिकूल्यमभिधाय दक्षिणवेदिश्रोणिसादनमन्त्रमेव सम्पदनुकूलत्वात् सिद्धान्तयति। 'दक्षिणेन निर्हत्य दक्षिणस्यामुत्तरवेदिश्रोणौ निदधातीन्द्राग्न्योरिति' (का.श्रौ.८।९।१६)। वसतीवरीरादाय दक्षिणे शालाया निष्काश्य मार्जालीयं दक्षिणेन नीत्वा दक्षिणस्यामुत्तरश्रोणावासादयेत्।

मन्त्रार्थस्तु – हे वसतीवर्यः, यूयमिन्द्राग्न्योर्भागधेय्यो भागरूपाः स्थ भवथ। 'भागरूपनामभ्यो धेयः' इति वार्त्तिकेन स्वार्थे धेयप्रत्ययः। 'केवलमामकभागधेय....' (पा.सू.४।१।३०) इत्यादिना ङीपि भागधेयीति रूपम्। 'ते देवा बिभ्यतोऽग्निं प्राविशन्, तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवताः' (तै.सं.१।८।१) इति। इन्द्रस्य तु देवाधिपत्वं प्रसिद्धम्। 'उत्तरस्यां पूर्ववन्मित्रवरुणयोरिति वा' (का.श्रौ.८।९।१९-२०)। हे वसतीवर्यः, यूयं मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ भागरूपा भवथ। 'आग्नीध्रे सादयति विश्वेषां भागधेयी स्थेति' (श. ३।९।२।१६)। 'विश्वेषां देवानामित्याग्नीध्रे' (का.श्रौ.८।९।२१)। उत्तरवेदिश्रोणेः सकाशाद् वसतीवरीरादायाग्नीध्रीयस्याग्नेः पश्चान्निदध्यात्।

मन्त्रार्थ – हे वसतीवरी जलों, तुमको अविनश्वर घर वाले अग्नि के निकट स्थापित करता हूँ, तुम इन्द्र और अग्नि देवता के भाग हो, तुम सभी देवताओं के भाग हो। जो जल बहुत काल तक रहने के कारण सूर्य की किरणों में अदृश्य रूप में स्थित है, अथवा जिनके साथ सूर्य गमन करता है, वे जल हमारे यज्ञ को तृप्त करें ॥२४॥

भाष्यसार- 'अग्नेर्वः' इस कण्डिका के मन्त्रों से वसतीवरी जल का स्थापन विविध स्थानों पर किया जाता है। यह याज्ञिक

हे वसतीवर्यः, यूयं सर्वेषां देवानां भागरूपा भवथ । अमूर्या इति ऋग् अब्देवत्या गायत्री । याः प्रसिद्धा **अमूरीदृश्यो** वसतीवरीरूपा आप उपसूर्ये सूर्यसमीपे स्थिताः, विभक्तिव्यत्ययेन याभिर्वा, वाशब्दः समुच्चये, **याभिश्चाद्भिः सह** सूर्यो भवति ता आपो नोऽस्माकमध्वरं यज्ञं हिन्वन्तु तर्पयन्तु । सर्वतः परिहरणमुत्तरवेदेश्चापरिहरणं प्रशंसति श्रुतिः – 'गुप्त्यै वा एताः परिह्रियन्ते । अग्निः पुरस्तादथैताः समन्तं पल्यङ्गयन्ते नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपघ्नत्यस्ता आग्नीध्रे सादयति विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थेति तदासु विश्वान् देवान् संवेशयत्येते वै वसतांवरं तस्माद्वसतीवर्यो नाम वसताꣳहि वरं भवति य एवं वेद' (श.३।९।२।१६) । अपां वज्रत्वेन रक्षोविघातकत्वात् सर्वतः परिहरणेन यज्ञस्य रक्षःसकाशात् सर्वतो गुप्तिर्भवति । साक्षाद्रक्षोद्वेषिणोऽग्नेः पुरस्ताद्वर्तमानत्वान्न तदपेक्षा, पुरस्तात् परिहारापेक्षा नास्ति । पल्यङ्गयन्ते परितोऽङ्गयन्ते ह्रियन्ते । ता आग्नीध्रे उत्तरश्रोणितश्चादाय विश्वेषां देवानामिति मन्त्रेण सादयेत् । ततस्तेन विश्वेषां देवानां संवेशनं तत्र भवति । तत्प्रसङ्गेनैव वसतीवरीशब्दं निर्वक्ति – एते वै वसतां वरम्, तस्याद्वसतीवर्यो नामेति । वसतां क्वचित् क्वचित् स्थानेषु निवसतां मध्ये, एते खलु देवा वरम् एतेषां आसो वरं श्रेष्ठः, वसतां देवानां श्रेष्ठत्वापादकत्वाद् वसतीवर्यो नाम सम्पन्नमासामपाम् । यद्वा एतेष्वेता आपो वसतां विश्वेषां देवानां वरमुत्कृष्टं स्थानमिति वसतीवर्य इति नाम । उक्तार्थज्ञं प्रशंसति – वसतां ह वै वरं भवति । 'तानि वा एतानि सप्त यजूꣳषि भवन्ति । चतुर्भिर्गृह्णात्येकेन जघनेन गार्हपत्यꣳ सादयत्येकेन परिहरत्येकेनाग्नीध्रे तानि सप्त यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दाꣳसि सप्तपदा वै तेषां परार्ध्या शक्कर्येतामभिसम्पदं तस्मात् सप्त यजूꣳषि भवन्ति' (श.३।९।२।१७) । वसतीवरीग्रहणप्रभृतीनामाग्नीध्रसादनान्तानां मन्त्राणां या सप्त संख्या, तां शक्करीत्वसम्पत्त्या प्रशंसति-तानीति । वाच सकाशाच्छन्दसामुत्पत्तिः सोमाहरणप्रस्तावे 'वागेव सुपर्णी' इत्युक्त्वा 'तथेति सा छन्दासि ससृजे' (श.३।६।२।२-८) इत्यत्र प्रतिपादिता । तेषां मध्ये परार्ध्या परार्धे भवा परार्ध्या श्रेष्ठा सप्तपदा शक्करी । परार्ध्यत्वं प्रधानभूतानां सप्तच्छन्दसामुपरि भावित्वात् । एतां संख्याद्वारा शक्करीप्राप्तिलक्षणां सम्पदमभिलक्ष्य सप्त मन्त्रा उक्ता भवन्ति ।

अध्यात्मपक्षे – हे पराप्रकृतयो जीवात्मानः, अपन्नगृहस्य अविनश्वरगृहस्य अग्नेः सर्वस्य नेतुः परमेश्वरस्य स एव नित्यगृहो भवति, तस्य स्वात्मप्रतिष्ठत्वात्, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' इति श्रुतेः । सदसि निकटस्थाने सभायां वा युष्मान् सादयामि । यूयम् इन्द्राग्न्योर्भागधेयी भागधेय्यो भागरूपा **भवथ,** देवानामुपकारकत्वेन भोग्यत्वात् । मित्रावरुणयोर्भागरूपा भवथ । न केवलमेतेषामेव, किन्तु विश्वेषां समेषां देवानां भागरूपा भवथ । 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः । तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।' (भ.गी.३।११-१२) इति गीतोक्तेः । याः प्रसिद्धा अमूरीदृश्यः पराप्रकृतिरूपा उपसूर्ये सूर्यस्य सूर्यमण्डलान्तर्वर्तिनोऽन्तर्यामिणो हिरण्यकेशस्य हिरण्यश्मश्रोर्हिरण्यमयस्य भगवतः समीपे स्थिताः, याभिश्च सह सूर्यः परमेश्वरः स्थितः 'द्वा सुपर्णा

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (८।९।१०-२१) में प्रतिपादित है । शतपथ तथा तैत्तिरीय श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे जीवात्माओं, अविनश्वर गृह वाले, सबके नेता परमेश्वर के निकट अथवा सभा में तुमको बैठाता हूँ । तुम लोग इन्द्राग्नी के भागरूप बनो, मित्रावरुणों के भागरूप बनो, समस्त देवताओं के भागरूप बनो । जो इस प्रकार की परा प्रकृतिरूपा हैं, सूर्यमण्डल के अन्तवर्ती अन्तर्यामी स्वर्णमय केशश्मश्रु वाले भगवान् के समीप अवस्थित हैं तथा जिनके साथ

सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (ऋ.सं.१।१६४।२०) इत्यादिश्रुतेः, ता नोऽस्माकं वेदानामध्वरम् अध्वरोपलक्षितकर्मोपासनाज्ञानादिरूपान् प्रतिपाद्यानर्थान् हिन्वन्तु प्रेरयन्तु, सर्वहिताय प्रेरयन्तु प्रोत्साहयन्तु वा ।

दयानन्दस्तु – 'हे ब्रह्मचारिण्यः, या अमूः स्वयंवरविवाहं कृतवत्यः सन्ति, तद्वद् या यूयमिन्द्राग्न्योर्भागधेयीः स्थ, सूर्यविद्युतोर्गुणानां विभागज्ञानयुक्ता विश्वेषां देवानां भागधेयीः स्थ, ता वो युष्मान् अपन्नगृहस्याग्नेः सदस्यहं सादयामि, सूर्ये सूर्यगुणेषु उपतिष्ठन्ति वा याभिः सह सूर्यो वर्तते ता नोऽस्माकमध्वरं विवाहं कृत्वा हिन्वन्तु प्रीणन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकृते ब्रह्मचारिणीनां सम्बोधनीयत्वे प्रमाणाभावात् । तथैवेन्द्राग्निशब्दयोस्तद्गुणपरत्वं च भाक्तमेव, न शाक्तम् । न चात्र गौणार्थग्रहणे बीजमुपलभामहे । सायणादिरीत्या शक्त्यैव निर्वाहसम्भवे भक्त्याश्रयणस्यान्याय्यत्वात् । 'विश्वेषां देवानां विदुषां पृथिव्यादीनां वा विभागविज्ञानयुक्ताः' इत्यपि निर्मूलम्, गौणार्थाश्रयणापत्तेः । सर्वमेतच्छतपथीयश्रुतिव्याख्यानविरुद्धं च ॥२४॥

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा । ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ ॥२५॥

'तान् सम्प्रबोधयन्ति। ते अप उपस्पृश्याग्नीध्रमुपसमायान्ति त आज्यानि गृह्णते गृहीत्वाज्यान्यायान्ति' (श.३।९।३।१) इत्यादिना सुत्यादिवसे प्रातःकालीनं सवनीयपश्वर्थप्रयोगमाह । प्रबोधिता ऋत्विजो विहितकर्माण्यनुष्ठायोदकोपस्पर्शनं कृत्वा आज्यानि गृहीत्वा उत्तरवेदिसमीपमायान्ति । प्रयोगश्च सूत्रे – शालाद्वार्ये परिस्तरणपात्रसंसादनप्रोक्षणाज्यनिर्वपणाधिश्रयणस्रुक्संमार्जोद्वासनावेक्षणानि कृत्वाग्नीध्र उत्पूय पश्वाज्यग्रहणम् । आज्यान्यादाय सोमं चार्थवच्चाहवनीय इध्मप्रोक्षणादि करोति । अग्नीषोमीयवत् स्तरणम् । 'अथ राजानमुपाहरति' (श.३।९।३।२) । अधिषवणचर्मोपरि प्रदेशं प्रति अधो नयेत् । 'अन्तरेणेषे उपावहरति' (श.३।९।३।३) । इषे आयतौ शकटदण्डौ, यज्ञसादनसोमाश्रयत्वात् । 'यज्ञो वा अनः' । तयोरन्तरालादधः सुप्त्वावरोहणेन यज्ञाद्धविर्धानाद् बाह्यं न कृतवान् भवति । 'ग्राव्सु संमुखेष्वधिनिदधाति' (श.३।९।३।३) । 'स उपावहरति हृदे

साथ परमेश्वर स्थित हैं, वे हमारे वेदों के प्रतिपाद्य कर्म. उपासना, ज्ञानादिरूप यज्ञ आदि पदार्थों को प्रेरित करें अथवा सबके हित के लिये प्रोत्साहित करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ, मन्त्र में ब्रह्मचारिणियों को सम्बोधित करने में प्रमाण न रहने के कारण, असंगत है । इसी प्रकार इन्द्र, अग्नि आदि शब्दों को उनके गुण का वाचक मानना भी शब्द-शक्ति से नहीं सिद्ध होता, अपितु गौण है । इस गौण अर्थ के ग्रहण में कोई मूल हमें नहीं उपलब्ध होता । सायण आदि आचार्यों की रीति से शब्द-शक्ति से ही अर्थ की सिद्धि संभव होने पर भक्ति का आश्रय लेना अनुचित है। यह सब शतपथ श्रुति के विरुद्ध भी है ॥२४॥

मन्त्रार्थ – हे सोम, हृदयवान् मनुष्यों के निमित्त, संकल्प-विकल्पात्मक मन के निमित्त, द्युलोक की प्राप्ति के निमित्त, सूर्य देवता के निमित्त तुम्हारा उपाहरण करता हूँ । इस यज्ञ को उन्नत करके यज्ञ के वषट्कर्ता सात होताओं को देवलोक में देवताओं के मध्य देवत्व प्रदान करो ॥२५॥

भाष्यसार – 'हृदे त्वा' इस ऋचा के द्वारा तृतीय सवन के लिये सोमलता को प्रस्तरखण्ड पर रखा जाता है । कात्यायन श्रौतसूत्र

त्वा' (श.३।९।३।४) इति। उपावहरणप्रकारमभिधायोपावहरणे मन्त्रमाह – हृदे त्वेति। कात्यायनोऽपि – 'आज्यासादनात् कृत्वेषामन्तेरणार्धसोममद्रिषु संमुखेषु निदधाति हृदे त्वेति' (का.श्रौ.९।१।५)। आज्यासादनान्तं कृत्वा सोममादाय हविर्धाने प्रवेश्य दक्षिणस्य हविर्धानस्य ईषान्तरालेन अर्धाधिकं सोमं तृतीयसवनार्थं महांशुसहितं सम्मुखेष्वभिषवार्थपाषाणेषु चर्मण उपरि स्थापितेषु रथादवतार्य सोमोपनहनवाससा सहैवावशिष्टसोमस्य माध्यन्दिनसवनार्थमीषयोरुपर्येवावशेषणम्। तस्य वस्त्रान्तरेण सन्नहनं कर्तव्यम्। अद्रीणां मुखानि स्थवीयांसि भवन्ति। सौम्यनुष्टप्।

तथा चायं मन्त्रार्थः – हे सोमराजन्, त्वा त्वां हृदे हृदयवद्भ्यो मनुष्येभ्यो मनसे मनस्विभ्यः पितृभ्यो दिवे द्युलोकनिवासिभ्यो देवेभ्यो विशेषतः सूर्याय चोपहरामि। एवमुपाहृतोऽभिषुतस्त्वमूर्ध्वमुत्कृष्टः सन्नध्वरं मदीयं यज्ञं सम्पाद्य दिवि द्युलोकवासिषु होत्रा वषट्कारवादिनः सप्त होत्रकान् यच्छ निबध्नीहि। यद्वा हे सोम, हृदे निश्चयात्मिकायै एतन्मम स्यादिति कामरूपायै बुद्ध्यै त्वामुपावहरामि। मनसे शुभसङ्कल्पाय दिवे द्युलोकप्राप्तये सूर्याय सूर्यमुखेभ्यो देवेभ्यस्तृप्तये त्वामुपावहरामि। हृदयादिशब्दानां यथोक्तार्थं तित्तिरिर्दर्शयति – 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति स त्वा अध्वर्युः साद्यः सोममुपावहरते सर्वाभ्यो देवताभ्य उपावहरेदिति हृदे त्वेत्याह, मनुष्येभ्य एवैतेन मनसे पितृभ्य एवैतेन करोति, दिवे त्वा सूर्याय त्वेति देवेभ्य एवैतेन करोत्येवं यावतीर्वै देवतास्ताभ्य एवैनं सर्वाभ्य उपावहरति' इति। 'क्षत्रं वै सोमो विशो ग्रावाणः क्षत्रमेवैतद्विश्यध्यूहति तद्यत् संमुखा....क्षत्रियमभ्यविवादिनीं करोति तस्मात् संमुखा भवन्ति' (श.३।९।३।३)। सोमस्य क्षत्रियत्वाद् ग्राव्णां च बहुत्वात् तच्छेषत्वाच्च विशो रूपत्वम्। मध्ये स्थापनेन यत्सर्वग्रावसांमुख्यं तत्प्रशंसति – क्षत्रियमिति। क्षत्रियजातिमभिलक्ष्याविवादिनीमविवादनशीलां करोति। मन्त्रं व्याचष्टे – 'हृदे त्वा मनसे त्वेति यजमानस्यैतत्कामायाह हृदयेन हि मनसा यजमानस्तं कामं कामयते यत्काम्या यजते तस्मादाह हृदे त्वा मनसे त्वेति' (श.३।९।३।४)। हे सोम, त्वा त्वां हृदे हरति दूरस्थं विषयमिति, विषयाभिमुखं स्वोपहितमात्मानं हरतीति वा हृदयमन्तःकरणम्, तद्विशेषरूपं सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनः, यजमानसम्बन्धिनोस्तयोरुभयोर्विषयोऽयं कामः, तस्य लाभार्थमुपावहरामि। कर्मकारकस्य द्विराम्नानादुपावहरामीति द्विरभ्यासः। अतो वाक्यद्वयम्, न व्याख्यानव्याख्येयभावः। 'दिवे त्वा सूर्याय त्वेति। देवलोकाय त्वेत्येवैतदाह यदाह दिवे त्वेति सूर्याय त्वेति देवेभ्यस्त्वेत्येवैतदाहोर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छेत्यध्वरो वै यज्ञ ऊर्ध्वमिमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहीत्येवैतदाह' (श.३।९।३।५)। दिवे देवलोकाय त्वा सूर्याय त्वेत्येतद्रश्मिभूतानां देवानामुपलक्षणम्। हे सोम, ऊर्ध्वमुपरि तायमानत्वेनोन्नतमिमं सोमयागं दिवि द्युलोके देवेषु यच्छ, होत्रा होत्रकाश्च देवेषु गच्छन्तु।

अध्यात्मपक्षे – हे परमेश्वर, त्वा त्वामाश्रयामः। किमर्थम्? हृदे बुद्ध्यै त्वद्विषयकाध्यवसानाय, मनसे त्वद्विषयकसततसङ्कल्पाय, दिवे दिवे द्योतनात्मकाय स्वप्रकाशाय तादृशत्वत्स्वरूपप्राप्तये, सूर्याय हिरण्मयाय मण्डलान्तर्गतपरब्रह्मपुरुषाय तत्प्राप्तये त्वामाश्रयामः, त्वत्कृपयैव तत्प्राप्तिसम्भवात्। इममुपासनालक्षणमध्वरं यज्ञम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टं कृत्वा दिवि देवेषु द्युलोके वर्तमानेषु देवेषु ये होत्राः सर्वस्वात्मसमर्पकास्तान् यच्छ उपरमय। संसाराद्

(९।१।३-४) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्या उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे परमेश्वर, हम आपका आश्रय ग्रहण करते हैं। आपके विषय में अध्यवसायात्मिका बुद्धि के लिये, सतत संकल्प के लिये तथा द्योतनात्मक स्वप्रकाश के लिये, इस प्रकार के आपके स्वरूप की प्राप्ति के लिये, हिरण्मय

व्युत्थाप्य सर्वथा स्वस्मिन् योजय । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो.१।२।१५) इति श्रुतिप्रामाण्यात् सर्वेषामपि वेदानां ब्रह्मप्रतिपादकत्वम् ।

दयानन्दस्तु – 'हे ब्रह्मचारिणि कन्ये, त्वं यथा वयं सर्वा देवेषु स्वपतिषु समीपवर्तिन्यो होत्रा हवनकर्मानुष्ठात्र्यः स्म, तथा भव । यथा वयं हृदे हृत्सुखाय मनसे सदसन्मननाय दिवे सर्वसुखद्योतनाय सूर्याय सूर्यगुणाय अशिशिष्म, तथा दिवीममध्वरम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टं यच्छ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथातथादिपदानां मूलेऽभावात् । यत्तु कन्यानां सम्बोधनम्, 'देवेषु' इत्यस्य 'स्वपतिषु समीपवर्तिन्यः' इत्यादिव्याख्यानम्, तत्सर्वं निर्मूलम् । 'हृदे' इत्यस्य हृत्सुखाय, 'मनसे' इत्यस्य सदसन्मननाय, दिवे सुखद्योतनाय, सूर्याय सूर्यगुणायेत्यादिकमपि गौणार्थाश्रयणं निर्बीजमेव । अशिशिष्मेत्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव । न च दानार्थकस्य दीव्यतेः सुखदायकपत्यर्थकरणं नासङ्गतमिति वाच्यम्, इतरधनादिदानस्यापि सुखदातुर्मात्रादेरपि सम्भवेन तादृशार्थे विनिगमनाविरहात् ॥२५॥

सोम॑ राजन् विश्वा॒स्त्वं प्र॒जा उ॒पाव॑रोह॒ विश्वा॒स्त्वां प्र॒जा उ॒पाव॑रोहन्तु । शृ॒णोत्व॒ग्निः स॒मिधा॒ हवं॑ मे शृ॒ण्वन्त्वापो॒ धि॒षणा॑श्च दे॒वीः । श्रोता॑ ग्रावाणो वि॒दुषो॒ न य॒ज्ञं शृ॒णोतु॑ दे॒वः स॑वि॒ता हवं॑ मे॒ स्वाहा॑ ॥२६॥

'अथानुसृज्योपतिष्ठते' (श.३।९।३।७) । 'विश्वास्त्वामिति विसृज्योपतिष्ठते' (का.श्रौ.९।१।६) । यजमानो ग्रावसु स्थापितात् सोमात् स्वहस्तं निष्कृष्य सोममुपतिष्ठतु । विसर्गस्यालम्भपूर्वकत्वाद् आलम्भस्य च याजमानत्वाद् याजमानमिदमुपस्थानम् । हे सोमराजन्, त्वां विश्वाः सर्वाः प्रजा उपावरोहन्तु, त्वं प्रजानामाधिपत्यं कुर्वित्यर्थः । हे सोम, विश्वाः सर्वाः प्रजास्त्वामुपावरोहन्तु प्रत्युत्थानादिभिः प्राप्नुवन्तु । 'अभूदुषा रुशत्पशुरित्युच्यमाने चतुर्गृहीतं प्रचरण्या जुहोति शृणोत्वग्निरिति' (का.श्रौ.९।३।१) । प्रातरनुवाकस्य अन्तिमा ऋग् अभूदुषेति ।

मण्डल के अन्तर्वर्ती परब्रह्म पुरुष की प्राप्ति के लिये आपकी शरण लेते हैं, क्योंकि आपकी कृपा से ही उसकी प्राप्ति सम्भव है । इस उपासनात्मक यज्ञ को उत्कृष्ट बना कर द्युलोक में विद्यमान देवों में जो सर्वस्वात्मसमर्पणकर्ता हैं, उसको रखें । संसार से उठा कर अपने में संयुक्त करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अग्राह्य है । कन्याओं का संबोधन, 'देवेषु' का अर्थ 'अपने पतियों के समीपवर्ती' इत्यादि व्याख्या करना अप्रामाणिक है । 'अशिशिष्म' इस शब्द का अध्याहार करना भी निर्मूल है । दानार्थक 'दिवु' धातु का सुखदायक पति से अर्थ बैठाना असंगत नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्य धनादि का दान सुखदात्री माता आदि से भी संभव है । अतः उपर्युक्त अर्थ में कोई निश्चित युक्ति नहीं है ॥२५॥

मन्त्रार्थ– हे राजा सोम, तुम इन सम्पूर्ण ऋत्विग्गणों को अपनी प्रजा जान कर इन पर कृपा करो । हे सोम, यह सम्पूर्ण प्रजा तुमको प्रणाम करती है । अग्निदेवता सुविधापूर्वक मेरी इस आहुति से मेरे बुलावे को सुनें । हे ग्रावासमूह, अभिषव के निमित्त प्राप्त हुए तुम विद्वानों की तरह एकाग्रचित्त हो मेरे यज्ञ के बुलावे को सब तरह से सुनो । सबका प्रेरक परमात्मा मेरे बुलावे को सुने । यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥२६॥

भाष्यसार– 'सोम राजन्' इत्यादि कण्डिका के मन्त्रों से सोम का उपस्थान तथा घृत का हवन किया जाता है । कात्यायन

तस्मिन् मन्त्रे होत्रा पठ्यमानेऽध्वर्युश्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा प्रचरण्या स्रुचा जुहुयात् । त्रिष्टुप्, लिङ्गोक्तादेवता अग्निः । समिधा समित्पूर्विकयाऽऽहुत्या मे हवं मदीयमाह्वानं शृणोतु । आपश्च मदीयमाह्वानं शृण्वन्तु । कीदृश्यः ? धिषणा विद्योपेताः, देवीः देव्यो देवतारूपाश्च । विदुषो नेत्युपमार्थः । विदुष इति विभक्तिव्यत्ययः । तथा च विद्वांसः प्रत्यक्षतो जानन्त इव । हे ग्रावाणः, अभिषवार्थमिहोपस्थिता यूयं मदीयं यज्ञं श्रोता शृणुत । तथा सविता देवो मदीयमाह्वानं शृणोतु । यद्वा धिषणाश्च वाचः, धीसादिन्यो धियं सन्वन्ति ददतीति धिषणाः । 'षणु दाने' धीमानिन्यो वा (निरु.८।४) । देवीः देव्यः श्रोता ग्रावाणो यूयमपि शृणुत । स्वाहा सुहुतमस्तु, स्वाहा वागाहेति वा ।

अत्र शतपथश्रुतिः – 'विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्त्वित्ययथायथमिव वा एतत्करोति यदाह विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहेति क्षत्रं वै सोमस्तत्पापवस्यसं करोति.... यथापूर्वं यदाह विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्त्विति तदेनमाभिः प्रजाभिः प्रत्यवरोहयति तस्मात् क्षत्रियमायान्तमिमाः प्रजा विशः प्रत्यवरोहन्ति तमधस्तादुपासक उपसन्नो होता प्रातरनुवाकमनुवक्ष्यन् भवति' (श.३।९।३।७) । उपावरोहणे यो विश्वास्त्वामिति मन्त्रशेषः । तत्र विश्वाः प्रजा उद्दिश्य तुच्छजनवत् परिचारकपुरुषनिष्पादितावरोहणमन्तरेण स्वत एवावरोहणस्य प्रजाः प्रति सोमस्यापसर्जनलक्षणस्य च प्रतीतिः । तस्याश्च क्षत्रियभूतस्य सोमस्यानुचितत्वाद् विश्वास्त्वामित्यभिधानेन अयथायथं यथास्वरूपस्य यदुचितं तस्य तद्वैपरीत्यं कृतं भवति, तच्च पापवस्यसं पापं च वसीयश्च पापवस्यसं साध्वसाधुमिश्रणम् । तन्मूलत्वेनेदानीमपि जनैः पापवस्यसं क्रियते । अत उक्तवैलक्षण्येनोपस्थानमन्त्रे विश्वास्त्वामित्यभिधानाद् विश्वाभिः प्रजाभिः सोमोपावरोहणस्य कृतत्वादवतरन्तं प्रति विश्वासां प्रजानां स्वस्वस्थानादवतरणस्योक्तत्वाद्वा नोक्तदोषावकाशः । पूर्वस्मिन् यथा अवरोहन्तु, अवरोहयन्त्वित्यर्थः । तस्मात् त्वमवरोहन्त्विति विधानाद् हेतो राजानं प्रति प्रजानामुपक्षीणत्वसम्पादनादिदानीमपि सम्पादयन्तमवरोहन्तं क्षत्रियं सर्वाः प्रजाः परिवाररूपा अवरोहन्ति । यद्वा आयान्तं प्रति सर्वाः प्रजाः स्वस्वस्थानाद् अवरोहन्ति । तदनन्तरं राजानमुपरि कृत्वा अधस्तादुपासते प्रजाः । यद्वा पृथगेवेदं वाक्यम् । तं तीर्णमधस्तादुपासत ऋत्विजोऽध्वर्युप्रमुखाः । 'स जुहोति । शृणोत्वग्निः समिधा हवं म इति शृणोतु म इदमग्निरनु मे जानात्वित्येवैतदाह शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीरिति शृण्वन्तु म इदमापोऽनु मे जानात्वित्येवैतदाह श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञमिति शृण्वन्तु म इदं ग्रावाणोऽनु मे जानन्त्वित्येवैतदाह विदुषो न यज्ञमिति विद्वाꣳसो हि ग्रावाणः शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहेति....सवितृप्रसूत एवैतद्यज्ञस्य रसमच्छैति' (श.३।९।३।१४) । इमं मन्त्रं विच्छिद्यानूद्य व्याचष्टे – अग्निरापः,धिषणा वाचः, देवीः देव्यः, विदुषो न यज्ञं विद्वांस इव हवं यज्ञमिमं शृण्वन्तु – इति सङ्ग्रहार्थः । सर्वत्र शृणोतु शृण्वन्तु, अनुजानातु अनुजानन्तु इति चार्थपरतया व्याख्यातव्याः । विदुष इति ग्रावविशेषणतया व्याचष्टे – विद्वांसो हि ग्रावाण इति । प्रथमाबहुवचने छान्दसं द्वितीयाबहुवचनम् ।

अध्यात्मपक्षे – हे सोम, उमया सहितो देवः सोमस्तत्संबुद्धौ हे सोम हे राजन्, सर्वत आधिक्येन राजमान, त्वं विश्वाः समस्ताः प्रजा उपावरोह अधितिष्ठस्व । आधिपत्यं कृत्वा पालयस्व, स्वानुग्रहाद्

श्रौतसूत्र (९।१।६,९।३।१) में यह याज्ञिक विनियोग उल्लिखित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे उमासहित सर्वाधिक विद्योतमान देव, आप समस्त प्रजाओं का आधिपत्यपूर्वक पालन

अभ्युदयनिःश्रेयससम्पादनसौविध्यसौकर्यादिकं सम्पादय । विश्वाः प्रजाश्च त्वामुपावरोहन्तु प्रत्युत्थानाभिवादनादिभिस्त्वां प्राप्नुवन्तु । अग्निः परमेश्वरः समिधा समित्पूर्वकयाहुत्या प्रसन्नः सन् हवं मदीयाह्वानं शृणोतु । होमदानादिभिः प्रसन्नो भगवान् भक्तानामाह्वानं शृणोति । तत एव त्वरया भक्तकार्यं सम्पादयति । तदुक्तमभियुक्तैः – 'या त्वरा द्रौपदीत्राणे या त्वरा गजमोक्षणे । मय्यार्तेकरुणामूर्ते सा त्वरा क्व गता हरे ॥' इति । आप आप्नुवन्तीत्यापः, धिषणा विज्ञानाधिष्ठात्र्यो देवीर् देव्यो भगवती उमा तद्गुणशक्तयो दशमहाविद्यारूपा मम हवमाह्वानं शृण्वन्तु । हे ग्रावाणः, द्वादशज्योतिर्लिङ्गरूपा ग्रावाणो लौकिकदृष्ट्या पाषाणवद् भासमानाः, विदुषो न विद्वांस इव यथा विद्वांसः प्रत्यक्षतो जानन्तो यज्ञं शृण्वन्ति, तथा श्रोता शृणुत (श्रोत इत्यत्र संहितायां दीर्घः), मे हवमाह्वानम्, तथा सविता सर्वोत्पत्तिस्थितिलयहेतुर्देवो जगत्क्रीडापरायणो मे मम हवं शृणोतु । स्वाहा तुभ्यं मदीयं सर्वस्वं सुहुतमस्तु ।

दयानन्दस्तु – 'हे सोम राजन्, त्वं पितेव विश्वाः प्रजा उपावरोह समीपवर्ती भूत्वा रक्ष । त्वां विश्वाः प्रजा अपत्यानीवोपावरोहन्तु आश्रयन्तु । हे सभाध्यक्ष, भवान् समिधाग्निरिव मे मम प्रजाजनस्य हवं प्रगल्भवाणीं शृणोतु । श्रुत्वा प्रदीप्तो भव । आपो धिषणा देवीर् देव्यः पत्न्यश्च मातरमिव स्त्रीन्यायं शृण्वन्तु । हे ग्रावाणः स्तावका विद्वांसः सभासदः, यूयं मम हवं श्रोत । देवः सविता भवान् विदुषो यज्ञं न इव मम हवं स्वाहा शृणोतु' इत्यादिकम्, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकृते लुप्तोपमालङ्कारसत्त्वे प्रमाणाभावात्, यास्कजैमिनिव्यासकात्यायनादिभिः कैश्चिदपि महर्षिभिस्तथाऽव्याख्यानात्, उपावपूर्वकस्य रोहते रक्षणार्थकताया अप्रामाणिकत्वात् । शृणोत्वित्यस्यास्माकं प्रगल्भवाणीं श्रुत्वा न्यायेन प्रकाशितो भवेत्यर्थोऽपि निर्मूलः । तथैव 'आपो गुणेषु व्याप्ताः' इति कस्य विशेषणम् ? धिषणानां पत्नीनां वा ? नाद्यः, धिषणानां गुणात्मकतया गुणे गुणानङ्गीकारात् । नाप्यन्त्यः पक्षः क्षोदक्षमः, द्रव्यरूपाणां पत्नीनामपि गुणेषु व्याप्त्यसम्भवात् । 'पत्न्यः' इत्यर्थोऽपि निर्मूलः, मूले पत्नीशब्दाभावात् । 'ग्रावाणः सदसद्विवेचका विद्वांसः' इत्यर्थोऽपि निर्मूलः, 'ग्रावाणः' इत्यस्य निघण्टौ (५।३ इत्यत्र) पदनामसु पठितत्वेऽपि सदसद्विवेचकरूपार्थस्याप्रामाणिकत्वात् ॥२६॥

करें। अपनी कृपा से अभ्युदय एवं निःश्रेयस का सम्पादन, सौविध्य आदि करें । समस्त प्रजाएं समादर, नमन आदि के द्वारा आपको प्राप्त करें । परमेश्वर समिधा आदि की आहुति से प्रसन्न होकर मेरा आह्वान सुनें । व्याप्त करने वाली विज्ञानाधिष्ठात्री देवी भगवती उमा तथा दश महाविद्यारूपी उनकी गुणशक्तियाँ मेरा आह्वान सुनें । हे द्वादश ज्योतिर्लिंगरूपी लौकिक दृष्टि से पाषाणमूर्ति की भाँति प्रतीत होने वाले शिवविग्रह, आप जिस प्रकार विद्वान् लोग प्रत्यक्ष समझते हुए यज्ञ का श्रवण करते हैं, उसी प्रकार मेरा आह्वान सुनें । सबकी उत्पत्ति, स्थिति, संहृति का विधाता जगत्क्रीडा में निरत देव भी मेरा आह्वान सुने । आपके लिये मेरा सर्वस्व समर्पित हो ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ मन्त्र में लुप्तोपमा अलंकार के होने में कोई प्रमाण न रहने के कारण अग्राह्य है । यास्क, जैमिनि, व्यास, कात्यायन आदि किन्हीं भी ऋषियों ने इस प्रकार का अर्थ नहीं किया है । उप तथा अव उपसर्गपूर्वक रुह धातु का 'रक्षण' अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं है । 'ग्रावाणः' शब्द का 'सदसत् का विवेचन करने वाले विद्वान्' अर्थ करना भी निर्मूल है ॥२६॥

देवी॑रापो अपां॑नपा॒द्यो व॑ ऊ॒र्मिर्ह॑वि॒ष्य॒ इन्द्रि॒यावा॑न् म॒दिन्त॑मः ।
तं दे॒वेभ्यो॑ देव॒त्रा द॑त्त शु॒क्र॒पेभ्यो॒ येषां॑ भा॒ग स्थ स्वाहा॑ ॥२७॥

'अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । उदङ् प्रयन्नाहाप इष्य होतरित्यप इच्छ....' (श.३।९।३।१५) । 'अपरं गृहीत्वोदङ् गच्छन्नाहाप इष्य होतरिति' (का.श्रौ.९।३।२) । अपरं चतुर्गृहीतं गृहीत्वा उदङ्मुखं गच्छन् अप इष्य होतः (अपः प्रति गच्छ) इति होतारं प्रत्यध्वर्युर्ब्रूयात् । 'अथ सम्प्रेष्यति । मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्यवेहि नेष्टः पत्नीरुदानयैकधनिन एताग्नीद्यात्वाले वसतीवरीभिः प्रत्युपतिष्ठासै होतृचमसेन चेति सम्प्रैष् एवैषः' (श.३।९।३।१६) । 'त उदञ्चो निष्क्रामन्ति । जघनेन चात्वालमग्रेणाग्नीध्रᳫ स यस्यां ततो दिश्यापो भवन्ति तद्यन्ति ते वै सह पत्नीभिर्यन्ति तद्यत् सह पत्नीभिर्यन्ति'(श.३।९।३।१७) । हे नेष्टः, त्वं पत्नीः पात्रेजनोदकाहरणाय उदानय । एकधना उदकानि तेषां धारकाः कुम्भा वा उपतिष्ठेति निर्दिष्टाः । गमनसमये पत्नीसाहित्यं विधाय तदाख्यानमुखेन प्रशंसा – 'यत्र वैः' (श.३।९।३।१८) इत्यादिना । पुरा किल देवैर्यज्ञशिरश्छेदाद्गतो रसः पलाय्याप्सु निविष्टः । तं रसं गन्धर्वाः सोमपालका ररक्षुः । ते देवा ऊचुरिमे गन्धर्वा नाष्ट्राः । कथमनाष्ट्रे देशे रसमाहरेत्येवं विचार्य गन्धर्वा योषित्प्रियास्तद्वयं पत्नीभिः सहिता गच्छामः । गन्धर्वाः पत्नीषु काङ्क्षन्ति, तस्मिन् समये वयमनाष्ट्रेऽभये यज्ञस्य रसमाहरिष्यामः । ते सह पत्नीभिर्गताः । ते च तथैव तास्वाकाङ्क्षां कृतवन्तः । तस्मिन् समये ते रसमाजह्रुः । तथैवेदानीमपि कर्तव्यम् । ते पत्नीष्वेव गन्धर्वा गृध्यन्ति । अथैनमभयेऽनाष्ट्रे यज्ञस्य रसमाहरन्ति ।

'प्रेष्यति च मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्यवे हि नेष्टः पत्नीरुदानयैकधनिन एता अग्नीद्यात्वाले वसतीवरीभिः प्रत्युपतिष्ठासै होतृचमसेन चेति' (का.श्रौ.९।३।३) । अध्वर्युरुदङ् गच्छन्नेव मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्यवे हि इति चमसाध्वर्युनेष्टः पत्नीरुदानय इति नेष्टारं एकधनिन एत इति निर्व्यापारानृत्विजोऽग्नीद्यात्वाले वसतीवरीभिः प्रत्युपतिष्ठासै होतृचमसेन इत्यग्नीध्रं प्रेष्येत । 'अपो गत्वा देवीराप इत्यप्सु जुहोति' (का.श्रौ.९।३।४) । यच्चतुर्गृहीतं सह आनीतं तदपः प्रति गत्वा देवीराप इत्युदकमध्ये जुहुयात् । अब्देवत्या पङ्क्तिः । पञ्चपदा चत्वारिंशद्वर्णा पङ्क्तिर्भवति । द्वितीयः सप्ताक्षरः । तुर्यपञ्चमौ नवार्णौ । तेनैकाधिका स्वाहेति । हे आपो देवीः देव्यः, वो युष्माकम् अपान्नपाद् अपत्यरूप ऊर्मिर्देवत्रा देवान् प्रति स्थितोऽप्सङ्घातः कृत्स्नो रसः । तमूर्मिं देवेभ्यो देवार्थं दत्त प्रयच्छत । कीदृश ऊर्मिः ? हविष्यः । हविषे सोमरूपाय हितो यज्ञियः, इन्द्रियावान् इन्द्रियं वीर्यमस्यास्तीति इन्द्रियावान् । दीर्घ आर्षः । पीतः सन्निन्द्रियवृद्धिकारी । मदिन्तमः अतिशयेन मदयतीति मदिन्तमः पीयमानोऽत्यन्तहर्षकारी हर्षयितृतमः । 'नाद्घस्य' (पा.सू.८।२।१७) तमपि नुमागमः । हे आपः, यूयमेषां देवानां भाग स्थ भागधेया भवथ ।

मन्त्रार्थ– हे जलदेवता, तुम्हारे जल की अपत्यरूप ये लहरियां हवियोग्य, वीर्यवान् और तृप्त करने वाली हैं । देवताओं के प्रति जाने वाली ऊर्मियों को सोमग्रह पीने वाले शुक्र आदि देवताओं को प्रदान करो । जिन देवताओं के तुम भाग हो, उन सबके निमित्त तुम्हें हवि देता हूँ । यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥२७॥

भाष्यसार – 'देवीरापः' इस ऋचा से अध्वर्यु प्रैषपूर्वक जल के समीप जाकर आज्य की आहुति जल में प्रदान करता है । कात्यायन श्रौतसूत्र (९।३।२-४) में यह याज्ञिक प्रक्रिया प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में भी तदनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

शुक्रपेभ्यः शुक्रं दीप्तं सोमरसं पिबन्तीति शुक्रपास्तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदमाज्यं युष्मभ्यं हुतमस्तु । यद्वा शुक्रादीन् सोमग्रहान् पिबन्तीति शुक्रपास्तेभ्यः । शुक्रादिसोमग्रहपातृभ्यो देवेभ्यो येषां च यूयं भागः स्थ तेभ्यो दत्तेति सम्बन्धः । ग्रहीष्यमाणानामपां मूल्यत्वेनेयमाहुतिरिति तित्तिरिः – 'देवीरापो अपांनपादित्याहाहुत्या वै निष्क्रीय गृह्णातीति । शतपथे च – 'सोऽपोऽभिजुहोति । एताᳬ ह वा आहुतिᳬ हुतामेष यज्ञस्य रसमैति तां प्रत्युत्तिष्ठति तमेवैतदाविष्कृत्य गृह्णाति' (श.३।९।३।२३) । प्रचरणीगृहीतस्याज्यस्याप्सु होमं विधाय प्रशंसति – सोऽप इति । हुतामाहुतिमनुसृत्य एष अनुप्रविष्टो यज्ञरसोऽभिमुखं सम्प्राप्नोति । तमेव रसमेतद्धोमेनाविष्कृत्य गृहीतवान् भवति । 'यद्वेवैतामाहुतिं जुहोति । एतमेवैतद्यज्ञस्य रसमभिप्रस्तृणीते तमारुन्धे तमपो याचति याभ्य उ चैवैतां देवताभ्य आहुतिं जुहोति ता एवैतत्प्रीणाति ता अस्मै तृप्ताः प्रीता एतं यज्ञस्य रसᳬ सन्नमन्ति' (श.३।९।३।२४) । प्रकारान्तरेण स्तौति – यद्वेवैतामाहुतिमिति । किञ्च तमपेक्षितं यज्ञरसमप उदकानि याचति । उ अपि च याभ्यो देवताभ्य एतामाहुतिं जुहोति, ता एव एतद् एतेन प्रीणाति । तृप्ताः प्रीतास्ता अस्मै यजमानाय एतं यज्ञरसं सन्नमयन्ति यजमानाधीनं कुर्वन्ति ।

'स जुहोति देवीरापो अपान्नपादिति देव्यो ह्यापस्तस्मादाह देवीरापो अपान्नपादिति यो व ऊर्मिर्हविष्य इति यो व ऊर्मिर्यज्ञिय इत्येवैतदाहेन्द्रियावान् मदिन्तम इति वीर्यवानित्येवैतदाह यदाहेन्द्रियावानिति मदिन्तम इति स्वादिष्ठ इत्येवैतदाह तं देवेभ्यो देवत्रा दत्तेत्येतदेना अयाचिष्ट यदाह तं देवेभ्यो देवत्रा दत्तेति शुक्रपेभ्य इति सत्यं वै शुक्रᳬ सत्यपेभ्य इत्येवैतदाह येषां भागः स्थ स्वाहेति तेषामु ह्येष भागः' (श.३।९।३।२५) । मन्त्रं विधाय विच्छिद्य व्याचष्टे – देव्यो ह्याप इति । हविष्य इति पदं व्याचष्टे – यज्ञिय इति । हविःशब्देन तत्साध्यो यज्ञो लभ्यते, द्रव्यदेवतयोर्हि यज्ञस्वरूपत्वात् । इन्द्रियशब्दस्य वीर्यमर्थ इत्याह – वीर्यवानित्येवैतदाहेति । मदिन्तमशब्दस्यार्थमाह – स्वादिष्ठ इति, यत्स्वदन्तमुन्मादयतीति व्याप्तिदर्शनात् । तं देवेभ्य इति भागस्य प्रार्थनायां तात्पर्यम् । एतेन अयाचिष्ट यदाहतं देवेभ्यो देवत्रा दत्तेति । एतद् एतेन मन्त्रभागेन एना अपः, अयाचिष्ट देवतार्थं याचितवान् भवति । शुक्रपेभ्य इत्यस्य तात्पर्यमाह – सत्यं वै शुक्रमिति । सत्यपेभ्य इत्याहेति । शुक्रं दीप्तं रसाख्यं वस्तु तत्सत्यम् । सोमोद्धारेण सत्यस्यामृतत्वधर्मस्य साधनत्वात् सत्यमित्युच्यते । तादृशस्य पातृभ्य इत्येवैतत् शुक्रपेभ्य इति वाक्यमाहेत्यर्थः । येषां भागः स्थ एषाम् अपां शुक्ररसरूपो भागः, तेषामु तेषां शुक्रपानां देवानां भागः प्रतिनियतांशः । तथा च हे देवीर् देव्य आपः, हे अपान्नपात् 'न पातयतीति तत्' (निरु.१०।२) । योऽयं वो युष्माकं सम्बन्धी ऊर्मिः कल्लोलः प्रवृद्धो हविष्यो यज्ञिये रस इन्द्रियावान् वीर्यवान् मदन्तमो मादयितृतमः स्वादिष्ठस्तं रसं देवत्रा देवेषु मध्ये, 'देवमनुष्येभ्यः' (पा.सू.५।६।५६) इति सप्तम्यर्थे प्रत्ययः, देवेषु मध्ये शुक्रपेभ्यो दीप्तरसाख्यं पातृभ्यो देवेभ्यो दत्त प्रयच्छतेति । हे आपः, यूयं येषां देवानां भागः स्थ भवथ, तदर्थं स्वाहा इदं द्रव्यं स्वाहुतमस्त्विति श्रुत्यनुसारी मन्त्रार्थः ।

अध्यात्मपक्षे – हे देवीर् देव्य आपो व्यापनशीलाः, वो युष्माकमपान्नपाद् अपत्यरूपो योऽयमूर्मिः कल्लोलसदृशो भोगमोक्षप्राप्तिसामर्थ्यरूपो देवेभ्यो देवभाववद्भ्यः साधकेभ्यस्तं दत्त प्रयच्छत । 'देवो भूत्वा यजेद् देवान्' इति रीत्या ये वैदिकैस्तान्त्रिकैश्च संस्कारैः संस्कृताः सन्तः परमात्मानमुपासते, तेभ्यो यथायोग्यं

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे व्यापनशील देवियों, आप लोगों का जो पुत्ररूपी भोगमोक्षप्राप्ति का सामर्थ्यात्मक यह कल्लोल है, उसे देवभाव से युक्त साधकों को प्रदान करें । 'देवो भूत्वा यजेद् देवान्' इस सिद्धान्त के अनुसार जो वैदिक तथा

भोगमोक्षप्राप्तिसामर्थ्यं देव्यो भगवतः पालन्यादिशक्तिरूपा देव्यः प्रयच्छन्ति, बुद्धिलक्ष्मीकान्तिशान्त्यादिरूपेण तासामेवाविर्भावात् । कीदृश ऊर्मिः ? हविष्यः । धर्मोपासनादियोग्येभ्यो हविर्भ्यो हितः । इन्द्रियावान् लौकिकवैदिकदिव्यवीर्योपतः । मदिन्तमः भोगमोक्षप्रदातृत्वेन प्रहर्षयितृतमः । कीदृशेभ्यो देवेभ्यः ? देवत्रा देवेषु मध्ये शुक्रपेभ्यः सत्यशमदमादिदीप्तरसपातृभ्यः । येषां देवानां यूयं भागः, वचनव्यत्ययः, भागरूपा भजनीयरूपाः स्थ भवत, ताभ्यो युष्मभ्यं स्वाहा विविधसमर्चनं समर्पितमस्तु ।

दयानन्दस्तु– 'हे आपो आप्ताः प्रजाः, देवीर्देव्यः प्रजाः, यूयं राजभक्ताः स्थ भवत । शुक्रपेभ्यो देदेभ्यो येषां वो युष्माकं योऽपांनपादविनश्वर ऊर्मिरिन्द्रियावान् मदिन्तमो हविष्यो भागोऽस्ति, तं स्वाहा सद्वाचा गृह्णीत । यथा राजादयः सभ्या जना देवत्रा दिव्यान् भोगान् युष्मभ्यं प्रददति, तथैतेभ्यो यूयमपि दत्त' इति, एवं हिन्द्यामपि – 'हे श्रेष्ठगुणेषु व्याप्ताः शुभकर्मभिः प्रकाशमानाः प्रजाजनाः, यूयं राजभक्ताः शुक्रपेभ्यः शरीराणामात्मनां च पराक्रमस्य रक्षकेभ्यो देवेभ्यो विद्वद्भ्यः, येषां वो युष्माकं योऽपांनपाद् जलस्य नाशरहितः स्वाभाविक ऊर्मिर्जलतरङ्गसदृशः प्रजारक्षकः, यत्र प्रशस्तानीन्द्रियाणि भवन्ति, यश्चानन्दप्रदो हविष्यो भोगयोग्यपदार्थेभ्यो निष्पन्नो वलिभागः, यूयं तं स्वाहा आदरेण गृह्णीत । यथा राजादयः सभ्या दिव्यान् भोगान् प्रददति, तथैव यूयमेभ्यो दत्त' इति, तत्सर्वमसाधु, स्वेच्छामूलकत्वात्, निर्मूलत्वात्, श्रुतिविरोधाच्च । आप्तत्वाद् यथा आपो गृह्यन्ते, तथैवाकाशादयः कुतो न गृह्यन्ते ? राजभक्ता इति कस्य पदस्यार्थः ? न च भागपदस्य सोऽर्थः, मानाभावात्, त्वयैव तस्य वलिरूप इति व्याख्यानाच्च । शस्तेन्द्रियवत्त्वं च प्रमाणापेक्षमेव । राजादीनां दिव्यभोगदातृत्वमपि साध्यमेव, नित्यसिद्धत्वे पुरुषार्थवैयर्थ्यापातात् । शतपथे तु पदार्था विशदं व्याख्याताः पूर्वं प्रदर्शिता एव ॥२७॥

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वाक्षित्या उन्नयामि ।
समापो अद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः ॥२८॥

तान्त्रिक संस्कारों से संस्कृत होकर परमात्मा की उपासना करते हैं, उनको यथायोग्य भोग, मोक्ष आदि की प्राप्ति का सामर्थ्य भगवान् की पालन आदि शक्तिरूपिणी देवियाँ प्रदान करती हैं, क्योंकि बुद्धि, लक्ष्मी, कान्ति, शान्ति आदि रूपों से उन्हीं का आविर्भाव होता है । यह कल्लोल धर्म, उपासना आदि के योग्य जनों का हितकर है, लौकिक तथा वैदिक शक्ति से सम्पन्न है, भोग तथा मोक्ष प्रदान करने के कारण अत्यन्त आनन्दप्रद है । देवताओं के मध्य सत्य, शम, दम आदि दीप्तिमान् रसों का पान करने वाले तथा जिन देवताओं के आप सेवनीय होते हैं, उन आप लोगों के लिये विविध अर्चना समर्पित हो ।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित संस्कृत तथा हिन्दी अर्थ स्वेच्छामूलक, प्रमाणरहित तथा श्रुति से विरुद्ध होने के कारण असमीचीन हैं । आप्तत्व के कारण जैसे जल का ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार आकाश आदि का ग्रहण क्यों नहीं किया जा सकता ! 'राजभक्त' किस शब्द का अर्थ किया गया है ? भाग शब्द का वह अर्थ प्रमाण न रहने के कारण नहीं हो सकता । हिन्दी अर्थ में उसीका अर्थ 'बलिरूप' किया गया है । राजा आदि का दिव्य भोगप्रदाता होना साध्य ही है । नित्यसिद्ध होने पर तो पुरुषार्थ की व्यर्थता हो जायगी ॥२७॥

मन्त्रार्थ– हे घृत, तुम देवोच्छिष्ट पाप को दूर करने वाले हो । हे जलदेवता, वसतीवरी लक्षण वाले सागररूप जल की अक्षीणता के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ । हे मित्रावरुण चमस में स्थित जलदेवता, तुम इस वसतीवरी जल के साथ भली प्रकार मिश्रित हो जाओ, सम्पूर्ण ओषधियाँ आपस में भली प्रकार मिश्रित हो जाँय ॥२८॥

'अथ मैत्रावरुणचमसेनैतामाहुतिमपप्लावयति कार्षिरसीति' (श.३।९।३।२६)। 'कार्षिरसीति मैत्रावरुणचमसेनाज्यमपोहति' (का.श्रौ.९।३।५)। अप्सु हुतमाज्यं मैत्रावरुणचमसेन करणभूतेन प्रेर्य दूरीकुर्यात्। कार्षिरिति मन्त्रत्रयं मिलित्वाऽनुष्टुप्छन्दः। आद्यस्याज्यं देवता। हे आज्यपदार्थ, त्वं कार्षिः कर्षणशीलोऽव्रतमलस्यापनेतासि, 'शमलमेवासामपप्लावयतीति' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। यद्वा त्वं कार्षिराकृष्टोऽसि देवतया भक्षितोऽसि, यद्वा कृषेर्देवतायाः कर्षणस्य भक्षणस्य वा सम्बन्धी असि। अतस्त्वां समुद्रस्य समुन्दनस्योदकस्य अक्षित्यै अक्षीणतायै त्वा त्वामपनयामि अपसारयामि। शतपथे स्पष्टीकृतम् – 'यथा वा अङ्गारा अग्निना प्सातः स्यादेवमेषाहुतिरेतया देवतया प्साता भवति राजानं वा एताभिरद्भिरुपस्रक्ष्यन् भवति या एता मैत्रावरुणचमसे वज्रो वा आज्यꣳ रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमꣳ हिनसानीति तस्माद्वा अपप्लावयति' (श.३।९।३।२६)। यथा अग्निना प्सातो भक्षितोऽङ्गारः करीषभावेन त्याज्यो भवत्येवमेषाहुतिरेतया अब्देवतया प्साता भवति। सोमहिंसापरिहारत्वे परित्यक्तव्यमित्याह – मैत्रावरुणचमसे वर्तमाना या एता इदानीं गृह्यमाणा आपः सन्ति, एताभिरद्भिरुपस्रक्ष्यन् अभिषवकाले सोमस्य संसर्गं करिष्यन् भवति, अत एव 'आधवनीये समवनयति' (श.३।९।३।३०) इति वक्ष्यते। आधवनीयसंस्पृष्टस्योदकस्य सोमरसेन संसृज्यमानत्वाद् आज्यस्य वज्ररूपत्वात् तेन सोमहिंसा यथा न स्यात् तथा तदपनयनमपेक्षितम्। 'अथ गृह्णाति। समुद्रस्य त्वाक्षित्या उन्नयामीत्यापो वै समुद्रोऽप्स्वेवैतदक्षितिं दधाति तस्मादाप एतावति भोगे भुज्यमाने न क्षीयन्ते तदन्वेकधनानुन्नयन्ति तदनु पान्नेजनान्' (श.३।९।३।२७)। यद्यपि श्रुतावत्र मैत्रावरुणचमसेनेति श्रुतम्, तथापि 'समुद्रस्य त्वेति तेन गृह्णाति' (का.श्रौ.९।३।६) इति सूत्रानुसारेणाध्वर्युर्मैत्रावरुणचमसे तडागादिस्था अपो गृह्णीयादिति तदवगमः। अपां संघातात्मकत्वात् समुद्रस्य 'आपो वै समुद्रः' इत्युक्तिः। इत्येकदेशस्य कृत्स्नात्मना स्तुतिः। एतेन मन्त्रपाठेन अप्स्वेव अक्षितिमक्षीणत्वं दधाति। तस्माद् एतावति भोगे भुज्यमाने स्थावरजङ्गमात्मकजगत्पर्याप्तेऽपि भोगे सर्वैर्भुज्यमानेऽपि न क्षीयन्ते, किन्त्वजस्रं प्रवहन्त्येव। तदन्विति होतृचमसोन्नयनानन्तरमेकधनानां पान्नेजनानां चानुक्रमेणोन्नयनम्। एकधना सोमरसाभिवृद्ध्यर्था उदकविशेषाः, पाच्छब्देनोरुप्रदेशो लक्ष्यते। पत्नीकर्तृकपशुपादोरुक्षालनसाधनोदकविशेषाः पान्नेजनाः। ताः पत्न्यो गृह्णीयुः।'पान्नेजनाश्च पत्न्यो द्वौ द्वौ' (का.श्रौ.९।३।८)। पशोः पादौ निज्येते एभिरिति पान्नेजनाः कलशाः। तान् पान्नेजनार्थान् लघुकलशान् सर्वाः पत्न्यः पृथक् पृथग् द्वौ द्वौ पान्नेजनौ अद्भिः पूरयित्वा तूष्णीमेव निष्कासयन्ति। एकः पान्नेजनः पशुप्राणशोधनार्थः, अपर ऊर्वभिषेकार्थः। बहुवचनमविवक्षितम्। समुद्रस्य 'आपो वै समुद्रः' इति श्रुतेर्वसतीवरीलक्षणस्याप्समुद्रस्य अक्षित्यै अक्षीणत्वाय, हे आज्यमिश्रोदक, त्वामुन्नयामि उद्गृह्णामि। वसतीवरीणां वर्धनाय एता आपो गृह्यन्ते। शतपथीयोपपत्तिरुक्तैव।

पुनश्चोच्यते – 'तद्यन्मैत्रावरुणचमसेन गृह्णाति। यत्र वै देवेभ्यो यज्ञोऽपाक्रामत्तमेतद्देवाः प्रैषैरेव प्रैषमैच्छन् पुरोरुग्भिः प्रारोचयन्निविद्भिर्न्यवेदयंस्तस्मान्मैत्रावरुणचमसेन गृह्णाति' (श.३।९।३।२८)। सत्स्वितरेषां चमसेषु किं मैत्रावरुणचमसेनेत्यत आह – मैत्रावरुणेति। यस्माद्देवेभ्योऽपक्रान्तं यज्ञमेतेन मैत्रावरुणाख्येनर्त्विजा

भाष्यसार – 'कार्षिरसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से हुत आज्य का दूरीकरण, मैत्रावरुण चमस से जलग्रहण, वसतीवरी जल से उनका सम्मेलन आदि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (९।३।५-१०) में वर्णित है। याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ शतपथ आदि श्रुतियों में उपदिष्ट है।

प्रैषैस्तत्कृतिगमनसाधनैराह्वानैः प्रैषं यज्ञस्य गमनमैच्छन्, निविद्भिर्निवेदनसाधनैः 'अग्निर्देवेद्धः' (ऐ.ब्रा.२।५।२) इत्यादिवाक्यैर्न्यवेदयन् परस्परं निवेदितवन्तः, पुरोरुग्भिः पुरो याज्यानुवाक्याभ्यां पुरस्ताद् रुचिमिच्छां जनयन्ति देवताया इति पुरोरुचः 'वायुरग्रेगाः' (ऐ.ब्रा.३।१।९) इत्याद्यास्ताभिः प्रारोचयन् प्ररोचनामजनयन्, अतो मैत्रावरुणस्य प्रैषादिसाधनत्वात् तदीयश्चमसः प्रशस्तः। 'त आयान्ति। प्रत्युपतिष्ठतेऽग्नीच्चात्वाले वसतीवरीभिश्च....मैत्रावरुणचमसं च समापो अद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीरिति यश्चासौ पूर्वेद्युराहृतो यज्ञस्य रसो यश्चाद्याहृतस्तमेवैतदुभयꣳ सꣳ सृजति' (श.३।९।३।२९)। अप्सम्भरणानन्तरं त ऋत्विगादयः पुनर्देवयजनमागच्छेयुः। अग्नीच्च निर्गमनकाले सम्प्रेषितप्रकारेण चात्वाले वसतीवरीभिरद्भिर्होतृचमसे च युक्तः सन् प्रत्युपस्थानं कुर्यात्। तदुक्तं कात्यायनेन – 'प्रत्येत्य चात्वालस्योपरि मैत्रावरुणचमसं वसतीवरीभिश्च सꣳस्पर्शयति समाप इति' (का.श्रौ.९।३।९)। जलाशयात् प्रत्यागत्य चात्वालस्योपर्यध्वर्युर्मैत्रावरुणचमसस्था आपोऽद्भिर्वसतीवरीभिः समग्मत सङ्गच्छन्ताम्। गमेर्लुङि तङि प्रथमाबहुवचने शपि लुप्ते 'गमहन....' (पा.सू.६।४।९८) इत्युपधालोपे समग्मतेति रूपम्। तथा ओषधीर् ओषधयो मुद्गमसूरादय ओषधीभिर्व्रीहियवादिभिः सङ्गच्छध्वम्। अपां कारणभूतत्वादोषधीनामपि तथोपयोगो भवत्वित्यभिप्रायः। सूत्रे च श्रुतावन्यपक्षा अप्युक्ताः। 'इतरेतरस्मिन् व्यानयन्त्येके मैत्रावरुणचमसे प्रथमम्' (का.श्रौ.९।३।१०)। एके इतरेतरस्मिन् परस्परस्मिन् सम्मिश्रणं कुर्वन्ति। अस्मिन् पक्षे प्रथमं मैत्रावरुणचमसाद्वसतीवरीषु निनयेत। उभयत्र समाप इत्येव मन्त्रः। पूर्वस्मिन् पक्षे इतरस्य मध्ये इतरस्य निनयनमिति विशेषः। तद्रीत्या आपो मैत्रावरुणचमसगता अद्भिर्होतृचमसस्थाभिर्वसतीवरीभिः सङ्गता अभवन्निति। तथा ओषधीर् ओषधयो वर्धनीया ब्राह्म्यादिरूपा ओषधीभिर्व्रीह्यादिरूपाभिः समग्मत। यद्वा उभयत्र ओषधिशब्देन प्रकृता मैत्रावरुणचमसगता आपो विवक्ष्यन्ते। 'तद्धेके....' (श.३।९।३।३०) इति केषाञ्चित् साक्षादुदकसंसर्जनपक्षमुदाहृत्य तदभिप्रायमुपवर्ण्य तस्यान्यथासिद्धित्वकथनेन निराचष्टे – तद्धेक इति। मैत्रावरुणचमसाद्वसतीवरीषु, उपसर्गवशान्नयन्तीत्यनुषज्यते। एवं कुर्वतां पूर्वेद्युराहृतस्य यज्ञरसस्य अद्याहृतस्य च संसर्ग एवापेक्षितः। स उपरिष्टाद् आधवनीये निनयनाद् भविष्यति, अतस्तदु तथा न कुर्यात्। यदुक्तम् – 'होतृचमसे वसतीवरीः कृत्वा यजमानाय प्रयच्छति निग्राभ्याः' (का.श्रौ.९।३।११)। आग्नीध्रहस्तस्थं होतृचमसमादाय पूर्वेद्युराहृता वसतीवरीरध्वर्युर्गृह्णाति। निग्राभ्याभ्यो होतृचमसे निगृह्यमाणत्वाद् निग्राभ्या इति संज्ञा। निग्राभ्यासु च्यावयति निग्राभ्यासु संसिञ्चतीत्येवमर्थाय। तच्च बहुधा प्रशस्तम्।

अध्यात्मपक्षे तु – हे कृष्ण, त्वं कार्षिर् भक्तानां चित्ताकर्षकः, असि। समुद्रस्य रससमुद्रस्य अक्षित्या अक्षीणतायै त्वा त्वाम् उन्नयामि हृदये ब्रह्मरन्ध्रे धारयामि। त्वदनुग्रहाच्च आपो व्यापनशीलाः, व्यष्टयो विश्वतैजसप्राज्ञा आत्मानोऽद्भिर्व्यापनशीलैर्विराड्हिरण्यगर्भाव्याकृतैः समग्मत सङ्गच्छन्ताम्। ओषधीर् ओषधयोऽन्नोपलक्षिता व्यष्टय उपाधयः, ओषधीभिः समष्टिभिरुपाधिभिः सङ्गच्छन्ताम्। सर्वे च तेऽधिष्ठानमात्रे पर्यवस्यन्तु।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे कृष्ण, आप भक्तों को आकृष्ट करने वाले हैं। रससमुद्र की अक्षीणता के लिये हृदय में, ब्रह्मरन्ध्र में आपको धारण करता हूँ। आपकी कृपा से व्यापनशील व्यष्टिगत विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ व्यापक विराड्, हिरण्यगर्भ अव्याकृत के साथ संयुक्त हों। अन्न आदि व्यष्टि उपाधियां समष्टि उपाधियों से संगत हों, वे सभी अधिष्ठानमात्र में पर्यवसित हों।

दयानन्दस्तु – 'हे वैश्यजन, त्वं कार्षिरसि । त्वां समुद्रस्य अन्तरिक्षस्याक्षित्यै समुन्नयामि । सर्वे यूयं यज्ञशोधिताभिरद्भिरेवाप ओषधीभिरोषधीः समग्मत' इति, तदपि न किञ्चित्, हलकर्षणेनान्तरिक्षस्य क्षीणतानुपपत्तेः । न चाद्यत्वे व्रीह्याद्यौषधप्रतिलम्भे यज्ञोऽपेक्षितः, विविधैराधुनिकैरुपचारैरेव तत्सिद्धेः ॥२८॥

यम॑ग्ने पृत्सु मर्त्य॒मवा॒ वाजे॑षु यं जु॒नाः । स यन्ता॒ शश्व॑ती॒रिषः॒ स्वाहा॑ ॥२९॥

'त आयन्ति । तꣳ होता पृच्छत्यध्वर्योऽवेरपा ३ इत्यविदोऽपा ३ इत्येवैतदाह तं प्रत्याहोतेव नन्नमुरित्यविदमथो मेऽनꣳ सꣳतेत्येवैतदाह' (श.३।९।३।३१) । अथाध्वर्युमुद्दिश्याब्विषयं होतुः प्रश्नमवतारयति – तमध्वर्युं होता पृच्छति, हे अध्वर्यो ! अप उदकानि, अवेर्लब्धवानसि ? प्लुतिः प्रश्नार्थे (पा.सू.८।२।१००) । अवेर् अविदः । अध्वर्योर्होतारं प्रति प्रतिवचनमाह – नन्नमुरिति । वयमिदानीं न केवलमपो लब्धार एव, अपि च नन्नमुरत्यर्थमानता अभवन् । तात्पर्यमाह – अविदमिति । अविदमपो लब्धवानस्मि । अथो अपि च मे आपः, अनंसत आनता आगता अभूवन्, इत्येवोत्तरवाक्यमाह । 'स यद्यग्निष्टोमः स्यात् । यदि प्रचरण्याꣳ सꣳ स्रवः परिशिष्टोऽलꣳ होमाय स्यात् तं जुहुयाद्यद्यु नालꣳ होमाय स्यादपरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहोति यमग्ने पृत्सु.... स्वाहेत्याग्नेय्या जुहोत्यग्निर्वा अग्निष्टोमस्तदग्नावग्निष्टोमं प्रतिष्ठापयति मर्त्तवत्या पुरुषसंमितो वा अग्निष्टोम एवं जुहुयाद्यद्यग्निष्टोमः स्यात्' (श.३।९।३।३२) । तथैवोक्तं कात्यायनेन – 'होत्रा पृष्टः प्रत्याहोतेव नंनमुरिति' (का.श्रौ.९।३।१२) । ततः सर्वे चात्वालाद् हविर्धानद्वार्युपविष्टं होतारं प्रत्यागच्छन्ति । ततो होता अध्वर्युं पृच्छति – अध्वर्यो, अवेरपा ३ सोऽध्वर्युर्होत्रैव पृष्ट उतेव नन्नमुरिति प्रत्याह, तस्याभिप्रायस्तूक्त एव । प्रचरणीसꣳस्रवमग्निष्टोमे जुहोत्यभावे चतुर्गृहीतं यमग्न इति' (का.श्रौ.९।३।१३) । अग्निष्टोमसंस्थे क्रतौ प्रचरणीसंस्रवं चरणीयान्नलिप्तं यमग्न इति जुहुयात् । प्रचरणीसंस्रवस्य होमपर्याप्तस्याभावेऽपरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहुयात् । 'उक्थ्ये प्रथमं परिधिमालभते' (का.श्रौ.९।३।१४) । उक्थ्यसंस्थे क्रतौ प्रारब्धे सति प्रथमं परिधिं हस्तेन स्पृशति यमग्न इति मन्त्रेण ।

मन्त्रार्थस्तु – हे अग्ने, पृत्सु संग्रामेषु यं मर्त्यम् अवा रक्षसि, किञ्च वाजेषु अन्ननिमित्तं यं मर्त्यं जुना गच्छसि, हवींषि ग्रहीतुं यस्य सकाशं गच्छसि, जवतिर्गत्यर्थः, प्राप्तवानसि, स उभयविधो जनः शाश्वतीर्नित्यानि इषोऽन्नानि प्राप्तवान् भवति, प्राप्स्यतीत्यर्थः । स्वाहा सुहुतमस्तु । उक्थसंस्थे यमग्न इति मन्त्रेणाद्यं परिधिं स्पृशेत् । षोडशिसंस्थे रराटिं स्पृशेत् । अतिरात्रे छदिं स्पृशेदन्यसंस्थासु हविर्धानं प्रविशेत् । 'प्रविशत्येवान्यत्र' (का.श्रौ.९।३।१५) ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ असंगत है । हल जोतने से अन्तरिक्ष की क्षीणता होना असिद्ध है । आज कल धान आदि अन्नों की उपलब्धि में यज्ञ की अपेक्षा नहीं है । विभिन्न आधुनिक साधनों से ही उसकी प्राप्ति हो जाती है ॥२८॥

मन्त्रार्थ– हे अग्निदेव, बड़े संग्रामों में जिस मनुष्य की तुम रक्षा करते हो, तथा हवि लक्षण वाले अन्न में अन्न के निमित्त जिस मनुष्य के पास तुम हवि ग्रहण करने को उपस्थित होते हो, वह मनुष्य तुम्हारे प्रसाद से निरन्तर अक्षय अन्न और धन का स्वामी हो जाता है । हमारी यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥२९॥

भाष्यसार – 'यमग्ने' इस कण्डिका से अग्निष्टोम संस्था वाले यज्ञ में घृत की आहुति प्रदान की जाती है । उक्थ्यसंस्थ यज्ञ में प्रथम परिधि का स्पर्श, षोडशी में रराटी का स्पर्श, अतिरात्र में छदि का स्पर्श इस कण्डिका के द्वारा विहित है । यह याज्ञिक

अग्निष्टोमोक्थ्याभ्यामन्यत्र षोडशिन्यतिरात्रे च हविर्धानं प्रविशेदेवानेन मन्त्रेण, न होमं नापि परिध्यालम्भनं वा कुर्यात् । तदेवोक्तं श्रुतौ – 'आग्नेय्या जुहोत्यग्निर्वा अग्निष्टोमस्तदग्नावग्निष्टोमं प्रतिष्ठापयति मर्तवत्या पुरुषसम्मितो वा अग्निष्टोम एवं जुहुयाद्यद्यग्निष्टोमः स्यात्' (श.३।९।३।३२) । मन्त्रास्याग्नेयत्वं प्रकृते ज्योतिष्टोमकर्मणि संगतमित्याह – आग्नेय्या जुहोतीति । यज्ञायज्ञियस्यान्तिमस्तोत्रस्याग्निदेवताकत्वादग्निष्टोमोऽग्निः, ततोऽग्न्यात्मकमग्निष्टोममाग्नेय्या होमेनाग्नावेव प्रतिष्ठापितवान् भवति । मन्त्रे यन्मर्त्यलिङ्गकत्वं तत्प्रशंसति – मर्तवत्येति । 'पुरुषसम्मितो वा एष यज्ञः' (तै.सं.७।१।१।१) इति श्रुतत्वात् पुरुषसम्मितत्वमस्य यतः, अत एवैतया मर्तवत्या होमो युक्तः । निगमयति – यद्यग्निष्टोमः स्याद् यद्युक्थ्यः स्यान्मध्यमं परिधिमुपस्पृशेत्, त्रयः परिधयस्त्रीण्युक्थ्यान्येतैरु हि तर्हि यज्ञः प्रतितिष्ठति यद्यु अतिरात्रो वा षोडशी वा स्यान्नैवं जुहुयान्न मध्यमं परिधिमुपस्पृशेत् समुद्यैव तूष्णीमेत्य प्रपद्येत तद्यथायथं यज्ञक्रतून् व्यावर्तयति' (श.३।९।३।३३) । उक्थ्यसंस्थायां तु कथमित्यत आह – 'यद्युक्थ्यः स्यात् । मध्यमं परिधिमुपस्पृशेत्' इति । अग्नेः परितो निधीयमानाः परिधयः । प्राच्यां दिशि सूर्यस्यैव परिधित्वात् ते त्रय एवाउक्थ्यान्यग्निष्टोमादुपर्यक्थसंस्थे क्रतौ स्तोतव्यानि त्रीण्युक्थ्यस्तोत्राणि । अस्तु त्रित्वं किं तत्, इत्यत आह – 'एतैरु हि तर्हि यज्ञः प्रतितिष्ठति' इति । यत एतैरुक्थ्यैर्यज्ञः प्रतितिष्ठति, अतस्त्रिषु परिधिषु मध्यमं परिधिं पश्चाद्दिग्गतप्रचरण्या स्पृशेत् प्रकृतमन्त्रेण । अतिरात्रषोडशिनोस्तु होममुपस्पर्शनं च न कुर्यात्, किन्तु समुद्यैव 'यमग्ने पृत्सु' इति मन्त्रमुक्त्वैव तूष्णीमेत्य देवयजनं प्रपद्येत । तत् तथा सति क्वचिद्धोमः, क्वचिच्च परिधिस्पर्शः, क्वँचित् तूष्णीम्, यथायथं पृथक् पृथक् प्रकारेण यज्ञक्रतून् अग्निष्टोमादिकान् व्यावर्तयति परस्परं व्यावृत्तान् करोति ।तैत्तिरीयकेऽपि –'यद्यग्निष्टोमो जुहोति यद्युक्थः परिधौ निर्मार्ष्टि यद्यतिरात्रं यजुर्वदन् प्रपद्यते यज्ञक्रूतनां व्यावृत्त्यै' (तै.सं.६।४।२।५)। कात्यायनस्तु – 'रराट्यालम्भनं वा षोडशिनि' (का.श्रौ.९।३।१६) इति षोडशिसंस्थे यज्ञे प्रवृत्ते रराट्याः स्पर्शं कुर्यात् प्रवेशनं वा यमग्न इति मन्त्रेण, 'छदिरतिरात्रे' (का.श्रौ.९।३।१७) अथवा रात्रिसंस्थे यज्ञे छदिरालभेत प्रविशेद्वा यमग्न इति मन्त्रेण ।

अध्यात्मपक्षे – हे अग्ने परमेश्वर, यं मर्त्यं त्वं पृत्सु बाह्येषु सङ्ग्रामेषु, आन्तरेषु कामक्रोधादिसंघर्षेषु वा अवा रक्षसि । पञ्चपुरुषं वाजेषु हविर्लक्षणेष्वन्नेषु निवेदनीयेषु बहुविधेषु मधुरमनोहरपक्वान्नादिष्वन्नेष्वभ्युद्यतेषु जुना अभिगच्छसि, स पुरुषस्त्वदनुग्रहेण शाश्वतीर्नित्यानि, इषोऽन्नानि धनानि ज्ञानविज्ञानरूपाणि वा, यन्ता नियंस्यति, प्राप्स्यतीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु – हे अग्ने सर्वगुणवर, त्वं पृत्सु सङ्ग्रामेषु मर्त्यम् अवा रक्षेः । वाजेषु अन्ननिमित्तेषु क्षेत्रादिषु यं जुना गमयेः, स शाश्वतीर् इष इष्यन्ते यास्ताः प्रजाः स्वाहा उत्साहिकया वाचा यन्ता नियन्ता स्यात्' इति,

---

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।३।१२-१६) में वर्णित है । शतपथ एवं तैत्तिरीय श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे अग्नि परमेश्वर, जिस मानव की आप बाह्य संग्रामों में अथवा काम-क्रोध आदि के आन्तरिक संघर्षों में रक्षा करते हैं, तथा जिस पुरुष के प्रति हवि आदि अन्नों से निवेदन के योग्य नाना प्रकार के मधुर मनोहर पक्वान्न आदि भक्ष्यों के सन्नद्ध होने पर पधारते हैं, वह व्यक्ति आपके अनुग्रह से शाश्वत अन्न को अथवा ज्ञानविज्ञानरूपी धन को प्राप्त करेगा ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ अनिश्चय के कारण अग्राह्य है । वह कौन है, जो संग्रामों में मनुष्य की रक्षा करता है । यदि

तदपि न किञ्चित्, अनिर्धारणात् । कोऽयं गुणवरो यो मर्त्यं सङ्ग्रामेषु रक्षति क्षेत्रादिषु च युनक्ति ? यश्च सङ्ग्रामेषु रक्षितः क्षेत्रादिषु च नियुक्तः, स प्रजा उत्साहिकया वाचा नियच्छतीति सोऽपि कः ? यदि तु भावार्थानुसारेण गुरुः प्रेरकः, यन्ता राजा, तदप्यसम्यक्, सङ्ग्रामेषु तस्य रक्षकत्वानुपपत्तेः । क्षेत्रादिषु तु प्रजा नियुज्यन्ते न राजा । प्रजाश्च कथं प्रजा नियंस्यन्ति ? इष्यन्ते च वस्त्रभूषणादीनि, अन्नपानादीन्यपीति कुतः प्रजा इषः ? ॥२९॥

देवस्यं त्वा सवितुः प्रंसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे रावाऽसि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम् । उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा ॥३०॥

'अयुङ्गा अयुङ्गा एकधना भवन्ति' (श.३।९।३।३४) । 'अथाधिषवणे पर्युपविशन्ति' (श.३।९।४।१) । 'अथ ग्रावाणमादत्ते....' (श.३।९।४।२) । 'एकधनस्थान उभयशेषं निधायाधिषवणे पर्युपविशन्ति' (का.श्रौ.९।४।१) । एकधनशेषं वसतीवरीशेषं च उत्तरस्य हविर्धानस्याधस्तादक्षस्य पश्चाद् यत्नेन स्थापयित्वा अधिषवणचर्मणः समीपे सर्वत उपविशेयुरध्वर्यु-प्रतिप्रस्थातृनेष्टृउन्नेतृ-यजमानाः । 'अभिषवणार्थं देवस्य त्वेत्यद्रिमादाय वाचं यच्छति प्राग्घिङ्कारात्' (का.श्रौ.९।४।४) । देवस्य त्वेत्यध्वर्युरश्मानं गृहीत्वा प्राग् हिङ्काराद् वाचं नियच्छति 'दशापवित्रेणाग्रयणमुपगृह्य त्रिर्हिङ्कृत्य सोमः पवते' (का.श्रौ.९।६।१६) । तस्य हिङ्कारस्य प्राग् अध्वर्युर्ग्रावद्वयाहरणम् इतरे त्रयो ग्रावत्रयस्याहरणं कुर्युः । 'स उपांशुसवनः' (का.श्रौ.९।४।५) । यो ग्रावाऽध्वर्युणा गृहीतः स उपांशुसवनसंज्ञको भवति । उपांशुग्रहार्थं सोमः सूयते यस्मिन् सः, हे ग्रावविशेष, सवितुर्देवस्य प्रसवे सवितृप्रसूते जगति, अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे ।

तथैव श्रुतिराह– 'अश्विनावध्वर्यू ततयोरेव बाहुभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघस्तत्तस्यैव हस्ताभ्यामादत्ते न स्वाभ्याम्'। कुत एतदित्याह– वज्रो वा एष तस्य न मनुष्यो भर्ता तमेताभिर्देवताभिरादत्ते' (श.३।९।४।३) । हे अभिषणवसाधनपाषाण, त्वं रावा 'रा दाने' आहुतीनां दक्षिणानां च रावा दाता भवसि । ततो गभीरमिमं मदीयमध्वरं यज्ञं कृधि कुरु । उत्तमेनोत्कृष्टेन पविना वज्रसदृशेन त्वया अहं सोममिन्द्रायेन्द्रार्थं सुषूतमं सुष्ठु अभिषुततमम्, सुष्ठु सूयत इति सुषुतः, अतिशयेन सुषुतः सुषुततमः, तं सुष्ठु अभिषुतम् । तकारलोपश्छान्दसो दीर्घत्वं च । ऊर्जस्वन्तं मधुमन्तं मधुरस्वादुत्वोपेतं पयस्वन्तं पयोविशेषवन्तं पयः

भावार्थ के अनुसार गुरु प्रेरक, यन्ता राजा है, तो भी असंगति है, क्योंकि संग्राम में उसका रक्षकत्व असिद्ध है । क्षेत्र आदि में तो प्रजाएँ नियुक्त की जाती हैं, राजा नहीं । वस्त्र, आभूषण, अन्न, पान आदि भी अभिलषित होते हैं, अतः केवल प्रजाएँ ही 'इषः' कैसे मानी जा सकती हैं ॥२९॥

मन्त्रार्थ– हे उपांशु सवन, सविता देवता की प्रेरणा से, अश्विनीकुमारों की बाहु तथा पूषा देवता के हाथों से मैं तुमको ग्रहण करता हूँ । तुम अभीष्ट फल देने वाले हो । हमारे इस यज्ञ को महान् बनाओ । तुम वज्रसदृश दृढ़ और श्रेष्ठ हो । तुम्हारे द्वारा इन्द्र देवता के निमित्त प्रीतियुक्त बलवर्धक स्वादिष्ट मधुर रसयुक्त दुग्ध के स्वादुरस से भरे सोम को अभिषुत करते हैं । हे जल देवता, हमने तुमको सम्यक् प्रकार से ग्रहण किया है । तुम देवताओं के मध्य में चिरप्रसिद्ध हो । इस प्रकार बहुत मान से युक्त तुम इस समय इस यज्ञ में हमें तृप्त करो ॥३०॥

भाष्यसार– 'देवस्य त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों से सोमाभिषव के लिये पाषाण हाथ में ग्रहण करके अध्वर्यु मौन धारण करता

स्वादुना रसेनोपेतमेवंविधं सोमं त्वयाहं करोमीति शेषः । यद्वा गभीरं महान्तमिममध्वरं यज्ञं कृधि कुरु, इन्द्रार्थं सुसुतम् साधु अभिषुतम्, अतिशयेन उत्तमेन पविना पावनेन सोमेन पवनशीलेन ऊर्जस्वन्तं रसवन्तं मधुमन्तं मधुस्वादुना रसेनोपेतम्, पयस्वन्तं पयःस्वादुना रसेनोपेतम्, अध्वरं कृधीति सम्बन्धः । श्रुतिरपि तथैव व्याख्याति – 'यदा वा एनमेतेनाभिषुण्वन्त्यथाहुतिर्भवति यदाहुतिं जुहोत्यथ दक्षिणा ददात्येतद्ध्येष द्वयꣳ रासत, आहुतीश्च दक्षिणाश्च तस्मादाह रावासि' (श.३।९।४।४) । गभीरमिममध्वरं कृधीत्यंशोऽपि तथैव श्रुत्या व्याख्यातः – 'अध्वरो वै यज्ञो महान्तमिमं यज्ञं कृधीत्येवैतदाहेन्द्राय सुषूतममितीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रायेति सुषूतममिति सुसुततममित्येवैतदाहोत्तमेन पविनेत्येष वा उत्तमः पविर्यत्सोमस्तस्मादाहोत्तमेन पविनेत्यूर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तमिति रसवन्तमित्येवैतदाह यदाहोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तमिति' (श.३।९।४।५) । मन्त्रभागं व्याचष्टे – योऽयमध्वरः स यज्ञः । उभौ शब्दौ पर्यायौ । यदतिगुम्फितत्वेन महत् तद् गम्भीरमिति लोके व्यवह्रियते । अतो गम्भीरे महत्त्वदर्शनादिममध्वरं महान्तं कुरु इत्याह मन्त्रः । सुषूतममिति सुसुततममिति वक्तव्ये तकारलोपो दीर्घश्च छान्दसः । पविशब्दस्य वज्रेऽर्थे प्रसिद्धत्वादत्र सोमोऽर्थ इति व्याचष्टे – एष वा उत्तमः पविर्यत्सोम इति । 'पवतिर्गतिकर्मा' (निघ.२।१४।१०८) । अथवा पविवद् बलवत्त्वात् पविः सोमः । पविः खलु सोमपानेन प्रबलस्येन्द्रस्य वृत्रवधादिकर्मश्रवणादत्र मधुररसानां वाचका ये ऊर्जमधुपयःशब्दास्तेषां तात्पर्यतो रस एवार्थ इति व्याचष्टे – ऊर्जस्वन्तमित्यादिना । ननु नैते शब्दा माधुर्यार्थतया प्रसिद्धा इति चेत्तत्राह – यदाहोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तमिति । 'अथ वाचं यच्छति' (श.३।९।४।६) । 'अथ निग्राभ्या आहरति । तास्वेनं वाचयति निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत....' (श.३।९।४।७) । 'निग्राभ्यासु वाचयत्युरस्येना निगृह्य निग्राभ्याः स्थेति' (का.श्रौ.९।४।६) । यजमानः स्वकीयोरस्येना निगृह्य । निधाय आलभ्य च निग्राभ्याः स्थेति मन्त्रं वाचयेदध्वर्युः । अभिषोतव्यस्य सोमस्य सेवनीया आपो निग्राभ्याः, ता निगृह्य आलभ्य च मन्त्रं पठति । मन्त्रार्थस्तु – हे आपः, यूयं निग्राभ्याः स्थ, निग्राह्या अस्माभिर्नितरां ग्रहीतव्याः स्थ भवथ । यस्मादिन्द्रेणोरसि यूयं गृहीतास्ततो निग्राभ्याः, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' । देवश्रुतः देवैः श्रूयन्त इति देवश्रुतः, देवेषु प्रख्याता बहुमानान्विता यूयं मा मां तर्पयत प्रीतं कुरुत ।

अध्यात्मपक्षे – भगवतो दिव्यत्वादलौकिकत्वादप्राकृतत्वाद्रसात्मकत्वात् तदीयार्चनार्थं नैवेद्यादिसामग्र्यापि दिव्यया तादृश्यैव भाव्यम् । तां गृह्णन्नपि न प्राकृताभ्यां स्वाभ्यां बाहुभ्यां हस्ताभ्यां वा स्वाभ्यां न गृह्णाति, किन्तु हे सामग्रि, सवितुर्देवस्य भगवतोऽनुज्ञायामश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे । त्वं रावासि, रासीति रावा, भगवदाराधनसम्पत्तिद्वारा भुक्तेर्मुक्तेः प्रीतेश्च दातासि, तस्मादिममध्वरं कौटिल्यरहितं देवयजनरूपं यज्ञं कृधि सम्पादय । इन्द्राय परमैश्वर्यवते परमेश्वराय । कीदृशमध्वरम् ? गभीरम्, अनन्तब्रह्माण्डाधिष्ठानपरात्परपरब्रह्मगोचरत्वादस्य गभीरत्वं दुरवगाह्यत्वम् । सुषूतमं सुसुततमम्, साधु अभिषुतमतिशयेनोत्तमेन पविना पावनेन पवनशीलेनानुरागेण गङ्गायमुनादिजलेन वाभिषवादियुक्तम् । ऊर्जस्वन्तं

है तथा यजमान मन्त्रवाचन करता है । यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।१-६, ९।६।१६, ९।३।११) में वर्णित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – भगवान् की दिव्यता, अलौकिकता, अप्राकृतता तथा रसात्मकता के कारण उनकी पूजा के लिये नैवेद्य आदि सामग्रियां भी उसी प्रकार दिव्य होनी चाहिये । उनका ग्रहण भी अपनी लौकिक भुजाओं अथवा हाथों से नहीं होता । अपि तु हे सामग्री, भगवान् सविता देव की आज्ञा से अश्विनी देवों की भुजाओं से तथा पूषा देव के हाथों से तुम्हारा ग्रहण

रसवन्तं विविधान्नादिरसोपेतं प्रेमरसान्वितं वा, मधुमन्तं मधुस्वादुना रसेनोपेतं मधुमयेन प्रेम्णोपेतं वा, पयस्वन्तं पयःस्वादुना रसेनोपेतं सरसेनार्चनेनान्वितम्, यस्मादिन्द्रेण परमात्मना भावग्राहकेण, यूयमिति पूजायां बहुवचनम्, निग्राभ्या नितरामादरेण ग्राह्या देवैश्च श्रुता विश्रुता बहुमानान्वितास्तथाविधा यूयं मम प्रभोराराधनसाधनत्वेन मां तर्पयत कृतार्थं कुरुत ।

दयानन्दस्तु – 'हे प्रजाजन ! यतस्त्वं रावासि, अतोऽहं देवस्य सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे । त्वमिन्द्राय मह्यमुत्तमेन पविना वचसेमं गभीरं सुषूतममूर्जस्वन्तं पयस्वन्तं करदायमध्वरं कृधि । हे देवश्रुतः प्रजा यूयं निग्राभ्या मया नितरां ग्रहीतुं योग्याः स्थ । मामनेन करदेयधनेन तर्पयत । अत्र राजा करधनप्रदं प्रजापुरुषं कथं स्वीकुर्यादित्युपदिश्यते' इति, तन्न, अनुपपत्तेः । नहि राजा सूर्यचन्द्रयोर्बलपराक्रमाभ्यां न वा सोमाद्योषधिगणस्य रोगनाशकधातुसाम्यापादकगुणाभ्यां हस्ताभ्यां प्रजाजनं गृह्णाति । न वा करधनस्य पविना वाण्या दानं सम्भवति । करधने गम्भीरम् ऊर्जस्वन्तं सुषूतममित्यादिविशेषणान्यपि न सङ्गच्छन्ते । द्वितीयान्तैरेतैः पदैर्निग्राभ्या इत्यनेन सम्बन्धोऽप्यसङ्गतः । तथा एकवचनबहुवचनवैषम्यमपि । 'स्थ' इति मध्यमपुरुषोऽपि चिन्त्यः । न चैतत् प्रजाविशेषणम्, कृधीत्येकवचनविरोधात् । श्रुतिविरोधस्तु दर्शित एव ॥३०॥

मनो॑ मे तर्पयत॒ वाचं॑ मे तर्पयत प्रा॒णं मे॑ तर्पयत॒ चक्षु॑र्मे तर्पयत॒ श्रोत्रं॑ मे तर्पयता॒त्मानं॑ मे तर्पयत प्र॒जां मे॑ तर्पयत प॒शून्मे॑ तर्पयत ग॒णान्मे॑ तर्पयत ग॒णा मे॒ मा वितृ॑षन् ॥३१॥

समासेन तर्पणं प्रार्थ्य व्यासेन तदेवाभिधीयते । हे आपः, मे मम मनो वाचं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं तर्पयत । मदीयानि मनःप्रभृतीनि प्रीतानि कुरुत । एवं व्यासेनोक्त्वा पुनः समासेनाह – आत्मानं शरीरं, प्रजां पुत्रादिसम्पत्तिं पशून् गवादीन् गणान् बन्धुभृत्यादीन् मनुष्यसंघांश्च तर्पयत । मे मदीया गणा मनुष्यसंघा मा वितृषन् युष्माभिस्तर्पिता विवृद्धतृष्णा मा भूवन् । अनुरक्तगणोऽहं भवेयमित्याशास्ते यजमानः । नन्वापः स्वल्पा एव

करता हूँ । तुम भगवदाराधन सम्पत्ति के द्वारा भुक्ति, मुक्ति तथा प्रीति की प्रदात्री हो । अतः इस निश्छल देवार्चनात्मक यज्ञ का सम्पादन करो । परमैश्वर्यवान् परमात्मा के लिये यह यज्ञ ब्रह्मगोचर होने के कारण दुरवगाह्य, पवित्र अनुराग अथवा गंगा आदि पुण्य नदियों के जल से अभिषेचन से युक्त अन्नादि रसों से युक्त अथवा प्रेमरस से अन्वित मधु के समान सुस्वादु रस अथवा प्रेम से युक्त, दुग्ध के समान सुस्वादु अथवा सरस अर्चन से समन्वित है । भाव का ग्रहण करनेवाले परमात्मा के द्वारा अतिशय आदर से ग्राह्य तथा देवताओं के द्वारा बहुत मान से संयुक्त तुम मेरे प्रभु की आराधना के साधन होने के कारण मुझे कृतार्थ करो ।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ अनुपपन्न है । पवित्र वाणी से ही कर द्वारा प्राप्त धन का दान सम्भव नहीं है । कर के धन में गम्भीर, ऊर्जस्वान् आदि विशेषण भी संगत नहीं होते । इन द्वितीयान्त पदों के साथ 'निग्राभ्याः' शब्द का सम्बन्ध करना भी असंगत है । एकवचन तथा बहुवचन की विषमता भी है । यह प्रजा का विशेषण भी नहीं है, क्योंकि 'कृधि' इस एकवचन से विरोध है । श्रुतिवाक्यों का विरोध तो स्पष्ट प्रदर्शित ही है ॥३०॥

मन्त्रार्थ – हे निग्राभ्य, तुम मेरे मन को तृप्त करो, मेरे प्राण को, मेरी नेत्रेन्द्रिय को, मेरे कानों को, मेरी आत्मा को और मेरी प्रजा को तृप्त करो, मेरे पशुओं को और मेरे आत्मीय जनों को तृप्त करो । मेरे बन्धु-बान्धव किसी प्रकार की तृष्णा से कातर न हों ॥३१॥

भाष्यसार – 'मनो मे' इत्यादि मन्त्र से भी पूर्वोक्त मन्त्र की भांति जल की प्रार्थना की जाती है । शतपथ श्रुति में तदनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

तर्पणीयास्तु बहव इति कथं स्वल्पेन तर्पणसाधनेन बहूनां तर्पणम्, कथं वा तासामपां तादृशी शक्तिरिति चेत्तत्राह श्रुतिः –'रसो वा आपस्तास्वेवैतामाशिषमाशास्ते सर्वं च म आत्मानं तर्पयत' (श.३।९।४।७)। अपां रसरूपत्वात् तास्वप्स्वेवैतां तृप्तिरूपामाशिषमाशास्ते, अतः सारवतामाशासनं युक्तमेव। मनआदिकं सर्वं संगृह्यानुवदति सर्वं च मे आत्मानं प्रजां चेति विविच्यानुवादः।

अध्यात्मपक्षे तु – हे पूजासम्भाराः, यूयं परमात्मपूजाङ्गतामुपगता मे ममार्चकस्य मनोवागादीन् **तर्पयत**। स्वसम्भोगबुद्ध्या सेविता विषया अनादिकालादारभ्याद्य यावत्तृष्णावर्धका एव जाताः। त एव भगवदाराधनोपयुक्ताः सन्तः 'मत्प्रसादं तु निर्गुणम्' इति श्रीमद्भागवतोक्तरीत्या स्वयं शुद्धा गुणातीता भूत्वाऽऽराधकानामपि गुणातीततामापाद्य मनोवागादीन् तर्पयन्ति, मनोवागादीनि च प्रीतिकराणि भवन्ति। तदनुसन्धानेन मनः, वर्णनेन वाग्, आघ्राणेन प्राणः, दर्शनेन चक्षुः, श्रवणेन श्रोत्रं तत्प्रसादलेशेन प्रजाः पशवो गणाश्च तृप्यन्ति, गणानां तृष्णाविवृद्ध्युपशान्तिर्भवति। एवं स्वस्थेन्द्रियमनस्कस्तृप्तप्रजस्तृप्तपशुस्तृप्तगणोऽनुरक्तगणः साधकोऽनायासेन भगवत्समर्पितपूजासम्भारप्रसादात् 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्डको.३।२।८) इति श्रुत्यनुसारेण **परात्परं दिव्यं** पुरुषमुपैति।

दयानन्दस्तु – 'हे सभाजनाः प्रजाजना वा, यूयं स्वगुणैर्मे मम मनस्तर्पयत वाचं प्राणं चक्षुः **श्रोत्रं म आत्मानं** प्रजां पशून् गणान् तर्पयत। यतो मे गणा मा वितृषन् तृषिता मा भवन्तु'इति, तदपि यत्किञ्चित्, **प्रजानामल्पज्ञानां** तथा शक्त्यभावात्। तथाहि – प्रजा अल्पज्ञा अल्पशक्तयश्च जीवा एव, ते कथं सभापतेर्मनश्चक्षुरादीन् तर्पयितुं शक्ष्यन्ति। गुणैस्तु मनस्तुष्यति। प्रजाश्च गणेष्वेवान्तर्भवन्ति। तथा च कथं गणैरेव गणतर्पणम्? किञ्च, मा वितृषन् गणा मा तृषिता भवन्तु' इति संस्कृतव्याख्याने, हिन्दीव्याख्याने तु 'उदासीना **मा भूवन्**' **इत्युक्तम्**, तदेतदुभयमसङ्गतम्, विपूर्वस्य तृषेरुदासीनार्थत्वे मानाभावात्। श्रुत्या तु स्पष्टमेवात्राप एव सम्बोध्यत्वेनाङ्गीकृताः। तासामेवाल्पशक्तित्वमाशङ्क्य रसरूपत्वेन तत्समाधानमुक्तम् ॥३१॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे पूजा के संभारों, तुम परमात्मा की पूजा के साधन होकर मुझ पूजक के मन, वाणी आदि को तृप्त करो। अपने भोग की बुद्धि से सेवन किये गये विषय अनादि काल से लेकर आज तक केवल तृष्णावर्धक ही हुए हैं। वे ही भगवान् की आराधना में विनियुक्त होने पर स्वयं शुद्ध गुणातीत होकर आराधकों को भी गुणातीत बनाते हुए मन, वाणी आदि को तृप्त करते हैं, मन, वाणी आदि के प्रीतिकारक हो जाते हैं। उसके अन्वेषण से मन, वर्णन से वाणी, आघ्राण से नासिका, दर्शन से नेत्र, श्रवण से कान, उसके प्रसाद - कण से प्रजाएं, पशु तथा गण तृप्त होते हैं, गणों को शान्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार स्वस्थ इन्द्रियों तथा मन से युक्त, तृप्त प्रजाओं, पशुओं तथा गणों से अन्वित, अनुरक्त गणों वाला साधक अनायास ही भगवान् को समर्पित पूजा-संभार के प्रसाद से परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ संगत नहीं है। प्रजा तो अल्पज्ञ और अल्पशक्ति वाले जीव ही हैं। वे सभापति के मन, चक्षु आदि को कैसे तृप्त कर सकते हैं ? संस्कृत व्याख्या में 'गण तृषित न हों' तथा उसके ही हिन्दी अर्थ में 'उदासीन न हों' कहा गया है, ये दोनों ही अर्थ असंगत हैं। वि उपसर्ग पूर्वक तृष धातु का औदासीन्य अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। श्रुति के द्वारा तो जल ही यहाँ संबोधनीय माने गये हैं ॥३१॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत इन्द्राय त्वाऽऽदित्यवत इन्द्राय त्वाऽभिमातिघ्ने। श्येनाय त्वा सोमभृतेऽग्नये त्वा रायस्पोषदे ॥३२॥

'स य एष उपाᳪशुसवनः स विवस्वानादित्यो निदानेन सोऽस्यैष व्यानः' (श.३।९।४।७) । उपांशुग्रहार्थं सोमोऽभिषूयते येन स उपांशुसवनः पाषाणो निदानेन विवस्वत्संज्ञक आदित्य एव, तस्यैव तदात्मनावस्थानात् । स एष यज्ञस्य व्यानः, प्राणापानरूपयोरुपांश्वन्तर्यामयोर्मध्ये स्थाप्यत्वात्, 'यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः' (छा.उ.५।३।३) इति श्रुतेः । तस्य पाषाणस्योपांशुसवन इति वैदिकी संज्ञा व्यवहारार्था । 'तमभिमिमीते । घ्नन्ति वा एनमेतद् यदभिषुण्वन्ति तैमेतेन घ्नन्ति तथात उदेति तथा सञ्जीवति यद्वेव मिमीते तस्मान्मात्रा मनुष्येषु मात्रो यो चाप्यन्या मात्रा' (श.३।९।४।८) । तमुपांशुसवनमभि तस्योपरि सोमं मिमीते क्रयकालिकमानेन सोमं संस्कुर्यात् । घ्नन्तीत्यादिनाभिषवस्य, यद्वेत्यादिना मानस्य च स्तुतिः । उशब्दोऽप्यर्थकः । यापि मात्रा सोमे कृता तस्मात् सोमस्य मितत्वान्मनुष्येषु व्यवहारार्थं प्रस्थकुडवाढकद्रोणखार्यादिरूपा मात्राः प्रसिद्धाः । या चाप्यन्या• एकद्वित्र्यादिसंख्या-प्रयुक्ता सापि मात्रा सोममानप्रयुक्तैव । 'स मिमीते । इन्द्राय त्वा....' (श.३।९।४।९) इत्यादिना सोमोन्माने मन्त्रं विदधाति । तदुक्तं कात्यायनेन – 'उपांशुसवने सोमं मिमीत इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत इति पञ्चकृत्वः प्रतिमन्त्रम्' (का.श्रौ.९।४।७) । अध्वर्युरुपांशुसवनमधिषवणचर्मणि निधाय पञ्चवारं मिमीते सोमस्य मानमियत्तां कुर्यात् । पञ्चभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमेकैकं सोममुष्टिमुपांशुसवनस्योपरि निक्षिपेदित्यर्थः । पञ्च यजूंषि सौमानि ।

तत्र प्रथमम् – हे सोम, त्वा त्वाम् इन्द्राय इन्द्रार्थं मिमे इति शेषः, परिच्छिनद्मीत्यर्थः । कीदृशायेन्द्राय ? वसुमते वसवोऽस्य सन्तीति वसुमान्, तस्मै वसुसंज्ञकप्रातःसवनदेवतावते । रुद्रवते रुद्राः सन्त्यस्येति रुद्रवान्, तस्मै रुद्रनामकमाध्यन्दिनसवनदेवतावते । अथ द्वितीयम् – इन्द्राय त्वादित्यवते आदित्यनामकतृतीयसवनदेवतावते इन्द्राय हे सोम, त्वां मिमे । अथ तृतीयम् – अभिमातिघ्ने अभिमातीन् शत्रून् हन्तीत्यभिमातिहा तस्मै अभिमातिघ्ने शत्रुहन्त्रे, 'सपत्नो वाभिमातिः' इति श्रुतेः । इन्द्राय त्वा त्वां मिमे इयत्तां निर्धारयामि । अथ तुरीयम् – सोमभृते सोमं हरतीति सोमभृत्, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा.सू.८।२।३२) इति हस्य भः । तस्मै सोमाहरणकर्त्रे श्येनाय श्येनपक्षिरूपधारिण्यै गायत्र्यै हे सोम, त्वां मिमे परिच्छिन्नं करोमि, 'गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्' (श.६।९।४।१०) इति श्रुतेः । अथ पञ्चमम् – रायस्पोषदे रा लक्ष्मीस्तस्याः पोषो वृद्धिस्तां ददातीति रायस्पोषदस्तस्मै धनपुष्टिदात्रेऽग्नये त्वा त्वां मिमे परिच्छिनद्मि।

मन्त्रार्थ – हे सोम, वसुनामक देवता से युक्त माध्यन्दिन सवन के रुद्र देवता से युक्त इन्द्र देवता के निमित्त तुमको परिमित करता हूँ । हे सोम, तीसरे सोम के आदित्य देवता के साथ वर्तमान इन्द्र देवता के निमित्त तुमको परिमित करता हूँ । हे सोम, शत्रुघाती इन्द्र देवता के निमित्त, धन और पुष्टि देने वाले अग्नि देवता के निमित्त तुमको परिमित करता हूँ ॥३२॥

भाष्यसार – 'इन्द्राय त्वा' इत्यादि पांच मन्त्रों से अध्वर्यु उपांशुसवन पर पांच बार सोमलता को मुष्टिपरिमित नाप कर रखता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।७) में यह याज्ञिक विनियोग निरूपित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है ।

शतपथे विशेषतो व्याख्यानम् । तथाहि – 'इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्राय त्वेति वसुमते रुद्रवत इति तदिन्द्रमेवानु वसूंश्च रुद्रांश्चाभजतीन्द्राय त्वादित्यवत इति तदिन्द्रमेवान्वादित्यानाभजतीतीन्द्राय त्वाभिमातिघ्न इति सपत्नो वाभिमातिरिन्द्राय त्वा सपत्नघ्न इत्येवैतदाह सोऽस्योद्धारो यथा श्रेष्ठस्योद्धार एवमस्यैष ऋते देवेभ्यः' (श.३।९।४।९) । इन्द्रो वै यज्ञस्य सोमस्य देवता – 'प्रातःसुतमपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते । समृभुभिः पिबस्व रत्नधेभिः ॥' (ऋ.सं.४।३२।७) इत्यादिमन्त्रलिङ्गादिन्द्रस्य सवनत्रये प्राधान्याद् वसुमते रुद्रवत इत्यादौ वस्वादेरिन्द्रशेषत्वप्रतीतेः । इन्द्रं प्रधानभूतं मुख्यं भागिनं कृत्वा वस्वादीनप्यन्वाभजति पश्चाद्भागिनः करोति, इन्द्रस्यानुचरान् कृतवान् भवतीत्यर्थः । अभिमातिशब्दः सपत्नवाची अस्मिन् मन्त्रे । देवतान्तरसम्बन्धवैधुर्यं प्रशंसति – सोऽस्योद्धार इति । यथा धान्यादिविभागसमये मुख्यस्य राज्ञो देयो भागः प्रातिस्विकः । तं प्रथममेवापोद्धृत्य पश्चात् स्वं स्वमंशं विभजन्ति, तथैव रुद्रवस्विन्द्रेभ्यो देवतान्तरसहभावमन्तरेण केवल उद्धारः कृतो भवतीत्यर्थः । श्रेष्ठत्वे बीजं चाभिमातिहन्तृत्वमेव । यतोऽयं सपत्नहन्ता अत उद्धारार्हः । 'श्येनाय त्वा सोमभृत इति । तद् गायत्र्यै मिमीतेऽग्नये त्वा रायस्पोषद इत्यग्निर्वै गायत्री तद् गायत्र्यै मिमीते स यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत् तेन सा श्येनः सोमभृतेनैवास्या एतद्वीर्येण द्वितीयꣳ मिमीते' (श.३।९।४।१०) । 'श्येनाय त्वा, अग्नये त्वा' इति वाक्यद्वयस्य तात्पर्यमाह – सोमभृते श्येनाय । सोमोन्माने कृते कथं गायत्र्यर्थत्वमित्याशङ्क्य तदुपपादयति – यद्गायत्री श्येनो भूत्वेति । 'अग्नेर्गायत्र्यभवत्' इति मन्त्रवर्णाद् गायत्र्या निदानमग्निः । अतो जन्यजनकयोरभेदोपचारेण गायत्र्यर्थत्वोपपत्तिः । 'अथ यत्पञ्चकृत्वो मिमीते । संवत्सरसम्मितो वै यज्ञः पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात् पञ्चकृत्वो मिमीते' (श.३।९।४।११) । एकमन्त्राणि कर्माणीति न्यायस्यौत्सर्गिकत्वान्मन्त्राणां पञ्चत्वान्मानमपि पञ्चकृत्व इत्यर्थसिद्धम् । गवामयनादिसत्रस्य संवत्सरसम्मितयज्ञत्वं प्रसिद्धम् । तस्मात् पञ्चकृत्वो मानं प्रशस्यते ।

अध्यात्मपक्षे – हे सर्वेश्वरसमर्चनसम्भार, इन्द्राय परमैश्वर्यवते परमेश्वराय त्वा त्वां गृह्णामि । कीदृशाय परमेश्वराय ? वसुमते वसुदेवतायुक्ताय तथा रुद्रवते रुद्रदेवतायुक्ताय श्येनाय श्येनरूपधारिगायत्रीयुक्ताय अग्नये रायस्पोषकाय धनपोषदायाग्नये त्वा गृह्णामि । अभिमातिघ्ने सपत्नघातिने परमात्मने त्वां गृह्णामि । सर्वे देवाः परमेश्वरस्यैवाङ्गोपाङ्गभूता इति तत्तदङ्गविशिष्टायाङ्गिस्वरूपाय परमेश्वराय त्वां गृह्णामि ।

दयानन्दस्तु – 'हे सभापते, वयमिन्द्राय परमैश्वर्याय वसुमते बहवो वसवश्चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यसम्पन्ना विद्वांसो विद्यन्ते यस्मिन् कर्मणि तस्मै कर्मणे, रुद्रवते कृतचतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्या वीराः शत्रुरोदयितारो रुद्रा भवन्ति यस्मिन् कर्मणि तस्मै इन्द्राय उत्तमगुणाय त्वा त्वाम्, आदित्याय कृताष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्याः सूर्यवद्विद्वांसो

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे सर्वेश्वर की पूजा के संभार, मैं तुमको परमैश्वर्यवान् वसु देवता से समन्वित, रुद्रदेव से युक्त, श्येनरूप धारण करने वाली गायत्री से अन्वित, धन तथा पुष्टि प्रदान करने वाले अग्निरूपी शत्रुओं को विनष्ट करने वाले परमात्मा के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ । सभी देवगण परमेश्वर के ही अंग उपांग हैं, अतः उनके सहित अंगी स्वरूप परमेश्वर के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ निर्मूल है, क्योंकि मन्त्र में 'वृणुमः' यह शब्द नहीं है । हमारे अर्थ में तो शतपथ श्रुति तथा श्रौतसूत्र के अनुसार वाक्यांग क्रियापद का ज्ञान हो जाता है । श्रुतियों में इस प्रकार के कोई विशेष कर्म भी नहीं उपदिष्ट हैं, जिनमें चौबीस वर्षीय ब्रह्मचर्य आदि से युक्त विद्वानों का ही विनियोग हो । अतः यह अर्थ केवल अज्ञ जनों के बहलाने के लिये

भवन्ति यस्मिन् कर्मणि तस्मै इन्द्राय परमविद्याप्रकाशेनाविद्याविदारकाय त्वां सोमभृतेऽग्नये विद्युदादये वा, धनस्य पुष्टिप्रदे त्वां वृणुमः' इति, तदपि निर्मूलम्, मूले वृणुम इति पदाभावात् । सिद्धान्ते तु श्रुतिसूत्रानुसारेण 'मिमे' इति शेषो ज्ञायते । शतपथश्रुत्यैव मन्त्रा व्याख्याता इति तद्विरुद्धमेवेदं व्याख्यानम् । न च श्रुतिषु सूत्रेषु कानिचित्तादृशानि कर्माणि चोदितानि, यत्र चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यसम्पन्नादयो विद्वांसो नियुज्यन्ते । तस्मान्मूढजनप्रतारणमेवैतत् । न च वस्वादिशब्दानां तथाविधार्थाः सम्भवन्ति, तत्र तेषामशक्तेः ॥३२॥

यत्ते॑ सोम दि॒वि ज्योति॒र्यत्पृ॑थि॒व्यां यदु॒राव॒न्तरि॑क्षे ।
तेना॒स्मै यज॑माना॒योरु रा॒ये कृ॒ध्यधि॒ दा॒त्रे वो॑चः ॥३३॥

'तमभिमृशति । यत्ते सोम दिवि....' (श.३।९।४।१२) । मितस्य सोमस्य समन्त्रकमभिमर्शनं विधत्ते । कात्यायनोऽपि तथैवाह – 'यत्त इति मितालम्भनम्' (का.श्रौ.९।४।८) । अध्वर्युरुपांशुसवनं पञ्चवारं प्रक्षिप्तस्य सोमस्य यत्त इति मन्त्रान्ते स्पर्शं कुर्यात् । अत्र क्षुल्लकाभिषवार्थमल्पानामंशूनां मितादपकर्षणं कार्यम् । उपांशुसवनमद्रिं होतृचमसात् पात्रान्तरे स्वल्पा निग्राभ्याश्च पृथक्कृत्वा यत्नेन निदध्याच्च।सोमदेवत्या विपरीतबृहती । यत्राद्यतृतीयौ पादावष्टार्णौ द्वितीयतुरीयौ द्वादशार्णौ सा विपरीतबृहती । मन्त्रार्थस्तु – हे सोम, दिवि द्युलोके ते त्वदीयं ज्योतिर्द्युतिमत्त्वमासीत् । यत्पृथिव्यां वल्लीरूपः सोमः, यदपि उरौ विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे षोडशकलात्मकः सोमः, तेन सर्वेण तव स्वरूपेण सहितः सन्नस्मै अभिषुण्वते यजमानाय राये तस्य धनार्थमुरु कृधि, तव शरीरमिति शेषः । तेन ज्योतिषाऽस्मै यजमानाय राये राया तृतीयार्थे चतुर्थी, समृद्धमुरु विस्तीर्णं स्थानं कृधि । किञ्च, अधिकोऽयं यजमानो भवत्विति दात्रे वोचः फलप्रदायेन्द्राय ब्रूहि । यद्वा विभक्तिव्यत्ययेनास्य यजमानस्य यज्ञे उरु विस्तीर्णं स्वशरीरं कृधि, राये धनाय ऋत्विजां दक्षिणाप्राप्तये उरु शरीरं कृधि । किञ्च, दात्रे यजमानाय अधि वोचः अधिकं ब्रूहि । यजमानाय कृत्स्नशरीरोऽयमागत इति ब्रूहि ।

शतपथेऽस्य मन्त्रस्य निदानमुक्तम् – 'यत्र वा एषोऽग्रे देवानाᳬ हविर्बभूव तद्धेक्षाञ्चक्रे मैव सर्वेणेवात्मना देवानाᳬ हविर्भूवमिति स एतास्तिस्रस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त' (श.३।९।४।१२) । सोमस्य लोकान्तरस्थाय्यंशस्य यत्परिग्रहाभिधानं तदाख्यायिकामुखेन प्रशंसति – यत्र वा एष इति । यत्र काले अग्रे पूर्वं सोमो देवानां हविर्बभूव तत् तदा सर्वेणात्मना देवानां हविर्मा भूवं न भवामीति विचार्य एषु त्रिषु लोकेषु स्वास्तनूर्विन्यधत्त विभज्य

ही हो सकता है । वसु आदि शब्दों का जो अर्थ बताया गया है, वह भी संभव नहीं है, क्योंकि उस अर्थ में उन शब्दों की शक्ति नहीं है ॥३२॥

मन्त्रार्थ – हे सोम, द्युलोक में पृथ्वी पर और विस्तीर्ण अन्तरिक्ष लोक में जो तुम्हारी ज्योति है, उसके प्रभाव से इस यजमान के निमित्त इष्ट धन का विस्तार करो, अथवा इसके यज्ञ में अपने शरीर का विस्तार करो । ऋत्विक् गणों की धनप्राप्ति के निमित्त अपने शरीर का विस्तार करो, दाता यजमान के निमित्त अपनी सम्पूर्ण ज्योति के साथ यहाँ आओ ॥३३॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।८) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'यत्ते' इस ऋचा से अध्वर्यु द्वारा रखे गये सोम का स्पर्श किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

स्थापितवान् । एतन्निदानोऽयं मन्त्रः । 'तद्वै देवा अस्पृण्वत । तेऽस्यैतेनैवैतास्तनूराप्नुवन् स कृत्स्न एव देवानाᳪं हविरभवत्तथो एवास्यैष एतेनैवैतास्तनूराप्नोति स कृत्स्न एव देवानाᳪं हविर्भवति तस्मादेवमभिमृशति' (श.३।९।४।१३) । तद्वै वृत्तान्तं देवा अस्पृण्वत 'स्पृ प्रीतिबलनयोः' बलोपलक्षितं व्यापारं कृतवन्तः, ज्ञातवन्तस्ते देवा अस्याग्नेर्लोकत्रयस्थितास्तनूः, एतेन यत्ते सोम इत्यादिमन्त्रेण आप्नुवन् प्राप्तवन्तः । स कृत्स्नोऽविकलो भवति देवानां हविरभवत्।तथा सति य एतेन मन्त्रेणाभिमृशति स कृत्स्नः सर्व एव देवानां हविर्भवति ।

अध्यात्मपक्षे – हे सोम साम्बसदाशिव, यत्ते दिवि द्युलोके सूर्यात्मकं ज्योतिः, यत्पृथिव्यामग्न्यात्मकं ज्योतिः, यच्चोरौ विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे वाय्वात्मकं ज्योतिः, तेन सर्वरूपेण अस्मै यजमानाय स्वकर्मसमर्पणेन तवाराधकाय तस्य राये भौतिकायाध्यात्मिकाय ज्ञानवैराग्यविवेकरूपाय उरु विस्तीर्णमनुग्रहं कृधि कुरु । दात्रे त्वदर्थं सर्वस्वसमर्पयित्रे यजमानाय अधि अधिकं वोचः प्रभूताभिर्वाग्भिराश्वासयेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु – 'हे सोम सभापते, ते यद् दिवि पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे ज्योतिरिव राज्यकर्मास्ति, तेन त्वं दात्रेऽस्मै यजमानायोरु कृधि रायेऽधि वोचश्च' इति, तच्च परस्परं विप्रतिषिद्धमेव, राज्यकर्मणे दिवि सूर्ये विस्तृतेऽन्तरिक्षे सत्त्वे मानाभावात् । मूले तु ज्योतिःपदमस्ति । तस्य ज्योतिरिवेत्यर्थकरणं गौणार्थाश्रयणमेव । तत्रापि राज्यकर्मणो रूपराहित्येन ज्योतिस्तुल्यत्वमपि न सम्भवत्येव । तेन ज्योतिषा दात्रे परोपकारकर्त्रे यजमानाय उरु कृधि अत्यन्तमुपकारं कुरु' इति चासङ्गतम्, 'दात्रे' इत्यनेनैव तदर्थसिद्धौ यजमानपदवैयर्थ्यात्, उरुपदस्यात्यन्तोपकारार्थत्वे मानाभावाच्च । एवमेव 'धनवृद्धये अधिवोचः अधिकराज्यप्रबन्धं कुरु' इत्यपि निर्मूलमेव, अधिपूर्वस्य वचेस्तथार्थत्वे मानाभावात्।तादृशार्थकरणे स्वेच्छाचारित्वमेव । यदुक्तम् – 'मन्त्रोऽयं शतपथे १४-१५ योर्व्याख्यातः' इति तदप्यसङ्गतम्, तयोरस्यासम्बद्धत्वात् ॥३३॥

श्वा॒त्रा स्थ॑ वृत्र॒तुरो॒ राधो॑गूर्ता अ॒मृत॑स्य॒ पत्नीः॑ ।
ता दे॑वीर्देव॒त्रेमं य॒ज्ञं न॑य॒तोप॑हूताः॒ सोम॑स्य पिबत ॥३४॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है – हे साम्ब सदाशिव, द्युलोक में आपकी जो सूर्यरूपी ज्योति है, पृथिवी में आपकी अग्निरूपी ज्योति है तथा विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में वायुरूपी ज्योति है, उस अपने सम्पूर्ण रूप से सर्वस्व समर्पण के द्वारा आराधना करने वाले यजमान के लिये भौतिक, आध्यात्मिक ज्ञान, वैराग्य, विवेक प्राप्त्यर्थ महान् अनुग्रह करें । आपके लिये सर्वस्व समर्पित करने वाले यजमान के लिये प्रभूत वचनों से आश्वासन प्रदान करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ परस्परविरुद्ध ही है । राज्य कर्म के लिये द्युलोक, सूर्य, विस्तृत अन्तरिक्ष के होने में कोई प्रमाण नहीं है । मूल मन्त्र में ज्योति शब्द है । उसका अर्थ 'ज्योति के समान' करना गौण अर्थ का अवलम्बन ही है । 'उरु' शब्द का 'अत्यन्त उपकार' अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं है । इसी प्रकार 'अधिक राज्यप्रबन्ध करो' यह भी निर्मूल है । अधि उपसर्ग सहित वच् धातु का अर्थ इस प्रकार करने में कोई प्रमाण नहीं है । यह स्वेच्छाचारिता ही है ॥३३॥

मन्त्रार्थ – हे जलदेवता, तुम शीघ्र कार्यकारी शत्रुहृदय के मर्दनकारी और इष्ट कामना को देने वाले हो, सोम के पालक हो । हे सम्पूर्ण निग्राभ्य देवताओं, तुम इस यज्ञ के देवताओं के साथ यहाँ आओ, अनुज्ञा प्राप्त कर सोम रस का पान करो ॥३४॥

'अथ निग्राभ्याभिरुपसृजति' (श.३।९।४।१४) । उपसृजतीत्यस्य मिश्रयेदित्यर्थः । मिश्रणमाख्यायिकामुखेन प्रशंसति – आपो ह वै वृत्रं जघ्नुः, तेनैवैतद्वीर्येण केनाप्यवध्यो वृत्रोऽस्माभिर्हत इत्येवमात्मकेन एतद् इदानीमप्यापः स्यन्दन्ते वेगेन गच्छन्ति । तस्मात् स्यन्दमाना एना न किञ्चिदपि वस्तु लोष्टकाष्ठपाषाणादिकं प्रतिधारयति प्रतिबध्नाति, किन्तु ता आपः स्वमेव वशं स्वतन्त्रं यथा स्यात्तथा चेरुरगच्छन् । स्वातन्त्र्ये कारणमाह – कस्मै तु वयं तिष्ठेमहि याभिरस्माभिर्वृत्रो हतः । सर्वस्यापि लोकस्य घातको वृत्र आसीत्, सोऽप्यस्माभिर्हतः, अतो वयं कस्मै अन्यस्मै तिष्ठेमहि आत्मानं प्रकाशयेमेति । इत्थमपां स्वातन्त्र्यं प्रतिपाद्य तासामिन्द्राधीनत्वं प्रतिपादयति – 'सर्वं वा इदमिन्द्राय तस्थानमासेति' (श.३।९।४।१४) । तस्थानमिति तिष्ठतेः कानचि रूपम्, (पा.सू.३।२।१०५-१०६) इति सूत्राभ्यां रूपसिद्धिः । योऽयं दुर्वहत्वेन प्रसिद्धो वायुः सोऽपीन्द्राधीनः स्थितवान्, किमु वक्तव्यं सर्वमेतदिन्द्राधीनं स्थितमिति । 'स इन्द्रोऽब्रवीत् । सर्वं वै म इदं तस्थानं यदिदं किञ्च तिष्ठध्वमेव म इति ता होचुः किं नस्ततः स्यादिति प्रथमभक्ष एव वः सोमस्य राज्ञ इति तथेति ता अस्मा अतिष्ठन्त तास्तस्थाना उरसि न्यगृह्णीत तद्यदेना उरसि न्यगृह्णीत तस्मान्निग्राभ्या नाम तथैवैना एतद्यजमान उरसि निगृह्णीते स आसामेष प्रथमभक्षः सोमस्य राज्ञो यन्निग्राह्याभिरुपसृजति' (श.३।९।४।१५) । स इन्द्र एवमब्रवीत् – यत्किञ्च इदं भूतजातं तन्मदर्थं स्थितम्, अतो यूयमपि तिष्ठध्वं न गच्छत । तथोक्ता आपो वयं तिष्ठेमहि, नोऽस्माकं ततः किं लब्धं स्यादित्यब्रुवन् । अथ तासामिन्द्रः सोमराज्ञः प्रथमभक्षम् इतरेभ्यो देवेभ्यः प्राग् अभिषवकाले एष वोऽस्त्विति प्रादात् । ता अस्तु तथेत्यङ्गीकृत्य इन्द्रायातिष्ठन्त । प्रसङ्गान्निग्राभ्याशब्दनिर्वचनमाह – तास्तस्थाना उरसि न्यगृह्णीत । इन्द्रेणोरसि निगृहीतत्वान्निग्राभ्या इति तासां नाम सम्पन्नम् । कर्मणि कृत्यः । तथैवैता एतद्यजमान उरसि निगृह्णीत इत्यत्र निगृह्णीयादिति विधिरुन्नेयः । न चात्र प्रथमभक्षो न श्रूयते ? इत्याशङ्क्याभिषवकाले ताभिः संसर्ग एव भक्ष इत्याह – स आसामेष प्रथमभक्षः सोमस्य राज्ञो यन्निग्राह्याभिरुपसृजति । तदुक्तं कात्यायनेनापि – 'निग्राभ्यासु वाचयत्युरस्येना निगृह्य निग्राभ्या स्थेति' (का.श्रौ.९।४।६) । यजमानः स्वकीयोरसि निग्राभ्या निधाय आलभ्य च निग्राभ्या स्थेति मन्त्रं पठेत्, अध्वर्युश्च पाठयेत् । 'श्वात्रा स्थेत्यासिञ्चति निग्राभ्या इति' (का.श्रौ.९।४।१०) । अध्वर्युः प्रक्षिप्तेषु सोमेषु निग्राभ्या अपो होतृचमसेन प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः ।

पथ्याबृहती । तृतीयो द्वादशार्णोऽन्ये त्रयोऽष्टार्णाः पादा यस्याः सा पथ्याबृहती । इयं द्व्यधिका । हे आपः, देवीर्देव्यः । यूयं कीदृश्यः ? श्वात्राः । श्वात्रमिति क्षिप्रनाम । क्षिप्रं कार्यकारिण्यः शिवा वृत्रतुरः, तूर्वतिर्वधकर्मा, वृत्रं दैत्यं तूर्वन्ति हिंसन्तीति वृत्रतुरः, क्विपि 'राल्लोपः' (पा.सू.६।४।२१) इति वलोपः । राधोगूर्ता राधो धनं गुरन्ते उद्यच्छन्ति ददतीति राधोगूर्ताः । 'गुरी उद्यमने' इत्यस्मात् 'न सन्निषत्' (पा.सू.८।२।६१) इत्यादिना कर्तरि निष्ठा नत्वाभावश्च निपात्यते । अमृतस्य सोमस्य पत्नीः पालयित्र्यः । तथाविधा यूयं देवत्रा देवान् प्रतीमं यज्ञं नयत प्रापयत । किञ्च, यूयम् उपहूता अनुज्ञाताः सत्यः सोमस्य सोमं पिबत । अयमेवाभिप्रायः शतपथे व्यक्तः – 'स

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (९।३।११, ९।४।१०) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'श्वात्रा स्थ' इस ऋचा से अध्वर्यु निग्राभ्या संज्ञक जल से सोम का उपसेचन करता है । शतपथ ब्राह्मण में आख्यायिका के द्वारा याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्या उपदिष्ट है ।

उपसृजति । श्वात्रा स्थ वृत्रतुर इति शिवा ह्यापस्तस्मादाह श्वात्रा स्थेति वृत्रतुर इति वृत्रᳪ ह्येता अघ्नन् राधो गूर्ता अमृतस्य पत्नीरित्यमृता ह्यापस्ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतेति नात्र तिरोहितमिवास्त्युपहूताः सोमस्य पिबतेति तदुपहूता एव प्रथमभक्षᳪ सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति' (श.३।९।४।१६) । श्वात्रमिति क्षिप्रनाम (निरु.५।३) । यदि ह्यापो अमृता न भवेयुस्तदा तादृशीनामपां स्वामित्वं नोपपद्येतेत्यनया प्रसिद्ध्या अमृता ह्याप इति ब्राह्मणम् ।

अध्यात्मपक्षे – हे आपः ! पूर्वोक्ता देवताः,यूयं देव्यो द्योतमाना श्वात्रा भक्तानुग्रहार्थं शीघ्रगामिन्यो वृत्रतुरं वृत्रमाच्छादकमज्ञानप्रमादकरं लोभाहङ्कारादिकं तुर्वन्ति हिंसन्तीति वृत्रतुरः, राधोगूर्ता राधो धनमुद्गिरन्तीति तथोक्ताः, अमृतस्य अमृतत्वस्य पालयित्र्यः, तथाविधा यूयम् इममुपासनालक्षणं यज्ञं,देवत्रा तांस्तान् देवान् प्रति नयत । देवानां कृपाशक्त्यैव तेभ्यः समर्पितं वस्तु तान् प्रति प्राप्नोति । तथा उपहूता भक्तैराहूताः सत्यः सोमस्यास्माभिः समर्पितं सोमं प्रेमरसपरिप्लुतं विविधं नैवेद्यं पिबत स्वीकुरुतेत्यर्थः । 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।' (भ.गी.९।२६) इति श्रीमद्भगवद्गीतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु – 'हे देवीर्देव्यः पत्न्यः स्त्रियः, यूयं वृत्रतुर इव राधोगूर्ता एव सत्यः पत्नीर्यज्ञसहकारिण्यः श्वात्रा स्थ ता देवत्रेमं यज्ञं नयत । उपहूता इवामृतस्य सोमस्यातिस्वादिष्ठं सोमाद्योषधिरसं पिबत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाचकलुप्तोपमालङ्कारस्य प्रकृते निर्मूलत्वात् । स्त्रियः कथं धनवर्धयित्र्यः ? दृष्टान्तभूता विद्युतश्च कथं धनवर्धिका इत्यपि वक्तव्यमासीत् । यज्ञशब्दस्य सिद्धिरर्थ इत्यपि निर्मूलम् । किञ्च, सोमपानाय स्त्रियः पुरुषैराहूताः पिबन्ति ? किं क्वचिदेवं विधानमुपलब्धमायुष्मता ? यदि दैनन्दिनकृत्यवर्णनमिष्टं स्यात्तदा भोजनादिनिर्माणवस्त्रप्रक्षालनादिकमपि वर्णनीयमासीत् । कथं चाज्ञातज्ञापके वेदे तद्वर्णनं स्यात् ? ।।३४।।

मा भेर्मा संविक्था ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम् । पाप्मा हतो न सोमः ।।३५।।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है – हे व्यापनशील जल देवताओं, आप लोग विद्योतमान, भक्त पर अनुग्रह करने के लिये शीघ्रगामी, आच्छादक अज्ञान तथा प्रमाद के कारण लोभ, अहंकार आदि को नष्ट करने वाले, धन उगलने वाले एवं अमृतत्व के रक्षक हैं । आप इस उपासना रूपी यज्ञ को उन-उन देवताओं के लिये ले जाइये । देवताओं की कृपाशक्ति से ही उनके लिये समर्पित वस्तु उनके पास पहुँचती है । भक्तों के द्वारा आहूत आप लोग हमारे द्वारा समर्पित प्रेमरस से परिप्लुत नैवेद्य को स्वीकार कीजिये ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार के लिये कोई मूल प्रमाण न होने के कारण अग्राह्यता है । दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत विद्युत् कैसे धन को बढाती हैं, यह भी कहना चाहिये था । यज्ञ शब्द का 'सिद्धि' अर्थ करना भी अप्रामाणिक है । यदि इस मन्त्र में प्रतिदिन के कार्य का ही वर्णन करना अभिप्रेत होता, तो खाना बनाने तथा कपड़ा धोने का भी वर्णन होना चाहिये था । अज्ञात पदार्थ का ज्ञान कराने वाले वेद में वह वर्णन कैसे हो सकता है ।।३४।।

मन्त्रार्थ – हे सोमसमूह, तुम आघात से भयभीत न हो, कम्पित न हो, रस को धारण करो । हे द्यावापृथिवी, दृढ़ता को प्राप्त हुए इस उपांशु सवन के आघात को और सोमसवन को दृढ़ करो । इस सोम के रस में वृद्धि कर बल प्रदान करो । इस वज्राघात से यजमान के सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं और सोम को कोई हानि नहीं पहुँचती, किन्तु वह संस्कारयुक्त हो जाता है ।।३५।।

'अथ प्रहरिष्यन् । यं द्विष्यात्तं मनसा ध्यायेदमुष्मा अहं प्रहरामि न तुभ्यमिति यो न्वेवेमं मानुषं ब्राह्मणꣳ हन्ति तं न्वेव परिचक्षतेऽथ किं यएतं देवो हि सोमो घ्नन्ति वा एनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तमेतेन घ्नन्ति तथा त उदेति तथा सञ्जीवति तथानेनस्यं भवति यद्यु न द्विष्यादपि तृणमेव मनसा ध्यायेत्तथोऽनेनस्यं भवति' (श.३।९।४।१७) । अथ प्रहरिष्यन् यं द्विष्यात्तं मनसा ध्यायेत् । अत्र द्वेष्टुर्नाम मनसा गृह्णीयात् । प्रहरामि प्रक्षिपामि, पाषाणरूपं वज्रमिति शेषः । हे सोम, न तुभ्यमिति । ननु नैवं प्रहरणं स्यात्तदा को बाध इति चेत्तत्राह – यो न्वेवेमं मानुषं ब्राह्मणमिति । 'मा त्वं भैषीर्मा संविक्था अमुष्मा अहं प्रहरामि न तुभ्यमित्येवैतदाह....धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथामितीमे एवैतत्फलके आहुरित्यु हैक आहुः किं नु तत्र योऽप्येते फलके भिन्द्यादिमे ह वै द्यावा-पृथिवी एतस्माद्वज्रादुद्यतात् सꣳ रेजेते तदाभ्यामेवैनमेतद् द्यावापृथिवीभ्याꣳ शमयति तथेमे शान्तो न हिनस्त्यूर्जं दधाथामि....त्येवैतदाह पाप्मा हतो न सोम इति तदस्य सर्वं पाप्मानꣳ हन्ति' (श.३।९।४।१८) । मा भेरिति पदं व्याकुर्वन् द्वेष्यभावनायां यत्प्रयोजनं प्रागुक्तं तदेव मा भेरिति मन्त्रभागस्यापि तात्पर्यम् । मा त्वं भैषीर्मा संविक्था अमुष्मै अहं प्रहरामि न तुभ्यमित्येवैतदाह, ऊर्क्शब्दस्य अन्ननामसु पाठात् (निघ.२।७।१५) । अत्र अन्नसारो रसो विवक्षित इति व्याचष्टे – रसं धत्स्वेत्येवैतदाह । धिषणे विड्वी इति मन्त्रभागस्य धिषणफलके अर्थ इति केषाञ्चिन्मतमपाकरोति – इमे एवैतत्फलके आहुरित्यु हैक इति । एतद् एतस्मिन् वाक्ये इमे सोमाधारभूते फलके इत्याहुः । तत्र यद्येते च द्वे स्यातां तर्हि कदाचिद् भग्ने स्याताम्, तदा तत्र किं नु स्यादिति । तत्र स्वमतमाह – 'इमे ह वै द्यावापृथिवी' इत्यादिना । अत्र धिषणे अनूद्य तयोर्दार्ढ्यमाशास्यते । तच्च सति शैथिल्यकारणे उपपद्यते, अतस्तत्प्रसक्तिमाह – एतस्माद् वज्राद् उद्यतात् संरेजेते वज्रवद्धिंसकाद् अभिषवायोद्यतशस्त्रसकाशाद् इमे द्यावापृथिवी संरेजेते कम्पेते । द्यावापृथिवीभ्यामिति चतुर्थीद्विवचनम् । एतद् इदानीमाभ्यामर्थाय एनं यज्ञं शमयति शान्तं करोति, यथाऽसौ उत्सेकावक्षेपाभ्यां द्यावापृथिव्यौ न हिनस्ति तथा करोति । तथा सति धिषणे वीड्वी सती वीडयेथाम् इत्यभिधाने सति शान्तोऽसौ यज्ञ इति इमे द्यावापृथिव्यौ न हिनस्ति, प्रोत्साहनेन तयोर्दृढत्वस्य प्राप्तत्वात् । एवमूर्गर्थवादः 'पाप्मा हतो न सोमः' इति । तदस्य सर्वं पाप्मानं हन्तीत्यार्थवादिकं फलं मा मां सन्तासमिति च देवताभूतस्य सोमाभिषवरूपो वधोऽध्वर्योरेव सम्भावित इति तस्यैव मन्तव्यम् ।

मन्त्रार्थस्तु – हे सोम, त्वं मा भैः मा भैषीः, मा संविथाः कम्पनं मा कृथाः, 'ओविजी भयचलनयोः' इति धातुः सम्पूर्वकः कम्पनार्थः । यतो देवतातर्पणार्थमहं त्वामभिषुणोमि, अत उर्जं रसं धत्स्व धेहि । एवं सोमं सम्बोध्य द्यावापृथिव्यौ सम्बोधयति – हे धिषणे द्यावापृथिव्यौ, युवां वीड्वी सती, वीलुशब्दो दृढवचनः, अस्माद् ग्राव्ण उद्यताद् दृढे सत्यौ आत्मानं वीडयेथां दृढीकुरुतम् । किञ्च, ऊर्जं रसं दधाथाम् । अनेनैवं वज्रसंस्तुतेन ग्राव्णा यजमानस्य पाप्मा हतो न सोमो हतः ।

अध्यात्मपक्षे – तत्तदङ्गोपाङ्गसहिताय भगवते परमात्मने संक्रियमाणः सोमो घृताज्यपरिप्लुतो व्यञ्जनादिः सम्बोध्यते – हे सोम, मा भैर्मा च संविक्थाः कण्डनपेषणपाचनादिभ्यो भयं कम्पनं च मा कृथाः । धिषवणे

भाष्यसार – शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'मा भेः' इत्यादि कण्डिका से सोम के रस को प्राप्त करने के लिये उस पर प्रहार किया जाता है । याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्या भी शतपथ श्रुति में उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – अंग, उपांगों से समन्वित भगवान् परमात्मा के लिये संस्कृत किये जाने वाले घृतादि से परिप्लुत नैवेद्य को सम्बोधित किया गया है । हे नैवेद्य, प्रहार, पेषण तथा पकाने आदि की क्रियाओं से भयभीत एवं कम्पित मत

द्यावापृथिव्यौ तत्स्थानीयौ दृषदुपलस्थाल्यौ च सम्बोद्ध्योच्येते – हे धिषवणे, युवां वीड्वी दृढे सत्यौ ऊर्जं रसं देवतर्पणाय दधाथां धारयेथाम्, आत्मानं दृढे कुरुतम् । पेषणकण्डनादिभिः पाप्मा हत उपासकानाम्, न सोमादिर्हतः । देवतार्थं सोमबीजाद्युपघातेनापि पाप्मैव हन्यते, न सोमबीजाद्युपघातो भवतीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु – हे स्त्रि, त्वं वीड्वी बलवती सती (निघ०२।९) पत्युः सकाशाद् मा मैर्मा संविक्था ऊर्जं स्वशरीरात्मबलं पराक्रमं वा धत्स्व । हे पुरुष, त्वमप्येवं भव, युवां धिषवणे इवोर्जं सन्तानादिभ्यो बलं पराक्रमं वा दधाथां वीडयेथाम् । एवमनुवर्तिनोर्युवयोः पाप्मा हतो भवतु सोमो न चन्द्र इवाह्लादककान्त्यादिवृन्दः प्रकाशितो भवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रीपुंसयोः सम्बोधने मानाभावात्, स्त्रियाश्च पत्युः सकाशात् कम्पनाद्यसम्भवाच्च । इवादिकल्पनमपि निर्मूलमेव ॥३५॥

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिश आधावन्तु । अम्ब निष्पर समरीर्विदाम् ॥३६॥

'अथ यन्निग्राभमुपैति ।....स उपैति । प्रागुपागुदगधरेति'(श.३।९।४।२०-२१) 'प्रतिवर्गं निग्राभं वाचयति होतृचमसेऽल्पान् शूंनवधाय प्रागपागिति' (का.श्रौ.९।४।१७) । प्रतिप्रहारवर्गं होतृचमसमध्येऽल्पानंशून्निधाय प्रागपागिति निग्राभसंज्ञं मन्त्रं यजमानं वाचयेत् । अष्टप्रहारात्मक एको वर्गः । एकादशप्रहारात्मको द्वितीयः । द्वादशप्रहारात्मकस्तृतीयः । द्वाभ्यामृग्भ्यामुष्णिग्बृहतीभ्यां निग्राभं वाचयति । सोमदेवत्योष्णिग् द्वितीया त्वैन्द्री । यत्र वा एषोऽग्रे देवानाᳬ हविर्बभूव तद्धेमा दिशोऽभिदध्यावाभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना स स्पर्शयति तमेतद्देवा आभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समस्पर्शयन् यन्निग्राभमुपायंस्त तथा एवैनमेष एतदाभिर्मिथुनेन धाम्ना सᳬ स्पर्शयति यन्निग्राभमुपैति' यत्र काले एषोऽग्रे सोमो देवानां हविर्बभूव तत्तदा इमा दिशोऽभिदध्यौ । अभिध्यानं चेदं मिथुनविषयम् । तत्प्रकारमाह – आभिर्दिग्भिर्मिथुनेन तद्योगेन प्रियेण दिशामभिमतेन धाम्ना मम शरीरेण संस्पृशेयेति । यद्वा दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समस्पर्शयन् संयोगमकारयन् । निग्राभोपायनमेव संस्पर्शः । तथा एवैनमिति दार्ष्टान्तिकवाक्यं दृष्टान्तवद् व्याख्येयम् ।

होना। द्यावापृथिवी तथा तत्स्थानीय दृषद्, उपल (सिल तथा लोढ़ी) को सम्बोधित किया जाता है कि तुम दोनों दृढ़ होती हुई देवताओं की तृप्ति के लिये रस का धारण करो तथा स्वयं को दृढ़ करो । इस पीसने आदि के द्वारा आराधकों का पाप नष्ट हो गया । सोम आदि द्रव्य नहीं हिंसित हुए । देवताओं के लिये सोम, बीज आदि को कूटने पर भी पाप ही नष्ट होता है, सोम, बीज आदि की हिंसा नहीं होती, यह इस मन्त्र का तात्पर्य है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ, स्त्री तथा पुरुष को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण, अग्राह्य है । पति से स्त्री का कम्पित आदि होना अव्यावहारिक, असम्भव है । 'इव' आदि शब्दों के द्वारा कल्पना करना भी अप्रामाणिक ही है ॥३५॥

मन्त्रार्थ – पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि सम्पूर्ण दिशाएँ सब ओर से तुम्हारे संमुख धावमान हों । हे माता, अपने भावों से सोम को पूर्ण करो, सारी प्रजा इस यज्ञ से परिचित हो जाय ॥३६॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।१८) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'प्रागपाक्' इस 'निग्राभ' नामक मन्त्र का पाठ अध्वर्यु यजमान से कराता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है ।

मन्त्रार्थस्तु – हे सोम त्वा त्वां प्राक् प्रागञ्चना अपाग् अपागञ्चना दक्षिणाः पश्चिमाश्च उदक् उदगञ्चना उत्तरा अधराक् अधराञ्चनाः, अपाञ्चतीत्यपाक् प्रतीची, अधराग् उदक् प्रतियोगिनी दक्षिणा दिक्। प्रागादयो दिशस्तदभिमानिन्यो देवताः सर्वतः सर्वस्मात् स्वस्वप्रदेशाद् आधावन्तु आभिमुख्येनागच्छन्तु परस्परं भाषमाणाः। किं भाषमाणाः ? हे अम्ब हे योषे, निष्पर स्वैः स्वैर्भोगैः सोमस्य कामं पूरयेति वदन्त्यः। निष्परेति 'पॄ पालनपूरणयोः' विकरणव्यत्यये लोटि रूपम्। किञ्च, एवंविधं सोममरीरागच्छन्त्यो दिशः संविदां संविदन्तु सम्यग्जानन्तु, यद्वा अर्यः प्रजाः पुत्रादिरूपाः संविदां विप्रकृष्टमपि सोमं विदन्ताम्। यद्वा किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह – अरीः अर्यः प्रजाः। इयर्ति पुत्रादिप्रवाहरूपेण गच्छन्तीत्यर्यः प्रजाः। उक्तमर्थं व्यवहारप्रसिद्ध्या समर्थयति – तस्मात् पितुर्विदूरमिव दूरदेशेऽपि प्रजा भवन्ति ताः सञ्जानत एव। संविदां संविदताम्, 'प्रजा वा अरीः' (श.३।९।४।२१) इति श्रुतेः। सोमसमागमं नानादिग्वासिनो जना जानन्त्विति भाषमाणास्त्वामागच्छन्तु। 'विद् ज्ञाने' अस्माल्लटि तङि प्रथमाबहुवचने 'आत्मनेपदेष्वनतः' (पा.सू.७।१।५) इति झकारस्याति तकारलोपे सवर्णदीर्घे विदामिति रूपम्। 'समो गम' (पा.सू.१।३।२९) इत्यादिना तङ्। तदेतद् ब्राह्मणं व्याचष्टे – दिश आधावन्त्विति तदेनमाभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना सꣳस्पर्शयत्यम्ब निष्पर समरीर्विदामिति योषा वा अम्बा योषा दिशस्तस्मादाहाम्ब निष्परेति समरीर्विदामिति प्रजा वा अरीः सम्प्रजा जानतामित्येवैतदाह तस्माद्या अपि विदूरमिव प्रजा भवन्ति समेव ता जानते' (श.३।९।४।२१)।

अध्यात्मपक्षे – हे साधक, प्रागादयः सर्वा दिशस्तदभिमानिन्यस्तद्वासिन्यश्च प्रजास्त्वा हे अम्ब निष्पर एतस्य साधकस्य सर्वान् कामान् पूरयेति वदन्त्य आधावन्तु आभिमुख्येनागच्छन्तु। अर्यः सर्वाः प्रजाश्च त्वां संविदां संविदन्तु। यस्य भगवदुपास्तिनिष्ठा सुदृढा भवति, सुरादयस्तत्कामान् पूरयन्ति, सर्वाश्च प्रजास्तं संजानन्ति। 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' (भा.पु.५।१८।१२) इति श्रीमद्भागवतवचनात्।

दयानन्दस्तु – 'हे अम्ब, या अरीः सुखप्रापिकाः प्रजास्ते प्रागपागुदगधराक् सर्वतो दिशस्त्वानुधावन्तु, तास्त्वं निष्पर नितरां रक्ष, ता अपि त्वा संविदां जानन्तु' इति, तदपि श्रुतिविरुद्धमेव, श्रुतौ योषासामान्यस्याम्बपदार्थत्वोक्तेः। किञ्चात्र प्रागादिदिशामाधावनमुक्तं न प्रजानाम्, प्रथमोपस्थितसम्बन्धत्यागे मानाभावात्। श्रुतिसूत्रानुसारेण तु सोमोऽत्र सम्बोधनीयः ॥३६॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है – हे साधक, पूर्व आदि सभी दिशाएँ, तदधिष्ठात्री अथवा उनमें निवास करने वाली प्रजाएं 'हे जननि, इस उपासक की सभी कामनाएं पूरी करो' इस प्रकार आह्वान करती हुई तुम्हारे अभिमुख आवें। समस्त प्रजाएं तुमको अनुमत करें। श्रीमद्भागवत (५।१८।१२) के वचन के अनुसार जिसकी भगवदुपासना तथा निष्ठा सुदृढ़ होती है, उसकी सम्पूर्ण कामनाओं को देवगण पूर्ण करते हैं तथा समस्त प्रजाएं उसको भली भांति जानती हैं।

स्वामी दयानन्द का अर्थ श्रुतिविरुद्ध ही है, क्योंकि श्रुति में स्त्रीमात्र को 'अम्बा' शब्द से कहा गया है। इसी तरह मन्त्र में पूर्व आदि दिशाओं का धावन कहा गया है, प्रजाओं का नहीं। पूर्व से ही विद्यमान पदार्थ से सम्बन्ध छोड़ने में कोई प्रमाण नहीं है। श्रुति तथा सूत्रवचनों के अनुसार तो यहाँ सोम को सम्बोधित करना चाहिये ॥३६॥

त्वम॒ङ्ग प्रशं॑सिषो दे॒वः शं॑विष्ठ॒ मर्त्य॑म् ।
न त्वद॒न्यो म॑घवन्नस्ति म॒र्डितेन्द्र ब्रवी॑मि ते॒ वचः॑ ॥३७॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥

'अथ यस्मात् सोमो नाम' (श.३।९।४।२२) इत्यादि सोमस्य प्रसङ्गात्तन्नामनिर्वचनम् – 'यत्र वा एषोऽग्रे देवानां हविर्बभूव तद्धेक्षाञ्चक्रे मैव सर्वेणेवात्मना देवानां हविर्बभूवमिति तस्य जुष्टतमा तनूरास तामपनिदधे अपगमय्यान्यत्र स्थापितवान् । तद्वै देवा अस्पृण्वत ज्ञातवन्तः । ते होचुः – उपैवैतां प्रबृहस्व एतामपसारितां तनुमुपप्रबृहस्व तव समीपे प्रापय । एतया तन्वा सहैव नो हविरेधि भव । एवमुक्तः सोमस्तां दूरतर इवात्यन्तं दूरदेश एवोपाबृहत उपागमयत् । किं कुर्वन् ? स्वा वै म एषेति वदन् एषा तनूर्मे स्वकीया आत्मीयेति वदन् । स्वा मे इत्युक्तत्वात् सोमनाम सम्पन्नम् । पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः । 'अथ यस्माद्यज्ञो नाम' (श.३।९।४।२३) इत्यादिना यज्ञनामनिर्वचनम् । यस्मात् प्रवृत्तिनिमित्ताद् यज्ञस्य यज्ञ इति नामाभूत्, तदप्याह – अभिषवेन हतमेनं सोमं तन्वते सम्भरणग्रहणहोमादिना विस्तारयन्तीत्यर्थः । स सोमस्तायमानः सन् जायते यत्परम्परया आहुतिभावं गच्छन् जायते पुनः पुनः सम्भवति, अतो यन् जायत इति यञ्जः । अतो वस्तुतो यञ्ज इति तस्य नाम तद् यज्ञ इति परोक्षेण व्यवहरति । 'तत्रैतामपि वाचमुवाद त्वमङ्ग' (श.३।९।४।२४) उक्तार्थसंवादत्वेन सोमप्रार्थनारूपं मन्त्रसंवादमाह – तत्र तस्मिन्नभिषवकाले एतां प्रार्थनारूपां वाचमुवाद – हे शविष्ठ अतिशयेन बलवन् अङ्ग हे इन्द्र देव, त्वं मर्त्यं मरणधर्माणं मां सोमं प्रशंसिषः प्रशस्तं कुरु, आहुत्यात्मना विस्तारय, देवात्मना पुनरुत्पादयेत्यर्थः । 'शंसु स्तुतौ' 'सिब्बहुलं लेटि' (पा.सू.३।१।३४) इति सिप आर्धधातुकत्वादिट्, 'इतश्च' (पा.सू.३।४।९७) इतीकारलोपः, 'लेटोऽडाटौ' (पा.सू.३।४।९४) इत्यडागमः । नन्वन्योऽपि देवोऽस्ति, किमिन्द्रप्रार्थनयेति तत्राह – हे मघवन्, त्वत्तोऽन्यो मर्डिता सुखयिता नास्ति, यत एवमतस्ते तुभ्यं वचः प्रशंसा(प्रार्थना)रूपं ब्रवीमि । यद्वा हे इन्द्र, यतस्त्वम् अङ्ग, अङ्गेति क्षिप्रनाम । क्षिप्रं प्रशंसिषः प्रशंससि देवः सन्, शविष्ठं बलिष्ठं मर्त्यं मनुष्यं यजमानं प्रशंससि, अतस्त्वत्तोऽन्यो हे मघवन्, नास्ति न विद्यते मर्डिता सुखयिता, 'मृड सुखने', यजमानानाम् । इन्द्रं ब्रवीमि ते तुभ्यमत्यद्भुतं वचो वचनम् ।

मन्त्रार्थ – हे सर्वत्र व्याप्त अतिशय बलवान् सुखकारी धनवान् परमैश्वर्य सम्पन्न परमात्मन्, आप इस मनुष्य यजमान को प्रशंसा दिलाते हो । आपके सिवाय दूसरा कोई सुख देने वाला नहीं है । केवल आप ही सुखरूप हैं, यह बात मैं आपसे कहता हूँ ॥३७॥

भाष्यसार – 'त्वमङ्ग' इस ऋचा का भी याज्ञिक विनियोग पूर्व ऋचा की भांति ही यजमान को वाचन कराने हेतु किया गया है । शतपथ श्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुरूप व्याख्या वर्णित है ।

अध्यात्मपक्षे – हे इन्द्र परमैश्वर्यपूर्ण परमेश्वर, हे शविष्ठ अतिशयेन बलवन्निन्द्र, मर्त्यं मनुष्यमप्युपासकं प्रशंससि स्तौषि, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ.गी.४।११) इति प्रतिज्ञानात्, भीष्मयुधिष्ठिरार्जुनादीनां तथैव तत्कर्तृकस्तवनदर्शनात् । हे मघवन् ! आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकसर्वविधधनसम्पन्न, त्वत् त्वत्तः सकाशादन्यो मर्डिता सुखयिता जनानां कोऽपि नास्ति, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै.२।७)इति श्रुतेः । हे इन्द्र, त्वमेव सुखयितेत्येवंरूपं ते त्वदीयं वचो वचनमहं ब्रवीमि । अनुपचारेणाध्यात्मपक्ष एवायं मन्त्रः सामञ्जस्यमश्नुते ।

दयानन्दस्तु – 'हे अङ्ग शविष्ठ मघवन्निन्द्र सभापते, त्वं प्रशंसिषः, न त्वदन्यो मर्डिता देवोऽस्त्यतोऽहं तुभ्यं वचो ब्रवीमि' इति, तदपि न किञ्चित्, देवमघवदादिशब्दानां प्रसिद्धार्थपरत्वे सम्भवति गौणार्थाश्रयणे मानाभावात् । तत्र त्वदन्यो मर्डिता देवो नास्तीत्युक्तिः कथं सङ्गच्छते ? तत्कृतप्रशंसाया अपि किं फलमिति नोक्तम् ॥३७॥

इति वेदार्थपारिजाते वाजसनेयिसंहिताभाष्ये षष्ठोऽध्यायः ॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे परमैश्वर्य से परिपूर्ण परमेश्वर, हे अतिशय बलसम्पन्न, आप अपने मानव उपासक की भी प्रशंसा करते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता (४।११) की प्रतिज्ञा के अनुसार तथा भीष्म, युधिष्ठिर आदि की भगवान् के द्वारा की गई प्रशंसा दृष्टिगोचर होने के कारण यह सिद्ध है । आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक सभी प्रकार के धन से सम्पन्न हे देव, आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी प्राणियों को सुख देने वाला नहीं है । 'आप ही सुख प्रदान करने वाले हैं' इस प्रकार आपका स्तुतिवचन से मैं गुणगान करता हूँ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि देव, मघवा आदि शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ के सम्भव रहने पर उनका गौण अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है । उस अर्थ में 'तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा सुख प्रदान करने वाला देव नहीं है' यह कथन कैसे संगत होगा ? इस प्रशंसा का क्या फल है ? यह भी नहीं बताया गया है ॥३७॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

भाष्यप्रणेतारः
अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

७—१० अध्यायात्मको भागः

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता * वृन्दावनम्

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

[७–१० अध्यायात्मको भागः]

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

सम्पादको भाष्यनिष्कर्षलेखकश्च

पं० व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः

राष्ट्रपतिपुरस्कृतो राष्ट्रियपण्डितः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये

सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचर आचार्यश्च

भाष्यसार-निबन्धकः

श्री श्रीकिशोरमिश्रो वेदाचार्यः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालये संस्कृतविभागे उपाचार्यः

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्

कलकत्ता ० वृन्दावन

श्रीवृन्दावनम् प्रथमसंस्करणम् संवत् २०४९

प्रकाशक :—
श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्
कलकत्ता ● वृन्दावन

●

मूल्य : १३०.०० रूप्यकाणि
एक सौ तीस रुपया

●

अस्य ग्रन्थस्य सर्वेऽधिकारा राजकीयनियमानुसारेण सुरक्षिताः

●

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

१. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
११३ पार्क स्ट्रीट, पोद्दार पोइन्ट, कलकत्ता—७०००१६

२. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५/१८ नारद घाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

४. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेन्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

५. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
ई० ४/२४, ईस्ट पटेल नगर
दिल्ली—११००८

मुद्रक—
केशव मुद्रणालय
खजुरी, वाराणसी

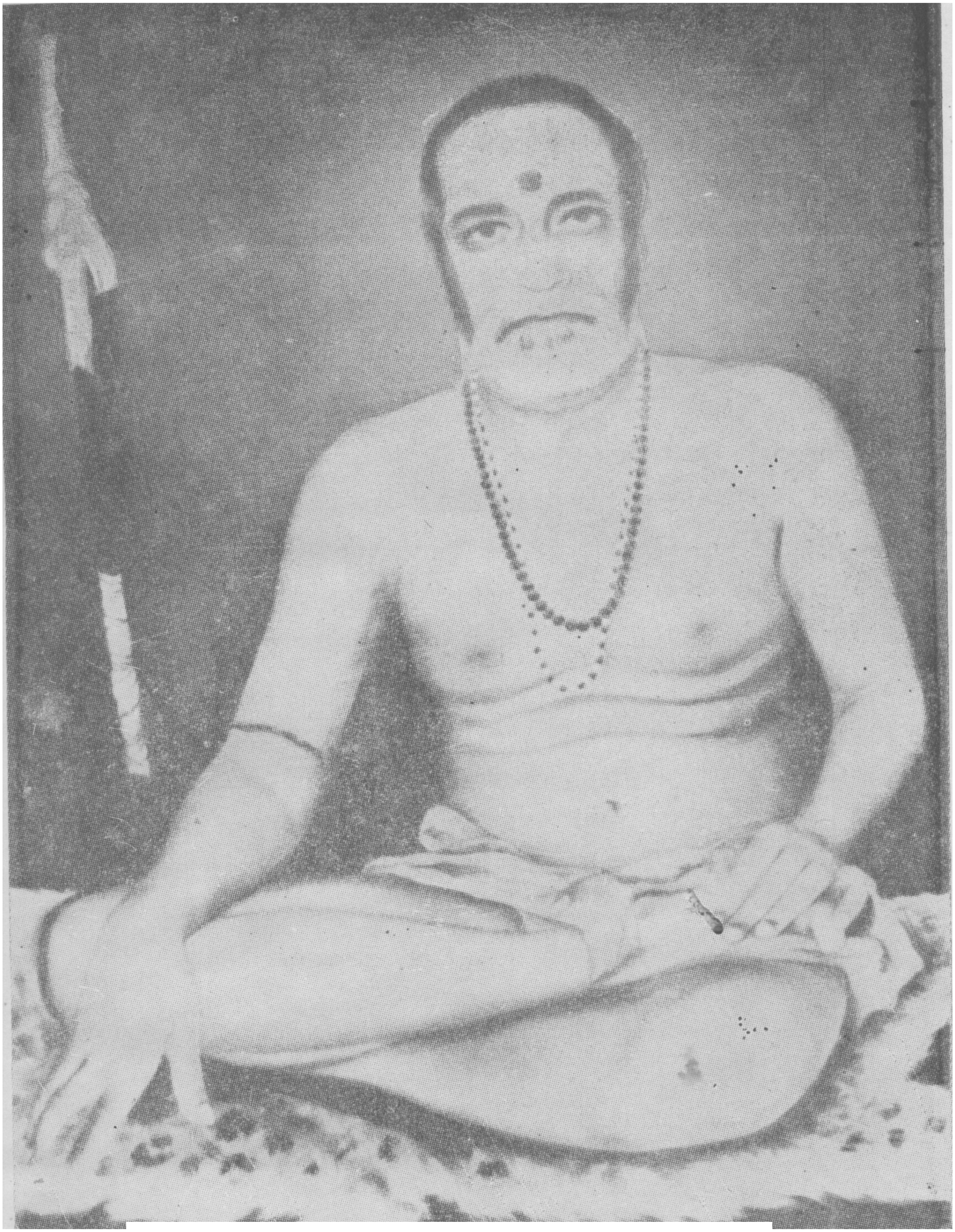

परब्रह्मस्वरूप
धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

॥ श्री हरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित यजुर्वेदसंहिता के ७–१० अध्यायों के भाष्य को मन्त्रार्थ, मन्त्रसार और भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व सबसे पहले पहिले और चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) को भाषानुवाद के साथ हमने प्रकाशित कराया है, यह आप लोगों को विदित ही है।

प्रकाशन कार्य विस्तृत है। कई कठिनाइयों के कारण प्रकाशन का कार्य त्वरित गति से नहीं हो पा रहा था। भगवत्कृपा से अब द्वितीय-तृतीय और चतुर्थ-षष्ठ अध्याय वाले भाग भाष्यसार के साथ तथा ११–१५ अध्याय, १६–२० अध्याय और २१–३० एवं ३१–३९ अध्याय वाले भाग भी भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार आठ जिल्दों में प्रकाशित हुए इस पूरे भाष्य को विज्ञ पाठकों के शुभ करकमलों में समर्पित कर रहे हैं। सौभाग्य से पूर्व पुरीपीठाधीश्वर अनन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी निरंजनदेव तीर्थजी महाराज ने भाष्य के इस भाग पर सिंहावलोकन लिख कर प्रस्तुत भाष्य के गरिमामय अंशों की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

विदित हो, पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज की अद्वितीय कृति देश के जिन सन्तों, विद्वानों उच्च शिक्षाविदों और अधिकारियों के पास पहुँचती है, वे अत्यन्त प्रभावित होकर हम लोगों को शेष भाग शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा सदा देते रहे हैं, आज हम इस पुण्यपावन कार्य को पूरा कर अपने आपको कृतकृत्य समझ रहे हैं। यह सब अनन्तश्री परमश्रद्धास्पद स्वामी जी महाराज के शुभाशीर्वादों का फल है।

भाष्यभूमिका के लेखक, अनुवादक, समय-समय पर उचित परामर्शदाता, प्रूफ पुनरीक्षक, प्रेसकापी साधक, अनुच्छेद (पैराग्राफ) के निर्धारक के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जा को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख प्रस्तुत करने वालों के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहेतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, उन सभी परम सम्माननीय, आत्मीय, पूज्य आचार्य, विद्वन्मूर्धन्यों के चरणकमलों में धन्यवाद और अभिनन्दनस्वरूप नतमस्तक होकर हम सदा ही कृपा की आशा रखते हैं। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं, वे हैं —

(१) अनन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य पूर्व पुरीपीठाधीश्वर स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराज
(२) स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज वर्तमान जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरी पीठाधीश्वर
(३) पण्डित श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारीजी
(४) पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदीजी
(५) पण्डित श्री जनार्दन चतुर्वेदीजी
(६) पण्डित श्री राजवंशीजी
(७) पण्डित श्री श्रीकिशोर मिश्रजी

केशव मुद्रणालय के सुयोग्य प्रबन्धक श्री मोहनलाल जी के तथा सहृदयकर्मचारियों के स्नेहपूर्ण सौजन्यभरे मुद्रणादि कार्यों के सम्पादन को स्मरण कर इन्हें बहुत धन्यवाद देते हैं।

निवेदक
हनुमानप्रसाद धानुका
अध्यक्ष

वृन्दावन धाम
शिवरात्रि
२०४९ वि० सं०

सिंहावलोकन

अनन्तश्रीविभूषित-जगद्गुरुशङ्कराचार्य-पूर्वाम्नायश्रीगोवर्धनमठपुरी-पूर्वपीठाधीश्वर

स्वामी श्री निरञ्जन देवजी तीर्थ महाराज

अनन्तश्री परमश्रद्धास्पद स्वामी करपात्रीजी महाराज ने संस्कृत और हिन्दी में अनेक ग्रन्थ-रत्नों की रचना की है। उनमें अतिविस्तृत भूमिका के साथ अब सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा की संहिता के वेदार्थपारिजात नामक भाष्य का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका भूमिका भाग दो जिल्दों (लगभग २३०० पृष्ठों) में हिन्दी भाषान्तर के साथ संवत् २०३६ और २०३७ में वाराणसी से मुद्रित हो प्रकाशित हुआ था। बाद में पहला और ४० वाँ अध्याय भी भाषान्तर के साथ संवत् २०४३ में वृन्दावन से मुद्रित और प्रकाशित हुआ। पुनः इस कार्य को मुद्रण की सुविधा की दृष्टि से वाराणसी ले आया गया और सर्वप्रथम द्वितीय-तृतीय अध्याय वाला भाग हिन्दी भाष्यसार के साथ प्रकाशित हुआ। भाष्य के इन तीनों खण्डों पर हमारी संक्षिप्त भूमिका प्रकाशित हो चुकी है।

इस महनीय और विशाल ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये कटिबद्ध दानवीर सेठ श्रीमान् हनुमानप्रसाद जी धानुका का विचार इस पूरे भाष्य को भाषान्तर अथवा भाष्यसार के साथ प्रकाशित कराने का था, किन्तु ऐसा प्रतीत हुआ कि इस तरह से तो इस विशाल ग्रन्थ के प्रकाशन में अत्यधिक विलम्ब हो जायगा। भाष्य-सार लिखवाने का उपक्रम भी किया गया, किन्तु वह १० अध्याय से आगे न बढ़ सका। अन्ततः भगवान् काल की गति का स्मरण करते हुए, कालघुण से ग्रन्थ को बचाने के लिये, आगे के ११ से ३९ अध्याय तक के भाष्य को, हिन्दी पाठकों को भी भाष्य का किंचित् रसास्वादन कराने के लिये, भाष्यनिष्कर्ष के साथ निकालने का निर्णय लिया गया। इसको भी काल की महिमा ही कहा जायगा कि भाष्यनिष्कर्ष के साथ ये अध्याय (११-३९) पहले मुद्रित हो गये और ४ से १० अध्याय तक का भाष्य भाष्यसार के साथ सबके अन्त में प्रकाशित हो रहा है। ७ से १० अध्याय तक के इस अन्तिम खण्ड में संक्षेप में हम पूरे भाष्य का सामान्य परिचय देते हुए इसके महत्त्वपूर्ण अंशों पर प्रकाश डालना चाहते हैं।

आजकल शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता को वाजसनेय संहिता का नाम दे दिया जाता है, किन्तु यह नाम अतिव्याप्त है। यहीं प्रथम अध्याय के भाष्य (पृ० ४-५) में वाजसनेय याज्ञवल्क्य के द्वारा अपने शिष्यों को उपदिष्ट १५ संहिताओं की नामावली मिलती है। इनमें से महर्षि मध्यन्दिन को उपदिष्ट शाखा उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध होकर माध्यन्दिन कहलाती है। कण्व आदि की संहिताएँ इससे भिन्न हैं। इस प्रकार भगवान् वाजसनेय याज्ञवल्क्य द्वारा उपदिष्ट सारी संहिताएँ वाजसनेय कहलाती हैं, किन्तु माध्यन्दिन संहिता तो इस नाम के महर्षि के द्वारा अधिगत संहिता ही मानी जायगी। वेदार्थपारिजातभाष्य इसी संहिता पर किया गया है। उव्वट और महीधर का भाष्य भी इसी संहिता पर है, जब कि सायण का भाष्य काण्व संहिता पर किया गया है।

भाष्यरचना की सामान्य पद्धति पर भाष्यनिष्कर्ष के लेखक ने ११-१५ अध्याय के प्रारम्भ में पर्याप्त प्रकाश डाल दिया है। पूरी संहिता के प्रतिपाद्य विषयों की सूचना भाष्यकार ने स्वयं प्रारम्भ में दे दी है (पृ० १२-१३)। दर्शपूर्णमास आदि सभी प्रकृति और विकृति यागों के अनुष्ठान का मुख्य आधार यजुर्वेद को ही माना जाता है। इसी लिये स्वामी जी ने भाष्यरचना के लिये सर्वप्रथम इसी संहिता को चुना

और इन सब यागों का विस्तृत और प्रामाणिक स्वरूप दिखाने के लिये कात्यायन श्रौतसूत्र और शतपथ ब्राह्मण के सभी सम्बद्ध प्रकरणों को उद्धृत कर उनकी भी स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की। अभी ऊपर उव्वट, महीधर और सायण के भाष्यों की चर्चा की गई है, किन्तु उनमें इतने विस्तार से ये सब विषय निर्दिष्ट नहीं हो पाये हैं।

प्रस्तुत भाष्य में उक्त तीनों भाष्यों के पर्यवेक्षण के साथ यथास्थान तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, सत्याषाढ श्रौतसूत्र, निरुक्त-निघण्टु एवं उनके भाष्यों और हरिस्वामी, स्कन्दस्वामी, दुर्गाचार्य, भट्ट भास्कर आदि प्राचीन भाष्यकारों को अपने मत के समर्थन में उद्धृत किया है। आवश्यकता के अनुसार इनकी समालोचना करने में भी हमारे भाष्यकार ने कोई संकोच नहीं किया है, जो कि भारतीय भाष्यकारों की परम्परा के अनुकूल ही है।

वेदार्थपारिजातभाष्य केवल मन्त्रों की व्याख्या ही नहीं है, किन्तु एक विस्तृत प्रयोग-पद्धति भी है, जिसमें कि विस्तार से संहिता में प्रतिपादित सभी प्रकार के अनुष्ठानों का क्रम भी निर्दिष्ट है। भाष्यनिष्कर्ष में इन सब विषयों पर यथास्थान प्रकाश डाल दिया गया है।

वैदिक मन्त्रों के विनियोग के लिये ऋषि, देवता और छन्द का ज्ञान आवश्यक है। यहाँ कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के आधार पर प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग का भी उल्लेख किया गया है और उसके लिये आवश्यकता के अनुसार षड्गुरुशिष्य आदि के व्याख्यानों का भी सहारा लिया गया है। छन्दों के लक्षणों के प्रसंग में पिंगलाचार्य के छन्दःशास्त्र के अतिरिक्त प्रातिशाख्य ग्रन्थों में निर्दिष्ट लक्षणों को भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महीधर द्वारा प्रदत्त लक्षणों की कहीं-कहीं स्वामी दयानन्द ने आलोचना की है। प्रस्तुत भाष्य में ऐसे सभी स्थलों पर शास्त्रीय प्रमाणों की झड़ी लगा कर प्रौढ युक्तियों के सहारे महीधर के पक्ष को प्रबल समर्थन दिया गया है।

प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ देना, इस भाष्य की अपनी विशेषता है। इस आध्यात्मिक अर्थ में मन्त्रगत पदों की संगति के अनुसार साकार अथवा निराकार रूप में उपास्य देवता को संबोधित कर मन्त्र की संगति बैठाई गई है, जिससे कि मन्त्र के पदों के साथ पूरा सामंजस्य बैठाया जा सके। अन्य कुछ आधुनिक आचार्यों ने भी इस तरह के प्रयत्न किये हैं, किन्तु वे इस कार्य में सफल नहीं हो पाये हैं, यह बात इस भाष्य के तृतीय अध्याय में उद्धृत मत-मतान्तरों से स्पष्ट हो जाती है। इन सबकी एक बड़ी कमी यह भी है कि ये सारे प्रयत्न पूरी संहिता पर न होकर उसके कुछ अंशों तक ही सीमित रह गये हैं।

आध्यात्मिक अर्थ के प्रसंग में उपनिषदों, भगवद्गीता, बादरायण ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भागवत की प्रस्थानचतुष्टयी के अतिरिक्त श्रौत, स्मार्त और आगम साहित्य के महनीय ग्रन्थों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ को यहाँ (१७।४४) आदर के साथ याद किया गया है और इस सम्प्रदाय में प्रचलित छप्पन भोग की भी चर्चा भाष्यकार ने की है (११।७५)। आचार्य नरहरि के अनेक वचन यहाँ उद्धृत हैं। इनकी रामणीयकता अतीव मनोहारिणी है। उनके इस श्लोक को देखा जाय—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राग् जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादतिसुन्दरम्॥

इसका अभिप्राय यह है कि द्वैत दृष्टि तभी तक मोह को पैदा करती है, जब तक कि मनुष्य को अद्वैत ब्रह्म का बोध नहीं होता। एक बार अद्वैत का बोध हो जाने पर तो द्वैत दृष्टि के भी भक्ति में पर्यवसित हो

जाने के कारण वह अद्वैत दृष्टि से भी बढ़ कर फलदायिनी हो उठती है। इस प्रकार यहाँ भक्तियोग की सविशेष महिमा वर्णित है। इस भक्तियोग के महत्त्व को काश्मीर के आचार्य उत्पलदेव ने अपनी शिव-स्तोत्रावली में अनोखी भंगिमा से इस प्रकार दर्शाया है—

निजनिजेषु पदेषु पतन्त्विमाः करणवृत्तय उल्लसिता मम।
क्षणमपीश मनागपि मैव भूत् त्वदविभेदरसक्षतिसाहसम्॥

अर्थात् हे भगवन्! ये मेरी उल्लास और आनन्द से भरी हुई इन्द्रियों की सारी वृत्तियाँ अपने-अपने विषयों में भले ही लगी रहें, किन्तु मुझे आपके अद्वयानन्द रस से वंचित होने का साहस क्षण भर के लिये भी और जरा सा भी न हो। इसका अभिप्राय यह है कि भक्त द्वैत दशा में भी भगवान् से कभी अलग होना नहीं चाहता, वह उनके वियोग को कभी सहन नहीं कर सकता।

इस भाष्य की दूसरी बड़ी विशेषता स्वामी दयानन्द के प्रत्येक मन्त्र के भाष्य को उद्धृत कर उसका तिलशः खण्डन करना है। विदेशी एकेश्वरवाद और उनकी सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित स्वामी दयानन्द ने बहुदेववाद को अस्वीकार करते हुए और लोकायत (चार्वाक) दृष्टि का अनुसरण करते हुए इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की, पितृगणों की तथा स्वर्ग आदि की सत्ता को ही नकार दिया है। श्रौत-सूत्रों को वे प्रमाण नहीं मानते, तब स्मृति, पुराण और आगम वाङ्मय की कथा ही कैसे की जा सकती है। शतपथ ब्राह्मण, मनुस्मृति आदि को प्रमाण मानते हुए भी वे या तो अपने मत के विरोधी अंशों की विचित्र व्याख्या करते हैं अथवा उन्हें प्रक्षिप्त मान लेते हैं। इस प्रकार वे भारतीय साहित्य और संस्कृति की एक लम्बी परम्परा को आँखों से ओझल कर डालना चाहते हैं। इसीलिये इनके भाष्य में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ आ गई हैं। ऊपर से तुर्रा यह है कि वे वायुयान की निर्माणविधि से लेकर दुनिया के सारे ज्ञान-विज्ञान को वेदों से निकालने का हास्यास्पद प्रयत्न करने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करते।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने विकल्प के सहारे एक लम्बी भारतीय परम्परा के प्रति उपेक्षा भाव को जगा कर भारतीय समाज में नास्तिकता के ही नहीं, विभेद के बीज भी बोये हैं। हमें बताया गया है कि पंजाब में दो सम्प्रदायों में अलगाव को बढाने के लिये सर्वप्रथम सत्यार्थप्रकाश के उस अंश की लाखों प्रतियाँ वितरित की गईं, जिसमें सिख सम्प्रदाय की अनावश्यक आलोचना की गई थी।

स्वामी करपात्री जी महाराज ने भाष्य में दयानन्दीय भाष्य की अनेक त्रुटियों का उल्लेख किया है। बिना प्रयोजन के मुख्यार्थ का [1]बाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध और रूढि अथवा प्रयोजन के न होते हुए भी गौणार्थ का आश्रयण घोर अन्याय और समस्त दार्शनिक एवं साहित्यिक आचार्यों की परम्परा के विरुद्ध है। मुख्यार्थ का बाध होने पर ही लक्षणा वृत्ति का सहारा लिया जा सकता है, इस विषय पर भाष्यकार ने आगे (१५।४२) सप्रमाण विचार प्रस्तुत किया है। वहाँ बताया गया है कि शाब्दनय में मुख्यार्थ और गौणार्थ का विचार अतीव महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उत्तरमीमांसा (ब्रह्मसूत्र) के आनन्दमयाधिकरण के पूर्व पक्ष और सिद्धान्त पक्ष को दिखाते हुए वहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि यहाँ किस प्रकार मुख्यार्थ का बाध होने पर ही गौणार्थ का ग्रहण किया गया है। मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ का ग्रहण किन-किन परिस्थितियों

१. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपितक्रिया॥

में किया जाता है, इस विषय का विशद विवेचन भाष्यकार ने आगे भी ३१-३९ अध्याय वाले भाग में अनेक स्थलों पर (पृ० १३४, १८७-१८८, १९१-१९२, १९३) किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दयानन्दीय अर्थ का खण्डन करते समय भाष्यकार ने स्थान-स्थान पर मुख्यार्थ और गौणार्थ की समस्या पर बड़ा गम्भीर दार्शनिक विचार प्रस्तुत किया है।

विभक्ति-वचन आदि का व्यत्यय, निष्प्रयोजन अध्याहार जैसे दोष यहाँ प्रायः दिखाई पड़ते हैं। वेद का लोकायतीकरण, लोक का प्रतारण, आत्मप्रवंचना, 'दशहस्ता हरीतकी' जैसे आभाणकों को चरितार्थ करने वाले बढ-चढ कर कहे गये वायुयान-निर्माण आदि के प्रतिपादक व्याख्यान, अपनी पूरी परम्परा को छोड़ कर देवलोक, पितृलोक, देवगण, पितृगण आदि की अस्वीकृति इनकी प्रमुख विसंगतियाँ हैं। परम्परा से च्युत होने के कारण ही साम, स्तोम, न्यूंख, निधन, प्रगाथ जैसे वैदिक पदों का अर्थ इनकी समझ में नहीं आया है और बिना प्रमाण के ऐसे पदों का इन्होंने मनमाना अर्थ किया है। त्वष्टा, सविता, अर्यमा, भग आदि शब्द वैदिक देवताओं के बोधक हैं। एकेश्वरवाद के व्यामोह ने इनको इन सब शब्दों का अर्थ मनुष्य-परक करने के लिये बाध्य कर दिया है। देवतापरक मित्र शब्द का पुल्लिग में और सुहृत् के वाचक मित्र शब्द का नपुंसक लिंग में प्रयोग किया जाता है। इस परम्परा को तिलांजलि देकर इन्होंने पुल्लिग में प्रयुक्त मित्र शब्द को भी सुहृत् अर्थ में प्रयुक्त माना है। अग्नि, वायु, सूर्य, वरुण, रुद्र, विष्णु आदि प्रसिद्ध देवताओं के बोधक पदों का भी इन्होंने सेनापति, सभाध्यक्ष आदि के रूप में मनुष्यपरक अर्थ किया है। ऐसे सब प्रसंगों में वे "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" (१।१६४।४६) इस प्रसिद्ध ऋग्वेदीय मन्त्र को भी भुला बैठे हैं। व्याकरण, काव्य, कोश, आप्तवाक्य आदि के द्वारा निश्चित अर्थ में ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इस विषय की स्वामी दयानन्द ने पूरी तरह से उपेक्षा कर दी है। अनेक स्थानों पर तो इन्होंने मन्त्र के पदों को ही बदल दिया है।

नवें अध्याय के ३४ वें मन्त्र की व्याख्या में ये सप्तदश स्तोम के विवरण में चार वर्ण, चार आश्रम, श्रवण आदि कर्म, चार पुरुषार्थ और मोक्ष की गणना करते हैं। चार पुरुषार्थों में ये अलब्ध की लिप्सा, लब्ध की रक्षा, रक्षित की वृद्धि और रक्षित द्रव्य का सत्कर्म में व्यय—इनकी गणना करते हैं। शास्त्रों में योगक्षेम के अन्तर्गत इनका अन्तर्भाव कर लिया गया है। चार पुरुषार्थ के रूप में तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की ही सर्वत्र गणना की जाती है।

स्वामी दयानन्द ने बिना प्रसंग के अलंकारों की चर्चा की है। छन्दःशास्त्र, निरुक्त, व्याकरण और वैदिक स्वरप्रक्रिया के प्रसंग में अपने को अति विशेषज्ञ मानते हुए इन्होंने और इनके अनुयायियों ने सायण, महीधर आदि के भाष्यों के अनेक स्थलों पर व्यर्थ के आक्षेप किये हैं। वेदार्थपारिजातकार ने इनकी सारी युक्तियों का खण्डन करते हुए सायण और महीधर की प्रक्रिया का जिस प्रकार समर्थन किया है, उससे उनको इन सब विषयों का कितना ज्ञान है, इसकी कलई खुल जाती है। पूरे भाष्य में इस तरह के अनेक प्रसंग देखे जा सकते हैं। यहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि मन्त्रगत पदों से कोई समझदार व्यक्ति भी वायुयान का निर्माण नहीं कर सकता और न बिजली ही पैदा कर सकता है।

भाष्य के पहले अध्याय (पहली जिल्द) में दर्शपूर्णमास की पूरी पद्धति को समझाने के अतिरिक्त अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण विषय प्रतिपादित हैं। इनको प्रबुद्ध पाठक विस्तृत भाषानुवाद की सहायता से जान सकते हैं।

द्वितीय-तृतीय अध्याय वाले भाग (जिल्द) में (पृ० १३३-१३४) विधानपारिजात के प्रमाण से अग्नि के पावक, मारुत (मरुत्त), चमस, शोभन, अनल आदि २७ नाम बताये गये हैं। यहाँ ये पर्यायवाची शब्द नहीं हैं, किन्तु विभिन्न कर्मों के सम्पादक होने से इसके ये नाम शास्त्रों में विहित हैं। जैसे कि लौकिक कार्यों का सम्पादन पावक नाम के अग्नि में करना चाहिये। गर्भाधान संस्कार के लिये मारुत (मरुत्त) अग्नि का आवाहन करना चाहिये। पुंसवन के लिये चमस तथा शुभ कर्म में शोभन अग्नि का आवाहन किया जाता है। यहाँ इस तरह से सत्ताईस अग्नियों ने नाम बता कर कहा गया है कि जिस कर्म के लिये जिस अग्नि का विधान है, उसी का आवाहन कर अग्नि में आहुति देनी चाहिये। इसके बाद यहाँ आदित्य आदि नवग्रहों की अग्नियों के भी नाम गिनाये गये हैं। त्रिवेन्द्रं संस्कृत सिरीज से ईशानशिवगुरुदेवपद्धति ४ भागों में प्रकाशित हुई है। अग्नि के बत्तीस नाम कुछ पाठभेदों के साथ वहाँ (१।१४।६-१४) उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ की रचना में भगवान् आद्य शंकराचार्य के स्मार्त धर्म के प्रतिष्ठापक ग्रन्थ प्रपंचसार से भी सहायता ली गई है। यह एक प्राचीन ग्रन्थ है।

इसी भाग (पृ० २०४-२०६) में वैश्वदेवाख्य चातुर्मास्य के चार मासों में सम्पन्न होने वाले वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय नामक चार पर्वों के अनुष्ठान की विधि भी विस्तार से वर्णित है। अन्त में (पृ० २४०-२४२) मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के आधार पर कालविभाग की गणनापद्धति पर प्रकाश डाला गया है। महाभारत के प्रमाण से १४।२३ में तथा वाल्मीकि रामायण के आधार पर १७।२ के भाष्य में भी यह विषय संक्षेप में चर्चित है।

४-६ अध्याय वाले भाष्य के तीसरे भाग (जिल्द) में सर्वप्रथम सोम याग की पद्धति पर प्रकाश डाला गया है (पृ० १-३)। वैदिक अनुष्ठान में, विशेष कर सोम याग और उसके विकृति यागों में सोलह प्रकार के ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती है। इन सबका परिचय देने के बाद यहाँ बताया गया है कि किसको कितनी दक्षिणा दी जाय। तदनुसार ही इनकी संज्ञा अर्धिनः, तृतीयिनः और पादिनः होती है (पृ० १)। सोम याग के अनुष्ठान के लिये सर्वप्रथम सोमलता को खरीदना पड़ता है। गाय के रूप में उसका मूल्य चुकाया जाता है। गाय के महत्त्व को दिखाते हुए यहाँ कहा गया है कि गाय से हमें प्रतिधुक्, शृत, शर, दधि, मस्तु, आतंचन, नवनीत, घृत, आमिक्षा और वाजिन की प्राप्ति होती है (पृ० ७९)। ये सब दूध की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। भाष्यकार ने इन सब शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया है।

पाँचवें अध्याय में ज्योतिष्टोम की पद्धति को बताते हुए सोम राजा के अग्नि, सोम, अतिथि, श्येन और रायस्पोषद अग्नि नाम के पाँच अनुचरों का वर्णन किया गया है। अग्नि और रायस्पोषद अग्नि में क्या अन्तर है? इसको भी भाष्यकार ने स्पष्ट किया है (पृ० १११)। वैदिक यज्ञ के लिये अरणि का मन्थन कर अग्नि प्राप्त की जाती है। अग्निमन्थन के समय अनुष्ठेय षट्कर्मों का निरूपण यहाँ पृ० ११५ पर किया गया है।

७-१० अध्याय वाले भाष्य के चौथे भाग (जिल्द) में धाराग्रह और अधाराग्रह का उल्लेख कर बताया गया है कि ग्रह उस दारुमय पात्र को कहते हैं, जिसमें कि सोम रस का ग्रहण किया जाता है (पृ० १-२)। षोडशी ग्रह की व्याख्या करते समय प्रश्नोपनिषत् के प्रमाण पर षोडशकल पुरुष की १६ कलाओं को गिनाया गया है (पृ० १८४)। आठवें अध्याय के ५४-५९ मन्त्रों में सोम रस की विभिन्न ३४ अवस्थाओं के अनुसार उसके ३४ नाम देकर उनके लिये आहुतियों का विधान है। घर्मभेदजन्य प्रायश्चित्ताहुतियों का विधान आगे ३९ वें अध्याय में भी है।

नवें अध्याय की ३४ वीं कण्डिका तक वाजपेय याग का विधान है। अन्न की समृद्धि के लिये इसका अनुष्ठान किया जाता है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र और व्याकरण महाभाष्य को उद्धृत कर यहाँ (पृ० २६५) भाष्यकार ने सत्रह प्रकार के अन्नों के नाम गिनाये हैं।

इस अध्याय की ३५ वीं कण्डिका से राजसूय का प्रकरण प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में भाष्यकार ने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, मीमांसा सूत्र, पाणिनि स्मृति (अष्टाध्यायी), भामती, कल्पतरु आदि ग्रन्थों के आधार पर 'राजन्' शब्द के अर्थ पर विस्तार से शास्त्रीय पद्धति से प्रकाश डाला है (पृ० २८३-२८४)। यह प्रकरण और आगे के भी कुछ प्रकरण विद्वानों के लिये एक मननीय ज्ञानवर्धक सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

राजसूय याग की सारी प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए और इष्टि, पशु, सोम, दर्वीहोम आदि पदों का अर्थ स्पष्ट करते हुए यहाँ पंचवातीय होम और प्रतिसर, अर्थात् शत्रुओं के द्वारा प्रयुक्त आभिचारिक क्रियाओं से अपनी रक्षा के लिये अपामार्ग होम का विधान है। प्रतिसर मन्त्रों का आगे (१३।९) भी विधान है। वहाँ भाष्य में बताया गया है कि अग्नि देवता वाले रक्षोघ्न मन्त्र प्रतिसर के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस शब्द का प्रयोग आत्मरक्षा के लिये बाँधे जाने वाले ताबीज, रक्षासूत्र, कंकण और औषधियों के लिये भी होता है। अश्व की रक्षा के लिये भी प्रतिसर कर्म का विधान शास्त्रों में बताया गया है।

राजसूय प्रकरण दसवें अध्याय में भी चलता है। यहाँ प्रारम्भ की चार कण्डिकाओं में राजा के अभिषेक के लिये सत्रह प्रकार के जलों के पालाश, औदुम्बर, नैयग्रोध (वाट) और आश्वत्थ पात्रों में संभरण की प्रक्रिया वर्णित है। इनमें से एक जल का नाम आतपवर्ष्य है, अर्थात् आतप (धूप) के रहते वर्षा हुआ पानी। आज भी यह जल अतिपवित्र माना जाता है। अभिषेक के समय तत्काल इस जल की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः यहाँ बताया गया है कि जब भी ऐसी वृष्टि हो, उसके जल को लेकर भविष्य में होने वाले अभिषेक के लिये इसे सुरक्षित कर लेना चाहिये।

अभिषेक के समय राजा की प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची और ऊर्ध्वा दिशाओं से रक्षा की जाती है। इस कार्य के लिये यहाँ क्रमशः रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज और शाक्वर-रैवत सामों का तथा त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश, एकविंश और त्रिणव-त्रयस्त्रिंश स्तोमों का पाठ किया जाता है। यहाँ (पृ० ३२२-३२५) भाष्यकार ने इन सामों और स्तोमों का विशद स्वरूप शतपथ ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण और साम ब्राह्मण के वचनों को उद्धृत करते हुए प्रस्तुत किया है। जिज्ञासुजन इस विषय को वहीं देख सकते हैं। स्तोमों की चर्चा आगे (१४।२३; पृ० ३८०) भी आई है। वहाँ एकादशाध्याय के स्थान पर दशमाध्याय पढा जाना चाहिये। सृष्टिप्रक्रिया के प्रसंग में पुराणों में भी यह विषय वर्णित है, जैसा कि इस भाष्य में आये (३१।८) विष्णु पुराण के प्रमाण से दिखाया गया है, किन्तु आधुनिक समाज में यह एक दम से उपेक्षित होता जा रहा है। हमारा अज्ञान कहाँ तक बढ गया है, इसको स्वामी दयानन्द के भाष्य में देखा जा सकता है। इस तरह के अनेक अपरिचित विषयों पर स्पष्ट प्रकाश डाल कर भाष्यकार ने आधुनिक विद्वत्समाज का बड़ा उपकार किया है।

राजसूय याग के अन्त में सम्पन्न होने वाले सौत्रामणी कर्म को चरक सौत्रामणी कहते हैं। दसवें अध्याय के अन्तिम चार मन्त्रों में इसका संक्षिप्त स्वरूप दिया गया है। सौत्रामणी याग का विस्तार आगे १९-२१ अध्यायों में देखा जा सकता है।

संहिता के ११ से १८ तक के अध्यायों में अग्निचयन के मन्त्र वर्णित हैं। ११ वें अध्याय के प्रारम्भ में भाष्य में शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के तीन अध्यायों में निर्दिष्ट सारे विषयों का संक्षेप में परिचय दिया

गया है, जिससे कि इस पूरे प्रकरण की पृष्ठभूमि समझ में आ सके। इष्टकाओं के विषय में अक्ताक्ष्य और ताण्ड्य नामक आचार्यों का मत भी यहाँ उद्धृत है।

यज्ञीय समिधाओं का वर्णन करते समय संहिता (११।७०-७६) और भाष्य (पृ० ९५-१०३) में क्रमुक (धमन), विकंकत (कठेर), उदुम्बर (गूलर) और पलाश की समिधा के अतिरिक्त उपजिह्विका (दीमक) और वम्र (चींटी) के द्वारा भक्षित निःसत्त्व वृक्ष की समिधा के साथ अपरशुवृक्ण समिधा की भी गणना है। अपरशुवृक्ण का अर्थ है, जो कुल्हाड़ी से नहीं काटी गई है। इस प्रकार यहाँ स्पष्ट निर्दिष्ट है कि हरे-भरे वृक्ष की और कुल्हाड़ी से काटे गये वृक्ष की लकड़ी का समिधा के लिये उपयोग नहीं किया जा सकता। यह है हमारी समृद्ध वैदिक यज्ञीय संस्कृति। इसके सामने आज की अर्थप्रधान (अर्थदास) संस्कृति कितनी बौनी लगती है।

अग्निचयन के लिये बनाई जाने वाली विविध इष्टकाओं की स्पष्ट जानकारी के लिये महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर के प्रिंसिपल के रूप में पूर्वाश्रम के अपने कार्यकाल में हमने इष्टकाओं के पीतल के साँचे बना कर रखवाये थे, जिनकी सहायता से आवश्यकता के अनुसार कोई भी इष्टका बनाई जा सकती है। श्रौत-स्मार्त यज्ञशाला भी वहाँ बनवाई गई थी।

वेदों में अनेक प्रकार की इष्टकाओं से बनाई जाने वाली विविध चितियों की निर्माणविधि प्रदर्शित है। इनमें रेखागणित के अतिसूक्ष्म सूत्रों का हमें दर्शन होता है। शुल्बसूत्रों में इस विद्या का विश्लेषण आश्चर्यचकित करने वाला है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय विद्वान् किसी भी विषय का कितना समृद्ध अध्ययन कर उसकी तह तक पहुँचने का प्रयत्न करते थे। शुक्ल यजुर्वेद की प्रस्तुत माध्यन्दिन संहिता के ११-१८ अध्यायों में अग्निचयन के प्रसंग में मुख्य रूप से सुपर्ण चिति का विस्तार मिलता है। 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्' मन्त्र के भाष्य में रूपकालंकार के माध्यम से अग्नि की सुपर्ण (गरुड़) से समानता दिखाई गई है। अभी-अभी हरिद्वार-देहरादून के बीच के जंगल में प्राचीन काल की सुपर्ण चिति उसी रूप में प्राप्त हुई है।

११।२५ पर उद्धृत शतपथ ब्राह्मण में अभ्रि द्वारा परिलिखित तीन रेखाओं की त्रिपुर से तुलना की गई है और ५।८ पर उद्धृत शतपथ में स्पष्ट रूप से लोह, रजत और सुवर्ण से निर्मित पुरियों का वर्णन मिलता है। पुराणों में असुरों द्वारा निर्मित इन तीन पुरियों की और भगवान् शिव के द्वारा इनके विध्वंस की कथा विस्तार से मिलती है। यहाँ अतिसंक्षेप में उसी का उल्लेख है। अभ्रि द्वारा उल्लिखित इन तीन रेखाओं का प्रयोजन यह है कि इन तीन रेखाओं के रूप में त्रिपुरसंहार की घटना का स्मरण कर भयभीत असुरगण इस चितिस्थान में आने का दुःसाहस नहीं करेंगे। इसी तरह से यहाँ १२।५ पर विष्णु के तीन क्रमों का वर्णन है और कूर्म पुरुष (१२।३०-३३) का भी। इन मन्त्रों में हमें भगवान् विष्णु के त्रिविक्रम (वामन) और कूर्म अवतारों की सूचना मिलती है।

यहीं १२ वें अध्याय के २७ मन्त्रों (१२।७५-१०१) में औषधियों की स्तुति की गई है। यह प्रकरण ओषधिविज्ञान से परिपूर्ण है। १२।६५ के भाष्य में शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रयुक्त 'इण्ड्वे' पद की व्याख्या दी गई। 'इण्ड्वा' पद का यहाँ द्विवचन में प्रयोग हुआ है। इसका यहाँ जो अर्थ दिया गया है, तदनुसार यह इण्ड्वा पद ही विकृत होकर राजस्थानी भाषा में 'ईडूंणी' हो गया है।

१६ से २० अध्याय तक के छठे भाग (जिल्द) में १६ वाँ अध्याय शतरुद्रियाध्याय के नाम से प्रसिद्ध है। इस अध्याय के भाष्य का भाषानुवाद भी साथ में दिया गया है, जिससे कि हिन्दीभाषाभाषी जिज्ञासु भी भगवान् रुद्र की महिमा से परिचित हो सकें। यहाँ प्रारम्भ के दो मन्त्रों में अनेक ग्रन्थों की सहायता से भगवान् के निर्गुण और निराकार स्वरूप के साथ सगुण और साकार स्वरूप का भी संक्षेप में विवेचन किया है और बताया है कि इस विषय के जिज्ञासुओं को हमारी 'रामायण मीमांसा' देखनी चाहिये।

इसी अध्याय के १७ वें मन्त्र में अर्चिरादि और धूमादि मार्ग की तथा सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति की चर्चा कर बृहदारण्यक के प्रमाण से तृतीय गति का भी उल्लेख किया है। इसी भाष्य में अन्यत्र दयानन्दीय मत की समीक्षा करते हुए कहा गया है कि मुक्ति के दो ही मार्ग हैं। इन दोनों उक्तियों में परस्पर कोई विरोध इस लिये नहीं है कि बृहदारण्यक में जिस तृतीय गति का उल्लेख है, वह निरय गति है। मुक्ति मार्ग से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। १७ वें अध्याय के १७ वें मन्त्र में भी धूमादि मार्ग और अर्चिरादि मार्ग की चर्चा है। यहाँ (पृ० २६७-२६९) ब्रह्मसूत्र और उसके शांकर भाष्य के आधार पर इस विषय पर विस्तार से चर्चा की गई है। साथ ही आतिवाहिक मार्ग का भी उल्लेख है। भाष्य में विवेचित प्रमुख दार्शनिक प्रसंगों में इस प्रकरण का भी अत्यन्त महत्त्व है।

१७ वें अध्याय के अनेक मन्त्रों का उनमें ब्रह्मविषयक प्रश्न-प्रतिवचनों के कारण दार्शनिक महत्त्व है। १७।१७ की व्याख्या में उव्वट इस मन्त्र से ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को समर्थन देते हैं। पुराणों में ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद अति विस्तार से प्रतिपादित है। अनेक प्राचीन आचार्य भी इस वाद के समर्थक रहे हैं। ७० वें मन्त्र में सात छन्दों, सात धामों (अग्नियों), सात होताओं और सात संस्थाओं का विवेचन अतीव ज्ञानवर्धक है। 'य इमा विश्वा' (१७।१७), 'किं स्विद्वनम्' (१७।२०), 'चत्वारि शृङ्गा' (१७।९१) जैसे मन्त्र भारतीय दर्शन के मौलिक स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। इनमें से अन्तिम मन्त्र (१७।९१) में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियों की विवेचना निरुक्त और महाभाष्य की सहायता से की गई है। हम जानते हैं कि इन चार वाणियों का तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में सविशेष वर्णन मिलता है। १७।६८ में आहुति, दक्षिणा और अन्न को यज्ञ की धारा बताया गया है। मतान्तर से वैश्वानर, मारुत, पूर्णाहुति, वसोर्धारा और वाजप्रसवीय आहुतियों को यज्ञ की धारा कहा जाता है।

१८ वें अध्याय के ३९ वें मन्त्र में स्वामी करपात्री जी महाराज ने निरुक्त के प्राचीन व्याख्याकार स्कन्द-स्वामी के मत की समालोचना की है। इस प्रसंग में निरुक्त और व्याकरण की अलग-अलग भूमिकाओं का उल्लेख करते हुए स्वामी जी ने शाकटायन व्याकरण के दृष्टिकोण को रखा है। यह प्रसंग भी विद्वानों के लिये विशेष रूप से अवधेय है।

"प्रत्यक्षमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः" यहाँ कहा गया है कि तार्किक जन प्रत्यक्ष अर्थ को भी अनुमान से सिद्ध करने में विशेष रुचि रखते हैं। यहाँ तार्किक दृष्टि से प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान को वरीयता दी गई है। हमारे भाष्यकार ने १७।९५ में इसके विपरीत एक दूसरा न्याय उद्धृत किया है—"नहि प्रत्यक्षे करिणि चीत्कारेण हस्तिनमनुमिमतेऽनुमातारः"। अर्थात् हाथी को सामने खड़ा देख लेने के बाद कोई चीत्कार से उसका अनुमान नहीं करता।

१९ वें अध्याय के २५ वें मन्त्र में न्यूंख पद पर विचार किया गया है और उसके उच्चारण के क्रम की शास्त्रीय पद्धति दिखाई गई है। पाणिनि सूत्र (१।२।३४), काशिका, पदमंजरी, सायण आदि के मत को भी यहाँ दिखाया गया है।

हम पहले बता चुके हैं कि १९–२१ अध्यायों में सौत्रामणी याग का विशेष रूप से वर्णन है। यहाँ प्रारम्भ (१९।१) में ही इसकी पूरी प्रक्रिया पर शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र के आधार पर विस्तार (पृ० २२१–२३१) से प्रकाश डाला गया है।

सातवें भाग (जिल्द) में २१ से ३० और ३१ से ३९ अध्यायों का भाष्य संमिलित है। इनकी पृष्ठसंख्या अलग-अलग है। यहाँ के कुछ विशेष अंशों की ओर हम विज्ञ पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। २१।१७ के भाष्य में यह्व शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है। निघण्टु में यह्व और यह्वा दोनों ही शब्द मिलते हैं। निरुक्तकार यास्क यह्व शब्द की व्युत्पत्ति देते हैं, जब कि दशपादी उणादि-वृत्ति में स्त्रीलिंग यह्वा शब्द निष्पादित है। भट्टोजी दीक्षित पुंल्लिग यह्व शब्द को मान्यता देते हैं। २२।५ के भाष्य में चतुरक्ष शब्द पर विचार किया गया है। पुराण, आगम और तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में यमराज के दो श्वानों का वर्णन मिलता है। "द्वौ श्वानौ श्यावशबलौ" यह श्लोक पितृक्रिया की पद्धतियों में प्रसिद्ध है। चतुरक्ष शब्द से हम इनका भी ग्रहण कर सकते हैं। इनसे प्राण और अपान का भी अर्थ गृहीत होता है। इसी अध्याय की ७–८ कण्डिकाओं में अश्व के निमित्त दक्षिणाग्नि में दी जाने वाली प्रक्रम संज्ञक ४९ आहुतियों का विधान है। यहाँ अश्व की ४९ प्रकार की चेष्टाओं का नामोल्लेख किया है और प्रत्येक चेष्टा के लिये आहुति दी जाती है। यह प्रकरण अपने आप में इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि अश्व की चेष्टाओं का यहाँ अतिसूक्ष्म विश्लेषण मिलता है।

स्वामी दयानन्द ने तथा अन्य कुछ विद्वानों ने भी "गणानां त्वा" से लेकर "यद्धरिणो यवमत्ति" पर्यन्त अभिमेथन मन्त्रों की उव्वट, सायण और महीधर द्वारा की गई व्याख्या में अश्लीलता का आरोप लगाया है। इस पूरे प्रसंग पर पारिजातकार ने यहाँ (पृ० १०१-१०३) अच्छा विचार किया है। "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः" इस बृहदारण्यक वाक्य की भी यहाँ चर्चा है और आगे (पृ० १८१-१८२) इस वचन की विशद दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। रूपकालंकार की पद्धति से यहाँ बताया गया है कि कैसे यह अश्व सर्वत्र व्याप्त है, उसके अंग-प्रत्यंग में यह पूरा विश्व कैसे समाया हुआ है। यह प्रकरण भी विद्वानों के लिये गम्भीर अध्ययन-मनन की सामग्री प्रस्तुत करता है। छान्दोग्य में वर्णित 'पञ्चाहुति' पद की व्याख्या (पृ० १९७) भी हमारे लिये अवलोकनीय है कि ये पाँच आहुतियाँ किस प्रकार सम्पादित होती हैं। पृ० २४९ पर 'त्र्यवि' शब्द का प्रयोग डेढ़ वर्ष की गाय के लिये किया गया है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया है कि अजा (बकरी) और अवि (भेड़) छः महीने में बच्चा जनती है, अतः लक्षणा वृत्ति के सहारे इस शब्द से छः मास का काल लक्षित होता है। इस तरह से त्र्यवि का अर्थ तीन छः महीने, अर्थात् डेढ वर्ष हुआ। संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर नामक पाँच संवत्सरों का स्वरूप यहाँ (पृ० ३१३) वराहमिहिर की बृहत्संहिता और उसकी भट्टोत्पल की व्याख्या के आधार पर दिया गया है। चरकाचार्यों के विषय में पाश्चात्त्य विद्वानों के द्वारा व्यक्त किये गये अप्रामाणिक विचारों की समालोचना भी यहाँ (पृ० ३१६) दी गई है। एक स्थान पर (पृ० ३१७) मण्डल आयोग की भी चर्चा आई है। आज यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो गई है कि इस आयोग की संस्तुति इस राष्ट्र के विघटन में कितना योगदान कर रही है।

उव्वट के भाष्य से ज्ञात होता है कि इस संहिता के ३१ वें अध्याय (पुरुष सूक्त) का शौनक ऋषि ने भाष्य किया था। इस पूरे भाष्य को उव्वट ने उद्धृत किया है। उव्वट की पद्धति से ही उसे यहाँ भी दे दिया गया है। सात छन्दों, सात धामों (अग्नियों), सात होताओं, सात संस्थाओं और सात परिधियों की

चर्चा पहले की जा चुकी है। सात परिधियों और २१ समिधाओं का स्वरूप ३१।१५ में भी देखा जा सकता है। ३१।२१ के भाष्य में "न मे भक्तः प्रणश्यति" इस गीतावाक्य की हृदयाभिराम व्याख्या की गई है। "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" (३२।८) यह इस संहिता का विश्वजनीन संदेश है। कवीन्द्र रवीन्द्र इससे इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अपनी संस्था विश्वभारती का आदर्शवाक्य इसे ही बनाया था। "ईशावास्यमिदं सर्वम्" का उपदेश भी यही संहिता देती है। ऐसे ही स्थलों से इस संहिता की दार्शनिक गरिमा का भी पता चलता है। इस तरह के विश्वजनीन उपदेशों से भरे वाक्यों से प्रेरणा लेकर हम द्वेष और कलह से ग्रस्त पूरे आधुनिक विश्व को मानव जाति का एक पवित्र मन्दिर बना सकते हैं।

नासदीय सूक्त (ऋ० १०।१२९।५) के प्रसिद्ध "तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्" (३३।७४) की प्रस्तुत भाष्य में की गई अधियज्ञ व्याख्या अतीव महत्त्वपूर्ण है। यहाँ बताया गया है कि अध्वर्यु उत्तर हविर्धान के नीड पर एक अंभ्रण की स्थापना करता है। उसे आधवनीय कहा जाता है। प्रउग स्थान पर द्वितीय अंभ्रण की स्थापना की जाती है। उसे पूतभृत् कहते हैं। हविर्धान शकट का नाम है। बड़े मुँह वाले मिट्टी के घड़े को अंभ्रण कहा जाता है। शकट पर बैठने की जगह नीड कहलाती है। इस नीड के बाहर के भाग को प्रउग कहते हैं। मन्त्र से संस्कृत प्रादेशप्रमाण के नीचे से ऊपर तक बिना टूटे हुए दो दर्भों को मिलाकर प्रोक्षण के निमित्त पवित्र बनाया जाता है। उद्गाता (सामगान करने वाला) आदि के द्वारा सोम के ऋजीष, कल्क आदि को छानने के उपयोग में आने वाला वस्त्र दशापवित्र कहलाता है। ग्रह, चमस, आधवनीय आदि पात्रों में छने हुए सोम रस को स्थापित किया जाता है। कितनी मार्मिक व्याख्या है? याज्ञिक पारिभाषिक शब्दावली को समझाने की मानों झड़ी लगा दी है। हम पूरे भाष्य में इस तरह के पारिभाषिक शब्दों की व्युत्पत्तियों, प्रयोगों और उनके अर्थों को देख सकते हैं। पाणिनि के धातुपाठ में लगभग दो हजार धातुओं का निर्देश है। इन सबका प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं मिलता। प्रस्तुत महनीय भाष्य के सहारे हम इन धातुओं के प्रयोग-स्थलों और उनके अर्थों पर गहन विचार कर सकते हैं। इस भाष्य के व्याकरण-प्रधान अंश इस कार्य में हमारे सहायक हो सकते हैं।

'पङ्क्तिराधसम्' पद यहाँ अनेक स्थानों पर (३३।८९; ३७।७, ९) आया है। हविष्पंक्ति, नाराशंस पंक्ति और सवन पंक्ति का स्वरूप एवं व्याख्या इन स्थलों पर देखी जा सकती है। यहाँ एक स्थान पर बताया गया है कि इन पंक्तियों का निरूपण ऐतरेय ब्राह्मण में विस्तार से किया गया है। ३३।९१ के आध्यात्मिक अर्थ में "देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद" (२।४।६) इस बृहदारण्यक श्रुति को उद्धृत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि देवता उसकी सहायता नहीं करते, जो व्यक्ति देवताओं को अपने से भिन्न मानता है। भूतशुद्धि और प्राणप्रतिष्ठा के आधार पर आराधक स्वयं देवस्वरूप बनकर आराध्य देवता की उपासना करता है। "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्", "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" जैसे वाक्य इसी सिद्धान्त को उजागर करते हैं। यहीं (५।६) के भाष्य में उद्धृत—"त्वं वै भगवो देवते! अहमस्मि, अहं वै भगवो देवते! त्वमसि" इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है।

३३।९३ के भाष्य में प्रदर्शित है कि मूलाधार से उठ कर वाणी तीस अंगुल का मार्ग पूरा कर मुख तक पहुँचती है। त्रिंशत्पदा शब्द के यहाँ अन्य भी अर्थ किये गये हैं। पहले १३।३९ के भाष्य में भी शतपथ का यह वचन उद्धृत है—"तस्यैष घोषो भवति यमेतत् कर्णावपिधाय शृणोति" (१४।८।१०।१)। स्पष्ट है कि योगशास्त्र में वर्णित नादानुसन्धान की प्रक्रिया का यहाँ स्मरण कराया गया है।

३४ वें अध्याय के छः शिवसंकल्प मन्त्रों की व्याख्या करते समय पृ० ९५ पर प्रथम मन्त्र में मन की अतीत, अनागत, वर्तमान, संनिकृष्ट, विप्रकृष्ट, व्यवहित पदार्थों को भी देख सकने की शक्ति की औपचारिकता का उपनिषदों के प्रमाण से वर्णन किया है। यहाँ बताया गया है कि गान्धर्व शास्त्र के अभ्यास से उत्पन्न षड्ज आदि स्वरों की पहचान की तरह प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप का महावाक्यजन्य प्रमात्मक मानस साक्षात्कार हो सकता है। महावाक्यजन्य प्रमा और सांख्य, वेदान्त, न्यायशास्त्र आदि दर्शनों एवं विभिन्न ग्रन्थों के प्रमाण से मन की शक्ति एवं जागरण, स्वप्न, प्रस्वाप आदि दशाओं का यहाँ सप्रमाण विवरण दिया गया है। दार्शनिकों को इस प्रसंग का अवलोकन अवश्य करना चाहिये। पृ० ९८-९९ पर इस मत का उल्लेख किया गया है कि मस्तक में मस्तिष्क का जो स्थान है, वहीं मन का भी निवास है। बाद में इस मत का यहाँ खण्डन कर दिया गया है और हृदय-पुण्डरीक में ही मन की स्थिति मानी गई है।

पितृमेध की प्रक्रिया का यहाँ (पृ० १३०-१३१) विस्तार से वर्णन है। इसी तरह से महावीर के संभरण की प्रक्रिया को भी यहाँ (पृ० १५६-१६१) विशद रूप से देखा जा सकता है।

भाष्य की महत्ता को दिखलाने के लिये उदाहरण के रूप में ये कुछ प्रसंग हमने यहाँ प्रस्तुत किये हैं। यह पूरा भाष्य इस तरह के प्रसंगों से भरा हुआ है। मनु आदि स्मृतिकारों के अनुसार लौकिक और आध्यात्मिक सर्वविध ज्ञान वेद से ही प्राप्त होता है। ऊपर वर्णित सारे प्रकरण स्मृतिकारों की और हमारी इस आस्था को दृढ करने वाले हैं।

संवत् २०३० तक स्वामी करपात्री जी महाराज की भाष्यभूमिका का दार्शनिक भाग पूरा हो चुका था। इसको भाषानुवाद के साथ प्रकाशित कराने का जब विचार हुआ, उस समय इस कार्य के लिये हमने पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी का नाम प्रस्तुत किया था। स्वामी जी ने एक प्रतिबन्ध के साथ इस प्रस्ताव को स्वीकार किया कि इस दार्शनिक भाग के पूरे अनुवाद को सुनकर आवश्यकता के अनुसार उसमें संशोधन करना होगा। हमने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और संवत् २०३२ में पटना में आपातकाल के एकान्तवास के दो मासों में इस कार्य को सम्पन्न कर ग्रन्थ के मुद्रण की अनुमति दे दी। एक लम्बी अवधि के बाद ही सही, आज इस पूरे भाष्य को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत होते देख हमें एक अलौकिक सन्तोष की अनुभूति हो रही है।

इस बृहत् कार्य को पूरा करने के लिये स्वामी जी ने चार विद्वानों को नियुक्त किया था और उनके नामों का उल्लेख भी अपनी भाष्यभूमिका के प्रारम्भ में कर दिया था। पद्मभूषण पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री जी ने भाषानुवाद करना प्रारम्भ किया, किन्तु बाद में वे इस कार्य से विरत हो गये। भूमिका भाग के प्रथम खण्ड की उन्होंने हिन्दी और अंग्रेजी में विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखी। पं० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर ने भूमिका भाग के द्वितीय खण्ड के पृ० १९७६-२०९४ तक का भाषानुवाद किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने पहले, सोलहवें और चालीसवें अध्याय का भाषानुवाद और २–३ अध्यायों का भाष्यसार भी लिखा। भाष्यभूमिका और पूरे भाष्य की शुद्ध और स्वच्छ प्रेस कापी तैयार करने में तथा उद्धरणों के स्थान-निर्देश में भी यथाशक्ति पं० मार्कण्डेय ब्रह्मचारी जी का सराहनीय सहयोग रहा है। अन्तिम कुछ अध्यायों की प्रेस कापी तैयार करने में एक अन्य व्यक्ति को लगाया गया था, किन्तु वे सज्जन इस कार्य को सही ढंग से कर न सके और अन्ततः उन अध्यायों की भी प्रेस कापी पं० मार्कण्डेय ब्रह्मचारी जी से ही करवानी पड़ी। भाष्य के भाषानुवाद में होते विलम्ब को देखकर अन्ततः भाष्यसार के साथ पूरी संहिता को छपाने का

संकल्प लिया गया और इसके लिये काशीस्थ वैदिक विद्वानों से प्रार्थना की गई। डॉ० श्रीकिशोर मिश्र वेदाचार्य के अतिरिक्त किसी अन्य वैदिक विद्वान् ने इसमें विशेष रुचि नहीं दिखाई। श्री मिश्र ने ४-१० अध्यायों का भाष्यसार लिखा है। आगे के ११ से ३९ अध्यायों को केवल भाष्यनिष्कर्ष के साथ निकालना पड़ा है, ताकि भाष्य के प्रकाशन में अनपेक्षित विलम्ब न हो। ऊपर निर्दिष्ट कार्यों के अतिरिक्त भाष्य-निष्कर्ष के लेखन के साथ अन्य सारा कार्य पं० श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी ने किया है। हमें सन्तोष है कि हमारे द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति ने इस विशाल कार्य को पूरा कर दिखाया है। हम इनके सर्वविध कल्याण की कामना करते हैं। हमारे लिये यह सन्तोष का विषय है कि इनको इस वर्ष राष्ट्रपति पुरस्कार से संमानित किया गया है।

इस प्रसंग में हमें एक विसंगति देखने को मिली कि स्वामी करपात्री जी महाराज के यहाँ धर्म की रक्षा के नाम पर आने वाले अनेक व्यक्तियों की दृष्टि अर्थ के प्रति अधिक सजग रही है। पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी स्वामी जी के निकट अर्थ के लिये आये थे, जिसकी कि उन दिनों अपना परिवार चलाने के लिये उनको आवश्यकता थी, किन्तु इन्होंने उस समय भी धार्मिक दृष्टि को प्रधान रखा। यही कारण है कि इस कार्य से जुड़े अनेक व्यक्ति धीरे-धीरे हटते गये और इनको जब भी इस कार्य की जिम्मेदारी सौंपी गई, उससे कभी पीछे नहीं हटे। आज भारत को चरित्रसम्पन्न अर्थनिरपेक्ष व्यक्तियों की आवश्यकता है। तभी यह राष्ट्र प्रगतिपथ पर आरूढ होगा और स्वामी करपात्री जी महाराज की कल्पना साकार हो सकेगी।

इस महान् कार्य में आर्थिक सहयोग देने वाले श्री हनुमानप्रसाद धानुका का उल्लेख किये बिना यह वक्तव्य अधूरा रहेगा। "सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः" इस सुभाषित से हम सब कोई परिचित हैं। स्वामी करपात्री जी महाराज के परम श्रद्धालु भक्त वृन्दावनवासी अपने पिता श्री राधाकृष्ण धानुका की स्मृति में श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान की स्थापना कर इन्होंने सर्वात्मना आर्थिक सहयोग न दिया होता, इस कार्य में लगे हुए विद्वानों के योगक्षेम का यथाशक्ति प्रबन्ध न किया होता, तो इस महान् प्रकाशन कार्य के सम्पन्न होने में अभी और भी विलम्ब होता। श्रेष्ठिजनों की रुचियाँ आजकल बदल रही हैं। पारिवारिक विग्रह, पत्नीवियोग जैसी आपदाओं को सहते हुए भी इन्होंने अपने दृढ संकल्प को नहीं छोड़ा और इस पावन कार्य को पूरा करा कर के ही रहे। हम इनके परिवार के सर्वविध कल्याण की कामना करते हैं। इधर इन्होंने मुद्रण कार्य की देख-रेख के लिये वृन्दावन के अपने मुनीम श्री गिरिराज प्रसाद अग्रवाल को नियुक्त किया था। उनके उचित सहयोग से ही यह कार्य अनेकविध विघ्नबाधाओं को पार कर आज पूरा हो रहा है। हम इनके लिये भी अपनी शुभ कामना व्यक्त करते हैं।

॥ शम् ॥

शिवरात्रि, संवत् २०४९ — **श्री निरंजनदेव तीर्थ**

वाराणसी।

दशाध्यायी (१-१०) -भाष्यनिष्कर्ष

करपात्रमहाभागान् पुरीपीठाधिपांस्तथा ।
नमस्कृत्य विचारोऽयं प्रस्तुतो भाष्यसंश्रयः ॥

यह संयोग की ही बात है कि शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता के स्वामी करपात्री जी महाराज के द्वारा विरचित वेदार्थपारिजातभाष्य के प्रथम दस अध्यायों का भाष्यनिष्कर्ष लिखने से पहले अगले अध्यायों का भाष्यनिष्कर्ष लिखना पड़ा है। अब तक ११ से १५ अध्याय तक का, १६ से २० अ० तक का, २१ से ३० अ० तक का और ३१ से ३९ अध्याय तक का भाष्यनिष्कर्ष तीन जिल्दों में प्रस्तुत किया जा चुका है। भाष्य के प्रकाशन में कालातिपात से बचने के लिये ११ से ३९ अध्याय तक के भाष्य पर हिन्दी में भाष्यसार नहीं लिखवाया जा सका और उसकी पूर्ति के लिये भाष्यनिष्कर्ष में अतिसंक्षेप से भाष्य की विशिष्ट सामग्री का परिचय दे दिया है, जिससे कि हिन्दी भाषा के अभिज्ञ जिज्ञासु भी इस भाष्य से कतिपय विशेष अंशों से लाभान्वित हो सकें।

इसके लिये पूरे भाष्य के प्रतिपाद्य विषयों को हमने चार विभागों में बाँट दिया था। अ० ११-१५ के भाष्य-निष्कर्ष के प्रारम्भ में "भाष्यरचना की सामान्य पद्धति" शीर्षक से इसका परिचय दिया जा चुका है। श्रद्धेय स्वामीजी महाराज ने पूरे भाष्य में सामान्यतः इसी पद्धति का अनुसरण किया है, किन्तु प्रथम अध्याय में तथा अन्यत्र भी कहीं-कहीं याज्ञिक पद्धतिपरक मन्त्रार्थ को बताने के बाद स्वामी दयानन्द जी के मत के खण्डन में प्रवृत्ति देखी गई है। ऐसा प्रायः उन स्थलों पर हुआ है, जहाँ स्वामी दयानन्द जी अपने भाष्य को शतपथब्राह्मण-संमत बताने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे स्थलों पर उनके भाष्य को पहले उद्धृत कर बाद में उन शतपथ वचनों की समीक्षा की गई है, जिनको कि वे अपने भाष्य के अनुकूल मानते हैं। पहले यहाँ शतपथ श्रुति की शास्त्रसंमत व्याख्या प्रस्तुत कर, तब दयानन्दीय भाष्य की निःसारता प्रदर्शित कर दी गई है। स्वामी जी का अभिमत है कि मन्त्रों के श्रुति-सूत्र अविरोधी अनेक अर्थ किये जा सकते हैं (८९, १२९)। इसके उदाहरण के रूप में प्रथम अध्याय के ९-११, १३-१४, १७ संख्या के मन्त्र देखे जा सकते हैं, जहाँ इस तरह के अर्थ दिये गये हैं। स्वामी जी ने एक स्थान पर (१ अध्याय, पृ० ४४) लिखा है कि इसी पद्धति से किसी विद्वान् ने श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक के १०८ अर्थ किये हैं। कहीं-कहीं अन्यत्र भी इस क्रम में विपर्यय देखा गया है। लेखक अपने लेखन-व्यापार में स्वयं वेधा (ब्रह्मा) है। अतः जो विषय भाष्य में जिस तरह से भाष्यकार द्वारा उपस्थापित किया गया है, उस क्रम को बिना बदले उसी तरह से बनाये रखा गया है। किन्तु ऐसा बहुत कम स्थलों पर हुआ है। प्रायः सर्वत्र पूर्वनिर्दिष्ट क्रम ही पूरे भाष्य में स्वीकृत है।

१-१० अध्यायों का विस्तृत भाषानुवाद अथवा भाष्यसार प्रस्तुत है, अतः भाष्यनिष्कर्ष की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु पाठकों को भाष्य के विशिष्ट स्थलों की जानकारी देने के लिये अतिसंक्षेप में उसे यहाँ भी दिया जा रहा है। इसके लिये भाष्यनिष्कर्ष को लिखने की पद्धति में थोड़ा परिवर्तन करना पड़ा है। यहाँ पहले अध्याय के भाष्य का विस्तृत भाषानुवाद प्रकाशित है और आगे २-१० अध्यायों का भाष्यसार। विस्तृत भाषानुवाद में तो भाष्य की सारी बातें आ ही गई हैं और भाष्यसार में भी मन्त्रों के विनियोग के साथ दयानन्दीय भाष्य के खण्डनपरक अंश का अर्थ और मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है। अतः भाष्यनिष्कर्ष में इन पर पुनः विचार कर द्विरुक्ति करने का कोई लाभ नहीं है। इसीलिये प्रस्तुत भाष्यनिष्कर्ष में भाष्य के उन विशेष प्रतिपाद्य विषयों पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है, जिनका परिचय प्राप्त करने से भाष्यसार के अतिसंक्षिप्त होने के कारण सुबुद्ध हिन्दी पाठक वंचित रह जाते।

शुक्ल यजुर्वेद के ११ से ३९ वें अध्याय तक के प्रतिपाद्य विषयों की सूचना तत्तत् खण्ड के भाष्यनिष्कर्ष में दी गई है। हम यह जानते ही हैं कि इस संहिता का ४० वाँ अध्याय ईशावास्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम अध्याय के भाष्य (पृ० १२-१३) में अतिसंक्षेप में पूरी संहिता के प्रतिपाद्य विषयों को सूचित कर दिया गया है। अन्यत्र भी भाष्य में इन विषयों की सूचना दी गई है।

तदनुसार परिशोधित क्रम से प्रथम और द्वितीय अध्याय में दर्शपूर्णमास याग की पद्धति वर्णित है। यह प्रकरण दूसरे अध्याय के २८ वें मन्त्र में पूरा हो जाता है। इसके बाद २९-३४ मन्त्रों में पिण्डपितृयज्ञ[1] का अनुष्ठान निर्दिष्ट है। तृतीय अध्याय में अन्वाधान, अग्निहोत्रीय अग्नि का उपस्थापन तथा चातुर्मास्य याग का वर्णन है। चौथे अध्याय से लेकर आठवें अध्याय की ३२ वीं कण्डिका तक के मन्त्रों में अग्निष्टोम याग का विधान है। प्रथमतः चौथे अध्याय में सोम का क्रय करने के मन्त्र हैं। पाँचवें अध्याय में ज्योतिष्टोम का प्रतिपादन है। यहाँ सोमप्रधान आतिथ्येष्टि से लेकर यूपनिर्माण तक के मन्त्र हैं। छठे अध्याय में पशुप्रधान अग्नीषोमीय यूप के संस्कार से लेकर सोमाभिषव विधि तक के मन्त्र हैं। सातवें अध्याय में ग्रहग्रहण निर्दिष्ट है। यहाँ उपांशुग्रह से लेकर प्रातःसवन और माध्यन्दिनसवन तक की पद्धति को सम्पन्न कराने वाले एवं दक्षिणादान की विधि को बताने वाले मन्त्र हैं। आठवें अध्याय में तृतीय सायंसवनगत आदित्य ग्रहों के ग्रहण की विधि निर्दिष्ट है। इस अध्याय के ३२ वें मन्त्र तक यह प्रकरण चलता है। इसके आगे के मन्त्रों में षोडशी ग्रह, द्वादशाह विधि, अतिग्राह्य ग्रह, गवामयन, महाव्रत, विश्वकर्म, अदाभ्य ग्रह, सोमांशुहवन, [2]घर्मभेद प्रायश्चित्त आदि का प्रतिपादन है। ये सब विषय भी एक प्रकार से अग्निष्टोम याग से ही संबद्ध हैं। नवें अध्याय को ३४ वीं कण्डिका तक वाजपेय याग का वर्णन है। इस अध्याय के ३५ वें मन्त्र से राजसूय याग का प्रकरण प्रारम्भ होता है और दसवें अध्याय में भी ३० वीं कण्डिका तक राजसूय याग से सम्बद्ध अभिषेक आदि के मन्त्र हैं। इस अध्याय के आगे के चार मन्त्रों (३१-३४) में [3]चरक सौत्रामणी प्रतिपादित है।

ये दस अध्याय अलग-अलग चार भागों में प्रकाशित हुए हैं। पहले भाग में पहला, दूसरे में दूसरा और तीसरा, तीसरे में ४-६ अध्याय और चौथे में शेष चार अध्याय प्रकाशित हुए हैं। इन सबकी पृष्ठसंख्या भिन्न-भिन्न है। यहाँ हम क्रमशः इनका विवरण दे रहे हैं। आवश्यकता के अनुसार दी गई पृष्ठसंख्या उसी भाग की समझनी चाहिये।

प्रथम अध्याय

यहाँ प्रारम्भ में ही बताया गया है कि उव्वट, सायण, महीधर आदि आचार्यों ने ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों के प्रमाण से तथा परम्परा से प्राप्त अर्थज्ञान की पद्धति से मन्त्रों की व्याख्या की है, किन्तु नास्तिक अथवा अर्धनास्तिक भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वानों ने अनेक दुस्तर्कों की उद्भावना कर वेदार्थ को व्याकुल कर दिया है। उसका अपाकरण कर वेदार्थ की निर्मलता के लिये हमारा यह प्रयत्न है। भूमिका भाग में इस विषय को विस्तार से देखा जा सकता है। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद की नित्यता भी वहाँ सिद्ध कर दी गई है। यहाँ भाष्यकार ने बताया है कि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस श्रुति-वाक्य में ऋषि, छन्द, देवता तथा विनियोग के साथ अर्थज्ञानपूर्वक अपनी शाखा का अध्ययन विहित है। चारों वेदों की सहस्राधिक शाखाएँ हैं। इन सबका अध्ययन एक व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं है। अतः कुलपरम्परा से प्राप्त अपनी शाखा का अध्ययन प्रथमतः अपेक्षित है।

---

१. साकमेध पर्व के अन्तर्गत भी पितृयज्ञ से संबद्ध मन्त्र (३।५१-५४) उपदिष्ट हैं और ३५ वें अध्याय में पितृमेध याग वर्णित है।

२. घर्मभेद प्रयुक्त प्रायश्चित्ताहुतियों का विधान ३९ अध्याय में अधिक विस्तार से मिलता है।

३. सौत्रामणी याग का विस्तार १९-२१ अध्यायों में है।

यजुर्वेद के शुक्ल और कृष्ण विभाग कैसे हो गये, इसका विवेचन करते हुए यहाँ बताया गया है कि वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने सूर्य की उपासना के उपरान्त प्राप्त शुक्ल यजुर्वेद को जिन १५ ऋषियों को पढ़ाया, उनके नाम इस प्रकार हैं – कण्व, मध्यन्दिन, शापेय, स्वापायनीय, कापाल, पौण्ड्रवत्स, आवटिक, परमावटिक, पाराशर्य, वैधेय, वैनेय, औधेय, गालव, वैजव और कात्यायनीय (पृ० ४)। मध्यन्दिन नाम के महर्षि के द्वारा प्राप्त यजुर्वेद ही माध्यन्दिन शाखा के नाम से प्रसिद्ध है। इस शाखा के अध्येता माध्यन्दिन कहलाते हैं। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत संहिता, जिस पर वेदार्थपारिजातभाष्य लिखा गया है, माध्यन्दिन संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। वाजसनेय पद से तो सभी पन्द्रह शाखाओं की संहिताएँ अभिहित होंगी। आज इन पन्द्रह शाखाओं में से माध्यन्दिन के अतिरिक्त काण्व शाखा की संहिता ही मिलती है। शेष शाखाओं की संहिताएँ कालप्रभाव से विलीन हो गईं। इस प्रकार माध्यन्दिन शाखा के अनुयायियों के लिये 'स्वाध्याय' पद से यही संहिता प्रथमतः गृहीत होगी। शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन सूत्र इस शाखा के अन्य प्रधान ग्रन्थ हैं। प्रस्तुत भाष्य में प्रधानतः इन्हीं की सहायता से मन्त्रार्थ की व्याख्या और विनियोग प्रदर्शित हैं।

अध्ययन विधि की सविस्तर व्याख्या करने के बाद यहाँ वेद के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की अपरा और परा विद्या के रूप में व्याख्या की गई है तथा बताया गया है कि अन्ततः सारे वेद का महातात्पर्य ब्रह्म के प्रतिपादन में ही है। इस दृष्टि से संहिता में ब्रह्म का प्रतिपादन ही पहले होना चाहिये था, किन्तु बुद्धि की शुद्धि के बिना ब्रह्मज्ञान असम्भव है, अतः तदर्थ पहले यहाँ कर्मकाण्ड का ही उपदेश किया गया है। विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध नामक चार अनुबन्धों का निरूपण करने के उपरान्त यहाँ कर्मकाण्ड की व्याख्या के प्रसंग में नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रतिषिद्ध के भेद से चतुर्विध कर्मों का तथा प्रत्यवाय का स्वरूप प्रदर्शित है।

इतना विवेचन कर लेने के उपरान्त इस संहिता में दर्शपूर्णमास याग का ही प्रथमतः विधान क्यों किया गया, इस विषय को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि सारे वैदिक अनुष्ठान अग्निहोत्र से, इष्टि से अथवा सोम से संबद्ध हैं। अतः इनको सारे वैदिक अनुष्ठानों की प्रकृति कहा गया है, क्योंकि यहाँ इन यागों की पूरी विधि वर्णित है। विकृति यागों के अनुष्ठान में यहाँ वर्णित विधि की सहायता लेनी पड़ती है। इन तीन प्रकृति यागों में भी सर्वतो निरपेक्ष दर्शपूर्णमास याग है। अतः प्रस्तुत संहिता में सर्वप्रथम इसी का विवेचन है। कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में यजुर्वेद की ही प्रधानता मानी गई है, मन्त्र आदि का सामान्य लक्षण जैमिनीय मीमांसा सूत्र में प्रतिपादित है, इत्यादि विषयों के विवेचन के बाद मन्त्रों की दृष्टार्थकता को बताते हुए यहाँ मन्त्र-ब्राह्मणात्मक माध्यन्दिन शाखा की वंशब्राह्मणोक्त परम्परा का स्मरण कराया गया है।

छन्दों के ज्ञान के प्रसंग में यहाँ सायण का और कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी का मत प्रदर्शित है और तब विस्तार से इस संहिता की प्रथम कण्डिका के छन्दों का तथा पूरे विनियोग का स्वरूप निर्दिष्ट है। विनियोग में पलाश की शाखा को देवता बताया गया है। स्थावर शाखा में यह कैसे सम्भव होगा ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि शाखा की अधिष्ठात्री देवता परमेश्वर का ही अंश है, अतः उसमें यजमान की कामना की पूर्ति करने की सामर्थ्य विद्यमान है।

इस संक्षिप्त विचार के साथ यहाँ मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है। इस पूरे अध्याय के मन्त्रों से दर्शपूर्णमास के अनुष्ठान का जो स्वरूप बनता है, उसकी प्रक्रिया यहाँ तीन स्थलों पर (पृ० १७-१९, १५५-१६०, २८५-२९४) दी गई है, जिसको हिन्दी भाषानुवाद की सहायता से समझा जा सकता है। प्रथम मन्त्र का अर्थ बताने के बाद यहाँ स्वामी दयानन्द तथा उनके अनुयायी पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के मत का विस्तार से खण्डन किया गया है (पृ० २५-५४)।

इस प्रसंग में [4]याग और होम की कात्यायन-संमत परिभाषा दी गई है, यास्कीय निरुक्त के भाष्यकार दुर्ग, स्कन्द आदि के मत प्रदर्शित हैं और सर्वानुक्रमणीकार द्वारा प्रदर्शित देवतावाद के समर्थन के प्रसंग में बताया गया है कि निरुक्त, बृहद्देवता एवं सर्वानुक्रमणी के आधार पर ही वैदिक देवतावाद प्रतिष्ठित है।

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने [5]स्वामी दयानन्द के भाष्य का विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों के साथ सम्पादन किया है। उक्त संस्करण को पृ० २३ तक की टिप्पणियों में अनेक विषयों की चर्चा उन्होंने की है। यहाँ निरुक्त, निरुक्त के भाष्यकार दुर्ग और स्कन्द, सर्वानुक्रमणी, तैत्तिरीय संहिता, बृहद्देवता, गोपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य मन्त्रभाष्य, महाभारत, वायुपुराण भट्ट भास्कर भाष्य आदि ग्रन्थों को उद्धृत करते हुए स्वामी दयानन्द के विचारों का समर्थन किया गया है और व्याकरण-प्रक्रिया के अन्तर्गत प्राचीन भाष्यकारों की व्युत्पत्ति को गलत बताने की चेष्टा की गई है। वाक्यार्थबोध का प्रकार, सभी मन्त्रों के त्रिविध अर्थ, स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदर्शित आध्यात्मिक, अधियज्ञ और अधिदैव अर्थ भी प्रस्तुत किये गये हैं। इन सब विचारों का यहाँ (पृ० ३५-५४) सप्रमाण खण्डन कर दिया गया है। इनकी व्याकरण-प्रक्रिया का खण्डन आगे भी (पृ० १०८-१०९) मिलता है।

प्रसंगवश यहाँ (पृ० ४१) बताया गया है कि निरुक्तकार ने भी आध्यात्मिक, याज्ञिक और ऐतिहासिक पक्ष को लेकर कुछ मन्त्रों की व्याख्या की है, किन्तु पूर्व और उत्तर मीमांसा की दृष्टि से पूरे वेद में धर्म और ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। धर्म मनुष्य के अभ्युदय का साधन है। निष्काम भावना से किया गया धर्म बुद्धि को शुद्ध करता है और इसका भी पर्यवसान अन्ततः ब्रह्मसाक्षात्कार में होता है। यहाँ मन्त्रार्थ की प्रक्रिया पर भी विचार किया गया है और बताया गया है कि स्वामी दयानन्द की व्याख्या इन सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करती, अतः वह अप्रमाण है। उनके द्वारा प्रदर्शित स्वरप्रक्रिया की भी यहाँ (पृ० ४४-४८) समीक्षा दी गई है। अन्त में (पृ० ५५-६०) दिया गया प्रथम मन्त्र के भाष्य का हिन्दी सारांश उनके लिये बहुत उपयोगी है, जिनका संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार नहीं है।

पृ० ६१ पर पवित्र[6] पद का अर्थ बताया गया है और पृ० ७१ पर कर्तव्य के निर्धारण में सहायक स्वामी दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट—१. वेदविद्या, २. प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, ३. सृष्टिक्रम, ४. विद्वानों की संगति, ५. सुविचार और ६. आत्मशुद्धि नामक छः साधनों की समीक्षा की गई है। नवें मन्त्र की व्याख्या करते समय (पृ० ८९) पुनः स्मरण कराया गया है कि सायण का अर्थ श्रुति-सूत्रसंमत होने से वह हमारे लिये प्रामाणिक है। इसके विपरीत दयानन्दीय अर्थ श्रुति-सूत्रविरोधी होने से अप्रामाणिक है। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि मन्त्रों के श्रुति-सूत्र अविरोधी अनेक अर्थ किये जा सकते हैं। उदाहरण स्वरूप यहाँ कुछ मन्त्रों के इस प्रकार के अर्थ भाष्यकार द्वारा किये भी गये हैं।

नवें मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने अपने अर्थ के समर्थन में शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत किया है, किन्तु यहाँ (पृ० ९४) और अन्यत्र (पृ० १६५, १७४, १७६, १७९, २०७-२०८, २२२, २२६, २३२, २३७, २६५) भी आगे अनेक स्थलों पर शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर यह स्पष्ट कर दिया है कि इन शतपथ वचनों में स्वामी दयानन्द

---

४. "तिष्ठद्धोमा वषट्कारप्रदाना याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः, उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः" (पृ० ३०)। सात्वतसंहिता के भाष्यकार ने याग और होम का अन्तर इस प्रकार बताया है—"यागो बिम्बादिषु भगवदर्चनम्, होमो वह्निसन्तर्पणम्" (पृ० १९-२०)। इस प्रकार निगम और आगम की परिभाषा स्पष्ट ही भिन्न है।

५. रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रकाशन, प्रथम भाग, संवत् २०४१ वि०। यहाँ पृ० १-२० तक पहले संस्कृत में तथा बाद में २४ से ३५ पृष्ठ तक हिन्दी में इन सब विषयों पर विचार किया गया है।

६. "द्वौ कुशौ कुशत्रयं वा पवित्रमुच्यते" (पृ० ६१)।

द्वारा दिये गये अर्थ की गन्ध भी नहीं मिलती । स्वामी दयानन्द प्रभुसंमित ब्राह्मण भाग को न तो वेद मानते हैं और न उसकी अपौरुषेयता को ही स्वीकार करते हैं । ब्राह्मण भाग को वे मात्र मन्त्र भाग का व्याख्यान मानते हैं । वे यह नहीं मानते कि ब्राह्मण भाग में मन्त्रों का विनियोग भी प्रदर्शित है । इसीलिये उनके द्वारा किये गये अर्थ में नाना प्रकार की विसंगतियों ने घर कर किया है ।

दसवें मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में अन्तर्याग की, मानस पूजा की विधि को बताते हुए भूशुद्धि, भूतशुद्धि आदि का स्वरूप निदर्शित है और कहा गया है कि इस मानस पूजा से साधक ब्राह्मी तनू को प्राप्त करता है, जिसका कि उल्लेख मनुस्मृति (२।२८) आदि में किया गया है । आगम-तन्त्रशास्त्र में "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" इस वाक्य से इसकी प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है और "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" (१।५) [७]प्रस्तुत संहिता के इस मन्त्र में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित है ।

१८ वें मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने वायुविद्या, शिल्पविद्या आदि का उल्लेख कर वेद में विमानविद्या के होने का उल्लेख किया है । यह सब शब्दों की कल्पनामात्र, शब्दजालमात्र है । योगसूत्रकार भगवान् पतंजलि ने इसको विकल्प की संज्ञा दी है—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (१।९) । पूरे वेदभाष्य में इस तरह के आधुनिक विज्ञान द्वारा आविर्भूत विद्युत् आदि की खोज इस विकल्प का अच्छा उदाहरण है । पाश्चात्य जगत् के आविष्कारों को तथा अपने यहाँ पुराण, इतिहास, समरांगणसूत्रधार आदि में वर्णित नाना प्रकार के यानों के वर्णन को देख कर वेदों में इसको खोज लेने की ललक कोरा एक नाटक है, हास्यास्पद प्रयत्न है ।

पात्रीनिर्णेजन, निनयन आदि विशिष्ट वैदिक पारिभाषिक शब्द हैं । इनका स्वरूप यहाँ पृ० २०९-२१० पर प्रदर्शित है । प्रसंगवश इसी तरह से यहाँ पूरे भाष्य में अन्य भी अनेक विशिष्ट पदों का स्वरूप प्रदर्शित है, जिनका कि उल्लेख भाष्यनिष्कर्ष की टिप्पणियों में भी कर दिया गया है ।

स्वामी दयानन्द के मत का खण्डन करते समय यहाँ (पृ० २३७) एक विशेष बात यह बताई गई है कि उन्होंने भूमिका में मन्त्रों के पाठ के विषय में कहा है कि ये केवल अभ्यास के लिये हैं, किन्तु उसके विपरीत यहाँ वे कहते हैं कि मन्त्रों के पाठ के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती । लोक-व्यवहार में तो इसके विपरीत ही देखने को मिलता है कि बिना ही वेदपाठ के अनेक लोग सुखसमृद्धि से सम्पन्न देखे गये हैं । वायु, जल आदि की शुद्धि भी वे मन्त्रपाठ और हवन आदि के बिना ही कर लेते हैं ।

२८ वें मन्त्र के भाष्य में बताया गया है कि कुछ मन्त्र निदान वाले होते हैं । अर्थात् उनके साथ कोई कथा जुड़ी हुई रहती है । ऐसे मन्त्रों की व्याख्या करने से पहले उससे संबद्ध कथानक को उपस्थापित करना आवश्यक रहता है और इसका ज्ञान ब्राह्मण ग्रन्थों से ही संभव हो सकता है । इस तरह की निदान कथाओं का उल्लेख यहाँ तथा अन्य स्थलों पर भी पूरे भाष्य में शतपथ ब्राह्मण आदि की सहायता से यथास्थान किया गया है । यहीं (पृ० २४८) स्वामी दयानन्द के इस अनोखेपन का उल्लेख किया गया है कि वे शतपथ ब्राह्मण का उल्लेख तो प्रायः प्रत्येक मन्त्र में करते हैं, किन्तु मन्त्र की व्याख्या उसके विपरीत ही रहती है । यह एक आश्चर्य की ही बात है । स्वामी दयानन्द के मत के खण्डन के प्रसंग में भाष्यकार ने कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्त्तिक—"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते । एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥" (पृ० २५६) इस श्लोक को अनेक स्थलों पर स्मरण किया है । इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से भी जिसका ज्ञान नहीं होता, ऐसे अत्यन्त परोक्ष पदार्थ का भी

७. "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" शीर्षक निबन्ध में हमने बृहदारण्यक उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण को मात्र उद्धृत किया है, किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि यह सिद्धान्त संहिता में ही प्रतिपादित हो चुका था ।

ज्ञान वेद की सहायता से किया जाता है। यही वेद की वेदता है। अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान से अज्ञात धर्म-ब्रह्म, स्वर्ग-नरक आदि का ज्ञान वेद से ही हो सकता है। स्वामी दयानन्द ने तो वेद-मन्त्रों के ऐसे ही अर्थ किये हैं, जिनका कि ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के द्वारा भी हो सकता है।

द्वितीय-तृतीय अध्याय

जैसा कि पहले अध्याय के प्रारम्भ में बताया गया है, इस दूसरे अध्याय के प्रारम्भ के २८ मन्त्रों में भी दर्शपूर्णमास का प्रतिपादन है। २८ वें मन्त्र में यजमान "य एवास्मि सोऽस्मि" कहता है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसा मैं पहले था, वैसा ही पुनः बन जाता हूँ, अर्थात् अनुष्ठान करते समय मैंने अनृत से सत्य भाव को प्राप्त किया था, मनुष्य भाव को छोड़कर देव भाव को स्वीकार किया था, अब अनुष्ठान की समाप्ति पर मैं पुनः पुराने मनुष्य भाव को ही प्राप्त कर रहा हूँ। "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" इस आगमिक सिद्धान्त का प्रस्तुत वैदिक प्रकरण ही प्रेरणा-स्रोत है।

भाष्यकार ने प्रसंगवश यहाँ अनेक उत्तम मनोहारी श्लोकों को उद्धृत किया है। उनका रसास्वादन भाष्यसार की सहायता से किया जा सकता है, क्योंकि इस खण्ड के भाष्यसार में ऐसे सभी श्लोकों का स्पष्ट भाषान्तर कर दिया गया है (पृ० १२ आदि पर देखिये)। पृ० ३ पर 'कश्चित्तु' पद से ब्रह्मदत्त जिज्ञासु अभिप्रेत हैं। 'केचिन्मन्यन्ते' (पृ० १०) यह मत शतपथ ब्राह्मण के भाष्य में देखा जा सकता है। वेदभाष्यकार और शतपथ ब्राह्मण के भी व्याख्याता आचार्य सायण का मत उनके नाम का उल्लेख करते हुए दिया गया है (पृ० १४, १६ आदि देखिये)। सायण के काण्व संहिता के भाष्य का भी यत्र तत्र उल्लेख मिलता है।

द्वितीय अध्याय के अनेक मन्त्रों का व्याख्यान स्वामी दयानन्द की व्याख्या से प्रारम्भ होता है। ऐसा उन मन्त्रों के प्रसंग में किया गया है, जिनकी व्याख्या स्वामी दयानन्द शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से करने का उल्लेख करते हैं। ऐसे स्थलों पर शतपथ ब्राह्मण के उस प्रसंग को विस्तार से उद्धृत कर यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि शतपथ ब्राह्मण के इन वचनों में स्वामी दयानन्द के व्याख्यान की गन्ध भी नहीं है। अनेक मन्त्रों की व्याख्या में स्वामी दयानन्द शतपथ के स्थलों का मात्र उल्लेख करते हैं, किन्तु उन स्थलों पर निर्दिष्ट मन्त्र का व्याख्यान मिलता ही नहीं। इस तरह के मन्त्रों के भाष्य में दयानन्दीय मत और शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर इनके मत का खण्डन करने के उपरान्त ही श्रुतिसूत्रसंमत सिद्धान्त पक्ष का प्रदर्शन करते हुए मन्त्रार्थ दिया गया है और अन्त में आध्यात्मिक अर्थ बताया गया है। ऐसा पृ० १८, २२, २७, ३०, ३४, ३८, ४५, ५४, ६०, ६६, ७०, ७५, ७८, ८२, ८६, १०२, १०५ पर देखा जा सकता है। ऐसे स्थलों पर विस्तार से सप्रमाण यह बता दिया गया है कि दयानन्दीय अर्थ शतपथ ब्राह्मण संमत है ही नहीं। यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि कात्यायन श्रौतसूत्र और उव्वट, सायण, महीधर आदि के भाष्य शतपथ ब्राह्मण का ही अनुसरण करते हैं और प्रस्तुत भाष्य का सिद्धान्तपक्षीय व्याख्यान भी इन सबके साथ विभिन्न आचार्यों के द्वारा निर्मित याज्ञिक पद्धतियों का भी अनुवर्तन करता है (पृ० ७६, ८८, ९३)। स्वामी दयानन्द ने २७ वें मन्त्र का दो तरह का व्याख्यान किया है। ये दोनों ही व्याख्यान शतपथ श्रुति और कात्यायन श्रौतसूत्र के विपरीत हैं, अत एव उपेक्षणीय हैं (पृ० ९४)।

कश्चित्तु (पृ० २५-२६), अपरस्तु (पृ० ३३), आधुनिकस्तु (पृ० ४२, ४८, ५१, ५४, ५८), अन्ये तु (पृ० ८५) इत्यादि शब्दों से संभवत यहाँ स्वामी गंगेशानन्द जी के द्वारा विरचित विज्ञानभाष्य गृहीत है। यहाँ के कुछ अंशों के साथ अपनी संमति जताने पर भी भाष्यकार ने अनपेक्षित स्थलों का खण्डन किया है।

पृ० ७२ पर नामसंकीर्तन का महत्त्व बताने वाले तीन श्लोक उद्धृत हैं। नामजप करने वाले भक्तों के लिये ये अतीव उपयोगी हैं। इसी तरह से पृ० ९२ पर "ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती" इत्यादि श्लोक में भगवान्

सूर्यनारायण का ध्यान अतीव मनोहारी है। स्वामी जी ने ही इसे अन्यत्र स्कन्दपुराण का श्लोक बता कर उद्धृत किया है। इसी तरह के नारायण स्तुति के अन्य श्लोक पांचरात्र वैष्णवागम की सात्वत संहिता (२५।११९-१२२) में मिलते हैं।

यहाँ २८ वें मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ नहीं दिया गया है। ऐसा अन्यत्र भी पूरे भाष्य के कुछ स्थलों पर हुआ है। ऐसे स्थलों पर कहीं-कहीं तो मन्त्रार्थ मात्र से ही आध्यात्मिक अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है, अर्थात् इस तरह के कुछ मन्त्र कर्मकाण्डपरक न होकर आध्यात्मिक अर्थ का ही व्याख्यान करते हैं। अन्य स्थलों पर ऐसा कैसे हो गया, इसके कारण की खोज हमें करनी होगी।

आगे के छः मन्त्रों में पितृयज्ञ की विधि वर्णित है। पितृयज्ञ मे पितरों के निमित्त दी गई हवि का वाहक अग्नि कव्यवाहन कहलाता है। यहाँ (पृ० १०८) स्पष्ट कर दिया गया है कि पिण्डदान आदि मृत पितरों के निमित्त ही किये जाते हैं, जीवित माता-पिता आदि के लिये नहीं। आगे ३५ वें अध्याय में पितृमेध का विधान है। उसका विवरण ३१-३९ अध्यायों के भाष्यनिष्कर्ष (पृ० ७-८) में दिया जा चुका है। यह अनुष्ठान क्रव्याद[८] नामक अग्नि में किया जाता है।

पिण्डपितृयज्ञ, कव्यवाहन, मेक्षण आदि शब्दों का प्रयोग यहाँ हुआ है। कव्यवाहन शब्द का अर्थ भाष्य में ही दिया गया है कि कवि, अर्थात् क्रान्तदर्शी पितरों के निमित्त दी जाने वाली हवि कव्य कहलाती है। इस कव्य नामक हवि को पितरों के पास पहुँचाने वाला पावक (अग्नि) कव्यवाहन कहलाता है। पिण्डपितृयज्ञ का परिचय डॉ० मनोहर लाल द्विवेदी के ग्रन्थ से (पृ० १२६-१३०) प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ (पृ० १०४) भी शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से इसको स्पष्ट किया गया है। मेक्षण पद का अर्थ भी वहीं देखा जा सकता है।

तृतीय अध्याय में अग्न्याधान, अग्निहोत्र होम एवं उपस्थान और लघूपस्थान संबन्धी मन्त्र उपदिष्ट हैं। वैश्वदेवाख्य चातुर्मास्य कर्म के वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय नामक चार पर्वों का विधान भी यहाँ मिलता है। साकमेध पर्व के अन्तर्गत पितृयज्ञ से संबद्ध मन्त्र (३।५१-५४) भी यहाँ उपदिष्ट हैं। यहाँ अन्तिम मन्त्र का स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा रचित भाष्य उपलब्ध न हो सका, अतः उसके स्थान पर पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री जी के परामर्श के अनुसार उव्वट-महीधर का भाष्य हमें देना पड़ा है।

हमने अभी बताया है कि द्वितीय अध्याय में कश्चित्तु, अपरस्तु, आधुनिकस्तु, अन्ये तु कह कर संभवतः स्वामी गंगेशानन्द जी के विज्ञानभाष्य का स्मरण किया गया है। इस अध्याय में प्रायः प्रत्येक मन्त्र में स्वामी दयानन्द जी के मत के साथ इनके मत का भी खण्डन किया गया है। इसके लिये उक्त शब्दों के अतिरिक्त केचित्तु, यत्तु, यदपि, यदपि च, अन्यस्तु, विज्ञानभाष्याभिमानिनस्तु (पृ० १४०), अपर आह, यत्तु कश्चित्, यत्तु केनचित्, यत्तु केनचिदुच्यते, यच्च, यत्त्वत्र कश्चित्—इत्यादि पदों का भी प्रयोग किया गया है। तृतीय अध्याय के भाष्य की यह एक विशेषता मानी जा सकती है। स्वामी गंगेशानन्द जी का विज्ञानभाष्य छप चुका है, बहुत प्रयत्न करने पर भी वह हमें उपलब्ध न हो सका, अतः उस भाष्य का परिचय देने में अभी हम असमर्थ हैं। तृतीय अध्याय के भाष्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ अन्य आचार्यों के व्याख्यानों का भी उल्लेख कर खण्डन किया गया है। विज्ञानभाष्य को देखे बिना इस सम्बन्ध में अभी कुछ कहा नहीं जा सकता।

---

८. विधानपारिजात के प्रमाण से दिये गये २७ प्रकार की अग्नि के नामों और उनके स्थानों की तथा नवग्रहों की नौ प्रकार की अग्नियों की जानकारी इसी खण्ड के पृ० १३३-१३४ से प्राप्त की जा सकती है।

प्रथम मन्त्र (पृ० ११०-११४) में ही इस भाष्य के सिद्धान्त पक्ष को उद्धृत कर उसकी विस्तृत समीक्षा की गई है कि कुछ विद्वान् आत्मयाजी की दृष्टि से इस मन्त्र में ब्रह्म का उपदेश मानते हैं, किन्तु स्वामी करपात्री जी महाराज का कहना है कि आत्मयाजी ब्रह्मात्मदर्शी विद्वान् मन्त्र और ब्राह्मणों की अन्यथा व्याख्या नहीं करते। जिन मन्त्रों और ब्राह्मणों का कर्मकाण्डपरक विनियोग स्पष्ट है, उनमें हम निर्गुण, निर्विशेष, अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं मान सकते। ब्राह्मण ग्रन्थों के द्वारा, मीमांसा शास्त्र में उपदिष्ट लिंग आदि षड्विध प्रमाणों के द्वारा और कात्यायन आदि के श्रौतसूत्रों के द्वारा जिन मन्त्रों का विनियोग जहाँ किया गया है, वही मुख्यार्थ माना जाता है। इसके विपरीत यदि कोई अर्थ किया जाता है, तो उसे गौणार्थ ही माना जायगा।

स्वामी गंगेशानन्द पूरे अध्याय के मन्त्रों की कृष्णपरक व्याख्या करते हैं। प्रथम मन्त्र की व्याख्या में ही वे कहते हैं कि इस मन्त्र में कृष्ण और अर्जुन का संवाद है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना है कि बिना किसी प्रसंग के गौणार्थ करने में अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं और बिना प्रमाण के विभक्ति इत्यादि का विपर्यास भी करना पड़ता है, जो कि यथाश्रुत अर्थ की उपपत्ति हो जाने पर कभी मान्य नहीं हो सकता। मन्त्रार्थ के उपबृंहण के लिये रामायण, महाभारत, पुराण आदि की रचना हुई है। इसके विपरीत श्रीमद्भागवत के उपबृंहण के लिये मन्त्रों की व्याख्या करना कथमपि उचित नहीं माना जा सकता।

पाँचवें मन्त्र की इन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अपने विद्यागुरु सन्दीपनि को गुरुदक्षिणा में उनके मृत पुत्र को ले आने की कथा के रूप में व्याख्या की है। इस पर प्रस्तुत भाष्यकार का कहना है कि यद्यपि यह अर्थ दयानन्द की व्याख्या की तरह से ही नानाविध कल्पनाओं से भरा हुआ है, तो भी भक्तिभाव से परिपूर्ण सगुणोपासना का प्रतिपादक है। यहाँ भगवत्कथा का उल्लेख होने से यह हमारे लिये सह्य हो सकता है। इस तरह की जबर्दस्ती से मन्त्रों के अनेक अर्थ किये भी जा सकते हैं, किन्तु इस प्रकार के अर्थों को यहाँ अविचारित रमणीय तथा वागाडम्बर मात्र (पृ० १२०) और कल्पनामात्र (पृ० २०१) बताया गया है।

स्वामी गंगेशानन्द जी के अर्थ का यत्किंचित् समर्थन पृ० १३१ पर भी मिलता है। पृ० १४७ पर बताया गया है कि यह व्याख्यान स्वामी दयानन्द जी की व्याख्या की अपेक्षा अतीव सुन्दर है, किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करने पर यह गौणार्थ ही माना जायगा। आगे (पृ० १६८) इस तरह के अर्थ की उपपत्ति बन जाने पर भी उसे क्लिष्टकल्पनाबहुल, अर्थात् क्लिष्ट कल्पनाओं से भरा हुआ बताया गया है। ३४ वें मन्त्र की व्याख्या (पृ० १८९) में कहा गया है कि कृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत को उठा लेने पर उनकी सामर्थ्य को जान कर क्षमा प्रार्थना के लिये आये इन्द्र को वे उपदेश कर रहे हैं। इस प्रसंग में (पृ० १९०) भाष्यकार का कहना है कि प्राचीन आचार्य श्रुति, सूत्र आदि का अनुसरण करते हुए ही कहीं-कहीं विभक्ति-व्यत्यय आदि का सहारा लेते हैं। उन्हीं की पद्धति को यथेच्छ स्वीकार कर स्वामी दयानन्द मन्त्रों का मनमाना अर्थ करने लगे। कुछ आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार मन्त्रों की व्याख्या की है। यह उच्छृङ्खलता यहाँ तक पहुँच गई कि 'अहमन्नादः' इत्यादि श्रुतिवचनों से अहमद के नाद की, अर्थात् कुरान की आयतों की भी प्रामाणिकता सिद्ध की जाने लगी।

५० वें मन्त्र की व्याख्या (पृ० २२०) में पुनः बताया गया है कि यहाँ किया गया अर्थ यद्यपि सुन्दर है, तथापि यज्ञ आदि कर्मों में विनियुक्त मन्त्रों की अन्यशेषता के कारण वे प्रमाणान्तर से असिद्ध अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसे स्थलों पर उनका अपना अर्थ प्रधान नहीं रह जाता। यही अर्थ होगा, इसका निर्धारण हम नहीं कर सकते, क्योंकि किसी नियामक के अभाव में उसका दूसरा अर्थ भी दिया जा सकता है। यहाँ भाष्यकार ने अपने आध्यात्मिक अर्थ के ऊपर भी आक्षेप किया है और फिर उसका समाधान भी दिया है कि 'सर्वे वेदाः' इत्यादि

श्रुतियाँ सभी वैदिक मन्त्रों का अध्यात्म के प्रतिपादन में विनियोग निश्चित करती हैं। इस स्थिति में विनियोग के अविरुद्ध आध्यात्मिक अर्थ किया ही जा सकता है।

स्वामी करपात्री जी महाराज ने द्वितीय और तृतीय अध्याय के भाष्य में स्वामी दयानन्द तथा उनके अनुयायियों के द्वारा उद्भावित व्याकरणविषयक आपत्तियों पर अनेक स्थलों पर विचार किया है। पृ० ३ पर 'कृष्ण' पद पर, पृ० ११० पर 'अतिथि' और 'इन्द्रिय' शब्द पर, पृ० १३१ पर 'व्यस्यन्' शब्द पर, पृ० १५२ पर 'आहुवध्यै' शब्द पर, पृ० १५८ पर 'अह्रयः' पद पर, पृ० १६९-१७० पर 'दिवे दिवे' आदि पदों पर, पृ० १७६ पर 'अन्तम' शब्द पर, पृ० १८१ पर 'सोमानम्' शब्द पर, पृ० १८३-१८४ पर 'अररुषः' शब्द पर, पृ० १८६ पर 'अघशंसः' पद पर, पृ० १९२ पर 'दूडभ, रथ' आदि शब्दों पर, पृ० २०३-२०४ पर 'शंयु' शब्द पर और पृ० २०७-२०८ पर 'करम्भ' आदि शब्दों पर निघण्टु, निरुक्त, प्रातिशाख्य इत्यादि आर्ष ग्रन्थों के, पदमंजरी, न्यास, ऋक्संहिता-सायणभाष्य आदि के तथा निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य, वेदभाष्यकार भट्ट भास्कर, उव्वट, सायण-माधव, महीधर आदि के प्रमाण से विस्तार से विद्वन्मनोरंजक पद्धति से अच्छा विचार किया है। यहाँ अनेक स्थलों पर अनेक अन्य वैदिक पदों की स्वतन्त्र व्युत्पत्तियाँ भी दी गई हैं। इससे भाष्यकार के व्याकरण और स्वरप्रक्रिया विषयक गम्भीर ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है।

तृतीय अध्याय के भाष्य में अन्य भी अनेक विषयों पर शास्त्रीय विचार प्रस्तुत किये गये हैं। छठे मन्त्र के भाष्य (पृ० १२४-१२९) में पृथ्वीभ्रमण विषयक दयानन्दीय सिद्धान्त की समीक्षा की गई है। इस विषय में भूमिका, भाग दो में भी पर्याप्त विचार किया गया है (पृ० १२८७-१३००)। पृ० १३३-१३४ पर [९]आगमों एवं पुराणों में वर्णित विविध अग्नियों के नामों और स्थानों का विधानपारिजात नामक ग्रन्थ के आधार पर परिचय दिया गया है। वैदिक वाङ्मय में तीन अथवा पाँच अग्नियाँ विशेष रूप से वर्णित हैं, किन्तु यहाँ ६७ प्रकार की अग्नियों के नाम और धाम (कार्य) दिखाये गये हैं। नवें मन्त्र के भाष्य (पृ० १३७-१४४) में अग्निहोत्र के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि इस विषय पर शतपथ ब्राह्मण (२।३।१।१-३३) में विस्तार से विचार किया गया है। इसी प्रसंग में पृ० १४२ पर याज्ञवल्क्य-संमत पाकयज्ञ की प्रक्रिया भी व्याख्यात है। १३ वें मन्त्र की व्याख्या में काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण का पक्ष प्रस्तुत किया गया है।

मन्त्रों की व्याख्या करते हुए यहाँ अनेक स्थलों पर (पृ० १३७, १५५, १६९, १८३) सायण का और उव्वट-महीधर (पृ० १५७) का पक्ष भी प्रस्तुत किया गया है। पृ० १६१ पर चित्रावसु शब्द का व्याख्यान 'अन्यस्तु' कह कर दिया गया है। पृ० १७५ पर मीमांसा शास्त्र के पदविषयक सिद्धान्त की समीक्षा की गई है। २८ वें मन्त्र में (पृ० १८०) प्रसंगवश निरुक्त (६।१०) में की गई इस मन्त्र की व्याख्या पर विचार किया गया है और पृ० २३० पर भी निरुक्त में दी गई रुद्र पद की निरुक्ति को उद्धृत किया गया है। ३५ वें मन्त्र में गायत्री मन्त्र के काण्व और माध्यन्दिन संहिताओं के पाठ की समीक्षा की गई है और यहीं (पृ० १९१) भण्डासुर को भूंज डालने वाली भगवती त्रिपुरा की वन्दना की गई है।

४३ वें मन्त्र के भाष्य (पृ० २०४-२०५) में चातुर्मास्य कर्म के वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय नामक चार पर्वों का तथा दक्षिणा और उत्तरा नामक वेदियों का परिचय दिया गया है। पृ० २०७-२०८ पर प्रघास, करम्भ, मद आदि शब्दों की अशुद्ध व्युत्पत्तियों का उल्लेख कर इन पदों के सही अर्थों का बोध कराया गया है। पृ० २२७ पर 'अम्बिका' पद के और पृ० २३८-२३९ पर 'जमदग्नि' पद के अर्थ पर विचार किया गया है।

---

९. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, त्रिवेन्द्रम् संस्करण (१।१४।६-१४) देखिये।

अम्बिका के विशेषण के रूप में प्रयुक्त स्वसृ पद का अर्थ पत्नी है, भगिनी नहीं, इसको भी यहाँ स्पष्ट किया गया है। पृ० २४०-२४२ पर कालविभाग की विस्तार से चर्चा है और बताया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु आदि की आयु के विषय में [10]आनन्दकन्द आदि आयुर्वेद और तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में विचार अवश्य किया गया है, किन्तु प्रस्तुत मन्त्र में उनकी चर्चा कथमपि नहीं मानी जा सकती।

इस अध्याय के प्रथम मन्त्र में तथा अन्यत्र (पृ० १३१, १५२, १५८, १७६, १८१, १८३-१८४, १९८, २०३, २३०) भी दयानन्दीय मत की समक्षा में उनके व्याकरण-विषयक निष्कर्षों की ओर उनके समर्थन में दी गई पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु की टिप्पणियों की समीक्षा को गई है। स्वामी दयानन्द का भाष्य शतपथ ब्राह्मण के विपरीत ही अर्थ प्रस्तुत करता है, इसकी भी अनेक स्थलों पर चर्चा है। आठवें मन्त्र में त्रिंशद्धाम पद के अर्थ की समीक्षा है। नवें मन्त्र में दयानन्दीय अर्थ की समीक्षा कर शतपथ के प्रमाण से वस्तुस्थिति को स्पष्ट किया गया है।

१५ वें मन्त्र में अध्वर और यज्ञ शब्द के इनके द्वारा किये गये अर्थ की समीक्षा की गई है। ४७ वें मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है कि स्वामी दयानन्द इस मन्त्र में उत्क्षेपण आदि कर्मों का वर्णन बताते हैं, किन्तु उनका यह कथन सही नहीं है, क्योंकि यह तो वरुणप्रघास नामक अनुष्ठान का मन्त्र है। इसी तरह से ६२ वें मन्त्र में स्वामी दयानन्द के द्वारा 'जमदग्नि' पद की व्याख्या के प्रसंग में उपस्थापित प्रमाणों की विस्तार से सप्रमाण समीक्षा की गई है।

चतुर्थ व पंचम अध्याय

चतुर्थ अध्याय से प्रारम्भ कर [11]अष्टम अध्याय की ३२ वीं कण्डिका तक अग्निष्टोम याग के मन्त्र हैं। इनमें से चतुर्थ अध्याय में यजमान के संस्कार के साथ सोम के क्रय करने तक के मन्त्र हैं। भाष्यकार ने प्रथम मन्त्र के प्रारम्भ में सोम याग की प्रक्रिया को दिखाया है। इस याग को सम्पन्न करने की दो पद्धतियाँ हैं। एक तो यह कि जो सोम याग करना चाहता है, वह वसन्त ऋतु में अग्न्याधान के बाद पहले सोम याग करे और तब दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान करे। दूसरा पक्ष यह है कि अग्न्याधान के बाद पहले दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान करे, तदुपरान्त सोम याग सम्पन्न करे। आजकल सोमलता उपलब्ध नहीं होती, अतः उसके स्थान पर पूतीका लता में ही सोमलता के सारे संस्कार किये जाते हैं। यद्यपि यह यज्ञ एक दिन में ही पूरा हो जाता है, तो भी अपने अंगभूत अनुष्ठानों के साथ इसके पूरा होने में पाँच दिन लगते हैं। सोलह ऋत्विजों के द्वारा यह अनुष्ठान सम्पन्न किया जाता है।

अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता नामक चार ऋत्विक् अध्वर्युगण के अन्तर्गत आते हैं। ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र और पोता का ब्रह्मगण में; होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक और ग्रावस्तुत् का होतृगण में और उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य का उद्गातृगण में समावेश माना जाता है। गाय के रूप में जितनी दक्षिणा दी जाती है, उनका समान रूप से चार भाग कर दिया जाता है और एक-एक गण को एक-एक भाग दिया जाता है। इस एक भाग को पुनः विभक्त कर दिया जाता है। इनमें से अध्वर्यु का आधा भाग प्रतिप्रस्थाता, का तीसरा भाग नेष्टा का और चतुर्थ भाग

---

१०. आयुर्वेद और तन्त्रशास्त्र से संबद्ध 'आनन्दकन्द' नामक ग्रन्थ तंजोर सरस्वती महल सिरीज संख्या १५ में सन् १९५२ में प्रकाशित हुआ है। इसी नाम का एक चम्पू ग्रन्थ भी सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, वाराणसी संख्या ३६ में सन् १९३१ में प्रकाशित है।

११. यहाँ मन्त्रार्थ में गलती से "चौथे अध्याय में ३२ वीं कण्डिका तक" लिख दिया गया है।

उन्नेता का होता है। अन्य तीनों गणों में भी यही क्रम लागू होता है। इसीलिये इनको क्रमशः अर्धिनः, तृतीयिनः और पादिनः कहते हैं। कात्यायनयज्ञपद्धति विमर्श (पृ० १२-१३) में इस विषय को उदाहरण के साथ समझाया गया है।

इस यज्ञ के अनुष्ठान में तीनों वेदों का सहयोग रहता है। अग्निहोत्र का अनुष्ठान केवल यजुर्वेद से किया जाता है। दर्शपूर्णमास आदि इष्टियों का अनुष्ठान कुछ लोग ऋग्वेद और यजुर्वेद से तथा अन्य केवल यजुर्वेद से करते हैं। पशुयाग का अनुष्ठान सभी कोई ऋग्वेद और यजुर्वेद से करते हैं। सोम याग तथा अन्य इसी तरह के अनुष्ठान वेदत्रय-साध्य हैं। याजुष कर्म के अनुष्ठान के लिये अध्वर्युगण, हौत्र के अनुष्ठान में होतृगण, साम के अनुष्ठान में उद्गातृगण और तीनों गणों के द्वारा अनुष्ठीयमान कर्मों का पर्यवेक्षण करने के लिये ब्रह्मगण का नियोजन किया जाता है।

इतना सब बता देने के बाद अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र और ज्योतिष्टोम का स्वरूप बता कर प्रस्तुत भाष्य में कहा गया है कि त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश और एकविंश नामक चार स्तोम 'ज्योतिः' पद से अभिहित होते हैं। आगे बताया गया है कि सोम याग अन्य सभी यागों की प्रकृति है। इसकी प्रक्रिया का निरूपण करते हुए यहाँ (पृ० २) महावीरसंभरण, व्रतभक्षण, प्रवर्ग्यानुष्ठान, सुत्यादिवसीय अनुष्ठान, महाभिषव आदि का निरूपण कर बताया गया है कि यज्ञशालानिर्माण आदि की प्रक्रिया शतपथ ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के प्रथम अध्याय में विस्तार से कही गई है।

शतपथ ब्राह्मण में निर्दिष्ट विनियोग ही कात्यायन श्रौतसूत्र में निर्दिष्ट है। माध्यन्दिन संहिता के चतुर्थ अध्याय से षष्ठ अध्याय तक के मन्त्रों का विनियोग शतपथ ब्राह्मण के तृतीय काण्ड में तथा कात्यायन श्रौतसूत्र के ७-९ अध्यायों में वर्णित है। चतुर्थ अध्याय के भाष्य में मन्त्रार्थ, आध्यात्मिक अर्थ, दयानन्दमतखण्डन और अन्त में शतपथ ब्राह्मण को प्रायः उद्धृत किया गया है। पंचम अध्याय में मन्त्रार्थ के साथ शतपथ अथवा शतपथ के बाद मन्त्रार्थ को देकर आध्यात्मिक अर्थ के बाद ही दयानन्दीय मत की समीक्षा की गई है। शतपथ को प्रारम्भ में प्रायः वहीं उद्धृत किया गया है, जहाँ कि कात्यायनीय विनियोग नहीं मिलता। छठे अध्याय का भी प्रायः यही क्रम है। दयानन्दीय मत का उल्लेख प्रायः यहाँ अन्त में ही किया गया है। कहीं कहीं शतपथ श्रुति की व्याख्या अन्त में दी गई है (पृ० १०, १९)।

इस प्रसंग में हमें यह ध्यान रखना है कि ४-६ अध्यायों वाले इस भाग में ४-५ अध्यायों की पृष्ठसंख्या (१-२१५) और छठे अध्याय की पृष्ठसंख्या (१-८२) अलग-अलग है। इसी प्रकार चौथे अध्याय के १६ वें मन्त्र के भाष्य का क्रम विपर्यस्त हो गया है। यहाँ ४५ वें पृष्ठ का दूसरा अनुच्छेद पहले अनुच्छेद के रूप में पढ़ा जाना चाहिये।

सोमक्रय की प्रक्रिया पर यहाँ (पृ० ४८-४९, ७८-८०) विशेष प्रकाश डाला गया है। अनेक मन्त्रों की व्याख्या के प्रसंग में (पृ० १६-१७, ६४, ७२, ९३, १५२, १७१) सायण और उव्वट-महीधर के भाष्य को उद्धृत किया गया है और 'अवैयाकरणेन महीधरेण' कह कर उस पर किये गये आक्षेपों का परिहार किया गया है (पृ० ६५)। यहीं (पृ० ६७) माध्यन्दिन संहिता (४।२४) के 'छन्दोनामानाम्' पाठ के स्थान पर काण्वसंहिता में दिये गये 'छन्दोमानानाम्' पाठ की भी व्याख्या की गई है। यहाँ अनेक स्थलों पर (पृ० ११, ३९, ४२, ६७, ८८, ९०) दिखाया गया है कि शतपथ ब्राह्मण में भी हमारे सिद्धान्त-संमत अर्थ को ही समर्थन दिया गया है, दयानन्दीय अर्थ को नहीं।

स्वामी दयानन्द के मत की यहाँ विशेष समीक्षा की गई है। पृ० ५८ के (पूर्वोक्तानां चतुर्णां) प्रारम्भ से ६० वें पृष्ठ के (शतपथादिविरुद्धश्चायमर्थः) अन्त तक की यह पूरी सामग्री २२ वें मन्त्र की व्याख्या के अन्त में पृ० ६३ पर होनी चाहिये थी, क्योंकि तभी 'चतुर्णां मन्त्राणां' (४।१९-२२) पदों की सार्थकता होगी। यहाँ एक साथ चार मन्त्रों के दयानन्दीय अर्थ की आलोचना की गई है। पृ० १०५ पर कहा गया है कि पद और पदार्थ का जिसको बोध

नहीं है, वही इस तरह का अर्थ कर सकता है। अर्थ करते समय स्थान-स्थान पर लड़खड़ाते हुए भी ये महानुभाव उव्वट, सायण, महीधर जैसे प्राचीन आचार्यों की गलत समीक्षा करने में लज्जा का अनुभव नहीं करते। पृ० १२१-१२२ पर भी इसी तरह महीधर पर किये गये इनके गलत आक्षेप का समाधान किया गया है। वहाँ स्पष्ट किया गया है कि वैदिक छन्दों के निर्णय में प्रातिशाख्य अथवा पिंगल के छन्दःशास्त्र को कोई भी सहृदय विद्वान् अप्रमाण नहीं मान सकता। पृ० १२५ पर महीधर को पुनः अवैयाकरण कह कर किये गये आक्षेप का समाधान दिया गया है।

पृ० १२७ पर बताया गया है कि स्वामी दयानन्द श्रौत प्रक्रिया से पूरी तरह से अनभिज्ञ हैं। पृ० १२७-१२८ पर स्वामी दयानन्द और पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के अलंकार संबन्धी आक्षेपों का समाधान करते हुए कहा गया है कि अलंकार शब्द का नाम सुनकर पामर जन ही आकृष्ट हो सकते हैं, विद्वज्जन नहीं। स्वामी दयानन्द और पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का यह सारा आडम्बर केवल सामान्य लोगों को बहकाने के लिये है।

पृ० १३१ पर स्वामी दयानन्द ने पदकार के प्रमाण से महीधर के मत का खण्डन किया है। इस आक्षेप का यहाँ समाधान किया गया है और बताया गया है कि शतपथ ब्राह्मण के विपरीत होने से दयानन्दीय अर्थ ही अशुद्ध है। पृ० १४३ पर दिखाया गया है कि स्वामी दयानन्द की व्याख्या चार्वाक मत के बहुत पास है और स्वर्ग आदि लोकों के प्रसग में दिव्य भोगों की प्राप्ति के विज्ञान की बात करना व्यर्थ का घटाटोप मात्र है। 'न विधौ परः शब्दार्थः' शाबर-भाष्य के इस वचन का भी यहाँ पदे-पदे विरोध दिखाई पड़ता है।

पृ० १४९ पर इनके मत की समीक्षा करते हुये 'पठकाः पाठकाश्चैव' यह नीति श्लोक उद्धृत किया गया है और बताया गया है कि दयानन्दीय व्याख्यान में इस नीति वाक्य का ही नहीं, शतपथ वचन का भी विरोध स्पष्ट है। श्लोक का अभिप्राय यह है कि पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले और शास्त्र-चिन्ता में लगे हुए सभी व्यक्ति मूर्ख हैं, केवल क्रियावान्, अर्थात् अभ्यास में लगा हुआ व्यक्ति ही पण्डित है, वह किसी भी बात के रहस्य को जान सकता है। इसका आशय यह है कि स्वामी दयानन्द की व्याख्या ऐसे स्थलों पर केवल वाग्जाल को फैलाने वाली है। वे उसके वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं।

पृ० १५५ पर महीधर के लिये 'प्रबुक्कति' क्रिया का प्रयोग किया गया है। इसके उत्तर में उनके इस आक्षेप को घट आदि कार्य के पूर्ववर्ती पंचम अन्यथासिद्ध का रेंगना मात्र कहा गया है। पृ० १६५ पर दयानन्दीय अर्थ के विषय में कहा गया है कि यहाँ का अर्थ हमारे सिद्धान्त के बहुत विपरीत नहीं है, किन्तु इसका वास्तविक अभिप्राय त्रिविक्रमावतार के निरूपण में ही है। पृ० १७२-१७३ में स्वामी दयानन्द २३वें मन्त्र की व्याख्या करते हुए यहाँ भू-गर्भ विद्या का उल्लेख मानते हैं, किन्तु मन्त्रगत एक वाक्य से ही जब उनका अभीष्ट सिद्ध हो सकता है, तब यहाँ चार वाक्य क्यों दिये गये, इस प्रश्न का उनके पास कोई समाधान नहीं है। सिद्धान्त पक्ष में तो यहाँ चार उपरव (गर्त) बनाये जाते हैं, अतः प्रत्येक गर्त के लिये एक-एक मन्त्र की सार्थकता सिद्ध होती है।

चौथे अध्याय में सोम संबन्धी सारी प्रक्रिया को बताने के बाद पाँचवें अध्याय में ज्योतिष्टोम का प्रकरण प्रारंभ होता है। इस अध्याय के भाष्य में पहले मन्त्रार्थ, तब शतपथ वचनों की व्याख्या एवं आध्यात्मिक अर्थ और अन्त में दयानन्दीय अर्थ दिया गया है। कहीं-कहीं शतपथ वचन को उद्धृत करने के बाद मन्त्रार्थ निर्दिष्ट है।

यहाँ प्रारंभ में महीधर भाष्य के आधार पर बताया गया है कि सोम राजा के पाँच अनुचर माने जाते हैं—१. अग्नि, २. सोम, ३. अतिथि, ४. श्येन और ५. रायस्पोषद अग्नि। इनमें से प्रथम चार क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और गायत्री छन्दों के अधिष्ठातृ देवता हैं। अन्तिम रायस्पोषद अग्नि सभी छन्दों के अधिष्ठाता माने जाते हैं। इस प्रकार प्रथम और अन्तिम अग्नि का भेद स्पष्ट है। इसी पृष्ठभूमि में यहाँ प्रस्तुत मन्त्र की और पूरे प्रकरण की व्याख्या की गई है।

दूसरे मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में (पृ० ११५) अग्नि-मन्थन संबन्धी छः कर्मों का निरूपण इस प्रकार किया गया है—१. शकल का वेदि पर निधान, २. उसके ऊपर दो कुशों का निधान, ३. उनके ऊपर अधरारणि का निधान, ४. उत्तरारणि में घृत का लेपन, ५. उसको अधरारणि के ऊपर रखना और तब ६. अग्नि-मन्थन। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इसकी पूरी प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र में भी प्रदर्शित है।

पृ० १४९ पर पीतदारु और गुग्गुलु शब्दों के, पृ० १६६ पर लस्पूजनी शब्द के, पृ० १६८ पर उपरव शब्द के, पृ० १९१ पर तुथ शब्द के और पृ० २१२ पर वनस्पति पद के अर्थ पर विशेष विचार किया गया है। पृ० १६४ पर शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से विष्णु पद का अर्थ हविर्धान नाम का शकट किया गया है।

यहाँ १४ वें मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य के काण्वसंहिता-भाष्य को उद्धृत कर बताया गया है कि प्राचीनवंश नाम की शाला में आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नामक तीन अग्नियों के साथ ऐष्टिक वेदि स्थित रहती है। इस शाला के आगे ३६ पद की सौमिक वेदि का निर्माण किया जाता है। उस वेदि के अग्र भाग में उत्तर वेदि स्थित है। इसके मध्य भाग में हविर्धान नामक मण्डप का निर्माण किया जाता है। इसके बाद सद नाम वाली शाला निर्मित होती है। यहीं प्राचीन शाला के आगे दक्षिण और उत्तर भाग में हविर्धान नाम के दो शकट रखे जाते हैं। इन दोनों शकटों को पूर्वाभिमुख कर इनके छाजन के रूप में हविर्धान नाम का मण्डप बनाया जाता है। सावित्र होम के अनन्तर इन दोनों शकटों को गति दी जाती है। इसी पृष्ठभूमि में यहाँ काण्वशाखीय सायण भाष्य की पद्धति से और उव्वट की रीति से मन्त्र की अलग-अलग व्याख्या की गई है।

आगे (पृ० १५९) बताया गया है कि कुछ आचार्यों के मत के अनुसार उत्तरवेदि के पीछे संचरण करते समय तीन डगों को छोड़कर जिस देश में शकटों को लाया जाता है, वही हविर्धानों की मात्रा, अर्थात् रखने की जगह मानी जाती है। सिद्धान्त पक्ष में यह नियम स्वीकार नहीं है, किन्तु अपनी इच्छा के अनुसार इन्हें कहीं भी रखा जा सकता है। यह बात अवश्य है कि उन्हें बहुत दूर नहीं ले जाना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण (३।५।३।१९) में और कात्यायन श्रौतसूत्र (८।४।५) में इसी मत को स्वीकार किया गया है।

कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रदर्शित सारे विनियोग शतपथ ब्राह्मण का ही अनुसरण करते हैं, यह बात अनेक स्थलों पर स्पष्ट कर दी गयी है। यहाँ पृ० १८१ पर इसी विषय का स्मरण कराया गया है।

षष्ठ अध्याय

षष्ठ अध्याय की पृष्ठसंख्या अलग है, यह ऊपर बताया जा चुका है। यहाँ आरम्भ में ही बताया गया है कि सौमिक वेदिप्रधान पंचम अध्याय में आतिथ्येष्टि से लेकर यूपनिर्माण तक के मन्त्र प्रदर्शित हैं। अग्नीषोमीय पशुप्रधान षष्ठ अध्याय में यूप के संस्कार से लेकर सोमाभिषव के लिये उद्योग करने तक के मन्त्र दिये जाते हैं। इस प्रकरण के मन्त्रों की व्याख्या पहले जैसी औदुम्बर पात्र के संस्कार के प्रसंग में की गई है, वैसी ही यहाँ यूपसंस्कार के प्रकरण की भी की जाती है।

इस अध्याय में पहले कात्यायनीय विनियोग को देकर मन्त्रों की व्याख्या की गई है और दयानन्दीय मत की समीक्षा प्रायः अन्त में दी गई है। कुछ स्थलों पर कात्यायनीय विनियोग स्पष्ट उपलब्ध नहीं है। ऐसे स्थलों पर पहले शतपथ श्रुति को उद्धृत किया गया है (पृ० ३८, ६६, ६८, ७९, ८१)। शातपथी श्रुति कहीं-कहीं (पृ० १०, १९) दयानन्द के मत के बाद भी उद्धृत है।

कुछ स्थलों पर दयानन्दीय मत की विशेष समीक्षा की गई है। जैसे कि पृ० २ पर बताया गया है कि ऐसी व्याख्या किसी भी प्राचीन आचार्य ने नहीं की है। सायण आदि के व्याख्यान स्वयं अपने में स्वतन्त्र न होकर श्रुति-सूत्र मूलक हैं। इसी लिये वे उपादेय और विश्वसनीय हैं। पृ० ७ पर दयानन्दीय व्याख्या को मनोराज्यमात्र, अर्थात् मन-गढन्त माना है, क्योंकि यह पूरी तरह से केवल स्वामी दयानन्द की स्वच्छन्द कल्पनाशक्ति पर आधृत है, उसको कहीं से भी किसी शास्त्र का समर्थन नहीं मिलता। पृ० ११ पर सायण प्रोक्त पदव्युत्पत्ति का ये खण्डन करते हैं। भाष्यकार ने यहाँ संक्षेप में इसका समाधान दिया है। ७ वें मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने त्वष्टा शब्द का 'दुःख का नाश करने वाला सभापति' अर्थ किया है। यहाँ (पृ० १७-१८) शतपथ का विस्तृत उद्धरण देकर इस मत का निराकरण किया गया है। भारतीय वाङ्मय में त्वष्टा एक देवताविशेष के रूप में प्रसिद्ध हैं। पृ० ४१ पर कहा गया है कि सायण आदि के व्याख्यान श्रुतियों और सूत्र ग्रन्थों से प्रमाणित हैं। ऐसा किसी शास्त्र का समर्थन दयानन्दीय व्याख्यान को नहीं मिलता। पृ० ६० पर भी दयानन्दीय व्याख्यान के लिये पुनः कहा गया है कि इस तरह के व्याख्यान को यास्क, जैमिनि, व्यास, कात्यायन आदि आचार्यों का समर्थन नहीं मिला है।

पृ० २ पर यूप के प्रथम शकल, स्वरु और चषाल नामक तीन नेताओं का उल्लेख कर इसका अलग-अलग विनियोग दिखाया गया है। पृ० १२ पर सूचित किया गया है कि देवता मनुष्यों के मित्र हैं, इस बात को भूमिका भाग में ही सिद्ध कर दिया गया है। पृ० १४ पर अग्नीषोमीय यूप के प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से यूपैकादशिनी पक्ष का निरूपण किया गया है। पृ० २२ पर जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य की रचना दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के प्रथम श्लोक का स्मरण किया गया है। पृ० २४ पर एकादश प्राणों का और पाँच स्मार्त भूसंस्कारों का उल्लेख है। पृ० ४६ पर काण्वसंहिता के भाष्य में सायण द्वारा प्रदर्शित विधि से गुदकाण्ड की एकादश आहुतियों का और उनके मन्त्रों का निरूपण कर कहा गया है कि ये आहुतियाँ प्रतिप्रस्थाता द्वारा दी जाती हैं। पृ० ५१-५५, ६४-६५ और ६८ पर वसतीवरी, पृ० ६४, ६८ पर एकधन, पृ० ६४ पर पान्नेजन और पृ० ६५, ६९, ७६ पर निग्राभ्या नामक जलों का उल्लेख कर इनकी व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं और इनका स्वरूप एवं प्रयोजन भी निर्दिष्ट है। पृ० ६१ पर आख्यायिका के रूप में गन्धर्वों की विशेष प्रकृति का प्रदर्शन किया गया है।

यहाँ पहले उल्लेख किया जा चुका है कि कुछ मन्त्र निदानवान् होते हैं, अर्थात् उनमें निदान का, किसी आख्यायिका का प्रतीक रूप में उल्लेख मिलता है। ऐसे निदानवान् मन्त्रों की व्याख्या, बिना उस प्रासंगिक आख्यायिका को उद्धृत किये, संभव नहीं हो पाती। इन निदान कथाओं का उल्लेख हमें शतपथ ब्राह्मण आदि में मिलता है। ऐसा ही एक प्रसंग यहाँ ३३ वें मन्त्र में आया है और भाष्यकार ने शतपथ में वर्णित आख्यायिका का स्वरूप बताने के उपरान्त ही इस मन्त्र की व्याख्या की है।

भाष्यकार ने अनेक स्थलों पर (पृ० ३, १२, १६, २०, ४०, ४१, ५६) सायण के और उव्वट-महीधर (पृ० ३१, ३५) के भाष्यों को उद्धृत कर अपने व्याख्यान को पुष्ट किया है, उनके व्याख्यान के अनुसार अर्थान्तर को दिखाया है अथवा उनकी सहायता से दयानन्दीय अर्थ का खण्डन किया है। पृ० ३१ पर शतपथीय सायणभाष्य, काण्वसंहिता सायणभाष्य और उव्वट-महीधर के भाष्यों की समीक्षा कर बताया गया है कि शतपथ व्याख्यान में शोधक के प्रमाद से त्रुटि आ गई है। कुछ इसी तरह का प्रसंग पृ० ४० पर भी मिलता है। यहाँ सूत्रभाष्यकार आदि के द्वारा की गई विभिन्न व्याख्याओं का उल्लेख किया गया है।

आध्यात्मिक अर्थ का निरूपण करते समय ८ वें मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है कि जैसे शेषनाग भगवान् के लिये स्वयं अपने को शय्या, सिंहासन, छत्र, पादुका आदि के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं, उसी तरह से भक्तगण भी

अपने को सर्वतोभावेन भगवान् के प्रति समर्पित करते हैं। नवें और दसवें मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ एक साथ दिया गया है। अन्य कई जगहों पर भी ऐसा हुआ है कि दो या दो से अधिक मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ एक साथ दे दिया गया हो। दयानन्दीय मत को उपस्थापित करते हुए भी कहीं कही इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है। जैसा कि यहीं दयानन्दीय अर्थ भी दो मन्त्रों का एक साथ दिया गया है। इसी तरह से २० वें मन्त्र में भी आध्यात्मिक और दयानन्दीय अर्थ दो मन्त्रों का एक साथ दिया गया है। चतुर्थ अध्याय में तो चार मन्त्रों का (४।१९-२२) दयानन्दीय अर्थ एक साथ दिया हुआ है। २० वें मन्त्र में पुराणों और उपनिषदों का उल्लेख कर साधक के देवयान मार्ग से दिव्य लोकों में जाने की बात कही गई है। २६ वें मन्त्र में विज्ञानाधिष्ठात्री दस महाविद्याओं की और द्वादश ज्योतिर्लिंगों की भक्तों के द्वारा की जाने वाली आराधना का वर्णन है। ऊपर यह बताया ही जा चुका है कि आध्यात्मिक अर्थ और दयानन्दीय अर्थ को भाष्यसार की सहायता से जाना जा सकता है। अतः यहाँ कुछ विशेष विषयों की ही चर्चा की गई है।

छठे अध्याय में अनेक पारिभाषिक अथवा वैदिक शब्दों के अर्थ दिये गये हैं। यहाँ हम उनका पृष्ठानुक्रम से संकलन कर रहे हैं और इनका भाष्य प्रदर्शित अर्थ टिप्पणी में संगृहीत किया जा रहा है। वे शब्द ये हैं—[१२]मधु, रज्जु, व्याम, स्वरु, उपशय, पान्नेजन, चरित्र, वपा, स्तोक, ऊष्म, उपवसथ, पुरोरुच, उपांशुसवन और पवि। अन्य शब्दों के अर्थों की भी यथास्थान चर्चा आ चुकी है।

सप्तम से दशम अध्याय

सात से दस अध्याय तक के इस चौथे भाग में प्रायः सर्वत्र सर्वप्रथम मन्त्रार्थ, मन्त्रार्थ के समर्थन में शतपथ ब्राह्मण का उद्धरण और व्याख्यान, तब आध्यात्मिक अर्थ और अन्त में स्वामी दयानन्द के अर्थ की समीक्षा की गई है। इस पूरे भाष्य का प्रधान क्रम भी यही है। जहाँ कहीं इस क्रम में व्यत्यास हुआ है, उसका यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है। सातवें अध्याय के ३४ वें मन्त्र तक प्रातःसवन के, ३५ वें मन्त्र से अध्याय की समाप्ति तक माध्यन्दिनसवन के और आठवें अध्याय में सायंसवन के मन्त्र हैं। चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में ही यह बताया जा चुका है कि अष्टम अध्याय की ३२ वीं कण्डिका तक अग्निष्टोम याग का विधान है। इसी प्रसंग में छठे अध्याय में यूप-

---

१२. "सर्वं वा इदं मधु यदिदं किञ्चेति सर्वस्य मधुरूपत्वमुच्यते। 'इयं वै पृथिवी सर्वेषां मधु' (श० १४।५।५।१) इति मधुब्राह्मणेन सर्वं सर्वस्योपकारकत्वेन मोदकत्वान्मधूयते' (पृ० ४), 'त्रिगुणिता व्यामत्रयप्रमाणा कौशी रशना रज्जुः' (पृ० ११), 'प्रसारितभुजयोरन्तरालं व्यामः' (पृ० ११), 'यूपनिर्माणोपक्रमे कुठाराघातेन प्रथमच्छिन्नकाष्ठशकलं स्वरुपदवाच्यं भवति' (पृ० १२), 'त्रितष्टो यूप उपशय इत्युच्यते' (पृ० १२), 'पादौ निज्येते अनेनेति पान्नेजनो मुखाद्यवयवशोधनार्थो जलकलशः' (पृ० २७), 'चरित्रान् चरण-(गमन)साधनभूतान् पादान्' (पृ० ३०), 'उदरदेशेऽवस्थितो वपाख्यो मांसविशेषः' (पृ० ३४), 'वपाया उपरि आज्याभिघारणकाले पतिता बिन्दवः स्तोकाः' (पृ० ३५), 'ऊष्मशब्दोऽप्यन्तरिक्षपरः' (पृ० ४०), 'उपवसन्त्यासु वसतीवरीषु देवा अस्मिन् काले इत्युपवसथः, उपवासकाल इत्यर्थः' (पृ० ५२), 'पुरो याज्यानुवाक्याभ्यां पुरस्ताद् रुचिमिच्छां जनयन्ति देवताया इति पुरोरुचः' (पृ० ६५), 'यो ग्रावाऽध्वर्युणा गृहीतः स उपांशुसवनसंज्ञको भवति' (पृ० ६८), 'उपांशुग्रहार्थं सोमोऽभिषूयते येन स उपांशुसवनः पाषाणो निदानेन विवस्वत्संज्ञक आदित्य एव' (पृ० ७२), 'पविशब्दस्य वज्रेऽर्थे प्रसिद्धत्वात्... अथवा पविवद् बलवत्त्वात् पविः सोमः' (पृ० ६९), 'स सोमस्तायमानः संजायते यत्परम्परया आहुतिभावं गच्छन् जायते पुनः पुनः संभवति, अतो यन् जायत इति यञ्जः। अतो वस्तुतो यञ्ज इति तस्य नाम, तद् यज्ञ इति परोक्षेण व्यवहरन्ति' (पृ० ८१)।

संस्कार से लेकर सोमाभिषव पर्यन्त कार्यकलाप के सम्पादक मन्त्रों का विधान किया गया है। अब सातवें अध्याय में ग्रहों के ग्रहण में विनियुक्त मन्त्रों का वर्णन है।

सोम याग में दो प्रकार के ग्रह होते हैं—धाराग्रह और अधाराग्रह। इनका लक्षण भाष्य (पृ० १) में दिया गया है। ग्रह का अर्थ यहाँ दारुमय पात्र है, जिसमें [13]सोमरस का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर यहाँ (पृ० ३) बताया गया है कि प्रातःसवन में ही माध्यन्दिनसवन और सायंसवन का भी समावेश हो सकता है, अर्थात् जैसा त्रिकाल सन्ध्या का अनुष्ठान वैकल्पिक रूप से प्रातःसन्ध्या के साथ किया जा सकता है, उसी तरह से इन तीनों सवनों का अनुष्ठान भी प्रातःसवन के साथ ही सम्पन्न हो सकता है। यह गौण पक्ष है। मुख्य पक्ष में तो काल को ही प्रधानता दी जाती है। यह सवनत्रयात्मक कर्म ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के, अर्थात् तीनों वेदों के मन्त्रों से सम्पन्न होता है।

सोम याग सोमलता के रस से सम्पन्न होता है और सोमलता के उपलब्ध न होने से उसके स्थान पर आजकल पूतीका लता का ग्रहण किया जाता है। यह बात चतुर्थ अध्याय में ही बताई जा चुकी है। सुश्रुत आदि आयुर्वेद के ग्रन्थों के आधार पर यहाँ बताया गया है कि शुक्ल प्रतिपत् से लेकर पूर्णिमा पर्यन्त चन्द्रकला की वृद्धि के साथ इस लता के भी पत्रों की वृद्धि होती है और कृष्ण प्रतिपद् से लेकर अमावस्या पर्यन्त सोमकला के ह्रास के साथ इसके पत्ते भी एक-एक कर झड़ जाते हैं।

यहाँ स्थान-स्थान पर मन्त्रार्थ के प्रसंग में उव्वट, महीधर, सायण, भट्ट भास्कर आदि आचार्यों का, यास्क के निरुक्त का तथा अनुष्ठान की पद्धति के प्रसंग में कर्क, देवयाज्ञिक, अनन्त आदि कात्यायन श्रौतसूत्र के व्याख्याकारों का, तथा वृत्तिकार का भी मत दिया गया है। तैत्तिरीय संहिता और आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का भी यथास्थान उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या करते समय प्राचीन भाष्यकार हरिस्वामी का और सायण के द्वारा निर्दिशित अन्य मतों का भी उल्लेख करने से भाष्यकार कहीं चूके नहीं हैं। ऋजीष शब्द का यहाँ अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। सोमलता से रस निकाल लेने के बाद जो सिट्टी बची रहती है, उसे ही 'ऋजीष' कहते हैं (पृ० १६८)। महार्थमंजरी की परिमल व्याख्या (पृ० १२३) में एक श्लोक मिलता है—

पुण्ड्रेक्षोरिव मन्त्रस्य माधुर्ये हृदयस्पृशि।
ऋजीषमानने तिष्ठत्यक्षरोच्चारलक्षणम्॥

यहाँ गन्ने के रस को चूस लेने के बाद मुँह में बची उसकी सिट्टी के लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। हम कह सकते हैं कि किसी भी रसदार वस्तु के रस को निकाल लेने के बाद बची हुई सिट्टी के लिये इस शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। ऋजीष शब्द का अर्थ भस्म करना हमारी समझ में उचित नहीं है। यह लिपिकार का प्रमाद लगता है (पृ० १६५)।

छठे मन्त्र के भाष्य में उद्धृत शतपथ वचन में चरकशाखीय मत की निन्दा की गई है। इस प्रसंग में भाष्यकार ने बताया है कि मीमांसा के एक न्याय के अनुसार ऐसे वाक्यों का किसी पक्ष की निन्दा करने में तात्पर्य न होकर अपने पक्ष की प्रशंसा में उनका विनियोग किया जाता है। यहाँ के कुछ मन्त्रों का अर्थ शतपथ ब्राह्मण के विस्तृत उद्धरणों के आधार पर किया गया है। इस बात को भी यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि इस प्रकरण में ग्रह शब्द से सर्वत्र सोमरस से भरे हुए पात्र गृहीत होते हैं। यहीं प्रसंगवश वाणी की परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक चार अवस्थाओं की भी चर्चा है।

---

१३. "गृह्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या ग्रहो दारुमयं पात्रमंशुनामकम्" (पृ० २)।

नवें मन्त्र के भाष्य में तैत्तिरीय संहिता को उद्धृत करते हुए आध्यात्मिक और आधिभौतिक के भेद से मैत्रावरुण देवता की द्विविध सत्ता की व्याख्या की गई है। १० वें मन्त्र में [१४]श्रपण शब्द का अर्थ बताया गया है। ११ वें मन्त्र में शतपथ के प्रमाण से आश्विन पात्र को यज्ञ का श्रोत्र कहा गया है। अगले मन्त्र में महीधर के पक्ष को उद्धृत कर कहा गया है कि यहाँ उन्होंने उव्वट और सायण के अर्थ को भी प्रस्तुत किया है।

इस अध्याय के १४ वें मन्त्र में संस्कृति शब्द प्रयुक्त है। आजकल यह फैशन चल पड़ा है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में संस्कृति शब्द कहीं प्रयुक्त ही नहीं हुआ है। ऐसे महानुभावों को प्रस्तुत मन्त्र का अध्ययन करना चाहिये। १५ वें मन्त्र में शतपथीय सायण भाष्य और उव्वट भाष्य के अनुसार [१५]होत्रा शब्द का अर्थ बताया गया है। १८ वें मन्त्र में शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता और सूर्यसिद्धान्त के प्रमाण से ग्रहों की गति पर संक्षिप्त विचार किया गया है। १९-२० मन्त्रों की व्याख्या एक साथ की गई है। यहाँ सोमरस की दो धाराएँ दी जाती हैं। इसकी पद्धति यहाँ कात्यायन श्रौतसूत्र के कर्क भाष्य की पद्धति से बताई गई है। इन्हीं मन्त्रों के भाष्य में 'अन्ये' पद से किसी आचार्य के मत का उल्लेख कर उसकी समीक्षा की गई है और प्रमाणस्वरूप सायणाचार्य का मत भी प्रस्तुत किया गया है। २१ वें मन्त्र में भी शतपथ के आधार पर अन्य शाखाकारों के मत का उल्लेख है। यहीं [१६]ब्रह्मवर्चस् पद का अर्थ भी दिया गया है।

२२ वें मन्त्र में शतपथ ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण और जैमिनि सूत्र के प्रमाण से ऋक्, प्रगीत आदि पदों का विश्लेषण किया गया है। २३ वें मन्त्र में शतपथ के प्रमाण से चरकाध्वर्यु शाखा का मत उद्धृत है। पृ० ७० पर विश्वानर पद की व्युत्पत्ति वैयाकरणों के लिये अवलोकनार्ह है। ३५ वें मन्त्र के भाष्य में बताया गया है कि शतपथ में बड़े समारोह के साथ इस मन्त्र का विस्तृत व्याख्यान किया गया है। कात्यायन के अनुसार ३७ से ४० संख्या तक के चार मन्त्रों की संज्ञा वाचस्तोम है। ४१ वें मन्त्र में [१७]दक्षिणाहोम पद का अर्थ दिया गया है और ४९ वें मन्त्र में शतपथ की व्याख्या के प्रसंग में हिरण्य को आयु तथा जल को [१८]वज्र बताया गया है।

शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से इस अध्याय में पाँच आख्यायिकाओं का उल्लेख है। पहली आख्यायिका (पृ० ३-४) में उपांशुग्रह की सवनत्रयात्मकता के प्रसंग में असुरों और राक्षसों की कथा बताई गई है कि उन्होंने तीनों सवनों के स्थान पर केवल प्रातःसवन को ही क्यों मान्यता दी। दूसरी आख्यायिका मित्र देवता से संबद्ध है (पृ० २९)। वृत्रासुर के वध के प्रसंग में मित्र देवता सबका मित्र होते हुए भी यज्ञ में अपना भाग पाने के लिये इस अमित्र कार्य में देवताओं का साथ देते हैं। तीसरी आख्यायिका (पृ० ३१-३२) अश्विनीकुमारों से संबद्ध है। कुरुक्षेत्र में यज्ञ करते समय देवगण मनुष्य लोक से संबद्ध होने और वैद्य होने के कारण भी अश्विनीकुमारों को हवि का अधिकारी नहीं मानते। अश्विनीकुमारों ने देवताओं के यज्ञ को शिरोविहीन कर दिया और बाद में देवताओं के आग्रह पर यज्ञ के शिर का पुनः सन्धान किया। यहाँ बताया गया है कि प्रवर्ग्य ब्राह्मण में इस कथा को विस्तार से बताया गया है। इस कथा की चर्चा नवाध्यायी(३१-३९)भाष्यनिष्कर्ष (पृ० १३-१४) में विस्तार से की जा चुकी है। इसी प्रसंग में यहाँ

---

१४. "श्रपणं च द्रव्यान्तरसंसर्गः" (पृ० २८)।

१५. "उव्वटादिरीत्या होत्राशब्देन होत्रिकयाज्याच्छन्दोऽभिमानिन्यो देवता विवक्षिताः। शतपथीयसायणभाष्यरीत्या तु मैत्रावरुणो ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा आग्नीध्रश्च होत्रापदव्यपदेश्याः" (पृ० ४५)।

१६. "वृत्तस्याध्ययनस्य समृद्धिर्ब्रह्मवर्चसं भवति" (पृ० ६०)।

१७. 'दक्षिणाप्रयोजको होमो दक्षिणाहोम" (पृ० १०५)।

१८. "आयुर्हि हिरण्यमिति प्रसिद्धम्।....वज्रो वा आपः" (पृ० ११५)।

(पृ० ३२) यह भी बताया गया है कि अथर्ववेदीय दध्यङ् ऋषि ने इनको मधुविद्या का उपदेश किया था। पृ० ३४-३५ पर शण्डामर्क की आख्यायिका दी गई है। ये दोनों असुरगुरु शुक्राचार्य के शिष्य और पुत्र थे। ये असुरों और राक्षसों की सहायता किया करते थे। देवताओं ने इनको कैसे फंसाया, यही यहाँ वर्णित है। प्रसंगवश यहाँ (पृ० ३६) मन्त्र-शास्त्र की चर्चा आई है। शण्ड नामक असुरपुरोहित के प्रति प्रयुक्त आभिचारिक यजुर्मन्त्र का उल्लेख पृ० ३४ पर भी मिलता है। आगे पृ० ९४ पर सुकन्या के पिता शर्याति की आख्यायिका दी गई है।

दयानन्दीय अर्थ की प्रायः सभी बातें भाष्यसार में आ गई हैं। शतपथ ब्राह्मण का संकेत करते हुए भी ये उसके विपरीत ही अर्थ करते हैं (पृ० ११), यह बात भी अनेकों स्थलों पर कही जा चुकी है। श्रुति-स्मृति-पद्धति का विरोध भी इनके लिये कोई विशेष बात नहीं है। यहाँ कुछ विशेष बातें इस प्रकार हैं कि १६ वें मन्त्र की व्याख्या में ये निरुक्त के दो उद्धरणों को अपने अर्थ के समर्थन में प्रस्तुत करते हैं, किन्तु भाष्यकार ने यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि ये वचन उनके अर्थ का समर्थन किसी प्रकार भी नहीं करते। २५ वें मन्त्र में यम और नियम को अभिन्न मान लिया गया है। योगशास्त्र और संक्षेपशारीरक को उद्धृत करते हुए यहाँ उनके अर्थ की असत्यता सिद्ध कर दी गई है। ४३ वें मन्त्र में 'सुपथा' पद का अर्थ 'योग मार्ग' किया गया है, जो कि उचित नहीं है। शास्त्रों में दक्षिणायन और उत्तरायण, इन दो मार्गों का ही उल्लेख मिलता है। योगशास्त्र का अनुयायी भी इन्हीं मार्गों का अनुसरण करता है। अतः योगशास्त्र का योगमार्ग के रूप में अलग से उल्लेख शास्त्रसंमत नहीं माना जा सकता। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द मनुस्मृति का सहारा लेते हैं। इस पर भाष्यकार का कहना है कि यह बाढ में बहते हुए आदमी के लिये कुशा अथवा काश का सहारा लेने के समान है, अर्थात् यह वचन भी उनके मत को सिद्ध नहीं कर सकता। उव्वट, सायण, महीधर आदि के व्याख्यान तो श्रुति, सूत्र, पद्धति और परम्परा के भी अनुकूल हैं।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि २-३ अध्यायों के भाष्यसार में तो उद्धृत सुभाषित वचनों का भी भाषानुवाद कर दिया गया था, किन्तु आगे ऐसा नहीं किया गया। प्रस्तुत भाग की भी यही स्थिति है।

अष्टम अध्याय

सातवें अध्याय में उपांशु ग्रह आदि से संबद्ध प्रातःसवन और माध्यन्दिनसवन के दक्षिणादान पर्यन्त मन्त्र उपदिष्ट हुए हैं। अब आठवें अध्याय में आदित्य आदि देवताओं के ग्रहों का निरूपण किया जा रहा है। ये ग्रह तृतीय सवन से संबद्ध हैं।

द्वितीय मन्त्र के भाष्य में बृहती छन्द का लक्षण दिया गया है। यहाँ शतपथ ब्राह्मण और काण्व संहिता के सायण कृत भाष्यों की व्याख्यान-पद्धति प्रदर्शित है और शतपथ के प्रमाण से बताया गया है कि प्रातःसवन के वसुगण, माध्यन्दिनसवन के रुद्रगण और सायंसवन के देवता आदित्यगण हैं। यहीं प्रातःसवन और माध्यन्दिनसवन को अमिश्र तथा सायंसवन को मिश्र बता कर उसका कारण दिया गया है। तृतीय मन्त्र की व्याख्या में भगवान् सूर्य के लिये कहा गया है कि ये उदय, ताप, पाक और प्रकाश के द्वारा प्राणियों पर सदा अनुग्रह करते रहते हैं। काण्व संहिता के सायण भाष्य में तुरीय पद का तृतीय अर्थ किया गया है। तदनुसार भी मन्त्र की व्याख्या की गई है। चतुर्थ मन्त्र की शतपथीय सायण भाष्य के अनुसार व्याख्या की गई है और बताया गया है कि शतपथ ब्राह्मण में 'केचित्' पद से तैत्तिरीय शाखा का ग्रहण किया गया है। यह बता कर प्रसंगवश यहाँ मीमांसा शास्त्र के 'नहि निन्दा' न्याय को स्मरण किया गया है। पाँचवें मन्त्र में [१९]दशापवित्र शब्द का अर्थ दिया गया है।

---

१९. "दशाभिः स्वाञ्चलैः, पवित्रेण पावनार्थेन वस्त्रेण" (पृ० १३१)। अर्थात् सोमरस को छानने का वस्त्र।

छठे मन्त्र में बताया गया है कि मनस् शब्द से इस मन्त्र में अध्यवसायात्मिका बुद्धि गृहीत है। नवें मन्त्र के भाष्य में शतपथ ब्राह्मण (४।४।२।८-९) का व्याख्यान करते समय प्रसंगवश बताया गया है कि [२०]पित्र्य धन में स्त्रियों का तथा षड्विध स्त्रीधन में दायादों का अधिकार नहीं है। ११ वें मन्त्र में वृत्तिकार के मत से [२१]हारियोजन पद का अर्थ दिया गया है। १२ वें मन्त्र में अवघ्राण (सूंघना) को ही भक्षण बताया गया है। अगले मन्त्र में शाकल शब्द का अर्थ आजकल प्रचलित अर्थ शाकला दिया गया है। १७ वें मन्त्र में नौ निधियों का उल्लेख है। इनके नाम अमरकोश के क्षेपक में इस प्रकार मिलते हैं—

महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव॥ (१।१।७१)

२५ वें मन्त्र में शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत करते हुए अवभृथ से संबद्ध दो पक्षों का उल्लेख किया गया है। एक पक्ष में छः तथा दूसरे में दस आहुतियाँ विहित हैं। [२२]अवभृथ शब्द का इस प्रकरण में निर्दिष्ट अर्थ सायण के प्रमाण से २७ वें मन्त्र में देखा जा सकता है।

यह बताया जा चुका है कि आठवें अध्याय की ३२ वीं कण्डिका तक अग्निष्टोम याग का विधान है। इस तरह यहाँ अग्निष्टोम का प्रकरण समाप्त हो जाता है और आगे ३३ वें मन्त्र से षोडशी ग्रह का विधान चलता है। इसका ग्रहण १६ स्तोत्रों के पाठ के साथ किया जाता है, इसलिये इसे षोडशी कहते हैं। पृष्ठ्य याग के चौथे दिन षोडशी ग्रह का ग्रहण किया जाता है। प्रातःसवन में आग्रयण ग्रह के ग्रहण के बाद आग्नेय अतिग्राह्य को लेकर खादिर काष्ठ के चतुष्कोण उलूखल में इस ग्रह का ग्रहण किया जाता है। ग्रहण करते समय यहाँ ३३ वीं और ३४ वीं कण्डिका के मन्त्रों का पाठ किया जाता है। अतिग्राह्य ग्रह तो एक ही है, तो भी श्रौतसूत्र में इसके लिये बहुवचन का प्रयोग इसलिये किया गया है कि विश्वजित् याग से यह संबद्ध है और विश्वजित् याग में तीन अतिग्राह्य ग्रहों का ग्रहण विहित है। ३४ वीं और ३५ वीं कण्डिका के मन्त्रों से षोडशी ग्रह का भी ग्रहण किया जाता है। ३६ वें मन्त्र में षोडशी ग्रह की पर ब्रह्म के रूप में स्तुति की जाती है। यह षोडशी षोडशकलात्मक लिंगशरीर से उपहित है। इन १६ कलाओं के नाम प्रश्नोपनिषद् (६।४) में इस प्रकार दिये गये हैं—१. प्राण, २. श्रद्धा, ३. आकाश, ४, वायु, ५. ज्योति, ६. आपः, ७. पृथिवी, ८. इन्द्रियम्, ९. मनः, १०. अन्नम्, ११. वीर्यम्, १२. तपः, १३. मन्त्राः, १४. कर्म, १५. लोकाः, १६. नाम। ३७ वीं कण्डिका के मन्त्रों से षोडशी ग्रहगत सोम का भक्षण किया जाता है और इसके साथ ही षोडशी ग्रह का प्रकरण पूरा हो जाता है।

३८ वीं कण्डिका से द्वादशाह के मन्त्र विहित हैं। अतिरात्र के बाद छः दिन तक पृष्ठ्य संज्ञक क्रतु चलता है। इनमें प्रथम क्रतु अग्निष्टोमसंस्थ और चतुर्थ षोडशीसंस्थ है। द्वितीय, तृतीय, पंचम और षष्ठ दिनों में सम्पन्न होने वाले अनुष्ठान उक्थसंस्थ कहलाते हैं। छः दिन तक चलने वाले पृष्ठ्य सत्र में प्रथम दिन वैकंकत पात्रों में अतिग्राह्य संज्ञक ग्रहों का ग्रहण ३८-४० कण्डिकागत मन्त्रों के उच्चारण के साथ किया जाता है। [२३]अतिग्राह्य पद की व्युत्पत्ति भी

---

२०. "प्रसङ्गात् स्त्रीणां पित्र्यस्य धनस्य वा षड्विधस्य स्त्रीधनस्य दायस्यानीश्वरत्वोपवर्णनम्" (पृ० १४०)।

२१. "द्रोणकलशे आग्रयणाद् यो रसो गृहीतः, स एव हारियोजनसंज्ञको भवतीति वृत्तिकारः" (पृ० १४४)। "छन्दांसि वै हारियोजनः" (पृ० १४५)।

२२. अवाचीनानि पात्राणि जलमध्ये ह्रियन्ते यस्मिन् यज्ञविशेषे सोऽवभृथ इति काण्वभाष्ये सायणाचार्यः" (पृ० १७१)।

२३. "इतरग्रहानतिक्रम्य दुष्प्रापं फलं गृह्णत एभिरित्यतिग्राह्याः" (पृ० १८६)।

यहाँ दी गई है। कण्डिकाओं के उत्तर शेष भाग से उन ग्रहों का भक्षण किया जाता है। इसी के साथ द्वादशाह का विधान पूरा हो जाता है।

गवामयन, गर्गत्रिराज, महाव्रत आदि से संबद्ध आगे के मन्त्रों का विनियोग भाष्यसार में बता दिया गया है। ५० वें मन्त्र की व्याख्या में प्रातःसवन के अग्नि, माध्यन्दिनसवन के इन्द्र और सायंसवन के देवता विश्वेदेव बताये गये हैं। ५२ वें मन्त्र के भाष्य में [२४]कूबरी और [२५]सत्र पद का अर्थ दिया गया है। अगले मन्त्र का अर्थ निरुक्त की पद्धति के अतिरिक्त सायण और महीधर की पद्धति से भी किया गया है। आगे के ५४-५९ मन्त्रों में मिट्टी के बने घर्मपात्र के सोमाभिषव की विभिन्न अवस्थाओं में टूट जाने पर उसके प्रायश्चित्त के निमित्त सोम की विभिन्न स्थितियों को नामित किया गया है और उन्हीं नामों से प्रायश्चित्ताहुति देने का विधान निर्दिष्ट है। इस विषय की चर्चा [२६]आगे भी मिलती है। घर्मभेद की स्थिति में प्रायश्चित्त के निमित्त आहुतियों का विधान होने से शतपथ के इस प्रकरण को प्रायश्चित्त ब्राह्मण नाम दिया गया है। सोमयागीय कर्मों की त्रुटियों का इससे परिमार्जन किया जाता है।

६० वें मन्त्र में कात्यायन श्रौतसूत्र के व्याख्याकार देवयाज्ञिक का मत उद्धृत है। ६२ वें मन्त्र में बताया गया है कि यह प्रायश्चित्त ब्रह्मा के द्वारा किया जाता है। मन्त्रों का वाचन और आज्य का संस्कार भी वही करता है। यज्ञीय यूप पर काक के बैठ जाने पर भी प्रायश्चित्त प्रयुक्त आहुति देनी पड़ती है। इस अध्याय में अन्तिम ६३ वीं कण्डिका में इसके लिये मन्त्र पठित है। यहाँ विशेष बात यह बताई गई है कि सोमयाग में उद्‌गाता और पशुयाग में ब्रह्मा के द्वारा यह आहुति दी जानी चाहिये।

इस अध्याय के मन्त्रभाष्य में तैत्तिरीय संहिता, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त सत्याषाढ श्रौतसूत्र और कात्यायन श्रौतसूत्र के देवयाज्ञिक कृत भाष्य का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है।

शतपथ ब्राह्मण (पृ० १२३) में आदित्यों के द्वारा उपदिष्ट दो देवताओं वाले मन्त्रों का प्रयोजन क्या है, इससे संबद्ध आख्यायिका वर्णित है। पृ० १३१ पर सवनत्रय से संबद्ध तथा पृ० १३८ पर वायु और प्राण सम्बन्धी आख्यायिका मिलती है। पृ० १४५ पर देवताओं के द्वारा सन्तर्पित छन्दों का इतिहास दिया गया है। पृ० १७३-१७४ में अनुबन्ध्या गौ से सम्बन्ध रखने वाली तथा प्रजापति और सन्ध्या से सम्बन्ध रखने वाली आख्यायिका देखी जा सकती है। पृ० १८० पर षोडशी ग्रह सम्बन्धी इतिहास वर्णित है। आध्यात्मिक अर्थ के प्रसंग में यहाँ (पृ० १३३) पुरंजनोपाख्यान निर्दिष्ट है। यह कथा श्रीमद्भागवत (४।२५–२९ अ०) में देखी जा सकती है। प्रसंगवश उद्धृत सुभाषितों का भाष्यसार में अर्थ नहीं दिया गया। इस कमी की ओर हम पहले भी इंगित कर चुके हैं, जब कि २–३ अध्यायों के भाष्यसार में यह त्रुटि नहीं थी।

दयानन्दीय अर्थ के प्रसंग में विशेष बात इतनी ही है कि उनके सम्प्रदाय के अनुयायी पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने भी इनकी त्रुटियों का यत्र तत्र उल्लेख किया है (पृ० १२९, २२०)। पृ० १४९ में बताया गया है कि मनुष्य की शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त के बिना अपने पापों को भी दूर करने की सामर्थ्य नहीं है, तो वह दूसरे के पापों को कैसे दूर करेगा। पृ० १५३ पर स्वामी दयानन्द के साथ किसी अन्य विद्वान् के मत को भी उद्धृत कर उसका खण्डन किया गया है। पृ० १७३

---

२४. "कूबरी ईषाधारिणी विष्कम्भिका" (पृ० २०७)।

२५. "ब्राह्मणेषु सूत्रेषु च प्रसिद्धं सत्रमनेकयजमानकर्तृकम्" (पृ० २०८)।

२६. आगे ३९ वें अध्याय के १-६ मन्त्रों में घर्मभेद प्रयुक्त प्रायश्चित्ताहुतियों का विधान है।

पर अवभृथ शब्द के अर्थ की आलोचना करते हुए बताया गया है कि यज्ञीय पदों का जो अर्थ श्रौतसूत्र और ब्राह्मण ग्रन्थों में दिया गया है, वही हमारे लिये मान्य हो सकता है। पृ० १८३ पर दिखाया गया है कि वेद में व्यक्ति-विशेष की चर्चा नहीं मानी जा सकती। ऐसा मानने पर वेदों पर अनित्यता की आपत्ति आ जायगी। पृ० १८५ पर दिखाया गया है कि श्रुति के अनुसार वाजपेय और राजसूय यज्ञों का अनुष्ठाता ही सम्राट् अथवा राजा माना जा सकता है। पृ० १८७ पर स्वामी दयानन्द ने सर्वत्र देव शब्द का प्रयोग मनुष्य के लिये किया है, जो कि उचित नहीं है, इस बात का उल्लेख करते हुए यहाँ स्मरण दिलाया गया है कि देव एक अलग योनि है, इस बात को प्रबल प्रमाणों के आधार पर भूमिका भाग में (पृ० ६२६-६७५) स्थापित किया जा चुका है। पृ० १९४ पर बड़े आश्चर्य के साथ इस बात का उल्लेख किया गया है कि स्वामी दयानन्द श्रुति और सूत्रों को ही नहीं, लोकप्रसिद्धि को भी लाँघ कर मन्त्रार्थ करते हैं, जो कि सर्वथा अनुचित है। पृ० २१५ और २२० पर इनके द्वारा महीधर पर आरोपित भ्रान्ति का निराकरण कर दिया गया है। पृ० २१६ पर क्षीरश्री और सक्तुश्री शब्दों के अशुद्ध अर्थ को सूचित किया गया है। पृ० २२२ पर 'घर्म' शब्द के सम्बन्ध में और ३४ आहुतियों के सम्बन्ध में इनकी भ्रान्तियों को शतपथ के प्रमाण से दिखाया गया है।

नवम अध्याय

नवें अध्याय की ३४ वीं कण्डिका तक वाजपेय याग से संबद्ध मन्त्र उपदिष्ट हैं। इनका विनियोग भाष्यसार में दिया तो गया है, किन्तु अनेक स्थलों पर आवश्यक पदों का अर्थ छोड़ दिया गया है। इसके कारण विनियोजक वाक्य अधूरे रह जाते हैं। इस कमी की पूर्ति हमने विषयानुक्रमणी बनाते समय की है। अन्य कुछ विनियोगों का खुलासा यहाँ किया जा रहा है। द्वितीय कण्डिका के भाष्य में बताया गया है कि प्रातःसवन में आग्रयण ग्रह के ग्रहण के बाद तीन अतिग्राह्य ग्रहों को पूर्ववत् ग्रहण कर उसी पद्धति से षोडशी ग्रह का भी ग्रहण करे। इस कण्डिका के तीन मन्त्रों से और ३-४ कण्डिकाओं के दो मन्त्रों से पाँच वाजपेयिक ग्रहों का यहाँ ग्रहण किया जाता है। चौथे मन्त्र के उव्वट, सायण और महीधर कृत अर्थों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। पंचम मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है कि वज्र ही स्फ्य, रथ और यूप का स्वरूप धारण कर त्रिधा विभक्त हो जाता है। छठे मन्त्र में [२७]कल्लोल और ककुद्मान् शब्दों का तथा नवें मन्त्र में [२८]प्रष्टि शब्द का अर्थ दर्शनीय है। इसी तरह पृ० २४५ पर [२९]स्कम्भन और पृ० २४६ पर [३०]क्षिपणि शब्द का अर्थ दिया गया है।

१५ वें मन्त्र की व्याख्या में सायण और उव्वट की व्याख्या उद्धृत है। २० वीं कण्डिका के भाष्य में पृ० २५५ की पहली पंक्ति में 'आयुर्यज्ञेन' के स्थान पर 'आपये स्वाहा' यह पढ़ा जाना चाहिये। २१ वें मन्त्र की व्याख्या में [३१]प्राण, अरत्नि, कोश और अर्धोरुक शब्दों का अर्थ अवलोकनीय है। अजा के विषय में भाष्य में अनेक स्थलों पर इस विषय का उल्लेख किया गया है कि वह वर्ष में दो-तीन बार दो या तीन बच्चे देती है। यहाँ

---

२७. "ककुदिति वृषभस्योन्नतः स्कन्धप्रदेशः, तत्सामान्यादुदकसंघातोऽप्युन्नततमः ककुच्छब्देनोच्यते। बहुभिरुदकनिचयैः संयुक्तो महाप्राग्भार उदकसंघातवानूर्मिः कल्लोलः ककुद्मान्" (पृ० २३४)।

२८. "प्रष्टिर्नाम पादत्रयोपेतो भोजनपात्रादेराधारः" (पृ० २३८)।

२९. "स्कम्भनं नाम वेगेनाक्रमणं मार्गान् पृष्ठतः कृत्वा पुरो धावनम्" (पृ० २४५)।

३०. "क्षिप्यते प्रेर्यतेऽनयेति क्षिपणिः कशा" (पृ० २४६-२४७)।

३१. "प्राणो मुखनासिकाप्रभवो वायुः पञ्चवृत्तिकः" (पृ० २५७), "चतुर्विंशत्यङ्गुलोऽरत्निः" (पृ० २५८), "कृमिकोशविकारभूतं वासः कौशम्,....यद्वा कौशं कुशमयं चण्डातकमर्धोरुकं .. नृत्तोपयिकत्वेनाच्छादनीयमुरु-कञ्चुकमर्धोरुकं वासः" (पृ० २५९)।

(पृ० २६३) भी यह बात उल्लिखित है। २३ वें मन्त्र के भाष्य में आपस्तम्ब श्रौतसूत्र वर्णित अन्नों का तथा महाभाष्य वर्णित सप्तदशविध अन्नों का उल्लेख किया गया है। भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से १७ प्रकार के अन्नों के नाम भी दे दिये हैं (पृ० २६५)। चार (३१-३४) उज्जिति संज्ञक मन्त्रों के साथ यह वाजपेय प्रकरण समाप्त होता है।

३५ वीं कण्डिका से राजसूय यज्ञ का प्रकरण चलता है। यहाँ (पृ० २८१-२८४) भाष्यकार ने मन्त्रों की व्याख्या करने से पहले आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के 'स्वाराज्यकाम' और 'राजा' पदों पर अनेक ग्रन्थों की सहायता से विचार प्रस्तुत किया है। ग्रन्थों के नाम भाष्यसार में गिना दिये गये हैं। पूरा विचार कर लेने के उपरान्त भाष्य में स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रस्तुत प्रकरण का राजपद केवल क्षत्रिय राजा के लिये ही प्रयुक्त होता है। मीमांसा शास्त्र में रुचि रखने वाले जिज्ञासुओं के लिये यह प्रसंग विशेष रूप से अवधेय है।

राजसूय यज्ञ की प्रक्रिया को बताते हुए यहाँ कहा गया है कि फाल्गुन की पहली दशमी के दिन अनुमति के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश देनें चाहिये। अनुमति पौर्णमासी की अधिष्ठात्री देवता मानी जाती है। तण्डुल अथवा अन्य हविष्य द्रव्यों को पीसते समय शिला के नीचे कृष्णाजिन पर जो उसका अंश गिर गया है, उसे खादिर स्रुव में रख कर दक्षिणाग्नि से जलती लकड़ी लेकर दक्षिण दिशा में जाकर अपने आप फटी हुई जमीन पर अथवा ऊषर भूमि पर उल्मुक को रख कर उस अंश की आहुति देनी चाहिये। इस प्रसंग में दो प्रकार की भूमि वर्णित है—एक तो व्रीहि, गोधूम आदि सस्यों से सम्पन्न और दूसरी ऊषर। इसमें पहली भूमि अनुमति और दूसरी निर्ऋति कहलाती है। निर्ऋति अनिष्टकारिणी मानी जाती है। यह दरिद्रता का ही दूसरा नाम है। इस लिये इसकी शान्ति के लिये सबसे पहले आहुति दी जाती है। बाद में किसी दिन ३६ वीं कण्डिका में प्रदर्शित विधि से पंचवातीय होम किया जाता है।

यहाँ शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर बताया गया है कि राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान क्षत्रिय ही करता है। जिसने वाजपेय याग नहीं किया, ऐसा राजन्य ही इसका अधिकारी माना गया है। सामान्य राज्य की अपेक्षा साम्राज्य अधिक वरेण्य है, अतः साम्राज्य को देने वाले राजसूय यज्ञ का अनुष्ठाता वाजपेय याग का अनुष्ठान नहीं करता। इस राजसूय यज्ञ में इष्टि, पशु, सोम, दर्वीहोम जैसे शताधिक कर्म संयुक्त हैं। प्रस्तुत स्थल पर (पृ० २८५) इष्टियों और पशुओं के विधायक वाक्यों का उल्लेख कर सात सोम यागों का एवं पंचवातीय आदि दर्वीहोमों का उल्लेख किया गया है और [३२]पूर्णाहुति शब्द का अर्थ निर्दिष्ट है।

३६ वीं कण्डिका में बताया गया है कि इस कण्डिका के पाँच मन्त्रों से पंचधा विभक्त आहवनीय अग्नि को एकत्र कर उसमें पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं। ३७ वीं कण्डिका बताती है कि इससे दक्षिणाग्नि से उल्मुक लेकर उसमें अपामार्ग के तण्डुल की आहुति दी जाती है। ३८ वीं कण्डिका में भी स्रुवा में स्थित अपामार्ग तण्डुलों की आहुति का मन्त्र है। यह आहुति भी उल्मुक में ही दी जाती है। इसके लिये उल्मुक को लेकर पहले पूर्व अथवा उत्तर दिशा में जाना पड़ता है।

यहाँ शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि केवल पंचवातीय होम का ही नहीं, इस अपामार्ग तण्डुल के होम का भी विनियोग दूसरों के द्वारा प्रयुक्त अभिचार कर्म से अपनी रक्षा के लिये किया जाता है। इस रक्षाकर्म के लिये यहाँ [३३]प्रतिसर शब्द प्रयुक्त है। पूरे भारतीय वाङ्मय में, बौद्ध तन्त्र और काव्य ग्रन्थों में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त मिलता है और आज भी विवाह आदि शुभ अवसरों पर बाँधा जाने वाला कंगन इसी का प्रतीक है। इस प्रतिसर

---

३२. "आज्यपूर्णया जुह्वा हूयत इति पूर्णाहुतिः" (पृ० २८५)।

३३. आगे ३७ संख्या की टिप्पणी देखिये।

कर्म का प्रयोग अश्वों की रक्षा के लिये भी किया जाता है। अपामार्ग की मंजरियों के लिये शतपथ में सूचना दी गई है कि इसकी मंजरियों का मुख नीचे की ओर रहता है। इस लिये ये यजमान के प्रति अभिचार करने वाले व्यक्ति को उलट कर उसे शीघ्र नष्ट कर देती हैं।

३९ वीं कण्डिका में बताया गया है कि सविता आदि देवसू हवियों में अन्तिम 'वरुणाय धर्मपतये' मन्त्र से वरुण को चरु समर्पित कर स्रुवा को सव्य पाणि में रख कर दक्षिण हस्त से यजमान के दक्षिण बाहु को पकड़ कर 'सविता त्वा' इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु यथास्थान यजमान का और उसके माता-पिता का नाम उच्चारित करता है। इसकी विधि भी यहाँ बताई गई है। प्रस्तुत मन्त्र में 'वाक्' शब्द प्रयुक्त है। भाष्यकार ने परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप अथवा नाम, उपसर्ग, निपात और आख्यात रूप वाणी का उल्लेख कर बताया है कि इस चतुर्विध वाणी का, जो कि वेद आदि विविध वाङ्मय के रूप में सर्वत्र व्याप्त है, आधिपत्य उस यजमान को प्राप्त हो जाय, इसके लिये यहाँ प्रार्थना की गई है। सविता आदि आठ देवताओं के निमित्त अर्पित किये जाने वाले विविध चरुओं की सूचना शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर यहाँ दी गई है। प्रसंगवश इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि श्रौतसूत्र सर्वत्र शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों का अनुसरण करते हैं। ४० वें मन्त्र के भाष्य में कुरु-पंचालों के राजा खदिरवर्मा के नाम का उल्लेख है।

२२ वें मन्त्र में उद्धृत शतपथ में बृहस्पति की आख्यायिका दी गई है। वाजपेय याग में बृहस्पतिसदृश यजमान भी अभिषिक्त होने पर भूमि का अवदारण न करने लगे, इस लिये दीक्षित यजमान को पृथ्वी के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करने को कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण के वचनों की व्याख्या करते समय यहाँ अनेक स्थलों पर सायण का उल्लेख किया गया है।

दूसरे मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ के प्रसंग में आन्तर वरिवस्या का प्रतिपादक एक सुन्दर श्लोक उद्धृत है। यहाँ सत्सौख्य को ही अनेक प्रकार के विषयोपभोगों के साथ चित्पात्र में रख कर अपने परिवार देवताओं के साथ उपस्थित देवी को समर्पित किया गया है। २३ वें मन्त्र में 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस श्रुति को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि यहाँ कठोर और तीक्ष्ण पदार्थों में अग्नि का और कोमल पदार्थों में सोम का निवास माना गया है।

दयानन्दीय अर्थ में अनेक बार निर्दिष्ट सामान्य आक्षेपों के अतिरिक्त यहाँ के पाँचवें मन्त्र में भट्टपाद कुमारिल के उस प्रसिद्ध श्लोक को उद्धृत किया गया है, जो कि वेद के वेदत्व को उजागर करता है। नवें मन्त्र में बताया गया है कि वाजिन् शब्द का इनके द्वारा किया गया अर्थ श्रुति, स्मृति, पुराण आदि में कहीं भी नहीं मिलता। १९ वें मन्त्र में भी वाजिन् पद के अर्थ पर ही आक्षेप किया गया है। २१ वें मन्त्र में बताया गया है कि स्वामी दयानन्द का भावार्थ कहीं भी मन्त्रार्थ से संबद्ध नहीं है। इसी लिये हमने उसके खण्डन में कभी रुचि नहीं दिखाई है। २३ वें मन्त्र में व्याकरण प्रक्रिया संबन्धी पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के मत का खण्डन किया गया है। २९ वें मन्त्र में उनकी उक्ति को 'पूतिकूष्माण्डायित' गया कहा है। ३४ वें मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने चार पुरुषार्थों की अनोखी व्याख्या की है। इसको यहाँ बालजनप्रतारण कहा गया है। ३६ वें मन्त्र में पुनः याद दिलाई गई है कि शब्दों के श्रुतिसूत्रसंमत अर्थ ही हमें ग्राह्य हो सकते हैं। आर्ष ग्रन्थों में अप्रयुक्त अर्थों में शब्द का प्रयोग कैसे मान्य हो सकता है? अन्तिम ४० वें मन्त्र में बताया गया है कि सविता, अग्नि, सोम, रुद्र, मित्र, वरुण आदि विभिन्न देवताओं के नाम हैं। इनकी मनुष्यपरक व्याख्या नास्तिकता का ही प्रचार कर सकती है।

दशम अध्याय

ऊपर नवें अध्याय में वाजपेय और राजसूय संबन्धी विधियों को दिखाया गया है। अब दसवें अध्याय में राजसूय यज्ञ में अभिषेक के लिये जलादान आदि कर्मों का तथा सौत्रामणी याग संबन्धी कुछ पद्धतियों का विधान बताया जा रहा है। सबसे पहले यहाँ राजा के अभिषेक के लिये विविध जलों का उपादान वर्णित है। आतप वर्षा (धूप के रहते पानी का बरसना) कभी-कभी ही होती है। अतः ऐसे जल का संग्रह पहले से कर लेना चाहिये, जिससे कि भविष्य में होने वाले अभिषेक के अवसर पर उनका उपयोग हो सके। अन्य जलों को उसी समय जाकर लाया जाता है। उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी से बने पात्रों में इनको रखा जाता है। सर्वप्रथम सरस्वती नदी के जल को लाया जाता है।

शतपथ ब्राह्मण के पंचम् काण्ड के तृतीय प्रपाठक के चतुर्थ ब्राह्मण में अभिषेक के लिये १७ प्रकार के जलों के संभरण का विधान वर्णित है। आतपवर्ष्य जल का ग्रहण यूप की उत्तर दिशा से किया जाता है। अन्य जलों का ग्रहण, जहाँ वे उपलब्ध हों, वहाँ से किया जाता है। १७ प्रकार के जलों को ग्रहण करने के लिये सभी पात्र औदुम्बर काष्ठ के बने हुए ही होने चाहिये।

इस अध्याय की प्रथम चार कण्डिकाओं में सत्रह मन्त्र हैं। 'वृष्ण ऊर्मिरसि' इत्यादि तीन कण्डिकाओं के प्रथम स्वाहान्त मन्त्र से चतुर्गृहीत घृत की आहुतियाँ दी जाती हैं तथा अन्तिम स्वाहारहित मन्त्रों से जलों का संभरण किया जाता है। मन्त्रगत 'अमुष्मै' पद के स्थान पर यजमान के चतुर्थ्यन्त नाम का उच्चारण किया जाता है।

प्रथम कण्डिका से **१. सरस्वती** नदी के जल का संभरण किया जाता है। कल्लोल जल के ग्रहण की विधि को बताते हुए यहाँ कहा गया है कि अध्वर्यु स्वयं जल में प्रविष्ट होकर किसी पशु या पुरुष को अपने साथ ले जाय। जल में प्रविष्ट पशु या पुरुष के दोनों तरफ उठती हुई लहरों के जल को अलग-अलग लिया जाता है। इसको **२ कल्लोल** जल कहते हैं। नदी के बहते हुए जल को **३. स्यन्दमान** कहा जाता है। काण्वसंहिता के भाष्य में सायण का कहना है कि कुल्या (नहरों) आदि के रूप में बहता हुआ जल राष्ट्र को नाना प्रकार से समृद्ध बनाता है। नदी आदि का बहता हुआ जल कभी किनारे पर उलटा बहने लगता है। इसको **४. प्रतिलोम** जल कहा जाता है। नदी का ही जल कभी-कभी मुख्य धारा को छोड़ कर अलग से बहने लगता है। इसको **५. अपसली** जल कहा जाता है। समुद्र में ऊँची उठती हुई लहरों के जल को **६. सूद्य** कहते हैं। नदी आदि के जल में कभी-कभी भँवर पड़ जाती है। इस जल को **७. निवेष्य** कहते हैं। बहता हुआ नदी का जल किसी ह्रद में पड़ कर स्थिर हो जाता है। सूर्य की किरणों से यह गरम भी हो जाता है। इसे **८. प्रत्यातप** जल कहते हैं। **९. आतपवर्ष्य** जल का लक्षण ऊपर बताया जा चुका है। इसी तरह से तालाब के जल को **१०. सरस्य** और कूप के जल को **११. कूप्य** कहा जाता है। **१२. प्रुष्व** जल ओस की बूंदों से बनता है। यहाँ **१३. मधु** (शहत) और गाय के **१४. उल्ब्य** (गर्भवेष्टन) जल का भी ग्रहण किया जाता है तथा **१५. दुग्ध** और **१६. घृत** का भी। अन्तिम जल के रूप में **१७. मरीचियों** का ग्रहण किया जाता है।

सूर्य की किरणों से गरम हुए इस मरीचि जल को पूर्वगृहीत सभी प्रकार के जलों में मिला दिया जाता है। इनमें से प्रथम सारस्वत जल और अन्तिम मरीचि जल के निमित्त आहुति नहीं दी जाती। इस प्रकार अलग अलग पात्रों में संगृहीत इन सभी जलों को किसी औदुम्बर पात्र में इकट्ठा कर लिया जाता है।

शतपथ ब्राह्मण में इन सत्रह प्रकार के जलों के निमित्त दी गई आहुति की प्रजापति से तुलना की गई है। उसका क्रम इस प्रकार है—इनमें से प्रथम सारस्वत जल के और अन्तिम मरीचितप्त जल के निमित्त आहुति का विधान नहीं है। ऊर्मि जल के पूर्व और अपर दो विभाग किये जाते हैं। इन दोनों के निमित्त अलग-अलग आहुति

विहित है। इस तरह से आहुतियों की संख्या १६ हो जाती है। दो बिना आहुति के जल, सोलह आहुतियाँ और सोलह जल मिल कर ३४ होते हैं। इस प्रकार ३४ देवतात्मक प्रजापति से इनकी तुलना संभव हो जाती है। सारस्वत जल और मरीचि जल के निमित्त आहुतियाँ क्यों नहीं दी जाती, इसका स्पष्टीकरण भी यहाँ (पृ० ३०६-३०७) शतपथ के प्रमाण से दिया गया है। यहाँ संभृत १७ प्रकार के जलों से यजमान का अभिषेक किया जाता है। इसकी प्रक्रिया आगे बताई गई है।

१-४ मन्त्रों में १७ प्रकार के जलों का तथा तन्निमित्तक आहुतियों का विधान कर अब पाँचवें मन्त्र में बताया जा रहा है कि मरुत्वतीय ग्रहों के ग्रहण के बाद और माहेन्द्र ग्रह के ग्रहण के पूर्व मैत्रावरुण धिष्ण्य के आगे [34]पालाश, औदुम्बर, नैयग्रोध (वाट) और आश्वत्थ पात्रों को तूष्णीं (चुपचाप) रखा जाता है। इनके आगे व्याघ्रचर्म बिछाया जाता है और इसी कण्डिका के आगे के छः मन्त्रों से सकृद्गृहीत आज्य की पार्थसंज्ञक छः आहुतियाँ दी जाती हैं। यहाँ शतपथ ब्राह्मण में इन आहुतियों के लिये कहा गया है कि पहले के अग्निवाचक नामों से हवन करने से राजा की भूलोक में प्रतिष्ठा बढ़ती है तथा आगे के आदित्यवाचक नामों से उसके लिये स्वर्ग की प्राप्ति भी सुनिश्चित हो जाती है। राजा पृथु से ये आहुतियाँ संबद्ध हैं, इस बात का भी उल्लेख शतपथ में ही है। छठे मन्त्र से दो कुशपवित्रों का निर्माण कर उनमें हिरण्य (सुवर्ण) बाँधा जाता है। सातवें मन्त्र से कुशापवित्र द्वारा अभिषेकार्थ लाये गये जलों को पवित्र कर पूर्व में रखे गये चतुर्विध पात्रों में भर दिया जाता है।

इतना कर लेने के बाद यजमान को तार्प्य वस्त्र पहनाया जाता है। तार्प्य पद का अर्थ आचार्यों ने क्षौम, वल्कल अथवा घृताक्त वस्त्र किया है। भाष्य में कहा गया है कि इस तार्प्य वस्त्र पर सुई से यज्ञीय पात्र स्रुक्, स्रुवा आदि को काढा जाता है। तार्प्य वस्त्र के ऊपर [35]पाण्ड्व, अर्थात् रक्तश्वेत कम्बल यजमान को ओढाया जाता है। गले में महाकंचुक पहिना कर उष्णीष धारण कराया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में बड़े विस्तार से इन सारी विधियों का वर्णन किया गया है और कात्यायन श्रौतसूत्र में भी उसी के अनुसार सारी पद्धति निर्दिष्ट है। अतः शतपथ को तो प्रमाण मानना और कात्यायन श्रौतसूत्र की उपेक्षा करना कथमपि न्यायसंगत नहीं माना जा सकता, जैसा कि स्वामी दयानन्द ने किया है।

वस्त्र आदि धारण कराने के बाद यजमान के हाथ में तीन बाण दिये जाते हैं। यह विधि ८ वें मन्त्र के वाचन के साथ सम्पन्न होती है। तब नवीं कण्डिका के सात आविद् मन्त्रों का यजमान से पाठ कराया जाता है। इस मन्त्र में पृथिवी को ही देवमाता अदिति बताया गया है। उव्वट की व्याख्या का यहाँ अलग से उल्लेख किया गया है। १० वें मन्त्र से केशव (नपुंसक) के मुँह में लोहायस का निधान किया जाता है। यहाँ सायण की व्याख्या का उल्लेख किया गया है और शतपथ के प्रमाण से केशव, लोहायस और दन्दशूक की तुलना की गई है। आगे की १०-१४ कण्डिकाओं में रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज और शाक्वर-रैवत सामों का एवं त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश, एकविंश और त्रयस्त्रिंश स्तोमों का स्वरूप काण्वसंहिता के सायण-भाष्य में उद्धृत साम ब्राह्मण के प्रमाण से बताया गया है।

१५ वीं कण्डिका से यजमान व्याघ्रचर्म पर आरोहण तथा यजमान के पैरों के नीचे और सिर पर सौवर्ण परिमण्डल निधान किया जाता है। सायण का मत भी यहाँ प्रदर्शित है। शतपथ के वचन की व्याख्या करते हुए यहाँ [36]नौ प्राणों के

---

३४. पृ० ३१२ और ३१४ पर पालाश, औदुम्बर, नैयग्रोध (वाट) और आश्वत्थ पात्रों की चर्चा है, अतः पृ० ३०८ पर भी चार ही पात्रों का उल्लेख माना जायगा। नैयग्रोध और वाट पर्यायवाची शब्द हैं।

३५. पृ० ३१६ पर 'पाण्ड्व' पद के स्थान पर 'पाण्डव' पद छप गया है।

३६. "श्रोत्र-त्वक्-चक्षू-रसन-घ्राणा मनोबुद्धी प्राणापानौ चेतीमे नव प्राणाः" (पृ० ३२८)।

नाम गिनाये गये हैं और ओज का अर्थ मनोबल दिया गया है। १६ वें मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान अपनी भुजाओं को ऊपर उठाता है। पक्षान्तर में अध्वर्यु उसकी भुजाओं को अपने हाथ से उठाता है। इस कण्डिका के यहाँ द्विविध अर्थ किये गये हैं। १७-१८ मन्त्रों से यजमान के सामने खड़ा पुरोहित अथवा अध्वर्यु पूर्वाभिमुख ऊर्ध्व बाहु सरुत्तम व्याघ्रचर्म पर खड़े यजमान का पूर्वस्थापित चतुर्विध पात्रों में से पालाश पात्र के जल से अभिषेक करता है।

१९ वें मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान कृष्णमृग के विषाण (सींग) की कण्डूयनी से शरीर पर डाले गये अभिषेक के जल को अपने सारे शरीर पर फैलाता है। इस मन्त्र के भी द्विविध अर्थ प्रदर्शित हैं। सायण और उव्वट की व्याख्याएँ भी प्रदर्शित हैं। अग्नि के लिये यहाँ बताया गया है कि वह पौर्णमास्य, आमावास्य, चातुर्मास्य आदि पर्वों के कारण वह पर्ववान् कहलाता है। २० वें मन्त्र में बताया गया है कि यजमान राजा के पिता-पुत्र के संबन्धों का अन्वाख्यान करते समय अध्वर्यु शालाद्वार्य अग्नि में सकृद्गृहीत आज्य की आहुति देता है। शतपथ ब्राह्मण में इसका यह विधान बताया है कि अवशिष्ट पात्रों का जल पालाश पात्र में भर दिया जाता है और उस पालाश पात्र को राजा अपने प्रियतम पुत्र को दे देता है। उसी समय इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है।

इसके बाद वाजपेय याग के सारे विधानों का अनुष्ठान यहाँ भी किया जाता है। जैसे कि रथग्रहण स्थान से 'इन्द्रस्य वज्रोऽसि' मन्त्र से शाला के दक्षिण भाग में शकट के ऊपर स्थापित रथ को भूमि पर उतार कर दक्षिण वेदि के मध्य भाग में लाकर 'मित्रावरुणयोः' मन्त्र से रथ में चार घोड़ों को जोता जाता है। 'अव्यथायै त्वा' मन्त्र से यजमान चात्वाल देश में स्थित रथ पर चढ़ता है। वह उस रथ की स्तुति करता है। अब सारथि उस रथ को आहवनीय के उत्तर में स्थापित गायों के बीच ले जाकर खड़ा कर देता है। वहाँ यजमान एक गाय का धनुष्कोटि से स्पर्श करता है। यह सारा विधान २१ वें मन्त्र की सहायता से किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में इसकी विस्तार से व्याख्या की गई है। यहाँ बताया गया है कि 'अर्जुन' इन्द्र का गुह्य नाम है। यहाँ इस पद से यजमान का ग्रहण किया जाता है। इस मन्त्र में उपदिष्ट विधि का अनुष्ठान करने से यजमान इन्द्र के समान पराक्रम और ऐश्वर्य से सम्पन्न हो जाता है।

इसके बाद रथारूढ यजमान वहाँ खड़ी सैकड़ों-हजारों गायों को अपनी जाति के बन्धु-बान्धवों, भाइयों और गोस्वामी को समर्पित कर यूप को पूर्व दिशा से प्रदक्षिणा कर अन्तःपात्य स्थान में रथ को खड़ा कर देता है। ऐसा करते समय वह २२ वें मन्त्र से इन्द्र की स्तुति करता है। तब २३ वीं कण्डिका के चार मन्त्रों से अध्वर्यु सकृद्गृहीत आज्य की रथविमोचयीया नाम की चार आहुतियाँ देता है और इसी कण्डिका के उत्तरार्ध से रथारूढ यजमान पृथिवी का दर्शन कर उससे पादप्रक्षेप के लिये क्षमाप्रार्थना करता है। तब सोपानत्क यजमान २४ वें मन्त्र का पाठ करता हुआ रथ से उतरता है। यह 'हंसः शुचिषद्' मन्त्र वैदिक वाङ्मय में अति प्रसिद्ध है। ऋग्वेद में ही नहीं, उपनिषदों में भी यह मन्त्र मिलता है। यहाँ परमात्मा की सर्वात्मकता प्रतिपादित है। २५ वें मन्त्र से रथवाहण स्थान पर दाहिने पहिये के रास्ते पर शतमान सौवर्ण वर्तुल मणि बाँधी जाती है। शतमान मणि सौ रत्ती की बनती है। इसके बाद उदुम्बर (गूलर) वृक्ष की टहनी गाड़ी जाती है। अध्वर्यु व्याघ्रचर्म पर पूर्व स्थापित मैत्रावरुणी पयस्या के पास आकर यजमान के ऊर्ध्व बाहुओं को यथास्थान कर देता है और २६ वें मन्त्र से वाजपेय याग की पद्धति से व्याघ्र-चर्म के पास खादिर आसन्दी रखी जाती है। आसन्दी के निर्माण की विधि वाजपेय प्रकरण में बता दी गई है। अब आसन्दी पर बहुमूल्य वस्त्र बिछा कर उस पर यजमान को बैठाया जाता है। २७ वें मन्त्र का पाठ करते हुए अध्वर्यु यजमान के हृदय का स्पर्श करता है।

२८ वें मन्त्र का वाचन करते हुए यजमान के हाथ में द्यूत के साधन सौवर्ण पाँच पासों को दिया जाता है और अध्वर्यु आदि ऋत्विक्गण यज्ञीय वृक्ष की छड़ी से यजमान की पीठ पर धीरे-धीरे आघात करते हैं। यह द्यूत

कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नाम का होता है। विशौजा शब्द में छान्दस समास होने से इसे एक ही पद माना गया है। इसी लिये पदकार यहाँ अवग्रह नहीं करते, इसको एक ही पद जानते हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र में इसका दूसरा विनियोग भी बताया गया है। तदनुसार आसन्दो पर बैठा हुआ यजमान उसके कल्याण के लिये भूमि पर बैठे हुए अध्वर्यु आदि चार ऋत्विजों को 'ब्रह्मन्' पद से संबोधित करते हुए आह्वान करता है। आह्वान का क्रम भाष्य में बताया गया है। इसके बाद वे सब मिल कर राजा के हाथ में स्फ्य प्रदान करते हैं। शतपथ की व्याख्या करते हुए यहाँ बताया गया है कि सुवर्ण निर्मित कपर्दक (कौड़ी) अथवा विभीतक (बहेड़ा) को अक्ष कहा जाता है। इनमें से चार अक्ष (पासे) कृत संज्ञा वाले और पाँचवाँ कलि कहलाता है।

इतना सब कर लेने के बाद २९ वें मन्त्र से द्यूत खेलने की जगह पर सुवर्ण खण्ड को रख कर उसके ऊपर चतुर्गृहीत आज्य (घृत की आहुति दी जाती है और तब राजा द्यूतभूमि पर अपने हाथ में दिये पासों को फेंकता है। शतपथ वाक्य की व्याख्या करते हुए आपस्तम्ब के प्रमाण से इस द्यूत कर्म को इष्टि-पशु-सोमयागात्मक राजसूय याग का अंग माना गया है। राजसूय प्रकरण के अन्तिम ३० वें मन्त्र का विनियोग बताते समय कात्यायन श्रौतसूत्र को उद्धृत कर कहा गया है कि पितामह शब्द का प्रयोग पिता आदि अपने दस पूर्वपुरुषों के लिये किया गया है। यजमान के सोमपा पितरों की दस पीढियों को कालक्रम से गणना कर उनके निमित्त ऋत्विक्गण तथा अन्य ब्राह्मण मिल कर वाजपेय याग के सौत्य दिवस में 'विभुरसि' इत्यादि मन्त्रों से प्रसर्पण, अर्थात् धिष्ण्योपस्थान करते हैं अथवा 'सवित्रा प्रसवित्रा' अनुवाक का पाठ करते हुए सौ ब्राह्मण प्रसर्पण करते हैं। इस पक्ष में पितरों की गणना नहीं की जाती, क्योंकि भक्षण काल में दस सोमयाजियों के रूप में इन पूर्वपुरुषों के नामों की स्मृति के अभाव में उनकी उपस्थिति असंभव है। इस द्वितीय पक्ष को ही यहाँ वरीयता दी गई है और शतपथ ब्राह्मण में भी इसी पक्ष को श्रेष्ठ माना गया है। त्वष्टा देव को यहाँ रूप का अधिष्ठाता बताया गया है और प्रसगवश काण्व शाखा के मन्त्र का प्रमाण दिया गया है। इस मन्त्र में दस देवताओं के निमित्त दस आहुतियाँ दी जाती हैं। इन आहुतियों का नाम संसृप है। भाष्य (पृ० ३६२) में इन आहुतियों के क्रम को स्पष्ट रूप से समझाया गया है। इन आहुतियों को देने के बाद यजमान को दस वास्तविक कमलों की अथवा सौवर्ण पुण्डरीकों को माला बना कर पहनाई जाती है। इस मालाधारण को ही यहाँ दीक्षा कहा गया है। इसके लिये अन्य किसी विधिविधान की अपेक्षा नहीं है। शतपथ ब्राह्मण के भाष्य में सायण ने भी यही कहा है। इसके साथ ही राजसूय याग का यह प्रकरण पूरा हो जाता है।

चरक सौत्रामणी

१०वें अध्याय की ३१-३४ कण्डिकाओं में राजसूय याग से संबद्ध चरक सौत्रामणी के मन्त्र उपदिष्ट हैं। राजसूय के अन्त में की जाने वाली सौत्रामणी चरक सौत्रामणी कहलाती है। क्षौम वस्त्र में भिगोये व्रीहियों को बाँध कर रख देने पर कुछ में अंकुर निकल आते हैं और कुछ में अभी अंकुर नहीं निकले रहते। जिनमें अंकुर न निकले हों, ऐसे व्रीहियों की चार मुट्ठी लेकर उनका भात पकाया जाता है और उसमें अंकुरित व्रीहियों को पीस कर मिला दिया जाता है। इस कार्य को करते समय ही 'अश्विभ्यां पच्यस्व' मन्त्र का पाठ किया जाता है। साथ ही मन्त्र के उत्तरार्ध से वपामार्जनान्त कर्म कर लेने के बाद दर्भ की सहायता से किसी पात्र में सुरा को छाना जाता है। इसी को परिस्रुत् कहा जाता है। यहाँ बहुत संक्षेप में इस विषय का निरूपण हुआ है। इसका विस्तार आगे किया गया है। अगले मन्त्र से उस परिस्रुत् सुरा में बदरी फल के चूर्ण को मिला कर उसे प्रत्येक देवता के लिये वैकंकत पात्र में भरा जाता है। आगे के दो मन्त्र (३३-३४) सुराग्रहों के ग्रहण के याज्या और अनुवाक्या में विनियुक्त हैं। इनमें प्रथम अनुयाज्या और द्वितीय याज्या मन्त्र है।

पृ० ३०९ पर शतपथ के प्रमाण से पार्थ हवियों का विश्लेषण करते समय मनुष्यों के प्रथम अभिषिक्त राजा वैन्यपुत्र पृथु की कथा वर्णित है। पृ० ३२६ पर नमुचि का आख्यान दिया गया है। इन्द्र ने सीसे की सहायता से नमुचि पर प्रहार किया था। इसी प्रहार के कारण सीसा नरम पड़ गया और सार भाग के निकल जाने के कारण उसकी कीमत घट गई। यहाँ भाष्यकार ने दूरबीक्षण आदि में प्रयुक्त होने पर यह बहुमूल्य कैसे हो जाता है? इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि यह उसके परिष्कार की पद्धति का माहात्म्य है। पृ० ३३९-३४० में राजसूय यज्ञ में अभिषिच्यमान वरुण का बल कैसे नष्ट हो गया और इन्द्र की सहायता से वह उसे किस प्रकार पुनः प्राप्त कर सका, इसका आख्यान वर्णित है। यहाँ शतपथ में बताया गया है कि 'अर्जुन' इन्द्र का अतिप्रिय नाम है। यह प्रसंग हमें महाभारत की कथा की याद दिलाता है। पृ० ३४६ पर बताया गया है कि अभिषिक्त राजा को देख कर पृथिवी डरने लगती है। उसे भयमुक्त करने के लिये राजा को प्रस्तुत मन्त्र की सहायता से पृथिवी की माता के रूप में स्तुति करनी चाहिये। पृ० ३६२ पर वरुण की कथा का पुनः उल्लेख है और पृ० ३६९ पर नमुचि का उपाख्यान वर्णित है कि उसने कैसे इन्द्र के बल का अपहरण कर लिया और अश्विनीकुमारों ने उसकी किस प्रकार रक्षा की।

स्वामी दयानन्द १० वें अध्याय के पहले मन्त्र में स्थित मित्रावरुण शब्द का अर्थ प्राण और अपान करते हैं। स्पष्ट है कि वे यहाँ मित्रावरुण को देवता न मानने के उद्देश्य से ऐसा कर रहे हैं, किन्तु भाष्यकार ने उनके अर्थ की असंगति पर यहाँ हृद्य प्रकाश डाला है। वेद का लोकायतीकरण, श्रुतिसूत्रविरोध जैसे दयानन्द भाष्य पर किये जाने वाले आक्षेपों का यहाँ (पृ० ३१८-३१९) पुनः स्मरण कराया गया है और वेद की अनधिगतार्थ-बोधकता का भी उल्लेख किया गया है। कात्यायन श्रौतसूत्र की रचना शतपथ ब्राह्मण के आधार पर ही हुई है। तब भी स्वामी दयानन्द शतपथ के समर्थन और कात्यायन श्रौतसूत्र के खण्डन में लगे रहते हैं। १० वें मन्त्र के उनके भाष्य को केवल प्रलापमात्र ही नहीं, केवल मूर्खजनप्रतारक ही नहीं, किन्तु अपने आपको भी धोखे में रखने जैसा बताया है। पृ० ३२६-३२७ पर बताया गया है कि रथन्तर, बृहत् आदि सामों का और त्रिवृत्, पंचदश आदि स्तोमों का लक्षण ताण्ड्य महाब्राह्मण में निर्दिष्ट है। इनका स्वामी दयानन्द को ज्ञान ही नहीं है। चार्वाक जैसा दृष्टिकोण होने से इनके यहाँ ऊर्ध्वलोक की भी कोई स्थिति नहीं है। 'दशहस्ता हरीतकी' न्याय इन पर पूरी तरह से लागू होता है। १९ वें मन्त्र में ये विमान, नौका आदि के निर्माण की विधि बताते हैं, किन्तु मन्त्र में अथवा उनके भाष्य में भी कहे शब्दों के आधार पर कोई भी इनके निर्माण में समर्थ नहीं हो सकता। २३ वें मन्त्र में आये स्वाहा पदों का ये अलग-अलग अर्थ करते हैं, किन्तु ऐसा करते समय वे कोई प्रमाण नहीं देते। २६ वें मन्त्र में भी शतपथ के अनुसार आसन्दी को संबोधित किया गया है। ये आसन्दी का अर्थ रानी करते हैं, किन्तु इसमें कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते। ३२ वें मन्त्र की व्याख्या में इन पर कल्पनाबाहुल्य का आक्षेप किया गया है। ३३ वें मन्त्र में इन पर वेद के लोकायतीकरण का आक्षेप पुनः दोहराया गया है और कहा गया है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से असिद्ध अर्थ को बताने में ही वेद की सार्थकता है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र की व्याख्या में इन पर पूर्वापरविरोध का आक्षेप किया गया है और कहा गया है कि बिना प्रयोजन के मुख्यार्थ के त्याग में कोई प्रमाण नहीं है। फिर स्वामी दयानन्द वेद से जिस अर्थ का प्रतिपादन करना चाहते हैं, वह तो लौकिक नीतिशास्त्र आदि से ही ज्ञात हो जाता है, तब इन विषयों के प्रतिपादन में वेद की प्रवृत्ति कैसे मानी जा सकती है।

आध्यात्मिक अर्थ करते समय सर्वत्र उपनिषद्, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पातंजल योगसूत्र, विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत, शिवपुराण, दुर्गासप्तशती आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त धर्मशास्त्र के अनेक ग्रन्थों को और कोश ग्रन्थों को भी उद्धृत किया गया है। निघण्टु-निरुक्त और व्याकरण प्रक्रिया का भी इसमें सहारा

लिया गया है। इस विषय की चर्चा ११-१५ अध्यायों के भाष्यनिष्कर्ष में भी की जा चुकी है। यहाँ बार-बार (पृ० २६०, २९६, ३१५) भक्त के लिये "अमृतस्य पुत्राः" (१०।१३।१) इस ऋग्वेदीय मन्त्र को उद्धृत किया गया है, आचार्य की महिमा गाई गई है (पृ० ३२८) और सारे शिवभक्तों को बान्धव और तीनों भुवनों को स्वदेश बताया गया है (पृ० ३६१)। जीव और परमेश्वर का साजात्य, सख्य, सादेश्य, सायुज्य संबन्ध भी दर्शाया गया है (पृ० ३९९)।

विकंकत वृक्ष की व्युत्पत्ति बताते समय अमरकोश की रामाश्रमी टीका में 'कठेर इति भाषायाम्' दिया गया है। मध्यप्रदेश के एक विद्वान् ने बताया है कि वहाँ कठेर नाम का वृक्ष आज भी उपलब्ध है। 'शब्दकल्पद्रुम' में मिलता है कि यह बदरीसदृश सूक्ष्म फल वाला वृक्ष है। भाषा में यह 'बंइच' के नाम से जाना जाता है। बंगला विश्वकोश के हिन्दी संस्करण में इसका परिचय इस प्रकार दिया गया है—बदरीसदृश सूक्ष्म फल वाला वृक्ष, एक प्रकार का जंगली पेड़। इसे कंटाई, किंकिणी और कंज भी कहते हैं। इस वृक्ष के पत्ते छोटे-छोटे और डालियों में कांटे होते हैं। इसके फल पकने पर मीठे और अधपके खट-मीठे होते हैं। यज्ञ के लिये स्रुवा इसकी लकड़ी से ही बनाया जाता है। अमरकोश में इसके पर्यायवाची शब्दों में 'स्रुवावृक्षः' भी दिया गया है।

७.३ के भाष्य में "वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु" मन्त्र उद्धृत है। इसका स्थाननिर्देश यहाँ सही नहीं है। वस्तुतः यह वचन आठवें अध्याय के ३७ वें मन्त्र का अंश है।

इस प्रकार प्रस्तुत भाष्यनिष्कर्ष में हमने प्रथम अध्याय से लेकर ३९ वें अध्याय तक के भाष्य में निर्दिष्ट अनेक विशेष विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। कुछ छूटे हुए विषयों को हम यहाँ एक साथ प्रस्तुत करना चाहते हैं। चतुर्थ अध्याय के पयोव्रतग्रहण के प्रकरण में (११-१६) हमें आत्मयजन की छवि देखने को मिलती है। प्रथम और द्वितीय अध्याय के वचनों को उद्धृत कर ऊपर हमने बताया है कि यजमान अनुष्ठान के प्रारम्भ में कैसे मनुष्यभाव से देवभाव को तथा अनुष्ठान की समाप्ति पर पुनः मनुष्य भाव को प्राप्त कर लेता है। ठीक उसी तरह की प्रक्रिया पयोव्रत ग्रहण की भी प्रतीत होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी बताया गया है कि देवगण उससे दूर हो जाते हैं, जो देवताओं को अपने से भिन्न मानता है। इसका अभिप्राय यही है कि आत्मयाजी को सर्वप्रथम अपने संकल्प को दृढ़ करना चाहिये कि मैं स्वयं देवभाव से सम्पन्न हूँ। ऋग्वेद (१०।१३।१) में मानव को अमृत का पुत्र बताया है। इस विषय की चर्चा अभी हमने ऊपर की है।

सातवें अध्याय के ४५ वें मन्त्र के 'चन्द्रदक्षिणा' पद की व्याख्या करते समय शतपथ ब्राह्मण के "आत्रेयाय हिरण्यं ददाति" वाक्य को उद्धृत कर अत्रि ऋषि की चर्चा की गई है। यहाँ बताया गया है कि अत्रि गोत्र के ब्राह्मण को चन्द्र (सुवर्ण) की दक्षिणा दी जानी चाहिये। इस प्रसंग में हमें रघुवंश का यह श्लोक याद आता है—"अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः" (२।७५)। यहाँ चन्द्र को अत्रि ऋषि के नयनों की ज्योति से उत्पन्न बताया गया है। टीकाकार मल्लिनाथ ने इस प्रसंग में हरिवंश को उद्धृत किया है। निघण्टु में हिरण्य के पर्यायों में चन्द्र का भी उल्लेख है। नायन (नेत्रगत) रश्मियों की और हिरण्य की तैजसता प्रसिद्ध ही है। हमें ऐसा लगता है कि चन्द्र, आत्रेय इत्यादि पद यहाँ इस पौराणिक कथा का संकेत दे रहे हैं।

दसवें अध्याय के पचीसवें मन्त्र के भाष्य (पृ० ३४८) में शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से बताया गया है कि रथ से उतरते समय यजमान के साथ सारथि को नहीं उतरना चाहिये, क्योंकि अनुष्ठान का फल यजमान को ही मिलेगा, सारथि को नहीं। पंचचितिक चयन याग की प्रक्रिया ११-१८ अध्यायों में वर्णित है। यहाँ अनेक स्थानों पर (११।१, १३।४१

इत्यादि) पाँच पशुओं का विधान है। इस विधान की प्रक्रिया बंगाल की काली उपासना में प्रचलित पंचमुण्डी आसन की प्रक्रिया से मिलती-जुलती है। इस प्रकरण की तुलनात्मक समीक्षा अपेक्षित है।

११ वें अध्याय के ही ६६ वें मन्त्र (पृ० ८९) के भाष्य में तथा अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर मन्त्र और तन्त्र शब्दों का एक साथ प्रयोग मिलता है। ऐसा लगता है कि ऐसे स्थलों पर मन्त्र में संक्षेप में कर्मकाण्डपरक पद्धति की मात्र सूचना रहती है और उसकी विस्तार से व्याख्या करना ही, उसकी प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से समझाना ही तन्त्र की विषयवस्तु है।

१२ वें अध्याय के तीसरे मन्त्र के भाष्य (पृ० ११८) में षडुद्याम शिक्य की छः दिशाओं से तुलना की गई है। बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु के—"षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता" (विंशिका १२) इस वाक्य में भी छः दिशाओं के रूप में इन्हीं का उल्लेख है।

१३ वें अध्याय के नवें मन्त्र के भाष्य (पृ० २६०) में प्रतिसर शब्द का अर्थ "राक्षसों का नाश करने वाले अग्निदेवताक मन्त्र" किया गया है। यह शब्द अतिव्यापक है और इसके अर्थ में भी परिवर्तन हो गया है। बौद्ध तन्त्रों में भी इसका विधान मिलता है। वहाँ प्रतिसरा[३७] को रक्षा की देवी मान कर उसकी स्तुति की गई है। प्रतिसरा-स्तोत्र, प्रतिसराकल्पधारिणी, प्रतिसरास्तुति, महाप्रतिसरास्तोत्र, महाप्रतिसराधारिणी आदि स्तोत्र और धारणियाँ बौद्ध साहित्य में उपलब्ध हैं। इसी प्रसंग में यह भी अवधेय है कि वैदिक वसोर्धारा को भी वसुधारा देवी का रूप यहाँ दे दिया गया है। ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (भा० २, पृ० ११३-११९) में भी इसका विधान देखा जा सकता है।

२८ वें अध्याय के १६ वें मन्त्र का अंश है—"सग्धि सपीतिमन्या"। यहाँ सग्धि और सपीति शब्द प्रयुक्त हैं। भाष्यकारों ने इन शब्दों का जो अर्थ दिया है, प्रायः उसी अर्थ में विज्ञानभैरव के एक श्लोक में जग्धि और पान शब्द प्रयुक्त हुए हैं (श्लो० ७१)। इतना अवश्य हुआ है कि इनके साथ वहाँ कौलिक प्रक्रिया भी जुड़ गई है। इसी श्लोक में उल्लास और रस शब्द भी प्रयुक्त हैं और विष्णुपुराण (१।६।१६) में रसोल्लास आदि आठ सिद्धियों का उल्लेख है। सहजसिद्धि के रूप में इनका यहाँ वर्णन है और टिप्पणीकार ने स्कन्दपुराण के प्रमाण से इन आठ सिद्धियों का लक्षण बताया है। परस्पर अनुस्यूत न होते हुए भी इनमें हमें एक अनोखी क्रमबद्धता दिखाई पड़ती है।

---

३७. प्रतिसर शब्द की चर्चा पहले (पृ० ३८) आ चुकी है। प्रतिसरा अथवा प्रतिसर शब्द का प्रयोग काव्य, नाटक आदि में भी मिलता है। भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण में यौगन्धरायण प्रतिहारी से कहता है—"त्वर्यतां लेखः **प्रतिसरा** च" (पृ० ८, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण)। भाषान्तरकार डॉ० सुषमा पाण्डेय ने यहाँ टिप्पणी की है कि कुछ विशिष्ट पदार्थों को अभिमन्त्रित कर उनसे युक्त रक्षासूत्र को प्रतिसरा कहते हैं। युद्ध या यात्रा के समय सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा या उनका स्पर्श करा कर ब्राह्मणों द्वारा यह पहनाया जाता था। यह घोड़े, हाथी या पैदल सेना के लिये पृथक्-पृथक् होता था। इस संबन्ध में बृहत्संहिता का ४३ वाँ अध्याय देखना चाहिये। घोड़ों की प्रतिसरा के लिये वहाँ कहा है—

प्रतिसरया तुरगाणां भल्लातकशालिकुष्ठसिद्धार्थाः।
कण्ठेषु निबध्नीयाः ···· ···· ···· ॥

विवाह के अवसर पर बाँधे जाने वाले कौतुकसूत्र के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य में मिलता है—"विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः स्रस्तोरग**प्रतिसरेण** करेण पाणिः" (५।३३)।

इस प्रकार यथामति हमने इस महान् भाष्य के निष्कर्षों को अतिसंक्षेप में प्रस्तुत करने का यह लघु प्रयास किया है। यह प्रयास उसी प्रकार का है, जिसकी कि चर्चा रघुवंश के प्रारम्भ में महाकवि कालिदास ने की है, क्योंकि इस प्रस्तुति का प्रमुख आधार यह महनीय भाष्य ही रहा है। इस गरिमामय भाष्य की अतिविस्तृत भूमिका का भाषानुवाद करने तथा प्रथम और अन्तिम अध्यायों को छोड़ शेष पूरे भाष्य का सविधि सम्पादन करने में स्वामी करपात्री जी महाराज और इस कार्य के लिये प्रेरित करने वाले पुरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्री निरंजनदेव तीर्थ जी महाराज के प्रति श्रद्धा और श्रेष्ठिप्रवर श्री हनुमानप्रसाद जी धानुका की इस ग्रन्थ को शीघ्र प्रकाशित करा देने की आतुरता ने हमें प्रवृत्त किया था। इस कार्य को पूरा होते देख आज हमें परम सन्तोष की अनुभूति हो रही है। हमारी इस अनुभूति में श्रेष्ठिप्रवर श्री धानुका जी का भी समान भाग है। काल की विकरालता से ये चिन्तित अवश्य रहे हैं, किन्तु विपरीत परिस्थितियों में भी पूरे धैर्य और दृढ निश्चय के साथ इस शुभ कार्य को शीघ्र पूरा करा देने का इनका अध्यवसाय सराहनीय रहा है।

भाष्य का सम्पादन करते समय हमने प्रेस की सुविधा की दृष्टि से पूरी प्रेसकापी में यथास्थान अनुच्छेदों और पदच्छेदों का संयोजन तथा अन्य आवश्यक संशोधन किये हैं। श्रुति, स्मृति, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, शिवपुराण आदि के उद्धरणों का स्थलनिर्देश अनेक स्थानों पर नहीं हो पाया था। इस कार्य को पूरा करने का भरसक प्रयत्न किया गया है, तो भी कुछ वचनों का स्थलनिर्देश हम नहीं कर पाये हैं। इसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र के वचनों का स्थलनिर्देश पद्मभूषण पं० पट्टाभिराम शास्त्री जी के दिल्ली से प्रकाशित संस्करण के अनुसार हुआ है। शतपथ ब्राह्मण और सायण भाष्य, पाणिनि अष्टाध्यायी, भगवद्गीता, मनुस्मृति और उपनिषदों के सभी निर्दिष्ट स्थलों का एक बार पुनः परीक्षण कर उनमें भी यथास्थान संशोधन किया गया है। पूरे प्रयत्न के बाद भी संस्करण में कुछ त्रुटियाँ रह ही गई हैं। भाष्यनिष्कर्ष में इनमें से कुछ के परिमार्जन का प्रयत्न किया गया है। स्वाभाविक रूप से अभी अन्य त्रुटियाँ भी बची रह गई होंगी। विद्वानों से निवेदन है कि वे इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करायेंगे, जिससे कि भविष्य में उनका परिशोधन किया जा सके।

स्वामी करपात्री जी महाराज ने अपने सहायक विद्वानों की सूचना स्वयं भाष्य के प्रारम्भ में दे दी है। अन्यविध सहायकों की नामावली प्रकाशकीय वक्तव्य में दी गई है। इस भाष्य के परिशुद्ध संस्करण के लिये हमारे ज्येष्ठभ्रातृकल्प पं० श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय जी ने पूरा सहयोग दिया है। इनके प्रति हम अपना आभार प्रकट करते हैं। हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रवाचक और वेदविद्या की सेवा के लिये काशी में ही नहीं, पूरे देश में प्रख्यात विद्वत्कुल के सदस्य डॉ० श्रीकिशोर मिश्र जी ने हमारे विशेष आग्रह पर ४-१० अध्यायों का भाष्यसार लिखा। इसके लिये हम उनकी सर्वविध उन्नति की कामना करते हैं। भगवान् ज्ञानगुरु विश्वेश्वर से प्रार्थना है कि वे इसी प्रकार दत्तचित्त हो वेदविद्या की रक्षा और उन्नति के लिये निरन्तर क्रियाशील रहें। मुद्रण कार्य में सर्वविध सुविधा प्रदान कराने और इस बीच आये विघ्नों को दूर करने में श्री धानुका जी के सुयोग्य मुनीम श्री गिरिराजप्रसाद जी अग्रवाल का अपूर्व सहयोग रहा है। केशव मुद्रणालय के मालिक श्री मोहनलाल जी ने पूरे मनोयोग से इस कार्य को पूरा करने का संकल्प न लिया होता, तो अभी इस महनीय भाष्य के प्रकाशन में और भी विलम्ब होता। भाष्य के मुद्रण का कार्य तारा प्रेस, रत्ना प्रेस और आनन्द मुद्रणालय में भी थोड़ा-बहुत हुआ था। हम इन सबके प्रति अपनी शुभ कामना प्रकट करते हैं॥

फाल्गुन पूर्णिमा, संवत् २०४९ | विद्वद्वशंवद
वाराणसी। | **व्रजवल्लभ द्विवेदी**

विषय-सूची

प्रतिपाद्य विषय	पृष्ठ संख्या
प्रकाशकीय वक्तव्य	३
सिंहावलोकन	५–१६
दशाध्यायी (१–१०) भाष्यनिष्कर्ष	१७–४७

सप्तम अध्याय

कण्डिका संख्या		
१–२.	दो कण्डिकाओं में स्थित तीन मन्त्रों से उपांशुनामक ग्रह का ग्रहण	१–७
३.	उपांशु ग्रह से स्वल्प आहुतिदान एवं परिधि परिमार्जन	७–१२
४–५.	अन्तर्याम पात्र में सोमरस का ग्रहण	१२–१७
६.	अन्तर्याम ग्रह से आहुतिदान एवं पात्रासादन	१७–१९
७.	ऐन्द्रवायव ग्रह में इन्द्रवायुदेवताक सोमरस का ग्रहण	१९–२४
८.	ऐन्द्रवायव ग्रह से सन्तत धारा का दान	२४–२५
९.	मैत्रावरुण पात्र में सोमरस का ग्रहण	२५–२८
१०.	मैत्रावरुण ग्रह के ग्रहण के बाद उसमें दुग्ध का संमिश्रण	२८–३०
११.	आश्विन पात्र में सोमरस का ग्रहण	३०–३३
१२.	शुक्रसंज्ञक पात्र में वैल्व या वैकंकत पात्र से सोम का ग्रहण	३३–३८
१३.	अध्वर्यु का यूप की ओर गमन, यूपखण्ड का प्रक्षेप	३८–४०
१४.	अध्वर्यु अथवा यजमान द्वारा प्रस्तुत मन्त्र का जप	४०–४२
१५.	आहुतिदान के अनन्तर मन्त्रजप, चमस-भक्षण	४३–४६
१६.	मन्थी ग्रह का ग्रहण	४६–४८
१७.	मन्थी ग्रह स्थित सोम में सक्तुओं का मिश्रण	४८–५१
१८.	प्रतिप्रस्थाता का उत्तर यूपप्रदेश की ओर गमन व यूपखंड प्रक्षेप	५१–५३
१९–२०.	आग्रयण स्थाली में सोमरस की दो धाराओं का ग्रहण	५३–५८
२१.	ग्रहों के संमार्जन के लिये गृहीत दशापवित्र से स्थाली के मुख का वेष्टन, हिंशब्द का तथा प्रस्तुत कण्डिका के प्रथम मन्त्र का तीन बार जप तथा शेष मन्त्र का एक बार जप	५८–६१
२२.	उक्थ्य स्थाली से धारा के रूप में उक्थ्य ग्रह में सोमरस का ग्रहण	६१–६६
२३.	उक्थ्य स्थाली में स्थित सोम के अंश का उक्थ्य पात्र में ग्रहण	६७–६९
२४–२५.	उद्गाताओं के पश्चिम से ध्रुवस्थाली का आहरण तथा ध्रुव ग्रह का ग्रहण	६९–७६
२६.	भूमि पर गिरे हुए सोमबिन्दुओं के दोष के निराकरणार्थ 'विप्रुट्'संज्ञक घृताहुति तथा वेदतृण का ग्रहण	७७–८०

कण्डिका संख्या		पृष्ठ संख्या
२७–२८.	ग्रहण क्रम से अवकाशसंज्ञक मन्त्रों से अध्वर्यु द्वारा यजमान को ग्रहपात्रों का अवलोकन कराना	८०–८३
२९.	द्रोणकलश का अवलोकन करते हुए यजमान का मन्त्रजप	८३–८६
३०.	अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता द्वारा द्रोणकलश से रस का ग्रहण	८६–८८
३१.	आहुति देने के बाद अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता द्वारा एक दूसरे के पात्र से सोमरस का निनयन	८९–९०
३२.	ऐन्द्राग्न ग्रह का विकल्प से ग्रहण	९१
३३–३४.	शुक्रपात्र से वैश्वदेव ग्रह का ग्रहण	९२–९४
३५.	मरुत्वतीय संज्ञक ग्रहों का धारापद्धति से ग्रहण	९४–९७
३६.	रिक्त ऋतुपात्र से अध्वर्यु द्वारा सशस्त्र मरुत्वतीय ग्रह का ग्रहण	९७–९९
३७–३८.	वाचस्तोम में मरुत्वतीय ग्रह का ग्रहण	९९–१०२
३९–४०.	द्रोणकलश से माहेन्द्र ग्रह का ग्रहण	१०२–१०५
४१.	शालाद्वार्य अग्नि में दक्षिणाहोम नामक घृताहुति का प्रदान	१०५–१०६
४२.	चतुर्गृहीत घृत से शालाद्वार्य अग्नि में द्वितीय आहुति का दान	१०६–१०८
४३–४४.	आग्नीध्रीय अग्नि में सकृद्गृहीत घृताहुति प्रदान	१०८–११०
४५.	शाला के पूर्व में स्थित यजमान द्वारा दक्षिण दिशा में स्थित गायों को अभिमन्त्रित करना	११०–११३
४६.	यजमान का सदःस्थान से आग्नीध्र के पास जाना	११३–११६
४७.	यजमान द्वारा प्रदत्त हिरण्य, गाय, वस्त्र, अश्व आदि का अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता द्वारा ग्रहण	११७–११८
४८.	मन्थ, ओदन, तिल आदि पदार्थों का दान स्वीकार करना	११८–१२०

अष्टम अध्याय

१.	प्रतिप्रस्थाता द्वारा आदित्य ग्रह का ग्रहण, हुतशेष का आदित्य स्थाली में आसिचन	१२१
२.	आदित्य स्थाली से संस्रवों का तथा आदित्य ग्रह का ग्रहण	१२२–१२५
३.	सोमधारा से विच्छिन्न कर आदित्य ग्रह का आनयन	१२५–१२७
४.	आदित्य ग्रह को कुशा से ढँक कर आदित्य ग्रह में दधिसंमिश्रण	१२७–१३०
५.	उपांशुसवन नामक पाषाणखण्ड के द्वारा आदित्य ग्रहपात्र में स्थित सोमरस का दधि से मिश्रण तथा पत्नी द्वारा पूतभृत् का अवलोकन	१३०–१३४
६–७.	उपांशु और अन्तर्याम पात्र के बीच में सावित्र ग्रह का ग्रहण	१३४–१३७
८.	सावित्र ग्रह पात्र से पूतभृत् के पास स्थित महावैश्वदेव ग्रह का ग्रहण	१३७–१३९
९.	प्रतिप्रस्थाता द्वारा पात्नीवत ग्रह का ग्रहण तथा अध्वर्यु द्वारा घृत से सोम का मिश्रण	१३९–१४२
१०.	पात्नीवत ग्रह का आहवनीय में हवन, पत्नी द्वारा उद्गाता का अवलोकन	१४२–१४४
११.	हारियोजन नामक ग्रह का ग्रहण तथा उसमें धाना का मिश्रण	१४४–१४६
१२.	यजमान सहित सभी ऋत्विजों द्वारा धाना का अवघ्राणम	१४६–१४८

कण्डिका संख्या		पृष्ठ संख्या
१३.	यजमान सहित सभी ऋत्विजों द्वारा यूपखण्डों की आहवनीय अग्नि में आहुति	१४८-१४९
१४.	सोम याग के होता आदि सभी चमसी ऋत्विजों के द्वारा चात्वाल की पश्चिम दिशा में स्थापित अपने-अपने चमसों का स्पर्श	१४९-१५१
१५-२३.	नौ मन्त्रों द्वारा 'समिष्टयजुष्' नामक नौ आहुतियों का प्रदान	१५१-१६६
२४.	जल में समिधा के प्रक्षेप के बाद चतुर्गृहीत घृत की उस पर आहुति	१६६-१६८
२५.	सोमलता की गतसार सिट्ठी (ऋजीष) को घट में भर कर उसका जल पर प्लावन	१६८-१६९
२६.	ऋजीष-कुंभ को जल पर बहा देने के बाद उसका उपस्थान	१७०-१७१
२७.	ऋजीष-कुंभ को जल में डुबा देना	१७१-१७३
२८.	अनुबन्ध्या गौ के गर्भवती होने पर प्रायश्चित्त करना	१७३-१७४
२९.	प्रतिप्रस्थाता द्वारा वशावदान की आहुति	१७४-१७५
३०.	स्विष्टकृद् याग से पहले प्रतिप्रस्थाता द्वारा गर्भरस का अवदान, अध्वर्यु द्वारा स्विष्टकृद् होम के बाद प्रचरणी से आहुति देना	१७६-१७७
३१.	समिष्ट यजुर्होम के अनन्तर शामित्र अग्नि में स्वाहाकाररहित आहुति का प्रदान	१७७-१७८
३२.	शामित्र अग्नि में प्रदत्त हवि का अंगारों से आच्छादन	१७८-१७९
३३-३५.	तीन मन्त्रों द्वारा षोडशी ग्रह का ग्रहण	१७९-१८३
३६.	षोडशी ग्रह का उपस्थान, उसकी परब्रह्म के रूप में स्तुति	१८३-१८४
३७.	षोडशी ग्रह पात्र में स्थित सोम का भक्षण	१८५
३८-४०.	द्वादशाह संबन्धी अतिग्राह्य ग्रहों का ग्रहण एवं भक्षण	१८६-१९०
४१.	गवामयन नामक संवत्सर सत्र के विषुवत् नाम के मध्यम दिन में अतिग्राह्य ग्रह का ग्रहण	१९०-१९१
४२.	गर्गत्रिरात्र आदि यागों में दातव्य सहस्र गायों की संख्या में हजार संख्या की पूर्ति करने वाली रोहिणी गौ को द्रोणकलश का आघ्राण कराना	१९१-१९२
४३.	उक्त रोहिणी गौ के दाहिने कान में यजमान द्वारा मन्त्रवाचन	१९३-१९४
४४-४६.	गवामयन के उपान्त्य महाव्रत के दिन ऐन्द्र ग्रह का ग्रहण	१९४-१९८
४७.	औदुम्बर पात्र में सोमांशुग्रहण, निग्राभ्या जल का आनयन, तीन सोमलताओं की आहुति तथा अदाभ्य ग्रह का ग्रहण	१९८-२००
४८-४९.	अदाभ्य ग्रह में स्थित निग्राभ्या जल का अध्वर्यु द्वारा आलोडन	२००-२०३
५०.	इस कण्डिका के तीन मन्त्रों से सोम खण्डों को अधिषवण प्रस्तर पर रखना	२०४-२०५
५१.	अध्वर्यु द्वारा शालाद्वार्य में सकृद् गृहीत घृत की आहुति	२०५-२०७
५२.	सभी दीक्षित ऋत्विजों द्वारा प्रस्तुत ऋचा पर सामगान	२०७-२०८
५३.	सभी दीक्षित यजमानों का हविर्धान के नीचे से झुक कर पूर्वाभिमुख निष्क्रमण	२०८-२१०
५४-५९.	मृण्मय घर्मपात्र के टूट जाने पर चौतीस आहुतियों का प्रदान	२१०-२१८

कण्डिका संख्या		पृष्ठ संख्या
५९.	'ययोरोजसा' इत्यादि शेष मन्त्र से स्कन्न रसरूप सोम का जल से सेचन	२१८–२२०
६०–६१.	रस रूप सोम द्रव्य का स्कन्दन होने पर प्रायश्चित्त का विधान	२२०–२२२
६२.	श्रुत्युक्त काल में सकृद् गृहीत घृत से आहुति देकर यजमान द्वारा मन्त्र का वाचन	२२२–२२३
६३.	सोम याग में यूप पर काक के बैठ जाने पर उद्‌गाता अथवा ब्रह्मा द्वारा आहुति	२२३–२२४

नवम अध्याय

१.	वाजपेय याग की अंगभूत दीक्षणीया, प्रायणीया, आतिथ्या आदि इष्टियों के प्रसंग में सकृद्‌गृहीत घृत की आहुति	२२५–२२६
२.	प्रातःसवन के प्रसंग में आग्रयण, अतिग्राह्य और षोडशी ग्रहों का क्रमशः ग्रहण	२२६–२२८
३.	वाजपेयिक चतुर्थ ग्रह का ग्रहण	२२८–२२९
४.	वाजपेयिक पंचम ग्रह का ग्रहण	२३०–२३१
५.	महामरुत्वतीय ग्रहप्रचार के अनन्तर माहेन्द्र ग्रह के ग्रहण से पूर्व अध्वर्यु द्वारा शकट से रथ का अवतारण	२३१–२३३
६.	स्नान के लिये जल में प्रविष्ट अथवा स्नान के बाद आये हुए चार अश्वों का अध्वर्यु द्वारा कण्डिकागत दो मन्त्रों से प्रोक्षण	२३३–२३५
७.	रथ में दाहिने अश्व का योजन	२३५–२३६
८.	रथ के उत्तर (बाँये) भाग में अश्व का योजन	२३६–२३७
९.	रथ में प्रष्टि नामक तृतीय अश्व का योजन तथा रथ में नियुक्त अश्वों को बार्हस्पत्य चरु का अवघ्राणन	२३७–२३९
१०.	उत्कर स्थान के पास स्थापित सत्रह अरों से युक्त उदुम्बर काष्ठ से बनाये गये रथचक्र पर ब्रह्मा नामक ऋत्विक् का आरोहण	२४०–२४१
११.	अध्वर्यु द्वारा वेदि के पास ऊँची जगह पर रखी सत्रह दुन्दुभियों में से एक का मन्त्रोच्चार के साथ तथा अन्य का तूष्णीं वादन	२४१–२४३
१२.	अध्वर्यु द्वारा एक दुन्दुभि का मन्त्रोच्चार के साथ तथा अन्य का तूष्णीं अवतारण	२४३–२४४
१३.	पूर्वोक्त विधि से अश्वसंयोजित रथ पर यजमान का आरोहण	२४४–२४६
१४–१५.	दो मन्त्रों से आज्य का हवन अथवा अनुमन्त्रण	२४६–२४९
१६–१८.	तीन मन्त्रों से आज्य की आहुति अथवा अश्वाभिमन्त्रण	२४९–२५२
१९.	यजमान द्वारा रथ से उतर कर नैवार चरु का स्पर्श तथा रथ से संयुक्त अश्वों को उसका आघ्रापण	२५२–२५४
२०.	कण्डिकागत छः मन्त्रों से स्रुवाहुति प्रदान	२५४–२५७
२१.	कण्डिकागत छः मन्त्रों से स्रुवाहुति प्रदान, यज्ञरूप संवत्सरात्मक प्रजापति के निमित्त इन १२ आहुतियों का विधान अथवा १२ मन्त्रों का वाचन	२५७–२६०

कण्डिका संख्या		पृष्ठ संख्या
२२.	यूपारूढ यजमान का दिशाओं का निरीक्षण, भूमि का निरीक्षण, अध्वर्यु द्वारा चर्मास्तरण तथा उस पर यजमान का बैठना	२६१–२६४
२३–२९.	औदुम्बर पात्र में एकत्र जल, दुग्ध, सर्वान्न आदि की आहवनीय अग्नि में स्रुव द्वारा सात मन्त्रों से आहुति	२६४–२७३
३०.	हवन के बाद औदुम्बर पात्र में अवशिष्ट पदार्थों से यजमान के सिर का अभिषेक	२७३–२७५
३१–३४.	उज्जितिसंज्ञक चार मन्त्रों से स्रुवाहुति प्रदान अथवा मन्त्रवाचन	२७५–२८०
	राजसूय याग	
३५.	ऊषर भूमि में उल्मुक स्थापन पूर्वक निर्ऋति आदि के निमित्त आहुति प्रदान, पंचवातीय होम	२८०–२८७
३६.	पंचधा विभक्त आहवनीयाग्नि को एकत्र कर उसमें आहुति देना	२८८–२८९
३७.	अपामार्ग-तण्डुल की आहुति देने के लिये दक्षिणाग्नि से उल्मुक का आदान	२८९–२९०
३८.	उल्मुक को सविधि स्थापित कर उसमें स्रुवस्थित अपामार्ग तण्डुलों की पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख हो आहुति देना	२९०–२९२
३९–४०.	आठ देवसू आहुतियों में से अन्तिम आहुति को वारुण चरु से समर्पित कर यजमान के दक्षिण बाहु का ग्रहण और यथास्थान यजमान के तथा उसके माता-पिता के नाम का ग्रहण एवं आशीर्वचन	२९२–२९६
	दशम अध्याय	
१.	उदुम्बर पात्र में सरस्वती नदी के जल का ग्रहण	२९७–२९८
२–४.	आहुति प्रदान के बाद अन्य सोलह प्रकार के जलों का ग्रहण तथा चतुर्गृहीत आज्य से हवन	२९९–३०८
५.	पालाश आदि चतुर्विध पात्रों का आसादन, व्याघ्रचर्म का आस्तरण तथा पार्थ संज्ञक आहुतियों का प्रदान	३०८–३११
६.	कुशपवित्रों का निर्माण, उनमें हिरण्यबन्धन तथा उनसे अभिषेकार्थ आनीत जल का उत्पवन	३११–३१४
७.	पवित्र जल का अभिषेक के लिये पालाश आदि के चार पात्रों में भरना	३१४–३१५
८.	यजमान को क्षौम वस्त्र का परिधापन, श्वेत कम्बल का धारण, महाकंचुक तथा उष्णीष धारण एवं धनुष का विधिवत् ग्रहण	३१६–३१९
९.	इषु (बाण) ग्रहण के बाद यजमान द्वारा कण्डिकागत 'आवित्' संज्ञक सात मन्त्रों का वाचन	३२०–३२१
१०.	'अवेष्टा दन्दशूकाः' मन्त्र के इस भाग से अध्वर्यु द्वारा सदोमध्य में उपविष्ट क्लीब के मुख में ताम्र परिष्कृत लौह खण्ड का प्रक्षेप	३२२
१०–१४.	यजमान की भुजाओं को पकड़ कर अध्वर्यु द्वारा उसको क्रमशः प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची और ऊर्ध्व दिशा की ओर ले जाना	३२२–३२७

कण्डिका संख्या		पृष्ठ संख्या
१५.	अध्वर्यु द्वारा बाहुगृहीत यजमान का व्याघ्रचर्म पर चढाना और उसके पादतल के नीचे सुवर्ण के परिमण्डल को रखना	३२७–३२९
१६.	अध्वर्यु द्वारा यजमान की दोनों भुजाओं को ऊपर उठाना	३२९–३३१
१७–१८.	यजमान के सामने खड़े पुरोहित अथवा अध्वर्यु द्वारा सुवर्ण खण्ड से अलंकृत व्याघ्रचर्म पर खड़े पूर्वाभिमुख यजमान का पालाश पात्र में स्थित जल से अभिषेक	३३१–३३३
१९.	यजमान द्वारा कृष्णविषाणा कण्डूयनी से अभिषेक के जल का सारे शरीर पर लेपन	३३३–३३६
२०.	अध्वर्यु द्वारा राजा और राजपुत्र के पितापुत्रभाव की चर्चा के प्रसंग में सकृद् गृहीत घृत की शालाद्वार्य अग्नि में आहुति	३३६–३३८
२१.	रथवाहण स्थान से रथ का अवतारण, अश्वयोजन तथा शताधिक गायों का प्रत्यर्पण के लिये स्थापन	३३८–३४२
२२.	यजमान का रथारोहण, शताधिक गायों का प्रत्यर्पण तथा यूप की प्रदक्षिणा करके अन्तःपात्य स्थान में रथस्थापन	३४२–३४४
२३.	अध्वर्यु द्वारा सकृद् गृहीत घृत से रथविमोचनीया नामक चार आहुतियों का प्रदान एवं रथावतरण के समय भूमि का दर्शन	३४४–३४७
२४.	सोपानत्क यजमान का रथ से उतरना	३४७–३५०
२५.	रथ के दक्षिण चक्र के मार्ग पर जाकर यजमान की बाहुओं में शतमान सुवर्ण की वर्तुल मणियों को बांधना	३५०–३५२
२६.	खदिर काष्ठ की बनी आसन्दी का स्थापन और उस पर व्याघ्रचर्म का आस्तरण	३५२–३५३
२७.	अध्वर्यु द्वारा यजमान के हृदय का स्पर्श	३५३–३५४
२८.	यजमान के हाथ पर सोने की कोड़ी के रूप में बने पांच अक्षों (पासों) का रखना और अध्वर्यु आदि के द्वारा यज्ञिय वृक्षों की टहनी से यजमान की पीठ पर धीरे-धीरे आघात करना	३५४–३५९
२९	जुआ खेलने की जगह पर सुवर्ण रख कर उस पर चतुर्गृहीत घृत की आहुति देना और वहाँ अक्षों का रखना	३५९–३६१
३०.	पितामह आदि सोमयाजियों के दस गणों की गणना करके उनके निमित्त ऋत्विक् गण और अन्य ब्राह्मणों का दशवाजपेय याग के सौत्य दिवस में 'विभुरसि' मन्त्र से अथवा सावित्र अनुवाक से प्रसर्पण और धिष्ण्योपस्थान	३६१–३६५

राजसूयगत चरक सौत्रामणी के मन्त्र

३१.	अनंकुरित चार मुट्ठी व्रीहि का ओदनपाक, उसमें चूर्णीकृत अविरूढ व्रीहि का मिलाना	३६५–३६६
३२.	छानी गई सुरा में बदरी चूर्ण का मिलाना, उसको वैकंकत पात्र में भर कर देवताओं को अर्पित करना	३६७–३६८
३३–३४.	सुराग्रहों के ग्रहण के याज्या और अनुवाक्या मन्त्र	३६९–३७२

सप्तमोऽध्यायः

पूर्वोक्ते षष्ठेऽध्याये यूपसंस्कारादिसोमाभिषवपर्यन्ता मन्त्रा व्याख्याताः। अथ सप्तमेऽध्याये ग्रहग्रहणमन्त्रा व्याख्यायन्ते। 'उपांशुं च गृह्णाति वाचस्पतये देवो देवेभ्यो मधुमतीरिति' (का० श्रौ० ९।४।२०)। सूत्रेऽत्र मन्त्रत्रयस्य प्रतीकोपादानात् निग्राभवाचनानन्तरं त्रिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमेकैकेन मन्त्रेणोपांशुसंज्ञकं ग्रहं गृह्णीयाद् एकैकेन मन्त्रेण प्रतिवर्गं तृतीयांशं गृह्णीयात्। अष्टकृत्वः प्रहृत्य वाचस्पतय इति, एकादशकृत्वः प्रहृत्य देव इति, द्वादशकृत्वः प्रहृत्य मध्विति। अयमुपांशुग्रहोऽन्तर्यामग्रहश्चाग्रे वक्ष्यमाणोऽधाराग्रहः। ऐन्द्रवायवग्रहस्तु धाराग्रहः। सोमयागे हि द्विप्रकारो ग्रहः—अधाराग्रहः, धाराग्रहश्च। तत्र दशापवित्रेऽभिषुतान् सोमान्निक्षिप्य तत्र जले प्रक्षिप्ते ततो या धारा सोमरसस्य प्रवहति, तया धारया येषां ग्रहणं ते धाराग्रहाः, यस्य तु धारामन्तरा अंशून्निक्षिप्य तत्रैव जलक्षेपणं सोऽधाराग्रहः। इमौ चोपांश्वन्तर्यामग्रहौ अधाराग्रहौ। अतोऽत्रांशूनामेव ग्रहणं न रसस्य। प्राणदैवत्या विराट्। नववैराजत्रयोदशैर्नष्टरूपस्येतिलक्षणान्नष्टरूपा विराट्। प्रथमोऽष्टार्णस्तेनैकोना। पूर्वोत्तरार्धयोरुपांशुग्रहस्य प्रथमद्वितीयग्रहयोः क्रमेण विनियोगः।

वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अꣳशुभ्यां गभस्तिपूतः।
देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि॥ १॥

मन्त्रार्थस्तु—हे सोम, पतये पालकदेवार्थं वाचो वाचा, विभक्तिव्यत्ययः, मन्त्रेण वाचःसम्बन्धिना मन्त्रेण वा, पवस्व शुद्धो भव। कीदृशस्त्वम्? वृष्णो वर्षितुस्तव सम्बन्धिभ्यामंशुभ्यां पूतः। तौ हि तत्र क्षिप्येते। तथा गभस्तिपूतः 'पाणी वै गभस्ती' (श० ४।१।१।९)। अध्वर्योर्गभस्तिभ्यां पाणिभ्यां च पूतः। समासगतः पूतशब्दो विच्छिद्यांशुभ्यामित्यनेनापि योज्यः। उव्वटाचार्यस्तु 'प्राणो वै वाचस्पतिः' (श० ४।१।१।९) इति श्रुत्यनुसारेण हे सोम, वाचस्पतये प्राणाय त्वं पवस्व। पवनं देवतार्था प्रवृत्तिरित्याह। 'पव गतौ' इति धातोः। यस्त्वं वृष्णोऽभीष्टवर्षणशीलस्य सोमस्यांशुभ्यामध्वर्योश्च गभस्तिभ्यां पूत इत्याह। द्वितीयं गृह्णाति हे सोम, देवः सन् देवेभ्योऽर्थाय पवस्व प्रवृत्तिं कुरु। नह्यदेवो देवांस्तर्पयितुमलम्। केषां देवानाम्? येषां त्वं भागोऽसि, तेभ्यो देवेभ्यो दीप्यमानः सन् पवस्वेत्यर्थः। शतपथे 'प्राणो ह वा अस्योपांशुर्व्यान उपांशुसवन उदान एवान्तर्यामः' (श० ४।१।१।१)। तत्रादौ प्रातःसवनीयाः षोडश ग्रहाः। तत्रायमुपांशुग्रहः। अस्य सोमयागस्य सकलस्य

मन्त्रार्थ—हे सोम! सम्पूर्ण कामनाओं को पूरा करने वाले तुम हमारे हाथों से पवित्र हुए प्राणों की प्रीति के लिये इस पात्र में बैठो। हे सोमदेवता स्वरूप! तुम देवताओं की प्रीति के निमित्त इस पात्र में बैठो और देवताओं के भाग बनो॥ १॥

भाष्यसार—पूर्वोक्त छठे अध्याय में यूपसंस्कार से प्रारम्भ करके सोमाभिषव तक के मन्त्रों की व्याख्या की गई है। सातवें अध्याय में ग्रह-ग्रहण के मन्त्रों की व्याख्या की जा रही है। कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।२१-२५) में वर्णित याज्ञिक

वा लोकस्यादौ गृह्यमाण उपांशुग्रहः प्राणः प्राणत्वेन प्रसिद्धः, 'प्राणो वा एष यदुपांशुः' (तै० सं० ६।४।५) इति श्रुतेः। उपांशुसहचारिण उपांशुसवनस्याऽन्तर्यामस्य च व्यानोदानतामाह—'व्यान उपांशुसवन उदानोऽन्तर्यामः' इति। कात्यायनोऽपि—'उपांशुसवनं पाणिना प्रमृज्योदञ्चं व्यानाय त्वेति संस्पृष्टमुपविष्टयोरभिषुण्वन्ति चत्वारः पर्युपवेशनसामर्थ्यात्' (का० श्रौ० ९।४।३७), तथा (का० श्रौ० ९।५।१)। उपांशुसवनाख्ये पाषाणे लग्नमृजीषादिकं हस्तेनाधः पातयित्वा उदङ्मुखमुपांशुपात्रलग्नमेव तं सादयेत्, व्यानाय त्वेति मुखं चास्य येनाभिषवः कृतः, उपांशुग्रहं हुत्वाऽधिषवणफलकसमीपेऽध्वर्युयजमानयोरुपवेशनानन्तरमध्वर्युप्रतिप्रस्थातृनेष्टृन्नेतारः सोमाभिषवं कुर्वन्ति, 'अधिषवणे पर्युपविशन्ति' (का० श्रौ० ९।४।१) इत्यत्र परित उपविशन्तीति चतसृषु दिक्षूपवेशन-विधानसामर्थ्यात्।

'अथ यस्मादुपा७ँ शुर्नाम। अ७ँ शुर्वै नाम ग्रहः स प्रजापतिस्तस्यैष प्राणस्तद्यदस्यैष प्राणस्तस्मादुपा७ँ शु-र्नाम' (श० ४।१।१।२) उपांशोः प्राणत्वं प्रश्नपूर्वकमुपांशुव्युत्पत्त्यापि समर्थयते—अथ यस्मादिति। गृह्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या ग्रहो दारुमयं पात्रमंशुनामकम्। तस्य यज्ञसाधनत्वेन तस्मिन् यज्ञत्वोपचाराद् यज्ञस्य च 'यज्ञो वै प्रजापतिः' (तै० ब्रा० १।३।१०) इति श्रुत्या प्रजापतित्वात् स ग्रहः प्रजापतिः। तस्य प्रजापतिरूपस्य ग्रहस्य प्राणवतश्चरति तेनैष सोमरसः प्राणः। तत्सोमरसात्मकं द्रव्यं यस्मादस्यांशुग्रहात्मकप्रजापतेरेष उक्तोपपादनः प्राणस्तस्मादुपगतोऽशुमिति विगृह्य (पा० सू० १।४।७९) इति स्थलीयेन 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति वार्त्तिकेन द्वितीयासमासः। यद्वा अंशुं गृह्णातीति विहितः सोमग्रहोंऽशुः। स चानिरुक्तया प्राजापत्यया गृह्यत इति प्रजापत्यात्मकः। तं प्राणरूपेणोपगतो ग्रह उपांशुग्रहः। 'तं बहिष्पवित्राद् गृह्णाति पराञ्चमेवास्मिन्नेतत् प्राणं दधाति सोऽस्यायं पराङेव प्राणो निरर्दति तम७ँ शुभिः पावयति पूतो सदिति षड्भिः पावयति षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवैन-मेतत् पावयति' (श० ४।१।१।३)। सोमात्मकस्य प्राणस्य गुणविशिष्टं ग्रहणं विधत्ते—तं बहिष्पवित्राद् गृह्णातीति। तं प्रकृतं प्राणात्मकं सोमरसं पवित्राद् दशापवित्राद् बहिः पृथक् पवित्रमन्तरेण गृह्णाति। अविधानादर्थसिद्धः पवित्रविरहो नान्तरिक्षे चिनोतीतिवन्नित्यप्राप्तोऽनूद्यते। पवित्रविरहस्य प्रयोजनमाह पराञ्चमेवास्मिन्नेतत् प्राणं दधातीति। एतदिति निधानक्रियाया विशेषणम्। तस्याश्चाख्याताभिधेयां भावनां प्रति कर्मत्वादेतदिति तद्विशेषणे द्वितीया। अस्मिन् ग्रहाख्ये प्रजापतौ बहिः सुखसञ्चारक्षमप्राणकर्मकमेतन्निधानं करोति। एवं चास्य प्रजापते-रेतत्सृष्टतया वा तदात्मकस्य सकललोकस्य सोऽयं परिदृश्यमानः प्राणो बहिरपि निरर्दति निर्गच्छत्येव। 'अर्द गतौ याचने च'। ततश्च श्वासप्रश्वासप्रतिबन्धो न कदाचिद् भवति। पवनसाधनदशापवित्राद् बहिस्त्वे विहितं ग्रहणमपूतस्यैव स्यात्, तथा मा भूदिति पावनमंशुकरणकं विधत्ते—तमंशुभिः पावयतीति। पूतोऽसदिति। इकारलोपः (पा० सू० ३।४।९७), 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमः। पूतो भवतीत्यर्थः। विलस्योपरि अंशुं निधाय तत्र रसावनयनेन तं रसं शोधयेदित्यर्थः। अतीतानामंशूनां विनियोगासम्भवादर्थसिद्धमादानमिति ब्राह्मणे न पृथग्विहितम्। विस्पष्टीकरणार्थं तु सूत्रकारेण 'प्रतिप्रस्थाता७ँ शून् षडादत्ते' इत्युक्तम् 'षडार्द्रानंशून् संश्लिष्टानादाय चर्मणि निधाय' इत्यापस्तम्बश्रौतसूत्रात्। अंशुभिरित्युक्तस्य बहुत्वसामान्यस्य तद्विशेषे पर्यवसान-माह—षड्भिः पावयतीति। अंशूनां विहिता षट्त्वसंख्या स्तूयत ऋतुत्वसम्पादनेन—षड्वा ऋतव इति। सोमरसकर्मकमेतत् पावनमृतुरूपैरेवांशुभिः कृतवान् भवेदित्यर्थः। आत्तानां षण्णामंशूनां मध्ये वक्ष्यमाणेषूपांशु-ग्रहणपर्यायेषु त्रिष्वप्येकैकस्मिन् पर्याये द्वौ द्वावंशून् ग्रहबिले निदध्यात्। तदाह कात्यायनः—'आत्तानां च द्वौ

प्रक्रिया के अनुसार 'वाचस्पतये पवस्व' इत्यादि तीन मन्त्रों के द्वारा उपांशु नामक ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह उपांशु

द्वावन्तर्दधाति ग्रहणभेदात्' (का० श्रौ० ९।४।२२)। 'मन्त्रलिङ्गाच्च' (का० श्रौ० ९।४।२३)। ग्रहणपर्यायाणां त्रित्वाद् वृष्णो अंशुभ्यामिति (वा० सं० ७।१) ग्रहणमन्त्रगतद्विवचनलिङ्गाच्च। अस्मिन् पक्षे पर्यायत्रयसंख्यां संकलय्य षड्भिरिति ब्राह्मणे षट्त्वं द्रष्टव्यम्। 'अंशुभ्या७ ह्येनं पावयति' इति मन्त्रव्याख्यानब्राह्मणगतां-शुद्वित्वपरामर्शादपि षड्भिरिति बहुवचनं सङ्कलनाभिप्रायमेवेति निगम्यते। एकैकस्मिन् ग्रहणपर्यायेंऽशुषट्क-विधिपरं षड्भिः पावयतीति ब्राह्मणवाक्यमिति मत्वा कात्यायनेनोक्तम्—'षड्वा श्रुतिसामर्थ्यात्' (का० श्रौ० ९।४।२४)। 'अंशुभ्याम्' (वा० सं० ७।१) इति हि मन्त्रे द्विवचने लिङ्गम्, अंशुभ्यां ह्येनं पावयतीति तद् व्याख्यानं ब्राह्मणवाक्यं च मन्त्रार्थाविष्करणमात्रपरम्, न तु द्वित्वविधिपरम्! हीति प्रसिद्धिर्मन्त्राभिप्राय-विवक्षयैव। इत्थं मन्त्रलिङ्गाद् द्वित्वम्, षड्भिरिति विधिश्रुत्या तु बहुत्वम्। श्रुतिश्च लिङ्गाद्बलीयसी। यथा 'कदाचन स्तरीरसि' (वा० सं० ३।३४) इति ऐन्द्री ऋक् 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति कात्यायनस्याभिप्रायः।

'तदाहुः। यद७शुभिरुपा७शुं पुनाति सर्वे सोमाः पवित्रपूता अथ केनास्या७शवः पूता भवन्तीति (श० ४।१।१।१४)। आत्तानामंशूनां पुनरपि सोमे योजनविधानाय याज्ञिकानां जिज्ञासामवतारयति - तदाहुरिति। तत् तस्मिन्नंशुविषये आहुर्जिज्ञासन्ते यद् यस्मात् कारणादुपांशुसोमरसः षड्भिरंशुभिः पूयते, अन्यतर्यामादिसोमास्तु दशापवित्रेण पूयन्ते, न तृतीयं पावनसाधनमस्ति। अत एतेंऽशवः केन पूयन्ते ? उक्तप्रश्नस्योत्तरत्वेन समन्त्र-कमुपनिवापं विदधाति—'तानुपनिवपति यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहेति तदस्य स्वाहाकारेणैवा७शवः पूता भवन्ति सर्वं वा एष ग्रहः सर्वेषा७ हि सवनाना७ रूपम्' (श० ४।१।१।१५)। षडंशूनन्तर्यामाद्यर्थे सन्निहिते सोमे यत्त इति मन्त्रेण क्षिपतीत्यर्थः। हे सोम, त्वदीयं यन्नाम शत्रुभिरदाभ्य-मतिरस्कार्यम्, जागृवि जागरूकम्, हे सोम ! तस्मै सोमाय ते तादृक् सोमनामधारिणे तुभ्यमिदं सोमांशुद्वयं स्वाहा स्वाहुतमस्त्विति। क्षेपे च सति तैरेवान्तर्यामादिसोमैः सह प्रक्षिप्तानामंशूनामपि वसतीवरीसंसर्गोऽभिषवणे दशापवित्रेण पवनमिति संस्कारा भविष्यन्ति। तदेवाह—तदस्य स्वाहाकारेणैवांशवः पूता भवन्तीति। तत् तथा सत्यस्योपांशोरन्तर्धानार्था अंशवोऽपि स्वाहेति क्रियते यस्मिन् प्रक्षेपे तेन प्रक्षेपेण पूता भवन्तीति योजना। उपांशोरन्तर्धानाय पृथगात्तानामंशूनां सवनत्रयसम्बन्धिनि सोमे पुनः प्रक्षेपे हेतुमाह—सर्वं वा। अयं ग्रहः सकल-सोमयागात्मकः, यतः सवनत्रयरूपमिह दृश्यते। अतः सवनत्रयात्मकैतद्ग्रहसम्बन्धिनामंशूनां सवनत्रयसम्बन्धिनि सोमे योजनमुचितमिति भावः। अस्य ग्रहस्य सवनत्रयात्मकत्वमभिषवविधिब्राह्मणे स्पष्टम्। 'देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। ते असुरराक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्ते होचुः स७स्थापयाम यज्ञं यदि नोऽसुरराक्षसान्यासजेयुः स७स्थित एव नो यज्ञः स्यादिति' (श० ४।१।१।१६)। उपांशुग्रहस्य सवनत्रयात्मकत्वं प्रातःसवनस्य सवन-त्रयात्मकत्वनिदर्शनेन द्रढयितुमाख्यायिकामाह - देवा इति। 'आ सायमनुष्ठीयमाने यज्ञे असुरा राक्षसा ज्ञात्वा आसक्ताः सन्तो जघ्नुः। 'ते प्रातःसवन एव सर्वं यज्ञ७ समस्थापयन्नेतस्मिन्नेव ग्रहे यजुष्टः प्रथमे शस्त्र ऋक्तस्तेन स७स्थितेनैवात ऊर्ध्वं यज्ञेनाचरन् स एषोऽप्येतर्हि यज्ञः सन्तिष्ठत एतस्मिन्नेव ग्रहे यजुष्टः प्रथमे स्तोत्रे सामतः प्रथमे शस्त्रे ऋक्तस्तेन स७स्थितेनैवात ऊर्ध्वं यज्ञेन चरति' (श० ४।१।१।१७)। प्रातःसवनत्रयात्मकं यज्ञं समस्थापयन्। ऋग्यजुःसाममन्त्रैर्हि सवनत्रयात्मकं कर्म सम्पद्यते। अतः प्रातःसवने उपांशुग्रहगतयजुर्मन्त्रैरेव

ग्रह तथा आगे उल्लिखित किया जाने वाला अन्तर्याम ग्रह ये दोनों अधाराग्रह हैं। ऐन्द्रवायव ग्रह तो धाराग्रह है। सोमयाग में दो प्रकार के ग्रह होते हैं—अधाराग्रह तथा धाराग्रह। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

यजुष्ट्वाविशेषात् सवनान्तरवर्तियजुःसाध्यमपि कर्म सम्पन्नम्। एवं प्रथमस्तोत्रशस्त्रगताभ्यामृक्सामाभ्यामिति संग्रहेण संस्थिते एव तु द्वितीयतृतीयसवने पुनर्विस्तारेणान्वतिष्ठन्निति। अत इदानीमपि तथा, अतो यथा प्रातःसवनस्य सवनत्रयात्मकत्वमेवमुपांशुग्रहस्यापि। 'स वा अष्टौ कृत्वोऽभिषुणोति। अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं प्रातःसवनमेवैतत् क्रियते' (श० ४।१।१।८)। स प्रहरति त्रिभिरभिषुणोतीति विहिताभिषवपर्यायत्रयमध्ये प्रथमपर्याये प्रहारसंख्याविशेषं विधत्ते—स वा अष्टौ कृत्वोऽभिषुणोतीति। सोमे गाव्णा अष्टकृत्वः प्रहारं करोतीत्यर्थः। संख्यासामान्येन प्रहारस्य गायत्र्यात्मकत्वात् तदात्मप्रातःसवनरूपमेतत्कर्म सम्पन्नमित्यर्थः।

'स गृह्णाति। वाचस्पतये पवस्वेति प्राणो वै वाचस्पतिः प्राण एष ग्रहस्तस्मादाह वाचस्पतये पवस्वेति वृष्णो अꣳशुभ्यां गभस्तिपूत इति···पाणी वै गभस्ती पाणिभ्याꣳ ह्येनं पावयति' (श० ४।१।१।९)। बर्हिष्पवित्राद् गृह्णातीति विहितं ग्रहणं स गृह्णातीत्यनूद्य मन्त्रं विनियुज्य व्याचष्टे—स गृह्णातीत्यादिना गभस्तिपूत इत्यन्तेन मन्त्रेण। वैशब्दः प्रसिद्धौ। 'एष एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिः' (बृ० उ० १।३।२०) इति बृहस्पतिनिर्वचने वागात्मिकां बृहतीं प्रति प्राणस्य पतित्वाभिधानाद् वाचस्पतित्वं प्राणस्य प्रसिद्धम्। उपांशुपात्रे गतस्य सोमरसस्य च प्राणत्वं प्रागुक्तमेव—'प्राणो ह वास्य' (४।१।१।१) इति। हे सोमरस, त्वं वाचस्पतित्वाय प्राणत्वाय पूतो भवेत्यर्थ इति सायणाचार्यः। वर्षति सोममिति वृषा सोमः, तस्यांशुभ्याम्। अत्र पात्रधारणे पाण्योः करणत्वम्, तद्द्वारान्तर्धानेन तु सोमांशोरिति द्वारभेदेनैकस्मिन्नपि पात्रे पाण्योरंशोश्च न विकल्पः। 'अथैकादशकृत्वोऽभिषुणोति। एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं माध्यन्दिनमेवैतत्सवनं क्रियते' (श० ४।१।१।१०)। 'स गृह्णाति। देवो देवेभ्यः पवस्वेति देवो ह्येष देवेभ्यः पवते येषां भागोऽसीति तेषामु ह्येष भागः' (श० ४।१।१।११)। द्वितीयग्रहणपर्याये प्रहारसंख्याविशेषं विधत्ते—अथैकादशेति। संख्यासामान्येन प्रहारं त्रिष्टुबात्मकं माध्यन्दिनसवनमेवैतत्कर्म क्रियते। द्वितीयग्रहणपर्याये मन्त्रं विनियुञ्जानः क्रमेण तद्भागौ व्याचष्टे—स गृह्णातीति। शुक्लप्रतिपदादितिथिषु चन्द्रस्यैकैककलावृद्धौ सोमलताया एकैकं पत्रमुत्पद्यते। कृष्णप्रतिपदादिषु चन्द्रस्यैकैककलाह्रासे सोमलताया एकैकं पत्रं निपततीति सुश्रुतादौ प्रसिद्धम्। अतोऽयं सोमश्चन्द्रात्मकतया देवः। सा प्रसिद्धिर्हिशब्देनोच्यते—देवो हि येषां भागोऽसि तेषामु ह्येष भागः।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, वाचस्पतये वेदलक्षणाया वाचोऽधीश्वराय पवस्व शुद्धो भव। शुद्धो भूत्वा तमनुसर। वृष्णोऽभीष्टवर्षणशीलस्य परमात्मनोंऽशुभ्यां बाह्यान्तराभ्यामनुग्रहलक्षणाभ्यां किरणाभ्यामनुगृहीतः, तस्यैव गभस्तिभ्यां पाणिभ्यां पूतः सन् येषां देवानामर्चनेऽधिकृतोऽसि, तेभ्यो देवेभ्यो देवो भूत्वा पवस्व तानर्चयितुमनुसर। ननु परमेश्वरस्य निराकारत्वात् कुतस्तस्य पाणिसम्बन्ध इति चेन्न, 'नमो हिरण्यबाहवे' (वा० सं० १६।१७) इति परमेश्वरस्य हिरण्यबाहुत्वश्रवणात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, त्वं वाचस्पतये वाण्याःपालकायेश्वराय पवस्व पवित्रो भव, वृष्णो वीर्यवतोऽशुभ्यां बाहुभ्यामिव बाह्याभ्यन्तरव्यवहाराय गभस्तिपूत इव गभस्तिभिः किरणैः पूत इव देवो विद्वान् देवेभ्यो

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र की अर्थयोजना इस प्रकार है—हे साधक, वेद-रूपिणी वाणी के अधिष्ठाता के लिये शुद्ध बनो। शुद्ध होकर उसका अनुसरण करो। अभीष्ट की वर्षा करने वाले परमात्मा की बाह्य और आन्तरिक अनुग्रहरूपी किरणों से अनुगृहीत होकर उसीके करस्पर्श से पवित्र होकर जिन देवताओं की अर्चना के लिये तुम अधिकृत हो, उन देवों के लिये देवतारूप होकर अर्चना करने हेतु अनुसरण करो। परमेश्वर के निराकार होने के कारण उनके हाथों का सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है? यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'नमो हिरण्यबाहवे' इत्यादि मन्त्रों में परमेश्वर की स्वर्णमय भुजाओं का वर्णन है।

विद्वद्भ्यः पवस्व शुद्धो भव । तेषां भागोऽसि भजनीयोऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तश्रुतिसूत्रविरोधात् । मनुष्यस्य सम्बोध्यत्वेऽपि मूलं चिन्त्यम् । मनुष्यः कथं गभस्तिभिः पूयते ? यो देवो भवति स शुद्ध एव भवति, पुनर्देवो देवेभ्यो विद्वद्भ्यः कथं शुद्धः स्यात् ? वाचकोपमालङ्काराश्रयणमपि निर्मूलमेव ॥ १ ॥

मधुमतीर्न इषस्कृधि यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ २ ॥

तृतीयं गृह्णाति । लिङ्गोक्तदैवतम् । हे सोम, त्वं नोऽस्माकमिषोऽन्नानि मधुमतीर्मधुररसोपेतानि कृधि कुरु । 'यत्त इत्यात्तान् सोमे निदधाति' (का० श्रौ० ९।४।२५) । पावनार्थं पूर्वं गृहीतान् षडंशून् प्रतिप्रस्थाता सोमे निदध्यात् । सोमे लतासोम इति कर्कः । ऋजीषरूप इति प्राचीनसम्प्रदायः । यतो गृहीतास्तत्र प्रतिक्षेप इति युक्तम् । सौम्यम् । हे सोम, तव अदाभ्यमहिंस्यं दभ्नोतिर्हिंसार्थः, जागृवि जागरणशीलं यन्नामास्ति सोमेति, हे सोम, तस्मै तन्नामवते तुभ्यं सोमाय स्वाहा सुहुतमस्तु । 'स्वाहेत्यक्षरद्वयमुक्त्वा निष्क्रमणम्' (का० श्रौ० ९।४।२९) । परिमृज्यानासाद्यैव स्वाहेति मन्त्रमुक्त्वा हविर्धानान्निष्क्रमणमध्वर्युर्ग्रहहस्तः कुर्यात् । उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमन्वेम्यनुगच्छामि ।

शतपथे विवृतोऽयं मन्त्रः—'अथ द्वादशकृत्वोऽभिषुणोति । द्वादशाक्षरा वै जगती जागतं तृतीयसवनं तृतीयसवनमेवैतत् क्रियते' (श० ४।१।१।१२) । तृतीयग्रहणपर्याये प्रहारसंख्याविशेषं विधत्ते—द्वादशकृत्व इति । अत्रापि पूर्ववत् संख्यासामान्यात्मकत्वेन तृतीयसवनात्मकत्वम् । 'स गृह्णाति । मधुमतीर्न इषस्कृधीति रसमेवास्मिन्नेतद्दधाति स्वदयत्येवैनमेतद्देवेभ्यस्तस्मादेषु हतो न पूयत्यथ यज्जुहोति सꣳस्थापयत्येवैनमेतत्' (श० ४।१।१।१३) । ग्रहमनूद्य मन्त्रं विनियुङ्क्ते—स गृह्णातीति । हे सोम, त्वं नोऽस्माकमिषोऽन्नानि मधुमतीर्माधुर्योपेतानि कुर्वित्यर्थः । अर्थात् त्वमपि देवानामन्नात्मकः, स्वादुर्भवेति यावत् । तदाह रसमेवास्मिन्नेतद्दधाति स्वदयत्येवैनमेतद् देवेभ्यस्तस्मादेष हतो न पूयति, एतन्मन्त्रवाक्यम् । तस्मात् स्वादूकरणाद् हतोऽभिषुतो न पूयति रसान्तरं नापद्यते । गृहीतस्य सोमरसस्य होमं विधत्ते—अथ यज्जुहोति । यत्रैतत् होमाख्यं कर्म एतदुपांशुग्रहव्यापारं परिपूरयत्येव, अर्थाद् जुहुयादिति गम्यते । 'अष्टावष्टौ कृत्वो ब्रह्मवर्चसकामस्याभिषुणुयादित्याहुरष्टाक्षरा वै गायत्री ब्रह्म गायत्री ब्रह्मवर्चसी हैव भवति' (श० ४।१।१।१४) । अभिषवे काम्यं संख्याविशेषं विधत्ते – ब्रह्मवर्चसकामस्येति । सगुणब्रह्मणः प्रजापतेर्मुखादुत्पन्नत्वाद् ब्रह्म गायत्री । 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत तमग्निर्देवताऽन्वसृज्यत गायत्रीच्छन्दः' (तै० सं० ७।१।१) । 'तच्चतुर्विंशतिं कृत्वाऽभिषुतं भवति । चतुर्विंशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत् सꣳस्था-

---

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ श्रुति तथा सूत्र के वचनों से विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है । मनुष्य को सम्बोधित करने में भी प्रमाण अपेक्षित है । जो देवता है, वह तो शुद्ध ही होता है । फिर देवता विद्वानों के द्वारा कैसे शुद्ध होगा ? वाचकोपमा अलंकार का आश्रय लेना भी अप्रामाणिक है ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम ! हमारे अन्न को मधुर रसयुक्त सुस्वादु बनाओ । तुम हिंसाशून्य तथा जागरणशील बनो । हे सोम ! तुम्हारे निमित्त यह अंशुद्रव्य प्रवृत्त है । देवता की प्रीति के लिये ये भली प्रकार आहूत हैं । मैं विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में विचरण करता हूँ ॥ २ ॥

भाष्यसार—'मधुमतीर्न' इस कण्डिका के मन्त्रों से ग्रह-ग्रहण, छः अंशुओं का सोम में पुनःस्थापन, निष्क्रमण आदि

पयति' (श० ४।१।१।१५)। यज्ञस्य यावती परम्परया सम्बन्धिनी मात्रा परिच्छेदिनी चतुर्विंशतिसंख्या, तद्योगाद् यज्ञस्तावतः सकलस्यैव यज्ञस्यैतत्परिपूरणमिति पर्यायत्रयगतैस्त्रिभिरभिषुताष्टकृत्वश्चतुर्विंशतिसंख्यानिष्पत्तेः। 'पञ्च पञ्चकृत्वः। पशुकामस्याभिषुणुयादित्याहुः पाङ्क्ताः पशवः पशूनेवावरुन्धे पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य.....' (श० ४।१।१।१६)। 'तं गृहीत्वा परिमार्ष्टि। नेद्व्यवश्च्योतदिति तं न सादयति प्राणो ह्यस्यैष तस्मादयमसन्नः प्राणः सञ्चरति यदि त्वभिचरेदथैनॅं सादयेदमुष्य त्वा प्राणॅं सादयामीति तथा ह तस्मिन्न पुनरस्ति यन्नानुसृजति तेनो अध्वर्युश्च यजमानश्च न्योग्जीवतः' (श० ४।१।१।१७)। ग्रहणानन्तरकृत्यमाह तं गृहीत्वा परिमार्ष्टीति। प्रयोजनमाह—अपरिमार्जने रसो विश्चोतेत नेत् ततो महद्भयम्। 'नेदिति परिभये निपातः' (निरु० १।१०)! व्यवश्चोतदिति 'छन्दसि लुङ्लिङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६), 'लिङर्थे लेट्' (पा० सू० ३।४।७), 'श्च्युतिर क्षरणे' इति धातो रूपम्। तं न सादयति। अस्य प्रजापत्यात्मकस्य ग्रहस्य एष रसः प्राणः। तस्मात् प्राणात्मकसोमरसानासादनाद् असन्नोऽन्तरे वा शीर्णो लोकानां प्राणो बहिः सञ्चरति। अभिचरतो मन्त्रविशिष्टं सादनमाह—यदि त्वभिचरेदिति। ग्रहणमन्वेनं ग्रहमविसृजन् सादयन् हे सोम, अमुकनाम्नः शत्रोः प्राणरूपं त्वां विशीर्णमवसन्नं वा करोमीति मन्त्रार्थः। तादृक्सादनफलमाह—तथा ह तस्मिन्निति। तथा कृते तस्मिन् शत्रौ पुनः स प्राणो न तिष्ठति, किन्तु तत्रैव विशीर्यत्यवसीदति, यतः पात्रं न विसृजति। विसृजति चेदवसन्नः श्वासो निर्गच्छेदपि। तेन शत्रोरवसादनेनैव निरुपद्रवावध्वर्युयजमानौ चिरं जीवतः।

'अथो अप्येवैनं दध्यात् अमुष्य त्वा प्राणमपि दधामीति तथा ह तस्मिन्न पुनरस्ति यन्न सादयति तेनो प्राणान्न लोभयति' (श० ४।१।१।१८)। सादितस्य पात्रस्य समन्त्रकं पिधानमाह—अथो अप्येवैनं दध्यादिति। एनं ग्रहम् अमुष्येत्यादिमन्त्रेणापिदध्यात्। आच्छादने च तस्मिन् प्राणो न तिष्ठेत्। सादनापिधानयोरकरणे बाधकमाह—यन्न सादयतीति। तेन प्राणान्न लोभयति न विमोहयेद्वा नाकुलीकुर्यात्। 'स वा अन्तरेव सन्त्स्वाहेति करोति। देवा ह वै बिभयाञ्चक्रुर्यद्वै नः पुरैवास्य ग्रहस्य होमादसुररक्षसानीमं ग्रहं न हन्युरिति तमन्तरेव सन्तः स्वाहाकारेणाजुहुवुस्तॅं हुतमेव सन्तमग्नावजुहुवुस्तथो एवैनमेष एतदन्तरेव सन्त्स्वाहाकारेण जुहोति तॅं हुतमेव सन्तमग्नौ जुहोति' (श० १।१।१।१९)। अभिचरता हि यत्तु प्राणा आकुलीकर्तव्या इति विधत्ते—स वा अन्तरेवेति। हविर्धानमध्ये वर्तमान एव सन् 'स्वाहा' इत्युच्चरेदित्यर्थः। तथोच्चारणस्य प्रयोजनमाह—देवा ह वै। होमात् पूर्वमसुरराक्षसकर्तृकं ग्रहस्य पिधानं परिहर्तुं हविर्धानमध्ये स्थितमेव सोमं स्वाहाकारमात्रेण हुत्वा पश्चाद् हुतमेव सन्तं ग्रहं 'स्वाङ्कृतोऽसि' (वा० सं० ७।३) इति मन्त्रेण जुहुवुः। अत इदानीमपि तथा कुर्यात्। 'अथोपनिष्क्रामति' (श० ४।१।१।२०) इति हविर्धानान्निष्क्रमणमाह। 'अथ वरं वृणीते। बलवद्ध वै देवा एतस्य ग्रहस्य होमं प्रेप्सन्ति ते अस्मा एतं वरॅं समर्धयन्ति क्षिप्रे न इमं ग्रहं जुहवदिति तस्माद्वरं वृणीते' (श० ४।१।१।२१)। वरवरणं विधत्ते—अथ वरं वृणीत इति। वरप्रार्थनाहेतुमाह—बलवद्ध वै देवा इति। एतस्योपांशुसोमरसस्य होमं देवा अत्यन्तमिच्छन्ति। इत्थमस्मै अध्वर्यवे तं यजमानार्थं वृतं वरं समृद्धं कुर्वन्ति। समर्धयतां देवानामयमाशयः—समृद्धिमभिलक्षयन् यजमानोऽध्वर्यवे वरं ददातु। दत्तवरश्चाध्वर्युस्तुष्टः सन्नस्माकमिममुपांशुग्रहमसुरसमागमात् पूर्वमेव त्वरया जुहोत्विति। हुते सति सम्पूर्णो यज्ञो नः सम्पन्नः स्यादिति। यस्मादेवंकृतां समृद्धिमिच्छन् यजमानोऽवश्यं दास्यति, तस्मादध्वर्युर्वरं वृणीते।

क्रियाएँ अनुष्ठित की जाती हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।२६-३०) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम ! उमया सहित देव साम्बसदाशिव, नोऽस्मभ्यं मधुमतीर्माधुर्योपेता इषोऽन्नानि कृधि। हे सोम, यद् यस्मात् ते तव अदाभ्यमहिंस्यमप्रधृष्यं सोमेति नाम जागृवि जागरूकं तस्मै ते सोमाय स्वाहा हविरादिकं दत्तमस्तु। हे सोम, तुभ्यं स्वाहा स्वसर्वस्वं निवेद्य उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमवकाशमन्वेमि, सर्वैषणाविनिर्मुक्तस्तव ब्रह्मात्मकमाकाशमनुगच्छामि।

दयानन्दस्तु—'हे सोम ! ऐश्वर्ययुक्त विद्वन्, त्वं नोऽस्मभ्यं मधुमतीरिषस्कृधि। तथा हे सोम शुभकर्मसु प्रेरक, अहं यद् यस्मात् ते तवादाभ्यमहिंसनीयं जागृवि जागरूकं नामास्ति, तस्मात्ते सोमाय ऐश्वर्यस्य प्राप्तये तुभ्यं च स्वाहा सत्यां क्रियां स्वाहा सत्यां वाणीमुर्वन्तरिक्षं चान्वेमि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विचारासहत्वात्। तथाहि—परमेश्वरस्तदनुग्रहात् कृषिनिपुणाः कृषीवला वा माधुर्योपेतान्यन्नानि निर्मातुं दातुं वा प्रभवन्तीति तदर्थं त एव प्रार्थनीयाः। शुभकर्मसु प्रेरकोऽपि परमेश्वर एव, तदर्थं गुरुर्वानुसर्तव्यो भवति। कोऽयं विद्वान् यस्य अदाभ्यमहिंसनीयं जागरूकं नाम भवति। ऐश्वर्यप्राप्तयेऽपि परमेश्वर एवाश्रयणीयः। सत्यक्रियाकरणाय सत्यवाणीप्राप्तये च स एव प्रार्थनीयो न कश्चिदन्यः। सोमादिशब्दानां तेषु तेषु त्वदुक्तेष्वर्थेषु शक्त्यभावादपि न सङ्गतोऽर्थः। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वोक्तसिद्धान्तव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ २ ॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा ॥ ३ ॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे उमासहित सदाशिव, हमारे लिये अन्न को माधुर्य से परिपूर्ण बना दें। हे साम्ब शिव, जो अधर्षणीय 'सोम' यह नाम सुजागृत है, आपके उस सोमस्वरूप के लिये हविष्य आदि समर्पित हों। हे साम्ब शिव, मैं आपके लिये अपना सर्वस्व निवेदित करके विस्तृत अन्तरिक्षावकाश में गमन करता हूँ, अर्थात् समस्त आकांक्षाओं से मुक्त होकर आपके ब्रह्मात्मक आकाश का अनुगमन करता हूं।

स्वामी दयानन्दोक्त अर्थ विचारसंगत न होने के कारण अग्राह्य है। परमेश्वर अथवा उसकी कृपा से निपुण किसान ही माधुर्य से युक्त अन्न के निर्माण में अथवा दान में समर्थ है। शुभ कर्मों में प्रेरक भी ईश्वर ही हैं अथवा इसके लिये गुरु का अनुसरण करना चाहिये। फिर यह विद्वान् कौन है ? जिसका अहिंसनीय नाम जागरूक होता है। सोम आदि शब्दों की उन कथित अर्थों में शक्ति न रहने के कारण भी अर्थ संगत नहीं है। श्रुति तथा सूत्र के वचनों का विरोध तो पूर्वोक्त व्याख्या से स्पष्ट ही है ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे प्राणरूप उपांशुग्रह। तुम सम्पूर्ण इन्द्रियों के साथ सम्पूर्ण पार्थिव द्विपद, चतुष्पद और दिव्य प्राणियों में स्वयं प्रादुर्भूत हो, मन प्रजापति तुम्हारा नियन्त्रण करते हैं। हे प्रशंसित जन्म वाले ! सूर्यरूप प्रजापति की प्रीति के निमित्त तुम्हारी आहुति देता हूँ। यह आहुति सुन्दर रूप से गृहीत हो। हे पात्र ! मरीचिपालक देवगण की तृप्ति के लिये तुम्हारा मार्जन करता हूँ। हे दीप्यमान अंशुदेव ! जिसके अभिचार की, मारण आदि की कामना के निमित्त तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ, वह मेरा अमुक शत्रु सत्य ही अकस्मात् प्राप्त हुई महापीड़ा से निहत होकर विशीर्ण हो जाय। हे उपांशु सवन ! व्यान देवता की प्रीति के निमित्त तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ ३ ॥

'स जुहोति स्वाङ्कृतोऽसीति' (श० ४।१।१।२२)। 'अथ हुत्वोर्ध्वं ग्रहमुन्मार्ष्टि' (श० ४।१।१।२४)। तथा कात्यायनोऽपि—'स्वाङ्कृत इति हुत्वा पात्रमुन्मार्ष्टि' (का० श्रौ० ९।४।३२)। अध्वर्युर्यजमानान्वारब्ध एव यजतिदेशं गत्वा स्वाङ्कृत इति मन्त्रेणोपांशुग्रहं तिष्ठन्नाहवनीये स्वल्पं हुत्वा ग्रहपात्रमूर्ध्वमुन्मार्जयेत्। मन्त्रगते स्वाहाकारे होमः। होमान्तोऽन्वारम्भः। ग्रहदैवतो मन्त्रः। मन्त्रार्थस्तु—हे प्राणरूपोपांशुग्रह, त्वं स्वाङ्कृतोऽसि स्वीकृतोऽसि मया स्वीकृतो भवसि। किमर्थम्? दिव्येभ्यो देवजन्मनि स्थितेभ्यः, पार्थिवेभ्यो मनुष्यजन्मनि स्थितेभ्यः, सर्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः, इन्द्रियेभ्यो हितायेत्यर्थः। मनश्च तेषामिन्द्रियाणामधीशं त्वामष्टु व्याप्नोतु। हे सुभव प्राणरूपोपांशुग्रह, तादृग्रूपं त्वां बहिः प्राणरूपाय सूर्याय स्वाहाकारेण जुहोमि। 'आदित्यो वै बाह्यः प्राणः। उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णाति' इत्यार्थवणिकश्रुतेः। यद्वा हे उपांशुग्रह, त्वं स्वाङ्कृतोऽसि स्वयं कृतोऽसि। स्वयमित्यत्र छान्दसो यकारलोपः, सवर्णदीर्घः, स्वयमुत्पन्नोऽसि, प्राणो वा अस्यैष ग्रहः स स्वयमेव कृतः स्वयं जातस्तस्मादाह, 'स्वाङ्कृतोऽसीति' (श० ४।१।१।२२) इति श्रुतेः। स्वयमुत्पन्नोऽसि, विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः सकाशाद् दिव्येभ्यो देवेभ्यः, पार्थिवेभ्यः पृथिव्यां भवेभ्यो द्विपदचतुष्पदेभ्यः सकाशात् स्वयमुत्पन्नोऽसीत्यनुवृत्तिः। यस्त्वमेवं स्वतन्त्रोऽकृतकस्तं त्वा मनः प्रजापतिरष्टु व्याप्नोतु, 'प्रजापतिर्वै मन इति प्रजापतिष्ट्वाश्नुताम्' (श० ४।१।१।२२) इति च श्रुतिः। शोभनो भव उत्पत्तिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ हे सुभव उत्तमजन्मन् ग्रह, सूर्याय सूर्यार्थं त्वा त्वां स्वाहाकारेण जुहोमि। स्वाङ्कृतशब्देन प्राणरूपग्रहस्य स्वाधीनत्वं दिव्यपार्थिवशब्दाभ्यां च जन्मद्वयमभिप्रेतम्। स्वाङ्कृतोऽसीति प्राणमेव समकृत विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्य इत्याहोभयेष्वेव देवमनुष्येषु प्राणानुपदधाति' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'उत्तानेन पाणिना मध्यमे परिधौ प्रागुपमार्ष्टि' (श० ४।१।१।२४)। 'प्रथमे परिधावुत्तानं पाणिं प्रागुपमार्ष्टि देवेभ्यस्त्वेति' (का० श्रौ० ९।४।३३)। प्रधानपरिधेरधस्तादुत्तानं हस्तं प्रवेश्य पश्चादाकर्षयेत्। पश्चिमस्थे परिधौ सोमलिप्तमूर्ध्वाभिमुखं हस्तं कृत्वा प्रागभिमुखं यथा स्यात्तथा मार्जनं कुर्यात्।

दैवं यजुः। हे लेप, त्वां मरीचिपेभ्यो मरीचिपालकेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय परिधौ मार्ज्मि। 'वास उरो बाहुषु श्लिष्टमꣳशुमभिचरन् जुहुयाद्देवाꣳशाविति' (का० श्रौ० ९।४।३४)। अभिषवं कुर्वतोऽध्वर्यो ग्रावाभिघातवशादुत्पत्याध्वर्योर्वस्त्रे हृदये बाह्वोर्वा श्लिष्टं सोमांशुं तत आदायाभिचरन् आहवनीये जुहुयात्। आभिचारिकसोमांशुदैवतं यजुः। हे देव दीप्यमान, हे अंशो सोमांशो, यस्मै शत्रुवधाय त्वामीडे स्तुवे प्रार्थयामि वा, ईडिरध्येषणार्थश्च, तद् वधकर्म सत्यमस्त्विति शेषः। उपरिप्रुता, प्रुवतिर्गत्यर्थः, उपर्युपर्यागतेन भङ्गेन अभिषवाभिषवामर्देन वा, असाविति देवदत्तादिनामनिर्देशः। असौ द्वेष्यो हतो निहतः सन् फट् विशीर्णो भवेत्। 'त्रिफला विशरणे' इति धातोः क्विबन्तस्य फडिति रूपम्। छन्दसि डलयोरभेदः। आभिचारिकस्वाहाकारस्थाने फडिति प्रयुज्यते, 'वषट् वश्ये वडुच्चाटे फट् द्वेष्ये पौष्टिके स्वधा' इति वचनात्। 'प्राणाय त्वेति पात्रासादनम्' (का० श्रौ० ९।४।३६)। उपांशुग्रहपात्रं स्वस्थाने आसादयेत्। हे उपांशुपात्र, प्राणदेवतासन्तोषार्थं त्वा त्वामासादयामीति शेषः। 'उपांशुसवनं पाणिना परिमृज्योदञ्चं व्यानाय त्वेति सꣳस्पृष्टम्' (का० श्रौ० ९।४।३७)। उपांशुसवनाख्ये पाषाणे लग्नमृजीषादिकं हस्तेनाधः पातयित्वा उदङ्मुखमुपांशुपात्रलग्ननेव तं सादयेत् व्यानाय त्वेति। मुखं चास्य येनाभिषवः कृतः। हे उपांशुसवन, व्यानदेवतार्थं त्वामासादयामीति शेषः।

शतपथे मन्त्रोऽयमित्थं व्याख्यातः—'स्वाङ्कृतोऽसीति प्राणो वा अस्यैष ग्रहः स स्वयमेव कृतः स्वयं जातस्तस्मादाह स्वाङ्कृतोऽसीति विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यः सर्वाभ्यो ह्येष प्रजाभ्यः स्वयं जातो

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।३३-३८) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'स्वाङ्कृतोऽसि' इस

मनस्त्वाष्ट्विति प्रजापतिर्वै मनः प्रजापतिष्ट्वाऽश्नुतामित्येवैतदाह स्वाहा त्वा सुभव सूर्यायेति तदपर७ स्वाहाकारं करोति परां देवताम्' (श० ४।१।१।२२)। समष्टिः प्राणो हिरण्यगर्भः, स च ब्रह्मरूपः, कर्मान्तराभावात् स्वात्मनैव कृतः। श्रूयते हि—'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० उ० २।७)। स्वात्मना कृतं स्वयं जातमेव दिव्यानि यानि देवानामिन्द्रियाणि, पार्थिवानि यानि मनुष्याणामिन्द्रियाणि, तेषां तृप्त्यर्थं सोमः—'वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु' (वा० सं० २।३७) इति मन्त्रे प्रसिद्धः। अतस्तेषां तृप्त्यर्थं स्वयं जातः सोमस्तं त्वां हे सोम, मनः प्रजापतिरष्टु तदेवाहैष प्रजापतिष्ट्वाऽश्नुतामित्येवैतदाह— स्वाहा त्वा सुभव इति। सूर्यायेति व्याचष्टे—तदवरमिति। अग्नये स्वाहेत्यादिषु प्रथमं देवतापदं चरमं स्वाहापदम्, इह तु तद्विपरीतम्। तत्रायं हेतुः—य एष सूर्यस्तपति सर्वात्मको हि सः। अमुष्मिन् सूर्ये एष उपांशुग्रहो हूयते। एष च परार्धतया सर्वस्योपरि व्यवहर्तव्यः। स्वाहाकारे पुनरुपरि प्रयुज्यमाने स व्यवहारो न स्यादिति। तत् तस्मात् स्वाहाकारमवरं पूर्वं करोति देवतां परां परस्तात् करोति। 'अमुष्मिन् वा एनमहौषीद् य एष तपति सर्वं वा एष तदेन७ सर्वस्यैव परार्ध्यं करोत्यथ यदवरां देवतां कुर्यात् पर७ स्वाहाकार७ स्यात् तदु हैवामुष्मादादित्यात् परं तस्मादवर७ स्वाहाकारं करोति परां देवताम्' (श० ४।१।१।२३)। पूर्वोक्तं स्पष्टयति। इत्थं च हे उपांशु सोमदेव, मनुष्याणां देवानां च सर्वेन्द्रियतृप्त्यर्थं प्राणात्मकतया त्वं स्वात्मनैव निर्मितोऽसि। अतः सर्वेन्द्रियसहकारी मनोरूपः प्रजापतिरपि त्वा त्वामश्नोतु। हे शोभनजन्मन् सोम, जुहोमि त्वां सूर्यायेति। 'अथ हुत्वोर्ध्वं ग्रहमुन्मार्ष्टि। पराञ्चमेवास्मिन् प्राणं दधात्यथोत्तानेन पाणिना मध्यमे परिधौ प्रागुपमार्ष्टि पराञ्चमेवास्मिन्नेतत् प्राणं दधाति देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यः' (श० ४।१।१।२४)। होमानन्तरं कर्तव्यं विधत्ते—अथेति। होमोत्तरकालमथानन्तरमविलम्बमान ऊर्ध्वमुखत्वेन स्थितं ग्रहं मूलत आरभ्याग्रपर्यन्तं मृज्यात्। होममार्जनयोः पौर्वापर्यं क्त्वाप्रत्ययेनोच्यते। तच्च तयोः कालव्यवधानेऽपि सम्भवतीति तथा मा भूदित्यव्यवधानबोधनायाथशब्दः। मार्जनस्योन्मुखतां स्तौति—ऊर्ध्वं ग्रहमिति। एतदुन्मार्जनमस्मिन् यजमाने प्राणमप्रतिबद्धोर्ध्वसञ्चारं करोति। उन्मार्जनानन्तरं कर्तव्यं विधत्ते—अथोत्तानेन पाणिना मध्यमे परिधौ प्रागुपमार्ष्टीति। प्रागुपमार्ष्टि तिर्यङ् मृज्यात्। तदपि स्तौति—पराञ्चमेवास्मिन्नेतत्प्राणं दधातीति। उन्मुखस्य प्राणस्य बहिःसञ्चारप्रतिबन्धनिरसनमुपमार्जनस्य फलम्। तत्र मन्त्रं विधत्ते—देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य इति।

'अमुष्मिन् वा एतं मण्डलेऽहौषीद् य एष तपति तस्य मे रश्मयस्ते देवा मरीचिपास्तानेवैतत् प्रीणाति त एनं देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति' (श० ४।१।१।२५)। व्याचष्टे—य एष आदित्यस्तपत्यमुष्मिन् मण्डलरूपेण स्थिते एतमुपांशुग्रहमहौषीत् स्वाहा त्वा सुभव सूर्यायेति। तत्सम्बन्धिनो ये रश्मयो देवास्ते मरीचय एव सन्तः संकृतिरित्यादियाज्यान् पिबन्तीति मरीचिपा एतन्मध्यपरिधौ सोमलेपस्योपमार्जनं तान् देवान् प्रीणात्येव। प्रीताश्च ते एनं यजमानं स्वर्गं प्रापयन्ति। 'तस्य वा एतस्य ग्रहस्य नानुवाक्याऽस्ति न याज्या तं मन्त्रेण जुहोत्येतेनो हास्यैषोऽनुवाक्यवान् भवत्येतेन याज्यवानथ यद्यभिचरेद्योऽस्या७शुराश्लिष्टः स्याद्वाह्वोर्वोरसि वा वासति वा तं जुहुयाद्देवा७शो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फडिति यथा ह वै हन्यमानानामपधावेदेवनेषोऽभिषूयमाणाना७ स्कन्दति तथा ह तस्य नैव धावन्नापधावत् परिशिष्यते यस्मा एवं करोति त७ सादयति प्राणाय त्वेति प्राणो ह्यस्यैषः' (श०४।१।१।२६)। स्वाङ्कृत इत्यादिहोममन्त्रमधुना स्तौति—तस्य वा एतस्य ग्रहस्येति। शुक्रामन्थ्यादिग्रहहोममन्त्रो हि सः प्रथमः। संकृतिरित्यादयो याज्यानुवाक्ये अपेक्षन्ते।

कण्डिका के मन्त्रों से उपांशु ग्रह का होम, परिधिमार्जन, सोम कूटने के समय उछल कर लगे हुए सोमलताखण्ड का हवन तथा पात्रासादन आदि कर्म अनुष्ठित किये जाते हैं। शतपथ श्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

स्वाङ्कृत इत्याद्युपांशुग्रहहोममन्त्रस्तु याज्यानुवाक्ये अनपेक्ष्य तत्कृत्यमपि स्वयमेव करोतीति प्रशस्तः। अस्य मन्त्रस्य सम्बन्धी एष ग्रह एतेन मन्त्रेणोभयवान् भवति—अनुवाक्यवान्, याज्यवानिति। 'ङ्यापोः संज्ञाच्छन्द-सोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इत्यापो ह्रस्वत्वम्। अभिचरतो बाह्वादिश्लिष्टांशुहोममाह यद्यभिचरेदिति। तत्र होममन्त्रः—'देवांशो यस्मै त्वेडे' इत्यादि। हे देवांशो सोमांशो, यस्मै शत्रुवधाय त्वा त्वामीडे स्तुवेऽभ्यर्थये वा, तद्वधकर्म सत्यमस्तु। भङ्गेन अभिषवामर्देन उपरिप्रुता उपरिभावाय वाऽऽगतेन त्वया असौ एतन्नामा शत्रुर्हतः सन् फट् विशीर्यताम्। हन्यमानानां शत्रूणां यथा यः कश्चिदेकोऽपधावेत् पलायेत, तद्वदभिषूयमाणानां सोमांशूनां मध्ये एष बाह्वादिलग्नोंऽशुः स्कन्दत्यपगच्छति, यस्मै पुनर्यजमानाय एवमुक्तमन्त्रकं स्कन्नांशुहोमं करोति, अस्य यजमानस्य तथा होमदेवते अभिषुते। सोमे स्थितो वा एवमपधावन् वा कोऽप्यंशुर्न परिश्लिष्यते। तस्य खरे सादनं विधत्ते—तं सादतीति। तत्र मन्त्रः—प्राणाय त्वेति। प्राणो ह्यस्यैष अस्य सोमयागस्य एष उपांशुग्रहः प्राणो हि, प्रागुक्तस्य रसस्य धारणात्, अतस्तत्सादनस्य प्राणनार्थता मन्त्रेणोच्यते।

'दक्षिणार्धे हैके सादयन्ति। एताᳪ ह्येष दिशमनुसञ्चरतीति तदु तथा न कुर्यादुत्तरार्ध एवैनᳪ सादयेन्नो ह्येतस्या आहुतेः काचन परास्ति तᳪ सादयति प्राणाय त्वेति प्राणो ह्यस्यैषः' (श० ४।१।१।२७) इति। विहितस्य सादनस्योत्तरार्धं स्थानं विधातुं मतान्तरमनूद्य निरस्य स्वाभिमतं दधाति—दक्षिणार्धे हैके सादयन्तीति। एके याज्ञिका होमानन्तरमेतं ग्रहं खरस्य दक्षभागे स्थापयन्ति। तत्रोपपत्तिं ते कथयन्ति ग्रहणात् प्राक् खरे पात्रासादनकाले एष ग्रह उपांशुग्रहपात्रमुत्तरादाग्नीध्रमण्डपादासादनाय खरं प्रत्यानीयमानमेतां दक्षिणां दिशमनुसञ्चरति। तथा चापस्तम्बः—'दक्षिणेंऽश उपांशुपात्रम्' इति। तत्तु सादनं तथा दक्षिणांशेन कुर्यादिति परमतं निरस्य उत्तरभाग एवैनं ग्रहं सादयेदिति स्वमतविधिः। विहितमुत्तरार्धं स्तौति — नो ह्येतस्या इति। एतस्या उपांशुसोमाहुतेः परा प्रशस्ता न काचिदाहुतिरस्ति। सवनत्रयात्मिका हि सा। अतस्तदीयपात्रासादनस्योत्तरभागो युक्तः। सोऽपि तर्हि प्रशस्तः, 'तस्मादुत्तरार्धः तेजस्वितरः' इति श्रुतेः। सादने विहितं मन्त्रं स्तोतुमनुवदति—तं सादयति प्राणाय त्वेति। प्राणो ह्यस्यैष अस्य पात्रस्य सम्बन्धी एष सोमः प्राणः। 'अथोपांशुसवनमादत्ते। तं न दशापवित्रेणोपस्पृशति यथा ह्यद्भिः प्रणिक्तमेवं तद्यदᳪशुराश्लिष्टः स्यात् पाणिनैव प्रध्वᳪस्योदञ्चमुपनिपादयेद् व्यानाय त्वेति व्यानो ह्यस्यैषः' (श० ४।१।१।२८)। उपांशुसवनादानं विधत्ते—अथोपांशुसवनमादत्त इति। उपांशुग्रहसादनानन्तरमुपांशुसवनग्रावाणमाददीत। सोमलेपापनोदनाय प्रसक्तं दशापवित्रेणोपस्पर्शनं निषेधति—तं नेति। तत्रानुस्पर्शे कारणमाह—यथा ह्यद्भिः प्रणिक्तमेवमिति। यथा शुद्ध्यर्थं जलेन क्षालितं वस्तु जललेपापनोदाय न पुनर्जलान्तरेण क्षाल्यते, जललेपस्य शुद्धत्वात्, एवं सोमशेषलिप्तं तद् ग्रावस्वरूपम्, सोमशेषस्यापि पवित्रत्वात्। तद्यदंशुराश्लिष्टः स्यात् पाणिनैव प्रध्वस्य उपर्यन्तर्यामग्रहहोमतदासादनोत्तरकाले सादितयोरुपांश्वन्तर्यामयोर्मध्ये उदगग्रं स्थापयेत्। कात्यायनोऽपि तथैवाह—'उपांशुसवनं पाणिना प्रमृज्योदञ्चं व्यानाय त्वेति' (का० श्रौ० ९।४।३७)। 'संस्पृष्टमुपविष्टयोः' (का० श्रौ० ९।५।१)। ग्रावसादने मन्त्रः।

अध्यात्मपक्षे—हे देव द्योतनस्वभाव जीवात्मन्, विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो दिव्येभ्यो दिवि भवेभ्यः पार्थिवेभ्यो द्विपदचतुष्पदादौ भवेभ्य इन्द्रियेभ्यो हिताय स्वाङ्कृतोऽसि स्वयं कृतोऽसि स्वयं जातोऽसि। मनः प्रजापतिस्त्वा

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे द्योतनात्मक स्वभाव से युक्त जीवात्मा, समस्त दिव्य द्युलोक में होने वाले तथा पार्थिव मनुष्य, पशु आदि में होने वाले इन्द्रियादि के लिये तुम स्वयं उत्पन्न हो। प्रजापति तुमको व्याप्त करें। हे सुन्दर

त्वां व्याप्नोतु। हे सुभव शोभनजन्मन्, सूर्याय सर्वदेवमयाय आदित्याय तद्रश्मिभूतेभ्यो देवेभ्यो मरीचिवत्पालकेभ्यः स्वाहाकारेण यज। यस्मै कार्याय अभ्युदयनिःश्रेयसाय त्वा त्वाम् ईडे स्तुवे, तत्सत्यमस्तु। हे अंशो, परमेश्वरस्य अंशवद् अंशो भङ्गेन आमर्देन उपरि प्रुत सर्वोपरि प्रवता समागच्छता त्वयासौ कामाज्ञानादिः शत्रुर्हतः सन् फट् विशीर्यताम्। प्राणाय प्राणनाय जीवनाय, व्यानाय विविधचेष्टायै, त्वां सर्वे वागादयः प्राणाः समाश्रयन्त इति शेषः। जातित्वादेकवचनमेकजीववादाभिप्रायेण वा, 'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्धयते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुद्धयते तदा॥' (मा० का० १।१६), 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः' (भ० गी० १३।१) इत्यादिस्मृतिभ्यः। यद्वा हे सगुण साकार परमात्मन् विष्णो साम्बसदाशिव श्रीराम श्रीकृष्ण वा, विश्वेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्य इन्द्रियेभ्यो देवमनुष्यादिसर्वेन्द्रियेभ्यो हिताय स्वाङ्कृतः स्वयं कृतोऽसि स्वयं जातोऽसि, सर्वेषामाप्यायनाय तर्पणाय। 'पराञ्चि खानि व्यतृणद् स्वयम्भूः' (कठो० ४।१) इति श्रुत्यनुसारेण स्वयम्भूः खानि खोपलक्षितानि सर्वेन्द्रियाणि पराञ्चि बहिर्मुखानि व्यतृणद् विरच्य हिंसितवान्। परमात्मानुभववञ्चितत्वमेव तेषां हिंसनम्। तेषां बहुतिथं तपश्चरणात् प्रसन्नो भूत्वा भगवान् दिव्यसौन्दर्यमाधुर्यसौरस्यसौगन्ध्यादिसुधाजलनिधिसाकारविग्रहवान् भूत्वा तान्याप्याययति तर्पयति च। हे परमेश्वर, मनोबहिर्मुखतां परित्यज्य शुद्धं सत् त्वामष्टु त्वदीयमाधुर्यमास्वादयतु। हे सुभव शोभनजन्मन्, सूर्याय प्रचण्डमार्तण्डमण्डलवदनन्तप्रकाशाय तुभ्यं स्वाहा मदीयं सर्वस्वं सुनिवेदितमस्तु। देवा अंशवो यस्य स त्वं हे देवांशो, देवेभ्यो मरीचिपेभ्यो मरीचिपानवद्भ्य ऋषिभ्यो हिताय असौ रावणादिः, कंसादिः, अन्धकासुरादिः, मधुकैटभादिः, भङ्गेनामर्देन उपरि सर्वोपरि प्रपता समागच्छता त्वया हतः सन् फट् विशीर्णः। यस्मै कार्याय अभीष्टसाधनाय त्वा त्वामीडे स्तुवे तत्सत्यं सफलमस्तु। हे परमेश्वर, सर्वेऽपि भक्ताः प्राणाय प्राणनाय व्यानाय विविधचेष्टायै बलाय च त्वामेवाश्रयन्ते, प्राणनापाननादिव्यापाराणां त्वदाश्रयत्वात्, 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥' (कठो० ५।५) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु शतपथसंकेतं कुर्वन्नपि तद्विपरीतमेव वक्ति। 'हे अंशो सूर्यतुल्यदेव दिव्यात्मन्, यस्त्वं दिव्येभ्यो विश्वेभ्यो इन्द्रियेभ्यः पार्थिवेभ्यो मरीचिपेभ्यो देवेभ्यः स्वाङ्कृतोऽसि स्वयं कृत इवासि, तं त्वां

जन्मवाले, सर्वदेवमय आदित्य के लिये, उनके किरणरूपी किरणों के समान पालन करने वाले देवों के लिये स्वाहाकार पूर्वक याग करो। जिस अभ्युदय और निःश्रेयस कार्य के लिये तुम्हारी स्तुति करता हूँ, वह सत्य हो। परमेश्वर के अंशभूत निष्पीड़न से सर्वोपरि गमन करने वाले तुम्हारे द्वारा ये काम, अज्ञान आदि शत्रु हिंसित होकर नष्ट हो जायँ। जीवन के लिये, विविध व्यवहार के लिये वाक्, प्राण आदि सभी तुम्हारा आश्रय लेते हैं।

अथवा हे सगुण साकार परमात्मन्, हे विष्णु, साम्ब सदाशिव, श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण, आप समस्त दिव्य पार्थिव इन्द्रियों के लिये, देवमनुष्य आदि समस्त इन्द्रिययुक्त प्राणियों के हितार्थ स्वयं प्रादुर्भूत हैं। हे परमेश्वर, मन बहिर्मुखता को छोड़कर शुद्ध होकर आपके माधुर्य का आस्वादन करे। हे शोभनजन्मवाले, सूर्यबिम्ब की भाँति अनन्त प्रकाशवाले आपके लिये मेरा सर्वस्व निवेदित हो। आप देवरूपी अंशों से युक्त हैं। किरणों का पान करने वाले ऋषियों के हित के लिये ये रावण, कंस, अन्धकासुर, मधुकैटभ आदि राक्षस निष्पीडन से सर्वोपरि गमन करने वाले आपके द्वारा हिंसित होकर नष्ट हो गये। जिस अभीष्ट सिद्धि के लिये मैं आपकी स्तुति करता हूँ, वह सफल हो। हे परमेश्वर, सभी भक्तगण जीवन के लिये, विविध क्रियाओं के लिये तथा बल के लिये आपका ही आश्रय लेते हैं, क्योंकि प्राणन आदि व्यापार आपके ही आश्रित हैं।

स्वामी दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण का उल्लेख करते हुये भी उससे विपरीत ही व्याख्यान किया है। अंशु शब्द का

मनःशुद्धं विज्ञानं स्वाहा वेदवाणी चाष्टु प्राप्नोतु। हे सुभव सगुण, यस्मै सूर्याय चराचरात्मने परमेश्वराय त्वामहमीडे तत्सत्यं परेशं गृहाणोपप्रुतेव सर्वोत्तममुत्कर्षं प्राप्नुवता येन त्वया भङ्गेन मर्दनेनासावज्ञातशत्रुः फड्ढतस्तं त्वां प्राणायेडे जीवनाय प्रशंसयं व्यानाय वा त्वामीडे विविधसुखप्राप्तये त्वां प्रशंसामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अंशुपदेन सूर्यतुल्येत्यर्थग्रहणे मानाभावात्, गौणार्थत्वप्रसङ्गाच्च। स्वयंकृत इवेत्यत्र इव इति निर्मूलमेव। न च तस्य दिव्यात्मन इन्द्रियाद्यर्थं स्वयंकृतत्वम्, चेतनत्वेन तस्य स्वातन्त्र्यात्। 'सङ्घातस्य परार्थत्वात्' (सां० द० १।६६) इति न्यायेनेन्द्रियादीनामेवात्मार्थत्वं युक्तम्। मनः स्वाहा इत्यनयोरपि शब्दयोस्तादृशार्थत्वे मानाभावात्। किञ्च, परमेश्वराय त्वामीड इत्यपि निरर्थकम्, प्राणाय जीवनाय प्रशंसामीत्यपि निर्मूलम्। व्यानमिति पदस्य विविधसुखप्राप्तिरर्थ इत्यपि निर्मूलम्। न च विविधमानयतीति व्युत्पत्तिरेव मूलमिति वाच्यम्, 'अन प्राणने' इति धातोस्त्यागे, आनयतेर्ग्रहणे विनिगमनाभावात्॥ ३॥

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यँच्छ मघवन् पाहि सोमम्। उरुष्य राय एषो यजस्व॥ ४॥

'प्राणो ह वा अस्योपाꣳशुः। व्यान उपाꣳशुसवन उदान एवान्तर्यामः' (श० ४।१।२।१)। 'अथ यस्मादन्तर्यामो नाम। यो वै प्राणः स उदानः स व्यानस्तमेवास्मिन्नेतत्पराञ्चं प्राणं दधाति यदुपाꣳशुं गृह्णाति तमेवास्मिन्नेतत्प्रत्यञ्चमुदानं दधाति, यदन्तर्यामं गृह्णाति सोऽस्यामुदानोऽन्तरात्मन् यतस्तद्यदस्यैषोऽन्तरात्मन् यतो यद्वैनेनेमाः प्रजा यतास्तस्मादन्तर्यामो नाम' (श० ४।१।२।२)। 'तमन्तः पवित्राद् गृह्णाति। प्रत्यञ्चमेवास्मिन्नेतदुदानं दधाति सोऽस्यायमुदानोऽन्तरात्मन् हित एतेनो हास्याप्युपाꣳशुरन्तः पवित्राद् गृहीतो भवति समानꣳ ह्येतद्यदुपाꣳश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ ह्येतेनो हैवास्यैषोऽपीतरेषु ग्रहेष्वनाक्षिवद् भवति' (श० ४।१।२।३)। विधास्यमानस्य ग्रहस्यान्तर्यामताव्युत्पादनायोदानतामन्तर्यामसहचारिणोरुपांशुसवनयोः प्राणव्यानात्मकत्वेन समर्थयते –प्राणो ह वा अस्योपांशुरिति। उदानस्य प्राणव्यानसाहित्यवदुपांशूपांशुसवनसाहित्यादन्तर्यामस्योदानात्मकता प्रतिपत्तव्येत्यर्थः। यस्मात् शब्दप्रवृत्तिनिमित्तादन्तर्याम इति नाम भवति, किं तदिति पृच्छायां तत्समर्थनम्—यो वै प्राणः स उदानः स व्यान इति। प्राण एक एव सन् प्रवृत्तिभेदात् प्राणोदानव्याननामभिर्व्यवह्रियते। तत्र पराग्वृत्तिः प्राणस्तदात्मकोपांशुग्रहग्रहणेन पराङ् प्रतिबद्धसञ्चारो विधीयते। एवं प्रत्यग्वृत्तिरुदानस्तदात्मकान्तर्यामग्रहग्रहणेन अन्तर्निधीयते, निहितश्चान्तर्नियम्यते। यतोऽन्तर्नियम्यते, अत उदानस्यान्तर्याम इति नाम। अनेनोदानेनान्तर्वर्तमानेन सता इमाः प्रजा यथा न म्रियन्ते तथा नियमिताः। अतोऽन्तर्नियम्यतेऽनेनेति

'सूर्यतुल्य' यह अर्थ करने में कोई प्रमाण न रहने के कारण तथा गौणार्थता का दोष प्राप्त होने के कारण यह अग्राह्य है। उस दिव्यात्मा का इन्द्रियादि के लिये स्वयंकृतत्व नहीं है, क्योंकि चेतन होने के कारण वह स्वतन्त्र है। 'संघातपरार्थत्वात्' इस नियम से इन्द्रिय आदि का ही आत्मा के लिये होना उचित है। व्यान शब्द का 'विविध सुखप्राप्ति' अर्थ करना भी अप्रामाणिक है। केवल व्युत्पत्ति ही प्रमाण है, यह मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि प्राणार्थक अन् धातु से 'परित्याग' तथा 'आनयन' अर्थ का ग्रहण करने में कोई निश्चित युक्ति नहीं है॥ ३॥

मन्त्रार्थ—हे अन्तर्याम ग्रह में स्थित सोमरस! तुम क्षुद्र कलश द्वारा गृहीत हो। हे इन्द्र! तुम इस पात्र में सोमरस को अन्तर्गृह पात्र में ग्रहण करो, सोमरस की शत्रु आदि से रक्षा करो तथा पशुओं की रक्षा करो और हमें धनधान्य से परिपूर्ण करो॥ ४॥

करणसाधनं वोदानस्यान्तर्यामि नाम। उदानात्मकतया च ग्रहस्यान्तर्याम नामेति। तस्य ग्रहणं विधत्ते—तमन्तः पवित्राद् गृह्णातीति। तमन्तर्यामनामकं सोमरसं दशापवित्रस्यान्तःप्रदेशाद् धारारूपेण स्रवन्तं गृह्णीयात्। तत्स्तवनम्—अन्तर्यामसोमस्य यदेतदन्तःपवित्रदेशप्रापणमेतदुदानस्य सर्वस्मिन् जने प्रत्यङ्मुखतया स्थापनं भवति। अतोऽयमुदानः सर्वजनस्य शरीरमध्ये निहितो दृश्यते। अन्यथापि तत्स्तुतिः - एतेनान्तर्यामरसस्यान्तःपवित्रदेशप्रापणेनैवास्य यजमानस्योपांशुरसो बहिःपवित्राद् गृहीतोऽप्यन्तःपवित्राद् गृहीतो भवतीति प्रसिद्धम्।

पवित्रेणैव सोमस्य शोधने कारणं जिज्ञासापूर्वकमुच्यते—'अथ यस्मात् सोमं पवित्रेण पावयति तत्र वै सोमः स्वं पुरोहितं बृहस्पतिं जिज्यौ तस्मै पुनर्ददौ तेन सᳬशशाम तस्मिन् पुनर्ददुष्यासैवातिशिष्टमेनो यदीन्नूनं ब्रह्मज्यानायाभिदध्यौ' (श० ४।१।२।४)। 'तं देवाः पवित्रेणापावयन्। स मेध्यः पूतो देवानाᳬ हविरभवत् तथो एवैनमेष एतत्पवित्रेण पावयति स मेध्यः पूतो देवानां हविर्भवति' (श० ४।१।२।५)। यस्मात् कारणात् पवित्रेण पावयति तत्किं कारणमित्याख्यायिकयाह—यत्र यदा सोमश्चन्द्रः स्वं स्वकीयं पुरोहितं बृहस्पतिं जिज्यौ दारापहरणेन मानहीनमकरोत्। 'ज्या वयोहानौ' इति धातोर्लिटि 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (पा० सू० ६।१।१७) इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। वयोहानिवचनोऽपि जिनातिरिह हानिमात्रं लक्षयति। सा च हानिर्मानस्येति प्रकरणाल्लभ्यते। इन्द्रबृहस्पत्यादिदेवानां वचनमनादृत्य युद्धे तान् जित्वापि तैः प्रार्थ्यमानस्तान् दारान् पुनर्बृहस्पतये ददौ। तेन दानेन स बृहस्पतिः संशशाम सम्यगेकान्तहृदयोऽभूत्। ददुषि दत्तवत्यपि तस्मिन् सोमे दारा गता इति ब्रह्मज्यानाय ब्राह्मणमानहानाय चिन्तितवान्। तदेनः पापमतिशिष्टं स्थितमास बभूव एव। इत्थं पापिनं चन्द्रं सोमलतारसरूपं विधाय दशापवित्रेण अपावयन् तथा पवित्रश्चन्द्रः पूतः सन् देवानां हविरभूत्। एषाख्यायिका पुराणेषु प्रसिद्धा। तथैव त्वेष यजमान एनमभिषुतं सोमरसं दशापवित्रेण पावयति। स च सोमरसो देवानां हविष्ट्वाय योग्यो भवति। पवित्रेण पावने कारणमुक्तम्, अथ पूतस्योपयामेन ग्रहणे कारणमुच्यते—'तद्यदुपयामेन ग्रहा गृह्यन्ते। इयं वा अदितिस्तस्या अदः प्रायणीयᳬ हविरसावादित्यश्चरुस्तद्वैतत्पुरेव सुत्यायै सा हेयं देवेषु सुत्यायामपि त्वमीषेस्त्वेव मेऽपि प्रसुते भाग इति' (श० ४।१।२।६)। उपयच्छति सोममित्युपयामो दारुपात्रम्। तेन सोमरसो गृह्यते इति यत् तत्रायं वक्ष्यमाणो हेतुः—इयं वा अदितिरिति। उपयामः पृथिवीति वक्ष्यति। सेयमुपयामात्मिका पृथिवी अदितिर्देवता। प्रायणीयेष्टिसम्बन्धिहविरात्मको यश्चरुरसावादित्योऽदितिदेवताक इति प्रसिद्धम्। अतोऽसावुपयामात्मिका पृथिव्येव भवति। तदेतद्धविः सुत्यादिवसात् प्रागेव दीक्षानन्तरं प्रथमोपसद्दिवसे क्रियते। सेयमदितिः सुत्यादिवसेऽपि देवतानां मध्ये, अपि त्वं चरुरूपाद् भागादन्यं सोमरूपं भागमीषे इयेष। ईषे इत्यात्मनेपदम्। त्वशब्दोऽकारान्तः सर्वनामस्वन्यपर्यायः, 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे' (ऋ० सं० ८।२।२३) इति श्रूयते। अदित्या एतद्वाक्यमभिषुते सोमे पूर्वं चरुं स्वीकृतवत्या अपि मम भागो अस्त्वेवेति। 'ते ह देवा ऊचुः। व्यादिष्टोऽयं देवताभ्यो यज्ञस्त्वयैव ग्रहा गृह्यन्तां देवताभ्यो हूयन्तामिति तथेति सोऽस्या एष प्रसुते भागः' (श० ४।१।२।७)। ते ह देवा ऊचुरयं यज्ञो देवताभ्यो व्यादिष्टो दत्तः, अतः सर्वेऽपि सोमरसास्त्वयैव गृह्यन्ताम्, त्वयैव देवताभ्यो हूयन्तामिति। एतावतैव त्वं सोमे लब्धभागा भविष्यसीति। सा च तथास्त्वित्याह। 'तद्यदुपयामेन ग्रहा गृह्यन्ते। इयं वा उपयाम इयं वा इदमन्नाद्यमुपयच्छति पशुभ्यो मनुष्येभ्यो वनस्पतिभ्य इतो वा ऊर्ध्वा देवा दिवि हि देवाः' (श० ४।१।२।८)। यदेष तस्या अदित्यै भागो

भाष्यसार—'उपयामगृहीतोऽसि' इस ऋचा के द्वारा सूर्योदय हो जाने पर अन्तर्याम नामक पात्र में सोमरस का

नाम पृथिव्याश्च उपयाम इति नाम प्रसिद्धम्। यत इयं पृथिवी पश्वादिभ्यस्तृणादिरूपमन्नं प्रयच्छति। मृण्मयशरावादित्यागेन उपयामनामकोर्ध्वपात्ररूपतयैव पृथिव्या सोमग्रहेऽयं हेतुः, यदित ऊर्ध्वं स्वर्गे देवा वर्तन्ते। 'तद्यदुपयामेन ग्रहा गृह्यन्ते। अनयैव तद् गृह्यन्तेऽथ यद्योनौ सादयतीयं वा अस्य सर्वस्य योनिरस्यै वा इमाः प्रजाः प्रजाताः' (श० ४।१।२।९)। ग्रहाणां खरे सादनमभिधातुं स्तौति—अथेति। योनौ खरे ग्रहान् सादयति, तत्रायं हेतुः—इयं खरात्मिका भूमिः, अस्य सर्वस्य जगत उत्पत्तिस्थानम्। अतः पृथिव्याः सकाशात् प्रजा प्रजाताः। 'तं वा एतꣳ रेतोभूतꣳ सोममृत्विजो बिभ्रति यद्वा अयोनौ रेतः सिच्यते प्र वै तन्मीयतेऽथ यद्योनौ सादयत्यस्यामेव तत्सादयति' (श० ४।१।२।१०)। कृत्स्नपृथिव्यात्मकश्चायं खरप्रदेशः। लतासारतया रेतोवद् रेतोभूतमेतं सोममृत्विजो बिभ्रति खरात्मिकया भूम्या उद्धृतं कुर्वन्ति। यदि हि खरादन्यत्र सादयेत् तदा अयोनौ रेतः सिक्तम्, रेतोभूतः स सोमः स्वप्रयोजनप्रसवाय समर्थो न भवेत्। खरे सादनं योनावेव सादनम्, तेन नायं दोषः।

'प्राणोदानौ ह वा अस्यैतौ ग्रहौ। तयोरुदितेऽन्यतरं जुहोत्यनुदितेऽन्यतरं प्राणोदानयोर्व्याकृत्यै प्राणोदानावेवैतद् व्याकरोति तस्मादेतौ समानावेव सन्तौ नानेवाचक्षते प्राण इति चोदान इति च' (श० ४।१।२।११)। उपांश्वन्तर्यामयोः कालभेदं स्तुवन् विधत्ते—प्राणोदानौ हेति। अस्य सोमयागस्य सम्बन्धिनौ एतौ उपांश्वन्तर्यामग्रहौ क्रमेण प्राणोदानात्मकौ यतोऽतस्तयोरन्यतरमन्तर्यामं सूर्य उदिते जुहोति, अन्यतरमुपांशुमनुदिते जुहोति। एवं कालभेदात् प्राणोदानावसङ्कीर्णौ द्विधा कृतौ भवतः। अनेन हि कालभेदेन तावुभौ विभक्तौ करोति। विभागादेव चैतौ समानरूपावपि सन्ता एकं प्राण इति, अपरमुदान इति भेदेन व्यवहरन्ति। 'अहोरात्रे ह वा अस्यैतौ ग्रहौ। तयोरुदितेऽन्यतरं जुहोत्यनुदितेऽन्यतरमहोरात्रयोर्व्याकृत्याऽहोरात्रे एवैतद् व्याकरोति' (श० ४।१।२।१२)। न केवलं प्राणोदानविभागः, किन्त्वहोरात्रव्याकृतिरपि प्रयोजनमित्यनन्तरमेव विधिमनूद्य स्तौति—'अहः सन्तमुपाꣳशुं तꣳ रात्रौ जुहोत्यहरेवैतद्रात्रौ दधाति तस्मादपि सुतमिस्रायामुपैव किञ्चित् ख्यायते' (श० ४।१।२।१३)। एकस्यैव प्राणस्य वृत्तिभेदात् प्राणोदानव्यवहार इत्युक्तम्। सूर्यश्च प्राणात्मकः। अग्निवाय्वादित्यान् प्रकृत्य श्रूयते—'स एष प्राणस्त्रेधा विहितः' इति। सूर्यस्योपरि सञ्चारो दिनम्, अधःसञ्चारो रात्रिः। अतः सूर्यात्मकप्राणस्यात्यूर्ध्वगमनात्मिका प्रवृत्तिरहः, अधःसञ्चारात्मिका उदानवृत्तिः रात्रिः। एवं स्थिते प्राणवृत्तिरूपतया अहरात्मकस्योपांशोः रात्रिशेषे होमेन अहरेव रात्रौ दत्तं भवति। अह्नो रात्रौ दानादेव निबिडतमस्कायामपि रात्रौ उदक्ससमीपे कियांश्चित्प्रकाशो भवति। एवमुदानवृत्तिरूपतया रात्र्यात्मकस्यान्तर्यामस्य अहरुपक्रमे होमेन रात्रिरहनि दत्ता भवति, अतः प्रभाते मध्याह्ने इव नातितापः। तेनाहोरात्रव्यत्यासेनाहरादावपि शैत्याद्रात्रिशेषेऽपि प्रकाशान्मुख्यव्यवहारसम्मत्या प्रजाः परित्राताः, अत उक्तः कालविभागः प्रशस्तः। 'रात्रिꣳ सन्तमन्तर्यामं तमुदिते जुहोति रात्रिमेवैतदहन् दधाति तेनो हासावादित्य उद्यन्नेवेमाः प्रजाः न प्रदहति तेनेमाः प्रजास्त्राताः' (श० ४।१।२।१४)।

उपांश्वन्तर्यामौ नाम यद् युगलम्, एतत् समानमेकं वस्तु हि यत एतौ प्राणोदानौ तौ चैकः प्राण एव तद्वृत्तिभेदत्वात्। एतेनो हैवेति। इतरेष्वप्यैन्द्रवायवादिग्रहेष्वपि ग्राह्यस्यास्य सोमरसस्य एतेनैव दशापवित्रेण क्रियमाण एष धारास्रावोऽनाश्रितोऽविच्छिन्नः कर्तव्यः। तदेवाहापस्तम्बः—'सन्तताया आस्रावयितव्याया धाराया अन्तर्यामं गृह्णाति सर्वांश्चातो ग्रहानाध्रुवात्' इति। 'उदितेऽन्तर्यामग्रहणमुपयामगृहीत इति'

ग्रहण किया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।१) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

(का० श्रौ० ९।६।१)। उदिते सूर्येऽन्तर्यामसंज्ञे पात्रे सोमरसग्रहं गृह्णीयात्। 'इन्द्रो वै मघवान्' इति श्रुत्यनुसारेणात्र मन्त्रे मघवन्नितीन्द्रः सम्बोध्यते, तस्य यज्ञं प्रति नेतृत्वात्। आत्मनः प्राणने स च सम्बोध्यते। अन्तः पदेनोदानात्मकः सोमो गृह्यते। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। उपयामयतीत्युपयामो ग्रहस्तेनोपयामपात्रेण गृहीतोऽसि। हे मघवन्, त्वं तादृशं ग्रहपात्रमन्तर्यच्छ शत्रुभ्यो व्यवधानं यथा भवति तथा नियमय, तथा सोमं पालय तथा रायो धनानि उरुष्य रक्ष। उरुष्यती रक्षणकर्मा। यद्वा 'पशवो रायः' इति श्रुत्यनुसारेण पशून् रक्ष आ इषो यजस्व इषोऽन्नान्यासमन्ताद् देहि। यद्वा इषः प्रजाः, अन्नप्रभवत्वात्, 'प्रजा वा इषः' इति श्रुतेः, यजस्व याजयस्व। 'अथातो गृह्णात्येव। उपयामगृहीतोऽसीत्युक्त उपयामस्य बन्धुरन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोममितीन्द्रो वै मघवानिन्द्रो यज्ञस्य नेता तस्मादाह मघवन्निति पाहि सोममिति गोपाय सोममित्येवैतदाहारुष्य राय एषो यजस्वेति पशवो वै रायो गोपाय पशूनित्येवैतदाहेषो यजस्वेति प्रजा वा इषस्ता एवैतद्यायजूकाः करोति ता इमाः प्रजा यजमाना अर्चन्त्यः श्राम्यन्त्यश्चरन्ति' (श० ४।१।२।१५)। एतेन स्पष्टतया पूर्वोक्तव्याख्यानं समर्थ्यते।

अध्यात्मपक्षे हे मघवन्निन्द्र सर्वैश्वर्यपूर्णपरमेश्वर, उपयामैः संयमैः सानुरागैर्गृहीतोऽसि। भक्त्या गृहीतचरणो भगवान् उपयामगृहीत इव संदंशगृहीत इव भक्तपरवशो भवति। अन्तर्यच्छ अन्तर्मनोबुद्धीन्द्रियादीनि यच्छ नियमय। सोमं प्रेमात्मकं सोमं पाहि। राये ज्ञानवैराग्यशमदमादींश्च उरुष्य रक्ष। इषः सर्वा अपि प्रजा आ यजस्व आसमन्ताद् याजयस्व यायजूकाः कुरु, त्वदनुग्रहेण सर्वाः प्रजास्त्वदर्चनपरायणा भवन्तु, परमेश्वरस्येवान्तर्यामित्वेन सर्वप्रेरकत्वात्।

यत्तु—'हे योगजिज्ञासो, यतस्त्वमुपयामैर्योगनियमैर्गृहीत इवासि, तस्मादन्तर्यच्छ पवनमनइन्द्रियाणि नियमय। हे मघवन्, सोमं योगविद्यासिद्धमैश्वर्यं पाहि। केशानुरुष्य अविद्यादिकेशान्नाशय। यतो राय इव ऋद्धिसिद्धिरूपाः सिद्धीरायजस्व सम्यक् प्राप्नुहि' इति, तदपि न युक्तम्, शतपथेनान्यथा व्याख्यातत्वात्। मघवन्निति यज्ञस्य नेतृत्वादिन्द्र इति तत्र व्याख्यातम्। पूर्वोक्तशतपथश्रुतिविरुद्धत्वात् तद्विरुद्धं त्याज्यमेव ॥४॥

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥ ५ ॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे सर्वैश्वर्यपूर्ण परमेश्वर, आप प्रेमपूर्ण संयम के द्वारा गृहीत हैं। भक्ति से पकड़े गये चरणों वाले भगवान् दोनों ओर से पकड़े गये व्यक्ति की भाँति भक्तों के परवश हो जाते हैं। आप हमारे मन, बुद्धि आदि अन्तःकरणों को नियन्त्रित कीजिये। प्रेमात्मक सोम की और ज्ञान, वैराग्य, शम, दम आदि धन की रक्षा कीजिये। समस्त प्रजाओं को पूर्णतः यज्ञपरायण बनाइये। आपकी कृपा से सभी प्रजाएँ आपकी उपासना में परायण बनें, क्योंकि परमेश्वर ही अन्तर्यामी होने के कारण सबका प्रेरक है।

स्वामी दयानन्द का अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि शतपथ श्रुति द्वारा मन्त्र का व्याख्यान भिन्न प्रकार से किया गया है। मघवा का अर्थ वहाँ इन्द्र किया गया है। शतपथ श्रुति से विरुद्ध होने के कारण यहाँ प्रदर्शित अर्थ त्याज्य है ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे मघवन्! आपके अनुग्रह से मैं स्वर्ग और पृथ्वी की स्थापना करता हूँ और इन दोनों के बीच में विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को स्थापित करता हूँ। हे इन्द्र! पृथ्वी स्थान वाले और आकाशस्थानीय, अर्थात् द्युलोक में निवास करने वाले देवताओं के साथ तुम्हारी समान रूप से प्रीति है, तुम अन्तर्याम ग्रह से सोमरस का ग्रहण कर स्वयं अपने को और इन सबको तृप्त करो ॥ ५ ॥

मघवद्दैवत्या त्रिष्टुप्, अन्तर्यामग्रहणे विनियुक्ता । हे मघवन्निन्द्र, ते तवानुग्रहेण द्यावापृथिवी अन्तर्दधामि व्यवधायिके करोमि । यद्वा यस्य प्राणरूपापन्नस्य तवान्तः शरीरमध्ये द्यावापृथिव्यौ दधामि स्थापयामि । अन्तर्मध्ये द्यावापृथिव्योर्मध्ये उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षं च दधामि । हे मघवन् धनवन्, अवरैः पृथिवीस्थानैर्देवेभिर्देवैः परैर्द्युस्थानैः सजूः समानजोषणः समानप्रीतिः सन्नन्तर्यामे ग्रहे मादय स्वात्मानं हर्षयस्वान्यानपि हर्षयस्व, यद्वा तृप्यस्व, तृप्तौ चुरादिरात्मनेपदी । देवेभिरित्यत्र 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।१।१०) इत्यैसोऽभावे 'बहुवचने झल्येत्' (पा० सू० ७।३।१०३) इत्येकारः ।

शतपथे तदेवोक्तम्—'अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधामि । अन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षं सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चेति तदेनं वैश्वदेवं करोति तद्यदेनेनेमाः प्रजाः प्राणत्यश्चोदानत्यश्चान्तरिक्षमनुचरन्ति तेन वैश्वदेवोऽन्तर्यामे मघवन्मादयस्वेतीन्द्रो वै मघवानिन्द्रो यज्ञस्य नेता तस्मादाह मघवन्नित्यथ यदन्तरन्तरिति गृह्णाति गृह्णात्यन्तस्त्वात्मन् दध इत्येवैतदाह' (श० ४।२।१।१६) । विहितमन्तर्यामग्रहणमनूद्य तत्र मन्त्रं विनियुज्योपयामगृहीतोऽसीति पञ्चधा विभागेन मन्त्रं संस्काराय व्याचष्टे स्वमेव श्रुतिः । ग्रहणादिखरासादनान्तप्रयोगकथनानन्तरमित्यथशब्दार्थः । अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तरिति तदेनं वैश्वदेवं करोतीति तेन मन्त्रपठनेनैनं ग्रहं विश्वेदेवोपकारकं करोति । कथमिति चेत्, लोकत्रयस्य तदन्तर्वर्तिपरापरदेवानां चैतद्ग्रहमध्ये स्मरणात्मके निधानेन ते पराश्चावराश्च सर्वे देवा अव्याहतप्राणोदानवृत्तयो यतोऽन्तरिक्षेण सुखिनश्चरन्ति, अतो विश्वेदेवोपकारकताऽस्य ग्रहस्य । 'तृतीयार्थे' (पा० सू० १।४।८५) इत्यनुः कर्मप्रवचनीयः, तद्योगादन्तरिक्षमिति द्वितीया । अन्तर्यामे मघवन् मादयस्व, इन्द्रो वै मघवानिति तस्य यज्ञं प्रति नेतृत्वादात्मनः प्राणने स सम्बोध्यते । अत्र समस्ते मन्त्रे योऽयमन्तरन्त इत्यसकृत्प्रयोगः, तेन हे सोमात्मक उदान, त्वामहमात्मन्यन्तः स्थापयामीत्युच्यते । हे उदानात्मक सोम, त्वमिमं सोममन्तरे नियमय रक्ष च । अस्मिन् यज्ञे प्रवर्ग्यार्थस्य च पयसो दोग्ध्रीगांश्च रक्ष । यथा च लोकाः सर्वेऽमुना सोमेन यजन्ते तथा कुरु । हे सोम, त्वय्येव लोकत्रयं प्रणिधानेन स्थापयामि । हे मघवन्, स्वर्गमर्त्यलोकवर्तिभिर्देवैः सहास्मिन्नन्तर्यामग्रहे स्वमात्मानं तर्पयेति समस्तस्य मन्त्रस्यार्थः ।

यद्यपि श्रुतिसूत्रसम्मत एव मन्त्रार्थो युक्तस्तथापि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० १।२।१५), 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (भ० गी० १५।१५) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां ब्रह्मात्मपरत्वं मन्त्राणां सम्भवत्येवेति हे मघवन्निन्द्र परमेश्वर, ते तवान्तर्मध्ये द्यावापृथिव्यौ दधामि चिन्तयामि । उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षं च तवान्तर्दधामि चिन्तयामि । यथा दर्पणे सूर्यचन्द्रनक्षत्रमण्डलादिसहितमाकाशादिकं प्रतिबिम्बते, तथैव चिद्रूपे स्फारे द्यावापृथिव्यौ उर्वन्तरिक्षं तत्स्थानि सर्वाणि वस्तूनि च प्रतिबिम्बन्यायेन विभान्ति । हे मघवन्, अवरैर्भूमिष्ठैः परैर्द्युलोकस्थैश्च देवेभिर्देवैः समानजोषणः समानप्रीतिश्च सन् यमानामहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहलक्षणानां समूहो यामस्तस्मिन् यामे, अर्थाद् यमनिमित्तमन्तर्मम हृदये मादयस्व मां देवांश्च हर्षयित्वा हृष्टो भव ।

भाष्यसार—'अन्तस्ते' यह ऋचा भी अन्तर्याम ग्रह के ग्रहण में विनियुक्त की गई है । शतपथ श्रुति में याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है ।

यद्यपि श्रुति तथा सूत्रों से संमत हो मन्त्रार्थ युक्त है, तथापि 'सभी वेद जिसके स्वरूप का वर्णन करते हैं' तथा 'समस्त वेदों के द्वारा मैं ही ज्ञातव्य हूँ' इत्यादि श्रुति एवं स्मृति के वचनों से मन्त्रों का ब्रह्मात्मपरक अर्थ होना सुसंभव ही है । अतः यह अर्थ है—हे परमेश्वर, आपके अन्तर्गत मैं द्युलोक तथा पृथिवी को समझता हूँ तथा विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को

दयानन्दस्तु—'हे मघवन् योगिन्, अहं परमेश्वरस्ते तव अन्तः शरीरमध्ये द्यावापृथिवी भूमिसूर्याविव विज्ञानादिपदार्थान् दधामि। उरु बहु अन्तरिक्षमन्तरालाकाशमन्तर्दधामि। सजूर्मित्र इव देवेभिर्विद्वद्भिरवरैर्निकृष्टैः परैरुत्तमैर्व्यवहारैश्च सह अन्तर्यामे, यमानामयं यामः, अन्तश्चासौ यामश्चेत्यन्तर्यामस्तस्मिन् आन्तरे नियमसमूहे, मघवन् धनितुल्ययोगिन्, मादयस्व हर्षयस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मघवन्नित्यस्य योग्यर्थकत्वे मानाभावात्, भूमिसूर्ययोः शरीरमध्ये कथमवस्थानमिति साधयित्वैव तद्दृष्टान्तेन विज्ञानादिपदार्थानामन्तःस्थापनत्वोक्तिः सम्भवति। न च तत्साधितम्, घट इव शरीरेऽपि द्यावापृथिव्योरसम्भवात्। अन्तरालाकाशमात्रस्यान्तः स्थापयितव्यत्वे उरु इति विशेषणं व्यर्थमेव स्यात्। देहमध्यवर्त्यन्तरालाकाशस्यैव तत्त्वेऽहं परमेश्वरस्तव योगिनोऽन्तः स्थापयामीत्युक्तेरपार्थकत्वमेव। देवेभिरित्यस्य विशेषणत्वेनावरैः परैश्चेति श्रुतम्। तदपहाया-श्रुतव्यवहारपदमध्याहृत्य तस्य विशेषणत्वेन तयोर्योजनमयुक्तमेव। न च निकृष्टविदुषां निकृष्टव्यवहारस्यान्तर-नियमसमूहे वर्तमाने करणत्वं सम्भवति। पदार्थव्याख्याने 'मादयस्व' इत्यस्य 'हर्षयस्व' इत्यर्थ उक्तः, कर्मनिर्देशस्तु तत्र नास्त्येव। हिन्दीभाष्ये तु 'प्रयत्नं कुरु' इत्युक्तम्, तत्कथमिति तु नोक्तम्। भावार्थे तु दयानन्दः सर्वतो विलक्षणमसम्बद्धं च वक्ति। तथाहि—'ईश्वर उपदिशति ब्रह्माण्डे यादृशा यावन्तः पदार्थाः सन्ति, तादृशास्तावन्तो मम ज्ञाने वर्तन्ते। योगविद्यादिरहितस्तान् द्रष्टुं न शक्नोति' इति। एवंविधो भावो न मन्त्रगतपदैः कथमप्यानेतुं शक्यते ॥ ५ ॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य उदानाय त्वा ॥ ६ ॥

भी आपमें ही देखता हूँ। जिस प्रकार दर्पण में सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र-मण्डल आदि के सहित आकाश प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार चिद्रूप परमेश्वर में द्यावापृथिवी, विस्तृत अन्तरिक्ष तथा उनमें स्थित अन्य समस्त वस्तुएँ प्रतिबिम्बन्याय से प्रदर्शित होती हैं। हे मघवन्, भूमि पर स्थित तथा द्युलोक में अवस्थित देवताओं के साथ समान प्रीतियुक्त होकर, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि यमों के समूह याम में, अर्थात् यमनिमित्तक मेरे हृदय में आप मुझे तथा देवताओं को आनन्दित करते हुए प्रहृष्ट रहें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ ग्राह्य नहीं है, क्योंकि 'मघवन्' शब्द का योगी अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। अवरैः, परैः—ये दोनों पद 'देवेभिः' शब्द के विशेषण के रूप में मन्त्र में स्पष्ट निर्दिष्ट हैं। इसको छोड़ कर अपठित 'व्यवहार' शब्द का अध्याहार करके उसके विशेषण के रूप में इन दोनों पदों को लगाना अनुचित है। पदार्थव्याख्या में 'मादयस्व' पद का अर्थ 'हर्षित करो' यह बताया गया है। परन्तु वहाँ कर्म का निर्देश तो है ही नहीं। भावार्थ में तो सबसे विलक्षण असम्बद्ध अर्थ कहा गया है। इस प्रकार का भाव मन्त्र के पदों से तो किसी भी प्रकार नहीं लाया जा सकता ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे प्राणरूप उपांशु ग्रह ! सम्पूर्ण इन्द्रियों से, सम्पूर्ण पार्थिव द्विपद, चतुष्पद और दिव्य प्राणियों से तुम स्वयं प्रादुर्भूत हो। मन प्रजापति तुम्हारा आधिपत्य करें। हे प्रसंशित जन्म वाले ! सूर्य रूप प्रजापति की प्रीति के निमित्त तुम्हारी आहुति देता हूँ। हे सुन्दर अन्तर्याम ग्रह ! सूर्य के लिये, सूर्य की मरीचियों का पान करने वाले देवताओं के लिये और उदान देवता की प्रीति के लिये मैं तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ ६ ॥

स्वाङ्कृत इति मन्त्रेण निःशेषस्यैवान्तर्यामस्थसोमरसस्यैव होमस्तिष्ठतः 'प्रथमे च न्युब्जेन पाणिना प्रत्यगिति' (का० श्रौ० ९।६।४)। प्रथमे परिधावधोमुखेन हस्तेन प्रत्येक्संस्थमुपमार्ष्टि। उदानाय त्वेति पात्रासादनम्। उदानसन्तोषार्थं त्वां सादयामीति मन्त्रार्थः। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव। 'तं गृहीत्वा परिमार्ष्टि' (श० ४।१।२।१७) इत्यादिकं तूपांशुग्रहतुल्यमेव। तत्रत्यप्राणपदस्थानेऽत्रोदानपदमित्येव विशेषः। उपांशोरभिचारे सादनविधानं च नान्यत्रेत्युक्तम्। उभयमन्तर्यामेऽपि तथेत्याह—'स यद्युपाᳪशुं सादयेदिति' (श० ४।१।२।१८)। 'ता उ ह चरका नानैव मन्त्राभ्यां जुह्वति प्राणोदानौ वा अस्यैतौ नानावीर्यौ प्राणोदानौ कुर्म इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद् मोहयन्ति ह ते यजमानस्य प्राणोदानावपीद्वा एनं तूष्णीं जुहुयात्' (श० ४।१।२।१९)। चरक-शाखिनस्तौ उपांश्वन्तर्यामग्रहौ भिन्नाभ्यां मन्त्राभ्यां जुह्वति। तथा जुह्वतां तेषामाशयः—एतौ ग्रहौ यजमानस्य प्राणोदानौ। निर्गमनकर्मा प्राणः, प्रवेशकर्मा चोदानः। भिन्नव्यापारत्वाद् भिन्नमन्त्रकरणेन एतौ ग्रहौ प्राणापाना-त्मकौ कुर्म इति। तदु तथा न कुर्यादिति तन्मतापाकरणम्। 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायेन स्वशाखीयकर्मप्रशंसार्थमेव चरकशाखीयपक्षनिन्दनम्। एकस्यैव सतः प्राणस्य वृत्तिभेदा-न्नानात्मनोः प्राणोदानयोर्नानामन्त्रकरणेन स्वरूपभेदजननाय व्याकुलीकरणं यद् द्वेधाकरणम्। अपि वा एनं तूष्णीं जुहुयात्। न तु भिन्नाभ्यां मन्त्राभ्यां जुहुयात्। न चैवं मन्त्रैकतया होमस्य वैकल्यम्, उपांशोर्मन्त्रवत्त्वेनैवास्यापि तत्सिद्धेः। किञ्च, यद्युपांशुमन्त्रान्मन्त्रान्तरेणान्तर्यामः क्रियेत, तथाप्युपांशुमन्त्रेण कृत एव, उभयोरैक्यात्। यदा त्वमन्त्रकः क्रियेत, तदा विरोधिमन्त्रान्तराभावत्वेनैव मन्त्रेण कृत इति किमु वक्तव्यम्? एक एव हि स ग्रहः, प्राणोदानात्मकत्वात्, तयोश्च प्राणवृत्तिभेदमात्रात्मकत्वात्। तदेवोच्यते श्रुत्या—'स यद्वा उपाᳪशुं मन्त्रेण जुहोति तदेवास्यैषोऽपि मन्त्रेण हुतो भवति किमु तत् तूष्णीं जुहुयात् समानᳪ ह्येतद्यदुपाᳪश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ हि' (श० ४।१।२।२०)। यदि त्वमन्त्रकत्वानुशयपरिहाराय मन्त्रेणैवायं कर्तव्य इति निर्बन्धः, तर्हि येनैवोपांशुः क्रियते, तेनैव स्वाङ्कृत इत्यादिमन्त्रेणायमिति। अस्य च यजुष उपांशुग्रहलक्षणस्वार्थेन सह यो बन्धुसम्बन्ध उक्तः, स एव प्राणद्वारा तदात्मकस्यान्तर्यामस्यापीति पृथगनुक्तोऽप्युक्त एवेति मन्तव्यम्।

तदेवोक्तम्—'स येनैवोपाᳪशुं मन्त्रेण जुहुयात् तेनैवैतं मन्त्रेण जुहोति स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य····सूर्यायेत्युक्तो यजुषो बन्धुः' (श० ४।१।२।२१)। 'अथ हुत्वावाञ्चं ग्रहमवमार्ष्टि। इदं वा उपाᳪशुᳪ हुत्वोर्ध्वमुन्मार्ष्ट्यथात्रावाञ्चमवमार्ष्टि प्रत्यञ्चमेवास्मिन्नेतदुदानं दधाति' (श० ४।१।२।२२)। 'अथ नीचा पाणिना। मध्यमे परिधौ प्रत्यगुपमार्ष्टीदं वा उपाᳪशुᳪ हुत्वोत्तानेन पाणिना मध्यमे परिधौ प्रागुपमार्ष्ट्यथात्र नीचा पाणिना मध्यमे परिधौ प्रत्यगुपमार्ष्टि प्रत्यञ्चमेवास्मिन्नेतदुदानं दधाति देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य इति सोऽसावेव बन्धुः' (श० ४।१।२।२३)। उपांशोरुन्मार्जनं यथा विहितं तद्वैलक्षण्यमन्तर्यामे सोपपत्तिकं विधत्ते—अथ हुत्वेति। अन्तर्यामं हुत्वाऽवमार्ष्टि। उपांशौ उन्मार्जनमुक्तम्। उदानस्य प्रत्यग्विधानं ह्यन्तर्यामावमार्जनप्रयोजनम्। मध्यमे परिधौ अवाङ्मुखेन पाणिना प्रत्यगन्तर्याममुपमृज्यात्। यत एतद्विपरीतमुपांशावुपमार्जनम्। अन्तर्यामस्य मन्त्रं विधाय स्तौति—'तं प्रत्याक्रम्य सादयति। उदानाय त्वेत्युदानो ह्यस्यैष तानि वै सᳪस्पृष्टानि सादयति प्राणोदानानेवैतत् सᳪस्पर्शयति प्राणोदानान् सन्दधाति' (श० ४।१।२।२४)। यतोऽन्तर्याम उदानोऽतस्तत्सादने

भाष्यसार—'स्वाङ्कृतोऽसि' इस कण्डिका से अन्तर्याम ग्रह का होम, तदनन्तर पात्रासादन आदि कर्म अनुष्ठित किये जाते हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।५) में प्रतिपादित है।

उदानाय त्वेति मन्त्रः। सादने विशेषं विधाय स्तौति—उपांश्वन्तर्यामोपांशुसवनानि परस्परं यथा संस्पृष्टानि भवन्ति तथा सादयेत्। तस्य च प्रयोजनं प्राणोदानव्यानानां सदा संगत्याऽवस्थापनम्। प्राणोदानयोः सन्ध्यात्मकतया व्यानोऽपि ताभ्यामेव गृह्यते, 'अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः' (छा० उ० १।३।३) इति श्रुतेः। 'तानि वा अनिङ्ग्यमानानि शेरे···सवनः' (श० ४।१।२।२६)। आसादितानां त्रयाणां तृतीयसवनपर्यन्तमव्यापारं तत्र हेतुमाह—तानीति। अनिङ्ग्यमानान्यव्याप्रियमाणानि शेरे शेरते। यथा मनुष्याः कियन्तं कालं सुप्त्वा प्रबुद्धचन्ते, तदा अनलसा व्याप्रियन्ते। पक्षिरूपता यज्ञस्योच्यते—यथा पक्षिणः पक्षौ मध्यभागस्तथा यज्ञस्य उपांश्वन्तर्यामौ पक्षौ, उपांशुसवनो मध्यभागः। उपांश्वादीनि तृतीयसवनपर्यन्तं निर्व्यापाराणि तिष्ठन्ति। तृतीयसवने च तैः स यज्ञस्तायते। यज्ञस्य विस्तार एव प्रबोधो यज्ञपक्षिणो गमनम्। पात्राणि नैकत्रासादितानि तिष्ठन्ति, किन्तु तत्र तत्र व्याप्रियन्ते। तदेतद्यज्ञपक्षिणो लौकिकपक्षवतः प्रबोधानन्तरं पक्षौ विक्षिप्य पक्ष्यन्तरसङ्गमवियुक्तं वियति विष्कम्भेण गमनम्। आसादितानामुपांश्वादीनां त्रयाणां लोकत्रयात्मकत्वेनापि प्राशस्त्यमाह—'इयं ह वा उपाꣳशुः। प्राणो ह्युपाꣳशुरियाꣳ ह्येव प्राणन्नभि प्राणित्यसावेवान्तर्याम उदानो ह्यन्तर्यामोऽमुꣳ ह्येव लोकमुदनन्नभ्युदनित्यन्तरिक्षमेवोपाꣳशुसवनो व्यानो ह्युपाꣳशुसवनोऽन्तरिक्षꣳ ह्येव व्यनन्नभिव्यनिति' (श० ४।१।२।२७)। उपांशुर्भूलोकात्मकः। स च प्राणात्मकः, भुवमेवाश्रित्य सर्वे प्राणन्ति। अन्तर्यामो द्युलोकात्मकः, स ह्युदानात्मकः। उदानश्चावर्ग्वृत्तितया प्राणोत्क्रमणप्रतिबन्धकत्वेन जीवनहेतुः। जीवन्तश्च सर्वे यागदानादिभिरमुं लोकं साधयाम इत्येव जीवन्ति। अमुं लोकं लक्षयित्वोदनन्तीत्यसौ लोक उदानात्मकः। उपांशुसवनोऽन्तरिक्षलोकात्मकः। स च प्राणोदानसन्धिरूपो व्यानात्मकः। व्यानव्यापाराणामृक्सामाभिव्याहाराग्निमन्थनाजिसरणदृढधनुरायमनादीनामप्राणताऽनपानता चैवं भ्रियमाणानामन्तरिक्षलोकमाश्रित्यैव निष्पत्तेः। अन्तरिक्षलोकोऽपि व्यानात्मकोऽत उपांश्वादित्रयस्य लोकत्रयात्मकतया प्राशस्त्यम्। 'अभिरभागे' (पा० सू० १।४।९४) इत्यन्तर्लक्षणे कर्मप्रवचनीयत्वेन तद्योगादमुमन्तरिक्षमित्यादौ द्वितीया ॥ ६ ॥

आ वा॑यो भूष शुचिपा उप॑ नः स॒हस्रं॑ ते नि॒युतो॑ विश्ववार।
उपो॑ ते॒ अन्धो॒ मद्य॑मयामि॒ यस्य॑ देव दधि॒षे पू॑र्व॒पेय॑ं वा॒यवे॑ त्वा ॥ ७ ॥

'ऐन्द्रवायवं गृह्णात्यावायविति' (का० श्रौ० ९।६।६)। ऐन्द्रवायवे ग्रहे इन्द्रवायुदेवताकं सोमं धारातो गृह्णीयात्। वायुदेवत्या त्रिष्टुप्, वशिष्ठदृष्टा। सायणाचार्यरीत्या हे वायो, त्वमागत्य ग्रहानलङ्कुरु। हे शुचिपाः, पवित्रस्य सोमस्य पातः, नोऽस्मानुपागच्छ। हे विश्ववार, तव सहस्रं नियुतोऽश्वाः सन्ति। वायोरश्वस्य नियुत इति नाम। तवाश्वानां सहस्रमस्ति। यद्वा त्वदीयमश्वसहस्रं नितरां युतम्। यद्वा हे वायो हे शुचिपाः! शुचि पवित्रं प्रथमं वषट्कृतमप्राप्तमन्यदेवैः सोमं पिबतीति शुचिपाः पवित्रसोमपाने त्वं नोऽस्माकमुप समीपे मखे आभूष आक्रमस्व, आगच्छेत्यर्थः। 'भूष अलङ्कारे' इह तु गत्यर्थः, धातूनामनेकार्थत्वात्। केनाहमाक्रम इति चेत्, सहस्रं

इस मन्त्र का अर्थ पूर्व (७।३) में ही उपदिष्ट है। अतः पूर्वोक्त अर्थ की भाँति यहाँ भी व्याख्यान समझना चाहिये ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे पवित्र पानकारी वायु देवता! तुम हमारे पास आओ। तृप्तिदायक सोमलक्षण अन्न मैं तुम्हारे पास भिजवाता हूँ। हे दीप्यमान वायु! जिस सोम के प्रथम वषट्कार लक्षण अन्न का तुम सबसे पहले पान करते हो, उसी को इस समय मैं तुम्हारे पास उपस्थित करता हूँ ॥ ७ ॥

ते नियुतो विश्ववार, विश्वं सर्वं वृणोति व्याप्नोति, विश्वैर्वा व्रियते प्रार्थ्यत इति विश्ववारः, तत्सम्बुद्धौ हे विश्ववार सर्वव्यापक सर्ववरेण्य, ते तव सहस्रं नियुतः सन्ति। 'नियुतो वायोः' (निघ० १।१५।१०) इत्युक्तेर्नियुच्छब्देन वायुवाहनभूता मृगा उच्यन्ते। तवासंख्याता वाहनभूता मृगाः सन्ति, तैरागच्छेत्यर्थः। निघण्टु (१।१५) रीत्या नियुतो वाहनानि वा। किञ्च, मद्यं मदनीयं तृप्तिजनकमन्धः सोमलक्षणमन्नं ते तव, उप समीप एव, अयामि गमयामि, सोमं ते समर्पयामीति यावत्। हे देव द्योतमान वायो, यस्य सोमस्य पूर्वपेयं प्रथमवषट्कारलक्षणं पूर्वपानं त्वं दधिषे धारयसि, दधातेर्लिटि रूपम्। एवं वायुं प्रार्थ्य सोममाह—हे सोमरस, वायवे वायुदेवतार्थं त्वां गृह्णामीति शेषः।

शतपथे विशेषः 'वाग्घ वा अस्यैन्द्रवायवः। एतन्न्वध्यात्ममिन्द्रो ह्यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार सोऽबलीयान् मन्यमानो नास्तृषीतीव बिभ्यन्निलयाञ्चक्रे तदेवापि देवा अपन्यलयन्त' (श० ४।१।३।१)। उपांश्वादिप्रयोगानन्तरमैन्द्रवायवस्य प्रयोगमभिधास्यन् तस्य तदानन्तर्ये कारणमाह—'वाग्घ वेति। प्राणापानव्यानात्मकं तत् त्रयं व्यानकार्या च वाक्, तत्कार्यतया तदात्मकश्चैन्द्रवायवो व्यानात्मकोपांशुसवनसृष्ट्यनन्तरमेव सृष्टश्च, अतो युक्तं तस्य तदानन्तर्यम्। हशब्दः प्रसिद्धौ। वैशब्दस्तां स्मारयति, 'प्राणापानाभ्यामेवोपाꣳश्वन्तर्यामौ निरमिमीत व्यानादुपांशुसवनं वाच ऐन्द्रवायवम्' (तै० सं० १।९।४) इति श्रुतेः। ननु देहाद्बहिरुपलभ्यमानस्यैन्द्रवायवस्य देहान्तर्वर्तिवागिन्द्रियात्मकता कथमिति चेत्तत्राह—एतन्न्वध्यात्ममिति। द्विविधो ह्यैन्द्रवायवः—आधिभौतिकः, आध्यात्मिकश्च। यो बहिः स आधिभौतिकः, यस्त्वेष वाग्रूपः स आध्यात्मिकः। आत्मनीत्यध्यात्मम्। विधास्यमाने ग्रहे वायोः प्रथमवषट्कारः। तस्य द्विदेवत्यत्वम्। सर्वेषां पात्राणां वायव्यनामेत्यादिव्युत्पादनार्थमाख्यायिकोच्यते—इन्द्रो ह्यत्रेति। इन्द्रो वृत्रं हन्तुं वज्रं चिक्षेप। 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' (पा० सू० २।३।१४) इति चतुर्थी। स इन्द्रः कृतप्रहारो न बलवान्, अतो नूनमनेनाहं वृत्रं नास्तृषि न हतवानिति मन्यमानस्तदागमनाद् भीतः सन् निलीनोऽभूत्। ततस्तस्माद् भयादेव देवा अपन्यलयन्त। न्यलयन्तेति व्यत्ययेन शप्। 'ते ह देवा ऊचुः। न वै हतं वृत्रं विद्म न जीवꣳ हन्त न एको वेत्तु यदि हतो वा वृत्रो जीवति वेति' (श० ४।१।३।२)। 'ते वायुमब्रुवन्। अयं वै वायुर्योऽयं पवते वायो त्वमिदं विद्धि यदि हतो वा वृत्रो जीवति वा त्वं वै न आशिष्ठोऽसि यदि जीविष्यति त्वमेव क्षिप्रं पुनरागमिष्यसीति' (श० ४।१।३।३)। 'स होवाच। किं मे ततः स्यादिति प्रथमवषट्कार एव ते सोमस्य राज्ञ इति तथेत्येयाय वायुरैद्धतं वृत्रꣳ स होवाच हतो वृत्रो यद्धते कुर्यात्तत्कुरुतेति' (श० ४।१।३।४)। वृत्रहननसंशये वृत्रो जीवति न वेति न ज्ञायते। अस्माकमेको गत्वा जानात्विति ते देवा ऊचुः। देवैराशुतरत्वेन ज्ञातुं नियुक्तो वायुस्ततो गमनान्मे किं फलं स्यादिति वरं वव्रे। सोमरसात्मकस्य हविषः सम्बन्धिनि यस्मिन्नैन्द्रवायवे ग्रहे प्रथमं वषट्क्रियते स प्रथमवषट्कारः सोमांशस्तव भाग इति। तथेत्युक्त्वा वायुर्देवेभ्यो निरगच्छत्। हतं वृत्रं च प्राप। पुनरागत्य हतो वृत्रः, हते यद्विभजनाय सोमग्रहविभागादिकं कर्तव्यं तत्कुरुतेति तेभ्यो न्यवेदयत्। 'ते देवा अभ्यसृज्यन्त। यथा वित्तिं वेत्स्यमाना एवꣳ स यमेकोऽलभत स एकदेवत्योऽभवद्यं द्वौ स द्विदेवत्यो यं बहवः स बहुदेवत्यस्तद्यदेनं पात्रैर्व्यगृह्णन् तस्माद् ग्रहा नाम' (श० ४।१।३।५)। ते देवाः सोममभिलक्ष्य असृज्यन्त अन्तरिक्षं गतवन्तो यथा वित्तिं वेत्स्यमानाः। विद्यते लभ्यत इति वित्तिः प्राप्तव्योऽर्थः। तं येन प्रकारेण विभजन्ते, एवं हि स सोमग्रहविभागस्तं विभागं वेत्स्यमानास्तत एवं ज्ञातवन्तः। यं ग्रहं महेन्द्रादिरेकोऽलभत स माहेन्द्रादिरेकदेवत्यः। यं द्वौ स आश्विनादिद्विदेवत्यः। यं बहवः स वैश्वदेवादिर्बहुदेवत्यः। तदा एनं सोमं यस्मात् कारणात् पात्रैर्विभज्य देवा अगृह्णन्,

---

भाष्यसार—'आ वायो' इस ऋचा से ऐन्द्रवायव ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन

तस्मात् तानि पात्राणि ग्रहा इति प्रसिद्धाः।

'स एषामपूयत। स एनान्छुक्तः पूतिरभिववौ स नालमाहुत्या आस नालं भक्षाय' (श० ४।१।३।६)। 'ते देवा वायुमब्रुवन्। वायविमं नो विवाहीमं न स्वदयेति स होवाच किं मे ततः स्यादिति त्वय्यैवैतानि पात्राण्याचक्षीरन्निति तथेति होवाच यूयं तु मे सच्युपवातेति' (श० ४।१।३।७)। एषां सम्बन्धी स गृहीतः सोमः पूतिगन्धोऽभवत्। स पर्युषितः पूतिगन्धिरेनान् देवान् प्रत्याजगाम। आहुत्यर्थं हुतशिष्टभक्षणार्थं वा दुर्गन्धत्वेन स सोमरसो योग्यो नासीत्। ते देवा वायुमब्रुवन्, वायो इमं सोमं विवाहि विगतदुर्गन्धं कुरु, अस्मभ्यमिमं रोचयेत्यूचुः। तेन च वरे वृते तन्नाम्ना पात्राणां व्यवहारं प्रायच्छन्। तथेत्यङ्गीकृत्य यूयं मे सर्वे सचि सहायकाः स्थिता वातोपकारिणं व्यापारं कुरुतेत्याह। 'तस्य देवा यावन्मात्रमिव गन्धस्यापजघ्नुस्तं पशुष्वदधुः स एष पशुषु कुणपगन्धस्तस्मात् कुणपगन्धान्नापिगृह्णीत सोमस्य हैष राज्ञो गन्धः' (श० ४।१।३।८)। 'नो एव निष्ठीवेत। तस्माद्यद्यव्यासक्त इव मन्येताभिवातं परीयाच्छ्रीर्वै सोमः पाप्मा यक्ष्मः स यथा श्रेयस्यायति पापीयान् प्रत्यवरोहेदेवꣳ हास्माद्यक्ष्मा प्रत्यवरोहति' (श० ४।१।३।९)। तस्य सोमस्य सम्बन्धिनो गन्धस्य यावन्तं दोषांशं देवा अपनीतवन्तस्तं पशुषु प्राणिषु स्थापितवन्तः। स एष प्राणिषु दृश्यमानः स्वेदादिनिबन्धनो दुर्गन्धः। तर्हि प्रयोगमध्ये स्वेदादिनिबन्धने तस्मिन् गन्धे जुगुप्सा कृता, सा चायुक्ता, यतोऽसौ पशुषु क्षिप्तोऽपि क्षेपात् प्राक् सोमस्य राज्ञो गन्धो जातः। तदनाघ्राणाय वस्त्रादिना नासिकाऽऽच्छादनीया। मुखगतस्य परिहाराय निष्ठीवेदिति ? नापि गृह्णीतात्, न निष्ठीवेत्। अपिपूर्वको गृह्णातिराच्छादने वर्तते। यथा तस्माद्दीक्षितेनापिगृह्य ष्ठीवितव्यमित्यादावपि ग्रहणनिष्ठीवनाभ्यां हि तस्मिन् गन्धे जुगुप्सा कृता स्यात्, सा चायुक्ता। यतः पशुषु क्षेपात् प्राक् सोमस्य राज्ञो गन्धः, अतः पिधाननिष्ठीवनाभ्यां सोम एवावज्ञातः स्यात्। अतोऽपवित्रेण गन्धेन आसमन्तात् सक्तं व्याप्तमात्मानं मन्येत, तदा तत्परिहाराय पक्षिण इव प्रवातप्रदेशमासेवेत। तेन च तमपनीय प्रयुञ्जीत। न पुनस्तमपवित्रगन्धं सहमानेनैव प्रयोगो निष्पादनीयः। यतः साक्षाच्छ्रीरूपः सोमः, अपवित्रगन्धः पुनर्व्याधिरूपः पाप्मा। तथा च प्रशस्ततरे राजादावागच्छति सत्युन्नतं पर्यङ्कप्रासादादिकमारुह्य स्थितः पापीयान्, एवं सोमे राजन्यागच्छति सति प्रवातसेवया प्रत्यवरोपितो भवति स गन्धः। 'अथेतरं वायुर्व्यवात्। तदस्वदयत्ततोऽलमाहुत्या आसालं भक्षाय तस्मादेतानि नानादेवत्यानि सन्ति वायव्यानीत्याचक्षते सोऽस्यैष प्रथमवषट्कारश्च सोमस्य राज्ञ एतान्यु एतेन पात्राण्याचक्षते' (श० ४।१।३।१०)। अनन्तरमपनीतगन्धादितरं स्थितं सोमं वायुर्व्यवात्, स यथा विशिष्टरसगन्धादियुक्तो भवति तथा व्याप्नोत्, 'वा गतिगन्धनयोः'। तेन च सोमं देवानां स्वादुमकरोत्। ततश्च स सोमो होमाय हुतशिष्टभक्षणाय च शक्यो जातः। यत्तेन वृत्रविनाशविषयप्रियवार्ताकथनेन सोमस्य स्वादूकरणेन च लब्धवरद्वयो वायुः, तस्मादेतानि पात्राणि देवतार्थतया तत्तद्दैवैश्च व्यपदेशमर्हन्ति, वायोर्दत्तवरतया वायव्यानि चोच्यन्ते। स एष इदानीमपि क्रियमाणः प्रथमवषट्कारश्चास्य वायोरेव जातः। इदानीमपि च याज्ञिकास्तत्तद्देवत्यानि च पात्राणि वायव्यानीत्याचक्षते।

'इन्द्रो ह वा ईक्षाञ्चक्रे। वायुर्वै नोऽस्य यज्ञस्य भूयिष्ठभाग्यस्य प्रथमवषट्कारश्च सोमस्य राज्ञ एतान्यु एनेन पात्राण्याचक्षते हन्ताहमस्मिन्नपित्वमिच्छा इति' (श० ४।२।३।११)। 'स होवाच वायवा माऽस्मिन् ग्रहे भजेति किं

श्रौतसूत्र (९।६।६) में निरूपित है। शतपथ श्रुति तथा सायण आदि आचार्यों ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट किया है।

ततः स्यादिति निरुक्तमेव वाग् वदेदिति निरुक्तं चेद्वाग् वदेदा त्वा भजामीति तत एव ऐन्द्रवायवो ग्रहोऽभवद्वायव्यो हैव ततः पुरा' (श० ४।१।३।१२)। नन्वेवं वायोः प्रथमवषट्कारवरलाभाद्वायव्योऽस्तु ग्रहः, कुत ऐन्द्रवायव इति चेदत्रोच्यते—वायावेवं दत्तवरे इन्द्र ईक्षाञ्चक्रेऽस्मदीयेष्वस्मासु ज्यायस्सु स्थितेषु यस्य वायोः कनीयसः प्रथमो भागः, अस्मन्नामान्यपनीय पात्राण्यपि वायव्यानीति वायुनाम्ना व्यपदेशश्चेत् तर्हि किं कर्तव्यमिति विचार्य कर्तव्यनिश्चयलाभाद् हृष्ट आह—हन्त यद्यप्यैन्द्राग्नेऽग्निना सह मम भागोऽस्ति, उक्थ्यमरुत्वतीयादौ ममैवासाधारणो भागोऽस्ति, तथापि त्वं तेभ्योऽन्यं भागमस्मिन् प्रथमग्रहेऽप्यहमिच्छै। इच्छतेर्व्यत्ययेन आत्मनेपदे लोडुत्तमैकवचनम्। इत्थमिच्छित्वा हे वायो, अस्मिन् ग्रहे मा मां मम भागं देहीत्युवाच। ततो भागप्रदानान्मम किं फलं स्यादिति वायुनोक्ते वरमिन्द्रो ददौ निरुक्तमेव वाग्वदेत्। तं च वरं वाचाङ्गीकृतवति तद्वरप्रदानात् पूर्वं वायुदेवत्योऽपि स ग्रह इन्द्रसम्बन्धेनैन्द्रवायवोऽभवत्। निरुक्तं नाम निःशेषमुक्तं विस्पष्टमित्यर्थः। अत एव देवताविशेषरूपस्यार्थस्य प्रत्यायनेनाविस्पष्टाया ऋचः प्राजापत्यत्वमन्यत्र श्रूयते—'अनिरुक्तया प्राजापत्यया गृह्णाति'। यद्वा—परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीति चतुरवस्था वागवतिष्ठते। तत्र पूर्वस्मिन् वागवस्थाभेदे उत्तरोत्तरस्याभावात् सावशेषत्वम्, वैखर्यां तु परादीनामपि तिसृणां संग्रहेण निःशेषत्वान्निरुक्तत्वम्। 'स इन्द्रोऽब्रवीत्। अर्धं मेऽस्य ग्रहस्येति तुरीयमेव त इति वायुरर्धमेव मे तुरीयमेव त इति वायुः' (श० ४।१।३।१३)। 'तौ प्रजापतिं प्रति प्रश्नमेयतुः। स प्रजापतिर्ग्रहं द्वेधा चकार स होवाचेदं वायोरित्यथ पुनरर्धं द्वेधा चकार स होवाचेदं वायोरितीदं तवेतीन्द्रं तुरीयमेव भाजयाञ्चकार यद् द्वे चतुर्थे तत्तुरीयं तत ऐन्द्रस्तुरीयो ग्रहोऽभवत्' (श० ४।१।३।१४)। एवं विवदमाना इन्द्रवायू प्रजापतिं पृच्छाव इति तत्समीपमगमताम्। स च तं ग्रहं विभज्य इन्द्रं चतुर्थांशेन भागिनमकरोत्, अवशिष्टेन तु वायुमिति।

'तस्य वैतस्य ग्रहस्य। द्वे पुरोरुचौ वायव्यैव पूर्वैन्द्रवायव्युत्तरा द्वे अनुवाक्ये वायव्यैव पूर्वैन्द्रवायव्युत्तरा द्वौ प्रैषौ वायव्य एव पूर्व ऐन्द्रवायव उत्तरो द्वे याज्ये वायव्यैव पूर्वैन्द्रवायव्युत्तरैवमेनं तुरीयं तुरीयमेव भाजयाञ्चकार' (श० ४।१।३।१५)। इन्द्रवाय्वोः स्वकीयग्रहभागानुसारेण ग्रहाङ्गभूतानामपि मन्त्राणां विभागो जातः। द्वे पुरोरुचौ वायव्यैव उपयामगृहीतोऽसीत्यस्मात् पूर्वं ग्रहप्रशंशारूपतद्विषयां रुचिं देवतायै करोतीति पुरोरुक्। ण्यन्तात् क्विप्, 'क्विप् च' (पा० सू० ३।२।७६) इति णिलोपे, 'णेरनिटि' (पा० सू० ६।४।५१) इत्यनेन संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाद् गुणाभावः। यद्वा अन्तर्भावितण्यर्थात् क्विप्। पूर्वा वायव्या उत्तरा ऐन्द्रवायवा इति सर्वत्रेन्द्रस्य चतुर्थांशभाक्त्वम्। अनुवाक्याप्रैषयाज्यास्वप्येवम्। 'स होवाच। तुरीयं चेन्मामबीभजंस्तुरीयमेव तर्हि वाङ्निरुक्तं वदिष्यतीति तदेतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यन्मनुष्या वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत्पशवो वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद्वयांसि वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रꣳ सरीसृपं वदति॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्—'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्तीति' (श० ४।१।३।१६-१७)। स्वकीयग्रहादिभागानुसारेण वाचश्चतुर्थमेव निरुक्तं स्यात्, ग्रहे सर्वचतुर्थभागस्यैव मदीयत्वाद् वागपि चतुर्थमेव भागं विस्पष्टं वदिष्यति, वाचो विस्पष्टिश्चतुर्थे भागे वैखरीं वदत इत्यर्थः। परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीति चतुरवस्था वाग्भवति। परादीनां तिसृणां देवमध्य एवावस्थानेन परश्रोत्रग्रहणयोग्यत्वाभावादविस्पष्टार्थत्वम्। वैखरी पुनः परश्रोत्रैर्गृह्यतेऽतिवाहितार्थप्रत्यये च समर्थेति विस्पष्टेति। यत इन्द्रेण वैखर्यात्मकं वायुमनु जातं तदिदानीं मनुष्यादिभिस्तदेव व्यवह्रियते। मन्त्रोऽपि तथैवाह—इन्द्रो वाचश्चतुर्थभागं विस्पष्टमन्वजानात्। तस्मादृषिणा मन्त्रेणैवमुक्तम्—वाचः पदानि परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीत्यवस्थाभेदाः, चत्वारि परिमिता परिमितानि।

यतश्चत्वार्यतः परिच्छिन्नानि । यद्वा वाक्परिमितानि चत्वारि पदानि परिच्छिन्नपराद्यवस्थाभेदरूपचतुष्पदात्मिका। पूर्वव्याख्याने 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना षष्ठ्या लुकि वागिति रूपम् । परिमिता इति 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० सू० ६।१।७०) इति जसादेशे शेर्लोपः । ये मनीषिणो विद्वांसस्ते ब्राह्मणास्तानि वाचः पदानि जानन्ति । त्रीणि पदानि पराद्यवस्थाभेदरूपाणि शरीरमध्यरूपायां गुहायां निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते, न विस्पष्टीभवन्तीति । गुहा इत्यत्रापि सप्तम्या लुक्, आकारादेशो वा । चतुर्थमेव रूपं वैखर्यात्मकमिदानीं मनुष्या वदन्ति । मनुष्या इति पश्वादीनामप्युपलक्षणम् । इत्थमाख्यायिकया ग्रहस्य देवतादिकं प्रदर्श्य तस्य समन्त्रकं ग्रहणसंस्कारं विधत्ते—'अथातो गृह्णात्येव । आ वायो भूष···वायवे त्वेति' (श० ४।१।३।१८) । स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् । मन्त्रस्तु व्याख्यात एव ।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो, वायुवत् सततगमनशील परिव्राजक, शुचिपाः शुचि गङ्गाजलादिकं पिबतीति शुचिपाः, नोऽस्माकमुप समीपे आश्रये आभूष आगत्यालङ्कुरु। हे विश्ववार ! विश्वैः सर्वैर्व्रियते प्रार्थ्यते त्यागशीलत्वादिति विश्ववारस्तत्सम्बुद्धौ । ते तव सहस्रं नियुतः सहस्रसंख्याकानि वाहनानि सन्ति, तैरागच्छ । त्यागित्वात् सर्वेषामपि वाहनानि तवैव सन्ति । ते तुभ्यं मद्यं तृप्तिकरमन्धोऽन्नादिकम् उप अयामि प्रापयामि । हे देव द्योतमान ! यस्य ते तव पूर्वपेयं पूर्वैः पूर्वजैः पेयं ज्ञानामृतं दधिषे धारयसि, तस्मै वायवे त्वत्प्राप्तये त्वा त्वामहं भक्तः साधक आश्रये । यद्वा हे वायो वायुवेग वायुपुत्र ! हे शुचिपाः शुचि जलं पिबतीति शुचिपाः ! त्वं नोऽस्माकं हृदयमलङ्कुरु । हे विश्ववार सर्ववरेण्य, ते तव सहस्रं सहस्रसंख्याका नियुतो नितरां युतास्त्वयि स्थिता ज्ञानविज्ञानादयः सहजा गुणाः, तैः कृतार्थयेति शेषः । ते तव उप समीपे मद्यं तृप्तिकरमन्धो विविधभोग्यम् अहमयामि मनसा समर्पयामि, यस्य ते तव पूर्वपेयं श्रीरामप्रसादात् पूर्वमेव दधिषे, अतो वायवे वायुरूपाय तुभ्यं हे नैवेद्य त्वामर्पयामि । वायुपदेन समष्टिप्राणात्मको हिरण्यगर्भोऽपि ग्रहीतुं शक्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे शुचिपाः ! शुचि पवित्रतां पातीति शुचिपा वायो योगिनः सहस्रं नियुतो नियुज्यन्ते ये, तान् निश्चितान् शुभादिगुणान् उप आभूष । हे विश्ववार, सर्वानन्दान् वृणोतीति ते तव सकाशाद् मद्यमन्ध उपो अयामि । हे देव, यस्य तव पूर्वपेयं पूर्वैः पातुं योग्यमिति वाऽस्ति, यच्च त्वं दधिषे, तद् वायवे त्वा त्वामहं स्वीकरोमि' इति, तदेतत् सर्वमविचारितरमणीयम् । शुचिपदस्य शुचितेति गौणोऽर्थः । नियुज्यन्ते ये ते कथं नियुतः ? ते च शुभगुणादय एव कथम् ? किञ्च, ते गुणा ईश्वरस्य चेत्, कथं तैर्योगी अलङ्क्रियते ? गुणिनमपहाय गुणानामन्यत्र गमनासम्भवात् । निराकारः कथं मद्यमन्धो योगिनां समीपमुपनयति ? पूर्वपेयमित्यस्य

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे वायु के समान निरन्तर गमनशील परिव्राजक, पवित्र गंगा आदि नदियों के जल का पान करने वाले आप हमारे समीप आश्रम में आकर उसे अलंकृत करें । त्यागशील होने के कारण सबके द्वारा प्रार्थित आपके हजारों वाहन हैं । उनके द्वारा आप आइये । आपके लिये तृप्तिकारक अन्न आदि मैं निवेदित करता हूँ । हे द्योतमान, जो आपके पूर्वाचार्यों के द्वारा संगृहीत ज्ञानामृत आप धारण करते हैं, उनकी प्राप्ति के लिये मैं साधक भक्त आपका आश्रय लेता हूँ । अथवा हे वायुवेग वाले पवनपुत्र, पवित्र रस का पान करने वाले आप हृदय को अलंकृत करें । हे सबके द्वारा काम्य. आपके हजारों निरन्तर संयुक्त ज्ञान-विज्ञान आदि सहज गुण हैं, उनके द्वारा हमें कृतार्थ करें । आपके संमुख तृप्तिकारक विविध भोग्य मैं हृदय से समर्पित करता हूँ, जो श्रीराम के प्रसाद से पूर्व में ही आपने धारण किये हैं । अतः वायुरूपी आपके लिये मैं नैवेद्य अर्पित करता हूँ । वायु शब्द से यहाँ समष्टि-प्राणात्मक हिरण्यगर्भ का भी ग्रहण किया जा सकता है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अविचारित-रमणीय ही है । शुचि शब्द का शुचिता अर्थ गौण है । निराकार

'पूर्वैर्योगिभी रक्षणीयं योगबलं दधिषे' इत्यपि तथाविधमेव, तादृशेऽर्थे शब्दस्याशक्तत्वात्। नह्यन्यस्य योगबलमन्यो धारयितुं शक्नोति ॥ ७ ॥

इन्द्र॑वायू इ॒मे सु॒ता उप॒ प्रयो॑भि॒राग॑तम्। इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि वा॒यव॑ इन्द्रवा॒युभ्यां॑ त्वै॒ष ते॒ योनिः॑ स॒जोषो॑भ्यां त्वा ॥ ८ ॥

'अपगृह्य पुनरिन्द्रवायू इतीति' (का० श्रौ० ९।६।७)। एकवारमर्धं गृहीत्वा ततः सन्ततधारातः पात्रं पृथक्कृत्य इन्द्रवायू इति मन्त्रेण तस्या एव धाराया गृह्णीयात्। ऐन्द्रीवायवी गायत्री मधुच्छन्दोदृष्टा। उपयामेति यजुःसहितो मन्त्रः। हे इन्द्रवायू, युष्मदर्थमिमे सोमाः सुता अभिषुताः। वां प्रयोभिरेतैः सोमरसरूपैरन्नैर्निमित्त-रूपैरुप समीपे युवामागतमागच्छतम्। प्रयुरित्यन्ननाम। यद्वा प्रयोभिः शीघ्रगामिभिरश्वैरागच्छतम्। प्रपूर्वस्य 'इण् गतौ' इत्यस्य शतृप्रत्यये तकारस्य छान्दसः सकारः। हि यस्मादिन्दवः सोमरसाः, वां युवामुशन्ति कामयन्ते। हे सोमरस, त्वमुपयामग्रहेण गृहीतोऽसि। वायवे वायुदेवतार्थमिन्द्रवायुभ्यामिन्द्रवायुदेवतार्थं त्वां गृह्णामीति शेषः। हे पात्र, खरस्यैकदेशः स्थानं तव योनिः। अतोऽत्र सजोषोभ्यां समानप्रीतिभ्यामिन्द्रवायुभ्यां त्वा सादयामीति शेषः। 'दशापवित्रे परिमृज्यैष ते योनिरिति सादनम्' इति दशापवित्रे गृहीतं ग्रहं परिमृज्य ग्रहस्य सादनं करोति। द्विदैवत्यग्रहाणां मध्ये ऐन्द्रवायवग्रहस्य प्राथम्यम्, 'वाग्वा एषा यदैन्द्रवायवः' इत्यादिना तित्तिरिणा बहुधा प्रपञ्चितत्वात्। शतपथे च तदेव स्पष्टीकृतम्—'अथापगृह्य पुनरानयति। इन्द्रवायू····त्वेति यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुस्तस्मादाह एष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वेति' (श० ४।१।३।१९)। पुनर्ग्रहणं विधत्ते—वायव्यग्रहणानन्तरमपच्छिद्य पुनरपीन्द्रवायव्यमानयति, गृह्णातीत्यर्थः। तत्र मन्त्रः—इन्द्रवायू इति। इन्द्रवाय्वोरेकस्मिन्नेव ग्रहे हविःस्वीकारादभिन्नत्वमुपचर्यते—यो वै वायुः स इन्द्रो यो वै इन्द्रः स वायुरिति।

अध्यात्मपक्षे -इन्द्रवायू, इन्द्रः परमात्मा रामः, वायुर्लक्ष्मणः, हिरण्यगर्भरूपत्वात्। परापरब्रह्मरूपौ परमेशहिरण्यगर्भौ वा। इमे सोमाः सुता अभिषुताः, सोमोपलक्षितानि बहूनि निवेदनीयानि नैवेद्यानि प्रस्तुतानि। प्रयोभिरुत्तमवाहनैरुपागतम् उपागच्छतम्। इन्दवः सोमप्रधानानि नैवेद्यानि वां युवामुशन्ति कामयन्ते। हे सोम,

---

तृप्तिकर अन्न को योगियों के समीप कैसे लाया जा सकता है ? ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र और वायु देवता ! तुम्हारे लिये यह सोम प्रस्तुत है। इस सोमरस रूप अन्न के पान के लिये हमारे समीप आइये। यह सोमरस आपकी प्रसन्नता की इच्छा रखता है। हे तृतीय ग्रह के सोमरस ! तुम वायु देवता के निमित्त उपयाम पात्र द्वारा ग्रहण किये गये हो। एक साथ विचरण करने वाले इन्द्र और वायु देवता के सन्तोष के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह इन्द्रवायु ग्रह तुम्हारा निवासस्थान है। इन्द्र और वायु देवता की प्रीति के लिये मैं तुम्हें इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ ८ ॥

भाष्यसार—'इन्द्रवायू' यह ऋचा भी ऐन्द्रवायव ग्रह के ग्रहण में विनियुक्त है। निरन्तर धारा से ग्रहण करते हुए आधे ग्रहण के बाद पात्र को अलग करके पुनः इस ऋचा से उसी धारा से ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।७) में निरूपित है। शतपथ ब्राह्मण आदि में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे इन्द्र तथा वायु, अर्थात् परमात्मा राम एवं हिरण्यगर्भात्मक लक्ष्मण, अथवा

तदुपलक्षितनैवेद्यसमूह, त्वम् उपयामेन अहिंसादियमसमूहसमीपवृत्तिना प्रेम्णा गृहीतोऽसि। वायवे हनूमते इन्द्रवायुभ्यां श्रीरामलक्ष्मणाभ्यां परमेशहिरण्यगर्भाभ्यां सजोषोभ्यां समानप्रीतिभ्यां त्वां समर्पयामीति शेषः। हे सोम, एष इन्द्रस्ते योनिः कारणम्। तदाराधनमेव तव सदुपयोगः—'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' इति।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्रवायू प्राणसूर्यसदृशौ योगस्योपदेष्टृभ्यासिनौ, हि यत इमे सुता निष्पन्नाः पदार्था इन्दवः सुखकारका जलादिपदार्थाः, इन्दुरित्युदकनामसु पठितम् (निघ० १।१२।८४)। वां युवामुशन्ति कामयन्ते। युवामेतैः प्रयोभिः पदार्थैः सहैवोपागतम् उपागच्छतम्। हे योगाभीप्सो, वायवे वायुगतिसिद्धये त्वमनेनाध्यापकेन उपयामगृहीतोऽसि योगस्य यमनियमैः सह। हे योगाध्यापक, एष योगस्ते तव योनिर्दुःखनिवारकं गृहमिवास्ति। इन्द्रवायुभ्यां विद्युत्प्राणवायुभ्यां तत्समानाभ्यां योगाकर्षणनिकर्षणाभ्यां जुष्टं प्रीतम्, तथा हे योगाभीप्सो, सजोषोभ्यामुक्तगुणाभ्यां जुष्टं त्वां चाहं वश्मि' इति। हिन्द्यां तु—आगतमित्यस्य 'अवगतम् अवगच्छतम्' इत्यर्थः कृतः। तत्सर्वमपि यत्किञ्चित्, श्रुतिसूत्रादिविरुद्धत्वात्, गौणार्थाश्रयणगौरवाच्च, प्राणसूर्यसादृश्यस्य योगोपदेष्टृभ्यासिनोरनिरूपणात्। कथञ्चित् सादृश्यं तु पतिपत्न्योरप्यस्त्येव। सुता निष्पन्नाः पदार्था इत्यपि निर्मूलमेव। प्रयोभिः कमनीयैरित्यपि चिन्त्यमेव। शिष्योऽध्यापकेन शिष्यत्वेनैव गृह्यते। यमनियमादयः किं शिष्यत्वेन गृह्यन्ते? अन्यथा कथं सहभावः। वायुवद् गत्यादिसिद्धिरपि वायुपदस्य नार्थः, तस्य तत्राशक्तत्वात्। विद्युत्प्राणाभ्यामाकर्षणनिकर्षणयोः कीदृशं सादृश्यमिति नोक्तम्। हिन्द्यां तु समाध्यारोहणावतारणाभ्यामित्युक्तम्। तदर्थमिन्द्रवायुपदप्रयोगस्य कियत् सार्थक्यमिति तु विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु ॥ ८ ॥

अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा। ममेदिह श्रुतꣳ हवम्। उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा ॥ ९ ॥

पर तथा अपर ब्रह्म रूपी परमेश एवं हिरण्यगर्भ, ये सोम आदि अनेक नैवेद्य प्रस्तुत हैं। आप उत्तम वाहनों के द्वारा आइये। सोम-प्रधान नैवेद्य आपकी कामना करते हैं। हे सोम आदि नैवेद्यसमूह, तुम अहिंसा आदि यमसमूह के समीप रहने वाले प्रेम के द्वारा गृहीत हो। वायुरूप हनुमान् के लिये, समान प्रीति वाले श्रीराम-लक्ष्मण के लिये अथवा परमेश एवं हिरण्यगर्भ के लिये तुमको समर्पित करता हूँ। हे सोम, परमात्मा ही तुम्हारा कारण है। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' इस वचन के अनुसार उसकी आराधना ही तुम्हारा सदुपयोग है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित संस्कृत एवं हिन्दी दोनों ही अर्थ श्रुति तथा सूत्र के वचनों से विरुद्ध होने के कारण और गौण अर्थों के ग्रहण से सदोष होने के कारण अग्राह्य हैं। प्राणसूर्यसदृशत्व का योगोपदेष्टा तथा योगाभ्यासी के रूप में निरूपण नहीं किया गया है। जैसे-तैसे सादृश्य तो पति एवं पत्नी का भी हो सकता है। सुत का अर्थ निष्पन्न पदार्थ करना अप्रामाणिक है। यम, नियम आदि क्या शिष्य के रूप में माने जाते हैं? वायु शब्द का 'वायु के समान गति आदि की सिद्धि' अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इस अर्थ में पद की शक्ति नहीं है। इन्द्रवायू शब्दों की व्याख्या हिन्दी में अध्यारोपण तथा अवतारण की गई है। इसके लिये इन्द्र एवं वायु शब्दों के प्रयोग की कितनी सार्थकता है, यह विद्वान् ही समझें ॥८॥

मन्त्रार्थ—हे मित्रावरुण! तुम्हारी प्रीति के निमित्त यह सोमरस प्रस्तुत है। इस यज्ञ में हमारे इस आह्वान का आप श्रवण करें। हे चतुर्थ ग्रह के सोमरस! तुम मित्रावरुण संज्ञक उपयाम पात्र में गृहीत हो, मित्रावरुण संज्ञक देवताओं की प्रीति के निमित्त तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ९ ॥

'मैत्रावरुणमयं वामिति' (का० श्रौ० ९।६।८)। तस्या एव सन्ततधाराया मैत्रावरुणपात्रे मैत्रावरुणदेवताकं सोममयं वामिति मन्त्रेण गृह्णीयात्। मित्रावरुणदेवत्या गायत्री गृत्समदद्दष्टा यजुरन्ता। हे मित्रावरुणौ, विभक्तेराकारः। हे ऋतावृधौ, ऋतस्य यज्ञस्य वर्धयितारौ, वां युवयोः प्रयोजनाय अयं प्रस्तुतः सोमः सुतोऽभिषुतः। तस्मादिह यज्ञे मम इद् एव ममैव बहूनां यजमानानां मध्ये ममैव हवमाह्वानं श्रुतं शृणुतम्। हे सोमरस, त्वमुपयामेन मैत्रावरुणग्रहपात्रेण गृहीतोऽसि। मित्रावरुणाभ्यामर्थे त्वां गृह्णामीति शेषः। शतपथे—'क्रतुदक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ। एतन्न्वध्यात्मᳬ स यदेव मनसा कामयत इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुरथ यदस्मै तत्समृद्ध्यते स दक्षो मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षो ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणोऽभिगन्तैव ब्रह्म कर्ता क्षत्रियः' (श० ४।१।४।१)। विधास्यमानग्रहदेवतां प्रशंसन् तस्यैन्द्रवायवानन्तर्ये कारणमाह—क्रतुदक्षौ ह वा इति। मित्रावरुणौ 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ७।३।२१) इति दीर्घः। अस्य यज्ञस्य समस्तस्य लोकस्य वा क्रतुदक्षौ मित्रावरुणौ, तस्मात् प्रशस्तौ। 'दक्षक्रतुभ्यां मैत्रावरुणम्' (तै० सं० १।५।४)। ऐन्द्रवायवग्रहस्तु वागात्मक इति पूर्वं प्रतिपादितम्। वाक् पुनर्मनोऽधीना, 'मनसा हि वाग्विधृता' (तै० सं० ६।१।७)। सङ्कल्पोत्साहौ च मनोऽधीनौ। ततो वागात्मकैन्द्रवायवानन्तर्यं दक्षक्रत्वात्मकमित्रावरुणदेवत्यस्य ग्रहस्येति युक्तमेव।

श्रूयते हि तथैव तैत्तिरीयके 'वायव ऐन्द्रवायवं दक्षक्रतुभ्यां मैत्रावरुणम्' (तै० सं० १।५।४)। द्विविधौ हि मित्रावरुणौ—आध्यात्मिकौ, आधिभौतिकौ च। तत्रोक्तावाध्यात्मिकौ। क्रतुदक्षयोरर्थं विवृणोति—इदं मे स्यादिति। इदं पुरोवर्ति मे स्यात्, इदं कुर्वीयेति यन्मनसाभिलषति स क्रतुः सङ्कल्पः। तत्सङ्कल्पितमस्मै लोकाय येन समृद्ध्यते स दक्षः, 'दक्ष वृद्धौ'। तावेव क्रमेण क्रतुदक्षौ। मित्र एव क्रतुः, वरुणो दक्षः। ब्रह्म ब्राह्मणजातिः, सैव मित्रो देवः, क्षत्रियजातिरेव वरुणो देवः। अभिगन्तैव अभिगमनशीलो ज्ञानशक्तियुक्तो ब्रह्म ब्राह्मणः, कर्ता क्रियाशक्तियुक्तः क्षत्रियः। उभयत्रापि ताच्छील्ये तृन्प्रत्ययः। यतो मित्रावरुणौ क्रतुदक्षशब्दाभिधेयज्ञानक्रियाशक्तिरूपौ, ब्रह्मक्षत्रे च ज्ञानक्रियाशक्तिमती, अत आधिभौतिकमित्रावरुणरूपत्वमनयोर्युज्यते। 'ते हैते अग्रे नानेवासतुः। ब्रह्म च क्षत्रं च ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्राद् वरुणात् स्थातुम्' (श० ४।१।४।२)। 'न क्षत्रं वरुणः। ऋते ब्रह्मणो मित्राद्यद्ध किञ्च वरुणः कर्म चक्रेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समानृधे' (श० ४।१।४।३)। ब्रह्मक्षत्रयोरुक्तमाधिभौतिकत्वमाख्यायिकया दृढीकुर्वन् ग्रहस्य द्विदेवत्यत्वमाह—ते हैते इति। अग्रे पूर्वं ते एते ब्रह्म च क्षत्रं च विभिन्ने अभूताम्। ततो विभेदानन्तरं मित्रात्मकं ब्रह्म वरुणात्मकेन क्षत्रेण विनापि स्वत एव स्थातुं शक्तमभूत्, तथा वरुणात्मकं क्षत्रं मित्रात्मकेन ब्रह्मणा विना स्वत एव स्थातुं न शक्तमभूत्। ततो वरुणं क्षत्रं यत् किञ्च कर्म चक्रे तत्सर्वं मित्रेण ब्रह्मणा अप्रसूतमननुज्ञातमनुपदिष्टमेवाकरोत्। तत् कृतं कर्म अस्मै क्षत्राय न समृद्धमभूत्, यस्मात् स्वत एव कृतं न समृद्धमतः स्थातुं न शक्तमभूत्। 'स क्षत्रं वरुणः। ब्रह्म मित्रमामन्त्रयाञ्चक्र उप मावर्तस्व सᳬसृजावहै पुरस्त्वा करवै त्वत्प्रसूतः कर्म करवा इति तथेति तौ समसृजेतां तत एष मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत्' (श० ४।१।४।४)। ततो वरुणात्मकं क्षत्रमशक्तं सन्मित्रात्मकं ब्रह्म आमन्त्रयाञ्चक्रे हे ब्रह्मन्, त्वं मामनुवर्तस्व, आवां संसृष्टौ भवाव संसृजावहै इति व्यत्ययेनात्मनेपदम्। त्वां पुरः करिष्यामि त्वयोपदिष्टमेव कर्म करिष्यामि। तथास्त्विति ब्रह्मण्यङ्गीकुर्वति तौ ब्रह्मक्षत्रात्मकौ मित्रावरुणौ संसृष्टावभूताम्। ततः संसर्गाद्धेतोरेवायं ग्रहो मित्रावरुणार्थं द्विदेवत्योऽभवत्।

भाष्यसार—सोमरस की उसी सतत धारा से मैत्रावरुण पात्र में मैत्रावरुण ग्रह का ग्रहण 'अयं वाम्' इस ऋचा के

'सो एव पुरोधा। तस्मान्न ब्राह्मणः सर्वस्येव क्षत्रियस्य पुरोधां कामयेत सꣳह्येवैतौ सृजेते सुकृतं च दुष्कृतं च नो एव क्षत्रियः सर्वमिव ब्राह्मणं पुरोदधीत सꣳ ह्येवैतौ सृजेते सुकृतं च दुष्कृतं च स यत्ततो वरुणः कर्म चक्रे प्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण सꣳ हैवास्मै तदानृधे' (श० ४।१।४।५)। ततो वरुणेन संसृष्टत्वाद् ब्राह्मण-जात्यात्मको मित्रश्च क्षत्रजात्यात्मकस्य वरुणस्य पुरोहितोऽभूत्। अत्र ब्रह्मक्षत्रयोर्विभागे क्षत्रस्य सामर्थ्याभाव-मुपन्यस्य पुनस्तदुपगमाय तयोः संसर्गोऽभिहितः। उत्साहश्च सङ्कल्पाभावे न शक्नोति क्रियां निष्पादयितुम्, अतोऽनयोस्तत्सादृश्यलाभात्तदात्मकमित्रावरुणयोराधिभौतिकरूपत्वमुपपद्यत इति भावः। यतोऽत्र मित्रोऽनुरूपः पुरोहितोऽभूत्, वरुणश्चानुरूपो राजा, अतो लोकेऽपि पुरोहितेन राज्ञा चानुरूपाभ्यामेव भवितव्यमिति दर्शयति—सꣳ ह्येवैताविति। यस्मादनुरूपावेतौ ब्राह्मणक्षत्रियौ सुकृतं दुष्कृतं च संसृजेते संसर्जयतः, सृजिरत्रान्तर्भावितण्यर्थः, तस्माद् ब्राह्मणोऽविशेषेण सर्वस्य क्षत्रियस्य पुरोधां पुरोहितत्वं न कामयेत, किन्तु स्वानुरूपं सुकृतिनमेव क्षत्रियं कामयेतेत्यर्थः। पुरोधामिति दधातेः सम्पदादिलक्षणो भावे क्विप्। क्षत्रियोऽप्येव-मनुरूपमेव ब्राह्मणं पुरोदधीत पुरोहितं कुर्यात्। प्रकृतेऽनुरूपपुरोहितस्य मित्रस्य संसर्गेण प्राप्तं फलमाह—सꣳ हैवास्मै तदानृधे इति। ततः संसर्गानन्तरं स वरुणो यत्कर्म चक्रे तन्मित्रेण ब्रह्मणोपदिष्टमिति वरुणस्य समृद्धं कर्माभूत्। 'तत्तदवक्लृप्तमेव। यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्याद्यद्यु राजानं लभेत समृद्धं तदेतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं यत् क्षत्रियो ब्राह्मणो भवति यद्ध किञ्च कर्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समृद्ध्यते तस्मादु क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेनोपसर्तव्य एव ब्राह्मणः सꣳ हैवास्मै तद् ब्रह्मप्रसूतं कर्मर्ध्यते' (श० ४।१।४।६)। ब्राह्मणस्य स्वाभाविकज्ञानशक्तिसम्भवात् क्षत्रियस्य तदभावात् क्षत्रियेण ब्राह्मणोऽनुसरणीय इत्याह—तत्तदवक्लृप्तमेवेति। यस्माद् ब्राह्मणस्य स्वाभाविकज्ञानशक्तिमत्तया अन्यत उपदेशापेक्षा नास्ति, तस्माद् ब्राह्मणो यदि राजन्यो भवेत्, अथवा पुरोहितो भूत्वा राजानं लभेतेति यत् तदवक्लृप्तमेव। तेन कृतं तत्कर्म समृद्धं भवति। क्षत्रियो ब्राह्मणो भवतीत्येतदुक्तम्। ब्राह्मणो यत्किञ्चित्कर्म कुरुते तन्मित्रात्मकेन ब्रह्मणा नोपदिष्टं स्यात्, तथा च तदस्मै न समृद्धं भवति। क्षत्रियस्य पुरोहितकृत्यज्ञानसम्भवेऽपि स्वाभाविकज्ञानाभावात् तत्कर्म न समृद्धं भवति। ब्राह्मणस्य प्रजापतेर्मुखत उत्पन्नत्वादुपदेशकत्वं स्वाभाविकम्। क्षत्रियस्य बाहुभ्यामुत्पन्नत्वात् कर्तृत्वं स्वाभाविकम्। तथा च श्रूयते—'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' इत्यारभ्य 'ब्राह्मणो मनुष्याणामजः पशूनां तस्मात्ते मुख्या मुखतोऽसृज्यन्त' (तै० सं० ७।१।१), 'उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत' इत्यारभ्य 'राजन्यो मनुष्याणाम्' (तै० सं० ७।१।१)। अन्यत्राप्याम्नायते—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः' (वा० सं० ३१।११)। तस्मात् पुरोहितकृत्यविदापि क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेन ब्राह्मण एवोपसरणीयः। मूले 'यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः' इति पाठोऽस्ति, तथैव क्षत्रियोऽब्राह्मण इत्यपि पाठः स्यात्, तदा तु यदि ब्राह्मणोऽराजन्यो राजन्यरहितोऽपि भवेत्, तदा तदवक्लृप्तमेव। यदि ब्राह्मणो राजानं लभेत्तदा समृद्धं तज्जीवनं भवेत्, तथैव यदि क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति, ब्राह्मणविधुरो भवेत् तदा तदनवक्लृप्तमेव। यतो यस्माद् ब्रह्मरहितं क्षत्रं यत्कर्म कुरुते, तद्ब्राह्मणानुपदेशान्न समृद्ध्यते। 'अथातो गृह्णात्येव। अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा ममेदिह··· मित्रावरुणाभ्यां त्वेति' (श० ४।१।४।७)। व्याख्यातो मन्त्रः।

अध्यात्मपक्षे—हे मित्रावरुणौ ब्राह्मणक्षत्रियौ रामपरशुरामौ, युवाभ्यामयं दृश्यमानः सोमः सोमोपलक्षितो भोग्योऽन्नभूतो मम स्वात्मा च वां युवाभ्यां सुतो युवयोर्भोग्यत्वेनोपकल्पितः, युवां बहूनामाह्वातॄणां मध्ये ममेन्ममैव हवमाह्वानं श्रुतं शृणुतम्। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि प्रेमगृहीतोऽसि, मित्रावरुणाभ्यां त्वामुपकल्पयामीति।

द्वारा किया जाता है। यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।८) में वर्णित है। शतपथ एवं तैत्तिरीय श्रुतियों के अनुसार याज्ञिक अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे ब्राह्मण एवं क्षत्रिय, परशुराम तथा राम! आप दोनों के लिये ही यह

दयानन्दस्तु—'हे मित्रावरुणा प्राणोदानाविव वर्तमानौ ऋतावृधावध्यापकाध्येतारौ, वां युवयोरयं सोमो योगैश्वर्यवृन्दः सुतो निष्पादितः। युवामिह मम हवं श्रुतम्। मम विद्यायोगप्रियस्य इद् इव इहास्मिन् योगविद्याग्राहके व्यवहारे हवं स्तुतिसमूहं श्रुतं शृणुतम्। मित्रावरुणाभ्यां सह वर्तमानं त्वां गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तश्रुतिसूत्रादिविरोधात्। मित्रावरुणा इति पदेनाध्यापकाध्येतृग्रहणस्य निर्मूलत्वात्। सोमपदेन योगैश्वर्यवृन्दग्रहणमपि स्वातन्त्र्यमेव, निर्मूलत्वात् ॥ ९ ॥

रा॒या व॒यᳬ स॑स॒वाᳬसो॑ मदेम ह॒व्येन॑ दे॒वा यव॑सेन॒ गावः॑। तां धे॒नुं मि॑त्रावरुणा यु॒वं नो॑ वि॒श्वाहा॑ धत्त॒मन॑पस्फुरन्तीमे॒ष ते॒ योनि॑रृ॒तायु॒भ्यां॑ त्वा ॥ १० ॥

'पयसा श्रीणात्येनं कुशावन्तर्धाय राया वयमिति' (का० श्रौ० ९।६।९)। ग्रहणानन्तरमेनं मैत्रावरुणं ग्रहं कुशाभ्यामन्तर्धाय लौकिकेन दुग्धेन मिश्रयेत्। श्रपणं च द्रव्यान्तरसंसर्गः। एवं कुशान्तर्धानं सर्वत्र श्रपणेषु। मित्रावरुणदेवत्या त्रिष्टुप् त्रसदस्युदृष्टा। तामिति तदः श्रवणादिह यदोऽध्याहारः। मन्त्रद्रष्टा कामदुघां प्रार्थयते—हे मित्रावरुणौ, हव्येन देवा इन्द्रादयो यथा हविषा संभक्ता हृष्यन्ति, यथा च यवसेन घासेन गवाह्निकादिना गावो हृष्टा भवन्ति, तथा च वयं यया राया येन धेनुरूपेण धनेन ससवांसः संभक्ताः, 'वन षण सम्भक्तौ' क्वसौ रूपम्, सन्तो मदेम हृष्टा भवाम। युवं युवां तां धेनुं धत्तं नोऽस्मभ्यं धत्तं दत्तं युवामिति, 'प्रथमायाश्च' (पा० सू० ७।२।८८) इत्यात्वं न भवति, भाषायामिति वचनात्। विश्वाहा विश्वानि च तान्यहानि चेति कर्मधारयः, सर्वदेत्यर्थः। कीदृशीं धेनुम्? अनपस्फुरन्तीम्, स्फुरतिर्गत्यर्थः, अपेत्यापेत्य पुरुषान्तरात् पुरुषान्तरं गच्छति सा अपस्फुरन्ती, तथा न भवतीत्यनपस्फुरन्ती, तामनन्यगामिनीं दत्तमित्यर्थः। विश्वाहेति सततं दानक्रियार्थमिति। गृहीतसोमस्य खरे सादनं विधत्ते—एष ते योनिरृतायुभ्यामिति। ऋतशब्देन मित्रोऽभिधीयते, आयुशब्देन वरुणः, 'ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्म ह्यृतं वरुण एवायुः संवत्सरो हि वरुणः संवत्सर आयुः' (श० ४।१।४।१०) इति श्रुतेः। ताभ्यामृतायुभ्यां मित्रावरुणाभ्यां त्वां सादयामीति शेषः। यद्वा ऋतं सत्यं यज्ञं वा कामयेते तौ ताभ्यामृतयुभ्याम्, संहितायां दीर्घः। ऋतं यज्ञं वा इच्छद्भ्यां मित्रावरुणाभ्यामित्यर्थः, पदकारेण ऋतयुभ्यामिति पदपाठस्य कृतत्वात्। अत एव ऋतं सत्यमिच्छद्भ्यां मित्रावरुणाभ्यामिति काण्वसंहिताव्याख्यायां सायणाचार्यः।

दृश्यमान सोम आदि तथा मेरी भोग्य स्वात्मा भी आपके सामने नैवेद्य के रूप में प्रस्तुत है। बहुत से पुकारने वालों के बीच आप मेरा ही आह्वान सुनें। हे सोम, तुम प्रेम के द्वारा संगृहीत हो। राम एवं परशुराम रूपी मित्रावरुण के लिये तुमको समर्पित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ श्रुति एवं सूत्र के वचनों से विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है। मित्र तथा वरुण शब्दों से अध्यापक तथा अध्येता यह अर्थ ग्रहण करना भी अप्रामाणिक है। सोम शब्द से योगैश्वर्यसमूह अर्थ ग्रहण करना भी कोई प्रमाण न होने के कारण स्वेच्छाचारिता ही है ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—जिस गौ के घर में होने से हम धन से सम्पन्न होकर प्रसन्न होते हैं, देवगण हवि का पान करके जैसे प्रसन्न होते हैं, गौ जैसे घास खाकर प्रसन्न होती है, हे मित्रावरुण देवताओं ! आप हमारी उसी प्रसन्नता के लिये कभी भी दूसरे पुरुष के निकट न जाने वाली धेनु को सदा प्रदान करें। हे ग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है। मित्रावरुण देवता की सन्तुष्टि के लिये तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ १० ॥

भाष्यसार—मैत्रावरुण ग्रह के ग्रहण के बाद दुग्ध से उसका संमिश्रण 'राया वयम्' इस ऋचा के द्वारा किया

शतपथे—'तं पयसा श्रीणाति। तद्यत्पयसा श्रीणाति वृत्रो वै सोम आसीत्तं यत्र देवा अघ्नंस्तं मित्रमब्रुवंस्त्वमपि हिꣳसीति स न चकमे सर्वस्य वा अहं मित्रमस्मि न मित्रꣳ सन्नमित्रो भविष्यामीति तं वै त्वा यज्ञादन्तरेष्याम इत्यहमपि हन्मीति होवाच तस्मात् पशवोऽपाक्रामन् मित्रꣳ सन्नमित्रोऽभूदिति स पशुभिर्व्यार्ध्यत तमेतद्देवाः पशुभिः समार्धयन् यत् पयसाऽश्रीणंस्तथो एवैनमेष एतत्पशुभिः समर्धयति यत्पयसा श्रीणाति' (श० ४।१।४।८)। गृहीतस्य सोमरसस्य पयसा मिश्रणं विधत्ते—तं पयसेति। श्रीणाति मिश्रयति। श्रीणाति-मिश्रणार्थः, धातूनामनेकार्थत्वात्। तत्राख्यायिकया हेतुमाह—वृत्रो नामासुरः सोमो बभूव। तं वृत्रं यदा देवा अवधिषुस्तदा त्वमपि जहीति मित्रमब्रुवन्। एवमुक्तः स तं हन्तुं नाभिललाष। तस्यायमाशयः—अहं सर्वस्य मित्रम् इष्ट एव भवामि। तादृशोऽहमपकारेण शत्रुर्न भविष्यामीति। एवं तर्हि त्वां यज्ञे भागहीनं करिष्याम इति देवैरुक्तः स मित्रो भागलोभादहमपि हन्मीत्यङ्गीचकार। ततोऽस्यामित्रत्वाद् पशुष्वपगतेषु स्वयं पशुविहीनोऽभवत्। ततो देवा एतद्भागं पयसा श्रीत्वा एनं पशुभिः समृद्धमकुर्वन्। अत इदानीमपि पयसा सोमरसस्य मिश्रणेनैव एनं मित्रमेव पशुभिः समर्द्धितवान् भवति। 'तदाहुः। शश्वद्ध नैव चकमे हन्तुमिति तद्यदेवात्र पयस्तन्मित्रस्य सोम एव वरुणस्य तस्मात् पयसा श्रीणाति' (श० ४।१।४।९)। प्रकारान्तरेण मिश्रणं समर्थयते - तत् तस्मिन् मित्रविषये याज्ञिका वदन्ति। पुनः पुनर्देवैरुक्तोऽपि मित्रः सर्वथा सोमं हन्तुं नैव चकमे, यतस्तस्मादत्र ग्रहे यत्पयस्तदेव मित्रस्य भागः, सोमस्तु वरुणस्यैव भागः। अत एनं ग्रहं मित्रार्थं पयसा मिश्रयेत्। 'स श्रीणाति। राया वयꣳ.... ऋतायुभ्यां त्वेति सादयति स यदाहर्तायुभ्यां त्वेति ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यृतं वरुण एवायुः संवत्सरो हि वरुणः संवत्सर आयुस्तस्मादाहैष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वेति' (श० ४।१।४।१०)। मन्त्रो व्याख्यातः। ऋतायुभ्यामित्येतत्पदं श्रुतिर्व्याचष्टे—स यदाहेति। ऋतं सत्यं तदात्मकं ब्रह्म हि प्रसिद्धम्। ब्रह्म च मित्रमिति प्रागुक्तम्। ब्रह्मो ह्यृतम्। द्विरुक्तिः शाखान्तरप्रसिद्ध्या चानुभवप्रसिद्ध्या चोपपद्यते। वरुण एवायुः, आयुः प्राणिनां जीवनकालः, तदात्मकः संवत्सरः, वरुणश्च संवत्सररूपः। तथा च ऋतायुःशब्दाभ्यां मित्रावरुणावभिधेयौ। तस्मान्मन्त्रे ऋतायुप्रयोगो युज्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे मित्रावरुणौ श्रीरामपरशुरामौ, देवा यथा हव्येन हविषा, गावो यथा यवसेन, तथा वयं यया राया भक्तिब्रह्मविद्याधनेन ससवांसः सम्पन्ना मदेम, तां धेनुं कामधेनुमेवाभीष्टदोग्ध्रीं भक्तिं ब्रह्मविद्यां नोऽस्मभ्यं विश्वाहा सर्वदा धत्तम्। कीदृशीं ताम्? अनवस्फुरन्तीमनन्यगामिनीं स्थिरामित्यर्थः। हे सोम, एष ते योनिः कारणम्। त्वाम् ऋतायुभ्याम् ऋतं सत्यमिच्छद्भ्यां ताभ्यां मित्रावरुणाभ्यां त्वा त्वामुपकल्पयामि।

दयानन्दस्तु—'हे ससवांसः संविभक्ता देवाः, वयं यवसेन गाव इव, हव्येन ग्रहीतव्येन राया धनेन मदेम हृष्येम। हे मित्रावरुणौ प्राणवत्सखायौ उत्तमौ जनौ, युवं युवां नोऽस्मभ्यं विश्वाहा विश्वान्यहान्यनपस्फुरन्तीं

जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।९) में यह याज्ञिक विनियोग वर्णित है। शतपथ आदि श्रुतियों के आधार पर सायणाचार्य आदि ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ प्रतिपादित किया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र की अर्थसंगति इस प्रकार है – हे मित्रावरुणात्मक श्रीराम तथा परशुराम, जिस प्रकार देवगण हविर्द्रव्य से तथा गायें घास आदि से तृप्त होती हैं, उसी प्रकार हम लोग जिस भक्ति, ब्रह्मविद्यारूपी धन के द्वारा सम्पन्न होकर आनन्दित हों, उस कामधेनु के समान अभीष्ट फल प्रदान करने वाली भक्ति (ब्रह्मविद्या) को हमारे लिये सर्वदा सम्पादित करें, वह अनन्यगामिनी, अर्थात् स्थिर हो। हे सोम, यह तुम्हारा कारण है। तुमको सत्य के अभिलाषी मित्रा-वरुण के लिये प्रस्तुत करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ परस्पर असम्बद्ध होने के कारण बलात् संयोजित ही है। संस्कृत में

विज्ञापयित्रीमिव योगविद्याजन्यां वाचं तां धेनुं धयन्त्यानन्दरसमनयेति धेनुस्तां धत्तम्। हे यजमान, यस्यैष ते विद्याबोधो योनिरस्ति, अत ऋतायुभ्याम् आत्मन ऋतमिच्छद्भ्यामिव त्वा त्वा वयमाददामहे' इति, तत्तु धाष्टर्यमेव, विप्रतिषिद्धत्वात्। संस्कृते ससवांसः संविभक्ता इत्युक्तम्, हिन्द्यां तु सदसद्विवेक्तारावित्युक्तम्। 'मित्रावरुणौ' इत्यस्य 'प्राणवत्सखायौ' इत्यर्थे किं बीजम्? द्विवचनं च किमर्थकम्? नहि मित्रावरुणशब्दयोस्तत्र शक्तिः, प्रमाणाभावात्। उत्तमौ जनौ नहि द्वावेव भवतः। युवां सर्वदा सम्यग् ज्ञानदात्रीं तां वाणीमस्मदर्थं धत्तमिति को वक्ति? न जीवः, यतोऽन्ययोस्तथाभूताया वाण्या धारणेन नान्यस्योपकारः। न चेश्वरः, तस्याप्तकामत्वात्। न चेश्वरो यवसेन गाव इव राया माद्यति। यजमानोऽयं कथमागतः, तस्याप्रसक्तत्वात्। 'ऋतायुभ्यां सहितं वयमाददामहे' अत्र ऋतायुभ्यामित्यनेन सत्यव्यवहारकामयितॄणां ग्रहणं चेत्, तत्र द्विवचनस्य किं स्वारस्यम्? ताभ्यां सहितं त्वां वयं स्वीकुर्म इत्यत्र के स्वीकर्तारः? केन किं कस्य फलमिति न किमपि स्पष्टम्॥ १०॥

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा॥ ११॥

'आश्विनं गृह्णात्यन्वारब्धे वा या वामिति' (का० श्रौ० ९।७।७)। हविर्धानं प्रविश्य द्रोणकलशात् पूतभृतो वा यजमानेऽन्वारब्धेऽनन्वारब्धे वा परिप्लवया या वां कशेत्याश्विनपात्र आश्विनसंज्ञं ग्रहं सोमरसं गृह्णीयात्। हे अश्विनौ, वां युवयोर्या कशा वाक्, कशेति वाङ्नामसु पठितम्, काशयति प्रकाशयति वाङ्मयमिति कशा वाक्। कीदृशी सा? मधुमती, मधु सर्वमोदहेतुत्वाद् ब्रह्म, तत्प्रतिपादकमधुब्राह्मणोपनिषत्प्रशंसायुक्ता। पुनः किंभूता? सूनृतावती, शोभना प्रिया ऋतावती सत्यवती च या वाक् सा सूनृतावती प्रियसत्यवचनोपेता, तया वाचाऽस्मदीयं यज्ञं मिमिक्षतं सेक्तुमिच्छतं वा। 'मिह सेचने' इत्यस्य सन्नन्तस्य रूपम्। यज्ञं सम्पादयतमित्यर्थः। आश्विनौ हि यज्ञे अध्वर्यू। हे ग्रहगतसोमरस, त्वमुपयामेन दारुपात्रेण गृहीतोऽसि, अश्विभ्यामर्थे त्वां गृह्णामीति शेषः। हे ग्रह, एष ते योनिः स्थानम्। माध्वीभ्यां मधुब्राह्मणाध्येतृभ्यामर्थे त्वां सादयामीति शेषः। मधुब्राह्मणमधीयाते तौ माध्व्यौ ताभ्याम्, 'दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधुनाम ब्राह्मणमुवाच' (श० ४।१।५।१८) इति श्रुतेः।

शतपथे—'श्रोत्रꣳ ह वा अस्याश्विनस्तस्मात् सर्वतः परिहारं भक्षयति सर्वतो ह्येनेन श्रोत्रेण शृणोति यत्र वै भृगवो वाङ्गिरसो वा स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत तच्च्यवनो वा भार्गवश्च्यवनो वाङ्गिरसस्तदेव जीर्णिः कृत्यारूपो

'ससवांसः' का अर्थ 'संविभक्त' कहा गया है, तो हिन्दी में 'सत् असत् का विवेचक' बताया गया है। 'मित्रावरुणौ' शब्द का अर्थ 'प्राणवत् सखा' करने में क्या प्रमाण है? द्विवचन का प्रयोग क्यों किया गया? उत्तम जन दो ही नहीं होते। घास से गायों की भाँति ईश्वर धन की उपलब्धि से हर्षित नहीं होता॥ १०॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों! आपकी प्रकाश करने वाली ब्रह्मवती वाणी ब्राह्मण और उपनिषद् की प्रशंसा से युक्त है, प्रिय और सत्यता से युक्त है। उस वाणी से इस यज्ञ को सींच कर पूर्ण करो। हे पंचम ग्रह! तुम अश्विनीकुमारों की प्रीति के लिये इस उपयाम पात्र में रखे गये हो। हे अश्विग्रह! यह तुम्हारा स्थान है, मधुमय मन्त्र-ब्राह्मण पढ़ने वाले अश्विनीकुमारों के निमित्त मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ॥ ११॥

भाष्यसार—'या वां कशा' इस मन्त्र से आश्विन पात्र में आश्विन ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक

जहे' (श० ४।१।५।१) इत्युपक्रम्यानेकाभिः कण्डिकाभिराश्विनस्य ग्रहस्य श्रोत्रात्मना स्तुतिरुक्ता। अस्य यज्ञस्य आश्विनः श्रोत्रमिति प्रसिद्धम्। 'श्रोत्रादाश्विनम्' (तै० सं० १।५।४)। श्रोत्रं सर्वतो ग्राहकत्वात् तदात्मकमाश्विनं सर्वतः परिहृत्य भक्षयेत्। तत्राख्यायिका—पुरा भृगूणामङ्गिरसां वा स्वर्गगमने भार्गव आङ्गिरसो वा जीर्णः कृत्यारूपोऽभिचारदेवतारूपः स्वर्गारोहणसमये च्युतस्तैस्त्यक्तोऽभूत्। तदा स्वकीयप्रजाभिर्भुवं चरतः शर्यातेस्तन्नाम्नो राज्ञः शिबिरे निविष्टे तत्कुमारा अनर्थभ्रान्त्या एनं लोष्टैः पिपिषुः। ततः क्रुद्धेन तेनोन्मादिताः परस्परमयुध्यन्त। ततः शर्यातिः किमिदं प्राप्तमिति विचार्य गोपालानविपालांश्च अप्राक्षीत्, भवतां मध्ये कश्चित् किमपि दृष्टवानिति। तन्मुखात्कुमाराणां वृत्तान्तं श्रुत्वा च्यवन इत्यजानात्। ततः स रथं सज्जीकृत्य सुकन्यामादाय ऋषिसमीपं गत्वा अज्ञानेन त्वामहिंसिषम्, नमस्तेऽस्तु, अनया कन्यया तवापराधमपनयामि, मदीयो वर्गः पर्यवस्थितो भवत्वित्युक्ते तदनुग्रहात्तथाऽजनिष्ट। ततः प्रभृति शर्यातिरन्यहिंसाविषये भीतस्तदनुकूलमुद्योगमकरोत्। तदानीमेव भुवं विचरन्तौ अश्विनौ इमां कन्यामुपेत्य तस्यां मिथुनं मैथुनभावमीषाते। च्यवनस्तु तन्न विवेद। ताभ्यां पत्यौ अरुचिमुखानुसरणं ब्रुवद्भ्यामुक्ता नैतं जीवन्तं हातुं युक्तमित्युक्तवती। तत एतज्ज्ञातवता महर्षिणा पृष्टा सर्वमकथयत्। स उवाच यदि तावागत्य पुनरपि ब्रूतं तदैवं ब्रूहि—युवामसम्पूर्णौ असमृद्धौ, अथापि मदीयं पतिं निन्दथ। केन कारणेन आवामेवं बभूविवेति पृष्टे मदीयस्य पत्युर्यौवने कृते सति वक्ष्यामीति, सा तथैवोक्तवती। ततस्तौ तदिष्टप्राप्त्यै कस्मिंश्चिद् ह्रदे मज्जनमुपायं प्रदर्श्य पुनरात्मवैकल्यमप्राष्टाम्—'तौ होचतुः। एतꣳ ह्रदमभ्यवहर स येन वयसा कमिष्यते तेनोदेष्यतीति तꣳ ह्रदमभ्यवजहार स येन वयसा चकमे तेनोदेयाय' (श० ४।१।५।१२)। ताभ्यामात्मवैकल्ये पृष्टे ऋषिरेवोवाच—कुरुक्षेत्रेऽमी देवा यज्ञं तन्वते वां यज्ञभागरहितौ कुर्वन्ति। तेनोक्तं भवतोर्वैकल्यमिति। तौ प्रेयतुः, ततस्ताभ्यां स्तुते बहिष्पवमाने (श० ४।१।५।१३)। बहिष्पवमानस्तोत्रानन्तरं देवानगमताम्, आवां भवत्समीपे ह्वयध्वमित्यवोचताम्। भवतोश्चिरं मनुष्येषु सुसंसृष्टत्वाद् भिषक्त्वाच्च नोपह्वयिष्याम इति देवैरुक्ते शिरोहीनेन यज्ञेन यजध्वमित्यूचतुः। कथं विशिरस्त्वमिति तैः पृष्टे तान् उपह्वयध्वं पश्चाद् वक्ष्याव इति ताभ्यामुक्तम्। ततस्ताभ्यां ग्रहमगृह्णन्। तावध्वर्यू भूत्वा यज्ञस्य शिरः प्रत्यदधाताम्। शिरसः प्रतिधानप्रकारस्तु प्रवर्ग्यमन्त्रब्राह्मणे स्पष्टः। 'ताभ्यामेतमाश्विनं ग्रहमगृह्णंस्तावध्वर्यू यज्ञस्याभवतां तावेतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्....तस्मादेष स्तुते बहिष्पवमाने ग्रहो गृह्यते स्तुते हि बहिष्पवमाने आगच्छताम्' (श० ४ १।५।१५)।

ग्रहस्य कालं विधत्ते—'तौ होचतुः। मुख्यौ वा आवां यज्ञस्य स्वो यावध्वर्यू इह नाविमं पुरस्ताद् ग्रहं पर्याहरताभि द्विदेवत्यानिति। ताभ्यामेतं पुरस्ताद् ग्रहं पर्याजह्रुरभि द्विदेवत्याँस्तस्मादेष दशमो ग्रहो गृह्यते तृतीय एव वषट्क्रियतेऽथ यदाश्विनावितीमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीदꣳ सर्वमाश्नुवातां पुष्करसृजावित्यग्निरेवास्यै पुष्करमादित्योऽमुष्यै' (श० ४।१।५।१६)। तौ होचतुः—अध्वर्युत्वेनावां ग्रहस्य मुख्यौ। आवां द्विदेवत्यानभिलक्ष्यावयोर्ग्रहं पूर्वमेव समर्पयत इत्युक्ते देवास्तथैवान्वतिष्ठन्। द्विदेवत्यानिति बहुवचनं प्रसिद्धयपेक्षया। अतः पश्चाद्दशमो गृह्यमाणोऽपि द्विदेवत्यानां तृतीय एव सन् हूयते। अश्विनोरश्विनामप्राप्तिं दर्शयति—अथेति। अश्विनौ इति यन्नाम तत्कथमिति प्रश्ने इमे दृश्यमाने द्यावापृथिव्यौ साक्षादश्विनौ देवौ। द्यावापृथिव्यौ कृत्स्नं जगद् व्याप्नुतोऽतस्तदात्मकयोरश्विनोरपि व्यापकत्वादश्वित्वम्।

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।७।७) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ तथा आख्यायिका आदि उपदिष्ट हैं।

पुष्करस्रजौ अश्विनौ। अग्निरेवास्यै पृथिव्याः पुष्करमादित्योऽमुष्यै दिवः। 'अथातो गृह्णात्येव। या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती''''त्वेति सादयति तं वै मधुमत्यर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यां त्वेति सादयति तद्यन्मधुमत्यर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यां त्वेति सादयति' (श० ४।१।५।१७)। अथात इत्यनेन बहिष्पवमानस्तोत्रानन्तर्यं द्योत्यते। ननु मैत्रावरुणानन्तरपाठात्तदानन्तर्यमेवाथशब्दार्थोऽस्त्विति चेन्न, स्तुते बहिष्पवमाने दशमो गृह्यत इति श्रुत्या तथा विहितत्वात्। ननु यथा श्रुतिः क्रमबोधे प्रमाणं तथा पाठोऽपि, 'समिधो यजति' (तै० सं० २।६।१।१) इत्यादौ पाठस्य क्रमबोधप्रमाणत्वेनाङ्गीकारात्, तथा सत्युभयोः प्रमाणयोः समबलत्वात् कदाचिन्मैत्रावरुणग्रहणानन्तरम्, कदाचिद् बहिष्पवमानस्तोत्रानन्तरमित्यैच्छिकः क्रमोऽस्तु ? इति चेत्तदपि न युक्तम्, पाठस्यान्यथानुपपत्त्या क्रमविधायकत्वे श्रुतिर्सामर्थ्यादेव विधायकत्वेन प्रत्यक्षत्वेन प्राबल्यात्। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। मधुमत्यर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यां त्वेति सादयतीति ग्रहणसादन-मन्त्रविधानम्। ग्रहण-सादनयोरुभयोरपि मधुशब्दप्रयोगस्याभिप्रायमाह—दध्यङ् ह वेति। 'दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणः। मधुनाम ब्राह्मणमुवाच तदेतयोः प्रियं धाम तदेवैनयोरेतेनोपगच्छति तन्मधुमत्यर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यामिति सादयति' (श० ४।१।५।१८)। तद् मधुब्राह्मणमनयोः प्रियं धाम स्थानम्। तेन मधुशब्दप्रयोगेण तदेव सम्पादितं भवति। तानि वा एतानीति (श० ४।१।५।१९) द्विदेवत्यपात्राणां लक्षणान्युक्तानि। श्लक्ष्णानि स्निग्धानि। रास्नावमैन्द्रवायवं पात्रम्। रास्ना रशना, परितः स्रगित्यर्थः। मत्वर्थीयो वकारः। द्विदैवत्यसिद्धये द्वैरूपं कार्यम्। अजकावम्, अजकाशब्देन अजागलस्तनो विवक्षितः, तद्युक्तम्। औष्ठम् ओष्ठाकार-सहितम्, अश्विनोर्मुखत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्विना, तुरीयहिरण्यगर्भरूपत्वाद् व्यापकौ अश्विनाविव परमसुन्दरौ रामलक्ष्मणौ या वां युवयोरैकात्म्याद् मधुमती माधुर्यगुणोपेता सूनृतावती प्रियसत्ययुक्ता कशा वागस्ति, तया ताभ्यां जातावेकवचनम्, उभयोरैकात्म्याद् वा। यज्ञं कर्ममयमुपासनामयं ज्ञानमयं वा मिमिक्षतं निष्पादयतम्। हे सोम, समर्पणीयान्नादिलक्षणनैवेद्य, उपयामेन प्रेम्णा गृहीतोऽसि। अश्विभ्यां श्रीरामलक्ष्मणाभ्यां त्वां गृह्णामि। एष ते योनिः स्थानम्। माध्वीभ्यां त्वां सादयामि। मध्वेव माध्वी, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्। ततो ङीष्। यद्वा मध्वस्यास्तीति मध्वम्, तस्माद् मत्वर्थीय इकारः। यद्वा मध्वेव माध्वी, स्वार्थेऽञ्। मधुमद्भ्यामित्यर्थ इति भट्टभास्करः।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विना सूर्यचन्द्रवत्प्रकाशमानौ योगाध्येत्रध्यापकौ, या वां मधुमती सूनृतावती कशा, तया यज्ञम् ईश्वरसङ्गापादनयोगं मिमिक्षतं सेक्तुमिच्छतम्। हे योगमभीप्सो ! त्वमुपयामगृहीतोऽसि तवैव योगो

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—तुरीय हिरण्यगर्भ रूप होने के कारण व्यापक अश्विनियों की भाँति हे अत्यन्त सुन्दर रामलक्ष्मण ! आप दोनों की जो माधुर्यगुण से परिपूर्ण तथा प्रिय सत्य से युक्त वाणी है, उसके द्वारा कर्मात्मक, उपासनामय अथवा ज्ञानमय यज्ञ का सम्पादन कीजिये। हे समर्पणीय अन्नादि रूपी नैवेद्य, तुम प्रेम के द्वारा गृहीत हो। श्रीराम एवं लक्ष्मण के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। माधुर्यस्वरूप के लिये तुमको रखता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अप्रामाणिक कल्पनाओं से परिपूर्ण होने के कारण अग्राह्य है। उस भाष्य में ही दूसरे स्थान पर 'अश्विनौ' शब्द से 'द्यावापृथिवी' अर्थ का ग्रहण किया गया है। उस अर्थ को छोड़कर यहाँ अध्येता

योनिरस्ति, अतोऽश्विभ्यां प्राणापानाभ्यां वर्तमानं त्वां हे योगाध्यापक ! माध्वीभ्यां सुनीतियोगरीतिभ्यां सह वर्तमानं च त्वां वयमुपाश्रयामः' इति, तत्तु यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणकल्पनामूलत्वात् । त्वयाऽप्यन्यत्र 'अश्विना' इति पदेन द्यावापृथिवी गृहीते । श्रुत्या च ते एवोच्येते । ते अपहायाध्येत्रध्यापकग्रहणे मानाभावात् । किञ्चाध्येतॄणां बाहुल्यस्यापि सम्भवाद् द्विवचनमपि तत्र निरर्थकमेव । पुनरन्यत्र प्राणापानयोस्तेन शब्देन ग्रहणे बीजमपेक्षितम् । माध्वीभ्यामिति शब्देन सुनीतियोगरीत्योर्ग्रहणमपि निर्मूलमेव ॥ ११ ॥

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम् । प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे । उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥ १२ ॥

'शुक्रं वैल्वेन वा तं प्रत्नथेति' (का० श्रौ० ९।६।११) । शुक्रसंज्ञके ग्रहे सोमं तस्या एव धाराया विल्ववृक्षनिर्मितेन विकङ्कतवृक्षनिर्मितेन वा पात्रेण गृह्णीयात् । अयं शुक्रसंज्ञको ग्रहः । पूर्वं तु द्रोणकलशस्य सोमस्य शुक्र इति संज्ञा कृतेति ज्ञेयम् । 'अयं वेन इत्येके' (का० श्रौ० ९।६।१२) । जगती वैश्वदेवी काश्यपावत्सार-दृष्टा द्वादशार्णचतुष्पादा जगती, उपयामेति यजुः । हे इन्द्र ! त्वं यासु यज्ञक्रियासु, अनुवर्धसे पुनः पुनः सोमपाने वृद्धिं प्राप्नोषि, तासु वृजनं बलवद्यज्ञफलं दोहसे । वृजनमिति बलनाम । पूरयसि यजमानायेति शेषः । कथं दोहसे ? तत्र दृष्टान्तमाह—प्रत्नथा प्रत्नानां चिरन्तनानां भृग्वादीनामिव फलं दोहसे । 'प्रत्नपूर्व····' (पा० सू० ५।३।१११) इत्यादिना उपमार्थीयः थाल्प्रत्ययः । पूर्वथा पूर्वेषामृषीणामिव, साध्यादीनामिव, विश्वथा विश्वेषां सर्वेषामृषि-पुत्राणामिव, इमथा इदानीन्तनानां यजमानानामिवास्य फलं दोहसे, तं त्वां स्तुम इति शेषः । कीदृशं तम् ? ज्येष्ठतातिं तननं तातिर्विस्तारः, ज्येष्ठा उत्कृष्टा तातिर्विस्तारो यस्य तम् । यद्वा 'वृकज्येष्ठाभ्याम्' (पा० सू० ५।४।४१) इत्यादिना प्रशंसायां तातिल्प्रत्ययः । प्रशस्तो ज्येष्ठो ज्येष्ठेषु प्रशस्यो वा ज्येष्ठतातिः । तथा बर्हिषदम्, बर्हिषि यज्ञे सीदतीति । स्वर्विदं स्वर्द्युलोकं वेत्तीति । तत्र हि तस्य निवासः । प्रतीचीनमात्मनोऽभिमुखम् । धुनिं कम्पितारं शत्रूणां 'धूञ् कम्पने', आशुं जयन्तं जेतव्यानि वस्तूनीति महीधरः ।

तथा अध्यापक अर्थ का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है । फिर अध्येता तो बहुत हो सकते हैं, अतः यहाँ द्विवचन की भी निरर्थकता सिद्ध होती है । 'माध्वी' शब्द से सुनीति तथा योगरीति का अर्थ ग्रहण करने में भी कोई प्रमाण नहीं है ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! तुम जिन यज्ञक्रियाओं में पुनः पुनः सोम रस का पान कर वृद्धि को प्राप्त होते हो, तृप्त होते हो, उस उत्कृष्ट विस्तारवान् सर्वश्रेष्ठ यज्ञ में कुशासन के सेवी स्वर्गवेत्ता शत्रुओं को कम्पित करने वाले जेतव्य वस्तुओं को शीघ्र जीतने वाले तुम बलपूर्वक यजमान को यज्ञ-फल देते हो, समस्त यज्ञों के प्राचीन नियम के समान, पूर्व प्रथा के अनुसार, इस समय के यजमान को भी समान रूप से यज्ञ का फल देते हो, ऐसे आपकी हम स्तुति करते हैं । हे षष्ठ ग्रह शुक्र ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हुए हो, शण्ड नामक असुरगुरु के निवास के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ । यह तुम्हारा स्थान है । इस स्थान में बैठ कर तुम यजमान के वीरत्व की रक्षा करो । असुर नेता भगा दिया गया है । हे ग्रह ! शुक्र नामक ग्रह में स्थित सोम का पान करने वाले देवता निरापद आहवनीय स्थान में तुम्हें पहुँचावें । हे उत्तरवेदी की श्रेणी ! तुम इस ग्रह को किसी प्रकार की हानि मत पहुँचाओ ॥ १२ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।११, ९।१०।१-९) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'तं प्रत्नथा'

सायणरीत्या तु—हे इन्द्र, त्वां प्रत्नथा पुरातना भृग्वादयो यथाऽस्तुवन्, पूर्वथा पूर्वे साध्यादयो यथाऽस्तुवन् विश्वथा विश्वे ऋषय ऋषिपुत्राः, इमथा इदानीन्तना जना यथा, तथा वयं त्वां स्तुमः। कीदृशं त्वाम्? ज्येष्ठतातिं स्वार्थे तातिप्रत्ययः। बर्हिषि यागे सन्निहितत्वेन तिष्ठन्तम्। यजमानाय दातव्यं स्वः स्वर्गं वेत्तीति स्वर्विदम्। हे इन्द्र, यस्त्वं प्रतीचीनमस्मदनुकूलं प्रतिगमनमस्मत्प्रतिकूलं वृजनं वर्जनीयम् आलस्याश्रद्धादिकं दोहसे रिक्तीकरोषि विनाशयसि, 'दुह् प्रपूरणे'। प्रपूरणं रिक्तीकरणमिति क्षीरस्वामीति महीधराचार्यः। तं त्वां स्तुमः। यासु क्रियासु धुनिं त्वदनुग्रहात् शत्रुं कम्पयन्तमाशुं क्षिप्रकारिणं जयन्तं सम्यगनुष्ठानेन यजमानान्तराण्यतिशयानम् एनं यजमानम् अनु सोमपानेन स्तुत्या वर्धयसे तासु क्रियासु तं स्तुमः।

उव्वटाचार्यस्तु हे सोम, तमिन्द्रं ज्येष्ठतातिम् उत्कृष्टतातिम् उत्कृष्टवत्सारम् अथवा 'वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च छन्दसि' (पा० सू० ५।४।४१) इति तद्धितप्रत्ययः प्रशंसायाम्। ज्येष्ठतातिं ज्येष्ठप्रशस्यं बर्हिषदं स्वर्विदं स्वःशब्देन द्युलोकोऽभिधीयते। द्युलोकं जानाति। तत्र हि तस्य निवासः। धुनिं कम्पयितारम् आशुं जयन्तं शीघ्रं जेतव्यानि वस्तूनि जयन्तं तमेवंगुणविशिष्टमिन्द्रं हे सोम! यासु विक्षु येषु यजमानेषु वर्धसे पुनः पुनः संस्क्रियसे, तासु क्रियासु त्वमवस्थितः, तत्र प्रतीचीनं स्वात्मनोऽभिमुखमिन्द्रमवस्थाप्य स्ववीर्येण तर्पयित्वा अस्मै यजमानाय वृजनं बलवच्च यज्ञफलं दोहसे प्रक्षारयसि। कथं दोहसे? था उपमार्थीयः। प्रत्नशब्दः पुराणवचनः। चिरन्तनानामिव भृगुप्रभृतीनाम् इमथा इदानीन्तनानामिव यजमानानां दोहसे। सायणोव्वटावनुसृत्यैव महीधरेण व्याख्यानद्वयमुपस्थापितम्।

हे शुक्रग्रह, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। शुक्रपुत्राय शण्डनामकाय तन्नामकायासुराय वा त्वां गृह्णामि। एष खरप्रदेशस्तव स्थानमिति सादयति। त्वं यजमानस्य वीरतां पाहि, कर्मशूरत्वं वा पालय। 'शुक्रामन्थिभ्यां चरतः' (का० श्रौ० ९।१०।१) अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ 'शुक्रेणाध्वर्युर्मन्थिना प्रतिप्रस्थाता' (का० श्रौ० ९।१०।२), 'प्रोक्षिताप्रोक्षितौ यूपशकलावादायापिधानं प्रोक्षिताभ्याम्, अपमार्जनमप्रोक्षिताभ्यामपमृष्टः शण्ड इत्यध्वर्युरपमृष्टो मर्क इति प्रतिप्रस्थाता' (का० श्रौ० ९।१०।३)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ एकैकं प्रोक्षितमपरमप्रोक्षितं चेति द्वौ द्वौ यूपशकलावादाय शुक्राभन्थिनोर्ग्रहयोरादानं कुरुतः। प्राणीतेन लौकिकेन वा जलेन यूपशकलप्रोक्षणम्। प्रोक्षितमप्रोक्षितं चेत्यत्र जातावेकवचनम्। प्रोक्षिताभ्यां यूपशकलाभ्यां ग्रहयोरपिधानम्, अप्रोक्षिताभ्यां यूपशकलाभ्यां ग्रहयोर्मुखादारभ्याधस्तान्मार्जनं कुर्वीयाताम्। 'अधस्तात् पांसूनपध्वंसयत आपः' (श० १२।२२।२।४) इति वृत्तिकारः।

आभिचारिकं यजुः। शण्डनामकोऽसुरपुरोहितः शुक्रपुत्रोऽपमृष्टोऽपमार्जनीकृतः। 'देवास्त्वेति निष्क्रामतो यथालिङ्गमिति' (का० श्रौ० ९।१०।५)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ यथाक्रमं शुक्रमन्थीत्येतत्पदद्वयवाचकमन्त्रलिङ्गमनतिक्रम्य हविर्धानमध्यान्निर्गच्छेताम्। देवस्त्वेति मन्त्रेण शुक्रलिङ्गेनाध्वर्युः प्राङ्मुखो हविर्धानान्निष्क्रामेत्। शुक्रदेवा शुक्रं नाम ग्रहस्थं सोमं पिबन्ति शुक्रपा देवाः। हे शुक्रग्रह, त्वां प्रणयन्त्विति यजतिस्थानम्, 'अपरेणोत्तरवेदिमरत्नी सन्धायोत्तरवेदिश्रोण्योर्निधत्तोऽविसृजन्तौ दक्षिणस्यामध्वर्युरुत्तरस्यां प्रतिप्रस्थाताऽनाधृष्टासीति' (का० श्रौ० ९।१०।५)। हविर्धानान्निष्क्रम्योत्तरवेदेः पश्चात् स्थिता अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ स्वस्य स्वस्य दक्षिणहस्तस्यारत्नी परस्परं संश्लेषयतः। संश्लेषणकाले च हस्तस्थितो ग्रहो यथा न स्कन्देत तथा संश्लेषणं कर्तव्यम्। एवमरत्नी सन्धायाध्वर्युर्दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ स्वहस्तस्थितं शुक्रग्रहं हस्तेनाविमुञ्चन्

इस कण्डिका के मन्त्रों से शुक्रसंज्ञक पात्र में शुक्र ग्रह का ग्रहण, ग्रहपात्र का मार्जन, हविर्धान मण्डप से निष्क्रमण, वेदि के

निदध्यात्। एवं प्रतिप्रस्थाताप्युत्तरस्यां वेदिश्रोण्यां मन्थिग्रहमासादयेत्। वेदिश्रोणिदैवतम्। हे उत्तरवेदिश्रोणे! त्वमनाधृष्टाऽनुपहिंसितासि।

शतपथे तद्विशेषमाह—'चक्षुषी ह वा अस्य शुक्रामन्थिनौ। तद्वा एष एव शुक्रो य एष तपति तद्यदेष एतत्तपति तेनैष शुक्रश्चन्द्रमा एव मन्थी' (श० ४।२।१।१)। आश्विनं ग्रहं विधाय शुक्रामन्थिग्रहौ विधातुं चक्षुरात्मना स्तौति—चक्षुषीति। शुक्रश्च मन्थी च शुक्रामन्थिनौ ग्रहौ यज्ञस्यास्य चक्षुषी खलु। तत् तत्र। एष दृश्यमानस्तपति। एष एव सूर्यः शुक्रग्रहः। शोचते दीप्यत इति तस्य शुक्रनामधेयम्। मन्थी चन्द्रमाः। 'तꣳ सक्तुभिः श्रीणाति। तदेनं मन्थं करोति तेनो एष मन्थ्यैतौ ह वा आसां प्रजानां चक्षुषी स यद्धैतौ नोदियातां न हैवेह स्वौ चन पाणी निर्जानीयुः' (श० ४।२।१।२)। सक्तुभिर्यवचूर्णैर्मिश्रितस्य सोमस्यापि मन्थत्वात् तद्भागिनोऽस्य मन्थित्वादनयोरनुदये प्रजानां स्वपाण्योरप्यदर्शनात् तदुदये तत्सम्भवात् तयोः सूर्यचन्द्रयोश्चक्षुष्ट्वमिति। तदात्मकौ शुक्रामन्थिनावपि चक्षूरूपावित्यर्थः। प्रजापतेश्चक्षुषः सकाशादुत्पन्नत्वाच्चानयोश्चक्षुष्ट्वम्, 'चक्षुषः शुक्रामन्थिनौ' (तै० सं० १।५।४) इति श्रुतेः। 'तयोरत्तैवान्यतरमनु। आद्योऽन्यतरमन्वत्तैव शुक्रमन्वाद्यो मन्थिनमनु तौ वा अन्यस्मै गृह्येते अन्यस्मै हूयेते शण्डामर्कावित्यसुररक्षसे ताभ्यां गृह्येते देवताभ्यो हूयेते तद्यत्तथा' (श० ४।२।१।४)। भोक्तृभोग्यात्मना पुनः स्तौति—तयोरत्तैवेति। तयोरन्यतर अत्ता भोक्ता, अन्यतरश्च आद्यो भोग्यः, तयोर्भोक्तृभोग्यरूपसूर्यचन्द्रात्मत्वेन स्तुतत्वात्। यत एवमतो लोकेऽपि भोक्तृवर्गस्तयोरन्यतरं सूर्यात्मकं शुक्रमनुसृत्य वर्तते, शुक्रेऽन्तर्भूतः। भोग्यवर्गोऽपि चन्द्रात्मकमेव मन्थिनमनुसृत्य वर्तते। ग्रहयोर्ग्रहणहोमौ—तौ वा अन्यस्मै गृह्येते, अन्यस्मै हूयेते। शण्डामर्कावित्यसुररक्षसे सुरविरोधिनौ राक्षसौ। 'अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि' (पा० सू० ५।४।१०३) इत्यादिना टच्। ताभ्यां गृह्येते देवताभ्यो हूयेते। ग्रहणे शण्डामर्कयोर्देवतात्वेनोद्दिष्टत्वात् 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ७।३।२१) इत्यानङादेशः। ग्रहणे शण्डामर्कयोः स्वीकारस्य, होमे तत्परित्यागस्य च हेतुं दर्शयत्याख्यायिकया श्रुतिः—'यत्र वै देवाः। असुररक्षसान्यपजघ्निरे तदेतावेव न शेकुरपहन्तुं यद्ध स्म देवाः किञ्च कर्म कुर्वते तद्ध स्म वै मोहयित्वा क्षिप्रमेव पुनरपद्रवतः, (श० ४।२।१।५)। पुरा किल देवा असुररक्षसामपहननसमये शण्डामर्कौ हन्तुं न शेकुः। तौ सर्वं देवकृतं कर्म मोहयित्वा तिरस्कृत्यागच्छताम्। 'ते देवा ऊचुः। उपजानीत यथेमावपहनामहा इति ते होचुर्ग्रहावेवाभ्यां गृह्णाम तावभ्यैष्यतस्तौ स्वीकृत्यापहनिष्यामह इति ताभ्यां ग्रहौ जगृहतुस्तावभ्यैषतां तौ स्वीकृत्यापाघ्नत तस्माच्छण्डामर्काभ्यामिति गृह्येते देवताभ्यो हूयेते' (श० ४।२।१।६)। ततस्ते देवा एतयोर्हननोपायं विचारयतेत्युक्त्वा ग्रहग्रहणेन तावागमिष्यतः पश्चात्तौ स्वीकृत्य हनिष्याम इति पर्यालोच्य तथैवाचरन्। यत एवमकुर्वन्, अत इदानीमपि शण्डामर्कावुद्दिश्यैव ग्रहणम्। होमास्तु देवताभ्यः क्रियन्ते। 'अपजघ्निरे' इति छान्दसमात्मनेपदम्। तदेव द्रढयति—'अपि होवाच याज्ञवल्क्यः। नो स्विद्देवताभ्य एव गृह्णीयामा३ विजितरूपमिव हीदमिति तद्वै स तन्मीमाꣳसामेव चक्रे नेत्तु चकार' (श० ४।२।१।७)। याज्ञवल्क्योऽप्येवमुवाच—अस्मदीयाभ्यो देवताभ्य एव नो गृह्णीयाम उत गृह्णीयाम इति। एतद्देवतोद्देश्येन ग्रहग्रहणम्। एवं सम्प्रधार्य याज्ञवल्क्यस्तत्र विचारमेव चक्रे न तु चकार। 'इमामु हैके शुक्रस्य पुरोरुचं कुर्वन्ति। अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमान इति। तदेतस्य रूपं कुर्मो य एष तपतीति यदाह ज्योतिर्जरायुरिति' (श० ४।२।१।८)। श्रुतिरेव याज्ञवल्क्यरूपधारिणी प्रस्तुतशाखोक्तविधानं प्रशंसितुं तैत्तिरीयपक्षमुपन्यस्य स्वानभिमतं प्रदर्शयति, 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते' इति न्यायात्। शाखान्तरीया अयं वेन इति मन्त्रं शुक्रस्य ग्रहणे पुरोरुचं कुर्वन्ति।

दक्षिण भाग में शुक्रग्रह का स्थापन इत्यादि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के

'ज्योतिर्जरायू' इत्यस्योच्चारणेनोभयतोऽस्य सूर्यस्य रूपं सम्पाद्यते । एवं तैत्तिरीयशाखामतम् ।

'इमां त्वेव शुक्रस्य पुरोरुचं कुर्यात् । तं प्रत्नथा""स्वर्विदं""वीरतां पाहीति दक्षिणार्धे सादयत्येतांऽ ह्येष दिशमनुसञ्चरति' (श० ४।२।१।९) । स्वाभिमतं सोपपत्तिकं प्राह —इमां त्वेव । तं प्रत्नथा इतीमामृचमेव पुरोरुचं कुर्यात्, न पुनः शाखान्तरमतप्राप्तमित्यर्थः । अत्रोपपत्तिः—सूर्यस्य भोक्तृत्वं तदात्मकत्वं च लौकिकभोक्तृजातस्येत्युक्तम्—अत्तैव शुक्रः""इति । भोक्तृभोग्ययोर्भोक्ता प्राधान्येन ज्येष्ठः, अतोऽत्र ज्येष्ठतातिगतज्येष्ठशब्देन शुक्रात्मकः सूर्यः प्रकाश्यत इति शुक्रग्रहण इयमेव पुरोरुक् कार्येति । शतपथीयसायणभाष्यरीत्या तदर्थस्तु—भोक्ता 'तस्मा इन्द्राय' (वा० सं० ७।१५) इति निर्देशादस्या इन्द्रो देवता, माहेन्द्रत्वप्रसिद्धं त्वां स्तुम इति शेषः । प्रत्नथेत्यादौ थाल्प्रत्यय उपमार्थीयः । पुरातना भृग्वादय इव, पूर्वे पित्रादय इव, विश्व इव, समस्ता अवशिष्टा ऋषय इव, इमथा इदानीन्तना यजमाना इव त्वां स्तुमः । कीदृशम् ? ज्येष्ठतातिं प्रशस्तज्येष्ठं स्तीर्णे बर्हिषि यज्ञे स्थितं स्वर्गं लब्धवन्तं प्रत्यगात्मभूतं त्वां स्तुमः । त्वं च धुनिम् अस्मान् कम्पयन् वृजनं वर्जनीयं पापं दोहसे क्षारयसि, विनाशयसीत्यर्थः । क्व पुनः स्तोत्रं यासु क्रियासु क्षिप्रमन्यान् यजमानान् जयन्तं यजमानं वर्धयसे तासु स्तुमः । हे सोमरस, उपयामगृहीतोऽसि त्वां शण्डाय गृह्णामि । नन्वस्य मन्त्रस्य 'अत्ता हि ज्येष्ठः' इत्येतद्ब्राह्मणानुसारेण सूर्यपरत्वमवगम्यते, तत्कथमिन्द्रपरत्वेन व्याख्यानमिति, चेत्तत्रोच्यते—इन्द्रोऽपि सूर्यात्मकः, तन्मूर्तिभेदत्वात्, 'धाता चार्यमा च अꣳशश्च भगश्च इन्द्रश्च विवस्वाँश्चेत्येते' (तै० आ० ३।१।१३) इति श्रुतेः । मन्त्रशास्त्रेऽपि 'धाता चार्यममित्रा वरुणांशभगा विवस्वदिन्द्रयुताः । पूषाह्वयपर्जन्यौ त्वष्टा विष्णुश्च भानवः प्रोक्ताः ॥' तस्मादिन्द्रपरत्वव्याख्यानं नानुपपन्नम् । गृहीतस्य सोमस्य समन्त्रकं सादनं विधाय व्याचष्टे—एष ते योनिरिति । भोक्तृवर्गः सूर्यरूपः शुक्रात्मकः, अत एव समर्थः । तस्मात् प्रजानां सामर्थ्यं पाहि पालयेति मन्त्र आह । पात्रं प्रयोगकाले दक्षिणभागे प्रयुज्यत इति तत्रैव सादयेत् । तथैव कात्यायनः—'दक्षिणपूर्वार्धे शुक्रामन्थिनोर्दक्षिणं शुक्रस्य' (का० श्रौ० ९।१०।९) ? ।

तथा - 'द्वौ प्रोक्षितौ यूपशकलौ भवतो द्वावप्रोक्षितौ । प्रोक्षितं चैवाध्वर्युरादत्तेऽप्रोक्षितं चैवमेव प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितं चैवादत्तेऽप्रोक्षितं च शुक्रमेवाध्वर्युरादत्ते मन्थिनं प्रतिप्रस्थाता' (श० ४।२।१।१३) । 'सोऽध्वर्युरप्रोक्षितेन यूपशकलेनापमार्ष्ट्यपमृष्टः शण्ड इत्येवमेव प्रतिप्रस्थाताऽपमृष्टो मर्क इति तदाददानावेवासुररक्षसे अपहतो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वित्येधाध्वर्युर्निष्क्रामति देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्त्विति प्रतिप्रस्थाता तदेतौ देवताभ्य एव प्रणयतः' (श० ४।२।१।१४) । 'तौ जघनेनाहवनीयमरत्नी सन्धत्तः । ता उत्तरवेदौ सादयतो दक्षिणायामेव श्रोणावध्वर्युः सादयत्युत्तरायां प्रतिप्रस्थाताऽननुसृजन्तावेवानाधृष्टासीति तद्रक्षोभिरेवैतदुत्तरां वेदिमनाधृष्टां कुरुतो विपर्येष्यन्तौ वा एतावग्नि भवतोऽत्येष्यन्तौ तस्मा एवैतन्निह्नुवाते तथो हैनौ विपरियन्तावग्निर्न हिनस्ति' (श० ४।२।१।१५) । होमार्थमुत्तरवेदेः प्रत्यग्देशात् सकाशादाहवनीयं विपर्येष्यन्तौ विविधं दक्षिणतश्चोत्तरतश्च परितो गमिष्यन्तौ व्यतिक्रमेण चरिष्यमाणौ भवतः । अत एतेन वेदिश्रोण्योर्ग्रहासादनेनातिक्रमणरूपमपराधं तस्मै अग्नये अपह्नुवाते अपनयतः कार्यार्थं गमिष्यावो न तु त्वामतिक्रमिष्याव इत्येतत् सूचयित्वा अग्निरनुसृतो भवति । अतः पश्चात्तथा गच्छन्तावपि अग्निर्न हिनस्ति । 'सोऽध्वर्युः पर्येति । सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परिहीत्यत्ता ह्येतमन्वत्ता हि वीरस्तस्मादाह सुवीरो वीरान् जनयन् परीहीत्यभि रायस्पोषेण यजमानमिति तद्यजमानायाशिषमाशास्ते यदाहाभि रायस्पोषेण यजमानमिति' (श० ४।२।१।१६) । अध्वर्युप्रतिप्रस्थात्रोः परितो गच्छतोर्गमनं समन्त्रकं विदधानो व्याचष्टे —सोऽध्वर्युरिति ।

अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे—तं वेदान्तेषु प्रसिद्धत्वात् तत्सदिति ब्रह्मणो निर्देशाच्च परमेश्वरं यथा प्रत्ना भृग्वादयोऽस्तुवन्, उपमार्थीयस्थाल्प्रत्ययः, यथा पूर्वे साध्यादयः, यथा च विश्वे सर्वे ऋषय ऋषिपुत्राश्च अस्तुवन्। इमथा यथेदानीन्तनाः सर्वे आस्तिकाः शिष्टाश्च भगवन्तं स्तुवन्ति तथा वयं स्तुमः। कीदृशं तम् ? ज्येष्ठतातिं ज्येष्ठा उत्कृष्टा तातिर्व्यापकतालक्षणो विस्तारो यस्य तम्, प्रशस्तो ज्येष्ठेष्विति, प्रशस्तो ज्येष्ठो वा ज्येष्ठतातिः। सर्वज्येष्ठेषु परमेश्वर एव प्रशस्यते। क्वचिज्ज्येष्ठोऽपि विद्याबलशौर्यसौभाग्यादिहीनत्वादप्रशस्तो भवति। परमेश्वरस्तु ज्येष्ठोऽपि प्रशस्तमाहाभाग्ययुक्तत्वाद् ज्येष्ठतातिः। 'वृकज्येष्ठाभ्याम्' (पा० सू० ५।४।४१) इति प्रशंसायां तातिल्प्रत्ययः। बर्हिषदं बर्हिषि यज्ञेषु यजनीयत्वेन भोक्तृत्वेन च सीदतीति तं बर्हिषदम्, 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' (भ० गी० ५।२९) इति गीतोक्तेः। स्वरूपलक्षितं सर्वलोकं वेत्तीति तं स्वर्विदं कर्मफलदातृत्वात् सर्वविदं सर्वज्ञमित्यर्थः। प्रतीचीनं भक्तानां सदैवाभिमुखम्, धुनिं पातकानां स्मृतिमात्रेण कम्पयितारम्। आशुं क्षिप्रकारिणम्, सङ्कल्पमात्रेण सर्वलोकनिर्मातृत्वात्। जयन्तं हिरण्याक्षहिरण्यकशिपुरावणादीन् सर्वान् देवशत्रून् विजित्य सर्वोत्कर्षेण वर्तमानम्। हे भगवन्, यस्त्वं प्रतीचीनमस्मत्प्रतिकूलं वृजनं वर्जनीयमालस्याश्रद्धादिकं दोहसे विनाशयसि, यासु उपासनाक्रियासु भक्तमेवमनुवर्धसे वर्धयसे तासु त्वां स्तुमः। हे निवेदनीयद्रव्य, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। शण्डः, शं कल्याणं ददातीति शण्डः। छान्दसोऽकारः। कल्याणप्रदाय परमात्मने गृह्णामि। एष उपासनाप्रदेशः, तव योनिः स्थानम्। तत्र त्वां सादयामि। त्वमुपासकस्य वीरतां प्रीतिनिष्ठां पाहि। शण्डः अपमृष्टः, नित्यनिरस्तसर्वानर्थः। शुक्रपा देवाः, शुक्रं तेजः पिबन्तीति शुक्रपा देवास्त्वां भगवत्समीपं प्रणयन्तु प्रापयन्तु। भूमिं प्रार्थयते - हे पूजाभूमे, त्वमनाधृष्टासि पूजाप्रभावात् संस्कारप्रभावाच्च सर्वथा विघ्नकारकैरनभिभूतासि।

दयानन्दस्तु—'हे योगिन्, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। ते तवैव योगस्वभावो योनिः सुखहेतुरस्ति। येन योगेन त्वमुपसृष्टः शण्डोऽसि योगक्रियासु वर्धसे, विश्वथा प्रत्नथा पूर्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदं प्रतीचीन-

---

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—वेदान्तों में प्रसिद्ध तथा 'तत्सत्' आदि पदों के द्वारा ब्रह्म का निर्देश होने के कारण सुप्रथित उस परमेश्वर की जिस प्रकार पुराने भृगु आदि ऋषियों ने स्तुति की, जिस प्रकार पूर्ववर्ती साध्यों ने तथा समस्त ऋषिगणों, ऋषिपुत्रों ने स्तुति की, तथा जिस प्रकार आधुनिक सभी आस्तिक जन, शिष्टगण भगवान् का स्तवन करते हैं, उसी प्रकार हम भी स्तुति कर रहे हैं। उस उत्कृष्ट व्यापकतारूपी विस्तार वाले, ज्येष्ठों में भी प्रशस्त, यज्ञों में यजनीय तथा भोक्ता के रूप में अवस्थित रहने वाले, सर्वलोकवेत्ता, सर्वज्ञ, सर्वदा भक्तों के अभिमुख रहने वाले, स्मरणमात्र से पापों के नाशक, संकल्पमात्र से समस्त लोकों के निर्माता, शीघ्रकारी, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण आदि सभी शत्रुओं को पराजित करके सर्वातिशायी रहने वाले भगवान् की स्तुति करते हैं। हे भगवन्, आप जो हमारे प्रतिकूल, वर्जनीय आलस्य, अश्रद्धा आदि का विनाश करते हैं और जिन उपासनाक्रियाओं में भक्ति की वृद्धि करते हैं, इसीलिये हम आपकी स्तुति करते हैं। हे नैवेद्य, तुम प्रेम के द्वारा ग्रहण किये गये हो। कल्याणप्रदाता परमात्मा के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह उपासना का प्रदेश ही तुम्हारा स्थान है। यहाँ तुमको रखता हूँ। तुम उपासक की प्रेमनिष्ठा की रक्षा करो। तुम कल्याणकारी हो कर हमारे समस्त अनर्थों का नित्य विनाश करो। तेज का पान करनेवाले देवगण तुमको भगवान् के समीप ले जाँय। उपासक भूमि की प्रार्थना करता है - हे पूजा की भूमि, तुम पूजन के प्रभाव से तथा संस्कार के प्रभाव से विघ्नकारकों से सर्वथा अस्पृष्ट हो।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में 'हे योगिन्' इस संबोधनसूचक पद के मन्त्र में न होने के कारण असंगति

माशुं जयन्तं धुनि वृजनं दोहसे च, तं योगबलं शुक्रपा देवास्त्वां प्रणयन्तु, तस्मै तुभ्यमस्य योगस्यानाधृष्टा वीरतास्तु। त्वमिमां वीरतां पाहि। तदनु त्वामियं वीरता पातु' इति। हिन्द्यां तु—'हे योगिन्, योगाङ्गैः शौचादिनियमैर्गृहीतोऽसि तद्वानसि। योगस्वभावस्तव सुखहेतुः। येन योगेन त्वमपमृष्टोऽविद्यादिदोषैर्वियुक्तः शण्डः शमादिगुणयुक्तः, यासु योगक्रियासु वर्धसे, समस्तप्राचीना महर्षय इव पूर्वकालिका योगिन इव वर्तमानयोगिन इवात्यन्तप्रशंसनीयं हृदयाकाशे स्थिरं सुखदम्, अविद्यादोषाप्रतिकूलं शीघ्रसिद्धिदम्, उत्कर्षप्रापकम् इन्द्रियाणां कम्पितारं वृजनं योगबलं परिपूरयन्ति। तं ये योगं बलरक्षका योगप्रकाशका योगिनस्त्वां प्रणयन्तु तं योगं प्राप्तवते तुभ्यं शण्डाय तस्य योगस्य वीरता त्वं तां पाहि, रक्षिता वीरता त्वां पातु' इति, तदुभयं यत्किञ्चित्, योगिन्निति सम्बोधनसूचकपदाभावात्, शौचादिनियमानां विवक्षितत्वे नियमपदप्रयोगस्यैवौचित्याच्च। ते योनिरिति त इति सम्बन्धोपपत्तौ सुखपदाध्याहारानुपपत्तेः। शण्डशब्दस्य योगक्रियावृद्धिरिति कल्पनापि कल्पनैव, निर्मूलत्वात्। शण्डः शमादिगुणयुक्त इत्यपि निर्मूलम्, तत्रार्थे तस्याशक्तेः। 'वीरता त्वां पातु' इत्यादिकं तु निर्मूलमेव। शतपथादिविरोधाच्च तदयुक्तमेव॥ १२॥

सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः शुक्रस्याधिष्ठानमसि॥ १३॥

'सुवीर इति दक्षिणं यूपदेशं गच्छत्यध्वर्युरिति' (का० श्रौ० ९।१०।६)। हे शुक्रग्रह! त्वं सुवीरः कल्याणवीरः शोभनशौर्योपेतः सन् वीरान् यजमानस्य शौर्योपेतान् पुत्रभृत्यादीन् प्रजनयन् उत्पादयन् रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या सह यजमानमभिलक्ष्य परीहि परितो गच्छ। यद्वा रायस्पोषेण यजमानमभियोजयस्व धनस्य पोषेण यजमानं परीहीत्यनुवर्तते। 'अपरेण यूपमरत्नी सन्धत्तः सञ्जग्मान इति यथालिङ्गमिति' (का० श्रौ० ९।१०।७)। यूपस्य पश्चात् पुनररत्नी सन्धत्तः, शुक्रलिङ्गेनाध्वर्युर्मन्थिलिङ्गेन प्रतिप्रस्थाता। शुक्रनामको ग्रहो दिवा द्युलोकेन पृथिव्या भूलोकेन च सञ्जग्मानः शुक्रशोचिषा शुद्धदीप्त्या यूपं बिभर्तीति शेषः। 'अप्रोक्षितौ निरस्यतो निरस्तः शण्ड इत्यध्वर्युः, निरस्तो मर्क इति प्रतिप्रस्थाता' (का० श्रौ० ९।१०।९)। अप्रोक्षितौ यूपशकलौ उत्करे निरस्यतो मन्त्राभ्यां यथाक्रमम्। आभिचारिकं यजुः। शण्डनामकः शुक्रपुत्रोऽसुरपुरोहितो निरस्तो यज्ञाद्बहि-

---

है। यदि शौचादि नियमों का प्रतिपादन करना अभीष्ट होता, तो नियम शब्द का ही प्रयोग उचित था। शण्ड शब्द का 'योगक्रियावृद्धि' अर्थ करना मूलरहित होने के कारण कपोल-कल्पना ही है। शण्ड शब्द का शम आदि गुणों से युक्त अर्थ करना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि इस अर्थ में शब्द की शक्ति नहीं है। शतपथ आदि श्रुतियों के विरुद्ध होने के कारण यह अर्थ असमीचीन ही है॥ १२॥

मन्त्रार्थ—हे ग्रह! तुम सुन्दर वीरता से युक्त होकर शूरता से युक्त पुत्र, भृत्य आदि को उत्पन्न करते हुए अनेक प्रकार की धन-पुष्टि के द्वारा इस यजमान के ऊपर कृपा करो। यह शुक्र ग्रह अपनी पवित्र कान्ति के साथ पृथ्वी और द्युलोक से संगत होकर दीप्तिमान् हो रहा है। शण्ड नामक असुर दूर चला गया है। हे यूपकाष्ठखण्ड! तुम शुक्र ग्रह के अधिष्ठान हो॥ १३॥

भाष्यसार—'सुवीरः' इस कण्डिका के मन्त्रों से अध्वर्यु द्वारा यूप की ओर गमन, अप्रोक्षित तथा प्रोक्षित यूप-

निक्षिप्तः। 'आहवनीये प्रोक्षितौ प्रास्यतः शुक्रस्याधिष्ठानमित्यध्वर्युरिति' (का० श्रौ० ९।१०।१०)। अध्वर्यु-राहवनीये प्रोक्षितं यूपशकलं क्षिपेत्। हे यूपशकल, त्वं शुक्रग्रहस्याधिष्ठानमधिकरणमसि।

अध्यात्मपक्षे--हे परमात्मन्! निराकार श्रीशिव श्रीविष्णो श्रीराम श्रीकृष्ण वा, शौर्यवीर्यपरमैश्वर्य-परमसौभाग्ययुक्तत्वाद् यजमानं भक्तानभिलक्ष्य तथाविधान् शौर्यवीर्यसौभाग्योपेतान् पुत्रपौत्रादीन् सत्यसङ्कल्पे-नाशिषा वा प्रजनयन् यजमानमभिलक्ष्य परित इहि प्राप्नुहि। किञ्च, रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या यजमानभक्तान् परिगच्छ। कीदृशः परमेश्वरः? दिवा द्युलोकेन पृथिव्या पृथिवीलोकेन च सञ्जग्मानः सङ्गच्छमानः, सर्व-कारणत्वाद् दिवा पृथिव्या तदुपलक्षितैः सर्वैरपि लोकैः सङ्गच्छमानः। पुनः कीदृशः? शुक्रः शुद्धः सूर्यादिरूपो वा, त्वदीयया शुक्रशोचिषा शुद्धनिर्दृश्यदृग्रूपया शोचिषा प्रकाशेन शण्डः शं कल्याणं द्यति खण्डयतीति शण्डः कामादिर्निरस्तः समूलकाषं कषितः। हे परमेश्वर, त्वं शुक्रस्य शुद्धेः सर्वविधप्रकाशस्य चाधिष्ठानमसि, तस्यैव भासा सूर्यादीनामपि भासमानत्वात्, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥' (श्वे० उ० ६।१४) इति श्रुतेः, 'सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः। श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्तेः कीर्तिः क्षमा क्षमा॥' इति श्रीमद्वाल्मीकीय-रामायणवचनाच्च।

दयानन्दस्तु—'हे योगिन्, सुवीरस्त्वं वीरानुत्कृष्टगुणान् प्रजनयन् परि सर्वत इहि प्राप्नुहि। एवं यजमानमभि आभिमुख्येन रायस्पोषेण सञ्जग्मानः संगतवान् दिवा सूर्येण पृथिव्या भूम्या सह शुक्रः वीर्यवान् शुक्रशोचिषा शुक्रस्य शोधकस्य सूर्यस्य शोचिर्दीपनं तेनैव निरस्त एवान्धकार इव विषयवासनारहितः शण्डस्त्वं शमादिसहितस्त्वं शुक्रस्य शोधकस्याधिष्ठानमसि' इति। हिन्द्यां तु—'हे श्रेष्ठवीरवद्योगबलयुक्त सगुणयुक्तान् पुरुषान् प्रजनयन् प्रसाधयन् परीहि सर्वत्र भ्रमणं कुरु। एवं धनादिपदार्थदातारमुत्तमपुरुषमभिलक्ष्य रायस्पोषेण धनपुष्ट्या संयुक्तो दिवा सूर्येण पृथिव्या भूम्या तयोर्गुणैः सार्धं शुक्रोऽतिबलवान् सर्वशोधकस्य सूर्यस्य दीप्त्या निरस्तान्ध-कारेण समं पृथग्भूतयोगबलप्रकाशेन विषयवासनाभिर्मुक्तः शण्डः शमादिगुणयुक्तस्त्वं शुक्रस्यात्यन्तयोगबलस्या-

---

खण्डों का प्रक्षेप आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१०।७-११) में वर्णित है। याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे निराकार परमात्मा, अथवा श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण! आप शौर्य, वीर्य, एवं परम ऐश्वर्य, परम सौभाग्य से युक्त हैं। अतः यजमान-भक्तों के प्रति अपनी कृपादृष्टि से उसी प्रकार के शौर्य, वीर्य, सौभाग्य से संयुक्त पुत्र, पौत्र आदि को सत्यसंकल्प तथा आशीर्वाद से उत्पन्न करते हुए आप यजमान के प्रति आवें तथा धन की पुष्टि से यजमान-भक्तों को व्याप्त करें। परमेश्वर द्युलोक एवं पृथिवीलोक तथा तदुपलक्षित समस्त लोकों से संगत होते हुए अत्यन्त शुभ्र सूर्यादिरूपी हैं। आपके शुद्ध प्रकाश से कल्याण का खण्डन करने वाले कामादि दोष समूल विनष्ट हो गये। हे परमेश्वर, आप शुद्धि तथा सर्वविध प्रकाश के अधिष्ठान हैं, क्योंकि श्रुति तथा वाल्मीकिरामायण आदि के वचनों के अनुसार यह स्पष्ट है कि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ मुख्यार्थ के परित्याग तथा कल्पित गौण अर्थ के स्वीकार के कारण असंगत है। 'सुवीर' का अर्थ 'सुवीर के समान' करना तो स्पष्टतः मुख्यार्थ का त्याग है। योगी ऐसे पुरुषों को उत्पन्न करत

धारोऽसि' इति, तत्सर्वमप्यसङ्गतम्, मुख्यार्थत्यागात् काल्पनिकगौणाद्यर्थस्वीकारात्। तथाहि— सुवीर इत्यस्य सुवीर इवेति मुख्यार्थत्यागः स्पष्ट एव। तथैव वीरानित्यस्य श्रेष्ठगुणयुक्तपुरुष इत्यपि गौण एवार्थः। योगी तादृशान् पुरुषान् प्रजनयतीत्यपि विरुद्धमेव, यमनियमादियुक्तस्य योगिनस्तादृशव्यापारासम्भवात्। सर्वत्र भ्रमणमपि योगविरुद्धमेव, स्थिरस्यैव योगाभ्याससम्भवात्। मूले यजमानमित्येकवचनम्, टीकायां तु धनादिपदार्थदातार उत्तमपुरुषा इत्यर्थः कृतः, तदपि विरुद्धमेव, अपरिग्रहस्य योगिनो धनादिदातृत्वसम्बन्धानपेक्षणात्। धनिनां सम्मुखे रायस्पोषेण युक्तो योगी किं करिष्यति ? दरिद्राणां समक्षं तादृशस्य योगिन एव लाभदायकत्वम्। सूर्यपृथिव्योर्गुणेनेति विवक्षितत्वे तथैव प्रयोगेणापि भाव्यम्। दिवा पृथिव्या युक्तत्वोक्तिरपार्थैव स्यात्। सूर्यज्योतिषा निरस्तोऽन्धकार इवेत्यपि निर्मूलम्, मूलेऽन्धकारार्थबोधकपदाभावात्। इवेत्युक्त्या दार्ष्टान्तिनापि भाव्यम्। अन्धकार इव को निरस्त इति नोक्तम्। मूले तु निरस्तः शण्ड इत्युक्तम्। त्वद्रीत्या शण्डः शमादियुक्तो भवति। स कथमन्धकार इव निरस्येतेति तत्सर्वं सर्वथा बालभाषितमेव ॥ १३ ॥

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः ॥ १४ ॥

'अच्छिन्नस्येति जपित्वेति' (का० श्रौ० ९।१०।११)। यजमानो जपति। सायणरीत्या अध्वर्युः शकलप्रक्षेपानन्तरं जपेत्। वृत्तिकाररीत्या तु यजमानो जपेत्। सूत्रे जपित्वाऽऽश्राव्याह प्रातः प्रातःसवस्येति ल्यबादेशः पूर्वकालतामात्रे, न समानकर्तृतायाम्। सौम्यम्। हे देव, मे अच्छिन्नस्य अनवखण्डितस्य सन्ततस्य सुवीर्यस्य कल्याणप्रभावस्य रायस्पोषस्य धनपोषस्य, ते तव देवेभ्यो ददितारो दातारो वयं स्याम। देवतासन्तुष्ट्यर्थं भूयो भूयः सोमस्य दातारः स्याम भवेम। त्वत्प्रसादाद् भूयो भूयो यज्ञस्य करणमाशास्यते। 'उभयतो यूपं प्रत्यङ्मुखौ जुहुतः सा प्रथमेत्यध्वर्युः प्रथमम्, तमनु प्रतिप्रस्थातेति' (का० श्रौ० ९।११।१-२)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ यूपस्य पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखौ तिष्ठन्तौ वषट्कृते सति जुहुतः, सा प्रथमेति प्रथममध्वर्युः शुक्रम्, तत्पश्चात्तेनैव मन्त्रेण प्रतिप्रस्थाता मन्थिनं जुहुयाद्। इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप्। सा प्रथमा यस्येन्द्रस्य संस्कृतिः प्रथमः संस्कारः क्रियते, समीचीना कृतिर्वा 'सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमम्' (वा० सं० ४।२०) इति मन्त्रेण सोमस्य क्रयरूपा या संस्कृतिः क्रियते, सा प्रथमा, अभिषवादिसंस्काराणां तदनन्तरभावित्वात्।

है, यह भी विरुद्ध है, क्योंकि यम, नियम आदि से युक्त योगी इस प्रकार का व्यवहार नहीं करता। अपरिग्रहशील योगी का धनदाता होना भी असम्बद्ध है। धनियों के समक्ष धनपुष्टि से युक्त योगी क्या करेगा ? मूल मन्त्र में अन्धकार-बोधक पद भी नहीं है। अन्धकार के समान किसको निरस्त किया गया ? मूल मन्त्र में तो 'शण्ड निरस्त हो गया' यह कहा गया है। इस अर्थ की रीति में शमादि से युक्त शण्ड होता है, वह अन्धकार की भाँति कैसे निरस्त किया जायगा ? यह सब अज्ञप्रलपित की भाँति ही है ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोमदेवता ! निरन्तर अखण्ड कल्याणमय प्रभाव वाले वीर ! आपके प्रसाद से हम धन-पुष्टि को देने वाले हों। सम्पूर्ण ऋत्विक् जनों से वरणीय यह संस्कार-क्रिया इन्द्र के निमित्त की जाती है, इससे यह मुख्य है और जगत् की उत्पत्ति का कारण होने से वरुण, मित्र और अग्नि देवता इसके मुख्य सेवक हैं ॥ १४ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१०।१२) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अच्छिन्नस्य'

कीदृशी संस्कृतिः ? विश्ववारा विश्वैः सर्वैर्यत्र सोमो व्रियते ऋत्विग्भिराहुतिभिश्च, विश्वं वा वृणोतीति व्रियमाणः सोमो यत्र, जगदुत्पत्तिबीजत्वात्। स च प्रथमो वरुणः, स च प्रथमो मित्रः, स च प्रथमोऽग्निः, यस्येन्द्रस्यान्येषां देवगणानां प्रभुः। यद्वा सोमस्य वरुणो मित्रोऽग्निश्च स प्रसिद्धो यस्य प्रथमो मुख्यो भक्त इति शेषः। वरुणमित्राग्नयोऽन्येषामप्युपलक्षकाः, देवगणानां यः प्रभुरित्यर्थः। यद्वा—यस्येन्द्रस्य या संस्कृतिः समीचीना कृतिर्विश्ववारा सर्वैर्देवैरादरणीया, सा प्रथमा देवानां मध्ये मुख्या, स प्रथमो मुख्यः, स एवेन्द्रवरुणमित्राग्नयः।

शतपथे तु—'तत्र जपति। अच्छिन्नस्य ते····ददितारः स्यामेत्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते' (श० ४।२।१।२२)। होमात् पुराऽध्वर्योर्यजमानस्य वा मन्त्रजपं विधत्ते—तत्र जपतीति। हे द्योतमान सोम, अच्छिन्नस्य रायस्पोषस्य तादृशस्य ते देवेभ्यो ददितारः स्मः। अत्र सोमदानस्याभिहितत्वात् सोमसाधनकर्मविषयेयं प्रार्थना। अत एतेन मन्त्रोच्चारणेन तामेवाशिषमाशास्ते। 'अथाश्राव्याह। प्रातः प्रातःसवस्य शुक्रवतो मधुश्च्युत इन्द्राय सोमान् प्रस्थितान् प्रेष्येति वषट्कृतेऽध्वर्युर्जुहोति तदनु प्रतिप्रस्थाता तदनु चमसाध्वर्यवः' (श० ४।२।१।२३)। 'तौ वै पुरस्तात्तिष्ठन्तौ जुहुतः। चक्षुषी वा एतौ तत्पुरस्तादेवैतच्चक्षुषी धत्तस्तस्मादिमे पुरस्तच्चक्षुषी' (श०।४।२।१।२४)। 'अभितो यूपं तिष्ठन्तौ जुहुतः। यथा वै नासिकैवं यूपस्तस्मादिमे अभितो नासिकां चक्षुषी' (श० ४।२।१।२५)। मन्त्रजपानन्तरमाश्रावणपूर्वकं प्रैषं विधत्ते—अथाश्राव्याहेति। प्रातःकाले प्रातःसवनसम्बन्धिनः शुक्रवतः सारवतो मधुश्च्युतो माधुर्यरसस्यन्दिन इन्द्रार्थं प्रस्थितान् प्रयतान् सोमान् होतुं होतारं प्रति याज्यापाठार्थं प्रेरयति—प्रस्थितान् प्रेष्येति। मैत्रावरुणं विनियुङ्क्तेत्यर्थः। वषट्कारावसाने ग्रहचमसानां होमं होमार्थं स्थानविशेषं चाह—तौ वा पुरस्तात्तिष्ठन्ताविति। तदनु तद्वचनमनुसृत्य पुरस्तादाहवनीयस्य पूर्वभागे जुहुतः। शुक्रामन्थिग्रहयोश्चक्षुरात्मकत्वात् तयोः पूर्वभागे यद्धारणं तेन लौकिकानामिमे चक्षुषी पुरस्तादेव ध्रियेते। तथा यूपस्योभयपार्श्वयोः स्थित्वा होमकालेऽपि नासिकामुभयतश्चक्षुषी ध्रियेते। यत्र यत्र सौमिका एवर्त्विजश्चमससम्बन्धाच्चमसाध्वर्यव इति व्यपदिश्यन्ते, यथा देवदत्तः पचिसम्बन्धात् पाचक इति प्रतीयते, तथापि मध्यतश्चारिणां चमसाध्वर्यवो होत्रकाणां चमसाध्वर्यव इति षष्ठ्या भेदप्रतीतेरन्य एव चमसाध्वर्यवः। न चैवं शमितेत्यत्रापि यौगिक्याः संज्ञाया अनाश्रयणादन्य एव स्यादिति वाच्यम्, वैषम्यात्। तत्र हि वरणं नास्ति, अत्र तु 'चमसाध्वर्यून् वृणीते' इति वरणमस्ति, षष्ठी च भेदस्य ज्ञापिकेति वैषम्यम्। अन्यत् स्पष्टम्।

'तौ वै वषट्कृतौ सन्तौ मन्त्रेण हूयेते। एतेनो हैतौ तदुदश्नुवाते यदेनौ सर्वꣳ सवनमनु हूयते यद्वेवैतौ सर्वꣳ सवनमनु हूयत एतौ वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां चक्षुषी ह्येतौ सत्यं वै चक्षुः सत्यꣳ हि प्रजापतिस्तस्मादेनौ सर्वꣳ सवनमनु हूयते' (श० ४।२।१।२६)। तौ वषट्कृतौ सन्तौ। वषट्कारेण याज्योपलक्ष्यते। तया दीयमानावपि मन्त्रेणाहूयेताम्। इतरेषां ग्रहाणां होमः केवलं याज्ययैव, अनयोस्तु तदतिरिक्तेन मन्त्रेणापीत्यर्थः। तत्र हेतुः—एनाविति। व्यत्ययेन एनादेशः। सर्वं सवनमनु सर्वस्मिन् सवने, प्रातःसवने मध्याह्नसवने च हूयेते। ऐन्द्रवायवादयो ग्रहा एकस्मिन्नेव सवने हूयन्ते, एतौ ग्रहौ पुनः सवनान्तरेऽपि हूयेते। तदभिप्रायेण सर्वसवनप्रयोगः। एतेनैतौ शुक्रामन्थिनौ तत् समन्त्रकहोमगौरवं प्राप्नुतः। प्रजापतेः प्रत्यक्षतमामतिशयेन सन्निकृष्टौ

इस मन्त्र का यूपखण्ड के प्रक्षेप के बाद पाठ किया जाता है। सायण के मत से यजमान पाठ करता है। वृत्तिकार

प्रजापतेश्चक्षूरूपे। तद्ग्रहयोश्च सत्यत्वाभिधानात् प्रत्यक्षत्वमिति। 'स जुहोति। सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽग्निः स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वांस्तस्मा इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहेति' (श० ४।२।१।२७)। होमानुवादेन मन्त्रं दर्शयति—स जुहोति सा प्रथमेति। मन्त्रस्यायमर्थः—यस्येन्द्रस्यार्थे 'सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमम्' (वा० सं० ४।२०) इत्यादिना मन्त्रेण सोमस्य क्रयरूपा या संस्कृतिः क्रियते, सा प्रथमा, अभिषवादि-संस्काराणां तदनन्तरभावित्वात्। विश्ववारा विश्वैः समस्तैर्ऋत्विग्भिर्वरणीयः। स एव प्रथमसंस्कृतः सोमः स्तूयते। हे अध्वर्यवः, तस्मै इन्द्राय सुतमभिषुतं सोमं स्वाहाकारेण आजुहोत।

अध्यात्मपक्षे—आचार्यरूपधारी मन्त्र आह—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वत्प्रसादाद् वयमच्छिन्नस्य अखण्डितस्य सुवीर्यस्य दिव्यसामर्थ्यवतो रायस्पोषस्य रायः शमदमादिसम्पत्तेर्ब्रह्मविद्याधनस्य वा पोषकस्य गायत्री-पञ्चाक्षर-अष्टाक्षर-द्वादशाक्षरादित्वान्मन्त्रस्येति शेषः। ददितारः समर्पयितारः प्रचारकाः स्याम। सा प्रसिद्धा प्रथमा मुख्या संस्कृतिः संस्कारः, सा च विश्ववारा सर्वैर्वरणीया, तामन्तरा पुरुषार्थासिद्धेः। हे देव, वरुणो मित्रोऽग्निस्त्वदीयः प्रथमो मुख्योंऽशः। 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इत्यादिमन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'हे देव! योगजिज्ञासो सोम, प्रशस्तगुणशिष्य, वयमध्यापकास्ते तुभ्यं सुवीर्यस्याच्छिन्नस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम। शोभनानि वीर्याणि पराक्रमाणि यस्मात्, रायः सर्वविद्याजनितस्य बोधधनस्य पोषस्य पुष्टेर्दातारः स्याम। सा प्रथमा आदिमा संस्कृतिर्विद्यासुशिक्षाजनिता नीतिः, विश्ववारा सर्वैरेव स्वीकर्तुं योग्या, सा तुभ्यं सुखदा अस्तु। योऽस्माकं मध्ये वरुणः श्रेष्ठोऽग्निरिवाध्यापकोऽस्ति, स प्रथमस्ते मित्रो भवतु' इति, तदपि वेदबाह्यमेव व्याख्यानम्, देवपदस्य योगजिज्ञासुः, सोमपदस्य प्रशस्तगुणशिष्य इत्यर्थकत्वे मानाभावात्। संस्कृतिपदस्य विद्यासुशिक्षाजनिता नीतिरित्यपि निर्मूलमेव। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वोक्तव्याख्यानेन स्फुट एव॥ १४॥

के मत से अध्वर्यु मन्त्रपाठ करता है। 'सा प्रथमा संस्कृतिः' इत्यादि मन्त्र से शुक्र एवं मन्थि ग्रह का हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—आचार्य रूपधारी मन्त्र कहता है कि हे साम्ब सदाशिव! आपकी कृपा से हम अखण्डित, दिव्य सामर्थ्यवान्, शम, दम आदि सम्पत्ति अथवा ब्रह्मविद्या रूपी धन के तथा गायत्री, पञ्चाक्षर, अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर आदि पोषण करने वाले आपके मन्त्रों के समर्पक, प्रचारक हों। वही सुप्रथित मुख्य संस्कार है तथा सबके द्वारा प्रार्थ्य है, क्योंकि उसके बिना पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती। हे देव! वरुण, मित्र, अग्नि आदि आपके मुख्य अंशभूत हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या वेदबाह्य ही है। देव शब्द का 'योगजिज्ञासु' अर्थ तथा सोम शब्द का 'प्रशस्त गुण से युक्त शिष्य' अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। संस्कृति शब्द का 'विद्या, सुशिक्षा से उत्पन्न नीति' अर्थ करना भी निर्मूल है, श्रुति तथा सूत्र के वचनों का विरोध तो स्पष्ट ही है॥ १४॥

स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वांस्तस्मा इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहा।
तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहाऽयाडग्नीत् ॥ १५ ॥

स प्रसिद्धः, चिकित्वान् चेतनावान् उत्कृष्टधीर्बृहस्पतिर्यस्येन्द्रस्यान्येषां मन्त्रिगणानां मध्ये प्रथमो मुख्यो मन्त्रीति शेषः। तस्मै इन्द्राय सुतमभिषुतं सोममाजुहोत स्वाहा स्वाहाकारेण आभिमुख्येन जुहुत होमं कुरुत। 'तृम्पन्त्विति जपतीति' (का० श्रौ० ९।११।११)। हुत्वा तृम्पन्त्विति मन्त्रमध्वर्युर्जपेत्। होत्रादेवतं यजुः। होत्राश्छन्दोभिमानिन्यो देवतास्तृम्पन्तु तृप्ता भवन्तु, 'तृम्प प्रीतौ'। होत्राशब्देन हौत्रिकयाज्याच्छन्दांस्यभिधीयन्ते। ताः काः? या मध्वः, मधु सोममित्यौपमिकम्। मधुनो मधूपमस्वादस्य सोमस्य स्विष्टाः साधु इष्टाः, तद्धोमे नियुक्तत्वात्। याश्च होत्राः सुष्ठु प्रीताः साधु प्रीताः। कथं तासां सुप्रीतत्वं ज्ञायत इति चेत्, सुहुता यत्स्वाहा यद् यस्मात् स्वाहाकारेण साधु हुता होमार्थं नियुक्ता इत्यर्थः। 'होतारं प्रत्यङ्ङुपसीदत्ययाडग्नीदिति' (का० श्रौ० ९।११।१२)। ततोऽध्वर्युरग्नीच्च चमसहस्त एव सदस्यागत्य अयाडग्नीदिति मन्त्रेण प्रत्यङ्मुखो होतृसमीपे उपविशेद् भक्षणार्थम्। होतृदैवतम्। अग्नीद् अयाड् अयाक्षीद् अग्नीध्रा यागः कृत इत्यध्वर्युर्होतुराचष्टे। यद्वा मधुनो मधुरोपेतस्य सोमस्य यद्रसरूपं द्रव्यं स्विष्टं सुष्ठ्वपेक्षितम्, यत् स्वाहाकृतं तद् दृष्ट्वा होत्रा यष्ट्र्या देवतास्तृप्यन्त्विति सायणाचार्यः।

शतपथे—'स यज्जुहोति। सा प्रथमा स प्रथम इति शश्वद्ध वै रेतसः सिक्तस्य चक्षुषी एव प्रथमे सम्भवतस्तस्माज्जुहोति सा प्रथमा स प्रथम इति' (श० ४।२।१।२८)। मन्त्रे प्रथमशब्दप्रयोगस्य तात्पर्यमाह—स यज्जुहोति सा प्रथमा स प्रथम इति। शश्वत् सर्वदा सिक्तस्य रेतसः सकाशाच्चक्षुषोरेव प्रथमोत्पत्तेश्चक्षूरूपयोः शुक्रामन्थिग्रहयोर्होममन्त्रेऽपि तत्प्राथमिकत्वसूचनाय सा प्रथमा स प्रथम इति प्रथमशब्दप्रयोगः। 'अथ सम्प्रेष्यति। प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणां प्र यजमानस्य प्रयन्तु सदस्यानाᳫँ होत्राणां चमसाध्वर्यव उपावर्तध्वᳫँ शुक्रस्याभ्युन्नयध्वमिति सम्प्रैष एवैष पर्येत्य प्रतिप्रस्थाताध्वर्योः पात्रे सᳫँस्रवमवनयत्यत्र एवैतदाद्यं बलिᳫँ हारयति तमध्वर्युर्होतृचमसेऽवनयति भक्षाय वषट्कर्तुर्भक्षः प्राणो वै वषट्कारः सोऽस्मादेतद्वषट्कुर्वतः पराङिवाभूत् प्राणो वै भक्षस्तत्प्राणं पुनरात्मन् धत्ते' (श० ४।२।१।२९)। होमानन्तरं कर्तव्यमध्वर्योः प्रैषमाह—अथ सम्प्रेष्यतीति। प्रेष्यति तत्कर्तव्ये विनियुङ्क्ते। मैत्रावरुणो ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा आग्नीध्रश्चेत्येते होत्राशब्देन विवक्षिताः। होत्राशब्दोऽपि नियतस्त्रीलिङ्गः। होतुश्चमसः प्रैतु, ब्रह्मणश्चमसः प्रैतु, उद्गातॄणां चमसः प्रैतु, यजमानस्य चमसः प्रैतु। एवं सदस्यानां होत्राणां चमसाध्वर्यव उपावर्तध्वमित्येष सम्प्रैष एषः। आपस्तम्बोऽपि—'तस्मै चमसाध्वर्यवः स्वं स्वं चमसं द्रोणकलशादभ्युन्नीय हरन्ति' इति। चमसाध्वर्यवः सचेतनास्तद्भागोऽयं सम्प्रेषोऽस्ति, चमसानामचेतनत्वेन प्रेषावधारणसामर्थ्यविरहात्। तद्भागेऽदृष्टार्थ

मन्त्रार्थ—वह अनुपम चेतनावान् महाबुद्धिसम्पन्न बृहस्पति देवताओं के मन्त्री हैं। इन्द्र के उद्देश्य से यह प्रस्तुत सोम रस आहुत होता है। यह आहुति भली प्रकार स्वीकार हो, इसके लिये स्वाहाकार का उच्चारण करते हुए हवन करो। छन्दों के अभिमानी वे देवता तृप्त हों, जो मधुर स्वाद वाले सोम को पीकर अत्यन्त प्रसन्न हैं। ये सब स्वाहाकार द्वारा होम के निमित्त नियुक्त हुए हैं। इनके कारण शुक्रग्रह सोमरस से सम्पन्न हुआ है ॥ १५ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।११।९-१०) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'स प्रथमः' इस

इत्येतां शङ्कां निरसितुमाह—सम्प्रैष एवैष इति। यद्यपि तेऽचेतनास्तथापि तद्व्यापारेण तेषां नयने नियुक्ताः पुरुषा लक्ष्यन्ते। यथा कुम्भाः प्रविशन्तु। तस्मादेष सर्वोऽपि प्रैषः। प्रतिप्रस्थाताऽध्वर्युपात्रे शेषस्यावनयनं विधत्ते—पर्येत्य प्रतीति। पर्येत्य परि आहवनीयस्य पश्चाद्भागमेत्य गत्वा संस्रवं होमशेषमवनयन्ति। एतद् एतेन होमशेषावनयनेन अत्त्रे भोक्तृवर्गाय आद्यं बलिं भोगरूपां पूजां हारयति, मन्थिग्रहस्य भोगरूपस्य चन्द्रात्मकत्वादित्यर्थः। अध्वर्युपात्रात् सोमं भक्षार्थं होतृचमसेऽवनयेदित्याह—तमध्वर्युरित्यादिना। वषट्कर्तुर्होतुर्भक्षणं प्रसिद्धम्, 'वषट्कर्ता प्रथमः सन् सर्वभक्षान् भक्षयति' (ऐ० ब्रा० ३।२२) इति श्रुतेः। 'प्राणो वा एष वषट्कारः' इति वषट्कारस्य प्राणत्वं श्रूयते ऐतरेयके। पराङिव पराङ्मुखो निर्गतोऽभूदित्यर्थः। भक्षणस्य प्राणत्वं पुष्टिहेतुत्वादिति।

'अथ यदेते प्रतीची पात्रे न हरन्ति। हरन्त्यन्यान् ग्रहांश्चक्षुषी ह्येते सꣳस्रवमेव होतृचमसेऽवनयति' (श० ४।२।१।३०)। पूर्वस्मिन् वाक्ये होतृचमसेऽवनयति भक्षायेत्यनेन शुक्रामन्थिग्रहयोः सदः प्रति गमनं निवारितम्, सदोगमनस्य भक्षणार्थत्वाद् भक्षणस्य होतृचमसेनैव सिद्धत्वादिति तदनूद्य तत्रोपपत्तिमाह—अथ यदेते पात्रे प्रतीची न हरन्ति सदः प्रति न हरन्त्यध्वर्यव इति यत् तत्कारणमुच्यते। पात्रशब्देन तदन्तर्वर्तिनौ शुक्रामन्थिग्रहौ चक्षुरात्मकावित्युक्तम्, 'चक्षुषी ह वा अस्य शुक्रामन्थिनौ' (श० ४।२।१।१)। तथा चक्षुषोः पुरत एवावस्थानात् तदात्मकयोरपि पुरत एवावस्थानं युक्तम्, न तु प्रत्यग्गमनम्। भक्षणं तु होतृचमसे शेषस्यावनीतत्वात् सिद्धयतीत्यर्थः। 'अथ होत्राणां चमसानभ्युन्नयन्ति हुतोच्छिष्टा वा एते सꣳस्रवा भवन्ति नालमाहुत्यै तानेवैतत्पुराप्याययन्ति तथालमाहुत्यै भवन्ति तस्माद्धोतॄणां चमसानभ्युन्नयन्ति' (श० ४।२।१।३१)। होतृचमसे शेषावनयनानन्तरं होत्रकाणां चमसाभ्युन्नयनं सहेतुमाह संस्रावणीयाः प्रतिपत्त्यर्हाः, अतस्तादृशाः सन्त आहुत्यै नालं भवन्ति न पर्याप्ता भवन्तीति तानेवैतत् पुनराप्याययन्ति। तथा सत्यलमाहुत्यै भवन्ति तस्माद्धोत्राणां चमसानभ्युन्नयन्ति। 'अथ होत्राः संयाजयन्ति। होत्रा वै युक्ता देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ता एवैतत्सन्तर्पयन्ति तृप्ताः प्रीता देवेभ्यो यज्ञं वहानिति तस्माद्धोत्राः संयाजयन्ति' (श० ४।२।१।३२)। होत्रकाणां याजनं विधत्ते— अथ होत्रा इति। चमसाभ्युन्नयनानन्तरं होत्रा होत्रकान् मैत्रावरुणादीन् संयाजयन्ति। यद्यध्वर्यवो याजयेयुर्होत्रा मैत्रावरुणादयो नियुक्ताः सन्तो देवार्थं यज्ञं वहन्ति, तेषां याज्यादिपाठादिना यज्ञनिष्पत्तेर्यज्ञवाहकत्वात्। तद् एतेन संयाजनेन मैत्रावरुणादीन् सन्तर्पयन्ति तृप्तान् कुर्वन्ति, यजमानेन तेषां सोमशेषभक्षणस्य सम्पादनात्। तर्पयतां चाशयः—तृप्तास्तृप्तिं प्राप्ताः, प्रीता हृष्टा देवेभ्यो यज्ञं वहन्त्विति। वहान् इति लेट्, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागः। तस्माद्धोत्राः संयाजयन्ति।

'स प्रथमायां वा होत्रायामिष्टायामुत्तमायां वानुमन्त्रयते तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहेति होत्राणामेवैषा तृप्तिरथेत्य प्रत्यङ्ङुपविशतीत्ययाडग्नीदित्यग्नीद्धयत्र यजतामुत्तमः संयजति तस्मादाहायाडग्नीदिति' (श० ४।२।१।३३)। प्रथमहोत्रकस्योत्तमहोत्रकस्य वा याज्यापाठानन्तरं हुत्वाध्वर्युर्मन्त्रयेदत्याह—स प्रथमायां होत्रायामिष्टायां प्रथमे होत्रके वषट्कृते यागे सति सुमन्त्रयेदध्वर्युः। शतपथीयसायणभाष्यरीत्या समस्तस्य मन्त्रस्यायमर्थः—यस्येन्द्रस्यार्थे सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोममित्यादिना (वा० सं० ४।२०) मन्त्रेण सोमस्य क्रयणरूपा संस्कृतिः क्रियते, सा प्रथमा, अभिषवादिसंस्काराणां तदनु भावित्वात्।

कण्डिका के मन्त्रों से अध्वर्यु द्वारा इनका वाचन तथा चमस-भक्षण के लिये उपवेशन आदि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं।

विश्ववारा विश्वैः समस्तैर्ऋत्विग्भिर्वरणीया, स एव प्रथमसंस्कृतः सोमो वरुणादयो देवाः। स एव चिकित्वानभिज्ञो बृहस्पतिरपीति सर्वदेवात्मना सोमः स्तूयते। हे अध्वर्यवः, तस्मा इन्द्राय सुतमभिषुतम्, इमं सोमं स्वाहाकारेण आजुहोत होममाहारयत। यद् यस्माद् मया स्वाहाकृतम्, अतो मद्द्वारा सुहुताः सुप्रीताः स्विष्टा या होत्रा मध्वो मधुवन्मधुररसस्य सोमस्य सकाशात् तृम्पन्तु तृप्यन्तु। होत्राणामेवैषा तृप्तिर्नान्येषाम्। होत्राशब्दो मन्त्रे उच्चारितः। चमसहोमानन्तरं सदो गत्वा 'अयाडग्नीत्' इत्येतद्वाक्यमुक्त्वा प्रत्यङ्मुख उपविशेत्। उव्वटादिरीत्या होत्राशब्देन होत्रिकयाज्याच्छन्दोऽभिमानिन्यो देवता विवक्षिताः। शतपथीयसायणभाष्यरीत्या तु मैत्रावरुणो ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा आग्नीध्रश्च होत्रापदव्यपदेश्याः। 'होत्राणां चमसानभ्युन्नयन्ति' (श० ४।२।१।३१) इति श्रुत्यापि मैत्रावरुणादय एव होत्राः प्रतीयन्ते। यद्यप्यत्र विरोधो भाति, तथापि मैत्रावरुणादिप्रयुक्तयाज्यायामपि गौण्या वृत्त्या होत्रापदप्रयोगो न विरुद्ध्यते।

अध्यात्मपक्षे—स वेदादिप्रसिद्धः परमेश्वरः, प्रथमो मुख्यः, बृहस्पतिर्बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पतिः, तदीयमहातात्पर्यविषयत्वात्। चिकित्वान् सर्वज्ञः। तस्मै इन्द्राय परमैश्वर्यशीलाय, हे ऋत्विजो भक्ताः, स्वाहा स्वाहाकारेण सर्वस्वात्मनिवेदनेन आजुहोत आभिमुख्येन जुहोत होमं कुरुत। होत्रा याज्याच्छन्दोभिमानिन्यो देवतास्तृम्पन्तु त्वत्स्तुत्या कृतार्था भवन्ति। कीदृश्यस्ताः? मधूपमस्य मधुविद्याप्रतिपाद्यस्य याः साधुतया इष्टाः प्रियाः सुप्रीताः, याश्च तत्प्रतिपादनेन प्रीताः प्रसन्नाः, यत्सुहुता याश्च स्वाहाकारेण सुहुता होमार्थं नियुक्ताः, ता देवतास्त्वत्स्तुत्या तृप्यन्तु। अयाडग्नीद् अग्नीदुपलक्षित ऋत्विक्समूहः, तमेवेन्द्रमयाड् अयाक्षीत्। भूतकालोऽविवक्षितः। सर्वदैवतमेव यजतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे शिष्याः, यूयं यथा स पूर्वोक्तो मित्रः प्रथमश्चिकित्वान् बृहस्पतिर्बृहत्या विद्यायुक्ताया वाचः पालकः, यस्मै प्रयतेत तस्मै इन्द्राय स्वाहा सुतमाजुहोत। तथा तद्या होत्राः स्वीकर्तुमर्हाः, या मध्वः स्विष्टाः, याः सुहुताः सुष्ठु हुतानि योगादानरूपाणि कर्माणि, याभिर्योगिनीभिः स्त्रीभिस्ताः सुप्रीताः स्त्रियोऽग्नीत् कश्चिद्योगी च स्वाहाऽयाट् तथाभवनास्तृम्पन्तु' इति, हिन्द्यां तु—'शोभनया वाचा हे शिष्याः, यूयं पूर्वमन्त्रोक्तः प्रथममित्रश्चिकित्वान् सर्वविद्यायुक्ताया वाचः पालको यस्यैश्वर्यस्यार्थे प्रयतते तस्मै इन्द्राय ऐश्वर्याय स्वाहा सत्यां वाचं सुतं निष्पादितं श्रेष्ठव्यवहारम्, आजुहोत सम्यग् गृह्णन्तु। तथा या होत्रा योगस्वीकारार्हा याश्च माधुर्यादिगुणयुक्ताः शोभनाः कामाः सम्पद्यन्ते याभिस्ताः स्विष्टा याश्च सुहुता याभ्यश्च हवनादिकर्माणि सिद्ध्यन्ति,

---

शतपथ ब्राह्मण आदि में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—वह वेदादि द्वारा प्रसिद्ध परमेश्वर मुख्य, वेदरूपिणी वाणी का पालक, सर्वज्ञ है। हे भक्तों, उस परमैश्वर्यशाली के लिये सर्वस्वात्मनिवेदन के द्वारा अभिमुख होकर यजन करें। याज्या छन्दों की अधिष्ठात्री देवियाँ मधु के समान साधुता से प्रहर्षित हैं तथा जो मधुविद्या के प्रतिपादन से प्रसन्न हैं, जो स्वाहाकार के द्वारा होम के लिये विनियुक्त हैं, ऐसी देवियाँ तुम्हारी स्तुति से तृप्त हों, कृतार्थ हों। आग्नीध्र आदि सभी ऋत्विक् उसी सर्वदेवमय परमेश्वर का यजन करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अग्राह्य है, क्योंकि वैसा अर्थ वेद से ही अधिगत न होने के कारण अवेदार्थ है। शिष्यों को संबोधित करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। इन्द्र शब्द से परम ऐश्वर्यवान् देवविशेष का ही ग्रहण होता है, ऐश्वर्य का ग्रहण नहीं किया जाता, क्योंकि उस अर्थ के बोधन में शब्द की शक्ति नहीं है। स्वाहा

याश्च सदा प्रसन्ना भवन्ति, ता निपुणाः स्त्रीजना अग्नीत् श्रेष्ठप्रेरणाप्राप्तयोगी यथा सत्यया वाचा सर्वान् तर्पयति, तथैव ताभिः स्त्रीभिस्तेन च योगिना समानास्तृप्यन्तु' इति, तदुभयमपि यत्किञ्चित्, तादृशस्यार्थस्य वेदैकसमधिगम्यत्वाभावेनावेदार्थत्वात्, शिष्याः सम्बोधनीया इत्यत्र मानाभावाच्च। इन्द्रपदेनापि परमैश्वर्यवानिन्द्रो देवविशेषो गृह्यते, न त्वैश्वर्यम्, तत्र तस्याशक्तत्वात्। स्वाहेतिपदेन सत्यवाणीग्रहणं सुतशब्देन निष्पादितश्रेष्ठ-व्यवहारस्य ग्रहणं चापि निर्मूलम्। होत्राः स्वीकर्तुमर्हा इति प्रोक्तम्, हिन्द्यां तु योगस्वीकारार्हा इत्युक्तम्। एतच्च विप्रतिषिद्धम्। तादृश्यः स्त्रियो न तृप्तौ सम्भवन्त्युदाहरणम्। न च सम्प्रतिपन्नमुदाहरणम्। अग्नीत्पदस्य योगीत्यर्थोऽपि चिन्त्यः। श्रुतिसूत्रपद्धतिविरोधस्तु पूर्वोक्तसिद्धान्तव्याख्यानेनैव स्पष्टः ॥ १५ ॥

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने। इममपाᳬ सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति। उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा ॥ १६ ॥

'मन्थिनमयं वेन इति' (का० श्रौ० ९।६।१३)। मन्थिग्रहं गृह्णीयात् 'अयं वेन' इति मन्त्रेण। सोम्या त्रिष्टुभा अनया अधिदैवमधियज्ञं चावस्थितः सोमः स्तूयते। 'वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः' (नि० १०।३८)। अयं चन्द्रो वेनः कान्तोऽभीष्टः, 'विनि कान्तौ' इति धातोर्निष्पन्नत्वात्। पृश्निरादित्यस्तस्य गर्भभूता आपः। प्रश्नोत्तराभ्यामस्यार्थस्यान्यत्र श्रूयमाणत्वात्। क्वेमा आपोऽनिमिषन्तो यदितो यान्ति सम्प्रतीति प्रश्नः। 'आपः सूर्ये समाहिताः' (तै० आ० ३०।१।८)। अभ्राण्यपः प्रपद्यन्त इत्युत्तरम्। अयं वेनः पृश्निगर्भा पृश्नि-रादित्यो द्युलोको वा गर्भोऽवस्थितिस्थानं यासां ता द्युलोकस्थाः सूर्यस्था वा। अपो जलानि चोदयत् चोदयति, वर्षतीत्यर्थः। कीदृशोऽयं ज्योतिर्जरायुः, ज्योतिर्विद्युल्लक्षणं तेजो जरायुर्जरायुवद्वेष्टनम्, 'जरायुर्गर्भवेष्टनम्, यस्यासौ ज्योतिर्जरायुः। ज्योतिरस्य चन्द्रस्य जरायुस्थानीयमाच्छादकमित्यर्थः। कुत्र स्थितः ? रजस उदकस्य विमाने निर्माणस्थानेऽन्तरिक्षेऽवस्थितो ग्रीष्मान्ते पृश्निगर्भा अपश्चोदयत् चोदयति। नन्वपां सूर्ये गर्भीभावः कथं सम्पन्न इति चेदत्रोच्यते—विप्रा मेधाविन ऋत्विजोऽपां सूर्यस्य च सङ्गमे निमित्तभूते सतीमं चन्द्रं शिशुं न स्तनन्धयं शिशुमिव क्षीरादिना लालयन्तो मतिभिर्मन्त्रसहिताभिराहुतिभिर्लिहन्ति यजन्तीत्यर्थः। आहुतिदेवताभि-रिमा आपो नीयन्ते, एतदेवाभिप्रेत्य श्रूयते—भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय इति। यद्वा इदानी-मधियज्ञं लतात्मना सोमः स्तूयते। विप्रा मेधाविनो ब्राह्मणा इमं सोमं शिशुं न शिशुमिव मतिभिस्तत्पूर्वाभिर्वाग्भी

शब्द से सत्य वाणी तथा सुत शब्द से श्रेष्ठ व्यवहार का ग्रहण करना भी अप्रामाणिक है। 'होत्राः' शब्द का अर्थ संस्कृत में 'स्वीकार योग्य' तथा हिन्दी में 'योगस्वीकारार्ह' किया गया है, यह परस्पर मेल नहीं खाता। अग्नीत् शब्द का योगी अर्थ भी शोचनीय है। श्रुति, सूत्र तथा पद्धति ग्रन्थों का विरोध तो पूर्वोक्त व्याख्यान से ही स्पष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—यह विद्युत् लक्षण वाली ज्योति से वेष्टित कान्तिमान् चन्द्र जल के निर्माण करने में जल को प्रेरित करता है। बुद्धिमान् ब्राह्मण सूर्य से जल की संगति के समय इस सोम की प्रिय पुत्र के समान बुद्धिपूर्वक वाणियों से स्तुति करते हैं। हे सप्तम ग्रह ! तुम उपयाम पात्र द्वारा गृहीत हो, मर्क असुर के निमित्त तुम्हें स्थापित करता हूँ ॥ १६ ॥

भाष्यसार—'अयं वेनः' इस मन्त्र से मन्थि ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन

रिहन्ति स्तुवन्ति स्तोत्रशस्त्ररूपाभिः। कीदृशं सोमम्? सूर्यस्यापां च सङ्गमे गृहीताभिरद्भिरभिषुतमिति शेषः। सोमाभिषवार्थं वसतीवर्य आपोऽपां सूर्यस्य च सङ्गमे गृह्यन्ते, 'ता वै वहन्तीनां स्यन्दमानानां गृह्णीयाद्दिवा गृह्णीयात्' इति श्रुतेः। परमात्मनः सङ्गमेऽन्योन्याध्यासलक्षणे सम्बन्धे मतिभिर्बुद्धिभिस्तत्साक्षितया शिशुं शंसनीयं शिशुमिव रिहन्ति स्तुवन्ति। हे परमात्मन्, त्वमुपयामैर्यमैर्नियमैरनुरागैश्च प्रत्यगात्मतया गृहीतो भवसि। मर्काय जीवनाय त्वां गृह्णामि। मर्चति चेष्टत इति मर्को जीवः। हे सोमरस, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। उपयामयतीत्युपयामो ग्रहस्तेन गृहीतोऽसि, मर्कः शुक्रपुत्रोऽसुरपुरोहितस्तस्मै त्वां गृह्णामीति शेषः। शतपथे च—'अथ मन्थिनं गृह्णाति। अयं वेनश्चोद.....'(श० ४।२।१।१०)।

अध्यात्मपक्षे—अयमपरोक्षः पराभिन्नः प्रत्यगात्मा वेनः कान्तः सर्वाभिलषितः, सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात्। पृश्निगर्भा द्युलोकगर्भा आदित्यगर्भा वा अपो लोकान्, 'आपो वै लोकाः' इति श्रुतेः। चोदयत् प्रेरयति, तस्यैव सर्वान्तर्यामित्वात्। क्वेति जिज्ञासायां रजस उदकस्य निर्माणस्थान आकाशे, तत्रैव सर्वलोकानां सत्त्वात्। कीदृशोऽयं वेनः? ज्योतिषां बाह्यानां सूर्यचन्द्रादीनामान्तराणां मनोबुद्धीन्द्रियादीनां जरायुवदाच्छादकः, तत्र तेषामप्रकाशत्वात्, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' (श्वे० उ० ६।१४), 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः' (केनो० १।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अथवा ज्योतींषि जरायुवदाच्छादकानि यस्य सः। तैरप्रकाश्यत्वादेवेमं तथाविधमात्मानं विप्रा अपां सूर्यस्य लोकानां तच्छासकस्य परमात्मनः सङ्गमेऽन्योन्याध्यासलक्षणे सम्बन्धे मतिभिर्बुद्धिभिस्तत्साक्षितया शिशुं शंसनीयं शिशुमिव रिहन्ति स्तुवन्ति। हे परमात्मन्, त्वमुपयामैर्यमैर्नियमैरनुरागैश्च प्रत्यगात्मतया गृहीतो भवसि। मर्काय जीवनाय त्वां गृह्णामि। मर्चति चेष्टत इति मर्को जीवः।

दयानन्दस्तु—'हे शिल्पविद्विद्वन्, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। अहं रजसो लोकसमूहस्य मध्ये पृश्निगर्भा लोका इव ज्योतिर्जरायुरिवायं वेनश्चोदयदिमं चन्द्रमपां सूर्यस्य सङ्गमे शिशुं विप्रा मतिभी रिहन्ति, नेव मर्काय दुष्टानां प्रशमनाय श्रेष्ठव्यवहारस्थापनाय च विमाने त्वां गृह्णामि' इति, हिन्दीभाष्ये तु—'हे शिल्पविधिज्ञ सभाध्यक्ष, त्वमुपयामगृहीतोऽसि सेनादिभी राज्याङ्गैर्युक्तोऽसि। अहं रजसो लोकानां मध्ये पृश्निगर्भा पृश्निरन्तरिक्षं गर्भो येषां तान् ज्योतिर्जरायुरिव ज्योतिषां जरायुरिवाच्छादकस्तारागणानाच्छादयन् अयं वेनः

श्रौतसूत्र (९।६।१२) में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्र-व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—यह अपरोक्ष, पराभिन्न, प्रत्यगात्मा समस्त प्राणियों का परम प्रेमास्पद होने के कारण सबके द्वारा अभिलषित, द्युलोकगर्भ अथवा आदित्यगर्भरूपी सर्वान्तर्यामी होने के कारण लोकों को उदक के निर्माणस्थान आकाश में प्रेरित करता है, वही समस्त लोकों में विद्यमान है। यह वेन बाह्य सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियों का तथा आभ्यन्तर मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि का गर्भवेष्टन की भाँति आच्छादन करने वाला है। अथवा ज्योतियाँ ही गर्भवेष्टन की भाँति इसको ढक लेती हैं। उनके द्वारा अदृश्य होने के कारण ही इस आत्मा को विद्वान् लोग लोकों के शासक परमात्मा के अन्योन्याध्यासरूपी सम्बन्ध में बुद्धियों के द्वारा उसकी स्तुति करते हैं। हे परमात्मन्! आप यम, नियम तथा अनुराग के द्वारा प्रत्यगात्मरूप से ग्रहण किये जाते हैं। जीवन के लिये आपका ग्रहण करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में शिल्पवेत्ता विद्वान् को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण व्यर्थता है। हिन्दी में 'वही सभाध्यक्ष है' यह भी कहा गया है। सभी अध्यक्ष शिल्पवेत्ता नहीं होते और न ही सभी

कमनीयश्चन्द्रश्चोदयति यथायोग्यं स्वस्वमार्गेऽभियोजयति, इमं चन्द्रमपां सूर्यस्य च सङ्गमे संग्राम आकर्षणादिविषयेषु शिशुं न शासनीयशिक्षायोग्यबालकं विप्रा मतिभिः स्वबुद्धिभी रिहन्ति सत्कुर्वन्त इवादरेण गृह्णन्ति। अहं च मर्काय मृत्युनिमित्ताय वायवे दुष्टानां शमनाय सद्व्यवहारस्थापनाय विमाने मानरहितेऽनन्तेऽन्तरिक्षे विविधयाननिर्माणाय त्वां करोमि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शिल्पविद्विदुषः सम्बोध्यत्वे मानाभावात्। हिन्द्यां तु 'स एव सभाध्यक्षः' इत्यप्युक्तम्। न च सर्वोऽध्यक्षः शिल्पविद्भवति। न वा शिल्पवित्सर्वः सभाध्यक्षो भवति। न चासौ राज्याङ्गसेनादिभिः संयुक्तो भवति, न वा शिल्पविदश्चन्द्रवत्कमनीयो भवति। 'चन्द्रमसो नक्षत्राणां स्वस्वमार्गप्रेरकः' इत्यपि रिक्तं वचः, प्रमाणाभावात्। एवमपां सूर्यस्य सङ्गमे आकर्षणादिषु शिक्षायोग्यबालकं विप्राः स्वबुद्धिभिः सत्कुर्वन्त इवादरेण गृह्णन्तीत्यस्य किं कर्मेति न स्पष्टम्। तथैव मर्कपदस्य दुष्टानां प्रशमनं सद्व्यवहारस्थापनं चेत्यर्थोऽपि निर्मूल एव। यत्तु—'वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः। तस्यैषा भवति' (नि० १०।३८), 'अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा'''अप इति वा ज्योतिर्जरायुर्ज्योतिरस्य जरायुस्थानं भवति जरायुर्जरया गर्भस्य यूयत इति वेममपां सङ्गमने सूर्यस्य च शिशुमिव विप्रा मतिभी रिहन्ति लिहन्ति स्तुवन्ति'''वा। शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणश्चिरलब्धो गर्भो भवति' (नि० १०।३९) इति निरुक्तोद्धरणम्, तदपि निरर्थकमेव, तदनुकूलस्यार्थस्यानिरूपणात् ॥ १६ ॥

मनो॒ न येषु॒ हव॑नेषु ति॒ग्मं विपः॒ शच्या॑ वनु॒थो द्रव॑न्ता। आ यः शर्या॑भिस्तुविनृ॒म्णो अ॒स्याऽश्री॑णीता॒ऽऽदिशं॒ गभ॑स्तावे॒ष ते॒ योनिः॑ प्र॒जाः पा॒ह्यप॑मृष्टो॒ मर्कौ॑ दे॒वास्त्वा॑ मन्थिपा॒ः प्रण॑यन्त्व॒नाधृ॑ष्टासि ॥ १७ ॥

'सक्तुभिः श्रीणात्येनं मनो न येष्विति' (का० श्रौ० ९।६।१४)। एनं मन्थिनं ग्रहं सक्तुभिर्लौकिकैः पवित्रेऽन्तर्धाय मिश्रयेन्मनो न येष्विति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। त्रिष्टुप् छन्दः। सोमदैवतम्। मनो न मन इव मनोवेगं क्षिप्रं येषु हवनेषु सोमहोमेषु तिग्ममुत्साहयुक्तं यथा स्यात्तथा, तेजतेरुत्साहकर्मणो निष्पन्नत्वात्। विपो विपश्चितौ मेधाविनावध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ। विपश्चिताविव्यत्र छान्दसः प्रातिपदिकैकदेशलोपः। शच्या कर्मनिमित्तेन। शचीति कर्मनाम। वनुथो वनुतो व्याप्नुवतो युगपत्। वनुथ इति प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुष-

---

शिल्पवेत्ता सभाध्यक्ष होते हैं। 'आदर से ग्रहण करते हैं' इसका क्या कर्म है, यह स्पष्ट नहीं किया गया। मर्क शब्द का अर्थ दुष्टों का शमन तथा सद्व्यवहार का स्थापन किया गया है यह भी अप्रामाणिक है। निरुक्त का जो उद्धरण दिया गया है, वह भी निरर्थक ही है, क्योंकि उसके अनुकूल अर्थ नहीं प्रतिपादित किया गया है ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—लघुहस्त, क्षिप्रकारी, बुद्धिमान्, कर्म के द्वारा मन के उत्साह को बढ़ाने वाले ऋत्विक् जिस सोम रस के हवन में मन के समान तीक्ष्ण उत्साह से विशेष मन लगाये हुए हैं, वे बहुत धन वाले ऋत्विक् सोम को हाथों में रख कर इनको अंगुलियों से सब ओर से सक्तुओं से मिश्रित करते हैं। हे मन्थिग्रह! तुम्हारा यह स्थान है। इस स्थान में स्थित रहकर यजमान की प्रजा की रक्षा करो, मर्क असुर को अपमार्जित करो। हे मन्थि ग्रह, मन्थि ग्रह का पान करने वाले देवता तुमको यज्ञ स्थान में प्राप्त करें, वेदि-श्रोणी अनुपहिंसित हो ॥ १७ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।१३,९।१०।४,६) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'मनो न येषु'

श्छान्दसः । शुक्रामन्थिनौ होमं द्रवन्तौ गच्छन्तौ । तेष्वहोमेषु कर्तव्येषु वनुत इति सम्बन्धः । योऽध्वर्युरश्रीणीत शर्याभिरङ्गुलीभिः । तुविनृम्णः तुवि बहु नृम्णं धनं यस्य स महादक्षिणः । तुवीति बहुनाम । नृम्णमिति धननाम । अस्य मन्थिग्रहस्य । कर्मणि षष्ठी । इमं मन्थिग्रहगतं सोमं सक्तुभिर्यवपिष्टैरश्रीणीत आदिशं प्रतिदिशम् आसमन्ताद् मिश्रयेत । क्वावस्थितस्य सतो मन्थिग्रहस्य ? गभस्तौ पाणौ स्थितस्य, पाणौ स्थितमित्यर्थः । यद्यप्यत्राध्वर्यु-प्रतिप्रस्थातारौ समानकर्माणौ, तथापि यः सक्तुभिः श्रपणं करोति स एव प्रधान इत्याशयः । एष ते योनिः प्रजा यजमानसम्बन्धिनीः पाहि गोपाय । 'अपमृष्टो मर्क इति प्रतिप्रस्थातेति' (का० श्रौ० ९।१०।३) । प्रति-प्रस्थाता प्रोक्षितेन शकलेन मन्थिनमाच्छाद्याप्रोक्षितेनोपमार्ष्टि । अपमृष्टो मर्कः, अपमार्जनीकृतो मर्काख्योऽसुर-पुरोहितः । 'देवास्त्वेति निष्क्रामतो यथालिङ्गम्' (का० श्रौ० ९।१०।४) । प्रतिप्रस्थाता हविर्धानान्निष्क्रामेत् । मन्थिदैवतम् । हे मन्थिग्रह, मन्थिनं ग्रहं पिबन्तीति मन्थिपा देवास्त्वां प्रणयन्तु यजतिस्थानं प्रापयन्तु । अनाधृष्टासीति हे वेदिश्रोणे, त्वमनाधर्षितासीति ।

यद्वा —हे विपो विपश्चितः, येषु सोमहोमेषु मनो न मन इव क्षिप्रं तिग्ममुत्साहयुक्तं यथा स्यात्तथा द्रवन्तौ शुक्रामन्थिनौ शच्या कर्मणा निमित्तेन वनुथो वनुतः प्राप्नुतः, व्यत्ययेन मध्यमः पुरुषः । देवांशभूतेषु होमेषु प्राप्तो यः तुविनृम्णो (निघ० ३।१।२) बहुबलो (निघण्टु २।९।९) मन्थिग्रहोऽस्ति, अस्येमं ग्रहं गभस्तौ पाणौ धृत्वा शर्याभिरङ्गुलीभिरादिशं प्रतिदिशं यवपिष्टैः, अश्रीणीत समन्ताद् मिश्रयत । गभस्तिः पाणिः, 'पाणी वै गभस्ती' इति श्रुतेः । यद्वा विपश्चितोऽध्वर्यवो येषु सोमयागेषु शच्या कर्मनिमित्तभूतेन मनोवत् तिग्मं तीक्ष्णं क्षिप्रं व्याप्नुवन्ति, तथा शुक्रामन्थिनौ ग्रहौ द्रवन्तौ गच्छन्तौ युवां वनुथो युष्मदीयं होमं व्याप्नुथः । तेषु होमेषु कर्तव्येषु यस्तुविनृम्णो बहुधनो बहुदक्षिणोपेतोऽस्ति, अस्य गभस्तौ पाणौ स्थितस्य मन्थिग्रहस्य आदिशं प्रदिशं शर्याभिः स्वाङ्गुलीभिः, आश्रीणीत आश्रयं कुर्वीत । हे मन्थिग्रह, ते तवैष प्रदेशो योनिः स्थानम् ।

अत्र शतपथब्राह्मणम्—'तᳬं सक्तुभिः श्रीणाति । तद्यत् सक्तुभिः श्रीणाति वरुणो ह वै सोमस्य राज्ञोऽ-भीवाक्षि प्रतिपिपेष तदश्वयत्ततोऽश्वः·····समभवत्तस्मादश्वो नाम तस्याश्रु प्रास्कन्दत्ततो यवः समभवत्तस्मादाहु-र्वरुण्यो यव इति तद्यदेवास्यात्र चक्षुषोऽमीयत तेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मात् सक्तुभिः श्रीणाति' (श० ४।२।१।११) । गृहीतस्य सोमरसस्य यवपिष्टैर्मिश्रणं तस्योपव्याख्याने हेतुं चाह— तं सक्तुभिरिति । सक्तुभिः श्रीणातीति यत् तत्कारणमुच्यते । वरुणो ह वै सोमस्य सक्तोर् अक्षि अभिपिपेष तेनाभिपेषणेन तदक्षि अश्वयत् प्रवृद्धमभूत्, 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' । तस्मात् श्वयथात्, श्वयथुरित्युकारस्य व्यत्ययेनाकारः, अश्वः समभवत् तस्मादश्वो नाम । तस्याश्रु प्रास्कन्दत् ततो यवः समभवत् । तस्मादाहुर्वरुण्यो यवः । 'भवे छन्दसि' (पा० सू० ४।४।११०) इति यत्प्रत्ययः । यद्यस्मादस्य सोमस्य चक्षुषः सकाशाद् देवांशरूपममीयत अपगतमभूत्, यदेतेन यवपिष्टमिश्रणेन तेनैवांशेन एनं सोमं समर्धयति तेन च कृत्स्नं सम्पूर्णं करोति । तस्मात् सक्तुभिः श्रपणं प्रशस्तम् । स श्रीणातीति विहितं मिश्रणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—मनो न येष्विति । मन्त्रस्तु व्याख्यात एष त इत्यादिना । श्रुतिर्मन्त्रांशं व्याचष्टे—एष ते योनिः प्रजाः पाहीति सादयति । आद्यो भोग्यवर्गश्चन्द्रात्मकस्य मन्थिनोऽवस्थाभेद इत्युक्तम् (४।२।१।२-३) इत्यत्र शतपथे । प्रजाश्च भोग्याः । अतश्चन्द्रात्मकस्य मन्थिनो भोग्यप्रजारक्षकत्वं मन्त्र आहेत्यर्थः ।

इस कण्डिका के मन्त्रों से मन्थिग्रह में स्थित सोम का सक्तुओं से मिश्रण, ग्रहपात्र का यूपशकल से आच्छादन, हविर्धान मण्डप से निष्क्रमण आदि विधियां अनुष्ठित की जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे—हे विपः ! विपश्चितौ मेधाविनौ श्रीरामलक्ष्मणौ, कृष्णबलरामौ वा, युवां येषु हवनेषु दुष्टनिर्दलनसाधुपरित्राणधर्मस्थापनादिकार्येषु शच्या कर्मणा प्रज्ञया वा मनोवत् क्षिप्रं तिग्मं सोत्साहं यथा स्यात्तथा वनुथो व्याप्नुथः। कीदृशौ युवाम् ? द्रवन्ता तेष्वेव कर्मसु प्रचरन्तौ। तेषु कर्तव्येषु हवनेषु यस्तुविनृम्णो बहुधनः प्रभूतैश्वर्यः प्रभूतबलो वाऽस्ति, अस्येमं गभस्तौ मनोरश्मिषु मनोवृत्तिषु धृत्वा शर्याभिः सर्वाभिरङ्गुलीभिरश्रीणीत आश्रयं कुर्वीत। हे साधक, एष ते योनिः कारणमाश्रयो वा। तदाश्रये प्रजाः सर्वमेव संसारं पाहि पालय। मर्को मर्कोपलक्षितः सर्वोऽपि विघ्नकारकः। अपमृष्टो निरस्तः। मन्थिपा देवा मथ्नातीति मन्थि मनः, तत्पान्ति रक्षन्तीति मन्थिपा देवास्त्वां प्रणयन्तु त्वदिष्टसन्निधानं प्रापयन्तु। हे भक्त्युपेते साधकबुद्धे, त्वमनाधृष्टा अनुपहिंसिता असि भवसि, त्वदाश्रयेणैव साधकसाफल्यमिति यावत्।

दयानन्दस्तु 'हे शिल्पविद्याविचक्षण सभापते विद्वन्, एष ते राजधर्मो योनिर्गृहम्। त्वं यथा तुविनृम्णः, तुवीनि बहूनि नृम्णानि धनानि यस्य सः, प्रजापतिर्विपो विविधं पातीति विपो मेधावी। 'विप इति मेधाविनामसु पठितम्' (निघ० ३।१५)। प्रजाजनश्चैतौ द्वौ युवां येषु हवनेषु धर्मेणैवादानेषु शर्याभिर्गतिभिस्तिग्मं वज्रवत्तीव्रं 'तिग्ममिति वज्रनामसु' (निघ० २।२०)। मनो विज्ञानं न इव द्रवन्ता गन्तारौ सन्तौ शच्या प्रज्ञया 'शचीति प्रज्ञानामसु' (निघ० ३।९)। सह आ वनुथः कामयेथे। वनोतीति कान्तिकर्मसु (निघ० २।६)। इत्थं प्रत्येकः प्रजाजनोऽस्य गभस्तौ अङ्गुल्या निर्देशे 'गभस्तयोऽङ्गुलिनामसु' (निघ० २।५)। आदिशं दिशमभिव्याप्य यथा स्यात्तथा शत्रूनाश्रीणीत श्रीणाति पचति मर्को मरणदुःखदो दुर्नयोऽपमृष्टो दूरीकृतो भवतु। प्रजाः पाहि मन्थिपाः, ये मन्थन्ति शत्रून् तान् वीरान् पान्ति ते मन्थिपा देवा विद्वांसस्त्वां प्रणयन्तु प्रीणयन्तु। हे प्रजे, यतोऽनाधृष्टा अधर्षणीया निर्भया स्वतन्त्रा त्वमसि, तं राजानं सततं रक्ष' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, सर्वस्याप्येतस्यार्थस्य कल्पनाप्रसूतत्वेन वेदबाह्यत्वात्। तथाहि—'शिल्पविद्याविचक्षण सभापते हे प्रजे, तं राजानं सततं रक्षेत्यादिकं निर्मूलमेव, मूले तद्बोधकपदाभावात्। तुविनृम्ण इत्यस्य बहुधनः, विप इत्यस्य च मेधावीति च त्वदुक्तोऽर्थः। तौ शब्दौ प्रजापतिप्रजाजनपरौ कथम् ? सिद्धान्ते तु श्रुतिसूत्रानुसारेण ग्रहीतुं शक्येते। संस्कृतव्याख्याने तु—'येषु हवनेषु धर्मेणैवादानेषु' इत्युक्तम्, हिन्दीव्याख्याने तु हवनादिकर्मस्वित्युक्तम्, तदपि विरुद्धमेव। गभस्तिपदेन निघण्टुरीत्याऽङ्गुलिग्रहणेऽप्यङ्गुलीनिर्देशोऽर्थोसङ्गत एव। 'आदिशं

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे मेधावी श्रीराम एवं लक्ष्मण अथवा श्रीकृष्ण तथा बलराम, आप दोनों जिन दुष्टों के संहार, सज्जनों की रक्षा तथा धर्म की स्थापना आदि कार्यों में, कर्म से अथवा प्रज्ञा से मन के समान शीघ्रता सहित उत्साहपूर्वक उद्युक्त रहते हैं। आप दोनों उन्हीं कर्मों में व्यापृत रहते हैं। उन कर्तव्यों में जो बहुत ऐश्वर्यशाली अथवा अधिक बलवान् हैं, उनको ही मनोवृत्तियों में स्थापित करके सभी अंगुलियों आदि से उनका आश्रय ग्रहण करें। हे साधक ! वही तुम्हारा कारण अथवा आश्रय है। उसके आश्रय में सम्पूर्ण संसार का पालन करो। मर्क आदि सम्पूर्ण विघ्नकारी निरस्त हो गये। मन्थनात्मक मन का रक्षण करने वाले देवगण तुमको इष्टदेव का सान्निध्य प्राप्त करावें। भक्ति से युक्त हे साधक की बुद्धि, तुम अहिंसित हो, क्योंकि तुम्हारे आश्रय से ही साधक की सफलता है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ इस आर्य विचारक की कल्पना से ही उत्पन्न होने के कारण वेदबाह्य होने से गाम्भीर्य-रहित है। हे शिल्पविद्याविचक्षण सभापति, हे प्रजाओं, ये सब संबोधन अप्रामाणिक हैं, क्योंकि मूल मन्त्र में इस अर्थ के बोधक पद नहीं हैं। 'तुविनृम्ण' शब्द का अर्थ बहुत धनवान् तथा 'विपः' का अर्थ मेधावी भी इसी व्याख्या में कहा गया है। फिर उन्हीं शब्दों को प्रजापति तथा प्रजाजन का बोधक मानना कैसे संभव है ? निघण्टु के अनुसार

शत्रून् अश्रीणीत' इत्यत्रापि शत्रुशब्दः कस्य शब्दस्यार्थ इति नोक्तम्, अतस्तदपि निर्मूलमेव। मर्कशब्दस्य मरण-दुःखद इत्यर्थोऽपि निर्मूल एव। दुर्नयस्तु ततोऽपि दूरतरः। श्रुतिसूत्रानुसारी त्वर्थ उक्त एव। 'विप इति मेधाविनामसु' इति निघण्टुवचनं तु विपश्चित्प्रातिपदिकैकदेशलोपमूलकमेवेति मन्तव्यम् ॥ १७ ॥

सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा निरस्तो मर्को मन्थिनोऽधिष्ठानमसि ॥ १८ ॥

'सुप्रजा इति प्रतिप्रस्थातोत्तरमिति' (का० श्रौ० ९।१०।६)। सुप्रजा इति मन्त्रेण प्रतिप्रस्थाता उत्तरं यूपप्रदेशं गच्छेत्। मन्थिदैवतम्। हे मन्थिग्रह सुप्रजाः शोभनप्रजास्त्वं यजमानसम्बन्धिनीः प्रजाः प्रजनयन् रायस्पोषेण धनस्य पोषेण पुष्ट्या सह यजमानमभि यजमानसम्मुखं परीहि परिगच्छ। 'अपरेण यूपमरत्नी सन्धत्तः संजग्मान इति' (का० श्रौ० ९।१०।७)। यूपस्य पश्चात् पुनररत्नी सन्धत्तः शुक्रलिङ्गेनाध्वर्युर्मन्थि-लिङ्गेन प्रतिप्रस्थातेति। दिवा पृथिव्या द्युलोकभूलोकाभ्यां सञ्जग्मानः सङ्गच्छमानः सन् मन्थी मन्थिशोचिषा मन्थिनः स्वस्यैव शोचिषा दीप्त्या, यूयं बिभर्तीति शेषः। 'निरस्तो मर्क इति प्रतिप्रस्थाता' (का० श्रौ० ९।१०।९)। प्रतिप्रस्थाता अप्रोक्षितं यूपशकलं निरस्येद् आभिचारिकम्। मर्कनामासुरपुरोहितो निरस्तो निराकृतः। 'मन्थिन इति प्रतिप्रस्थातेति' (का० श्रौ० ९।१०।१०)। प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितयूपशकलमाहवनीये प्रक्षिपेत्। शकल-दैवतम्। हे यूपशकल, त्वं मन्थिग्रहस्याधिष्ठानमधिकरणमसि।

अत्र शतपथब्राह्मणम् –'अथ प्रतिप्रस्थाता पर्येति। सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीहीत्याद्यो ह्येतमन्वाद्या हीमाः प्रजा विशस्तस्मादाह सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीहीत्यभि रायस्पोषेण यजमानमिति तद्यजमानायाशिष-माशास्ते यदाहाभि रायस्पोषेण यजमानमिति' (श० ४।२।१।१७)। प्रतिप्रस्थाता सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीहीत्याद्यो भोग्यवर्गश्च चन्द्रात्मकस्य मन्थिनोऽवस्थाभेदः। प्रजायमानाः प्रजा भोग्याः सुवीरो वीरानिति तु शुक्रग्रहात्मकस्य सुवीरस्य वीरान् भोक्तॄन् प्रत्युत्पादकत्वमुक्तम्। 'तावपिधाय निष्क्रामतः। तिर एवैना-वेतत्कुरुतस्तस्मादिमौ सूर्याचन्द्रमसौ प्राञ्चौ यन्तौ न कश्चन पश्यति तौ पुरस्तात् परीत्यापोर्णुतः पुरस्तात्तिष्ठन्तौ जुहुत आविरेवैनावेतत् कुरुतस्तस्मादिमौ सूर्याचन्द्रमसौ प्रत्यञ्चौ यन्तौ सर्व एव पश्यति तस्मात्पराग्रेतः सिच्यमानं न कश्चन पश्यति तदु पश्चात् प्रजायमानं सर्व एव पश्यति' (श० ४।२।१।१८)। आहवनीयस्य पश्चाद्भागे ग्रहयोराच्छादनं पुरस्ताद् गत्वा तदपनयनं च विधत्ते—तावपिधाय निष्क्रामत इति। अत्रानन्तरमेवोपात्तत्वेन प्रकृतत्वात् प्रोक्षिताभ्यां शकलाभ्यामपिदध्यातामिति तद्विधानम्। पिधानस्य प्रयोजनं ग्रहयोः प्रागमनसमये

गभस्ति शब्द का अंगुली अर्थ मानने पर भी 'अंगुलिनिर्देश' अर्थ तो असंगत ही है। मर्क शब्द का अर्थ 'मरणदुःखद' करना भी अप्रामाणिक है। श्रुति तथा सूत्र के अनुसार अर्थ हमारे सिद्धान्त पक्ष में बता दिया गया है ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ – हे ग्रह! तुम सुप्रजा हो, यजमान सम्बन्धिनी प्रजा को उत्पन्न करते हुए धन की पुष्टि के साथ यजमान के संमुख आओ। यह मन्थि नामक ग्रह अपनी दीप्ति से द्युलोक और भूलोक के साथ संयुक्त होकर यूप की रक्षा करता है। मर्क असुर दूर चला गया है। हे यूपकाष्ठखण्ड! तुम मन्थि ग्रह के अधिकरण हो ॥ १८ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१०।७-१३) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'सुप्रजाः प्रजा' इस

लोकैरनुपलम्भाय तिरोधानम् । शुक्रामन्थिनौ सूर्यचन्द्रात्मकौ । तयोश्च प्राग्गतिर्न केनचिदुपलभ्यते । अतस्तदात्मकयोरनयोर्ग्रहयोरपि प्राग्गत्या लोकैरनुपलब्धयैव भाव्यम् । पुरस्तात् स्थित्वा आच्छादनमपोर्णुतोऽपनयतः । तस्य प्रयोजनं ग्रहयोराविष्करणम् । सूर्याचन्द्रमसौ च प्राग्गतौ सर्वैरेव दृश्येते, अतस्तदात्मकयोर्ग्रहयोरपि प्राग्भागे प्रकाशनमुपपद्यत इत्यर्थः ।

शाखान्तरेऽपि तथैवाम्नायते—'असौ वा आदित्यः शुक्रश्चन्द्रमा मन्थ्यपिगृह्य प्राञ्चौ निष्क्रामतस्तस्मात् प्राञ्चौ सन्तौ न पश्यन्ति प्रत्यञ्चावावृत्य जुहुतस्तस्मात् प्रत्यञ्चौ यन्तौ पश्यन्ति' (तै० सं० ६।४।१०) । ननु सर्वेषां ग्रहाणां प्रत्यग्गतिरेव प्रसिद्धा, न प्राग्गतिरिति चेदुच्यते—यदा सूर्यश्चन्द्रमाश्च यस्मिन्नक्षत्रे तिष्ठति तदा तेनैव सह प्रत्यग्गच्छति । तत्र प्रवहणवायुवशेन तस्मिन्नक्षत्रे पुरतः शीघ्रं नीयमाने सति स्वयं पश्चाद्धीयते । स तथाविधः सन् ततः प्राचीनेन नक्षत्रान्तरेण युज्यते । सैव प्राग्गतिः । सा तु न केनचिदुपलभ्यते । तदुक्तं ज्योतिःसिद्धान्ते—'पश्चाद् व्रजन्तोऽतिजवान्नक्षत्रैः सततं ग्रहाः । नीयमानास्तु लम्बन्ते तुल्यमेव स्वमार्गगाः ॥' (सूर्यसिद्धान्त म० प्र०) । अथ च प्रागुदितौ सूर्याचन्द्रमसौ प्रत्यगस्तं गत्वा पुनः प्रागुदयाय प्रत्यक्तः सकाशात् पाताले प्राग्गच्छतः । तथा गच्छन्तौ तौ न दृश्येते, भूभागव्यवधानात् । तावेव तु प्रागुदयं गतौ दृश्येते, प्राक्तस्तु प्रत्यग्गच्छन्तौ अव्यवहितत्वात् सर्वैरेव दृश्येते, अतस्तदात्मनोर्ग्रहयोरपि प्राग्गतिसमये सकलाभ्यां पिधानम् । प्रत्यग्गतिसमये तदपनयनम् । यस्मात् प्राग्गमनसमये ग्रहयोराच्छादनं पुरतो गत्वा तदपनयनं कृतम्, तस्माल्लोकेऽपि पराक् पराचीनं सिच्यमानं रेतो न कश्चिदपि पश्यति, पश्चात् प्रत्यगभिमुखं जायमानं तत् सर्व एव पश्यति । 'तौ जघनेन यूपमरत्नी सन्धत्तः । यद्यग्निर्नोद्बाधेत यद्यु अग्निरुद्बाधेताप्यग्रेणैव यूपमरत्नी सन्दध्याताᳪ सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषेत्येवाध्वर्युः संजग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषेति प्रतिप्रस्थाता चक्षुषोरेवैते आरमणे कुरुतश्चक्षुषी एवैतत्सन्धत्तस्तस्मादिमेऽभितोऽस्थिनी चक्षुषी सᳪहिते' (श० ४।२।१।१९) । यूपस्य पश्चात् पुरतो वा तयोः पुनरभिसन्धानं समन्त्रकमाह—तौ जघनेनेत्यादि । उद्बाधेत दहेदित्यर्थः । दिवा पृथिव्या च सङ्गच्छमानः शुक्रग्रहः शुक्रदेवतासम्बन्धिना तेजसा रक्षसामपघातं करोत्विति शेष इति सन्धानमन्त्रार्थः । तथैव दिवा पृथिव्या च सङ्गच्छमानो मन्थिग्रहो मन्थिशोचिषा रक्षसामपघातं करोत्विति । एतेन सन्धानेन चक्षुषोरेव आरमणे सञ्चारस्थाने कुरुतः, एतस्मिन् स्थाने चक्षुषी अपि संहिते कुरुतः । यत एवं तस्माल्लौकिकानां चक्षुषी उभयतोऽस्थिमती संहिते भवतः । 'सोऽध्वर्युः । अप्रोक्षितं यूपशकलं निरस्यति निरस्तः शण्ड इत्येवमेव प्रतिप्रस्थाता निरस्तो मर्क इति तत्पुराहुतिभ्योऽसुररक्षसे अपहतः' (श० ४।२।१।२०) । तेन निरसनेन आहुतिकालात् प्रागेवासुररक्षसे अपहतः, अपगमय्य हिंस्तः । एते चक्षुरात्मकयोर्ग्रहयोः सम्बन्धिन्यौ समिधौ यतोऽतश्चक्षुषी एताभ्यां समिन्धे उज्ज्वलयत्यध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता च । तस्माल्लौकिकानामिमे चक्षुषी प्रकाशमाने भवतः ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वं सुप्रजाः सु शोभना ब्रह्मादयः प्रजा यस्य स त्वं प्रजाः पुत्रपौत्रादिरूपा ज्ञानवैराग्यादिरूपा वा प्रजाः प्रजनयन् रायस्पोषेण धनपुष्ट्या सह यजमानं परीहि प्राप्नुहि । कीदृशस्त्वम् ?

कण्डिका के मन्त्रों से प्रतिप्रस्थाता द्वारा गमन, यूपखण्डों का प्रक्षेपण आदि कर्म अनुष्ठित किये जाते हैं । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप ब्रह्मादिरूपी श्रेष्ठ प्रजाओं वाले हैं । आप पुत्रपौत्रादिरूपी अथवा ज्ञान, वैराग्य आदि प्रजाओं को उत्पन्न करते हुए धनपुष्टि के साथ यजमान को प्राप्त करें । द्युलोक

दिवा पृथिव्या तदुपलक्षितैः सर्वैर्लोकैः सङ्गच्छमानो महाविराड्रूपः सन् मन्थी मन्मथस्यापि मन्थी मन्थनशीलो मन्थिनस्तव शोचिषा दिव्यदीप्त्या मर्कः कामादिर्निरस्तः, श्रीकृष्णस्य साक्षान्मन्मथमन्मथस्य शोचिषा कोटिकोटिमन्मथानां निरस्तत्वात् । हे भगवन्, त्वं मन्थिनोऽधिदैवस्याध्यात्मिकस्य मन्थिनः कामस्याधिष्ठानमसि, त्वय्येव तस्य कल्पितत्वात् । यथा सूर्ये प्रकाशकत्वाप्यायकत्वादिगुणसमर्पकस्य परमात्मनः सूर्यस्यापि सूर्यत्वम्, यथा वाऽयःपिण्डे दाहकत्वप्रकाशकत्वसमर्पकस्याग्नेर्दग्धुर्दग्धृत्वम्, तथैव श्रीकृष्णस्य मन्मथमन्मथत्वमुपपद्यते ।

दयानन्दस्तु—'भो न्यायाधीश, सुप्रजास्त्वं प्रजाः प्रजनयन् रायस्पोषेण यजमानमभिपरीहि सर्वथा तस्य धनवृद्धिमिच्छ, मन्थी त्वं दिवा पृथिव्या संजग्मानो भव, तद्गुणो भवेति भावः । यतस्त्वं मन्थिनोऽधिष्ठानमसि । मन्थिशोचिषा मर्को निरस्तो भवतु' इति, तदपि न किञ्चित्, न्यायाधीशस्य सुप्रजस्त्वस्य प्रजाप्रजनकत्वस्यानिरूपणात् । तस्य च यजमानस्य धनवृद्धिकरत्वं च नोपपद्यते । मन्थी वादविवादमन्थनशीलस्य न्यायाधीशत्वम्, तस्य च धीरतादिशुभगुणेष्वासक्तत्वमपि काल्पनिकमेव । तस्य च गौणार्थकत्वमेव । न च न्यायकारी न्यायकारिणोऽधिष्ठानं सम्भवति, आत्माश्रयदोषात् ॥ १८ ॥

ये दे॑वासो दि॒व्येका॑दश॒ स्थ पृ॑थि॒व्यामध्येका॑दश॒ स्थ । अ॒प्सु॒क्षितो॑ महि॒नैका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो य॒ज्ञमि॒मं जु॑षध्वम् ॥ १९ ॥

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्याग्रय॒णोऽसि॒ स्वाग्रयणः पा॒हि य॒ज्ञं पा॒हि य॒ज्ञप॑तिं विष्णु॒स्त्वामि॑न्द्रि॒येण॑ पातु॒ विष्णुं॒ त्वं पा॑ह्यभिसव॑नानि पाहि ॥ २० ॥

एवं पृथिवीलोक आदि समस्त लोकों से समन्वित होते हुए महाविराड् रूपी होकर, कामदेव को भी उन्मथित कर देने वाले, मथनशील आपकी दिव्य दीप्ति से कामादि सब निरस्त हो जाते हैं, क्योंकि साक्षात् कामदेव का मन्थन करने वाले श्रीकृष्ण की प्रभा से करोड़ों कामदेवों का निरास हो गया है । हे भगवन्, आप आधिदैविक, आध्यात्मिक काम के आश्रय हैं, क्योंकि आपमें ही उसकी कल्पना है । जिस प्रकार सूर्य में प्रकाशकत्व, पोषकत्व आदि गुणों को प्रदान करनेवाले परमात्मा सूर्य के भी प्रकाशक हैं, अथवा जिस प्रकार लोहपिण्ड में दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि गुणों को प्रदान करने वाली अग्नि में ही मुख्य दाहकत्व है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण का भी काम को मथित करना संगत होता है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में न्यायाधीश का सुप्रजाओं से युक्त होना तथा प्रजा का उत्पत्तिकर्ता होना निरूपित न किये जाने के कारण व्यर्थता है । वह यजमान की धनवृद्धि करता है, यह भी असंगत है । न्यायकर्ता न्यायकर्ता का अधिष्ठान नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें आत्माश्रय दोष है ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे देवताओं ! तुम अपनी महिमा के प्रभाव से द्युलोक में ग्यारह प्रकार के हो । महाभाग्यवान् होने से पृथ्वी के ऊपर भी ग्यारह प्रकार के हो और अन्तरिक्ष में भी ग्यारह प्रकार से स्थित हो । आप सब लोग मिल कर इस यज्ञ का आनन्द लें ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे ग्रह ! तुम उपयाम पात्र द्वारा गृहीत हो, आग्रयण नाम वाली श्रेष्ठता को प्राप्त करने वाले हो । अतः इस यज्ञ की रक्षा करो, यज्ञपति यजमान की रक्षा करो । यज्ञ के अधिपति विष्णुदेव अपनी सामर्थ्य से तुम्हारी रक्षा करें । तुम भी यज्ञदेव की रक्षा कर प्रातःसवन आदि तीनों सवनों की सब ओर से रक्षा करो ॥ २० ॥

आग्रयणं द्वयोर्धारयोर्ये देवास इति' (का० श्रौ० ९।६।१५)। धाराद्वयेन आग्रयणस्थाल्यामाग्रयणसोमं गृह्णीयात्। तत्र यजमानो निग्राभ्या आग्रयणपात्रे पृथगासिञ्चति, सा प्रथमा धारा। उन्नेतृकर्तृकाऽपरा। एवं धाराद्वयं सम्पाद्यमिति कर्काचार्यः। आग्रयणस्थाल्यां सोमस्तस्यैका धारा, द्वितीया तु प्राकृती होतृचमसस्था। तत्र पृथक्पृथग् धाराकरणम्। उन्नेतृयजमानयोर्धाराद्वये क्षरति आग्रयणनामकं ग्रहं गृह्णीयात्। वैश्वदेवी त्रिष्टुप् परुच्छेपदृष्टा। हे देवासो देवाः, ये यूयं दिवि द्युलोके महिना महाभाग्येन महिम्ना स्वस्वमाहात्म्येन वा एकादश स्थ एकादशसंख्याका भवथ, तथा पृथिव्यामधि उपरि महिना स्वमाहात्म्येन एकादश स्थ एकादशसंख्याका भवत, एकादशेन्द्रियभेदेन श्रोतृद्रष्टृघ्रातृादिभेदेनैकादशत्वसम्भवात्। तथा अप्सुक्षितः, 'अप्सु इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम्' (निघ० १।३।८)। क्षियतिर्निवासार्थः। अप्सु अन्तरिक्षे क्षियन्ति निवसन्तीत्यप्सुक्षितोऽन्तरिक्षे निवसत महिना एकादश भवत। महिनेति पदं त्रिष्वपि स्थानेषु सम्बद्ध्यते। एकादशेन्द्रियभेदेन ते सर्वे देवा यूयं यज्ञं यजमानीयमिममाग्रयणग्रहं जुषध्वं प्रीत्या सेवध्वम्। उपयामेत्याग्रयणदैवतं यजुराग्रयणग्रहणे विनियुक्तम्। हे स्वाग्रयण अग्रस्य भाव आग्रम्, सुष्ठु आग्रं स्वाग्रं श्रेष्ठयम्, तस्य अयनः प्रापकः स्वाग्रयणः, तत्सम्बुद्धौ हे स्वाग्रयण हे वाक्य, यज्ञं पाहि यज्ञपतिं यजमानं च रक्ष। विष्णुर्यज्ञरूपी देव इन्द्रियेण स्वसामर्थ्येन त्वां पातु, त्वमपि तादृशं विष्णुं पालय, अभितः प्रातरादीनि सवनानि पालय। हे आग्रयणग्रह, त्वम्, आग्रयणेति नाम्ना सम्बोधनं स्तुत्यर्थमित्युव्वटः, नामधेयलाभोऽस्य साधुक्रियायोगात् स्वाग्रयणः, यस्मिन् त्वयि गृहीतेऽग्रे प्रथमे वाचोऽयनं गमनमुत्सर्गोऽध्वर्योः सञ्जातः, अस्य त्वमेवंविधः साधुकारी, तं त्वां वच्मि, पाहि यज्ञमित्यादि। शेषं पूर्ववत्।

तत्र शतपथे विशेषः—'आत्मा ह वा अस्याग्रयणः। सोऽस्यैष सर्वमेव सर्वꣳ ह्ययमात्मा तस्मादनया गृह्णात्यस्यै हि स्थाली भवति स्थाल्या ह्येनं गृह्णाति सर्वं वा इयꣳ सर्वमेष ग्रहस्तस्मादनया गृह्णाति' (श० ४।२।२।१)। उपांश्वादयो ग्रहाः प्राणाद्यात्मकत्वेन विहिताः। अत्र तेषां प्राणादीनामाश्रयो यो मध्यदेहस्तदात्मना विधास्यमानमाग्रयणग्रहं स्तौति। अस्य प्रजापतेरात्मा मध्यदेह आग्रयणस्तदुत्पत्तिस्थानत्वात्, 'आत्मन आग्रयणम्' (तै० ब्रा० १।५।४) इति श्रुतेः। प्रजापतिरपि यज्ञ एव, 'यज्ञो वै प्रजापतिः' (तै० ब्रा० १।३।१०) इति श्रुतेः। अतोऽस्य यज्ञस्याग्रयण आत्मा मध्यदेह इति प्रसिद्धः। उक्तेनात्मना अस्य ग्रहस्य प्राप्तं सर्वत्वमाह—सोऽस्यैष इति। यस्मादयं दृश्यमानो लौकिकानां मध्यदेह आत्मा सर्वं शरीरम्। उक्तं सर्वत्वमुपजीव्य पृथिव्या ग्रहस्य ग्रहणं विधत्ते। ननु पृथिव्या ग्रहस्य ग्रहणं न सम्भवति, अशक्यत्वादेवेति तत्राह—अस्यै हीति। अस्या पृथिव्याः सकाशात् स्थाली भवति उत्पद्यते, अतस्तादृश्या स्थाल्या ग्रहस्य ग्रहणे पृथिव्यैव ग्रहणं सम्पद्यते। ग्रहस्य पृथिव्या ग्रहणे तदीयं सर्वत्वं कारणमुक्तम्, तत्कथमिति तदाह—सर्वं वा इयमिति। इयं पृथिवी सर्वं सर्वाश्रयभूता, एष आग्रयणग्रहश्च मध्यदेहात्मत्वेन सर्वेषामङ्गानामाश्रयः, अतस्तस्य तया ग्रहणमुपपद्यत इत्यर्थः। 'पूर्णं गृह्णाति। सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वमेष ग्रहस्तस्मात् पूर्णं गृह्णाति' (श० ४।२।२।२)। 'विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति। सर्वं वै विश्वे देवाः सर्वमेष ग्रहस्तस्माद्विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति' (श० ४।२।२।३)। विहितं ग्रहणमनूद्य तस्य ग्रहणस्य भूयिष्ठत्वं सोपपत्तिकं विधत्ते—पूर्णं गृह्णातीति। ग्रहं पूर्णं पात्रान्तराले यथा किञ्चिदप्यवकाशो न स्यात्तथा गृह्णीयात्। लोके यत्किञ्चित्पूर्णं तत्कृत्स्नं भवति यतः, अतोऽस्य सर्वशरीरत्वादिमं ग्रहं पूर्णं गृह्णीयात्। विहिते ग्रहणे देवतासम्बन्धं दर्शयति—विश्वेभ्यो देवेभ्य इति। सर्वं वै विश्वे देवाः, विश्वे देवा इति काश्चन देवताः, ताः सर्वदेवताः, तासां सर्वदेवतात्मकत्वं विश्वे देवा इत्येतन्नाधेयत्वेनावगम्यते। तत्र सर्वशब्दार्थस्य

भाष्यसार—'ये देवासः' इत्यादि मन्त्रों से आग्रयण पात्र में आग्रयण ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक

विश्वशब्दस्य सद्भावेन साधारण्यावगमात् । नह्यग्न्यादयः शब्दास्तथा साधारणानि नामधेयानि, तस्माद्विश्वे देवाः सर्वदेवात्मकाः । 'सर्वेषु सवनेषु गृह्णाति । सर्वं वै सवनानि सर्वमेष ग्रहस्तस्मात् सर्वेषु सवनेषु गृह्णाति' (श० ४।२।२।४) । प्रातःसवनादीनि त्रीणि सर्वं यस्य शरीरम् । 'स यदि राजोपदस्येत् । तमत एव तन्वीरन्नतः प्रभावयेयुरात्मा वा आग्रयण आत्मनो वा इमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्त्येतस्मादन्ततो हारियोजनं ग्रहं गृह्णाति तस्मादात्मन्येवास्यां प्रतिष्ठायामन्ततो यज्ञः प्रतितिष्ठति' (श० ४।२।२।५) । पात्रान्तरगतस्य सोमरसस्य क्षयेऽस्मादेव ग्रहात्तं समर्धयेदित्याह तन्वीरन्निति । विस्तारयेयुरध्वर्यवः । यथा आत्मनो मध्यदेहे करचरणादीन्यङ्गानि प्रभवन्ति । 'भुव प्रभवः' (पा० सू० १।४।३१) इत्यपादानसंज्ञायामपादाने पञ्चमी । अतस्तदात्मकानां सोमानामुत्पादनं युक्तम् । सवनत्रयपरिसमाप्त्यनन्तरमस्माद् ग्रहाद्धारियोजनं गृह्णीयात् । तदात्मन्येवेति । तत् तेन ग्रहणेन आत्मनि स्वकीयमध्यदेहलक्षणायां प्रतिष्ठायां यज्ञ उपांशुग्रहादिरूपः प्रतिष्ठितो भवति । मध्यशरीरं हि सर्वेषामङ्गानां प्रतिष्ठा ।

'अथ यस्मादाग्रयणो नाम । यां वा अमूं ग्रावाणमाददानो वाचं यच्छत्यत्र वै साग्रेऽवदत्तद्यत् सात्राऽग्रेऽवदत्तस्मादाग्रयणो नाम' (श० ४।२।२।६) । यस्माच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तादाग्रयणशब्दो ग्रहस्य नामधेयं ततोऽथ किमित्यर्थः । अथशब्दः प्रश्ने (अ० को० ३।३।२४६) । यं ग्रावाणमुपांशुसवनाख्यमाददानो यां वाचमयच्छत्, सा वागत्र समयेऽग्रे पुरस्तादवदत् । अत्र वदतेर्गत्यर्थे पर्यवसानम् । तस्मादग्रे वाचः अयनम् अग्रयणम्, 'शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्' (पा० सू० वा० ६।१।९४), अग्रयणस्य सम्बन्धी आग्रयण इति ग्रहस्य नामधेयम् । आग्रयणशब्दस्य अग्रे वाच आगमनं प्रवृत्तिनिमित्तमिति प्रत्यक्षं तित्तिरय आमनन्ति— 'साऽमन्यत वागन्तर्यन्ति वै मेति साग्रयणं प्रत्यागच्छत्तदाग्रयणस्याग्रयणत्वम्' (तै० सं० ६।४।११) 'रक्षोभ्यो वै तां भीषा वाचमयच्छन् । षड्वा अतः प्राचो ग्रहान् गृह्णात्यथैष सप्तमः षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य सर्वं वै संवत्सरः' (श० ४।२।२।७) । यतो ग्रहस्याग्रयणनामव्युत्पादने वाचो वचनं सिद्धवत्कृत्याभिहितम्—अत्र वै साग्रेऽवददिति, अतस्तेनैवाध्वर्योराग्रयणे वाग्वदनं प्राप्तम् । 'तां देवाः । सर्वस्मिन् विजितेऽभयेऽनाष्ट्रेऽत्राग्रे वाचमवदंस्तथो एवैष एता७ँ सर्वस्मिन् विजितेऽनाष्ट्रेऽत्राग्रे वाचं वदति' (श० ४।२।२।८) । सर्वे देवाः सर्वस्मिन् संवत्सरे विजिते स्वायत्तेऽभयेऽनाष्ट्रे नाशयितृरक्षःप्रभृतिरहिते, अग्रे पुरस्तात् तां वाचमवदन्, अत ऋतुषट्करूपसंवत्सरात्मके ग्रहषट्के गृहीते सति सर्वं विजितमभयमनाष्ट्रं भवतीति तदनन्तरमाग्रयणग्रहे देवानुसारेणाध्वर्युरेतां वाचमुदितवान् भवति । तस्मादाग्रयणग्रहेऽध्वर्योर्वाग्वदनमुपपन्नमिति भावः । 'अथातो गृह्णाति । ये देवासो……यज्ञमिमं जुषध्वमुपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयण इति वाचमेवैतदयातयाम्नीं करोति तस्मादनया समान७ँ सद्विपर्यासं वदत्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यदाग्रयणोऽस्याग्रयणोऽसीति गृह्णीयात्तस्मादाग्रयणोऽसि स्वाग्रयण इति' (श० ४।२।२।९) । मन्त्रस्तु व्याख्यातः । ग्रहस्य विहितं ग्रहणमनूद्य मन्त्रं चतुर्धा विभज्य व्याचष्टे श्रुतिः—आग्रयणोऽसि स्वाग्रयणोऽसीति । एतद्वाक्याभिप्रायमाह—अथात इत्यादिना । एतद् एतेन आग्रयणोऽसि स्वाग्रयण इत्येवमुच्चारणेनोक्तरूपां वाचमयातयाम्नीं करोत्यनपगतसारा करोति, यद्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणोऽसीत्युक्त्वा गृह्णीयादाग्रयणाख्यं ग्रहम्, तर्हि जामि नैरस्यं हि कुर्यात्, वाक्यद्वयेनाप्येकार्थस्य प्रतीतेर्विशेषानवगमाद् वैरस्यं वाचः, तस्मादनया आग्रयणोऽसि स्वाग्रयण इत्येवंविधया वाचा समानमेकरूपं सदपि सोमद्रव्यं विपर्यासं विपर्यस्यान्यथा कृत्वाऽध्वर्युर्वदति । विपर्यासमिति बहुलग्रहणादनाभीक्ष्ण्येऽपि (पा० सू० ३।१।८५) णमुल्प्रत्ययः । तथा च स्वाग्रयण इत्यत्र 'सु' इत्यस्य शब्दस्य प्रयोगादर्थविशेषावगतेर्नैरस्यं न भवतीत्यर्थः ।

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१०।१४, ९।३।११) में वर्णित है । शतपथ ब्राह्मण आदि के अनुकूल सायणाचार्य ने

'पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिमिति। वाचमेवैतदुपसृष्टामाह गोपाय यज्ञमिति पाहि यज्ञपतिमिति वाचमेवैतदुपसृष्टामाह गोपाय यजमानमिति यजमानो हि यज्ञपतिर्विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाहीति वाचमेवैतदुपसृष्टामाह यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञस्त्वां वीर्येण गोपायत्विति विष्णुं त्वं पाहीति वाचमेवैतदुपसृष्टामाह यज्ञं त्वं गोपायेत्यभि सवनानि पाहीति तदेतं ग्रहमाह सर्वाणि ह्येष सवनानि प्रति' (श० ४।२।२।१०)। पाहि यज्ञपतिमिति द्वितीयभागं व्याचष्टे—वाचमेवैतदिति। यद्वाक्यं गोपाय यज्ञमित्युपसृष्टां वाचमेव सम्बोध्याह, न त्वाग्रयणमिति भावः। प्रथमभागस्य व्याख्यानेन व्यवधानात् पाहि यज्ञपतिमिति पुनरवयवस्योपादानम्। एवं सर्वत्र। तृतीयभागं विवृणोति—यज्ञो वै विष्णुरिति। वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः। यज्ञश्च व्यापकत्वाद्विष्णुरिति व्यपदिश्यते। वैशब्दोऽत्र यज्ञस्य व्याप्तेः प्रत्यक्षप्रसिद्धिं द्योतयति। अथवा तेनापशीर्ष्णा यज्ञेन यजमान इति क्वचिद् ब्रुवता पूर्वं तेषां मखं वैष्णवं यज्ञमृच्छतीत्यादि महतोपाख्यानेन विष्णुविषय एवार्थो वर्णितः। अतस्तस्य प्रकृतत्वादपशीर्ष्णा यज्ञेन विष्णुरेवाभिहितः, वैशब्दस्तां द्योतयति। चतुर्थं भागं व्याचष्टे—अभि सवनानीति। तत् तेनोक्तेन वाक्येनाध्वर्युरेतं प्रकृतमाग्रयणं ग्रहमाह, न तूत्सृष्टां वाचमित्यर्थः। कुत इत्याह—सर्वाणि ह्येष सवनानि प्रतीति। एष चाग्रयणग्रहः सर्वाणि सवनानि प्रति प्रातरादीनि त्रीणि सवनानि प्रतिलक्ष्य दृश्यते यतः, अतोऽभिसवनानीत्यादिवाक्यमाग्रयणं प्रत्येव प्रयुक्तम्।

तस्मादयं निर्गलितो मन्त्रार्थः—हे देवाः, ये यूयं द्युलोके स्वमहिम्ना एकादश स्थ, पृथिव्या उपरि महाभाग्येन एकादश स्थ, ये चाप्सुक्षितोऽन्तरिक्षे निवसन्तो महिम्ना एकादश स्थ, ते सर्वे यूयं यज्ञम् आग्रयणग्रहलक्षणं जुषध्वम्। हे ग्रह, त्वमुपयामेन स्वीकृतोऽसि आग्रयणनामासि, अतः स्वाग्रयणः शोभनमग्रे वाचोऽयनमागमनं यस्य स तादृशोऽसि। हे वाक्, त्वं यज्ञं पाहि। यज्ञपतिं याज्ञिकं पाहि। विष्णुर्यज्ञस्त्वामिन्द्रियेण वीर्येण पातु, त्वं च विष्णुं पाहि। हे आग्रयणग्रह, त्वं सवनान्यभितः पाहि। यद्यप्यन्ये ग्रहमेव सम्बोध्य व्याचक्षते, तथापि वाचमेवैतदुपसृष्टामाहेति ब्राह्मणानुसारेणैव व्याख्यानं युक्तमिति सायणाचार्यः। 'सा हैषा वागनुद्यमाना तताम तस्यां देवा वाचि तान्तायाꣳ हिङ्कारेणैव प्राणमदधुः प्राणो वै हिङ्कारः प्राणो हि वै हिङ्कारस्तस्मादपिगृह्य नासिके न हिङ्कर्तुं शक्नोति सैतेन प्राणेन समजिहीत यदा वै तान्तः प्राणं लभतेऽथ संजिहीते तथो एवैष एतद्वाचि तान्तायाꣳ हिङ्कारेणैव प्राणं दधाति सैतेन प्राणेन संजिहीते त्रिष्कृत्वो हिङ्करोति त्रिवृद्धि यज्ञः' (श० ४।२।२।११)। अनुद्यमाना अनुच्चार्यमाणा सती तताम ग्लानिं प्राप्तवती, उच्चारणस्यैव तज्जीवनत्वात्, तमु ग्लानौ।

अध्यात्मपक्षे—ये यूयं देवासो देवा दिवि द्युलोके महिना महाभाग्याद् एकादशसंख्याका भवथ, ये पृथिव्यामुपरि ये चाप्सुक्षितोऽन्तरिक्षनिवासिन एकादशसंख्याकाः सन्ति, पञ्चकर्मेन्द्रियाणां पञ्चज्ञानेन्द्रियाणामन्तःकरणस्य चाधिष्ठातारस्ते इमं यज्ञं भगवदाराधनलक्षणं यज्ञं प्रीत्या सेवध्वम्। हे परमेश्वर, उपयामगृहीतोऽसि भक्त्याऽनुरक्त्या वशीकृतोऽसि, आग्रयणोऽसि आग्रं श्रैष्ठ्यमयति प्रापयतीत्याग्रयणोऽसि, परमेश्वरानुग्रहेणैव श्रैष्ठ्यावाप्तेः। सुष्ठु आग्रं ब्राह्मपदम् अयति प्रापयतीति स्वाग्रयणो यज्ञः सोमादिलक्षण उपासनालक्षणो वा, तं

याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार मन्त्रव्याख्यान किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे देवगण, आप लोग जो महान् ऐश्वर्य-प्रभाव के कारण द्युलोक में ग्यारह संख्या वाले हैं, जो पृथिवी पर तथा जो अन्तरिक्ष में निवास करने वाले एकादश संख्यात्मक होते हैं, वे पांच कर्मेन्द्रियों, पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरण के अधिष्ठाता इस भगवदाराधनात्मक यज्ञ का प्रीतिपूर्वक सेवन करें।

पाहि रक्ष। यज्ञपतिं यजमानमुपासकं वा रक्ष। साधकं प्रत्याह— हे साधक, विष्णुर्यज्ञस्तदधिष्ठातृदेवो नारायणो वा त्वामिन्द्रियेण वीर्येण उपासनैकाग्र्यादिना पातु रक्षतु। त्वं च विष्णुं परमेश्वरं रङ्काश्चिन्तामणिमिव स्वहृदये रक्ष गोपाय। सवनानि प्रातरादीनि सवनानि परमेश्वराराधनरूपाणि पाहि निर्वर्तय।

मन्त्रद्वयस्य दयानन्दीयं व्याख्यानं यथा—'ये महिना स्वमहिम्ना दिवि विद्युति एकादश प्राणापानोदानसमानव्याननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयजीवाः स्थ सन्ति, पृथिव्यां भूमौ अधि उपरि एकादश पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादित्यचन्द्रनक्षत्राहङ्कारमहत्तत्त्वप्रकृतयः सन्ति, अप्सुक्षितः प्राणेषु क्षियन्ति महिना महिम्ना श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनांसि सन्ति, ते देवासस्ते यथा स्वकर्मसु वर्तन्ते, तद्वद् राजसभासदो विद्वांसो यज्ञं राजप्रजासम्बद्धव्यवहारमिमं प्रत्यक्षं जुषध्वं सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाचकलुप्तोपमालङ्कारच्छलेन स्वेच्छाचारित्वाश्रयणात्। न च राजसभासदां राजप्रजासम्बद्धव्यवहारस्य वा बोधकाः शब्दा मन्त्रे सन्ति। न च विद्युति प्राणादयः सन्ति, तस्या जडत्वात्। न वा प्राणादयो दिव्याः, तेषां ग्लान्यादिदर्शनात्। नहि जीवः प्राणादिषु गणनार्हः, तस्य चेतनत्वात्। न वा भूमौ पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादीनां सम्भवः, पृथिव्यां पृथिव्यन्तरादर्शनात्, आदित्यस्य तेजस्यन्तर्भावाच्च। अहङ्कारमहत्तत्त्वादीनां कारणत्वेन विकारमात्रेषु सत्त्वमिति न तेषामत्र गणना युक्ता, श्रोत्रादीनां प्राणादिषु सत्त्वे तत्रैवान्तर्भावो युक्तः। ते यथा स्वकर्मसु वर्तन्ते, तथा सभासद्भिरपि स्वस्वकर्मसु वर्तितव्यमिति कथञ्चिद् वक्तुं शक्यत्वेऽपि राजप्रजासम्बद्धव्यवहारसेवनाद्युपदेशस्त्वननुरूप एव। न च तस्य यज्ञत्वमपि सम्प्रतिपन्नम्। न च पृथिव्याकाशादयः क्वचित् प्रवर्तन्ते, तेषां जडत्वात्, आकाशादीनां निर्विचेष्टत्वाच्च।

द्वितीये मन्त्रे यदुक्तम्—'हे सभापते राजन् उपदेशक वा, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, अतो विनयादिराजगुणैर्युक्तो यज्ञं राजप्रजापालकं पाहि। स्वाग्रयण इवाग्रयणोऽसि, शोभनश्चासावाग्रयणश्चेति तद्वदाग्रयणोऽसि, तस्माद् यज्ञपतिं संगतस्य न्यायस्य पालकं पाहि। अयं विष्णुः सकलशुभगुणकर्मव्यापी विद्वान् त्वामिन्द्रियेण मनसा धनेन वा, 'इन्द्रियमिति धननामसु' (निघ० २।१०) पातु। त्वं न्यायाधीशोऽभिसवनान्यैश्वर्याणि पाहि'। स्वाग्रयण इवाग्रयणोऽसीत्यस्य व्याख्यानं हिन्दीभाष्ये यथा—'विज्ञानयुक्तकर्मणां प्रापका भवन्ति, तथोत्तमविचार-

---

हे परमेश्वर, आप भक्ति अनुराग से वशीकृत हैं, श्रेष्ठता को प्राप्त कराने वाले हैं। परमेश्वर की कृपा से ही श्रेष्ठत्व को प्राप्ति होती है। आप उत्तम ब्राह्म पद को प्राप्त कराने वाले हैं। आप इस सोमादि यज्ञ अथवा उपासनात्मक यज्ञ की रक्षा करें। यजमान अथवा उपासक की भी रक्षा करें। साधक के प्रति कहा जाता है कि हे साधक, यज्ञ अथवा उसके अधिष्ठाता भगवान् नारायण तुम्हारी इन्द्रियों में बल के आधान द्वारा और उपासना, एकाग्रता आदि से रक्षा करें। जिस प्रकार निर्धन व्यक्ति चिन्तामणि का रक्षण करता है, तुम भी उसी प्रकार अपने हृदय में परमेश्वर विष्णु की रक्षा करो। प्रातः आदि परमेश्वर के आराधनात्मक तीन सवनों का अनुष्ठान करो।

दोनों मन्त्रों का स्वामी दयानन्द के द्वारा वर्णित व्याख्यान वाचकलुप्तोपमा अलंकार के बहाने से स्वेच्छाचारिता से परिपूर्ण होने के कारण अग्राह्य है। राजा के सभासदों तथा राजा-प्रजा से सम्बद्ध व्यवहार के बोधक शब्द मन्त्र में नहीं हैं। विद्युत् में प्राण आदि भी नहीं हैं, क्योंकि वह जड़ है। प्राण आदि दिव्य भी नहीं हैं, क्योंकि उनमें ग्लानि आदि भाव प्रत्यक्ष हैं। चेतन होने के कारण जीव की गणना प्राणादि में नहीं हो सकती। भूमि में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि संभव नहीं हैं, क्योंकि पृथिवी में कोई दूसरी पृथिवी नहीं दृष्टिगोचर होती। जड़ होने के कारण पृथिवी, आकाश आदि कहीं स्वयं प्रवृत्त नहीं होते।

युक्तकर्मणां ग्राहकस्त्वं भवेति' इति, एतदपि यत्किञ्चित्, स्वेच्छयैव तत्र तत्रोपयामशब्दस्य भिन्नभिन्नार्थग्रहणेनान्यैरन्यथा ग्रहणसम्भवे विनिगमनाविरहात्। अत्र सम्बोध्यः सभापतिरित्यपि निर्मूलम्। राजप्रजापालको यज्ञोऽप्यसम्प्रतिपन्न एव। स्वाग्रयणाग्रयणादिशब्दयोरपि त्वदुक्तार्थबोधकत्वे मूलाभाव एव। सुमनुष्य इव मनुष्योऽसीतिवद् विरुद्धं च तत्, सूपसर्गभावाभावाभ्यामाग्रयणशब्दयोः शुभविचारयुक्तकर्मणां प्रापकत्वग्राहकत्वभेदासम्भवात्। न च विद्वान् मनुष्यो गुणेषु वेवेष्टीत्यपि युक्तमुक्तम्, गुणानां द्रव्याधिकरणत्वासम्भवात् ॥ १९–२० ॥

सोमः॑ पवते॒ सोमः॑ पवते॒ऽस्मै ब्रह्म॑णे॒ऽस्मै क्ष॒त्राया॒ऽस्मै सु॒न्व॒ते यज॑मानाय॒ पवत इ॒ष ऊ॒र्जे पव॑ते॒ऽद्भ्य ओष॑धीभ्यः पवते॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्यां॑ पवते सुभू॒ताय॑ पवते॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यः॑। एष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यः॑ ॥ २१ ॥

'दशापवित्रेणाग्रयणमुपगृह्य त्रिर्हिङ्कृत्य सोमः पवत इति सकृच्छेषम्' (का० श्रौ० ९।६।१६)। ग्रहसम्मार्जनार्थं दशापवित्रेणाग्रयणमुपगृह्य तेन दशापवित्रेण स्थाल्या मुखदेशं सोमव्यवसेकपरिहारार्थं वेष्टयित्वा हिंशब्दं वारत्रयमुच्चार्य ततः सोमः पवत इति त्रिरुच्चार्य शेषम् अस्मै ब्रह्मण इत्यादिकं सकृज्जपेत्। अत्र वाग्विसर्गोऽध्वर्य्वादीनाम्। वैश्वदेवदैवत्यम्। सोमः पवते गच्छति। पवतेर्गत्यर्थत्वाद् ग्रहपात्रेषु स्वकीये कर्मणि प्रवर्तत इत्यर्थः। द्विरुक्तिरादरार्था, द्वितीयोच्चारणं भयापगमसूचनार्थं वा। असुरराक्षसभयादेव वाचोऽनुच्चारणस्य ब्राह्मणेनोक्तत्वात्। किमर्थम्? अस्मै प्रत्यक्षसिद्धाय ब्रह्मणे ब्राह्मणजातिप्रीत्यर्थम्, अस्मै क्षत्राय क्षत्रियजातिप्रीत्यर्थम्, अस्मै सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते यजमानाय तदभीष्टकामप्राप्त्यर्थं पवते सोमः, इषेऽन्नाय, ऊर्जे रसाय तदुपसेचनाय क्षीरादये, तन्निष्पत्त्यर्थं पवते। अद्भ्यो वृष्टिभ्य ओषधीभ्यो व्रीहियवादिसस्यसिद्ध्यर्थं पवते। द्यावापृथिवीभ्यां द्युभूलोकप्रीणनाय पवते। सुभूताय सर्वेषां साधुभवनाय पवते। हे आग्रयण ग्रह, तादृशं त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यः सर्वदेवप्रीत्यर्थं गृह्णामीति शेषः। एष त इति सादयति—हे ग्रह, एष खरस्ते

दूसरे मन्त्र की व्याख्या में ज. कहा गया है, वह भी निरर्थक है, क्योंकि स्वेच्छा से ही स्थान स्थान पर उपयाम शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करने पर किसी दूसरे के द्वारा कोई अन्य ही अर्थ मानना सम्भव है तथा उसमें कोई निश्चित युक्ति नहीं है। इसमें सभापति को सम्बोधित किया जाना चाहिये, यह भी अप्रामाणिक है। राजा प्रजा का पालक यज्ञ है, यह भी असिद्ध ही है। स्वाग्रयण तथा आग्रयण शब्दों के भी इस अर्थ के बोधन में कोई प्रमाण नहीं है ॥ १९-२० ॥

मन्त्रार्थ— यह सोम इस ब्राह्मण जाति की प्रीति के लिये ग्रहपात्र में क्षरित होता है, क्षत्रिय जाति की तुष्टि के लिये ग्रहपात्र में क्षरित होता है, सोमाभिषव करने वाले यजमान के निमित्त ग्रहपात्र में क्षरित होता है, अच्छी वर्षा और औषधियों के लिये क्षरित होता है, आकाश और पृथ्वीलोक की समृद्धि के लिये क्षरित होता है, समस्त चराचर प्राणी और तीनों लोकों के सन्तोष के लिये क्षरित होता है, प्राणीमात्र के आनन्द के लिये यह सोम ग्रहपात्र में क्षरित होता है। हे ग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है। सम्पूर्ण देवताओं की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ २१ ॥

भाष्यसार—'सोमः पवते' इस मन्त्र का पाठ आग्रयण ग्रह का ग्रहण करने के अनन्तर किया जाता है।

योनिः स्थानम्, विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थे त्वां सादयामि। अथ दशापवित्रेणोपगृह्य हिङ्करोतीत्यादिना ग्रहणानन्तरं दशापवित्रेण सह ग्रहं दशापवित्रवन्तं ग्रहं स्वीकृत्य हिङ्कुर्यात्। 'दशापवित्रेणाग्रयणमुपगृह्य त्रिर्हिङ्कृत्य' (का० श्रौ० ९।६।१६) इति विहितं हिङ्कारं प्राणात्मना स्तौति। हिङ्कारस्य प्राणत्वादेव लोके कश्चिदपि नासिके अपिगृह्य न हिङ्कर्तुं शक्नोति। नासिकयोः प्राणसञ्चारस्थानत्वात् तेन प्राणेन सा वाक् समजिहीत संगताऽभूत्, अतो लोकेऽपि यदा जनस्तान्तः क्लान्तः सन् प्राणं लभते, तदा वाचा सङ्गच्छते, तद्वदेव एषोऽध्वर्युर्हिङ्कारेण तान्तायां क्लान्तायां वाचि प्राणं दधाति, सा च तेन प्राणेन सङ्गच्छते। त्रिष्कृत्वो हिङ्करोति त्रिवृद्धि यज्ञः। त्रिवृत् त्रिगुणो यज्ञेऽग्निपरिधिः, सवनादीनां त्रित्वात्। 'अथाह सोमः पवते' (श० ४।२।२।१२) इत्यादिना अध्वर्योर्वाग्विसर्गसाधनमन्त्रमाह।

'अथाह सोमः पवत इति। स यामेवामूं भीषाऽसुररक्षसेभ्यो न निरब्रुवंस्तामेवैतत् सर्वस्मिन् विजितेऽभयेऽनाष्ट्रेऽत्र निराह तामाविष्करोति तस्मादाह सोमः पवत इति' (श० ४।२।२।१२)। हिङ्कारानन्तरमध्वर्योर्वाग्विसर्गसाधनं मन्त्रमाह– अथाह सोमं पवते। सोऽध्वर्युः, असुररक्षसेभ्यो भीषा भयेन याममूं वाचं न निरब्रुवन् नावोचत्, व्यत्ययेन (पा० सू० ३।१।८५) बहुवचनम्। एतद् एतेन सोमः पवत इत्यस्योच्चारणेन सर्वस्मिन् विजिते स्वायत्ते सति तां वाचं निराह। अस्यैव व्याख्यानम्—तामाविष्करोति तस्मादेवोच्चारयेत्, 'आग्रयणं गृहीत्वा त्रिर्हिङ्कृत्य वाचं विसृजते' इत्यापस्तम्बश्रौतसूत्रवचनात्। सोमः पवत इत्यस्य पुनरुच्चारणं भयापगमसूचनार्थम्। अत एव कात्यायनोऽपि सोमः पवत इत्यस्य त्रिरुच्चारणं सूत्रितवान्—'त्रिर्हिङ्कृत्य सोमः पवत इति सकृच्छेषम्' (का० श्रौ० ९।६।१६)। 'अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायेति। तद् ब्रह्मणे च क्षत्राय चाहास्मै सुन्वते यजमानाय पवत इति तद्यजमानायाह' (श० ४।२।२।१३)। ब्रह्मक्षत्रयोः समृद्ध्यै ब्रूत इत्यर्थः। 'तदाहुः। एतावदेवोक्त्वा सादयेदेतावद्वा इदꣳ सर्वं तस्मादेतावदेवोक्त्वा सादयेदिति' (श० ४।२।२।१४)। केषाञ्चिन्मतम्—केषाञ्चिद्रीत्या सर्वमिदं दृश्यम्। इन्द्राग्नी हि प्राधान्येन सर्वात्मकौ, तौ च ब्रह्मक्षत्रयोरधिदेवते, तयोस्तद्रूपकत्वेन सर्वात्मकत्वात्। अस्मै ब्रह्मणे अस्मै क्षत्राय इत्येतावदेवोक्त्वा सादयेदिति। स्वमतमाह—'तदु ब्रूयादेव भूयः। इष ऊर्जे पवत इति वृष्ट्यै तदाह यदाहैष इत्यूर्ज इति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाहाद्भ्य ओषधीभ्यः पवत इति तदद्भ्यश्चौषधीभ्यश्चाह द्यावापृथिवीभ्यां पवत इति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामाह ययोरिदꣳ सर्वमधि सुभूताय पवत इति साधवे पवत इत्येवैतदाह' (श० ४।२।२।१५)। यद्यपि ब्रह्मक्षत्रे सर्वात्मके इति तावतैव पर्याप्तम्, तथापि ब्रह्मणे क्षत्राय चेत्युक्तौ तयोरेव समृद्धयर्थम्, अत इष ऊर्जे इत्याद्यपि ब्रूयादेव इष इति वृष्ट्यै इत्याह, 'इडित्यन्नम्' (निघ० २।७।१५)। तत्साधनस्य वृष्टेरपि कार्यकारणभेदविवक्षया इडिति व्यपदेशः। वृष्टाद् वृष्टेः सकाशात्, 'नपुंसके भावे क्तः' (पा० ३।३।११४) इति क्तप्रत्ययः। ऊर्क् अन्नरसो जायते, तत्समृद्धये ऊर्जे इति वचनम्। ययोर्द्यावापृथिव्योः सर्वमिदं दृश्यमानं सर्वमप्याश्रितम्, ताभ्यां पवत इत्युक्ते समस्तजगतः समृद्धये भवतीत्यर्थः। साधवे लोके यः कश्चन न्यायवर्ती जनस्तस्मै पवत इत्याह मन्त्रः।

'तदु हैक आहुः। ब्रह्मवर्चसाय पवत इति तदु तथा न ब्रूयाद् यद्वा आहास्मै ब्रह्मण इति तदेव ब्रह्मवर्चसायाह विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति सादयत्यात्मा ह्यस्यैष मध्य इव ह्ययमात्मा दक्षिणोक्थ्यस्थाली भवत्युत्तरादित्यस्थाली' (श० ४।२।२।१६)। केचिच्छाखिनो ब्रह्मवर्चसायेत्येतत्पदं पठन्ति, तदनवगतमित्यनूद्य निराकरोति—तदु तथा न ब्रूयादिति। ब्रह्मणे पवत इति यत् तद् ब्रह्मवर्चसाय पवत

कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।१५) में इसकी पूरी याज्ञिक विधि वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के

इत्युक्तं भवति। वृत्तस्याध्ययनस्य समृद्धिर्ब्रह्मवर्चसं भवति, 'स्याद् ब्रह्मवर्चसं वृत्ताध्ययनर्द्धिः' (२।७।३८) इत्यमरकोषात्। ननु पूर्वग्रहेष्वपि मन्त्राम्नानात् कथं तूष्णीं ग्रहणम्, वाग्विसर्गस्याग्रयणग्रह उक्तत्वादिति चेन्न, वाचं यच्छतीत्यनेनोपांशुध्वनिर्विवक्षितः। 'यान् प्राचीनमाग्रयणाद् ग्रहान् गृह्णीयात् तानुपांशु गृह्णीयात्, यानूर्ध्वांस्तानुपब्दिमतः' (तै० ब्रा० ३।१।९)। गृहीतस्य सोमस्य समन्त्रकं सादनं विधत्ते—विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इत्यादि। हे आग्रयण, विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वामासादयामि। एष खरप्रदेशस्तवावस्थानम्। तं वै मध्ये सादयति। तत्कारणमुच्यते—अस्य यज्ञस्याग्रयणग्रह आत्मा, 'आत्मा ह वा अस्याग्रयणः' इति श्रुतेः। आत्मा च मध्य इव हि मध्यभाग इत्यर्थः। यथा सादितस्य ग्रहस्य उक्थ्यस्थाली दक्षिणा उत्तरा च आदित्यस्थाली, तथा मध्यशरीररूपमाग्रयणं मध्ये सादयेदित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सोमः साम्बसदाशिवः, अस्मै ब्रह्मणे ब्राह्मणजातिहिताय पवते सर्वं वस्तु दृष्टिमात्रेण पवित्रयति। अस्मै क्षत्राय च सर्वं पवित्रयति, सोमं सुन्वते सोमयागकर्त्रे यजमानाय च पवते, इषे अन्नाय ऊर्जे अन्नरसाय अद्भ्यो वृष्टिभ्य ओषधीभ्यो व्रीहियवादिभ्यस्तत्सिद्ध्यर्थं पवते चेष्टते क्रियावान् भवति, वस्तुतः कूटस्थोऽविक्रियो निष्क्रियोऽपि सन् मायया व्यापारवानिव भवति। 'त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्। त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः॥' (भा० पु० १०।३।१९) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। द्यावापृथिवीभ्यां तदुपलक्षितस्य सर्वलोकस्य प्रीणनाय चेष्टते। किं बहुना, सर्वेषां साधुभवनाय चेष्टते। नन्वेवं सति कथं परमेश्वरस्य प्रयत्नेऽपि जना दुर्वृत्ता भवन्तीति चेच्छृणु, स्वस्वप्राक्तनकर्मतत्संस्कारानुसारेण जनानां विपरीतप्रवृत्तेरपि सम्भवात्। यथा समानायामपि वृष्टौ बीजानुसारेण विचित्रा अङ्कुरा जायन्ते, समानेऽपि विद्युत्संसर्गे स्वस्वसामर्थ्यानुसारेण यन्त्राणि विचित्राणि कार्याणि सम्पादयन्ति, तद्वत्। हे साधक, विश्वेभ्यो देवेभ्यो हिताय त्वां परमेश्वरोपासने नियोजयामि। एष परमेश्वरस्ते तव योनिराश्रयो हेतुश्च। तेन तदुपासने विश्वेभ्यो देवेभ्यो हिताय त्वा नियुनज्मि, 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः। हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा....॥' (भा० पु० ५।१८।१२) इत्यादिपुराणवचनात्।

अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—साम्ब सदाशिव इस ब्राह्मण जाति के हितार्थ समस्त पदार्थों को दृष्टिमात्र से पवित्र करते हैं, इस क्षत्रिय जाति के हितार्थ पवित्र करते हैं। सोमयाग करने वाले यजमान के लिये, अन्न के लिये, अन्नरस के लिये, वृष्टि के लिये, व्रीहि-यवादि ओषधियों की सिद्धि के लिये सक्रिय होते हैं। वस्तुतः वे कूटस्थ, अविकारी निष्क्रिय रहते हुए भी माया के द्वारा मानों व्यापारवान् होते हैं। द्यावापृथिवी आदि सम्पूर्ण लोकों के पोषण के लिये, सबकी भलाई के लिये चेष्टावान् होते हैं। परन्तु यदि ऐसा है, तो परमेश्वर के प्रयत्न करने पर भी पुरुष दुराचारी कैसे हो जाते हैं ? इसका समाधान यह है कि अपने अपने पूर्व जन्म के कर्मों तथा उनके संस्कारों के अनुसार प्राणियों की विपरीत प्रवृत्ति भी संभव है। जिस प्रकार सर्वत्र वर्षा समान रूप से होने पर भी बीज के अनुसार विभिन्न अंकुर उत्पन्न होते हैं तथा बिजली का संयोग समान रूप से होने पर भी अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार मशीनें विविध कार्य करती हैं, उसी प्रकार यहां भी है। हे साधक, समस्त देवताओं के हितार्थ तुमको परमेश्वर की उपासना में लगाता हूँ। यह परमेश्वर तुम्हारा आश्रय तथा कारण है। अतः उसकी उपासना में समस्त देवों के हितार्थ तुमको विनियुक्त करता हूँ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथाऽयं सोमो सौम्यगुणसम्पन्नो राजा, अस्मै ब्रह्मणे परमेश्वराय वेदाय वा पवते विजानीयात्, अस्मै क्षत्राय राज्याय क्षत्रियाय वा, अस्मै सुन्वते सर्वाविद्यासिद्धान्तं निष्पादयते यजमानाय सङ्गच्छमानाय पवत इव, इषे अन्नाय ऊर्जे पराक्रमाय पवते, अद्भ्यो जलेभ्यः प्राणेभ्यो वा ओषधीभ्यः सोमादिभ्यः पवते, द्यावापृथिवीभ्यां सूर्यभूमिभ्यां पवते, सुभूताय सुष्ठु सत्याय व्यवहाराय पवते, तद्वत् सोमः सभ्यजनः प्रजाजनोऽप्येतस्मै सर्वस्मै पवताम्। हे राजन्, यस्य ते तवैष राजधर्मगुणग्रहणं योनिर्वसतिरस्ति, तं त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यो वयं स्वीकुर्मस्तथा विश्वेभ्यो देवेभ्यो गुणेभ्यश्च त्वामङ्गीकुर्महे' इति, तदपि परस्परविरुद्धम्। तथाहि—संस्कृते पवते विजानीयादित्युक्तम्, हिन्दीभाष्ये तु 'पूतो भवति क्षत्राय ज्ञानवान् भवति' इति चोक्तम्। तथैव यजमानाय निर्मलो भवति, अन्नाय पराक्रमाय च शुद्धं भवति, ओषधीभ्यो जानाति, सत्याय व्यवहाराय अशुभकर्मभ्यो विविक्तो भवति, तथैव सोमः सभ्यजनः प्रजाजनः सर्वं जानीयाद् मन्येत पूतो भवेत्। हे राजन् हे सभ्यजन, यस्य ते तव राजधर्मो योनिर्गृहमस्ति, तं त्वां विश्वेभ्यो विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यः स्वीकुर्म इति चोक्तम्, तत्सर्वमप्यसम्बद्धमेव। सत्राय ज्ञानवान् भवतीत्यस्य कोऽभिप्रायः? लुप्तोपमालङ्कारकल्पनमपि निर्मूलमेव। सोमशब्देन क्वचिद्राज्ञः, क्वचित् सभ्यजनस्य, क्वचित् प्रजाजनस्य ग्रहणमपि निर्मूलमेव। राज्ञः सभ्यजनेभ्यः प्रजाजनेभ्योऽन्ये केऽवशिष्यन्ते ये तान् स्वीकुर्वन्ति? कश्च लाभस्तत्कर्तृकया स्वीकृत्या? ॥ २१ ॥

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि। यत्त इन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वा एष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा। देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं गृह्णामि यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥ २२ ॥

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ परस्परविरुद्ध है। संस्कृत व्याख्या में 'पवते' का अर्थ 'जाने' बताया गया है। परन्तु हिन्दी भाष्य में 'पवित्र होता है, ज्ञानवान् होता है' यह कहा गया है। इसी प्रकार अन्यत्र निर्मल होता है, शुद्ध होता है, जानता है, विविक्त होता है, इत्यादि विभिन्न अर्थ दिये गये हैं। ये सब असम्बद्ध हैं। लुप्तोपमा अलंकार की कल्पना भी अप्रामाणिक है। सोम शब्द से कहीं राजा, कहीं सभ्य जन तथा कहीं प्रजाजन का अर्थ ग्रहण किया गया है। यह भी निर्मूल है ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे उक्थ ग्रह, उक्थ को समस्त देवताओं का तृप्तिकारक जान कर मैं तुम्हारा बृहत्साम सोमरूप अन्न वाले इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त ग्रहण करता हूँ। हे परम भाग्यवान् इन्द्र! जो यह तुम्हारा महान् सोमरूप अन्न है, उसको पाने के लिये मैं तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ। हे सोम! यज्ञ के अधिष्ठात्री देवता विष्णु की प्रीति के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ! हे उक्थ ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है, उक्थप्रिय देवताओं की प्रीति के निमित्त तुम्हें इस स्थान में स्थापित करता हूँ। हे सोम! मित्रावरुण आदि देवताओं का प्रीतिकारक जान कर उनकी सन्तुष्टि के लिये मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ, यज्ञ की सामग्री का फलपर्यन्त ग्रहण करता हूँ ॥ २२ ॥

'उक्थ्यमुपयामगृहीत इति' (का० श्रौ० ९।६।२१)। धाराया एव उक्थस्थाल्या उक्थ्यसंज्ञं ग्रहं गृह्णीयाद् उपयामगृहीत इति मन्त्रेण। उपयामग्रहदेवतानि यजूंषि। हे सोम, त्वमुपयामेन दारुपात्रेण गृहीतोऽसि। हे उक्थ्यग्रह, त्वामिन्द्रार्थं गृह्णामि स्वीकरोमि। कथंभूतायेन्द्राय ? बृहद्वते बृहत्संज्ञकसामवते बृहत्सामस्तुताय बृहत्सामप्रियाय वा। तथा वयस्वते विशिष्टं यौवनलक्षणवीर्यसमेतं सदा कालं वयोऽस्त्यस्य तस्मै नित्ययौवनोचितवीर्यसम्पन्नाय। यद्वा वयः सोमलक्षणमन्नमस्त्यस्येति तस्मै वयस्वते। कीदृशं ग्रहं त्वां गृह्णामि ? उक्थाव्यम्, उक्थानि मैत्रावरुणब्राह्मणाच्छंस्यच्छावाकसम्बन्धीनि शस्त्राण्यवति गोपायतीत्युक्थाव्यम्, अस्य ग्रहस्य तत्रैव विनियोगात्। एवं सोमं प्रशस्य पुनरिन्द्रमाह—हे इन्द्र, यत् ते तव बृहद्वयो बृहद् महद् वयोऽन्नं सोमलक्षणमस्ति, तस्मै तत्पानार्थं त्वां प्रार्थय इति शेषः। हे सोम, विष्णवे विष्णुदेवताप्रीत्यर्थं त्वां गृह्णामि। यद्वा यत्ते तव बृहद् महद् ऊर्जितं वयो विशिष्टं यौवनरूपम्, तस्मै त्वा त्वां सोमं गृह्णामि।

उव्वटादिरीत्या—'ते' इति, 'इन्द्र' इति युष्मत्पदसम्बोधनपदाभ्यां प्रत्यक्ष इन्द्र उच्यते। त्वेति युष्मदा सोम उच्यते। तयोः प्रत्यक्षतः सामर्थ्यं कथमिति चेत्, यस्येन्द्रस्य बृहद्वयस्तस्मै त्वां गृह्णामीति पदद्वयस्य व्यत्ययेनेति ब्रूमः। 'ते' इत्यस्य 'यस्य' इत्यनेन पदेन व्यत्ययः। 'इन्द्र' इत्यस्य पदस्य इन्द्रस्येत्यनेन व्यत्ययः। यद्वा हे सोम, यस्येन्द्रस्य बृहद्वयस्तस्मै त्वां गृह्णामि। त्वत्पानेनेन्द्रस्य बृहद् ऊर्जितं विशिष्टं यौवनं तदुचितं वीर्यं च सिद्ध्यतीति तदर्थं त्वां गृह्णामीत्यर्थः। विष्णवे यज्ञाय त्वां गृह्णामि। एष त इति सादनम्। एष ते तव योनिः स्थानम्। उक्थेभ्योऽर्थाय त्वां सादयामि। 'उक्थ्यं विगृह्णाति त्रैधं देवेभ्यस्त्वेति सर्वेभ्य इति' (का० श्रौ० ९।१४।९)। उक्थस्थालीस्थं सोमं त्रिधा विभज्योक्थपात्रे गृह्णीयात्। मैत्रावरुणब्राह्मणाच्छंस्यच्छावाककर्तृकशस्त्रं यागार्थम्। हे सोम, देवेभ्यो देवानां प्रयोजनाय त्वां गृह्णामि। कीदृशं त्वाम् ? देवाव्यं देवानवति तर्पयतीति देवावीस्तं देवाव्यम्, यज्ञस्यायुषे भ्रमप्रमादादिजनितभ्रेषशून्या निर्विघ्नयज्ञपरिसमाप्तिर्यज्ञस्यायुस्तस्मै यज्ञस्यायुषे अदृष्टात्मना फलपर्यन्तावस्थानाय च त्वां गृह्णामि। यज्ञो यजमानस्य शरीरम्, तन्निर्वर्त्यत्वात्, तस्यायुषे दीर्घायुष्ट्वाय वा त्वां गृह्णामि।

शतपथे विशेषः 'अयꣳ ह वा अस्यैषोऽनिरुक्त आत्मा यदुक्थ्यः' (श० ४।२।३।१) इत्यादिनोक्थग्रहं विधातुं सूक्ष्मशरीरात्मना तं स्तौति—अयं ह वा इति। अयमुक्थ्यः, यत एषोऽस्य यज्ञस्य अनिरुक्त आत्मा अविस्पष्ट आत्मा सूक्ष्मशरीरम्, स एष ग्रहोऽस्य यज्ञस्यात्मा सूक्ष्मशरीरात्मकत्वात् संसारमनुवर्तमानश्च न स्थूलदेहवत्प्रतिजन्म विनश्वरः। अनिरुक्तः प्राणो लोक आत्मत्वेन प्रसिद्धः। अतः सूक्ष्मशरीरस्यापि प्राणात्मकत्वेनात्मत्वम्। स सूक्ष्मशरीरात्मको ग्रहो यज्ञस्यायुर्जीवनकालः। उक्तमायुष्ट्वमवलम्ब्य ग्रहस्य पृथिव्या ग्रहणमाह—'तस्मादनया गृह्णात्यस्यै हि स्थाली भवति स्थाल्या ह्येनं गृह्णाति' (श० ४।२।३।१)। आयुष्ट्वं पृथिव्या ग्रहणे कथं हेतुरित्यत आह—अजरा हीयमिति। इयं पृथिवी अजरा। आयुश्च अक्षरममृतं भवति। यस्य यावदायुरस्ति तावदायुषो जरा शैथिल्यं तदभावोऽमृतत्वमनष्टत्वं च भवति। तं वै पूर्णं गृह्णातीति विहितग्रहणानुवादेन सम्पूर्णतां विधत्ते—'सर्वं वै तद्यत्पूर्णꣳ सर्वं तद्यदायुस्तस्मात् पूर्णं गृह्णाति' (श० ४।२।३।२)। नन्वयं ग्रह आयुरित्यभिधीयते, आत्मेति च पूर्वमुक्तम्, तथा सत्युभयात्मकः स्यादिति तत्राह—'तस्यासावेव ध्रुव आयुः। आत्मैवास्यैतेन सꣳहितः पर्वाणि सन्ततानि तद्वा अगृहीत एवैतस्मादच्छावाकायोत्तमो ग्रहो भवति' (श० ४।२।३।३)। असावित्युत्तरस्मिन् ब्राह्मणे विधास्यमानो ध्रुवग्रह एव यज्ञस्यायुः। एतेनोक्थ्यग्रहणेन आत्मैव

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।२०, ९।१४।८, १६, १७) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'उपयाम-

सूक्ष्मशरीरः संहितः स्यात् संयोजितः स्वयं यज्ञस्यात्मरूप एव भवति । नापूरुषः आयुरिति व्यवहारस्त्वात्मसन्धानार्थत्वादुपपद्यत इत्युत्तरत्र वक्ष्यते। 'तद्यस्यैतेनात्मा स꣡ꣳहितस्तेनास्यैष आयुः' (श० ४।२।३।५)। यतोऽयं ग्रहो यज्ञस्यात्मा, अतोऽनेन यज्ञस्य पर्वाणि सवनत्रयरूपाणि संहितानि परस्परं संश्लिष्टानि कार्याणि। प्राणरूपेण ह्यात्मनोऽङ्गानां पर्वाणि सन्धीयन्ते। सन्धानप्रकारं विधत्ते—तद्वा अगृहीत इति। उक्थ्यग्रहस्त्रेधा विभज्य हूयते। तत्र प्रथमे उक्थ्यविग्रहे मैत्रावरुणः शस्त्रं पठति, द्वितीये ब्राह्मणाच्छंसी, तृतीये अच्छावाकः। एवं च सत्येतस्मादुक्थ्यग्रहादच्छावाकसम्बन्धिनि चरम उक्थ्यविग्रहेऽगृहीते सति माध्यन्दिनसवनार्थं सोममभिषवस्थाने स्थापयेत्। वसतीवरीणां च तृतीयं भागमवनयेत्। तत् तथा सति पर्व प्रातःसवनलक्षणं माध्यन्दिनसवनलक्षणं च समैति परस्परं समेतं भवति। यत उत्तरस्य सवनस्य सोमोपावहरणरूपं प्रथममेवाङ्गं पूर्वं करोति। पूर्वस्य सवनस्य उत्तममङ्गम् अच्छावाकोक्थ्यविग्रहहोमरूपं पश्चात् करोति। अतः परस्परं सन्नद्धं भवति। उत्तरसवनसम्बन्धिनः प्रथमाङ्गस्य पूर्वमनुष्ठाने पूर्वसवनसम्बन्धिनश्चान्तिमाङ्गस्य पश्चादनुष्ठाने व्यतिषङ्गाल्लोकेऽपि शारीराणि पर्वाणि व्यतिषक्तानि भवन्तीति। इदमुपरितनमङ्गमित्थमतिहानमतिगमनयुक्तं भवति, इदं वा अधस्तनमित्थम्।

तदुक्तं ब्राह्मणेन—'अथ राजानमुपावहरति। तृतीयं वसतीवरीणामवनयति तत्पर्व समैति प्रथममहोत्तरस्य सवनस्य करोतीत्युत्तमं पूर्वस्य स यदुत्तरस्य सवनस्य तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वस्य तदुत्तमं तद् व्यतिषजति तस्मादिमानि पर्वाणि व्यतिषक्तानीदमित्थमतिहानमिदमित्थम्' (श० ४।२।३।४)। उक्तः सवनसन्धानप्रकारो माध्यन्दिनसम्बन्धिन्युक्थ्यविग्रहेऽपि कर्तव्य इत्याह—'एवमेव माध्यन्दिने सवने। अगृहीत एवैतस्मादच्छावाकायोत्तमो ग्रहो भवत्यथ तृतीयं वसतीवरीणामवनयति....प्रथममहोत्तरस्य सवनस्य करोत्युत्तमं पूर्वस्य स यदुत्तरस्य सवनस्य तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वस्य तदुत्तमं व्यतिषजति तस्मादिमानि पर्वाणि व्यतिषक्तानि....तद्यदस्यैतेनात्मा स꣡ꣳहितस्तेनास्यैष आयुः' (श० ४।२।३।५)। कात्यायनोऽपि तथैवाह—'प्रागच्छावाकविग्रहात् सोमोपावहरणं वसतीवर्यर्धं चासिञ्चत्याधवनीये' (का० श्रौ० ९।१४।१९-२०)। अच्छावाकविग्रहात् प्राक् पूर्ववत् सोमोपावहरणं वसतीवर्यर्धं चासिञ्चत्याधवनीये। अयमभिप्रायः—उक्थग्रहस्य त्रयः पर्यायाः। तत्र उक्थ्यस्थालीगतं सोमं त्रेधा विभज्य तृतीयमंशं प्रथमतो मित्रावरुणाभ्यां गृह्णाति स प्रशास्तुरुक्थ्यविग्रहः। द्वितीयं द्वितीयमंशमिन्द्राय गृह्णाति स ब्राह्मणाच्छंसिन उक्थ्यविग्रहः। तृतीयं तृतीयमंशमिन्द्राग्निभ्यां गृह्णाति सोऽच्छावाकस्योक्थ्यविग्रहः। त्रिष्वपि विग्रहेषु उक्थ्यग्रहणानन्तरं दशापि चमसा गृह्यन्ते हूयन्ते भक्ष्यन्ते च। तत्र यत्सम्बन्ध्युक्थ्यविग्रहस्तस्य चमसं प्रथमं गृहीत्वा उन्नीय तत इतरे नव चमसा उन्नेयाः। एवं च प्रथमस्य ग्रहस्य प्रशास्तृसम्बन्धित्वात् तस्यैव चमसः प्रथममुन्नेयः। स एव शंसनकर्तापि। एवं द्वितीये विग्रहे ब्राह्मणाच्छंसिनश्चमसः प्रथमं ग्राह्यः, तदन्वितरे नव चमसाः। ततस्तृतीये च अच्छावाकचमसस्य प्रथमं ग्रहणमितरेषां नवानां तत इति विभज्य विग्रहः। उक्थ्यग्रहस्य यज्ञसम्बन्ध्यात्मसन्धानार्थत्वाद् आयुरिति व्यवहार इत्यर्थः। 'सैषा कामदुघैवेन्द्रस्योद्धारः। त्रिभ्य एवैनं प्रातःसवन उक्थ्येभ्यो विगृह्णाति त्रिभ्यो माध्यन्दिने सवने तत् षट्कृत्वः षड् वा ऋतव ऋतवो वा इमान् सर्वान् कामान् पचन्त्येतेनो हैषा कामदुघैवेन्द्रस्योद्धारः' (श० ४।२।३।६)। प्रकृतं ग्रहं प्रशंसति—इन्द्रस्योद्धार इति। साधारणो भागो योऽयमुक्थ्यो ग्रहः, सैषा कामदुघैव कामधेनुरेव। यद्यप्युक्थ्यविग्रहेषु देवतान्तरसम्बन्धोऽस्ति, तथापीन्द्रस्य प्राधान्याद् माध्यन्दिनसवने तस्यैव देवतात्वाच्चेन्द्रस्य भाग इत्युक्तम्। तत्र हेतुमाह—त्रिभ्य इत्यादिना। उक्थ्यमिति स्तुतशस्त्रविशेषनामधेयम्। प्रातःसवन उक्थ्यत्रयार्थं माध्यन्दिनसवने चोक्थ्यत्रयार्थमिति तद्ग्रहणं षट्कृत्वः सम्पद्यते। षट्संख्याका ऋतवः सर्वान् इमान् कामान् पचन्ति पाकं प्रापयन्ति, उपयोगयोग्यान् कुर्वन्ति, कालस्य सर्वोत्पत्तिनिमित्तकारणत्वादित्यर्थः। अथ संख्यासामान्येन विगृह्यमाणस्योक्थ्यग्रहस्य ऋतुरूपत्वात् कामधेनुत्वम्।

'तं वा अपुरोरुक्कं गृह्णाति । उक्थ७ँ हि पुरोरुगृग्घि पुरोरुगृग्घ्युक्थ्य७ँ साम ग्रहोऽथ यदन्यज्जपति यद्यजुस्ता हैता अभ्यर्ध एवाग्र ऋग्भ्य आसुरभ्यर्धो यजुर्भ्योऽभ्यर्धः सामभ्यः' (श० ४।२।३।७) । ननु यथा ऐन्द्रवायवादिग्रहाणाम् 'आ वायो' (वा० सं० ७।७) इत्यादयः पुरोरुचो जातास्तथा अस्य ग्रहस्य का पुरोरुक् ? इत्यत आह— तं वा अपुरोरुक्कं गृह्णाति । ग्रहणात् पूर्वो रोचयिता मन्त्रविशेषः पुरोरुक्, तद्रहितमेव तम् एतमुक्थ्यग्रहं गृह्णाति । ननु यदि ग्रहणेऽपुरोरुक्त्वं होमे वा का पुरोरुक् ? इत्यत आह— उक्थमिति । उक्थं शस्त्रं हि होमात्पूर्वमेव प्रयुज्यमानं होमदेवतायै हवी रोचयतीति तेन शस्त्रेण होमः सपुरोरुक्कः । ननु तर्हि उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा इत्ययमपि मन्त्रो ग्रहणात्पूर्वमेव ग्रहीष्यमाणं हविर्देवतायै रोचयतीत्यस्यापि पुरोरुक्त्वात् कथं ग्रहणमपुरोरुक्कमित्यत आह—ऋग्घि पुरोरुगिति । न पुरोरोचयितृमात्रं पुरोरुक्शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्, किन्तु पादबद्धत्वहेतुकेन ऋगात्मकत्वेन विशिष्टम् । न चेह पादबद्धत्वमस्ति, उक्थ्यशस्त्रस्य तु ऋगात्मकत्वेन युक्तमनन्तरोक्तं पुरोरुक्त्वमित्यत आह—ऋग्घ्युक्थमिति । उक्थशस्त्रस्य ऋगात्मकत्वादस्तु पुरोरुक्त्वम्, उक्थस्तोत्रस्य तु कथम् ? नहि तादृगात्मकं तत्, किन्तु सामात्मकमित्यत आह—साम ग्रह इति । गृह्यतेऽभिव्यज्यतेऽनेनेति ग्रहः । प्रगीतो मन्त्रः सामेत्युच्यते । न च गानमात्रेण तस्य ऋक्त्वं व्यावर्त्यते, पादनिबन्धनं हि तत् । उक्तं हि तल्लक्षणं जैमिनिना—'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (जै० सू० २।१।३५) । तेनाप्रगीतवत् प्रगीतस्यापि ऋग्लक्षणयोगेन ऋक्त्वात्, ऋग्घि पुरोरुग् इत्यनेनैव प्रगीतोऽपि गृह्यते । प्रगीतमन्त्रात्मकस्य साम्न ऋक्त्वेऽपि 'ऋचः सामानि यजूंषि, ऋक्सामे वै देवेभ्यः साम' (ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्) इत्यत्राभेदव्यवहारः प्रगीताप्रगीतत्ववैलक्षण्यमात्रनिबन्धनो भविष्यतीति । यदपि—'गीतिषु सामाख्या' (जै० सू० २।१।३६), तत्रापि गीयत इति गीतिरिति कर्मणि क्तिना मन्त्रोऽभिधीयते । मन्त्राश्च विवक्षितार्था इति मन्त्राधिकरणे (जै० सू० २।१।३०-३१) स्पष्टम् । न च गीतिक्रियाऽर्थवती, अथ तु 'ऋच्यध्यूढ७ँ साम गायति रेवतीषु वारवन्तीयं कवतीषु रथन्तरम्' (ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्) इत्यादिषु गीतिक्रियामात्रे सामादिपदं व्यवहृतमिति मन्यसे, तर्हि गीतिक्रियाया अर्थानवबोधकत्वेन पुरोरुक्त्वानङ्गीकारादेव कथं पुरोरुक्त्वमिति प्रश्नानवकाशः । अस्मिन् यज्ञे साम ग्रह इति श्रुतौ ग्रहशब्दो गृह्यते । ऋगक्षराण्यभिव्यज्यन्तेऽनेनेति करणसाधनो गानक्रियामेव विधत्ते । तदात्मकस्य साम्नोऽर्थानवबोधकत्वादेव पुरोरुक्त्वाभावाद् ऋग्घि पुरोरुगिति न व्याहन्यते । यत्तु प्रगीताप्रगीतरूपाया ऋचोऽन्यद् उपयाम इत्यादि, तत् पुरोरोचयितृत्वेऽपि न पुरोरुक्, किन्तु यजुरेव केवलमिति । प्रकृतग्रहस्यापुरोरुक्त्वेऽपि चोपपत्तिरित्याह—अथ यदन्यदिति । पुरो रोचयितृणामुपयामेत्यादीनामनृक्त्वेन पुरोरुक्त्वाभावे सत्यपरेणापि केनचनासाधारणेन विशेषेण भवितव्यम्, न यजुर्मात्रसाधारण्येन गणनं युक्तमिति चेत्, तत्राह—ता हैता इति । सत्यम्, अत एव ता एता उपयामेत्यादयः पुरोरोचयित्र्यो मन्त्रजातयः, अग्रे पूर्वस्मिन् काले ऋग्यजुःसाममात्रेभ्यो मन्त्रेभ्यः पुरोरोचयितृत्वेनैवासाधारणेनाभिहिताः समृद्धा आसु । अत एव उपयामेत्यादयः पुरोरोचयित्र्यो मन्त्रजातयः, अग्रे ऋग्भ्योऽभ्यर्ध आसुः, यजुर्भ्यः सामभ्यश्चाभ्यर्ध आसुः ।

'ते देवा अब्रुवन् । हन्तेमा यजुःषु दधाम तथेयं बहुलतरेव विद्या भविष्यतीति ता यजुःष्वदधुस्तत एषा बहुलतरेव विद्याऽभवत्' (श० ४।२।३।८) । इत्थं पृथग्भूतानां यजुषां कथं यजुष्ट्वमिति तत्रोच्यते—ते देवा इति । ऋग्यजुःसामाख्याभ्यो मन्त्रजातिभ्योऽपरस्याश्चतुर्थ्या अपि पुरोरोचयित्र्या जातेरङ्गीकारे गौरवादेवैता यजुःष्वेव निहिताः । अत एषां यजुषां पुरोरोचयितृत्वेऽप्यनृक्त्वेन पुरोरुक्त्वाभावात् प्रकृतं

गृहीतः' इस मन्त्र से उक्थ्य ग्रह का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल

ग्रहमपुरोरुक्कं गृह्णातीति युक्तम्। मूलं तु स्पष्टमेव। 'तं यदपुरोरुक्कं गृह्णाति। उक्थꣳ हि पुरोरुग्घि पुरोरुग्घ्युक्थꣳ स यदेवैनमुक्थेभ्यो विगृह्णाति तेनो हास्यैष पुरोरुङ्मान् भवति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति' (श० ४।२।३।९)। मन्त्रस्य पुरोरुक्त्वाभावेऽपि ग्रहस्य पुरोरुक्त्वं समर्थयितुमाह—तं यदित्यादि। यद् यद्यपि ग्रहणसमये तम् अपुरोरुक्कं गृह्णाति, तथापि विभज्य ग्रहणानन्तरमुक्थ्यस्तोत्राणि भविष्यन्ति, तेषां च पुरोरुक्त्वात्तैर्विगृह्यमाणोऽयं ग्रहः सपुरोरुक्को भविष्यति। विग्रहानन्तरैः स्तोत्रशस्त्रैः सपुरोरुक्त्वेऽपि स्वसाधनस्य यजुषोऽपुरोरुक्त्वादपुरोरुक्त्वमित्यपि सिद्धमिति शतपथभाष्ये सायणाचार्यः। 'अथातो गृह्णात्येव। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत इतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्राय त्वेति बृहद्वते वयस्वत इति वीर्यवत इत्येवैतदाह यदाह बृहद्वते वयस्वत इत्युक्थाव्यं गृह्णामीत्युक्थेभ्यो ह्येनं गृह्णाति यत्त इन्द्र बृहद्वय इति यत्त इन्द्र वीर्यमित्येवैतदाह तस्मै त्वा विष्णवे त्वेति यज्ञस्य ह्येनमायुषे गृह्णाति तस्मादाह तस्मै त्वा विष्णवे त्वेत्येष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वेति सादयत्युक्थेभ्यो ह्येनं गृह्णातीति' (श० ४।२।३।१०)। ग्रहस्य ग्रहणमनूद्य चतुर्धा विभज्य विनियुञ्जानो विधत्ते—अथातो गृह्णात्येवेति। इन्द्रो वै उक्थ्यग्रहलक्षणस्य यज्ञस्य देवता खलु। तथा च पूर्वमुक्तम् -'सैषा कामदुघैवेन्द्रस्योद्धारः' इति। अथवा सोमस्य मानमन्त्रेषु 'इन्द्राय त्वा वृत्रघ्ने' इत्येवमादिष्विन्द्र एव सर्वत्र देवतात्वेन निर्दिष्टः, अतः प्राधान्यात् स एव यज्ञस्य देवता। तस्मादिन्द्राय त्वेति मन्त्रपदमुपपन्नम्। वीर्यवत इत्येतेनैवाभिप्रायेण वयस्वत इति बृहद्वत इति पदमध्वर्युराह। अत्र बृहद्वत इति बृहदिति बृहत्साम, यच्च वीर्येण सृष्टत्वाद् वीर्यरूपम्। तथा च तैत्तिरीयकम्—'उरसो बाहुभ्याम्' इति प्रक्रम्य 'वीर्याद्बृहत्सृज्यन्त' (तै० सं० ७।१।१) इति। वयस्वत इत्यत्राप्यतिशायने मतुप्। वयःशब्देनात्रातिशायि यौवनलक्षणं वयोऽभिधीयते। तच्च वीर्यस्य हेतुः। अतो वीर्यवत इत्येतदभिप्रायेण वयस्वत इत्युक्तम्। द्वितीयं भागं व्याचष्टे - उक्थाव्यमित्यादि। उक्थेभ्यो ह्येनमिति। उक्थानि शस्त्रस्तोत्राणि तैः स्तुतिं सम्पादयितुम् एनं गृह्णाति, अत उक्थाव्यमित्युक्तम्। अवतिर्गत्यर्थः (निघ० २।१४।१-२)। उक्थान्यवतीत्युक्थावीः। यद्वा उक्थैराव्यो गन्तव्यः। तृतीयं भागं व्याचष्टे—यत्त इन्द्रेत्यादि। अत्रापि बृहद्वय इत्यनेन वीर्यमभिहितम्। चतुर्थं भागं व्याचष्टे—यज्ञस्य ह्येनमिति। अत्रायुरित्यनेन लिङ्गशरीरमभिधीयते। लिङ्गशरीररूपात्मसन्धानार्थत्वादस्यायुष्ट्वव्यवहार इति पूर्वमुक्तत्वात्, तदर्थमस्य ग्रहणाद् विष्णवे त्वा इत्यध्वर्युराह—विष्णुरिति यज्ञ उच्यते।

तथा शतपथानुसारी समस्तस्य मन्त्रस्यायमर्थः—हे उक्थ्यग्रह, उपयामेन स्थाल्या गृहीतोऽसि। बृहत्सामयुक्ताय यौवनलक्षणवयोयुक्ताय इन्द्रायोक्थ्यशस्त्रगामिनं त्वां गृह्णामि। हे इन्द्र, यद् यस्माद् बृहद् महद् वयो यौवनलक्षणं तस्मादिन्द्राय तुभ्यं त्वां ग्रहं गृह्णामि। इन्द्रार्थे ग्रहे इन्द्रत्वमुपचर्यते। हे ग्रह, त्वां विष्णवे च गृह्णामि। ग्रहस्य समन्त्रकं सादनं विधत्ते—एष त इति। उक्थेभ्यो ह्येनं गृह्णाति। उक्थैः स्तोत्रशस्त्रैः स्तुतिं सम्पादयितुमस्य ग्रहस्य ग्रहणान्मन्त्रे उक्थेभ्य इत्यस्य शब्दस्य प्रयोगो युज्यते। 'तं विगृह्णाति। देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीति प्रशासनꣳ स कुर्याद्य एवं कुर्याद्यथादेवतं त्वेव विगृह्णीयात्' (श० ४।२।३।११)। इत्थं ग्रहस्य ग्रहणादिकं विधाय तस्यैव समन्त्रकं विभज्य ग्रहणं विधत्ते—तमिति। उक्थग्रहस्त्रेधा विभज्य हूयते। पर्यायत्रयेऽपि देवेभ्यस्त्वा इत्यनेनैव मन्त्रेण विभज्य गृह्णीयात्। उक्तमन्त्रसाधने विग्रहणे ग्रहस्य साधारणलक्षणं दोषमुद्भावयति—प्रशासनं स इत्यादि। योऽध्वर्युरुक्तमन्त्रसाधनकं विग्रहणं कुर्यात्, स ग्रहस्य प्रकर्षेण शासनं विनियोजनं कुर्यात्, मन्त्रे देवेभ्य इति सर्वदेवतासाधारणस्य शब्दस्य प्रयोगादिति भावः। यत एवमतस्तद्देवतानुसारेण ग्रहं विगृह्णीयादित्यादि। यथादेवतमित्यादि।

मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सोम निवेदनीय द्रव्य, त्वमुपयामेन यमसङ्ग्रहसमीपवर्तिना नियमेन प्रेम्णा गृहीतोऽसि। बृहत्सामप्रियाय वयस्वतेऽतिप्राचीनाय नित्याय इन्द्राय परमैश्वर्यवते परमेश्वराय त्वां गृह्णामि। कीदृशं त्वाम्? उक्थाव्यम्, उक्थैः स्तोत्रशस्त्रादिभिरवनीयं रक्षणीयं स्तुत्यं वा, भगवते समर्पणीयं चरुपुरोडाशादिकं स्तोत्रैः प्रगीतैरुक्थ्यसमूहैः शस्त्रैर्ऋक्समूहैरप्रगीतैरेव भगवते निवेदनीयं स्तूयते रक्ष्यते च। यद् यस्माद् महद् वयो नित्ययौवनलक्षणं वयो भक्तैः प्राप्यते तस्मै इन्द्राय परमेश्वराय हे सोम, त्वां गृह्णामि। कीदृशाय इन्द्राय? विष्णवे व्यापनशीलाय। हे सोम, एष ते योनिः स्थानम्। उक्थेभ्य उक्थसम्बन्धिभ्यो देवेभ्यस्त्वां देवाव्यं देवानां पालकं यज्ञस्योपासनालक्षणस्यायुषे दीर्घजीवनाय त्वां गृह्णामि। भगवदाराधनेन तदुपहारेण सर्वे देवास्तृप्यन्ति, यथा तरोर्मूलनिषेचनेन शाखोपशाखादयः सर्वे तृप्यन्तीति तद्वद्।

दयानन्दस्तु—'धर्मार्थकाममोक्षानिच्छुरहम्। हे इन्द्र सेनापते, त्वमुपयामगृहीतोऽसि सुनियमैरधीतविद्योऽसि, अतो बृहद्वते प्रशस्तानि बृहन्ति कर्माणि यस्य तस्मै, वयस्वते बहुजीवनाय इन्द्राय परमैश्वर्यवते उक्थाव्यं प्रशंसार्हाणि स्तोत्राणि शस्त्रविशेषाणि वा यस्य तं त्वां गृह्णामि। यत् ते तव बृहद्वयो जीवनं तस्मै तत्पालनाय विष्णवे परमेश्वराय यज्ञाय वा त्वां गृह्णामि। एष सेनाधिकारस्ते योनिः स्थित्यर्थं स्थानविशेषः। उक्थेभ्यः प्रशंसनीयेभ्यो वेदोक्तेभ्यः कर्मभ्यः, देवेभ्यो विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा, त्वां देवाव्यम् उक्तानां देवानां पालकम्, यज्ञस्य राज्यपालनादेः, आयुषे जीवनाय गृह्णामि' इति, हिन्द्यां तु—'परमैश्वर्यवते सभापतये तथैव उक्थाव्यं शस्त्रविद्यावन्तं त्वाम्' इत्युक्तम्। संस्कृते 'सेनाधिकारः', हिन्द्याम् 'अधिकारी' इत्यादिवैरूप्यपूर्णोऽर्थ उक्तः। तत्सर्वमप्येतद्विसङ्गतम्, मुख्यार्थपरित्यागात्, गौणार्थस्वीकाराच्च। तथाहि—इन्द्रपदेन सेनापतिरर्थः कथं गृह्यते? यथा बृहन्ति कर्माणि तथा बृहन्तो गुणाः, बृहत्सामापि च भवन्ति, तेषु त्वदर्थग्रहणे विनिगमना वाच्या। उक्थपदेन स्तोत्राणि शस्त्राणि च वैदिकप्रसिद्ध्यनुसारेण गृह्यन्ते। सेनापतेस्तैः कः सम्बन्धः? उक्थपदेन शस्त्रविद्याग्रहणे न किमपि बीजमस्ति। किञ्च, वयस्वद्-बृहच्छब्दौ सभापतेर्विशेषणे इत्यत्र किं बीजम्? नहि तत्र किमपि विशेष्यपदं निर्दिष्टम्। तत्रापि तादृशसभापतिपालनं कस्य शब्दस्यार्थः? न चतुर्थीमात्रस्य सोऽर्थः सम्भवति। श्रुतिसूत्रादिविरोधस्तु स्फुट एव॥ २२॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे निवेदनीय द्रव्य सोम, तुम नियमपूर्वक प्रेम के साथ ग्रहण किये गये हो। बृहत्साम के प्रेमी, चिरन्तन, नित्य, परमैश्वर्यशाली परमेश्वर के लिये स्तोत्र, शस्त्र आदि के द्वारा रक्षणीय अथवा स्तुत्य तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। जिससे नित्ययौवनात्मक आयु भक्तों को प्राप्त होती है, उस व्यापक परमेश्वर के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे सोम, यही तुम्हारा स्थान है। उक्थ सम्बन्धी देवों के लिये, उपासनात्मक दीर्घजीवन के लिये, हे देवताओं के पालक, तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। भगवदाराधन के द्वारा उसके उपहार से समस्त देवगण उसी प्रकार तृप्त होते हैं, जैसे वृक्ष की जड़ का सिंचन करने से शाखा तथा उपशाखा आदि सभी संतृप्त हो जाते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्या में संस्कृत में 'सेनाधिकार' तथा हिन्दी में 'अधिकारी' इस प्रकार द्विविध विभिन्नता से पूर्ण अर्थ किया गया है। यह पूरा ही मुख्यार्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ के स्वीकार के कारण विसंगतियुक्त है। इन्द्र शब्द के द्वारा सेनापति अर्थ कैसे ग्रहण किया जा सकता है? उक्थ शब्द से 'शस्त्रविद्या' का ग्रहण करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। वयस्वत् तथा बृहस्वत् शब्द सभापति के विशेषण हैं, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। यहाँ कोई विशेष्य पद भी निर्दिष्ट नहीं किया गया है। उस प्रकार के 'सभापति का पालन' किस शब्द का अर्थ है? केवलचतुर्थी का वह अर्थ नहीं हो सकता। श्रुति एवं सूत्र वाक्यों आदि का विरोध तो स्पष्ट ही है॥ २२॥

मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥ २३ ॥

'मित्रावरुणाभ्यां त्वेति वा प्रशास्त्रे' (का० श्रौ० ९।१४।१०)। अथवा मैत्रावरुणकर्तृकशस्त्रवद् ग्रहयागार्थमुक्थस्थालीस्थसोमतृतीयांशमुक्थपात्रे मित्रावरुणाभ्यां त्वेति गृह्णीयात्। मन्त्रविकल्पार्थोऽयमारम्भः। हे उक्थ्यग्रह, मित्रावरुणाभ्यां सम्मिलितदेवताभ्यामर्थे देवाव्यं देवतर्पकं देवै रक्षणीयं गन्तव्यं वा त्वां यज्ञस्यायुषे गृह्णामि। 'एवं प्रतिप्रस्थातोत्तराभ्यामिन्द्राय त्वेति ब्राह्मणाच्छꣳसिन इन्द्राग्निभ्यां त्वेत्यच्छावाकाय' (का० श्रौ० ९।१४।१६-१८)। एवं प्रथमे उक्थ्यविग्रहेऽध्वर्युणा प्रचारितद्वितीयतृतीयाभ्यां विग्रहाभ्यां प्रतिप्रस्थाता प्रचरेत्। अयं विशेषः — इन्द्राय त्वेति मन्त्रेण ब्राह्मणाच्छंसिकर्तृकशस्त्रवते यागाभ्यासाय ग्रहं गृह्णीयात्। इन्द्राग्निभ्यां त्वेति मन्त्रेणाच्छावाककर्तृकशस्त्रवते यागाभ्यासाय गृह्णीयात् — इन्द्राय त्वा गृह्णामि, इन्द्राग्निभ्यां त्वां गृह्णामि। शेषं पूर्ववत्। 'उत्तरेष्विन्द्रावरुणाभ्यामिन्द्राबृहस्पतिभ्यामिन्द्राविष्णुभ्यामिति' (का० श्रौ० १०।७।१०)। उक्थादिसोमसंस्थेषु मैत्रावरुणादीनां तृतीयसवने उक्थ्यविग्रहमन्त्राः। मित्रावरुणयोरर्थे त्वां देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि। इन्द्राविष्णुभ्यामर्थे त्वां गृह्णामि। इन्द्रावरुणाभ्यामित्यादौ 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इति पूर्वपदान्तस्य दीर्घः।

अत्र शतपथे विशेषः — 'मित्रावरुणाभ्यां त्वा। देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीत्येव मैत्रावरुणाय मैत्रावरुणीषु हि तस्मै स्तुवते मैत्रावरुणीरनुशꣳसति मैत्रावरुण्या यजति' (श० ४।२।३।१२)। मित्रावरुणाभ्यामिति मन्त्रेणैव मैत्रावरुणयोरुक्थ्यं विगृह्णीयान्न देवेभ्य त्वेत्यनेन। अत्र सायणाचार्यः—'न केवलं तस्य मन्त्रस्य ग्रहसाधारण्यपरिहारः प्रयोजनम्, अपि त्वेतदुक्थ्यविग्रहसम्बन्धिनां मन्त्रान्तराणां सादृश्यलाभोऽपि' इत्याह। मैत्रावरुणीष्विति। तस्मै मैत्रावरुणसम्बन्धिने उक्थ्यविग्रहाय मित्रावरुणसम्बन्धिनीष्वृक्षु 'आ नो मित्रावरुणा' (मा० सं० २१।८) इत्यादिषु स्तुवते उद्गातारः। मैत्रावरुणश्च मैत्रावरुणीरनु मैत्रावरुणीभिर्ऋग्भि आ नो मित्रा इत्यादिभिरेव शंसति स्तौति। अनोस्तृतीयार्थे कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया। तथा 'आ नो मित्रावरुणा' इति मैत्रावरुण्यैवेति सर्वत्र मन्त्रेषु मित्रावरुणसम्बन्धाद् विग्रहणे साधनभूतोऽपि मन्त्र इतरमन्त्रसादृश्यलाभाय मैत्रावरुण एव कर्तव्यः।

मन्त्रार्थ— देवगणों का तृप्तिकारक जान कर मित्रावरुण देवताओं की प्रीति के निमित्त यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के निमित्त तुम्हारे अंश को ग्रहण करता हूँ। देवगणों का तृप्तिकारक जान कर इन्द्रदेवता की प्रीति के लिये यज्ञ की समाप्ति के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ, देवसमूहों का तृप्तिकारक जान कर इन्द्राग्नी देवता की तृप्ति के निमित्त, इन्द्र-वरुण देवता की प्राप्ति के निमित्त, इन्द्र और बृहस्पति देवताओं की प्रीति के निमित्त तथा इन्द्र और विष्णु देवताओं की प्रीति के निमित्त तुम्हारे विभिन्न अंशों को ग्रहण करता हूँ ॥ २३ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१०।९, १४) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार उक्थ्य स्थाली में

'इन्द्राय त्वा। देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीत्येव ब्राह्मणाच्छ७ँ सिन ऐन्द्रीषु हि तस्मै स्तुवते ऐन्द्रीरनुश७ँ सत्यैन्द्रया यजति' (श० ४।२।३।१३)। 'इन्द्राग्निभ्यां त्वा। देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीत्येवाच्छावाकायैन्द्राग्नीषु हि तस्मै स्तुवत ऐन्द्राग्नीरनुश७ँ सत्यैन्द्राग्न्या यजतीन्द्राय त्वेत्येव माध्यन्दिने सवन ऐन्द्र७ँहि माध्यन्दिन७ँ सवनम्' (श० ४।२।३।१४)। माध्यन्दिनं सवनमैन्द्रम् इन्द्रदेवत्यमेव खलु। तथा च दाशतय्यां मन्त्रः—'प्रातः सुतमपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते' (ऋ० सं० ४।३५।७)। उक्थ्यपर्यायत्रयेऽपि इन्द्रायेत्येव विगृह्णीयात्। तत्रैव—'तदु ह चरकाध्वर्यवः' (श० ४।२।३।१५-१७) इत्यादिना निरसनाय शाखान्तरमतमुपन्यस्यति। तस्मिन् उक्थ्यविग्रहे चरकाध्वर्यवो निम्नोक्तरीतिमनुसरन्ति—मैत्रावरुणब्राह्मणाच्छंस्यच्छावाकसम्बन्धिनामुक्थ्य-विग्रहाणाम् उपयाम गृहीतोऽसीत्यादिना क्रमेण विग्रहणादि प्राथ्यते। तृतीये पर्याये पुनर्हविरसीति स्थालीं नाभिमृशेत्, माध्यन्दिनसवनस्यैन्द्रदेवत्यत्वात्। तत्र इन्द्राय इत्येव विगृह्णीयात्। यतोऽध्वर्युः प्रातःसवने प्रथमद्वितीययोर्द्विः स्थालीमभिमृशति, तृतीयपर्याये तूष्णीं स्थालीमनभिमृश्यैव ग्रहं निदधाति, अतो माध्यन्दिनेऽपि तथैव कुर्यादिति तदाशयः। 'तं वै नोपयामेन गृह्णीयात्' (श० ४।२।३।१८) इत्यादिना तन्मतं स्वपक्षस्तुत्यै निरस्यति एतम् उक्थ्यविग्रहम् उपयामगृहीतोऽसीत्युच्चार्य न गृह्णीयात्। एष ते योनिरित्यनेन खरे सादनं योनौ सादनं तदपि न कुर्यात्, हि यस्मादग्रे पूर्वग्रहग्रहणसमय एव एष ग्रह उपयामशब्दोच्चारणेन गृहीतः, एष ते योनिरित्यादिना खरे सादितः, अतो न तदुच्चारणं कुर्यात्। तथाकरणेऽजामित्वं अजामितायै स्यात्। उपयाम-गृहीतः, एष ते योनिर्—इत्यनयोर्ग्रहणसमये प्रयुक्तत्वात्, अत्रापि पुनस्तयोरुच्चारणे विशेषाभावाद् आलस्याय कल्पते।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, यज्ञस्य देवाराधनलक्षणस्य आयुषे मित्रावरुणाभ्यां प्रसिद्धाभ्यां देवाभ्यां मित्राय हितकारिणे वरुणाय शान्तिप्रदाय मित्रावरुणाभ्यामिव प्रकाशकवर्षकाभ्यां ज्ञानवैराग्याभ्यां यज्ञस्यायुषे इन्द्राय परमेश्वराय देवाव्यं देवतर्पणशीलं त्वां गृह्णामि। यज्ञस्यायुषे इन्द्रावरुणाभ्यां तन्नामकाभ्यां देवाभ्यां तत्तुल्याभ्या-मैश्वर्यशमाभ्यां देवाव्यं त्वां गृह्णामि। यज्ञस्यायुषे इन्द्राबृहस्पतिभ्यां देवताभ्यामैश्वर्यज्ञानाभ्यामर्थाय त्वां देवाव्यं गृह्णामि। तथैव इन्द्राविष्णुभ्यां देवताभ्यामैश्वर्यपालयितृभ्यां त्वां गृह्णामि। यज्ञस्यायुषे इन्द्राग्निभ्यां देवाभ्यामैश्वर्यतेजोभ्यां त्वां गृह्णामि।

स्थित सोम के अंश का उक्थ पात्र में ग्रहण 'मित्रावरुणाभ्यां त्वा' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे सोम, देवाराधनरूपी यज्ञ की आयुष्य के लिये हितकारी तथा शान्तिप्रद मित्र एवं वरुण नामक प्रसिद्ध देवों के लिये, उनकी भाँति प्रकाशक एवं वर्षणकर्ता ज्ञान तथा वैराग्य के लिये, परमेश्वर के लिये देवतर्पणशील तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यज्ञ के आयुष्यार्थ इन्द्र तथा वरुण नामक देवों के लिये, उनके तुल्य ऐश्वर्य एवं शम के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। इन्द्र एवं बृहस्पति देवों के लिये, ऐश्वर्य तथा ज्ञान के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। इसी प्रकार इन्द्र एवं विष्णु देवताओं के लिये, ऐश्वर्य तथा पालकत्व के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। इन्द्र तथा अग्नि देवों के लिये, ऐश्वर्य तथा तेज के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।

दयानन्दस्तु – 'हे सभापते, धर्मादिमोक्षान्तान् पुरुषार्थानिच्छुरहं यज्ञस्य अग्निहोत्रादे राज्यपालनान्तस्य आयुषे उत्पत्त्यै मित्रावरुणाभ्यां सख्युरुत्कृष्टाभ्याम्' इति, हिन्द्यां तु—'मित्राय उत्तमविद्यायुक्तपुरुषेभ्योऽर्थाय देवाव्यं देवरक्षकं त्वां गृह्णामि। हे सेनापते विद्वन्, यज्ञस्य अग्निहोत्रादे राज्यपालनान्तस्य आयुषे उन्नत्यै इन्द्राय परमैश्वर्यवते त्वा देवाव्यं विद्वद्रक्षकं त्वां गृह्णामि। हे शस्त्रास्त्रविद्यावित्, यज्ञस्य सत्सङ्गतिकरणस्यायुषे इन्द्राग्निभ्यां विद्युत्प्रसिद्धाग्निभ्यां देवाव्यं दिव्यविद्याबोधकं त्वां गृह्णामि, हे शिल्पिन्, यज्ञस्य शिल्पविद्याकार्यसिद्धिकरस्य आयुषे इन्द्रावरुणाभ्यां विद्युज्जलाभ्यां त्वां देवाव्यम् एतद्दिव्यविद्याव्यापकं त्वां गृह्णामि। हे विद्वन्, यज्ञस्य क्रियाकौशलसंगतस्य आयुषे इन्द्राबृहस्पतिभ्यां राजानूचानाभ्यां विद्वद्भ्यां त्वा देवाव्यं प्रशस्तयोगविद्याप्रापकं यज्ञस्य योगविद्याप्रापकस्य विज्ञानस्य आयुषे इन्द्राविष्णुभ्याम् ईश्वरवेदज्ञानाभ्यां त्वा देवाव्यं ब्रह्मविदां तर्पकं यज्ञस्य ज्ञानमयस्य आयुषे वृद्धये गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वदुक्तानां सम्बोध्यानां वेदोक्तत्वे मानाभावात्। तथैव मित्रावरुणाभ्यामित्यनेन मित्रोत्तमविद्याविदोर्ग्रहणमपि निर्मूलम्, 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इति सूत्रेण देवताद्वन्द्व एव पूर्वपदान्तस्य दीर्घत्वविधानात्। तेन मित्रावरुणसंज्ञकौ देवताविशेषावेवात्र विवक्षितौ। यज्ञपदस्यापि न त्वदुक्ता विविधा अर्थाः, प्रमाणशून्यत्वात्। सत्सङ्गतिरूपस्य यज्ञस्योन्नतये सेनापतेर्ग्रहणे का वाचोयुक्तिः? इन्द्राग्निशब्दाभ्यां विद्युदग्न्योः प्रकाशोऽर्थ इत्यपि यत्किञ्चित्। 'यज्ञस्य क्रियाकौशलस्य आयुषे ज्ञानाय' इत्यपि स्वातन्त्र्यमेव, निर्मूलत्वात्। एवं राज्ञः शास्त्रवक्तुश्चार्थायाध्यापकग्रहणमपि तथैव। देवाव्यमित्यस्यापि शब्दस्य यथेष्टार्थग्रहणं स्वातन्त्र्यमूलकमेव, श्रुतिसूत्रविरोधात्॥ २३॥

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥ २४॥

'ध्रुवं मूर्धानं दिव इति' (का० श्रौ० ९।६।२१)। उद्गातॄणां पश्चिमेन ध्रुवस्थालीमाहृत्य तस्याः स्थाल्या ध्रुवग्रहं गृह्णाति। वैश्वानरदेवत्या त्रिष्टुप्। भरद्वाजस्यार्षम्। स च वैश्वानरोऽग्निरत्र सर्वात्मना स्तूयते।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में बताये गये संबोधनों के वेदोक्त होने में कोई प्रमाण न रहने के कारण अनौचित्य है। मित्रावरुण शब्द से मित्र तथा उत्तमविद्यावेत्ता अर्थ का ग्रहण करना भी निर्मूल है, क्योंकि 'देवताद्वन्द्वे च' इस सूत्र से देवताद्वन्द्व में ही पूर्वपद के अन्त का दीर्घविधान किया गया है। अतः यहाँ मित्र एवं वरुण नामक देवताविशेष ही अभीष्ट हैं। यज्ञपद के भी व्याख्योक्त विविध अर्थ प्रमाणाभाव के कारण नहीं हो सकते। 'देवाव्यम्' इस शब्द का भी यथेच्छ अर्थ करना स्वैराचारमूलक ही है, क्योंकि इसमें श्रुति तथा सूत्र वचनों का विरोध है॥ २३॥

मन्त्रार्थ—देवताओं ने द्युलोक के मस्तक स्वरूप सूर्य के रूप में प्रकाशित, पृथ्वी के सीमा स्वरूप जाठराग्नि के रूप में समस्त मनुष्य लोक के हितकारी, यज्ञ में दो अरणिकाष्ठों से उत्पन्न, अविचल तथा दीप्तिमान, क्रान्तदर्शी, संमुख आने वाले, नक्षत्र मंडलों में सम्राट्, यजमान आदि समस्त जनों के अतिथि, हवि से आदरणीय इस ब्रह्माग्नि को मुख्य पात्र चमस में प्रकट किया था॥ २४॥

भाष्यसार—'मूर्धानं दिवः' इस ऋचा से ध्रुव ग्रह का ग्रहण किया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।२१) में

दिवो द्युलोकस्य मूर्धानं शिरोरूपं सूर्यात्मनाऽवस्थितम्। पृथिव्या अन्तरिक्षस्य, पृथिवीशब्दोऽन्तरिक्षवचनः (निघ० १।३।९)। अरतिं पर्याप्तमतिं तदभिमानिनीं देवतां तस्यैव वायुरूपत्वाश्रयणात्, 'वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः' इति श्रुतौ वायोश्चान्तरिक्षलोकाभिमानित्वश्रवणात्। भूमौ च ऋते यज्ञे यज्ञनिमित्ते आजातम् आभिमुख्येन अरणिद्वयादुत्पन्नं वैश्वानरं विश्वेषां देवानां सम्बन्धिनमग्निमग्रे नेतारं कविं प्रत्यगात्मरूपतया क्रान्तदर्शनं सम्राजं सम्यग्राजमानं जनानां यजमानरूपाणाम्, अतिथिम् अतिथिवत् पूज्यम्, 'अग्नेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा' (श० ३।४।१।११) इत्यतिथिरूपायाग्नये निर्वापः क्रियते। योऽयमुक्तगुणोऽग्निस्तं देवा इन्द्रादय आसन् आसनि आस्ये, 'पद्न्नो····' (पा० सू० ६।१।६३) इत्यास्यशब्दस्य आसन्नादेशः। पात्रं पानसाधनम्, आभिमुख्येन जनयन्त अजनयन्त। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इत्यडागमाभावः। अग्निप्रापितः सोमो देवैः पीयत इत्यग्नेः पानसाधनत्वम्, 'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुतेः। वयं वैश्वानरनामकमग्निं स्तुम इति शेषः। कीदृशं वैश्वानरम्? विश्वेषां देवानां सम्बन्धिनम्, यद्वा देवा इन्द्रादयो यमग्निमित्थंभूतं जनयन्त उत्पादितवन्तः। अडागमाभावश्छान्दसः। कथंभूतमग्निम्? दिवो द्युलोकस्य मूर्धानं शिरोवदूर्ध्वप्रदेशे आदित्यरूपेण स्थित्वा प्रकाशकम्, तथा पृथिव्याः पृथिवीलोकस्याऽरतिं रतिरहितं रतिस्तद्रहितम्। पृथिव्या उपरि कदाचिदपि तदुपरमाभावाद् दाहपाकप्रकाशादिभिः सर्वानुग्राहकत्वेन तत्र सर्वदा वर्तमानत्वादिति सायणाभिप्रायः।

उव्वटरीत्या तु—आकाशमाहः पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितत्वात् पृथिव्या अन्तरिक्षस्य अरतिम् अलं मतिं पर्याप्तमतिं पूरकम्। तत्र स्थित्वा सूर्यरूपेण यथाकालं वृष्ट्या भूतानि पुष्णाति। तथा वैश्वानरं विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो नरेभ्यो जाठराग्निरूपेणाशितपीतादिपाचकत्वाद् हितं वैश्वानरं विश्वान् सर्वान् वा आसमन्ताद् नृणाति नयतीति (व्यवहारयतीति) विश्वानरः, विश्वानर एव वैश्वानरस्तम्। तथा ऋते यज्ञे यज्ञनिमित्तमाजातम्, आभिमुख्येनारणिद्वयान्मन्थनेन जातम्। कविं स्वमात्मानमनुग्रहीतुमभिज्ञं क्रान्तदर्शिनमतीतानागतवर्तमानद्रष्टारम्, सर्वज्ञमित्यर्थः। सम्राजं सम्यग् दीप्यमानं जनानां यजमानानामतिथिमतिथिवत् सत्कारार्हम्। विज्ञायते ह्यग्निरतिथिरूपेण गृहान् प्रविशति। तस्मात्तस्योदकमाहरन्ति। आसन्नापात्रम्, आस्यशब्दस्य सप्तम्येकवचने 'पद्न्नो····' (पा० सू० ६।१।६३) इति सूत्रेण आसन् आदेशः। 'सुपां सुलुक्····' (पा० सू० ७।१।३९) इति सप्तमीलोपः। तेन देवानाम् आसन् आसनि आस्ये आपात्रम् आभिमुख्येन पीयतेऽनेनेत्यापात्रं पानसाधनं चमसपात्ररूपम्। विज्ञायते हि चमसो देवपान इति। चमसेन ह वा एतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति। तमीदृशमग्निं देवा इन्द्रादयोऽजनयन्तेत्यर्थः।

शतपथे विशेषः—'अयꣳ ह वा अस्यैष प्राणः। योऽयं पुरस्तात् स वै वैश्वानर एवाथ योऽयं पश्चात्स ध्रुवस्तौ ह स्मैतौ द्वावेवाग्रे ग्रहौ गृह्णन्ति ध्रुववैश्वानराविति तयोरयमप्येतर्ह्यन्यतर एव गृह्यते ध्रुव एव स यदि तं चरकेभ्यो वा यतो वाऽनुब्रुवीत यजमानस्य तं चमसेऽवनयेदथैतमेव होतृचमसे' (श० ४।२।४।१)। उपांश्वादीनां ग्रहाणां प्राणाद्यात्मकत्वाद् आग्रयणोक्थयोः स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयात्मकत्वात् तद्विधानेन कृत्स्नं यज्ञशरीरं निष्पादितम्। आयुर्विशेषविशिष्टमेव शरीरं कार्यजनकत्वेन सार्थकं भवति। अतस्तत्सार्थकत्वाय आयुषः सम्पादनीयत्वात् तत्सम्पादनायेदानीमस्मिन् ब्राह्मणे तदात्मकत्वेन ध्रुवं ग्रहं विधातुं प्रस्तौति—अयं हेति। अस्य यज्ञस्य एष वक्ष्यमाणो ध्रुवो ग्रहः, अयं सर्वेषां प्रत्यक्षः प्राणः खलु। प्राणशब्देनात्र आयुर्विवक्ष्यते। आयुषः

यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सायण तथा उव्वट आदि आचार्यों ने याज्ञिक प्रक्रिया के

प्राणशरीरात्मसम्बन्धात्मकत्वात्, सोऽस्यैष आयुरेवेति द्वितीयकण्डिकायां विवरिष्यमाणत्वात्, 'आयुर्वा एतद्यज्ञस्य यद् ध्रुव इति' (तै० सं० ६।५।२) इति श्रुतेः। प्राणस्य मूलाधारे निष्पत्तिः। निष्पन्नस्य तस्य मुखनासा-विवरेणाभिव्यक्तिः। ततश्चैकस्यापि निष्पत्त्यभिव्यक्तिस्थानभेदमङ्गीकृत्य तदनुसारेण ग्रहद्वैविध्यमाह— 'योऽयं पुरस्तादिति। मुखनासाविवरेणाभिव्यज्यमानः प्राणः स एव वैश्वानरस्तदात्मको वैश्वानरो ग्रहः, योऽयं प्राणः पश्चाद् मूलाधारे निष्पद्यते स एव ध्रुवग्रहः। तौ एतौ उक्तरीत्या द्विसंख्याकौ पूर्वं गृह्णातीति केषाञ्चित् शाखिनां मतमनुवदति—तौ ह स्मैताविति। यद्यपि प्राणस्य स्थानभेदनिबन्धनो भेदोऽस्ति, तथापि न स्वरूपनिबन्धनो भेदः, तस्यैकत्वात्। तदात्मकयोस्तयोरन्यतर एव ग्रहो ग्रहीतव्य इति। तत्र स्वमतमाह—तयोरयमिति। अयमिति सामान्येन निर्दिष्टार्थः प्रदर्श्यते—ध्रुव एवेति। मुखनासाविवरेण व्यज्यमानः प्राणो मूलाधारादुत्पन्न एवेति तदात्मकध्रुवग्रहणेन वैश्वानरग्रहणमपि सम्पादितं भवतीति ध्रुव एवेत्युक्तम्। चरकेभ्यो यतो वा अन्येभ्यो यदि इदं प्रतिपादकं वचनमधीयीत, तदा तं वैश्वानरग्रहं होमकाले यजमानस्य चमसेऽवनयेत्। एवं ध्रुवग्रहं तु होतृचमस एव अवनयेत्, तयोरन्यतर एव ध्रुव एवेति स्वेनोपादानात्। 'एतम्' इति ध्रुवस्य प्रत्यक्षनिर्देशः। तदभावात् तमिति वैश्वानरस्य परोक्षनिर्देशः।

'यद्वा अस्याऽवाचीनं नाभेस्तदस्यैष आत्मनः सोऽस्यैष आयुरेव तस्मादनया गृह्णात्यस्यै हि स्थाली भवति स्थाल्या ह्येनं गृह्णात्यजरा हीयममृता अजरꣳ ह्यमृतमायुस्तस्मादनया गृह्णाति' (श० ४।२।४।२)। स्थाल्या ग्रहणमुपपादयितुमायुरात्मकत्वमाह—यद्वा अस्येति। अस्य यज्ञस्य नाभेरधस्तनं यच्छरीरं यस्यात्मनस्तच्छरीरमेतस्य। एष ध्रुवग्रहः, तत् तस्य प्राणात्मकत्वात्। अत एवास्य यज्ञस्य सोऽयं ग्रह आयुरात्मकः। प्राणशरीरसम्बन्धात्मकत्वादायुषो यदुक्तप्रकारेण ग्रहस्यायुष्ट्वम्, तस्मादेनं ग्रहम् अनया पृथिव्या गृह्णीयात्। ननु चायं स्थाल्या गृह्यते, कथमुच्यते पृथिव्या गृह्णीयादिति ? अत आह—अस्यै हि स्थालीति। कार्यकारणयोरभेदात् स्थाल्या ग्रहणेन पृथिव्यैव ग्रहणं मन्तव्यम्। तथापि ग्रहस्य पृथिव्या ग्रहणे कथमायुष्ट्वं हेतुरित्यत आह—अजरा हीति। जरा शैथिल्यम्, मरणं स्वरूपनाशः। आयुषश्च न तदुभयम्, यस्य यावदायुस्तावत्तस्मिन् तदुभयाभावात्। 'तं वै पूर्णं गृह्णाति। सर्वं वै तद्यत्पूर्णꣳ सर्वं तद्यदायुस्तस्मात् पूर्णं गृह्णाति' (श० ४।२।४।३)। 'देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्ते असुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्तान् दक्षिणतोऽसुररक्षसान्यासेजुस्तेषामेतान् दक्षिणान् ग्रहानुज्जघ्नुरप्येतद्दक्षिणꣳ हविर्धानमुज्जघ्नुरथैतमेव न शेकुरुद्धन्तुं तदुत्तरमेव हविर्धानं दक्षिणꣳ हविर्धानमदꣳहत् तद्यदेतं न शेकुरुद्धन्तुं तस्माद् ध्रुवो नाम' (श० ४।२।४।१९)। ग्रहस्य ध्रुवनामधेयप्राप्तिमाख्यायिकया दर्शयति—दक्षिणत इति। असुररक्षसानि देवान् आसेजुः, तैः सह युद्धे आसक्ता बभूवुः। देवाश्चासुररक्षसां कृते दक्षिणे हविर्धाने गतान् ग्रहानुज्जघ्नुः। दक्षिणहविर्धानमपि प्रचिक्षिपुः। एतं ग्रहमप्युद्धृत्य प्रक्षेप्तुमुद्युक्तास्तथा कर्तुं न शक्नुवन्तः। अत एवोत्तरं हविर्धानं दक्षिणं हविर्धानमदंहद् दृढं कृतवतो ग्रहस्योद्धर्तुमशक्यत्वाद् ध्रुवनामधेयम्।

अध्यात्मपक्षे—अग्निमग्रनेतारं परमात्मानं नौमीति शेषः। कीदृशम् ? दिवो द्युलोकस्य मूर्धानम्, मूर्धान-मिवोत्कृष्टं सर्वभासकम्, आदित्यरूपेण वा वर्तमानम्, पृथिव्या अन्तरिक्षस्य अरतिम् अभिमानिनम्। वायुं वायुरूपेण

अनुकूल अर्थ निरूपित किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—आगे बढ़ाने वाले परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ। द्युलोक के

भासमानम्, विश्वान् नृणति कर्मफलभोगाय नयतीति वैश्वानरस्तम्, जाठराग्निरूपेण वा वर्तमानम्, 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥' (भ० गी० १५।१४) इति गीतोक्तेः। ऋते यज्ञे आजातम् अरण्योरुत्पन्नं तद्रूपम्। ऋते सूनृतायां वाचि आजातं आभिमुख्येन प्रादुर्भूतम्, कविं क्रान्तदर्शिनं सर्वज्ञं सम्राजं स्वप्रकाशम्। जनानामतिथिं तद्वत् पूज्यम्। आसन् मुखे अभिमुखं पात्रम् अमृतपानसाधनरूपम्, तं देवा इन्द्रादयो जनयन्त अजनयन्त प्रादुर्भावयन्ति, मुखाभिमुखममृतपानसाधनरूपे दैवा भक्त्या ज्ञानेन च तमाविर्भावयन्ति।

दयानन्दस्तु—'यथा देवा धनुर्वेदविद्वांसो धनुर्वेदशिक्षया दिवो द्योतमानस्य सूर्यस्य मूर्धानं शिरोवद्वर्तमानं पृथिव्या अरतिम् ऋच्छति प्राप्नोतीत्यरतिस्तम् ऋते सत्ये आसमन्ताद् जातं प्रसिद्धं वैश्वानरं यो विश्वान्नराना-नन्दयति तम्। 'वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान् नरान् नयति····विश्व एनं नरा नयन्तीति वा' (निरु० ७।२१)। जनानामतिथिं सत्पुरुषाणामतिथिवत्पूज्यम्, आसन् मुखे आपात्रम् आसमन्तात् पाति रक्षति समस्तं शिल्पव्यवहारं यस्तम्, कविं क्रान्तदर्शनम्, अग्निं शुभगुणैः प्रकाशमानम्, सम्राजं चक्रवर्तिनमिव जनयन्त उत्पादयन्तु, तथा सर्वैरनुष्ठेयम्' इति, तदेवद् गौणार्थकाख्यानमप्यस्पष्टमेव। अत एव भाषाभाष्ये संस्कृत-भाष्यादप्यधिकोऽध्याहारः। तथा च—'धनुर्वेदविद्वांसो धनुर्वेदशिक्षया दिवः सूर्यस्य शिरोवद्वर्तमानम्, पृथिव्या गुणानाम् अरतिं प्रापकसत्यमार्गे सम्यक् प्रसिद्धं सर्वानन्ददायकं सत्पुरुषाणामतिथिवत् सत्कारार्हं यज्ञरूपे मुखे पात्रं समस्तशिल्पव्यवहाररक्षकम्, कविं दूरदर्शनं शुभगुणप्रकाशितं सभापतिं सम्राजमिव जनयन्त सम्यक् प्रकाशयन्ति, तथैव सर्वैर्मनुष्यैः कर्तुं योग्यम्' इति, तदेत् सर्वमप्यसंगतमेव। नहि यद्धनुर्वेदशिष्या धनुर्वेदविदः कर्तुं प्रभवन्ति, तदन्यैः कर्तुं योग्यं भवति। अग्निपदस्य शुभगुणैः प्रकाशमानः सभापतिः कथमर्थः? शुभगुणैः प्रकाशमानत्वं विदुष आचार्यस्यापि सम्भवत्येव। देवपदस्य धनुर्वेदविदर्थ इत्यपि निर्मूलम्। कथं च तेऽपि सूर्यस्य शिरोवद्वर्तमानं भूपतिं निर्यातुं प्रभवन्ति। एतादृशो भूपतिः सम्राडेव भवति तदा सम्राजमिवेत्युक्ति-रपार्थैव। आसन्नित्यस्य मुखबोधकत्वेऽपि यज्ञरूपत्वं तस्य निर्मूलमेव। वैश्वानरशब्दस्य आनन्ददायत्वं कथमर्थः? न च निरुक्तमपि तत्पोषकम् ॥ २४ ॥

मस्तक की भाँति सर्वोत्कृष्ट अथवा सर्वभासक सूर्य के रूप में विद्यमान, पृथिवी और अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता, वायुरूप से भासित होने वाले, समस्त लोकों को कर्मफल के भोग के लिये ले चलने वाले अथवा जठराग्नि के रूप में विद्यमान, सत्य मधुर वाणी में संमुख उत्पन्न होने वाले, क्रान्तदर्शी, सर्वज्ञ, स्वप्रकाश, प्राणियों के द्वारा अतिथि की भाँति पूजनीय, अपने संमुख अमृतपान के साधनरूप उस पात्र को इन्द्र आदि देवगण भक्ति एवं ज्ञान से आविर्भूत करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित भाष्य में गौण अर्थ का प्रतिपादन भी स्पष्ट नहीं है। अतः हिन्दी भाष्य में संस्कृत भाष्य से भी अधिक अध्याहार है। यह सम्पूर्णतः असंगत है। अग्नि शब्द का 'शुभ गुणों से प्रकाशमान सभापति' अर्थ कैसे होगा? शुभ गुणों से प्रकाशमान होना तो विद्वान् आचार्य के लिये भी संभव ही है। देव शब्द का धनुर्वेदवेत्ता अर्थ करना भी अप्रामाणिक है। वे सूर्य के सिर की भाँति वर्तमान राजा का निर्माण करने में कैसे समर्थ होंगे? 'आसन्' शब्द के मुखबोधक होने पर भी उसका यज्ञरूपत्व प्रतिपादित करना अप्रामाणिक है। वैश्वानर शब्द का अर्थ 'आनन्ददायक' कैसे होगा? निरुक्त भी इसका पोषण नहीं करता ॥ २४ ॥

उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुव क्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तम एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा। ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि। अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत् ॥ २५ ॥

ध्रुवदेवतं यजुः। ध्रुवग्रहण एव विनियुक्तम्। हे सोम, त्वमुपयामेन दारुपात्रेण गृहीतोऽसि, ध्रुवोऽसि ध्रुवनामासि, पूर्वोक्तरीत्या प्रक्षेप्तुमशक्यत्वात्। कथंभूतस्त्वम्? ध्रुवा स्थिरा क्षितिर्निवासो यस्य स ध्रुवक्षितिः, 'क्षिति निवासगत्योः', स्थिरनिवासः, आ वैश्वदेवीशंसनमवस्थानात्। ध्रुवाणामादित्यस्थाल्यादीनां मध्ये ध्रुवतमोऽतिशयेन स्थिरः। अच्युतानां च्युतिरहितानां क्षरणशून्यानामच्युतक्षितीनां मध्येऽच्युतक्षित्तमः। अच्युते च्युतिरहिते पात्रे क्षियति निवसतीत्यच्युतक्षित्। अतिशयेनाच्युतक्षिद् अच्युतक्षित्तमः। अच्युतक्षितां श्रेष्ठोऽसीति सायणाचार्यः। उव्वटरीत्या तु—ध्रुवाणां त्वं ध्रुवक्षितिर्ध्रुवनिवासः, ध्रुवतमोऽच्युतानाम्। अच्युतानामपि त्वमेव ध्रुवतमः, च्युतिरहितानामपि त्वमेव स्थिरतमः। अच्युते क्षियतीत्यच्युतक्षिद् अतिशयेनाच्युतक्षिद् अच्युतक्षित्तमः। हे ध्रुवग्रह, एष ते योनिः स्थानम्। वैश्वानराय अग्नये त्वां सादयामि। 'ध्रुवꣳ होतृचमसेऽवनयति ध्रुवं ध्रुवेणेति' ध्रुवपात्रस्थं सर्वसोमं होतृचमसे सिञ्चेत्। बृहती। पूर्वार्धर्चः ध्रुवदैवतः। उत्तरार्धर्च ऐन्द्रः। प्रथमतृतीयौ पादावष्टाक्षरौ, द्वितीयतृतीयौ दशाक्षरौ यस्याः सा बृहती, वैराजौ गायत्रौ चेति पिङ्गलोक्तेः। अष्टाक्षरा गायत्री। दशाक्षरा विराट्। ध्रुवेण निश्चलेन मनसा वाचा तन्मन्त्रोच्चारणप्रवणया होतृचमसेऽवनयामि। यद्वा ध्रुवग्रहं सोमं होतृचमसं प्रत्यवनयामि। स हि होतृचमसेऽवसिच्यते। द्वादशे शस्त्रेऽथा अनन्तरम् इन्द्र इद् इन्द्र एव। विशो मनुष्यान् असपत्नान् सपत्नरहितान् शत्रुहीनान्, समनसः समनस्कान् सङ्कल्पाध्यवसायादिवृत्तिभिर्युक्तान् करत् करोतु। यद्वा समानं मनो यासां ता विशः सावधानस्थिरमनस्का धृतियुक्ताः शत्रुरहिताश्च विशः, करत् करोतु।

शतपथे—'तं वै गोपायन्ति....' (श० ४।२।२।२०) इत्यादिना ग्रहणमारभ्य होमपर्यन्तं रक्षेयुः। कुतः? इत्यत आह—शिरो वा एष एतस्य। शिरश्च श्रीस्तस्मात् शिरसः श्रीरूपत्वाद् यो यस्यार्धस्य भागः श्रेष्ठः श्रिया प्रशस्यतरो भवति, असावमुष्यार्धस्य शिर इति वा लोका वदन्ति। लोके श्रेष्ठस्य समृद्धिमन्ये न सहन्त इति ततो बिभेति। अतोऽत्र श्रेष्ठत्वाद् ग्रहो व्यथेत। एतेन लोके श्रेष्ठ एव व्यथते। तथा च सत्यत्र यजमानस्य श्रेष्ठत्वात् तस्यापि व्यथा स्यात्, अतो नैव यजमानो व्यथतामिति तदर्थं सोमग्रहं गोपायेयुरित्यर्थः। 'वत्सो वा एषः। एतस्यै गायत्र्यै यज्ञो वा गायत्री द्वादश स्तोत्राणि द्वादश शस्त्राणि तच्चतुर्विꣳशतिश्चतुर्विꣳशत्यक्षरा वै गायत्री तस्या एष वत्सस्तं यद् गोपायन्ति गोपायन्ति वा इमान् वत्सान् दोहाय यदिदं पयो दुह्र एवमियं गायत्री

मन्त्रार्थ— हे सोम! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, स्थिर निवास वाले समस्त ग्रह-नक्षत्र मंडल की अपेक्षा अत्यन्त अचल, च्युतिरहित पात्र में निवास करने से ध्रुव नाम से प्रसिद्ध हो, ध्रुव देवता की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे ध्रुव ग्रह! यह तेरा स्थान है, समस्त मनुष्य लोक के हितकारी देवता की प्रीति के निमित्त तुम्हें इस स्थान में स्थापित करता हूँ। स्थिर मन और वाणी से इस ध्रुव ग्रह में स्थित सोम को होतृचमस पात्रान्तर में सिंचित करता हूँ। इसके अनन्तर इन्द्र देवता हमारी प्रजा को शत्रुशून्य और स्थिरप्रज्ञ करें ॥ २५ ॥

भाष्यसार—'उपयामगृहीतः' इस कण्डिका का विनियोग भी ध्रुव ग्रह के ग्रहण में ही किया गया है। सायणाचार्य

यजमानाय सर्वान् कामान् दोहाता इति तस्माद् वै गोपायन्ति' (श० ४।२।२।४)। वत्सानां रक्षणेन यथा गौरिदं पयो दुह्रे दुग्धे। तकारलोपः, बहुलं रुडागमः। एवमियं यज्ञरूपा गायत्री वत्सरूपस्य ध्रुवग्रहस्य रक्षणेन यजमानाय सर्वान् कामान् दोहाता इति तदर्थं ध्रुवग्रहं रक्षेयुः। उपांश्वाद्या ग्रहाः प्रातःसवन एव गृह्यन्ते, तत्रैव च हूयन्ते। अयं तु ध्रुवग्रहो न तथा, किन्त्वेतस्मात् कालादग्निमारुतशस्त्रकालं यावदुपशेते स्थिरो भवति। तथावस्थानेन तस्य सर्वाणि सवनान्यतिनीतत्वात् तस्यायूरूपत्वमुपपद्यन्ते। तदेतत् स्पष्टम्—'स प्रातःसवने गृहीतः। एतस्मात् कालादुपशेते तदेनꣳ सर्वाणि सवनान्यतिनयति' (श० ४।२।२।८)। अग्निष्टोमस्तोत्रावसरे स्वल्पस्यापि सोमस्यानवस्थापनात् तदास्यावनयनप्रसक्तौ निषेधति—'तं न स्तूयमानेऽवनयेत्....' (श० ४।२।२।६)। कदा तर्ह्येनमवनयेदिति तत्राह—'तꣳ शस्यमानेऽवनयति। तदेनं द्वादशꣳ स्तोत्रमतिनयति तथा परम्परमायुः समश्नुते तथो ह यजमानो ज्योग् जीवति तस्माद् ब्राह्मणोऽग्निष्टोमसत् स्यादेतस्य होमान्न सर्पेन्न प्रस्रावयेत तथा सर्वमायुः समश्नुत आयुर्वा अस्यैष तथा सर्वमायुरेति' (श० ४।२।२।७)। अग्निमारुतशस्त्रशंसनकाले द्वादशानामपि स्तोत्राणां समापितत्वेन द्वादशमासात्मकस्य संवत्सरस्य साकल्येन तदात्मकस्योत्तरोत्तरस्यायुषः प्राप्त्या यजमानश्चिरं जीवेदित्यर्थः। यतोऽग्निष्टोमस्तोत्रे समापिते द्वादशात्मकः संवत्सरः साकल्येन प्रथत इति तदैव ध्रुवग्रहो हूयते। अतस्तद्धोमपर्यन्तं तत्रैव तिष्ठेत्। तेनापि तस्य ध्रुवत्वमुक्तमेव।

तस्माद् ब्राह्मणोऽग्निष्टोमसत् स्यात् अग्निष्टोमस्तोत्रपर्यन्तं तत्रैव तिष्ठेत्, तस्य होमान्न सर्पेन्न प्रस्रावयेत न मूत्रयेत तस्मात् सर्वमायुः समश्नुते। अत्र ब्राह्मणशब्देन दीक्षितास्त्रैवर्णिका उच्यन्ते—ब्राह्मणो वा एष जायते यो दीक्षते ततोऽस्माद्राजन्यवैश्यावपि ब्राह्मणा इत्येवावेदयति। 'यद्वा अस्यावाचीनं नाभेः' (श० ४।२।२।८) इत्यादिषु ध्रुवग्रहो यज्ञस्य नाभेरधस्तनशरीरतयोक्तः। अत एव तस्य होमात् पूर्वमन्यत्र गमने मूत्रावसेचने वा ध्रुवमेवावसिञ्चेत्। तस्मात् तावत्पर्यन्तं तत्रैव तिष्ठेत्। अग्निष्टोमस्तोत्रपर्यन्तं सदनं चावश्यकर्तव्यत्वाय प्रशंसति—'स वा अग्निष्टोमसद् भवति' (श० ४।२।२।९)। स वै यजमानोऽग्निष्टोमस्तोत्रपर्यन्तं तत्रैव स्थितिमान् भवेदित्यत्रोपपत्तिमाह—यशो वै सोमः। य एवं विद्वान् सोममागच्छति यश एवैनमृच्छति तस्मादाहुर्यश्चैव वृतो यश्च न तावुभौ सोममागच्छतः। सोमयागे दक्षिणां लभते दक्षिणावान् तद्व्यतिरिक्तश्च यशोरूपं सोमं द्रष्टुमागच्छति। अदक्षिणतोऽप्यागमनात् सोमस्य यशस्त्वं समर्थितं भवति। 'ब्राह्मणाः संप्रसृप्यात्मन् सन्दधते यद्भक्षयन्ति...देवाश्चैवासुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे एतस्मिन् यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरे अस्माकमयं भविष्यत्यस्माकमयं भविष्यतीति' (श० ४।२।२।९-११)। संवत्सरावयवीभूतमासगतद्वादशसंख्याविशिष्टैः स्तोत्रैः शस्त्रैश्च यज्ञस्य समाप्यत्वात् संवत्सरात्मकप्रजापतिरूपत्वमपि यज्ञस्य। तत्प्राप्त्यर्थं स्पर्धां कृतवन्तः। 'ततो देवाः। अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्त एतदग्निष्टोमसद्यं ददृशुस्त एतेनाग्निष्टोमसद्येन सर्वं यज्ञꣳ समवृञ्जतान्तरायन्नसुरान् यज्ञात् तथो एवैष एतेनाग्निष्टोमसद्येन सर्वं यज्ञꣳ संवृङ्क्तेऽन्तरेति सपत्नान् यज्ञात् तस्माद्वा अग्निष्टोमसद् भवति' (श० ४।२।२।१२)। स्पर्धानन्तरं ते देवा अर्चन्तः पूजयन्तः श्राम्यन्तस्तपस्यन्तश्च चेरुः। ततः स्वकीयतपःप्रभावेण यज्ञप्राप्तौ अग्निष्टोमसद्यं साधनं ददृशुः। ततस्तेन समस्तं यज्ञं समवृञ्जन्त, असुरेभ्योऽपच्छिद्य स्वायत्तं कृतवन्तः। अतोऽसुरान् यज्ञाद् अन्तरायन् अन्तरितान् यज्ञहीनानकुर्वन्। तस्मात् तथैवाग्निष्टोमसद्येन यजमानोऽपि सर्वं यज्ञं स्वायत्तं कुरुते। सपत्नान् यज्ञहीनान् कुरुते। 'तं गृहीत्वोत्तरे हविर्धाने सादयति' (श० ४।२।२।१३)। उपांश्वादीन् ग्रहान् उपकीर्णे पांसुभिर्न्युप्तखरप्रदेशे सादयेत्। ध्रुवं ग्रहं तु व्युह्य सादनस्थानगतं यत्किञ्चिदपसार्य तृणमात्रमप्यव्यवहितं कृत्वा सादयेत्। नाभेरूर्ध्वभागस्य पुरुषस्योपरिभागत्वात् तद्भागत्वाच्चक्षुरादिरूपाणां ग्रहाणामुच्छ्रिते खरे सादनं युज्यते। नाभ्यधोभागरूपस्य तु ध्रुवग्रहस्याऽव्यवहितायां पृथिव्यामेव सादनम्। एवं बहुधा प्रशस्य—'अथ यदध्वर्युश्च प्रतिप्रस्थाता च। निश्चक्रामतः प्रतिपद्येते यथा बद्धवत्सोपाचरेद्देव-

मेतं ग्रहमुपाचरतस्तमवनयति' (श० ४।२।४।२२)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थात्रोर्निर्गमनागमनाभ्यां ग्रहस्य वत्सरूपतां प्रतिपादयति। तौ ग्रहणानन्तरं निष्क्रामतः। ततो होमकाले ग्रहं प्रपद्येते। यथा बद्धवत्सा गौर्गत्वा पश्चाद् वत्समुपाचरेद् वत्ससमीपमागच्छेत्, एवं तौ वत्सरूपग्रहमुपचरितवन्तौ ।

ग्रहस्यावनयनं विधत्ते--तमवनयतीत्यादि। 'तँ शस्यमानेऽवनयति' (श० ४।२।४।७) इति, 'अथैतमेव होतृचमसेऽवनयति' (श० ४।२।४।१) इति कालस्य होतृचमसस्य च विहितत्वादग्निमारुतशस्त्रशंसनकाले होतृचमसे ध्रुवग्रहमासिञ्चेद् गायत्रीमेवैतत् प्रस्नावयति प्रस्नुतं करोति। दोहार्थं पयःपूरितस्तनाग्रतः पयःक्षरणात् क्षारयन्ती प्रत्ता प्रदातुमुपक्रान्ता यजमानाय सर्वान् कामान् दोहाता इति। 'सोऽवनयति। ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामीति गृह्णामीति वाथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करदिति यथा न इन्द्र इमाः प्रजा विशः श्रियै यशसेऽन्नाद्यायासपत्नाः संमनसस्करवदित्येवैतदाह' (श० ४।२।२।२३)। विहितमवनयनमनूद्य मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे-- अवनयामीति। गृह्णामीति वा प्रयोक्तव्यः। तदुक्तं कात्यायनसूत्रभाष्ये--'अवनयामिस्थाने गृह्णामीति च' इति। अथात इत्यस्य मन्त्रभागस्योच्चारणेऽयमभिप्रायः--नोऽस्माकं विशः प्रजाः, श्रियै यशसे अन्नाद्याय, असपत्नाः शत्रुरहिताः समनस इन्द्र एव करोत्विति। हे ग्रह, ध्रुवेण एकाग्रेण मनसा वाचा मन्त्रोच्चारणेन च होतृचमसगतं सोमं प्रति त्वां ध्रुवम् अवनयामि। अथ इन्द्र एव नोऽस्माकं विशोऽसपत्नाः समनसः करोत्विति समस्तमन्त्रार्थः। 'अथातो गृह्णात्येव। मूर्धानं दिवो अरतिं····जनयन्त देवा उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षिति-ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तम एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वेति सादयति व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय वैश्वानराय ह्येनं गृह्णाति' (श० ४।२।२।२४)। ग्रहस्य ग्रहणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते अथातो गृह्णात्येवेति। दिवो द्युलोकस्य मूर्धानं पृथिव्या अन्तरिक्षस्य अरतिं पर्याप्तिमतिं तदभिमानिनीं देवताम् ऋते यज्ञे तन्निमित्तेन आजातमरण्यो-रुत्पन्नं वैश्वानरमग्निं कविं सम्राजं जनानामतिथिं देवा आसन् आस्ये आपात्रं पानसाधनत्वेन अजनयन्त। हे ध्रुवपात्रगत सोमरस, त्वमुपयामगृहीतोऽसि, त्वां वैश्वानरायाग्नये गृह्णामि, त्वं ध्रुवोऽसि, ध्रुवक्षितिः स्थिर-निवासोऽसि, ध्रुवाणां मध्ये ध्रुवतमोऽसि। तस्यैव व्याख्यानम्--अच्युतानामच्युतक्षित्तम इति। अथ एनं व्युह्य न तृणं चनान्तर्धायाव्यवहितायां पृथिव्यां सादयति वैश्वानराय ह्येनं गृह्णाति।

अध्यात्मपक्षे तु-- हे सोम, उमया महाशक्त्या सहितः सोमः, तत्सम्बुद्धौ हे सोम, त्वम् उपयामेन यमसमूहसमीपवर्तिना प्रेम्णाऽनुरागेण गृहीतोऽसि वशीकृतोऽसि। ध्रुवोऽसि कूटवन्निर्विकारोऽसि। ध्रुवक्षितिरसि ध्रुवाणामाकाशकालादीनां क्षितिर्निवासभूतोऽसि। ध्रुवाणामात्माकाशादीनां स्थिराणां मध्ये ध्रुवतमः स्थिरतमः, कूटस्थनित्यत्वात्। अनात्मोपाधिसंसृष्टानां परिणामिनित्यत्वेन निरपेक्षध्रौव्यायोगादच्युतानां क्षरणरहितानामात्मा-काशादीनामच्युतक्षित्तमोऽच्युतेष्वात्माकाशादिषु क्षियन्ति निवसन्तीत्यच्युतक्षितो द्रव्यत्व-सत्तासामान्य-अन्त-

---

आदि ने शतपथ ब्राह्मण के अनुसार याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ निर्दिष्ट किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है महाशक्ति उमा के सहित हे शिव, आप यमादि समूह के निकटवर्ती प्रेम, अनुराग के द्वारा वशीकृत हैं, कूटवत् निर्विकार हैं, आकाश, काल आदि ध्रुव पदार्थों के निवासभूत हैं। आत्मा, आकाश आदि स्थिर पदार्थों के मध्य कूटस्थ नित्य होने के कारण स्थिरतम हैं। अनात्मोपाधिसंसृष्ट पदार्थों में परिणामिनित्यता के होने से, उनमें निरपेक्ष स्थिरता के न रहने से क्षरणरहित आत्मा, आकाश आदि के मध्य, अच्युत आत्मकाशादि में रहने

र्याम्यादयः, तेषु श्रेष्ठतमोऽन्तर्यामी अच्युतक्षित्तमः । यद्वा—अच्युता आत्माकाशादयः क्षियन्ति निवसन्ति येषु देशकालाधिष्ठानपरमात्मसु, तेषां मध्ये श्रेष्ठः । एष भोग्यभोक्तृवर्गसमूहस्ते तव योनिरभिव्यक्तिस्थानं गृहमिव निवासस्थानं वा । वैश्वानराय विश्वेषां नराणां हिताय त्वा त्वां ध्रुवं स्थिरं सोमं साम्बसदाशिवं ध्रुवेण निश्चलेन मनसाऽन्तःकरणेन त्वत्स्तोत्रशस्त्रप्रवणया वाचा अवनयामि अनुकूलयामि । अथानन्तरं नोऽस्माकम् इन्द्रः परमैश्वर्यवान् सोम एव विशः प्रजा असपत्नाः शत्रुरहिताः समनसः सहृदयाः करत् करोतु ।

अत्र दयानन्दः—'हे परमेश्वर, त्वमुपयामगृहीतोऽसि । यमानां समूहो यामम्, उपगतं च तद् याममुपयामम्, तेन गृहीतः (शास्त्रप्राप्तनियमसमूहैरिति भाषायाम्), ध्रुवः स्थिरः, ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाः क्षितयो भूमयो यस्मिन्, ध्रुवाणामाकाशादीनां ध्रुवतमोऽतिशयेन ध्रुवः । अच्युतानां कारणजीवानाम् अच्युतक्षित्तमः, अच्युतं क्षियति निवासयति सोऽतिशयितः, एष ते सत्यमार्गप्रकाशस्तव योनिः स्थानमिव, अस्मै वैश्वानराय विश्वेषां नराणां नायकाय सत्यप्रकाशकाय निश्चयं ध्रुवेण निष्कम्पेन मनसा अन्तःकरणेन ध्रुवया वाचा सोमं सकलजगतः प्रसवितारं त्वामवनयामि स्वीकरोमि । अथानन्तरमिन्द्रः सर्वदुःखविदारक इद् एव नोऽस्माकं विशः प्रजा असपत्ना अजातशत्रवः समानं मनः स्वान्तं यासां ताः करत् करोतु' इति, तदसङ्गतमेव, उपयामपदेन यमानां समूहस्य ग्राह्यत्वेऽपि नियमानां ततो भिन्नत्वेन ग्रहीतुमशक्यत्वात् । नहि यमा एव नियमाः, योगशास्त्रेऽहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाणां यमत्वम्, शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानां नियमत्वमुक्तम् । तथा च संक्षेपशारीरकम्—'यमस्वरूपा सकला निवृत्तिस्तथा प्रवृत्तिर्नियमस्वरूपा' इति । अच्युतानां कारणजीवाना-मित्यप्यसङ्गतम्, जीवेषु कारणविशेषणानुपपत्तेः । ते च स्वत एवाविनाशिनः, तत्रातिशयिताविनाशित्वा-निरूपणात् । असपत्ना इत्यस्य अजातशत्रव इत्यर्थोऽप्यसङ्गत एव, अजातशत्रोरपि युधिष्ठिरस्यासपत्नत्वाभावात् । वैश्वानरशब्दस्य विश्वेषां नराणां नायक इत्यर्थोऽपि चिन्त्यः, 'नृ नये' इति निष्पन्नस्य नरशब्दस्य नायकार्थत्वे इतरनरशब्दस्यापेक्षणात् । ध्रुवाः क्षितयो यस्मिन्नित्यप्यशुद्धम्, त्वया पृथिव्याश्चलत्वाभ्युपगमात् ॥ २५ ॥

वाले द्रव्यत्व, सत्तासामान्य, अन्तर्यामिता आदि में सर्वश्रेष्ठ अन्तर्यामी हैं । अथवा आकाशादि अच्युत पदार्थ, देश, काल, अधिष्ठान, परमात्मा में रहते हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं । यह भोग्य-भोक्ताओं का समूह आपका अभिव्यक्तिस्थल है अथवा घर की भाँति निवासस्थान है । समस्त प्राणियों के हितार्थ स्थिर, आप साम्ब सदाशिव को मैं निश्चल अन्तःकरण से स्तोत्र, गुणवर्णन से परिपूर्ण वाणी के द्वारा अनुकूल करता हूँ । इसके अनन्तर हमारे परमैश्वर्यशाली भगवान् साम्ब सदाशिव ही प्रजाओं को शत्रुरहित तथा सहृदय बनावें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में असंगति है, क्योंकि उपयाम शब्द से यमसमूह का ग्रहण हो सकने पर भी यम ही नियम नहीं हो सकते । योगशास्त्र में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को यम एवं शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान को नियम बताया गया है । इसी प्रकार संक्षेपशारीरक में भी समस्त निवृत्ति यमस्वरूपा तथा प्रवृत्ति नियमस्वरूपा कही गई है । 'अच्युत' का अर्थ 'कारणजीव' करना भी असंगत है, क्योंकि जीवों में 'कारण' विशेषण नहीं लग सकता । वे तो स्वभावतः ही अविनाशी हैं । 'असपत्न' शब्द का 'अजातशत्रु' यह अर्थ भी असंगत है । अजातशत्रु युधिष्ठिर भी असपत्न नहीं थे । 'जिसमें पृथिवी स्थिर है' यह अर्थ भी अनुचित है, क्योंकि स्वामी दयानन्द के मत में पृथिवी चल मानी गई है ॥ २५ ॥

यस्ते॑ द्र॒प्सः स्कन्द॑ति॒ यस्ते॑ अ॒ᳪ᳭शुर्ग्राव॑च्युतो धि॒षण॑योरु॒पस्था॑त्। अ॒ध्व॒र्योर्वा॒ परि॑ वा॒ यः प॒वित्रा॑त् तं ते॑ जुहोमि॒ मन॑सा॒ वष॑ट्कृत॒ᳪ᳭ स्वाहा॑ दे॒वाना॑मुत्क्रम॑णमसि ॥ २६ ॥

'यस्त इति विप्रुषाᳪ᳭ होमं जुहोति' (का० श्रौ० ९।६।२९)। अभिषवे होमे च पतितानां सोमबिन्दूनां ग्रहणाशक्यत्वात् स्कन्दनप्रत्यवायपरिहाराय घृतहोमस्य विप्रुड्ढोम इति संज्ञा। तमध्वर्य्वादयः षडपि सकृद्गृहीतमाज्यं प्रचरण्या क्रमेण जुहुयुः। होमात् पूर्वमन्वारम्भपक्षे सर्वे सव्येन पाणिना समन्वारब्धा दक्षिणेन जुहुयुः। न चात्र विप्रुषो हूयन्ते, तेषां ग्रहणाशक्यत्वात्, विप्रुषो जुहोतीत्यश्रवणाच्चेति वृत्तिकारः। प्रतिप्रस्थात्रुद्गात्रादिसहितोऽध्वर्युः केवलो वा विप्रुषां होमं जुहुयादिति काण्वसंहितायां सायणाचार्यः। 'अध्वर्युर्वा' (का० श्रौ० ९।६।३०)। अथवाध्वर्युरेको विप्रुड्ढोमं कुर्यात्, नेतर इति सूत्रार्थः। सौमी त्रिष्टुप्। स्वाहेति यजुरन्ता देवश्रवोदृष्टा। हे सोम, ते त्वदीयो यो द्रप्सो रसो रसैकदेशः स्कन्दति भूमावन्यत्र वा स्तोकः पतति, ते त्वदीयो योंऽशुर्ग्रावच्युतो ग्राव्णः सकाशात् पतितः, योऽधिषवणयोरधिषवणफलकयोरुपस्थाद् उत्सङ्गात् पतितः, योंऽशुरध्वर्योः सकाशात् पाणिभ्यां परिस्कन्दति, परिवा यः पवित्रात्, यतः कुतश्चित् परिस्कन्दतीति भावः, मनसा वषट्कृतं सङ्कल्पितं तं तादृशं ते तव त्वदीयमंशुं स्वाहा स्वाहाकारेण जुहोमि। 'वेदितृणे अध्वर्युरादत्ते' (का० श्रौ० ९।६।३१)। स्तीर्णाया वेदेः सकाशाद् द्वे तृणे आददीत। 'अन्यतरत् तृणं चात्वाले प्रास्यतीति' (का० श्रौ० ९।६।३२)। अध्वर्युणा वेदेस्तृणे गृहीते तयोरेकं चात्वाले क्षिपेत्। चात्वालदैवतम्। हे चात्वाल, त्वं देवानामुत्क्रमणमसि, उत्क्रामन्ति गच्छन्ति स्वर्गं यस्मात् तदुत्क्रमणमसि। देवास्त्वत्तः स्वर्गं गच्छन्ति, 'अतो हि देवाः स्वर्गमुपोदक्रामन्' (श० ४।२।५।५) इति श्रुतेः।

अत्र शतपथे विशेषः—'ग्रहान् गृहीत्वा। उपनिष्क्रम्य विप्रुषाᳪ᳭ होमं जुहोति तद्यद्विप्रुषाᳪ᳭ होमं जुहोति या एवास्यात्र विप्रुषः स्कन्दन्ति ता एवैतदाहवनीये स्वगाकरोत्याहवनीयो ह्याहुतीनां प्रतिष्ठा तस्माद्विप्रुषाᳪ᳭ होमं जुहोति' (श० ४।२।५।१)। गतेषु ब्राह्मणेषु प्रातःसवनसम्बन्धिनामुपांश्वादीनां ग्रहाणां ग्रहणं विहितम्। तदनन्तरकर्तव्यं बहिष्पवमानस्तोत्रादिकमत्र वक्ष्यते। तत्र तावदभिषवकाले ग्रहणकाले च स्कन्नानां सोमबिन्दूनां स्कन्दनप्रत्यवायपरिहाराय विप्रुषां होमं विधत्ते—ग्रहान् गृहीत्वोपनिष्क्रम्य विप्रुषां होमं जुहोति। हविर्धानान्निष्क्रम्य विप्रुषामर्थे तत्र स्कन्दनप्रायश्चित्तत्वेन होमं कुर्यात्। यद्यपि जुहोतीत्यनेनैव होमं कुर्यादित्यर्थो लभ्यते, तथापि होममिति पृथगुपात्तत्वाद् जुहोतिना लक्षणया करोत्यर्थो बोध्यते, वाचमवोचदितिवत्। विहितस्य होमस्योपयोगमाह—आहवनीये स्वगाकरोतीति। अस्य सोमस्य या विप्रुषः स्कन्दन्ति विशीर्णा भवन्ति, ता एतेन विप्रुड्ढोमेन आहवनीये स्वगाकरोति। स्वस्थानमाहवनीयं गच्छन्तीति स्वगाः, तादृशीः कृतवान् भवति।

मन्त्रार्थ—हे सोम! पात्र में डालते समय तुम्हारे रस की कुछ बूंदें भूमि पर गिर गई हैं, पत्थर से कूटते समय अभिषव काल में तुम्हारे रस की बूँदें ग्रावच्युत होकर इधर-उधर उड़ती हैं और जो तुम्हारा रस अधिषवण फलक के मध्य से गिरता है, अध्वर्यु के व्यवहार के समय जो कुछ नष्ट हुआ है, तुम्हारे इन सब अंशों को मन से ग्रहण कर उनकी वषट्कार और स्वाहाकार पूर्वक आहुति देता हूँ। हे चात्वाल! तुम देवताओं के स्वर्गगमन के लिये सोपान (सीढ़ी) का काम करते हो ॥ २६ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।२८-३२) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'यस्ते द्रप्सः' इस

यत आहवनीयः सर्वासामाहुतीनां प्रतिष्ठायामाधारो भवति, अत उक्तहोमे विप्रुषामाहवनीयं प्रति प्रापणात् स्कन्दनप्रत्यवायो न भवति। 'स जुहोति। यस्ते द्रप्सः स्कन्दति यस्ते अꣳशुरिति यो वै स्तोकः स्कन्दति स द्रप्सस्तस्मात्तमाह यस्ते अꣳशुरिति तदꣳशुमाह ग्रावच्युतोऽधिषवणयोरुपस्थादिति ग्राव्णा हि च्युतो अधिषवणाभ्याꣳ स्कन्दत्यध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रादित्यध्वर्योर्वा हि पाणिभ्याꣳ स्कन्दति पवित्राद्वा तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतꣳ··· हुतमेवमस्यैतद् भवति' (श० ४।२।५।२)। विहितं होममन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— स जुहोति यस्ते द्रप्स इति। स्तोको लग्नो बिन्दुः द्रप्सपदार्थः। द्रप्सपदं तं स्तोकमाह। अभिषवार्थेन ग्राव्णा च्युतः, अधिषवणयोरभिषवफलकयोश्च्युतः, अध्वर्योः पाणिभ्यां च्युतः, अध्वर्योः पवित्राद्वा च्युतस्तम्, यतः कुतश्चिद्वा च्युतस्तं जुहोमि। अत्र वषट्कृतमित्येतदुच्चारणेन सवषट्कारो होम एव भवतीत्यर्थः। हे सोम, ग्राव्णश्च्युतः, अधिषवणयोरुत्सङ्गाच्च्युतः, अध्वर्योः पाणिभ्यां पवित्राद्वा च्युतः, यस्ते अंशुर्द्रप्सः स्तोकः, ते तव सम्बन्धिनं तमंशुं द्रप्सं मनसा वषट्कृतं सन्तं जुहोमि — इदं द्रव्यं स्वाहुतमस्त्विति।

'अथ स्तीर्णायै वेदेः। द्वे तृणे अध्वर्युरादत्ते तावध्वर्यू प्रथमौ प्रतिपद्येते प्राणोदानौ यज्ञस्याथ प्रस्तोता वागेव यज्ञस्याथोद्गाताऽऽत्मैव प्रजापतिर्यज्ञस्याथ प्रतिहर्ता भिषग्वा व्यानो वा' (श० ४।२।५।३)। वैप्रुषहोमानन्तरं बहिष्पवमानार्थमध्वर्युणा तृणयोरादानं प्रथमं विधत्ते अथेत्यादि। 'वेदितृणे अध्वर्युरादत्ते प्रह्वा उदञ्चो गच्छन्ति' (का० श्रौ० ९।६।३१)। स्तीर्णाया वेदेः सकाशाद् द्वे तृणे अध्वर्युराददीत। ते अध्वर्य्वादयः षड् अन्वारब्धा एव नम्रा भूत्वा उदङ्मुखाश्चात्वालस्य दक्षिणतो वेदिमध्ये बहिष्पवमानदेशं गच्छेयुः। तौ यज्ञस्य प्राणापानात्मकावध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ प्रथमौ प्रतिपद्येते गन्तुमुत्क्रामतः, अथानन्तरं यज्ञस्य वागात्मकः प्रस्तोता, अथ यज्ञस्योद्गाता यज्ञाङ्गत्वात् प्रजापतिः। स च यज्ञस्यात्मा मध्यशरीरम्, अथ प्रतिकृत्ता यज्ञस्य भिषक् चिकित्सकः, स च व्यानरूपः। अत्राध्वर्युप्रभृतीनां यज्ञसम्बन्धिप्राणाद्यात्मकत्वकथनेन यज्ञस्य मुख्याङ्गं बहिष्पवमानं प्रति गन्तृत्वे योग्यता प्रदर्शिता। 'तान् वा एतान्। पञ्चर्त्विजो यजमानोऽन्वारभत एतावान् वै सर्वो यज्ञो यावन्त एते पञ्चर्त्विजो भवन्ति पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद् यज्ञमेवैतद्यजमानोऽन्वारभते' (श० ४।२।५।४)। यजमानेनाध्वर्युप्रभृतीनां स्पर्शनं विधत्ते— तान् वा एतानिति। एते पञ्चर्त्विजो यावन्तो यावत्परिमाणयुक्ताः, सर्वो यज्ञ एतावान् तत्परिमाणयुक्तः। एते पञ्चर्त्विज एव सकलो यज्ञः, तेषां यज्ञसम्बन्धिप्राणाद्यात्मकत्वेनाभिधानात्। 'अथान्यतरत् तृणं चात्वालमभिप्रास्यति देवानामुत्क्रमणमसीति यत्र वै देवा यज्ञेन स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत त एतस्माच्चात्वालादूर्ध्वाः स्वर्गं लोकमुपोदक्रामंस्तद् यजमानमेवैतत् स्वर्ग्यं पन्थानं संख्यापयति' (श० ४।२।५।५)। सूत्राणि च ब्राह्मणानुसारीण्येव। अध्वर्य्वादिगमनानन्तरमुपात्तयोस्तृणयोरन्यतरत् चात्वालमभिप्रास्यति देवानामिति मन्त्रेण। तदर्थस्तु—हे चात्वाल, त्वं देवानामुत्क्रमणमसि स्वर्गं प्रत्युत्क्रमणसमयेऽधिकरणमसि। तृणप्रक्षेपस्योपयोगमाह—यत्र वा इति। तेन देवानामुत्क्रमणसीति मन्त्रमुच्चार्य चात्वाल तृणप्रक्षेपेण यजमानमेव स्वर्ग्यं स्वर्गप्राप्तिहेतुभूतं पन्थानमनुसंख्यापयति ज्ञापयति, संख्यातेरत्र ज्ञानार्थत्वात्।

'अथान्यतरत् तृणं पुरस्तादुद्गातृणामुपास्यति तूष्णीमेव स्तोमो वा एष प्रजापतिर्यदुद्गातारः स इदꣳ सर्वं युत इदꣳ सर्वꣳ सम्भवति तस्मा एवैतत्तृणमपिदधाति तथो हाध्वर्युं न युते नैनꣳ सम्भवत्यथ यदा जपन्ति जपन्ति ह्यत्रोद्गातारः' (श० ४।२।५।६)। अवशिष्टस्य तृणस्य विनियोगं दर्शयति अथेति। स्तोमो वेति स्तोत्रसाधनभूतानामृचां सङ्घः स्तोमः। तेन च यज्ञो निष्पद्यत इति स्तोम एव एष प्रजापतिर्यज्ञः। स्तोमनिष्पादकाना-

---

कण्डिका के मन्त्रों से भूमि पर गिरे हुए सोमबिन्दुओं के दोष के निराकरण के लिये 'विप्रुट्' संज्ञक घृताहुति तथा वेदि-

मुद्गातॄणामपि कार्यकारणाभेदविवक्षया स्तोमत्वम्। प्रजापतिः स इदं सर्वं प्रपञ्चं युते मिश्रयति एकीकरोति, 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। एकीकृत्य च इदं सर्वं स्वयं सम्भवति। एतत्सर्वमात्मन्येव निधाय कारणात्मनाऽवतिष्ठत इत्यर्थः। तस्मादेतत्तृणप्रक्षेपेण प्राजापत्यात्मकानामुद्गातॄणामात्मनश्च मध्ये व्यवधानं सम्पादयति। एवं च प्रजापतिरध्वर्युं न मिश्रयति। तेन तस्य स्वरूपनाशो न भवति। कालविशेषे स्तोत्रोपकरणं समन्त्रकं विधत्ते—अथ यदा जपन्तीति। यदा यस्मिन् काले जपन्ति, तदा सोमः पवत इत्यनेन स्तोत्रमुपाकुर्याद् आरम्भयेत्। जपन्ति ह्यत्रोद्गातार इत्यनेन बहिष्पवमानप्रदेशे जपः प्रसिद्ध इति दर्शितम्। यतो ब्रह्मक्षत्राद्यर्थं सोमः पवते, अतस्तं पवमानं सोमस्तुत्या समर्धयितुमुपक्रमध्वमित्यर्थः। अत एव—'उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे' (वा० सं० ३३।६२) इति श्रूयते। अत्रैवानेकाभिः कण्डिकाभिर्बहिष्पवमानस्तोत्रेण स्वर्गलोकप्राप्तिरुक्ता। बहिष्पवमानस्तुतौ नौरूपत्वमुक्तम्। अत्र स्वर्ग्यायां नावि ऋत्विज एव स्फ्याश्चारित्राश्च भवन्ति, स्फ्या इति स्फ्याकाराः केचन तरणसाधनविशेषाः, अरित्रास्तरणसाधनभूता वंशाः, ते च स्वर्गस्य लोकस्य सम्पारणाः स्वर्गलोकप्रापका इति। नौर्वा एषा स्वर्ग्या यद्बहिष्पवमानम्। तस्या ऋत्विज एव स्फ्याश्चारित्राश्चेति। तत्र यः कुतश्चित् कारणाद् निन्द्यो जनः सर्व एव, तस्याः पवमानात्मिकाया नावो मज्जयिता। यथा लोकेऽनिन्द्यैः पूर्णां नावमारुह्य निन्द्यो मज्जयेत्, तथैव निन्द्यो बहिष्पवमाननावं मज्जयति। स न केवलं बहिष्पवमानात्, किन्तु कृत्स्नाद्यज्ञादेव सर्वथा परिहरणीयः' (श० ४।२।५।७-१०)।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, यस्ते स्तोकः, अंशुः खण्डः, खण्ड इवांशभूतो जीवः, स्कन्दति कर्मानुसारेण भूमावन्यत्र वा क्षरति पतति गच्छति, यश्च त्वदीयोंऽशो भोग्यवर्गगतो ग्रावच्युतो ग्राव्णः सकाशात् च्युतोऽधिषवणफलकयोः पवित्रादुत्सङ्गादध्वर्योर्वा सकाशात् स्कन्दति ग्रावाधिषवणाध्वर्यूपलक्षिताद् यज्ञात् फलरूपेण स्कन्दति, तं भोक्तृवर्गं भोग्यवर्गं च सङ्कल्पितमिव तुभ्यं स्वाहाकारेण जुहोमि समर्पयामि। भोक्तृभोग्यप्रपञ्चस्य सर्वस्यैव भगवति प्रविलापनेन तन्मात्रताभावनमेव हि मुख्यमुपासनम्। तदुपासनमेव सम्बोध्य कथयति—हे उपासने भक्ते वा, त्वं देवानामुत्क्रमणमसि देवानां द्योतमानानां भक्तानां भगवन्तं प्रति यदूर्ध्वगमनं तत्प्रति साधनमसि।

दयानन्दस्तु—'हे यज्ञपते, यस्ते द्रप्सो यज्ञपदार्थसमूहः स्कन्दति, अन्यान् प्रति गच्छति, वायुना सह सर्वत्र गच्छति, यश्च ते ग्रावच्युतो ग्राव्णो मेघाच्च्युतोऽशुः संविभागः 'ग्रावेति मेघनामसु पठितम्' (निघ०),

---

तृण के ग्रहण की विधि अनुष्ठित की जाती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सायणाचार्य आदि ने याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ किया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे साम्ब सदाशिव, जो आपका अंशभूत जीव अपने कर्मों के अनुसार पृथ्वी पर अथवा अन्यत्र लोकों में जाता है तथा आपका जो भोग्य वर्ग के अन्तर्गत अंश अधिषवण फलक के पावन आधार से, अथवा अध्वर्यु से निर्गत होता है, अर्थात् अधिषवण तथा अध्वर्यु से लक्षित यज्ञ से फलरूप से निर्गत होता है, उस भोक्ता-समूह तथा भोग्यसमूह को संकल्प की भाँति मैं स्वाहाकार के द्वारा आपके प्रति समर्पित करता हूँ। सम्पूर्ण भोक्तृ-भोग्यसमूह को भगवान् में लीन करने के उपरान्त तन्मात्रताभाव ही मुख्य उपासना होती है। उस उपासना को सम्बोधित करते हुए भक्त कहता है कि हे उपासना अथवा भक्ति, तुम विद्योतमान भक्तों की भगवान् के प्रति ऊर्ध्वगमन की साधनरूपा हो।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ विसंगत तथा अप्रामाणिक ही नहीं, अस्पष्ट भी है। द्रप्स का अर्थ 'यज्ञपदार्थ

धिषणयोः पवित्रादुपस्थाद् द्यावापृथिव्योः । 'धिषणे इति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम्' (निघ० ३।३०)। पवित्राद् उपस्थात् समीपस्थादध्वर्योर्वा होत्रादीनां समुच्चये शुद्धगुणानां वा समुच्चये, सकाशात् परितो वा प्रकाशते, तस्मात् तमहं स्वाहा सत्यवाचा मनसा सुविचारेण वषट्कृतं सङ्कल्पितमिव जुहोमि, तत्फलदानेन तुभ्यं प्रयच्छामि। यतस्त्वं यज्ञानुष्ठाता देवानामाप्तानाम् उत्क्रमण ऊर्ध्वक्रमणतेज इवासि' इति, तदपि विसङ्गतमस्पष्टं च, निर्मूलत्वात् । द्रप्सो यज्ञपदार्थसमूहस्त्वयोच्यते, ब्राह्मणे तु द्रप्सः स्तोक इत्युक्तम् । 'स्कन्दति वायुना सह सर्वत्र गच्छति' इत्यपि निर्मूलम् । 'अध्वर्योः सकाशात् परितो वा प्रकाशते' इत्यत्र प्रकाशत इति कस्य शब्दस्यार्थः ? किञ्च, कोऽयं तत्फलप्रदानेन प्रयच्छति ? न जीवः, तस्य फलप्रदानेऽसामर्थ्यात् । नेश्वरः, तस्याप्रसङ्गात् । यत्र यज्ञो न भवति तत्रापि मेघच्युतो जलबिन्दुर्दृश्यते, तत्कुतस्तस्य यज्ञहेतुकत्वं सम्भवति ? प्रकाशभूम्योरुपस्थाद् उत्सङ्गात् समीपस्थाद्वा यज्ञकर्तृभ्यो वा यः प्रकाशते, तं यज्ञं ते तुभ्यं सत्यवाचा मनसा एव सङ्कल्पितमिव जुहोमि प्रयच्छामीत्यस्य कथं सङ्गतिः ? द्यावापृथिवीभ्यां कथं यज्ञः प्रकाशते ? भाषाभाष्य उक्तम् –'फलदायकत्वात् तुभ्यं तं पदार्थं सङ्कल्पितमिव प्रेषयामि । यदर्थं यज्ञस्यानुष्ठाता त्वं देवानां विदुषा-मूर्ध्वश्रेणीप्राप्तैश्वर्यसमानोऽसि, एतस्मात् तुभ्यं सुखं प्राप्यते' इत्यादिकम्, तत्सर्वमपि दयानन्दीयं भाष्यं सर्वथाप्यसम्बद्धमेव ॥ २६ ॥

प्राणाय॑ मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व व्या॒नाय॑ मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्वोदा॒नाय॑ मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व वा॒चे मे॑ वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व॒ क्रतू॒दक्षा॒भ्यां मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व॒ श्रोत्रा॑य मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व॒ चक्षु॑र्भ्यां मे वर्चो॒दसौ॒ वर्च॑से पवेथाम् ॥ २७ ॥

'ग्रहानवेक्षयति यथागृहीतमवकाशान् वाचयन् प्राणाय म इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० ९।७।८)। ग्रहणक्रमेणाध्वर्युर्यजमानेन ग्रहानवेक्षयति प्राणाय म इत्यवकाशसंज्ञान् मन्त्रान् प्रतिमन्त्रं यजमानं वाचयन् ।

समूह' किया गया है, परन्तु ब्राह्मण में द्रप्स का अर्थ अल्प है। 'स्कन्दति' का अर्थ 'वायु के साथ सर्वत्र जाता है' यह भी निर्मूल है। फलप्रदान के द्वारा देने वाला कौन कहा गया है ? जीव नहीं है, क्योंकि वह फलप्रदान में असमर्थ है। ईश्वर भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसका प्रसंग यहाँ नहीं है। द्यावापृथिवी के द्वारा यज्ञ कैसे प्रकाशित होता है ? इस प्रकार सम्पूर्ण व्याख्यान सर्वथा अप्रासंगिक है ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ —ये ग्रह यज्ञ के प्राण हैं, इस कारण हम इनकी प्राणरूप से स्तुति करते हैं। हे उपांशु ग्रह ! तुम स्वभाव से तेज को देने वाले हो, इस कारण मेरे हृदय में स्थित प्राण वायु का तेज बढ़ाओ। हे उपांशु सवन ! तुम स्वभाव से कान्ति देने वाले हो, मेरी व्यान वायु की कान्ति बढाओ। हे अन्तर्याम ग्रह ! तुम कान्ति देने वाले हो, मेरी उदान वायु की कान्ति को बढाओ। हे वायव ग्रह ! तुम स्वभाव से ही कान्तिप्रद हो, मेरी वाणी की कान्ति को बढाओ। हे मैत्रावरुण ग्रह ! तुम स्वभाव से ही कान्ति देने वाले हो, मेरी कामना और समृद्धि तथा कार्य करने की निपुणता को बढाओ। हे आश्विन ग्रह ! तुम स्वभाव से ही कान्ति देने वाले हो, मेरी श्रवण शक्ति को बढाओ। हे शुक्र और मन्थिग्रह ! तुम स्वभाव से ही कान्तिप्रद हो, मेरी नेत्रसम्बन्धी कान्ति को बढाओ ॥ २७ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।७।८) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'प्राणाय मे' इस

आदावुपांशुग्रहावेक्षणम् । लिङ्गोक्तदैवतान्येकादश यज्ञस्यैते प्राणास्तान् प्राणरूपेण दर्शयति—प्राणायेति । हे उपांशो, यस्त्वं स्वभावत एव वर्चोदा तेजोदाः, स त्वं मे मम प्राणाय हृदयस्थिताय पवस्व प्रवर्तस्व उपांशुसवनम्, व्यानाय मे सर्वशरीरगाय वायवे पवस्व । अन्तर्याममाह—उदानाय मे कण्ठस्थाय वायवे वर्चोदा वर्चसे पवस्व । ऐन्द्रवायवं वागिन्द्रियाय मैत्रावरुणं क्रतुदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व । क्रतुः कामः, दक्षस्तस्य समृद्धिः, ताभ्यां तद्द्वयसाधनरूपाय वर्चसे पवस्व । आश्विनं ग्रहमवेक्षयन्नाह—श्रोत्राय श्रोत्रेन्द्रियाय हे वर्चोदसौ वर्चःप्रदौ शुक्रामन्थिनौ, मे मम चक्षुषोः पाटवाय तद्रूपाय वर्चसे युवां पवेथां प्रवर्तेथाम् ।

शतपथे तत्स्पष्टम्—'स उपाꣳशुमेव प्रथममवकाशयति । प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वे" त्यथैन्द्रवायवं वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथ मैत्रावरुणं क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथाश्विनꣳ....चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवेथामिति' (श० ४।५।६।२) । अध्वर्युग्रहानवकाशाद् यजमानस्तु सप्राणं कृत्स्नं यज्ञं जनयित्वा येन कुरुते । प्राणाय म इत्यादिभिर्मन्त्रैरात्मानमेव प्रजापतिं करोति । सोऽध्वर्युराश्विनं ग्रहं गृहीत्वा अवकाशा उपांश्वादयः, तानवकाशयति अवेक्षयति । यजमानोऽवेक्षत इति तत्र सायणाचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे—'हे परमेश्वर, त्वं स्वभावत एव वर्चोदा तेजसो दाता, स त्वं मे प्राणाय हृदयस्थित-वायोर्वर्चसे तेजस्वित्वाय पवस्व अस्मान् प्रवर्तयस्व । हे परमेश्वर, त्वं वर्चोदा असि । मे व्यानाय व्यानवायो-र्बलवत्त्वरूपाय वर्चसे पवस्व प्रवर्तयस्व । तथैव हे परमेश्वर, त्वं वर्चोदा भवसि, तस्मान्मे उदानाय उदानस्य विशिष्टशक्तिमत्त्वाय मे वर्चोदा पवस्व । तथैव वाचे वागिन्द्रियाय वाक्समृद्धिसाधनभूताय वर्चसे पवस्व । हे उमामहेश्वरौ, युवां वर्चोदसौ विविधतेजसो दातारौ क्रतुदक्षाभ्यां कामतत्समृद्धिसाधनभूताय वर्चसे पवेथां प्रवर्तयेथाम् । तत्तच्छक्तिविशिष्टस्य परमेश्वरस्यैव प्राणादीनां शक्तिमत्त्वरूपेभ्यस्तेभ्यो वर्चोभ्यः प्रवर्तयितृत्वं सम्भवति । अत एवान्ते वर्चोदसाविति द्विवचनेन शक्तिशक्तिमन्तौ उमामहेश्वरौ वर्चोदातृत्वेनोक्तौ ।

दयानन्दस्तु—'हे वर्चोदा, वर्चो यथायोग्यं प्रकाशं ददातीति वर्चोदाः, अध्येतरध्यापक, त्वं मे मम प्राणाय हृदयस्थवायवे वर्चसे विद्याप्रकाशाय पवस्व पवित्रतया प्राप्नुहि । हे वर्चोदा, मे मम दीप्तिप्रदो जाठराग्नि-

---

कण्डिका के 'अवकाश' संज्ञक मन्त्रों से अध्वर्यु यजमान को ग्रहपात्रों का अवलोकन कराता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप स्वभावतः ही तेज प्रदान करने वाले हैं । आप मेरे हृदयस्थित प्राणवायु की तेजस्विता के लिये मुझे प्रवर्तित करें । हे परमेश्वर, आप तेजोदाता हैं, अतः मेरे व्यानवायु के सबल होने के लिये मुझे प्रवर्तित करें । आप उदानवायु को विशिष्ट शक्तिमान् होने के लिये प्रवृत्त करें । इसी प्रकार वागिन्द्रिय के लिये वाक्समृद्धि के साधनभूत तेजहेतु प्रवृत्त करें । हे उमा एवं महेश्वर, आप दोनों विविध तेजों के प्रदाता हैं । आप काम तथा उसकी समृद्धि के साधनभूत तेज के लिये मुझे प्रवृत्त करें । उन उन शक्तियों से विशिष्ट परमेश्वर का ही प्राणादिशक्तिमान् रूपों के उन उन तेजों के लिये प्रवर्तक होना सम्भव है । अतः अन्त में द्विबचन से शक्ति एवं शक्तिमान्, उमा तथा महेश्वर ही तेजोदाता के रूप में उपदिष्ट किये गये हैं ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में निर्मूल कल्पनाओं की अधिकता के कारण अग्राह्यता है । 'वर्चोदा' शब्द से अध्येता तथा अध्यापक का अर्थ ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है । प्राण के लिये वेदविद्या का प्रकाश कैसे

रिव व्यानाय सर्वशरीरगतवायवे वर्चसे पवस्व। हे वर्चोदा वर्चो विद्याबलं ददातीति, ममोदानाय वर्चसे अन्नाय पवस्य। हे वर्चोदा, मे वाचे वर्चसे पवस्व। हे वर्चोदा सत्यवक्तृत्वप्रद, मम क्रतुदक्षाभ्यां यज्ञबलाभ्यां वर्चसे यागलभ्याय पवस्व। हे वर्चोदा विज्ञानप्रद, वर्चसे शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानाय श्रोत्राय शब्दज्ञानाय वर्चसे पवस्व उपदिश। हे वर्चोदसौ सूर्याचन्द्रमसौ अतिथ्यध्यापकौ, युवां मम चक्षुर्भ्यां वर्चसे पवेथाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलकल्पनाबाहुल्यात्। 'वर्चोदाः' इत्यनेन अध्येत्रध्यापयित्रोर्ग्रहणे मानाभावात्। अध्येत्रध्यापकयोः प्रयत्नेनान्यस्य प्राणवायवे कथं वेदविद्याप्रकाशः? कथं च प्राणाय वेदविद्याप्रकाशः? प्रकाशस्य बुद्धिधर्मत्वात्। तदर्थं च प्रार्थयितुः पवित्रतया वर्तनमपेक्षितम्। तथैव वर्चोदा इत्यनेन सत्यवक्तृत्वप्रदः कथं गृह्यते? तथैव शब्दज्ञानदो वर्चोदा इत्यपि निर्मूलमेव। न वा नेत्राभ्यां शुद्धसिद्धान्तप्रकाशः सम्भवति, तयो रूपमात्रप्रकाशत्वात्। शतपथश्रुतिव्याख्यानविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ २७ ॥

आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥ २८ ॥

आग्रयणं ग्रहं दर्शयन् ममात्मने जीवस्य स्वास्थ्याय वर्चसे पवस्व। उक्थ्यम् ओजः सर्वेन्द्रियपाटवं शारीरं बलं वा तद्रूपाय वर्चसे पवस्व। ध्रुवमवेक्षयन् आयुषे, आयुर्निर्दोषजीवनम्, तद्रूपाय वर्चसे पवस्व। पूतभृदाहवनीयौ युगपदवेक्षते—हे पूतभृदाहवनीयौ, युवां वर्चोदसौ तेजोदातारौ, विश्वाभ्यः सर्वाभ्यो मम प्रजाभ्यः प्रजार्थं यद्वर्चस्तदर्थं पवेथाम्। सर्वत्र ददातेरसुन्प्रत्ययेन वर्चोदा वर्चोदसा इति सिद्धिः। यद्वा प्राणायेत्यादिचतुर्थीनां षष्ठ्या विपरिणामः। तेन प्राणापानादीनां यद्वर्चस्तदर्थं पवस्वेति। यद्वा यो ग्रहस्तं यज्ञं प्राणाय वर्चोदाः स मे वर्चसे ब्रह्मवर्चसाय पवस्वेति। एवं सर्वत्र। शतपथे च—'अथाग्रयणम्। आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथोक्थ्यमोजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथ ध्रुवमायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथाम्भृणौ विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथामिति वैश्वदेवौ वा अम्भृणावतो हि देवेभ्य उन्नयन्त्यतो मनुष्येभ्योऽतः पितृभ्यस्तस्माद् वैश्वदेवावम्भृणौ' (श० ४।५।६।३)। अम्भृणौ पूतभृदाहवनीयौ, अत आभ्यां देवेभ्य उन्नयन्ति सोमयागार्थमत एव मनुष्येभ्यः पितृभ्यश्च। अत एव वैश्वदेवौ अम्भृणौ।

हो सकता है? क्योंकि प्रकाश बुद्धि का धर्म है। इसी प्रकार 'वर्चोदा' इस शब्द से 'सत्यवक्तृत्वप्रद' यह अर्थ कैसे लिया जा सकता है? इसी प्रकार 'शब्दज्ञानप्रद' अर्थ करना भी अप्रामाणिक है। नेत्रों से शुद्ध सिद्धान्त का प्रकाश नहीं होता, क्योंकि वे तो केवल रूप के प्रकाशक हैं। शतपथ श्रुति का विरोध तो इस व्याख्या में स्पष्ट ही है ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे आग्रयण ग्रह! तुम स्वभाव से ही कान्तिप्रद हो, मेरी आत्मा सम्बन्धी कान्ति को बढाओ। हे उक्थ ग्रह! तुम स्वभाव से ही कान्ति देने वाले हो, मेरे शारीरिक बल की कान्ति को बढाओ। हे ध्रुव ग्रह! तुम स्वभाव से ही कान्ति देने वाले हो, मेरी आयु सम्बन्धी कान्ति को बढाओ। हे पूतभृत् आहवनीय ग्रह! तुम स्वभाव से ही कान्तिप्रद हो, मेरी सम्पूर्ण प्रजा वर्ग की कान्ति को बढाओ ॥ २८ ॥

भाष्यसार—'आत्मने मे' इस कण्डिका का याज्ञिक विनियोग भी पूर्वोक्त की भाँति है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वं वर्चोदा असि। आत्मने ममात्मने प्रत्यगात्मने, अनात्मतादात्म्यनिवृत्त्या ब्रह्मतादात्म्यप्राप्तिलक्षणाय स्वास्थ्यरूपाय वर्चसे पवस्व ओजसे निष्ठादार्ढ्यलक्षणाय बलाय पवस्व, आयुषे जमदग्निकश्यपादीनामिव निर्दोषपवित्रजीवनलक्षणाय वर्चसे पवस्व। विश्वाभ्यः सर्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो देवमनुष्यादिभ्यो हितार्थं यद्वर्चस्तस्मै, हे भवानीशङ्करौ वर्चोदसौ ! वर्चोदातारौ पवेथां प्रवृत्तिं कुरुतम्।

दयानन्दस्तु 'हे वर्चोदा योगब्रह्मविद्याप्रद विद्वन् ! त्वं ममात्मने इच्छादिगुणसमवेताय स्वस्वरूपाय मे वर्चसे निजात्मप्रकाशाय पवस्व प्रापय। हे वर्चोदा विद्याप्रद, ओजसे आत्मबलाय पवस्व विज्ञापय। आयुषे जीवनाय मे वर्चोदा बलप्रदवर्चसे रोगापहारकायौषधाय पवस्व गमय। हे वर्चोदसौ न्यायप्रकाशकौ सर्वाधिष्ठातारौ सभापतिन्यायाधीशाविव योगारूढजिज्ञासू ! युवां मे वर्चसे सद्गुणप्रकाशाय विश्वाभ्यः समस्ताभ्यः प्रजाभ्यः पालनीयाभ्यः पवेथां प्रापयेथाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः। तथाहि वर्चोदा इति न विशेष्यवाचकं पदम्, किन्तु विशेषणवाचकम्, तथात्वेऽनेकार्थावबोधकत्वायोगात्। न च न्यायप्रकाशकाभ्यां सभापतिन्यायाधीशाभ्यां योगारूढजिज्ञास्वोः सादृश्यम्। यथाकथञ्चित् तादृशार्थबोधने त्वदभिप्रायविपरीतार्थविबोधनमपि सम्भवति, त्वदीयमतखण्डनपरायणौ कौचन विद्वांसावपि वर्चोदसौ वक्तुं शक्येते। अत्रापि शतपथविरोधः स्पष्टः॥ २८॥

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम। भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः॥ २९॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप तेजःप्रद हैं। मेरी प्रत्यगात्मा को अनात्मतादात्म्य की निवृत्ति के द्वारा ब्रह्मतादात्म्य की प्राप्तिरूपी स्वास्थ्यात्मक तेज के लिये प्रवर्तित करें। निष्ठा की दृढतारूपी बल के लिये, जमदग्नि तथा कश्यप आदि महर्षियों की भाँति निर्दोष एवं पवित्र जीवनरूपी तेज के लिये प्रवृत्त करें। हमारी समस्त प्रजाओं, देव-मनुष्य आदि के हित के लिये जो तेज है, उस तेज को प्रदान करने वाले हे उमामहेश्वर ! आप दोनों प्रवृत्त करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ असंगति के कारण अग्राह्य है। 'वर्चोदा' यह पद विशेष्यवाचक नहीं है, अपितु विशेषणवाचक है। ऐसा होने पर उसका अनेक अर्थों का बोधक होना असंगत है। न्यायप्रकाशक सभापति एवं न्यायाधीश से योगारूढ तथा जिज्ञासु की समानता भी नहीं है। जिस किसी प्रकार से उस प्रकार के अर्थ का बोधन होने पर तो स्वयं इसी मत के विपरीत अर्थ का भी बोधन सम्भव है। इसमें शतपथ श्रुति का विरोध स्पष्ट ही है॥ २८॥

मन्त्रार्थ—हे द्रोण कलश ! तुम कौन् प्रजापति हो, कौन से समूह में तुम रहते हो ? किस प्रजापति के हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? तुम्हारे जिस नाम को लेकर हम तुमको सोम रस से तृप्त कर चुके हैं, क्या तुम वही हो ? हमको अपना नाम बता कर कामना से तृप्त करो। हे अग्नि, वायु और सूर्य ! आप लोगों के प्रसाद से मैं अच्छी प्रजा से सम्पन्न होऊँ, वीरतायुक्त पुत्र, पौत्र आदि को प्राप्त कर सुपुत्रवान् विख्यात होऊँ, उत्कृष्ट धन-सम्पत्ति से सम्पन्न होकर अच्छी सम्पत्ति वाला विख्यात होऊँ॥ २९॥

'कोऽसीति द्रोणकलशम्' (का० श्रौ० ९।७।११)। कोऽसीति वाचयन् द्रोणकलशमवेक्षयेत्। प्राजापत्या वर्धमानोष्णिक्। यस्याः प्रथमः पादः षडक्षरो द्वितीयः सप्ताक्षरस्तृतीयोऽष्टाक्षरश्चतुर्थो नवाक्षरः, सा त्रिंशद्वर्णा वर्धमानोष्णिक्, अध्यस्तप्रजापतिद्रोणकलशदेवत्या। हे द्रोणकलश, त्वं कः अनिरुक्तः प्रजापतिरसि। कतमोऽसि अतिशयेन कः प्रजापतिरिति कतमः असि अनन्यभूतः प्रजापतिना। कस्यासि प्रजापतेरनन्यभूतोऽसि। को नामासि प्रजापतिनामासि। वयं यस्य तव नाम अभिधानम् अमन्महि विजानीमः। ज्ञानार्थको मनधातुः। यं च त्वां सोमेन अतीतृपामस्तर्पितवन्तः, सोऽस्मान् विदितनाम्नः प्रख्याताभिधानान् कुरु तर्पय चाभीष्टकामैः। 'भूर्भुवः स्वरिति जपतीति' (का० श्रौ० ९।७।१२)। यजमानो भूर्भुवः स्वरिति जपति। हे भूर्भुवः स्वः, व्याहृतित्रयदेवा अग्निवायुसूर्याः, प्रजाभिरहं सुप्रजाः शोभनप्रजायुक्तो भवेयम्। वीरैः पुत्रैः सुवीरः स्याम्। पोषैर्धनादिपुष्टिभिः सुपोषः शोभनधनपोषो भवेयम्।

शतपथे च —'अथ द्रोणकलशम्। कोऽसि कतमोऽसीति प्रजापतिर्वै कः कस्यासि को नामासीति प्रजापतिर्वै को नाम यस्य ते नामामन्महीति मनुते ह्यस्य नाम यं त्वा सोमेनातीतृपामेति तर्पयति ह्येनꣳ सोमेन स आश्विनं ग्रहं गृहीत्वाऽन्वङ्गमाशिषमाशास्ते तर्पयति सुप्रजाः प्रजाभिः स्यामिति तत्प्रजामाशास्ते सुवीरो वीरैरिति तद्वीरानाशास्ते सुपोषः पोषैरिति तत्पुष्टिमाशास्ते' (श० ४।५।६।४)। सोमेनेत्यन्तं स्पष्टम्। स आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा समर्थाचरणेन यजमानोऽन्वङ्गं प्राणतां प्राणादीनां पश्चादङ्गेषु कल्पितेषु स लब्धात्मकः सन् आशिषमाशास्ते भूर्भुवः स्वरिति। 'तान् वै न सर्वमिवावकाशयेत्। यो न्वेव ज्ञातस्तमवकाशयेद्यो वास्य प्रियः स्याद्यो वानूचानोऽनूक्तेनैनान् प्राप्नुयात् स आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा कृत्स्नं यज्ञं जनयति तं कृत्स्नं यज्ञं जनयित्वा तमात्मन् धत्ते तमात्मन् कुरुते' (श० ४।५।६।५)। उपांश्वादिभिः सम्बन्धादवकाशानां सर्वप्रयोगविषये प्राप्ते ज्ञातादिप्रयोग एव व्यवस्थाप्यते। यो न्वेव ज्ञातः शुच्याभिजनतया यो वाऽध्वर्योः प्रियोऽतिशयेन यो वानूचानो वेदार्थानुवचनसमर्थोऽनूक्तेनानुवचनेन विद्ययैव एनान् उपांश्वादिरूपान् प्राणान् प्राप्नुयात्। अन्यस्त्वनवकाशित एव यजमान आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा कृत्स्नं यज्ञं जनयति। तदा हि प्राणैर्ग्रहैर्योजितो भवतीत्यभिप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—लोके यस्य वस्तुनः कश्चन विशिष्टोऽधिकारी न भवति, तद्वस्तु देशाधिपतेः शासकस्य भवति यथा, तथैव यानि नामानि तैस्तैर्व्यक्तिविशेषैः गृहीतसङ्गतिकानि तानि विशिष्टव्यक्तिसम्बन्धीनि, यानि न तथा तानि परमेश्वरस्यैव नामानि। सर्वनामानि च सर्वैः सम्बद्धानि। सर्वं च कार्यकारणाभेदेन ब्रह्मात्मकमेव भवति। तस्मादेव 'प्रजापतिर्वै कः प्रजापतिर्वै को नाम' (श० ४।५।६।४) प्रजापतिरत्र परमेश्वर एव।

भाष्यसार—'कोऽसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से द्रोणकलश का अवलोकन तथा यजमान द्वारा मन्त्रजप आदि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।७।१३-१४) में निरूपित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—जिस प्रकार संसार में जिस वस्तु का कोई विशेष अधिकारी नहीं होता, वह वस्तु उस देश के स्वामी, शासक की होती है। उसी प्रकार जो नाम व्यक्तिविशेषों के द्वारा संगृहीत हैं, वे विशिष्ट व्यक्तियों से सम्बद्ध हैं। जो इस प्रकार के नहीं हैं, वे परमेश्वर के ही नाम हैं। सर्वनाम सबके साथ सम्बद्ध हैं। 'सर्व' कार्यकारण के अभेद से ब्रह्मात्मक ही होता है। अतः हे सोम, तुम प्रजापति हो, परमेश्वर हो। अन्यत्र ग्रहों का तथा

तस्माद् हे सोम, त्वं कोऽसि प्रजापतिरसि परमेश्वरोऽसि, कतमोऽसि औपचारिकमपि प्रजापतित्वं ग्रहाणां यजमानानामपि तत्र तत्रोक्तमस्ति, तद्व्यावृत्तये कतमोऽसि अतिशयेन प्रजापतिरसीति प्रोक्तम्। एतत्प्रयोगेण निरुपचरितप्रजापतित्वं त्वय्येव विद्यत इत्यर्थः सम्पन्नः। कस्यासि प्रजापतेरेव स्वरूपभूतोऽसि। राहोः शिर इतिवदभेदेऽपि भेदोपचारात् षष्ठी। को नामासि प्रजापतिनामासि। यस्य प्रजापतेः परमेश्वरस्य ते तव नाम अमन्महि निरन्तरं चिन्तयामः। यं त्वा त्वां सोमेन अमृतात्मकेन सोमरसेन अतीतृपामस्तर्पयामः। हे भूर्भुवः स्वः सर्वस्वरूप ! (अर्थाद् भूरादयो लोकास्तत्रत्यानि वस्तूनि तदधिष्ठातारश्च त्वमेवासि), अहं साधकस्त्वत्प्रसादात् त्वदीयाभिः प्रजाभिः सुप्रजाः, त्वदीयैर्वीरैः सुवीरः, त्वदीयैः पोषैः सुपोषः स्याम्। प्रजापत्यभेदसाक्षात्कारेण त्वदीयानि वस्तूनि सर्वाणि मदीयानि सम्पद्यन्तामित्यर्थः। यद्वा भवन्तं सोमं साम्बसदाशिवं प्रति प्रश्नः—हे देव ! त्वं कोऽसि ? 'को भवानुग्ररूपः' (भ० गी० ११।३१) इति विश्वरूपं प्रति धनञ्जयप्रश्नवत्। कतमोऽसि जीवेश्वरजगतां मध्ये कतमोऽसि। को नामासि, यस्य ते नाम वयममन्महि विजानीमश्चिन्तयामः, यं च त्वामतीतृपामस्तर्पयामः। एवं पृष्टो भगवानाह—भूर्भुवः स्वः, लोकत्रयोपलक्षितसर्वस्वरूपोऽहमित्यर्थः। भवति सर्वं जगदस्मादिति भूः सर्वोत्पादकोऽस्मि, भूत्वा वसति सर्वं जगदस्मिन्निति भुवर्विश्वस्थितिहेतुरहम्, स्वः स्वरति लयं गच्छति सर्वं यस्मिन् स विश्वप्रलयाधारश्चाहमेवेत्यर्थः। अहमेव सर्वाभिः प्रजाभिः सुप्रजाः, सर्वैर्वीरैः सुवीरः, सर्वैः पोषैः सुपोषः। अहं सर्वस्वरूपः परमात्मा। भूर्भुवः स्वरिति व्याहृतयो मम नामानि। जीवेश्वरजगतां मध्ये परमेश्वर एवाहम्। अहमेव च सर्वस्य धाता माता संहर्ता सर्वाभीष्टपूरक इत्युत्तरम्।

दयानन्दस्तु—'सभ्यसेनास्थप्रजाजना वयम् ! त्वं कोऽसि, कतमोऽसि, कस्यासि, को नामासि, किंनाम्ना प्रसिद्धोऽसि ! यस्य ते नाम वयममन्महि, यं त्वा सोमेनातीतृपामेति पृच्छामो ब्रूहि। तान् प्रति सभापतिराह—भूर्भुवः स्वर्लोकसुखमिवात्मसुखमभीप्सुरहं युष्माभिः प्रजाभिः सुप्रजाः, वीरैः सुवीरः, पोषैः सुपोषश्च स्यामिति

यजमानों का भी औपचारिक प्रजापतित्व कहा गया है। उसकी निवृत्ति के लिये कहा गया है— तुम अतिशयरूप से प्रजापति हो। इस शब्द के प्रयोग से 'निरुपचरित प्रजापतित्व तुममें ही है' यह अर्थ निष्पन्न होता है। तुम प्रजापति के भी स्वरूपभूत हो। यहाँ 'राहु के सिर' की भाँति अभेद होने पर भी भेदोपचार में षष्ठी है। तुम 'प्रजापति' नाम वाले हो। जिस परमेश्वर के नाम का हम निरन्तर मनन करते हैं, जिसको हम अमृतात्मक सोमरस से सन्तृप्त करते हैं, हे सर्वस्वरूप ! मैं साधक आपकी कृपा से आपकी प्रजाओं के द्वारा सुप्रजावान्, वीरों से सुवीरवान्, पोषण से सुपुष्ट होऊँ।

अथवा भगवान् साम्ब सदाशिव के प्रति प्रश्न है कि हे देव ! आप कौन हैं ? जीव, ईश्वर तथा जगत् के मध्य आप कौन हैं ? किस नाम के हैं ? आपके जिस नाम को हम जानते हैं, जिसका मनन करते हैं और आपको सन्तृप्त करते हैं। इस प्रकार प्रश्न करने पर भगवान् उत्तर देते हैं कि मैं भूः लोक आदि सर्वस्वरूप हूँ। भूः, अर्थात् सर्वोत्पादक हूँ। भुवः, अर्थात् विश्व की स्थिति का कारण हूं। स्वः, अर्थात् विश्वप्रलय का आधार हूँ। मैं ही समस्त प्रजाओं से प्रजावान्, समस्त वीरों से सुवीर तथा समस्त पोषणों से सुपुष्ट हूँ। मैं सर्वस्वरूप परमात्मा हूँ। भूः, भुवः, स्वः—ये तीनों व्याहृतियाँ मेरे नाम हैं। जीव, ईश्वर तथा जगत् में मैं परमेश्वर ही हूँ। मैं ही सबका विधाता, निर्माता, संहरणकर्ता, सर्वाभीष्टपूरक हूँ।

स्वामी दयानन्द के द्वारा वर्णित अर्थ में प्रश्नकर्ता कौन है ? तथा उत्तरदाता कौन है ? इसका समाधान न होने के कारण विसंगति है। नाम आदि से संबद्ध प्रश्नों के तदनुरूप ही उत्तर होने चाहिये। आम के सम्बन्ध में पूछे जाने पर

प्रतिजाने' इति, तदपि विसङ्गतमेव, के प्रष्टारः के च प्रतिवक्तार इत्यनिर्णयात्। किञ्च, नामादिविषयाणां प्रश्नानां तदनुगुणैरेव प्रतिवचनैर्भाव्यम्। नह्याम्रान् पृष्टः कोविदारान्निवेदयन्नवधेयवचनो भवति। नहि भूर्भुवः स्वर्लोकसुखमभीप्सुरहं युष्माभिः प्रजाभिः सुप्रजाः स्यामित्यादिभिरुत्तरैः प्रश्नः समाधीयते। भावार्थस्तु सर्वथा मन्त्राक्षरासम्बद्ध एवेति सर्वत्रोपेक्ष्यते। तस्मात् शतपथादिसम्मतं पूर्वोक्तं व्याख्यानमेवादरणीयमिति ॥ २९ ॥

उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वोपयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वोपयामगृहीतोऽसि शुक्राय त्वोपयामगृहीतोऽसि शुचये त्वोपयामगृहीतोऽसि नभसे त्वोपयामगृहीतोऽसि नभस्याय त्वोपयामगृहीतोऽसीषे त्वोपयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वोपयामगृहीतोऽसि सहसे त्वोपयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वोपयामगृहीतोऽसि तपसे त्वोपयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वोपयामगृहीतोऽस्यꣳहसस्पतये त्वा ॥ ३० ॥

'ऋतुग्रहैश्चरतो द्रोणकलशादुपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वेति द्वादश प्रतिमन्त्रमध्वर्योः पूर्वः पूर्वो मन्त्र उत्तर उत्तरः प्रतिप्रस्थातुः' (का० श्रौ० ९।१३।१-३)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ उपयामगृहीतोऽसि मधवे

कचनार से सम्बद्ध उत्तर देने वाला समझदार नहीं होता। भूर्भुवः आदि उत्तरों से यहाँ प्रश्न का समाधान नहीं होता। भावार्थ तो सर्वथा मन्त्र के शब्दों से असम्बद्ध है। अतः शतपथब्राह्मण आदि से संमत पूर्वोक्त व्याख्या ही समुचित है ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—हे प्रथम ऋतुग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हुए हो, मधु (चैत्र) मास की प्रीति के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे द्वितीय ऋतुग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हुए हो, वैशाख मास की संतुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे तृतीय ऋतुग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हुए हो, ज्येष्ठ मास की सन्तुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे चतुर्थ ऋतुग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हुए हो, आषाढ़ मास की सन्तुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे पंचम ऋतुग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, श्रावण मास की प्रीति के लिये तुमको गृहीत करता हूँ। हे षष्ठ ऋतुग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, भाद्रपद मास की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ। हे सप्तम ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, आश्विन मास की सन्तुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे अष्टम ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, कार्तिक मास की प्रीति के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे नवम ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, मार्गशीर्ष मास की सन्तुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे दशम ग्रह ! तुम उपयाम पात्र द्वारा गृहीत हो, पौष मास की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ। हे एकादश ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, माघ मास की सन्तुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे द्वादश ऋतु ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, फाल्गुन मास की प्रीति के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे त्रयोदश ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, पाप के अधिपति मलमास की सन्तुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ ॥ ३० ॥

भाष्यसार- 'उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वा' इत्यादि कण्डिका के अन्तर्गत तेरह मन्त्रों के द्वारा अध्वर्यु तथा

त्वेत्यादिभिर्द्वादशमन्त्रैः प्रतिमन्त्रं द्रोणकलशाद् द्वाभ्यामृतुग्रहपात्राभ्यामुभयतोमुखाभ्यां रसं द्वादश गृह्णीतः, न सादयतो नात्रानुवषट्कारः। षण्णां मन्त्रयुग्मानां त्वेत्यादीनां मध्येऽध्वर्योः पूर्वः पूर्वः, उत्तर उत्तरः प्रतिप्रस्थातुः। द्वादश लिङ्गोक्तानि दैवतानि। हे सोम, त्वमुपयामग्रहगृहीतोऽसि। त्वां मधवे मधुसंज्ञकाय चैत्रमासाय गृह्णामि। द्वितीयः—माधवाय वैशाखाय त्वां गृह्णामि। तृतीयः—शुक्राय ज्येष्ठमासाभिमानिदेवतायै त्वां गृह्णामि। चतुर्थः शुचये आषाढमासाभिमानिदेवतायै त्वां गृह्णामि। पञ्चमः नभसे श्रावणमासाभिमानिदेवतायै त्वां गृह्णामि। षष्ठः—नभस्याय भाद्रपदमासाय त्वां गृह्णामि। सप्तमः—इषे आश्वयुजमासाय त्वां गृह्णामि। अष्टमः—ऊर्जे एतन्नामकाय कार्तिकमासाय हे सोम त्वां गृह्णामि। नवमः सहसे मार्गशीर्षमासाय हे सोम त्वां गृह्णामि। दशमः—सहस्याय सहस्यनाम्ने पुष्यमासाय त्वां गृह्णामि। एकादशः—तपसे माघमासाय हे सोम त्वां गृह्णामि। द्वादशः—तपस्याय फाल्गुनमासाय त्वां गृह्णामि। 'त्रयोदशं गृह्णीयादिच्छन्नुपयामगृहीतोऽस्य ँहस्पतये त्वा' (का० श्रौ० ९ १३।१४)। यद्यनुष्ठातुरिच्छा स्यात् तदाध्वर्युस्त्रयोदशं ग्रहं गृह्णीयात्। यदि नेच्छा स्यात्तदा न गृह्णीयादित्यैच्छिको विकल्पः। अंहसस्पतये, अंहतेर्गतिकर्मणः सन्प्रत्ययान्तस्य रूपम्। अंहसां गतीनां पतिस्त्रयोदशो मास आदित्यगतिवशाज्जायते। यद्वा अंहः पापं तस्य पतिरंहसस्पतिः। तस्मै हे सोम, त्वां गृह्णामि। सोम एव सर्वत्र तत्तन्मासाभिमानिनीभिर्देवताभिर्गृह्यते तत्तन्मासनामभिरिति सायणाभिप्रायः।

उव्वटमहीधराचार्यरीत्या—मधुमाधवौ वासन्तिकौ। तत्र मधुप्रमुखमन्नं वसन्ते उत्पद्यत इति मधुमाधवौ मासौ। शुक्रशुची ग्रीष्ममासौ, 'शुच शोषणे' इति धातोः। शुक्रो ज्येष्ठमासो भवति शुचिराषाढः। नभस्यौ वार्षिकौ मासौ। न भात्यत्र सूर्यो मेघबाहुल्यादिति नभाः, नभस्यश्च। इषे ऊर्जे इति शारदौ मासौ। इषमन्नम्, ऊर्जं तदुपसेचनं दध्यादि प्राचुर्येण यत्रोत्पद्यते, अभेदोपचाराद् आश्वयुक्कार्तिकौ मासा उच्येते। सहः सहस्याविति हैमन्तिकौ मासौ, प्रसहनार्थस्य सहते रूपत्वात्। सहते ह्यसौ शीतेनाभिभवति जनानिति सहः, प्रसहनमभिभवनम्। तपस्तपस्यौ शिशिरौ। तपति (शुष्यति) सूर्यो यत्रात्यन्तं स तपस्तपस्यश्च।

शतपथे चैतद् व्याख्याविशेषः—'अथातो गृह्णात्येव। उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव वासन्तिकौ स यद्वसन्त ओषधयो जायन्ते वनस्पतयः पच्यन्ते तेनो हैतौ मधुश्च माधवश्च' (श० ४।३।१।१४)। चैत्रवैशाखयोर्मधुमाधवनामधेयप्राप्तिं दर्शयति—तावेव वासन्तिकाविति। उक्तौ मासौ वासन्तिकौ। वसन्ते माधुर्यरसहेतुभूता ओषधयो जायन्ते, वनस्पतयः पच्यन्ते परिपक्वा भवन्ति, परिपाके च माधुर्यरसोत्पत्तेरुपभोगयोग्या भवन्ति, तस्मात्तत्सम्बन्धी मासो मधुमासः। मधुरेण माधवः। स्वार्थिकोऽण्प्रत्ययः। यद्वा मधुमासस्यायमनन्तरभावी माधवः। 'तस्येदम्' (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यण्। 'उपयाम""शुक्राय त्वेत्यध्वर्युर्गृह्णाति""शुचये त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव ग्रैष्मौ स यदेतयोर्बलिष्ठं तपति तेनो हैतौ शुक्रश्च शुचिश्च' (श० ४।३।१।१५)। एतौ मासावेव ग्रैष्मौ ग्रीष्मर्तुसम्बन्धिनौ। एतयोर्मासयोः सूर्योऽपि बलिष्ठमत्यन्तं तपति। शोचते शुष्यति यतस्तस्मात् शुक्रः शुचिरिति नामधेयम्। 'उपयाम""नभसे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णाति""नभस्याय त्वेति प्रतिप्रस्थाता एतावेव वार्षिकावमुतो वै दिवो वर्षति तेनो हैतौ नभश्च नभस्यश्च' (श० ४।३।१।१६)। अमुतो दिवो नभसः सकाशाद्वर्षति। तेन मासावपि नभोनभस्यौ। 'उपयाम"' इषे त्वेत्येवाध्वर्युः"' ऊर्जे त्वेति प्रतिप्रस्थाता एतावेव शारदौ यच्छरद्यूर्ग्रस ओषधयः पच्यन्ते तेनो हैताविषश्चोर्जश्च'

प्रतिप्रस्थाता द्रोणकलश से रस का ग्रहण करते हैं। अन्तिम मन्त्र द्वारा रसग्रहण में इच्छानुसार वैकल्पिकता है। यह याज्ञिक

(श० ४।३।१।१७)। ऊर्जशब्दस्यैवार्थकथनम्—ओषधय इति। अनेनान्नस्योत्पत्तिः सूच्यते। इडन्नम्, तदस्मिन्नस्तीतीषः, ऊकशब्दाभिधेयोऽन्नरसश्च, तदस्मिन्नस्तीत्यूर्जः। मत्वर्थीयोऽकारप्रत्ययः। इषे ऊर्जे इति ग्रहणमन्त्रयोस्तु हलन्तयोरेव तयोश्चतुर्थ्यन्तनिर्देशः। 'उपयाम''''सहसे त्वेत्येवाध्वर्युः''''सहस्याय त्वेति प्रतिप्रस्थाता एतावेव हैमन्तिक स यद्धेमन्त इमाः प्रजाः सहसेव स्वं वशमुपनयते तेनो हैतौ सहश्च सहस्यश्च' (श० ४।३।१।१८)। हेमन्तौ इमाः प्रजाः शीताधिक्यात् स्ववशं नीत्वाऽभिभवतीवेति सहः सहस्यश्च तदीयौ मासौ। 'उपयाम''''तपसे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णाति''''तपस्याय त्वेति प्रतिप्रस्थाता एतावेव शैशिरौ स यदेतयोर्बलिष्ठꣳ श्यायति तेनो हैतौ तपश्च तपस्यश्च' (श० ४।३।१।१९)। एतयोर्मासयोर्बलिष्ठं श्यायति तपति शुष्यति सूर्यः। 'उपयामेति अꣳहसस्पतये त्वेति त्रयोदशं ग्रहं गृह्णाति यदि त्रयोदशं गृह्णीयादथ प्रतिप्रस्थाताऽध्वर्योः पात्रे सꣳस्रवमवनयत्यध्वर्युर्वा प्रतिप्रस्थातुः पात्रे सꣳस्रवमवनयत्याहरति भक्षम्' (श० ४।३।१।२०)। त्रयोदशग्रहणपक्षे मन्त्रमाह—उपयामेति। होमानन्तरमध्वर्योः पात्रे प्रतिप्रस्थातुर्वा पात्रे शेषमवनयेत्। संस्रवशेषमाहरति यस्मिन् पात्रे शेषोऽवनीयते तत्रत्यं भक्षणाय सोमं सदः प्रत्याहरतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, सोमोऽमृतात्मकं निवेदनीयं द्रव्यम्, मधवे चैत्राधिष्ठात्रे देवाय त्वा गृह्णामि। एवं तत्तन्मासाधिष्ठातृदेवेभ्यो निवेदनीयसोमादिद्रव्ये चैत्रादिमासाधिदेवतर्पणेन तन्नियतानां तत्फलभूतानां समेषां वस्तूनां परमेश्वरोपासनाशेषत्वापत्त्या परमपुरुषार्थसाधनत्वोपपत्तिः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्मात् त्वां मधवे वयं स्वीकुर्मः। सभापतिराह—हे प्रजा-सभा-सेनाजनाः, यतो युष्माकं प्रत्येक उपयामगृहीतोऽस्ति, तस्मादेकैकं त्वा मधवेऽहं स्वीकरोमि। इत्थं सर्वत्र योजना कार्या' इति, भाषाभाष्ये तु—'हे राजन्, त्वं शोभनै राज्यप्रबन्धनियमैः स्वीकृतोऽसि, अतस्त्वा मधवे चैत्रमासप्रसिद्धसकलसुखकारकव्यवहाराय त्वां स्वीकुर्मः। तदुत्तररूपेण सभापतिराह—हे प्रजा-सभा-सेनाजनाः, युष्माकं प्रत्येकः शोभनैर्नियमैः स्वीकृतः, तस्मात् चैत्रमासलभ्यसुखाय त्वां स्वीकरोमि' इति, तदुभयमपि साहसमात्रम्, तादृशाभ्यूहे मानाभावात्, मधुपदस्य तादृशार्थबोधने सामर्थ्याभावात्, मन्त्रावृत्तेर्निर्मूलत्वात्। राजप्रजाजनादिसंवादोऽपि निर्मूल एव। शतपथश्रुतिविरोधस्तु पूर्वोक्तव्याख्यानेन स्पष्ट एव॥ ३०॥

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१३।१-४,१८) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उव्वट, महीधर तथा सायण आदि आचार्यों ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्या की है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे सोम, अमृतात्मक नैवेद्य वस्तु, तुमको चैत्र मास के अधिष्ठाता देव के लिये ग्रहण करता हूँ। इसी प्रकार उन उन मासों के अधिष्ठाता देवों के लिये निवेदनीय सोम आदि द्रव्यों में चैत्र आदि मासों के अधिदेवताओं के तर्पण के द्वारा उनमें नियत तथा उनमें फलरूप समग्र वस्तुओं का परमेश्वर की उपासना में अंगत्व सम्पन्न हो जाने पर परम पुरुषार्थ की साधनता सिद्ध हो जाती है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में की गई कल्पनाओं के सम्बन्ध में कोई प्रमाण न होने के कारण वह केवल दुस्साहस ही है। मधु शब्द की शक्ति भाष्योक्त अर्थ में नहीं है। मन्त्रावृत्ति भी निर्मूल है। राजा एवं प्रजाजन आदि का संवाद भी मूलरहित है। शतपथ श्रुति का विरोध तो स्पष्ट ही है॥ ३०॥

इन्द्राग्नी आगतꣳ सुतं गीर्भिर्नभोवरेण्यम् । अस्य पातं धियेषिता । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा ॥ ३१ ॥

'ऐन्द्राग्नं गृह्णाति' (का० श्रौ० ९।१३।१६)। होमानन्तरमध्वर्युः स्वपात्रस्थितं सोमं प्रतिप्रस्थातृपात्रे निनयति, प्रतिप्रस्थाता च स्वपात्रस्थितं सोममध्वर्योः पात्रे निनयति । एवं करणेन यद्रिक्तमन्यतरस्य पात्रं तेन प्रतिप्रस्थाता द्रोणकलशात् पूतभृतो वा परिप्लवया ऐन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति । ऐन्द्राग्नी गायत्री विश्वामित्रस्यार्षम् । हे इन्द्राग्नी, युवां सुतमभिषुतं सोमं प्रति, आगतम् आगच्छतम् । कथंभूतं सोमम् ? गीर्भिः स्तुतिरूपाभिर्वाग्भिः, जुष्टमिति शेषः । नभोवरेण्यं, नभःस्थितैः स्वर्गतिभिर्देवैर्वरेण्यं संभजनीयम्, नभःपदेन नभस्था देवा लक्षणया बोध्यन्ते । यद्वा नभोवदादित्यवद्वरेण्यम्, 'नभ आदित्यो भवति,⋯नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः (नि० २।१४) इति यास्कवचनात् । लुप्तोपमानं चैतत् । अस्य सोमस्य सम्बन्धिनं स्वकीयमंशं पातं युवां पिबतम् । कीदृशौ युवाम् ? धिया अस्मद्बुद्ध्या इषितौ प्रार्थितौ । हे सोम, उपयामेन पात्रेण गृहीतो भवसि । हे ग्रह, इन्द्राग्निभ्यां त्वां गृह्णामि । एष खरप्रदेशस्ते योनिः स्थानम् । इन्द्राग्निभ्यां त्वां सादयामि ।

'अथ प्रतिप्रस्थाताऽभक्षितेन पात्रेण । ऐन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति तद्यदभक्षितेन पात्रेणैन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति न वा ऋतुग्रहाणामनुवषट्कुर्वन्त्येतेभ्यो वा ऐन्द्राग्नं ग्रहं ग्रहीष्यन् भवति तदस्यैन्द्राग्नेनैवानुवषट्कृता भवन्ति' (श० ४।३।१।२१)। भक्षाहरणानन्तरमैन्द्राग्नस्य ग्रहणं विधत्ते—अथेति । पात्रगतसोमशेषस्याभक्षितत्वात् पात्रमप्यभक्षितमित्युपचर्यते । अभक्षितपात्रेणैन्द्राग्नग्रहणे कारणमाह—तद्यदिति । अनुवषट्कारे कृते ऋतूनामपवर्गः स्यादिति तद्यागेऽनुवषट्कारो निषिद्धः—'नानुवषट्करोति नेदृतूनपवृणजै' (श० ४।३।१।८) इति । तस्मादस्य यज्ञस्य सम्बन्धिन ऋतुग्रहा ऐन्द्राग्नेनैव ऐन्द्राग्नग्रहस्यानुवषट्कारेणैवानुवषट्कृता भवन्ति । एतेभ्य ऋतुग्रहेभ्य ऐन्द्राग्नं ग्रहं ग्रहीष्यन् भवति । तत्राभक्षितेन पात्रेणैतस्य ग्रहणमन्तरेण न सम्भवतीति तेन गृह्णीयादित्यर्थः । 'यद्वेवैन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति' (श० ४।३।१।२२) इत्यादिना तत्प्रशंसनम् । योऽध्वर्युर्ऋतुग्रहानग्रहीत् स इदं सर्वं प्रजनय्य एतद् ऐन्द्राग्नग्रहणेन प्राणापानयोः प्रतिष्ठापयति । ननु कथं प्राणापानयोः प्रतितिष्ठतीति तत्रोच्यते—नात्र प्राणोदानशब्दाभ्यामुदानप्राणवृत्तिभेदौ विवक्षितौ । इन्द्राग्न्योः प्राणोदानात्मकत्वाद् द्यावापृथिव्योरिन्द्राग्नित्वम् । तत्र च सर्वं जगत् प्रतिष्ठितमेव । तस्मादैन्द्रग्रहणं प्रशस्तमिति (श० ४।३।१।२३) इत्यत्र स्पष्टम् । 'अथातो गृह्णात्येव । इन्द्राग्नी आगतꣳ सुतं गीर्भिर्नभोवरेण्यम् अस्य पातं धियेषिता, उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वेति सादयतीन्द्राग्निभ्याꣳ ह्येनं गृह्णाति' (श० ४।३।१।२४)। विहितं ग्रहणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—इन्द्राग्नी आगतमिति ।

मन्त्रार्थ—हे इन्द्राग्नी देवताओं ! तुम ऋक्, यजुः, साम के अभिषवण मन्त्रों से आदित्य के समान प्रार्थनीय हो, सोम रस के पान के लिये यहाँ आओ, यजमान की बुद्धि से प्रार्थनीय होकर तुम इस सोम रस के अपने भाग का पान करो। हे चौबीसवें ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, इन्द्राग्नी देवता की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ। हे इन्द्राग्नी ग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है, इन्द्राग्नी देवताओं की प्रीति के निमित्त तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ३१ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१३।१६) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'इन्द्राग्नी आगतम्' इस ऋचा के द्वारा प्रतिप्रस्थाता द्रोणकलश अथवा पूतभृत् पात्र से ऐन्द्राग्न ग्रह का ग्रहण करता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्राग्नी रामलक्ष्मणौ, इन्द्रवदैश्वर्यशालित्वादग्निवत् शत्रुदाहकत्वाच्च । युवां सुतं सम्पादितं प्रेम्णा निर्मितं सोमं भक्तोपहृतनैवेद्यमभिलक्ष्यागतमागच्छतम् । कीदृशं सोमम् ? गीर्भिर्मन्त्ररूपाभिः स्तुतिरूपाभिश्च वाग्भिः स्तुतं पूतं वा । नभोवत् सूर्यवद्वरेण्यं संभजनीयं प्रार्थनीयं नभःस्थैर्देवैः प्रार्थनीयं वा, भगवन्नैवेद्यस्य निर्गुणत्वेन (गुणातीतत्वेन) वेदैर्देवैश्च वन्दितत्वात् । हे इन्द्राग्नी, युवामस्य सोमस्य सारतमं भागं पातं पिबतम् । कीदृशौ युवाम् ? धिया मदायया भक्तिस्नेहयुतया बुद्धचा इषितौ प्रेरितौ प्रार्थितौ । सोमं चाह—हे सोम, त्वमुपयामेन यमसमूहसमीपस्थितेनानुरागेण गृहीतोऽसि । इन्द्राग्निभ्यां पूर्वोक्तश्रीराम-लक्ष्मणाभ्यां त्वां गृह्णामि ।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजनौ, युवामिन्द्राग्नी इव प्रकाशमाना आगतम् । गीर्भिः सुशिक्षिताभिर्वाग्भि-रस्मभ्यं वरेण्यं नभः सुखम्, नभ इति साधारणनामसु (निघ० १।४) । सुतं सुनुतम्, धियेषिता धिया प्रज्ञया कर्मणा वा इषितौ प्रार्थितौ, युवामस्य नभसः पातं रक्षतम् । तावाहतुः—हे प्रजाजन, त्वमुपयामगृहीतोऽसि । त्वामिन्द्राग्निभ्यां स्वीकृतं वयं मन्यामहे—एष राजन्याय ते योनिरस्ति । त्वामिन्द्राग्निभ्यां चेतयामहे' इति, भाषाभाष्ये तु 'हे सूर्याग्निवत् प्रकाशमानौ राजप्रजाजनौ, युवामागतम् । गीर्भिः शिक्षिताभिर्वाग्भिर्वरेण्यं सुखं सुतमुत्पादयतम् । इषितौ प्रेरितौ प्रार्थितौ युवां धिया प्रज्ञया राजशासनकर्मणा वा अस्य नभः सुखं पातम् । तावाहतुः त्वं प्रजाजनस्य धर्मैर्नियमैः स्वीकृतोऽसि । त्वामिन्द्राग्निभ्यां वयं तथैव मन्यामहे । एष राजन्यस्ते योनिः । इन्द्राग्निभ्यां त्वां वयं चेतयामहे । राजशासनं प्रकाशयामहे' इति, तत्सर्वमपि सर्वथाऽसङ्गतम्, वेदार्थ-बाह्यत्वात् । 'इन्द्राग्नी' इत्यस्य तथार्थत्वे मानाभावात् । किञ्च, राजप्रजाजनाभ्यामन्ये क इमे प्रार्थयितारः ? राष्ट्रे तदन्यस्यासत्त्वात् । न च वाग्भिरेव सुखमुत्पद्यते, साधनसापेक्षत्वात् । राज-प्रजाजनौ कं प्रत्याहतुः ? नहि प्रजाजनं प्रत्याहतुरिति सम्भवति, अंशत आत्माश्रयत्वापातात् । 'त्वामिन्द्राग्निभ्यां वयं तथैव मन्यामहे' इत्यत्र इन्द्राग्निपदाभिलप्यौ राजप्रजाजनौ चेत्, तर्हि त्वामिति पदाभिलप्यः कः ? वक्तारश्च के ? न चेन्द्राग्नी वक्तारौ, 'इन्द्राग्निभ्यां वयं मन्यामहे' इत्यसङ्गतेः । किञ्च, मन्यामहे चेतयामह इति कस्य पदस्य व्याख्यानम् ? मन्त्रे तादृगर्थबोधकपदाभावात् । अतः सर्वथापि बालभाषितमेतत् ॥ ३१ ॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली तथा अग्नि के समान शत्रुदाहक हे श्रीराम तथा लक्ष्मण, आप दोनों प्रेम से निर्मित एवं भक्त द्वारा समर्पित नैवेद्य के सम्मुख पधारें । यह नैवेद्य मन्त्ररूपिणी तथा स्तुतिरूपा वाणियों से पवित्र, सूर्य के समान अभिलषणीय है, अथवा नभोमण्डल में स्थित देवताओं के द्वारा प्रार्थनीय है, क्योंकि भगवान् का नैवेद्य गुणातीत होने के कारण वेदों तथा देवों से वन्दित होता है । हे श्रीराम लक्ष्मण, मेरी भक्ति-स्नेह से युक्त बुद्धि से प्रार्थित आप दोनों इस नैवेद्य का सारतम भाग ग्रहण करें । नैवेद्य के प्रति कहते हैं—हे नैवेद्य, तुम अनुराग के द्वारा संगृहीत हो । श्रीराम तथा लक्ष्मण के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या वेदार्थ से बहिर्भूत होने के कारण सर्वथा असंगत है । 'इन्द्राग्नी' शब्द का अर्थ उस प्रकार से करने में कोई प्रमाण भी नहीं है । राजा तथा प्रजाजनों से अतिरिक्त ये प्रार्थना करने वाले कौन हैं ? क्योंकि राष्ट्र में इन दोनों से अतिरिक्त और कोई नहीं होता । मात्र वाणियों से सुख उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह साधन की अपेक्षा रखता है । 'मन्यामहे चेतयामहे' यह किस शब्द की व्याख्या है ? क्योंकि मन्त्र में इस अर्थ के वाचक शब्द का अभाव है । अतः यह सर्वांशतः बालक की भाँति किया गया व्याख्यान है ॥ ३१ ॥

आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्। येषामिन्द्रो युवा सखा। उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वैष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा ॥ ३२ ॥

अग्नीन्द्रदेवत्या गायत्री विशोकदृष्टा। ऐन्द्राग्नग्रहे विकल्पः शाखान्तरे। ये यजमाना इष्टिपशुसोमादिभिर्यज्वानः, अग्निमा इन्धते आदीपयन्ति। घेत्यनर्थको निपातः। ये चानुषग् आनुपूर्व्येण क्रमेण, 'आनुषगिति नामानुपूर्व्यस्यानुषक्तं भवति' (निरु० ६।१४) इति निरुक्तवचनात्। बर्हिः स्तृणन्ति आच्छादयन्ति। येषां युवा जरामरणरहित इन्द्रः सखा मित्रं भवति। हे सोम, तेषां सम्बन्धिनि यज्ञे उपयामेन ग्रहेण गृहीतोऽसि। त्वामग्नीन्द्रदेवताभ्यामर्थे गृह्णामि। एष ते स्थानं त्वां सादयामि।

अध्यात्मपक्षे—ये यज्वानः, अग्निमा इन्धते आदीपयन्ति, ये चानुपूर्व्येण क्रमेण बर्हिः स्तृणन्ति आच्छादयन्ति, येषां च युवा जरामरणादिरहित इन्द्रः कृष्णः सखा स्नेहवानुपकारकः, हे सोम निवेदनीय! तेषां यज्ञे त्वं ग्रहेण गृहीतः, अग्नीन्द्रबलकृष्णदेवतार्थं त्वां गृह्णामि। एष ते योनिः। अग्नीन्द्राभ्यां त्वां सादयामि।

दयानन्दस्तु 'ये वेदपारगा विद्वांसः सभासदो वा अग्निविद्युदादिकं घेन्धते प्रदीपयन्ति, येषां विदुषामानुषग् अनुकूलतया बर्हिरन्तरिक्षम् आस्तृणन्ति यन्त्रादिना आच्छादयन्ति, युवा तरुणावस्थ इन्द्रः सभापतिः सखा सुहृदस्ति, यस्त्वमग्नीन्द्राभ्यामुपयामगृहीतोऽसि, तं त्वा प्राप्ता वयमग्नीन्द्राभ्यां त्वामुपदिशामः' इति, तदप्यसङ्गतम्, असामञ्जस्यात्। तथाहि—नहि विद्वांसः सभासदोऽग्निं यन्त्रादिनाच्छादयन्ति, तेषां शासनादिकार्येऽधिकृतत्वात्। 'उपदिशामः' इत्यपि निर्मूलम्, मन्त्रे तादृशपदाभावात् ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—जो यजमान अग्नि को इष्टि आदि यज्ञों में प्रज्वलित करते हैं और क्रम से कुशाओं को बिछाते हैं तथा जिनके सदा तरुण रहने वाले इन्द्र सखा हैं, वे सदा निष्पाप हैं। हे सोम! उनके यज्ञ में तुम उपयाम पात्र से गृहीत हो, अग्नि और इन्द्र देवता के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे सोम! यह तुम्हारा स्थान है, अग्नि और इन्द्र देवता के निमित्त तुम्हे यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ३२ ॥

भाष्यसार—'आ घा ये' इस ऋचा का याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ऐन्द्राग्न ग्रह के ग्रहण में विनियोग किया गया है। तदनुसार अर्थ भी वर्णित है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—जो यजनशील जन अग्नि का आदीपन करते हैं, जो क्रमपूर्वक बर्हिस्तरण आदि करते हैं तथा जरामरण आदि से विरहित श्रीकृष्ण जिनके सखा, स्नेहशील उपकारक हैं, उनके यज्ञ में हे नैवेद्य! तुम ग्रहण किये गये हो। बलराम एवं श्रीकृष्ण देव के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। उन देवों के लिये तुमको यहाँ रखता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ असमंजस होने के कारण असंगत है। विद्वान् सभासद् यन्त्र आदि के द्वारा अग्नि को नहीं ढकते, क्योंकि वे शासन आदि कार्यों में ही अधिकृत हैं। 'उपदेश करते हैं' यह कहना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि मन्त्र में ऐसा कोई पद नहीं है ॥ ३२ ॥

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वेदेवास आगत । दाश्वाꣳसो दाशुषः सुतम् । उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ३३ ॥

वैश्वदेवी गायत्री मधुच्छन्दोदृष्टा । 'वैश्वदेवं गृह्णाति, शुक्रपात्रेण द्रोणकलशादन्वारब्धे ओमास इति' (का० श्रौ० ९।१४।१-२) । अध्वर्युर्यजमानेन स्पृष्टेऽस्पृष्टे वा सति द्रोणकलशात् सकाशात् शुक्रपात्रेण वैश्वदेवं सोमं गृह्णाति । मन्त्रार्थस्तु हे विश्वेदेवाः, यूयम् आगत आगच्छत अस्मद्यज्ञं प्रति । कीदृशा यूयम् ? ओमासः, अवन्तीत्योमासः, अवितारो वा अवनीया वा' (निरु० १२।४०) इति यास्कोक्तेः । तर्पयितारस्तर्पणीया वा । अवतेर्मनिन्प्रत्यये 'ज्वरत्वर·····' (पा० सू० ६।४।२०) इत्यूठि गुणे जसोऽसुकि च कृते ओमास इति रूपम् । तथा चर्षणीधृतः । चर्षणिशब्दस्य संहितायां दीर्घः । चर्षणयो मनुष्यास्तान् धरन्ति पुष्णन्तीति, तैर्वा ध्रियन्ते ते चर्षणीधृतः । अनिष्टनिवारणं रक्षणम्, अभीष्टप्रापणं पोषणम्, इत्यवधारणयोर्भेदान्न पौनरुक्त्यम् । तथा सुतमभिषुतं सोमं दाशुषो दत्तवतो यजमानस्य दाश्वांसः फलं दत्तवन्त इति महीधराचार्यः । यद्वा दाश्वांसश्चेतसा दत्तवन्तः, इदं नामास्माभिरस्मै देयमिति कृतसङ्कल्पा भूत्वाऽस्य दाशुषो यागदानादिकरणशीलस्य दत्तवतो यजमानस्यैतं सुतमभिषुतं सोमं पातुमागच्छत, इत्याशास्महे इत्युव्वटाचार्यः । हे सोम ! त्वमुपयामगृहीतोऽसि, विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामि । एष ते योनिः । विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वां सादयामि ।

शतपथे-- 'अथ वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । सर्वं वा इदं प्राजीजनद्य ऋतुग्रहानग्रहीत् स यद्धैतावदेवाभविष्यद्यावत्यो हैवाग्रे प्रजाः सृष्टास्तावत्यो हैवाभविष्यन्न प्राजनिष्यन्त' (श० ४।३।१।२५) । ऐन्द्राग्नग्रहग्रहणानन्तरं वैश्वदेवग्रहस्य ग्रहणं सार्थवादं विधत्ते-- सर्वं वा इदं प्राजीजनदिति । यदि ऋतुग्रहग्रहणान्तमेवाभविष्यत्, तदा यावत्यः प्रजा अग्रे पूर्वं सृष्टास्तावत्य एवाभविष्यन्, न तु ततः परं प्रजाः प्राजनिष्यन्त । 'अथ यद् वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । इदमेवैतत् सर्वमिमाः प्रजा यथायथं व्यवसृजति तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते शुक्रपात्रेण गृह्णात्येष वै शुक्रो य एष तपति तस्य ये रश्मयस्ते विश्वेदेवास्तस्माच्छुक्रपात्रेण गृह्णाति' (श० ४।३।१।२६) । वैश्वदेवस्य ग्रहणेन इदमेव सर्वं यथायथं व्यवसृजति विशेषेण प्रजा उत्पादयति । वैश्वदेवस्य सर्वदेवत्यत्वात् सर्वप्रजासृष्टिहेतुत्वम् । तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावृत्योत्पद्यन्ते । विहिते ग्रहणे साधनतया शुक्रपात्रं विधत्ते— एष वै शुक्र इति । तत्तु स्पष्टम् । 'अथातो गृह्णात्येव । ओमास····विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति सादयति विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णाति' (श० ४।३।१।२७) । मन्त्रस्तु व्याख्यात एव ।

मन्त्रार्थ-- हे विश्वेदेवों ! तुम सब हमारे सब प्रकार से रक्षक हो तथा मनुष्यों को पुष्ट करने वाले हो। मनुष्य तुम्हारे प्रसाद से ही पुष्ट होते हैं । अभिषुत संस्कार किये सोम को देने वाले यजमान को फल देने वाले तुम सोमपान के निमित्त यहाँ आओ । हे पंचविंश ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ । हे विश्वेदेव ग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है, विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के निमित्त तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ ३३ ॥

भाष्यसार -- कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१४।१२) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'ओमासः' इत्यादि कण्डिका के द्वारा शुक्रपात्र से वैश्वदेव ग्रह का ग्रहण किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उव्वट, महीधर आदि आचार्यों ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल भाष्य किया है ।

अध्यात्मपक्षे— अत्र सर्वेश्वरः परमात्मा समष्टिदेवरूपेण स्तूयते, सूर्यरूपस्य भगवतो रश्मिरूपत्वाद्देवानाम्। हे विश्वेदेवासः, परमेश्वरस्यांशभूताः सर्वे देवाः! यूयम् ओमासोऽवितारो रक्षितारः सर्वानिष्टनिबर्हणेन सर्वरक्षकाः। चर्षणीधृतश्चर्षणीनां मनुष्याणां धारकाः पोषकाश्च, 'दैवाधीनं जगत्सर्वम्' इत्युक्तेः। दाशुषो यागदानादिपरायणस्यास्तिकस्य सुतमभिषुतं श्रद्धया निष्पादितं सोमं पत्रं पुष्पं फलं जलममृतं मधुरविविधव्यञ्जनादिकमभिलक्ष्य आगत आगच्छत। हे सोम, उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वां गृह्णामि। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्, विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वामत्र सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे चर्षणीधृत ओमासः, अवन्ति सद्गुणैरिति, विश्वदेवासो विद्वांसो यूयं दाश्वांस उत्कृष्टं ज्ञानं दत्तवन्तः, दाशुषो दानशीलस्योत्तमजनस्य, सुतं सर्वति सत्कर्मानुष्ठानेनैश्वर्यं प्राप्नोतीति सुतस्तं बालकम् आगत आगच्छत। हे दाशुष सुताध्येतः, त्वमुपयामैरध्यापननियमैर्गृहीतोऽसि। अतस्त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यस्तत्सेवनायाज्ञापयामि, यतस्त एष विद्याशिक्षासंग्रहो योनिः कारणम्, अतस्त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यः शिक्षयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अज्ञातज्ञापकस्य वेदस्य लोकसिद्धार्थबोधनेऽनुवादकत्वापत्त्या तात्पर्याभावात्। चर्षणीनां धारकत्वपोषकत्वादिकं नाञ्जस्येनाध्यापकेषु सङ्गच्छते। रक्षकत्वमपि तथाभूतमेव, शासकेष्वेव तत्सम्भवात्। धनादिदातारोऽपि दाश्वांसो भवन्ति। न वा दानशीलस्यैव सुतमाचार्या अध्यापयन्ति। सुतपदमपि प्रकृते बालकपरं न सङ्गच्छते। उभयत्रैकवचनमपि न युक्तम्। शतपथश्रुतिविरोधोऽपि स्फुट एव ॥ ३३ ॥

विश्वे॑देवास॒ आग॑त शृणु॒ता म॑ इ॒मᳪं᳖ हव॑म्। एदं ब॒र्हिर्निषी॑दत। उ॒प॒या॒मगृ॑ही॒तोऽसि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑ ए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यः॑ ॥ ३४ ॥

वैश्वदेवी गायत्री गृत्समदद्दष्टा वैश्वदेवग्रहग्रहण एव विकल्पेनाम्नाता। हे विश्वेदेवाः, यूयमस्मद्यज्ञं प्रति

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—यहाँ सर्वेश्वर परमात्मा की स्तुति समष्टिदेव के रूप से की गई है, क्योंकि सूर्यस्वरूप भगवान् के रश्मिरूपी देवगण हैं। परमेश्वर के अंशभूत हे समस्त देवताओं, आप लोग समस्त अनिष्टों का निराकरण करने के कारण सबके रक्षक हो, मनुष्यों के धारक तथा पोषक हो। याग-दानादि परायण आस्तिक से द्वारा श्रद्धा से सम्पादित नैवेद्य, पत्र, पुष्प, फल, जल, मधुर विविध व्यञ्जन आदि के सम्मुख आप लोग आवें। हे नैवेद्य, तुम प्रेम से गृहीत हो। समस्त देवताओं के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह पूजास्थल ही तुम्हारा स्थान है। समस्त देवताओं के लिये तुमको यहाँ रखता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वेद के अज्ञातार्थज्ञापक होने के कारण उससे लोकप्रसिद्ध पदार्थ का बोधन होने पर अनुवादकत्व प्राप्त हो जायगा। धारकत्व, पोषकत्व आदि सरलता से अध्यापकों में संगत नहीं होता। रक्षक होना भी सामान्यतः संगत नहीं होता, क्योंकि वह गुण शासकों में ही सम्भव है। धनादि के प्रदाता भी 'दाश्वान्' हो सकते हैं। गुरुजन केवल धन देने वाले के ही पुत्र को नहीं पढ़ाते। शतपथश्रुति का विरोध तो स्पष्ट ही है ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे विश्वेदेव देवताओं! हमारे इस यज्ञ में आओ, हमारे इस आह्वान को भलीभाँति सुनो। इस विस्तीर्ण कुशासन पर बैठो। आप सब उपयाम पात्र में गृहीत हैं, विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के लिये आप लोगों का आह्वान करता हूँ। आप लोगों का यह स्थान है, आप लोग इस स्थान पर प्रीतिपूर्वक बैठें ॥ ३४ ॥

भाष्यसार—'विश्वेदेवासः' यह मन्त्र भी याज्ञिक दृष्टि से वैश्वदेव ग्रह के ग्रहण में विकल्प से विनियुक्त है। याज्ञिक

आगत आगच्छत, आगत्य च शृणुत। मम इदं हवमाह्वानम्। श्रुत्वा इदं मदीयं बर्हिर् आ निषीदत। बर्हिष उपर्युपविशत। उपयामेत्यादिकं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वेदेवासः, यूयमस्मद्यजनस्थानमागच्छत। मम इमं हवमाह्वानं स्तवं वा शृणुत। बर्हिः बर्हिषि उपविशत। शेषं पूर्ववज्ज्ञेयम्। एते प्रातःसवनग्रहमन्त्राः ॥ ३४ ॥

इन्द्र॑ मरुत्व इ॒ह पा॑हि॒ सोमं॒ यथा॑ शार्या॒ते अपि॑बः सु॒तस्य॑। तव॒ प्रणी॑ती॒ तव॑ शूर॒ शर्म॒न्ना वि॑वासन्ति क॒वय॑ः सुय॒ज्ञाः। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑त ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते ॥ ३५ ॥

अथ माध्यन्दिनसवनग्रहमन्त्रा उच्यन्ते, 'माध्यन्दिने सवने मरुत्वतीया गृह्णन्ते' इति तित्तिरिवचनात्। तेषु त्रिषु प्रथममाह—'मरुत्वतीयमृतुपात्रेणेन्द्रमरुत्व इति' (का० श्रौ० १०।१।१२)। उक्थ्यग्रहणात् प्राग् मरुत्वतीयसंज्ञकं ग्रहं धारायां गृह्णीयात्, इन्द्र मरुत्व इति मन्त्रेण। ऐन्द्रमारुतीश्चतस्रस्त्रिष्टुभो विश्वामित्र-दृष्टाः। मरुतो नाम देवा अस्य सन्तीति मरुत्वान्, तत्सम्बुद्धौ हे मरुत्वः, 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति सम्बुद्धौ रुत्वम्। तादृशेन्द्र, त्वमिहास्मदीये यज्ञे सोमं पाहि पिब। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति शपो लुकि पिबादेशाभावे रूपम्। कथमिति चेत्तत्राह—यथा शार्याते, शर्यातिर्मानवः पुराणे सुकन्यापितृत्वेन प्रसिद्धः, तस्य सम्बन्धिनि यज्ञे शार्याते सुतस्याभिषुतस्य सोमस्यांशम्, अपिबः पीतवानसि। शर्यातिर्मानवः, तस्यापत्यं शार्यातः, 'शार्यातो ह वा इदं मानवो ग्रामेण चचार' (श०४।१।५।२) इति शतपथश्रुतेः। येन प्रकारेण शार्याते राजनि अपिबः पीतवानसि, तद्वत्। हे शूर शौर्यगुणोपेत इन्द्र, तव प्रणीती प्रणीत्या तृतीयैकवचनस्य ईकारादेशः, प्रणयनेन अनुज्ञया सुयज्ञाः कल्याणयज्ञाः पूर्वे कवयः क्रान्तदर्शिनस्तव शर्मणि सुखे निमित्तभूते सति, आविवासन्ति परिचरन्ति, तद्वदयमपि यजमानस्त्वां परिचरति। 'विवासतिः परिचर्यायाम्'। यद्वा हे शूर, ते तव प्रणीत्या प्रणयनेम शर्मन् शर्मणि यज्ञगृहे आभिमुख्येनावस्थिताः कवयः क्रान्तदर्शिनस्त्वां परिचरन्ति। कीदृशास्ते कवयः ? सुयज्ञाः शोभनयज्ञाः।

प्रक्रिया के अनुकूल इसका व्याख्यान आचार्यों ने उपदिष्ट किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे विश्वेदेवों, आप लोग हमारे यज्ञस्थान में आवें, मेरे इस आह्वान अथवा स्तवन को सुनें। आसन पर विराजमान हों। शेष अर्थ पूर्व मन्त्र की भाँति ही है।

पूर्वव्याख्यात ये सभी मन्त्र प्रातःसवन ग्रहविधि के हैं ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे मरुत् देवताओं वाले इन्द्र! जिस प्रकार बड़े परिश्रमी शर्याति के यज्ञ में अभिषुत सोम के अंशों को आपने पिया था, उसी प्रकार हमारे इस यज्ञ में सोम की रक्षा करो और उसका पान करो। हे विक्रान्त वीर! तुम्हारी सुनीति और अनुज्ञा से श्रेष्ठ यज्ञ करने वाले दूरदर्शी यजमान तुम्हारे सुखप्रद स्थान में चिरकाल तक तुम्हारी परिचर्या करते हैं। हे प्रथम ग्रह! तुम इस उपयाम पात्र में गृहीत हो, मरुत् देवताओं से युक्त इन्द्र देवता की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे प्रथम मरुत्वतीय ग्रह! तुम्हारा यह स्थान है। मरुत् देवताओं से युक्त इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ ३५ ॥

भाष्यसार—'इन्द्र मरुत्व' इस कण्डिका से माध्यन्दिन सवन के ग्रहों के मन्त्र उपदिष्ट हैं। 'इन्द्र मरुत्व' इस मन्त्र

शतपथे महता समारोहेणैष प्रपञ्चितः। तथाहि—'तान् वा एतान् पञ्चग्रहान् गृह्णात्येष वै वज्रो यन्माध्यन्दिनः पवमानस्तस्मात् पञ्चदशः पञ्चसामा भवति पञ्चदशो हि वज्रः स एतैः पञ्चभिर्ग्रहैः पञ्च वा इमा अङ्गुलयोऽङ्गुलिभिर्वै प्रहरति' (श० ४।३।३।४)। सम्भूय पञ्चानां ग्रहाणां ग्रहणमनूद्य प्रशंसति—तान् वा एतानिति। एष वै वज्रो यन्माध्यन्दिनः पवमानस्तस्माद् वज्रत्वात् पञ्चदशः पञ्चदशः स्तोमः। वज्रो हि पञ्चदशात्मकः, 'पञ्चदशो वज्रो भ्रातृव्याभिभूत्यै' (तै० सं० ६।३।३) इति श्रुतेः। एतैः प्रकृतैः पञ्चभिर्ग्रहैर्हेतुना स माध्यन्दिनः पवमानः पञ्चसामा भवति। इमा अङ्गुलयस्ताभिः प्रहरतीति प्रत्यक्षसिद्धम्। तस्मात् पञ्चसंख्याका एतेऽपि ग्रहास्तत्प्रहरणसाधनभूता अङ्गुलयस्ते च संख्यासामान्यात् सामरूपाः सन्तो वज्रात्मकेन माध्यन्दिनपवमानेन सम्बद्ध्यन्ते। 'इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्रजहार। स वृत्रं पाप्मानꣳ हत्वा विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे दक्षिणा निनाय तस्मादप्येतर्हि यदेवैतेन माध्यन्दिनेन पवमानेन स्तुवतेऽथ विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे दक्षिणा नीयन्ते तथो एवैष एतैः पञ्चभिर्ग्रहैः पाप्मने द्विषते भ्रातृव्याय वज्रं प्रहरति स वृत्रं पाप्मानं हत्वा विजिते....दक्षिणा नयति' (श० ४।३।३।५)। इन्द्रो वृत्रायेत्यादिना दक्षिणा नयतीत्यन्तेन पञ्चसाम्नः पञ्चदशस्तोमकस्य माध्यन्दिनपवमानस्य वज्रत्वमेव प्रदर्श्यते। इन्द्रो वज्रेण वृत्रं पाप्मानं हत्वा विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे दक्षिणा निनाय, तथैव एषोऽध्वर्युः पञ्चभिर्ग्रहैरङ्गुलिभिस्तत्स्थानीयैर्द्विषते द्वेषं कुर्वते भ्रातृव्याय वज्रं माध्यन्दिनपवमानरूपं प्रहरति। स वृत्रं पाप्मानं हत्वा विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे दक्षिणा नयति। 'तद्यन्मरुत्वतीयान् गृह्णाति। एतद्वा इन्द्रस्य निष्केवल्यꣳ सवनं यन्माध्यन्दिनꣳ सवनं तेन वृत्रमजिघाꣳसत् तेन व्यजिगीषत मरुतो वा इत्यश्वत्थेऽपक्रम्य तस्थुः क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतो विशा वै क्षत्रियो बलवान् भवति तस्मादाश्वत्थे ऋतुपात्रे स्यातां कार्ष्मर्यमये त्वेव भवतः' (श० ४।३।३।६)। कारणाभिधित्सया मरुत्वतीयानां ग्रहणमनुवदति—तद्यन्मरुत्वतीयान् गृह्णातीति। 'तेभ्य एतौ मरुत्वतीयौ ग्रहावगृह्णात् तेभ्यो वै नस्तृतीयं ग्रहं गृहाण' (४।३।३।७-९) इति वक्ष्यमाणत्वात्। त्रीन् मरुत्वतीयान् ग्रहान् गृह्णातीति यत्तत्कारणमुच्यत इत्यर्थः।

नन्वेकस्यैव मरुत्वतीयस्य ग्रहणमभिहितम्, तत्कथं त्रयाणामनुवादः ? एवं तर्ह्यनेन सिद्धवत्कृत्यानुवादेनेतरयोर्ग्रहयोरपि विधिरुन्नेयः। कारणमाह—एतद्वा इन्द्रस्य निष्केवल्यमिति। निष्कृष्य केवल इन्द्रो देवता यस्य तन्निष्केवल्यं सवनं यन्माध्यन्दिनं सवनम्। तेनेन्द्रो वृत्रमजिघांसत्। तेन व्यजिगीषत्। मरुतो वा इत्यश्वत्थे अपक्रम्य तस्थुः। क्षत्रं वा इन्द्रः। विशो मरुतः। विशा वै क्षत्रियो बलवान् भवति। तस्माद्दतुपात्राभ्यामेव मरुत्वतीयानां ग्रहणाद् मरुतां चाश्वत्थे स्थितत्वात् तदवरोधाय आश्वत्थे ऋतुपात्रे स्यातामिति केषाञ्चिन्मतम्, तत्तु नादरणीयम्। कार्ष्मर्यमये एव ऋतुपात्रे स्याताम्, न त्वाश्वत्थे स्याताम्। कार्ष्मर्यो वृक्षविशेषः। तत्रायमाशयः—वृत्रमजिघांसदिति वृत्रस्य जिघांसितत्वाद् रक्षोविघातकत्वेन कार्ष्मर्यस्य तन्मये एव पात्रे भवतः। मरुतामवरोधस्तु 'इन्द्राय मरुत्वते' (श० ४।३।३।१०) इतीन्द्रेण सह मरुतां निर्देशादेव सेत्स्यति। कार्ष्मर्यस्य रक्षोविघातकत्वं तु तैत्तिरीयके श्रूयते—'यत्कार्ष्मर्यमयाः परिधयो भवन्ति रक्षसामपहत्यै' (तै० सं० ६।२।१)। 'तानिन्द्र उपमन्त्रयाञ्चक्रे। उपमावर्तध्वं युष्माभिर्बलेन वृत्रꣳ हनानीति ते होचुः किं नस्ततः स्यादिति तेभ्य एतौ मरुत्वतीयौ ग्रहावगृह्णात्' (श० ४।३।३।७)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्। 'ते होचुः। अपनिधायैनमोज उपावर्तामहा इति त एनमपनिधायैवौज उपाववृतुस्तद्वा इन्द्रोऽस्पृणुतापनिधाय वै मौज उपावृतन्निति' (श० ४।३।३।८)। 'द्युद्भ्यो लुङि' (पा० सू० १।३।९१) इति परस्मैपदम्। 'स होवाच। सहैव मौजसोपावर्तध्वमिति तेभ्यो वै नस्तृतीयं ग्रहं गृहाणेति तेभ्य एतं तृतीयं ग्रहमगृह्णादुपगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजस इति त एनꣳ

से मरुत्वतीय नामक ग्रह का ग्रहण किया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।१।१२) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित

सहैवौजसोपावर्तन्त तैर्व्यजयत तैर्वृत्रमहन् क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतो विशा वै क्षत्रियो बलवान् भवति तत्क्षत्र एवैतद्बलं दधाति तस्मान्मरुत्वतीयान् गृह्णाति' (श० ४।३।३।९)। 'स वा इन्द्रायैव मरुत्वते गृह्णीयान्नापि मरुद्भ्यः स यद्धापि मरुद्भ्यो गृह्णीयात् प्रत्युद्यामिनीꣳह क्षत्राय विशं कुर्यादथैतदिन्द्रमेवानु मरुत आभजति तत्क्षत्रायैवैतद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति तस्मादिन्द्रायैव मरुत्वते गृह्णीयान्नापि मरुद्भ्यः' (श० ४।३।३।१०)। ग्रहाणां मरुदर्थत्वस्य कथितत्वात्तेभ्य एव ग्रहणे प्राप्ते तत्सहितायेन्द्राय गृह्णीयादिति विधत्ते—स वा इन्द्रायैवेति। मरुद्भ्य एव ग्रहणे दोषं तत्सहितायेन्द्राय ग्रहणे गुणं च प्रदर्श्य तदेव निगमयति—स यद्धापि मरुद्भ्य एव गृह्णीयात्तदा क्षत्राय प्रत्युद्यामिनीं प्रातिकूल्येनोद्यतां विशं प्रजां कुर्यात्। अथेन्द्रमेवानुलक्ष्य मरुत आभजति भागिनः करोति, तेन क्षत्राय विशं कृतानुकारं करोति क्षत्रायत्तां करोति। तदेतदानुकूल्येन यथा करोति, तादृशीमनुवर्त्मानं क्षत्रानुगतां करोति। तस्मान्मरुत्वत इन्द्राय गृह्णाति।

'अपक्रमादु हैवैषामेतद्बिभयाञ्चकार। यदिमे मन्नापक्रमेयुर्यन्नान्यद्भ्रियेरन्निति तानेवैतदनपक्रमिणोऽकुरुत तस्मादिन्द्रायैव मरुत्वते गृह्णीयान्नापि मरुद्भ्यः' (श० ४।३।३।११)। तमेवार्थं कारणान्तराद् द्रढयति—एषां मरुतामपक्रमादेवेन्द्रो बिभयाञ्चकार। 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' (पा० सू० ३।१।३९) इत्याम्। भीतश्च येनोपायेन मत्तः सकाशाद् इमाः प्रजा नापक्रमेयुर्येनोपायेनान्यत्र न भ्रियेरन्निति विचार्य तेनोपायेन तान् मरुतोऽनपक्रमिणोऽनपक्रमणशीलान् सङ्गतानेवाकुरुत। यत एवं तस्मान्मरुत्सहितायेन्द्रायैव गृह्णीयान्न केवलं मरुद्भ्यः। 'ऋतुपात्राभ्यां गृह्णाति। ऋतवो वै संवत्सरो यज्ञस्तेऽदः प्रातःसवने प्रत्यक्षमवकल्प्यन्ते यदृतुग्रहान् गृह्णात्यथैतत्परोक्षं माध्यन्दिने सवनेऽवकल्प्यन्ते यदृतुपात्राभ्यां मरुत्वतीयान् गृह्णाति' (श० ४।३।३।१२)। ऋतुपात्राभ्यां प्रकृतग्रहाणां ग्रहणं विधत्ते—ऋतुपात्राभ्यां गृह्णातीति। तत्र प्रयोजनमभिधीयते—ऋतवो वा इति। ऋतवो वै यज्ञसंवत्सररूपाः प्रातःसवने प्रत्यक्षमेवावकल्प्यन्ते स्वायत्ता भवन्ति। यस्माद् ऋतुग्रहान् गृह्णाति, स्वातन्त्र्येण विधानात्। माध्यन्दिने सवने परोक्षमवकल्प्यन्ते, यदृतुपात्राभ्यां मरुत्वतीयान् गृह्णातीति पराङ्गतया विधानात्। अत्र ऋतुग्रहाभावेन ऋतुपात्रसम्बन्धादृतूनां परोक्षावक्लृप्तिः, तदर्थमृतुपात्राभ्यां ग्रहणम्। किञ्च, मरुतो विशः, 'मरुतो वै देवानां विशः' (तै० सं० २।४।७) इति श्रुतेः। विशश्चान्नम्, कृष्यादिना तत्सम्पादनात्। ऋतवश्चेदं पुरोवर्ति अन्नाद्यम्, अद्यम् अन्नं पचन्ति उपभोगयोग्यं कुर्वन्ति, ऋतूनां सर्वोत्पत्तिमत्रिमित्तकारणत्वात्। अतो मरुतामृतूनां च सम्बन्धादपि ऋतुपात्राभ्यां मरुत्वतीयान् गृह्णीयात्। क्रमेण ग्रहाणां ग्रहणसादनमन्त्रानाह—'अथातो गृह्णात्येव····इन्द्र मरुत्व····एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते' (श० ४।३।३।१३)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव।

अध्यात्मपक्षे हे इन्द्र, मरुत्वो मरुत्सखस्येन्द्रस्य रूपेण व्यक्तपरमेश्वर! त्वमिहास्माकं यजनस्थाने सोमं सोमरसं तदुपलक्षितं विविधनैवेद्यान्नपानादिसारं पिब। कथं पिबेत्यत आह—यथा शार्यातियज्ञेऽपिबस्तद्वत्। हे शूर शौर्यवीर्यादिदिव्यनानाकल्याणगुणगणार्णव, तव प्रणीता प्रणीत्या त्वदनुज्ञया, सुयज्ञाः त्वदाराधनबुद्ध्यानुष्ठितनिष्कामयज्ञादिकर्माणः, कवयः क्रान्तदर्शनाः, शर्मन् शर्मणि ब्रह्मात्मसुखनिमित्ते पूजागृहे वा त्वां परिचरन्ति। शेषं पूर्ववत्।

है। तैत्तिरीय एवं शतपथ श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रव्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—मरुद्गणों के मित्र इन्द्र के रूप में अभिव्यक्त हे परमेश्वर, आप हमारे इस यजनस्थल में सोमादि विविध नैवेद्य, अन्नपानादि के सार का उसी प्रकार आस्वादन करें, जिस प्रकार आपने शर्याति के यज्ञ में किया था। शौर्य, वीरता आदि अनेक दिव्य कल्याणकारी गुणों के हे सागर! आपकी आज्ञा से, आपकी आराधना की बुद्धि से, निष्काम यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठाता, क्रान्तदर्शी विद्वान् ब्रह्मात्मसुखकारक उपासनास्थल में आपकी

दयानन्दस्तु—'मरुत्वः ! मरुतः प्रशस्ता धर्मसम्बद्धाः प्रजा यस्य तत्सम्बुद्धौ । इन्द्रः सम्राट् त्वमिह यथा शार्याते शर्याभिरङ्गुलीभिर्निर्वृत्तानि कर्माणि शार्याणि, तान्यतति व्याप्नोतीति शार्यातिस्तस्मिन् । 'शर्या इत्यङ्गुलिनामसु' (निघ० २।५) । सुतस्य तव अपिबस्तथा सोमं पाहि । हे शूर, तव शर्मन् न्यायगृहे सुयज्ञा इव कवयस्तव प्रणीती प्रकृष्टां नीतिमाविवसन्ति परिचरन्ति । यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्मात् त्वामिन्द्राय परमैश्वर्याय मरुत्वते प्रजासम्बन्धाय वयं सेवेमहि । ते तवैष विद्याप्रचारयोनिरस्ति । अतस्त्वामिन्द्राय मरुत्वते मन्यामहे' इति, भाषाभाष्येऽपि—शार्याते इत्यस्य स्वहस्तपादपरिश्रमनिष्पन्ने व्यवहारे सुतस्याभ्यस्तस्य विद्यारसम् अपिबः, तथैव सोमं समस्तोत्तमगुणैश्वर्यकारकं सुखकरं पठनपाठनात्मकं यज्ञं पाहि' इत्यादिकम्, तदपि मुख्यार्थत्यागात् सुदूरगौणार्थाश्रयणाच्च श्रुतिषु बलात्कार एव, मरुत्पदस्य प्रजाद्यर्थत्वे मानाभावात् । न च विशो मरुत इति श्रुतिः प्रमाणमिति वाच्यम्, तत्र 'क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः' (श० ४।३।३।९) इति रीत्या इन्द्रस्य क्षत्ररूपत्वं मरुतां च विड्रूपत्वमुक्तम् । न तु मरुत्पदस्य प्रजार्थत्वं तत्रोक्तम् । तथैव शर्यापदस्य अङ्गुल्यर्थकत्वेऽपि हस्तपादार्थकत्वमभ्युपगम्य तद्व्यापारस्य तस्य तज्जनितपरिश्रमार्थता ततस्तज्जनितव्यवहारार्थतेति कल्पनं निर्मूलमेव । सुतस्य विद्यारसस्येत्यपि व्याख्यानं निर्मूलमेव । तथैव सोमपदस्य पठनपाठनयज्ञोऽर्थ इत्यपि स्वैरित्वमेव । 'प्रणीती' इत्यस्य प्रकृष्टनीतिमित्यप्यर्थो (शाब्द) न्यायविरुद्ध एव । इन्द्रपदस्य परमैश्वर्यवान् अर्थो न परमैश्वर्यम् । मरुत्वदित्यस्यापि मरुत्सहित इन्द्रोऽर्थः, न प्रजासम्बन्धः । श्रुतिविरोधोऽपि स्फुटः ॥ ३५ ॥

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यꣳ शासमिन्द्रम् । विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳ सहोदामिह तꣳ हुवेम ॥ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते । उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे ॥ ३६ ॥

अर्चना करते हैं । शेष मन्त्रार्थ पूर्व की भाँति ही है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या मुख्य अर्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ के स्वीकरण के कारण श्रुतियों के साथ बलात्कार ही है । मरुत् शब्द के 'प्रजा' अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है । इसी प्रकार 'शर्या' शब्द अंगुलि के अर्थ का वाचक होने पर भी उसका हाथ-पैर आदि तात्पर्य मानकर उसके परिश्रम से जनित व्यवहार अर्थ की कल्पना निर्मूल है । सुत की व्याख्या 'विद्यारस' करना भी अप्रामाणिक है । इसी प्रकार 'सोम' का अर्थ पठन-पाठनयज्ञ करना भी स्वेच्छाचारिता ही है । 'इन्द्र' शब्द का अर्थ परमैश्वर्यवान् होता है, परमैश्वर्य नहीं । श्रुतिवाक्यों से विरोध भी स्पष्ट ही है ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—मरुद्गणों से युक्त, उचित समय पर जल बर्षाने वाले हे इन्द्र ! तुम व्रीहि, धान्य आदि को बढ़ाने वाले, उत्कृष्ट ऐश्वर्यवान्, द्युलोक में रहने वाले, दुष्टों के शासक, आलस्य से रहित हो विश्व के पालक, बल देने वाले और नूतन यजमान का रक्षण करने के निमित्त निरन्तर उद्यत वज्र वाले हो । इस यज्ञ की रक्षा के निमित्त हम तुम्हारा आह्वान करते हैं । हे द्वितीय ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, मरुद्देवताओं से युक्त इन्द्र की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ । हे तृतीय मरुत्वतीय ग्रह ! मरुद्देवताओं के बल सम्पादन के लिये तुम यहाँ बैठो ॥ ३६ ॥

द्वितीयं मरुत्वतीयमाह—'वशिना मरुत्वतीयग्रहणं मरुत्वन्तमिति' (का० श्रौ० १०।३।७)। रिक्तेन ऋतुपात्रेण सशस्त्रं मरुत्वतीयग्रहणं कुर्यादध्वर्युः। इहास्मदीये यज्ञे तमिन्द्रं वयं हुवेम आह्वयामः। ह्वेञः शपि व्यत्ययेन सम्प्रसारणम्। कीदृशमिन्द्रम्? मरुत्वन्तं मरुद्गणोपेतं वृषभं जलवर्षितारं कामानामभीष्टानां वर्धयितारम्। वावृधानं वर्धते वर्धयति वा कामानभीष्टानिति वावृधानस्तम्, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति वर्धतेः शानचि जुहोत्यादित्वेन श्लुः, 'श्लौ' (पा० सू० ६।१।१०) इति द्वित्वम्। अकवारिम्, कुत्सिता अरयो यस्यासौ कवारिः, न कवारिरकवारिस्तम्। यस्य शत्रवो वृत्रादयोऽप्यकुत्सिता महानुभावाः। यद्वा अकुत्सितमैश्वर्यमियर्ति प्राप्नोतीत्यकवारिस्तम्। दिव्यं दिवि भवम्। शासम्, शास्तीति शासस्तं शासितारं दुष्टानां निग्रहीतारम्। यद्वा शासनं शासः, तद्वन्तम् अव्याहतशासनम्। विश्वासाहं विश्वं पालयितुं सहत इति विश्वाषाट् तं विश्वासाहं विश्वपालनेऽनलसं समर्थम्। अभिभवार्थो वा सहिः, स्वधर्मच्युतस्य विश्वस्य सर्वस्याभिभवितारम्। नवीनभूताय इदानीन्तनयजमानपालनाय उग्रम् उद्गूर्णवज्रम्। सहोदां सहो बलं ददातीति सहोदास्तं बलप्रदम्। अवसे अवसानाय स्थित्यै। उपयामेति व्याख्यातमेव। 'ऋतुपात्रेण मरुत्वतीयग्रहणमुपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजस इति' (का० श्रौ० १०।३।३)। प्रतिप्रस्थाता द्वितीयेन ऋतुपात्रेण द्रोणकलशात् पूतभृतो वा कुण्ठमरुत्वतीयस्य ग्रहणं कुर्यात्। मरुद्देवताको ग्रहो मरुत्वतीयः। मरुद्दैवत्यं यजुः। हे मरुत्वतीय ग्रह, मरुतां देवानामोजसे बलाय त्वा त्वां सादयामि। ओज इति बलनामसु। स त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। स्वबलं निधायेन्द्रं प्रत्यागता मरुतोऽनेन ग्रहेण गृहीतेन सबला जाता इति भावः।

अध्यात्मपक्षे—अत्र जीवेशानुगतमात्मचैतन्यं दर्शयति। मरुत्वन्तं मरुद्भिः प्राणैः सह वर्तमानं वृषभं श्रेष्ठं वावृधानमुपाधिवृद्ध्या वर्धमानं दिव्यं वस्तुतोऽलौकिकं लोकोत्तरमिन्द्रं दीप्तिमन्तं देहादिभासकं विश्वासाहं विश्वपालनसमर्थम्, तपोभिरुपासनाभिश्चोपाधिशुद्ध्यतिशयादैश्वर्यातिशयदर्शनात्। स्वधर्मच्युतस्य विश्वस्य अभिभवितारम्। नूतनाय अवसे इदानीन्तनजनानां पालनाय उग्रं उद्गूर्णवज्रम्। सहोदां सहो बलं ददातीति सहोदास्तम्। एवंभूतं तं जीवेशानुगतं तत्तदुपाधिविशिष्टमुपाधितद्धर्मवर्जितं च प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं परमात्मानं हुवेम, जननमरणाविच्छेदलक्षणायाः संसृतेरपाकरणाय आह्वयामः साक्षात्कुर्मः। हे प्रत्यगात्मन्, त्वं यमनियमादिभिर्गृहीतोऽसि नियमितोऽसि। मरुद्भिरुपाधिभिरुपलक्षिताय इन्द्राय तत्पदलक्ष्यार्थाय परमात्मने त्वां समर्पयामः, तत्र प्रविलापयामः। एष ते योनिरधिष्ठानम्। इन्द्राय मरुत्वते त्वां तदभेदभावनायै प्रोत्साहयामः। उपयाम-

---

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।३।७) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता ऋत्विजों के द्वारा मरुत्वतीय ग्रह का ग्रहण 'मरुत्वन्तम्' आदि कण्डिकागत मन्त्रों के द्वारा किया जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप मन्त्रार्थ पूर्वाचार्यों के द्वारा वर्णित है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—इसमें जीवेश्वर के अनुगत आत्मचैतन्य का प्रकाशन किया गया है। प्राणों के साथ विद्यमान, श्रेष्ठ, उपाधि की वृद्धि के द्वारा परिवृद्ध होने वाले, वस्तुतः अलौकिक, लोकोत्तर, दीप्तिमान्, देहादिभासक, विश्व के पालन में समर्थ, स्वधर्म से च्युत विश्व का पराभव करने वाले, अधुनातन प्राणियों के पालन के लिये उग्रवज्र, बलप्रदान करने वाले, इस प्रकार के उस जीवेश्वर के अनुगत विभिन्नोपाधिविशिष्ट एवं उपाधि तथा उपाधि धर्मों से विरहित प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मा का हम आह्वान करते हैं। जन्ममृत्युरूपिणी सृष्टि के निराकरण के लिये उनका साक्षात्कार करते हैं। हे प्रत्यगात्मन्, तुम यम, नियम आदि के द्वारा संगृहीत हो, नियमित हो। उपाधियों से उपलक्षित, इन्द्रपद के लक्ष्यार्थ परमात्मा के लिये तुमको हम समर्पित करते हैं, उसमें विलीन करते हैं। यही तुम्हारा

गृहीतोऽसि। तत एव मरुतामोजसे मरुतां प्राणानां तदुपलक्षितानामन्योपाधीनामोजसे सारभूतायाधिष्ठानाय त्वां समर्पयामः, अधिष्ठाने प्रविलाप्याधिष्ठानमात्रतां चिन्तयामः।

दयानन्दस्तु—'कवयो वयं नूतनाय अवसे रक्षणाद्याय मरुत्वन्तं प्रशस्तप्रजावन्तं वृषभं सर्वोत्तमं वावृधानम्, अतिशयेन शुभकर्मसु वर्धमानम्। अकवारिं कौति धर्ममुपदिशतीति कवो न कवोऽकवोऽधर्मात्मा, तस्यारिः शत्रुस्तम्। दिव्यं शुद्धं शासं शासितारम् इन्द्रमैश्वर्यवन्तं विश्वासाहं विश्वान् सर्वान् सहत इति विश्वाषाट् तं हुवेम स्वीकुर्वीमहि। हे मुख्यसभासद्, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्मात् त्वां मरुत्वत इन्द्राय, यतस्ते तवैष योनिरस्त्यतस्त्वां मरुत्वत इन्द्राय, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि तस्माद् मरुतामोजसे बलाय च त्वा त्वां हुवेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदमन्त्राणां धर्मब्रह्मपरत्वेन धर्माङ्गत्वे दिव्यदेवतादिप्रतिपादनमपहाय लौकिकमनुष्य-शासकेष्विन्द्रादिपदप्रयोगस्यासङ्गतत्वात्। कवो धर्मोपदेष्टा, तद्भिन्नोऽधर्मात्मा तस्यारिरित्यपि न सङ्गतम्, तादृशार्थस्य कवपदेनैव सिद्धत्वात् ॥ ३६ ॥

स॒जोषा॑ इन्द्र॒ सग॑णो म॒रुद्भिः॒ सोमं॑ पिब वृत्र॒हा शू॑र वि॒द्वान्। ज॒हि शत्रूँ॒२॥ रप॒ मृधो॑ नु॒दस्वाथाभ॑यं कृणुहि वि॒श्वतो॑ नः॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑त ए॒ष ते॒ योनि॒-रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते ॥ ३७ ॥

'सजोषा इन्द्रेति' (वा० सं० ७।३७), 'मरुत्वाँ२॥ इन्द्रेति' (वा० सं० ७।३८) ऋग्द्वयस्य सोपयामस्य मरुत्वतीयग्रहणे विनियोगो वाचस्तोमे, 'वाचस्तोमाश्चत्वारः' (का० श्रौ० २२।६।२६) इति कात्यायनोक्तेः। हे इन्द्र शूरवीर, त्वं सोमं पिब। कीदृशस्त्वम्? सजोषाः, जोषणं जोषः प्रीतिः, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' असुन्प्रत्ययः। तेन जोषसा सह वर्तमानः सजोषाः। मरुद्भिः कृत्वा सगणः सपरिवार एकोनपञ्चाशन्मरुद्गणैः सह सोमं पिब। वृत्रहा वृत्रं तन्नामानं दैत्यं हन्तीति वृत्रहा, अनेन सोमपानेन वृत्रं हनिष्यामीति विद्वान् एतमर्थं जानानः, ततः

अधिष्ठान है। मरुत्वान् इन्द्र के लिये तुमको उसमें अभेद की भावना हेतु हम प्रोत्साहित करते हैं। तुम यमादि के द्वारा गृहीत हो। प्राण तथा अन्य उपाधियों के सारभूत अधिष्ठान के लिये तुमको समर्पित करते हैं। अधिष्ठान में प्रविलीन करके अधिष्ठानमात्रता का चिन्तन हम करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित मन्त्रार्थ असमीचीन है, क्योंकि धर्मब्रह्मपरक रहने के कारण वेदमन्त्रों का धर्मांगत्व होने पर दिव्य देवताओं आदि का प्रतिपादन छोड़कर केवल लौकिक मनुष्य शासकों में इन्द्र आदि शब्दों का प्रयोग असंगत है। 'कव' का अर्थ धर्मोपदेशक है तथा उससे विपरीत अधर्मात्मा है। उसका शत्रु (अकवारि) इत्यादि अर्थ भी संगत नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का अर्थ तो केवल 'कव' शब्द से ही सिद्ध हो जाता है ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे विक्रान्त इन्द्र! तुम हमारे इस यज्ञ को प्रीति से सेवन करो। वृत्र को मारने वाले, सब कुछ जानने वाले तुम मरुद्गणों के परिवार के साथ सोम का पान करो, शत्रुओं को मारो, संग्राम से शत्रुओं को निवृत्त करो और शत्रुनाश के अनन्तर हमको सब प्रकार का अभय प्रदान करो। हे ग्रह! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, मरुद् देवताओं से युक्त इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है, देवताओं की प्रीति के निमित्त तुम्हे यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ३७ ॥

भाष्यसार—'सजोषा इन्द्र' तथा 'मरुत्वाँ इन्द्र' इन दो उपयामादि यजुर्मन्त्र से संयुक्त ऋचाओं का विनियोग

सोमं पीत्वा शत्रून् वृत्रादीन् जहि मारय। मृधः संग्रामान् अपनुदस्व। 'णुद प्रेरणे' युद्धं निवर्तय। 'दीर्घादटि समानपादे' (८।३।९) इति शत्रूनिति नस्यानुनासिकत्वम्। यद्वा मृध इति पञ्चम्येकवचनम्। मृधः संग्रामाद् अपनुदस्व शत्रूनित्यस्यानुषङ्गः। ये हतावशिष्टा अरयस्तान् संग्रामात् पलायनार्थं प्रेरयस्व। एवं शत्रून् पराजित्य विश्वतोऽभयं कृणुहि।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वरांश, हे शूर सर्वैरनभिभाव्य, त्वं सजोषाः सुप्रसन्नो मरुद्भिः प्राणादिभिरान्तरैर्बाह्यैश्चोपाधिभिः कृत्वा सगणः सपरिवारः, वृत्रहा वृत्रमसुरमज्ञानं च हतवानिति वृत्रहा, सोमं भक्तिरसं पिब। भक्त्या च विद्वान् कृतात्मसाक्षात्कारः शत्रूनविद्याजनितान् कामादीन् जहि समूलमुन्मूलय। मृधः संग्रामात् पलायनाय अपनुदस्व प्रेरयस्व। नोऽस्मभ्यं विश्वतः सर्वतोऽभयं कृणुधि। तत्त्वज्ञः सर्वं संन्यस्य सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽभयं प्रयच्छति। उपयामगृहीतोऽसीति पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सेनापते शूर, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि सेवासु नियमस्वीकृतोऽसि, मरुत्वत इन्द्राय त्वामुपदिशामि। किमित्यपेक्षायामाह—ते तव सम्बन्धी एष व्यवहारः। मरुत्वते प्रशस्तानि मरुदस्त्राणि यस्मिन् तस्मै मरुत्वते इन्द्राय प्रयतमानमङ्गीकरोमि। सजोषाः सगणस्त्वं मरुद्भिर्वायुभिरिव वृत्रहा इव सोमं सकलपदार्थरसं पिबेति। तं पीत्वा विद्वान् सन् शत्रून् जहि। अथ मृधोऽपनुदस्व। नोऽस्मभ्यं विश्वतोऽभयं कृणुहि' इति, भाषाभाष्ये च—'ईश्वरो वक्ति' इति, तदुभयमप्यसङ्गतम्, ईश्वरस्य नित्यनिर्भयत्वेन विश्वतोऽभयं कृणुहीति प्रार्थनायोगात्, इन्द्रपदेन सेनापतिग्रहणे मानाभावात्। तथैव मरुत्पदेन मरुदस्त्रग्रहणमपि निर्मूलमेव। नहीश्वरः सेनापत्यादिभ्य उपदिशन्नुपलभ्यते। न वा तादृग्वचनं किञ्चिदुपलभ्यते॥ ३७॥

म॒रुत्वाँ२॥ इन्द्र वृ॒ष॒भो रणा॑य पिबा॒ सोम॑मनुष्व॒धं मदा॑य। आसि॑ञ्चस्व ज॒ठरे॒ मध्व॑ ऊ॒र्मिं त्वᳬ राजा॑सि प्र॒तिप॑त्सु॒ताना॑म्। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑त ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते॥ ३८॥

वाचस्तोम में मरुत्वतीय ग्रह के ग्रहण में किया गया है। यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (२२।६।२६) में प्रतिपादित है। मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ भी पूर्वाचार्यों के द्वारा निरूपित है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर के अंशभूत, सबके द्वारा न पराभूत होने वाले तुम सुप्रसन्न होकर, प्राणादि आन्तरिक तथा बाह्य उपाधियों से, सपरिवार असुर तथा अज्ञान के विनाशक बनकर भक्तिरस का पान करो। आत्मसाक्षात्कार सम्पन्न करके तुम भक्ति के द्वारा अविद्या से उत्पन्न कामादि शत्रुओं को जड़ से उन्मूलित करो, संग्राम से भागने के लिये उन्हें प्रेरित करो। हमारे लिये सब ओर से अभय करो। तत्त्वज्ञ समस्त संन्यस्त करके सभी जीवों के लिये अभय प्रदान करता है। 'उपयामगृहीतः' आदि की व्याख्या पूर्वोक्त ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ उचित नहीं है। संस्कृतभाष्य तथा भाषाभाष्य में भी 'ईश्वर कहता है' ये दोनों ही कथन असंगत हैं, क्योंकि ईश्वर के नित्यनिर्भय होने के कारण 'सब ओर से अभय करो' इस कामना की कोई संगति नहीं है। इन्द्र शब्द से सेनापति अर्थ ग्रहण करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार मरुत् शब्द से 'मरुत् अस्त्र' अर्थ लेना भी निर्मूल है। सेनापति आदि के लिये उपदेश देता हुआ ईश्वर उपलब्ध नहीं होता, अथवा ऐसा कोई वचन भी उपलब्ध नहीं है॥ ३७॥

हे इन्द्र, यतस्त्वं मरुत्वान् मरुद्भिर्युक्तोऽसि, वृषभोऽपां वर्षिता, तं त्वां ब्रवीमि रणाय रणं संग्रामं कर्तुं पिब सोमम्, अनुष्वधं अनु पश्चात् स्वधा अन्नं पुरोडाशधानामन्थदधिपयस्यालक्षणम्, स त्वमनुष्वधं सोमं पिबेत्यर्थः। किमर्थं पातव्यः सोमः ? इत्यत आह—मदायेति। मदे हि सति योद्धा भवतीन्द्रः। केन प्रकारेण पिबेत्युच्यते—आसिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिम्, अकृपणमुदरे आसिञ्चस्व। मध्वो मधु सोममित्यौपमिकं माद्यतेः, मधुस्वादस्य सोमस्योर्मिं महासङ्घातम् उदरे आसिञ्चस्व। विशिष्टसोमपानस्य हेतुमाह- हे इन्द्र, त्वं यतो राजा ईश्वरोऽसि। प्रतिपत्सुतानां प्रतिपत्प्रमुखास्वपि तिथिषु सुतानामभिषुतानां सोमानाम्, त्वदर्थमेव सर्वासु तिथिषु सोमोऽभिषूयते, छन्दोगानां सवने प्रतिपदो विद्यमानत्वात्। पिबा 'द्वयचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—'हे मरुत्वान् मरुदादिदेवगणोपेत इन्द्र परमेश्वर, त्वं वृषभोऽभीष्टवर्षणशीलो दीप्यमानश्चासि। रणाय भक्तानामभयार्थं दुष्टदानवैः सार्धं युद्धाय मदाय भक्तानां हर्षाय अनुष्वधं सोमं पिब, अनु पश्चात् स्वधा अन्नानि पुरोडाश-धाना-मन्थ-दधि-पयस्यादीनि यस्य तं सोमं तदुपकरणानि विविधान्यन्नानि च पिब भक्षय। मध्वो मधुस्वादस्य सोमस्य ऊर्मिं लहरीः, उदरे जठरे आसिञ्चस्व। हे इन्द्र, त्वमेव प्रतिपत्सुतानां प्रतिपत्प्रमुखासु तिथिषु सुतानामभिषुतानां त्वमेव राजा ईश्वरोऽसि। परमेश्वरस्य पूर्णकामस्य नित्यतृप्तत्वेऽपि भक्तानुग्रहार्थमेव भक्तसमर्पितबल्युपहारसपर्यादिग्राहित्वं पुराणेषु प्रसिद्धम्। 'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते' (भा० पु० ७।९।११)। हे सोमादिनिवेदनीय द्रव्य, त्वमुपयामगृहीतोऽसि, इन्द्राय मरुत्वते त्वां गृह्णामि। एष ते योनिः, इन्द्राय मरुत्वते त्वां सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सभापते, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्माद् वयं त्वां मरुत्वते प्रशस्ता मरुतः प्रजाः सेना वा विद्यन्ते यस्य तस्मै इन्द्राय शत्रुजिते नियोजयामः। यतस्ते तवैष योनिः। तस्मात् त्वां मरुत्वते

मन्त्रार्थ—मरुद्गणों से संयुक्त हे इन्द्र ! जल को वर्षाने वाले तुम स्वधापूर्वक पुरोडाश, धान्य, मन्थ, दधि, पय लक्षण वाले सोमरस को तृप्ति के निमित्त और दैत्यों से युद्ध करने के लिये पीजिये, इस मधुर रस की कल्लोल का उदर में आसिचन कीजिये। आप प्रतिपत् प्रभृति तिथियों में अभिषुत हुए सोम के राजा हो। हे ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, इन्द्र और मरुद्गणों की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है, इन्द्र और मरुद्गणों की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ३८ ॥

भाष्यसार—'मरुत्वाँ इन्द्र' इस कण्डिका का याज्ञिक विनियोग पूर्वोक्त ही है। यज्ञपरक मन्त्रार्थ भी पूर्वप्रतिपादित है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—मरुत् आदि देवगणों से युक्त हे परमेश्वर, आप अभीष्ट की वर्षा करने वाले तथा दीप्यमान हैं। भक्तों के अभयार्थ दुष्ट दानवों के साथ युद्ध के लिये, भक्तों की प्रसन्नता के लिये पुरोडाश, धाना, मन्थ, दधि, पयस्या आदि अन्नभक्ष्यों से संयुक्त सोम तथा उसके सहवर्ती विविध अन्नद्रव्यों का भक्षण करें। मधु के समान सुस्वादु सोम की तरंगों को उदर में अन्तर्भुक्त करें। हे परमेश्वर, आप ही प्रतिपदा आदि तिथियों में सम्पादित किये गये पदार्थों के स्वामी हैं। पूर्णकाम परमेश्वर के नित्यतृप्त होने पर भी भक्तों पर अनुग्रह के लिये भक्त द्वारा समर्पित नैवेद्य, उपहार, पूजन आदि का ग्रहण करना पुराणों में वर्णित है। हे सोम आदि नैवेद्य द्रव्य, तुम नियमादि से संगृहीत हो। मरुत्वान् परमेश्वर के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। मरुत्वान् परमेश्वर के लिये तुमको स्थापित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित संस्कृत एवं हिन्दी अर्थ ग्राह्य नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के स्थूल अर्थ एवं लोकप्रसिद्ध

इन्द्राय ब्रूमः। किं तत्तदाह—त्वं प्रतिपद्राजा, पद्यते विचार्यते योऽर्थविषयः स पत्, पदं पदं प्रतीति प्रतिपत्, प्रतिपद्राजा प्रत्येककर्मणि प्रकाशमानो मरुत्वान् वृषभोऽसि, अतो रणाय अनुष्वधं सर्वेषु पक्वान्नेष्वनुकूलं मदाय सोमं सोमाद्योषधिसमूहं पिब। सुतानां सुसंस्कारेण निष्पादितानामन्नानां मध्वो मधुरस्य ऊर्मिं लहरीं जठरे आसिञ्चस्व' इति, भाषाभाष्ये तु—'हे इन्द्र शत्रुजित्सभापते, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि राजनियमैः स्वीकृतोऽसि, अतो वयं त्वां मरुत्वते यत्रोत्तमान्यस्त्राणि शस्त्राणि च प्रयुज्यन्ते, तस्मै परमैश्वर्यप्रापकाय युद्धाय नियोजयामः। तव एष युद्धपरमैश्वर्यं योनिः कारणमस्ति। अतस्त्वां तस्मै युद्धाय कथयामि। त्वं प्रत्येकस्मै महते विचार-कार्येषु प्रकामयमानः प्रतिपद्राजा प्रशंसनीयप्रजायुक्तः श्रेष्ठोऽसि, अतो रणाय युद्धाय मदाय हर्षाय च प्रत्येक-भोजनानुकूलं सोमं सोमलतादिपोषकरसं सुतानामुत्तमसंस्कारैर्निष्पन्नानां भोजनानां मधुररसस्य लहरीर्जठरे स्थापय' इति, तदतीव मन्दम्, तादृशस्थूलार्थस्य लोकसिद्धस्यार्थस्य वाक्यस्यापौरुषेये वेदेऽसम्भवात्। 'मरुत्वते इन्द्राय' इत्यस्य परमैश्वर्यप्रापकं शस्त्रास्त्रादिप्रयोगमयं युद्धमर्थ इत्यत्र मानाभावात्। तथैव प्रतिप-त्पदस्य प्रतिविचारार्थत्वं राजपदस्य प्रकाशमानत्वं चार्थश्चिन्त्य एव ॥ ३८ ॥

महाँ२॥ इन्द्रो नृवदाचर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः। अस्मद्र्यग् वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् ॥ उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ ३९ ॥

'माहेन्द्रं गृह्णाति वैश्वदेववन्महाँ इन्द्र इति' (का० श्रौ० १०।३।११)। 'वैश्वदेवं गृह्णाति''''। वौमास इति' (का० श्रौ० ९।१४।१-२) इति वैश्वदेवग्रहग्रहणे ये धर्मा उक्तास्तेऽत्रातिदिश्यन्ते वैश्वदेववद् महाँ इन्द्र इति मन्त्रेण शुक्रपात्रेण द्रोणकलशान्माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णीयादिति सूत्रार्थः। माहेन्द्री त्रिष्टुब् भरद्वाजस्यार्षम्। तृतीयपादो नवाक्षरः। इन्द्रः परमैश्वर्यसम्पन्नो देवो वीर्याय वीरकर्मणे वावृधे वर्धते। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति वर्तमाने संहितायामभ्यासदीर्घः। कीदृश इन्द्रः? महान् महत्त्वगुणविशिष्टः, महाप्रभवो वा। नृवद् मनुष्यवद् आहूयमान आगच्छति। एतेन तस्य सौशील्यवैशिष्ट्यं सूच्यते। चर्षणयो मनुष्यास्ताना-समन्तात् प्राति तदभीष्टभोगैः पूरयतीत्याचर्षणिप्राः। यथा राजामात्यादिमनुष्यसेवकानभीष्टभोगैरापूरयतीति, 'प्रा पूरणे'। उतापि चायं द्विबर्हा 'बृहि वृद्धौ' बर्हणं बर्हो वृद्धिः, द्वयोः प्रकृतिविकृतिरूपयोः सोमयागयोर्बर्हो वृद्धिर्यस्येति सः। यद्वा द्वयोर्मध्यमोत्तमस्थानयोर्बर्हाः वृद्धः परिवृढः प्रभुर्द्विबर्हाः। अमिनः सहोभिर्बलैः, अमिनः

पदार्थ से युक्त वाक्य अपौरुषेय वेद में सम्भव नहीं हो सकते। 'मरुत्वते इन्द्राय' इसका अर्थ परमैश्वर्यप्रापक शस्त्रास्त्रादि के प्रयोग से युक्त युद्ध है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार प्रतिपत् शब्द का प्रतिविचारार्थत्व तथा राजा शब्द का 'प्रकाशमानत्व' अर्थ भी विचारणीय है ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—राजा जिस प्रकार प्रजा की अभिलाषा पूरी करता है, उसी प्रकार मनुष्य के अभीष्ट को पूरा करने वाले, प्रकृति-विकृति रूप सोम याग को बढ़ाने वाले, उपमा से रहित, बलशाली, हमारे प्रति अनुकूल भाव वाले, महाप्रभावशाली इन्द्र वीरतापूर्ण कार्यों को सम्पन्न करने के लिये वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा यज्ञ से विस्तीर्ण महान् बलशाली इन्द्र यजमानों द्वारा सत्कृत हो उनके बलवीर्य की वृद्धि करते हैं। हे चतुर्थ ग्रह! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, महेन्द्र देवता की प्रीति के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे माहेन्द्र ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है, महेन्द्र देवता की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ३९ ॥

भाष्यसार—'महाँ इन्द्रः' इस मन्त्र के द्वारा द्रोणकलश से माहेन्द्र ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक

अमितः अमितबलः, 'अमिनोऽमितमात्रो महान् भवत्यभ्यमितो वा' (निरु० ६।१६) इति यास्कोक्तेः । यद्वा सहोभिः शतबलैरमितोऽप्रक्षिप्तः, शत्रुसम्बन्धिबलैरनुपहिंसित इत्यर्थः । 'डुमिञ् प्रक्षेपणे', 'मीञ् हिंसायाम्' इति वा, निष्ठानत्वमार्षम् । यद्वा अमितः उपमारहितः । अस्मद्रचक् अस्मान् प्रत्यञ्चतीति अस्मद्रचक् अस्मदभिमुखमुपागन्ता, अस्मच्छब्दे उपपदे अञ्चतेः क्विप् । 'विश्वग्देवयोश्च·····' (पा० सू० ६।३।९२) इत्यादिना क्विबन्तेऽञ्चतौ परेऽस्मच्छब्दस्य टेरद्र्यादेशः । 'उगिदचां·····' (पा० सू० ७।१।७०) इति प्राप्तस्य नुमोऽभावश्छान्दसः । लोडर्थे लुङ् । अडभावश्छान्दसः । अस्मत्सदृशो ववृधे वृद्धिं प्राप्तः । यथा वयमेतदनुग्रहाद् वृद्धिं प्राप्तास्तथैवास्मदीयैर्हविर्भिरस्य विवृद्धिः । तदेव प्रपञ्च्यते—वीर्याय सामर्थ्यसिद्धये कर्तृभिर्यजमानैरयं सुकृतोऽभूत् सुष्ठु वर्धितोऽभूत् । सुकृतः साधुकृतः सत्कृतः पूजितो वा । कीदृशी तस्य विवृद्धिः ? उरुर्यशसा विपुलः पृथुर्बलेन विस्तृतः ।

शतपथे च—'अथ माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति । पाप्मना वा एतदिन्द्रः सꣳसृष्टोऽभूद्यद्विशा मरुद्भिः स यथा विजयस्य कामाय विशा समाने पात्रेऽश्नीयादेवं तद्यदस्मा एतं मरुद्भिः समानं ग्रहमगृह्णन्' (श० ४।३।३।१५) । मरुत्वतीयग्रहानन्तरं माहेन्द्रं ग्रहं विधत्ते—अथ माहेन्द्रमिति । विहितं माहेन्द्रग्रहं पापनिरसनहेतुत्वेन प्रशंसति—विशा मरुद्भिरिति । मरुद्देवतारूपया विशा, एतेनेन्द्रः पाप्मना पापेन संसृष्टोऽभूत्, यतोऽस्मा इन्द्राय मरुद्भिः समानं साधारणमेतं ग्रहम् अगृह्णन् इति यत् तद् एवंप्रकारो भवति, यथा विजयकामार्थं विशा सह समाने पात्रे भोजनम् । तस्मात् पापसंसृष्टोऽभूत् । 'तं देवाः । सर्वस्मिन् विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे यथेषीकां मुञ्जाद्विवृहेदेवꣳ सर्वस्मात् पाप्मनो व्यवृहन् यन्माहेन्द्रं ग्रहमगृह्णंस्तथो एवैष एतद्यथेषीका विमुञ्जा स्यादेवꣳ सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते यन्माहेन्द्रं गृह्णाति' (श० ४।३।३।१६) । ते देवाः सर्वस्मिन् विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे सति तमिन्द्रं मुञ्जाद्यथेषीकां तद्गताग्रं विवृहेद् उद्धरेत्, एवं माहेन्द्रग्रहग्रहणेन सर्वस्मात् पाप्मनो व्यवृहन्, तस्मात्तथैव एष यजमानो मुञ्जादुद्धृतेषीकेव माहेन्द्रग्रहणेन सर्वस्मात् पापान्मुच्यते । 'यद्वेव माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति । इन्द्रो वा एष पुरा वृत्रस्य वधादथ वृत्रं हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्तस्मान्माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति महान्तमु चैवैनमेतत्करोति वृत्रस्य वधाय तस्मादेव माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति शुक्रपात्रेण गृह्णात्येष वै शुक्रो य एष तपत्येष उ एव महांस्तस्माच्छुक्रपात्रेण गृह्णाति' (श० ४।३।३।१७) । यजमानस्य महत्त्वहेतुत्वेन पुनरपि माहेन्द्रं ग्रहं प्रशंसति—महान्तं चैवैनमिति । लोके विजिग्यानो विजितवान् राजा यथा महाराजो भवति, एवमिन्द्र एव वृत्रं हत्वा महेन्द्रोऽभवत् । तस्मान्माहेन्द्रग्रहणेन वृत्रस्य पापरूपस्य वधार्थमेनं यजमानं महान्तं करोति । विहितग्रहणमनूद्य शुक्रपात्रं विधत्ते—शुक्रपात्रेण गृह्णातीति । शुक्रस्य सूर्यरूपस्य सर्वात्मकत्वेन महत्त्वात् तत्पात्रेण माहेन्द्रग्रहस्य ग्रहणं युक्तमित्यर्थः । मन्त्रार्थस्तूक्त एव ।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरो महान् प्रभावतस्तथापि भक्तैराहूतो नृवत् मनुष्यवत् प्रेम्णाकृष्ट इवागच्छति । आचर्षणिप्रा चर्षणीनां मनुष्याणां पूरयिता कामैः, उत किञ्च द्विबर्हा द्वयोरिहलोकपरलोकयोः परिवृढः प्रभुः, अमिनः सहोभिः, सहोभिर्बलैः, अमिनोऽनुपमः । यद्वा सहोभी रावणादिशत्रुबलैः, अमिनोऽनुपहिंसितः ।

प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।३।११) में निरूपित है । याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है – परमेश्वर महान् प्रभावशाली हैं, तथापि भक्तों के द्वारा आहूत होने पर मनुष्य के समान प्रेम से मानों आकृष्ट होकर आते हैं । मनुष्यों को अभिलषित पदार्थों से परिपूर्ण करने वाले लोक एवं परलोक

अस्मद्रयक् अस्मद्दर्शनोत्सुकः सन् वावृधे वर्धते वीर्याय वीरकर्मणे, यथा गौः स्ववत्सदर्शनोत्सुका भवति, तथैव भगवाननुग्रहार्थं भक्तदर्शनोत्सुको भवति। भक्तरक्षणार्थमेव वीरकर्मणे रावणादिवधाय वावृधे वर्धते। सोऽस्माभिः क्रतुभिर्यजनार्चनादिकारकैः स्तूयमानः, उरुः प्रमाणतः पृथुश्च विस्तारेण सुकृतः शोभनं भक्तानां कल्याणं कृतं येन स तथाभूतो भूयात्। यद्वा कर्तृभिरर्चकैः सुकृतः साधुकृतः सत्कृतः पूजितोऽभूत्, भवत्वित्यर्थः। हे सोम, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि महेन्द्राय अनुत्तमैश्वर्यवते परमेश्वराय त्वां स्वीकरोमि। एष उपासनाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्। महेन्द्राय त्वा सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे भगवन् जगदीश्वर, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि योगाभ्यासेन स्वीकर्तुं योग्योऽसि, तस्माद् महेन्द्राय अनुत्तमैश्वर्याय त्वा वयमुपास्महे। उतापि यतस्तवैष योगो योनिः कल्याणकारणम्, यो महान् सर्वोत्कृष्टः पूज्यतमश्च नृवद् न्यायशीलैर्मनुष्यैस्तुल्यः, आचर्षणिप्रा आचर्षणीन् मनुष्यान् प्राति पूरयति सः, द्विबर्हा द्वे बर्हसी व्यावहारिकपारमार्थिके वृद्धिकरे विज्ञाने यस्य सः। अस्मद्रयक् अस्मानञ्चति सर्वज्ञतया जानातीति। अमिनः अनुपमोऽतुलपराक्रमः, उरुर्बहुः, पृथुर्विस्तीर्णः, कर्तृभिः सुकर्मकारिभिर्जीवैः सह सुकृत् शोभनं कृतं क्रियते येन सः, इन्द्रोऽभूद् भवति। तमेवाश्रितः सर्वो जनः सहोभिः सह वीर्याय वावृधे' इति, तद्यपि भगवदाश्रयणं नानुचितम्, तथापि श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वान्नायं मन्त्रार्थः। उपयामेति पदस्य योगाभ्यासोऽर्थो निर्मूल एव। महेन्द्रशब्दस्य महैश्वर्ययुक्तो देवोऽर्थो न महैश्वर्यम्, व्युत्पत्तिविरोधात्। वयमुपास्मह इत्यपि वेदाक्षर-बाह्यमेव। नृवदित्यत्र नृपदेन न्यायशीलमनुष्योऽर्थो ग्राह्य इत्यत्र न किञ्चिद् बीजम्। नृधातोर्नयार्थत्वेऽपि न्यायशीलो मनुष्य इति कथमर्थः? परमेश्वरस्य एकत्वात् तत्र बहुत्वं न युक्तम्। अमितस्य पृथुत्वमपि न युक्तम्। सर्वो जन इत्यपि निर्मूलोऽध्याहारः॥ ३९॥

म॒हाँ२॥ इन्द्रो॒ य ओज॑सा प॒र्जन्यो॑ वृष्टि॒माँ२॥ इ॑व। स्तोमै॑र्व॒त्सस्य॑ वावृधे। उ॒प॒या॒म-गृ॒हीतो॑ऽसि म॒हेन्द्राय॑ त्वै॒ष ते॒ योनि॑र्म॒हेन्द्राय॑ त्वा॥ ४०॥

दोनों के प्रभु, बलों के द्वारा अनुपम, अथवा रावण आदि शत्रु बलों से अनुपहिंसित हम लोगों को देखने के लिये समुत्सुक होते हुए वे वीरतापूर्ण कार्यों के लिये परिवृद्ध होते हैं। जिस प्रकार गौ अपने बछड़े को देखने हेतु उत्कण्ठित होती है, उसी प्रकार भगवान् भी अनुग्रह के लिये भक्तों को देखने के इच्छुक होते हैं। भक्तों की रक्षा के लिये ही रावणवध आदि वीरतापूर्ण कार्यों के लिये अभिवृद्ध होते हैं। हमारे द्वारा यजन, अर्चन आदि कृत कर्मों से स्तुत होते हुए वे भक्तों के लिये गुरुतर तथा अतिविशाल कल्याणकर्ता हों। अथवा पूजकों के द्वारा अत्यधिक सम्मानित, पूजित हों। हे सोम, तुम नियमादि के द्वारा गृहीत हो। अनुत्तम ऐश्वर्य से युक्त परमेश्वर के लिये तुमको स्वीकार करता हूँ। यह उपासना स्थल ही तुम्हारा स्थान है। परमेश्वर के लिये तुमको रखता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में भगवदाश्रयण अनुचित नहीं है, तथापि श्रुति एव सूत्र वचनों से विरुद्ध होने के कारण यह मन्त्रार्थ नहीं है। उपयाम शब्द का 'योगाभ्यास' अर्थ निर्मूल ही है। महेन्द्र शब्द का 'महैश्वर्ययुक्त देव' यह अर्थ है, केवल महैश्वर्य नहीं है, क्योंकि इसमें व्युत्पत्ति से विरोध है। 'नृ' पद से न्यायशील मनुष्य अर्थ लेना चाहिये, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। 'नृ' धातु के नयनार्थक होने पर भी 'न्यायशील मनुष्य' यह अर्थ कैसे होगा? परमेश्वर के एक होने के कारण उसमें बहुत्व जोड़ना उचित नहीं है। 'सर्वो जनः' यह अध्याहार करना भी अप्रामाणिक है॥ ३९॥

माहेन्द्री गायत्री वत्सदृष्टा। माहेन्द्रग्रहग्रहण एव विकल्पेन विनियुक्ता। य इन्द्रो वत्सस्य वसनशीलस्य वत्सस्थानीयस्य वा यजमानस्य स्तोमैः स्तोत्रैर्वावृधे वर्धते। कीदृशः इन्द्रः ? ओजसा बलेन तेजसा वा महान् महत्त्वोपेतः। क इव ? वृष्टिमान् वृष्टियुक्तः पर्जन्य इव। यथा वर्षणशीलो मेघस्तापापनोदकत्वेनान्नादिप्रदत्वेन दारिद्र्यनाशकत्वेन वर्धते, तथैव पाप-ताप-दारिद्र्यादिनाशकत्वेनेन्द्रो वर्धते। यद्वा महान् महाप्रभाव इन्द्र ओजसा बलेन यथा वृष्टिमान् पर्जन्यो धाराभिरसंख्याभिरपरिच्छिन्नसंख्यः, एवमोजसाऽसंख्यातमहाभाग्येनापरिच्छिन्नमहावैभवो वत्सस्य वात्सल्यास्पदस्य यजमानस्य स्तोमैः स्तूयमानो वर्धते।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरो महान् स्वरूपतः, प्रभावतस्तु महाप्रभावः, य ओजसा तेजसा वृष्टिमान् वर्षणशीलः पर्जन्य इव, स भगवान् वत्सस्य वात्सल्यप्रेमास्पदस्य भक्तस्य स्तोमैः स्तोत्रैः स्तूयमानो वावृधे वर्धते। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसीति पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'अनादिसिद्धमहायोगिन्, यतस्त्वं योगिभिरुपयामगृहीतोऽसि, तस्मात् त्वां महेन्द्रायोपास्महे। यतस्तवैष योगो योनिरस्त्यतस्त्वां महेन्द्राय वयं ध्यायेम। महान् वृष्टिमान् पर्जन्य इव वत्सस्य स्तोमैरोजसेन्द्रः सुखवर्षको भवति। तं विदित्वा योगी वावृधे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य स्वाभ्यूहितत्वात्। इन्द्रः सुखवर्षक इत्यादिकं सर्वं पूर्ववदेव निर्मूलम् ॥ ४० ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यꣳ स्वाहा ॥ ४१ ॥

'इडां भक्षयित्वा शालाद्वार्ये दक्षिणाहोमो वासःप्रबद्धꣳ हिरण्यꣳ हवन्यामवधाय चतुर्गृहीतमुदु त्यमिति' (का० श्रौ० १०।२।८)। सवनीयपुरोडाशेडां भक्षयित्वा शालाद्वार्ये दक्षिणासम्बद्धो होमः स्यात्। दक्षिणाप्रयोजको होमो दक्षिणाहोमः। तत्र वस्त्रेण प्रकर्षेण बद्धं हिरण्यं जुह्वां निधाय चतुर्गृहीतमाज्यमुदु त्यमिति शालाद्वार्ये प्रथमामाहुतिं जुहुयात्। सौरी गायत्री प्रस्कण्वदृष्टा। तृतीयपादः सप्तार्णः। उ निपातः पादपूरणः।

मन्त्रार्थ—जो महाप्रभावशाली इन्द्र तेज से महान्, वर्षा वाले मेघ के समान, मन से की हुई स्तुतियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, उसकी प्रीति के लिये हे ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ४० ॥

भाष्यसार—'महाँ इन्द्रः' यह ऋचा भी माहेन्द्र ग्रह के ग्रहण में विकल्प से विनियुक्त की गई है। इसका याज्ञिक अर्थ पूर्वप्रतिपादित ही है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—परमेश्वर स्वरूपतः तथा प्रभाव से महान् है, जो तेज से अभिवर्षण करने वाले पर्जन्य की भाँति है। भगवान् वात्सल्यप्रेमास्पद भक्त की स्तुतियों से अभिवृद्ध होते हैं। हे सोम, तुम नियमादि के द्वारा गृहीत हो, इत्यादि व्याख्या पूर्व की भाँति ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में सम्बोधन पद स्वयं के द्वारा ही कल्पित होने के कारण अप्रामाणिक है। इन्द्र का अर्थ सुखवर्षक है, इत्यादि समस्त व्याख्यान भी पूर्व की भाँति ही निर्मूल है ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—सब पदार्थों को जानने वाले प्रकाशात्मक सूर्यदेव को उसकी प्रकाशात्मक किरणें समस्त विश्व में प्रकाश फैलाने के लिये विचार के साथ निश्चित दिशाओं में सब तरफ वहन करती हैं। वे स्वर्ग में भी पहुँचती हैं। उस प्रसिद्ध सूर्यदेव के निमित्त दी गई यह हवि भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४१ ॥

भाष्यसार—'उदु त्यम्' इस ऋचा का विनियोग दक्षिणाहोम नामक आज्याहुति प्रदान करने के लिये किया गया है।

त्यमिति त्यच्छब्दश्छान्दसस्तच्छब्दार्थे इति महीधराचार्यः। केतवो मयूखाः, त्यं तं प्रसिद्धं सूर्यमुद्वहन्ति। कीदृशं सूर्यम्? जातवेदसम्, जातो वेद ऋग्वेदो ज्ञानं धनं वा यस्मात्तम्, 'ऋग्वेदोऽग्नेरजायत' इति श्रुतेः। 'जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जाते जाते विद्यत इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो जातप्रज्ञानः, यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्' (निरु० ७।१९) इति यास्कोक्तेः। देवो दानाद् द्योतनाद्वा। तं देवं दातारं द्युस्थानं वा उद्वहन्ति ऊर्ध्वं नयन्ति। किमर्थम्? विश्वाय विश्वस्य, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, दृशे दर्शनाय जगद् द्रष्टुं जगतः प्रकाशनाय जगत्कर्तृकदर्शनाय वा। 'दृशे विख्ये च' (पा० सू० ३।४।११) तुमर्थे निपातः। तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु। यद्वा केतवो रश्मयस्त्वां जातवेदसं तमग्निसदृशं सूर्यम्, उद्वहन्ति ऊर्ध्वसदृश एव नयन्ति। किमर्थम्? विश्वस्य कृत्स्नस्य जगतः सूर्यं दृशे द्रष्टुम्।

आध्यात्मिकोऽर्थः अत्यन्तं प्रसिद्धं परमात्मानं केतवो भगवद्यशःख्यापका आचार्या भक्त्या उद्वहन्ति हृदयेनोच्चैर्महत्या भक्त्या धारयन्ति। कीदृशं तम्? जातवेदसम्, जाता वेदा यस्मात्तम्, देवं दानादिगुणयुक्तम्। किमर्थम्? विश्वाय विश्वस्य दृशे दर्शनाय विश्वकर्तृकभगवद्दर्शनाय। यथा मेघानीतमेव जलं सर्वसुलभं भवति, तथा भक्ताचार्यप्रत्त एव भगवान् सर्वसुलभो भवति, तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—'यथा किरणा विश्वाय सर्वार्थाय दृशे द्रष्टुं जातवेदसं त्यममुं सूर्यं यः स्त्रियते विज्ञायते विज्ञाप्यते वा तं देवमुद्वहन्ति, एवं विदुषः केतवो ज्ञानानि स्वाहा वाणी अन्यान् मनुष्यान् परं ब्रह्म प्रापयन्ति' इति, तदपि न किञ्चित्, विदुष इत्याद्यध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। कैश्चित्तु 'मयूखपदेन सूर्यगताकर्षणशक्तिरभिधीयते, आकर्षणशक्तिभिरेव सूर्यस्य धार्यमाणत्वात्' इति, तदपि तुच्छम्, तादृशशक्तेरसिद्धत्वात्, केतुपदस्य रश्मिषु प्रसिद्धत्वाच्च ॥ ४१ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥ ४२ ॥

यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।४) में प्रतिपादित है। याज्ञिक दृष्टि से मन्त्रार्थ महीधराचार्य आदि द्वारा किया गया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से मन्त्रार्थ इस प्रकार है उस सुप्रथित परमात्मा को भगवान् के यश का ख्यापन करने वाले आचार्य एवं भक्तगण हृदय से उच्च महान् भक्ति के द्वारा धारण करते हैं। जिससे वेद प्रादुर्भूत हुए हैं, उस दानादि गुणों से युक्त भगवान् को सम्पूर्ण विश्व के द्वारा दर्शनार्थ धारण करते हैं। जिस प्रकार मेघों के द्वारा लाया गया जल ही सबके लिये सुलभ होता है, उसी प्रकार भक्तों, आचार्यों द्वारा निरूपित भगवान् ही सर्वसुलभ होते हैं। उस परमात्मा के लिये हम आत्मसमर्पण करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ 'विदुषः' इत्यादि अध्याहारों की निर्मूलता के कारण अग्राह्य है। कुछ लोग मयूख शब्द से सूर्य की आकर्षण शक्ति का ग्रहण करते हैं। यह भी अनुचित है, क्योंकि उस प्रकार की शक्ति सिद्ध नहीं है। केतु शब्द की प्रसिद्धि भी रश्मियों के अर्थ में ही है ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—यह कैसा आश्चर्य है कि देवताओं के जीवनाधार, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूपधारी परमेश्वर के नेत्रों के समान प्रकाशमान, जंगम और स्थावर जगत् के अन्तर्यामी भगवान् सूर्य उदयाचल को प्राप्त हो रहे हैं,

'चित्रं देवानामिति द्वितीयामिति' (का० श्रौ० १०।२।४) । चतुर्गृहीतेनाज्येन शालाद्वार्ये द्वितीयामाहुतिं जुहुयात् । सौरी त्रिष्टुप् कुत्सदृष्टा । सूर्यो देवः परापररूपेणावस्थितोऽत्र स्तूयते । तत्र अपररूपेण स्तूयते सूर्यः — चित्रमाश्चर्यं यथा स्यात्तथा उदगादुदयं प्राप्त उद्गच्छति वा । चित्रमिति क्रियाविशेषणम् । आश्चर्यं हि यः स्वकीयेन ज्योतिषा शार्वरं तमोऽपहृत्यान्येषां ज्योतिषां ज्योतिरादायोद्गच्छति । यद्वा चित्रं चायनीयं पूजनीयमुदगमत् । यद्वा चित्रं रक्तश्वेतादिविविधवर्णं देवानां किरणानामनीकं मुखमाश्रयः । द्योतन्ते दीव्यन्तीति देवाः किरणाः । यद्वा अनीकं समूहः किरणपुञ्जः, रश्मीनामनीकं सैन्यसदृशं मण्डलमुदगात् । तथा मित्रस्य वरुणस्य अग्नेश्चक्षुर्नेत्रवत् प्रकाशकः । मित्रादय उपलक्षकाः, सर्वस्य सदेवमनुष्यस्य विश्वस्य रूपाणि सूर्योदयेऽभिव्यज्यन्ते, अतो मित्रादीनां चक्षुः स सूर्य उद्गतः । सर्वस्य प्राणिजातस्येन्द्रियाधिष्ठातृत्वाच्चक्षुषोऽधिष्ठातृत्वाच्च चक्षुःस्थानीयो मण्डलस्थः सूर्यः स्थावरस्य जगतश्चात्मा । यच्च उदयानन्तरमेव द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च आप्रा आपूरितवत् स्वकीयेन प्रकाशेन द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च आसमन्तात् पूरयति । पूर्वोक्तानि विशेषणानि मण्डलाभिप्रायान्नपुंसकलिङ्गानि । अथ परमात्मरूपेण स्तूयते — सूर्य आत्मा परमपुरुषरूपः । कस्यात्मेत्याकाङ्क्षायामुच्यते — जगतो जङ्गमस्य तस्थुषश्च स्थावरस्य च सर्वस्यैवात्मा चेतयिता, 'यमेतमादित्ये पुरुषं वेदयन्ते स इन्द्रः प्रजापतिस्तद् ब्रह्म' इति । सूर्याद्वैतमनेन मन्त्रेण स्थाप्यते, स सूर्यात्मत्वेनोपास्यः । एवमधियज्ञं गतोऽप्ययं मन्त्रोऽधिदैवतमाचष्टे । अध्यात्मं तु वक्ष्यति — 'योऽसावादित्ये पुरुष·····' इत्यादिना । तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे — उक्तव्याख्यानमेवाध्यात्मव्याख्यानमपि ।

भूलोक से द्युलोक पर्यन्त अन्तरिक्ष को अपने तेज से पूर्ण कर रहे हैं । उन सूर्यदेव के निमित्त दी हुई यह आहुति भली प्रकार से गृहीत हो ।। ४२ ।।

भाष्यसार— 'चित्रं देवानाम्' इस ऋचा से चतुर्गृहीत घृत की द्वितीय आहुति शालाद्वार्य नामक अग्नि में प्रदान की जाती है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।४) में प्रतिपादित है । इस ऋचा में पर तथा अपर रूप से विद्यमान सूर्य की स्तुति की गई है ।

अपर रूप से सूर्य की स्तुति इस प्रकार से है कि यह आश्चर्यजनक रूप से उदय को प्राप्त हुआ है, अथवा उदित होता है । आश्चर्य ही है कि यह अपनी ज्योति से रात्रि के अन्धकार को विनष्ट करके, अन्य ज्योतियों का प्रकाश ग्रहण करते हुए उदित होता है, अथवा अत्यन्त सुपूज्यता से उदित होता है, अथवा लाल, श्वेत आदि विविध रंगों से युक्त किरणों का यह मुख है, आश्रय है । द्योतनात्मक होने के कारण देव का अर्थ किरण है। अथवा किरणों के पुंज, रश्मियों की सेना के समान यह मण्डल उदित हुआ है । यह मित्र, वरुण, अग्नि आदि देवों का नेत्र की भाँति प्रकाशक है । देवों और मनुष्यों के सहित सम्पूर्ण विश्व के रूप सूर्योदय में अभिव्यक्त होता है । अतः मित्र आदि का नेत्ररूपी वह सूर्य उदित हुआ है । समस्त प्राणियों की इन्द्रियों के अधिष्ठाता तथा चक्षु के अधिष्ठाता होने के कारण नेत्रस्थानीय मण्डलस्थित सूर्य स्थावर-जंगमात्मक विश्व की आत्मा है । वह उदय के बाद ही द्युलोक, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष को सर्वतः परिपूर्ण कर देता है ।

परमात्मा के रूप में स्तुति इस प्रकार से है कि यह सूर्य आत्मा परमपुरुषरूपी है । किसकी आत्मा है, यह निरूपित किया जाता है- जंगम तथा स्थावर समस्त विश्व की आत्मा, चेतनत्वकर्ता है । इस मन्त्र से सूर्याद्वैत की प्रतिष्ठापना की जाती है । वह सूर्यात्मत्व के रूप से उपासनायोग्य है । इस प्रकार अधियज्ञ प्रकरण में व्याख्यात होने पर भी यह मन्त्र अधिदैवत अर्थ प्रकाशित करता है । अध्यात्मपक्षीय अर्थ भी 'योऽसावादित्ये पुरुषः' इत्यादि के द्वारा प्रतिपादित है । उसके

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिः सूर्यः स्वाहा सत्यक्रियया देवानां चक्षुरादीनामिव विदुषां मित्रस्य सख्युः प्राणस्य वा वरुणस्य श्रेष्ठस्योदानस्याग्नेर्विद्युतः, चित्रमनीकं बलवत्तरं सैन्यमिव चक्षुरुदगात्। जगतस्तस्थुषश्चात्मा सन् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षमाप्रा इव यो जगदीश्वरोऽस्ति, स एव सततमुपासनीयः' इति, भाषाव्याख्याने तु—'हे मनुष्याः, यः सूर्यः सत्यक्रियया चक्षुरादीनामिव देवानां मित्रस्य प्राणस्य वरुणस्य श्रेष्ठपुरुषस्योदानस्य वा अग्नेर्विद्युतश्च चित्रमद्भुतमनीकं बलवत्तरसेनाया इव प्रसिद्धं चक्षुः प्रभावदर्शकगुणान् उदगात् सुप्राप्तो भवति, जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य आत्मा इव, सततव्याप्त इव द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च व्याप्त इव परमात्मास्ति, युष्माभिस्तस्योपासना सततं कार्या' इति, तदुभयमपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थपरित्याग-गौणार्थस्वीकारस्य चानौचित्यात्। 'मनुष्याः' इति सम्बोधनमपि दुर्बलमेव। स्वाहापदस्य सत्यक्रियार्थतापि निर्मूलैव ॥ ४२ ॥

अग्ने नय॑ सुपथा॑ रा॒ये अ॒स्मान् विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑उक्तिं विधेम॒ स्वाहा॑ ॥ ४३ ॥

'अग्ने नयेत्याग्नीध्रीयेऽग्नौ सकृद्गृहीतमाज्यं जुहोति' (का० श्रौ० १०।२।६)। मन्त्रोऽयं पञ्चमेऽध्याये षट्त्रिंशे स्थले व्याख्यातः। शतपथे—'स जुहोति। अग्ने नय····स्वाहेत्यथ यद्यश्वं युक्तं वा अयुक्तं वा दास्यन् स्यादथ द्वितीयां जुहुयाद् यद्यु न नाद्रियेत' (श० ४।३।४।१२)। हे अग्ने, विश्वानि वयुनानि ज्ञानानि विद्वान् त्वमस्मान् राये धनाय स्वर्गलक्षणाय मोक्षलक्षणाय वा नय प्रापय। किञ्च, जुहुराणं कुटिलमेनः पापमस्मद् अस्मत्तो युयोधि पृथक्कुरु। वयं च ते भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम नमस्कारं कुर्याम। 'विध विधाने' इति धातोः। स्वाहा स्वाहुतमस्तु। यद्यश्वयुक्तं रथे विनियुक्तमयुक्तं वा दास्यन् स्यात् तद् द्वितीयामाहुतिं जुहुयात्। यद्यु न, नाद्रियेत।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने स्वप्रकाशपरमेश्वर, अस्मान् सुपथा शोभनेन मार्गेण राये भोगमोक्षलक्ष्म्यै नय प्रापय। भवान्नो वयुनानि ज्ञानान्युपासनालक्षणानि विद्वान् जानानोऽस्मत्तो जुहुराणं कुटिलमेनः पातकं

प्रति पूर्ण समर्पण हो। अध्यात्मपक्ष में उपर्युक्त व्याख्या ही आध्यात्मिक व्याख्या भी है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित संस्कृत एवं हिन्दी दोनों ही व्याख्याएँ मुख्य अर्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ को स्वीकार करने के कारण अनौचित्य के द्वारा अग्राह्य है। 'हे मनुष्यों' यह सम्बोधन भी दुर्बल ही है। स्वाहा शब्द का सत्यक्रिया अर्थ भी अप्रामाणिक ही है ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता! आप सभी प्रकार की विद्याओं को जानने वाले हैं। धन और यज्ञ की प्राप्ति के लिये जो श्रेष्ठ मार्ग है, उसे हमें दिखाइये। हमारी अभिलाषाओं के प्रतिबन्धक पापों को दूर कीजिये। हम आपका नमन करते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं। आपको दी हुई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४३ ॥

भाष्यसार—'अग्ने नय' इस मन्त्र से आग्नीध्रीय अग्नि में घृत की आहुति प्रदान की जाती है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।६) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह मन्त्र पाँचवें अध्याय में छत्तीसवीं कण्डिका के रूप में याज्ञिक दृष्टि से व्याख्यात है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे स्वप्रकाश परमेश्वर, हम लोगों को शुभ मार्ग के द्वारा भोग एवं

युयोधि वियोजय। ते तुभ्यं भूयिष्ठां बहुतरां नमउक्तिं नमस्कारवचनं विधेम करवामः, तस्मै तुभ्यं स्वाहा सर्वमर्पितमस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं सुपथा योगमार्गेण राये योगसिद्धये, अस्मान् विश्वान्यखिलानि नय प्रापय। यतो वयं स्वाहा सत्यया स्वकीयया वाचा वेदवाचा वा भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम। हे देव योगप्रदविद्वन्, त्वं कृपया जुहुराणमेनोऽस्मद्युयोधि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'सुपथा योगमार्गेण राये योगसिद्धये' इति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्, वेदेषु गीतायां च दक्षिणायनोत्तरायणलक्षणमार्गद्वयातिरिक्तमार्गस्यादर्शनात्॥ ४३॥

अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन्।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा॥ ४४॥

अयमपि मन्त्रः पञ्चमेऽध्याये ३७ कण्डिकास्थले व्याख्यातपूर्वः। शतपथे चैष व्याख्यातः—'स जुहोति। अयं नोऽग्निः....स्वाहेति वाजसा ह्यश्वः' (श० ४।३।४।१३)। द्वितीयाहुतेः कर्तव्यतापक्षे मन्त्रमाह—स जुहोति, अयं न इति। मन्त्रार्थस्तु—अग्निर्नोऽस्माकं वरिवो धनं कृणोतु सम्पादयतु। 'कृवि हिंसाकरणयोः'। न केवलमयं धनमेव करोतु, किन्तु मृधः संग्रामान् प्रभिन्दन् युद्धव्यूहान् भेदयन् पुरस्तादेतु गच्छतु। किञ्चायं वाजसातौ, 'वाजोऽन्नम्' (निघ० २।७), सोऽस्मिन् सायते सम्भज्यत इति वाजसातिः संग्रामः, तस्मिन् वाजसातौ संग्रामे वाजान् अन्नानि जयतु स्वाधीनं करोतु। अतिशयेन हृष्यन्निति जर्हृषाणः शत्रून् जयतु। मन्त्रस्थवाजशब्दस्य तात्पर्यमाह—'वाजसा ह्यश्वः' इति। वाजमन्नं सनोति संभजतीति वाजसाः, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इत्यात्वम्। अस्य जयसिद्धिसाधकत्वादन्नसम्पादकत्वम्। अनेनैवाभिप्रायेण साध्यसाधन-भेदाऽविवक्षयाऽश्वस्यान्नरूपत्वं क्वचिदाम्नायते—'अश्वो वै बृहद्वयः' इति। वय इत्यन्ननामधेयम्। यतोऽश्वोऽस्य वाजसाः, तस्माद्दानाङ्गभूतस्य साधने मन्त्रे वाजशब्दप्रयोगः।

अध्यात्मपक्षे—अयं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नोऽग्निः सर्वदोषदाहकोऽग्निः परमात्मा नोऽस्माकं वरिवो ज्ञानलक्षणं धनं कृणोतु सम्पादयतु। अयमपरोक्षात्माभिन्नोऽग्निर्मृधः संग्रामान् भिन्दन् संग्रामे सेनाव्यूहान् विदारयन्

मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करावें। आप हमारे उपासनादि ज्ञानों को जानते हुए हमसे कुटिल पाप को दूर कीजिये। आपके लिये हम बार-बार नमस्कारात्मक वचनों का वाचन करते हैं। आपके लिये हमारा सर्वस्व समर्पित है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ 'योगमार्ग के द्वारा, राये, अर्थात् योगसिद्धि के लिये' इत्यादि निर्मूल व्याख्या होने के कारण अग्राह्य है। वेदों में तथा गीता में दक्षिणायन तथा उत्तरायण रूपी दो मार्गों के अतिरिक्त किसी अन्य मार्ग का उल्लेख नहीं है॥ ४३॥

मन्त्रार्थ **यह अग्नि हमें धन और ऐश्वर्य से सम्पन्न करे, संग्राम में शत्रुसेनाओं को छिन्न-भिन्न करता हुआ आगे बढ़े। यह अग्नि धन-धान्य के संग्रह को हमें देने के लिये शत्रु से जीत ले। अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ यह अग्नि हमारे शत्रुओं को जीते, हमारी आहुति को सुन्दर रूप से ग्रहण करे॥ ४४॥**

भाष्यसार—'अयं नः' यह मन्त्र भी पंचम अध्याय में सैंतीसवीं कण्डिका के रूप में व्याख्यात है। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—यह प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, समस्त दोषों को दग्ध करने वाला परमात्मा

कामादिशत्रून् नाशयन् पुरस्ताद् बुद्धौ एतु, पुरः पुरस्ताद् एतु गच्छतु । अयमग्निर्वाजसातौ देवासुरसंग्रामेऽन्नानि जयतु स्वाधीनं करोतु । जर्हृषाणोऽत्यन्तं हृष्यन् शत्रूंश्च जयतु कामादीन् दोषान् बाह्यान् आन्तरांश्च शत्रून् जयतु ।

दयानन्दस्तु—'अयं सर्वाभिरक्षकोऽग्निर्वैद्यविद्याप्रकाशकः सर्वरोगनिवारकः सद्वैद्यो नोऽस्माकं वाजसातौ वाजानां संग्रामाणां विभागे वरिवः सुखकारकं सेवनं कृणोतु करोतु । अयं मुख्ययोद्धा प्रभिन्दन् शत्रून् विदारयन् मृधः संग्रामस्य पुरः पुरस्तादेतु । अयं वक्तृत्वेनोपदेष्टुं कुशलो योद्धा वाजान् वेगादिगुणयुक्तान् सेनास्थान् वीरान् जयतु उत्कर्षयतु । अयं सर्वोत्कृष्टो जर्हृषाणो भृशमाह्लादितः सन् शत्रून् धर्मशातकान् जयतु स्वोत्कर्षाय तिरस्करोतु' इति, तदपि क्लिष्टकल्पनैव, एकस्यायंशब्दस्य त्वदुक्तनानार्थकत्वे मानाभावात् ॥ ४४ ॥

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु ।
ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः ॥ ४५ ॥

'सहिरण्यो यजमानः शालां पूर्वेण तिष्ठन्नभिमन्त्रयते दक्षिणा बहिर्वेदि तिष्ठन्तीर्दक्षिणतो रूपेण व इति' (का० श्रौ० १०।२।९) । सहिरण्यो यजमानः शालां पूर्वेण तिष्ठन् वेदेर्बहिर्दक्षिणस्यां दिश्यवस्थिता गा अभिमन्त्रयेद् रूपेण व इति मन्त्रेण । नष्टरूपानुष्टुब् दक्षिणादेवत्या, नव वैराजत्रयोदशैर्नष्टरूपेति लक्षणात् । अत्र द्वितीय एकादशार्णस्तेन पूर्णैव । अग्रे पशव आत्मनो दानमसहमाना अन्यानि रूपाण्याददिरे । तान् देवाः स्वै रूपैः प्रत्युपतिष्ठन्त । ततस्ते स्वै रूपैराजग्मुः । एतन्निदानमस्य मन्त्रस्य । हे दक्षिणारूपा गावः, रूपेण मूर्त्या वो युष्माकं रूपमहमभ्यागामभ्यागतोऽस्मि । अतो भवतीभिरागन्तव्यम् । सर्वो हि स्वं रूपमागच्छतीत्यभिप्रायः । किञ्च, तुथो वो विश्ववेदा विभजतु । तुथो ब्रह्मा प्रजापतिर्वो युष्मान् विभजतु यथार्हमृत्विग्भ्यो विभागं करोतु, 'ब्रह्म वै तुथः' (श० ४।३।४।१५) इति श्रुतेः । कीदृशः तुथः ? विश्ववेदाः, विश्वं सर्वं वेदो ज्ञानं यस्य स विश्ववेदाः सर्वज्ञः । यूयं चैतज्जानाना ऋतस्य यज्ञस्य प्रस्तुतस्य पथा मार्गेण प्रेत प्रगच्छत ।

हमारे लिये ज्ञानरूपी धन का सम्पादन करे । यह अपरोक्षात्माभिन्न अग्नि संग्राम में सेना के व्यूहों को, कामादि शत्रुओं को विनष्ट करता हुआ बुद्धि में प्राप्त हो, संमुख आवे । देवासुरसंग्राम में यह अग्नि अन्नों को स्वाधीन करे, अत्यन्त प्रहृष्ट होकर शत्रुओं को विजित करे, बाह्य तथा आन्तरिक काम आदि दोषों को जीते ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत अर्थ तो क्लिष्ट कल्पना ही है, क्योंकि एक ही 'अयं' शब्द के निरूपित विभिन्न अर्थों में कोई प्रमाण नहीं है ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—सुवर्ण दक्षिणा वाली हे गायों ! यजमान की मूर्ति से मैं तुम्हारे रूप को प्राप्त हुआ हूँ । सर्वज्ञ ब्रह्मा यथायोग्य विभक्त कर ऋत्विजों के निमित्त तुम्हें प्रदान करें । यज्ञ के मार्ग से गमन करो । हे दक्षिणारूप गायों ! आज हम तुमको प्राप्त करके स्वर्ग के देवयान मार्ग को देखते हैं, अन्तरिक्ष के पितृयान मार्ग को देखते हैं । हे ऋत्विक्-गण ! आप सब इस बात का प्रयत्न करें कि सभी सभासदों को उनके हिस्से की गायों को देने के बाद भी कुछ बची रह जाँय ॥ ४५ ॥

भाष्यसार—'रूपेण व.' इस ऋचा के द्वारा शाला के पूर्व में खड़ा होकर यजमान दक्षिण दिशा में अवस्थित गायों को अभिमन्त्रित करता है । 'वि स्वः' आदि मन्त्रों से गमन तथा सदस्यों का अवलोकन करता है । यह याज्ञिक

कथंभूता यूयम् ? चन्द्रदक्षिणाः। चन्द्रं सुवर्णं यजमानस्य हस्ते गतं दक्षिणार्थं प्रधानद्रव्यं द्वितीयं दक्षिणा यासां ताश्चन्द्रद्वितीयदक्षिणा इति प्राप्ते शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपिसमासेन चन्द्रदक्षिणा इत्युक्तिः। चन्द्रमिति हिरण्यनामसु (निघ० १।२)। 'सदो गच्छति वि स्वरिति' (का० श्रौ० १०।२।१६)। यजमानो वि स्वः पश्येति मन्त्रेण आग्नीध्रदेशात् सदः प्रति गच्छति। दक्षिणादैवत्यम्। हे दक्षिणाः, अहं त्वया दक्षिणया सोपानभूतया स्वः स्वर्गं देवयानमार्गं विपश्यामि, च अन्तरिक्षलोकं पितृयानमार्गं पश्यामि। विपश्येति मध्यमपुरुषस्योत्तमपुरुषो व्याख्यातः, श्रुत्यैव तथोक्तत्वात्। सदसि स्थितान् ब्राह्मणान् प्रेक्षते। 'यतस्व सदस्यैरिति सदस्यान्' (का० श्रौ० १०।२।१७)। यतस्व सदस्यानिति यजमान ऋत्विजः प्रेक्षते। दक्षिणादैवतम्। हे दक्षिणे, त्वं यतस्व यत्नमातिष्ठस्व यथा सदस्यैर्ऋत्विग्भिः पूरितैरप्यतिरिच्यत इति शेषः। हे दक्षिणे, त्वया तथा यतनीयं यथा ऋत्विजो धनैः सम्पूर्याधिका भवेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ हिरण्यमादाय शालामभ्यैति। दक्षिणेन वेदिं दक्षिणा उपतिष्ठन्ते सोऽग्रेण शालां तिष्ठन्नभिमन्त्रयते रूपेण वो रूपमभ्यागामिति न ह वा अग्रे पशवो दानाय चक्षमिरे तेऽपनिधाय स्वानि रूपाणि शरीरैः प्रत्युपातिष्ठन्त तानेतद्देवाः स्वैरेव रूपैर्यज्ञस्यार्धादुपायंस्ते स्वानि रूपाणि जानाना अभ्यवायंस्ते रातमनसोऽलं दानायाभवंस्तथो एवैनानेष एतत् स्वैरेव रूपैर्यज्ञस्यार्धादुपैति ते स्वानि रूपाणि जानाना अभ्यवायन्ति ते रातमनसोऽलं दानाय भवन्ति' (श० ४।३।४।१४)। सोऽग्रेण शालां शालाया अग्रभागे तिष्ठन् दक्षिणार्था गा अभिमन्त्रयते रूपेण व इति मन्त्रेण। मन्त्रस्य प्रथमभागं व्याचष्टे—अग्रे पूर्वं पशवो दानाय न समर्था बभूवुः, स्वदानं सोढुमसमर्थाः। यतस्ते स्वानि रूपाणि सामर्थ्यानि अपनिधाय शरीरमात्रेणैवोपस्थिताः। एतद् एतेन रूपेण व इत्यादिमन्त्रभागस्योच्चारणेन देवास्तान् दानसमर्थान् पशून् स्वैरेव रूपैः सहितान् यज्ञस्यार्धाद् मध्याद् उपायन्, माध्यन्दिनसवनमाश्रित्य प्राप्नुवन्नित्यर्थः। अर्धादिति कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी (पा० सू० १।४।३१) इत्यत्र वार्त्तिकम्। ततश्चैते स्वानि सामर्थ्यानि जानाना अभिमुखमागताः, पश्चात् स्वसामर्थ्येनोपेतत्वाद् रातमनसः सन्तो दानाय समर्था बभूवुः। एतन्मन्त्रोच्चारणेन तथैव भवतीत्यर्थः।

'तुथो वो विश्ववेदा विभजत्विति। ब्रह्म वै तुथस्तदेना ब्रह्मणा विभजति ब्रह्म वै दक्षिणीयं चादक्षिणीयं च वेद तथो हास्यैता दक्षिणीयायैव दत्ता भवन्ति नादक्षिणीयाय' (श० ४।३।४।१५)। मन्त्रस्य द्वितीयं भागं व्याचष्टे—तुथ इति। साक्षात् परब्रह्म दक्षिणीयं दक्षिणार्हमदक्षिणीयं दक्षिणानर्हं च जानातीति विग्रहे 'कडङ्करदक्षिणाच्छः' (पा० सू० ५।१।६९) इत्यर्हाऽर्थे छप्रत्ययः। अतस्तुथो विभजतु इत्युक्तेनैवादिभागः कृतो भवतीति। प्रमाददक्षिणीयाय दत्तापि दक्षिणा दक्षिणीयायैव दत्ता भवतीति भावः। तदेना ब्रह्मणा विभजति ब्रह्म सर्वज्ञत्वाद् दक्षिणार्हं तदनर्हं च वेद। तथाकरणेन दक्षिणीयायैव दत्ता भवन्ति नानादक्षिणीयायेति। 'ऋतस्य पथा प्रेतेति। यो वै देवानां पथेति स ऋतस्य पथैति चन्द्रदक्षिणा इति तदेतेन ज्योतिषा यन्ति' (श० ४।३।४।१६)। तृतीयं भागं व्याचष्टे—यो वै देवानामिति। देवानां मार्गेण गच्छतेत्यभिप्रायेण ऋतस्य यज्ञस्य पथा प्रगच्छतेत्युक्तम्, यज्ञमार्गस्य देवतासम्बन्धात्। चतुर्थं भागं व्याख्याय संस्करोति—चन्द्रदक्षिणेति। चन्द्रं हिरण्यमध्वर्युगतं तद् दक्षिणा समर्धकं यासां तास्तथोक्ताः। अनेन चन्द्ररूपेण ज्योतिषा सदैव गच्छेयुः। हे दक्षिणार्था गावः, रूपेण सामर्थ्येन पूर्वं भवतीभिरग्रनिहितेन सह वो रूपं स्वरूपमभ्यागाम् आभिमुख्येन प्राप्तोऽस्मि। वो विश्ववेदाः सर्वज्ञः, तुथो ब्रह्म विभजतु। यूयं च चन्द्रदक्षिणाः सत्यो यज्ञसम्बन्धिना मार्गेण गच्छतेति कृत्स्नमन्त्रार्थः।

अथ सदोऽभ्यैति। वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षमिति वि त्वया दक्षिणया लोकं ख्येषमित्येवैतदाह' (श०

४।३।४।१७)। समन्त्रकं सदोगमनं विधाय मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—वि स्व इति। हे सदः, त्वदीयया दक्षिणया स्वर्लोकमन्तरिक्षलोकं च वि ख्येषम्, समीक्षिषीयेत्येवमर्थम् एतन्मन्त्रवाक्यमाह। अस्ति च दक्षिणायाः सदसश्च सम्बन्धः, सदस्यासीनेभ्य ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाया दातव्यत्वात्। मन्त्रे पश्येति पुरुषव्यत्ययः, पश्यामीत्यर्थः। तदेव वि ख्येषमिति व्याख्यानमुपपद्यते। 'अथ सदः प्रेक्षते। यतस्व सदस्यैरिति मा त्वा सदस्या अतिरिक्षतेत्येवैतदाह' (श० ४।३।४।१८)। हे सदः, त्वं सदस्यैः सहित एव यज्ञकार्ये प्रयतस्वेति। मन्त्रस्य सदसः सर्वदा सदस्यैः सह सम्बन्धोऽभिप्रेत इति व्याचष्टे—अतिरिक्षतेति। 'रिचिर् विरेचने' इत्यस्य रूपम्।

अध्यात्मपक्षे तु—परमेश्वरो वदति। हे मनुष्याः, अहं रूपेण मूर्त्या पुरुषाकारधारणेन वो युष्माकं रूपमभ्यगां प्राप्नोमि, मदनुध्यानायेति शेषः। अथवा वेदो वक्ति—हे जनाः, तुथः परमात्मा विश्ववेदाः सर्वज्ञः सन् वो युष्मान् विभजतु वर्णाश्रमविभागेन युष्माकं विभागं करोतु, व्यत्ययेन करोति। तथा सति स्वकर्मणा परमेश्वरं समभ्यर्च्य जनाः सिद्धिं यास्यन्ति, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (भ० गी० १८।४६) इति गीतोक्तेः। हे जनाः, यूयं ऋतस्य यज्ञस्य सत्यस्य वा पथा मार्गेण प्रेत प्रगच्छत। कीदृशा यूयम्? चन्द्रदक्षिणाः। स्वर्णादिदक्षिणाः, दानपरायणाः। तेनैव स्वः स्वर्गं देवयानमार्गम् अन्तरिक्षलोकात् पितृयानमार्गं विपश्य विशेषेण पश्यत। त्वं स्वयं सदस्यैश्च सार्धं प्रयतस्व, सर्वोत्कृष्टं लोकं लोकातीतं वा परब्रह्म प्राप्तुमिति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे सन्तता प्रजाजनाः, यथाहं रूपेण चक्षुर्ग्राह्येण प्रियेण वो युष्माकं रूपं स्वरूपमभ्यागाम्, तथा विश्ववेदा वो युष्मान् विभजतु। तुथो ज्ञानवृद्धः। 'तु गतिवृद्धिहिंसादौ' इत्यस्मादौणादिकः स्थःप्रत्ययः (उणादि २।७)। त्वं स्व उपतपन्नादित्य इव 'स्वरादित्यो भवति' (निरु० २।१४)। ऋतस्य सत्यस्य पथा मार्गेण अन्तरिक्षं क्षयरहितमन्तर्यामि स्वाभाविकं ब्रह्मविज्ञानं वा। 'अन्तरिक्षं कस्मात्? अन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे (क्षियति) इति वा, शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा' (निरु० २।१०)। विपश्य प्रचक्ष्व सभायां सदस्यैः सह तस्य पथा प्रयतस्व। चन्द्रदक्षिणा चन्द्रं सुवर्णं दक्षिणा दानं येषां ते यूयमृतस्य धर्म्यं मार्गं वीतम्' इत्यादि, एवमेव भाषाभाष्येऽपि—'हे सेनाप्रजाजनाः, यथाहं दृष्टिगोचरेण आकारेण युष्माकं स्वरूपं प्राप्नोमि' इत्यादि, सर्वमेतदस्पष्टमेव। तथाहि कोऽस्य मन्त्रस्य वक्ता? परमेश्वरश्चेत्, तदा कथं तस्य दृष्टिगोचरेण रूपेण सेनाप्रजाजनानां

प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।६,१६,१७) में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—परमेश्वर की उक्ति है कि हे मनुष्यों, मैं मूर्ति के द्वारा पुरुषाकार धारण कर तुम लोगों के लिये अनुध्यान लायक रूप को प्राप्त करता हूँ। अथवा वेद का उपदेश है कि हे मनुष्यों, परमात्मा सर्वज्ञ होते हुए वर्णाश्रमविभाग से तुम लोगों को व्यवस्थित करते हैं। ऐसा होने पर अपने-अपने कर्मों से परमेश्वर की आराधना करते हुए प्राणी सिद्धि प्राप्त करेंगे। हे मानवों, तुम लोग यज्ञ अथवा सत्य के मार्ग से चलो। स्वर्ण आदि दक्षिणाओं से दानपरायण होकर तुम लोग उसी के द्वारा स्वर्ग, देवयान मार्ग तथा पितृयान मार्ग का अवलोकन करो। तुम लोग स्वयं तथा सदस्यों के साथ सर्वोत्कृष्ट लोक अथवा लोकातीत परब्रह्म की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करो।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित संस्कृत तथा हिन्दी अर्थ सब अस्पष्ट ही है, क्योंकि प्रश्न उठता है कि इस मन्त्र का वक्ता कौन है? यदि परमेश्वर है, तो उसके दृष्टिगोचर रूप के द्वारा सेना-प्रजाजनों को स्वरूप-प्राप्ति कैसे होगी? उनके मत में तो परमेश्वर की निराकारता मान्य है, अतः ऐसा मानने से उनके सिद्धान्त की हानि प्राप्त होती है। जीव भी वक्ता

स्वरूपप्राप्तिः ? त्वया तस्य निराकारत्वाभ्युपगमेनापसिद्धान्तापातात्। जीवश्चेत्, तदपि न, तस्याल्पशक्तित्वेनाभीष्टरूपग्रहणे सामर्थ्याभावात्। 'विश्ववेदा इव सभापतिर्युष्मान् विभजतु स्वाधिकारेषु नियतान् करोतु। चन्द्रदक्षिणा राजपुरुषाः' इत्यादि च सर्वमस्पष्टम्। तथाहि चन्द्रदक्षिणा राजपुरुषाः कथं भवन्ति ? सभापतिः कुतो न चन्द्रदक्षिणो भवति ? कोऽस्याभिप्रायः ? धर्म्यं मार्गं वीत इति तु मन्त्रार्थबाह्यमेव। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेन निगदव्याख्यातः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳ सुधातुदक्षिणम्। अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत ॥ ४६ ॥

'ब्राह्मणमद्येत्याग्नीध्रगमनमिति' (का० श्रौ० १०।२।१८)। ब्राह्मणमद्येति मन्त्रेण यजमान आग्नीध्रमृत्विजं स्वस्थानस्थं प्रति गच्छति सदःस्थानात्। ब्राह्मणदैवत्यं यजुः। अहमद्यास्मिन् दिने ईदृशं ब्राह्मणं विदेयं लभेय, 'विदॢ लाभे'। कीदृशम् ? पितृमन्तं प्रशस्तः पिता अस्त्यस्येति तम्, सर्वोऽपि पितृमान् भवतीति प्राशस्त्यार्थेऽत्र मतुप्प्रत्ययो वेदितव्यः, अनुशिष्टेन अतिविशिष्टेन पित्रा युक्तम्। पैतृमत्यं यस्य पितामहप्रभृतयोऽपि वश्याः श्रोत्रियाः स पैतृमत्यस्तम्। यद्वा पितुरिमे पैतरः पितामहादयो मताः सम्मता जगन्मान्या यस्य तं पैतृमत्यम्। यद्वा पितरः पूर्वजा मताः सम्मताः श्रोत्रिया यस्य सः पितृमतः, पितृमत एव पैतृमत्यः। यद्वा प्रशस्तात् पितुरुत्पन्नः पितृमान् तदपत्यं पैतृमत्यः। सर्वथापि यस्य पितृपितामहादयः श्रोत्रियाः स पैतृमत्यः, तम्। तथा ऋषिं मन्त्राणां व्याख्यातारम्, तथा आर्षेयम् ऋषिषु विख्यात आर्षेयस्तम्। जात्या प्रवरैर्ज्ञानेन सुजातमिति वार्थः। सुधातुदक्षिणं शोभनो धातुः सुवर्णं दक्षिणा यस्य तम्। सुवर्णं हि आग्नीध्रे दक्षिणा दीयते। अस्मद्राता हे दक्षिणाः, अस्माभी राता दत्ताः सत्यो देवत्रा देवान् प्रति गच्छत। ततोऽनन्तरं यज्ञफलं साधयन्त्यः प्रदातारं यजमानम् आविशत सूक्ष्मपुण्यादृष्टरूपेण।

अत्र ब्राह्मणम् —'अथ हिरण्यमादायाग्नीध्रमभ्यैति। ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमिति यो वै ज्ञातो ज्ञातकुलीनः स पितृमान् पैतृमत्यो भवति या वै ज्ञाता यापि कतिपयीर्दक्षिणा ददाति ताभिर्महज्जयत्यृषिमार्षेयमिति यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः'''सुधातुदक्षिणः' (श० ४।३।४।१९)। सहिरण्यमाग्नीध्रं प्रति गमनं विधत्ते— अथ हिरण्यमित्यादि। दातव्यं हिरण्यमादाय ब्राह्मणमद्येति मन्त्रेण आग्नीध्रमभिगच्छेत्। मन्त्रस्थपितृमत्पैतृमत्यशब्दयोस्तात्पर्यमाह—यो वै ज्ञात इति। पितृमन्तं पैतृमत्यमित्येताभ्यां शब्दाभ्यां ज्ञातो ज्ञातकुलीनश्च विवक्षितः। ज्ञातः प्रसिद्धः। पितृमानिति प्रशंसायां मतुप्, प्रशस्तपितृमान्। प्रशस्तपितृमत्त्वेन च प्रसिद्धिर्लभ्यते। पैतृमत्यं पितृमति कुले भवम्, 'भवे च्छन्दसि' (पा० सू० ४।४।११०) इति यत्। कुलस्य ज्ञातत्वं

नहीं हो सकता, क्योंकि वह अल्पशक्ति होने के कारण स्वेच्छित रूप धारण करने में समर्थ नहीं है। तथा चन्द्रदक्षिणा वाले राजपुरुष कैसे होते हैं ? सभापति क्यों नहीं ? चन्द्रदक्षिणा वाला होता है ? इसका क्या अभिप्राय है ? श्रुति तथा सूत्र का विरोध तो पूर्वप्रतिपादित ही है ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—आज विख्यात, यशस्वी, विद्वान् पिता वाले, जनमान्य पितामह वाले, मन्त्रों की व्याख्या करने वाले ऋषियों में विख्यात, सम्पूर्ण सुवर्ण दक्षिणा के योग्य अधिकारी, सर्वगुणसम्पन्न, श्रेष्ठ कुल वाले ब्राह्मण को मैं प्राप्त करूँ। हे सम्पूर्ण दक्षिणा द्रव्य ! तुम हमारे द्वारा दिये जाकर देवताओं से अधिष्ठित ऋत्विक्गण के समीप यथाभाग उपस्थित होकर, देवताओं को तृप्त कर, इस यज्ञ का फल देने के लिये दाता यजमान में अपूर्व के रूप से स्थित हो जाओ ॥ ४६ ॥

प्रशस्तपुरुषसम्बन्धनिबन्धनम् । तथा च प्रशस्तपितृयुक्ते कुले जातमित्यनेन प्रशस्तकुलोत्पत्तिर्लभ्यते । तादृशाय ज्ञाताय याः कतिपयीरपि दक्षिणा ददाति, ताभिर्महत्फलं जयति, स्वाधीनीकरोति । तस्मादनेनाभिप्रायेण पितृमन्तं पैतृमत्यमिति शब्दप्रयोगः । ऋष्यार्षेयशब्दयोरर्थमाह - यो वा ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिः । अनूचानः साङ्गे प्रवचनेऽधीती । आर्षेयः 'इतश्चानिञः' (पा० सू० ४।१।१२२) इति ढक्प्रत्ययः । स हीति प्रकृतत्वात् स ज्ञातोऽनूचानस्तं सुधातुदक्षिणम् । प्रसिद्धाय खलु हिरण्यं दीयते ।

'अथैवमुपसद्य । अग्नीधे हिरण्यं ददात्यस्मद्राता देवत्रा गच्छतेति यां वै रातमना अविचिकित्सन् दक्षिणां ददाति तया महज्जयति देवत्रा गच्छतेति देवलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते तद्देवलोक एवैनमेतदपित्विनं करोति प्रदातारमाविशतेति मामाविशतेत्येवैतदाह तथो हास्मादेताः पराच्यो न प्रणश्यन्ति त यदग्नीधे प्रथमाय दक्षिणां ददात्यतो हि विश्वेदेवा अमृतत्वमपाजयंस्तस्मादग्नीधे प्रथमाय दक्षिणां ददाति' (श० ४।३।४।२०) दक्षिणादाने प्राप्तमाग्नीध्रस्य प्राथमिकत्वमनूद्य तत्र कारणमुपन्यस्यति—तद्यदिति । आग्नीध्रात् सकाशाद् देवा अमृतत्वं प्राप्नुवन्तीति प्रसिद्धम् । देवानां यज्ञेऽग्निरेवाग्नीध्रः । अत एव 'अग्नये आग्नीध्रं कुर्वते' (श० ४।३।४।२४) । इति वक्ष्यते । अग्निनैव साधनेन देवा असुरानभिभूय निर्बाधा अभवन्, 'तस्मादाग्नीध्रे प्रथमदक्षिणा' (तै० सं० ६।२।२।) इति श्रुतेः । उपसदनानन्तरं समन्त्रकं हिरण्यदानं विधत्ते—अग्नीध्रे हिरण्यं ददातीति । मन्त्रार्थस्तु—हिरण्यरूपा दक्षिणा अस्मद्राता अस्माभिर्दत्ता देवान् गच्छतेत्यर्थः । 'देवमनुष्य' ' (पा० सू० ५।४।५६) इत्यादिना द्वितीयार्थे त्राप्रत्ययः । मन्त्रपदानामभिप्रायमाह- यां वा रातमना इति । दानमना इत्यर्थः । अविचिकित्सन् सन्देहमकुर्वन् यां दक्षिणां ददाति, तादृश्या तया दक्षिणया महत्फलं जयति । तस्मादस्मद्राता इति मन्त्रमाह—यजमानो न केवलमस्मिल्लोके एव भवत्विति यजते, किन्तु स्वर्गेऽपि । तस्माद्देवत्रा गच्छतेत्युक्तम् । एवं चैतद् हिरण्यं देवलोक एव अपित्विनं गमनयुक्तं कृतवान् भवति । अपित्विनमिति लिङ्गव्यत्ययः (पा० सू० ३।१।८५), प्रदातारमिति । यद्येतन्न प्रयुज्यते, तदा अस्माद् यजमानाद् एता दक्षिणाः पराच्य पराग्गमनशीला एव सत्यः प्रणश्येयुः । प्रदातारमाविशतेति प्रयुङ्क्ते, मामाविशत इत्युक्तत्वात्, तथा न प्रणश्येयुरित्यर्थः ।

'अथैवमेवोपसद्य । आत्रेयाय हिरण्यं ददाति यत्र वा अदः प्रातरनुवाकमन्वाहुस्तद्ध स्मैतत् पुरा शꣳसन्त्यत्रिर्वा ऋषीणाꣳ होतासाथैतत् सदोऽसुरतमसमभिपुप्रुवे त ऋषयोऽत्रिमब्रुवन्नेहि प्रत्यङ्ङिदं तमोऽपजहीति स एतत्तमोऽपाहन्नयं वै ज्योतिर्य इदं तमोऽपाबधीदिति तस्मा एतज्ज्योतिर्हिरण्यं दक्षिणामनयन् ज्योतिर्हि हिरण्यं तद्वै स तत्तेजसा वीर्येणर्षिस्तमोऽपजघानाथैष एतेनैवैतज्ज्योतिषा तमोऽपहन्ति तस्मादात्रेयाय हिरण्यं ददाति' (श० ४।३।४।२१) । आग्नीध्राय हिरण्यं दत्त्वा अथात्रेयाय हिरण्यं दद्यादिति विधत्ते—आत्रेयाय हिरण्यं ददातीति । येन प्रकारेणोपसद्याग्नीध्राय हिरण्यं दत्तम्, तेनैव प्रकारेणोपसद्य आत्रेयाय हिरण्यं दद्यात् । ब्राह्मणमद्येति मन्त्रेणोपसद्य दद्यात्, आत्रेयाय चाग्नीध्रवत् सदसः पुरस्तादुपविष्टाय क आत्रेयं क आत्रेयमिति त्रिरुक्त्वा (का० श्रौ० १०।२।२०) । आग्नीध्रवद् ब्राह्मणमद्येति मन्त्रेणात्रेयं प्रत्यागत्य अस्मद्राता इति मन्त्रेण सदसः पुरस्तादुपविष्टाय आत्रेयसगोत्रायानृत्विजे हिरण्यं दद्यात् । अत्र क आत्रेयमिति यजमानस्त्रिर्वदेत् । ततोऽहमात्रेय-मित्यात्रेयः प्रत्याह । इदं चात्रेयसम्प्रदानकं दानमदृष्टार्थम् । आत्रेयाय हिरण्यदाने हेतुमाह—यत्र वा अदः प्रातरनुवाकमन्वाहुस्तद्ध स्मैतत् पुरा पूर्वस्मिन् प्रदेशे आहवनीयस्य समीपे शंसन्ति तत्र अत्रिर्वा ऋषीणां होता आस । अत्रिः स्वयं पूर्वभागे शंसन् एतत्सदोऽसुरतमसम् असुररूपं तमः, अमो लुगभावश्छान्दसः, तम् अभिपुप्रुवे, 'प्रुङ् गतौ' अन्तर्भावितण्यर्थः, अभ्यप्रावयत् । त ऋषयोऽत्रिमब्रुवन् एहि प्रत्यङ् इदं तमो जहीति ।

भाष्यसार—'ब्राह्मणमद्य' इस मन्त्र का यजमान के गमन में विनियोग किया गया है । यह याज्ञिक विनियोग

स एतत्तमोऽपाहन्, पूर्वभागे शंसतः स्थितत्वात् । तत्र प्राप्तुमशक्ता असुराः पश्चात् सदः प्राप्नुवन् । अयं वै ज्योतिर्य इदं तमोऽपावधोत् । तस्मै एतज्ज्योतिर्हिरण्यं दक्षिणामनयन् । ज्योतिर्हि हिरण्यम् । तत्तदा हिरण्यदानानन्तरकाले तत्तेजसा तस्य हिरण्यस्य तेजसा स्वकार्येण पश्चात् तमोऽपजघान । तस्मादात्रेयाय हिरण्यं ददाति ।

'अथ ब्रह्मणे । ब्रह्मा हि यज्ञं दक्षिणतोऽभिगोपायत्यथोद्गात्रेऽथ होत्रेऽथाध्वर्युभ्याᳬं हविर्धान आसीनाभ्यामथ पुनरेत्य प्रस्तोत्रेऽथ मैत्रावरुणायाथ ब्राह्मणाच्छᳬंसिनेऽथ पोत्रेऽथ नेष्ट्रेऽथाच्छावाकायाथोन्नेत्रेऽथ ग्रावस्तुतेऽथ सुब्रह्मण्यायै प्रतिहर्त्रे उत्तमाय ददाति तथो हास्मादेताः पराच्यो न प्रणश्यन्ति' (श० ४।३।४।२२) । यज्ञरक्षकत्वेन ब्रह्मणः प्राधान्यसूचनाद्दाने प्राथमिकत्वमुचितमिति । अथ पुनरेत्य पुनरपि सदो गत्वेत्यर्थः । प्रतिहर्त्रे उत्तमाय अन्तिमाय ददाति । एष प्रतिहर्ता समाप्तिरूपस्य प्रतिहारभागस्य कर्ता खलु । अतोऽस्मा अन्ततो दक्षिणाः समापयन्ति । तथा सत्येताः पराग्भूता न प्रणश्यन्ति, अन्यथा समाप्त्यभावात् पराच्यः सत्यः प्रणश्येयुः । 'न ह त्वेवाशतदक्षिणः सौम्योऽध्वरः स्यात्' (श० ४।३।४।३) इति रीत्या शतसंख्याका गावः सोमयागे दक्षिणा विहिता । ताः प्रविभज्योक्तक्रमेण ब्रह्मादिभ्यो दद्यात् । विभागः कात्यायनेन दर्शितः—'यथारम्भं द्वादश द्वादशाद्येभ्यः षट् षट् द्वितीयेभ्यश्चतस्रश्चतस्रस्तृतीयेभ्यस्तिस्रस्तिस्र इतरेभ्यः' (का० श्रौ० १०।२।२४) । आपस्तम्बोऽपि रूपान्तरेण तथैवाह 'यावदध्वर्यवे तस्यार्धं प्रतिप्रस्थात्रे तृतीयं नेष्ट्रे चतुर्थमुन्नेत्रे' । एवमेवेतरेषाम् ।

'अथाहेन्द्राय मरुत्वतेऽनुब्रूहीति' (श० ४।३।४।२२) इत्युक्तप्रैषोच्चारणानन्तरं न दद्यात् । तत्रार्थवादः—पुरा प्रजापतिः स्वयज्ञे दक्षिणा ददौ । तदा इन्द्रः प्रजापतिपुत्रो विचारयामास— अयं मम इदं सर्वं धनं दास्यति, तदा अस्मभ्यं किमवशेक्ष्यति ? एवं विचार्याप्रदानाय इन्द्रो मरुत्वते इदं न ब्रूहीति एतद्वाक्यरूपं वज्रं चक्षुरुदयच्छत् । पश्चात् स नो अददात् । तथैवेदानीमप्यदानायेन्द्रायेत्यादिवाक्यरूपो वज्र उद्यम्यते । तस्मान्न दद्यात् । 'चतस्रो वै दक्षिणाः । हिरण्यमायुरेवैतेनात्मनस्त्रायते आयुर्हि हिरण्यं तदग्नये आग्नीध्रं कुर्वतेऽददात्तस्मादप्येतर्ह्याग्नीधे हिरण्यं दीयते' (श० ४।३।४।२४) । विहितशतदक्षिणातिरिक्तानां चतुर्णां द्रव्याणां प्रयोजनाभिधानपूर्वकमृत्विग्विशेषेषु दानमाह—हिरण्यमिति । हिरण्यं प्रथमा दक्षिणा । आयुर्हि हिरण्यमिति प्रसिद्धम् । अत एतेन यजमानः स्वात्मन आयुरेव रक्षति । तद् हिरण्यं प्रजापतिराग्नीध्रकर्म कुर्वतेऽग्नयेऽददात् । तस्मादेतर्हि अग्नीधे हिरण्यं दीयते । 'अथ गौः । प्राणमेवैतयाऽऽत्मनस्त्रायते प्राणो हि गौरन्नᳬं हि गौरन्नᳬं हि प्राणः ताᳬं रुद्राय होत्रेऽददात्' (४।३।४।२५) । तां प्रजापतिर्होतृभूताय रुद्राय अददात्, तस्माद् होत्रे गां दद्यात् ।

'अथ वासः । त्वचमेवैतेनात्मनस्त्रायते त्वग्घि वासस्तद् बृहस्पतये उद्गायतेऽददात्' (श० ४।३।४।२६) । 'अथ वासः परिधत्ते……' (श० ३।१।२।१३-१६) इत्युपक्रम्याम्नातम्—तस्मिन्नेतामस्मिंस्त्वचमदधुर्वास एव । तस्मान्नान्यः पुरुषाद्वासो बिभर्ति । 'अथाश्वः । वज्रो वा अश्वो वज्रमेवैतत्पुरो गां कुरुते यमलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते यद्यमलोक एवैनमेतदपित्विनं करोति तं यमाय ब्रह्मणेऽददात्' (श० ४।३।४।२७) । 'वज्रो वा आपः' इत्यपां वज्रत्वं श्रूयते । अश्वश्चाद्भ्यः सम्भूतः, 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' (तै० सं० ५।३।१२) । तस्मात् कारणभूतानामपां वज्रत्वात् कार्यभूतोऽश्वोऽपि वज्रः । वज्रमेवैतत्पुरोगां यमलोकबाधपरिहारत्वेन पुरोगामिनं कुरुते । 'स हिरण्यं प्रत्येति । अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददात्वित्यग्नये ह्येतद्वरुणोऽदात् सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्र इति' (श० ४।३।४।२८) । मन्त्रं विधत्ते— अग्नये त्वा मह्यं ददात्विति । अग्नये ह्येतद्वरुणोऽददादिति ब्राह्मणवाक्यम् । अनेन मन्त्रगतस्याग्निपदस्य प्रयोगे उपपत्तिरुक्ता । वरुणोऽत्र

कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।१८) में प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

प्रजापतिः, सर्वं वृणोति व्याप्नोतीति वरुणः। स चाग्नये स्वयज्ञस्याग्नीधे एतद् हिरण्यमददादिति प्रसिद्धम्। आयुर्हि हिरण्यम्। तस्मान्मन्त्रेऽग्निपदं प्रयुक्तम्। हे हिरण्य, अग्निरूपाय मह्यं वरुणः प्रजापतिरूपस्त्वां ददातु। सोऽहं त्वां प्रतिगृह्णन् अमृतत्वमविनश्वरताम्, अशीय प्राप्नुयाम्। किञ्च, त्वं दात्रे यजमानाय आयुरेधि भव। लोटि मध्यमपुरुषैकवचने। प्रतिग्रहीत्रे मह्यं मयः सुखं भव। एवमेव पूर्वोक्तरीत्या अन्येऽपि मन्त्रा व्याख्याता एव।

अध्यात्मपक्षे— साधको ब्रह्मविद्याप्रेप्सया ब्रह्मविद्वरिष्ठं ब्राह्मणं प्राप्तुं भगवन्तं प्रार्थयते—अद्याहं साधको ब्राह्मणं विदेयम्। 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्' (छा० उ० ४।९।३), 'प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानायैव प्रेष्ठ' इत्यादिश्रुतिभ्यः। कीदृशं ब्राह्मणम्? पितृमन्तं प्रशस्तमातापित्राचार्यवन्तम्, 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' इति श्रुतेः। पुनः कीदृशम्? पैतृमत्यम्, श्रोत्रियत्वादिभिर्विख्यातम्, पितामहादिमन्तम्। ऋषिं प्रत्यक्षीकृतमन्त्रार्थम्। आर्षेयं जात्या प्रवरैश्च विख्यातम्। सुधातुदक्षिणं स्वर्णदक्षिणावन्तम्, एवंविशिष्टगुणस्य कुलीनस्य प्रशस्तपित्रादिमतो ब्रह्मविद्वरिष्ठब्राह्मणस्यैव आचार्यत्वसम्भवात्। आचार्यश्च कथयति—हे ब्रह्मविद्ये, अस्माभी राता दत्ता देवत्रा देवान् प्रति गच्छ। देवान् देवतुल्यान् विशिष्टाधिकारिणः कृतार्थयित्वा ब्रह्मविद्याफलं सम्पादयन्ती प्रदातारं पुनः प्रविश। यद्वा प्रदातारं प्रकृष्टदानादिपरायणं प्रविश साधकश्रेष्ठं प्रकर्षेण सफलय।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजाः सभासेनाजनाः, यथाहमद्य ब्राह्मणं पितृमन्तं पैतृमत्यं सुधातुदक्षिणं प्रदातारं विदेयम्, तथास्मद्राताः सन्तो यूयं देवत्रा गच्छत शुभान् गुणानाविशत। तद्रीत्या प्रशस्ताः पितरो रक्षकाः सत्याः सत्योपदेशका विद्यन्ते यस्य तमिति। पितृमतो भावं पैतृमत्यम्, ऋषिं वेदार्थविज्ञापकम्, आर्षेयमृषीणामिदं योगजं विज्ञानं प्राप्तम्, सुधातुदक्षिणं शोभना धातवो दक्षिणा यस्य दातुस्तं प्रदातारं च विदेयम्। तथास्मद्राता येऽस्मभ्यं रान्ति शुभान् गुणान् ददति, तेऽस्मद्राताः सन्तो यूयं देवत्रा देवेषु पवित्रगुणकर्मस्वभावेषु वर्तमाना गच्छत प्राप्नुत शुभान् गुणानाविशत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उपदेष्टू राजत्वे तस्य तादृशब्राह्मणप्राप्तेरकिञ्चित्करत्वात्। नहि राजा सुधातुदक्षिणं प्रदातारमपेक्षते, राज्ञो दक्षिणानपेक्षत्वात्। 'यथा तथा' इत्युक्तिर्नोपपद्यते, तुल्यत्वाभावात्। अहं यथा पितृमन्तं पैतृमत्यं विदेयम्, तथा यूयं देवत्रा गच्छत शुभान् गुणानाविशतेति वैषम्योपलम्भात्॥ ४६॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—साधक ब्रह्मविद्या की अभिलाषा से वरिष्ठ ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को प्राप्त करने के लिये भगवान् से प्रार्थना करता है कि मैं साधक आज ब्रह्मविद् को प्राप्त करूँ। श्रोत्रियत्व आदि के द्वारा विख्यात, पितामहादियुक्त, मन्त्रों के साक्षात्कर्ता, जाति एवं प्रवरों से प्रसिद्ध, स्वर्णदक्षिणावान्, इस प्रकार के विशिष्टगुणशाली, कुलीन, प्रशस्त पित्रादि वंशपरम्परा से युक्त, ब्रह्मविद्वरिष्ठ का ही आचार्यत्व सम्भव है। आचार्य कहता है—हे ब्रह्मविद्या, हमारे द्वारा प्रदान की गई तुम देवताओं के प्रति जाओ। देवतुल्य विशिष्ट अधिकारी जिज्ञासुओं को कृतार्थ करके ब्रह्मविद्या के फल का सम्पादन करती हुई दाता के प्रति पुनः आकर प्रविष्ट हो जाओ। अथवा विशिष्ट दान आदि में परायण व्यक्ति में प्रविष्ट हो जाओ। श्रेष्ठ साधक को विशिष्टतया सफल करो।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ असमीचीन है। उपदेष्टा के राजा होने पर उसको इस प्रकार के ब्राह्मण की उपलब्धि कोई विशेष बात नहीं है। राजा सुधातु दक्षिणावाले दाता की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि राजा दक्षिणा से निरपेक्ष है। यथा-तथा आदि शब्दों का प्रयोग भी उचित नहीं है, क्योंकि तुल्यता का यहाँ अभाव है॥ ४६॥

अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ॥ ४७ ॥

'अग्नये त्वेति हिरण्यं प्रतिगृह्णीत' (का० श्रौ० १०।२।२७)। यजमानेन दत्तं हिरण्यमनेन मन्त्रेण प्रतिगृह्णीयातामध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ। हिरण्यदैवतम्। हे हिरण्य, हिरण्यरूपं त्वामग्नये अग्निरूपाय मह्यं वरुणो ददातु दद्यात्। स प्रतिगृह्णन्नमृतत्वं विनाशराहित्यमश्यात् प्राप्नुयात्। दक्षिणायाः प्रदात्रे यजमानाय आयुः शतसंवत्सरपर्यन्तं दीर्घायुष्यमेधि भव। सुखमेधि भव। प्रतिग्रहीत्रे मह्यम्। मया वरुणेन पूर्वमग्न्यादिभ्यः कनकादिकं दत्तमतस्तद्रूपेण प्रतिगृह्णानो विप्रो न नश्यतीति देवतादेशः। अनेन विधिना गृह्णानः सोऽहममृतत्वमारोग्यमशीय व्याप्नुयाम्। 'रुद्राय त्वेति गाम्' (का० श्रौ० १०।२।२८)। गां प्रतिगृह्णीत। हे गौस्त्वां रुद्ररूपाय मह्यं वरुणो ददातु। सोऽहममृतत्वं प्राप्नुयाम्। हे गौस्त्वं दात्रे यजमानाय प्राणः प्राणरूपा सती एधि मह्यं ग्रहीत्रे वयोऽन्नं पशुर्वा एधि भव। दुग्धदध्यादिरूपेणान्नं सन्ततिद्वारा पशुश्च। 'बृहस्पतये त्वेति वासः' (का० श्रौ० १०।२।२८)। वस्त्रं गृह्णीतः। वासोदैवत्यम्। हे वासः, बृहस्पतिरूपाय मह्यं वरुणस्त्वां ददातु, सोऽहममृतत्वमशीय। त्वं च दात्रे त्वगेधि भव त्वगिन्द्रियसुखकारी भव। प्रतिग्रहीत्रे मह्यं मयः सुखं च भव। 'यमाय त्वेत्यश्वम्' (का० श्रौ० १०।२।२८)। हयं गृह्णीत। अश्वदैवत्यम्। हे अश्व, यमरूपाय मह्यं वरुणस्त्वां ददातु। स यमरूपोऽहमश्वं गृह्णानोऽमृतत्वं व्याप्नुयाम्। हे अश्व, त्वं दात्रे हयोऽश्वो भव, मह्यं प्रतिग्रहीत्रे वयोऽन्नं तद्दाता पशुर्वा भव सन्ततिद्वारा।

अध्यात्मपक्षे— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति रीत्या तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वात् सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वेन हिरण्यमचेतनबुद्धया सम्बोध्याह—हे हिरण्य, वरुणोऽग्निरूपापन्नाय मह्यं त्वां ददातु। पूर्वं वरुणेन कनकाद्यग्न्यादिभ्यो

मन्त्रार्थ— हे सुवर्ण ! वरुण देवता अग्निरूप को प्राप्त हुए मेरे लिये तुम्हें प्रदान करें। इस प्रकार से गृहीत सुवर्ण से मैं स्वास्थ्यलाभ करूँ, हे सुवर्ण ! तुम दाता की आयु में वृद्धि करो, प्रतिग्रह करने वाले मुझे भी सुख की प्राप्ति हो। हे गौ ! वरुण देवता रुद्ररूप को प्राप्त हुए मेरे निमित्त तुम्हें प्रदान करें, मैं स्वास्थ्यलाभ करूं, तुम दाता के बल और प्राण की वृद्धि करो। मुझ प्रतिग्रहीता के अन्न और पशु की वृद्धि करो। हे वस्त्र ! वरुण देवता बृहस्पतिस्वरूप मेरे निमित्त तुम्हें देता है। मैं तुमको प्राप्त करके अमृतत्व की प्राप्ति करूं। तुम दाता की त्वगिन्द्रिय की शक्ति को बढ़ाओ, प्रतिग्रहीता के सुख की वृद्धि करो। हे अश्व ! वरुण देवता यमस्वरूप मेरे निमित्त तुम्हें देते हैं, मैं तुमको प्राप्त कर आरोग्य को प्राप्त होऊं, दाता के यहाँ घोड़ों की वृद्धि करो, प्रतिग्रहीता की पशु-सम्पत्ति की भी वृद्धि करो ॥ ४७ ॥

भाष्यसार—'अग्नये त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों से याज्ञिक विधि के अन्तर्गत स्वर्ण, गौ, वस्त्र, अश्व आदि पदार्थों का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।२७–२८) में उल्लिखित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त पदार्थों के ब्रह्मरूप

दत्तमतस्तेन तेनात्मना गृह्णानो विप्रो न नश्यतीत्यनेन विधिना गृह्णानः सोऽहममृतत्वमारोग्यमशीय व्याप्नुयाम्। एवं गवि अन्नबुद्धिः, पशुबुद्धिः, प्रतिग्रहीतरि रुद्रबुद्धिः, दातरि वरुणबुद्धिरप्यध्यात्मचिन्तैव। तथैव वस्त्रे त्वग्बुद्धिः, प्रतिग्रहीतरि बृहस्पतिबुद्धिः, अश्वे हयबुद्धिः, प्रतिग्रहीतरि यमबुद्धिः, दातरि वरुणबुद्धिरप्यध्यात्मचिन्तैव ॥ ४७ ॥

कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात्। कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत् ते ॥ ४८ ॥

सप्तमाध्यायः समाप्तः ॥

'कोऽदादित्यन्यदिति' (का० श्रौ० १०।२।२९)। अन्यन्मन्थौदनतिलादि गृह्णीत कोऽदादिति मन्त्रेण। कामदैवत्यम्। दातुर्दानाभिमानाभावाय स्वस्य च प्रतिग्रहादिजनितदोषाभावाय देहेन्द्रियात्मसंघाते कामं विविनक्ति। कोऽदाद् दत्तवान्? कस्मै अदाद् दत्तवान्? इति प्रश्नद्वयस्योत्तरम् कामोऽदात्, कामायैवादात्। त्वत्कामाभिमानी देवो मत्कामाभिमानिनेऽदात्। तथा च काम एव दाता काम एव प्रतिग्रहीता। हे काम, एतद्द्रव्यं ते तव। तवैव दातृप्रग्रहीतृत्वात् त्वमेव केनचित्प्रयोजनेन ददासि, केनचित्प्रयोजनेन प्रतिगृह्णासि। वयं तु तव सम्बन्धिना सता विद्यमानेन भोगजातेत दानप्रतिग्रहादिकं कुर्मः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यदन्यद् ददाति। कामेनैव तद्दातीदं मेऽप्यमुत्रासदिति तत्प्रत्येति कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्त इति तद्देवताया अतिदिशतीति' (श० ४।३।४।३२)। हिरण्यादिदानानन्तरं यत्किञ्चिन्मन्थादिदानं विधत्ते—अथ यदन्यद्ददातीति। अथोक्तदक्षिणादानानन्तरमन्यद् वस्तु यदि दद्यात्, तदापि कामेनैव यथैवामुष्मिल्लोके स्वर्गेऽप्यस्त्विति दद्यात्। न पुनरिज्यायाः पूर्वोक्तदक्षिणाद्रव्यवदवश्यं दातव्यम्। इच्छया दत्तस्यायं प्रतिग्रहमन्त्रः कोऽदादिति। मन्त्रो व्याख्यात एव। प्रतिग्रहमन्त्रेषु तत्तद्देवतावाचकशब्दोच्चारणस्य प्रयोजनमुच्यते—तद्देवताया अतिदिशतीति। तत् तेन मन्त्रेषु देवतावाचकशब्दोच्चारणेन देवतायै देवतार्थमतिदिशति स्वकीयं प्रतिग्रहीतृत्वमारोपयति, देवतामेव प्रतिग्रहीत्रीं करोति। प्रतिग्रहीतुरात्मनः प्रतिग्रहीतृत्वे दोषं देवतारूपेण प्रतिग्रहीतृत्वे च गुणं तैत्तिरीयश्रुतिराह—'देवा वै वरुणमयाजयन्। स यस्यै यस्यै देवतायै दक्षिणामनयत् तामब्लीनात्। तेऽब्रुवन् व्यावृत्य

होने के कारण स्वर्ण को अचेतन रीति से संबोधित किया गया है कि हे हिरण्य, अग्निरूप को प्राप्त हुए मेरे लिए वरुणदेव तुम्हें प्रदान करें। पुराकाल में वरुण ने अग्नि आदि को स्वर्ण आदि प्रदान किया था। अतः उन उनके रूप से पदार्थों को ग्रहण करने वाला विप्र क्षीण नहीं होता। इस प्रकार उपर्युक्त विधि से ग्रहण करने वाला मैं अमृतत्व, आरोग्य को प्राप्त करूँ। इसी भांति गौ में अन्नबुद्धि, पशुबुद्धि तथा ग्रहणकर्ता में रुद्रबुद्धि एवं दाता में वरुणबुद्धि भी अध्यात्मचिन्ता ही है। इसी प्रकार वस्त्र में त्वचा की बुद्धि, प्रतिग्रहीता में बृहस्पति की बुद्धि, अश्व में घोड़े की बुद्धि, ग्रहीता में यम की दृष्टि तथा दाता में वरुण की दृष्टि भी आध्यात्मिक ही है। ४७ ॥

मन्त्रार्थ—किस महान् आत्मा ने दान किया? किसके निमित्त दान किया? यज्ञफल की कामना के निमित्त यजमान ने दान किया, कामना ही देने वाली है, अभिलाषा ही प्रतिग्रह करने वाली है। हे अभिलाष! अभिलाषा करने योग्य यह समस्त वस्तु तुम्हारी ही है ॥ ४८ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।२९) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'कोऽदात्' इस मन्त्र

प्रतिगृह्णाम, तथा नो दक्षिणा न व्लेष्यतीति । ते व्यावृत्य प्रत्यगृह्णन् । ततो वै तान् दक्षिणा नाव्लीनात् । य एवं विद्वान् व्यावृत्य दक्षिणां प्रतिगृह्णाति नैनं दक्षिणा व्लीनाति' (तै० सं० २।२।५)। तस्माद्देवतायै प्रतिग्रहीतृत्वे निर्दिष्टे स्वात्मनो न कश्चिद् दोषो भवतीत्यर्थः । 'तदाहुः.....' (श० ४।३।४।३३)। केचिदाहुः—न देवताया अतिदिशेत्, किन्तु स्वयमेव प्रतिगृह्णीयात् । तेषामयमाशयः—इदानीं यां देवतां हविर्दानात् समिन्धे दीपयति, सा दीप्यमाना सत्युत्तरोत्तरं श्रेयस्करी भवति । 'इदं वै यस्मिन्नग्नावभ्यादधाति स दीप्यमान एव श्वः श्वः श्रेयान् भवति । श्वः श्वो ह वै श्रेयान् भवति य एवं विद्वान् प्रतिगृह्णाति तद्यथा समिद्धे जुहुयादेवमेतां जुहोति यमधीयते ददाति तस्मादधीयन्नातिदिशेत्' (श० ४।३।४।३३)। अयमभिप्रायः—दाता यस्मै ददाति तस्मै देवतारूपायैव ददामीति ददाति । तथा च तस्य साद्गुण्यसम्भवादुत्तरोत्तरं श्रेय एव भवति । तस्माद्दातुः साद्गुण्यसम्पादनेन श्रेयोनिमित्तं देवताया अतिदिश्यन् न प्रतिगृह्णीयात्, किन्तु स्वयमेव प्रतिगृह्णामीत्येवोच्चार्य गृह्णीयादित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—कोऽदात्, कस्मा अदाद् इति प्रश्नद्वयस्य कामोऽदात् कामः प्रतिग्रहीतेत्युत्तरम् । एतद् द्रव्यं ते तव, तवैव केनचिद्रूपेण दातृत्वात्, केनचिद्रूपेण प्रतिग्रहीतृत्वाच्च । एतावता दातुर्दानाभिमानोऽपसार्यते, प्रतिग्रहीतुश्च प्रतिग्रहजनितदोषोऽपसार्यते, कामाभिमानिनो देवस्यैव दानप्रतिग्रहहेतुत्वात्, 'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् । यद् यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥' (२।४) इति मनूक्तेश्च । जानाति, इच्छति, अथ करोति । यथा ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, तथैव कर्माण्यपि स्थूलानि सूक्ष्माणि चेच्छाजन्यान्येव, इच्छामन्तरा कस्याश्चिदपि चेष्टाया अभावात् ।

दयानन्दस्तु—'कः अदात् कर्मफलानि ददाति, कस्मै अदात्, एतयोः प्रश्नयोरुत्तरम्—कामोऽदादिति । काम्यते यः स परमेश्वरः, अदाद् ददाति कर्मफलम् । कामाय कामयमानाय जीवाय अदात् । कामः, यः काम्यते सर्वैर्योगिभिः स परमेश्वरो दाता सर्वपदार्थदायकः । कामो जीवः प्रतिग्रहीता । कामयतेऽसौ कामस्तत्सम्बुद्धौ हे जीवात्मन् ! एतदाज्ञापनं ते त्वदर्थमिति त्वं निश्चिनुहि' इति, तदपि श्रुतिसूत्रादिविरुद्धमेव । कर्मफलानीत्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव, यज्ञप्रसङ्गे दक्षिणाया एव प्रसक्तत्वात् । कामः परमेश्वरो दाता इत्यत्र

से अन्य पदार्थों का ग्रहण किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना यह है—किसने दिया ? तथा किसके लिये दिया ? इन दो प्रश्नों का समाधान है कि काम ने दिया है तथा काम ही ग्रहण करने वाला है । यह द्रव्य तुम्हारा ही है, क्योंकि किसी रूप से देने तथा किसी रूप से ग्रहण करने वाले तुम ही हो । इसके द्वारा प्रदान करने वाले का दानाभिमान निवृत्त किया जाता है तथा प्रतिग्रहीता के प्रतिग्रह से प्राप्त दोष का भी निराकरण किया जाता है । कामाभिमानी देव ही दान तथा प्रतिग्रह का कारण है । यही मनु द्वारा भी 'अकामस्य क्रिया' आदि वचन में प्रतिपादित है । जिस प्रकार इच्छा ज्ञान से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म कर्म भी इच्छा से उत्पन्न होते हैं । इच्छा के बिना किसी भी चेष्टा का अभाव ही रहता है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ श्रुति तथा सूत्र के वचनों के विरुद्ध है । कर्मफलों का अध्याहार करना निर्मूल है, क्योंकि यज्ञ के प्रसंग में दक्षिणा का ही औचित्य है । 'काम परमेश्वर दाता है' इसमें कर्मफल का ही प्रदान मानना होगा । तब कर्मफल अप्रतिग्रहयोग्य होने के कारण 'कामः प्रतिग्रहीता' यह वचन संगत नहीं होगा । ईश्वर का

कर्मफलस्यैव दातृत्वं मन्तव्यम्, तदा कामः प्रतिग्रहीता इत्यसङ्गतं स्यात्, कर्मफलस्याप्रतिग्राह्यत्वात्। न चात्राज्ञापनमस्ति किञ्चित्, वस्तुस्थितिमात्रस्य त्वद्रीत्योक्तत्वात्, भावार्थे—'अकामस्य क्रिया काचित्' (म० स्मृ० २।४) इत्युद्धरणस्य निष्प्रयोजनत्वापत्तेश्च। न चेश्वरस्य सर्वकर्मास्पदत्वं संभवति, तथात्वे तत्र संशयजिज्ञासाद्यनुपपत्तेः। नहि रागास्पदे ज्ञानप्राप्त्युपायादिकं विधीयते। तस्मात् काम्यते यः स परमेश्वर इति व्याख्यानमसंगतमेव। सर्वथापि कुशकाशावलम्बनमात्रमेव दयानन्दीयं व्याख्यानम्। सायणोव्वटमहीधरादिसम्मतं व्याख्यानं तु श्रुति-सूत्र-पद्धति-पारम्पर्यानुकूलमेवेति तत्र तत्र दर्शितमेव ॥ ४८ ॥

॥ इति वेदार्थपारिजातभाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥

सर्वकामास्पद होना भी संभव नहीं है। ऐसा होने पर उसमें संशय, जिज्ञासा आदि संगत नहीं होंगे। अतः 'काम्यते यः स परमेश्वरः' यह व्याख्यान भी अयुक्त है। यह व्याख्यान सर्वथा सतही है। उव्वट, सायण, महीधर आदि आचार्यों से संमत व्याख्यान ही श्रुति, सूत्र, पद्धति तथा परम्परा के अनुकूल है, यह स्थान-स्थान पर प्रदर्शित कर दिया गया है ॥ ४८ ॥

अष्टमोऽध्यायः

उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा । विष्ण उरुगायैष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन् ॥ १ ॥

सप्तमे उपांशुग्रहादिसवनद्वयगता मन्त्रा दक्षिणादानान्ता आम्नाताः। अष्टमे तृतीयसवनगता आदित्यादिग्रहा उच्यन्ते। तत्र-'प्रतिप्रस्थाता आदित्यपात्रेण द्रोणकलशादुपयामगृहीतोऽसीति गृहीत्वा द्विदेवत्याननुजुहोत्युत्तरार्धे' (का० श्रौ० ९।९।१२)। प्रतिप्रस्थाता आदित्यपात्रेण द्रोणकलशाद् उपयामगृहीतोऽसीत्येतावतैव मन्त्रेण देवतानिर्देशशून्येन सोमं गृहीत्वा द्विदेवत्यहोमानन्तरमुत्तरभागे जुहुयात्। अध्वर्योर्द्विदेवत्यहोममनु होमः प्रतिप्रस्थातुः। सोमदेवत्यम्।

मन्त्रार्थस्तु—उपयामेन पात्रेण त्वं मया गृहीतोऽसि। 'शेषꣳ शेषमादित्यस्थाल्यामासिञ्चत्यादित्येभ्यस्त्वेति' (का० श्रौ० ९।९।१७)। प्रतिप्रस्थाता द्विदेवत्याननु प्रतिहोममादित्यपात्रस्थं हुतशेषमादित्यस्थाल्यामासिञ्चेत्। सर्वेषु द्विदेवत्येष्वनुहोतव्यम्, स्थाल्यां चावनेतव्यम्। सोमदेवत्यम्। हे सोम, आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां सिञ्चामीति शेषः। 'समासिच्य तेनापिदधाति विष्ण उरु गायेति' (का० श्रौ ९।९।१८)। तृतीयवारमादित्यस्थाल्यामासिच्य तेनैवादित्यपात्रेणादित्यस्थालीमपिदध्यादिति सूत्रार्थः। विष्णुदैवतम्। हे विष्णो यज्ञपुरुष, हे उरुगाय, उरुभिर्बहुभिर्गीयते स्तूयत इति उरुगायस्तत्सम्बुद्धौ। एष सोमस्ते तवार्पितः, तं सोमं रक्षस्व गोपायस्व। आत्मनेपदमार्षम्। हे सोम, रक्षणे प्रवृत्तं त्वां मा दभन् मा दभ्नुयुः, मा हन्युः, रक्षांसीति शेषः। यद्वा हे विष्णो, उरुगाय उरुगमनाय वा एष ते तव सोमः समर्पितः, तं रक्ष। शेषं पूर्ववत्। यद्वा हे विष्णो यज्ञ, 'यज्ञो वै विष्णुः' (श० ४।३।४।८) इति श्रुतेः। उरुगाय विस्तीर्णव्याप्ते ! एष सोमस्ते तव सम्बन्धी, अतस्त्वं रक्षस्व गोपाय त्वां रक्षांसि मा दभन् मा हिंसिषुः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। हे सोम ! आदित्यगणों की प्रीति के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे बड़ी स्तुति को प्राप्त होने वाले यज्ञपुरुष ! यह सोम तुम्हारे निमित्त है। इस सोम की रक्षा करो। रक्षा करने में असुरबल तुमको पीड़ा न पहुँचावें ॥ १ ॥

भाष्यसार—सप्तम अध्याय में उपांशु ग्रह आदि के दो सवनों के अन्तर्गत विनियुक्त दक्षिणादान तक के मन्त्र उपदिष्ट किये गये। अष्टम अध्याय में तृतीय सवन के अन्तर्गत आदित्य आदि ग्रहों के मन्त्र प्रतिपादित किये जा रहे हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र (९।९।१२, १७, १८) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'उपयामगृहीतः' इस कण्डिका के मन्त्रों से आदित्य ग्रह का ग्रहण, हुतशेष का आदित्यस्थाली में आसिचन आदि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे सोम, तुम उपयाम पात्र के द्वारा ग्रहण किये गये हो। आदित्यों के लिये तुम्हारा सिंचन करता हूँ। हे यज्ञपुरुष विष्णु, हे सबके द्वारा संस्तुत, यह सोम आपके लिये अर्पित है। इस सोम की रक्षा करो। हे सोम, रक्षा में संयुक्त तुमको राक्षसगण हिंसित न करें। अथवा हे विष्णु, विशाल व्याप्तियुक्त यज्ञ ! यह सोम तुमसे सम्बद्ध

क॒दा च॒न स्त॒रीर॑सि॒ नेन्द्र॑ सश्चसि दा॒शुषे॑ । उपो॒पेन्नु म॑घव॒न्भूय॒ इन्नु ते॒ दान॑न्दे॒वस्य॑ पृच्यत आदि॒त्येभ्य॑स्त्वा ॥ २ ॥

'आदित्यग्रहं गृह्णाति स्ँस्रवेभ्यः कदाचनेति' (का० श्रौ० १०।५।३)। हविर्धानेऽपिहितद्वार आदित्यपात्रमादाय ये पूर्वमादित्यस्थाल्यामासिक्ताः संस्रवास्तान् संस्रवांश्चादित्यस्थाल्या आदाय पूतभृत उपरि तेभ्यः संस्रवेभ्य आदित्यपात्रेणादित्यग्रहं गृह्णीयात् कदाचनेति मन्त्रेण। आदित्यदेवत्ये बृहत्यौ यजुरन्ते। तृतीयो द्वादशार्णस्त्रयोऽन्येऽष्टार्णाः सा बृहती। तृतीयेऽध्याये बृहदुपस्थानगता (३।३४) इन्द्रदेवत्या सा। इह त्वादित्यदेवत्या यजुरन्ता चेति विशेषः। हे इन्द्र, परमैश्वर्यशालिन्नादित्य, त्वं कदाचन कदाचिदपि स्तरीर्हिंसको न भवसि, किन्तु दाशुषे आहुतिं दत्तवते यजमानाय सश्चसि प्रीणयसे। यद्वा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। हविर्दत्तवतो यजमानस्य हविः सश्चसि सेवसे। यद्वा स्तरीराच्छादकः, स त्वं विस्तृतं वितत्य धनानामाच्छादको न वितरसि, किन्तु दाशुषे यजमानाय फलदानार्थं सश्चसि गच्छसि—इति शतपथभाष्ये सायणाचार्यः। उप इन्नु यजमानस्यात्यन्तसमीप एव। यद्वा उपेति पादपूरणे, इन्नु क्षिप्रमेव हे मघवन्, धनसम्पन्न इन्द्र, भूय इन्नु पुनरेव च देवस्य तव दानम्, दीयत इति दानम्, देयं हविः पृच्यते त्वया सम्बद्धयते। यजमानेन हविर्दीयत इत्यर्थः। हे ग्रह, आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामीति काण्वसंहितागतसायणभाष्यानुसारि व्याख्यानम्।

अत्र शतपथब्राह्मणम्—'त्रयो वै देवाः। वसवो रुद्रा आदित्यास्तेषां विभक्तानि सवनानि वसूनामेव प्रातःसवनँ रुद्राणां माध्यन्दिनँ सवनमादित्यानां तृतीयसवनं तद्वा अमिश्रमेव वसूनां प्रातःसवनममिश्रँ रुद्राणां माध्यन्दिनँ सवनममिश्रमादित्यानां तृतीयं सवनम्' (श० ४।३।५।१)। दक्षिणादानानन्तरं मरुत्वतीयमाहेन्द्रोक्थ्यग्रहाणां यागे कृते माध्यन्दिनं सवनमनुष्ठीयते। तृतीयसवनस्योपक्रमे आदित्यग्रहयागः क्रियते। तमादित्यग्रहयागं विधातुमयं प्रस्तावः। प्रातःसवनं वसूनाम्, तच्च गायत्रीच्छन्दस्कम्। अष्टाक्षरा गायत्री वसवश्चाष्टौ। तेन संख्यासाम्याद्गायत्रीसम्बन्धाद्गायत्रं प्रातःसवनम्। एवं त्रैष्टुभं जागतम्। उक्तप्रकारेणोत्तरयोर्द्वितीयतृतीयसवनयोरपि सम्बन्धो ज्ञातव्यः। तद्वा अमिश्रं प्रातःसवनं केवलं गायत्रमतश्छन्दोऽन्तरसम्बन्धराहित्यादमिश्रम्। माध्यन्दिनं सवनं केवलमिन्द्रदेवत्यमिति श्रूयते—'प्रातः सुतमपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते' (ऋ० ४।३५।७)। तृतीयसवनं तु छन्दोऽन्तरसंगतत्वान्नानादैवत्यत्वाच्च मिश्रमिति।

'ते हादित्या ऊचुः।''''इतरस्मिन् सवने स्मो नेवेतरस्मिन् यद्वै नो रक्षाँसि न हिँस्युरिति' (श० ४।३।५।३), 'ते ह द्विदेवत्यानूचुः। रक्षोभ्यो बिभीमो हन्त युष्मान् प्रविशामेति' (श० ४।३।५।४), 'ते ह द्विदेवत्या ऊचुः। किमस्माकं ततः स्यादित्यस्माभिरनुवषट्कृता भविष्यथेत्यु हादित्या ऊचुस्तथेति ते द्विदेवत्यान् प्राविशन्' (श० ४।३।५।५), 'स यत्र प्रातःसवने। द्विदेवत्यैः प्रचरति तत्प्रतिप्रस्थातादित्यपात्रेण द्रोणकलशात्

है, अतः तुम इसकी रक्षा करो। तुमको राक्षस हिंसित न करें।

अध्यात्मपक्षीय मन्त्रार्थ अग्रिम मन्त्र के साथ संयुक्त है ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! तुम कभी भी हिंसक नहीं हो सकते और हवि देने वाले यजमान की हवि को यजमान के अत्यन्त समीप जाकर सेवन करते हो। हे मघवन् इन्द्र ! यजमान के द्वारा देवताओं को दिया गया हविरूप दान भी आपसे ही सम्बद्ध होता है। हे ग्रह, आदित्य देवता की प्रीति के लिये मैं तुम्हारा करता हूँ ॥ २ ॥

भाष्यसार—'कदाचन' इस कण्डिका से आदित्य ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन

प्रतिनिगृह्णीत उपयामगृहीतोऽसीत्येतावताध्वर्युरेवाश्रावयत्यध्वर्योरनु होमं जुहोति प्रतिप्रस्थाता आदित्येभ्यस्त्वेति सꣳस्रवमवनयत्येतावतैवमेव सर्वेषु' (श० ४।३।५।६)। आदित्यग्रहोपयोगिनीमाख्यायिकामाह—ते हादित्या इति। येनोपायेन रक्षांसि न हिंस्युरिति विचार्य ते द्विदेवत्यानूचुः (४।३।५।३-५)। अस्माभिरनुवषट्कृता भविष्यथेति प्रतिश्रुत्य ते द्विदेवत्यान् प्राविशन्। आख्यायिकायाः फलितार्थं प्रतिश्रुतं द्विदेवत्यानामनुवषट्कारं दर्शयितुं द्विदेवत्ययागकाले तदुपयुक्तं प्रयोगमाह—स यत्रेति। सोऽध्वर्युर्यत्र प्रातःसवने यदा द्विदेवत्यैः प्रचरति, तदा प्रतिप्रस्थाता आदित्यपात्रेण द्रोणकलशात् प्रतिनिगृह्णीते द्विदेवत्यग्रहस्य द्वितीयत्वेन गृह्णीते। तत्र 'उपयामगृहीतोऽसि' इत्येतावान् मन्त्रः। अध्वर्युरेवाश्रावयेत्, न पुनः प्रतिप्रस्थाता। अध्वर्युणा कृतं होममनुलक्ष्य जुहोति प्रतिप्रस्थाता आदित्येभ्यस्त्वेति संस्रवमवनयति, आदित्यस्थाल्यामासिञ्चति, सर्वेषु ऐन्द्रवायव-मैत्रावरुणाश्विनेष्वेवमेव प्रतिनिग्रहणादिकं कुर्यादित्यर्थः।

'तद्यत्प्रतिप्रस्थाता प्रतिनिगृह्णीते। द्विदेवत्यान् वै प्राविशन्नस्माभिरनुवषट्कृता भविष्यथेत्यु हादित्या ऊचुर्यां वा अमूं द्वितीयामाहुतिं जुहोति स्विष्टकृते वै तां जुहोति स्विष्टकृतो वा एतेऽनुवषट्क्रियन्ते तथो हास्यैतेऽनुवषट्कृता इष्टस्विष्टकृतो भवन्त्युत्तरार्धे जुहोत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक् तस्मादुत्तरार्धे जुहोति' (श० ४।३।५।७)। प्रतिप्रस्थातृकृतया द्वितीयाहुत्या द्विदेवत्यानामनुवषट्कारसिद्धिमाह—यां वा अमूमिति। यां वा अमूं द्वितीयामाहुतिं जुहोति स्विष्टकृदर्थं हि तां जुहोति। यत एते सर्वेऽपि ग्रहाः स्विष्टकृतोऽर्थेऽनुवषट्क्रियन्ते। सोमस्याग्ने 'वीही वौषट्' इत्यनेन क्रियमाणो होमोऽनुवषट्कारः। तथो ह तथैवेतरग्रहवदस्य यज्ञस्य सम्बन्धिन एते हि द्विदेवत्या अपि प्रतिप्रस्थातृकृतयाऽऽहुत्या अनुवषट्कृता भवन्ति। उक्तहोमस्य उत्तरार्धं देशं विधत्ते—एषा ह्येतस्येति। एषा हि एतस्य देवस्य स्विष्टकृतोऽग्नेः सम्बन्धिनी दिक्। रुद्रस्य तूत्तरा दिगिति श्रुतिषु प्रसिद्धेः। 'एषा वै रुद्रस्य दिक्' (तै० सं० ५।४।३) इति हि सा श्रुतिः।

'यद्वेव प्रतिप्रस्थाता प्रतिनिगृह्णीते। द्विदेवत्यान् वै प्राविशन्त्स यानेव प्राविशंस्तेभ्य एवैतन्निर्मिमीतेऽथापिदधाति रक्षोभ्यो ह्बिभयुर्विष्ण उरु गायैष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन्निति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञायैवैतत् परिददाति गुप्त्या अथाह सꣳस्थित एव माध्यन्दिने सवने पुरा तृतीयसवनादेहि यजमानेति' (श० ४।३।५।८)। विहितं प्रतिनिग्रहणं द्विदेवत्यसंसृष्टादित्योत्पादकत्वेन च प्रशंसति—यद्वेवेति। द्विदेवत्यग्रहयागानन्तरमादित्यपात्रेणादित्यस्थाल्याच्छादनं समन्त्रकं विधत्ते—अथापिदधातीति। पिधानस्य प्रयोजनमाह—यज्ञो वै विष्णुरित्यादिना। मन्त्रोच्चारणस्य प्रयोजनमुच्यते—द्विदेवत्येति। द्विदेवत्यग्रहशेषैरादित्यग्रहो गृह्यते। अतः 'ते हादित्या....' इत्यादिनोक्तस्यैवार्थस्य 'अथापिदधाति यज्ञायैवैतत्परिददाति गुप्त्यै' इत्यन्तेन ब्राह्मणेन तच्छेषप्राप्तिप्रचारः प्रदर्शितः। अथाह—संस्थित एव माध्यन्दिन इत्यादि।

'ते सम्प्रपद्यन्ते। अध्वर्युश्च यजमानश्चाग्नीध्रश्च प्रतिप्रस्थाता चोन्नेताऽथ योऽन्यः परिचरो भवन्त्युभे द्वारे अपिदधाति रक्षोभ्यो ह्बिभयुरध्वर्युरादित्यस्थालीं चादित्यपात्रं चादत्ते स उपर्युपरि पूतभृतं विगृह्णाति नेद्व्यवश्चोतदिति' (श० ४।३।५।९)। विहिते काले ग्रहस्य ग्रहणात् प्राक्कर्तव्यमनुष्ठानविशेषं विधत्ते—ते सम्प्रपद्यन्त इति। अध्वर्य्वादयः, यश्चान्यो जनः परिचरवर्ती भवति, परिचरशब्देनात्र पत्नी विवक्षिता, सा हि हविर्धानं प्रपद्यते, 'हविर्धानं प्रविशन्ति अध्वर्युयजमानप्रतिप्रस्थात्रग्नीदुन्नेतारः, पत्नी चापरेणेति'

श्रौतसूत्र (१०।४।३) में प्रतिपादित है। शतपथ तथा तैत्तिरीय श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

(का० श्रौ० १०।४।१-२) इति कात्यायनसूत्राभ्याम् । पूतभृतमुपर्युपरि पूतभृतः समीप उपरि प्रदेशे, तच्च नैव सोमबिन्दुर्भूमौ क्षरत्वित्यभिप्रायेण गृह्णीयादित्यर्थः । अन्यत् स्पष्टमेव । 'अथ गृह्णाति । कदाचन स्तरी''''आदित्येभ्यस्त्वेति' (श० ४।३।५।१०) । मन्त्रार्थस्तूक्त एव । 'तं वै नोपयामेन गृह्णीयात् । अग्रे ह्येवैषोपयामेन गृहीतो भवत्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यदेनमत्राप्युपयामेन गृह्णीयात्' (श० ४।३।५।११) । द्विदेवत्यानां यागकाले प्रतिप्रस्थाता उपयामगृहीतोऽसि गृहीतः खलु । तस्मात्तस्यैतन्मन्त्रशेषत्वादत्र तन्न प्रयोक्तव्यम् । स्पष्टमन्यत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे विष्णो, व्यापिन् परमेश्वर ! हे उरुगाय, उरुभिर्बहुभिर्भक्तैः स्तोत्रशस्त्रैर्वाजे गीयमान, त्वमुपयामेन यमनियमादिसमीपस्थेन प्रेम्णा गृहीतोऽसि । आदित्येभ्यः संवत्सरेभ्यः, अनन्तकालाय त्वामहमाश्रये । एषोऽहं ते तव सोमोऽन्नं भोग्योपकरणभूतं त्वत्सेवार्थं त्वयि समर्पितस्तं रक्षस्व गोपाय । कामक्रोधादिभ्यस्त्वत्प्राप्तिप्रतिबन्धकेभ्यः पालय । तव तु सर्वेश्वरत्वाद् वशीकृतमायत्वात् त्वां ते मा दभन् मा हिंस्युः । कदाचनेति । हे इन्द्र, परमैश्वर्यशालिन्, त्वं कदाचन कदापिदपि स्तरीर्घातिको नासि न भवसि, किन्तु दाशुषे स्वात्मसमर्पयित्रे भक्ताय सश्चसि प्रीणयसे प्राप्नोषि वा । न त्वं दूरे भवसि, किन्तु उपोपेन्नु भक्तानामत्यन्तसमीप एव भवसि । हे मघवन्, प्रशस्तषडैश्वर्यरूपधनवन्, भूय एव पुनरेव देवस्य जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलस्य ते तव दानं देयं वा अभीष्टं पृच्यते भक्तैः सम्बध्यते, भक्तेभ्यस्त्वया स्वात्मापि दीयते । हे इन्द्र ! आदित्येभ्योऽनन्तसंवत्सरेभ्यस्त्वामहमाश्रये ।

दयानन्देन त्विमौ मन्त्रौ विवाहपरत्वेन व्याख्यातौ । तथाहि—'हे कुमार ब्रह्मचारिन् ! सेवितचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्या ब्रह्मचारिण्यहमादित्येभ्यः कृताष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्येभ्यः पुम्भ्यस्त्वामङ्गीकरोमि त्वमुपयामगृहीतोऽसि । हे विष्णो, सर्वशुभविद्यागुणकर्मस्वभावव्याप्त ! उरुगाय, उरूणि बहूनि शास्त्राणि गायति पठतीति तत्सम्बुद्धौ, एष गृहाश्रमः, ते तव सोमो मृदुगुणवर्धकः, तं रक्षस्व । मा त्वां कामबाणा दभन् मा हिंसन्तु' इति, तदपि निर्मूलमेव, कुमारादिसम्बोध्यसम्बोधकविवक्षायां मानाभावात् । सेवितचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्याहमित्यपि कल्पनामात्रम्, निर्मूलत्वात्, मनूक्तविवाहवयोनिर्देशविरोधाच्च । सोमशब्दस्य मृदुगुणवर्धकोऽर्थोऽपि निर्मूलः,

---

अध्यात्मपक्ष में प्रथम मन्त्र की अर्थसंगति इस प्रकार है—हे व्यापक परमेश्वर, हे अनेक भक्तों अथवा स्तोत्र आदि के द्वारा उपवर्णित ! आप यम-नियम आदि के सहकृत प्रेम के द्वारा गृहीत हैं । अनेक संवत्सरों, अनन्त काल के लिये मैं आपका आश्रय ग्रहण करता हूँ । मैं आपका यह भोग्य उपकरणरूपी आपकी सेवा के लिये आपके प्रति समर्पित हूँ । इसकी रक्षा कीजिये । काम, क्रोध आदि आपकी प्राप्ति में प्रतिबन्धक तत्त्वों से सुरक्षा कीजिये । आप तो सर्वेश्वर हैं, माया को वश में करने वाले हैं, अतः वे आपको अभिभूत नहीं करेंगे ।

द्वितीय मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है—हे परमैश्वर्यशाली ! आप कभी भी हानिकारक नहीं होते, अपितु स्वात्मसमर्पण करने वाले भक्त के लिये पूर्णता करते हैं, अथवा प्राप्त होते हैं । आप दूर नहीं होते, अपितु भक्तों के अत्यन्त समीप ही रहते हैं । हे प्रशस्त छः ऐश्वर्यादि रूपी धनों से युक्त, पुनः जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहृति की लीला करने वाले आपका देय अथवा इच्छित भक्तों से सम्बन्ध होता है । भक्तों के लिये आप स्वात्मा को भी प्रदान करते हैं । हे परमेश्वर, अनन्त वर्षों के लिये मैं आपका आश्रय लेता हूँ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा ये दोनों मन्त्र विवाहपरक दृष्टि से व्याख्यात हैं । परन्तु वह भी निर्मूल ही है, क्योंकि कुमार आदि के सम्बोध्य तथा सम्बोधनकर्ता की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है । 'चौबीस वर्षों तक ब्रह्मचर्य का सेवन करने वाली मैं' इत्यादि व्याख्या अप्रामाणिक तथा मनु द्वारा निर्दिष्ट विवाह की अवस्था से विरुद्ध होने के कारण केवल कल्पना

तस्य तत्राशक्तत्वात् । दभन्नित्यस्य कर्तृत्वेन कामबाणानामध्याहारोऽपि निर्मूल एव, शतपथे रक्षसां प्रसङ्गस्योक्तत्वात् । कदाचनेत्यत्र तु 'हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त पते, यतस्त्वं कदाचन स्तरीर्नासि स्वग्रीवाच्छादकः संकुचितो न भवसि, तस्माद् दाशुषे इन्नूपोप सश्चसि दानशीलस्य समीपं प्राप्नोषि । हे मघवन्, देवस्य विदुषो यद्दानं तदेव इन्नु भूयः पृच्यते सम्बध्यते मह्यं प्राप्यतां प्रतिमासेभ्यः प्रतिमासम् । अतोऽहं स्त्रीत्वेनादित्येभ्यः सदा सुखप्रापकं त्वामाश्रये' इत्यपि काल्पनिकमेव व्याख्यानम्, अन्यथापि क्लिष्टकल्पनया व्याख्यातुं शक्यत्वात्, श्रुतिसूत्रादिविरोधाच्च । स्तरीरित्यस्याच्छादकार्थकत्वेऽपि स्वग्रीवाच्छादकः संकुचितो न भवसीत्यर्थस्य निर्मूलत्वात् । न च साधारणे मनुष्ये पत्यौ इन्द्रपदप्रयोगः सम्भवति, तत्र परमैश्वर्यायोगात् ॥ २ ॥

कदाचन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी । तुरीयादित्यसवनं त इन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा ॥ ३ ॥

'अपगृह्य पुनः कदाचनेति' (का० श्रौ० १०।४।४) । धारातो विच्छिद्य पूतभृतः सकाशादात्मसमीपं नीत्वा पुनस्तथैवादित्यग्रहं गृह्णीयात् । नात्रोपयाम इति पूर्वं शतपथवचनेनोक्तमेव । हे आदित्य, त्वं कदाचन कस्मिन् काले वा प्रयुच्छसि प्रमाद्यसि, अर्थात् कदाचिदपि न प्रमाद्यसीति वाकुः । उदय-ताप-पाक-प्रकाशैः प्राणिनोऽनुगृह्णन् कदाचिदप्यालस्यं न करोषि । तुरीय, तुरीयं चतुर्थं मायातीतं शुद्धम् आदित्यसवनम्, सुवति स्वकार्ये जगत्प्रेरयतीति सवनम्, ते त्वदीयं जगत्प्रवर्तकममृतमविनश्वरं विज्ञानानन्दस्वभावं यदिन्द्रियं वीर्यम्, तद्दिवि द्युलोके सूर्यमण्डलान्तरे आतस्थौ आभिमुख्येन स्थितम्, 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (३१।३) इति मन्त्रवर्णात् । अथवा 'कदा, च, न' इति पदत्रयम् । चकारोऽप्यर्थः । कदापि न प्रयुच्छसि न प्रमाद्यसि स्वकर्मणि । किञ्च, वर्तमानं भावि चेत्युभे जन्मनी देवमनुष्यजन्मनी वा निपासि नितरां पालयसि । एवमत्र परापररूपेणादित्यः स्तुतः । तुरीयेत्यविभक्तिको निर्देशः ।

काण्वसंहितासायणभाष्यरीत्या तु तृतीयमित्यर्थे व्यत्ययेन तुरीयशब्दः प्रयुक्तः । तथा च हे आदित्य, ते तव यत् तृतीयं सवनं तस्मिन् दिवि द्युलोकसमाने वितते इन्द्रियमिन्द्रियवृद्धिकरणममृतं सुधासमं हविर् आतस्थौ समन्तात् स्थितम् । हे आदित्यग्रह, आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामीति शेषः । अत्र शतपथब्राह्मणम्—

ही है । सोम शब्द का अर्थ 'मृदुगुणवर्धक' करना भी निर्मूल है, क्योंकि इस अर्थ में पद की शक्ति नहीं है । 'दभन्' इस क्रिया के कर्ता के रूप में कामबाणों का अध्याहार करना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि शतपथ श्रुति में राक्षसों का प्रसंग ही वर्णित है ।

'कदाचन' इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान भी काल्पनिक है । क्लिष्ट कल्पना से तो अन्य प्रकार से भी व्याख्या हो सकती है । यहाँ श्रुति, सूत्र आदि से विरोध भी है । 'स्तरीः' शब्द आच्छादकार्थक होने पर भी उसका 'अपनी ग्रीवा को आच्छादित करने वाले संकुचित नहीं होते हो' यह अर्थ निर्मूल है । साधारण मनुष्य-स्वामी में इन्द्र शब्द का प्रयोग सम्भव नहीं है, क्योंकि वह परमैश्वर्य युक्त नहीं होता ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे आदित्य ! तुम कभी भी प्रमाद नहीं करते, देव और मनुष्यों की तुम रक्षा करते हो । तुम्हारा चौथा भाग माया से परे है । अविनश्वर शुद्ध जगत्प्रवर्तक विज्ञानानन्द स्वभाव जो इन्द्रियरूप पराक्रम है, वह द्युलोक में मण्डलान्तर में प्रमुखता से स्थित है । हे ग्रह ! आदित्य देवों की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ॥ ३ ॥

भाष्यसार—'कदाचन प्रयुच्छसि' इस मन्त्र का विनियोग भी आदित्य ग्रह के ग्रहण में किया गया है । कात्यायन

'अथापगृह्य पुनरानयति। कदाचन प्रयुच्छस्युभे निपासि ... त्वेति'। तत्रत्यसायणभाष्यरीत्या तु—हे ग्रह, कदाचन कदाचिदपि। चनशब्दोऽप्यर्थः। प्रयुच्छसि न प्रमाद्यसि। प्रशब्दो धात्वर्थनिवृत्तिपरः। यागनिष्पादनरूपं स्वकार्यं प्रति न कदाचिदपि प्रमादं गच्छसि। तदेवावधानं दर्शयितुमाह—उभे निपासि जन्मनी, यजमानस्य वर्तमानभविष्यल्लक्षणे उभे जन्मनी नियमेन पासि पुरुषार्थसम्पन्ने कुरु। अधुना आदित्यमेव चतुर्थसवनत्वेन रूपयन्नामन्त्रयते—हे आदित्यग्रह, तुरीय चतुर्थसवनात्मक! स एकोऽप्येतर्हि तथैव ग्रहो हूयते। संस्थित एव माध्यन्दिने सवने पुरा तृतीयसवनात् पूर्वकालस्य विहितत्वादादित्यग्रहस्य चतुर्थसवनात्मव त्वम्। ते तव सम्बन्धि चतुर्थसवनमिन्द्रियमिन्द्रस्य आदित्यस्य प्रीतिकरम्। दिवि द्युलोके अमृतम्, नास्मिन् मृतमस्तीत्यमृतम् अमरण-हेतु, आतस्थौ आस्थितम्। हे सोम, त्वामादित्येभ्यो गृह्णामि।

अध्यात्मपक्षे तु—हे इन्द्र, अवस्थात्रयदीपन, 'ञिइन्धी दीप्तौ' जीवात्मन्, त्वं कदाचिन्न प्रयुच्छसि न प्रमाद्यसि प्रमादं न कुरु। उभे ऐहिकमामुष्मिकं च जन्मनी पाहि रक्ष सफलय। स्वधर्मानुष्ठानपूर्वकभगवदाराधनेन हे आदित्य, आदित्यवत् सर्वक्षेत्रभासक क्षेत्रज्ञ, 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥' (भ० गी० १३।३३) इति गीतोक्तेः। ते तुरीयं चतुर्थं विश्व-तैजस-प्राज्ञापेक्षया विराड्ढिरण्यगर्भाव्याकृतापेक्षया वा तुरीयं चतुर्थसंख्यापूरकं प्रपञ्चातीतं निर्विशेषविज्ञानानन्दस्वभावं सवनं निर्विकारतया सत्तामात्रेण सर्वप्रवर्तकम्, यथा सवितुः सत्तामात्रेण लोको व्यवहरति, पद्मानि विकासमुपयान्ति। न हि सविता कञ्चिदुत्थापयति स्वापयति वा, न वा कमलिनीकुलं विकासयति मुकुलयति वा, तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां तु सर्वं स्वयमेव सम्पद्यत इति तद्वत्। तच्च इन्द्रियमिन्द्रस्यावस्थात्रयभासकस्य क्षेत्रज्ञस्य हितकरम्, तत्प्राप्त्यैव तत्कृतार्थताश्रवणात्। तच्च तुरीयममृतं जन्ममरणादिभयवर्जितं दिवि द्युलोके, आतस्थौ आसमन्तात् स्थितम्, दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपे वा आस्थितम्, 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (वा० सं० ३१।३) इति मन्त्रवर्णात्। हे तुरीय, आदित्येभ्यः क्षेत्रज्ञेभ्यो हिताय त्वामाश्रयामः। यद्वा आदित्येभ्योऽनन्तकालेभ्यः, सर्वदेत्यर्थः, त्वामाश्रयामः।

दयानन्दस्तु—नेत्यध्याहृत्य—'हे पते, त्वं यदि कदाचन न प्रयुच्छसि तर्हि स्वकीये उभे जन्मनी

श्रौतसूत्र (१०।४।४) में यह याज्ञिक प्रक्रिया वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सायणाचार्य ने याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान किया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—तीन अवस्थाओं में प्रकाशित होने वाले हे जीवात्मा! तुम कभी भी प्रमाद मत करो। ऐहिक तथा आमुष्मिक दोनों जन्मों को स्वधर्म के अनुष्ठानपूर्वक भगवदाराधन के द्वारा सुरक्षित, सफल बनाओ। आदित्य की भाँति सर्वक्षेत्रभासक हे क्षेत्रज्ञ! विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ की अपेक्षा अथवा विराट्, हिरण्यगर्भ तथा अव्याकृत की अपेक्षा तुम्हारा जो चतुर्थसंख्यात्मक, प्रपञ्चातीत, निर्विशेषविज्ञानानन्द स्वभाव निर्विकारिता के कारण सत्तामात्र से सबका उसी प्रकार प्रवर्तक है, जैसे कि सूर्य की केवल सत्ता से समस्त लोक व्यवहार करता है, कमल विकसित होते हैं। सूर्य किसी को जगाता अथवा सुलाता नहीं है, या कमलिनीसमूह को विकसित अथवा संकुचित नहीं करता, परन्तु उसके दर्शन तथा अदर्शन मात्र से स्वयमेव यह सब क्रियाएँ सम्पन्न हो जाती हैं। उसी प्रकार ईश्वर भी इन्द्रियों की तीन अवस्थाओं को प्रतिभासित करने वाले क्षेत्रज्ञ का हितकर है, क्योंकि उसकी प्राप्ति से ही कृतार्थता श्रुत है। वह तुरीय रूप जन्म, मरण आदि भयों से रहित द्युलोक में स्थित है, अथवा द्योतनात्मक स्वरूप में अवस्थित है। हे तुरीय, क्षेत्रज्ञों के हित के लिये हम तुम्हारा आश्रय ग्रहण करते हैं। अथवा अनन्त काल के लिये, अर्थात् सदा सर्वदा तुम्हारा आश्रय लेते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में 'न' का अध्याहार करके पति को सम्बोधनीय तथा पत्नी को सम्बोधक कहा

प्रवर्तमानं प्राप्स्यमानं च निपासि नितरां रक्षसि। हे आदित्य, विद्यया सूर्य इव प्रकाशमान, ते तव सवनं सवति प्रसूयतेऽनेन तत् ते इन्द्रियं मनआदिकार्यसाधकम् आतस्थौ वशीभूतं स्यात्तर्हि दिवि द्योतनात्मके व्यवहारे, अमृतं मरणधर्मरहितं सुखं प्राप्स्यसि। हे तुरीय चतुर्थवन् चतुर्थाश्रमपूरक, आदित्येभ्यः संवत्सरेभ्यः प्रतिमाससुखाय त्वामहमुपयच्छे स्वीकरोमि' इति, तदपि निर्मूलम्, पत्युः सम्बोध्यत्वे पत्न्याश्च वक्त्रीत्वे प्रमाणाभावात्। आदित्यपदस्य गौणार्थता च निर्युक्तिका। सवनपदस्यापि प्रातःसवनादिप्रसिद्धमर्थमपहाय प्रसवसाधनेन्द्रियार्थकरणं न सङ्गतम्, विवाहसमये कन्यया तथा वक्तुमयोग्यत्वात्। चतुर्थाश्रमिणः स्त्रीसम्बन्धाभावात्तुरीयपदस्य तथार्थकरणमपि धार्ष्ट्यमेव। चतुर्थमात्रबोधकस्य तुरीयशब्दस्य तुरीयाश्रमबोधकत्वे मानाभावात्। किञ्च, हे तुरीय, हे चतुर्थाश्रमिन् प्रतिमाससुखार्थं त्वामहं स्वीकरोमीति तद्रीत्यार्थः सम्पद्यते, स च सर्वथा शास्त्रविरुद्धः। चतुर्थाश्रमिणं प्रति नहि काचित् कन्या एवं वक्तुं शक्नोति। तदेतत्कुभिक्षोरपरं स्वैरित्वम् ॥ ३ ॥

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः। आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्याद्ꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा ॥४॥

'दध्ना श्रीणात्येनं पश्चिमेऽन्ते मध्ये वा यज्ञो देवानामिति' (का० श्रौ० १०।४।५)। एनमादित्यग्रहं कुशावन्तर्धाय ग्रहस्य पश्चिमे भागे मध्ये वा दध्ना श्रीणीयाद् मिश्रयेत्, यज्ञो देवानामिति मन्त्रेण। त्रिष्टुब्यजुरन्ता, आदित्यदेवत्या, कुत्सदृष्टा। यस्माद् यज्ञः प्रकृतः सोमयागो देवानामादित्यानामदितिपुत्राणां सुम्नं सुखं कर्तुं प्रत्येति, तस्माद्धेतोर् हे आदित्यासः, आदित्याः ! यूयं मृडयन्तः सुखयन्तः सुखकर्तारोऽस्माकं भवता भवत, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति संहितायां दीर्घः, तेन 'भवत' इति स्थाने 'भवता' इति रूपम्। 'वः' युष्मत्सम्बन्धिनी सुमतिः शोभना भक्तकल्याणसम्पादयित्री बुद्धिः, अर्वाची अस्मदभिमुखी आववृत्याद् आवर्ततताम्, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति वर्ततेर्लिङि जुहोत्यादित्वात् श्लुः, श्लौ द्वित्वं च। अंहोश्चिद् अंहोर्हननशीलस्य पापिनोऽपि, अंहुरिति पापकारी, चिदित्यप्यर्थः, या सुमतिर्वरिवोवित्तरा, वरिवो धनं विन्दति लभत इति वरिवोवित्, अतिशयेन वरिवोविदिति वरिवोवित्तरः। अत्र तमबर्थे तरप्प्रत्ययो बोद्धव्यः। ऐहिकामुष्मिकविविधस्वर्गापवर्गादिलक्षणधनप्रापयित्री, अत एव सुबुद्धिः प्रार्थ्यते—'स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु' (श्वे० उ० ४।१, १२), 'मतिश्च मे सुमतिश्च मे' (वा० सं० १८।११) इत्यादिश्रुतेः।

गया है, यह अप्रामाणिक है। आदित्य शब्द का गौण अर्थ करना भी युक्तिसंगत नहीं है। सवन शब्द का भी प्रसिद्ध अर्थ छोड़ कर 'प्रसवसाधन इन्द्रिय' अर्थ करना उचित नहीं है, क्योंकि विवाह के समय कन्या के द्वारा इस प्रकार कहना अयुक्त है। चतुर्थ संन्यास आश्रम में स्थित पुरुष का स्त्रीसम्बन्ध से विरहित होने के कारण तुरीय शब्द का भी उस प्रकार अर्थ करना धृष्टता ही है। तुरीय शब्द चतुर्थ मात्र का वाचक है, इसके चतुर्थाश्रम का बोधक होने में कोई प्रमाण भी नहीं है। इस प्रकार का अर्थ शास्त्रविरुद्ध है। संन्यासी के प्रति कोई कन्या इस प्रकार नहीं कह सकती। यह स्वेच्छाचारिता ही है ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ आदित्य देवताओं के सुख के निमित्त आगमन करता है। इस कारण हे आदित्यगणों ! आप लोग हमारे लिये अवश्य ही सुखकारी हों। आपकी जो स्वभावसिद्ध अनुग्रह-बुद्धि है, वह हमारी तरफ प्रवृत्त हो। पापकारी मनुष्य की भी जो सुमति धन का उपार्जन करने वाली है, वह हमारे संमुख हो। हे सोम, आदित्य ग्रह की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ॥ ४ ॥

भाष्यसार—'यज्ञो देवानाम्' इस मन्त्र के द्वारा आदित्य ग्रह को दही से संमिश्रित किया जाता है। कात्यायन

पापिनोऽपि या सुबुद्धिरत्यन्तं धनप्रापयित्री, असद् भवति, हे देवा युष्माकं सम्बन्धिनी सा सुमतिरस्मदभिमुखी आवर्ततां पौनःपुन्येन प्रवाहवती भवतु। यद्वा या वो युष्माकं सुमतिरंहोश्चित् पापिनोऽपि प्रभूतधनसम्पादयित्री भवति, साऽस्माकं त्वदुपासनापराणां सदाचारनिष्ठानामभिमुखी प्रवाहवती स्यात्, तदा सुतरां वरिवोवित्तरा भविष्यतीत्याशयः। यद्वा पुनरपि सैव सुमतिर्विशेष्यते—अंहोर्हननशीलस्य पापिनोऽपि चित् चेद् या सुमतिः, अतिशयेन धनलब्ध्री भवेत्, साऽस्मदभिमुखी सती आववृत्याद् दयापरवशानां देवानां कदाचित् पापिष्वपि सा सुमतिरभिमुखी भूत्वा कल्याणं करोति, किमुत भक्तेषु। हे ग्रह, आदित्येभ्यो देवेभ्यस्त्वां दध्ना मिश्रयामि।

यद्वा शतपथीयसायणभाष्यरीत्याऽयमर्थः—यस्मादस्मदीयो यज्ञो देवानामादित्यानां सुम्नं सुखं (निघ० ३।६।१६) सम्पादयितुं प्रत्येति। यज्ञे हविःप्रदानेन देवानां तृप्तिसम्पादनसुखमुत्पद्यते। तस्माद् हे आदित्यास आदित्याः, 'आज्जसेरसुक्' (पा० सू० ७।१।५०) इति जसोऽसुगागमः। मृडयन्तोऽस्मान् सुखयन्तो भवता भवत, संहितायां दीर्घः। स्वर्गापवर्गादिसुखकारिणो भवत। किञ्च, वो युष्माकं सुमतिः शोभना भक्तानुग्रहपरा मतिः सा अर्वाची अर्वाग्गमनशीला भवति, सा च अस्मदभिमुखी आवर्तताम् अनन्तकालम् अस्मदाभिमुख्येन प्रवाहवती भवतु। सैव मतिः पुनर्विशेष्यते—अंहोश्चिद्या वरिवोत्तराऽसत्, 'अहि गतौ' भ्वादिः। अस्मादौणादिक उत्प्रत्ययः। सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था भवन्तीत्यंहुर्विद्वानुच्यते। स चात्र यजमान एव। चिदिति निपातोऽप्यर्थः। विदुषो यजमानस्यापि वरिवोवित्तरा असद् भवतु। वरिवो धनम् (निघ० २।१०।५), विन्दति वेदयति लम्भयतीति वरिवोवित्, अतिशयेन वरिवोविदिति वरिवोवित्तरा, तादृशी असद् अतिशयेन धनप्रापयित्री स्यात्। सा सुमतिरस्मदभिमुखी सत्यावर्ततामिति सम्बन्धः। हे दधि, आदित्येभ्यस्त्वां गृह्णामीति शेषः।

अत्र शतपथब्राह्मणम्—'अथ दधि गृह्णाति। आदित्यानां वै तृतीयसवनमादित्यान् वा अनु पशवस्त-त्पशुष्वेवैतत् पयो दधाति तदिदं पशुषु पयो हितं मध्यत इव गृह्णीयादित्याहुर्मध्यत इव हीदं पशूनां पय इति पश्चादिव त्वेव गृह्णीयात् पश्चादिव हीदं पशूनां पयः' (श० ४।३।५।१३)। गृहीते सोमरसे दधिग्रहणं सार्थवादं विधत्ते—अथ दधि गृह्णातीति। आदित्यान् वा अनु पशवः, अनुशब्दो हीनार्थकः, 'हीने' (पा० सू० १।४।८६) इति हीनार्थे कर्मप्रवचनीयत्वात् 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा० सू० २।३।८) इति द्वितीया विभक्तिः। अत्रादित्यानां वृष्टिप्रदानद्वारा पशूपकारित्वात् प्राधान्यम्, पशूनामुपकार्यत्वाद् हीनत्वम्। उपकार्योपकारक-भावादेव पश्वादित्यानामभेदोऽपि तैत्तिरीयश्रुतौ श्रूयते—'पशवो वा एते आदित्याः' (तै० सं० ६।५।६।४) इति। पशुष्वेवैतत् पयो दधाति तदिदं पशुषु पयो हितम्। दधिग्रहणस्य स्थानविषये केषाञ्चिन्मतमुपन्यस्य स्वमतमेव निगमयति—मध्यत इति। इवशब्दो वाक्यालङ्कारे। मध्यत इव मध्यस्थाने, सार्वविभक्तिकस्तसिः, (पा०सू० ५।४।४४ वा०) इति सप्तम्यर्थे तसिः। कदाचनेति मन्त्रद्वयसाध्ये द्वे ग्रहणे। तयोर्मध्ये दधि गृह्णीयात्। एवं च पशूनां मध्यभागे पयसोऽवस्थानान्मध्य एव पयो निहितं भवतीति केचिच्छाखिन आहुः। एतच्च तैत्तिरीय-शाखामतम्, तत्र—'दध्ना मध्यतः श्रीणात्यूर्जमेव पशूनां मध्यतो दधाति' (तै० सं० ६।५।६।४) इत्याम्नातत्वात्। तच्च नादरणीयमित्याह—मध्यत इव हीदं पशूनां पय इति पश्चादिव त्वेव गृह्णीयात् पश्चादिव हीदं पशूनां पयः, यतः पशूनां पयः पश्चाद्भाग एवावतिष्ठते। अत्र पयसो मध्यभागावस्थानमात्रमभिप्रेत्य शाखान्तरीयै-र्मध्यतो ग्रहणमभिप्रेतम्, किन्तु पशूनां मध्येशरीरं पयो नावतिष्ठते, अपितु शरीरस्य पश्चाद्भागेऽवतिष्ठते, अतः पश्चादेव ग्रहणं युक्तमिति शतपथब्राह्मणाभिप्रायः। एतत्सर्वं स्वपक्षदार्ढ्याय तत्स्तुत्यर्थमेव मन्तव्यं नान्यपक्षं निन्दितुम्, नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुमिति मीमांसानयात्।

श्रौतसूत्र (१०।४।५) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सायणभाष्य आदि में याज्ञिक

'यद्वेव दधि गृह्णाति। हुतोच्छिष्टा वा एते सꣳस्रवा भवन्ति नालमाहुत्यै तानेवैतत् पुनराप्याययति तथालमाहुत्यै भवन्ति तस्माद्दधि गृह्णाति' (श० ४।३।५।१४)। दधिग्रहणमादित्यग्रहस्य सम्पूर्णताहेतुत्वेन प्रशंसति यद्वेव दधि गृह्णातीति। एते आदित्यग्रहार्थाः सोमा हुतोच्छिष्टत्वात् संस्रावणीयाः प्रतिपत्त्यर्हाः सन्त आहुत्यर्थं न पर्याप्ता भवन्ति। एत इति बहुवचनं द्विदेवत्यग्रहगतसोमापेक्षम्। तस्मात्तानेव सोमान् एतेन दधिग्रहणेन समर्धयति। समर्द्धिता आहुत्यै पर्याप्ता भवन्तीति दधि गृह्णीयात्। 'स गृह्णाति। यज्ञो देवानां प्रत्येति'''त्वेति' (श० ४।३।५।१५)। विहिते दधिग्रहणे मन्त्रं विनियुङ्क्ते-यज्ञो देवानामिति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव।

अध्यात्मपक्षे—देवानां यज्ञो यजनं जनानां सुम्नं सम्पादयितुं प्रत्येति। हे आदित्यास आदित्याः, अदितेः परमेश्वरस्य अपत्यानि पुमांसो जीवाः। यूयं परस्परं मृडयन्तः सुखयन्तो भवता भवत। वो युष्माकम् अर्वाची अर्वाग्गमनशीला सुमतिः शोभना बुद्धिरावबृत्याद् आत्माभिमुख्येन आवर्तताम्। या आत्माभिमुखी सुमतिरंहोरपि पापिनोऽपि वरिवोवित्तरा असत्, स्वर्गापवर्गादिलक्षणस्य धनस्य अतिशयेन प्रापयित्री भवति, तेभ्य आदित्येभ्यो हिताय हे यज्ञ! त्वामाश्रयामः, यज्ञस्यैव स्वान्तःशुद्धिक्रमेण तत्त्वज्ञान-हेतुत्वेन समाश्रयणीयत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे आदित्यासः, आदित्यवद्विद्यादिगुणैः प्रकाशमानाः! यूयं देवानां विदुषां वो युष्माकं यो गृहाश्रमाख्यो यज्ञः सुम्नं सुखं प्रत्येति प्रतीतम् एति प्रापयति, या अंहोः सुखप्रापकस्य गृहाश्रमस्या-नुष्ठानस्यार्वाची सुशिक्षाविद्याभ्यासात् पश्चाद् विज्ञानमञ्चति प्राप्नोत्यनया सा वरिवोवित्तरा, वरिवः सत्यं व्यवहारं वेत्त्यनया, सातिशयिता सुमतिः शोभना मतिराववृत्याद् वर्तताम्, या त्वादित्येभ्यः सर्वेभ्यो मासेभ्यः प्राप्तोत्तमविद्या शिक्षा असत्, तया चित् युक्ता वां सदा मृडयन्तः सर्वान् सुखयन्तो भवत' इति। अत्रैत-त्सम्प्रदायाभिज्ञो ब्रह्मदत्तो जिज्ञासुः—'पदार्थोऽन्वयश्चासम्बद्ध इव प्रतिभाति। एति प्रापयतीत्यत्र प्रापयत्विति युक्तं स्यात्। आदित्येभ्यः सर्वेभ्यो मासेभ्य इत्यत्र आप्तेभ्यो विद्वद्भ्य इति स्यात्। वाम् इत्यपि नान्वेति, एकवचनान्तसम्बोधनस्याभावात्, आदित्यास इति बहुवचनान्तस्य दर्शनाच्च' इति। दयानन्दीये भाषाभाष्ये तु- 'हे सूर्यवद् विद्यादिशुभगुणैः प्रकाशमानाः, भवतां विदुषां स्त्रीपुरुषाभ्यां वर्तितुं योग्यो गृहाश्रमव्यवहाररूपो यज्ञो निश्चयेन सुखं प्रापयति। या गृहाश्रमसुखसाधयित्री सुशिक्षाविद्याभ्यासानु विज्ञानप्रापयित्री सत्यव्यवहारस्य निरन्तरविज्ञानदात्री भवतां सुमतिः सा श्रेष्ठमार्गे निरन्तरं प्रवर्तताम्। आप्तेभ्यो विद्वद्भ्यस्त्वामुत्तमा विद्या शिक्षा प्राप्नोतु। तया बुद्धया युक्ता आवां स्त्रीपुरुषौ मृडयन्तो भवतः' इति, सर्वमप्येतद् यत्किञ्चित्, यज्ञशब्दस्य गृहाश्रमोऽर्थ इत्यत्र प्रमाणवैधुर्यात्। वरिवः सत्यं व्यवहारम्

प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ वर्णित है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का यह अर्थ है—देवताओं का यजन प्राणियों के सुख-सम्पादन के लिये अग्रसर होता है। परमेश्वर की सन्ततिरूप हे जीवों, तुम लोग परस्पर सुख देते हुए रहो। तुम्हारी अग्रगामिनी सुबुद्धि आत्माभिमुख होती हुई प्रत्यावर्तित हो। जो आत्माभिमुख सुमति पापी को भी स्वर्ग, अपवर्ग आदि के रूप में धन को प्राप्त कराने वाली होती है, उसके लिये और अदिति के पुत्रों के हित के लिये हे यज्ञ, हम तुम्हारा आश्रय लेते हैं। यज्ञ ही स्वान्तःशुद्धि के क्रम से तत्त्वज्ञान के कारण के रूप में आश्रयणीय है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित संस्कृत अर्थ तथा भाषाभाष्य एवं ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा निरूपित विवरण, यह सभी अनुपादेय हैं। यज्ञ शब्द का अर्थ गृहाश्रम है, इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। 'वरिवः' का अर्थ 'सत्य व्यवहार'

इत्यपि निर्मूलमेव। देवानां सुमतिरंहोर्गृहाश्रमस्य सुखसाधयित्रीत्यपि निर्मूलम्, अंहुशब्दस्य तत्राशक्तत्वात्। अर्वाचीत्यस्यापि त्वदुक्तोऽर्थो निर्मूल एव, अर्वागञ्चतीत्यस्यैव तदर्थत्वात्, सुशिक्षाविद्याभ्यासात् पश्चाद्भावित्वेन विज्ञानमुत्कृष्टमेव भवति नार्वाक्। श्रुतिसूत्रविरोधाच्चैतदुपेक्षणीयमेव ॥ ४ ॥

विव॑स्वन्नादित्यै॒ष ते॒ सोम॒पीथस्तस्मि॑न् मत्स्व। श्रद॑स्मै न॒रो वच॑से दधातन॒ यदा॑शी॒र्दा दम्प॑ती वा॒मम॑श्नु॒तः। पुमा॑न् पु॒त्रो जाय॑ते वि॒न्दते॒ वस्वधा॒ वि॒श्वाहा॑र॒प एधते गृ॒हे ॥ ५ ॥

'उपाꣳशुसवनेन मिश्रयति विवस्वन्नादित्येति' (का० श्रौ० १०।४।६)। उपांशुसवनेन तन्नामकेनाभिषवणसाधनेन ग्राव्णा पाषाणेनादित्यग्रहगतं सोमरसं मिश्रयेत्, सोमं दधि च परस्परं मिश्रयेदित्यर्थः। आदित्यदेवत्यं यजुः। हे विवस्वन्नादित्य, तमांसि विवासयति निवारयतीति विवस्वान्, तत्सम्बुद्धौ। विशिष्टधनवान् वा विवस्वान्, विशिष्टं वसु धनमस्येति तथोक्तः। मतौ टिलोपश्छान्दसः। हे आदित्य, एष पात्रस्थस्ते तव सोमपीथः पातव्यः सोमः, पातुं योग्यः पीथः, पीथश्चासौ सोमः सोमपीथः, आहिताग्न्यादित्वात् पीथशब्दस्य परत्वम्। तस्मिन् मत्स्व तृप्तिं कुरु। यद्वा एष ते सोमपीथः, एतत्ते तव सोमपानम्, तस्मिन् मत्स्व। 'मद तृप्तौ', 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इत्यदादित्वात् शपो लुक्। यद्वा—'विवस्वान् वा एष आदित्यो निदानेन यदुपांशुसवनः' (श० ४।३।५।१६) इति शतपथश्रुत्या उपांशुसवनस्यादित्यत्वविधानात् प्रकृते आदित्यात्मक उपांशुसवनः सम्बोध्यते। हे विवस्वन्नामक आदित्यात्मक उपांशुसवन, ते तव एष सोमपीथः सोमपानम्, अतस्तस्मिन् सोमपाने मत्स्व तृप्तिं प्राप्नुहि। 'श्रदस्मै नर इत्येनमवेक्षते पत्नीति' (का० श्रौ० १०।५।७)। पत्नी एनं पूतभृतं श्रदस्मै इति मन्त्रेण पश्येत्। आशीर्देवत्या जगती नरदेवत्या वा। यद्वा द्वादशाक्षरचतुष्पादा जगती। पत्नी वदति—हे नरः, 'नृ नये', नेतार ऋत्विग्यजमाना आशीर्दा आशिषोऽभीष्टकामान् ददतीति आशीर्दाः, सुब्लोपश्छान्दसः, यूयमस्मै वचसे आशीर्वचनाय श्रद्धातन। श्रदिति सत्यवचनेषु पठितम्। 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति मध्यमबहुवचनस्य तनादेशः। श्रद्धामास्तिक्यबुद्धिं कुरुत। यद्वा 'नेत्यनर्थका उपजना भवन्ति' इति नकारोऽनर्थकः। श्रद्धात श्रद्धां कुरुतेत्यर्थः। मदुक्तमाशीर्वचनं भवद्भिः श्रद्धया धारितं तथैव स्यात्। किं तदाशीर्वचनमित्यत आह—यद् दम्पती जायापती पत्नीयजमानौ वामं वननीयं सम्भजनीयं यज्ञफलमश्नुत प्राप्नुत। किञ्च, इहैव पुमान् पुंस्त्वधर्मसम्पन्नः पुत्रो जायते उत्पद्यते। दुहितापि पुत्रशब्देनोच्यते, अतः पुमानिति विशेष्यते। स च पुत्रो वसु धनं विन्दते लभते। अधा अथ। अधा-अथेत्येतौ छन्दसि समानार्थौ। 'निपातस्य च' (पा० सू०

करना भी निर्मूल है। 'अंहु' शब्द भी 'गृहाश्रम' अर्थ बोधित करने में शक्त नहीं है। 'अर्वाची' शब्द का भी निरूपित किया गया अर्थ अप्रामाणिक है। यह व्याख्यान श्रुति तथा सूत्र वाक्यों से विरुद्ध होने के कारण भी अग्राह्य है ॥ ४ ॥

हे अन्धकार को दूर करने वाले आदित्य ! इस पात्र में तुम्हारे पीने योग्य सोम स्थित है। इसका पान कर आप प्रसन्न होइये। हे यज्ञीय कर्मचारीगण, आप लोग श्रद्धापूर्वक आशीर्वचन कहिये, जिससे कि यह यजमान और उसकी पत्नी वरण करने योग्य क्रियमाण यज्ञ के फल को पावें। इस फल से यजमान पराक्रमी पुत्र को प्राप्त करे और वह पुत्र धन-सम्पत्ति से सम्पन्न होकर जीवन भर निष्पाप और ऋण आदि से मुक्त रह कर घर में सब प्रकार की वृद्धि को प्राप्त करे ॥ ५ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।४।६, १०।५।७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'विवस्वन्' इस

६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः । अथेत्यनन्तरं विश्वाहा विश्वानि च तान्यहानि चेति विश्वाहा सर्वकालम्, 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (पा० सू० ५।४।९१) इति टच्प्रत्ययस्य वैकल्पिकत्वात् छान्दसो वाडभावः । अनन्तरं धने लब्धे सति स पुत्रो विश्वाहा सर्वदा अरपः पापरहितः सन् गृहे स्वसदने वर्धते । नास्ति रपो यस्यासावरपः, 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' (निरु० ४।२१) । यद्वा आशीर्दा आशिषो दातारौ दम्पती इति दम्पतीविशेषणम्, विभक्तेराकारः । दम्पती यज्ञफलं प्राप्नुताम्, तयोः पुत्रो जायताम्, स च धनं लब्ध्वा निष्पापः स्वगृहे वर्धतामित्याशीर्वचने श्रद्धां कुरुत ।

अत्र ब्राह्मणम्—'तमुपांशुसवनेन मेक्षयति । विवस्वान् वा एष आदित्यो निदानेन यदुपाᳬशुसवन आदित्यग्रहो वा एष भवति तदेनᳬ स्व एव भागे प्रीणाति' (श० ४।३।५।१६) । आदित्यग्रहस्योपांशुसवनाख्येन ग्राव्णाऽऽलोडनं कुर्यात् । मेक्षयति आलोडयति । उपांशुसवन इति यदेष निदानेन कारणात्मना विवस्वान्नामक आदित्य एव, 'एष वै विवस्वानादित्यो यदुपांशुसवनः' (तै० सं० ६।५।६।५) इति श्रुतेः । अतस्तेनादित्यग्रहस्यालोडने स्वकीये भागे आदित्यमेव प्रीणितवान् भवतीत्यर्थः । 'तं न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति । एते वै शुक्रवती रसवती सवने यत्प्रातःसवनं च माध्यन्दिनं च सवनमथैतन्निर्धीतशुक्रं यत्तृतीयसवनᳬ स यन्न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति तेनो हास्यैतच्छुक्रवद्रसवत्तृतीयसवनं भवति तस्मान्न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति' (श० ४।३।५।१७) । ग्रहान्तरसाधारण्येन ग्रहणानन्तरं प्राप्तं दशापवित्रेण मार्जनं निषेधति—न दशाभिर्न पवित्रेणेति । दशाभिः स्वाञ्चलैः, पवित्रेण पावनार्थेन वस्त्रेणादित्यग्रहं न परिमृज्यात् । प्रातर्माध्यन्दिनसवनयो रसवत्त्वेन तृतीयसवनस्य नीरसत्वं शतपथे (३।३।३।१९) उक्तम् । 'रसवती वा शुक्रवती' इत्यस्यैव व्याख्यानम्—निर्धीतशुक्रं निष्पीतरसमिति । पक्षिरूपा गायत्री तृतीयसवनार्थं सोमं मुखेनाहरन्त्यपिबदिति प्रसिद्धम् । तेन तृतीयसवनं नीरसम् । तैत्तिरीयके श्रूयते—'पद्भ्यां द्वे सवने समगृह्णान्मुखेनैकं यन्मुखेन समगृह्णात्तमधयत् तस्माद् द्वे सवने शुक्रवती प्रातःसवनं माध्यन्दिनं च तस्मात्तृतीयसवनं ऋजीषमभिषुण्वन्ति धीतमिव हि मन्यते आशिरमवनयति स शुक्रत्वाय' (तै० सं० ६।१।६।४-५) । तत्तेनैवाभिषवादिसम्पादनेन, तस्मात् शुक्रवतो माध्यन्दिनसवनात् तृतीयसवनं निर्मिमीते उत्पादयति, सवनोत्पादकस्य सोमाभिषवादेरत्र सम्पादनात्, अतो दशापवित्रेण परिमार्जनस्याकरणे तृतीयसवनस्य रसवत्त्वं भवतीति दशाभिः पवित्रेण च न परिमृज्यात् ।

'स मेक्षयति । विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्वेत्यथोन्नेत्र उपाᳬशुसवनं प्रयच्छत्यथाहोन्नेतारमासृज ग्राव्ण इति तानाधवनीये वा सृजति चमसे वा' (श० ४।३।५।१८) । उपांशुसवनेन ग्रहस्य यन्मेक्षणं विहितं तदनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स मेक्षयति विवस्वन्नादित्येत्यादि । मन्त्रार्थस्तूक्त एव । ग्रहणानन्तरं कर्तव्यमाह—अथेत्यादिना । उन्नेत्र उपांशुसवनं प्रयच्छति । अथोन्नेतारमाह—आसृज ग्राव्ण इति । उन्नेता तान् आधवनीये चमसे वा आसृजति । 'राजानमुन्नीय । आदित्यानां वै तृतीयसवनमादित्यान् वा अनु ग्रावाणस्तदेनान् स्व एव भागे प्रीणात्यपोर्णुवन्ति द्वारे' (श० ४।३।५।१९) । राजानमुन्नीय सोममापूर्य चमसे वा विसृजति निदध्यात् । अभिषवार्थान् पाषाणान् आदित्यानां वेत्यादिना ग्राव्णा निधानस्य प्रयोजनमाख्यायते— अनु ग्रावाण इति । अनुः 'हीने' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयः । आदित्यानामत्र ग्रावाभिमानित्वात् तेषां प्राधान्यम्, ग्राव्णां च हीनत्वमनुशब्देन द्योत्यते । तस्मादेतान् स्व एव भागे प्रीणाति । अपोर्णुवन्ति द्वारे हविर्धानस्य उभे द्वारे अपिदधातीति हविर्धानस्य द्वारयोरपिधानं विहितम्, तदिदानीमपनयेयुरिति ।

कण्डिका के मन्त्रों से उपांशुसवन नामक पाषाणखण्ड के द्वारा आदित्य ग्रहपात्र में स्थित सोमरस का दधि से मिश्रण तथा

'अथापिधायोपनिष्क्रामति। रक्षोभ्यो ह्यबिभयुरथाहादित्येभ्योऽनुब्रूहीत्यत्र संपश्येद्यदि कामयेताश्राव्य त्वेव सम्पश्येदादित्येभ्यः प्रेष्य प्रियेभ्यः प्रियधामभ्यः प्रियव्रतेभ्यो महस्वसरस्य पतिभ्य उरोरन्तरिक्षस्याध्यक्षेभ्य इति वषट्कृते जुहोति नानुवषट्करोति नेत्पशूनग्नौ प्रवृणजानीति प्रयच्छति प्रतिप्रस्थात्रे सꣳस्रवौ' (श० ४।३।५।२०)। द्वारपिधानापनयनानन्तरं निष्क्रमणादिकं विधत्ते—अथेति। अपिधाय ग्रहं स्वकीयेन पाणिना आदित्यस्थाल्या वा आच्छाद्य हविर्धानान्निष्क्रमेत्, 'ग्रहमपिधाय पाणिना स्थाल्या वा' (का० श्रौ० १०।४।९)। हि यस्मात् कारणाद् आदित्या रक्षोभ्योऽबिभयुर्भीता बभूवुः, तस्मात्तदीयस्य ग्रहस्यापिधानं युक्तमिति भावः। आश्राव्य त्वेवेति। यदि ग्रहं द्रष्टुमिच्छेत्तर्हि आश्रावणानन्तरमेव सम्पश्येत्, न पुनः पूर्वोक्तानुवचनानन्तरमित्यर्थः। सम्पश्येदित्यत्र 'समो गम्यृच्छि' (पा० सू० १।३।२९) इत्यादिसूत्रस्थलीयेन 'अर्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इति वार्त्तिकेन आत्मनेपदं न भवति, तत्राकर्मकादित्यधिकारात्।

अनेनोपरि होमकाले ग्रहो नावेक्षणीय इति दर्शितम्। अत एवापस्तम्बः—'अन्यत्रेक्षमाण आदित्यं जुहोति'। अध्वर्योः प्रैषमुत्पाद्य कालविशिष्टं होमं विधत्ते— आदित्येभ्यः प्रेष्य प्रियेभ्य इत्यादिकं प्रैषमुच्चार्य होत्रा वषटकारे कृते ग्रहमग्नौ जुहुयात्। प्रैषस्यायमर्थः—प्रीतिकरेभ्यः, धाम स्थानं तच्च प्रियं धाम येषां ते प्रियधामानस्तेभ्यः। प्रियव्रतेभ्यः, प्रियं व्रतं कर्म यज्ञरूपं येषां तेभ्यः। महस्वसरस्य पतिभ्यः, स्वसरमित्यहर्विधीयते (निघ० १।९।५), महसां विशिष्टं स्वसरमहो महःस्वसरम्, तस्य पतिभ्योऽहर्पतिभ्यः। उरोर्विस्तीर्णस्य अन्तरिक्षास्याध्यक्षेभ्यः साक्षिभ्यः, तत्रैव सर्वदा वर्तमानत्वात्। एवंविधेभ्य आदित्येभ्यो हविर्दातुं मैत्रावरुणयाज्यापाठार्थं होतारं प्रेरयेदित्यर्थः। ग्रहान्तरसाधारण्येन प्राप्तमनुवषट्कारं निषेधति— नानुवषट्करोति। अनुवषट्कारो हि स्विष्टकृदग्न्यर्थं क्रियते, 'स्विष्टकृतो वा एतेऽनुवषट्क्रियन्ते' इत्युक्तत्वात्। तथा सत्यनुवषट्कारे कृते 'पशवो वा एते यदादित्यः' (तै० सं० ६।५।६) इत्यादित्यग्रहस्य पश्वात्मकत्वात् पशव एवाग्नौ परित्यक्ताः स्युः। तस्मान्नैव पशूनग्नौ प्रवृणजानि परित्यजानीति नानुवषट् कुर्यादिति। 'अथ पुनः प्रपद्य। आग्रयणमादत्त उदीचीनदशं पवित्रं वितन्वन्ति प्रस्कन्दयत्यध्वर्युराग्रयणस्य संप्रगृह्णाति प्रतिप्रस्थाता सꣳस्रवावानयत्युन्नेता चमसेन वोदञ्चनेन वा' (श० ४।३।५।२१)। आदित्यग्रहयागानन्तरं हविर्धानगमनपूर्वकमाग्रयणस्य ग्रहणप्रकारं विधत्ते—अथ पुनः प्रपद्येति। तृतीयसवनार्थमभिषवानन्तरं पूतभृत उपरि उदङ्मुखाञ्चलं पवित्रं पवनार्थं वितन्वन्ति विस्तारयन्त्युद्गातारः, तस्मिन् पवित्रेऽध्वर्युराग्रयणस्य, 'कर्मणि षष्ठी' (पा० सू० २।३।५०), आग्रयणपात्रस्थं सोमं प्रस्कन्दयत्यासिञ्चति। तदा प्रतिप्रस्थातापि पवित्रे आदित्यस्थालीगतौ संस्रवौ सम्प्रगृह्णाति, समित्येकीभावे, सह सिञ्चेत्, उन्नेता वा आधवनीयाद् उदञ्चनेन चमसेन वा वितत आग्रयणं गृह्णाति।

'तं चतसृणां धाराणामाग्रयणं गृह्णाति। आदित्यानां वा तृतीयसवनमादित्यान् वा अनु गावस्तस्मादिदं गवां चतुर्धा विहितं पयस्तस्माच्चतसृणां धाराणामाग्रयणं गृह्णाति' (श० ४।३।५।२२)। धाराचतुष्टयाद् ग्रहणं विधातुं प्रशंसति—तं चतसृणां धाराणामिति। संख्याद्वारा जगतीसम्बन्धित्वाज्जागतं तृतीयसवनमुक्तम्। गावश्च वृष्टिप्रदानेनादित्यानुपजीव्य वर्तन्ते, तस्मादादित्यसम्बन्धितृतीयसवनगतस्याग्रयणस्य चतसृभ्यो धाराभ्यो गृहीतत्वाद् आदित्यसम्बन्धिनीनां गवां पयश्चतुर्धा विहितं दृश्यते, चतुर्भिः स्तनमुखैः पयस उद्गमात्। अतश्चतसृभ्यो धाराभ्यो ग्रहणं प्रशस्तम्।

'तद्यत् प्रतिप्रस्थाता सꣳस्रवौ सम्प्रगृह्णाति। आदित्यग्रहो वा एष भवति न वादित्यग्रहस्यानुवषट्करोत्येतस्माद्वै सावित्रं ग्रहं ग्रहीष्यन् भवति तदस्य सावित्रेणैवानुवषट्कृतो भवति' (श० ४।३।५।२३)।

पत्नी द्वारा पूतभृत् का अवलोकन आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। शतपथ एवं तैत्तिरीय श्रुतियों के अनुसार तथा

आग्रयणस्य ग्रहणे प्रतिप्रस्थातृकृतं संस्रवावसेचनमादित्यग्रहस्यानुवषट्कारहेतुत्वेन प्रशंसति—तद्यदिति। एष संस्रवरूपः सोमः खलु, तच्छेषत्वात्। आदित्यग्रहस्य त्वनुवषट्कारो निषिद्धः। अत आग्रयणे तच्छेषावनयने सत्येतत्सावित्रग्रहस्य ग्रहीष्यमाणत्वात् सावित्रस्य चानुवषट्कारसम्भवात् तेनैवादित्यग्रहोऽनुवषट्कृतो भवति। 'यद्वेव प्रतिप्रस्थाता सꣳस्रवौ सम्प्रगृह्णाति। पुरा वा एष्य एतन्मिश्राद् ग्रहमहौषुः पुरा तृतीयसवनात्तृतीयसवनाय वा एष ग्रहो गृह्यते तदादित्यास्तृतीयसवनमपियन्ति तथा न बहिर्धा यज्ञाद् भवन्ति तस्मात् प्रतिप्रस्थाता सꣳस्रवौ सम्प्रगृह्णाति' (श० ४।३।५।२४)। प्रकारान्तरेणापि तदेव प्रशंसति। 'आग्रयणमादायासिञ्चति पवित्रेऽधिपूतभृतं प्रतिप्रस्थाता च सꣳस्रवावाधवनीयादुन्नेतोदञ्चनेन चमसेन वा तत आग्रयणं गृह्णाति' (का० श्रौ० १०।५।१-४)। नेष्ट्रा आग्रयणस्थालीस्थं सोमं पात्रान्तरे कृतं हस्तेन गृहीत्वा पूतभृत उपरि धृते दशापवित्रे आसिञ्चेदध्वर्युः। प्रतिप्रस्थाता आदित्यग्रहादित्यस्थालीशेषावासिञ्चेत्। आधवनीयादुन्नेता उदञ्चनेन चमसेन वा पवित्रे आसिञ्चेत्। एवं चतस्रो धारा भवन्ति। ततस्ताभ्यश्चतसृभ्योऽध्वर्युराग्रयणस्थाल्यामाग्रयणं गृह्णीयादिति विस्तरेण शतपथश्रुत्या च व्याख्यात एवार्थः कात्यायनादिभिः सूत्रकारैः सायणादिभिर्वेदभाष्यकारैः प्रकटीकृत इति तत्सम्मतं व्याख्यानमेव वेदव्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे—हे विवस्वन् अविद्यातमोऽपनोदक, एष ते तव सोमपीथो यज्ञः, सोमः पीयते यस्मिन् स सोमादिः समर्पितोऽस्ति, 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥' (भ० गी० ९।२७) इति गीतोक्तेः। तस्मिन् मत्स्व तृप्तिं प्राप्नुहि। हे नरः, नयन्ति परमात्मनि मनो ये ते नरो भगवद्भक्ताः, अस्मै वचसे श्रद्धातन श्रद्धातन विश्वासं कुरुत। आशीर्दा आशिषो दातारो भवत। किं च तद्वचनम् ? यद्यस्माद् दम्पती जायापती तत्स्थानीयौ बुद्धिजीवौ, पुरञ्जनोपाख्याने बुद्धिजीवयोर्जायापतित्वारोपदर्शनात्। वामं रमणीयं संभजनीयं भोगं मोक्षं च अश्नुतो व्याप्नुतः। तयोश्च पुमान् पुत्रः प्रबोधचन्द्रो जायताम्। स च वसु ब्रह्मरूपं धनं लभताम्। स च निष्पापो निरुपप्लवोऽथा अनन्तरं विश्वाहा सर्वदा अरपो निष्पापः संशयविपर्ययादिरहितो गृहे स्वस्थाने हृदये एधते वर्धते स्वात्मसाक्षात्कारेण कृतार्थो भवति भवतु।

स्वामिदयानन्दस्तु—'हे विवस्वन् आदित्यगृहिन्, विविधे स्थाने वसतीति विवस्वान्, एष ते तव सोमपीथो गृहाश्रमोऽस्ति। सोमः पीयते यस्मिन् सः सोमपीथः, तस्मिन् त्वं विश्वाहा बहूनि अहानि, मत्स्व आनन्दितो भव। हे नरो गृहाश्रमस्थाः, यूयमस्मै वचसे गृहाश्रमव्यवहाराय श्रद्धातन श्रत् सत्यं दधातन धरत। यद् यस्मिन् गृहे दम्पती वामं प्रशस्यं गृहाश्रमं धर्ममश्नुतो व्याप्नुतः, तस्मिन् आशीर्दा आशीरिच्छां ददातीति सः,

---

कात्यायन, आपस्तम्ब आदि सूत्रकारों के अनुकूल याज्ञिक अर्थ सायण आदि वेदभाष्यकारों ने निरूपित किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—अविद्यारूपी तम के विनाशक हे विवस्वन्, आपको यह सोमादि नैवेद्य समर्पित है, इसमें तृप्ति का अनुभव करें। परमात्मा में अपने मन को ले जाने वाले हे भगवद्भक्तों, इस वचन के प्रति विश्वास करो, आशीः के प्रदाता बनो। पुरंजनोपाख्यान में बुद्धि तथा जीव में पत्नी तथा पति का रूपक उपदिष्ट होने के कारण दम्पतीस्थानीय बुद्धि एवं जीव जिससे रमणीय, सेवनीय भोग तथा मोक्ष को प्राप्त करते हैं, उनसे प्रबोधचन्द्ररूपी पुत्र उत्पन्न हो, वे ब्रह्मरूपी धन प्राप्त करे। तदनन्तर वे निष्पाप, सर्वदा संशय-विपर्यय आदि से विरहित होकर अपने स्थान हृदय में स्वात्मसाक्षात्कार के द्वारा कृतकृत्य हों।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ श्रुति तथा सूत्र वचनों से विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है। विवस्वान् का अर्थ 'गृही' करना निर्मूल है तथा गृहस्थ नियमतः विविध स्थानों में निवास नहीं करता। रूढ अर्थ के परित्याग में कोई

अरपो निष्पापः पुमान् पुत्रो जायते, वसु धनं विन्दते लभते । अधेत्यनन्तरे, पृषोदरादित्वात् थस्य धः । 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति दीर्घः, एधते वर्धते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिसूत्रविरोधात् । विवस्वन्नित्यस्य गृहिन्नित्यर्थो निर्मूल एव । न च गृहस्थो नियमेन विविधे स्थाने वसति, रूढार्थत्यागे मानाभावाच्च । तमआच्छादकत्वेन योगरूढोऽयं विवस्वान्शब्द आदित्ये वर्तते । आदित्य इत्यस्य अविनाशिस्वरूप इत्यपि नार्थः, तत्राशक्तत्वात्, श्रुतिसूत्रादिषु तथाऽप्रयुक्तत्वात् । अन्यत्तु सायणाद्यनुकरणमेव ॥ ५ ॥

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यꣳ सावीः । वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम ॥ ६ ॥

'भक्षयित्वेडामुपाꣳश्वन्तुर्यामिपात्रयोरन्यतरेण सावित्रग्रहणं वाममद्येति' (का० श्रौ० १०।५।१७) । सवनीयपुरोडाशेडां भक्षयित्वा इडाहरणोपलक्षितं सवनीयसम्बन्धि प्रतिपत्तिकर्मजातं समाप्य उपांश्वन्तर्यामपात्रयोरन्यतरेण सावित्रग्रहं गृह्णीयात् । कण्डिकाद्वयात्मको मन्त्रः । सवितृदेवत्या त्रिष्टुब् भरद्वाजदृष्टा । हे सवितः, वामं वननीयं संभजनीयं कर्मफलम्, अद्य अस्मिन् दिने, अस्मभ्यम् अस्मदर्थे सावीः प्रेरय, देहीत्यर्थः । 'सु प्रेरणे' लुङि अडभावश्छान्दसः । वाममु श्वो वामं च उपांशुसवनीये काले सावीः । श्वः उपांशुशंसनीयः काल इति यास्कः । उ अप्यर्थः । श्वोऽपि समनन्तरदिनेऽपि वामं मनोरमं कर्मफलं सावीः । किं बहुनोक्तेन, दिवेदिवे अहन्यहनि प्रतिदिनम्, अस्मभ्यं वामं सम्भजनीयं सुखं सावीः प्रसूयाः । किञ्च, वामस्य हि क्षयस्य भूरेर्विस्तीर्णस्य बहुकालीनस्य धनपूर्णस्य वा क्षयस्य स्वर्गनिवासस्य, सिद्धय इति शेषः, वामभाजः स्याम कर्मानुष्ठातारः स्याम । क्षयशब्दो निवासवचनः, 'क्षयो निवासे' (पा० सू० ६।१।२०१) इत्याद्युदात्तस्मरणात् । यद्वा हे देव, वामस्य शोभनस्य क्षयस्य निवासस्य भूरेर्बहुनो धनपूर्णस्य, दाता भवेति शेषः । हि यस्मात् । अया अनया । नलोपश्छान्दसः । धिया कर्मणा । धीरिति कर्मनाम । श्रद्धोपेतया बुद्ध्या वा वामभाजोऽभीष्टधनभाजः स्याम सम्भवेम । यद्वा अनया धिया सोमाख्येन कर्मणा अभीष्टफलभागिनः स्याम भवेम ।

अत्र ब्राह्मणम्—'मनो ह वा अस्य सविता । तस्मात् सावित्रं गृह्णाति प्राणो ह वा अस्य सविता तमेवास्मिन्""दधाति यदुपाꣳशुं गृह्णाति तमेवास्मिन्नेतत्पश्चात् प्राणं दधाति यत्सावित्रं गृह्णाति ताविमा उभयतः प्राणौ हितौ यश्चायमुपरिष्टाद्यश्चाधस्तात्' (श० ४।४।१।१) । सावित्रग्रह उच्यते । प्रकृते मनःशब्देनाध्यवसायात्मिका बुद्धिर्ग्राह्या । सा हि क्रियासु प्रसौतीति सविता । अनध्यवसिते प्राणवृत्त्यभावात् प्राणानुरूपं मनः सविता, तदन्तत्वात् सावित्रो ग्रहोऽस्य यज्ञपुरुषस्य मन एवेत्यवश्यं भावनीयम् । प्राणो ह वास्य सवितेति दर्शनानन्तरं प्राणोऽपि वृत्त्यङ्गत्वात् प्रसौति, तेन सोऽपि सविता । रविमण्डलमपि वायुनैवोह्यमानं जगतः स्वकर्मप्रवृत्तिषु

प्रमाण भी नहीं है । अन्धकार का आच्छादन करने से यह योगरूढ विवस्वान् शब्द आदित्य के लिये प्रयुक्त है । आदित्य का अर्थ 'अविनाशी स्वरूप' भी नहीं है, क्योंकि शब्द उस अर्थ के बोधन में अशक्त है । श्रुति, सूत्र आदि में भी इस प्रकार का प्रयोग नहीं है । अन्य मन्त्रार्थ तो सायण आदि का अनुकरण ही है ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे जगत् को उत्पन्न करने वाले, आज हमारे निमित्त वरणीय यज्ञ-फल को दीजिये, कल भी यज्ञ-फल को दीजियेगा, प्रतिदिन यज्ञफल को दीजिये । हे देव, हम संभजनीय विस्तीर्ण स्वर्ग लोक के निवास की सिद्धि के लिये श्रद्धायुक्त बुद्धि से इस यज्ञ-फल के भोगने वाले होवें ॥ ६ ॥

भाष्यसार—'वाममद्य' इस कण्डिका तथा अग्रिम कण्डिका के द्वारा सावित्र ग्रह का ग्रहण किया जाता है । इस

हेतुर्वायुना भवतीति वायुरपि सवितेत्यभिप्रायः। यत्सावित्रं गृह्णाति तमेवास्मिन्नेतत् पुरस्तात् प्राणं दधाति। पुरस्तादिति मुखतः, पश्चादिति जघनतः। ताविमौ वायू प्राणौ हितौ। कौ तावित्यत आह - यश्चायमुपरिष्टाद् यश्चाधस्तादिति।

'ऋतवो वै संवत्सरः' (श० ४।४।१।२) इत्यवयवावयविभावेन ऋतवो वा संवत्सरः, स च यज्ञपूर्वपरिणामत्वाद् यज्ञः। संवत्सररूपो यज्ञः प्रतिसवनं दर्शनीयः, अवयवशून्यस्यानुपपत्तेः, अवयवानां च यज्ञावयवत्वात्। स च सवनयोर्द्वयोर्दर्शितः। 'एष वै सविता य एष तपति' (श० ४।४।१।३) इत्यादिना तृतीयसवने सावित्रग्रहग्रहणेनैतस्य संवत्सररूपता प्रदर्शिता। 'तं वा उपाꣳशुपात्रेण गृह्णाति। मनो ह वा अस्य सविता प्राण उपाꣳशुस्तस्मादुपाꣳशुपात्रेण गृह्णात्यन्तर्यामपात्रेण वा समानꣳ ह्येतद्यदुपाꣳश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ हि' (श० ४।४।१।४)। तं सावित्रग्रहमुपांशुपात्रेणान्तर्यामपात्रेण वा गृह्णीयात्। समानमेतद् द्वयम्, प्राणोदानरूपत्वात्। यस्मान्मनः सावित्रः, प्राण उपांशुः। प्राणमनसोश्चात्यन्ताव्यभिचारः। तस्माद् मनसः प्राणेनाविनाभावादुपांशुपात्रेण गृह्णात्यन्तर्यामिपात्रेण च। 'आग्रयणाद् गृह्णाति। मनो ह वा अस्य सविता आत्मा आग्रयण आत्मन्येवैतन्मनो दधाति प्राणो ह वा अस्य सविता आत्मा आग्रयण आत्मन्येवैतत्प्राणं दधाति' (श० ४।४।१।५)। आग्रयणाद् आग्रयणस्थालीस्थसोमादित्यर्थः। 'अथातो गृह्णात्येव। वाममद्य....वामभाजः स्याम' (श० ४।४।१।६)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव।

अध्यात्मपक्षे--हे सवितः, विश्वोत्पादयितः ! अद्य अस्मिन् वामं संभजनीयं सुखं सावीः प्रेरय देहि। श्वः परदिन उ अपि वामं सुन्दरमध्यात्मसुखं सावीः। किं बहुना, दिवेदिवे प्रतिदिनमस्मभ्यं वामं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसुखं सावीः, तस्यैव सर्वतोभावेन सम्भजनीयत्वात्। हे देव, दानादिगुणयुक्त ! प्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरमात्मन् वा। हि यस्मात्, अया अनया श्रद्धान्वितया बुद्धया वयं वामभाजः स्याम, ब्रह्मोपासनलक्षणं ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं वा वामं भजन्तीति वामभाजः, ब्रह्मोपासनपरायणा ब्रह्मात्मापरोक्षज्ञानवन्तः स्याम भवेम। किमर्थम् ? वामस्य सम्भजनीयस्य भूरेर्भूम्नो विस्तीर्णस्य क्षयस्य ब्रह्मनिवासस्य ब्रह्मात्मनाऽवस्थानस्य, सिद्धय इति शेषः।

दयानन्दस्तु -'हे देव सवित ईश्वर, त्वं कृपयाऽस्मभ्यमद्य वामं प्रशस्यसुखम्, उ श्वः परस्मिन् दिने वामं पूर्वोक्तं दिवेदिवे प्रतिदिनं सावीः सव उत्पादय। येन वयमया अनया धिया श्रेष्ठबुद्धया भूरेर्बहुपदार्थान्वितस्य वामस्याऽत्युत्कृष्टस्य क्षयस्य गृहस्य मध्ये वामभाजः प्रशस्यकर्मसेविनः स्याम भवेम' इति, तदपि मन्दम्, वामस्याऽत्युत्कृष्टस्येति विवरणासङ्गतेः, धात्वर्थानुपपत्तेः। अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ६ ॥

प्रकार सावित्र ग्रह के ग्रहण में दो कण्डिकाओं का एक मन्त्र है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।५।१३) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है--हे विश्व के उत्पादयिता, आज आप रमणीय सुख प्रदान करें। अग्रिम दिन, कल भी सुन्दर अध्यात्मसुख प्रदान करें। प्रतिदिन हमारे लिये ब्रह्मात्मसाक्षात्कार के सुख को प्रदान करें, क्योंकि वही सर्वतः सुन्दर है। दान आदि गुणों से युक्त, प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न हे परमात्मन्, हम श्रद्धायुक्त इस बुद्धि के द्वारा सुखभागी हों। ब्रह्मोपासना रूपी अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार रूपी सुखभागी, ब्रह्मोपासनपरायण ब्रह्मात्मापरोक्षज्ञानवान् हम लोग अभिलषित विस्तीर्ण ब्रह्मात्मरूप से स्थिति की सिद्धि के लिये हों।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में 'वाम' की व्याख्या 'अत्युत्कृष्ट' के रूप में करने के कारण धात्वर्थ की

उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा असि चनो मयि धेहि। जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे ॥ ७ ॥

हे सोम, त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि। हे ग्रह, त्वं सावित्रः सवितृदेवत्योऽसि। त्वं चनोधा, 'चन इत्यन्ननाम' (निरु० ६।१६)। चनोऽन्नं धत्त इति चनोधा, अन्नस्य धारयितासि। 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु० १०।४२) इति रीत्या अभ्यासात् त्वमतिशयेनान्नस्य धारयितासि, अतश्चनोऽन्नं मयि धेहि स्थापय। जिन्व तर्पय यज्ञम्, जिन्व तर्पय यज्ञपतिं यजमानम्, जिन्वतेः प्रीतिकर्मत्वात्। भगाय यज्ञफलाय देवाय सवित्रे त्वा त्वां गृह्णामीति शेषः। यद्वा भगाय भगवते, अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः, ऐश्वर्यादिषड्भगयुक्ताय सवित्रे प्राणिनां प्रसवकर्त्रे देवाय त्वां गृह्णामि। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥' (वि० पु० ६।५।७४) इति षट्संख्याका भगाः प्रसिद्धाः। 'तं गृहीत्वा न सादयति' (श० ४।४।१।७) इति न सादयति नानुवषटकरोति, नेन्मनोऽग्नौ प्रवृणजानि नेत्प्राणमग्नौ प्रवृणजानीति। पूर्वमेतत् स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वं भक्तैरुपयामगृहीतोऽसि प्रेम्णा वशीकृतोऽसि। सावित्रः सवितुः परमेश्वरस्यायं सावित्रः परमेश्वरस्य सोपाधिकस्य निरुपाधिकस्वरूपोऽसि। त्वं चनोधा अभ्यासेनातिशयेनान्नं धारयसि, अतो मयि चनोऽन्नं धेहि। हे भगवन्, जिन्व यज्ञं प्रीणय। जिन्व यज्ञपतिम्, भगवतैव यज्ञस्य साद्गुण्यसम्भवात्। 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥' इत्युक्तेः, 'यत्पादपद्मस्मरणाद् यस्य नामजपादपि। न्यूनं पूर्णं भवेत् कर्म तं वन्दे साम्बमीश्वरम् ॥' (शि० म० पु० ६।१२।६४) इत्युक्तेश्च। यज्ञपतेरपि भगवति यज्ञसमर्पणेनैव सिद्धिः, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (भ० गी० १८।४६) इति भगवदुक्तेः।

असंगति होने से अनौचित्य है। शेष व्याख्या तो महीधर आदि भाष्यकारों का अनुकरण ही है ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। हे सोमग्रह, तुम सविता देवता से सम्बद्ध हो। हे अन्न को धारण करने वाले, तुम प्रभूत अन्न को धारण करने वाले हो, इस कारण हमें अन्न दीजिये। आप यज्ञ और यजमान से प्रीति रखिये। हे ऐश्वर्य आदि गुणयुक्त सबके उत्पादक! सविता देवता के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ ॥ ७ ॥

भाष्यसार—'उपयामगृहीतोऽसि' इस कण्डिका का विनियोग पूर्वोक्त है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्या पूर्वतः स्पष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—हे साम्बसदाशिव, आप भक्तों के द्वारा प्रेम से वशीकृत हैं। सोपाधिक परमेश्वर के निरुपाधिक स्वरूप हैं। आप अतिशय रूप से अन्न को धारण करने वाले हैं, अतः मुझमें अन्न धारण कीजिये। हे भगवन्, यज्ञ को समृद्ध कीजिये तथा यजमान को भी परिपूर्ण कीजिये। पुराणोक्ति के अनुसार भगवान् के द्वारा ही यज्ञ की सद्गुणता सम्भव है। यज्ञपति कर्ता की भी सिद्धि गीता के वचन के अनुसार (१८।४६) भगवान् के प्रति यज्ञ के समर्पण से ही होती है।

दयानन्दस्तु—'हे पुरुष, त्वया यथाहं नियमोपनियमैः संगृहीतास्मि, तथा मया त्वमुपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि सविता सकलजगदुत्पादको देवता यस्य त्वं सावित्रोऽसि। चनोधा चनांस्यन्नानि दधातीति चनोधाः, अभ्यासेनाधिकार्थो ग्राह्यः, सर्वेभ्योऽधिकान्नवान् असि। अतोऽन्नं मयि धेहि। तथाहमस्मि। त्वं मयि चनो धेहि। अहमपि त्वयि दध्याम्। त्वं यज्ञं जिन्व प्राप्नुहि जानीहि वा। जिन्वतीति गतिकर्मसु पठितम् (निघ० २।१४।८६), जिन्व प्रीणीहि। अहमपि जिन्वेयम्। पुरुषपालिकां स्त्रियं गृहाश्रमपालकं पुरुषं वा भगाय धनाढ्याय सेवनीयाय ऐश्वर्याय देवाय दिव्याय कमनीयाय त्वां सवित्रे सन्तानोत्पादकाय सवित्रे देवाय भगाय यज्ञपत्नीं मां जिन्व। एतस्मै यज्ञपतिं त्वामहमपि जिन्वेयम्' इति, तदपि निर्मूलम्, पतिपत्न्योः सम्बोध्यसम्बोधकयोरत्र सत्त्वे मानाभावात्। ब्राह्मणरीत्या त्वयं मन्त्रः सावित्रग्रहग्रहणे विनियुक्तः। धर्मशास्त्रदृष्ट्या योषितोऽधना भवन्ति, तेन पुरुषस्य चनोधात्वेऽपि स्त्रियस्तदयोगात्। स्त्रीधनं च न पुरुषेण धीयते। न च मनुष्यः कश्चन सर्वेभ्योऽधिकधनवान् भवति, लोके धनतारतम्यस्य ध्रौव्यात्। न च मनुष्यः सवितृदेवत्यः, तत्र प्रमाणाभावात्। न च यज्ञपतिशब्देन यज्ञपत्नी गृह्यते, न वा पत्नी पुरुषपालिका भवति, तथात्वे प्रमाणानुपलम्भात्। किञ्च, नहि स्त्रीपुंसादिव्यवहारप्रतिपादने वेदः प्रवर्तते, तस्य लोकगम्यत्वेन वेदाविषयत्वात्, प्रत्यक्षानुमानानधिगतार्थबोधकत्वेनैव तत्प्रामाण्यात् ॥ ७ ॥

उपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ८ ॥

'अभक्षितेन महावैश्वदेवग्रहणमुपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासीति' (का० श्रौ० १०।६।२)। अभक्षितेनैव सावित्रग्रहपात्रेण पूतभृतः सकाशान्महावैश्वदेवग्रहं गृह्णीयादध्वर्युः। हे वैश्वदेव ग्रह, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। गृहमाश्रयो वा। त्वं सुशर्मासि शोभनं शर्म सुखं यस्य तादृशोऽसि। सुप्रतिष्ठानोऽसि सुष्ठु प्रतिष्ठानं पात्रे स्थितिर्यस्य सोऽसि महत्साधनसम्पन्नः, 'प्राणो वै सुशर्मा सुप्रतिष्ठानः' इति श्रुतेः। प्राणहेतुत्वात् प्राण इत्युच्यते। अन्नं वै ग्रहोऽन्नं प्राणहेतुः, तस्माद् बृहदुक्षाय बृहन् महांश्चासौ उक्षा सेक्ता बृहदुक्षः, 'प्रजापतिर्वै बृहदुक्षः' इति

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में पति-पत्नी की सम्बोध्य तथा सम्बोधक के रूप में कल्पना करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अप्रामाणिकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों की रीति से तो यह मन्त्र सावित्र ग्रह के ग्रहण में विनियुक्त है। धर्मशास्त्र की दृष्टि से स्त्रियाँ 'अधन' कही गई हैं। अतः पुरुष के 'चनोधा' होने पर भी स्त्रियों में यह युक्त नहीं होता। स्त्रीधन भी पुरुष के द्वारा नहीं रखा जाता। मनुष्य सवितृदेवताक नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। यज्ञपति शब्द से 'यज्ञपत्नी' का ग्रहण नहीं होता अथवा पत्नी पुरुष की पालिका भी नहीं होती, क्योंकि इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। फिर वेद स्त्रीपुरुष आदि का व्यवहार प्रतिपादित करने में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वह व्यवहार तो लोकगम्य होने के कारण वेद का विषय नहीं है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा अज्ञात अर्थ का बोधन कराने के कारण ही वेद का प्रामाण्य है ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे महावैश्वदेव ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, श्रेष्ठ कल्याण की खान इस पवित्र पात्र में यह अन्न स्थित है। विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के निमित्त तुमको उपयाम पात्र में ग्रहण करता हूँ। हे महावैश्वदेव ग्रह, यह तुम्हारा स्थान है। विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के निमित्त तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ ८ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।६।२) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'उपयामगृहीतोऽसि

श्रुतेः। तादृशाय जगदुत्पादयित्रे विश्वेदेवात्मकाय प्रजापतये नमः, सोमाख्यमन्नं गृह्णामीति शेषः। नम इत्यन्ननाम। विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाभक्षितेन पात्रेण। वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति तद्यदभक्षितेन पात्रेण वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति न वै सावित्रस्यानुवषट्करोत्येतस्माद्वै वैश्वदेवं ग्रहं ग्रहीष्यन् भवति तदस्य वैश्वदेवेनैवानुवषट्कृतो भवति' (श० ४।४।१।१८)। महावैश्वदेवग्रह उच्यते। यस्यार्भवः पवमानस्तोत्रम्, एवं वैश्वदेवं च शस्त्रं भवति। 'यद्वेव वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति। मनो ह वा अस्य सविता सर्वमिदं विश्वेदेवा इदमेवैतत्....कृतानुकरमनुवर्त्म करोति....' (श० ४।४।१।१९)। सर्वस्य विश्वेदेवात्मकप्रजापतिकार्यत्वात् सर्वमिदं विश्वेदेवा इति। 'यद्वेव वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति। प्राणो ह वा अस्य सविता सर्वमिदं विश्वेदेवा अस्मिन्नेवैतत्सर्वस्मिन् प्राणापानौ दधाति' (श० ४।४।१।१०)। स्पष्टार्थकं ब्राह्मणम्। 'यद्वेव वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति। वैश्वदेवं वै तृतीयसवनं तदुच्यत एव सामतो यस्माद्वैश्वं तृतीयसवनमुच्यत ऋक्तोऽथैतदेव यजुष्टः पुरश्चरणतो यदेतं महावैश्वदेवं गृह्णाति' (श० ४।४।१।११)। वैश्वदेवग्रहग्रहणं तृतीयसवनमुच्यते। एवं सामतो विश्वे हि देवाः स्तूयन्ते, ऋक्तो विश्वेदेवाः शस्यन्ते। अथैतेनैव कारणेन यजुष्टो यजुःषु पुरश्चरन्ति प्रचरन्ति, प्रथमतरमस्य सामभ्यश्चरन्त्येभिरिति पुरश्चरणं यजूंषि, तत्राप्येतेनैव कारणेन वैश्वदेवं तृतीयसवनं पर्यवस्यति। एतं महावैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति। 'तं वै पूतभृतो गृह्णाति। वैश्वदेवो वा पूतभृदतो हि देवेभ्य उन्नयन्त्यतो मनुष्योऽतः पितृभ्यस्तस्माद्वैश्वदेवः पूतभृत्' (श० ४।४।१।१२)। तं वै पूतभृतो गृह्णन्ति। वैश्वदेवो हि वै पूतभृत्। अतो देवेभ्य उन्नयन्ति। चमसानां पूतभृत उन्नयनं दर्शयत्यनादिष्टानां च। अतो मनुष्येभ्यो भक्षितानां पुनर्भक्षणार्थमेवायं पूतभृतो दर्शयति, अतः पितृभ्य इति। एवाप्यायितानां शंसिताश्चमसाः पितृदेवत्या भवन्ति। ततश्च तदाप्यायनं पितृभ्योऽप्युन्नयन्ति पूतभृत इति दर्शयति।

'तं वा अपुरोरुक्कं गृह्णाति। विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णाति सर्वं वै विश्वेदेवा यदृचो यद्यजूंषि यत्सामानि स यदेवैनं विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति तेनो हास्यैष पुरोरुङ्मान् भवति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति' (श० ४।४।१।१३)। विश्वेषामेव देवानामृगादीनि शब्दमयानि शरीराणि। ततश्च विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्यमाणस्तदन्तर्गततया पुरोरुचा युक्त एव भवति। अतः षितृभ्य इत्युक्ते किं तत्र पुरोरुचेत्यर्थः। 'अथातो गृह्णात्येव। उपयामगृहीतोऽसि....बृहदुक्षाय नम इति प्रजापतिर्वै बृहदुक्षः प्रजापतये नम इत्येवैतदाह विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति सादयति विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णात्यथेत्य प्राङुपविशति' (श० ४।४।१।१४)। स एष ग्रहः प्राणस्यान्नमिति कृत्वा प्राण इत्युच्यते। स एव सुशर्मा सु शोभनं प्रतिष्ठानं विश्वेदेवा अस्येति। एतदन्नं हि प्रजानां भवति। अथेत्य प्राङुपविशति वैश्वदेवशस्त्रप्रतिगरम्। 'स यत्रैताँ होता शँसति' (श० ४।४।१।१५)। यत्र काले होता शंसति, तस्मिन्नेव काले एतस्यां वायुदेवत्यायामृचि शस्यमानायां द्विदेवत्यानि पात्राणि विमुच्यन्ते प्रक्षाल्य खरे निधीयन्ते। एष हि तेषां विमोकः। 'वायुप्रणेत्रा वै पशवः प्राणो वै वायुः प्राणेन हि पशवश्चरन्ति' (श० ४।४।१।१५)। आख्यायिकया प्रशंसति—स ह देवेभ्य इति। 'स ह देवेभ्यः पशुभिरपचक्राम। तं देवाः प्रातःसवनेऽन्वमन्त्रयन्त स नोपाववर्त तं माध्यन्दिने सवनेऽन्वमन्त्रयन्त स ह नैवोपाववर्त तं तृतीयसवनेऽन्वमन्त्रयन्त' (श० ४।४।१।१६), 'स होपावर्त्स्यन्नुवाच। यद्व उपावर्तेय किं मे ततः स्यादिति त्वयैवैतानि पात्राणि युज्येरंस्त्वया विमुच्येरन्निति तदेनेनैतत्पात्राणि युज्यन्ते यदैन्द्रवायवाग्रान् प्रातःसवने गृह्णात्यथैनेनैतत्पात्राणि विमुच्यन्ते यदाह नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्चेति....' (श० ४।४।१।१७)।

सुशर्मासि' इस मन्त्र से अध्वर्यु महावैश्वदेव ग्रह का ग्रहण सावित्र ग्रहपात्र के द्वारा करता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, उपयामगृहीतोऽसि भक्त्या वशीकृतोऽसि। सुशर्मासि भक्तानां शोभनाश्रयभूतोऽसि। सुप्रतिष्ठानोऽसि शोभनं प्रतिष्ठानं कैलासादिकं यस्य स सुप्रतिष्ठानः। तस्मै बृहदुक्षाय प्रजापतिरूपाय तुभ्यं नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। एष भक्तानां हृदयसमूहस्ते योनिर्गृहम्। विश्वेभ्यो देवेभ्यो हिताय त्वामाश्रयामः। तदर्थमेव त्वामासादयामः स्थापयामः।

दयानन्दस्तु—'हे पते, अहं यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि सुप्रतिष्ठानः सुशर्मासि, तस्मै बृहदुक्षाय तुभ्यं नमोऽस्तु। सुसंस्कृतं हृद्यमन्नमुचितसमये ददामि। यथाहं यस्य ते तवैष योनिः प्रासादोऽस्ति, तं त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यः सेवे, विश्वेभ्यो देवेभ्यो नियुनज्मि, तथा त्वं विश्वेभ्यो देवेभ्यो मां नियुङ्ग्धि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणत्वात्। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नियुनज्मीत्यस्य को वाऽर्थः? कथं हि स्त्री पतिं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नियोक्ष्यति, कथं च पतिस्तां नियोक्ष्यति? किमिदं दयानन्दीयनियोगस्य मूलम्? 'त्वं बृहदुक्षा अत्यन्तवीर्य-प्रदाता, तं त्वा दिव्यसुखेभ्यः सेवे' इति तु त्वदीयं मानसं भावमभिव्यनक्ति, किं त्वदीये वेदे इदमेव वर्णितम्॥ ८॥

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ बृह॒स्पति॑सुतस्य देव सोम त॒ इन्दो॑रिन्द्रि॒याव॑तः॒ पत्नी॑वतो॒ ग्रहाँ॑२॥ ऋद्ध्यासम्। अ॒हं प॒रस्ता॑द॒हम॒वस्ता॒द्यद॒न्तरि॑क्षं॒ तदु॑ मे पि॒ताभू॑त्। अ॒ह सूर्य॑मुभ॒यतो॑ द॒र्शाहं दे॒वाना॑म्पर॒मं गुहा॒ यत्॥ ९॥

'उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्येति प्रतिप्रस्थाता पात्नीवतं गृह्णाति' (का० श्रौ० १०।६।१५)। स चोपांशुपात्रेणान्तर्यामपात्रेण वा परिप्लवयाऽऽग्रयणात् पात्नीवतं ग्रहं गृह्णाति। उपांशुपात्रेण पात्नीवतमाग्रयणाद् गृह्णाति' (सत्या० श्रौ० ९।४) इति सूत्रात्। सोमदेवत्यम्। हे सोमदेव, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। इन्दोरिन्द्रियावतो वीर्यवतः पत्नीवतः पत्नीसंयुक्तस्य ते तव सम्बन्धिनो ग्रहानन्यानुपांशुप्रभृतीन् ऋद्ध्यासं समर्धयेयम्।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे साम्बसदाशिव, आप भक्ति के द्वारा वशीकृत हैं, भक्तों के सुन्दर, शुभ आश्रय रूप हैं। कैलास आदि शुभ प्रतिष्ठानों से युक्त हैं। ऐसे प्रजापतिरूपी आपके लिये प्रणाम हो। भक्तों का यह हृदयसमूह ही आपका निवास है। समस्त देवों के हितार्थ हम आपकी शरण लेते हैं। एतदर्थ ही आपकी प्रतिष्ठापना करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अप्रामाणिक होने के कारण अग्राह्य है। 'विश्वेदेवों के लिये नियुक्त करता हूँ' इसका क्या अर्थ है? विश्वेदेवों के लिये स्त्री पति को तथा पति स्त्री को कैसे नियुक्त करेंगे? क्या यह नियोग है? उस मत में 'तुम अत्यन्त वीर्यप्रदाता हो' इत्यादि ही क्या वेद में वर्णित है?॥ ८॥

मन्त्रार्थ—हे दीप्यमान देव सोम, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, इस कारण यज्ञ करने वाले यजमान से अभिषुत तुम्हारे रसयुक्त वीर्य से पत्नीसंयुक्त मैं तुम्हारे अनुग्रह से अन्यान्य उपांशु आदि ग्रहों को पूर्ण करता हूँ। मैं ही नीचे भूलोक में स्थित हूँ। जो मध्यवर्ती लोक है, वह भी मुझ देहधारी का पिता के समान पालक है। मैं परम रूप हुआ ऊपर और नीचे स्थित होकर सूर्य को देखता हूँ। देवताओं का अत्यन्त गोप्य हृदय मैं ही हूँ॥ ९॥

भाष्यसार—'उपयामगृहीतोऽसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से प्रतिप्रस्थाता द्वारा पात्नीवत ग्रह का ग्रहण तथा अध्वर्यु

कीदृशस्य ते ? बृहस्पतिसुतस्य बृहतो महतो यज्ञकर्मणः पतिः पालयिता यजमानस्तेन सुतस्याभिषुतस्य, यद्वा बृहस्पतयो ब्राह्मणा ऋत्विजस्तैरभिषुतस्य, यद्वा बृहस्पतिसुतस्य ब्रह्मप्रसूतस्येत्यर्थः, 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः' (श० ११।४।३।१३) इति ब्राह्मणोक्तेः। इन्दोः, उनत्तीतीन्दुस्तस्य, 'उन्दी क्लेदने', क्लेदनरूपस्य, रसरूपस्येत्यर्थः। इन्द्रियावतः, इन्द्रियं वीर्यमस्यास्तीतीन्द्रियवान्, संहितायां दीर्घः, इन्द्रियावान्, तस्य। 'इन्द्रियावतो वीर्यवत इत्येवैतदाह' (श० ४।४।१।१२) इति हि श्रुतिः। तथा पत्नीवतः पत्नीयुक्तस्य, तादृशस्य ते सम्बन्धिनोऽन्यान् ग्रहान् ऋद्ध्यासं समर्धयेयमिति सम्बन्धः। 'प्रचरणीशेषेण श्रीणात्येनमहं परस्तादिति' (का० श्रौ० १०।६।१६)। प्रचरणीशिष्टेनाज्येन पात्नीवतग्रहगतसोमं मिश्रयेद् अहं परस्तादिति मन्त्रेणाध्वर्युः। प्रजापतिरूपात्मदेवत्या त्रिष्टुप्। मन्त्रद्रष्टा स्वस्य सर्वगतब्रह्मरूपत्वाभिप्रायेण वदति—अहं परमात्मरूपः सन् परस्ताद् उपरितनद्युलोकादौ, तिष्ठामीति शेषः। यदन्तरिक्षं मध्यवर्तिलोकरूपमस्ति, तदुत तदेव मे देहधारिणः पिता पाता सवितृवत् प्रतिपालको बभूव। अहं ब्रह्मरूपः सन्, उभयत उपरिष्टादधस्ताच्च स्थित्वा सूर्यं ददर्श दृष्टवानस्मि। सूर्यस्य मम शिर इत्यभिप्रायः। यद्वस्तु देवानामिन्द्रादीनां हृदये परमं गुहा अत्यन्तगोप्यमस्ति, तदेवाहमस्मि।

'सौम्येन चरुणा प्रचरति' (श० ४।४।२।१) इति श्रुतौ सौम्यस्य चरोः सोपपत्तिकं प्रचरणविधानम्। सौम्यस्य चरोर्देवपित्रोरुभयोर्हविष्ट्वमुक्त्वा तन्निमित्तककलहनिवारणाय तस्य वैश्वदेव्यं तृतीयसवनेऽनुवाक्यावर्जं प्रचरणविधानं प्राक्, पश्चादुभयतोऽन्यतरतो वाज्येन परियजनसहितस्य सधर्मकस्य सौम्यस्य चरोर्विधानम्—'अथ प्रचरणीति स्रुग् भवति' (श० ४ ४।२।७) इत्यादि। तत्र पूर्वं प्रचरण्यां स्रुचा चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽध्वर्योः शालाकैर्यथोपकीर्णं यथापूर्वं धिष्ण्यानां व्याघारणविधानम्, तदैव प्रतिप्रस्थातुः पात्नीवतग्रहस्य ग्रहणविधानम्। तत्साधनत्वेन यदि सावित्रो ग्रह उपांशुग्रहेण गृहीतश्चेदस्यान्तर्यामपात्रेण ग्रहणम्। यदि सावित्रो ग्रहोऽन्तर्यामपात्रेण गृहीतस्तदास्य पात्नीवतो ग्रहस्योपांशुपात्रेण ग्रहणमिति व्यवस्थितविभाषया पात्रस्य विधानम्। तदपि ग्रहणमपुरोरुक्कतया कर्तव्यम्। विहितग्रहणमनूद्य प्रचरणीशेषेणाज्येन पात्नीवतग्रहस्य श्रपणकरणम्। प्रसङ्गात् स्त्रीणां पित्र्यस्य धनस्य वा षड्विधस्य स्त्रीधनस्य दायस्यानीश्वरत्वोपवर्णनम्।

तद्यथा—'तं वा उपाꣳशुपात्रेण गृह्णाति। यदि सावित्रमुपाꣳशुपात्रेण गृह्णीयादन्तर्यामपात्रेणैतं यदि सावित्रमन्तर्यामपात्रेण गृह्णीयादुपाꣳशुपात्रेणैतꣳ समानꣳ ह्येतद्यदुपांꣳश्वन्तर्यामौ प्राणो हि यो वै प्राणः स उदानो वृषा वै प्राणो योषा पत्नी मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते' (श० ४।४।२।१०), 'तं वा अपुरोरुक्कं गृह्णाति। वीर्यं वै पुरोरुङ् नेत् स्त्रीषु वीर्यं दधानीति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति' (श० ४।४।२।११)। सोमः पत्नीवान्, एवं परोक्षं पत्नीभ्यो गृह्णाति। देवपत्नीषु किल देवैस्तुल्याः सुकृतास्तदनुकरणान्मानुष्योऽपि स्त्रियो वीर्यवत्यः कृताः स्युः, तच्चायुक्तम्, व्यवहारस्यानवक्लृप्तेरित्यभिप्रायः। 'अथातो गृह्णात्येव। उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देव सोम त इति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मप्रसूतस्य देव सोम त इत्येवैतदाहेन्दोरिन्द्रियावत इति वीर्यवत इत्येवैतदाह यदाहेन्दोरिन्द्रियावत इति पत्नीवतो ग्रहाँ२॥ ऋद्ध्यासमिति न सम्प्रति पत्नीभ्यो गृह्णाति नेत् स्त्रीषु वीर्यं दधानीति तस्मान्न सम्प्रति पत्नीभ्यो गृह्णाति' (श० ४।४।२।१२)। बृहस्पतिसुतस्य ब्रह्मप्रसूतस्य इन्द्रियावतो वीर्यवतः, न पत्नीभ्यः स्वातन्त्र्येण ग्रहान् गृह्णाति। अन्यथा तास्वपि वीर्यवत्त्वं स्यात्, तस्मान्न ताभ्यो गृह्णाति। 'अथ यः प्रचरण्याꣳ सꣳस्रवः परिशिष्टो भवति। तेनैनꣳ श्रीणाति समर्धयति वा अन्यान् ग्रहांञ्छ्रीणन्नथैतं व्यर्धयति वज्रो वा आज्यमेतेन वै देवा वज्रेणाज्येनाघ्नन्नेव पत्नीर्निराक्ष्णुवं-

---

द्वारा घृत से सोम के मिश्रण की विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र

स्ता हता निरष्टा नात्मनश्चनैशत न दायस्य चनैशत तथो एवैष एतेन वज्रेणाज्येन हन्त्येव पत्नीर्निरक्ष्णोति ता हता निरष्टा नात्मनश्चनेशत न दायस्य चनेशते' (श० ४।४।२।१३)। अथ यः प्रचरणीशेषेणैव पात्नीवतं श्रीणाति, एतेन चाज्येन देवाः पत्नीं हतवन्तस्ताडितवन्तः, ताडयित्वा निराक्ष्णुवन् ऐश्वर्यान्निर्भक्तवन्तः। 'अक्षु व्याप्तौ' इति भौवादिकस्य व्यत्ययेन श्नुविकरणः। पत्न्यो हता वाग्वज्रेण निरष्टा ऐश्वर्याद् बहिर्भूताः सत्य आत्मनोऽपि स्वशरीरस्यापि न ईशितवत्यः, 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (मनु० ९।३) इति स्मृतेः। न दायस्य चन अपि पित्र्यस्य ईशते। स्त्रीधनं वा षड्विधं रायस्तस्यापि नैवेशत इति। तदनुकारेणायमध्वर्युस्तथैव करोति, स्त्रियश्चाद्यापि नेशते। 'स श्रीणाति। अहं परस्तात् ' देवतानां परमं गुहा यदिति स यदहमहमिति श्रीणाति पुꣳस्वेवैतद्वीर्यं दधाति' (श० ४।४।२।१४)। अध्वर्युः किल पुमांसं वा तमुच्चारयन् पुंस्त्वसामान्यात् सर्वेष्वेव सर्वं दधाति, येन स्वतन्त्रा पुमांसः सर्वस्येशते।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, साम्बसदाशिव ! हे देव क्रीडापरायण, त्वमुपयामगृहीतोऽसि भक्त्या वशीकृतोऽसि। बृहस्पतिसुतस्य ब्रह्मप्रसूतस्य, 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः' इति श्रुतेः। हे ब्रह्मपुत्र, रुद्ररूपेणावतीर्णस्य ते इन्दोः सोमवत्प्रियदर्शनस्य, इन्द्रियावतो वीर्यवतोऽनन्तब्रह्माण्डनिर्माणक्षमस्य, पत्नीवतः पत्नी राजराजेश्वरी उमा प्रशस्ता लोकोत्तरा जाया यस्य तस्य, ग्रहान् इन्द्रियलक्षणान्, 'अष्टौ ग्रहा अष्टा अतिग्रहाः' इति श्रुतेः। प्राप्येति शेषः। त्वदिन्द्रियगोचरतां प्राप्य ऋद्ध्यासं वर्धिषीय समर्धयेयम्। भगवत्कृपया विगलिततमोरजोमलः कृतात्मसाक्षात्कारः प्रकटयति—अहं परब्रह्मस्वरूपेण जगतः परस्तात् तथैवाधस्तादहमस्मीति। यदन्तरिक्षं मध्यवर्तिलोकरूपमस्ति, तदु तदेव मे देहधारिणो मम पिता पितृपालकमभूद् भवति। अहं परमात्मरूपः सन्नुपरिष्टादधस्ताच्च स्थित्वा सूर्यं ददर्श पश्यामि। देवानामिन्द्रादीनां यत् परमं गुहा गुहायामत्यन्तं गोप्ये हृदयेऽस्ति, तदेवाहमस्मीति पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे सोमदेव, यस्त्वं मया कुमार्योपयामगृहीतोऽसि, तस्येन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतः प्रशस्तजायावतः, बृहस्पतिसुतस्य बृहत्या देववाण्याः पालकस्य पुत्रस्य ते तव गृहान् प्राप्याहं परस्ताद् उत्तरस्माद् अहम् अवस्ताद् अर्वाचीनात् समयाद् ऋद्ध्यासं वर्द्धिषीय। यद् देवानां गुहास्थितमन्तरिक्षं विज्ञानम्,

---

(१०।६।१५-१६) तथा सत्याषाढ श्रौतसूत्र (९।४) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—हे साम्बसदाशिव, हे जगत्क्रीडापरायण, आप भक्ति के द्वारा वशीकृत हैं। ब्रह्मप्रसूत, रुद्ररूप से अवतरित, चन्द्रमा की भाँति सुन्दर, मनोहर, बलशाली, अनन्त ब्रह्माण्डों के निर्माण में सक्षम, राजराजेश्वरी भगवती उमारूपिणी प्रशस्त लोकोत्तर पत्नी से संयुक्त आपके इन्द्रियात्मक ग्रहों को प्राप्त करके, अर्थात् आपके इन्द्रियगोचरत्व (दृष्टिपात के अनुग्रह) को प्राप्त करके मैं परिवर्धित, समृद्ध होऊँ। भगवान् की कृपा से तमोरजोमल से शून्य होकर आत्मसाक्षात्कार को सम्पन्न करने वाला कहता है कि मैं परब्रह्म स्वरूप से जगत् के ऊर्ध्व भाग तथा उसी प्रकार अधो भाग में भी हूँ। जो अन्तरिक्ष मध्यवर्ती लोक के रूप में है, वही देहधारी मेरा पिता, पालक है। मैं परमात्मस्वरूप होता हुआ ऊर्ध्व तथा अधो भागों में स्थित होकर सूर्य को देखता हूँ। इन्द्र आदि देवों के अत्यन्त गोप्य हृदय में जो है, वह मैं ही हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ प्रकरण से विरुद्ध तथा श्रुति एवं सूत्र से विरुद्ध है। सामान्य पति के लिये बृहस्पतिपुत्र आदि विशेषण संगत नहीं है। कुमारियाँ पत्नी से युक्त पुरुष के घर जाने की अभिलाषा भी नहीं

गृह्यन्ते संव्रियन्ते सकला विद्या यया बुद्धया तस्याम्, गुहा, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू०७।१।३९) इति विभक्तेर्लुकि, स्थितम्, अन्तरिक्षम् अन्तरक्षयम्, अन्तः अन्तःकरणे क्षयरहितं विज्ञानमन्वेमि, तत् त्वमपि प्राप्नुहि। य उ मे मम पिता पालयिता अध्यापको वा विद्वानभूत्, तत्सकाशात् पूर्णां विद्यां प्राप्याहं यं परमं सूर्यं चराचरात्मानमीश्वरमुभयतः पूर्वापरभावतो ददर्श, तं त्वमपि पश्य' इति, तदपि प्रकरणविरुद्धमेव, श्रुतिसूत्रविरुद्धं च, पतिसामान्यस्य बृहस्पतिसुतादिविशेषणानुपपत्तेः। न च पत्नीवतः पुरुषस्य गृहान् गन्तुमिच्छन्ति कुमार्यः। अन्तरिक्षपदस्य विज्ञानार्थकत्वे किं मूलम् ? न चान्तःकरणस्य विज्ञानमक्षयं भवति, अन्तःकरणपरिणामभूतस्य ज्ञानस्य कार्यत्वेन क्षयिष्णुत्वात् ॥ ९ ॥

अग्ना ३॥ इ पत्नीवन् सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमम्पिब स्वाहा। प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय ॥ १० ॥

'अग्ना ३॥ इ पत्नीवन्नित्युत्तरार्धे जुहोतीति पात्नीवतं ग्रहमग्नेरुत्तरभागे जुहोति' (का० श्रौ० १०।६।१८)। पात्नीवतं ग्रहमाहवनीयस्याग्नेरुत्तरार्धेऽध्वर्युर्जुहुयात्, अग्ना ३॥ इ पत्नीवन्निति मन्त्रेण। 'एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते' (पा० सू० ८।२।१०७) इति 'अग्ने' इत्येकारस्य 'आइ' इत्यादेशः, आकारस्य प्लुतत्वम्। हे अग्ने पत्नीवन्, पत्नी अस्त्यस्येति पत्नीवान् तत्सम्बुद्धौ, हे पत्नीयुक्त ! त्वष्ट्रा देवेन सजूः समानप्रीतिः सन् सोमं पिब। स्वाहा सुहुतमस्तु। 'पत्नीँ सदः प्रवेश्यापरेणोत्तरत उपविष्टामुद्गात्रा समीक्षयति प्रजापतिर्वृषासीति' (का० श्रौ० १०।७।३)। नेष्टा पत्नीमपरद्वारेण सदः प्रवेश्य उद्गातॄणामुत्तरत उपविष्टामुद्गातारं पश्येति प्रेष्य समीक्षयति, सा च तमुद्गातारं पश्येत् प्रजापतिरिति मन्त्रेण। हे उद्गातः, प्रजापतिः प्रजानां पालकस्त्वं वृषासि सेक्ता भवसि। रेतोधा रेतसो वीर्यस्य धारयिता चासि। एवं गुणयुक्तस्त्वं रेतो वीर्यं मयि धेहि स्थापय। शुभसङ्कल्पद्वारा मदीयपतिकर्तृकं रेतोनिधानं सम्पादयेत्यर्थः। तदनन्तरं वृष्णो वीर्यस्य सेक्तू रेतोधसो रेतो धारयितुः, प्रजापतेस्तेऽनुग्रहाद् रेतोधां रेतसो धारयितारं प्रजोत्पादनसमर्थं पुत्रमशीय प्राप्नुयाम्। अश्नोतेर्व्यत्ययेनादादित्वं लिङ्युत्तमैकवचने रूपम्। अत्रोद्गातरि प्रजापतित्वमारोप्य तथोक्तिः, 'प्रजापतिर्वा उद्गाता' इति श्रुतेः। प्रजापतिः सर्वप्रजानां पतिः पालकः। तत्तत्पतिद्वारा स एव सर्वासु योनिषु सेक्ता। तस्मात्तदनुग्रहादेव सर्वस्याभीष्टपुत्रलाभः, 'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥' (भ० गी० १४।४) इति गीतोक्तेः।

अत्र ब्राह्मणम् —'अथाहाग्नीत् पात्नीवतस्य यजेति। वृषा वा अग्नीद् योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते स जुहोत्यग्ना ३॥ इ पत्नीवन्निति वृषा वा अग्निर्योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं प्रजननं क्रियते'

करतीं। अन्तरिक्ष शब्द का विज्ञान अर्थ मानने में क्या प्रमाण है ? फिर अन्तःकरण का विज्ञान अक्षय नहीं होता, क्योंकि अन्तःकरण का परिणामभूत ज्ञान कार्य होने के कारण क्षयिष्णु है ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे पत्नीवत् अग्ने, आप त्वष्टा देवता के साथ सोम का पान कर इस आहुति को भली प्रकार ग्रहण करें। हे उद्गातः, प्रजाओं के पालक, सिंचन में समर्थ, वीर्य को धारण करने वाले प्रजापति ! आपके अनुग्रह से प्रजा के उत्पादन में समर्थ वीर्यवान् पुत्र को मैं प्राप्त करूँ ॥ १० ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१९।६।१८-२०, १०।७।३) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार

(श० ४।४।२।१५)। प्रतिप्रस्थातुर्हस्तादादायाध्वर्युरग्नीध्रमाह। अग्नीत् पात्नीवतस्य यजेत्याश्रावणमप्यत्र द्रष्टव्यम्, प्रैषाङ्गत्वात्। पुरोवाचनप्रभृतिस्तुतशस्त्रं च, तस्याप्यङ्गत्वात्। मिथुनसम्पत्त्या तत्प्रशंसति—वृषा वा इति। 'सजूर्देवेन त्वष्ट्रेति। त्वष्टा वै सिक्तꣳ रेतो विकरोति तदेष एवैतत् सिक्तꣳ रेतो विकरोति सोमं पिब स्वाहेत्युत्तरार्धे जुहोति या इतरा आहुतयस्ते देवा अथैताः पत्न्य एवमिव हि मिथुनं क्लृप्तमुत्तरतो हि स्त्री पुमाꣳसमुपशेत आहारत्यध्वर्युरग्नीधे भक्षꣳ स आहाध्वर्य उप माह्वयस्वेति तं न प्रत्युपह्वयेत् को हि हतस्य निरष्टस्य प्रत्युपहवस्तं वै प्रत्येवोपह्वयेत' (श० ४।४।२।१६)। जुहोत्यन्तं स्पष्टम्। या इतरा उपांश्वाज्याहुतयस्ते देवाः, देवान्नत्वाद् देवास्तद्वन्तः। अथैताः पत्न्यः, पत्नीदेवत्यत्वात् पात्नीवतस्येति। पत्नीनां चोत्तरतः स्थानमतस्तदन्तर्गताया अप्याहुतेरुत्तरत एव स्थानं युक्तमित्यर्थः। आहरत्यध्वर्युरिति प्रतिप्रस्थातृशङ्कानिवृत्त्यर्थमध्वर्युग्रहणम्। को हि हतस्येत्यनादरप्रकाशनार्थम्। एवं हि पत्न्यः सुतरामवीर्याः कृता भवन्ति। तत्र प्रत्युपह्वयेत उपह्वय इत्येव नु जानीतेत्यर्थः। किं कारणम्? यस्माज्जुहोति। अस्यैकदेशेऽग्नौ वषट् कुर्वन्ति।

'अथ सम्प्रेष्यति। अग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीद नेष्टः पत्नीमुदानयोद्गात्रा संख्यापयोन्नेतर्होतुश्चमसमनून्नय सोमं माऽतिरीरिच इति यद्यग्निष्टोमः स्यात्' (श० ४।४।२।१७)। हे अग्नीत्, नेष्टुरुपस्थमासीद। हे नेष्टः, पत्नीमुदानयोद्गात्रा संख्यापय। हे उन्नेतः, होतुश्चमसमनु सर्वांश्चमसानन्नूय। सोमं माऽतिरीरिचः सर्वमेव पूतभृतः सोममुन्नयन्ति, यद्यग्निष्टोमसंस्थाक्रतुः स्यात्। 'यद्युक्थ्यः स्यात्। सोमं प्रभावयेति ब्रूयात् स बिभ्रदेवैतत्पात्रमग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीदत्यग्निर्वा एष निदानेन यदाग्नीध्रो योषा नेष्टा वृषा वा अग्नीद्योषा नेष्टा मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियत उदानयति नेष्टा पत्नीं तामुद्गात्रा संख्यापयति प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहीति प्रजापतिर्वा उद्गाता योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते' (श० ४।४।२।१८)। एते च तेऽग्निष्टोमचमसाः, येषु द्वादशं स्तोत्रं यज्ञायज्ञियमाग्निमारुतं च शस्त्रं शस्यते। यद्युक्थ्यः स्यादिति। उक्थ्यग्रहणमुत्तराणां संस्थानामुपलक्षणार्थम्। उक्थ्यादिषु संस्थासु सोमं प्रभावय प्रभूतं कुरु, यथोत्तराण्यपि प्रदानानि सिद्धयन्तीत्यर्थः। सोऽग्नीदेतत्पात्नीवतपात्रं हस्ते धारयन्नेव नेष्टुरुत्सङ्गमध्यास्ते। योषा नेष्टा स हि पत्नी भवति वाचयति च। कात्यायनोऽपि तथैवाह—'प्रेष्यति चाग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीद नेष्टः पत्नीरुदानयोद्गात्रा संख्यापयोन्नेतर्होतुश्चमसमनून्नय सोमं माऽतिरीरिच इति' (का० श्रौ० १०।६।१९)। त्रय एते प्रैषाः सावसानाः कार्याः। सोमं सावशिष्टं मा कुरु, सर्वं सोममुन्नयेत्यर्थः। 'प्रभावयोक्थ्यादिषु' (का० श्रौ० १०।६।२०)। उक्थ्यषोडश्यतिरात्रवाजपेयाप्तोर्यामेषु सोमं प्रभावयेति प्रैषः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने रुद्ररूपाग्ने, त्वष्ट्रा देवेन सजूः समानप्रीतिः सोममस्मत्समर्पितं सोमोपलक्षितं निवेदनीयं हविः पिब भक्षय, स्वाहा सुहुतमस्तु। प्रजापतिः सर्वप्रजानां त्वं पालकोऽसि, वृषासि अभीष्टवर्षणशीलोऽसि, रेतोधाः सर्वप्राणिनां मूर्तिनिर्माणाय बीजधारकोऽसि। सोऽहं स्वभावत एव त्वां ब्रवीमि, रेतः-

---

'अग्ना३ ई' इस कण्डिका के मन्त्रों से पात्नीवत ग्रह का हवन तथा पत्नी द्वारा उद्गाता का अवलोकन आदि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे रुद्ररूप अग्निदेव, त्वष्टा देव के साथ समान प्रीतियुक्त हमारे द्वारा समर्पित सोम आदि नैवेद्य (हविर्द्रव्य) आप भक्षण करें, यह समर्पित है। आप समस्त प्रजाओं के पालनकर्ता हैं, अभीष्ट पदार्थों के वर्षक हैं, समस्त प्राणियों के शरीर के निर्माण के लिये बीज के धारणकर्ता हैं। स्वभावतः ही आपसे प्रार्थना

सामर्थ्यं मयि धेहि। वृष्णो वर्षणशीलस्य, रेतोधसः पराक्रमधारयितुस्तवानुग्रहेणैव रेतोधां वीर्यवत्तमविद्या-तत्कार्यात्मकप्रपञ्चापनोदकं परमानन्दलक्षणं मोक्षप्रापकं प्रबोधमशीय प्राप्नुयाम्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने स्वामिन्, मया सजूस्त्वं देवेन त्वष्ट्रा सर्वदुःखविच्छेदकेन गुणेन सोमं स्वाहा सत्यवाग्विशिष्टया क्रियया सोमवल्ल्यादिनिष्पन्नमासवविशेषं पिब। हे पत्नीवन् प्रशस्तयज्ञपत्नीयुक्त, त्वं वृषा रेतोधा प्रजापतिरसि, मयि रेतो धेहि। हे स्वामिन्नहं वृष्णो वीर्यवतो रेतोधसः पराक्रमधारकस्य रेतोधां वीर्यधारकं पराक्रमवन्तं पुरुषं पुत्रमशीय प्राप्नुयाम्' इति, तदपि न किञ्चित्, श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वात्, लौकिकस्य दम्पतीव्यवहारस्य लोकैकगम्यत्वेन श्रुतितात्पर्याविषयत्वात्, देवपदस्य दिव्यसुखप्रदार्थकत्वे मानाभावात्। त्वष्ट्रा सर्वदुःखविच्छेदकेन गुणेनेत्यपि कल्पनैव। गुणस्य सोमपानं प्रति कथं करणत्वं च? सत्यवाग्विशिष्टा का सा क्रिया, यया सोमपानं सम्पद्यते? ॥ १० ॥

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ हरि॑रसि हारियोज॒नो हरि॑भ्यां त्वा। हर्यो॑र्धा॒नाः स्थ॑ स॒हसो॑मा॒ इन्द्रा॑य ॥ ११ ॥

'विमुच्य स्रुचौ द्रोणकलशे हारियोजनग्रहणमुपयामगृहीतोऽसि हरिरसीति' (का० श्रौ० १०।८।१)। व्यूहनादिस्रुग्विमोकान्तं कृत्वा द्रोणकलशे आग्रयणान्निःशेषं सोमं गृह्णीयात्। द्रोणकलशे आग्रयणाद् यो रसो गृहीतः, स एव हारियोजनसंज्ञको भवतीति वृत्तिकारः। हे सोम, त्वं हरिर्हरितवर्णोऽसि, 'हरी रश्मिर्हरिः सोमो हरिर्हरितवर्णवान्' इति कोषात्। हरी हरितवर्णौ इन्द्राश्वौ येन युज्येते प्रयुज्येते, स हरियोजन इन्द्रः, तस्यायं हारियोजनः, इन्द्रसम्बन्ध्यसि। तं त्वां हरिभ्यामृक्सामाभ्यां गृह्णामीति शेषः, 'ऋक्सामे वै हरी ऋक्सामाभ्याᳪ ह्येनं गृह्णाति' (श० ४।४।३।६) इति श्रुतेः। 'धानाश्चावपति हर्योर्धाना इति' (का० श्रौ० १०।८।२)। अत्र हारियोजने बह्वीभिर्धानाभिर्भृष्टयवैः श्रपणं (मिश्रणं) कार्यम्, 'तं बह्वीभिर्धानाभिः श्रीत्वा' (सत्या० श्रौ० ९।४) इति सूत्रात्। धानादेवत्यम्। सह सोमाः सोमेन सहिता धाना भृष्टयवा यूयमिन्द्राय इन्द्रस्य हर्योर्हरितवर्णयोरश्वयोः स्थ भवथ, इन्द्रतदश्वसम्बन्धिनो यूयमित्यर्थः।

करता हूँ, मुझमें सामर्थ्य का आधान करें। वर्षण करने वाले, पराक्रम के धारक आपके अनुग्रह से ही अत्यन्त बलवान् अविद्या तथा उसके कार्यरूपी प्रपंच का निराकरण करने वाले, परमानन्दरूपी, मोक्षप्राप्त कराने वाले ज्ञान को मैं प्राप्त करूं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्या श्रुति तथा सूत्रवाक्यों से विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है। लौकिक दम्पती का व्यवहार केवल लोक से ही ज्ञात होने के कारण वेद के तात्पर्य का विषय नहीं है। देव शब्द का अर्थ दिव्यसुखप्रद करने में कोई प्रमाण नहीं है। त्वष्टा का अर्थ सर्वदुःखविच्छेदक गुण है, यह भी केवल कल्पना ही है। सोमपान के प्रति गुण का करणत्व भी कैसे हो सकता है? सत्यवाणी से विशिष्ट वह क्रिया कौन-सी है, जिसके द्वारा सोमपान सम्पन्न होता है ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हे पंचम ग्रह, तुम उपयाम पात्र द्वारा गृहीत हो, हारियोजन नाम वाले और हरित वर्ण की रश्मियों वाले हो। ऋक् और सामवेद की प्रीति के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। सोम के सहित हे धान्यसमूह, तुम इन्द्र देवता के दोनों हरित अश्वों की प्रीति के निमित्त इस हारियोजन नामक ग्रह स्थित सोम से मिश्रित हो जाओ ॥ ११ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।८।१-२) तथा सत्याषाढ श्रौत्रसूत्र (९।४) में वर्णित याज्ञिक विनियोग

अत्र ब्राह्मणम्—'पशवो वै देवानां छन्दाᳬसि। ....देवान् समतर्पयन्नथ च्छन्दाᳬसि देवाः समतर्पयंस्तद-तस्तत्प्रागमूद्यच्छन्दाᳬसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवाक्षुर्यदेनान् समतीतृपन्' (श० ४।४।३।१)। हारियोजनग्रहण-ब्राह्मणमेतत् कतिचित्कण्डिका वर्जयित्वा। यत्र काले अग्निष्टोमसंस्थे वुक्थ्यादिसंस्थे वा क्रतौ समाप्ते सति छन्दांसि देवान् स्तोत्रशस्त्रैः सन्तर्पितवन्ति, अथ कृतोपकाराणि छन्दांसि देवाः सन्तर्पितवन्त इतीतिहासः। अतो हारियोजनात् प्राक्स्रोतसि छन्दोभिर्देवास्तर्पिताः। तदेतदाह—पशवो वा देवानां छन्दांसीत्यादिना। छन्दांसि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति। 'अथ हारियोजनं गृह्णाति। छन्दाᳬसि वै हारियोजनश्छन्दाᳬस्येवैतत् सन्तर्पयति तस्माद्धारियोजनं गृह्णाति' (श० ४।४।३।२)। यथा संकलितयज्ञे छन्दोऽधिरूढे देवेषु तर्पितेषु पाशुकेऽपि वानुयाजादौ स्रुग्विमोकान्ते कृतेऽथ हारियोजनं गृह्णाति। हरियोजन इन्द्रस्तदीयौ हरी अश्वौ च देवता अस्येति हारियोजनो ग्रहः। 'छन्दाᳬसि वै हारियोजनः' तेन हारियोजनग्रहणेन छन्दांस्येव तर्पयति।

'तं वा अतिरिक्तं गृह्णाति। यदा हि शंयोराहाथैनं गृह्णातीदं वै देवा अथ छन्दाᳬस्यतिरिक्तान्यथ मनुष्या अथ पशवोऽतिरिक्तास्तस्मादतिरिक्तं गृह्णातीति' (श० ४।४।३।३)। देवदेवत्येभ्यो ग्रहेभ्यो देवयज्ञाद्वा अतिरिक्तं गृह्णाति, यदा हि शंयोराह होता। अथोत्तरकालक्रतौ विमुच्य तं गृह्णाति, तदा च देवानां यज्ञः सम्पन्नः समाप्तो भवति। किं कारणम्? यज्ञ एतदतिरिक्तं गृह्णाति यस्मादस्याधि-दैवाधिभूते अतिरिक्ते। इदं वै देवाः सन्ति। छन्दांसि तेषामतिरिक्तानि। पशव उपकारकाणि। उपकार्यास्तु देवता एवमधिदैवतमतिरिक्ता दर्शिताः। अधिभूतमाह—अथ मनुष्याः। ते च देवानामान्तराः। अथ पशवोऽतिरिक्ताः। 'द्रोणकलशे गृह्णाति। वृत्रो वै सोम आसीत्तं यत्र देवा अघ्नंस्तस्य मूर्धोद्ववर्त स द्रोणकलशोऽभवत् तस्मिन् यावान् वा यावान् वा रसः समस्रवदतिरिक्तो वै स आसीदतिरिक्त एष ग्रहस्तदतिरिक्त एवैतदतिरिक्तं दधाति तस्माद् द्रोणकलशे गृह्णाति' (श० ४।४।३।४) ऊर्ध्वच्छिन्नो वृत्रस्य मूर्धा ऊर्ध्वमुद्धतो गत उद्ववर्त, तस्मिन् यावान् वा यावान् वा द्रोणकलशे यो रसः समस्रवद् अतिरिक्तो वै रसः स आसीत्, अधः स्पृष्टः शरीरे यस्तं देवाः पात्रे विगृह्णाना यत्र तेनातिरिक्तो यो द्रोणकलशे गृह्णाति तदतिरिक्तेनास्मिन् द्रोणकलशेऽतिरिक्तमिमं ग्रहं गृह्णाति। 'तं वा अपुरोरुक्कं गृह्णाति। छन्दोभ्यो ह्येनं गृह्णाति स यदेवैनं छन्दोभ्यो गृह्णाति तेनो हास्यैष पुरोरुङ्मान् भवति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति॥ अथातो गृह्णात्येव। उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वेत्यृक्सामे वै हरी ऋक्सामाभ्याᳬ ह्येनं गृह्णाति' (श० ४।४।३।५-६)।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। हरिरसि विष्णुरसि, युवयोरभिन्नत्वात्। हारियोजनः, इन्द्रस्य पालकत्वेनेष्टदेवत्वेन वा सम्बन्ध्यसि। हरिभ्यामिन्द्रविष्णुभ्यां त्वत्पार्षदाभ्यां सह त्वा त्वामहमाश्रये। हे सोमेन सहिता धानाः श्रद्धया युक्ताः पुष्पफलादयः! यूयमिन्द्राय इन्द्रस्य परमेश्वरस्य साम्बसदाशिवस्य सम्बन्धिनोर्हर्योरिन्द्रविष्ण्वोः स्थ शिवेन्द्रविष्णुसम्बन्धिनो भवथ। सोमः श्रद्धामयान्

के अनुसार 'उपयामगृहीतः' इस कण्डिका के मन्त्रों से हारियोजन नामक ग्रह का ग्रहण तथा उसमें धाना का मिश्रण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—हे साम्बसदाशिव, आप प्रेम के द्वारा वशीकृत हैं, विष्णुस्वरूप हैं, क्योंकि आप दोनों की अभिन्नता है। इन्द्र के पालनकर्ता अथवा इष्टदेव के रूप से सम्बद्ध हैं। आपके पार्षदों, इन्द्र तथा विष्णु के साथ मैं आपकी शरण लेता हूँ। सोमसहित श्रद्धा से युक्त हे धाना, पुष्प, फल आदि द्रव्य! तुम सब परमेश्वर साम्ब-

भक्तिपरिप्लुतपदार्थानेव भगवान् गृह्णातीति प्रसिद्धमेव गीतादौ—'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥' (भ० गी० ९।२६) इति।

दयानन्दस्तु—'हे पते, त्वमुपयामगृहीतोऽसि हारियोजन इव सारथिरिव हरिर्यथायोग्यं गृहाश्रमव्यवहारनिर्वाहकोऽसि, अतो हरिभ्यां युक्तेन स्यन्दनेन विराजमानं त्वामहं सेवे। यूयं गृहाश्रमिणः सन्त इन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये सहसोमाः सन्तो हर्योर्धानाः स्थ हर्योरश्वयोर्धाना धारकाः स्थ। सोमेन श्रेष्ठगुणेन वर्तमानाः' इति, तदपि न किञ्चित्, 'पते' इति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। सारथिरिवेति दृष्टान्तोऽपि न सम्भवति, सादृश्याभावात्। यत्किञ्चित् साधर्म्यं तु विसदृशेष्वपि भवत्येव। सोमपदस्य उत्तमगुणा इति न शक्यार्थः, निष्प्रमाणत्वात्। लक्षणयापि न सोऽर्थः सम्भवति, लक्षणाबीजाभावात् ॥ ११ ॥

यस्ते॑ अश्व॒सनि॑र्भ॒क्षो यो गो॒सनि॒स्तस्य॑ त इ॒ष्टय॑जुषः स्तु॒तस्तो॑मस्य श॒स्तोक्थ॒स्योप॑हूत॒स्योप॑हूतो भक्षयामि ॥ १२ ॥

'उत्तरवेदौ वा निधाय विलाभम्, यस्ते अश्वसनिरिति प्राणभक्षं भक्षयित्वोत्तरवेदौ निवपन्तीति' (का० श्रौ० १०।८।६-६)। होमानन्तरं पात्राणां हविर्धानमण्डपे निधानं पूर्वमुक्तम् (का० श्रौ० ९।१२।७)। तेन सहोत्तरवेदिनिधानं विकल्प्यते। अथवा उत्तरवेदौ सदसि वा द्रोणकलशं निधाय धाना विलभ्य गृहीत्वा यस्ते अश्वसनिरिति मन्त्रेण सर्वे सयजमाना ऋत्विजः सदसि प्राणभक्षं भक्षयित्वा अवघ्राय कृतावघ्राणा धाना उत्तरवेदौ निवपेयुः। तिस्रस्तिस्रो धानाः। अत्रावघ्राणमेव भक्षणम्, तथैव ब्राह्मण उक्तत्वात्। भक्षद्रव्यदेवत्यं यजुः। हे धानासहितसोमरूपभक्षद्रव्य, यस्ते तव भक्षः, अश्वसनिः अश्वानां दाता, यो भक्षो गोसनिः गवां दाता, 'षणु दाने', अश्वान् सनोति ददातीत्यश्वसनिः, गाः सनोतीति गोसनिः, तस्य तादृशस्य ते त्वदीयं तादृशं भक्षम्, उपहूतोऽनुज्ञातोऽहं भक्षयामि। कीदृशस्य ते ? इष्टयजुषः, इष्टानि यजूंषि यस्य स तस्य, तथा स्तुतस्तोमस्य उद्गातृभिः स्तुताः स्तोमाः स्तोत्राणि यस्य स तस्य, तथा होतृभिः शस्तानि उक्थानि शस्त्राणि यस्य स

सदाशिव, इन्द्र तथा विष्णु से सम्बद्ध बनो। साम्बशिव भगवान् श्रद्धा से संयुक्त, भक्ति से ओतप्रोत पदार्थों का ही ग्रहण करते हैं, यह गीता आदि ग्रन्थों में प्रसिद्ध ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत अर्थ में 'हे पति' इस सम्बोधन पद के लिये कोई प्रमाण न होने के कारण व्यर्थता है। 'सारथि के समान' यह उदाहरण भी सादृश्य न होने के कारण सम्भव नहीं है। थोड़ी बहुत सधर्मता तो असदृश पदार्थों में भी होती ही है। सोम शब्द का शक्यार्थ 'उत्तम गुण' नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। लक्षणा के द्वारा भी ऐसा अर्थ संभव नहीं है, क्योंकि लक्षणा का कोई कारण यहाँ नहीं है ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, सिक्त धान्यरूप उत्कृष्ट खाद्य यजुर्मन्त्रों से इष्ट उद्गाता द्वारा, ऋक् मन्त्रों से स्तुत होताओं द्वारा, साम के उक्थ मन्त्रों से शस्त इस समय उपहूत हो। तुम्हारा जो भक्ष्य फल घोड़ों को देने वाला है, जो भक्ष्य गायों का दाता है, उस तुम्हारे भक्ष्यफल को आपकी **अनुज्ञा प्राप्त कर मैं भक्षण करता हूँ ॥ १२ ॥**

भाष्यसार—'यस्ते अश्वसनिः' इस यजुर्मन्त्र के द्वारा यजमान सहित सभी ऋत्विक् धाना का अवघ्राण करते हैं,

तस्य शस्तोक्थस्य। पुनः कीदृशस्य ? उपहूतस्य अभ्यनुज्ञातस्य तादृशस्य ते त्वदीयं भक्षमुपहूतोऽनुज्ञातोऽहं भक्षयामीति सम्बन्धः।

'अथ धाना आवपति। हर्योर्धाना: स्थ सहसोमा इन्द्रायेति तद्यदेवात्र मितं च छन्दोऽमितं च तदेवैतत्सर्वं भक्षयति' (श० ४।४।३।७)। यदेता धाना आवपति तदेवात्र यज्ञे मितं नियताक्षरपादमृङ्नाम, यद्वाऽनियताक्षरपादं यजुः, तदेवैतत्सर्वं छन्दः सोमं धानावन्तं भक्षयति। 'तस्योन्नेता आश्रावयति' (श० ४।४।३।८) इत्यादिना आश्रावणानुवाचनादौ होमान्ते सर्वत्रैवोन्नेता नाम विधीयते। भक्षः केवलं निवर्तते। किं कारणम् ? यस्मादनुवाचनादिकमेव प्रतियज्ञमुपावर्तते। 'ता न दद्भिः खादेयुः'। धानारूपाः पशवः। दद्भिर्भक्षणे ते प्रमृद्यन्ते बाध्यन्ते, तस्माद् दद्भिर्न खादेयुर्भक्षमृत्विजः। नासिकाभिरेव जिघ्रन्तो भक्षयन्ति, अवघ्राणमेव भक्षणमित्यर्थः। अत्र ब्राह्मणम्—'पशवो वा एते नेत्पशून् प्रम्रदे करवामहा इति प्राणैरेव भक्षयन्ति यस्ते अश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिरिति पशवो ह्येते तस्मादाह यस्ते अश्वसनिर्भक्षो... स्तुतस्तोमस्येष्टयजुषः स्तुतस्तोमस्ये-तीष्टानि हि यजूंषि भवन्ति स्तुताः स्तोमाः शस्तोक्थस्येति शस्तानि ह्युक्थानि भवन्त्युपहूतस्योपहूतो भक्षयामी... ' (श० ४।४।३।११)। सोमे यानि भक्षसम्बन्धीनि यजूंषि, तानीष्टानि। ये स्तोमास्ते स्तुताः, यान्युक्थानि शस्त्राणि तानि शस्तानि। द्रव्यदेवतारूपमेव यज्ञादिकर्म भवति। तत्रैव यजुरादीनामुपयोगः। तेन यजूंषीष्टानि भवन्ति, स्तोमाः स्तुता भवन्ति, शस्त्राणि शस्तानि भवन्ति। 'ता नाग्नौ प्रकिरेयुः। नेदुच्छिष्टमग्नौ जुहवाम...' (श० ४।४।३।१२)।

अध्यात्मपक्षे—अत्र भगवत्प्रसादभक्षणमुच्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव। हे भगवन्निवेदित दिव्यद्रव्य, ते त्वदीयो भक्षः, अश्वसनिः अश्वोपलक्षितसकलबाह्यभोगसामग्रीदाता, गोसनिरिति गवादिसकलजीवनोपयोगि-पयोदधिघृतकूर्चान्नपानादिप्रदाता। कीदृशस्य ? इष्टानि यजूंषि यस्य, यजुर्वेदेन वा यजनं यस्य तस्येष्टयजुषः, उद्गातृभिः स्तुताः स्तोमा यस्य तस्य उद्गातृगीतस्तोमैः स्तोत्रैः स्तुतस्य, होतृभिः शस्तानि उक्थानि यस्य तस्य होतृशस्तशस्त्रैः प्रशंसितस्य, तस्य तादृशस्य उपहूतस्य भगवताऽभ्यनुज्ञातस्य तदुक्तशास्त्रसङ्केतेन पूर्वाचार्येण दत्तस्य शास्त्राचार्यैरुपहूतोऽभ्यनुज्ञातोऽहं भक्षयामि।

अत्र दयानन्दः—'हे प्रिय वीरपते, यस्त्वं मयोपहूतोऽश्वसनिर्गोसनिरश्वादिपदार्थानां दाता, गोः संस्कृतवाचो भूमेर्विद्यादिप्रकाशादेर्दाता, तस्य शस्तोक्थस्येष्टयजुषः स्तुतस्तोमस्य उपहूतस्य सत्कारेणोपहूतस्योपस्थितस्य

तदनन्तर आघ्रात धानाओं को उत्तरवेदि में रखते हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।८।६-७, ९।१२।७) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—इस मन्त्र में भगवान् के प्रसाद का भक्षण निर्दिष्ट है। हे भगवन्निवेदित दिव्य द्रव्य, तुम्हारा भक्षण अश्वादि सम्पूर्ण बाह्य भोग की सामग्रियों को प्रदान करने वाला है। गौ आदि सभी जीवनो-पयोगी दुग्ध, दधि, घृत, अन्न, पान आदि का दाता है। यजुर्मन्त्रप्रिय अथवा यजुर्वेद के द्वारा यजनीय, उद्गाताओं के द्वारा गीत, स्तोमों, स्तोत्रों से संस्तुत, होताओं के द्वारा वर्णित उक्थ-शस्त्रों से प्रशंसित, भगवान् के द्वारा अनुज्ञात, शास्त्रा-चार्यों से आज्ञा प्राप्त करके मैं प्रसाद का भक्षण करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में पति-पत्नी के परस्पर आह्वान के कथन की इच्छा का कोई हेतु इस मन्त्र में न होने के कारण अप्रामाणिकता है। परस्पर आह्वान के द्वारा गौ अथवा अश्व का प्रदान दृष्टिगोचर भी नहीं होता,

ते तव यो भक्षोऽस्ति, तमुपहूता सती अहं भक्षयामि। हे प्रिये सखि, या त्वमश्वसनिर्गोसनिरसि, तस्याः शस्तोक्थाया इष्टयजुषः स्तुतस्तोमाया उपहूतायास्ते तव यो भक्षोऽस्ति, तमहमुपहूतोऽहं भक्षयामि' इति, तदपि निर्मूलमेव, पतिपत्न्योः परस्पराह्वानस्यात्र मन्त्रे विवक्षणे हेत्वभावात्। न च परस्पराह्वानेन गोऽश्वदातृत्वं दृश्यते, तथाविधाह्वानस्य दैनन्दिनत्वात्। तस्य स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्येति पुल्लिङ्गश्रवणविरोधश्च। तद्व्याख्यानेऽश्वसनिरिति भक्षस्य विशेषणमिति तदपहाय तमित्यध्याहृत्य व्याख्यानं तु सर्वथा विसङ्गतमेव ॥ १२ ॥

देवकृ॑तस्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि मनु॒ष्यकृ॑तस्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि पि॒तृकृ॑तस्यैन॑सोऽव॒यज॑नमस्या॒त्मकृ॑तस्यैन॑सोऽव॒यज॑नम॒स्येन॑स एन॑सोऽव॒यज॑नमसि। यच्चा॒हमेनो॑ वि॒द्वांश्च॒का॒र॒ यच्चावि॑द्वां॒स्तस्य॒ सर्व॑स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि ॥ १३ ॥

'शाकलाधानं देवकृतस्येति प्रतिमन्त्रमिति' (का० श्रौ० १०।८।८)। शकलान्येव शाकलानि। षट् षड् यूपशकलानि आहवनीये सर्वे सयजमाना ऋत्विज आदध्युर्देवकृतस्येति प्रतिमन्त्रम्। हे शकल, त्वं देवकृतस्य देवविषये सम्पादितस्य एनसो यजनाभावलक्षणस्य पापस्य, अवयजनमसि नाशकं भवसि। उपसर्गवशादत्र यजेर्नाशोऽर्थः। मनुष्यकृतस्य मनुष्येषु सम्पादितस्य निन्दाद्रोहादिरूपस्य एनसोऽवयजनमसि। पितृषु कृतस्यैनसः श्राद्धतर्पणाद्यकरणादेर्नाशकमसि। आत्मविषये कृतस्य पापस्य आत्मनिन्दादेर्नाशकमसि। एनस एनसो यावन्ति पातकानि सन्ति, तावतां सर्वेषामपि नाशकमसि। किञ्च, विद्वान् जानानः, अविद्वान् अजानानश्च यदेनः पातकमहं चकार कृतवान्, तस्य सर्वस्य ज्ञानपूर्वकस्याज्ञानपूर्वकस्य च पापस्य नाशनमसि।

क्योंकि इस प्रकार का आह्वान तो दैनिक व्यवहार है। श्रुत्युक्त पुल्लिग पदों का भी विरोध अर्थ में है। 'अश्वसनि' यह भक्ष का विशेषण है, उसको छोड़कर 'तम्' पद का अध्याहार करते हुए व्याख्या करना तो सर्वथा असंगत है ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सकल अग्नि में आहूयमान यजन, तुम देवताओं के अभाव आदि को दूर करने वाले हो, पाप को दूर करने वाले हो। हे काष्ठखण्ड, तुम मनुष्यों के किये हुए द्रोह, निन्दा आदि पापों के निवारक हो, पितरों के निमित्त श्राद्ध न करने से उत्पन्न पापों का नाश करने वाले हो, अपनी आत्मा में किये निन्दा आदि पापों के नाशक हो, सब तरह के संसर्ग से उत्पन्न पापों के नाशक हो। हे हूयमान काष्ठखण्ड, जानबूझ कर मैंने जो पाप किया है और बिना जाने जो पाप किया है, उन सम्पूर्ण पापों को नष्ट करने वाले हो, आप हमारे सारे पापों का नाश कीजिये ॥ १३ ॥

भाष्यसार—'देवकृतस्यैनसः' इस कण्डिका के मन्त्रों से यजमानसहित सभी ऋत्विक् यूपखण्डों को आहवनीय अग्नि में समर्पित करते हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।८।८) में उपदिष्ट है। भाष्यकारों ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप मन्त्रार्थ किया है।

अध्यात्मपक्षे—अत्र परमेश्वर एव सम्बोधनीयः। हे परमेश्वर, त्वं देवविषये मया कृतस्यावमानासत्कारादिलक्षणस्य, अवयजनमसि नाशको भवेत्यर्थः। तथा पितृषु कृतस्य श्राद्धाकरणादेरेनसोऽवयजनमसि परिहरणमसि, परिहर्ता भव। मनुष्येषु कृतस्य द्रोहादेः, आत्मविषये कृतस्यात्मनिन्दादेः, किं बहुना, एनस एनसो यावन्ति पातकानि सम्भवन्ति, तेषां समेषामेवैनसामवयजनमसि। यच्चाहं तेषु तेषु देवादिषु भवद्विषये च ज्ञानपूर्वकमज्ञानपूर्वकं वा एनः कृतवान् करिष्यामि करोमि वा, तेषां सर्वेषामवयजनं नाशनमसि स्वभावतः।

दयानन्दस्तु—'हे सर्वोपकारिन् सखे, त्वं देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि। दानशीलकृतस्य एनसः पापस्य पृथक्करणमसि। मनुष्यकृतस्य पापस्य दूरीकरणमसि। पितृकृतस्यैनसो विरोधाचरणस्य परिहरणमसि। आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि। एनस एनसोऽधर्मस्याधर्मस्य परिहरणमसि। विद्वानहं यच्चैनश्चकार, अविद्वानहं यच्चकार कृतवान् करोमि करिष्यामि वा, तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यस्य शास्त्रोक्तप्रायश्चित्तमन्तरा स्वकृतस्यापि पातकस्य परिहरणसामर्थ्यं नास्ति, किमुतान्यकृतस्य पातकस्य। दानशीलस्य धार्मिकत्वात् कथं पापकारित्वम्? न ह्येको मनुष्यो देवपितृमनुष्यपापानां दूरीकरणाय प्रार्थयितुं युज्यते, तस्य तथाऽसामर्थ्यात्। एनस एनस इत्यभ्यासस्य किं प्रयोजनमित्यपि नोक्तम्। अत्र व्याख्याने यत्तेनोक्तं यत् '४।३।६।१ शतपथेऽयं मन्त्रो व्याख्यातः' इति, तदशुद्धमेव, तृतीयेऽध्याये षष्ठब्राह्मणाभावात्॥ १३॥

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥ १४॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—इस मन्त्र में परमेश्वर ही सम्बोध्य हैं। हे परमेश्वर, आप देवताओं के विषय में मेरे द्वारा किये गये अपमान, असत्कार आदि पाप के नाशक हो तथा पितरों के सम्बन्ध में श्राद्ध-अकरण आदि पापों का परिहार करने वाले हो। मनुष्यों के साथ किये गये द्रोह आदि तथा स्वयं के सम्बन्ध में किये गये आत्मनिन्दा आदि पापों के जितने भी भेद हो सकते हैं, उन सभी पातकों के विनाशक हो। उन उन देवताओं के तथा आपके विषय में ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञान से जो पाप मैंने किया है, मैं कर रहा हूँ तथा भविष्य में करूँगा, उन सबके आप स्वभावतः नाशक हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ अग्राह्य है। शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त के बिना तो मनुष्य का स्वयं किये गये पाप के परिहार का भी सामर्थ्य नहीं है। किसी अन्य के द्वारा किये गये पाप की तो कथा ही क्या है। दानशील व्यक्ति के धार्मिक होने के कारण पापकारित्व कैसे हो सकता है? एक ही मानव की देव, पितृ तथा मनुष्य के पापों के निराकरण-हेतु प्रार्थना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि उसका इस प्रकार का सामर्थ्य ही नहीं है। 'एनसः, एनसः' इस द्विरुक्ति का क्या प्रयोजन है, यह भी स्पष्ट नहीं किया गया। इसकी व्याख्या में कहा गया कि शतपथ (४।३।६।१) में यह मन्त्र व्याख्यात है। परन्तु यह भी अनुचित है, क्योंकि तृतीय अध्याय में षष्ठ ब्राह्मण है ही नहीं॥ १३॥

मन्त्रार्थ—हम ब्रह्मवर्चस् तेज, क्षीरादि रस, अनुष्ठान के योग्य शरीर के अवयव और शान्त मन—इन सबसे युक्त हुए हैं। उत्तम दान देनेवाले त्वष्टादेव मुझे सम्पत्ति दें और मेरे शरीर में जो न्यूनता हो, उसे दूर करके उसका पोषण करें॥ यहाँ आहवनीय अग्नि की प्रदक्षिणा करके पूर्णपात्र का ग्रहण और 'सं वर्चसा' मन्त्र से मुखमार्जन किया जाता है॥ १४॥

'आरेण चात्वालं यथास्वं चमसान् पूर्णपात्रानवमृशन्ति हरितकुशानवधाय सं वर्चसेति' (का० श्रौ० १०।८।९)। चात्वालात् पश्चिमस्यां दिशि होत्रादीनां क्रमेणोदक्संस्थं स्थापितानामुदकपूर्णानां दशानां चमसानामुपरि हरितदर्भान् स्थापयित्वा सर्वे चमसिनः स्वं स्वं चमसं स्पृशेयुः। त्वाष्ट्री त्रिष्टुप्। वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन वयं समगन्महि सङ्गता भवामः। पयसा क्षीरादिरसेन च सङ्गता भवामः। तनूभिस्तत्तत्कर्मानुष्ठानक्षमैरङ्गैः समगन्महि। शिवेन समीचीनेन श्रद्धायुक्तेन मनसाऽन्तःकरणेन समगन्महि। सुदत्रः शोभनदानस्त्वष्टा देवो रायो धनानि विदधातु मदर्थं सम्पादयतु। तन्वः शरीरस्य मामकस्य यद्विलिष्टं विच्छिन्नं विशेषेण न्यूनतामापन्नं वा, तद् अनुमार्ष्टु न्यूनतापरिहारेण शोधयतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पूर्णपात्रान् समवमृशन्ति। यानेकेऽप्सुषोमा इत्याचक्षते यथा वै युक्तो वहेदेवमेते य आर्त्विज्यं कुर्वन्त्युत वै युक्तः क्षणुते वा विवालिशते शान्तिरापो भेषजं तद्यदेवात्र क्षण्वते वा विवालिशन्ते शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयन्ते तदद्भिः सन्दधते तस्मात् पूर्णपात्रान् समवमृशन्ति' (श० ४।४।३।१३)। पूर्णान् पात्रानपाम्, शान्तिरापो भेषजमिति वाक्यशेषात्। सर्वे ऋत्विजः, य आर्त्विज्यं कुर्वन्तीति वाक्यशेषाद् यजमानस्य युक्तत्वात् तुल्यन्यायत्वात्। कीदृशान् पूर्णपात्रान्? यानेके शाखिनोऽप्सुषोमाः (अबात्मकाः सोमाः) इत्याचक्षते। हरितदर्भवन्त उदकपूर्णपात्राः सोमचमसा अप्सुसोमा उच्यन्ते। तान् यथास्वं चमसिनोऽवमृशन्ति। यथा वै युक्तो गौरश्वो वा वहेदेवमेते पुरुषं वहन्ति य आर्त्विज्यं कुर्वन्ति। यद्यन्तर्गतो यदि युक्तः क्षणुते क्षिणुते हिनस्ति, विलिशते, 'लिश अल्पीभावे', विश्लेषयति, तस्य आपः शान्तिशमन्यो भेषजमिति प्रसिद्धम्, तद्वदत्र यज्ञेऽपि सयजमाना ऋत्विजो यदयज्ञियं नाम किञ्चिदुक्त्वा क्षिण्वते हिंसन्ति विश्लेषयन्ति वा, तदवमृश्यमानाभिरद्भिः शान्त्या शमनीभिः शमयन्ति सन्दधते च। 'ते समवमृशन्ति। सं वर्चसेति...यद्विलिष्टमिति यद्विवृढं तत्सन्दधते' (श० ४।४।३।१४)। विवृढं विश्लिष्टमित्यर्थः। 'अथ मुखान्युपस्पृशन्ते। द्वयं तद्यस्मान्मुखान्युपस्पृशन्तेऽमृतं वा आपोऽमृतेनैवैतत् सꣳस्पृशन्त एतदु चैवैतत् कर्मात्मन् कुर्वते तस्मान्मुखान्युपस्पृशन्ते' (श० ४।४।३।१५)।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वत्प्रसादात् सं वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन वयं सङ्गता भवामः। पयसा क्षीराद्यभीष्टरसेन त्वदुपासनक्षमैः शरीरावयवैः शिवेन समीचीनेन त्वदुपासनादिपरायणेन मनसान्तःकरणेन सङ्गताः स्याम। सुदत्रो भक्तिज्ञानस्वर्गापवर्गादिशोभनदानशीलस्त्वष्टा विश्वनिर्माणकुशलो भवान् रायोऽभीष्टलोकवेदप्रसिद्धधनानि विदधातु। तन्वो मामकस्य शरीरस्य यद्विलिष्टं न्यूनमङ्गं तन्मार्ष्टु न्यूनत्वपरिहारेण शोधयतु।

भाष्यसार—'सं वर्चसा' इस ऋचा के द्वारा सोमयाग में होता आदि सभी चमसी ऋत्विक् अपने-अपने चमस का स्पर्श करते हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।८।९) में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आपके अनुग्रह से हम ब्रह्मवर्चस् से संयुक्त हों। दुग्ध आदि अभीप्सित रस से, आपकी उपासना के योग्य शरीरांगों से तथा आपकी उपासना में निरत शुद्ध अन्तःकरण से संयुक्त हों। भक्ति, ज्ञान, स्वर्ग तथा अपवर्ग आदि विशिष्ट दानों को प्रदान करने वाले, विश्वनिर्माण में कुशल आप लोक एवं वेद में प्रसिद्ध अभीष्ट धन का सम्पादन करें। मेरे शरीर का जो न्यून अंग है, उसको न्यूनता के निराकरण के द्वारा शुद्ध कीजिये।

दयानन्दस्तु—'हे अध्यापक, त्वष्टा सर्वव्यवहाराणां तनुकर्ता सुदत्रः सुदानो विद्वान् भवान् सं शिवेन मनसा सं वर्चसा अध्ययनाध्यापनप्रकाशेन पयसा जलेन अन्नेन वा, 'पय इत्युदकनामसु' (निघ० १।१२।३७), 'अन्ननामसु च' (निघ० २।७।३), तनूभिः शरीरैः, तन्वः शरीरस्य, यद् विलिष्टं विशेषेण न्यूनमङ्गम्, अनुमार्ष्टु पुनः पुनः शुन्धन्तु रायो विदधातु। तत् तानि च वयं तनूभिः समगन्महि ब्रह्मचर्यव्रतादिसुनियमैर्बलयुक्तैः शरीरैः प्राप्नुयाम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापको विद्यामध्यापयति, जलेनान्नेन शरीरस्य न्यूनतापूर्तिं तु न्यूनाङ्ग एव भिषग्वरोपदेशेन कर्तुं शक्नोति। धननिधानमपि धनेप्सुरेव करोति नाध्यापकः। 'पूर्णताया उत्तमधनस्य धारणं ब्रह्मचर्यव्रतादिभिर्बलयुक्तशरीरैः प्राप्नुयाम' इत्यपि तथैव, 'अनुमार्ष्टु' इत्यस्मात् क्रियापदाद् धारणीयायाः पूर्णताया अनुक्तेः। ब्राह्मणं त्विमं मन्त्रं पूर्णपात्रस्पर्शने विनियुङ्क्ते। सूत्रमपि तदनुगुणमेव ॥ १४ ॥

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सᳬ सूरिभिर्मघवन् सᳬ स्वस्त्या।
सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानाᳬ सुमतौ यज्ञियानाᳬ स्वाहा ॥ १५ ॥

'समिन्द्र ण इति नव समिष्टयजूंषि जुहोति प्रतिमन्त्रमिति' (का० श्रौ० १०।८।११)। नवभिर्मन्त्रैः समिष्टयजुःसंज्ञा नवाहुतीर्जुहुयात्। तत्राद्या विश्वेदेवादेवता त्रिष्टुप्, अत्रिदृष्टा। तत्र त्रिभिः परिधीनाप्याययति। त्रिभिर्देवता व्यवसृजति। हे मघवन्निन्द्र, नोऽस्मान् मनसा संनेषि संनयसि सङ्गमयसि। 'णीञ् प्रापणे' इत्यस्माद् व्यत्ययेन शपो लुकि रूपम्। समित्युपसर्गो नेषीति क्रियापदेन सम्बद्ध्यते। गोभिर्वाग्भिर्गवादिभिः पशुभिर्वा सङ्गमयसि। सूरिभिः पण्डितैर्होत्रादिभिः स्वस्त्या अविनाशेन क्षेमेण च संनेषि। 'स्वस्ति' इत्यविनाशनाम। ब्रह्मणा सार्थज्ञानेनाधीतवेदेन संनेषि संगमयसि। देवकृतं देवार्थं कृतं कर्म यदस्ति यज्ञरूपं देवैः कृतं दृष्टं वा यत्कर्म, तेन संनेषि सङ्गमयसि। तथा यज्ञियानां यज्ञसम्बन्धिनां देवानां सुमतौ, सुमत्या इति तृतीयया विपरिणामः, अनुग्रहोपेतया बुद्ध्या संयोजयसि यस्त्वमस्मानेवं मनआदिभिः संनेषि, तस्मै तुभ्यं स्वाहा एतद्धविः सुहुतमस्तु। यद्वा हे मघवन्, विशिष्टधनसम्पन्नेन्द्र, त्वमनुग्रहयुक्तेन मनसा नोऽस्मान् गोभिः स्तुतिलक्षणाभिर्वाग्भिर्गवादिभिर्वा सन्नेषि सन्नय संयोजय। सूरिभिर्होतृप्रमुखैः पण्डितैः स्वस्त्या क्षेमेण संयोजय। अन्यत् पूर्ववत्।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ विसंगत है। अध्यापक विद्या का अध्ययन ही करता है। जल तथा अन्न से शरीर की न्यूनतापूर्ति तो अंगहीन ही श्रेष्ठ चिकित्सक के निर्देश से कर सकता है। धन का संगोपन भी धनाभिलाषी ही करता है, अध्यापक नहीं करता। ब्राह्मणोक्ति इस मन्त्र को पूर्णपात्र के स्पर्श में विनियुक्त करती है। सूत्र भी उसके अनुकूल है ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे धनवान् इन्द्रदेव, मन के अनुग्रह से हमें संयुक्त करो, वाणी प्राप्त कराओ, पण्डितों से संयुक्त करो, उत्कृष्ट कल्याण प्राप्त कराओ, परब्रह्म से संयुक्त करो। देवताओं के निमित्त किया हुआ कर्म हमें यज्ञसम्बन्धी देवताओं की अनुग्रह बुद्धि से संयुक्त करता है। इस प्रकार हम आपके निमित्त श्रेष्ठ आहुति प्रदान करते हैं ॥ १५ ॥

भाष्यसार—'समिन्द्र णः' इस ऋचा से प्रारम्भ करके क्रमशः नौ मन्त्रों से 'समिष्टयजुष्' नामक नौ आहुतियों

अत्र ब्राह्मणम्—'तानि वा एतानि । नव समिष्टयजूꣳषि जुहोति····नव वा अमूर्बहिष्पवमाने स्तोत्रिया भवन्ति सैषोभयतो न्यूना विराट् प्रजननायै तस्माद्वा उभयतो न्यूनात् प्रजननात् प्रजापतिः प्रजाः ससृजे इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तथो एवैष एतस्मादुभयत एव न्यूनात् प्रजननात् प्रजाः सृजत इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीः' (श० ४।४।४।१)। अत्र समिष्टयजुर्धर्मका नव होमा ज्योतिष्टोमाङ्गभूता विधीयन्ते। अमू बहिष्पवमाने स्तोत्रिया भवन्ति। सैषा उभयतो न्यूना विराट् प्रजननायै। तस्माद्वा उभयतो न्यूनात् प्रजननात् प्रजापतिः प्रजाः ससृजे इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीः। इतस्त्रिपवनात्मकान्मुखाद् ऊर्ध्वाः ससृजे, इतश्चावाचीः समष्टियजुर्नवात्मकादवाचः प्राणान्। 'हिङ्कारः स्तोत्रियाणां दशमः। स्वाहाकार एतेषां तथो हास्यैषा न्यूना विराड् दशंदशिनी भवति' (श० १४।४।४।२)। दश दश परिमाणमस्येत्येतस्मिन्नर्थे दशदशशब्दादिनिप्रत्ययः, पूर्वपदस्य च नुमागमः।

'अथ यस्मात् समिष्टयजूꣳषि नाम। या वा एतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वै तत्ताः समिष्टा भवन्ति तद्यत्तासु सर्वासु समिष्टास्वथैतानि जुहोति तस्मात् समिष्टयजूꣳषि नाम' (श० ४।४।४।३)। ज्योतिष्टोमेऽस्मिन् यासां देवतानामाह्वानं भवति, यासां कृते यज्ञ एष तायते, ताः सर्वा एतास्वाहुतिषु समिष्टा भवन्ति। तस्मादेतासां समिष्टयजूंषीति नाम। 'अथ यस्मात् समिष्टयजूꣳषि जुहोति। रिरिचान इव वा एतदीजानस्यात्मा भवति यद्धयस्य भवति तस्य हि ददाति तमेवातस्त्रिभिः पुनराप्याययति' (श० ४।४।४।४)। 'अथ यान्युत्तराणि त्रीणि जुहोति। या वा एतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते उप हैव ता आसते यावन्न समिष्टयजूꣳषि जुह्वतीमानि नु नो जुह्वत्विति ता एवैतद्यथायथं व्यवसृजति यत्र यत्रासां चरणं तदनु' (श० ४।४।४।५)। अत्र यानि मध्यमानि त्रीणि, तानि देवताविसर्गार्थानि। 'अथ यान्युत्तमानि त्रीणि जुहोति। यज्ञं वा एतदजीजनत यदेनमतत तं जनयित्वा यत्रास्य प्रतिष्ठा तत्प्रतिष्ठापयति तस्मात् समिष्टयजूꣳषि जुहोति' (श० ४।४।४।६)। अत्रोत्तमस्य त्रिकस्य यज्ञप्रतिष्ठापनं प्रयोजनम्।

'स जुहोति। समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिरिति मनसेति तन्मनसा रिरिचानमाप्याययति गोभिरिति तद् गोभी रिरिचानमाप्याययति सꣳ सूरिभिर्मघवन् सꣳ स्वस्त्या सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्तीति ब्रह्मणेति तद् ब्रह्मणा रिरिचानमाप्याययति सं देवानाꣳ सुमतौ यज्ञियानाꣳ स्वाहा' (श० ४।४।४।७)। अत्र मन्त्राणां यथोक्तं प्रयोजनं सामर्थ्यं त्रिकाणां दर्शयति।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, सं मनसा सानुग्रहेण मनसा त्वं नोऽस्मान् गोभिः पशुभिर्वेदवेदान्तलक्षणाभिः स्तुतिलक्षणाभिर्वाग्भिः सन्नेषि संयोजय। सूरिभिर्ब्रह्मविद्वरिष्ठैर्भगवत्परायणैर्विद्वद्भिर्नः सङ्गमय। स्वस्त्या क्षेमेण प्राप्तरक्षणरूपेणाविनाशेन संयोजय। ब्रह्मणा वेदेन धर्मब्रह्मबोधकेनास्मान् सङ्गमय। देवकृतं

का हवन किया जाता है। समिष्टयजुर्होम का यह प्रथम मन्त्र है। शतपथ श्रुति में ज्योतिष्टोम की याज्ञिक विधि के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ यह है—हे परमेश्वर, आप कृपापूर्ण अन्तःकरण से हम लोगों को वेद-वेदान्तादिरूपिणी तथा स्तुति-आदिरूपिणी वाणियों से संयुक्त करें, वरिष्ठ ब्रह्मवेत्ताओं, भगवत्परायण विद्वानों से हमको संगत करें, प्राप्तरक्षणात्मक क्षेम, कल्याण से युक्त करें, धर्मब्रह्मबोधक वेद से युक्त करें, देवताओं के लिये अनुष्ठित यज्ञरूपी कर्म से

देवार्थं कृतं कर्म यज्ञाख्यं देवैः कृतं दृष्टं वा यत् कर्मास्ति, तेनास्मान् संयोजय । तथा यज्ञियानां यज्ञसम्बन्धिनां देवानां सुमतौ सुमत्याऽनुग्रहोपेतया बुद्धया नः सङ्गमय । तथा सर्वाभीष्टसम्पादयित्रे तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे मघवन्निन्द्र, विद्यादिपरमैश्वर्ययुक्ताध्यापकोपदेशक, यतस्त्वं सं मनसा सन्मार्गेण गोभिर्धेनुभिर्वाग्भिर्वा सं स्वस्त्या सुष्ठुवचनयुक्तैः सुखमयैः पुरुषार्थव्यवहारैः, सूरिभिः विद्वद्भिः सह ब्रह्मणा बृहता वेदज्ञानेन धनेन वा विद्यां प्रापयसि, यद् यज्ञियानां देवानामाप्तानां स्वाहा सुमतौ सत्यवाग्युक्तायां शोभनायां बुद्धौ देवकृतमिन्द्रियकृतं कर्म यज्ञकृतमस्ति, नोऽस्मान् सन्नेषि, तस्मात्त्वमस्माभिः सत्कर्तव्योऽसि' इति, तत्तु सर्वमप्यस्पष्टमेव । तद्भाषाभाष्ये तु—'हे मघवन्, सत्यविद्याद्यैश्वर्ययुक्तगृहपते अध्यापक उपदेशक, यतस्त्वमुत्तमान्तःकरणेन सं सन्मार्गं गोभिः सं स्वस्त्या सुष्ठुवचनयुक्तैः सुखमयैर्व्यवहारैः सूरिभिर्विद्वद्भिः सह ब्रह्मणा वेदविज्ञानेन धनेन यज्ञपालनकर्तॄणां कर्तुं योग्यं विदुषां सत्यवाग्युक्तायां बुद्धौ देवकृतं विदुषां क्रिया कर्मास्ति, तत् सत्यवाचा नोऽस्मभ्यं सन्नेषि सम्यक् प्रापयसि । अत एवास्माभिः पूज्योऽसि' इति, तदपि परस्परमसम्बद्धमस्पष्टार्थमेव । 'यतस्त्वं नोऽस्मभ्यं मनसा सन्मार्गं प्रापयसि, गोभिर्धेनुभिः सुवाग्युक्तैर्व्यवहारैः पुरुषार्थं प्रापयसि, ब्रह्मणा वेदेन धनेन वा विद्यां प्रापयसि, यज्ञपालयितॄणामाप्तानां सत्यवाचा युक्तायां शोभनायां बुद्धौ यत् क्रिया कर्मास्ति तत्प्रापयसि, तस्मात्त्वं पूजनीयोऽसीति तु युक्तम्' इति कश्चिदाह, तदप्ययुक्तम्, अध्याहारबाहुल्यात् । 'न' इत्यव्ययेन 'सम्' इत्युपसर्गेण च ते तेऽर्था ग्रहीतुं शक्याः, किन्तु न तथात्वे किमपि प्रमाणम्, श्रुतिसूत्रविरोधश्च स्पष्टः ॥ १५ ॥

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १६ ॥

अथवा देवों के द्वारा दृष्ट अथवा अनुष्ठित जो कर्म हैं, उनसे हमें संयुक्त करें तथा यज्ञसम्बन्धी देवताओं की सुमति, अनुग्रहयुक्त बुद्धि से हमें संगत करें। इस प्रकार समस्त अभीष्टों का सम्पादन करने वाले आपके लिये सर्वस्व समर्पित है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित समस्त मन्त्रार्थ अस्पष्ट है। भाषा-भाष्य भी परस्पर असम्बद्ध तथा अस्पष्टार्थ है। अध्याहार की बहुलता के कारण यह अर्थ ग्राह्य नहीं है। 'न' इस अव्यय पद के द्वारा तथा 'सम्' इस उपसर्ग से वे अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं, किन्तु ऐसा करने में कोई प्रमाण नहीं है। श्रुति तथा सूत्र के वचनों का विरोध तो स्पष्ट ही है ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हम ब्रह्मवर्चस् तेज, क्षीरादि रस, अनुष्ठान के योग्य शरीर के अवयव और शान्त मन—इन सबसे युक्त हुए हैं। उत्तम दान देने वाले त्वष्टादेव मुझे सम्पत्ति दें और मेरे शरीर में जो न्यूनता हो, उसे दूर करके उसका पोषण करें॥ यहाँ आहवनीय अग्नि की प्रदक्षिणा करके पूर्णपात्र का ग्रहण और 'सं वर्चसा' मन्त्र से मुखमार्जन किया जाता है ॥ १६ ॥

अथ द्वितीयः। प्रजापतिदृष्टा त्वाष्ट्री त्रिष्टुप्। (८।१४) स्थले व्याख्यातोऽयं मन्त्रः। अत्रत्यं च ब्राह्मणम्—'सं वर्चसा। पयसा सन्तनूभिरिति वर्चसेति तद्वर्चसा रिरिचानमाप्याययति पयसेति रसो वै पयस्तत्पयसा रिरिचानमाप्याययत्यगन्महि मनसा सꣳ शिवेन त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति यद्विवृढं तत्सन्दधाति' (श० ४।४।४।८) इति।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वदीयेन सं मनसा सानुग्रहेण सङ्कल्पेन वयं वर्चसा ब्रह्मज्ञानेन समगन्महि सङ्गता भवेम। पयसा रसेन क्षीरादिरसेन भक्तिरसेन वा सङ्गताः स्याम। तनूभिर्ज्ञानध्यानसक्षमैः शरीराख्यैः सं शिवेन कल्याणमयेन मोक्षेण संगताः स्याम। भवान् सुदत्रो लोकोत्तरो दाता त्वष्टा अविद्याकामकर्मादिच्छेत्ताऽस्मभ्यं रायो शमदमादिलक्षणा देवीः सम्पत्तीर्विदधातु सम्पादयतु। तन्वः शरीरस्य मामकस्य यद्विलिष्टं रोगदोषादिना न्यूनत्वं तदनुमार्ष्टु तदपाकरणेन शोधयित्वा ज्ञानध्यानानुगुण्येनाप्याययतु।

दयानन्दस्तु—'हे आप्ता विद्वांसः, युष्माकं सुमतौ प्रवृत्ता वयं यो युष्माकं मध्ये श्रेष्ठः सुदत्रस्त्वष्टा विद्वानस्मभ्यं सं वर्चसा पयसा सं शिवेन मनसा यान् रायो विदधातु, यत्तन्वो विलिष्टमनुमार्ष्टु, तैस्तांस्तच्च तनूभिः समगन्महि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्। 'आप्ताः' इति सम्बोधनमसङ्गतम्, मन्त्रबाह्यत्वात्। तथैव 'प्रवृत्ता वयम्' इत्यपि निर्मूलम्, वेदबाह्यत्वादेव, अध्याहारे मानाभावात्। 'युष्माकं मध्ये' इत्यपि स्वकपोलकल्पितमेव। 'सुदत्रः सं वर्चसा पयसा यान् रायो विदधातु' इत्यपि न सङ्गतम्, सावशेषत्वात्, सं वर्चसा पयसा विद्वान् कथं स्वस्य वान्यस्य वा रायः सम्पादयतीत्यस्य वक्तव्यत्वात्। अगन्महीत्यस्य कर्मतया 'तांस्तच्च' इत्यस्य योजनमपि निर्मूलमेव। 'सं वर्चसा अगन्महि' इति सरलमुपस्थितं चान्वयं परित्यज्य 'तांस्तच्च' इत्यध्याहृत्य कर्मयोजने श्रुतत्यागाश्रुतकल्पनादिदोषबाहुल्यात् सर्वमप्येतन्निर्मूलमेव॥ १६॥

भाष्यसार—'सं वर्चसा' यह ऋचा भी ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत समिष्टयजुर्होम की द्वितीय आहुति के लिये विनियुक्त है। पूर्व में (८।१४) इसकी व्याख्या की जा चुकी है।

अध्यात्मपक्ष में ऋचा का अर्थ यह है—हे परमेश्वर, आपके कृपापूर्ण संकल्प से हम लोग ब्रह्मज्ञान से संयुक्त हों। दुग्ध आदि रसों से अथवा भक्तिरस से युक्त हों। ज्ञान एवं ध्यान में समर्थ शरीर तथा कल्याणमय मोक्ष से संगत हों। लोकोत्तर दाता, अविद्या, काम, कर्म आदि के विनाशक आप हमारे लिये शम, दम आदि दैवी सम्पत्तियों का सम्पादन करें। मेरे शरीर की जो रोग-दोष आदि के द्वारा न्यूनता है, उसका निराकरण कर उसे शुद्ध करके ज्ञान-ध्यान के गुणों से परिपूर्ण करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में 'हे आप्तों' यह सम्बोधन पद मन्त्र से बहिर्भूत होने के कारण असंगत है। अन्य अध्याहारों में भी प्रमाण नहीं है। अन्य भी वाक्य सावशेष (अपूर्ण) होने के कारण असंगत हैं। 'अगन्महि' इस क्रिया के कर्म के रूप में 'तांस्तच्च' इस प्रकार जोड़ना भी अप्रामाणिक है। फिर सरल तथा उपस्थित अन्वय का परित्याग करके अध्याहार से कर्म को संयुक्त करने में श्रुतत्याग तथा अश्रुतकल्पना आदि दोषों की अधिकता के कारण भी यह समस्त व्याख्यान निर्मूल है॥ १६॥

धाता रा॒तिः स॑वि॒तेदं जु॑षन्तां प्र॒जाप॑तिर्निधि॒पा दे॒वो अ॒ग्निः । त्वष्टा॒ विष्णुः॑ प्र॒जया॑ सꣳररा॒णा यज॑माना॒य द्रवि॑णं दधात॒ स्वाहा॑ ॥ १७ ॥

अथ तृतीयः । धातृसवितृप्रजापतिदेवाग्नित्वष्टृविष्णुदेवत्या त्रिष्टुप् । धाता, सविता, प्रजापतिः, अग्निः, त्वष्टा, विष्णुः—एते षड्देवा इदमस्मद्धविर्जुषन्तां प्रीत्या सेवन्ताम् । कीदृशो धाता ? रातिः, रातिं प्रयच्छतीति रातिर्दानशीलः, 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१७४) इति क्तिच्प्रत्ययः । निधिपा निधीन् पातीति निधिपाः, शङ्खपद्ममहापद्मादिनिधीनां नवानां पालयिता । अग्निश्च कीदृशः ? देवो दीप्यमानः । त एते देवाः प्रजया यजमानसम्बन्धिन्या सन्तत्या सह संरराणाः सम्यग् रममाणाः सन्तो यजमानाय द्रविणं दधात दधतु स्थापयन्तु । व्यत्ययेन मध्यमपुरुषः । अत्र ब्राह्मणम्—'धाता रातिः । सवितेदं'''द्रविणं दधात स्वाहेति तद्वेव रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहेति' (श० ४।४।४।९) ।

अध्यात्मपक्षे स एकधा बहुधा भवतीति रीत्या परमेश्वर एवानेकरूपेण प्रार्थ्यते । धाता सर्वजगद्धारकः, रातिर्दानशीलः, परमात्मन एव सर्वजगदुत्पादकत्वेन धारकत्वात्, तस्यैव सर्वेश्वरत्वेन सर्वदातृत्वात् । सविता सर्वप्रेरकः, सर्वान्तर्यामित्वात् । प्रजापतिः सर्वप्रजापालकः, निधिपा निधीनां नवानामान्तराणां ज्ञानविज्ञाननिधीनां पालकः, अग्निः सर्वाग्रणीः सर्वनेता, देवो दीव्यति जगन्निर्माणादिना क्रीडत इति देवः—इत्याद्यनेक रूपेण संस्तूयमाना भगवदादिप्रादुर्भावाः प्रजया पुत्रपौत्रादितुल्यया भक्तप्रजया संरराणाः सम्यग्रममाणा इदमस्मत्समर्पितं हविर्जुषन्तां प्रीत्या सेवन्ताम् । यजमानाय उपासकाय द्रविणमभीष्टं भौतिकमाध्यात्मिकं वा दधतु ददतु ।

मन्त्रार्थ—दानशील धाता देवता, सविता देवता, पद्म, महाशंख आदि निधियों का पालन करने वाले प्रजापति, दीप्यमान अग्नि देवता, त्वष्टा देवता, भगवान् विष्णु—ये सब हमारी दी हुई आहुति को ग्रहण करें और ये सब देवता यजमान की सन्तति के साथ भली प्रकार रमण करते हुए यजमान के निमित्त धन और पुष्टि को प्रदान करें । यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १७ ॥

भाष्यसार—'धाता रातिः' ऋचा से समिष्टयजुर्होम की तृतीय आहुति प्रदान की जाती है । शतपथ श्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में ऋचा का अर्थ यह है—वह एक ही बहुत रूपों में अभिव्यक्त होता है, इस रीति से परमेश्वर ही अनेक रूप से प्रार्थित किया जाता है । सम्पूर्ण जगत् का धारणकर्ता, दानशील, परमात्मा ही समग्र जगत् का उत्पादक होने के कारण धारक है । वही सर्वेश्वर होने के कारण सर्वदाता है । सर्वान्तर्यामी होने के कारण सबका प्रेरक है । समस्त प्रजाओं का पालनकर्ता, नव निधियों तथा आन्तरिक ज्ञान-विज्ञान निधियों का पालक, सबसे अग्रणी, सबका नेता, जगत् के निर्माण आदि के द्वारा क्रीडाशील—इत्यादि अनेक रूप से संस्तुत भगवान् के आदि अवतार, पुत्र-पौत्रादि के समान भक्त प्रजा के द्वारा भली भाँति प्रसन्न होते हुए हमारे द्वारा समर्पित इस हविष्य का प्रीतिपूर्वक सेवन करें । उपासक को अभीष्ट भौतिक, आध्यात्मिक धन प्रदान करें ।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थाः, भवन्तो धाता गृहाश्रमधर्ता, रातिः सर्वेभ्यः सुखदायकः, सविता सर्वैश्वर्योत्पादकः, प्रजापतिः सन्तानादिपालकः, निधिपा विद्यावृद्धिरक्षकः, देवोऽग्निः अविद्यान्धकारदाहकः, त्वष्टा सुखविस्तारकः, विष्णुः सर्वशुभगुणकर्मसु व्याप्त इवैतत्स्वभावा भूत्वा प्रजया स्वसन्तानादिना सह संरराणाः सम्यग्दातारः सन्तः स्वाहेदं जुषन्तां बलवन्तो भूत्वा यजमानाय स्वाहा द्रविणं दधात' इति, तदपि न किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यायुक्तत्वात् । गृहस्था इति सम्बोधनमपि निर्मूलमेव, श्रुतिसूत्रविरुद्धं च ॥ १७ ॥

सुगा वो॑ देवा॒ः सद॑ना अकर्म॒ य आ॑ज॒ग्मेद॑ꣳ सव॑नं जुषा॒णाः । भर॑माणा॒ वह॑माना ह॒वीꣳ᳚ष्य॒स्मे ध॑त्त वसवो॒ वसू॑नि॒ स्वाहा॑ ॥ १८ ॥

अथ चतुर्थः । देवदेवत्या त्रिष्टुप् । तुर्यः पादो दशार्णः । हे देवाः, ये यूयमिदं सवनमिमं यज्ञं जुषाणाः सेवमाना आजग्म आजग्मुः, गमेर्लिटि मध्यमबहुवचनम्, तेषां वो युष्माकम् अस्मिन् यज्ञे सुगाः सुगमनीयानि, सुपूर्वाद् गमेर्डप्रत्यये सुगेति रूपम्, विभक्तेराकारः, सदना सदनानि स्थानानि, अकर्म वयमकार्ष्म, करोतेश्च्लिलोपे लुङि उत्तमबहुवचने अकर्मेति रूपम् । हे वसवः, निवासहेतवो हवींषि भरमाणा जोषयन्तो वहमाना रथादिभिश्च नयन्तो यूयमस्मे अस्मासु वसूनि धनानि धत्त स्थापयत । समाप्ते यज्ञे भरमाणा वहमाना ये रथिनस्ते रथेषु भरमाणा वहमाना हवींषि, ये तु अरथिनस्ते, स्कन्धावसक्तिकासु हवींषि वहमाना अस्मासु धत्त दत्त । यद्वा भरमाणाः पुष्णन्तो वहमाना रथादिभिर्नमन्तस्तेभ्यो युष्मभ्यं स्वाहा ।

अत्र ब्राह्मणम्—'सुगावो देवाः । सदना अकर्म य आजग्मेदꣳ सवनं जुषाणा इति सुगानि वो देवाः सदनान्यकर्म य आगन्तेदꣳ सवनं जुषाणा इत्येवैतदाह भरमाणा वहमाना हवीꣳषीति तद्देवता व्यवसृजति भरमाणा अह ते यन्तु येऽवाहना वहमाना उ ते यन्तु ये वाहनवन्त इत्येवैतदाह तस्मादाह भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा' (श० ४।४।४।१०) । व्यवसृजति विमुञ्चति । भरमाणा अह एव ते यन्तु । येऽवाहना रथादिरहितास्ते वहमानाः स्कन्धावसिक्तिकासु, वहमाना ये वाहनवन्तस्ते तै रथादिभिर्नयन्तो यन्तु ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में गौण अर्थ का आश्रयण अनुचित होने के कारण अग्राह्यता है । 'हे गृहस्थों' यह सम्बोधन भी अप्रामाणिक तथा श्रुति एवं सूत्र के निर्देश से विरुद्ध है ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ – हे देवताओं ! आप लोग इस यज्ञ में आहुति ग्रहण करने के लिये यहाँ आये हो । आपके स्थान को हमने सुख से प्राप्त होने योग्य बना दिया है । हे सबमें निवास करने वाले देवताओं, यज्ञ की समाप्ति पर हवियों का भरण करने वाले रथ में बैठें और जिनके पास रथ नहीं है, वे स्वयं वहन करते हुए हमारे लिये धन-सम्पत्ति को धारण करें । आप लोगों के द्वारा यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १८ ॥

भाष्यसार—'सुगावो देवाः' इस ऋचा का विनियोग भी पूर्ववत् समष्टियजुर्होम की चतुर्थ आहुति के प्रदान में किया गया है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे—हे देवाः, हे राम कृष्ण शिव शक्ते विष्णो सूर्य गणपते ! अभिव्यक्तिभेदेन पूजायां वा बहुवचनम् । हे देव द्योतमान स्वप्रकाश परेश ! सुगा सुगमनीयानि वो युष्माकं सदनानि स्थानानि अकर्म कृतवन्तो वयम्, यूयं सवनं यज्ञमेतं सेवमाना आजग्म आगताः कृपयेति महत्प्रमोदास्पदम् । भगवन्मन्दिराणां निर्माणमेतेन संकेत्यते । सवनमिदं यज्ञमिममर्चनरूपं जुषाणाः सेवमानाः । किञ्च, हे वसवः सर्वेषां वासयितारः, अस्मे अस्मासु वसूनि धनानि धत्त स्थापयत । कीदृशा यूयम् ? यज्ञसमाप्तौ हवींषि समर्पितानि भरमाणाः पुष्णन्तो वहमाना रथादिभिर्नयन्तश्च । तेभ्योऽस्मत्समर्पितं हविः स्वाहा सुहुतमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे वसवो देवाः ! वसन्ति सद्गुणकर्मसु ते देवा व्यवहरमाणा ये वयं स्वाहा सत्क्रियया इदं सवनम् ऐश्वर्यं जुषमाणाः सेवमाना भरमाणा धरमाणा वहमानाः प्राप्नुवन्तः, वो युष्मभ्यं यानि सुगानि सुष्ठु गन्तुं प्राप्तुं योग्यानि सदनानि हवींषि दातुमादातुमर्हाणि वसूनि धनानि अकर्म कुर्याम, आजग्म प्राप्नुवन्तु, तेभ्योऽस्मभ्यं तानि यूयं धत्त । हे श्रेष्ठगुणेषु रममाणा देवाः, व्यवहारिणो ये वयं स्वाहा उत्तमक्रियया इदमैश्वर्यं जुषाणाः सेवमाना भरमाणा धरमाणा वहमानाः प्राप्नुवन्तो युष्मभ्यं सुगा सुष्ठु प्राप्तुं योग्यानि सदनानि गृहाणि दातुमादातुं योग्यानि वसूनि अकर्म अकार्ष्म प्रकटयामः, आजग्म प्राप्नुवन्तु, अस्मे अस्मभ्यं तानि वसूनि यूयमपि धत्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वसवो देवा इत्यादिशब्दानां त्वदुक्तेऽर्थे सङ्गतेरसंग्रहात् । न वा हवींषीत्यनेन दानादानयोग्यानि धनानि गृह्यन्ते, वसुशब्देनैव गतार्थत्वात् । दानादानयोग्यान्येव वसूनि भवन्ति । श्रुतिसूत्रविरोधश्च स्फुट एव ॥ १८ ॥

याँ२॥ आवह उशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे । जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च विश्वेऽसुं घर्मꣳ स्वरातिष्ठतान् स्वाहा ॥ १९ ॥

अध्यात्मपक्ष में ऋचा का अर्थ यह है—हे राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य, गणपति ! हे देवों ! यहाँ मन्त्र में आदरार्थक अथवा अभिव्यक्तिभेद के कारण बहुवचन है । हे स्वप्रकाश परमेश्वर, आपके जो सुगमनीय स्थानों का सम्पादन हमने किया है, आप लोग उस यज्ञ को सेवित करते हुए कृपापूर्वक आये हैं, यह अत्यन्त आनन्दास्पद बात है । इसके द्वारा भगवान् के मन्दिरों का निर्माण संकेतित किया जा रहा है । इस अर्चनात्मक यज्ञ का सेवन करते हुए हे सबके वासकारक, आप हम लोगों में धन की स्थापना कीजिये । यज्ञ की समाप्ति में समर्पित हविर्द्रव्यों का धारण तथा रथादि के द्वारा उनका नयन करते हुए उनके प्रति हमारे द्वारा समर्पित हवि सुहुत हो ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अग्राह्य है, क्योंकि 'वसवः, देवाः' इत्यादि शब्दों के वर्णित अर्थ असंगत हैं । 'हवींषि' इस शब्द से दान तथा अदान के योग्य धन का ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वसु शब्द से ही यह गतार्थ है । दानादान-योग्य धन ही वसु होता है । श्रुति तथा सूत्र-वाक्यों का विरोध भी स्पष्ट है ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे दीप्यमान अग्निदेवता, हवि की कामना करने वाले जिन देवताओं को तुम बुला कर लाये हो, अब उनको वापस अपने अपने स्थानों में भेज दो । यज्ञ में सवनीय पुरोडाश आदि का भक्षण करते हुए और सोमपान करते हुए अब इस समय यज्ञसमाप्ति के अवसर पर हिरण्यगर्भ प्राणलक्षण वाले वायुमण्डल में आदित्य लोक का आश्रय करो, इस प्रकार निवेदन कर उनको अपने-अपने स्थानों में प्रेषित करो । यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १९ ॥

अथ पञ्चमः। आग्नेयी त्रिष्टुप्। देवान् विसृजति। हे अग्ने, हे देव दीप्यमान! उशतो हवींषि कामयमानान् देवान् कर्मफलप्रदातॄन् त्वमावह आहूतवानसि। तान् देवान् स्वे सधस्थे स्वकीये स्थाने गृहे प्रेरय प्रस्थापय, सह तिष्ठन्ति यस्मिंस्तत् सधस्थम्, 'सध मादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति स्थेपरे सहस्य सधादेशः। किं कथयित्वा प्रेरयामीति चेत्, अत आह—ये विश्वे सर्वे यूयं जक्षिवांसः सवनीयपुरोडाशादीनि हवींषि भक्षितवन्तः, तथा पपिवांसः सोमपानं कृतवन्तः, अनुयज्ञं यज्ञसमाप्तौ असुं हिरण्यगर्भप्राणलक्षणं वायुम्, वायुमण्डलमिति यावत्, घर्ममादित्यमण्डलं वा, स्वर् द्युलोकं वा तिष्ठत आश्रयत। यस्य यस्य यत्र यत्र गृहाः सन्ति तांस्तानन्वातिष्ठतेत्यर्थः। 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इत्यनोः क्रियापदस्य परत्वम्, 'अनुर्लक्षणे' (पा० सू० १।४।८४) इत्यनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा।

अत्र ब्राह्मणम्—'याँ२॥ आवह।… सधस्थ इत्यग्निं वा आहामून् देवानावहामून् देवानावहेति तमेवैतदाह यान् देवानावाक्षीस्तान् गमय यत्र यत्रैषां चरणं तदन्विति जक्षिवाᳪसः पपिवाᳪसश्च विश्व इति जक्षिवाᳪसो हि पशुं पुरोडाशं भवन्ति पपिवाᳪस इति पपिवाᳪसो हि सोमᳪ राजानं भवन्ति तस्मादाह जक्षिवाᳪसः पपिवाᳪसश्च विश्वेऽसुं घर्मᳪ स्वरातिष्ठतानु स्वाहेति तद्वेव देवता व्यवसृजति' (श० ४।४।४।११)। अग्निं वा आह अमून् देवानावह अमून् देवानावहेति तमेवैतदाह यान् देवानावाक्षीस्तान् गमय यत्र यत्रैषां चरणं तदन्विति जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्व इति जक्षिवांसो हि पशुं पुरोडाशं भवन्ति पपिवांसो हि सोमं राजानं भवन्ति। असुं घर्मं स्वरातिष्ठतानु स्वाहा तद्वेव देवता व्यवसृजति।

अध्यात्मपक्षे—हे देव दीप्यमान अग्ने स्वप्रकाशप्रत्यगात्मन्, यान् उशतः शब्दादिविषयान् कामयमानान् देवान् द्योतमानान् चक्षुरादीन्द्रियलक्षणान् स्वे स्वकीये सधस्थे देहलक्षणे समानस्थाने आवहः कर्मवशात् प्राप्तवानसि, तान् प्रेरय शुभकर्मोपासनादौ नियोजय। तादृशकर्मोपासनाद्यनुष्ठानेन ते देवा जक्षिवांसोऽन्नं जग्धवन्तः, पपिवांसः पयोदधिघृतसोमादिरसान् पीतवन्तो भुक्तभोगा असुं हिरण्यगर्भलक्षणं प्राणम्, घर्ममादित्यमण्डलं स्वर्द्युलोकं वा अन्वतिष्ठत्। त्वं तैर्मुक्तः परमात्मतादात्म्यापत्तिं प्राप्नुहीति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे देव दिव्यशीलयुक्त अध्यापक विज्ञानाढ्य अग्ने, त्वं स्वे सधस्थे सहस्थाने यानुशतो विद्यादिसद्गुणान् कामयमानान् देवान् विदुष आवहः प्राप्नुयास्तान् धर्मे प्रेरय नियोजय। हे गृहस्था जक्षिवांसोऽन्नं जग्धवन्तः, पपिवांसः पीतवन्तः, विश्वे सर्वे यूयं स्वाहा सत्यया वाचा घर्ममन्नं यज्ञम्, 'घर्म

भाष्यसार—'याँ२॥ आवह' इस ऋचा का विनियोग पूर्वोक्त मन्त्र की भाँति समिष्टयजुर्होम की पंचम आहुति में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे दीप्यमान स्वप्रकाश प्रत्यगात्मा! शब्द आदि विषयों की कामना रखने वाले जिन द्योतमान चक्षुरादि इन्द्रियों को अपने देहरूपी समान अधिकरण में कर्मवशात् तुमने प्राप्त किया है, उनको शुभ कर्म, उपासना आदि से संयुक्त करो। इस प्रकार के कर्मोपासनादि अनुष्ठान के द्वारा वे द्योतमान इन्द्रियाँ अन्न का भक्षण करके, दुग्ध, दधि, घृत तथा सोम आदि रसों का पान करके, भुक्तभोग होकर हिरण्यगर्भरूपी प्राण, आदित्यमण्डल अथवा द्युलोक को प्राप्त करें। तुम उनसे मुक्त होकर परमात्मा का तादात्म्य प्राप्त करो।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में देव तथा अग्नि शब्द की अध्यापकबोधकता में कोई प्रमाण न होने के

इत्यन्ननामसु' (निघ० १।९।७), यज्ञनामसु च (निघ० ३।१७।१५), असुं प्रज्ञाम्, 'असुरिति प्रज्ञानामसु' (निघ० ३।९।६) स्वः सुखमन्वातिष्ठत। यद्वा—हे देवाग्ने हे अध्यापक, त्वं स्वसदस्थे यानुशतो विद्यादिगुणान् कामयमानान् आवहः प्राप्नुयाः, तान् धर्मं प्रेरय। हे गृहस्थाः, खादन्तः पिबन्तो विश्वे सर्वे सत्यया वाचा अन्नं यज्ञं असुं श्रेष्ठबुद्धिं स्वः सुखं चान्वातिष्ठत, प्राप्य सुखी भव' इति, तदपि मन्दम्, देवाग्निशब्दयोरध्यापकपरत्वे मानाभावात्। न च विद्वांसो विद्यां कामयन्ते, तेषां विद्वत्त्वेन प्राप्तविद्यत्वात्। न च भोजनपानयोरन्नयज्ञश्रेष्ठबुद्धिप्राप्तिहेतुत्वम्, तयोः सर्वसाधारणत्वात् ॥ १९ ॥

वयꣳ हि त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह।
ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान् स्वाहा ॥ २० ॥

अथ षष्ठः। आग्नेयी त्रिष्टुप्। अग्निं व्यवसृजति हि यस्मात् कारणाद् इहास्मिन् दिने अस्मिन् यज्ञे प्रयति प्रगच्छति प्रारभ्यमाणे वर्तमाने वा सति होतारं देवानामाह्वातारम्, 'अग्निर्वै दैव्यो होता' इति श्रुतेः। होमनिष्पादकं वा त्वां वयमवृणीमहि वृतवन्तः। तस्मात् कारणाद् ऋधक् समृद्धं यथा स्यात्तथा अया अयाजा इष्टवानसि यज्ञं कारितवानसि। यद्वा ऋध्नुवन्नयाक्षीः समर्धयन्निष्टवानसि। उतापि च ऋधक् समृद्धिं प्रजानन्नवगच्छन्नशमिष्ठा विघ्नशान्तिमकार्षीः। यद्वा ऋध्नुवन्नेव यज्ञप्रायश्चित्तं शमिष्ठाः। अतस्त्वं विद्वान् यज्ञसमाप्तिं प्रजानन् स्वाधिकारं वा जानान उपयाहि, स्वाभिप्रेतस्थानमिति शेषः। यद्वा कीदृशस्त्वम्? विद्वान् पण्डितः स्वाधिकारं जानन्नित्यर्थः। स्वाहा तुभ्यं सुहुतमस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'वयꣳ हि त्वा।....स्वाहेत्यग्निमेवैतया विमुञ्चत्यग्निं व्यवसृजति' (श० ४।४।४।१२)। अत्र श्रुत्यैवायं मन्त्रोऽग्निविसर्जने विनियुक्तः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, स्वप्रकाशपरमेश्वर! इहास्मिन् संसारे प्रयति प्रारभ्यमाणे यज्ञे क्रियामये ज्ञानमये वा भवदाराधनारूपे वा यज्ञे वयं त्वां होतारं यज्ञनिष्पादकम् अवृणीमहि वृतवन्तः, त्वत्कृपया

कारण अनौचित्य है। भोजन तथा पान का अन्न, यज्ञ, श्रेष्ठबुद्धि की प्राप्ति का हेतु होना भी संगत नहीं है, क्योंकि भोजन तथा पान सर्वसाधारण हैं ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, जिस कारण से इस यज्ञ की प्रवृत्ति के अवसर पर देवताओं का आह्वान करने वाले आपको हमने वरण किया था, समृद्धिपूर्वक आपने उस यज्ञ को पूरा कराया है और यज्ञ की समृद्धि करते हुए सभी प्रकार के विघ्नों को शान्त किया है। आप ज्ञानी हैं। यह यज्ञ अब पूरा हो गया है, ऐसा जान कर आप अपने स्थान के लिये प्रस्थान कीजिये। यह आहुति आपके द्वारा भली प्रकार गृहीत हो ॥ २० ॥

भाष्यसार—'वयं हि त्वा' यह ऋचा समष्टियजुर्होम की षष्ठ आहुति में विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे स्वप्रकाश परमेश्वर! इस संसार में प्रारम्भ किये जाने वाले क्रियामय अथवा ज्ञानमय आपके आराधनरूपी यज्ञ में हमने आपका यज्ञनिष्पादक होता के रूप में वरण किया है, क्योंकि आपकी

त्वदाराधनोपपत्तेः। तस्माद् ऋधक् समृद्धं यथा स्यात्तद्यज्ञाख्यं कर्म तथा अयाः अयाक्षीः, इष्टवानसि। उतापि ऋधग् ऋध्नुवन्नेव अशमिष्ठाः सर्वविघ्नशान्तिमकार्षीः। स त्वं यज्ञं प्रजानन् यज्ञं सम्पन्नमवगच्छन् उपयाहि मामके हृदये विश्रान्तिं कुरु। कीदृशस्त्वम् ? विद्वान्, स्वकीयं परकीयं चाधिकारं कर्तव्यं च जानन्, तस्मै तुभ्यं स्वाहा।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विज्ञापक, वयं गृहाश्रमस्था हि यत इहास्मिन् संसारे प्रयति प्रयत्यते जनैर्यस्तस्मिन् प्रयत्नसाध्ये यज्ञे सम्यग् ज्ञातव्ये वा त्वा त्वां विद्वांसं होतारं यज्ञनिष्पादकमवृणीमहि स्वीकुर्वीमहि, लिङर्थे लङ्। विद्वान् वेत्ति यज्ञविद्यां क्रियां प्रजानंस्त्वमस्मानया यजेः सङ्गच्छस्व, लिङर्थे लङ्। ऋधक् समृद्धिर्यथा स्यात्तथा यज्ञं स्वाहा शास्त्रोक्तया क्रियया उपयाहि उपगतं प्राप्नुहि। उत अपि याहि, किन्त्वस्मिन् हि ऋधक् समृद्धिवर्धके, अशमिष्ठाः शमादिगुणान् गृहाण। हे अग्ने विद्वन्, वयमस्मिन् संसारे प्रयति प्रयत्नसाध्ये यज्ञे गृहाश्रमरूपे त्वां होतारं सिद्धिकारकं गृह्णीमः। विद्वान् सर्वविद्यायुक्तः प्रजानन् क्रियाणां ज्ञाता त्वम्, अया दानसत्समागमादिश्रेष्ठगुणानां सेवनं कारय। ऋधक् समृद्धिकारकं गृहाश्रमाख्यं यज्ञं स्वाहा शास्त्रोक्तक्रियया उपयाहि उतापि सम्यक् प्राप्नुहि। न केवलं प्राप्नुहि, किन्तु हि निश्चयेन अस्मिन् ऋधग् ऋद्धिसिद्धिवर्धके गृहाश्रमे शान्त्यादिगुणान् गृहीत्वा सुखी भव' इति (हिन्दीभाष्यसारः), तत्सर्वमपि निःसारम्, असम्बन्धात्। बहवो गृहस्थाः कञ्चिद् विद्वांसं होतारं गृहाश्रमयज्ञकारकं गृह्णन्ति। स च तान् दानादिश्रेष्ठगुणसेवने नियोजयति। ते च तं शास्त्रक्रियया शान्तिगुणग्रहणाय प्रेरयन्तीति केन किं श्लिष्यते ? ॥ २० ॥

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः ॥ २१ ॥

कृपा से ही आपकी आराधना सम्भव हो सकती है। अतः यज्ञकर्म जिस प्रकार समृद्ध हो, उस प्रकार यजन किया है। समृद्ध करते हुए ही समस्त विघ्नों की शान्ति आपने की है। इस प्रकार आप यज्ञ की सम्पूर्णता को जानते हुए मेरे हृदय में निवास करें। स्वकीय तथा परकीय अधिकार एवं कर्तव्य का परिज्ञान करते हुए आपके लिये हम सर्वस्व समर्पित करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी भाष्यसार सभी असम्बद्ध होने के कारण निस्तत्त्व हैं। 'बहुत से गृहस्थ किसी विद्वान् गृहाश्रमयज्ञ कराने वाले होता का ग्रहण करते हैं तथा वह उनको दानादि श्रेष्ठ गुणों के सेवन में नियुक्त करता है। वे उसको शास्त्रक्रिया के द्वारा शान्तिगुणग्रहण के लिये प्रेरित करते हैं' इत्यादि कथन के द्वारा किससे क्या सम्बद्ध होता है ? ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे यज्ञवेत्ता देवताओं, हमारा यह यज्ञ आरम्भ हो गया है, यह जान कर आप सब लोग इस यज्ञ में पधारें। हमारे यज्ञ से संतुष्ट होकर पुनः अपने-अपने स्थानों पर जावें। हे मन के अधिपति चन्द्ररूप परमेश्वर, मैं इस अधिष्ठित यज्ञ को आपके अधीन कर रहा हूँ। आप इसे वायुरूप देवता में स्थापित कर दें ॥ २१ ॥

अथ सप्तमः। वातदेवत्या विराट्, मनसस्पतिदृष्टा। (२।२१) इत्यत्र व्याख्याता। 'गीयते नानाविधै-र्लौकिकैर्वैदिकैश्च शब्दैः प्रतिपाद्यत इति गातुर्यज्ञस्तं विदन्ति जानन्तीति गातुविदो देवाः, गातुं वित्त्वा अस्मदीयोऽयं यज्ञः प्रवृत्त इति ज्ञात्वा गातुमित यज्ञं गच्छत। एतेर्धातोर्गत्यर्थस्य ज्ञानार्थत्वम्। यज्ञं समाप्तं विदित्वा गातुमित, गायते गम्यते यत्र स गातुर्मार्गः, तं गच्छत यज्ञं समाप्तं ज्ञात्वा यज्ञेन तुष्टाः स्वकीयं मार्गं गच्छत। एवं देवानुक्त्वा प्रजापतिमाह—हे मनसस्पते मनसो यष्ट्रं प्रेरणेन पालक परमेश्वर हे देव, इममनुष्ठितं यज्ञं स्वाहा त्वद्धस्ते समर्पयामि, त्वं च वाते धा वायुरूपे देवे यज्ञं धेहि' इति सायणसम्मतं व्याख्यानम्।

शतपथे च—'देवा गातु···गातुं वित्त्वेति यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह गातुमितेति तदेतेन यथायथं व्यवसृजति मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धा इत्ययं वै यज्ञो योऽयं पवते तदिमं यज्ञꣳ संभृत्यैतस्मिन् यज्ञे प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञꣳ सन्दधाति तस्मादाह स्वाहा वाते धा इति' (श० ४।४।४।१३)। गातुं वित्त्वा यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह मन्त्रभागः, तदेतेन यथायथं विसृजति मनसस्पत इति। अयं वै यज्ञो योऽयं पवते तदिमं यज्ञं संभृत्यैतस्मिन् यज्ञे प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञं सन्दधाति तस्मादाह वाते धाः।

अध्यात्मपक्षे—गातुः परमात्मा, वेदशास्त्रैर्महातात्पर्येण तस्यैव गीयमानत्वात्, 'वै गै रै शब्दे' इति पाणिनिस्मरणात्। हे गातुविदः परमात्मविदो देवा ब्रह्मवर्चसिनः, प्रत्यक्चैतन्याभेदेन तं वित्त्वा विदित्वा गातुं परमात्मानं सर्वोपाधिपरित्यागेन इत गच्छत तत्स्वरूपं तादात्म्यं प्राप्नुत। हे मनसस्पते! मनसो धर्म-ब्रह्म-ज्ञानानुष्ठाननिष्ठादिषु प्रवर्तकत्वेन पालक, देव द्योतमान, इममनुष्ठितं कर्ममयं ज्ञानमयं च यज्ञं स्वाहा त्वय्येव दधामि। त्वं च वाते हिरण्यगर्भरूपे स्वकीये समष्टिज्ञानरूपे धेहि स्थापय, फलानपवर्गिणीषु कालान्तरफलासु क्रियासु स्वामिनां मनस्सु संस्काराधायकत्वेनैव फलवत्त्वसम्भवात्, भृत्यसेवादिवत्।

दयानन्दस्तु—'हे गातुविदो देवाः सत्यस्तावकाः गृहस्थाः, गातुविदः स्वस्वगुणकर्मस्वभावेन गातुं पृथिवीं विदन्तो भूगर्भविद्यान्वितं भूगोलं वित्त्वा विज्ञाय गातुं पृथिवीराज्यादिनिष्पन्नमुपकारम्, इत प्राप्नुत। मनसस्पते निगृहीतमना देव दिव्यविद्याव्युत्पन्न, सम्प्रति गृहस्थस्त्वं धर्म्यया क्रियया इमं प्राप्तं यज्ञं सर्वसुखावहं गृहाश्रमं वाते विज्ञातव्ये व्यवहारे धेहि' इति, तदपि विसङ्गतम्, 'गातुं वित्त्वा यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह' (श० ४।४।४।१३) इति श्रुतिविरोधात्, गातुमितेति तदेतेन यथायथं विसृजतीति च तद्विरोधात्। 'देवाः सत्यस्तावकाः' इत्यपि

भाष्यसार—'देवा गातुविदो' यह ऋचा भी पूर्ववत् समिष्टयजुर्होम की सप्तम आहुति में विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—वेदशास्त्रों के द्वारा महातात्पर्य के रूप में उसी का स्तवन होने के कारण परमात्मा ही 'गातु' है। हे परमात्मवेत्ता, ब्रह्मवर्चस्वी जन, प्रत्यक् चैतन्याभेदरूप से उसका ज्ञान करके परमात्मा को समस्त उपाधियों के परित्याग के द्वारा प्राप्त करें। उसके स्वरूप की, तादात्म्य की प्राप्ति करें। धर्म-ब्रह्मज्ञान अनुष्ठान-निष्ठादि में प्रवर्तक होने के कारण मन के पालक हे विद्योतमान, इस कर्ममय तथा ज्ञानमय अनुष्ठित यज्ञ को आप में ही प्रतिष्ठित करता हूँ। आप हिरण्यगर्भरूपी अपने समष्टिज्ञानरूप में इसे स्थापित करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ शतपथ श्रुति से विरुद्ध होने के कारण विसंगत है। 'देव' का सत्यस्तावक यह अर्थ कैसे हो सकता है? दिव् धातु के स्तुत्यर्थक होने पर भी सत्यस्तावक अर्थ कैसे होगा? यज्ञ शब्द का अर्थ

निर्मूलम्, दीव्यतेः स्तुत्यर्थत्वेऽपि सत्यस्तावकत्वमित्यर्थः कुतः ? गुरोः परमेश्वरस्यापि स्तुतिसम्भवात् । एवं गातुपदस्य निघण्टुरीत्या पृथिव्यर्थकत्वेऽपि गुणकर्मस्वभावेन पृथिवीं विदन्तो भूगर्भविद्यान्वितभूगोलं पृथिवी-राज्यनिष्पन्नमुपचारमित्यादिकं व्याख्यानमपि निर्मूलमेव, अपदार्थत्वात् । यज्ञपदस्य सर्वसुखावहो गृहाश्रमो-ऽर्थोऽपि निर्मूलः, सभादावपि सङ्गतिकरणस्य सम्भवात् । किञ्च, श्रौतसूत्रं श्रुतिसम्बद्ध आर्षग्रन्थः । तत्र कृतां यज्ञपरिभाषामुपेक्ष्यार्थान्तरलापनमपि विरुद्धमेव ॥ २१ ॥

यज्ञ॑ य॒ज्ञं ग॑च्छ य॒ज्ञप॑तिं गच्छ॒ स्वां योनिं॑ गच्छ॒ स्वाहा॑ । ए॒ष ते॑ य॒ज्ञो य॑ज्ञपते स॒हसू॑क्त-वाकः॒ सर्व॑वीर॒स्तं जु॑षस्व॒ स्वाहा॑ ॥ २२ ॥

अष्टमः । यज्ञदैवतं यजुः । यज्ञं विसृजति—हे यज्ञ, त्वं यज्ञं विष्णुं गच्छ स्वप्रतिष्ठार्थं फलप्रदानार्थं वा । संस्कारात्मना यज्ञपतिं यजमानं गच्छ । स्वनिष्पत्त्यर्थं स्वां योनिं स्वकारणभूतां वायोः क्रियाशक्तिं गच्छ । यद्वा द्रव्यं देवता च यज्ञस्य योनिः, तां गच्छ, नहि त्वत्तोऽन्यदस्ति, सर्वात्मत्वात् । स्वाहा तुभ्यं सुहुतमस्तु । अथास्यामेव कण्डिकायां नवमः समिष्टयजुःसंज्ञको मन्त्रो यज्ञपतिदैवतः । हे यज्ञपते यजमान, एषोऽनुष्ठीयमानस्ते त्वदीयो यज्ञः, सूक्तवाकैः स्तोत्रैः सहितः, तथा सर्ववीरः सर्वे वीराः सवनीयचरुपुरोडाशा यस्मिन् स सोमः । ईदृशो यो यज्ञस्तं जुषस्व फलभोगेन सेवस्व । स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'यज्ञ यज्ञं गच्छ ।····स्वाहेति तत्प्रतिष्ठितमेवैतद्यज्ञꣳ सन्तꣳ····सहसूक्तवाकꣳ सर्ववीरं यजमानेऽन्ततः प्रतिष्ठापयति' (श० ४।४।४।१४) । साङ्गोपाङ्गस्य यज्ञस्य यजमाने प्रतिष्ठापनम् । तस्यैव प्रयोक्तृत्वेन फलभागित्वम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे यज्ञ ज्योतिष्टोमादिलक्षण, भगवद्ध्यानादिलक्षण वा, त्वं यज्ञं विष्णुं परमात्मानं गच्छ, मया समर्पितस्तदधीनो भव । कीदृशम् ? यज्ञपतिं यज्ञानां पालकम्, यज्ञैस्तस्यैव समर्हणीयत्वेन तत्रैव

'सर्वसुखावह गृहाश्रम' करना निर्मूल है, क्योंकि संगतिकरण तो सभा आदि में भी सम्भव है । श्रौतसूत्र श्रुति से सम्बद्ध आर्ष ग्रन्थ है । उसमें निर्दिष्ट परिभाषा की उपेक्षा करते हुए अन्य अर्थ की कल्पना करना मर्यादा से विरुद्ध ही है ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे यज्ञ ! अपनी प्रतिष्ठा के निमित्त भगवान् विष्णु के पास जाओ और यजमान को यज्ञफल प्रदान करो, अपने कारणभूत वायु की क्रियाशक्ति को प्राप्त करो । यह आहुति आपके द्वारा भली प्रकार गृहीत हो । हे यजमान, हमारे द्वारा अनुष्ठित यह यज्ञ तुम्हारा ही है । यह यज्ञ ऋग्वेद के सूक्त और सामवेदीय वाक्यों से युक्त है, सोमसवन, चरु, पुरोडाश आदि से पूर्ण है । इस यज्ञ के फल का आप सेवन कीजिये । यह आहुति आपके द्वारा भली प्रकार गृहीत हो ॥ २२ ॥

भाष्यसार—'यज्ञ यज्ञम्' यह मन्त्र समिष्टयजुर्होम की अष्टम आहुति के प्रदान में विनियुक्त है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—ज्योतिष्टोमादिरूपी अथवा भगवद्ध्यानादिरूपी हे यज्ञ, तुम विष्णु परमात्मा के प्रति गमन करो, मेरे द्वारा समर्पित होकर उनके अधीन होओ । यज्ञों के पालक तथा यज्ञों के द्वारा उसी के

समर्पणीयत्वात्। स्वां स्वकीयां योनिं प्रकृतिं गच्छ। द्रव्यं देवता च यज्ञस्य प्रकृतिः। तदपि परमात्मरूपम्, तत्प्रकृतिकत्वात्। हे यज्ञपते परमेश्वर, एष ते त्वदीयो यज्ञः सहसूक्तवाकः, तत्समवेतसूक्तवाकैः स्तोत्रैः सहितः। सर्ववीरः सर्वे वीरा यस्मिन् सः, अर्थात् सर्ववीर्यप्रापकशक्तियुतस्त्वदर्थमनुष्ठितस्तं जुषस्व सेवस्व।

दयानन्दस्तु —'हे यज्ञ, त्वं स्वाहा यज्ञं गच्छ, तद्रीत्या यो यजति सङ्गच्छते स यज्ञो गृहस्थः' इति, तच्च नातीव मनोज्ञम्, तथात्वे गृहस्थस्य यज्ञपर्यायवाचित्वापत्तेः, एवं च मनुष्याः सभासु, पशवो वने गोष्ठे च सङ्गच्छन्त इति तेष्वपि यज्ञपदप्रयोगापत्तेः। 'यज्ञं विद्वत्सत्काराख्यं गृहाश्रमधर्मं गच्छ प्राप्नुहि' इत्यपि निर्मूलमेव, देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागस्य यज्ञपदार्थत्वात्। 'यज्ञपतिं गच्छ सङ्गम्यानां गृहाश्रमिणां पतिं पालकं राजानं गच्छ' इत्यादिकं त्वत्यन्तनिर्मूलम्, अगृहाश्रमिणामपि राज्ञः पालकत्वाविशेषात्। 'स्वां स्वकीयां योनिं प्रकृतिं स्वात्मस्वभावं गच्छ' इत्यपि न सङ्गतम्, स्वात्मस्वभावस्य नित्यप्राप्तत्वात्, अन्यथा स्वभावत्वव्याहतेः। 'हे यज्ञपते राजधर्माग्निहोत्रपालक, ते तव य एष सहसूक्तवाक ऋग्यजुरादिलक्षणैः सूक्तैर्वाकैः सह वर्तमानः, सर्वे वीराः शरीरात्मबलसुभूषिताः सर्वे वीरा यस्मात् स सर्ववीरो यज्ञः, सम्पूजनीयः प्रजारक्षणनिमित्तो विचारप्रचारार्थो गृहाश्रमोऽस्ति, तं सत्यन्यायप्रकाशिकया वाचा जुषस्व सेवस्व' इति, एवमेव हिन्द्यां तु 'सूक्तैरनुवाकैश्च कथितः सर्ववीरः, यत आत्मशरीरसम्बन्धिभिः पूर्णबलैः सम्पन्ना वीरा लभ्यन्ते, तादृशः प्रशंसनीयः प्रजारक्षको विद्याप्रचाराख्यो यज्ञोऽस्ति तं जुषस्व' इति, तदुभयमप्यसम्बद्धमेव, प्रमाणोपन्यासाभावात्। सर्ववीरा विद्याप्रचारेण कथं लभ्यन्ते ? कथं च विद्याप्रचारो यज्ञः ? प्रचारः कथं प्रजारक्षकः ? इत्येतत्सर्वमपि प्रमाणसापेक्षमेव। प्रचारेणैव तत्सिद्धौ तदर्थं महता द्रव्यव्ययेन सैनिकानां रक्षिसमूहस्य च सङ्कलनायासस्य वैयर्थ्यापातात्। न च सूक्तैरनुवाकैः स एव यज्ञः प्रतिपाद्यमानो दृश्यते, तैर्दर्शपूर्णमासचातुर्मास्यसोमादियज्ञानामेव प्रतिपादनात्॥ २२॥

माऽहिर्भूर्मा पृदाकुः। उरुꣳ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ। अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित्। नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः॥ २३॥

अर्चनीय होने के कारण वही समर्पणयोग्य है। अपनी प्रकृति को प्राप्त करो। द्रव्य तथा देवता ही यज्ञ की प्रकृति है। वह भी परमात्मरूप है, क्योंकि उसकी प्रकृति परमात्मा ही है। हे यज्ञपति परमेश्वर, आपका यह यज्ञ सूक्तवाकों, उनसे समन्वित स्तोत्रों से युक्त, समस्त वीर्यप्रापक शक्तिसहित आपके लिये अनुष्ठित है। इसका सेवन करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ उचित नहीं है। गृहस्थ का भी यज्ञ का पर्यायवाचित्व इसके अनुसार प्राप्त हो जायगा। तथा सभाओं में मनुष्य एवं वन, गोष्ठ आदि में पशु भी संगत होते हैं, अतः उनमें भी यज्ञ शब्द का प्रयोग आपतित हो जायगा। 'स्वात्मस्वभाव के प्रति जाओ' यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि स्वात्मस्वभाव तो नित्यप्राप्त है। ऐसा न होने पर उसका स्वभावत्व ही नष्ट हो जायगा। संस्कृत तथा हिन्दी के अन्य व्याख्यार्थ भी प्रमाण के अभाव के कारण असम्बद्ध ही हैं। प्रचार किस प्रकार प्रजा का रक्षक है ? यह सब प्रमाणसापेक्ष है। प्रचारमात्र से यह सम्पन्न हो जाय, तो उसके लिये बहुत द्रव्य के व्यय से सैनिक आदि एकत्रित करने का प्रयास व्यर्थ हो जायगा॥ २२॥

मन्त्रार्थ—हे मेखला रज्जु, तुम जल में भीग कर सर्पाकार मत बनना। हे कृष्ण विषाण, तुम अजगर के जैसे मत बनना। वरुण राजा ने सूर्य को प्रतिदिन गति देने के लिये आकाश में विस्तीर्ण मार्ग को बता कर चरण-

'कृष्णविषाणमेखले चात्वाले प्रास्यति माऽहिर्भूरिति' (का० श्रौ० १०।८।१५)। कृष्णकुरङ्गशृङ्गं यजमानहस्तस्थं मध्ये बद्ध्वा शरमयी मेखला चेत्युभे विस्रस्य चात्वाले क्षिपेत्, माऽहिर्भूरिति मन्त्रेण। रज्जुदेवत्यं यजुः। हे मेखलारज्जो, त्वम् अहिः सर्पो मा भूर्मा भूयाः। हे विष्णो, त्वं पृदाकुरजगरः स्थूलदीर्घकायः सर्पविशेषश्च मा भूर्मा भूयाः। 'उरुꣳ हीति वाचयति' (का० श्रौ० १०।८।१७)। अवभृथस्नानाय जिगमिषुरध्वर्युश्चत्वालसमीपस्थं प्राङ्मुखं यजमानं वाचयति। वरुणदेवत्या त्रिष्टुप् शुनःशेपदृष्टा। उशब्दोऽवधारणे। वरुण एव राजा, सूर्याय सूर्यस्य, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, अन्वेतवै अनुक्रमेणान्वहं गन्तुम्, अपदे निरालम्बेऽन्तरिक्षे, उरुं विस्तीर्णं पन्थां पन्थानं हि यस्माच्चकार, तस्मादस्माकमपि पादा प्रतिधातवे पादौ प्रक्षेप्तुं मार्गम् अकः करोतु। करोतेरदादित्वेन लङि शपो लुक्, अडभावश्च। पादा इति विभक्तेराकारः। उत् अपि च, यः शत्रुरपवक्ता निन्दकः, यश्च हृदयाविधो हृदयं विध्यतीति हृदयाविधः, हृदयोपलक्षितसर्वशरीरतापकः, चित् सोऽपि, प्रतिबन्धमकृत्वा मार्गं करोत्वित्यर्थः। अन्वेतवै प्रतिधातवै इत्यनुपूर्वादिणः प्रतिपूर्वाद्धधातेश्च 'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्' (पा० सू० ३।४।९) इत्यादिना क्रमात् तवै-तवे-प्रत्ययौ।

यद्वा—एकं तावदुरुं विस्तीर्णं हि वरुणो राजा चकार कृतवान्। किमिति चेत् ? सूर्याय सूर्यस्य पन्थानम्। किमर्थम् ? अन्वेतवा उ अन्वहमागमनाय। वरुणोऽत्र परमात्मैव ग्राह्यः, 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्' (ऋ० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। स एव सूर्यस्यान्वहं गमनाय मार्गं करोति, अन्तरिक्षनिर्माणेऽन्यस्यासामर्थ्यात्। अपरम् अपरे पादा प्रतिधातवेऽकः, यत्र पदं दत्तं प्रतिमुद्रान्यायेन नोपलक्ष्यते, तस्मिन्नपदेऽन्तरिक्षलोके पादा पादानाम्, षष्ठीबहुवचनस्थाने आकारः, प्रतिधातवे प्रतिनिधानाय पन्थानम् अकः कृतवान्, आलम्बनमिति शेषः। स्वर्गगमनाय मार्गं करोत्वित्यर्थः। उत हृदयाविधश्चित्, उत अपि च अपवक्ता अपवदिता आक्षेप्ता हृदयाविधश्चित् हृदयं यो विध्यति मर्मघातिभिर्वचनैः स पिशुनस्तस्याप्यपवदिता किमुतान्येषामयुक्तकारिणां स इत्थंभूतो वरुणः सोऽवभृथाय तीर्थं ददात्विति शेषः। हृदयं विध्यतीति हृदयावित्। 'नहिवृतिवृषि' (पा० सू० ६।३।११६) इत्यादिना क्विबन्ते व्यधौ परे हृदस्य दीर्घः। तस्य हृदयाविधोऽपवदिता पापतिरस्कर्ता।

यद्वा अपदे पादरहितेऽपि यजमाने प्रतिक्रमणे योऽलं स्यात्तादृशं पन्थानं वरुणः करोति। तथा यो वरुणो हृदयाविधः परकीयमर्मभिदः पिशुनस्यापि अपवक्ता तादृशपातकस्याप्याक्षेप्ता बाधकः, किमुतान्येषां पापानां बाधकः, ब्राह्मणेनैव तथा व्याख्यातत्वात्। 'नमो वरुणायेति वाचयत्यपोऽवक्रमयन्निति' (का० श्रौ० १०।८।२३)। अवभृथस्नानार्थमपः प्रवेशयन् यजमानं वाचयेद् वरुणस्य पाशोऽधिष्ठित आक्रान्तो बन्धनाक्षमः, तस्मै वरुणाय नमस्कारोऽस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'स वा अवभृथमभ्यवैति। तद्यदवभृथमभ्यैति यो वा अस्य रसोऽभूदाहुतिभ्यो वा अस्य तमजीजनदथैतच्छरीरं तस्मिन्न रसोऽस्ति तन्न परास्यंस्तदपोऽभ्यवहरन्ति रसो वा आपस्तदस्मिन्नेतꣳ रसं दधाति तदेनमेतेन रसेन सङ्गमयति तदेनमतो जनयति स एनं जात एव संजनयति तद्यदपोऽभ्यवहरन्ति तस्मादवभृथः' (श० ४।४।५।१)। अवभृथं कर्तुमभ्यवैति अप्स्ववतरति। तत्र ऋजीषस्याभ्यवहरणम्। यो वै अस्य सोमस्य रसोऽभूत् तमस्य सोमाहुत्यर्थं जनितवानध्वर्युरभिषवादिभिः। अथैतच्छरीरम् ऋजीषं

निक्षेप का मार्ग निश्चित कर दिया है। वरुण देवता हृदय की पीड़ा को देने वाले तथा निन्दक व्यक्ति का तिरस्कार करने वाले हैं। वरुण देवता के पाश अब हमें नहीं बाधेंगे। वरुण देवता को हम प्रणाम करते हैं॥ २३॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।८।१५, १७, २३) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'माऽहिर्भूः' इस

(भस्म) वर्तते । तस्मिन्न रसोऽस्ति । तथापि तद्देवा न परास्यन् न बहिः क्षिप्तवन्तः, तद्दजीषमपोऽभ्यवहरन्ति । रसो वा आपः । तदस्मिन्नेतं रसं दधाति । तदेतेन रसेन सोमं सङ्गमयति यजमानः । तच्च एनं सोमवत् ततोऽद्भ्योऽनुनयति । स च सोमो जातः सन्नेनं यजमानं जनयति । तद्यदपोऽभ्यवहरन्ति तस्मिन्नवभृथयागे यस्मादपोऽभ्यवहरन्ति, तस्मादवभृथो नाम । अवपूर्वाद् हरतेस्थन् प्रत्ययः । हकारस्य भकारः । 'अथ समिष्टयजूꣳषि जुहोति । समिष्टयजूꣳषि ह्येवान्तो यज्ञस्य स हुत्वैव समिष्टयजूꣳषि यदेतमभितो भवति तेन चात्वालमुपसमायन्ति स कृष्णविषाणां च मेखलां च चात्वाले प्रास्यति' (श० ४।४।५।२) । समिष्टयजूंषि जुहोतीति क्रमार्थं पुनर्वचनम् । स हुत्वैव समिष्टयजूंषि बर्हिर्होममकृत्वा यत्किञ्चिदेव तं सोममभित उपकरणं भवति चमसादिकम्, तेन सह चात्वालमुपगच्छति । अध्वर्य्वादयः सकृष्णविषाणां च मेखलां च चात्वाले प्रास्यन्ति माऽहिर्भूर्मा पृदाकुरिति ।

'असौ वा ऋजीषस्य स्वगाकारो यदेनमपोऽभ्यवहरन्त्यथैष एवैतस्य स्वगाकारो रज्जुरिव हि सर्पाः कूपा इव हि सर्पाणामापतनान्यस्ति वै मनुष्याणां सर्पाणां च विभ्रातृव्यमिव नेत्तदतः संभवदिति तस्मादाह माऽहिर्भूर्मा पृदाकुरिति' (श० ४।४।५।३) । स्वगाकारः स्वस्थाननयनम् ऋजीषस्याप्स्वभ्यवहरणम् । तदाह—असौ वा ऋजीषस्य स्वगाकारो यदेनमपोऽभ्यवहरन्तीति । अथ एतस्य कृष्णविषाणमेखलाद्वयस्य स्वगाकारः स्वस्थानोपनयनम्, यद्वा चात्वाले प्रासनम् । रज्जुरिव हि सर्पाः, कूपा इव हि सर्पाणामायतानि । मेखलारूपा रज्जुः कृष्णविषाणा चैतद्द्वयं सर्पाणां रूपम् । कूपाश्च सर्पाणामायतनानि । चात्वालश्च कूप इव भवति । तस्मात्तयोश्चात्वाले प्रासनम् । तयोः स्वस्थानोपनयनरूपः स्वगाकारः । अस्ति च मनुष्याणां सर्पाणां च विभ्रातृव्यमिव विरुद्धभ्रातृव्यभावः । ततश्च सर्परूपा मेखला कृष्णविषाणारूपा रज्जुर्यदि स्थाने क्रियते, तेन च मे माऽहिर्भूरित्येवमहिभावः प्रतिषिद्धयते । तेषु सम्बन्धिषु विभ्रातृव्यं सम्भवेत्, तच्चायुक्तम् । तन्न भवेदित्येवार्थं माऽहिर्भूरित्याह मन्त्रः । तत्र मेखलारज्ज्वां सर्पबुद्धिः, कृष्णविषाणायाः स्थूलत्वात् तत्र पृदाकु(अजगर)-बुद्धिः सम्भाव्यते ।

'अथ वाचयति । उरुꣳ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ इति यथाऽयमुरुरभयोऽनाष्ट्रः सूर्याय पन्था एवं मेऽयमुरुरभयोऽनाष्ट्रः पन्था अस्त्वित्येवैतदाह' (श० ४।४।५।४) । वरुणो राजा सूर्याय सूर्यस्यान्वेतवेऽन्वहं गमनाय उरुं विस्तीर्णं पन्थां पन्थानं चकार । यथायं पन्था उरुर्विस्तीर्णः, अभयः अनाष्ट्रो नाशकासुरराक्षसादिरहितः, एवं मेऽयं मे स्वर्गगमनमार्ग उरुरभयोऽनाष्ट्रोऽस्त्वित्येवायं मन्त्र आह । 'अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरिति । यदि ह वा अप्यपाद् भवत्यलमेव प्रतिक्रमणाय भवत्युतापवक्ता हृदयाविधश्चिदिति तदेनꣳ सर्वस्माद्वृद्यादेनसः पाप्मनः प्रमुञ्चति' (श० ४।४।५।५) । अप्यपादिति वचनाद् यद्यप्यपादको यजमानस्तस्याप्यलं गमनाय पन्था भवति । वरुणकृतस्तु तस्य गुणो मन्त्रवाचनेनैव । यजमानोऽध्वर्युर्वाचं यच्छति । कथम् ? उतापवक्ता हृदयाविधश्चिदिति । योऽप्ययुक्तवक्ताऽनृतवादी दुर्वचनैर्जनानां हृदयं विध्यति, तस्य पिशुनस्यापि पादप्रतिधान एव वरुणो योग्यं पन्थानं करोत्विति तस्य हृद्ये हृदयस्थस्यान्तःकरणस्य सर्वस्मिन्नेनस्यपनीते पथः प्रतिक्रमणो योऽथ पापकारी सोऽप्यलं स्यात् । तेनेदृशं पन्थानं वरुणः करोत्विति वचनेनैव सा वाग् मुञ्चति मोचयत्येनस इति । 'तमपोऽवक्रमयन् वाचयति । नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाश इति तदेनꣳ सर्वस्माद्वरुणपाशात् सर्वस्मात् वारुण्यात् प्रमुञ्चति' (श० ४।४।५।११) । अभिष्ठितोऽवभृथः । स वरुणस्य पाशानां च बन्धनायेत्यर्थः ।

कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग कृष्णमृग के श्रृंग तथा मेखला के चात्वाल में प्रक्षेप एवं यजमान द्वारा मन्त्रवाचन में किया गया है । शतपथ श्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, त्वमहिः सर्प इव दीर्घमन्युर्मा भूयाः। पृदाकुः अजगरः सर्वभक्षकोऽलसश्च मा भूयाः। वरुणः परमात्मा राजा राजमानः स्वप्रकाशः सूर्याय सूर्यस्यान्वहं गन्तुं हि यस्माद् अपदे निरालम्बेऽन्तरिक्षे उरुं विस्तीर्णं पन्थानं चकार, तस्माद्युष्माकं मार्गम् अकः करोतु। यद्वा अपदेऽदृश्येऽप्राप्ये निरालम्बने वा ब्रह्मणि पादौ निःक्षेप्तुं प्रवेष्टुं मार्गं करोतु। किञ्च, यो वरुणः परमेश्वरो ध्यातो ज्ञातश्च सन् हृदयाविधः परकीयमर्मभिदोऽपि पापं तिरस्करोति, किमुतान्येषां पापकारिणाम्, ईदृशो वरुणः पादौ प्रतिधातवे स्वस्मिन् प्रवेशाय मार्गं ददातु।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, त्वं वरुणाय प्रशस्तैश्वर्याय उरुं बहुगुणान्वितं न्यायं कुर्वन् अन्वेतवै अनुक्रमेण गन्तुं अपदे चौरादिनिष्पादितेऽप्रसिद्धे व्यवहारे पादा चरणौ प्रतिधातवे प्रतिधर्तुम् अकः कुरु। सूर्याय चराचरात्मेश्वरप्रकाशाय पन्थां न्यायमार्गं यथा, उ वितर्के, वरुणो वरः श्रेष्ठो राजा प्रशस्तगुणस्वभावैः प्रकाशमानश्चकार कुर्यात्, लिङर्थे लिट् पुरुषव्यत्ययश्च, तथा कुरु। उतापि अपवक्ता मिथ्यावादी हृदयाविधो यो हृदयमाविध्यति स चिद् इव मा न पृदाकुः कुत्सितवाक्, मा न अहिः सर्पवत् क्रुद्धो विषधरो भूः भवेः। यथा वरुणस्य वीरगुणोपेतस्य तव अभिष्ठितो जाज्वल्यमानो नभो वज्रं पाशो बन्धनं च प्रकाशेत, तथा सततं प्रयतस्व' इति, तदपि न मनोज्ञम्, शतपथव्याख्यानविरुद्धत्वात्, मन्त्रपदानां तेष्वर्थेष्वशक्तत्वाच्च। तथाहि—सूर्यायेत्यस्य चराचरात्मेश्वरप्रकाशायेत्यर्थे न किमपि मूलम्। सूर्यपदस्य प्रकाशमात्रपरत्वेऽपि चराचराद्याक्षेपस्य कामभाषित्वमेव पर्यवस्यति। तथैव वरुणपदेनापि यथेष्टार्थग्रहणम्। 'अपदे' 'राजा' इत्यादीनामपि स्वैरमेव व्याख्यानम्॥ २३॥

अ॒ग्नेरनी॑कम॒प आवि॑वेशा॒पान्नपा॑त् प्रति॒रक्ष॑न्नसु॒र्य॑म्। द॒मे॑दमे स॒मिधं॑ यक्ष्यग्ने॒ प्रति॑ ते जि॒ह्वा घृ॒तमुच्च॑रण्य॒त् स्वाहा॑॥ २४॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—हे साधक, तुम सर्प की भाँति अतिक्रोधवान् मत बनो, अजगर की भाँति सर्वभक्षी तथा आलसी मत बनो। स्वप्रकाश परमात्मा ने सूर्य के प्रतिदिन गमन के लिये निरालम्ब अन्तरिक्ष में विस्तीर्ण मार्ग का निर्माण किया है। अतः तुम्हारा भी मार्ग सम्पादित करें, अथवा अदृश्य, अप्राप्य अथवा निरालम्बन ब्रह्म में प्रवेश के लिये मार्ग निर्मित करें। परमेश्वर ध्यात तथा सुविज्ञात होकर दूसरों के मर्मभेदन करने वाले का भी पाप हटा देते हैं, अन्य पापियों की तो बात ही क्या है। ऐसे परमेश्वर स्वयं में प्रवेश के लिये मार्ग प्रदान करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या शतपथ श्रुति से विरुद्ध होने के कारण तथा मन्त्रगत पदों की तदुक्त अर्थों में शक्ति न होने के कारण अग्राह्य है। उदाहरणार्थ—सूर्य का अर्थ 'चराचरात्मेश्वरप्रकाश' करने में कोई प्रमाण नहीं है। सूर्य शब्द का अर्थ 'प्रकाशक' होने पर भी चराचर आदि विशेषणों को आक्षिप्त करना स्वेच्छाभाषण ही है। इसी प्रकार 'वरुण' पद का तथा 'अपदे' 'राजा' आदि शब्दों का भी अर्थ स्वेच्छाचारपूर्ण ही है॥ २३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम्हारा अपान्नपात् नामक मुख गतिशील है, उसे जल में प्रवेश कराओ। उस उस यज्ञस्थान में असुरकृत यज्ञीय विघ्नों से रक्षा करते हुए समिधा के साधन घृत से संगति करो। हे अग्ने, तुम्हारी ज्वाला घृत के प्रति उद्यत हो, यह आहुति आपके द्वारा भली प्रकार गृहीत हो॥ २४॥

'प्रास्य समिधं चतुर्गृहीतेनाभिजुहोत्यग्नेरनीकमिति' (का० श्रौ० १०।८।२४)। अप्सु समिधं प्रक्षिप्य चतुर्गृहीतेनाज्येन तदुपरि जुहुयात्। अग्निदेवत्या त्रिष्टुप्। अग्नेरनीकमिति परोक्षलिङ्गम्, दमे दमे समिधं यक्ष्यग्ने इति प्रत्यक्षलिङ्गमेकस्मिन् वाक्ये न सङ्गतम्, अतो यच्छब्दाध्याहारेण व्याख्येयम्। यस्य तवाग्नेरङ्गनशीलस्य अग्रे नयनशीलस्य वा सतोऽपान्नपात्संज्ञकमनीकं मुखमयमुदकमाविवेश प्रविवेश। यद्वा हे अपान्नपात्, तन्नामकाग्ने, स त्वं दमे दमे तत्तद्यज्ञगृहे। अश्वमेधविषया वीप्सा। तत्र हि नानावभृथान्यहानि भवन्ति। असुर्यम् असुराणां स्वभूतं मायादिकमसुरैः कृतं यज्ञविघ्नं वा, प्रतिरक्षन् निवर्तयन् सन् समिधं यक्षि यज, संगतां कुरु, आत्मसात्कुरु। यद्वा समिधं समिन्धनसाधनं घृतं यक्षि यज संगतं कुरु। यजतिरत्र संगतिकरणार्थः। शपो लुकि लटि रूपम्। ततोऽनन्तरं ते जिह्वा ज्वाला घृतं प्रति, उच्चरण्यद् उच्चरतु, समिधः सकाशाद् उद्युक्तास्तु, यद्वा उद्युक्ताः सन्तु स्वाहा सुहुतमस्तु। उत्पूर्वाच्चरतेर्लोडर्थे ण्यत्प्रत्यय औणादिकः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा। समिधं प्रास्याभिजुहोत्यग्नेरनीकमप आविवेशापान्नपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यं दमे दमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहेति' (श० ४।४।५।१२)। अवतरणानन्तरमेवाज्यग्रहणम्। 'अग्नेर्ह वै देवाः। यावद्वा यावद्वाप्सु प्रवेशयाञ्चक्रुर्नेदतो नाष्ट्रा रक्षाᳬंस्युपोत्तिष्ठानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तमेतया च समिधैतया चाहुत्या समिन्धे, समिद्धे देवेभ्यो जुहवामीति' (श० ४।४।५।१३)। समिधं प्रास्य तामेवैतेन चतुर्गृहीतेनापि जुहोति। कुतः ? एतयाऽप्स्वग्निर्देवैः प्रवेशितः, तमेतया च समिधैतया चाहुत्या समिन्धे इति मन्त्रवाक्यशेषाभ्याम्।

अध्यात्मपक्षे हे अग्ने परमात्मन्, यस्य तवाग्नेः परमात्मनोऽनीकं सैन्यमिव अपः, अबुपलक्षितान् कर्मफलभूतान् लोकान् आविवेश आभिमुख्येन प्रविष्टवान्, हे अपान्नपात्, अपां लोकानां न पतनं यस्मात् सोऽपान्नपात्, परमात्मनो धारणशक्त्यैव लोकानां स्थितेः। 'येन द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः', 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (ऋ० १०।१२१।५) इति च श्रुतेः। स त्वं हे अग्ने, दमे दमे जनानां हृदयमेव त्वदीयं गृहम्, तस्मिन् प्रतिहृदयम् प्रत्यन्तःकरणमिति यावत्, तिष्ठन् असुर्यमसुराणां स्वभूतमज्ञानं तज्जन्यं मोहमदादिकं प्रतिरक्षन् निवर्तयन् समिधं ज्ञानवैराग्योद्दीपनसाधनं श्रवणमननादिकं यक्षि संगतं कुरु, त्वत्कृपयैव निर्विघ्नश्रवणाद्युपपत्तेः। ते तव जिह्वा रसग्राहकं सरसं मम इन्द्रियं घृतं प्रति घृतगन्धिसमुत्कृष्टं स्नेहं प्रति उच्चरण्यद् उद् ऊर्ध्वं चरण्यत् सव्यापारं भवतु।

भाष्यसार—'अग्नेरनीकम्' यह ऋचा जल में समिधा का प्रक्षेप करने के अनन्तर उस पर चतुर्गृहीत घृत की आहुति प्रदान करने हेतु विनियुक्त है। यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।८।२४) में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमात्मन्, आप परमात्मा की सेना की भाँति जो जलादि कर्मफलभूत लोकों में प्रविष्ट है, जिससे लोकों का पतन नहीं होता, अतः वह अपान्नपात् है, क्योंकि परमात्मा की धारणशक्ति के द्वारा ही लोकों की स्थिति है। ऐसे आप हे अग्निपरमात्मन्, प्राणियों का हृदय ही आपका आवास है। उस प्रत्येक गृह, प्रत्येक अन्तःकरण में रहते हुए असुरों के स्वभूत अज्ञान तथा उससे उत्पन्न मोह-मद आदि को निवृत्त करते हुए, ज्ञान-वैराग्य आदि उद्दीपनसाधन श्रवण-मनन आदि को संगत करें। आपकी कृपा से ही निर्विघ्न श्रवण आदि उपपन्न होते हैं। आपकी कृपा से मेरी जिह्वा रस, मेरी इन्द्रिय घृतगन्धि, समुत्कृष्ट स्नेह के प्रति उन्नत क्रियाशील बने।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने गृहस्थ, त्वमग्नेः पावकस्यानीकं सैन्यमिव ज्वालासमूहम् अपो जलानि विवेश। अपान्नपाद् आप्नुवन्ति याभिस्तासामुदकानां न पान्नाधः पतनशीलः, त्वमसुर्यमसुरेषु मेघेषु प्राणक्रीडासाधनेषु भवं द्रव्यं प्रतिरक्षन् दमे दमे दाम्यन्ति जना यस्मिन् तस्मिन् समिधम्, समिध्यते प्रकाश्यते तत्त्वमनया क्रियया, तां यजसि सङ्गच्छसे, ते जिह्वा रसनेन्द्रियं घृतमाज्यम् उत् चरण्यत् चरणमिवाचरेत्' इति, हिन्द्यां तु—'हे अग्ने विज्ञानयुक्त, त्वमन्नेर्ज्वालासमूहरूपमनीकस्य प्रभावं जलानि च सम्यग् ज्ञात्वा जानीहि अपामुत्तम-व्यवहारसाधकगुणान् ज्ञात्वा नपाद् अविनाशिस्वरूप, त्वम् असुर्यं मेघेभ्यः प्राणेभ्यश्च पदार्थेभ्य उत्पन्नं सुवर्णादिद्रव्यं प्रतिरक्षन् प्रत्यक्षं रक्षन् दमे दमे गृहे गृहे समिधं यया क्रियया सम्यक् प्रयोजनं सम्पद्येत, तां यक्षि प्रचारय। ते जिह्वा रसनेन्द्रियं घृतं स्वदतु स्वाहा। सत्यव्यवहारेण देवादिसाधनसमूहाः सर्वाणि कार्याणि कुर्वन्तु' इति, तदुभयमपि न क्षोदक्षमम्, अग्निशब्दस्य गृहस्थार्थत्वे मानाभावात्। विवेशेति क्रियापदस्य जानीहीत्यपि नार्थः, धात्वर्थविरोधात्। आप्नुवन्ति याभिरिति व्युत्पत्त्याऽप्युत्तमव्यवहारसाधकगुणा इत्यर्थः कथम्? असुर्यशब्दस्य सुवर्णद्रव्यमित्यर्थोऽपि कल्पनैव, प्रतिरक्षन्नित्यस्य प्रत्यक्षं रक्षन्नित्यर्थोऽपि प्रमाणापेक्ष एव। समिधमित्यस्य यया क्रियया प्रयोजनं सिद्ध्यति सा क्रियेत्यर्थोऽपि मूलमपेक्षते ॥ २४ ॥

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः। यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा ॥ २५ ॥

'समुद्रे त इति ऋजीषकुम्भं प्लावयतीति' (का० श्रौ० १०।९।१)। गतसारः सोम ऋजीषस्तेन पूर्णं कुम्भमप्सु क्षिपेत्। यथा जलोपरि कुम्भः प्लवेत्तथा कुर्यात्। सौमी विराड् दशाक्षरचतुष्पादा। यदित्ययं निपातो हृदयशब्देन सह सम्बद्ध्यते, समानलिङ्गत्वात्। हे सोम, यत् ते तव हृदयं समुद्रे समुद्रसमानास्वप्सु बहुलोदके-ष्वन्तर्मध्ये तिष्ठति वर्तते वा, तत्रैव प्रतितिष्ठत्विति शेषः। तत्रस्थं त्वां ओषधीर् ओषधयः सम्यग् विशन्तु। उतापि चापो जलानि त्वां विशन्तु। हे यज्ञपते, यज्ञस्य पालक! यज्ञस्य यजनीयं त्वां सूक्तोक्तौ शोभन-वचनोच्चारणेन नमोवाके नमस्कारवचनेन च विधेम स्थापयामः। यस्मादेवं तस्मात् स्वाहा सुहुतमस्तु। यद्वा शोभनवचनोच्चारणेन नमोवाकेन नमस्कारवचनेन त्वां विधेम परिचरेम।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित संस्कृत तथा हिन्दी दोनों ही अर्थ अग्राह्य हैं, क्योंकि अग्निशब्द का गृहस्थ अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'विवेश' इस क्रियापद का 'जानो' यह अर्थ भी धात्वर्थ से विरुद्ध होने के कारण अनुचित है। 'असुर्यं' शब्द का 'सुवर्ण द्रव्य' अर्थ करना भी केवल कल्पना ही है। 'समित्' शब्द का अर्थ 'जिस क्रिया के द्वारा प्रयोजन सिद्ध होता है, वह क्रिया' इस प्रकार करने में भी प्रमाण की अपेक्षा है ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम्हारा हृदय समुद्र के जल में छिपा हुआ है, मैं तुम्हें वहाँ प्रेषित करता हूँ। वहाँ निवास करते समय तुम्हारे भीतर नाना प्रकार की औषधियाँ और पवित्र जल प्रवेश करें। हे यज्ञ के पालक सोम, यज्ञ के निमित्त मंगलमय शब्दों का उच्चारण करते हुए नमस्कार वचन में हम तुमको स्थापित करते हैं। यह आहुति आपके द्वारा भली प्रकार गृहीत हो ॥ २५ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।९।१) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'समुद्रे ते' इस ऋचा

अत्र ब्राह्मणम्—'अन्यतरत् कृत्वा यस्मिन् कुम्भ ऋजीषं भवति तं प्रप्लावयति समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्त-रित्यापो वै समुद्रो रसो वा आपस्तस्मिन्नेतꣳ रसं दधाति तदेनमेतेन रसेन संगमयति तदेनमतो जनयति स एनं जात एव संजनयति सं त्वा विशन्त्वोषधीरुताप इति तदस्मिन्नुभयꣳ रसं दधाति यश्चौषधिषु यश्चाप्सु यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहेति तद्यदेव यज्ञस्य साधु तदेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० ४।४।५।२०), 'ता वा एताः । षडाहुतयो भवन्ति षड्वा ऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो वरुणस्तस्मात् षडाहुतयो भवन्ति' (श० ४।४।५।१८), 'एतदादित्यानामयनम्' (श० ४।४।५।१९) इति षडाहुतिकोऽवभृथपक्षः । 'आदित्या-नीमानि यजूꣳषीति वा आहुः स यावदस्य वशः स्यादेवमेव चिकीर्षेद्यद्यु एनमितरथा यजमानः कर्तवे ब्रूयादित-रथो तर्हि कुर्यादेतानेव चतुरः प्रयाजानपबर्हिषो यजेद् द्वावाज्यभागौ वरुणमग्नीवरुणौ द्वावनुयाजावपबर्हिषौ तद्दश दशाक्षरा वै विराड् विराड् वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद् यज्ञमभिसम्पादयति' (श० ४।४।५।१९), 'एतदङ्गिरसा-मयनम्' (श० ४।४।५।२०) इति प्रोक्तयोः षडाहुतिकदशाहुतिकपक्षयोः षडाहुतिकं वा दशाहुतिकं वाऽवभृथं कृत्वा ऋजीषकुम्भं जले प्लावयेत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, उमया सहितो देवः सोमस्तत्सम्बुद्धौ, यत्ते तव हृदयं सारतमं रूपं देहस्य वा समुद्रे परमानन्दसुधासिन्धौ अप्सु लोकेष्वन्तः सर्वान्तर्यामितया सर्वाधिष्ठानतया च वर्तमाने स्वस्वरूपे वर्तते, तत्र स्थितं त्वां सर्वा ओषधीरोषधयः संविशन्तु, उतापि च आपो लोकाः संविशन्तु, सर्वेषां कार्याणां परम-कारणपर्यवसायित्वात् । हे यज्ञपते, यज्ञस्य फलदातृत्वेन पालक सोम, यज्ञस्य यजनीयस्य तव सूक्तोक्तौ शोभनवचनोच्चारे नमोवाके नमस्कारवचने त्वां स्थापयामः, त्वामेव स्तौमि नौमि चेत्यभिप्रायः ।

दयानन्दस्तु –'हे यज्ञपते ! गृहस्थाश्रमस्य रक्षक, यथा वयं स्वाहा प्रेमोत्पादयित्र्या वाण्या यज्ञस्य गृहाश्रमानुकूलव्यवहारस्य सूक्तोक्तौ सूक्तानां वेदस्थानां प्रामाण्यस्योक्तिर्यस्मिन् गृहाश्रमे, नमोवाके वेदस्थस्य नम इत्यन्नस्य सत्कारस्य च चकारवचनानि यस्मिन् तस्मिन् समुद्रे सम्यग् द्रवीभूते व्यवहारे ते तव यद् अप्सु प्राणेषु अन्तः अन्तःकरणं विधेम निष्पादयेम, तथा तेन विदिता ओषधीर्यवाद्यास्त्वां समाविशन्तु, उतापस्तव सुखकारिका: सन्तु' इति, हिन्द्यां तु—'सूक्तोक्तौ तस्मिन् प्रबन्धे यत्र वेदवचनप्रमाणैः शोभना वार्ताः सन्ति, वेदप्रमाणसिद्धान्तानां सत्कारादिपदार्थानां च वादानुवादरूपे आर्द्रव्यवहारे सर्वेषां प्राणेषु च ते तव हृदयस्य मनसश्च सन्तुष्टिं विधेम' इत्यादिकम्, तत्सर्वमेव निरर्थकम्, अस्पष्टत्वात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च । विरोधश्च पूर्वव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ २५ ॥

के द्वारा सोमलता के रसविहीन अंश ऋजीष (खोई) से भरे हुए कलश को जल में बहाया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे उमासहित महेश्वर, आपका जो सारभूत स्वरूप है, अथवा देह के परमानन्द सुधासिन्धु में है, समस्त लोकों में सर्वान्तर्यामित्व अथवा सर्वाधिष्ठानत्व के द्वारा विद्यमान स्वस्वरूप में स्थित है, उसमें अवस्थित आपके प्रति सम्पूर्ण ओषधियाँ निविष्ट हों तथा समस्त लोक निविष्ट हों, क्योंकि सभी कार्य परम कारण में ही पर्यवसित होते हैं । यज्ञ के फलदाता के रूप में हे यज्ञपालक, यजनार्ह आपके सुन्दर गुणोच्चारण में तथा नमस्कृति-वचनों में हम आपको प्रतिष्ठित करते हैं, अर्थात् आपका ही स्तवन, नमन करते हैं ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित संस्कृत तथा हिन्दी दोनों ही व्याख्याएँ अस्पष्ट तथा श्रुतिवचनों एवं सूत्रवाक्यों से विरुद्ध होने के कारण असंगत हैं, यह पूर्वोक्त व्याख्या से स्पष्ट ही है ॥ २५ ॥

देवी॑राप ए॒ष वो॒ गर्भ॒स्तँ सु॒प्रीतँ सु॒भृ॑तं बिभृत। देव॑ सोमै॒ष ते॒ लो॒कस्तस्मि॒ञ्छं च॒ वक्ष्व॒ परि॑ च वक्ष्व ॥ २६ ॥

'देवीराप इति विसृज्योपतिष्ठत इति' (का० श्रौ० १०।९।२)। आप्लावितमृजीषकुम्भं मुक्त्वोपस्थानं कुर्यात्। पङ्क्तिर्बृहती वा, अष्टात्रिंशदक्षरत्वात्। पूर्वार्धमब्दैवतमुत्तरार्धं सोमदेवत्यम्। हे आपो देव्यः, वो युष्माकमेष सोमो गर्भो गर्भस्थानीयः। तं तादृशं सोमं सुप्रीतं शोभनप्रीतियुक्तं सुभृतं सुपुष्टं बिभृत धारयत। हे देव दीप्यमान सोम, ते तव एष जललक्षणो लोकः स्थानम्, तत्रावस्थितस्त्वं शं सुखं वक्ष्व वह, अस्मान् प्रति प्रापय। परि च वक्ष्व परिवह निवर्तय च, अस्मत्तः सर्वा आर्तीः। तस्मिन्नः शं चैधि, 'सर्वाभ्यश्च न आर्तिभ्यो गोपाय' (श० ४।४।५।२१) इति श्रुतेः। वहतेर्लोट्, मध्यमैकवचने तङि शपि रूपम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथानुसृज्योपतिष्ठते। देवीराप एष वो गर्भ इत्यपाँ ह्येष गर्भस्तँ सुप्रीतँ सुभृतं बिभृतेति तदेनमद्भ्यः परिददाति गुप्त्यै देव सोमैष ते लोक इत्यापो ह्येतस्य लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्वेति तस्मिन्नः शं चैधि सर्वाभ्यश्च आर्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह' (श० ४।४।५।२१)। अनुसृज्य विसृज्य एनं सोममद्भ्यः परिददाति। गुप्त्यै रक्षायै आपः स्तूयन्ते। शेषं स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे देव्यो द्योतमाना बुद्धयः, आपो दमादिगुणव्यापिन्यः, वो युष्माकमेष सोमो भक्तिज्ञानरूपः सोमवदाह्लादको गर्भो गर्भस्थानीयः। यूयं तं तादृशं गर्भं बिभृत धारयत। कीदृशं तम्? सुप्रीतं शोभना प्रीतिर्यस्मात्तं सुभृतं सुपुष्टम्। सोमं च वदति—हे सोम देव, एष बुद्धिलक्षणस्ते तव लोकः स्थितिः स्थानम्। तत्रावस्थितः सन् शं कल्याणं मोक्षं वक्ष्व प्रापय। सर्वा आर्तीर्जननमरणाविच्छेदलक्षणाः संसृतीर्निवर्तय।

दयानन्दस्तु—'हे आपो देवीर्देव्यो देदीप्यमाना आपः शुभगुणकर्मविद्याव्यापिन्यः, यूयं वो युष्माकं य एष प्रत्यक्षो गर्भो लोको लोकनीयः पुत्रपत्यादिसम्बन्धसुखकरो गृहाश्रमः, तं सुप्रीतं सुष्ठु प्रीतिनिबद्धं सुभृतं सुष्ठु धारितं यथा स्यात्तथा बिभृत धरत। हे देव सोम दिव्यगुणैः कमनीय सोम, ऐश्वर्याढ्य गृहस्थजन, य एष ते लोकोऽस्ति,

---

मन्त्रार्थ—हे दिव्य गुणयुक्त जल देवता, तुम्हारा यह सोमकुम्भ गर्भस्थानीय है। इसलिये इसको प्रीतिपूर्वक, पुष्टिपूर्वक धारण करो। हे सोम देव, यह जल तुम्हारा स्थान है, इसमें तुम सुखपूर्वक रहो और हमें भी सुख दो। हमारे सभी दुःखों को दूर कर हमारी रक्षा करो ॥ २६ ॥

भाष्यसार—'देवीरापः' इस ऋचा के द्वारा बहाये गये ऋजीषकुम्भ को विसर्जित करके उपस्थान किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।९।२) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—विद्योतमान तथा दमादिगुणव्यापिनी हे बुद्धियों, तुम लोगों का यह भक्तिज्ञानरूपी एवं सोम की भाँति आह्लादकारी रूप गर्भ की भाँति है। तुम लोग इस प्रकार के गर्भ को धारण करो। वह सुन्दर प्रीतियुक्त तथा सुपुष्ट है। उस सोम के प्रति उक्ति है कि हे सोमदेव! यह बुद्धिरूपी आपका लोक, स्थान है। उसमें अवस्थित होते हुए आप कल्याण, मोक्ष को प्राप्त करावें। जन्ममरण की निरन्तरता रूपी समस्त संसृतियों को निवृत्त करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या में गर्भ शब्द का अर्थ न होने के कारण न्यूनता है। पुत्र, पति आदि सम्बन्धों

तस्मिन् शं कल्याणकारकं ज्ञानं च शिक्षां वक्ष्व प्रापय, चाद्रक्ष परिवक्ष्व वह' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गर्भशब्दार्थानुक्तेः। नहि पुत्रपत्यादिसम्बन्धसुखकरो गृहाश्रम एव लोकनीयः, धर्मब्रह्मणोरपि लोकनीयत्वाविशेषात्। सोमशब्दस्य ऐश्वर्याढयो गृहस्थजनः कथमर्थ इत्यस्याप्यनुक्तेः ॥ २६ ॥

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि। देवानाᳪ समिदसि ॥ २७ ॥

'अवभृथेति मज्जयतीति' (का० श्रौ० १०।९।३)। ऋजीषकुम्भं जले प्रवेशयेत्। यज्ञदैवतम्। अवाचीनानि पात्राणि जलमध्ये भ्रियन्ते यस्मिन् यज्ञविशेषे सोऽवभृथ इति काण्वभाष्ये सायणाचार्यः। तत्सम्बुद्धौ हे अवभृथ, त्वं निचुम्पुण नितरां मन्दं गच्छ। 'चुपि मन्दायां गतौ' इति धातो रूपम्। यद्यपि त्वं निचेर्नितरां चरणशीलोऽसि, तथाप्यत्र निचुम्पुण मन्दं गच्छ। किं प्रयोजनमित्युच्यते—देवैर्द्योतनात्मकैरस्मदीयैरिन्द्रियैः, देवकृतं हविः, स्वामिषु देवेषु कृतमेनः पापं यदस्ति, तदवायासिषम् अस्मिन् जलेऽपनीतवानस्मि। अथ मर्त्यैर्मनुष्यैरस्मत्सहायभूतैर्ऋत्विग्भिर्मर्त्यकृतं मर्त्येषु मनुष्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञादिरूपं यदेनोऽस्ति, तदप्यहमवायासिषमित्यनुवर्तनीयम्। अस्माभिः परित्यक्तमेनो यथा त्वां नावाप्नोति, तथा हे यज्ञ! त्वं मन्दं गच्छ। हे देव अवभृथाख्य यज्ञ, त्वं पुरुराव्णो बहुविधविरुद्धफलदायिनो रिषो वधात् पाहि पालय। 'रा दाने', रिष वधे', विरुद्धफलदायी वधस्त्वत्प्रसादादस्माकं मा भूदित्यर्थः। 'देवः गुरे धने राज्ञि देवमाख्यातमिन्द्रियम्' इति कोषाद् देवपदेनेन्द्रियाणि देवाश्च गृह्यन्ते। 'आहवनीये समिदाधानं देवानाᳪ समिदसीति (का० श्रौ० ५।५।३४)। स्नानानन्तरमाहवनीयमेत्य तस्मिन् समिधं दध्यात्। अग्निदैवतं यजुः। हे अग्ने, त्वं देवानां सम्बन्धिनी समिदसि इन्धनमसि, यद्वा देवभूतानामस्माकं समित् समिन्धनम्, असि भवसि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोपमारयति। अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतमित्यव ह्येतद्देवैर्देवकृतमेनोऽयासीत् सोमेन राज्ञाऽव मर्त्यैर्मर्त्यकृतमित्यव ह्येतन्मर्त्यैर्मर्त्यकृतमेनोऽयासीत् पशुना पुरोडाशेन पुरुराव्णो देव रिषस्पाहीति सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह' (श० ४।४।५।२२)। उपमारयति ऋजीषकुम्भं मज्जयति सोमेन राज्ञा देवैर्देवकृतमेनोऽयासीत्, पशुना पुरोडाशेन च मर्त्यैर्मर्त्यकृतमेनोऽयासीदिति पुरुराव्णो पाहीत्यनेन सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह। 'अथाभ्यवेत्य स्नातः।

से सुखकर होने के कारण केवल गृहस्थाश्रम ही अभीष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म तथा ब्रह्म में भी लोकनीयता समान ही है। सोम शब्द का अर्थ 'ऐश्वर्यसम्पन्न गृहस्थ' कैसे होगा, यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है। २६ ॥

मन्त्रार्थ—**हे अवभृथ यज्ञ, तुम धीरे-धीरे चलो। तुम अत्यन्त तीव्र गति से चलने वाले हो, तो भी हमारे यहाँ अतिमन्द गति से चलो। हमारी इन्द्रियों के द्वारा अज्ञानवश हवि के स्वामी देवताओं के प्रति जो अनजाने में पाप हो गये हैं, उन्हें हमने जल में छोड़ दिया है। हमारे सहायक ऋत्विजों ने यज्ञदर्शन के लिये आये हुए मनुष्यों के प्रति जो अवज्ञारूप पाप किया है, उसे भी हमने जल में छोड़ दिया है। हे अवभृथ यज्ञ, विपरीत फल देने वाले अनिष्ट से हमारी रक्षा करो। तुम्हारे प्रसाद से कोई दोष हमें न लगे। देवताओं के निमित्त दी गई समिधा दीप्तिमान् हो ॥ २७ ॥**

भाष्यसार—'अवभृथ निचुम्पुण' इस कण्डिका के मन्त्रों से ऋजीष-कुम्भ को जल में डुबाया जाता है तथा आहवनीय

अन्योऽन्यस्य पृष्ठे प्रधावतस्तावन्ये वाससी परिधायोदेतः स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवꣳ सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते तस्मिन्न तावच्च नैनो भवति यावत्कुमारेऽदति स येनैव निष्क्रामन्ति तेन पुनरायन्ति पुनरेत्याहवनीये समिधमभ्यादधाति देवानाꣳ समिदसीति यजमानमेवैतया समिन्धे देवानाꣳ हि समिद्धिमनु यजमानः समिद्धयते' (श० ४।४।५।२३)। अथाभ्यवेत्य ऋजीषकुम्भं मज्जयति। ततो यजमानपत्न्यौ स्नातः, अन्योऽन्यस्य पृष्ठतो धावतः। तौ चान्ये वाससी परिधाय उदेतः। तेन यथाहिस्त्वचो निर्मुच्यते, तथैव सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते। तस्मिन्न तावच्चैनो भवति, यावददति कुमारे न भवति। स येनैव पथा निष्क्रामन्ति तेन पुनरायन्ति। पुनरेत्याहवनीये समिदमादधाति देवानां समिदसीति मन्त्रेण। तत्प्रयोजनं मन्त्रार्थं चाह—यजमानमेवैतयेति। एतया समिधा यजमानमेव समिन्धयति दीपयति। देवानां समिद्धिमनु यजमानः समिद्धयते दीप्तो भवतीति।

अध्यात्मपक्षे—हे अवभृथ, अवाचीनानि सर्वाणि महदादीनि कार्याणि भ्रियन्ते यस्मिन्नधिष्ठानभूते परमात्मनि सोऽवभृथस्तत्सम्बुद्धौ, त्वं यद्यपि निचेरुर्नितरां चरणशीलोऽसि, 'मनसो जवीयः' (वा० सं० ४०।४) इति श्रुतेः, तथापि निचुम्पुण नितरां मन्दं गच्छ। स्वानुगान् भक्तान् नयन् नितरां मन्दं गमनशीलो भव। वने गच्छन्तं रामं जनकनन्दिनी प्राह। अथवा वृन्दावनं गच्छन्तं श्रीकृष्णं गोपाङ्गनाः प्राहुः—हे भगवन्! यद्यपि त्वं निचेरुरसि, तथाप्यस्माभिः सार्धं मन्दं गच्छ। देवैरस्मदीयैरिन्द्रियैर्देवेषु हविःस्वामिषु कृतं मर्त्यैरस्मत्सहायभूतैर्ऋत्विग्भिर्मर्त्येषु दर्शनार्थमागतेषु मनुष्येषु कृतमवज्ञादिकमेनस्त्वन्नामोच्चारणात् त्वत्स्मरणाच्चावायासिषम् अपनीतवानस्मि। हे देव जगदुत्पत्तिस्थितिलयलील क्रीडापरायण, त्वं पुरुराव्णो बहुविरुद्धफलदायिनो रिषो वधात् पाहि। त्वत्प्रसादाद्विरुद्धफलदायी वधो मा भूदित्यर्थः। त्वं देवानामिन्द्रादीनां समिदसि समिन्धनसाधनभूतोऽसि, त्वदनुग्रहेणैव देवानां दीप्तिमत्त्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे अवभृथ, यो निषेकेण गर्भं बिभर्ति तत्सम्बुद्धौ, निचुम्पुण नितरां मन्दगामिन् पते, त्वं निचुम्पुणो नित्यं कमनीयो निचेरुर्यो धर्मेण द्रव्याणि नित्यं चिनोति सोऽसि, देवानां समिदसि देवानां विदुषां मध्ये समित् सम्यग् दीप्तोऽसि। हे देव विजिगीषो, देवैर्विद्वद्भिर्मर्त्यैर्मृत्युधर्मैः सह वर्तमानस्त्वं यद्

अग्नि में समिदाधान किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।९।३, ५।५।३४) में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सायणाचार्य आदि ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—अवाचीन सभी महदादि कार्य जिस अधिष्ठानभूत परमात्मा में अवस्थित होते हैं, वही अवभृथ है। उसको सम्बोधित किया गया है कि हे अवभृथ, आप यद्यपि अतिशय विचरणशील हैं, यह 'मनसो जवीयः' (वा० सं० ४०।४) आदि श्रुतियों से भी स्पष्ट है, तथापि आप अत्यन्त मन्द गति से चलें। अपने अनुगत भक्तों को ले चलते हुए बहुत धीमी गति से गमनशील हों, यह वन में जाते हुए श्रीराम के प्रति जनकात्मजा भगवती सीता के वचन हैं, अथवा वृन्दावन में संचरण करते हुए श्रीकृष्ण के प्रति गोपांगनाएँ कहती हैं कि हे भगवन्, यद्यपि आप अतिशय गतिवान् हैं, तथापि हमारे साथ धीरे चलिये। हमारी इन्द्रियों के द्वारा हविःस्वामी देवों के विषय में किये गये तथा हमारे सहायक ऋत्विजों के द्वारा दर्शनार्थ समागत मनुष्यों के सम्बन्ध में किये गये अवज्ञा आदि पाप को आपके नामोच्चारण तथा आपके स्मरण से हमने निराकृत कर दिया है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहृति की लीला में निरत हे देव, आप अतिशय विरुद्ध फल देने वाले वध से हमारी रक्षा करें। आपके अनुग्रह से विरुद्धफलदायी वध (हिंसा) न हो। आप इन्द्रादि देवों की भी प्रदीप्ति के साधन हैं, क्योंकि आपकी कृपा से ही देवगण दीप्तिमान् हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित संस्कृत एवं हिन्दी दोनों व्याख्याएँ अस्पष्ट हैं। अवभृथ शब्द यज्ञविशेष के अर्थ में प्रसिद्ध है, यह शतपथ आदि श्रुतियों से प्रमाणित है। ऐसे अर्थ को छोड़ कर गर्भधारण-पोषक-परक अर्थकल्पना निर्मूल ही

देवकृतं कामिभिरनुष्ठितम् एनो दुष्टाचरणम्, मर्त्यकृतमसाधारणमनुष्याचरितमपराधमयासिषं प्राप्तवती, तस्मात् पुरुराव्णो रिषो मां पाहि दूरे रक्ष। पुरवो बहवो रावाणोऽपराधदानशीला यस्मिन् तस्माद् रिषो धर्मस्य हिंसनाद् मां पाहि' इति, हिन्द्यां तु—'हे अवभृथ गर्भधारक तत्पोषक, मन्दगतिरसि नित्यं मनो हरसि। धर्मेण नित्यं धनसञ्चयशीलोऽसि, विदुषां मध्ये सम्यग् दीप्तोऽसि। हे देव विजिगीषो, देवैर्विद्वद्भिर्मर्त्यैः साधारणजनैः सह वर्तमानस्त्वं कामिभिरनुष्ठितं साधारणमनुष्यैः कृतमेनोऽपराधम् अवायासिषम् अहं प्राप्तवती, हिन्द्यां प्राप्तुमिच्छेयम्, तस्माद् बहूनामपराधानां दातुर्धर्महिंसनान्मां पाहि' इति, तत्सर्वमप्यस्पष्टमेव। अवभृथशब्दो यज्ञविशेषार्थे प्रसिद्धः, शतपथादिश्रुतिप्रमाणकश्च। तादृशमर्थमपहाय गर्भधारकपोषकपरत्व-कल्पनं निर्मूलमेव। न च धात्वर्थानुरोधेन तथा कल्पनं युक्तम्, तथात्वे गोशब्देन गमनशीलानां मनुष्यादीनामपि बोधप्रसङ्गात्, घटशब्दाच्चेष्टावतो मनुष्यपश्वादेश्च ग्रहणात्। किञ्च, कामिभिरनुष्ठितमपराधं प्राप्तुमिच्छेय-मित्यस्य कोऽर्थः ? तस्मात् तथात्वे कथं पुरुराव्णो रिषः कामना ? कथं च पत्युः सकाशात् तन्मुक्तिः ? एवं भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः। यथाकथञ्चिद् यथेच्छमर्थाङ्गीकारेऽपि न चेष्टसिद्धिः। नहि वेदे प्राकृतदैनन्दिनस्त्रीपुरुषव्यवहारवर्णनं सप्रयोजनम्। निचुम्पुणो नित्यं कमनीय इत्यपि चिन्त्यम् ॥ २७ ॥

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथाऽयं वायुरेजति यथा समुद्र एजति। एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह ॥ २८ ॥

'निरुह्यमाणमभिमन्त्रयत एजतु दशमास्य इति' (का० श्रौ० २५।१०।५)। यद्यनुबन्ध्याऽन्तर्वत्नी स्यात्, तत्र प्रायश्चित्तिरुच्यते—यथा येन प्रकारेणायं वायुरेजति चलति, यथा समुद्रश्चलति, एवमयं दशमास्यः सम्पूर्णावयवो गर्भो जरायुणा सह अस्रद् निर्गच्छतु। दश मासा जाता यस्य स दशमास्यः। यद्यपि दशमास्यो नापि स्यात्, तथापि सम्पूर्णस्यैव निर्गमनमाशास्यते।

शतपथे—'अथ मैत्रावरुणीं वशामनुबन्ध्यामालभते····' (श० ४।५।१।५) इत्युपक्रम्य '····यद्वा ईजानस्य स्विष्टं भवति मित्रोऽस्य तद् गृह्णाति यद्वस्य दुरिष्टं भवति वरुणोऽस्य तद् गृह्णाति' (श० ४।५।१।६)। वशाऽनुबन्ध्या। सा का इत्याह—'यत्र वै देवा रेतः सिक्तं····प्राजनयंस्ततोऽङ्गाराः समभवन्नङ्गारेभ्योऽङ्गिरसस्त-

---

है। केवल धात्वर्थ की सहायता से इस प्रकार की कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर गो शब्द से गमनशील मनुष्य आदि का बोधन भी आपतित हो जायगा, घट शब्द से चेष्टा से युक्त मनुष्य, पशु आदि का अर्थ ग्रहण होने लगेगा। 'कामियों के द्वारा अनुष्ठित अपराध को प्राप्त करने की इच्छा करूँ' इसका क्या अर्थ है ? तथा ऐसा होने पद हिंसा से रक्षा की कामना किस प्रकार होगी ? पति से उसकी कैसे मुक्ति संभव होगी ? यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार लहसुन खाने पर भी रोग शान्त नहीं हुआ। स्वेच्छाचार से अर्थ स्वीकार करने पर भी अभीप्सित की सिद्धि नहीं हो सकी। वेद में सामान्य प्रति दिन के स्त्री-पुरुष व्यवहार का वर्णन मानना निरुद्देश्य है। 'निचुम्पुण' का 'नित्य कमनीय' अर्थ भी विचारणीय है ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—दस महीने का पूरा गर्भ गर्भवेष्टन जरायु के साथ अब अपने स्थान से चलायमान हो। जिस प्रकार यह पवन कम्पित होता है, जैसे समुद्र अपनी लहरों से कम्पित होता है, उसी तरह यह दस मास का पूर्ण गर्भ जरायु के साथ उदर से बाहर हो ॥ २८ ॥

भा०प्रसार—अनुबन्ध्या गौ यदि गर्भयुक्त हो, तो उसके प्रायश्चित्त कर्म में 'एजतु' यह मन्त्र विनियुक्त है। शतपथ

दन्वन्ये पशवः' (श० ४।५।१।८)। यत्र काले प्रजापतिना स्वस्यां दुहितरि सन्ध्यायां रेतः सिक्तम्, तस्मिन् काले रेतसः प्रजन्यमानादङ्गाराः सम्भूतास्तेभ्यश्चाङ्गिरसः, तदन्वन्ये पशवः, अन्ये वत्सा गर्दभादयः। 'अथ यदासाः पाᳪंसवः पर्यशिष्यन्त। ततो गर्दभः समभवत्तस्माद्यत्र पाᳪंसुलं भवति गर्दभस्थानमिव बतेत्याहुरथ यदा न कश्चन रसः पर्यशिष्यत तत एषा मैत्रावरुणी वशा समभवत् तस्मादेषा न प्रजापते रसाद्धि रेतः सम्भवति रेतसः पशवस्तद्यदन्ततः समभवत्तस्मादन्तं यज्ञस्यानुवर्तते तस्माद्वा एषाऽत्र मैत्रावरुणी'(श० ४।५।१।९)। यस्मिन् काले आसाः अस्याः पांसवः परिशिष्टास्तदा ततः पांसुभ्यो गर्दभः सम्भूतः। तस्मादेव यत्र पांसुलं स्थानं भवति तद् गर्दभस्थानमाहुः। अथ यदा न कश्चिदपि रससारो रेतसोऽवशिष्टः, तत एषा वशा सम्भूता। सा च मैत्रावरुणी। यस्माच्च क्षीणे रसे सूता, तस्मादेषा न प्रजायते। 'तं निरूह्यमाणमभिमन्त्रयते। एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सहेति स यदाहैजत्विति प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति दशमास्य इति यदा वै गर्भः समृद्धो भवत्यथ दशमास्यस्तमेतदप्यदशमास्यᳪं सन्तं ब्रह्मणैव यजुषा दशमास्यं करोति' (श० ४।५।२।४)। 'जरायुणा सहेति। तद्यथा दशमास्यो जरायुणा सहेयादेवमेतदाह यथाऽयं वायुरेजति यथा समुद्र एजतीति प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधात्येवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सहेति तद्यथा दशमास्यो जरायुणा सह स्रᳪंसेतैवमेतदाह' (श० ४।५।२।५)।

अध्यात्मपक्षे हे बुद्धे, यथायं वायुः पवन एजति चलति, यथा चायं समुद्र एजति, तथा ते दशमास्यः सम्पूर्णावयवः प्रबोधचन्द्ररूपो गर्भः, जरायुणा जरायुवदावरकेण रक्षकेण दृढतर्केण मननाख्येन सह, अस्रत् स्रंसतु निर्गच्छतु, प्रकटो भवत्वित्यर्थः। अथवा सम्पूर्णावयवो गर्भः प्रबोधाख्यो जरायुणा गर्भवेष्टनेनेव दृढतर्करूपेण कवचेन सह एजतु सकामाया अविद्याया उन्मूलने व्यापृतो भवतु।

दयानन्दस्तु—'हे दम्पती, यथायं वायुरेजति, यथा समुद्र एजति, तथा जरायुणा सह दशमास्यो गर्भ एजतु, क्रमेण वर्धताम्, एवं वर्धमानोऽयं जरायुणा सह दशमास्य एव अस्रत् स्रंसताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे दम्पती ! इति सम्बोधने मानाभावात्। 'क्रमेण वर्धताम्, एवं वर्धमानोऽयम्' इत्याद्यपि निर्मूलम्, कम्पनार्थस्यैजतेर्वर्धमानार्थत्वायोगात् ॥ २८ ॥

यस्यै॑ ते य॒ज्ञियो॒ गर्भो॒ यस्यै॒ योनि॑र्हिर॒ण्ययी॑। अङ्गा॒न्यह्रु॑ता॒ यस्य॒ तं मा॒त्रा सम॑जीगम॒ᳪं स्वाहा॑ ॥ २९ ॥

ब्राह्मण में विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे बुद्धि, जिस प्रकार यह वायु संचरणशील है तथा जिस प्रकार यह समुद्र गति करता है, उसी प्रकार तुम्हारा यह सम्पूर्ण अंगों से युक्त प्रबोधचन्द्ररूपी शिशु जरायु की भाँति आवरणकर्ता रक्षक मननसंज्ञक दृढ तर्क के साथ निर्गत हो, अर्थात् प्रकट हो। अथवा सम्पूर्ण अवयवों से युक्त प्रबोधरूपी गर्भ दृढ तर्करूपी गर्भावरण कवच के साथ सकाम अविद्या के उन्मूलन में व्यापृत हो।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में 'हे दम्पती' इस प्रकार सम्बोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अग्राह्यता है। 'क्रम से वर्धित हो' इत्यादि अर्थ करना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि 'एजृ' धातु केवल कम्पनार्थक होने के कारण वर्धन अर्थ में प्रयुक्त नहीं होती ॥ २८ ॥

'अवदानान्यनुजुहोति यस्यै त इति' (का० श्रौ० २५।१०।९)। वशावदानानि हुत्वा प्रतिप्रस्थाता मेधं जुहुयात्। वशादेवत्याऽनुष्टुप्। हे वशे, यस्यास्ते तव गर्भो यज्ञियो यज्ञार्हः, यस्यै यस्याश्च तव योनिर्हिरण्ययी सुवर्णमयी, 'ऋत्व्यवास्त्व्य' (पा० सू० ६।४।१७५) इति निपातनान्मकारलोपः, ब्रह्मणा मन्त्रेण क्रियत इत्यर्थः, तादृशीं त्वां गर्भेण सङ्गमयामीति शेषः। यस्य गर्भस्याङ्गान्यह्रुता अकुटिलानि, 'ह्वृ कौटिल्ये', अखण्डितानि, तं गर्भं मात्रा अनुबन्ध्यालक्षणया समजीगमं सङ्गमयामि स्वाहा। 'ह्रु ह्वरेश्छन्दसि' (पा० सू० ७।२।३१) इति ह्रुरादेशो निष्ठायाम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'यस्यै ते यज्ञियो गर्भः। अयज्ञिया वै गर्भास्तमेद् ब्रह्मणैव यजुषा यज्ञियं करोति यस्यै योनिर्हिरण्ययीत्यदो वा एतस्यै योनिं विच्छिन्दन्ति यददो निष्कर्षन्त्यमृतमायुर्हिरण्यं तामेवास्या एतदमृतां योनिं करोत्यङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहेति यदि पुमान् स्याद्यद्यु स्त्री स्यादङ्गान्यह्रुता यस्यै तां मात्रा समजीगमꣳ स्वाहेति यद्यु अविज्ञातो गर्भो भवति पुꣳस्कृत्यैव जुहुयात् पुमाꣳसो हि गर्भा अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहेत्यदो वा एतं मात्रा विष्वञ्चं कुर्वन्ति यददो निष्कर्षन्ति तमेतद् ब्रह्मणैव यजुषा समर्ध्य मध्यतो यज्ञस्य पुनर्मात्रा सङ्गमयन्ति' (श० ४।५।२।१०), अयज्ञिया वै गर्भाः। ब्रह्मणैव यजुषा यजुर्मन्त्रेण ते यज्ञिया भवन्ति।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, यस्यास्ते यज्ञियो यज्ञार्हो विष्णुपदप्राप्तियोग्यो गर्भः प्रबोधाख्यः, यस्यास्ते योनिरुत्पत्तिस्थानं हिरण्ययी ज्योतिर्मयी चित्प्रतिबिम्बोपेतत्वेन चित्सारत्वात्, यस्य गर्भस्य प्रबोधाख्यस्याङ्गानि साधनानि, अह्रुता अह्रुतानि अकुटिलानि सरलानि शमदमादीनि, तं प्रबोधाख्यं गर्भं मात्रा बुद्धया सह अहं समजीगमं सङ्गमयामि, वेदान्तश्रवणादिना बुद्धिं ब्रह्मप्रबोधवतीं सम्पादयामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विवाहिते सुभगे, अहं ते पतिः। यस्यै यस्यास्ते तव हिरण्ययी रोगरहिता शुद्धा योनिरस्ति, यस्यास्ते यज्ञियो यज्ञयोग्यो गर्भोऽस्ति, तस्यां त्वयि यस्य गर्भस्य अह्रुतान्यकुटिलानि सरलान्यङ्गानि स्युस्तं मात्रा गर्भकर्त्र्या त्वया सह समागम्य स्वाहा धर्मयुक्तया क्रियया समजीगमं सम्यक् प्राप्नुयाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गर्भकामिन्या त्वया समागम्येत्यर्थस्य मूलबाह्यत्वात्। गर्भः कथं यज्ञियो भवतीत्यपि नोक्तम्। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—जिस श्रेष्ठ लक्षण वाले गर्भ का अधिपति यज्ञ देवता है, जिसका जन्मस्थान सुवर्ण के समान शुद्ध है, जिस गर्भ के अंग अकुटिल, अखण्डित और सरल हैं, उस गर्भ को मैं इस मन्त्र से माता के साथ संमानित करता हूँ। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २९ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।१०।९) में निरूपित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'यस्यै ते' इस ऋचा से हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति यह है—हे बुद्धि, तुम्हारा जो यज्ञार्ह, विष्णुपद की प्राप्ति के योग्य प्रबोधसंज्ञक गर्भस्थ शिशु है, तुम्हारी उत्पत्तिस्थली चित्प्रतिबिम्ब से युक्त होने के कारण चित्सारत्व होने से ज्योतिर्मयी है, जिस प्रबोधरूपी गर्भशिशु के अंगरूपी साधन अकुटिल सरल शम-दम आदि हैं, उस प्रबोधशिशु की माता बुद्धि के साथ मैं संगत होता हूँ, अर्थात् वेदान्त-श्रवण आदि के द्वारा बुद्धि को ब्रह्मप्रबोध से युक्त करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्या में 'गर्भकामिनी, तुम्हारे साथ संगत होकर के' इत्यादि अर्थ मूल शब्दों से बहिर्भूत होने के कारण असंगत है। गर्भ किस प्रकार यज्ञिय होता है, यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है। श्रुति तथा सूत्र से विरोध तो स्पष्ट ही है ॥ २९ ॥

पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः । एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदी-मष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताᳪं स्वाहा ॥ ३० ॥

स्विष्टकृतमनुजुहोति पुरुदस्म इति' (का० श्रौ० २५।१०।१३)। स्विकृष्ट्यागात् पूर्वं प्रतिप्रस्थाता दक्षिणदेशे प्रत्यागत्य सर्वगर्भरसमवद्यति । अध्वर्युणा स्विष्टकृद्धोमे कृते प्रचरण्या जुहुयात् । गर्भदैवत्यं यजुः । इन्दुः क्लेदनरूपः सोमसदृशो गर्भो महिमानं महत्त्वम् आनञ्ज व्यक्तीकरोतु । कीदृशः ? पुरुदस्मो बहुदानयुक्तः, विषुरूपो बहुरूपः, अन्तरुदरेऽवस्थितो बहुरूपो हि गर्भो भवति, धीरो मेधावी, इत्थंरूपं महिमानमानञ्जेत्यर्थः । महिमवतो गर्भस्य मातरं वशां तादृशा भुवना, 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० सू० ६।१।७०) इति शेर्लुकि भुवना इति रूपम्, भुवनानि भूतजातानि, अनुप्रथन्तां प्रख्यातां कुर्वन्तु, वशां परगर्भं वा प्रख्यातं कुर्वन्तु । इयं वशा चतुष्पदी सती कथमेकपद्यादिभिरुच्यत इति, तत्राह—यदा वशासम्बन्धिन्यां वपायां जुहुयात् तदा एकपदी । यद् यदाङ्गैर्यागस्तदा द्विपदी । यदोपयद्धोमः कृतस्तदा त्रिपदी । यदा पत्नीसंयाजैर्जुहुयात्तदा चतुष्पदी, चतुर्भिः पदैर्युक्ता वा । एवं स्वपादैर्गर्भपादैश्चाष्टपादयुतामेवंभूतां वशां गणयित्वाऽनुप्रथन्तामिति सम्बन्धः । स्वाहा सुहुतमस्तु ।

तत्रैव ब्राह्मणम् 'पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरिति । बहुदान इति हैतद्यदाह पुरुदस्म इति विषुरूप इति विषुरूपा इव हि गर्भा इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीर इत्यन्तर्ह्येष मातर्यक्तो भवत्येकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताᳪं स्वाहेति प्रथयत्येवैनामेतत्सुभूयो ह जयत्यष्टापद्येष्ट्वा यदु चानष्टापद्या' (श० ४।५।२।१२)। पुरुदस्म इत्यस्य बहुरूप इत्यादिना मन्त्रपदानि व्याचष्टे ।

अध्यात्मपक्षे—प्रबोधाख्यो गर्भः पुरुदस्मो बहुदानः, ब्रह्मप्रापयितृत्वात् । विषुरूपो बहुरूपः, बहूनि तत्त्वं-पदवाच्यलक्ष्यादीनि रूपाणि यस्य सः । इन्दुः सोमवत् परमाह्लादकारी । अन्तर्बुद्धेरुदरेऽवस्थितः । महिमानं महाभाग्यम् । आनञ्ज व्यक्तीकरोति । धीरो धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयति तत्त्वान्वेषणायेति धीरः, येन एनां बुद्धिम् एकपदीम् एकमेव परं ब्रह्म पदनीयं यया सा तामेकपदीम्, द्विपदीं द्वौ जीवेश्वरौ वाच्यार्थौ पदनीयौ यया ताम् । तत्साधनत्वेन दमदयादानानि पदनीयानि यया ताम् । त्रिपदीं त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि

मन्त्रार्थ—बहुत दान से युक्त, बहुत रूप वाले, उदर में स्थित, बुद्धिशाली सोमसदृश हे क्लेदन रूप गर्भ, तुम गर्भ की महिमा को भुवनसमूह एक ब्रह्मवाचक अक्षर वाली, दो पद युक्त कर्म और उपासना से प्राप्त होने वाली, तीनों वेदों से प्राप्त होने वाली, चारों आश्रमों से प्राप्त होने वाली, चार वर्ण और चार आश्रम के अष्टांग योगरूप आठ पदों से युक्त कर विख्यात करो । उसको पाने के लिये यह श्रेष्ठ आहुति दी गई है ॥ ३० ॥

भाष्यसार—'पुरुदस्मः' इस मन्त्र से स्विष्टकृद् याग के अनन्तर आहुति प्रदान की जाती है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।१०।१३) में उल्लिखित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—प्रबोधात्मक शिशु ब्रह्मप्रापक होने के कारण बहुप्रद है, बहुरूप है, अर्थात् इसके 'तत् त्वम्' पदों के वाच्य, लक्ष्य आदि अनेक रूप हैं । चन्द्रमा की भाँति अत्यन्त आह्लादकारी है । बुद्धि के गर्भ में अवस्थित है । महान् सौभाग्य को अभिव्यक्त करता है तथा बुद्धि को तत्त्वान्वेषण के लिये प्रेरित करता है । इस एकपदी, अर्थात् एकमात्र परब्रह्म ही जिसके द्वारा गम्य है, द्विपदी अर्थात् जीव एवं ईश्वर दो वाच्यार्थ जिसके द्वारा गम्य हैं

पदनीयानि यया ताम्। चतुष्पदीं चत्वारो वेदाः पदनीया यया ताम्। अष्टापदीम् अष्टौ सिद्धयः प्राप्तव्या यया ताम्, अष्टापदीम् इत्येवंभूतां गणयित्वा प्रख्यातां कुर्वन्तु। भुवना भुवनानि भूतजातानि।

दयानन्दस्तु—'पुरुर्बहुर्दस्म उपक्षयो दुःखानां यस्मात् सः, विषूणि व्याप्तानि रूपाणि येन सः, इन्दुः परमैश्वर्यकारी, धीरः सर्वव्यवहारध्यानशीलः, गृहस्थो धर्मेण विवाहितायास्त्रिया अन्तः अभ्यन्तरे महिमानं पूज्यं ब्रह्मचर्यजितेन्द्रियत्वादिशुभकर्मसंस्कारजन्यम्, (गर्भम्) आनञ्ज अञ्जयेत् कामयेत्' इति। हिन्दी-भाषायामपि—'हे गृहस्थाः, यूयं सृष्ट्युन्नतिं विधाय यामेकपदीं एकम् ओमिति पदं यस्यां तामेकपदीम्, द्विपदीं द्वे अभ्युदयनिःश्रेयसे सुखे पदे यस्यां ताम्, त्रिपदीं त्रीणि वाङ्मनःशरीरस्थानि सुखानि यस्यां सा ताम्, चतुष्पदीं चत्वारि धर्मार्थकाममोक्षाः पदानि यस्यां ताम्, अष्टापदीं ब्राह्मणादयश्चत्वारो वर्णा ब्रह्मचर्यादयश्चत्वारश्चाश्रमाः पदानि प्राप्तव्यानि यस्यां ताम्। स्वाहा सत्यां सकलविद्यायुतां वाचं विदित्वा भुवनानि गृहाणि प्रथन्तां प्रख्यान्तु, तथा सर्वान् मनुष्याननुप्रथन्ताम्' इति, तत्सर्वमेव यत्किञ्चित्, पुरुदस्मादीनि गृहस्थस्य विशेषणानीत्यत्र मानाभावात्, विशेषणानामन्यत्रापि सङ्गतेः। एवमेव एकपदीत्यादीन्यपि वाचो विशेषणानीत्यपि निर्मूलम्। सायणादिव्याख्यानं तु शतपथब्राह्मणं सूत्रं चानुसृत्य प्रवर्तते। तेन पूर्वाणि गर्भस्य विशेषणान्युत्तराणि वशाया इति ॥ ३० ॥

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवोविमहसः। स सुगोपातमो जनः ॥ ३१ ॥

'समिष्टयजुरन्ते शामित्र एव जुहुयात् तिष्ठन् मरुत इत्यस्वाहाकृत्येति' (का० श्रौ० २५।१०।१६)। समिष्टयजुर्होमान्ते शामित्राग्नावेव अस्वाहान्तेन मन्त्रेणोष्णीषवेष्टितं गर्भं जुहोति, मन्त्रान्ते स्वाहाकारमनुच्चार्य जुहुयादित्यर्थः। मारुती गायत्री गोतमदृष्टा। हे दिवोविमहसः, द्युलोकस्य सम्बन्धिना विशिष्टेन महसा तेजसा युक्ता हे मरुतः, यद्वा विशिष्टं पूजयन्ति ते विमहसः, द्युलोकस्य सम्बन्धिनः पूजयितारो हे मरुतः! यूयं यस्य यजमानस्य क्षये यज्ञगृहे पाथा पानं कुरुथ। 'पा पाने' इति धातोः शपो लुक्, पिबादेशाभावश्च छान्दसः, संहितायां दीर्घः। यस्मादेवं तस्मात् स यजमानाख्यो जनः सुगोपातमः सुगोपृतमो भवति। युष्मद्युक्तानामकुतोभयत्वेन परमबलवत्त्वात्, यद्वा सुगुप्ततमः शोभनो गोपा रक्षको यस्य सः।

तथा उसके साधन के रूप में दम, दया, दान जिसके द्वारा गम्य हैं, त्रिपदी अर्थात् सत्त्व, रज तथा तम तीन गुण जिसके द्वारा गम्य हैं, चतुष्पदी अर्थात् चार वेद जिसके द्वारा गम्य हैं, अष्टापदी अर्थात् आठों सिद्धियाँ जिसके द्वारा गम्य हैं, इस प्रकार की बुद्धि को संकलित करके सम्पूर्ण भूतप्राणी प्रख्यात करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या में 'पुरुदस्म' इत्यादि पदों को गृहस्थ के विशेषण के रूप में प्रयोग करने में कोई प्रमाण न होने के कारण असंगति है। इसी प्रकार 'एकपदी' इत्यादि वाणी के विशेषण हैं, यह मानना भी निर्मूल है। सायणाचार्य आदि को व्याख्या शतपथ ब्राह्मण तथा सूत्र के अनुसार हैं। तदनुसार पूर्ववर्ती पद गर्भ के विशेषण हैं तथा उत्तरवर्ती वशा के विशेषण हैं ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक सम्बन्धी विशिष्ट तेज से युक्त हे मरुत् देवता, आपने जिस यजमान के यज्ञस्थान में सोमपान किया, उसकी आप निश्चय ही बहुत काल तक रक्षा करते रहेंगे ॥ ३१ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।१०।१६) के अनुसार 'मरुतो यस्य' इस ऋचा के द्वारा समिष्ट यजुर्होम के

अत्रैव शतपथे—'स हुत्वैव समिष्टयजूꣳषि। प्रथमावशान्तेष्वङ्गारेष्वेतꣳ सोष्णीषं गर्भमादत्ते तं प्राङ्तिष्ठन् जुहोति मारुत्यर्चा मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवोविमहसः। स सुगोपातमो जन इति न स्वाहाकरोत्यहुतादो वै देवानां मरुतो विडहुतमिवैतद्यदस्वाहाकृतं देवानां वै मरुतस्तदेनं मरुत्स्वेव प्रतिष्ठापयति' (श० ४।५।२।१७)। समिष्टयजुर्होमानन्तरमेवोक्तमन्त्रेण हुत्वा मरुत्स्वेव प्रतिष्ठापयति।

अध्यात्मपक्षे—हे मरुतः, प्राणवन्तो हनुमत्प्रभृतयः, दिवो द्युलोकसम्बन्धिना विशिष्टेन महसा युक्ताः, दिवः स्वप्रकाशस्य परमात्मनो विमहसो विशेषेण पूजयितारः, यूयं यस्य यजमानस्यार्चकस्य भक्तस्य क्षये यज्ञगृहे हृदयभवने वा, पाथा सोमपानं कुरुथ, प्रेमरसपरिप्लुतं पत्रपुष्पफलादिनैवेद्यं स्वीकुरुथ, हि निश्चयेन, स जनः पूजकः सुगोपातमः। गोपायतीति गोपा रक्षकः, सुष्ठु अत्यन्तशोभनो गोपातमो रक्षको यस्य सः, युष्मद्गुप्तानां न भयमस्तीति। 'त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो' (भा० पु० १०।२।३३) इति श्रीमद्भागवतवचनात्।

स्वामिदयानन्दस्तु—हे कृतविवाहा विमहसो विविधतया पूजनीया मरुत ऋत्विजो गृहस्थाः, यूयं यस्य गृहस्थस्य क्षये गृहे हिरण्यानि सुरूपाणि दिवो दिव्या गुणाः स्वभावाः क्रिया वा पाथा प्राप्नुत, स हि सुगोपातमो जनः शोभनधर्मेण गां पृथिवीं वाचं च पाति, सोऽतिशयितः सुगोपातमो जनः प्रसिद्धः' इति, तदपि न, नैरर्थक्यात्॥ ३१॥

म॒ही द्यौः पृ॑थि॒वी च॑ न इ॒मं य॒ज्ञं मि॑मिक्षताम्। पि॒पृ॒तां नो॒ भरी॑मभिः॥ ३२॥

'मही द्यौरित्यङ्गारैरभ्यूहतीति' (का० श्रौ० २५।१०।१६)। शामित्रे क्षिप्तं गर्भमङ्गारैश्छादयेत्। द्यावापृथिवीदेवत्या गायत्री, मेधातिथेरार्षम्। मही महती द्यौः पृथिवी च द्युलोको भूलोकश्च, नोऽस्माकमिमं यज्ञं मिमिक्षतां सिञ्चतु, सेक्तुमिच्छतां वा। भरीमभिर्भरणैर्हिरण्यपशुधान्यादिभिरस्मान् अस्मदीयं गृहं वा स्वैः स्वैः भागैः पिपृतां परिपूरयतु। इत्यग्निष्टोममन्त्राः।

शतपथे—'अथाङ्गारैरभिसमूहति। मही द्यौः····पिपृतां नो भरीमभिरिति' (श० ४।५।२।१८)।

अनन्तर स्वाहाकाररहित आहुति शामित्र अग्नि में प्रदान की जाती है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे प्राणवान् हनुमान् आदि, द्युलोक से सम्बद्ध विशिष्ट बल से युक्त, स्वप्रकाश परमात्मा के विशेष उपासक, आप लोग जिस पूजक यजमान भक्त के यज्ञगृह में अथवा हृदय-सदन में सोमपान करते हैं, प्रेमरस से परिप्लुत पत्र-पुष्प-फल आदि नैवेद्य को स्वीकार करते हैं, निश्चय ही वह अर्चक व्यक्ति अत्यन्त श्रेष्ठ रक्षा से युक्त होता है। श्रीमद्भागवत (१०।२।३३) के वचनानुसार आपसे संरक्षित जनों को कोई भय नहीं होता।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्यान सार्थकता से रहित होने के कारण अग्राह्य है॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—यह विस्तृत द्युलोक और भूलोक हमारे इस यज्ञ को अपने-अपने भागों से पूर्ण करें, कृपारूपी जल की वर्षा करें, हिरण्य, धनधान्य, पशु, प्रजा आदि सभी अभीष्ट वस्तुओं से हमारे घर को पूर्ण करें॥ ३२॥

भाष्यसार—'मही द्यौः' इस ऋचा के द्वारा पूर्व प्रदत्त हवि को अंगारों से ढका जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।१०।१६) में प्रतिपादित है। इस ऋचा तक अग्निष्टोम के मन्त्र पूर्ण हो गये। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—मही महीरूपा उमा, 'महीस्वरूपेण यतः स्थितासि' (सप्त० ११।३) इति वचनात्, द्यौः स्वप्रकाशमानरूपः शिवः, इममुपासनालक्षणं यज्ञमर्चनं मिमिक्षतां कृपासुधावृष्ट्या सेक्तुमिच्छताम्। नोऽस्मान् भक्तान् भरीमभिर्भरणैर्हिरण्यरत्नादिभिर्लौकिकैः, ज्ञानविज्ञानवैराग्यादिभिश्च पिपृतां परिपूरयताम्।

दयानन्दस्तु—हे दम्पती, भवन्तौ मही द्यौर्महान् प्रकाशः प्रकाशमानः पतिर्मही पृथिवी स्त्री च युवां भरीमभिर्धारणपोषणादिगुणयुक्तैर्व्यवहारैः पदार्थैर्वा सह नोऽस्माकमन्येषां चेमं यज्ञं विद्वत्पूज्यं गृहाश्रमं मिमिक्षतां सुखैः सेक्तुमिच्छताम्, पिपृतां पिपूर्तः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्य स्वाभ्यूहितत्वेन वेदबाह्यत्वात्। मही दिव्याकृतिः पुरुष इत्यपि निर्मूलमेव। पृथिवी विस्तृतशीला क्षमा धारणादिशक्तिमती स्त्री चेत्यपि गौणार्थाश्रयणमेव। यज्ञं विद्वत्पूज्यं गृहाश्रममिति च काल्पनिकमेव ॥ ३२ ॥

आतिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी। अर्वाचीनꣳ सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३३ ॥

अथ षोडशी। 'अग्ने पवस्व' (वा० सं० ८।३८) इत्यस्मात् प्राक् तिस्र ऐन्द्र्योऽनुष्टुभः। 'प्रातःसवनेऽतिग्राह्यान् गृहीत्वा षोडशिनं खादिरेण चतुःस्रक्तिनातिष्ठ युक्ष्वा हीति वा' इति (का० श्रौ० १२।५।२)। षोडशं स्तोत्रमस्यास्तीति षोडशी, पृष्ठ्यस्य चतुर्थेऽहनि षोडशिनो ग्रहणकालः। प्रातःसवने आग्रयणग्रहणानन्तरमाग्नेयमतिग्राह्यमादाय चतुष्कोणेन खादिरोलूखलेनातिष्ठ युक्ष्वा हीति मन्त्रयोरन्यतरेण सोपयामेन षोडशिग्रहं गृह्णीयात्। अत्रातिग्राह्यस्यैकत्वेऽपि बहुवचनं विश्वजिदर्थम्। विश्वजिति हि त्रयाणां ग्रहणमुक्तम्। इन्द्रदेवत्यानुष्टुप्, गोतमदृष्टा। हे वृत्रहन्, वृत्राख्यस्यासुरस्य हन्तः! ते तव हरी हरितवर्णौ अश्वौ ब्रह्मणा त्रयीलक्षणेन इन्द्रागच्छेत्यादिमन्त्रेण युक्ता रथे संयुक्तौ, अतस्त्वं रथमातिष्ठ अधितिष्ठ आरोह। तौ हीन्द्रस्याह्वानान्युपश्रुत्य प्राप्त आवयोर्नियोजनकाल इति मन्यमानौ स्वयमेवात्मानं रथे युञ्जाते। अथेदानीं रथारूढस्य ते सु साधु मनः, हे

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—सप्तशती (११।३) आदि के अनुसार पृथ्वीरूपिणी उमा भगवती तथा स्वप्रकाशमानरूप भगवान् शिव इस उपासनारूपी यज्ञार्चन को कृपामृत की वृष्टि के द्वारा सिंचित करने की इच्छा करें। हम भक्तों को स्वर्ण, रत्न आदि लौकिक तथा ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य आदि भरणीय पदार्थों से परिपूर्ण करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ इस प्रकार का सम्बोधन स्वेच्छा से कल्पित किये जाने से वेद के शब्दों से बहिर्भूत होने के कारण अग्राह्य है। मही का अर्थ 'दिव्याकृति पुरुष' करना भी निर्मूल है। 'पृथिवी क्षमा-धारणादि शक्ति से युक्त स्त्री' यह भी गौण अर्थ का आश्रयण ही है। यज्ञ का 'विद्वत्पूज्य गृहाश्रम' अर्थ करना भी काल्पनिक ही है ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे वृत्रघाती इन्द्र, आपके हरित वर्ण वाले दोनों अश्व तीनों वेदों के 'इन्द्रागच्छ' आदि मन्त्रों से रथ में जोते गये हैं, अतः आप रथ पर बैठिये। सोमाभिषव में व्यवहार को प्राप्त हुआ यह पाषाण आपके मन को सोमाभिषव की वाणी द्वारा यज्ञाभिमुख करे। हे नवम ग्रह सोम, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। सोलह स्तोत्र वाले षोडशी याग में आहूत **इन्द्र देवता के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह, यह तुम्हारा स्थान है, षोडशी याग में आहूत इन्द्र देवता के निमित्त तुमको पुनः ग्रहण करता हूँ ॥ ३३ ॥**

भाष्यसार—'आतिष्ठ' इस ऋचा के द्वारा षोडशी नामक ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग

इन्द्र ग्रावा सोमाभिषवसाधनभूतः पाषाणोऽर्वाचीनमस्मदभिमुखं कृणोतु, सुतरां वा कृणोतु। केन? वग्नुना सोमाभिषवध्वनिना। वग्नुरिति वाङ्नामसु पठितम् (निघ० १।११।२५)। हे सोम त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। षोडशिन इन्द्राय षोडशस्तोत्रवत इन्द्राय त्वां गृह्णामीति शेषः। एष ते योनिः स्थानम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'इन्द्रो ह वै षोडशी। तं नु सकृदिन्द्रं भूतान्यत्यरिच्यन्त प्रजा वै भूतानि ता हैनेन सदृग्भवमिवासुः' (श० ४।५।३।१)। षोडशीति ज्योतिष्टोमो ग्रहः काम्यो विधीयते, तदर्थमितिहासोपन्यासः। इन्द्रो देवराजः, षोडशावयववशाकर्षणश्चक्षुः षोडशः, सोऽस्यास्तीति षोडशी। योऽयं षोडशीन्द्रस्तं नु इन्द्रं प्राग् भूतानि तान्येवेच्छाकामाय अत्यरिच्यन्त ज्ञानैश्वर्यप्रभावैः। प्रजा वै भूतानि ताः प्रजा एनेन इन्द्रेण सदृग्भवमासुः सदृश्यो भूत्वा आसुः स्थिताः। 'इन्द्रो ह वा ईक्षाञ्चक्रे। कथं न्वहमिदꣳ सर्वमतितिष्ठेयमर्वागेव मदिदꣳ सर्वꣳ स्यादिति स एतं ग्रहमपश्यत् तमगृह्णीत स इदꣳ सर्वमेवात्यतिष्ठदर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वमभवत् सर्वꣳ ह वा इदमतितिष्ठत्यर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वं भवति यस्यैवं विदुष एतं ग्रहं गृह्णन्ति' (श० ४।५।३।२)। स एतं ग्रहमपश्यत्तमगृह्णीत, यदस्मादिन्द्रात् कर्मविद्याभावनाभिर्निकृष्टं तत्सर्वमतिक्रम्य अतिष्ठत्। यस्यैव विदुष एतं ग्रहं गृह्णन्ति स इदं सर्वमतिक्रम्य तिष्ठतीति फलवचनम्। 'तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तम्। न ते महित्वमनुभूदध द्यौर्यदन्यया स्फिग्या क्षामवस्था इति न ह वा अस्यासौ द्यौरन्यतरां च न स्फिगीमनुबभूव तथेदꣳ सर्वमेवात्यतिष्ठदर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वमभवत्····यस्यैवं विदुष एतं ग्रहं गृह्णन्ति' (श० ४।५।३।३)। मन्त्रेणैतदिन्द्रस्याधिष्ठातृत्वमभ्यनूक्तम्। इहाप्युच्यते—हे भगवन्निन्द्र, विजानतो बहूनि जातानि मरुदादीनि यस्य तव महित्वं नानुभवति, द्यौरधो न ह वा अस्यासौ द्यौरन्यतरां च न स्फिगीमनुबभूव, तमपि प्रदेशमुन्नततया द्यौर्न प्राप्तेत्यर्थः। एवमिन्द्रोऽत्यतिष्ठत्।

'तं वै हरिवत्यर्चा गृह्णाति। हरिवतीषु स्तुवते हरिवतीरनुशꣳसन्ति वीर्यं वै हर इन्द्रोऽसुराणाꣳ सपत्नानाꣳ समवृङ्क्त तथो एवैष एतद्वीर्यꣳ हरः सपत्नानाꣳ संवृङ्क्ते····' (श० ४।५।३।४)। 'तं वा अनुष्टुभा गृह्णाति····' (श० ४।५।३।५)। 'तं वै चतुःस्रक्तिना पात्रेण गृह्णाति। त्रयो वा इमे लोकास्तदिमानेव लोकांस्तिसृभिः स्रक्तिभिराप्नोत्येवैनं चतुर्थ्या स्रक्त्या रेचयति तस्माच्चतुःस्रक्तिना पात्रेण गृह्णाति' (श० ४।५।३।६)। 'तं वै प्रातःसवने गृह्णीयात्। आग्रयणं गृहीत्वा स प्रातःसवने गृहीत एतस्मात्कालादुपशेते तदेनꣳ सर्वाणि सवनान्यतिरेचयति' (श० ४।५।३।७)। इमान्येव श्रौतानि वचनान्यनुरुद्ध्य कात्यायनस्तदनुसारिणः सायणादयश्च मन्त्रमिमं व्याख्यातवन्तः। 'अथातो गृह्णात्येव। आतिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता····षोडशिन इति' (श० ४।५।३।९)।

अध्यात्मपक्षे—हे वृत्रहन्, वृत्रमावरकमज्ञानं हतवानिति वृत्रहा, तत्सम्बुद्धौ हे वृत्रहन्, ते तव हरी हरितवर्णौ अश्वौ, ब्रह्मणा वेदेन मन्त्रेणेत्यर्थः, युक्तौ रथे संयुक्तौ, अतस्त्वं तादृशं रथमातिष्ठ। रथारूढस्य ते तव मनो ग्रावा सोमाभिषवपाषाणो वग्नुना सोमाभिषवध्वनिनाऽर्वाचीनमस्मदभिमुखं सुष्ठु कृणोतु। एतेन

कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।५।२) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण के वचनों के अनुसार कात्यायन तथा उनके अनुयायी सायण आदि आचार्यों ने इस मन्त्र की व्याख्या की है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—आवरणकर्ता अज्ञानात्मक वृत्र को विनष्ट करने वाले हे वृत्रहन्ता, आपके हरित वर्ण के दो अश्व वेद-मन्त्रों से रथ में संयुक्त हैं, अतः इस प्रकार के रथ पर आप प्रतिष्ठित होइये। रथारूढ आपके चित्त को सोमकुट्टन का प्रस्तर खण्ड सोमाभिषव की ध्वनि के द्वारा भली-भाँति हमारे अभिमुख करे। इससे

सर्वेश्वरो भक्तानामाह्वानेन भक्तकृतार्चाग्रहणाय विग्रहवान् भूत्वा भक्तपूजास्थानं मायामयाभ्यां कल्पिताभ्यामश्वाभ्यां युक्तं मायामयं रथमारुह्यागच्छति। भगवतः समर्चनसाधनदिव्यनैवेद्यनिर्माणव्यापृतपाषाणादिध्वनिना तन्मनोऽर्चकाभिमुखं च भवति। हे सोम, निवेदनीयद्रव्य! त्वमुपयामगृहीतोऽसि। षोडशिने षोडशकलायुक्तायेन्द्राय परमेश्वराय त्वां गृह्णामि। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिरासादनस्थानम्, षोडशिने त्वां समर्पयामि।

अत्र दयानन्दः—'हे वृत्रहन्, ग्रावा मेघ इव सुखवर्षिता गृहस्थोऽसि। ते तव यत्र रथं रथे रमणीयं विद्याप्रकाशमयं गृहाश्रमं यानं वा ब्रह्मणा जलेन धनेन वा हरी हरणशीलौ धारणाकर्षणगुणाविवाश्वौ युक्ता युक्तौ, तं त्वमातिष्ठ। अस्मिन् गृहाश्रमे ते तव यन्मनोऽर्वाचीनमधोगामि अनुकृष्टगति जायते, तद् वग्नुना वेदवाचा भवान् शान्तः सुकृणोतु। यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि षोडशिने षोडश कला विद्यन्ते यस्मिन् तस्मै इन्द्राय ऐश्वर्यप्रदाय गृहाय त्वामुपदिशामि। हे गृहाश्रममभीप्सो! ते तव एष गृहाश्रमो योनिर्गृहमस्ति, षोडशिन इन्द्राय त्वां नियुनज्मि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वृत्रहन्निति पदेन गृहस्थार्थबोधने प्रमाणाभावात्, शत्रुहन्तृत्वस्य सिंहादिपशूनामपि सम्भवात्, योद्धृणामपि सम्बोधनसम्भवाच्च। रथपदस्य रमणीयगृहाश्रमपरत्वकल्पनमपि बलात्कार एव। तथैव षोडशिपदं गृहाश्रमपरमित्यपि निर्मूलम्, कलानां व्यक्तिनिष्ठत्वात्॥ ३३॥

यु॒क्ष्वा हि केशि॒ना हरी॒ वृष॑णा कक्ष्य॒प्रा। अथा॑ न इन्द्र सोमपा गि॒रामुप॑श्रुतिं चर। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा षोड॒शिन॑ ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा षोड॒शिने॑॥ ३४॥

द्वितीयोऽयं षोडशिग्रहग्रहणमन्त्रः। इन्द्रदेवत्याऽनुष्टुब् मधुच्छन्दोदृष्टा। हे इन्द्र, हि निश्चयेन, केशिना केशिनौ प्रलम्बकेसरौ हरी हरितवर्णौ अश्वौ वृषणा सेक्तारौ तरुणौ कक्ष्यप्रा कक्ष्यप्रौ स्थूलावयवौ युक्ष्वा युङ्धि रथेन योजय, कक्षे भवा कक्ष्याऽश्वसन्नाहरज्जुः। कक्ष्यां प्रातः पूरयत इति कक्ष्यप्रौ। अथ समनन्तरमेव रथारोहणानन्तरं हे इन्द्र, सोमपाः सोमपानशीलः, गिरामुपश्रुतिं चर, स्तुतिलक्षणां गिरं वाचमुपश्रुत्य चर

सर्वेश्वर प्रभु भक्तों के आह्वान के द्वारा भक्तों द्वारा की गई अर्चना को स्वीकार करने के लिये मूर्तिमान् होकर भक्त की पूजास्थली में मायामय कल्पित अश्वों से युक्त मायामय रथ पर आरूढ होकर आते हैं। भगवान् की पूजा के साधन दिव्य नैवेद्य के निर्माण में लगे हुए पाषाण आदि की ध्वनि से उनका मन उपासक की ओर अभिमुख होता है। हे निवेदनीय द्रव्य, तुम प्रेम से संगृहीत हो। षोडश कलाओं से युक्त परमेश्वर के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह पूजास्थान तुम्हारा स्थापन-प्रदेश है, सोलह कलाओं से मण्डित होने के लिये तुमको समर्पित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में 'वृत्रहन्' शब्द से गृहस्थ अर्थ बोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण असंगति है। शत्रुहन्तृत्व तो सिंह आदि पशुओं में भी सम्भव है तथा योद्धाओं का भी यह सम्बोधन हो सकता है। रथ शब्द का अर्थ 'रमणीय गृहाश्रम' करना भी शब्दों से बलात्कार है। इसी प्रकार षोडशी पद गृहस्थाश्रमपरक है, यह कहना भी निर्मूल है, क्योंकि कलाएँ व्यक्तिनिष्ठ होती हैं॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, तुम बहुत लम्बी केशर वाले, तरुण, सेचन में समर्थ, स्थूल अवयव वाले, कक्षा-बन्धन से संयुक्त दोनों अश्वों को दृढ़तापूर्वक निश्चय ही रथ में जोत लो। तदनन्तर सोमपान करते हुए हमारी ऋक् आदि वेद-वाणी को कर्णगोचर करो॥ ३४॥

भाष्यसार—'युक्ष्वा हि' यह ऋचा भी षोडशी ग्रह के ग्रहण में विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक

अस्मद्गृहमागच्छ। यद्वा गिरामस्मदीयानामृग्यजुःसामलक्षणानां वाचामुपश्रुतिमुपश्रवणं चर गच्छ प्राप्नुहि, श्रुत्वा चास्मद्गृहमागच्छेत्यर्थः। अन्यत् पूर्ववत्। 'अनया वा। युक्ष्वाहि ···षोडशिन' (श० ४।५।३।१०)। अत्रानया वेति स्पष्टतया विकल्प उक्तः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, हि निश्चयेनात्रागमनाय हरी हरितवर्णावश्वौ युक्ष्व रथेन योजय। कीदृशौ तौ? केशिना प्रलम्बकेसरौ, वृषणा वर्षितारौ कामपूरकौ, कक्ष्यप्रा स्थूलावयवौ। अथानन्तरं सोमपाः सोमपानशीलः सन् गिरामस्मदीयां स्तुतिलक्षणां वाचमुपश्रुतिं चर वाचमुपश्रुत्य चर आगच्छ। श्रीरामं श्रीकृष्णं विष्णुं वा भक्तः प्रार्थयते। देवतानां माहाभाग्यात्तद्रूपा एवाश्वरथादयः परिकल्प्यन्ते।

दयानन्दस्तु—'हे सोमपा! ऐश्वर्यरक्षक इन्द्र, शत्रुविदारक सेनाध्यक्ष, त्वं केशिना प्रशस्तकेशवन्तौ, वृषणा वृषवद्बलिष्ठौ, कक्ष्यप्रा अभीष्टदेशप्रापकौ, हरो यानस्य हरणशीलौ हरी, रथे युक्ष्व। अथेत्यनन्तरं नोऽस्माकं गिरां वाचमुपश्रुतिमुपगतां श्रूयमाणां चर विजानीहि। अन्यत् पूर्ववत्' इति, तदपि विसङ्गतमेव, इन्द्रपदस्य सेनाध्यक्षार्थत्वे मानाभावात्। हिन्दीभाष्ये—'षोडशिने षोडशकलापरिपूर्णाय इन्द्राय परमैश्वर्यप्रदाय गृहाश्रमाय त्वामाज्ञापयामि' इत्युक्तम्, तत्तु निरर्थकमेव, सेनाध्यक्षाय कस्तादृशीमाज्ञां ददाति? कश्च कस्य तेन लाभः? कथं च सङ्गतिरित्यादिकं चिन्त्यमेव ॥ ३४ ॥

इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३५ ॥

षोडशिग्रहग्रहणे तृतीयो मन्त्रविकल्पः। इन्द्रदेवत्याऽनुष्टुप्। हरी हरितवर्णौ अश्वौ, ऋषीणां वशिष्ठादीनां स्तुतीरुप समीप इन्द्रमेव वहतः प्रापयतः। मानुषाणां च यजमानानां यज्ञमुप यज्ञसमीपे हरी इन्द्रं वहतः। किं भूतमिन्द्रम्? अप्रतिधृष्टशवसम्, प्रतिधर्षयितुं पराभवितुं शक्यं प्रतिधृष्टम्, न प्रतिधृष्टमप्रतिधृष्टम्, अप्रतिधृष्टं

प्रक्रिया के अन्तर्गत षोडशी ग्रह के ग्रहण में स्पष्टतः विकल्प से इसका विनियोग निरूपित है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, निश्चय ही यहाँ आने के लिये हरित वर्ण के अश्वों को रथ में संयुक्त कीजिये। वे अश्व दीर्घ केशों वाले, कामनाओं को पूर्ण करने वाले तथा पुष्ट अंगों से युक्त हैं। तदनन्तर आप सोमपानशील होते हुए हमारी स्तुत्यात्मिका वाणी को सुन कर आगमन करें। इस प्रकार भक्त श्रीराम, श्रीकृष्ण अथवा विष्णु से प्रार्थना करता है। देवताओं के महान् ऐश्वर्य के कारण अश्व, रथ आदि भी तद्रूप ही परिकल्पित किये जाते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्या में इन्द्र शब्द के 'सेनाध्यक्ष' अर्थ में कोई प्रमाण न होने के कारण विसंगति है। हिन्दी भाष्य में भी सेनाध्यक्ष को उस प्रकार की आज्ञा कौन देता है? उससे उसका क्या लाभ है? इसकी संगति कैसे होगी? यह सब चिन्ता के योग्य हैं ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हरित वर्ण के दोनों अश्व अप्रतिहत बल वाले इन्द्र देवता को ऋषियों के द्वारा की गई स्तुति को सुनाने के लिये उनके समीप ले जाते हैं और यजमानों के यज्ञ के समीप भी इन्द्र को पहुँचाते हैं ॥ ३५ ॥

भाष्यसार—'इन्द्रमिद्' यह ऋचा भी याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत षोडशी ग्रह के ग्रहण में तृतीय विकल्प के

शवो बलं यस्य तं तथोक्तम्। 'ऋक्सामे वै हरी' (श० ४।४।३।६) इति श्रुत्या द्विवचनान्तहरिशब्दस्य ऋक्सामवाचकत्वात् सर्वत्र नानावर्णछन्दोमये ऋक्सामे वा ग्राह्ये, 'पशवो वै देवानां छन्दाᳬसि' (श० ४।४।३।१) इति श्रुतेः। हरितवर्णौ शक्राश्वौ।

अध्यात्मपक्षे—हरी, हरत इति हरी, हरणशीलावश्वाविव भक्तानां भगवदाकर्षकौ श्रद्धाविश्वासौ, उत्साहानुरागौ वा, ऋषीणां स्तुतीरूप ऋषिकल्पानां भक्तानां स्तुतिसमीपे इन्द्रमित भगवन्तमेव वहतः प्रापयतः। मानुषाणामुपासकानां यज्ञमुप यज्ञसमीपे च तमेव वहतः। कीदृशमिन्द्रम्? अप्रतिधृष्टशवसम् अप्रतिधृष्टबलम्, तादृशमपि तौ वहत इत्यभिप्रायः।

दयानन्दस्तु—'हे सोमपाः! ऐश्वर्यरक्षक इन्द्र, शत्रुनाशकसभाध्यक्ष, त्वं षोडशिन इन्द्राय यौ हरी सुशिक्षितावश्वा अप्रतिधृष्टशवसं प्रतिधृष्टं प्रगल्भं शवो बलं येन तद्रहितमिन्द्रमित इन्द्रमेव वहतः। ताभ्यामृषीणां चाद् वीराणां स्तुतीर्मानुषाणां च यज्ञसंगमनीयं व्यवहारं चात् पालनमुपचर' इति, हिन्दीभाष्ये तु—'हे इन्द्र सोमपाः, षोडशकलायुक्तायोत्तमैश्वर्याय यौ सुशिक्षितावश्वौ, येन सम्यक् स्वबलं वर्धितं तमिन्द्रं परमैश्वर्यवृद्धये सेनारक्षकं सेनाध्यक्षं च वहतः, ताभ्यां युक्तो वेदमन्त्रज्ञानां विदुषां वीराणां च स्तुतीर्गुणज्ञानं साधारणजनानां सङ्गमयोग्यं व्यवहारं तत्पालनं च कुरु समीपं च प्राप्नुहि। यस्य ते एष योनिर्निमित्तं राज्यधर्मः, यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, सर्वसामग्रीयुक्तोऽसि, तं त्वा षोडशिन इन्द्राय प्रजा आश्रयेरन् वयं चाश्रयेम' इति, तत्सर्वं यत्किञ्चित्, सङ्गतिवैधुर्यात्। व्यक्तिविशेषाणां व्यवहारवर्णने वेदानामनित्यत्वापत्तेः। कोऽयमीदृशः सभाध्यक्षः क्वासीत्? कश्चैनं सम्बोधयति? कौ च तावश्वौ सुशिक्षितौ? तं च क्व नयतः? तयोश्च विदुषां वीराणां च गुणज्ञाने साधारणजनव्यवहारे तत्पालने च क उपयोगः? इत्यादिप्रश्नानामशक्यनिरूपणत्वात्, विप्रकृष्टगौणार्थाश्रयणस्य दूषणत्वाच्च ॥ ३५ ॥

यस्मा॒न्न जा॒तः परो॑ अ॒न्यो अस्ति॒ य आ॑वि॒वेश॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑। प्र॒जाप॑तिः प्र॒जया॑ सᳬर॒राणस्त्रीणि॒ ज्योती॑ᳬषि सचते॒ स षो॑ड॒शी ॥ ३६ ॥

रूप में विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र की अर्थसंगति इस प्रकार है—हरणशील अश्वों की भाँति भगवान् के आकर्षक श्रद्धा तथा विश्वास अथवा उत्साह एवं अनुराग दोनों ऋषिकल्प भक्तों की स्तुति के समीप भगवान् को ही पहुँचाते हैं। उपासकों के यज्ञ के समीप भी उनको ही लाते हैं। ऐसे अधर्षणीय बलशाली उनको भी वे ले आते हैं, यह अभिप्राय है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित संस्कृत तथा हिन्दी अर्थ संगतिविहीन होने के कारण अग्राह्य है। व्यक्तिविशेष आदि का व्यवहार वर्णित होने पर वेदों की अनित्यता भी संभावित हो जाती है। इस प्रकार का वर्णित कौन सभाध्यक्ष कहाँ था? इसको कौन सम्बोधित करता है? वे कौन से सुशिक्षित घोड़े हैं और उसको कहाँ ले जाते हैं? विद्वानों तथा वीरों के गुणज्ञान में, जनसामान्य के व्यवहार में तथा उसके पालन में उन दोनों का क्या उपयोग है? इत्यादि अनेक प्रश्नों का समाधान असम्भव है। दूरवर्ती गौण अर्थ के आश्रयण का दोष भी इसमें है ॥ ३५ ॥

'उपस्थायैनं यस्मान्न जात इति' (का० श्रौ० १२।५।२०)। यस्मान्न जात इति षोडशिग्रहमुपतिष्ठेत्। इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप्। अत्र षोडशी परब्रह्मरूपेण स्तूयते। यस्मादन्यः पर उत्कृष्टो देवादिर्न जातो नोत्पन्न, अस्ति विद्यते। यो विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि आविवेश अन्तर्यामिरूपेण प्रवेशं कृतवान्, 'यः सर्वभूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति' (बृ० उ० ३।७।१४), स प्रजापतिः स्वस्मादुत्पन्नसमस्तप्रजानां पतिः पालकः प्रजया संरराणः स्वोत्पन्नप्रजाभिः सम्यग् रममाणः क्रीडन् त्रीणि ज्योतींष्यग्निवायुसूर्यलक्षणानि तेजांसि स्वस्वविषय-प्रकाशकानि सचते सेवते, स्वतेजसा तेषामुज्जीवनं करोति, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७), 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० उ० २।२।१०) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा षोडशी षोडशकलात्मकलिङ्गशरीरोपहितः। यद्वा प्रश्नोपनिषदुक्ताः षोडशकलाः सन्त्यस्मिन्निति षोडशी। ताश्च— प्राणः (१), श्रद्धा (२), आकाशः (३), वायुः (४), ज्योतिः (५), आपः (६), पृथिवी (७), इन्द्रियम् (८), मनः (९), अन्नम् (१०), वीर्यम् (११), तपः (१२), मन्त्राः (१३), कर्म (१४), लोकाः (१५), नाम (१६) चेति।

अध्यात्मपक्षे –यस्मात् परमेश्वरादन्यः कश्चिदपि देवादिरन्यो वा न जातो विद्यते, यश्च विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि चेतनाचेतनात्मकान्याविवेश, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० उ० २।६) इति श्रुतेः, यश्च प्रजापतिः सर्वप्रपञ्चस्वामी प्रजया संरराणः प्रजारूपेण क्रीडमानः, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ० ३।१४।१) इति श्रुतेः, त्रीण्यग्निवाय्वादित्यात्मकानि सचते तेषु शक्तिप्रदातृत्वेन समवैति, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० उ० २।२।१०) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'यस्मात् परोऽन्यो न जातोऽस्ति, यो विश्वा भुवनानि आविवेश, स प्रजापतिः प्रजया संरराणः सम्यग्दानशीलः षोडशी, त्रीणि ज्योतींषि सूर्यविद्युदग्न्याख्यानि सचते सर्वेषु समवैति' इति, तदपि न युक्तम्, समवायस्य नित्यत्वेनान्यकर्तृकत्वायोगात् ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—जिस पुरुष से बढ़ कर दूसरा कोई उत्कृष्ट नहीं है, जो सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों में अन्तर्यामी के रूप में प्रविष्ट है, वह सोलह कला वाले लिंग शरीर से उपहित, जगत् का स्वामी, प्रजा के रूप में सम्यक् रमण करता हुआ प्रजा के पालन के लिये अग्नि, वायु और सूर्य नामक तेजों को अपने तेज से भर देता है ॥ ३६ ॥

भाष्यसार—'यस्मान्न' इस ऋचा के द्वारा षोडशी ग्रह का उपस्थान किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।५।२०) में निरूपित है। याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत इस मन्त्र में षोडशी की ही परब्रह्म के रूप में स्तुति है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—जिस परमेश्वर से अतिरिक्त कोई भी देव आदि उत्पन्न नहीं हुआ है और जो सम्पूर्ण जडचेतनात्मक भूतसमूह में प्रविष्ट है, वह प्रजापति समस्त सृष्टिप्रपञ्च का स्वामी प्रजा के रूप से क्रीडा करता है। अग्नि, वायु तथा आदित्य रूपी तीनों ज्योतियों में शक्तिप्रदाता के रूप से वह समन्वित रहता है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि समवाय नित्य होने के कारण उसका अन्यकर्तृक होना असंगत है ॥ ३६ ॥

इन्द्र॑श्च स॒म्राड् वरु॑णश्च॒ राजा॒ तौ ते॑ भ॒क्षं च॑क्रतु॒रग्र॑ ए॒तम् । तयो॑र॒हमनु॑ भ॒क्षं भ॑क्षयामि॒ वाग्दे॒वी जु॑षा॒णा सोम॑स्य तृप्यतु स॒ह प्रा॒णेन॒ स्वाहा॑ ॥ ३७ ॥

इन्द्रश्च समाडिति भक्षणम्, षोडशिग्रहगतं सोमं भक्षयेत् । इन्द्रवरुणदेवत्या षोडशिदेवत्या वा त्रिष्टुब् यजुरन्ता । अन्त्यपादौ द्वादशार्णौ । सह प्राणेनेति यजुः । विवस्वत आर्षम् । हे षोडशिग्रह ! इन्द्रश्च सम्राड् यो वाजपेययाजी, वरुणश्च राजा यो राजसूययाजी, 'राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति सम्राड् वाजपेयेन' (श० ५।१।१।१३) इति श्रुतेः । ताविन्द्रवरुणौ द्वौ देवौ ते तवैतं सोमं भक्षं चक्रतुः कृतवन्तौ, अग्रे प्रथमम् । तयोः सम्बन्धिनं भक्षमनुकुर्वन्नहं भक्षयामि सोमं पिबामि । मदीयेन भक्षेण जुषाणा सेवमाना वाग्देवी सरस्वती प्राणेन प्राणदेवतया सह सोमस्य सोमेन तृप्यतु तृप्ता भवतु ।

अध्यात्मपक्षे– हे भगवत्प्रसादभूतद्रव्य, इन्द्रश्च सम्राट्, वरुणश्च राजा, तौ प्रसिद्धौ विशिष्टौ देवौ ते तव सम्बन्धि भक्षं प्रसादग्रहणं चक्रतुः । एतं तं भक्षमनुकुर्वन्नहमपि भक्षयामि । मदीयेन भक्षेण वाग्देवी सरस्वती प्राणेन प्राणदेवतया सह सोमस्य सोमेन सोमात्मकेन प्रसादेन तृप्ता भवतु ।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजाजन, य इन्द्रश्च परमैश्वर्ययुतः सम्राट् सम्यग् राजते स चक्रवर्ती वरुणः श्रेष्ठो माण्डलिकः प्रतिमाण्डलिकश्च राजा न्यायादिगुणैः प्रकाशमानः, ते तव प्रजाजनस्य भक्षं भजनं सेवनं चक्रतुः कुर्याताम्, एतं तयो रक्षकयो राज्ञोरहमनु पश्चाद् भक्षं सेवनं भक्षयामि पालयामि, या सोमस्य विद्यैश्वर्यस्य प्राप्तये जुषाणा देवी दिव्या वागस्ति, तथा स्वाहा सत्यया वाचा प्राणेन बलेन सह सर्वो जनस्तृप्यतु' इति, तदपि विसङ्गतमेव, विरुद्धत्वात् । तथाहि राजा न्यायादिगुणैः प्रकाशमान इत्युक्तेः स्वारस्यासङ्गतिः, सम्राजोऽपि न्यायादिगुणैः प्रकाशमानत्वाविशेषात् । न च ताभ्यां प्रजासेवनं क्रियते, तयोः पालकत्वात् । न च पालनमेव सेवनम्, तथात्वे सेवकस्यापि राजत्वव्यपदेशापत्तेः । कश्चायं यस्ताभ्यां कृतस्य सेवनस्य पश्चात् कृतेन सेवनेन पिष्टपेषणं करोति ? श्रुतिविरोधश्च दुर्निवारः, तत्र वाजपेयराजसूययाजिनोरेव सम्राट्त्वराजत्वोक्तेः ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—हे षोडशी ग्रह, सम्यक् प्रकार से प्रकाशमान इन्द्र और वरुण राजा —इन दोनों ने ही तुम्हारे इस सोम का प्रथम भोजन किया था । उस इन्द्र और वरुण सम्बन्धी भक्ष को अब मैं भक्षण करता हूँ । मेरे सेवन से सरस्वती प्राण के साथ सोम द्वारा तृप्त हो । यह आहुति सम्यक् गृहीत हो ॥ ३७ ॥

भाष्यसार—'इन्द्रश्च सम्राट्' इस मन्त्र से षोडशी ग्रहपात्र में स्थित सोम का भक्षण किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इस याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अन्य आचार्यों ने मन्त्र की व्याख्या की है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—भगवान् के प्रसादभूत हे द्रव्य, सम्राट् इन्द्र तथा राजा वरुण इन दोनों विशिष्ट देवताओं ने तुम्हारा प्रसाद ग्रहण किया है । उस भक्षण का अनुकरण करते हुए मैं भी प्रसाद भक्षण करता हूँ । मेरे भक्षण के द्वारा वाग्देवी सरस्वती प्राण देवता के साथ सोमात्मक प्रसाद से तृप्त हो ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है । राजा, अर्थात् 'न्यायादि गुणों से प्रकाशमान' इस प्रकार कथन में कोई तात्पर्य संगत नहीं होता, क्योंकि सम्राट् में भी उसके समान ही न्यायादि गुणों से प्रकाशमानत्व है । उन दोनों के द्वारा प्रजासेवन भी नहीं किया जाता, क्योंकि वे दोनों पालक हैं । पालन ही सेवन है, यह भी अनुचित है । ऐसा मानने पर तो सेवक की भी संज्ञा राजा हो सकती है । वह कौन है, जो उनके द्वारा किये गये सेवन के बाद सेवन के द्वारा पिष्टपेषण करता है ? इस अर्थ में श्रुतिवाक्यों का विरोध तो अपरिहार्य है, क्योंकि श्रुति में वाजपेय तथा राजसूय यागों का अनुष्ठान सम्पन्न करने वाले के लिये ही सम्राट् तथा राजा विशेषण निर्दिष्ट हैं ॥ ३७ ॥

अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषम् ॥ उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चस एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे । अग्ने वर्चस्विन् वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३८ ॥

अथ द्वादशाहमन्त्राः । 'पृष्ठ्यः षडहः प्रथमोऽग्निष्टोमश्चतुर्थः षोडश्युक्थ्या इतरे, तत्रातिग्राह्यग्रहणं त्र्यहे पूर्वेऽग्ने पवस्वोत्तिष्ठन्नदब्धमित्यन्वहमेकैकम्' (का० श्रौ० १२।३।१-२) । 'अग्ने वर्चस्विन्निन्द्रौजिष्ठ सूर्य भ्राजिष्ठेति भक्षणं यजमानैः' (का० श्रौ० १२।३।६) इति । अतिरात्रादनन्तरं षडहः पृष्ठ्यसंज्ञको भवति । षण्णामह्नां समाहारः षडहः । तत्र षडहे प्रथमः क्रतुरग्निष्टोमसंस्थः, चतुर्थः क्रतुः षोडशिसंस्थः । द्वितीयतृतीयपञ्चमषष्ठाः क्रतव उक्थसंस्थाः कार्याः । पृष्ठ्ये षडहे प्रथमद्वितीयतृतीयेष्वहस्सु वैकङ्कतैः पात्रैरतिग्राह्यसंज्ञकान् ग्रहान् गृह्णीयात् । अग्ने पवस्वेति प्रथमे, उत्तिष्ठन्निति द्वितीये, अदब्धमिति तृतीयेऽहन्येकैकं ग्रहं गृह्णाति । इतरग्रहानतिक्रम्य दुष्प्रापं फलं गृह्यत एभिरित्यतिग्राह्याः । अग्ने वर्चस्विन्नित्यादिमन्त्रैस्तद्ग्रहशेषं भक्षयेत् । अग्निदेवत्या गायत्री वैखानसदृष्टा । हे अग्ने, त्वमस्मे अस्मासु सुवीर्यं शोभनं वीर्यं यस्मिन् तद् वर्चः शोभनसामर्थ्योपेतं ब्रह्मवर्चसं पवस्व प्रवर्तयस्व, पवतिः प्रवृत्त्यर्थोऽन्तर्भावितण्यर्थः । 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेः शे आदेशे अस्मे इति रूपम् । कीदृशस्त्वम् ? स्वपाः सुकर्मा । अप इत्यस्य कर्मनामसु पाठात् शोभनान्यपांसि कर्माणि यस्य स तथोक्तः । एवमृत्विग्भिः प्रार्थयित्वा स्वयं प्रार्थयते यजमानः । मयि यजमाने रयिं दधद् धारयन् पोषं पुष्टिं पुत्रपश्वादिवृद्धिं पवस्व प्रवर्तयस्वेति । उपयामो ग्रहः । हे सोम, तेन त्वं गृहीतोऽसि । वर्चसे वर्चस्विने तेजस्विनेऽग्नये त्वां गृह्णामीति शेषः । एष खरप्रदेशस्ते तव योनिः स्थानम् । तादृशायाग्नये त्वां सादयामीति शेषः । हे अग्ने ! वर्चस्विन् विशिष्टतेजोयुक्त, त्वं सर्वदेवेष्विन्द्रादिषु मध्ये वर्चस्वानतिदीप्तिमान् भवसि । त्वत्प्रसादादहमपि मनुष्येषु मध्ये वर्चस्वान् ब्रह्मवर्चससम्पन्नो भूयासम् । 'ते माहेन्द्रस्यैवानु होमँ हूयन्ते । एष वा इन्द्रस्य निष्केवल्यो ग्रहः''''॥ अथातो गृह्णात्येव । अग्ने पवस्व''''वर्चसे' (श० ४।५।४।८-९)।

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, अच्छे कर्म करने वाले आप मुझ यजमान के लिये धन और पुष्टि को धारण करो । मुझे और सभी ऋत्विजों को सुन्दर सामर्थ्य से युक्त ब्रह्मतेज दो । हे प्रथम अतिग्राह्य ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, कान्तिप्रद अग्नि देवता की प्रीति के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ । हे प्रथम अतिग्राह्य ग्रह, यह तुम्हारा स्थान है । तेजःप्रद अग्निदेवता की प्रीति के निमित्त तुम्हें इस स्थान में स्थापित करता हूँ । हे विशिष्ट तेजोयुक्त अग्निदेव, आप देवताओं में अतिदीप्तिमान् हैं, इस कारण आपके प्रसाद से मैं मनुष्यों में कान्तियुक्त अतितेजस्वी हो जाऊँ ॥ ३८ ॥

भाष्यसार—'अग्ने पवस्व' इस कण्डिका से प्रारम्भ कर द्वादशाह के मन्त्र उपदिष्ट हैं । अतिरात्र के बाद ६ दिनों का समुदाय 'पृष्ठ्य षडह' कहा जाता है । उस षडह में पहला याग अग्निष्टोम संस्था वाला तथा चौथा याग षोडशी संस्था का होता है । द्वितीय, तृतीय, पञ्चम तथा षष्ठ याग उक्थ संस्था वाले करने चाहिये । पृष्ठ्य षडह में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय दिनों में विकंकत काष्ठ के पात्रों से अतिग्राह्य नामक ग्रहों का ग्रहण किया जाता है । उनमें प्रथम दिन 'अग्ने पवस्व' इस मन्त्र से अतिग्राह्य ग्रह का ग्रहण तथा 'अग्ने वर्चस्विन्' इस मन्त्र से ग्रहशेष का भक्षण किया जाता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।३।१-२, ६) में निर्दिष्ट है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे– हे अग्ने परमेश्वर ! त्वमस्मासु शोभनसामर्थ्यसम्पन्नं वर्चो ब्रह्मवर्चसं त्वत्प्राप्त्यनुगुणं ज्ञानं पवस्व प्रवर्तयस्व। कीदृशस्त्वम् ? स्वपाः शोभनान्यपांसि जगदुत्पत्ति-स्थिति-लयानुग्रहादीनि कर्माणि यस्य सः, तादृशस्त्वं हे भगवन् मयि रयिं ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपां सम्पत्तिं दधद् धारयन् पोषं तस्यैव पुष्टिं दृढतां च पवस्व। हे सोम, उपयामगृहीतोऽसि प्रेमवशीकृतोऽसि। वर्चसे तेजस्विनेऽग्नये परमात्मने त्वां गृह्णामि। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्, वर्चस्विने तस्मै त्वां सादयामि। हे अग्ने वर्चस्विन् ! सूर्यचन्द्राग्निषु प्रकाशप्रद परमेश्वर, यथा त्वं देवेषु वर्चस्वान् लोकोत्तरसर्वातिशायिज्ञानविज्ञानलक्षणदीप्तियुक्तो भवसि, तथैव त्वत्प्रसादादहमपि मनुष्येषु ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भूयासम्।

दयानन्दस्तु –'हे स्वपा वर्चस्विन्नग्ने सभापते राजन् ! त्वमस्मेऽस्मभ्यं सुवीर्यं वर्चः सुष्ठु वीर्यं बलं यस्मात्तद् वर्चो वेदाध्ययनं मयि पालनीये जने रयिं धनं पोषं पुष्टिं दधद् धारयन् सन् पवस्व शुन्ध। त्वमुपयामगृहीतोऽसि राज्यव्यवहाराय स्वीकृतोऽसि। त्वां वर्चसे स्वप्रकाशायाग्नये वेदप्रवर्तकाय वयं स्वीकुर्मः। ते तव एष योनी राज्यभूमिर्वसतिः, वर्चसेऽग्नये त्वां सम्प्रेरयामः। हे अग्ने, यथा त्वं देवेषु विद्वत्सु वर्चस्वानसि, तथाहं मनुष्येषु मनस्विषु वर्चस्वान् भूयासम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थत्वात्, सम्भवति मुख्यार्थे गौणार्थाश्रयणायोगात्, वेदाध्ययनलक्षणब्रह्मवर्चसस्थापनायाचार्यः प्रार्थनीयो भवति, न राजा। न च कश्चिल्लोकेऽग्निपदेन न्यायव्यवहारं प्रत्येति। न च देवशब्दवाच्यो विद्वान् मनुष्याद्भिन्नो भवति, येन देवेषु त्वं मनष्येष्वहं वेदाध्ययनवान् स्यामित्यभ्यर्थनं युज्यते। यदि मनस्विनो मनुष्यपदवाच्यास्तदा देवेषु तेषु च भेदो वाच्यः। देवशब्दो मनुष्येतरजातिविशेषपर इति तु साधितमेव भूयोभिः प्रमाणैर्भूमिकायाम् ॥ ३८ ॥

उत्तिष्ठन्नोज॑सा स॒ह पी॒त्वी शिप्रे॑ अवेपयः। सोम॑मिन्द्र च॒मूसु॑तम् ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य॒ त्वौज॑स ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य॒ त्वौज॑से। इन्द्रौ॑जि॒ष्ठौजि॑ष्ठ॒स्त्वं दे॒वेष्व॒स्योजि॑ष्ठो॒ऽहं म॑नु॒ष्ये॑षु भूयासम् ॥ ३९ ॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप हम लोगों में सुन्दर सामर्थ्य सम्पन्न ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति के योग्य ज्ञान को प्रवर्तित करें। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय, अनुग्रह आदि सुन्दर कर्मों वाले आप हे भगवन्, मुझमें ब्रह्मसाक्षात्काररूपी सम्पत्ति को धारण कराते हुए उसकी पुष्टि तथा दृढता को प्रवृत्त करें। हे सोम, तुम प्रेम से संगृहीत हो। तेजस्वी परमात्मा के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह पूजास्थल तुम्हारा स्थान है। उस तेजोमय के लिये तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ। हे तेजोमय सूर्य, चन्द्र और अग्नि में प्रकाश प्रदान करने वाले परमेश्वर, आप जिस प्रकार देवों में लोकोत्तर सर्वोत्कृष्ट ज्ञानविज्ञानात्मक दीप्ति से युक्त हैं, उसी प्रकार आपकी कृपा से मैं भी मनुष्यों में ज्ञानविज्ञान से सम्पन्न हो जाऊँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्यान गौणार्थपरक होने के कारण ग्राह्य नहीं है, क्योंकि मुख्य अर्थ के सम्भव होने पर गौण अर्थ का आश्रयण उचित नहीं होता। वेदाध्ययनरूपी ब्रह्मवर्चस् की प्रतिष्ठापना के लिये गुरु ही प्रार्थनीय होता है, राजा नहीं। देव शब्द संज्ञित विद्वान् मनुष्य से भिन्न नहीं होता, जिससे 'देवों में तुम तथा मनुष्यों में मैं वेदाध्ययनवान् होऊँ' यह अर्थ संगत हो सके। यदि मनुष्य शब्द से मनस्वी कहे जाते हैं, तो उनमें तथा देवों में भिन्नता भी निरूपित की जानी चाहिये। देव शब्द मनुष्य से भिन्न जातिविशेषपरक है, यह अनेक प्रमाणों के द्वारा भूमिका में सिद्ध कर दिया गया है ॥ ३८ ॥

अयं द्वितीयोऽतिग्राह्यग्रहणमन्त्रः। इयमिन्द्रदेवत्या गायत्री। कुरुस्तुतेरार्षम्। हे इन्द्र, त्वं सोमं पीत्वी पीत्वा, 'स्नात्व्यादयश्च' (पा० सू० ७।१।४९) इति निपातः। ओजसा बलेन सहोत्तिष्ठन् उत्सङ्गान्मातुरदित्या उद्गच्छन् सन् शिप्रे हनू अवेपयः कम्पितवानसि, 'टुवेपृ कम्पने'। कीदृशं सोमम्? चमूसुतं चम्वामधिषवणचर्मणि सुतमभिषुतं सोमं पीत्वा हर्षवशान्नासे कम्पितवानसि। हे सोम, त्वमुपयामेन दारुपात्रेण गृहीतोऽसि। ओजसे बलवते इन्द्राय त्वां गृह्णामि। तस्मा एव त्वां सादयामि। भक्षणमन्त्रः—हे इन्द्र, हे ओजिष्ठ, ओजो बलमस्यास्तीत्योजस्वी, अत्यन्तमोजस्वीत्योजिष्ठः, 'अतिशायने-तमबिष्ठनौ' (पा० सू० ५।३।५५)। त्वं यथा देवेष्वोजिष्ठोऽसि, एवमहं मनुष्येष्वोजिष्ठोऽतिबलो भूयासम्।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र! परमैश्वर्यशालिन् श्रीराम, त्वं सोमं कौशल्यायाः स्तन्यं पीत्वी पीत्वा ओजसा बलेन सह उत्तिष्ठन् मातुः कौसल्याया उत्सङ्गादुद्गच्छन् क्षिप्रे अवेपयो हर्षोद्रेकान्नासे हनू वा वेपयसि कम्पितवानसि। कीदृशं सोमम्? चमूसुतं चम्वा चोषणेन 'चमु अदने' सुतं प्रस्नुतम्। हे सोम! निवेदनीय मधुरान्नादिक, त्वमुपयामगृहीतोऽसि प्रेम्णा गृहीतोऽसि। ओजसे बलवते इन्द्राय भगवते श्रीरामाय त्वां गृह्णामि। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्। तत्र तस्मै रामाय त्वां सादयामि। हे ओजिष्ठ! अत्यन्तमोजस्विन्, भगवतोऽनन्तबलत्वात् त्वं देवेष्विन्द्रादिषु ओजिष्ठोऽसि। त्वत्प्रसादादहमपि मनुष्येषु ओजिष्ठो भूयासम्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सभापते! त्वं चमूसुतं सेनया निष्पादितं सोमं पीत्वी पीत्वा ओजसा प्रशस्तशरीरात्मसभासेनाबलेन सहोत्तिष्ठन् सद्गुणकर्मस्वभावेषूर्ध्वं तिष्ठन् युद्धादिकर्मसु शिप्रे हनुप्रभृत्यङ्गान्यवेपयो वेपय। त्वमुपयामगृहीतोऽसि। ते तवैष योनिरैश्वर्यकारणम्, त्वां स्वस्थतयेन्द्रायौजसे परिचरामः। ओजसे इन्द्राय परमेश्वराय त्वां प्रणोदयामः। हे ओजिष्ठेन्द्र! यथा त्वं देवेष्वोजिष्ठोऽसि, तथाहं मनुष्येषु भूयासम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सेनासम्पादितं सोमं पीत्वीत्यादिपदानां नैरर्थक्यात्। नहि सोमसम्पादनाय

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, आप अपने बल के साथ उठते हुए अधिषवण में अभिषुत हुए सोम का पान कर अपनी ठोढ़ी और नासिका को कम्पित करो। हे द्वितीय अतिग्राह्य ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, बलवान् इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे द्वितीय अतिग्राह्य ग्रह, यह तुम्हारा स्थान है, बलवान् इन्द्र देवता की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ। हे बलवत्तम इन्द्रदेव, आप सब देवताओं में बलवान् हैं, आपके प्रसाद से मैं मनुष्यों में अतिबलवान् बनूँ॥ ३९॥

भाष्यसार—'उत्तिष्ठन्नोजसा' यह अतिग्राह्य ग्रहण का द्वितीय मन्त्र है। 'इन्द्रौजिष्ठ' यह भक्षण का मन्त्र है। इस याज्ञिक विनियोग के अनुसार आचार्यों ने मन्त्रार्थ निरूपित किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमैश्वर्यशाली श्रीराम, आपने माता कौशल्या का स्तन्यपान करके सबल होकर माता कौसल्या की गोद से उठ कर अत्यन्त प्रसन्नता से नासिका अथवा ठोढी कम्पित की है। वह स्तन्य सोमपान करने के द्वारा प्रस्तुत हुआ है। हे मधुर अन्नादि नैवेद्य, तुम प्रेम से संगृहीत हो। बलशाली भगवान् श्रीराम के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह अर्चनास्थल ही तुम्हारा स्थान है, वहाँ भगवान् श्रीराम के लिये तुमको रखता हूँ। भगवान् के अत्यन्त बलशाली होने के कारण हे अत्यन्त ओजस्वी, आप इन्द्रादि देवों में अतिशय बलवान् हैं। आपकी कृपा से मैं भी मनुष्यों में बलिष्ठ हो जाऊँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ असंगत है। 'सेना द्वारा सम्पादित सोम को पीकर' यह कथन निरर्थक है। सोम के निष्पादन के लिये सेना अपेक्षित नहीं होती। अन्यत्र कहीं सोमपान के प्रसंग में इस प्रकार का वर्णन भी

सेनाऽपेक्षिता भवति, अन्यत्र सोमपानप्रसङ्गे तथानुक्तेश्च। तथैव ओजसेऽनन्तपराक्रमाय, इन्द्र दुःखविदारक, इत्यादिकमपि निर्मूलमेव ॥ ३९ ॥

अदृ॑श्रमस्य के॒तवो॒ वि र॒श्मयो॒ जनाँ॒२॥ अनु॑। भ्राज॑न्तो अ॒ग्नयो॑ यथा ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जायै॒ष ते॒ योनिः॒ सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जाय॑। सूर्य॑ भ्राजिष्ठ॒ भ्राजि॑ष्ठ॒स्त्वं दे॒वेष्व॑सि॒ भ्राजि॑ष्ठो॒ऽहं म॑नु॒ष्ये॑षु भूयासम् ॥ ४० ॥

द्वादशाहमन्त्राः समाप्ताः। अयं तृतीयोऽतिग्राह्यग्रहणमन्त्रः। सूर्यदेवत्या गायत्री प्रस्कण्वदृष्टा यजुरन्ता। अस्य सूर्यस्य केतवः प्रज्ञानहेतवः सर्वपदार्थज्ञापका रश्मयः किरणा जनान् अनुगता भ्राजन्तो देदीप्यमाना वि विशेषेण अदृश्रम् अदृश्यन्त, सूर्यरश्मयः सर्वजनानुगता व्यापका विशेषेण दृश्यन्त इत्यर्थः। कथम्भूताः ? अग्नयः, यथा भ्राजन्तो ज्वलन्तोऽग्नयो जनानुगता दृश्यन्ते, तद्वदित्यर्थः। 'दृशिर् प्रेक्षणे' इत्यस्य लुङि 'इरितो वा' (पा० सू० ३।१।५७) च्लेरङि, 'ऋदृशोऽङि गुणः' (पा० सू० ७।४।१६)। महीधराचार्यरीत्या तु उत्तमपुरुषैकवचने अदर्शमिति प्राप्ते 'शीङो रुट्, विभाषा, बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।१।६-८) इति दृशेरुत्तरस्य मिबादेशस्यामो रुडागमो धातोर्गुणाभावश्च छान्दसः। एवमदृश्रमिति रूपं कर्मणि लुङि प्रथमपुरुषबहुवचनस्थानेऽदृश्यन्तेत्यर्थे द्रष्टव्यम्। कर्मणि प्रथमपुरुषबहुवचनस्थाने छान्दसं रूपमदृश्रमित्युव्वटाचार्यः। केतुरिति प्रज्ञानामसु। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। भ्राजाय भ्राजते दीप्यते योऽसौ भ्राजस्तस्मै सूर्याय त्वां गृह्णामि। खरप्रदेशस्ते योनिस्तत्र भ्राजाय सूर्याय त्वां सादयामि। अतिग्राह्यसोमभक्षणमन्त्रः। हे भ्राजिष्ठ! अत्यन्तं भ्राजोऽतिदीप्त सूर्य, त्वं यथा देवेषु भ्राजिष्ठस्तथाहमपि मनुष्येष्वतिदीप्तिमान् भूयासम्। 'इत्येतानि ह वै भ्राजाऽ स्येतानि वीर्याण्यात्मन् धत्ते यस्यैवं विदुष एतान् ग्रहान् गृह्णन्ति' (श० ४।५।४।१२)।

अध्यात्मपक्षे—अस्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नस्य सूर्यवत् स्वप्रकाशस्य परमात्मनो ज्ञानविज्ञानलक्षणकेतवो ज्ञानहेतवो रश्मयो जनाननु सर्वजनानुगता व्यापकास्तथा दृश्यन्ते, यथा भ्राजन्तो ज्वलन्तोऽग्नयो जनानुगता

नहीं है। इसी प्रकार 'ओजसे' का अर्थ 'अनन्त पराक्रमशाली के लिये' तथा 'इन्द्र' का अर्थ 'दुःखविदारक' आदि भी अप्रामाणिक है ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—**इस सूर्य की प्रज्ञा के लिये सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान कराने वाली सम्पूर्ण किरणें प्राणियों से अनुगत हो विशेष कर दिखती हैं, जैसे कि प्रज्वलित अग्नि सर्वत्र भासित होती है। हे तृतीय अतिग्राह्य ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, दीप्तिमान् सूर्य की प्रीति के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे तृतीय अतिग्राह्य ग्रह, यह तुम्हारा स्थान है। दीप्तिमान् सूर्य देव की तुष्टि के लिये तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ। हे प्रदीप्त सूर्यदेव, आप सब देवताओं में अतिदीप्तिमान् हैं, आपके प्रसाद से मैं मनुष्यों में अतिशय दीप्तिमान् बनूँ ॥ ४० ॥**

भाष्यसार—'अदृश्रमस्य' यह अतिग्राह्य ग्रहण का तृतीय मन्त्र है। अतिग्राह्य ग्रह के सोम का भक्षण 'सूर्य भ्राजिष्ठ' इस मन्त्र से किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—इस प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न, सूर्य की भाँति स्वप्रकाश परमात्मा की ज्ञानविज्ञानरूपी ज्ञान की हेतुभूत रश्मियाँ समस्त प्राणियों में अनुगत, व्यापक होकर इस प्रकार दृष्टिगत होती हैं,

दृश्यन्ते। हे सोम, त्वं प्रेम्णा गृहीतोऽसि। भ्राजाय देदीप्यमानाय सूर्यवत्प्रकाशमानाय परमात्मने त्वां गृह्णामि। एष तदाराधनप्रदेशस्तव योनिः स्थानम्, तत्र तस्मै त्वां सादयामि। हे सूर्य, त्वं यथा देवेष्वतिदीप्तिमानसि, तथाहं मनुष्येषु प्रभूतदीप्तिमान् भूयासम्।

दयानन्दस्तु—'यथाऽस्य जगतः पदार्थान् भ्राजन्तो रश्मयः केतवोऽग्नयः सन्ति, तथैव जनानन्वहमहंदृश्यं पश्येयम्। अस्य जगतः पदार्थान् भ्राजन्तो रश्मयः केतवः पदार्थज्ञापका अग्नयः सूर्याग्निविद्युतः सन्ति, तथैवाहं जनानुकूलतया पश्येयम्। हे सभापते, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। ते तवैष योनिः। त्वां भ्राजाय सूर्याय प्रचोदयामि, त्वां भ्राजाय सूर्याय परमात्मने नियोजयामि। हे भ्राजिष्ठ सूर्य, यथा त्वं देवेषु भ्राजिष्ठस्तथाहं मनुष्येषु भूयासम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राज्ञः सभापतेर्वा सम्बोध्यत्वे मानाभावात्। रश्मीनां जडत्वात् पदार्थानां प्रकाशकत्वेऽपि ज्ञापकत्वं न सम्भवति। तद्वदहं मनुष्याणामानुकूल्येन पश्येयमित्यपि न सङ्गतम्, दृष्टान्त आनुकूल्यप्रातिकूल्ययोर्विशेषाभावात्। 'त्वां भ्राजाय जीवनाय सूर्यवद्विद्यादिशुभगुणैः प्रकाशमानाय विदुषे प्रेरयामि' इत्यपि निरर्थकम्, प्रयोजनासिद्धेः। त्वं विद्वत्सु भ्राजिष्ठोऽहं साधारणमनुष्येषु भ्राजिष्ठः स्यामित्यपि निरर्थकम्, साधारणेषु मूर्खाणां दम्भिनामपि भ्राजिष्ठत्वसम्भवात्॥ ४०॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय॥ ४१॥

'उदु त्यमिति ग्रहग्रहणमिति' (का० श्रौ० १३।२।११)। गवामयनाख्यस्य संवत्सरसत्रस्य विषुवन्नामके मध्यमेऽहनि सौर्यपशूपालम्भादूर्ध्वमतिग्राह्यग्रहग्रहणमुदु त्यमिति मन्त्रेण। सौरी गायत्री देवदृष्टा। त्यं तं प्रसिद्धं जातवेदसं जातानां प्रजानां प्रज्ञातारम्, जाता सर्वविषयिणी प्रज्ञा यस्येति वा, तादृशं देवं देवनशीलं केतवः

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नियाँ जनानुगत दिखलायी देती हैं। हे सोम नैवेद्य, तुम प्रेमपूर्वक संग्रह किये गये हो। देदीप्यमान, सूर्य की भाँति प्रकाशित परमात्मा के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह उसकी आराधना का प्रदेश ही तुम्हारा स्थान है। वहाँ उसके लिये तुमको स्थापित करता हूँ। हे सूर्य, आप जिस प्रकार देवों में अतिशय दीप्तिमान् हैं, उसी प्रकार मैं मनुष्यों में प्रभूत दीप्ति से युक्त हो जाऊँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ राजा अथवा सभापति को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण असंगत है। रश्मियाँ जड होने के कारण पदार्थों की प्रकाशक होने पर भी उनमें ज्ञापकत्व संभव नहीं है। 'मैं मनुष्यों की अनुकूलता से देखूँ' यह भी संगत नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त में आनुकूल्य तथा प्रातिकूल्य में कोई विशेष भेद नहीं है। 'तुमको''''विद्वान् के लिये प्रेरित करता हूँ' इत्यादि कथन भी निरर्थक है, क्योंकि इससे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। 'मैं साधारण मनुष्यों में भ्राजिष्ठ होऊँ' यह भी निरर्थक है, क्योंकि जनसामान्य में तो मूर्ख-दंभियों का भी भ्राजमान होना सम्भव है॥ ४०॥

मन्त्रार्थ—सभी मनुष्यों को प्रज्ञा देने वाले, सबको देखने वाले, जो सूर्यदेव की समस्त जगत् को दृष्टि देने वाली किरणों का उद्वहन करते हैं, उस सूर्य देवता के निमित्त तुम्हें इस स्थान में स्थापित करता हूँ। हे सूर्यदेव! आप सभी देवताओं में अत्यन्त तेजस्वी हो, आपके प्रसाद से मैं मनुष्यों में तेजस्वी बनूँ॥ ४१॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१३।२।२१) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार गवामयन नामक

प्रज्ञानहेतवो रश्मयः, उ आशु उद्वहन्ति उदयाचलादूर्ध्वं गमयन्ति। किमर्थम्? विश्वाय विश्वस्य, षष्ठयर्थे चतुर्थी, दृशे दर्शनाय, सर्वं जगद् द्रष्टुमित्यर्थः। विश्वकर्तृकसूर्यकर्मकदर्शनाय वा किरणाः सूर्यमूर्ध्वं नयन्ति। सर्वस्य लोकस्य दर्शनादिव्यवहारसिद्धयर्थं वा किरणाः सूर्यमुद्वहन्ति। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—त्यं तं परोक्षतया प्रसिद्धं जातवेदसं सर्वज्ञवेदप्रादुर्भावकारणं देवं जगदुत्पत्त्यादिक्रीडापरायणं सूर्यं सूर्यवत् स्वप्रकाशं परमात्मानं विश्वस्य दर्शनाय केतवः प्रज्ञापका विद्वांस उद्वहन्ति। उदूर्ध्वं ब्रह्माकारवृत्तौ वेदान्तोपदेशेन प्रापयन्ति व्यञ्जयन्ति। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'यं जातवेदसं सूर्यं जगदीश्वरं विश्वाय सर्वजगदुपकाराय दृशे द्रष्टुं केतवो विद्वांस उद्वहन्ति तं वयं प्राप्नुयाम। हे जगदीश्वर, यस्त्वमस्माभिर्भ्राजाय सूर्यायोपयामगृहीतोऽसि, तं त्वा सर्वे तदर्थं गृह्णन्तु। यस्य ते तव एष योनिस्तं त्वा भ्राजाय सूर्याय कारणं विजानीमः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विश्वपदस्य जगदर्थत्वेऽपि जगदुपकारार्थतायोगात्। किरणानां तु तदवयवत्वात् तदुद्वहनमुपचर्यते ॥ ४१ ॥

आजिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः। पुनरूर्जा निवर्तस्व सा नः सहस्रं धुक्ष्वोरुधारा पयस्वती पुनर्माविशताद्रयिः ॥ ४२ ॥

'हविर्धानाग्नीध्रान्तराले द्रोणकलशमेनामाघ्रापयत्याजिघ्रेति' (का० श्रौ० १३।३।४३)। गर्गत्रिरात्रादावहीने त्रिसुत्ये गोसहस्रं दक्षिणास्ति, तत्र सहस्रसंख्यापूरणी रोहिणी धेनुः, तां हविर्धानाग्नीध्रयोर्मध्यस्थां द्रोणकलशमाघ्रापयेत्। गोदेवत्या पङ्क्तिः कुरुविन्ददृष्टा, अष्टार्णषट्पादा। हे महि धेनो 'महीति गोनामसु' (निघ० २।११।५)। त्वं कलशं द्रोणकलशाख्यं पात्रम् आजिघ्र आभिमुख्येनाघ्राणं कुरु। हे धेनो, त्वामिन्दवः कलशगताः सोमा आविशन्तु। ऊर्जा विशिष्टरसेन पयोभूतेनास्मान् पुनर्निवर्तस्व। मयैवं स्तुता सा त्वं नोऽस्माकं सहस्रं सहस्रसंख्याकं धेनुसहस्रं वा धुक्ष्व, देहीत्यर्थः। दुहतिरत्र दानार्थः। त्वत्प्रसादादुदकधारा बहुपयोयुक्ता

संवत्सर सत्र के विषुवत् संज्ञक मध्यम दिन में अतिग्राह्य ग्रह का ग्रहण 'उदु त्यम्' इस मन्त्र से किया जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ पूर्वाचार्यों ने उल्लिखित किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—उस परोक्षतया प्रसिद्ध, सर्वज्ञ वेद के प्रादुर्भाव के हेतुभूत, जगत् की उत्पत्ति आदि की क्रीडा में कुशल, सूर्य की भाँति स्वप्रकाश परमात्मा को विश्व के दर्शन के लिये प्रज्ञापक विद्वज्जन उन्नततया ब्रह्माकारवृत्ति में वेदान्त के उपदेश के द्वारा प्राप्त कराते हैं, अभिव्यञ्जित करते हैं। शेष अर्थ पूर्वोक्त की भाँति है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ अग्राह्य है। विश्व शब्द यद्यपि जगत् का वाचक है, परन्तु 'जगदुपकार' अर्थ उस शब्द से अप्राप्य है ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—हे पूजनीय गौ, तुम इस द्रोणकलश को सूंघो, यह सोम का सार तुम्हारे नासारन्ध्र में प्रवेश करे, वह तुम्हारे श्रेष्ठ दुग्ध रस के साथ फिर हमारे प्रति निवृत्त हो। हमारी इस स्तुति से प्रसन्न होकर हमें सहस्र संख्या के धन से पूर्ण करो, बहुत दूध की धारा वाली दुधारी गायें तथा धन-सम्पत्ति फिर हमारे घर में आवें ॥ ४२ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१३।३।४३) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार गर्गत्रिरात्र आदि यागों में दातव्य सहस्र गायों की दक्षिणा में हजार संख्या की पूर्ति करने वाली रोहिणी गौ को 'आजिघ्र' इस ऋचा से द्रोणकलश

पयस्वती पयसा युक्ता धेनुर्मां पुनराविशताद् आगच्छतु। तथा रयिर्धनमपि मामाविशतादिति सायणी रीतिः। यां त्वामेवं स्तुमः, सा नोऽस्माकं सहस्रं गवां यदस्माभिर्दत्तं तद् धुक्ष्व पुनर्देहीत्युव्वटाचार्यः। अन्यत् समानम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'तामुत्तरेण हविर्धाने। दक्षिणेनाग्नीध्रं द्रोणकलशमवघ्रापयति यज्ञो वै द्रोणकलशो यज्ञमेवैनामेतद्दर्शयति' (श० ४।५।८।५)। अन्तरा शालासदसि नीत्वा द्रोणकलशमवघ्रापयति। यज्ञो वै द्रोणकलशः। स्पष्टमन्यत्। 'आजिघ्र कलशम्। मह्या त्वा विशन्त्विन्दव इति रिरिचान इव वा एष भवति यः सहस्रं ददाति तमेवैतद्रिरिचानं पुनराप्याययति यदाहाजिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दव इति' (श० ४।५।८।६)। गवां सहस्रदानेनैषां यजमानो रिरिचानो रिक्त इव भवति। आजिघ्र कलशमिति मन्त्रेण तं पुनराप्याययति। 'पुनरुर्जा निवर्तस्वेति। तद्वेव रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह पुनरूर्जा निवर्तस्वेति॥ सा नः सहस्रं धुक्ष्वेति। तत्सहस्रेण रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह सा नः सहस्रं धुक्ष्वेति' (श० ४।५।८।७-८)। 'उरुधारा पयस्वती पुनर्माविशताद्रयिरिति' (श० ४।५।८।९)। एवं ब्राह्मणेन स्पष्टं व्याख्यातस्यापि मन्त्रस्य दयानन्दस्तद्विपरीतमर्थमाह। स चार्थोऽध्यात्मपक्षीयार्थविवरणानन्तरं विचार्यते।

अध्यात्मपक्षे - हे महि! महीयते पूज्यते या सा मही, तत्सम्बुद्धौ, हे राजराजेश्वरि, त्वं कलशं मया समर्पितं सौगन्ध्योपेतमभीष्टरसपूर्णं कलशम् आ आभिमुख्येन जिघ्र आघ्राणं कुरु। किञ्च, त्वा त्वां कलशसम्बन्धिन इन्दवः सोमरसा आविशन्तु। हे देवि, त्वं पुनरप्यूर्जाऽन्नेन सहिता निवर्तस्व। यां त्वामेव स्तुमः सा त्वं नोऽस्माकं गवाश्वरत्नादिसहस्रं पुनर्धुक्ष्व देहि। त्वत्प्रसादाच्च उरुधारा बहुपयोयुक्ता पयस्वती मां पुनराविशतात्। यद्वा ज्ञानविज्ञानभक्तिरसधारा पयस्वती स्वच्छसत्त्ववती बुद्धिर्मामाविशतात्।

दयानन्दस्तु—'हे महि पत्नि, या त्वमुरुधारा उर्वी धारा विद्यासु शिक्षाधारणा यस्याः सा, पयस्वत्यसि पयांस्यन्नान्युदकानि यस्यां सा, गृहस्थशुभकर्मसु कलशं नूतनं घटमाजिघ्र। पुनस्त्वां सहस्रमिन्दवः सोमाद्योषधिरसा आविशन्तु। यतस्त्वं दुःखान्निवर्तस्व। पुनरुर्जा नोऽस्मान् धुक्ष्व पुनर्मा रयिराविशतात्' इति, हिन्द्यां तु—'नवीनघटमाघ्राय तं जलेनापूर्य तत्सुगन्धि प्राप्नुहि' इत्येतदेवं वेदव्याख्यानं दयानन्दस्य। नवीनघटमाघ्राय जलेनापूर्येत्यादिकं तदभ्यूहितमेव, मन्त्रे तादृशपदाभावात्। पूर्वं पत्नी सोमरसान् गृह्णीयादथ पत्ये समर्पयेत्, रीतिरेषा सामाजिकेष्वेव शोभते। किञ्च, सामान्यदम्पतीव्यवहारवर्णनं वेदे किमभिप्रेत्य सम्भवतीति सुधियो विदाङ्कुर्वन्तु। शतपथब्राह्मणं तदनुसारिव्याख्यानं चोक्तमेव॥ ४२॥

का आघ्राण कराया जाता है। इस याज्ञिक विनियोग के अनुसार तथा शतपथ ब्राह्मण के अनुकूल मन्त्र की व्याख्या उव्वट आदि आचार्यों ने की है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे पूजनीया राजराजेश्वरी, आप मेरे द्वारा समर्पित, सुगन्धि से युक्त, अभीष्ट रस से परिपूर्ण कलश का आघ्राण करें, कलशसम्बद्ध सोमरस आपमें निविष्ट हो। हे देवि, आप अन्न से युक्त होकर पुनः निर्वर्तित हों। आपकी ही हम लोग स्तुति करते हैं। आप हमारे लिये गौ, अश्व, रत्नादि सहस्र पदार्थों को पुनः प्रदान करें। आपके अनुग्रह से अतिशय दुग्धादि से युक्त पयस्वती मुझे पुनः प्राप्त हो। अथवा ज्ञान-विज्ञान, भक्तिरस की धारा शुद्धसत्त्वमयी बुद्धि मुझमें प्रविष्ट हो।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्याओं में 'नवीन घड़ा सूंघ कर जल भर कर' इत्यादि केवल कल्पना है, क्योंकि मन्त्र में इस प्रकार के पद नहीं हैं। सामान्य पतिपत्नी के व्यवहार का वर्णन वेद में किस अभिप्राय से सम्भव है, यह विद्वान् ही जानें। शतपथ ब्राह्मण तथा तदनुसार व्याख्यान पूर्व में निरूपित कर दिया गया है॥ ४२॥

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति। एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥ ४३॥

'इडे रन्त इति दक्षिणेऽस्याः कर्णे यजमानो जपतीति' (का० श्रौ० १३।३।४४)। सहस्रसंख्यापूरण्या रोहिण्याः पूर्वोक्ताया धेनोर्दक्षिणे कर्णे यजमान 'इडे रन्ते' इति मन्त्रं जपेत्। गोदेवत्या प्रस्तारपङ्क्तिः कुसुरुबिन्दुदृष्टा। आद्यौ पादौ द्वादशार्णौ अन्त्यावष्टार्णौ सा प्रस्तारपङ्क्तिरिति महीधराचार्यः। ईड्यते स्तूयत इति इडा, तत्सम्बुद्धौ हे इडे, तन्नाम्न्या मनोर्दुहित्रा तुल्ये। हे रन्ते, रमयतीति रन्ता, तत्सम्बुद्धौ हे रन्ते! हव्ये हूयते पयोदधिघृतादिकं यज्ञेषु यस्याः सा हव्या, तत्सम्बुद्धौ हे हव्ये, सर्वैराहूयते या सा हव्या तत्सम्बुद्धौ वा। हे काम्ये! सर्वैः काम्यते या सा काम्या, तत्सम्बुद्धौ हे काम्ये, 'मनुष्याणामेतासु कामाः प्रविष्टाः' इति श्रुतेः। हे चन्द्रे! चन्दयत्याह्लादयतीति चन्द्रा तत्सम्बुद्धौ, ज्वलति प्रकाशयतीति ज्योता तत्सम्बुद्धौ हे ज्योते, यद्वा द्योतयति प्रकाशयतीति ज्योता, दकारस्य जकारश्छान्दसः, तत्सम्बुद्धौ। अदिते अनवखण्डिते। सरस्वति सरः क्षीरं तद्वति, सर इत्युदकनाम। मही महती हे महि! विश्रुति विश्रूयत इति विश्रुति हे विश्रुते! हे अघ्न्ये सर्वथापि हन्तुमयोग्ये! एवंभूते हे धेनो! ते तवैतान्यतिशयगुणयुक्तानि नामानि। एतैर्नामभिरभिहिता सती देवेभ्यः सुष्ठु कर्म करोतीति सुकृतम्, तादृशशुभकर्मकारिणं मां ब्रूताद् ब्रूहि।

अत्र ब्राह्मणम् —'अथ दक्षिणे कर्णे आजपति। इडे रन्ते""सुकृतं ब्रूतादिति वोचेरिति वैतानि ह वा अस्यै देवत्रा नामानि सा यानि ते देवत्रा नामानि तैर्मा देवेभ्यः सुकृतं ब्रूतादित्येवैतदाह' (श० ४।५।८।१०)। ब्रूतादिति वोचेरिति, वोचेरित्येवैतत्तथाभूता ब्रूयात्। एतानि वै अस्यै गोर्देवत्रा देवेषु प्रसिद्धानि नामानि।

अध्यात्मपक्षे—हे इडे स्तुत्ये राजराजेश्वरि त्रिपुरसुन्दरि! हे रन्ते! रमयति स्वकृपाकटाक्षेण या सा रन्ता तादृशे, हव्ये हूयते भक्तैः स्वस्वाभीष्टसिद्धये या सा हव्या तत्सम्बुद्धौ, काम्ये काम्यते सर्वैर्या सा काम्या तत्सम्बुद्धौ, सर्वस्यात्मत्वेन सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात् काम्या, चन्द्रे चन्दयति स्वानुग्रहेणाह्लादयति या सा चन्द्रा तत्सम्बुद्धौ, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः। ज्योते द्योतयतीति ज्योता, सर्वस्य भासकत्वात्, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डक० २।२।१०) इति श्रुतेः, तत्सम्बुद्धौ, छान्दसो दकारस्य

मन्त्रार्थ—हे सबसे स्तुति पाने वाली धेनु! तुम सबकी दृष्टि में रमणीय हो, सभी मनुष्य यज्ञ में तुम्हारा आह्वान करते हैं, देव और मनुष्य तुम्हारी कामना करते हैं, तुमको देख कर सभी प्रसन्न होते हैं। प्रकाशमान पूर्ण अवयव वाली अहीन दुग्धवती महामान्य अनेक प्रकार की स्तुति वाली, मारने के अयोग्य हे धेनु! तुम्हारे ये अतिशय गुणयुक्त नाम हैं, इन नामों से पुकारी जाने पर तुम सब देवताओं के निमित्त हमारे इस सुन्दर कर्म को और इस कर्म को करने वाले मुझको देवताओं के सामने प्रस्तुत करो। देवता हमारे इस कार्य को जानें॥ ४३॥

भाष्यसार —'इडे रन्ते' इस ऋचा का जप पूर्वोक्त रोहिणी गौ के दाहिने कान में यजमान करता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१३।३।४४) में निरूपित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—हे स्तुत्य राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी! अपने कृपाकटाक्ष से हर्षित करने वाली, अभीष्ट की सिद्धि के लिये भक्तों के द्वारा आहूत की जाने वाली, सबके द्वारा वांछित, सबकी आत्मा होने के कारण समस्त प्राणियों की अतिशय स्निग्ध, अपने अनुग्रह से प्रमुदित करने वाली, विद्योतित करनेवाली, देश, काल तथा वस्तु

जकारः। अदिति अखण्डनीये, देशकालवस्तुपरिच्छेदराहित्यात्, 'अनन्तम्' (तै० उ० २।१) इति श्रुतेः। 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना विभक्तिलोपः। सरस्वति सरतीति सरो ज्ञानं सार्वज्ञ्यम्, तद्वति, महि महति, 'स एष महानज आत्मा' ( ) इति श्रुतेः। यद्वा महीयते पूज्यते या सा मही, परब्रह्ममहिषीत्वात् परब्रह्मरूपत्वाच्च, तत्सम्बुद्धौ। हे अघ्न्ये, सर्वविधविक्रियारहिते, हन्तिः सर्वविक्रियाणामुपलक्षणार्थकः, 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥' (भ० गी० २।२४) इति स्मृतेः। एता एतानि तव निरतिशयगुणप्रयुक्तानि नामानि। सा त्वमेभिर्नामभिः स्तुता देवेभ्यस्त्वदनुग्रहेण द्योतमानेभ्यो भक्तेभ्यः सुकृतं त्वदाराधनलक्षणं पुण्यरूपं ब्रूताद् ब्रूहि, त्वदीयसाक्षात्कारोपायं वा ब्रूहि।

दयानन्दस्तु—'इडे स्तोतुमर्हे, रन्ते रमणीये, हव्ये स्वीकर्तुमर्हे, काम्ये कमनीये, चन्द्रे आह्लादकारिके, ज्योते सुशीलेन द्योतमाने, अदिति आत्मस्वरूपेणाविनाशिनि, सरस्वति प्रशस्तं सरो विज्ञानं यस्याः सा सरस्वती तत्सम्बुद्धौ, महि पूज्यतमे, विश्रुति विविधाः श्रुतयः श्रवणानि तद्वति, एता एतानि अघ्न्ये हन्तुं तिरस्कर्तुमयोग्ये नामानि गौणिक्य आख्या देवेभ्यो दिव्यगुणेभ्यो मा सुकृतं सुष्ठु कर्तव्यं कर्म ब्रूताद् ब्रूहि। अत्रैभिः शब्दैः पत्नी प्रशस्ता, पतिस्तस्याः सकाशाद् दिव्यगुणप्राप्तये उपदेशं प्रार्थयते' इति, तदेतदतीव साहसं दयानन्दस्य, यद् ब्राह्मणानि सूत्राणि लोकप्रसिद्धिं चातिक्रम्य तादृशमसङ्गतमर्थं परिकल्पयति—पत्या पत्नी स्तोतव्या, 'महि पूज्यतमे' इत्यपि पत्या सा सम्बोध्यते। वस्तुतस्त्वत्र तद्रूपव्याक्रियैव पराक्रिया॥ ४३॥

वि न॑ इन्द्र॒ मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः। यो अ॒स्माँ२॥ अ॑भि॒दास॒त्यध॑रं गमया॒ तमः॑॥ उ॒प॒या॒मगृ॑ही॒तो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा वि॒मृध॑ ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा वि॒मृधे॑॥ ४४॥

'ग्रहं गृह्णाति वि न इन्द्र वाचस्पतिं विश्वकर्मन्निति वा' (का० श्रौ० १३।२।१७)। गवामयनस्योपान्त्ये महाव्रतेऽहनि प्राजापत्यपशूपालम्भादूर्ध्वमैन्द्रग्रहग्रहणे मन्त्रत्रयम्। इन्द्रदेवत्याऽनुष्टुप् शासदृष्टा। हे इन्द्र,

---

के परिच्छेद से रहित होने के कारण अखण्डनीय, सर्वज्ञतारूपी ज्ञान से युक्त, महती अथवा परब्रह्म की शक्ति होने के कारण, परब्रह्मस्वरूपिणी होने के कारण पूजनीय, सर्वविध विकारों से रहित—ये सब आपके निरतिशय गुणों के कारण प्रथित नाम हैं। आप इन नामों से संस्तुत होकर आपकी कृपा से विद्योतमान भक्तों के लिये अपने आराधनात्मक पुण्य रूप को उपदिष्ट करें, अथवा अपने साक्षात्कार के उपाय का उपदेश करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा ब्राह्मण-ग्रन्थों, सूत्र-ग्रन्थों तथा लोकप्रसिद्धि का भी अतिक्रमण करके असंगत अर्थ की परिकल्पना की गई है कि पति के द्वारा पत्नी की स्तुति की जानी चाहिये। 'हे पूज्यतमा' इस प्रकार भी पति के द्वारा वह सम्बोधित की जाती है। यह दुःसाहस ही है॥ ४३॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, तुम संग्राम में हमारे शत्रुओं को जीत लो, संग्राम की इच्छा से सेना का संग्रह करने वाले शत्रुओं को नीचों की तरह दण्ड दो। जो हमें क्लेश पहुँचाता है, उसे निकृष्ट अन्धकारमय नरक में डाल दो। हे महाव्रतीय इन्द्रग्रह, यह तुम्हारा स्थान है। विशिष्ट संग्राम करने वाले इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ॥ ४४॥

भाष्यसार—'वि न इन्द्र' यह मन्त्र गवामयन में ऐन्द्र ग्रह के ग्रहण में कात्यायन श्रौतसूत्र (१३।२।१७) द्वारा

नोऽस्माकं मृधः शत्रून् संग्रामान् वा, विजहि विशेषेण नाशय। किञ्च, पृतन्यतो नीचा यच्छ, पृतनां संग्रामं सेनां वेच्छन्तीति पृतन्यन्ति, पृतन्यन्तीति पृतन्यन्तस्तान्, पृतनाशब्दात् क्यचि 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इति टिलोपे शतृप्रत्यये च रूपम्। पृतन्यतः सेनामिच्छतः शत्रून् नीचा न्यग्भूतान् नीचैर्वा, यच्छ निगृह्णीष्व निगृहीतान् कुरु। किञ्च, यश्चान्योऽभिदासत्युपक्षयति, तं शत्रुमधरं निकृष्टमर्वाचीनं तमो गमया गमय प्रापय। संहितायां दीर्घः। हे ग्रह, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। विशिष्टो मृत् संग्रामो यस्यासौ विमृत्, तस्मै विमृधे विशिष्टसंग्रामाय इन्द्राय त्वां गृह्णामि। सादयति—एष ते योनिं विमृधे विमृद्गुणविशिष्टाय इन्द्राय त्वां सादयामि।

ब्राह्मणे च—'तं वा इन्द्रायैव विमृधे गृह्णीयात्। सर्वा वै तेषां मृधो हता भवन्ति सर्वं जितं ये संवत्सरमासते तस्माद्विमृधे वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यो अस्माँ २॥ अभिदासत्यधरं गमया तमः॥ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृध एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे इति' (श० ४।६।४।४) इति सिद्धान्तपक्षीयोऽर्थः समर्थितः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमैश्वर्यशालिन् परमेश्वर, त्वं नोऽस्माकं विमृधो विशिष्टान् शत्रून् कामक्रोधादीन् विजहि विशेषेण नाशय। पृतन्यतः संग्राममेच्छून् तदधिष्ठातॄन् वा नीचा नीचान् यच्छ निगृह्णीष्व। यश्च महामोहो नोऽस्मानभिदासत्युपक्षयति, संसारपातनेन तमधरमवाचीनं तमो नाशलक्षणं गमय। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। इन्द्राय त्वा त्वां गृह्णामि। एष ते योनिरिन्द्राय विमृधे त्वां सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सेनापते, त्वं नोऽस्माकं मृधः शत्रून् विजहि। पृतन्यत आत्मनः सेनामिच्छतो नीचा नीचान् यच्छ निगृह्णीष्व। यः शत्रुरस्मानभिदासति तं तमः सूर्य इवाधरं गमय। यस्य ते तवैष योनिः स त्वमस्माभिरुपयामगृहीतोऽसि। अत एवेन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये विमृधे विगतशत्रवे त्वां स्वीकुर्मः। विमृध इन्द्राय त्वां नियोजयामश्च' इति, तदपि न किञ्चित्, इन्द्रपदस्य सेनापत्यर्थकत्वे मानाभावात्। इन्द्रपदस्य परमानन्दप्राप्तिः, ऐश्वर्यप्रद इति चार्थौ चिन्त्यौ। अन्यत्तु महीधराद्यनुगुणमेव ॥ ४४ ॥

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे ॥ ४५ ॥

विनियुक्त किया गया है। ऐन्द्र ग्रह के ग्रहण में तीन मन्त्र विनियुक्त हैं, उनमें यह प्रथम मन्त्र है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप हमारे काम, क्रोध आदि विशिष्ट शत्रुओं को पूर्णतः विनष्ट कीजिये। युद्ध की इच्छा रखने वाले अथवा उनके निकृष्ट अधिष्ठाताओं को निगृहीत कीजिये। जो महामोह संसार में गिराने के द्वारा हम लोगों को क्षीण करता है, उसको तमोनाशरूपी अधोगति को प्राप्त करावें। शेष अर्थ पूर्व की भाँति ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या में इन्द्र शब्द का सेनापति अर्थ करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अग्राह्यता है। इन्द्र शब्द के 'परमानन्दप्राप्ति' तथा 'ऐश्वर्यप्रद' ये दोनों अर्थ चिन्तायोग्य हैं। शेष व्याख्या तो महीधराचार्य के अनुसार ही की गई है॥ ४४ ॥

अयं द्वितीयो मन्त्रो विश्वकर्मदेवत्यः, त्रिष्टुप्छन्दस्कः, शासदृष्टः। ईदृशमिन्द्रं वाजे महाव्रतीयलक्षणान्नविषये, अद्यास्मिन् दिने वयं हुवेम आह्वयामः। 'निपातस्य' (पा० सू० ६।३।१३६) इति दीर्घः। किमर्थम् ? ऊतये अवनाय रक्षणाय। किम्भूतम् ? विश्वकर्माणम्, विश्वानि सर्वाणि जगदुत्पत्त्यादीनि यस्य तम्, वाचस्पतिं वेदलक्षणानां वाचां पालयितारम्, 'तस्मादाहुरिन्द्रो वाक्' इति श्रुतेः। तथा मनोजुवं मनसो जूरिव जव इव जवो यस्य स मनोजूस्तं तथोक्तम्। 'जूरिति जवनाम'। स इन्द्रो नोऽस्माकं विश्वानि सर्वाणि हवनान्याह्वानानि, अवसेऽन्नायान्नसमृद्धौ रक्षणाय वा जोषद् जुषताम्, अस्मदाह्वानं साध्विति सेवताम्। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति तिप इलोपे जोषद् इति रूपम्। कीदृशः ? विश्वशम्भूर्विश्वस्य शं सुखं भवत्यस्मादिति विश्वशम्भूः, साधुकर्मा शोभनकर्मकर्ता। हे ग्रह ! उपयामगृहीतोऽसि विश्वकर्मणे विश्वकर्त्रे इन्द्राय त्वां गृह्णामि। सादयत्येष ते योनि····विश्वकर्मण इन्द्राय त्वां सादयामि। यं वाचस्पतिं वाचां पालकं प्राणरूपेणोन्द्ररूपेण वा। 'तस्मादाहुरिन्द्रो वाक्' इति श्रुतिर्वक्ति। यं च विश्वकर्माणं विश्वस्य सर्वस्य कर्तारं विश्वं सर्वं कर्म यस्य तम्, यं च ऊतये अवनाय रक्षणाय वा मनोजुवं मनोगतिम्, यं चान्नेऽस्मिन् महाव्रतीयलक्षणान्नविषये दिने हुवेम आह्वयामः। स आहूतो नोऽस्माकं विश्वानि हवनानि आह्वानानि जोषद् जुषतां सेवताम्। विश्वशम्भूः सर्वस्य शं सुखेनानायासेन भावयिता। अवसे 'अव इत्यन्ननाम' (निघ० २।७।९) अन्नाय साधुकर्मा, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तदः श्रवणाद् यदोऽध्याहारः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथो विश्वकर्मणे। विश्वं वै तेषां कर्म कृतꣳ सर्वं जितं भवति ये संवत्सरमासते तस्माद्विश्व····कर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वां विश्वकर्मण एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मण इति' (श० ४।६।४।५)। विश्वं वैतेषां कर्म ये संवत्सरमासते।

अध्यात्मपक्षे—वयं वाचस्पतिं वाचां वेदलक्षणानां पालयितारं विश्वं कर्म कार्यं यस्य कारणस्य तं मनोजुवं मनोजूरिव मनोवेगवद् जूर्वेगो यस्य तम्, मनसोऽप्यधिकवेगवन्तं सर्वव्यापकम्, 'मनसो जवीयः' (वा० सं० ४०।४) इति मन्त्रवर्णात्, परमेश्वरमूतयेऽन्नायाभीष्टसिद्धये रक्षायै वा अद्य वाजे संसारसंग्रामे हुवेम आह्वयामः। स प्रभुः नोऽस्माकं विश्वानि सर्वाणि हवनानि आह्वानानि प्रार्थनावचनानि जोषद् जुषतां प्रीत्या सेवताम्। कीदृशः सः ? साधुकर्मा, साधूनि पावनानि कर्माणि चरित्राणि यस्य सः। विश्वशम्भूः विश्वस्मै शं सुखं भवत्यस्मादिति सर्वसुखहेतुः, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः। हे सोम निवेदनीय

मन्त्रार्थ—आज हम महाव्रतीय अन्न के लिये वाणियों के पालक मन के समान वेग वाले सृष्टिकर्ता ईश्वर को रक्षा के लिये पुकारते हैं। वह संसार का कल्याण करने वाला सुन्दर कर्म करने वाला हमारी समस्त आहुतियों की रक्षा करे। हे इन्द्रग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, विश्वकर्मा इन्द्र की प्रसन्नता के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। विश्वकर्मा इन्द्र के निमित्त तुम्हारा यहाँ आसादन करता हूँ ॥ ४५ ॥

भाष्यसार—'वाचस्पतिम्' यह ऐन्द्र ग्रह के ग्रहण का द्वितीय मन्त्र है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्र-व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—वेदात्मिका वाणी के पालक, विश्वरूपी कार्य के कारणभूत, मन के वेग के समान वेगवान्, अर्थात् मन से भी अधिक वेगशाली, सर्वव्यापक परमेश्वर को हम लोग अन्नादि अभीष्ट की सिद्धि के लिये अथवा रक्षा के लिये आज संसाररूपी संग्राम में बुलाते हैं। वे प्रभु हम लोगों के समस्त आह्वानों, प्रार्थनावचनों को प्रेम से सेवित करें। वे पावन कर्मों, चरित्रों से युक्त तथा सबके सुखहेतु हैं। हे नैवेद्य, प्रेम से सिक्त पत्र,

प्रेमपरिप्लुतपुत्रपुष्पफलादिपदार्थ ! त्वमुपयामगृहीतोऽसि, विश्वकर्मण इन्द्राय त्वां गृह्णामि। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्। तस्मै त्वा सीदयामि।

दयानन्दस्तु—'वयमद्य ऊतये रक्षायै वाजे विज्ञाने युद्धे वा निमित्ते वाचस्पतिं वेदवाचां रक्षितारं विश्वकर्माणं विश्वानि धर्म्याणि कर्माणि यस्य तं मनोजुवं मनोगतिं मनोभीष्टगतिज्ञातारं तं परमेश्वरं सभापतिं वा हुवेम आह्वयेम (कामये)। स त्वं साधुकर्मा विश्वशम्भूः समस्तसुखभावयिता ईश्वरः सभापतिर्वा नोऽस्माकमवसे प्रीतिवृद्धये विश्वानि हवनानि प्रार्थनावाग्दत्तानि सर्वप्रार्थनावचनानि जोषद् जुषेत, प्रेम्णा मन्येत। यस्य तव एष उक्तव्यापारो योनिरेकस्य प्रेमभावस्य कारणमस्ति, स त्वमुपयामगृहीतोऽसि यमनियमैर्गृहीतोऽसि, अतो विश्वकर्मणे समस्तकर्मसाधनायेन्द्राय शिल्पक्रियाकुशलतयोत्तमैश्वर्यवन्तं त्वां सेवेमहि' इति, तदपि क्लिष्टकल्पनामात्रम्, धर्म्याणीत्यस्योत्सूत्रत्वात्। मनोजुवमित्यस्याभीष्टगतिज्ञातारमिति व्याख्यानमपि चिन्त्यम्, आह्वये कामये हवनानीत्यस्य च व्याख्यानं निर्मूलमेव ॥ ४५ ॥

विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्। तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे ॥ ४६ ॥

तृतीयो मन्त्रः। अत्र मन्त्रे विकल्पः। ऐन्द्री वैश्वकर्मणी च त्रिष्टुप् शासदृष्टा। हे विश्वकर्मन्, अन्नेन हविषा महाव्रतीयलक्षणेन वर्धनेन वर्धमानेन वर्धयित्रा वा त्वमिन्द्रं त्रातारं सर्वस्य रक्षकमवध्यं हन्तुमशक्यमप्रतिभटं चाकृणोः कृतवानसि। तस्मै तादृशायेन्द्राय पूर्वीर्विशः प्रजाः पूर्वे वशिष्ठादयो मनुष्या वा समनमन्त सम्यक् प्रह्वाः सन्नताः, यथा यतः, पञ्चम्यर्थे थाल्प्रत्ययः, कारणादयमिन्द्र उग्र उद्गूर्णवज्रो विहव्यो विविधेषु कार्येष्वाहूयत इति विहव्यः, असद् अभूत्; तस्माद् विशः प्रजास्तस्मै नताः। हे विश्वकर्मन्, त्वद्दत्तवर्धमानहविःप्रभावादेवेन्द्रस्येदं सामर्थ्यमित्यर्थः। शेषं पूर्ववत्।

पुष्प, फल आदि पदार्थ ! तुम प्रेम से संगृहीत हो। शेष अर्थ पूर्व की भाँति ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ क्लिष्टकल्पना ही है। 'धर्म्याणि' यह पद मूल से बहिर्भूत है। 'मनोजुवम्' शब्द की व्याख्या 'अभीष्ट गति के ज्ञाता को' इस प्रकार करना चिन्ताजनक है। 'आह्वये' का अर्थ 'कामये' तथा 'हवनानि' पद की व्याख्या भी अप्रामाणिक है ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—हे विश्वकर्मन् परमात्मन्, वर्धमान हविष्प्रदान द्वारा वर्धन के वाक्यों से प्रीति करने वाले इन्द्र को आपने जगत् का रक्षक बनाया है। इसको कोई मार नहीं सकता। इस प्रकार के इन्द्र के लिये पूर्व काल की प्रजा महर्षि आदि प्रणाम करते हैं, जिससे कि शत्रुओं के नाश के लिये यह इन्द्र अपना वज्र उठावे। यह इन्द्र अनेक शुभ कार्यों में आह्वान के योग्य है, अतः इसको सब प्रणाम करते हैं। हे परमात्मन्, आपके द्वारा प्रदत्त हवि से इन्द्र को यह सामर्थ्य प्राप्त हुई है। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, विश्वकर्मा इन्द्र का यह स्थान है, इनके लिये तुम्हारा यहाँ आसादन करता हूँ ॥ ४६ ॥

भाष्यसार—'विश्वकर्मन् हविषा' यह मन्त्र याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार ऐन्द्र ग्रह के ग्रहण का तृतीय मन्त्र है।

अत्र ब्राह्मणम्—'यद्यु ऐन्द्रीं वैश्वकर्मणीं विद्यात्। तयैव गृह्णीयाद् विश्वकर्मन्....विश्वकर्मण इति' (श० ४।६।४।६)। पूर्वमन्त्रद्वयापेक्षयाऽस्योत्कर्षमाह—यद्यु ऐन्द्रीं वैश्वकर्मणीं विद्यात्तदा तयैव प्रकृतग्रहं गृह्णीयात्।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वकर्मन् विश्वकारण परमेश्वर, वर्धनेन वर्धयित्रा हविषा अन्नेन त्वमिन्द्रं देवराजं जगतां त्रातारं रक्षकं कृतवानसि, अवध्यमप्रतिभटं च तेनैव कृतवानसि। तत एव तस्मै पूर्वीविशः पूर्वे प्रसिद्धा ऋषयः समनमन्त प्रह्वीभावमागताः। यथा यतः कारणादयमिन्द्र उग्रो दुष्टानां भयङ्करो विहव्यो जनैर्विविधेषु कार्येष्वाहूयते, तस्मादिदानीमपि सर्वे तस्मै नताः, सर्वत्र त्वदीयहविःप्रभाव एव तत्प्रभाव-कारणमित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विश्वकर्मन्, त्वं वर्धनेन हविषा यमवध्यमिन्द्रं त्रातारमकृणोः, तस्मै पूर्वीविशः समनमन्त, यथायमुग्रो विहव्यः, असत् तथा विधेहि, अन्यत् पूर्ववत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तद्विवरणस्य श्रुतिविरुद्धत्वात्॥ ४६॥

उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णाम्यनुष्टुप्तेऽभिगरः॥ ४७॥

'अदाभ्यं गृह्णात्यासिच्य निग्राभ्याः पात्रे तस्मिंस्तूष्णीं त्रीनꣳशूनवधायाग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसमिति प्रतिमन्त्रमुपयामः सर्वत्राविशेषादिति' (का० श्रौ० १२।५।१३-१५)। यस्मिन्नौदुम्बरे पात्रेंऽशुर्गृहीतस्तस्मिन् होतृचमसस्था निग्राभ्यासंज्ञा अप आनीय तिस्रः सोमलताः प्रक्षिप्याग्नये त्वेत्यादिभिर्मन्त्रैः क्रमेणादाभ्यं ग्रहं गृह्णाति, मन्त्रैः सोमलताप्रक्षेपो वेति केचित्। उपयामगृहीतोऽसीत्येतत् त्रिष्वपि मन्त्रेष्वादौ योजनीयम्।

शतपथ श्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति यह है—हे विश्वकारण परमेश्वर, वृद्धि करने वाले अन्न से आपने देवराज इन्द्र को प्राणियों का रक्षक बनाया है तथा उसी के द्वारा अप्रतिभट किया है। इसी कारण उसके प्रति प्राचीन ऋषि आदि प्रणत हो गये, क्योंकि यह इन्द्र दुष्टों के लिये भयंकर है, प्राणियों के द्वारा विविध कार्यों में आहूत किया जाता है। अतः अभी भी सब उसके लिये प्रणत हैं, अर्थात् सर्वत्र आपकी हवि का प्रभाव ही उसके प्रभाव का हेतु है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्यान श्रुतिविरुद्ध होने के कारण अनुपयुक्त है॥ ४६॥

मन्त्रार्थ—हे प्रथम अदाभ्य ग्रह सोम, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। गायत्री छन्द द्वारा वरणीय तुमको अग्नि देवता की प्रीति के लिये ग्रहण करता हूँ। उपयाम पात्र में गृहीत त्रिष्टुप् छन्द से वरणीय तुमको इन्द्र देवता की प्रीति के लिये ग्रहण करता हूँ। हे तृतीय अदाभ्य ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। जगती छन्द से वरणीय तुमको सम्पूर्ण विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के लिये ग्रहण करता हूँ। हे अदाभ्य नाम से गृहीत सोम, अनुष्टुप् छन्द तुम्हारी स्तुति के लिये है॥ ४७॥

भाष्यसार—'उपयामगृहीतः' इत्यादि कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।५।१३-१५, १७) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत जिस औदुम्बर पात्र में अंशु का ग्रहण किया गया है, उसमें होतृचमसस्थित

अदाभ्यदेवत्यानि त्रीणि यजूंषि देवदृष्टानि। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। हे ग्रह, गायत्रच्छन्दसं गायत्री छन्दो यस्य ग्रहस्य तं त्वामग्नयेऽग्निप्रीत्यर्थं गृह्णामि, अग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामीत्येकं ग्रहणम्। हे सोम! त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। हे ग्रह, त्रिष्टुप्छन्दसं त्रिष्टुप् छन्दो यस्य तं त्वामिन्द्राय देवाय गृह्णामि। इन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसे गृह्णामीति द्वितीयं ग्रहणम्। हे सोम, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। हे ग्रह, जगच्छन्दसं जगती छन्दो यस्य तादृशं त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय गृह्णामि। एवं सवनदेवताभ्यः स्वछन्दस्कं सोमं गृहीत्वाऽथेदानीमाह—'अनुष्टुप् त इत्युक्त्वा' (का० श्रौ० १२।५।१७)। एनं मन्त्रं पठेत्। अदाभ्यदेवत्यं देवदृष्टम्। हे सोम, अनुष्टुप्छन्दस्ते तव, अभिगरः अभिष्टवः, 'गृ स्तुतौ', 'ऊर्ध्वँ सवनेभ्यस्तदानुष्टुभम्' (श० ११।५।९।७) इति श्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'उपयामगृहीतोऽसि। अग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामीति गायत्रं प्रातःसवनं तत्प्रातःसवनं प्रवृहतीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामीमि त्रैष्टुभं माध्यन्दिनँ सवनं····प्रवृहति विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णामीति जागतं तृतीयसवनं तत्तृतीयसवनं प्रवृहत्यनुष्टुप्तेऽभिगर इति यद्वा ऊर्ध्वँ सवनेभ्यस्तदानुष्टुभं तदेवैतत् प्रवृहति तन्नाभिषुणोति वज्रो वै ग्रावा वागदाभ्यो नेद्वज्रेण वाचँ हिनसानीति' (श० ११।५।९।७)। गायत्रीछन्दस्कं प्रातःसवनम्। तत्तेन गायत्रच्छन्दसमिति विशेषणेन प्रातःसवनात्मकं यज्ञस्य भागं प्रवृहत्यसुरेभ्यः सकाशाद् उद्यम्यति स्वीकरोति, 'बृहू उद्यमने'। जगच्छन्दो जगतीछन्दस्कं जागतं तृतीयं सवनम्। यद्वा—ऊर्ध्वं त्रिभ्यः सवनेभ्य उक्थषोडशीसंस्थादिरूपं यदस्ति तत्सर्वमानुष्टुभम्, तदेवानेन मन्त्रेण असुरेभ्यः प्रवृहत्युपादत्ते। तेन वानुष्टुबाख्यं छन्दः, अभिगरोऽभिशंसनम्, स्तावकमित्यर्थः। ग्रहान्तरवत् प्राप्तमभिषवं निषेधति—नाभिषुणोतीति। तत्र कारणमाह—वज्रो वेति। ग्राव्णः कठिनत्वात् प्रहरणसाधनत्वाच्च वज्रत्वम्। अदाभ्यस्य वाग्रूपत्वम्। नेद्वज्रेण वाचं हिनसानीति।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम निवेदनीय भगवद्भोग्यपदार्थ, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। गायत्रीछन्दस्कैर्मन्त्रैः संस्तुतं त्वाम् अग्नये अग्रणीत्वादिगुणकाय परमेश्वराय गृह्णामि। इन्द्राय परमैश्वर्यगुणकाय परमात्मने त्रिष्टुप्छन्दस्कमन्त्रैः स्तुतं त्वां गृह्णामि। जगतीच्छन्दोमन्त्रसंस्तुतं त्वां विविधेभ्यो देवेभ्यः सर्वदेवरूपाय परमात्मने वा त्वां गृह्णामि। हे सोम अनुष्टुप्छन्दस्ते तव अभिगरोऽभिष्टवः। भगवद्भोग्यं सोमादिहविर्गायत्र्यादिछन्दोविशिष्टैस्तैस्तैर्मन्त्रैः स्तूयत इत्यर्थः।

निग्राभ्य संज्ञक जल को लेकर, तीन सोमलताओं को प्रक्षिप्त करके क्रमशः 'अग्नये त्वा' इत्यादि तीन मन्त्रों से अदाभ्य ग्रह का ग्रहण किया जाता है। अथवा मन्त्रों से सोमलता का प्रक्षेप किया जाता है, यह कुछ आचार्यों का मत है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे निवेदनीय भगवद्भोग्य पदार्थ, तुम प्रेम के द्वारा संगृहीत हो। गायत्री छन्द के मन्त्रों से संस्तुत तुमको अग्रणीत्व आदि गुणों से युक्त परमेश्वर के लिये ग्रहण करता हूँ। परमैश्वर्य गुणवाले परमात्मा के लिये त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्रों से संस्तुत तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। जगती छन्द के मन्त्रों से संस्तुत तुमको विविध देवताओं के लिये अथवा सर्वदेवरूपी परमात्मा के लिये ग्रहण करता हूँ। हे नैवेद्य, अनुष्टुप् छन्द तुम्हारा अभिष्टव, अर्थात् स्तावक है। भगवद्भोग्य सोम आदि हवि या गायत्री आदि छन्दों वाले तत्तत् मन्त्रों से स्तुति की जाती है, यह भाव है।

दयानन्दस्तु—'हे विश्वकर्मन्, अहं यस्य ते तव अनुष्टुप्, अनुष्टोभते स्तभ्नात्यज्ञानं यः सोऽभिगरोऽभिगतस्तवः, तं गायत्रछन्दस्कं त्वाग्नये गृह्णामि। त्रिष्टुप्छन्दसं त्वेन्द्राय गृह्णामि। जगच्छन्दसं विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णामि। तदर्थमस्माभिस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि। अग्निप्रभृतिपदार्थगुणवादिगायत्रीछन्दस्कमन्त्रज्ञं त्वामग्नयेऽग्न्यादिपदार्थगुणज्ञानाय स्वीकरोमि। परमैश्वर्यदायित्रिष्टुप्छन्दस्कमन्त्रज्ञं त्वा परमैश्वर्यप्राप्तये स्वीकरोमि। समस्तजगद्दिव्यगुणकर्मस्वभावबोधकमन्त्रज्ञं त्वा समस्तविश्वगतश्रेष्ठगुणकर्मस्वभावेभ्यः स्वीकरोमि। उक्तसर्वकार्यसिद्धयेऽस्माभिस्त्वं गृहीतोऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्नये गायत्रच्छन्दसमिति पदसन्दर्भेणाग्निगुणवादिगायत्रीछन्दस्कमन्त्रज्ञमित्यर्थस्य ग्रहणायोगात्। अग्नय इति चतुर्थ्यन्तस्याग्निपदस्य यथाश्रुतस्य कथं तद्गुणस्तुत्यर्थता ? गायत्रच्छन्दसमित्यस्य तादृशमन्त्रज्ञपरत्ववर्णनमपि निर्मूलमेव, तद्रीत्यैवेतरयोर्वाक्ययोः कथं नार्थ उक्तः ? तत्रापीन्द्रगुणवादित्रिष्टुप्छन्दस्कमन्त्रज्ञं त्वामिति कथं नार्थः ? तृतीयपर्याये जगतीच्छन्दस्कमन्त्रज्ञं त्वामित्यनु त्वा जगद्गुणस्तावकमन्त्रज्ञं त्वामिति कथं ब्राह्मणेन जागतं छन्द इत्युक्तम् ? ॥ ४७ ॥

व्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि कुकूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि मदिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि मधुन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि शुक्रं त्वा शुक्र आधूनोम्यह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु ॥ ४८ ॥

'आधूनोत्यꣳशुभिर्व्रेशीनां त्वेति गच्छन्नाहवनीयमिति' (का० श्रौ० १२।५।१७)। सोमांशुभिर्मध्ये प्रक्षिप्तैरदाभ्यग्रहस्था निग्राभ्या आधूनोत्याहवनीयं प्रति होमार्थं गच्छन्नध्वर्युः। व्रेशीनामित्येतदादीनि विश्वेषामित्यन्तानि सोमदेवत्यानि देवदृष्टानि यजूंषि। हे सोम, व्रेशीनां मेघोदरस्थानामपां पत्मन् पतने निमित्ते वृष्टिनिष्पत्त्यर्थं त्वा त्वामाधूनोमि कम्पयामि। व्रजतो मेघस्योदरे शेरते ता व्रेश्यो मेघोदरस्था आपः। कुकूननानामत्यर्थं कुवन्त्यः शब्दं कुर्वाणा नमन्ति प्रह्वीभवन्तीति कुकूनना मेघस्था आपः, तासां पत्मन् पतने निमित्ते

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या असंगत है, क्योंकि 'अग्नये' आदि पदसन्दर्भ के द्वारा 'अग्निगुणवादी गायत्री छन्दस्कमन्त्रज्ञ' इस अर्थ का ग्रहण अयुक्त है। 'अग्नये' इस प्रकार यथाश्रुत चतुर्थ्यन्त अग्नि पद की तद्गुणस्तुत्यर्थता कैसे है ? 'गायत्रच्छन्दसम्' का अर्थ उस प्रकार से मन्त्रज्ञपरक वर्णित करना अप्रामाणिक ही है। अन्य दो वाक्यों का भी अर्थ इसी रीति से क्यों नहीं किया गया ? उनमें भी 'इन्द्रगुणवादी त्रिष्टुप्छन्दस्क मन्त्रज्ञ' इस प्रकार अर्थ क्यों नहीं हुआ ? तृतीय पर्याय में भी इसी प्रकार विसंगति है ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ— हे सोम, इधर-उधर धावमान मेघों के उदर में वर्तमान जलसमूह की वर्षा के लिये तुमको कम्पित करता हूँ। हे सोम, शब्द करते हुए जगत् के कल्याणकारी मेघों के उदर में वर्तमान जल के वर्षण के लिये तुम्हें कम्पित करता हूँ। हे सोम, हमको अत्यन्त प्रसन्न करते वाले मेघों के उदर में जल की वर्षा के लिये तुमको कम्पित करता हूँ। हे सोम, अत्यन्त तृप्तिकारी मेघों के उदर में वर्तमान जल के वर्षण के लिये तुमको कम्पित करता हूँ। अमृतरूप मेघोदक की भूमि पर वर्षा के लिये तुमको कम्पित करता हूँ। हे सोम, तुम अक्लिष्ट कर्मा और शुद्ध हो, तुम्हें शुद्ध उत्कृष्ट कर्म वाले निग्राभ्य लक्षण वाले जल में कम्पित करता हूँ। दिन के रूप में सूर्य की किरणों से कम्पित करता हूँ ॥ ४८ ॥

भाष्यसार—'व्रेशीनां त्वा' इत्यादि कण्डिका से अदाभ्य ग्रह में स्थित निग्राभ्या संज्ञक जल को अध्वर्यु हिलाता है।

त्वामाधूनोमि कम्पयामि, 'कुङ् शब्दे'। भन्दनानाम्, 'भदि कल्याणे सुखे च', भदन्तीति भदन्त्यः कल्याणकारिण्यः सुखयित्र्यो वा मेघस्था आपः, तासां पतने निमित्ते त्वां कम्पयामि। मदिन्तमानां मादयन्तीति मदिन्योऽतिशयितास्ता मदिन्तमाः, तमपि पुंवद्भावः, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (पा० सू० ८।२।७) इति छान्दसो नुडागमः। अतितर्पयितॄणामपां पतने त्वां धूनोमि। मधुन्तमानामत्यन्तं मधुस्वादोपेतानामपां पतने त्वां धूनोमि। शुक्रं शुद्धमक्लिष्टकर्माणं त्वां शुक्रेऽक्लिष्टकर्मणि निग्राभ्यालक्षण उदके त्वामाधूनोमि। किञ्च, अह्नो दिवसस्य रूपे सूर्यस्य रश्मिषु हे देव सोम ! त्वामाधूनोमि, तेषामपि शुक्ररूपत्वात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अ७ शुनेवाधूनोति। व्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि····पत्मन्नाधूनोमीत्येता वै दैवीरापस्तद्याश्चैव दैवीरापो याश्चेमा मानुष्यस्ताभिरेवास्मिन्नेतदुभयीभी रसं दधाति' (श० ११।५।९।८)। अभिषवस्थाने आधवनं विधत्ते, ग्रहस्योपरि निहितान् त्रीनंशून् कम्पयति। व्रेश्यादयः शब्दा देवलोकस्थानामपां संज्ञाः। व्रेश्यन्ते सिच्यन्त आभिरिति व्रेश्यः, तासां पत्मन् पतने मार्गे हे सोम, त्वामाधूनोमि····एता वै व्रेश्याद्या दैवीर्देवसम्बन्धिन्य आपः, तत्तथा सति दैवीभिरद्भिः पात्रगृहीताभिर्मानुषीभिश्चोभयीभिरेतस्मिन् ग्रहे रसं दधाति। एतावता व्रेशीनां पत्नीनामिति व्याख्यानमसङ्गतम्। कुत्सितं कुनन्ति शब्दायन्त इति कुक्ननाः। 'शुक्रं त्वा शुक्र आधूनोमीति'···(श० ११।५।९।९)। हे सोम शुक्रं रसवन्तं त्वां शुक्रे वसतीवर्याख्ये रसवत्युदके आधूनोमि। अह्नो रूपे अह्नो दिवसस्य सम्बन्धिनि रूपे वसतीवर्याख्ये सूर्यसम्बन्धिषु रश्मिषु किरणेषु त्वां कम्पयामि। सूर्यास्तमयात् पूर्वमेव औपवसथ्येऽहनि वसतीवरीणां ग्रहणादेवमुच्यते।

अध्यात्मपक्षे – हे सोम, भगवद्भोग्यपदार्थ, व्रजतो मेघस्योदरे वर्तमानानामपामिव ज्ञानविज्ञानानामपि वर्षणाय त्वामहमाधूनोमि, मुखे प्रवेशाय त्वां चालयामि। अत्यर्थं शब्दं कुर्वन्तीनां प्रह्वीभूतानां मेघस्थानामपामिव श्रुतीनां पत्मन् हृदये प्रक्षेपाय त्वामाधूनोमि। भन्दनानां कल्याणकारयितॄणां सुखयितॄणामपामिव भक्तीनां पतने निमित्ते त्वामाधूनोमि। तथैव मन्दितमानामत्यर्थं हर्षयितॄणामपामिव भक्तीनां पतन(वर्षण)निमित्तं त्वामाधूनोमि व्यापृतं करोमि। मधुन्तमानामत्यन्तं मधुस्वादोपेतानामपामिव घृतगन्धीनां मधुगन्धीनां भक्तिविशेषाणां पत्मनि वर्षणनिमित्ते हे भगवत्प्रसाद, त्वामहं व्यापारयामि। कुक्ननानां शब्दवतां शब्दानुविद्धानां विचारप्रत्ययानां वर्षणे निमित्ते त्वामहं प्रेरयामि, 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥' (वा० प० १।११५) इत्यभियुक्तोक्तेः। भन्दनानां कल्याणकारिणीनां सुखयितॄणां

यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।५।१७) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में कण्डिका का अर्थ इस प्रकार है—हे भगवद्भोग्य पदार्थ, मेघ के गर्भ में विद्यमान जल की भाँति ज्ञान-विज्ञान की वृष्टि के लिये मैं तुमको कम्पित करता हूँ, मुख में प्रवेश के लिये चलायमान करता हूँ। अतिशय शब्दकारी समीप में आगत मेघस्थ जल की भाँति श्रुतियों के हृदय में प्रक्षेप के लिये तुमको प्रकम्पित करता हूँ। कल्याणकारिणी, सुख प्रदान करने वाली जलराशियों की भाँति भक्ति के प्रक्षेपणार्थ तुमको हिलाता हूँ। इसी प्रकार अत्यन्त हर्षित करने वाली जलराशियों की भाँति भक्ति की वृष्टि के लिये तुमको कम्पित करता हूँ। अतिशय मधुर स्वाद से युक्त जल की भाँति घृतसुगन्धयुक्त, मधुसुगन्धयुक्त भक्तिविशेष की वृष्टि के निमित्त से हे भगवत्प्रसाद ! मैं तुमको व्यापारवान् करता हूँ। शब्दयुक्त, शब्दों में ग्रथित विचार-प्रत्ययों के वर्षण के लिये मैं तुमको प्रेरित करता हूँ। 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके' इत्यादि वाक्यपदीय की उक्ति में भी आचार्यों ने इसको प्रतिपादित किया है। कल्याणकारिणी, सुखदायिनी श्रवणमननरूपी

श्रवणमननरूपाणां वृत्तिविशेषाणां वर्षणे निमित्ते त्वां चालयामि। तथैव मदिन्तमानां मधुन्तमानां घृतमधुगन्धीनां भक्तीनां वर्षणे निमित्ते त्वां प्रेरयामि। तथैव शुक्रं पवित्रदीप्तिमन्तं त्वां शुक्रे पवित्रे दीप्तिमति भक्तहृदये त्वामाधूनोमि व्यापारयामि। अह्नो दिवसस्य रूपे सूर्यरश्मिषु हे सोम, तादृशे काले त्वामाधूनोमि।

दयानन्दस्तु—'हे पत्मन्, व्रेशीनां दिव्यानामपामिव निर्मलविद्यासुशीलव्याप्तानां पत्नीनां मध्ये व्यभिचारे वर्तमानं त्वामहमाधूनोमि। हे पत्मन्, कुक्ननानां भृशं शब्दविद्यया नम्राणां पत्नीनां समीपे मौर्ख्येण वर्तमानं त्वामहमाधूनोमि। हे पत्मन्, भन्दनानां कल्याणाचरणानां सन्निधावधर्मचारित्वेन प्रवृत्तं त्वामहमाधूनोमि। मन्दितमानामतिशयितानन्दितानां परस्त्रीणां सनीडे दुःखदायित्वेन चरन्तं त्वामहमाधूनोमि। हे पत्मन्, मधुन्तमानामिवातिशयेन माधुर्यगुणोपेतानां समर्यादं समीपे कुचारिणं त्वामाधूनोमि। हे पत्मन्, अह्नो दिनस्य रूपे सूर्यस्य रश्मिषु तादृशसमये गृहे सङ्गतिकामिनं शुक्रं शुद्धवीर्यवन्तं त्वां शुक्रे वीर्यनिमित्तम् आ सम्यग् धूनोमि, ततस्त्वां मोचयामि' इति, तदपि न सङ्गतम्, पत्न्या वक्तृत्वे पतनशीलस्य पत्युः सम्बोध्यत्वे मानाभावात्, पत्मन्निति सम्बोधनस्यापि सम्भवात्। परस्त्रीणां बोधका व्रेश्यादिशब्दा इत्यपि निर्मूलम्, उव्वटादिरीत्या मेघस्थानामपामपि बोधकत्वसम्भवात्। तथा श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पदे पदे स्फुटः॥ ४८॥

ककुभꣳ रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः। यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा॥ ४९॥

हे सोम, वृषभस्य श्रेष्ठस्य वर्षणशीलस्य वा तव ककुभं महत् प्रभावत आदित्यलक्षणं रूपं रोचते दीप्यते। ककुभमिति महन्नामसु पठितम् (निघ० ३।३।१९)। बृहद् महान् शुक्रः शुद्ध आदित्यः शुक्रस्य शुद्धस्य सोमस्य तव पुरोगाः पुरोगामी, यतः सोमः सोमस्य पुरोगाः पुरोगामी भवितुमर्हति, तस्मात् ते तव हे सोम! अदाभ्य-मनुपहिंसितं नाम जागृवि जागरणशीलं तस्मै त्वां गृह्णामि। 'तस्मै त इति जुहोतीति' (का० श्रौ० १२।५।१७)। अदाभ्यं जुहोति तस्मै त इति मन्त्रेण। हे सोम! तस्मै तादृशाय तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु, 'तत्सोममेवैतत् सोमाय जुहोति' (श० ११।५।९।११) इति श्रुतेः।

विशेष वृत्तियों के लिये तुमको संचालित करता हूँ। पवित्र, दीप्तिमान् तुमको पावन तथा विद्योतमान भक्त के हृदय में व्यापृत करता हूँ। हे नैवेद्य, दिवस की रश्मियों के काल में तुमको संचालित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या पत्नी के वक्ता होने में तथा पतनशील पति के सम्बोध्य होने में कोई प्रमाण न होने के कारण असंगत है। 'व्रेशी' आदि परस्त्रियों के बोधक शब्द हैं, यह कहना भी निर्मूल है, क्योंकि उव्वट आदि आचार्यों के अनुसार मेघस्थ जल का भी बोधन इनसे सम्भव है। श्रुति तथा सूत्र-वचनों का विरोध तो पदे-पदे स्पष्ट ही है॥ ४८॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, तुम्हारा श्रेष्ठ वर्षणकारी ककुद् महत् आदित्य लक्षण रूप में प्रदीप्त होता है। महान् शुद्ध आदित्य शुद्ध सोम का पुरोगामी है, सोम भी सोम का पुरोगामी है। तुम किसी की हिंसा नहीं करते, सदा जागते रहते हो। इसलिये मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे सोम, आपके निमित यह श्रेष्ठ आहुति प्रदत्त है॥ ४९॥

भाष्यसार—'ककुभं रूपम्' इस कण्डिका के मन्त्रों से अदाभ्य ग्रह का होम आदि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं।

अत्र ब्राह्मणम्—'ककुभ७ रूपं वृषभस्य रोचते बृहदिति। एतद्वै'''तस्मै त्वा गृह्णामीत्येतद्ध वा अस्यादाभ्यं नाम जागृवि यद्वाक्तद्वाचमेवैतद्वाचे गृह्णाति' (श० ११।५।९।१०)। य एष सूर्यस्तपति, एतत्खलु बृहदधिकं ककुभं प्रशस्यं रूपं तद् वृषभस्य वर्षणशीलस्य सूर्यस्य रोचते। अतोऽयं शुक्रो देदीप्यमानः सोमः शुक्रस्य दीप्यमानस्य सूर्यस्य पुरोगाः। तथा होमानन्तरं सोमोऽमृतमयो भूत्वा सोमस्य दिवि चन्द्रात्मना वर्तमानस्य पुरोगामी भवति। मन्त्रस्योक्तार्थपरतामाह—तच्छुक्रमेवैतदिति। एवद्ध स्म अस्यादाभ्यं नामेत्यस्य सोमस्य वागित्येतद् अदाभ्यं नाम, तस्याः सर्वव्यवहारहेतुत्वेन बाधानर्हत्वाददाभ्यत्वम्। तथा च वागात्मकमेवादाभ्यग्रहरूपं वाग्देवतायै गृहीतवान् भवतीत्यर्थः। 'अथोपनिष्क्रम्य जुहोति। तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहेति तत्सोममेवैतत् सोमाय जुहोति तथो वाचमग्नौ न प्रवृणक्त्यथ हिरण्यमभिव्यनिति' (श० ११।५।९।११)। अथास्य ग्रहस्य समन्त्रकं होमं विधत्ते—अथोपनिष्क्रम्य जुहोतीति। हविर्धानान्निर्गत्य आहवनीयदेशं गत्वा तस्मै त इति मन्त्रेण जुहुयात्। तस्मै वागात्मकाय तुभ्यं रसात्मकं हविः सुहुतमस्तु। तदर्थपरतां व्याचष्टे—तत्सोममेवैतत् सोमाय जुहोतीति। एतेन मन्त्रेण सोमरसमेव सोमाय हुतवान् भवतीत्यर्थः। तथा च वागात्मकस्य सोमस्य देवतात्वेनावस्थितत्वादग्नौ प्रक्षिप्यमाणः सोमरसो न वागात्मक इति वाचमग्नौ न प्रवृणक्ति न दहतीत्यर्थः। अस्य ग्रहस्य होमकाले ध्रियमाणस्य प्राणवायोर्यदि बलान्निष्क्रमः स्यात्तदा हिरण्यस्योपरि प्रश्वासः कार्यः। अस्य स्तावकं वाक्यं चतुर्थकाण्डे (श० ४।६।१।६) इत्यत्र।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम भगवत्समर्पणीयात्मरूपसोम ! वृषभस्य श्रेष्ठस्य ते तव ककुभं महत् सूर्यमण्डलस्थमाधिदैविकं रूपं रोचते दीप्यते। बृहत् प्रभावतः, शुक्रः शुद्धः परमात्मस्वरूपः, शुक्रस्य शुद्धस्य तव पुरोगाः पुरोगामी। हे सोम ! यत्ते त्वदीयमदाभ्यमनुपहिंसितमविद्याकामकर्मभिरसंस्पृष्टं रूपं जागृवि जागरूकं स्वरूपमस्ति, तस्मै सोमाय तत्पदार्थाय त्वां त्वंपदार्थं स्वाहा समर्पयामि।

दयानन्दस्तु—'हे सोम प्राप्तैश्वर्यविद्वन्, यस्य वृषभस्य सुखवर्षणशीलस्य बृहत् ककुभं रूपं रोचते दिशामिव शुद्धं बृहद्रूपं सुन्दरं स्वरूपं रोचते, स त्वं शुक्रस्य शुद्धस्य धर्मस्य पुरोगा अग्रगामी शुक्रः शुद्धः, सोमस्यात्यन्तमैश्वर्यस्याग्रगन्ता सोम ऐश्वर्ययुक्तो भव, यतस्तवादाभ्यं नाम जागृव्यस्ति, तस्मै त्वां गृह्णामि। हे सोम ! तस्मै सोमाय श्रेष्ठकर्मसु प्रवृत्ताय स्वाहा सत्या वाक् प्राप्ताऽस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सोमशब्दस्य तादृगर्थत्वे मानाभावात्। ककुभमित्यस्यापि दिग्वच्छुद्धमित्यपि प्रमाणापेक्षमेव। तथैवान्यान्यपि पदानि गौणार्थान्येव व्याख्यातानि॥ ४९ ॥

यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।५।१७) में निरूपित है। शतपथ श्रुति में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार है—हे भगवान् के प्रति समर्पणीय आत्मरूपी सोम ! तुम्हारा श्रेष्ठ, महान् सूर्यमण्डलस्थित आधिदैविक रूप प्रदीप्त होता है। बृहत्, शुद्ध, परमात्मस्वरूप, शुद्धात्मवान् तुम्हारा अग्रगामी है। हे सोम, तुम्हारा जो अनुपहिंसित, अविद्या-काम-कर्मों से अस्पृष्ट, जागरूक स्वरूप है। उस तत् पदार्थ के प्रति मैं त्वं पदार्थ को समर्पित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या में सोम शब्द का उस प्रकार अर्थ करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अनौचित्य है। 'ककुभम्' का 'दिशाओं की भाँति शुद्ध' यह अर्थ भी प्रमाण की अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार अन्य शब्दों की भी गौण अर्थों के द्वारा ही व्याख्या की गई है॥ ४९ ॥

उशिक् त्वं देव सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत्सखा त्वं देव सोम विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि ॥ ५० ॥

'अꣳशून् सोमे निदधात्युशिक् त्वमिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १२।५।१८)। त्रिभिर्मन्त्रैरुलूखल-मध्यस्थान् सोमांशूनधिषवणीयस्योपर्यद्रिषु निहितसोमे निदधात्येकैकम्। हे देव सोम, यतस्त्वमुशिक् कान्तो वल्लभोऽस्माकम्, अतोऽग्नेः प्रियं पाथोऽन्नमपि इहि अपि गच्छ। 'वश कान्तौ' वशी कान्तश्च त्वं हे सोम, इन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीहि प्राप्नुहि। हे देव सोम, अस्मत्सखा त्वस्माकं मित्रम्, अतस्त्वं विश्वेषां देवानां प्रियमभि-रुचितमन्नं प्राप्नुहि, 'अग्निर्वै प्रातःसवनमिन्द्रो माध्यन्दिनꣳ सवनं विश्वेदेवास्तृतीयꣳ सवनम्' इति श्रुतेः। सवनं देवेभ्योऽर्पणम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाꣳशून् पुनरप्यर्जति। उशिक् त्वम्····प्रियं पाथोऽपीहीति सवनानि वा अदः प्रवृहति तान्येवैतत् पुनराप्याययत्ययातयामानि करोति तैरयातयामैर्यज्ञं तन्वते' (श० ११।५।१।१२)। अथैतेषां त्रयाणामंशूनां पुनस्त्रिभिर्मन्त्रैः संसर्जनं विधत्ते—अथांशून् पुनरप्यर्जतीति। एवं होमानन्तरमेतान् धृतानंशून् उशिक् त्वमित्यादिभिः प्रतिमन्त्रं राजासन्दीगते सोमे पुनरप्यर्जति संसृजेत्, निदध्यादित्यर्थः।

सायणाचार्यरीत्या मन्त्रार्थस्तु—हे देव दानादिगुणक सोम, उशिक् कामयमानस्त्वं प्रियं पाथः प्रातःसवन-हवीरूपमन्नमपीहि गच्छ। वशी कामोऽस्यास्तीति वशी, इन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीहि गच्छ। अस्मत्सखा सखिभूतो विश्वेषां प्रियं पाथोऽपीहि। सवनार्थकथनव्याजेन मन्त्रान् व्याचष्टे श्रुतिः—सवनानि वा इति। अदोऽदाभ्यस्य ग्रहणकालेंऽशुत्रयरूपेण त्रीण्येव सवनानि प्रवृहति आदत्ते। तान्येव एतत्पुनः प्रक्षेपेणेदानीमाप्याययति वर्धयति, अयातयामानि च करोति। ततस्तैरगतसारैः रसवद्भिर्यज्ञं तन्वते विस्तारयन्ति यज्ञविदः।

अध्यात्मपक्षे—हे देव सोम सोमवत्प्रियदर्शन ! उशिक् कामयमानः कान्तो वा, अग्नेरग्निवत् सर्वपापताप-दाहकस्य परमेश्वरस्य प्रियं पाथः प्रीतिजनकं पाथोऽन्नमन्नभावं भोग्यत्वमपीहि प्राप्नुहि। त्वं वशी जितेन्द्रियो भूत्वा हे प्रियदर्शन, त्वमिन्द्रस्य परमैश्वर्यशालिनः परमेश्वरस्य प्रियं पाथो भोग्यभावं प्राप्नुहि। हे सोमदेव, त्वमस्मत्सखा वयं वेदाः सखायो यस्य स त्वम्, हे सोम ! विश्वेषां देवानां तदुपलक्षितानां समेषां भूतानां प्रियं

मन्त्रार्थ—हे सोम देवता, तुमको पाने की सब कामना करते हैं, इस कारण तुम अग्नि के प्रिय खाद्य बनो। हे देदीप्यमान सोम, तुम अत्यन्त कान्तिमान् हो। तुम इन्द्र के प्रिय खाद्य बनो। हे सोम देव, तुम हमारे बन्धु हो, सम्पूर्ण विश्वेदेव देवताओं के तुम प्रिय खाद्य बनो ॥ ५० ॥

भाष्यसार—'उशिक् त्वम्' इस कण्डिका के तीन मन्त्रों से सोम-खण्डों को अधिषवण-प्रस्तरों पर रखा जाता है। यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।५।१८) में वर्णित है। शतपथ श्रुति के याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान सायणादि द्वारा उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में कण्डिका का अर्थ यह है—सोम की भाँति प्रियदर्शन हे देव ! तुम कमनीय हो, अग्नि के समान सम्पूर्ण पाप-ताप को जलाने वाले परमेश्वर के प्रिय हो, प्रीतिजनक अन्नभाव अर्थात् भोग्यत्व को प्राप्त करो। जितेन्द्रिय होकर हे प्रियदर्शन ! तुम परमेश्वर के प्रिय भोग्यभाव को प्राप्त करो। हे सोम देव ! वेद जिसके मित्र हैं, इस प्रकार के तुम हमारे सखा हो। हे सोम, समस्त देवों तथा तदुपलक्षित सम्पूर्ण जीवों के प्रिय भोग्यभाव को प्राप्त करो।

पाथोऽन्नभावं प्राप्नुहि। 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' (तै० उ० ३।१०) इत्यादिश्रुतौ साधकस्यान्नत्वमन्नादत्वं चोक्तम्। भगवतोऽन्नत्वेनात्मनो भोग्यत्वं भगवतो भोक्तृत्वम्, भगवतः परमानन्दरसात्मकस्य भोग्यत्वे भक्तस्यात्मनो भोक्तृत्वमन्नादत्वादिकमिष्यते।

दयानन्दस्तु—'हे देव सोम राजन्, त्वमुशिक् कामयमानमग्नेः सद्विदुषः प्रियं प्रीतिजनकं पाथो रक्षणीयमाचरणम्, पाथ इति पदनामसु पठितम्, अपीहि प्राप्नुहि जानीहि वा। हे देव सोम, त्वं वशी जितेन्द्रियो भूत्वा इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य धार्मिकस्य राज्ञः प्रियं सुखैस्तर्पकं पाथो ज्ञातव्यं कर्म अपीहि। हे सोम, त्वमस्मत्सखा वयं सखायो यस्य स अस्मत्सखा, विश्वेषां देवानां सर्वेषां धार्मिकाणामाप्तानां विदुषां प्रियं कमनीयं पाथो विज्ञानाचरणमपीहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शब्दार्थसाङ्कर्यात्, देवसोमादिशब्दानां विभिन्नार्थकत्वे नियामकाभावात्। पाथो रक्षणीयमाचरणम्, पाथः सुखैस्तर्पकम्, पाथो विज्ञानाचरणमित्यर्थभेदः किंमूलक इत्यस्य वक्तव्यत्वेऽप्यनुक्तत्वात्। तथैव प्रियशब्दस्यापि भिन्नार्थकत्वे हेतुर्वाच्यः स्यात्। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव॥ ५०॥

इ॒ह रति॑रि॒ह र॑मध्वमि॒ह धृति॑रि॒ह स्वधृ॑ति॒: स्वाहा॑। उ॒प॒सृ॒जन् ध॒रुणं॑ मा॒त्रे ध॒रुणो॑ मा॒तरं॒ धय॑न्॥ रा॒यस्पोष॑म॒स्मासु॑ दीधर॒त् स्वाहा॑॥ ५१॥

सत्रोत्थानमन्त्राः। देवस्यार्षम्। 'शालाद्वार्येऽन्वारब्धेष्विह रतिरिति जुहोतीति' (का० श्रौ० १२।४।८)। दीक्षितेष्वध्वर्युमन्वारब्धेषु सत्स्वध्वर्युः सकृद्गृहीतमाज्यं जुहुयात्। पशुदैवतं यजुः। हे गावः, इह यजमानेषु युष्मदीया रतिः संयमनमस्तु। रम्णातिः संयमनकर्मा। यत एवमत इहैव रमध्वम्। युष्माकमिह यजमानेषु धृतिः सन्तोषोऽस्तु। युष्माकं स्वधृतिः स्वकीयानामपि धृतिरिहैवास्तु। स्वाहा सुहुतमस्तु। 'अपरामुपसृजन्निति' (का० श्रौ० १२।४।९)। सकृद्गृहीतेनाज्येन द्वितीयामाहुतिं शालाद्वार्येवाध्वर्युर्जुहोति। उष्णिक्,

---

'अहमन्नम्' इत्यादि श्रुति में साधक का अन्नत्व तथा अन्नादत्व उपदिष्ट किया गया है। आत्मा के भगवद्भोग्य होने के कारण भगवान् का भोक्तृत्व तथा परमानन्द रसात्मक भगवान् के भोग्य होने पर भक्तात्मा का भोक्तृत्व, अन्नादत्व आदि अभीप्सित हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में शब्दार्थ की संकरता के कारण अनौचित्य है। देव, सोम आदि शब्दों के विभिन्न अर्थों में कोई नियामकता नहीं है। 'पाथः' शब्द के रक्षणीय आचरण, सुखों के द्वारा तर्पक तथा विज्ञानाचरण इन त्रिविध अर्थों में अर्थभेद किस कारण है, यह प्रतिपादनीय होने पर भी नहीं निरूपित किया गया। इसी प्रकार 'प्रिय' शब्द के भी विभिन्न अर्थों में हेतु आकांक्षित है। श्रुति तथा सूत्र-वचनों का विरोध तो स्पष्ट ही है॥ ५०॥

मन्त्रार्थ—**हे गोविन्द, तुम्हारी रति इस यजमान में हो, इस यजमान में तुम रमण करो, इस यजमान में तुम्हारा संतोष हो, इसी के स्थान में स्वजनों का संतोष हो, आपके द्वारा यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। धारक अग्नि पृथ्वी को धारण करने वाले अग्नि के समीप में आकर पृथ्वी को पीता हुआ हमें धन, पशु, पुत्र, सुवर्ण आदि की पुष्टि प्रदान करे। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो॥ ५१॥**

भाष्यसार—'इह रतिः' इत्यादि कण्डिकान्तर्गत सत्रोत्थान मन्त्र हैं। इनके द्वारा आज्यहोम आदि की विधियाँ

आद्यावष्टाक्षरौ तृतीयो द्वादशार्णः सोष्णिक्। धरुणः, धारयतीति धरुणोऽग्निः, अस्मासु रायस्पोषं रायो धनस्य पशुपुत्रसुवर्णादिः पुष्टिं दीधरद् धारयतु। धारयतेर्लुङि रूपम्, अडभाव आर्षः। कीदृशो धरुणः? मात्रे धरुणं मातुः पृथिव्या धरुणं धारयितारम्, अग्निमुपसृजन् समीपं प्रापयन् तथा मातरं पृथिवीं धयन् पिबन् तत्रोत्पन्नं हविर्भक्षयन्, स्वाहा तस्मै सुहुतमस्तु। यद्वा धरुणो धारयिताग्निः, धरुणं धारयितारमग्निं मात्रे पृथिव्यै उपसृजन् संसृजन् मातरं पृथिवीं धयन् पिबन् रायस्पोषं पशूनस्मासु दीधरद् धारयतु, 'पशवो वै रायस्पोषः' (श० ४।६।९।९) इति श्रुतेः। अत्राग्न्योराधिदैविकाधियाज्ञिकत्वभेदेन भेदः, एकत्रैव प्राप्य-प्रापकभावासम्भवात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'तेऽपराह्णे उपसमेत्य। अप उपस्पृश्य पत्नीशालᳬ सम्प्रपद्यन्ते तेषु समन्वारब्धेष्वेते आहुती जुहोतीह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहेति··· पशूनेवैतदात्मन्नियच्छन्ते' (श० ४।६।९।८)। अत्र स्पष्टं सूत्रोक्तविधानस्यैव समर्थनम्, मन्त्रस्य च होम एव विनियोगः। 'अथ द्वितीयां जुहोति। उपसृजन् धरुणं मात्र इत्यग्निमेवैतत् पृथिव्या उपसृजन्नाह धरुणो मातरं धयन्नित्यग्निमेवैतत्पृथिवीं धयन्तमाह रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहेति पशवो वै रायस्पोषः पशूनेवैतदात्मन्नियच्छन्ते' (श० ४।६।९।९)। अनेनापि पूर्वोक्तं मन्त्रव्याख्यानं समर्थितं भवति।

अध्यात्मपक्षे—हे मनश्चित्तबुद्धयः, युष्माकमिह परमात्मनि रतिः प्रीतिरस्तु। यद्वा युष्माकमिह परमात्मन्येव संयमनमस्तु। यूयमिहैव रमध्वम्। युष्माकमिह धृतिर्धारणमेकाग्रता भवतु। युष्माकमिह स्वधृतिः स्वकीयज्ञान-ध्यान-स्मरणादिधर्माणामपि धारणमस्तु। धरुणः सर्वधारकः परमेश्वरोऽस्मासु रायो ज्ञानध्यानादिधनस्य पोषं पुष्टिं दीधरद् धारयतु। कीदृशो धरुणः? मात्रे मातुः पृथिव्या धरुणं धारयितारं महावराहं तस्याः समीपं प्रापयन् स्वीयेन वराहरूपेण भूमिमुद्धरन् तथा मातरं पृथिवीं धयन् धापयन् जीवान् पाययन् तत्रोत्पन्नान् व्रीहियवहिरण्यरत्नादीन् भोजयन्।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थाः, युष्माकमिह गृहाश्रमे रती रमणमिह धृतिः सर्वेषां व्यवहाराणां धारणमिह स्वधृतिः सर्वेषां पदार्थानां धारणम्, स्वाहा सत्या वाक् क्रिया वास्तु, यूयमिह रमध्वम्। हे गृहिन्, त्वमपत्यस्य मात्रे मान्यकर्त्र्यै यं धरुणं धर्तव्यं पुत्रं गर्भमुपसृजन् स्वगृहे रमस्व, स धरुणो धर्ता मातरं मान्यप्रदां धयन्निव तस्याः पयः पिबन् अस्मासु रायस्पोषं धनस्य पुष्टिं स्वाहा सत्यया वाचा दीधरद् धारय' इति, तदपि यत्किञ्चित्,

---

अनुष्ठित की जाती हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।४।८-९) में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे मन, चित्त तथा बुद्धि! तुम्हारी परमात्मा में ही प्रीति हो, अथवा इसी में प्रतिबद्धता हो। तुम लोग इसमें ही रमण करो। इसमें ही तुम्हारी धृति, एकाग्रता हो। इसमें तुम्हारे स्वकीय ज्ञान, ध्यान, स्मरण आदि धर्मों का धारण भी हो। सर्वधारक परमेश्वर हममें ज्ञान-ध्यान आदि धन की पुष्टि को धारण करें। माता पृथ्वी को धारण करने के निमित्त महावराह को उस पृथ्वी के समीप पहुँचाते हुए, अपने वराह रूप के द्वारा भूमि का उद्धार करते हुए, माता पृथ्वी को स्नेहार्द्र करते हुए एवं प्राणियों को उसमें उत्पन्न व्रीहि, यव, हिरण्य, रत्न आदि का उपभोग कराते हुए, वे सबको धारण करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में 'हे गृहस्थों' इस प्रकार के सम्बोधन के निर्मूल होने के कारण अनौचित्य है। 'अपत्य की माता के लिये' इत्यादि कथन अप्रामाणिक है, क्योंकि मूल मन्त्र में अपत्य शब्द नहीं है। 'धर्तव्य'

हे गृहस्था इति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। अपत्यस्य मात्रे इत्यपि निर्मूलमेव, मूलेऽपत्यपदस्याभावात्। न च धर्तव्यो गर्भ एव भवति, विद्यादीनामपि धर्तव्यत्वाविशेषात्। क इमे येऽस्मासु रायस्पोषं दीधरद् इति प्रार्थयन्ते ? न च गर्भे पुत्रे वा धनपुष्टेर्धारयितृत्वं सम्भवति, तस्याल्पशक्तित्वात्। उपपूर्वस्य सृजेर्नोत्पादनमर्थः, किन्तु संसर्जनमेवार्थः। श्रुतिसूत्रविरोधोऽपि स्पष्टः ॥ ५१ ॥

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम। दिवम्पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः ॥ ५२ ॥

'सत्रस्यर्द्धि गायन्ति सत्रस्य ऋद्धिरिति' (का० श्रौ० १२।४।१०)। सर्वे दीक्षिता धिष्ण्याऽव्यवायेनाग्नीध्रीयमुत्तरेण गत्वाऽपरेण द्वारेण हविर्धानं प्रविश्योत्तरस्य हविर्धानस्यापरकूबरीम्(विष्कम्भिकाम्) आलभ्य सत्रस्य ऋद्धिरित्यस्यामृचि साम गायेयुः। बृहती सप्तैकादशनवार्णपादा। सत्रयजमानानामात्मस्तुतिः। हे साम! सत्रस्य ऋद्धिः समृद्धिरसि त्वम्। वयं यजमाना ज्योतिरादित्यलक्षणमगन्म प्राप्ताः। ततोऽमृता अमरणधर्माणः, अभूम भूताः। पृथिव्याः सकाशाद् दिवं द्युलोकमध्यारुहाम अध्यारूढाः। ततो देवान् इन्द्रादीन् अविदाम जानीमः पश्यामः, ज्योतिर्ज्योतीरूपं स्वः स्वर्गं चाविदाम।

अत्र ब्राह्मणम्—'त उत्तरस्य हविर्धानस्य। जघन्यायां कूबर्या᳸ सामाभिगायन्ति सत्रस्य ऋद्धिरिति राद्धिमेवैतदभ्युत्तिष्ठन्त्युत्तरवेदेरुत्तराया᳸ श्रोणावितरं तु कृततरम्' (श० ४।६।९।११)। कूबरी ईषाधारिणी विष्कम्भिका। सा चाग्रतः पृष्ठतश्च भवतीति विशिनष्टि—जघन्यायां कूबर्यामिति। तस्यां च बहूनामारोहणासम्भवात् तामालभ्य गायन्तीत्यर्थः। सत्रस्य ऋद्धिरिति मन्त्रे साम गायन्ति। इतरं तु कर्म कृततरमतिशयेन पूर्वैर्वादिभिः कृतमिति तथोक्तम्। 'यदुत्तरस्य हविर्धानस्य। जघन्यायां कूबर्यामगन्म ज्योतिरमृता अभूमेति ज्योतिर्वा एते भवन्त्यमृता भवन्ति ये सत्रमासते···अविदाम देवानिति विन्दन्ति हि देवान् स्वर्ज्योतिरिति त्रिर्निधनमुपावयन्ति स्वर्ह्येते ज्योतिर्ह्येते भवन्ति तद्यदेवैतस्य साम्नो रूपं तदेवैते भवन्ति ये सत्रमासते' (श० ४।६।९।१२)। उक्तब्राह्मणानुसार्येव पूर्वोक्तं व्याख्यानम्।

केवल गर्भ ही नहीं हो सकता, क्योंकि विद्या आदि में भी धर्तव्यत्व समान ही है। इसमें वे कौन हैं ? जो प्रार्थित किये जा रहे हैं। गर्भ में अथवा पुत्र में अल्पशक्तित्व होने के कारण धनपुष्टि का धारयिता होना सम्भव नहीं है। उप उपसर्गपूर्वक सृज धातु का अर्थ उत्पादन नहीं है, अपितु संसर्जन ही अर्थ है। श्रुति तथा सूत्र का विरोध तो स्पष्ट ही है ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—हे उत्तर हविर्धान, तुम यज्ञ की समृद्धि हो। तुम्हारे प्रसाद से ही हम यजमान आदित्य लक्षण वाली ज्योति को प्राप्त कर मृत्यु से दूर होने की आशा करते हैं। पृथ्वी से द्युलोक को गये हुए देवगण इन्द्र आदि के पास जाने की, ज्योतीरूप स्वर्ग को देखने की हम आशा करते हैं ॥ ५२ ॥

भाष्यसार—'सत्रस्य ऋद्धिः' इस ऋचा पर साम का गायन सभी दीक्षित ब्राह्मणों द्वारा किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।४।१०) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—याज्ञिकाः सर्वेश्वरं प्रार्थयन्ते । हे भगवन्, त्वं सत्रस्यास्मत्कृतस्य बहुयजमानकर्तृकस्य यज्ञस्य ऋद्धिः समृद्धिरसि, त्वत्प्रसादादेव तत्समृद्धिसम्भवात् । वयं यजमानास्त्वत्प्रसादाज्ज्योतिर्विशिष्टमादित्यलक्षणं ज्योतिः प्राप्ताः । ततोऽमृता अमरणधर्माणः सञ्जाताः । पृथिव्याः सकाशाद् दिवमारूढा देवानिन्द्रादीन् स्वर्गं च पश्यामः । यद्वा ब्रह्मज्योतिः प्राप्ताः पृथिव्या मायाभूमेः सकाशाद् दिवं द्योतनात्मकं ब्राह्मं रूपं प्राप्तवन्तः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं सत्रस्य संगतस्य राजप्रजाव्यवहाररूपस्य यज्ञस्य ऋद्धिः सम्यग् वृद्धिरस्ति । त्वत्सङ्गेन वयं ज्योतिरगन्म विज्ञानप्रकाशं प्राप्नुयाम । अमृता अभूम प्राप्तमोक्षा भवेम । दिवं पृथिव्या अध्यारुहाम सूर्यादिभूम्यादेर्जगतोऽधि उपरि आसमन्ताद् अरुहाम प्रादुर्भवेम । देवान् विदुषो दिव्यान् भोगान् वा । ज्योतिर्विज्ञानविषयं सुखमविदाम विन्देमहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सत्रपदेन ब्राह्मणेषु सूत्रेषु च प्रसिद्धं सत्रमनेकयजमानकर्तृकं विशिष्टं यज्ञमतिक्रम्य राजप्रजाव्यवहारग्रहणे मूलाभावात् । कश्चात्र प्रार्थनीयः ? कश्च प्रार्थयिता ? नहीश्वरोऽत्र वक्ता सम्भवति, तस्य नित्यमुक्तत्वेन मोक्षासम्भवात् ॥ ५२ ॥

यु॒वं तमि॑न्द्रापर्वता पुरो॒युधा॒ यो नः॑ पृत॒न्याद॒प तं तमिद्ध॒तं वज्रे॑ण॒ तं तमिद्ध॑तम् । दू॒रे च॒त्ताय॑ छन्त्स॒द्गह॑नं॒ यदिन॑क्षत् । अ॒स्माक॒ꣳ शत्रू॒न् परि॑ शूर वि॒श्वतो॑ द॒र्मा द॑र्षीष्ट वि॒श्वतः॑ । भूर्भु॑वः॒ स्वः॒ सुप्र॒जाः प्र॒जाभिः॑ स्याम सु॒वीरा॑ वी॒रैः सु॒पोषाः॒ पोषैः॑ ॥ ५३ ॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—याज्ञिक सर्वेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन्, आप हमारे द्वारा सम्पादित किये गये, बहुत यजमानों द्वारा अनुष्ठीयमान यज्ञ की समृद्धि हैं, क्योंकि आपकी कृपा से ही उसकी समृद्धि सम्भव है । हम यजमानों ने भी आपके अनुग्रह से विशिष्ट आदित्यात्मक ज्योति को प्राप्त कर लिया है । तदनन्तर अमृतत्व धर्म से युक्त हो गये हैं । पृथिवी से द्युलोक की ओर आरूढ हो गये हैं तथा इन्द्रादि देवों एवं स्वर्ग का भी अवलोकन कर रहे हैं अथवा हमने ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर लिया है । तदनन्तर मायाभूमि से उठ कर द्योतनात्मक ब्राह्म स्वरूप को प्राप्त कर लिया है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या अग्राह्य है, क्योंकि सत्र शब्द से ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा सूत्र-ग्रन्थों में सुप्रथित, अनेक यजमानों द्वारा किये जाने वाले विशिष्ट यज्ञ को छोड़ कर 'राजा-प्रजा का व्यवहार' इस अर्थ के ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है । यहाँ प्रार्थनीय कौन है ? तथा प्रार्थना करने वाला कौन है ? ईश्वर का यहाँ वक्ता होना सम्भव नहीं है, नित्य-मुक्त होने के कारण उसका मोक्ष असंगत है ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—युद्ध में सबसे आगे रहने वाले, शत्रुओं को युद्ध में ललकारने वाले हे इन्द्र और पर्वत, तुम दोनों हमारे सभी शत्रुओं का नाश कर दो । वज्र नामक अपने तीक्ष्ण आयुध से उन सभी शत्रुओं का नाश कर दो, जो सेना लेकर हमसे युद्ध करने आवें । हे शूरवीर इन्द्र, तुम्हारा वज्र दूर चले गये शत्रु को भी खोज कर उसका नाश कर दे, विदारण करने वाला तुम्हारा वज्र हमारे सभी शत्रुओं को विदीर्ण कर दे । हे अग्नि, वायु और सूर्य आदि देवताओं ! आपके प्रसाद से हम अच्छी प्रजा वाले बनें । वीर पुत्रों से सुपुत्रवान् और उत्कृष्ट सम्पत्ति को प्राप्त कर हम आपके प्रसाद से सुसम्पत्तिवान् बनें ॥ ५३ ॥

'युवं तमिति दक्षिणस्याधोऽक्षं प्राञ्चो निष्क्रामन्तीति' (का० श्रौ० १२।४।१२)। सर्वे दीक्षिता यजमाना दक्षिणहविर्धानाक्षाधोमार्गेण चक्रयोरन्तरालेन नीचीभूय प्राङ्मुखा निःसरन्ति हविर्धानात्। इन्द्रदेवत्याऽत्यष्टिरवसानत्रयोपेता षट्षष्ट्यक्षरत्वाद् द्व्यूना। आद्योऽर्धर्च इन्द्रपर्वतदेवत्यः। हे इन्द्रापर्वतौ, युवं युवां तं यत्नमनुतिष्ठतम्, येन यत्नेन पुरोयुधा पुरो अग्रे युध्यतीति पुरोयुत्, तेन पुरोयुधा बलेन यो यः शत्रुर्नोऽस्मान् पृतन्यात् संग्रामयेद् योधयेत्, अप तं तं शत्रुं इद्धतम् अपहतं विनाशयतम्। तदो वीप्सा-श्रवणाद्यदोऽपि वीप्सा कर्तव्या। इच्छब्दोऽनर्थकः। वज्रेणेत्यायुधनियमः। इत उत्तरम् इन्द्रः प्रत्यक्षः, वज्रस्य तु कर्तृत्वं विवक्षितम्। परोक्षस्य सतो दूरे चत्ताय छन्त्सत्। चततिर्गतिकर्मा छन्दतिः कामार्थः। हे इन्द्र, त्वदीयो वज्रो दूरं गताय शत्रवे विनाशं कामयताम्। कथं परवशो वर्ततामिति चेत्, कथं च वज्रस्य जडस्य शत्रुविनाशकामना सम्भवतीति चेन्न, 'आत्मैवां रथो भवत्यात्माश्व आत्मायुधम्' इति निरुक्तरीत्या वज्रस्थदेवतायाः स्वात्मरूपत्वेन कामोपपत्तेः। गहनं वनमुदकं वा यद् यदि इनक्षत्, रूपसादृश्यादुदकं वनं वा व्याप्नोति, पलाय्य गच्छति शत्रुरथापि तं विनाशयति, इनक्षतिर्व्याप्तिकर्मा। ग्रहरूपेण तस्यापि विनाशं कामयतां त्वदीयो वज्रः। अस्माकं ये शत्रवस्तान् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट। हे शूर, त्वदीयो वज्रोऽस्माकं ये शत्रवस्तान् विश्वतः सर्वतोऽवस्थितान् शत्रून् परिदर्षीष्ट परिविदारयतु, 'दृ विदारणे'। कीदृशो वज्रः ? दर्मा विदारणशीलः।

महीधराचार्यस्तु सायणाचार्यरीत्या—हे शत्रूणां पुरतो युद्धस्य कर्तारौ इन्द्रापर्वतौ ! युवं युवां तं तं शत्रुमपहतं विनाशयतम्। आदरे वीप्सा। इदेवार्थकः। तमेव तत्तत्समानमेव सर्वमपि शत्रुं विनाशयतम्। केन ? वज्रेण, वज्राख्येनायुधेन तं तमित तं तमेव शत्रुं विनाशयतम्, यो यः शत्रुर्नोऽस्मान् पृतन्यात्, पृतनां सेनां कुर्याद् योधयेत्। हे शूर इन्द्र, त्वदीयो वज्रो यद् यदा ग्रहणमत्यन्तं गम्भीरं वनमुदकं प्रति दूरं चत्ताय दूरं गताय छन्त्सत् शत्रुं प्राप्तुं कामयते, तदा तमपि दूरगतमिनक्षत् प्राप्नुयात्, वनं दूरगतमपीच्छन् गृह्णात्येवेत्यर्थः। ततो दर्मा विदारणशीलो वज्रोऽस्माकमस्मदीयानां च विश्वतः सर्वतः स्थितान् सर्वान् शत्रून् परिदर्षीष्ट परितो विदारयतु। 'पृथक्कामेषु भूर्भुवःस्वरिति' (का० श्रौ० १२।४।२४)। नानाकामेषु दीक्षितेषु भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रेण सर्वे वाग्विसर्जनं कुर्युः। हे भूर्भुवस्वः ! अग्निवायुसूर्याः, वयं प्रजाभिः सुप्रजाः, वीरैः पुत्रैः सुवीराः स्याम, पोषैः पुष्टिभिः सुपोषाः स्याम भवेम।

अत्र ब्राह्मणम्--'ते दक्षिणस्य हविर्धानस्य। अधोऽधोऽक्षꣳ सर्पन्ति स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवꣳ सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यन्तेऽतिच्छन्दसा सर्पन्त्येषा वै सर्वाणि छन्दाꣳसि यदतिच्छन्दास्तथैनान् पाप्मा नान्वत्येति तस्मादतिच्छन्दसा सर्पन्ति' (श० ४।६।९।१३)। अत्यष्टिच्छन्दसा सर्पन्ते दीक्षितास्त्वचोऽहिरिव सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यन्ते। 'ते सर्पन्ति। युवं तमिन्द्रापर्वता····विश्वत इति' (श० ४।६।९।१४)।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्रापर्वतौ कृष्णार्जुनौ पुरोयुधौ अग्रे योद्धारौ, कामक्रोधादिभिरग्रे योद्धारौ ज्ञानविज्ञानौ ! युवं युवां तं कामादिकं शत्रुमपहतं विनाशयतम्। तमेव तं तं सर्वमपि शत्रुमुपहतम्। केन ?

भाष्यसार—'युवं तम्' इस मन्त्र से सभी दीक्षित यजमान हविर्धान से पूर्वाभिमुख होकर निष्क्रमण करते हैं। यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।४।१२) में प्रतिपादित है। शतपथ श्रुति के अनुसार सायण तथा महीधर आदि आचार्यों ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे श्रीकृष्ण तथा अर्जुन अग्रणी शूरों, काम-क्रोध आदि से अग्रतः युद्ध करने वाले ज्ञान-विज्ञान ! आप दोनों उन कामादि शत्रुओं को विनष्ट करें। तत्तत् सम्पूर्ण शत्रुओं को विचाररूपी आयुधों

वज्रेण, विचाररूपेणायुधेन। यो यः शत्रुर्नः पृतन्याद् अस्मान् जेतुं पृतनां सेनासङ्घटनं कुर्यात्, हे शूर हे कृष्ण हे प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मसाक्षात्कार! त्वदीयो विचाराख्यो वज्रः, गहनमत्यन्तगम्भीरं वनं प्रति चत्ताय दूरे गताय छन्त्सत् शत्रुं प्राप्तुं कामयते, तमपि इनक्षद् व्याप्नुयात्, दूरगतमपि इच्छन् गृह्णात्येव। दर्मा विदारणशीलः, अज्ञानान्धकारोन्मूलनशीलः, विश्वतः स्थितान् सर्वान् शत्रून् विदारयतु। हे भूर्भुवःस्वः, उत्पादक-पालक-संहारका विधिहरिरुद्राः, युष्माकं कृपया वयं प्रजाभिर्ज्ञानविज्ञानवैराग्यरूपाभिः सुप्रजास्तैरेव वीरैः सुवीरास्तेषामेव पोषैः सुपोषा भवेम।

दयानन्दस्तु 'हे पुरोयुवेन्द्रपर्वताः, सूर्यसोमसदृशौ सेनापतिसेनाजनौ! युवां यो यो नः पृतन्यात् पृतनां सेनामिच्छेत्, तं तं वज्रेणैव शस्त्रास्त्रविद्याबलेन आहतमपहन्यातामृ। यद्गहनं शत्रुरलमस्माकं सैन्यमिनक्षद् व्याप्नुयात्, यच्च छन्त्सद् ऊर्जेत्, तं तं चत्ताय अस्माकमाह्लादाय इद्धतं दूरे प्रापयतम्। हे शूर सभापते, दर्मा शत्रुविदारयिता त्वमस्माकं शत्रून् विश्वतः परिदर्षीष्ट विदारय। यतो वयं भूर्भुवःस्वर्भूमा अन्तरिक्षे सुखे प्रजाभिः सुप्रजाः, वीरैः सुवीराः, पोषैः सुपोषा विश्वतः स्याम' इति, तदपि मन्दम्, मुख्यार्थत्यागाद् गौणार्थश्रियणाच्च। किञ्च, सेनापतिसैनिकजनाभ्यां सुप्रजस्त्वादिकमपि कथं सम्पद्यते? इत्यपि चिन्त्यम् ॥ ५३ ॥

परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धो अच्छेतः। सविता सन्यां विश्वकर्मा दीक्षायां पूषा सोमक्रयण्याम् ॥ ५४ ॥

'परमेष्ठ्यादींश्च चतुस्त्रिꣳशतं जुहोति, घर्मदुग्ध्वालेमे चादोहे च, उदीच्या दोहस्थानेऽन्यस्याः, शालाया वा पुरस्तात् प्राच्याः, पुच्छकाण्डाद् दक्षिणेऽस्थनि हुत्वा दोहयेत्, पृथदाज्यस्यन्दने चैके' (का० श्रौ० २५।६।१-६)। मृन्मयघर्मपात्रभेदे भिन्नमभिमृश्य परमेष्ठिने स्वाहा प्रजापतये स्वाहेत्यादीन् सलिलाय स्वाहेत्यन्ताद् चतुस्त्रिशद्धोमान् जुहोति। घर्मदुहो गोर्मरणे तत्स्थान उदङ्मुख्याः स्थितायाः

से नष्ट करें, जो जो शत्रु हमको जीतने के लिये सेना का संगठन करता है। हे श्रीकृष्ण, हे प्रत्यक्चैतन्य से अभिन्न ब्रह्मसाक्षात्कार! आपका विचार रूपी वज्र अत्यन्त गम्भीर वन में सुदूर जाने वाले शत्रु को प्राप्त करने की इच्छा करता है, उसको भी व्याप्त करे, अधिगत करे। अर्थात् सुदूर जा चुके शत्रु को भी इच्छा होने पर वह निगृहीत कर ही लेता है। अज्ञानान्धकार का उन्मूलन करने वाला, सर्वतः स्थित समस्त शत्रुओं को विनष्ट करे। हे उत्पादक, पालनकर्ता तथा संहृतिकर्ता ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर! आप लोगों की कृपा से हम ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य-रूपिणी प्रजाओं से सुप्रजावान्, उन्हीं सन्ततियों से सुसन्ततियुक्त तथा उनके ही पोषण से सुपोषित हों।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत व्याख्यान मुख्यार्थ के परित्याग तथा गौणार्थ के आश्रयण के कारण अग्राह्य है। सेनापति तथा सैनिक जनों से सुप्रजायुक्त आदि होना कैसे सम्भव होता है? यह भी विचारणीय है ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—जिस समय यजमान सोमयाग करने को प्रवृत्त होता है, उस समय यह सोम मन में परमेष्ठी के रूप में विराजमान हो जाता है। वाणी के उच्चारण में वह सोम प्रजापति बन कर बैठ जाता है। जिस काल में वह यजमान के संमुख आता है, तब वह अन्ध नाम वाला होता है। सोम के यथाभाग रक्षित होने पर वह सविता कहलाता है। दीक्षा के समय उसका नाम विश्वकर्मा होता है। सोमक्रयणी गाय को लाने में सोम पूषा नाम वाला होता है ॥५४॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।६।१-६) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'परमेष्ठ्यभिधीतः'

पत्नीशालापूर्वभागे प्राङ्मुख्या वा पुच्छाद्दक्षिणेऽस्थनि परमेष्ठिने स्वाहेति चतुस्त्रिंशतमाज्याहुतीर्हुत्वा तां दोहयेत्। स्थालीस्थस्य स्रुक्स्थस्य वा पृषदाज्यस्य वा भ्रंशे एके आचार्या परमेष्ठ्यादीन् जुहोतीत्याहुरिति सूत्राणामर्थः। आध्यायाद्वशिष्ठ ऋषिः। यदा सोमो यजमानेनाभिधीतोऽभिध्यातः सङ्कल्पितो भवति, तदा स परमेष्ठी भवति। मनसा ध्यातः सोमो यदि नोपनमेत्, तदा परमेष्ठिने स्वाहेति जुहुयात्, 'स यद्येनं मनसाभिध्यातः। यज्ञो नोपनमेत् परमेष्ठिने स्वाहेति जुहुयात् परमेष्ठी हि स तर्हि भवत्यप पाप्मानꣳ हत उपैनं यज्ञो नमति' (श० १२।६।१।३) इति श्रुतेः। वाचि व्याहृतायां सोमेन यक्ष्य इति वचस्युच्चारिते सति सोमः प्रजापतिनामको भवति। तदा प्रायश्चित्तापत्तौ प्रजापतये स्वाहेति जुहुयादित्यर्थः। यदा सोमोऽच्छाभिमुख्येनेतः प्राप्तस्तदाऽन्धो भवति, 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (निरु० ५।२८)। सोमं प्रति गतौ किञ्चिन्निमित्तं चेत्तदा अन्धसे स्वाहेति जुहुयात्। अन्धोऽन्नमिति। सन्यां सोमस्य सम्भक्तौ सोमः सवितृनामको भवति, तदा प्रायश्चित्तनिमित्ते सति सवित्रे स्वाहेति जुहुयात्, 'अथ यदि सातः। किञ्चिदापद्येत सवित्रे स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६। ।६) इति श्रुतेः। दीक्षायां सत्यां सोमो विश्वकर्मा भवति, तदा विश्वकर्मणे स्वाहेति जुहुयात्। सोमक्रयण्यां सोमः क्रीयतेऽनया सा सोमक्रयणी गौस्तस्यामानीतायां सत्यां सोमः पूषा भवति, तदा निमित्ते सति पूष्णे स्वाहेति जुहुयात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'सोमो वै राजा यज्ञः प्रजापतिः। तस्यैतास्तन्वो या एता देवता या एता आहुतीर्जुहोति' (श० १२।६।१।१)। सोमप्रायश्चित्तब्राह्मणमेतत्। सोमोऽनन्तौषधीनां राजा देवराजश्चन्द्रमसो न न्यूनभूतः। तेनात्र यज्ञसामानाधिकरण्यान्मत्वर्थो लक्ष्यते। सोमसाधनको यज्ञः प्रजापतिः, तस्यैतास्तन्वः शरीराणि या एता देवता वक्ष्यमाणाः परमेष्ठ्यादयः, सोमद्रव्यात्मकस्य यज्ञस्य परमेष्ठ्याद्या देवतास्तन्वः, क्रियात्मकस्य यज्ञस्याहुतयस्तन्वः। 'स यद्यज्ञस्यार्छेत्। यां तत्प्रति देवतां मन्येत तामनुसमीक्ष्य जुहुयाद् यदि दीक्षोपसत्स्वाहवनीये यदि प्रसुत आग्नीध्रे एतद्यज्ञस्य पर्व स्रꣳसते यद् ह्वलति तर्हि तत्र देवता भवति तयैवैतद्देवतया यज्ञं भिषज्यति तया देवतया यज्ञं प्रति सन्दधाति' (श० १२।६।१।२)। किं पुनर्नित्या एवैतास्तन्वः? नेत्याह, यतः सोमो यज्ञस्याङ्गमार्च्छेद् विनश्येत्, तत्प्रति तस्मिन्नङ्गे यां देवतां परमेष्ठ्यादिकां मन्येत, 'परमेष्ठ्यभिधीतः' (वा० सं० ८।५४) इत्यादेरागमादवगच्छेत्, तामनु पूर्वं सम्यग् ज्ञात्वा तस्यै देवतायै आज्याहुतिं जुहुयात्। यदि दीक्षोपसत्सु यज्ञस्य किञ्चिदार्छेत्तदा आहवनीये जुहुयात्। यदि तु प्रसुत्यायां तत आग्नीध्रीये प्रायणीयादूर्ध्वं प्राक् सुत्याया होतव्यम्। आहवनीये कुतः? दीक्षोपसत्स्वाहवनीय इत्यनुवादत एव प्राप्तत्वाद् एतदेवानुविधीयते प्रसुत आग्नीध्रे जुहोतीति। ततश्च सुत्यायामेव आग्नीध्रता प्राप्नोति। विस्रंसते वै एतद्यज्ञस्य पर्व अङ्गं यद् ह्वलति स्वभावाद्विगुणं भवतीत्यर्थः। ततश्च या एव पर्व पर्वण्यभिध्यानादौ देवता परमेष्ठ्यादिर्भवति, तस्या देवताया एतदेव कुर्वन् यज्ञं भिषज्यति सन्दधाति। 'स यद्येनं मनसाऽभिध्यातः। यज्ञो नोपनमेत् परमेष्ठिने स्वाहेति जुहुयात् परमेष्ठी हि स तर्हि भवत्यप पाप्मानꣳ हत उपैनं यज्ञो नमति' (श० १२।६।१।३)। परमेष्ठी हि स यज्ञस्तदा भवति। अनया वागघुत्या प्रतिबन्धकं पाप्मानमपहन्ति। तस्मिन्नपहते एनं यजमानमुपनमति। 'अथ यद्येनं वाचाभिव्याहृतः। यज्ञो नोपनमेत् प्रजापतये स्वाहेति जुहुयात् प्रजापतिर्हि स तर्हि भवत्यप पाप्मानꣳ हत उपैनं यज्ञो नमति' (श० १२।६।१।४)। 'अथ यस्य राजानमच्छेत्वा। नाहरन्त एयुरन्धसे स्वाहेति जुहुयादन्धो हि स तर्हि भवत्यप पाप्मानꣳ हत उपैनं यज्ञो नमति' (श० १२।६।१।५)। 'अथ यदि सातः। किञ्चिदापद्येत सवित्रे स्वाहेति ···' (श० १२।६।१।६)। 'अथ यदि दीक्षासु। किञ्चिदापद्येत विश्वकर्मणे स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।७)। 'अथ यदि सोमक्रयण्याम्।···पूष्णे स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।८)।

इत्यादि कण्डिकोपदिष्ट मन्त्रों से मृण्मय घर्मपात्र के टूट जाने आदि निमित्तों में घृताहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—सोमः साम्बपरमेश्वरः, भक्तेनाभिधीतः सङ्कल्पितो मनसा ध्यातः परमेष्ठी भवति, अर्थात् परमेष्ठिवत् सर्वकामपूरको भवति। वाचि व्याहृतायां तदीयगुणनामकर्मविषयिण्यां वाचि व्याहृतायां प्रजापतिर्भवति, प्रजापतिर्भूत्वा पालयतीत्यर्थः। यदा सोमो भगवान् आप्तुमात्मानमभितः प्राप्तो भवति, तदा अन्धोऽन्नं साक्षादुपभोग्यं भवति, 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादः' (तै० उ० ३।१०) इति श्रुतेः। सन्यां तद्विषयिण्यां सम्भक्तौ सत्यां सविता भवति सर्वाभीष्टोत्पादको भवति, ज्ञानवैराग्यमोक्षादीनामप्राप्तप्रापकत्वेन प्राप्तरक्षकत्वेन च योगक्षेमनिर्वाहको भवति। दीक्षायां साम्बसदाशिवसम्बन्धिन्यां दीक्षायां जातायां विश्वकर्मा भवति सर्वाभीष्टसम्पादको भवति। सोमक्रयण्यां सोमः शिवः क्रीयते यया सा सोमक्रयणी परमानुरागरूपानुरक्तिस्तस्यां सत्यां पूषा भवति। स सोम आधिभौतिकस्याध्यात्मिकस्याधिदैविकस्य सर्वविधधनस्य पोषको भवति, तस्मात् सर्वभावेन स एवोपास्यो भवतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थाः, युष्माभिर्यदि व्याहृतायां वाचि वेदवाण्यां परमेष्ठी परमानन्दस्वरूपे स्थितः प्रजापतिः, अच्छेतः सम्यक् प्राप्तः, विश्वकर्मा सर्वविद्याकर्मज्ञानश्रेष्ठः सभापतिर्दीक्षायां सकलनियमानां धारणे सोमाद्योषधिग्रहणे च पूषा सर्वपुष्टिकारक उत्तमो वैद्यः, सविता जगदुत्पादकः, सन्यां सन्यं नीयते यया तस्यामभिधीतो निश्चितोऽन्धश्च प्राप्तम्, तर्हि सततं सुखिनः स्युः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, क्लिष्टकल्पनाबाहुल्यात्, पूर्वोक्तरीत्या श्रुतेरन्यथा व्याख्यातत्वाच्च। गृहस्थानां सम्बोधनमपि निर्मूलमेव, सोमक्रयणीशब्दस्य सोमक्रयसाधनभूतायां गवि प्रसिद्धत्वात्, तद्विरुद्धकल्पनानां निर्मूलत्वात् ॥ ५४ ॥

इन्द्र॑श्च म॒रुत॑श्च क्र॒याय॒ोपोत्थि॑तोऽसु॑रः प॒ण्यमा॑नो मि॒त्रः क्री॒तो विष्णुः॑ शिपिवि॒ष्ट ऊ॒रावास॑न्नो॒ विष्णु॑र्न॒रन्धि॑षः ॥ ५५ ॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—साम्ब सदाशिव भक्त के द्वारा संकल्पित, मन से अनुध्यात होने पर परमेष्ठी के समान समस्त कामनाओं के पूर्तिकर्ता होते हैं। उनके गुण, नाम, कर्म-विषयक वाणी का उच्चारण करने पर वे प्रजापति बन कर पालन करते हैं। जब भगवान् साम्बशिव प्राप्ति के लिये आत्मा के सम्मुख आते हैं, तब वे साक्षात् उपभोग्य हो जाते हैं। तद्विषयिणी सद्भक्ति होने पर वे सविता, अर्थात् समस्त अभीष्टों के उत्पादक होते हैं। ज्ञान, वैराग्य, मोक्ष आदि के अप्राप्तप्रापक, तथा प्राप्त के रक्षक होते हुए योगक्षेम के सम्पादक होते हैं। साम्ब सदाशिव सम्बन्धी दीक्षा के सम्पन्न हो जाने पर वे सम्पूर्ण कामनाओं के पूर्तिकर्ता हो जाते हैं। साम्ब शिव जिसके द्वारा क्रीत हो जाते हैं, इस प्रकार की परमानुरागरूपिणी भक्ति ही सोमक्रयणी है। उसके प्राप्त हो जाने पर वे साम्ब शिव आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक, सर्वविध धन के पुष्टिकर्ता होते हैं। अतः समस्त भावों के द्वारा वही उपास्य होते हैं, यह तात्पर्य है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ क्लिष्ट कल्पनाओं की अधिकता के कारण तथा श्रुति की विपरीत व्याख्या के कारण अनुचित है। गृहस्थों को सम्बोधित करना भी अप्रामाणिक है। सोमक्रयणी शब्द सोमक्रय की साधनभूत गो के लिये प्रसिद्ध है। अतः उससे विरुद्ध कल्पना करना भी अप्रामाणिक है ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—सोम के विक्रय के लिये उपस्थित होने पर वह इन्द्र और मरुत् नाम वाला होता है। क्रय करते समय असुरसंज्ञक, खरीद लिये जाने पर मित्रसंज्ञक, यजमान की गोदी में स्थित सोम प्राणियों में प्रविष्ट विष्णु नाम वाला और शकट से वहन करते समय वह जगत् का संहर्ता और जगत् का पालक विष्णु नाम वाला होता है ॥ ५५ ॥

क्रयाय द्रव्यादिदानेनात्मसात्करणायोपोत्थित उपस्थापितः सोम इन्द्रामरुन्नामको भवति। तदा इन्द्राय मरुद्भ्यश्च स्वाहेति जुहुयात्। क्रीयमाणः सोमोऽसुरो भवति, असुरः प्राणवान् बलवान् भवति। तदानीमसुराय स्वाहेति जुहुयात्। यजमानेन क्रीतः सन् मित्रो भवति, मित्रो देवविशेषः। तदा मित्राय स्वाहेति जुहुयात्। ऊरौ यजमानोत्सङ्गे आसन्नः स्थितः सोमः शिपिविष्टो विष्णुर्भवति, शिपिषु प्राणेषु यज्ञेषु वा विष्टः प्रविष्टः, एतद्गुणको विष्णुरित्यर्थः। तदा विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहेति जुहुयात्। प्रोह्यमाणः शकटेनोह्यमानः सोमो विष्णुर्नरन्धिषो भवति, नरो धीयन्ते आरोप्यन्ते यस्मिन् स नरन्धिः संसारः, तं स्यति नाशयतीति नरन्धिषो जगत्संहर्तृत्वविशिष्टो विष्णुः, 'षोऽन्तकर्मणि', यद्वा रध्यति हिनस्तीति रन्धिषो हन्ता, न रन्धिष इति नरन्धिषः, नञो नकारस्यालुग् नलोपाभावश्छान्दसः, जगत्पालको वा विष्णुः, 'रध हिंसायाम्'। तदा विष्णवे नरन्धिषाय स्वाहेति जुहुयात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यदि क्रयायोत्थितः। किञ्चिदापद्येतेन्द्राय च मरुद्भ्यश्च स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।९), 'अथ यदि पण्यमानः।····असुराय स्वाहेति जुहुयात्' (१२।६।१।१०), 'अथ यदि क्रीतः।···· मित्राय स्वाहेति' (श० १२।६।१।११), 'अथ यद्यूरावसन्नः।····विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।१२), 'अथ यदि पर्युह्यमाणः। किञ्चिदापद्येत विष्णवे नरन्धिषाय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।१३)।

अध्यात्मपक्षे—स एव सोमः साम्बशिवः सर्वात्मा सन् सोमयज्ञे सोमरूपेण क्रयाय उपस्थापित इन्द्रो मरुतश्च भवति। स एव पण्यमानः क्रीयमाणः सोमोऽसुरो भवति। क्रीतः सन् मित्रो भवति। ऊरौ आसन्नः स्थितः शिपिविष्टो विष्णुर्भवति। प्रोह्यमाणः शकटेनोह्यमानः सोमो विष्णुर्नरन्धिषो भवति, नरो धीयन्ते आरोप्यन्ते यस्मिन् स नरन्धिः संसारः, तं स्यतीति नरन्धिषो जगत्संहर्तृत्वविशिष्टो विष्णुर्भवति। यद्वा 'रध हिंसायाम्', रध्यति हिनस्तीति रन्धिषो हन्ता, न रन्धिषो जगत्पालको वा विष्णुर्भवति। यद्वा सोमो दिव्यो निवेदनीयः पदार्थः, तत्तदुक्तदशायां तत्तद्रूपो भवतीति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं विद्वद्भिर्यः क्रयाय व्यवहारसिद्धये इन्द्रो मरुतश्च विद्युद् वायवश्च असुरो मेघः पण्यमानः स्तूयमानो मित्रः सुहृत् शिपिविष्टः पदार्थेषु प्रविष्टो विष्णुर्धनञ्जयो नरन्धिषो नरान् दिधेष्टि शब्दयतीति नरन्धिषो विष्णुश्च व्याप्तः साक्षी, ऊरौ आच्छादने आसन्नः सर्वेषां निकट उपोत्थितः समीपे प्रकाशित इव क्रीतो व्यवहृतोऽस्ति, तं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वत्र गौणार्थाश्रयणात्, असम्बद्ध-

---

भाष्यसार—'इन्द्रश्च मरुतश्च' यह कण्डिका भी पूर्व की भाँति याज्ञिक प्रक्रिया में विनियुक्त है। शतपथश्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—वही साम्ब शिव सर्वात्मा होते हुए सोमयज्ञ में सोमरूप के द्वारा क्रया से उपस्थापित होकर इन्द्र एवं मरुद्गण होते हैं। वही खरीदे जाते हुए सोम असुर (प्राणवान्, बलवान्) होते हैं। क्रीत होकर मित्र हो जाते हैं। यजमान की गोद में अवस्थित होकर विष्णुस्वरूप होते हैं। शकट के द्वारा वहन किये जाने पर सोम नरन्धिष, अर्थात् जगत्संहर्तृत्वविशिष्ट विष्णु अथवा जगत्-पालक विष्णु होते हैं। अथवा सोम, अर्थात् दिव्य नैवेद्य पदार्थ उपर्युक्त तत्तद् अवस्थाओं में तत्तद् रूपों वाले हो जाते हैं, यह भाव है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या सर्वत्र गौण अर्थ के ग्रहण तथा असम्बद्ध होने के कारण असंगत है। 'ऊरु'

त्वाच्च। ऊरावित्यस्याच्छादनमर्थो निर्मूल एव। एवं च क्रीत इत्यादीनामर्थोऽपि निर्मूल एव, श्रुतिविरोधश्च ॥ ५५ ॥

प्रोह्यमाणः सोम आगतो वरुण आसन्द्यामासन्नोऽग्निराग्नीध्र इन्द्रो हविर्धानेऽथर्वोपावह्रियमाणः ॥ ५६ ॥

शकटादागतोऽवरूढः सोमनामको भवति, तदा सोमाय स्वाहेति जुहुयात्। आसन्द्यां मञ्चिकायामुपविष्टः सोमो वरुणो भवति, तदा वरुणाय स्वाहेति जुहुयात्। हविर्धाने वर्तमानः सोम इन्द्रो भवति, तदेन्द्राय स्वाहेति जुहुयात्। 'हृदे त्वा मनसे त्वा' इति मन्त्रेण कण्डनार्थमुपावह्रियमाण आनीयमानः सोमोऽथर्वनामको भवति, तदाथर्वणे स्वाहेति जुहुयात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यदि पर्युह्यमाण.। किञ्चिदापद्येत विष्णवे नरन्धिषाय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।१३)। 'अथ यद्यागतः। किञ्चिदापद्येत सोमाय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।१४)। 'अथ यद्यासन्द्यामासन्नः। किञ्चिदापद्येत वरुणाय स्वाहेति' (श० १२।६।१।१५)। 'अथ यद्याग्नीध्रगतः।.... अग्नये स्वाहेति' (श० १२।६।१।१६)। 'अथ यदि हविर्धानगतः।....इन्द्राय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।१७)।

अध्यात्मपक्षे तु—प्रोह्यमाणो रथेन नन्दिगणेन वा प्रोह्यमाण आगतोऽवरूढः सोमो भवति सोमपदाभिलप्यो भवति। आसन्द्यां मञ्चिकायां सिंहासने वा उपविष्टः सोमो वरुणः सर्वरोगदोषवारको भवति। आग्नीध्रे वर्तमानोऽग्नीत्सम्बन्धिनि कर्मणि इज्यमानोऽग्निर्भवति, अग्निवत् सर्वपापदाहको ज्ञानाग्निवद्वा अविद्यातत्कार्यात्मकप्रपञ्चनिवर्तको भवति। हविर्धाने वर्तमानः शिव इन्द्रो भवति। परमैश्वर्यपूर्णः परमैश्वर्यप्रदो भवति। उपावह्रियमाणो हृदये सर्वोपसंहारेण चिन्त्यमानोऽथर्वा सन्नहिंसाप्रतिष्ठां सम्पादयति भक्तेषु।

का अर्थ 'आच्छादन' अप्रामाणिक है। इसी प्रकार 'क्रीतः' आदि पदों का अर्थ भी निर्मूल ही है। श्रुतिवचनों का विरोध भी इसमें है ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ शकट पर आरूढ़ सोम नाम वाला, सोम रखने के मंच पर रक्षित सोम वरुण संज्ञक, आग्नीध्र में विद्यमान सोम अग्निसंज्ञक, हविर्धान में विद्यमान सोम इन्द्रसंज्ञक और कूटने को लाया हुआ सोम अथर्वा नाम वाला होता है ॥ ५६ ॥

भाष्यसार—'प्रोह्यमाणः' इस कण्डिका का विनियोग भी पूर्व की भाँति याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—रथ से अथवा नन्दिगणों से वहन किये जाते हुए आगत वे सोम शब्द से अभिहित होते हैं। मंचिका अथवा सिंहासन पर आसीन होकर सोम समस्त रोग-दोष के निवारक होते हैं। अग्नीत्-सम्बन्धी कर्म में यज्ञिय अग्नि हैं। अग्नि के समान समस्त पापों को दग्ध करने वाले अथवा ज्ञानाग्नि की भाँति अविद्या तथा तत्कार्यात्मक प्रपंच के निवर्तक होते हैं, यह भाव है। हविर्धान में विद्यमान शिव इन्द्र, अर्थात् परमैश्वर्य से परिपूर्ण अथवा परमैश्वर्यप्रदाता होते हैं। हृदयप्रदेश में सबके चरम के रूप में ध्यान किये जाने पर वे अथर्वा होकर भक्तों में अहिंसा की प्रतिष्ठा करते हैं।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थाः, युष्माभिरस्यामीश्वरस्य सृष्टौवासन्द्यां यानासनविशेषे आसन्नः समीपस्थ इव प्रोह्यमाणः प्रकृष्टतर्केणानुष्ठितः सोम ऐश्वर्यसमूहः, वरुणो जलसमूहः, आग्नीध्रे प्रदीपनसाधन इन्धनादावग्निः, उपावह्रियमाणः क्रियाकौशलेनोपयुज्यमानः, अथर्वा अहिंसनीयः, हविर्धाने हविषां ग्रहीतुं योज्यानां पदार्थानां धारणे इन्द्रो विद्युत् सततमुपयोजनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'वह प्रापणे, ऊह वितर्के' इत्युभयोरपि तथा प्रयोगसम्भवेन वितर्कार्थस्योहतेर्वहतेर्वा ग्रहणे विनिगमनाविरहात्। आगत इवेत्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव, आगतः समन्तात् प्राप्तः सहायकारी पुरुष इवेत्येतादृशस्यार्थस्य ग्रहणे किं मूलमित्यनुक्तेश्च।

अत्र मन्त्रे भाष्यं वितन्वन् दयानन्दः प्राह—'प्रोह्यमाण इति पदं महीधरेण भ्रान्त्या पूर्वस्मिन् मन्त्रे पठितम्' इति, तत्तु तदज्ञानविजृम्भितमेव, बुद्धिवैक्लव्यात्। तथाहि—नहि महीधरेण स्वकीये भाष्ये प्रोह्यमाण इति पदं पञ्चपञ्चाशमन्त्रांशतया पठितम्, किन्तु शातपथी श्रुतिरेव तेन व्याख्याता—प्रोह्यमाणः शकटेनोह्यमानः सोमो विष्णुर्नरन्धिषो भवतीति। श्रुतिश्च—'अथ यदि पर्युह्यमाणः। किञ्चिदापद्येत विष्णवे नरन्धिषाय स्वाहेति जुहुयाद् विष्णुर्हि स तर्हि नरन्धिषो भवत्यप पाप्मानꣳ हत उपैनं यज्ञो नमति' (श० १२।६।१।१३)। तदेतां श्रुतिमदृष्ट्वैव यत्किञ्चित् प्रलपति स्वामी दयानन्दः। किञ्च, पर्युह्यमाण इत्यस्याभावे तु विष्णुर्नरन्धिष इति मन्त्रेण कदा किं कुर्यादित्यनिश्चितमेव स्यात्। यथा ऊरौ आसन्नः सोमो विष्णुः शिपिविष्टो भवति, तथैव पर्युह्यमाणः शकटेनोह्यमानः सोमो विष्णुर्नरन्धिषो भवति। अत एव प्रोह्यमाण इति व्याख्यानावसरे प्रोह्यमाणः शकटादागतोऽवरूढः सोमनामको भवतीति व्याख्यातं महीधराचार्येण ॥ ५६ ॥

विश्वेदेवा अꣳशुषु न्युप्तो विष्णुराप्रीतपा आप्याय्यमानो यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः शुक्रः पूतः शुक्रः क्षीरश्रीर्मन्थी सक्तुश्रीः ॥ ५७ ॥

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में विसंगति है। प्रापणार्थक 'वह' धातु तथा वितर्कार्थक 'ऊह' धातु—इन दोनों से ही 'प्रोह्यमाण' शब्द का प्रयोग सम्भव होने पर 'ऊह' धातु अथवा 'वह' धातु की वितर्कार्थता के ग्रहण में कोई निश्चित तर्क नहीं है। 'आगत इव' इस प्रकार अध्याहार करना भी निर्मूल है। 'आगतः''''पुरुष इव' इस प्रकार का अर्थ ग्रहण करने में क्या प्रमाण है? यह भी नहीं बताया गया है। इस मन्त्र में भाष्य का विस्तार करते हुए स्वामी दयानन्द ने कहा है कि महीधराचार्य ने भ्रान्ति से 'प्रोह्यमाण' शब्द को पूर्ववर्ती मन्त्र में पढ़ा है। परन्तु यह कथन अज्ञानमूलक ही है, क्योंकि आचार्य महीधर ने अपने भाष्य में 'प्रोह्यमाण' पद को पचपनवें मन्त्र के अंश के रूप में नहीं पढ़ा है, अपितु उन्होंने शतपथश्रुति की व्याख्या की है। इस श्रुति को न देखकर स्वामी दयानन्द ने अकारण सन्देह किया है। 'पर्युह्यमाण' इस पद के अभाव में तो 'विष्णुर्नरन्धिष.' इस मन्त्र से कब क्या करें? यह अनिश्चित ही रह जायगा। अतः 'महीधराचार्य ने उचित व्याख्या की है ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ सोम के खण्डों में कण्डन करके आरोपित किया हुआ सोम विश्वेदेव नाम वाला और वृद्धि को प्राप्त हुआ सोम सब प्रकार से अपने भक्तों की रक्षा करने वाला विष्णुसंज्ञक होता है। सोम का अभिषव करते समय इसका नाम यम और पुष्यमाण अभिषुत सोम विष्णुरूप है। पवित्र द्वारा छाना हुआ सोम वायु नाम का, पवित्र हुआ सोम शुक्र नाम का होता है। पूत सोम दूध से मिलाये जाने पर शुक्र नाम वाला और सत्तू से मिश्रित सोम मन्थी कहलाता है ॥ ५७ ॥

अंशुषु सोमखण्डेषु न्युप्तः कण्डनं कृत्वा रोपितः सोमो विश्वेदेवनामको भवति, तदा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्। 'अ꣡ꣳशुरꣳशुष्टे' (वा० सं० ५।७) इत्यादिमन्त्रेण आप्याय्यमानो वर्ध्यमानः सोम आप्रीतपा आसमन्तात् प्रीतान् स्वस्मिन् प्रीतिमतो भक्तान् पाति रक्षतीत्याप्रीतपास्तादृशगुणविशिष्टो विष्णुर्भवति, तदा विष्णवे आप्रीतपाय (आप्रीतये) स्वाहेति जुहुयात्। अभिषूयमाणः सोमो यमो भवति, तदा यमाय स्वाहेति जुहुयात्। सम्भ्रियमाणः पुष्यमाणः सोमो विष्णुर्भवति, तदा विष्णवे स्वाहेति जुहुयात्। दशापवित्रेण पूयमानः सोमो वायुर्भवति, तदा वायवे स्वाहेति जुहुयात्। पूतः सोमः शुक्रो भवति, तदा शुक्राय स्वाहेति जुहुयात्। सक्तुभिर्मिश्रितः सोमो मन्थी भवति, तदा मन्थिने स्वाहेति जुहुयात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यद्यंशुषु न्युप्तः। किञ्चिदापद्येत विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।१९), 'अथ यद्याप्याय्यमानः⋯विष्णवे आप्रीतपाय स्वाहेति जुहुयात्' (१२।६।१।२०), 'अथ यद्यभिषूयमाणः⋯यमाय स्वाहेति' (१२।६।१।२१), 'अथ यदि सम्भ्रियमाणः⋯विष्णवे स्वाहेति जुहुयात्' (१२।६।१।२२), 'अथ यदि पूयमानः⋯वायवे स्वाहेति जुहुयात्' (१२।६।१।२३), 'अथ यदि पूतः⋯शक्राय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।२४), 'अथ यदि क्षीरश्रीः⋯शक्राय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।२५), 'अथ यदि सक्तुश्रीः⋯मन्थिने स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।२६)।

अध्यात्मपक्षे—एष सोमः साम्बशिवः सर्वात्मा सन् सोमलतारूपेण सोमयज्ञेऽशुषु सोमखण्डेषु न्युप्तः कण्डनं कृत्वा रोपितो विश्वेदेवनामको भवति। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विश्वेदेवाः, युष्माभिरंशुषु विभक्तेषु सांसारिकेषु पदार्थेषु न्युप्तो नित्यं स्थापितो व्यवहार आप्रीतपा विष्णुर्व्यापि विद्युद् आप्याय्यमानो वृद्ध इव यमो यच्छति सोमं सूर्यः सूयमान उत्पद्यमानो विष्णुर्व्यापकः, सम्भ्रियमाणः सम्यक्पोषितो वायुः प्राणः, पूयमानः पवित्रीकृतः शुक्रो वीर्यसमूहः, पूतः शुद्धः शुक्र आशुकर्ता, मन्थी मथ्नातीति सेवमानः सन्, क्षीरश्रीर्यः क्षीरादीनि श्रृणाति, सक्तुश्रीर्यः सक्तूनि समवेतानि द्रव्याणि श्रयते जायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्पष्टत्वात्। एतदीयं हिन्दीभाष्यमप्यव्यक्तमेव। 'हे विद्वांसः, युष्माभिः सांसारिकेषु विभक्तेषु पदार्थेषु नित्यं स्थापितो व्यवहारः' इत्यस्यार्थस्याङ्गीकारेऽपि न सङ्गतिः, मनुष्यैः स्थापितस्य व्यवहारस्य नित्यत्वायोगात्। अंशुपदस्य विभक्ताः पदार्था इत्यर्थस्तु निर्मूल एव। तथैव न्युप्त इत्यस्य स्थापितो नित्यो व्यवहार इत्यपि कल्पनाप्रसूत एवार्थः। शुक्रः पराक्रमसमूहः, शुक्रः शीघ्रचेष्टावान्, तथैव क्षीरश्रीः सक्तुश्रीरित्यनयोरपि व्याख्यानमनर्गलमसङ्गतं च ॥ ५७ ॥

भाष्यसार—'विश्वेदेवाः' इत्यादि कण्डिका भी याज्ञिक प्रक्रिया में पूर्व मन्त्रों की भाँति नैमित्तिक कर्म में विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—ये साम्बशिव सर्वात्मा होते हुए सोमलता के रूप से सोमयाग में सोमखण्डों में कुट्टन के अनन्तर स्थापित होकर विश्वेदेव नाम के होते हैं। शेष अर्थ पूर्वोक्त याज्ञिक पक्ष की भाँति ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदर्शित संस्कृत अर्थ अस्पष्ट होने के कारण ग्राह्य नहीं है। हिन्दी भाष्य भी स्पष्ट नहीं है। मनुष्यों के द्वारा स्थापित व्यवहार में नित्यत्व अयुक्त होने के कारण अर्थसंगति नहीं है। अंशु शब्द का अर्थ 'विभक्त पदार्थ' करना तो अप्रामाणिक ही है। इसी प्रकार 'न्युप्त' पद का 'स्थापित नित्य व्यवहार' यह अर्थ भी कल्पनाप्रसूत है। शक्र का अर्थ पराक्रमसमूह, शुक्र का अर्थ शीघ्र चेष्टावान् तथा इसी प्रकार क्षीरश्रीः, सक्तुश्रीः - इन पदों की व्याख्या भी अनर्गल तथा संगतिविहीन है ॥ ५७ ॥

विश्वे॑दे॒वाश्च॑म॒सेषू॒न्नीतो॑ऽसु॒र्होमा॑यो॒द्यतो॑ रु॒द्रो हू॒यमा॑नो॒ वातो॑ऽभ्यावृ॒त्तो नृ॒चक्षाः॒ प्रति॑ख्यातो भ॒क्षो भ॒क्ष्यमा॑णः पि॒तरो॑ नाराश॒ꣳसाः ॥ ५८ ॥

चमसेषु ग्रहपात्रेषून्नीतो गृहीतः सोमो विश्वेदेवसंज्ञो भवति, तदा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्। होमार्थमुद्यतः सोमोऽसुसंज्ञो भवति, तदा असवे स्वाहेति जुहुयात्। हूयमानः सोमो रुद्रो भवति, तदा रुद्राय स्वाहेति जुहुयात्। अभ्यावृत्तो होमशेषीभूतः सदः प्रति भक्षणार्थमानीतः सोमो वातो भवति, तदा वाताय स्वाहेति जुहुयात्। प्रतिख्यातो ब्रह्मन्नुपह्वयस्वेत्यादिना भक्षणार्थं पृष्टः सोमो नृचक्षा भवति, नॄन् मनुष्यान् शुभाशुभकारिणश्चष्टे पश्यतीति नृचक्षाः, मनुष्यकृतशुभाशुभकर्मद्रष्टा सूर्यो यमो वा भवति, तदा नृचक्षसे स्वाहेति जुहुयात्। भक्ष्यमाणः प्रीयमाणः सोमो भक्षो भवति, तदा भक्षाय स्वाहेति जुहुयात्। भक्षयित्वा सन्नः स्वखरेषु सादितः सोमो नाराशंसाः पितरो भवन्ति, नरोऽस्मिन्नासीनाः शंसन्तीति नाराशंसो यज्ञः, तत्र हिता योग्या वा नाराशंसाः, नाराशंसगुणविशिष्टाः पितरः, तदा निमित्तापत्तौ पितृभ्यो नाराशंसेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यदि चमसेषून्नीतः किञ्चिदापद्येत विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।२७), 'अथ यदि होमायोद्यतः किञ्चिदापद्येतासवे स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।२८), 'अथ यदि हूयमानः·····रुद्राय स्वाहेति' (श० १२।६।१।२९), 'अथ यद्यभ्यावृत्तः·····वाताय स्वाहेति·····' (श० १२।६।१।३०), 'अथ यदि प्रतिख्यातः·····नृचक्षसे स्वाहेति·····' (श० १२।६।१।३१), 'अथ यदि भक्ष्यमाणः·····'भक्षाय स्वाहेति' (श० १२।६।१।३२)। 'अथ यदि नाराशꣳसेषु सन्नः किञ्चिदापद्येत पितृभ्यो नाराशꣳसेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।३३)।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वदर्थं चमसेषून्नीतो गृहीतः सोमो विश्वेदेवसंज्ञको भवति। त्वदर्थं होमायोद्यतोऽसुसंज्ञको भवति। तुभ्यं हूयमानः स रुद्रो भवति। अभ्यावृत्तो होमशेषीभूतः सदः प्रति भक्षणार्थं नीतः सोमो वातो भवति। भक्षणार्थं प्रतिख्यातो नृचक्षा भवति। शेषं पूर्ववत्। त्वच्छेषत्वादेव सोमस्तत्तद्देवरूपो भवति।

मन्त्रार्थ—ग्रहपात्रों में ग्रहण किया गया सोम विश्वेदेव संज्ञक है। आहुति के लिये तैयार सोम असुसंज्ञक, हवन करते समय रुद्रसंज्ञक और हुतशेष भक्षणार्थ सदोमण्डप में लाया हुआ वातसंज्ञक है। हे ब्रह्मन्, हुतशेष का पान करो, इस तरह से बताया हुआ सोम मनुष्यों के शुभाशुभ को देखने वाला नृचक्ष है, भक्षण करते समय सोम भक्षसंज्ञक कहलाता है, भक्षण करने के अनन्तर खर पर रखा हुआ सोम नाराशंस और गुणविशिष्ट या यज्ञ का हितकारी पितर-संज्ञक होता है ॥ ५८ ॥

भाष्यसार—'विश्वेदेवाश्चमसेषु' इत्यादि कण्डिका भी पूर्व कण्डिका की भाँति याज्ञिक प्रक्रिया की नैमित्तिक विधि में विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आपके लिये चमस-पात्रों में गृहीत सोम 'विश्वेदेव' संज्ञक होता है। आपके लिये होमार्थ निष्पादित होने पर वह 'असु' संज्ञक होता है। आपके लिये हवन किया जाता हुआ वह 'रुद्र' हो जाता है। होम से बचा हुआ सोम सदोमण्डप में भक्षण के लिये ले जाया जाता हुआ 'वात' संज्ञक होता है। भक्षण के लिये आज्ञप्त सोम 'नृचक्षा' होता है। शेष मन्त्रार्थ याज्ञिक-व्याख्या के ही अनुसार है। आपका होने के कारण ही सोम तत्तद् देवों के रूप में होता है।

दयानन्दस्तु—'यैर्होमाय दानायादानाय वा यज्ञविधानेन चमसेषु मेघेषु सुगन्ध्यादिरुन्नीतोऽसुः प्राणः स्वीय उद्यतः प्रयत्नेन प्रेरितो रुद्रो जीवो हूयमानः स्वीकृतो नृचक्षा नॄन् मनुष्यान् चष्टे, प्रतिख्यातः ख्यातं ख्यातं प्रति वातो बाह्यो वायुः, अभ्यावृत्त आभिमुख्येनाङ्गीकृतस्तच्छोधितो भक्ष्यमाणो भुज्यमानो भक्षो भोज्यसमूहः पवित्रीकृतः। ते विश्वेदेवा नाराशंसा नराशंसानामिमे नाराशंसा उपदेशकाः पितरश्च वैद्याः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'यैर्विद्वद्भिः' इत्यस्योत्सूत्रत्वात्। न च प्रकृते चमसपदस्य मेघोऽर्थः। सुगन्ध्यादिरित्यपि निर्मूलम्, उदक्षरत्वात्। पवित्रीकृत इत्यपि निर्मूलमेव। श्रुतिविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेनोक्तप्राय एव ॥ ५८ ॥

सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रोऽभ्यवह्रियमाणः सलिलः प्रप्लुतो ययोरोजसा स्कभिता रजांसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा। या पत्येते अप्रतीता सहोभिर्विष्णू अगन् वरुणा पूर्वहूतौ ॥ ५९ ॥

अवभृथार्थमुद्यतः सोमः सिन्धुर्भवति, तदा सिन्धवे स्वाहेति जुहुयात्। जलमभिमुखं नीयमानः सोमः समुद्रो भवति सिन्धुनदीरूपः, स्यन्दमानत्वात्, समुद्रः समुद्रवमाणत्वात्, तदा समुद्राय स्वाहेति जुहुयात्। प्रप्लुतो निमग्नः सोमः सलिलो भवति, तदा प्रायश्चित्तापत्तौ सलिलाय स्वाहेति जुहुयात्। एताभिराहुतिभिर्यज्ञश्चिकित्सितो भवति, प्रतिसंहितश्च भवति, 'ता एताः' इति वक्ष्यमाणश्रुतेः। 'ययोरोजसेति चोदकेनोपसिञ्चेत्' (का० श्रौ० २५।२।९)। स्कन्नं रसरूपं सोमं जलेन सिञ्चेत् कालाहुतिहोमं वाचनं च कृत्वेति। सोम एव हविर्यज्ञियं स्कन्नमिति सोममिति देवयाज्ञिकाः। वरुणदेवत्या त्रिष्टुप्। पूर्वार्धे यच्छब्दोपादानात् तच्छब्दाध्याहारेण तौ विष्णू तौ वरुणौ। एकत्र विष्णुशब्दस्यैकशेषोऽन्यत्र वरुणशब्दस्य तुल्यकार्यत्वादुभावपि विष्णू, उभावपि वरुणौ, कर्मभूतौ प्रति अगन् गतं स्कन्नम्, यज्ञसाधनमिति शेषः। कदा? पूर्वहूतौ पूर्वस्मिन्नाह्वाने। यावत् प्रधानं हूयते तावदेव विष्णुवरुणौ प्रति हविरगन्नित्यर्थः। विशेषणं वा पूर्वं हूयेते तौ पूर्वहूतौ विष्णुवरुणौ प्रति हविरगन्निति। तौ कौ? ययोरोजसा बलेन रजांसि लोकाः स्कभिताः स्तम्भितानि, स्कभ्नोतिः स्तम्भनार्थः। किञ्च, या यौ विष्णुवरुणौ पत्येते ईशाते ऐश्वर्यं कुर्वाते, जगतामीश्वरावित्यर्थः। 'पत ऐश्वर्ये' दिवादिरात्मनेपदी। यद्वा पत्येते परसैन्येषु श्येनाविव पततः। पुनः कीदृशौ? वीर्येभिर्बलैर्वीरतमा अत्यन्तं वीरौ तथा शविष्ठा अत्यन्तं बलवन्तौ, शव इति बलनाम। तथा सहोभिर्बलैरप्रतीता अप्रतिगतौ, न केनापि सम्मुखं गन्तुं शक्यौ, अनन्ययोध्यावित्यर्थः। न प्रतीयेते इत्यप्रतीतौ, एवंविधौ विष्णुवरुणौ प्रति स्कन्नं हविर्गतमित्यर्थ इति महीधरः।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ अग्राह्य है, क्योंकि 'यैर्विद्वद्भिः' इत्यादि पद निर्मूल हैं। इस प्रसंग में चमस शब्द का भी अर्थ मेघ नहीं है। 'सुगन्धि' आदि शब्द भी मन्त्राक्षरों से बहिर्भूत होने के कारण अमूल हैं। श्रुतिवचनों का विरोध तो प्रायः कहा ही जा चुका है ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—अवभृथ के निमित्त ले जाया जाता सोम सिन्धु है। जल के ऊपर ऋजीष कुम्भ को छोड़ते समय जल के अभिमुख ले जाया जाता हुआ सोम समुद्र है। जिन विष्णु और वरुण के प्रभाव से लोग ठहरे हुए हैं, जो विष्णु और वरुण अपने बल से अत्यन्त बलवान् हैं, जो अपने बल से अप्रतिम हैं, लोकत्रय का आधिपत्य करते हैं, उनका यज्ञ में प्रथम आह्वान कर उनके लिये यह सोम प्रदान किया जाता है ॥ ५९ ॥

भाष्यसार—'सन्नः' इस कण्डिका के मन्त्रों से पूर्व की भाँति होम, रसरूप सोम का जल से सेचन आदि

यद्वा ययोर्विष्णुवरुणयोरोजसा बलेन रजांसि लोकाः स्कभिताः स्कभितानि स्तम्भितानि न चलन्ति। किञ्च, यौ वीर्येभिर्वीर्यैर्वीरतमौ, यौ च शविष्ठौ बलिष्ठौ श्येनाविव परबलेषु पत्येते पततः। अप्रतीतौ अप्रतिगमनौ, अनन्यसाध्यौ विष्णुवरुणावुभौ अस्मदीये यज्ञे पूर्वहूतौ पूर्वाह्वाने अगन् अगच्छन् सहोभिः स्वकीयैरेव बलैः, तौ विष्णुवरुणौ तुल्यकार्यत्वादुभावपि विष्णू उभावपि वरुणौ अगन् गतो यज्ञः, यज्ञसाधनभूतं स्कन्नं द्रव्यमिह यज्ञशब्देनोच्यते। पूर्वहूतौ पूर्वस्मिन्नाह्वाने यावत् प्रधानं न हूयते, तावद्विष्णुवरुणौ प्रति यज्ञो गत इत्यर्थः। यद्वा पूर्वं हूयेते तौ प्रति अगन् गतो यज्ञ इति सम्बन्धः। एवमुव्वटसायणयोर्व्याख्यानम्।

'अथ यदि स्कन्देत्तदद्भिरुपनिनयेदद्भिर्वा इद७ सर्वमाप्त७ सर्वस्यैवाप्त्यै वैष्णववारुण्यर्चा यद्वा इदं किञ्चार्च्छति वरुण एवेद७ सर्वमार्पयति ययोरोजसा स्कभिता रजा७सि वार्येभिर्वीरतमा शविष्ठा या पत्येते अप्रतीता सहोभिर्विष्णू अगन् वरुणा पूर्वहूताविति यज्ञो वै विष्णुस्तस्यैतदार्च्छति वरुणो वार्पयिता तद्यस्याश्चैवैतद्देवताया आर्च्छति यो वा देवतार्पयति ताभ्यामेवैतदुभाभ्यां भिषज्यत्युभाभ्या७ सन्दधाति' (श० ४।५।७।७)। यदि सोमस्य रसः किञ्चित् स्कन्देत् तदद्भिरुपसिञ्चेत्। तदर्थमयं मन्त्रः ययोरोजसेति। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव। यज्ञो वै विष्णुरित्यादिना विष्णुवरुणयोः स्वरूपं कार्यं चोच्यते।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यद्यवभृथायोद्यतः किञ्चिदापद्येत सिन्धवे स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।३४), 'अथ यद्यभ्यवह्रियमाणः किञ्चिदापद्येत समुद्राय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।३५), 'अथ यदि प्रप्लुतः किञ्चिदापद्येत सलिलाय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।३६), 'ता वा एताश्चतुस्त्रि७ शतमाज्याहुतीर्जुहोति त्रयस्त्रि७ शद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रि७ श एतद्वु सर्वैर्देवैर्यज्ञं भिषज्यति सर्वैर्देवैर्यज्ञं प्रतिसन्दधाति' (श० १२।६।१।३७)। प्रायश्चित्तब्राह्मणमिदम्। तत्र सोमयागीयकर्मसु व्यङ्क्तायामेताभिराहुतिभिर्यज्ञं भिषज्यति प्रतिसन्दधाति।

अध्यात्मपक्षे–सर्वात्मा शिवः सोमयागीयसोमः सन्नः सिन्धुर्भवतीत्यादिकं पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'यैरवभृथाय यज्ञान्तस्नानाय स्वात्मपवित्रीकरणाय वाऽभ्यवह्रियमाणो भुज्यमानः सलिलं शुद्धं जलं विद्यते यस्मिन् स व्यवहार उद्यत उत्कृष्टतया यतो नियमेन सम्पादितः, सिन्धुर्नदी, 'सिन्धव इति नदीनामसु' (निघ० १।१३।२१), सन्नोऽवस्थापितः समुद्रोऽन्तरिक्षम्, 'समुद्र इत्यन्तरिक्षनामसु' (निघ० १।३।१५), प्रप्लुतः प्रकृष्टगुणैः प्राप्तः क्रियते, ययोर्होतृयजमानयोरोजसा बलेन रजांसि लोकाः स्कभिताः स्तम्भितानि धृतानि, यौ वीर्येभिः पराक्रमैर्वीरतमा अत्यन्तवीरौ, शविष्ठा अतिशयेन नित्यबलसाधकौ, सहोभिर्बलादिभिरप्रतीतौ अप्रतिगुणौ विष्णू व्याप्तिशीलौ वरुणौ श्रेष्ठौ, पूर्वहूतौ पूर्वैः शिष्टैर्विद्वद्भिराहूतौ, पत्येते श्रेष्ठैः प्राप्येते, तावगन् ते गच्छन्तु प्राप्नुवन्तु सुखिनो भवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्पष्टत्वात्। तथाहि—यज्ञान्तस्नानाय कोऽयं व्यवहारः सम्पाद्यते? तत्र च जलं कीदृक्? कथं च तदुपयुज्यते? इत्यस्यास्पष्टत्वात्। स

विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।२।९) में प्रतिपादित है। शतपथ श्रुति के अनुसार उव्वट, सायण, महीधर आदि आचार्यों ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ का व्याख्यान किया है।

अध्यात्मपक्ष में भी सर्वात्मक शिव सोमयागीय सोम होते हुए सिन्धु होते हैं, इत्यादि व्याख्या याज्ञिक पक्ष की भाँति ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या अस्पष्ट होने के कारण अग्राह्य है। यज्ञान्त स्नान के लिये यह कौन सा व्यवहार सम्पादित होता है? उसमें जल किस प्रकार का है? उसका उपयोग कैसे किया जाता है? यह सब अस्पष्ट है। गुणों के द्वारा समुद्र कैसे प्राप्त किया जाता है? होता एवं यजमान के बल से लोक किस प्रकार स्थित हैं? इत्यादि

व्यवहारः कथं भुज्यमानः स्यात् ? कथं च नद्योऽवस्थाप्यन्ते ? समुद्रश्च कथमु गुणैः प्राप्यते ? होतृयजमानयोर्बलेन कथं लोकाः स्थिताः ? किं तादृशौ तौ बलवन्तौ वीरतमौ सहोभिरप्रतीतौ व्याप्तावतिश्रेष्ठौ, याभ्यां लोका धार्यन्ते ? किं च तत्र मानम् ? सर्वथापि निरर्गलमेवैतत्। ब्रह्मदत्तोऽप्यस्पष्टोऽत्र भाषापदार्थ इत्याह। यत्तु दयानन्देन 'सन्नः' इति पदं महीधरेण भ्रान्त्या पूर्वस्य मन्त्रस्यान्ते स्वीकृतमिति, तदपि तदज्ञानमेव, 'अथ यदि नाराशꣳसेषु सन्नः किञ्चिदापद्येत' (श० १२।६।१।३३) इति ब्राह्मणेनैव तथा व्याख्यातत्वात् ॥ ५९ ॥

दे॒वान् दिव॑मगन् य॒ज्ञस्ततो॑ मा॒ द्रवि॑णमष्टु मनु॒ष्या॒नन्तरि॑क्षमगन् य॒ज्ञस्ततो॑ मा॒ द्रवि॑णमष्टु पि॒तॄन् पृ॑थि॒वीम॑गन् य॒ज्ञस्ततो॑ मा॒ द्रवि॑णमष्टु यं कं च॑ लो॒कमग॑न् य॒ज्ञस्ततो॑ मे भ॒द्रम॑भूत् ॥६०॥

'देवान् दिवमगन्निति सोमे' (का० श्रौ० २५।२।८)। सोमे हविर्यज्ञियं स्कन्नमभिमृशेत्। देवयाज्ञिकरीत्या रसरूपसोमद्रव्यस्कन्दनस्येदं प्रायश्चित्तम्। अत्यष्टिर्यज्ञदेवत्या। अयं यज्ञो देवान् आतिवाहिकान् वाय्वादीन् प्राप्य दिवं द्युलोकमगन् अगच्छत्। ततस्तत्र स्थिताद् यज्ञान्मां द्रविणं विशिष्टभोगसाधनभूतं धनमष्टु व्याप्नोतु। अनेन सुकृतिनामारोहक्रममभिधायेदानीमवरोहक्रममाह--ततो द्युलोकावरोहणकालेऽन्तरिक्षलोकमागत्य मनुष्यानगन्, यज्ञो मनुष्यलोकमगच्छत्। तत्र स्थिताद्यज्ञान्मां द्रविणमष्टु। दक्षिणायने गमनागमनमाह—अयं यज्ञो धूमादिक्रमेण पितॄन् प्राप्य पृथिवीमगन्। तत्र स्थिताद् यज्ञान्मां द्रविणमष्टु। यं कमपि लोकमयं यज्ञोऽगच्छत्, तस्माद्यज्ञान्मम भद्रं कल्याणमभूद् भूयादिति यजमानेनाशास्यते। यद्वा ततो द्युलोकाद् द्रविणं यज्ञफलमुत्पन्नं मामष्टु व्याप्नोतु। एवमेवान्यपर्यायेष्वपि व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथो अभ्येव मृशेत्। देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूदित्येवैतदाह' (श० ४।५।७।८)।

अध्यात्मपक्षे—अयं यज्ञो विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः, दिवमुपेन्द्ररूपेण प्राप्य, देवानिन्द्रादीन् कृतार्थयतीति शेषः। तत उपस्थितात् तस्मात् कृपाजनितं द्रविणं धनरत्नादिकं मामष्टु प्राप्नोति। अयं यज्ञोऽन्तरिक्षं प्राप्य

सब निरर्गल ही है। ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने भी कहा है कि यहाँ भाषा-पदार्थ अस्पष्ट है। स्वामी दयानन्द ने यह कहा है कि महीधर के द्वारा 'सन्नः' यह पद भ्रान्ति से पूर्व मन्त्र के अन्त के साथ जोड दिया गया है। यह कथन भी अज्ञानमूलक है, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थ द्वारा भी ऐसा ही व्याख्यान उपदिष्ट है ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—यह यज्ञ द्युलोक में देवताओं तक पहुँच गया है। उस स्वर्ग में स्थित यज्ञ से विशिष्ट भोगों का साधनभूत धन यज्ञ के फल के रूप में हमें प्राप्त हो। स्वर्ग से उतरते समय यह यज्ञ मनुष्य लोक में आता हुआ अन्तरिक्ष लोक में वृष्टि के रूप में बदल जाय, जिससे कि अनेक प्रकार की धन-सम्पत्ति हमें प्राप्त हो। यह यज्ञ धूम आदि मार्ग से पितरों तक पहुँच कर फिर भूलोक में आया है। उस स्थान में स्थित यज्ञ के फल से मुझे धन-सम्पत्ति प्राप्त हो। यह यज्ञ जिस किसी भी लोक में गया हो, उसके फल से मेरा कल्याण हो ॥ ६० ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।२।८) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'देवान् दिवम्' इस मन्त्र का विनियोग सोम द्रव्य के स्कन्दन के प्रायश्चित्त में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—यह यज्ञात्मक व्यापक परमेश्वर विष्णु उपेन्द्र के रूप से स्वर्ग को प्राप्त करके इन्द्रादि देवताओं को कृतार्थ करते हैं। उनकी उपस्थिति में उनकी कृपा से धन, रत्न आदि मुझे प्राप्त हों। ये

चन्द्ररूपेण मनुष्याननुगृह्णाति । ततोऽमृतादिकं द्रविणं मामष्टु । अयं यज्ञः पृथिवीं प्राप्य रामकृष्णरूपेण धर्मग्लानिं निवर्त्य धर्मं संस्थाप्य पितॄन् पित्रुपलक्षितान् देवान् पितॄन् मनुष्यांश्चानुगृह्णाति । अयं यज्ञो यं कं च लोकं गतस्तत एव मे भद्रं भवतु, सर्वान्तर्यामित्वात् सर्वव्यापकत्वात् तत्तद्रूपेण यज्ञस्तांस्ताननुगृह्णात्येव ।

दयानन्दस्य तु—'यो यज्ञः पूर्वोक्तः सर्वैः सङ्गमनीयो दिवं देवान् प्रापयति, दिवं विद्याप्रकाशं दिव्यभोगान् प्रापयति, तं विद्वांसोऽगन् प्राप्नुयुः, ततस्तस्माद् मा मां द्रविणं विद्यादिकमष्टु प्राप्नोतु । यो यज्ञोऽन्तरिक्षं मेघमण्डलमगन् मनुष्यान् आप्नोति, यो यज्ञः पृथिवीं पितॄन् ऋतून् प्रापयति तमगन्, ततो मां द्रविणमष्टु । यो यज्ञो यं यं च लोकं प्राप्नोति, तमगन् ततो मे भद्रं भजनीयं कल्याणमभूद् भवतु, यो यज्ञः सर्वैः कर्तुं योग्यो विद्याप्रकाशं दिव्यभोगान् प्रापयति, यं विद्वांसः प्राप्नुवन्तु, ततो मां द्रविणं विद्यादिगुणः प्राप्नोतु । यो यज्ञो मेघमण्डलं मनुष्यांश्च प्राप्नोति, यं भद्रं मनुष्याः प्राप्नुवन्ति, ततो मां द्रविणं धनादिकमष्टु । यो यज्ञः पृथिवीं पितॄन् वसन्तादीनृतून् प्राप्नोति, यमाप्ताः प्राप्नुवन्ति, ततो मां द्रविणं प्रत्यृतु सुखमष्टु । यो यज्ञो यं कं च लोकं प्राप्नोति, यं धर्मात्मा प्राप्नोति, ततो मे भद्रं भवतु' इति हिन्दीभाष्यम्, तदेतत् सर्वमपि निरर्थकमसङ्गतं च, कोऽयं यज्ञो यः सर्वैः कर्तुं योग्य इत्यस्यानिरूपणात् । पूर्वमन्त्रोक्तसलिलो व्यवहार इति चेत्, तस्य विद्याप्रकाशदिव्यभोगानां प्रापकत्वे मानायोगात् । न वा तस्य मेघमण्डलस्य मनुष्याणां प्रापकत्वे मानमुपलभामहे । न वा तादृशयज्ञस्य पृथिव्या ऋतूनां च प्रापकत्वम्, प्रमाणाभावादेव । श्रुतिविरोधस्तु स्पष्टः ॥ ६० ॥

चतुस्त्रिꣳशत्तन्तवो ये वितत्निरे य इमं यज्ञꣳ स्वधया ददन्ते ।
तेषां छिन्नꣳसम्वेतद्दधामि स्वाहा घर्मो अप्येतु देवान् ॥ ६१ ॥

यज्ञात्मक विष्णु अन्तरिक्ष को प्राप्त करके चन्द्रमा के स्वरूप से मनुष्यों को अनुगृहीत करते हैं । उनसे मुझे अमृत आदि धन प्राप्त हो । ये यज्ञस्वरूप विष्णु पृथिवी लोक को प्राप्त करके श्रीराम, श्रीकृष्ण के स्वरूप से धर्महानि को निराकृत करते हुए धर्म को स्थापित कर पितरों, देवों तथा मनुष्यों को अनुगृहीत करते हैं । यह यज्ञस्वरूप जिस किसी भी लोक में जाय, वहीं से मेरा कल्याण करे । सर्वान्तर्यामी तथा सर्वव्यापक होने के कारण तत्तद् रूप से यज्ञ उनको अनुगृहीत करता ही है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या निरर्थक तथा असंगत है, क्योंकि यह निरूपण नहीं किया गया है कि यह कौन सा यज्ञ है ? जो सबके द्वारा करने योग्य है । यदि पूर्व मन्त्र में वर्णित सलिल व्यवहार है, तो उसके विद्या-प्रकाशक, दिव्य भोगों के प्रापक होने में कोई प्रमाण नहीं है । उस मेघमण्डल का मनुष्यों के प्रापक होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता । श्रुतिविरोध तो स्पष्ट ही है ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ का विस्तार करने वाले प्रजापति आदि चौंतीस देवता इस यज्ञ का विस्तार करते हैं, अन्न आदि के द्वारा पुष्ट करते हैं । यज्ञ का विस्तार करने वाले इन देवताओं का जो अंश छिन्न हो गया है, उसे मैं इस घर्मपात्र में इकट्ठा करता हूँ । यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो । इस घृत से महावीर संगृहीत हो । महावीर देवताओं को प्राप्त हो ॥ ६१ ॥

घर्मदेवत्या पङ्क्तिस्त्रिष्टुब् वा, द्वाचत्वारिंशदक्षरत्वात् । शाखान्तरे महावीरभेदे घृतहोमे विनियोगः । चतुस्त्रिंशत्तन्तवो यज्ञस्य ये परमेष्ठ्यादयो देवा यज्ञं वितत्निरे वितन्वन्ति प्रायश्चित्तशमनेन, तनोतेर्लिटि प्रथमबहुवचने 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।८) इति द्वित्वे, 'तनिपत्योश्छन्दसि' (पा० सू० ६।४।९९) इत्युपधालोपे 'तत्निरे' इति रूपम् । ये च इमं यज्ञं स्वधया अन्नेन ददन्ते धारयन्ति, 'दद दानधारणयोः', पुष्णन्ति वा, ददतिः पुष्यत्यर्थः, तेषां यज्ञं वितन्वतां देवानां यत्किमपि छिन्नं त्रुटितम्, तदेतदहमनेन होमेन सन्दधामि । उकारः पादपूरणः । स्वाहा सुहुतमस्तु । अनेन घृतहोमेन घर्मो महावीरः संहितो भवत्वित्यर्थः । घर्मो महावीरः सविता सन् देवानप्येतु देवान् प्रति गच्छतु ।

अध्यात्मपक्षे—चतुस्त्रिंशत्संख्याकाः पूर्वोक्तास्तन्तवो यज्ञविस्तारकाः सोमस्य साम्बशिवस्य सर्वात्मनोंऽशाः स्वरूपभूताः परमेष्ठ्यादयो यज्ञं वितन्वन्ति, ये चेमं स्वधया धारयन्ति, तेषां यत् त्रुटितम्, तदेतदहमनेन मन्त्रेण सन्दधामि । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'ये चतुस्त्रिंशद् अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः, प्रजापतिः, प्रकृतिश्चेति, तन्तवः सूत्रवत् समवेतुं शीला ये वितत्निरे, ये चेमं यज्ञं सौख्यजनकं स्वधयाऽन्नादिना ददन्ते, तेषां छिन्नं द्वैधीकृतं तदेतत् स्वाहा सत्यया क्रियया वाचा वा सन्दधामि । घर्मो यज्ञः, 'घर्म इति यज्ञनामसु' (निघ० ३।१७।१५), देवान् विदुषोऽप्येतु' इति, तदेतदसङ्गतमेव, शतपथोक्तरीत्या चतुस्त्रिंशद्देवानामेव प्रकृते विवक्षितत्वेन वस्वादीनां ग्रहणे मानाभावात् । 'चतुस्त्रिꣳशतमाज्याहुतीर्जुहोति····तत्र प्रजापतिश्चतुस्त्रिꣳशः' (श० १२।६।१।३७) इति श्रुत्या चतुस्त्रिंशत्त्वेन प्रजापतिरुक्तो न प्रकृतिः, प्रकृतेस्तथात्वे मानाभावाच्च, कोऽयं भागस्तेषां पृथक्कृतः ? कथं च सत्यया क्रियया वाचा सन्धीयते ? इत्यस्य वक्तव्यत्वात् । यज्ञश्च कथं विदुषो गच्छतीत्यप्यनिर्वाच्यमेव ॥ ६१ ॥

यज्ञस्य दोहो वितंतः पुरुत्रा सो अंष्टधा दिवंमन्वाततान ।
स यंज्ञ धुक्ष्व महिं मे प्रजायाꣳ रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा ॥ ६२ ॥

भाष्यसार—'चतुस्त्रिंशत्तन्तवः' इस ऋचा का विनियोग प्रायश्चित्तात्मक घृतहोम में याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत किया गया है । याज्ञिक विनियोगपरक अर्थ पूर्वतः उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—चौंतीस संख्यावाले पूर्वोक्त यज्ञविस्तारक साम्ब शिव सर्वात्मा के अंश, स्वरूपभूत परमेष्ठी आदि यज्ञ को सुविस्तृत करते हैं । जो इसको स्वधा के द्वारा धारण करते हैं, उनकी जो त्रुटि है, उसको मैं इस मन्त्र से परिष्कृत करता हूँ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ असंगत है, क्योंकि शतपथ श्रुति के अनुसार यहाँ चौंतीस देवताओं का ही कथन अभीष्ट होने के कारण वसु आदि के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है । उनका कौन-सा अलग किया गया भाग किस प्रकार सत्य वाणी से परिष्कृत किया जाता है ? इस विषय को स्पष्ट रूप से बताया जाना चाहिये था । यज्ञ विद्वानों के प्रति जाता है, यह भी अस्पष्ट ही है ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ में जो आहुतियाँ दी गई हैं, वे नाना प्रकार से विस्तार को प्राप्त होती हुई, आठों दिशाओं में फैलती हुई द्युलोक को व्याप्त कर लेती हैं । वह यज्ञ मुझे संतति और महिमा प्रदान करे । मैं धन, पुष्टि और पूरी आयु को प्राप्त करूँ । यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ६२ ॥

'सोमेज्योपपाते चैकैकां यथाकालᳪ हुत्वा यज्ञस्य दोह इति वाचयति' (का० श्रौ० २५।६।७)। सोमयागे यस्मिन् कस्मिंश्चित् कर्मणि सोमाङ्गे सोमाङ्गाङ्गे वा उपपाते परमेष्ठ्यादिचतुस्त्रिंशदाहुतीनां मध्ये 'अथ यदि पण्यमानः·····' (श० १२।६।१।१०-३६) इत्यादिश्रुत्युक्ते काले एकैकामाहुतिं सकृद्गृहीतेनाज्येन हुत्वा यज्ञस्य दोह इति मन्त्रं वाचयति यजमानः। अयं होमो ब्रह्मकर्तृकः, वाचनं च तत्कर्तृकम्, आज्यसंस्कारोऽपि तेनैव कार्यः। यज्ञदेवत्या त्रिष्टुप्। पूर्वार्धः परोक्षो द्वितीयः प्रत्यक्षः, अतो यत्तद्भ्यां वाक्यपूर्तिः। यस्य तव यज्ञस्य दोह आहुतिपरिणामो विततः प्रसारितः, पुरुत्रा बहुधा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तो भूतग्रामो यज्ञपरिणाम इत्याशयः। य एव दोहो दिग्भेदेनाष्टधा भिद्यमानो दिवं द्युलोकमाततान भूमिमन्तरिक्षं च व्याप्य दिवमाततान व्याप्तवान्, स त्वं हे यज्ञ, मे मम प्रजायां महि महान्तं दोहं धुक्ष्व प्रक्षर देहि। अहं च त्वत्प्रसादाद् रायस्पोषं धनस्य पुष्टिं विश्वं सम्पूर्णमायुश्चाशीय प्राप्नुयाम्।

अध्यात्मपक्षे—यज्ञस्य विष्णोः परमेश्वरस्य क्रियात्मकस्य वा दोहः, विवर्तः परिणामभूतो वा दोहः, पुरुत्रा बहुधा विततः प्रसृतः, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य यज्ञदोहत्वात्। य एवं दोहो दिग्भेदेनाष्टधा भिद्यमानो भूमिं चान्तरिक्षं च व्याप्य दिवमाततान द्युलोकं व्याप्तवान्, स त्वं हे यज्ञ! महान्तं दोहं मे मम प्रजायां पुत्रादिपरम्परायां शिष्यपरम्परायां च धुक्ष्व प्रक्षर देहि।

दयानन्दस्तु—'हे यज्ञसम्पादक विद्वन्, यो यज्ञस्य पुरुत्रा विततोऽष्टधा दोहः सामग्रीप्रपूर्णोऽस्ति, दिवं सूर्यप्रकाशमन्वाततान आच्छाद्य विस्तारयति, स सूर्यप्रकाशः, त्वं तं यज्ञं धुक्ष्व, यो मम प्रजायां विश्वं महि रायस्पोषमायुश्चान्वाततान, तमहं स्वाहाशीय' इति, तदपि तुच्छम्, अस्पष्टत्वात्। तथाहि कोऽयं यज्ञो यो बहुषु पदार्थेषु विततः? के च ते पदार्थाः? अष्टासु दिक्ष्वष्टप्रकाराश्च के दोहाः? कथं च सूर्यप्रकाशमाच्छाद्य किं विस्तारयति? 'सूर्यप्रकाशे यज्ञानुष्ठायिन्, त्वं यज्ञं धुक्ष्व परिपूरय' इति हिन्दीव्याख्यानम्, तदपि निःसारं पदार्थभाष्यासंस्पर्शि च। सूर्यप्रकाश इति पदकृत्यमिति तु नोक्तम् ॥ ६२ ॥

आपवस्व हिरण्यवदश्ववत् सोम वीरवत्। वाजं गोमन्तमाभर स्वाहा ॥ ६३ ॥

इति माध्यन्दिनसंहितायामष्टमोऽध्यायः ॥

भाष्यसार—'यज्ञस्य दोहः' इस मन्त्र का वाचन में विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।६।७) द्वारा किया गया है। याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—यज्ञस्वरूप परमेश्वर अथवा क्रियात्मक विष्णु का विवर्त रूप अथवा परिणामभूत दोह बहुधा विस्तृत है, क्योंकि ब्रह्मा से प्रारम्भ करके तृण पर्यन्त समस्त प्रपंच यज्ञदोह ही है। इस प्रकार यह दोह दिशाओं के भेद से आठ प्रकारों में विभक्त होते हुए भूमि तथा अन्तरिक्ष को व्याप्त करके द्युलोक में भी व्याप्त है। इस प्रकार के हे यज्ञ! आप इस महान् दोह को मेरी पुत्रादि-परम्परा में तथा शिष्य-परम्परा में प्रवाहित करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अस्पष्ट होने के कारण अग्राह्य है। वह कौन-सा यज्ञ है, जो बहुत पदार्थों में विस्तृत है? वे पदार्थ क्या हैं? आठों दिशाओं में आठ प्रकार के दोह कैसे हैं? किस प्रकार सूर्य के प्रकाश को आच्छादित करके यज्ञ किसका विस्तार करता है? इत्यादि सारे प्रश्नों का उत्तर अपेक्षित है। हिन्दी-भाष्य भी सारहीन तथा पदार्थ-भाष्य से असम्बद्ध है ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम यहाँ आकर इस यूप (स्तम्भ) को पवित्र करो। तुम सुवर्णयुक्त, अश्वयुक्त और वीरयुक्त होकर धेनुयुक्त अन्न हमें सब तरह से प्रदान करो। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ६३ ॥

'आपवस्व हिरण्यवदित्युद्गातृहोमो ध्वाङ्क्षारोहणे यूपस्य' (का० श्रौ० २५।६।९)। सोमे च यूपस्य काकारोहणे उद्गात्रा होमः कर्तव्यः। पश्वादौ तु ब्रह्मकर्तृको होमः। हे सोम ! आपवस्व प्रक्षर, हिरण्यवद् हिरण्यसंयुक्तम्, वीरवद् वीरैः संयुक्तम्, क्रियाविशेषणान्येतानि पदानि, वाजमन्नं गोमन्तं गोभिः संयुक्तम् आभर अकृपणं यथा स्यात्तथा आहर। स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम ! साम्बशिव, त्वं मह्यमापवस्व प्रदेहि। किं प्रदेहीत्याकाङ्क्षायामाह—वाजमन्नं लौकिकज्ञानविज्ञानलक्षणं वा। कीदृशं तत् ? गोमन्तम्, गौर्वेदवाणी प्रमाणं यस्मिन् तादृशम्, हिरण्यवद् ज्योतिर्मयम्, अश्ववत् तद्वद् बलिष्ठं संशयविपर्ययानाक्रान्तम्। तस्मै तुभ्यं स्वाहा स्वसर्वस्वमहं समर्पयामि।

दयानन्दस्तु—'हे सोम, ऐश्वर्यं कामयमान गृहिन् ! त्वं सत्यया वाचा स्वर्णाश्ववीरतुल्यमुत्तमेन्द्रिय-सम्बन्धिनमन्नमयं यज्ञमाश्रय। तेन संसारं सम्यक् पवस्व पवित्रं कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशान्नमय-यज्ञस्य विधानादर्शनात्। तस्मिन् स्वर्णतुल्यता कथम् ? कथं चाश्वतुल्यता ? वीरतुल्यता च कथमुपपद्यते ? कथं चेन्द्रियसम्बन्धः ? विशेषणस्य प्रयोजनं च वक्तव्यम्, इन्द्रियसम्बन्धमन्तरा कस्यापि यज्ञस्यानिष्पत्तेः ॥ ६३ ॥

इति माध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्येऽष्टमोऽध्यायः ॥

भाष्यसार—'आपवस्व' इस मन्त्र से सोमयाग में यूप पर काक का आरोहण होने पर उद्गाता के द्वारा हवन किया जाता है। पश्वादियाग में यह हवन ब्रह्मा द्वारा करणीय है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।६।९) में प्रतिपादित है। याज्ञिक पक्षीय मन्त्रार्थ भी आचार्यों के द्वारा किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना यह है—हे साम्ब शिव, आप मुझे वेदवाणी से प्रमाणित, ज्योतिर्मय, बलिष्ठ, संशय-विपर्यय से रहित अन्न, अर्थात् लौकिक ज्ञान-विज्ञान प्रदान करें। आपके लिये मैं सर्वस्व समर्पित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में इस प्रकार के अन्नमय यज्ञ का विधान दृष्टिगोचर न होने के कारण असंगति है। उसमें स्वर्णतुल्यता, अश्वतुल्यता तथा वीरतुल्यता कैसे संगत होती है ? इन्द्रय-सम्बन्ध भी किस प्रकार उपपन्न होगा ? विशेषण का कारण भी निर्दिष्ट करना चाहिये, क्योंकि इन्द्रिय-सम्बन्ध के अभाव में किसी भी यज्ञ का सम्पादन नहीं हो सकता ।। ६३ ।।

अथ नवमोऽध्यायः

देव॑ सवितः॒ प्रसु॑व य॒ज्ञं प्रसु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य। दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केतं॑ नः पुनातु॒ वा॒चस्पति॒र्वाजं॑ नः स्वदतु॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

नवमेऽध्याये वाजपेयमन्त्रा उच्यन्ते चतुस्त्रिंशत्कण्डिकापर्यन्तम्। तेन बृहस्पतीन्द्रावृषी। 'देव सवितरिति जुहोति यजत्यादिषु' (का० श्रौ० १४।१।११)। वाजपेयाङ्गभूतानां दीक्षणीयाप्रायणीयातिथ्यादीनामादिषु यजत्यादिषु कर्मणः पुरस्तात् सकृद्गृहीतमाज्यं जुहुयात्। वाजपेयकर्म प्रारभमाणः प्रथममनेन मन्त्रेण सकृद्-गृहीतमाज्यं गृह्णीयादित्यर्थः। हे सवितः! देव सर्वस्य प्रेरकान्तर्यामिन् दीव्यमान! यज्ञं वाजपेयलक्षणं प्रसुव प्रवर्तय। इमं यजमानं भगाय भजनीयायानुष्ठानरूपायैश्वर्याय, भजनीयाय यज्ञफलाय वा प्रसुव प्रेरय। अथ मण्डलमाह—त्वत्प्रसादान्मण्डलरूप आदित्यो दिव्यो दिवि भवो गन्धर्वो गवां रश्मीनां धारयिता, केतपूरन्नस्य पालयिता, केतशब्दस्यान्नपरत्वात्। सूर्यमण्डलवर्ती देवो नोऽस्माकं केतमन्नं पुनातु शोधयतु। यद्वा केतान् प्राणिनां विज्ञानानि पुनातु शोधयतु। वाचस्पतिः प्रजापतिरपि त्वत्प्रसादादस्मान् दिने दिने नोऽस्मदीयं वाजमन्नं हविर्लक्षणं स्वदतु आस्वादयतु, स्वाहा सुहुतमस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। सम्राड् वाजपेयेनावरꣳ हि राज्यं परꣳ साम्राज्यं कामयेत वै राजा सम्राड् भवितुं····' (श० ५।१।१।१३), 'कर्मणः पुरस्तादेताꣳ सावित्रीमाहुतिं जुहोति' (श० ५।१।१।१४), 'देव सवितः··· स्वदतु स्वाहेति प्रजापतिर्वै वाचस्पतिरन्नं वाजं प्रजापतिर्न इदमद्यान्नꣳ स्वदत्वित्येवैतदाह स एतामेवाहुतिं जुहोत्या श्वः सुत्याया एतद्धचस्यै तत्कर्मारब्धं भवति प्रसन्न एतं यज्ञं भवति' (श० ५।१।१।१६)। मन्त्रस्थ कानिचित् पदानि व्याख्यातानि। सावित्रहोमस्य संकुचद्वृत्तितां दर्शयति—आ श्वः सुत्यायाः श्वः सुत्यायाः सुत्यादिनात् पूर्वम्।

मन्त्रार्थ—हे दीप्यमान सबके प्रेरक परमात्मन्! वाजपेय यज्ञ को प्रवृत्त करो, यजमान को अनुष्ठान रूप ऐश्वर्य के निमित्त प्रेरित करो। दीप्यमान अन्न को पवित्र करने वाली रश्मियों को धारण करने वाले सूर्यमण्डल में वर्तमान नारायण हमारे अन्न को पवित्र करें। वाक्य के अधिपति प्रजापति हमारे हविरूप अन्न का आस्वादन करें। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १ ॥

भाष्यसार—नवम अध्याय में चौंतीसवीं कण्डिका तक वाजपेय याग के मन्त्र निरूपित हैं। बृहस्पति तथा इन्द्र इनके ऋषि हैं।

कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।१।११) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार वाजपेय याग के अंगभूत दीक्षणीया, प्रायणीया, आतिथ्या आदि इष्टियों के प्रसंग में 'देव सवितः' इस मन्त्र से घृत का हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—हे देव जगदुत्पत्त्यादिक्रीडापरायण ! सवितः सर्वप्रेरक परमेश्वर ! प्रसुव प्रेरय प्रवर्तय यज्ञं वाजपेयाख्यमुपासनज्ञानादिलक्षणं वा। प्रसुव यज्ञपतिं यजमानमुपासकं वा। किमर्थम् ? भगाय भजनीयाय कर्मफलाय निरावरणब्रह्मरूपाय मोक्षाय, दिव्यो दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशे चिदात्मके ब्रह्मणि भवो दिव्यः सविशेषः परमात्मा, गन्धर्वो गवां वेदलक्षणानां वाचां धारकः। केतपूः केतमन्नं ज्ञानं वा पुनाति शोधयतीति केतपूः, नः केतं ज्ञानं पुनातु शोधयतु संशयविपर्ययादिशून्यं करोतु। वाचस्पतिः प्रजापतिः, नोऽस्माकमन्नं निवेदितं नैवेद्यं स्वदतु आस्वादयतु।

दयानन्दस्तु—'देव दिव्यगुणसम्पन्न, सवितः सकलैश्वर्यसंयुक्त सम्राट् ! त्वं भगाय समग्रैश्वर्याय स्वाहा वेदवाचा यज्ञं सर्वसुखदं राजधर्मं प्रसुव प्रचारय। यज्ञपती राजधर्मरक्षकं पुरुषं प्रसुव प्रेरय, येन दिव्यः प्रकाशमानो दिव्यगुणेषु स्थितः, गन्धर्वः पृथिव्या धारकः, केतपूः बुद्धिशोधको वाचस्पतिः पठनपाठनोपदेशादिभिर्विद्यारक्षकः सभापतीः राजपुरुषोऽस्ति, सोऽस्माकं बुद्धिं पुनातु, नोऽस्माकं वाजमन्नं स्वाहा सत्यवाचा स्वदतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, क्लिष्टकल्पनाबाहुल्यात्। यज्ञपदस्य राजधर्मोऽर्थः, यज्ञपतिशब्दस्य राजधर्मपालकपुरुषोऽर्थ इत्यत्र मानाभावात्, यज्ञयज्ञपतिशब्दयोस्तत्रागृहीतशक्तिकत्वात्। एवं दूषणान्तरमप्यूह्यम्॥ १॥

ध्रुवसदं त्वा नृषदं मनःसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्॥ अप्सुषदं त्वा घृतसदं व्योमसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्॥ पृथिविसदं त्वाऽन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्॥ २॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है हे जगत् की उत्पत्ति आदि क्रीडाओं के कर्ता, सबके प्रेरक परमेश्वर ! आप सेवनीय कर्मफल के लिये, आवरण से रहित ब्रह्मस्वरूप मोक्ष के लिये, उपासना, ज्ञान आदि के रूप में यज्ञ को प्रवर्तित कीजिये तथा यजमान, उपासक को भी प्रेरित कीजिये। द्योतनात्मक स्वप्रकाश चिदात्मक ब्रह्म में स्थित सविशेष परमात्मा, वेदवाणियों के धारणकर्ता, अन्न अथवा ज्ञान को शुद्ध करने वाले आप हमारे ज्ञान को संशय, विपर्यय आदि से रहित कर शुद्ध करें। प्रजापति हमारे निवेदित नैवेद्य का आस्वादन करें।

स्वामी दयानन्द का अर्थ क्लिष्ट कल्पनाओं की अधिकता के कारण ग्राह्य नहीं है। यज्ञ शब्द का 'राजधर्म' अर्थ है तथा यज्ञपति शब्द का अर्थ राजधर्मपालक पुरुष है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि यज्ञ तथा यज्ञपति शब्दों की इस प्रकार के अर्थ के ग्रहण की शक्ति नहीं है। इसी प्रकार अन्य दोष भी समझने चाहिये॥ १॥

मन्त्रार्थ—हे प्रथम ग्रह ! तुम इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त उपयाम पात्र में गृहीत हो। इस स्थिर लोक में स्थित मनुष्यों के मन में स्थित तुमको इन्द्र देवता की प्रीति के लिये ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। इन्द्र देवता को तुम अत्यन्त प्रिय हो, तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ। हे द्वितीय ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। जल में, घृत में और आकाश में स्थित इन्द्र देवता के प्रीतिपात्र तुमको ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। इन्द्र देवता की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ। हे तृतीय ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में स्थित देवताओं के दुःखरहित स्थान में तुमको इन्द्र की प्रीति के लिये ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। इन्द्र की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ॥ २॥

'प्रातःसवनेऽतिग्राह्यान् गृहीत्वा षोडशिनं पञ्च चैन्द्रान्, ध्रुवसदमिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १४।२।१)। प्रातःसवने आग्रयणग्रहणानन्तरं त्रीनप्यतिग्राह्यान् क्रमेण पूर्ववद् गृहीत्वा पूर्ववत् षोडशिनं गृह्णीयात्। पञ्चसंख्यान् इन्द्रदेवत्यान् ग्रहान् ध्रुवसदमिति पञ्चभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं गृह्णीयात्। त्रीणि यजूंषि इन्द्रदेवत्यानि। पञ्च वाजपेयिका ग्रहा गृह्यन्ते। हे सोम, त्वमुपयामयतीत्युपयामो ग्रहस्तेन गृहीतोऽसि। इन्द्राय जुष्टं प्रियं त्वां गृह्णामि। कीदृशं त्वाम्? ध्रुवसदं ध्रुवे स्थिरे ग्रहे ध्रुवे स्थिरे मूले सीदतीति ध्रुवसदम्। सोमाहुतिपरिणामभूतो रस एषु लोकेष्वावर्तमान इह गृह्यते सोमाध्यस्तः। नृषदं नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषदम्, मनसि सीदतीति मनःसदमिति। हे ग्रह, एष ख[illegible]देशस्ते स्थानम्। इन्द्राय जुष्टतमं प्रियतमं त्वां सादयामीति शेषः। अथ द्वितीयम्—अप्सुषदमुदकसदम्, घृते सीदतीति घृतसदम्, व्योम्नि सीदतीति व्योमसदं त्वां गृह्णामि। अथ तृतीयम्—पृथिव्यां सीदतीति पृथिवीसदम्, अन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसदम्, नाकसदं कं सुखम्, न कम् अकं दुःखम्, न अकं यस्मिन् तन्नाकं सततसुखान्वितः स्वर्गविशेषः, तस्मिन् सीदतीति नाकसदम्, त्वां गृह्णामीत्यादिकं पूर्ववत्। एतद् इति सादनम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पृष्ठ्यान् गृह्णाति। तद्यदेवैतैर्देवा उदजयंस्तदेवैष एतैरुज्जयति' (श० ५।१।२।२)। पृष्ठ्यान् अतिग्राह्यान्। ते हि पृष्ठस्तोत्रसम्बन्धात् पृष्ठ्या उच्यन्ते। 'अथ षोडशिनं गृह्णाति। तद्यदेवैतेनेन्द्र उदजयत्तदेवैष एतेनोज्जयति' (श० ५।१।२।३), 'अथैतान् पञ्च वाजपेयग्रहान् गृह्णाति। ध्रुवसदं त्वा···· जुष्टतममिति सादयत्येषां वै लोकानामयमेव ध्रुव इयं पृथिवीममेवैतेन लोकमुज्जयति' (श० ५।१।२।४)। ध्रुवे स्थिरे भूलोके सीदन्तं नृषु नेतृषु सीदन्तं मनःसदं मनसि वर्तमानं त्वां ग्रहम् इन्द्राय जुष्टम् अभिरुचितं गृह्णामि। त्वमुपयामगृहीतोऽसि पृथिव्यात्मकेन पात्रेण गृहीतोऽसि, 'इयं वा उपयामः' (श० ४।१।२।७) इति श्रुतेः। ध्रुवपदं व्याचष्टे—एषां वै लोकानामिति। एषां लोकानामयं दृश्यमानो लोकोः ध्रुवः। इदंशब्दस्यार्थमाह—इयं वै पृथिवीति। 'अप्सुसदं त्वा। घृतसदं····जुष्टतममिति सादयत्येषां वै लोकानामयमेव व्योमेदमन्तरिक्षमन्तरिक्षलोकमेवैतेनोज्जयति' (श० ५।१।२।५), 'पृथिवीसदं····' (श० ५।१।२।६)। विशेषेण ओम् अवनं व्याप्तिर्यस्य तद् व्योम।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, निवेदनीयद्रव्य! त्वमुपयामगृहीतोऽसि यमसमीपस्थया श्रद्धया गृहीतोऽसि। इन्द्राय परमेश्वराय तं प्रीणयितुं त्वां गृह्णामि। कीदृशं त्वाम्? ध्रुवसदं ध्रुवाख्यपात्रस्थितम्। पुनः कीदृशम्? नृषदं नृषु सीदन्तं त्वां मनःसदम्। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थितिस्थानम्। इन्द्राय त्वां प्रियतमं सादयामि। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। इन्द्राय त्वां जुष्टमभिरुचितं गृह्णामि। कथंभूतं त्वाम्? घृतसदं घृत उदके सीदतीति घृतसदस्तम्। व्योमसदं व्योम्नि सीदतीति व्योमसदस्तम्। इन्द्राय त्वां जुष्टमभिरुचितं गृह्णामि। शेषं पूर्ववत्। पृथिवीसदमन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदं त्वां गृह्णामि। एष ते योनिः, इन्द्राय त्वां सादयामि। 'चित्पात्रे सद्धविःसौख्यं विविधानेकभक्षणम्। निवेदयामि ते देवि सानुगायै जुषाण तत्॥' इति

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।२।१) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'ध्रुवसदं त्वा' इत्यादि कण्डिका के मन्त्रों से प्रातःसवन में ग्रहों का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक-प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे निवेदनीय द्रव्य सोम, तुम अत्यन्त श्रद्धा से ग्रहण किये गये हो। परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। तुम ध्रुव पात्र में स्थित, मानवों में निवास करने वाले तथा मन में अवस्थित हो। यह उपासनास्थल तुम्हारा निवासस्थान है। परमेश्वर के अत्यन्त प्रिय तथा रुचिकर, तुमको ग्रहण करता

रीत्या सत्सौख्यमेव हविः। तच्च चित्सौख्यरूपत्वात् सर्वव्यापकम्। ध्रुवसदादि विशेषणं भवति। तत एवान्तरिक्षसदं व्योमसदं वाक्सदं त्वां सर्वात्मरूपमहं गृह्णामि परमेश्वराय तस्मा एव त्वामासादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे सम्राट्, अहमिन्द्राय परमात्मने यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि योगविद्याप्रसिद्धयमसेविभिर्गृहीतोऽसि, तं ध्रुवसदं निश्चलविद्याविनययोर्धर्मेषु स्थितं नृषदं नेतृष्ववस्थितं त्वां मनःसदं विज्ञाने स्थितं जुष्टं प्रीतियुतं त्वां गृह्णामि। यस्य ते तव एष योनिः सुखनिमित्तमस्ति, तं जुष्टतममत्यन्तसेवनीयं त्वामिन्द्राय राज्यैश्वर्ययोः प्राप्त्यै गृह्णामि धारयामि। हे राजन्नहम् इन्द्राय ऐश्वर्यधारणाय यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि प्रजाराजपुरुषाभ्यां गृहीतोऽसि, तमप्सुसदं जलमध्ये चलन्तं घृतसदं घृतादिपदार्थान् प्राप्नुवन्तं व्योमसदं विमानादिभिराकाशे चलन्तं जुष्टं सर्वप्रियं त्वां गृह्णामि। हे सर्वरक्षक सभाध्यक्ष, यस्य ते एष योनिः सुखदायकं गृहमस्ति, तमतिप्रसन्नं त्वामिन्द्राय दुष्टशत्रुदमनाय गृह्णामि। हे सार्वभौम, अहं यस्त्वमिन्द्राय विद्यायोगमोक्षैश्वर्यादिप्राप्तये यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि साधनोपसाधनादिभिर्युक्तोऽसि, तं पृथिवीसदं पृथिव्यां भ्रमणशीलम् अन्तरिक्षे चलन्तं दिविसदं न्यायप्रकाशे नियुक्तं देवसदं धार्मिकेषु विद्वत्सु स्थितम्, नाकसदं सर्वदुःखरहिते परमेश्वरे धर्मे च स्थिरं जुष्टं सेवनीयं त्वां गृह्णामि। हे सर्वसुखप्रद राजपुरुष प्रजापते! यस्य ते एष योनिर्वसतिः, तं त्वामतिप्रियमिन्द्राय सर्वैश्वर्यसुखप्राप्तये गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैतस्यार्थस्य लौकिकत्वेन शास्त्रविषयत्वायोगात्, सम्राडादीनां सम्बोधने मानाभावाच्च। इन्द्रादिपदानामपि यथेष्टविभिन्नार्थकरणं निर्मूलम्। दिवीत्यस्य प्रकाशार्थत्वे सत्यपि न्यायप्रकाशत्वं त्वदभ्यूहितमेव ॥ २ ॥

अपाᳪं रसमुद्वयसᳪं सूर्ये सन्तᳪं समाहितम्। अपाᳪं रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थम्। रसदेवत्याऽनुष्टुप्। हे तुरीयग्रह, सूर्ये समाहितं समारोपितं स्थापितं सन्तमुदकानां रसं सारं वायुमहं गृह्णामि, 'एष वा अपाᳪं रसो योऽयं पवते' (श० ५।१।२।७) इति श्रुतेः। कीदृशम्? उद्वयसम्, उद्गतं वयोऽन्नं यस्मात् स वायुरुद्वयास्तम्, वायुनैव धान्यानां निष्पत्तेः। अपां रसस्य वायोर्यो रसः सारः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः, स हि यज्ञो लोक-कालाग्नि-वायु-सूर्यर्ग्यजुःसामादिवपुः। हे देवाः, वो युष्मभ्यं तं प्रजापतिग्रहं गृह्णामि। कीदृशम्? उत्तमम्, उत्कृष्टतमम्। वःशब्दोऽनर्थको वा। सोमरूपेण वायुं तदभिमानिनं

हूँ। उदय में स्थित, आकाश में स्थित, पृथिवी में स्थित, अन्तरिक्ष में स्थित, द्युलोक में स्थित, देवों में स्थित तथा स्वर्ग में स्थित तुमको ग्रहण करता हूँ, अर्थात् सर्वात्मरूप चित्सौख्यस्वरूप तुम्हारा ग्रहण परमेश्वर के लिये करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ संगत नहीं है। यह सम्पूर्ण अर्थ लौकिक होने के कारण शास्त्रविषयकत्व से रहित है और सम्राट् आदि सम्बोधन में कोई प्रमाण भी नहीं है। इन्द्र आदि पदों का स्वेच्छानुसार विविध अर्थ करना भी मूलरहित है। 'दिवि' इस पद के प्रकाशार्थक होने पर भी 'न्यायप्रकाश' यह अर्थ करना स्वेच्छाचारिता ही है ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ – **हे चतुर्थ ग्रह! सूर्य में समाहित समस्त अन्न के उत्पादक जल का जो सार है, हे देवताओं! उस श्रेष्ठ उत्कृष्ट प्रजापति का मैं ग्रहण करता हूँ। हे चतुर्थ ग्रह! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। तुम इन्द्र देवता के प्रीतिपात्र हो। यह तुम्हारा स्थान है। इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ३ ॥**

भाष्यसार – चतुर्थ ग्रहपात्र में सोमग्रहण आदि कर्म में 'अपां रसम्' इस कण्डिका का विनियोग याज्ञिक प्रक्रियानु-

प्रजापतिं च गृह्णामि। उपयामेत्यादि पूर्ववत्। हे तुरीयग्रह, अपां रसस्योदकस्य सारभूते सोमवल्लीरूपेण परिणते यो रसोऽस्ति, तस्यापि रसस्य यो रसः सारः, दशापवित्रात् पवमानः स्रवति, तं तादृशमुत्तममुत्कृष्टतमं स्वरसं वो युष्मदर्थं गृह्णामि। व इति प्रजार्थं बहुवचनम्। यद्वा वो युष्माकमपां सम्बन्धिनम् उद्वयसमुद्गच्छन्तम्, 'वी गति-व्याप्ति-प्रजन-कान्त्यसन-खादनेषु'। यद्वा उद्गतं वयोऽन्नमपां सारं यस्मात्, 'वय इत्यन्ननाम' (निघ० २।७।३), उद्गतमन्नं जीवनं वा यस्मिन्। सोमरसोऽन्नभूतो जीवनहेतुश्च, 'अपाम सोमममृता अभूम' (ऋ० सं० ८।४८।३) इति मन्त्रवर्णात्। सूर्ये सन्तं सम्यगाहितमिन्द्राय जुष्टं गृह्णामि, उदकादिरूपस्य रसस्यादित्येऽवस्थानात्।

अत्र ब्राह्मणम् 'अपाꣳ रसस्य····जुष्टतममिति सादयत्येष वा अपाꣳ रसो योऽयं पवते स एष सूर्ये समाहितः सूर्यात् पवत एतमेवैतेन रसमुज्जयति' (श० ५।१।२।७)। मन्त्रं व्याचष्टे—एष वा अपां रसः, योऽयं पवते दशापवित्रात् स्रवति, सोऽपां रस एव सूर्ये समाहितः सम्यगवस्थितः। स एष खलु सोमरस उदकात्मना पूर्वं सूर्ये समाहितः सम्यगवस्थितः, इदानीं सूर्यात् सूर्यात्मकाद् दशापवित्रात् पवते स्रवति।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम निवेदनीय द्रव्य! इन्द्राय परमात्मने जुष्टमभिरुचितं त्वां गृह्णामि। कीदृशम्? अपां रसम् अपां लोकानां रससारभूतम्, 'आपो वै लोकाः' इति श्रुतेः। उद्वयसम् उत्कृष्टं वयो जीवनं यस्माद् यस्मिन् वा, वायुं बलरूपं वा, सूर्ये समाहितं सम्यगाहितम्। सर्वासाम् अपां रसो वायुस्तस्यापि रसः प्रजापतिस्त-मुत्तममुत्कृष्टतमम्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्नहमिन्द्राय ऐश्वर्यप्राप्तये वो युष्मभ्यं सूर्ये सवितृप्रकाशे सन्तं समाहितं सम्यक् सर्वतो धृतमुद्वयसमुत्कृष्टं वयो जीवनं यस्मात् तमपां रसं सारं गृह्णामि। योऽपां जलानां रसस्य सारस्य रसो वीर्यं धातुः, तमुत्तमं श्रेयांसं वो युष्मभ्यं गृह्णामि। यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि साधनोपसाधनैः स्वीकृतोऽसि, तमिन्द्राय जुष्टतमं त्वां गृह्णामि' इति, तदपि विसङ्गतमेव, इन्द्रायेति पदयोः समानत्वेऽपि कथमेकत्रैश्वर्यप्राप्तिरर्थः, अन्यत्र परमेश्वरप्राप्तिरर्थ इत्यत्र विनिगमनाविरहात्, सूर्यप्रकाशे वर्तमानमिति विशेषणस्य कृत्याभावाच्च। वीर्यस्य कथमपां रसत्वम्? तस्य च राज्ञे किमर्थं धारणम्? ॥ ३ ॥

सार किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे निवेदनीय द्रव्य, परमात्मा के लिये अत्यन्त प्रिय तुमको मैं ग्रहण करता हूँ। लोकों के रससारभूत उत्कृष्ट जीवन के साधक अथवा उत्कृष्ट जीवन में अवस्थित, बलरूप, सूर्य में सम्यक् स्थित तुम्हारा ग्रहण करता हूँ, इत्यादि। अवशिष्ट अर्थ पूर्व मन्त्र में निरूपित है।

स्वामी दयानन्द ने—'हे राजन्, मैं ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये सूर्य के प्रकाश में समाहित जल के सार का ग्रहण करता हूँ' इस प्रकार अर्थ किया है, यह विसंगत ही है, क्योंकि मन्त्र में दो स्थानों पर 'इन्द्राय' पद समान रूप से पठित है। फिर भी एक जगह ऐश्वर्य-प्राप्ति अर्थ किया गया है और दूसरे स्थान पर परमेश्वर-प्राप्ति अर्थ है। इस प्रकार परस्पर भेद है। 'सूर्यप्रकाश में वर्तमान' इस विशेषण का भी कोई प्रयोजन नहीं है। वीर्य किस प्रकार जल के सार का रस है? यह भी अस्पष्ट है। राजा के लिये उसका धारण क्यों किया जाता है?

अध्यात्मपक्ष के अनुसार प्रतिपादित अर्थ शतपथश्रुति आदि से सम्मत है ॥ ३ ॥

ग्रहा ऊर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम् । तेषां विशिप्रियाणां वोऽहमिषमूर्जᳪ समग्रभमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् । सम्पृचौ स्थः सं मा भद्रेण पृङ्क्तं विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमम् । ग्रहदेवत्याऽनुष्टुप् । हे ग्रहाः, गृह्यन्त इति ग्रहाः सोमाः, तेषां वो युष्माकं सम्बन्धिनमूर्जं रसं चाहं समग्रभं समग्रहं सम्यग् गृह्णामि । कीदृशानाम् ? विशिप्रियाणां शिप्रियोर्हन्वोः कर्म चलनरूपं शिप्रियं हनूचलनम्, विगतं शिप्रियं येषु तेषां ग्रहाणां ग्रहरसानाम्, 'शिप्रे हनू नासिके वा' (निरु० ६।१७), प्रकृते तु हनू, सम्यगभिषुताः सुपूताश्च ग्रहाः सुपेयत्वाद् हन्वोर्व्यापारानपेक्षणात् विशिप्रिया उच्यन्ते । तेषां केषाम् ? ये यूयम् ऊर्जाहुतय ऊर्जमन्नरसमाह्वयन्ति ये यैर्वा ते ऊर्जाहुतयः । तथा विप्राय मेधाविन इन्द्राय मतिं विशिष्टबुद्धिं व्यन्तो जानन्तो गमयन्तो वा । वीत्यस्य गतिकर्मणो रूपम् । उपयाम एष ते इति व्याख्याते । 'उपर्युपर्यक्षमध्वर्युर्धारयत्यधोऽधो नेष्टा सम्पृचाविति' (का० श्रौ० १४।२।६) । अध्वर्युः सोमग्रहं गृहीत्वा अक्षस्योपरिष्टात् समीप एव तं धारयेत्, नेष्टा च सुराग्रहं गृहीत्वा अक्षस्याधस्तात् समीप एव तं धारयेत् । सहैव धारणं मन्त्रपाठश्च । हे सोमसुराग्रहौ, यौ युवां सम्पृचौ सम्पृक्तौ स्थो भवथः, तौ युवां मा मां भद्रेण भन्दनीयेन कल्याणेन सम्पृक्तं संसृजतम् । 'विपृचावित्याहरते' (का० श्रौ० १४।२।७) । ततोऽध्वर्युनेष्टारौ स्वं स्वं ग्रहं खरे सादनाय आहरेतां स्वसमीपमानयतः । हे ग्रहौ, यतो युवां विपृचौ स्थः, ततो मां पाप्मना विपृक्तं वियोजयतम् ।

यद्वा—हे ग्रहाः, गृह्यन्त इति ग्रहाः सोमाः, ऊर्जाहुतय ऊर्जमन्नं सवनीयं पुरोडाशमभिलक्ष्य हूयमानाः ! यद्वा—अन्नाहुतिभूता यूयं विप्राय मेधाविने स्वापेक्षितफलपूरकाय वा यजमानाय मतिं विवक्षितां बुद्धिं व्यन्तः पश्यन्तोऽनुजानन्तः, भवतेति शेषः । विशिप्रियाणां शोभनाभिषवसंस्कारत्वेन हनुव्यापारानपेक्षणात् सोमात्मका ग्रहा विशिप्रियाः, यद्वा—विविधानि शिप्रियाणि हनूस्थानीयानि पात्राग्राणि, तत्पर्यन्तं तेषां वो युष्माकमिषमन्नमूर्जं बलप्रदं सोमरसं समग्रभं समग्रहं संगृह्णामि । 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१।८४, वा०) इति हस्य भः । शेषं पूर्ववत् । इति सायणाभिप्रायानुसारि व्याख्यानम् । पूर्वं तूव्वटमहीधरानुसारि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'ग्रहा ऊर्जाहुतयः ।''''इन्द्राय त्वा जुष्टतममिति सादयत्यूर्ग्वै रसः' (श० ५।१।२।८) । ऊर्क्पदसूचितमर्थमाह—ऊर्ग्वै रस इति ।

मन्त्रार्थ—हे सम्पूर्ण ग्रहों ! अन्न रस का आह्वान करने वाले तुम लोग बुद्धिमान् यजमान को विशिष्ट बुद्धि को प्राप्त कराने वाले हो । यजमानों के प्रिय अन्नरस को तुम्हारी प्रीति के लिये भली प्रकार ग्रहण करता हूँ । हे पंचम ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ । हे पंचम ग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है । तुम इन्द्र देवता के अत्यन्त प्रिय हो, अतः तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ । हे सोम और सुरा के ग्रहों ! तुम दोनों मिले हुए हो । तुम दोनों मुझे कल्याण से संयुक्त करो । हे सोम और सुराग्रहों ! तुम दोनों वियुक्त हो, अतः मुझे पापाचरण से पृथक् करो ॥ ४ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।२।६-७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'ग्रहा ऊर्जाहुतयः' इस कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग सोमरस के ग्रहण, सोम एवं सुराग्रहों का अक्ष के समीप स्थापन तथा अध्वर्यु और नेष्टा ऋत्विजों के द्वारा अपने अपने ग्रहपात्रों का समीप में आनयन आदि कर्मों में किया गया है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे—हे ग्रहा ग्रहगतसोमरसाः ! ऊर्जमन्नरसमाह्वयन्ति ये ते यूयं विप्राय मेधाविने सर्वज्ञाय इन्द्राय परमेश्वराय मतिं विशिष्टां बुद्धिं व्यन्तो जानन्तो गमयन्तो वा विशिप्रियाः सम्यगभिषुताः सुपूताश्च हनुव्यापारानपेक्षा भवत। हे नरनारायणौ, यौ युवां सम्पृचौ स्थः सम्पृक्तौ भवथः, तौ युवां मा मां भन्दनीयेन कल्याणेन सम्पृक्तं संयोजयतम्। हे कृष्णार्जुनौ, युवां पाप्मना विपृचौ वियुक्तौ स्थः, मामपि पाप्मना वियोजयतम्।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजाराजपुरुष ! यथाहं विप्राय मेधाविने मतिं ददामि, तथा त्वमपि कुरु। ये व्यन्तो वेदविद्यासु व्याप्नुवन्तः, ऊर्जाहुतयो ऊर्जा बलप्राणनकारिका आहुतयो ग्रहणानि दानानि वा येषां ते ग्रहा ग्रहीतारो गृहाश्रमिणः सन्ति, यथा तेषां विशिप्रियाणां विविधे धर्मे कर्मणि हनुनासिके येषां तेषां मतिमिषमूर्जं च बुद्धिमन्नं पराक्रमं च समग्रभं गृहीतवानस्मि, तथा त्वमपि गृहाण। हे विद्वन्, यथा त्वमुपयामगृहीतोऽसि राज्यगृहाश्रमसामग्रीसम्पन्नोऽसि, तथाऽहमपि भवेयम्। यथाऽहमिन्द्रायोत्तमैश्वर्याय जुष्टं प्रसन्नं त्वां गृह्णामि, तथा त्वमपि मां गृहाण। यस्यैष ते योनिरस्ति सुखनिमित्तं गृहमस्ति, तमिन्द्राय जुष्टतमं शत्रुनाशायातिप्रसन्नं त्वामहं यथा गृह्णामि, तथा त्वमपि मां गृहाण। यथा स च त्वं च युवां धर्म्ये व्यवहारे सम्पृचौ स्थस्तथा भद्रेण सेवनयोग्येन सुखदायकैश्वर्येण मा मां सम्पृक्तं संयोजयतम्। यथा युवां विपृचौ स्थोऽधर्मिपुरुषेभ्यो वियुक्तौ स्थः, तथानेन मामपि विपृक्तं तेभ्यो वियोजयतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजप्रजापुरुषस्य सम्बोध्यत्वे मानाभावात्। अथाहं करोमि तथा त्वमपि कुरु—इति कथं कश्चिद् गृहस्थः प्रजाराजपुरुषं प्रति वक्तुं शक्नोति। व्यन्त इत्यस्य सर्वविद्यासु व्याप्नुवन्तः' इति कथमर्थः ? तेषां विशिप्रियत्वं कथम् ? 'तेषां धर्मयुक्तकर्मसु मुखनासिकावतां बुद्धिमन्नं पराक्रमं च युष्मभ्यं गृहीतवानस्मि' इति हिन्दीभाष्येणाप्यस्यार्थो न व्यज्यते। स च त्वं चेत्यत्र तत्पदवाच्यः कः ? कथं चोभयोः सम्पर्कः ? भावार्थस्तु प्रायेण सर्वत्रैव मन्त्रतद्भाष्यसम्बन्धशून्य एव ॥ ४ ॥

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि वाज॒सास्त्वया॒यं वाज॑ꣳ सेत्। वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे। यस्या॑मि॒दं विश्वं॒ भुव॑नमावि॒वेश॒ तस्यां॑ नो दे॒वः स॑वि॒ता धर्म॑ साविषत् ॥ ५ ॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे ग्रहगत रसों, अन्नरस का आनयन करने वाले आप लोग मेधावी, सर्वज्ञ परमेश्वर के लिये विशिष्ट बुद्धि का परिज्ञान करते हुए भलीभाँति पिष्ट तथा पवित्र होकर मुखचालन की क्रिया से निवृत्त हों। हे नर तथा नारायण, आप दोनों सम्पृक्त हों। आप दोनों मुझे कल्याण से संयुक्त करें। हे कृष्ण और अर्जुन, आप दोनों पाप से वियुक्त हैं, मुझे भी पाप से विरहित करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ युक्त नहीं है। राजप्रजापुरुष का सम्बोधन करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'जैसा मैं करता हूँ, वैसा तुम भी करो' इस प्रकार कोई गृहस्थ प्रजाजन राजपुरुष के प्रति कैसे कह सकता है ? 'व्यन्तः' इस पद का 'सर्वविद्याओं में व्याप्त होते हुए' यह अर्थ कैसे हो सकता है ? हिन्दीभाष्य के द्वारा भी इसका अर्थ व्यक्त नहीं होता। मन्त्रार्थ में 'स च त्वं च' इसमें 'तत्' पद से किसका बोधन है ? तथा दोनों का सम्पर्क भी किस प्रकार का है ? स्वामी दयानन्दोक्त भावार्थ तो प्रायः सर्वत्र ही मन्त्र और उसके भाष्य से सम्बन्ध नहीं रखता ॥ ४ ॥

'मरुत्वतीयान्त इन्द्रस्य वज्र इति रथावहरणम्' (का० श्रौ० १४।३।१)। महामरुत्वतीयग्रहप्रचारान्ते माहेन्द्रग्रहग्रहणात् पूर्वं रथावहरणात् शकटाद् रथस्यावतारणमध्वर्युः कुर्यात्, इन्द्रस्य वज्र इति मन्त्रेण। रथदेवत्यं यजुः। इन्द्रेण यदा वृत्राय वज्रं प्रहृतं तत् त्रिधा जातम्, तस्यैको भागो रथ इति। हे रथ रथाभिमानिदेव, त्वमिन्द्रस्य वज्रोऽसि। वज्र एव स्फ्य-रथ-यूपरूपेण त्रिधा विभक्तः। तथा च श्रुतिः—'इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्। तत् त्रेधा व्यभवत्। स्फ्यस्तृतीयं रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयम्' (तै० सं० ५।२।६।१-२) इति। कीदृशस्त्वम् ? वाजसाः, वाजमन्नं सनोति ददातीति वाजसाः, अन्नदाता भवसि। 'षणु दाने' इत्यस्य 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इत्याकारः। अयं यजमानस्त्वया वज्रीभूतेन सहायेन वाजमन्नं सेत् सनुयात् सिनुयाद् बध्नीयात् सम्भजेत् साधयेद्वा। सनोतेः सिनोतेः सेधतेर्वा रूपम्। 'चात्वालमावर्तयति वाजस्येति धूर्गृहीतम्' (का० श्रौ० १४।३।२)। अवतारितं रथं धुरि गृहीत्वा चात्वालाद्दक्षिणेनानीय वेद्यां स्थापयेद् वाजस्येति मन्त्रेण। पृथिवीदेवत्याऽतिजगती। अन्त्यः पादः सवितृदेवत्यः। वाजस्यान्नस्य प्रसवेऽनुज्ञायां वर्तमाना वयं मातरं जगतो निर्मात्रीं महीं वेदिरूपां महनीयामदितिमदीनामखण्डितां वा भूमिं नाम प्रसिद्धं यथा स्यात्तथा वचसा मन्त्रेण करामहे अनुकूलां करवामहे, स्तुम इत्यर्थः। वेदमन्त्रेण पृथिवीमन्नप्रदात्रीं वा करवामहे। यस्यां भूमाविदं विश्वं सर्वं भुवनं भूतजातमाविशेषाविष्टम्, तस्यां भूमावेव नोऽस्माकं धर्मं धारणमवस्थानमनुष्ठानं सविता देवः साविषत् प्रसवमनुज्ञां करोतु। 'षू प्रसवे' इति धातोर्णिजन्तस्य विचि रूपम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अगृहीते माहेन्द्रे। एष वा इन्द्रस्य निष्केवल्यो ग्रहो यन्माहेन्द्रोऽपि····निष्केवल्यꣳ शस्त्रमिन्द्रो वा यजमानस्तदेनꣳ स्व एवायतनेऽभिषिञ्चति तस्मादगृहीते माहेन्द्रे' (श० ५।१।४।२)। महेन्द्रदेवत्ये ग्रहेऽगृहीते माहेन्द्रात् पूर्वमेष इन्द्रस्य निष्केवल्यो ग्रहः। 'अथ रथमुपावहरति। इन्द्रस्य वज्रोऽसीति वज्रो वै रथ। इन्द्रो वै यजमानस्तस्मादाहेन्द्रस्य वज्रोऽसीति वाजसा इति वाजसा हि रथस्त्वयाऽयं वाजꣳ सेदित्यन्नं वै वाजस्त्वयाऽयमन्नमुज्जयत्वित्येवैतदाह' (श० ५।१।४।३)। रथवाहने काष्ठविशेषे स्थापितमाजिधावनाय सज्जीकर्तुम्, तस्मात् काष्ठादवरोहणं समन्त्रकं विधत्ते—अथ रथमुपावहरतीति। उपावहरत्यूर्ध्वदेशादवतारयेत्। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव। 'तं धूर्गृहीतमन्तर्वेद्यभ्यवर्तयति। वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमित्यन्नं वै वाजोऽन्नस्य नु प्रसवे मातरं महीमित्येवैतदाहादितिं नाम वचसा करामह इतीयं वै पृथिव्यदितिस्तस्मादाहादितिं नाम वचसा करामह इति यस्यामिदं विश्वं···भुवनमाविष्टं तस्यां नो देवः सविता····यजमानꣳ सुवतामित्येवैतदाह' (श० ५।१।४।४)। धूर्गृहीतस्य रथस्य वेदिमध्येऽभ्यावर्तनं विधत्ते—अन्तर्वेद्यभ्यववर्तयतीति। धूरित्यश्वबन्धनस्थानं युगम् अन्तर्वेदि सौमिकवेदिमध्ये प्रादक्षिण्येनानयेदित्यर्थः। मन्त्रं व्याचष्टे—महीमित्यन्नं वै वाज इत्यादिना। पूर्वोक्तव्याख्यानेन श्रुतिरपि व्याख्यातप्राया।

मन्त्रार्थ—हे रथ ! तुम अन्न देने वाले हो, इन्द्र के वज्र हो, यह यजमान तुम्हारी वज्रतुल्य सहायता से अन्न को प्राप्त करे। अन्न की अनुज्ञा में वर्तमान हम जगत् का निर्माण करने वाली अदीन पूजनीय माता भूमि की वेदवाक्यों द्वारा स्तुति करते हैं। जिसमें यह सम्पूर्ण संसार निविष्ट है, वह सबका प्रेरक प्रकाशात्मक परमात्मा इस भूमि के प्रति हमारी दृढ़ आस्था को बनाये रखें ॥ ५ ॥

भाष्यसार— कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।१-२) में निर्दिष्ट याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार महामरुत्वतीय ग्रह प्रचार के अनन्तर माहेन्द्र ग्रह के ग्रहण से पूर्व अध्वर्यु शकट से रथ का अवतारण 'इन्द्रस्य वज्रः' इस मन्त्र के द्वारा करता है। तथा 'वाजस्य' इस मन्त्र से अवतारित रथ को चात्वाल के दक्षिण भाग से ले जाकर वेदि पर स्थापित करता है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे – हे हनूमन्, त्वमिन्द्रस्य रामस्य वज्रोऽसि वज्रवच्छत्रुविदारकोऽसि। त्वं वाजसा अन्नदातासि। वज्रीभूतेन त्वयाऽयं साधको वाजमन्नं सेत् साधयेत् सम्भजेद् वा। वाजस्य ज्ञानरूपस्यान्नस्य प्रसवे उत्पादनाय वयं यां बुद्धिलक्षणां भूमिं नाम प्रसिद्धां यथा स्यात्तथा वचसा वेदवाक्येनानुकूलां करामहे कृतवन्तः। कीदृशीं तां मातरम्? ज्ञानविज्ञानजननीं महीं महनीयामदितिमदीनाम् इदं विश्वं सर्वं भुवनं यस्यां भूमावाविष्टम्, सर्वस्यैव शब्दसमूहस्यार्थसमूहस्य च बौद्धत्वात्। सविता परमेश्वरो देवस्तस्यां भूमौ नोऽस्माकं धर्मं धरणं ज्ञानोत्पादनानुष्ठानं साविषत् प्रेरयतु।

दयानन्दस्तु – 'हे वीर, यस्यां त्वमिन्द्रस्य राज्ञो वाजसाः संग्रामस्य विभाजको वज्रो वज्रवच्छत्रुच्छेदकोऽसि, तेन त्वया रक्षकेण सेनापतिना सह स पुरुषो वाजं संग्रामं सेत् सिनुयात् संग्रामस्य प्रबन्धं कुर्यात्, यत्रेदं विश्वं प्रविष्टमस्ति यत्र च सर्वप्रकाशकः सविता जगदुत्पादकः परमात्मा नोऽस्माकं धारणं कुर्यात्, तस्यां वाजस्य संग्रामस्य प्रसवे ऐश्वर्ये मातरमदितिमखण्डनीयां पृथिवीं वचसा वेदोक्तन्यायोपदेशवाक्येन वयं नु शीघ्रं करामहे कुर्याम' इति, तदपि स्वाभ्यूहितमात्रम्, श्रुतिसूत्रसमन्वयाभावात्, 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥' इति भट्टपादोक्तदिशा प्रत्यक्षादिसिद्धार्थप्रतिपादने वेदत्वानुपपत्तेः। अस्पष्टार्थश्चैष मन्त्रः। तथाहि न्यायोपदेशवचनेन पृथिव्याः कथं ग्रहणम्? वज्रो वज्रवच्छेदक इत्यादौ गौणार्थाश्रयणे किं बीजम्॥ ५॥

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः। देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनायं वाजꣳ सेत्॥ ६॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे हनुमन्, आप राम के वज्र के समान शत्रुओं के विनाशक हैं तथा अन्नदाता हैं। आपके द्वारा यह उपासक बल का साधन करे। ज्ञानात्मक अन्न के उत्पादन के लिये हम लोगों ने बुद्धिरूपी भूमि जैसे प्रथित हो जाय, उस प्रकार वेदवाक्यों से ज्ञानविज्ञान की जननी, महनीया तथा दैन्य से रहित बुद्धि को अनुकूल बना लिया है। शब्दार्थरूपी सम्पूर्ण विश्व जिस भूमि में निविष्ट है, उस ज्ञानभूमि पर सविता देव ज्ञानोत्पादन के अनुष्ठान को प्रेरणा प्रदान करें।

स्वामी दयानन्द का अर्थ श्रुति एवं सूत्रों से असम्बद्ध होने के कारण स्वेच्छाप्रेरित ही है, क्योंकि 'प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा जिस उपाय का ज्ञान नहीं होता, उसको वेद के द्वारा जाना जाता है, यही वेद का वेदत्व है' भट्टपाद द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन होने पर वेदत्व ही असम्भव हो जायगा। इस मन्त्र का अर्थ भी स्पष्ट नहीं किया गया है, क्योंकि न्यायोपदेश वचन से पृथिवी का ग्रहण कैसे हो सकता है? 'वज्र' शब्द से 'वज्र के समान छेदनकर्ता' इस गौण अर्थ का ग्रहण करने में मूल क्या है?॥ ५॥

मन्त्रार्थ **जल में अमृत का निवास है, उसमें आरोग्य और पुष्टिकारक औषधियाँ स्थित हैं। हे अश्वो! इस प्रकार के अमृतमय भेषज से युक्त जल को पीकर वेगवान् बनो तथा जल के प्रशस्त भाग में स्नान के लिये प्रवेश करो। हे दीप्यमान जलदेवता! तुम्हारी शीघ्र चलने वाली ककुद् के समान ऊँची अन्न को देने वाली तरंगों से सिक्त हुआ यह अश्व यजमान की इच्छा के अनुसार अन्न को देने में समर्थ हो॥ ६॥**

'अश्वान् प्रोक्षत्यपोऽवनीयमानान् स्नातान् वा गतानप्स्वन्तरिति देवीराप इति वा समुच्चयो वेति' (का० श्रौ० १४।३।३-५)। स्नानार्थमप्सु प्रविष्टान् अथवा स्नात्वा समागतान् चतुरोऽश्वानध्वर्युरद्भिः प्रोक्षेत अप्स्वन्तरिति मन्त्रेण, देवीराप इति मन्त्रेण वा, उभाभ्यां मन्त्राभ्यां वा। अश्वदेवत्या अवसानरहिता पुरउष्णिक्। अस्याः पाद आद्यो द्वादशाक्षरः, द्वावष्टाक्षरौ। अप्सु उदकेषु, अन्तर्मध्येऽमृतमवस्थितमप्सु भेषजमारोग्यं पुष्टिकरमौषधं चावस्थितम्। अप्सु मध्येऽपमृत्युनिवारकं रोगनिवारकं च वीर्यं वर्तते। हे अश्वाः! यूयं तत्रामृतभेषजयुतास्वप्सु वाजिनोऽन्नवन्तो भवत, वाजमन्नं येषु ते वाजिनः। उतापि च अपां प्रशस्तिषु प्रशस्तेषु पवित्रेषु भागेषु यूयं स्तुता भवत। वाजमन्नं येषु ते वाजिनः। उतापि च अपां प्रशस्तिषु प्रशस्तेषु पवित्रेषु भागेषु यूयं स्तुता भवत। अपां सम्बन्धिषु प्रशस्तिष्वमृतत्वे भेषजत्वेन सह सतीष्वन्यास्वपि गुणवत्त्व-प्रशंसासु प्रशंसाप्रदेषु वा यूयं सम्बद्धा भवतेत्यर्थः। द्वितीयः प्रोक्षणमन्त्रोऽब्दैवत्यः, यजुः। देवीः देव्यो द्योतमाना हे आपः, वो युष्माकं य ऊर्मिः कल्लोलस्तेन सिक्तोऽयमश्वो वाजमन्नं सेत् सनुयाद् बध्नीयाद्वा। कीदृश ऊर्मिः? प्रतूर्तिः प्रकृष्टा तूर्तिर्वेगो यस्य सः, प्रत्वरणशीलः प्रसरणशीलो वा, निमज्जनेन प्रसक्तस्योपद्रवस्य प्रकर्षेण हिंसकः। तथा ककुद्मान्, ककुदिति वृषभस्योन्नतः स्कन्धप्रदेशः, तत्सामान्यादुदकसङ्घातोऽप्युन्नततमः ककुच्छब्देनोच्यते। बहुभिरुदकनिचयैः संयुक्तो महाप्राग्भार उदकसङ्घातवानूर्मिः कल्लोलः ककुद्मान्। वाजसोऽन्नस्य प्रदाता। तादृशेनोदकसङ्घातवतोर्मिणायं प्रोक्षितोऽश्वो वाजमन्नं सेत् सनुयात् संभजेत्, सिनुयाद् बध्नीयाद्वा, साधयतु वा।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाश्वानद्भिरभ्युक्षति। स्नपनायाभ्यवनीयमानान् स्नपितान् वोदानीतानद्भ्यो ह वाऽग्रेऽश्वः सम्बभूव सोऽद्भ्यः समभवन्न सर्वः समभवदसर्वो हि वै समभवत्तस्मान्न सर्वैः पद्भिः प्रतितिष्ठत्ये-कैकमेव पादमुदच्य तिष्ठति तद्यदेवास्यात्राप्स्वहीयत तेनैवैतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादश्वानद्भिरभ्युक्षति स्नपनायाभ्यवनीयमानान् स्नपितान् वोदानीतान्' (श० ५।१।४।५)। अथाश्वानां प्रोक्षणं तत्कालं च विधत्ते—अथाश्वानिति। स्नपनाय जलाशयमभिलक्ष्य नीयमानान्, स्नपितान् कृतस्नानान्, उदानीतान् आगतान् वा प्रोक्षेत। स्नपनार्थं गमनकाले तदुत्तरकाले वा प्रोक्षणम्। प्रोक्षणं प्रशंसति—अद्भ्यो ह वेति। अद्भ्योऽश्वोत्पत्तिः प्रसिद्धा, 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' (श० १३।२।२।१९)। यस्मादप्सु प्रतिष्ठितोऽश्वस्तस्मादिदानीं भूमावश्वो न सर्वैः पादैरवतिष्ठते। एकैकं पादमुदच्य उद्यम्य तिष्ठति। तत् तत्राप्सु कारणभूतासु अप्सु यदेवाङ्गमहीयत हीनमवशिष्टमभूत्, तेनाङ्गेन एनमश्वमेतद् एतेन प्रोक्षणेन कृत्स्नं सर्वपादयुक्तं करोति कृतवान् भवति। 'सोऽभ्यु-क्षति। अप्स्वन्तः····वाजिन इत्यनेनापि देवीरापो यो व ऊर्मिः····सेदित्यन्नं वै वाजस्तेनायमन्नमुज्जयत्वित्येवैतदाह' (श० ५।१।४।६)। प्रोक्षणविधिमनूद्य तत्र मन्त्रद्वयं विधत्ते—अप्स्वन्तः····वाजिन इत्यनेनापीति। अपिशब्दः समुच्चयवाची। मन्त्रार्थस्तूक्त एव।

अध्यात्मपक्षे—अप्सु अप्समवेतेषु कर्मसु तत्फलेषु लोकेषु वा अन्तर्मध्ये अमृतमपमृत्युनिवारकं वीर्यमस्ति। तथाप्सु भेषजमारोग्यवर्धकं भेषजं वीर्यं चास्ति। हे अश्वाः! तेषु तेषु लोकेषु फलभोगाय व्याप्नुवन्त

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।३-५) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार अध्वर्यु स्नान के लिये जल में प्रविष्ट अथवा स्नान के बाद आये हुए चार अश्वों का 'अप्स्वन्तः' अथवा 'देवीरापः' मन्त्र से या दोनों मन्त्रों से प्रोक्षण करता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—जलादि साधनों से समन्वित कर्मों में उनके फलरूपी लोकों के मध्य अपमृत्यु का निवारक बल विद्यमान है तथा जल में रोग का निवारण करने वाला भेषज-बल है। लोकों में फलभोग

आत्मानो यूयं तेषां कर्मणां लोकानां वा प्रशस्तिषु प्रशस्तेषु तेषु तेषु कर्मसु लोकेषु कर्मोपासनादिभिः सम्बद्धा भवथ। तत्र चान्नवन्तस्तत्तल्लोकोचितफलभोगभाजो भवन्तु। हे द्योतमाना आपः, यो वः कर्मणां लोकानां वा ऊर्मिः कल्लोकरूपः परिणामः, प्रतूर्तिः प्रत्वरणशीलः ककुद्मान् महासुखप्राग्भारस्तेनायमुपोद्बलितः साधको वाजमन्नं तदुचितमन्नं भोगं सेत् सम्भजेत।

दयानन्दस्तु—'हे देवीरापः, दिव्यगुणवत्योऽन्तरिक्षव्यापिन्यः स्त्रियो देवा विद्वांसः पुरुषाश्च यूयं यो वः समुद्रस्य सागरतुल्यः ककुद्मान् प्रशस्ताः ककुदो लौल्या गुणा विद्यन्ते यस्मिन्। वाजसाः वाजान् संग्रामान् सनन्ति सम्भजन्ति येन सः। प्रतूर्तिः प्रकृष्टा तूर्णगतिर्यस्य सः। ऊर्मिराच्छादकस्तरङ्ग इव पराक्रमोऽस्ति, यदप्सु प्राणेषु, अन्तर्मध्ये, अमृतं मरणधर्मरहितं कारणम् अपमृत्युनिवारकं वा, अप्सु जलेषु भेषजं रोगनाशकमौषधं चास्ति, येनायं सेनापतिर्वाजं संग्राममन्नं च सेत् सम्बध्नीयात्, तेनापां प्रशस्तिषु गुणानां प्रशंसासु वाजिनोऽश्वा इव भवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च। 'अन्नं वै वाजः' (श० ५।१।४।६) इति श्रुतिस्तु वाजपदेनान्नं गृह्णाति, त्वया तु संग्रामो गृह्यते। किञ्च, मूलमन्त्रे 'ऊर्मिः' इत्येव पदमस्ति, नोर्मिरिवेति। तथैव 'वाजिनः' इति पाठोऽस्ति, न 'वाजिन इव' इति॥ ६॥

वातो॑ वा॒ मनो॑ वा ग॒न्ध॒र्वाः स॒प्तवि॑ꣳशतिः।
ते अ॑ग्रेऽश्व॑मयुञ्जँ॒स्ते अ॑स्मिन् ज॒वमाद॑धुः॥ ७॥

'दक्षिणं युनक्ति वातो वेति' (का० श्रौ० १४।३।६)। वातो वेति मन्त्रेण रथे दक्षिणमश्वं युनक्ति। अश्वदेवत्या उष्णिक्। वाशब्दौ समुच्चयार्थौ। हे वाजिनः, वातो वायुर्मन इन्द्रियं गन्धर्वा गोर्भूमेर्धातारः सप्तविंशतिर्नक्षत्राणि, ते अग्रे पूर्वम् अश्वम् अयुञ्जन् योजितवन्तः। ते च वातादयोऽस्मिन् रथे जवं वेगमादधुः धारितवन्तः।

अथ ब्राह्मणम्—'अथ रथं युनक्ति। स दक्षिणायुग्यमेवाग्रे युनक्ति सव्यायुग्यं वा अग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा' (श० ५।१।४।७)। अथाश्वेन रथयोजनं विधत्ते—अथ रथं युनक्तीति। अग्रे प्रथमं दक्षिणा दक्षिणतो युग्यं युगस्य वोढारमश्वं युञ्ज्यात्। सव्यायुग्यमिति मानुषे कर्मणि सव्यभागयोजनीयमश्वमेवाग्रे प्रथमं युञ्जन्ति। एवं देवत्रा देवयोग्यमेव कर्म कृतवान् भवति दक्षिणस्य प्रथमयोजनेन। 'स युनक्ति। वातो वा मनो

के लिये व्याप्त हे जीवात्मा, आप उन कर्मों अथवा लोकों के प्रशस्त कर्मों में कर्म, उपासना आदि के द्वारा सम्बद्ध हों तथा उन उन लोकों के समुचित फलभोग के पात्र बनें। हे विद्योतमान जल, आपके कर्मों अथवा लोकों का कल्लोलरूपी सत्वर परिणाम महासुखरूपी है। उससे परिपुष्ट यह साधक अन्न-भोगादि का सेवन करे।

स्वामी दयानन्द का अर्थ गौण अर्थ के आश्रयण तथा श्रुति एवं सूत्र-वाक्यों से विरुद्ध होने के कारण अयुक्त है। 'अन्नं वै वाजः' यह श्रुति वाज पद से अन्न का अर्थ ग्रहण उपदिष्ट करती है, परन्तु उस व्याख्या में 'संग्राम' अर्थ किया गया है। इसी प्रकार ऊर्मि की भाँति, अश्वों की भाँति इत्यादि गौण अर्थ करना मन्त्रोक्त पदों से सिद्ध नहीं है॥ ६॥

मन्त्रार्थ—वायु देवता, मन, गन्धर्व आदि २७ नक्षत्र—ये सब अश्व को रथ में युक्त करते हुए इस अश्व में अपने-अपने वेग के अंश का आधान करते हैं॥ ७॥

भाष्यसार—'वातो वा' इस मन्त्र से रथ में दाहिने अश्व को लगाया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन

वेति न वै वातात् किञ्चनाशीयोऽस्ति न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति तस्मादाह वातो वा मनो वेति गन्धर्वाः सप्तविंशतिस्ते अग्रेऽश्वमयुञ्जन्निति गन्धर्वा ह वा अग्रे अश्वं युयुजुस्तद्येऽग्रेऽश्वमयुञ्जंस्ते त्वा युञ्जन्त्वित्येवैतदाह ते अस्मिन् जवमादधुरिति तद्येऽस्मिन् जवमादधुस्ते त्वयि जवमादधत्वित्येवैतदाह' (श० ५।१।४।८)। योजनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते वातो वा मनो वेतीति। वाशब्दः समुच्चयार्थः। वायुश्च मनश्च सप्तविंशतिसंख्याका गन्धर्वा नक्षत्राणीत्यर्थः। ते सर्वे अग्रे अस्मत्तः पुरा रथे अश्वं योजितवन्तः। ते पुनरस्मिन्नश्वे जवं वेगमादधुः स्थापितवन्तः। लोडर्थे लिट्। अस्मिन्नश्वे त्वयि जवमादधत्विति व्याचष्टे—न वै वाताद् वायोर्मनसश्च अशीय आशुतरम्, अतिवेगवदित्यर्थः, किञ्चिदपि वस्तु वायोर्मनोर्वाऽतिवेगवन्नास्ति। तस्मादाह वातो वा मनो वेति। पुरा वातादयोऽश्वं युयुजुः, ते त्वयि जवमादधत्विति।

अध्यात्मपक्षे—असुररक्षसां विजयायोद्यतस्य भगवतो रथेऽश्वं योजयन्तो देवा आहुः—पुरा वातादयः सप्तविंशतिनक्षत्रान्ता देवा वेगवन्तो भगवतो रथेऽश्वं योजितवन्तः, त एवाद्यास्मिन्नश्वे जवं वेगमादधुः स्थापितवन्त इति पूर्ववदेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु 'ये विद्वांसो वातो वा वायुरिव मनो वा स्वान्तमिव यथा सप्तविंशतिर्गन्धर्वा ये वायून् इन्द्रियाणि भूतानि च धरन्ति, तेऽस्मिन् जगत्यग्रेऽश्वं व्यापकत्ववेगादिगुणसमूहम् अयुञ्जन् युञ्जन्ति, ते खलु जवं वेगमादधुर् आदधति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वातमनसोरपि सप्तविंशत्यन्तर्गतत्वेन तयोः पृथगुल्लेखानुपपत्तेः। किञ्च, अश्वपदेन व्यापकत्ववेगवत्त्वादिगुणसमूहो गृह्यत इत्यपि निर्मूलम्, तथात्वे जवस्य पृथगुल्लेखायोगात्। 'जगति तेऽपूर्वं दधति' इत्यनेन किं समष्टिभूते जगति व्यष्टिभूते वा व्यापकत्ववेगवत्त्वाद्याधानम्? नोभयथापि सङ्गतिः, वेगवत्त्वायोगात्, परिच्छिन्नेषु व्यापकत्वायोगाच्च। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु सर्वत उपरि विद्योतते॥ ७॥

वातंर॑ꣳहा भव वाजिन् युज्यमा॑न इन्द्र॑स्येव दक्षि॑णः श्रि॒यै॑धि।
यु॒ञ्जन्तु॑ त्वा म॒रुतो॑ विश्ववे॑दस आ ते॒ त्वष्टा॑ प॒त्सु ज॒वं द॑धातु॥ ८॥

श्रौतसूत्र (१४।३।६) में निर्दिष्ट है। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—असुर-राक्षसों पर विजय के लिये सन्नद्ध भगवान् के रथ में घोड़ों को जोतते हुए देवगण कहते हैं कि प्राचीन काल में वायु, मन, गन्धर्वगण आदि सत्ताईस नक्षत्रों तक के वेगवान् देवों ने भगवान् के रथ में अश्वों का संयोजन किया था। वे ही आज इस अश्व में वेग का आधान करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ विसंगत है, क्योंकि वायु तथा मन भी सत्ताईस के अन्तर्गत होने के कारण उनका पृथक् उल्लेख असंगत है। इसी प्रकार अश्व शब्द से व्यापकत्व, वेगवत्त्व आदि गुणसमूह का बोध मानना भी निर्मूल है, क्योंकि ऐसा होने पर जव (वेग) का मन्त्र में पृथक् उल्लेख युक्त नहीं हो सकेगा। इस मन्त्रार्थ में समष्टीभूत जगत् में अथवा व्यष्टीभूत जगत् में, किसमें व्यापकत्व, वेगवत्त्व आदि का आधान अभिप्रेत है? क्योंकि दोनों ही प्रकार से संगति नहीं होगी। वेगवत्त्व व्यापक में उपपन्न नहीं होगा तथा परिच्छिन्न पदार्थों में व्यापकत्व सिद्ध नहीं है। श्रुति तथा सूत्र का विरोध तो इस अर्थ में सर्वाधिक है॥ ७॥

मन्त्रार्थ—हे वेगवान् अश्व! जोते जाने पर तुम वायु के समान वेगवान् हो जाओ, दक्षिण भाग में स्थित इन्द्र से तुम्हारी शोभा में वृद्धि हो। सर्वज्ञ मरुत् देवता तुमको रथ में जोतें, त्वष्टा देवता तुम्हारे चरणों को तीव्र गति प्रदान करें॥ ८॥

'उत्तरं वातरंहा इति' (का० श्रौ० १४।३।७)। उत्तरमश्वं युनक्ति। अश्वदेवत्या त्रिष्टुप्। हे वाजिन् वेगवन् अश्व, उत्तरभागे युज्यमानस्त्वं वातरंहा वायुवद् वेगयुक्तो भव। दक्षिणो दक्षिणभागे स्थितोऽश्वो दक्षिणः प्रवृद्धः पुष्टाङ्गः, इन्द्रस्याश्व इव श्रिया शोभया युक्त एधि भव। यद्वा श्रीशब्दात् परस्य सोर्यादेशः। यथेन्द्रस्य अश्वस्य श्रीर्भवति, एवं यजमानस्य श्रीर्भव। विश्ववेदसः सर्वज्ञाः सर्वधना वा मरुतस्त्वां युञ्जन्तु। त्वष्टा देवो हे अश्व, तव पत्सु पादेसु जवं वेगमादधातु स्थापयतु।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ सव्यायुग्यं युनक्ति। वातरꣳहा भव वाजिन् युज्यमान इति वाजजवो भव वाजिन् युज्यमान इत्येवैतदाहेन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधीति यथेन्द्रस्य दक्षिणः श्रियैवं यजमानस्य श्रियैधीत्येवैतदाह युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस इति युञ्जन्तु त्वा देवा इत्येवैतदाहा ते त्वष्टा पत्सु जवं दधात्विति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ दक्षिणाप्रष्टिं युनक्ति सव्याप्रष्टिं वा अग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा' (श० ५।१।४।९)। अथ सव्यस्याश्वस्य रथे योजनं समन्त्रकं विधत्ते -अथ सव्यायुग्यं युनक्तीति। सव्ये भागे योजनीयं सव्यायुग्यम्।

अध्यात्मपक्षे -द्वितीयोऽपि वाजी प्रशस्यते -इन्द्रस्येव दक्षिण इति। हे वाजिन्! त्वं दक्षिणो दक्षिणभागे युज्यमान इन्द्रस्येव परमात्मन एव श्रिया शोभया युक्त एधि भव। विश्ववेदसः सर्वज्ञा मरुतस्त्वां भगवतो रथे युञ्जन्तु। त्वष्टा देवस्ते तव पत्सु जवं स्थापयतु।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन् शास्त्रोक्तक्रियाकुशलबोधयुक्त राजन्, यं त्वां विश्ववेदसः सकलविद्यावेत्तारो मरुतो विद्वांसो मनुष्या राजशिल्पकार्येषु युञ्जन्तु, त्वष्टा वेगादिगुणविद्यावित् ते तव पत्सु पादेषु जवं वेगं दधातु, स त्वं वातरंहा भव। युज्यमानस्त्वं समाहितः सन् इन्द्रस्येव परमैश्वर्ययुक्तस्य राज्ञ इव श्रिया शोभायुक्तया राज्यलक्ष्म्या दीप्यमानया राज्या वा एधि समृद्धो भव' इति, तदपि न सङ्गतम्, वाजिन्निति शब्दस्य तादृशार्थे सङ्गत्यग्रहणात्। तथैव मरुत्पदस्य विद्वांसो मनुष्या अर्थ इत्यपि निर्मूलमेव। 'राज्यशिल्पकार्येषु' इत्यपि निर्मूलम्, मूले तादृशार्थप्रतिपादकपदाभावात्॥ ८॥

ज॒वो यस्ते॑ वाजि॒न्निहि॑तो॒ गुहा॒ यः श्ये॒ने परी॑त्तो॒ अच॑रच्च॒ वाते॑। तेन॑ नो वाजि॒न् बल॑वा॒न् बले॑न वाज॒जिच्च॒ भव॒ सम॑ने च॒ पार॒यि॒ष्णुः॥ वा॒जिनो॑ वाजजि॒तो॒ वाजꣳ॑ सरि॒ष्यन्तो॒ बृ॒हस्पते॒र्भा॒गमव॑जिघ्रत॥ ९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'वातरंहा' इस मन्त्र के द्वारा रथ के वाम भाग में अश्व का संयोजन किया जाता है। शतपथ श्रुति में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—'इन्द्रस्येव दक्षिणः' इत्यादि पदों से द्वितीय अश्व की भी प्रशंसा की जाती है। हे अश्व, तुम दक्षिण भाग में संयुक्त होते हुए परमात्मा की ही शोभा से युक्त रहो। सर्वज्ञ मरुद्गण तुमको भगवान् के रथ में नियुक्त करें तथा त्वष्टा देव तुम्हारे पैरों में वेग का संस्थापन करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ संगत नहीं होता, क्योंकि वाजी शब्द का 'शास्त्रोक्त क्रियाकुशल बोधयुक्त राजा' इस प्रकार का अर्थ निरूपित करने में संगति नहीं है। इसी प्रकार 'मरुत्' पद का 'विद्वान् मनुष्य' यह अर्थ करना भी मूलरहित ही है। 'राज्य शिल्पकार्यों में' (नियुक्त करें), यह व्याख्यान भी निर्मूल है, क्योंकि मूल मन्त्र में इस अर्थ का प्रतिपादक शब्द नहीं है॥ ८॥

'दक्षिणाप्रष्टि जवो यस्त इति' (का० श्रौ० १४।३।८)। रथे व्यवहितयोरीषयोर्मध्ये दक्षिणाप्रष्टि तृतीयमश्वं नियुञ्ज्यात्। धुर्यापेक्षया प्रकृष्टदेशमश्नोतीति प्रष्टिः। प्राष्टिरिति प्राप्ते छान्दसो ह्रस्वः। दक्षिणस्यां धुरि प्रष्टिः दक्षिणाप्रष्टिर्बाह्यो युग्यः। अश्वदेवत्या जगती। प्रष्टिर्नाम पादत्रयोपेतो भोजनपात्रादेराधारः। तद्वत् अश्वैस्त्रिभिर्युक्तं रथं कुर्यात्। पूर्वमश्वद्वयस्य युक्तत्वात् तृतीयस्य प्रष्टित्वमुक्तम्। हे वाजिन्, ते तव गुहा गुहायां गूढप्रदेशे हृदयप्रदेशे यो जवो वेगो निहितोऽवस्थापितः, श्येने श्येनाख्ये पक्षिणि यो जवः परीत्तः प्राप्तस्त्वयैव दत्तोऽचरद् वर्तते, वाते वायौ च यो जवोऽचरत् चरति वर्तते। हे वाजिन्, तेन बलेन बलवांस्त्वं नोऽस्माकं वाजजिद् वाजस्यान्नस्य जेता दाता वा एधि भव, अन्नस्य धाता भव। समने यज्ञरूपे संग्रामे च पारयिष्णुः पारयिता पारङ्गमनशीलो भव। 'बार्हस्पत्यमेनानाघ्रापयति वाजिन इति' (का० श्रौ० १४।३।१०)। रथे युक्तानेनानश्वान् बार्हस्पत्यं चरुमवघ्रापयेद् वाजिन इति मन्त्रेण। प्रत्यश्वं मन्त्रावृत्तिः। अश्वदेवत्यं यजुः। वाजजितोऽन्नस्य जेतारो वाजमन्नमन्नसाधनमाजिं प्रति सरिष्यन्तो गमिष्यन्तो वाजिनोऽश्वा यूयं बृहस्पतेर्भागं चरुमवजिघ्रत, अवाङ्मुखा भूत्वा गन्धोपादानं कुरुतेत्यर्थः। गुहा इति। गुहाशब्दात् 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति ङेर्लुक्, विभक्तिव्यत्ययो वा। परीत्त इति परिपूर्वस्य तनोते रूपम्, परितदिति। परिपूर्वाद् ददातेर्निष्ठायाम् 'अच उपसर्गात्तः' (पा० सू० ७।४।४७) इति तादेशे, 'दस्ति' (पा० सू० ६।३।१२४) इति दादेशे तकारे परे इगन्तोपसर्गस्य दीर्घे परीत्त इति वा।

तत्र ब्राह्मणम्—'स युनक्ति। जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तो अचरच्च वात इति जवो यस्ते वाजिन्नप्यन्यत्रापनिहितस्तेन न इमं यज्ञं प्रजापतिमुज्जयत्येवैतदाह तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुरित्यन्नं वै वाजोऽन्नजिच्च न एध्यस्मिंश्च नो यज्ञे देवसमन इमं यज्ञं प्रजापतिमुज्जयत्येवैतदाह' (श० ५।१।४।१०) इति। मन्त्रार्थस्तु व्याख्यातः। श्रुतिश्च व्याचष्टे—अप्यन्यत्रापनिहित इत्यादिना। अन्यत्रेत्यनेन गुहाशयेत्याद्युपलक्ष्यते, प्रदेशान्तरेऽपनिहितो निक्षिप्तः। पूर्वार्धस्य तात्पर्यमाह—तेन न इत्यादिना। यज्ञप्रजापत्योस्तादात्म्यं युक्तम्। समने पारयिष्णुरित्यस्याभिप्रायमाह। समनमिति संग्रामनाम (निघ० २।१७।१६), देवसभाजनलक्षणेऽस्मिन्—'यज्ञे ते वा एत एव त्रयो युक्ता भवन्ति। त्रिवृद्धि देवानां तद्धि देवत्राधिप्रष्टियुग एव चतुर्थोऽन्वेति मानुषो हि स तं यत्र दास्यन् भवति तच्चतुर्थमुपयुज्य ददाति ...' (श० ५।१।४।११)। उक्तानामश्वानां त्रित्वसंख्यामनूद्य प्रशंसति—ते वा एत इति। त्रिवृत्त्वं त्रिरावृत्तिः। सा च दैवे कर्मणि प्रोक्षणादौ प्रसिद्धेति हिशब्दार्थः। चतुर्थस्याश्वस्यानुगमनं विधत्ते—मानुषो हि स इति। मानुषे कर्मणि चतुर्णां वाहनानां योजनं दृष्टम्। अत्र मानुषरूपव्युदासाय तस्यायोजनम्, 'अयुक्तश्चतुर्थोऽनुगच्छति' (का० श्रौ० १४।३।९) इति कात्यायनश्रौतसूत्रात्। यदैव चतुर्युक्तो रथोऽध्वर्यवे दीयते, तदानीं चतुर्थस्य रथे योजनं दर्शयति—तं च दास्यन्निति। 'अथ बार्हस्पत्यं चरुं नैवारꣳ सप्तदशशरावं निर्वपति ...' (श० ५।१।४।१२)। अत्र द्रव्यदेवताविशिष्टबार्हस्पत्यचरुविधानम्। पुरा बृहस्पतिरेतं चरुं

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! तुम्हारा जो वेग हृदय में स्थापित है, जो तुम्हारा वेग बाज पक्षी में दिया गया है और जो वेग वात में स्थित है, उस वेग से वेगवान् होते हुए तुम हमारे लिये अन्न को जीत कर लाओ, संग्राम में शत्रु की सेना को परास्त कर हमारे लिये प्रचुर अन्न जीतो। हे अन्न को जीतने वाले अश्व, अन्न को जीतने के लिये जाते समय तुम बृहस्पति के भाग चरु को सूँघो ॥ ९ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'जवो यस्ते' इत्यादि कण्डिका के मन्त्रों से रथ में तृतीय अश्व का संयोजन तथा रथ में नियुक्त अश्वों को बार्हस्पत्य चरु का अवघ्रापन (सुँघाना) क्रियाएँ अनुष्ठित की जाती हैं। याज्ञिक विनियोग

साधितवानतोऽस्य चरोर्बृहस्पतिर्देवतेत्यप्युच्यते—'अथ यद्बार्हस्पत्यो भवति। बृहस्पतिर्ह्येतमग्रे उदजयत्तस्माद् बार्हस्पत्यो भवति' (श० ५।१।४।१३)। 'तमश्वानवघ्रापयति। वाजिन इति वाजिनो ह्यश्वास्तस्मादाह वाजिन इति वाजजित इत्यन्नं वाजोऽन्नजिति इत्येवैतदाह वाजꣳ सरिष्यन्त इत्याजिꣳ हि सरिष्यन्तो भवन्ति ····बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रतेति तद्यदश्वानवघ्रापयतीममुज्जयानीति तस्माद्वा अश्वानवघ्रापयति' (श० ५।१।४।१५)। तं चरुं रथे नियुक्तानश्वानवघ्रापयेत्। अन्नवाची वाजशब्दस्तत्साधने आजौ वर्तते। अवघ्रापणस्य प्रयोजनमाह— तद्यदश्वानिति। इमं यज्ञं साधयामीति बुद्धया अश्वानवघ्रापयेत्।

अध्यात्मपक्षे— हे वाजिन् भगवद्रथवाहक, भगवद्वाहनो भगवद्रूप एव। तस्य सर्वाधारत्वेन निराधारत्वेन स्वस्मिन्नेव प्रतिष्ठितत्वात्। अत एव भगवद्रूपेण बुद्धिरूपायां गुहायामवस्थितत्वात् स एव च जवो वाते स्थितः, स एव श्येनाख्ये पक्षिणि चरति वर्तते। परीत्तः परिदत्तः सन् स त्वं त्रिविधेन वेगबलेन बलवान् सन्नोऽस्माकं वाजजिद् अन्नस्य लौकिकस्य ज्ञानानन्दलक्षणस्य वा जेता प्रापको भव। समने संग्रामे भौतिके आध्यात्मिके वा सङ्घर्षे पारप्रापको भव। वाजजितः पूर्वोक्तस्यान्नस्य जेतारो वाजमन्नं प्रति सरिष्यन्तो गमिष्यन्तो यूयं बार्हस्पत्यं बृहस्पतेर्बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पते परमेश्वरस्य भागं सेवनीयं स्वरूपमवजिघ्रत स्वात्माभेदेनानुभवत।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन् सेनाध्यक्ष, प्रशस्तशास्त्रयोगाभ्यासकृत्यसहित ! ते तव यो जवो वेगो गुहायां बुद्धौ स्थितः, यश्च श्येने पक्षिणीव परीत्तः सर्वतो दत्तो वा, ते वायाविव अचरत् चरति, तेन बलेन नोऽस्माकं बलवान् भव। हे वाजिन् वेगवन् राजपुरुष, तेन बलेन सैन्येन पराक्रमेण वा समने संग्रामे पारयिष्णुः दुःखात्पारयिता वाजजिच्च संग्रामं विजयमानो भव। हे वाजिनो योद्धारः, यूयं बृहस्पतेर्महतां वीराणां पालयितुः सेनाध्यक्षस्य भागं सेवनं प्राप्य वाजं बोधमन्नादिकं च सरिष्यन्तः प्राप्स्यन्तः सन्तो भवत। सुगन्धानवजिघ्रत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदबाह्यत्वात्। नहि वाजिन्निति शब्दस्य श्रुति-स्मृति-पुराणादिषु तादृशोऽर्थः समर्थितः। एवमेव 'प्रशस्तशास्त्रयोगाभ्यासकृत्यसहित' इत्यपि वाजिशब्दस्य व्याख्यानं निर्मूलमेव। तथैव बृहस्पतिशब्दस्य न सेनाध्यक्षोऽर्थः, प्रमाणाभावात्। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वोक्तव्याख्यानेनैव स्पष्टः॥ ९॥

कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।८-१०) में निर्दिष्ट है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ शतपथ श्रुति में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे भगवान् के रथ के वाहन ! भगवद्वाहन भगवत्स्वरूप ही हैं, इसी कारण भगवद्रूप से वही वेग वायु में विद्यमान है तथा वही विचरणशील श्येन (बाज) पक्षी में भी अवस्थित है। इस प्रकार त्रिविध वेगबल से बलवान् होकर तुम हमारे लौकिक भोग्य अथवा ज्ञानानन्दस्वरूप भोग्य को प्राप्त कराने वाले बनो। भौतिक अथवा आध्यात्मिक संघर्ष में पार कराने वाले बनो। हे भोग्य को प्राप्त कराने वाले! अन्न के प्रति गमन करते हुए आप लोग वेदवाणी के पालक परमेश्वर के सेवनीय स्वरूप को स्वात्माभेद से अनुभूत करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ वेदबहिर्भूत होने के कारण ग्राह्य नहीं है, क्योंकि श्रुति, स्मृति, पुराण आदि में वाजी शब्द का वैसा अर्थ (सेनाध्यक्ष) समर्थित नहीं है। इसी प्रकार 'वाजी' शब्द की 'प्रशस्तशास्त्रयोगाभ्यासकृत्य सहित' यह व्याख्या भी मूलरहित है। बृहस्पति शब्द का 'सेनाध्यक्ष' अर्थ करना भी प्रमाणशून्य होने के कारण अनुचित है। श्रुति तथा सूत्र-वाक्यों का विरोध तो स्पष्ट ही है॥ ९॥

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकꣳ रुहेयम् । देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकꣳ रुहेयम् । देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पते-रुत्तमं नाकमरुहम् । देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम् ॥ १० ॥

'देवस्याहमिति ब्रह्मा रथचक्रमारोहत्युत्करे नाभिमात्रे स्थाणौ स्थितम्' (का० श्रौ० १४।३।१२) । उत्करसमीपे नाभिप्रमाणे स्थाणौ समारोपितमौदुम्बरं सप्तदशारं चक्रं रथं ब्रह्मारोहेद् देवस्याहमिति मन्त्रेण । लिङ्गोक्तदेवत्यं यजुः । ब्राह्मणकर्तृके वाजपेये सत्यसवसः सत्याभ्यनुज्ञस्य सवितुः सर्वप्रेरकस्य देवस्य सवेऽभ्यनुज्ञायां वर्तमानोऽहं बृहस्पतेः सम्बन्धि उत्तममुत्कृष्टं नाकं स्वर्गं रुहेयम् आरोहामि स्वर्गारोहणं करोमि । तथेन्द्रस्योत्तमं स्वर्गमारुहेयम्, क्षत्रियकर्तृके वाजपेये इन्द्रस्योत्तमं नाकं रुहेयमिति शेषः । 'आगतेषु ब्रह्मावरोहति देवस्याहमिति' (का० श्रौ० १४।४।८) । यजमानादीनां सप्तदशरथेषु सप्तदशशरप्रक्षेपप्रदेशे निखातामौदुम्बरीं शाखां प्रदक्षिणीकृत्य सर्वेषु देवयजनमागतेष्वादौ ब्रह्मा औदुम्बराद्रथचक्रादवरोहति देवस्याहमिति मन्त्रेण । विप्रयज्ञे पूर्वेण मन्त्रेण, क्षात्रे उत्तरेण मन्त्रेण । सत्यसवसः सत्यं प्रकृष्टं सवोऽभ्यनुज्ञा यस्यासौ सत्यसवास्तस्य । सवितुर्देवस्य प्रसवे वर्तमानोऽहं बृहस्पतेरिन्द्रस्य सम्बन्धि नाकमरुहम् आरूढ-वानस्मीति ।

अत्र ब्राह्मणम्—'तद्यदाजिं धावन्ति' (श० ५।१।५।१) इति । आजिधावनेन भूलोकं जितवान् भवति । तत्र ब्रह्मा नाभिमात्रे उन्नते रथचक्रे स्थित्वा साम गायेत् । एतेन भूम्यूर्ध्वप्रदेशयोर्मध्ये गीयमानेन साम्ना अन्तरिक्षलोकं जितवान् भवति । चक्रादुन्नतस्य सप्तदशारत्निपरिमितस्य यूपस्यारोहणेन तृतीयलोकं जितवान् भवति । 'स ब्रह्मा रथचक्रमधिरोहति । नाभिदघ्न उद्धितं देवस्याहꣳ...रुहेयमिति यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्म हि ब्राह्मणः' (श० ५।१।५।२) । ब्राह्मणो रथचक्रे सामगानं विहितम् । तदारोहणमन्तरेण न सम्भवतीति तद्विधत्ते—स ब्रह्मा रथचक्रमधिरोहतीत्यादिना । वाजपेये ब्राह्मणो राजन्यश्चेति द्वावधिकारिणौ । तद्भेदेन मन्त्रभेदः । ब्रह्म हि देवानां मध्ये बृहस्पतिर्ब्राह्मणजातिः । 'अथ यदि राजन्यो यजते । देवस्याहꣳ सवितुः

मन्त्रार्थ – सत्यप्रेरक सविता देवता की अनुज्ञा में वर्तमान मैं बृहस्पति सम्बन्धी श्रेष्ठ स्वर्ग में आरोहण करूँ । अनुल्लंघनीय प्रेरणा वाले सविता देव की अनुज्ञा में वर्तमान मैं इन्द्र सम्बन्धी उत्कृष्ट स्वर्ग की कामना से रथचक्र पर आरोहण करता हूँ । अनुल्लंघनीय सविता देव की प्रेरणा से मैं बृहस्पति से उत्कृष्ट स्वर्ग की कामनावश इस रथचक्र पर आरूढ़ हुआ हूँ । अनुल्लंघनीय सविता देव की आज्ञा में वर्तमान मैं इन्द्र से उत्कृष्ट स्वर्गलाभ की कामना से इस रथ पर चढ़ा हूँ ॥ १० ॥

भाष्यसार —वाजपेय यज्ञ में उत्कर स्थान के पास स्थापित सत्रह अरों (तीलियों) से युक्त उदुम्बर (गूलर) के काष्ठ से बनाये गये रथचक्र पर ब्रह्मा नामक ऋत्विक् 'देवस्याहम्' इस प्रथम मन्त्र से आरोहण करता है । वाजपेय याग के अनुष्ठान में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय द्विज का अधिकार है । ब्राह्मणकर्तृक वाजपेय में ही प्रथम मन्त्र का विनियोग है । क्षत्रियकर्तृक वाजपेय में 'इन्द्रस्य' पद वाले द्वितीय मन्त्र से आरोहण किया जाता है । तदनन्तर यजमानादि जब औदुम्बरी शाखा की प्रदक्षिणा सम्पन्न करके वापस लौट आते हैं, तब ब्रह्मा कण्डिकोक्त तृतीय मन्त्र 'देवस्याहम्' द्वारा अवरोहण करता (उतरता) है । पूर्व की भाँति अवरोहण में भी ब्राह्मणकर्तृक वाजपेय में तृतीय मन्त्र का विनियोग है । परन्तु क्षत्रिय द्वारा अनुष्ठीयमान वाजपेय में कण्डिका के 'इन्द्रस्य' पद वाले चतुर्थ मन्त्र से अवरोहण किया जाता है । यह याज्ञिक विनियोग

सवे सत्यसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकꣳ रुहेयमिति क्षत्रꣳ हीन्द्रः क्षत्रꣳ राजन्यः' (श० ५।१।५।३)। राजन्यपक्षे मन्त्रं पठति—इन्द्रस्योत्तममिति। बृहस्पतेरित्यस्य स्थाने इन्द्रस्येति विशेषः। अर्थस्तु पूर्ववदेव। देवानां मध्ये इन्द्रः क्षत्रियजातिः।

अध्यात्मपक्षे—सत्यसवसोऽबाधितैश्वर्यस्य सवितुः सर्वप्रसवितुः परमेश्वरस्य सवे प्रेरणे वर्तमानोऽहं बृहस्पतेः सम्बन्धि उत्तमं नाकं स्वर्गं मोक्षं वा रुहेयम् आरोहामि। तथैव सत्यसवस इन्द्रस्य परमैश्वर्यशालिन ईश्वरस्य सवे प्रसवे उत्तमं नाकमरुहम् आरूढवानस्मीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु 'हे प्रजाराजजनाः, यथाहं सभाध्यक्षः सत्यसवसः सत्यं सव ऐश्वर्यं जगतः कारणं कार्यं च यस्य तस्य बृहस्पतेः, बृहतां प्रकृत्यादीनां पालकस्य देवस्य सकलविद्यादिशुभगुणद्योतकस्य सवितुर्जगदीश्वरस्य सवे प्रसूते जगति उत्तमं प्रशस्तं नाकं निर्दुःखं भोगं मोक्षपदं वा रुहेयम्। हे अध्येत्रध्यापका विद्याप्रिया जनाः, यथाहं विद्यामभीप्सुः सवितुः समग्रविद्याबोधप्रसवितुर्देवस्य सवे विद्याप्रचारैश्वर्ये सर्वोत्तमं नाकमरुहम् आरूढोऽस्मि, हे विजयाभिकाङ्क्षिणो जनाः! यथा योद्धा मनुष्यः सत्यसवसः सत्यन्यायविजयादिप्रसवितुरिन्द्रस्य शत्रुविदारयितुः सवे उत्तमं विजयरूपं नाकमारूढोऽस्ति, तथा यूयं सर्वे नाकमारूढा भवन्तु' इत्यादि, तदपि यत्किञ्चित्, कल्पनामात्रसारत्वात्, तत्तत्सम्बोधनानां निर्मूलत्वात्। तथैव देवेन्द्रनाकादिपदानामपि काल्पनिक एव तस्यार्थः॥ १० ॥

बृह॑स्पते॒ वाज॑ं जय॒ बृह॒स्पत॑ये॒ वाच॑ं वदत॒ बृह॒स्पतिं॒ वाज॑ं जापयत। इन्द्र॒ वाज॑ं जयेन्द्रा॑य॒ वाच॑ं वदतेन्द्र॒ वाज॑ं जापयत॥ ११ ॥

'बृहस्पते वाजमित्येकं दुन्दुभिमाहन्ति तूष्णीमितरान्' (का० श्रौ० १४।३।१५)। अध्वर्युरनुवेद्युच्छ्रितस्थाणुस्थापितानां सप्तदश दुन्दुभीनां मध्ये एकं बृहस्पत इति मन्त्रेण वादयेत्। अन्यांश्च षोडश तूष्णीमन्तरेव मन्त्रं वादयेत्। विप्रयज्ञे मन्त्रः--हे दुन्दुभयः, यूयं बृहस्पतये वाचं वदत। हे बृहस्पते! त्वं वाजमन्नं जय स्वायत्तं कुरु। हे दुन्दुभयः, यूयमेव बृहस्पतिं वाजमन्नं जापयत, बृहस्पतिनाऽन्नजयं कारयतेत्यर्थः। 'जि जये'

कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।१२, १४।४।८) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट व्याख्यान भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—अबाधित ऐश्वर्य से युक्त, सबके प्रेरक परमेश्वर की प्रेरणा में वर्तमान मैं बृहस्पति देव से सम्बद्ध उत्तम स्वर्ग अथवा मोक्ष के पद पर आरोहण करता हूँ। इसी प्रकार परमैश्वर्यशाली ईश्वर की प्रेरणा के अन्तर्गत उत्तम स्वर्ग पर आरूढ हो गया हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्यान मात्र कल्पना के बल पर आधृत होने के कारण अग्राह्य है। इस व्याख्यान में प्रदर्शित विभिन्न सम्बोधन पदों के लिये कोई मूल प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार देव, इन्द्र, नाक आदि शब्दों के अर्थ भी काल्पनिक ही हैं॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हे दुन्दुभियों! तुम बृहस्पति के लिये इस प्रकार के वचन कहो कि हे बृहस्पते! तुम अन्न पर विजय प्राप्त करो। हे दुन्दुभियों! तुम बृहस्पति को अन्न पर विजय प्राप्त कराओ। हे दुन्दुभियों! तुम इन्द्र के निमित्त इस प्रकार वाणी कहो कि हे इन्द्र तुम अन्न को जीतो। हे दुन्दुभियों! तुम भी इन्द्र को अन्न की जय कराओ॥ ११ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'बृहस्पते वाजम्' इस मन्त्र से सत्रह दुन्दुभियों में से एक को

इत्यस्य लोण्मध्यमबहुवचने जापयतेति रूपम्। यद्वा हे देवदुन्दुभयः, यूयमुच्यध्वं बृहस्पतये वाजमन्नं जय इत्थम्भूतां वाचं बृहस्पतयेऽर्थाय वदत। बृहस्पतिं च वाजमन्नं जेष्यामीति जापयत उद्वादयत। 'जप जल्प व्यक्तायां वाचि' इति धातो रूपम्। क्षत्रयज्ञे दुन्दुभिवादनमन्त्रः हे दुन्दुभयः, यूयमिन्द्रायेति वाचं वदत। त्वं वाजं जय, इन्द्रं वाजं जापयतेति पूर्ववत्। यद्वा हे बृहस्पते देव, त्वं वाजमन्नं जय इति वाचं हे दुन्दुभयः, यूयं बृहस्पतयेऽर्थाय वदत ब्रूत बृहस्पतिं वाजमन्नं जापयत उद्वादयत।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ सप्तदश दुन्दुभीननुवेद्यन्तᳪं᳭ सम्मिन्वन्ति। प्रतीच आग्नीध्रात् प्रजापतिं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते वाग् वै प्रजापतिरेषा वै परमा वाग् या सप्तदशानां दुन्दुभीनां परमामेवैतद्वाचं परमं प्रजापतिमुज्जयति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति' (श० ५।१।५।६), 'ब्रह्मा त्रिः सामानि गायति, दुन्दुभीन् वादयति, एष स्य इति प्रत्यृचं जुहोति' (का० श्रौ० १४।४।१-३), 'प्रदक्षिणं कृत्वा-यान्ति, आगतेषु ब्रह्मावरोहति' (का० श्रौ० १४।४।८-८)। अनुवेदि वेदिसमीपे प्रतीच आग्नीध्रीयपश्चिमप्रदेशे स्थितान् सम्मिन्वन्ति वादयितुमाबध्नन्तीत्यर्थः। दुन्दुभीनां नादस्य महत्त्वात् परमवाक्त्वम्, अतो वाग्रूपप्रजापत्यु-ज्जयहेतुत्वाद् दुन्दुभिवादनम्। 'अथैतेषां दुन्दुभीनामेकं यजुषाहन्ति तत्सर्वे यजुषाहता भवन्ति' (श० ५।१।५।७)। तेष्वेकं बृहस्पते वाजमिति मन्त्रेण समाहन्यादितरान् षोडश तूष्णीं वादयेत्। एकस्य समन्त्रकाहननेन सर्वेऽपि दुन्दुभयश्छत्रिन्यायेन समन्त्रकमेव वादिता भवन्ति। 'स आहन्ति बृहस्पते वाजं जय बृहस्पतये वाचं वदत बृहस्पतिं वाजं जापयतेति यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्म हि ब्राह्मणः॥ अथ यदि राजन्यो यजते....' (श० ५।१।५।८-९)।

अध्यात्मपक्षे—हे साधकाः ! यूयं बृहस्पतये वेदलक्षणाया वाचः पालकाय परमात्मने वाचं वदत। किमिति चेत्, हे बृहस्पते परमात्मन्, त्वं वाजमन्नं ज्ञानविज्ञानलक्षणं मोक्षलक्षणं वा जय, स्वायत्तं कृत्वास्मभ्यं प्रयच्छेति शेषः। हे साधकाः ! यूयमेव बृहस्पतिमन्नं जापयत बृहस्पतिना तादृशमेवान्नं सम्पादयतेत्यर्थः। तथैव हे साधकाः, यूयमिन्द्राय परमैश्वर्ययुक्ताय परमेश्वराय वाचं वदत यद् हे इन्द्र परमैश्वर्यविशिष्ट परमेश्वर ! त्वं वाजं संग्रामं कामक्रोधादिभिः संघर्षलक्षणं जय, तत्र विजयं प्राप्नुहि। तेनास्मान्निःसपत्नान् सम्पादय। हे साधकाः, यूयं वाजं जापयत इन्द्रेण जयं कारयतेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे बृहस्पते सर्वविद्याध्यापकोदेशक ! त्वं वाजं जय विज्ञानं संग्रामं वा जय। हे विद्वांसः, यूयमस्मै बृहस्पतये वाचं वेदोक्तसुशिक्षया प्रसिद्धां वाचं वदत पाठयत उपदिशत वा। बृहस्पतिं सम्राजमनूचान-मध्यापकं वा वाजं विद्याबोधं युद्धं वा जापयत उत्कर्षेण बोधयत। हे इन्द्र विद्यैश्वर्यप्रकाशक शत्रुविदारक वा,

---

बजाया जाता है। ब्राह्मणकर्तृक याग में दुन्दुभिवादन 'बृहस्पति' पद से युक्त मन्त्र द्वारा किया जाता है तथा क्षत्रियकर्तृक याग में 'इन्द्र' पद से युक्त मन्त्र से दुन्दुभिवादन किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।१५) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ शतपथ ब्राह्मण में भी उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे साधकगण, आप लोग वेदात्मिका वाणी की रक्षा करने वाले परमात्मा के लिये इस प्रकार वाणी बोलिये—हे परमात्मन्, आप ज्ञानविज्ञानरूपी अथवा मोक्षरूपी अन्न को स्वाधीन करके हमें प्रदान करें। हे साधकगण, आप लोग बृहस्पति के द्वारा उसी प्रकार के अन्न का सम्पादन करें। इसी प्रकार हे साधकों, आप लोग परमैश्वर्य से सम्पन्न परमेश्वर के प्रति प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर, आप काम-क्रोधादि से संघर्षात्मक संग्राम में विजय प्राप्त करावें तथा उससे हम लोगों को शत्रुरहित बनावें। हे साधकों, आप लोग इन्द्र के द्वारा विजय सम्पादित करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ साररहित है, क्योंकि बृहस्पति शब्द का अन्य अर्थ करने में कोई प्रमाण

वाजं परमैश्वर्यं शत्रुविजयाख्यं युद्धं वा जय उत्कर्षं प्राप्नुहि। हे युद्धविद्याकुशला विद्वांसः, यूयमस्मै इन्द्राय वाचं राजधर्मप्रचारिणीं वाणीं वदत। इन्द्रं वाजं जापयत उत्कृष्टतां प्रापयत' इति, तदपि निःसारम्, बृहस्पतिशब्दस्य तादृशार्थकत्वे मानाभावात्। के वा अन्ये विद्वांसो ये बृहस्पतये उपदेक्ष्यन्ति? तथैव इन्द्रपदस्यापि तादृशार्थताऽप्रसिद्धा। तदुपदेष्टारश्च नहि मन्त्रपदैरवगम्यन्ते। स्वेच्छयाऽध्याहारस्तु निर्मूल एव ॥ ११ ॥

एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजमजीजयताजीजयत बृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम्। एषा वः सा सत्या संवागभूद्ययेन्द्रं वाजमजीजयताजीजयतेन्द्रं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम् ॥ १२ ॥

'एषा व इति मन्त्राहतमवहरते, तूष्णीमितरान्' (का० श्रौ० १४।४।९-१०)। अध्वर्युः सप्तदशसंख्याकेषु दुन्दुभिषु मन्त्रेण वादितं दुन्दुभिं स्थाणुतो नीचैरवतारयति। तत इतरान् षोडश दुन्दुभीन् स्थाणुभ्यस्तूष्णीमवतारयेदध्वर्युः। अत्रापि पूर्वो मन्त्रो विप्रयज्ञे, उत्तरस्तु क्षात्रे प्रयोक्तव्यः। हे दुन्दुभयः, वो युष्माकमेषा वाक् सत्या समभूत् तथ्या संवृत्ता, यया वाचा बृहस्पतिं वाजमजीजयत बृहस्पतिं वाजजितं कृतवन्तः। बृहस्पतिमजीजयतेति पुनरुक्तिस्तु भूयसोऽर्थस्य ग्रहणाय, 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु० १०।४२) इति यास्कोक्तेः। अत्यन्तं बृहस्पतिमन्नजयं कारितवन्तो यूयं यया वाचा, सा सत्या जातेत्यर्थः। णिजन्तस्य जयतेर्लुङि मध्यमबहुवचने रूपम्। हे वनस्पतयः, वनस्पतिविकारा दुन्दुभयः, यूयं विमुच्यध्वं कृतकृत्याः सन्तो विमोचनं कुरुत। यया वाचा इन्द्रं वाजमजीजयत सा सत्याऽभूदतो विमुच्यध्वम्। यद्वा—एषा युष्माकं सत्याऽवितथा यथार्थवादिनी संगतवादिनी वागभूत्, यया वाचा बृहस्पतिं वाजमन्नं जेष्यामीति, इत्थमीदृशमजीजयत। जयतेर्णिचि लङि चङि तादृशं रूपम्, जापितवन्तः, उद्वादितवन्त इत्यर्थः। यूयमजीजयत बृहस्पतिं वाजमन्नं जेष्यामीति, तच्च बृहस्पतिना जितम्, अतो यूयं कृतकृत्या विमुच्यध्वम्। उत्तरोऽपि मन्त्रस्तथैव व्याख्येयः, देवतामात्रस्य विशेषत्वात्।

'अथैतेष्वाजिसृत्सु रथेषु। पुनरासृतेष्वेतेषां दुन्दुभीनामेकं यजुषोपावहरति तत्सर्वे यजुषोऽपावहृता भवन्ति' (श० ५।१।५।१०)। रथेषु आजिसृत्सु लक्ष्यस्थानं प्रति गतवत्सु पुनरासृतेषु पुनरागतेषु सत्स्वेतेषां मध्ये एकं

नहीं है। दूसरे कौन विद्वान् हैं, जो बृहस्पति को उपदेश देंगे। इसी प्रकार इन्द्र शब्द का भी प्रतिपादित अर्थ अप्रसिद्ध है। मन्त्र के पदों से उसके उपदेशक बोधित नहीं होते। अपनी इच्छा के अनुसार अध्याहार करना तो अप्रामाणिक ही है ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे दुन्दुभियों! तुम्हारी यह वाणी सत्य हुई, बृहस्पति ने अन्न पर विजय प्राप्त कर ली। हे वनस्पति के काष्ठ से निर्मित दुन्दुभियों! अब कृतकृत्य हो कर अनुमति दो कि बृहस्पति का रथ दौड़ने लगे। हे दुन्दुभियों! तुम्हारा दिया हुआ वह आशीर्वाद सत्य हुआ, जिससे इन्द्र को अन्न पर विजय प्राप्त हुई। तुम्हारे वचन से इन्द्र अन्न पर विजय प्राप्त कर सका। हे काष्ठनिर्मित वनस्पतियों! अब कृतकृत्य होकर अनुमति दो कि इन्द्र का रथ गतिशील हो जाय ॥ १२ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।९-१०) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'एषा वः' इस कण्डिका के मन्त्र से बजाये गये दुन्दुभिवाद्य को खम्भे से अध्वर्यु उतारता है। इस कण्डिका में भी 'बृहस्पति' पद वाले प्रथम मन्त्र का विनियोग ब्राह्मणकर्तृक यज्ञ के लिये है तथा 'इन्द्र' पद वाले द्वितीय मन्त्र का विनियोग क्षत्रियकर्तृक

प्राग्यजुषाऽवरोहयेत् । 'स उपावहरति । एषा वः····विमुच्यध्वमिति । यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्म हि बृहस्पतिः····' (श० ५।१।५।११)। 'अथ यदि राजन्यो यजते ··' (श० ५।१।५।१२)।

अध्यात्मपक्षे – हे साधकाः, वो युष्माकमेषा वाक् सत्या अवितथा जाता, यया वाचा बृहस्पतिं वेदलक्षणाया वाचः पालकं परमेश्वरं ज्ञानभक्तिलक्षणान्नजयं कारितवन्तः। हे वनस्पतयः, वनानां ज्ञानकिरणानां स्वामिनः, साधका विमुच्यध्वं पूर्वोक्तज्ञानभक्तिलक्षणान्नप्राप्त्या विमुच्यध्यम्, कृतकृत्या भूत्वा सर्वसंसारदुःखेभ्यो विमुक्ता भवत । एवमेवोत्तरोऽपि मन्त्रो व्याख्येयः । तत्र तु परमैश्वर्यविशिष्ट ईश्वरस्ताहृशान्नजयाय प्रार्थितः ।

दयानन्दस्तु—'हे वनस्पतयः, यूयं यया बृहस्पतिं वेदशास्त्रपालकं वाजं वेदशास्त्रबोधम् अजीजयत उत्कर्षयत, सैषा वः संवाग् विनयपुरुषार्थयोः सम्यक् प्रकाशिनी वाणी सत्याभूद् भवेत्, तया यूयं विमुच्यध्वं दुःखमुक्ता भवत । हे वनस्पतयः, वनानां जङ्गलानां पालकाः, यूयं ययोक्तपरमैश्वर्ययुक्तं वाजं युद्धमजीजयत सम्यक् प्रापयत, वाजमुत्तमश्रीप्रापकमुद्योगं सैषा वः संवाक् सत्याभूत्, यूयं विमुच्यध्वं दुःखमुक्ता भवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजपुरुषा इति वक्तव्ये तदपहाय वनस्पतय इत्युक्तेः प्रयोजनानुपपत्तेः । न च तेषां वाक्षु तादृशी शक्तिः सम्प्रतिपन्ना, यया वेदशास्त्रबोधवृद्धिः स्यात्, यया च बृहस्पतेर्महतो राज्यस्य राजपुरुषस्य संग्रामे विजयः स्यात्, यया च सर्वेषां दुःखेभ्यो मुक्तिः स्यात् । श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वाच्चैषा कुकल्पना त्याज्यैव । श्रुतौ तु स्पष्टं दुन्दुभयोऽनेन मन्त्रेणावतार्यन्ते ॥ १२ ॥

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम् । वाजिनो वाजजितोऽध्वनः स्कभ्नुवन्तो योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत ॥ १३ ॥

'देवस्याहमिति यजुर्युक्तमारोहति यजमानः' (का० श्रौ० १४।३।१८)। यो रथः पूर्वं मन्त्रैर्योजितः, तं रथं यजमानो देवस्याहमिति मन्त्रेणारोहति । देवस्य दीव्यमानस्य सत्यसवसः सत्याभ्यनुज्ञस्य सवितुः सवेऽनुज्ञायां

यज्ञ के लिये है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे साधकगण, आप लोगों की वह वाणी सार्थक हो गई, जिसके द्वारा आपने वेदवाणी के रक्षक परमेश्वर की ज्ञानभक्तिरूपी जय सम्पादित की। हे ज्ञानकिरणों के स्वामी साधकगण, ज्ञानभक्तिरूपी प्रासव्य की प्राप्ति के द्वारा कृतकृत्य होकर समस्त सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाओ। इसी प्रकार द्वितीय मन्त्र की भी व्याख्या करनी चाहिये। उसमें परमैश्वर्य से युक्त ईश्वर की प्रार्थना है।

स्वामी दयानन्द का व्याख्यान संगत नहीं है, क्योंकि मन्त्र में यदि 'हे राजपुरुषों' यही वक्तव्य था, तो 'वनस्पतयः' इस पद के कथन का कोई प्रयोजन संगत नहीं होता। फिर उनकी वाणी में ऐसी शक्ति नहीं है, जिससे वेदशास्त्रबोध की वृद्धि हो तथा जिससे महान् राज्य की, राजपुरुष की संग्राम में विजय हो सके एवं जिससे सबकी दुःखों से मुक्ति हो सके। यह वृथा कल्पना श्रुति तथा सूत्र से विरुद्ध होने के कारण परित्याग के योग्य ही है। श्रुतिवाक्य में तो स्पष्ट ही इस मन्त्र से दुन्दुभि का अवतारण निर्दिष्ट है ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—मैं सत्य आज्ञा वाले सबके प्रेरक सविता देव की आज्ञा में वर्तमान हूँ। अन्न जीतने वाले बृहस्पति सम्बन्धी अन्न को प्राप्त करूँ। हे घोड़ों! अन्न को जीतने वाले तुम मार्गों को क्षुब्ध करते हुए योजनों दूर गन्तव्य स्थल को अतिशीघ्र अठारह क्षणों में ही प्राप्त कर लो ॥ १३ ॥

वर्तमानोऽहं वाजजितोऽन्नजितः संग्रामजितो वा बृहस्पतेः सम्बन्धिनं वाजमन्नं संग्रामं वा जेषं जयेयम्। जयतेर्लेटि रूपम्। हे वाजिनः, अश्वाः! यूयं वाजजितोऽश्वस्य जेतारः, तथाऽध्वनो मार्गान् स्कभ्नुवन्तो रुन्धन्तः क्षोभयन्तः, स ह्यश्वस्वभावः। तथा योजना योजनानि मिमाना अतिशीघ्रतया परिच्छिन्दन्तः काष्ठामाज्यन्तमुत्कर्षं प्राप्नुत, आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते, 'क्रान्त्वा स्थिताः' (निरु० २।१५) इत्युक्तेः। हे वाजिनः शीघ्रगामिनोऽश्वाः, यूयं वाजमन्नं जयत वशीकुरुत। अध्वनो मार्गान् स्कभ्नुवन्तः स्तम्भयन्तः पीडयन्तो योजना योजनानि मिमानाः परिच्छिन्दन्तः शीघ्रगत्याऽल्पानीव कुर्वन्तो यूयं काष्ठामध्वसमाप्तिं लक्ष्यस्थानं गच्छत, प्राप्नुतेति यावत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यं यजुषा युनक्ति। तं यजमान आतिष्ठति देवस्याहँ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषमिति' (श० ५।१।५।१५)। अश्वैर्युक्तस्य रथस्य यजमानकर्तृकं समन्त्रकमारोहणं विधत्ते अथेति। उक्तसप्तदशप्रव्याधान्ते पथाजिधावनं कर्तुमातिष्ठति, आरोहेदित्यर्थः। यथार्थप्रसवस्य सवितुर्देवस्य सवेऽभ्यनुज्ञायां वर्तमानोऽहं वाजजितोऽन्नस्य जेतुर्बृहस्पतेः सम्बन्धि वाजमन्नं जेषं जीयासमिति। सवितुरनुज्ञयैव प्रवर्तने वाजोज्जयो भवतीत्यर्थः। 'तद्यथैवादो बृहस्पतिः। सवितारं प्रसवायोपाधावत् सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुव त्वत्प्रसूत इदमुज्जयानीति तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत् तत्सवितृप्रसूत उदजयत् ' (श० ५।१।५।१६)। उपर्युक्तमर्थं बृहस्पतिदृष्टान्तेन द्रढयति—तद्यथैवाद इति। अदोऽमुष्मिन् विप्रकृष्टे काले आजिधावनकाले बृहस्पतिः सवितारमनुससार। 'एवमेवैष एतत्सवितारमेव प्रसवायोपधावति... तदस्मै सविता प्रसौति तत्सवितृप्रसूत एव उज्जयति', 'अथ यदध्वर्योरन्तेवासी वा ब्रह्मचारी वैतद्यजुरधीयात् सोऽन्वास्थाय वाचयति वाजिन इति वाजिनो ह्यश्वास्तस्मादाह वाजिन इति वाजजित इत्यन्नं वै वाजोऽन्नजित इत्येवैतदाहाध्वनः स्कभ्नुवन्त इत्यध्वनो हि स्कभ्नुवन्तो धावन्ति योजना मिमाना इति योजनशो हि मिमाना अध्वानं धावन्ति काष्ठां गच्छतेति यथैवैनानन्तरा नाष्ट्रा रक्षाँसि न हिँस्युरेवमेतदाह धावन्त्याजिमाघ्नन्ति दुन्दुभीनभि साम गायति' (श० ५।१।५।१६-१७)। अथ यजमानस्य रथारोहणानन्तरमध्वर्योः शिष्यो वाऽन्यो ब्रह्मचारी एतद्वक्ष्यमाणं मन्त्रमधीयात् स्मरेत्। स तमेव रथमन्वास्थाय तूष्णीमारुह्य वाजिन इति मन्त्रं वाचयति, यजमानमिति शेषः। स्कम्भनं नाम वेगेनाक्रमणं मार्गान् पृष्ठतः कृत्वा पुरो धावनम्, तत्कुर्वन्तः क्षोभयन्तो योजनानि मिमानाः शीघ्रगत्या परिच्छिन्दन्तः काष्ठामाजिधावनस्यावधिभूतां सप्तदशप्रव्याधान्ते निर्मितामौदुम्बरीं शाखां लक्ष्यभूतस्वर्गात्मिकाम्, 'स्वर्गो वै लोकः काष्ठा' (तै० १।३।६।५) इति श्रुतेः। श्रुतिरेव व्याचष्टे—वाजिनोऽश्वा योजनशो हीति। लोके हि अध्वगा योजनश एकैकं योजनं मिमानाः परिच्छिन्दन्तो महान्तमध्वानं धावन्ति, एवमश्वा अपि। यथैवैनानन्तरा नाष्ट्रा इति। अन्तरा आजिधावनमध्ये नाष्ट्रा नाशकानि रक्षांसि, एनानश्वान् यथा न हिंस्युस्तथा लक्ष्यस्थानं गच्छतेति। विहितानामाजिधावनदुन्दुभ्याहननब्रह्मकर्तृकसामगायनानां प्रयोगकालं विधत्ते—धावन्त्याजिमाघ्नन्ति दुन्दुभीनभि साम गायतीति।

अध्यात्मपक्षे—देवस्य जगदुत्पत्त्यादिभिः क्रीडमानस्य सवितुर्जगत्कारणस्य सत्यसवसः अवितथैश्वर्यस्य परमेश्वरस्य सवे प्रेरणायां वर्तमानोऽहं साधको बृहस्पतेः बृहत्या वाचो वेदलक्षणायाः पालकस्य सम्बन्धि वाजं

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।१८) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'देवस्याहम्' इस मन्त्र से यजमान पूर्वोक्त विधि से संयोजित रथ पर चढ़ता है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्र का व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है - जगत् की उत्पत्ति आदि के द्वारा क्रीडा करने वाले, जगत् के कारणभूत,

भक्तिज्ञानलक्षणमन्नं कामादिभिः संग्रामं वा जेषं जयेयम् । हे वाजिनो भगवद्रथस्याश्वाः, वाजजितो वाजस्याभीष्टान्नस्य संग्रामस्य वा जेतारो यूयं भक्तानां रक्षणाय अध्वनो मार्गान् स्कभ्नुवन्तः क्षोभयन्तो योजनानि अतिशीघ्रतया मिमानाः परिच्छिन्दन्तः काष्ठामुत्कर्षं गच्छतेति ।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, यथाऽहं सत्यसवसः सवितुर्देवस्य वाजजितो विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्य बृहस्पतेरुत्तमाया वेदवाण्याः पालकस्य जगदीश्वरस्य सवे समुत्पन्ने ऐश्वर्ये वाजं संग्रामं जयेयम्, तथा यूयमपि जयत । हे वाजिनः, वाजजितो विज्ञानवेगयुक्ता वाजजितः संग्रामं जेतुं शीला योजना योजनानि बहून् क्रोशान् मिमानाः शत्रून् प्रक्षेपमाणाः, अध्वनः शत्रोर्मार्गान् स्कभ्नुवन्तः प्रतिष्टम्भनं कुर्वन्तः काष्ठां गच्छत दिशं गच्छत, तथा वयमपि गच्छेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'वाजिनो ह्यश्वाः' (श० ५।१।५।१७) इति श्रुतिविरोधात् । हे वीरा इति सम्बोधनमपि निर्मूलमेव । 'मिमानाः' इत्यस्य प्रक्षेपमाणा अर्थ इत्यपि निर्मूलम् । 'सत्यानि प्रसवांसि जगत्स्थानि कारणरूपेण नित्यानि यस्य' इत्यपि न सङ्गतम्, प्रसवस्य क्रियारूपत्वेन नित्यत्वासम्भवात् ॥ १३ ॥

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि । क्रतुं दधिक्रा अनु सꣳसनिष्यदत् पथामङ्काꣳस्यन्वापनीफणत् स्वाहा ॥ १४ ॥

'एष स्य इति प्रत्यृचं जुहोति, अनुमन्त्रयते वा' (का० श्रौ० १४।४।३-४) । मन्त्रद्वयेनाज्यं जुहोत्यनुमन्त्रयते वा । अश्वदेवत्ये जगत्यौ दधिक्रावदृष्टे । स्य इति तच्छब्दपर्यायस्य त्यच्छब्दस्य छान्दसं रूपम् । 'स्यश्छन्दसि बहुलम्' (पा० सू० ६।१।१३३) इति विभक्तेर्लुक् । ग्रीवायां कक्षे, असनि आस्ये च तत्तदुचितरज्जुविशेषबद्धः, ग्रीवायामुरोवध्रेण बद्धः, अपिकक्षं कक्षयोः समीपे पर्याणदेशस्तत्र सन्नाहरज्ज्वा बद्धः, कक्षमूले वा बद्धः, आस्ये कविकया बद्धः, एष स्य वाजी वेजनवान् सोऽयमश्वः क्षिपणिं क्षिप्यते प्रेर्यतेऽनयेति क्षिपणिः

सत्यैश्वर्य से युक्त परमेश्वर की प्रेरणा में रहता हुआ मैं साधक वेदवाणी के रक्षक परमेश्वर से सम्बद्ध भक्ति, ज्ञानरूपी भोग्य को अथवा कामादि शत्रुओं से संग्राम को जीत लूं । हे भगवान् के रथ के अश्वों, अभीष्ट भोग्य अथवा संग्राम को जीतने वाले आप लोग भक्तों की रक्षा के लिये मार्गों को कँपाते हुए तथा कोसों की दूरी को भी अतिशीघ्र नापते हुए श्रेष्ठता प्राप्त करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ 'वाजी अश्व ही है' इस शतपथ श्रुतिवाक्य से विपरीत होने के कारण अग्राह्य है । 'हे वीरों' यह सम्बोधन भी प्रमाणरहित है । 'मिमानाः' का 'प्रक्षेपण करते हुए' अर्थ करना भी निर्मूल है । 'प्रसव' क्रियात्मक होने के कारण उसकी नित्यता का प्रतिपादन भी असम्भव है ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—**इस घोड़े की ग्रीवा, कक्ष और मुह में लगाम बँधी हुई है । यह घुड़सवार को लेकर मार्ग के अवरोधक पत्थर, गड्ढे और कांटे आदि को अतिक्रमण करता हुआ घुड़सवार के अभिप्राय को जान कर उसके निर्देश के अनुसार दौड़ता हुआ मार्गों के ऊबड़-खाबड़ को पहचानता हुआ, मार्गों के ऊँचे-नीचे चिह्नों को अतिशीघ्र गति से लांघता हुआ, चाबुक के आघात की अपेक्षा किये बिना इशारे मात्र से तेजी से दौड़ता है । यह आहुति अश्व द्वारा भली प्रकार गृहीत हो, यह उसी के लिये दी गई है ॥ १४ ॥**

भाष्यसार—'एष स्य' इस मन्त्र से आज्य का हवन अथवा अनुमन्त्रण किया जाता है । याज्ञिक प्रक्रिया का यह

कशा, तां तुरण्यति त्वरयति बहुधा बहुत्वाद्रथं भञ्जयितुमितस्ततो न गच्छति, कशायास्त्वरया शीघ्रं धावतीत्यभिप्रायः। यद्वा कशावातमनु तुरण्यति तूर्णमध्वानमश्नुते। दधिक्रा दधीन् धारकान् मार्गविरोधान् पाषाणादीनप्यतिक्राम्यन्नश्वः। यद्वा दधात्यश्ववारमिति दधिः, 'आदृगम·····' (पा० सू० ३।२।१७१) इति किप्रत्ययः, दधिः सन् क्राम्यत्यध्वानमिति दधिक्राः, विटि क्रमतेराकारः। दधिक्रा इत्यश्वनामसु (निघ० १।१४।७)। क्रतुं सादिनोऽभिप्रायं संसनिष्यदत् सम्यगनुसन्दधानः, अर्थात् सादिसङ्कल्पानुसारेण गच्छन्। यद्वा स्यन्दतेस्तनोत्यर्थे वर्तमानात् सनिष्यददिति रूपम्। तथा च स्वकीयं कर्म प्रज्ञां दधिक्रा अत्यर्थमनुसन्तनोति। पथां मार्गाणां कुटिलानि चक्राण्यतिशीघ्रगत्या क्षिप्रं प्राप्नोति। पथां मार्गाणामङ्कांसि लक्षणानि कुटिलानि निम्नोन्नतानि वा अन्वापनीफणद् अतिशीघ्रेण प्राप्नुवन् अनुक्रमेण ऋजुत्वं समत्वं वाऽऽपादयन् तुरण्यतीति पूर्वेण सम्बन्धः। अनु आ पूर्वस्य गत्यर्थस्य फणतेर्यङ्लुकि निपातः -अन्वापनीफणदिति। स्वाहा सुहुतमस्तु। वषट्कारनिवृत्त्यर्थं स्वाहाशब्दप्रयोगः।

'अथैताभ्यां जगतीभ्यां जुहोति वाऽनु वा मन्त्रयते···' (श० ५।१।५।१८)। 'स जुहोति। एष स्य वाजी····' (श० ५।१।५।१९)।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरस्य रामकृष्णादिरूपधारिणोऽश्वस्य गुणवर्णनपरोऽयं मन्त्रः। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'एष वीरो वाजी वेगवान् क्षिपणि क्षिपन्ति शत्रून् यया तां सेनाम्, यथैव स्योऽसौ वाजी आसनि ग्रीवायां बद्धः क्रतुं कर्म गतिमनुसंसनिष्यदद् अतिशयेन प्रस्रवन्नपि कक्षे निश्चितपार्श्वावयवे पथां मार्गाणामङ्कांसि लक्षणानि अन्वापनीफणद् अतिशयेन गच्छन् दधिक्रा अश्वः क्षिपणि सेनां गच्छति, तथा सेनेशः स्वसेनां तुरण्यति स्वाहा सत्यया वाचा तुरण्यति पराक्रमयेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एष इति वीरार्थक इत्यत्र मानाभावात्, सेनेशः स्वसेनां पराक्रमयेत्, इत्यंशस्य निर्मूलत्वात्। श्रुत्या त्वस्य मन्त्रस्य होमेऽनुमन्त्रणे विनियोग उक्तः॥ १४॥

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।३-४) में निर्दिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—यह अश्व गरदन पर, काँख पर तथा मुख पर, इन तीनों स्थानों पर रज्जु से कसा हुआ चाबुक की प्रेरणा से शीघ्रतया दौड़ता है। मार्ग के अवरोधों का अतिक्रमण करने वाला यह अश्व अपने सारथि के मन्तव्यो के अनुसार गमन करता हुआ अथवा अपनी बुद्धि से अन्वेषण करता हुआ मार्गों के टेढ़े-मेढ़े अथवा ऊँचे-नीचे स्थानों को शीघ्र पार करता हुआ वेगपूर्वक जाता है। यह पूर्णतः समर्पित हो। यह मन्त्रार्थ याज्ञिक विनियोग के अनुकूल ही शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में भी राम-कृष्ण आदि अवतार धारण करने वाले परमेश्वर के अश्व के गुणों का वर्णन यह मन्त्र करता है। मन्त्र की व्याख्या तो पूर्व की भाँति ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि 'एष' यह पद 'वीर' अर्थ का वाचक है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। 'सेनापति अपनी सेना का पराक्रमण करे' यह व्याख्यांश भी निर्मूल है। श्रुति के द्वारा तो इस मन्त्र का हवन तथा अनुमन्त्रण कार्यों में विनियोग उपदिष्ट है॥ १४॥

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्णं न वेरनुवाति प्रगर्धिनः । श्येनस्येव ध्रजतो अङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः स्वाहा ॥ १५ ॥

अश्वदेवत्या विराड् वसिष्ठदृष्टा दशाक्षरचतुष्पादा । उत स्म अपि चास्य यजमानस्य रथे नियुक्तस्य द्रवतो गच्छतस्तुरण्यतस्तूर्णमध्वानमश्नुवानस्य प्रगर्धिनः प्रगृध्यतीति प्रगर्धी तस्य, अवधिं प्राप्तुमभिकाङ्क्षमाणस्याश्वस्याङ्कसं श्रृङ्गारचिह्नं वस्त्रचामरादिकं परि सर्वस्मिन्नपि देहे वर्तमानमनुगच्छन्तमश्वमनु उत्क्षिप्तत्वेन दृश्यमानं गच्छति । तत्र दृष्टान्तः—वेः पक्षिणः पर्णं न वातोद्गतं पत्रमिव, यथा त्वरया गच्छतः पक्षिणः पक्ष उत्क्षिप्तो गच्छन्नवलोक्यते, तथा धावतोऽश्वस्याङ्कसं रूपं वस्त्रचामरादिकं स्पष्टमवलोक्यते । तथा शीघ्रधावने श्येनो दृष्टान्त्यते । ध्रजतः परिधावतः । 'ध्रज गतौ' श्येनस्येव दधिक्राव्णो दधीन् क्रमते यस्तस्य धारकपर्वताद्यतिक्रामिणोऽश्वस्य ऊर्जा बलेन सह तरित्रतो भृशं तरतोऽश्वस्याङ्कसमनुवातीति सम्बन्धः । इति सायणानुसारि व्याख्यानम् ।

उव्वटरीत्या तु यजमानरथस्यायुक्तश्चतुर्थोऽश्वोऽनुगच्छति कविकापर्याणयुक्त इति तत्परत्वेन पूर्वमन्त्रव्याख्यानम् । अथेदानीं रथयुक्तानश्वानेकशः स्तौति—उत स्म अपि चास्य रथयुक्तस्य द्रवत आजयन्तं गच्छतः, तुरण्यतस्तूर्णमध्वानमश्नुवानस्य वेः शकुनेः पर्णं पत्रं न इव शकुनेः पत्रमिव वातोद्धतो रथः, अनुवाति अश्वं गच्छन्तमनुगच्छति । कथंभूतस्याश्वस्य ? प्रगर्धिनः, आजिं जेतुं प्रगर्धोऽभिलाषोऽस्यास्तीति प्रगर्धी तस्य । यद्वा प्रगर्धिन इति शकुनिविशेषणम् । आमिषं प्रगर्धिनः शकुनेः पत्रमिवेति । स ह्यामिषग्रहणार्थमतिशयेन धावति, तस्मात् तेनोपमीयते । दक्षिणाप्रष्टिमश्वमुत्तरार्धर्चेन स्तौति—श्येनस्येति । श्येनस्येव ध्रजतोऽतिशयेन गच्छतः । अङ्कसं शरीरासक्तम्, अङ्कशब्दः शरीरवचनस्तत्र सक्तमङ्कसं परिपश्यन्ति । भक्षणाय गृहीतं पक्षिणं यथा तदीयशरीरासक्तं परिपश्यन्ति जनाः, तथा तस्य दधिक्राव्णोऽश्वस्य रथं तदीयशरीरासक्तं परिपश्यन्ति । कीदृशस्य ? सहोर्जा तरित्रतः सहान्नेनाध्वानमतिशयेन तरतः । नैवारं चरुमवजिघ्रत्यश्वः, तदभिप्रायेण सहोर्जेत्युक्तम् ।

मन्त्रार्थ—पहाड़, पत्थर, गड्ढे, कण्टक आदि को लांघकर तीव्र गति से दौड़ता हुआ यह अश्व अपने शिकार के प्रति तेजी से दौड़ते हुए बाज पक्षी के समान बल को धारण करता हुआ लम्बे मार्ग को त्वरित गति से लाँघ जाता है । इस अश्व की सजावट के चिह्न वस्त्र, चामर आदि वर्तमान हैं । दौड़ते समय भी यह साफ उसी प्रकार दिखाई देते हैं, जैसे कि उड़ते हुए पक्षी के पंख दिखाई पड़ते हैं ॥ १५ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत पूर्व मन्त्र में उल्लिखित विनियोग के अनुसार 'उत स्माऽस्य' इस मन्त्र के द्वारा भी हवन अथवा अनुमन्त्रण किया जाता है ।

सायणाचार्य ने इस मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार किया है—इस यजमान के रथ में संयुक्त तथा दौड़ने वाले, शीघ्र मार्ग को पूरा करने वाले, लक्ष्य तक पहुँचने की आकांक्षा वाले घोड़े के वस्त्र, चामर आदि श्रृंगार के शरीर पर प्रसारित चिह्न अश्व के चलने पर उड़ते हुए से उसी प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं, जिस प्रकार शीघ्रतापूर्वक उड़ते हुए पक्षी के पंख उड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं । बाज पक्षी के समान तेजी से दौड़ते हुए, पर्वत आदि का अतिक्रमण करने वाले, बल के कारण निरन्तर चलने वाले ये अश्व के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं ।

उव्वटाचार्य के अनुसार इस मन्त्र के विभिन्न विशेषणों के द्वारा रथ में जुते हुए विभिन्न अश्वों की पृथक्-पृथक् स्तुति की गई है ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे राजजनाः, य ऊर्जा पराक्रमेण स्वाहा सत्यक्रियया च सहास्य द्रवतो रसप्रदवृक्षस्य पत्रमिव, तुरण्यतः शीघ्रं गच्छतः पक्षिणश्च पत्रमिव, प्रगर्धिनः प्रकर्षेणाभिकाङ्क्षिणः, ध्रजत ऊर्ध्वगत्या गच्छतः श्येनस्येव तरित्रतोऽतिक्षिप्रं गच्छतो दधिक्राव्णोऽश्वस्येव अङ्कसं शुभलक्षणयुक्तं मार्गम्, अनुवाति सर्वप्रकारेणानुकूलं चलति स्म। स एव पुरुषो दुष्टशत्रून् जेतुं शक्नोति' इति, तदपि बालभाषितम्, दार्ष्टान्तस्य मन्त्रेऽनुपलम्भात् ॥ १५ ॥

शं नो॑ भवन्तु वा॒जिनो॒ हवे॑षु दे॒वता॑ता मि॒तद्र॑वः स्व॒र्काः ।

ज॒म्भय॒न्तोऽहिं॒ वृक॒ᳪ रक्षा॑ᳪसि॒ सने॑म्य॒स्मद्यु॑यव॒न्नमी॑वाः ॥ १६ ॥

'उत्तरेण च त्र्यृचेन' (का० श्रौ० १४।४।५)। शन्न इति ऋक्त्रयेणाज्यहोमोऽश्वाभिमन्त्रणं वा। हे वाजिनोऽश्वाः, हवेषु यज्ञेषु संग्रामेषु वा नोऽस्माकं शं भवन्तु सुखप्रापका भवन्तु, देवताता देवयोग्याः, यद्वा देवास्तन्यन्ते विस्तार्यन्ते यत्र स देवतातिर्यज्ञः, तस्मिन् देवतातौ; यद्वा देवानां कर्म देवतातिः, देवशब्दात् कर्मणि तातिल्प्रत्ययः, तस्मिन् देवतातौ हवेषु आह्वानेषु शं भवन्तु। मितद्रवो मितमल्पं द्रवन्ति गच्छन्तीति मितद्रवः। तुगभाव आर्षः। स्वर्काः शीघ्रधावनेन सु अर्चनीयाः, शोभनोऽर्को रुग येषां ते स्वर्काः सुरुचः स्वर्चना वा। अहिं वृकं रक्षांसि च सर्पवद् आरण्यश्ववद् बाधकान् राक्षसान् जम्भयन्तो जम्भन्तः, वर्णव्यत्ययः, क्षोभयन्तः। सनेमि शीघ्रम् अमीवा रोगान् अस्मद् अस्मत्तः, युयवन् वियोजितवन्तः। 'यू पृथग्भावे' इत्यस्य ह्वादित्वे लङि रूपम्, गुणाडभावावार्षौ। सनेमीति पुराणनाम, प्रकृते तु क्षिप्रवाचकः। यद्वा- अहिं वृकं रक्षांसि जम्भयन्तः सनेमि क्षिप्रमस्मत्सकाशाद् अमीवा रोगान् युयवन्।

अध्यात्मपक्षेऽपि पूर्ववदेव व्याख्यानम्। परमेश्वरस्य कृष्णस्य शैव्य-सुग्रीव-बलाहकादयोऽश्वा अपि देवतारूपा इति तेषां सम्बोधनीयत्वं सुखकरत्वं च श्लिष्टतरम्।

अध्यात्मपक्ष के व्याख्यान में भी अर्थयोजना पूर्वोक्त प्रकार से ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में मूल उपमेय के ही मन्त्रगत पदों में अनुपलब्ध होने के कारण प्रौढ़ता नहीं मानी जा सकती ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के कार्य के निमित्त यज्ञ में बुलाने पर बड़ी तेजी से दौड़ने वाले, श्रेष्ठ प्रकाश वाले, सांप, भेड़िये और राक्षसों का नाश करने वाले घोड़े हमारे लिये कल्याणकारी हों, हमारी सब प्रकार की दीर्घ काल की बीमारियों को दूर भगा दें ॥ १६ ॥

भाष्यसार—'शं नो भवन्तु' इत्यादि तीन (९।१६-१८) मन्त्रों के द्वारा घृत से हवन अथवा अश्वों का अभिमन्त्रण किया जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया का यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।५) में प्रतिपादित है।

मन्त्र की अर्थयोजना इस प्रकार है—हे अश्वों, तुम लोग यज्ञों में अथवा संग्रामों में हमारे लिये सुख प्रदान करने वाले हो। हे देवताओं के योग्य, अथवा देवताओं के कर्म में शीघ्र गमनकारी तथा पूजनीय अथवा सुन्दर कान्ति से युक्त अश्वों! आप लोग सर्प तथा भेड़ियों की भाँति कष्टप्रद राक्षसों को विनष्ट करते हुए अतिशीघ्र रोगों को हमसे दूर करो।

अध्यात्मपक्ष में भी उपर्युक्त प्रकार से ही व्याख्या है। परमेश्वर श्रीकृष्ण के शैव्य, सुग्रीव, बलाहक आदि घोड़े भी देवतारूप हैं। अत एव उनका पूजनीय तथा सुखप्रद होना युक्तियुक्त है।

दयानन्दस्तु—'ये मितद्रवो नियमेन द्रवन्ति चलन्ति ते, स्वर्काः शोभनोऽर्कोऽन्नं सत्कारो वा येषां ते योद्धारः, अहिं मेघमिव चेष्टमानमुन्नतं वृकं चोरं रक्षांसि हिंसकान् जम्भयन्तो गात्राणि विनिमयन्तो हस्तपादादीनि त्रोटयन्तः, वाजिनो युद्धविद्याकुशला वीरा नोऽस्माकं देवतातौ विदुषां कर्मणि हवेषु संग्रामेषु सनेमि सनातनं शं सुखं भवन्तु, तेऽस्मदमीवा ये रोगवद् वर्तमानाः शत्रवस्तान्, युयवन् युवन्तु पृथक्कुर्वन्तु। लेटि शपः श्लुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, योद्धृणां विशेष्याणां मूलेऽभावात् ॥ १६ ॥

ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः ।
सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनँ समिथेषु जभ्रिरे ॥ १७ ॥

अश्वदेवत्या जगती नाभानेदिष्टदृष्टा । विश्वे सर्वे वाजिनोऽश्वा नोऽस्माकं हवमाह्वानं शृण्वन्तु । कीदृशास्ते ? अर्वन्तः, इर्यति कुटिलं गच्छन्तीत्यर्वन्तः । 'ऋ गतौ' इत्यस्माद् वनिप्, 'अर्वणस्त्रसावनञः' (पा० सू० ६।४।१२७) इति त्रन्तादेशे रूपम् । हवनश्रुतः, हवनमाह्वानं शृण्वन्तीति हवनश्रुतः । मितद्रवः, यजमान-चित्तानुकूल्येन परिमितगामिनः । सहस्रसाः, सहस्रस्य अनेकजनतृप्तिक्षमस्य महतोऽन्नराशेः सनितारो दातारः । मेधसाता, मेधो यज्ञः सन्यते सम्भज्यते यत्र सा मेधसातिर्यज्ञशाला, ङेर्डाकारः, तस्यां सनिष्यवः संविभक्तारः पूरयितारः । ते के ? येऽश्वाः समिथेषु संग्रामेषु महो महत् पूज्यं वा धनं जभ्रिरे आहृतवन्तः । अमितद्रवो वा, अमितमपरिच्छिन्नं यजमानं ये द्रवन्ति गच्छन्ति ते अमितद्रवः । यद्वा मितद्रवः शोभनगमनाः । यद्वा अर्वन्तो गतिकुशलाः । हवनश्रुतः, आह्वानं शृण्वन्तः । वाजिनोऽन्नवन्तः । ते अश्वा नोऽस्माकमाह्वानं शृण्वन्तु । मेधसाता मेधो यज्ञो सीयते सेव्यते यत्र सा मेधसातिर्यज्ञशाला, मेधसाता इव तस्यां सनिष्यवः संभक्तारः पूरयितारः, समिथेषु संग्रामेषु महो महद्धनं जभ्रिरे आहृतवन्तः, तेऽस्मदीयमाह्वानं शृण्वन्त्विति सम्बन्धः । यद्वा मेधसाता यज्ञे सनिष्यवः सनिं द्रव्यदानमस्माकमिच्छन्तोऽश्वाः समिथेषु संग्रामेषु महो महतः शत्रोर्धनम्, मह इति धनविशेषणं वा, महद् धनं जभ्रिरे आहृतवन्तस्ते शृण्वन्त्विति सम्बन्धः ।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ संगत नहीं है, क्योंकि विशेष्य योद्धागण का उल्लेख मूल मन्त्र में नहीं है ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ— वे सब यजमान के चित्त के अनुसार चलने वाले, हमारे बुलावे को सुनने वाले, कुटिल गति वाले, अनेक जनों को तृप्त करने वाले यज्ञशाला के पूरक घोड़े हमारी आवाज को सुनें, जो संग्राम में हमारे लिये विपुल धन को ले आते हैं ॥ १७ ॥

भाष्यसार—पूर्व मन्त्र के भाष्य में उल्लखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार ही 'ते नः' मन्त्र भी याज्ञिक प्रक्रिया में विनियुक्त है ।

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—उत्प्लवन करते हुए दौड़ने वाले अथवा गतिकुशल, आह्वान को सुनने वाले, रथी के मनोनुकूल सीमित गति वाले अथवा अपरिमित गति वाले, हजारों प्राणियों को तृप्त करने योग्य अन्न के प्रदाता, यज्ञशाला को परिपूर्ण करने वाले तथा संग्रामों में प्रचुर अथवा श्रेष्ठ धन का आहरण करने वाले वे अश्व हमारे आह्वान को सुनें ।

अध्यात्मपक्षे तु पूर्ववदेव व्याख्यानम् । ते भगवदीयरथयुजोऽश्वास्तादृग्विशेषणा ऋतं सत्यं गन्तव्यदेशं जानन्तो वा अस्माकं हवमाह्वानं शृण्वन्तु ।

दयानन्दस्तु—'येऽर्वन्तो ज्ञानवन्तः, हवनश्रुतो ये हवनानि ग्राह्याणि शास्त्राणि शृण्वन्ति, वाजिनः प्रशस्तप्रज्ञाः, मितद्रवो ये मितं शास्त्रप्रमितं विषयं द्रवन्ति प्राप्नुवन्ति, सहस्रसा ये सहस्रं विद्याविषयान् सनन्ति सेवन्ते ते, मेधसाता सनिष्यवो आत्मनः सनिं संविभागमिच्छवः, लालसायां सुक्, आत्मनः सुन्दरीं भक्तिं कुर्वन्ति वा ते, मेधसाता मेधानां सङ्गमानां सातिर्दानं येषु, सप्तमीबहुवचनस्य 'सुपां सुलुक्.....' (पा० सू० ७।१।३९) इति डादेशः, उत्तमसङ्गतिप्रापिकारका राजपुरुषाः समिथेषु संग्रामेषु नोऽस्माकं महद्धनं जभ्रिरे भरेयुः, वर्णव्यत्ययेन वस्य जः, ते विश्वे सर्वेऽस्माकं हवम् अध्ययनाध्यापनजन्यं बोधशब्दसमूहम् अर्थिप्रत्यर्थिविवादं च शृण्वन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, क्लिष्टकल्पनाबाहुल्यात् । 'अर्वन्तो ज्ञानवन्तः' इति च निर्मूलम् । 'हवनश्रुतो ग्राह्यशास्त्रश्रोतारः' इत्यपि निर्मूलम्, शास्त्रातिरिक्तानां धनसुखादीनां बहूनामपि ग्राह्यत्वसम्भवेन शास्त्रग्रहणे विनिगमनाविरहात् । न च शास्त्रमग्राह्यं भवति, येन तद्विशेषणं सङ्गतं स्यात् । हवमिति शब्दस्यापि बोधसमूहार्थबोधनेऽर्थिप्रत्यर्थिविवादरूपार्थबोधने च नास्ति सामर्थ्यम्, सङ्गतिग्रहाभावात् । न च यौगिकरीत्यापि तद्बोधनं सम्भवति, अनेकार्थसम्भवेन तादृशार्थे विनिगमनाविरहात् । न च राजपुरुषेषु तानि विशेषणानि सङ्गच्छन्ते ॥ १७ ॥

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः ॥ १८ ॥

अश्वदेवत्या त्रिष्टुप्, वशिष्ठदृष्टा । वाजे वाजे सर्वस्मिन्नन्ने उपस्थिते धनेषूपस्थितेषु सत्सु तत्तदन्ननिमित्तं धननिमित्तं चेति वा। हे वाजिनोऽश्वाः, नोऽस्मान् अवत पालयत। कथम्भूताः ? विप्रा मेधाविनो बुद्धिपूर्वकारिणः,

---

अध्यात्मपक्ष में भी अर्थयोजना इसी प्रकार है—वे भगवान् के रथ में जुते हुए उपर्युक्त विशेषणों से युक्त तथा सत्य, गन्तव्य स्थान को जानने वाले अश्व हमारे आह्वान को सुनें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ क्लिष्ट कल्पनाओं की बहुलता के कारण अप्रामाणिक है । 'अर्वन्तः' का अर्थ 'ज्ञानवान्' करना मूलरहित है । 'हवनश्रुतः' का अर्थ 'ग्राह्यशास्त्रश्रोतारः' करना भी उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्र के अतिरिक्त धन, सुख आदि बहुत से पदार्थों का ग्राह्य होना सम्भव है, अतः शास्त्र के ही ग्रहण में कोई निश्चित युक्ति नहीं है । फिर शास्त्र तो अग्राह्य होता ही नहीं, जिससे उसमें ग्राह्यत्व का विशेषण लगाना उचित हो सके । राजपुरुषों में मन्त्रोक्त विशेषण संगत भी नहीं होते ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वों ! तुम बुद्धिमान्, दीर्घजीवी, सत्य को जानने वाले हो । सब प्रकार के धन और अन्न से हमारा पालन करो । यहाँ से जाने से पहले हमारी दी हुई इस मधुर हवि को नौ बार सूंघ कर उसका पान करो और तृप्त हो जाओ । तृप्त होने के उपरान्त देवयान में अधिष्ठित मार्गों से गमन करो ॥ १८ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत 'वाजेवाजे' मन्त्र का विनियोग पूर्वोक्त मन्त्रों के भाष्य में प्रतिपादित है । मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—सर्वविध अन्न के विद्यमान रहने पर तथा धन के विद्यमान रहने पर, हे बुद्धिशाली,

अमृता अमरणधर्माणः, ऋतज्ञाः सत्यज्ञा यज्ञज्ञा वा, यूयमस्य मध्वो मधुनः, कर्मणि षष्ठ्यौ, इदं मधु धावनात्पूर्वं पश्चाच्चावघ्रायमाणं नैवारचरुलक्षणं मधुरं हविरिति सायणः। पिबत पीत्वा च मादयध्वं तृप्यध्वं तृप्ता भवत। ततस्तृप्ताः सन्तो देवयानैर्देवाधिष्ठितैः पथिभिर्मार्गैर्यात। आजि प्रतीति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—भगवदीयरथयुजोऽश्वाः सुतरां विप्रा अमृता भक्तदत्तैर्हविर्भिस्तृप्यन्ति। अन्यत् पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे ऋतज्ञा अमृताः स्वस्वरूपेण नाशरहिताः प्राप्तजीवन्मुक्तिसुखा विप्रा विद्यासुशिक्षाजातप्रज्ञाः! यूयं वाजे वाजे संग्रामे संग्रामे नो अवत पालयत। अस्य मध्व इदं मधु पिबत। अस्माकं धनैस्तृप्ताः सन्तो मादयध्वं हृष्यत। तृप्ताः प्रीणिता यात गच्छत। देवयानैः पथिभिः, देवा विद्वांसो यैर्धर्म्यैर्यान्ति तैः सततं यात' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः। नहीश्वरकर्तृकोऽयमुपदेशः सम्भवति, रक्षणप्रार्थनानुपपत्तेः। नापि प्रजाकर्तृकः, तत्रानधिकारात् प्रजानाम्, राज्ञ एव तत्राधिकारनियतत्वात्, अन्यथाऽव्यवस्थापत्तेः। न च राजपुरुषाः प्रजाधनैस्तृप्ता भवन्ति, स्वोपार्जितैरेव तेषां तृप्त्युपपत्तेः॥ १८॥

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे। आ मा गन्तां पितरा मातरा चा मा सोमो अमृतत्वेन गम्यात्॥ वाजिनो वाजजितो वाजꣳ ससृवाꣳसो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत निमृजानाः॥ १९॥

प्रजापतिदेवत्या त्रिष्टुप्, वसिष्ठदृष्टा। 'अवरुह्य नैवारमालभते तीर्थे स्थितमा मा वाजस्येति' (का० श्रौ० १४।४।११)। यजमानो रथादवरुह्य चात्वालोत्करयोर्मध्ये स्थापितं नैवारं चरुं स्पृशेत्। वाजस्यान्नस्य

अमृतत्व से युक्त तथा सत्य अथवा यज्ञ के ज्ञाता अश्वों! आप हमारा पालन करें। आप लोग दौड़ने से पूर्व तथा धावन के पश्चात् नीवार धान्य के चरुरूपी मधु का पान कीजिये तथा तृप्त होइये। तदनन्तर सन्तृप्त होकर देवताओं द्वारा अधिष्ठित मार्गों से गमन कीजिये।

अध्यात्मपक्ष में भी अन्य व्याख्या पूर्व की भाँति ही है। भगवान् के रथ में संयुक्त अश्व विशेष बुद्धिशाली हैं, अमर हैं, तथा भक्तों द्वारा दिये गये हविर्द्रव्यों से सन्तृप्त होते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ विसंगति के कारण ग्राह्य नहीं है। यह उपदेश ईश्वर द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि तब रक्षा की प्रार्थना संगत नहीं होती। इसका प्रजाजनों के द्वारा किया जाना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रजा का इस विषय में अधिकार नहीं है। इस विषय में राजा का ही अधिकार नियत है। अन्यथा अव्यवस्था दोष प्राप्त हो जायगा। राजपुरुष प्रजा के धन से तृप्त भी नहीं होते। अपने द्वारा उपार्जित धन से ही उनकी तृप्ति उचित है॥ १८॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वों! हमारे यहाँ ढेर सारा अन्न उत्पन्न हो, यह सर्वरूपात्मक स्वर्ग और पृथ्वी हमारे माता और पिता के रूप में सब प्रकार से हमारी रक्षा और पालन करें। सोमरस हमारे प्रति अमृत भाव से प्राप्त हो। हे अश्वों! अन्न को जीतने के लिये प्रतिक्षण गमन करने वाले तुम इस चरु और यजमान का शोधन करते हुए बृहस्पति सम्बन्धी हमारे भाग को सूंघो॥ १९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।११-१२) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'आ

प्रसवोऽभ्यनुज्ञा उत्पत्तिर्वा मा मां प्रति आजगम्याद् आगच्छतु, गमेर्व्यत्ययेन ह्वादित्वे लिङि रूपम्। विश्वरूपे नानारूपे सर्वरूपे वा द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ प्रजापत्यात्मिके, तत्सृष्टत्वात्, आगन्ताम् आगच्छेताम्। 'पितरा-मातरा च छन्दसि' (पा० सू० ६।३।३३) इति द्विरूपैकशेषो निपात्यते। अस्मदीयः पिता माता च मां प्रत्यागतम्, चिरं जीवित्वा आगच्छताम्। यद्वा द्यावापृथिव्योः पितेति मातेति च परोक्षनाम्ना निर्देशः। तत्र पितृरूपा द्यौः, मातृरूपा पृथिवी, 'द्यौर्वः पिता पृथिवी माता' (ऋ० सं० १।१९१।६)। सोमश्च अमृतत्वेन मां प्रति आजगम्याद् आगच्छतु, 'अपाम सोमममृता अभूम' (ऋ० सं० ८।४८।३) इति मन्त्रवर्णात्। अमृतत्वेन सहितः सोमः, आजगम्याद् आगच्छेत्। चतुर्थ्यर्थे वा तृतीया, अमृतत्वाय मम देवत्वजन्मने सोमो मामागच्छेत्। 'यजुर्युक्ता-नाघ्रापयति वाजिन इति' (का० श्रौ० १४।४।१२) मन्त्रेण युक्तानश्वान् नैवारं चरुमवघ्रापयेत्। अश्वदेवत्यं यजुः। हे वाजिनोऽश्वाः, यूयं वाजजितो वाजस्यान्नस्य जेतारः, वाजमन्नं जेतुं ससृवांसः सृतवन्त आजिसरणं कृतवन्तः सन्तो बृहस्पतेः सम्बन्धिनं भागमन्नशेषमवजिघ्रत अवघ्राणं कुरुत। निमृजानाश्चरुलेपनिमार्जनं कुर्वाणा एनं चरुं यजमानं च शोधयन्तः। ससृवांस इति सर्तेः क्वसुप्रत्यये रूपम्। निमृजाना इति मार्ष्टेः शानचि रूपम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ बार्हस्पत्येन चरुणा प्रत्युपतिष्ठते। तमुपस्पृशत्यन्नं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजतेऽन्नपेयꣳ ह वै नामैतद्यद्वाजपेयं तद्यदेवैतदन्नमुदजैषीत्तेनैवैतदेतां गतिं गत्वा सꣳस्पृशते तदात्मन् कुरुते' (श० ५।१।५।२५)। आजिधावनं कृत्वा तीर्थदेशं प्रत्यागच्छतोऽश्वान् प्रति नैवारचरुणा सह गच्छेत्। तस्य चरोः स्पर्शनं विधत्ते—तमुपस्पृशतीति। तदेव प्रशंसति—अन्नं वा एष इति। एषोऽन्नमुज्जयति यो वाजपेयेन यजते। अन्नपेयत्वादेवास्य वाजपेयेति नामनिर्वचनम्। वाजपेयेनान्नमुदजैषीत्तेनैतां गतिमाजिधावनरूपां गत्वा नैवारं चरुं स्पृशते। तेन संस्पर्शनेन तदाजिधावनोज्जितमन्नमेवात्मनि निहितवान् भवतीत्यर्थः। 'स उपस्पृशति। आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादित्यन्नं वै वाज आ माऽन्नस्य प्रसवो जगम्यादित्येवैतदाहेमे द्यावा-पृथिवी विश्वरूपे इति द्यावापृथिवी हि प्रजापतिरा मा गन्तां पितरा मातरा चेति मातेव च हि पितेव च प्रजापतिरा मा सोमो अमृतत्वेन गम्यादिति सोमो हि प्रजापतिः' (श० ५।१।५।२६)। मन्त्रं प्रतिपादमनूद्य द्यावापृथिव्यादिके प्रजापत्यात्मना स्तौति—आ मा वाजस्येति। तदनुसारेणैव व्याख्यातो मन्त्रः। 'तमश्वानव-घ्रापयति। वाजिन इति वाजिनो ह्यश्वास्तस्मादाह वाजिन इति वाजजित इत्यन्नं वै वाजोऽन्नजित इत्येवैतदाह वाजꣳ ससृवाꣳस इति सरिष्यन्त इति वा अग्र आह सरिष्यन्त इव हि तर्हि भवन्त्यथात्र ससृवाꣳस इति ससृवाꣳस इव ह्यत्र भवन्ति तस्मादाह ससृवाꣳस इति बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रतेति ... निमृजाना इति तद्यजमाने वीर्यं दधाति तद्यदश्वानवघ्रापयतीममुज्जयानीति वा अग्रेऽवघ्रापयत्यथात्रेममुदजैषमिति तस्माद्वा अश्वानवघ्रापयति' (श० ५।१।५।२७)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। श्रुतिश्च पादशोऽनूद्य व्याचष्टे—वाजिनो हीति। ससृवांस इति भूतार्थविहितक्वस्वन्तत्वेन प्रयोगस्याभिप्रायमाह—सरिष्यन्त इति। पूर्वमाजिधावनप्राक्काले चरोरश्वैरवघ्रापणं विहितम्। तन्मन्त्रे वाजं सरिष्यन्त इति भविष्यार्थप्रयोग उक्तः, आजिधावनस्य करिष्यमाणत्वात्। अत्र त्वस्य कृतत्वात् तदन्ते विधीयमाने मन्त्रे भूतार्थकत्वेन ससृवांस इति प्रयोगो युक्त एव। निमृजाना इत्यस्य तात्पर्यमाह—तद्यजमाने वीर्यं दधातीति। अन्नरसनिमार्जनस्य वीर्यहेतुत्वान् तत् तेन निमृजाना इति पदेन यजमाने वीर्यं स्थापितवान् भवति। आजिधावनस्यादौ तदन्ते च विहितचर्वाघ्रापणस्य प्रयोजनभेदं दर्शयति— तद्यदश्वानिति।

मा वाजस्य' इस कण्डिका के मन्त्रों से यजमान द्वारा रथ से उतर कर नीवार से निर्मित चरु का स्पर्श तथा रथ में संयुक्त

अग्रे पूर्वं वाजोज्जित्यर्थमत्र तूज्जितस्य वाजस्य स्वाधीनकरणार्थम्, अतः पूर्वमिममुज्जयानीति, अत्रेममुदजैषमित्याशीर्वदर्थवाचि भूतार्थवाचि च पदं युक्तमेवेति सायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—वाजस्य ज्ञानलक्षणस्यान्नस्य प्रसव उत्पत्तिर्मा मामागच्छेत्। विश्वरूपे द्यावापृथिव्यौ मा मां प्रत्यनुग्राहकत्वेनागच्छेताम्। तद्रूपौ मातापितरौ गौरीशङ्करौ सीतारामौ राधाकृष्णौ वा आगच्छेताम्। सोमः साम्बसदाशिवश्च नोऽमृतत्वायागच्छतु। भगवतो वाजिनो वाजजितोऽन्नजितः संग्रामजितो वा वाजं जेतुं ससृवांसो बृहस्पतेः परमेश्वरस्य सम्बन्धिनं भागमवशिष्टं प्रसादमवजिघ्रत आघ्राणं पानं कुरुत, भक्तं निमृजानाः शोधयन्तः सन्तः।

दयानन्दस्तु—'हे पूर्वोक्ता विद्वांसः, येषां भवतां सहायेन वाजस्य प्रसवो वेदादिशास्त्रार्थप्रसूतज्ञानबोधस्य प्रसवः प्रकृष्टैश्वर्यसमूहः, आजगम्यात् समन्तात् प्राप्नुयात्, विश्वरूपे विश्वानि सर्वाणि रूपाणि ययोस्ते इमे द्यावापृथिवी प्रकाशभूमी अमृतत्वेन सर्वरोगनिवारकत्वेन सह सोमः सोमवल्ल्याद्योषधिगणः, आजगम्यात् प्राप्नुयात्। पितरा मातरा च पिता च माता च आगन्तां मां प्राप्नुतः। वाजिनः प्रशस्तबलिनः, वाजजितो विजितसंग्रामा वाजं संग्रामं ससृवांसः प्राप्तवन्तो निमृजाना नितरां शुन्धन्तो यूयं बृहस्पतेर्बृहत्याः सेनायाः स्वामिनो भागं भजनीयमवजिघ्रत सततं प्राप्नुत' इति, तदपि व्यामोहमूलकम्, श्रुतिविरोधात्। श्रुतौ तु स्पष्टमेव वाजिनो ह्यश्वा इति वाजिशब्दोऽश्वपरत्वेन व्याख्यातः। वाजस्येति शब्दस्य वेदशास्त्रप्रसूतो बोधोऽर्थः कया युक्त्या सिद्ध्यतीत्यस्य निरूपणसापेक्षत्वात्। तथैव बृहस्पतिः सेनापतिरित्यपि शिष्टाप्रयोगादसङ्गत एवार्थः। प्रसव ऐश्वर्यसमूह इत्यपि निर्मूल एव॥ १९॥

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनँशिनाय स्वाहा विनँशिन आन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा॥ २०॥

अश्वों के सम्मुख चरु का प्रदर्शन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—ज्ञानरूपी अन्न की उत्पत्ति मेरे प्रति आवे। विश्वरूप द्युलोक तथा पृथिवी अनुग्रहकर्ता के रूप में मेरे प्रति आवें। पार्वती तथा शिव अथवा सीता एवं राम या राधा और कृष्ण रूपी माता एवं पिता भी मुझे प्राप्त हों। साम्ब सदाशिव हमारे अमृतत्व के लिये आवें। अन्न के स्वामी अथवा युद्धों को जीतनेवाले, अन्न के स्वामित्व के लिये आगमन करने वाले भगवान् परमेश्वर के अवशिष्ट प्रसाद का भक्तों को शुद्ध करते हुए ग्रहण तथा पान करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ श्रुतिवाक्यों से विरुद्ध होने के कारण व्यामोह से परिपूर्ण है। श्रुति में स्पष्ट रूप से वाजी शब्द की अश्व अर्थ में व्याख्या की गई है। वाज शब्द का अर्थ 'वेदशास्त्रप्रसूत बोध' यह किस प्रकार सम्भव है, इसका भी निरूपण अपेक्षित है। इसी प्रकार बृहस्पति शब्द का 'सेनापति' अर्थ करना प्राचीन आचार्यों और विद्वानों द्वारा अप्रयुक्त होने के कारण असंगत ही है। प्रसव का अर्थ ऐश्वर्यसमूह करना प्रमाणरहित है॥ १९॥

मन्त्रार्थ—व्यापक संवत्सर कालात्मक आदित्यस्वरूप प्रजापति देवता की प्रीति के लिये यह आहुति दी जाती है, यह भली प्रकार गृहीत हो। सर्वव्यापी प्रजापति की प्रीति के निमित्त पुनः पुनः प्रकट होने के लिये यह आहुति दी जाती है।

'द्वादश स्रुवाहुतीर्जुहोत्यापये स्वाहेति प्रतिमन्त्रं वाचयति वा' (का० श्रौ० १४।४।१९)। तत आयुर्यज्ञेनेति (९।२१) षड्भिर्मन्त्रैः स्रुवाहुतीर्जुहोति वाचयति वा। संवत्सरात्मकस्य प्रजापतेर्यज्ञरूपस्य द्वादश यजूंषि। आपये स्वाहा, आप्नोतीत्यापिः प्रजापतिस्तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु। तस्यैवैतानि नामानि। स्वापये सुष्ठु शोभनमाप्नोतीति स्वापिस्तस्मै स्वापये नमः स्वाहा सुहुतमस्तु। अपिजाय जगद्रक्षणायाप्सु कर्मसु लोकेषु वा पुनः पुनरुत्पद्यत इत्यपिजस्तस्मै अपिजाय स्वाहा। क्रतुः सङ्कल्पो भोगादिविषयो यज्ञो वा, तस्मै क्रतवे स्वाहा। वसुर्वासयिता तस्मै वसवे निवासहेतवे। अह्नां दिवसानां पतिरहर्पतिः संवत्सरस्तस्मै। अतः परं चत्वारि नामान्युभयविशेषणविशिष्टानि। अह्ने दिनाय मुग्धाय मुह्यतीति मुग्धस्तस्मै मोदकायेत्यर्थः। अह्ने मुग्धायेत्येकं नाम, मुग्धाय मोदकाय। वैनंशिनाय विनश्यन्तीति विनंशिनो विनाशशीलाः पदार्थाः, 'मस्जिनशोर्झलि' (पा० सू० ७।१।६०) इति छान्दसत्वाद् अझल्यपि नुमागमः, विनंशिषु पदार्थेषु भवो वैनंशिनस्तस्मै स्वाहा। विनंशिने आन्त्याय अन्ते भवाय स्वाहा। अन्त्यं च तदयनं च अन्त्यायनमन्त्यं स्थानम्, तत्र भव आन्त्यायनस्तस्मै विनंशिने विनाशशीलाय स्वाहा। अन्ते भवोऽन्त्यः, भुवने भवो भौवनस्तदुभयविशिष्टाय स्वाहा। भुवनस्य जगतः पतये पालयित्रे नमः स्वाहा। अधिपतये सर्वलोकानां स्वामिने स्वाहा सुहुतमस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ स्रुवं चाज्यविलापनीं चादाय। आहवनीयमभ्यैति स एता द्वादशाप्तीर्जुहोति वा वाचयति वा....' (श० ५।२।१।१)। आप्तिहोमं विधित्सुराह—अथ स्रुवमिति। आज्यं विलाप्यतेऽस्यामित्याज्यविलापनी स्थाली, तां स्रुवं चादाय, स्रुवशब्दो जुहूपभृन्निवृत्त्यर्थः, आहवनीयमभ्येत्य द्वादशसंख्याका आप्तिसाधनत्वादाप्त्याख्या आज्याहुतीर्जुहुयात्। विकल्पेन यजमानवाचनं च विधीयते। उभयत्रार्थवादवाक्यशेषः समानः। 'स जुहोति। आपये स्वाहा....स्वाहेत्येता द्वादशाप्तीर्जुहोति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तद्यैवास्याप्तिर्या संपत्तामेवैतदुज्जयति तामात्मन् कुरुते' (श० ५।२।१।२)। संवत्सरस्य यज्ञात्मकस्य प्रजापतेरेतानि नामानि। स्वकार्यव्यापकत्वात् प्रजापतिरापिः, शोभनप्रापकत्वात् स एव स्वापिः। विनाशयुक्तेषु हितकारित्वेन वसतीति वैनंशिनः, विनंशिनः पुत्रो वा वैनंशिनस्तस्मै वैनंशिनाय शत्रुविनाशकाय। अन्त्येऽयने भव आन्त्यायनस्तस्मै आन्त्यायनाय, अन्त्याख्यस्य पुत्राय वा। अन्त्याय अन्ते भवाय। भुवनस्य पतिः प्रजापतिः, 'प्रजापतिर्वै भुवनस्य पतिः' (तै० ब्रा० १।३।७) इति सायणः। आहुतिगतां द्वादशसंख्यां प्रशंसति—तद्यैवास्याप्तिर्या सम्पदिति। अस्य संवत्सरस्य प्राजापत्यात्मकस्य यज्ञस्य या आप्तिः सर्वात्मकत्वेन व्यापनशक्तिः, या सम्पत् संवत्सरसमृद्धिस्तामेतामुभयीमेतेनाप्तिहोमेन जितवान् भवति। 'द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासोऽध्वरे। यज्ञेषु देवमीळते ॥' (ऋ० सं० १।१५।७) इति मन्त्रे द्रविणोदसमिति पाठाभावेन तत्प्रयुक्तदोषानापत्तेः। अत्र तु द्रविणोदा इत्यस्यैव देवमित्यस्य विशेषणत्वे द्वितीयान्तत्वमुपपादितमेव। दुर्गाचार्यस्तु द्रविणोदा इत्येतस्य प्रथमैकवचनान्तत्वे 'ईळते' इत्यस्य बहुवचनान्तत्वेन वचनभेदादसामर्थ्यमपेक्ष्य स्तोतृत्वे चासम्भवं द्रविणसो देवात् स्तुत्यत्वे सामर्थ्यमुन्नीय द्रविणसो यद्वृत्तमध्याहृत्य द्रविणोदस्यर्थपतावभिसम्बन्धात् स्तुतेरेकवाक्यतायां

संकल्प, भोगविषय आदि के निमित्त यह आहुति दी जाती है। जगत् की स्थिति के लिये यह आहुति दी जाती है। दिवस के निमित्त यह आहुति दी जाती है। विनाशशील मुग्ध नामक इन्द्र के निमित्त यह आहुति दी जाती है। सीमावान् वैनंशिन के लिये यह श्रेष्ठ आहुति दी जाती है। त्रिभुवन के सीमावान् के निमित्त, सम्पूर्ण भुवन के पति के निमित्त और समस्त प्राणी वर्ग के उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के कारणभूत परमेश्वर के निमित्त यह आहुति दी जाती है। यह सम्यक् प्रकार से स्वीकृत हो ॥ २० ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।१९) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'आपये

सामर्थ्यमुन्निनीषन् स्तुत्ये द्रविणोदःशब्दे कर्मत्वेन नमयाञ्चकार—द्रविणोदा यो देवस्तं द्रविणोदसमिति। तथापि निखिलानुसारी एकोऽर्थः कर्तव्य इति नैव राजाज्ञा, सायणरीत्या विभक्तिविपरिणमनमन्तरापि कर्मत्वोक्तेः। मन्त्रे द्रविणस इत्यस्य ग्रावहस्तास इत्यनेन ऋत्विग्विषयेणासन्दिग्धेन प्रथमाबहुवचनेन स्तुतिकर्तृत्वेन विशेषणविशेष्यभावेन सामानाधिकरण्येऽपि तथाऽर्थोपपत्तिः। सामर्थ्यादेकवाक्यतयाऽभिसम्बध्नाति। तथा च यं द्रविणोदसं देवम् अध्वरे अग्निष्टोमादौ यजतिषु हविःसम्प्रदानेषु सवनेषु वा द्रविणस ऋत्विज ईळते। तत्र ऋत्विक्षु कया व्युत्पत्त्या द्रविणसशब्दः प्रयुज्यत इत्याशङ्कायामाह— द्रविणस इति। ते हि द्रविणं लप्स्यामह इति सीदन्ति कर्मणि। द्रविणनिमित्तेन सीदन्तीति द्रविणसः। यद्वा द्रविणस्य गवादेर्हविषां देवतार्थस्य सम्भक्तारः, 'षणु सम्भक्तौ'।

अध्यात्मपक्षे—आपये, आप्नोतीत्यापिः परमात्मा, तस्मै स्वाहा सर्वस्वमर्पितमस्तु। स्वापये शोभनमभीष्टमाप्यते येन तस्मै शोभनसुखप्रापकाय परमात्मने स्वाहा। अपिजाय अप्सु जाताय महामत्स्यावतारधारिणे कूर्मावतारधारिणे वा भगवते सुहुतमस्तु। क्रतवे यज्ञरूपाय यज्ञावताराय वा स्वाहा। अहर्पतये सूर्यरूपाय भगवते स्वाहा। मुग्धाय तमःप्रायाय अह्ने तदन्तर्यामिणे स्वाहा। विनाशिपदार्थेषु व्यापकायाविनाशिने मोहकाय परमात्मने स्वाहा। अन्ते प्रलये भवमन्त्यम्, तच्च तदयनं स्थानमन्त्यायनम्, तत्र भव आन्त्यायनो रुद्रस्तस्मै स्वाहा। विनंशिने विनाशिने संहारकाय स्वाहा। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्। आन्त्याय प्रलयकालव्यापिने भौवनाय भुवनस्थितिकालव्यापिने च परमात्मने स्वाहा। भुवनस्य पतये परमात्मने, अधिपतये सर्वलोकानां चाधिपतये स्वाहा सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु 'हे विद्वांसः, यूयं यथा माम् आपये सकलविद्यावाप्तये स्वाहा सत्या क्रिया, स्वापये सुखानां सुष्ठु प्राप्तये स्वाहा धर्म्या क्रिया, अपिजाय निश्चयेन जायमानाय स्वाहा पुरुषार्थयुक्ता क्रिया, क्रतवे प्रज्ञायै स्वाहा अध्ययनाध्यापनप्रवर्तिका क्रिया, वसवे विद्यानिवासाय स्वाहा सत्या वाणी, अहर्पतये पुरुषार्थेन गणितविद्यया दिवसपालकाय स्वाहा कालविज्ञापिका वाणी, अह्ने दिनाय मुग्धाय प्राप्तमोदनिमित्ताय स्वाहा विज्ञानयुक्ता वाक्, मुग्धाय मूर्खाय वैनंशिनाय विनष्टशीलाय आन्त्यं नीचमयनं प्रापणं यस्य तस्मै स्वाहा नष्टकर्मनिवारिका वाणी, आन्त्याय अन्ते भवाय भौवनाय भुवनेषु प्रभवाय स्वाहा पदार्थविज्ञापिका वाणी, भुवनस्य संसारस्य पतये स्वामिने स्वाहा योगविद्याजनिता प्रज्ञा, अधिपतये सर्वाधिष्ठातृणामुपरि वर्तमानाय स्वाहा सर्वव्यवहारविज्ञापिका

स्वाहा' इस कण्डिका के मन्त्रों से स्रुव द्वारा आहुति प्रदान की जाती है। शतपथ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—व्याप्त करने वाले परमात्मा के लिये समर्पण हो, जल में प्रादुर्भूत महामत्स्यावतार धारण करने वाले या कूर्मावतार धारण करने वाले भगवान् के लिये समर्पण हो, यज्ञरूपी अथवा यज्ञावतार के लिये समर्पण हो, सूर्यरूपी भगवान् के लिये समर्पण हो, तमःप्राय दिवसों में अन्तर्हित भगवान् के लिये समर्पण हो, नश्वर पदार्थों में व्यापक अविनश्वर मोहक परमात्मा के लिये समर्पण हो, प्रलय के काल में अवस्थित रुद्र परमात्मा के लिये समर्पण हो, संहारक भगवान् के लिये समर्पण हो, प्रलयकाल व्यापी तथा स्थितिकाल व्यापी परमात्मा के लिये समर्पण हो, ब्रह्माण्ड के स्वामी परमात्मा के लिये समर्पण हो, सर्वलोकाधिपति भगवान् के लिये समर्पण हो।

स्वामी दयानन्द का अर्थ कल्पनामात्र पर अवलम्बित होने के कारण प्रमाणरहित है। 'आपिः' इसका धातु के अर्थ के अनुसार 'व्याप्ति' यह सामान्य अर्थ है। वहाँ विद्याव्याप्ति, धनप्राप्ति, अथवा व्यापक प्रजापति इत्यादि अर्थों में सुनियत एक अर्थ के न होने के कारण 'विद्याव्याप्ति' अर्थ भी सम्भव है। परन्तु श्रौतसूत्र के अनुसार होम में विनियुक्त

वाक् प्राप्नुयात्, तथा प्रयतध्वम्' इति, तदपि न किञ्चित्. कल्पनामात्रसारत्वेनाप्रामाणिकत्वात्। तथाहि— आपिरिति धात्वर्थानुसारेण व्याप्तिसामान्योऽर्थो विद्याव्याप्तिर्धनप्राप्तिर्वा व्यापकः प्रजापतिर्वा सम्भवति। तत्र विनिगमनाविरहेण विद्याव्याप्त्यर्थः सम्भवति। सूत्रानुसारेण होमे विनियुक्तानि प्राजापत्यानि यजूंषीति प्रजापतिपरकमेव व्याख्यानं युक्तम्। स्वाहाशब्दस्यापि विविधार्थाः काल्पनिका एव, प्रमाणशून्यत्वात्। सूपसर्गस्य शोभनार्थतैव प्रसिद्धा, सुखार्थता तु प्रमाणापेक्षैव। अहर्पतय इत्यस्य पुरुषार्थो गणितविद्या वा नार्थः, तस्य अन्यत्रैव शक्तिग्रहात्॥ २०॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳪं श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः प्रजा अभूम स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम॥ २१॥

'षड् वोत्तराः' (का० श्रौ० १४।४।२०) उत्तराः षड् आयुर्यज्ञेनेत्याद्यांश्च शब्दान् जुहोति वाचयति वा। प्राजापत्यानि षड् यजूंषि। आयुर्जीवनं मदीयमनेन यज्ञेन वाजपेयाख्येन कल्पतां क्लृप्तं समर्थं भवतु। प्राणो मुखनासिकाप्रभवो वायुः पञ्चवृत्तिको यज्ञेन कल्पताम्। चक्षुः, चष्टेऽनेनेति चक्षुः, रूपदर्शनसाधनमिन्द्रियं यज्ञेन कल्पताम्। श्रोत्रं शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दज्ञानसाधनमिन्द्रियं यज्ञेन कल्पताम्। पृष्ठं रथन्तरादिकं शरीरस्य पृष्ठं वा यज्ञेन कल्पताम्। यद्वा आयुःप्राणादेराधारभूतो मध्यदेहपृष्ठं यज्ञेन मदीयेन वाजपेयेन यज्ञो यज्ञाधिष्ठाता विष्णुः कल्पताम्। 'प्रजापतेरित्यारोहतः' (का० श्रौ० १४।४।२४)। प्रजापतेरिति मन्त्रेण पत्नीयजमानौ निःश्रेण्या यूपमारोहतः। यजमानदेवत्यानि त्रीणि यजूंषि। अस्य यज्ञस्यानुष्ठानाद् वयं प्रजापतेः सम्बन्धिन्यः प्रजा अपत्यानि अभूम जातानि। 'स्वरिति गौधूममालभते' (का० श्रौ० १४।४।२५)। आरुह्य यजमानो गौधूमं चषालमालभेत। गौधूमश्चषालः, 'उत्कीर्णसमाग्रो गौधूमचषालः' (का० श्रौ० १४।१।२२)। स्वरिति गोधूमनिर्मितं चषालं यजमानः स्पृशेत्। हे देवाः, वयं स्वः स्वर्गम्, अगन्म प्राप्ताः। 'शिरसा यूपमुज्जिहीतेऽमृता इति' (का० श्रौ० १४।४।२६)। यूपादूर्ध्वं शिरः करोति वयममृता अमरणधर्माणः, अभूम सम्भूताः।

प्रजापति देवता वाले मन्त्र होने के कारण इसका प्रजापतिपरक अर्थ ही उचित है। स्वाहा शब्द के भी विभिन्न अर्थ प्रमाणरहित होने के कारण काल्पनिक ही हैं। 'सु' उपसर्ग शोभनार्थक ही प्रसिद्ध है, इसको सुखार्थकता मानना प्रमाण-सापेक्ष है। 'अहर्पतयः' इस शब्द का पुरुषार्थ अथवा गणितविद्या यह अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इस पद से दूसरे ही अर्थ में शक्तिग्रह होता है॥ २०॥

मन्त्रार्थ—**इस वाजपेय याग से हमारी आयु में वृद्धि हो, इस यज्ञ के फल से पाँचों प्राण बलवान् हों, चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्र इन्द्रिय बल को प्राप्त करें, हमारा पृष्ठ बल वृद्धिगत हो। इस वाजपेय यज्ञ के फल से यज्ञ के अधिष्ठाता विष्णु हमारे ऊपर प्रसन्न हों और हमारी यज्ञ करने की क्षमता बढ़े। इस यज्ञ को करके प्रजापति की सन्तति बनने की क्षमता मैंने प्राप्त कर ली है। हे ऋत्विक् गण! हमें स्वर्ग प्राप्त हो गया है, हम दीर्घायु, अमर और चिरकीर्ति वाले हो गये हैं॥ २१॥**

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।२०,२४-२६) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार

अत्र ब्राह्मणम्--'अथ षट्क्लृप्तीर्जुहोति वा वाचयति वा' (श० ५।२।१।३)। क्लृपिधातुनिष्पन्नशब्द-युक्तमन्त्रकरणिका आहुतीः क्लृप्तीर्जुहुयात्। 'स वाचयति। आयुर्यज्ञेन कल्पतां" कल्पतामित्येताः षट्क्लृप्तीर्वाचयति षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तद्यैवास्य क्लृप्तिर्या सम्पत् तामिवैतदुज्जयति तामात्मन् कुरुते' (श० ५।२।१।४)। वाचनमन्त्रान् विधत्ते—स वाचयतीत्यादिना। अत्र वाचनविवक्षया मन्त्रान्ते स्वाहाशब्दो न प्रयुक्तः। वचनबलाद्धवनं वा कार्यम्। तदा स्वाहाशब्दः प्रयोक्तव्यः। तामिमां षट्संख्यां प्रशंसति - षड् वा ऋतव इति। 'अष्टाश्रिर्यूपो भवति। अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रमग्नेश्छन्दो देवलोकमेवैतेनोज्जयति सप्तदशभिर्वासोभिर्यूपो वेष्टितो वा विग्रथितो वा भवति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति' (श० ५।२।१।५)। क्लृप्तिवाचनमन्त्रतदर्थाभिज्ञस्य यजमानस्य यूपारोहणं विवक्षुरादौ स्वर्गत्वेन निरूपयिष्यमाणस्य यूपस्य प्राकृतं गुणमनुवदति--अष्टाश्रिर्यूपो भवतीति। अश्रिगतामष्टसंख्यां प्रशंसति—अष्टाक्षरा वै गायत्रीति। यतोऽग्नेश्छन्दो गायत्रम्, ततस्तद्रूपत्वाद् देवलोकजयहेतुरष्टाश्रिर्यूप इत्यर्थः। यूपस्य वेष्टनं विधत्ते—सप्तदशभिर्वासोभिरिति। वेष्टितो यूपो यथा न दृश्यते, तथाच्छादनं कार्यम्। विग्रथितो वेति यूपस्यैकत्र प्रदेशे वाससां ग्रथनं वा कार्यम्। वासोगतां संख्यां प्रजापत्यात्मना स्तौति- सप्तदशो वै प्रजापतिरिति।

'गौधूमं चषालं भवति। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठꣳ सोऽयमत्वगेते वै पुरुषस्यौषधीनां नेदिष्ठतमां यद्गोधूमास्तेषां न त्वगस्ति मनुष्यलोकमेवैतेनोज्जयति' (श० ५।२।१।६)। चषालनामकस्य यूपशकलस्य दारुमयत्वापवादाय विधत्ते—गौधूमं चषालं भवतीति। गोधूमपिष्टमयं चषालं कुर्यात्। अस्यायमभिप्रायः—पुरुषो नु प्रजापतेर्नेदिष्ठम् अन्तिकतमं वस्तु, पुरुषसृष्टेः प्रथमभावित्वात्। सोऽयमत्वग् अश्वत्थवृक्ष इव बाह्यत्वग्रहितः। ओषधीनां मध्ये एते गोधूमा अपि पुरुषस्य सन्निहिततमं वस्तु, बलकारित्वात्। तेषां तु त्वगभावः प्रसिद्धः। अतो गोधूमचषालकरणेन मनुष्यलोकमेव जितवान् भवतीति। 'गर्तन्वान् यूपोऽतीक्ष्णाग्रो भवति। पितृदेवत्यो वै गर्तः पितृलोकमेवैतेनोज्जयति सप्तदशारत्निर्भवति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति' (श० ५।२।१।७)। तत्र यूपे गुणविशेषं विधत्ते—गर्तन्वानिति। गर्तवान् यूपस्याग्रे निम्नप्रदेशो गर्तन्वान्, 'अनो नुट्' (पा० सू० ८।२।१६) इत्यन्नात्परस्य मतुपो नुडागमो भवति। व्यत्ययेनाकारान्तादपि भवति। अतीक्ष्णाग्रः अतनूकृताग्रः स्थूलाग्रप्रदेशो भवेत्। गर्तं पितृलोकात्मना प्रशंसति—पितृदेवत्य इति, 'पितॄणां सदनमसि' (तै० सं० ६।३।४।२) इति मन्त्रवर्णाद् यूपावटस्य पितृदेवतास्थानत्वं प्रतीयते। 'पितॄणां निखातं मनुष्याणामूर्ध्वं निखातात्' (तै० सं० ६।३।४।६) इति गर्ताविच्छिन्नस्य यूपभागस्य पितृदेवत्यत्वम्। तादृशी प्रसिद्धिर्वैशब्देन द्योत्यते। आरोहणीययूपस्य चोदकप्राप्तं प्रमाणमपवदितुं परिमाणान्तरं विधत्ते—सप्तदशेति। चतुर्विंशत्यङ्गुलोऽरत्निः। सप्तदशारत्नयः प्रमाणं यस्य यूपस्य स तथोक्तो यूपो भवति। सप्तदशो वै प्रजापतिः। तेन प्रजापतिमेवोज्जयति।

'अथ नेष्टा पत्नीमुदानेष्यन्। कौशं वासः परिधापयति कौशं वा चण्डातकमन्तरं दीक्षितवसनाज्जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत् पत्नी तामेतत् प्राचीं यज्ञं प्रसादयिष्यन् भवत्यस्ति वै पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेर्मेध्या वै दर्भास्तद्यदेवास्या अमेध्यं तदेवास्या एतद्दर्भैर्मेध्यं कृत्वाऽथैनां प्राचीं यज्ञं प्रसादयति तस्मान्नेष्टा पत्नीमुदानेष्यन् कौशं वासः परिधापयति कौशं वा चण्डातकमन्तरं दीक्षितवसनात्' (श० ५।२।१।८)। नेष्टा पत्नीं यजमानपत्नीम् उदानेष्यन् यज्ञशालातो निर्गमयिष्यन् कौशं दर्भमयं वासः पत्नीं परिधापयेत्, 'क्षत्रस्य योनिरसीति दर्भमयं पत्नीम्' (आश्व० श्रौ० १८।५।७) इति सूत्रात्, 'दर्भमयं परिधापयति' (तै० ब्रा० १।८।५।७) इति

'आयुर्यज्ञेन' इस कण्डिका के मन्त्रों से हवन अथवा वाचन, पत्नी तथा यजमान द्वारा यूप पर आरोहण, चषाल का स्पर्श

श्रुतेश्च । यद्वा कृमिकोशविकारभूतं वासः कौशम्, तेन परित आच्छादयेत् । यद्वा कौशं कुशमयं चण्डातकमर्धोरुकं परिधापयेत् । 'अर्धोरुकं विलासिन्या वासश्चण्डातकं स्मृतम्' (अ० को० २।६।११९) । नृत्तोपयिकत्वेनाच्छादनीय-मुरुकञ्चुकमर्धोरुकं वासः । वसनस्य प्रदेशं विधत्ते—अन्तरमिति । दीक्षाकाले यद् वस्त्रं परिहितं तस्माद् बहिः-प्रदेश इत्यर्थः । अन्तरशब्दो बहिर्योगे वर्तते । दर्भैरेव वासः कर्तव्यमित्यत्रोपपत्तिं दर्शयति—जघनार्ध इत्यादिना । पूर्वदेशस्याहवनीयसाध्यत्वाद् यज्ञः प्राच्यां दिश्यवस्थितः, तस्य यज्ञस्य पश्चिमभागे पत्नीशालायामवस्थानात् पत्नी यज्ञस्य जघनार्ध इति निरूप्यते । तां पत्नीम् एतर्हि प्राचीं प्राङ्मुखां पूर्वदिगवस्थितं यज्ञं प्रापयिष्यन् भवति । तदुपायत्वेन दर्भमयवासःपरिधापनस्य मेध्यत्वाद् मेध्यत्वापादकत्वम् । पत्नीसम्बन्धिनाभेर्यदवा-चीनमङ्गं तद् अमेध्यमपवित्रम्, तत्प्रदेशे मेध्यदर्भमयवासःपरिधापनेन तदङ्गं परिशुद्धं कृत्वा एतां प्राचीं यज्ञं प्रापितवान् भवति । दर्भाणां मेध्यत्वं 'पवित्रं वै दर्भाः पुनात्येवैनम्' (तै० ब्रा० १।३।७।१) इति श्रुतिराह । तस्मान्नेष्टा पत्नीमुदानेष्यन् कौशं वासः परिधापयति ।

'अथ निःश्रयणीं निःश्रयति । स दक्षिणत उदङ्रोहेदुत्तरतो वा दक्षिणा दक्षिणतस्त्वेवोदङ्रोहेत्तथा ह्युदग् भवति' (श० ५।२।१।९) । निःश्रयणी यूपारोहणार्थं सोपानसदृशः काष्ठनिर्मितपदार्थः, तं निःश्रयति यूपे निदध्यात् । तथा साधनेन यजमानो यूपमारोहेत् । यूपारोहणे कञ्चिद्विशेषं विधत्ते—स दक्षिणत इति । दक्षिण-प्रदेशादुदङ्मुखो यूपमारोहेत्, उदक्प्रदेशाद् दक्षिणमुखो वा आरोहेदिति विकल्पः । तत्रैकं पक्षं सिद्धान्तयति—दक्षिणत इति । तुशब्दः पक्षान्तरव्यावृत्त्यर्थः । तथाहि—एवं कृते सति, उदग्भवति कर्मण उदगपवर्गता सिद्ध्यति । तस्मादयमेव पक्षः श्रेयान् । 'स रोक्ष्यञ्जायामामन्त्रयते ।···अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायतेऽसर्वो हि तावद् भवत्यथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति सर्व एतां गतिं गच्छानीति तस्माज्जायामामन्त्रयते' (श० ५।२।१।१०) । रोहणकाले जायामन्त्रणं विधत्ते—स रोक्ष्यञ्जायामिति । रोक्ष्यन् रोहणं करिष्यन् हे जाये, एहि आगच्छ स्वः स्वर्गं रोहाव आरोहणं करवाव । जायाया प्रत्युक्तिं दर्शयति—रोहावेत्याहेति । अथान्वयव्यतिरेकाभ्यां जायासहितस्य पूर्णावयवत्वं प्रतिपादयन्नाह असर्व इति । असम्पूर्ण इत्यर्थः । ह यस्माद्यजमानस्य अर्ध एष यज्जाया, आत्मनस्तदभावे प्रजोत्पत्त्यभावात् । यदा जायासाहित्यं तदा प्रजोत्पादनक्षमत्वम् । तथा च सर्वः सम्पूर्णावयवः । एतां यूपारोहणलक्षणां गतिं गच्छानि प्राप्नवानीत्यभिप्रायेण जायामन्त्रणं कार्यम् ।

'स रोहति । प्रजापतेः प्रजा अभूमेति प्रजापतेर्ह्येष प्रजा भवति यो वाजपेयेन यजते' (श० ५।२।१।११) । यूपारोहणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—प्रजापतेः प्रजा अभूमेति । प्रजा अपत्यभूता अभूमेति । 'अथ गोधूमानुपस्पृशति । स्वर्देवा अगन्मेति स्वर्ह्येष गच्छति यो वाजपेयेन यजते' (श० ५।२।१।१२) । गोधूममयचषालस्पर्शनं समन्त्रकं विधत्ते—गोधूमानिति । वयं देवाः सन्तः स्वः स्वर्गमगन्म गतवन्तः । 'तद्यद् गोधूमानुपस्पृशति । अन्नं वै गोधूमा अन्नं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते अन्नपेयꣳ ह वै नामैतद् यद्वाजपेयं तद्यदेवैतदन्नमुदजैषीत्तेनैवैतदेतां गतिं गत्वा सꣳस्पृशते तदात्मन् कुरुते तस्माद् गोधूमानुपस्पृशति' (श० ५।२।१।१३) । गोधूमस्पर्शनेन वाजपेय-जिन्मन्त्रं स्वाधीनं कृतवान् भवतीति । 'अथ शीर्ष्णा यूपमत्युज्जिहीते । अमृता अभूमेति देवलोकमेवैतेनोज्जयति' (श० ५।२।१।१४) । शीर्ष्णा शिरसा यूपमत्युज्जिहीते यूपं शिरसा स्पृशन् तमतिक्रम्य स्वशिर उन्नमयेत् । अमृता अमरणधर्माणः । अभूम सम्भूताः । एतेन यूपाग्रात् शिरउन्नमनाद् यूपस्यातिक्रान्तत्वाद् देवलोकजयः ।

तथा यूप से ऊपर शिर का उन्नयन इत्यादि कार्य सम्पादित किये जाते हैं । शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय संहिता में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है । आश्वलायन श्रौतसूत्र में भी मन्त्रसम्बन्धी याज्ञिक प्रक्रिया निरूपित है ।

अध्यात्मपक्षे—यज्ञेन विष्णुनाऽऽयुरादीनां समर्थत्वं स्वकार्यकरणक्षमत्वमिति। यथाग्निनैवायःपिण्डस्य दाहकत्वादिकम्, तथैव सर्वसत्तास्फूर्तिप्रदेनाधिष्ठानभूतेन व्यापनशीलेन परमात्मनैवायुःप्राणचक्षुरादीनां स्वकार्यकरणक्षमत्वं सार्थकत्वं वा। यज्ञोऽपि तत्रैव समर्पितस्तेनैव साफल्यमुपगच्छति, तत्फलस्य तदायत्तत्वात्। वयं सर्वेऽपि जीवाः प्रजापतेः परमेश्वरस्य प्रजा अपत्यानि अभूम, 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ० सं०१०।१३।१) इति मन्त्रवर्णात्। हे देवा इन्द्रियाद्यधिष्ठातारः, युष्माकमनुमत्याऽनुग्रहेण वा वयं स्वो दुःखासम्भिन्नं सुखं ब्रह्मात्मकमगन्म प्राप्ताः। अमृता जरामरणादिदुःखमुक्ता ब्रह्मभावापन्ना जाता इत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माकमायुः सततं यज्ञेन धर्म्येणेश्वराज्ञापालनेन कल्पतां समर्थताम्। प्राणो जीवनहेतुर्बलकारी यज्ञेन धर्म्येण विद्याभ्यासेन कल्पताम्। चक्षुः चष्टेऽनेन तत्, यज्ञेन शिष्टाचरितेन प्रत्यक्षविषयेण कल्पताम्। श्रोत्रं शृणोत्यनेन तत्, यज्ञेन शब्दप्रमाणाभ्यासेन कल्पताम्। पृष्ठं प्रच्छनं यज्ञेन संवादाख्येन कल्पताम्। यज्ञो यजधातोरर्थः, यज्ञेन ब्रह्मचर्याद्याचरणेन कल्पताम्। यथा वयं प्रजापतेर्विश्वम्भरस्य जगदीश्वरस्येव धार्मिकस्य राज्ञः प्रजास्तदधीनपालना अभूम भवेम। देवाः सन्तो अमृता. प्राप्तमोक्षसुखा भवेम स्वरगन्म सुखं प्राप्नुयाम तथा यूयं निश्चिनुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यज्ञेन धर्म्येणेश्वराज्ञापालनेनेत्यस्य निर्मूलत्वात्। न च 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (तै० सं० ३।२।१।४) इति वचनं प्रमाणम्, तदर्थानवबोधात्। तत्र तु प्रसिद्धस्यैव यज्ञस्य श्रेष्ठतमकर्मत्वाभिधानम्। किञ्चेश्वराज्ञापालनस्य धर्म्येणेति व्यर्थविशेषणता, व्यावर्त्याभावात्। तस्य धर्मरूपत्वादपि धर्म्यत्वानुपपत्तिः। धर्म्येण विद्याभ्यासेनेत्यपि न युक्तम्, निर्मूलत्वादेव। न च तत्र 'सैषा त्रयी विद्या यज्ञः' (श० १।१।४।३) इति वचनं मूलम्, त्रयीविद्याया यज्ञसाधनत्वेन यज्ञत्वोपचारात्। न च विद्याभ्यास एव त्रयी, तस्या अभ्यासविषयत्वेनाभ्यासरूपत्वाभावात्। यज्ञेन शब्दप्रमाणाभ्यासेनेत्यपि निस्तत्त्वम्। न च 'वाग्वै यज्ञः' (ऐ० ब्रा० ५।२४) इत्यादि मूलम्, यज्ञस्य वैदिकवाक्साध्यत्वेनोपचारिव्यावृत्त्या वाक्परत्वेन तदभ्यासस्य तद्भिन्नत्वेनानुपपत्तेः। 'ब्रह्म वै यज्ञः' (ऐ० ब्रा० ७।२२) इति च न ब्रह्मचर्याद्याचरणस्य यज्ञत्वे मूलम्, तस्य ब्रह्मभिन्नत्वात्। तथैव यज्ञशब्दसंवादार्थतापि प्रत्याख्याता वेदितव्या। भावार्थस्तु सर्वत्रैव निरर्थको मन्त्रासम्बद्ध एवेति न तन्निराकरणायादरः॥ २१॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—यज्ञरूपी विष्णु के द्वारा आयुष्य आदि की समर्थता तथा कार्यक्षमता प्रतिपादित है। जिस प्रकार अग्नि के द्वारा ही लौहपिण्ड में दाहकत्वादि आता है, उसी प्रकार समस्त सत्त्वों को स्फूर्ति देने वाले, अधिष्ठानभूत, व्यापक परमात्मा के द्वारा ही आयु, प्राण, नेत्र आदि की अपने-अपने कार्यों की क्षमता अथवा सार्थकता है। यज्ञ भी उसमें ही समर्पित होने पर उसके द्वारा ही सफलता को प्राप्त करता है, क्योंकि यज्ञ का फल उस परमात्मा के ही अधीन है। हम सभी जीव प्रजापति परमेश्वर की सन्ततियाँ हैं। हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवगण! आपकी अनुमति अथवा अनुग्रह से हम लोग दुःख से असंश्लिष्ट ब्रह्मात्मक सुख को प्राप्त करते हैं, अर्थात् जरामरण आदि दुःखों से रहित हो ब्रह्मभाव से सम्पन्न एवं अमृतत्व से युक्त हो गये हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ विसंगत है। 'यज्ञ' पद का 'धर्मयुक्त ईश्वराज्ञापालन' अर्थ करना प्रमाणरहित है। ईश्वराज्ञापालन के साथ 'धर्म्य' विशेषण लगाना भी व्यर्थ है, क्योंकि ईश्वर के धर्मरूप होने के कारण पुनः धर्म्यत्व की संगति नहीं होती। 'धर्म्य विद्याभ्यास के द्वारा' यह कहना भी प्रमाणरहित होने के कारण उचित नहीं है। यहाँ पर 'सैषा त्रयी विद्या यज्ञः' यह श्रुतिवाक्य प्रमाण के रूप में उपस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस वचन में त्रयी विद्या में यज्ञसाधनत्व होने कारण यज्ञत्व का लाक्षणिक कथन है। फिर विद्याभ्यास ही त्रयी नहीं हो सकता। त्रयी तो अभ्यास का विषय है, अतः उसका अभ्यासरूप होना असंगत है। इसी प्रकार यज्ञ शब्द के निरूपित अर्थ की स्थिति ही निरस्त माननी चाहिये। भावार्थ तो सभी स्थलों पर अर्थविहीन तथा मन्त्र से असम्बद्ध है, अतः उसके खण्डन में हमारी विशेष रुचि नहीं है॥ २१॥

अ॒स्मे वो॑ अस्त्वि॒न्द्रि॒यम॒स्मे नृ॒म्णमु॒त क्रतु॑र॒स्मे वर्चा॑ᳬसि सन्तु वः । नमो॑ मा॒त्रे पृ॑थि॒व्यै नमो॑ मा॒त्रे पृ॑थि॒व्या इ॒यं ते॒ राड् य॒न्तासि॒ यम॑नो ध्रु॒वोऽसि ध॒रुणः॑ । कृ॒ष्यै त्वा॑ क्षेमा॑य त्वा र॒य्यै त्वा॒ पोषा॑य त्वा ॥ २२ ॥

'अस्मे व इति दिशो वीक्षते' (का० श्रौ० १४।४।२७) । यूपारूढो यजमानो दिशः पश्येत् । दिग्देवत्यं यजुः । हे दिशः, अस्मे अस्मासु वो युष्मत्सम्बन्धि इन्द्रियं सामर्थ्यमस्तु भवतु । नृम्णं धनं युष्मत्सम्बन्धि अस्मे अस्मासु भवतु । उत अपि च क्रतुः कर्म युष्मत्सम्बन्धि अस्मास्वस्तु । वो युष्माकं वर्चांसि तेजांसि अस्मे अस्मासु सन्तु, युष्मत्सामर्थ्यमस्मत्सम्बन्ध्यस्त्वित्यर्थः । 'नमो मात्र इति भूमिमवेक्षते' (का० श्रौ० १४।४।३०) । यूपारूढ एव यजमानो भूमिं पश्यति नमो मात्र इति मन्त्रेण । पृथिवीदेवत्यं यजुः । नमो मात्रे पृथिव्यै इति द्विरुक्तिरभ्यासेनार्थस्य भूयस्त्वाय । मात्रे सर्वस्य निर्मातृत्वाद् मातृरूपायै पृथिव्यै नमः पुनः पुनर्भूयान् प्रह्वीभावोऽस्तु । 'उत्तरवेदिमपरेणौदुम्बरीमासन्दीं बस्तचर्मणा स्तृणातीयं त इति' (का० श्रौ० १४।४।३१) । अध्वर्युरौदुम्बरीमासन्दीं निधाय तत्र प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम अजचर्मास्तृणीयात् । आसन्दीदेवत्यं यजुः । हे आसन्दि, ते तव, इयं राड् इदं राज्यम्, राजनं राट्, लिङ्गव्यत्ययः, सम्पदादित्वाद् भावे स्त्रियां क्विप् । अभिषिक्तासि त्वमित्यर्थः । 'सुव्वन्तमस्यामुपवेशयति यन्तासीति' (का० श्रौ० १४।४।३२) । बाहुगृहीतं यजमानमासन्द्यामुपवेशयति यन्तासीति मन्त्रेणाध्वर्युः । यजमानदेवत्यं यजुः । हे यजमान, त्वं यन्ता सर्वस्य नियन्तासि । यमनः स्वयं संयमनकर्तासि । अनवच्छिन्नं तव नियमनमिति । तथा ध्रुवः स्थिरोऽचलोऽसि । धरुणो धारकोऽसि । कृष्यै कर्षणाय कृषिसिद्ध्यर्थं वा त्वा त्वामुपवेशयामीति शेषः । क्षेमाय प्राप्तस्य रक्षणाय त्वामुपवेशयामि । रय्यै त्वां पोषाय पशुपुत्रादिपुष्ट्यै त्वामुपवेशयामीति ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दिशोऽनुवीक्षमाणो जपति । अस्मे वो अस्त्विन्द्रियं⋯सन्तु व इति सर्वं वा एष इदमुज्जयति यो वाजपेयेन यजते प्रजापतिᳬ ह्युज्जयति सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः सोऽस्य सर्वस्य यश इन्द्रियं वीर्यᳬ संवृज्य तदात्मन् धत्ते तदात्मन् कुरुते⋯' (श० ५।२।१।१५) । यूपे तिष्ठन्नेव यजमानो दिशोऽनुक्रमेण पश्येद् अस्मे इति मन्त्रं जपन् । इन्द्रियादीनामाशासनं युक्तमित्याह—सर्वं वा । प्रजापतेः सर्वात्मकत्वाद् वाजपेयेन च प्रजापतिप्राप्तित्वाद् अस्य सर्वस्य जगतो यशआदिकं संवृज्य विभज्य तत्स्वात्मनि धारयति स्वात्मनि कुरुते आत्मसात्कृतवान् भवति । शेषोऽर्थ उक्त एव । 'अथैनमूषपुटैरनूदस्यन्ति । पशवो वा ऊषा अन्नं वै पशवोऽन्नं वा एष उज्जयति⋯' (श० ५।२।१।१६) । ऊषाः क्षेत्रपांसवः, तानश्वत्थपत्रैः पुटीकृत्य तैः पुटैर्यूपेऽवस्थितं यजमानमभिलक्ष्य, उदस्यन्ति अध्वनि प्रतिदिशः प्रक्षिपेयुः । ऊषाणां यज्ञद्वारा पशुसाधनत्वात्ताच्छब्द्यम् । पशूनां चान्नत्वं क्षीरादिसाधनत्वेन प्रसिद्धम् । अतः पशुद्वारा ऊषाणामन्नत्वाद् ऊषपुटहननेन यजमानेऽन्नमेव निहितवान्

मन्त्रार्थ—हे दिक्चतुष्टय ! तुम्हारा वीर्य हमें प्राप्त हो, तुम्हारा धन और तुम्हारे लिये किया गया यज्ञानुष्ठान का फल तुम्हारे तेज के साथ हमें प्राप्त हो, अर्थात् हम इस जगत् में अग्रगण्य हों । मातारूप पृथ्वी को हमारा बार-बार नमस्कार है । हे आसन्दी ! यह तुम्हारा राज्य है । हे यजमान ! तुम सबके नियामक हो । कृषि कार्य की उन्नति के लिये, राज्य में स्थिरता और शान्ति के लिये, धन-सम्पत्ति की वृद्धि के लिये और प्रजा का पालन करने के लिये तुम्हारे उपवेशनार्थ यह आसन्दी है ॥ २२ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।२७-३२) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'अस्मे

भवति। 'आश्वत्थेषु पलाशेषूपनद्धा भवन्ति। स यदेवादोऽश्वत्थे तिष्ठत इन्द्रो मरुत उपामन्त्रयत तस्मादाश्वत्थेषु पलाशेषूपनद्धा भवन्ति विशोऽनूदस्यन्ति विशो वै मरुतोऽन्नं तस्माद्विशोऽनूदस्यन्ति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिः·····' (श० ५।२।१।१७)। अश्वत्थपलाशेषूपनद्धान् कुर्यात्। आश्वत्थैरेव करणे हेतुमाह— स यदेवाद इति। अदोऽमुष्मिन् विप्रकृष्टे काले अश्वत्थेऽवस्थितान् मरुत इन्द्र आह्वयत। एवमयमश्वत्थो देवविशां मरुतामाश्रयभूतः, अतस्तदीयेषु पत्रेषु अन्नसंस्तुतानामूषाणामुपनिबन्धनं प्रशस्तमित्यर्थः। ऊषपुटेषु क्षेपणकर्तॄन् विधत्ते -विशोऽनूदस्यन्तीति। विशो वैश्या अर्पयेयुः। मरुतां विट्त्वमिन्द्रप्रजात्वात्। अतो मनुष्यविशामपि तत्साजात्येन तदात्मकत्वम्, तेषां वैश्यानां कृषीवलत्वात्। ऊषपुटानां संख्यां विधत्ते - सप्तदशेति।

'अथेमामुपावेक्षमाणो जपति। नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या इति बृहस्पतेर्ह वा अभिषिषिचानात् पृथिवी बिभयाञ्चकार महद्वा अयमभूद्योऽभ्यषेचि यद्वै माऽयं नावद्दृणीयादिति बृहस्पतिर्ह पृथिव्यै बिभयाञ्चकार यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयमकुरुत नहि माता पुत्रꣳ हिनस्ति न पुत्रो मातरम्' (श० ५।२।१।१८)। यजमानस्य भूम्यवेक्षणं समन्त्रकं विधत्ते—अथेमामिति। सर्वस्य निर्मातृत्वान्मातृरूपायै पृथिव्यै नमः। मन्त्रगतस्य मातृशब्दस्य जननीवाचकत्वं विवक्षितमिति वदन् भूम्यवेक्षणं बृहस्पतिदृष्टान्तमुखेन प्रशंसति— बृहस्पतेरिति। पूर्वं वाजपेययज्ञे बृहस्पतेरभिषिक्ताद् भूमिर्बिभेति स्म। भयकारणमाह— महद्वा इति। यद् अयमभिषिक्तः पुरुषो महदभूत्। यद् यस्माद् अभिषेकेण महत्त्वगुणवान् अयं बृहस्पतिर्मां भूमिं न अवदृणीयाद् नावदारयेत्, अतो हेतोः, मित्रधेयं कुरुत इति सम्बन्धः। तथा बृहस्पतिरपि भूम्याः सकाशाद्बिभेति स्म यद् इयं भूमिर्मामभिषिक्तं नावधून्वीत न विचालयेत्। तत् तस्मादनया पृथिव्या सह एव एतद् निरीक्षणरूपं मित्रधेयं मैत्रीमकुरुत, भूमिरपि तेन सख्यमकरोदित्यर्थः। यदुपक्रमे तावदुभयोर्भीतिरुक्ता, अवदारणपरिहाराय मित्रधेयकरणमुक्तम्, उपसंहारेऽपि नहि माता पुत्रं हिनस्ति न पुत्रो मातरमिति परस्परहिंसननिषेध उक्तः। 'बृहस्पतिसवो वा एष यद्वाजपेयम्। पृथिव्यु हैतस्माद्बिभेति महद्वा अयमभूद्योऽभ्यषेचि यद्वै माऽयं नावदृणीयादित्येष उ हास्यै बिभेति यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयं कुरुते नहि माता पुत्रꣳ हिनस्ति न पुत्रो मातरम्' (श० ५।२।१।१९)। इदानीमनुष्ठानेऽपि भूम्यवेक्षणं मित्रत्वप्रयोजनम्। शिष्टं पूर्ववत्।

'अथ हिरण्यमभ्यवरोहति। अमृतमायुर्हिरण्यं तदमृत आयुषि प्रतितिष्ठति' (श० ५।२।१।२०)। हिरण्यमभिलक्ष्य यूपादवरोहेत्, यतो हिरण्यं मरणरहितायुरात्मकम्। तत्रावरोहणेन तथाविध आयुषि एव प्रतिष्ठितो भवति। 'अथाजर्षभस्याजिनमुपस्तृणाति। तदुपरिष्टाद् रुक्मं निदधाति तमभ्यवरोहति' (श० ५।२।१।२१)। हिरण्यनिधानार्थं बस्ताजिनास्तरणं विधत्ते—अथाजर्षभस्येति। तत्रास्यास्तीर्णाजचर्मण उपरिष्टाद् रुक्मं निदध्यात्। हिरण्येऽवरोहणं वैकल्पिकमाह— रुक्मे वावरोहेदिति। 'सरुक्मे बस्तचर्मण्यवरोहति भूमौ वा' (का० श्रौ० १४।४।३०)। 'अथास्मा आसन्दीमाहरन्ति। उपरिसद्यं वा एष जयति यो जयत्यन्तरिक्षसद्यं तदेनमुपर्यासीनमधस्तादिमाः प्रजा उपासते तस्मादस्मा आसन्दीमाहरन्ति' (श० ५।२।१।२२)। अस्मै यूपादवरोहायासन्दीमाहरन्ति। उपरिसद्यं वाजपेयेन यागेनोपरिसदनं जयति भद्रपीठादेरुपर्यवस्थानं प्राप्नोति। तदेवोपपादयति— यो यूपारोहणेनान्तरिक्षसद्यं आकाश उपवेशनं जयति, एष उपरिसद्यं जयति। तदेनमुपर्यासीनमधस्तादिमाः प्रजाः उपासते। 'औदुम्बरी भवति। अन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरी भवति तामग्रेण हविर्धाने जघनेनाहवनीयं निदधाति' (श० ५।२।१।२३)। यदेतद् ऊर्ग् बलकरमन्नं तदात्मक उदुम्बरो वृक्षः, तज्जन्यत्वात्, 'देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठत' इति श्रुतेः। तामग्रेण हविर्धानेन

वः' इस कण्डिका के मन्त्रों से यजमान द्वारा दिशाओं का निरीक्षण, भूमि का निरीक्षण, अध्वर्यु द्वारा चर्मास्तरण तथा

जघनेनाहवनीयम् आहवनीयं जघनेन आहवनीयाग्रे पश्चिमप्रदेशे हविर्धानयोरग्रप्रदेशे । हविर्धान इति द्वितीयाद्विवचनान्तम् । तामासन्दीं निदध्यात् । 'अथाजर्षभस्याजिनमास्तृणाति । प्रजापतिर्वा एष यदजर्षभ एता वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां यदजास्तस्मादेतास्त्रिः संवत्सरस्य विजायमाना द्वौ त्रीनिति जनयन्ति तत्प्रजापति-मेवैतत्करोति तस्मादजर्षभस्याजिनमास्तृणाति' (श० ५।२।१।२४)। आसन्द्या अजाजिनेनाच्छादनं विधत्ते—अजर्षभस्याजिनमास्तृणातीति । बस्तप्रजापत्योर्बहुप्रजोत्पादकत्वेनैकरूप्यं समर्थयते—एता वा इत्यादि । एता अजाः प्रजापतेरतिशयेन प्रत्यक्षं रूपम् । यस्मादेवं तस्मात् संवत्सरमध्ये त्रिवारं द्वौ त्रीन् वा पुत्रान् विजायमानाः सुवाना भवन्ति ।

'स आस्तृणाति । इयं ते राडिति राज्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यथैनमासादयति यन्तासि यमन इति यन्तार-मेवैनमेतद्यमनमासां प्रजानां करोति ध्रुवोऽसि धरुण इति ध्रुवमेवैनमेतद्धरुणमस्मिंल्लोके करोति कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वेति साधवे त्वेत्येवैतदाह' (श० ५।२।१।२५)। आस्तरणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—इयं ते राडिति । हे अभिषिच्यमान वाजपेययाजिन्, ते तव इयमासन्दी, राट् राज्यसाधनम् । पीठादेरुपरि सदनमेव राज्यम् । तस्याभिप्रायमाह—राज्यमेवास्मिन्नेतद्दधातीति । यदेतेनास्तरणेन यजमाने राज्यमेव निहितवान् भवति । आसन्द्यामुपवेशनं विधत्ते—अथैनमासादयतीति । एनं यजमानमस्यामासन्द्यामुपवेशयेत् । यन्तासि सर्वस्य नियन्तासि । यमनः प्रजानां नियमिता । ध्रुवः स्थिरः । धरुणो धारकः । कृष्यै कर्षणाय, त्वामुपवेशयामि । कृष्यादिपदानामर्थं सङ्कलय्याह—साधवे श्रेयसे त्वामुपवेशयामि ।

अध्यात्मपक्षे हे विराड्ढिरण्यगर्भेश्वराः, वो युष्माकमिन्द्रियं सामर्थ्यम्, अस्मे अस्माकमस्तु । युष्माकं नृम्णं धनं भौतिकमधिदैवं ज्ञानविज्ञानलक्षणं यदस्ति, तदप्यस्माकमस्तु । वो युष्माकं वर्चांसि तेजांसि अस्मासु सन्तु । मात्रे सर्वनिर्मात्र्यै पृथिव्यै विस्तृतायै परमेशशक्त्यै नमोऽस्तु । हे परमेश्वर, इयं महाशक्तिस्ते राज्यं राज्यवत् सुखप्रापयित्री । तत्प्रसादादेव त्वं यन्तासि सर्वस्य नियन्तासि, स्वतो निर्विशेषत्वात् । यमनः स्वयं यमनकर्तासि । स्वयं तु ध्रुवोऽसि अचलोऽसि । धरुणोऽसि सर्वस्य धारकोऽसि । त्वा कृष्यै कर्षणाय अभीष्टा-कर्षणाय, क्षेमाय प्राप्तरक्षणाय, रय्यै दैवीसम्पत्तये, पोषाय ज्ञानविज्ञानपुष्ट्यै त्वामाश्रये ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अहमीश्वरः कृष्यै त्वा क्षेत्राय त्वा रय्यै सम्पत्तये त्वा पोषाय त्वा नियुनज्मि । यस्त्वं ध्रुवो निश्चलः, यन्ता नियन्ता, यमन उपयन्ता, धरुणो धर्तासि । यस्य ते इयं राट् शोभायुक्ता नीतिरस्ति, अस्यै मात्रे मान्यनिमित्तायै पृथिव्यै विस्तृतायै भूम्यै नमो विधेहि । अस्याः सकाशादन्नादिपदार्थाः प्राप्नुवन्तु ।

उस पर यजमान का उपवेशन आदि कर्म किये जाते हैं । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर ! आप लोगों का सामर्थ्य हममें हो, आपका आधिभौतिक तथा आधिदैविक ज्ञानविज्ञान रूपी धन भी हमारा हो, आपका तेज हममें हो । सबकी निर्मात्री, विस्तीर्ण परमेश्वर की शक्ति के लिये नमस्कार है । हे परमेश्वर ! यह महाशक्ति आपके राज्य के समान सुखकारिणी है । उसके प्रसाद से ही आप सबके नियन्ता हैं, क्योंकि आप स्वयं निर्विशेष हैं । स्वयं आप शास्ता हैं, स्वयं अचल हैं तथा सबके धारणकर्ता हैं । अभीप्सित की प्राप्ति के लिये, प्राप्त के रक्षण के लिये, दैवी सम्पत्ति के लिये तथा ज्ञानविज्ञान की पुष्टि के लिये आपका आश्रय ग्रहण करता हूँ ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ शतपथ श्रुति आदि के वचनों से विरुद्ध होने के कारण कल्पनामात्र ही है । मनुष्यों की मन आदि इन्द्रियां परस्पर बदली नहीं जा सकतीं । मानवों में इस प्रकार की शक्ति प्रसिद्ध नहीं है । देवताओं में तो

भूगर्भविद्यां ज्ञात्वा नृम्णम् अन्नजलादिपदार्थान् प्राप्य सर्वे यूयम् एवं वदत वर्तध्वम्, यदस्मे अस्माकमस्मभ्यं वा इन्द्रियं मनआदीनि, तद्वो युष्माकं युष्मभ्यं वास्तु, यदस्मे नृम्णं धनं तद्वोऽस्तु, उतापि योऽस्मे क्रतुः प्रज्ञा कर्म वा स वोऽस्तु। यान्यस्माकं वर्चांसि प्रकाशमानान्यध्ययनाध्यापनान्यन्नानि च, तानि वः सन्तु। यदेतत्सर्वं वोऽस्ति सोऽस्माकमप्यस्तु—इत्येवं परस्परं यूयमाचरत' इति, तदपि कल्पनामात्रम्, पूर्वोक्तशतपथादिवचनविरोधात्। न च मनुष्याणां मनआदीनि इन्द्रियाणि परस्परं परिवर्तयितुं शक्यानि। न च मनुष्येषु तादृशी शक्तिः प्रसिद्धा। देवतासु तु तादृशं सामर्थ्यं भवत्येव। युष्माभिस्तु विशिष्टैश्वर्यवद् देवतात्वं नाभ्युपगम्यते। ननु युष्मभ्यं सन्त्विवति पक्षे नोक्तदोष इति चेन्न, मनआदीनामात्मशेषत्वादन्यशेषत्वानुपपत्तेः। शतपथश्रुतिषु तु स्पष्टमेव सिद्धान्तपक्षपोषकाणि वचनानि दृश्यन्ते। तस्मात्तद्विरुद्धा कल्पना असंगतैव ॥ २२ ॥

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमँ राजानमोषधीष्वप्सु। ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयँ राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ॥ २३ ॥

'स्रुवेण सम्भृताज्जुहोति वाजस्येममिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १४।४।३९)। प्रत्यौदुम्बरपात्रे एकत्र कृतादुदकदुग्धसर्वान्नादेः सकाशात् स्रुवेणाहवनीये सप्त मन्त्रैर्जुहोति। तिस्रस्त्रिष्टुभः प्रजापतिदेवत्याः। अग्रे पूर्वं सृष्ट्यादौ वाजस्येमं प्रसवः सुषुवे। वाजस्यान्नस्य सम्बन्धी प्रसव ईश्वर उत्पादकः प्रजापतिः, ओषधीषु अप्सु सारभूतं वर्तमानमिमं सोमवल्लीरूपं राजानं दीप्तिमन्तं पदार्थं सुषुवे उत्पादयामास, 'षूङ् प्राणिप्रसवे', ता इत्थंभूताः सोमस्य जनयित्र्य ओषधय आपश्च अस्मभ्यं मधुमतीर्मधुमत्यो रसवत्यो माधुर्योपेता भवन्तु भोगयोग्या भवन्तु। वयं च ताभिरभिषिक्ता राष्ट्रे स्वकीये देशे पुरोहिता यागानुष्ठानादौ पुरोगामिनः प्रधाना जागृयाम जागरूका अप्रमत्ता भवाम। स्वाहा सुहुतमस्तु। सर्वत्र स्वाहाशब्दो हवनलिङ्गम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'बार्हस्पत्येन चरुणा प्रचरति। तस्यानिष्ट एव स्विष्टकृद् भवत्यथास्मा अन्नँ सम्भरन्त्यन्नं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते' (श० ५।२।२।१)। प्रधाननैवाराहुतेरनन्तरं कर्तव्यं वाजप्रसवीयं होमं विधातुं कालं विधत्ते—तस्यानिष्ट एवेति। तस्य नैवारस्य स्विष्टकृद् अनिष्टोऽनिष्टकृद् भवति। प्रधानयागादूर्ध्वं स्विष्टकृतः प्रागित्यर्थः। होमार्थमन्नसम्भरणं विधत्ते—अन्नं सम्भरन्तीति। अथास्मै यजमानाय अभिषेकार्थमन्नं सम्भरेत्। 'औदुम्बरे पात्रे। अन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरे पात्रे सोऽप एव प्रथमाः सम्भरन्त्यथ पयो अथ यथोपस्मारमन्नानि' (श० ५।२।२।२)। अन्नसम्भरणार्थं पात्रविशेषं विधत्ते—औदुम्बर इति। तत्र प्रथममपां संभरणं विधत्ते—सोऽप एवेति। अपो

ऐसा सामर्थ्य होता ही है, किन्तु आपके मत में विशिष्ट ऐश्वर्य से युक्त देवत्व नहीं माना जाता। शतपथ श्रुति में तो हमारे सिद्धान्त पक्ष के पोषक वचन दृष्टिगोचर होते हैं, अतः उनके विरुद्ध कल्पना असंगत ही है ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—अन्न को उत्पन्न करने वाले प्रजापति ने सबसे पहले आदि सृष्टि में औषधि और जल के बीच में सबसे उत्तम इस सोमवल्ली रूप दीप्तिमान् पदार्थ को उत्पन्न किया था। वे सोम के उत्पादक औषधि और जल हमारे लिये माधुर्य रस से भरे हों। याग, अनुष्ठान आदि में इनकी प्रधानता रहती है। हम इनसे अभिषिक्त होकर, अपने राज्य में सर्वसाधारण के हित के लिये अप्रमत्त होकर काल यापन करें ॥ २३ ॥

भाष्यसार—'वाजस्येमम्' इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि में स्रुव द्वारा आहुति दी जाती है। याज्ञिक प्रक्रिया का

जलानि सम्भरेत्, अथ क्षीरम्, तदनन्तरं यथोपस्मारम् उपस्मृतिमनतिक्रम्य यानि तदा स्मृतिपथमवतरन्ति, तानि 'तिलमाषा व्रीहियवाः प्रियङ्ग्वणवो गोधूमा वेणुश्यामाकनीवारा जर्तिलाश्च गवेधुका अरण्यजा मर्कटका विज्ञेया गार्मुतसप्तमाः कुलत्थसप्तमा वा' इत्यापस्तम्बेन सूत्रितानि सम्भरेत्।

'तद्धैके। सप्तदशान्नानि सम्भरन्ति सप्तदशः प्रजापतिरिति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात् प्रजापतेर्न्वेव सर्वमनवरुद्धं क उ तस्मै मनुष्यो यः सर्वमन्नमवरुन्धीत तस्मादु सर्वमेवान्नं यथोपस्मारꣳ सम्भरन्नेकमन्नं न सम्भरेत्' (श० ५।२।२।३)। यथोपस्मारमन्नानि संबिभृयाद् इत्यत्र संख्याया अनुक्तेर्यावन्ति स्मर्यमाणानि तावन्ति सम्भरेत्। पूर्वपक्षे सप्तदशसंख्याकान्यन्नानि सम्भरेत्, प्रजापतेः सप्तदशत्वात्, तन्निराकरोति— प्रजापतेरिति। पूर्वं प्रजापतेरपि सकलमन्नं न वशीकृतम्। इदानीं तस्मै प्रजापत्यर्थं मनुष्यः कः समर्थः ? तस्माद्यथोपस्मारं सम्भरन्नेकमन्नं न सम्भरेत्। सप्तदशान्नानि तु– (१) व्रीहयः, (२) यवाः, (३) मसूराः, (४) गोधूमाः, (५) मुद्गाः, (६) माषाः, (७) तिलाः, (८) चणकाः, (९) अणवः, (१०) प्रियङ्गवः, (११) कोद्रवाः, (१२) मकुष्ठकाः, (१३) कलायाः, (१४) कुलित्थाः, (१५) मठाः, (१६) सर्षपाः, (१७) अतस्यः। पातञ्जलभाष्ये सप्तदश शणाः। तत्र व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्चेति दश ग्राम्याणि, शेषाण्यारण्यानि। 'स यन्न सम्भरति। तस्योद्ब्रुवीत तस्य नाश्नीयाद्यावज्जीवं तथा नान्तमेति तथा ज्योग्जीवति स एतस्य सर्वस्यान्नाद्यस्य सम्भृतस्य स्रुवेणोपघातं वाजप्रसवीयानि जुहोति तद्याभ्य एवैत-द्देवताभ्यो जुहोति ता अस्मै प्रसुवन्ति ताभिः प्रसूत उज्जयति तस्माद्वाजप्रसवीयानि जुहोति' (श० ५।२।२।४)। यद् अन्नं न सम्भरेत् तस्य उद्ब्रुवीत, न संभृतमित्युच्चैस्तन्नाम ब्रूयात्, यथाऽसम्भृतस्यान्नस्य यावज्जीव-मभोजनेन अन्तं विनाशं न एति, ज्योक् चिरकालं जीवति, भोक्तव्यस्य सर्वस्य भोगे सति विनाशो भवति, अतस्तदेकमवशिष्य भुञ्जीतेति तात्पर्यम्। मिलितस्य एतस्य सर्वस्यान्नस्यैकदेशं स्रुवेण उपहत्योपहत्य गृहीत्वा वाजप्रसवीयानि जुहोति, वाजप्रसवशब्दयुक्तमन्त्रकारणकहोमान् कुर्यादित्यर्थः। तद् याभ्य इति। मान्त्रवर्णिकीभ्यो याभ्योऽग्न्यादिदेवताभ्यो हूयते, तदैव ता अस्मै यजमानाय एतद्यागफलभूतमन्नमवरोद्धं प्रसुवन्ति, ताभिरनुज्ञातः पश्चात् स्वाधीनं करोतीत्यर्थ इति सायणः। 'स जुहोति। वाजस्येमं प्रसवः····स्वाहा' (श० ५।२।२।५)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव।

अध्यात्मपक्षे—वाजस्यान्नस्य प्रसव उत्पादक ईश्वरः, अग्रे सृष्टिकाले ओषधीष्वप्सु च वर्तमानं सोमं राजानं सुषुवे जनितवान्, 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इति सिद्धान्तेन यद्यपि सर्वत्रैव अग्नीषोमयोः स्थिति-स्तथापि कठोरेषु तीक्ष्णेषु पदार्थेष्वग्नेः कोमलेषु सोमस्य स्थितिर्भवति। तस्मादोषधीषु जलेषु च सोमस्य राज्ञः सत्ता मन्तव्या। सोमस्याधारभूतास्ता आप ओषधयश्च मधुमत्यो रसवत्यो यागाद्युपयोग्या भवन्तु। तदाप्यायिताश्च वयं पुरोहिता यागाद्यनुष्ठानप्रधाना राष्ट्रे जागृयाम अनलसाः पुरुषार्थसाधने जागरूका भवेम।

यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।५।२१) में उल्लिखित है। शतपथ श्रुति के द्वारा याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—अन्न को प्रादुर्भूत करने वाले ईश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में ओषधियों में तथा जल में विद्यमान सोम राजा को उत्पन्न किया। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि सर्वत्र ही अग्नि तथा सोम का अस्तित्व है, तथापि कठोर, तीक्ष्ण पदार्थों में अग्नि तथा कोमल पदार्थों में सोम की स्थिति होती है। अत एव ओषधियों में तथा जल में राजा सोम की सत्ता समझनी चाहिये। सोम की आधारभूत ओषधियाँ तथा जल रसयुक्त यागादि के लिये उपयोगी हों। उनके द्वारा आप्यायित होकर हम पुरोहित यागादि अनुष्ठानों के कर्ता, राष्ट्र में आलस्यरहित तथा पुरुषार्थ के साधन में जागरूक हों।

दयानन्दस्तु —'हे मनुष्याः, यथाहमग्रे प्रसव ऐश्वर्यवान् वाजस्य वैद्यकशास्त्रबोधस्य इमं सोमं सोममिव सर्वदुःखप्रणाशकं राजानं विद्यान्यायविनयैः प्रकाशमानं स्वामिनं सुषुवे प्रसुवे उत्पादये। यथा तद्रक्षणेन या ओषधीष्वप्सु पृथिवीस्थासु यवादिषु अप्सु जलेषु वर्तमाना ओषधयः सन्ति, ता अस्मभ्यं मधुमत्यो भवन्तु, यथा स्वाहा सत्यक्रियया सह पुरोहिताः सर्वेषां हितकारिणो वयं सभापत्यादयो राष्ट्रे सततं जागृयाम सचेतना अनलसाः सन्तो वर्तेमहि, तथा यूयमपि वर्तध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशार्थबोधनाय शास्त्राप्रवृत्तेः। अज्ञातज्ञापकत्वेन खलु प्रमाणानां प्रामाण्यम्, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामज्ञातार्थबोधनेनैव वेदानां वेदत्वात्। नीतिशास्त्रे सम्भवन्ति चैतानि प्रजोपदेशवचनानि। वाजशब्दस्य वैद्यकशास्त्रसम्बन्धिबोधोऽर्थ इति सर्वथैव निर्मूलम्। सोमसमभिव्याहृतस्य राजशब्दस्य वेदे सोमलताया एव बोधः प्रायेण। ओषधीष्वप्सु ता इत्यस्यांशस्य व्याख्याने यदुक्तम् —'पृथिवीस्थासु यवादिषु जलेष्वोषधयः सन्ति' इति, कथमयमर्थः ? मन्त्रे ओषधय इति पदस्याभावात्। न चौषधीष्वोषधयः सम्भवन्ति, आत्माश्रयत्वापातात्।

यत्तु 'वाजस्येमं प्रसवः' (वा० सं० ९।२३) इति मन्त्रे व्याकरणप्रक्रियां प्रदर्शयन्नसूयकः पुरोभागी सनातनधर्मे दृढद्वेषो देवतासु तीर्थेषु शास्त्रेषु च असूयाकषायान्तःकरणत्वाद् गालिदाने दृढबद्धादरः कश्चनाह— 'सायणेनर्ग्वेदभाष्ये (ऋ० सं० १।१।१) पक्षान्तरे गतिसंज्ञामकृत्वैव 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' (पा० सू० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः प्रदर्शितः, सोऽयुक्तः, गतिसंज्ञामन्तरेण समास एव न प्राप्नोति, कुतोऽव्ययस्वर इति सायणस्य स्वभाष्यारम्भ एव प्रथमे ग्रासे मक्षिकापातो विभावनीयः स्वरशास्त्रज्ञैः' इति, तदतिमन्दम्, पुरोहितमित्यत्र 'सह सुपा' (पा० सू० २।१।४) इति योगविभागात् 'अव्ययं विभक्ति' (पा० सू० २।१।६) इति सूत्रेऽव्ययमित्यस्य योगविभागाच्चोभयथा समासस्य साधुत्वात्, अव्ययीभाव-तत्पुरुष-कर्मधारय-द्विगु-बहुव्रीहि-द्वन्द्वेति षट्समासाभिमानिनां तत्पुरुषेतरपञ्चसमासानाक्रान्तः सर्वोऽपि प्रयोगस्तत्पुरुषसमासान्तर्गत इति हृदयमभिलक्ष्य सायणेन 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' (पा० सू० ६।२।२) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरसमर्थनात्। स्वमनीषितं तु सायणेन यद्वेति कृत्वाभिहितम्। तदेव त्वयाऽप्यनुसृतम्। तथापि सायणभाष्योपरि कटुकोलबणमुद्वमन्न जिह्रेषीति 'किमाश्चर्यमतः परम्' ? ॥ २३ ॥

स्वामी दयानन्द का अर्थ इस कारण से अग्राह्य है कि इस प्रकार के अर्थबोधन के लिये शास्त्र का प्रयोजन नहीं है। प्रमाणों का प्रामाण्य अज्ञातार्थ के बोधन से ही होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से अज्ञात अर्थ का बोधन कराने से ही वेद का वेदत्व है। प्रजा के प्रति उपदेश के ये वाक्य नीतिशास्त्र में सम्भव है। वाज शब्द का 'वैद्यकशास्त्र-सम्बन्धी बोध अर्थ है' यह कथन सर्वथा अप्रमाण है। सोम पद के साथ कथित 'राजा' शब्द से सोमलता का ही बोध वेद में प्रायः होता है। ओषधियों में ओषधियों का होना भी आत्माश्रयत्व दोष प्राप्त होने के कारण संभव नहीं है।

'वाजस्येमं प्रसवः' इस मन्त्र में व्याकरण प्रक्रिया का प्रदर्शन करते हुए किसी दोषद्रष्टा ने सायण की आलोचना की है, वह अत्यन्त निरर्थक है। 'पुरोहितम्' पद में 'सह सुपा' इस सूत्र द्वारा योगविभाग से और 'अव्ययं विभक्ति' इस सूत्र में 'अव्ययम्' इस योगविभाग से, दोनों ही प्रकार से समास ठीक हैं। जो व्यक्ति अव्ययीभाव, तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु, बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व ये ६ समास मानते हैं, उनके लिये तत्पुरुष से अतिरिक्त पांचों समासों में जो प्रयोग अन्तर्भुक्त नहीं होते, वे सभी तत्पुरुष के अन्तर्गत आते हैं। इस विचार को दृष्टिगत रखते हुए सायणाचार्य ने 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' इस सूत्र के द्वारा पूर्वपद प्रकृतिस्वर का समर्थन किया है। अपना अभिमत तो सायणाचार्य ने 'यद्वा' इत्यादि के द्वारा निरूपित किया है। दोषद्रष्टा ने भी उसी का अनुसरण किया है, फिर भी सायणभाष्य पर कटु आक्षेप करना आश्चर्यजनक ही है ॥ २३ ॥

वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट् । अदित्सन्तं दापयति प्रजानन् स नो रयिꣳ सर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा ॥ २४ ॥

वाजस्यान्नस्य प्रसव ईश्वर इमां पृथिवीं दिवं द्युलोकं च इमा इमानि विश्वानि अखिलानि भुवनानि भुवनजातानि शिश्रिये आश्रितवान् । स च सम्राट् सर्वेषां भुवनानां राजा भूत्वा अदित्सन्तं हविर्भोग्यं वा दातुमनिच्छन्तं मां प्रजानन् अवगच्छन् मदीयबुद्धिप्रेरणेन हविर्दापयति । नोऽस्मभ्यं सर्ववीरं सर्वैः पुत्रभृत्यादिभिर्युक्तं रयिं धनं नियच्छतु नियमेन ददातु, 'दाण् दाने' इत्यस्य यच्छादेशे रूपम् ।

अध्यात्मपक्षे—वाजस्यान्नस्य प्रसव उत्पादकः परमेश्वरः । नु विस्मये । इमां भूमिं दिवं द्युलोकं विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतानि जनान् लोकान् वा शिश्रिये पालनेन सेवते । स सम्राड् भुवनानां राजा भूत्वा प्रजाभ्योऽवश्यदातव्यमदित्सन्तं दापयति । दातृबुद्धिप्रेरणया परलोकभयोत्पादकशास्त्रेण दापयति । स नोऽस्मभ्यं सर्वैरभीष्टैर्युक्तं रयिं ज्ञानविज्ञानलक्षणं धनं नियमेन ददातु । तस्मै स्वाहा सुहुतस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वाजस्य राज्यस्य मध्ये प्रसव उत्पन्नः सम्राट् सम्यग् राजधर्मे वर्तमानोऽहम्, इमां भूमिं दिवं प्रकाशितां राजनीतिम्, तथा इमानि विश्वानि भुवनानि गृहाणि शिश्रिये आश्रये, तथैव यूयमपि तानि चाश्रयत ।•यः स्वाहा धर्म्यया वाचा प्रजानन् प्रज्ञावान् सन् अदित्सन्तं राजकरं दातुमनिच्छन्तं दापयति, स नो सर्ववीरं सर्वे वीरा यस्मात् तद् रयिं धनं नियच्छतु नितरां गृह्णातु' इति, तदपि यत्किञ्चिन्, शब्दार्थयोरसम्बन्धात् । तथाहि—वाजस्येति पदस्य राज्यस्य मध्य इति कथमर्थः ? दिवमित्यस्य प्रकाशितां राजनीतिमित्यर्थोऽपि कामवाद एव । कथञ्चित् प्रकाशार्थत्वे उचितेऽपि नीत्यर्थता तु दुर्लभैव,

---

मन्त्रार्थ—पृथ्वी पर नाना प्रकार के अन्न को उत्पन्न करने वाले परमात्मा ने द्युलोक के साथ इन समस्त भुवनों की सृष्टि की है । सबका अधिपति वह परमात्मा हवि न देने की इच्छा वाले में भी हवि देने के लिये पवित्र बुद्धि को जगा कर आहुति देने के लिये प्रेरित करता है । वह पुत्र, भृत्य आदि से सम्पन्न कर हमें धन भी प्रदान करता है । हमारी यह आहुति प्रजापति परमात्मा के द्वारा भली प्रकार गृहीत हो ॥ २४ ॥

भाष्यसार—'वाजस्येमाम्' इस मन्त्र का याज्ञिक विनियोग भी पूर्व मन्त्र के विनियोग के अनुसार हवन में किया गया है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—अन्न का उत्पादनकर्ता परमेश्वर इस भूमि को, द्युलोक को, समस्त लोकों को तथा प्राणियों को पालन के द्वारा सेवन करता है । 'नु' पद विस्मयबोधक है । वह परमेश्वर लोकों का स्वामी होकर प्रजाओं के लिये अवश्य प्रदेय पदार्थ देने की इच्छा न रखने वाले से भी दिलवाता है । दाता की बुद्धि में प्रेरणा से, परलोक का भय उत्पन्न करने वाले शास्त्र के द्वारा भी प्रदान कराता है । वह हमारे लिये सभी अभीप्सितों से युक्त ज्ञान-विज्ञानात्मक धन निरन्तर प्रदान करे, उसके लिये समर्पण हो ।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या शब्द तथा अर्थ में सम्बन्धराहित्य होने के कारण असंगत है । 'वाजस्य' इस पद का 'राज्य के मध्य में' यह अर्थ कैसे होगा ? 'दिवम्' इस शब्द का 'प्रकाशित राजनीति को' यह अर्थ करना भी स्वेच्छाचार ही है । यदि किसी प्रकार प्रकाशार्थक होना उचित भी हो, तो भी इस पद की नीत्यर्थकता असंभव ही है, क्योंकि भूमि शब्द के साथ पठित 'दिवः' पद की द्युलोकवाचकता स्पष्ट है । इसी प्रकार 'जो नहीं देने वाले को कर दिलवाता है, वह मन्त्री हो;

भूमिसमभिव्याहृतस्य दिवो द्युलोकवाचित्वदर्शनात्। एवमेव योऽदित्सन्तं करं दापयति स मन्त्री भवतु, यः शत्रून्निगृह्णाति स सेनापतिः स्यादित्यादिकमपि बालभाषितम्, हिन्दीभाष्यविरुद्धत्वात्। न च करदानं दापयितॄधीनम्, तस्य शक्तिसाध्यत्वात्। यश्च सर्वाणि भुवनानि आश्रयति, स सम्राडित्यपि निर्मूलम् ॥ २४ ॥

वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒व आ ब॑भूवे॒मा च॒ विश्वा॒ भुव॑नानि स॒र्वतः॑। सने॑मि॒ राजा॒ परि॑याति वि॒द्वान् प्र॒जां पुष्टिं॑ व॒र्धय॑मानो अ॒स्मे स्वाहा॑ ॥ २५ ॥

वाजस्य प्रसवो नु खलु इमानि विश्वा सर्वाणि भुवनानि सर्वत आबभूव व्याप्नोत् सम्भावितवान् उत्पादितवान् वा। स सनेमि चिरन्तनो राजा दीप्तः सन् परियाति सर्वतः स्वेच्छया सञ्चरति। विद्वाननुष्ठीयमानं कर्म जानन् अस्मे अस्मदर्थं प्रजां पुष्टिं च वर्धयमानो वर्धयन् परियातीति सम्बन्धः। स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—वाजस्यान्नस्योत्पादकः परमेश्वरः प्रजापतिः, इमानि विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतानि सर्वतोऽवस्थितानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि, आबभूव सम्भावितवान्। स सनेमि चिरन्तनो राजमानः परियाति व्याप्नोति। प्रजानन् स्वकर्तव्यमस्मदादिदैन्यं च जानन् अस्मे अस्मासु प्रजां पुत्रशिष्यादिसन्ततिं पुष्टिं भौतिकाध्यात्मिकधनपोषं च वर्धयमानो वर्धयन् परियातीति सम्बन्धः। तस्मै सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—'यो वाजस्य वेदादिशास्त्रबोधस्य स्वाहा सत्यया नीत्या प्रसवो यः प्रसूयते स विद्वान् सकलविद्यावित्, आबभूव आसमन्ताद् भवेत्, इमा इमानि च विश्वानि सर्वाणि भुवनानि माण्डलिकराजनिवासस्थानानि सनेमि सनातनेन नेमिना धर्मेण सदा वर्तमानं राजमण्डलं प्रजां पालनीयां पुष्टिं पोषणं नु शीघ्रं वर्धयमानः सर्वतः परियाति प्राप्नोति, स अस्मे अस्माकं राजा भवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्। वाजपदस्य

जो शत्रुओं को निगृहीत करता है, वह सेनापति हो' इत्यादि अर्थ भी हिन्दी-भाष्य से विपरीत होने के कारण अविचारित-रमणीय ही है। कर देना दिलाने वाले के अधीन नहीं है, वह तो शक्ति द्वारा साध्य है। जो समस्त लोकों का आश्रय लेता है, वह सम्राट् है, यह कथन भी अप्रामाणिक है ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—यह कैसे विस्मय की बात है कि नानाविध अन्न की सृष्टि करने वाले प्रजापति ने ही इन सम्पूर्ण भुवनों को, ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों को उत्पन्न कर उनको चारों तरफ से भर दिया है। यह पुरातन पुरुष सब कुछ जानने वाला है और सब जगह प्रकाशमान है। यह हमारे लिये सन्तति, धन और पुष्टि की वृद्धि करता है। उस परमात्मा के लिये हम यह आहुति देते हैं ॥ २५ ॥

'वाजस्य नु' इस मन्त्र का विनियोग भी पूर्व मन्त्रों की भाँति हवन में किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र की अर्थयोजना इस प्रकार है—अन्न के उत्पादनकर्ता परमेश्वर प्रजापति ने समस्त लोकों को, तृणपर्यन्त सर्वत्र स्थित भूत पदार्थों को संस्थापित किया है। वह चिरन्तन राजा सर्वत्र व्याप्त है। वह परमेश्वर अपने कर्तव्य तथा हमारे दैन्य को जानते हुए हमारे लिये पुत्र-शिष्यादि सन्ततियों तथा भौतिक-आध्यात्मिक पुष्टि में वृद्धि करते हुए संचरण करता है। उसके लिये समर्पण हो।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ प्रमाणरहित होने के कारण ग्राह्य नहीं है। वाज पद के 'वेदादि शास्त्रों से उत्पन्न बोध' इस अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार का बोध नीति से उत्पन्न नहीं होता। यथार्थ बोध नियमतः प्रमाण से उत्पन्न होता है। फिर यह प्रार्थना किसके प्रति की गई है? राजा के प्रति करना अयुक्त है, क्योंकि वह मात्र

वेदादिशास्त्रोत्पन्नबोधार्थत्वे मानाभावात्। न च तादृशो बोधो नीत्योत्पद्यते, सुबोधस्य प्रमाणजन्यत्वनियमात्। किञ्च, कं प्रतीदं प्रार्थनम्? न च राजानं प्रति, तस्य प्रार्थनामात्रसाध्यत्वाभावात्। सनेमि सनातनेन धर्मेण सह वर्तमानं राज्यमण्डलमिति व्याख्यानं त्वपव्याख्यानमेव, सनेमिपदस्य पुरावाचकत्वेऽपि नेमिपदस्य धर्मार्थत्वानुपपत्तेः॥ २५॥

सोमꣳ राजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे। आदित्यान् विष्णुꣳ सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिꣳ स्वाहा॥ २६॥

तिस्रोऽनुष्टुभस्तापसदृष्टाः। तत्र प्रथमा सोमाग्न्यादित्यविष्णुसूर्यबृहस्पतिदेवत्या। वयम् अवसे रक्षणाय तर्पणाय वा सोमं राजानं वैश्वानरमादित्यान् विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं बृहस्पतिं च अन्वारभामहे आह्वानं कुर्महे। ते सर्वे तत्त्वज्ञानाय, अनुगृह्णन्त्विति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—वयम् अवसे रक्षणाय तर्पणाय वा सोमादिरूपेण वर्तमानं परमेश्वरमन्वारभामहे आह्वयामः। सोमादीनां श्रीमद्भगवद्गीतादिरीत्यापि भगवद्विभूतित्वं प्रसिद्धमेव। अनेकविशेषणविशिष्टं सोमं साम्बसदाशिवं वा आकारयामः। कीदृशं तम्? राजानम्, अनन्तगुणै राजमानम्, अग्निं जीवानां मोक्षसुखायाग्रे नेतारम्, आदित्यान् गमनागमनादिभिर्जनानामायूंष्याददानान् द्वादशादित्यात्मना वर्तमानान्, स्वप्रकाशं ब्रह्माणं चतुर्मुखरूपेण वर्तमानं बृहतां पालकम्। तस्मै देवाय स्वाहा सर्वस्वमर्पयामः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं स्वाहा सत्यया वाण्या अवसे रक्षणाद्याय सह वर्तमानं विष्णुं व्यापकं परमेश्वरं सूर्यं सूरिषु विद्वत्सु भवं ब्रह्माणम् अधीतसाङ्गोपाङ्गचतुर्वेदम्, बृहस्पतिं बृहतामाप्तानां पालकम्, अग्निम्

प्रार्थना से साध्य नहीं है। 'सनेमि' अर्थात् 'सनातन धर्म के साथ' इस प्रकार व्याख्या करना भी सदोष है, क्योंकि 'सनेमि' पद के प्राचीनता वाचक होने पर भी 'नेमि' पद का धर्म अर्थ अयुक्त है॥ २५॥

मन्त्रार्थ—सर्वविध अन्न के उत्पादक प्रजापति ने हम सब प्रजाओं के पालन के लिये राजा सोम को, वैश्वानर अग्नि को, बारह आदित्यों को, ब्रह्मा और बृहस्पति को नियुक्त किया है। हम उन सबका आह्वान करते हैं। उनके उद्देश्य से दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो॥ २६॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत 'सोमं राजानम्' इस मन्त्र का विनियोग भी पूर्व की भाँति हवन में किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार है—हम लोग रक्षा अथवा तर्पण के लिये सोम आदि के रूपों में विद्यमान परमेश्वर का आह्वान करते हैं। सोम आदि का भगवद्विभूतिमान् होना श्रीमद्भगवद्गीता आदि के प्रतिपादन से भी प्रसिद्ध ही है। अथवा अनेक विशेषणों से युक्त साम्ब सदाशिव का आह्वान करते हैं। किन विशेषणों युक्त से साम्ब सदाशिव का? अनन्त गुणों से प्रकाशित, जीवों को मोक्षसुख के लिये आगे ले जाने वाले, द्वादश आदित्यों के रूप में वर्तमान, स्वप्रकाशात्मक चतुर्मुख ब्रह्मा के रूप में विद्यमान, वाणियों के रक्षक उस देव के लिये हम सर्वस्व अर्पित करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ मुख्यार्थ को छोड़ कर गौण अर्थ का आश्रय लेने के कारण विडम्बनामात्र ही है। प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इस प्रकार के अर्थ का आश्रय नहीं लिया है। फिर इसमें उपदेशकर्ता कौन

अग्निमिव शत्रुदाहकम्, सोमं सोमगुणसम्पन्नम्, राजानं धर्माचरणेन प्रकाशमानम्, आदित्यांश्च विद्यार्जनाय कृताष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यान् विदुषः संसेव्य गृहाश्रममन्वारभामहे, तथा यूयमप्यारभध्वम्' इति, तदपि विडम्बनामात्रम्, मुख्यार्थपरित्यागगौणार्थाश्रयणस्यानौचित्यात्। कैश्चिदार्षैः केषुचिद् ग्रन्थेषु तादृशार्थस्यानाश्रयणात्। किञ्च, कोऽयमुपदेष्टा? न तावत् कश्चिदाचार्यः, तथात्वे वेदस्येतिहासत्वापत्तेः। न चेश्वरः, तस्य विष्ण्वादिसेवकत्वानुपपत्तेः, गृहाश्रमानारम्भकत्वाच्च ॥ २६ ॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय। वाचं विष्णुᳬ सरस्वतीᳬ सवितारं च वाजिनᳬ स्वाहा ॥ २७ ॥

अर्यमबृहस्पतीन्द्रवाग्विष्णुसरस्वतीसवितृदेवत्या। हे वाजस्य प्रसव ईश्वर, त्वमर्यमादीन् देवान् दानाय चोदय प्रेरय। धनदानार्थमिन्द्रं देवेशं वाचं वागधिष्ठात्रीं सरस्वतीं ज्ञानाधिष्ठात्रीं विष्णुं व्यापनशीलं यज्ञाधिष्ठातारम्, सवितारं सर्वस्य प्रसवितारम्, वाजिनमन्नवन्तमिति सर्वेषां विशेषणम्। देवाश्वं वा ज्ञानप्राप्तौ साहाय्यार्थं स्वाहा, अनुगृह्णन्त्विति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वत्प्राप्तये प्रस्थिताय प्रयतमानाय मह्यं स्वांशभूतान् देवान् स्वांशभूतान् दानाय साहाय्यदानाय चोदय प्रेरय। यथाऽर्यमौजोदानेन, बृहस्पतिर्बुद्धिदानेन, इन्द्र ऐश्वर्यदानेन, वाक् स्वार्थावभासनेन, विष्णुर्ज्ञानवैराग्यपालनेन, सरस्वती वेदतात्पर्यप्रकाशनेन, सविता ज्ञानोत्पादनेन, वाजी देवाश्वः साधनानुष्ठाने वेगदानेन चानुगृह्णातु।

है? कोई आचार्य उपदेष्टा नहीं हो सकता, क्योंकि तब वेद के इतिहास होने का दोष प्राप्त होगा। ईश्वर भी उपदेष्टा नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विष्ण्वादिसेवकत्व युक्त नहीं हो सकता, गृहस्थाश्रम का आरम्भ भी उसके द्वारा करणीय नहीं है ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमात्मन्! अर्यमा देवता को, बृहस्पति और इन्द्र को, वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को और सबके प्रसवकर्ता सूर्य को आपने उत्पन्न किया है। ये हमको अन्न और धन से परिपूर्ण कर दें, इसके लिये आप इन्हें प्रेरित कीजिये। आपकी प्रीति के लिये दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २१ ॥

भाष्यसार—'अर्यमणं बृहस्पतिम्' इस मन्त्र का याज्ञिक विनियोग भी पूर्व मन्त्रों की भाँति हवन के लिये उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आपकी प्राप्तिहेतु अग्रसर तथा प्रयत्नशील मेरे लिये अपने अंशभूत देवताओं को सहायता प्रदान करने हेतु आप प्रेरित करें। जैसे अर्यमा बलप्रदान के द्वारा, बृहस्पति बुद्धिदान के द्वारा, इन्द्र ऐश्वर्य-प्रदान के द्वारा, वाग्देवी अपने अर्थ को प्रकट करने के द्वारा, विष्णु ज्ञान-वैराग्य की पुष्टि तथा रक्षा के द्वारा, सरस्वती वेद के तात्पर्य के प्रकाशन के द्वारा, सूर्य ज्ञान के उत्पादन द्वारा अनुग्रह करते हैं, वैसे ही देवताओं के अश्व भी साधनानुष्ठान में वेग प्रदान करने के द्वारा अनुग्रह करें।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, त्वं स्वाहा सत्यया नीत्या विद्यादिदानाय अर्यमणं पक्षपातराहित्येन न्यायकर्तारम्, बृहस्पतिं सकलविद्याध्यापकम्, इन्द्रं परमैश्वर्ययुक्तम्, वाचं वेदवाणीम्, विष्णुं सर्वाधिष्ठातारम्, सरस्वतीं बहुविधं सरो वेदादिशास्त्रविज्ञानं विद्यते यस्यां तां विज्ञानयुक्तामध्यापिकां स्त्रियं सवितारं वेदविद्यैश्वर्योत्पादकम्, वाजिनं प्रशस्तबलवेगादियुक्तं शूरवीरं सदा चोदय' इति, तदपि निरर्थकम्, प्रमाणशून्यत्वात्। अर्यमशब्दस्य पक्षपातराहित्येन न्यायकर्तार्थः, इत्यत्र प्रमाणाभावात्। किञ्च, वेदविद्यैश्वर्यस्य नहि मनुष्यः सम्भवत्युत्पादयिता, ईश्वरकर्तृकत्वाभ्युपगमविरोधात्। लोके संविधानेन नियुक्ता एव जनाः कर्तव्येषु प्रवर्तन्ते, राज्ञः प्रत्येकं प्रति चोदकत्वायोगात्। न च वेदवाणीं राजा प्रेरयितुं शक्नोति, तस्या एव राज्ञो नियामकत्वात्, जडत्वे निष्क्रियत्वेन णिचोऽविषयत्वात्, 'सक्रियस्य च यः प्रैषः स प्रैषो विषयो णिचः' इति शब्दशास्त्रनियमात् ॥ २७ ॥

अग्ने॒ अच्छा॑ व॒देह नः॒ प्रति॑ नः॒ सु॒मना॑ भव। प्र नो॑ यच्छ सहस्रजि॒त् त्वᳫं हि ध॑न॒दा अ॒सि स्वाहा॑ ॥ २८ ॥

अग्निदेवत्या। हे अग्ने, इहास्मिन् कर्मणि नोऽस्माकं अच्छ आभिमुख्येन वह हितं कथय। नोऽस्मान् प्रति सुमनाः करुणार्द्रचेता भव। हे सहस्रजित्, सहस्रसंख्याकस्य धनस्य जेतः, हि यतस्त्वं स्वभावतो धनदा असि, अतोऽस्मभ्यं प्रकृष्टं धनं प्रयच्छ। सहस्राणां योद्धॄणां वा जेतः! स्वाहा तुभ्यं सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, इहास्मिन् साधनमार्गे नोऽस्माकमच्छ वद आभिमुख्येन हितं ब्रूहि। संहितायां 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इत्यच्छशब्दस्य दीर्घः। हे परमेश्वर, नोऽस्मान् प्रति सुमनाः करुणार्द्रचेता भव। हे सहस्रजित्, अनन्तजित्, सहस्रशब्दस्य अनन्तवाचित्वात्, अथवा अज्ञानादिजित्।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या प्रमाण से रहित होने के कारण अर्थहीन है। अर्यमा शब्द का अर्थ 'पक्षपातरहित होकर न्याय करने वाला' करने में कोई प्रमाण नहीं है। वेदविद्यारूपी ऐश्वर्य का उत्पादन करने वाला मनुष्य नहीं हो सकता, क्योंकि इससे ईश्वरकर्तृकत्व पक्ष का विरोध होता है। जगत् में संविधान के द्वारा नियुक्त व्यक्ति ही कर्तव्यों का पालन करते हैं, क्योंकि राजा प्रत्येक के प्रति प्रवर्तक नहीं हो सकता। राजा वेदवाणी को प्रेरणा प्रदान नहीं कर सकता, अपि तु वेदवाणी ही राजा की नियामिका है ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ— हे अग्नि के अधिष्ठाता देव! आप इस यज्ञ में उपस्थित होकर हमारे कल्याण के लिये करुणा से ओतप्रोत हो जाँय। हे सबको जीतने वाले! आप स्वभाव से ही सबको धन-धान्य से परिपूर्ण करने वाले हैं। आप हमें भी धन दीजिये। एक मात्र आप ही हमारी प्रार्थना पूरी करने में समर्थ हैं। इस आहुति को स्वीकार कर आप हमारी प्रार्थना को सफल बनाइये। यह आहुति आपके द्वारा भली प्रकार गृहीत हो ॥ २८ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'अग्ने अच्छा' इस मन्त्र का विनियोग भी आहुतिप्रदान में किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र की अर्थसंगति इस प्रकार है—हे परमेश्वर, इस साधना के मार्ग में हमारे संमुख रहकर हित का उपदेश करें। हे परमेश्वर, हमारे प्रति करुणा से स्निग्ध हृदय वाले आप हों। हे अनन्तों पर विजय प्राप्त करने वाले, अथवा अज्ञानादि पर विजय प्राप्त करने वाले! इस सम्पूर्ण जगत् के नियामक होने के कारण परमेश्वर का अनन्तजेता

सर्वस्यैव तन्नियम्यत्वात् सुतरां परमेश्वरस्यानन्तजेतृत्वम् । हि यस्मात् त्वं स्वभावतो धनदा भौतिकाभौतिक-सर्वविधस्यैश्वर्यस्य दातासि, तस्मान्नोऽस्मभ्यं त्वत्कृपाकाङ्क्षिभ्योऽभीष्टत्वत्प्राप्तिरूपैश्वर्यं प्रयच्छ । स्वाहा तुभ्यं वयं सर्वस्वमर्पयामः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, त्वमिहास्मिन् समये स्वाहा सत्यया वाण्या नोऽस्मान् प्रति अच्छ सम्यग् वद सत्यमुपदिश । नोऽस्मान् प्रति सुमनाः सुहृद्भावो भव । त्वं हि यतः सहस्रजिद् असहायः सन् सहस्रं योद्धृन् जेतुं शीलः, धनदा ऐश्वर्यदातासि, तस्मान्नः सुखं प्रयच्छ' इति, तदपि तुच्छम्, असम्भवात् । तथाहि—कश्चिदपि मनुष्यो विद्वानपि नैवं सर्वैः प्रार्थयितुं शक्यः, तस्यानित्यत्वेनासार्वदिक्त्वात् । न चासौ सहस्रजित् सम्भवति, न वा सर्वेभ्य ऐश्वर्यदाता सम्भवति । राजापि संविधानबद्धो नैवं कर्तुं शक्नोति ॥ २८ ॥

प्र नो॑ यच्छत्वर्य॒मा प्र पू॒षा प्र बृह॒स्पतिः॑ । प्र वाग्दे॒वी द॑दातु नः॒ स्वाहा॑ ॥ २९ ॥

गायत्री, अर्यम-पूष-बृहस्पति-वाग्देवत्या । अर्यमादयो देवा नोऽस्मभ्यं धनं प्रयच्छन्तु, पूषादिदेवतान्तर-वाचकपदेऽपि क्रियापदस्यानुषङ्गं द्योतयितुं प्रोपसर्गप्रयोगः, प्रददतु । अर्यमा सूर्यविशेषः, नोऽस्मभ्यं प्रयच्छत्व-भीष्टं ददातु । पूषा प्रयच्छतु । उपसर्गावृत्त्या क्रियापदावृत्तिः । बृहस्पतिः प्रयच्छतु । देवी दीप्यमाना वाग् नोऽस्मभ्यं ददातु स्वाहा ।

अध्यात्मपक्षे हे परमेश्वर, त्वया प्रेरितः, अर्यमा सूर्यविशेषः, नोऽस्मभ्यमभीष्टं तेजः प्रयच्छतु । पूषा देवो ज्ञानादिपोषणं प्रयच्छतु । बृहस्पतिर्बुद्ध्यधिष्ठाता देवः सद्बुद्धिं प्रयच्छतु । देवी देदीप्यमाना वेदलक्षणा वाग् नोऽस्मभ्यं वेदतात्पर्यज्ञानं प्रददातु । हे ईश्वर, तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु ।

होना स्पष्ट है, यतः आप स्वभावतः भौतिक, अलौकिक सभी प्रकार के ऐश्वर्य को देने वाले हैं, अतः आपके कृपाकांक्षी हम लोगों को भी आपकी प्राप्ति हो, ऐसा अभीष्ट ऐश्वर्य प्रदान करें । आपके लिये हम सर्वस्व अर्पित करते हैं ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में असम्भव दोष होने के कारण वह अग्राह्य है । कोई भी मनुष्य, विद्वान् भी सबके द्वारा इस प्रकार प्रार्थित नहीं हो सकता, क्योंकि उसके अनित्य होने के कारण सर्वत्र स्थिति सम्भव नहीं है । वह सहस्रजित् नहीं हो सकता । उसका सबके लिये ऐश्वर्य प्रदान करने वाला होना भी सम्भव नहीं है । संविधान से प्रतिबद्ध राजा भी ऐसा नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमात्मन् ! आपके प्रसाद से अर्यमा देवता हमें अभीष्ट प्रदान करें । पूषा देवता और बृहस्पति देवगुरु हमारी मनोकामना पूरी करें । वाणी की अधिष्ठात्री देवी हमारी सारी अभिलाषाओं को पूर्ण करें ॥ २९ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'प्र नो यच्छतु' यह मन्त्र भी आहुति-प्रदान में विनियुक्त किया गया है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आपके द्वारा प्रेरित सूर्य अर्यमा हमको अभीष्ट तेज प्रदान करें । पूषा देव ज्ञानादि पोषण प्रदान करें । बुद्धि के अधिष्ठाता बृहस्पति देव सद्बुद्धि प्रदान करें । विद्योतमाना वेदरूपी वाणी हमारे लिये वेद का तात्पर्यज्ञान दे । हे ईश्वर, आपके लिये समर्पण हो ।

दयानन्दस्तु 'यथार्यमा न्यायाधीशो नोऽस्मभ्यं सुशिक्षां प्रयच्छतु, यथा पूषा पोषकः पुष्टिं प्रददातु, यथा बृहस्पतिर्विद्वान् स्वाहा सत्यविद्यायुक्तां वाणीं प्रार्पयतु, वाग् विद्या सुशिक्षितवाणीयुक्ता, देवी देदीप्यमानाऽध्यापिका माता अस्मभ्यं विद्यां प्रददातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथापदस्य नित्यं तथापदसापेक्षत्वात्, तस्य चात्रानुक्तत्वात्। पूषा कः ? इत्यस्य चानुक्तत्वात्। यत्तु 'पूषा विशां विट्पतिः' (तै० २।५।७।४), 'पूषा वै पथीनामधिपतिः' (श० १३।४।१।१४) इति श्रुतिभ्यां तदुक्तमिति, तदपि पूतिकूष्माण्डायितम्, विट्पत्यादिशरीरात्मनां पोषकत्वानुपपत्तेः। न च विट्पतयोऽध्यापकत्वेन नियुज्यन्ते। न च वाक्पदमाञ्जस्येन विद्यासुशिक्षितवाणीयुक्तायां मानुष्यां वर्तते, निष्प्रमाणत्वात् ॥ २९ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रियै दधामि बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभि षिञ्चाम्यसौ ॥ ३० ॥

'शेषेणाभिषिञ्चति यजमानं देवस्य त्वेति' (का० श्रौ० १४।४।४०)। होमानन्तरमौदुम्बरपात्रस्थेन हुतशेषेण सप्तदशान्नपयोमिश्रोदकशेषेण यजमानमभिषिञ्चेत् शिरसि। यजमानदेवत्यम्। सवितुः, सूते इति सविता तस्य, देवस्य द्योतमानस्य प्रसवे प्रेरणे वर्तमानोऽहमश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वां वाचो वाण्या यन्तुरन्तर्यामिणो वा यन्तुर्नियन्त्र्याः, पुस्त्वं छान्दसम्, सरस्वत्यै षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, सरस्वत्या वाग्देवताया यन्त्रियै नियमने ऐश्वर्ये दधामि स्थापयामि। बृहस्पतेः साम्राज्येन सम्राड्भावेन त्वा त्वामभिषिञ्चामि। अनेनाभिषेकेण यजमाने वाग्देवताया ऐश्वर्यं बृहस्पतेः साम्राज्ये स्थापयामीत्यर्थः। मन्त्रान्ते असावित्यस्य स्थाने यजमानस्य सम्बुद्ध्यन्तं नाम गृह्णीयात्। यथा हे देवदत्तेति।

अत्र ब्राह्मणम् – 'अथैनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति। अन्नाद्येनैवैनमेतदभिषिञ्चत्यन्नाद्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मादेनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति' (श० ५।२।२।१२)। हुतशेषस्यान्नस्य विनियोगं दर्शयति—अथैनमिति। अथ एनं सुन्वन्तं यजमानं परिशिष्टेनान्नेनाभिषिञ्चेत्। हुतशेषाभिषेकेण यजमानेऽन्नमेव निहितवान् भवति। 'सोऽभिषिञ्चति। देवस्य त्वा ... दधामीति वाग् वै सरस्वती तदेनं वाच एव यन्तुर्यन्त्रियै दधाति' (श० ५।२।२।१३)। अभिषेकमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—सोऽभिषिञ्चति देवस्य त्वेति। 'तदु हैक आहुः। विश्वेषां त्वा देवानां यन्तुर्यन्त्रियै दधामीति सर्वं वै विश्वे देवास्तदेनꣳ सर्वस्यैव यन्तुर्यन्त्रियै दधाति तदु तथा न ब्रूयात् सरस्वत्यै त्वा वाचो यन्तुर्यन्त्रियै दधामीत्येव ब्रूयाद्वाग्वै सरस्वती तदेनं वाच एव यन्तुर्यन्त्रियै दधाति बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभि-

---

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ असंगत है, क्योंकि 'यथा' शब्द सर्वदा 'तथा' शब्द की अपेक्षा रखता है और इस अर्थ में 'तथा' पद कहीं निरूपित नहीं है। पूषा कौन है ? यह भी नहीं कहा गया है और वाक् शब्द सामान्य रूप से विद्या से सुशिक्षित वाणी से युक्त मानव महिला में प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि एतदर्थ कोई प्रमाण नहीं है ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ — सविता देवता के द्वारा प्रेरित होकर दो अश्विनीकुमारों की भुजाओं से, पूषा देवता के हाथों से, बृहस्पति के साम्राज्य भाव में तुम्हारा अभिषेक करता हूँ। हे यजमान ! मैं तुम्हें सरस्वती के ऐश्वर्य से परिपूर्ण करता हूँ। तुम्हारी वाणी में वागधिष्ठात्री देवी सरस्वती विराजमान हो। मैं अमुक नाम के यजमान का अभिषेक करता हूँ (यहाँ यजमान का नाम लिया जाता है) ॥ ३० ॥

भाष्यसार—हवन के बाद गूलर के काष्ठ से निर्मित पात्र में रखे हुए हवनावशिष्ट पदार्थों से यजमान के सिर पर

षिञ्चाम्यसाविति नाम गृह्णाति तद् बृहस्पतेरेवैनमेतत्सायुज्यꣳ सलोकतां गमयति' (श० ५।२।२।१४)। अत्र तु सरस्वत्यै वाच इत्यस्य स्थाने सरस्वत्यै त्वा वाच इति युष्मच्छब्दं प्रक्षिप्य प्रयोक्तव्यमिति विधातुं पूर्वपक्षं सोपपत्तिकमुद्भावयति—तदु हैक इति। केचिच्छाखिनः सरस्वत्यै वाच इत्यस्य स्थाने विश्वेषां त्वा देवानामिति प्रक्षिप्य 'यन्तुः' इत्यादि पूर्ववत् प्रयोक्तव्यमिति स्वमतं दर्शयितुमुक्तम्। परमतं निराकरोति—तदु तथा न ब्रूयादिति। तस्यापि स्वपक्षस्तुतावेव तात्पर्यं वेदितव्यम्, शाखान्तरनिन्दने तात्पर्याभावात्।

'अथाह। सम्राडयमसौ सम्राडयमसाविति निवेदितमेवैनमेतत्सन्तं देवेभ्यो निवेदयत्ययं महावीर्यो योऽभ्यषेचीत्ययं युष्माकैकोऽभूत् तं गोपायतेत्येवैतदाह त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः' (श० ५।२।२।१५)। अत्राप्यसावित्यस्य स्थाने प्रथमान्तं यजमाननाम ग्रहीतव्यम्। एतन्नामाऽयमभिषिक्तः सम्राड् महावीर्यो जातः। आवेदनवाक्यावृत्तेरभिप्रायमाह—निवेदितमिति। एवं नामग्रहोक्त्या प्रथमं मनुष्येभ्यो निवेदितमेव सन्तम् एनं द्वितीयेन सम्राडयमसावित्यनेन देवेभ्यो निवेदयति। यो यजमानोऽभ्यषेचि, अयं महावीर्यः सम्पन्नः। पर्यवसितमर्थमाह अयं युष्माकेति। अयमभिषिक्तो यजमानः, युष्माकं मध्ये एकोऽभूत्। हे देवास्तं गोपायत। तदेतस्य त्रित्वं विधत्ते—त्रिष्कृत्व इति। यज्ञस्य सवनत्रयात्मकत्वात् त्रिवृत्त्वम्।

अध्यात्मपक्षे—साधको भगवत्पूजार्थं प्रतिमां स्थापयति—हे भगवन्, त्वं तु दिव्योऽप्राकृतो न मनुष्यस्य बाहुभ्यां हस्ताभ्यां स्प्रष्टुमपि शक्यः, अतो भावनाविशेषेण अश्विनोर्दिव्याभ्यां बाहुभ्यां पूष्णो हिरण्यमयाभ्यां हस्ताभ्यां त्वां पूजायै दधामि स्थापयामि। तथैव यन्तुर्यन्त्र्या वाचो वेदलक्षणाया यन्त्रिये नियमने तद्वशंवदतया, बृहस्पतेर्वेदवाण्याः पत्युः पालकस्य सम्राट्त्वेन असावहं त्वामभिषिञ्चामि, तवैव सर्वपूज्यत्वात्। अथवा—सवितुर्जगदुत्पादकस्य परमेश्वरस्य प्रेरणे वर्तमानोऽहमाचार्यस्त्वां साधकं भगवद्भक्तमश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां सरस्वत्या ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्र्या वेदलक्षणाया वाचो यन्तुर्नियन्त्र्या यन्त्रिये नियन्त्रणे त्वां दधामि स्थापयामि। बृहस्पतेः साम्राज्येन सम्राड्भावेन त्वामभिषिञ्चामि। सम्यग् राजते दीप्यत इति सम्राट् स्वप्रकाश आत्मा। तद्रूपेण देहेन्द्रियभावापनोदनेन ब्रह्मात्मभावेन त्वां ब्रह्मपदेऽभिषिञ्चामि।

दयानन्दस्तु—'हे अखिलशुभगुणकर्मस्वभावयुक्त विद्वन्, असावहं सर्वजगदुत्पादयितुः प्रकाशमानस्य उत्पन्ने संसारे सरस्वत्यै विज्ञानसुशिक्षायुक्ताया वाचो मध्ये वेदवाण्याः, अश्विनोः सूर्याचन्द्रमसोर्बलाकर्षणाभ्यां

'देवस्य त्वा' इत्यादि मन्त्र से अभिषेक किया जाता है। यह याज्ञिक प्रक्रिया का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।४०) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यातमपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—साधक भगवान् की पूजा के लिये प्रतिमा की स्थापना करता है। हे भगवन्, आप तो दिव्य हैं, अप्राकृत हैं, अतः मनुष्य की भुजाओं तथा हाथों से नहीं स्पर्श किये जा सकते। इस कारण विशेष भावना के द्वारा अश्विनीदेवों की दिव्य भुजाओं से, पूषा देवता के स्वर्णमय हाथों से आपको पूजा के लिये स्थापित करता हूँ। इसी प्रकार वेदात्मिका वाणी के अनुगत होकर वेदवाणी के पालक आपका सम्राट् रूप से मैं अभिषेक कर रहा हूँ, क्योंकि आप ही सबके पूज्य हैं।

अथवा जगदुत्पादक परमेश्वर की प्रेरणा के अन्तर्गत अवस्थित मैं आचार्य साधक भगवद्भक्त तुमको अश्विनीदेवों की भुजाओं से, पूषा देव के हाथों से, ज्ञान-विज्ञान की अधिष्ठात्री वेदरूपिणी वाणी नियामिका के अनुशासन में तुमको स्थापित करता हूँ। बृहस्पति के सम्राट् रूप से, अर्थात् स्वप्रकाश आत्मस्वरूप से तुम्हारा अभिषिंचन करता हूँ। तद्रूप के द्वारा, अर्थात् देहेन्द्रियभाव का निराकरण करते हुए ब्रह्मात्वभाव के द्वारा तुमको ब्रह्मपद पर अभिषिक्त करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ श्रुतिवाक्यों से विरुद्ध है। शतपथ श्रुति में हवन से अवशिष्ट अन्नादि के

भुजाभ्याम्, पूष्णः पोषकस्य वायोर्धारणपोषणाभ्यां हस्ताभ्यां त्वां दधामि। यन्तुर्नियन्तुर्बृहस्पतेः परमविदुषः यन्त्रिये शिल्पविद्यासिद्धानां यन्त्राणामर्हे योग्ये निष्पादने साम्राज्येन सम्राजो भावेन त्वामभिषिञ्चामि। सुगन्धेन रसेन मार्ज्मि। असौ अदोनाम' इति, तदपि श्रुतिविरुद्धमेव, 'अथैनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति' (श० ५।२।२।१२) इति पूर्वोद्धृतश्रुतौ हुतशिष्टैरन्नैरभिषेक उक्तः। नह्यत्र सम्बोधनीयो विद्वान् प्रमाणसिद्धः। नहि सूर्यचन्द्रमसोर्बलाकर्षणाभ्यां वायोर्धारणपोषणाभ्यां परमविदुष एव धारणम्, तेषां सर्वान् प्रति समत्वात्। नहि बृहस्पतिपदस्य शिल्पपरत्वम्, न वा यन्त्रिय इत्यस्य शिल्पपरत्वं प्रामाणिकम्, कल्पनामात्रत्वात् ॥ ३० ॥

अ॒ग्निरेका॑क्षरेण प्रा॒णमुद॑जयत् तमुज्जे॑षम॒श्विनौ॒ द्व्य॑क्षरेण॒ द्वि॒पदो॑ मनु॒ष्या॒नुद॑जयतां॒ तानुज्जे॑षं॒ विष्णु॒स्त्र्य॑क्षरेण॒ त्रीँल्लो॒कानुद॑जयत् तानुज्जे॑षꣳ॒ सोम॒श्चतु॑रक्षरेण॒ चतु॑ष्पदः प॒शूनुद॑जयत् तानुज्जे॑षम् ॥ ३१ ॥

'अग्निरेकाक्षरेणेत्यनुवाकं द्वादशवत् कृत्वेति' (का० श्रौ० १४।४।४४)। चतुःकण्डिकात्मकमनुवाकं द्वादशवद् द्वादशस्रुवाहुतीर्जुहोत्याग्नये स्वाहेति प्रतिमन्त्रं वाचयति वेति। यत्पूर्वमुक्तं तद्वदित्यर्थः। तेन तैर्मन्त्रैर्जुहोति सप्तदश मन्त्रान् वाचयति वेत्यर्थः। एते मन्त्रा उज्जितिसंज्ञकाः। सप्तदश यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। तत्र अग्निरेकाक्षरेण....प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेणेत्याद्यन्तयोर्ग्रहणेन सप्तदश मन्त्राः सर्वेऽपि गृह्यन्ते। तेषां संग्रहेणायमर्थः —ओश्रावयेति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्, यजेति द्व्यक्षरम्, ये यजामह इति पञ्चाक्षरम्, 'द्व्यक्षरो वषट्कारः स एष सप्तदशः प्रजापतिः' (तै० सं० १।६।११।२-३) तथा (श० ५।२।२।१६-१७)। तत्राग्न्यादिसप्तदश देवा एकाक्षरप्रभृत्येकैकाक्षरवृद्धियुक्तैः प्राणमनुष्यादीन् जितवन्तः। तानग्न्यादिभिर्जितान् प्राणनरादीनहमिदानीमुज्जेषम् उज्जीयासम्। अश्विदेवतादिभिर्मन्त्राक्षरसंख्यानुसारेण द्विपान्मनुष्यत्रिलोकादेर्जयो विज्ञेयः। त्रिवृत्स्तोमगतानामृचां नवसंख्योपेतत्वान्नवाक्षरेण तज्जयः। त्रयोदशस्तोमादावपि तिसृणां स्तोत्रियाणामृचामावृत्तिविशेषेण तत्संख्या द्रष्टव्या।

द्वारा अभिषेक विहित है। इसमें सम्बोधित किया जाने वाला विद्वान् प्रमाण से सिद्ध नहीं है। सूर्य तथा चन्द्रमा के बल और आकर्षण से एवं वायु के धारण तथा पोषण से परम विद्वान् का ही धारण होता है, यह उचित नहीं है, क्योंकि वे तो सबके लिये समान हैं। बृहस्पति शब्द का अथवा यन्त्रिय शब्द का शिल्प अर्थ करना प्रामाणिक नहीं है, यह तो केवल काल्पनिक है ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—अग्नि देवता ने एक अक्षर वाले छन्द के प्रभाव से उत्कृष्टतम प्राण को जीत लिया है, मैं भी इस प्राण को एक अक्षर के प्रभाव से जीत लूँ। अश्विनीकुमारों ने दो अक्षरों वाले छन्द के प्रभाव से दो पैरों वाले मनुष्यों को जीत लिया है, मैं भी दो अक्षरों के प्रभाव से उनको जीत सकूँ। विष्णु देव ने तीन अक्षर के छन्द से तीनों लोकों को जीत लिया है, मैं भी उनके प्रभाव से तीनों लोकों को जीत सकूँ। सोम देवता ने चार अक्षर वाले मन्त्र के प्रभाव से चौपायों को जीत लिया है, मैं भी उस मन्त्र के प्रभाव से चार पैरों वाले सभी पशुओं को जीत सकूँ ॥ ३१ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।४४) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अग्निरेकाक्षरेण' इस कण्डिका के मन्त्रों से स्रुव के द्वारा आहुति दी जाती है, अथवा इनका वाचन किया जाता है। इन चार कण्डिकाओं

तदेवोक्तं ब्राह्मणेन —'तद्यदेवैताभिरेता देवता उदजयंस्तदेवैष एताभिरुज्जयति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति' (श० ५।२।२।१७)। अग्निरेकाक्षरेण छन्दसा प्राणं पञ्चवृत्तिकमुदजयद् उत्कृष्टं जितवान्, तथाहमपि तादृशं प्राणमुज्जेषमुत्कृष्टं जयेयं वशीकुर्याम्। अश्विनौ द्व्यक्षरेण अक्षरद्वयात्मकेन छन्दसा द्विपदः पादद्वयोपेतान् मनुष्यानुदजयतां जितवन्तौ, तथाहमपि तेनैव द्व्यक्षरेण छन्दसा द्विपदो मनुष्यानुज्जेषमधिकं जयेयम्। विष्णुस्त्र्यक्षरेणाक्षरत्रयात्मकेन छन्दसा त्रीन् भूरादीन् लोकानुदजयत्, अहमपि तांल्लोकानुज्जेषम्। सोमोऽक्षरचतुष्टयात्मकेन छन्दसा चतुष्पदः पादचतुष्टयोपेतान् पशूनुदजयत्, अहमपि तेन पशूनुज्जेषम्। अत्र ब्राह्मणम् —'अथोज्जितीर्जुहोति। वाचयति वा····' (श० ५।२।२।१६)। उज्जयलिङ्गयुक्तमन्त्रकरणिका आहुतय उज्जितयः, ता जुहोति वाचयति वा। 'स वाचयति। अग्निरेकाक्षरेण···· तद्यदेवैताभिरेता देवता उदजयंस्तदेवैष एताभिरुज्जयति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति' (श० ५।२।२।१७)।

अध्यात्मपक्षे — साधकः परमात्मानं प्रार्थयते, हे भगवन्! यथा अग्निर्देव एकाक्षरेण छन्दसा प्राणमुदजयत्, तथाहमपि त्वत्प्रसादात् प्राणं जयेयम्। अश्विनौ यथा द्व्यक्षरेण छन्दसा मनुष्यानुदजयताम्, तथाहमपि तान् जयेयम्। यथा विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रींल्लोकानुदजयत्, तथाहं तान् जयेयम्। यथा सोमश्चतुरक्षरेण छन्दसा पशूनुदजयत्, तथाहमपि त्वत्प्रसादात् सर्वानतिक्रम्य ब्रह्मभावेन प्रतिष्ठास्यामीत्यभिप्रायः।

दयानन्दस्तु —'हे राजन्, अग्निर्भवान् यथा एकाक्षरेण प्रणवेन प्राणमिव शरीरस्थं वायुमिव प्रजाजनमुदजयत्, तथाहमप्युज्जेषं जयेयम् उत्कर्षेयम्। हे अश्विनौ राजजनौ, सूर्यचन्द्राविव भवन्तौ यथा द्व्यक्षरेण यान् द्व्यक्षरेण दैव्युष्णिक्छन्दसा द्विपदो मनुष्यानुदजयताम्, तथा तानहमप्युज्जेषम्। हे विष्णो सर्वप्रधानपुरुष, विष्णुरिव भवान् यथा त्र्यक्षरेण त्रींल्लोकान् जन्मस्थाननामात्मकान् उत्कृष्टानकरोत्, तथाहमपि तानुज्जेषम्। हे न्यायाधीश, सोम इव भवान् यथा चतुरक्षरेण दैव्या बृहत्या चतुष्पदः पशून् हरिणादीन् आरण्यानुदजयद् उत्कृष्टानकरोत्, तथाहमपि तानुदजेषम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एकाक्षरादिभिः कथं प्रजाजनादीनामुत्कृष्टत्वापादनमित्यस्यास्पष्टत्वात्। द्विपदां जन्मकर्मनामात्मकानां लोकानां हरिणादीनां तैस्तैश्छन्दोभिः कथमुत्कृष्टत्वापादनं मनुष्यैः क्रियते? इत्यस्यावर्णनात् सारशून्यत्वात्। सिद्धान्ते तु देवा दिव्यशक्तिमन्तोऽतश्छन्दोभिः समेषामुज्जयः सम्भवत्येव ॥ ३१ ॥

का एक अनुवाक है। इस अनुवाक के सत्रह मन्त्रों की संज्ञा 'उज्जिति' है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—साधक परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे भगवन्, जिस प्रकार अग्नि देव ने एकाक्षर छन्द से प्राण को वश में कर लिया, मैं भी आपकी कृपा से प्राण को वश में करूँ। जिस प्रकार अश्विनीदेवों ने द्व्यक्षर छन्द के द्वारा मनुष्यों को वशीभूत किया, उसी प्रकार मैं भी मनुष्यों को वशीभूत करूँ। जिस प्रकार विष्णु ने त्र्यक्षर छन्द से तीनों लोकों को जीता, उसी प्रकार मैं भी उनको जीतूं। जैसे सोम ने चतुरक्षर छन्द से पशुओं को विजित किया, उसी प्रकार मैं भी आपके अनुग्रह से सबको अतिक्रान्त करके ब्रह्मभाव के द्वारा प्रतिष्ठित होऊँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में एकाक्षर आदि के द्वारा प्रजाजन आदि की उत्कृष्टता-प्राप्ति कैसे हुई? यह अस्पष्ट होने के कारण संगति नहीं है। दो पादों वाले, जन्म, कर्म, नाम से युक्त प्राणियों, हरिण आदि का उन उन छन्दों से कैसे उत्कर्ष साधन मनुष्यों के द्वारा किया गया, इसका निरूपण न होने के कारण व्याख्यान निस्तत्त्व है। हमारे अभिमत पक्ष में तो देवता दिव्य शक्तिमान् हैं, छन्दों से सबका उत्कर्ष सम्भव ही है ॥ ३१ ॥

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिश उदजयत् ता उज्जेषᳪ सविता षडक्षरेण षडृतूनुदजयत् तानुज्जेषं मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयँस्तानुज्जेषं बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत् तामुज्जेषम् ॥ ३२ ॥

पूषा देवः पञ्चाक्षरेण छन्दसा पञ्च संख्याः पूर्वाद्याश्चतस्रोऽवान्तरदिशश्चेति पञ्च दिश उदजयत्, अहमपि तेन ता जयेयम्। सविता सर्वस्य प्रेरको देवः षडक्षरेण छन्दसा षट्संख्यान् ऋतूनुदजयत्, तानृतूनहमुज्जेषम्। मरुतो देवाः सप्ताक्षरेण छन्दसा सप्तसंख्याकान् ग्राम्यान् पशून् गवादीनुदजयन्, अहं तानुज्जेषम्। बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीछन्दोऽभिमानिनीं देवतामुदजयत्, तां तादृशीं गायत्रीं जयेयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन्, पूषा देवः पञ्चाक्षरेण छन्दसा यथा पञ्च दिश उदजयत्, तथैवाहं तां भवदनुकम्पया जयेयम्। सविता यथा षडक्षरेण छन्दसा षड्ऋतूनुदजयत्, तथैवाहं तानुज्जयेयम्। मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् गवादीन् यथोदजयन्, तथाहं भवतः प्रसादात् तानुज्जयेयम्। बृहस्पतिर्यथाऽष्टाक्षरेण छन्दसा गायत्रीं गायत्रीच्छन्दोऽभिमामिनीं देवतामुदजयत्, तथा तामहमुज्जेषम्।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, पूषा भवान् यथा पञ्चाक्षरेण याः पञ्च दिश उदजयत्, तथाहमपि ता उज्जेषम्। सविता भवान् यथा षडक्षरेण ऋतूनुदजयत्, तथा तानहमप्युज्जेषम्' इत्यादिकं तु पूर्ववदेवासङ्गतम्। न च कोऽपि मनुष्यो राजा वाऽमात्यो वा छन्दोभिः सर्वा दिश उत्तमयति। 'उत्तमकीर्त्या बिभर्ति' इति तु निर्मूलमेव। तथैव ऋतूनां शोधनमपि निर्मूलम् मन्त्रे तादृशपदाभावात्। शोधनमपि प्रकृत्यैव भवति, न मनुष्येण। छन्दसां

मन्त्रार्थ—पूषा देवता ने पंचाक्षर छन्द के प्रभाव से पाँच दिशाओं को जीत लिया है, उसी के प्रभाव से मैं भी उन दिशाओं को जीत सकूँ। सविता देवता ने षडक्षर छन्द के प्रभाव से छः ऋतुओं को पूरी तरह से जीत लिया है, उसी के प्रभाव से मैं भी छः ऋतुओं को जीत सकूँ। मरुद् देवताओं ने सप्ताक्षर मन्त्र के प्रभाव से सात प्रकार के ग्रामीण गो आदि पशुओं को जीत लिया है, मैं भी उनको जीत सकूँ। बृहस्पति ने अष्टाक्षर मन्त्र के प्रभाव से गायत्री छन्द के अभिमानी देवताओं को अपने वश में कर लिया है, मैं भी अष्टाक्षर मन्त्र के प्रभाव से उनको अपने वश में कर सकूँ॥ ३२॥

भाष्यसार—'पूषा पञ्चाक्षरेण' इस कण्डिका के मन्त्र भी उज्जिति संज्ञक हैं, इनका याज्ञिक विनियोग भी पूर्ववत् आहुति या वाचन में किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—पूषा देव ने पंचाक्षर छन्द के द्वारा पाँचों दिशाओं पर विजय प्राप्त की। सविता देव ने षडक्षर छन्द से छः ऋतुओं को जीता। मरुद्गणों ने सप्ताक्षर छन्द से सात ग्राम्य पशुओं को वशीभूत किया तथा बृहस्पति देव ने अष्टाक्षर छन्द के द्वारा गायत्री छन्द की अधिष्ठात्री देवी को प्राप्त किया। उसी प्रकार मैं भी आपकी कृपा से उनको अधिगत करूँ, सबका अतिक्रमण करके ब्रह्मभाव से प्रतिष्ठित होऊँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ पूर्व की भाँति संगतिरहित है। कोई भी मनुष्य राजा अथवा मन्त्री छन्दों से सभी दिशाओं को उत्तम नहीं करता। इसी प्रकार ऋतुओं का शोधन करना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि मन्त्र में एतदर्थ कोई पद नहीं है। शोधन भी प्रकृति से ही होता है, मनुष्य के द्वारा नहीं होता। छन्दों का उनमें उपयोग तो असिद्ध ही है। गौ आदि ग्राम्य पशुओं का वर्धन ही उज्जिति है, यह भी निर्मूल है। गायत्री पद का 'गान करने वाले की

तु तत्रोपयोगोऽसिद्ध एव। गवादीनां ग्राम्याणां पशूनां वर्धनमुज्जितिरित्यपि निर्मूलम्। गायत्रीपदस्य गानकर्तुः पालयित्री नीतिरित्यपि निर्मूलमेव। नहि नीतिर्गातुरेव पालयित्री भवति। उदजयदित्यस्य न प्रतिष्ठार्थः, बीजाभावात्॥ ३२॥

मि॒त्रो नवा॑क्षरेण त्रि॒वृत॑ꣳ स्तोम॒मुद॑जय॒त् तमुज्जे॑षं॒ वरु॑णो॒ दशा॑क्षरेण वि॒राज॒मुद॑जय॒त् तामुज्जे॑ष॒मिन्द्र॒ एका॑दशाक्षरेण त्रि॒ष्टुभ॒मुद॑जय॒त् तामुज्जे॑षं॒ विश्वे॑दे॒वा द्वाद॑शाक्षरेण॒ जग॑तीमुद॑जयँ॒स्तामुज्जे॑षम्॥ ३३॥

मित्रो देवो नवाक्षरेण छन्दसा त्रिवृतं स्तोममुदजयत्, तं तादृशं स्तोममहमुज्जेषम्। वरुणो देवो दशाक्षरेण छन्दसा विराजम् 'दशाक्षरा विराट्' इति श्रुतिप्रसिद्धां तदभिमानिनीं देवतामुदजयत्, तामहमुज्जेषम्। इन्द्रो देव एकादशाक्षरेण छन्दसा त्रिष्टुप्छन्दोऽभिमानिनीं देवतामुदजयत्, तामहमुज्जेषम्। विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयन्त, तामहमुज्जेषम्।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन्नित्यादि पूर्ववद् योजना कर्तव्या। सर्वानतिक्रम्य ब्रह्मभावेन प्रतिष्ठास्यामीति सर्वेषामेषां मन्त्राणामभिप्रायः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, मित्रो भवान् यथा नवाक्षरेण यं त्रिवृतं सोपासनज्ञानयुक्तं स्तोमं स्तुतियोग्यमुदजयद् उत्तमत्वेन जानाति' इति, तदप्यसङ्गतमेव, शाब्दमर्यादातिक्रमणात्, उज्जितेर्ज्ञानार्थत्वे बीजाभावात्। त्रिवृतमित्यस्य सोपासनयुक्तमिति कथमर्थः? तत्रास्य शक्तेरभावात्। नापि लक्षणया तादृशार्थबोधः? लक्षणायां बीजाभावात्। स्तोममित्यस्य स्तुतियोग्यमित्यपि नार्थः, तत्र शक्तेरभावात्। किञ्च, कोऽयं तादृशः? किञ्च

पालयित्री नीति' यह अर्थ करना भी अप्रामाणिक है। नीति केवल गान करने वाले का ही पालन नहीं करती। 'उदजयत्' पद का प्रतिष्ठा अर्थ करना भी प्रमाणरहित है॥ ३२॥

मन्त्रार्थ—मित्र देवता ने नवाक्षर छन्द से त्रिवृत् स्तोम को जीता है, उसी प्रकार मैं भी उसको जीत सकूँ। वरुण देवता ने दशाक्षर छन्द से दशाक्षरा विराट् के अभिमानी देवताओं को जीता है, मैं भी उसी प्रकार उनको जीत सकूँ। इन्द्र ने एकादश अक्षर से त्रिष्टुप् छन्द के अभिमानी देवताओं को जीता है, मैं भी उनको जीत सकूँ। विश्वेदेव देवताओं ने बारह अक्षरों से जगती छन्द के अभिमानी देवताओं को जीता है, मैं भी उनको जीत सकूँ॥ ३३॥

भाष्यसार—'मित्रो नवाक्षरेण' यह कण्डिका भी पूर्व के मन्त्रों की भाँति हवन अथवा वाचन में विनियुक्त है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार इस कण्डिका के मन्त्र भी उज्जितिसंज्ञक हैं। इस कण्डिका का अर्थ इस प्रकार है—हे भगवन्, मित्र देव ने नवाक्षर छन्द से त्रिवृत् स्तोम को अधिकृत किया, मैं भी उसी प्रकार अधिकृत करूँ। वरुण देव ने दशाक्षर छन्द से विराडधिष्ठात्री देवता को प्राप्त किया, मैं भी प्राप्त करूँ। इन्द्रदेव ने एकादशाक्षर छन्द से त्रिष्टुप् छन्द की अधिष्ठात्री देवता को प्राप्त किया, मैं भी उसे प्राप्त करूँ। विश्वेदेव देवगणों ने द्वादशाक्षर छन्द के द्वारा जगती को प्राप्त किया, मैं भी उसे प्राप्त करूँ।

अध्यात्मपक्ष में भी अर्थयोजना इसी प्रकार होगी।

स्वामी दयानन्द का अर्थ शब्दों की सीमा का उल्लंघन करने के कारण असंगत है। उज्जिति का ज्ञान अर्थ निर्मूल है। 'त्रिवृत्' शब्द का 'सोपासन (ज्ञान) युक्त' यह अर्थ कैसे होगा? क्योंकि यह शब्द इस अर्थ को प्रकाशित करने

तज्ज्ञाने फलम्? 'हे वरुण, त्वं यथा दशाक्षरेण छन्दसा यं विराटछन्दःप्रतिपादितं प्राप्तवानसि, तमहमपि प्राप्नुयाम्' इत्यपि निरर्थकमेव। कोऽयं विराट्छन्दःप्रतिपाद्योऽर्थः? किञ्च तत्प्राप्त्या पुरुषार्थ इत्यादेर्वक्तव्यत्वात्। एवं त्रिष्टुप्छन्दोवाच्यमित्यपि तादृगेव। 'जगतीमेतच्छन्दोऽभिहितां नीतिमुदजयन् प्रचारयन्ति' इत्यादिकमपि सर्वतन्त्रस्वातन्त्र्यमेव, सर्वमर्यादाभञ्जनात्। तथा स्वातन्त्र्ये जगतीशब्देन लुलाय्या अपि बोधसम्भवात्॥ ३३॥

वस॑वस्त्र॒यो॑दशाक्षरेण त्र॒यो॒द॒श॒ꣳ स्तोम॒मुद॑जय॒ँस्तमुज्जे॑षꣳ रु॒द्राश्च॒तु॑र्दशाक्षरेण चतु॒र्द॒शꣳ स्तोम॒मुद॑जय॒ँस्तमु॒ज्जे॑षमादि॒त्याः पञ्च॑दशाक्षरेण पञ्चद॒शꣳ स्तोम॒मुद॑जय॒ँस्तमु॒ज्जे॑षम॒दि॑तिः षोड॑शाक्षरेण षोड॒शꣳ स्तोम॒मुद॑जयत् तमु॒ज्जे॑षं प्र॒जाप॑तिः स॒प्तद॑शाक्षरेण स॒प्तद॒शꣳ स्तोम॒मुद॑जयत् तमु॒ज्जे॑षम्॥ ३४॥

वसवस्त्रयोदशाक्षरेण छन्दसा त्रयोदशं स्तोममुदजयन्, तं स्तोममहं जयेयम्। रुद्रा देवाश्चतुर्दशाक्षरेण छन्दसा चतुर्दशं स्तोममुदजयन्, तमहमुज्जेषम्। आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण छन्दसा पञ्चदशं स्तोममुदजयन्, तमहमुज्जेषम्। अदितिः षोडशाक्षरेण छन्दसा षोडशं स्तोममुदजयत्, तमहमुज्जेषम्। प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण छन्दसा सप्तदशं स्तोममुदजयत्, तमप्यहं तेनैव सप्तदशाक्षरेण छन्दसा जयेयम्। एतान् मन्त्रान् जपेदेतैर्जुहुयाद्वा।

अध्यात्मपक्षे -हे भगवन्, यथा वसवस्त्रयोदशाक्षरेण छन्दसा त्रयोदशं स्तोममुदजयन्, तं स्तोममहं भवतः कृपया जयेयम्। आदित्या देवा यथा चतुर्दशाक्षरेण छन्दसा चतुर्दशं स्तोममुदजयन्, तथाहमपि तमुज्जेषम्। यथा अदितिर्देवमाता षोडशाक्षरेण छन्दसा षोडशाख्यं स्तोममुदजयत्, तथाहमपि जयेयम्। प्रजापतिर्यथा सप्तदशाक्षरेण छन्दसा सप्तदशाख्यं स्तोममुदजयत्, तथाहमपि तं भवदनुग्रहाज्जयेयमिति।

की शक्ति नहीं रखता। लक्षणा के द्वारा भी ऐसा अर्थबोध नहीं हो सकता, क्योंकि लक्षणा के लिये भी कोई मूल प्रमाण नहीं है। 'स्तोम' का अर्थ 'स्तुति के योग्य' भी नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ भी शक्ति का अभाव है। फिर इस प्रकार का कौन है? उसके ज्ञान का क्या फल है? ये भी प्रश्न हैं। इस प्रकार शब्द के अर्थ की मर्यादा को तोड़ने के कारण पूरा अर्थ उच्छृंखल है। इस प्रकार स्वातन्त्र्य होने पर तो जगती शब्द से लुलायी (भैंस) का भी बोधन संभव होगा॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—वसु नामक देवताओं ने तेरह अक्षर वाले छन्द से त्रयोदश स्तोम को पूरी तरह से अपने वश में कर लिया है, मैं भी ऐसा कर सकूँ। रुद्रों ने चौदह अक्षर वाले छन्द से चतुर्दश स्तोम को अपने वश में कर लिया है, मैं भी ऐसा ही कर सकूँ। आदित्यों ने पन्द्रह अक्षर के छन्द से पंचदश स्तोम को जीत लिया है, मैं भी उसको सम्यक् प्रकार से जीत सकूँ। अदिति ने सोलह अक्षर के छन्द से षोडश स्तोम को जीता है, मैं भी उसे जीत सकूँ। प्रजापति ने सत्रह अक्षर वाले छन्द से सप्तदश स्तोम को जीत लिया है, मैं भी उसको जीत सकूँ॥ ३४॥

भाष्यसार—'वसवस्त्रयोदशाक्षरेण' यह कण्डिका भी पूर्वोक्त कण्डिकाओं की भाँति 'उज्जिति' मन्त्रों से युक्त तथा याज्ञिक प्रक्रिया में हवन अथवा वाचन में विनियुक्त है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे भगवन्, जिस प्रकार वसुगणों ने त्रयोदशाक्षर छन्द के द्वारा त्रयोदश स्तोम को अधिगत किया, उस स्तोम को मैं आपकी कृपा से अधिगत करूँ।....आदित्य देवों ने जिस प्रकार चतुर्दशाक्षर छन्द से चतुर्दश स्तोम को अधिगत किया, उसी प्रकार मैं भी उसे अधिगत करूँ। जैसे देवमाता अदिति ने षोडशाक्षर छन्द से षोडश स्तोम को प्राप्त किया, उसी प्रकार मैं भी उसे प्राप्त करूँ। जिस प्रकार प्रजापति ने सप्तदशाक्षर छन्द से सप्तदश स्तोम को प्राप्त किया, उसी प्रकार मैं भी आपके अनुग्रह से उसे प्राप्त करूँ।

दयानन्दस्तु—हे राजादिसभ्यजना वसवश्चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्येण गृहीतविद्या भवन्तो यथा त्रयोदशाक्षरेणासुर्यानुष्टुभा त्रयोदशं दशप्राणजीवमत्तत्त्वानां संख्यापूरकमव्यक्तं कारणं स्तोमं स्तुतियोग्यम् उदजयन् श्रेष्ठत्वेन ज्ञातवन्तः, हे बलवीर्यवन्तः पुरुषार्थिनश्च रुद्राश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्येणाधीतविद्याः ! चतुर्दशाक्षरेण साम्न्युष्णिहा चतुर्दशं दशेन्द्रियमनोबुद्धिचित्तानां पूरकमहङ्कारं स्तोमं स्तवनीयमुदजयन् प्रशंसन्ति, तथाहमपि तमुज्जेषं प्रशंसेयम्। हे समाचरिताष्टचत्वारिंशद्वर्षपरिमितब्रह्मचर्येण गृहीतविद्याः ! पञ्चदशाक्षरेण आसुर्या गायत्र्या पञ्चदशं चत्वारो वेदाश्चत्वार उपवेदाः षडङ्गानि च मिलित्वा चतुर्दशविद्यास्तासां संख्यापूरकं क्रियाकौशलं स्तोमं स्तोतुमर्हमुदजयन् सम्यग् जानन्ति, तथैवाहमपि तमुज्जेषम्। हे सभाध्यक्षस्य पत्नि अदिति ! अविद्यमाना दितिर्नाशो यस्याः सा अखण्डितैश्वर्या भवती, यथा षोडशाक्षरेण साम्न्यानुष्टुभा षोडशं प्रमाणादिसमूहं स्तोमं स्तुत्यं षोडशाक्षरेण षोडशं स्तोममुदजयत् श्रेष्ठतया जानाति, तथाहमप्युज्जेषम्। हे प्रजापते सर्वाभिरक्षक सज्जन नरेश ! भवान् प्रजापतिर्यथा सप्तदशाक्षरेण निचृदार्च्या गायत्र्या सप्तदशं चत्वारो वर्णाश्चत्वार आश्रमाः श्रवणमनननिदिध्यासनानि कर्माणि, अलब्धस्य लिप्सा, लब्धस्य प्रयत्नेन रक्षणम्, रक्षितस्य वृद्धिः, वृद्धस्य सर्वोपकारके सत्कर्मणि व्ययकरणमेवं चतुर्विधः पुरुषार्थः, मोक्षानुष्ठानं चेति सप्तदशं स्तोममतिप्रशंसनीयमुदजयद् उत्कर्षात्, तथाहमुत्कर्षेयम्' इति, तदपि बालजनप्रतारणमेव, निर्मूलत्वात्, वस्वादिपदानां तादृशार्थबोधने मानाभावात्। त्रयोदश-स्तोमपदयोरपि न त्वदुक्तोऽर्थः, दशेन्द्रियमनोबुद्धिचित्तैरपि त्रयोदशसंख्योपपत्त्या त्वदीयार्थे विनिगमनाविरहात्। तथैव पञ्चदश-षोडश-सप्तदशसंख्येयानामपि अन्यथा सम्भवेन तदयोगात्। 'उदजयत्' इति क्रियापदस्यापि क्वचित्प्रशंसनं क्वचिज्ज्ञानमित्यादयोऽर्थभेदा निर्मूला एव। पञ्चदशेत्यनेन दशेन्द्रियाणि पञ्च प्राणाः कुतो न गृह्येरन् ? षोडशेति षोडशविकाराः कुतो न गृह्येरन् ? सप्तदशेति सूक्ष्मदेहगतसप्तदशतत्त्वानि कुतो न गृह्येरन्नित्यादिपर्यनुयोगस्य सम्भवात् ॥ ३४ ॥

एष ते॑ निर्ऋते भा॒गस्तं जु॑षस्व॒ स्वाहा॒ऽग्निने॑त्रेभ्यो दे॒वेभ्यः॑ पुरः॒सद्भ्यः॒ स्वाहा॑ य॒मने॑त्रेभ्यो दे॒वेभ्यो॑ दक्षिणा॒सद्भ्यः॒ स्वाहा॑ विश्वदे॑वनेत्रेभ्यो दे॒वेभ्यः॑ पश्चा॒त्सद्भ्यः॒ स्वाहा॑ मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा म॒रुन्ने॑त्रेभ्यो वा दे॒वेभ्य॑ उत्तरा॒सद्भ्यः॒ स्वाहा॒ सोम॑नेत्रेभ्यो दे॒वेभ्य॑ उपरि॒सद्भ्यो॒ दुव॑स्वद्भ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ३५ ॥

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्यान मूलरहित होने के कारण बालविनोद की भाँति है। वसु आदि शब्दों के द्वारा उन-उन अर्थों का बोध करने में कोई प्रमाण नहीं है। त्रयोदश स्तोम आदि पदों का भी प्रतिपादित अर्थ युक्त नहीं है, क्योंकि दस इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा चित्त इस प्रकार भी तेरह संख्या की युक्ति सिद्ध हो जाने पर उस अर्थ में निश्चित युक्तिप्रामाण्य नहीं है। इसी प्रकार पञ्चदश, षोडश, सप्तदश आदि शब्दों की उपपत्ति भी दूसरे प्रकार से की जा सकती है। 'उदजयत्' इस क्रियापद के भी अर्थ कहीं प्रशंसा, कहीं ज्ञान इत्यादि करना अप्रामाणिक है। 'पञ्चदश' शब्द से दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण क्यों नहीं ग्रहण किये जायँ ? षोडश शब्द से सोलह विकार क्यों न माने जाँय ? सप्तदश शब्द से सूक्ष्म देश के सत्रह तत्त्व क्यों न समझे जाँय ? इत्यादि जिज्ञासाएँ सम्भव हैं ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! यह तुम्हारा भाग है, इसको प्रीतिपूर्वक स्वीकार कीजिये। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। जिन देवताओं का अग्नि नेता है, पूर्व दिशा में बसने वाले उन देवताओं की प्रीति के निमित्त यह आहुति दी जा रही है, यह भली प्रकार गृहीत हो। जिनका यम नेता है, उन दक्षिण दिशा में बसने वाले देवताओं की प्रीति के

अथ राजसूयप्रकरणम्

'राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत' (आप० १८।८।१-४) इति तं प्रकृत्यामनन्त्यवेष्टिम्—'आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा' इत्येवमादि। तां प्रकृत्याधीयते—'यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेत्, यदि वैश्यो वैश्वदेवम्, यदि राजन्य ऐन्द्रम्' इति, तत्र सन्दिह्यते—किं ब्राह्मणादीनां प्राप्तानां निमित्तार्थेन श्रवणमुत ब्राह्मणादीनामयं भागो विधीयत इति ? अत्र यदि प्रजापालनकण्टकोद्धरणादिकर्म राज्यम्, तस्य कर्ता राजेति राजशब्दस्यार्थस्ततो राजा राजसूयेन यजेतेति राज्यस्य कर्तू राजसूयेऽधिकारः, तदा सम्भवन्त्यविशेषेण ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्या राज्यस्य कर्तार इति सिद्धं सर्व एवैते राजसूये प्राप्ता इति। 'यदि ब्राह्मणो यजेत' इत्येवमादयो निमित्तार्थाः श्रुतयः। अथ राज्ञः कर्म राज्यमिति राजकर्तृयोगात् तत्कर्म राज्यम्, ततः को राजेत्यपेक्षायामार्येषु तत्प्रसिद्धेरभावात् पिक-नेम-तामरसादिशब्दार्थावधारणाय म्लेच्छप्रसिद्धिरिवान्ध्राणां क्षत्रियजातौ राजशब्दप्रसिद्धिस्तदवधारणे कारणमिति क्षत्रिय एव राजेति न ब्राह्मणवैश्ययोः प्राप्तिरस्तीति राजसूयप्रकरणं भित्त्वा ब्राह्मणादिकर्तृकाणि पृथगेव कर्माणि प्राप्यन्त इति न नैमित्तिकानीति। तत्र राज्यस्य कर्ता राजेत्यार्याणामान्ध्राणां चाविवादः। तथाहि—ब्राह्मणादिषु प्रजापालनकर्तृषु कनकदण्डातपत्रश्वेतचामरादि-लाञ्छनेषु राजपदमान्ध्राश्चार्याश्चाविवादं प्रयुञ्जाना दृश्यन्ते, तेनाविप्रतिपत्तिः। विप्रतिपत्तावप्यार्यान्ध्रप्रयोगयोर्यववराहवद् आर्यप्रसिद्धेरान्ध्रप्रसिद्धितो बलीयस्त्वादार्यबलप्रदार्यप्रसिद्धिविरोधे त्वतन्मूलायाः पाणिनीयप्रसिद्धेः 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्' (मी० सू० १।१।३) इति न्यायेन बाधनात् तदनुगुणतया कथञ्चिन्नखनकुलादिवदन्वाख्यानमात्रपरतया नीयमानत्वाद् राज्यस्य कर्ता राजेति सिद्धे निमित्तार्थाः श्रुतय इति। तथा च यदिशब्दोऽप्याञ्जसः स्यादिति पूर्वपक्षस्य वाचस्पतिमिश्रेणोक्तम्—'रूपतो न विशेषोऽस्ति ह्यार्यम्लेच्छप्रयोगयोः। वैदिकाद्वाक्यशेषात्तु विशेषस्तत्र दर्शितः॥' इति।

तदिह राजशब्दस्य कर्मयोगाद्वा कर्तरि प्रयोगः, कर्तृप्रयोगाद्वा कर्मणीति संशये वैदिकवाक्यशेषवदभियुक्ततरस्यात्रभवतः पाणिनेः स्मृतेर्निर्णीयते—प्रसिद्धिरान्ध्राणामनादिरादिमती चार्याणां प्रसिद्धिः, गोगाव्यादिशब्दवत्। न च सम्भावितादिमद्भावा प्रसिद्धिः पाणिनिस्मृतिमपोद्यानादिप्रसिद्धिमादिमतीं कर्तुमुत्सहते, गाव्यादिप्रसिद्धेरनादित्वेन गवादिप्रसिद्धेरप्यनादिमत्त्वोपपत्तेः। तस्मात् पाणिनीयस्मृत्यनुमतान्ध्रप्रसिद्धेर्बलीयस्त्वेन क्षत्रियत्वजातौ राजशब्दे मुख्ये राज्यकर्तर्यजातौ राजशब्दो गौण इति क्षत्रियस्यैवाधिकाराद् राजसूये तत्प्रकरणमपोह्यावेष्टेरुत्कर्ष इत्यन्वयानुरोधी यदिशब्दो न त्वपूर्वविधौ तदन्यथयितुमर्हतीति (३।३।५२) भामत्याम्। तदेतत् स्पष्टयन्ति कल्पतरुकाराः—पिकः कोकिलः, नेमोऽर्धः, तामरसं पद्ममिति म्लेच्छप्रसिद्ध्या यथा पिकादिशब्दार्थावधारणम्, तथैवान्ध्राणां प्रसिद्ध्या राजशब्दस्य क्षत्रियजातिरर्थो निर्धार्यते। यद्यपि तत्र राज्यकर्तृमात्रे राजशब्द आर्यैर्म्लेच्छैश्च प्रयुज्यते, राज्यमकुर्वति क्षत्रियजातिमात्रे राजशब्दमार्या न प्रयुञ्जते,

---

निमित्त यह आहुति दी जा रही है, यह भली प्रकार गृहीत हो। विश्वेदेव देवता जिनके नेता हैं, उन पश्चिम दिशा में निवास करने वाले देवताओं की प्रीति के निमित्त यह आहुति दी जा रही है, यह भली प्रकार गृहीत हो। जिनके नेता मित्रावरुण हैं, या जिनके नेता मरुद्देवता हैं, उत्तर दिशा में निवास करने वाले उन देवताओं की प्रीति के निमित्त दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। जिनका नेता सोम है, ऐसे परिचर्या वाले ऊर्ध्व दिशा अन्तरिक्ष में निवास करने वाले देवताओं की प्रीति के निमित्त दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो॥ ३५॥

भाष्यसार—'एष ते' इस कण्डिका से राजसूय यज्ञ का विषय प्रारम्भ होता है। राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान राजा के द्वारा किया जाता है, अतः राजपद पर अभिषिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि किसी भी वर्ण के यजमान द्वारा यह यज्ञ

म्लेच्छास्तु प्रयुञ्जत इति विप्रतिपत्तिः। अविप्रतिपत्तिस्थले विरोधाभावाद् राज्यस्य कर्ता राजेति त्रैवर्णिकानां राजत्वेऽवेष्टौ प्राप्तिः, प्राप्तौ च सत्यां निमित्तार्थत्वं 'यदि ब्राह्मणः' इत्यादेः स्यात्। या तु क्षत्रियमात्रे राजशब्दप्रयोगे म्लेच्छानामार्यैः सह विप्रतिपत्तिः, तत्र शास्त्रसहितार्थप्रसिद्धया तद्विहीनम्लेच्छप्रसिद्धिबाधान्न जातिमात्रं राजशब्दार्थः, किन्तु राज्यकर्तैव तदर्थ इति।

क्व शास्त्रसहितार्थप्रसिद्धया म्लेच्छप्रसिद्धिबाधः? इत्यपि कल्पतरौ स्पष्टम्। तथा हि—'यवमयश्चरुर्भवति', 'वाराही उपानहौ' इत्यत्र यववराहशब्दयोर्म्लेच्छैः पियङ्गुवायसयोः प्रयोगात्, आर्यैश्च दीर्घशूकसूकरयोः प्रयोगादुभयोश्च प्रयोगयोरनादित्वेन तुल्यबलत्वाद्विकल्पेनाभिधानं प्राप्तमिति। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे जैमिनिना—'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' (मी० सू० १।३।८)। तत्र सिद्धान्तसूत्रम्—'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' (मी० सू० १।३।९)। यवमय इत्यस्य वाक्यशेषः—'यदान्या ओषधयो म्लायन्तेऽथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति' इति, 'यवाश्चान्यौषधिम्लानौ मोदन्ते न प्रियङ्गवः। फाल्गुने ह्यौषधीनां हि जायते पत्रशातनम्॥ मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः॥ प्रियङ्गवः शरत्पक्वास्तावद् गच्छन्ति हि क्षयम्। यदा वर्षासु मोदन्ते सम्यग्जाताः प्रियङ्गवः। तदा नान्यौषधिग्लानिः सर्वासामेव मोदनात्॥' (त० वा० १।३।९) इति, 'वाराही उपानहौ' इत्यस्य च वाक्यशेषे—'वराहं गावोऽनुधावन्ति' (मै० सं० १।६।३) इति श्रूयते। सूकरं च गावोऽनुधावन्ति न काकम्। तस्माद्यववराहशब्दयोर्दीर्घशूकसूकरावर्थाविति। इत्थं म्लेच्छार्ययोरनादिप्रसिद्धिसाम्येऽपि शास्त्रसहितप्रसिद्धेर्बलीयस्त्वेन शास्त्रहीनप्रसिद्धिबाधः, नानादिम्लेच्छप्रसिद्धिबाधे किञ्चिन्मूलम्। ननु म्लेच्छप्रसिद्धिमात्रेण क्षत्रियजातौ राजशब्दार्थ इति न ब्रूमः, किन्तु—'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि ष्यञ्' (पा० सू० ५।१।१२४) इति पाणिनिना गुणवचनेभ्यः शुक्लादिशब्देभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च ष्यञ्प्रत्ययस्मरणाद् राज्ञः कर्म राज्यमिति सिद्धयति। ततश्च क्षत्रियो राजा, ततः क्षत्रियस्यैव राज्यपरिपालनं कण्टकाद्युद्धरणं धर्मः, तथाप्युल्लङ्घितमर्यादौ ब्राह्मणवैश्यावपि राज्यं कुर्वाणौ दृश्येते इति तावपि राजशब्दवाच्यौ, शब्दवाच्यतायां प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावमात्रस्यापेक्षितत्वात्' इति परिमलकाराः।

ननु प्रयोगमूला हि पाणिनिस्मृतिः। आर्यप्रयोगविरोधेऽतन्मूला म्लेच्छप्रयोगमूला स्यात्। तेन मूलबाधेन बाध्या पाणिनिस्मृतिः। यथा खं न भवतीति नखः, कुलं न भवतीति नकुलमिति रूढावेव शब्दौ व्युत्पाद्येते, एवं राजशब्दोऽपि। पाणिनिर्हि—'नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या' (पा० सू० ६।३।७५) इति नखादिशब्दानां नञ्समासमङ्गीकृत्य नलोपाभावसिद्धयर्थं प्रकृतिभावं सस्मार।

यदुक्तम्—'यववराहादिशब्देष्विव राजशब्देऽपि क्षत्रियमात्रविषयत्वगोचरा म्लेच्छप्रसिद्धिरार्यप्रसिद्धया बाध्या' इति, तदसङ्गतम्, अनादिवृद्धव्यवहाररूढत्वादार्यम्लेच्छप्रयोगयोरुभयोरपि स्वरूपतो विशेषाभावात्। यवादिशब्देषु तु वैदिकवाक्यशेषानुगृहीतार्यप्रसिद्धेर्बलवत्त्वम्। राजशब्दे त्वार्यप्रसिद्धौ नास्ति वेदानुग्रह इति द्वयोः प्रसिद्धयोरविशेष एव। म्लेच्छप्रसिद्धौ राजशब्दविषये वैदिकवाक्यशेषवदभियुक्ततरस्य तत्रभवतः पाणिनेः स्मृतेरस्त्येवानुग्रहः। प्रयोगो हि नानादेशेषु नानापुरुषैर्विरच्यत इति सम्भवेद्विप्लवः, स्मृतिस्तु शिष्टपरिगृहीता व्यवस्थिता। ततश्च तदनुगृहीतम्लेच्छप्रयोग आर्यप्रयोगाद् बलीयानेव—'आचारयोर्विरोधेन सन्देहे सति निर्णयः। सनिबन्धनया स्मृत्या बलीयस्त्वादवाप्यते॥' इति।

नन्वनादिवृद्धव्यवहाररूढत्वादार्यम्लेच्छप्रयोगयोः स्वरूपतस्तावन्न विशेषः, इति चेन्न, तथात्वे स्वरवर्णादिभ्रंशे प्रत्यवायमनुसन्दधानानामार्याणां प्रसिद्धेराप्तिमूलत्वाद् बलवत्त्वेन तदपेक्षया म्लेच्छानां तु गवादि-

---

किया जा सकता है, अथवा केवल क्षत्रिय ही इसका अधिकारी है ? यह जिज्ञासा उदित होती है। इसके सम्बन्ध में प्रथमतः

विषये गाव्यादिशब्दमपभ्रंशं प्रयुञ्जानानां प्रसिद्धेरनाप्तमूलत्वेन दुर्बलत्वात्। राजशब्दे तु आर्यप्रसिद्धेर्नास्ति वेदानुग्रह इत्यप्यसङ्गतम्, 'विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳬ राजा' (वा० सं० ९।४०), 'सोम ओषधीनाᳬ राजा', 'इन्द्रो राजा' (　　　　), 'जगतश्चर्षणीनाम्' (　　　　) इत्यादिवेदानुग्रहसद्भावात्, तदभावेऽपि स्वत एवार्यप्रसिद्धेर्बलवत्त्वविशेषसद्भावाच्च। स्मृत्यनुग्रहोऽप्युभयत्र समान एव। तेन स्मृत्यनुगृहीतो म्लेच्छप्रयोग आर्षप्रयोगाद् बलीयानित्यप्ययुक्तम्, राज्यशब्दे गुणवचनादिसूत्रेण विधीयमानष्यञ्प्रत्ययप्रकृतिभूतस्य ब्राह्मणादिगणपठितस्य राजशब्दस्य क्षत्रियार्थताया इव पालकार्थताया अपि उपपन्नतया स्मृतेरुभयसाधारण्यात्। नहि विधीयमानप्रत्ययार्थादन्यदेव प्रकृत्यर्थप्रवृत्तिनिमित्तं ग्राह्यमिति नियमोऽस्ति, काठकशब्दे कठप्रोक्तशाखाध्यायिनामाम्नाय इत्यर्थके गोत्रचरणादिसूत्रविधीयमानप्रत्ययार्थस्य कठप्रोक्ताम्नायस्य कठप्रोक्तशाखाध्यायिवाचककठशब्दरूपप्रकृत्यर्थप्रवृत्तिनिमित्तान्तर्भावात्, घटस्य शौक्ल्यमित्यत्र वर्णदृढादिसूत्रविधीयमानस्य ष्यञ्प्रत्ययार्थस्य शुक्लगुणस्यैव शुक्लगुणविशिष्टद्रव्यविषयकशुक्लशब्दरूपप्रकृत्यर्थप्रवृत्तिनिमित्तत्वस्य दर्शनात्।

किञ्च, ब्राह्मणादिगणपठितस्य राजशब्दस्य पालकार्थत्वमेव ग्राह्यम्, अन्यथा 'यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत् प्रीत्या महीपतिः' (वा० रा० १।१।२१) इत्यादिप्रयोगेषु ष्यञ्प्रत्ययो न स्यात्, तत्र राजशब्दस्य क्षत्रियार्थत्वे युवत्वराजत्वयोः प्रागेव सिद्धतया संयोक्तुमिष्यमाणस्यालाभात्। न च तत्र मा भूत् ष्यञ्प्रत्ययः, 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' (पा० सू० ५।१।१२८) इति भावकर्मणोरेव विहितो यक्प्रत्ययोऽस्तु, पुरोहितादिगणेऽपि राजशब्दस्य पाठादिति वाच्यम्, तत्र 'राजा' इत्येतदसमासगतस्य राजशब्दस्य पाठेन ततो युवराजशब्दाद्प्राप्त्या ष्यञ एवान्वेषणीयत्वात्, ब्राह्मणादिगणपठितस्यैतस्यापि पालकार्थत्वोपपत्तेश्च, जनपदविशेषवाचिनो विदेहपञ्चालादिशब्दात् तस्य राजेत्यर्थेऽपत्यार्थकप्रत्ययातिदेशे 'तस्य राजन्यपत्यवत्' (पा० सू०　　　) इति वार्तिके राजशब्दस्य पालकार्थतायाः सम्प्रतिपन्नत्वाच्च। विदेहानां राजा वैदेहः, पञ्चालानां राजा पाञ्चाल इत्यादि हि तदुदाहरणम्। राजपदस्य पालकत्वाध्यवसाये सति 'यत्कर्मधारय' इति, 'ब्राह्मणकुमारयोः' (पा० सू० ६।२।५७-५८) इति चानुवृत्तौ राजेति पूर्वपदं ब्राह्मणकुमारयोरन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरो भवति। पूर्वपदप्रकृतिस्वरविधायकस्य 'राजा च' (पा० सू० ६।२।५९) इति सूत्रस्योदाहरणं राजब्राह्मण इति, तदपि राजत्वब्राह्मणत्वयोर्युगपत् सामानाधिकरण्यादाञ्जस्यं लभते।

ननु मा भूद् राज्यशब्दव्युत्पादकस्मृत्या म्लेच्छप्रसिद्धेरनुग्रहः, 'राजश्वसुराद्यत्' (पा० सू० ४।१।१३७) इति स्मृत्या राजशब्दादपत्यार्थे यत्प्रत्ययविधानार्थतया तु स्यात्, क्षत्रियापत्य इव जनपदपालकब्राह्मणाद्यपत्ये राजन्यशब्दप्रयोगाभावेन तत्र प्रकृतिभूतस्य राजशब्दस्य क्षत्रियार्थकताया एव ग्राह्यत्वादिति चेत्, तथाभ्युपगमेऽप्यार्यप्रसिद्धेरपि पाणिन्यनुग्रहस्य तुल्यत्वेन राजसूयवाक्ये क्षत्रियग्रहे विनिगमनाविरहात्।

यत्तु—'स्मृतिशब्देन आर्षं धर्मशास्त्रादिकमनुग्राहकत्वेन विवक्षितम्, गौतमीये हि धर्मशास्त्रे द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानमिति त्रैवर्णिकानां साधारणधर्मोक्त्यनन्तरम् – 'ब्राह्मणास्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः' इत्यादिना ब्राह्मणवैशेषिका धर्मा उक्ताः। क्षत्रियवैश्यवैशेषिकधर्मोक्तिप्रस्तावे राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानामिति राजशब्दः प्रयुक्तः। न च तस्य पालनार्थग्रहणं युक्तम्, प्रकरणानुरोधात् पालकमेवोद्दिश्य पालनविधानायोगात्। नहि यः पालकस्तेन पालनं कर्तव्यमित्यन्वयो युक्तः। स्मृतिग्रहणं श्रुतेरप्युपलक्षणम्। अस्ति म्लेच्छप्रसिद्धेरनुग्राहिका राजानमभिषेचयेति श्रवणेन वेति श्रुतिः। अत्र हि राज्ञः सतोऽभिषेको विधीयते। न च क्षत्रियत्वमिव

श्रुतिवाक्य, जैमिनिसूत्र, ब्रह्मसूत्र, पाणिनिसूत्र, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, भामती टीका, परिमल-कल्पतरु

पालकत्वं प्राक् सिद्धमस्ति, अभिषिक्तस्य स्मृतिषु पालनविधानात् । न च 'यूपं तक्षति' ( ) इत्यत्र तक्षणेन यूपं कुर्यादितिवद् अभिषेकेण राजानं कुर्यादिति क्लिष्टकल्पनं युक्तम्, यूपशब्दार्थस्येव राजशब्दार्थस्य प्राक्सिद्धस्य सत्त्वाभावात्, म्लेच्छप्रयोगप्रसिद्धस्य क्षत्रियस्य सत्त्वात्' इति, तदपि न युक्तम्, विनिगमनाविरहस्य तादवस्थ्यात्, आर्यप्रसिद्धेरपि श्रुत्यनुग्रहस्य दर्शितत्वात्, 'नगरस्थो वनस्थो वा त्वं नो राजा जनेश्वरः। विविक्ते देवराजानमिदं वचनमब्रवीत् ॥' इत्यादिस्मृत्यनुग्रहस्यापि सत्त्वात् । 'राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते तेनैतान् राजेत्याचक्षते' ( ) इति श्रुतेः, 'रञ्जनात् खलु राजत्वं प्रजानां पालनादपि' ( ) इति भारतवचनात् पालकत्वं राजशब्दार्थ इति साक्षात्प्रतिपादनाच्च । एतेनैव क्षत्रियवाचिनो राजशब्दस्य पालकत्वसादृश्याद् आर्याणां जनपदपरिपालके ब्राह्मणादौ प्रयोग इत्येतदर्थकाग्रिमग्रन्थस्याप्ययुक्तं व्याख्यानम्, पालकवाचिन एव पालकत्वयोग्यक्षत्रिये गौणतेति वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात् । तस्मात् सर्वोऽयं भामतीकल्पतरुसिद्धान्तग्रन्थोऽयुक्त इति चेदत्रोच्यते, विनिगमनाविरहादर्थद्वयसत्त्वेऽपि राजसूयवाक्ये राजशब्दस्य क्षत्रिय एवार्थो ग्राह्यः, सप्रतियोगिकौपाधिकधर्मरूपपालकत्वापेक्षया निष्प्रतियोगिकाखण्डरूपधर्मक्षत्रियत्वजातेर्लघुत्वेनासति बाधके लघुप्रवृत्तिनिमित्तकार्थग्रहणौचित्यात् । न चावेष्टिवाक्यगतत्रैवर्णिकप्राप्तिद्योतकयदिशब्दस्वारस्याद् गुरोरप्यर्थकस्य ग्रहणं युक्तमिति वाच्यम्, द्योतकनिपातस्वारस्यानुरोधेन वाचकानां स्वारस्यायोगात् ।

वस्तुतस्तु श्रुतिस्मृतिप्रयोगवैयाकरणव्यवहाराणामुभयत्र साम्येऽपि क्षत्रियेष्वेव शक्तिः, तेषु क्षत्रियत्वजातेरिव पालकेष्वनुगतानतिप्रसक्तशक्यतावच्छेदकरूपाभावात् । तथाहि—न च पालनमात्रं निमित्तम्, सर्वसाधारण्यप्रसङ्गात् । सर्वेषां पुत्रदारधनादिविषयमन्ततः स्वशरीरविषयं वा पालनम् । नापि जनपदपालनं निमित्तम्, राज्ञा नियुक्ते तत्तत्पदाधिकारिणि सत्यपि तत्र राजपदप्रयोगायोगात् । नापि स्वतन्त्रपालनं निमित्तम्, साम्राजा नृपतिना देशविशेषे राजभावेनाभिषिक्ते तदभावात् । किञ्च, विनापि पालकत्वं श्रैष्ठ्यमात्रेण राजपदप्रयोगो भवति मृगराज-पक्षिराज-वृक्षराजादिशब्देषु । तस्य 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० सू० २।२।३१) इत्युपसर्गपरनिपातविधायकपाणिनिस्मृत्यनुग्रहोऽप्यस्ति, तस्मादनुगतानतिप्रसक्तजातिमित्तकः क्षत्रियार्थ एव राजशब्दः, क्षत्रियेषु प्रायेण पालकत्वस्य तत्कृतस्य श्रैष्ठ्यस्य च सद्भावात् । क्वचित्पालके केनचिद् गुणेन श्रैष्ठ्ये च तस्य निरूढा लक्षणेत्येव युक्तम् । तत्तु स्मृत्याद्यनुगृहीतम्लेच्छप्रसिद्धिप्रसादलभ्यमिति । स्वरूपतस्तावन्न विशेषोऽस्तीत्यस्य तु राजशब्दगोचरयोरार्यम्लेच्छप्रयोगयोर्गोगावीशब्दप्रयोगयोरिव स्वरूपतो वर्णविकाररूपश्रुतिस्मृत्यनुग्रहसदसद्भावकृतो वा विशेषो नास्तीत्येवार्थः । एवमिह म्लेच्छप्रसिद्धेरपभ्रंशत्वादिमूलकदौर्बल्यशङ्कापि निरस्ता । तदनन्तरवाक्येन यववराहादिशब्देष्वार्यप्रसिद्धेरेव वाक्यशेषानुग्रहः, अतस्तत्र तदादर इति प्रकृताद्वैषम्यमुक्तम् । अत एव नास्ति वेदानुग्रह इत्यस्य वाक्यशेषानुग्रहो नास्तीत्येवार्थः । यदि राजसूयवाक्यशेषानुग्रहः स्यादार्यप्रसिद्धेस्तदा तद्वाक्यगतराजशब्दस्य वक्ष्यमाणरीत्या प्रवृत्तिनिमित्तगौरवं गौणवृत्त्यापत्तिं चाविगणय्य पालक एवार्थो ग्राह्यः स्यात्, 'गौण्या लक्षणया वापि वाक्यशेषेण वा पुनः । वेदोक्तमाश्रयत्यर्थं को नु तं प्रतिकूलयेत् ॥' इति न्यायात् । अतो वाक्यशेषाभाव उक्तः । विशेषमाहेत्यस्य राजसूयवाक्ये राजशब्दस्य क्षत्रियार्थग्रहणे प्रवृत्तिनिमित्तलाघवरूपं मुख्यवृत्तिलाभरूपं वा विशेषमाहेत्यर्थः ।

आदि के उद्धरणों की विशद विवेचना करते हुए अनेक प्रमाण, तर्क तथा युक्तियों के आधार पर शास्त्रीय निष्कर्ष के रूप में यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय ही अधिकारी है ।

अथ राजसूयमन्त्राः। राजसूयमन्त्राणां वरुण ऋषिः। 'अष्टाकपालोऽनुमत्यै, शम्यायाः पश्चाद्धविष्यमन्नँ स्रुवे कृत्वा दक्षिणाग्न्युल्मुकमादाय दक्षिणा गत्वा स्वयं प्रदीर्णं ईरिणे वाग्नौ जुहोत्येष ते निर्ऋत इति' (का० श्रौ० १५।१।९-१०)। फाल्गुनाद्यदशम्यामनुमत्यै अष्टाकपालः पुरोडाशः कार्यः। पौर्णमास्यभिमानिनी देवता काचिदनुमतिः। 'चक्षुषे त्वेतीक्षते' (का० श्रौ० २।५।८) पेषणोत्तरं हविरीक्षणम्, तदन्ते तण्डुलरूपं पिष्टरूपं वा हविष्यं पेषणे क्रियमाणे दृषदधस्तान्निहितशम्यायाः पश्चात् कृष्णाजिनस्योपरि यत् पतितं भवेत्, तत् खादिरे स्रुवे निधाय दक्षिणाग्नेरुल्मुकमादाय दक्षिणस्यां दिशि गत्वा स्वयं प्रदीर्णे स्फुटिते ईरिणे ऊषरे वा भूभागे उल्मुकं संस्थाप्य तद्धविर्जुहुयात्। पृथिवीदेवत्यं यजुः। हे निर्ऋते पृथिवि पापदेवते वा, एष पिष्टरूपस्ते भागो भजनीयोंऽशस्तं जुषस्व सेवस्व स्वाहा तुभ्यं सुहुतमस्तु। भूमिर्द्विविधा—शालिगोधूमादिसस्याढ्या, तदयोग्या च। तत्राद्यभूमिरूपाऽनुमतिः, द्वितीयभूमिरूपा निर्ऋतिः (तै० सं० १।८।१।१)। सैवानिष्टकारिणी पापदेवता। पञ्चवातीयमाह–'पञ्चवातीयमाहवनीयं प्रतिदिशं व्युह्य मध्ये च स्रुवेणाग्निषु जुहोत्यग्निनेत्रेभ्य इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।१।२०)। ततः कस्मिंश्चिद्दिने पञ्चवातीयाख्यं होमं कुर्यात्। तत्राहवनीयखरमध्य एवाग्नेश्चतुर्दिक्षु प्रेरणं कृत्वा मध्ये चावशिष्य स्रुवेणाज्यं पञ्चस्वग्निषु यथालिङ्गं जुहुयात्। इतः परमध्यायसमाप्तिपर्यन्तं देवानामार्षम्। दश यजूंषि देवदेवत्यानि। अग्निर्नेता येषां तेऽग्निनेत्रास्तेभ्यः, पुरः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि सीदन्तीति पुरःसदस्तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु। अथ दक्षिणे जुहोति– यमो नेता येषां तेभ्यो यमनेत्रेभ्यः, दक्षिणस्यां दिशि सीदन्तीति दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा। अथ पश्चाज्जुहोति—विश्वे देवा नेतारो येषां तेभ्यः, पश्चात् सीदन्ति ये तेभ्यः स्वाहा। अथोत्तरार्धे जुहोति—मित्रावरुणौ नेतारौ येषां तेभ्यो मित्रावरुणनेत्रेभ्यः, मरुतो नेतारो येषां तेभ्यो वा उत्तरस्यां सीदन्तीति तेभ्य उत्तरासद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा। अत्र मित्रावरुणनेत्रेभ्य उत्तरासद्भ्यः, मरुन्नेत्रेभ्य उत्तरासद्भ्य इति मन्त्रयोर्विकल्पः। मध्ये जुहोति—सोमनेत्रेभ्यः सोमो नेता येषां तेभ्यः, उपरिसद्भ्य उपरि सीदन्ति ये तेभ्यः, दुवस्यद्भ्यः परिचर्यावद्भ्यः, अथवा दुवो हव्यं येषां तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा।

अत्र ब्राह्मणम्—'पूर्णाहुतिं जुहोति। सर्वं वै पूर्णँ सर्वं परिगृह्य सूया इति तस्यां वरं ददाति सर्वं वै वरः सर्वं परिगृह्य सूया इति स यदि कामयेत जुहुयादेतां यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत' (श० ५।२।३।१)। ब्रह्मक्षत्रोभयकर्तृको यागो वाजपेय उक्तः। क्षत्रकर्तृको राजसूयः, अकृतवाजपेयस्य राजन्यस्यैव तत्राधिकारात्, वाजपेयेनेष्टवतो राज्यफलादपि साम्राज्यफलस्यातिशयितत्वादुत्तमफलसाधनयागानन्तरमवरफलहेतुक्रतुकरणस्यायुक्तत्वात्। 'राज्ञो राजसूयोऽनिष्टिनो वाजपेयेन' (का० श्रौ० १५।१।१-२)। इष्टि-पशु-सोम-दर्वीहोमशतप्रधानो राजसूयः। 'श्वोभूतेऽनुमत्यै अष्टाकपालम्' ( ) इत्यादिना विहिता इष्टयः, 'अथ श्येनीं विचित्रगर्भामदित्याऽऽलभते' इत्यादिना विहिताः पशवः। पवित्राभिषेचनीयदशपेयकेशवपनीयव्युष्टिद्विरात्रक्षत्रधृतिसंज्ञकाः सप्त सोमयागाः। पञ्चवातीयादयो दर्वीहोमाः। तत्र पवित्रनामके प्रथमसोमयागे प्रकृतिसमानत्वेन वक्तव्याभावात् तं परित्यज्य तदवसाने कर्तव्यं पूर्णाहुतिप्रभृति वैशेषिकमुत्तरतन्त्रमभिधीयते (तै० सं० १।८।१९)। पूर्णाहुतेः कालं कात्यायनः सूत्रयामास—'पवित्रश्चतुर्दीक्षः, सहस्रदक्षिणः,....दीक्षा, तदन्ते पूर्णाहुतिर्गृहेष्विच्छतः' (का० श्रौ० १५।१।४-७)। आज्यपूर्णया जुह्वा हूयत इति पूर्णाहुतिः। सा चानाम्नातमन्त्रत्वात् प्राजापत्या, 'यत् तूष्णीं तत्प्राजापत्यम्' (श० ६।२।२।२०) इति श्रुतेः। तां जुहुयात्। पूर्णपदेन सर्वं गृह्यते। सर्वं जगत् स्वाधीनीकृत्य पश्चाद् राजसूयानुष्ठानेन सूयै अभिषिक्तो भूयासम्, इत्यभिप्रायेण पूर्णाहुतिं कुर्यात्। तस्यां दक्षिणां विधत्ते—वरं ददाति सर्वं वै वरः। तस्यां हुतायां पूर्णाहुतिकरणेच्छायां तदनुष्ठानम्, विपर्यये विपर्ययः।

कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।१।९-१०) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'एष ते' कण्डिका के

'अथ श्वोभूते। अनुमत्यै हविरष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपति स ये जघनेन शम्यां पिष्यमाणानामवशीयन्ते पिष्टानि वा तण्डुला वा तान् स्रुवे सार्धꣳ संवपत्यन्वाहार्यपचनादुल्मुकमाददते तेन दक्षिणा यन्ति स यत्र स्वकृतं वेरिणं विन्दति श्वभ्रप्रदरं वा' (श० ५।२।३।२)। ब्राह्मणानुसारेणैव सूत्रं तद्व्याख्यानं चोक्तमेव। 'तदग्निꣳ समाधाय जुहोति। एष ते निर्ऋते···जुषस्व स्वाहेतीयं वै निर्ऋतिः साऽयं पाप्मना गृह्णाति तं निर्ऋत्या गृह्णाति तद्यदेवास्या अत्र नैर्ऋतꣳ रूपं तदेवैतच्छमयति तथो हैनꣳ सूयमानं निर्ऋतिर्न गृह्णात्यथ यत् स्वकृते वेरिणे जुहोति श्वभ्रप्रदरे वैतदु ह्यस्यै निर्ऋतिगृहीतम्' (श० ५।२।३।३)। उल्मुकाग्निमाधाय स्रुवपूरितेन जुहुयात्। तत्र मन्त्रं विधत्ते—तदग्निं समाधाय जुहोत्येष त इति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। निर्ऋतिः पापदेवता, तथा भूमिः पापिष्ठं जनं पीडयितुं गृह्णाति। तत् तथा सति, अस्या भूमेरत्र राजसूयानुष्ठानप्रदेशे नैर्ऋतं रूपमेतेन होमेन शमितवान् भवति। तथो हैनमित्यादिना नैर्ऋतहोमस्य प्रयोजनकथनम्। एतदु ह्यस्या ईरिणप्रदरात्मकं स्थानमस्यै अस्या भूमेः सम्बन्धि निर्ऋतिगृहीतम्, निर्ऋत्या पापदेवतया आश्रयत्वेन गृहीतम्। अतस्तत्र नैर्ऋतहोमानुष्ठानं युक्तमिति।

'अथाप्रतीक्षं पुनरायन्ति। अथानुमत्याऽष्टाकपालेन पुरोडाशेन प्रचरतीयं वा अनुमतिः स यस्तत्कर्म शक्नोति कर्तुं यच्चिकीर्षतीयꣳ हास्मै तदनुमन्यते तदिमामेवैतत् प्रीणात्यनयाऽनुमत्याऽनुमतः सूया इति' (श० ५।२।३।४)। ततः पुनरागमनं विधत्ते—अथाप्रतीक्षमिति। यत्र निर्ऋत्यै होमः कृतस्तं प्रदेशमनमीक्षमाणा एव पुनर्गच्छेयुः। अथानुमतस्य हविषः प्रचारं विधत्ते—प्रचरन्तीति। आनुमतहविषः संवपनादिकं कुर्युः। इयं वा भूमिरनुमतिः, यत्कर्तुमिच्छति तदनुमन्यते। तयाऽनुमतया भूम्याऽनुमतं राजसूयाख्यं कर्म करवाणीत्यभिप्रायेणानुमतहविर्निर्वापः। तत् तेन हविषा भूमिमेव प्रीणितवान् भवति। 'अथ यदष्टाकपालो भवति। अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्री वा इयं पृथिव्यथ यत्समानस्य हविष उभयत्र जुहोत्येषा ह्येवैतदुभयं तस्य वासो दक्षिणा यद्वै सवासा अरण्यं नोदाशꣳसते निधाय वै तद्वासोऽतिमुच्यते तथो हैनꣳ सूयमानमासङ्गो न विन्दति' (श० ५।२।३।५)। हविःश्रपणसाधनकपालगतामष्टसंख्यां गायत्रीद्वारा पृथिवीयोग्यत्वेन प्रशंसति—गायत्री वा इयं पृथिवीति। यत्समानस्य एकमेव हविरुभयत्र अनुमत्यै निर्ऋत्यै च हूयते, उभयोरपि पृथिव्यात्मकत्वादिति। तस्य वासो दक्षिणेति। यथा लोके पुरुषो वस्त्रसहितः सन्नरण्ये गमनं चौरादिभयान्न कामयते। तद्वस्त्रं भयरहिते स्थाने निधाय चेद् गच्छति तदा अतिमुच्यते भयाद्विमुक्तो भवति, तद्वद् वासोदानेन सूयमानमेनं यजमानमासङ्गो भयं न प्राप्नोति। 'स पूर्वार्ध्ये जुहोति। अग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्य···दक्षिणार्ध्ये जुहोति···पश्चार्ध्ये···उत्तरार्ध्ये··· मध्ये जुहोति' (श० ५।२।४।५) इति सायणादिव्याख्यानं सर्वथापि श्रौतमेव।

अध्यात्मपक्षे तु—हे निर्ऋते पापदेवते, एष ते भागो भजनीयोंऽशस्तं जुषस्व, तत्र तत्रार्चासु तादृशबलिदेवतानां स्मरणात्। यथा श्रीविद्यायां सर्वविघ्नकृद्भ्यो भूतेभ्यो हुँ फड् इति, यथा वा शिवाराधने चण्डाद्यंशः, यथा वा वासुदेवाराधने विष्वक्सेनाद्यंशः, तथैवात्र राजसूयप्रसङ्गे निर्ऋतिदेवतायै बल्युपहरणम्। पुरःसदोऽग्नि-

---

मन्त्रों से अग्नि में हवन आदि क्रियाएँ अनुष्ठित की जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय संहिता में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे पापदेवता निर्ऋति, यह आपका सेवनीय अंश है, इसको ग्रहण करें। विभिन्न पूजाओं में इस प्रकार के बलिभाजन देवताओं का स्मरण किया जाता है। जैसे कि श्रीविद्या में सर्वविघ्नकृद् भूतों के लिये 'हुँ फट्' है, अथवा शिव की आराधना में चण्डांश आदि हैं, अथवा जैसे वासुदेव की उपासना में विष्वक्सेनांश आदि होते हैं, उसी प्रकार यहाँ राजसूय के प्रसंग में निर्ऋति देवता के लिये बलिप्रदान विहित है। संमुख स्थित अग्निनेत्र

नेत्रादयो देवा राजसूयसम्बन्धिनो भगवतः कार्यत्वाद् भगवदभिन्नतयैव संसाधनीया इति तत्तद्रूपेण भगवत एवाराधनं सम्पद्यत इति पूर्वोक्ता एवार्था इहापि ग्राह्याः ।

दयानन्दस्तु—'हे निर्ऋते, नितरामृतं सत्याचरणं यस्मिन् तत्सम्बुद्धौ हे राजन्, ते तव य एष भागो भजनीयो न्यायोऽस्ति, तमग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः, अग्नेः प्रकाश इव नेत्रं नयनं येषां तेभ्यो देवेभ्यो धार्मिकेभ्यो विद्वद्भ्यः स्वाहा सत्यां वाचम्, पुरःसद्भ्यो देवेभ्यो ये पुरः पूर्वं सभायां राष्ट्रे वा सीदन्ति तेभ्यः स्वाहा धर्म्यां क्रियाम्, यमनेत्रेभ्यो यमस्य• वायोर्नेत्रं नयनमिव नीतिर्येषां तेभ्यः, ये दक्षिणायां सीदन्ति तेभ्यो देवेभ्यो विपश्चिद्भ्यः स्वाहा दानक्रियाम्, विश्वदेवनेत्रेभ्यो विश्वेषां देवानां विदुषां नेत्रं नीतिरिव नीतिर्येषां तेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः पश्चात् सीदन्ति ये तेभ्यो देवेभ्यो दिव्यसुखप्रदेभ्यः स्वाहा उत्साहकारिकां वाचम्, मित्रावरुणयोः प्राणोदानयोर्नयनमिव नीतिर्येषां तेभ्यो वा, पक्षान्तरे मरुतामृत्विजां प्रजास्थानानां सज्जनानां वा नेत्रमिव नायकत्वं येषां तेभ्यो देवेभ्यो दिव्यन्यायप्रकाशकेभ्य उत्तरासद्भ्यो य उत्तरस्यां दिशि सीदन्ति तेभ्यः स्वाहा दौत्यकुशलताम्, सोमनेत्रेभ्यः सोमस्य चन्द्रस्य नेत्रं नयनमिव नीतिर्येषां तेभ्य उपरिसद्भ्यः सर्वोपरि विराजमानेभ्यो दुवस्यद्भ्यो विद्याविनयधर्मेश्वरान् सेवमानेभ्यो देवेभ्यः सकलविद्याप्रचारकेभ्यः स्वाहा आप्तवाणीं प्राप्य त्वं धर्मेण राज्यं सदा भुङ्क्ष्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कल्पनामात्रसारत्वात्, तत्तच्छब्दार्थानां निर्मूलत्वात् । यथा व्याघ्रशब्दस्य कश्चित् शुष्कवैयाकरणो विशेषेण आसमन्ताद् जिघ्रतीति व्याख्याय व्याघ्राभिमुखं प्रवृत्तो विनाशं लेभे, तथैव निर्ऋतिशब्दस्यापि नितरामृताचरणवानर्थः । श्रुतौ सायं पाप्मना गृह्णाति तं नैर्ऋत्या गृह्णातीति तद्यदेवास्य नैर्ऋते रूपं तदेवैतच्छमयतीति पापदेवतायास्तदर्थत्वोक्तेः । अग्नेः प्रकाशस्य कीदृशं नयनं कीदृशी वा नीतिः ? न च तद्वत् प्रकाशो विवक्षितः, सर्वासामपि तासां प्रकाशस्वाभाव्यादिति विशेषायोगात् । तथैव देवशब्दानामपि ते तेऽर्थाः काल्पनिका एव । स्वाहाशब्दार्था अपि निर्मूला एव । किञ्च, विशिष्टदेवानां यद्येकरूपैव नीतिस्तदान्येषामपि नीतिस्तत्रैवान्तर्भूतेति तेषां पृथगुल्लेखो व्यर्थ एव स्यात् । किञ्च, यो राजा नितराम् ऋताचरणशीलस्तस्य तेषां तेषां देवानां स्वाहा धर्म्यादिक्रियासेवनोपदेशः पिष्टपेषणमेव स्यात् । किञ्च, स्वाहापदवाच्यास्तास्ताः क्रियाः कथं राज्ञ एव भागः, सर्वेषामपि तद्भागत्वाविशेषात् । किञ्च, मन्त्रे पूर्वं तु न्यायं जुषस्वेत्युक्तम्, पश्चात् स्वाहार्थास्तास्ताः क्रियाः प्राप्य राज्यं जुषस्वेत्युक्तम् । प्राप्य राज्यमित्यादिकं तु मूलमन्त्रे नास्त्येव ।। ३५ ।।

आदि राजसूय सम्बन्धी देवगण भगवान् के कार्य होने के कारण भगवदभिन्न रूप से उपास्य हैं । इस रीति से उन-उन रूपों से भगवान् की ही आराधना सम्पन्न होती है । इस कारण इन मन्त्रों के याज्ञिक प्रक्रिया में वर्णित अर्थ ही अध्यात्म-पक्ष में भी ग्रहण करने चाहिये ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ कल्पनाप्रधान होने के कारण तथा उन शब्दार्थों के प्रमाणरहित होने से ग्राह्य नहीं हैं । जिस प्रकार कोई शुष्क वैयाकरण व्याघ्र शब्द के अर्थ की व्याख्या 'आ समन्ताद् जिघ्रति' (चारों ओर से सूंघता है), इस प्रकार समझ कर बाघ की ओर जाकर मृत्यु को प्राप्त हो गया, इसी प्रकार निर्ऋति शब्द का 'अत्यन्त सत्याचरण सम्पन्न' अर्थ करना भी हानिकर है । अग्नि के प्रकाश का नयन कैसा है ? तथा किस प्रकार की नीति है ? इसी प्रकार देव शब्द के भी विभिन्न अर्थ काल्पनिक ही हैं । 'राज्य प्राप्त करके' इत्यादि पद तो मन्त्र में हैं ही नहीं ।। ३५ ।।

ये दे॒वा अ॒ग्निने॑त्राः पु॒रः॒सद॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॒ ये दे॒वा य॒मने॑त्रा दक्षिण॒ासद॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॒ ये दे॒वा वि॒श्वदे॑वनेत्राः प॒श्चात्सद॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॒ ये दे॒वा मि॒त्रावरु॑णनेत्रा वा म॒रुन्ने॑त्रा वोत्तरा॒सद॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॒ ये दे॒वाः सोम॑नेत्रा उप॒रि॒सदो॒ दुव॑स्वन्त॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ३६ ॥

'उत्तराः समस्य ये देवा इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।१।२१)। पञ्चधा विभक्तमाहवनीयमेकीकृत्य ये देवा इति पञ्चभिर्मन्त्रैः प्रत्येकं जुहुयात्। ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा। ये देवा मित्रावरुणनेत्रा ये देवा मरुन्नेत्रा इति मन्त्रयोरत्रापि विकल्पः। ये देवाः सोमनेत्रा उपरिसदो दुवस्यन्तो हव्यवन्तस्तेभ्यः स्वाहा।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ सार्द्धꣳ समुह्य जुहोति। ये देवा अग्निनेत्रा''''स्वाहेति तद्यदेवं जुहोति' (श० ५।२।४।६)। इत्थं पञ्चभिर्मन्त्रैः कृतेष्वग्निषु हुत्वा पुनस्तानेकीकृत्य समन्त्रकं तादृशैरेव मन्त्रैर्हवनं विधत्ते—समुह्य जुहोतीति। पञ्चाप्यग्नीन् समुह्य समस्य एकीकृत्य जुहुयादिति।

अध्यात्मपक्षे —आध्यात्मिकोऽर्थः पूर्ववदेव योज्यः।

दयानन्दस्तु —'हे सभाध्यक्ष राजन्, त्वं येऽग्निनेत्रा विद्युदादिविज्ञानवन्तः पुरःसदो देवाः सन्ति, तेभ्यः स्वाहा सत्यां वाचं जुषस्व। ये देवा योगिनो न्यायाधीशा यमनेत्रा यमेष्वहिंसादिषु योगाङ्गेषु नीतिषु वा नेत्रं प्रापणं येषां ते दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा सत्यां क्रियाम्, ये पश्चात्सदो विश्वेदेवनेत्रा विश्वेषु देवेषु नेत्रं प्रज्ञानं येषां ते देवाः सर्वविद्याविदः, तेभ्यः स्वाहा, आन्वीक्षिकीं विद्यां जुषस्व। ये देवाः सर्वेभ्यः सुखदातारो मित्रावरुणनेत्राः प्राणोदानवत् सर्वान् धर्मं नयन्तो वा मरुन्नेत्रा मरुति ब्रह्माण्डस्थे वायौ नेत्रं नयनं येषां ते उत्तरासदः

मन्त्रार्थ—अग्नि देवता के नेतृत्व में रहने वाले जो देवता पूर्व दिशा में निवास करते हैं, उन देवताओं के निमित्त यह आहुति दी जा रही है। यम के नेतृत्व में जो देवता दक्षिण दिशा में निवास करते हैं, उनके निमित्त यह आहुति दी जा रही है। विश्वदेव देवताओं के नेतृत्व में पश्चिम दिशा में निवास करने वाले देवताओं के निमित्त यह आहुति दी जा रही है। मित्रावरुण अथवा मरुत् देवताओं के नेतृत्व में उत्तर दिशा के निवासी देवताओं के लिये यह आहुति दी जा रही है। सोम के नेतृत्व में हवि को स्वीकार करने वाले द्युलोकवासी देवताओं के निमित्त दी गई यह आहुति उनको भली प्रकार प्राप्त हो॥ ३६॥

भाष्यसार—'ये देवाः' इस कण्डिका के मन्त्रों से भी आहवनीय अग्नि में आहुति दी जाती है। याज्ञिक प्रक्रिया का यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।१।२१) में उल्लिखित है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—अग्निरूपी नेत्रों वाले पूर्व में स्थित देवों के लिये आहुति हो। यमरूपी नेत्रों वाले दक्षिण में स्थित देवों के लिये आहुति हो। विश्वदेवरूपी नेत्रों वाले पश्चिम में स्थित देवों के लिये आहुति हो। मित्रावरुणरूपी नेत्रों वाले अथवा मरुद्गणरूपी नेत्रों वाले उत्तर में स्थित देवों के लिये आहुति हो। सोमरूपी नेत्रों वाले ऊपर स्थित हविष्य से युक्त देवों के लिये आहुति हो।

अध्यात्मपक्ष में भी अर्थयोजना इसी भाँति होगी।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ असंगत है, क्योंकि श्रुतिवाक्य द्वारा एकीकृत अग्नि में तत्तद् विशिष्ट देवताओं के लिये हविर्दानात्मक हवन का ही विधान किया गया है। वे सभी गौण अर्थ वेद को चार्वाक मत के रूप में

प्रश्नोत्तराणि समादधाना उत्तरस्यां दिशि सीदन्ति, तेभ्यः स्वाहा सर्वोपकारिणीं विद्यां जुषस्व। ये देवा आयुर्वेदविदः सोमनेत्राः सोमलतादिष्वोषधीषु नेत्रं नयनं येषां ते उपरिसद उत्कृष्ट आसने व्यवहारे वा सीदन्ति, दुवो बहुविद्याधर्मपरिचरणं विद्यते येषु तेभ्यः स्वाहा। धर्मौषधिविद्यां जुषस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुत्या एकीकृताग्नौ तेभ्यस्तेभ्यो विशिष्टदेवेभ्यो हविर्दानलक्षणस्य होमस्य विधानात्। सर्वे च ते गौणार्था वेदस्य लोकायतीकरणाय कल्पन्ते, सभाध्यक्षादीनां सम्बोद्धव्यत्वे मानाभावात्। सिद्धान्तोक्ता अर्थास्तु श्रुति-सूत्रसम्मता इति त एव ग्राह्याः। तथैव देवपदानामपि काल्पनिका एवार्थाः, तादृशार्थेषु तेषु तेष्वार्षग्रन्थेष्वप्रयुक्तत्वात् ॥३६॥

अग्ने॒ सह॑स्व॒ पृत॑ना अ॒भिमा॑तीरपा॑स्य। दु॒ष्टर॒स्तर॒न्नरा॑ती॒र्वर्चो॑धा य॒ज्ञवा॑हसि ॥ ३७ ॥

'अग्ने सहस्वेत्युल्मुकादानम्' (का० श्रौ० १५।२।१५)। अपामार्गतण्डुलहोमार्थं दक्षिणाग्नेरुल्मुकमादद्यात्। देवश्रवस आर्षम्। अग्निदेवत्याऽनुष्टुप्। हे अग्ने, त्वं पृतनाः शत्रुसम्बन्धिनीः सेनाः सहस्व अभिभव पराभव। तथा अभिमातीः सपत्नान्, सपत्नोऽभिमातिरुच्यते, स्त्रीत्वमार्षम्, कर्मविघ्नकारिणः, अपास्य अपनुद निरासय, 'असु क्षेपणे' इत्यस्य लोटि रूपम्। यज्ञवाहसि यज्ञं वहति निर्वहतीति यज्ञवाहास्तस्मिन् यज्ञवोढरि यज्ञसम्पादके यजमाने वर्चोऽन्नम्, वर्च इत्यन्ननामसु पठितम्, धाः धेहि। यद्वा वर्चसोऽन्नस्य ओजसो वा धाता धारयितासि, दधातेर्लुङि, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इत्यडभावः। कथम्भूतस्त्वं दुष्टरः दुस्तरः, तरतेः स्तृणातेर्वा। केनापि तर्तुं स्तरीतुं वा अशक्यः, अशक्यप्रतिक्रियो दुर्निवारः। किं कुर्वन्? अरातीः सपत्नान् तरन् विनाशयन् तिरस्कुर्वन् वा। यद्वा हे अग्ने, पृतनाः संग्रामान् सहस्व। अभिमातीः अभिमन्यमानान् सपत्नानपास्य अपनुद। अनिष्टनिवृत्तिं मुक्त्वेष्टप्राप्तिं प्रार्थयते। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथापामार्गहोमं जुहोति। अपामार्गैर्वै देवा दिक्षु नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपामृजत ते व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तां तथो एवैष एतदपामार्गैरेव दिक्षु नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपमृष्टे तथो एव विजयते विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे सूया इति' (श० ५।२।४।१४)। अपामार्गहोमं विधत्ते—अथापामार्गहोमं जुहोतीति। विजितिसाधनत्वेन तं प्रशंसति—अपामार्गैर्वै देवा इति। देवा दिक्षु नाष्ट्रा नाशकानि रक्षआदीनि अपामृजत अपमार्जनं कृतवन्तः। तत एव ते व्यजयन्त। इदानीं मनुष्योऽप्यपामार्गहोमैस्तत्सर्वं करोति विजयते च। ततोऽभयेऽनाष्ट्रे राजसूयं निर्वर्तयन्ति। 'स पालाशे वा स्रुवे वैकङ्कते वा। अपामार्गतण्डुलानादत्तेऽन्वाहार्यपचनादुल्मुकमाददते तेन प्राञ्चो वोदञ्चो वा यन्ति तदग्निꣳ समाधाय जुहोति' (श० ५।२।४।१५)। तस्यानुष्ठानं सविशेषमाह—स पालाश इति। पलाशवैकङ्कतयोरन्यतरवृक्षनिर्मिते स्रुवेऽपामार्गतण्डुलानादाय अन्वाहार्यपचनादुल्मुकमादाय प्राङ्मुखा उदङ्मुखा वा यन्ति। तत्राग्निं प्रतिष्ठाप्य होमः कार्यः। 'स उल्मुकमादत्ते। अग्ने सहस्व पृतना''''पृतना युधः सहस्वेत्येवै-

---

निरूपित करने वाले हैं। सभाध्यक्ष आदि को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण नहीं है। हमारे सिद्धान्त पक्ष के अर्थ श्रुति एवं सूत्रवचनों से सम्मत हैं, अतः वे ही ग्राह्य हैं। इसी प्रकार आपके द्वारा किये गये देव आदि शब्दों के अर्थ भी काल्पनिक हैं, क्योंकि आर्ष ग्रन्थों में उन अर्थों में वे शब्द प्रयुक्त नहीं मिलते ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! तुम शत्रु की सेनाओं को पराजित करो, शत्रुओं को विदारित करो। हे दुर्निवार! तुम शत्रुओं का तिरस्कार करते हुए यज्ञ करने वाले इस यजमान को धन-धान्य से समृद्ध कर दो ॥ ३७ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।२।१५) में उल्लिखित विनियोग के अनुसार

तदाहाभिमातीरपास्येति सपत्नो वा अभिमातिः सपत्नमपजहीत्येवैतदाह दुष्टरस्तरन्नरातीरिति दुस्तरो ह्येष रक्षोभिर्नाष्ट्राभिस्तरन्नरातीरिति सर्वᳪ ह्येष पाप्मानं तरति तस्मादाह तरन्नरातीरिति वर्चो धा यज्ञवाहसीति साधु यजमाने दधदित्येवैतदाह' (श० ५।२।४।१६)। मन्त्रं प्रतिपादमनूद्य व्याचष्टे—पृतना युध इति। युधः संग्रामान्। सपत्नो वा अभिमातिः। सपत्नानपजय जहीत्येवार्थः। रक्षोभिर्नाष्ट्राभिर्दुष्टरोऽरातीस्तरन् पाप्मनस्तरति यज्ञवाहसि साधु यजमाने दधदित्येवाह मन्त्रः।

अध्यात्मपक्षे - हे अग्ने परमेश्वर, कामक्रोधादिपृतनाः सेनाः सहस्व विनाशय। अभिमातीः सपत्नान् विघ्नरूपान् अपास्य अपनुद। ननु मामेव तेऽभिभविष्यन्तीति चेन्न, त्वं दुष्टरः सर्वैस्तैर्दुर्निवारः, अशक्यप्रतिक्रियश्च। नहि शीतेनाग्निरन्धकारेण वा सविता प्रधृष्यो भवति। अरातीः लौकिकानाध्यात्मिकांश्च शत्रून् तरन् विनाशयन् यज्ञवाहसि अर्चनोपासनलक्षणस्य यज्ञस्य निर्वाहके मयि भक्ते वर्चो ज्ञानलक्षणं तेजो भजनीयास्वादलक्षणमन्नं वा, धाः धेहि।

दयानन्दस्तु—'यज्ञान् संगतान् राजधर्मादीन् वहन्ति यस्मिन् राज्ये तस्मिन्' इत्याह, तच्च यज्ञवाहसि साधु यजमाने दधदिति श्रुतिविरुद्धमेव। 'अभिमातीरभिमानहर्षयुक्ताः' इत्यपि न युक्तम्, 'सपत्नो वा अभिमातिः' (श० ५।२।४।१६) इति श्रुतिविरोधात्॥ ३७॥

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। उ॒पा॒ᳪ॒शोर्वी॒र्ये॑ण जुहोमि ह॒तᳪ॒ रक्षः॒ स्वाहा॒ रक्ष॑सां त्वा व॒धाया॑वधिष्म॒ रक्षो॑ऽवधिष्मा॒मु॒म॒सौ ह॒तः॥ ३८॥

'अग्ने सहस्व' इस ऋचा के द्वारा अग्नि से उल्मुक (जलती लकड़ी) का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे अग्नि परमेश्वर ! काम, क्रोध आदि की सेना को विनष्ट करें, विघ्नरूपी शत्रुओं को निवारित करें। वे केवल मुझे ही पीड़ित करेंगे, आप उन सबके लिये अपराजेय तथा अकाट्य हैं। शीत से, अग्नि तथा अन्धकार से सूर्य दबाये नहीं जा सकते। लौकिक तथा आध्यात्मिक शत्रुओं को नष्ट करते हुए पूजा-उपासनारूपी यज्ञ का सम्पादन करने वाले मुझ भक्त में ज्ञानात्मक तेज तथा सेव्य के आस्वादनरूपी अन्न को स्थापित करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित 'यज्ञवाहसि' अर्थात् 'अच्छे यजमान में' इत्यादि अर्थ श्रुतिवाक्यों से विरुद्ध है। 'अभिमातीः' का 'अभिमान हर्ष से युक्त' अर्थ करना भी अनुचित है, क्योंकि 'शत्रु ही अभिमाति है' यह शतपथ श्रुति इससे विरुद्ध है॥ ३७॥

मन्त्रार्थ—जिस देवता ने इस समस्त जगत् को अपने-अपने कर्म में प्रेरित किया है, उस सविता देवता की आज्ञा में वर्तमान मैं अश्विनीकुमारों के बाहुयुगल से, पूषा देवता के दोनों हाथों से तुमको उपांशु नामक प्रथम ग्रह के पराक्रम से आहुति प्रदान करता हूँ। राक्षसकुल इस आहुति के प्रभाव से नष्ट हो गया है। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे स्रुव ! राक्षसों के वध के निमित्त तुमको मैं अग्नि में प्रक्षिप्त करता हूँ। राक्षसों का और शत्रुओं का वध हो चुका है, ये सभी मारे गये हैं॥ ३८॥

'देवस्य त्वेति जुहोति' (का० श्रौ० १५।२।६)। देवस्येति मन्त्रेण स्रुवस्थानपामार्गतण्डुलान् उल्मुकमुपसमाधाय जुहुयात् प्रागुदग् वा गत्वा। देवस्य द्योतमानस्य सवितुर्जगदुत्पादयितुः परमेश्वरस्य प्रेरणे वर्तमानोऽहं हे अपामार्गहविः ! त्वामश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां गृह्णामि। उपांशोस्त्रीणि यजूंषि रक्षोघ्नदैवत्यानि। उपांशुर्नाम प्रथमो ग्रहस्तस्य वीर्येण सामर्थ्येनाहं जुहोमि। अत एव रक्षो हतं हिंसितं निहतम्, सुहुतं चैतद्धविर्भवतु। 'रक्षसां त्वेति स्रुवमपास्यति तां दिशं यस्यां जुहोति' (का० श्रौ० १५।२।७)। यस्यां दिशि होमं कुर्यात्, तां दिशं प्रति स्रुवं प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः। रक्षसां राक्षसानां वधाय विनाशाय हे स्रुव, त्वां प्रक्षिपामीति शेषः। 'अवधिष्म इत्यायन्त्यनपेक्षम्' (का० श्रौ० १५।२।७)। पश्चादनवलोकयन्त इमं मन्त्रमुच्चार्य अध्वर्य्वादयो देवयजनं प्रत्यागच्छन्ति। रक्षो राक्षसजातिं वयमवधिष्म हतवन्तः। अमुमिति शत्रुनामग्रहणम्, असाविति च। यथा अमुं क्रूरकर्माणं हतवन्तो वयम्, असौ क्रूरकर्मा हतोऽस्माभिः।

अत्र ब्राह्मणम्–'तदग्निꣳ समाधाय जुहोति। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे''''उपाꣳशोर्वीर्येण जुहोमीति यज्ञमुखं वा उपाꣳशुर्यज्ञमुखेनैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति हतꣳ रक्षः स्वाहेति तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति' (श० ५।२।४।१७)। हवनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—जुहोति देवस्य त्वेति। उपांशुर्नाम यज्ञमुखं प्रथमो ग्रहः, तस्य वीर्येण जुहोति। तेन हवनेन रक्षो हतं नष्टं भवतु। 'स यदि पालाशः स्रुवो भवति। ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति यद्यु वैकङ्कतो वज्रो वै विकङ्कतो वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति रक्षसां त्वा वधायेति तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति' (श० ५।२।४।१८)। पालाशवैकङ्कतयोरन्यतरस्य स्रुवस्य क्षेपणं सार्थवादं विधत्ते– ब्रह्म वै पलाश इति। 'स यदि प्राङ्त्विा जुहोति। प्राञ्चꣳ स्रुवमस्यति यद्युदङ्ङित्वा जुहोत्युदञ्चꣳ स्रुवमस्यत्यवधिष्म रक्ष इति तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति' (श० ५।२।४।१९)। यद्यध्वर्युः प्राङ्मुखः पूर्वस्यां दिशि गत्वा जुहुयात्, तर्हि स्रुवं प्राञ्चं प्राग्दिकसम्बद्धमस्यति क्षिपति। उदङ्ङित्वेत्यादावप्येवं योज्यम्। हवनप्रदेशात्तन्निवर्तनं विधित्सुरादौ तन्मन्त्रं पठित्वा व्याचष्टे—अवधिष्मेति। अनेनापामार्गहोमेन रक्षोऽवधिष्मेति।

'अथाप्रतीक्षं पुनरायन्ति। सहैतेनापि प्रतिसरं कुर्वीत स यस्यां दिशि भवति तत्प्रतीत्य जुहोति प्रतीचीनफलो वा अपामार्गः स यो हास्मै तत्र किञ्चित्करोति तमेवैतत् प्रत्यग्धूर्वति तस्य नामादिशेदवधिष्मामुमसौ हत इति तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति' (श० ५।२।४।२०)। अप्रतीक्षमनपेक्ष्य प्रतिनिवर्तन्ते, एतेन अपामार्गहोमेनापि। न केवलं पञ्चवातीयहोमेन, एतेनापि प्रतिसरं स्वरक्षामभिचार्यमाणोऽपामार्गहोमं कुर्यात्। हवने कञ्चिद्विशेषं विधत्ते—स यस्यामिति। स अभिचारको यस्यां दिशि भवेत्, तां दिशं प्रतीत्य गत्वा जुहुयात्। प्रतीचीनफल इति। यतोऽपामार्गमञ्जर्यः प्रतीचीनफला भवन्ति, स्वात्मानं प्रतिगतैरवाङ्मुखैः फलैर्युक्ताः, अतो योऽभिचारकोऽस्मै यजमानाय पीडादिकं कुर्यात्, तमेवैतेनापामार्गहोमेन प्रतिमुखं धूर्वति हिनस्ति। तत्कृतोऽभिचारस्तमेव प्रतिनिवृत्य हन्तीत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवत्समर्पणीयहविः, त्वामहं सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणे, अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां गृह्णामि। उपांशोस्त्वदीयरश्मिसामीप्यवीर्येणाहं जुहोमि त्वयि स्वात्मसमर्पणं करोमि। तस्मादेव

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।२।६-७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'देवस्य त्वा' कण्डिका के मन्त्र हवन, स्रुवप्रक्षेप तथा अध्वर्यु आदि के पुनरागमन इत्यादि कार्यों में विनियुक्त हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे भगवान् के लिये समर्पित किये जाने वाले हविर्द्रव्य ! मैं तुमको सविता देव की प्रेरणा से, अश्विनो देवों की भुजाओं से तथा पूषा देवता के हाथों से ग्रहण करता हूँ। तुम्हारे रश्मि-सामीप्य के

रक्षो विघ्नकारकवस्तुजातं हतम्, त्वयि हविरिदं स्वाहा समर्पितमस्तु। रक्षसां विघ्नानां वधाय प्रसादलेशं शिरसि धारयामि। तेनैव रक्षोऽवधिष्म अमुं शत्रुं कामं क्रोधं वा वयं नाशितवन्तः। असौ कामः क्रोधो वा शत्रुर्हतोऽस्माभिः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, अहं स्वाहा सत्यक्रियया सवितुर्देवस्य सेनापतेः प्रसवे उपांशोः समीपस्थसेनायाः सामर्थ्येन अश्विनोः सूर्यचन्द्रतुल्ययोः सभासेनापत्योर्बाहुभ्यां पूष्णो वैद्यस्य हस्ताभ्यां रक्षसां वधाय त्वां जुहोमि गृह्णामि। यथा त्वया रक्षो हतम्, तथा वयमप्यवधिष्म' इति, तदपि श्रुतिविरुद्धमेव, श्रुतावुपांशुपदेन यज्ञमुखात्मकस्य प्रथमग्रहस्य ग्रहणात्, अन्वाहार्यपचनादुल्मुकमादाय पूर्वादिदिक्षु गत्वा समाधाय तत्रापामार्गतण्डुलहोमस्य विधानात्। तेनात्र सभा-सेनापत्योः प्रसङ्ग एव नास्ति। अत एव स्वाहेत्यस्य सत्यक्रियेत्यपव्याख्यानमेव, श्रुतिवचनविरोधात्॥ ३८॥

सवि॒ता त्वा॑ स॒वाना॑ᳪ सुवताम॒ग्निर्गृ॒हप॑तीना॒ᳪ सोमो॒ वन॒स्पती॑नाम्। बृ॒हस्पति॒र्वा॒च इन्द्रो॒ ज्यैष्ठ्या॑य रु॒द्रः प॒शुभ्यो॑ मि॒त्रः स॒त्यो वरु॑णो॒ धर्म॑पतीनाम्॥ ३९॥

'उत्तमेन चरित्वा सविता त्वेत्याह यजमानबाहुं दक्षिणं गृहीत्वा नामास्य गृह्णाति मन्त्रे यथास्थानम्, मातापित्रोश्च, यस्याश्च जाते राजा भवति' (का० श्रौ० १५।४।१४-१६)। अष्टानां देवसूहविषां मध्येऽष्टमेन वरुणाय धर्मपतय इति वारुणेन चरुणा चरित्वाह—स्रुचौ सव्ये पाणौ कृत्वा यजमानबाहुं दक्षिणं गृहीत्वा सविता त्वेति मन्त्रमाह। नामास्य यथास्थानं गृह्णीयात्। यस्मिन् स्थाने अमुमिति सर्वनाम तत्र नामग्रहणम्। यथास्थानं यजमानस्य मातापित्रोश्च नाम गृह्णीयात्। जातिग्रहणं जनपदोपलक्षणार्थम्। यस्मिन्

बल से मैं तुम्हारे प्रति स्वात्मसमर्पण करता हूँ। इसी से विघ्नकारक वस्तुएँ नष्ट हो गईं। तुम्हारे प्रति यह हविर्द्रव्य समर्पित हो। विघ्नों के नाश के लिये यह प्रसादकण सिर पर धारण करता हूँ। इसी के द्वारा हमने काम-क्रोधादि शत्रुओं को नष्ट किया है। यह काम अथवा क्रोधरूपी शत्रु हमारे द्वारा मार दिया गया है।

स्वामी दयानन्द का अर्थ श्रुतिविरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है। श्रुति में उपांशु पद के द्वारा यज्ञमुखात्मक प्रथम ग्रह का ही ग्रहण है। अन्वाहार्यपचन अग्नि से प्रज्वलित समिधा लेकर पूर्वादि दिशाओं में जाकर वहाँ उसे स्थापित करके उसमें चिचिडा और तण्डुल के हवन का विधान किया गया है। यहाँ सभा, सेनापति आदि का प्रसंग ही नहीं है। स्वाहा शब्द का सत्यक्रिया अर्थ अपव्याख्यान ही है, क्योंकि यह श्रुतिवाक्य से विरुद्ध है॥ ३८॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान! जगत् के नियन्ता परमात्मा की आज्ञा से तुम सब तरह के ऐश्वर्य के अधिपति बनने के लिये प्रेरणा प्राप्त करो। अग्निदेवता गृहस्थगण के उपास्यदेव गृहस्थों के आधिपत्य के लिये तुम्हें प्रेरणा दें। वनस्पतियों में प्रधान सोम देवता तुमको वनस्पतिविषयक आधिपत्य प्रदान करें। वाणी के अधिपति बृहस्पति देवता वाणी के आधिपत्य के लिये, इन्द्र देवता ज्येष्ठता-सर्वश्रेष्ठता के लिये, पशुपति (पशुगणों के, जीवों के रक्षक) रुद्र देवता पशुसमूह के आधिपत्य के लिये, सत्यस्वरूप मित्र देवता सत्य व्यवहार के आधिपत्य के लिये और धर्मरक्षक वरुण देवता तुमको धर्म के आधिपत्य के लिये प्रेरित करें॥ ३९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।४।१४-१६) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'सविता त्वा'

जनपदे राजा भवति, तस्य च नाम गृह्णीयात्। यथा एष वः कुरवो राजा। कुतः? देशस्यानवस्थितत्वात्। नहि शास्त्रे देशव्यवस्था, कुरुपाञ्चालजातीयैरेव राजसूयः कर्तव्य इति। अतिजगती यजमानदेवत्या। हे यजमान, त्वा त्वां यजमानं सविता प्रसविता सर्वप्रेरकः सवानां प्रसवानामाज्ञानामाधिपत्ये सुवतां प्रसुवतां प्रेरयतु, त्वामभ्यनुज्ञातुं सर्वप्राणिनामान्तरं करोतु वा, सर्वेषामाज्ञादानेऽधिकारी भवेत्यर्थः। अग्निर्देवः, गृहपतीनां गृहस्थानां तदुचितश्रौतस्मार्तकर्मणां चाधिपत्ये त्वां सुवताम्। सोमो देवो वनस्पतीनां वृक्षाणामाधिपत्ये त्वां सुवताम्। सर्वे गृहस्थाः सर्वे च वनस्पतयो वशंवदास्त्वदनुगुणाश्च भवन्त्वित्यर्थः। बृहस्पतिर्देवगुरुः, वाचे वागर्थं सुवतां पाण्डित्याय प्रेरयतु, यद्वा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, वाचे वाचः परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीलक्षणाया नामोपसर्गनिपाताख्यातलक्षणाया वा चतुर्विधाया आधिपत्ये सुवताम्, वेदादिविविधवाङ्मयप्रपञ्चे तव पूर्णं स्वातन्त्र्यमस्तु। वाग्देवता त्वदीयजिह्वाग्रे नरीनृत्यताम्। इन्द्रो देवो ज्यैष्ठ्याय ज्येष्ठभावाय सर्वोत्कर्षत्वाय त्वां सुवताम्। रुद्रो देवस्त्वां पशुभ्यः पश्वर्थं पश्वाधिपत्ये सुवताम्। मित्रो देवः सत्यः सत्याय सत्यवाक्याय सत्यं वदितुं त्वां सुवताम्। 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना चतुर्थ्याः स्वादेशः। वरुणो धर्मपतीनां धर्मपालकानामाधिपत्ये सुवताम्। सवित्रादयोऽष्टौ देवसूहविषां देवतास्त्वां नानाधिपत्यानि ददत्विति समष्ट्यर्थः।

सवित्रादयो विशिष्टा देवा ब्राह्मणे यजनीयत्वेनोक्ताः। 'द्वादशकपालं वाऽष्टकपालं वा पुरोडाशं निर्वपति सवित्रे सत्यप्रसवाय' (श० ५।३।३।२) इत्यादिना सावित्रहविर्विधानम्। 'अथाग्नये गृहपतये अष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपति' (श० ५।३।३।३), 'अथ सोमाय वनस्पतये श्यामाकं चरुं निर्वपति' (श० ५।३।३।४), 'अथ बृहस्पतये वाचे नैवारं चरुं निर्वपति' (श० ५।३।३।५), 'अथेन्द्राय ज्येष्ठाय हायनानां (संवत्सरपक्वानां रक्तशालीनाम्) चरुं निर्वपति' (श० ५।३।३।६), 'अथ रुद्राय पशुपतये रौद्रं गवेधुकं चरुं निर्वपति' (श० ५।३।३।७) 'अथ मित्राय सत्याय नाम्बानां चरुं निर्वपति' (श० ५।३।३।८), 'अथ वरुणाय धर्मपतये वारुणं यवमयं चरुं निर्वपति' (श० ५।३।३।९), 'अथैनं दक्षिणे बाहावभिपद्य जपति। सविता त्वा सवानाᳬ̐ वरुणो धर्मपतीनाम्' (श० ५।३।३।११)। एवं देवस्वां हविर्यागानन्तरं स्विष्टकृतः पूर्वमेनं यजमानं दक्षिणे बाहावभिपद्य गृहीत्वा जपत्यध्वर्युः। सर्वत्रैव श्रौतसूत्राणि श्रुतिमूलकान्येव।

अध्यात्मपक्षे—आचार्यः साधकं शिष्यमभिषिच्याशीर्भिर्योजयति—हे साधक, त्वा त्वां सविता देवः सर्वोत्पादयितृत्वगुणविशिष्टः परमेश्वरः सवानामैश्वर्याणामाधिपत्ये वशीकाराय सुवतां प्रेरयतु। अग्निरग्रणीत्वगुणविशिष्टः स गृहपतीनामाधिपत्ये त्वां सुवताम्। सोमः साम्बसदाशिवो वनस्पतीनामाधिपत्ये त्वां सुवताम्। बृहस्पतिः तन्नाम्ना प्रसिद्धो देवः, अथवा बृहत्या वेदलक्षणाया वाचोऽधिपतिः परमेश्वरः, इन्द्रः प्रसिद्धः परमैश्वर्यविशिष्टः परमेश्वरो वा, रुद्रः रुतो रोगान् द्रावयतीति रुद्रः, अथवा रुतो द्रवन्ति पलायन्ते

इस मन्त्र का पाठ अध्वर्यु करता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—गुरु अपने साधक शिष्य का अभिषेक करके उसको आशीर्वाद से संयुक्त करता है कि हे साधक, तुमको सर्वोत्पादयिता परमेश्वर ऐश्वर्यों के आधिपत्य, वशीकरण के लिये प्रेरणा दे। अग्रणीत्व आदि गुणों से युक्त वह तुमको गृहपतियों के आधिपत्य के लिये प्रेरणा दे। साम्ब सदाशिव तुमको वनस्पतियों के आधिपत्य के लिये प्रेरणा दे। वेदवाणी का पालक परमेश्वर परमैश्वर्ययुक्त, रोगों का नाश करने वाला, सब प्राणियों से स्नेह करने वाला,

यस्मात् सः, मित्रः सूर्यः, सर्वभूतेषु मिद्यते स्निह्यते यः स परमेश्वरः, वरुणः प्रसिद्धो देवो मोक्षार्थिभिर्व्रियमाणः परमेश्वरो वा, सर्वे चैते देवाः स्वस्वाधिष्ठेयेषु तवाधिपत्यं वशीकारत्वं सम्पादयन्तु हविर्भिराराधनैर्वा तुष्टाः ।

दयानन्दस्तु—'हे सभेश, यस्त्वं सवानामैश्वर्याणां सविता सूर्य इव प्रेरको गृहपतीनामुपकारकोऽग्निः पावकतुल्यः, वनस्पतीनां सोमसदृशः, धर्मपालकानां वरुणः, शुभगुणश्रेष्ठमित्र इव वाचे वेदवाण्यै बृहस्पतिवद् महाविद्वानिव ज्येष्ठतायै परमैश्वर्ययुक्ततुल्यो गवादिपशुभ्यो रुद्रतुल्यः शुद्धवायुतुल्योऽसि, तं त्वां धर्मात्मानं सत्यवादिनं धर्मेण प्रजारक्षाया उपदेष्टा प्रेरयेत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागगौणार्थाश्रयणाभ्याम् । तुल्यार्थतायोजनेऽपि सूर्यादिवत् प्रसिद्धपदार्थस्यैवोपमानत्वं सम्भवति । वरुणपदेन प्रसिद्धस्य देवस्य त्यागे श्रेष्ठगुणयुक्तस्य कस्योपमानत्वम् । सख्यर्थमित्रशब्दस्य नपुंसकत्वं प्रसिद्धम् । एवं बृहस्पतिर्महाविद्वानित्यपि नोपमानमर्हति, तथैव श्रेष्ठतायै परमैश्वर्ययुक्ततुल्य इत्यपि न प्रसिद्धम् ।। ३९ ।।

इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ।। ४० ।।

इति माध्यन्दिनसंहितायां नवमोऽध्यायः ।।

अत्यष्टिर्यजमानदेवत्या । हे देवाः सवित्रादयः, इमं राजानम् असपत्नं शत्रुकण्टकशून्यं सुवध्वं प्रेरयध्वम् । महते क्षत्राय महत्यै क्षत्रपदव्यै, महते ज्यैष्ठ्याय ज्येष्ठभावाय, महते जानराज्याय जनानामिदं जानं तच्च तद्राज्यं च जानराज्यं तस्मै जनानामाधिपत्याय । यद्यपि जनताकर्तृकं राज्यमपि जानराज्यं सम्भवति, परन्तु राजसूयप्रकरणे राजसूयफलत्वेन क्षत्रत्वजातिविशिष्टस्य व्यक्तिविशेषस्यैव राज्यं प्रकृतम् । आत्मन इन्द्रियाय वीर्याय

मोक्षार्थी जनों के द्वारा वांछित परमेश्वर—ये सभी अपने-अपने अधिष्ठानों में तुम्हारा आधिपत्य हविर्द्रव्यों से अथवा आराधना से सन्तुष्ट होकर सम्पन्न करें ।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या मुख्य अर्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ के अंगीकार के कारण अग्राह्य है । तुल्यार्थता के निरूपण में भी सूर्य आदि के समान प्रसिद्ध पदार्थों की ही उपमानता संभव होती है । वरुण शब्द से प्रसिद्ध देवता का अर्थ छोड़ने पर श्रेष्ठ गुण से युक्त कौन उपमान होगा ? सखा अर्थ वाला मित्र शब्द तो नपुंसक लिंग का ही प्रसिद्ध है । इसी प्रकार बृहस्पति महाविद्वान् है, यह भी उपमान नहीं हो सकता । श्रेष्ठता के लिये 'परमैश्वर्य युक्त से तुल्य' यह भी प्रसिद्ध नहीं है ।। ३९ ।।

मन्त्रार्थ—सुन्दर हवि को स्वीकार करने वाले हे देवगणों ! तुम अमुक महाशय के पुत्र, अमुक देवी के पुत्र इस यजमान को महान् क्षत्रधर्म के निमित्त, महती ज्येष्ठता के निमित्त, महान् जनों के आधिपत्य में आत्मज्ञान के सामर्थ्य के निमित्त शत्रुशून्य बना कर प्रेरित करो । अपने प्रसाद से इस यजमान को अमुक जाति का राजा बना दो । हे अमुक जाति के प्रजागण ! यह अमुक नाम का क्षत्रिय तुम्हारा राजा हो, हम ब्राह्मणों का राजा तो सोम देवता ही है ।। ४० ।।

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत 'इमं देवाः' यह मन्त्र भी पाठ के लिये विनियुक्त है । शतपथ ब्राह्मण में

आत्मज्ञान इमं यजमानं सुवध्वं प्रेरयध्वम्। अमुष्य पुत्रम्, अत्र षष्ठ्यन्तम् अमुष्येति षष्ठ्यन्तं पितुर्नाम ग्राह्यम्। तथा अमुष्यै इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। अमुष्या देव्याः पुत्रम्। अमुष्या इति यजमानमातुर्नाम ग्रहणम्। अस्यै विशः कौरव्या विशः प्रजायाः, अधिपतिरिति शेषः। अस्या इति षष्ठ्यन्तं नाम ग्राह्यम्। अमी इति प्रथमान्तं देशनाम ग्राह्यम्। अमी हे कुरवः पञ्चालाः, वो युष्माकमेष खदिरवर्मा राजाऽस्तु। अस्माकं ब्राह्मणानां सोमश्चन्द्रो वल्लीरूपो वा सोमो राजाऽस्तु। ब्राह्मणेतरेषामेव राजा प्रभुः कश्चिद् भवति। ब्राह्मणानां तु सोमो राजा भवति। यद्वा हे सवित्रादयो देवाः, यूयं यजमानमसपत्नं सुवध्वं निःसपत्नो भूयादित्यभ्यनुजानीत। किमर्थम्? महते प्रभूताय क्षत्रायै क्षत्रियधर्माय महते ज्यैष्ठ्याय। अतः पूर्वं पश्चाच्च तत्सदृशो नास्तीत्येतदर्थम्। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'इमं देवाः। असपत्नꣳ सुवध्वमितीमं देवा अभ्रातृव्यꣳ सुवध्वमित्येवैतदाह महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्यायेति नात्र तिरोहितमिवास्ति महते जानराज्यायेति महते जनानाꣳ राज्यायेत्येवैतदाहेन्द्रस्येन्द्रियाय वीर्यायेत्येवैतदाह यदाहेन्द्रस्येन्द्रियायेतीमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमिति तद्यदेवास्य जन्म तत एवैतदाहास्यै विश इति यस्यै विशो राजा भवत्येष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजेति तदस्मा इदꣳ सर्वमाद्यं करोति ब्राह्मणमेवापोद्धरति तस्माद् ब्राह्मणोऽनाद्यः सोमराजा हि भवति' (श० ५।३।३।१२)। पूर्वमन्त्रे परोक्षवदुक्तमिह तु प्रत्यक्षवदाह—हे सवित्रादयो देवाः, इमं यजमानं शत्रुरहितं सुवध्वमनुजानीत। तथा महते क्षत्राय अतिप्रभूताय क्षत्रियकुलाय, महते ज्यैष्ठ्याय अप्रतिहतनियमनसामर्थ्याय, महते जानराज्याय जनसम्बन्धि यद्राज्यं तत्र सागरपर्यन्तभूमिविषयत्वाद् महते सार्वभौमत्वाय, इन्द्रसम्बन्धिन इन्द्रियाय वीर्याय एतन्नामानं यजमानम् अमुष्य पितुः पुत्रम् अमुष्या मातुः पुत्रं सुवध्वमित्यनुषज्यते। अस्यै अस्या विशः प्रजाया राजा एष यजमान इत्यर्थः। प्रजा अपि सम्बोध्याः, अमी इति सम्बोधनप्रथमाबहुवचनान्तं गृह्णीयादित्यर्थः। यथा—'एष वो भरता राजेत्येष वः कुरवो राजेति कौरव्यम्, एष वः पञ्चाला राजेति पाञ्चालम्, एष वः कुरुपञ्चाला राजेति कुरुपाञ्चालमेष वो जनता राजेत्यन्यान् राज्ञः' (आप० श्रौ० १८।१२।७) इत्यापस्तम्बः। कात्यायनेन तु—'यस्याश्च जाते राजा भवति, देशस्यानवस्थितत्वात्' (का० श्रौ० १५।४।१६-१७)। हे प्रजाः, वो युष्माकमेष राजा, एनं स्वामिनं सेवध्वम्। ब्राह्मणानामस्माकं सोमो राजा न क्षत्रिय इति सायणाचार्यः। मन्त्रं भागशोऽनूद्य व्याचष्टे श्रुतिः—इममिति भ्रातृव्यः शत्रुः, 'भ्रातुर्व्यच् सपत्ने' (पा० सू० ४।१।१४४-१४५)। अमुष्य अमुष्या इत्यनयोः स्थाने तस्य मातापित्रोर्नामग्रहणं कार्यम्। अस्मै राज्ञे इदं दृश्यमानं सर्वं ब्राह्मणव्यतिरिक्तमाद्यं भोग्यं करोति। ब्राह्मणजातिः सोमस्वामित्वेन पृथक्कृता। तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियेण नाद्यः, हि यस्माद् ब्राह्मणः सोमराजा सोमो राजा यस्य स सोमराजा, समासान्तविध्यभावः।

अध्यात्मपक्षे—आचार्यः शिष्यं स्वाराज्ये ब्रह्मात्मनाऽवस्थानमभिषिच्य वक्ति—हे देवाः! इमं प्रत्यग्ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारेण ब्रह्मात्मभावापन्नमसपत्नं सुवध्वमनुजानीत, अद्वितीयात्मबोधेन द्वैतनिवृत्त्या सपत्नासम्भवात्। किमर्थम्? महते क्षत्राय क्षतात् त्राणाय महते प्रभूताय ज्यैष्ठ्याय सर्वज्येष्ठब्रह्मरूपत्वात्, महते जानराज्याय महते

याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है। बौधायन तथा आपस्तम्ब सूत्रों में मन्त्र के सर्वनाम पदों के स्थान पर स्थानादि का उल्लेख करने का विधान किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—आचार्य अपने शिष्य को ब्रह्मात्मभाव में प्रतिष्ठित तथा अभिषिक्त करके कहता है कि हे देवगण, इसको प्रत्यग् ब्रह्मात्मतत्त्व के ऐक्य के साक्षात्कार के द्वारा ब्रह्मात्मभाव में अवस्थित अपना ही स्वरूप मानें। अद्वितीय आत्मबोध के द्वारा द्वैतभाव के निवृत्त हो जाने से परत्व की सम्भावना समाप्त हो गई है। महान् हानि से

जनेषु राज्याय स्वात्मरूपेण दीप्यमानाय इन्द्रस्य परमैश्वर्योपेतस्य परमात्मन इन्द्रियाय सामर्थ्यायाऽबाधितचिद्रूपाय अमुष्य व्यावहारिकस्य पितुः पुत्राय परमात्मनो वा पुत्राय, 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ० सं०१०।१३।१) इति मन्त्रवर्णात्। अमुष्या मातुः पुत्राय प्रकृतेर्वा पुत्राय पुत्ररूपेण प्रतीयमानाय साम्प्रतं तद्बाधने ब्रह्मभावापन्नाय अस्यै विशः सर्वस्यैव दृश्यस्य एष सर्वाधिष्ठानभूतो राजा नियामकः। हे अमी चेतनाचेतनात्मकाः पदार्थाः, वो युष्माकमयं राजा अधिष्ठानभूतत्वान्नियामकः, सर्वस्याधिष्ठानसत्ताधीनसत्ताकत्वात्। अस्माकं ब्राह्मणानां ब्रह्मविदां गुरूणां तु सोमः साम्बशिवो भूत्वा राजा भवति। संन्यासे गुरुरपि ब्रह्मभावापन्नं शिष्यं परमेश्वररूपेण प्रणमति।

दयानन्दस्तु 'हे प्रजास्था देवा धार्मिका विद्वांसः, य एष सोमः सोमतुल्यः प्रजासु प्रियो वो युष्माकं क्षत्रियादीनामस्माकं च इमं ब्राह्मणानां राजा ये चामी परोक्षं वर्तमानास्तेषां च राजा तममुष्योत्तमपुरुषस्य पुत्रम् अमुष्यै विद्यादिगुणैः श्रेष्ठाया विदुष्याः पुत्रम् अस्यै विश अस्याः प्रजाया इमं महागुणैर्युक्तं क्षत्रियाणां पालनाय महते ज्यैष्ठ्याय प्रशंसायोग्याय धार्मिकजनानां राज्यकरणाय इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य इन्द्रियाय धनाय असपत्नम्' इति, तच्च श्रुतिविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव, पूर्वोक्ते ब्राह्मणे 'ब्राह्मणः सोमराजा' इत्यादिभिर्ब्राह्मणातिरिक्तस्यैव तदाद्यत्वोक्तेः। किन्तु प्रकृते न प्रजास्था विद्वांस एव देवा उक्ताः, किन्तु सवित्रे सत्यप्रसवाय, अग्नये गृहपतये, सोमाय वनस्पतये, रुद्राय पशुपतये, मित्राय सत्याय, वरुणाय धर्मपतय इति पूर्वोद्धृतेषु ब्राह्मणेषु सवित्रादयो मनुष्यभिन्ना देवजातीया एव देवा उक्ताः। नास्तिक्यादेव तदनादरः ॥ ४० ॥

इति वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां
नवमोऽध्यायः ॥

त्राण के लिये, महान् सर्वज्येष्ठ ब्रह्मरूपता के लिये, महान् जनों में स्वात्मस्वरूप से विद्योतित होने के लिये, परमैश्वर्य से युक्त परमात्मा के सामर्थ्य के लिये, अबाधित चिद्रूप के लिये, इस परमात्मा के पुत्र के लिये, इस प्रकृतिरूपिणी माता के पुत्र के लिये तथा सम्प्रति उसके बाध के द्वारा ब्रह्मभावापन्न हुए इसके लिये अनुमति करे। सभी दृश्य जगत् का यह सर्वाधिष्ठानभूत नियामक है। हे चेतन-अचेतन पदार्थो! तुम्हारा यह नियामक है। हम ब्रह्मविद् गुरुओं का तो शिवात्मक होकर राजा होता है। संन्यासाश्रम में गुरु भी ब्रह्मभाव को प्राप्त शिष्य को प्रणाम करता है।

स्वामी दयानन्द का अर्थ श्रुति से विरुद्ध होने के कारण उपेक्षा के योग्य है। इस मन्त्र के प्रसंग में प्रजा में स्थित विद्वान् ही देवता नहीं कहे गये हैं, किन्तु सत्यप्रसव सविता, गृहपति अग्नि, वनस्पति सोम, पशुपति रुद्र, सत्यस्वरूप मित्र, धर्मपति वरुण—इत्यादि ब्राह्मण-वाक्यों में सविता आदि मनुष्य से भिन्न देवजातीय देवता ही कहे गये हैं। उनका अनादर तो आस्तिकता के विपरीत है ॥ ४० ॥

दशमोऽध्यायः

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः ।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः ॥ १ ॥

नवमेऽध्याये वाजपेयराजसूयसम्बन्धि कियदपि कर्मोक्तम् । दशमेऽभिषेकार्थं जलादानादिराजसूयशेषः सौत्रामणिविशेषश्चोच्यते । तत्र—'इडान्तेऽपो गृह्णाति, यूपमुत्तरेण नैमित्तिकीरसम्भवात्, गत्वेतराः पृथक्-पात्रेष्वौदुम्बरेषु' (का० श्रौ० १५।४।२१-२३), 'सरस्वतीर्गृह्णात्यपो देवा इति' (का० श्रौ० १५।४।३४)। इडान्तग्रहणं देवसूहविषां शेषकार्योपलक्षणार्थम् । तेन देवसूहविषां भागपरिहरणान्ते कृते वक्ष्यमाणा अभिषेकार्था अपो वक्ष्यमाणप्रकारेण गृह्णीयात् । या आपो निमित्तेनातपवर्षणादिना प्राप्यन्ते ता नैमित्तिक्यः । तादृशीरपो राजसूयारम्भात् प्रागेव सम्पाद्येदानीं यूपमुत्तरेण गृह्णीयात् । कुतः ? इदानीमातपवर्षणादेर्निमित्तस्यासम्भवात् । इतरा अनैमित्तिकीरपः प्रति इदानीमेव गत्वा ता गृह्णामीति । उदुम्बरवृक्षनिर्मितेषु भिन्नभिन्नपात्रेषु ता ग्रहीतव्याः । सरस्वतीनद्युद्भवा अपः प्रथमं गृह्णीयात्, अपो देवा इति मन्त्रेण । वरुणस्यार्षम् । प्राक् चरक-सौत्रामण्या अब्देवत्या त्रिष्टुप् । देवा इन्द्रादयो या अपो मधुमतीर्मधुरस्वादोदकाः, ऊर्जस्वतीर्विशिष्टान्नरसवतीः, राजस्वः, राज्ञः सूयन्ते जनयन्ति यास्ता राजोत्पादिकाः । चितानाः, चेतयमानाः चेतनदेवतायुक्तत्वात् परिदृष्टकारिणीः, अपः अगृभ्णन् गृहीतवन्तः । ता एवापः पुनर्विशिनष्टि—याभिरद्भिर्देवा मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् तयोरभिषेकं कृतवन्तः, याभिरद्भिर्देवा इन्द्रदेवमरातीः शत्रून् अदनवतीः शत्रुसेना वा अत्यनयन् अतीत्य नीतवन्त इन्द्रशत्रून् अत्यक्रामितवन्तः, 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इत्येतेरुपसर्गस्य क्रियापदात् परत्वम् । ता अपो गृह्णामीति शेषः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'स वा अपः संभरति । तद्यदपः संभरति वीर्यं वा आपो वीर्यमेवैतद्रसमपाᳪ संभरति' (श० ५।३।४।१)। यजमानाभिषेकार्थं सप्तदशसंख्याकानामपां संभरणं चतुर्थब्राह्मणप्रोक्तम् । आतपवर्ष्याद्या-न्युदकानि यूपस्योत्तरप्रदेशे निधाय गृह्णीयात् । इतराः सम्भविनीरपस्तु तत्र तत्र गत्वा गृह्णीयात् । तदिदमप्-संभरणं विधत्ते—स वा अप इति । उदकसंभरणं वीर्यात्मना प्रशंसति—वीर्यं वा आप इति । अपां वीर्यरूपं रसमेव संभृतवान् भवति । 'औदुम्बरे पात्रे । अन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरे पात्रे' (श० ५।३।४।२) । पात्रविशेषं विधत्ते—औदुम्बर इति । पात्र इति जातावेकवचनम् । सर्वाणि सप्तदश पात्राण्यौ-दुम्बराणि भवन्ति । औदुम्बरत्वमन्नावरोधकत्वेन प्रशंसति—अन्नं वा इति ।

मन्त्रार्थ—इन्द्र आदि देवताओं ने मधुर स्वाद से युक्त, विशिष्ट अन्नरस से युक्त, राज्याभिषेक करने वाले, विशिष्ट ज्ञान के सम्पादक जिस जल को ग्रहण किया, मित्रावरुण देवताओं ने शत्रुओं का तिरस्कार कर जिस जल से इन्द्र का राज्याभिषेक किया, उस जल को मैं ग्रहण करता हूँ ॥ १ ॥

भाष्यसार—नवम अध्याय में राजसूय यज्ञ से सम्बद्ध कुछ कर्म प्रतिपादित किये गये हैं । दशम अध्याय में राजसूय यज्ञ के अवशिष्ट कर्म तथा सौत्रामणी यज्ञ के कुछ विशिष्ट कर्म उल्लिखित किये जाते हैं । कात्यायन श्रौतसूत्र

'स सारस्वतीरेव प्रथमं गृह्णाति। अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नित्यपो देवा रसवतीरगृह्णन्नित्येवैतदाहोर्जस्वती राजस्वश्चिताना इति रसवतीरित्येवैतदाह यदाहोर्जस्वतीरिति राजस्वश्चिताना इति याः प्रज्ञाता राजस्व इत्येवैतदाह याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्नित्येताभिर्हि मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीरित्येताभिर्हीन्द्रं नाष्ट्रा रक्षाᳬस्यत्यनयंस्ताभिरभिषिञ्चति वाग् वै सरस्वती वाचैवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वा एका आपस्ता एवैतत् सम्भरति' (श० ५।३।४।३)। जलसंभरणे क्रमं विधत्ते—सारस्वतीरिति। सरस्वत्यां नद्यां भवा अपः प्रथमं गृह्णीयात्। एवशब्दोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः। तत्र मन्त्रं विधत्ते—अपो देवा इति। मधुमतीः मधुररसवतीः। ऊर्जस्वतीः विशिष्टान्नरसवतीः। राजस्वः राजानं सुवते जनयन्तीति राजसुवः, छान्दस उकारलोपः। चितानाः चेतयन्तेऽनुजानन्तीति चिताना देवतात्वेन चेतयमानाः, अपः उदकानि देवा अगृह्णन्, अत्यनयन् अतिक्रम्य नीतवन्तः। मन्त्रं व्याचष्टे—अपो देवा इति। चिताना इत्यस्य प्रज्ञाता इत्यर्थः। शेषं स्पष्टम्। एतासामभिषेकार्थत्वं प्रशंसति—याभिर्मित्रावरुणाविति। यस्या आपो गृह्यन्ते, तां सरस्वतीं नदीं वागात्मना प्रशंसति—वाग् वै सरस्वतीति। सारस्वतीभिरद्भिरभिषेककरणेन वाचैवाभिषेकं कृतवान् भवति। एता वा एका....सारस्वत्य आप....एवं सारस्वतीरपो गृहीत्वा षोडशापो गृह्णीयात्।

अध्यात्मपक्षे—अभिषेकोपयोगिनीरपो विशिनष्टि—अपो देवा इति। याभिर्देवाः पूर्वकाले मित्रावरुणावभिषिक्तवन्तः, याभिश्च इन्द्रं शत्रूनतिक्रामितवन्तः, ता मधुररसवतीरपोऽभिषेकार्थं गृह्णामीत्येव युक्तम्, पूर्णाभिषेकादौ तासामुपयोगदर्शनात्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं विपश्चितो देवा याभिः क्रियाभिर्मित्रावरुणौ प्राणोदानौ 'प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ' (श० १।८।३।१२), अभ्यषिञ्चन् अभिषिञ्चन्ति, याभिरिन्द्रं स्तनयित्नुं प्राप्नुवन्ति, अरातीः शत्रूंश्च अनयन् जयन्ति, ताभिर्मधुमतीः प्रशस्तमधुरादिगुणयुक्ताः, ऊर्जस्वतीः बलपराक्रमप्रदाः, राजस्वो राजजनिका अपो जलानि प्राणान् वा अगृभ्णन् गृह्णीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, याभिः क्रियाभिः प्राणोदानौ सिञ्चन्ति, याभिश्चेन्द्रं शत्रून् जयन्ति तासामनिरूपणात्, ताभिश्च माधुर्यादिगुणविशिष्टा अपः प्राणांश्च कथङ्कारं गृह्णीयुरित्यस्याप्यनिरूपणात्। किञ्च, मन्त्रे ताभिरिति पदस्याभावात् ता मधुमतीरपो गृह्णीयाद् याभिरद्भिरित्येव युक्तम् ॥ १ ॥

(१५।४।२१-२३, ३४) में निर्दिष्ट याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अपो देवाः' इस ऋचा से नदी के जल का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—इन्द्र आदि देवताओं ने जिन मधुर सुस्वादु रसवाली, राजोत्पादक, चेतनात्मिका जलधाराओं को ग्रहण किया था, जिनके द्वारा देवों ने मित्रावरुणों का अभिषेक किया था तथा जिनके द्वारा देवगणों ने इन्द्रदेव को शत्रुसेनाओं से अतिक्रान्त किया था, उन जलधाराओं को मैं ग्रहण करता हूँ।

अध्यात्मपक्ष में भी—'जिन जलों के द्वारा पूर्व काल में देवों ने मित्रावरुणों को अभिषिक्त किया था और जिनके द्वारा इन्द्र को शत्रुओं से अतिक्रान्त किया था, उन मधुर रसवान् जलों को अभिषेक के लिये ग्रहण करता हूँ' यह अर्थ ही उपयुक्त है। पूर्णाभिषेक आदि कर्मों में इसका उपयोग दृष्टिगोचर होता है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अग्राह्य है, क्योंकि जिन क्रियाओं के द्वारा प्राण तथा उदान दोनों का अभिषेक करते हैं और जिनके द्वारा इन्द्र को शत्रुओं से जिताते हैं, उनका यहाँ कोई निरूपण नहीं किया गया है। उनके द्वारा माधुर्य आदि गुणों से युक्त जल तथा प्राण कैसे ग्रहण करें, इसका भी निरूपण नहीं हो सका है। मन्त्र में 'ताभिः' पद न होने के कारण 'उन जलधाराओं का ग्रहण करें, जिनके द्वारा' इस प्रकार व्याख्या करना ही उचित है ॥ १ ॥

वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ २ ॥

अनेन मन्त्रेण सारस्वतीरपो गृहीत्वाऽनन्तरं हुत्वा षोडशापो गृह्यन्ते । 'जुहोत्युत्तरासु चतुर्गृहीतानि वृष्ण ऊर्म्यादिभिः स्वाहाकारान्तैः पूर्वैः पूर्वैः प्रतिमन्त्रमुत्तरैरुत्तरैर्गृह्णाति' (का० श्रौ० १५।४।३५), 'अवगाह्यावगाढात् पशोः पुरुषाद्वा पूर्वापरा ऊर्मीः' (का० श्रौ० १५।४।२४)। सारस्वतीरप आदाय उत्तरासु षोडशस्वप्सु वृष्णा ऊर्मिरित्यादिभिः स्वाहान्तैः पूर्वपूर्वमन्त्रैश्चतुर्गृहीतान्याज्यानि गृह्यमाणास्वप्सु जुहुयात् । उत्तरैः स्वाहाहीनैर्मन्त्रैस्ताः क्रमेण गृह्णाति । उत्तरमन्त्रेषु 'अमुष्मै' इति पदस्थाने यजमानस्य चतुर्थ्यन्तं नाम ग्राह्यम् । वृष्ण ऊर्मिरित्यादयो विश्वसृजः स्थेत्यन्ता मन्त्राः संहितायां द्विशः पठिताः । तेषां पूर्वः पूर्वः स्वाहान्तः, तेनाज्यहोमः । उत्तर उत्तरः स्वाहाहीनः, तेनापामादानम् । अध्वर्युस्तत्र जले प्रविश्य एकं पशुं पुरुषं वा प्रवेश्य तत्र जले प्रविष्टात् पशोः पुरुषाद्वा यौ पूर्वापरौ कल्लोलौ तौ हुत्वा गृह्णाति । वृष्ण ऊर्मिरसीत्यादीनि आपः स्वराज इत्यन्तानि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि । हे कल्लोल ! त्वं वृष्णो वर्षितुः सेक्तुः सम्बन्धी ऊर्मिः कल्लोलो भवसि, राष्ट्रदा राष्ट्रं जनपदं ददातीति राष्ट्रदाः स्वभावत एव देशप्रदो भवसि, अतो राष्ट्रं मे मह्यं देहि स्वाहा तुभ्यमिदं हविर्दत्तमस्तु । एवं हुत्वाऽथ गृह्णाति वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहीति मन्त्रेण । अमुष्मै इति स्थाने चतुर्थ्यन्तं यजमाननाम ग्राह्यम् । तथैवोपरितना अपि मन्त्रा व्याख्येयाः । अपरोर्मिं गृह्णाति वृषसेनोऽसि, वृषा सेचनसमर्था सेना जलराशिरूपा यस्य स वृषसेनः । यद्वा सेनो नाम संहतिः, वर्षणशीलजलसङ्घो भवसीति । राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा इत्याज्यहोमः । वृषसेनोऽसीत्यादिनापोग्रहणम् । शेषं पूर्ववत् । सर्वमेतद् ब्राह्मणसम्मतमेव ।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथाध्वर्युश्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वापोऽभ्यवैति तद्या ऊर्मी व्यर्दतः पशौ वा पुरुषे वाऽभ्यवेते तौ गृह्णाति' (श० ५।३।४।४)। तत्र प्रथममूर्मिद्वयस्य ग्रहणं विधत्ते—अथाध्वर्युरिति । चतुर्गृहीतेनाज्येनापो वक्ष्यमाणा अभिलक्ष्य अवैति गच्छतीति सर्वशेषः । तत् तत्र नद्यां पशुपुरुषयोरन्यतरस्मिन् अभ्यवेते निमग्ने सति यौ ऊर्मी व्यर्दतो विविधतया पूर्वापरीभावेन गच्छतः, तौ गृह्णीयात् । 'स यः प्राङुदर्दति । तं गृह्णाति वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहीति ॥ अथ यः प्रत्यङुदर्दति'''

मन्त्रार्थ—हे जलकल्लोल ! तुम सेचन करने वाले मनुष्य सम्बन्धी तरंग हो, स्वभाव से ही राष्ट्र-सम्पत्ति को देने वाले हो। मुझे तुम राष्ट्र का अधिपति बनाओ। तुम्हारी प्रसन्नता के लिये यह आहुति मैं समर्पित करता हूँ। हे कल्लोल ! तुम अमुक यजमान को राज्य प्रदान करो। हे वृषसेन ! तुम सेचनसमर्थ जल की तरंग हो, मुझे राष्ट्र प्रदान करो। यह आहुति तुमको समर्पित है। हे वृषसेन ! तुम राष्ट्र के दाता हो, अमुक यजमान को इसका अधिपति बनाओ ॥ २ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।४।३५, २४) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार इस कण्डिका के मन्त्रों से जल का ग्रहण तथा चतुर्गृहीत आज्य का हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे जलदेवता, तुम वर्षणकर्ता से सम्बद्ध कल्लोल हो, स्वभावतः ही देश के प्रदानकर्ता हो, अतः मुझे राष्ट्र प्रदान करो। तुम्हारे लिये हवि प्रदान हो। इसी प्रकार इस यजमान के लिये राष्ट्र प्रदान करो। तुम सिचन

राष्ट्रममुष्मै देहीति ताभिरभिषिञ्चति वीर्यं वा एतदपामुदर्दति पशौ वा पुरुषे वाऽभ्यवेते वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वा एका आपस्ता एवैतत् सम्भरति' (श० ५।३।४।५-६)। तत्रोर्मिद्वयस्यानियमेन समस्य वा ग्रहणे प्राप्ते क्रमं विधत्ते—स यः प्राङिति। य ऊर्मिः प्राङ्मुख उद्गच्छेत् तं गृह्णीयात्। हवनमन्त्रं ग्रहणमन्त्रं च विधत्ते—वृष्ण ऊर्मिरसीति। स्वाहान्तो हवनमन्त्रः, द्वितीयो ग्रहणमन्त्रः। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव। ऊर्मिद्वयं जलवीर्यात्मना प्रशंसति—वीर्यं वा इति। उभयोरप्यूर्म्योरेकत्वेन परिगणनमाह—एता वा एका आप इति।

अध्यात्मपक्षे—राजसूयतदङ्गोपाङ्गरूपेणाविर्भूतस्य ब्रह्मण एवाभिषेकार्थं कल्लोलरूपेण स्तवनं प्रार्थनं चेति पूर्ववदेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यस्त्वं वृष्णः सुखवर्षकस्य विज्ञानस्य ऊर्मिः प्रापको राष्ट्रदा असि, स्वाहानीत्या राज्यं मे मह्यं देहि। वृष्ण ऊर्मिः सुखवर्षकस्य राज्यस्य ऊर्मिर्ज्ञाता राष्ट्रदा चासि, अमुष्मै राज्यपालकाय न्यायेन प्रकाशितं राज्यं देहि। राष्ट्रदा राज्ञां कर्मप्रदो वृषसेनोऽसि हृष्टपुष्टसेनोऽसि, मे प्रत्यक्षाय मह्यं स्वाहा सुवाण्या राष्ट्रं देहि। राष्ट्रदा वृषसेनोऽसि त्वममुष्मै राष्ट्रं देहि' इति, तदेतत् सर्वं बालक्रीडामात्रम्, परोक्षाय प्रत्यक्षाय च जनाय राज्यदाने सति दाता राज्यहीन एव स्यात्। कथं च याच्ञामात्रेण राज्यप्राप्तिः सम्भवति ? दिव्यैश्वर्यसम्पन्नासु देवतासु राज्यदानसामर्थ्ये सत्यपि मनुष्येषु तदसम्भवात्॥ २॥

अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहाऽर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहापां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देह्यपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहापां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ ३ ॥

करने में समर्थ जलराशिरूपी सेना वाले हो। अथवा वर्षणशील जल के संघात (समूह) हो, राष्ट्र के प्रदानकर्ता हो। अतः मुझे राष्ट्र प्रदान करो। इसी प्रकार इस यजमान के लिये राष्ट्र प्रदान करो।

अध्यात्मपक्ष में भी राजसूय यज्ञ के अंग-उपांग के रूप में आविर्भूत ब्रह्म के ही अभिषेक के लिये कल्लोलरूप से स्तुति तथा प्रार्थना है। अतः पूर्वोक्त प्रकार की ही व्याख्या होगी।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ बालकों की क्रीडा की भाँति है। परोक्ष तथा प्रत्यक्ष व्यक्ति के लिये राज्य का दान देने पर तो देने वाला राज्यहीन ही हो जायगा। फिर केवल याचना से राज्य की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? दिव्य ऐश्वर्य सम्पन्न देवताओं में राज्य प्रदान की शक्ति होने पर भी मनुष्यों में तो यह असम्भव है॥ २॥

मन्त्रार्थ—नदी आदि के प्रवाह में स्थित हे जलदेवता ! तुम स्वभाव से ही राज्य को देने वाले हो, उस राज्य को मुझ यजमान के निमित्त प्रदान करो। तुम्हारी प्रीति के निमित्त दी हुई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे जलदेवता, तुम स्वभाव से ही राज्य को देने वाले हो, मुझे राज्य प्रदान करो। हे बलयुक्त जलदेवता, तुम स्वभाव से ही राज्य को देने वाले हो, इस यजमान के निमित्त राज्य प्रदान करो। हे परिवाही जलदेवता ! तुम स्वभाव से राज्य को देने वाले हो, इस यजमान के लिये राज्य प्रदान करो। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे सागर स्थित जल-

'स्यन्दमाना इति नद्यादिप्रवाहस्था अपो गृह्णाति' (का० श्रौ० १५।४।२५)। अर्थेत, अर्थं निष्पादयितुम् अर्थं प्रयोजनमुद्दिश्य वा नद्यादेः सकाशाद् यज्ञदेशं यन्ति गच्छन्तीति अर्थेतः, इणः क्विपि तुकि रूपम्। तथाविधा यूयं राष्ट्रदा जनपददात्र्यः स्थ भवथ, मे मह्यं राष्ट्रं दत्तेति बहुवचनम्, प्रयच्छतेत्यर्थः। कुल्यादिरूपेण बहुविधसस्योपकारकत्वादपां राष्ट्रप्रदत्वमस्तीति काण्वसंहिताभाष्ये सायणः। अन्यत् पूर्ववत्। 'प्रतिलोमाः' (का० श्रौ० १५।४।२६) नदीस्था वहन्त्य आपः स्यन्दमाना उच्यन्ते। स्यन्दमानानां याः प्रतिलोमं वहन्ति ता गृह्णीयात्, वहन्तीनां याः प्रतिगच्छन्ति तासु होम आदानं चेत्यर्थः। हे आपः, यूयम् ओजस्वतीः ओजसा बलेन युक्ता भवथ। 'अपयतीः' (का० श्रौ० १५।४।२७) इति याः प्रवाहादपसृत्य मार्गान्तरेण गत्वा तस्मिन् प्रवाहे पुनरपि प्रविशन्ति ता अपयत्यस्ता गृह्णीयात्। हे आपः! यूयं परिवाहिणीः सर्वतो वहनशीलाः स्थ। 'नदीपतिँ सूद्याः' (का० श्रौ० १५।४।२८)। नदीपतिः समुद्रः, तत्रापि याः सुष्ठु ऊर्ध्वं यन्ति उच्छ्रयन्तीति सूद्याः, ता वीचिस्था आपो ग्रहीतव्याः, तासामपि होमादाने। अपांपतिः जलानां पालकः स्वामी भवसि। 'निवेष्याः' (का० श्रौ० १५।४।३०)। नद्यादौ यत्र प्रदेशे उदकानां भ्रमिर्भवति, तत्रस्था अपो गृह्णीयात्। निवेष्यते आवर्त्यते तृणादिकमस्मिन्निति निवेष्य आवर्तस्तद्भवाः। हे जलभ्रम ! त्वमपां गर्भो मध्यवर्ती भवसि। परितः सर्वतो वाहो यासा ताः परिवाहण्यस्ताः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ स्यन्दमाना गृह्णाति। अर्थेत स्थ राष्ट्रदा····ताभिरभिषिञ्चति वीर्येण वा एताः स्यन्दन्ते तस्मादेनाः स्यन्दमाना न किञ्चन प्रतिधारयते वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वा एका आपस्ता एवैतत् सम्भरति' (श० ५।३।४।७)। प्रवहन्तीनामपां वीर्यात्मकत्वमाह—वीर्येणेति। यत आपो वीर्येणैव स्यन्दन्ते, तस्मात् स्यन्दमाना एना अपः किञ्चन वस्त्वपि प्रतिमुखं न धारयते, प्रवहन्तीरपो न कश्चिदपि धारयितुं शक्नोतीत्यर्थः। 'अथ याः स्यन्दमानानां प्रतीपँ स्यन्दन्ते। ता गृह्णात्योजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति वीर्येण वा एताः····प्रतीपँ स्यन्दन्ते····' (श० ५।३।४।८)। प्रतिलोमं प्रवहन्तीनामपां ग्रहणं विधत्ते—ता गृह्णातीति। अपां मध्ये प्रतीपं प्रतिकूलं स्यन्दन्ते ता गृह्णाति। ओजस्वतीः बलवत्यः स्थ। 'अथापयतीर्गृह्णाति। आपः परिवाहिणी स्थ····ताभिरभिषिञ्चत्येतस्यै वा एषाऽपरिच्छिद्यैषैव पुनर्भवत्यपि ह वा अस्यान्यराष्ट्रीयो राष्ट्रे भवत्यन्यराष्ट्रीयमवहरते तथास्मिन् भूमानं दधाति भूम्नैवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वा एका आपः····' (श० ५।३।४।९)। नद्याः सकाशादपच्छिद्य गच्छन्तीनामपां ग्रहणं विधत्ते—अथापयतीर्गृह्णातीति। नदीप्रवाहं परित्यज्य पृथक् प्रवाहरूपेण याः स्यन्दन्ते ता अपयत्यस्ता गृह्णीयात्। परिवाहिणीभिरद्भिरभिषेकं प्रशंसति—एतस्यै वा एषेति। एतस्या महानद्याः सकाशाद् अपच्छिद्य

देवता ! तुम मुझे राज्य प्रदान करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे अपांपति ! तुम स्वभाव से राज्य के दाता हो, अमुक यजमान के निमित्त राज्य प्रदान करो। हे भँवर के जलदेवता ! तुम स्वभाव से राज्य को देने वाले हो, मुझे राज्य प्रदान करो। यह आहुति तुम्हारी प्रीति के निमित्त दी जा रही है। हे भँवर के जलदेवता, तुम स्वभाव से राज्य के दाता हो, अमुक यजमान के निमित्त राज्य प्रदान करो ॥ ३ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।४।२५-३०) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'अर्थेत स्थ' इत्यादि कण्डिकागत मन्त्रों से भी पूर्व मन्त्रों की भाँति विभिन्न जलों का ग्रहण तथा हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे प्रयोजन की पूर्ति के लिये गमन करने वाली जलराशियों, आप लोग जनपद को देने वाली हैं, अतः मुझे राष्ट्र प्रदान करें। इसी प्रकार इस यजमान के लिये भी राष्ट्र प्रदान करें। हे जलधाराओं, आप लोग बल

पृथक्कृत्य परिवहति, एषैव पुनर्भवति संसृष्टा परिणदी पुनरेषैव महानदी भवतीत्यर्थः। यस्मादपच्छिद्य नदी पुनस्तां महानदीं प्राप्नोति, तस्मादस्यैताभिरभिषिक्तस्यान्यराष्ट्रीयः पुरुषः राष्ट्रे स्वराष्ट्रे भवति। अन्यराष्ट्रीयमवहरते वशयति। यथा महानदी परिणदीसंसर्गेण भूयसी भवति, तथा तस्मिन् राजनि अन्यराष्ट्रीयसमवधानेन भूयस्त्वं दधाति। 'अथ नदीपतिं गृह्णाति। अपांपतिरसि····ताभिरभिषिञ्चत्यपां वा एष पतिर्यन्नदीपतिर्विशामेवैनमेतत्पतिं करोति एता वा एका आपः' (श० ५।३।४।१०)। समुद्रोदकग्रहणं विधत्ते—अथ नदीपतिं गृह्णातीति। तत्रापि नाविशेषेण ग्रहणम्, किन्तु सूद्यानामुच्छलन्तीनामपां ग्रहणं कर्तव्यमित्याह—एता वा इति। 'अथ निवेष्यं गृह्णाति। अपां गर्भोऽसि····ताभिरभिषिञ्चति गर्भं वा एतदाप उपनिवेष्टन्ते विशामेवैनमेतद् गर्भं करोत्येता वा एका····' (श० ५।३।४।११)। आवर्तोदकग्रहणं विधत्ते—अथ निवेष्यं गृह्णातीति। निवेष्यते आवर्त्यते तृणादिकमस्मिन्निति निवेष्य आवर्त उदकानां गर्भोऽपत्यं भवति। गर्भं वा एतत्, तथैव विशामेवैतद् गर्भं करोति।

अध्यात्मपक्षे—स्वान्तःशुद्धिक्रमेण समेषां तत्कर्मबोधकानां मन्त्राणां ब्राह्मणानां च ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे पर्यवसानात् कर्मपरा अपि मन्त्रा ब्रह्मपरा भवन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! ये यूयमर्थेतः, अर्थयन्ति श्रेष्ठपदार्थलब्धारो भवत ते मे राष्ट्रं दत्त स्वाहा सत्यनीत्या राष्ट्रदाः सभासदः स्थ। ये यूयमर्थेतः पदार्थज्ञातारो राष्ट्रदा राज्यदातारः स्थ, तेऽमुष्मै राज्यपालकाय राष्ट्रं दत्त। या यूयं स्वाहा सत्यया वाचा ओजस्वतीः विद्याबलपराक्रमयुक्ता राजस्त्रियः सत्यो राष्ट्रदाः स्थ ता अमुष्मै राष्ट्रं दत्त। या यूयं स्वाहा न्याययुक्तया नीत्या परिवाहिणीः स्वसदृशान् पतीन् परिवोढुं शीला राष्ट्रदाः स्थ ता मे राष्ट्रं दत्त। यूयं परिवाहिणीरापो राष्ट्रदाः स्थ ता अमुष्मै राष्ट्रं दत्त। यस्त्वं राष्ट्रदा अपां पतिरसि स मे स्वाहा विनययुक्तया वाचा अमुष्मै राष्ट्रं देहि। यस्त्वं स्वाहा राष्ट्रदा अपां गर्भोऽसि, सोऽमुष्मै राष्ट्रं देहि' इति, तदपि निरर्थकमेव, श्रुतिसूत्रादिविरुद्धत्वात्। यदपि 'ओजस्वतीः विद्याबलपराक्रमयुक्ता राजस्त्रियः, परिवाहिणीः पतीन् परिवोढुं शीलाः' इत्यादिकमाह, तदपि कल्पनामात्रमेव, परिपूर्वस्य वहतेस्तादृशार्थेऽप्रसिद्धत्वात्, ब्राह्मणेनाभिषेकोपयोगिनीषु तासु तास्वप्सु तेषां शब्दानां व्याख्यातत्वात्॥ ३॥

सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं

से परिपूर्ण हैं, सर्वत्र प्रवाह करने में समर्थ हैं, जल की स्वामिरूपा हैं, जल के मध्य (मूल) में संस्थित हैं, अतः मुझे राष्ट्र प्रदान करें। इसी प्रकार इस यजमान के लिये राष्ट्र प्रदान करें।

अध्यात्मपक्ष में अपने अन्तःकरण की शुद्धि के क्रम से सभी उन कर्मों के बोधक मन्त्रों तथा ब्राह्मण-वाक्यों की ब्रह्मात्मक साक्षात्कार में ही पूर्णता होने के कारण कर्मपरक मन्त्र भी ब्रह्मपरक होते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ श्रुतिवचनों तथा सूत्रादि से विरुद्ध होने के कारण आधारहीन है। 'ओजस्वतीः' अर्थात् विद्या, बल, पराक्रम से युक्त राजा की स्त्रियाँ तथा 'परिवाहिणीः' अर्थात् पतियों का वहन करने वाली, इत्यादि केवल कल्पना ही है, क्योंकि 'परि' उपसर्गपूर्वक 'वह' धातु की पूर्व प्रतिपादित अर्थ में ही प्रसिद्धि है। ब्राह्मण ग्रन्थ द्वारा भी अभिषेक में उपयोगी उन उन जलों के विषय में ही तत्तत् शब्दों की व्याख्या की गई है॥ ३॥

मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना अनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः ॥ ४ ॥

'स्यन्दमानाः स्थावराः प्रत्यातपे' (का० श्रौ० १५।४।३१)। आदित्येन प्रतिकालमातप्यते न कदाचिद् वृक्षादिच्छायया‌ऽवष्टभ्यत इति प्रत्यातपो देशस्तत्र यो ह्रदस्तत्र स्यन्दमानानामपां मध्ये याः स्थिरास्तदात्मिका अपो गृह्णीयात्। हे आपः, यूयं सूर्यत्वचसो भवथ। सूर्यस्येव त्वचस्त्वग् यासां ताः सूर्यत्वचसः, सर्वदैवातपे विद्यमानत्वात्। 'त्वचस्' शब्दः सान्तः त्वग्वाची। यद्वा सूर्यस्य त्वचस्त्वग् दीप्तिर्यासां ताः, यद्वा सूर्यस्य त्वक्

मन्त्रार्थ—हे सूर्यत्वक् रूप जलदेवता ! तुम स्वभाव से ही राज्य के दाता हो, मेरे लिये राज्य प्रदान करो। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे जलदेवता, तुम अमुक यजमान को जल प्रदान करो। हे सूर्य की कान्ति में स्थित जलदेवता ! तुम स्वभाव से ही राज्य के दाता हो, मुझे राज्य प्रदान करो, इस यजमान को राज्य प्रदान करो। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे मान्द जलदेवता ! तुम स्वभाव से ही राज्य के दाता हो, मेरे निमित्त और इस यजमान के निमित्त राज्य प्रदान करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे व्रजक्षित् कूपस्थित जलदेवता ! तुम स्वभाव से ही राज्य के दाता हो, इस यजमान के निमित्त राज्य प्रदान करो। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे वाशा स्थित जलदेवता ! इस यजमान को राज्य प्रदान करो। हे त्रिदोषशमनकारक जलदेवता ! तुम स्वभाव से ही राज्य के दाता हो, मुझे राज्य प्रदान करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे शविष्ठ ! तुम स्वभाव से ही राज्य के दाता हो, अमुक यजमान को राज्य प्रदान करो। हे जलदेवता ! तुम वाह, दोह आदि से जगत् का उद्धार करने वाली गाय के समान स्वभाव वाले हो, मुझे राज्य प्रदान करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे शक्वरी जलदेवता। तुम इस यजमान को राज्य प्रदान करो। हे जलदेवता ! तुम बालभाव में मनुष्यों को पुष्ट करने वाले हो, मुझे राज्य प्रदान करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे जनभृत् ! तुम स्वभाव से राज्य के दाता हो, अमुक यजमान को राज्य प्रदान करो। हे जलदेवता, तुम मनुष्य से देवता पर्यन्त सारे जगत् को घृत द्वारा पुष्ट करते हो, तुम मुझे राज्य प्रदान करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे घृतरूप विश्वभृत् ! तुम अमुक यजमान को राज्य प्रदान करो। हे मरीचिरूप जलदेवता, तुम अपने प्रकाश में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते, तुम स्वभाव से राज्य के दाता हो, अमुक यजमान को राज्य प्रदान करो। हे मधुर रस युक्त जलदेवता, मधुर रस वाले जल से यजमान को बलिष्ठ बना कर अपने रस से उसको सींचो, असुरों से कभी पराजय न प्राप्त करने वाले बल से इस यजमान को संयुक्त करो। इस क्षत्रिय यजमान को राज्य पद पर स्थापित कर आप स्वयं भी इसी स्थान में निवास करो ॥ ४ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।४।३१-३८) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार

शरीरं प्रतिबिम्बरूपेण यासु तिष्ठति, तास्तथाविधाः स्थ। 'अन्तरिक्षात्प्रतिगृह्या आतपवर्ष्याः' (का० श्रौ० १५।४।३२)। आतपे वर्षति सति गगनादप आदायादौ सम्पादिताः सन्ति। यूपमुत्तरेण तासु होमादाने आतपवर्ष्यास्ता अपो भूमिपतनात् प्रागेवाकाशात् पतन्तीरादाय गृह्णीयात्। यूपोत्तरेण तासु होमादाने। सूर्यस्येव वर्चस्तेजो यासां ताः सूर्यवर्चसस्तादृश्यो भवथ। 'सरस्याः' (का० श्रौ० १५।४।३३) इति सरस्तडागस्तत्र भवा अपो गृह्णीयात्। हे आपः! यूयं मान्दाः स्थ, मन्दतेर्मोदनार्थस्यैतद् रूपम्। मन्दन्ते मोदन्ते भूतानि यत्र बहूदकत्वात् ता मान्दा भवथ, यद्वा प्रवाहाभावाद् मन्दस्वभावाः स्थ। 'कूप्याः' (का० श्रौ० १५।४।३३) कूपे भवाः कूप्याः, ता गृह्णाति। हे आपः! यूयं व्रजक्षितो भवथ। व्रजे कूपे क्षियन्ति निवसन्तीति व्रजक्षितः, 'क्षि निवासे', व्रज इति मेघनामसु पठितम् (निघ० १।१०।११)। अत्र तूदकधारणसामर्थ्यात् कूप उच्यते। 'प्रुष्वाः' (का० श्रौ० १५।४।३३)। 'प्रुष सेचने', प्रुष्णन्ति ओषधीः सिञ्चन्तीति प्रुष्वा अवश्यायरूपास्तृणाग्रजलबिन्दवः, तासु शुद्धवस्त्रक्षेपेण निष्पीड्य या आत्ताः सन्ति, ता यूपमुत्तरेण हुत्वा ग्राह्याः। प्रुष्वा नीहारा अवश्यायरूपा ओसकणास्तृणाग्रबिन्दवः। वाशाः स्थ, उश्यन्ते काम्यन्ते जनैरिति वाश्यः कामिता अभिलषिता यूयं भवथ, 'वश कान्तौ'। यद्वा प्रवाहवन्मनुष्यादिगतिं न प्रतिबध्नन्तीति वश्याः। 'मधु' (का० श्रौ० १५।४।३५) मधुनि होमादाने। हे मधुरूपा आपः! यूयं शविष्ठा बलिष्ठा बलदात्र्यो भवथ, शव इति बलनाम (निघ० २।९।३)। बलिष्ठं हि मधु त्रिदोषशमनत्वात्, 'त्रिदोषघ्नं मधु प्रोक्तम्' इति। 'गौरुल्ब्याः' (का० श्रौ० १५।४।३३) उल्बं गर्भवेष्टनम्, तत्र भवा उल्ब्याः प्रसूयमानधेनुगर्भवेष्टनोत्थजलं पूर्वं यद् गृहीतमस्ति, तत्र यूपमुत्तरेण होमादाने। शक्वरीः, हे गोगर्भवेष्टनोत्था आपः, यूयं शक्वरीः शक्वर्यो गोसम्बन्धिन्यः, शक्नुवन्ति वाहदोहादिभिर्जगदुद्धर्तुमिति शक्वर्यो गावः, 'शक्लृ शक्तौ', 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति वनिप्। 'वनो र च' (पा० सू० ४।१।७) इति ङीब् रेफश्च। 'पयः' (का० श्रौ० १५।४।३३) दुग्धस्य होमो ग्रहणं च। हे आपः! यूयं जनभृतो बालभावे जनान् जन्तून् बिभ्रति पुष्णन्तीति जनभृतो भवथ। 'घृतम्' (का० श्रौ० १५।४।३३) घृतस्य होमादाने। हे घृतरूपा आपः, यूयं विश्वभृतो विश्वं सर्वं देवादिजगद् बिभ्रतीति विश्वभृतो यूयं भवथ। एवं सरस्वतीप्रभृतयः सप्तदश उक्ताः। 'आपः स्वराज इति मरीचीर्गृहीत्वा गृहीत्वाऽञ्जलिना सर्वासु सꣳसृजति' (का० श्रौ० १५।४।३६)। रविकरतप्ता आपो मरीचयः। ता अञ्जलिनादाय पूर्वगृहीतास्वप्सु योजयेत्। प्रतिग्रहणं मन्त्रेण संसर्जनं तूष्णीम्। नात्र होमः, 'द्वयीषु न जुहोति सारस्वतीषु मरीचिषु' (श० ५।३।४।२५-२६) इति श्रुतेः। हे मरीचिरूपा आपः, यूयं स्वराजः स्थ भवथ। स्वेनैव राजन्ते यास्ताः, स्वकीयमेव राज्यं यासां ता वा, अनन्याश्रितराज्या इत्यर्थः। यूयं राष्ट्रदा अतोऽमुष्मै यजमानाय राष्ट्रं राज्यं दत्त। 'औदुम्बरे पात्रे समासिञ्चत्येना मधुमतीरिति' (का० श्रौ० १५।४।३७)। एनाः पूर्वोक्ता अप एकस्मिन् उदुम्बरकाष्ठपात्रे एकीकर्तुं निनयेत्, मधुमतीरिति मन्त्रेण। प्रतिनिनयनं मन्त्रावृत्तिः। अब्देवत्यं यजुः। मधुमतीः मधुमत्यो मधुररसवत्य एता आपो मधुमतीभिर्मधुरस्वादवतीभिरद्भिः पृच्यन्तां संसृज्यन्ताम्। महि महत् क्षत्रं बलं क्षत्रियाय राज्ञे यजमानाय वन्वानाः सम्भज्यमाना ददत्यः, 'वन षण सम्भक्तौ', सम्भजनं दानम्।

'सूर्यत्वचस स्थ' इत्यादि कण्डिकागत मन्त्रों के द्वारा तत्तद् जलों का ग्रहण आदि कर्म पूर्वोक्त विनियोग की भाँति किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे जलदेवता, आप लोग सूर्य की भाँति त्वग्दीप्तियुक्त अथवा सूर्य के शरीर-मण्डल का प्रतिबिम्ब धारण करने वाले, सूर्य की भाँति तेजस्वी, प्राणियों को प्रमुदित करने वाले अथवा मन्द स्वभाव से युक्त, कूप में स्थित रहने वाले, जनों के द्वारा अभिलषित अथवा प्रतिबन्धरहित करने वाले, बल प्रदान करने वाले, जगत् का उद्धार करने में समर्थ, जन्तुओं का धारण-पोषण करने वाले, सम्पूर्ण विश्व का पोषण करने वाले, स्वयं प्रकाशमान अथवा स्वयं राज्यकर्ता हैं

'मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरस्तान्निदधात्यनाधृष्टा सीदतेति' (का० श्रौ० १५।४।३८)। औदुम्बरे पात्रे समवेतास्ता अपो मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरस्तात् सदसि सादयति, अनाधृष्टा सीदतेति मन्त्रेण। अब्देवत्यं यजुः। हे आपः, यूयं सीदत तिष्ठत। कथंभूताः? अनाधृष्टा अपराभूता असुरराक्षसैः, सहौजस ओजसा बलेन युक्ताः, महि महत् क्षत्रं बलं क्षत्रियाय राज्ञे यजमानाय दधतीः दधत्यः, स्थापयन्त्य इत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणं पूर्वोक्तमेवार्थं समर्थयते—'अथ यः स्यन्दमानानां? स्थावरो ह्रदो भवति। प्रत्यातापे ता गृह्णाति सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा····दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति वर्चसैवैनमेतदभिषिञ्चति सूर्यत्वचसमेवैनमेतत्करोति वरुण्या वा एता आपो भवन्ति याः स्यन्दमानानां न स्यन्दन्ते वरुणसवो वा एष यद् राजसूयं तस्मादेताभिः····' (श० ५।३।४।१२)। हे आपः, यूयं सूर्यत्वचसः स्थ। सूर्यस्येव त्वचः त्वग् दीप्तिर्यासां ताः, सूर्यस्य त्वचस्त्वक् शरीरं प्रतिबिम्बरूपेण तिष्ठति यासु ताः स्थ। वर्चसैवेति वर्चसा दीप्त्या अभिषिक्तवान् भवति। सूर्यत्वचसं सूर्यसमानतेजस्कं कृतवान् भवति। वरुण्याः स्थावरा आपो वरुणदेवत्याः। राजसूयमिति यदेष वरुणसवो वरुणाभिषेकः, वरुणोऽभिषिच्यते यस्मिन् सः, अतो वरुणदेवत्याभिः ह्रदगताभिरद्भिरभिषेकः कर्तव्य इति स्तुतिः। 'अथ या आतपति वर्षन्ति। ता गृह्णाति सूर्यवर्चस स्थ····सूर्यवर्चसमेवैनमेतत्करोति मेध्या वा एता आपो भवन्ति या आतपति वर्षन्त्यप्राप्ता हीमां भवन्त्यथैना गृह्णाति मेध्यमेवैनमेतत्करोति····' (श० ५।३।४।१३)। अथातपवर्ष्याग्रहणं विधत्ते—ता गृह्णातीति। सूर्ये आतपति सति या वर्षन्ति ता गृह्णीयात्। सूर्यवर्चस इति सूर्यदीप्तियुक्ताः, सूर्यतेजसा युक्तत्वात्। आतपवर्ष्या शुद्धा इत्यर्थः। तासां ग्रहणे विशेषं विधत्ते—अप्राप्ता हीति। इमां भूमिमप्राप्ताः, अर्थाद् भूमौ न पतिता भवन्ति, अथ तदानीमेव एना अपो गृह्णीयात्। 'अथ वैशन्तीर्गृह्णाति। मान्दाः स्थ राष्ट्रदा····विशमेवास्मा एतत्स्थावरामनपक्रमिणीं करोति' (श० ५।३।४।१५)। सरस्यानामपां ग्रहणं विधत्ते—अथ वैशन्तीरिति। वेशन्तोऽल्पसरस्तत्र भवा अपो गृह्णाति। मान्दाः प्रवाहाभावाद् मन्दस्वभावाः, मान्दाभिरभिषेकेण अस्मै राज्ञे यजमानाय विशं प्रजां स्थावरां स्थिरामनपक्रमिणीं स्वाधीनां कृतवान् भवतीत्यर्थः। 'अथ कूप्या गृह्णाति। व्रजक्षितः स्थ राष्ट्रदा····तद्या इमां परेणापस्ता एवैतत् सम्भरत्यपामु चैव सर्वत्वाय तस्मादेताभिरभिषिञ्चति' (श० ५।३।४।१५)। कूप्यानामपां ग्रहणं विधत्ते—अथ कूप्या गृह्णातीति। कूपे भवाः कूप्याः। व्रजक्षितः स्थ। व्रज इति मेघनामसु पठितः (निघ० १।१०।११)। प्रकृते तूदकधारणसामर्थ्यात् कूपोऽभिधीयते। व्रजे कूपे क्षितो निवसन्त्य इमां भूमिं परेण भूमेरधस्ताद् विप्रकृष्टे देशे कूपे स्थिता अपो गृह्णीयात्। किमर्थं भूमिस्थितानामपां ग्रहणम्? अपां सर्वत्वाय सर्वेषामुदकानां समष्ट्यै इति।

'अथ प्रुष्वा गृह्णाति। वाशा स्थः····ताभिरभिषिञ्चन्त्यन्नाद्येनैवैन····न्नेतद्दधातीदं वा असावादित्य उद्यन्नेव यथायमग्निर्निर्दहेदेवमोषधीरन्नाद्यं निर्दहति तदेता आपोऽभ्यवयत्यः शमयन्ति न ह वा इहान्नाद्यं परिशिष्येत यदेता आपो नाभ्यवेयुरन्नाद्येनैवैनमेतदभिषिञ्चति ···' (श० ५।३।४।१६)। नीहारोदकानां ग्रहणं विधत्ते—अथ प्रुष्वा इति। प्रुष्वा अवश्यायकणाः। हे आपः, वाशाः स्थ सर्वैः काम्यमाना भवथ। वश्या मनुष्यादिगतिं नदीप्रवाहवन्न प्रतिबध्नातीति वश्यत्वम्। प्रुष्वाणामन्नाद्यात्मकत्वमुपपादयति—अन्नाद्यमेवेति। उद्यन् अन्तरिक्षे दृश्यमान आदित्य इदमोषधिरूपमन्नाद्यं निर्दहति। अन्नं च तदाद्यं चेत्यन्नाद्यम्। तत्र दृष्टान्तः—यथायमग्निर्निर्दहेदेवमिति। तत् तदा सस्यानामातपजातम्लानिसमयेऽवश्यायकणा अभ्यवयत्यः सिञ्चन्त्यः शमयन्त्याप्याययन्ति। यदेता आपो नीहाररूपा नाभ्यवेयुः, तदा न ह वा अन्नाद्यं परिशिष्येत। तस्मादोषधिवर्धनहेतुभूताभिः प्रुष्वाभिरद्भिरभिषेकेण यजमानेऽन्नाद्यं निहितवान् भवति। 'अथ मधु गृह्णाणि। शविष्ठा स्थ ·· ताभिरभिषिञ्चत्यपां

तथा राष्ट्र को प्रदान करने वाले हैं, अतः मुझे राष्ट्र प्रदान करें। इसी प्रकार इस यज्ञकर्ता के लिये भी राष्ट्र प्रदान करें।

चैवैनमेतदोषधीनां च रसेनाभिषिञ्चति' (श० ५।३।४।१७)। हे मधु द्रवरूपा आपः, शविष्ठा बलवत्तमाः स्थ। एताभिर्मधुद्रवरूपाभिरद्भिरभिषेकेण अपां च ओषधीनां च रसेनाभिषिक्तवान् भवति, मधुनो द्व्यात्मकत्वादित्यर्थः। 'अथ गोर्विजायमानाया उल्ब्या गृह्णाति। शक्वरी स्थ····ताभिरभिषिञ्चति पशुभिरेवैनमेतदभिषिञ्चति' (श० ५।३।४।१८)। विजायमानायाः प्रसूयमानाया गोरुल्बे गर्भवेष्टने भवा अपो गृह्णीयात्। हे तादृशा आपः, शक्वरीः गर्भरक्षणे शक्ताः, वाहदोहादिभिर्जगद्रक्षणे वा शक्ताः समर्थाः स्थ। पशुसम्बन्धिनीभिरेताभिरद्भिरभिषेकेण पशुभिरेनमभिषिञ्चति।

अथ पयसां ग्रहणं विधत्ते—जनभृत इति। हे क्षीरात्मका आपः, जनभृतो जनान् बिभ्रतीति जनभृतः स्थ, क्षीरेण प्राणिमात्रस्य पुष्यमाणत्वात्। 'अथ घृतं गृह्णाति। विश्वभृत स्थ····पशूनामेवैनमेतद्रसेनाभिषिञ्चति' (श० ५।३।४।२०)। घृतस्य ग्रहणं विधत्ते—अथ घृतं गृह्णातीति। घृतस्य पशुरसत्वं क्षीरादिद्वारा प्रसिद्धमेव। 'अथ मरीचीः। अञ्जलिना संगृह्यापिसृजत्यापः स्वराजः स्थ····एता वा आपः स्वराजो यन्मरीचयस्ता यत्स्यन्दन्त इवान्योन्यस्या एवैतच्छ्रिया अतिष्ठमाना उत्तराधरा इव भवन्त्यो यन्ति स्वाराज्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति····' (श० ५।३।४।२१)। एतदेव सारस्वतवर्जं चतुर्गृहीतेनाज्येन पूर्वं हुत्वा हुत्वा पञ्चदशानामपां ग्रहणं विहितम्, अथान्तिमस्य जलस्य ग्रहणे विशेषं विधत्ते—अथ मरीचीरिति। मरीचीः रविकरतप्ता अपः। अञ्जलिपात्रेण संगृह्य गृहीत्वा अपिसृजति सर्वासु गृहीतास्वप्सु संसृजेदित्यर्थः। अत्र होमाभावात् स्वाहान्तः पूर्वो मन्त्रो न पठितः। ननु कथं मरीचीनामप्त्वेन परिगणनमिति तत्राह—ता यत्स्यन्दन्त इवेति। यद् यस्मात् ता मरीचयः स्यन्दन्त इव प्रवहन्तीव। इवशब्द उपमार्थः, साक्षात्प्रवहणाभावात्। यथा जलसङ्घा उपर्युपरिभावेन वर्तन्ते, तद्वदेता मरीचयोऽन्योन्यस्या मरीचेः श्रियै शोभायै अतिष्ठमानाः स्थातुमसहिष्णव उत्तराधरा इव भवन्त्यो यन्ति गच्छन्ति, अतो जलसाम्यादप्त्वेन परिगणनं युक्तमेव। मरीचीनां ग्रहणं स्वाराज्यहेतुत्वेन प्रशंसति—स्वाराज्यमिति।

'ता वा एताः। सप्तदशापः सम्भरति सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तस्मात् सप्तदशापः सम्भरति' (श० ५।३।४।२२)। सम्भृतानामपां सप्तदशसंख्यां प्रजापत्यात्मना स्तौति—सप्तदशो वै प्रजापतिरिति। प्रजापतेः सप्तदशत्वं प्रागुक्तम्। 'षोडश ता आपो या अभिजुहोति। षोडशाहुतीर्जुहोति ता द्वात्रिꣳशद् द्वयीषु न जुहोति सारस्वतीषु मरीचिषु च ताश्चतुस्त्रिꣳशत् त्रयस्त्रिꣳशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिꣳशस्तदेनं प्रजापतिं करोति' (श० ५।३।४।२३)। अथोक्तानां सारस्वतीप्रभृतिमरीच्यन्तानामपामाहुतीनां च संख्यां समस्य प्रजापत्यात्मना प्रशंसति षोडश ता इति। ता ऊर्मिद्वयस्य विवेके षोडशसंख्याका भवन्ति। अन्यथा सारस्वतीमरीचिसंज्ञका अपोऽपहाय पञ्चदशैवावशिष्यन्ते। ऊर्मिद्वयविवेके तु आहुतयः षोडश। आहुतिभी रहिता सारस्वत्यो मरीचय इति द्वय्यः, षोडश आहुतयः षोडशापश्च। ताः सम्भूय चतुस्त्रिंशत् सम्पद्यन्ते। अथ चतुस्त्रिंशत्सम्पत्त्या चतुस्त्रिंशद्देवतात्मकं प्रजापतिमेव कृतवान् भवतीति तत्करणं प्रशस्तमित्यर्थः। 'अथ यद्धुत्वा हुत्वा गृह्णाति। वज्रो वा आज्यं वज्रेणैवैतदाज्येन स्पृत्वा स्पृत्वा स्वीकृत्य गृह्णाति' (श० ५।३।४।२४)। आज्यस्य वज्रात्मकत्वम् (श० १।५।३।४) इत्यस्यां कण्डिकायामुक्तम्। वज्ररूपेणाज्येन स्पृत्वा स्पृत्वा हिंसित्वा हिंसित्वा ततः स्वीकृत्य स्वाधीनं कृत्वा गृह्णानो भवति। यथा लोके राजादिः प्रबलं शत्रुप्रभृति जनं प्रथमं बाधित्वा पश्चात् स्वाधीनं करोति, तद्वद् हुत्वा हुत्वाऽपां ग्रहणं युक्तमेव।

'अथ यत्सारस्वतीषु न जुहोति। वाग् वै सरस्वती वज्र आज्यं नेद् वज्रेणाज्येन वाचꣳ हिनसानीति तस्मात् सारस्वतीषु न जुहोति' (श० ५।३।४।२५)। सारस्वतीषु मरीचिषु च होमाभावे कारणमाह—वाग् वै

मधुर रस से युक्त ये जलधाराएँ अन्य मधुर जलधाराओं से संयुक्त हों। हे क्षत्रिय राजा के लिये महान् बल को प्रदान करती

सरस्वतीति। सरस्वत्या वाक्त्वेन वाचो वज्रेण हिंसा मा भूदिति न होतव्यम्। 'अथ यन्मरीचिषु न जुहोति। नेदनद्धेवैतामाहुतिं जुहवानीति तस्मान्मरीचिषु न जुहोति' (श० ५।३।४।२६)। मरीचिष्वपि अनद्धा अस्थाने तासां होमाधिकरणत्वासम्भवान्न होतव्यमिति। नेदिति निपातः परिभये (निरु० १।३)। 'ताः सार्धमौदुम्बरे पात्रे समवनयति। मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तामिति रसवती रसवतीभिः पृच्यन्तामित्येवैतदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना इति तत् परोक्षं क्षत्रं यजमानायाशिषमाशास्ते यदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना इति' (श० ५।३।४।२७)। पृथक् पृथक् पात्रे गृहीता आपः सार्धं सम्भूयैकस्मिन् पात्रे समवनयति, आसिञ्चेदित्यर्थः। मधुमतीः मधुमत्यो मधुररसवत्य आपो मधुमतीभिरद्भिः सम्पृच्यन्ताम्, 'पृची सम्पर्के'। महि महत्, एतत् क्षत्रं बलं क्षत्रियकुलं वा क्षत्रियाय यजमानाय वन्वाना दातुं याचमानाः कामयमाना इति। मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—मधुमतीरिति। महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना इति यदाह तत् तेन यजमानाय परोक्षं क्षत्रमाशासितवान् भवतीति। क्षत्रियायेति तात्स्थ्याभिधानाद् वन्वाना इति याचनाभिधानाद्वा आशिषः परोक्षत्वम्। 'ता अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यꣳ सादयति। अनाधृष्टाः सीदत सहौजस इत्यनाधृष्टाः सीदत रक्षोभिरित्येवैतदाह····महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीरिति तत्प्रत्यक्षं क्षत्रं यजमानायाशिषमाशास्ते यदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीरिति' (श० ५।३।४।२८) संसृष्टानामपां मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरोदेशे सादनं समन्त्रकं विधत्ते—ता अग्रेणेति। हे आपः, अनाधृष्टा रक्षोभिरबाधिताः सहौजस ओजसा बलेन सहिता महि महत् क्षत्रं बलं क्षत्रियत्वं वा क्षत्रियाय दधतीरिति प्रदानस्य साक्षादुक्तेः प्रत्यक्षत्वमाशिषः, सीदतेति मध्यमपुरुषप्रयोगाद्वेति।

अध्यात्मपक्षे—आचार्यः शिष्यस्याभिषेकार्थं पूर्वोक्तवद्धोमपूर्वकं तास्ता अपो गृह्णाति। ततः पूर्वोक्ता एव मन्त्रार्थाः।

स्वामिदयानन्दस्तु—'हे राजपुरुषाः, यूयं सूर्यत्वचसः सूर्यस्य त्वचः संवार इव त्वचो येषां ते तथोक्ताः सन्तो न्यायेन राष्ट्रदाः, तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त। हे मनुष्याः, यतः सूर्यत्वचसो यूयं राष्ट्रदाः, अतोऽमुष्मै विद्यया सूर्यवत्प्रकाशमानाय राज्यं दत्त। हे विद्वांसः, सूर्यवर्चसः सूर्यप्रकाशवद्विद्याया अध्येतारो यूयं स्वाहा सत्यया वाचा राष्ट्रदा राज्यदातारः, अतो मे मह्यं तेजस्विने राज्यं दत्त, यतः सूर्यवर्चसस्तस्मादमुष्मै प्रकाशमानाय राष्ट्रं दत्त। हे मान्दा मनुष्याणामानन्ददातारः, स्वाहा सत्यवाग्भिर्मे राष्ट्रं दत्त। अमुष्मै सुखदात्रे राष्ट्रं दत्त। व्रजक्षितो गोष्ठेषु निवसन्तो यूयं तस्मात् स्वाहा सत्यक्रियाभी राष्ट्रदा मह्यं पशुरक्षकाय राष्ट्रं दत्त। अमुष्मै गवादिपशुरक्षकाय राष्ट्रं दत्त। वाशाः कामयन्तो यूयं स्वाहा सत्यनीत्या राष्ट्रदा मह्यमिच्छायुक्ताय राष्ट्रं दत्त। हे वाशाः, यूयं अमुष्मै तादृशाय राष्ट्रं दत्त। तथैव शविष्ठा बलवन्तः सत्यपुरुषार्थेन राष्ट्रदा मह्यं बलवते राष्ट्रं दत्त, अमुष्मै च राज्यं दत्त। शक्वरीः सामर्थ्यवत्यः सत्यपुरुषार्थेन राष्ट्रदा मे राष्ट्रं दत्त अमुष्मै च राज्यं दत्त। जनभृतः श्रेष्ठानां मनुष्याणां पोषयित्र्यः स्वाहा सत्यकर्मभी राष्ट्रदाः श्रेष्ठगुणयुक्ताय मह्यं राष्ट्रं दत्त, अमुष्मै सत्यप्रियाय राज्यं दत्त। हे सभाध्यक्षादिराजपुरुषाः, यूयं विश्वभृतः संसारस्य पोषकाः

हुई जलधाराओं ! आप लोग अपराजित बल से युक्त होकर यजमान के लिये महान् बल देती हुई अवस्थित रहें।

अध्यात्मपक्ष में भी गुरु शिष्य के अभिषेक के लिये पूर्वोक्त हवनपूर्वक तत्तद् जलों का ग्रहण करता है। अतः पूर्वोक्त प्रकार का मन्त्रार्थ ही संगत है।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ निर्मूल तथा असम्बद्ध होने के कारण असंगत है। राजपुरुष तथा दूसरे भी तत्तत् जन राष्ट्र देने में कैसे समर्थ होंगे ? एक ही राष्ट्र मुझे तथा दूसरे को, दोनों को कैसे दिया जा सकता है ? 'मे' तथा 'अमुष्मै' इन शब्दों के विभिन्न अर्थ कैसे सम्भव हैं ? यह भी विचारणीय है। श्रुति तथा सूत्र के वचनों का विरोध तो

स्वाहा सत्यवाण्या राष्ट्रदा मे सर्वपोषकाय राष्ट्रं दत्त, अमुष्मै तथाविधाय राज्यं दत्त। स्वराज्येनैव प्रकाशमाना यूयं मे दत्त, अमुष्मै दत्त। हे सत्स्त्रियः, क्षत्रियाय महि पूजायोग्यं राज्यं वन्वानाः कामयन्त्यः सहौजसः पराक्रमयुक्तेभ्यो राजन्येभ्यो महि महत् क्षत्रं राज्यं दधतीर्दधत्योऽनाधृष्टाः शत्रुभिरनभिभूता मधुमतीर् मधुररसवतीरोषधीर् मधुमतीभिर्मधुरादिगुणयुक्तैर्वसन्तादिभिर्ऋतुसुखैः पृच्यन्तां साध्यन्ताम्। हे सज्जनपुरुषाः, यूयं तादृशीर्योषितः सीदत प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वादसम्बद्धत्वाच्च। राजपुरुषा अन्ये च ते ते कथं राष्ट्रं दातुं प्रभवेयुः। एकमेव राष्ट्रं मह्यममुष्मै च कथं दातुं शक्यते? 'मे'-'अमुष्मै' इति पदयोः कथं ते ते विलक्षणा अर्थाः सम्भवन्तीति चिन्त्यम्। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वोक्तसिद्धान्तव्याख्यानेन स्पष्ट एव। सिद्धान्ते तु 'मे' अध्वर्यवे, 'अमुष्मै' यजमानाय दत्तेति तत्तच्छक्तिविशिष्टास्तत्तदधिष्ठात्र्यो देवताः प्रार्थ्यन्ते, ऋत्विक्प्रार्थनाऽपि यजमानगा भवति, क्रीतत्वात् ॥ ४ ॥

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्। अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॑ सवि॒त्रे स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै॒ स्वाहा॑ पू॒ष्णे स्वाहा॑ बृह॒स्पत॑ये॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॒ घोषा॑य॒ स्वाहा॒ श्लोका॑य॒ स्वाहा॒ अꣳशा॑य॒ स्वाहा॒ भगा॑य॒ स्वाहा॑र्य॒म्णे स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

'मरुत्वतीयान्ते पात्राणि पूर्वेण व्याघ्रचर्मास्तृणाति सोमस्य त्विषिरिति' (का० श्रौ० १५।५।१)। मरुत्वतीयग्रहग्रहणान्ते माहेन्द्रग्रहग्रहणात् पूर्वं मैत्रावरुणधिष्ण्याग्रासादितपालाशौदुम्बरनैयग्रोधवाटाश्वत्थानि पात्राणि तूष्णीमासाद्यन्ते। तेषु पालाशादिचतुष्टयस्य पुरस्ताद् व्याघ्रचर्मास्तृणाति सोमस्य त्विषिरित्यादि-मन्त्रेण। चर्मदेवत्यं यजुः। हे व्याघ्रचर्म, त्वं सोमस्य त्विषिर्दीप्तिरसि, अतस्तवेव त्वत्सदृशी मे मम त्विषिः कान्तिर्भूयात्। 'पार्थानामग्नये स्वाहेति षड् जुहोति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।५।३)। पार्थसंज्ञकानां होमानां मध्ये सकृद्गृहीतेनाज्येन षडाहुतीर्जुहोति। 'अग्नये' इत्यादीनि षट् पार्थान्यभिषेकादौ जुहोति, इन्द्रायेत्यादि षड् अभिषेकान्ते जुहोति। लिङ्गोक्तानि द्वादश यजूंषि। अङ्गतीत्यग्निस्तस्मै देवाय स्वाहा सुहुतमस्तु। सुनोतीति सोमः, सूते सुवति (प्रेरयति) वेति सविता, सरः शब्दः प्रवाहो यस्याः सा सरस्वती, पुष्णातीति पूषा, बृहतां साम्नां पतिर्बृहस्पतिः, इन्दति ईष्टे यः स इन्द्रः, घुष्यति शब्दं करोति यः स घोषः, श्लोक्यते

स्पष्ट ही है। हमारे सिद्धान्त में तो 'मे' का अर्थ अध्वर्यु के लिये तथा 'अमुष्मै' का अर्थ यजमान के लिये दीजिये, इस प्रकार उन उन शक्तियों से युक्त तत्तत् अधिष्ठातृदेवताओं की प्रार्थना की जाती है। ऋत्विक् की प्रार्थना भी यजमान के लिये ही फलप्रद होती है, क्योंकि वह दक्षिणा द्वारा गृहीत प्रतिनिधि है ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे चर्म! तुम सोमदेव की कान्ति रूप हो, तुम्हारी कान्ति मुझे मिल जाय। अग्नि देवता की प्रीति के लिये यह आहुति दी जा रही है, यह भली प्रकार गृहीत हो। प्रेरक सोम देवता के लिये, सविता देवता के लिये, प्रवाह रूप सरस्वती देवी के लिये, पोषक पूषा देवता के लिये, बृहस्पति के लिये यह आहुति दी जाती है, यह भली प्रकार स्वीकार हो। इन्द्रदेवता की प्रीति के लिये, शब्द करने वाले देवता के लिये, जनों से कीर्तित परस्पर आन्दोलित रूप के लिये, पुण्य-पाप का विभाग करने वाले के लिये, ऐश्वर्य के लिये और विश्व को व्याप्त करने वाले अर्यमा देवता के लिये यह आहुति दी जा रही है। यह भली प्रकार गृहीत हो ॥ ५ ॥

भाष्यसार— कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।१,३) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'सोमस्य

कीर्त्यते जनैरिति श्लोकः, अंशयति विभाजयति पुण्यपापे तत्तत्फलदानेनेत्यंशः, 'अंश विभाजने' इति धातुः, भज्यते सेव्यते यः स भगः, इर्यति व्याप्नोति विश्वमित्यर्यमा, एतेभ्यो देवेभ्यः सुहुतमस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'तं वै माध्यन्दिने सवनेऽभिषिञ्चति। एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते तदेनं मध्यत एवैतस्य प्रजापतेर्दधाति मध्यतः सुवति' (श० ५।३।५।१)। यजमानाभिषेकं सकालं विधत्ते—तं वा इति। तं प्रशंसति—एष वै प्रजापतिरिति। माध्यन्दिनसवने क्रियमाणेनाभिषेकेणैनं मध्यत एव यज्ञरूपप्रजापतिमध्य एव निहितवान् भवति। मध्यतो मध्ये सुवति प्रेरयत्यध्वर्युः। 'अगृहीते माहेन्द्रे। एष वा इन्द्रस्य निष्केवल्यो ग्रहो यन्माहेन्द्रोऽप्यस्यैतन्निष्केवल्यमेव स्तोत्रं निष्केवल्यꣳ शस्त्रमिन्द्रो वै यजमानस्तदेनꣳ स्व एवायतनेऽभिषिञ्चति' (श० ५।३।५।२)। कालविशेषं विधत्ते—अगृहीत इति। माहेन्द्रे ग्रहेऽगृहीते सोमरसेनापूर्णे मरुत्वतीयान्त इत्यर्थः। यजमानाभिषेकं स्वायतननिधानरूपेण प्रशंसति इन्द्रो वा इति। 'अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यम्। शार्दूलचर्मोपस्तृणाति सोमस्य त्विषिरसीति यत्र वै सोम इन्द्रमत्यपवत स यत्ततः शार्दूलः समभवत्तेन सोमस्य त्विषिस्तस्मादाह सोमस्य त्विषिरसीति तवेव मे त्विषिर्भूयादिति शार्दूलत्विषिमेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मादाह तवेव मे त्विषिर्भूयादिति' (श० ५।३।५।३)। तदिदं क्रमेण विधित्सुर्व्याघ्रचर्मास्तरणं समन्त्रकं विधत्ते—अग्रेणेति। शार्दूलस्य सोमत्विषित्वमाख्यायिकामुखेनोपपादयति—अत्र वै सोम इति। पूर्वमिन्द्रेण पीयमानः सोमस्तमत्यपवत शरीरादधो निरगच्छत्। स सोमो यदा अत्यपवत ततः सोऽतिपवितः सोमः शार्दूलः सम्भूतवान्। तस्मात् शार्दूलस्य सोमकार्यत्वात् तदीयत्वचः सोमत्विषित्वम्। एतद् एतेन मन्त्रभागकृतेन अस्मिन् यजमाने शार्दूलदीप्तिमेव निहितवान् भवति।

'अथ पार्थानि जुहोति। पृथी ह वै वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे सोऽकामयत सर्वमन्नाद्यमवरुन्धीयेति तस्मा एतान्यजुहवुः स इदꣳ सर्वमन्नाद्यमवरुरुधेऽपि ह स्मास्मा आरण्यान् पशूनभिह्वयन्त्यसावेहि राजा त्वा पक्ष्यत इति तथेदꣳ सर्वमन्नाद्य...मवरुन्धे यस्यैवं विदुष एतानि हूयन्ते' (श० ५।३।५।४)। अथाभिषेकस्य पुरस्तात् पश्चाच्च क्रियमाणान् पार्थहोमान् विधत्ते—अथ पार्थानीति। पार्थानि पृथिनाऽनुष्ठितानि। एतेषां पृथिसम्बन्धं दर्शयति—पृथी ह वा इति। वैन्यो वेनो नाम राजा, तस्य पुत्रः पृथी नाम मनुष्येषु प्रथमोऽभिषिक्तः। सोऽकामयत सर्वमन्नाद्यमवरुन्धीय स्वाधीनं कुर्याम्। तस्मै पृथय एतानि पार्थान्यजुहवुरध्वर्यवः। ततः स राजा इदं सर्वमन्नाद्यमवरुरुधे स्वाधीनं कृतवान्। सर्वान्नावरोधकत्वं दर्शयति—सर्वमित्यादि। अपि खल्वस्मै आरण्यान् पशूनभिह्वयन्ति। किमसौ? हे पशो, एहि राजा त्वां पक्ष्यत भोक्तुं पक्वं करिष्यति। सोऽपि पशुस्तद्वचः श्रुत्वा तत्समीपं स्वयमेवागच्छति। एवं विदुषोऽद्यतनस्य विदुषो ग्रामारण्यस्य भक्षणस्य सर्वस्यावरोधो भवतीत्यनुष्ठानफलमाह—'तानि वै द्वादश भवन्ति। द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य तस्माद् द्वादश भवन्ति' (श० ५।३।५।५), 'षट् पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति। षडुपरिष्टादेनं मध्यत एवैतस्य प्रजापतेर्दधाति मध्यतः सुवति' (श० ५।३।५६), 'स यानि पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति। बृहस्पतिस्तेषामुत्तमो भवत्यथ यान्युपरिष्टादभिषेकस्य जुहोतीन्द्रस्तेषां प्रथमो भवति ब्रह्म वै बृहस्पतिरिन्द्रियं वीर्यमिन्द्र एताभ्यामेवैनमेतद्वीर्याभ्यामुभयतः परिबृꣳहति' (श० ५।३।५।७)। एतेषां संख्यां विधत्ते—तानि वै द्वादशेति। तां संवत्सरात्मना प्रशंसति—द्वादश वै मासा इति। एतेषां हवनकालं विधत्ते—षट् पुरस्तादभिषेकस्येति। द्वादशपदार्थानां मध्ये पूर्वषट्कस्यान्ते बृहस्पतये स्वाहा इति पठ्यते। उत्तरषट्कस्यादौ इन्द्राय स्वाहेति। तयोरुभयोर्मध्येऽभिषेकेण यजमानं ब्रह्मक्षत्रवीर्याभ्यामुभयतः संवर्धितवान् भवतीत्यर्थः।

त्विषिः' इत्यादि कण्डिकागत मन्त्रों के द्वारा व्याघ्र के चर्म को बिछाया जाता है तथा पार्थसंज्ञक आहुतियाँ प्रदान की

'स जुहोति । यानि पुरस्तादभिषेकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहेति तेजो वा अग्निस्तेजसैवैनमेतमभिषिञ्चति सोमाय स्वाहेति क्षत्रं वै सोमः क्षत्रेणैवैनमेतमभिषिञ्चति सवित्रे स्वाहेति सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूत एवैनमेतदभिषिञ्चति सरस्वत्यै स्वाहेति वाग् वै सरस्वती वाचैवैनमेतदभिषिञ्चति बृहस्पतये स्वाहेति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनमेतदभिषिञ्चत्येतानि पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति तान्येतान्यग्निनामानीत्याचक्षते' (श० ५।३।५।८)। होममनूद्य मन्त्रान् विधत्ते—अग्नये स्वाहेति । तत्रैकैकमनूद्य स्तौति—तेजो वेत्यादि । स्पष्टोऽर्थः । सोमादिपदानां देवतान्तरवाचकत्वं व्युदस्यति—तान्येतान्यग्निनामानीति । अग्नेः सर्वदेवतात्मकत्वात् । 'अथ जुहोति । यान्युपरिष्टादभिषेकस्य जुहोतीन्द्राय स्वाहेति वीर्यं वा इन्द्रो वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चति घोषाय स्वाहेति वीर्यं वै घोषः ''श्लोकाय स्वाहेति वीर्यं वै श्लोकः'' अꣳशाय स्वाहेति वीर्यं वा अꣳशो'' भगाय स्वाहेति वीर्यं वै भगः ''तदेनमस्य सर्वस्यार्यमणं करोत्येतान्युपरिष्टादभिषेकस्य जुहोति तान्येतान्यादित्यनामानीत्याचक्षते' (श० ५।३।५।९)। इन्द्रादयः शब्दा आदित्यस्यैव मूर्तिभेदेनावस्थितस्य नामानि । पूर्वमग्निवाचकैर्नामभिर्होमेन भूलोके यजमानं निहितवान् भवति, अन्तत आदित्यवाचकैर्नामभिर्होमेन स्वर्गलोकेऽवस्थापितवान् भवति ।

अध्यात्मपक्षे शिष्य आह—हे आचार्य, त्वं सोमस्य साम्बशिवस्य त्विषिः प्रकाशरूपोऽसि । अतस्तवेव त्वत्प्रसादान्ममापि सा त्विषिर्भूयात् । तदर्थमहमग्नये पापदाहायाग्निरूपाय परमात्मने स्वाहा दिव्यं हविरर्पयामि । सोमाय चन्द्ररूपापन्नाय, सवित्रे सूर्यरूपाय, सरस्वत्यै सरस्वतीरूपाय, एवं पूषादिरूपाय परमात्मने स्वाहा दिव्यं हविरर्पयामि । यद्वा अग्नये सर्वस्याग्रे नयनकर्त्रे परमात्मने सोमाय साम्बसदाशिवाय, सवित्रे जगदुत्पादकाय परमात्मने, सरस्वत्यै सरतीति सरो ज्ञानं तदस्त्यस्यामिति सरस्वती चिद्रूपिणी भगवती तस्यै, पूष्णे पुष्णाति सर्वं जगदिति पूषा तस्मै परमात्मने, बृहस्पतये बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः, बृहतां वा पतिर्बृहस्पतिस्तस्मै वेदाश्रयाय वेदवेद्याय च परमात्मने, इन्द्राय परमैश्वर्याय परमात्मने, घोषाय शब्दब्रह्मरूपाय, श्लोकाय श्लोक्यते सर्वैरपि स्तूयत इति श्लोकस्तस्मै, अंशाय अंशयति विभाजयति पुण्यपापे फलदानेनेत्यंशः परमात्मा तस्मै, भगाय भज्यते सेव्यते सर्वैरिति भगस्तस्मै दिव्यं हविरर्पयामि । अर्यमणम् इयर्ति व्याप्नोति विश्वमित्यर्यमा तमिति व्युत्पत्तिरपि परमात्मपक्ष एव घटते ।

दयानन्दस्तु—हे राजन्, यथा त्वं सोमस्य ऐश्वर्यस्य त्विषिर्ज्योतिरसि तथाहमपि भवेयम्, यतस्तवेव मे त्विषिर्विज्ञानप्रकाशो भूयात् । यथा भवताग्नये विद्युदादये स्वाहा सत्यवाक् प्रियाचरणयुक्ता, सोमाय औषधविज्ञानाय स्वाहा वैद्यकपुरुषार्थविद्या, सवित्रे सूर्यविज्ञानाय स्वाहा ज्योतिर्विद्या, सरस्वत्यै वेदार्थसुशिक्षा-

---

जाती हैं । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है - शिष्य कहता है कि हे आचार्य, आप साम्ब सदाशिव के प्रकाशमान स्वरूप हैं । अतः आपकी कृपा से मुझमें भी आपकी भाँति वह प्रकाश हो । एतदर्थ मैं पापों को जलाने में अग्निरूपी परमात्मा के लिये दिव्य हवि समर्पित करता हूँ । चन्द्ररूपी, सूर्यरूपी, सरस्वतीरूपी तथा पूषादिरूपी परमात्मा के लिये दिव्य हवि समर्पित करता हूँ । अथवा सबको आगे ले जाने वाले साम्ब सदाशिव जगत् के उत्पादक परमात्मा के लिये, ज्ञानाधिष्ठात्री चिद्रूपिणी भगवती के लिये, सबके पोषक, वेदवाणी के पालक, वेदाश्रय, वेदवेद्य, परमैश्वर्यशाली, शब्दब्रह्मरूपी, सबके द्वारा संस्तुत, पुण्य तथा पाप के फलों को विभाजित कर प्रदान करने वाले, सबके द्वारा सेवनीय परमात्मा के लिये दिव्य हवि समर्पित करता हूँ । 'विश्व को व्याप्त करता है' इस प्रकार की अर्यमा शब्द की व्युत्पत्ति भी परमात्मा के पक्ष में घटित होती है ।

स्वामी दयानन्द का अर्थव्याख्यान मुख्य अर्थ को छोड़कर अत्यन्त दूरवर्ती तथा काल्पनिक अर्थ को ग्रहण करने के

विज्ञापिकायै वाचे स्वाहा व्याकरणाद्यङ्गविद्या, पूष्णे पशुपालनाय स्वाहा योगव्यवहारविद्या, बृहस्पतये प्रकृत्यादीनां पत्युरीश्वरस्य विज्ञानाय स्वाहा ब्रह्मविद्या, इन्द्राय इन्द्रियाधिष्ठातुर्जीवस्य विज्ञानाय स्वाहा विवेकविद्या, घोषाय सत्यप्रियभाषणादियुक्तायै वाण्यै स्वाहा तथ्योपदेशे वक्तृत्वविद्या, श्लोकाय तत्त्वसंघातमककाव्यगद्यपद्यछन्दोनिर्माणादिविज्ञानाय स्वाहा तत्त्वकाव्यशास्त्रादिविद्या, अंशाय परमाण्ववगमाय स्वाहा सूक्ष्मपदार्थविद्या, भगाय ऐश्वर्याय स्वाहा पुरुषार्थविद्या, अर्यम्णे न्यायाधीशत्वाय स्वाहा राजनीतिविद्या गृह्यते, तथा मयापि गृह्येत' इति, तदपि निरर्थकमेव, मुख्यार्थत्यागेनातिविप्रकृष्टकाल्पनिकार्थग्रहणे मानाभावात्। सोमायेत्यस्यौषधविज्ञानाय स्वाहा वैद्यकपुरुषार्थविद्येत्यादिकं सर्वमपि व्याख्यानं निर्मूलमेव ॥ ५ ॥

प॒वित्रे॑ स्थो वैष्ण॒व्यौ॑ सवि॒तुर्वः॑ प्रस॒व उत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑। अनि॑भृष्टमसि वा॒चो बन्धु॑स्तपो॒जाः सोम॑स्य दा॒त्रम॑सि॒ स्वाहा॑ राज॒स्वः॑ ॥ ६ ॥

'पवित्रे कृत्वा हिरण्यमेनयोः प्रवयति' (का० श्रौ० १५।५।४)। पवित्रे स्थ इति प्रकृतिवत् पवित्रे कृत्वा तयोर्हिरण्यं बध्नाति। हे पवित्रे कुशद्वयरूपे, युवां वैष्णव्यौ वैष्णवौ, लिङ्गव्यत्ययः, यद्वा यज्ञसम्बन्धिन्यौ कुशनाड्यौ, यज्ञरूपस्य विष्णोः सम्बन्धिनौ स्थो भवथः। 'ताभ्यामुत्पुनात्यपः सवितुर्व इति' (का० श्रौ० १५।५।४)। मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरस्तादासादिता औदुम्बरपात्रस्था अभिषेकार्था अप उत्पुनाति सवितुरित्यादिमन्त्रेण सहिरण्याभ्यां दर्भपवित्राभ्यामुत्पुनात्यध्वर्युः। अब्देवत्यं यजुः। सवितुः सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य प्रसवेऽभ्यनुज्ञायां वर्तमानोऽहमच्छिद्रेण निर्दोषेण समीचीनेन पवित्रेण सूर्यस्य भगवतः सवितू रश्मिभिर्मयूखैश्च हे आपः, वो युष्मान् उत्पुनामि उत्पवनं शोधनं करोमि। अनिभृष्टमसि। मन्त्रावयवा एकवचनान्ताः शतपथश्रुत्या बहुवचनान्ततया व्याख्याताः, अतः श्रुत्यनुसारेणैव व्याख्यानं युक्तम्। आपोऽत्राभिधेयाः। हे आपः! यूयमनिभृष्टाः स्थ, भ्रस्ज पाके' इत्ययं धातुर्धृष्ट्यर्थे व्याख्यातः। अनिधृष्टा न नितरां धृष्टा अनाधृष्टा अपराभूता रक्षोभिः, मन्त्ररीत्या तु यवादिवद् वह्निसंयोगेऽपि न नितरां भृष्टं न विनश्यतीति यावत्। वाचो बन्धुर्वाण्या बन्धुभूताः, वाग्व्यवहारस्य कारणम्। 'यावद्वै प्राणेष्वापो भवन्ति तावद्वाचा वदति। आपोमयी वाक्' इत्यादिश्रुतिभ्यः। तपोजाः तपसः सन्तापवतोऽग्नेर्जातास्तपोजाः। 'अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते' (श० ५।३।५।१७) इति श्रुतेः, 'अग्नेरापः' (तै० उ० २।१।१) इति श्रुतेश्च। सोमस्य दात्रमसि दात्र्य आपो भवथ, दात्रसाधनं भवसीति वा। 'यदा वा एनमेताभिरभिषुण्वन्त्यथाहुतिर्भवति' (श० ५।३।५।१८)। स्वाहा राजस्वः स्वाहाकारेण पूताः सत्यो राजस्वो जनस्य राजानं सुवते जनयन्तीति तथोक्ताः।

कारण प्रमाण के अभाव से निरर्थक ही है। 'सोमाय' का अर्थ 'औषधिविज्ञान के लिये' करना और वैद्यक पुरुषार्थ विद्या इत्यादि का व्याख्यान द्वारा निरूपित करना अप्रामाणिक ही है ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे पवित्र कुशद्वय! तुम यज्ञ-कार्य में नियुक्त हो। जगत् के एकमात्र नियन्ता इस परम देवता की आज्ञा से प्रेरित होकर छिद्रशून्य पवित्र द्वारा सूर्य की किरणों से तुम्हारा उत्पवन (सिंचन) करता हूँ। हे जल देवता! तुम राक्षसों से कभी पराभूत न होने वाले और वाणी के प्रिय बन्धु हो, तेज से समुत्पन्न सोम के उत्पादक हो। स्वाहाकार से पवित्र हुए तुम इस यजमान को राज्यश्री से सुशोभित करो ॥ ६ ॥

भाष्यसार—'पवित्रे स्थः' इस कण्डिका के मन्त्रों से याज्ञिक प्रक्रिया में कुशपवित्रों का निर्माण, उनमें स्वर्णबन्धन

'अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यम्। अभिषेचनीयानि पात्राणि भवन्ति यत्रैता आपोऽभिषेचनीया भवन्ति' (श० ५।३।५।१०)। अभिषेचनीयानां पात्राणामासादनप्रदेशं विधत्ते—अग्रेणेति। अभिषेचनीयशब्दं निर्वक्ति—यत्रेति। यत्र तेषु विहिताः सप्तदश आपोऽभिषेचनीया अभिषेक्तव्या आसिच्यमाना भवन्ति, तान्यभिषेचनीयानि। 'पालाशं भवति। तेन ब्राह्मणोऽभिषिञ्चति ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैवैनमेतदभिषिञ्चति' (श० ५।३।५।११)। तानि पात्राण्य-भिषेक्तृविशेषसहितानि क्रमेण विधत्ते—पालाशमिति। पालाशं पलाशशाखानिर्मितमेकं पात्रम्, तेन पात्रेण ब्राह्मणो यजमानमभिषिञ्चेत्। पालाशेन ब्राह्मणकर्तृकयजमानाभिषेककरणे कारणमाह—ब्रह्म वै पलाश इति। वृक्षेषु ब्राह्मणजातिः पलाशः, पालाशपात्रेणाभिषेके ब्रह्मणैवाभिषेकं कृतवान् भवति। 'औदुम्बरं भवति। तेन स्वोऽभिषिञ्चत्यन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्ग्वै स्वं यावद्वै पुरुषस्य स्वं भवति नैव तावदशनायति तेनोर्क् स्वं तस्मादौ-दुम्बरेण स्वोऽभिषिञ्चति' (श० ५।३।५।१२)। उदुम्बरनिर्मितं पात्रं द्वितीयम्। तेन पात्रेण स्वो ज्ञातिर्भ्राताऽभिषेकं कुर्यात्। तत्रोपपत्तिः—अन्नं वा ऊर्गिति, उदुम्बरस्यान्नसाधनत्वात्। अन्नमेव पुरुषस्य स्वं धनं यतोऽतोऽस्य पुरुषस्य यावत् स्वं भवति, तावन्नाशनायति क्षुधितो न भवति, धनस्य विद्यमानत्वात्। अतोऽन्नस्य स्वत्वादन्न-साधनेनौदुम्बरपात्रेण स्वो ज्ञातिर्भ्राता एवाभिषिञ्चेत्। 'नैयग्रोधपादं भवति। तेन मित्र्यो राजन्योऽभिषिञ्चति पद्भिर्वै न्यग्रोधः प्रतिष्ठितो मित्रेण वै राजन्यः प्रतिष्ठितस्तस्मान्नैयग्रोधपादेन मित्र्यो राजन्योऽभिषिञ्चति' (श० ५।३।५।१३)। तृतीयं नैयग्रोधपादम्। न्यग्रोधो वटः, तस्य पादः शाखावरोहः, तेन निर्मितं नैयग्रोधपादं पात्रम्। तेन मित्र्यः सखिकर्मणि साधुः सखा राजन्योऽभिषिञ्चेत्। तत्र हेतुमाह—पद्भिर्वै न्यग्रोध इति। न्यग्रोधस्य पादैरेव प्रतिष्ठा दृश्यते। राजापि हितोपदेशकैराप्तैः सखिभिरेव प्रतिष्ठितो भवति, नान्यथा। तस्मात्तेन पात्रेण मित्रकर्तृकमभिषेककरणं युक्तमेव। 'आश्वत्थं भवति। तेन वैश्योऽभिषिञ्चति स यदेवादोऽश्वत्थे तिष्ठत इन्द्रो मरुत उपामन्त्रयत तस्मादाश्वत्थेन वैश्योऽभिषिञ्चत्येतान्यभिषेचनीयानि पात्राणि भवन्ति' (श० ५।३।५।१४)। आश्वत्थमिति चतुर्थम्। आश्वत्थमश्वत्थनिर्मितम्, तेन वैश्योऽभिषिञ्चेत्। विड्रूपाणां मरुता-मश्वत्थेऽवस्थानाद् वैश्यस्य तत्सम्बन्धः।

'अथ पवित्रे करोति। पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति सोऽसावेव बन्धुस्तयोर्हिरण्यं प्रवयति ताभ्यामेता अभिषेचनीया अप उत्पुनाति तद्यद्धिरण्यं प्रवयत्यमृतमायुर्हिरण्यं तदास्वमृतमायुर्दधाति तस्माद्धिरण्यं प्रवयति' (श० ५।३।५।१५)। पवित्रकरणं विधत्ते—अथ पवित्रे इति। वैष्णव्यौ विष्णुर्यज्ञस्तत्सम्बन्धिन्यौ दर्भनाड्यौ स्थो भवथः। दर्भनाड्योर्विष्णुसम्बन्धप्रतिपादकमर्थवादमतिदिशति—सोऽसावेव बन्धुरिति। असौ विप्रकृष्ट-देशस्थः (श० १।१।३।१) इत्यत्र प्रथमकाण्डे समाम्नातः। तत्र ह्येवमाम्नातम्—'पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति। यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिये स्थ इत्येवैतदाह' इति। तत्प्रशंसति—अमृतमिति। अमुम् अप्सु दधाति। तयोर्दर्भयोर्हिरण्य-ग्रथनं विधत्ते—तयोर्हिरण्यं प्रवयतीति। दर्भयोरिति सप्तमी। प्रवयति, 'वेञ् तन्तुसन्ताने', संग्रथ्नीयादित्यर्थः। ताभ्यामेता उक्ता अप उत्पुनीयात्। 'स उत्पुनाति। सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण'''इत्यनाधृष्टा स्थ रक्षोभि-रित्येवैतदाह यदाहानिभृष्टमसीति वाचो बन्धुरिति यावद्वै प्राणेष्वापो भवन्ति तावद्वाचा वदति तस्मादाह वाचो बन्धुरिति' (श० ५।३।५।१६)। उत्पवनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स उत्पुनातीति। हे उदक, अनिभृष्टम्, 'भ्रस्ज पाके' यवादिवद् वह्निसंयोगेऽपि न नितरां भृष्टम्, न विनश्यतीति यावत्, रक्षोभिर्वा न बाधितं भवति। सोमस्य दात्रमसि दाने साधनं भवति। उदकसम्बन्धादेव सोमरसनिष्पत्तिः, तादृशो रस एव हूयते, अतः सोमस्य दान-साधनभूता भवत। स्वाहाशब्दो न होमार्थः, मन्त्रान्ते पाठाभावात्। तथा च स्वाहाकारेण पूताः सन्तो राजानं

तथा उनके द्वारा उत्पवन किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।४) में प्रतिपादित है।

सुवते जनयन्तीति राजस्वः। मन्त्रं भागशोऽनूद्य व्याख्यास्यन् सवितुर्व इति मन्त्रभागस्य प्रथमकाण्डे उत्पवनसमये समाम्नातमर्थवादब्राह्मणमतिदिशति—सोऽसावेव बन्धुरिति। तत्र ह्येवमाम्नातम्—'सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैतदुत्पुनात्यच्छिद्रेण पवित्रेणेति यो वा अयं पवत एषोऽच्छिद्रं पवित्रमेतेनैतदाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति एते वा उत्पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयस्तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिः' (श० १।१।३।६) इति। सामान्यविवक्षयैकवचनान्तत्वेन प्रयुक्तम्। अपां बहुत्वेन बहुवचनान्ततया व्याचष्टे—अनाधृष्टा स्थेति। अपां वाग्बन्धुत्वमुपपादयति -यावद्वा इति। यावद्वै प्राणेषु मुखनासिकादिष्वपां सद्भावस्तावत् पुरुषो वाचं वदति, तद्विरहे शुष्का जिह्वा शब्दानुच्चारयितुं न शक्नोतीत्यर्थः। 'तपोजा इति। अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति' (श० ५।३।५।१७)। अपां परम्परयाऽग्निजन्यत्वं दर्शयति—अग्नेर्वा इति। 'सोमस्य दात्रमसीति। यदा वा एनमेताभिरभिषुण्वन्त्यथाहुतिर्भवति तस्मादाह सोमस्य दात्रमसीति स्वाहा राजस्व इति तदेताः स्वाहाकारेणैवोत्पुनाति' (श० ५।३।५।१८)। यदा एनं सोममेताभिरद्भिरभिषुण्वन्ति अभिषवं कुर्वन्त्यध्वर्यवः, अथ आहुतिर्भवति। अन्यन्मन्त्रव्याख्यानेन व्याख्यातप्रायम्।

अध्यात्मपक्षे आचार्यो वक्ति—हे सांख्ययोगसाधकौ, युवां वैष्णव्यौ वैष्णवौ विष्णोः परमेश्वरस्य सम्बन्धिनौ स्थो भवथः, लिङ्गव्यत्ययः। सवितुः परमेश्वरस्याभ्यनुज्ञायां वर्तमानोऽहं युवामच्छिद्रेण छिद्ररहितेन समीचीनेन पवित्रेण ज्ञानेन सूर्यस्य भगवतः शमदमादिरूपै रश्मिभिः, उत्पुनामि उत्कृष्टतया शोधयामि। जीवजातं सम्बोध्य प्रोत्साहयति—भो जीवजात, त्वमनिभृष्टमसि, त्वं वह्निसंयोगेन यवादिवदविद्यादोषसंयोगेऽपि नितरां न भृष्टमसि, नित्यचैतन्यरूपत्वात्। वाचो वागुपलक्षितस्यान्तर्बाह्यसर्वकरणजातस्य बन्धुः बन्धुवत्पालकोऽसि। सोमस्य सोमोपलक्षितस्य सोमादियागसमूहस्य दात्रं निवर्तनशीलोऽसि। हे जीवात्मानः, यूयं तपोजाः परमेश्वरस्य तपसा सङ्कल्पेन प्रादुर्भूताः स्थ, स्वाहाकारेण सर्वस्यात्मनिवेदनेन राजमानाः स्वा आत्मानो येषां ते तथाभूताः स्थ, सर्वस्वत्यागेनाविर्भूतस्वप्रकाशब्रह्मरूपा भवथ। कर्माङ्गदर्भनाडीद्वयरूपेण तत्तदपां रूपेण च विवर्तमानस्य परमात्मन एव वा तत्तद्रूपेण स्तवनं तत्र सिद्धान्तपक्षीयव्याख्याने मन्तव्यम्।

दयानन्दस्तु—'हे सभेश राजपुरुष, यतस्त्वं वाचो वेदवाण्या अनिभृष्टं भ्रष्टतारहिताचरणशीलस्य बन्धुर्भ्रातासि, सोमस्यौषधीनां दात्रमसि छेत्तासि, तपोजा ब्रह्मचर्यतपसा प्रसिद्धोऽसि, अतस्त्वाज्ञया सवितुः प्रसूते

शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—गुरु कहता है कि हे सांख्ययोग के साधकों, आप दोनों परमेश्वर विष्णु से सम्बद्ध हैं। सविता परमेश्वर की आज्ञा में अवस्थित मैं आप दोनों को छिद्रविहीन श्रेष्ठ पवित्र ज्ञान से भगवान् सूर्य की शम, दम आदिरूपी रश्मियों से परिशुद्ध करता हूँ। गुरु समस्त जीवों को सम्बोधित करते हैं कि—हे जीवगण, जौ आदि अन्न जिस प्रकार अग्नि से सम्पृक्त होकर भुन जाते हैं, उसी प्रकार अविद्या दोष से सम्पृक्त होकर भी तुम भृष्ट नहीं होते हो, क्योंकि तुम नित्य चैतन्यस्वरूप हो, वाणी आदि सभी अन्तःकरण तथा बाह्य करणों के तुम बन्धु की भाँति पालक हो, सोम आदि समस्त यागों के सम्पादक हो। हे जीवात्मगण, तुम लोग परमेश्वर के संकल्प से उत्पन्न हो, सर्वस्व समर्पण के द्वारा सुशोभित स्वान्तरात्मा से युक्त हो, सर्वस्व त्याग के द्वारा स्वप्रकाश ब्रह्मरूपी हो।

यज्ञकर्म की अंगभूत कुशा के दो पत्रों तथा उनमें स्थित जल के रूप में प्रतिभासित परमात्मा की ही उन उन रूपों में स्तुति की गई है, यह याज्ञिक भाव सिद्धान्त पक्ष की व्याख्या में समझना चाहिये।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में मुख्यार्थ का बाध तथा दूरवर्ती गौण अर्थ का ग्रहण होने के कारण

जगति वैष्णव्यौ सर्वविद्यासुशिक्षाशुभगुणकर्मस्वभावव्यापिन्यौ पवित्रे शुभकर्माचरणशालिन्यौ युवां द्वे परीक्षणाध्ययनकारिण्यौ स्थः। हे अध्यापिकाः परीक्षिका अध्येत्र्यश्च स्त्रियः! यथाहं सवितुः प्रसवे सूर्यस्य रश्मिभिः किरणैरिवाच्छिद्रेण अविच्छिन्नेन निरन्तरेण पवित्रेण विद्यासुशिक्षाजितेन्द्रियब्रह्मचर्यादिभिः पवित्रीकारकेण व्यवहारेण वो युष्मान् उत्पुनामि उत्कृष्टतया पुनामि पवित्रीकरोमि, तथा यूयं स्वाहा राजस्वो भवत सत्क्रियया राजवीरप्रसविका भवत' इति, तदपि निरर्थकमाडम्बरमात्रम्, मुख्यार्थबाधविप्रकृष्टगौणार्थस्वीकाराभ्याम्। वैष्णव्याविति सर्वविद्यादिव्यापिन्यौ केचित् स्त्रियौ ग्राह्ये इति विचित्रैव बुद्धिः। व्यापकत्वं चात्र कीदृशम्? कथं च विद्यादिगुणेषु द्रव्यस्य जीवस्य व्यापकत्वमित्यपि चिन्त्यम्। न चाणुपरिमाणस्य जीवस्य त्वद्रीत्यापि व्यापकत्वं सम्भवति। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥ ६॥

सधमादो द्युम्निनीराप एता अनाधृष्टा अपस्यो वसानाः।
पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपाᳬ शिशुर्मातृतमास्वन्तः ॥ ७॥

'अभिषेचनीयेष्वेना व्यानयति सधमाद इति' (का० श्रौ० १५।५।५)। उत्पूता अभिषेकार्था आपोऽभिषेकार्थेषु पालाशौदुम्बरवाटाश्वत्थेषु पात्रेषु पूर्वासादितेषु चतुर्धा विभज्य निनयति। वरुणदेवत्याऽनुष्टुप्। सधमादः सह एकस्मिन् पात्रे माद्यन्ति हृष्यन्ति, माद्यन्ते प्रीणयन्ति वा यास्ताः सधमादः सह मादनशीलाः, यद्वा सह माद्यन्तीति सधमादः परस्परमनतिमानिन्यः, राजसूयाख्यं कर्म इच्छन्त्यो वा, 'सध मादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति सहस्य सधादेशः। द्युम्निनीः द्युम्निन्यो द्युम्नं वीर्यमस्ति यासां ताः, तेजोवत्यः, पूर्वसवर्णदीर्घः, वीर्यवत्यः। 'द्युम्नं द्योततेर्यशो वाऽन्नं वा' (निरु० ५।५)। एता या आपः सिञ्चन्ति, तास्वन्तर्मध्ये वरुणः सधस्थं सह स्थीयते यस्मिन् तत् सधस्थं सहस्थानं प्रतिष्ठां वा कृतवान्। कीदृश्य आपः? अनाधृष्टाः केनाप्यनभिभूताः, अपस्यः कर्मयोग्याः, सोमदुग्धदध्याद्यप्समवेतत्वादापः कर्माणि, तत्र योग्या अपस्यः, ताभिरेव कर्मसम्पत्तेः। अपसि कर्मणि साध्व्यः अपस्यः, 'अप इति कर्मनाम' (निघ० २।१।१)। वसते आच्छादयन्ति पात्राणीति वसाना आच्छादयन्त्यः, सोमात्मना कर्मात्मना तत्फलभूतलोकात्मना च सर्वमाच्छादयन्त्यः। कीदृशो वरुणः? अपां मातृस्थानीयानां शिशुः पुत्रः। राजसूयेऽद्भिरभिषिक्तत्वात् तज्जन्यत्वेन पुत्रत्वम्, 'अपां वा एष शिशुर्भवति यो राजसूयेन यजते' (श० ५।३।५।१९) इति श्रुतेः। कीदृशीषु तासु? पस्त्यासु गृहस्थानीयासु। पस्त्यमिति गृहनामसु, सर्वेषामाधारभूतत्वात्। यद्वा पस्त्यासु गृहावस्थितासु विक्षु प्रजास्विति, 'विशो वै पस्त्याः' (श० ५।३।५।१९)। तासु विक्षु प्रजासु वरुणः सधस्थं प्रतिष्ठां चक्रे कृतवान्। पुनः कीदृशीषु? मातृतमासु अतिशयेन जगतो निर्मात्रीषु।

वह निरर्थक आडम्बर ही है। 'वैष्णव्यौ' शब्द से सर्वविद्याव्यापिनी दो स्त्रियाँ समझनी चाहिये' यह विचित्र कल्पना है। इसमें व्यापकत्व कैसा होगा? विद्यादि गुणों में द्रव्यरूप जीव का व्यापकत्व कैसे होगा? यह भी विचारणीय ही है। उनके मत में अणु परिमाण वाले जीव का व्यापकत्व सम्भव नहीं है। श्रुति तथा सूत्रवाक्यों का विरोध तो स्पष्ट है ॥ ६॥

मन्त्रार्थ—एक साथ चार पात्रों में स्थित, प्रसन्नता से भरे हुए, वीर्यवान्, अपराभूत, पात्रों का आच्छादन करने वाले ये जल देवता इस समय अभिषेक कार्य में नियुक्त हुए हैं। इस प्रकार सबको धारण करने में गृहरूप जगत् के निर्माता मातृरूप इन जलदेवियों के भीतर शिशुरूप में वरुण ने यजमान में सादर स्थिति की है ॥ ७॥

भाष्यसार—'सधमादः' इस ऋचा से अभिषेक के लिये जल को पलाश आदि के विभिन्न पात्रों में ग्रहण किया

अत्र ब्राह्मणम्—'ता एतेषु पात्रेषु व्यानयति । सधमादो द्युम्निनीराप एता इत्यनतिमानिन्य इत्येवैतदाह यदाह सधमाद इति द्युम्निनीराप इत्येता इति वीर्यवत्य इत्येवैतदाहानाधृष्टा अपस्यो वसाना इत्यनाधृष्टा स्थ रक्षोभिरित्येवैतदाह यदाहाऽनाधृष्टा अपस्यो वसाना इति पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमिति विशो वै पस्त्या विक्षु चक्रे वरुणः प्रतिष्ठामित्येवैतदाहापाᳬ शिशुर्मातृतमास्वन्तरित्यपां वा एव शिशुर्भवति यो राजसूयेन यजते तस्मादाहापाᳬ शिशुर्मातृतमास्वन्तरिति' (श० ५।३।५।१९) । एतेष्वभिषेचनीयेषु पात्रेषु, एता उक्ता अपो व्यानयति, आसिञ्चेदित्यर्थः । मन्त्रमनूद्य तात्पर्यपुरःसरं व्याचष्टे—अनतिमानिन्य इति । स्पष्टं ब्राह्मणम् । तदनुसार्येव पूर्वं व्याख्यानम् ।

अध्यात्मपक्षे—तत्तदपांरूपेण विद्यमानस्य परमात्मनः स्तवः । सधमादः सह जीवैः सार्धं माद्यन्ति हृष्यन्ति मादयन्ते च तानिति ताः, द्युम्निन्यो वीर्यवत्यः, प्रपञ्चनिर्माणसामर्थ्यस्य तन्मूलत्वाद् द्योतिन्यो यशस्विन्यो वा, आपो व्याप्नुवन्त्य एता अभिषेचनीयास्तद्रूपेणोपस्थिताः, अनाधृष्टाः कैश्चित्, नित्यमुक्तस्वभावत्वात्, अपस्यः अपस्सु कर्मसु साध्व्यः समर्हणीया अपस्यः, वसाना मायामयं वासो दधानाः, मायावृतत्वात्, एता या अभिषेचनीया आपस्तासु पस्त्यासु गृहरूपासु मातृतमासु प्रपञ्चनिर्माणेऽतिशयितासु, अन्तर्मध्ये अपां शिशुः, अद्भिरभिषिक्तत्वात् तच्छिशुरूपो वरुणः, सधस्थं सहस्थानं प्रतिष्ठां कृतवान् । वरुणः, वृणोतीति वरुणः, भगवद्वरणपरायणो भगवत्कृपाभिषिक्तः शिशुरूपः, 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ० सं० १०।१३।१) इति मन्त्रवर्णात् । स परमेश्वरः कृपया परमेश्वर एव प्रतिष्ठितो भवति ।

दयानन्दस्तु—'यो वरुणो वरो राजा भवेत्, स या एताः प्राप्तविद्यासुशिक्षाः सधमादो याः सह माद्यन्ति हृष्यन्ति ता द्युम्निनीः प्रशस्तं द्युम्नं धनं यशो वा विद्यते यासां ताः, अनाधृष्टा धर्षितुमयोग्या आपो जलानीव शान्ता वसाना वस्त्राभूषणैराच्छादिताः पस्त्यासु गृहशालासु अपस्यः अपस्सु साध्व्यः स्त्रियो विदुष्यो भवेयुः, तासामपां व्याप्तविद्यानां स्त्रीणां यः शिशुः बालकस्तं मातृतमासु अतिशयेन शास्त्रोक्तशिक्षया मानकर्त्रीषु अन्तः समीपे सधस्थं सहस्थानं समीपस्थं शिक्षार्थं चक्रे रक्षेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वरुणस्य वरपरत्वेऽपि राजार्थकत्वे मानाभावात् । 'अध्यापिका धात्र्यो वा सधमादः' इत्याद्यपि निर्मूलमेव । अपां विद्याव्याप्तानां स्त्रीणामित्यपि निर्मूलमेव, मानाभावात् । श्रुतौ तु सधमादोऽनतिमानिन्यो द्युम्निनीर्वीर्यवत्यो रक्षोभिरनाधृष्टा विशो वै पस्त्या इत्यादिकं तद्विपरीतमेव व्याख्यातम्, सूत्रविरोधश्च ॥ ७ ॥

जाता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।५) में प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—उन जलों के रूप में विद्यमान परमात्मा की स्तुति की गई है । जीवों के साथ हर्षित होने वालीं, अथवा जीवों को हर्षित करने वालीं, जगत्प्रपञ्च का निर्माणसामर्थ्य तन्मूलक होने के कारण बलयुक्त, द्योतनात्मिका अथवा यशस्विनी, व्यापनशीला, नित्यमुक्त स्वभाव वाली होने के कारण किसी के भी द्वारा अधर्षित, कर्मों में सुयोग्य, मायामय आच्छादन को धारण करने वाली ये जो अभिषेक की जलराशियाँ हैं, उन गृहरूपिणी, निर्माण में अतिशय श्रेष्ठ धाराओं के मध्य में शिशुरूपी वरुण, अर्थात् भगवान् के वरण में परायण भगवत्कृपा से अभिषिक्त शिशुरूपी जीव ने प्रतिष्ठा प्राप्त की है ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ असंगत है, क्योंकि वरुण शब्द वरणपरक होते हुए भी राजा के अर्थ में प्रमाणरहित है । अध्यापिकाएँ अथवा धायी सधमाद हैं, यह भी अप्रामाणिक है । 'अपाम्' का 'विद्याव्याप्त स्त्रियों का' इस प्रकार अर्थ करना भी प्रमाणाभाव के कारण निर्मूल है । श्रुति के विपरीत ही यह व्याख्या की गई है तथा सूत्र के भी विरुद्ध है ॥ ७ ॥

क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जराय्वसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यासि वरुणस्यासि त्वयायं वृत्रं वधेत्। दृवासि रुजासि क्षुमासि। पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात ॥ ८ ॥

'ताप्यं परिधापयति' (का० श्रौ० १५।५।६)। यजमानं ताप्यं परिधापयति। यजमानो दीक्षितवस्त्रं परित्यज्य ताप्यं परिदधीत। तृपा नामौषधिविशेषः, अतसीति प्रसिद्धः। तृत्तन्तुनिर्मितं क्षौमं वस्त्रम्, वल्कलमिति केचित्। 'घृतोन्नमेके' (का० श्रौ० १५।५।९) 'उन्दी क्लेदने' घृताक्तं वस्त्रं ताप्यंमित्येके। यज्ञरूपाणि स्रुक्स्रुवचमसाद्याकाराणि सूचीकर्मणोत्पादितानि यत्र तत्तथाविधं विकल्पं ताप्यं परिधापयेत्। तत्सर्वं संक्षिप्याह—'ताप्यंप्रभृतीनि क्षत्रस्येति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।५।१३) मन्त्रार्थस्तु—हे ताप्यं, त्वं क्षत्रस्य राजस्थानीयस्य यजमानस्योल्बं गर्भाधारभूतमुदकमसि। यद्वा क्षत्रस्य राजस्थानीयस्य यजमानस्य गर्भत्वेनोपचर्यमाणस्य उल्बमावरणभूतमसि, 'उल्बावृतो गर्भः' (छा०) इति छान्दोग्यश्रुतेः। 'पाण्ड्वं च निवस्ते' (का० श्रौ० १५।५।११)। ताप्यंस्योपरि रक्तश्वेतकम्बलं द्वितीयं परिधत्ते यजमानः। पाण्डवदैवतम्। हे पाण्डव, त्वं क्षत्रस्य गर्भस्थानीयस्य यजमानस्य जरायुः गर्भवेष्टनचर्मासि। 'अधीवासं प्रतिमुच्य' (का० श्रौ० १५।५।१२)। महाकञ्चुकं गले बध्नात्यधीवासदैवतम्। हे अधीवास, त्वं क्षत्रस्य योनिरसि गर्भसम्भवस्थानमसि। 'उष्णीषꣳ संवेष्ट्य निवीतेऽवगूहते नाभिदेशे परिहरते वा' (का० श्रौ० १५।५।१२)। शिरोवेष्टनं शिरसि संवेष्ट्य तत्प्रान्तौ परिहितवासो नीव्यामुपगूहते गोपायति नाभिदेशे वेष्टयति वा। उष्णीषदैवतम्। हे उष्णीष, त्वं क्षत्रस्य नाभिरसि, नाभिर्गर्भबन्धनस्थानमसि। नाभ्यां सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुः। 'इन्द्रस्य वार्त्रघ्नमिति धनुरातनोति' (का० श्रौ० १५।५।१५)। अध्वर्युर्धनुरधिज्यं करोति इन्द्रस्येति मन्त्रेण। धनुर्देवतम्। हे धनुः, त्वमिन्द्रस्य यजमानस्य सम्बन्धि वार्त्रघ्नं वृत्रोऽनेन हन्यत इति वार्त्रघ्नं वृत्रनाशकमायुधमसि, तत्तादृशं त्वामातनोमीति शेषः। 'मित्रस्य वरुणस्येत्यस्य बाहू निमार्ष्टि' (का० श्रौ० १५।५।१६)। मित्रस्य वरुणस्येति मन्त्राभ्यां धनुषो बाहू प्रान्तौ करेण प्रत्येकं निमार्ष्टि। धनुर्बाहुदेवत्ये यजुषी। हे दक्षिणधनुष्कोटे, त्वं मित्रस्य देवविशेषस्य सम्बन्धी असि। हे धनुषो वामकोटे, त्वं वरुणस्य सम्बन्धी असि। यजमानबाहू निमार्ष्टि सायणरीत्या। 'धनुः प्रयच्छति त्वयायमिति' (का० श्रौ० १५।५।१७)। अध्वर्युर्यजमानाय धनुः प्रयच्छति। धनुर्देवतम्। हे धनुः, अयं यजमानः, त्वया धनुषा कृत्वा वृत्रं शत्रुं वधेद् हन्यात्, 'द्विषन्तं भ्रातृव्यं वधेत्' (श० ५।३।५।२८) इति वक्ष्यमाणश्रुतेः। 'दृवासीति

मन्त्रार्थ—हे ताप्यं वस्त्र ! तुम क्षत्रधर्मावलम्बी इस यजमान के गर्भ के आधारभूत जल हो। हे पाण्डुरक्त कंबल, तुम क्षत्रिय यजमान के गर्भवेष्टन चर्म हो। हे अधीवास, तुम क्षत्रधर्मावलम्बी यजमान की योनि हो। हे उष्णीष, तुम इस यजमान के गर्भबन्धन स्थान हो। हे धनुष, तुम इस इन्द्ररूप यजमान के वृत्र के सदृश शत्रुओं का नाश करने वाले हो। हे दक्षिण कोटि ! तुम मित्रसम्बन्धिनी हो और हे वाम कोटि ! तुम वरुण सम्बन्धिनी हो। हे धनुष यह यजमान तुम्हारी सहायता से सम्पूर्ण शत्रुओं का नाश करे। हे बाणों, तुम शत्रुओं को विदीर्ण करने वाले हो, शत्रुओं का अंग भंग करने वाले हो, शत्रुओं को कम्पित करने वाले हो। हे बाणों, तुम इस यजमान की पूर्व दिशा से, पश्चिम दिशा से और उत्तर-दक्षिण दिशा से भी रक्षा करो ॥ ८ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।६-१८) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'क्षत्रस्योल्बम्'

प्रतिमन्त्रमादाय तिस्र इषूः प्रयच्छति पातैनमिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।५।१८)। तिस्र इषूः शरानादाय पातैनमित्यादिमन्त्रत्रयेण च प्रत्येकं यजमानाय ददात्यध्वर्युः। षड् यजूंषि, इषुदेवत्यानि। हे इषो, त्वं दृवासि 'दॄ विदारणे', दृणाति शत्रून् विदारयतीति दृवा। हे इषो! त्वं रुजासि, 'रुजो भङ्गे', रुजति शत्रून् भनक्तीति रुजा। हे इषो, त्वं क्षुमासि 'क्ष्मायी विधूनने', क्ष्मायति शत्रून् कम्पयतीति क्षुमा। यजमानाय प्रयच्छति -हे इषवः, प्राञ्चं प्रागञ्चनं पूर्वदिश्यवस्थितमेनं यजमानं यूयं पात पालयत। प्रत्यञ्चं प्रत्यगञ्चनं पश्चिमदिश्यवस्थितं यजमानं यूयं पात। तिर्यञ्चं तिर्यगञ्चनमितस्ततोऽवस्थितमेनं यजमानं पात। दिग्भ्योऽन्याभ्योऽपि दिग्भ्यः सकाशादेनं यजमानं पात।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं वासा꣡ꣳसि परिधापयति। तत्तार्प्यमिति वासो भवति तस्मिन् सर्वाणि यज्ञरूपाणि निष्यूतानि भवन्ति तदेनं परिधापयति क्षत्रस्योल्बमसीति तद्यदेव क्षत्रस्योल्बं तत एवैनमेतज्जनयति' (श० ५।३।५।२०)। वाससां परिधापनं विधत्ते —एनं वासांसीति। एनं यजमानं वासांसि तार्प्यपाण्ड्वाधिवासोष्णीषाणि परिधापयेदिति। तत्तात्पर्यकथनपूर्वकमेकैकं विधत्ते—तत्तेषु प्रथमं तार्प्यमिति। तार्प्यं वासो न त्वन्यत् कम्बलादिकम्। त्रिः कृत्वा पायितं त्रिपाणम्। घृतोन्नम्, 'उन्दी क्लेदने', घृतसिक्तम्। तत्र कञ्चिद्विशेषं विधत्ते—तस्मिन् सर्वाणीति। तस्मिन् सर्वाणि यज्ञरूपाणि स्रुगादीनि स्यूतानि भवेयुः। तत्र मन्त्रं विधत्ते—क्षत्रस्येति। उल्बमावरणमसि। यदुल्बं तस्मादेवैनं यजमानमेतेन तार्प्यपरिधानेन उत्पादितवान् भवति। 'अथैनं पाण्ड्वं परिधापयति। क्षत्रस्य जराय्वसीति तद्यदेव क्षत्रस्य जरायु तत एवैनमेतज्जनयति' (श० ५।३।५।२१)। पाण्ड्वं पाण्डुरं श्वेतं कम्बलमिति सायणाचार्याः। एतेनैनमेतज्जनयति। 'अथाधीवासं प्रतिमुञ्चति। क्षत्रस्य योनिरसीति तद्यैव क्षत्रस्य योनिस्तस्या एवैनमेतज्जनयति' (श० ५।३।५।२२)। अधि उपरि वसनीयमाच्छादनीयं वस्त्रमधीवासम्। तत्प्रतिमुञ्चेत् तार्प्यमुपसंव्याय पाण्डुरमुत्तरीयवदाच्छाद्य अधीवासं महाकञ्चुकमुपरि प्रतिमुञ्चेत्। 'अथोष्णीष꣡ꣳ स꣡ꣳहृत्य। पुरस्तादवगूहति क्षत्रस्य नाभिरसीति तद्यैव क्षत्रस्य नाभिस्तामेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० ५।३।५।२३)। उष्णीषवेष्टनं विधत्ते -अथोष्णीषमिति। उष्णीषं संहृत्य निवीतरूपेण कण्ठेऽवसज्य पुरस्तात् पूर्वभागे नाभिदेशेऽवगूहति, उष्णीषान्तं नीवीस्थाने ग्रथयेदित्यर्थः। क्षत्रस्य नाभिः नाभिस्थानीयमसि, एतेन तस्या एवैनं जनयति।

पूर्वदेशेऽवगूहनं द्रढयितुं पूर्वपक्षं सोपपत्तिकं वदति—तद्धैक इति। एके शाखिनस्तद् उष्णीषं समन्तं सर्वतो नाभिदेशे परिवेष्टयन्ति। अस्य क्षत्रियस्य एषा उष्णीषरूपा नाभिरपि समन्तं पर्येति परिवेष्टिता भवति। अतः क्षत्रस्य नाभिरसीति मन्त्रे उष्णीषस्य नाभित्ववचनात् तत्साम्याय समन्ताद्वेष्टनमुक्तमिति तत्प्रत्याख्याय स्वमतं निगमयति—पुरस्तादेवावगूहेतेति। एतेन वासःपरिधानेन एनं यजमानं जनयति, तेषां वाससामुल्बजरायुयोनिरूपत्वोक्तेः। किमर्थं जननमित्याह—जातमिति। जातं यजमानमभिषिञ्चानीति बुद्ध्या वासांसि परिधापयेत्। तदेतत्सर्वमाह—'तद्धैके समन्तं परिवेष्टयन्ति·····' (श० ५।३।५।२४)। पूर्वं निहितस्य दीक्षितवसनस्य परित्यागं विधित्सुरेकेषां मतमुपन्यस्यति—तद्धैक इति। यद्वा विहितानां तार्प्यादीनां परिधापनादिकमेव द्रढयितुं पूर्वपक्षयति—एके शाखिन इति। परिधापितान्येतानि वासांसि विसृज्य निदध्युः। अथ तदानीमेव तार्प्यादिवसनकाले निहितं दीक्षितवसनमेतं यजमानं पुनः परिधापयन्ति, तदपि न युक्तम्, यतस्तानि यजमानस्य जनूर् अङ्गानि सहोत्पन्नानि, तार्प्यादीनां वाससामुल्बजरायुयोनिरूपत्वात्। उल्बादीनां तु गर्भावस्थायां सह निवासादङ्गत्वमुपचरितमिति। तदेतदपि 'तद्धैके निदधात्येतानि·····' (श० ५।३।५।२५) इत्यत्रोक्तम्। यद्वा वासांसि

इस कण्डिका के मन्त्रों से यजमान को क्षौम वस्त्र का परिधापन, श्वेत कम्बल का धारण, महाकंचुक तथा पगड़ी का

जनूरङ्गानि सहोत्पन्नानि त्वग्रूपाण्यङ्गानि, 'तस्मिन्नेतां त्वचमदधुः । वास एव तस्मान्नान्यः पुरुषाद्वासो बिभर्ति' (श० ३।१।२।१३-१६) इति श्रुतेः । अतो वासोभिः परिधापनेन जन्वा सहोत्पन्नैः शरीररूपैरङ्गैः समर्धितवान् भवति । अङ्गसमुदाय एव हि तनूः । शरीरेण तदङ्गैश्च संवर्धितवान् भवति । 'वरुण्यं दीक्षितवसनं तदेनं वरुण्याद् दीक्षितवसनात् प्रमुञ्चति' (श० ५।३।५।२५) इति दीक्षितवसनस्य परित्यागं दर्शयितुं तस्य दुष्टत्वमाह—वरुण्यमिति । वरुण्यं वरुणगृहीतम् । 'स यत्रावभृथमभ्यवैति । तदेतदप्यभ्यवहरन्ति यत्सलोम क्रियते स एतेषामेवैकं वाससां परिधायोदैति तानि वशायै वा वपायाᳬ हुतायां दद्यादुदवसानीयायां वेष्टौ' (श० ५।३।५।२६) । निहितस्य दीक्षितवसनस्य अवभृथे प्रासनं विधत्ते—स यत्रेति । प्रासनं परित्यागः । अवभृथमभ्यवहरन्ति आहरेयुः, अप्सु प्रक्षिपेयुरित्यर्थः । तत् तथा सति सलोम क्रियते प्रकृतिगतमनुसृतं भवति, प्रकृतौ तु दीक्षितवसनस्य अवभृथे परित्याग उक्तः । स एतेषामिति । माहेन्द्रादौ दीक्षितवसनस्य पुनः परिधानं कृतम्, तदा तार्प्यादीनामेकैकेनैव परिहितेन वाससा अवभृथावतरणमुत्तरणं च कर्तव्यम् । उदैति उत्तरेत् । तेषां वाससां दानकालं विधत्ते—तानि वशाया इति । अनुबन्ध्याया वपायागकालेऽध्वर्यवे दद्यात्, अवसाने कर्तव्यायामुदवसानीयेष्टौ वा दद्यात् । सर्वथापि कात्यायनेन शतपथश्रुत्यनुसारेणैव सूत्रितानि तानि तानि कर्तव्यानीति मुधैवार्धनास्तिकैस्तान्युपेक्ष्य स्वैरं मन्त्रव्याख्यानं कृतम् । 'अनूबन्ध्यवपाहोमान्ते दद्यादेनानि, उदवसानीयायां वा' (का० श्रौ० १५।७।२६-२७) । 'अथ धनुरधितनोति । इन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसीति वार्त्रघ्नं वै धनुरिन्द्रो वै यजमानो द्वयेन वा एष इन्द्रो भवति यच्च क्षत्रियो यदु च यजमानस्तस्मादाहेन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसीति' (श० ५।३।५।२७) । कथं यजमानस्येन्द्रत्वमिति तदुपपादयति—द्वयेनेति । क्षत्रिय इति यजमान इति च यत् तेन द्वयेनेत्यर्थः । क्षत्रं नाम बलं तत्सम्बन्धाद्यष्टृत्वाच्च इन्द्रस्य यजमानत्वमुक्तम् । यद्वा क्षत्रियो जातिर्यजमानश्चैतद्द्वयेनेन्द्रत्वम् । देवेष्विन्द्रस्य क्षत्रियत्वं राजसूयस्य चात एव क्षत्रियकर्तृकत्वमेव । न राज्ञामपि ब्रह्मविशां तत्राधिकारः ।

'अथ बाहू विमार्ष्टि । मित्रस्यासि वरुणस्यासीति बाह्वोर्वै धनुर्बाहुभ्यां वै राजन्यो मैत्रावरुणस्तस्मादाह मित्रस्यासि वरुणस्यासीति तदस्मै प्रयच्छति त्वयाऽयं वृत्रं वधेदिति त्वयायं द्विषन्तं भ्रातृव्यं वधेदित्येवैतदाह' (श० ५।३।५।२८) । अत्र सायणरीत्या—हे बाहो, मित्रस्यासि । अपरं बाहुं प्रत्याह—वरुणस्यासीति । मित्रस्य वरुणस्येति मन्त्रद्वयेन यजमानस्य दक्षिणोत्तरबाहुविमार्जनं कुर्यादिति काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यः । कर्कोपाध्यायरीत्या तु बाहुशब्दस्य धनुष्कोटिपरत्वम् । बाहुं प्रशंसति—बाह्वोरिति । बाहुभ्यां खलु मित्रावरुणसम्बन्धी राजन्यो भवति, बाहुवीर्यसद्भावो राज्ञो लक्षणमित्यर्थः । 'अथास्मै तिस्र इषूः प्रयच्छति । स यया प्रथमया समर्पणेन परा भिनत्ति सैका सेयं पृथिवी सैषा दृवा नामाथ यया विद्धः शयित्वा जीवति वा म्रियते वा सा द्वितीया तदिदमन्तरिक्षᳬ सैषा रुजा नामाथ ययाऽपैव राध्नोति सा तृतीया साऽसौ द्यौः सैषा क्षुमा नामैता हि वै तिस्र इषवस्तस्मादस्मै तिस्र इषूः प्रयच्छति' (श० ५।३।५।२९) । लोकत्रयात्मकत्वेन शस्तानामिषूणां लक्षणं संज्ञां च दर्शयति—ययेति । यया प्रथमया समर्पणेन परित्यागमात्रेण परा परान् शत्रून् भिनत्ति विदारयति, तस्या एकस्या दृवानामधेयायाः पृथिव्यात्मकत्वेन प्राशस्त्यम् । यया विद्धस्य ताडितस्य जीवने सन्देहस्तस्या रुजानाम्न्या अन्तरिक्षात्मकत्वम् । यया राजा शत्रूनपराध्नोति हिनस्त्येव, तस्याः क्षुमानामधेयायास्तृतीयलोकात्मकत्वेन प्राशस्त्यम् । दृवा विदारिकासीति प्रथमेषुग्रहणम् । शत्रूणां भङ्गहेतुरसीति द्वितीयग्रहणम् । 'क्षुप विधूनने', 'क्ष्मायी विधूनने', शत्रुकदनकारिण्यसीति तृतीयग्रहणम् । 'ताः प्रयच्छति । पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पातेति तदस्मै सर्वा एव दिशोऽशरव्याः करोति तद्यदस्मै धनुः प्रयच्छति वीर्यं

धारण एवं धनुष का विधिपूर्वक ग्रहण आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल

वा एतद्राजन्यस्य यद्धनुर्वीर्यवन्तमभिषिञ्चानीति तस्माद्वा अस्मा आयुधं प्रयच्छति' (श० ५।३।५।३०)। इषुदानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—ताः प्रयच्छतीति। प्राञ्चं प्रागञ्चनं प्रागन्तारं पात पालयत। प्रत्यञ्चं प्रत्यग्गन्तारम्, तिर्यञ्चं तिर्यग्गन्तारम्। किं बहुना, दिग्भ्यः सर्वाभ्यः पातेति। तदस्मा इति। अशरव्या अहिंसकाः। शरव्यं शरलक्ष्यम्, तद्रहिताः करोति। अनेन सर्वास्वपि दिक्षु परकीयशरलक्ष्यत्वं निवर्त्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मन्, त्वं क्षत्रस्य क्षताद्रक्षकस्य उल्बमावरणमिव रक्षकमसि। त्वमेव क्षत्रस्य जरायुवद् गर्भवेष्टनचर्मवत् पालकमसि। त्वमेव क्षत्रस्य योनिरिवोत्पादनस्थानमसि। त्वमेव क्षत्रस्य नाभिः नाभिस्थानीयं सर्वाधारभूतमसि, ब्रह्मण एव सर्वत्र सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन मुख्यपालकत्वात्। इन्द्रस्य प्रसिद्धस्य वार्त्रघ्नं शत्रुहनन-साधनमायुधमसि, तवैव सर्वसंहारकत्वात्। त्वमेव मित्रस्य सुहृदो देवविशेषस्य वा सम्बन्ध्यसि। त्वमेव वरुणस्य सम्बन्ध्यसि, तदुपलक्षितानां सर्वदेवानामधिष्ठानत्वात्। हे ब्रह्मन्, त्वया कृत्वा अयं क्षतात् त्राता रक्षकः क्षत्रियो राजा इन्द्र ईश्वरो वा वृत्रमसुरं द्विषन्तं धर्ममार्गबाधकं वधेद् हन्यात्। त्वमेव वा शत्रुविदारकमसि। त्वमेव रुजासि शत्रूणां भञ्जकमसि। त्वमेव क्षुमासि शत्रुप्रकम्पनशीलमसि। तत्तस्मादेनं त्रातारं प्राञ्चं प्राग्गतं प्रत्यञ्चं पश्चिमायां दिशि गतं तिर्यञ्चमन्यासु दिक्षु गतं दृवा रुजा क्षुमारूपा भगवन्तः पात पालयत।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यस्त्वं क्षत्रस्य राजकुलस्य उल्बं बलमसि, क्षत्रस्य क्षत्रियस्य जरायु वृद्धावस्था-प्रापकमसि, क्षत्रस्य राजन्यस्य योनिर्निमित्तमसि, क्षत्रस्य राज्यस्य नाभिर्बन्धनमसि प्रबन्धकर्तासि, इन्द्रस्य सूर्यस्य वार्त्रघ्नं मेघविनाशकमसि तद्वत् कर्मकर्तासि, मित्रस्य सुहृदो मित्रोऽसि, वरुणस्य श्रेष्ठस्य वरोऽसि, दृवासि यः शत्रून् दृणाति सोऽसि, रुजा शत्रूणां रोगकारकोऽसि, क्षुमा सत्योपदेशकोऽसि, योऽयं वीरस्त्वया राज्ञा सह वृत्रं मेघमिव न्यायावरकं शत्रं वधेत्, तमेनं प्राञ्चं प्राक्प्रबन्धस्य कर्तारमेनं सेनाध्यक्षं सर्वे यूयं पात, दिग्भ्यः पात, तमेनं प्रत्यञ्चं पश्चात्स्थितं सेनापतिं पात, तमेनं पार्श्वस्थं तिर्यञ्चं तिरश्चीनं दिग्भ्यः सर्वाभ्य आशाभ्यः पात' इति, तदपि वेदस्य लोकायतीकरणमेव, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनधिगतार्थस्यैव वेदार्थत्वात्। 'जरायु वृद्धा-वस्थाप्रापकम्' इत्यपि निर्मूलम्। क्षत्रस्य विविधार्थत्वेऽपि मूलं वक्तव्यम्, नहि हेतुमन्तरा तत्र स्वैरित्वं युक्तम्। न च मेघविनाशकत्वं राज्ञः सम्भवति। तद्वत्कार्यकर्तृत्वं तु गौणार्थत्वाश्रयणमेव। न च तत् सति मुख्यार्थत्वे युक्तम्। मित्रस्य मित्रोऽसि वरुणस्य वरोऽसीति निर्मूल एवाध्याहारः। रुजा रोगकारकः, क्षुमा सत्योपदेशकः, प्राञ्चं प्राक्प्रबन्धकर्तारम् एनं सेनाध्यक्षम्, प्रत्यञ्चं पश्चात्स्थितं सेनापतिमित्यादि सर्वमपि निर्मूलमेव। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ ८ ॥

अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे ब्रह्मन्, तुम दुःख से रक्षणकर्ता के आवरण की भाँति रक्षक हो। तुम ही गर्भवेष्टन की भाँति पालनकर्ता हो, उत्पत्तिस्थान हो, सबके आधारभूत हो, सर्वसंहारक होने के कारण शत्रुहन्ता वज्र हो, मित्रदेव अथवा सुहृद् से सम्बद्ध हो, वरुण आदि समस्त देवताओं के अधिष्ठान होने के कारण सर्वसम्बद्ध हो। हे ब्रह्मन्, यह ईश्वर धर्ममार्ग के बाधक शत्रु को विनष्ट करे, अथवा तुम ही शत्रुओं के नाशक, भेदक हो, शत्रुओं को कम्पित करने वाले हो। अतः इसकी पूर्व, पश्चिम तथा अन्य दिशाओं में रक्षा करो।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ वेद को चार्वाक दर्शन की भाँति बनाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से अप्राप्त अर्थ का ही वेदत्व है। जरायु का अर्थ वृद्धावस्था को प्राप्त कराने वाला, यह भी अप्रामाणिक है। क्षत्र शब्द के विभिन्न अर्थों में भी मूल का उल्लेख होना चाहिये। कारण न रहने पर स्वेच्छा से विविध अर्थ करना अनुचित है। राजा का मेघनाशक होना भी असम्भव है। 'उसके समान कार्य करने वाला' यह कहना भी गौण अर्थ का आश्रयण है। मुख्यार्थ संभव होने पर गौणार्थ उचित नहीं है ॥ ८ ॥

आविर्मर्या आवित्तो अग्निर्गृहपतिरावित्त इन्द्रो वृद्धश्रवा आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रता-वावित्तः पूषा विश्ववेदा आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्मा ॥ ९ ॥

'आविर्मर्या इति वाचयति' (का० श्रौ० १५।५।१९)। इषुसमर्पणानन्तरमाविर्मर्या इत्यादीन् सप्तमन्त्रान् आविःसंज्ञान् आवित्तपदयुक्तान्। आवेदयन्ति ज्ञपयन्ति देवताभ्य एनं यजमानमित्याविदो मन्त्राः, 'अथैनमाविदो वाचयति' (श० ५।३।५।३१) इति श्रुतेः, यजमानं वाचयति। प्रजापतिर्दैवतम्। आविर्मर्या इत्यनिरुक्तम्, साक्षाद्देवतावाचकपदरहितमन्त्रत्वात्। हे मर्या मरणयोग्या मनुष्या ऋत्विजः! आविः प्रकाशः प्रकटोऽयं यजमानो युष्मत्समक्षं कथ्यते। यद्वा हे मर्या मनुष्या ऋत्विजः! कस्यै देवतायै यजमानमावेदितवन्त इत्याशङ्क्य श्रुतिराह—'आविर्मर्या इत्यनिरुक्तं प्रजापतिर्वा अनिरुक्तस्तदेनं प्रजापतय आवेदयति सोऽस्मै सवमनुमन्यते तेनानुमतः सूयते' (श० ५।३।५।३१)। प्रजापतिः खल्वनिरुक्त ईदृश इति वक्तुमनर्हः। तस्मादनेन यजुषाऽनिरुक्तेन अनिरुक्तात्मने प्रजापतये एनं यजमानम् आवेदितवान् भवति। आवेदनस्य फलमाह— सोऽस्मा इति। स आवेदितो ज्ञापितः प्रजापतिरस्मै सुन्वते यजमानाय सवमभिषेकमनुमन्यते। तेन प्रजापतिना अनुमतोऽनुज्ञातः सूयतेऽभिषिच्यते। 'आवित्तो अग्निर्गृहपतिरिति। ब्रह्म वा अग्निस्तदेनं ब्रह्मण आवेदयति तदस्मै सवमनुमन्यते तेनानुमतः सूयते' (श० ५।३।५।३२)। गृहपतित्वगुणविशिष्टोऽग्निः, आवित्त आवेदितो ज्ञापितः, सोऽस्मै सवमभिषेकमनुमन्यते। आवित्तो ज्ञापित इन्द्रो वृद्धश्रवाः, वृद्धं श्रवो यशो यस्य सः। यद्वा 'श्रव इत्यन्ननाम' (निरु० १०।१), वृद्धं प्रभूतमन्नं यस्येति। कोऽसावित्याशङ्क्याह—'क्षत्रं वा इन्द्रस्तदेनं क्षत्राय आवेदयति तदस्मै सवमनुमन्यते तेनानुमतः सूयते' (श० ५।३।५।३३), 'आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रताविति। प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तदेनं प्राणोदानाभ्यामावेदयति तावस्मै सवमनुमन्येते ताभ्यामनुमतः सूयते' (श० ५।३।५।३४)। 'व्रतमिति कर्मनाम' (निघ० २।१।७)। 'आवित्तः पूषा विश्ववेदा इति। पशवो वै पूषा तदेनं पशुभ्य आवेदयति ते अस्मै सवमनुमन्यन्ते तैरनुमतः सूयते' (श० ५।३।५।३५)। विश्ववेदाः सर्वधन इति। 'आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवाविति। तदेनमाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामावेदयति ते अस्मै सवमनुमन्येते' (श० ५।३।५।३६)। विश्वशम्भुवौ सर्वस्य सुखसम्भावयित्र्यौ। 'आवित्ताऽदितिरुरुशर्मेति। इयं वै पृथिव्यदितिस्तदेनमस्यै पृथिव्या आवेदयति साऽस्मै सवमनुमन्यते तयाऽनुमतः सूयते तद्याभ्य एवैनमेतद्देवताभ्य आवेदयति ता अस्मै सवमनुमन्यन्ते ताभिरनुमतः सूयते' (श० ५।३।५।३७)। अदितिरखण्डनीया देवमाता अदितिः, भूमिरेव काञ्चिन्मूर्तिं कृत्वाऽदितिर्भवति। एता देवताः सम्भूय प्रशंसति। तथा च पूर्वोक्तश्रुत्युक्तैर्विभक्तिव्यत्ययैर्मन्त्रो व्याख्यायते। गृहपतये गृहपालकाय अग्नयेऽयं यजमान आवेदितः। प्रथमान्तपदद्वयं चतुर्थ्यर्थे। वृद्धश्रवा वृद्धश्रवसे वृद्धं श्रवो यशोऽन्नं वा यस्य तस्मै इन्द्राय अयं यजमान आवेदितः। आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतौ धृतं व्रतं कर्म याभ्यां तौ धृतव्रतौ धृतव्रताभ्यां धारितकर्मभ्यां प्राणोदानरूपाभ्यां मित्रावरुणाभ्यामावित्त आवेदितोऽयं यजमानः। विश्वशम्भुवौ विश्वस्य सर्वस्य शं सुखं भवति याभ्यां तौ विश्वशम्भुवौ ताभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामावित्ते, आवित्तः, वचनलिङ्गव्यत्ययः। उरुशर्मा उरु महत् शर्म शरणं सुखं वा यस्याः सा उरुशर्मा, तस्यै

मन्त्रार्थ—भूमण्डल निवासी सभी मनुष्य इस यजमान को जानें। गृहपालक अग्नि, विख्यातकीर्ति इन्द्र, नियम में तत्पर मित्रावरुण और सूर्य-चन्द्र, सब कुछ जानने वाले पूषा देवता, संसार के कल्याण की विधात्री पृथ्वी, द्युलोक के अभिमानी सभी देवता और सुविस्तीर्ण सुख के आश्रयरूप भगवान् काल इस यजमान को भली भाँति जाने ॥ ९ ॥

भाष्यसार—'आविर्मर्याः' इस कण्डिका के आविःसंज्ञक मन्त्रों का वाचन यजमान करता है। यह याज्ञिक

अदितये आवित्ता आवित्तोऽयं यजमानः। यद्वा—यथाश्रुतमेव व्याख्यातव्यम्। गृहपतिरग्निरावेदितो यजमान-मिति। तथैवाग्रेऽपि।

उव्वटाचार्यरीत्या तु 'सोऽस्मै सवमनुमन्यते' इत्यत्र सवो जन्म, उत्पत्तिरित्यर्थः। आवित्त आवेदितो ज्ञापितोऽग्नये गृहपतये यजमान इत्यादिकं पूर्ववदेव। विश्वशम्भुवौ विश्वं सर्वं सम्भावयित्रीभ्याम्। उरुशर्मा उरु पृथु महत् शर्म शरणं यस्याः सा तथोक्ता सर्वा एवाविदः श्रुत्या लक्षणया व्याख्याताः। तद्यथा—'आविर्मर्या इत्यनिरुक्तं प्रजापतिरनिरुक्तः·····' इत्यादिस्तथा मन्त्रा व्याख्येयाः। यथाश्रुतमेव वा व्याख्येयाः, प्रत्यक्षवृत्तित्वात्। यथा—हे मर्या ऋत्विजः! यूयमाविरभूत अभ्यगन्त तिष्ठत। युष्मदनुष्ठितेन कर्मणा अग्निर्गृहपतिर्भूत्वा आवित्त उपलब्धः। इन्द्रो वृद्धश्रवाः प्रवृद्धकीर्तिर्भूत्वा आवित्त उपलब्धः। पूषा देवो विश्ववेदाः सर्वज्ञो भूत्वा आवित्तः। मित्रावरुणौ देवौ धृतव्रतौ अवधारितकर्माणौ भूत्वा आवित्तौ। तथा द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ विश्वस्य शं सुखं याभ्यां तथाविधौ तौ आवित्तौ। उरु महत् शर्म शरणं सुखं वा यस्याः सा आवित्ता लब्धा।

अध्यात्मपक्षे—हे मर्याः, युष्माभिर्नित्यापरोक्षरूपः परमात्मा आवित्तः सम्यगुपलब्धः साक्षात्कृतः। अग्निर्गृहपतिः गृहपालकाग्निरूपेणापि स एवावित्तः। वृद्धश्रवाः प्रवृद्धकीर्तिरिन्द्रः परमेश्वरस्तद्रूपेणापि आवित्तः। विश्ववेदाः सर्वज्ञः पूषा पोषको विष्णुर् आवित्तः। मित्रावरुणौ प्राणोदानौ धृतव्रतौ धारितकर्माणा आवित्तौ, तद्रूपेणापि स एवोपलब्धः। तथैव द्यावापृथिव्यौ विश्वशम्भुवौ सर्वस्य जगतः सुखसम्भावयित्र्यौ आवित्ते। अदितिरदीना अखण्डनीया वा उरुशर्मा उरु महत् शर्म सुखं शरणं वा यस्याः सा चिद्रूपा पराम्बा आवित्ता उपलब्धा। सार्वात्म्यं ब्रह्मणोऽनेन मन्त्रेण द्योत्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मर्याः, युष्माभिर्यदि गृहपतिर्गृहाणां पालकः, अग्निः पावक इव विद्वान् आविः प्राकट्येन आवित्तः प्राप्तो निश्चितो वा, प्राप्तपूर्णभोगो लब्धप्रतीतो वा, वृद्धश्रवाः सर्वशास्त्रश्रवणं यस्य स इन्द्रः शत्रुदारकः सेनापतिः, आविर् आवित्तः प्राप्तो निश्चितो वा, धृतव्रतौ सत्यादिव्रतधारकौ मित्रावरुणौ मित्रश्रेष्ठजनौ प्राकट्येन आवित्तौ, विश्ववेदाः सर्वौषधिज्ञाता पूषा पोषको वैद्यः आविः प्रसिद्धया आवित्तः, विश्वशम्भुवौ सर्वसुखभावयितारौ द्यावापृथिवी विद्युद्भूमी प्राकट्येन आवित्ते प्राप्ते ज्ञाते वा, बहुसुखदात्री अदितिः विदुषी माता प्रसिद्धया आवित्ता स्याच्चेत्तर्हि सर्वाणि सुखानि प्राप्यन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्याग-गौणार्थाश्रयणाभ्याम्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च ॥ ९ ॥

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।१९) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है— हे मनुष्यों, आप लोगों के द्वारा नित्य अपरोक्षस्वरूप परमात्मा अच्छी तरह प्राप्त कर लिया गया है, अर्थात् साक्षात्कृत है। गृह के पालक अग्नि के रूप में भी वही प्राप्त है। महान् कीर्ति वाले इन्द्र परमेश्वर के रूप में भी उपलब्ध है, सर्वज्ञ तथा पोषण करने वाले विष्णु के रूप में भी प्राप्त है। प्राण-उदान के रूप में कर्मों को धारण करने वाला वही है। इसी प्रकार द्यावापृथिवी सम्पूर्ण जगत् के सुखकर्ता के रूप में प्राप्त हैं, अदीना अथवा अखण्डनीया महान् सुख एवं शरण की प्रदात्री पराम्बा के रूप में उपलब्ध है। इस प्रकार यहाँ ब्रह्म की सर्वात्मता प्रतिपादित की जा रही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ मुख्यार्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ के आश्रयण के कारण विसंगत है। श्रुति-वाक्यों तथा सूत्र का भी विरोध है ॥ ९ ॥

अवे॑ष्टा दन्द॒शूकाः॑ प्राची॒मारो॑ह गाय॒त्री त्वा॑वतु रथन्तर॒ᳪ साम॑ त्रि॒वृत् स्तोमो॑ वस॒न्त ऋ॒तुर्ब्रह्म॒ द्रवि॑णम् ॥ १० ॥

'अवेष्टा इति लोहायसमाविध्यति केशवास्ये सदोऽन्त उपविष्टाय' (का० श्रौ० १५।५।२०)। अध्वर्युः सदोमध्य उपविष्टस्य क्लीबस्य बहुदीर्घकेशस्य पुरुषस्य मुखे ताम्रपरिष्कृतमयः प्रक्षिपेत्। मृत्युनाशनं यजुः। दन्दशूका अत्यर्थदशनशीला मृत्युहेतवः सर्पसदृशा यज्ञविघ्नकारिणो राक्षसादयः, अवेष्टा नाशिता भवन्तु, अवपूर्वस्य यजतेर्नाशार्थकत्वात्, 'तद्यो मृत्युर्यो वधस्तमेवैतदतिनयति' इति श्रुतेः। 'मुन्वन्तमाक्रमयन् दिशः प्राचीमारोहेति वाचयति प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्गम्' (का० श्रौ० १५।५।२१)। बाहुगृहीतं यजमानं यथालिङ्गं प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं दिश आक्रमयन् वाचयत्यध्वर्युः। पञ्च यजूंषि यजमानदेवत्यानि। अत्र सायणाचार्यरीत्या हे यजमान, त्वं प्राचीं दिशमारोह आक्रमस्व। तादृशं त्वां छन्दसां मध्ये गायत्रीछन्दोऽवतु पातु। तथैव साम्नां मध्ये रथन्तरं साम त्वामवतु। 'अभि त्वा शूर नोनुमः' (ऋ० सं० ७।३२।२२) इत्यस्यामृचि गीतं रथन्तरं साम। सोमानां मध्ये त्रिवृद् ऋङ्नवात्मकः स्तोमस्त्वामवतु। ऋतूनां मध्ये वसन्त ऋतुस्त्वावतु। ब्रह्म ब्राह्मणजातिर्द्रविणं त्वदीयं धनमवतु। यद्वा धनरूपा ब्राह्मणजातिस्त्वावतु। ब्राह्मणादीनां धनसाधनत्वात् कर्मद्वारा धनत्वव्यपदेशः। अत्र काण्वसंहितायां सायणाचार्याः—त्रिवृत्स्तोमस्य रूपं सामब्राह्मणे (२५।२।१) इत्यत्र समाम्नातम्—'तिसृभ्यो हिङ्करोतीति स प्रथमया तिसृभ्यो हिङ्करोतीति स मध्यमया तिसृभ्यो हिङ्करोतीति स उत्तमयोद्यतौ त्रिवृतौ विष्टुतिः' इति। अस्यायमर्थः—'उपास्मै गायता नरः' (ऋ० सं० ९।११।१) इत्यादीनि तृचात्मकानि त्रीणि सूक्तानि, तेषु तिसृभिर्ऋग्भिर्गायेत्। काभिस्तिसृभिस्तत्राह—प्रथमयेति। त्रिष्वपि सूक्तेषु या प्रथमा तया स उद्गाता गायेत्। तथा सति तिसृभिर्गीतं भवति, सोऽयं प्रथमपर्यायः। द्वितीये पर्याये सूक्तत्रयगतया मध्यमया गायेत्। तृतीये पर्याये सूक्तत्रयगतयोत्तमया गायेत्। अनेन प्रकारेण त्रिवृत्स्तोमसम्बन्धिनी विशिष्टा स्तुतिः सम्पद्यते। सेयं स्तुतिरुद्यतीत्याख्यां लभते।

अत्र ब्राह्मणम्—'केशवस्य पुरुषस्य। लोहायसमास्य आविध्यत्यवेष्टा दन्दशूका इति सर्वान् वा एष मृत्यूनतिमुच्यते सर्वान् वधान् यो राजसूयेन यजते तस्य जरैव मृत्युर्भवति तद्यो मृत्युर्यो वधस्तमेवैतदतिनयति यद्दन्दशूकान्' (श० ५।४।१।१)। सदोमध्य उपविष्टस्य क्लीबस्य वदने 'अवेष्टा' इति मन्त्रेण लोहायसक्षेपः। सर्वान् मृत्यून् सर्वान् वधान् अतिमुच्यते, यो राजसूयेन यजते। तस्य जरैव मृत्युर्भवति। इह दन्दशूका इति दंशनशीला मृत्यवो विवक्षिताः। केशववदने ताम्रपरिष्कृतायससन्निधानेन ते विनाशिता भवन्तीत्यर्थः। 'अथ यत्केशवस्य पुरुषस्य। न वा एष स्त्री न पुमान् यत्केशवः पुरुषो यदह पुमान् तेन न स्त्री यदु केशवस्तेनो न पुमान् नैतदयो न हिरण्यं यल्लोहायसं नैते क्रिमयो नाक्रिमयो यद्दन्दशूका अथ यल्लोहायसं भवति लोहिता इव हि दन्दशूकास्तस्मात् केशवस्य पुरुषस्य' (श० ५।४।१।२)। केशव-लोहायस-दन्दशूकानामन्तरालवर्तित्वं सम्यगुपपादयति—अथ यत् केशवस्येति। केशवः क्लीबो यथा स्त्रीपुरुषयोरन्तरालवर्ती, तथैव नायो न हिरण्यं

मन्त्रार्थ—मनुष्यों को काट खाने के स्वभाव वाले, मृत्यु के कारणभूत सर्प आदि का विनाश हो। हे यजमान, तुम पूर्व दिशा की तरफ बढो, गायत्री छन्द तुम्हारी रक्षा करे। साम के मध्य में रथन्तर साम, स्तोम के मध्य में त्रिवृत् स्तोम और ऋतुओं में वसन्त ऋतु ब्राह्मण की विभूतियाँ हैं। ये सब तुम्हारी रक्षा करें॥ १०॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।२।२०-२१) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अवेष्टा दन्दशूकाः' इस कण्डिका के मन्त्रों से अध्वर्यु द्वारा लौहप्रक्षेप तथा यजमान के लिये इनका वाचन किया जाता है। शतपथ

यल्लोहायसं ताम्रम्। नैते क्रिमयो नाक्रिमयोऽतो दन्दशूका अप्यन्तरालवर्तिनः। दन्दशूकानां लोहितत्वाद् लोहितायसेन भाव्यमित्यर्थः। 'अथैनं दिशः समारोहयति। प्राचीमारोह....द्रविणम्' (श० ५।४।१।३)। अध्वर्युः प्राच्यादिकाः पञ्च दिशो यजमानमाक्रमयन् प्राचीमारोहेत्यादिकान् मन्त्रान् वाचयेदित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—आचार्यः शिष्यमनुशास्ति—हे वत्स, भगवत्स्मरणेन दन्दशूकाः सर्पा इव विघ्नकारिणो भूतप्रेतासुरराक्षसादयो अवेष्टा नाशिता भवन्तीति शेषः। त्वं प्राचीं पूर्वाम्नायमन्त्रसमुद्भवां सिद्धिमारोह आक्रमस्व स्वायत्तां कुरु। तामारूढं त्वां गायत्रीछन्दोऽधिष्ठितो देवो रक्षतु। रथन्तराख्यं साम, त्रिवृत् स्तोमः, वसन्त ऋतुः, तत्तदधिष्ठातारो देवाः, ब्रह्मात्मकं द्रविणं च त्वा अवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यस्त्वं ये अवेष्टा विरुद्धस्य गन्तारो दन्दशूकाः परस्मै दुःखप्रदानाय दंशनशीलाः सन्ति, तान् जित्वा प्राचीं दिशमारोह प्रसिद्धो भव। तं त्वा गायत्री पठितगायत्रीच्छन्दः, अवतु प्राप्नोतु। रथन्तरं रथैस्तरन्ति येन तत्साम सामवेदः, त्रिवृत् त्रयाणां मनोवाक्शरीरबलानां बोधकारकः स्तोमः स्तूयमानः, वसन्त ऋतुः, ब्रह्म वेदो जगदीश्वरो ब्रह्मवित्कुलं वा, द्रविणं विद्या द्रव्यं चावतु प्राप्नोतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'तान् जित्वा' इत्यध्याहारस्य निर्मूलत्वात्, गायत्री छन्दः प्राप्नोत्वित्यस्यासङ्गतेः, रथैः केन तरन्तीत्यस्यास्पष्टत्वात्। हिन्द्यां तु रथैर्यस्य तरणं तस्य सामवेदत्वमुक्तम्। तत्तु प्रलापमात्रम्। मनोवाक्शरीराणां बलबोधकं त्रिवृत्, स्तोमः स्तूयमान इत्यादिकं न मूर्खजनप्रतारणं केवलम्, किन्तु स्वात्मप्रतारणं च तत्॥ १०॥

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत्साम पञ्चदशस्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥११॥

प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपꣳ साम सप्तदशस्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥१२॥

उदीचीमारोहानुष्टुप् त्वावतु वैराजꣳ साम*विꣳशस्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥१३॥

ऊर्ध्वामारोह पङ्क्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः॥ १४॥

ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष के अर्थ में गुरु शिष्य को उपदेश देता है कि हे वत्स, भगवान् के स्मरण से सर्पों के समान विघ्नकारक भूत, प्रेत, असुर, राक्षस आदि विनष्ट हो जाते हैं। तुम पूर्वाम्नायोक्त मन्त्र से उपलब्ध सिद्धि को स्वायत्त करो। सिद्धि पर आरूढ़ हुए तुमको गायत्री छन्द का अधिष्ठाता देव रक्षित करे। रथन्तर नामक साम, त्रिवृत् स्तोम तथा वसन्त ऋतु के अधिष्ठाता देवता तथा ब्रह्मात्मक धन तुम्हारी रक्षा करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में 'उनको जीत कर' यह अध्याहार मूलरहित होने के कारण अग्राह्य है। 'गायत्री छन्द प्राप्त करे' यह भी असंगत है। रथों से किसके द्वारा पार किया जाता है, यह भी अस्पष्ट है। हिन्दी अर्थ में रथ के द्वारा जिसका तरण होता है, उसको सामवेद कहा गया है। यह भी प्रलाप ही है। 'मन, वाणी तथा शरीर का बलबोधक त्रिवृत् है' इत्यादि कथन केवल अज्ञ जनों को ही भ्रान्त करने वाला नहीं है, अपितु स्वयं के लिये भी भ्रान्तिकारक है॥ १०॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान! तुम दक्षिण दिशा की ओर आक्रमण करो। त्रिष्टुप् छन्द, बृहत् साम, पंचदश स्तोम, ग्रीष्म ऋतु और क्षत्रिय जाति सम्बन्धी ऐश्वर्य तुम्हारी रक्षा करें॥ ११॥

द्वितीयो मन्त्रः। हे यजमान, त्वं दक्षिणां दिशमारोह आक्रमस्व। तथाविधं त्वा त्वां छन्दसां मध्ये त्रिष्टुप्छन्दः, अवतु। 'त्वामिद्धि हवामहे' (ऋ० सं० ६।४६।१) इत्यस्यामृचि उत्पन्नं साम बृहत्साम, पञ्चदश स्तोमाः, ग्रीष्म ऋतुः, क्षत्रं द्रविणं त्वावतु तत्तदधिष्ठातारो देवास्त्वां पान्तु। पञ्चदशः स्तोमः सामब्राह्मण एवमाम्नातः —'पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एकया पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स एकया स तिसृभिः पञ्चपञ्चिनी पञ्चदशस्य विष्टुतिः' इति। पूर्वोक्तस्त्रिवृत्स्तोम एक एव सूक्तत्रयनिष्पाद्यः, अन्ये तु स्तोमा एकेनैव तृचात्मकेन सूक्तेन निष्पाद्यन्ते। तत्रायं क्रमः—प्रथमपर्याये आवृत्तिः पञ्चभिः, तत्रादौ तिसृभिर्ऋग्भिर्गायेत, इतरे द्वे सकृद् गायेत। द्वितीयपर्याये प्रथमां सकृद् मध्यमां तिसृभिस्तृतीयां सकृत्। तृतीयपर्याये—आद्ये द्वे सकृत् तृतीयां तिसृभिरिति पञ्चदशस्तोमसम्बधिनी विष्टुतिः पञ्चपञ्चिनीत्यभिधीयते। शतपथीयसायणभाष्ये तु ताण्ड्यब्राह्मणानुसारेण स्तोमा दर्शिताः ॥ ११ ॥

तृतीयो मन्त्रः—हे यजमान, त्वं प्रतीचीं दिशमारोह। जगती छन्दस्त्वामवतु। 'यद् याव इन्द्र ते शतम्' (ऋ० सं० ८।७०।५) इत्यस्यामृच्युत्पन्नं वैरूपं साम। सप्तदशः स्तोमः। वर्षा ऋतुः। विड् वैश्यो जातिलक्षणं द्रविणमवतु। यद्वा वैश्यजातिस्ते द्रविणमवतु। सप्तदशः स्तोमस्तु सामब्राह्मणे (२५।२।२७)—'पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया···सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिर्दशसप्ता सप्तदशस्य विष्टुतिः' इति। प्रथमपर्याये प्रथमोत्तमे सकृन्मध्यमां त्रिर्गायेत्। तृतीयपर्याये प्रथमां सकृद् गायेद् मध्यमोत्तमे त्रिरिति सप्तदशस्तोमस्य विविधस्तुतिर्दशसप्तेत्यभिधीयत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

हे यजमान, त्वमुदीचीं दिशमारोह। अनुष्टुप् छन्दस्त्वामवतु। 'पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा' (ऋ० सं० ७।२२।१) एतस्यामृच्युत्पन्नं वैराजं साम। एकविंशः स्तोमः। शरदृतुः। फलं यज्ञफललक्षणं द्रविणम्। सायणस्तूदुम्बरादिफलमित्याह। एकविंशः स्तोमश्च सामब्राह्मणे (२५।२।१४)—'सप्तभ्यो हिङ्करोति। स एकया

मन्त्रार्थ—हे यजमान ! तुम पश्चिम दिशा की ओर आक्रमण करो। जगती छन्द, वैरूप साम, सप्तदश स्तोम, वर्षा ऋतु और वैश्य सम्बन्धी ऐश्वर्य तुम्हारी रक्षा करें ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान ! तुम उत्तर दिशा की ओर आक्रमण करो। अनुष्टुप् छन्द, वैराज साम, एकविंश स्तोम, शरद् ऋतु और यज्ञफलरूप ऐश्वर्य तुम्हारी रक्षा करे ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान ! तुम ऊर्ध्व दिशा की ओर आक्रमण करो। पंक्ति छन्द, शक्वर और रैवत साम, त्रिणव और त्रयस्त्रिंश स्तोम, हेमन्त और शिशिर ऋतु तथा तेजोभिमानी देवता का ऐश्वर्य तुम्हारी रक्षा करें। नमुचि असुर का सिर बहुत दूर फेंका गया है ॥ १४ ॥

भाष्यसार—यहाँ चार कण्डिकाओं की व्याख्या एक साथ की गई है। कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।२२) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'प्रत्यस्तम्' इत्यादि अन्तिम मन्त्र से व्याघ्रचर्म के पश्चिम भाग में रखे गये सीस द्रव्य को पैर से फेंका जाता है। शेष मन्त्रों का विनियोग पूर्व प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में इन कण्डिकाओं का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—

हे साधक, तुम दक्षिणाम्नाय के मन्त्रसाधन द्वारा समुपलब्ध सिद्धि को अधिगत करो। उस पर आरूढ़ तुम्हारा रक्षण त्रिष्टुप् छन्द आदि करें।

हे साधक, पश्चिमाम्नाय की मन्त्रोपदिष्ट सिद्धि पर आरोहण करो। ऐसे तुमको जगती छन्द आदि रक्षित करें।

हे साधक, उत्तराम्नाय के मन्त्र से साधन करने योग्य सिद्धि पर आरूढ़ होओ। उसमें अनुष्टुप् छन्द आदि तुम्हारी रक्षा करें।

स तिसृभिः स एकया स तिसृभिः सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स तिसृभिः सप्तसप्तिन्येकविंशस्य विष्टुतिः' इति । प्रथमपर्याये प्रथममध्यमे त्रिर्गायेद् उत्तमां सकृत् प्रथमोत्तमे त्रिर्गायेदित्येकविंशस्तोमस्य विष्टुतिः सप्तसप्तिनीत्युच्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

हे यजमान, त्वमूर्ध्वां दिशमाक्रमस्व । पङ्क्तिश्छन्दः । 'प्रो ष्वस्मै पुरोरथम्' (ऋ० सं० १०।१३३।१) इत्यस्यामृच्यध्यूढं शाक्वरं साम, 'रेवतीर्नः सधमाद' (ऋ० सं० १।३०।१३) इत्येतस्यामृच्यध्यूढं रैवतं साम। त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ । हेमन्तशिशिरावृतू । वर्चस्तेजो ब्रह्मवर्चसं वा द्रविणम् । एते त्वामवन्तु । यद्वा वर्चस्तेजोऽभिमानी देवस्ते धनं रक्षतु । अत्र पञ्चसु मन्त्रेषु मध्ये त्रिषु मन्त्रेषु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या धनरक्षकत्वेन धनरूपत्वेन च कथिताः । चतुर्थे यज्ञफलस्योदुम्बरादिफलस्य वा तद्रूपत्वं तद्रक्षकत्वम् । पञ्चमे च वर्चसः प्रख्यातशूरताकृतस्य तेजसो रक्षकत्वं तद्रूपत्वं चोक्तम् ।

त्रिणवः स्तोम एवमाम्नातः (प० ब्रा० ३।१)—'नवभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स पञ्चभिः स एकया नवभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स पञ्चभिर्नवभ्यो हिङ्करोति स पञ्चभिः स एकया स तिसृभिर्वज्रो वै त्रिणवः' इति । प्रथमपर्याये प्रथमां त्रिर्गायेत्, मध्यमां पञ्चकृत्वः, उत्तमां सकृत् । द्वितीयपर्याये प्रथमां सकृत्, मध्यमां त्रिरुत्तमां पञ्चकृत्वो गायेत् । तृतीयपर्याये प्रथमां पञ्चकृत्वो मध्यमां सकृदुत्तमां त्रिर्गायेत् । सोऽयं त्रिरावृत्तनवसंख्योपेतत्वात् त्रिणवनामको वज्रसमानः स्तोमः । त्रयस्त्रिंशः स्तोम एवमाम्नातः (प० ब्रा० ३।३)— 'एकादशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स सप्तभिः स एकयैकादशभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिरन्तो वै त्रयस्त्रिंशः' इति । प्रथमपर्याये प्रथमां त्रिर्गायेद् मध्यमां सप्तकृत्व उत्तमां सकृत्, द्वितीयपर्याये प्रथमां सकृन्मध्यमां त्रिरुत्तमां सप्तकृत्वः, तृतीयपर्याये प्रथमां सप्तकृत्वो मध्यमां सकदुत्तमां त्रिर्गायेत् । सोऽयं त्रयस्त्रिंशः स्तोमः सर्वेषां स्तोमानामन्तः । 'आक्रम्य पादेन सीसं निरस्यति प्रत्यस्तमिति' (का० श्रौ० १५।५।२२) । व्याघ्रचर्म-पश्चाद्भागे निहितं सीसमाक्रम्य पादेन क्षिपेत् । असुरदेवत्यम् । नमुचेरसुरस्य शिरो मस्तकं प्रत्यस्तम्, प्रतिगृह्य सीसरूपे क्षिप्तमित्यर्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'दक्षिणामारोह·····' (श० ५।४।१।४), 'प्रतीचीमारोह । जगती·····' (श० ५।४।१।५), 'उदीचीमारोह·····' (श० ५।४।१।६), 'ऊर्ध्वामारोह । पङ्क्तिस्त्वा·····' (श० ५।४।१।७), 'तद्यदेनं दिशः समारोहयति । ऋतूनामेवैतद्रूपमृतूनेवैनमेतत्संवत्सरꣳ समारोहयति स ऋतून् संवत्सरꣳ समारुह्य सर्वमेवेद-मुपर्युपरि भवत्यर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वं भवति' (श० ५।४।१।८) । दिशां समारोहणं समस्य (समुच्चित्य) संवत्सरारोहात्मना प्रशंसति—संवत्सरं समारोहयतीति । हेमन्तशिशिरयोः समासेन ऋतूनामपि पञ्च-संख्यात्मकत्वात् संवत्सरारोहणेन यजमानः सर्वमेवेदं जगद् उपर्युपरि भवति, सर्वस्योपरि वर्तमानो भवतीत्यर्थः । कालस्य सर्वेषामुपरिभावाद् अस्मात् सुन्वतो यजमानात् सकाशाद् इदं सर्वम् अर्वाग् अर्वाचीनमधस्तनं भवति । 'शार्दूलचर्मणो जघनार्धे । सीसं निहितं भवति तत्पदा प्रत्यस्यति प्रत्यस्तं नमुचेः शिर इति नमुचिर्ह वै नामासुर आस तमिन्द्रो निविव्याध तस्य पदा शिरोऽभितष्ठौ स यदभिष्ठित उदबाधत स उच्छ्वङ्कस्तस्य पदा शिरः प्रचिच्छेद ततो रक्षः समभवत् तद्ध स्मैनमनुभाषते क्व गमिष्यसि क्व मे मोक्ष्यस इति' (श० ५।४।१।९) । पूर्वं मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरस्तादभिनिहितानामभिषेचनीयपात्राणामग्रे आस्तृतस्य शार्दूलचर्मणोऽपरेऽन्ते निहितस्य सीसस्य प्रासनमिदानीं विधत्ते—शार्दूलचर्मण इति । शार्दूलचर्मणो जघनार्धेऽ-

---

हे साधक, ऊर्ध्वाम्नाय के मन्त्र से साधनीय सिद्धि पर आरोहण करो । उसमें पंक्ति छन्द आदि तुम्हारी रक्षा करे । तुम्हारी सिद्धि में बाधक नमुचि नामक असुरविशेष का सिर प्रक्षिप्त हो जाय ।

परभागे निहितं पूर्वं चर्मास्तरणसमय एव निहितम्, 'अपरेऽन्ते सीसं निदधाति' (का० श्रौ० १५।५।२), अत्र तु 'आक्रम्य पादेन निरस्यति प्रत्यस्तमिति' (का० श्रौ० १५।५।२२) इति तत्सीसं पदाक्रम्य प्रत्यस्तमिति मन्त्रेण निरस्येत्। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव। नमुचिशिरसः सीसेन निरसनमाख्यायिकयोपपादयति— नमुचिर्हेति। पूर्वमिन्द्रो नमुचिनाम्नोऽसुरस्य शिरः स्वेन पादेनाभितष्ठौ आचक्रमे। स आक्रान्त उदबाधत इन्द्रं बाधितवान्। उच्छ्वङ्क उद्गतः श्वङ्कः कश्चिद्धिसकः श्वाकारः, प्राणिविशेषरूपेणेति शेषः। इन्द्रोऽपि तस्य शिरः पादेन स्वीयेन प्रचिच्छेद। ततः स च्छिन्नशिरा राक्षसोऽभवत्। स चैनं घातकमिन्द्रमनुभाषते हे इन्द्र क्व गमिष्यसि मे मत्तः सकाशान्न मोक्ष्यसे। तस्मात्तथावदनात् स नमुचिरित्युक्तः। 'तत्सीसेनापजघान। तस्मात्सीसं मृदु सृतजवꣳ हि सर्वेण हि वीर्येणापजघान तस्माद्धिरण्यरूपꣳ सन्न कियच्चनार्हति सृतजवꣳ हि सर्वेण हि वीर्येणापजघान तद्वै स तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपजघान तथो एवैष एतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति' (श० ५।४।१।१०)। तदेतद्वदन्तं राक्षसमिन्द्रः सीसेनापजघान। तस्मात्सीसं मृदु जातम्। हि यस्मात् सृतजवं गतवेगं हि यस्मात् सर्वेण वीर्येणापजघान, तस्माद् गतसारमेतत्सीसं हिरण्यरूपं रजतरूपं सद् अपि कियच्चिद् मूल्यं नार्हति न लभते। इदानीं तु विशेषपरिष्कारेण दूरवीक्षणादिषु प्रयुक्तं सद् यन्मूल्यवद् भवति, तत्तु परिष्कार-माहात्म्यम्। रजतस्यापि कृते हिरण्यशब्दव्यवहारो भवति, 'यदशीर्यत्तद्रजतꣳ हिरण्यमभवत्' (तै० सं० १।५।१) इति श्रुतेः। अतः पूर्वं रक्षसः सीसेन हतत्वादिदानीमपि सीसप्रासनेन रक्षांसि हतानि भवन्तीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षेऽमूषां कण्डिकानामर्थः क्रमशो यथा—हे साधक, त्वं दक्षिणां दिशं दक्षिणाम्नायमन्त्र-साधनोत्थां सिद्धिमारोह स्वायत्तां कुरु। तामारूढं त्वा त्रिष्टुबादयः पान्तु (१०।११)। हे साधक, पश्चिमा-म्नायमन्त्रोक्तां सिद्धिमारोह। तादृशं त्वां जगत्यादयः पान्तु (१०।१२)। हे साधक, उदीचीमुत्तराम्नाय-मन्त्रसाध्यां सिद्धिमारोह। तत्रानुष्टुबादयस्त्वां पान्तु (१०।१३)। हे साधक, ऊर्ध्वाम्नायमन्त्रसाध्यां सिद्धिमारोह। तत्र त्वां पङ्क्त्यादयः पान्तु। नमुचेरसुरविशेषस्य तव सिद्धिबाधकस्य शिरः प्रत्यस्तं प्रक्षिप्तमस्तु, मदाशीर्वचनेनेति शेषः (१०।१४)।

अमूषां चतसृणां कण्डिकानां विषये दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् राजन्, यं त्वां त्रिष्टुब् एतच्छन्दोऽभिहित-विज्ञानं त्वाम् अवतु प्राप्नोतु, बृहद् महत् साम सामवेदः, पञ्चदशः प्राणेन्द्रियभूतानां पञ्चदशानां पूरकः स्तोमः स्तोतुं योग्यः, ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रियधर्मरक्षकं त्वामवन्तु, स त्वं दक्षिणां दिशमारोह शत्रून् विजयस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तदुक्तार्थस्य रथन्तरबृहदादिसाम्नां त्रिवृत्स्तोमपञ्चदशस्तोमादिस्तोमानां चाज्ञानविजृम्भित-त्वात्। त्रिष्टुप्छन्दोऽभिहितं विज्ञानमित्यपि निर्मूलमेव, तदनिरूपणात् (१०।११)। हे राजन्, यं त्वां जगतीच्छन्दोऽभिहितमर्थं वैरूपं विविधानि रूपाणि यस्मिन् तत्साम सामवेदांशः, सप्तदशः पञ्चकर्मेन्द्रियाणि पञ्चविषयाः पञ्च भूतानि कार्यं कारणं चेति सप्तदशानां पूरकः स्तोमः स्तुतिसमूहः, ऋतुर्वर्षा, विड् वणिग्जनः

इन चार कण्डिकाओं के विषय में स्वामी दयानन्द का अर्थ असंगत है। उसमें कथित रथन्तर, बृहत् आदि सामों तथा त्रिवृत्, पञ्चदश आदि स्तोमों का अज्ञानपूर्ण अर्थ है। त्रिष्टुप् छन्द से उपदिष्ट विज्ञान का व्याख्यान भी उसका निरूपण न होने के कारण निर्मूल है।

इसी प्रकार 'जगती' इस पद के छन्दःपरक होने के कारण विशिष्ट अर्थ का अभाव है। जगती छन्द के अनेक मन्त्र हैं, उनका एक ही अर्थ असम्भव है। बृहद्, रथन्तर आदि की भाँति वैरूप नामक भी एक साम ही है, सप्तदश का पूरक स्तुतिसमूह नहीं है। ये इन्द्रियादि भी नहीं हैं, क्योंकि वे अर्थात्मक हैं।

द्रविणं द्रव्यमवतु। स त्वं प्रतीचीमारोह धनं च लभस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जगतीत्यस्य छन्दस्त्वेन विशिष्टार्थत्वाभावात्। अनेके मन्त्रा जगतीछन्दस्का भवन्ति, तेषामेकार्थत्वाभावात्। वैरूपं नाम बृहद्रथन्तरादिवत् सामविशेष एव, न च सप्तदशानां पूरकः स्तुतिसमूहः, न चेन्द्रियादयः, तेषामर्थात्मकत्वात् (१०।१२)। हे सभापते, त्वमुदीचीं दिशमारोह तत्र प्रसिद्धो भव। यतोऽनुष्टुप्, यया पठित्वा पुनः सर्वा विद्या अन्येभ्यः स्तुवन्ति सा त्वाव । वैराजं यद्विविधैरर्थैं राजते तदेव साम। एकविंशः स्तोमः षोडश कलाश्चत्वारः पुरुषार्थावयवाः कर्ता चेति तेषामेकविंशतेः पूरणः स्तोमः स्तुतिविषयः, शरदृतुः फलं सेवाफलदं शूद्रकुलं द्रविणं त्वामवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुष्टुप्छन्दसि तादृशचमत्कृत्याधायकत्वे मानाभावात्। न च षोडशकलादयः स्तुतिविषयाः, स्तुतेरप्रसक्तत्वात्, विशेषानिर्देशाच्च। न च विट्स्तुतिः, न च वैराजस्य विविधार्थत्वं बृहद्रथन्तरादीनां तदभावत्वं वक्तुं शक्यम्, निष्प्रमाणत्वात् (१०।१३)। हे राजन्, यद्यूर्ध्वां दिशमारोह तर्हि पङ्क्तिस्त्वामवतु। शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्रयश्च काला नवाङ्कविद्याश्च त्रयश्च त्रिंशच्च वस्वादयः पदार्था व्याख्याता याभ्याम्, तयोः पूरणौ तौ स्तोमौ स्तुतिविशेषौ। हेमन्तशिशिरा ऋतू वर्चो विद्याध्ययनं द्रविणं द्रव्यं चावतु। नमुचेः, न मुञ्चति परपदार्थान् दुष्टाचारान् वा यः स्तेनस्तस्य शिर उत्तमाङ्गं प्रत्यस्तं प्रतिक्षिप्तं स्यात्' इति, तदपि प्रलापमात्रम्, वेदार्थाज्ञानविजृम्भितत्वात्। चार्वाकप्रायस्य तवोर्ध्वलोकाभावात् कुत ऊर्ध्वायां प्रसिद्धिः स्यात्? कौ च तौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ स्तुतिविशेषौ, याभ्यां त्रयः काला नवाङ्कविद्यादयो व्याख्यायन्ते? तस्मादेतत् सर्वं दशहस्ता हरीतकीति वाक्यायितमेव ॥ ११-१४ ॥

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्। मृ॒त्योः पा॒ह्योजो॑ऽसि॒ सहो॑ऽस्य॒मृत॑मसि ॥१५॥

'व्याघ्रचर्मारोहयति सोमस्य त्विषिरिति' (का० श्रौ० १५।५।२३)। अभिषेकार्थं बाहुगृहीतं यजमानं राजानं व्याघ्रचर्मण्यारोहयति। चर्मदेवत्यम्। हे व्याघ्रचर्म, त्वं सोमस्य त्विषिर्दीप्तिरसि, तवेव मे ममापि त्विषिर्भूयात्। 'रुक्ममधःपदं कुरुते मृत्योरिति' (का० श्रौ० १५।५।२४)। अध्वर्युर्यजमानपादयोरधस्ताद् रुक्मं परिमण्डलं सौवर्णं निदध्यात्। नवसंख्यायुक्तनिष्कपरिमितं सुवर्णं यजमानस्य शिरसि कुर्यादिति सायणाचार्यः। रुक्मदैवतम्। हे सुवर्ण, त्वं मृत्योर्मारकात् सकाशाद् एनं यजमानं पाहि गोपाय। 'शिरसि च नव-

---

अनुष्टुप् छन्द में उस अर्थ के अनुसार चमत्कारयुक्त होने में कोई प्रमाण नहीं है। षोडश कला आदि स्तुति के विषय नहीं है, क्योंकि स्तुति का कोई प्रसंग नहीं है तथा विशेष निर्देश भी नहीं है। प्रजाओं की स्तुति भी यहाँ नहीं है तथा वैराज शब्द का विविध अर्थ करना भी प्रमाण के अभाव में अनुपयुक्त है।

पूर्व की भाँति चौदहवीं कण्डिका की व्याख्या भी वेदार्थ के समुचित ज्ञान के अभाव के कारण प्रलापवत् ही है। चार्वाक की भाँति उस मत में भी ऊर्ध्व लोक का अभाव होने पर 'ऊर्ध्वायाम्' इसकी संगति कैसे सम्भव है? वे दोनों त्रिणव तथा त्रयस्त्रिंश स्तोम नामक कौन से स्तुतिविशेष हैं, जिनसे तीन काल तथा नवांक विद्या आदि की व्याख्या की जाती है? इस कारण यह सब 'दस हाथ की हर्रे होती है' इत्यादि वाक्यों की भाँति ही अप्रामाणिक है ॥ ११-१४ ॥

मन्त्रार्थ—हे व्याघ्रचर्म! तुम सोम की कान्ति हो, तुम्हारी कान्ति मुझे भी मिले। हे सुवर्ण, तुम मेरी मृत्यु से रक्षा करो। हे सुवर्णमण्डल, तुम ओजस् स्वरूप हो, साहस रूपी धन से सम्पन्न हो। दृढ़ मनोबल और शारीरिक शक्ति से ये सब गुण बिना किसी प्रकार की हानि के हमारे भीतर भी चिरस्थायी हों ॥ १५ ॥

भाष्यसार—'सोमस्य त्विषिरसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से व्याघ्रचर्म पर आरोहण, रुक्म स्वर्ण का निधान आदि

तदूर्मँ शततदूमं वौजोऽसीति' (का० श्रौ० १५।५।२५)। यजमानस्य मस्तके नवच्छिद्रं शतच्छिद्रं वा परिमण्डलसौवर्णं द्वितीयं रुक्ममध्वर्युर्निदध्यात्। हे रुक्म, त्वमोजोऽसि जेष्याम्यमुमिति या प्रतिज्ञारूपा मनोवृत्तिः सौजः। त्वं सहोऽसि बाह्यं शारीरं बलं सहः, तद्रूपमसि। अमृतं विनाशरहितमसि, अग्निदाहादावप्यविनाशदर्शनात्। तत एनं पाहीत्यभिप्रायः। अमृतं प्राणबलमसीति वा, 'प्राणो वा अमृतम्' इति श्रुतेः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनँ शार्दूलचर्मारोहयति... ' (श० ५।४।१।११)। स्पष्टार्थम्। 'अथ रुक्ममधस्तादुपास्यति। मृत्योः पाहीत्यमृतमायुर्हिरण्यं तदमृत आयुषि प्रतितिष्ठति' (श० ५।४।१।१२)। हे रुक्म, मृत्योरेनं पाहि। रुक्मस्य मृत्युपरिहारकत्वमुपपादयति—अमृतमिति। हिरण्यममृतमायुः, हिरण्यदानेनापमृत्योः परिहर्तुं शक्यत्वादायुःप्रदत्वम्। पादस्याधःप्रदेशे रुक्मनिधानेन आयुष्येव प्रतिष्ठितवान् भवति। 'अथ रुक्मः शतवितृण्णो वा भवति। नववितृण्णो वा स यदि शतवितृण्णः शतायुर्वा अयं पुरुषः शततेजाः शतवीर्यस्तस्माच्छतवितृण्णो यद्यु नववितृण्णो नवेमे पुरुषे प्राणास्तस्मान्नववितृण्णः' (श० ५।४।१।१३)। शिरसि निधीयमानस्य रुक्मस्य कञ्चिद् गुणं विधत्ते—अथ रुक्म इति। शतवितृण्णः शतच्छिद्रः, नववितृण्णो नवच्छिद्रो वा भवेत्। तदुभयं क्रमेणायुःप्राणात्मना प्रशंसति—स यदीति। आयुरनुसारेण तेजोवीर्ययोरपि शतसंख्याकत्वं ज्ञातव्यम्। श्रोत्र-त्वक्-चक्षू-रसन-घ्राणा मनोबुद्धी प्राणापानौ चेतीमे नव प्राणाः। 'तमुपरिष्टाच्छीर्ष्णो निदधाति। ओजोऽसि सहोऽस्यमृतमसीत्यमृतमायुर्हिरण्यं तदस्मिन्नमृतमायुर्दधाति तद्यद् रुक्मा उभयतो भवतोऽमृतमायुर्हिरण्यं तदमृतेनैवैनमेतदायुषोभयतः परिबृँहति तस्माद् रुक्मा उभयतो भवतः' (श० ५।४।१।१४)। तस्य शिरसि रुक्मनिधानं विधत्ते—शीर्ष्णो निदधातीति। ओजो मनोबलम्, 'प्राणो वा अमृतम्' इति श्रुतेः। हे रुक्म, तत् त्रितयरूपोऽसीति मन्त्रार्थः। अधस्तादुपरिष्टाच्च रुक्मनिधानमायुःप्रवृद्धिरूपेण प्रशंसति—तद्यद् रुक्मा उभयत इति। रुक्मौ उभयतः, 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० सू० ८।३।१९) इति वकारलोपः। उभयतो रुक्मनिधानेन एनं यजमानममृतरूपेण आयुषा उभयतः परिबृंहति संवर्धितवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे हे आचार्य, त्वं सोमस्य साम्बसदाशिवस्य त्विषिर्विज्ञानज्योतिरसि। तवेव ममापि त्विषिर्भूयात्। 'आचार्यं मां विजानीयात्' इत्याचार्यप्रसादात् तत्त्वज्ञानादिवैशिष्ट्यं प्राप्तुं शक्यते। हे आचार्य, त्वमोजोऽसि मानसं बलमसि, सहोऽसि शारीरं बलमसि, अमृतमसि तद्धेतुत्वादत्र तद्रूपतोपचर्यते, आचार्योपासनाया मानसबलादिप्राप्तिहेतुत्वावगमात्—'अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥' (म० स्मृ० २।१२१), सोमज्योतिर्मयत्वाच्च तत्प्रार्थनया तदुत्पत्त्युपपत्तेः। हे आचार्य, मां मृत्योः संसारसर्पात् तत्त्वज्ञानोत्पादनद्वारा अविद्यातत्कार्यात्मकप्रपञ्चविधूननेन रक्ष।

कार्य सम्पादित किये जाते हैं। याज्ञिक प्रक्रिया का यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।२३-२५) में उल्लिखित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे आचार्य, आप साम्ब सदाशिव के विज्ञानज्योतिर्मय रूप हैं। आपकी भाँति मुझे भी ज्योति प्राप्त हो। हे आचार्य, आप मानसिक बल हैं, शारीरिक बल हैं तथा अमृत हैं। इनके कारण होने से यहाँ तद्रूपता का कथन किया गया है, क्योंकि आचार्य की उपासना मानस बल आदि को प्राप्त करने में कारणभूत है, यह मनुस्मृति आदि के प्रमाण-वाक्यों से ज्ञात है। शिव की ज्योति से युक्त होने के कारण उनकी प्रार्थना से इन गुणों की उत्पत्ति भी संगत है। हे आचार्य, मुझे संसाररूपी सर्प से तत्त्वज्ञान के उत्पादन के द्वारा अविद्या तथा उसके कार्यभूत प्रपञ्च का नाश कर रक्षित करें।

दयानन्दस्तु—'हे परमात्म, यथा त्वं सोमस्य ऐश्वर्यस्य त्विषिर्दीप्तिरसि, ओजोऽसि पराक्रमयुक्तोऽसि, सहोऽसि बलवानसि, अमृतं मरणधर्मरहितमसि, तथाऽहं भवेयम्, तथैव मे त्विषिरोजः सहोऽमृतं च भूयात्। त्वं मृत्योर्मा पाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशप्रार्थनाया निःसारत्वात्। नहि कस्यचिन्मनुष्यस्य प्रार्थनया कश्चिदोजः सहोऽमृतं वा लब्धुं शक्नोति। न वा कश्चिन्मृत्योर्मोचयितुं शक्नोति, अपसिद्धान्तापातात्॥ १५॥

हिरण्यरूपा उषसो विरोक उभाविन्द्रा उदिथः सूर्यश्च। आरोहतं वरुण मित्र गर्तं ततश्चक्षाथामदितिं दितिं च मित्रोऽसि वरुणोऽसि॥ १६॥

'बाहू उद्गृह्णाति हिरण्यरूपाविति' (का० श्रौ० १५।५।२६)। यजमानः स्वबाहू ऊर्ध्वौ कुर्यात्, अध्वर्युर्यजमानबाहू ऊर्ध्वं करोतीति केचित्। मित्रावरुणदेवत्या त्रिष्टुब् यजुरन्ता। मित्रोऽसीति यजुः। हे वरुण, हे मित्र, इति बाहुद्वयस्य पृथक् पृथक् सम्बुद्धिः। वरुणः शत्रुनिवारको दक्षिणो बाहुः। मित्रो मित्रवत्परिपालको वामो बाहुः। हिरण्यरूपौ हितरमणीयरूपौ हिरण्यस्वरूपौ ज्योतिर्मयौ वा, स्वर्णरत्नाद्यलङ्कारवत्त्वात्। हे हिरण्यरूपौ मित्रावरुणौ इति वा सम्बुद्धिः। इन्द्रौ परमैश्वर्यसामर्थ्यादिसम्पन्नौ उभौ युवामुषसः सूर्यदुहितुर्विरोके व्युत्थानकाले समाप्तौ वा उदिथ उदयं कुरुथः, 'इण् गतौ' इत्यस्योदुपसर्गपूर्वकस्य मध्यमद्विवचने उदिथ इति रूपम्। सूर्योदयानन्तरं स्वस्वव्यापारे प्रवर्तेथे इत्यर्थः। सूर्यश्च भगवान् भास्करश्च उदेति, ययोर्युवयोः कार्यसम्पादनाय हे मित्रावरुणौ बाहुरूपौ गर्तं पुरुषमारोहतम्, पुरुषस्योपरि भवतमित्यर्थः, 'बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः' (श० ५।४।१।१५) इति श्रुतेः। ततोऽनन्तरमदितिमखण्डनीयां पृथिवीरूपाम्, अदितिरिति पृथ्वीनामसु (निघ० १।१।१४), स्वीयां प्रजां वाऽनुग्रहपूर्णदृष्ट्या चक्षाथां पश्येताम्। दितिं खण्डनीयां परसेनां च निग्रहार्थं पश्येताम्। तस्य तद्बाहुद्वयमेव स्वबलं रक्षति, परबलं च हन्ति। एवमध्यात्ममर्थः। अथाधिदैवम्—हे मित्रावरुणौ देवते, गर्तं रथं रथोपरिभागं गर्तसदृशं परकीयशस्त्रास्त्रादिभ्यो रक्षणाय वज्रायसादिमयैरावरणैराच्छादितं रथ्यासादनस्थानं गर्तसदृशं भवति। 'गर्त इति गृणातेः स्तुतिकर्मणः' (निरु० ३।५) इति रीत्या रथोऽपि गर्तः। ततो रथारोहणानन्तरम् अदितिम् अदीनं समर्थं विहितकर्मणः कर्तारं पुरुषं चक्षाथां प्रपश्यतम्। दितिं दीनं विवेकरहितं नास्तिकवृत्तिं च पुरुषं चक्षाथाम्। कीदृशौ? यौ उषसो विरोके विरोचने उषःकालानन्तरं वा उदिथः। सूर्यश्च तदोदेति कार्यसौकर्याय। पुनः कीदृशौ? हिरण्यरूपौ ज्योतिर्मयौ परमतेजस्विनौ।

शातपथी श्रुतिश्च स्पष्टं बाहूद्ग्रहणविधानपूर्वकमुभयथा व्याचष्टे मन्त्रमिमम्। तथाहि—'अथ बाहू उद्गृह्णाति। हिरण्यरूपा " ततश्चक्षाथामदितिं दितिं चेति बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तस्तस्मादाहारोहतं वरुण

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में की गई प्रार्थना के सारहीन होने के कारण औचित्य नहीं है। किसी मनुष्य की स्तुति के द्वारा कोई भी पराक्रम, बल तथा अमरता नहीं प्राप्त कर सकता अथवा कोई भी मृत्यु से नहीं छूट सकता। इससे सिद्धान्त में हीनता प्राप्त होती है॥ १५॥

मन्त्रार्थ—हे शत्रुनिवारक दक्षिण बाहु और हे मित्र के समान रक्षा करने वाले वाम बाहु! तुम दोनों इस यजमान में आरोहण करो। सुवर्ण के अलंकार आदि से युक्त, सुवर्ण के समान भासमान, सब प्रकार की सामर्थ्य से युक्त तुम दोनों रात्रि के बीतने के साथ जाग्रत् हो जाओ। सूर्य भी उस समय तुम्हारा कार्य सम्पादन करने के लिये उदित होता है। जागने के साथ ही अपनी अपराजेय सेना को अनुग्रह और शत्रु की पराजित सेना को निग्रह की दृष्टि से देखो। तुम दोनों मित्र के समान रक्षा करने वाले और शत्रुओं का नाश करने वाले हो॥ १६॥

भाष्यसार—'हिरण्यरूपा' इस कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग यजमान द्वारा अपनी भुजाओं को ऊपर उठाने में

मित्र गर्तमिति ततश्चक्षाथामदितिं दितिं चेति ततः पश्यत७ँ स्वं चारणं चेत्येवैतदाह' (श० ५।४।१।१५)। ऊर्ध्वौ प्रसारितौ बाहू यजमानः कुर्यात्। अन्तिमपादस्यार्थमाह—ततः पश्यतमिति। स्वं स्वीयम् अरणमरमणीयं परं च पश्यतम्। अदितिशब्दस्य स्वोऽर्थः, दितिशब्दस्य परोऽर्थ इति विभागः। यद्वा कदा रथमारोहतमित्याह—उषसो विरोक इति। उषःकालान्तरं यदा सूर्यश्चोद्गतस्तदा रथमारोहतमित्यर्थः। अत्र मित्रोऽसि वरुणोऽसीत्ययमेव मन्त्रो बाहूद्ग्रहणे विधास्यते। तत्र पूर्वपक्षत्वेन मन्त्रं पठति—हिरण्यरूपाविति। कात्यायनस्तु विकल्पेन सूत्रयामास—'बाहू उद्गृह्णाति हिरण्यरूपाविति, मित्रोऽसि वरुणोऽसीति वा' (का०श्रौ० १५।५।२६-२७)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। 'नैतेनोद्गृह्णीयात्। मित्रोऽसि वरुणोऽसीत्येवोद्गृह्णीयाद् बाहू वै मित्रावरुणौ बाहुभ्यां वै राजन्यो मैत्रावरुणस्तस्मान्मित्रोऽसि वरुणोऽसीत्येवोद्गृह्णीयात्' (श० ५।४।१।१६)। पूर्वेण मन्त्रेण बाहूद्ग्रहणं दूषयित्वा मित्रोऽसीत्यादिमन्त्रेणैवोद्गृह्णीयादित्याह—नैतेनेति। 'तद्यदेनमूर्ध्वबाहुमभिषिञ्चति। वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू वीर्यं वा एतदपा७ँ रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति नेन्म इदं वीर्यं वीर्यमपा७ँ रसः संभृतो बाहू बिलनादिति तस्मादेनमूर्ध्वबाहुमभिषिञ्चति' (श० ५।४।१।१७)। ऊर्ध्वबाहुत्वेनैव स्थितस्य यजमानस्याभिषेको विधास्यते। तदर्थमूर्ध्वबाहुत्वं प्रशंसति—तद्यदेनमिति। राजन्यस्य बाहू एव वीर्ये। अभिषेचनीयपात्रेषु व्यासिक्तानामपां रसोऽपि वीर्यम्, वीर्यापादकत्वात्। अतस्तेन रसेनाभिषेके ऊर्ध्वबाहुत्वमेव युक्तम्। तस्य कारणमाह—नेन्म इति। न मम इदं वीर्यं वीर्यरूपौ बाहू (कर्म) वीर्यरूपोऽपां रसो नेद् बिलनान्न वर्जयेत्, अतो हेतोरूर्ध्वबाहुमेव यजमानमभिषिञ्चेदित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे रामलक्ष्मणौ, युवां हिरण्यरूपौ ब्रह्मज्योतिर्मयौ उषसोऽविद्यारात्रेर्विमोके समाप्तौ तन्निमित्तेन वा गर्तं मदीयहृदयरूपं भवनमारोहतं प्रादुर्भवतम्। युवामिन्द्रौ परमैश्वर्यवन्तौ समर्थौ वा अनन्तब्रह्माण्डकल्याणाय युवां सूर्यश्चकाराच्चन्द्रश्च उदिथ उदयं कुरुथः। तावेव मित्रावरुणरूपेण स्तौति—वरुण मित्रेति। हे मित्र, सर्वप्राणिपरप्रेमास्पद सर्वस्य मित्र! सर्वसखत्वाच्च श्रीराम एव सर्वस्य मित्रं भवति, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति श्रुतेः। हे वरुण, सर्वमित्रावरक लक्ष्मण! युवां भक्तानां हृदयभवनमारुह्य अदितिमखण्डनीयां रक्षणीयां शमदमादिसेनाम्, दितिं खण्डनीयां प्रतिकूलां कामक्रोधादिसेनाम्; अदितिम् अदीनं भगवत्परायणं तत्त्वज्ञम्, दितिं दीनं नास्तिकवृत्तिं च पश्यतम्। आस्तिकमनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या कृतार्थयतम्, नास्तिकं निग्रहरूपया क्रूरदृष्ट्या क्षपयतम्।

किया गया है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।२६) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में इस ऋचा का अधियज्ञ तथा अधिदैव व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे श्रीराम तथा लक्ष्मण, ब्रह्मज्योतिर्मय आप दोनों अविद्यात्मक रात्रि के समाप्त होने पर अथवा उस कारण से मेरे हृदयरूपी भवन में प्रादुर्भूत हों। आप दोनों परमैश्वर्यशाली अथवा समर्थ, अनन्त ब्रह्माण्ड के कल्याण के लिये सूर्य तथा चन्द्र का भी उदय करते हैं। श्रीराम तथा लक्ष्मण की ही मित्र एवं वरुण के रूप में स्तुति की जाती है कि हे सम्पूर्ण प्राणियों के परम प्रेमास्पद सबके मित्र श्रीराम! सबके सखा होने के कारण श्रीराम ही सबके मित्र हैं। 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि श्रुति के कारण भी यह सिद्ध है। हे समस्त शत्रुओं के निवारक लक्ष्मण, आप दोनों भक्तों के हृदयरूपी भवन में आरूढ होकर रक्षणीय शम-दम आदि गुणों की सेना को तथा खण्डनीय प्रतिकूल काम-क्रोध आदि अवगुणों की संहति को, अथवा भगवत्परायण तत्त्वज्ञ को, दीन नास्तिक वृत्ति वाले जन को निरीक्षित करें। आस्तिक को अनुग्रह दृष्टि की वर्षा से कृतार्थ करें तथा नास्तिक को निग्रहात्मक क्रूर दृष्टि से विनष्ट करें।

दयानन्दस्तु—'हे उपदेशक मित्र सर्वसुहृत्! यतस्त्वं मित्रोऽसि सुखप्रदोऽसि, हे वरुण शत्रुच्छेदक सेनापते! यतस्त्वं वरुणोऽसि सर्वोत्तमोऽसि, ततस्तौ युवां गर्तमुपदिश्यमानस्य गृहमारोहतम्। अदितिमविनाशिनं पदार्थं दितिं नाशवन्तं च चक्षाथाम् उपदिशेताम्। हे हिरण्यरूपौ ज्योतिःस्वरूपौ! उभौ इन्द्रौ परमैश्वर्यकारकौ यथा विरोके विविधतया रुचिकरे व्यवहारे सूर्यश्च चन्द्र इव उषसः प्रभातान् विभातः, तथा युवामुदिथ उद् इथः प्राप्नुथः, विद्याः प्रभातम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मित्रपदस्य सुहृदर्थत्वे वरुणपदस्य च सेनापत्यर्थत्वे मानाभावात्। न च तयोरुपदिश्यमानस्य गृहगमनं सम्भवति, उपदिश्यमानानां बाहुल्येन तदसम्भवात्। न च प्रतिगृहं गत्वोपदेशो युक्तः। सेनापतेश्च गृहगमनं किमर्थम्? न तयोर्हिरण्यरूपत्वं सम्भवति, न वा तयोः सूर्यचन्द्रतुल्यत्वं सम्भवति ॥ १६ ॥

सोम॑स्य त्वा द्युम्नेना॒भि षि॑ञ्चाम्य॒ग्नेर्भ्राज॑सा॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॒सेन्द्र॑स्येन्द्रि॒येण॑। क्ष॒त्राणां॑ क्ष॒त्रप॑तिरे॒ध्यति॑ दि॒द्यून् पा॑हि ॥ १७ ॥

'स्थितं प्राञ्चमभिषिञ्चति पुरोहितोऽध्वर्युर्वा पुरस्तात् पालाशेन प्रथमं पश्चादितरे द्वितीयेन स्वस्तृतीयेन मित्र्यो राजन्यो वैश्यश्चतुर्थेन सोमस्य त्वा द्युम्नेनेति प्रतिमन्त्रम्, अभिषिञ्चामीति सर्वत्र साकाङ्क्षत्वात्, क्षत्राणां क्षत्रपतिरेधीरिति च, इममुष्येति च प्रथमो देवसूवत्' (का० श्रौ० १५।५।२८-३१)। यजमानस्य पुरस्तादवस्थितः पुरोहितोऽध्वर्युर्वा प्राङ्मुखमूर्ध्वबाहुं रुक्मसहितव्याघ्रचर्मणि तिष्ठन्तं यजमानं पालाशेन पात्रेणाभिषिञ्चेत्। यत्र हि पालाशौदुम्बरनैयग्रोधाश्वत्थानि चतुर्विधान्यभिषेकपात्राणि स्थापितानि। इतरे भ्रात्रादयः पश्चादवस्थिता अभिषिञ्चेयुः। द्वितीयेनौदुम्बरेण राजभ्राता, तृतीयेन नैयग्रोधपात्रेण मित्रत्वेनोपागतः क्षत्रियः, चतुर्थेनाश्वत्थेन पात्रेण वैश्योऽभिषिञ्चेत्। चतुर्विधानामेतेषामभिषेक्तॄणां क्रमेण सोमस्याग्नेः सूर्यस्येन्द्रस्यैते चत्वारो मन्त्रा द्रष्टव्याः। मरुतामोजसेत्ययं चतुर्थमन्त्रशेषः। अभिषिञ्चामीति पदमग्रिमेषु त्रिषु मन्त्रेष्वनुवर्तते। क्षत्राणामित्यवयवोऽपि प्रथमादिमन्त्रेषु योज्यः। इममुष्येति मन्त्रं प्रथमं पुरोहितोऽध्वर्युर्वा देवसूहविःष्विव नामयुक्तं पठेत्। प्रथमग्रहणादन्येषामिममुष्येति मन्त्रशेषो न भवति, ब्राह्मणानां सोमो राजेति मन्त्रलिङ्गादिति। चतुर्णामपि मन्त्राणां यजमानो देवता। हे यजमान, त्वां सोमस्य चन्द्रस्य द्युम्नेन द्योतनेन तेजसा यशसा वाभिषिञ्चामि, अग्नेर्भ्राजसा दीप्त्या त्वामभिषिञ्चामि, सूर्यस्य वर्चसा शोचिषा त्वामभिषिञ्चामि, इन्द्रस्येन्द्रियेण वीर्येण त्वामभिषिञ्चामीति, मरुतामोजसा बलेन त्वामभिषिञ्चामीत्येवं सर्वैरभिषिक्तः सन् क्षत्राणां

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ में मित्र शब्द का सुहृद् अर्थ तथा वरुण शब्द का सेनापति अर्थ करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अनौचित्य है। फिर उन दोनों के द्वारा उपदेशार्ह व्यक्ति के घर जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि उपदिश्यमान अनेक हैं। प्रत्येक के घर में जाकर उपदेश भी असम्भव है। सेनापति का घर जाना भी क्यों होगा? उन दोनों का स्वर्णरूप होना भी असम्भव है तथा सूर्य एवं चन्द्रमा के समान होना भी सम्भव नहीं है ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान! चन्द्रमा की कान्ति से मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ। अभिषिक्त होने के उपरान्त तुम क्षत्रियों के राजाधिराज होकर सब प्रकार की समृद्धि से परिपूर्ण हो जाओ। शत्रुओं के द्वारा चलाये गये बाणों से दूर रह कर तुम प्रजा का पालन करो ॥ १७ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।२८-३१) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'सोमस्य त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों से अध्वर्यु अथवा पुरोहित, राजभ्राता, मित्र क्षत्रिय तथा वैश्य क्रमशः पलाश, गूलर, न्यग्रोध तथा पीपल के काष्ठ से निर्मित अभिषेकपात्रों के द्वारा व्याघ्र के चर्म पर खड़े हुए ऊर्ध्वबाहु यजमान का अभिषेक

क्षत्रपतिः सर्वेषां क्षत्रियाणामधिपतिरेधि क्षत्रियेश्वरो भव, अतिदिद्यून् पाहि द्यन्ति खण्डयन्तीति दिद्यवो बाणाः, 'दो अवखण्डने', 'इषवो वै दिद्यवः' (श० ५।४।२।२) इति श्रुतेः, तानतिक्रम्य शत्रुप्रयुक्तानिष्वादीनवखण्डनसामर्थ्ययुक्तान् बाधकानपवार्य इमं यजमानं हे सोम, पाहि। यद्वा शत्रुप्रयुक्तानि घातकान्यस्त्रशस्त्राण्यपसार्य त्वं सर्वां भुवं पालय।

अध्यात्मपक्षे हे राम, त्वा त्वां सोमस्य चन्द्रस्य द्युम्नेन द्योतनेनाभिषिञ्चामि। तमेव भ्राताऽभिषिञ्चति। अग्नेर्भ्राजसा दीप्त्या त्वामभिषिञ्चामि। मित्रभूतः क्षत्रियोऽभिषिञ्चति। सूर्यस्य वर्चसा शोचिषाऽभिषिञ्चामि। वैश्योऽभिषिञ्चति। इन्द्रस्येन्द्रियेण वीर्येण त्वामभिषिञ्चामि। महतामोजसा बलेन त्वामभिषिञ्चामीति। हे राघवेन्द्र, त्वं सर्वाधिपतिरपि सन् क्षत्राणां क्षत्रपतिः सन्नेवमभिषिक्तः क्षत्रियादीनामधिपतिरेधि भव। अतिदिद्यून् अवखण्डनसामर्थ्ययुक्तानतीत्यातिक्रम्यापसार्य एनं यजमानं हे देववैद्य पाहि पालय। यद्वा शत्रुप्रयुक्तान् बाणादीनपवार्य हे राम, त्वं पाहि सर्वां भुवं पालय।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यथाहं यं त्वां सोमस्येव चन्द्रस्येव द्युम्नेन यशःप्रकाशेन, अग्नेरिव भ्राजसा तेजसा सूर्यस्येव वर्चसा अध्ययनेन, इन्द्रस्येव विद्युत इव इन्द्रियेण मनआदिनाऽभिषिञ्चामि। तथा स त्वं क्षत्राणां क्षत्रकुलोद्गतानां क्षत्रपतिः, एधि भव। दिद्यून् सर्वविद्याधर्मप्रकाशकान् व्यवहारान् पाहि सततं रक्ष' इति, तदपि दुष्टं व्याख्यानम्, श्रुतिसूत्रविरोधात्। ताभ्यां हि राजसूययजमानभूतक्षत्रियस्याभिषेकेऽस्य मन्त्रस्य विनियोग उक्तः। श्रुतौ—'इषवो वै दिद्यवः' (श० ५।४।२।२) इति दिद्युपदं व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ १८ ॥

करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे श्रीराम, चन्द्रमा की द्युति से आपका अभिषेक करता हूँ। साधक का भ्राता अभिषेक करता है—अग्नि की दीप्ति से आपका अभिषिञ्चन करता हूँ। मित्र क्षत्रिय अभिषेक करता है—सूर्य के तेज से आपका अभिषिञ्चन करता हूँ। वैश्य अभिषेक करता है—इन्द्र के बल से, महापुरुषों के ओज से आपका अभिषेक करता हूँ। हे राघवेन्द्र, आप सबके स्वामी होते हुए भी राजाओं के क्षत्रपति होकर इस प्रकार अभिषिक्त होते हुए क्षत्रियादि के अधिपति हों। अवखण्डन के सामर्थ्य से युक्त दुष्ट जीवों का अपसारण करके इस यजमान की रक्षा करें। अथवा शत्रु के बाण आदि का निराकरण करके हे श्रीराम, आप सम्पूर्ण भूमण्डल का पालन कीजिये।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या श्रुति तथा सूत्र के वचनों से विरुद्ध होने के कारण असंगत है। उन वचनों के द्वारा राजसूय के यजमान क्षत्रिय के अभिषेक में इस मन्त्र का विनियोग उपदिष्ट है। श्रुति में तो 'बाण ही दिद्यु हैं' इस प्रकार दिद्यु पद की व्याख्या की गई है ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—हे सुहृदि देवगण ! अमुक पिता के पुत्र, अमुक देवी के पुत्र, अमुक नाम वाले इस यजमान को महान् क्षत्रिय धर्म की प्राप्ति के लिये, महान् ज्येष्ठत्व की प्राप्ति के लिये, बड़े जानराज्य की प्राप्ति के लिये, इन्द्र के ऐश्वर्य के लिये, अमुक जाति की प्रजा के पालन के लिये आप लोग प्रेरित करें। इसके सारे शत्रुओं का नाश आप कर दें। हे देशवासी प्रजाजनों, यह तुम्हारा राजा है। हम ब्राह्मणों का राजा तो सोम है ॥ १८ ॥

कण्डिका पूर्वं (९।१४ इत्यत्र) व्याख्याता ।

अध्यात्मपक्षेऽपि पूर्वतन एवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे देवा वेदशास्त्रविदः सेनापतयो वा, यूयं य एष उपदेशकः सेनेशो वा वोऽस्माकं च ब्राह्मणानां राजास्ति, येऽमी राजपुरुषाः सन्ति तेषां सोमः शुभगुणैः प्रसिद्धो राजास्ति, तमिमममुष्य पुत्रं राजपुत्रस्य तनयममुष्या राजपुत्र्याः पुत्रमस्यै विशे प्रजाया महते सत्कर्तव्याय क्षत्राय क्षत्रियकुलाय महते ज्यैष्ठ्याय विद्याधर्मवृद्धानां भावाय, महते जानराज्याय जनानां राज्ञां माण्डलिकानामुपरि प्रभावाय, इन्द्रस्य ऐश्वर्ययुक्तस्य धनिकस्य इन्द्रियाय धनवर्धनाय असपत्नमजातशत्रुं सुवध्वं प्रेध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अपसिद्धान्तापातात् । त्वद्रीत्या सभापतिरेव राजा भवति । सभापतिश्च प्रजाकर्तृकनिर्वाचनेन सिद्ध्यति । न च सभापतिपुत्र एव सभापतिर्भवति, तथात्वे राजतन्त्रत्वापत्तेः । अत एव राजपुत्रस्य राजपुत्र्या वा पुत्र इत्यप्यसङ्गतमेव, निर्वाचनसिद्धस्य क्षमापते राजपुत्र्याः पुत्रत्वानियमात् । श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्ववदेव बोद्धव्यः ॥ १८ ॥

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः । ता आववृत्रन्नधरागुदक्ता अहिर्बुध्न्यमनु रीयमाणाः । विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि ॥१९॥

'कण्डूयन्याभिषेकेण प्रलिम्पते प्र पर्वतस्येति' (का० श्रौ० १५।६।८) । यजमानः कण्डूयन्या कृष्णविषाणया स्वशरीरलग्नेन अभिषेकोदकेन सर्वं स्वशरीरं प्रलिम्पेत् प्र पर्वतस्येति मन्त्रेण । अब्देवत्या त्रिष्टुप् । या आपो वृषभस्य वर्षणक्षमस्य पर्वतस्य मेघस्य, पर्वत इति मेघनामसु (निघ० १।१०।९), पृष्ठात्, नावो नाव्याः प्रचरन्ति । कीदृश्यः ? स्वसिचः स्वमात्मीयं यजमानशरीरं सिञ्चन्तीति स्वसिचः, इयाना गच्छन्त्यः, बाहुल्येन सर्वत्र प्रवहन्त्यः, ता आप उदक्ता उत्क्षिप्ताः, उत्पूर्वस्याञ्चतेर्निष्ठायां रूपम् । इदानीम् अधराग् अधोभागे अहिर्बुध्न्यम्, अहिरुत्तमाङ्गमारभ्य बुध्न्यं बुध्नस्य पादस्याग्रभागो बुध्न्यस्तं शिरःप्रभृतिपाद-

---

भाष्यसार—'इमं देवाः' इस कण्डिका की व्याख्या पहले (९।४) की जा चुकी है ।

अध्यात्मपक्ष में भी पूर्व की भाँति ही अर्थयोजना है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत व्याख्या स्वयं अपने ही सिद्धान्त को खण्डित करने वाली होने के कारण निरर्थक है । उस मत में सभापति हो राजा होता है । प्रजाओं के द्वारा निर्वाचन से सभापति प्रतिष्ठित होता है । सभापति का पुत्र ही सभापति नहीं होता, क्योंकि वैसा होने पर राजतन्त्र आपतित हो जायगा । इस कारण 'राजा के पुत्र का पुत्र अथवा राजा की पुत्री का पुत्र' यह कहना असंगत ही है । निर्वाचन से साधित सभापति राजपुत्री का पुत्र ही हो, यह नियम नहीं है । श्रुति तथा सूत्र-वाक्यों का विरोध तो पूर्व की भाँति ही समझना चाहिये ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—स्वयं सारे विश्व को सींचने वाले, गमनशील, प्रशंसा को प्राप्त करने वाले, जल की वर्षा करने वाले जलदेवता पर्वत के पृष्ठ से आदित्य मण्डल की ओर गमन करते हैं । आहुति के परिणामभूत जल पहले ऊपर अन्तरिक्ष में जाते हैं और फिर मेघों का अनुसरण करते हुए नीचे भूमि को प्राप्त होते हैं । यह सब विष्णु के पराक्रम से ही संभव हो पाता है ॥ १९ ॥

भाष्यसार—'प्र पर्वतस्य' इस कण्डिका के मन्त्रों से यजमान द्वारा कृष्णमृग के सींग से अपने शरीर पर सिञ्चित अभिषेक-जल का लेपन तथा व्याघ्र के चर्म पर तीन बार पादप्रक्षेप किया जाता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन

पर्यन्तम् अनु अनुक्रमेण रीयमाणा लेपरूपेण स्रवन्त्यः, आववृत्रन् यजमानशरीरं सम्यगावृत्य स्थितास्तिष्ठन्ति—इत्याध्यात्मिकोऽर्थः। आधिदैविकस्तु—पर्वत आदित्यस्तस्य वृषभस्य पृष्ठाद् इयाना निर्गच्छन्त्य इति। नावो नाव्या आपश्चरन्ति, 'नाव्या उ एव यजुष्मत्य इष्टकाः' इत्युपक्रम्य 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यं नाव्या अभिक्षरन्ति' (श० १०।५।४।१४) इति श्रुतेः। ताः प्रावृट्काले आववृत्रन् आवर्तन्ते अधराग् आदित्यमण्डलाद् भूमिं प्रति अधोगमनशीला उदक् ताः पूर्वं भूमेः सकाशाद् आदित्यमण्डलं प्रति उदग् ऊर्ध्वगमनशीला अहिं मेघं बुध्नमन्तरिक्षं तत्र भवं बुध्न्यं मध्यमस्थानमनुरीयमाणा अनुप्रविश्य तान्निर्गच्छन्त्यो भूमिं प्राप्नुवन्तीति शेष इति काण्वशाखीयशतपथीयभाष्ये सायणाचार्यः।

उव्वटाचार्यरीत्या तु या एता आहुतिपरिणामभूता आपः, ता पर्वतस्य पर्ववतः पंथिकस्याग्नेः पर्वाणि विद्यन्ते यस्य स पर्वतस्तस्य। 'तप् पर्वमरुद्भ्याम्' (पा० सू० ५।२।१२१ वा०) इति तप्प्रत्ययः। अग्निर्हि पौर्णमास्यमावस्याचातुर्मास्यादिभिः पर्वभिः पर्ववान् भवति। वृषभस्य वर्षणशीलस्य पृष्ठात्, उत्थायेति शेषः। नावो नूयन्ते स्तूयन्ते स्तोत्र-शस्त्र-होम-मन्त्रैरिति नावः। यद्वा नुदन्ति प्रेरयन्ति फलप्राप्त्यै यास्ता नावः। 'ग्लानुदिभ्यां डौः' (उ० २।६४) इति नुदतेर्डौप्रत्ययः। आहुतिपरिणामभूता आपः प्रचरन्ति गच्छन्त्यादित्यमण्डलं प्रति। स्वसिचः स्वयमेव विश्वं सिञ्चन्तीति स्वसिचः। इयाना यन्तीत्येवंशीला गमनशीलाः, 'इण् गतौ' इति धातोः 'ताच्छील्य-वयो-वचन-शक्तिषु चानश्' (पा० सू० ३।२।१२९) इति चानशि रूपम्। ता हि आदित्यमण्डलं प्राप्य मध्यस्थानमन्तरिक्षमागच्छन्ति, मध्यस्थानादन्तरिक्षात् पृथिवीमागच्छन्ति, 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥' (म० स्मृ० ३।७६) इति मनुस्मरणात्। आदित्यमण्डलं प्राप्य ता आववृत्रन् आवर्तन्ते। वृतेर्णिजन्ताल्लुङि रूपम्। रमागमश्छान्दसः। अधराग् अधराञ्चना उदक्ता उन्दनेन क्लेदनेन स्तम्भनेनाभ्यक्ताः, 'उन्दी क्लेदने', ऊर्ध्वमक्ता वा बुध्न्यं बुध्नमन्तरिक्षं तत्र भवो बुध्न्यस्तं मध्यमस्थानगतम्, अहिं मेघम्, अनुरीयमाणा अनुप्रविश्य मेघच्छिद्रैर्गच्छन्त्य आपो भूमिं प्राप्नुवन्तीति शेषः। रीयतिर्गत्यर्थः। यद्वा वृषभस्य वर्षितुः पर्वतस्य आदित्यस्य पृष्ठादियाना निर्गच्छन्त्यो नावः स्तोतुमर्हा आपः प्रचरन्ति सर्वतो गच्छन्ति। कथंभूता आपः ? स्वसिचः स्वयं सिक्ताः, नाव्या आदित्यादुपरिष्टादापो नाव्या उच्यन्ते। 'नाव्या उ एव यजुष्मत्य इष्टकाः' (श० १०।५।४।१४) इत्युपक्रम्य 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यं नाव्या अभिक्षरन्ति' इत्याह। ता उदक्ता व्यक्ताः सत्यो बुध्न्यमन्तरिक्षस्थमहिं मेघमनुरीयमाणा अनुप्रविश्य गच्छन्त्यः सत्यः प्रावृट्काले अधराग् अधस्ताद् भूमिं प्रति आववृत्रन् आवर्तन्ते आगच्छन्ति। कीदृश्य आपः ? अधराग् अधराञ्चना उदक्ता व्यक्ता अहिं मेघं बुध्न्यमनुरीयमाणा अनुप्रविश्य सुषिरैरनुगच्छन्त्य इति।

काण्वभाष्ये तु—वृषभस्य वर्षणसमर्थस्य पर्वतसदृशस्य मेघस्य पृष्ठादुपरिभावाद् इयाना गच्छन्त्यो वहन्त्यो नावो नौतार्या बहुला आपश्चरन्ति। कीदृश्यस्ताः ? स्वसिचः स्वमात्मीयं यजमानक्षेत्रं सिञ्चन्तीति स्वसिचः। अहिः, न हीयत इत्यहिरुत्तमाङ्गम्, बुध्नस्य पादस्याग्रभागो बुध्न्यः, तं शिरःप्रभृति पादाग्रपर्यन्तमनुक्रमेण रीयमाणा गच्छन्त्यस्ता अपि अधराग् अधोगता आववृत्रन् पुनः पुनरावृत्य स्थिताः, तादृश्य उदगूर्ध्वं गता इति।

श्रौतसूत्र (१५।६।८) में प्रतिपादित है। तैत्तिरीय संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—जो नौका के योग्य जलधाराएँ मेघमण्डल से चलती हैं तथा यजमान को सिञ्चित करती हुई गमन करती हैं, वे ही जलराशियाँ प्रक्षिप्त होकर अधोलोक में ऊपर के अंग से प्रारम्भ कर शरीर के पादाग्र भाग तक,

उव्वटरीत्या—पर्वतस्य हिमालयादेः, वृषभस्य सेक्तुः पृष्ठाद् इयाना नावो नावा तार्या गङ्गाद्या महानद्यः प्रचरन्ति। स्वसिचः स्वयं सिक्तास्ता एव राजसूययाजिनोऽर्थाय आवर्तन्ते। अभिषेकपात्रेषु गृह्यमाणा उदक्ता उत्क्षिप्ता अधराग् अधराञ्चना अहिम् अहन्तारं यजमानं शत्रूणां बुध्न्यं बुध्ने मूले भवं प्रधानं यजमान-मनुरीयमाणाः प्रत्यनुसिच्यमानास्ता आववृत्रन्निति सम्बन्धः।

'चर्मणि त्रिविक्रमयति विष्णोरिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।६।१९)। अध्वर्युर्यजमानेन व्याघ्रचर्मणि त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रिवारं पादप्रक्षेपं कारयेत्। त्रीणि यजूंषि यजमानदेवत्यानि। हे मदीय प्रथमप्रक्रम, त्वं विष्णोर्व्यापनशीलस्य यज्ञपुरुषस्य परमेश्वरस्य त्रिविक्रमावतारधारिणो विक्रमणं प्रथमपादप्रक्षेपेण जितो मूलात्मकोऽसि। हे द्वितीयप्रक्रम, त्वं विष्णोर्विक्रान्तं द्वितीयपादप्रक्षेपेण जितमन्तरिक्षमसि। हे तृतीयप्रक्रम, त्वं विष्णोः क्रान्तं तृतीयपादप्रक्षेपेण जितं त्रिविष्टपमसि। इदं मन्त्रत्रयं लोकत्रयजये हेतुभूतम्, 'विष्णुक्रमान् क्रमते विष्णुरेव भूत्वेमाँल्लोकानभिजयतीति। इमे वै लोका विष्णोर्विक्रान्तं विष्णोर्विक्रमणं विष्णोः क्रान्तम्' (तै० सं० ५।४।२।६) इति श्रुतेः।

अत्रैव ब्राह्मणम्—'अथैतमभिषेकम्। कृष्णविषाणयाऽनुविमृष्टे वीर्यं वा एतदपाᳬ रसः संभृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चतीदं मे वीर्यᳬ सर्वमात्मानमुपस्पृशादिति तस्माद्वा अनुविमृष्टे' (श० ५।४।२।४)। अभिषेक-जलस्य प्रलेपं विधत्ते—अनुविमृष्ट इति। एवं क्रियमाणमभिषेकं स्वदेहपतितमभिषेकजलं कृष्णविषाणया कण्डूयन्या अनुविमृष्टे प्रलिम्पति यजमानः। तमिमं वीर्यसम्पादनरूपेण प्रशंसति—वीर्यं वा इति। इदमभिषेक-जलरूपं वीर्यं मे मम सर्वमात्मानं उपस्पृशात् उपस्पृशत्विति बुद्ध्या विमार्जनं कुर्यादित्यर्थः। 'सोऽनुविमृष्टे। प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठादिति यथाऽयं पर्वतोऽतिष्ठावा यथर्षभः पशूनतिष्ठावैवं वा एष इदᳬ सर्वमतितिष्ठत्यर्वा-गेवास्मादिदᳬ सर्वं भवति यो राजसूयेन यजते तस्मादाह प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः। ता आववृत्रन्नधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनुरीयमाणा इति' (श० ५।४।२।५)। मन्त्रगतप्रथमपादस्य तात्पर्यमाह—यथायमिति। यथा पर्वतोऽतिष्ठावा सर्वमतिक्रम्य स्थाता तिष्ठते, 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इति धातोः 'आतो मनिन्' (पा० सू० ३।२।७४) इत्यादिना वनिप्, यथा च ऋषभो गवेन्द्रः सर्वान् पशूनतिक्रम्य तिष्ठति, एवमेष राजा सर्वस्योपरि भवति। अस्माद् यजमानाद् इदं सर्वमर्वाग् भवति, तस्मात् प्र पर्वतस्येति पाठः प्रशस्त इत्यर्थः। तदनुगुणं च मन्त्रव्याख्यानमुक्तमेव।

'अथैनमन्तरेव शार्दूलचर्मणि। विष्णुक्रमान् क्रमयति विष्णोर्विक्रमणमसि....विष्णोः क्रान्तमसीतीमे वै लोका विष्णोर्विक्रमणं विष्णोर्विक्रान्तं विष्णोः क्रान्तं तदिमानेव लोकान् समारुह्य सर्वमेवेदमुपर्युपरि भवत्यर्वागे-तस्मादिदᳬ सर्वं भवति' (श० ५।४।२।६)। शार्दूलचर्ममध्य एव विष्णुक्रमणं विधत्ते—अथैनमन्तरेवेति। तत्र मन्त्रत्रयं विधत्ते—विष्णोर्विक्रमणमिति। एकैकस्य क्रमणस्यैकैको मन्त्रः। विष्णोर्यज्ञस्य यच्च विक्रमणं यच्च विक्रान्तं यच्च क्रान्तम्, तत्सर्वं त्वमसीति योजनीयम्। क्रमणत्रयं लोकत्रयात्मना प्रशंसति—इमे वै लोका इति।

अर्थात् सिर से पैर तक क्रमशः संलिप्त होती हुईं यजमान के शरीर को भलीभाँति व्याप्त करती हैं। यह आध्यात्मिक अर्थ है। इसी प्रकार काण्व शतपथ के भाष्य में सायणाचार्य ने आधिदैविक अर्थ भी किया है। उव्वटाचार्य के तथा काण्वसंहिता के भाष्य में भी विविध अर्थ प्रतिपादित हैं। कण्डिका के तृतीय अवसान का अर्थ इस प्रकार है—हे मेरे प्रथम पादप्रक्षेप ! तुम व्यापक, यज्ञपुरुष, परमेश्वर, त्रिविक्रमावतार धारण करने वाले विष्णु के प्रथम पादन्यास के द्वारा जीते गये भूलोकात्मक हो। हे द्वितीय पादन्यास ! तुम विष्णु के द्वितीय पादन्यास के द्वारा विजित अन्तरिक्ष लोक हो। हे तृतीय पादन्यास ! तुम विष्णु के तीसरे पादन्यास से जीते गये स्वर्ग लोक हो। ये तीन मन्त्र तीनों लोकों की विजय के कारणभूत हैं।

अध्यात्मपक्षे—एतत्पक्षीयव्याख्यानं पूर्वव्याख्यानेनैव गतार्थम् ।

दयानन्दस्तु —'हे राजशिल्पिन्, याः स्वसिचो याः स्वैर्जनैर्जलेन सिच्यन्ते, ता इयाना गन्त्र्य उदक्ताः पुनरूर्ध्वं गच्छन्त्यः, अहिं मेघं बुध्न्यं बुध्नेऽन्तरिक्षे भवम्, अनु पश्चाद् रीयमाणाश्चालनेन गच्छन्त्यो नावः सागरोपरि नाव इव विमानानि वृषभस्य वर्षकस्य पर्वतस्य मेघस्य पृष्ठादुपरिभागात् प्रचरन्ति, याभिस्त्वं विष्णोर्व्यापकस्येश्वरस्य विक्रमणं विक्रमतेऽस्मिस्तद् विष्णोर्व्यापकस्य वायोर्विक्रान्तं विविधतया क्रान्तमसि विष्णोर्विद्युद्वस्तुनः क्रान्तं क्रमणाधिकरणमसि । या अधराग् मेघादधस्ताद् आववृत्रन् अर्वाचीनो वृत्र इवाचरन्, अत्राचारे सुबन्तात् क्विप् , तास्त्वं साध्नुहि' इति, तदपि निरर्थकमेव, मन्त्रे राजशिल्पिनः सम्बोध्यत्वे प्रमाणाभावात् । विमान-नौकादिनिर्माणविधानकल्पनापि निर्मूलैव, तथाविधानस्याफलपर्यवसायित्वात् । नह्येतावद्भिः शब्दैः कश्चिदपि शिल्पिवरोऽपि यानादीनि निर्मातुं प्रभवति ॥ १९ ॥

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॒ परि॒ ता ब॑भूव । यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्त्वयम॒मुष्य॑ पि॒तासाव॒स्य पि॒ता व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाꣳ स्वाहा॑ । रुद्र॒ यत्ते॒ क्रिवि॒ पर॒ नाम॒ तस्मि॑न् हु॒तम॑स्यमे॒ष्टम॑सि॒ स्वाहा॑ ॥ २० ॥

'शालाद्वार्ये जुहोति पुत्रेऽन्वारब्धे प्रजापत इति' (का० श्रौ० १५।६।११)। अध्वर्युः पुत्रेऽन्वारब्धे सकृद्गृहीतमाज्यं शालाद्वार्येऽग्नौ जुहुयात् । तत्र प्रजापत इति मन्त्रे अयममुष्य पिता इत्यत्र अयं रामो दशरथस्य पिता इत्येवं पितृशब्दं पुत्रे कृत्वा पश्चाद् असावस्य पिता यथायथं नामोच्चारणं कुर्यादध्वर्युः । पुत्रे पुत्रशब्दः पितरि पितृशब्द इति यथायथम् । प्रजापतिदेवत्या त्रिष्टुप् , यजुर्मध्या तृतीयचतुर्थपादमध्येऽयममुष्येति यजुर्युक्ता । हे प्रजापते, त्वत् त्वत्तोऽन्यः कोऽपि देवताविशेषः, तान्येतान्युत्पन्नानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि नानाजातीयानि वर्तमान-भूत-भविष्यत्कालविषयाणि न परिबभूव परिभवितुं नियन्तुं समर्थो

अध्यात्मपक्ष में पूर्वोक्त व्याख्यान से ही इस पक्ष की व्याख्या भी गतार्थ हो जाती है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्यान, मन्त्र में राजशिल्पी को संबोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण निरर्थक ही है । विमान, नौका आदि के निर्माणविधान की कल्पना भी मूलरहित है, क्योंकि इस प्रकार का विधान फलजनक नहीं है । केवल इतने से शब्दों से कोई श्रेष्ठ शिल्पी भी यान आदि का निर्माण करने में समर्थ नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—**हे प्रजापते, हे परमात्मन् ! आपके सिवाय अन्य कोई भी सम्पूर्ण प्रजा का पालन आदि कार्य, नानाजातीय, वर्तमान, भूत और भविष्य काल के प्राणियों के सृजन, पालन और संहार में समर्थ नहीं है । जिस कामना से आपके निमित्त हम हवन करते हैं, हमारी वे सारी कामनाएँ पूर्ण हों । यह अमुक का पिता है, इसका यह पितृत्व चिरस्थायी रहे, अर्थात् इसके वंश में सन्तति का क्रम निरन्तर चलता रहे । यह अपरिमित ऐश्वर्य का स्वामी हो । यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो । हे रुद्रदेव, आपका प्रलयकारी दुष्टनाशक उत्कृष्ट नाम है । यह हवि उस रुद्र देवता को प्राप्त हो । आपके लिये हम अपने घर में प्रतिदिन आहुति देते हैं । इस कारण आप सदा हमारे उपकारक बनें, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २० ॥**

भाष्यसार—'प्रजापते' इस कण्डिका के मन्त्रों से शालाद्वार्य अग्नि में घृत का हवन तथा आग्नीध्रीय अग्नि में

नाभूत्, व्याप्तुं वा समर्थो नाभूत्, परिपूर्वस्य भवतेर्व्याप्त्यर्थत्वात्। परिभवः सृष्टेरप्युपलक्षणम्। त्वत्तः सकाशादन्यः स्रष्टुमपि न शक्नोतीत्यर्थः। अतो वयं यत्कामास्ते जुहुमो यः कामो येषां ते यत्कामा येन कामेन जुहुमस्तत्कामरूपं फलमस्तु। यजुर्व्याख्यानं तु—अयममुष्य पिता अयं श्रीरामोऽमुष्य दशरथस्य पितेति वैपरीत्येन गृह्णीयात्। पश्चाद् यथायथं पुत्रे पुत्रनाम पितरि पितृनाम प्रयुञ्जीत। असौ दशरथोऽमुष्य रामस्य पितेति सर्वथा सपुत्रा वयं रयीणां पतयो भवेम। 'आग्नीध्रीये पालाशेन शेषान् जुहोति रुद्र यत्त इत्युत्तरार्धे' (का० श्रौ० १५।६।१२)। अध्वर्युराग्नीध्रीयेऽग्नौ ईशान्यां दिशि पालाशेनाभिषेकपात्रेणाभिषेकशेषान् जुहोति। हे रुद्र! रुत् सांसारिकं दुःखं द्रावयतीति रुद्रः, तत्सम्बद्धौ। ते तव यत् क्रिवि कर्तृ हिंसितृ विरोधिनो हिंसकं वा परमुत्कृष्टं नामास्ति, 'क्रिवि हिंसाकरणयोः'। एवं रुद्रं सम्बोध्य होमद्रव्यमाह—हे हविः! अभिषेकशेषभूत मुख्यपात्रस्थ जल, त्वं तस्मिन् नाम्नि हुतं भव। अमेष्टमसि 'अमेति गृहनाम' (निघ० ३।४।११), मम गृहे इष्टं दत्तमसि स्वाहा सुहुतमसि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ ब्राह्मणस्य पात्रे। सᳬस्रवान् समवनयति तद् ब्राह्मणᳬ राजानमनु यशः करोति तस्माद् ब्राह्मणो राजानमनु यशः' (श० ५।४।२।७)। स्वमित्रवैश्यपात्रत्रयशेषाणां पालाशपात्रे व्यासेचनं विधत्ते—अथेति। तद् ब्राह्मणमिति तत् तेन व्यवनयनेन राजानम् अनु पश्चाद् ब्राह्मणं यशो यशस्विनं कृतवान् भवति। लोके हि राजा कीर्तिमान्, ब्राह्मणोऽपि तदनन्तरं कीर्तिमानुच्यते। 'तद्योऽस्य पुत्रः प्रियतमो भवति। तस्मा एतत्पात्रं प्रयच्छतीदं मेऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तनवदिति' (श० ५।४।२।८)। एतत्संस्रवैः प्रासिक्तं ब्राह्मणस्य पालाशपात्रं राज्ञः प्रियतमाय पुत्राय प्रयच्छेत्। अयं मे पुत्रो मम वीर्यरूपं कर्म अनुसन्तनोतु विस्तारयत्विति। 'अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यमन्वारब्धे जुहोति। प्रजापते""अमुष्य पितेति तद्यः पुत्रस्तं पितरं करोति यः पिता तं पुत्रं तदेनयोर्वीर्ये व्यतिषजत्यसावस्य पितेति तद्यः पिता तं पितरं करोति यः पुत्रस्तं पुत्रं तदेनयोर्वीर्ये व्यतिषज्य पुनरेव यथायथं करोति वयᳬस्याम पतयो रयीणाᳬ स्वाहेत्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते' (श० ५।४।२।९)। विधत्ते—अथ प्रतीति। गार्हपत्यं प्रति परेत्य प्रत्यङ्मुखो गत्वा अन्वारब्धे, प्रकृतत्वात् पुत्र इति गम्यते। ब्राह्मणमेतदनुसृत्यैव सूत्रं प्रववृते—'शालाद्वार्ये""प्रजायत इति' (का० श्रौ० १५।६।११)। तद्यः पुत्र इति पुत्रं पितरम्, पितरं पुत्रं कृत्वा पठेदित्यर्थः। तदेतेन पुत्रस्य पितृकरणेन पितुश्च पुत्रकरणेन एनयोः पितापुत्रयोर्वीर्ये व्यतिषजति परस्परं संसृष्टे कृतवान् भवति। असावमुष्य पितेत्यस्यार्थमाह—तद्यः पितेति। अत्र पितुरेव पितृत्वम्, पुत्रस्यैव पुत्रत्वम्। अनेनैतयोर्वीर्ये पूर्वं व्यतिषज्य पश्चाद् यथा पुत्रस्य वीर्यं पुत्र एव पितुर्वीर्यं पितर्येव कृतवान् भवतीत्यर्थः। अन्तिमपादस्याशीःपरत्वं दर्शयति—आशीरेवैषेति। 'अथ य एष सᳬस्रवोऽतिरिक्तो भवति। तमाग्नीध्रीये जुहोत्यतिरिक्तो वा एष सᳬस्रवो भवत्यतिरिक्त आग्नीध्रीयो गार्हपत्ये हवीᳬषि श्रपयन्त्याहवनीये जुह्वत्यथैषो""ह्येतस्य देवस्य दिक् तस्मादुत्तरार्धे जुहोति स जुहोति रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन् हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहेति' (श० ५।४।२।१०)। पालाशपात्रशेषस्य आग्नीध्रीये

अभिषेकावशिष्ट का हवन किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।११-१२) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

कण्डिका की अर्थयोजना इस प्रकार है—हे प्रजापति, आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी देवता इन उत्पन्न समस्त नानाजातीय वर्तमान, भूत तथा भविष्य काल के विषयों को नियन्त्रित करने में समर्थ नहीं हुआ, अथवा व्याप्त नहीं कर सका। परिभव शब्द सृष्टि का भी संकेत करता है, अर्थात् आपके अतिरिक्त दूसरा कोई सर्जन करने में भी समर्थ नहीं है। अतः हम जिस कामना से युक्त होकर यजन करते हैं, वह कामनात्मक फल हमें प्राप्त हो। इसके बाद मन्त्र में

ऋचा हवनं विधत्ते अथ य एष सᳪंस्रव इति । अतिरिक्तस्य शेषस्य आग्नीध्रीये हवनस्योपपत्तिं दर्शयति— अतिरिक्त आग्नीध्रीय इति । गार्हपत्ये सर्वेषां हविषां श्रपणम्, आहवनीये तेषां होमः, अतः श्रपणहवनयोरनुपयुक्तत्वादाग्नीध्रीयोऽतिरिक्त इति । प्रदेशविशेषं विधत्ते—उत्तरार्ध इति । अस्य रुद्रसम्बन्धं दर्शयति—देवस्य दिगिति । मन्त्रं विधत्ते स जुहोति रुद्र यत्त इति । मन्त्रार्थस्तूक्त एव ।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रजापते परमेश्वर ! एतानि यानि विश्वानि रूपाणि तानि त्वत्तोऽन्यः कश्चिदपि न परिबभूव नियन्तुं स्रष्टुं वा समर्थो नाभूत् । अन्यत् पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजापते परमेश्वर, यान्येतानि जीवप्रकृत्यादीनि वस्तूनि विश्वा रूपाणि इच्छारूपादिगुणैर्युक्तानि तानि त्वत् त्वत्तोऽन्यः कोऽपि न परिबभूव न गच्छति, टिप्पण्यां तु (न जानाति) । ते तव सकाशाद् यत्कामाः सन्तो वयं जुहुमो गृह्णीमः, हिन्द्यां तु (सेवनं कुर्मः), तव कृपया तन्नोऽस्तु । अयं भवानमुष्य परोक्षस्य जगतः पिता, असौ भवानस्य समस्तस्य विश्वस्य पितासि, तथा वयं स्वाहा सत्यया वाचा रयीणां विद्याचक्रवर्तिराज्योत्पन्नश्रिया पतयः स्वामिनः स्याम । हे रुद्र दुष्टानां रोदयितः, यत्ते तव क्रिवि कृणोति हिनस्ति येन तत् परं प्रकृष्टं नामास्ति, तस्मिन् त्वं हुतं स्वीकृतमसि । अमायां गृहे इष्टमसि, तं वयं स्वाहा सत्यया वाचा गृह्णीमः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परिपूर्वस्य भवतेस्तदर्थत्वे मानाभावात् । अयं भवानमुष्य परोक्षस्य जगतः पितेत्यादिव्याख्यानस्य नैरर्थक्यापातात्, तस्मिन्नेव वाक्ये परमेश्वरस्य जगतश्च परोक्षत्वापरोक्षत्वविरोधात्, श्रुतिविरोधाच्च । तद्यः पुत्रस्तं पितरं करोति यः पिता तं पुत्रं करोतीति स्पष्ट एव विरोधः ॥ २० ॥

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि मि॒त्रावरु॑णयोस्त्वा प्रशा॒स्त्रोः प्र॒शिषा॑ युनज्मि । अव्य॑थायै त्वा स्व॒धायै॒ त्वारि॑ष्टो॒ अर्जु॑नो म॒रुतां॑ प्रस॒वेन॑ ज॒यापा॑म॒ मन॑सा॒ समि॑न्द्रि॒येण॑ ॥ २१ ॥

यथास्थान पुत्र तथा पिता का नामग्रहण किया जाता है । उदाहरणार्थ—यह दशरथ इस राम का पिता है, इस प्रकार सर्वथा पुत्र से युक्त हम लोग धन के स्वामी बनें । हे सांसारिक दुःखों के नाशक, आपका जो हिंसकों का विरोधी परम उत्कृष्ट नाम है, इस प्रकार रुद्र की प्रार्थना है । तदनन्तर हविर्द्रव्य को संबोधित किया जाता है कि हे हविर्द्रव्य, तुम उस परम नाम के प्रति समर्पित हो जाओ । मेरे घर में प्रदत्त हो, समर्पित हो ।

अध्यात्मपक्षीय अर्थ में—हे प्रजापति परमेश्वर, इन समस्त रूपों को आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी नियन्त्रित तथा उत्पादित करने में समर्थ नहीं हुआ है, इत्यादि । शेष व्याख्या पूर्ववत् ही है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्या में परि उपसर्गयुक्त भू धातु का उस प्रकार अर्थ करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अनौचित्य है । 'ये आप इस परोक्ष जगत् के पिता हैं' इस प्रकार की व्याख्या की निरर्थकता भी प्राप्त होती है । इस वाक्य में ही परमेश्वर तथा जगत् के परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व में विरोध है तथा श्रुतिवाक्य का भी विरोध स्पष्ट ही है ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे रथ ! तुम इन्द्र के वज्र के समान कठोर काष्ठ से बने हुए हो । सब पर शासन करने वाले मित्रावरुण देवता के अनुशासन में मैं इन घोड़ों को रथ में जोतता हूँ । अनुपहिंसित अर्जुनतुल्य इन्द्ररूपमय देश का भय दूर करने के लिये, उसमें स्थिरता लाने के लिये, देश में सुभिक्ष संपादन के लिये रथ पर चढ़ता हूँ । हे रथ को वहन करने वाले अश्व ! मरुद्गणों की आज्ञा से तुम वेगवान् होकर शत्रुओं को जीतो । हमने जो कार्य आरम्भ किया है, उसको मन लगा कर पूरा करो । ऐसा करने से हम पराक्रम से पूर्ण हो जायँगे ॥ २१ ॥

'वाजपेयवद्रथमवहृत्य दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ युनक्ति पूर्ववन्मित्रावरुणयोरिति चतुर्भिः' (का० श्रौ० १५।६।१५)। वाजपेय इव रथवाहणाद्रथमिन्द्रस्य वज्रोऽसीति मन्त्रेण शालाया दक्षिणतो रथस्योपरि स्थापितं रथं भूमाववतार्य दक्षिणवेदिश्रोणिदेशे वेदिमध्ये समानीय मित्रावरुणयोरिति मन्त्रेण चतुर्भिरश्वैर्वाजपेयवदेव युनक्ति। प्रथमं दक्षिणं तत उत्तरं ततो दक्षिणा प्रष्टिस्ततः सव्या प्रष्टिरिति क्रमो वाजपेये। स एवात्र क्रमः। प्रत्यश्वं मन्त्रावृत्तिः। इन्द्रस्य वज्रोऽसीत्येव मन्त्रो वाजपेयसम्बन्धी न सर्वः, तावन्मात्रस्यैव पाठात्। रथदेवत्यम्। हे रथ, इन्द्रस्य वज्रोऽसि वज्रसदृशोऽसि। प्रशास्त्रोराज्ञापयित्रोर्मित्रावरुणयोर्देवयोः प्रशिषा प्रशासनेन हे रथ, त्वा यज्ञसम्बन्धिनं त्वां युनज्मि अश्वैः संयोजयामि। 'अव्यथायै त्वेति सुन्वन्नारोहति' (का० श्रौ० १५।६।१७)। अव्यथायै त्वेति मन्त्रेण यजमानश्चात्वालदेशस्थरथमारोहति, यन्तापि तदानीमेवारोहति, अग्रेऽवरोहणविधानात्। हे रथ अरिष्टोऽनुपहिंसितः, अर्जुनोऽर्जुनतुल्य इन्द्रतुल्योऽहं त्वामव्यथायै अभयाय अर्चनाय वा 'व्यध भयचलनयोः', स्वधायै अन्नरसाय अधितिष्ठामि, 'अर्जुनो ह वै नामेन्द्रः'(श० १५।४।३।७) इति श्रुतेः। प्रकृते इन्द्र एवार्जुनोऽभिप्रेतः। 'मरुतामिति दक्षिणधुर्यं प्राजति' (का० श्रौ० १५।६।१८)। यजमानेन सहारूढो यन्ता दक्षिणाश्वं कशया प्रेरयेद् मरुतामिति मन्त्रेण। मरुतां विद्युद्रूपाणां सम्बन्धिना प्रसवेन अनुज्ञया वर्तमानोऽश्वस्त्वमस्मच्छत्रून् जय सर्वं स्वाधीनं कुर्वित्यर्थः। 'गवां मध्ये स्थापयत्यापामेति' (का० श्रौ० १५।६।१९)। आहवनीयस्योत्तरतः स्थापितानां स्वस्य ज्ञातेर्गवां मध्ये रथं स्थापयेत् सारथिः। यजमानदेवत्यं यजुः। वयं मनसा अपाम आप्तवन्तस्तत्कर्म यदुपक्रान्तम्, 'मनसा वा इदꣳ सर्वमाप्तं तन्मनसैवैतत्सर्वमाप्नोति' (श० १५।४।३।८) इति श्रुतेः। 'धनुरार्त्न्योपस्पृशति गां यजमानः समिन्द्रियेणेति' (का० श्रौ० १५।६।२०)। यजमानो धनुष्कोट्या गामेकामुपस्पृशेत्। यजमानदेवत्यम्। वयमिन्द्रियेण वीर्येण संगताः स्मः।

अत्र ब्राह्मणम्—'तद्योऽस्य स्वो भवति। तस्य शतं वा परःशता वा गा उत्तरेणाहवनीयꣳ सꣳ स्थापयति तद्यदेवं करोति' (श० ५।४।३।१)। एतदनुसृत्यैव कात्यायनः—'गवाꣳ शतमधिकं वा स्वस्याहवनीयस्योत्तरतः स्थापयति' (का० श्रौ० १५।६।१३)। स्वस्य ज्ञातेर्भ्रातुर्दक्षिणार्थमाहवनीयस्योत्तरप्रदेशे शतसंख्या अधिका वा गाः स्थापयेत्। परःशताः, शताधिका इत्यर्थः। एतत् पशुसंस्थापनरूपं कर्म करोति, तथो तथैव वरुणेन कृतत्वादित्युत्तरेण सम्बन्धः। 'वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानात्। इन्द्रियं वीर्यमपचक्राम शश्वद्य एषोऽपाꣳ रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति सोऽस्येन्द्रियं वीर्यं निर्जघान तत्पशुष्वन्वविन्दत्तस्मात्पशवो यशो यदेष्वन्वविन्दत्तत्पशुष्वनुविद्येन्द्रियं वीर्यं पुनरात्मन्नधत्त तथो एवैष एतन्नाहैवास्मान्निन्द्रियं वीर्यमपक्रामति वरुणसवो वा एष यद्राजसूयमिति वरुणोऽकरोदिति त्वेवैव एतत्करोति' (श० ५।४।३।२)। पूर्वं राजसूयेऽभिषिच्यमानाद्वरुणाद् इन्द्रियं वीर्यमपचक्राम अपसृतम्। वीर्यापसरणकारणमाह—शश्वद्य इति। शश्वद् निश्चितं सम्भृतोऽपां रसः, येन सम्भृतेन रसेन इदानीमध्वर्युरभिषिञ्चति। स रसोऽस्य वरुणस्य वीर्यं निर्जघान हृतवान्। वरुणः पशुष्वन्वविन्दद् अलभत। तस्मात् पशूनां यशोरूपत्वम्, पशुत एव यशःसम्भवात्। लब्धं वीर्यं वरुणः पुनरात्मनि स्थापितवान्। तथो तेनैव प्रकारेण एष यजमानोऽपि, एतत् पशुसंस्थापनेन इन्द्रियं वीर्यमात्मनि धत्ते। तस्मात् पशुषु रथनिधानरूपं कर्म कुर्वतः सुन्वतः सकाशाद् वीर्यं नापक्रामति। राजसूयमिति यत्तद्वरुणसवः। राजसूये वरुण एवमकरोदिति बुद्ध्या एष यजमानोऽप्येतत्करोतीति यावत्। 'अथ रथमुपावहरति। यद्वै राजन्यात्पराङ्भवति रथेन वै तदनुयुङ्क्ते तस्माद्रथमुपावहरति' (श० ५।४।३।३)।

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।१५-२०) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार

रथोपावहरणं विधत्ते– अथेति । तत्प्रशंसति– यद्वै राजन्यादिति । यद्वस्तु राजन्यात् पराक् पराचीनमवशमस्ति, तदेतदनेन रथेन अनुयुङ्क्ते अनुकूलं स्वाधीनं करोति । तस्माद्रथ उपावहर्तव्यः ।

'स उपावहरति । इन्द्रस्य वज्रोऽसीति वज्रो वै रथ इन्द्रो वै यजमानो द्वयेन वा एष इन्द्रो भवति यच्च क्षत्रियो यदु च यजमानस्तस्मादाहेन्द्रस्य वज्रोऽसीति' (श० ५।४।३।४)। स्पष्टं वाजपेयप्रसङ्गे व्याख्यातं च । 'तमन्तर्वेद्यभ्यववर्त्य युनक्ति । मित्रावरुणयोस्त्वा....' (श० ५।४।३।५), रथस्य वज्रात्मकत्वमुक्तम् (श० ५।१।४।३) इत्यत्र । तस्य प्रदेशविधानपूर्वकमश्वयोर्नियोजनं समन्त्रकं विधत्ते– तमन्तर्वेदीति । अभ्यावर्त्य अभिमुखमानीय दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ युञ्ज्यादित्यर्थः । 'तं चतुर्युजं युनक्ति । स जघनेन सदोऽग्रेण शालां येनैव दक्षिणा यन्ति तेन प्रतिपद्यते तं जघनेन चात्वालमग्रेणाग्नीध्रमुद्यच्छति' (श० ५।४।३।६)। रथस्याश्व-चतुष्टयोपेतत्वं विधत्ते—तमिति । दक्षिणापथेन गमनं विधत्ते स जघनेनेति । अध्वर्युः सदोमण्डपस्य पश्चिमभागे शालामग्रेण प्राग्वंशस्याग्रभागे येन मार्गेण दक्षिणार्थं दीयमाना गावो यन्ति तेन प्रतिपद्यते, रथेन सहितः प्रविशेदित्यर्थः । 'दक्षिणेन वेदिं दक्षिणा उपतिष्ठन्ते' (श० ४।३।४।१४) इति चतुर्थकाण्डे दक्षिणा-गमनमुक्तम् । रथसंस्थापनदेशविशेषं विधत्ते –तं जघनेनेति । आग्नीध्रचात्वालयोर्मध्यदेशे रथमुद्यच्छति ऊर्ध्वमुखं स्थापयेत् । 'तमातिष्ठति । अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वेत्यनार्त्यै त्वेत्येवैतदाह यदाहाव्यथायै त्वेति.... रसाय त्वेत्येवैतदाहारिष्टो अर्जुन इत्यर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम द्वयेन वा एष इन्द्रो भवति यच्च क्षत्रियो यदु च यजमानस्तस्मादाहारिष्टो अर्जुन इति' (श० ५।४।३।७) । यजमानस्य रथारोहणं समन्त्रकं विधत्ते— तमातिष्ठतीति । आतिष्ठति, आरोहेदित्यर्थः । अव्यथायै अभयाय त्वामातिष्ठामि । स्वधायै अन्नाय । अर्जुन इतीन्द्रस्य प्रियं नाम । इन्द्रात्मकोऽहमातिष्ठामीत्यर्थः । मन्त्रं पदशोऽनूद्य व्याचष्टे—अनार्त्यै त्वेति । अर्जुनपदस्येन्द्रवाचकत्वं दर्शयति—अर्जुनो ह वा इति । अर्जुन इतीन्द्रस्य गुह्यं नामधेयम् । अस्तु तत्, तेन प्रकृते किमायातमित्याह—द्वयेन वा इति । द्विप्रकारेण यष्टुरिन्द्रात्मकत्वम् । क्षत्रसम्बन्धाद् यष्टृत्वाच्च सुन्वत इन्द्रत्वम् । तस्मादर्जुनपदेन मन्त्रे यजमानाभिधानम् । अवशिष्टं स्पष्टम् ।

'अथ दक्षिणायुग्यमुपार्षति । मरुतां प्रसवेन जयेति विशो वै मरुतो विशा वै तत्क्षत्रियो जयति यज्जिगीषति तस्मादाह मरुतां प्रसवेन जयेति' (श० ५।४।३।८)। दक्षिणभागे युक्तस्याश्वस्य प्राजनं (प्रेरणं) समन्त्रकं विधत्ते—उपार्षतीति । 'ऋषी गतौ', उपार्षति प्राजतीत्यर्थः । मन्त्रं व्याचष्टे—विशो वा इति । यद् राज्ञा जेतव्यमस्ति, तद् विशा प्रजया जयति । तस्माद्विड्रूपमरुत्प्रतिपादको मन्त्रो युक्तः । 'अथ मध्ये गवामुद्यच्छति । आपाम मनसेति मनसा वा इदꣳ सर्वमाप्तं तन्मनसैवैतत्सर्वमाप्नोति तस्मादाहापाम मनसेति' (श० ५।४।३।९)। रथस्थापनं विधत्ते—अथ मध्य इति । पूर्वं स्थापितानां गवां मध्ये रथमुद्यच्छति स्थापयति । मनसा आपाम आप्तवन्तो भवामः । आप्नोतेर्लुङि उत्तमबहुवचने रूपम् । मन्त्रस्य तात्पर्यमाह— मनसा वा इति ।

'अथ धनुरात्न्यां गामुपस्पृशति । समिन्द्रियेणेतीन्द्रियं वै वीर्यं गाव इन्द्रियमेवैतद्वीर्यमात्मन् धत्ते अथाह जिनामीमाः कुर्व इमा इति' (श० ५।४।३।१०)। स्वानां स्थापितानां गवां मध्ये एकस्या गोर्धनुष्कोटचा स्पर्शनं विधत्ते—गामुपस्पृशतीति । इन्द्रियेण बलेन सं सङ्गता भवाम । समिन्द्रियेणेति मन्त्रेण गोरुपस्पर्शने इन्द्रियस्य वीर्यस्यैव धारणं कृतवान् भवतीत्यर्थः । शिष्टानां गवां वशीकरणार्थं जिनामीति ब्रूयात् । इदं ब्राह्मणोक्तं वाक्यं न तु मन्त्रः । इमा गा जिनामि, अपि चेमाः कुर्वे स्वाधीनाः करवा इत्यर्थः । 'ज्या वयोहानौ',

---

'इन्द्रस्य वज्रः' इस कण्डिका के मन्त्रों से रथ का ग्रहण, अश्वों का योजन तथा शताधिक गायों का स्थापन आदि कार्य

'ग्रहिज्या ···' (पा० सू० ६।१।१६) इत्यादिना सम्प्रसारणम् । 'तद्यत् स्वस्य गोषूद्यच्छति । यद्वै पुरुषात् पराग्भवति यशो वा किञ्चिद्वा स्वᳩ हैवास्य तत्प्रतमामिवाभ्यपक्रामति तत् स्वादेवैतदिन्द्रियं वीर्यं पुनरात्मन् सन्धत्ते तस्मात् स्वस्य गोषूद्यच्छति' (श० ५।४।३।११) । स्वस्य ज्ञातेः स्थापितासु गोषु रथस्य स्थापनं प्रशंसति— तद्यत् स्वस्येत्यादिना । यद् वस्तु पुरुषात् पराक् पराधीनं बहिर्मुखं नष्टं भवति । किं तद्वस्त्वित्याह—यशो वेति । तद् यशआदिकं किञ्चिदन्यत् स्वं स्वीयं वस्तु प्रतमां प्रकर्षेण अभ्यपक्रामति गच्छति, तद् अनेन अस्य ज्ञातेर्गोषु स्थापनेन पराङ्मुखं वीर्यं स्यात्, ज्ञातेः सकाशात् पुनः स्वाधीनं कृतवान् भवतीत्यर्थः । 'तस्मै तावन्मात्रीर्वा भूयसीर्वा प्रतिददाति । न वा एष क्रूरकर्मणे भवति यद्यजमानः क्रूरमिव वा एतत्करोति यदाह जिनामीमाः कुर्व इमा इति तथो हास्यैतदक्रूरं कृतं भवति तस्मात्तावन्मात्रीर्वा भूयसीर्वा प्रतिददाति' (श० ५।४।३।१२) । स्थापितानां गवां स्वामिने स्वाय ज्ञातये भ्रात्रेऽन्यासां तावतीनां ततो भूयसीनां वा गवां प्रतिदानं दर्शयति तस्मै तावन्मात्रीरिति । यावत्संख्याकाः पूर्वमाहवनीयस्योत्तरतो गावोऽवस्थापिताः, तावन्मात्रीस्तावत्परिमाणं यासां तास्तावन्मात्र्यः । 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (पा० सू० ५।२।३७) इति प्रमाणे मात्रच्प्रत्ययः, 'टिड्ढाणञ् ···' (पा० सू० ४।१।१५) इत्यादिना ङीप् । ताः तावन्मात्रीः । प्रतिदानं प्रशंसति— न वा एष इत्यादिना । तावन्मात्रीणां भूयसीनां वा ज्ञातये प्रतिदानेन एतदक्रूरमेव कृतं भवति । तस्माद् गोस्वामिने तावतीर्भूयसीर्वा गा दत्त्वा वेदिमध्ये स्थितानां गवां स्वाधीनकरणेन क्रूरं कर्म न कृतं भवतीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे हनूमन्, त्वमिन्द्रस्य रामस्य वज्रोऽसि वज्रोपमबाणस्वरूपोऽसि । मित्रावरुणयोः रामलक्ष्मणयोः श्रीरामस्य सर्वात्मत्वात् सर्वमित्रत्वात् मित्ररूपत्वम्, लक्ष्मणस्य च सङ्कर्षणरूपत्वेन सर्वसंहारकत्वाद् वरुणरूपत्वं च सङ्गच्छते । तथा च श्रीमद्भागवते—'अथो अनन्तस्य मुखानलेन दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम्' (भा० पु० २।२।२६) इति । प्रशास्त्रोः प्रशिषा प्रशासनेन त्वां युनज्मि आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिक-विघ्नरूपराक्षसासुरादिविघाताय संयोजयामि । स त्वमरिष्टोऽनुपहिंसितः, वज्राङ्गत्वात् । अर्जुनः प्रसिद्धकृष्णभक्तः पाण्डवोऽर्जुन इव त्वं श्रीरामप्रेष्ठः । यद्वा अर्जुनः स्वच्छो निर्मलः, सत्त्वभावत्वात्, अध्यात्मं शुद्धमनोरूप-त्वाच्चार्जुनोऽसि । अव्यथायै अभयाय अप्रचलनाय ब्रह्मनिष्ठाया भक्तिनिष्ठाया वा अप्रकम्पनाय स्वधायै भक्तिज्ञानरसाय अभीष्टान्नादिरसाय वा त्वामाश्रये । हे धुर्य युद्धादौ धुरन्धर, मरुतां देवानां प्रसवेन प्रेरणेन आज्ञया वा त्वं रावणमेघनादादिसदृशान् बाह्यान् आन्तरांश्च शत्रून् जय । त्वत्कृपया वयं सर्वे साधका मनसा मननशीलेनेन्द्रियेण इन्द्रस्य परमात्मनो लिङ्गेन युक्ताः समपाम परमपुरुषार्थलक्षणं पुरुषार्थं भगवन्तं श्रीरामं प्राप्तवन्तः ।

अनुष्ठित किये जाते हैं । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुरूप अर्थ उपदिष्ट किया गया है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे हनुमन्, आप श्रीराम के वज्र के समान बाणरूप हैं । श्रीराम सर्वात्मा तथा सबके मित्र होने के कारण मित्रस्वरूप हैं तथा संकर्षण लक्ष्मण के सर्वसंहारक होने के कारण वरुणस्वरूप होना युक्त है । अतः श्रीराम तथा लक्ष्मण के प्रशासन के द्वारा मैं आपको आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक विघ्नरूपी राक्षस-असुरों के विनाश के लिये संयोजित करता हूँ । आप वज्राङ्ग होने के कारण अपराजेय हैं, कृष्णभक्त पाण्डव अर्जुन की भाँति आप श्रीराम के अत्यन्त प्रिय हैं । अथवा अर्जुन, स्वच्छ तथा सत्त्वभाव वाले होने के कारण निर्मल हैं, शुद्ध मनोरूप होने के कारण अर्जुन हैं । अभय, ब्रह्मनिष्ठा और भक्तिनिष्ठा के अविचलित रहने के लिये, भक्तिज्ञानरस तथा वांछित अन्न आदि रसों की प्राप्ति के लिये मैं आपका आश्रय ग्रहण करता हूँ । हे युद्ध आदि में धुरन्धर, देवताओं की प्रेरणा अथवा आज्ञा से आप रावण, मेघनाद आदि के समान बाह्य तथा आन्तरिक शत्रुओं को जीतें ।

दयानन्दस्तु 'राजप्रजापुरुषोपदेशपरोऽयं मन्त्रः। हे राजन्, यस्त्वमरिष्टोऽहिंसितः, अर्जुनः प्रशस्तरूपः, इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्य वज्रोऽसि विज्ञापकोऽसि। यं त्वा अव्यथायै अविद्यमानपीडायै क्रियायै प्रशास्त्रोः सर्वस्य प्रशासनकर्त्रोः, मित्रावरुणयोः सभासेनेशयोः प्रशिषा प्रशासनेन युनज्मि समादधे, मरुतामृत्विजां प्रसवेन प्रेरणेन स्वधायै स्ववस्तुधारणलक्षणायै राजनीत्यै यं त्वा युनज्मि मनसेन्द्रियेण मननशीलेन इन्द्रियेण जीवेन जुष्टेन प्रीतेन वा वयं समापाम आप्नुयाम, स त्वं जय दुष्टान् जित्वा उत्कर्ष' इति, तदपि साहसमात्रं धाष्ट्र्यं वा, शाब्दमर्यादातिक्रमणात्। तथाहि—अर्जुनशब्दस्य श्रुत्यैवेन्द्रस्य गुह्यनामत्वमुक्तम्, तदतिक्रम्य प्रशस्तरूपवद्वस्तुबोधनं धाष्ट्र्यमेव। इन्द्रपदस्य ऐश्वर्यवानिन्द्र इत्यर्थस्य युक्तत्वेऽप्यैश्वर्यपरत्वकल्पनमपि निर्मूलमेव। वज्रशब्दस्य पदार्थभाष्ये विज्ञापक इत्यर्थ उक्तः। हिन्द्यां तु वज्रतुल्योऽसीत्युक्तम्। एवमसम्बद्धोऽर्थः। एवमेव मरुतामित्यस्य ऋत्विजामित्यर्थकरणेऽपि मूलं वक्तव्यमासीत्। स्वधाशब्दस्य राजनीत्यर्थतापि चिन्त्यैव, प्रसिद्धार्थत्यागेऽप्रसिद्धार्थग्रहणे प्रमाणस्यानुक्तत्वात्। इन्द्रियेण जीवेन जुष्टेन प्रीतेनेत्यत्रापि कथमिन्द्रियशब्दस्य जीवोऽर्थः? तत्रापि मूलमपेक्षितम्॥ २१॥

मा त॑ इन्द्र ते व॒यं तु॑राषाड॒युक्ता॑सो अब्र॒ह्मता॒ विद॑साम।
तिष्ठा॒ रथ॒मधि॒ यं व॑ज्रहस्ता र॒श्मीन् दे॑व यमसे॒ स्वश्वा॑न्॥ २२॥

'तावद् भूयो वा गोस्वामिने दत्त्वा पूर्वेण यूपं परीत्यान्तःपात्यदेशे स्थापयति मा त इति' (का० श्रौ० १५।६।२२)। रथारूढो यजमानो गवां शतमधिकं वा यावत्स्थापितं तावत्ततोऽधिकं वा गोस्वामिने स्वाय ज्ञातये भ्रात्रे प्रत्यर्प्य पूर्वेण यूपं प्रदक्षिणीकृत्यान्तःपात्यदेशे रथं स्थापयेत्। इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप्, संवरणस्यार्षम्। हे वज्रहस्त! हे देव द्योतमान दीव्यमान वा, त्वं यं रथमधितिष्ठ अधितिष्ठसि, लडर्थे लोट्। 'अधितिष्ठा' इत्यत्र 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दैर्घ्यम्। यस्य च रश्मीन् प्रग्रहान् आयमसे आयच्छसि नियच्छसि। कथंभूतान् रश्मीन्? स्वश्वान् शोभना अश्वा नियम्यन्ते यैस्तान्। हे तुराषाट् तुरा तूर्णं सहते

आपकी कृपा से हम सभी साधक मननशील इन्द्रियों से, परमात्मा के संकेत से युक्त होकर परम पुरुषार्थ रूपी भगवान् श्रीराम को प्राप्त करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ शब्द की सीमाओं को तोड़ने के कारण दुस्साहस अथवा धृष्टता ही माना जा सकता है। श्रुति के द्वारा 'अर्जुन' इन्द्र की ही एक अप्रत्यक्ष संज्ञा मानी गई है। इसको छोड़कर प्रशस्तरूप वाली वस्तु का अर्थ करना अनुचित है। पदार्थ में वज्र शब्द का अर्थ 'विज्ञापक' कहा गया है, पर हिन्दी अर्थ में 'वज्रतुल्य' कहा गया है। इस प्रकार विपरीत अर्थ किये गये हैं। मरुतों का अर्थ ऋत्विग्गण करने में भी प्रमाण उल्लिखित करना चाहिये था। स्वधा शब्द का अर्थ राजनीति करना भी शोचनीय है, क्योंकि प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ने तथा अप्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं बताया गया। इन्द्रिय शब्द का अर्थ जीव कैसे है, इसमें भी मूल प्रमाण की अपेक्षा है॥ २१॥

मन्त्रार्थ—शत्रुओं का शीघ्र तिरस्कार करने में कुशल, हाथ में वज्र धारण करने वाले हे ऐश्वर्ययुक्त दीप्यमान राजन्, तुम जिस रथ में स्थित होकर अच्छे सुशिक्षित घोड़ों की लगाम थामते हो, उससे हमारा कोई नुकसान न हो॥ २२॥

भाष्यसार—'मा ते' इस ऋचा से रथ पर आरूढ यजमान शताधिक गायों को प्रत्यर्पित करके यूप की प्रदक्षिणा

शत्रूनभिभवतीति तुराषाट्, तत्सम्बुद्धौ हे इन्द्र ऐश्वर्ययुक्त, तस्मिन् रथे ते त्वदीया वयं आयुक्ताः, तस्माद् भिन्नाः सन्तो मा विदसाम मा विविधमुपक्षीणा भवाम, 'दसु उपक्षये'। तत्र दृष्टान्तः—अब्रह्मता। लुप्तोपमानम्। अब्रह्मतेव ब्रह्म विज्ञानानन्दस्वभावम् अनश्वरम्, तस्य भावो ब्रह्मता, न ब्रह्मता अब्रह्मता। यथा ब्रह्मभावादन्यद्वस्तु विदस्येत, एवं वयं मा विदस्येमहीत्यर्थः। हे वज्रहस्त, यं रथं त्वमधितिष्ठ अधितिष्ठसि, हे देव! यस्मिन्नवस्थितस्त्वं स्वश्वान् शोभनाश्वयुक्तान् रश्मीन् प्रग्रहान् आयमसे नियच्छसि। हे तुराषाट् तुरा तूर्णमेव शत्रून् सहतेऽभिभवतीति तुराषाट्, तत्सम्बुद्धौ हे इन्द्र, तस्मिन् ते तव स्वभूते रथे ते तव स्वभूता वयं अयुक्तासः संयोगरहिता वयं अब्रह्मता अब्रह्मत्वम्, द्वितीयार्थे प्रथमा, विदसाम विदेम। तव रथे अयुक्ता वयं ब्रह्मवर्चसं न लभामहे, किन्तु युक्ताः सन्तो ब्रह्मवर्चसं लभेमहि, विदेर्लेटि सिचि 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडाटौ।

यद्वा हे इन्द्र, ते तव स्वभूतास्त्वदधीनत्वेन प्रसिद्धा वयमयुक्तास्त्वया असंयुक्ता अब्रह्मतापरिवृढं त्वदुद्देश्यकं कर्म तद्रहितत्वाय मा विदसाम विविधमुपक्षीणा न भवामः, किन्तु तव यष्टारः। हे देव, रश्मीन् शोभनाश्वबन्धनप्रग्रहान् स्वश्वान् शोभनानिच्छानुसारिणोऽश्वान् यद्यस्मिन् रथेऽश्वान् योजयित्वा रथमातिष्ठ अस्मद्यज्ञ आगमनायेति काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणानायच्छति। सोऽग्रेण यूपं दक्षिणेन वेदिं येनैव दक्षिणा यन्ति तेन प्रतिपद्यते तं जघनेन सदोऽग्रेण शालामुद्यच्छति' (श० ५।४।३।१३)। आहवनीयस्योत्तरतः स्थापितानां गवां मध्ये दक्षिणतोऽश्वानां स्थापनं विधत्ते—अथ दक्षिणानिति। यूपस्य पूर्वतो वेदेर्दक्षिणतो दक्षिणान् दक्षिणदिङ्मुखान् अश्वान् आयच्छेत्। अथान्तःपात्यप्रदेशे रथस्य स्थापनं विधातुमुदग्गमनमार्गमाह—सोऽग्रेणेति। अनेन मार्गेण रथं प्रदक्षिणमावर्त्य येनैव दक्षिणा यन्ति तेन प्रतिपद्यते। सदसः पश्चिमे शालायाः पूर्वदेशे रथमुद्यच्छति स्थापयेत्। तथैव सूत्रितं कात्यायनेनापि—'पूर्वेण यूपं परीत्यान्तःपात्यदेशे स्थापयति मा त इति' (का० श्रौ० १५।६।२२) इति। ब्राह्मणमपि—'मा त इन्द्र ते वयं तुराषाट्। अयुक्तासो अब्रह्मता विदसाम तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन् देव यमसे स्वश्वानित्युद्यच्छत्येवैतयाऽभीशवो वै रश्मयस्तस्मादाहा रश्मीन् देव यमसे स्वश्वानित्यथ रथविमोचनीयानि जुहोति प्रीतो रथो विमुच्याता इति तस्माद्रथविमोचनीयानि जुहोति' (श० ५।४।३।१४)। रथविमोचनीयहोमं विधत्ते—रथविमोचनीयानि जुहोतीति। रथो होमेन प्रीतः सन् विमुच्यातै विमुक्तो भवत्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र श्रीराम! हे वज्रहस्त वज्रोपमशस्त्रास्त्रादिहस्त, त्वं यं रथमधितिष्ठ अधितिष्ठसि आरूढश्च हे देव शोभनाश्वनियामकान् रश्मीन् प्रग्रहान् नियच्छसि, तस्मिन् ते त्वदीये रथे ते तव स्वभूता वयमयुक्तासः सम्बन्धरहिताः सन्तो मा विदस्येमहि मा उपक्षीयेमहि, 'दसु उपक्षये' इति धातोः कर्मणि

करते हुए अन्तःपात्य नामक स्थान में रथ को खड़ा करे। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।२२) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुकूल व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—वज्र के समान शस्त्रास्त्रों को हाथ में धारण करनेवाले हे श्रीराम, आप रथ पर आरोहण करते हैं तथा आरूढ होकर हे देव, आप सुन्दर अश्वों को नियन्त्रित करने वाली रस्सियों को ग्रहण करते हैं। आपके उस रथ में हम आपके स्वीय होकर सम्बन्धों से मुक्त होते हुए कभी क्षीण न हों। अथवा आपके उस रथ में विविध सम्बन्धों से संयुक्त होकर विभिन्न प्रकार से क्षीण न हों, क्योंकि भगवान् से सम्बन्ध-राहित्य

लकारे रूपम्। अथवा तस्मिन् ते रथे आयुक्ता आसमन्ताद् युक्ताः सम्बन्धवन्तः, तस्माद्भिन्नाः सन्तो मा विदसाम विविधमुपक्षीणा मा भवामः, भगवत्सम्बन्धवैधुर्येणोपक्षयसम्भवात्। कथं नोपक्षीयेमहीत्यत्र दृष्टान्त उच्यते—अब्रह्मतेति। लुप्तोपममेतत्। ब्रह्म सत्यज्ञानानन्दादिलक्षणम्, तस्य भावो ब्रह्मता सत्यज्ञानानन्दरूपता, तद्भिन्नता अब्रह्मता। यथा ब्रह्मभावादन्यद् विदस्येत, अनृताज्ञानदुःखरूपत्वात्, तथा वयं मा विदस्येमहि। यद्वा 'विद्लृ लाभे' इत्यस्य लेटि विदसामेति रूपम्। त्वद्वयसम्बन्धरहिता ब्रह्मवर्चसं न लभामहे, आयुक्तास्तु ब्रह्मवर्चसं लभामह इति।

दयानन्दस्तु—'हे देवेन्द्र राजन् वज्रहस्त, वयं ते तव सम्बन्धेऽयुक्तासोऽधर्मकारिणो न भवामः। ते तवाब्रह्मता वेदेश्वरनिष्ठारहिता माऽस्तु। वयं तां विदसाम उपक्षयेम। यस्तुराषाट् तुरान् त्वरितान् शत्रून् सहते त्वं यान् रश्मीन् अश्वनियमार्था रज्जूः स्वश्वान् शोभनाश्च ते अश्वाश्च तान् आयमसे यं रथमधितिष्ठसि, तांस्तं च वयमप्यधितिष्ठेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मा च ते अब्रह्मता इति शान्ताकाङ्क्षस्य अब्रह्मतापदस्य पुनर्विदसामेति पदस्य कर्मत्वेन योजनस्यासङ्गतत्वात्, तामिति पदस्य मूलेऽसत्त्वात्। 'यं रथमश्वांश्च राजाधितिष्ठति, तमन्येऽप्यधितिष्ठन्ति' नैतदर्थबोधकानि पदानि मन्त्रे सन्ति। नह्येकस्यैव मापदस्य 'अयुक्तासः'-'अब्रह्मता' इति पदाभ्यां सम्बन्धो भवितुं युक्तः, सकृदुच्चरितस्य शब्दस्य सकृदर्थबोधकत्वात्, उभयत्रान्वये आवृत्तिप्रसङ्गात्, आवृत्तौ च बीजाभावात्॥ २२॥

अ॒ग्नये॑ गृ॒हप॑तये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ वन॒स्पत॑ये॒ स्वाहा॑ म॒रुता॒मोज॑से॒ स्वाहेन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॒ स्वाहा॑। पृथि॑वि मात॒र्मा मा॑ हिꣳसी॒र्मो अ॒हं त्वाम्॥ २३॥

'अग्नये गृहपतय इति चत्वारि रथविमोचनीयानि जुहोति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।६।२३)। अध्वर्युः सकृद्गृहीतैराज्यैः रथविमोचनीयसंज्ञाश्चतस्र आहुतीर्जुहोति। चत्वारि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। अग्नये गृहपतये गृहाश्रमपालकाय स्वाहा सुहुतमस्तु। वनस्पतिरूपिणे सोमाय स्वाहा हविर्दत्तमस्तु। इन्द्रस्य

होने पर क्षीणता संभव है। किस प्रकार क्षीण न हों, इसमें उदाहरण बतलाया जाता है कि जैसे सत्य, ज्ञान, आनन्दादि स्वरूप ब्रह्म से भिन्न सब कुछ अनृत, अज्ञान, दुःख रूप होने से क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार हम परिक्षीण न हों। अथवा आपसे सम्बन्धरहित होने पर ब्रह्मवर्चस् नहीं प्राप्त करते, परन्तु आपसे संयुक्त होकर ब्रह्मवर्चस् प्राप्त करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में 'अब्रह्मता' शब्द को एक बार अन्वित करने के बाद पुनः 'विदसाम' इस क्रिया के कर्म के रूप में संयुक्त करना असंगत है। 'ताम्' यह पद भी मूल मन्त्र में नहीं है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक पद मूल से उक्त नहीं हैं। एक ही 'मा' शब्द को दो पदों 'अयुक्तासः' तथा 'अब्रह्मता' के साथ संयुक्त करना भी अनुचित है, क्योंकि एक बार पठित शब्द एक ही बार अर्थावबोध कराने में समर्थ होता है। दो स्थानों पर अन्वय करने में आवृत्ति होगी तथा आवृत्ति करने में कोई मूल नहीं है॥ २२॥

मन्त्रार्थ—गृहपालक अग्नि देवता के लिये यह श्रेष्ठ आहुति दी गयी है। वनस्पतिरूपी सोम की प्रीति के लिये यह श्रेष्ठ आहुति है। हम मरुद्गणों के बल के लिये और इन्द्र के वीर्य के निमित्त हवि देते हैं। हे जगत् की निर्मात्री पृथ्वी देवी! तुम हमें किसी प्रकार की हानि मत पहुँचाओ। मैं भी तुम्हें किसी प्रकार का क्लेश न दूँ॥ २३॥

भाष्यसार—'अग्नये गृहपतये' इस कण्डिका के मन्त्रों से रथविमोचनीया नामक आहुतियाँ अग्नि में दी जाती हैं

इन्द्रसम्बन्धिने इन्द्रियाय वीर्याय स्वाहा। मरुतां सम्बन्धिने ओजसे बलाय स्वाहा। 'भूमिमवेक्षते पृथिवि मातरिति' (का० श्रौ० १५।६।२४)। रथारूढो यजमानो भूमिं पश्येत्। भूमिदेवत्यम्। हे मातर्जगन्निर्मात्रि हे पृथिवि भूमे, त्वं मा मां मा हिंसीः, मा वधिष्ठाः। अहमपि त्वां पृथिवीं मो मा अहिंसिषम्। पृथिव्या मातृत्वम् 'द्यौः पिता पृथिवी माता' (ऋ० सं० १।१६४।३३) इति मन्त्रसिद्धम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'स जुहोति। अग्नये गृहपतये स्वाहेति स यदेवाग्नेयꣳ रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति वहा वा आग्नेया रथस्य वहानेवैतेन प्रीणाति श्रीर्वै गार्हपतं यावतो यावत इष्टे तच्छ्रियमेवास्यैतद्गार्हपतꣳ राज्यमभिविमुच्यते' (श० ५।४।३।१५)। रथविमोचनानि जुहोतीति ब्राह्मणेन विहितं होममनूद्य चतुरो मन्त्रान् सार्थवादं पृथग् विधत्ते—स जुहोत्यग्नय इति। रथो होमेन प्रीतः सन् विमुच्यातै विमुक्तो भवत्विति रथोऽत्र तदधिष्ठातृदेवो विवक्ष्यते, जडस्य प्रीतत्वायोगात्। मन्त्रार्थास्तूक्ताः। प्रथममन्त्रं प्रशंसति—यदेवाग्नेयमिति। मन्त्रैकदेशेनाग्निपदेन रथस्याग्नेयमङ्गं प्रीणितवान् भवति। रथस्याग्नेयमङ्गं दर्शयति—वहा वा इति। अश्वैरुह्यमानस्य युगस्य प्रान्तप्रदेशा वहा उच्यन्ते। त आग्नेयाः, 'अग्निदग्धमिवैषां वहं भवति' (श० १।१।२।९) इति श्रुतेः। अग्निदग्धत्वसाम्याद् वाहकानामनडुदादीनामिव रथेऽपि वहा आग्नेयाः। प्रथमहोममन्त्रे 'अग्नये' इत्येकदेशपाठेन रथाङ्गप्रीणनं भवति। गृहपतय इति भागं प्रशंसति—श्रीर्वा इति। गार्हपतं गृहपतित्वं नाम श्रीर्यतः पुरुषो यावतो धनस्य पुरुषस्य वा ईष्टे, तद् एतेन गृहपतय इति मन्त्रभागपाठेन यजमानस्य गार्हपतलक्षणं राज्यमभिलक्ष्य रथो विमुक्तो भवतीति। एवमुत्तरेषु मन्त्रेष्वेकदेशेन रथाङ्गप्रीणनम्, अपरेण यजमानफलार्थं रथविमोक उच्यते।

'सोमाय वनस्पतये स्वाहेति। द्वयानि वै वानस्पत्यानि चक्राणि रथ्यानि चानसानि च तेभ्यो न्वेवैतदुभयेभ्योऽरिष्टिं कुरुते सोमो वै वनस्पतिः स यदेव वानस्पत्यꣳ रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति दारूणि वै वानस्पत्यानि रथस्य दारूण्येवैतेन प्रीणाति क्षत्रं वै सोमः क्षत्रमेवास्यैतद्राज्यमभिविमुच्यते' (श० ५।४।३।१६)। द्वयानीति वनस्पतिनिर्मितानि चक्राणि द्वयानि द्विप्रकाराणि भवन्ति—रथ्यानि रथसम्बन्धीनि, आनसानि अनःसम्बन्धीनि च। तदेतेन सोमाय वनस्पतय इति मन्त्रपाठेन उभयविधेभ्यो रथ्यानसचक्रेभ्यस्तदर्थमरिष्टिम् अहिंसां कृतवान् भवति। सोमस्य वनस्पतित्वाद् ओषधिपोषकत्वाद् वनस्पतिपदेन रथस्य दारुनिर्मितान्यङ्गानि प्रीणयति। सोमस्य क्षत्ररूपत्वाद् राजत्वाद् बलसम्पादकत्वाद्वा। तस्मात् सोमपदेन क्षत्रियसम्बन्धि स्वाराज्यमभिलक्ष्य रथो विमुक्तो भवति। 'मरुतामोजसे स्वाहेति। स यदेव मारुतꣳ रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति चत्वारोऽश्वा रथः पञ्चमो द्वौ सव्यष्टृसारथी ते सप्त सप्त सप्त वै मारुतो गणः सर्वमेवैतेन रथं प्रीणाति विशो वै मरुतो विशमेवास्यैतद्राज्यमभिविमुच्यते' (श० ५।४।३।१७)। तृतीये मन्त्रे मरुतामिति पदेन रथस्यैव प्रीणनम्। रथस्य मारुतत्वं सम्पादयति—चत्वारोऽश्वा इत्यादिना। रथस्याश्वचतुष्टयम्, रथः स्वयं पञ्चमः, द्वौ सव्यदक्षिणभागयोरवस्थितौ सारथी इति सप्तसंख्यास्ति, मरुतामपि सप्तगणात्मकत्वात् सप्तसंख्याकत्वम्, अतः सप्तसंख्यासाम्याद् मरुतामिति मन्त्रपदेन रथस्यैव प्रीणनं भवतीत्यर्थः। मरुत्पदमेव यजमानस्य फलार्थमपि प्रशंसति—विशो वै मरुत इति। विशमेवास्यैतद्राज्यमिति।

'इन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहेति। स यदेवैन्द्रꣳ रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति सव्यष्ठा वा ऐन्द्रो रथस्य सव्यष्ठारमेवैतेन प्रीणातीन्द्रियं वै वीर्यमिन्द्र इन्द्रियमेवास्यैतद्वीर्यꣳ राज्यमभिविमुच्यते' (श० ५।४।३।१८)। अत्र चतुर्थमन्त्रे इन्द्रपदेन रथस्य सारथिप्रीणनम्। सव्यभागे तिष्ठतीति सव्यष्ठा, तिष्ठतेरौणादिक ऋकारप्रत्ययः

तथा यजमान द्वारा भूमि का दर्शन किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।२३-२४) में

किच्च, कित्वादाल्लोपः। 'अम्बाम्बगोभूमि' (पा० सू० ८।३।९७) इति सूत्रे 'स्था-स्थिन-स्थृणाम्' इति वचनात् षत्वम्। 'अथ वाराह्या उपानह्या उपमुञ्चते। अग्नौ ह वै देवा घृतकुम्भं प्रवेशयाञ्चक्रुस्ततो वराहः सम्बभूव तस्माद्वराहो मेदुरो घृताद्धि सम्भूतस्तस्माद्वराहे गावः संजानते स्वमेवैतद्रसमभिसंजानते तत्पशूनामेवैतद्रसे प्रतितिष्ठति तस्माद्वाराह्या उपानह्या उपमुञ्चते' (श० ५।४।३।१९)। विधत्ते—अथेति। वाराह्यौ वराहचर्मनिर्मिते उपानहौ उपमुञ्चते। कात्यायनेन पशूनां रसोऽसीति मन्त्रेण वाराह्योरुपानहोरुपमोको विहितः (का० श्रौ० १५।६।२३-२४)। तत्र मन्त्रे वराहस्य पशुरसत्वमभिधीयते। तदुपपादयति—अग्नौ ह वै देवा इति। पूर्वं देवा घृतकुम्भमग्नौ प्रासुः। तस्माद्वराह उत्पन्नः। अतो घृतोत्पन्नत्वाद् वराहस्य मेदुरत्वं मांसलत्वम्। तस्मिन् वराहे गावः सञ्जानते संवदन्ते, स्वीयरसभूतघृतोत्पन्नत्वात्। तस्माद्वाराह्योरुपानहोरुपमोकेन पशुरस एव स्वयं प्रतिष्ठितो भवति। 'अथेमां प्रत्यवेक्षमाणो जपति। पृथिवि मातर्मा मा हिꣳसीर्मो अहं त्वामिति वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानात् पृथिवी बिभयाञ्चकार महद्वा अयमभूद्योऽभ्यषेचि यद्वै माऽयं नावदृणीयादिति वरुण उ ह पृथिव्यै बिभयाञ्चकार यद्वै मेऽयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयमकुरुत नहि माता पुत्रꣳ हिनस्ति न पुत्रो मातरम्' (श० ५।४।३।२०)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। ब्राह्मणमपि वाजपेये भूम्यवेक्षणप्रसङ्गे व्याख्यातम्। 'वरुणसवो वा एष यद्राजसूयम्...' (श० ५।४।३।२१) इत्यादि गतार्थम्।

अध्यात्मपक्षे—अग्नये परमात्मने गृहपतये सर्वावासस्वामिने नमः सर्वस्वार्पणमस्तु। सोमाय साम्बसदाशिवाय वनस्पतये वनानां पतये वनारण्यादिपालकत्वविशिष्टाय नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। मरुतां प्राणानामोजसे बलाय परमात्मने स्वाहा सुहुतमस्तु। सर्वेषामोजः प्राणमूलकम्, मरुतां त्वोजः परमात्ममूलकमेव, परमात्मोपेक्षणे तैरेकस्य तृणस्याप्युत्थापयितुमसमर्थत्वात्। केनोपनिषदि स्पष्टमेवैतत्। इन्द्रस्येति परमात्मन इन्द्रियाय वीर्याय नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। हे पृथिवि धरित्रि परमात्मनिष्ठधारणशक्ते, त्वं मां साधकं मा हिंसीः धारणाशक्तिप्रदानेन पालय। अहं च त्वां मा हिंस्यां त्वदुपेक्षणं न कुर्याम्।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजाजनाः, यथा राजजना वयम् अग्नये धर्मविज्ञानाढ्याय गृहपतये गृहाश्रमस्वामिने स्वाहा सत्यां नीतिं सोमाय सोमलताद्योषधिगणाय वनस्पतये वनानां पालकाय स्वाहा वैद्यकशास्त्रबोधजनितां क्रियाम्, मरुतामृत्विजां प्राणानां वा ओजसे बलाय स्वाहा योगशान्तिदां वाचम्, इन्द्रस्य जीवस्य इन्द्रियाय वीर्याय नेत्राद्याय अन्तःकरणाय वा स्वाहा सुशिक्षायुक्तां वाचमुपदिष्टिं चरेम, तथा यूयमप्याचरत। हे पृथिवि, भूमिवत् पृथुशुभलक्षणे मातः, मान्यकर्त्रि जननि, त्वं मा मां मा हिंसीः कुशिक्षया मा हिंस्याः। त्वामहं

उल्लिखित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—अग्नि परमात्मा, समस्त गृहों के स्वामी के लिये सर्वस्व का अर्पण हो। साम्ब सदाशिव वन-अरण्य आदि के अधिपति के लिये प्रणाम, सर्वस्वार्पण हो। प्राणों के बलस्वरूप परमात्मा के लिये सर्वस्व अर्पित हो। सभी प्राणियों का बल प्राणमूलक है, किन्तु मरुत् प्राणों का बल परमात्ममूलक है। परमात्मा की उपेक्षा होने पर उनके द्वारा एक तृण भी नहीं उठाया जा सकता, यह केनोपनिषद् में स्पष्ट अभिहित है। परमात्मा के बल के लिये प्रणाम, सर्वस्वार्पण हो। हे परमात्मकपरक धारणा शक्ति ! तुम मुझ साधक को हिंसित मत करो, अर्थात् धारणा शक्ति प्रदान करते हुए पालित करो तथा मैं भी तुम्हारी उपेक्षा न करूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में स्वाहा शब्द के उन उन अनेक अर्थों में कोई प्रमाण नहीं है। अग्नि आदि शब्दों के भी उन उन प्रसिद्ध अर्थों की उपेक्षा करके अपनी मनःकल्पना से अर्थबोधन कराने में भी कोई

मो मा हिंस्याम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशतादृशस्वाहापदार्थानामप्रामाणिकत्वात्, अग्न्यादिपदानामपि तांस्तान् प्रसिद्धानर्थानुपेक्ष्य स्वाभ्यूहितार्थबोधकत्वे मानाभावाच्च ॥ २३ ॥

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २४ ॥

सप्रपञ्चब्रह्माभिधायिनी सूर्यदेवत्या अतिजगती वामदेवदृष्टा। 'अवरोहति हꣳसः शुचिषदिति' (का० श्रौ० १५।६।२५)। मन्त्रेणानेन सोपानत्को यजमानो रथादवरोहति। हंसः, हन्ति पृथिवीमिति हंसो रथः। शुचौ देवयजने रथवाहने च सीदतीति शुचिषत्। वसुः स्वस्योपरि यजमानं वासयतीति वसुः। अन्तरिक्षसत् तरुगुल्माद्यवरुद्धेऽन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होता होतृसमानः। कथं होतेत्यपेक्षायामाह—वेदिषदिति। वेद्यां सीदतीति वेदिषद् वेदिषत्वसाम्याद्रथस्य होतृत्वम्। अतिथिः अतिथितुल्यः। कुतः ? यतो दुरोणसद् दुरोणेषु गृहेषु सीदति यः सः। यो यस्तमारोढुं नयति तस्य गृहे सीदतीति। नृषद् नृषु मनुष्येषूपकारं कर्तुं सीदतीति नृषद्। वरसद् वरे श्रेष्ठे राजादिगृहे सीदतीति वरसत्। ऋतसद् ऋते यज्ञे वाजपेयादौ सीदतीति ऋतसत्। व्योमसत् सूर्यं वोढुं व्योमन्याकाशे सीदतीति व्योमसत्। अब्जाः, अद्भ्यो जातैरश्वैरुपेतत्वात्, 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' (श० १३।२।२।१९) इति श्रुतेः। गोजाः, गोशब्दवाच्याद्वज्राज्जायत इति गोजाः। रथस्य वज्रजन्यत्वं समाम्नातं तैत्तिरीयश्रुतौ—'इन्द्रो वृत्राय वज्रमाहरत्। स त्रेधा व्यभवत्। स्फ्यस्तृतीयꣳ रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयम्' (तै० सं० ५।२।६।२)। ऋतजाः पृष्ठवाहिरूपत्वेन ऋतं यज्ञमुद्दिश्य जातत्वादृतजाः। अद्रिजाः पाषाणसदृशेभ्यो दृढकाष्ठेभ्यो जातत्वादद्रिजाः। ईदृशो रथो बृहदृतं प्रौढं राजसूययज्ञं सम्पादयतु।

सूर्यपक्षे—हंसः, हन्ति गच्छतीति हंस आदित्यः। शुचिषत् शुचौ निर्मले मण्डले सीदतीति शुचिषद्। वसुः, वसति सर्वमस्मादिति वसुर्निवासहेतुः, सूर्यं विनावस्थातुमशक्यत्वात्। अन्तरिक्षसत् प्राणात्मकवायुरूपेणान्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। वेदिषद् अग्निरूपेण वेद्यां सीदतीति वेदिषद्। अब्जा अप्सु सूक्ष्मभूतेषु जायत इत्यब्जाः, सूर्यमण्डलस्य सर्वमूर्तद्रव्यसारत्वात्। गोजाः, गोषु पृथिवीप्रधानेषु स्थूलभूतेषु जायत इति गोजाः। ऋतजाः, ऋते सत्ये मूर्तभूते मण्डले जायत इति ऋतजाः। अद्रिजाः, अद्रौ पाषाणे मेघे वा उदकरूपेण जायत इत्यद्रिजाः। ऋतम् ज्ञानात्मकम्। बृहत् प्रवृद्धं परमानन्दलक्षणम्। तदपि सूर्य एवेति सायणरीत्या व्याख्यानम्।

प्रमाण नहीं है ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—पवित्र स्थान दीप्ति में आदित्य रूप से स्थित अहंकार को दूर करने वाला आत्मा, वायु रूप से अन्तरिक्ष में स्थित मनुष्यों का प्रवर्तक, अग्नि रूप से वेदि में स्थित होकर देवताओं का आह्वान करने वाला, आहवनीय रूप से यज्ञ में स्थित सबका पूजनीय, मनुष्यों में प्राणभाव से स्थित, उत्कृष्ट स्थानों में स्थित, यज्ञ में स्थित, आकाश में मण्डल रूप से स्थित—इस प्रकार सर्वत्र स्थित महनीय विभूतियों से हम सबके कल्याण के लिये प्रार्थना करते हैं। मत्स्य आदि के रूप में जल में स्थित, चतुर्विध भूतग्राम के रूप से पृथ्वी में स्थित, सत्य रूप में स्थित, अग्नि रूप में स्थित, मेघ में जल के रूप में स्थित, सर्वगत अपर्यन्त परम ब्रह्म परमात्मा का स्मरण कर मैं रथ से उतरता हूँ ॥ २४ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।२५) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'हंसः शुचिषद्'

उव्वटमहीधरयो रीत्या तु—हंसो हन्ति गच्छत्यध्वानमिति हंसः, हन्त्यहङ्कारं वेति हंस आदित्यः। कीदृशो हंसः ? शुचिषत्, शुचौ दीप्तौ सीदति यः सः। तथा वसुः वासयिता। अन्तरिक्षसद् अन्तरिक्षे वायुरूपेण सीदति यः सः। होता आह्वाता देवानाम्। वेदिषद् वेदावग्निरूपेण सीदति यः। अतिथिः, तद्वत् सर्वपूज्यः। दुरोणसत्, दुरोणे यज्ञशालायामाहवनीयादिरूपेण सीदति यः सः। वरसद् वरेषूत्कृष्टस्थानेषु सीदतीति। ऋतसद् ऋते यज्ञे सीदतीति। व्योमसद् व्योम्नि मण्डलरूपेण सीदति यः सः। एवं सर्वत्र स्थितत्वेन स्तुत्वा सर्वत्रोत्पत्तिद्वारेण स्तौति—अब्जा इति। अप्सूदकेषु मत्स्यादिरूपेण जायत इत्यब्जाः। गोजा गवि पृथिव्यां भूतग्रामरूपेण जायत इति गोजाः। ऋतजा ऋते सत्ये जायत इति ऋतजाः। अद्रिजा अद्रौ पाषाणेऽग्निरूपेण जायत इत्यद्रिजाः, अद्रौ मेघे वा जलरूपेण जायत इत्यद्रिजाः। ऋतं सर्वगतं ब्रह्म। बृहत् परब्रह्मरूपो यो हंसस्तं प्रति रथादवतरामीति भावः।

अत्र ब्राह्मणम् – 'सोऽवतिष्ठति। हꣳसः····ऋतं बृहदित्येतामतिच्छन्दसं जपन्नेषा वै सर्वाणि छन्दाꣳसि यदतिच्छन्दास्तथैनं पाप्मा नान्ववतिष्ठति' (श० ५।४।३।२२)। रथादवरोहणं विधत्ते—सोऽवतिष्ठतीति। व्यत्ययेन परस्मैपदम्। मन्त्रार्थस्तूक्तः। मन्त्रगतं छन्दोविशेषं प्रशंसति—अतिच्छन्दसमिति। अस्य मन्त्रस्यातिजगतीच्छन्दः। सा च गायत्र्यादीनि छन्दांस्यतिक्रम्य वर्तत इति तस्या अतिछन्दस्त्वम्। सर्वासामेव छन्दसां तत्रान्तर्भावात् सर्वछन्दोरूपत्वम्। तस्मात् सर्वछन्दोऽतिक्रमणादेतां जपित्वा अवरोहन्तमेनं यजमानमनु पाप्मा नावतिष्ठति नावरोहति, किन्तु स एव पाप्मानमतिक्रामति। 'तं न संग्रहीताऽन्ववतिष्ठेत्' (श० ५।४।३।२३) इति श्रुतौ सयन्तृकस्य रथस्य रथवाहनेऽनसि स्थापनं विधातुं यन्तुरवस्थानं निषिद्धम्। सम्यक् प्रग्रहं गृह्णातीति संग्रहीता सारथिः। स तं यजमानमनु नावतिष्ठेत् नावरोहेत्। तत्र कारणमाह—नेदिति। सुन्वन् यं लोकं प्राप्नोति, तं लोकं सारथिरपि न प्राप्नुयादित्येतदर्थं रथस्थापनसाधनेऽनसि सयन्तृकं रथं निदध्यात्, 'यदुभौ सहावतिष्ठेताꣳ समानं लोकमियाताꣳ सह संग्रहीत्रा रथवाहने रथमादधाति सुवर्गादेवैनं लोकादन्तर्दधाति' (तै० १।७।९।६) इति श्रुतेः। पश्चाद् यन्ता अवाङ्मुखः सन् अपप्रवते अवरोहति, 'प्रुङ् गतौ'।

अध्यात्मपक्षे – परमात्मनः सर्वात्मकत्वबोधनपरोऽयं मन्त्रः। हंसः, एक एवाकाशे हन्तीति हंसः, सूर्यरूपेणापि तस्यैव विवर्तितत्वात्। शुचिषत् शुचौ शुद्धेऽन्तःकरणेऽभिव्यङ्ग्यत्वेन सीदतीति शुचिषत्, निर्वृत्तिकशुद्धान्तःकरणस्यैव तदभिव्यञ्जकत्वात्। वसुः, वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिन्नसौ वसुः, सर्वस्य सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन वासयति सर्वाणि भूतानीति वसुः, वसति वा सर्वभूतेषु यः स वसुः। अन्तरिक्षसद् अन्तरिक्षे नक्षत्रग्रहादिरूपेण अन्तरिक्षरूपेण च सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होता सर्वेषां भक्तानां स्वस्वरूपे

इस ऋचा से यजमान रथ से उतरता है। शतपथ ब्राह्मणोक्त व्याख्यान याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल है।

अध्यात्मपक्ष में परमात्मा की सर्वात्मकता का निरूपण करने वाला यह मन्त्र है। एकाकी ही आकाश में गमन करता है, अतः यह हंस है। सूर्य का रूप भी उसी का विवर्त है। शुद्ध अन्तःकरण में अभिव्यंजित होते हुए निवास करता है, अतः शुचिषद् है। वृत्तिरहित निर्मल अन्तःकरण में उसकी अभिव्यक्ति होती है। समस्त पदार्थ इसमें निवास करते हैं, अथवा सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करने के कारण सबको स्थित रखता है, या सम्पूर्ण प्राणियों में निवास करता है, इसलिये यह वसु है। अन्तरिक्ष में ग्रह-नक्षत्र आदि के रूप से अथवा अन्तरिक्ष के रूप में रहता है, अतः अन्तरिक्षसद् कहा गया है। सभी भक्तों को स्त्रीय रूप में आहूत करता है, इसलिये इसे होता कहा गया है, क्योंकि उसके निर्देश से ही सबकी उसमें प्रवृत्ति होती है। आहवनीय रूप से यज्ञ-वेदि में अवस्थित रहता है, अतः 'वेदिषद्' है। अतिथि के

आह्वाता, तत्सङ्केतेनैव सर्वेषां तत्र प्रवृत्तेः। वेदिषत्, वेदौ यज्ञवेद्यामाहवनीयादिरूपेण सीदतीति वेदिषत्, 'ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' (भ० गी० ४।२४) इति स्मरणात्। अतिथिः, अतिथिरूपेणापि तस्यैव पूज्यत्वात्। दुरोणसद् दुरोणेषु समष्टिव्यष्टिवैराजहैरण्यगर्भाव्याकृतरूपेषु साक्षिरूपेणाधिष्ठानरूपेण सीदतीति दुरोणसत्। नृषत्, नृषु जीवेषु जीवान्तर्यामिरूपेण सीदतीति नृषत्। वरसत्, वरेषु श्रेष्ठेषु सीदति तत्तद्विभूतिरूपेणेति वरसत्, 'यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥' (भ० गी० १०।४१) इति भगवत्स्मरणात्। ऋतसद् ऋते सत्ये सीदतीति ऋतसत्, अत्यन्ताबाध्यत्वेन परमात्मन एव ऋतत्वात्। यद्वा ऋते यज्ञे सीदतीति ऋतसत्, तस्यैव सर्वयज्ञसमर्हणीयत्वात्, 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' (भ० गी० ९।२४) इति स्मृतेः। व्योमसद् व्योम्नि आकाशे मण्डलरूपेण तदधिष्ठानरूपेण वा सीदतीति व्योमसत्। अब्जा अप्सु मत्स्यादिरूपेण जायत इत्यब्जाः, अपो वा जनयतीत्यब्जाः। गोजा गवि पृथिव्यां वीरुदादिरूपेण जायत इति गोजाः, गा जनयतीति वा गोजाः। ऋतजा ऋतरूपेण सूनृता वाग्रूपेण जायत इति ऋतजाः। अद्रिजा अद्रौ पाषाणे अग्निरूपेण, मेघे वा उदकरूपेण जायत इत्यद्रिजाः। तद् ऋतं सर्वगतं ब्रह्म बृहद् ब्रह्मरूपमहमस्मीति स्वात्मतादात्म्येन प्रत्येतव्यमिति भावः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, भवन्तो यः परमेश्वरो हंसो यः संहन्ति सर्वान् पदार्थान् यः शुचिषु पवित्रेषु पदार्थेषु सीदतीति शुचिषत्। वसुः वस्ता वासयिता वा। अन्तरिक्षेऽवकाशे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होता दाता ग्रहीता अत्ता वा। वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषत्। अतिथिः, अविद्यमाना तिथिर्यस्य सः, तद्वत् पूज्यः। ऋतेषु सत्येषु प्रकृत्यादिषु सीदतीति ऋतसत्। योऽपो जनयति सोऽब्जाः। यो गाः पृथिव्यादीनि जनयतीति गोजाः। य ऋतं सत्यविद्यात्मकं वेदं जनयतीति ऋतजाः। अद्रिं महादिकं जनयतीति अद्रिजाः। ऋतं सत्यस्वरूपं बृहद् महद् ब्रह्म। शेषं पूर्ववत्। तमेवोपासीरन्' इति, तन्नातीवासङ्गतम्, तथापि केचिदंशा असङ्गता एव। यथा—यः संहन्ति पदार्थान् स हंस इति, समित्यस्य मूलबहिर्भूतत्वात्। अन्तरिक्षे अवकाशे

रूप में भी वही पूज्य है। समष्टि, व्यष्टि, वैराज, हैरण्यगर्भ, अव्याकृत रूपों में साक्षित्व से तथा अधिष्ठान रूप से अवस्थित रहने के कारण इसे 'दुरोणसत्' कहा गया है। जीवों में अन्तर्यामी रूप में रहने के कारण यह 'नृषद्' है। श्रेष्ठ जनों में तत्तद् बिभूतियों के रूप में रहने के कारण 'वरसद्' है। सत्य में स्थित रहने के कारण 'ऋतसद्' कहा गया है, क्योंकि अत्यन्त अबाधित होने के कारण परमात्मा ही सत्य है। अथवा यज्ञ में अवस्थित रहने के कारण ऋतसद् कहा जाता है, क्योंकि सभी यज्ञों से अर्चनीय वही है। आकाशमण्डल में अथवा उसके अधिष्ठान के रूप में रहने के कारण 'व्योमसद्' है। जल में मत्स्य आदि रूपों में उत्पन्न होने के करण या जल को उत्पन्न करने के कारण 'अब्जाः' कहा गया है। पृथ्वी पर लतौषधि आदि के रूप में उत्पन्न होने के कारण अथवा गायों को प्रादुर्भूत करने के कारण इसे 'गोजाः' कहा गया है। ऋत, अर्थात् सूनृता वाणी के रूप से प्रादुर्भूत होने के कारण 'ऋतजाः' है। पाषाणों में अग्निरूप से अथवा मेघों में जल के रूप से विद्यमान होने के कारण 'अद्रिजाः' है। भाव यह है कि उस सर्वव्यापी ब्रह्म का स्वरूप मैं ही हूँ, इस प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध से ज्ञान करना चाहिये।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्या यद्यपि पूर्णतः असंगत नहीं है, तथापि कुछ अंशों में विसंगति है। जैसे—जो पदार्थों का संहरण करता है वह हंस है, यहाँ 'सम्' उपसर्ग मूल से बहिर्भूत है। अन्तरिक्ष में, अर्थात् खाली स्थान में तो देवदत्त आदि प्राणी भी रहते ही हैं, अनवकाश स्थान में तो स्थिति ही संभव नहीं है। परमात्मा वेद की उत्पत्ति नहीं करता, क्योंकि 'वाचा विरूपनित्यया' इत्यादि वेदवचनों से वेद नित्य हैं। परमात्मा का सम्प्रदाय-

देवदत्तादयोऽपि तिष्ठन्त्येव, अनवकाशे स्थितेरेवासम्भवात्। परमात्मा च न वेदं जनयति, वेदस्य नित्यत्वात्, 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इति श्रुतेः। परमात्मनस्तु सम्प्रदायप्रवर्तकत्वमेव जनकत्वम्, नित्याया वाचोऽन्यादृशस्योत्सर्गस्यायोगात्, निःश्वासवद् बुद्धिप्रयत्नानपेक्षत्वेन परमात्मनः सम्भूतत्वेनापौरुषेयत्वात् ॥ २४ ॥

इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यूर्गस्यूर्जं मयि धेहि। इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहू अभ्युपावहरामि ॥ २५ ॥

'अनुवर्त्मौदुम्बरीᳪं शाखामुपगूहत्युपस्पृशति शतमाना वियदसीति' (का० श्रौ० १५।६।२९)। रथवाहनदक्षिणचक्रवर्त्मसमीपे शतमानौ सौवर्णौ वर्तुलौ मणी आबध्नीयात्। रक्तिकाशतेन शतमानः। तत्र बध्वा उपस्पृशेद्वा इयदस्यायुरिति मन्त्रेण, 'उत्तरेणाहवनीयं पूर्वाग्निरुद्धृतो भवति। स रथवाहनस्य दक्षिणमन्वनुष्यन्दᳪं शतमानौ प्रवृत्तावाबध्नाति' (श० ५।४।३।२४) इति श्रुतेः। तदर्थस्तु—पूर्वं स्वस्य भ्रातुरर्थाय गोः स्थापनकाले पूर्वाग्निवहनस्याहवनीयस्योत्तरतः—'रथवाहणस्य दक्षिणेऽन्ते शतमानावासजति वृत्तौ' (का० श्रौ० १५।६।२८) इति स्थापनमुक्तं कात्यायनेन, 'गवाᳪं शतमधिकं वा स्वस्याहवनीयस्योत्तरतः स्थापयति, पूर्वाग्निवहनं च साग्निम्' (का० श्रौ० १५।६।१३-१४) इति। तदिदानीं विधत्ते—उत्तरेणाहवनीयमिति पूर्वाग्निः शान्तिकपौष्टिकार्थीयोऽग्निः पूर्वाग्निः, स अनसा उद्धृत उद्धृतः स्थापितो भवति। रथवाहनस्य दक्षिणेंऽशे शतमानयोरासञ्जनम्, वर्त्मन्यौदुम्बर्याः शाखाया उपगूहनं च विधत्ते—अनुवर्त्मेति। दक्षिणम् अनुष्यन्दं प्रान्तमनु प्रवृत्तौ वर्तुलौ शतमानौ द्वौ रुक्मौ आबध्नाति आसज्जेत। 'औदुम्बरीᳪं शाखामुपगूहति। तयोरन्यतरमुपस्पृशतीयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेहीति तदायुर्वर्चं आत्मन् धत्ते' (श० ५।४।३।२५)। तयोः शतमानयोरन्यतरस्योपस्पर्शनं समन्त्रकं विधत्ते—औदुम्बरीमित्यादिना। शतमानदेवत्ये यजुषी।

मन्त्रार्थस्तु—हे रुक्म, त्वमियदसि एतावत्परिमाणं शतरक्तिकापरिमितमसि। आयुरसि जीवनमसि। तस्मादायुः शताब्दपरिमितं मयि धेहि। यो हि यदात्मको भवति स तावत्तद्दातुमुत्सहते। यस्मात् शतमानं हिरण्यं त्वमसि, तस्माच्छताब्दपरिमाणमायुर्मयि धेहीत्युव्वटाचार्यः। युङ्ङसि युनक्ति यज्ञं सम्भारसंग्रहेण दक्षिणादानं वेति युङ् असि। वर्चस्तेजोऽसि। मयि वर्चस्तेजो धेहि। श्रुतिरेव संगृह्याह—तदायुर्वर्चं आत्मन्

प्रवर्तक होना ही जनकत्व शब्द से संकेतित है, क्योंकि नित्य वेदवाणी की किसी दूसरे प्रकार के प्रवर्तक से सम्बद्धता संगत नहीं होती। निःश्वास की भाँति बुद्धि तथा प्रयत्न से निरपेक्ष होकर परमात्मा से आविष्कृत होने के कारण वेद का अपौरुषेयत्व सिद्ध माना गया है ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—हे शतमान! तुम सौ रत्ती के बराबर परिमाण वाले हो, तुम जीवन रूप हो। सुवर्ण दान से दीर्घायु प्राप्त होती है। मुझमें तुम प्राण का आधान करो। हे शतमान, तुम रथ में बद्ध और दक्षिणा से युक्त हो, तुम्हारे पहनने से तेज की वृद्धि होती है। तुम मेरे निमित्त तेज का आधान करो। हे उदुम्बरी, तुम अन्न-वृद्धि का कारण हो, गाड़ी में भरकर लाये गये अन्न को तुम मुझे प्रदान करो। पराक्रम से भरी हुई परम ऐश्वर्यवान् यजमान की हे दोनों भुजाओं, मैं तुम दोनों को मित्रावारुणी पयस्या के निमित्त नीचो करता हूँ ॥ २५ ॥

भाष्यसार—'इयदसि' इत्यादि कण्डिकागत मन्त्रों से दो शतमान मणियों का बन्धन तथा यजमान की

धत्त इति। तत् तेन मन्त्रपाठेन आत्मन्यायुर्वर्चश्च दधाति। 'अथौदुम्बरीᳫं शाखामुपस्पृशति। ऊर्गस्यूर्जं मयि धेहीति तदूर्जमात्मन् धत्ते तस्यैतस्य कर्मण एतावेव शतमानौ प्रवृत्तौ दक्षिणा तौ ब्रह्मणे ददाति ब्रह्मा हि यज्ञं दक्षिणतोऽभिगोपायति तस्मात्तौ ब्रह्मणे ददाति' (श० ५।४।३।२६)। शाखाया उपस्पर्शनं समन्त्रकं विधत्ते—अथौदुम्बरीमिति। तेनोर्जमात्मनि धत्ते। तस्यैतस्य शतमानौ प्रवृत्तौ तौ ब्रह्मणे ददाति, यतो ब्रह्मा दक्षिणतो यज्ञं गोपायति तस्मात्तौ ब्रह्मणे ददाति। 'तौ ब्रह्मणे दत्त्वोर्गसीति शाखामुपस्पृशति' (का० श्रौ० १५।६।३०) इति कात्यायनोऽपि। 'इन्द्रस्य वामित्यवहरते बाहू पयस्यायां व्याघ्रचर्मदेशे स्थितायाम्' (का० श्रौ० १५।६।३१)। अध्वर्युर्यजमानस्य प्रागूर्ध्वीकृतौ बाहू व्याघ्रचर्मणि पूर्वनिहिताया मैत्रावरुण्याः पयस्याया मध्येऽवहरति। बाहुदेवैत्यम्। वीर्यकृता वीर्यवत्कर्मकारिण इन्द्रस्यैश्वर्यवद् यजमानसम्बन्धिनौ हे बाहू, अहं वां युवामुपावहरामि मैत्रावरुणीपयस्यां प्रति नीचैः करोमि।

'अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यम्। मैत्रावरुणी पयस्या निहिता भवति तामस्य बाहू अभ्युपावहरतीन्द्रस्य···· बाहू अभ्युपावहरामीति पशूनां वा एष रसो यत्पयस्या तत्पशूनामेवास्यैतद्रसं बाहू अभ्युपावहरति तद्यन्मैत्रावरुणी भवति मित्रावरुणा उ हि बाहू तस्मान्मैत्रावरुणी भवति' (श० ५।४।३।२७)। मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पूर्वभागे व्याघ्रचर्मप्रदेशे मित्रावरुणदेवत्या पयस्या आमिक्षा निहिता भवति। तस्यां यजमानबाह्वोरवहरणं विधत्ते- तामस्य बाहू अभ्युपावहरतीति। अस्य सुन्वतो बाहू तां पयस्यामभिलक्ष्य उपावहरति पयस्यामभिलक्ष्य स्थापयामीति। बाहुप्रक्षेपं प्रशंसति—पशूनां वा इत्यादिना। पशूनां वा एष रसो यत्पयस्या, तेन पशुरसमभिलक्ष्य बाहू स्थापितवान् भवति। मैत्रावरुणत्वं प्रशंसति—तद्यन्मैत्रावरुणी भवतीति। 'मैत्रावरुण्या पयस्यया प्रचरति। तस्या अनिष्ट एव स्विष्टकृद्भवत्यथास्मा आसन्दीमाहरन्त्युपरिसद्यं वा एष जयति यो जयत्यन्तरिक्षसद्यं तदेनमुपर्यासीनमधस्ताद् इमाः प्रजा उपासते तस्मादस्मा आसन्दीमाहरन्ति सैषा खादिरी वितृण्णा भवति येयं वर्ध्रव्यूता भरतानाम्' (श० ५।४।४।१)। पयस्यायाः प्रचारं विधत्ते—पयस्यया प्रचरतीति। तस्याः पयस्यायाः स्विष्टकृद् अनिष्टोऽहुतो भवति, प्राक् स्विष्टकृतः पयस्यया प्रचरतीत्यर्थः, 'पयस्यया प्रचरति प्राक् स्विष्टकृतः' (का० श्रौ० १५।६।३३) इति कात्यायनोक्तेः। आसन्द्याहरणं विधत्ते—अथास्मा इति। आसन्द्या लक्षणं वाजपेयप्रकरण उक्तमेव। आसन्द्याहरणं प्रशंसति—उपरिसद्यमिति। सैषा खादिरी वितृण्णा सच्छिद्रा भवेत्। तस्या रज्जुव्यूतत्वं भवति। यजमानविशेषेण रज्जुविशेषं दर्शयति—वर्ध्रव्यूता इति। वर्ध्राश्चर्मरज्जवः, ताभिर्व्यूता सन्नद्धा भवति भरतानाम्। अन्येषां तु रज्जुमात्रमिति। कात्यायनो निर्विशेषमेव सूत्रितवान्— 'खादिरीमासन्दीᳫं रज्जूताम्' (का० श्रौ० १५।७।१४)। रज्जुसन्नद्धामिति।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वमौपाधिकरूपेण इयदसि एतावत्परिमाणः। शतवर्षपरिमाणमाह—सर्वप्रपञ्चात्मनाविर्भूतत्वात् त्वमेव आयुर्जीवनमसि, अत एतावत्परिमाणं शतवर्षपरिमितमायुर्मयि धेहि।

भुजाओं का अवक्षेप आदि कर्म अनुष्ठित किये जाते हैं। याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।२८-३१) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप औपाधिक रूप से परिणाम वाले हैं। शतवर्षात्मक परिमाण कहा जाता है। समस्त विश्वप्रपञ्च के रूप में आविर्भूत होने के कारण आप ही जीवनभूत हैं। अतः इस शतवर्षात्मक परिमाण की आयु मुझमें निहित करें। आप यज्ञ के द्वारा सभी पुरुषार्थों से संयुक्त करने वाले हैं, बलरूप हैं, अतः मुझमें बलाधान करें। हे परमैश्वर्यवान् बलप्रदान करने वाले श्रीराम से सम्बद्ध दोनों बाहुओं!

युङ्ङसि यज्ञेन सर्वपुरुषार्थेन युनक्तीति युङ् असि। वर्चोऽसि वर्चस्तेजो मयि धेहि। इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्य रामस्य वीर्यकृतो बलकृतो वा सम्बन्धिनौ हे बाहू, वां युवाम् अभ्यवहरामि आत्मरक्षार्थं पुरतः स्थापयामि।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मन्, त्वमायुरसि इयदसि आयुर्मयि धेहि। यस्त्वं युङ् सर्वेषां समाधातासि, वर्चोऽसि योगजं वर्चो मयि धेहि। त्वमूर्गसि बलवानसि ऊर्जं बलपराक्रमं मयि धेहि। वां युवयो राजप्रजाजनयोर्वीर्यकृतः वीर्यकारिण इन्द्रस्याश्रयेण बाहू बलवीर्ये अहमभ्युपावहरामि युवयोः समीपे स्थापयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बाहुपदस्य बलवीर्यार्थत्वे मानाभावात्। सम्बोधनमपि मनःकल्पितत्वान्निर्मूलमेव ॥ २५ ॥

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि। स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद ॥ २६ ॥

'उत्तरवेदिꣳ हृत्वा पयस्यया प्रचरति प्राक् स्विष्टकृतः, खादिरीमासन्दीꣳ रज्जूतां व्याघ्रचर्मदेशे निदधाति स्योनासीति' (का० श्रौ० १५।६।३३, १५।७।१)। तां पयस्यामुत्तरवेदिं नीत्वा स्विष्टकृद्धोमात् प्राग् रज्जुभिर्व्यूतां खादिरीमासन्दीं मञ्चिकां व्याघ्रचर्मप्रदेशे मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरो निदधाति स्योनासीति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु—हे आसन्दि, त्वं स्योना सुखरूपासि सुखकरी भवसि। सुषदासि सुखेन सीदन्ति यस्यां सा सुषदाऽसि सुखेनोपवेष्टुं शक्यासि। 'स्योनमिति सुखनाम' (निघ० ३।६।१५)। 'अधीवासमस्यामास्तृणाति क्षत्रस्य योनिरिति' (का० श्रौ० १५।७।२)। क्षत्रस्य योनिरिति मन्त्रेण आसन्द्यां सर्वतश्छादनपर्याप्तं महावस्त्रं चित्रकम्बलादिकं वा वस्त्रमाच्छादयति। अधीवासदैवतम्। अधीवास आस्तरणं चित्रकम्बलादिकम्। हे अधीवास, त्वं क्षत्रस्य क्षत्रियस्य योनिर्मातृवद्धारकत्वेन कारणमसि, योनिः स्थानं वासि। 'सुन्वन्तमस्यामुपवेशयति स्योनामासीदेति' (का० श्रौ० १५।७।३)। आसन्द्यां यजमानं स्थापयेत्। यजमानदेवत्यम्। हे यजमान, स्योनां सुखकरीमासन्दीमासीद आरोह। सुषदां सुखोपवेशनयोग्यामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद।

'तामग्रेण। मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यं निदधाति स्योनासि सुषदासीति शिवामेवैतच्छग्मां करोति' (श० ५।४।४।२)। आसन्द्या निधानप्रदेशं विधत्ते—तामग्रेणेति। तदर्थं मन्त्रं विधत्ते—स्योनेति। मन्त्रं विवृणोति—शिवां शग्मां सुखकरीमिति। 'अथाधीवासमास्तृणाति। क्षत्रस्य योनिरसीति तद्यैव क्षत्रस्य

तुम दोनों को मैं आत्मरक्षा के लिये संमुख स्थापित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में बाहु शब्द का बल-वीर्य अर्थ करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अनौचित्य है। संबोधन भी स्वकल्पित होने के कारण प्रमाण से रहित है ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हे व्यूता आसन्दी, तुम सुखरूप हो तथा सुख से बैठने योग्य हो। हे अधीवास, तुम क्षात्र धर्म का पालन करने वाले इस यजमान के आधार के लिये उपयुक्त स्थान हो। हे यजमान, आराम देने वाली इस आसन्दी पर सुखपूर्वक बैठो। यह अधिवास और यह आसन्दी तुम्हारे जैसे राजपुरुष के बैठने का उपयुक्त स्थान है, इस पर आराम से बैठो ॥ २६ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।३३, १५।७।१-३) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'स्योनासि' इस कण्डिका के मन्त्रों से खदिर के काष्ठ से निर्मित आसन्दी का स्थापन तथा उस पर आच्छादन (बिछाने) के

योनिस्तामेवैतत्करोति' (श० ५।४।४।३)। स्पष्टार्थम्। 'अथैनमासादयति। स्योनामासीद सुषदामासीदेति शिवाᳯ शग्मामासीदेत्येवैतदाह क्षत्रस्य योनिमासीदेति तद्यैव क्षत्रस्य योनिस्तस्यामेवैनमेतद्दधाति' (श० ५।४।४।४)। अस्यां सुन्वत उपवेशनं समन्त्रकं विधत्ते—**अथैनमिति**।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मविद्ये भक्ते वा, त्वं स्योना सुखरूपासि परमानन्दब्रह्मप्रापकत्वात् सुषदासि सुखेन सीदन्ति ब्रह्मणि यया सा तादृशी असि। क्षत्रस्य पालकराजर्षिकुलस्य योनिः कारणमसि, ब्रह्मविद्यया भक्त्या वा पालनशक्तिसम्पत्तेः, 'इमं राजर्षयो विदुः' (भ० गी० ४।२) इति गीतोक्तेः। हे साधक, त्वं स्योनां सुखकरीं सुषदां ब्रह्मनिष्ठाहेतुभूतां ब्रह्मविद्यां भक्तिं वा आसीद आश्रय।

दयानन्दस्तु—'हे राज्ञि, यतस्त्वं स्योनासि सुषदा या शोभनव्यवहारे सीदति सा, क्षत्रस्य राज्यन्यायस्य योनिः गृहे न्यायकर्त्री असि, तस्मात् स्योनां सुखकारिकां सुशिक्षां सुषदां शुभसुखदात्रीं विद्यां क्षत्रस्य क्षत्रियकुलस्य योनिं राजनीतिमासीद सुखकर्यां शिक्षया तत्पराभव। सुखदायां विद्यायाम् आसीद सम्यक् प्राप्नुहि। क्षत्रस्य योनिं राजनीतिमासीद' इति, तथा हिन्दीव्याख्याने—'सर्वा नारीर्ज्ञापय' इति, तत्सर्वमपि हेयम्, स्वेच्छामयव्याख्यानत्वात्। शतपथश्रुतावासन्द्याः सम्बोधनीयत्वेन राज्ञ्योऽप्रसक्तेः। आसीदेत्यस्य विविधार्थतापि चिन्त्यैव। सुषदा इत्यस्य सुखदा इति व्याख्यानं तु प्रमादविलसितमेव ॥ २६ ॥

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ २७ ॥

'निषसादेत्युरोऽस्यालभते' (का० श्रौ० १५।७।४)। अध्वर्युर्यजमानहृदयं स्पृशति। वरुणदेवत्या गायत्री शुनःशेपदृष्टा। अधियज्ञं यजमानो वरुणः, निषसाद निषण्णः। कथंभूतोऽसौ? धृतव्रतः, धृतमनुष्ठितं व्रतं कर्म येन सः। कुत्र निषसादेति? पस्त्यासु विक्षु प्रजासु। कीदृशो वरुणः? वारयत्यनिष्टमिति वरुणः। तथा सुक्रतुः शोभनसङ्कल्पः शोभनप्रज्ञो वा। किमर्थं निषसाद? साम्राज्याय, सम्राजो भावः साम्राज्यम्, तस्मै सम्राड्भावाय राज्याय। यद्वा—अयं यजमानो धृतव्रतः स्वीकृतयज्ञो नियमितवचनादिव्यापारो वरुणोऽनिष्टनिवारको भूत्वा

लिये विस्तृत वस्त्र अथवा कम्बल लेकर बिछाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे ब्रह्मविद्या अथवा भक्ति! तुम सुखरूपिणी हो, क्योंकि परमानन्द ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली हो। जिसके द्वारा ब्रह्म में सुखपूर्वक स्थित रहते हैं, इस प्रकार की हो। पालन करने वाले राजर्षिकुल की कारणभूता हो, क्योंकि ब्रह्मविद्या अथवा भक्ति से ही पालन शक्ति की उपलब्धि होती है। हे साधक, तुम सुखकारिणी तथा ब्रह्मनिष्ठा की कारणरूपा ब्रह्मविद्या अथवा भक्ति का आश्रय ग्रहण करो।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्याओं में स्वेच्छाचारिता से किये गये 'समस्त नारियों को बतलाओ' इत्यादि अर्थों के कारण अग्राह्यता है। शतपथ श्रुति में आसन्दी को सम्बोधित करने के कारण रानी का यहाँ प्रसंग नहीं है। 'आसीद' इस पद के विविध अर्थ करना भी चिन्ताजनक ही है। 'सुषदा' शब्द की 'सुखदा' के रूप में व्याख्या करना तो प्रमाद के कारण ही है ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञलक्षण व्रत को धारण करने वाले, श्रेष्ठ संकल्प से युक्त, अनिष्ट के निवारण में समर्थ इस यजमान ने सम्राट् पद की प्राप्ति के लिये प्रजाओं के अधिपति के रूप में अपनी स्थिति बनाई है ॥ २७ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।७।४) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'निषसाद' यह ऋचा

अस्यामासन्द्यामुपरिदेशे निषसाद निषण्णः, पस्त्यासु बहुषु वैरिगृहेषु विक्षु प्रजासु चागत्य साम्राज्यं कर्तुं सुक्रतुः शोभनसङ्कल्पो भवतु।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथान्तराᳪ सेऽभिमृश्य जपति। निषसाद धृतव्रत इति धृतव्रतो वै राजा न वा एष सर्वस्मा इव वदनाय न सर्वस्मा इव कर्मणे यदेव साधु वदेद्यत्साधु कुर्यात् तस्मै वा एष च श्रोत्रियश्चैतौ ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ तस्मादाह निषसाद धृतव्रत इति वरुणः पस्त्यास्वेति विशो वै पस्त्या विक्ष्वेत्येवैतदाह साम्राज्याय सुक्रतुरिति राज्यायेत्येवैतदाह यदाह साम्राज्याय सुक्रतुरिति' (श० ५।४।४।५)। हृदयदेशादिस्पर्शपूर्वकं जपं विधत्ते अथान्तरांस इति। अंसमध्येऽभिमृश्य जपेत्। प्रतिपादमनूद्य मन्त्रं व्याचष्टे—धृतव्रत इति। धृतव्रतत्वं दर्शयति—न वेति। एष यजमानः सर्वस्मै वदनाय असम्बद्धप्रलापाय, अनुपयुक्तकर्मणे वा योग्यो न भवति। कस्मै योग्य इति तदाह—यदेवेति। तस्मै साधुवदनाय साधुकर्मणे च। एष सुन्वन् राजा श्रोत्रियश्च ब्राह्मण उभावर्हौ भवतः। एतयोर्नियतव्रतत्वमाह—एतौ ह वा इति। मनुष्येषु मध्ये धृतव्रतौ। श्रोत्रियोऽपि न बहुभाषो न वा असाधुकर्मकारी। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे त्रिपुरसुन्दरि, अयं त्वद्भक्तो धृतव्रतः स्वीकृतत्वदाराधनव्रतः, वरुणो वारितक्रोधकामादिदोषः, सुक्रतुः शुभसङ्कल्पः, साम्राज्याय ब्रह्मभावेन देदीप्यमानो भवितुं पस्त्यासूपासनामण्डपेषु, आससाद सम्यङ्निषण्ण आस्थितः।

दयानन्दस्तु—'हे राज्ञि, यथा तव धृतव्रतो धृतानि सत्याचरणब्रह्मचर्यादीनि व्रतानि येन सः, सुक्रतुः शोभना क्रतुः प्रज्ञा क्रिया वा यस्य सः। वरुणः पुरुषोत्तमः पतिः साम्राज्याय सम्राजां भावाय कर्मणे वा पस्त्यासु न्यायगृहेषु, आसमन्ताद् निषसाद नित्यं सीदतु। तथा तत्र त्वमपि न्यायं कुरु' इत्यादिकम्, तत्सर्वमपि यत्किञ्चित्, राज्ञ्या अत्र सम्बोध्यत्वे मानाभावात्, 'तथा त्वमपि न्यायं कुरु' इत्यादिकं निर्मूलमेव, मन्त्रबाह्यत्वात् ॥ २७ ॥

अ॒भि॒भूर॑स्ये॒तास्ते॒ पञ्च॒ दिशः॑ कल्पन्तां॒ ब्रह्मँ॒स्त्वं ब्र॒ह्मा॑सि सवि॒तासि॑ स॒त्यप्र॑सवो॒ वरु॑णोऽसि स॒त्यौजा॒ इन्द्रो॑ऽसि॒ विशौ॑जा रु॒द्रो॑ऽसि सु॒शेवः॑। बहु॑कार॒ श्रेय॑स्कर॒ भूय॑स्कु॒रेन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि॒ तेन॑ मे रध्य ॥ २८ ॥

अध्वर्यु द्वारा यजमान के हृदय के स्पर्श में विनियुक्त की गई है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुरूप व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे त्रिपुरसुन्दरि ! आपका यह भक्त आपकी आराधना का व्रत स्वीकार कर, क्रोध-काम आदि दोषों का निवारण करता हुआ शुभ संकल्प से युक्त ब्रह्मभाव से प्रकाशित होने के लिये उपासना-मण्डपों में सम्यक् रूप से आसीन है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ कल्पनाप्रसूत है। इस ऋचा में रानी को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण असंगत भी है। 'तुम भी न्याय करो' यह सब कल्पना मन्त्रगत शब्दों से बहिर्भूत होने के कारण अप्रामाणिक ही है ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान ! पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व दिशा को जीत कर तुम सारे जगत् को अपने वश में कर लो। हे ब्रह्मन्, तुम ब्रह्मा की महिमा वाले हो। हे यजमान, तुम महान् महिमा वाले हो, तुम्हारी आज्ञा

'अभिभूरित्यस्मै पञ्चाक्षान् पाणावाधाय पश्चादेनं यज्ञियवृक्षदण्डैः शनैस्तूष्णीं घ्नन्ति' (का० श्रौ० १५।७।५)। अस्य यजमानस्य हस्ते द्यूतसाधनभूतान् पञ्च अक्षान् सौवर्णकपर्दान् निधाय पश्चाद् यजमानपृष्ठे यजमानं यज्ञियवृक्षदण्डैस्तूष्णीं शनैः शनैः कुट्टयन्त्यध्वर्य्वादयः। अक्षा यजमानो वा देवता। कृत-त्रेता-द्वापर-कलयश्चत्वारोऽक्षाः पञ्चमो रमणः। तत्र कलिः सर्वानन्यानभिभवति यः स यजमानः, तत्सम्बन्धेन अभिभूरसि अभिभवितासि। एतास्तव पञ्च दिशः कपर्दिकोपलक्षिताः कल्पन्तां क्लृप्ता भवन्तु। ब्रह्मन्निति यजमानः प्रथमं ब्रह्माणमामन्त्रयते। त्वं ब्रह्मासि महानसि सवितासि प्रेरकोऽसि सत्यप्रसवोऽसि सत्याभ्यनुज्ञोऽसि। ब्रह्माह— त्वमेव ब्रह्मासि सवितासि सत्याभ्यनुज्ञश्चासि। द्वितीयं प्रत्याह—त्वं ब्रह्मासि वरुणोऽसि अनिष्टनिवारकोऽसि सत्यौजा अमोघवीर्योऽसि। तृतीयं प्रत्याह—त्वं ब्रह्मासि, इन्द्रश्च त्वमसि ऐश्वर्यवानसि विशौजाः, विश् ओजो यस्य स विडौजा इत्येवं प्राप्ते विक्षु प्रजासु ओजो यस्य स विशौजा इति छान्दसः समासः। अत एव पदकारोऽपि नावगृह्णाति। चतुर्थं प्रत्याह—त्वं ब्रह्मासि रुद्रश्च त्वमसि शत्रूणां रोदयितृत्वाद्रुद्ररूपोऽसि, सुशेवः शोभनसुखयिता सुमङ्गलनामानं ध्वनयति, बहुकारो बहु करोतीति तथोक्तः, श्रेयस्करः श्रेयः करोतीति, भूयस्करो भूयः करोतीति। स्फ्यमस्मै प्रयच्छति इन्द्रस्य वज्रोऽसि। 'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार' इत्युपक्रम्य 'तस्य स्फ्यस्तृतीयम्' (श० १।२।४।१) इत्यादिना श्रुतिग्रन्थ उक्तः। अतस्त्वां ब्रवीमि तेन हेतुना मे यजमानं रध्य वशवर्तिनं कुरु, रध्यतिर्वशकर्मा।

यद्वा हे अक्ष देव, त्वम् अयानां गत्युपलक्षितसत्कर्मणामभिभूरसि अभितो व्याप्तोऽसि। एताः प्राच्यादयो दिशस्ते त्वदर्थं कल्पन्ताम्, त्वत्प्रयोजनसमर्था भवन्। 'वरं वृत्वा ब्रह्मन्नित्यामन्त्रयते पञ्चकृत्वः, प्रत्याह व्यत्यासꣳ सविता वरुण इन्द्रो रुद्र इति त्वं ब्रह्मासीत्यादिभिः, आदिनैवान्तम्' (का० श्रौ० १५।७।७-९) इति कात्यायनः। आसन्द्यामुपविष्टो यजमानो राजा स्वमेवार्थं भूमा उपविष्टान् अध्वर्युप्रभृतींश्चतुरृत्विजः क्रमेण ब्रह्मन्नित्यनेन सम्बोधनं प्रथमैकवचनान्तरूपेण पदेनामन्त्रयेत्। हे ब्रह्मन्, त्वामभिमन्त्रय इति शेषः। पुरुषं सुमङ्गलं प्रियङ्कर-नाम्ना सम्बोधयेत्। एवं पञ्चकृत्वः सम्बोधने सति ऋत्विजो मन्त्रेण प्रत्युत्तरं दद्युः। चतुर्णामपि प्रत्युत्तराणां त्वं ब्रह्मासीत्येवं प्रयोगः। उत्तरभागश्चतुर्णां चतुर्विधः। सवितासि सत्यप्रसव इति प्रथमस्य मन्त्रस्योपरितनो भागः। द्वितीयस्य वरुणोऽसि सत्यौजाः। तृतीयस्येन्द्रोऽसि विशौजा इति। चतुर्थस्य रुद्रोऽसि सुशेव इति। व्यत्यास-मित्यस्यायमर्थः—ब्रह्मन्निति सम्बोधने, तेन प्रत्युत्तरे दत्ते पश्चाद् द्वितीयं सम्बोधयेत्, एवमुत्तरत्रापि। प्रथमे प्रत्युत्तरमन्त्रः—त्वं ब्रह्मासीति प्रथमभागं पठित्वा सवितासीत्याद्युत्तरभागं पठेत्। हे ब्रह्मन् अध्वर्युरूपब्राह्मण, त्वं ब्रह्मासि। एवं चतुर्णामृत्विजामामन्त्रणरूपो मन्त्रः। प्रथममामन्त्रितस्य ऋत्विज उत्तरं ब्रूते—हे राजन्, त्वमेव ब्रह्मासि ब्राह्मणोऽसि न त्वहम्। कुतः ? यतस्त्वमेव सवितासि ब्राह्मणधर्मान् पालयन् अस्माकमनुष्ठानाय अनुज्ञाता प्रेरकोऽसि सत्यप्रसवोऽमोघानुज्ञः, अतो ब्राह्मणादिवर्णाश्रमधर्माणां त्वदधीनत्वात् त्वमेव ब्रह्मासि।

का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। प्रजा वर्ग के नियन्ता होने से तुम सविता हो। हे यजमान, तुम अमोघ वीर्य वाले हो, प्रजा वर्ग के अनिष्ट का निवारण करने में समर्थ होने से तुम वरुण हो। हे महिमायुक्त यजमान, तुम ऐश्वर्यसम्पन्न हो, देश की शान्ति की रक्षा करने में समर्थ होने से इन्द्र हो। हे महान् महिमा वाले यजमान, तुम आश्रित जनों को सुख देने वाले तथा शत्रुओं को रुलाने वाले रुद्र हो। हे यजमान, तुम महामहिमाशाली होने से ब्रह्मा हो। तुम सभी कार्यों को कुशलतापूर्वक पूरा करने में निपुण हो। हे स्फ्य, तुम इन्द्र के वज्र हो। इस कारण मेरे यजमान के वशवर्ती होकर सब कार्य पूरे करो॥ २८॥

भाष्यसार—'अभिभूरसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत यजमान के हाथों में पाँच

द्वितीयमामन्त्रितस्य ऋत्विज उत्तरं मन्त्रस्योत्तरभागं ब्रूते—हे राजन्, त्वं वरुणोऽनिष्टनिवारकोऽसि, सत्यौजा अमोघवीर्योऽसि। तृतीयमामन्त्रितस्य ऋत्विज उत्तरं मन्त्रस्योत्तरभागं ब्रूते—हे राजन्, त्वमिन्द्रोऽसि परमैश्वर्यवानसि विशौजाः, छान्दसं रूपम्। विक्षु प्रजासु ओजो बलं यस्य स विशौजाः, विश एव वा ओजो यस्य सः। चतुर्थस्योत्तरमुत्तरभागमाह—हे राजन्, त्वं रुद्रोऽसि सुशेवः सुष्ठु सुखरूपोऽसि। पुरोहितस्य पञ्चमस्य—हे बहुकार बहु कार्यं करोतीति बहुकारः, श्रेयः करोतीति श्रेयस्करः, भूयो भूयो बहुतरं करोतीति भूयस्कर इति तेषां सम्बोधनानि। हे कल्याणनामन्, त्वामाह्वय इति शेषः। स्फ्यमस्मै प्रयच्छति। पुरोहितोऽध्वर्युर्वा इन्द्रस्य वज्रोऽसीति मन्त्रेण यजमानाय स्फ्यं प्रयच्छति। हे स्फ्य, त्वमिन्द्रस्य सम्बन्धी वज्रोऽसि, 'वज्रो वै स्फ्यः' (श० ५।४।४।१८) इति श्रुतेः। यस्मादेवं तस्मान्मदर्थं रध्य परिलेखनरूपं कार्यं साधय।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथास्मै पञ्चाक्षान् पाणावावपति। अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तामित्येष वा अयानभिभूर्यत् कलिरेष हि सर्वानयानभिभवति तस्मादाहाभिभूरसीत्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तामिति पञ्च वै दिशस्तदस्मै सर्वा एव दिशः कल्पयति' (श० ५।४।४।६)। यजमानहस्ते पञ्चाक्षावापं विधत्ते—अथास्मा इति। अक्षा नाम कपर्दकाः सौवर्णाः, विभीतकफलानि सौवर्णानि वेत्येके। ते चाक्षा द्यूतस्थाने निवपनीयाः। तेषां चतुर्णामक्षाणां कृतसंज्ञा, पञ्चमस्य कलिसंज्ञा। तथा च शाखान्तरे स्तोमसंख्यायां कृतादिव्यवहारः कृतः—'ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तदथ ये पञ्च कलिः सः' इति। यदा पञ्चाप्यक्षा उत्ताना भवन्ति, तदा देवितुर्जयो भवति, पञ्चसु त्वेकरूपासु जय एव भविष्यतीत्यन्यत्रोक्तम्। अतः कलेः सर्वाभिभावकत्वात् सुन्वतोऽपि जयापेक्षत्वात् पञ्चाक्षनिवापो भवति। तथा च मन्त्रे कलिर्वा तत्सम्बन्धाद्यजमानो वा उच्यते। हे यजमान, त्वमभिभूरितरेषामक्षाणामभिभविता भवसि। तदर्थमेताः पञ्च दिशः कल्पन्तां स्वाधीना भवन्त्विति। मन्त्रं व्याचष्टे—एष वा अयानिति। अयशब्दोऽक्षवाची। कलिर्हि सर्वानयानक्षानभिभवति, अधिकसंख्यावत्त्वात्। एषोऽपि यजमानस्तत्सम्बन्धादभिभावको भवति। 'अथैनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति तं दण्डैर्घ्नन्तो दण्डवधमतिनयन्ति तस्माद्राजाऽदण्ड्यो यदेनं दण्डवधमतिनयन्ति' (श० ५।४।४।७)। विधत्ते—अथैनमिति। दण्डैर्यज्ञियवृक्षकाष्ठैः, एनं सुन्वन्तं राजानं पृष्ठतः पश्चाद्भागे तूष्णीममन्त्रकं घ्नन्ति हन्युः। अत्र सूत्रकारः समन्त्रकमवहननं विकल्पेन दर्शयामास—'पश्चादेनं यज्ञियवृक्षदण्डैः शनैस्तूष्णीं घ्नति, पाप्मानं तेऽपहन्मीति त्वा वधं नयामीति वा' (का० श्रौ० १५।७।५-६)।

'अथ वरं वृणीते। यᳪ ह वै कं च सुषुवाणो वरं वृणीते सोऽस्मै सर्वः समृद्ध्यते तस्माद्वरं वृणीते' (श० ५।४।४।८)। विधत्ते—वरं वृणीत इति। सुषुवाणो यजमानः। वरवरणं प्रशंसति—सोऽस्मा इत्यादिना। यं वरं वृणीते, सोऽस्मै सर्वः समृद्ध्यत इति। 'स ब्रह्मन्नित्येव प्रथममामन्त्रयते। ब्रह्म प्रथममभिव्याहराणि ब्रह्मप्रसूतां वाचं वदानीति तस्माद् ब्रह्मन्नित्येव प्रथममामन्त्रयते त्वं ब्रह्माऽसीतीतरः प्रत्याह सविताऽसि सत्यप्रसव इति वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति सवितारमेव सत्यप्रसवं करोति' (श० ५।४।४।९)। वरं वृत्वा ब्रह्मन्नित्यामन्त्रयते पञ्चकृत्वः। 'प्रत्याह व्यत्यासᳪ सविता वरुण इन्द्रो रुद्र इति त्वं ब्रह्मासीत्यादिभिः' (का० श्रौ० १५।७।७-८)। यजमानो राज्यं मेऽस्त्वित्यादिना अभीष्टं वरं प्रार्थयित्वा पञ्चवारं ब्रह्मन्निति मन्त्रेण ब्रह्माणमामन्त्रयेत। एवमामन्त्रितो ब्रह्मा त्वं ब्रह्माऽसीत्यादिभिः, सविताऽसि, वरुणोऽसि, इन्द्रोऽसि, रुद्रोऽसि—इत्येतैर्मन्त्रैर्व्यत्यासं यजमानं प्रत्याह। तेन चतुर्णामपि मन्त्राणामादौ त्वं ब्रह्मासीति प्रयोगः। आदौ यजमानो ब्रह्मन्नित्यामन्त्रयते। ततो ब्रह्मा त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसव इत्याह। पुनर्यजमानो ब्रह्मनिति ब्रह्माण-

---

स्वर्णमय पासे रखकर यज्ञिय वृक्ष के दण्डों से उसकी पीठ पर धीरे-धीरे ताडन, यजमान द्वारा वर की प्रार्थना,

मामन्त्रयते। ब्रह्मा त्वं वरुणोऽसि सत्यौजा इति प्रत्याह। पुनर्यजमानो ब्रह्मन्निति ब्रह्माणमामन्त्रयते, ब्रह्मा च त्वं ब्रह्मासि, इन्द्रोऽसि विशौजा इत्याह। पुनर्यजमानो ब्रह्मन्नित्यामन्त्रयते ब्रह्माणम्, ब्रह्मा त्वं ब्रह्मासि रुद्रोऽसि सुशेव इत्याह। 'आदिनैवान्त्यम्' (का० श्रौ० १५।७।९)। अन्त्यं पञ्चमं प्रतिवचनमादिनैव त्वं ब्रह्मासीत्येतावतैव मन्त्रेण कार्यं ब्रह्मणेति इति सूत्रार्थः। तदिदं क्रमेण विधत्ते—स ब्रह्मन्नित्यादिना। स ब्रह्मन्नित्येव प्रथममामन्त्रयते। प्रथमं पूर्वम्। प्रथमप्रतिवचनमन्त्रस्यार्थः—हे यजमान, त्वं ब्रह्मासि सत्यप्रसवो यथार्थाभ्यनुज्ञः सवितासीति प्रथममामन्त्रयितारं सुन्वतं ब्रह्मा प्रतिब्रूयात्। सवित्रादिवाचकैर्मन्त्रैः प्रतिवचनेन यजमानं तत्तद्देवतात्मकत्वेन कृतवान् भवति। वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति।

'ब्रह्मन्नित्येव द्वितीयमामन्त्रयते। त्वं ब्रह्मासीतीतरः प्रत्याह वरुणोऽसि सत्यौजा इति वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति वरुणमेव सत्यौजसं करोति' (श० ५।४।४।१०)। 'ब्रह्मन्नित्येव तृतीयमामन्त्रयते। त्वं ब्रह्मासीतीतरः प्रत्याहेन्द्रोऽसि विशौजा इति वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधातीन्द्रमेव विशौजसं करोति' (श० ५।४।४।११)। 'ब्रह्मन्नित्येव चतुर्थमामन्त्रयते····रुद्रोऽसि सुशेव इति तद्वीर्याण्येवास्मिन्नेतत्पूर्वाणि दधात्यथैनमेतच्छमयत्येव तस्मादेष सर्वस्येशानो मृडयति यदेनꣳ शमयति' (श० ५।४।४।१२)। द्वितीयादिमन्त्रेषु त्वं ब्रह्मासीति पूर्ववत्। सत्यौजाः सत्यवीर्यः, वरुणो विक्षु प्रजासु ओजो बलं यस्य, यद्वा विश एवौजो यस्येति तादृश इन्द्रोऽसि। देवतापक्षे मरुतो विशस्तदात्मकाः। राजपक्षे प्रजाः। सुशेवः सुमुखो रुद्रोऽसि। रुद्रस्य सुशेवत्वं प्रशंसति—तद्वीर्याणीति। ईशानस्य सर्वसुखकरत्वात् तदुक्तमन्त्रप्रतिवचनेन यजमाने स्थापितानि वीर्याणि शमयति वीर्यवन्तमेनं करोति, रुद्रोऽसि सुशेव इति सुखत्वप्रतिपादनात्। 'ब्रह्मन्नित्येव पञ्चममामन्त्रयते। त्वं ब्रह्मासीतीतरोऽनिरुक्तं प्रत्याह परिमितं वै निरुक्तं तत्परिमितमेवास्मिन्नेतत्पूर्वं वीर्यं दधात्यथानिरुक्तं प्रत्याहापरिमितं वा अनिरुक्तं तदपरिमितमेवास्मिन्नेतत् सर्वं वीर्यं दधाति तस्मादत्रानिरुक्तं प्रत्याह' (श० ५।४।४।१३)। यजमानकर्तृक-पञ्चमामन्त्रणस्य प्रतिवचने विशेषं दर्शयति—त्वं ब्रह्मासीति। अनिरुक्तं कस्यचिदपि देवताविशेषस्य प्रतिपादका-निरुक्तवचनापरिमितमेवास्मिन् वीर्यं दधाति। निःशेषे वक्तुं योग्यं निरुक्तं परिमितम्, तत्पूर्वमन्त्रेषु सवितासी-त्यादिषु कृतम्। अत्रानिरुक्तप्रतिवचने यजमानेऽपरिमितमेव वीर्यं स्थापितवान् भवति। 'अथ सुमङ्गलनामानꣳ ह्वयति। बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेति य एवंनामा भवति कल्याणमेवैतन्मानुष्यै वाचो वदति' (५।४।४।१४)। 'बहुकारेति च ह्वयत्येवं नामानम्' (का० श्रौ० १५।७।१०)। यजमानो बहुकारेत्यादिनामानं पुरुषमाह्वयेत्। यद्वा सुमङ्गलनामानमाहूय बहुकारेति मन्त्रेण यजमानं कीर्तयेत्। पदत्रयं सम्बुद्ध्यन्तम्। बहु करोतीति बहुकारः, 'कर्मण्यण्' (पा० सू० ३।२।१) इत्यण्। श्रेयः करोतीति श्रेयस्करः, 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (पा० सू० ३।२।२०) इति टच्। भूयो भूयो महत्तरं करोतीति भूयस्करः। य एव पुरुषः प्रियङ्करनामा भवति, स मानुष्या वाचः कल्याणं सर्वेषां प्रियमेव वदति।

'अथास्मै ब्राह्मणः स्फ्यं प्रयच्छति। अध्वर्युर्वा यो वास्य पुरोहितो भवतीन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्येति वज्रो वै स्फ्यः स एतेन वज्रेण ब्राह्मणो राजानमात्मनोऽबलीयाꣳसं कुरुते यो वै राजा ब्राह्मणा-दबलीयानमित्रेभ्यो वै स बलीयान् भवति तदमित्रेभ्य एवैनमेतद्बलीयाꣳसं करोति' (श० ५।४।४।१५)। अत्र कात्यायन उत्तरं तन्त्रं संगृह्य दर्शितवान्—'स्फ्यमस्मै प्रयच्छति पुरोहितोऽध्वर्युर्वेन्द्रस्य वज्र इति, राजा राजभ्राता सूतस्थपत्योरन्यतरो ग्रामणीः सजातश्चैवं पूर्वः पूर्व उत्तरस्मै' (का० श्रौ० १५।७।११-१२)।

ब्रह्मा आदि का आह्वान और यजमान को 'स्फ्य' नामक यज्ञायुध प्रदान किया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र

अस्मै यजमानाय पुरोहितोऽध्वर्युर्वा इन्द्रस्य वज्रोऽसीति मन्त्रेण स्फ्यं प्रयच्छति। राजादीनां पञ्चानां मध्ये प्रथमो राजादिरुत्तरस्मै राजा राजभ्रात्रे, स च सूतस्थपत्योरन्यतरस्मै। सूतोऽश्वपोषकः, स्थपतिर्ग्रामेश्वरः, ग्रामणीः ग्रामस्य नेतृत्वेन महत्तरः। अथास्मै सुन्वते स्फ्यं ब्राह्मणो दद्यात्।

मन्त्रार्थस्तु—हे स्फ्य! त्वमिन्द्रस्य वज्रोऽसि, 'स्फ्यस्तृतीयं रथस्तृतीयम्' (तै० सं० ५।२।६।२) इत्यादि श्रुतेः। तेन कारणेन मे मम रध्य द्यूतस्थानपरिलेखनरूपं कार्यं साधय। मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—वज्रो वै स्फ्य इति। अयमर्थः—ब्रह्मणो राज्ञे वज्ररूपस्फ्यप्रदानेन स्वस्मादबलीयांसमपि राजानं बलवत्तरं कृतवान् भवति। तदेवाह—यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयानमित्रेभ्यो वै स बलवान् भवति। तस्माद् ब्राह्मणः स्फ्यप्रदानेन शत्रुभ्योऽधिकबलं कृतवान् भवति। 'तꣳ राजा राजभ्रात्रे प्रयच्छति। इन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्येति तेन राजा राजभ्रातरमात्मनोऽबलीयाꣳसं कुरुते' (श० ५।४।४।१६)। 'तꣳ राजभ्राता सूताय स्थपतये वा प्रयच्छति....' (श० ५।४।४।१७)। 'तꣳ सूतो वा स्थपतिर्वा ग्रामण्ये प्रयच्छति....' (श० ५।४।४।१८)। 'तं ग्रामणीः सजाताय प्रयच्छति... तद्यदेवं सम्प्रयच्छन्ते नेत्पापवस्यसमसद्यथापूर्वमसदिति तस्मादेवꣳ सम्प्रयच्छन्ते (श० ५।४।४।१९)। पूर्ववदुत्तरत्रापि योज्यम्। राजादिषु सजातान्तेषु स्फ्यदानं संभूय प्रशंसति—तद्यदेवमिति। पापवस्यसं पापिष्ठं कर्म नेदसन्न भवेत्, किन्तु यथापूर्वं भवेदिति बुद्ध्या प्रदानमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वमभिभूः सर्वस्याभिभविता, अभितो व्याप्तो वाऽसि। एताः सर्वाः पञ्च दिशः पूर्वादयश्चतस्र ऊर्ध्वा च ते, अत्रत्याश्चेतनाचेतनात्मकाः पदार्थाश्च ते तुभ्यं कल्पन्तां त्वदनुगुणास्त्वत्प्रयोजनाश्च भवन्तु। हे ब्रह्मन् निरतिशय बृहन्, त्वं ब्रह्मा चतुर्मुखोऽसि। त्वमेव सविता सर्वप्रेरकः सर्वोत्पादको वाऽसि। सत्यप्रसवो अमोघवीर्योऽसि। त्वं वरुणोऽसि सर्ववरणीयोऽसि। सत्यौजाः सत्यपराक्रमोऽसि। इन्द्रः परमैश्वर्यवानसि। विशौजा विक्षु सर्वासु प्रजास्वोजस्तेजो यस्य सोऽसि। रुद्रोऽसि सर्वेषां शत्रूणां रोगाणां च द्रावकोऽसि। सुशेवः शोभनसुखरूपोऽसि। हे बहुकार अनन्तब्रह्माण्डनिर्मातः, हे श्रेयस्कर भोगमोक्षसम्पादक, हे भूयस्कर बहुतराभीष्टसाधक, त्वमिन्द्रस्य देहादिप्रकाशकस्य जीवस्य वज्रोऽसि वज्रवदज्ञानादिविदारकोऽसि। तेन मे रध्य स्वात्मवशीकारं सम्पादय।

दयानन्दस्तु—'हे बहुकार! बहूनां सुखानां कर्तः, श्रेयस्कर कल्याणकर्तः, भूयस्कर पुनः पुनरनुष्ठातः, ब्रह्मन् प्राप्तब्रह्मविद्य, यथा यस्य ते तवैताः पञ्च दिशः पूर्वादयो दिशः कल्पेरन् सुखरूपा भवेयुः, तथा मम

(१५।७।५-१२) में यह याज्ञिक विनियोग उल्लिखित है। शतपथश्रुति तथा तैत्तिरीय संहिता में उपदिष्ट व्याख्यान याज्ञिक विनियोग के अनुकूल है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप सबका शासन करने वाले अथवा सर्वत्र व्यापक हैं। पूर्व आदि चार तथा ऊर्ध्व ये पाँचों दिशाएँ तथा उनमें विद्यमान जड़ और चेतन पदार्थ आपके अनुगुण तथा आपके लिये हों। हे निरतिशय महान्, आप ही चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, आप ही सबको प्रेरणा देने वाले अथवा सबके उत्पादनकर्ता हैं, अमोघ बलशाली हैं। आप ही सबके द्वारा अभिलषित हैं, सत्य पराक्रम वाले हैं, परम ऐश्वर्यशाली हैं। समस्त प्रजाओं में आपका तेज है। आप सम्पूर्ण शत्रुओं तथा रोगों को भगाने वाले हैं, सुन्दर सुखस्वरूप हैं। हे अनन्त ब्रह्माण्ड के निर्माता, हे भोग तथा मोक्ष के सम्पादक, अनेक अभीष्टों को सिद्ध करने वाले आप देहादिप्रकाशक जीव के अज्ञान आदि का वज्र की भाँति संहार करते हैं। अतः मेरा स्वात्मवशीकार सम्पादित करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्या में औचित्य नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र में लुप्तोपमा अलङ्कार होने में

भवत्पत्न्याः कल्पन्ताम्। यथा त्वं ब्रह्मा चतुर्वेदविदखिलराजप्रजासुखनिमित्तानां पदार्थानां निर्मातासि, अभिभूरसि दुष्टानां तिरस्कर्तासि, सविता ऐश्वर्योत्पादकोऽसि, सत्येन कर्मणा प्रसव ऐश्वर्यं यस्य सोऽसि, वरुणो वरस्वभावोऽसि, सत्यौजाः सत्यमोजो बलं यस्य स इन्द्रः सुखानां धाता विशौजा विशा प्रजया सहौजः पराक्रमो यस्य सः। रुद्रः शत्रूणां रोदयितासि। सुशेवः शोभनं शेवं सुखं यस्य सः। इन्द्रस्य ऐश्वर्यस्य वज्रः प्रापकोऽसि। तथाहमपि भवेयम्। यथा येन तुभ्यमृद्धिसिद्धी कुर्याम्, तथा त्वं तेन मे रध्य संराध्नुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकृते लुप्तोपमालङ्कारसत्त्वे मानाभावात्। न च ब्रह्मसवितृत्वादिकं मनुष्ये सम्भवति। न च राजतत्पत्न्योः सम्बोधकत्वे किमपि मूलं दृश्यते, शतपथादावन्यथा व्याख्यातत्वात्॥ २८॥

अ॒ग्निः पृ॒थुर्धर्म॑ण॒स्पति॑र्जुषा॒णो अ॒ग्निः पृ॒थुर्धर्म॑ण॒स्पति॑राज्य॑स्य वेतु॒ स्वाहा॒ स्वाहा॑कृता॒ः सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॑र्यतध्वꣳ सजा॒ताना॑ं मध्य॒मेष्ठ्या॑य॥ २९॥

'द्यूतभूमौ हिरण्यं निधायाभिजुहोति चतुर्गृहीतेनाज्येनाग्निः पृथुरिति' (का० श्रौ० १५।७।१५)। एवंकृतायां द्यूतभूमौ हिरण्यं निधाय तदुपरि चतुर्गृहीतेनाज्येन जुहुयात्। अग्निदेवत्यम्। अग्निराज्यस्य वेतु आज्यं पिबतु, कर्मणि षष्ठी। स्वाहा सुहुतमस्तु। कीदृशोऽग्निः? पृथुर्विशालः, देवानां प्रथमत्वात्, 'अग्निर्वै देवानामवमः' (   ) इति श्रुतेः। यज्ञे देवानां प्रथनाद्वा पृथुः। धर्मणस्पतिः, जगतो धर्मणो धारकस्य धर्मस्य पतिः स्वामी। जुषाणो हूयमानं हविः सेवमानः। अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिरिति पुनर्वचनमादरातिशयार्थम्। 'अक्षान्निवपति स्वाहाकृता इति' (का० श्रौ० १५।७।१६)। द्यूतभूमौ राज्ञः पाणौ निहितान् पूर्वोक्तान् पञ्चाक्षान् निक्षिपेत् स्वाहेति मन्त्रेण। अक्षदेवत्यम्। हे अक्षाः, यूयं स्वाहाकृताः स्वाहापूर्विकयाऽऽहुत्या तर्पिताः सन्तः सूर्यस्य रश्मिभिः किरणैर्यतध्वं स्पर्धां कुरुत। सजातानां समानजन्मनां वा भ्रातॄणां क्षत्रियाणां मध्यमेष्ठ्याय मध्यमे प्रदेशे यजमानस्यावस्थानाय यतध्वम्, यजमानं सर्वक्षत्रियश्रेष्ठं कुरुतेत्यर्थः। मध्ये भवो मध्यमः, तत्र तिष्ठतीति मध्यमेष्ठः, तस्य भावो मध्यमेष्ठ्यम्, तस्मै सजातानां सजातीयानां मध्यमेष्ठ्याय मध्यमप्रदेशे यजमानावस्थानाय सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वम्, स्पर्धां कुरुतेत्यर्थः। सूर्यस्य रश्मिभिः सजाता वा भवतेत्यर्थः।

कोई प्रमाण नहीं है। मनुष्य में ब्रह्मा अथवा सविता आदि का भाव होना सम्भव नहीं है। राजा तथा राजपत्नी को सम्बोध्य एवं सम्बोधक के रूप में प्रतिपादित करने में कोई मूल प्रमाण नहीं दृष्टिगोचर होता, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में इसकी अन्य रीति से व्याख्या उपदिष्ट है॥ २८॥

मन्त्रार्थ—अग्नि देवता देवताओं में प्रथम होने से महान् हैं। ये जगत् को धारण करने वाले, धर्म के स्वामी और प्रसन्नतापूर्वक हवि को सेवन करने वाले हैं। ये देखते-देखते अतिप्रवृद्ध हो जाते हैं। गृहस्थों के गृह धर्म के प्रधान साक्षी हैं। धर्मस्वरूप ये अग्निदेवता हमारी दी गई घृत की आहुति को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करें। हे अक्षगण, आहुति ग्रहण करके तुम अतिप्रचण्ड सूर्य की किरणों से स्पर्धा करो। समानजन्मा क्षत्रियों के बीच सर्वश्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करो॥ २९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।७।१६-२१) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'अग्निः पृथुः'

सर्वमेतद् ब्राह्मणे स्पष्टीकृतम्—'अथ सजातश्च प्रतिप्रस्थाता च। एतेन स्पयेन पूर्वाग्नौ शुक्रस्य पुरोरुचाऽधिदेवनं कुरुतोऽत्ता वै शुक्रोऽत्तारमेवैतत्कुरुतः' (श० ५।४।४।२०)। चतुर्थकाण्डे द्वितीयाध्याये शुक्रामन्थिग्रहयोरत्राद्यभावेन स्तुतयोः पुरोरुग्द्वयं विहितम्, शुक्रस्यात्तृत्वात्। तन्मन्त्रेण तं प्रत्नथेति मन्त्रेण द्यूतभूमिकरणाद् यजमानमत्तारमेव कृतवन्तौ भवतः। 'अथ मन्थिनः पुरोरुचा विमितं विमिनुतः। आद्यो वै मन्थी तदत्तारमेवैतत्कृत्वाऽथास्मा एतदाद्यं जनयतस्तस्माद् मन्थिनः पुरोरुचा विमितं विमिनुतः' (श० ५।४।४।२१)। मन्थिनः पुरोरुचा 'अयं वेनश्चोदयत्' इत्यनया विमितं विमिन्वन्त्यत्रेति विमितं चतुर्द्वारं चतुरस्रं मण्डपं तद् विमिनुतः कुरुतः। मन्थिन आद्यत्वात् तन्मन्त्रेण विमितकरणादत्तृभूताय यजमानाय आद्यं सम्पादितवन्तौ भवतः सजातप्रतिप्रस्थातारौ।

'अथाध्वर्युश्चतुर्गृहीताज्यं गृहीत्वाऽधिदेवने हिरण्यं निधाय जुहोत्यग्निः पृथुः····वेतु स्वाहेति' (श० ५।४।४।२२)। अथाधिदेवने हिरण्यनिधानपूर्वकं होमं समन्त्रकं विधत्ते—अथेति। 'अथाक्षान्निवपति। स्वाहाकृता····मध्यमेष्ठ्यायेत्येष वा अग्निः पृथुर्यदधिदेवनं तस्यैते अङ्गारा यदक्षास्तमेवैतेन प्रीणाति तस्य ह वा एषानुमता गृहेषु हन्यते यो वा राजसूयेन यजते यो वैतदेवं वेदैतेष्वक्षेष्वाह गां दीव्यध्वमिति पूर्वाग्निवाहौ दक्षिणा' (श० ५।४।४।२३)। तत्र विमिते चतुरस्रे चतुर्द्वारे मण्डपे अक्षान्निवपति। स्वाहाकृता इति स्वाहापूर्विकयाऽऽहुत्या तर्पिताः। हे अक्षाः, सजातानां सजन्मनां भ्रातॄणां मध्यमेष्ठ्याय मध्यमप्रदेशे यजमानावस्थानाय सूर्यस्य रश्मिभिः सङ्गता भवतेति मन्त्रार्थः पूर्वोक्त एव। मन्त्रवत्कर्मकरणं प्रायेण कस्यैचिद्देवतायै भवति, अतो द्यूतभूमावक्षनिवापस्य देवतासन्तर्पकत्वं दर्शयति—एष वा अग्निः पृथुर्यदधिदेवनम्। अधिदेवनं द्यूतस्थानम्। तस्याग्नेरङ्गारा एव देवनसाधनभूता अक्षाः। तस्मात्तेनाक्षनिधानेनाग्निमेव प्रीणितवान् भवतीत्यर्थः। यदुक्तं सूत्रे—'अक्षान्निवपति स्वाहाकृता इति, गां दीव्यध्वमित्याह, कृतादि वा विदध्याद्राजप्रभृतिभ्यः' (का० श्रौ० १५।७।१६-१८)। राजप्रभृतिभ्यः कृतादिद्यूतं रचयेत्। अथवा द्यूतानन्तरं रचयेत्। तेन राज्ञः कृतसंज्ञं राजभ्रातुस्त्रेताख्यं सूतस्थपत्योरन्यतरस्य द्वापरसंज्ञं ग्रामण्यः पञ्च कलिं गादिसंज्ञम्, 'सजाताय कलिं गाम्' (का० श्रौ० १५।७।१९)। कृतादिद्यूतपक्षे सजाताय क्रीडनार्थं कलिसंज्ञकं द्यूतं निदध्यात्। अस्य सजातस्य सम्बन्धिनीं गां तत्र द्यूतभूमावानीय घ्नन्ति दण्डवस्त्रादिना किञ्चित्ताडयन्ति। 'पूर्वाग्निवाहौ दक्षिणा' (का० श्रौ० १५।७।२०) राजा गां दीव्यध्वमिति राजभ्रात्रध्वर्य्वादीन् प्रति ब्रूयात्। गां पणं कृत्वा यूयं रमध्वमिति प्रैषार्थः। ततोऽस्य पणत्वेनाङ्गीकृतां गामानीय घ्नन्ति। हन्तिश्चात्र सामान्यहननार्थो न मारणार्थः। तदिदं विधत्ते—तस्य ह वा इति। यो राजसूयेन यजते, यो वा एतत्कर्म वेत्ति, तस्य गृहेष्वेषा गौरनुमता अङ्गीकृता हन्यते। अत्र गोप्रसक्तिं दर्शयति—एतेष्वक्षेष्विति। द्यूतकर्मणो दक्षिणां विधत्ते—पूर्वाग्नीति। पूर्वाग्निमाहवनीयं वहत इति पूर्वाग्निवाहौ अनड्वाहौ दक्षिणा। एतदापस्तम्बः स्पष्टयति—'पष्ठौहीं विदीव्यन्त ओदनमुद्ब्रुवते तदेतस्य कर्मणः पूर्वाग्निवाहौ दक्षिणा तौ ब्रह्मणे देयौ' (आ० श्रौ० १८।१९।२-३)। तदिदं देवनं सन्निधिबलाद् इष्टिपशुसोमयागात्मकराजसूयशेष इति गम्यते। प्रकरणेन सन्निधेर्बाधादिति (जै० सू० ३।३।१४)।

अध्यात्मपक्षे तु—अग्निः परमेश्वरः, पृथुः प्रथयति प्रपञ्चमिति पृथुः सर्वकारणभूतः, अन्तर्भावितणिजर्थः।

इस कण्डिका के मन्त्रों से घृताहुति तथा पासों का प्रक्षेप आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे अग्नि परमेश्वर, जगत्प्रपञ्च का विस्तार करने वाले सर्वकारणभूत आप

भक्तैः समर्पितमभीष्टं प्रेमपरिप्लुतं पत्रपुष्पफलादिकमपि जुषाणः प्रीत्या सेवमानः, धर्मणो धर्मस्य पालकः, आदरातिशयार्थं पुनः पाठः। आज्यस्य घृतगन्धि प्रेमयुतं हविः, वेतु पिबतु, खादत्वित्यर्थः। तस्मै सुहुतमिदमस्तु। हे भक्ताः, यूयं स्वाहाकृताः स्वाहाकारेण भगवति स्वसर्वस्वार्पणेन कृतार्थाः सन्तः सजातानां समानजन्मनां वैष्णवानां भ्रातृणां मध्यमेष्ठ्याय मध्यमे प्रदेशेऽवस्थानाय सूर्यस्य परमेश्वरस्य रश्मिभी रश्मितुल्यैरंशैर्यतध्वं स्पर्धां कुरुत, 'बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्' इत्युक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन् राज्ञि वा, यथा पृथुर्विस्तीर्णपुरुषार्थः, धर्मणो धर्मस्य पतिः पालयिता, जुषाणः सेवमानोऽग्निर्विद्युदिव सजातानां जातैः सह वर्तमानानां मध्यमेष्ठ्याय मध्ये भवे पक्षपातरहिते न्याये तिष्ठति तस्य भावाय स्वाहा सत्यया क्रियया आज्यस्य घृतादेर्हविषो वेति व्याप्नोति सूर्यस्य रश्मिभिः सह हविः प्रसार्य सुखयति, तथा धर्मणस्पतिर्न्यायस्य पतिः पृथुर्जुषाणो भवान् राष्ट्रं वेतु व्याप्नोतु। तथा च हे स्वाहाकृताः सभासत्स्त्रियः, यूयमपि प्रयतध्वम्' इति, तदप्यस्पष्टमसङ्गतं च। तथाहि—कोऽयं धर्मस्य पतिर्यो विस्तीर्णपुरुषार्थः? यश्च सत्यक्रियया सूर्यस्य रश्मिभिर्हविः प्रसारयति? इत्यस्यास्पष्टत्वात्। कथं च पृथुशब्दस्य तथाभूतोऽर्थः? तस्य च किं मूलम्? 'वेति' इत्यस्य व्यापकार्थत्वेऽपि प्रथयितृत्वं कथमर्थः? मध्यमेष्ठ्यायेत्यस्य न्यायस्थत्वं कथमर्थः? उपमालङ्कारोऽपि निर्मूल एव। स्वाहाकृता इत्यस्य सभासत्स्त्रिय इत्यर्थस्तु सर्वथा प्रमाणविहीनः॥ २९॥

स॒वि॒त्रा प्र॑सवि॒त्रा सर॑स्वत्या वा॒चा त्वष्ट्रा॑ रू॒पैः पू॒ष्णा प॒शुभि॒रिन्द्रे॑णा॒स्मे बृह॒स्पति॑ना॒ ब्रह्म॑णा॒ वरु॑णे॒नौज॑सा॒ऽग्निना॒ तेज॑सा॒ सोमे॑न॒ राज्ञा॒ विष्णु॑ना॒ दश॒म्या दे॒वत॑या॒ प्रसू॑तः॒ प्रस॑र्पामि॥ ३०॥

भक्तों के द्वारा समर्पित अभीष्ट प्रेम से परिपूर्ण पत्र, पुष्प, फल आदि का भी प्रेम से सेवन करते हुए धर्म के रक्षक, घृत से सुगन्धित प्रेमयुक्त हविर्द्रव्य को पीजिये, खाइये यह भाव है। अत्यन्त आदर सूचित करने के लिये शब्दों की पुनरावृत्ति मन्त्र में है। उस देव के लिये यह समर्पित हो। हे भक्तगण, आप लोग स्वाहाकार के द्वारा भगवान् में सर्वस्व अर्पण से कृतार्थ होते हुए समानजन्मा वैष्णव बन्धुओं के बीच में विद्यमान रहने के लिये परमेश्वर के किरणरूपी अंशों से प्रयत्न, स्पर्धा करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्या अस्पष्ट तथा असंगत है। जैसे—यह धर्म का पति कौन है, जो विस्तीर्ण पुरुषार्थ वाला है और जो सत्यक्रिया के द्वारा सूर्य की रश्मियों से हवि का प्रसार करता है? यह अस्पष्ट है। पृथु शब्द का यह अर्थ कैसे है? उसका मूल क्या है? 'वेति' शब्द व्यापकार्थक होते हुए भी उसका अर्थ 'विस्तार करना' कैसे हो सकता है? मध्यमेष्ठ शब्द का अर्थ न्यायस्थ कैसे है? उपमा अलङ्कार भी निर्मूल ही है। 'स्वाहाकृताः' इसका अर्थ 'सभासद् स्त्रियाँ' करना तो सर्वथा अप्रामाणिक है॥ २९॥

मन्त्रार्थ—समस्त जीवों को प्रेरित करने वाले सविता देवता, वाग्रूपा सरस्वती, रूप के अधिष्ठाता त्वष्टा देवता, पशुओं के स्वामी पूषा देवता, स्वयं इन्द्र, देवयाग में ब्रह्मत्व को प्राप्त हुए बृहस्पति, महान् तेजस्वी वरुण, तेजोमय अग्नि, औषधियों और ब्राह्मणों के स्वामी प्रकाशमान चन्द्रमा, दस संख्या को पूर्ण करने वाले यज्ञ के अधिष्ठाता परमात्मा और नारायण से अनुज्ञा लेकर हम सब अब प्रसर्पण करते हैं॥ ३०॥

'पितामहदशगणꣳ सोमपानाꣳ संख्यासर्पणम्, सवित्रेति वानुवाकमुक्त्वा' (का० श्रौ० १५।८।१५-१६)। पित्रादयः पूर्वजाः पितामहशब्देनोच्यन्ते। सोमपानां पितामहादीनां सोमयाजिनां दशगणं समूहं संख्याय अमुकः प्रथमः सोमपः, अमुको द्वितीयः, अमुकस्तृतीय इत्येवं दशपर्यन्तं सोमयाजिनो गणयित्वा ऋत्विजोऽन्ये विप्राश्च मिलिताः सन्तो दशवाजपेये यागे सौत्येऽहनि विभूरसीति सर्पणं धिष्ण्योपस्थानं कुर्युः। अथवा सवित्रा प्रसवित्रा इत्यनुवाकमुक्त्वा शतं ब्राह्मणाः सर्पेयुः, न पितामहगणं संख्याय सर्पणम्, भक्षणकाले सदःप्रसर्पणकाले वा दशानां सोमयाजिनामसंभवादयमेव पक्षो युक्तः। सवित्रादिदेवत्यात्यष्टिः। एताभिर्दशभिर्देवताभिः प्रसूतोऽभ्यनुज्ञातोऽहं प्रसर्पामि अभिषिच्यमानाद्वरुणादपक्रान्तं यज्ञरूपं भर्गं पुनः प्राप्नोमीत्यर्थः। यद्यपि बहवः प्रसर्पन्ति, तथापि प्रत्येकं पाठात् प्रसर्पामीत्येकवचनम्। काभिर्दशभिः प्रसूतः? प्रसवित्रा अभ्यनुज्ञाकारिणा प्रसवकारिणा वा सवित्रा सूर्येण, वाचा वाग्रूपया सरस्वत्या, रूपैः रूपोपलक्षितेन त्वष्ट्रा, 'त्वष्टा वै रूपाणामीष्टे' (५।४।५।८) इत्युक्तेः, पशुभिस्तदुपलक्षितेन पूष्णा देवेन, अस्मे अनेन इन्द्रेण, विभक्तेः शे आदेशः। यद्वा अस्मे अस्मै अपसृताय वीर्याय तदधीनकरणार्थमिन्द्रेण, ब्रह्मणा देवयागे ब्रह्मत्वकर्त्रा बृहस्पतिना, ब्राह्मणजात्यभिमानिना वा, ओजसा ओजस्विना वरुणेन, तेजसा तेजस्विना अग्निना, राज्ञा ओषधिविप्राधिपेन सह दीप्यमानेन वा सोमेन चन्द्रेण दशम्या दशसंख्यापूरिकया विष्णुना देवतया यज्ञाधिष्ठात्रा विष्णुरूपेण देवेन एतैराज्ञप्तः प्रसर्पामि अपसृतं मार्गं प्राप्नोमि, एताभिः पूर्वोक्ताभिर्देवताभिः सह विष्णुरूपं यज्ञं प्राप्नोमीति वा, 'विष्णुना देवतया दशम्येमं यज्ञं विष्णुमाप्नवानि' इति काण्वशाखीयमन्त्रवर्णात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानाद् भर्गो अपचक्राम। वीर्यं वै भर्ग एष विष्णुर्यज्ञः सोऽस्मादपचक्राम शश्वद्ध एषोऽपाꣳ रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति सोऽस्य भर्गं निर्जघान' (श० ५।४।५।१)। हवींषि विधातुं प्रस्तौति—वरुणाद्धेति। पूर्वमभिषिच्यमानाद्वरुणाद् भर्गो यज्ञरूपं वीर्यमपचक्राम अपसृतम्। तदेवोक्तम्—शश्वद्ध एषोऽपां रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति सोऽस्याभिषिच्यमानस्य भर्गो यज्ञरूपं वीर्यं निर्जघानेति। 'तमेताभिर्देवताभिरनुसमसर्पत्। सवित्रा प्रसवित्रा''''दशम्या देवतयाऽन्वविन्दत्' (श० ५।४।५।२)। तमपसृतं भर्गं (अकारान्तोऽत्र भर्गशब्दो न सकारान्तः) यज्ञरूपं वीर्यमेताभिर्वक्ष्यमाणाभिः सवित्रादिभिर्देवताभिः, अनुसमसर्पद् वरुणः क्रमेण प्राप्तवान्। 'तद्यदेनमेताभिर्देवताभिरनुसमसर्पत्। तस्मात् सꣳसृपो नामाथ यद्दशमेऽहन् प्रसुतो भवति तस्माद्दशपेयोऽथो यद्दशदशैकैकं चमसमनुप्रसृप्ता भवन्ति तस्माद्वेव दशपेयः' (श० ५।४।५।३)। हविषां नाम निर्वक्ति—तद्यदेनमेताभिरिति। तत् तत्र यस्माद् एताभिर्देवताभिरनुसमसर्पद् अन्वविन्दत्, तस्मात् सम्यक् सृप्यते प्राप्यते वीर्यमाभिरग्न्यादिदेवताभिरिति संसृपो देवतास्तासां हवींषि च संसृप आख्यायन्ते। अथ दशपेयं विधातुं तच्छब्दं निर्वक्ति—यद्दशमेऽहन्निति। पूर्वमुक्तानि दशसंसृपां देवानां हवींषि प्रत्येकमेकैकस्मिन् दिने कर्तव्यानि, तस्माद्दशपेयो नामेति। तथा च कात्यायनसूत्रम्—'दशोत्तराणि सꣳसृपाꣳ हवीꣳषि निवपति, देवयजनानन्तरमेकैकेनोत्सर्पति, शालायामन्त्यम्' (का० श्रौ० १५।८।१-३)। संसृपा हवींषि, वक्ष्यमाणानां दशानां हविषां नाम। चैत्रशुक्लषष्ठ्यामेव दशानामनुष्ठानं यथा स्यादित्येवमर्थं दशग्रहणमिति सम्प्रदायः, काण्वशाखायां 'पूर्णां च श्वोभूते' (श० ७।४।१।६) इत्युक्तत्वात्। शुक्लषष्ठीमारभ्य षट्सु दिवसेष्वेकैकमनुष्ठाय सप्तमे दिने द्वादश्यामवशिष्टानि चत्वारि कुर्यादिति तद्रीतिः। 'प्रतिगृहमेकैकꣳ श्वः श्वः' (का० श्रौ० १५।३।१२) इति रीत्या तु षष्ठीमारभ्य

भाष्यसार—'सवित्रा प्रसवित्रा' इस अनुवाक का पाठ करने के अनन्तर वाजपेय याग में प्रसर्पण कर्म अनुष्ठित

दशसु दिनेषु दशानां हविषामेकतन्त्रेणानुष्ठानम्। कर्काचार्यास्तु पक्षान्तराणामाचार्यानुक्तत्वाद् एकस्मिन्नेव दिने दशानामनुष्ठानम्, काण्वपाठात् सप्तदिनेषु वेत्यभिप्रयन्ति।

अभिषेचनीयशालात आरभ्य एकैकेन हविषा देवयजनानन्तरं दशपेययागं प्रति गच्छेत्। एवमुत्सर्पन्नुत्सर्पन् तथा कुर्याद्यथान्त्यं दशमं हविर्दशपेयशालामध्ये भवेत्। तैत्तिरीये तु स्पष्टमुक्तम्—'अग्निना देवेन प्रथमेऽहन्ननुप्रायुङ्क्त सरस्वत्या वाचा द्वितीये सवित्रा प्रसवेन तृतीये' (तै० ब्रा० १।८।१।१) इत्यादिना। संसृपशब्दवाच्याभ्यो दशभ्य इष्टिभ्य ऊर्ध्वं दशपेयार्थं सोमाभिषवप्रवृत्तेर्दशपेयत्वम्। अयमत्र क्रमः— दशानां संसृपां हविषां मध्ये सप्त हवींषि प्रतिदिनं क्रमेणैकैकं कृत्वा सप्तमे दिने सप्तम्यामिष्टावतीतायामष्टमं हविर्निर्वपेत्। अपराह्णे दशपेयस्य द्वादशपुण्डरीकस्रक्प्रतिमोकलक्षणां दीक्षां कृत्वा तदानीमेव प्रथमामुपसदं कृत्वा तदन्ते संसृपामष्टमं हविर्निर्वपेत्। अष्टमे दिने उपसदन्ते संसृपां नवमं हविर्निरुप्य नवमे दिवसे तृतीयोपसदन्ते संसृपां दशमं हविर्निरुप्य तस्मिन्नेवाहन्यग्नीषोमीयपशुप्रचारं कुर्यात्। ततो दशमेऽहनि सोमोऽभिषूयते हुतशेषश्च पीयत इति दशपेयत्वम्। निर्वचनान्तरं च दर्शयति— अथ यद् दश दशेति। एकैकस्मिन् पात्रे दशभिर्ब्राह्मणैः पातव्यः सोमरसो यस्मिन् स दशपेयो भक्षणकालः। 'दश दशैकैकं चमसमनु भक्षयन्ति' (का० श्रौ० १५।८।१७)। चमसानां भक्षणकाले एकैकं चमसं दश दश ब्राह्मणा अनुभक्षयेयुः। तत्र एकैक ऋत्विग् अन्ये नव अप्रकृताः। तत्र नेष्टृचमसे चत्वारोऽध्वर्युपुरुषाः षडन्ये, होतृचमसे ग्रावस्तुद् द्वितीयः षडन्ये, उद्गातृचमसे चत्वारः सामगाः षडन्ये, अन्येषु चमसेषु नव नवान्ये, यजमानचमसे यजमानव्यतिरिक्ता दश ब्राह्मणा एव, क्षत्रिययजमानस्य सोमपाननिषेधात्, 'ब्राह्मणा वा श्रुतेः' (का० श्रौ० १५।८।१९), 'शतं ब्राह्मणाः पिबन्तीति' (तै० सं० १।८।२) इति श्रुतेः। 'तदाहुः। दश पितामहान् सोमपान् संख्याय प्रसर्पेत्तथो हास्य सोमपीथमश्नुते दशपेयो हीति तद्वै ज्या द्वौ त्रीनित्येव पितामहान् सोमपान् विन्दन्ति तस्मादेता एव देवताः संख्याय प्रसर्पेत्' (श० ५।४।५।४)। भक्षणार्थं सदःप्रसर्पणकाले सौम्या शतसंख्याकब्राह्मणानां मध्ये एकैकस्य पात्रस्य भक्षयितारो दश दश पुरुषा यजमानस्य दश सोमपान् पितामहान् यजमानस्य पितामहस्तत्पितामह इत्येवं पितामहदशगणं संख्याय प्रसर्पयेयुः। यद्वा 'सवित्रा प्रसवित्रा' (वा० सं० १०।३०) इति मन्त्रेण प्रसर्पणं कुर्यात्। अत्र पितामहगणनेन प्रसर्पणं पूर्वपक्षयति—तदाहुरिति। तद् दूषयति—तद् वै ज्येति। ज्या ज्यानिः, निकृष्ट इत्यर्थः। तत्रोपपत्तिमाह— यदि पितामहान् जानीयुः, तर्हि त्रीनेव जानीयुर्न सर्वान्। तस्मात् सवित्रादिदशदेवताः संख्याय प्रसर्पणं कुर्यादित्यर्थः।

'एताभिर्वै देवताभिर्वरुण एतस्य सोमपीथमाश्नुत। तथो एवैष एताभिरेव ⋯ तस्मादेता एव देवताः संख्याय प्रसर्पेदथ यदैवैषोदवसानीयेष्टिः सन्तिष्ठत एतस्याभिषेचनीयस्य' (श० ५।४।५।५)। वरुणवृत्तान्तेन प्रशंसति—एताभिर्वा इति। संसृपशब्दवाच्यहविर्निर्वापकालं दर्शयति—अथेति। अभिषेचनीयस्य एतदाख्यस्य सोमयागस्य उदवसानीयेष्टिर्यदा सन्तिष्ठते समाप्यते, तदा वक्ष्यमाणानि हवींषि निर्वपेदित्युत्तरेण सम्बन्धः। 'अथैतानि हवीꣳषि निर्वपति। सावित्रं द्वादशकपालं वाष्टाकपालं पुरोडाशꣳ सविता वै देवानां प्रसविता ⋯ तद्वरुणोऽनुसमसर्पत्तथो एवैष एतत्सवितृप्रसूत एवैष एवानुसꣳसर्पति तत्रैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति' (श० ५।४।५।६)। अथैतानि हवींषि निर्वपेत्। तत्प्रकारः कात्यायनेन स्पष्टीकृतः—'सावित्र-सारस्वत-त्वाष्ट्र-पौष्णैन्द्रबार्हस्पत्य-वारुणाग्नेय-सौम्य-वैष्णवानि यथोक्तम्, प्रतीष्टिपुण्डरीकाणि प्रयच्छति, हिरण्मयानि वा, उत्तमासु तिसृषु पञ्च, तेषाꣳ स्रजं प्रतिमुञ्चते, तद्दीक्षो भवति' (का० श्रौ० १५।८।४-९)। आचार्येण यथा प्रदेशान्तरे

किया जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।८।१५-१६, १८) में उल्लिखित

सवित्रादीनां पुरोडाशचर्वादिकमुक्तम्, तथात्रापि कार्यम्। 'जलजानि कमलानि सा दक्षिणा' (का० श० ७।४।१।५)। अथवा सौवर्णानि कमलानि दद्यात्। अष्टमीप्रभृतिषु तिसृषु इष्टिसु पञ्च पुण्डरीकाणि दद्यात्। अष्टम्यां नवम्यां च द्वे द्वे इष्टी। दशम्यामेकं पुण्डरीकं दद्यात्। तेषां दत्तव्यतिरिक्तानां द्वादशानां कमल-पुष्पाणां स्रजं यजमानः स्वकण्ठे बध्नीयात्। सैव दीक्षा यस्य तद्दीक्षो भवति, या स्रक् परिहिता सैव दीक्षास्थाने भवति, नात्र दीक्षासंस्कारः पृथक्कार्य इति भावः। संसृपां हविषां दशपेयाङ्गत्वमेव मन्तव्यं न स्वातन्त्र्यम्। 'सवित्रा प्रसवित्रा' इत्युपक्रम्य 'प्रसूतः प्रसर्पामि' इति प्रसर्पणार्थतादर्शनात्, प्रसर्पणशब्दस्य च दशपेये सत्त्वात्। तदेतत् सायणाचार्येणापि शतपथभाष्येऽत्रैवोक्तम्। सप्तम्यां ब्रह्मागारात् सोममाहृत्यासन्द्यभिमर्शनादि करोति। उपसद्देवता हवींषि निर्वपति····पुण्डरीकस्रक्प्रतिमोकरूपां दशपेयदीक्षां कृत्वा सप्तम्यां संसृब्याग-सम्बन्धिन्यां क्रियमाणायां वारुण्यामिष्टावतीतायां पूर्वमेवाभिषेचनीयदशपेययोरपि द्विधा सोमं कृत्वा दशपेयार्थं ब्रह्मागारे स्थापितं सोममाहृत्य आसन्द्यभिमर्शनाद्यातिथ्यान्तं कृत्वा संसृपां हविषां मध्येऽन्यानि आग्नेय-सौम्य-वैष्णवानि हवींषि उपसत्प्रतिनिधित्वेन कर्तव्यानि। उपसदामपि अग्नि-सोम-विष्णुदेवता अन्तिमत्वात्, तथाप्यग्नीषोमयोरेकस्याप्यभावे दशसंख्यापूरणाभावात् तयोरपि दशमत्वमुच्यते।

'अथ सारस्वतं चरुं निर्वपति ' (श० ५।४।५।७)। 'अथ त्वाष्ट्रं दशकपालं पुरोडाशं निर्वपति त्वष्टा वै रूपाणामीष्टे····' (श० ५।४।५।८)। 'अथ पौष्णं चरुं निर्वपति। पशवो वै पूषा पशुभिरेव वरुणोऽनु-समसर्पत्····' (श० ५।४।५।९)। 'अथैन्द्रमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति। इन्द्रियं वै वीर्यमिन्द्र इन्द्रियेणैव तद्वीर्येण वरुणोऽनुसमसर्पत्····' (श० ५।४।५।१०)।····'अथ वारुणं यवमयं चरुं निर्वपति। स येनैवोजसेमाः प्रजा वरुणोऽगृह्णात् तेनैव तदोजसा वरुणोऽनुसमसर्पत्····' (श० ५।४।५।१२)। 'उपसदो दशम्यो देवताः। तत्र पञ्च पुण्डरीकाण्युपप्रयच्छति तां द्वादशपुण्डरीकाᳩ स्रजं प्रतिमुञ्चते सा दीक्षा तया दीक्षया दीक्षते' (श० ५।४।५।१३)। ····'अथ राजानं क्रीत्वा। द्वेधोपनह्य परिवहन्ति ततोऽर्धमासन्द्यामासाद्य प्रचरत्यथ य एषोऽर्धो ब्रह्मणो गृहे निहितो भवति तमासन्द्यामासाद्यातिथ्येन प्रचरति यदातिथ्येन प्रचरत्यथोपसद्भिः प्रचरति····' (श० ५।४।५।१५) इत्येताभिः श्रुतिभिः सूत्रैश्च सिद्धान्तपक्षीयमन्त्रव्याख्यानमेव समर्थितं भवति।

अध्यात्मपक्षे—एताभिरेव देवताभिः प्रेरितस्तासामनुग्रहेणाहं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं परमात्मानं स्वात्मत्वेन प्रसर्पामि, साक्षात्करोमीत्यर्थः। सवितुर्वेदात्मकत्वात् सरस्वत्या वाचो विद्यानियामकत्वात् त्वष्ट्रादीनां चाध्यात्माधिभूताधिदैवबलवीर्यादिसम्पादकत्वेन तत्रोपकारकत्वाच्च।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजनाः, यथाहं सवित्रा प्रेरकेण वायुना प्रसवित्रा सकलचेष्टोत्पादकेनेव शुभकर्मणा सरस्वत्या प्रशस्तविज्ञानक्रियायुक्तया वाचा देववाण्येव सत्यभाषणेन त्वष्ट्रा छेदकेन प्रतापिना सूर्येणेव न्यायेन रूपैः सुखस्वरूपैः पूष्णा पृथिव्या पशुभिर्गवादिभिरिव प्रजायाः पालनेन इन्द्रेण विद्युदिवैश्वर्येण अस्मे अस्माभि-

---

है। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता आदि में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—इन देवताओं के द्वारा प्रेरित हुआ मैं इनके अनुग्रह से प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न परमात्मा का स्वात्मरूप से साक्षात्कार करता हूँ। सविता के वेदात्मा होने के कारण, सरस्वती वाणी के विद्या की नियामिका होने के कारण तथा त्वष्टा आदि के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक बल, वीर्य आदि के सम्पादक होने के कारण वे इसमें सहायक होते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्यान श्रुति तथा सूत्र के वचनों का विरोधी होने के कारण तथा मुख्य अर्थ को

बृहस्पतिना बृहतां पालकेन चतुर्वेदविदा विदुषेव विद्यासुशिक्षाप्रचारकेण ब्रह्मणा वेदार्थज्ञानेन ज्ञापनेनोपदेशेन वा वारुणेन वरेण जलसमूहेनेव शान्त्या ओजसा बलेन अग्निना पावकेन तेजसा तीक्ष्णेन ज्योतिषेव शत्रुदाहकत्वेन सोमेन चन्द्रेण प्रकाशमानेनाह्लादकत्वेन राज्ञा प्रकाशमानेन विष्णुना व्यापकेन परमेश्वरेणेव शुभगुणकर्मस्वभावेन दशम्या दशानां पूरिकया देवतया देदीप्यमानया सह प्रसूतः प्रेरितः सन् प्रसर्पामि प्रचलामि, तथा यूयमपि प्रसर्पध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तश्रुतिसूत्रविरोधात्, मुख्यार्थपरित्यागा-ध्याहारगौणार्थकल्पनाबाहुल्याच्च ॥ ३० ॥

अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व । वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्सोमो अतिस्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३१ ॥

अथ राजसूयगतचरकसौत्रामणीमन्त्राः। राजसूयप्रान्ते विहिता सौत्रामणी चरकसौत्रामणीत्युच्यते। तन्मन्त्राणामश्विनौ ऋषी। 'पक्त्वौदनं विरूढांश्चूर्णीकृत्याश्विभ्यां पच्यस्वेति सꣳसृजति' (का० श्रौ० १५।९।२५)। अविरूढैरनङ्कुरितैर्व्रीहिभिश्चतुर्मुष्टिकग्रहणपूर्वकमोदनं पक्त्वा तत्र चूर्णीकृतानविरूढव्रीहीन् मिश्रयेत्। जाताङ्कुरा अजाताङ्कुराश्च व्रीहयः क्षौमे बद्धा भवन्ति। तन्मध्येऽजाताङ्कुराणां व्रीहीणामोदनं पक्त्वा जाताङ्कुरान् व्रीहींश्चूर्णीकृत्यौदनेन मिश्रयेत। हे परिस्रुतसुरे! त्वमश्विभ्यामश्विनोरर्थाय पच्यस्व पक्वा भव। पाकोऽत्र विपरिणामश्रैष्ठ्यमेव। तथा सरस्वत्यै देव्यै पच्यस्व। सुत्राम्णे सुष्ठु त्रायत इति सुत्रामा इन्द्रः, तस्मै देवराजायेन्द्राय पच्यस्व। शोभनत्राणकर्त्रे सुत्रातव्याय वा तस्मै, यतः सौत्रामण्यामिन्द्रस्य भैषज्यं कर्तव्यमस्ति। 'वपामार्जनान्ते कुशैः परिस्रुतं पुनाति वायुः पूत इति' (का० श्रौ० १५।१०।१०)। पशूनां वपामार्जनान्ते कर्मणि कृते दर्भैः सुरां कस्मिंश्चित्पात्रे पुनाति। सोमदेवत्या गायत्री। वायुः वायुवच्छीघ्रगामी वा भूत्वा प्रत्यङ्ङधोवर्तिपात्राभिमुखः सन् अतिस्रुतोऽतिक्रम्योद्गत इन्द्रस्य युज्यो योग्यः सखा समानख्यानः। यद्वा—वायुः, वायुना 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेः स्वादेशः। पूतः शोधितः पवित्रेण कुशमयेन पूतः सन् प्रत्यङ् नीचैरधोमुखः सन् अतिस्रुतोऽतिक्रम्य गतः। कथंभूतः? इन्द्रस्य युज्यो योगार्हः सखा सखिभूतः सोमः पूर्वं पूतिगन्धोऽभूत्, ततो देवैर्वायुरुक्तस्त्वं सोमं सुगन्धं कुरु इति। ततो वायुना सोमो दुर्गन्धमपहृत्य सुगन्धः कृतः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पूर्वेद्युः। परिस्रुतꣳ सन्दधात्यश्विभ्यां'" पच्यस्वेति सा यदा परिस्रुद् भवत्यथैनया प्रचरति' (श० ५।५।४।२०)। परिस्रुत्सन्धानं समन्त्रकं विधत्ते—अथ पूर्वेद्युरिति। 'तां दर्भैः पावयति। पूताऽसदिति वायुः पूतः पवित्रेण'''युज्यः सखेति तत्कुवलसक्तून् कर्कन्धुसक्तून् बदरसक्तूनित्यावपत्येतद्वै ततः

छोड़ कर अध्याहार तथा गौण अर्थ की कल्पना की अधिकता होने के कारण अनुचित है ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमार देवताओं की प्रीति के लिये रस के रूप में परिणत हुआ, सरस्वती देवी की प्रीति के लिये पच कर रूपान्तर को प्राप्त हुआ, भली प्रकार रक्षा करने वाले इन्द्र देवता की प्रीति के लिये पाक को प्राप्त हुआ इन्द्र का मित्र, पवित्र द्वारा शुद्ध हुआ तथा वायु द्वारा पवित्र हुआ यह सोम इस पवित्र द्वारा अधोमुख क्षरित होकर प्रसर्पण कर रहा है ॥ ३१ ॥

भाष्यसार—अब राजसूय यज्ञ के अन्तर्गत 'चरक सौत्रामणी' नामक याग के मन्त्र उपदिष्ट किये जाते हैं।

समभवद्यत्त्रिर्निरष्ठीवत्तेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादेतानावपति' (श० ५।५।४।२२)। तां विधत्ते—तां दर्भैः पावयतीति। सा परिस्रुत् पूता असद् भवेत्। तां दर्भैः पावयेत्। तस्यां परिस्रुति कुवलकर्कन्धुवदरचूर्णान्यावपति। तेनैव तत्समर्धयति।

अध्यात्मपक्षे—अश्विभ्यामिव परमसुन्दराभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां बलकृष्णाभ्यां तत्प्राप्त्यर्थं पच्यस्व तत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानजपादिभिर्विशुद्धान्तःकरणो भव। सरस्वत्यै ज्ञानविज्ञानरूपिण्यै ब्रह्मविद्यात्मिकायै श्रीसीतायै श्रीराधायै वा पच्यस्व तत्कृपामृतपरिप्लुतो भव। सुत्राम्णे सुष्ठु रक्षकाय अन्तर्यामिणे पच्यस्व तदनुभवसामग्रीसम्पन्नो भव। पवित्रेण ज्ञानेन पूतोऽपहताज्ञानान्धकारः प्रत्यङ् परब्रह्माभिन्नप्रत्यक्चैतन्याभिमुखः सोमः सोम इव शीतलः शान्तो भूत्वा अतिस्रुतः संसारमतिक्रम्य ब्रह्मणि स्थितः, इन्द्रस्य परमेश्वरस्य युज्यस्तदभेदार्हः सखा समानख्यानोऽसि। पवित्रं ज्ञानम्, 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (भ० गी० ४।३८) इति भगवदुक्तेः। जीवपरमेश्वरयोः साजात्य-सख्य-सादेश्य-सायुज्यसम्बन्धवत्त्वेनाभेदार्हता श्रुतिसिद्धा, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति श्रुतेः।

स्वामी दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजन, त्वमश्विभ्यां सूर्यचन्द्रमोभ्याम् अध्यापकोपदेशकाभ्यां पच्यस्व पक्वो भव। सरस्वत्यै सुशिक्षितायै वाचे पच्यस्व। सुत्राम्णे सुष्ठु रक्षकाय इन्द्राय परमैश्वर्याय पवित्रेण शुद्धेन धर्माचरणेन वायुरिव पूतो निर्दोषः प्रत्यङ् पूजितः सोम ऐश्वर्यवान् सोमगुणसम्पन्नो वा अतिस्रुतोऽत्यन्तज्ञानवान् इन्द्रस्य परमेश्वरस्य युज्यो युक्तः सखा मित्रो भव' इति, तदपि न मनोरमम्, अभिप्रायस्य अनौचितीत्वाभावेऽपि व्याख्यानस्य मन्त्राक्षरानुगुण्याभावात्, पच्यस्वेत्यस्य नानार्थत्वाभ्युपगमात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च, सिद्धान्तार्थस्य श्रुत्यानुगुण्याच्च। तथैवाध्यापकोपदेशकौ त्वश्विशब्दस्य न वाच्यार्थौ सम्भवतः, निर्मूलत्वात्। पवित्रेणेति न शुद्धाचरणवाचकं पदम्, कुशादिपरत्वप्रसिद्धेः। एवमन्यदपि दूषणजालमूहम्॥ ३१॥

कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।१०।१०) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'वायुः पूतः' इस मन्त्र से कुशाओं के द्वारा पवित्रीकरण किया जाता है। शतपथ श्रुति में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—अश्विनी देवों के समान अतिशय सुन्दर रामलक्ष्मण अथवा बलराम-श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये उनकी पुण्यप्रद कथाओं को सुनने, कहने, जप-मनन करने आदि के द्वारा विशुद्ध अन्तःकरण से युक्त बनो। ज्ञानविज्ञानस्वरूपा ब्रह्मविद्यात्मिका श्री सीता अथवा श्री राधा के लिये उनकी कृपा के अमृत से अभिषिक्त होओ। भली-भाँति रक्षा करने वाले अन्तर्यामी के लिये उसकी अनुभवसम्पत्ति से सम्पन्न बनो। पवित्र ज्ञान से अज्ञानान्धकार को नष्ट करके परब्रह्म से अभिन्न प्रत्यक् चैतन्य के प्रति अभिमुख होकर सोम की भाँति शीतल, शान्त होते हुए संसार का अतिक्रमण करके, ब्रह्म में स्थित रह कर परमेश्वर से अभेद-सम्पन्न तथा सखा रूप बनो। 'द्वा सुपर्णा' आदि वचनों से जीव एवं परमेश्वर की सजातीयता, सख्य, समान देश में स्थिति तथा सायुज्य सम्बन्ध रहने से अभेद की योग्यता श्रुति से प्रमाणित है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत व्याख्या में यद्यपि अभिप्राय अनुचित नहीं है, तथापि व्याख्यान मन्त्रोक्त अक्षरों के अनुरूप नहीं है। 'पच्यस्व' पद के विभिन्न अर्थ माने गये हैं तथा सम्बोधन भी अप्रामाणिक है। इन कारणों से वहाँ अनौचित्य है। हमारे सिद्धान्त के अनुसार अर्थ श्रुतिवचनों के अनुरूप है। इसी प्रकार 'अश्विन्' शब्द का अध्यापक तथा उपदेशक अर्थ करना भी वाच्यार्थ के रूप में सम्भव नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। पवित्र शब्द कुशा का वाचक प्रसिद्ध होने के कारण शुद्धाचरण का वाचक नहीं है। इसी प्रकार अन्य भी दोष समझने चाहिये॥ ३१॥

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय। इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति॥ उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे॥ ३२॥

'ग्रहं गृह्णाति कुविदङ्गेति त्रीन् वा प्रतिदेवतमेतयैव' (का० श्रौ० १५।१०।१२)। कुविदङ्गेति मन्त्रेण पूतायां सुरायां बदरीफलचूर्णं प्रक्षिप्यैकं ग्रहं वैकङ्कतेन पात्रेण गृह्णाति प्रतिदेवतं कुविदङ्गेत्येतयैवर्चा। तद्यथा—कुविदङ्ग····उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वेति प्रथमम्। कुविदङ्ग···· उपयामगृहीतोऽसि सरस्वत्यै त्वेति द्वितीयम्। कुविदङ्ग····उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा सुत्राम्णे इति तृतीयम्। त्र्यृचं काक्षीवतस्य सुकीर्तेरार्षम्। आद्या सोमदेवत्या अनिरुक्ता त्रिष्टुप्। अङ्गशब्दः सम्बोधनवाची। कुविच्छब्दो बह्वर्थवाची। चिच्छब्दः समुच्चये। हे सोम, यथा लोके केचिद् यवमन्तः, यवा विद्यन्ते येषां ते यवादिधान्योपेताः कृषीबलाः, यवादित्वात् 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (पा० सू० ८।२।९) इति मतोर्मकारस्य वकाराभावः, कुविद् यवबहुलं यवमन्यानि च गोधूमप्रियङ्ग्वादिधान्यानि, अनुपूर्वं तत्परिपाकानुक्रमेण इदं पक्वमिदमपक्वमिति वियूय विशेषेण पृथक्कृत्य क्षिप्रं दान्ति लुनन्ति, 'दाप् लवने'। तथा एषां यज्वनां भोजनान्यन्नानि वस्तूनि इह यजमाने कृणुहि कुरुत। एषां केषाम्? ये यजमाना बर्हिषि उपस्थिता नम उक्तिं यजन्ति। नम इत्यन्ननाम। उक्तिर्वचनम्। हविर्लक्षणमन्नमादाय उक्तिं याज्यामभिधाय यजन्ति यागं कुर्वन्ति। यद्वा अङ्गेति क्षिप्रनाम। हे सोम, यथा केचिद् जनपदा यवमन्तो बहुयवाः कुविद् बहुक्षेत्रं यवं चिद् वितर्क्य, चिच्छब्दो वितर्कार्थः, अनुपूर्वं आनुपूर्व्येण वियूय अमिश्रित्य (पृथक्कृत्य) अङ्ग क्षिप्रं दान्ति लुनन्ति, एवमिहैषां यज्वनां भोजनानि अन्नानि कृणुहि कुरुत। ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति, नमस्कारवचनं हविर्लक्षणमन्नं च यजन्ति कुर्वन्ति निवपन्ति वा। यद्वा ये यजमाना बर्हिष उपरि स्थिता नमउक्तिं यजन्ति हविर्लक्षणमन्नमादाय उक्तिं याज्यामभिधाय यजन्ति यागं कुर्वन्ति। हे सोम, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि, अश्विभ्यां त्वा त्वां गृह्णामि, सरस्वत्यै त्वा गृह्णामि, सुत्राम्णे रक्षकायेन्द्राय त्वां गृह्णामि। अत्र काण्वास्तु 'न जग्मुः' इति पठन्ति। तेन ये यजमाना बर्हिषो यज्ञस्य नमउक्तिं नमस्कारवचनं हविर्लक्षणमन्नं च न जग्मुः, एषां सम्बन्धीनि भोजनानि धनानि इह एतस्मिन् यजमाने कृणुहि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ ग्रहान् गृह्णाति। एकं वा त्रीन् वैकस्त्वेव ग्रहीतव्य एका हि पुरोरुग् भवत्येकानुवाक्यैका याज्या तस्मादेक एव ग्रहीतव्यः' (श० ५।५।४।२३)। ग्रहग्रहणं विधत्ते—अथ ग्रहानिति। एको

मन्त्रार्थ—हे सोम, जिस प्रकार इस लोक में बहुत यव धान्य से सम्पन्न किसान बहुत से यव से पूर्ण शस्य को विचार करके क्रम से अलग करके शीघ्र काटता है, उसी तरह से अल्प मात्रा में रहने पर भी तुम देवगणों के प्रिय हो, इस यजमान के लिये तुम नाना प्रकार की भोजन सामग्री इकट्ठी कर दो, कुशा के आसन पर बैठे ऋत्विग्गण हवि लक्षण वाले अन्न से याज्या का नाम लेकर याग करते हैं। हे सोम, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। अश्विनीकुमार की प्रीति के निमित्त, सरस्वती देवता की प्रीति के निमित्त और सबके पालक इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ॥ ३२॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।१०।११-१२) में अभिहित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'कुविदङ्ग'

वा ग्रहो ग्रहीतव्यस्त्रयो वा ग्रहीतव्या इति विकल्प्य एकं सिद्धान्तयति—एकस्त्वेवेति। पुरोरुक् पुरोऽनुवाक्या-याज्यानामेकत्वादेक एव ग्रहीतव्यः। 'स गृह्णाति। कुविदङ्ग····यजन्ति····सुत्राम्णे' (श० ५।५।४।२४) इति।

अध्यात्मपक्षे- हे परमेश्वर, यथा लोके यवमन्तो यवान्नादिमन्तः कृषीबलाः कुविद् बहुयवं सर्वं यवमयं सस्यं चिद् विचार्य अनुपूर्वम् आनुपूर्व्येण वियूय पृथक्कृत्य अङ्ग क्षिप्रं दान्ति लुनन्ति, तथा एषां यज्वनां सम्बन्धीनि भोजनानि भोज्यानि वस्तूनि, इह अस्मिन् यजमाने कृणुहि कुरु। कीदृशास्ते ? ये बर्हिष उपरि स्थिता नमउक्तिं नमस्कारवचनमाश्रित्य यजन्ति, नमस्कारवचनैस्त्वां यजन्ति। हे सोम, निवेद्यं हविरुपयामेन श्रद्धया त्वं गृहीतोऽसि। अश्विभ्यां पूर्वोक्ताभ्यां त्वां गृह्णामि, पूर्वोक्तायै सरस्वत्यै, पूर्वोक्ताय सुत्राम्णे इन्द्राय त्वां गृह्णामि।

दयानन्दस्तु—'हे अङ्ग राजन्, यः कुविद् बह्वैश्वर्यस्त्वमश्विभ्यां व्याप्तविद्याभ्यां शिक्षकाभ्यामुपयाम-गृहीतोऽसि ब्रह्मचर्यादिनियमैः स्वीकृतोऽसि, तं सरस्वत्यै विद्यायुक्तवाचे त्वा इन्द्राय परमैश्वर्याय त्वा सुत्राम्णे सुष्ठु त्राणाय त्वा त्वां वयं स्वीकुर्मः। ये बर्हिषो वृद्धा नमउक्तिं नमसोऽन्नस्योक्तिं वचनं यजन्ति सङ्गच्छन्ते, तेभ्यः सत्कारेण भोजनानि देहि। यथा यवमन्तः कृषीबला इहेह अस्मिन्नस्मिन् व्यवहारे एषां कृषीबलानां यवं चिद् अपि, अनुपूर्वं क्रमशः दान्ति लुनन्ति वियूय बुसादिकं पृथक्कृत्य यवं रक्षन्ति, तथैषां सत्यासत्ये विविच्य रक्षणं कृणुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोध्यादेरप्रामाणिकत्वात्, कुविदित्यस्य बह्वर्थत्वेऽपि बह्वैश्वर्यार्थत्वे मानाभावात्। बर्हिष्पदस्य वृद्धार्थत्वमपि चिन्त्यम्। 'ये वृद्धा अन्नस्य उक्तिं वचनं सङ्गच्छन्ते' इत्यनेन नान्नाभिलाषप्रकटनमर्थः स्फुरति, तेभ्यो भोजनानि देहीत्यध्याहारदोषोऽपि। उपमा-लङ्कारमाश्रित्य कृषीबलकर्तृकान्नपृथक्करणदृष्टान्तेन सत्यासत्यविश्लेषणपूर्वकरक्षणमित्यपि कल्पनाबहुलमेव व्याख्यानम्। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव ॥ ३२ ॥

इस कण्डिका से अश्विन्, सरस्वती तथा सुत्रामा इन्द्र नामक देवताओं के लिये प्रदेय हवि का ग्रहण ग्रहपात्रों में किया जाता है। इस याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, जिस प्रकार जगत् में जौ आदि अन्न से युक्त किसान जौ आदि से परिपूर्ण समस्त फसल को समझ कर क्रमशः उन्हें अलग करके जल्दी ही काट लेते हैं, इसी प्रकार यज्ञों से सम्बद्ध भोग्य पदार्थों को इस यजमान में निहित कीजिये, जो कुशाओं के ऊपर बैठ कर नमस्कारात्मक वचनों, स्तुतियों से आपकी उपासना, यजन करता है। हे निवेदनीय हविर्द्रव्य, तुम श्रद्धा से ग्रहण किये गये हो। पूर्वोक्त अश्विनियों के लिये, सरस्वती के लिये तथा सुत्रामा इन्द्र के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।

स्वामी दयानन्दोक्त व्याख्यान संबोधनीय आदि की अप्रामाणिकता के कारण अग्राह्य है। कुवित् शब्द का अर्थ 'बहुत' होते हुए भी 'बहुत ऐश्वर्य' यह अर्थ करना अप्रामाणिक है। बर्हिष् शब्द का 'वृद्ध' अर्थ भी विचारणीय है। उपमा अलंकार का आश्रय लेकर किसानों के द्वारा अन्न अलग करने के उदाहरण से 'सत्य तथा असत्य की विवेचन-पूर्वक रक्षा करना' इस प्रकार की व्याख्या में भी कल्पना की ही अधिकता है। श्रुति तथा सूत्र के वचनों का विरोध तो स्पष्ट है ही ॥ ३२ ॥

युवᳪ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ३३ ॥

'ग्रहाणां युवᳪ सुरामं पुत्रमिवेति' (का० श्रौ० १९।६।२०)। द्वे ऋचौ सुराग्रहाणां याज्यानुवाक्ये। प्रथमा अनुवाक्या, पुत्रमिवेति याज्या। अनुष्टुप्। अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्या। हे अश्विनौ, युवं युवां कर्मसु निमित्तेषु कर्मकरणार्थम्, इन्द्रमावतमपालयतम्, स्वकर्मक्षममकुरुतम्। अवतेर्लङि मध्यमद्विवचने रूपम्। कीदृशौ युवाम्? नमुचौ आसुरे असुर एवासुरस्तस्मिन्नवस्थितम्, सुरामं सुराभूयं सोमं सुष्ठु रमणीयं सचा सह भूत्वा एकीभूय विपिपाना विविधं पीतवन्तौ। पिबतेर्व्यत्ययेन ह्लादित्वे शानचि रूपम्। नमुचिर्नामासुर इन्द्रस्य सखासीत्। स विश्वस्तस्येन्द्रस्य वीर्यं सुरया सोमेन सह पपौ। तत इन्द्रोऽश्विनौ सरस्वतीं चोवाचाहं नमुचिना पीतवीर्योऽस्मि। ततोऽश्विनौ सरस्वती चापां फेनरूपं वज्रमिन्द्राय ददुः। तेनेन्द्रो नमुचेः शिरश्छिच्छेद ततो लोहितमिश्रः ससुरः सोमस्तदुदरादश्विभ्यां पीत्वा शुद्ध इन्द्रायार्पित इति तदर्पणेनेन्द्रमश्विनावरक्षता-मितीतिहासरूपाख्यायिका शतपथे (१२।३।४।१) दृश्यते। पुनः कीदृशौ? शुभस्पती, शोभनं शुप् तस्य शोभनस्य कर्मणः पती पालकौ। सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्। 'षष्ठ्याः पतिपुत्र…' (पा० सू० ८।३।५३) इत्यादिना पतिपरे विसर्गस्य सकारः।

तत्र ब्राह्मणम्—'यद्यु त्रीन् गृह्णीयादेतयैव गृह्णीयादुपयामैस्तु तर्हि नाना गृह्णीयादथाहाश्विभ्याᳪ सरस्वत्या इन्द्राय सुत्राम्णेऽनुब्रूहीति' (श० ५।५।४।२४)। 'सोऽन्वाह। युवᳪ…कर्मस्वावतमित्याश्राव्याहाश्विनौ सरस्वतीमिन्द्रᳪ सुत्रामाणं यजेति' (श० ५।५।४।२५)। ग्रहत्रयग्रहणपक्षेऽपीममेव मन्त्रमुपयामेत्यत्र विशेषं च दर्शयति—यद्यु त्रीनिति। नाना पृथक् पृथग् उपयामेन तिसृभ्यो देवताभ्यो गृह्णीयात्। अनुवचनप्रैषे विशेषं दर्शयति—अथाहेति। होतारमनूच्याश्विसरस्वतीन्द्रप्रतिपादकं मन्त्रमाह—सोऽन्वाह युवमिति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। यज इति प्रैषे देवताशंसनं विधत्ते—आश्राव्याहेति। देवतात्रयप्रतिपादिकां याज्यां पठति—अश्विनाविति।

अध्यात्मपक्षे—हे रामलक्ष्मणौ, युवं युवाम् अश्विनौ अश्विनाविव सुन्दरौ विविधशक्तिसम्पन्नौ, नमुचौ हनुमदङ्गदाभ्यां प्रबोधनेऽपि सीतां न मुञ्चतीति नमुचिस्तस्मिन्, आसुरे असुर एवासुरस्तस्मिन्, सीतारक्षणार्थं सचा सहभूतौ प्रहारं कुरुतमिति शेषः। कीदृशौ युवाम्? विपिपानौ विविधमात्मनि पालयन्तौ। शुभः शोभनस्य कर्मणः पती पालकौ।

मन्त्रार्थ—हे सर्वजनहितकारी अश्विनीकुमार, नमुचि संज्ञक दैत्य के साथ इस रमणीय सोम का विविध प्रकार से पान करते हुए शुभ कर्म के पालक तुमने उन-उन कार्यों में इन्द्र की सहायता की है ॥ ३३ ॥

भाष्यसार—'युवं सुरामम्' यह ऋचा सुराग्रहहोम की अनुवाक्या है। कात्यायन श्रौतसूत्र (१९।६।२०) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में इस ऋचा के प्रसंग में आख्यायिका तथा याज्ञिक प्रक्रियानुकूल व्याख्या उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे श्रीराम तथा लक्ष्मण! आप दोनों अश्विनियों की भाँति सुन्दर तथा विविध शक्तियों से सम्पन्न हैं। हनुमान् तथा अंगद के द्वारा समझाये जाने पर भी सीताजी का मोचन न करने वाले असुर रावण के प्रति सीता की रक्षा के लिये संयुक्त होकर प्रहार करें। आप दोनों वैविध्य के धारक तथा अच्छे कर्मों के रक्षक हैं।

दयानन्दस्तु—'हे सचा सत्यसमवेतौ, विपिपाना विविधं राज्यं रक्षमाणौ, शुभस्पती शुभः कल्याणकरस्य व्यवहारस्य पती पालयितारौ, अश्विना अश्विनौ सूर्यचन्द्रमसाविव सभासेनेशौ, युवं युवां नमुचौ न मुञ्चति स्वकीयं कर्म यस्तस्मिन् आसुरे असुरस्य मेघस्यायं व्यवहारस्तस्मिन्, कर्मसु कृष्यादिषु वर्तमानं सुरामं सुष्ठु रमणं यस्मिन् तं इन्द्रम्, परमैश्वर्यवन्तं धनिकं सततमावतं रक्षतम्' इति, तदपि वेदस्य लोकायतीकरणमेव, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामज्ञातार्थस्यैव ज्ञापकत्वेन वेदत्वोपपत्तेः। न च सभेश-सेनेशौ सचौ समवेतौ सम्भवतः, भारतीयनीतिधर्मशास्त्रादिषु राज्ञः स्वामित्वेन सेनापतेस्तन्नियोज्यत्वाभ्युपगमात्। तत एव भूपतेरेव पालकत्वादुभयोः पालकत्वमप्यनुपपन्नमेव। नहि नृपद्वयमेकराज्ये सम्भवति, न वाश्वित्वमपि-तत्र सम्भवति। असुरशब्देन मेघव्यवहारोऽभिप्रेतश्चेत्, कथं तस्य नमुचिरिति पदं विशेषणं सम्भवति ? व्यवहारस्य कर्मरूपत्वेन तत्र कर्मान्तरायोगात्। किञ्च, सत्यसमवेतौ पितरौ दम्पती रामलक्ष्मणौ भ्रातरावपि सम्भवत इति तादृशार्थग्रहणे विनिगमनाऽयोगाच्च। एवं कर्मपदेन वैदिकान्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुतो न गृह्येरन् ? कृष्यादिकर्माण्येव किमर्थं गृह्येरन् ? प्रवर्तमानमित्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव। इन्द्रपदेन धनिक एव कुतो गृह्येत ? नहि धनिक एव ताभ्यां रक्ष्यते ? तयोरविशेषेण सर्वपालकत्वोपपत्तेः ॥ ३३ ॥

पु॒त्रमि॑व पि॒तरा॑व॒श्विनो॒भेन्द्राव॑थुः॒ काव्यै॑र्द॒ꣳसना॑भिः।
यत्सु॒रामं॒ व्यपि॑बः॒ शची॑भिः॒ सर॑स्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ३४ ॥

इति माध्यन्दिनसंहितायां दशमोऽध्यायः ॥

स्वामी दयानन्द का व्याख्यान वेद को चार्वाक दर्शन का अनुयायी बना देता है, क्योंकि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से ज्ञात न होने वाले पदार्थों का ज्ञापन कराना ही वेदों का वेदत्व है। सभापति तथा सेनापति एक समान नहीं हो सकते, क्योंकि भारतीय नीति तथा धर्मशास्त्र आदि में राजा को ही स्वामी माना गया है तथा सेनापति उसके द्वारा नियुक्त किया जाता है। अत एव राज्याध्यक्ष के ही पालनकर्ता होने के कारण दोनों का पालक होना भी असिद्ध है। एक राज्य में दो राज्याध्यक्ष नहीं हो सकते। उनमें अश्विनीत्व भी संगत नहीं है। असुर शब्द से यदि 'मेघ का व्यवहार' अर्थ लिया गया है, तो उसमें नमुचि पद कैसे विशेषण के रूप में संगत होगा ? क्योंकि व्यवहार कर्मात्मक होता है तथा उसमें कोई अन्य कर्म संगत नहीं होता। सत्य से संयुक्त दो तो माता-पिता, दम्पती अथवा श्रीराम-लक्ष्मण दो भाई भी हो सकते हैं। अतः इसमें एक ही अर्थ के लिये कोई निश्चित युक्ति नहीं है। इसी प्रकार कर्म शब्द से वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्मों का अर्थ क्यों न ग्रहण किया जाय ? केवल कृषिकर्म ही क्यों माना जाय ? धनिक अर्थ का ही बोधन इन्द्र शब्द से क्यों कराया जाता है ? इत्यादि विसंगतियाँ भी इसमें हैं ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, असुर सहवास से, अशुद्ध सोमरस का पान कर जब तुम विपत्ति में पड़ गये थे, उस समय भी दोनों हितकारी अश्विनीकुमारों ने मन्त्रद्रष्टा महर्षियों के काव्य और कर्मों के प्रयोगों से तुम्हारी उसी तरह से रक्षा की थी, जैसे कि माता-पिता पुत्र की रक्षा करते हैं। हे इन्द्र, तुमने नमुचि का वध करके रमणीय सोम का विशेष रूप से पान किया था। सरस्वती वाणी तुम्हारी अनुगत है, तुम्हारी सेवा करती है ॥ ३४ ॥

त्रिष्टुप्, अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्या। हे इन्द्र, पितरौ पुत्रमिव यथा पालयतः, तथा उभा उभौ अश्विनौ त्वा त्वाम् आवथुः रक्षितवन्तौ, 'अव रक्षणे' इत्यस्य पुरुषव्यत्यये रूपम्। काव्यैः कविकर्मभिः स्तोत्रैः, कवयोऽत्र मन्त्रद्रष्टारस्तेषां कर्माणि मन्त्रदर्शनानि तान्येव दंशनाः कर्माणि ताभिः, 'दंश इति कर्मनाम' (निघ० २।१।३), इन्द्रं पालितवन्तौ। कुत एतदित्याह यद् यस्मात् सुरामं सुरमणीयं सोमं व्यपिबो विशेषेण पीतवानसि, शचीभिः कर्मभिः। नमुचिवधादीनि कर्माणि कृत्वा सुष्ठु रमणीयं सोमं विशेषेण पीतवानसि। हे मघवन्निन्द्र, त्वां सोमातिपूतं सरस्वती अभिष्णक् भेषजसन्धानं कृतवती, 'भिष्णज् उपसेवायाम्' इति कण्ड्वादिषु पठ्यते। अभिष्णग् उपसेवते त्वत्कृतसोमपानेन सरस्वती कृतचिकित्सादिसेवनेन च अश्विनौ त्वामावतुरिति।

तत्र ब्राह्मणम्—'स यजति। पुत्रमिव""मघवन्नभिष्णगिति द्विर्होता वषट्करोति द्विरध्वर्युर्जुहोत्याहरति भक्षं यद्यु त्रीन् गृह्णीयादेतस्यैवानुहोममितरौ हूयेते' (श० ५।५।४।२६)। विधत्ते—द्विर्होतेति। होत्रा द्विवारं वषट्कारः कर्तव्यः। अध्वर्युणापि हवनं द्विवारं कार्यम्। आहरति भक्षमिति हवनानन्तरं भक्षार्थमाहरेयुः। ग्रहत्रयपक्षे हवने विशेषमाह—यद्यु त्रीनिति। एतस्य होममनु इतरौ द्वौ परिस्रुद्धोमौ होतव्यौ। एष परिस्रुद्धोमो दक्षिणाग्नौ कार्यः, कात्यायनश्रौतसूत्रात् (का० श्रौ० १५।१०।१५)।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र! इन्द्रियैरिध्यमान, पितरौ मातापितरौ पुत्रमिव त्वामुभा उभौ अश्विना अश्विनाविव सुन्दरौ सुगुणौ रामलक्ष्मणौ त्वामावथुस्तव रक्षणं कृतवन्तौ। कैः साधनैः? काव्यैः कविकर्मभी रामायणादिलक्षणैः, काव्यैः दंशनाभिः सेतुबन्धरावणवधादिलक्षणैः कर्मभिः, तैरेव साधनैर्जीवस्याविद्याकामकर्मोत्सादनसम्भवात्। यद् यस्मात् शचीभिः कर्मभिः स्वधर्माचरणलक्षणैर्विशुद्धान्तःकरणः सन् सुरामं शोभनं रामं रमणीयं चरित्रं व्यपिबो विशेषेण कर्णपुटैः पीतवानसि। हे मघवन् भक्तिज्ञानलक्षणधनसम्पन्न, सरस्वती ब्रह्मविद्यालक्षणा त्वा त्वामभिष्णग् उपसेवते। भगवन्तौ रामलक्ष्मणौ हे इन्द्र! इन्द्रियैरिध्यमान त्वामावथुः। कथमवनमिति तत्र तयोः कर्माणि स्तोत्राणि च साधनम्। चरित्रामृतपानेन स्वान्तःशुद्धौ तयोरनुग्रहात् सरस्वती ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री तमुपसेवतेऽनुगृह्णाति। तस्माद् ब्रह्मविद्यालाभेन सर्वथैवाविद्यातत्कार्यलक्षणस्य संसारस्य बाधनेन तदवनं सम्पद्यते।

भाष्यसार—'पुत्रमिव' यह ऋचा सुराग्रहहोम की याज्या के रूप में कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।८) में विनियुक्त की गई है। इस याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—हे इन्द्रियों से परिवर्धित जीव! माता-पिता की भाँति, दोनों अश्विनियों की भाँति सुन्दर, सुगुण श्रीराम तथा लक्ष्मण ने तुम्हारा रक्षण किया है। किन साधनों से किया इसका वर्णन है कि रामायण आदि कविकृतियों के द्वारा, सेतुबन्धन तथा रावणवध आदि कार्यों के द्वारा किया है, क्योंकि उन्हीं साधनों से जीव के अविद्या, काम, कर्मों का निराकरण संभव है। जिन स्वधर्माचरणात्मक कर्मों से शुद्ध अन्तःकरण से युक्त होकर सुन्दर रमणीय चरित्र का तुमने अपने कर्णपुटों से विशेष रूप से पान किया है, हे भक्ति-ज्ञान आदि धन से सम्पन्नजीव! ब्रह्मविद्यात्मिका सरस्वती तुम्हारे समीप अवस्थित है। हे इन्द्रियों से वर्धित होने वाले, भगवान् श्रीराम तथा लक्ष्मण ने तुम्हारा रक्षण किया है। उनके कर्म तथा स्तोत्र ही इसमें साधन हैं। चरितामृत के पान से अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर उन दोनों की कृपा से ज्ञान-विज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती तुम पर अनुग्रह करती है। इसलिये ब्रह्मविद्या की प्राप्ति से अविद्या तथा उसके कार्यरूपी संसार का सर्वथा बाध हो जाने पर रक्षण सम्पादित होता है।

दयानन्दस्तु—'हे मघवन्निन्द्र राजन्, यत् त्वं शचीभिः प्रज्ञाभिः सुरामं शोभन आरामो येन रसेन, तं व्यपिबो विविधतयापिबः, तं त्वा सरस्वती विद्यासुशिक्षिता वागिव पत्नी अभिष्णग् उपसेवताम्। हे अश्विनौ सभासेनेशौ राज्ञा ज्ञापितौ सेनापतिन्यायाधीशावुभौ युवां काव्यैः कविभिः परमविद्वद्भिर्धार्मिकैर्निर्मितैर्दंशनाभिः कर्मभिः पितरौ जननीजनकौ पुत्रमिव सर्वं राज्यमावथू रक्षेथाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वापरविरोधात्। त्वद्रीत्या सभापतिरेव राजा भवति। पूर्वं त्वश्विपदेन सभासेनेशावुक्तौ, इह तु राज्ञाज्ञापितौ सेनापतिन्यायाधीशावुच्येते। किञ्च, धनवान् कश्चिद्धनिकोऽपि भवत्येवेति कथं मघवन्निति राजैव गृह्येत ? सरस्वतीपदेन राज्ञः पत्नी गृह्यत इत्यपि निर्मूलम्, मुख्यार्थत्यागे मानाभावात्। किञ्च, सर्वमेतद् लोकगम्यनीत्यादिशास्त्रवेद्यमिति तद्बोधनार्थं कथं वेदप्रवृत्तिः ?

इति वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां
दशमोऽध्यायः ॥

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्यान पूर्वापर के विरोध के कारण असंगत है। उस मत में सभापति ही राजा होता है। पहले अश्वि शब्द से सभापति तथा सेनापति कहे गये हैं, यहाँ राजा से आज्ञप्त सेनापति तथा न्यायाधीश बताये गये हैं। धनवान् तो कोई भी धनिक हो ही सकता है, तो 'मघवन्' शब्द से राजा का ही बोधन कैसे किया गया है ? सरस्वती शब्द से राजा की पत्नी का बोधन कराना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि मुख्य अर्थ को छोड़ने में कोई कारण नहीं है। ये सभी अर्थ लौकिक नीतिशास्त्र आदि के द्वारा जाने जाते हैं, अतः उन्हीं को बताने के लिये वेद की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ॥ ३४ ॥

शुक्लयजुर्वेद—माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

११—१५ अध्यायात्मको भागः

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्

कलकत्ता • वृंदावनम्

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

[११-१५ अध्यायात्मको भागः]

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

सम्पादको भाष्यनिष्कर्षलेखकश्च

पं० व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये

सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचर आचार्यश्च

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्

कलकत्ता • वृन्दावन

श्रीवृन्दावनम् प्रथमसंस्करणम् संवत् २०४८

प्रकाशक–
श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्
कलकत्ता · वृन्दावन

●

मूल्य : ११०.९० रूप्यकाणि

●

अस्य ग्रन्थस्य सर्वेऽधिकारा राजकीयनियमानुसारेण सुरक्षिताः

●

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

१. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
नं० ४ लार्ड सिन्हा रोड, कलकत्ता–७०००७१

२. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५/१८ नारद घाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३ श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

४. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेन्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

५. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
ई० ४/२४, ईस्ट पटेल नगर
दिल्ली—८

मुद्रक—
केशव मुद्रणालय
खजुरी, वाराणसी

॥ श्रीहरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित यजुर्वेदसंहिता के ११–१५ अध्यायों के भाष्य को मन्त्रार्थ और भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित करते हुए हमें बहुत हर्ष का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व प्रथम तीन अध्यायों का और चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) का भाष्य अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है, यह आप लोगों को विदित ही है।

प्रकाशन कार्य विस्तृत है। कई कठिनाइयों के कारण प्रकाशन का कार्य त्वरित गति से नहीं हो पा रहा था। अब चतुर्थ और पञ्चम अध्याय वाला भाग और छठे से दसवें अध्याय तक का भाग अलग-अलग प्रेसों में छप रहा है। इसी तरह से १५ से २० अध्याय का और २१ से २५ अध्याय का भाग भी प्रेसों में दे दिया गया है। प्रगति समुचित है। यथाशीघ्र आप लोगों को ये दोनों भाग प्राप्त हो सकेंगे। हम इस प्रयत्न में हैं कि विक्रम संवत् २०४८ के अन्त तक पूरा भाष्य विज्ञ पाठकों के करकमलों तक पहुँचा दिया जाय।

विदित हो, पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज की अद्वितीय कृति देश के जिन सन्तों, विद्वानों, उच्च शिक्षाविदों और अधिकारियों के पास पहुँचती है, वे अत्यन्त प्रभावित होकर हम लोगों को शेष भाग शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा प्रदान करते हैं।

भाष्यभूमिका के लेखक, अनुवादक, समय-समय पर उचित परामर्शदाता, प्रूफ पुनरीक्षक, प्रेसकापी साधक, अनुच्छेद (पैराग्राफ) के निर्धारक के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जा को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख प्रस्तुत करने वालों के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, उन सभी परम सम्माननीय, आत्मीय, पूज्य आचार्य, विद्वन्मूर्धन्यों के चरणकमलों में धन्यवाद और अभिनन्दनस्वरूप नतमस्तक होकर हम सदा ही कृपा की आशा रखते हैं। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं, वे हैं—

(१) अनन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराज

(२) स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज

(३) पण्डित श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारीजी

(४) पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदीजी

(५) पण्डित श्री जनार्दन पाण्डेयजी

(६) पण्डित श्री राजवंशी द्विवेदीजी

केशव मुद्रणालय के सुयोग्य प्रबन्धक तथा सहृदय कर्मचारियों के स्नेहपूर्ण सौजन्यभरे मुद्रणादि कार्यों के सम्पादन को स्मरण कर इन्हें बहुत धन्यवाद देते हैं।

वृन्दावन धाम
रामनवमी
२०४८ वि० सं०

निवेदक
हनुमानप्रसाद धानुका
अध्यक्ष

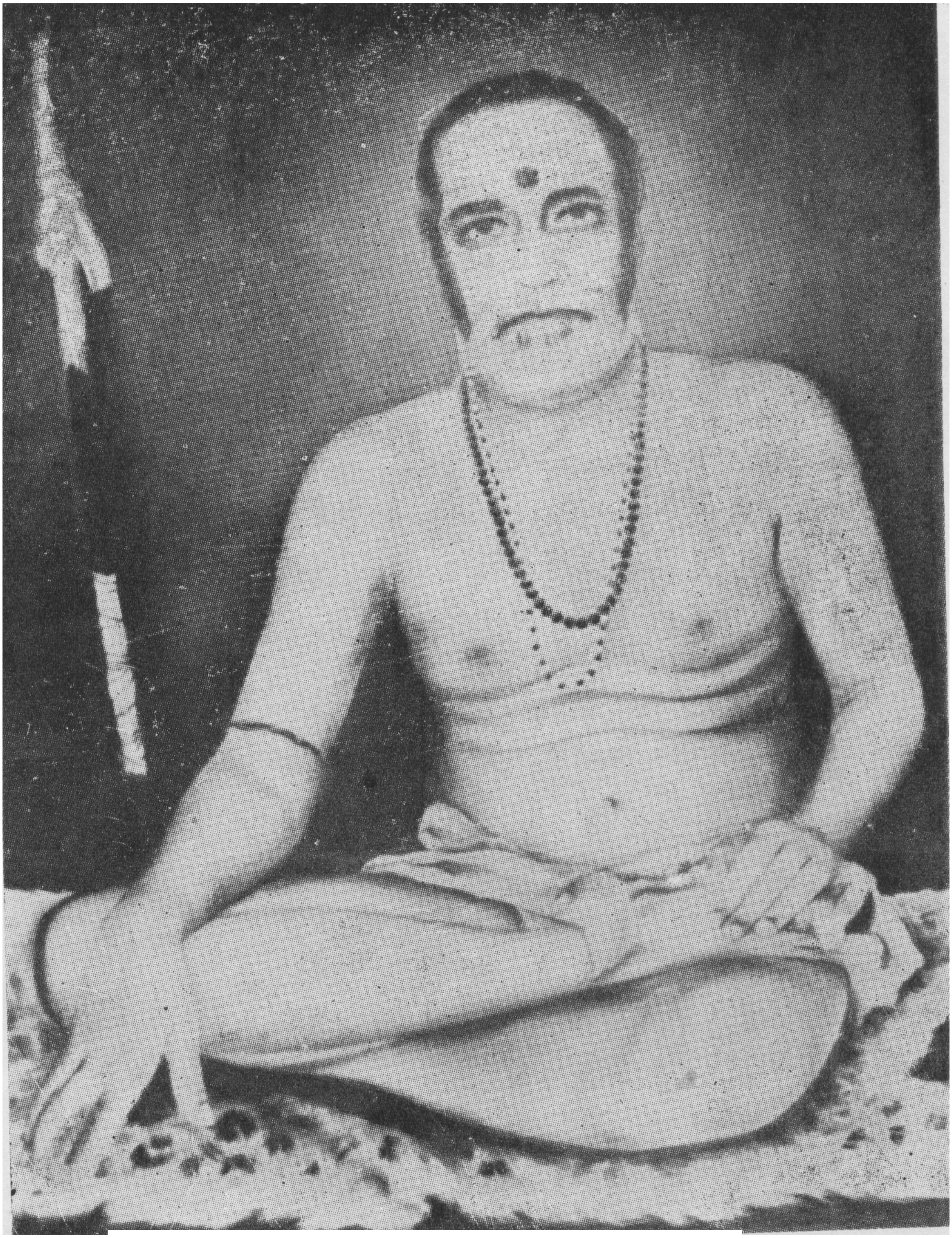

परब्रह्मस्वरूप
धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

पञ्चाध्यायी(११-१५)भाष्यनिष्कर्ष

करपात्रमहाभागान् पुरीपीठाधिपांस्तथा ।
नमस्कृत्य विचारोऽयं प्रस्तुतो भाष्यसंश्रयः ॥

अनन्तश्रीविभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा रचित 'वेदार्थपारिजात' नामक ग्रन्थ का दो खण्डों में प्रकाशन हो चुका है। सायण की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की पद्धति से यह ग्रन्थ लिखा गया है। ९०८ पृष्ठों के इसके प्रथम खण्ड में नैयायिक, बौद्ध, जैन आदि प्राचीन दार्शनिकों के मतों के साथ स्वामी दयानन्द, पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु और पण्डित भगवद्दत्त जैसे आधुनिक आर्यसमाजी विद्वानों के वेदविषयक विचारों का खण्डन किया गया है और ९०९ से २२७४ पृष्ठों के द्वितीय खण्ड में बेवर, मैक्डानल जैसे पाश्चात्य वैदिक विद्वानों के सिद्धान्तों की समीक्षा के बाद स्वामी दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रतिपादित विषयों का और पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा पूर्वमीमांसा के शाबरभाष्य के भाष्यानुवाद में वर्णित मतवादों का अतिविस्तार से खण्डन किया गया है। यह विशाल ग्रन्थ एक प्रकार से स्वामीजी महाराज के यजुर्वेद भाष्य की भूमिका है। भाष्य का नाम भी उन्होंने 'वेदार्थपारिजात' ही रखा था।

उक्त विशाल भूमिका के दो खण्डों के अतिरिक्त अब तक यजुर्वेद भाष्य के प्रथम और अन्तिम अध्याय तथा २-३ अध्याय भी प्रकाश में आ चुके हैं। इनमें मन्त्रार्थ के अतिरिक्त संक्षेप अथवा विस्तार से भाष्यसार भी दिया गया है। इसी पद्धति से चौथे-पाँचवें अध्याय वाले खण्ड का तथा ६-१० अध्यायों का भी अनुवाद और सम्पादन कार्य प्रायः पूरा हो गया है, किन्तु एक अथवा दूसरे कारणों से उसका मुद्रण अत्यन्त शिथिल गति से चल रहा है। इसी शिथिलता को देखते हुए दसवें अध्याय से आगे भाष्यसार देने की योजना को स्थगित कर दिया गया है। इसको इसलिये भी रोकना पड़ा है कि इसमें स्वामीजी महाराज के भाष्य के उत्कृष्टतम अंशों से हिन्दी पाठक पूरी तरह से परिचित नहीं हो पाते थे। अब पाँच-पाँच अध्याय के प्रत्येक खण्ड के साथ इस तरह की महत्त्वपूर्ण सामग्री को संकलित करने की योजना बनाई गई है, किन्तु प्रथम दस अध्यायों का मुद्रण अभी पूरा नहीं हो पाया है, अतः ११ से १५ अध्यायों के इस खण्ड में प्रथमतः इसके महत्त्वपूर्ण अंशों का निष्कर्ष याज्ञिक प्रक्रिया के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। ४-५ अध्यायों वाले भाग का मुद्रण पूरा हो जाने पर प्रथम पाँच अध्यायों का तथा ६-१० अध्यायों वाले भाग में इनकी भी विशिष्ट सामग्री का याज्ञिक प्रक्रिया के साथ संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया जायगा, ताँकि पूरी संहिता और उसके भाष्य का आस्वाद हिन्दी पाठक भी ले सकें।

भाष्यरचना की सामान्य पद्धति

प्रस्तुत भाष्य की सामान्य विशेषता यह है कि यहाँ प्रारम्भ में कात्यायन श्रौतसूत्र और उसके भाष्य के आधार पर मन्त्रों का विनियोग बताया गया है और इस प्रसंग में आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि के भी प्रमाण दिये गये हैं। इसके बाद कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के आधार पर प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द का निरूपण किया गया है। छन्दों के प्रसंग में पिंगल-छन्दःशास्त्र को भी आवश्यकता के अनुसार प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मन्त्रार्थ का निरूपण करते समय उव्वट, सायण और महीधर के भाष्य-वचनों को यथावसर उद्धृत किया गया है। स्तोम की आवृत्ति के प्रकार को जानने के लिये सामसूत्र का उल्लेख है। विशिष्ट वैदिक और लौकिक शब्दों की व्याख्या के प्रसंग में निघण्टु, निरुक्त और दुर्गाचार्य के निरुक्त-भाष्य के अतिरिक्त देवराज यज्वा और स्कन्द स्वामी के व्याख्यानों को भी प्रस्तुत किया गया है। अमरकोश, विश्वप्रकाश, मेदिनीकोश, कल्पद्रुम, अनेकार्थसंग्रह, हैमकोश जैसे कोश-ग्रन्थों को भी यहाँ यथावसर उद्धृत किया गया है।

मन्त्रार्थ का निरूपण करने के बाद उस अर्थ की पुष्टि के लिये शतपथ ब्राह्मण को और उसके हरि स्वामी एवं सायण कृत भाष्यों को भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रधानतः यहाँ माध्यन्दिन शाखा के ब्राह्मण को ही उद्धृत किया गया है, किन्तु इसकी पुष्टि के लिये कभी-कभी काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण को भी प्रस्तुत किया गया है। शतपथ ब्राह्मण को हम इन शाखाओं का प्रथम भाष्य मान सकते हैं। यहाँ मन्त्रों का विनियोग भी बताया गया है और इसी के आधार पर कात्यायन श्रौतसूत्र की रचना हुई, ऐसा हम मान सकते हैं। उव्वट आदि के भाष्यों का भी प्रधान आधार शतपथ ब्राह्मण ही है।

इस प्रकार श्रुति-सूत्र-भाष्य सम्मत मन्त्रार्थ को दिखाने के बाद प्रायः प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी दिखाया गया है और ऐसा करते समय विभिन्न उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, भागवत महापुराण, अध्यात्म रामायण, भुशुण्डि रामायण, संक्षेपशारीरक, भक्तिरसायन जैसे महनीय ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक पुराणों के और आचार्य नरहरि के भी वचन प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

अन्त में स्वामी दयानन्द कृत मन्त्रार्थ की निःसारता को प्रबल युक्तियों के सहारे दिखाया गया है। प्रत्येक मन्त्र का भाष्य करते समय यहाँ प्रायः यही क्रम स्वीकार किया गया है। कहीं-कहीं इस क्रम में कुछ बदलाव देखने को मिलता है। जैसे कि कहीं-कहीं मन्त्र का आध्यात्मिक अथवा दयानन्दीय व्याख्यान नहीं दिया है अथवा उसको देने में विपर्यय कर दिया गया है। भाष्य का सम्पादन करते समय उस क्रम को ज्यों का त्यों रहने दिया गया है। हम यहाँ पूरे भाष्य को इन्हीं चार विभागों में बाँट कर प्रथमतः याज्ञिक प्रक्रिया के, ततः शतपथ ब्राह्मण के, तब आध्यात्मिक प्रक्रिया के और अन्ततः स्वामी दयानन्द के व्याख्यान की समालोचना के प्रसंग में आये विशेष अवधेय प्रसंगों के निष्कर्ष को क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं।

अग्निचयन

जिस याग में विशेष विधान से इष्टकाओं (ईंटों) को जमाकर चिति बनाई जाती है, वह अग्निचयन याग है। इस याग में आहवनीय-स्थानीय उत्तरवेदि न बना कर तत्स्थानीय चिति बनाई जाती है। अग्निचयन के मन्त्र माध्यन्दिन संहिता के ११ से १८ अध्याय पर्यन्त उपलब्ध हैं, किन्तु इस अध्याय में ११-१५ अध्याय तक के विषयों का ही विवरण दिया जा रहा है। इन अध्यायों में क्रमशः उखा-संभरण, उखा-धारण और प्रथम से लेकर पंचम चिति तक के इष्टकोपधान के मन्त्र वर्णित हैं। प्रथम चिति के द्रष्टा प्रजापति, द्वितीय के देवगण, तृतीय के इन्द्राग्नी और विश्वकर्मा, चतुर्थ के ऋषिगण और पंचम चिति के द्रष्टा परमेष्ठी हैं। यतः प्रथम चिति के द्रष्टा प्रजापति हैं, अतः भाष्यकार ने प्रथमतः यहाँ शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के प्रथम तीन अध्यायों में वर्णित प्रजापतिकृत शुष्क और आर्द्र मृत्तिका, सिकता, शर्करा, अश्म, लोह, सुवर्ण, ओषधि और वनस्पति की सृष्टि का वर्णन किया है। हम आगे देखेंगे कि ये पदार्थ चयन याग के मुख्य उपादान हैं। अग्नि पद से इस प्रकरण में इष्टकाओं से बनाये गये अग्नि के आधार स्थान [1]स्थण्डिल का

१. अमरकोश (२।७।१८) में यज्ञ के लिये परिष्कृत की गई भूमि के अर्थ में स्थण्डिल और चत्वर शब्द प्रयुक्त हैं। चत्वर चबूतरे को कहते हैं। 'सती माई का चौरा' यहाँ चौरा शब्द चत्वर के अर्थ में प्रयुक्त है। इस तरह से यज्ञ-याग आदि के लिये परिष्कृत की गई भूमि ही स्थण्डिल है। अभिनवगुप्त ने बाह्य पूजा के प्रसंग में मण्डल, स्थण्डिल, पट, अक्षसूत्र, पुस्तक, लिंग, तूर, पट, पुस्त, प्रतिमा और मूर्ति— इन ११ स्थानों का विधान बताया है (तन्त्रालोक, ६।२-४)। यहाँ जयरथ ने स्थण्डिल का अर्थ याग के लिये परिगृहीत भूप्रदेश, तूर का अर्थ पात्र आदि में उत्कीर्ण आधारविशेष, पुस्त का अर्थ लेप आदि से बनाई गई आकृति और मूर्ति का अर्थ गुरु आदि की आकृति किया है। स्पष्ट है कि प्रतिमा शब्द से यहाँ देवमूर्ति का तथा मूर्ति शब्द से गुरु आदि की प्रतिकृति का ग्रहण किया गया है। इन स्थानों में अपने इष्टदेव का अर्चन ही याग है। यज्ञ शब्द होम या हवन का वाचक है। इसमें प्रधानतया अग्नि में आहुति दी जाती है।

ग्रहण किया जाता है। चयन याग की प्रक्रिया को बताते हुए यहाँ संक्षेप में उखा-संभरण की विधि भी वर्णित है और प्रसंगवश बताया गया है कि यजुर्वेद में पठित छन्दोबद्ध ऋचाओं को [1]छत्रिन्याय से यजुःशब्द से ही अभिहित किया जाता है। हम यहाँ अध्याय विभाग से इन सभी विषयों का भाष्य की पद्धति से निरूपण करने जा रहे हैं।

एकादश अध्याय : उखा-सम्भरण

अग्नि को रखने के लिये मिट्टी की बनी मंजूषा को उखा कहते हैं। इसका विधिपूर्वक निर्माण ही उखा-सम्भरण शब्द से कहा जाता है। एकादश अध्याय में यह विधि मन्त्रों के साथ वर्णित है। जो व्यक्ति चयन याग करना चाहता है, वह पहले फाल्गुन कृष्ण प्रतिपदा के दिन पौर्णमासेष्टि करके पुरुष, अश्व, गाय, अवि (भेड़) और अज— इन पाँच पशुओं का आलभन कर उनके सिर पर घृत का लेप कर आगे बताई गई विधि से इसका प्रथम चिति पर उपधान करने के लिये किसी सुरक्षित स्थान में रख देता है। तब इनके धड़ों और यज्ञशेष सामग्री को तालाब के जल में छोड़ देता है। इसी तालाब से वह उखा और इष्टकाओं के निर्माण के लिये मिट्टी और जल भी ले लेता है। तब फाल्गुन कृष्ण अष्टमी के दिन उखा-सम्भरण किया जाता है। इसके लिये आहवनीयाग्नि और दक्षिणाग्नि की स्थापना कर आहवनीयाग्नि की पूर्व दिशा में पहले से बनाये हुए चतुष्कोण गर्त में तालाब से लाई मिट्टी का एक पिण्ड बनाकर रखा जाता है, इस मृत्पिण्ड और आहवनीयाग्नि के बीच में वल्मीक (बांबी) की मिट्टी रखी जाती है। आहवनीय स्थान से दक्षिण में अश्व, गर्दभ और अज के सिरों को पूर्वाभिमुख मूँज की रस्सी से बाँधकर रखा जाता है। आहवनीय स्थान से उत्तर दिशा में बाँस की बनी हुई दोनों तरफ से तीखी अभ्रि को स्थापित किया जाता है। यह अभ्रि सुवर्ण की बनी हुई भी हो सकती है। तब गार्हपत्य अग्नि में घृत का संस्कार कर जुहू और स्रुवा का संमार्जन कर स्रुवा में आठ बार घृत लेकर आहवनीय अग्नि में परिस्तरण और समिदाधान पूर्वक अध्वर्यु निरन्तर आहुतियाँ देता है। आहुति देते समय 'युञ्जानः' (११।१–८) इत्यादि आठ मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। इन मन्त्रों में सविता देवता की स्तुति की गई है। इन मन्त्रों का अर्थ यहाँ ग्रन्थ में ही दे दिया गया है। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि जो मन्त्र जिस कार्य में विनियुक्त है, उस विधि के अनुष्ठान के समय उस मन्त्र का उच्चारण आवश्यक है। मन्त्र उस विधि का स्मारक माना जाता है। ऐसा करने से विधि में किसी प्रकार के विपर्यय की सम्भावना नहीं रह जाती।

प्रस्तुत अध्याय की प्रथम आठ कण्डिकाओं से सविता देवता के निमित्त आहुति समर्पित करने के बाद अध्वर्यु ९-१० कण्डिकाओं से बाँस या सुवर्ण की बनी अभ्रि को हाथ में लेता है और ११ वीं कण्डिका से उसे अभिमन्त्रित करता है। बाँस अथवा सोने से बनी दोनों तरफ से तीखी यह अभ्रि यज्ञीय कार्य के लिये गर्त (गड्ढा) के खनन में विनियुक्त है। इसके बाद की तीन (१२-१४) कण्डिकाओं से अध्वर्यु उस अभ्रि को हाथ में लिये हुए ही एक-एक कण्डिका का उच्चारण करता हुआ क्रमशः अश्व, गर्दभ और अज का तृण से स्पर्श करता है और आगे के दो (१५-१६) मन्त्रों से एक-एक कर इनका स्पर्श किये बिना ही हाथ से मारने का डर दिखा कर इनको पूर्व दिशा की ओर हाँक देता है।

---

१. ग्रीष्म अथवा वर्षा ऋतु में अनेक मनुष्य जब एक साथ चलते हैं, तो कुछ लोगों के हाथ में छतरी रहती है, कुछ बिना छाते के ही होते हैं। इन सबके लिये 'छत्रिणो यान्ति' यह औपचारिक प्रयोग किया जाता है। ठीक उसी तरह से यजुर्वेद में यजुर्मन्त्रों के साथ ऋचाएँ भी पठित हैं। यजुर्मन्त्रों के साथ पठित इन ऋचाओं को भी उसी पद्धति से 'यजुष्' शब्द से ही अभिहित किया जाता है।

इतना कार्य कर लेने के बाद [१]वल्मीकवपा, अर्थात् बाँबी के ऊपरी हिस्से की छिद्र वाली मिट्टी को लेकर, जिसे कि पहले से ही मृत्पिण्ड और आहवनीय स्थान के बीच में रखा हुआ है, उसके छिद्रों में से मृत्पिण्ड का निरीक्षण करता है। ऐसा करते समय 'अन्वग्नि' (११।१७) इत्यादि मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। तब 'आगत्य' (११।१८) इत्यादि मन्त्र से अश्व का अभिमन्त्रण कर 'आक्रम्य' (११।१९) इत्यादि मन्त्र से मृत्पिण्ड के ऊपर अश्व के बायें पैर को रखा जाता है। तब 'द्यौस्ते' (११।२०) कण्डिका को पढ़ते हुए अध्वर्यु अपना दाहिना हाथ अश्व की पीठ पर रखता है। इस विधि को यहाँ उन्मर्शन[२] नाम दिया गया है। इसके बाद 'उत्क्राम' (११/२१) मन्त्र से उसको मृत्पिण्ड से अलग कर देता है और 'उदक्रमीत्' (११।२२) मन्त्र से अश्व को पुनः अभिमन्त्रित कर रासभ और अज के साथ खड़ा कर देता है।

अब अध्वर्यु मृत्पिण्ड के समीप बैठकर 'आ त्वा जिघर्मि' (११।२३-२४) इत्यादि दो मन्त्रों से मृत्पिण्ड पर बने अश्व-पद पर दो आहुतियाँ देता है और 'परि वाजपतिः' (११।२५-२७) इत्यादि तीन कण्डिकाओं का पाठ करता हुआ अभ्रि से मृत्पिण्ड पर तीन रेखायें खींचता है। तब अभ्रि से ही 'देवस्य त्वा' (११।२८) मन्त्र से मृत्पिण्ड के चारों तरफ की भूमि को खोदता है और 'अपां पृष्ठम्' (११।२९) मन्त्र से मृत्पिण्ड के उत्तर भाग में कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण (पद्मपत्र) बिछाता है। यहाँ शतपथ ब्राह्मण (६।४।१।९) में कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण का उत्तराधरभाव पृथिवी और आकाश के दृष्टान्त से समझाया गया है। पुष्करपर्ण को स्वच्छ कर लेने के उपरान्त आगे के दो मन्त्रों से (११।३०-३१) कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण को छूकर 'पुरीष्योऽसि' (११।३२) मन्त्र से मृत्पिण्ड का भी स्पर्श करता है और अपने दोनों हाथों से उसे उठाकर 'त्वामग्ने' (११।३२-३७) इत्यादि छः ऋचाओं से कृष्णाजिन पर बिछाये पुष्करपर्ण पर रख देता है। तब 'अपो देवीः' (११।३८) मन्त्र से मृत्पिण्ड के गर्त में जल डालता है और 'सं ते' (११।३९) मन्त्र से उस गर्त में वायु को प्रेरित करता है। इतना कर लेने के बाद अध्वर्यु 'सुजातः' (११।४०) मन्त्र से बिछाये गये कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण के चारों कोनों को पकड़ कर दोनों हाथों से ऊपर उठाते हुए 'उदुत्तिष्ठ' (११।४१) मन्त्र का उच्चारण करता है। तब चुपचाप अपने भी उठ खड़ा होता है और 'ऊर्ध्व ऊषुण' (११।४२) मन्त्र से दोनों हाथों को पूर्व दिशा की तरफ कर मृत्पिण्ड को उधर झुका देता है। इस तरह से अध्वर्यु उस मृत्पिण्ड को अपनी नाभि तक ले जाकर उसे हाथों में उठाये हुए ही क्रमशः अश्व, गर्दभ और अज को 'स जातः, स्थिरो भव, शिवो भव' (११।४३-४५) इन तीन मन्त्रों से अभिमन्त्रित करता है और इनका स्पर्श किये बिना इनके ऊपर मृत्पिण्ड को उठाकर 'प्रैतु वाजी, वृषाग्निम्, ऋतं सत्यम्' (११।४६-४७) इन दो कण्डिकाओं में स्थित तीन मन्त्रों का क्रमशः जप करता है। इतना कर लेने के उपरान्त वह देवकार्य एवं पितृकार्य से विमुख उच्छृङ्खल [३]अनद्धापुरुष का निरीक्षण करता है। तब 'ओषधयः' (११।४८) इस मन्त्र से उखा-संभरण के लिये आहवनीय स्थान की उत्तर दिशा में पाँच हाथ के गृह का निर्माण कर आच्छादित प्रदेश में उस मृत्पिण्ड को रख देता है।

सायणाचार्य यहां (११।४७) उद्धनन कर्म का भी निर्देश करते हैं। मृत्पिण्ड को जिस स्थान पर रखा जाता है, वह कहीं उच्छिष्ट स्थल न हो, इस आशंका की निवृत्ति के लिये वहाँ की ऊपर की मिट्टी, घास आदि को साफ कर दिया जाता है। वैदिक परिभाषा में इसी को उद्धनन कहा जाता है। उद्धनन करने के बाद उस स्थान पर जल का छिड़काव कर वहाँ बालू बिछा कर और चारों तरफ से ढँक कर पूर्व दिशा की ओर द्वार बना दिया जाता है और वहीं मृत्पिण्ड को 'ओषधयः' (११।४८) मन्त्र से स्थापित किया जाता है। इतना करने के बाद अध्वर्यु कृष्णाजिन में मूंज की

---

१. "वल्मीकस्योन्नतत्वेनाभिवृद्धोऽवयवो वपा" (पृ० २१ का भाष्य देखिये)।

२. "उन्मर्शनं नाम अश्वपृष्ठस्योपरि पाणिधारणम्" (पृ० २५)।

३. "देवपितृकार्यविमुखमनद्धापुरुषम्, उच्छृङ्खलमिति यावत्" (पृ० ५९)।

रस्सी से बँधे हुए मृत्पिण्ड को वहाँ बिखेर देता है और 'विराजमा' (११।४९) मन्त्र से अज के रोयों को लेकर उक्त तीनों पशुओं को ईशान दिशा की ओर हांक देता है।

इतना सब कर लेने के बाद अध्वर्यु दक्षिणाग्नि में पलाश की छाल के साथ पकाये जल में से ऊपर के फेन को निकाल कर दूसरे पात्र में रख लेता है और उससे 'आपो हि ष्ठा' (११।५०-५२) इत्यादि तीन मन्त्रों का पाठ करते हुए मृत्पिण्ड का सेचन करता है। तब 'मित्रः संसृज्य' (११।५३) मन्त्र से पूर्वगृहीत अज के लोमों को और 'रुद्राः संसृज्य' (११।५४) मन्त्र से शर्करा, लोहचूर्ण और पाषाणचूर्ण को उस बिखरे हुए मृत्पिण्ड पर डाल कर 'संसृष्टाम्' (११।५५-५७) इत्यादि तीन मन्त्रों से इन सब वस्तुओं को मृत्पिण्ड के साथ भलीभाँति मिला देता है। अब इसी सामग्री से पहले यजमान की प्रथम परिणीता पत्नी (महिषी) बारह अंगुल की अषाढासंज्ञक इष्टका का निर्माण करती है और तब यजमान स्वयं ही उखा का निर्माण करता है। एकपशु पक्ष और पंचपशु पक्ष में उखा का परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। एकपशु पक्ष में यह प्रादेशमात्र चतुरस्र और उतनी ही ऊँची होती है। पंचपशु पक्ष में पाँच प्रादेश के नाप की चतुरस्र बनाई जाती है। 'वसवस्त्वा' (११।५८) मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान उखातल को बनाता है और जल मिली मिट्टी के लेप से उसे चिकनी कर देता है। तब उद्धि[1] की सहायता से उखा का निर्माण करता है। इस प्रकार बनी उखा की ऊँचाई को तीन हिस्सों में बांट कर ऊपर के तीसरे भाग में मेखला बनाई जाती है। मेखला के ऊपर चारों दिशाओं में 'अदित्यै रास्नासि' (११।५९) मन्त्र से स्तन का आकार बनाया जाता है। इस प्रकार उखा का निर्माण कर उसे भूमि पर रख दिया जाता है। विश्वज्योति नामक तीन इष्टकाओं का निर्माण भी यजमान ही करता है।

तब अध्वर्यु 'वसवस्त्वा' (११।६०) इत्यादि कण्डिका के सात यजुर्मन्त्रों से दक्षिणाग्नि से जलाई गई अश्व की सात लीदों से उखा को धूपित करता है। इसके बाद 'अदितिष्ट्वा' (११।६१) इत्यादि यजुर्मन्त्रों से अषाढा, उखा और विश्वज्योति इष्टकाओं को पकाने के लिये अभ्रि से चौकोर गड्ढा खोदता है। इनको पकाने लायक पर्याप्त इन्धन उस गड्ढे में भर कर उन तीनों को एक-एक कर गड्ढे में रख उनके ऊपर भी इन्धन रख देता है और दक्षिणाग्नि से लाई अग्नि से उसे प्रज्वलित कर देता है। उखा आदि का पाक हो जाने पर दण्ड आदि से ऊपर के इन्धन में छिद्र बना कर उसमें से उखा को देखता हुआ 'वरूत्री' (११।६१) आदि तीन यजुर्मन्त्रों का पाठ करता है। 'मित्रस्य' (११।६२) मन्त्र से पालाश इन्धन का [2]प्रक्षेप करता है और 'देवस्त्वा' (११।६३) से पाकानन्तर भस्मीभूत इन्धन को हटा देता है। पहले अषाढा को निकाल कर उखा का मुँह ऊपर करता है। 'उत्थाय' (११।६४) प्रभृति मन्त्र से उखा को दोनों हाथों से ऊपर उठा कर गड्ढे के बाहर निकाल लेता है। इसके बाद बिना मन्त्र का उच्चारण किये विश्वज्योति इष्टकाओं को बाहर निकालता है। अब 'वसवस्त्वा' (११।६५) इत्यादि कण्डिका के चार यजुर्मन्त्रों से उखा में चार बार बकरी का दूध भरता है। इस प्रकार उखा-संभरण की विधि सम्पन्न होती है।

इसके बाद अन्य इष्टकाओं का निर्माण कर पाँच औद्ग्रभण संज्ञक आहुतियाँ दी जाती हैं। औद्ग्रभण होम के बाद कृष्णाजिन दीक्षा से लेकर दण्डोच्छ्रयण पर्यन्त कर्म का अनुष्ठान कर ईशानाभिमुख अध्वर्यु अथवा यजमान मुंजकुलाय अथवा शणकुलाय को उखा में डाल कर उसे प्रदीप्त आहवनीय अग्नि में तपाता है। अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर 'द्रवन्नः' (११।७०-८२) इत्यादि तेरह मन्त्रों से उसमें घृताक्त प्रादेशप्रमाण तेरह समिधाओं की आहुतियाँ दी जाती हैं। पाँच समिधाएँ [3]धमन, विकंकत, उदुम्बर, अपरशुवृक्त वृक्ष अर्थात् [4]दीमक आदि के लग जाने से और अपने आप

---

१. "उद्धिशब्दो मृत्पिण्डप्रदेशवाची" (पृ० ७३)।

२. "उपवापोऽवटे प्रक्षेपः, उद्वापस्तत ऊर्ध्वं नयनम्" (पृ० ८४)।

३. "क्रमुको धमनः, धनुरुपादानभूतो वृक्षविशेषः" (पृ० ९५)।

४. "उपजिह्विका उपदीपका" (पृ० १००), "वम्रशब्दः पिपीलिकासदृशं क्षुद्रजीवमाचष्टे" (पृ० १००)।

पवनवेग आदि से गिरे वृक्षों की होती हैं तथा बाकी बची आठ समिधाएँ पलाश की ली जाती हैं। उक्त तेरह ऋचाओं में से बारहवीं क्षत्रिय यजमान के लिये और तेरहवीं पुरोहित यजमान के लिये दी जाती हैं। अन्त में अध्वर्यु 'अन्नपतेऽन्नस्य' (११।८३) मन्त्र से यजमान को व्रतनिर्वाहार्थं दूध देता है। उस समय यजमान उख्य अग्नि में समिधा का आधान करता है।

द्वादश अध्याय : उखा-धारण

ग्यारहवें अध्याय की उखा-सम्भरण की विधि का निरूपण करने के बाद अब बारहवें अध्याय की उखा-धारण की विधि बताई जा रही है। शतपथ ब्राह्मण (६।७।१।२३) में उखा के विषय में कहा गया है कि स्थाली ही उखा का नाम धारण कर लेती है। उखा, कुम्भी, स्थाली—ये पर्यायवाची शब्द हैं। तीनों में मिलकर छः अक्षर होते हैं और इस प्रकार ये छः ऋतुओं के बोधक हैं। छः ऋतुओं से ही संवत्सर बनता है। यहाँ सर्वप्रथम यजमान अपने कण्ठ में सोने के गोल २१ दानों के हार को 'दृशानो रुक्म'[1] (१२।१) मन्त्र से धारण करता है। इसमें शुक्ल और कृष्ण रोम वाले कृष्ण मृगचर्म के टुकड़े शणसूत्र से गुँथे रहते हैं। यहाँ शतपथ ब्राह्मण (६।७।१।९-११) में बताया गया है कि सुवर्ण को नाभि से ऊपर के अंग में ही धारण किया जाता है। तब यजमान गरम उखा को दो गोल [2]इण्ड्वाओं (ईंडुणी=गेंडुरी) से 'नक्तोषासा' (१२।२) मन्त्र का उच्चारण करता हुआ पकड़ता है। यहाँ शतपथ ब्राह्मण में उखा की सूर्य के रूप में और आदित्य के आगे-पीछे चलते रात-दिन की इण्ड्वाओं के रूप में कल्पना की गई है। इसी मन्त्र के उत्तरार्ध से आहवनीय अग्नि के ऊपर स्थित उखा को उठा कर अध्वर्यु आसन्दी की तरफ ले जाता है और उद्गाता आहवनीय की पूर्व दिशा में भूमि पर स्थापित [3]प्रादेशप्रमाण (१० अंगुल) चार पायों वाली औदुम्बरी आसन्दी (प्रतिष्ठा) पर [4]अरत्नि-प्रमाण मूँज की रस्सी से बने चार कोनों वाले शिक्य (सिकहर) पर उस उखा को रखता है। यहाँ दोनों गेंडुरियों में सन की डोरी बाँध कर सिकहर बना दिया जाता है और इसकी डोरियों में मिट्टी पोत दी जाती है। अन्यथा आग की गरमी से डोरी जल सकती है। तब छः[5] रस्सियों के सहारे लटक रहे उस शिक्य-पाश को यजमान 'विश्वा रूपाणि' (१२।३) मन्त्र का उच्चारण करता हुआ अपने कण्ठ में लटकाता है। भाष्यकार के अनुसार ग्रामीण भाषा में शिक्य के आधार काष्ठ को 'बिठयी' कहा जाता है। संस्कृत में

---

१. "रुक्म आभरणविशेषः" (पृ० १११)।

२. "इण्ड्वे इति तसोखाधारणसाधनभूतौ परिमण्डलौ पदार्थविशेषौ" (पृ० ११५)।

३. फैलाये गये अँगूठे और तर्जनी के मध्य भाग के प्रमाण को प्रादेश कहते हैं। यह दस अंगुल के बराबर होता है। देखिये अमरकोश—"प्रादेशतालगोकर्णास्तर्जन्यादियुते तते" (२।६।८३)।

४. कोहनी से कनिष्ठा (कानी) अंगुली के छोर तक का माप, लम्बाई नापने का पैमाना। देखिये अमरकोश—"अरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना" (२।६।८६)।

५. यहाँ भाष्य में प्रतिष्ठा, आसञ्जन और उद्दाम शब्द प्रयुक्त हैं। इनके अर्थ वहाँ इस तरह से बताये गये हैं—शिक्यस्य अधस्ताद्वर्ती उद्दामाधारः पाशरचितोऽवयवविशेषो ग्रामीणभाषायां 'बिठयी' इति। स एवात्र प्रतिष्ठाशब्देनोक्तः। आसज्यते बध्यतेऽस्मिन्नित्यासञ्जनं शिक्याधारः काष्ठविशेषः" (पृ० ११७), "उद्दामशब्देन शिक्यदामान्युच्यन्ते" (पृ० ११८)। इसी मन्त्र (१२।३) के भाष्य में उख्य अग्नि की प्रशंसा के प्रसंग में उखा के विषय में यह कहा गया है—"सा स्थाली यदुखा नाम धृतवती। उखा, कुम्भी, स्थाली—इति तस्या नाम। मिलित्वा षडक्षराणि भवन्ति। षड् वा ऋतवः। षड् ऋतवः संवत्सर इति" (पृ० ११९)।

इसके लिये प्रतिष्ठा शब्द है। तब 'सुपर्णोऽसि' (१२।४) मन्त्र से दोनों हाथों से शिक्य के साथ उख्य अग्नि को मृत्पिण्ड के समान उठाये हुए यजमान पूर्व दिशा की ओर चलता है। वह त्रिविक्रम विष्णु की तरह 'विष्णोः क्रमोऽसि' (१२।५) कण्डिका में स्थित तीन यजुर्मन्त्रों से तीन डग भरता है। ऐसा करते समय दाहिने पैर को पहले उठाता है और उख्य अग्नि को प्रत्येक पदक्रम के समय नाभि से ऊपर रखता है। तब मृत्पिण्ड के समान ही 'अक्रन्ददग्निः' (१२।६) मन्त्र से ऊर्ध्वबाहु यजमान उख्याग्नि को पूर्व दिशा की ओर कुछ झुकाता है। फिर आगे के चार मन्त्रों (१२।७-१०) से चार बार में उस उख्याग्नि को क्रमशः धीरे-धीरे नीचे उतारता है। उसे नाभि तक उतार लेने के बाद 'आ त्वाहार्षम्' (१२।११) मन्त्र से अभिमन्त्रित करता है। तब 'उदुत्तमम्' (१२।१२) मन्त्र से शिक्यपाश और रुक्मपाश को उखा के ऊपर से उतार लेता है और 'अग्रे बृहन्' (१२।१३) मन्त्र से बाहुओं को ऊपर उठाये आग्नेय दिशा की ओर उख्याग्नि को ले जाता है। वहाँ 'हंसः शुचिषद्' (१२।१४) मन्त्र से अग्नि को उतार कर आसन्दी पर रख देता है। तब यजमान 'सीद त्वम्' (१२।१५-१७) इत्यादि तीन ऋचाओं से अग्नि का उपस्थान करता है। इसके बाद एकादश ऋचा वाले (१२।१८-२८) वात्सप्र अनुवाक से भी अग्नि का उपस्थान किया जाता है। यहाँ कुछ आचार्य आसन्दी के ऊपर स्थित अग्नि का ११ ऋचाओं से तथा अन्य आचार्य १२ ऋचाओं (१२।१८-२९) से उपस्थान (प्रार्थना) का विधान करते हैं।

अग्नि का उपस्थान करने के उपरान्त 'वनीवाहन' नामक कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। उख्याग्नि को उत्तर दिशा में गाड़ी की ईषा (फड़) को पूर्वाभिमुख कर यजमान वहाँ स्थापित उख्याग्नि में वनीवाहन नामक समिधा का 'समिधाऽग्निम्' (१२।३०) मन्त्र से आधान करता है। इस पूरे कर्म का अनुष्ठान यजमान को ही करना है, अध्वर्यु को नहीं। तब ईषादण्ड के दक्षिण में खड़ा यजमान आसन्दी सहित उख्याग्नि को उठा कर 'उदु त्वा' (१२।३१) मन्त्र से ईषादण्ड के पूर्व भाग में स्थापित कर देता है। इसके बाद गार्हपत्य के पश्चिम भाग में स्थित गाड़ी में चुपचाप बैलों को जोत कर 'प्रेदग्ने' (१२।३२) मन्त्र से पहले प्राची दिशा में चल कर तब अभीष्ट स्थान की ओर प्रस्थान करता है। चलते समय अक्ष (पहियों में लगी धुरी) के आवाज करने पर 'अक्रन्ददग्निः' (१२।३३) मन्त्र का पाठ किया जाता है। इसके बाद उत्तर दिशा में पाँच भूसंस्कारों से संस्कृत स्थान पर अग्नि को शकट से उतार कर स्थापित किया जाता है और 'प्र प्रायम्' (१२।३४) मन्त्र से उख्य अग्नि में समिधा दी जाती है।

इस प्रकार वनीवाहन कर्म की समाप्ति के बाद तालाब आदि के पास जाकर यजमान पलाश आदि के पत्तों से सायंकाल और प्रातःकाल उखा के पास से हटाई गई भस्म को 'आपो देवीः' (१२।३५) मन्त्र से जल में प्रवाहित कर देता है। तब दुबारा दो मन्त्रों (१२।३६-३७) से भस्माभ्यवहरण करता है। आगे की चार ऋचाओं (१२।३८-४१) से जल में प्रक्षिप्त भस्म में से थोड़ी भस्म अनामिका अंगुलि से ग्रहण करता है। तालाब से वापस आकर यजमान अनामिका से गृहीत भस्म को बिना किसी मन्त्र का उच्चारण किये उखा में डाल कर 'बोधा मे' (१२।४२-४३) इत्यादि दो मन्त्रों से अग्नि का उपस्थान करता है। तब प्रायश्चित्त के रूप में समिधा को ही स्रुचा मान कर उसे घी में डुबो कर उख्याग्नि में घृत की आहुति देता है। इसे प्रायश्चित्ति कर्म कहा जाता है। घृत की आहुति देने के उपरान्त 'पुनस्त्वा' (१२।४४) मन्त्र से उस समिधा की भी उख्याग्नि में आहुति दे दी जाती है।

इसके उपरान्त गार्हपत्य अग्नि का चयन किया जाता है। पहले पलाश की शाखा से गार्हपत्य स्थान की चारों दिशाओं का 'अपेत वीत' (१२।४५) कण्डिका के चार यजुर्मन्त्रों से व्युदूहन (संमार्जन) किया जाता है। यहाँ गार्हपत्य शब्द से शालाद्वार्य का ग्रहण किया जाता है। चिति का स्थान भी गार्हपत्य शब्द से ही उक्त है। इस स्थान में गिरे-पड़े तृण-पत्र आदि को बुहार देना ही वैदिक भाषा में व्यूहन अथवा व्युदूहन तथा लौकिक भाषा में संमार्जन कहा जाता है।

जिस पलाश की शाखा से व्युदूहन किया गया, उसे उत्तर दिशा की ओर फेंक दिया जाता है और गार्हपत्य के चितिस्थान में ऊषर भूमि से लाई गई मिट्टी 'संज्ञानमसि' (१२।४६) मन्त्र से डाली जाती है। जिस भूमि को सूंघकर पशु चाटने लगे, समझ लेना चाहिये कि यह ऊषर भूमि है। इसमें फसल नहीं उगती। अध्वर्यु इस मिट्टी से बनाये मण्डल की दक्षिण दिशा में उत्तराभिमुख बैठ कर मण्डल के बीच में अर्धबृहती संज्ञक छः अँगुल ऊँची, बारह अँगुल चौड़ी और चौबीस अँगुल लम्बी चार इष्टकाओं को दक्षिण-उत्तर दिशाओं की ओर 'अयं सो' (१२।४७-५०) इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए रखता है। तब अध्वर्यु अर्धबृहती इष्टकाओं की परिक्रमा कर उत्तर दिशा में जाकर दक्षिणाभिमुख हो पश्चिम में पश्चिमाभिमुख पादप्रमाण पद्या नामक दो इष्टकाओं का दो मन्त्रों (१२।५१-५२) से दक्षिण और उत्तर दिशाओं में उपधान करता है। तब उत्तर दिशा से घूम कर दक्षिण दिशा में आ जाता है और उत्तराभिमुख हो पूर्व में तिरछी (तिरश्ची = वक्रा) इष्टकाओं को 'चिदसि' (१२।५३) कण्डिका के दो यजुर्मन्त्रों से उत्तर और दक्षिण दिशा की ओर रखता है। इसके बाद तीन लोकम्पृणा इष्टकाओं का चुपचाप तथा बाकी दस का 'लोकं पृण' (१२।५४) इत्यादि मन्त्र के उच्चारण के साथ उपधान किया जाता है अथवा पहले दो इष्टकाओं का, तब दस तथा अन्त में एक लोकम्पृणा इष्टका का उपधान करते समय तीन बार इस मन्त्र को आवृत्ति की जाती है। इस तरह से गार्हपत्याग्नि की इक्कीस इष्टकाओं का उपधान पूरा हो जाता है। इष्टकाओं के उपधान के समय सादन[1] और सूददोहसाभिवदन नामक दो क्रियाओं को अवश्य करना चाहिये। 'चिदसि' (१२।५३) इत्यादि मन्त्र से इष्टकाओं को स्थापित किया जाता है। यही सादन कर्म है। तब इष्टकाओं के ऊपर हाथ रख कर 'ता अस्य' (१२।५५) इत्यादि मन्त्र से उनको दृढ़ता से स्थिर किया जाता है, दबाया जाता है। इसे ही सूददोहसाभिवदन कहते हैं। ये दोनों संस्कार प्रत्येक इष्टकाओं के अनिवार्य रूप से किये जाते हैं।

इसके बाद चात्वाल प्रदेश से मिट्टी लाकर उसे 'इन्द्रं विश्वा (१२।५६) मन्त्र से गार्हपत्य चिति के ऊपर डाला जाता है। इसकी [2]पुरीष संज्ञा है। इस पुरीष के निवपन द्वारा गार्हपत्य चिति को यहाँ स्थापित इष्टकाओं के बराबर ऊँचा कर 'समितम्' (१२।५७-६०) इत्यादि चार मन्त्रों से गार्हपत्य चिति के बीच में उखाग्नि को स्थापित किया जाता है। तब उस खाली उखा में ऊपर तक सिकता (बालू) भर दी जाती है और उसको शिक्य से अलग कर 'मातेव' (१२।६१) मन्त्र से अग्नि के समान स्थापित उखाग्नि के उत्तर में अरत्निमात्र दूर गार्हपत्य चिति के ऊपर रख कर सिकता से भरी हुई उखा पर बिना ही मन्त्रोचार के चुपचाप दूध का सेचन किया जाता है। तब अध्वर्यु नैर्ऋत्य दिशा में राजसूय प्रकरण में हविष्यासन्न होम में प्रदर्शित स्थल पर जाकर 'असुन्वन्तम्' (१२।६२-६४) इत्यादि तीन ऋचाओं से निर्ऋति देवता वाली, पकाते समय काली पड़ी, तुषों से पकाई गई लक्षणहीन पादमात्री तीन इष्टकाओं को स्वयं दक्षिणाभिमुख होकर पहली इष्टका को उत्तर दिशा में और अन्य दो इष्टकाओं को दक्षिण दिशा में स्थापित करता है। इन इष्टकाओं के उपस्पर्शन, सादन और सूददोहसाभिवदन नामक संस्कार नहीं किये जाते। इसके उपरान्त 'यं ते' (१२।६५) इत्यादि मन्त्र से शिक्य (सिकहर), शण से बना रुक्मपाश, दोनों इंड्वाएं (इंडुणी = गेंडुरी) और आसन्दी—इन सबको नैर्ऋत्य इष्टकाओं के पीछे फेंक दिया जाता है। तब आत्मा और नैर्ऋती इष्टकाओं के बीच में चुपचाप जल छिड़क कर ब्रह्मा, यजमान और अध्वर्यु 'नमः' (१२।६५) मन्त्र का उच्चारण करते हुए उठ खड़े होते हैं और वहाँ से बिना उस ओर देखे 'निवेशनः' (१२।६६) मन्त्र का पाठ करते हुए यज्ञशाला में आ जाते हैं।

---

१. "उपहितानामिष्टकानां स्थिरीकरणं सादनम्, उपहितानामिष्टकानामुपरि हस्तं निधाय 'अस्य' इति मन्त्रपठनं सूददोहसाभिवदनम्" (पृ० १६७)। "उपहितानामिष्टकानां 'चिदसि' इति मन्त्रेण स्थिरीकरणं सादनम्, इष्टकानामुपरि हस्तं निधाय 'ता अस्य' इति कण्डिकापठनं सूददोहसाभिवदनम्" (पृ० १७४-१७५, १८०)।

२. "इष्टकासन्धिषु छिद्रपूरणार्थाः पांसवः पुरीषम्" (पृ० १८२)। पहले (११।७२) इस शब्द की प्रकरण के अनुसार भिन्न व्याख्या की गई है—"पुरीषशब्देन बहुपुरीषाः पशव उच्यन्ते" (पृ० ९८)।

अब अध्वर्यु शालाद्वार्य अर्थात् यज्ञशाला के द्वार पर प्रज्वलित गार्हपत्य अग्नि के पास आता है और 'सीरा युञ्जन्ति' (१२।६७-६८) इत्यादि दो मन्त्रों से चित्याग्नि की दक्षिण श्रोणि के पास पश्चिमाभिमुख खड़ा हो छः, दस अथवा चौबीस बैलों से जुते हुए उदुम्बर काष्ठ के बने हल को [1]अभिमन्त्रित करता है। यहाँ छः बैल छः ऋतुओं से, बारह बैल बारह मासों से और चौबीस बैल चौबीस पक्षों से संयुक्त संवत्सर की सम्पत्ति के द्योतक हैं। इसके बाद हल के आगे लम्बी मूँज की रस्सी बाँध कर उसको बैलों के कन्धों पर रखे जुए से कस दिया जाता है। बैल अग्निशाला से बाहर ही रहते हैं। यज्ञस्थल का कर्षण करते समय उस हल को अध्वर्यु के द्वारा नियुक्त हलवाहे उठाते हैं। चिति स्थान में परिश्रित् के पास चार ऋत्विक् दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और पूर्व दिशा में 'शुनम्' (१२।६९-७२) इत्यादि चार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए चार रेखाएँ खींचते हैं। कर्षण संस्कार के पूरा हो जाने के बाद अध्वर्यु बैलों को हल से अलग कर ईशान दिशा की ओर 'विमुच्यध्वम्' (१२।७३) मन्त्र से उसी तरह हाँक देता है, जैसे कि पूर्व प्रकरण में अज, अश्व आदि पशुओं को हाँक दिया गया था। बाद में सुत्या कर्म की समाप्ति के अवसर पर यजमान इन बैलों को हल के साथ अध्वर्यु को दान कर देता है।

अब संस्कृत जुहू को पाँच बार घृत से भर कर कृष्ट भूमि की आत्मा के मध्य में स्थापित कुशस्तम्ब[2] पर स्रुवा को ऊपर कर 'सजू.' (१२।७४) मन्त्र से आहुति देता है। एक जड़ से निकली अनेक शाखाओं वाली कुशा को कुशस्तम्ब कहा जाता है। तब 'या ओषधीः' (१२।७५-८९) इत्यादि पन्द्रह ऋचाओं से चमसपात्र से सर्वौषधियों का वपन और जलसेचन किया जाता है। एक-एक चमस के साथ एक-एक ऋचा का पाठ किया जाता है। धान्यवपन भी चमस से ही किया जाता है, खाली हाथ से नहीं। चमस उदुम्बर काष्ठ का बनाया जाता है। 'या ओषधीः' इत्यादि पन्द्रह ऋचाओं के बाद की 'मुञ्चन्तु' (१२।९०-१०१) इत्यादि बारह ऋचाओं से ओषधियों की स्तुति की जाती है। ये बारह मन्त्र अनारभ्याधीत कहलाते हैं। लिंग के अनुसार ही इनका विनियोग किया जाता है। वस्तुतः इन मन्त्रों में ओषधियों की स्तुति की गई है। इस प्रकार इन सत्ताईस मन्त्रों से ओषधियों का वपन, जलसेचन एवं स्तवन करने के बाद अध्वर्यु 'मा मा हिंसीः' (१२।१०२-१०५) इत्यादि चार मन्त्रों से पूर्व आदि चारों दिशाओं में स्फ्य की सहायता से वेदि के बाहर अनूकान्तों में [3]पद्याप्रमाण चार लोकेष्टकाओं को स्थापित करता है। फिर 'अग्ने तव' (१२।१०६१-११) इत्यादि छः ऋचाओं से उत्तर वेदि पर सिकता (बालू) बिछा कर पक्ष और पुच्छ को छोड़ कर चिति के मध्य भाग को पूरी तरह से ढंक देता है और 'आप्यायस्व' (१२।११२-११३) इत्यादि दो ऋचाओं से चिति के मध्य भाग, आत्मा पर बिछाई गई सिकता का स्पर्श करता है। यहाँ के तीसरे मन्त्र 'आप्यायस्व' (१२।११४) का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र में वर्णित नहीं है। इस प्रकार यहाँ उखाधारण की प्रक्रिया समाप्त होती है। इस समय पूर्व दिशा में श्वेत अश्व, उसके अभाव में अश्वेत अश्व और इन दोनों के अभाव में अनड्वान् (बैल) की उपस्थिति में अग्नि की स्तुति के लिये प्रेरित होता 'आ ते वत्सः' (१२।११५-११७) इत्यादि तीन ऋचाओं से अग्नि की स्तुति करता है।

---

१. "अभिमन्त्रणं नाम मन्त्रेण स्मर्यमाणस्यार्थस्य ईक्षणपूर्वकमनुसन्धानम्। उक्तं हि—"मन्त्रमुच्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत्। सेक्षणं तन्मना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम् ॥ एतदेवाभिमन्त्रणलक्षणं चेक्षणात्वधि।" (पृ० २००)।

२. "एकमूलोऽनेकशाखः स्तम्ब इत्युच्यते। दर्भाणां स्तम्बो दर्भस्तम्बः" (पृ० २०९), "काण्डशब्दः स्तम्बवाची" (पृ० २७५)।

३. अध्यर्धा, अर्धपद्या, अर्धपादभागा, अर्धबृहती, अर्धोत्सेधा, पद्या, चतुर्भागा, जंघामात्री, पादभागा, पादोनपद्या, बृहती, वक्रा आदि इष्टकाओं के परिमाण का सचित्र विवरण "कात्यायन यज्ञपद्धति विमर्श" (पृ० २९९-३०१) में देखिये।

त्रयोदश अध्याय : प्रथम चित्याधान

बारहवें अध्याय में उखाधारण, गार्हपत्यचयन, क्षेत्रकर्षण, औषधवपन आदि की विधियाँ बताई गई हैं। अब तेरहवें अध्याय में प्रथम चिति के उपधान से सम्बद्ध पुष्करपर्ण आदि के उपधान की प्रक्रिया बताई जा रही है। यजमान उत्तरवेदि के प्रोक्षण से पुरीषादि संभारनिवपनान्त कर्म का सम्पादन कर तदुपरान्त उत्तरवेदि के पीछे खड़ा हो 'मयि गृह्णामि' (१३।१) मन्त्र का जप करता है। इसके बाद अध्वर्यु कुशस्तम्ब के ऊपर पुष्करपर्ण (कमलिनीपत्र) का उखासंभरण में बताई गई पद्धति से 'अपां पृष्ठमसि' (१३।२) मन्त्र से स्थापन और मार्जन करता है। उस पुष्करपर्ण पर पहले कण्ठ में पहने गये सौवर्ण रुक्म (स्वर्णाभूषण) को 'ब्रह्म जज्ञानम्' (१३।३) मन्त्र का पाठ करते हुए पूर्वाभिमुख अध्वर्यु मृत्पिण्ड के नीचे रखता है और 'हिरण्यगर्भः' (१३।४-५) आदि दो ऋचाओं से पूर्वाभिमुख हो उत्तान स्थिति में [1]सुवर्णमय पुरुष (हिरण्यगर्भ) की प्रतिमा को स्थापित करता है। द्वितीय मन्त्र में अन्य धातु के योग से बनाई गई इस सुवर्ण प्रतिमा को 'द्रप्स' नाम दिया गया है। जब इसके लिये अग्नि में आहुति दी जाती है, तो यह आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी - इन तीनों स्थानों में व्याप्त हो जाता है। इसके बाद यजमान उस स्वर्णप्रतिमा का उपस्थान करता हुआ 'नमोऽस्तु' (१३।६-८) इत्यादि तीन ऋचाओं का पाठ करता है। अध्वर्यु पाँच बार जुहू में संस्कृत घृत भर कर चिति के मध्य भाग में जाकर वहाँ स्थापित हिरण्यपुरुष के पास बैठ कर पूर्वादि चार और पाँचवीं ऊर्ध्व दिशा में 'कृणुष्व पाजः' (१३।९-१३) इत्यादि पाँच मन्त्रों से प्रत्येक दिशा में हिरण्यपुरुष के ऊपर एक-एक आहुति देता है। [2]प्रतिसर शब्द से यहाँ राक्षसों के नाशक अग्निदेवता वाले मन्त्रों का ग्रहण किया जाता है। इनके अतिरिक्त यहाँ [3]श्रीपर्णी, औदुम्बरी आदि समिधाओं की भी आहुतियाँ दी जाती हैं। तब अगले दो मन्त्रों (१३।१४-१५) से उत्तर दिशा में [4]दधि से भरे स्रुक् का उपधान किया जाता है।

इसके बाद सुवर्णमय पुरुष के ऊपर पाषाणमयी सच्छिद्र स्वयमातृण्णा[5] नामक इष्टका का आधान 'ध्रुवासि' (१३।१६-१९ इत्यादि चार मन्त्रों से किया जाता है। पुरुष के प्रयत्न के बिना ही जिस पाषाण में छिद्र बन गये हों, उसे स्वयमातृण्णा कहा जाता है। इसके बाद अध्वर्यु उत्तराभिमुख हो स्वयमातृण्णा के ऊपर 'काण्डात्' (१३।२०-२१) इत्यादि दो मन्त्रों से दूर्वेष्टका का उपधान करता है। इष्टकाएँ तो मिट्टी की ही बनती हैं, तो भी यहाँ दूर्वा में इष्टका शब्द का प्रयोग गौण रूप से किया गया है। दूर्वा पशुओं की पुष्टि का साधन है, अतः गौण रूप से उसे भी पशु मान कर स्वयमातृण्णा के ऊपर उसका उपधान किया जाता है। इस दूर्वेष्टका के आगे द्वितीय पद्यालोक में 'यास्ते' (१३।२२-२३) इत्यादि दो ऋचाओं से द्वियजुःसंज्ञक पद्याप्रमाण इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। इसके बाद विराट्, स्वराट् आदि दो यजुर्मन्त्रों (१३।२४) से द्वियजुःसंज्ञक इष्टकाओं से अव्यवहित पूर्व भाग में रेतःसिग्

---

१. "एष हिरण्यपुरुषः सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती हिरण्यगर्भः। अपञ्चीकृतभूततत्कार्याभिमानी परमेश्वरो हिरण्यगर्भः" (पृ० २५५)।

२. "राक्षसान् प्रति अस्त्ररूपेण सरन्ति गच्छन्तीति प्रतिसराः" 'कृणुष्व पाजः' (१३।९-१३) इत्याद्याः (पञ्च) मन्त्राः" (पृ० २६१)। 'विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणिः" (५।३३) इस किरातार्जुनीय के श्लोक में वैवाहिक कङ्कण के लिये यह प्रयुक्त है। कोशग्रन्थों में अश्वों के कण्ठ में ओषधियुक्त प्रतिसर के बाँधने का उल्लेख मिलता है।

३. "काश्मर्यः, काश्मरी, श्रीपर्णी, गम्भारिरिति समानार्थाः। कुम्भेर, खम्भारी इति लोके प्रसिद्धो वृक्षविशेषः" (पृ० २६५)।

४. इन्द्रस्य स्वकीयो रसः सानाय्यम्। वृत्रवधानन्तरमिन्द्रशरीरान्निर्गतस्य पृथिव्यामोषधिवीरुदात्मना परिणतस्य पशुभिर्भक्षणेनात्मन्याहृतस्येन्द्रसम्बन्धिनो वीर्यस्यैव पयोरूपेण परिणामात् तद्विकारभूतं दध्यपि परम्परया इन्द्रस्य स्वकीयो रसः" (पृ० २६७)।

५. पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वत एव छिद्रयुक्ता शर्करा क्षुद्रपाषाणविशेषः, सा स्वयमातृण्णा" (पृ० २६९)।

नामक दो पद्याप्रमाण इष्टकाओं का उपधान अनूक की उत्तर और दक्षिण दिशाओं में किया जाता है और इनके भी पूर्व भाग में 'प्रजापतिष्ट्वा' (१३।२४) इस यजुर्मन्त्र से विश्वज्योति नामक प्रथम पद्याप्रमाण इष्टका का, जिसका कि निर्माण स्वयं यजमान ने किया है, उपधान अध्वर्यु उदङ्मुख होकर अनूक में करता है। इस विश्वज्योति इष्टका के सामने इसी से लगी हुई दो ऋतव्या पद्याप्रमाण इष्टकाओं को 'मधुश्च' (१३।२५) इत्यादि यजुर्मन्त्र से अनूक की दोनों ओर स्थापित करता है। इसके बाद पत्नी द्वारा बनाई गई अषाढासंज्ञक पद्याप्रमाण इष्टका को ऋतव्या इष्टकाओं के आगे अनूक स्थान में 'अषाढासि' (१२।२६) मन्त्र से स्थापित किया जाता है।

इस प्रकार इष्टकाओं का उपधान कर लेने के बाद 'मधुव्वाता' (१३।२७-२९) इत्यादि तीन मन्त्रों से कूर्म पर दधि, मधु और घृत का लेप किया जाता है। इसके बाद के 'अपां गम्भन्' (१३।३०-३२) इत्यादि तीन मन्त्रों से अषाढा से दक्षिण दिशा में अरत्नि-प्रमाण दूर स्थान में दो [1]पद्यालोकों को छोड़ कर तीसरे पद्यालोक में पहले से स्थापित अवका (शेवाल) में पुरुष के सामने कूर्म का उपधान करता है। इन तीन ऋचाओं में से बीच की 'त्रीन् समुद्रान्' (१३।३१) ऋचा से कूर्म को हिलाया जाता है। तीसरी ऋचा के पाठ के साथ कूर्म का उपधान कर उसे अवका से ढँक दिया जाता है। स्वयमातृण्णा के उत्तर में एक अरत्नि-प्रमाण दूर स्थान में स्थित तृतीय पद्यालोक में उदुम्बर की लकड़ी से बने प्रादेशमात्र-प्रमाण ऊखल और मुषल को 'विष्णोः कर्माणि' (१३।३३) मन्त्र से रखा जाता है। इसमें ऊखल [2]चतुःस्रक्ति (चौकोर) और बीच में से सिकुड़ा हुआ रहता है। इसको उत्तर दिशा में और गोल मुषल को दक्षिण दिशा में स्थापित किया जाता है। यहाँ शतपथ ब्राह्मण में [3]उदुम्बर और [4]उलूखल शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त बताया गया है। अब ऊखल के ऊपर बिना किसी मन्त्र का उच्चारण किये उखा को स्थापित किया जाता है और [5]उपशया नामक मिट्टी को पीस कर उखा के सामने जमीन पर फैला कर उस पर 'ध्रुवाऽसि' (१३।३४-३५) इत्यादि दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उखा को रख दिया जाता है। तब आगे की दो ऋचाओं से (१३।३६-३७) उखा के मध्य में दो आहुतियाँ दी जाती हैं।

ऊपर पाँच पशुओं की चर्चा हो चुकी है। इनमें से प्रत्येक पशु के शिर पर स्थित सात छिद्रों में सात-सात सुवर्ण खण्डों को 'सम्यक् स्रवन्ति' (१३।३८-४०) इत्यादि तीन मन्त्रों का यथाक्रम से उच्चारण करते हुए रखा जाता है। एक मुख, दो नासिका, दो आँख और दो कान—इन सात स्थानों में ये सात सुवर्ण-खण्ड रखे जाते हैं। पाँच पशुओं में से हिरण्यपुरुष का उखा के मध्य में, अश्व का ईशान कोण में, अवि (भेड़) का वायव्य कोण में, गाय का आग्नेय कोण में और अज का नैऋर्त्य कोण में शिर स्थापित किया जाता है। प्रत्येक पशु के शिर को स्थापित करते समय क्रमशः 'आदित्यं गर्भम्' (१३।४१-४५) इत्यादि पाँच मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। अब 'चित्रम्' (१३।४६) इत्यादि ऋचा के आधे-आधे भाग का उच्चारण कर पुरुष के शिर पर दो आहुतियाँ दी जाती है। आगे के 'इमं मा' (१३।४७-५१) इत्यादि पाँच मन्त्र उत्सर्ग संज्ञक हैं। अध्वर्यु चित्याग्नि से उत्तर वेदि के बाहर दाहिनी ओर खड़ा होकर उत्तर की

---

१. पद्याप्रमाण इष्टकाओं का जहाँ उपधान किया जाता है, उस स्थान को पद्यालोक कहते हैं।

२. "चतस्रः स्रक्तयः कोणा यस्य तत् चतुःस्रक्ति" (पृ० २९५)।

३. "तस्मादुदुम्भर उदुम्भरो ह वै तमुदुम्बर इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवा''''तमेव देवा उदुम्बर इति परोक्षमाचक्षते" (पृ० २९६)।

४. "मे उरू अधिकमकरद् अकार्षीदिति यदब्रवीत्, तस्मादुरूकरं देवा उलूखलमिति परोक्षमाचक्षते" (पृ० २९६)।

५. "उपशया नाम उखाभेदे सति तत्प्रतिसन्धानार्थं प्रागवशेषिता मन्त्रसंस्कृता मृत्" (पृ० २९८)।

तरफ मुख कर इन पाँच मन्त्रों से क्रमशः पुरुष आदि के शिर का उपस्थान करता है। कपशु पक्ष में पाँचों मन्त्रों से एक ही पशु-शीर्ष का उपस्थान किया जाता है।

अब वेदि के बाहर से अग्नि के पास आकर अर्धचित अग्नि का 'त्वं यविष्ठ' (१३।५२) इत्यादि मन्त्र से अध्वर्यु उपस्थान करता है। तब 'अपां त्वेमन्' (१३।५३) इत्यादि कण्डिका में स्थित बीस यजुर्मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु अग्नि के पास आता है। वहाँ स्वयमातृण्णा के अपर भाग से पूर्वानूकान्त के पास आकर चारों दिशाओं के अनूकान्तों में क्रमशः पाँच-पाँच कर पन्द्रह अपस्यासंज्ञक और पाँच छन्दस्यासंज्ञक इष्टकाओं का उपधान करे। इसके बाद 'अयं पुरः' (१३।५४-५७) इत्यादि चार मन्त्रों से चारों दिशाओं में क्रमशः दस-दस प्राणभृत् संज्ञक इष्टकाओं का और 'इयमुपरि' (१३।५८) मन्त्र से मध्य भाग में लोकम्पृणा इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। अन्त में आत्मा[१] के मध्य में स्वयमातृण्णा के ऊपर चात्वाल से पुरीष का ग्रहण कर उसका निर्वपन किया जाता है, अर्थात् इष्टकाओं के छिद्रों में उसे भर कर बराबर कर दिया जाता है। इस प्रकार भूलोक रूप इस प्रथम चिति के उपधान की प्रक्रिया पूरी होती है।

चतुर्दश अध्याय : द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ चित्याधान

इस अध्याय में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चितियों के उपधान के मन्त्र और विधियाँ उपदिष्ट हैं। इनमें से द्वितीय चिति की आश्विनी संज्ञक इष्टकाओं का 'ध्रुवक्षिति' (१४।१-५) आदि पाँच मन्त्रों से रेतःसिग् वेला[२] में उपधान किया जाता है। तब 'शुक्रश्च शुचिश्च' (१४।६) मन्त्र से उत्तराभिमुख अध्वर्यु प्रथम चिति में उपहित ऋतव्या इष्टकाओं के ऊपर अनूक के दोनों तरफ दो ऋतव्या पद्याप्रमाण इष्टकाओं का उपधान करता है। इसके बाद 'सजूर्ऋतुभिः' (१४।७) इस कण्डिका में स्थित पाँच यजुर्मन्त्रों से वैश्वदेवीसंज्ञक पाँच इष्टकाओं का पूर्व आदि चारों दिशाओं और मध्य में उपधान करना चाहिये। इसी तरह से 'प्राणं मे पाहि' (१४।८) इस कण्डिका के पाँच यजुर्मन्त्रों से प्राणभृत् नाम की पाँच इष्टकाओं का भी इसी क्रम से पूर्व आदि चारों दिशाओं में और मध्य में उपधान किया जाता है। इसी कण्डिका के 'अपः पिन्व' (१४।८) इत्यादि पाँच यजुर्मन्त्रों से अपस्यासंज्ञक पाँच इष्टकाओं का भी इसी क्रम से उपधान विहित है। तब 'मूर्धा वयः' (१४।९) और 'अनड्वान् वयः' (१४।१०) इन दो कण्डिकाओं के १९ यजुर्मन्त्रों से दक्षिण, उत्तर और पश्चिम अनूकान्तों में पाँच-पाँच तथा पूर्व दिशा में चार [३]वयस्यासंज्ञक इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। मन्त्रों में वयः शब्द के जुड़े होने से इनका नाम वयस्या है। इन्हीं को छन्दस्या भी कहा जाता है। इतनी इष्टकाओं का उपधान कर लेने के बाद प्रथम चिति के समान ही यहाँ भी दक्षिण श्रोणि से प्रारम्भ कर पहले दो तथा बाद में दस-दस लोकम्पृणा इष्टकाओं का प्रदक्षिणा क्रम से उपधान कर [४]पक्षपुच्छचयन, पुरीषनिवाप और [५]सात ऋचाओं द्वारा इस द्वितीय चिति का उपस्थान किया जाता है।

---

१. चिति के मध्य के चतुरस्र भाग को चिति की आत्मा कहते हैं। आत्मा की दोनों तरफ दक्षिण और उत्तर भाग में दो पक्ष तथा पश्चिम भाग में पुच्छ की स्थिति मानी जाती है।

२. रेतःसिग् वेला, ऋतव्या वेला इत्यादि स्थलों पर प्रयुक्त वेला शब्द का अर्थ किनारा है। इन इष्टकाओं के किनारे-किनारे, अर्थात् इनसे सटा कर इन स्थानों में विहित इष्टकाओं का उपधान किया जाता है।

३. "वयःशब्दोपेतैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका वयस्या इत्युच्यन्ते" (पृ० ३५६)।

४. ऊपर १ संख्या की टिप्पणी देखिये।

५. अठारहवें अध्याय की ६८ से ७४ संख्या तक की सात ऋचाओं से अग्नि का उपस्थान किया जाता है।

इस प्रकार चतुर्दश अध्याय के प्रारम्भ की दस कण्डिकाओं में द्वितीय चिति की उपधान-विधि को बताने के उपरान्त ११ वीं कण्डिका से लेकर २२ वीं तक तृतीय चिति की उपधान-विधि वर्णित है। तृतीय चिति में पहले 'इन्द्राग्नी' (१४।११) और 'विश्वकर्मा त्वा' (१४।१२) इन दो मन्त्रों से चिति के मध्य भाग आत्मा में स्वयमातृण्णा का उपधान और स्तवन किया जाता है। इसके बाद वैश्वदेवी इष्टकाओं के समान प्रत्येक दिशा में रेतःसिग् वेला में अनूकों के ऊपर पाँच दिश्या इष्टकाओं का उपधान होता है। 'राज्ञ्यसि' (१४।१३) मन्त्र में दिशाओं के नाम होने से इस मन्त्र से उपहित इष्टकाओं को भी दिश्या[1] कहा जाता है। तब 'विश्वकर्मा त्वा' (१४।१४) मन्त्र से प्रथम चिति में उपहित विश्वज्योति नामक इष्टका के ऊपर यजमान द्वारा बनाई गई द्वितीय विश्वज्योति नामक पद्या इष्टका का उत्तराभिमुख अध्वर्यु उपधान करता है। इसके बाद 'नभश्च नभस्यश्च' (१४।१५) मन्त्र से पूर्व स्थापित पुरीषाच्छन्न ऋतव्या इष्टकाओं के ऊपर अवका (शैवाल) को स्थापित कर उसके ऊपर पूर्व प्रदर्शित अर्धोत्सेध पद्याप्रमाण दो ऋतव्या इष्टकाओं के अनूक के उभय पार्श्व में उत्तराभिमुख ध्वर्यु अउपधान करता है। इसी तरह की अन्य दो ऋतव्या इष्टकाओं का 'इषश्च' (१४।१६) इत्यादि कण्डिका से उपधान होता है। इस तरह से तृतीय चिति में ऋतव्या इष्टकाओं की संख्या चार होती है, जब कि अन्य चितियों में ये दो-दो ही होती हैं। अब आत्मा के पूर्व भाग में 'आयुर्मे' (१४।१७) इत्यादि कण्डिका से प्राणभृत् नाम की दस इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। 'मा छन्दः' (१४।१८–२०) इत्यादि तीन कण्डिकाओं से तीनों अप्ययों में अर्थात् पक्ष, पुच्छ और आत्मा के सन्धि-स्थानों में अनूक की दोनों तरफ बारह-बारह छन्दस्या संज्ञक इष्टकाओं का उपधान विहित है। इसके बाद 'मूर्धासि' (१४।२१) इस कण्डिका के सात यजुर्मन्त्रों से सात वालखिल्य इष्टकाओं का प्राणभृत् संज्ञक इष्टकाओं के आस-पास उपधान करे और 'यन्त्री राट्' (१४।२२) कण्डिका के सात यजुर्मन्त्रों से बारह छन्दस्या इष्टकाओं के अपर भाग में अन्य सात वालखिल्य इष्टकाओं का उपधान विहित है।

'आशुस्त्रिवृत्' से लेकर अध्याय समाप्ति पर्यन्त चतुर्थ चिति के उपधान मन्त्र सविधि वर्णित हैं। प्रथम कण्डिका में १८ यजुर्मन्त्र हैं। इनमें से चार का मृत्युमोहिनी के उपधान में और बाकी १४ मन्त्रों का अर्धपद्या इष्टकाओं के उपधान में विनियोग विहित है। पूर्वानूकान्तों में विहित दक्षिणोत्तर दिशा के मध्य में उत्तराभिमुख जंघामात्री उत्तरेष्टका का उत्तराभिमुख अध्वर्यु उपधान करता है। तब 'अग्नेर्भागोऽसि' (१४।२४) मन्त्र से पूर्वानूकान्त में विहित जंघा और नाभि के मध्य में जंघामात्री दक्षिणेष्टका का उपधान किया जाता है। उत्तरेष्टका का उपधान पहले हो चुका है। इस कण्डिका में दस यजुर्मन्त्र हैं। इनमें से चार मृत्युमोहिनी और छः पद्याप्रमाण इष्टकाओं के उपधान में विनियुक्त हैं। ये दस इष्टकाएँ 'स्पृत' नाम से प्रसिद्ध हैं। अब उत्तराभिमुख अध्वर्यु उत्तर दिशा से लेकर दक्षिण पर्यन्त विस्तृत छः पद्या इष्टकाओं का 'वसूनां भागः' (१४।२५-२६) इत्यादि दो कण्डिकाओं के छः यजुर्मन्त्रों से उपधान करता है। तब 'सहश्च सहस्यश्च' (१४।२७) मन्त्र से अनूक के दोनों भागों में दो पद्या इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। अन्त में 'एकयाऽस्तुवत' (१४।२८-३१) इत्यादि चार मन्त्रों में स्थित १७ यजुर्मन्त्रों से सभी दिशाओं में रेतःसिग् वेला में [2]सृष्टिसंज्ञक सत्रह इष्टकाओं का उपधान विहित है। इनमें से अनूक के दक्षिण में ९ और उत्तर में ८ का उपधान किया जाता है। इस पद्धति से प्रत्येक तीन दिशाओं में चार-चार तथा दक्षिण दिशा में पाँच इष्टकाओं का आधान सम्पन्न होता है और इस तरह से यह तृतीय चिति में आधेय इष्टकाओं की विधि पूरी होती है। पुरीषनिवपन और सात ऋचाओं से प्रस्तुत चिति का उपस्थान पूर्ववत् किया जाता है।

---

१. "दिक्शब्दोपेतैर्मन्त्रैरुपधेयत्वादासामिष्टकानां दिश्या इति संज्ञा" (पृ० ३६६-३६७)।

२. "सृष्टिशब्दोपेतमन्त्रैरुपधेयत्वात् सृष्टिशब्दवाच्यता" (पृ० ३९४)।

पंचदश अध्याय : पंचम चिति का आधान

चौदहवें अध्याय में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चिति के उपधान की विधि और मन्त्रों को बताने के बाद पन्द्रहवें अध्याय में पंचम चिति के उपधान की विधि बताई गई है। पंचम चिति में प्रत्येक दिशा में आत्मा के प्रान्त भागों में आश्विनी संज्ञक इष्टकाओं के समान असपत्न संज्ञक पाँच पद्याप्रमाण इष्टकाओं का उपधान 'अग्ने जातान्' (१५।१-३) इत्यादि तीन कण्डिकाओं के 'अग्ने जातान्, सहसा जातान्, षोडशी, चतुश्चत्वारिंशः, अग्ने पुरीषम्' इन पाँच यजुर्मन्त्रों से किया जाता है। इसके बाद 'एवच्छन्दः' (१५।४-५) इत्यादि दो कण्डिकाओं में विद्यमान ४० यजुर्मन्त्रों से चारों दिशाओं में उक्त इष्टकाओं से संलग्न दस-दस विराट् संज्ञक पद्याप्रमाण इष्टकाओं का उपधान अनूक के उभय भाग में किया जाता है। इसके बाद अषाढा वेला की सभी दिशाओं में स्तोमभाग नाम की २९ इष्टकाओं का उपधान 'रश्मिना सत्याय' (१५।६-९) इत्यादि चार कण्डिकाओं में स्थित २९ मन्त्रों से किया जाता है। इनमें से पूर्वानूक के दक्षिण में १५ और उत्तर में १४ स्तोमभाग इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। इन इष्टकाओं का उपधान करने से पूर्वानूक में स्थान का अभाव हो जाता है, अतः पूर्वानूक को छोड़कर बाकी तीन दिशाओं के अनूकों पर ऋतव्या वेला में 'राज्ञ्यसि' (१५।१०-१४) इत्यादि पाँच मन्त्रों से आश्विनी इष्टकाओं के समान ही नाकसद् नामक पाँच इष्टकाओं का आधान करे। उपधान के अनन्तर इन इष्टकाओं के ऊपर चात्वाल की मिट्टी डाल कर उनके ऊपर चारों दिशाओं में और मध्य में पंचचूडा नाम की पाँच इष्टकाओं का उपधान 'अयं पुरः' (१५।१५-१९) इत्यादि पाँच मन्त्रों से करे।

इसके बाद 'अग्निर्मूर्धा' (१५।२०-२२) इत्यादि तीन मन्त्रों से गायत्री आदि नामों वाली छन्दस्या संज्ञक तीन-तीन इष्टकाओं का आधान किया जाता है। इनमें से मध्यमा पद्या अनूक पर और उसकी दोनों तरफ दो अर्धपद्या इष्टकाएँ रहती हैं। छन्दस्या इष्टकाओं में सबसे पहले पूर्व दिशा के अनूकान्त में उदङ्मुख अध्वर्यु तीन गायत्री संज्ञक इष्टकाओं का उपधान करता है। तब पूर्व दिशा में रेतःसिग् वेला में त्रिष्टुप्संज्ञक तीन इष्टकाओं को उत्तराभिमुख रखते समय 'भुवो यज्ञस्य' (८५।२३-२५) इत्यादि त्रिष्टुप्छन्दस्का तीन ऋचाओं का पाठ किया जाता है। इसके पीछे रेतःसिग् वेला में तीन जगती छन्दस्का इष्टकाओं का दक्षिणाभिमुख उपधान किया जाता है। इस समय 'अयमिह' (१५।२६-२८) इत्यादि जगती छन्द की तीन ऋचाओं का पाठ किया जाता है। इसके बाद अनुष्टुप् संज्ञक इष्टकाओं का उपधान इसी पद्धति से 'सखायः' (१५।२९-३१) इत्यादि अनुष्टुप् छन्द के तीन मन्त्रों से किया जाता है। तब अषाढा इष्टका के आगे उत्तराभिमुख अध्वर्यु बृहती नामक तीन इष्टकाओं का उपधान 'एना वः' (१५।३२-३४) इत्यादि तीन ऋचाओं से करता है। यहाँ भाष्यकार ने प्रगाथ का लक्षण बताया है। दो ऋचाओं का शास्त्रीय विधि से प्रग्रथन कर जब तीन ऋचाएँ बना दी जाती हैं, तो उसे प्रगाथ कहते हैं। भाष्यकार ने यहाँ (१५।३२) उदाहरण देकर इस विषय को समझाया है। इसके आगे 'अग्ने वाजस्य' (१५।३५-३७) इत्यादि तीन ऋचाओं से उष्णिक् नामक तीन अर्धपद्या इष्टकाओं का उत्तराभिमुख अध्वर्यु उपधान करता है। तब 'भद्रो नः' (१५।३८-४०) इत्यादि तीन मन्त्रों से बृहती इष्टकाओं के आगे ककुप्संज्ञक इष्टकाओं का उपधान करता है। अब दक्षिण दिशा के अनूकान्त में पंक्तिसंज्ञक तीन इष्टकाओं का उपधान 'अग्नि तम्' (१५।४१-४३) इत्यादि तीन मन्त्रों से पश्चिम दिशा में प्राङ्मुख खड़ा अध्वर्यु करता है। इसी तरह से उत्तर के अनूकान्त में उत्तराभिमुख तीन पदपंक्ति नामक इष्टकाओं का उपधान पूर्वाभिमुख अध्वर्यु 'अग्ने तम्' (१५।४४-४६) इत्यादि तीन ऋचाओं से करता है।

पुरीष शब्द वाले मन्त्र (१५।३) से उपहित असपत्ना नाम वाली पाँचवीं इष्टका पुरीषवती कहलाती है। उसके सामने अतिच्छन्दस नाम की पद्याप्रमाण इष्टका का 'अग्नि होतारम्' (१५।४७) मन्त्र से प्राङ्मुख हो उपधान किया जाता है। इसके बाद अनूकान्त में तीन द्विपदा संज्ञक इष्टकाओं का आधान 'अग्ने त्वम्' (१५।४८) इस कण्डिका के तीन यजुर्मन्त्रों से दक्षिणाभिमुख हो किया जाता है। तब मध्योपहित इष्टका वाले गार्हपत्य के ऊपर 'येन ऋषयः' (१५।४९-५६) इत्यादि आठ ऋचाओं से गार्हपत्य की पद्धति से ही चिति का पुनः आधान किया जाता है।

इस प्रकार चिति का पुनः उपधान करने के बाद पंचम चिति की शेष इष्टकाओं का आधान इस प्रकार किया जाता है—पहले अनूक के उभय पार्श्व में उदङ्मुख हो दो ऋतव्या पद्येष्टकाओं का अध्वर्यु 'तपश्च' (१५।५७) इत्यादि मन्त्र से उपधान करता है। फिर यजमान निर्मित विश्वज्योति इष्टका का उपधान पूर्वोपहित तृतीय विश्वज्योति इष्टका के ऊपर 'परमेष्ठी' (१५।५८) इत्यादि मन्त्र से करता है। इसके बाद आत्मा की दाहिनी तरफ आग्नेय कोण के पश्चिम में अरत्निमात्र दूर के दो लोकों को छोड़कर तृतीय लोक से आरम्भ कर प्रथम चिति के समान लोकम्पृणा इष्टकाओं का आधान 'लोकम्पृण' (१५।५९-६१) इत्यादि तीन मन्त्रों से करे।

इसके बाद पंचम चिति को पुरीष से ढककर शर्करामयी परस्पर जुड़ी हुई छिद्रवाली विकर्णी स्वयमातृण्णा नामक दो इष्टकाओं का दक्षिणोत्तर दिशाओं में उत्तराभिमुख अध्वर्यु उपधान करे और उत्तर दिशा में अनूक की रेखा के बीच में 'प्रेथदश्व' (१५।६२) इत्यादि मन्त्र से विकर्णी इष्टका का उपधान करे। तब 'आयोष्ट्वा' (१५।६३-६४) इत्यादि दो मन्त्रों से विकर्णी इष्टका के दक्षिण में स्वयमातृण्णा का उपधान करे। अन्त में इष्टकाचित सपक्षपुच्छ अग्नि का पश्चिम, उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पुनः पश्चिम दिशाओं में स्थापित जल से भरे हुए एक-एक पात्र में सुवर्ण के एक हजार टुकड़ों को डाल कर उनसे प्रोक्षण करे। अग्नि के पश्चिम में पूर्वाभिमुख, उत्तर में दक्षिणाभिमुख, पूर्व में पश्चिमाभिमुख, दक्षिण में उत्तराभिमुख और पुनः पश्चिम में पूर्वाभिमुख हो प्रोक्षण विधि सम्पन्न की जाती है। प्रत्येक बार प्रोक्षण करते समय सुवर्ण के २०० टुकड़े डाले जाते हैं। इस अध्याय की अन्तिम कण्डिका 'सहस्रस्य' (१५।६५) के पाँच यजुर्मन्त्रों से यह विधि सम्पन्न की जाती है।

शतपथ ब्राह्मण के अवधेय अंश

११ से १५ अध्यायों के मन्त्रों का यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र के १६-१७ अध्यायों के आधार पर दिया गया है। भाष्यकार ने कात्यायन के उक्त विनियोगों का समर्थन शतपथ ब्राह्मण के ६-८ काण्डों के वचनों को विस्तार से उद्धृत कर किया है। साथ ही मन्त्रों की विशिष्ट शब्दावली की व्याख्या भी शतपथ ब्राह्मण के वचनों के आधार पर प्रस्तुत की है। भाष्यकार ने ११ वें अध्याय का आरम्भ शतपथ के षष्ठ काण्ड के प्रथम दो अध्यायों के विषयों को अतिसंक्षेप में दिखाते हुए किया है। मिट्टी खोदने के लिये काठ की अभ्रि बनाई जाती है। ११ वें अध्याय के ११ वें मन्त्र में हिरण्मयी शब्द को देखकर कुछ आचार्यों का कहना है कि यह अभ्रि सुवर्ण की बनाई जानी चाहिये, किन्तु शतपथ में इस मत का खण्डन कर इस शब्द की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है।

'आपो हि ष्ठा' (११।५०) मन्त्र के भाष्य में शतपथ को उद्धृत करते हुए बताया गया है कि उखा के निर्माण के लिये उपयोग में लाई जाने वाली मिट्टी में पलाश की छाल का उबला हुआ पानी इस लिये मिलाया जाता है कि वह मजबूत बने, अनायास ही टूट न जाय। इस मन्त्र की व्याख्या में उद्धृत शतपथ ब्राह्मण की नौ (६।१।३।१०-१८) कण्डिकाओं में कुमार अग्नि के रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव और ईशान—इन आठ नामों की चर्चा की गई है और बताया गया है कि उखा-संभरण में प्रयुक्त होने वाले अग्नि, जल, औषधि, वायु, विद्युत्, पर्जन्य, चन्द्रमा और आदित्य इन्हीं के रूप हैं। यहाँ औषधि शब्द पृथिवी का और पर्जन्य प्रजापति रूप यजमान का सूचक है। इस प्रकार हमें यहाँ पुराणों में वर्णित अष्टमूर्ति शिव के दर्शन होते हैं। अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त में रुद्र के सात ही नाम मिलते हैं। वहाँ अशनि नाम नहीं है। पुराणों में और पुष्पदन्त के शिवमहिम्नस्तव में अशनि के स्थान पर भीम नाम मिलता है।

'अदित्यै रास्नासि' (११।५९) मन्त्र के भाष्य में शतपथ ब्राह्मण को बहुत विस्तार से उद्धृत किया गया है और सोदाहरण समझाया गया है कि उखा के चार ही स्तन क्यों बनाने चाहिये, दो अथवा आठ क्यों नहीं। गाय के चार स्तन होते हैं। दो स्तन वाले अजा, वडवा आदि तथा आठ स्तन वाले शुनी, शूकरी आदि पशु गाय की अपेक्षा हीन कोटि के माने जाने जाते हैं। इसीलिये दो स्तन अथवा आठ स्तन वाले पशु को यहाँ मान्यता नहीं दी गई है। इसी

प्रकार आठवें मन्त्र के भाष्य में शतपथ के प्रमाण से यह बताया गया है कि घोड़े की लीद से ही क्यों उखा को धूप देनी चाहिये। याज्ञिक प्रक्रिया में अवट (गड्ढा) खनन जैसी विधियों का अनुष्ठान क्यों करना चाहिये, इस तरह की अनेक विधियों का समर्थन शतपथ में पुरावृत्त, अर्थात् पूर्वकालीन घटनाओं के आधार पर किया गया है। औद्ग्रभण जैसे नामों की व्युत्पत्तियाँ भी यहाँ बताई गई हैं। यज्ञ को पांक्त क्यों कहते हैं ? सात चितियां कौन-कौन सी होती हैं ? इस तरह के विषयों को भी यहाँ शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता आदि के वचनों को विस्तार से उद्धृत कर स्पष्ट किया गया है (पृ० ९०)।

बारहवें अध्याय के प्रथम मन्त्र में उद्धृत ब्राह्मण में यह बताया गया है कि सुवर्ण का धारण नाभि के ऊपर के भाग में ही करना चाहिये। आज भी लोक में इस नियम का पालन किया जाता है। गार्हपत्य-चयन के प्रसंग में (१२।४६) उल्बसंस्तव, पशुसंस्तव, निवपन, परिश्रयण आदि विषयों को शतपथ के अनेक वचनों की सहायता से समझाया गया है। एक स्थान पर पुरुष का परिमाण [1]व्याममात्र, चार अरत्नि बताया गया है तथा अन्यत्र[2] १२० अंगुल का। अनेक विषयों को आख्यायिकाओं के द्वारा निरूपित करने वाले शतपथ ब्राह्मण के वचन भी यहाँ ५८-६२ मन्त्रों की व्याख्या में विस्तार से उद्धृत हैं। ११५ वें मन्त्र की व्याख्या में उद्धृत ब्राह्मण में ऋक्शाखा के अध्येताओं के मत की समालोचना कर अपने सिद्धान्त की स्थापना की गई है। यहाँ यह भी बताया गया है कि कुछ कर्मों में मन्त्रों का उच्चारण [3]उपांशु रूप में क्यों करना चाहिये।

अग्निग्रहण, सत्यसामगान, पुष्करपर्णोपधान आदि विधियों का शतपथ में संग्रह और विस्तार से वर्णन किया गया है। १३ वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में भाष्यकार ने शतपथ के प्रमाण से बताया है कि अग्नि के ग्रहण से अध्वर्यु अग्नि के समान हो जाता है। इसी कारण से अध्वर्यु के द्वारा उत्पादित चित्याग्नि भी साक्षात् अग्निरूप हो जाती है। यहाँ अग्निग्रहण की गर्भाधान से और चयन की प्रसव से तुलना की गई है। दूसरे मन्त्र के भाष्य में पुष्करपर्ण की आकाश से और रुक्म की सूर्यमण्डल से तुलना है। इसी प्रकार चतुर्थ मन्त्र के भाष्य में रुक्म के मध्य में स्थापित किये जाने

---

१. अपने दोनों हाथों को पूरी तरह से दोनों तरफ फैला देने के बाद जितनी लम्बाई होती है, उसका नाम व्याम है। देखिये अमरकोश—"व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम् (२।६।८७)। व्याममात्र ही पुरुष की लम्बाई होती है। यह लम्बाई चार अरत्निप्रमाण होती है, जो कि ९६ अंगुल के बराबर होती है। घेरण्डसंहिता में भी यहीं कहा गया है—"षण्णवत्यङ्गुलीमानं शरीरं कर्मरूपकम्" (५।८१)। भाष्यकार ने व्याम शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न प्रकार से की है—"व्यायम्यतेऽस्मिन् बाहुद्वयमिति व्युत्पत्त्या व्यायाम इति शब्दो निष्पद्यते, स एवात्र वर्णलोपेन व्याम इत्युच्यते। स च तिर्यक्प्रसारितौ बाहू यावत्परिमाणौ भवतस्तस्य परिमाणविशेषस्य संज्ञा। चतुररत्निर्व्याम इति प्रसिद्धम्" (पृ० १८४)। अमरकोश की टीका में इससे भिन्न तीन व्युत्पत्तियां दी गई हैं। उन्हें वहीं देखना चाहिये।

२. विंशत्यधिकशताङ्गुलिपरिमितः पुरुषः, तस्य दशमोंऽशः पादः, स प्रमाणं यासां ताः पादमात्र्यः। तदुक्तं कात्यायनेन—"पञ्चारत्निर्दशवितस्तिर्विंशतिशताङ्गुलः पुरुषो द्वादशाङ्गुलं पदम्" (का० शु० ८२) (पृ० १९०)। अमरकोश में—"ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु" (२।६।८७) इस प्रकार इसका लक्षण बताया है।

३. शास्त्रों में जप के वाचिक (भाष्य), उपांशु और मानस नामक तीन प्रकार बताये गये हैं। वाचिक जप में मन्त्रों का उच्चारण दूसरों को भी सुस्पष्ट सुनाई पड़ता है। उपांशु जप चुपचाप किया जाता है। यह दूसरों को नहीं सुनाई पड़ता। मानस जप भावनात्मक होता है। इसमें शारीरिक अवयवों का कोई योगदान नहीं रहता। तन्त्रशास्त्र के अतिरिक्त मनुस्मृति (२।८५) में भी इनका वर्णन है। वहाँ बताया गया है कि विधि यज्ञ से जप यज्ञ (वाचिक) दस गुना श्रेष्ठ है। उपांशु जप सौ गुना और मानस जप हजार गुना श्रेष्ठ माना जाता है।

वाले हिरण्मय पुरुष को हिरण्यगर्भ से अभिन्न माना है। अष्टम मन्त्र के भाष्य में यज्ञ और नमस्कार की समान महिमा गाई गई है। नवें मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में बताया गया है कि प्रतिसर शब्द यहाँ राक्षसों का नाश करने वाले मन्त्रों के लिये प्रयुक्त हुआ है। यहाँ शतपथ के प्रमाण से इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है। आगे के भाष्य में उदुम्बर आदि वृक्षों की उत्पत्ति को आख्यायिकाओं के सहारे समझाया गया है। स्वयमातृण्णा, द्वियजुः, रेतःसिक्, विश्वज्योति, ऋतव्या, अषाढा नामक इष्टकाओं का स्वरूप भी यहाँ विस्तार से वर्णित है।

इसी तरह से २७-३१ मन्त्रों के भाष्य में कूर्मोपधान की प्रक्रिया भी शतपथ के आधार पर ही विस्तार से बताई गई है। आगे के मन्त्रों के भाष्य में उदुम्बर, उलूखल, मुसल, उखा आदि शब्दों को प्रवृत्ति के निमित्तों की व्याख्या प्रस्तुत कर इनके उपधान की विधि विस्तार से प्रदर्शित है। ३८ वें मन्त्र में उद्धृत शतपथ के वचन में सात शीर्षण्य प्राणों की चर्चा आई है। भाष्यकार ने यहाँ बताया है कि एक वाणी, दो नेत्र, दो श्रोत्र और दो नासिका के छिद्रों को मिला कर शीर्षण्य प्राणों की संख्या सात होती है। इसी तरह से ५४ वें मन्त्र में दस प्राणों की चर्चा आती है। वहाँ सात शीर्षण्य प्राणों के अतिरिक्त पायु, उपस्थ और नाभि की गिनती की गई है। ४१-४५ मन्त्रों के भाष्य में पाँच पशुओं के शिरों के उपधान की प्रक्रिया समझाई गई है। शाक्त तन्त्रों में पंचमुण्डी आसन पर देवमूर्ति की स्थापना और आराधना वर्णित है। इस याज्ञिक प्रक्रिया से पंचमुण्डी आसन की प्रक्रिया का विश्लेषण किया जाना चाहिये। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्रों में पाँच पशुशीर्षों के समान ही पाँच प्राणभृत्संज्ञक इष्टकाओं की उपधान विधि भी शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से ही वर्णित है।

चतुर्दश अध्याय में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चितियों के प्रसंग में आश्विनी, ऋतव्या, वैश्वदेवी, प्राणभृत्, अपस्या, वयस्या, छन्दस्या, दिश्या आदि इष्टकाओं के उपधान की विधियों का तो विस्तार से वर्णन किया ही गया है, साथ ही अनेक विशिष्ट शब्दों की व्याख्या भी यहाँ की गई है। सात वालखिल्या इष्टकाओं की व्याख्या का प्रसंग भी विशेष रूप से अवलोकनीय है (पृ० ३७६-३७७)। यहाँ वालखिल्या पद की व्युत्पत्ति बता कर इनकी प्राणों से अभिन्नता प्रदर्शित की है। यहाँ सात प्राणों की एक भिन्न ही व्याख्या की गई है कि दो कोहनियों के ऊपर के और दो नीचे के अंगों के साथ शिर, ग्रीवा और नाभि—शरीर के ऊर्ध्व भाग के ये सात अंग ही सात प्राण हैं। इसी तरह से दो घुटनों के ऊपर के और दो नीचे के अंगों के साथ दो पैर और नाभि का अधोभाग—शरीर के अधोभाग के ये सात अंग भी प्राण शब्द से ही कहे गये हैं (पृ० ३७७)। शतपथ ब्राह्मण में इनको पुरस्तात्प्राण और पश्चात्प्राण कहा गया है। चतुर्थ चिति के उपधान के प्रसंग में यहाँ संवत्सर रूप कालपुरुष का और तप, अभीवर्त, वर्चस्, संभरण, योनि, गर्भ, ओजस्, क्रतु, प्रतिष्ठा, ब्रध्नस्यविष्टप, नाक, विवर्त और धर्त्र नामक विशेषणों से विशिष्ट नवदश, सविंश, द्वाविंश, त्रयोविंश, चतुर्विंश, पंचविंश, त्रिणव, एकत्रिंश, त्रयस्त्रिंश, चतुस्त्रिंश, षट्त्रिंश, अष्टाचत्वारिंश और चतुष्टोम नामक तेरह स्तोमों की विशेष रूप से व्याख्या की गई है (पृ० ३८५)। इसी तरह से स्पृत नामक (पृ० ३८८-३८९) और सृष्टिसंज्ञक (पृ० ३९३-३९४) इष्टकाओं के उपधान का प्रकार भी उसी पद्धति से वर्णित है।

पन्द्रहवें अध्याय में प्रथमतः पाँचवीं चिति में आधेय पाँच असपत्ना नाम की इष्टकाओं के साथ छन्दस्या इष्टकाओं का स्वरूप विस्तार से बताया गया है। स्तोमभाग इष्टकाओं के उपधान के प्रसंग में स्तोमभाग शब्द का अर्थ बताते हुए इससे सम्बद्ध मन्त्रों की तीन प्रकार से व्याख्या की गई है। यहाँ त्रिविध जंगम और त्रिविध स्थावर अन्नों की भी व्याख्या की गयी है कि पिता, माता और पुत्र—ये जंगम अन्न हैं और तप, वृष्टि और बीज स्थावर अन्न। इसी तरह से नाकसत् और पंचचूडा (पृ० ४१९) इष्टकाओं की उपधान-विधि भी शतपथ ब्राह्मण के सहारे ही समझाई गई है।

मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ

प्रस्तुत भाष्य में प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी बताया गया है, इस बात का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। मन्त्रगत पदों से, विभक्तियों और वचनों से स्वाभाविक रूप से सूचित होने वाले परमात्मा के सामान्य और विशेष विभिन्न रूपों को स्मरण किया गया है। इनमें सविता, मित्र, सूर्य, अग्नि, जल, वायु, हिरण्यगर्भ, विष्णु, शिव, सोम (साम्ब सदाशिव), पशुपति, रुद्र, कालरुद्र, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मा, भोक्ता जीव, प्रत्यगात्मा, जीवेश्वर, अदिति, श्रुति, पृथिवी, चिद्रूपा परा देवता, मृत्यु, निर्ऋति, औषधि, महामाया, ब्रह्मविद्या आदि के साथ ही सीताराम, राधाकृष्ण, रुक्मिणीकृष्ण, बलरामकृष्ण, श्रीकृष्ण, श्रीराम, रामलक्ष्मण, राजा रामचन्द्र, परमात्मा राम, पार्वती, परमेश्वर, गौरीशंकर, लक्ष्मीनारायण, नृसिंह, सीता, जनकनन्दिनी, राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी आदि प्रमुख हैं। कहीं-कहीं मनुष्य की जिज्ञासा वृत्ति को, अपने इष्टदेव को, उपासक (साधक) को, भोक्ता जीव को, अपनी बुद्धि को और इन्द्रियों को भी संबोधित किया गया है। आध्यात्मिक अर्थ में धीर मनुष्य के हृदयाकाश में स्थित ब्रह्म को स्मरण किया जाय, यह तो अति-स्वाभाविक है। एक मन्त्र में चक्रवर्ती राजा दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ से उत्पन्न हुए चारों पुत्रों और कौशल्या आदि इनकी माताओं का उल्लेख है। अन्यत्र अन्नमय आदि कोशों में स्थित पुरुष को संबोधित किया गया है। एक मन्त्र में बताया गया है कि अन्य देवताओं की आराधना में बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, भगवान् तो इतने करुणामय हैं कि गजेन्द्र के आह्वान पर वे अपने शीघ्रगामी गरुड़ को भी छोड़कर स्वयं दौड़ पड़ते हैं। अन्यत्र बताया गया है कि भगवान् के सभी रूप वेदान्त की दृष्टि से बौद्ध हैं, अर्थात् कल्पनामात्र सार हैं। निर्गुण, निराकार और सगुण, साकार ये दोनों भगवान् के रूप हैं। अयोध्या, वृन्दावन आदि धामों में भगवान् का साकार स्वरूप ही विराजमान है।

११ वें अध्याय के ६१ वें मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ विशेष रूप से देखने लायक है। यहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति के सहारे और दुर्गासप्तशती के प्रमाण से मन्त्र की व्याख्या की गई है। योगसूत्र को भी यहाँ उद्धृत किया गया है। आध्यात्मिक अर्थ के प्रसंग में अन्यत्र भी अनेक शास्त्रों के वचन उद्धृत किये गये हैं; यह बात हम प्रारम्भ में ही बता चुके हैं। यहाँ यह भी प्रार्थना की गई है कि हमारी चित्तवृत्ति ब्रह्माकार में परिणत हो जाय। ज्ञानाग्नि इस सारे संसार को अपना ग्रास (कौर) बना ले। इसी अध्याय के ७०-७१ संख्या के मन्त्रों में ज्ञानाग्नि का वर्णन विशेष रूप से मिलता है। एक मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है कि भगवान् विश्वनाथ अथवा विष्णु को भक्त श्रद्धापूर्वक छप्पन भोग समर्पित करते हैं। इस प्रकार यहाँ भगवान् के व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों ही रूपों की चर्चा हुई है।

१२ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में बताया गया है कि भक्तों के द्वारा आराधित परमेश्वर ब्रह्मात्मबोध रूप सुवर्ण की वर्षा करता है। अगले मन्त्र में माया, परमात्मा और ब्रह्मज्ञान रूप शिशु की चर्चा की गई है। अगले एक मन्त्र में राम रूप अग्नि और ईं चिद्रूपिणी कामकला की स्तुति है। एक ही भगवान् के इन्द्र, वरुण, यम आदि अनेक रूप हैं, ऐसा बताते हुए यहाँ एक मन्त्र में कहा गया है कि माया, राग और कर्ममय तीन बन्धनों से व्यक्ति छुटकारा तभी पाता है, जब वह उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करता है। 'हंसः शुचिषद्' मन्त्र के भाष्य में बताया गया है कि इस मन्त्र की व्याख्या काठकोपनिषद् के भाष्य (५।२) में भगवत्पाद शंकराचार्य ने स्वयं की है। 'दिवस्परि' मन्त्र की व्याख्या में ज्ञानाग्नि की तीन अवस्थाओं का निरूपण है और आगे के अनेक मन्त्रों में इस ज्ञानाग्नि की ही चर्चा है। एक मन्त्र (१२।४५) में दिखाया गया है कि जप, ध्यान आदि के सहारे हो व्यक्ति भौम, आन्तरिक्ष और दिव्य, अर्थात् भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की तरफ से आने वाले विघ्नों को दूर कर सकता है। परमेश्वर सम्यक् ज्ञान प्रदान कर ब्रह्मविद् साधकों की सहायता करता है। आगे बताया गया है कि वेदान्तियों के मत से साभासा बुद्धि ही बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण बनती है। अन्यत्र (१२।६४) अविद्या, काम और कर्म को बन्ध का हेतु बताया गया है। आगे के मन्त्र में कहा गया है कि अविद्या और विद्या शक्तियाँ ही बन्ध और मोक्ष का कारण हैं। ६९ वें मन्त्र के भाष्य में बताया गया है

कि परिष्कृत बुद्धिरूप भूमि में ही गुरु के उपदेश रूपी बीज बोये जा सकते हैं। ज्योति पद से अपर ब्रह्म और परब्रह्म दोनों का ही ग्रहण किया गया है। एक (१२।७५) मन्त्र में बताया गया है कि अधिष्ठान सत्ता के अतिरिक्त कल्पित सत्ता को वेदान्त स्वीकार नहीं करता, अतः यह सारा संसार ब्रह्म का ही विवर्त है। चिति शक्ति कुण्डलिनी की भी यहाँ (१२।८३-८५) चर्चा आई है। एक अन्य मन्त्र (१२।९५) में बताया गया है कि शान्त स्वभाव के व्यक्ति के लिये यहाँ कोई भी परेशानी नहीं बच पाती। सारा संसार ही उसके लिये नन्दन वन के समान हो जाता है। अगले मन्त्रों में विरति की प्रशंसा की गई है। भक्ति को भी यहाँ (१२।१०५) ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण माना गया है। भगवान् राम के लिये यहाँ कहा गया है कि काक, गृध्र, वानर, भालू, निषाद, कोल, भील, किरात आदि के साथ देवताओं और ऋषियों के मनोरथों को भी वे पूरा करते हैं (१२।१०७)।

१३ वें अध्याय के तीसरे मन्त्र में सत्यज्ञानादिलक्षण ब्रह्म की व्याख्या की गई है। इस अध्याय में अग्नि आदि शब्दों के प्रतिनिधि के रूप में श्रीराम का वर्णन अतिविस्तार से अनेक घटनाओं को प्रस्तुत करते हुए किया गया है। बुद्धि, माया, प्रकृति, विराट् पुरुष, कालात्मक भगवान्, भगवती राजराजेश्वरी, ब्रह्मचिन्तनपरायण साधक, भक्तजन आदि का उल्लेख करते हुए यहाँ वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। हिरण्यश्मश्रु, हिरण्यकेश, सर्वान्तर्यामी भी यहाँ सम्बोधित है। बृहदारण्यक प्रतिपादित ब्रह्म का तो यहाँ निरूपण है ही, राम के कार्य की सिद्धि के लिये समुद्र को लाँघने वाले हनुमान् के प्रति देवताओं की शुभकामना भी यहाँ अभिव्यक्त की गई है। अग्नि की ब्रह्माग्नि के रूप में व्याख्या तो अनेक स्थानों पर की ही गई हैं, कहीं-कहीं इस शब्द से हनुमान् को भी सम्बोधित किया गया है। परमेश्वर की सर्वात्मकता का प्रतिपादन भी अनेक स्थानों पर हुआ है।

१४ वें अध्याय में सर्वप्रथम जीव की ब्रह्मात्मज्ञाननिष्ठा को संबोधित किया गया है। चौथे मन्त्र के भाष्य में इस विषय को विशेष रूप से समझाया गया है। जल के जैसे हिम, कल्लोल आदि विविध रूप हैं, उसी तरह से चितिरूपा भगवती ही संसार में नाना नाम-रूपों में भासित होती है। भगवद्भजन में लगे हुए साधक के सभी सहायक हो जाते हैं। कालशक्ति, प्रत्यगभिन्न ब्रह्मचिति और चिद्रूपा भगवती को भी यहाँ संबोधित किया गया है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्रों में परमात्मा को प्रजापति के रूप में स्मरण किया गया है।

१५ वें अध्याय में अग्नि के रूप में परमेश्वर की और नाना रूपों में भगवती राजराजेश्वरी की स्तुति की गई है। यही परमा चिति है, परदेवता है, चिदानन्दस्वरूपा है। इसके प्रसाद से प्राप्त ज्ञानाग्नि साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारियों को श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा परम पद को प्राप्त कराती है। उद्गाता, होता आदि भक्तजन इसी की स्तुति करते हैं। अग्निस्वरूप परमेश्वर राम, कृष्ण आदि के रूप में प्रकट होते हैं। ३२ वीं संख्या के मन्त्र में भक्तों को विशेष रूप से संबोधित किया गया है। आगे बताया गया है कि तप के प्रभाव से चित्त को एकाग्र कर वसिष्ठ आदि ऋषिगण ब्रह्मात्मक परमानन्द की अनुभूति करते हैं। भगवान् अग्निस्वरूप परमात्मा ही हमें वेदवाणी का अभिप्राय समझाने में समर्थ होते हैं। भगवान् राम के दिव्य धाम अयोध्या का अथर्ववेद में उल्लेख है। ५३ वें मन्त्र में भाष्यकार आचार्य नरहरि के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मधुसूदन सरस्वती के भक्तिरसायन नामक ग्रन्थ में किया गया है और इसकी भूमिका में हमने इस सिद्धान्त को सुपुष्ट प्रमाणों के आधार पर स्थापित किया है।

स्वामी दयानन्द के भाष्य की समालोचना

वेदार्थपारिजातकार ने स्वामी दयानन्द के भाष्य का यहाँ तिलशः खण्डन किया है। स्वामी दयानन्द के भाष्य के अनुसार संहिता के मन्त्रों में परस्पर कोई अनुस्यूति नहीं है। कभी वे मनुष्य को संबोधित करते हैं, कभी पति-पत्नी को, कभी राजा और सेनापति को तो कहीं किसी योगी, विद्वान् अथवा वीर योद्धा को। २४, ३६ और ४८ वर्ष की उम्र तक

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले त्रिविध ब्रह्मचारियों का ये वसु, रुद्र और आदित्य शब्दों से ग्रहण करते हैं। अध्यापक, वैद्य, सन्तति, स्त्री-पुरुष, विदुषी अध्यापिका, विदुषी कन्या, ब्रह्मचारिणी कुमारी, ब्रह्मचारी कुमार, कुमार, कुमारी, गृहस्थ, सभापति, यजमान, पुरोहित, राजप्रजाजन, उपदेशक, परीक्षक आदि को ये मनमाने तरीके से संबोधित करते रहते हैं। कहीं ये बिजली के उत्पादन की बात करते हैं, तो अन्यत्र शिल्पविद्या, भूगर्भविद्या, अग्निविद्या, योगविद्या आदि की। इतना ही नहीं, बिना प्रसंग के ही ये नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र को भी घसीट ले आते हैं, योगियों की और नाडियों की चर्चा करने लगते हैं। अनेक मन्त्रों में वे पति-पत्नी के अत्यन्त लौकिक संवाद को सुनाने लगते हैं। भाष्यकार ने देवताधिकरण की व्याख्या के प्रसंग में भूमिका में विस्तार से मनुष्यों से भिन्न देवयोनिविशेष की स्थापना की है, किन्तु स्वामी दयानन्द ने अग्नि, इन्द्र आदि शब्दों की सब जगह मनुष्यपरक व्याख्या की है। विचित्र बात यह है कि इन शब्दों का भी कोई एक अर्थ नहीं किया है। गन्धर्व आदि देवयोनियों का तो इन्होंने पूरी तरह से अपलाप कर दिया है और जड़ ओषधियों की प्रार्थना में मन्त्र का विनियोग बताया है।

गौण अर्थ का सहारा तो इन्होंने प्रायः प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या में लिया है। अनेक स्थलों पर इनकी अपनी हिन्दी और संस्कृत व्याख्या और भावार्थ में भी अन्तर देखने को मिलता है, भावार्थ का मूल अर्थ से कोई दूर का भी सम्बन्ध नजर नहीं आता। ये सायण, महीधर आदि के भाष्यों का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं, विशेष रूप से यह दिखाना चाहते हैं कि उनके द्वारा प्रस्तुत व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी व्युत्पत्तियाँ ठीक नहीं हैं। रथन्तर साम, बृहत्साम आदि वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्यायें हमें ताण्ड्यमहाब्राह्मण जैसे ग्रन्थों में मिलती हैं। इन श्रुतिसूत्रशास्त्रसम्मत अर्थों का परित्याग कर स्वामी दयानन्द ने मनमाना अर्थ किया है। ऐसे सभी स्थलों पर स्वामी करपात्रीजी महाराज ने सही अर्थों को प्रदर्शित कर बताया है कि इन मन्त्रों की सही व्याख्या का ज्ञान हमें शतपथ ब्राह्मण, कात्यायन श्रौतसूत्र आदि की सहायता से ही हो सकता है तथा हरिस्वामी, उव्वट, सायण, महीधर आदि आचार्यों ने अपने-अपने भाष्यों में तदनुसार ही अर्थ किया है।

प्रस्तुत भाष्य में बताया गया है कि स्वामी दयानन्द ने स्थान-स्थान पर जिस विद्युत् विज्ञान की चर्चा की है, वहाँ किसी विधि का खुलासा नहीं किया गया है कि उखा-सम्भरण से किस तरह से बिजली पैदा होगी। जहाँ शिल्पविद्या का सूचक कोई पद नहीं है, वहाँ भी इस विद्या को खोज निकाला गया है। राजा, सेना, सेनापति आदि की चर्चा भी इसी प्रकार पूरी तरह से अप्रासंगिक लगती है। मीमांसा शास्त्र में बताया गया है कि विधि अज्ञात अर्थ का ज्ञापन करती है। ऐसे प्रसंगों में स्वामी दयानन्द ने सर्वत्र रागप्राप्त गृहनिर्माण, वस्त्रधारण जैसी अत्यन्त लौकिक बातों का उल्लेख किया है, जिनकी कि अज्ञातज्ञापकता किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं की जा सकती। आश्चर्य यह है कि यज्ञ की अदृष्टार्थता को भी इन्होंने अस्वीकार कर दिया है।

स्वामी दयानन्द ने सविता, वायु, अग्नि आदि देववाचक पदों की ही नहीं; असुर, राक्षस, अज आदि विभिन्न योनियों और पशुओं के वाचक शब्दों की भी मनुष्यपरक ही व्याख्या की है। यम और यमी का अर्थ न्यायकर्ता न्यायाधीश किया है। भारतीय संस्कृति की लम्बी परम्परा को अस्वीकार कर देने के सिवाय इसका क्या प्रयोजन हो सकता है। 'गायत्री' जैसे पवित्र शब्द की भी इन्होंने अनोखी व्याख्या की है। 'घोरे' शब्द को ये पत्नी का संबोधन बताते हैं। 'द्विषः' शब्द का अर्थ शत्रु होता है, पर यहाँ इसका अर्थ 'व्यभिचारिणी स्त्री' किया गया है। 'स्वाहा' शब्द का अर्थ सत्य किया है। इसी तरह से 'उद्वाप' का अर्थ गर्भधारण और प्राणपोषिका बुद्धि का अर्थ आसुरी माया बताया है। इनके मत से प्राणरूप वायु मिल कर सूर्य को उत्पन्न करती है, यज्ञ का प्रयोजन वायु की शुद्धि है। पारिजातकार ने इन्हीं सब प्रसंगों को देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि स्वामी दयानन्द ने वेद की इस प्रकार की व्याख्या के बहाने लोकायतिक

(चार्वाक) दर्शन का ही प्रसार किया है। इसी का यह प्रभाव है कि पुनरुत्थान के नाम पर भारतीय संस्कृति की लम्बी बिरासत को आज नकारा जा रहा है।

वैदिक परम्परा के अनुसार वेदों में व्यक्तिविशेष का आख्यान वर्णित है, इस बात को नहीं माना जाता। सनातनी दृष्टि में यह एक अपसिद्धान्त है, क्योंकि इस तरह से तो वेद भी इतिहास के ग्रन्थ हो जायँगे। इस विषय को पारिजातकार ने अपने भूमिका भाग में विशेष रूप से स्थापित किया है और प्रस्तुत भाष्य में भी प्रसंगवश अनेक स्थानों पर दयानन्दीय व्याख्या की समालोचना करते समय इस ओर इंगित किया है।

स्वामी करपात्री जी महाराज ने स्वामी दयानन्द के भाष्य में निर्मूलाध्याहार, निर्मूल व्यत्यय, गौणार्थाश्रयण, श्रुतिसूत्रविरोध, अर्थाप्रसिद्धि, मन्त्रबाह्य पदव्याख्यान, अज्ञातज्ञापकता का अभाव, निघण्टु विरोध आदि दोषों की उद्भावना की है। इनके व्याख्यान को कल्पनामात्रप्रसूत, कपोलकल्पित, व्याख्यानाभास, अनर्गल और उपहासास्पद बताया है और कहा है कि यह सारा द्रविड़ प्राणायाम केवल मूर्ख जनों की प्रतारणा के लिये है। भास्करराय ने ऐसे प्रसंगों के लिये शिष्यदन्धन शब्द का प्रयोग किया है। स्वामी दयानन्द के भाष्य में शब्दों की अनर्गल व्युत्पत्तियों को देखकर पारिजातकार को किसी वैयाकरण की व्याघ्र शब्द की व्युत्पत्ति याद आ जाती है। 'जो विशेष रूप से सूंघता है' इस व्युत्पत्ति के आधार पर व्याघ्र की खोज में निकला वैयाकरण जैसे उसका भोजन बन जाता है, उसी तरह से स्वामी दयानन्द की ये व्युत्पत्तियाँ कभी-कभी बड़ी अनर्थकारी हो जाती हैं।

व्याकरणगत व्युत्पत्तियों को लेकर स्वामी दयानन्द ने अनेक स्थलों पर सायण, महीधर आदि आचार्यों पर वृथा आक्षेप किये हैं। ऐसे सभी स्थलों पर हमारे भाष्यकार ने प्राचीन आचार्यों की व्युत्पत्ति को युक्तियुक्त और व्याकरण-सम्मत बताया है और उन पर किये गये आक्षेपों का तिलशः खण्डन कर दिया है। ११ वें अध्याय में ऐसे प्रसंग अनेक स्थलों पर देखे जा सकते हैं। पृ० १० और २७-२८ पर सायणाचार्य पर किये गये आक्षेपों का अत्यन्त प्रौढ़ युक्तियों के सहारे परिहार किया गया है। पृ० ३५-३६, ४६, ५३-५४ पर दिये गये परिहार भी विशेष रूप से अवलोकनीय हैं। पृ० ५४ पर भाष्यकार ने 'कणेहत्य' शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का प्रयोग वे तब करते हैं, जब कि किसी बात का उन्होंने बहुत विस्तार न किया हो। वे कहते हैं कि इस समाधान से यदि आप पूरी तरह से सन्तुष्ट नहीं हुए हैं, तो अमुक स्थान पर इस विषय का विस्तार देखिये। इसी प्रकार के प्रसंग अगले अध्यायों में भी (पृ० १११-११३, १२६, १७६, २०४, २१६, २२३, २६६) मिलते हैं। व्याकरण के परिनिष्ठित विद्वानों के लिये ये प्रसंग विशेष रूप से अवलोकनीय हैं।

इन सामान्य बातों के अतिरिक्त हम पाठकों का ध्यान ११-१५ अध्यायों के दयानन्दनीय भाष्य की वेदार्थ-पारिजातकार द्वारा दिखाई गई विशेष त्रुटियों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। ११वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में भूगर्भ विद्या की और दूसरे मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार की बिना प्रसंग के चर्चा की गई है। २९ वें मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने योनि शब्द का अर्थ संयोग और विभाग को जानने वाला किया है तथा समुद्र में स्थित पदार्थों की जानकारी से इसे जोड़ा है। बिजली के संयोग और विभाग को जानने वाला समुद्र में स्थित पदार्थों को कैसे जान लेगा, इसकी प्रक्रिया वहाँ नहीं बताई गई। वस्तुतः दयानन्द वेद को धर्म ग्रन्थ न मानकर कहीं उसमें से अर्थशास्त्र निकालते हैं, कहीं कलाकौशल की चर्चा करते हैं। वायुयान, जलयान, भूगर्भशास्त्र, सामुद्रिक विज्ञान, इन सारे आधुनिक विज्ञानों की चर्चा इनके भाष्य में कर दी गई है, किन्तु केवल शब्दों को तोड़-मरोड़ कर कोई अर्थ निकाल देने मात्र से तो ये सब वैज्ञानिक प्रयोग सिद्ध होने से रहे।

इसी तरह से ४१ वें मन्त्र में 'व्यवहार' का अर्थ 'हिंसनीय व्यवहार' किया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया। देह आदि की विशेष चेष्टाओं का ही तो नाम व्यवहार है। ये तो हिंसनीय और अहिंसनीय दोनों ही प्रकार के हो

सकते हैं। फिर उनको हिंसनीय व्यवहार में ही सीमित कर देने के लिये कोई कारण चाहिये। इस कारण को यहाँ नहीं दिखाया गया है। ६१ वें मन्त्र की व्याख्या में अवट का अर्थ शिशु, उखा का कन्या और अदिति का अर्थ अध्यापिका किया है। वास्तव में अवट का अर्थ गर्त (गड्ढा), उखा का यज्ञीय पात्रविशेष और अदिति का अर्थ देवमाता है। दयानन्दीय अर्थों का खण्डन करते समय जैसे हमारे भाष्यकार ने वाल्मीकि रामायण और शतपथ ब्राह्मण आदि का प्रमाण दिया है, वैसा कोई प्रमाण स्वामी दयानन्द ने अपने अर्थों का समर्थन करने के लिये प्रस्तुत नहीं किया है। शाब्द नय में मनमानी नहीं चल सकती। शतपथ ब्राह्मण में इस मन्त्र के अनेक पदों का अर्थ स्वयं ही प्रदर्शित कर दिया गया है। बिना प्रमाण के इन परम्परा प्राप्त अर्थों को छोड़ देने से अराजकता ही फैल सकती है।

७३ वें मन्त्र में 'दारूणि' पद प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का रूप है। स्वामी दयानन्द ने इसको बदल कर 'दारुणि' कर दिया है, जो कि सप्तमी विभक्ति के एकवचन का रूप है। वेद को अनुश्रव कहा जाता है, अर्थात् इसको किताब से पढ़ा नहीं जाता, किन्तु गुरुमुख से सुना जाता है। गुरु जिस पद का जैसा उच्चारण करता है, उसी तरह का उच्चारण शिष्य भी करता है। इस छापाखाने के युग में भी वेद की यह परम्परा सुरक्षित है। परम्परा-प्राप्त पाठ को बदलना एक प्रकार की उच्छृङ्खलता ही तो है। इसी तरह से ८० वें मन्त्र में पठित 'मस्मसा' पद को बदल कर स्वामी दयानन्द ने 'भस्मसा' कर दिया है। ८१ वें मन्त्र के भाष्य में वे ब्रह्मकुल और क्षत्रकुल की चर्चा करते हैं, किन्तु उनकी यह व्याख्या वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त को न मानने के कारण उनके सिद्धान्त के विपरीत पड़ती है। इसी तरह से स्वामी दयानन्द श्राद्ध आदि का भी निषेध करते हैं, किन्तु ८२ वें मन्त्र की व्याख्या में जो कुछ उन्होंने कहा है, वह उनके इस सिद्धान्त के विपरीत जाता है। ८२ वें मन्त्र में रोग-निवारण के लिये वैद्यों और वैज्ञानिकों से प्रार्थना की गई है। वैद्य और वैज्ञानिक तो पैसा लेकर काम करते हैं, खाली प्रार्थना से वे पिघलने वाले नहीं हैं। यदि वे ऐसा करें भी, तो भूखों मर जायंगे। वास्तव में यहाँ रोगनिवृत्ति के लिये अग्नि आदि देवताओं से प्रार्थना की गई है। स्वामी दयानन्द तो देवताओं को मानते नहीं, अतः उनको यह निराला अर्थ करना पड़ा है।

बारहवें अध्याय के दूसरे मन्त्र में दिव्य प्राणों को विद्युत् का धारक बताया गया है, किन्तु यह नहीं बताया गया कि ये दिव्य प्राण हैं क्या? द्यावापृथिवी शब्द का अर्थ माता और धाता बताना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इनमें मन्त्रगत 'समनसा' इत्यादि विशेषणों की संगति नहीं बैठेगी। इनमें समानविज्ञानवेद्यता नहीं है और न इनमें दिन और रात की कोई समानता है। तीसरे मन्त्र की व्याख्या में सूर्य को ज्ञानसम्पन्न और जगत् का उत्पादक बताया गया है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इनके मत में सूर्य जड़ पदार्थ है। उसमें ज्ञानवत्त्व और जगत्कर्तृत्व नामक चेतन-धर्म कैसे रह सकते हैं। चौदहवें मन्त्र की व्याख्या में भी यहाँ अनेक विसंगतियाँ बताई गई हैं। पहले (११।६१) उखा का अर्थ कन्या किया गया था, यहाँ १६ वें मन्त्र में 'उखा' का अर्थ 'प्राप्त प्रजा' किया है और इस अर्थ के समर्थन में इनके किसी अनुयायी ने शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत किया है। यह पूरी तरह से निरर्थक है। उखा-सम्भरण के प्रसंग में इस प्रकरण की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। उखा-सम्भरण प्राजापत्य कर्म हो सकता है, किन्तु 'उखा' शब्द का अर्थ 'प्राप्त प्रजा' करने के लिये अभी भी प्रमाण की अपेक्षा है, वह आपने दिया नहीं है। यहाँ की २१ वीं कण्डिका पहले छठी संख्या पर भी आ चुकी है। स्वामी दयानन्द ने एक ही मन्त्र के दो अलग-अलग अर्थ किये हैं। इन दोनों ही अर्थों की अप्रासंगिकता भी यहाँ दिखा दी गई है।

३८ वें मन्त्र की व्याख्या में पुरुष (जीव) को सूर्य के समान ज्योतिष्मान् बताया है। जीव तो नीरूप है, तब वह ज्योतिष्मान् कैसे हो सकता है? फिर इनके मत में तो जीव अणु है, व्यापक नहीं। वह सूर्य के जैसे ज्योतिष्पुंज स्वरूप कैसे हो सकता है? 'मातृभिः' इस बहुवचन पद से भी उसकी संगति नहीं बैठेगी। जीव की चर्चा ८५ वें मन्त्र में भी इन्होंने की है। यह जीव अमूर्त है। व्याधि इसको कैसे पकड़ सकती है? व्याधि से भी देह का ही नाश होता है,

जीव का नहीं। स्वामी दयानन्द 'देव' पद से प्रायः विद्वान् मनुष्य का ग्रहण करते हैं। ४९ वें मन्त्र में उन्होंने इस पद का अर्थ विद्यार्थी किया है। देवता जब स्वयं विद्वान् हैं, तो उनको विद्यार्थी बनने की क्या आवश्यकता आ पड़ी ? अज्ञात विधि के ज्ञापक वेद में लौकिक व्यवहारों का प्रतिपादन नहीं हो सकता। देवयोनि मनुष्ययोनि से भिन्न है, इस विषय पर यहाँ अनेक स्थलों पर प्रकाश डाला जा चुका है। ५५ वें मन्त्र की व्याख्या में भी इस विषय को दिखाया गया है। यहाँ पृश्नि शब्द के अर्थ पर निरुक्त, अमरकोश आदि के प्रमाण से विचार कर दयानन्दीय अर्थ की असंगतता को दिखाया गया है। ६३ वें मन्त्र के भाष्य में पति-पत्नी के लोकप्रसिद्ध अर्थ को ही बता कर यह कहा गया है कि यम और यमी अर्थात् न्यायाधीश और न्यायकर्त्री से प्रेरित होकर वे ऐसा करते हैं। क्या स्वामी दयानन्द वेद में से आधुनिक 'कोर्ट मेरिज' को निकालना चाहते हैं। इसी तरह से ६५ वें मन्त्र में वे दम्पती के संवाद का वर्णन करते हैं। निर्ऋति पद का अर्थ पृथिवी तुल्य स्त्री किया है। इस मन्त्र का भाष्य असंगत वाक्यावलियों के समूह का एक अच्छा उदाहरण है। ७० वें मन्त्र में काष्ठमयी सीता को घृत, दुग्ध, मधु आदि लगाने का क्या प्रयोजन है ? और उसकी स्तुति किस लिये की जा रही है, यह भी यहाँ नहीं बताया गया है।

स्वामी दयानन्द देवयोनि को स्वीकार न करते हुए भी उनकी सनातनी प्रज्ञा की बात अपनी व्याख्या (१२।१०९) में करते हैं। प्रज्ञा तो अनित्य है, वह सनातन कैसे हो सकती है ? ११२ वें मन्त्र के सोम पद का अर्थ सोम के समान कान्तियुक्त राजपुरुष किया है। स्पष्ट ही यहाँ गौण अर्थ का ग्रहण किया गया है। अन्वयानुपपत्ति और तात्पर्यानुपपत्ति के बिना गौण अर्थ का सहारा नहीं लिया जाता। यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। सोम की सी कान्ति वाले राजपुरुष का यहाँ कोई प्रसंग भी नहीं है। ११३ वें मन्त्र में मनुष्य रूप सोम से संयुक्त होने की बात कही गई है। कोरे आशीर्वाद से कोई सोम से संयुक्त नहीं हो सकता। अभिमानी शत्रु के निवारण में समर्थ वीर भी कोरे आशीर्वाद से नहीं बनते। वे तो धनुर्वेद का ठीक से अभ्यास करने से ही बन सकते हैं। ११४ वें मन्त्र के विषय में पारिजातकार ने विकल्प उठाया है कि इस मन्त्र में जीव को आनन्द का उपदेश करने वाला व्यक्ति अल्पज्ञ है या सर्वज्ञ ? अल्पज्ञ के उपदेष्टा होने पर वेद पौरुषेय हो जायगा। सर्वज्ञ इस तरह का उपदेश नहीं कर सकता, क्योंकि जो सर्वज्ञ है, वह किसी भी प्रकार की प्रार्थना क्यों करेगा ? सुहृत् का वाचक मित्र शब्द सदा नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होता है, इस बात को स्वयं दयानन्द भी स्वीकार करते हैं। तब भी यहाँ (१२।११४) इन्होंने पुल्लिग में मित्र पद का प्रयोग किया है।

स्वामी दयानन्द ने कहा है कि 'अपां पृष्ठमसि' (१३।२) मन्त्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण (७।४।१।१) में की गई है, किन्तु वास्तव में यह व्याख्या वहाँ नहीं मिलती। तृतीय मन्त्र की व्याख्या में नाना प्रकार की आपत्तियाँ उठाई गई हैं। 'अम' शब्द का प्रयोग सचिव के अर्थ में कहीं भी देखने को नहीं मिलता (१३।९)। इसी तरह से समुद्र शब्द का अर्थ 'जार' करने में तथा सुपर्ण पद को पतिपरक मानने में भी कोई प्रमाण नहीं है (१३।१६)। इष्टका पद का अर्थ यहाँ (१३।२१) दृढ़ शरीर वाली स्त्री किया है। यदि ऐसा ही अर्थ अभिप्रेत होता, तो यहाँ इष्टका के स्थान पर शैली शब्द का प्रयोग होता। प्राण और अपान पदों का अर्थ भी यहाँ (१३।२४) मनमाना कर दिया गया है। 'अपां गम्भन्' (१३।३०) मन्त्र की व्याख्या में वसन्त ऋतु में मेघोदय की बात कही गई है। वास्तव में मेघोदय की कल्पना वर्षा ऋतु के लिये उचित है। वसन्त में तो उसे असमय की वर्षा कहा जाता है। यहाँ ३१ वें मन्त्र की संस्कृत और हिन्दी में जो व्याख्या की गई है, उनमें आपस में ही विरोध है। यहाँ 'त्रीन् समुद्रान्' अथवा 'स्वर्गान्' की जो व्याख्या हुई है, वह भी उनके मत के विपरीत है, क्योंकि वे स्वर्ग आदि लोकों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार इन्द्र पद का अर्थ जीव करना और कर्मों को स्पर्शयोग्य बताना भी गलत है। कर्म तो अमूर्त होते हैं, उनका स्पर्श कैसे किया जा सकता है (१३।३३)। 'इषे राये' (१३।३५) मन्त्र में कूपसदृश कोमलता का उल्लेख मिलता है, किन्तु कूप की कोमलता न तो वेद में प्रसिद्ध है और न लोक में ही।

अग्नि शब्द का अर्थ विद्वान् अथवा विद्युत् करना भी निष्प्रमाण है। इसी तरह ज्योति शब्द का अर्थ न्याय का प्रकाश करना भी अप्रामाणिक है (१३।३९)। मनुष्य की शक्ति सीमित है। वह असंख्य सुखों को किसी भी तरह से नहीं दे सकता (१३।४०)। प्रतिमा पद का अर्थ सूर्य करने पर उसके लिये स्त्रीलिंग का प्रयोग कैसे किया जा सकता है (१३।४१)। अद्रिबुघ्न शब्द का अर्थ मेघाकाश अथवा सूक्ष्म मेघ भी कहीं नहीं मिलता (१३।४२)। आत्मा से आकाश आदि के क्रम से अग्नि की उत्पत्ति उपनिषदों में वर्णित है, किन्तु स्वामी दयानन्द 'यो अग्निम्' (१३।४५) इत्यादि मन्त्र में अग्नि से अग्नि की उत्पत्ति बताते हैं, यह असंगत है। वैदिक परम्परा में तो यहाँ तात्पर्यानुपपत्ति के आधार पर लक्षणा वृत्ति का सहारा लेकर पृथिवी के शोक से अग्निदेवताक अज की उत्पत्ति मानी गई है। इसी तरह से 'इमं मा' (१३।४७) मन्त्र में भी अनेक असंगतियाँ हैं। सनातनी पद्धति से तो देवता अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं, अतः उनके प्रसाद से सब कुछ सिद्ध हो सकता है।

'इममूर्णायुम्' (१३।५०) मन्त्र की व्याख्या में अवि (भेड़) को प्रजा का आदिम उत्पत्तिनिमित्त बताया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया और न कोई पद्धति ही बताई। अगले मन्त्र में शरभ पद की शल्यार्थकता में भी कोई प्रमाण नहीं दिया गया। कोश ग्रन्थों में तो यह पद सिंह को भी मार डालने वाले अष्टापद नामक पशु के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसी तरह से 'त्मना' (१३।५२) शब्द से मनुष्य अथवा पशु का ग्रहण करना निर्मूल है। आगे के मन्त्र में गायत्रीनिर्मित स्वच्छ अर्थ की चर्चा की गई है, किन्तु यह स्वच्छ अर्थ है क्या ? इसका कुछ पता नहीं चलता। इसी पद्धति से इस अध्याय के अन्तिम कुछ मन्त्रों के दयानन्दीय अर्थ की असमंजसता पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

अन्तिम मन्त्र की व्याख्या में बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया गया है कि स्वामी दयानन्द वैदिक वाङ्मय से किस तरह से अपरिचित हैं। ताण्ड्य महाब्राह्मण में स्तोम के स्वरूप और उनके भेदों का निरूपण हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि पाञ्चभक्तिक साम के अन्तिम भाग की संज्ञा 'निधन' है। शाक्वर, रैवत आदि भी साम के ही भेद हैं। इन सब शब्दों की यहाँ शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत न कर मनमाना अर्थ कर दिया गया है। इस तरह से यह दयानन्दीय व्याख्यान पूरी तरह से निष्प्रमाण है।

१४ वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में आये 'स्योने' शब्द को स्वामी दयानन्द ने संबोधन पद माना है, जब कि निरुक्त के प्रमाण से सुखार्थक स्योन शब्द का प्रयोग नपुंसक लिंग में किया गया है, स्त्रीलिंग में नहीं। वास्तव में यह सप्तमी के एकवचन का रूप है। 'कुलायिनी' शब्द का अर्थ भी यहाँ निरर्थक कल्पनाओं पर आश्रित है, क्योंकि किसी कोश आदि का प्रमाण नहीं दिया गया है। तीसरे मन्त्र के पदों का भी एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। चौथे मन्त्र की व्याख्या में 'पृष्ठ' पद और 'अप्स' शब्द का अर्थ निरर्गल लगता है। पाँचवें मन्त्र में 'विश्वकर्मा' पद का अर्थ सामान्य मनुष्य, पति अथवा ऋषि में से कोई भी संभव नहीं है। अनेक मन्त्रों के भावार्थ में और संस्कृत तथा हिन्दी अर्थ में परस्पर बड़ी भिन्नता है, यह तो पहले ही बताया जा चुका है। आठवें मन्त्र में स्त्रीपुरुष आदि की प्रार्थना से प्राणरक्षा की बात कही गई है। यहाँ भाष्यकार ने तीन विकल्प प्रस्तुत कर इस अर्थ का खण्डन कर दिया है। आगे के मन्त्रों में आये वयस् और छन्दस् शब्दों के भी बिना प्रमाण के मनमाने अर्थ किये गये हैं। इनको कथमपि प्रमाण नहीं माना जा सकता। १२ वें मन्त्र में भी 'विश्वकर्मा' पद का अर्थ पति किया है। इसी प्रकार पृष्ठ, प्रतिष्ठा, अन्तरिक्ष जैसे शब्दों के अर्थ भी लौकिक और वैदिक परम्परा के विरुद्ध दिये गये हैं। मास, ऋतु, पृथिवी, अन्तरिक्ष, जल, औषधि—ये सब जड़ पदार्थ हैं। इनकी प्रार्थना से मनुष्य कैसे समर्थ हो सकता है (१४।१६)।

१८ वें मन्त्र की व्याख्या में एक ही छन्दस् शब्द के मनमाने अनेक अर्थ किये हैं, किन्तु उनमें कोई प्रमाण नहीं दिया है कि एक ही शब्द के ये अनेक अर्थ कैसे हो गये। पृथिवी आदि जड़ पदार्थों में स्वतन्त्रता नहीं रह सकती और न मनुष्य के लिये बकरी, बैल, अश्व आदि अनुकरणीय ही हो सकते हैं (१४।१९)। २३-२४ मन्त्रों की व्याख्या में

विविध संख्यावाची शब्दों के और विविध स्तोमों के निराले ही अर्थ दिये गये हैं। इनमें भी कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया। यह पहले ही बताया जा चुका है कि सामवेद में विविध संख्याओं से सम्पन्न स्तोमों का विधान किया गया है। कहीं-कहीं तो गौण अर्थ का सहारा लेने के उपरान्त भी मन्त्रार्थ की असंगति दूर नहीं होने पाती। ऐसा लगता है कि स्वामी दयानन्द जैसे सामवेद उपदिष्ट स्तोमों से एक दम अपरिचित हैं। २८ वें मन्त्र में प्राण, अपान, व्यान आदि तथा नाग, कूर्म, कृकर आदि प्राणों के द्वारा स्तुति की बात कही गई हैं। जड़ प्राण आदि के द्वारा यह कैसे संभव हो सकता है। आपके सिद्धान्त के विरुद्ध होने से इनको चेतन जीव का अधिष्ठाता भी नहीं मान सकते। ३० वें मन्त्र में शूद्र और आर्य शब्द का एक साथ प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि ये दोनों भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं। आर्यसमाजी तो सभी को आर्य मानते हैं। इस आपत्ति का परिहार स्वामी दयानन्द ने नहीं किया और इस प्रकार वे स्वयं ही अपने प्रतिपादित सिद्धान्त के विपरीत इस मन्त्र की व्याख्या करते हैं। सनातनी दृष्टि से तो यहाँ वैश्य वाचक अर्य शब्द है, आर्य नहीं। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र के भाष्य में २९ अंगों की सूचना दी गई है, किन्तु यह नहीं बताया गया कि ये २९ अंग कौन-कौन से हैं।

१५ वें अध्याय के पहले मन्त्र में 'वरूथ' शब्द का अर्थ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सुख किया गया है। यह उनकी मनमानी कल्पना है। निघण्टु (३।४) में गृह के पर्यायवाची नामों में इसकी गणना है। स्वयं स्वामी दयानन्द ने भी अपनी उणादि वृत्ति में वरूथ शब्द का यह अर्थ नहीं बताया है। इसी तरह से यहाँ तीसरे और छठे मन्त्र की व्याख्या में भी अनेक असंगतियाँ बताई गई हैं। १०-११ मन्त्रों में पुनः बताया गया है कि स्वामी दयानन्द वैदिक शब्दों की मर्यादा से सर्वथा अपरिचित हैं। सामविधान, ताण्डयमहाब्राह्मण आदि को इन्होंने देखा होता, तो त्रिवृत्स्तोम, रथन्तर साम, उक्थ, शस्त्र, प्रउग आदि शब्दों के अर्थों से अवश्य परिचित होते और तब उनको इस प्रकार के अप्रामाणिक अर्थों की शरण न लेनी पड़ती। १४-१६ मन्त्रों की व्याख्या में भी यहाँ अनेक प्रकार की असंगतियाँ दिखाई गई हैं। पुंजिकास्थला, रथस्वन, रथचित्र जैसे शब्दों का अर्थ भी यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है।

इसी तरह से प्रतीक शब्द का अर्थ प्रतीति करना और प्रतीति का अर्थ वृद्धि करना भी पूरी तरह से असंगत है (१५।२७)। वेद मनुष्य को धन की याचना का उपदेश कभी नहीं कर सकता, किन्तु यहाँ अनेक स्थलों पर ऐसा किया गया है। मुख्यार्थ का बाध होने पर ही लक्षणा वृत्ति का सहारा लिया जाता है, इस बात को वेदार्थपारिजातकार अनेक बार बता चुके हैं, किन्तु इस अध्याय के ४२ वें मन्त्र के भाष्य में स्वामी दयानन्द के मत का खण्डन करते समय उत्तर-मीमांसा (वेदान्त) के आनन्दमयाधिकरण के आधार पर शास्त्रीय पद्धति से गंभीर विचार प्रस्तुत किया गया है। ४४ वें मन्त्र में प्रज्ञान और बोध का उपमानोपमेयभाव बताया गया है। ये दोनों शब्द तो एक ही अर्थ को बताते हैं। तब इनमें परस्पर भेदबोधक यह संबन्ध कैसे बन सकता है। ४९ वें मन्त्र में यहाँ सत्र शब्द को लेकर विचार हुआ है। स्वयं स्वामी दयानन्द ही अपनी अलग-अलग व्याख्याओं में इसके परस्परविरोधी अर्थ बताते हैं। शत्रुओं को तो कोई भी तिरस्कृत करना चाहता ही है। इसके लिये किसी उपदेश की क्या आवश्यकता है (१५।५१)। वात, व्रजन, आयु आदि शब्दों के अर्थ भी यहाँ (१५।६२-६३) बिना कोश, व्याकरण, व्यवहार, आप्तवचन आदि को उपस्थापित किये मनमाने ढंग से कर दिये गये हैं।

क्रमुक (धमन), विकङ्कत, उदुम्बर (गूलर) और पलाश की समिधा के अतिरिक्त यहाँ (पृ० ९५-१०२) उपजिह्विका (दीमक) और वम्र (चींटी) भक्षित वृक्षों की समिधा का भी विधान है। अपरशुवृक्ण शब्द का यहाँ प्रयोग हुआ है, अर्थात् कुल्हाड़ी से काटी गई लकड़ी का उपयोग यज्ञीय कार्य में नहीं करना चाहिये। यह एक समृद्ध वैदिक यज्ञीय संस्कृति का सूचक है कि धर्म कार्य के लिये भी हरे वृक्षों को नहीं काटा जाता था। एक है आज की अर्थप्रधान संस्कृति, जिसने बहुत बड़े भूभाग को वृक्षविहीन बना कर सारी प्रजा को अनावृष्टि और अतिवृष्टि की विभीषिका में डाल दिया है।

यहाँ चोर (गुप्त एवं प्रकट), स्तेन, मलिम्लुच आदि चोरों के विविध भेदों का (पृ० १०५, १९१) तथा अराति, द्वेषी, निन्दक नामक तीन प्रकार के शत्रुभेदों का सूक्ष्म अन्तर बताया गया है (पृ० १०६)। मलिम्लुच के प्रसंग में राक्षसी (पृ० १०५) दंष्ट्रा का भी उल्लेख हुआ है। अग्नि, वायु और सूर्य नामक तीन धामों की तो यहाँ (१२।१९) चर्चा है ही, निरुक्त (९।२८) प्रतिपादित स्थान, नाम और जन्म नामक तीन धामों का भी विवरण मिलता है (पृ० १३८, २१३)। गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, अतिप्रणीत, धिष्ण्य, अन्वाहार्यपचन, आग्नीध्रीय आदि अग्नियों की भी प्रसंगवश चर्चा हुई है (पृ० १३८)। इसी तरह से अमीव (पृ० ११०), व्याघ्र (पृ० १२२), त्र (पृ० १५८), सुम्न (पृ० २००), पृष्टि (पृ० २९५) और अष्ठीवत् (पृ० ३९७) जैसे शब्दों की निरुक्ति भी यहाँ दी गई है।

पाणिनि के धातुपाठ में दो हजार से अधिक धातुएँ हैं। लौकिक संस्कृत में इनमें से बहुत कम धातुओं का प्रयोग मिलता है। इस भाष्य में स्थान-स्थान पर शब्दव्युत्पत्ति के प्रसंग में इनको उद्धृत किया गया है। इन सबकी यदि एक सूची बना दी जाय, तो स्पष्ट हो सकता है कि वैदिक साहित्य में लोक में कैसी-कैसी अप्रचलित, अपरिचित धातुओं का उपयोग हुआ है। क्षीरस्वामी आदि विभिन्न प्राचीन आचार्यों के द्वारा बताये गये इन धातुओं के विविध अर्थों का भी प्रसंगवश यहाँ उल्लेख किया गया है (पृ० ३८८)।

वेदों में विविध चितियों का विधान है। उनमें से यजुर्वेद की प्रस्तुत संहिता के ११–१८ अध्यायों में सुपर्ण चिति का ही विस्तार किया गया है। 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्' (१२।४) मन्त्र के भाष्य में रूपकालंकार के माध्यम से अग्नि की सुपर्ण से समानता दिखाई गई है। यहाँ (१२।५) विष्णु के तीन क्रमों का भी वर्णन है और कूर्म पुरुष (१३।३०-३३) का भी। इनमें हम विष्णु के त्रिविक्रम (वामन) और कूर्म अवतारों को देख सकते हैं। इस संहिता के १२ वें अध्याय के २७ मन्त्रों (१२।७५-१०१) का विनियोग औषधियों की स्तुति में किया गया है। यह स्तुति अपने आप में आयुर्वेद के ज्ञान से परिपूर्ण है। षाट्कौशिक शरीर की भी यहाँ (१२।६१) चर्चा आई है और भाष्य में बताया गया है कि जीव के षाट्कौशिक शरीर को त्वचा, मांस और रुधिर माता से प्राप्त होते हैं। वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी भी इसका समर्थन करती है। वहाँ बताया गया है—'मातृतो लोमलोहितमांसानि, पितृतस्तु स्नाय्वस्थिमज्जानः' (३९ का०)।

इस प्रकार यहाँ ११ से १५ अध्याय तक के मन्त्रभाष्य में उपदर्शित चतुर्विध विषयों को हमने संक्षेप में प्रस्तुत किया है। आशा है इससे हिन्दी पाठकों को भी इस अतिविशिष्ट भाष्य के विषयों का कुछ न कुछ आस्वाद अवश्य मिलेगा। अभी इतना ही कहकर हम अपनी लेखनी को विश्राम दे रहे हैं।

वाराणसी
अधिक वैशाखपूर्णिमा, संवत् २०४८

विद्वद्वशंवद
व्रजवल्लभ द्विवेदी

विषय-सूची

प्रतिपाद्य विषय		पृष्ठ संख्या
प्रकाशकीय वक्तव्य		३
पंचाध्यायी(११-१५)भाष्यनिष्कर्ष		५-३०

एकादश अध्याय : उखा-संभरण

कण्डिका संख्या		
	[भाष्य में शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के तीन अध्यायों का विषयसंक्षेप]	१-२
१-८.	अध्वर्यु के द्वारा 'युञ्जानः' इत्यादि आठ मन्त्रों से आहुति प्रदान	२-१२
९-११.	वैणवी अभ्रि (वंशदण्ड) का आदान एवं अभिमन्त्रण	१२-१६
१२-१४.	अभ्रि को हाथ में लेकर तृण से अश्व, गर्दभ और अज का अभिमन्त्रण	१६-१९
१५-१६.	बिना स्पर्श किये अश्व, गर्दभ और अज का पूर्व दिशा को प्रेषण	१९-२१
१७.	वल्मीकवपा के छिद्र से मृत्पिण्ड का अन्वीक्षण	२१-२२
१८-१९.	पिण्ड के पास अश्व का अभिमन्त्रण और मृत्पिण्ड पर अश्व के सव्य पाद का विन्यास	२३-२४
२०.	अध्वर्यु द्वारा अश्व के पृष्ठ का हस्त से स्पर्श	२५
२१-२२.	मृत्पिण्ड से अश्व का पृथक्करण एवं अभिमन्त्रण	२६-२९
२३-२४.	मृत्पिण्ड के समीप बैठ कर अध्वर्यु द्वारा उस पर चिह्नित अश्वपद मुद्रा में दो आहुतियाँ देना	२९-३२
२५-२७.	अभ्रि द्वारा मृत्पिण्ड का तीन बार परिलेखन	३२-३६
२८.	अभ्रि द्वारा मृत्पिण्ड के चारों तरफ की भूमि का खनन	३६-३७
२९.	मृत्पिण्ड के उत्तर भाग में कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण का आस्तरण	३७-३९
३०-३१.	कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण का अध्वर्यु द्वारा स्पर्श	३९-४१
३२-३७.	मृत्पिण्ड का अध्वर्यु द्वारा पुरीष्य अग्नि के रूप में स्पर्श एवं स्तवन	४१-४७
३८.	मृत्पिण्ड के गर्त में जल का प्रक्षेप	४८
३९.	मृत्पिण्ड के गर्त में वायु का प्रेरण	४९
४०.	बिछाये हुए कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण के चारों कोनों को ऊपर उठाना	५०-५१
४१.	कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण से वेष्टित मृत्पिण्ड को हाथों में चुपचाप लेकर मन्त्रोच्चार पूर्वक उठना	५१-५२
४२.	अध्वर्यु का अपनी बाहुओं को फैलाकर उन्हें पूर्वाभिमुख कर मृत्पिण्ड को पूर्वाभिमुख झुकाना	५२-५४
४३-४५.	पिण्ड को नाभि तक नीचे उतार कर अश्व, गर्दभ और अज का अभिमन्त्रण	५४-५६
४६-४७.	अध्वर्यु द्वारा अश्व, रासभ और अज का बिना स्पर्श किये उनके ऊपर मृत्पिण्ड का धारण और अनद्धापुरुष का ईक्षण	५७-५९
४७-४८.	आहवनीय की उत्तर दिशा में मृत्पिण्ड का स्थापन	५९-६२
४९.	मृत्पिण्ड के विस्रंसन और अजरोम के ग्रहण के बाद उक्त तीनों पशुओं का ईशान दिशा में छोड़ना	६३-६४
५०-५२.	दक्षिणाग्नि में पकाये पलाश की लकड़ी के काढे से मृत्पिण्ड का सिंचन	६४-६७
५३.	पूर्वगृहीत अजलोम का मृत्पिण्ड में प्रक्षेप	६७-६८
५४.	सूक्ष्म सिकता, लोहरस और पाषाण चूर्ण का भी प्रक्षेप	६८-६९

कण्डिका संख्या		पृष्ठ संख्या
५५–५७.	मृत्पिण्ड में इन सबको भलीभाँति मिला देना	६९–७१
५८.	मृत्पिण्ड से प्रादेशमात्र विस्तार वाले उखातल का निर्माण	७१–७५
५९.	उखा के तीन भाग कर उसमें मेखला आदि का निर्माण	७५–७९
६०.	अध्वर्यु द्वारा ही दक्षिणाग्नि से प्रदीप्त अश्व की सात लीदों से उखा का धूपन	७९–८०
६१.	अषाढा, उखा और विश्वज्योति को पकाने के लिये अभ्रि के द्वारा चतुरस्र गर्त का खनन	८०–८४
६२.	गर्त में उक्त पात्रों को पकाने के लिये इन्धन डालना	८४–८५
६३.	पात्रों के पक जाने पर भस्मीभूत इन्धन को हटाना	८५–८६
६४.	गर्त में से दोनों हाथों से उखा पात्र को निकालना	८६–८७
६५.	कण्डिका स्थित चार मन्त्रों से चार बार अजा दुग्ध से उखा पात्र का अवसेचन	८७–८८
६६–६७.	उखा-संभरण के बाद औद्ग्रभण होम का अनुष्ठान	८८–९१
६८–६९.	औद्ग्रभण होम के उपरान्त कृष्णाजिन दीक्षा से लेकर दण्डोच्छ्रयणान्त कर्मों का अनुष्ठान, ईशानाभिमुख अध्वर्यु अथवा यजमान द्वारा मुंजकुलाय अथवा शणकुलाय का उखा में प्रक्षेप और उसका आहवनीयाग्नि में अधिश्रयण	९१–९४
७०=८२.	प्रज्वलित अग्नि में वितस्तिप्रमाण क्रमुक, पलाश आदि की तेरह समिधाओं का प्रक्षेप	९४–१०९
८३.	अध्वर्यु द्वारा प्रदत्त दुग्ध आदि से सिंचित समिधा का यजमान द्वारा उख्य अग्नि में आधान	१०९–११०

द्वादश अध्याय : उखा-धारण

१.	यजमान द्वारा कण्ठ में सुवर्णाभरण धारण	१११–११५
२.	गोल-गोल उखा धारण समर्थ इण्ड्वाओं से उखा का धारण	११५–११७
३.	यजमान का छः रस्सियों से बने शिक्यपाश को गले में लटकाना	११७–११९
४.	यजमान द्वारा बाहुओं को उठाकर पूर्व दिशा में शिक्य सहित उख्य अग्नि का धारण	११९–१२२
५.	यजमान द्वारा विष्णुक्रम नामक तीन पाद-विन्यास	१२२–१२४
६.	पूर्व दिशा में ऊर्ध्व बाहु यजमान द्वारा अग्नि का ग्रहण	१२४–१२६
७–१०.	चार मन्त्रों से चार बार उख्याग्नि का धीरे-धीरे नीचे करना	१२६–१२९
११.	नाभि के ऊपर उख्याग्नि का धारण एवं अभिमन्त्रण	१२९–१३०
१२.	शिक्यपाश और रुक्मपाश का ऊर्ध्व मार्ग से निष्कासन	१३०–१३१
१३.	उक्त पाशों के निष्कासन के बाद आग्नेय दिशा में उख्याग्नि का यजमान द्वारा धारण	१३१–१३२
१४.	उख्याग्नि का अवतारण और आसन्दी पर स्थापन	१३२–१३३
१५–१७.	आसन्दी पर स्थापित करने के बाद उख्याग्नि का उपस्थान	१३४–१३६
१८–२९.	एकादश अथवा द्वादश ऋचा वाले वात्सप्र अनुवाक से अग्नि का उपस्थान	१३६–१४७
३०.	उख्याग्नि में वनीवाहन नामक समिधा का आधान	१४७–१४८
३१.	आसन्दी के साथ उख्याग्नि का दक्षिण में स्थित यजमान द्वारा शकट के पूर्व भाग में स्थापन	१४८–१४९
३२.	शकट में बैलों को जोतकर प्राची दिशा में गमन	१४९–१५०
३३.	शकट को धुरी से शब्द होने पर प्रस्तुत मन्त्र का जप	१५०–१५१
३४.	उत्तर दिशा में पाँच भूसंस्कारों से संस्कृत प्रदेश में शकट से अग्नि का अवतारण	१५१–१५३

कण्डिका संख्या		पृष्ठ संख्या
३५–४४.	उखा के आसपास की भस्म का तडाग आदि के जल में प्रक्षेप	१५३–१६१
४५.	पलाश की शाखा से गार्हपत्य स्थान का सम्मार्जन	१६१–१६३
४६.	ऊषर प्रदेश स्थित पांसुओं का निवपन	१६३–१६८
४७–५३.	श्रौतसूत्रीय पद्धति से विभिन्न दिशाओं में इष्टकोपधान	१६९–१७८
५४–५५.	लोकम्पृणा इष्टकाओं का उपधान, सादन और अधिवदन	१७८–१८२
५६	चात्वाल स्थान की मिट्टी का गार्हपत्य चिति पर प्रक्षेप	१८२–१८३
५७–६०.	पुरीष निवपन के बाद उख्याग्नि की गार्हपत्य चिति के नीचे स्थापना	१८३–१८६
६१.	सिकता से पूर्ण उखा के मध्य में चुपचाप दुग्ध का सिंचन	१८६–१८८
६२–६४.	निर्ऋति देवताक पाक से कृष्ण तीन इष्टकाओं का उपधान	१८९–१९५
६५.	शिक्य, रुक्मपाश, इण्ड्वा और आसन्दी का प्रक्षेप	१९५–१९७
६६.	ब्रह्मा, यजमान और अध्वर्यु द्वारा शालाद्वार्य अग्नि का उपस्थान	१९७–१९९
६७–६८.	अध्वर्यु द्वारा छः, दस अथवा चौबीस बैलों से जोते जा रहे हल का अभिमन्त्रण	१९९–२०२
६९–७२.	चार ऋत्विजों द्वारा चारों दिशाओं में सीता का कर्षण	२०२–२०७
७३.	बैलों को हल से मुक्त कर उनका ईशान दिशा में विसर्जन	२०८–२०९
७४.	पंचगृहीत आज्य से कृष्ट क्षेत्र के मध्य में स्थापित कुशस्तम्भ पर आहुति प्रदान	२०९–२११
७५–८९.	पन्द्रह ऋचाओं से नाना प्रकार की औषधियों का वपन	२११–२२२
९०–१०१.	बारह अनारभ्याधीत मन्त्रों का औषधियों की स्तुति आदि में विनियोग	२२२–२२९
१०२–१०५.	चार ऋचाओं से पूर्व आदि के क्रम से लोकेष्टकाओं का उपधान	२२९–२३५
१०६–१११.	छः ऋचाओं से उत्तरवेदि में सिकता प्रक्षेपपूर्वक आत्मभाग में उपधान (अग्निस्तवन)	२३५–२४२
११२–११४.	आत्मोपहित सिकताओं का स्पर्श (सोमस्तवन)	२४३–२४६
११५–११७.	पूर्व दिशा में श्वेत अश्व, अश्वेत अश्व अथवा बैल की उपस्थिति में होता द्वारा अनुवाचन	२४६–२४८

त्रयोदश अध्याय : प्रथम चित्युपधान

१.	उत्तरवेदि के प्रोक्षण से लेकर सम्भार निवपन पर्यन्त कर्म के अनुष्ठान के उपरान्त यजमान द्वारा उत्तरवेदि के पश्चाद्भाग में इस मन्त्र का जप	२४९–२५०
२.	कुशस्तम्ब के ऊपर पुष्करपर्ण का उपधान	२५०–२५१
३.	उस पर पराङ्मुख अध्वर्यु द्वारा सौवर्ण रुक्म का उपधान	२५२–२५३
४–५.	सौवर्ण रुक्म पर प्राङ्मुख उत्तान सुवर्णमय पुरुषाकृति का उपधान	२५३–२५७
६–८.	यजमान द्वारा हिरण्यपुरुष का उपस्थान	२५७–२६०
९–१३.	अध्वर्यु द्वारा संस्कृत आज्य को पाँच बार ग्रहण कर उस हिरण्यपुरुष पर पाँच आहुतियाँ देना	२६०–२६६
१४–१५.	दधिपूर्ण औदुम्बरी स्रुचा का उत्तर दिशा में उपधान	२६६–२६९
१६–१९.	हिरण्मय पुरुष के ऊपर स्वयमातृण्णा इष्टका का उपधान	२६९–२७४
२०–२१.	उदङ्मुख अध्वर्यु द्वारा स्वयमातृण्णा पर दूर्वेष्टका का उपधान	२७४–२७७
२२–२३.	दूर्वेष्टका के सामने द्वियजुःसंज्ञक पद्येष्टका का उपधान	२७७–२८०
२४.	इसके पूर्व में रेतःसिक् और विश्वज्योति नामक इष्टकाओं का उपधान	२८०–२८२

कण्डिका संख्या		पृष्ठ संख्या
२५.	विश्वज्योति इष्टका के सामने ऋतव्या इष्टकाओं का उपधान	२८३–२८४
२६.	ऋतव्या इष्टकाओं के सामने अषाढा इष्टका का उपधान	२८४–२८७
२७–२९.	दधि, मधु और घृत से कूर्म का अंजन	२८७–२९०
३०–३२.	तृतीय पद्मालोक में स्थापित अवकाओं में पुरुष के सामने कूर्म का उपधान और कम्पन आदि	२९०–२९४
३३.	स्वयमातृण्णा के उत्तर में उलूखल और मुसल का स्थापन	२९४–२९७
३४–३५.	उलूखल के ऊपर चुपचाप उखा का स्थापन और मन्त्रोच्चार के साथ उपधान	२९७–३००
३६–३७.	उखा के मध्य में दो आहुतियाँ देना	३००–३०२
३८–४०.	पाँच पशुओं के शिरोभाग में सात-सात सुवर्ण खण्डों का प्रक्षेप	३०२–३०६
४१–४५.	उखा की विभिन्न दिशाओं में पाँच पशुओं के शिरों का उपधान	३०७–३१३
४६.	बीच के पुरुषशीर्ष पर दो आहुतियाँ देना	३१३–३१४
४७–५१.	पांच उत्सर्गसंज्ञक मन्त्रों से अध्वर्यु द्वारा पाँच पशुशीर्षों का उपस्थान	३१४–३२१
५२.	अग्नि के समीप आकर अध्वर्यु द्वारा अर्धचित अग्नि का उपस्थान	३२१–३२२
५३.	अध्वर्यु द्वारा अपस्या संज्ञक इष्टकाओं का उपधान	३२३–३२७
५४–५७.	व्याघारण होम के क्रम से प्राणभृत्संज्ञक इष्टकाओं का उपधान	३२७–३३७
५८.	दक्षिण कोण से स्वयमातृण्णापर्यन्त लोकम्पृणाओं का उपधान	३३७–३४०
	चतुर्दश अध्याय : द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चितियों का उपधान	
१–५.	द्वितीय चिति में रेतःसिग् वेला में आश्विनी संज्ञक इष्टकाओं का उपधान	३४१–३४८
६.	ऋतव्या इष्टकाओं का उपधान	३४८–३५०
७.	पूर्व आदि दिशाओं में वैश्वदेवी संज्ञक इष्टकाओं का उपधान	३५०–३५३
८.	प्राणभृत् संज्ञक तथा अपस्या नामक इष्टकाओं का उपधान	३५४–३५६
९–१०.	वयस्या अथवा छन्दस्या इष्टकाओं का उपधान	३५६–३६२
११–१२.	तृतीय चिति में स्वयमातृण्णा इष्टकाओं का उपधान	३६२–३६६
१३.	पाँच दिश्या इष्टकाओं का उपधान	३६६–३६८
१४.	विश्वज्योति इष्टकाओं का उपधान	३६८–३६९
१५.	ऋतव्या इष्टकाओं का उपधान	३६९–३७०
१६.	अन्य दो ऋतव्या इष्टकाओं का उपधान	३७०–३७१
१७.	प्राणभृत् संज्ञक दश इष्टकाओं का उपधान	३७१–३७२
१८–२०.	बारह-बारह छन्दस्या इष्टकाओं का उपधान	३७२–३७६
२१–२२.	सात वालखिल्या इष्टकाओं का उपधान	३७६–३७९
२३.	चतुर्थ चिति में मृत्युमोहिनी आदि इष्टकाओं का उपधान	३७९–३८७
२४.	स्पृत संज्ञक दस इष्टकाओं का उपधान	३८७–३८९
२५–२६.	छः पद्याप्रमाण इष्टकाओं का उपधान	३९०–३९२
२७.	ऋतव्या इष्टकाओं का उपधान	३९२–३९३
२८–३१.	सृष्टिसंज्ञक सप्तदश इष्टकाओं का उपधान	३९३–३९९
३१.	लोकम्पृणा इष्टकाओं का उपधान	३९९–४००

कण्डिका संख्या पृष्ठ संख्या

पञ्चदश अध्याय : पंचम चिति का उपधान

१–३.	पंचम चिति में असपत्ना संज्ञक इष्टकाओं का उपधान	४०१–४०६
४–५.	विराट्संज्ञक छन्दस्या इष्टकाओं का उपधान	४०६–४०९
६–९.	स्तोमभाग संज्ञक इष्टकाओं का उपधान	४०९–४१३
१०–१४.	नाकसत् संज्ञक इष्टकाओं का उपधान	४१४–४१८
१५–१९.	पंचचूडा संज्ञक पांच इष्टकाओं का उपधान	४१८–४२४
२०–२२.	छन्दस्या इष्टकाओं का उपधान	४२४–४२५
२३–२५.	त्रिष्टुप् संज्ञक तीन इष्टकाओं का उपधान	४२६–४२८
२६–२८.	जगती संज्ञक तीन इष्टकाओं का उपधान	४२८–४३०
२९–३१.	अनुष्टुप् संज्ञक तीन इष्टकाओं का उपधान	४३०–४३२
३२–३४.	अषाढा के सामने बृहती संज्ञक तीन इष्टकाओं का उपधान	४३२–४३४
३५–३७.	उष्णिक् संज्ञक तीन इष्टकाओं का उपधान	४३५–४३६
३८–४०.	बृहती संज्ञक तीन इष्टकाओं का उपधान	४३६–४३८
४१–४३.	पंक्तिसंज्ञक तीन इष्टकाओं का उपधान	४३८–४४१
४४–४६.	पदपंक्ति संज्ञक तीन इष्टकाओं का उपधान	४४१–४४२
४७–४८.	पुरीषवती और अतिच्छन्दस् इष्टकाओं का उपधान	४४३–४४४
४९–५६.	आठ आग्नेयी ऋचाओं से गार्हपत्य चिति का उपधान	४४४–४५०
५७–६१.	पंचम चिति की शेषभूत इष्टकाओं का उपधान	४५०–४५२
६२–६३.	विकर्णी स्वयमातृण्णा आदि का उपधान	४५२–४५४
६४.	पंचमी चिति के द्रष्टा प्रजापति	४५४
६५.	इष्टकाचित अग्नि पर हिरण्य-शकलों का प्रक्षेप	४५५–४५६

एकादशोऽध्यायः

श्रीरामं परमेश्वरं त्रिजगतामात्मानमेवाव्ययं
वाञ्छाकल्पतरुं सदा प्रणमतामानन्दकन्दं हरिम्।
सीतालक्ष्मणवायुपुत्रसहितं नित्यं नवं सुस्थितं
सेवे शाश्वतमप्रमेयमनघं तल्लब्धये केवलम्॥

षष्ठकाण्डस्य प्रथमेऽध्याये हिरण्यगर्भकर्तृका सृष्टिरुक्ता 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादिना, तत्र प्रश्नोत्तराभ्यामृषय एवासत्पदवाच्यत्वेनोक्ताः 'तत्र प्राणा वा ऋषयः' इत्यादिना, केवलं लिङ्गशरीरमेवासीदिति निर्धारितम्। तत्र मध्यमप्राणस्य सर्वेन्द्रियपोषणद्वारा इन्द्रशब्दवाच्यत्वमुक्त्वा विराट्पुरुषस्य चित्याग्नेश्च साम्यमुक्तम्। सप्तपुरुषसम्पिण्डितस्य चित्याग्नेः शिरसो दर्शनं भवति। ते प्राणात्मका ऋषय एकैकानि स्वाश्रयप्रधानानि सप्तशरीराणि सृष्ट्वा परस्परमब्रुवन्—इत्थमेकैकप्रधानशरीरा अचाक्षुषमिदं स्थूलं शरीरमुत्पादयितुं न शक्ष्यामः, अचक्षुषो वचनव्यापाराभावात्, अवचनस्य वचनासम्भवात्, इन्द्रियाणां प्रतिनियतव्यापारत्वादभिन्नशरीरत्वे कर्मकर्तृत्वं नोपपद्यते, अत एकं पुरुषं सर्वेन्द्रियाश्रयं करवाम इत्यालोच्य एतान् सप्तपुरुषानेकमकुर्वन्। तत्र नाभेरूर्ध्वं द्वौ पुरुषौ स्थापितवन्तः। नाभेरर्वाग् द्वौ स्थापितवन्तः। एवं मध्ये देहे चत्वारः। द्वौ पुरुषौ दक्षिणोत्तरपक्षौ सम्पन्नौ। एकः पुरुषः प्रतिष्ठा पुच्छमासीत्। एवं शिरोवर्जितस्यैकस्य पुरुषस्य सप्तभिः पुरुषै रूपं सम्पन्नम्। तेषां पुरुषाणां श्रीभूतो यो रसस्तमूर्ध्वमुपरिभागे समुदितमकार्षुः। स एकीभूतः सारोऽस्य शिरोऽभूत्। तस्मात् श्रीसमुदूहनेन शिरःशब्दनिष्पत्तिः। यद्वा तस्मिन्निष्पादिते शिरसि प्राणः अश्रयत्तस्मात् शिरः। सर्वस्मिन् देहे तेऽश्रयन्त। तस्माद्देहोऽपि शरीर उच्यते। स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। स सप्तभिः पुरुषैर्निष्पन्न एकः पुरुषो विराट् प्रजापतिरभूत्। एवं लिङ्गशरीराभिमानिहिरण्यगर्भकर्तृका विराडुत्पत्तिरुक्ता। तस्य विराजोऽग्निरूपतोक्ता। 'स यः स पुरुषः प्रजापतिरभवदयमेव स योऽयमग्निश्चीयते' (श० ६।१।१।५)। स चीयमानोऽग्निः सप्तपुरुषसम्मितो भवति। हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्मनाम इति पक्षित्वेन पुच्छशब्दव्यवहारः। चित्याग्नेः सप्तपुरुषीयपक्षत्वं दशमे वक्ष्यते। आपस्तम्बोऽपि तथैवाह—'चतुर आत्मनि पुरुषान् मिमीते पुरुषं दक्षिणे पक्षे पुरुषं पुच्छे पुरुषमुत्तर इति तदुह वै सप्तविधमेव चिन्वीत सप्तविधो वाव प्राकृतोऽग्निः' (आप० श्रौ० १६।१।७)। तस्य विराडात्मकस्य सप्तपुरुषसम्मितस्य चित्याग्नेः शिरो दर्शयितुमाह—अथ यश्चितेऽग्निर्निधीयत इत्यादि।

'अथ यश्चितेऽग्निर्निधीयते यैवैतेषाꣳ सप्तानां पुरुषाणाꣳ श्रीर्यो रसस्तमेतदूर्ध्वꣳ समुदूहन्ति तदस्यैतच्छिरः। तस्मिन्नेतस्मिन् सर्वे देवाः श्रिताः। अत्र हि सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति तस्माद्वेवैतच्छिरः' (श० ६।१।१।७)। चिते ऐष्टके चितेऽग्नौ। अग्निराहवनीयो निधीयते। या वा एतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः यश्च रसः, स एवायमग्निरित्यध्याहारः। चित्याग्नेरण्डात्मकत्वाद् निधीयमानस्याग्नेर्हिरण्यगर्भात्मकत्वमित्यर्थः। शेषं स्पष्टम्। ततश्चयनोपयुक्तायाः सृष्टेराम्नानं तस्यां त्रयीलक्षणस्य ब्रह्मणोऽपामाण्डस्य चोत्पत्तिरुक्ता। आण्डा... अग्न्यश्वरासभाजानां पशूनामुत्पत्तेः कथनम्। ततः पृथिव्या उत्पत्तिमुक्त्वा तत्सकाशात् शुष्कार्द्रभावेन द्विविधमृत्तिकाः, सिकतं वालुकाः, शर्करा अल्पपाषाणाः, अश्मानं स्थूलपाषाणम्, अयः, हिरण्यं सुवर्णम्, ओषधिः,

वनस्पतय इत्येतैर्नवभिरिमामाच्छादितवान्। भूमिसृष्टेरनन्तरं प्रजापतिरिदं जगदधिकं भवेदिति कामयित्वा अग्निना पृथिवीं मिथुनत्वेन समयोजयत्। तयो संयोगेन अण्डं जातम्। वाय्वन्तरिक्षयोर्मिथुनाद् आदित्यस्य तद् अभ्यमृशत्, नानात्वेन पुष्टं भवत्विति त्रिवारमण्डमभिलक्ष्याब्रवीत्। तत्राण्डस्यान्तर्गर्भाद् वायुर्जातः। अथ गर्भोदकं कपाललिप्तरसः कपालानि च पक्षिमरीच्यन्तरिक्षलोकात्मकान्यभूवन्। अथ वाय्वन्तरिक्षयोर्मिथुनत्वेन सञ्जात् पुनरेकमण्डमुत्पन्नम्। तत आदित्य उत्पन्नः। स एष यशोरूपः। पूर्ववद् गर्भोदकादीनि मेघरश्मिद्युलोकात्मकानि जातानि। तृतीयपर्याये आदित्यद्युलोकयोर्मिथुनत्वेन गर्भः समजनि। तं प्रजापती रेतो बिभृहीति रेतोरूपत्वेन धारयेति गर्भमवसृष्टवान्। अत्रापि गर्भोदककपाललिप्तरसतत्कपालानि नक्षत्रावान्तरदिङ्महादिगात्मकानि सम्पन्नानि।

पुनश्च प्रजापतिरेषु लोकेषु प्रजाः सृजेयमिति विचार्य स्वकीयवाङ्मनसयोर्मिथुनीभवनेन स्वयमष्टद्रप्सरूपगर्भवानभवत्। ततोऽष्टाभ्यो द्रप्सेभ्योऽष्टौ वसवः सञ्जाताः। तानष्टवसूनस्यां भूमौ निहितवान्। पुनर्वाङ्मनसयोर्युग्मेन एकादशरुद्रान् सृष्ट्वा तानन्तरिक्षे स्थापितवान्। द्वादशादित्यांश्च सृष्ट्वा तान् द्युलोके उपदधाति स्म। विश्वान् देवान् दिक्षु निहितवान्। केषाञ्चिद्रीत्या अग्निपूर्वा पूर्वोक्ता वसुरुद्रादिसृष्टिः। अपरेषां ब्रह्मविदां रीत्या प्रजापतिरेव लोकत्रयं सृष्ट्वा पृथिव्यां प्रतिष्ठितः सन् पक्वा अन्नरूपा ओषधीः प्राश्य गर्भीभूत्वा स ऊर्ध्वेभ्यः प्राणेभ्यो देवान् सृष्टवान्। अवाचीनेभ्यः प्राणेभ्यो मर्त्याः प्रजा इति। अत्र सर्वोत्पादकस्य प्रजापतेश्चित्याग्निरूपताया आख्यायिकया प्रदर्शनम्। प्रसङ्गाद्धितोपहितशब्दयोरर्थप्रदर्शनं चितिसंख्याप्रदर्शनपुरस्सरं सार्थवादं प्रजापतेश्चित्यत्वप्रदर्शनम्, चित्योपरि निधीयमानस्याहवनीयस्याग्नेरादित्यरूपत्वाभिधानम्, इष्टकाशब्दनिर्वचनम्, अक्ताक्ष्यमतेन यजुष्मतीष्टका भूमस्त्वेनोपधेयाः, ताण्ड्यमतेन लोकम्पृणेष्टका भूयस्त्वेनोपधेया इति सोपपत्तिकमभिधाय दूषयित्वा सिद्धान्तपक्षनिरूपणम्, इष्टकायाश्चतुःस्रक्तित्वरूपगुणस्याभिधानम्। द्वितीयाध्याये पञ्चपश्वालम्भपक्षं विधातुं प्रजापतिवृत्तान्तकथनं पशूनामग्न्यात्मकत्वादिकथनम्। तृतीये चायनीयमन्त्राणां विनियोगकथनम्।

यु॒ञ्जा॒नः प्र॑थ॒मं मन॑स्त॒त्त्वाय॑ सवि॒ता धियः॑।
अ॒ग्नेर्ज्योति॑र्नि॒चाय्य॑ पृथि॒व्या अध्याभ॑रत्॥ १॥

मन्त्रार्थ—सबको प्रेरणा देने वाले प्रजापति ने आरम्भ में मन को एकाग्र कर अग्नि के तेज को और इष्टका आदि के ज्ञान को पाँच पशुओं में प्रविष्ट जान कर बुद्धिपूर्वक मानस भूमि में धारण किया॥ १॥

इत आरभ्याष्टादशाध्यायपर्यन्तमग्निचयनाङ्गमन्त्रा निरूप्यन्ते। 'प्रजापतिः प्रथमां चितिमपश्यत्, प्रजापतिरेव तस्या आर्षेयम्। देवा द्वितीयां चितिमपश्यन्, देवा एव तस्या आर्षेयम्। इन्द्राग्नी च विश्वकर्मा च तृतीयां चितिमपश्यन्, त एव तस्या आर्षेयम्। ऋषयश्चतुर्थीं चितिमपश्यन्, ऋषय एव तस्या आर्षेयम्। परमेष्ठी पञ्चमीं चितिमपश्यत्, परमेष्ठ्येव तस्या आर्षेयमिति' (श० ६।२।३।१०) इति श्रुतेः पञ्चचित्यात्मकाग्निसम्बन्धिमन्त्राणां प्राजापत्यादय ऋषयः, सोऽग्निरेव देवता, विविधानि छन्दांसि, तत्तच्चितिषु विनियोगः। तत्राग्निपदेन इष्टकाभिः सम्पादितम् अग्न्याधारभूतं विशिष्टं स्थण्डिलमुच्यते। चयनयागं चिकीर्षुः फाल्गुनकृष्णप्रतिपदि पौर्णमासेष्टिं कृत्वा पुरुषाश्वगोऽव्यजानालभ्याजेन यागं कृत्वा पञ्चानां शिरांसि घृताक्तानि प्रथमचितावुपधानार्थं क्वचित् संस्थाप्य तेषां कबन्धान् यज्ञशेषं च मृद्युक्ते तडागादिजले प्रास्येत्। उखार्थमिष्टकार्थं च मृदं जलं च तत एवादेयम्। ततः फाल्गुनकृष्णाष्टम्यामुखासम्भरणम्।

तदर्थमाहवनीयदक्षिणाग्नी उद्धृत्याहवनीयात् प्राक्कृते चतुष्कोणे गर्ते ततस्तडागाद् मृत्पिण्डमानीय भूसमं स्थापयेत् पिण्डाहवनीयान्तराले सच्छिद्रं वल्मीकमृदं निदध्यात्। आहवनीयाद् दक्षिणदेशे अश्वगर्दभाजाः प्राङ्मुखाः प्रागपरा मुञ्जरसनाबद्धाः स्थाप्याः। आहवनीयोत्तरे वैण्वी उभयतस्तीक्ष्णा कल्माषी हिरण्मयी वाभ्रिः स्थाप्या' इति महीधराचार्यः। 'अष्टगृहीतं जुहोति सन्ततमुद्गृह्णन् युञ्जान इति' (का० श्रौ० १६।२।७)। गार्हपत्ये घृतं संस्कृत्य जुहूं स्रुवं च सम्मृज्य स्रुच्यष्टगृहीतमाज्यमाहवनीये परिस्तरणसमिदाधानपूर्वं सन्ततमविच्छेदेन उद्गृह्णन् ऊर्ध्वं गृह्णन् अध्वर्युः 'युञ्जानः' इत्याद्यष्टमन्त्रैः सवितृदेवत्यैर्जुहुयात्। सान्तत्यं चाष्टर्चान्ते स्वाहाकारपर्यन्तम्। एतेषां यजुष्ट्वं यजुर्वेदे पाठात्; अन्यथा पादबद्धानां यजुष्ट्वानुपपत्तेः। यद्वा यजुःसंहितापठिता मन्त्राश्छत्रिन्यायेन यजुःशब्देनोच्यन्ते। अत्राष्टमो मन्त्रो यजुः, 'यजुरष्टमाभिर्ऋग्भिरेकामाहुतिं जुहोति' (आप० श्रौ० १६।१।४) इत्यापस्तम्बोक्तेः। आद्या अनुष्टुप्, तृतीयः सप्ताक्षरः। अष्टानां सविता ऋषिः। सवितैव देवतापि।

अथ मन्त्रार्थः—सविता सर्वस्य स्वकार्यार्थे प्रेरकः परमेश्वरः सूर्यः प्रथममादौ अग्निचयनविषये मनः ज्ञानसाधनभूतं चित्तं युञ्जानः समादधानः कर्मविषयं ज्ञानमुत्पादयितुमात्मना संयुक्तं कुर्वन् वा अनन्तरं धियो बुद्धीः प्राणान् वा तत्वाय तनित्वा विस्तार्य, इष्टकाविषयाणि वा ज्ञानानि तनित्वा। तनोतेः क्त्वाप्रत्यये इडभावपक्षे 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (पा० सू० ६।४।२४) इति नलोपे 'क्त्वो यक्' (पा० सू० ७।१।४७) इति यगागमे रूपम्। यद्वा एकं वाक्यम्, प्रथमं मनोज्ञानसाधनं धियं तत्कार्यं ज्ञानं च। 'तत्वाय' इति चतुर्थी। छान्दसस्तकारलोपः। तत्वं नामाग्नित्वम्। शतपथे प्रकृतत्वात् तच्छब्देनाग्निः परामृश्यते। तस्य भावस्तत्वम्[1] अग्निभावस्तस्मै अग्निभावाप्तये मनो ज्ञानं च नियुञ्जानः। अग्नेर्निचीयमानस्य सम्बन्धि ज्योतिः पञ्चसु पशुषु प्रविष्टं तेजो निचाय्य दृष्ट्वा सकलानां कर्मणां साधनभूतं निश्चित्य वा। 'चायृ पूजानिशामनयोः' इति निपातनात्। निशामनं दर्शनम्। पृथिव्याः पशुशरीरान्वितायाश्चितायाः अधि उपरि विशिष्टदेशं प्रति आभर। ततः पशुभ्यः सकाशाद् अग्निं तेज आहृतवान्। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० वा० ८।२।३२) इति हकारस्य भकारः। अभ्याहृतवान् आनीतवान् वाग्निम् इष्टकां कृत्वा चितवानग्निम्। श्रुतौ प्रजापतिः कर्तृत्वेनोपदिष्टः। इदानीन्तना अपि यजमानास्तदनुकृत्य कर्तारो भवन्ति।

तत्र ब्राह्मणम्—'ताꣳ संततां जुहोति संतता हि ता आप आयन्नथ यः स प्रजापतिस्त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशदेष स यैरेतद्यजुर्भिर्जुहोति' (श० ६।३।१।१०)। आहुतिसाधनान् मन्त्रान् प्रशंसति—अथ यः स प्रजापतिस्त्रय्या विद्ययेति। पूर्वं प्रजापतिरपः सृष्ट्वा त्रयीमय्या विद्यया सह ता अपः प्रविष्टवान्। अत इदानीमपि मन्त्राणां त्रयीरूपत्वात् तैर्होमकरणं प्रजापतेर्बहुधोत्पत्तये विद्यया सहोदकप्रवेशसमानम्, 'सोऽकामयताभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति, सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्' (श० ६।१।१।१०) इति श्रुतेः। 'तद्यानि त्रीणि प्रथमानि। इमे ते लोका अथ यच्चतुर्थं यजुस्त्रयी सा विद्या जगती सा भवति जगती सर्वाणि छन्दाꣳसि सर्वाणि छन्दाꣳसि त्रयी विद्याथ यानि चत्वार्युत्तमानि दिशस्तानीमे च वै लोका दिशश्च प्रजापतिरथैषा त्रयी विद्या' (श० ६।३।१।११)। यानि प्रथमानि त्रीणि यजूंषि तानि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकात्मकानि, चतुर्थो मन्त्रस्त्रयीविद्यात्मकः। त्रयीत्वं छन्दोद्वारा प्रतिपादयति—जगती सर्वाणि छन्दांसीति। 'युञ्जते मनः' (वा० सं० ११।४) इति चतुर्थो मन्त्रो जगतीछन्दस्कः, जगत्याः सर्वछन्दोमयत्वात् त्रय्याश्च तत्सम्भवात्

१. चिन्त्यमिदम्, तत्वायेति पदैक्यात्, तत्र पदच्छेदाभावात्। तनोतेस्त्वाप्रत्ययेन तत्वायेति रूपे सिद्धे पुनश्छान्दसतकारलोपादिकथनं गौरवावहमेव।

चतुर्थस्यास्य त्रयीरूपत्वम् । इमानि चत्वारि यजूंषि प्रागादिमहादिशः, संख्यासाम्यात् । इमे वै लोका इत्यादिना सप्तानां मन्त्राणां प्रजापतिरूपत्वमेकस्यास्त्रयीरूपत्वं च प्रदर्शितम् । 'स जुहोति युञ्जानः प्रथमं मन इति प्रजापतिर्वै युञ्जानः स मन एतस्मै कर्मणेऽयुङ्क्त तद्यन्मन एतस्मै कर्मणेऽयुङ्क्त तस्मात् प्रजापतिर्युञ्जानः' (श० ६।३।१।१२) । होममनूद्य प्रथमामृचं विधत्ते—स जुहोतीति । मन्त्रं प्रतिपादमनूद्य व्याचष्टे—प्रजापतिर्वै युञ्जान इति । अत्र सवितृपदेन धात्वर्थमात्रमाश्रित्य प्रजापतिरुच्यते । स एतस्मै कर्मणेऽयुङ्क्त । 'तत्वाय सविता धिय इति । मनो वै सविता प्राणा धियोऽग्नेर्ज्योतिर्निचाय्येत्यग्नेर्ज्योतिर्दृष्ट्वेत्येतत्पृथिव्या अध्याभरदिति पृथिव्यै ह्येनदध्याभरति' (श० ६।३।१।१३) । अग्नेर्ज्योतिः पशुषु दृष्ट्वेत्यादिकं सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् । 'स एतान् पञ्च पशूनपश्यत् पुरुषमश्वं गामविमजं यदपश्यत्तस्मादेते पशवः' (श० ६।२।१।२), 'स एतान् पञ्च पशून् प्राविशत्', 'स एतान् पञ्च पशूनपश्यत्' (श० ६।२।१।३-४) । तेषु पशुषु तादात्म्येन प्रविष्टमेतमग्निं प्रजापतिरप्यद्राक्षीत् ।

अध्यात्मपक्षे—धियः सविता प्रेरको भूत्वा साधको मनः अन्तःकरणं युञ्जानः समाहितं कुर्वाणः प्रथमं ब्रह्मात्मतत्त्वप्राप्तये पृथिव्याः पृथिव्युपलक्षिताया भूतप्रकृतेः अधि उपरि मनः सङ्कल्परूपा वृत्तीः (श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये २।१), धियो निश्चयात्मिका वृत्तीश्च आभरद् धारयेत् । किं कृत्वा ? अग्नेः परमेश्वरस्य सम्बन्धि ज्योतिर्देहादिषु जीवरूपेण व्याप्तं प्रकाशं निचाय्य विविच्येति ।

दयानन्दस्तु—'यः सविता ऐश्वर्येच्छुः मनुष्यः प्रथममादौ तत्त्वाय तेषां परमेश्वरादीनां पदार्थानां भावाय मनोऽन्तःकरणस्य मननात्मिका वृत्तीर्धियो धारणात्मिका अन्तःकरणवृत्तीः, युञ्जानः योगाभ्यासं भूगर्भविद्यां च कुर्वाणः, अग्नेः पृथिव्यादिस्थाया विद्युतो ज्योतिः प्रकाशं निचाय्य निश्चित्य पृथिव्या अधि उपरि आ समन्ताद् भरद् धरेत् स पदार्थविद्याविच्च जायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात् । नहि सवितृपदमैश्वर्येच्छुं बोधयति, तादृशेऽर्थे तस्याशक्तेः । ऐश्वर्यार्थकस्य सूतेरैश्वर्यवानित्यर्थो भवति, नैश्वर्येच्छुरिति । तत्त्वाय इत्यस्य परमेश्वरादीनां पदार्थानां भावायेत्यर्थोऽप्यनर्थ एव, तेषां भावस्य स्वतः सिद्धत्वात् । यत्तु—'तस्य भावस्तत्त्वं तस्मै, तादर्थ्ये चतुर्थी, परमेश्वरादीनां तत्त्वज्ञानायेति यावत्' इति, तदपि तुच्छम्, तत्त्वशब्दस्य तत्त्वज्ञानार्थतानुपपत्तेः । कथं पृथिव्या उपरि पृथिव्यादिस्थाया विद्युतः प्रकाशस्य धारणमित्युक्त्या भूगर्भविद्या सिद्ध्यति ? यद्यपि पृथिव्यामग्नौ च नानाशक्तयः सन्ति, सुवर्णादीनां धातूनां तत्र सत्त्वमप्यस्ति, तथापि नात्र मन्त्रे तन्निरूपणं दृश्यते ॥ १ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—संसार को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त कराने वाले सविता देव की आज्ञा में वर्तमान हम एकाग्र मन से स्वर्ग के साधनस्वरूप यज्ञीय कार्यों को सम्पन्न करने में अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रयत्न करते हैं ॥ २ ॥

गायत्री । सवितुर्देवस्य प्रजापतेः सवे प्रसवे आज्ञायां वर्तमाना वयं यजमाना युक्तेन इन्द्रियार्थेभ्यो निगृहीतेनैकाग्रेण मनसा स्वर्ग्याय स्वर्गाय हितं स्वर्ग्यं तस्मै स्वर्गसाधकाय कर्मणे शक्त्या स्वसामर्थ्येन, यतामहे इति शेषः । युक्तेन कर्मविषये एकाग्रेण मनसा । अन्यत्र प्रसृते मनसि कर्म कर्तुं न शक्यते, अतः कर्मणि युक्तेन मनसा सहिताः सवितुर्देवस्य सवे अभ्यनुज्ञाने वर्तमाना वयमनुष्ठातारः, स्वर्ग्याय स्वर्गाय हितमिति स्थितौ 'तस्मै हितम्' (पा० सू० ५।१।५) इति हितार्थे यत् प्रत्ययः । अथवा स्वर्ग्याय स्वर्गेयाय स्वर्गे लोके गीयमानायाग्नये वा । शक्त्या कर्मकरणसामर्थ्येन तदर्थं द्रव्यसामर्थ्येन च प्रयतनीये इति शेषः । नित्ये कर्मणि यथा शक्नुयात्तथा कुर्यादिति प्रकारवाचिना यथाशब्देन शक्तेर्यथासम्भवतोक्तिः । काम्ये यदा शक्नुया-

तदा कुर्यादिति पूर्वोक्तेः सम्पूर्णता चोक्ता। तत्र ब्राह्मणम्—'युक्तेन मनसा वयमिति मन एवैतदस्मै कर्मणे युङ्क्ते। नह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन सम्प्रति शक्नोति कर्तुं देवस्य सवितुः सव इति देवेन सवित्रा प्रसूता इत्येतत्स्वर्ग्याय शक्त्येति यथैतेन कर्मणा स्वर्गं लोकमियादेवमेतदाह शक्त्येति शक्त्या हि स्वर्गं लोकमेति' (श० ६।३।१।१४) इति।

अध्यात्मपक्षे—वयं साधका युक्तेन नियतेन समाहितेन मनसा चित्तेन देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः परमेश्वरस्य सर्वोत्पादकस्य सवे अभ्यनुज्ञायां वर्तमाना स्वर्ग्याय स्वर्गाय परमात्मप्राप्तये हितं स्वर्ग्यं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारात्मकं ज्ञानं तस्मै तदर्थं शक्त्या यथासामर्थ्यं प्रयतामह इति शेषः। 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥' इति रीत्या परमेश्वरसुखस्यैव स्वर्गत्वम्, अन्यस्यानन्तरं ग्रस्यमानत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे योगं तत्त्वविद्यां च जिज्ञासवो मनुष्याः, यथा वयं योगिनो युक्तेन कृतयोगाभ्यासेन मनसा विज्ञानेन शक्त्या सामर्थ्येन च देवस्य सर्वद्योतकस्य सवितुरखिलजगदुत्पादकस्य परमेश्वरस्य प्रसवे जगदाख्येऽस्मिन्नैश्वर्ये स्वर्ग्याय स्वः सुखं गच्छति येन तद्भावाय ज्योतिराभरेम तथा यूयमप्याभरत' इति, तदपि विशृङ्खलमेव, वाचकलुप्तोपमालङ्कारस्य प्रकृते सत्त्वे मानाभावात्। योगजिज्ञासवः सम्बोध्या योगिनश्च वक्तार इत्यपि साध्यमेव। स्वः सुखं प्राप्यते येन तत्साधनं सुखेतरदेव वक्तव्यम्। हिन्दीभाषायां तदर्थे सुखप्राप्त्यर्थमित्यस्य कथङ्कारं समन्वयः ? एवमन्यदप्यूह्यम्॥ २॥

युक्त्वाय सविता देवान् स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ ३॥

मन्त्रार्थ—सारे जगत् को प्रेरणा देने वाले सविता देवता सभी देवताओं को स्वर्ग में प्रेरित करने वाले तथा इन्द्रिय गणों का दमन करने वाले हैं। यज्ञ आदि कर्मों के अनुष्ठान से स्वर्ग प्रकाशित होता है, इसको वे भली-भाँति जानते हैं। वे सविता देवता महान् आदित्य नामक आत्मज्योति का संस्कार करने वाले और सभी देवताओं में अग्रस्थानीय अग्निदेव को शुभ कर्मों में संयुक्त कर प्रेरित करने वाले हैं॥ ३॥

अनुष्टुप्। द्वितीयपादः सप्तार्णस्तेनैकोना। सविता सर्वस्य प्रसविता तान् प्रसिद्धान् देवान् प्रसुवाति प्रसौति प्रेरयति। 'षु प्रेरणे'। किं कृत्वा ? युक्त्वाय प्रकृते अग्निचयने कर्मणि संयोज्य। क्त्वो यकि रूपम्। कीदृशान् देवान् ? धिया बुद्धया कर्मणा वा दिवं यतः, दीव्यति प्रकाशते यः स दिवस्तम् 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः। द्योतमानं स्वः स्वर्गं यतो गच्छतः। यत इति 'इण् गतौ' इत्यस्य शत्रन्तस्य रूपम्। पुनः कीदृशान् ? बृहद् महद् ज्योतिरादित्यलक्षणमात्मत्वेन करिष्यतः संस्कुर्वतः। कीदृशः सविता ? अनेन कर्मणा स्वर्गं गच्छतो देवान् अग्निकर्मणि सविता प्रेरयिता। यद्वा सविता प्रजापतिः, तान् इन्द्रियलक्षणान् स्वविषयद्योतकान् देवान् प्रसुवाति प्रकर्षेण अग्निकर्मणि प्रेरयति। किं कृत्वा ? देवान् क्रीडापरत्वेन चपलान् मनसा विषयेभ्यो युक्त्वाय नियम्य। पुनः कीदृशान् देवान् ? स्वर्यतः स्वर्गं गच्छतः स्वर्गं गन्तुमुद्यतान्। पुनः कीदृशान् ? बृहत् प्रौढं ज्योतिश्चीयमानस्याग्नेस्तेजो धिया तत्तदिष्टकादिविषयया प्रज्ञया दिवं द्योतमानं करिष्यतः कर्तुमुद्यतान्। यद्वा तादृशान् युक्त्वाय मनसा युक्त्वा स्थित इति विशेषः। बृहज्ज्योतिरग्न्यात्मकं सूर्यात्मकं च करिष्यतः संस्करिष्यत आत्मत्वेन भावयतः।

तत्र ब्राह्मणम्—'युक्त्वाय सविता देवानिति । मनो वै सविता प्राणा देवाः स्वर्यतो धिया दिवमिति स्वर्गं ह्येनां लोकं यतो धियैतस्मै कर्मणे युयुजे बृहज्ज्योतिः करिष्यत इत्यसौ वा आदित्यो बृहज्ज्योतिरेष उ एषोऽग्निरेतं वेते संस्करिष्यन्तो भवन्ति सविता प्रसुवाति तानिति सवितृप्रसूता एतत्कर्म करवन्नित्येतत्' (श० ६।३।१।१५) । तृतीयं मन्त्रं विधत्ते—युक्त्वायेति । मन्त्रं व्याचष्टे—मनो वा इति । मन्त्रे मनो वै सविता प्राणा वै देवा उक्ताः । स्वर्यतो धिया दिवमित्यस्याभिप्रायमाह—स्वर्गं ह्येनां लोकं यतो धियैतस्मै कर्मणे युयुज इति । बृहज्ज्योतिः करिष्यत इत्यस्याभिप्रायमाह—असौ वा आदित्यो बृहज्ज्योतिः । एष उ एषोऽग्निः । एतं वेते संस्करिष्यन्तो भवन्तीति । शेषस्य तात्पर्यमाह—सवितृप्रसूता एतत्कर्म करवन्निति । करवन्निति पञ्चमो लकार उदाहृतः ।

अध्यात्मपक्षे—सविता सूते सर्वमुत्पादयतीति परमेश्वरः, तान् प्रसिद्धानिन्द्रियलक्षणान् देवान् क्रीडापरत्वेन बहिर्मुखान् धिया बुद्ध्या युक्त्वा विषयेभ्यो नियम्य प्रसुवाति प्रकर्षेण सौति प्रेरयति, प्रत्यक्चैतन्याभिन्ने परमात्मनीति शेषः । कीदृशान् देवान् ? स्वर्यतः सुखं स्वर्गं वा गन्तुमुद्यतान् । पुनः कीदृशान् ? ज्योतिः प्रत्यक्चैतन्यं बृहद् महत् परमात्मज्योतिः करिष्यतः । अतद्व्यावृत्त्या परिच्छिन्नत्वेन प्रतीयमानं पूर्णत्वेनापरिच्छिन्नत्वेन व्यञ्जयन्ति ।

दयानन्दस्तु—'यान् सविता योगपदार्थविज्ञानस्य प्रसविता परमात्मनि मनो युक्त्वा युक्तं कृत्वा धिया प्रज्ञया दिवं विद्याप्रकाशं स्वर्यतः स्वर्गस्य प्रापकान् बृहद् महद् ज्योतिर्विज्ञानं करिष्यतः, ये करिष्यन्ति तान्, देवान् दिव्यान् गुणान् प्रसुवाति उत्पादयेत् तानन्योऽपि सविता प्रसुवेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः, वाक्यानामसम्बद्धत्वात्, हिन्दीव्याख्यानस्य संस्कृतव्याख्यानविरुद्धत्वाच्च । योगपदार्थविज्ञानस्य को वा रचयितेत्यनुक्तेः । स्वर्यतः सुखस्य प्रापकाः के भवन्ति ? गुणा वा अन्ये वा ? प्रापका इत्यस्योपलब्धार इत्यर्थकत्वेऽपि नोपपत्तिः, गुणस्योपलब्धृत्वायोगात् ।। ३ ।।

यु॒ञ्जते॒ मन॑ उ॒त यु॑ञ्जते॒ धियो॒ विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चितः॑ ।
वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ इन्म॒ही दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुतिः ।। ४ ।।

मन्त्रार्थ—अतिमहान् महापण्डित ब्राह्मण यजमान के लिये होता का कार्य करने वाले अध्वर्यु आदि इस अग्निचयन कार्य में मन नियुक्त करते हैं, उसकी बुद्धि को नियुक्त करते हैं । एक अद्वितीय प्रज्ञा वाले और ऋत्विक्-यजमान के अभिप्राय को जानने वाले देव सविता ने इस सारे जगत् का निर्माण किया है । सबके प्रेरक सविता देव की सभी वेदों में महान् स्तुति सुनाई पड़ती है ।। ४ ।।

जगती । विप्रस्य ब्राह्मणस्य विशेषेण प्राति पूरयति दक्षिणान्नदानादिना इति विप्रः, तस्य यजमानस्य सम्बन्धिनो विप्रा मेधाविन ऋत्विजः, मनो युञ्जते स्वकीयं मनः प्रथमं विषयेभ्यो निवर्त्य समाहितं कुर्वते । उतापि च धिय इष्टकादिविषयाणि ज्ञानानि युञ्जते सम्पादयन्ति । कीदृशस्य विप्रस्य ? बृहतः प्रभोरग्निचयनोद्योगेनाभिवृद्धस्य तथा विपश्चितो विदुषः प्रयोगाभिज्ञस्येत्यर्थः । यद्वा 'विप इति वाङ्नाम' (निघण्टु १।११।४१) । विपं सकलशाखागतान् मन्त्रानेकत्र कर्मणि रान्ति सञ्चिन्वन्तीति विप्राः । कथंभूता विप्राः ? होत्रा होमशीलाः । जुह्वतीति होत्राः, कर्मतत्परा इत्यर्थः । किञ्च, सर्वमेतत् सवित्रात्मकत्वाद् दिव्यमित्याह—एक एव सविता विदध इति सर्वमिदं विरचितवान् । कीदृशः सविता ? वयुनाविद् वयुनानि विज्ञानानि

वेत्तीति ऋत्विग्यजमानाभिप्रायज्ञः। सर्वज्ञत्वात् सर्वं कर्तुं क्षम इत्यर्थः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। कथमेक एव सर्वं कृतवानिति न विस्मेतव्यम्, यतः सवितुर्देवस्य परिष्टुतिः परितः सर्ववेदेषु श्रूयमाणा स्तुतिः, मही महती, अचिन्त्यं माहात्म्यमित्यर्थः। यद्वा विप्रा मेधाविनो देवाः, विप्रस्य मेधाविनः प्रजापतेरग्न्यात्मकस्य विस्रस्तस्य पुनःसन्धानार्थं मनो युञ्जते कर्मार्थमेकाग्रं कुर्वन्ति। उतापि च धियो बुद्धीः प्राणान् वा युञ्जते। वयुनावित् 'वयुनम् इति प्रज्ञानाम' (निघण्टु ३।११।१०)। इह तु ज्ञाने लक्षणया वर्तते। वेदनस्य वेदनायोगाच्च ज्ञातसकलज्ञेय इत्यर्थः। एक इद् एव चीयमानोऽग्निः, होत्राः सप्तहोत्रकाणां प्रथितयाज्या विदधे चकार, तदिदं सवितुर्देवस्य मही महती परिष्टुतिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'युञ्जते मन उत युञ्जते धिय इति। मनश्चैवैतत्प्राणांश्चैतस्मै कर्मणे युङ्क्ते विप्रा विप्रस्येति प्रजापतिर्वै विप्रो देवा विप्रा बृहतो विपश्चित इति प्रजापतिर्वै बृहन् विपश्चिद्धि होत्रा दध इति यद्वा एष चीयते तदेष होत्रा विधत्ते चिते ह्येतस्मिन् होत्रा अधिविधीयन्ते वयुनाविदित्येष हीदं वयुनमविन्ददेक इदित्येको ह्येष इदꣳ सर्वं वयुनमविन्दन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिरिति महती देवस्य सवितुः परिष्टुतिरित्येतत्' (श० ६।३।१।१६)। मन्त्रं व्याचष्टे—युञ्जते मन इत्यादिना। स्पष्टोऽर्थः। यद्वा य एष चीयते स ह्येतत्कर्माणि करोति। तदेव द्रढयितुमाह—चिते ह्येतस्मिन्निति। 'चिते' अग्नौ होतृमैत्रावरुणादिक्रियाणां विधानात् तस्यैव कर्तृत्वमुपचरितम्।

अध्यात्मपक्षे—विप्रस्य मेधाविनः सामान्येन सर्वज्ञानवतो बृहतो महतो विपश्चितो विशेषेण पश्यश्चासौ चिच्चेति विपश्चित् तस्य, सर्वविशेषज्ञानवतः परमेश्वरस्य सम्बन्धिनो विप्रा मेधाविनो जीवाः साधका मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकं चेतः, उतापि धियो बुद्धीश्च प्राणान् वा युञ्जते प्रत्यक्चैतन्याभिन्ने परमात्मन्येव समादधते। कीदृशा विप्राः? होत्रा होमशीला अनलसाः पुरुषार्थपरायणाः। कुतस्तत्र मनो दधत इति। तत्र हि एकोऽसहायः, इद् एव, विदधे सर्वमिदं विरचयति। ननु कथमेक एव सर्वमपारं जगन्निर्माति? तत्राह—वयुनाविद् ज्ञातज्ञेयः सर्वज्ञः, अतो नास्ति जगन्निर्माणे काचिदनुपपत्तिः। सर्वज्ञतापि कथं तस्येत्याशङ्क्याह—देवस्य सर्वद्योतकस्य सवितुर्जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलस्य तस्य परिष्टुतिः परितः सर्वेषु वेदेषु विद्यमाना स्तुतिः, मही महती सर्वोपरि विराजमानाऽस्ति, तस्याचिन्त्यमहिमत्वात्।

दयानन्दस्तु—'ये होत्रा दातुं शीलाः, विप्रा मेधाविनः, यस्य बृहतो महतो विपश्चितोऽखिलविद्यायुक्तस्य इव वर्तमानस्य विप्रस्य सर्वशास्त्रविदो मेधाविनः सकाशात् प्राप्तविद्याः सन्तो या सवितुर्देवस्य जगदीश्वरस्य मही महती परिष्टुतिः परितः सर्वतः स्तुवन्ति यया सा अस्ति, तत्र यथा मनो युञ्जते परमात्मनि तत्त्वज्ञाने वा समादधते, उतापि धियो बुद्धीर्युञ्जते, तथा वयुनाविद् वयुनानि प्रज्ञानानि वेत्ति स एक असहाय इद् एव, इदमहं विदधे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विपश्चित इव वर्तमानस्य विप्रस्य इत्यसङ्गतेः। अखिलविद्यायुक्तस्य सर्वशास्त्रविदश्चात्यन्ताभेदे उपमानोपमेयत्वायोगात्। किञ्च, निरर्थकमिदं दृष्टान्तोपादानम्, यद्यसहाय एव मनः समाधातुं शक्यते। लुप्तोपमालङ्कारोऽपि प्रकृते निर्मूल एव। वयुनानि प्रज्ञानानि वेत्तीत्यसङ्गतम्, ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानत्वायोगात्॥ ४॥

यु॒जे वां॒ ब्रह्म॑ पू॒र्व्यं नमो॑भि॒र्विश्लोक॑ एतु प॒थ्ये॑व सू॒रेः।
शृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ अ॒मृत॑स्य पु॒त्रा आ ये धामा॑नि दि॒व्यानि॑ त॒स्थुः॥ ५॥

मन्त्रार्थ—हे पत्नी और यजमान ! तुम्हारे निमित्त 'नमः' इस उक्ति के साथ पुरातन महर्षियों के द्वारा अनुष्ठित अग्निचयन नामक आत्मज्योति को बढ़ाने वाले शुभ कर्म का मैं अनुष्ठान करता हूँ। ब्राह्मण जाति को अन्न से तृप्त करता हूँ। पण्डित यजमान की कीर्ति उसी तरह से दोनों लोकों में व्याप्त हो, जैसे यज्ञ भाग में प्रवृत्त हुई आहुति दोनों लोकों को प्राप्त होती है। मरणधर्मरहित प्रजापति के पुत्र सभी देवगण यजमान की उस कीर्ति को सुनें, जो दिव्य स्वर्ग में भी फैली हुई है ॥ ५ ॥

त्रिष्टुप्। हे पत्नीयजमानौ, वां युवयोरर्थे नमोभिरन्नैः, इदानीं हुतैर्घृतैः सहितं पूर्व्यं पुरातनैर्महर्षिभिरनुष्ठितं ब्रह्म परिवृढमग्निचयनाख्यं कर्माहं युजे युनज्मि सम्पादयामि। यद्वा नमोभिर्नमस्कारपूर्वकैरिष्टकोपधानादिभिर्युजे सम्पादयामि। यद्वा ब्रह्मशब्देन प्राणाः सप्त ऋषयो ब्राह्मणाश्चोच्यन्ते। वां युवाभ्यामर्थे पूर्व्यं पुरातनं ब्रह्म ब्राह्मणजातिं नमोभिरन्नैर्युजे योजयामि। अन्तर्भावितणिजर्थो बोध्यः। ब्रह्म ब्राह्मणांश्चाहं तैरन्नैस्तर्पयामीत्यर्थः। 'इयमाहुतिरन्नशब्देनोच्यते' इत्युव्वटाचार्यः। किमर्थमिति चेत्तत्राह – तस्मिन् सम्पादिते सति विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः। सूरेर्विदुषो यजमानस्य श्लोको यशो व्येतु विविधं लोकद्वयं व्याप्नोतु। 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इति 'वि एतु' अनयोर्व्यवधानम्। कथमिव ? पथ्येव। पथोऽनपेता पथ्या यज्ञभागप्रवृत्ता आहुतिर्यथा लोकद्वयं व्याप्नोति, एवं याजमानं यश उभयलोकसञ्चारि भवत्वित्यर्थः। किञ्च, विश्वे सर्वे अमृतस्य अमरणधर्मणः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा देवाः शृण्वन्तु याजमानं यशः। के ते ? ये दिव्यानि दिवि भवानि धामानि स्थानानि, आतस्थुः अधिष्ठितवन्तः, तेऽस्य यशः शृण्वन्त्विति सम्बन्धः। यद्वा हे पत्नीयजमानौ, वां युवाभ्यामर्थाय नमोभिरन्नैः सहितं पूर्व्यं पुरातनं संहितं ब्रह्म ब्रह्मणि युजे युक्तवान् सविता। अत्रान्नवाचिना नमःशब्देन आहुतिरभिधीयते। तया आहुत्या पत्नीयजमानयोर्बुद्धीः प्राणान् एकस्मै ब्रह्मणे युङ्क्ते इत्यर्थः।

यद्वा 'युजे' इति लडुत्तमैकवचने रूपम्। अहमध्वर्युर्युजे योजयामीत्यर्थः। किमर्थमिति तदाह—सूरेः कर्मविदुषो यजमानस्य श्लोकः कीर्तिर्व्येतु उभयत्र देवेषु मनुष्येषु च प्रसृता भवत्वित्येतदर्थम्। तत्र दृष्टान्तः—पथ्येव। यथा पथो यज्ञमार्गादनपेता आहुतिरुभयत्र प्रसारिणी भवति, एवं श्लोकः सर्वत्र प्रसरत्विति। शेषं पूर्ववत्। तथा च ब्राह्मणम्—'युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिरिति। प्राणो वै ब्रह्म पूर्व्यमन्नं नमस्तत्तदेषैवाहुतिरन्नमेतयैव तदाहुत्यै तेनान्नेन प्राणानेतस्मै कर्मणे युङ्क्ते विश्लोक एतु पथ्येव सूरेरिति यथोभयेषु देवमनुष्येषु कीर्तिश्लोको यजमानस्य स्यादेवमेतदाह शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा इति प्रजापतिर्वा अमृतस्तस्य विश्वे देवाः पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुरितीमे वै लोका दिव्यानि धामानि तद्य एषु लोकेषु देवास्तानेतदाह' (श० ६।३।१।१७) इति। एतद्ब्राह्मणानुसार्येव पूर्वोक्तं व्याख्यानम्। प्रजापतिरूपः प्राण एवात्र ब्रह्मपदेन ग्राह्यः। अन्नमेव नमःशब्देन। तदप्याहुतिरूपमेव। आहुतिरूपेणान्नेन एतस्मै चयनरूपाय कर्मणे प्राणान् युङ्क्ते। शेषं स्पष्टमेव।

अध्यात्मपक्षे –हे सीतारामौ रुक्मिणीकृष्णौ लक्ष्मीनारायणौ गौरीशङ्करौ वा, वां युवाभ्यामर्थे नमोभिरभीष्टैरन्नैः पूर्व्यं पूर्वैराराधितं ब्रह्म ब्राह्मणकुलं युजे योजयामि, तर्पयामीत्यर्थः। किमर्थम् ? यथा सूरेः सर्वज्ञस्य श्रिया सहितस्य नारायणस्य सीतया सहितस्य रामस्य राधया सहितस्य कृष्णस्य गौर्या सहितस्य शङ्करस्य वा श्लोको यशो दिक्षु विदिक्षु च व्येतु प्रसृतमपि विशेषेण प्रसरत्विति। अमृतस्य तव परमेश्वरस्य विश्वे सर्वे पुत्राः सर्वे जीवाः शृण्वन्तु श्रुत्वा पूता भवन्तु, ये दिव्यानि दिवि भवानि धामानि स्थानानि आतस्थुरधिष्ठितवन्तो गोलोकवैकुण्ठकैलासाख्यानि धामानि, ये वा कैवल्यं परमं पदमास्थितास्तेऽपि शृण्वन्तु। यतो

मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते, 'यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च' (नृ० पू० ता० २।१७) इति श्रुतेः। अत्र 'ब्रह्मवादिनः' इति पदेन मुक्ता गृहीता भगवत्पूज्यपादैः।

दयानन्दस्तु 'योगजिज्ञासून् संबोध्य कथयति भवन्तो यथा श्लोकास्तथा सत्यवाक्संयुक्तोऽहं नमोभिः सत्कारैर्यत्पूर्व्यं पूर्वैर्योगिभिः प्रत्यक्षीकृतं ब्रह्म बृहद् व्यापकं युजे आत्मनि समादधे तद् वां युवयोर्योगानुष्ठात्रुपदेशकयोः सकाशात् श्रुतवन्तौ सूरेर्विदुषः पथ्येव यथा पथि साध्वी गतिर्व्येतु प्राप्नोतु यथा ये विश्वे पुत्राः सुसन्ताना आज्ञापालका इव प्राप्तमोक्षा विद्वांसोऽमृतस्य योगेन दिवि सुखप्रकाशे भवानि धामानि स्थानानि आतस्थुः आस्थितवन्त एतां योगविद्यां शृण्वन्तु' इति, तदपि न युक्तम्, निर्मूलकल्पनाप्रधानत्वात्, योगजिज्ञासोः सम्बोध्यत्वे प्रमाणाभावात्। पत्नीयजमानयोस्तु सम्बोध्यत्वं श्रुतिसूत्रसिद्धम्। श्लोकशब्दस्यापि त्वदुक्तोऽर्थोऽप्रामाणिक एव। पूर्व्यमित्यस्यापि तादृशार्थत्वं निर्बीजमेव। हिन्दीभाष्यविरोधोऽपि। संस्कृतव्याख्याने तु तयोः सकाशात् श्रुतवन्तौ इत्यर्थः कृतः। हिन्दीव्याख्याने च 'वाम्' इत्यस्य योगानुष्ठानोपदेशका इति व्याख्यानमिति परस्परं विरुद्धयते, अस्पष्टार्थता च। भावार्थस्तु सर्वत्रैव मूलादसम्पृक्त एव॥ ५॥

यस्य॑ प्र॒याण॒मन्व॒न्य इद्य॒युर्दे॒वा दे॒वस्य॑ महि॒मान॒मोज॑सा।
यः पार्थि॑वानि विम॒मे स ए॑त॒शो रजा॑ꣳसि दे॒वः स॑वि॒ता म॑हि॒त्वना॑॥ ६॥

मन्त्रार्थ—अन्य देवता जिस सविता देवता की प्रवृत्ति को, महिमा को अपने तपोबल से जान पाते हैं, जिस परमात्मा ने सभी लोकों का निर्माण किया है, वह परमात्मा अपनी महाभाग्य महिमा के प्रभाव से इस स्थावरजंगमात्मक लोक में प्राण रूप से प्रविष्ट होकर व्याप्त है॥ ६॥

सावित्री जगती। तस्मात् सविता प्रजापतिरेवात्राभिधीयते। व्यवहितपदप्रायमिदं मन्त्रवाक्यम्। अन्ये देवा यस्य देवस्य द्योतनशीलस्य सवितुः प्रजापतेः प्रमाणं प्रवृत्तिमनुययुरिद् अवश्यमनुगच्छन्त्येव। अन्ये देवा यस्य च देवस्य महिमानं महत्त्वं महाभाग्यं विभूतिं वा ओजसा बलेनानुययुः। यश्च सविता पार्थिवानि रजांसि पृथिवीप्रभृतींस्त्रिलोकान् विममे मिमीते विरचयति, 'लोका रजांसीत्युच्यन्ते' (नि० ४।१९) इति यास्कोक्तेः। यद्वा यः सविता पार्थिवानि पृथिवीगतानि रजांसि परमाणून् विममे विशेषेण गणयित्वा निश्चितवान्, स देवो महित्वना स्वकीयेन महाभाग्येन एतश एतज्जगत् स्थावरजङ्गमप्राणिरूपेण शेते व्याप्नोतीति एतशः सविता। महित्वना महेर्महतो भावो महित्वना महत्त्वम्। भावे छान्दसस्त्वनप्रत्ययः। यद्वा एतश इत्यश्वनामसु पठितम्। स देवोऽश्वरूपेण सर्वं जगदवष्टभ्य स्थितः। अश्वमेधीयस्याश्वस्य प्रजापतिरूपेण वर्णनं दृश्यते, 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' (श० १०।६।४।१) इति श्रुतेः, 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' (वा० सं० २९।१३) इति वक्ष्यमाणमन्त्रवर्णाच्च। यद्वा एति सर्वत्र गच्छतीति एतशः, यः सविता महित्वना महत्त्वेन सर्वं व्याप्तवान्। यद्वा अन्ये देवा यस्य देवस्य द्योतनशीलस्य प्रजापतेः प्रयाणं प्रथमगमनकर्मानुष्ठानमनुलक्ष्य ओजसा वीर्येण महत्त्वं महिमानं चयनात्मकं यज्ञं ययुरन्वगच्छन्, प्रजापत्यनुष्ठानानन्तरं सर्वे देवाश्चयनाख्यं कर्म कृतवन्तः। यः सविता पार्थिवानि पृथिव्यामवस्थितानि वस्तूनि सर्वं वस्तुजातं विममे स्वीयैस्तेजोभिर्ज्ञानात्मकैः प्रकाशैर्व्यनक्ति। 'माङ् माने'। स देव एतशः सर्वत्र चरणशीलः। यद्वा मत्वर्थीयप्रत्ययलोपे एतशोऽश्ववान्। अन्यत् पूर्ववत्। अत्र ब्राह्मणम्—'यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुरिति। प्रजापतिर्वा एतदग्रे कर्माकरोत्ततो देवा अकुर्वन् देवा देवस्य महिमान·······' (श० ६।३।१।१८)। मन्त्रं प्रतिपादमनूद्य व्याचष्टे-यस्येति। यद्वा एतशोऽश्ववान् सविता आदित्यो देवो रजांसि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकान् सविता तानेष स्वमहिम्ना विमिमीते।

अध्यात्मपक्षे—यस्य देवस्य ब्रह्मणः सर्वेश्वरस्य प्रयाणं प्रवृत्तिमनु पश्चाद् अन्ये देवा ययुः, इत् एव, अधिष्ठानसत्तास्फूर्तीरनु सर्वेषां सत्तास्फूर्तिमत्त्वम्, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (क० उ० ५.१५) इति श्रुतेः। यस्य महिमानं लोकोत्तरमाहात्म्यमोजसा तपसा अनुययुरवगतवन्तः, यश्च देवः पार्थिवानि रजांसि परमाणून् तत्सम्बन्धिनो लोकान् वा विममे मिमीते विरचयति जानाति वा, स सविता सर्वस्य प्रसविता देवः स्वप्रकाशः परमेश्वरो महित्वना स्वकीयेन माहात्म्यातिशयेन एतशो जगत्त्रयं व्याप्नोति।

दयानन्दस्तु—'हे योगिनः, युष्माभिर्यस्य परमेश्वरस्य महिमानं स्तुतिविषयं प्रयाणं प्रयान्ति सर्वाणि सुखानि येन तत् प्रकृष्टं यानमनु पश्चाद् अन्ये देवा विद्वांसो ययुः प्राप्नुयुः, य एतशः सर्वं जगदितः स्वव्याप्त्या प्राप्तः। 'इणस्तशुनौ' (उ० ३।१४७) इति साधुः। सविता सर्वस्य निर्माता देवो दिव्यस्वरूपो भगवान् महित्वना स्वमहिम्ना। अत्र बाहुलकाद् औणादिक इत्वनच्प्रत्ययः। ओजसा पराक्रमेण पार्थिवानि पृथिव्यां विदितानि रजांसि सर्वान् लोकान् विममे विमानयानवन्निर्मिमीते, स इद् एव सततमुपास्यो मन्तव्यः' इति, तदपि न, अध्याहारबाहुल्यात्। यत्तु—'सायणाचार्येण व्यत्ययेन नाभावो व्याख्यातः, सोऽशुद्धः, पक्षान्तरे 'सुपां सुलुक्……' (पा० सू० ७।१।३९) इत्याजादेशो नकारोपजनश्चेति' तदपि चिन्त्यम्। अन्यत्र 'महित्वनम्' (ऋ० सं० १।१६६।१२) इत्यादिप्रयोगदर्शनात्, 'महित्वन' इत्यन्तोदात्तप्रातिपदिकस्य निर्विवादत्वाच्च' इति, तदपि न, प्रथमे हेत्वनुक्तेः, प्रतिज्ञामात्रेण वस्त्वसिद्धेः, 'वा छन्दसि सर्वे विधयः' इति युष्माभिरपि छान्दसत्वाश्रयणात्। पक्षान्तरीयदोषोऽपि तथाविध एव, महित्वनमित्यत्र तथात्वाभावेऽपि प्रकृते तथात्वे बाधाभावात्, महित्वनेत्यत्राद्युदात्तत्वस्य साम्प्रदायिकत्वात्॥ ६॥

देव॑ सवितः॒ प्रसु॑व य॒ज्ञं प्रसु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य।
दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केतं॑ नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु॥ ७॥

हे सबके प्रेरक सविता देव! यज्ञ को प्रेरित करो, यजमान को भी सौभाग्य के निमित्त प्रेरित करो। स्वर्ग में स्थित दूसरे के चित्त में वर्तमान ज्ञान का शोधन करने वाले, वाणी को धारण करने वाले सविता देवता हमारे चित्तवर्ती ज्ञान को ब्रह्मज्ञान से पवित्र करें। वाणी के पति सविता देव हमारी वाणी को मधुरता से भर दें, हमारी वाणी उन्हें भली लगे॥ ७॥

त्रिष्टुप्। हे देव सवितः, यज्ञं प्रसुव प्रकर्षेण प्रेरय यज्ञपतिं यजमानं भगाय सौभाग्याय। किञ्च, दिव्यो दिवि भवः स्वर्गस्थः, केतपूः केतं परचित्ते वर्तमानं ज्ञानं पुनाति शोधयतीति केतपूः। गन्धर्वो गां वेदलक्षणां वाचं धारयतीति। सविता नोऽस्माकं केतं चित्तवर्ति पुनातु विषयोपरागबाधेन नित्यज्ञानात्मकब्रह्मत्वापादनेन शोधयतु। वाचो वाण्याः पतिः सविता नोऽस्माकं वाचं स्वदतु अस्मदुक्ता वाक् तस्मै रोचताम्। अत्र ब्राह्मणम्—'देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगायेति। असौ वा आदित्यो देवः सविता यज्ञो भगस्तमेतदाह प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगायेति दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनात्वित्यसौ वा आदित्यो दिव्यो गन्धर्वोऽन्नं केतोऽन्नपूरन्नं नः पुनात्वित्येतद्वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदत्विति वाग्वा इदं कर्म प्राणो वाचस्पतिः प्राणो न इदं कर्म स्वदत्वित्येतत्' (श० ६।३।१।१९)। असौ वा आदित्यो देवः सविता स एव गन्धर्वः केतोऽन्नं वाग्वा इदं कर्म प्राणो वाचस्पतिः प्राणो देव इदं नः कर्म स्वदत्विति।

अध्यात्मपक्षे—हे देव, दीव्यतीति देवः स्वप्रकाशस्तत्सम्बुद्धौ। सवितर्जगदुत्पादक, यज्ञं ज्ञानरूपं प्रसुव यज्ञपतिं यज्ञस्य ज्ञानस्य पतिः पालकस्तं प्रसुव उत्पादय। किमर्थम्? भगाय अनैश्वर्यनिवारणाय ब्रह्मात्मतापत्तिलक्षणसौभाग्याय। भवान् दिव्यो गन्धर्वो गोः पृथिव्या धारकः, केतपूः केतं ज्ञानं पुनातीति, नः केतं ज्ञानं पुनातु, वाचस्पतिर्भवान् नो वाचं स्तुतिलक्षणां स्वदतु।

दयानन्दस्तु—हे देव सत्ययोगविद्ययोपासनीय सवितर्भगवन्, त्वं नो भगाय अखिलैश्वर्याय यज्ञं सुखानां सङ्गमकं व्यवहारं प्रसुव उत्पादय। यज्ञपतिं तादृशस्य यज्ञस्य पालकं प्रसुव। दिव्यो दिवि शुद्धगुणकर्मसु साधुर्गन्धर्वो यो गां पृथिवीं धारयति स केतपूः, यः केतेन विज्ञानेन पुनाति स भवान् नोऽस्माकं केतं विज्ञानं पुनातु पवित्रीकरोतु। वाचस्पतिः सत्यविद्यान्विताया वेदवाण्याः पतिः प्रचारेण रक्षकः, नोऽस्माकं वाचं वाणीं स्वदतु स्वदतां स्वदिष्ठां करोतु। व्यत्ययेन परस्मैपदम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागेन गौणार्थाश्रयणात्। नहि सुखजनकव्यवहारे यज्ञपदप्रयोगः, योगोपयुक्तभोजनपानव्यवायादिषु तथा प्रयोगापत्तेः। विद्यापदेन यथार्थज्ञानमिष्यते चेत्, तदा सा सत्यैव भवति नासत्या। स्वदिष्ठामित्यत्रापि गौणार्थतैव ॥ ७ ॥

इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यँ᳡ सखिविदँ᳡ सत्राजितं धनजितँ᳡ स्वर्जितम्। ऋचा स्तोमँ᳡ समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्तनि स्वाहा ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे सविता देव! सब देवताओं को तृप्त करने वाले, सबको मित्र बनाने वाले यजमान को जानने वाले, सम्पूर्ण अन्य यज्ञ कार्यों को वश में करने वाले, द्वादशाह आदि को वश में करने वाले, गो आदि के रूप में धन को जीतने वाले, यज्ञ के फल से स्वर्ग को जीतने वाले हमारे इस यज्ञ को सम्पन्न करो। हे देव! स्तोत्र की कारणभूत सामाधार ऋचा से त्रिवृत् आदि को समृद्ध करो, गायत्री छन्द से रथन्तर साम को और बृहत् साम को सम्पन्न करो। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ८ ॥

आऽवसानाद्यजुः। प्राजापत्या जगती। हे सवितर्देव, नोऽस्माकमिमं यज्ञं प्रणय प्रापय। कथंभूतम्? देवाव्यं देवा अव्यन्ते तर्प्यन्ते यस्मिन्नसौ देवावीः, तम्। 'अव प्रीणनादौ'। 'अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः' (उ० ३।१५८) इत्यौणादिकेन ईप्रत्ययेन रूपसिद्धिः। सखिविदं सखायं स्वनिष्पादकं यजमानं वेत्तीति सखिवित्, तम्। 'विद् ज्ञाने'। सखीनृत्विजो विन्दते प्राप्नोतीति वा सखिवित्तम्। 'विदॢ लाभे'। सखायो विद्यन्ते यस्मिन्निति वा सखिवित्तम्। 'विद् सत्तायाम्'। सत्राजितं सत्राणि द्वादशाहादीनि जयति वशीकरोतीति सत्राजित्तम्। छान्दसो दीर्घः। तत्तदनुष्ठाने तेषामपि चीयमानाग्निसापेक्षत्वात्। यद्वा सत्राशब्दः सत्यवाची। सत्रा सत्यं ब्रह्म जयति फलरूपेण प्राप्नोतीति सत्राजित्तम्। 'सत्रा इति सत्यनामसु' (निघ० ३।१०।३)। धनजितं धनं गवादिरूपं फलरूपेणार्जयतीति धनजित्तम्। स्वर्जितं स्वः स्वर्गं जयति फलत्वेन सम्पादयतीति स्वर्जित् तम्। हे सवितः, ऋचा स्तोत्रहेतुसामाधारभूतया ऋचा सह स्तोमं त्रिवृदादिकं समर्धय समृद्धं कुरु। 'ऋच्यध्यूढँ᳡साम' इति रीत्या ऋचामेव सामाधारत्वात्। गायत्रेण साम्ना सह रथन्तरं साम समर्धय बृहत्साम च समर्धय। कीदृशं बृहत्? गायत्रवर्तनि गायत्रं सामैव वर्तनिर्मार्गो यस्य तत्। बृहत्साम्नो गायत्रं साम वर्त्मभूतमित्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'इमं नो सवितर्यज्ञं प्रणयेति । असौ वा आदित्यो देवः सविता यद्‌ु वा एष यज्ञियं कर्म प्रणयति तदनार्तꣳ स्वस्त्युदृचमश्नुते देवाव्यमिति यो देवानवदित्येतत् सखिविदꣳ सत्राजितं धनजितꣳ स्वर्जितमिति य एतत्सर्वं विन्दादित्येतदृचेत्यृचा स्तोमꣳ समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्तनीति सामानि स्वाहेति यजूꣳषि सैषा त्रयी विद्या प्रथमं जायते यथैवादोऽमुत्राजायतैवमथ यः सोऽग्निरसृज्यतैष स योऽत ऊर्ध्वमग्निश्चीयते' (श० ६।३।१।२०) । प्रणयेति पदस्यार्थमाह—यद्‌ु वा इति । यज्ञियं कर्म प्रणयति प्रकर्षेण नयति । तदेवाह—तत्सवित्रा प्रणीतं कर्म अनार्तम् अनुपहतं स्वस्ति क्षेमेण उदृचं समाप्तिम् अश्नुते । देवाव्यंपदं व्याचष्टे—देवानवतीति तर्पयतीत्यर्थः । अस्य यजुषस्त्रयीविद्यात्वमुपपादयितुमाह—ऋचेति । अस्मिन् यजुषि ऋचा स्तोमं समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्तनि स्वाहेति कण्डिकायां पठ्यते । तत्र ऋचेतिपदेन ऋग्वेदोऽभिधीयते । स्तोम-गायत्र-रथन्तर-बृहदादिभिः पदैः सामान्युच्यन्ते । स्वाहेतिपदेन यजुर्वेदोऽभिधीयते । अत एवैष मन्त्रो वेदत्रयात्मकत्वात् त्रयी विद्या । अत्र त्रय्याः कः प्रसङ्गः ? इत्यत आह—यथैवादोऽमुत्रेति । अद इति स्थितिक्रियाविशेषणम् । अमुत्रेति विप्रकृष्टवचनः । यथा प्रागध्यायादौ सर्वसृष्टेः पुरा त्रयी विद्या उत्पन्ना, एवमेतद्यजुरपि । 'स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्' (श० ६।१।१।८) इति श्रुतेः । पूर्वं योऽग्निः सृष्टः, अथ यो गर्भेऽन्तरासीत् तमग्निमसृजत् । स सृष्टोऽग्निरेव चीयमानोऽग्निरित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे सवितः प्रपञ्चोत्पादयितः ! देव सृष्ट्यादिक्रीडापरायण ! नोऽस्माकमिमं त्वदुपासनलक्षणं यज्ञं प्रणय प्रापय । कीदृशं तम् ? देवाव्यम्, देवा अव्यन्ते तर्प्यन्तेऽनेनेति देवावीस्तम् । सखिविदं सखायं परमात्मानं विन्दते लभते येन तम् । सत्राजितं सत्रा सत्यं ब्रह्म जयति प्राप्नोति येन तम् । धनजितं धनं दैवीसम्पद्रूपं जयति येन तम् । स्वर्जितं स्वो ब्रह्मानन्दाख्यं सुखं जयति प्राप्नोति येन तम् । हे सवितः, ऋचा स्तोत्रहेतु-सामाधारभूतया सह स्तोमं त्रिवृदादिकं बृहद् रथन्तरं च स्वोपासनायां प्रवर्तितं समर्धय सफलय, भगवत्स्तुतावेव तेषां साफल्यात्, 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (ऋ० सं० १।१६४।३९) इति मन्त्रवर्णात् । कीदृशं बृहत् ? गायत्रवर्तनि गायत्रं साम वर्तनिर्मार्गो यस्य तत् तादृशं बृहत् ।

दयानन्दस्तु—'हे देव सवितर्जगदीश, त्वं न उक्तं वक्ष्यमाणं च देवाव्यं देवान् दिव्यान् गुणान् विदुषो गुणान् वा अवति येन स देवावीस्तं सखिविदं सखीन् सुहृदो विन्दति येन तं सत्राजितं सत्रा सत्यं जयत्युत्कर्षति येन तम्, धनजितं धनं जयत्युत्कर्षति येन तं स्वर्जितं स्वः सुखं जयत्युत्कर्षति येन तम्, ऋचा ऋग्वेदेन स्तोमं स्तूयते यस्तं यज्ञं विद्याधर्मसंगमयितारं प्रणय प्रापय । गायत्रेण गायत्रीप्रभृतिच्छन्दसैव गायत्रवर्तनि गायत्रस्य वर्तनिर्मार्गो वर्तनं यस्मिन् तद् बृहद् रथन्तरं रथं रमणीयैर्यानैस्तरति येन तं समर्धय वर्धय । स्वाहा सत्यया क्रियया वाचा वा' इति, हिन्दीभाष्ये च 'तं मार्गं सम्यग् वर्धय' इति, तत्सर्वं यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागेन काल्पनिकार्थप्रतिपादनात्, ब्राह्मणेन अन्यथा व्याख्यातत्वाच्च । रथन्तरबृहदादिसामविशेषास्ताण्डयब्राह्मणादौ प्रसिद्धाः, तदतिक्रम्य मार्गपरत्वेन व्याख्यानस्य तद्विरुद्धत्वेनोपेक्षणीयत्वात् ॥ ८ ॥

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । आद॑दे गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गि॒-र॒स्वत्पृ॑थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॑मङ्गि॒र॒स्वदाभ॑र॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गि॒र॒स्वत् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अभ्रि ! सबके प्रेरक सविता देव की प्रेरणा से, गायत्री छन्द के प्रभाव से, अश्विनीकुमारों की भुजाओं से, पूषा देवता के हाथों से तुमको अंगिरावंशी ऋषियों के समान ग्रहण करता हूँ। अंगिरावंशियों के समान त्रिष्टुप् छन्द के प्रभाव से पृथ्वी के उत्संग के भीतर से पशुओं की हितकारिणी अग्नि का आहरण करता हूँ ॥ ९ ॥

'देवस्य त्वेत्यभ्रिमादाय हस्त आधायेत्येनामभिमन्त्रयते' (का० श्रौ० १६।२।८)। देवस्य त्वेति कण्डिकाद्वयात्मकेन मन्त्रेण वैणवीमभ्रिमादाय 'हस्त आधाय'इत्येकादश्या कण्डिकया ऋचा एनामभिमन्त्रयते। देवस्य त्वेति प्रजापतिः साध्या वा ऋषयः। सावित्रं यजुः। तच्च व्याख्यातमेव। आददे इति अभ्रिर्देवता अतिधृतिश्छन्दः। हे अभ्रे, सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणे सति, अश्विनोः सम्बन्धिभ्यां मणिबन्धपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां साङ्गुलिभ्यां कराभ्यां साधनभूताभ्यां गायत्रेण छन्दसा सहायभूतेन युक्तः सन् त्वा त्वामहमाददे गृह्णामि। अत्राभ्रिशब्देनोभयतस्तीक्ष्णीकृतोऽरत्निप्रमाणको वैणवो दण्डविशेष उच्यते। तत्र दृष्टान्तः—अङ्गिरस्वत्। अङ्गिरोभिस्तुल्यमङ्गिरोवदिति प्राप्ते 'अयस्मयादीनि छन्दसि' (पा० सू० १।४।२०) इति भसंज्ञायां रुत्वाभावे अङ्गिरस्वदिति रूपम्। यथा पूर्वमङ्गिरस ऋषयस्त्वामगृह्णन् तद्वदहं गृह्णामीति सम्बन्धः। हे अभ्रे, त्वं गृहीता सती पृथिव्याः सधस्थादुत्सङ्गाद् अग्निमाभर आहर। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० वा० ८।२।३२) इति हस्य भः। त्रैष्टुभेन छन्दसा कृत्वा अङ्गिरस्वद् अङ्गिरसो यथा अग्निमाजह्रुः। अङ्गिरस्वदित्यस्य पुनर्वचनं दृष्टान्तार्थातिशयार्थम्। 'अहो रमणीयाहो रमणीयेति। अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (नि० १०।४२) इति यास्कोक्तेः। कथंभूतमग्निं पुरीष्यं 'पशवो वै पुरीषम्' (श० ६।३।१।३८) इति श्रुतेः पुरीषेभ्यः पशुभ्यो हितः पुरीष्यस्तं पशव्यम्। यद्वा पुरीषशब्देन पांसुरूपा शुष्का मृदुच्यते, तदर्हतीति पुरीष्योऽग्निः। मृदमादायोखां कृत्वा तस्यामग्निः स्थाप्यतेऽतोऽग्नेर्मृदश्चाभेदोपचारेण मृदाहरणमेवाग्न्याहरणमित्यभिप्रायेण पुरीष्यमग्निमाभरेत्युच्यते। अयं चोपचारोऽग्निचयनप्रकरणे सर्वत्रानुवर्तिष्यत इति काण्वभाष्ये सायणाचार्यः।

तत्र ब्राह्मणम्—'दक्षिणत आहवनीयो भवति। उत्तरत एषाभ्रिरुपशेते वृषा वा आहवनीयो योषाभ्रिर्दक्षिणतो वै वृषा योषामुपशेतेऽरत्निमात्रेऽरत्निमात्राद्धि वृषा योषामुपशेते' (श० ६।३।१।३०)। अथाहवनीयाग्न्यभ्र्योः स्त्रीपुंसात्मना प्रशंसा। स्त्रिया दक्षिणप्रदेशे वृषा पुरुष उपशेते। स्त्रीपुरुषयोर्मध्ये श्वासादिसञ्चाराय संबाधपरिहारायारत्निमात्रोऽवकाशो युक्त इत्यरत्निमात्र्या अभ्र्या व्यवधानस्वरूपता युक्ता। 'सा वैणवी स्यात्…………' (श० ६।३।१।३१) अग्निर्देवेभ्य उत्क्रम्य वेणुं प्रविष्टवान्। अतः स ससुषिरः सच्छिद्रो वेणुः। यथान्ये मां न जानीयुस्तथा स्वाच्छादनाय यानि वर्माणि पार्श्वयोरकरोत् तानि पर्वाणि सन्धयः। वेणोः प्रवेशकाले यत्र यत्र प्रदेशेऽग्निर्ददाह तानि कल्माषाणि कृष्णबिन्दुचिह्नान्यभवन्। 'सा कल्माषी स्यात्' (श० ६।३।१।३२)। अतः सा अभ्रिः कल्माषी कल्माषकवलितवेणुमयी कर्तव्या। कल्माषालाभेऽन्यरूपोऽपि ग्राह्यः। अतोऽग्निरूपमृत्तिकाखनने अग्निरूपाभ्रिकरणं स्यात्। 'प्रादेशमात्री स्यात्। प्रादेशमात्रꣳ हीदमभि वाग्वदत्यरत्निमात्री त्वेव भवति बाहुर्वा अरत्निः। बाहुनो वै वीर्यं क्रियते वीर्यसम्मितैव तद् भवति' (श० ६।३।१।३३)। प्रादेशप्रमाणत्वमरत्निप्रमाणत्वं च कल्पितं यस्मादिदानीं वागिन्द्रियं प्रादेशप्रमाणमभिलक्ष्यते प्रथमं ताल्वोष्ठपुटव्यापारेण प्रादेशपर्यन्तं वाचमुच्चार्य ततो देशसंयोगविभागाभ्यां परश्रोत्रं गृह्णाति। यद्वा जिह्वैव वागुच्यते सा प्रादेशमात्री। वाक्पदेन प्राणवायुर्वा लक्ष्यते। स हि नासापुटान्निर्गच्छन् प्रादेशपर्यन्तं गच्छतीत्यागमसिद्धम्। स्वाभिमतमाह—अरत्निमात्री त्वेव स्यादिति। बाह्वेकदेशत्वादरत्नेः समुदायभूतो बाहुरेकदेशेनापि व्यवह्रियते। 'यद्वेवोभयतः क्ष्णुत्' (श० ६।३।१।३५-३६)। निशितपार्श्वद्वयी सा कार्या। एतया अभ्र्या निशिताग्रया मद्रूपमग्निमनुविद्य एभ्यो लोकेभ्यः सकाशाद् देवा अखनन् तथैवायं यष्टा एतया लोकत्रयसकाशाद्

मृदात्मकमग्निं खनति । अग्नेः खननव्यापारे प्रथममवक्षेपणमुत्क्षेपणं मध्ये सञ्चारक्रिया चेति व्यापारत्रयेण लोकत्रयाग्नेः खननम् । तदेवाह—'स यदिति खनति । तदेनमस्माल्लोकात् खनत्यथ यदूर्ध्वोच्चरति तदमुष्माल्लोकादथ यदन्तरेण सञ्चरति तदन्तरिक्षलोकात् सर्वेभ्य एवैनमेतदेभ्यो लोकेभ्यः खनति' (श० ६।३।१।३७)। 'तामादत्ते। देवस्य''''अङ्गिरस्वदिति सवितृप्रसूत एवैनामेतदेताभिर्देवताभिरादत्ते गायत्रेण छन्दसाऽथो अस्यां गायत्रं छन्दो दधाति पृथिव्याः सदस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभरेति पशवो वै पुरीषं पृथिव्या उपस्थादग्निं पशव्यमग्निवदाभरेत्येतत् त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति तदेनां त्रैष्टुभेन छन्दसाऽऽदत्तेऽथो अस्यां त्रैष्टुभं छन्दो दधाति' (श० ६।३।१।३८)। अभ्रेरादानं विधत्ते—तामादत्त इति। उत्तरत्र त्रिभिरादत्त इत्यादाने त्रित्वसंख्याविशिष्टानां मन्त्राणां विधानम्। अग्निं त्रिभिर्मन्त्रैराददीतेत्यर्थः। प्रथममन्त्रं विधत्ते—देवस्य त्वेति। मन्त्रस्तूक्तार्थः। मन्त्रस्य तात्पर्यार्थमाह—सवितृप्रसूत इति। द्वितीयं मन्त्रं विधत्ते—पृथिव्या इति। मन्त्रं व्याचष्टे—पशवो वै पुरीषमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे जिज्ञासे सुमते वा, त्वा त्वां सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणे अश्विनो रामलक्ष्मणयोर्हस्ताभ्यां कृपाकटाक्षाभ्यां पूष्णः सर्वपोषकस्य शिवस्य हस्ताभ्यां वराभयरूपाभ्यामहं गायत्रेण छन्दसा सहायभूतेनाङ्गिरस्वद् अङ्गिरोभिस्तुल्यं (ते यथा त्वामगृह्णन् तथाहं) त्वामाददे गृह्णामि। तथा गृहीता त्वं पृथिव्याः प्रकृतिलक्षणायाः सदस्थादुत्सङ्गात् सर्वजीवपशुहितमग्निं ज्ञानरूपं त्रैष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरोवदाभर, यथाङ्गिरसोऽग्निमाजह्रुस्तथा त्वं ज्ञानाग्निमाहर।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, अहं यं त्वा देवस्य सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामङ्गिरसा अङ्गिरोभिरङ्गारैस्तुल्यमाददे स त्वं गायत्रेण गायत्रीनिर्मितेनार्थेन छन्दसा पृथिव्याः सधस्थात् सहस्थानात् तलात् अङ्गिरस्वत् त्रैष्टुभेन त्रिष्टुभा निर्मितेनार्थेन छन्दसा स्वच्छन्देन अङ्गिरस्वत् प्राणैस्तुल्यं पुरीष्यं पुरीष उदके साधुम्। पुरीष इत्युदकनामसु (निघ० १।१२)। अग्निं विद्युदादिस्वरूपमाभर आधर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गायत्रेण छन्दसा त्रैष्टुभेन छन्दसा वा कोऽर्थो निष्पद्यत इत्यस्यानुक्तेः। कथं चैकशब्देनैकत्र अङ्गारैस्तुल्यार्थग्रहणमन्यत्र च प्राणैस्तुल्यार्थग्रहणमिति। सर्वथाप्यश्विनोर्बाहुभ्यामित्यादीनामप्यर्थः पूर्वं खण्डित एव ॥ ९ ॥

अभ्रि॑रसि॒ नार्य॑सि॒ त्वया॑ व॒यम॒ग्निᳲ श॑केम॒ खनि॑तुᳲ स॒धस्थ॒ आ जाग॑तेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हे वेणवि, तुम उखा निर्माण करने के लिये मिट्टी खोदने का साधनभूत काष्ठविशेष हो, तुम अभ्रि नाम वाली हो, स्त्रीरूप हो। तुम्हारे द्वारा हम अंगिरावंशियों के समान जगती छन्द के प्रभाव से पृथ्वी की गोद में छिपकर बैठी हुई अग्नि को खनन द्वारा प्राप्त करने में समर्थ हों ॥ १० ॥

अभ्रिरसि, उखां निर्मातुं मृत्खननहेतुभूतकाष्ठविशेषोऽसि। यद्वा हे अभ्रे, त्वं वज्ररूपासि, 'वज्रो वा अभ्रिः' (श० ६।३।१।३९) इति श्रुतेः। नारी असि स्त्रीरूपासि। स्त्रीत्वारोपस्तस्यास्तत्कर्तृकहिंसोपशमनार्थः। यद्वा न विद्यतेऽरिः शत्रुर्यस्याः सा नारी। खननकालेऽश्मादिना तव कुण्ठीभावो नास्तीत्यर्थः। किञ्च, त्वया अभ्र्या साधनभूतया युक्ता वयं सधस्थे पृथिव्या उत्सङ्गे वर्तमानमग्निं जागतेन छन्दसा खनितुं शकेम शक्ता भवेम। शक्नोतेर्व्यत्ययेन शप्। अङ्गिरस्वदिति दृष्टान्तः। शेषं पूर्ववत्। अत्र ब्राह्मणम्—'अभ्रिरसीति। अभ्रिर्ह्येषा तदेनᳲ

सत्येनादत्ते नार्यसीति वज्रो वा अभ्रिर्योषा नारी न वै योषा कञ्चन हिनस्ति शमयत्येवैनामेतदहिꣳसायै त्वया वयमग्निꣳ शकेम खनितुꣳ सधस्थ एतीदं वै सधस्थं त्वया वयमग्निꣳ शकेम खनितुमस्मिन् सधस्थ इत्येतज्जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति तदेनां जागतेन छन्दसाऽऽदत्तेऽथो अस्यां जागतं छन्दो दधाति' (श० ६।३।१।३२)। तृतीयं मन्त्रं विधत्ते—अभ्रिरसीति। अभ्रिर्वज्रः, हननसाधनत्वादुभयोर् अभ्रिनामासि। नार्यसीत्यस्य तात्पर्यमाह— न वै योषा कञ्चन हिनस्तीति। यथा योषा स्त्री न कञ्चन पुरुषं हिनस्ति, एवमभ्रेः स्त्रीत्वात् सा न कस्यापि हन्त्रीत्यर्थः। सधस्थपदं विवृणुते—इदं वै सधस्थमिति। त्वया वयमग्निं मृद्रूपं खनितुं शकेमेति।

अध्यात्मपक्षे—हे सुमते जिज्ञासे वा, त्वमभ्रिरसि वज्रवदज्ञानभेदनशीलासि। नारी नरस्य जीवस्य सहधर्मिणीव सहयोगिनी असि। 'मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान विराग नयन उरगारी॥ भावसहित जो खोदे प्राणी। पाव भक्ति मणि सब सुख खानी॥' वज्रोपमया त्वया युक्ता वयं सधस्थे प्रवृत्तिलक्षणायाः प्रकृतेरुत्सङ्गे वर्तमानमग्निं ज्ञानरूपं सर्वकर्मदाहकं खनितुम् अज्ञानादिकमपसार्य प्राप्तुं शक्ता भवामः। वेदपुराणादिपावनपर्वतेषु भगवतः कथामयेष्वाकरेषु सुमतिरूपया अभ्र्या खनित्वा ज्ञानविरागरूपाभ्यां नयनाभ्यां प्राप्तुं शकेम शक्ता भवेम।

दयानन्दस्तु—'हे शिल्पिन्, त्वया सह सधस्थे समानस्थाने वर्तमाना वयं खनका या अभ्रिरयोमयं खननसाधनं भवसि नार्यसि नरस्य स्त्रीव साध्यसाधिका, यां गृहीत्वा जागतेन जगत्या विहितेन साधनेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् प्राणैस्तुल्यम् अग्निं विद्युदादिं खनितुं आशकेम शक्नुयाम, तां त्वं निमिमीष्व' इति। तथा कश्चित् 'मन्त्रेऽस्मिन् अग्निपदेन तैजसस्य सुवर्णस्य निर्माणोपदेशं मनुते' तदुभयमपि तुच्छम्, तादृशशब्दमात्रेण एतदर्थासम्भवात्, जागतेन छन्दसा कीदृशं साधनं विहितमित्यस्य वक्तव्यत्वात्॥ १०॥

हस्त॑ आ॒धाय॑ सवि॒ता बिभ्र॑दभ्रि॑ꣳ हिर॒ण्ययी॑म्। अ॒ग्नेर्ज्योति॒र्निचाय्य॑ पृथि॒व्या अध्याभ॑र॒दानु॑ष्टुभेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत्॥ ११॥

मन्त्रार्थ—प्रेरक सविता देव ने अंगिरा ऋषि के समान सुवर्ण की अभ्रि को हाथ में लेकर उसे धारण करते हुए अग्नि की ज्योति का निश्चय करके कि वह कहाँ छिपी है, भूमि के उदर में से अनुष्टुप् छन्द के प्रभाव से उसका आहरण किया है॥ ११॥

अनुष्टुप् यजुरन्ता। आनुष्टुभेनेत्यादि यजुः। तस्य त्रिष्टुप् छन्दः। तृतीयचतुर्थपादयोर्व्यूहेन पूर्तिः। अभ्रिदेवत्या। सविता सर्वप्रेरकः प्रजापतिर्हस्ते हिरण्ययीं हिरण्मयीं हितरमणीयां स्वर्णमयीं वा। अथवा हिरण्यपदेनामृतं छन्दश्चोच्यते। अमृतमयीं प्रागुक्तगायत्रत्रैष्टुभजागतानुष्टुभछन्दोरूपां वा एनामभ्रिमाधाय अवस्थाप्य बिभ्रत् तामेव धारयन् अग्नेः सम्बन्धि ज्योतिर्निचाय्य निभाल्य दृष्ट्वा पृथिव्या अधि भूमेः सकाशाद् आनुष्टुभेन छन्दसा आभरद् आहृतवान्। अङ्गिरस्वद् इति पूर्ववत्।

तत्र ब्राह्मणम्—'त्रिभिरादत्ते···त्रिभिरादायाथैनां चतुर्थेनाभिमन्त्रयते···अथास्यां चतुर्थेन···अथास्यां चतुर्थेन वीर्यं दधाति' (श० ६।३।१।४०)। त्रिभिर्मन्त्रैरादत्ताया अभ्रेश्चतुर्थेन मन्त्रेणाभिमन्त्रणं विधत्ते—चतुर्थेनेति प्रशंसति—चतुर्थेनेति। 'हस्त आधाय सवितेति। त्रिभिरादायैनामित्यादिना। अभिमन्त्रणं नाम वीर्याधानमिति प्रशंसति—चतुर्थेनेति। 'हस्त आधाय सवितेति हस्ते ह्यस्याहिता भवति बिभ्रदभ्रिमिति बिभर्ति ह्येनाꣳ हिरण्ययीमिति हिरण्मयी ह्येषा छन्दोमय्यग्नेर्ज्योतिर्निचाय्येत्यग्नेर्ज्योतिर्दृष्ट्वेत्येतत् पृथिव्या अध्याभरदिति पृथिव्यै ह्येनदध्याभरत्यानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति

तदेनामानुष्टुभेन छन्दसादत्तेऽथोऽस्यामानुष्टुभं छन्दो दधाति तान्येतान्येव छन्दाᳬस्येषाभ्रिरारम्भायैवेयं वैणवी क्रियते' (श० ६।३।१।४१)। मन्त्रं व्याचष्टे—हस्ते ह्यस्याहितेति। हिरण्ययीति पदव्याख्याने हिरण्मयी ह्येषा या छन्दोमयीत्युक्तम्। तदुपपादयति—तान्येवैतान्येवेति। आरम्भाय आलम्भनाय। केचित्तु मन्त्रगतहिरण्ययीपदबलेन अभ्रिमपि हिरण्यनिर्मितामिच्छन्ति। तत्पक्षमनूद्य दूषयति—तदु तथा न कुर्यात्। 'यद्वा एषा छन्दाᳬसि तेनैषा हिरण्यममृतᳬ हिरण्यममृतानि छन्दाᳬसि' (श० ६।३।१।४२)। पूर्वोक्तछन्दोमयत्वमिहोपदिशति—छन्दाᳬस्येषाभ्रिरिति।

अध्यात्मपक्षे—सविता देहेन्द्रियादिसर्वप्रेरकः साधको हस्ते क्रियाशक्तौ हिरण्मयीं ज्योतिर्मयीं छन्दोमयीं वा सुमतिरूपामभ्रिमवस्थाप्य तामेव बिभ्रद् अग्नेः स्वप्रकाशस्य तत्पदार्थस्य ज्योतिः स्वरूपभूतं ज्योतिर्निचाय्य निभाल्य दृष्ट्वा आनुष्टुभेन छन्दसा पृथिव्याः प्रकृतिलक्षणाया भूमेः सकाशादाहृतवान्।

दयानन्दस्तु—'सविता ऐश्वर्यप्रसाधकः शिल्प्यानुष्टुभेन अनुष्टुब्विहितार्थयुक्तेन छन्दसा हिरण्मयीं तेजोमयीमभ्रिं हस्ते आधाय बिभ्रत् सन्नङ्गिरस्वद् अङ्गिरसा प्राणेन तुल्यस्य अग्नेर्विद्युतो ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अधि आभरद् धरेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैतस्य वर्तमानविद्युद्विज्ञानेन गतार्थत्वात्। न चानेन मन्त्रेणानेन विज्ञानेन कोऽपि विद्युत आविर्भावं कर्तुं प्रभवति। अत्रानुष्टुप्छन्दसा तेजोमय्या अभ्र्या वा प्रयोगोऽपेक्षितः, तदन्तरापि तदुपपत्तेः ॥ ११ ॥

प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम्। दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित् ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे शीघ्रगामी अश्व, तुम इस श्रेष्ठ यज्ञभूमि को लक्ष्य करके शीघ्र आओ। तुम्हारा द्युलोक में आदित्य रूप से उत्कृष्ट जन्म है, अन्तरिक्ष में तुम्हारी नाभि है, पृथ्वी के ऊपर तुम्हारा स्थान है, अर्थात् भूमि पर तुम्हारा निवास-स्थान प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। इस प्रकार विष्णु के विराट् रूप से अश्व की तुलना कर यहाँ उसकी स्तुति की जाती है ॥ १२ ॥

'अश्वप्रभृतींश्च प्रत्यृचं प्रतूर्तं युञ्जाथां योगे योग इति' (का० श्रौ० १६।२।९)। ऋक्त्रयेण प्रत्यृचं तृणेनाश्वगर्दभाजानभिमन्त्रयतेऽभ्रिहस्त उपविष्ट एव। आस्तारपङ्क्तिः। अश्वदेवत्या। नाभानेदिष्टस्यार्षम्। यस्या अन्त्यौ द्वादशकावाद्यावष्टकौ साऽऽस्तारपङ्क्तिः। संवतं संवन्यते संभज्यते मृद्ग्रहणार्थं सेव्यत इति संवत्। 'वन संभक्तौ' क्विपि रूपम्। मृत्खननयोग्या भूमिः, वरिष्ठा श्रेष्ठा, पाषाणाद्यभावेनातिप्रशस्तत्वात्। हे वाजिन्, शीघ्रगामिन्नश्व ! वरिष्ठां श्रेष्ठां संवतं भूमिमभिलक्ष्य प्रतूर्तम् अतितूर्णं शीघ्रमाद्रव आगच्छ। त्वरतेरेतद्रूपं प्रकर्षेण तूर्तं तूर्णम्। हे वाजिन्, ते तव दिवि द्युलोके आदित्यरूपेण परममुत्कृष्टं जन्म भविष्यति। यद्वा ते जन्म दिवि रोहितादिदेवाश्वरूपेण प्रसिद्धम्। 'रोहितेन त्वाग्निर्देवतां गमयतु' (तै० सं० १।६।४।३), '····एते वा देवाश्वाः' (तै० ब्रा० ३।३।७।४), 'रोहितेन त्वाग्निर्देवतां गमयत्वित्याहैते वै देवाश्वाः' (तै० सं० १।७।४।३) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः। अन्तरिक्षे तव नाभिर् उदरम्। यद्वा नाभिशब्देन कृत्स्नं शरीरमुपलक्ष्यते। इदमपि पृथिव्यामधि उपरि योनिः स्थानम्, इत् एव, पादावेवेत्यर्थः। इति पृथिव्यां निवासः प्रत्यक्षमेव। यद्वा नियुन्नामका वाय्वश्वास्तदीयं रथं वहन्तोऽन्तरिक्षे सञ्चरन्ति, तद्रूपेणैवास्यान्तरिक्षवर्तित्वम्। प्रजापतिर्विराड्रूपेणाश्वोऽत्र स्तूयते, 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' (१।१।१) इति बृहदारण्यकश्रुतेः।

तत्र ब्राह्मणम्—'हस्त एषाभ्रिर्भवत्यथ पशूनभिमन्त्रयते। एतद्वा एषु देवा अन्वेषिष्यन्तः पुरस्ताद्वीर्यमदधुस्तथैवैष्वयमेतदन्वेषिष्यन् पुरस्ताद् वीर्यं दधाति' (श० ६।३।२।१)। पूर्वमाहवनीयस्य दक्षिणप्रदेशे त्रिवृन्मुञ्जरशनाबद्धाः प्राङ्मुखा येऽश्वगर्दभाजास्तिष्ठन्ति, तेषामिदानीं यथाक्रममभिमन्त्रणं समन्त्रकं विधित्सुरभिमन्त्रणं वीर्यात्मना प्रशंसति—हस्त एषाभ्रिर्भवतीति। तेनाभ्रिं हस्ते गृहीत्वैव पशूनभिमन्त्रयते। 'सोऽश्वमभिमन्त्रयते। प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रवेति यद्वै क्षिप्रं तत्तूर्तमथ यत्क्षिप्रात् क्षेपीयस्तत्प्रतूर्तं वरिष्ठामनु संवतमितीयं वै वरिष्ठा संवदिमामनु संवतमित्येतद्दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरिदिति तदेनमेता देवताः करोत्यग्निं वायुमादित्यं तदश्वे वीर्यं दधाति' (श० ६।३।२।२)। हे वाजिन्नश्व, वरिष्ठामतिशयेनोर्वीम् अनु संवतं सम्पूर्वाद् वनतेः क्विपि 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (पा० सू० ६।४।३७) इति नलोपे तुकि रूपम्। अस्माभिः क्रियमाणं संभजनमनुलक्ष्य भूमिं प्रतूर्तं 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' (पा० सू० ६।४।२०) इत्यूठि 'नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूतगूर्तानि छन्दसि' (पा० सू० ८।२।६१) इति निष्ठातस्य नत्वाभावेन निपातनम्। अतिक्षिप्रमाद्रव आगच्छ। ते तव परमं जन्म दिवि आदित्यरूपेण, अन्तरिक्षं तव नाभिर्वायुरूपेण, पृथिव्यां तव योनिरुत्पत्तिस्थानम्, अग्न्यात्मकत्वेन अश्वस्य लोकत्रयाभिमानिदेवतात्वेन स्तूयते। अत्र प्रतूर्तपदं व्याचष्टे—यद्वै क्षिप्रं तत्तूर्तम् अथ क्षिप्रादपि क्षेपीयः क्षिप्रतरं तत्प्रतूर्तम्। उत्तरार्धस्य तात्पर्यमाह—तदेनमेता देवताः करोत्यग्निं वायुमादित्यमिति। अभिमन्त्रणफलमाह—तदश्वे वीर्यं दधातीति।

अध्यात्मपक्षे—हे वाजिन्, वाज्यभेदेन संवत्सरात्मकप्रजापतिभावापन्नोपासक! त्वं वरिष्ठां सर्वश्रेष्ठां संवतं संभजनीयामुपासनाभूमिकां निष्ठां प्रतूर्तमतिक्षिप्रम् आगच्छ प्राप्नुहि। तया ते तव दिवि सूर्यरूपेण परममुत्कृष्टं जन्म भविष्यति, अन्तरिक्षे तव नाभिः कृत्स्नं शरीरं पृथिव्यामधि उपरि योनिः पादौ इत् एव, तव त्रैलोक्यात्मकविराड्भावापत्तिर्भविष्यतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन् प्रशस्तज्ञानयुक्त, यस्य ते तव शिल्पविद्यया दिवि सूर्यप्रकाशे परमं जन्म प्रादुर्भावः, तवान्तरिक्षे नाभिः पृथिव्यामधि उपरि योनिः निमित्तं प्रयोजनमस्ति, स त्वं विमानान्यधिष्ठाय वरिष्ठामतिशयेन वरां संवतं सम्यग्विभक्तां गतिं प्रतूर्तम् अतितूर्णमिदमन्वाद्रव आगच्छ' इति, तदपि श्रुतिविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव, श्रुत्या अस्य मन्त्रस्याश्वाभिमन्त्रणे विनियुक्तत्वेन वाजिपदस्याश्वपरत्वनिश्चयात्। किञ्च, वाजिपदस्य प्रशस्तज्ञानयुक्तेत्यर्थोऽसङ्गत एव। संवतमित्यस्य सम्यग्विभक्तां गतिमिति व्याख्यानमपि विसङ्गतमेव, वनतेर्गतिपरत्वायोगात्। न च शिल्पिबोधकं किञ्चिदपि पदं मन्त्रे दृश्यते। कथं च शिल्पविद्यया मनुष्यस्य दिवि परमं जन्म त्वद्रीत्या सम्भवति? कथं च तस्यान्तरिक्षे बन्धनम्? कथं वा पृथिव्याम्? किं निमित्तम्? किं वा प्रयोजनम्? अधीत्यस्याधिष्ठानार्थोऽपि चिन्त्यः॥ १२॥

युञ्जाथाꣳ रासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू। अग्निं भरन्तमस्मयुम्॥ १३॥

मन्त्रार्थ—हे अध्वर्यु और यजमान, तुम दोनों इस अग्निकार्य में अपने हितकारी अग्निरूप मृत्तिका को वहन **करने वाले रासभ को इस कार्य में नियुक्त करो॥ १३॥**

गर्दभदेवत्या गायत्री कुश्रिदृष्टा। गर्दभमभिमन्त्रयते। हे वृषण्वसू, वृषा यागनिष्पादनद्वारा फलाभिवर्षणनिमित्तभूतं वसु धनं ययोस्तौ यजमानौ दम्पती युवं युवामस्मिन् यामे मृद्ग्रहणरूपे नियमविशेषे निमित्तभूते सति रासभं गर्दभं युञ्जाथां बध्नीतम्। कथंभूतं रासभम्? अग्निं भरन्तम् अग्निहेतुं मृदं वोढुं समर्थम्। अस्मयुम्

अस्मभ्यं कामयमानम् अस्मद्धितैषिणम् । यद्वा हे अध्वर्युयजमानौ वृषण्वसू वृषा सेक्ता रासभो वसु धनं ययोस्तौ । कथं भूतम् ? अग्निं भरन्तम् अग्निं संहरन्तं अस्मयुम् अस्मान् कामयमानम् अस्मभ्यं फलं वा कामयमानम्, यद्वा याते रूपम्, अस्माभिः प्रेषितो यातीत्यस्मयुस्तम् । 'अस्मत्प्रेषितम्' (श० ६।३।२।३) इति श्रुतेः । तादृशम् अस्मिन् यामे यायते गम्यते प्राप्यते देवैरिति, यान्ति सङ्गच्छन्ते यत्र परस्परं देवा इति वा यामं कर्म, तस्मिन् । युवं युवां युञ्जाथां बध्नीतम् । तत्र ब्राह्मणम्—'अथ रासभम् । युञ्जाथाᳬ रासभं युवमित्यध्वर्युं चैतद्यजमानं चाहास्मिन् यामे वृषण्वसू इत्यस्मिन् कर्मणि वृषण्वसू इत्येतदग्निं भरन्तमस्मयुमित्यग्निं भरन्तमस्मत्प्रेषितमित्येतद्रासभे वीर्यं दधाति' (श० ६।३।२।३) । रासभाभिमन्त्रणं समन्त्रकं विधत्ते-अथेति । युवमिति द्विवचनेन अध्वर्युयजमानावुच्येते । मन्त्रं व्याचष्टे—युञ्जाथामिति । अध्वर्युं चैतद्यजमानं चाह—यामे कर्मणी इति । अस्मयुमिति पदस्यार्थमाह—अस्मत्प्रेषितमिति । अस्मदुपपदाद् यातेः 'मृगय्वादिभ्यश्च' (उ० १।३७) इति कुः प्रत्ययः ।

अध्यात्मपक्षे—वृषण्वसू वृषणं शीलं पुण्यं वसु ययोस्तौ वृषण्वसू, तत्सम्बोधने हे वृषण्वसू हे रामलक्ष्मणौ, युवं युवां अस्मिन् यामे त्वदाराधननियमविशेषे रासभं रासभवद्विषयपरायणं स्वान्तं युञ्जाथां स्वस्वरूपे बध्नीतम् । कीदृशम् अग्निम् ? ज्ञानरूपं भरन्तं हरन्तम् अस्मयुम् अस्मत्प्रेषितम् ।

दयानन्दस्तु—'हे वृषण्वसू सूर्यवायू इव शिल्पिनौ शिल्पितत्स्वामिनौ, युवं युवाम् अस्मिन् यामे ग्रामे रासभं जलाग्न्योर्वेगगुणाख्यमश्वम् अस्मयुम् अस्मान् यापयितारं भरन्तं धरन्तम् अग्निं प्रसिद्धं विद्युतं वा युञ्जाथाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शिल्पिनोः शिल्पितत्स्वामिनोश्च द्वित्वस्याकिञ्चित्करत्वाद् निर्मूलत्वाच्च । सिद्धान्ते तु अध्वर्युं चैतद्यजमानं चेति श्रुतिसिद्धम् अध्वर्युयजमानयोर्द्वित्वम् । तथैव रासभपदस्य जलाग्न्योर्वेगगुणाख्यमश्वमित्यपि निर्मूलम् । अन्यदपि गौणार्थकल्पनमेव ॥ १३ ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—परस्पर मित्रता को प्राप्त हुए हम सब ऋत्विक् और यजमान प्रत्येक कर्म में उत्साहवान् और बलवान् अज का रक्षा के निमित देवता और पितरों की तृप्ति के लिये अन्नप्राप्ति के लिये किये जा रहे इस यज्ञ कर्म में आह्वान करते हैं ॥ १४ ॥

अजदेवत्या गायत्री शुनःशेपदृष्टा । योगे योगे युज्यतेऽनुष्ठीयत इति योगः कर्म, तस्मिन् कर्मणि कर्मणि, तत्तत्कर्मणि । तवस्तरं तव इति बलनाम (निघ० २।९।५) । बलवत्तरम्, तवो बलमस्यास्तीति तवस्वि, अत्यन्तं तवस्वि तवस्तरम्, तरपि विनो लुक्, उत्साहवन्तम् । अजम् अजत्वजातिविशिष्टम् । इन्द्रम् इन्द्रियवन्तं वीर्यवन्तं वा इन्द्रियप्रदं वा । ऊतये अवनाय रक्षणाय । वाजे वाजे मनुष्याणामन्नेऽन्ने दातव्ये स्थिते सति, तत्तदन्नप्राप्तिनिमित्तं वा । सखायः समानख्यानाः परस्परं सख्यं प्राप्ता ऋत्विग्यजमाना वयं हवामहे आह्वयामः । अत्र ब्राह्मणम्—'अथाजम् । योगे-योगे तवस्तरं वाजे-वाजे हवामह इत्यन्नं वै वाजः कर्मणि-कर्मणि तवस्तरमन्नेऽन्ने हवामह इत्येतत्सखाय इन्द्रमूतय इतीन्द्रियवन्तमूतय इत्येतत्तदजे वीर्यं दधाति' (श० ६।३।२।४) । अजाभिमन्त्रणं विधत्ते—अथाजं योगे योग इति । मन्त्रगतयोगवाजेन्द्रपदानि व्याचष्टे—अन्नं वै वाज इत्यादि ।

अध्यात्मपक्षे—वयमास्तिका योगे योगे तत्तल्लौकिकवैदिककर्मसु वाजे वाजे तत्तदभीष्टान्नादिप्राप्तिनिमित्तं तवस्तरं बलवत्तमम् इन्द्रं परमात्मानं हवामहे, तस्यैवातिशयैश्वर्यबलवत्त्वोपपत्तेः ।

दयानन्दस्तु—'हे सखायः, यथा वयमूतये रक्षणाद्याय योगे योगे युञ्जते यस्मिन् तस्मिन् वाजे वाजे संग्रामे संग्रामे तवस्तरमत्यन्तं बलयुक्तम् इन्द्रं परमैश्वर्ययुक्तं राजानं हवामहे, तथा यूयमप्येतमाह्वयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशाह्वानस्य रागप्राप्तत्वादुपदेशासङ्गतेः, 'सखायः' इत्यस्य स्वारस्यासङ्गतेः, उक्तश्रुतिव्याख्यानविरोधाच्च ॥ १४ ॥

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि । उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, तुम शत्रुगण का वध करते हुए, शत्रुओं की कोगई निन्दा का निवारण करते हुए हमारे निकट आओ, हमारे सुख के कारण होते हुए रुद्र देवता के गणपतित्व को प्राप्त करो। हे रासभ, तुम भयरहित होकर चलो, हमें अभय प्रदान करते हुए, ऋत्विक् यजमान आदि के रोगों को दूर करने वाले योगी के समान पृथ्वी के साथ विस्तीर्ण अन्तरिक्ष लोक को प्राप्त करो ॥ १५ ॥

'अनुपस्पृशन्नुत्क्रमयत्येनान् प्राचः प्रतिमन्त्रं प्रतूर्वन्नुर्वन्तरिक्षं पृथिव्याः सधस्थादिति' (का० श्रौ० १६।२।१०)। अस्पृशन्नश्वादीन् हस्तमुद्यम्य भयं दर्शयन् प्राचो गमयति। विराड्रूपा त्रिष्टुब् यजुर्मध्या। उर्वन्तरिक्षं वीहीत्येतावद्यजुः। त्रय एकादशाक्षराश्चतुर्थोऽष्टाक्षरः पादो यस्याः सा विराड्रूपा। अत्र द्वितीयः पादो द्वादशार्णस्तेनैकाधिका। ऋचो मध्ये यजुः। अस्याः पूर्वार्धस्याश्वो देवता। हे अश्व, एहि आगच्छ। किं कुर्वन् ? प्रतूर्वन् विरोधिनः शत्रून् हिंसन्। तूर्वतिर्वधकर्मा। प्रकर्षेण त्वरमाणो वा। अशस्तीः अपकीर्तीः भ्रातृव्यादिभिः क्रियमाणाः पाप्मनो वा अवक्रामन् पादैरवष्टम्भयन् निवारयन्। रुद्रस्य पशुपतेर्यद् गाणपत्यं पशुसमूहपतित्वं तस्मादागत्य मयोभूः अस्माकं सुखं भावयन्। एहि आगच्छ। यद्वा आगमने को गुण इत्याशङ्क्याह—मयोभूः मयः सुखं भावयतीति मयोभूः, अस्मभ्यं सुखं भावयन् सन् रुद्रस्य गणवतो गाणपत्यमेहि आसमन्तात् प्राप्नुहि, अत्रागमनेन गणपतित्वलाभः सेत्स्यतीत्यर्थः। उर्वन्तरिक्षं यजुःसहितोत्तरार्धस्य रासभोत्क्रमणे विनियोगः। हे रासभ, अभयानि ऋत्विग्यजमानानां विनाशहेतुभ्यो व्याघ्रादिभ्यो भयपरिहाराणि कृण्वन् कुर्वन् सयुजा समानयोगिन्या पूष्णा पृथिव्या सह, यद्वा सयुजा सहायभूतेन पूष्णा पोषकेण सह। उर्वन्तरिक्षं रक्षोभिरनाकुलितं वीहि विशेषेण प्राप्नुहि, 'इयं वै पूषा' (श० ६।३।२।८) प्रति श्रुतेः। सह युङ्क्ते या सा सयुक् तया सयुजा पूष्णेत्यनुषङ्गः। कीदृशस्त्वम् ? स्वस्तिगव्यूतिः स्वस्ति विनाशरहितो गव्यूतिः क्रोशद्वयोपलक्षितो मार्गो यस्य सः, भयवर्जितप्रभूतयवसोदकमार्गः सन् आगच्छेत्यर्थः। 'नैकः प्रपद्येताध्वानम्' (म० ४।६०) इति। यद्वा गव्यूतिं गोसञ्चरभूमिं क्षेमेण कुर्वन् न्यायात् पूष्णा सहेत्युक्तिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनान् प्राच उत्क्रमयति। तदेनमेतैः पशुभिरन्विच्छति नोपस्पृशत्यग्निरेष यत्पशवो नेन्मायमग्निर्हिनसदिति' (श० ६।३।२।६)। सूत्रमूलभूतमिदं ब्राह्मणवाक्यम्। पशून् प्राङ्मुखानुद्गमयेत्। उद्गमितैः पशुभिर्मृद्रूपमग्निमन्विष्टवान् भवति। नोपस्पृशतीति 'यत्' यतः 'पशवोऽग्निः' यतोऽग्निस्पर्शनेन हिंसा स्यात् सा मा भूदिति। हिनसदिति हिंसेः पञ्चमलकारे रूपम्। 'सोऽश्वमुत्क्रमयति। प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्तीरिति पाप्मा वा अशस्तिस्त्वरमाण एह्यवक्रामन् पाप्मानमित्येवद्रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहीति रौद्रा वै पशवो या ते देवता तस्यै गाणपत्यं मयोभूरेहीत्येतत्तदेनमश्वेनान्विच्छति' (श० ६।३।२।७)। 'अथ रासभम्। उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन्निति यथैव यजुस्तथा बन्धुः। पूष्णा सयुजा सहेतीयं वै पूषानया सयुजा सहेत्येतत्तदेनं रासभेनान्विच्छति' (श० ६।३।२।८) इति।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन् इष्टदेव, त्वमेहि अस्मद्धृदयमागच्छ। किं कुर्वन्? कामक्रोधादीन् रिपून् तुर्वन् हिंसन् विनाशयन्। कीदृशस्त्वम्? मयोभूरस्माकं मयः सुखानि भावयन्। रुद्रस्य रोदकस्याहङ्कारस्य गाणपत्यं देहेन्द्रियप्राणादिस्वामित्वं यत् तत्त्वमेहि आसमन्तात् प्राप्नुहि। हे देव, अभयानि साधकस्य मम बाह्याभ्यन्तरशत्रुकृतभयपरिहारं कुर्वन्। सयुजा समानयोगिन्या पूष्णा पोषयित्र्या मम जनन्या स्वशक्त्या सह उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षं हृदयाकाशमागच्छ, 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (छा० उ० ८।१।३) इति श्रुतेः। कीदृशस्त्वम्? स्वस्तिगव्यूतिः स्वस्ति विनाशरहितो गव्यूतिः गव्यूत्युपलक्षितो मार्गो यस्य स निर्विघ्नक्षेममार्ग आगच्छेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, स्वस्तिगव्यूतिस्त्वं स्वस्ति सुखेन सह गव्यूतिर्मार्गो यस्य सः। सयुजा पूष्णा यत्समानं युनक्ति तेन सहितः पूष्णा पुष्टेन स्वकीयेन सैन्येन सह अशस्तीः अप्रशस्ताः शत्रुसेनाः प्रतूर्वन्नेहि शत्रुदेशानवक्रामन्नेहि। मयोभूः मयः सुखं भावयन् त्वं रुद्रस्य शत्रुरोदकस्य स्वसेनापतेर्गाणपत्यं गणानां सेनासमूहानां पतित्वमेहि। अभयानि स्वराज्ये सेनायां चाविद्यमानं भयं येषु तानि कृण्वन् सम्पादयन् उर्वन्तरिक्षं उरु आकाशं वीहि विविधतया गच्छ' इति, तत्सर्वमसङ्गतमेव, निर्मूलत्वात्, राजन्निति सम्बोधने बीजानुपलम्भात्। श्रुतौ तु सोऽश्वमुत्क्रमयतीति स्पष्टमश्वस्य प्रसङ्गः। तथैव सयुजा पूष्णेत्यत्र पुष्टेन स्वकीयेन सैन्येनेत्यपि चिन्त्यम्। रुद्रस्य स्वसेनापतेरित्यपि निर्मूलमेव, तदतिरिक्तस्यापि तद्वाच्यत्वसम्भवेन सेनापत्यर्थे विनिगमनाविरहात्॥ १५॥

पृ॒थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गि॑र॒स्वदा भ॑रा॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गि॑र॒स्वदच्छे॑मो॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गि॑र॒स्वद् भ॑रिष्यामः॥ १६॥

मन्त्रार्थ—हे अभ्रि! तुम भूमि के स्थान से पशु सम्बन्धी अग्नि का अंगिरा ऋषि के समान आहरण करो। हम पशु सम्बन्धी अग्नि को अंगिरा के समान प्राप्त करने के लिये अभिमुख होते हैं। हम पशु सम्बन्धी अग्नि को अंगिरा के समान संपादित सुसंस्कृत करेंगे॥ १६॥

अजोत्क्रमणे विनियोगः। यजुः। आसुरी गायत्री। आग्नेयी। हे अभ्रे! त्वं पृथिव्या भूमेः सधस्थात् खनितुं योग्यात्, कृत्स्नापि मृत्तिका मिलित्वा सह तिष्ठति वर्तते यत्रासौ सधस्थः प्रदेशविशेषः, तस्मात् प्रदेशात् पुरीष्यं पांसुरूपं शुष्कमृत्तिकायोग्यं यद्वा पुरीष्यं पशव्यं पशुषु हितं 'पशवो वै पुरीषम्' इति श्रुतेः। तादृशीमग्न्यवस्थानहेतुभूतां मृदमाभर आहर। तत्र दृष्टान्तः—अङ्गिरस्वत्, यथा पूर्वमङ्गिरस ऋषयोऽग्निमाहृतवन्तस्तद्वत्। त्रिषु अग्निषु दीप्यमानेषु उखार्थं ब्रह्म-यजमाना-ध्वर्यवश्चतुष्कोणश्वभ्रस्थं मृत्तिकापिण्डं प्रति गच्छन्ति, अश्वगर्दभाजा अपीति। पुरीष्यमग्निं वयं ब्रह्मयजमानाध्वर्यवः, अङ्गिरस्वद् अङ्गिरस इव अच्छ अभिमुखम् इमः गच्छामः। 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (नि० ५।२८) इति यास्कोक्तेः। 'अनद्धा पुरुषमीक्षते देवपितृमनुष्यापार्थकमग्निं पुरीष्यमिति' (का० श्रौ० १६।२।१३)। देवपितृमनुष्याणां निष्प्रयोजनोऽनद्धापुरुषस्तं यं कञ्चित् पुरुषं पश्येत्। आग्नेयं यजुः। आसुर्यनुष्टुप्। पशव्यं पशुषु हितं पुरीष्यं अङ्गिरस इव वयं ब्रह्मयजमानाध्वर्यवः, भरिष्यामः सम्पादयिष्यामः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाजं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभरेति पृथिव्या उपस्थादग्निं पशव्यमग्निवदाभरेत्येतत्तदेनमजेनान्विच्छति' (श० ६।३।२।९)। अजोत्क्रमणं विधत्ते—अथाजमिति। अन्यत् पूर्ववत्। सर्वमेतत्सोपपत्तिकं ब्राह्मणे निरूपितम्। तथाहि—'प्रदीप्ता एतेऽग्नयो भवन्ति। अथ मृदमच्छयन्तीमे वै लोका

एतेऽग्नयस्ते यदा प्रदीप्ता अथैत इमे लोकाः पुरो वा एतदेभ्यो लोकेभ्योऽग्रे देवाः कर्मान्वैच्छंस्तद्यदेतानग्नीनतीत्य मृदमाहरति तदेनं पुरैभ्यो लोकेभ्योऽन्विच्छति' (श० ६।३।३।१)। 'अग्निषु ज्वलत्सु पिण्डं गच्छन्त्यग्निं पुरीष्य-मिति' (का० श्रौ० १६।२।११)। गार्हपत्यादिषु त्रिष्वग्निषु ज्वलत्सु अग्निं पुरीष्यमिति मन्त्रेण ब्रह्मयजमाना-ध्वर्यवो गच्छेयुरिति विधत्ते—प्रदीप्ता इति। एते गार्हपत्यादयोऽग्नयः प्रदीप्ता भवन्ति। अथ मृदमच्छयन्ति मृत्पिण्डमभिलक्ष्य गच्छन्ति ब्रह्मादयः। 'अच्छ गत्यर्थवदेषु' (पा० सू० १।४।६९) इत्यच्छशब्दस्य गतिसंज्ञा। अग्निषु प्रदीप्तेष्वभिगच्छन्तीत्यग्निसान्निध्यं प्रशंसति—इमे वा लोका इति। अग्रे पूर्वं देवा एभ्यो लोकेभ्यः पुरः पूर्वस्मिन् प्रदेशे लोकानां पुरःप्रदेशे कर्म चयनमन्विष्टवन्तः। तत् तस्माद् एतान् लोकत्रयात्मकान् अग्नीन् अतीत्य आदीप्य प्रज्वाल्य मृदमाहरेयुः। अग्निषु ज्वलत्सु मृदानयनं लोकानां पुरोदेशे मृद्रूपमग्निं कृतवन्तो भवन्ति। 'प्राञ्चो यन्ति। प्राची हि दिगग्नेः स्वायामेवैनमेतद्दिश्यन्विच्छति स्वायां दिशि विन्दति' (श० ६।३।३।२)। गच्छतामध्वर्युप्रभृतीनां प्राङ्मुखत्वं विधत्ते—प्राञ्चो यन्तीति। आहवनीयस्याग्नेः प्राची दिक् स्वा भवति। 'ते प्रयन्ति। अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेम इत्यग्निं पशव्यमग्निवदच्छेम इत्येतत्' (श० ६।३।३।३)। अभिगमनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—ते प्रयन्त्यग्निमिति। 'अथानद्धापुरुषमीक्षते। अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद् भरिष्याम इत्यग्निं पशव्यमग्निवद् भरिष्याम इत्येतत्तदेनमनद्धापुरुषेणान्विच्छति' (श० ६।३।३।४)। यथा पशुभिः पुरीष्यस्याग्नेरन्वेषणं कृतं तथैवानद्धापुरुषेणापि तदन्वेषणमकारि। पूर्वं श्रुतौ (श० ६।३।१।२४) पुरुषपशोः प्रतिनिधित्वेन अनद्धापुरुष उक्तः, तस्येदानीं विनियोगमाह—अथानद्धापुरुषमिति। अनद्धापुरुषनिरीक्षणं तेनाग्नेरन्वेषणमित्येतत्।

अध्यात्मपक्षे—हे देव, पृथिव्याः प्रकृतेः सधस्थादुत्सङ्गात् पुरीष्यं सर्वजीवपशुषु हितमग्निं ब्रह्मज्ञानाग्निं ब्रह्मरूपमेवाग्निमङ्गिरस्वद् यथा अङ्गिरस ऋषयोऽग्निमाहृतवन्तस्तथा मदर्थमाहर आनय, परमेश्वरकृपयैव तत्प्राप्तिसम्भवात्। त्वत्कृपया वयं सर्वे साधका जिज्ञासवोऽङ्गिरस इव पुरीष्यमग्निमच्छेम आभिमुख्येन इमो गच्छामः। तद्वदेव वयं तं भरिष्यामो धरिष्यामः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वयं पृथिव्याः सधस्थात् सहस्थानाद् अङ्गिरस्वद् अङ्गिरसा सूर्येण तुल्यं पुरीष्यं यः सुखं पृणाति स पुरीषस्तत्र साधुं सुखजनकमन्तरिक्षस्थं विद्युतं वा अच्छेम अच्छ उत्तमरीत्या इमः गच्छामः। यथा चाङ्गिरस्वत् प्राणैस्तुल्यं पुरीष्यमग्निमन्तरिक्षे वाय्वादिस्थं भरिष्यामो धरिष्यामः, तथा त्वमप्य-ङ्गिरस्वत्पुरीष्यमग्निमाभर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिविरुद्धत्वात्, तत्रासम्बोधनीयत्वात्, उखासम्भरणस्य प्रकृतत्वाद् अत्र विद्युन्निर्माणाप्रसक्तेः ॥ १६ ॥

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः। अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवी आततन्थ ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—जो अग्नि उषा काल से पहले अग्नि रूप से प्रकाशित रहा, सबको जानने वाला वह अग्नि मुख्य रूप से दिन को प्रकाशित करता हुआ, सूर्य की किरणों को बहुत प्रकार से प्रकाशित करता हुआ, स्वर्ग और पृथ्वी को क्रम से सब प्रकार प्रकाशित करता हुआ स्थित है। उस सर्वप्रकाशक लोकस्रष्टा अग्नि को हम देखते हैं ॥ १७ ॥

'वल्मीकवपामादाय छिद्रेण पिण्डमीक्षतेऽन्वग्निरिति' (का० श्रौ० १६।२।१४)। वल्मीकस्योन्नतत्वेनाभि-वृद्धोऽवयवो वपा। सा पिण्डाहवनीयान्तराले स्थापितास्ति। तां सच्छिद्रां वपां गृहीत्वा तत्स्थाने स्थित्वा

तस्याश्छिद्रेण पिण्डं पश्यति। अग्निदेवत्या त्रिष्टुप् पुरोधोदृष्टा। प्रजापतिरूपेणात्राग्निः स्तूयते। उषसामुषःकालानामग्रमुपक्रममन्वख्यद् अनुक्रमेण प्रकाशितवान्। जातवेदाः जातं जातं यो वेद वेदयति वा सोऽयमग्निर्जातवेदाः प्रथमो मुख्यः सन् अहानि दिवसानि अन्वख्यत् प्रकाशितवान्। सूर्यस्य रश्मीन् किरणान् पुरुत्रा बहुधा अन्वख्यत्। किञ्च, द्यावापृथिवी उभे अपि क्रमेण आततन्थ आतेनिथ, आततान सर्वतो व्याप्तवान्। पुरुषव्यत्ययः। 'बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे' (पा० सू० ७।२।६४) इति निपातः। सर्वप्रकाशको लोकस्रष्टा योऽग्निस्तमग्निं पश्याम इति शेषः। यद्वा उषसामग्रमादित्यमनुलक्ष्याग्निः, अन्वख्यद् अनुदीप्यते। कथंभूतः सः ? प्रथम आद्यः, जातवेदा जातप्रज्ञः, 'जातानि भूतानि वेत्तीति वा, जाते जाते विद्यते जायत इति वा जातवेदाः' (नि० ७।५) इति यास्कोक्तेः। अहानि अनुलक्ष्य दीप्यते पुरुत्रा बहुषु देशेषु सूर्यस्य रश्मीननुलक्ष्य दीप्यते। एवं पारोक्ष्येणोक्त्वा चतुर्थपादेनाग्निं सम्बोध्याह—स त्वमग्ने द्यावापृथिवी अनुलक्ष्य आततन्थ स्वतेजसा आतेनिथ व्याप्तवान्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वल्मीकवपा सुषिरा व्यध्वे निहिता भवति। तामन्वीक्षत इयं वै वल्मीकवपेयमु वा इमे लोका एतद्वा एनं देवा एषु लोकेषु विग्राहमैच्छंस्तथैवैनमयमेतदेषु लोकेषु विग्राहमिच्छति' (श० ६।३।३।५)। अत्र सूत्रम्—'पिण्डमपरेण व्यध्वे वल्मीकवपां छिद्रां निदधाति' (का० श्रौ० १६।२।३)। अर्थाद् अश्वादिपशूनां त्रिवृन्मुञ्जाभिधानीबन्धनात् पूर्वं मृत्पिण्डस्य पश्चिमदेशे व्यध्वे पिण्डाहवनीययोरर्धपथे सच्छिद्रवल्मीकवपा निधेयेत्युक्तम्। इदानीं वपामादाय छिद्रेण पिण्डमीक्षतेऽन्वग्निरिति। तदिदं विधिद्वयं दर्शयति—अथ वल्मीकवपेति। पूर्वमेव व्यध्वे सुषिरायाः सच्छिद्राया वल्मीकवपायाः स्थापनं सूचयितुं निहितेति भूतकालवाचि निष्ठान्तं पदम्। 'इयं वै वल्मीकवपा' इत्यादिब्राह्मणस्यायमर्थः—वल्मीकवपा नाम 'इयं' भूमिः, तत्कार्यत्वात्। भूमिर्हि सर्वे लोकाः, तत्प्रमुखत्वात्, इतरेषां कर्मभूमित्वेन विशिष्टत्वाच्च। पूर्वं देवा एनमग्निमेषु सर्वलोकेषु विग्राहमैच्छन् विगृह्यात्रास्तीति सर्वत्रान्विष्टवन्तः। इदानीं तच्छिद्रेण पिण्डनिरीक्षणं सर्वलोकेषु मृद्रूपस्याग्नेर्विगृह्यान्वेषणमिति। 'अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदिति। तदेनमुषःस्वैच्छन्नन्वहानि प्रथमो जातवेदा इति तदेनमहःस्वैच्छन्ननु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीनिति तदेनꣳ सूर्यस्य रश्मिष्वैच्छन्ननु द्यावापृथिवी आततन्थेति तदेनं द्यावापृथिव्योरैच्छंस्तमविन्दंस्तथैवैनमयमेतद्विन्दति तं यदा परापश्यत्यथ तामवास्यत्यागच्छन्ति मृदम्' (श० ६।३।३।६)। मन्त्रस्तु व्याख्यातः। मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—तदेनमुषःस्विति। यदा परापश्यतीति यदा पिण्डं छिद्रेण पश्येत्, तदा मृदमवस्यति निश्चिनोति। अथ तां मृदमनुलक्ष्य गच्छेदिति।

अध्यात्मपक्षे—अग्निः परमेश्वर उषसामग्रमुपक्रममादित्यं वा अन्वख्यद् अनुक्रमेण प्रकाशयति। कीदृशोऽग्निः ? जातवेदाः, जातं जातं वेत्ति वेदयति वा, सर्वज्ञः सर्ववेदयिता वा, तदनुग्रहेणैव शरीरिणामपि ज्ञानोत्पत्तेः। अयमग्निः प्रथमो मुख्यः, सर्वकारणत्वात् सर्वेश्वरत्वाच्च। अहानि दिनानि चान्वख्यत् प्रकाशयति। किञ्च, सूर्यरश्मीन् किरणांश्च पुरुत्रा बहुधा अन्वख्यत्। स एव द्यावापृथिवी उभे अप्यनुक्रमेण आसमन्ताद् आततन्थ व्याप्तवान्। पूर्ववत् पुरुषव्यत्ययः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं यथा प्रथमो जातवेदा यो जातेषु विद्यते स सूर्यः अग्निः पावकः, उषसामग्रं पूर्वमहानि दिनानि, अख्यत् प्रख्यापयति। सूर्यस्य पुरुत्रा बहून् रश्मीन् आततन्थ तनोति द्यावापृथिवी चान्वख्यत्, तथा विद्याव्यवहारानन्वातनु' इति, तदपि न किञ्चित्, सर्वत्र लुप्तोपमालङ्कारेणैव निर्वाहे उपमावाचकेवादिप्रयोगवैयर्थ्यापत्त्या प्रकृते तद्बोधकपदाभावेन तथात्वमित्यनुपपत्तेः, कथमग्निर् उषःकालात् प्रथममहानि प्रख्यापयतीत्यस्याप्युपपादनीयत्वात्। विद्याव्यवहाराद्यध्याहारोऽपि निर्मूलः॥ १७॥

आगत्य वाज्यध्वानᳪं सर्वा मृधो विधूनुते ।
अग्निᳪं सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—यह वेगवान् अश्व मार्ग में आकर सब संग्रामों को कम्पित करता है, उत्कृष्ट पृथ्वी के स्थान में वर्तमान होकर स्थिर चक्षु से अग्नि को देखता है ॥ १८ ॥

'आगत्येत्यभिमन्त्रयतेऽश्वम्' (का० श्रौ० १६।२।१६)। आगत्येति मन्त्रेण मृत्पिण्डान्ते तिष्ठन्तमश्वमभिमन्त्रयते। अश्वदेवत्यानुष्टुप्। वाजी वेजनवान् बलवान् वेगवान् वायमश्वः, अध्वानं मार्गमागत्य प्राप्य सर्वाः सर्वान् मृधः पाप्मनो मार्गश्रमादीन् बाधकान् विधुनुते विकम्पयति विनाशयति, 'पाप्मा वै मृधः' (श० ६।३।३।८), 'अश्वः स्यत्वा विधूनुते' (श० ६।३।३।८) इति श्रुतेः। ततो विगतश्रमः सन् यत्र पांसवः सहावतिष्ठन्ते तत्स्थानं सधस्थम्, तस्मिन् पृथिव्या महति विस्तीर्णे सधस्थे वर्तमानमग्निमयमश्वश्चक्षुषा दृष्ट्वा अग्निहेतुं मृदं निचिकीषते नितरां चेतुं सम्पादयितुमिच्छति। यद्वा छान्दसोऽयं धातुः पश्यत्यर्थः। मृदं तद्रूपमग्निं चक्षुषा निचिकीषते पश्यति।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथाश्वमभिमन्त्रयते। एतद्वै देवा अब्रुवन् पाप्मानमस्यापहनामेति श्रमो वै पाप्मा श्रममस्य पाप्मानमपहनामेति तस्य श्रमं पाप्मानमपाघ्नंस्तथैवास्यायमेतच्छ्रमं पाप्मानमपहन्ति' (श० ६।३।३।७)। अश्वाभिमन्त्रणं विधत्ते—अथाश्वमिति। पूर्वं देवाः पथि श्रान्तस्याश्वस्य श्रमलक्षणं पाप्मानमपहतवन्तः। एवमभिमन्त्रणेन पथि श्रान्तस्याश्वस्य श्रमापनयनं भवति। 'आगत्य वाज्यध्वानमिति। आगतो ह्यस्याध्वा भवति सर्वा मृधो विधूनुत इति पाप्मा वै मृधः सर्वान् पाप्मनो विधूनुत इत्येतत्तस्मादु हैतदश्वः स्यत्वा विधूनुतेऽग्निᳪं सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषत इतीदं वै महत्सधस्थमग्निमस्मिन् महति सधस्थे चक्षुषा दिदृक्षत इत्येतत्' (श० ६।३।३।८)। द्वितीयं पादं व्याचष्टे—पाप्मा वै मृध इति। कथमश्वविधूननमित्युपपादयति—तस्मादु हैतदिति। स्यत्वा इति स्यन्दतेः क्त्वाप्रत्यये इडभावे नलोपे च कृते रूपम्। अध्वानं गत्वा स्वशरीरं विधूनुते कम्पयति। तथा च वाजी बलवानश्वोऽध्वानमागत्य सर्वा मृधः सर्वान् पाप्मनः श्रमादीन् विधूनुते प्रकम्पयति, गात्रविधूननेन नाशयतीत्यर्थः। ततो विगतश्रमः सन् पृथिव्या महति विस्तीर्णे सधस्थे उत्सङ्गे वर्तमानमग्निं चक्षुषा निचिकीषते दिदृक्षते।

अध्यात्मपक्षे—वाजी वाजमन्नमस्यास्तीति भोक्ता जीवः, अध्वानं संसारमागत्य सर्वा मृधः सर्वान् पाप्मनः स्वधर्मानुष्ठानपूर्वकेण भगवदाराधनेन विधूनुते प्रकम्पयति। महति सधस्थे सह स्थाने अग्निं परमेश्वरं चक्षुषा प्रसिद्धेन बाह्येनान्तरेण ज्ञानमयेन च निचिकीषते दिदृक्षते।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् राजन्, भवान् यथा वाज्यश्वोऽध्वानमागत्य सर्वा मृधः संग्रामान् विधूनुते कम्पयति, यथा गृहस्थश्चक्षुषा महति सधस्थे सहस्थानेऽग्निं निचिकीषते चेतुमिच्छति, तथा सर्वान् संग्रामान् विधुनोतु गृहे गृहे विद्यानिचयं करोतु' इति, तदपि चिन्त्यम्, मूले राजन् गृहस्थ इति शब्दयोरभावेन तादृशव्याख्यानस्यावैदिकत्वात्। गृहे गृहे विद्यानिचयोऽपि निर्मूल एव ॥ १८ ॥

आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम् ।
भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम् ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! तुम भूमि पर आक्रमण करके, दीप्ति आदि के द्वारा अग्नि को पहचान कर, भूमि के प्रदेश को छूकर हमसे यह कहो कि यह देश अग्नि के हेतु मृत्तिका ग्रहण के योग्य है, तुम्हारे बताये हुए देश से मृत्तिका का खनन कर हम अग्नि को प्राप्त कर सकते हैं ॥ १९ ॥

'आक्रम्येत्यनेन पिण्डमधिष्ठापयति' (का० श्रौ० १६।२।१७)। आक्रम्येत्यनेन मन्त्रेण पिण्डस्योपरि अश्वस्य सव्यं पादं निदध्यात्। अश्वदेवत्यानुष्टुप्। हे वाजिन् अश्व, पृथिवीमाक्रम्य अधिष्ठाय पादस्पर्शेन परीक्ष्य रुचा दीप्त्या बुद्धिवृत्त्या कृत्वा त्वमिच्छ अग्नेरन्वेषणं कुरु। अग्निहेतुं मृदं निश्चिन्वित्यर्थः। भूम्या वृत्वाय भूमेः प्रदेशं स्पृष्ट्वा। क्त्वो यकि धातोः स्पर्शनार्थे वृत्तिः। नोऽस्माकमयं प्रदेशोऽग्निहेतुमृद्योग्य इति ब्रूहि। यद्वा वृत्वा वरणं कृत्वा दृष्ट्वेत्यर्थः। यतो यस्मात् प्रदेशाद् वयं तमग्निं मृदं खनेम, यद्वा यतः प्रदेशात्तादृशी मृल्लभ्येत, तं प्रदेशं वयं खनेम खननमवदारणं करवाम। यद्वा पृथिवीमाक्रम्य रुचा चक्षुषा, 'चक्षुर्वै रुक्' (श० ६।३।३।११) इति श्रुतेः। अग्निमिच्छ कुत्र तिष्ठतीत्यन्वेषणं कुरु। 'भूम्याः' इति कर्मणि षष्ठी। भूमिं वृत्वाय स्पृष्ट्वा भूप्रदेशं स्पर्शयित्वा नो ब्रूहि, यतः प्रदेशान्मृद्रूपमग्निं खनेम।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमाक्रमयति। एतद्वा एष एतं देवेभ्योऽनुविद्य प्राब्रवीद्यथायमिहेत्येवम्' (श० ६।३।३।९)। आक्रम्येति मन्त्रेण पिण्डमश्वेनाधिष्ठापयतीत्यर्थः। तद् विधत्ते—अथैनमाक्रमयतीति। मृत्पिण्डमश्वेनाक्रामयेदित्यर्थः। पूर्वं यथाश्व एतमग्निस्थानमनुविद्य लब्ध्वा देवेभ्योऽयमग्निरिह देशे तिष्ठतीति पादाक्रमणेन प्राब्रवीत्, एवमश्वेन पिण्डाधिष्ठापनं नाम तस्मादग्नेर्बेदनमित्यर्थः। 'यद्वेवाक्रमयति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा एतं वज्रमुपरिष्टादभिगोप्तारमकुर्वन्नमुमेवादित्यमसौ वा आदित्य एषोऽश्वस्तथैवास्मा अयमेतं वज्रमुपरिष्टादभिगोप्तारं करोति' (श० ६।३।३।१०)। आक्रमणं प्रकारान्तरेण स्तोतुमनुवदति—यद्वेवेति। देवा रक्षोभ्यो भीतवन्तः, एतं वज्रं वज्ररूपमश्वमादित्यमुपरिष्टाद् उपरिभागे अभिगोप्तारं रक्षकमकुर्वन् आदित्यस्याश्वरूपता 'तस्याश्वः श्वेतो दक्षिणा' (श० २।६।३।९) इति कण्डिकायाम्, तथा 'अथैभ्यः सूर्यं दक्षिणामानयन्' (श० ३।५।१।१९) इति कण्डिकायां च श्रुतौ श्रुता। तथैवास्मै पिण्डरूपायाग्नयेऽयमनुष्ठाताऽश्वाक्रमणेनैतं वज्ररूपमश्वमादित्य उपरिष्टादभिगोप्तारं कृतवान् भवति। 'आक्रम्य वाजिन्। पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वमिति चक्षुर्वै रुगाक्रम्य त्वं वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ····चक्षुषेत्येतद् भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयमिति भूमेस्तत्स्पाशयित्वाय नो ब्रूहि यत एनं खनेमेत्येतत्' (श० ६।३।३।११)। मन्त्रगतं 'रुचा' इति पदं 'वृत्वाय' इति पदं च व्याचष्टे—चक्षुर्वै रुगिति, भूमेस्तत् स्पाशयित्वायेति 'स्पश बाधनस्पर्शनयोः' इति भौवादिकस्य रूपम्। क्त्वो यक्।

अध्यात्मपक्षे—हे वाजिन् साधक, पृथिवीमाक्रम्यासनेनाधिष्ठाय अग्निं परमेश्वरमिच्छ। रुचा वेदान्तविचारेण तदन्वेषणं कुरु। भूम्या भूमिमुत्कृष्टां ज्ञानभूमिकां वृत्वा स्वीकृत्य नोऽस्मान् तं वेदपुराणादि पावनं पर्वतं ब्रूहि, यतो वयं खनेम भक्तिज्ञानमयं मणिं खनेम खनित्वा लभेमहि।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन् विद्वन् सभेश, त्वं रुचा प्रीत्या शत्रूनाक्रम्य पृथिवीं भूमिराज्यम् अग्निमग्निविद्यां चेच्छ। भूम्याः क्षितेर्मध्ये नोऽस्मान् वृत्वाय स्वीकृत्य ब्रूहि भूगर्भविद्यामुपदिश, यतो वयं तं भूगोलं खनेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाजिन्नित्यस्य विद्वदाद्यर्थाभावात्, आक्रम्येति क्रियाया उपस्थितं पृथिवीमिति कर्मपदमपहाय शत्रूनित्यध्याहारस्याप्रामाणिकत्वात्, भूगर्भाग्निविद्योपदेशस्यापि तथाविधत्वात् ॥ १९ ॥

द्यौस्ते॑ पृ॒ष्ठं पृ॑थि॒वी स॒धस्थ॑मा॒त्मान्तरि॑क्ष॒ᳬ स॑मु॒द्रो योनिः॑ ।
वि॒ख्याय॒ चक्षु॑षा॒ त्वम॒भि ति॑ष्ठ पृतन्य॒तः ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! स्वर्ग तुम्हारा पृष्ठ है, भूमि पात्र है, अन्तरिक्ष जीवात्मा है और समुद्र का जल तुम्हारी उत्पत्ति का कारण है। तुम नेत्रों से उखा के योग्य मृत्तिका को देखकर संग्राम करने की इच्छा करने वाले शत्रु, राक्षस आदि को मृत्तिका में छिपा हुआ जानकर चरणों से आक्रमण कर उनको नष्ट कर दो ॥ २० ॥

'द्यौस्त इति पृष्ठस्योपरि पाणिं धारयन्ननुपस्पृशन्' (का० श्रौ० १६।२।१८)। अश्वस्य स्पर्शमकुर्वन्नध्वर्युर्दक्षिणं हस्तमश्वपृष्ठस्योपरि धारयन् द्यौस्त इति मन्त्रं पठेत। आर्षी बृहती। अश्वदेवत्या। हे अश्व ! यस्य ते द्यौः द्युलोकः पृष्ठमुपरिभागः। पृथिवीलोकस्तव सधस्थम् अग्निना सहावस्थानम्, पादावित्यर्थः। अन्तरिक्षलोकस्त आत्मा मध्यशरीरम्। मध्यशरीरवर्ती जीवात्मा वा। समुद्रः उदकं तव योनिः जन्मस्थानम्। 'अप्सु योनिर्वा अश्वः' इति श्रुतेः। स त्वमेवं स्तूयमानश्चक्षुषा विख्याय उखायोग्यां मृदं विलोक्य पृतन्यतः संग्रामं कर्तुमिच्छतः शत्रून् राक्षसादीन् पाप्मनोऽस्यां मृदि गूढरूपेणावस्थितान् आतिष्ठ पादेनाक्रम्य विनाशय। पृतनामिच्छन्ति पृतन्यन्ति 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इति पृतनाशब्दस्यान्तलोपे शतरि द्वितीयाबहुवचने रूपसिद्धिः।

तथैव ब्राह्मणमाह—'अथैनमुन्मृशति। एतद्वा एनं देवाः प्रोचिवाᳬसं वीर्येण समार्धयंस्तथैवैनमयमेतत्प्रोचिवाᳬसं वीर्येण····समर्धयति द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षᳬ समुद्रो योनिरितीत्थमसीत्थमसीत्येवैतदाह विख्याय चक्षुषा त्वमभितिष्ठ पृतन्यत इति विख्याय चक्षुषा त्वमभितिष्ठ सर्वान् पाप्मन इत्येतन्नोपस्पृशति वज्रो वा अश्वो नेन्मायं वज्रो हिनसदिति' (श० ६।३।३।१२)। अश्वाभिमन्त्रणं विधत्ते—अथैनमुन्मृशतीति। प्रोचिवांसम्, अत्राग्निरस्तीति। उन्मर्शनं नाम अश्वपृष्ठस्योपरि पाणिधारणम्। मन्त्रं विधत्ते—द्यौस्त इति। इत्थमसीत्थमसीति 'द्युलोकात्मासि' 'पृथिव्यात्मासि' इत्याद्यर्थो वीप्साकृतः। पृतन्यत्पदं व्याचष्टे- सर्वान् पाप्मन इति। अश्वमस्पृशन्नेव 'उत्क्राम' (वा० सं० ११।२१) इति मन्त्रेणाश्वोत्क्रामणं कारयेदित्यर्थः। तद् विधत्ते—नोपस्पृशतीति।

अध्यात्मपक्षे—साधकाय विराडुपासनमुपदिशन्नाह—हे सौम्य, द्यौस्ते पृष्ठम्, पृष्ठद्युलोकयोरभेदानुसन्धानं कुर्वित्यर्थः। तथैव पृथिवीपादयोरभेदश्चिन्त्यः। अन्तरिक्षमात्मा मध्यशरीरमिति विभावनीयम्। समुद्रो योनिरिति तयोरभेदश्चिन्त्यः। अहमस्मि विराड्रूपो द्यौर्मे पृष्ठं पृथिवी मे पादौ अन्तरिक्षमात्मा मध्यदेशः समुद्रः परमात्मा एव मम योनिः कारणम्। स त्वं चक्षुषा ज्ञानमयेन विख्याय विलोक्य पृतन्यतः पाप्मनः, अभितिष्ठ विनाशय।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् राजन्, यस्य ते तव द्यौः प्रकाश इव विनयः पृष्ठम्। अर्वाग्व्यवहारः पृथिवी भूमिरिव सधस्थं सहस्थानम्। अन्तरिक्षमाकाश इवाक्षयोऽक्षोभ्य आत्मा स्वरूपं समुद्रः सागर इव योनिः निमित्तं स त्वं चक्षुषा विख्याय प्रसिद्धीकृत्य पृतन्यतः पृतनामिच्छतो जनस्य अभितिष्ठ आभिमुख्येन तिष्ठ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागस्यैव दोषत्वात् द्यौरित्यस्य प्रकाश इव विनयः, पृष्ठमित्यस्य अर्वाग्व्यवहार इत्यर्थकरणं च निर्मूलमेव। पृथिवी ते सहस्थानं किमित्यस्पष्टमेव। यद्याकाशमिवाक्षोभ्य आत्मा, तदा तस्य नित्यत्वेन कथं निमित्तसापेक्षत्वम्? ऐश्वर्यप्रसिद्धिं कृत्वा पृतन्यतोऽभिमुखे तिष्ठेत्यपि निरर्थकम्, प्रसिद्धेस्तत्रानुपयोगात् ॥ २० ॥

उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन्।
वयꣳ स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्याः ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! तुम धन देने वाले हो, हमारे भाग्य की वृद्धि के लिये इस स्थान से चल पड़ो। हम इस पृथ्वी के ऊपरी हिस्से पर अग्नि के खनन का उद्योग करते हुए सानुग्रह श्रेष्ठ बुद्धि को प्राप्त करें ॥ २१ ॥

'उत्क्रामेत्युत्क्रमयति' (का० श्रौ० १६।२।१९)। उत्क्रामेति मन्त्रेण पिण्डतोऽश्वमुत्क्रमयेत्, पृथक् कुर्यादित्यर्थः। विराडश्वदेवत्या। दशार्णचतुष्पादा विराट्पङ्क्तिः। द्वितीय एकादशार्णस्तेनैकाधिका। हे वाजिन्नश्व, त्वं द्रविणोदा धनप्रदः, द्रविणो धनं ददातीति द्रविणोदाः, द्रविणस् इति सान्तः शब्दः। त्वं मे मम महते विशालाय सौभगाय सौभाग्याभिवृद्धचर्थम् अस्मात् स्थानात् खननप्रदेशादुत्क्राम उद्गच्छ, उद्गतो भव। भगशब्द ऐश्वर्यवचनः। शोभनो भग ऐश्वर्यं यस्यासौ सुभगस्तस्य भावः सौभगं तस्मै। वयं तु त्वयि उद्गते पृथिव्याः सुमतौ शोभनायां सानुग्रहायां बुद्धौ स्याम तिष्ठेम। कीदृशा वयम् ? अस्याः पृथिव्या उपस्थे उपरिभागे क्रोडे, अग्निमग्निहेतुं मृदं खनन्तः खनितुमुद्योगं कुर्वाणाः स्यामेत्यनुषङ्गः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुत्क्रमयति। एतद्ध देवा अब्रुवन् किमिममभ्युत्क्रमिष्याम इति महत्सौभगमिति तं महत्सौभगमभ्युदक्रमयंस्तथैवैनमयमेतन्महत्सौभगमभ्युत्क्रमयत्युत्क्राम महते सौभगायेत्युत्क्राम महते सौभगमित्येवतत्तस्मादु हैतदश्वः पशूनां भगितमोऽस्मादास्थानादिति यत्रैतत्तिष्ठसीत्येतद् द्रविणोदा इति द्रविणꣳ ह्येभ्यो ददाति वाजिन्निति वाजी ह्येष वयꣳ स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्या इति वयमस्यै पृथिव्यै सुमतौ स्यामाग्निमस्या उपस्थे खनन्त इत्येतत्' (श० ६।३।३।१३)। उत्क्रमणस्य प्रयोजनं वक्तुं देवानां प्रश्नमाह—किमिममिति। किं प्रयोजनमुद्दिश्य अभ्युत्क्रमिष्याम इत्यर्थः। प्रयोजनमाह—महत्सौभगमिति। मन्त्रं विधत्ते—उत्क्रामेति। उक्तार्थो मन्त्रः। अश्वस्य सौभाग्यमाह—तस्मादु हैतदश्वः पशूनामिति। ये पशवो व्यापनशीलाः शीघ्रगामिनस्तेषां मध्येऽसावश्वो भगितमः अतिशयेन भगवान्, राजवाहनत्वात्। अस्मात् स्थानादिति व्याचष्टे—यत्रैतत्तिष्ठति तत उत्क्रामेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे वाजिन्नन्नवन् भोक्तः, त्वमस्माद् आस्थानाद् गृहाश्रमाद् उत्क्राम उद्गच्छ। उपरि वानप्रस्थाश्रमं संन्यासाश्रमं वा गच्छ स्वीकुरु। किमर्थम् ? महते सौभगाय ब्रह्मात्मभावप्राप्तये ब्रह्मलोकप्राप्तये वा। कीदृशस्त्वम् ? द्रविणोदाः, द्रविणांसि विद्याबलराज्यधनादीनि ददाति स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं ब्राह्मणादिस्वत्वमापादयतीति द्रविणोदाः, भगवच्चरणपङ्कजसमर्पणबुद्धया दानादिपरायणद्रविणोपलक्षितसर्वत्यागी। यूयमन्ये वयं च सर्वे पृथिव्या माधव्या धरित्र्यास्तज्जनिताया जनकनन्दिन्याः सुमतौ शोभनायां सानुग्रहायां बुद्धौ स्याम। अनुग्रहयुक्ताया बुद्धेर्गोचरा भवेम। किं कुर्वन्तः ? अग्निं सर्वराक्षसचमूदाहकं श्रीरामं सर्वाधिष्ठानम् अस्या उपस्थे उत्सङ्गे खनन्तः अन्वेषयन्तः।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन् विद्वन् प्राप्तैश्वर्य, यथा द्रविणोदा धनप्रदोऽस्याः पृथिव्या भूमेरस्माद् आस्थानाद् निवासस्थानस्य सकाशाद् उपस्थे सामीप्ये अस्या अग्निं खनन्तोऽग्निविद्यामन्वेषयन्तो वयं महते सौभगाय शोभनैश्वर्याय सुमतौ शोभनप्रज्ञायां प्रवृत्ताः स्याम, तथा त्वमुत्क्राम' इति, तदपि तुच्छम्, अन्यस्योन्नत्यान्यस्यैश्वर्यप्राप्त्यसम्भवात्। किञ्चास्मादास्थानादित्यनेनैवाभीष्टसिद्धौ पृथिव्या अस्मादिति योजनायासवैयर्थ्यात्। आस्थानं निवासस्थानमिति त्वदुक्तोऽर्थः। नहि त्वद्रीत्या पृथिव्या अन्यत्र निवासस्थानं सम्भवति। अग्निमित्यस्य अग्निविद्यामिति कथमर्थः ? विद्याग्न्योर्विषयविषयिभावेन भेदस्यावश्यं भावित्वात्। 'सुमतौ प्रवृत्ताः स्याम' अत्रापि प्रवृत्ता इत्यध्याहारोऽप्रामाणिक एव।

यत्तु—'सायणाचार्येण द्रविणोदा इति पदं क्विबन्तं साधितम्, तदशुद्धमेवास्ति, निरुक्तकारस्य द्रविणोदसमिति व्याख्यानविरोधात्' इति, एतदेवाशुद्धम्, द्रविणोद इत्यकारान्तः, द्रविणोदा इत्याकारान्तः, द्रविणोदसमिति सकारान्तः। एतेषां त्रयाणामपि समानार्थानां पाठानां ऋग्वेदसंहितायां दर्शनेनादोषात्, 'द्रविणोदा द्रविणसः' (ऋ० सं० १।१५।७) इति मन्त्रव्याख्याने यास्कोक्तिमुद्धृत्य सायणाचार्येण विचारितत्वात्। यत्तु 'प्रकृतमन्त्रव्याख्याने यास्केन सकारान्तोऽयं शब्द इति व्याख्यातम्, तदपेक्ष्याशुद्धत्वोक्तिः' इति, तदपि तुच्छम्, यास्केन तथा व्याख्यानेऽपि क्विबन्तव्याख्यानस्याशुद्धत्वानुपपत्तेः, अन्यथा ब्राह्मणविरुद्धत्वेन त्वद्रीत्या सर्वस्यैव दयानन्दीयव्याख्यानस्याशुद्धत्वापत्तेः। यत्तु 'यास्केन 'दसु उपक्षये' इत्येतस्येदं रूपं निरुक्ते सकारान्तस्वीकारात्' इति, तदपि मन्दम् 'दसु उपक्षये' इत्यस्य रूपत्वेऽर्थान्तरापत्तेः, 'बलधनयोर्दातृतमः' (नि० ८।१) इति निरुक्तविरोधात्। ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदस उच्यन्ते। हविषो दातारस्ते इति च तत्र दानार्थकप्रयोगेण 'दसु उपक्षये' इत्यसङ्गतेः।

सायणाचार्येण तु नैरुक्तः पक्षोऽपि प्रदर्शितः। तथाहि—तमेतं मन्त्रं यास्क एवं निर्वक्ति—'द्रविणोदाः कस्मात्? धनं द्रविणमुच्यते यदेनमभिद्रवन्ति बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति तस्य दाता द्रविणोदास्तस्यैषा भवति। द्रविणोदा द्रविणसः' (नि० ८।१) ···· ···· 'द्रुद्रक्षिभ्यामिनन्' (उ० २।२०८) नित्त्वादाद्युदात्तो द्रविणशब्दः, तद्ददातीति द्रविणोदाः। 'क्विप् च' (पा० सू० ३।२।७६) इति क्विप्। पूर्वपदस्य सकारोपजनश्छान्दसः। रुत्वोत्वे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। देवविशेषणत्वेन एकवाक्यतापक्षे द्वितीयायाः स्वादेशः। एवम्—'द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे। यज्ञेषु देवमीळते॥' (ऋ० सं० १।१५।७) 'यज्ञेषु देवमीळते। याचन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा' (नि० ८।२) इति नैरुक्ता अप्यर्थं विविधतयोपपादयन्ति। अथवा 'द्रविणसस्तस्मात्पिबत्विति द्रविणोदाः' (नि० ८।२) इत्यतः प्रथमैकवचनादपरिणतादेव द्रविणस इत्यस्य पञ्चम्येकवचनेन सोऽभिधानत्वेन सामर्थ्यमुन्नीय पिबत्वित्याख्यातमध्याहृत्यात्रैव समापयाञ्चकार। यथा यं देवं द्रविणोदसमध्वरेषु यज्ञेषु ग्रावहस्तास ऋत्विज ईळते, स देवो द्रविणोदा द्रविणसः सोमाद् द्रविणसंभोक्तुरादाय स्वमंशं पिबत्वित्येतदाशास्महे। सर्वमेतत् 'द्रविणोदा यस्तं द्रविणस इति द्रविणसादिन इति वा द्रविणसानिन इति वा द्रविणसस्तस्मात्पिबतिवति वा' (नि० ८।२) इत्यनेनोक्तम्।

सायणाचार्यस्तु—'अध्वरेऽग्निष्टोमे प्रकृतिरूपे यज्ञेषु विकृतिरूपेषु उक्थ्यादिषु च देवमग्निमीळते ऋत्विजः स्तुवन्ति। कीदृशा ऋत्विजः? द्रविणसो ग्रावहस्तासोऽभिषवसाधनपाषाणधारिणः। कीदृशं देवम्? द्रविणोदाः धनप्रदम्। क्विबन्तपाठे द्रविणोदा इति द्वितायान्तमेव पदम्। प्रथमान्तोऽपि द्रविणोदा इत्येव। तदप्याह सायणाचार्यः। यद्वा धनप्रदोऽग्निः सोमं पिबत्विति शेषः। एवं नैरुक्तप्रकरणं जानानोऽपि सायणः प्रकारान्तरेण व्याख्यातवान्। 'द्रसु उपक्षये' इत्यस्मादपि द्रविणसशब्दो दानार्थकः कथमुपपद्यत इत्यपि सायण आह—'अथवा द्रविणमात्मन इच्छन्ति द्रविणस्यन्ति, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः' (पा० सू० म० ७।१।५१।२) इति क्यचि सुगागमः। द्रविणस्यते सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्, अतो लोपः 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत् भवति' (पा० सू० म० १।१।५८।२) इति तस्य स्थानिवत्त्वप्रतिषेधाद् यलोपः। एवं द्रविणस्शब्दो धनेच्छावचनः। द्रविणेच्छां दस्यति यथेव धनप्रदानेन उपक्षयतीत्यर्थे 'दसु उपक्षये' इत्यस्माद् अन्तर्भावितण्यर्थात् 'क्विप् च' (पा० सू० ३।२।७६) इति क्विपि द्रविणोदःशब्दः सकारान्तो भवति। तथा 'द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति' (नि० ८।२) इति नैरुक्तो व्यवहार उपपद्यते। अतो द्रविणोदस्शब्दो भिन्नवाक्यत्वे स्वार्थे प्रथमान्तः, एकवाक्यत्वे तु व्यत्ययेन द्वितीयार्थोऽपि भवति। द्रविणस इत्यत्रापि वाक्यभेदपक्षे द्रविणसः सोमस्येत्यर्थे सकारोपजनश्छान्दसः। आद्युदात्तत्वं नियमेन स्थितम्। ऋत्विग्विशेषणत्वेन एकवाक्यत्वपक्षे तु

क्यजन्तात्क्विप् । अतो लोपादिपूर्ववत् । अत्र पक्षे क्यचः चित्त्वेनान्तोदात्तत्वे प्राप्ते व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम् । तथा च निरुक्तदृष्ट्याप्ययं मन्त्रार्थः सङ्गच्छते, सायणदृष्ट्यापि । यदि क्विबन्तोऽपि भवत्येव, तदा यास्केन सकारान्ताभ्युपगमेऽपि तथा व्याख्याने का बाधा ? ॥ २१ ॥

उद॑क्रमीद् द्रविणो॒दा वा॒ज्यर्वाकः॒ सुलो॒कँ सुकृ॑तं पृथि॒व्याम् ।
तत॑: खनेम सु॒प्रती॑कम॒ग्निँ॒ स्वो॒रुहा॑णा अधि॒ नाक॑मुत्त॒मम् ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—इस चंचल धनप्रद अश्व ने पृथ्वी की ऊपरी परत पर उतर आये सुन्दर लोक को पुण्यवान् किया है। उस देश से दुःखरहित श्रेष्ठ स्वर्गलोक पर आरोहण करने की इच्छा करने वाले हम सुन्दर सुख देनेवाले पुरीष्य अग्नि का मृत्पिण्ड से खनन करने का उद्योग करते हैं ॥ २२ ॥

'उदक्रमीदित्यभिमन्त्रयते' (का० श्रौ० १६।२।२०)। मृत्पिण्डादुत्तरितपादमश्वम् उदक्रमीदिति मन्त्रेणाभिमन्त्रयते । आश्वी त्रिष्टुप् । द्रविणोदा यागकरणे धनप्रदो वाजी अन्नप्रदोऽर्वा अरणशीलो गमनकुशलश्चञ्चलो वाऽयमश्वः, यस्मात् स्थानाद् उदक्रमीद् उदगच्छद् ऊर्ध्वं पादविक्षेपमकरोत्, तं स उत्क्रान्तोऽश्वः सुकृतम् आक्रमणेन यागबाधकान् राक्षसानाहत्य सुष्ठु शोभनं कृतं पुण्यवन्तं सुलोकं सुष्ठु शोभनं लोकं स्थानं खननप्रदेशे अकः अकरोत् । ततस्तस्मात् प्रदेशाद् अग्नियोग्यां मृदं वयं खनेम । कीदृशमग्निम् ? सुप्रतीकं सु शोभनं प्रतीकं मुखं यस्य तं सुमुखम् । खनितारो वयं कीदृशाः ? स्वः स्वर्गम् अधिरुहाणा आरोहणं कुर्वाणा आरोहणकामाः। कीदृशं स्वः ? नाकं कं सुखम्, न कं अकम् दुःखम्, न अकं नाकम्, यत्र गतानां दुःखं नास्ति सर्वदा सुखमयं तत् । अधीत्युपरिभावे ऐश्वर्ये वा । उत्तममुत्कृष्टम् । करोतेर्लङि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति तिलोपे अक इति रूपम् । शतपथे सायणाचार्यरीत्या स्वकार्यकारणयोरुभयोरपि साधुत्वं द्योतयितुमुभयत्र सुशब्दप्रयोगः । हे अश्व, त्वं पृथिव्यां सुकृतं सुष्ठु निष्पादितं सुलोकं शोभनं लोकम् अकः अकरः । 'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः' (पा० सू० २।४।८०) इति च्लेर्लुकि गुणे सिलोपे रूपम् । यद्यपि प्रथमपुरुषैकवचने तिलोपे च समानं रूपम्, तथापि अकरः सुलोकमिति ब्राह्मणव्याख्यानुसारेण मध्यमपुरुषानुसारि व्याख्यानम् । सुप्रतीकं शोभनावयवम् ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुत्क्रान्तमभिमन्त्रयते । एतद्वा एनं देवाः प्रोचिवाँसं यथा ददिवाँसं वन्देतैवमुपास्तुवन्नुपामहयंस्तथैवैनमयमेतदुपस्तौत्युपमहयत्युदक्रमीदित्युद्ध्यक्रमीद् द्रविणोदा इति द्रविणँ ह्येभ्यो ददाति वाज्यर्वेति वाजी च ह्येषोऽर्वा चाकः सुलोकँ सुकृतं पृथिव्यामित्यकरः सुलोकँ सुकृतं पृथिव्यामित्येतत्ततः खनेम सुप्रतीकमग्निमिति तत एनं खनेमेत्येतत्सुप्रतीकमिति सर्वतो वा अग्निः सुप्रतीकः स्वोरुहाणा अधि नाकमुत्तममिति स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गं लोकँ रोहन्तोऽधि नाकमुत्तममित्येतत्तं दक्षिणतोपसंक्रमयति यत्रेतरौ पशू भवतस्ते दक्षिणतः प्राञ्चस्तिष्ठन्ति स य एवामुत्र दक्षिणतः स्थानस्य बन्धुः सोऽत्र' (श० ६।३।३।१४)। अकः सुलोकमित्येतद् व्याचष्टे—अकरः सुलोकमिति । अन्तिमं पादं व्याचष्टे—स्वर्गो वै लोको नाक इति । अभिमन्त्रितस्याश्वस्य रासभाजाभ्यां सहावस्थापनं विधत्ते—तं दक्षिणोपसंक्रमयतीति । दक्षिणशब्दादाचिप्रत्यये कृते रूपं दक्षिणेति । 'स य एवामुत्र दक्षिणतः स्थानस्य' इत्यनेन पूर्वमश्वरासभाजपशुविधानं प्रस्तुत्य त्रिवृन्मुञ्जेन बद्धाः 'ते प्राञ्चस्तिष्ठन्ति' इत्युपक्रम्य 'ते दक्षिणतस्तिष्ठन्त्येतद्वै देवा अबिभयुः' (श० ६।३।१।२८-२९) इति यद् ब्राह्मणमुक्तम्, सोऽत्र बन्धुर्ब्राह्मणमिति ब्राह्मणातिदेश इति सायणाचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे—वाजी अन्नवान् भोक्ता साधको द्रविणोदाः सन् दानयागादिभिस्त्यागशीलः सन् उदक्रमीद् ऊर्ध्वं ब्रह्म ब्रह्मलोकं वा अक्रमीद् गतवान्। कीदृशो वाजी ? अर्वा अरणशीलः पुरुषार्थपरायणः । कीदृशं लोकम् ? सुलोकं सुष्ठुतया लोक्यते अपरोक्षतया दृश्यते वृत्तिव्याप्त्या इति सुलोकं ब्रह्म। शोभनं वा लोकं ब्रह्मणः सगुणस्य लोकं विशिष्टं धाम यतः पृथिव्यां मर्त्यलोके सुकृतं शोभनं पुण्यकर्मोपासनादिलक्षणम् अकः कृतवान्, ततस्तस्मात् कारणाद् वयं सर्वेऽपि, उत्तमम् उत्कृष्टं स्वः स्वर्गं मोक्षाख्यं सुखं नाकं दुःखासम्भिन्नमधिरुहाणा अधिरोहन्तः सुप्रतीकं शोभनावयवं शोभनमुखमग्निं परमेश्वरं सगुणं साकारं शोभनानि प्रतीकानि यस्य तं विविधप्रतीकोपलक्षितं निर्गुणं निराकारं वा ब्रह्म खने सुमतिकुद्दालकेन वेदवेदान्तादिशास्त्रलक्षणं पावनं पर्वतं खनित्वा ज्ञानविरागाभ्यामक्षिभ्यामन्विष्य प्राप्नुमः।

दयानन्दस्तु—'हे भूगर्भविद्याविद् विद्वन्, द्रविणोदा धनदाता भवान् यथा अर्वा अश्वः, तथा पृथिव्यामध्युदक्रमीद् उत्तमतया क्रमणं कुर्यात्। सुलोकं द्रष्टव्यं सुकृतं धर्माचारेण प्राप्यम् उत्तममतिश्रेष्ठं नाकम् अविद्यमानदुःखम्, अकः सिद्धं कुर्यात्। ततः स्वः सुखं रुहाणाः प्रादुर्भवन्तो वयमप्यस्यां सुप्रतीकं शोभना प्रतीतिर्यस्य तम् अग्निं व्यापकं विद्युदाख्यं खनेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नात्र भूगर्भविद्याविदः सम्बोध्यन्ते, मानाभावात्, न स धनदाता भवति, अश्वस्तु अदृष्टविधया धनदाता भवत्येव। न चादृष्टप्रकारस्त्वयाऽभ्युपेयते, न चाश्वोत्क्रमणं मनुष्योन्नतौ दृष्टान्तः सम्भवति। न चासति हेतौ लकारव्यत्ययोऽपि। न च मूले दार्ष्टान्तोक्तिः। स्वर्गलोकं रोहन्त इति पूर्वोक्तब्राह्मणविरुद्धं चैतद् व्याख्यानम्। सुप्रतीकमित्यस्य शोभना प्रतीतिर्यस्येत्यप्यपव्याख्यानम्, प्रतीतिप्रतीकयोर्भिन्नत्वात् ॥ २२ ॥

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम् ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! तुम सम्पूर्ण भुवनों में निवास करते हुए तिर्यक् प्रमाण ज्योति से विस्तीर्ण धूम से महान् अवकाशवान्, विविध अन्नों से परिपूर्ण, उत्साहसम्पन्न और प्रत्यक्षगोचर हो। मैं श्रद्धायुक्त चित्त से घृत द्वारा तुम्हें प्रदीप्त करता हूँ ॥ २३ ॥

'उपविश्य मृदमभिजुहोत्या त्वा जिघर्मीति व्यतिषक्ताभ्यामृग्भ्यामाहुती स्रुवेणाश्वपदे' (का० श्रौ० १६।२।२२)। अध्वर्युः पिण्डसमीपे उपविश्य मृत्पिण्डस्योपरि जायमाने अश्वपदे अश्वपदमुद्रायाम् आ त्वा जिघर्मीति द्वाभ्यामृग्भ्यां व्यतिषक्ताभ्यां परस्परं संश्लिष्टाभ्यां स्रुवेण द्वे आहुती जुहुयात्। तत्र आ त्वा जिघर्मीति (वा० सं० ११।२३) पूर्वस्याः पूर्वार्धं 'मर्यश्रीः' (वा० सं० ११।२४) इत्युत्तरस्या उत्तरार्धं पठित्वा एकाहुतिः, 'आ विश्वत' (वा० सं० ११।२४) इत्युत्तरस्याः पूर्वार्धं 'पृथुं तिरश्चा' (वा० सं० ११।२३) इति पूर्वस्या उत्तरार्धं पठित्वा द्वितीयाहुतिरित्येवं व्यतिषङ्गः कार्यः। गृत्समददृष्टे आग्नेय्यौ द्वे त्रिष्टुभौ। हे अग्ने, मनसा श्रद्धात्मना चेतसा घृतेन आज्येन च त्वा त्वां जिघर्मि आजुहोमि दीपयामि, आसिञ्चामि च। 'घृ क्षरणदीप्त्योः'। कीदृशं त्वाम् ? विश्वा सर्वाणि भुवनानि प्रतिक्षियन्तं प्रत्येकं सर्वत्र भूतेषु निवसन्तम् 'क्षि निवासगत्योः'। तिरश्चा पृथुं तिरोऽञ्चतीति तिर्यक् तेन तिर्यगञ्चनेन ज्योतिषा पृथुं विस्तीर्णम्, वयसा धूमेन बृहन्तं महान्तम्, 'इतो वा अयमूर्ध्वꣳ रेतः सिञ्चति धूमꣳ सामुत्र वृष्टिर्भवति' इति श्रुतेः। अत एव व्यचिष्ठं व्यापनवन्तम् अवकाशवन्तम्। व्यचोऽवकाशः सोऽस्यास्तीति व्यचवान्, अतिशयेन व्यचवान् व्यचिष्ठस्तम्। यद्वा तिरश्चा तिर्यक्प्रमाणेन पृथु विस्तृतमिति बहुदेशव्याप्तिः। वयसा वयउपलक्षितेन कालेन बृहन्तम्। अनेन बहुकालव्याप्ति

रुक्ता, देशकालानवच्छिन्नमित्यर्थः। अत्रैर्हुतैर्घृतादिभिर्भृशमुत्साहवन्तं दृशानं दर्शनीयं दृश्यमानं वा। अदृश्या अन्या देवता अयं तु दृश्य इत्यर्थः। तादृशमग्निं त्वां जिघर्मीति सम्बन्धः। यद्वा हे अग्ने, त्वामहं मनसा श्रद्धावता चेतसा ध्यायन् घृतेन आज्येन आजिघर्मि आक्षारयामि दीपयामि वा। व्यचिष्ठम् अतिशयेन विविधमञ्चनं गमनं यस्य तादृशम्। शेषं पूर्ववत्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथोपविश्य मृदमभिजुहोति। एतद्वै देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमाना एतामाहुतिमपश्यंस्तामजुहवुस्ताᳪं हुत्वेमाँल्लोकानुखामपश्यन्' (श० ६।३।३।१५) इति। एतदेव 'उपविश्य मृदमभिजुहोत्या त्वा जिघर्मीति व्यतिषक्ताभ्यामाहुती स्रुवेणाश्वपदे' (का० श्रौ० १६।२।२२) इति पूर्वोद्धृतसूत्रेण कात्यायनः सूत्रितवान्। व्यतिषङ्गश्चैकस्याः पूर्वार्धम् इतरस्या उत्तरार्धमित्येका ऋक्। एवमितरावप्यर्धर्चौ संयोजनीयौ। एवं व्यतिषक्ताभ्यामृग्भ्यामश्वस्य पदे द्वे आहुती जुहुयात्। तदिदं सार्थवादं विधत्ते—अथोपविश्येति। उपविश्येति मृत्संस्कारत्वादुपवेशः। प्रथमाहुतिं हुत्वा लोकत्रयात्मिकामुखामपश्यन्। 'तेऽब्रुवन् चेतयध्वमेवेति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन् ते चेतयमाना एतां द्वितीयामाहुतिमपश्यंस्तामजुहवुस्ताᳪं हुत्वा विश्वज्योतिषोऽपश्यन्नेता देवता अग्निं वायुमादित्यमेता ह्येव देवता विश्वं ज्योतिस्तथैवैतद्यजमान एते आहुती हुत्वेमांश्च लोकानुखां पश्यत्येताश्च देवता विश्वज्योतिषो व्यतिषक्ताभ्यां जुहोतीमांश्च तल्लोकानेताश्च देवता व्यतिषजति' (श० ६।३।३।१६)। द्वितीयाहुतिं हुत्वा विश्वज्योतिर्नामिष्टका दृष्टवन्तः। विश्वज्योतिस्संज्ञकानां तिसृणामिष्टकानां देवतासम्बन्धमाह—अग्निं वायुमादित्यमिति। व्यतिषक्ताभ्यामृग्भ्यां हवनेन त्रीन् इमांल्लोकान् एता अग्निं वाय्वादित्यस्वरूपा देवताश्च व्यतिषक्तवान् भवति। पृथिवीलोकस्याग्निम् अन्तरिक्षलोकस्य वायुं द्युलोकस्यादित्यमिति। 'यद्वेवैते आहुती। जुहोति। मृदं च तदपश्च प्रीणाति ते इष्ट्वा प्रीत्वाऽथैने सम्भरति व्यतिषक्ताभ्यां जुहोति मृदं च तदपश्च व्यतिषजति' (श० ६।३।३।१७)। प्रकारान्तरेणाहुतिद्वयं प्रशंसति—यद्वेवैते इति। आहुतिद्वयेन मृदमपश्च प्रीणितवान् भवति। यतो व्यतिषक्ताभ्यां होमः, अतो मृदमपश्चोखार्थं संयोजयति। 'आज्येन जुहोति। वज्रो वा आज्यं वज्रमेवास्मा एतदभिगोप्तारं करोत्यथो रेतो वा आज्यᳪं रेत एवैतत् सिञ्चति स्रुवेण वृषा वै स्रुवो वृषा वै रेतः सिञ्चति स्वाहाकारेण वृषा वै स्वाहाकारो वृषा वै रेतः सिञ्चति' (श० ६।३।३।१८) इति। 'आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेनेति। आ त्वा जुहोमि मनसा च घृतेन चेत्येतत् प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वेति प्रत्यङ् ह्येष सर्वाणि भूतानि क्षियति पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तमिति पृथुर्वा एष तिर्यङ् वयसो बृहन् धूमेन व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानमित्यवकाशवन्तमन्नैरन्नादं दीप्यमानमित्येतत्' (श० ६।३।३।१९)। मन्त्रं प्रतिपादमनूद्य व्याचष्टे—आ त्वेति। व्यचिष्ठरभसपदयोर्व्याख्यानम् अवकाशवन्तमन्नादमिति। दृशानमित्यस्य व्याख्यानं दीप्यमानमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे देव, त्वा त्वामहं श्रद्धावता मनसा घृतैर्घृतगन्धिना स्नेहेन विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतानि प्रतिक्षियन्तं प्रत्येकं निवसन्तं सर्वान्तर्यामिणम् आसमन्ताद् जिघर्मि आसिञ्चामि दीपयामि च स्नेहयामि चिन्तयामि। कीदृशं त्वाम्? तिरश्चा तिर्यक्प्रमाणोपलक्षितेन देशेन पृथुं विस्तीर्णं बहुदेशं देशपरिच्छेदशून्यं वयसा वयउपलक्षितेन कालेन बृहन्तं बहुकालव्याप्तं कालापरिच्छिन्नं तथा व्यचिष्ठं व्यचोऽवकाशस्तद्वान् व्यचवान् सोऽतिशयितो व्यचिष्ठः, तम् अनन्तकोटिब्रह्माण्डावस्थानोपयोग्यमवकाशवन्तम्। अन्नैर्भक्तसमर्पितैः पत्रपुष्पफलजलान्नादिभिः, रभसं सोत्साहं सुप्रसन्नं तथा दृशानं दर्शनीयं वृत्तिव्याप्त्या द्रष्टुं शक्यं लीलाविग्रहादिधारणेन परमरमणीयम्।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, यथाहं मनसा घृतेनाज्येन सह विश्वा सर्वाणि भुवनानि भवन्ति येषु तानि वस्तूनि प्रतिक्षियन्तं प्रत्यक्षं निवसन्तं तिरश्चा येन तिरोऽञ्चति तेन वयसा जीवनेन पृथुं विस्तीर्णं बृहन्तं महान्तं

च सह रभसं वेगवन्तं व्यचिष्ठम् अतिशयेन विचितारं प्रक्षेप्तारं दृशानं सम्प्रेक्षणीयं वायुमाजिघर्मि, तथा त्वामप्येनं धारयामि' इति, तदेतत् सर्वथा निरर्थकम्, अस्पष्टत्वात्। मनसा घृतेन च सह सर्वाणि वस्तूनि प्रत्यक्षं निवसन्तं तिरश्चा तिर्यग्गमनेन वयसा जीवनेन विस्तीर्णं महान्तं सम्प्रेक्षणीयं वायुं च आजिघर्मि त्वामप्येनं धारयामि' इत्यस्य कोऽभिप्रायः ? मनसा घृतेन सहेत्यस्य तत्र कथमुपयोगः ? कथं वा सार्थक्यम् ? सर्ववस्तुषु तयोरप्यन्तर्भावात्। भावार्थस्तु मूलाद् दूरोत्सारितः ॥ २३ ॥

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत।

मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, मैं सब ओर प्रत्यगात्मा रूप से व्याप्त होकर घृत द्वारा निष्कपट मन से तुम्हें सिंचित करता हूँ, क्रोधरहित चित्त से इस घृत का सेवन करो। मनुष्यों द्वारा सेवन करने योग्य दर्शनीय कान्तिमान् स्वरूप वाले शरीर से इधर उधर गमन करने वाली अग्नि अभिमर्शन के योग्य नहीं है ॥ २४ ॥

अहम् अग्निं विश्वतः सर्वतः प्रत्यञ्चं प्रत्यगात्मतया प्रतीयमानं सर्वतः प्रतिगतम् आ समन्ताद् जिघर्मि घृतेन हविषा आक्षारयामि दीपयामि च। सोऽप्यग्निः, अरक्षसा क्रौर्यरहितेन प्रसन्नेन महाभाग्येन वा चित्तेन तद् घृतं जुषेत सेवताम्। अग्निरिति साभिप्रायम्—'अग्निर्वै देवानां मृदुहृदयतमः' इत्यादि प्रसिद्धगुणख्यापनार्थम्। कथंभूतोऽयमग्निः ? मर्यश्रीः मर्यैर्मनुष्यैराश्रयणीया श्रीर्यस्य सः। पुनः कथम्भूतः ? स्पृहयद्वर्णः, स्पृहयन् स्पृहणीयो वर्णो रूपं यस्य सः, यजमानैः स्पृहणीयरूप इत्यर्थः। नाभिमृशे, अभिमृश्यत इत्यभिमृट् न अभिमृट् नाभिमृट् तस्मै। तृतीयार्थे चतुर्थी। तनोर्विशेषणमिदम्। अभिमर्शनं कर्तुमयोग्यया तन्वा (दाहकत्वात्) शरीरेण ज्वालालक्षणेन जर्भुराणः, जृम्भत इति जर्भुराणः, इतस्ततश्च गच्छन् 'जभी जृभी गात्रविनामे'। यद्वा अग्निर्नाभिमृशे भवति तन्वा ज्वालालक्षणेन शरीरेण। ईदृशमग्निं जिघर्मीति सम्बन्धः। जृम्भेरौणादिक उरणप्रत्ययः। यद्वा विश्वतः सर्वतः प्रत्यञ्चं प्रत्यगात्मतया प्रतीयमानमग्निम् अरक्षसा रक्षोदोषरहितेन सौम्येन भक्तियुक्तेन मनसा युक्तोऽहमाजिघर्मि आसिञ्चामि तद्घृतं जुषेत सेवेत। तत्र भवानग्निः। कीदृशः सः ? मर्यश्रीः मनुष्यैराश्रयणीयः। स्पृहयद्वर्णः स्पृहयन् परेषां रुचिमुत्पादयन् वर्णो यस्य (भास्करशुक्लत्वात्) सः। तन्वा शरीरेण ज्वालालक्षणेन जर्भुराणो दीप्यमानोऽग्निर्नाभिमृशे, तुमर्थे क्सेप्रत्ययः, अभिमर्शनीयो न भवति।

तत्र ब्राह्मणम्—'आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्मीति। आ सर्वतः प्रत्यञ्चं जुहोमीत्येतदरक्षसा मनसा तज्जुषेतेत्यहीडमानेन मनसा तज्जोषायेतेत्येतन्मर्यश्री····श्रीर्ह्येष स्पृहयद्वर्णोऽग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराण इति नह्येषोऽभिमृशे तन्वा दीप्यमानो भवति' (श० ६।३।३।२०)। मन्त्रं व्याचष्टे—आ विश्वत इति। अरक्षसेत्यस्य व्याख्यानमहीडमानेनेति, 'हेडृ होडृ अनादरे' अक्रुध्यमानेनेत्यर्थः। शेषं स्पष्टम्। 'द्वाभ्यामभिजुहोति। द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतोभूतꣳ····सिञ्चतीन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः सर्वदेवत्योऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतोभूतꣳ सिञ्चति' (श० ६।३।३।२१)। मन्त्रगतां संख्यां प्रशंसति—द्वाभ्यामभिजुहोतीति। यजमानोऽग्निरिति विराडरूपस्याग्नेर्यजमानभाविशरीरात्मकतया च तद्रूपत्वम्। मन्त्रदेवतां प्रशंसति—आग्नेयीभ्यामिति। मन्त्रयोरग्निसम्बन्धं त्रिष्टुप्छन्दश्च प्रशंसति—यावानग्निरिति। अग्निदेवत्येनाग्निरुच्यते। मन्त्रगतत्रिष्टुप्छन्दसा इन्द्रः, त्रिष्टुबिन्द्रयोः सहोत्पत्तेः, 'तमिन्द्रो देवतान्वसृज्यत त्रिष्टुप्छन्दः' (तै० सं० ७।१।१।४) इति श्रुतेः। अग्निरप्यैन्द्राग्नः। 'इन्द्राग्नी इति। इन्द्रः सर्वेषां देवानां परमः, अग्निर्देवानामवमः। उभयोर्मध्यवर्तिन्यः सर्वा देवताः' (ऐ० ब्रा० १।१) इतीन्द्राग्नी सर्वदेवतात्मकौ।

अग्निरपि सर्वदेवत्यः, तस्मिन्नेवाग्नौ सर्वदेवतोद्देश्येन हविःप्रक्षेपात्, 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (श० १।६।२।८) इति श्रुतेः। अग्निर्यत्परिमाणस्तावता परिमाणेन इन्द्राग्निरूपेण प्रकारान्तरेण एवं तत्संख्याकाभ्यामिन्द्राग्निरूपाभ्यां प्रीणितवान भवति। 'अश्वस्य पदे जुहोति। अग्निरेष यदश्वस्तथो हास्यैते अग्निमत्येवाहुती हुते भवतः' (श० ६।३।३।२२)। आहुतिद्वयस्याधिकरणं विधत्ते—अश्वस्य पदे जुहोतीति। यद्यश्वस्य पदे हवनं तर्हि कथमग्निदेवत्यमन्त्रप्रयोगस्तत्राह—'अग्निरेष यदश्वः' (श० ६।३।३।२२) इति। अश्वस्याग्निरूपत्वं प्रागुक्तम्। 'स एतान् पञ्च पशून् प्राविशत्' (श० ६।२।१।३) इति।

अध्यात्मपक्षे—अहमग्निं परमात्मानमासमन्ताद् जिघर्मि सिञ्चामि दीपयामि च। घृतगन्धिना प्रेमामृतेनाभिषिञ्चामि, श्रद्धावता मनसा ध्यानेन दीपयामि। यद्वा सगुणं साकारं परमेश्वरं मनसा श्रद्धावता ध्यायन् घृतेन क्षारयामि। कीदृशमग्निम्? प्रत्यञ्चं देहेन्द्रियादिभ्यो प्रतीपतयाऽच्यतेऽवगम्यते यस्तं देहादयो नानात्वेन संहतत्वेन परप्रकाश्यत्वेनावगम्यन्ते, अयं त्वेकत्वेनासंहतत्वेन स्वप्रकाशत्वेनावगम्यते। तमहमरक्षसा अक्रूरेण सौम्येन भक्तिमता मनसा जिघर्मि। यद्वा स देवोऽरक्षसा अक्रोधनेनानुग्रहवता मनसा तदस्मत्समर्पितं वस्तु जुषेत प्रीत्या सेवेत। कीदृशोऽग्निर्जुषेत? मर्यश्रीः मर्यैः श्रीयते तैराश्रयणीय इति मर्यश्रीः, अथवा मर्याणां श्रीः शोभा सम्पत्तिश्च यस्मात् सः। स्पृहयद्वर्णः स्पृहयन् स्पृहणीयो वर्णो रूपं यस्य सः प्रत्यगात्मरूपेण सर्वप्रेमास्पदत्वात्। सगुणसाकाररूपेण कोटिकन्दर्पलावण्यत्वाद् रामकृष्णादिरूपेण सर्वस्पृहणीयं तद्रूपं प्रसिद्धमेव। सर्वसाधारणैर्नाभिमृशा तन्वा स्प्रष्टुमशक्यया तन्वा शरीरेण जर्भुराणः। उपलक्षणमेतद्दर्शनादीनामपि। जर्भुराणोऽनेकरूपैर्जृम्भमाणोऽपि न सर्वैर्द्रष्टुं स्प्रष्टुं ग्रहीतुं च शक्यते, कृपामात्रैकलभ्यत्वात्।

दयानन्दस्तु—मनुष्यो न यथा विश्वतः सर्वतः अग्निः विद्युद् वायुश्च अभिमृशे आभिमुख्येन मृशन्ति येन तस्मै सहनशीलाय हितकारी अस्ति, यथा तन्वा शरीरेण जर्भुराणो भृशं गात्राणि विनामयत् स्पृहयद्वर्णः स्पृहयद्भिर्वर्ण्यते स्वीक्रियते यः स इव। मर्यश्रीः मर्याणां मनुष्याणां श्रीरिव श्रीर्यस्य सः, अहं यं प्रत्यञ्चं प्रत्यगञ्चतीति शरीरस्थं वायुम्। अरक्षसा रक्षोवदुग्रतारहितेन मनसा चित्तेन आजिघर्मि तथा जुषेत सेवेत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रत्यञ्चमिति द्वितीयान्तस्य अग्निरिति प्रथमान्तस्य कथमस्तिक्रियया योगः, न च वायुबोधकं पदान्तरमस्ति। प्रत्यञ्चमिति पदस्य वायुपरत्वमपि चिन्त्यमेव। अभिमृशन्ति येनेति व्युत्पत्त्यापि कथं सहनशीलोऽर्थः? हितकारीति कस्य पदस्यार्थः? मर्यश्रीत्वमपि तथाविधमेव, सर्वथाप्यनुपपन्नार्थमिदं व्याख्यानम् ॥ २४ ॥

परि॒ वाज॑पतिः क॒विर॒ग्निर्ह॒व्यान्य॑क्रमीत्। दध॒द्रत्ना॑नि दा॒शुषे॑ ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—अन्न का पति क्रान्तदर्शी अग्नि हवि देने वाले यजमान के निमित्त मनोहर विविध रत्न प्रदान करता हुआ यजमान द्वारा दी गई हवि को स्वीकार करता है ॥ २५ ॥

'अभ्र्या पिण्डं त्रिः परिलिखति परिवाजपतिरिति बहिर्बहिरुत्तरयोत्तरयेति' (का० श्रौ० १६।२।२३)। परिवाजपतिरित्यादिमन्त्रत्रयेण वारत्रयं मृत्पिण्डं परिलिखेत्। तत्रापि पूर्वया ऋचा एकवारं परिलिख्य उत्तरया उत्तरया पूर्वलिखिताद्बाह्यदेशे परिलिखेत्। परिवाजपतिरित्यनया प्रथमा रेखा, ततो बहिरुत्तरया परि त्वाग्न इत्यनया द्वितीया रेखा, ततोऽप्युत्तरया त्वमग्न इत्यनयर्चा तृतीया रेखेति। आग्नेयो गायत्री सोमकदृष्ट। अयमग्निर्हव्यानि विविधदेवत्यानि हवींषि परितः अक्रमीत् स्वीकृतवान्। कीदृशोऽग्निः? वाजपतिः वाजस्यान्नस्य पालयिता कविः क्रान्तदर्शी, सर्वज्ञ इत्यर्थः। किं कुर्वन्? दाशुषे हवींषि दत्तवते यजमानाय

रत्नानि रमणीयानि धनानि दधत् प्रयच्छन् । 'दाशृ दाने' इत्यस्य 'दाश्वान्साह्वान्....' (पा० सू० ६।१।१२) इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । दाशतीति दाश्वान् तस्मै दधातीति दधत् 'डुधाञ् विधारणे पुष्टौ दाने' इति कल्पद्रुमोक्तेः ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं परिलिखति । मात्रामेवास्मा एतत्करोति यथैतावानसीत्येवम्' (श० ६।३।३।२३) । परिलेखनेन अस्मै मद्रूपायाग्नये मात्रां परिच्छेदम् इयत्तां करोति कृतवान् भवति । तदेव विवृणोति—अथैतावानसीति । 'यद्वेवैनं परिलिखति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाᳬसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा एतां पुरं पर्य्यश्रयंस्तथैवास्मा अयमेतां पुरं परिश्रयत्यभ्र्या वज्रो वा अभ्रिर्वज्रमेवास्मा एतदभिगोप्तारं करोति सर्वतः परिलिखति सर्वत एवास्मा एतं वज्रमभिगोप्तारं करोति त्रिष्कृत्वः परिलिखति त्रिवृतमेवास्मा एतं वज्रमभिगोप्तारं करोति' (श० ६।३।३।२४)। परिलेखनं प्रशंसितुं देववृत्तान्तमाह—एतद्वै देवा एतां पुरं रेखारूपां परिश्रितवन्त इति । परिलेखने साधनं विधत्ते—अभ्र्येति । सर्वतः परिलिखतीति, चतुर्दिशं वृत्तमित्यर्थः । परिलेखनस्य त्रित्वं विधत्ते—त्रिष्कृत्व इति । त्रिवारं लेखनेन त्रिवृतं वज्रम् अस्मै मृत्पिण्डाय अभिगोप्तारं कृतवान् भवतीत्यर्थः । 'परिवाजपतिः कविः । परि त्वाग्ने पुरं वयं त्वमग्ने द्युभिरित्यग्निमेवास्मा एतदुपस्तुत्य वर्म करोति परिवतीभिः पुरीव हि पुर आग्नेयीभिरग्निपुरामेवास्मा एतत्करोति सा हैषाऽग्निपुरा दीप्यमाना तिष्ठति तिसृभिस्त्रिपुरमेवास्मा एतत्करोति तस्याद्व हैतत्पुरां परमᳬ रूपं यत् त्रिपुरं स वै वर्षीयसा छन्दसा परां परां लेखां वरीयसीं करोति तस्मात् पुरां परा परा वरीयसी लेखा भवन्ति लेखा हि पुरः' (श० ६।३।३।२५) । मन्त्रं विधत्ते-परिवाजपतिरिति । आद्या गायत्री परि त्वाग्ने पुरं वयम् इति द्वितीया अनुष्टुप् । त्वमग्ने द्युभिरिति तृतीया त्रिष्टुप् । तिस्रोऽप्याग्नेय्योऽग्निदेवत्याः । अत एभिः परिलेखनेन अग्निमेव वर्म कवचं मृत्पिण्डाय कृतवान् भवति । मन्त्रत्रयगतं परिशब्दं स्तौति—परिवतीभिरिति । यतो रेखाः पुरात्मिकाः, अतस्तासां परिशब्दयुक्ताभिः ऋग्भिः करणेन प्राकारपरिवृतपुरात्मकत्वमुक्तम् । मन्त्रगतं त्रित्वं प्रशंसति—तिसृभिस्त्रिपुरमेवेति । प्राकारत्रयपरिवृतत्वं पुरामुत्कृष्टतमत्वम् । स वै वर्षीयसेति । अयमभिप्रायः—सोऽध्वर्युर्वर्षीयसा वृद्धेन ततोऽपि वर्षीयसा वृद्धतरेण छन्दसा । उत्तरोत्तराधिकच्छन्दस्काभिर्ऋग्भिः रेखामप्युत्तरोत्तरवरीयसीं महत्तरां करोति । तस्मादुत्तरोत्तराधिकरेखात्रयकरणेन तादृग्भूतप्राकारेण पुरेण मृत्पिण्डं रक्षितवान् भवति ।

अध्यात्मपक्षे—सोऽग्निः परमेश्वरो वाजपतिर्वाजस्यान्नस्य पतिः स्वामी, कविः क्रान्तोपलक्षितातीतानागतवर्तमानसर्ववस्तुदर्शनः सर्वज्ञो दाशुषे पत्रपुष्पफलादिदत्तवते भक्ताय रत्नानि आध्यात्मिकानि भक्तिज्ञानवैराग्यादीनि बाह्यानि सुवर्णादीनि दधत् प्रयच्छन् हव्यानि हवींषि पर्यक्रमीद् भक्तदत्तानि पत्रपुष्पादीनि स्वीकरोति ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यो वाजपतिरन्नादिरक्षको गृहस्थ इव कविः क्रान्तदर्शनो दाता दाशुषे दातुं योग्याय विदुषे रत्नानि सुवर्णादीनि दधद् धरन्निवाग्निः प्रकाशमानो हव्यानि होतुं ग्रहीतुं योग्यानि वस्तून्यक्रमीत् क्रामति तं त्वं जानीहि' इति, तदपि तुच्छम्, असामञ्जस्यात् । तथाहि—कोऽयं प्रापकः, किमर्थं च स ज्ञातव्य इत्यस्पष्टत्वात् । नासौ परमेश्वरः सम्भवति, तस्याप्तकामत्वेन प्राप्तव्याभावात् । न च सामान्यगृहस्थः क्रान्तदर्शनः सम्भवति, दर्शनद्रष्टव्यसत्त्वसापेक्षत्वात् ॥ २५ ॥

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्र॑ᳬ सहस्य धीमहि ।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑ताम् ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—बलपूर्वक मथन करने से उत्पन्न होने वाले हे अग्निदेव, तुम सबके शरीर में पुरी रूप से स्थित हो, पालन करने वाले हो, बुद्धिसम्पन्न हो। तुम प्रतिदिन असह्य रूप वाले राक्षसदल का संहार करने वाले हो, हम सब ओर से आपका ध्यान करते हैं ॥ २६ ॥

आग्नेयी अनुष्टुप्। वायुदृष्टा। हे सहस्याग्ने, सहसि बले भवः सहस्यः, बलेन अरणिमन्थनेन जायमानत्वात्। वयं त्वा त्वां परिधीमहि सर्वतो ध्यायामः स्वीकुर्मो वा। सम्प्रसारणं छान्दसम्। कीदृशं त्वाम्? पुरं पिपर्तीति पुरतम् अपेक्षितफलानां पूरयितारं यद्वा पुरीरूपेण स्थितम्, आग्नेय्यादिपुराणां रक्षकत्वात्। विप्रं विप्रजात्यभिमानिनं मेधाविनं वा। धृषद्वर्णं धृष्णोतीति धृषन् प्रगल्भः, 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' धृषन् वर्णो यस्य तम्। प्रसहनरूपम् असह्यरूपम्। दिवे दिवे प्रतिदिनं भङ्गुरावतां भङ्गुरं भञ्जनीयं पापं तदस्ति येषां ते भङ्गुरावन्तो विघातकारिणो राक्षसादयः, छन्दसि संहितायां दीर्घः, तेषां हन्तारं नाशयितारम्।

अध्यात्मपक्षे—सहसा ज्ञानध्यानादिपराक्रमेण लभ्यः सहस्यः, तत्सम्बुद्धौ। हे अग्ने, वयं त्वां परिधीमहि सर्वतो ध्यायामः। कीदृशं त्वाम्? पुरं सर्वेषामावासाश्रयं पुरमिव पुरम्। पिपर्ति पालयति भक्तानिति पुरतम्। तथा विप्रं मेधाविनं धृषद्वर्णमसह्यरूपम्। धृषन् प्रगल्भो वर्णो रूपं यस्य तम्। भङ्गुरावतां रावणादिराक्षसानां भेत्तारं विनाशयितारं त्वां ध्यायाम इत्यनुषङ्गः।

दयानन्दस्तु—'हे सहस्याग्ने, य आत्मनः सहो बलमिच्छति तत्सम्बुद्धौ हे अग्ने विद्यया प्रकाश्यमान, यथा वयं दिवे दिवे प्रतिदिनं भङ्गुरावतां कुत्सिता भङ्गुराः प्रहताः प्रकृतयो विद्यन्ते येषां तेषां पुरं येन सर्वान् पिपर्ति तत्, अग्निमिव हन्तारं धृषद्वर्णं धृषत्प्रगल्भो दृढो वा वर्णो यस्य तं विप्रं विद्वांसं त्वां परिधीमहि धरेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यायुक्तत्वात्। अग्निवद् विद्यया प्रकाशमान इति सिंहो माणवक इतिवद् गौणार्थाश्रयणादेव। भङ्गुरशब्दस्य दुष्टस्वभावोऽर्थ इत्यप्यसाम्प्रतम्। न वा तद्वतां निश्चितनगरनिर्मितिः, अतद्वतामपि नगरे तेषां सत्त्वात् ॥ २६ ॥

त्वम॑ग्ने द्युभि॒स्त्वमा॑शुशु॒क्षणि॒स्त्वम॒द्भ्यस्त्वमश्म॑न॒स्परि॑।
त्वं वने॑भ्य॒स्त्वमोष॑धीभ्य॒स्त्वं नृ॒णां नृ॑पते जायसे॒ शुचि॑ः ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे मनुष्यों के पालक अग्निदेव, तुम परम पवित्र आर्द्र भूमि को अपनी कान्ति से सुखाकर अन्धकार को दूर करने वाले हो, तुम प्रतिदिन मथन से उत्पन्न होते हो। तुम जल से बिजली के रूप में उत्पन्न होते हो, तुम एक पाषाण के दूसरे पाषाण से टकराने पर उत्पन्न होते हो, तुम वनों में अरण्य काष्ठ से और औषधियों में बाँस आदि से उत्पन्न होते हो। तुम अग्निहोत्र करने वाले मनुष्यों के घर निवास करते हो ॥ २७ ॥

आग्नेयी त्रिष्टुप्, गृत्समददृष्टा। 'प्रथमान्त्यावेकादशार्णौ, द्वितीयतृतीयौ दशार्णौ पादौ यदा तदा पङ्क्तिरेव। तृतीयचतुर्थौ दशार्णौ यदा तदा विराट्स्थाना त्रिष्टुप्। द्वौ वा वैराजौ नवकस्त्रैष्टुभश्च विराट्स्थानेत्युक्तेः' इति महीधराचार्यः। हे भगवन्नग्ने, हे नृपते, नृणां पालक, त्वं द्युभिरहोभिर्निमित्तभूतैरभिमथ्यमानो जायसे। यद्वा द्युभिः स्वर्गनिमित्तभूतैर्याज्ञिकानां यज्ञशालासु जायसे। त्वमाशुशुक्षणिः आशु शीघ्रं शुचा दीप्त्या क्षिणोति हिनस्ति शैत्यं तमो वेति, सनोतीति वा, संभजते वेत्याशुशुक्षणिः। आर्द्रां भूमिमाशु शोषयित्वा जायसे, त्वमद्भ्यो जलेभ्यो विद्युद्रूपेण जायसे त्वमश्मनः पाषाणाच्च परिजायसे। यद्वा अश्मनः परि पाषाणस्योपरि पाषाणान्तरसङ्घट्टनेन जायसे। त्वं वनेभ्योऽरणिकाष्ठेभ्यो जायसे वनेभ्यो वंशादिभ्यो दावाग्निरूपेण वा जायसे। त्वमोषधीभ्य ओषधिकार्येभ्यो जाठरानलरूपेण वा जायसे। त्वं नृणामग्निहोत्रिणां गृहेषु जायसे पुत्रत्वेन, 'पुत्रो

ह्येष सन् स पुनः पिता भवति' इति श्रुतेः। किंभूतस्त्वम् ? शुचिः शुद्धिहेतुः, अपगतपाप्मा वाऽसि, 'पुनः पाकेन मृण्मयम्' (म० ५ १२२) इति स्मृतेः। यद्वा आशुशुक्षणिरिति पञ्चम्यर्थे प्रथमा। आशुशुक्षणेर् आदिदीपयिषोः। आ उपसर्गपूर्वकस्य शोचतेः सन्नन्तस्य रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने! हे परमात्मन् नृपते रामचन्द्र, त्वं द्युभिः स्वर्गनिवासिभिर्देवैर्निमित्तभूतैर्नृणां मध्ये श्रीरामकृष्णादिरूपेण जायसे, त्वं दैत्यदानवानां दहनायाशुशुक्षणिरग्निरूपोऽसि। 'किं वैष्णवं वा कपिरूपमेत्य रक्षोविनाशाय परं सुतेजः। अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं स्वमायया साम्प्रतमागतं वा॥' (वा० रा० सु० ५४।३८) इति रामायणोक्तेः। त्वमद्भ्यो मत्स्यकूर्मरूपेण जायसे। त्वमश्मनः पाषाणमयात् स्तम्भात् नृसिंहरूपेण जायसे। त्वं वनेभ्यो वराहरूपेण जायसे। त्वमोषधिभ्योऽर्थाय धन्वन्तरिरूपेण जायसे। त्वं शुचिः स्वभावतः पवित्रः, त्वन्नामस्मरणेन सर्वपापक्षयस्मरणात्, 'नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्' (भा० पु० १२।१३।२३) इति श्रीमद्भागवतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे नृपते ! अग्ने सभाध्यक्ष, यस्त्वं द्युभिर्दिनैरिव प्रकाशमानैर्न्यायादिगुणैः सूर्य इव त्वमाशुशुक्षणिः शीघ्रं दुष्टान् क्षिणोति हिनस्ति वा यः सः, त्वमद्भ्यो आयुभ्यो जलेभ्यो वा। त्वमश्मनो मेघात् पाषाणाद्वा वनेभ्यो जङ्गलेभ्यो रश्मिभ्यो वा। ओषधिभ्यः सोमलतादिभ्यस्त्वं नृणां मध्ये शुचिः पवित्रः परिजायसे सर्वतः प्रादुर्भवसि, तस्मात्त्वामाश्रित्य वयमप्येवंभूता भवेम' इति, तदपि तुच्छम्, यथाकथञ्चिद् गौणार्थमाश्रित्यार्थवर्णनात्, राजा कथमद्भ्योऽश्मनो वनेभ्य ओषधिभ्यो जायत इत्यस्यासमाहितत्वात्, यास्कमुनिव्याख्यानप्रकारमुल्लिख्यापि तदनुगुणव्याख्यानानुरोधात्।

यास्कव्याख्यानं उव्वटादिसम्मतमेव। तथाहि—'त्वमग्ने द्युभिरहोभिस्त्वमाशुशुक्षणिः, आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः, क्षणिरुत्तरः क्षणोतेराशु शुचा क्षणोतीति सनोतीति वा। शुक् शोचतेः। पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा। तथाहि वाक्यसंयोगः, आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्ताच्चिकीर्षितज उत्तरः। आ शुशोचयिषुरिति, शुचिः शोचतेर्ज्वलतिकर्मणोऽयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव निषिक्तमस्मात् पापकमिति नैरुक्ताः' (नि० ६।१)। तद्रीत्यायमर्थः—हे भगवन्नग्ने, त्वं द्युभिरहोभिर्निमित्तभूतैः पौर्णमास्यादैरेषां मथ्यमानो नृणां जायसे। त्वमाशुशुक्षणिः आशु इति च शु इति च एते क्षिप्रनामनी शु इत्येतदत्र प्रासङ्गिकमन्यत्रोपकारं करिष्यति। तद्यथा 'शुनो वायुः शु इत्यन्तरिक्षे' (नि० ९।४)। आशुशुक्षणिरित्येतेषां पञ्चाक्षराणामाद्यमक्षरद्वयम् आ शु इत्येतत् क्षिप्रनाम। अधुना शु इत्येतत्तृतीयमक्षरमतिक्रम्योत्तरं क्षणिरित्यक्षरद्वयं निर्वक्ति—क्षणिरुत्तरक्षणः, तेष्वार्तो हि स्वार्थस्य सनोतेर्वा संभजनार्थस्य वा मध्यमं शु इत्येतदक्षरं शुचेर्दीप्त्यर्थस्य सर्वैरप्येतैरक्षरैरयमर्थो विज्ञायते—आशु शुचा दीप्त्या क्षणोति हिनस्ति यः स आशुशुक्षणिरग्निः। यद्वा आशु शुचा सनोति संभजते यः सोऽपि स एवाग्निः। क्षणिः क्षणोतेः सनोतेर्वा। शुक् शोचतेः। पञ्चम्यर्थे वा आशुशुक्षणिरित्यत्र प्रथमाविभक्तिः। कुत एतदित्याह—त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्य इत्येतान्युत्तराणि बहूनि पदानि पञ्चम्यन्तानि। तस्मादनेनापि पञ्चम्यन्तेनैव भवितव्यमिति। आशुशुक्षणिरित्येतस्याक्षरपञ्चकस्य य एष पुरस्तादाकार एष तावदुपसर्गः। यः पुनः शुशुक्षणिरिति चतुरक्षरः शब्दः, एष चिकीर्षितजः चिकीर्षितादर्थाज्जातः सन्नन्तादित्यभिप्रायः। तथा च तस्य समस्तस्यायमर्थः—यः कश्चिद् आशु शोचयिषुर् आदिदीपयिषुर्भवति स आशुशुक्षणिर्भवति। तस्मादाशुशुक्षणिस्त्वं हे अग्ने जायसे। कथं केभ्य इत्याह—त्वमद्भ्यो जायसे वैद्युतात्मना। त्वमेवाश्मनः परित इतरेतराभिघाताज्जायसे। त्वं वनेभ्यो दारुभ्यः, त्वमोषधीभ्यः शरादिभ्यः, त्वं नृणां मनुष्याणां हे नृपते मनुष्यपते अभिव्यज्यसे। शुचिः दीप्त इत्यर्थः। शुचि शोचतेर्ज्वलत्यर्थस्य। अयमपीतरः शुचिर्लौकिकः। एतस्मादेव इति वैयाकरणा मन्यन्ते। नैरुक्तास्तु पुनः निःपूर्वात् सिञ्चतेरितरः शुचिरित्येवं मन्यन्ते, निष्कृष्य हि तस्मात्

पापकमशुचित्वमन्यस्मिन् सिक्तं भवतीत्येवम् । अत्राग्निर्वार्त्रघ्न्यो वा । यः कश्चिदग्निं मथित्वा तेन किञ्चिदादि-दीपयिषुर्भवति, स वा आशुशुक्षणिरिति दुर्गाचार्यः ॥ २७ ॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑म्पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । पृ॒थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वत् ख॑नामि । ज्योति॑ष्मन्तं त्वाग्ने सु॒प्रती॑क॒मज॑स्रेण भा॒नुना॒ दीद्य॑तम् । शि॒वं प्र॒जाभ्यो॒ऽहिँ॑ सन्तं पृथि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वत् ख॑नामः ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अभ्रि, सबके प्रेरक सविता देव की आज्ञा में वर्तमान, अश्विनीकुमार की भुजाओं से, पूषा देवता के हाथों से पशु सम्बन्धी अग्नि को भूमि की ऊपरी परत से अंगिरा के समान खनन करता हूँ । हे अग्ने, ज्वालायुक्त सुन्दर मुख में निरन्तर वर्तमान रश्मियों से दीप्तिमान् प्रजा के उपकार के लिये शान्तरूप, कभी हिंसा न करने वाले पुरीष्य नामक अग्नि को भूमि के गर्भ से अंगिरा के समान खनन करता हूँ ॥ २८ ॥

'अभ्र्या पिण्डं खनति देवस्य त्वेति' (का० श्रौ० १६।२।२४)। अभ्र्या पिण्डं परितः खनति देवस्य त्वेति कण्डिकया । देवस्य त्वेति पूर्ववद् व्याख्येयम् । पृथिव्या इत्याग्नेयं यजुः । अत्यष्टिश्छन्दः । हे अग्ने, अहं पृथिव्याः सधस्थात् सहस्थानात् पुरीष्यं पुरीषेषु हितं पशव्यमग्निम् अङ्गिरस्वत् अङ्गिरस इव भूप्रदेशादग्निवत् खनामि । कीदृशमग्निम् ? ज्योतिष्मन्तमर्चिष्मन्तं सुप्रतीकं सुमुखम् अजस्रेण अनवच्छिन्नेन अनुपक्षीणेन निरन्तरं वर्तमानेन भानुना तेजसा दीद्यतं दीप्यमानं प्रकाशमानम् । व्यत्ययेन शता पकारस्य दकारश्च । प्रजाभ्यः प्रजानामुपकाराय शिवं शान्तं तत एवाहिंसन्तं प्राणिनोऽबाधमानं त्वां पृथिव्याः सहस्थानाद् अङ्गिरस इव वयं खनामः । पुनरुक्तिरादरार्था ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमस्यां खनति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाँसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा इमामेवात्मानमकुर्वन् गुप्त्या आत्मात्मानं गोप्स्यतीति सा समम्बिला स्यात्तदस्येयमात्मा भवति यद्वेव समम्बिला योनिर्वा इयँ रेत इदं यद्वै रेतसो योनिमतिरिच्यतेऽमुया तद्भवत्यथ यन्न्यूनं व्यृद्धं तदेवद्वै रेतसः समृद्धं यत्समम्बिलं चतुःस्रक्तिरेष कूपो भवति चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्यः खनति' (श० ६।३।३।२६)। पिण्डखननं विधत्ते—अथैनमस्यां खनतीति । अस्यां भूमौ एनं पिण्डं खनेदित्याधेयाधि-करणभावेन भूमिमृत्पिण्डयोः प्रतीयमानं पार्थक्यमपाकरोति—एतद्वै देवा इति । पूर्वं देवा रक्षोभीत्या तस्मै पिण्डाय इमां भूमिमेवात्मानं स्वरूपमकुर्वन् । स्वरूपं स्वरूपरक्षकं भविष्यतीति हेतोः रक्षणाय सा खन्यमाना भूमिः समम्बिला चतुर्दिशं समानविवरा कर्तव्या । अयं भावः—यावत्य उखाषाढादय इष्टकाः कर्तव्याः, तावत् परिमाणमेवेदं खनेत् । समम्बिलत्वं स्तौति—यद्वेव समम्बिलेति । इयं भूमिर्योनिः, अग्न्युत्पत्तिस्थानम् । इदम् उखाषाढाद्यर्थं खन्यमानं मृत्स्वरूपं रेतः । अतो रेतसः सम्बन्धी बिन्दुर्यावद् योनिमतिरिच्यते, तावद् उखादिपर्याप्तौ मृत् खनितुं युक्ता । चतुःस्रक्तिरेष कूप इति मृदर्थं खन्यमानः कूपश्चतुरस्रः कर्तव्यः । स्रक्तीश्चतुर्दिगात्मना स्तौति—चतस्रो वै दिश इति । 'अथैनमतः खनत्येव । एतद्वा एनं देवा अनुविद्याऽखनंस्तथै-वैनमयमेतदनुविद्य खनति देवस्य त्वा सवितुः ··· अङ्गिरस्वत् खनामीति सवितृप्रसूत एवैनमेतद्देवताभिर्देव-ताभिः पृथिव्या उपस्थादग्निं पशव्यमग्निवत् खनति' (श० ६।४।१।१)। खननविधिं स्तुवन् मन्त्रं विधत्ते—अथैनमतः खनतीति । अतश्चतुस्रक्तेः कूपादनुविद्य लब्ध्वा खनति । 'द्वाभ्यां खनति····' (श० ६।४।१।३)। 'स वै खनामि' (श० ६।४।१।४), 'स वा अभ्र्या खनन् । वाचा खनामि····' (श० ६।४।१।५)। खननयन्त्र-

गतां द्वित्वसंख्यां यजमानरूपाग्न्यात्मना प्रशंसति-द्वाभ्यां खनति द्विपादिति। देवस्य त्वेति मन्त्रे खनामीत्येकवचनम्, ज्योतिष्मन्तमिति मन्त्रे खनाम इति बहुवचनम्। तत्र प्रजापतिविवक्षया एकवचनम्, देवविवक्षया बहुवचनम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, सवितुः प्रसवे प्रेरणे वर्तमानोऽहम् अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां पृथिव्या भूमेः सहस्थानात् सर्वात्मत्वात् चयनीयाग्निरूपेण त्वा त्वां खनामि। कीदृशं त्वाम्? पुरीष्यं पशव्यमिति। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने शिल्पविद्यावित्, यथाहं सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वां पुरस्कृत्य पृथिव्याः सधस्थात् सुखैः पूरकेषु भवं ज्योतिष्मन्तं बहूनि ज्योतींषि विद्यन्ते यस्मिन् तम्, अजस्रेण निरन्तरेण भानुना दीप्त्या दीद्यतं दीप्यमानं पुरीष्यं दीद्यतम् अग्निमङ्गिरस्वद् वायुवद्वर्तमानं खनामि तथा त्वामाश्रिता वयं पृथिव्या अन्तरिक्षात् सधस्थाद् अङ्गिरस्वत् सूत्रात्मवायुवद् वर्तमानम् अहिंसन्तम् अताडयन्तं प्रजाभ्यः प्रसूताभ्यः शिवं मङ्गलमयमग्निं खनामो विलिखामः प्रकटयामः, तथा सर्वे आचरन्तु' इति, तदपि न किञ्चित्, शतपथश्रुतिविरुद्धत्वात्। न चात्र पृथिव्यादिषु वर्तमानो विद्युदग्निरजस्रेण भानुना दीप्यमानो दृश्यते, न वा वायुः कर्तृत्वेन कर्मत्वेन वा दृष्टान्तत्वमर्हति, न वा शिल्पविदमनुसृत्य सर्वे नागरिका विद्युतं प्रादुर्भावयितुं समर्थाः, विशिष्टोपकरणैरेव निर्वर्त्यत्वात्। न च शिवत्वमेव, विद्युतोऽनिष्टकारित्वस्यापि दर्शनात्॥ २८॥

अ॒पां पृ॒ष्ठम॑सि॒ योनि॑र॒ग्नेः स॑मु॒द्रम॒भितः॒ पिन्व॑मानम्।
वर्ध॑मानो म॒हाँ२ऽआ च॒ पुष्क॑रे दि॒वो मात्र॑या वरि॒म्णा प्र॑थस्व॥ २९॥

मन्त्रार्थ—हे पत्र (पुष्करपर्ण), तुम जल के ऊपर रहते हो, अतः पृष्ठ रूप हो, अग्नि के निमित्त पिण्ड के कारण बनो। तुम पृथ्वी को सींचते हुए समुद्र की सब ओर से वृद्धि करते हो, समुद्र के जल में समा जाते हो। हे पत्र, तुम द्युलोक के परिमाण की विशालता के समान विस्तार को प्राप्त करो॥ २९॥

'कृष्णाजिनमास्तीर्योत्तरतः। तस्मिन् पुष्करपर्णमपां पृष्ठमिति' (का० श्रौ० २६।२।२५-२६)। मृत्पिण्डस्योत्तरभागे प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम कृष्णाजिनमास्तीर्य तत्रापां पृष्ठमिति पादत्रयात्मकमन्त्रेण पद्मपत्रमास्तृणाति। पुष्करपत्रदेवत्या स्वराट्पङ्क्तिः। आद्यौ दशकावन्त्यावेकादशकाविति द्व्यक्षराधिका पङ्क्तिः स्वराट्पङ्क्तिः, 'द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ' (३।६०) इति पिङ्गलोक्तेः। हे पुष्करपर्ण, त्वमपामुदकानां पृष्ठमसि, पृष्ठवदुपरि भागे वर्तमानमसि। तथाग्नेर्योनिरसि, अग्निहेतोर्मृदः कारणमसि। समुद्रमभितः पिन्वमानं प्रीतिकरम्, 'पिवि सेचने' इत्यस्य व्यत्ययेन शानचि रूपम्, धातूनामनेकार्थत्वेन प्रीतिकरमित्यर्थः। यद्वा पिन्वमानमिति समुद्रविशेषणम्। पिन्वमानं सिञ्चन्तं समुद्रमुदकमभितो वर्धमानं सद् महत् प्रभूतं भवेति शेषः। यद्वा समुद्रसमानस्य तटाकजलस्य अभितः प्रीतिकरमसि। यद्वा समुद्रं समुन्दनशीलमुदकमभितो वर्धमानं भवसि। पुष्करे वर्धमानो जात एव आसर्वतो महान्। आस्तरणाद् महत्त्वम्। अत एव 'आ' 'महान्' इति पदद्वयस्य महीयस्वेति व्याख्यानम्। किञ्च, 'वर्धमानो' 'महान्' इति व्यत्ययेन पुल्लिङ्गत्वम्, वर्धमानं महद् इति। पुष्करे उदके आसमन्तात् सीद। यद्वा पुष्करे आसमन्ताद् महत् सद् वर्धमानं वृद्धियुक्तं त्वमसि। 'विमार्ष्टयेनाद्दिव इति' (का० श्रौ० १६।२।२७)। एतत् पुष्करपर्णं विमार्जनेन विमलं कुर्यात्। हे पुष्करपर्ण, त्वं दिवो द्युलोकस्य मात्रया परिमाणेन वरिम्णा उरुत्वेन प्रथस्व विस्तृतं भव। उरोर्भावो वरिमा तेन, 'प्रियस्थिर-

स्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः' (पा० सू० ६।४।१५७) इति इमनिचि उरोर्वरादेशः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं कृष्णाजिने सम्भरति। यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञ एवैनमेतत्सम्भरति लोमतश्छन्दाᳫंसि वै लोमानि छन्दः स्वेवैनमेतत्सम्भरति तत्तूष्णीमुपस्तृणाति यज्ञो वै कृष्णाजिनं प्रजापतिर्वै यज्ञोऽनिरुक्तो वै प्रजापतिरुत्तरतस्तस्योपरि बन्धुः प्राचीनग्रीवे तद्धि देवत्रा' (श० ६।४।१।६)। उत्तरतो देशे कृष्णाजिनं प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम तूष्णीमास्तीर्य तस्मिन् कृष्णाजिने 'अपां पृष्ठम्' इति मन्त्रेण पुष्करपर्णमास्तृणाति। एतत् पुष्करपर्णं दिवोमात्रयेति चतुर्थपादेन विमार्ष्टि। ततः कृष्णाजिनपुष्करपर्णे 'अपां पृष्ठम्' (वा० सं० ११ २९) इति, 'शर्म च स्थो वर्म च स्थः' (वा० सं० ११।३०) इति च द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां नालभेत। तदाह—कात्यायनः—'कृष्णाजिनमास्तीर्योत्तरतस्तस्मिन् पुष्करपर्णमपां पृष्ठमिति। विमार्ष्ट्यैतद्दिव इति। आलभत उभे शर्म च स्थ 'इति' (का० श्रौ० १६।२।२५-२८)। तदिदं ब्राह्मणशेषेण विधीयते—अथैनं कृष्णाजिनमिति। यद्यपि कृष्णाजिनस्योपरि पुष्करपर्णे मृत्पिण्डसम्भरणम्, तथापि कृष्णाजिनसम्बन्धोऽप्यस्यास्तीति मत्वा तस्मिन् सम्भरणोक्तिः। लोमतः लोमवत्प्रदेशे। कृष्णाजिनास्तरणममन्त्रकमित्याह—तत् तूष्णीमिति। तदुपपादयति—यज्ञ इति। यज्ञस्य कृष्णाजिनत्वम् 'कृष्णो रूपं कृत्वोदक्रामत्' (श० १।१।४।१) इत्याम्नातम्। यज्ञस्य प्रजापतित्वं प्रजापतिदेवत्यत्वात्। प्रजापतिर्हि सकलस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चात्मत्वेनायमीदृगिति निर्वक्तुमनर्हत्वाद् अनिरुक्तः। तद्रूपस्य कृष्णाजिनस्याप्यास्तरणमनिरुक्तममन्त्रकमित्यर्थः। ग्रीवाप्रदेशो यथा प्राचीनः स्यात्तथास्तरणीयमित्यर्थः। 'अथैनं पुष्करपर्णे सम्भरति। योनिर्वै पुष्करपर्णं योनौ तद्रेतः सिञ्चति यद्वै योनौ रेतः सिच्यते तत् प्रजनिष्णु भवति तन्मन्त्रेणोपस्तृणाति वाग्वै मन्त्रो वाक् पुष्करपर्णम्' (श० ६।४।१।७)। कृष्णाजिनस्योपरि विधातव्ये पुष्करपर्णे मृत्पिण्डसम्भरणं दर्शयति—अथैनमिति। यतोऽग्निः पुष्करपर्णाज्जातः, तस्मात् तद् योनिरूपम्, अग्निश्च रेतोरूप इदानीमुत्पद्यमानत्वात् प्रजनिष्णु प्रजननशीलम्। वाक् पुष्करपर्णम्। अग्निवाचोरन्यत्र तादात्म्यश्रवणात्, 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (तै० आ० २।४।२) इति श्रुतेः। पुष्करपर्णादग्नेर्जननात् कार्यकारणयोरभेदोपचारेण वागेव पुष्करपर्णमित्युक्तम्। 'अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेरिति। अपाᳫं ह्येतत्पृष्ठं योनिर्ह्येतदग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानमिति समुद्रो ह्येतदभितः पिन्वते वर्धमानो महाँ२॥ आ च पुष्कर इति वर्धमानो महीयस्व पुष्कर इत्येतद्दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्वेत्यनुविमार्ष्ट्यसौ वा आदित्य एषोऽग्निर्नो हैतमन्यो दिवो वरिमा यन्तुमर्हति द्यौर्भूत्वैनं यच्छेत्येवैतदाह' (श० ६।४।१।८)। तदास्तरणे मन्त्रं विधत्ते—अपां पृष्ठमिति। 'आ' 'महान्' इति पदयोर्व्याख्यानं महीयस्वेति। यत एषोऽग्निरादित्यः, अतो लोकत्रयमस्य वरिमा उरुत्वम्। स तमादित्यात्मकमग्निं यन्तुं परिच्छेत्तुं नार्हति। अतो द्यौः द्युलोकात्मकं भूत्वा एवं मृत्पिण्डं यच्छ परिच्छिन्नं कुर्वीति पुष्करपर्णप्रार्थना। 'तदुत्तरं कृष्णाजिनादुपस्तृणाति। यज्ञो वै कृष्णाजिनमियं वै ... यज्ञोऽस्याᳫं हि यज्ञस्तायते द्यौः पुष्करपर्णमापो वै द्यौरापः पुष्करपर्णमुत्तरो वा असावस्यै' (श० ६।४।१।९)। तत् पुष्करपर्णं भूद्युलोकात्मना प्रशंसति—यज्ञो वा इति। कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोर्भूद्युलोकात्मकत्वेन यथा उत्तराधरभावः, एवं लोकयोरुत्तराधरभावो दृश्यत इत्याह—उत्तरो वा असावस्या इति। असौ द्यौः, अस्यै भूम्या इति।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मन् परमात्मन्, त्वमपां पृष्ठमसि, ततोऽप्युपरि अवस्थानात्। अग्नेर्योनिः कारणमसि। पिन्वमानं सिञ्चन्तं समुद्रं समुद्रतुल्यरश्मिव्याप्तम् अन्तरिक्षमाकाशमभितः सर्वतो वर्धमानो महान् व्यापकोऽसि, अपामग्नेराकाशस्य चाधिष्ठानत्वेन सर्वतोऽप्यधिकत्वात्। पुष्करे ब्रह्मपुरे दहराकाशगते पुण्डरीके आसीद आसीदसि तिष्ठसीति लकारव्यत्ययः। बुद्धिसाक्षितया दिवो द्युलोकस्य मात्रया परिमाणेन वरिम्णा उरुत्वे

प्रथस्व विवेकसहकारतया ब्रह्माकारया वृत्त्या अशेषोपाधिबाधरक्षितया प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मात्मना अभिव्यक्तो भवेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'सर्वतो व्याप्तस्य विद्युद्रूपस्य योनिः संयोगविभागविद् महान् पूज्यो वर्धमानो यो विद्यया क्रियाकौशलेन नित्यं वर्धते स त्वमसि । तस्मादभितः सर्वतः पिन्वमानं सिञ्चन्तम् अपां जलानां पृष्ठमाधारः पुष्करे अन्तरिक्षे वर्तमानायाः, पुष्करमित्यन्तरिक्षनामसु, दिवो दीप्तेर्मात्रया विभागेन वर्धमानं समुद्रं सम्यगूर्ध्वं द्रवन्त्यापो यस्मात् सागरात् तं तत्स्थानात् पदार्थांश्च विदित्वा वरिम्णा प्रथस्व विस्तृतसुखो भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः । योनिशब्दस्य संयोगविभागविद् इति कथमर्थः ? यत्तु 'संयोगविभागयोः कर्ता, कर्तरि निःप्रत्ययः' इति, तदपि तुच्छम्, प्रमाणानुपन्यासात् । किञ्च, समुद्रतत्स्थपदार्थज्ञानप्रसङ्गे विद्युतः संयोगविभागज्ञस्य कः प्रसङ्गः ? पृष्ठशब्दस्य आधार इत्यर्थः, समुद्रशब्दस्यैव अपामूर्ध्वद्रवणमित्यर्थेनान्तरिक्षे जलवर्षणं सिद्धमिति कृतमन्तरिक्षेऽभितः पिन्वमानत्वेनेति । वस्तुतस्तु दयानन्दीयभाष्यरीत्या वेदो न धर्मग्रन्थः, किन्तु अर्थशास्त्रम्, तद्रीत्या कलाकौशलस्य विविधव्यवहाराणामेव तत्र विद्यमानत्वात् । कलाकौशलवर्णनमपि नाममात्रमेव, तदाधारेण किञ्चिदपि कर्तुमशक्यत्वात् । वायुयानजलयानविद्युद्भूगर्भसामुद्रविज्ञाननामभिरेव दयानन्दो विज्ञानवर्णनं मनुते । तद्विधानस्य वर्णनं तु शून्यप्रायम् ॥ २९ ॥

शर्म॑ च॒ स्थो वर्म॑ च॒ स्थोऽच्छि॑द्रे बहु॒ले उ॒भे ।
व्यच॑स्वती॒ संव॑साथां भृ॒तम॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒म् ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हे कृष्णाजिन, हे पुष्करपर्ण, छिद्रशून्य बहुत विस्तार और अवकाश वाले तुम दोनों अग्नि के लिये सुखकारी बनो, कवच के समान अग्नि की रक्षा करो । पुरीष्य अग्नि को आच्छादित कर लो और उसे धारण करो ॥ ३० ॥

संव॑साथाँ॒ स्व॒र्विदा॑ स॒मीची॒ उर॑सा॒ त्मना॑ ।
अ॒ग्निम॒न्तर्भ॑रि॒ष्यन्ती॒ ज्योति॑ष्मन्त॒मज॑स्र॒मित् ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—हे कृष्णाजिन, हे पुष्करपर्ण हमें स्वर्ग लाभ का साधन एकत्रित मिले । निरन्तर तेजस्वान् अग्नि को भीतर उदर में धारण करते हुए हृदय रूप अपने शरीर से अग्नि को चिरकाल धारण कर आच्छादित रखो ॥ ३१ ॥

सध्रीच्यौ कण्डिके इति कृत्वा अपरापि कण्डिका सहैव व्याख्यायते—

'आलभत उभे शर्म च स्थ इति' (का० श्रौ० १६।२।२८)। 'शर्म च स्थः' (वा० सं० ११।३०) 'संवसाथाम्' (वा० सं० ११।३१) इति मन्त्रद्वयेन कृष्णाजिनपुष्करपर्णे सहैव स्पृशेद् इति सूत्रार्थः । कृष्णाजिनपुष्करपर्णदेवत्ये द्वे अनुष्टुभौ । हे कृष्णाजिनपुष्करपर्णे, उभे युवां शं च स्थः, अग्नेः सुखकारिणी अपि भवथः, तथा वर्म च स्थः कवचवद्रक्षके अपि भवथः । चौ समुच्चयार्थौ । कीदृशे ते ? अच्छिद्रे छिद्ररहिते साकल्योपेते विघ्नशून्ये वा । बहुले विस्तीर्णे । व्यचस्वती आच्छादनप्रकारवती पुटिकादिसदृशे तथाविधे युवां संवसाथां सम्यक् छिद्रमाच्छादयतम् । ततः पुरीष्यमग्निं भृतं धारयतम् । किञ्च, युवां त्मना आत्मना स्वमेव परनिरपेक्षे सति उरसा उरःसदृशेन भवदीयस्वरूपेण संवसाथाम् । कीदृशे युवाम्, स्वर्विदा स्वर्गविदौ

स्वर्गलाभसाधने ज्ञानवती समीची मृद्गन्धनायानुकूले सम्यगञ्चने सङ्गते एकचित्ते इत्यर्थः। अजस्रमित् निरन्तरमेव ज्योतिष्मन्तमग्निम् अन्तः स्वोदरे भरिष्यन्ती धारयिष्यन्ती। यद्वा युवयोरुपरि निधीयमानस्य मृत्पिण्डस्य युवां शर्म शरणं गृहमाश्रयरूपं रक्षितृरूपं वा स्थः भवथः। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' (अ० को० ३।३।५३)। वर्म संहननं कवचं भवथः। अच्छिद्रे सकले बहुले महाप्राणे च भवथः। अतो व्यचस्वती अवकाशवन्त्यौ भूत्वा पुरीष्यं पशव्यमग्निं संवसाथाम् आच्छादयतम् आच्छाद्य च भृतं विभृतम्। हे कृष्णाजिनपुष्करपर्णे एनमग्निं पिण्डरूपं आच्छादयतम्। स्वर्विदा यज्ञसूर्यदेवाह्वर्वचनः स्वःशब्दः। स्वर्वेत्तीति स्वर्वित्, तेन स्वर्विदा रूपेण वाच्छादयतम्। यद्वा द्विवचनस्य स्थाने आकारः स्वर्विदौ। यद्वा स्वर्गविदौ भूत्वा समीची समाने सङ्गते एकचित्ते भूत्वा। यद्वा किमर्थं स्वर्विदा स्वर्गलाभाद्धेतोः, उरसा हृदयेन आत्मना स्वरूपेणावयवसंस्थानेन अग्निपिण्डमन्तर्मध्यतो भरिष्यन्ती धारयमाणे भवतम्। ज्योतिष्मन्तं तेजस्विनम् अजस्रमनुपक्षीणं कुरुतमिति शेषः। इदिति पादपूरणः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैने अभिमृशति। संज्ञामेवाभ्यामेतत्करोति शर्म च स्थो वर्म च स्थ इति शर्म च ह्यस्यैते वर्म चाच्छिद्रे बहुले उभे उभे इत्यच्छिद्रे ह्येते बहुले उभे व्यचस्वती संवसाथामित्यवकाशवती संवसाथामित्येतद्भृतमग्निं पुरीष्यमिति विभृतमग्निं पुरीष्यमिति विभृतमग्निं पशव्यमित्येतत्' (श० ६।४।१।१०)। 'संवसाथाᳪ स्वर्विदा। समीची उरसात्मनेति संवसाथामेनᳪ स्वर्विदा समीची उरसा चात्मना चेत्येतदग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमिदित्यसौ वा आदित्य एषोऽग्निः स एष ज्योतिष्मानजस्रस्तमेते अन्तरा विभृतस्तस्मादाह ज्योतिष्मन्तमजस्रमिदिति' (श० ६।४।१।११)। कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोर्युगपदभिमर्शनं विधत्ते—अथैने अभिमृशतीति। एतद् एतेन अभिमर्शनेन संज्ञामेव कृतवान् भवति। मन्त्रद्वयं विधत्ते—शर्म च स्थ इति। द्वितीयमन्त्रस्योत्तरार्धं व्याचष्टे—असौ वा आदित्य इति। एते द्यावापृथिव्यौ। 'द्वाभ्यामभिमृशति। द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवाभ्यामेतत्संज्ञां करोत्यथो द्वयᳪ ह्येवैतद्रूपं कृष्णाजिनं च पुष्करपर्णं च' (६।४।१।१२)। मन्त्रगतां द्वित्वसंख्यां यजमानाग्निरूपेण प्रशंसति—द्वाभ्यामिति।

अध्यात्मपक्षे त्रिंशमन्त्रव्याख्यानम्—हे सीतारामौ, युवां भक्तानां शर्म शरणं वर्म कवचं च स्थः भवथः। उभे उभौ अच्छिद्रे अच्छिद्रौ दोषरहितौ बहुले बहुलौ सर्वार्थप्रापकौ व्यचस्वती अवकाशवन्तौ महान्तौ संवसाथाम् आच्छादयतं पुरीष्यं जीवहितकरमग्निम् अग्नेः परमेश्वरस्यांशं पालयतमित्यर्थे लिङ्गव्यत्ययः। आच्छाद्य च भृतं विभृतं धारयतम्। बिभर्तेर्बहुलं छन्दसि शपो लुक्। तथैकत्रिंशमन्त्रव्याख्यानम्—हे सीतारामौ, युवां तादृशमग्निं स्वांशभूतजीवसमूहं संवसाथां कृपादृष्टिवृष्ट्याच्छादयतम्। कीदृशौ युवाम्? स्वर्विदा स्वर्विदौ पारमार्थिकसुखप्रापयितारौ। अन्तर्भावितणिज् द्रष्टव्यः। समीची सम्यग्ज्ञातारौ सर्वज्ञौ तं ज्योतिष्मन्तं ज्ञानशक्तिमन्त्रमग्निमजस्रं उरसा अन्तःकरेण त्मना आत्मना च निरन्तरमन्तः स्वान्तरेव भरिष्यन्ती धारयमाणौ भवेतम्। लिङ्गव्यत्ययः। अजस्रमनुपक्षीणं च कुरुतमिति शेषः, युवाभ्यामुपेक्षितस्योपक्षयदर्शनात्।

दयानन्दस्तु त्रिंशे मन्त्रे—'हे स्त्रीपुरुषौ, युवां शर्म गृहं च तत्सामग्रीं च प्राप्तौ स्थः भवथः। वर्म सर्वतो रक्षणं च तत्सहापानम् उभे द्वे धर्मार्थकार्ये बहुले बहूनर्थान् लान्ति याभ्यां ते। व्यचस्वती सुखव्याप्तियुक्ते अच्छिद्रे अदोषे विद्युदन्तरिक्षे इव स्थः। तत्र गृहे भृतं धृतं पुरीष्यं पालनेषु साधुमग्निं गृहीत्वा संवसाथां सम्यग् आच्छादयतम्' इति, तदपि तुच्छम्, तयोः सम्बोधने मानाभावात्। सिद्धान्ते तु श्रुतिसूत्रानुसारि सम्बोधनम्। अध्यात्मपक्षेऽपि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १।२।१५) इति श्रुतिरेव परमात्मनः सम्बोधने मानम्, सर्वत्र वेदे तस्यैव प्रतिपिपादयिषितत्वात्। प्राप्त्यै विद्युदन्तरिक्षे इवेति निर्मूलमेव। गृहनिर्माणादिकं च रागप्राप्तमेवेति कृतं तद्विधानेनेति। एकत्रिंशकण्डिकायां तद्व्याख्यानं यथा—'हे स्त्रीपुरुषौ, युवां यदि समीची

यौ सम्यगञ्चन्तौ विजानीतस्तौ भरिष्यन्ती सर्वान् पालयन्तौ स्वविदा यौ सुखं विन्दतस्तौ सन्तौ ज्योतिष्मन्तं प्रशस्तज्योतिर्युक्तम् अन्तः सर्वेषां मध्ये वर्तमानम् उरसा अन्तःकरणेन त्मना आत्मना इत् एव अजस्रं निरन्तरं संवसाथाम् आच्छादयतम् तर्हि श्रियमश्नुवाथाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात् । न च पदार्थेष्वन्तर्भूतोऽग्निर्ज्योतिष्मान् भवति, तथात्वेऽन्धकारेऽपि प्रकाशापत्तेः । न च तस्य जडमात्रस्याग्नेरन्तःकरणेनात्मना वा ग्रहणं युक्तम्, न वा तद्विदां श्रियः प्राप्तिः सम्भवति, प्रत्यक्षविरोधात् । दरिद्रा अपि मार्गेषु विद्यमानां विद्युतं पश्यन्ति न च श्रियमुपलभन्ते ॥ ३१ ॥

पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने । त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, तुम पशुओं के हितकारी और समस्त चराचर के पालन करने वाले हो । सबसे पहले प्राण ने तुमको प्रकाशित किया था । हे अग्ने, प्राण ने जल में से मथन कर तुमको निकाला, सम्पूर्ण संसार के ऋत्विजों ने आदर से तुमको मथित किया ॥ ३२ ॥

'पिण्डं पुरीष्योऽसीति' (का० श्रौ० १६।२।२९)। पुरीष्योऽसीति मन्त्रेण मृत्पिण्डं स्पृशेत् । प्रतिष्ठा गायत्री, 'विपरीता प्रतिष्ठा' (३।१५) इति पिङ्गलोक्तेः । अस्यार्थः— यत्र प्रथमः पादोऽष्टाक्षरः द्वितीयः सप्ताक्षरः, तृतीयश्च षडक्षरः सा प्रतिष्ठा गायत्रीति । अग्निदेवत्या । अथ मन्त्रार्थः—हे मृत्पिण्ड, त्वं पुरीष्योऽसि पुरीषस्य पुरीषबहुलस्य पांसोर्योग्योऽसि । पशव्यो वासि । अत एव विश्वभरा विश्वं कृत्स्नमुखारूपं बिभर्तीति, विश्वं जगद्वा बिभर्ति धारयति पुष्णातीति विश्वभराः, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१२५) इत्यौणादिकोऽसुन्प्रत्ययः, सर्वधारकस्याचीयमानस्याग्नेर्विराड्रूपत्वात् । हे अग्ने, अथर्वाख्य ऋषिः प्राणो वा प्रथम इतरेभ्यः पूर्वभावी सन् त्वां निरमन्थद् निःशेषेण मथितवान् । अत्राथर्वणः प्रथमनिर्मथनं नाम प्रथमदर्शनम् । अयमभिप्रायस्तित्तिरिणोक्तः । तथाहि—'अग्निर्देवेभ्यो निलायत तमथर्वा न्वपश्यदथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्न इत्याह य एवैनमन्वपश्यत् तेनैवैनꣳ सम्भरति' (तै० सं० ५।१।४।१०) इति । 'पाणिभ्यां परिगृह्णात्येनं दक्षिणोत्तराभ्यां दक्षिणः साभ्रिस्त्वामग्न इति षड्भिः सर्वꣳ सकृद्धुत्वा पुष्करपर्णे निदधाति' (का० श्रौ० १६।२।२९)। दक्षिणोत्तराभ्यां हस्ताभ्यामेनं मृत्पिण्डं गृह्णीयादध्वर्युः । तत्र दक्षिणभागे अभ्रिसहितेन दक्षिणहस्तेन पिण्डस्य ग्रहणम्, उत्तरभागे च केवलेन सव्यहस्तेन पिण्डं गृह्णीयात् । एवं मृत्पिण्डं सर्वमपि सकृदेव प्रयत्नेन धृत्वा त्वामग्न इति षड्भिर्मन्त्रैः कृष्णाजिनोपर्यास्तृते पद्मपत्रे निदध्यात्—इति सूत्रार्थः । अग्निदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्यो भरद्वाजदृष्टाः । हे अग्ने, अथर्वाख्य ऋषिः पुष्करादधि पद्मपत्रस्योपरि त्वां निरमन्थद् निःशेषेण मथितवान् । यद्वा पुष्करादुदकात् सकाशात्त्वां निरमन्थत, 'आपो वै पुष्करं प्राणोऽथर्वा' (श० ६।४।२।२) इति श्रुतेः, 'पुष्करपर्णे ह्येनमुपाश्रितमविन्दन्' इति तित्तिरिश्रुतेश्च । कीदृशात् पुष्करात् ? मूर्ध्नः उत्तमाङ्गवत् प्रशस्तात्, विश्वस्य सर्वस्य जगतो वाघतः वाहकात् । पुष्करपर्णेऽग्निमथनेन यज्ञनिष्पादनद्वारेण सर्वं जगन्निर्वहति । यद्वा अथर्वा अरणवान् प्राणः प्रथमः पूर्वस्त्वां निरमन्थत । वाघत इति ऋत्विङ्नामसु पठितम् । विश्वस्य सर्वस्य जगतः सम्बन्धिनो वाघत ऋत्विजस्त्वां मूर्ध्नोऽर्थादरणेः शिरसो निरमन्थतेति व्यत्ययः । यद्वा विश्वस्येति षष्ठ्येकवचनं प्रथमाबहुवचनार्थे । विश्वे सर्वे वाघत ऋत्विजो मूर्ध्नोऽरणेः शिरसो निरमन्थतेति । यद्वा अथर्वा अरणवान् प्राणः पुष्कराद् उदकात् । अधिशब्दः पञ्चम्यर्थानुवादी । मूर्ध्नः मूर्धानं कर्मणि षष्ठी । विश्वस्य मूर्धानं त्वां वाघत ऋत्विजो निरमन्थतेत्यर्थः ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं परिगृह्णाति । अभ्र्या च दक्षिणतो हस्तेन च हस्तेनैवोत्त्वरतस्त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थतेत्यापो वै पुष्करं प्राणोऽथर्वा प्राणो वा एतमग्रेऽद्भ्यो निरमन्थन्मूर्ध्नो विश्वस्य वाघत इत्यस्य सर्वस्य मूर्ध्न इत्येतत्' (श० ६।४।२।२)। सूत्रसहकृतमन्त्रव्याख्यानेनोक्तार्थं ब्राह्मणम्। 'प्राणो वा अथर्वा' इत्यर्थवादादस्य सिद्धवदर्थकथनम्। तद्योऽसावग्निः पूर्वः सृष्ट, तमेतं पुरीष्योऽसीत्यनेनोक्तवान् भवति। पुष्करार्थर्वपदयोरर्थमाह—आपो वै पुष्करं प्राणोऽथर्वेति ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने पशुपते सदाशिव, त्वं पुरीष्यः पुरीषेभ्यः पशुभ्यो जीवेभ्यो हितो हितभूतः पुरीष्यः पशव्योऽसि। विश्वभराः सर्वस्य धारकः पोषकः, अथर्वा ऋषिः प्राणतुल्यो वा सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदभूतो ज्ञानी प्रथमो मुख्य इतरेभ्यो वा पूर्वभावी त्वा त्वां निरमन्थत् निःशेषेण मथितवान् ध्याननिर्मन्थनाभ्यासादधिगतवान् त्वां प्राप्तवान्। हे अग्ने, त्वां पुष्कराद् हृत्पुण्डरीकाद् अथर्वा अहिंसको निर्वैरो यतिर्निरमन्थत। निर्मन्थनाभ्यासात् त्वामुपलब्धवान्। कीदृशः अथर्वा ? वाघतो मेधावी विश्वस्य मूर्ध्नः मूर्धेव यः सः। यद्वा कीदृशात् पुष्करात् ? विश्वस्य मूर्ध्नः, तद्वत् प्रशस्तात्, वाघतः वाहकात् परमेश्वरस्य वाहकाद् धारकात्। तत्रैव तस्योपलभ्यमानत्वेन तद्वाहकत्वं युक्तमेव ॥ ३२ ॥

तमु॑ त्वा द॒ध्यङ्ङृषि॑: पु॒त्र ई॑धे॒ अथ॑र्वणः । वृ॒त्र॒हणं॑ पुरन्द॒रम् ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—अथर्व के पुत्र दध्यङ् नामक ऋषि ने उस पापनाशक रुद्र रूप से पुर सम्बन्धी तीन आवरणों को भेद कर तुमको प्रज्ज्वलित किया था ॥ ३३ ॥

तमु तमेव त्वा त्वां दध्यङ्नामा ऋषिर्मन्त्राणां द्रष्टा अथर्वणः पूर्वोक्तस्य पुत्र ईधे आदीपयति । 'त्रिइन्धी दीप्तौ'। कथंभूतं त्वाम् ? वृत्रहणं वृत्रस्यावरकस्य पाप्मनो हन्तारं पुरन्दरम् असुरपुरां दारयितारम्। अथर्वणः पुत्रो दध्यङ्ङिति मन्त्रोक्ति 'दध्यङ्ङाथर्वणः' (श० ६।४।२।३) इति श्रुतिरपि समर्थयते। रुद्ररूपेण वा तिसृणां पुरां दारयितारम्। तत्र ब्राह्मणम्—'तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः। पुत्र ईधे अथर्वण इति वाग्वै दध्यङ्ङाथर्वणः स एनं तत ऐन्ध वृत्रहणं पुरन्दरमिति पाप्मा वै वृत्रः पाप्महनं पुरन्दरमित्येतत्' (श० ६।४।२।३)। प्राणोऽथर्वा। तत्पुत्रस्थानीयो वागात्मकः प्राणः, तस्य तदधीनत्वात्। शेषं स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—तमेव पशुपतिं परमेश्वरं त्वाम् अथर्वणः प्रसिद्धस्य ब्रह्मपुत्रस्य पुत्रो दध्यङ्ङाथर्वणः प्रख्यातप्रभावः, बृहदारण्यके योऽश्विभ्यां ब्रह्मविद्यामुपदिष्टवान् कस्यचिदहिंसकस्य चतुर्थाश्रमिणः पुत्रः शिष्यो दध्यङ्नामा ऋषिर्वा प्रथमो मुख्यो निरमन्थत्। वेदवेदान्तान् मथित्वा ततः सारभूतं त्वामधिगतवान् समष्टिव्यष्टिपञ्चकोशात्मकं जगदेव वा मथित्वा ततः पञ्चकोशातीतं मुञ्जादिषीकामिव त्वामधिगतवान्। कीदृशं त्वाम् ? वृत्रहणं पापनाशकम्, असुरसम्बन्धिनां पुरत्रयाणां वा दारकम्।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यथा अथर्वणोऽहिंसकस्य विदुषो दध्यङ्ङृषिर्यो दधीन् सुखधारकानग्न्यादिपदार्थान् अञ्चति स ऋषिर्वेदार्थवित् पुत्रः पवित्रः शिष्यः सकलविद्याविद् वृत्रहणं यथा सूर्य्यो वृत्रं हन्ति तथा शत्रुहन्तारं पुरन्दरं यः शत्रूणां पुराणि दृणाति तमीधे प्रदीपयेत् तथा तं त्वा त्वां सर्वे विद्वांसो विद्याविनयाभ्यां वर्धयन्तु' इति, तदपि तुच्छमेव, धर्मब्रह्मपरस्य वेदस्य राजप्रतिपादनायोगात्। 'अहिंसकस्य विदुषो वेदार्थवित् पवित्रः शिष्यो यथा त्वां दीपयेत् तथा सर्वे विद्वांसो वर्धयन्तु' इति केन किं श्लिष्यते ? दृष्टान्ते प्रकाशनमुक्त्वा दार्ष्टान्ते वर्धनकथनस्य को वाभिप्रायः ? वेदार्थविद् ऋषिः प्रकाशयतीत्येतावतैव तन्महत्त्वसिद्धया पितृपुत्रादिवर्णनस्य किं स्वारस्यमित्यनुक्तेः ॥ ३३ ॥

तमु॑ त्वा पा॒थ्यो वृषा॒ समी॑धे दस्यु॒हन्त॑मम् । ध॒न॒ञ्ज॒यꣳ रणे॑रणे ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—सन्मार्ग में वर्तमान मन को तृप्त करने वाले हे अग्ने, शत्रुओं का नाश करने वाले उन-उन संग्रामों में धन को जीतने वाले तुमको मैं प्रज्ज्वलित करता हूँ ॥ ३४ ॥

तमु तमेव त्वा त्वां पाथ्यः पथि सन्मार्गे वर्तमानो वृषा शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृतं मन ईधे दीपयति प्रकाशयति 'मनो वै पाथ्यो वृषा' (श० ६।४।२।४) इति श्रुतेः, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (बृ० उ० ४।४।१९) इति श्रुतेश्च। ननु 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' (केनोप० १।५), 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' (केनोप० १।४), 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० उ० २।४।१) इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणो मनोवाचामगोचरत्वमेवोक्तमिति चेन्न, फलव्याप्त्यविषयत्वेऽपि वृत्तिव्याप्यत्वे स्वप्रकाशत्वाव्याघातेनादोषात्। यद्वा पाथसि अन्तरिक्षे हृदयाकाशे भवः पाथ्यः। 'पाथोनदीभ्यां ड्यण्' (पा० सू० ४।४।१११) इति पाथस्शब्दाद् ड्यणि पाथ्य इति रूपसिद्धिः। यद्वा पाथ्यनामा कश्चिदृषिः। वृषा सेक्ता मनः, त्वां समीधे प्रकाशयति। मनसैवाभिलष्य स्त्रियाꣳ रेतः सिञ्चति। कीदृशं त्वाम्? दस्युहन्तमम्, दस्यून् हन्ति दस्युहा, सोऽतिशयिता दस्युहन्तमः, तम् 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (पा० सू० ८।२।७) इति नलोपेन दस्युहतम इति प्राप्ते 'नाद्धस्य' (पा० सू० ८।२।१७) इति तमपो नुडागमः। अतिशयेन शत्रूणां हन्तारं रणे रणे प्रतिसङ्ग्रामं धनस्य जेतारम्। अत्र ब्राह्मणम्—'तमु त्वा पाथ्यो वृषा। समीधे दस्युहन्तममिति मनो वै पाथ्यो वृषा स एनं तत ऐन्ध धनञ्जयꣳ रणे रण इति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ६।४।२।४)।

अध्यात्मपक्षे—तमु तमेव त्वां शिवं पशुपतिं पाथ्यो वृषा मनोदेवः समीधे सम्यक् प्रकाशयति अज्ञानावरणापाकरणेन स्वप्रकाशत्वेन बोधयति। कीदृशं त्वाम्? दस्युहन्तमम् अतिशयेन दस्यूनां बाह्यानां राक्षसादीनामान्तराणां कामादीनां हन्तारं रणे रणे प्रतियुद्धं प्रतिसङ्घर्षं धनस्य बाह्यस्य रत्नादेरान्तरस्य ज्ञानवैराग्यादेश्च जेतारं प्रापयितारम्, धातूनामनेकार्थत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे वीर, यस्त्वं पाथ्यः पाथस्सु जलान्नादिपदार्थेषु साधुः, वृषा वीर्यवान् रणे रणे युद्धे युद्धे विद्वान् शौर्यादिगुणयुक्तोऽसि, तं धनञ्जयं यः शत्रुभ्यो धनं जयति तं दस्युहन्तम् अतिशयेन दस्यूनां हन्तारं तं त्वा वीरसेनया समीधे राजधर्मशिक्षया प्रदीप्यताम्' इति, तदपि न किञ्चित्, वीरस्य वीरसेनया समिन्धनस्य युक्तिशून्यत्वात्, मूले तादृशपदाभावाच्च ॥ ३४ ॥

सीद॑ होतः॒ स्व उ॑ लो॒के चि॑कि॒त्वान् सा॒दया॑ य॒ज्ञꣳ सु॑कृ॒तस्य॒ योनौ॑।
दे॒वा॒वीर्दे॒वान् ह॒विषा॑ यजा॒स्यग्ने॑ बृ॒हद्यज॑माने॒ वयो॑ धाः ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—आह्वान कार्य में नियुक्त हे अग्ने, तुम चेतना से सम्पन्न हो, अपने अधिकार को जानते हो। तुम अपने स्थान कृष्णाजिन पर स्थापित हुए पुष्करपर्ण पर स्थिर हो जाओ। श्रेष्ठ कर्म के स्थान वाले यज्ञ को स्थापित कर हे अग्ने, देवताओं को प्रसन्न करने वाले तुम हवि द्वारा देवताओं का पूजन कर उन्हें तृप्त करते हो, इसलिये यजमान को बड़ी आयु दो, उसे यश से सम्पन्न करो ॥ ३५ ॥

आग्नेयी त्रिष्टुप्, देवश्रवोदेववाताभ्यां दृष्टा। हे होतः! होमनिष्पादक देवानामाह्वातर्वा मृद्रूपाग्ने, चिकित्वान् कर्मणामभिज्ञस्त्वं स्व उ। उ एवार्थे। स्वकीय एव लोके स्थाने कृष्णाजिनाख्ये उत्तरवेदिरूपे वा

त्वं सीद उपविश। यज्ञं च मे सुकृतस्य योनौ साधुकृतस्य पुण्यकर्मणः स्थाने कृष्णाजिने सादया सादय स्थापय। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति संहितायां क्रियापदस्य दीर्घत्वम्। यज्ञे हि तन्यमाने अवघातः पेषणं सोमनिधानं च कृष्णाजिन एव भवतीत्यभिप्रायेणेदमुच्यते, 'कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः' (श० ६।४।२।६) इति श्रुतेः। हे अग्ने, यतस्त्वं देवावीः देवानवति प्रीणाति रक्षतीति वा देवावीः, देवप्रियो देवरक्षको वाऽसि, तादृशश्च त्वं देवान् हविषा यजासि पूजयसि। अथवा देवान् सपर्यन् हविषा भावेन यजासि। यजेः पञ्चमे लकारे रूपम्। अतस्त्वं यजमाने बृहद् महद् वयो दीर्घमायुरन्नं वा धाः धेहि स्थापय।

अत्र ब्राह्मणम्—'गायत्रीभिः। प्राणो गायत्री प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति तिसृभिस्त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति तासां नव पदानि नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तानेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० ६।४।२।५)। उक्तानां तिसृणामृचां गायत्रीछन्दस्त्वमनूद्य प्रशंसति—गायत्रीभिरिति। गायत्र्याः प्राणरूपत्वमुक्तम्। मन्त्रगतत्रित्वसंख्यां प्राणोदानव्यानात्मना प्रशंसति—तिसृभिस्त्रयो वै प्राणा इति। एकैकस्या गायत्र्या ऋचस्त्रयस्त्रयः पादाः। तासां नव पादान् सम्भूय नव प्राणात्मना प्रशंसति—तासां नव पदानीति। एतेन मन्त्रत्रयेण मृत्पिण्डस्य परिग्रहे तस्यां मृदि प्राणानेव संहितवान् भवतीत्यर्थः। 'अथैते त्रिष्टुभा उत्तरे भवतः। आत्मा वै त्रिष्टुबात्मानमेवास्यैताभ्याᳪ संस्करोति सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वानित्यग्निर्वै होता तस्यैष स्वो लोको यत्कृष्णाजिनं चिकित्वानिति विद्वानित्येतत् सादया यज्ञᳪ सुकृतस्य योनाविति कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिर्देवावीर्देवान् हविषा यजासीति देवः सन् देवानवद् हविषा यजासीत्येतदग्ने बृहद्यजमाने वयोधा इति यजमानायाशिषमाशास्ते' (श० ६।४।२।६)। धारणमन्त्रेषु त्रिष्टुभावित्युक्तम्, तौ विधातुं तद्गतं छन्दः प्रशंसति—अथैतत्त्रिष्टुभा उत्तरे भवत इति। त्रिष्टुभ आत्मरूपत्वं प्रागुक्तम्। ताभ्यां मन्त्राभ्यां धारणेन मृत्पिण्डस्य स्वरूपमेव संस्कृतवान् भवति। मन्त्रव्याख्यानेन ब्राह्मणमुक्तार्थम्।

अध्यात्मपक्षे—हे होतः, यज्ञनिष्पादक भगवन्नग्ने, स्वकीय एव लोके लोकनीये कैलासे ब्रह्मलोके भक्तानां हृदय एव सीद उपविश। चिकित्वान् सर्वेषां कर्माणि जानन् यज्ञं प्रसिद्धं श्रौतं स्मार्तमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासचातुर्मास्यज्योतिष्टोमाप्तोर्यामवाजपेयराजसूयाश्वमेधसत्रादिकम् उपासनादिलक्षणं च सुकृतस्य शुभकर्मणो योनौ फलदातरि प्रवर्तकेऽन्तर्यामिणं सादय स्थापय। देवावीः देवानां रक्षको रामकृष्णादिरूपेण देवानग्नीन्द्रादीन् हविषा यजासि पूजयसि। यजमाने देवान् देवाधिदेवं भगवन्तं यः सदा यजति तस्मिन् यजनशीले बृहद् महद् वयो धनमायुश्च धाः धेहीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने होतर्दातर्ग्रहीतः, त्वं स्वे स्वकीये सुखे लोके लोकनीये चिकित्वान् विज्ञानयुक्तः अवस्थितो भव। सुकृतस्य सुष्ठु कृतस्य धार्मिकस्य योनौ गृहे यज्ञं धर्म्यं राजप्रजाव्यवहारं सादय गमय। देवावीः देवैः रक्षितः शिक्षितश्च देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वा हविषा दानग्रहणयोग्येन न्यायेन यजासि याजयेः। यजमाने राजादौ जने बृहद् महद् वयो दीर्घं जीवनं धेहि' इति तदपि निरर्थकमेव, अर्थासङ्गतेः। यज्ञं राजप्रजाव्यवहारं हविषा दानग्रहणयोग्येन न्यायेन देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वेत्यादयोऽर्था असङ्गता एव। नहि कथञ्चिद् धात्वर्थयोगेन घटशब्दश्चेष्टार्थको भवतीति तद्वत्। न वा राजप्रजाव्यवहारे यज्ञशब्दप्रयोगः शिष्टानाम्, नीतिधर्मादिशास्त्रेषु तथाप्रयोगादर्शनात्। नहि कश्चिन्मनुष्यो राजादौ दीर्घं जीवनं धारयितुं प्रार्थ्यते ॥ ३५ ॥

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ२ असदत् सुदक्षः ।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं का आह्वान करने वाले, अपने अधिकार को जानने वाले, दीप्तिमान्, गमनशील, कुशल, सिद्धकर्मा, अति उत्कृष्ट बुद्धि वाले, पृथ्वी के हजारों निवासियों का पोषण करने वाले और अतिपवित्र जिह्वा वाले अग्निदेव होमनिष्पादक उत्तरवेदी रूप योग्य स्थान में भली प्रकार उपविष्ट हुए ॥ ३६ ॥

आग्नेयी त्रिष्टुप् गृत्समदद्दृष्टा । अग्निः होतृषदने होता सीदति यस्मिंस्तद् होतृषदनं तस्मिन्, होमनिष्पादके योग्ये उत्तरवेदिरूपे न्यसदत् न्यसीदत् । व्यवहितस्यापि नीत्युपसर्गस्य असददिति क्रियया सम्बन्धः । निषण्ण इति यावत् । कीदृशोऽग्निः ? होता देवानामाह्वाता । विदानः स्वाधिकारं कर्तव्यं च जानानः । त्वेषो दीप्तिमान्, त्वेषतीति त्वेषः । 'त्विष दीप्तौ' इत्यस्मात् 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) इति पचादित्वादचि त्वेष इति रूपम् । दीदिवान् देदीप्यमानः । 'दिवु क्रीडादौ' इत्यस्मात् क्वसौ 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घत्वे 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) इति वकारलोपे रूपम् । होतृधिष्ण्यादौ गमनादिना क्रीडाशीलः । सुदक्षः साधु क्षिप्रकारी सुकुशलः । अदब्धव्रतप्रमतिः अदब्धमनुपहिंसितं व्रतं कर्म यस्यासा अदब्धव्रतः, प्रकृष्टा मतिर्यस्यासौ प्रमतिः, अदब्धव्रतश्चासौ प्रमतिश्चेति अदब्धव्रतप्रमतिः । वसिष्ठ वसति स्वमर्यादायामिति वस्ता, अतिशयेन वस्ता वसिष्ठः वस्तृतमः । 'तुरिष्ठेमेयःसु' (पा० सू० ६।४।१५४) इतीष्ठनि परे तृचो लोपः । सहस्रम्भरः सहस्रं सर्वजनं बिभर्तीति सहस्रम्भरः । शुचिजिह्वः शुचिः शुद्धा हवनयोग्या जिह्वा ज्वाला यस्य स शुचिजिह्वः । योऽयं नानादेवत्यानि हवींष्यभ्यवहरन्नप्युच्छिष्टं न करोति सः । यद्वा होतृषदने कृष्णाजिने निषण्णः, 'अग्निर्वै होता कृष्णाजिनꣳ होतृषदनम्' (श० ६।४।२।७) इति श्रुतेः । विदानः स्थानाभिज्ञः । दीदिवान् देवेभ्यो हविषां दाता सुदक्षः सुबलः । अदब्धव्रत प्रमतिः अदब्धव्रतेऽनुपहिंसिते कर्मणि प्रकृष्टा मतिर्यस्य सः । वसिष्ठोऽतिशयेन वासयिता वसुमत्तमः । सहस्रम्भरः सहस्रसंख्याकानि हवींषि बिभर्ति पोषयतीति । यद्वा सर्वम्भर 'सर्वं वै सहस्रम्' (श० ६।४।२।७) । यद्वा सहस्रधा व्यवह्रियमाणः, तथा चैतरेयके—'अथ यदेनमेकं सन्तं बहुधा विहरन्ति' (ऐ० ब्रा० ३।४), 'एष ह वा अस्य स्वः' (ऐ० ब्रा० १।१६) इति ।

तत्र ब्राह्मणम्—'निहोता होतृषदने विदान इत्यग्निर्वै होता कृष्णाजिनꣳ होतृषदनं विदान इति विद्वानित्येतत् त्वेषो दीदिवाꣳ२ ॥ असदत् सुदक्ष इति त्वेषो दीप्यमानोऽसदत् सुदक्ष इत्येतददब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठ इत्यदब्धव्रतप्रमतिर्ह्येष वसिष्ठ सहस्रम्भरः शुचिजिह्वोऽग्निरिति सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वम्भरः शुचिजिह्वोऽग्निरित्येतद् द्वाभ्यामाग्नेयीभ्यां त्रिष्टुब्भ्यां तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।४।२।७) । मन्त्रं प्रतिपदमनूद्य व्याचष्टे—अग्निर्वै होतेति ।

अध्यात्मपक्षे—अयमग्निः रावणादिराक्षसकुलधूमकेतुर्मर्यादापुरुषोत्तमो रामः परमात्मा अग्निहोत्रादिक्रियाशीलो देवानामाह्वाता वा होतृवदने उत्तरवेद्यां नि-असदत् निषण्णः । कीदृश ? विदानः, स्वकीयं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं पारमार्थिकं ब्रह्मरूपं जानानो लोकसंग्रहचिकीर्षया त्वेषः स्वप्रकाशपरब्रह्मात्मना दीप्यमानो दीदिवान् देवेभ्यो हविषां दाता सुदक्षः सुकुशलः सुबलो वा अदब्धव्रतप्रमतिः अदब्धे अनुपहिंसिते व्रते प्रकृष्टा मतिर्यस्य सः । अथवा अदब्धव्रतोऽनुपहिंसितकर्मा चासौ प्रमतिश्चेति, प्रकृष्टा सर्वविषया मतिर्यस्य सः प्रमतिः सर्वज्ञः । रावणादिभिरुत्सन्नगृहाणामिन्द्रादिदेवानां वासयितृतमः सहस्रम्भरः सर्वपालकः परमेश्वरः । शुचिजिह्वः शुचिः पवित्रा जिह्वा वेदलक्षणा वाग् यस्य सः ।

दयानन्दस्तु—'यद्यग्निः पावक इव नरो मनुष्यजन्म प्राप्य होतृषदने दातॄणां विदुषां स्थाने दीदिवान् धर्म्यं व्यवहारं चिकीर्षुः, त्वेषः शुभगुणैर्दीप्यमानः, विदानो विविदिषुः सन् शुचिजिह्वः शुचिः पवित्रा सत्यभाषणेन जिह्वा वागस्य सः सुदक्षः सुष्ठु दक्षो बलं यस्य सः। अदब्धव्रतप्रमतिः अदब्धैरहिंसनीयैर्व्रतैर्धर्माचरणैः प्रकृष्टा मतिर्यस्य सः। वसिष्ठः अतिशयेन वसिता। सहस्रम्भरः सहस्रमसंख्यं शुभगुणसमूहं बिभर्ति यः सः। होता शुभगुणग्रहीता सततं न्यसदत् सीदेत्तर्हि समग्रसुखं प्राप्नुयात्' इति, तदपि न युक्तम्, अध्याहारव्यत्ययादि-संश्रयणात्। 'यदि नरो मनुष्यजन्म प्राप्य····तर्हि समग्रं सुखं प्राप्नुयात्' इत्यादीनामर्थानामुत्सूत्रत्वात्।

विदान इत्यत्र आदादिकाद् 'विद् ज्ञाने' इति धातोर्लटः स्थाने व्यत्ययेन शानच् आद्युदात्तस्वरश्च। यत्तु केनचिद्दयानन्दीयेनोक्तम्—'पूङ्यजोः शानन्' (पा० सू० ३।२।१२८) इत्यनेन विधीयमानः शानन्प्रत्ययोऽत्र भवति, अत एव नित्त्वाद् आद्युदात्तता लभ्यते। अन्यथा शानचि चित्त्वाद् अन्तोदात्तता स्यात्। यद्यपि पूङ्यजिभ्यामेवानेन सूत्रेण शानन् विधीयते, तथाप्ययमन्येभ्योऽपि भवतीत्येतत्सूत्रसामर्थ्यलभ्येन वचनेनात्रापि तत्सिद्धिः। यदि पवमानयजमानशब्दावेव साधनीयौ स्याताम्, तर्हि शानचैव तौ प्रसाध्यौ। अत्र रूपे स्वरे च भेदो नाशङ्कनीयः, 'तास्यनुदात्तेत्····' (पा० सू० ६।१।१८६) इति शानचोऽनुदात्तत्वे शपश्च पित्त्वादनुदात्तत्वे इष्टस्वरसिद्धेर्निराबाधात्। अतश्चोक्तसूत्रं व्यर्थीभूय ज्ञापयति यदयमन्येभ्योऽपि भवतीति, तदिदं न युक्तम्, यतो हि शानचि कृते पवते यजत इति लडन्तं रूपद्वयं न स्यात्, शानचा बाधात्। न च 'वा सरूपोऽस्त्रियाम्' (पा० सू० ३।१।९४) इति वा सरूपविधिना विकल्पेन बाधः स्यादिति शङ्क्यम्, लादेशेषु वा सरूपविधिर्नास्तीति परिभाषणात्। शानन्ि तूक्तं रूपद्वयमपि निर्बाधं भवत्येव। किञ्च, यद्युक्तज्ञापने सूत्रकृतोऽभिरुचिः स्यात्तदा 'पूङः शानन्' इत्येव वदेद् भगवान् सूत्रकारः, तथा उक्तवचनेनैव यजिं गृह्णीयात्। अतश्छान्दसत्वेन व्यत्यय-व्यवस्थयैव निर्वाहः कार्यः॥ ३६॥

सᳬसीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
विधूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥ ३७॥

मन्त्रार्थ—हे यज्ञ के उपयोगी श्रेष्ठ अग्निदेव, तुम देवगण को बहुत प्रिय हो। इस कृष्णाजिन पर बिछाये पुष्करपर्ण पर स्थित हो जाओ, होता आदि से उपस्थापित होकर प्रदीप्त हो आहुति प्राप्ति से दर्शनीय होकर सघन धूम को छोड़ो॥ ३७॥

आग्नेयी बृहती प्रस्कण्वदृष्टा। तृतीयो द्वादशार्णोऽन्येऽष्टार्णाः पादा यस्याः सा बृहती। हे मियेध्य हे मेध्य, छान्दसोऽपकर्षः, अर्थाद् मकारैकारयोर्मध्ये इयागमश्छान्दसः। मेधो यज्ञस्तमर्हतीति मेध्यस्तत्सम्बुद्धौ। हे प्रशस्त उत्कृष्ट अग्ने प्रकर्षेण स्तुत इति वा, मृद्रूप अग्ने! संसीदस्व सङ्गत्य पुष्करपर्णे सीदस्व उपविश, सम्यग् बीजात्मनाऽवतिष्ठस्व। यस्त्वं महान् असि, अनेकक्रतुहेतुत्वात्, स त्वं शोचस्व दीप्यस्व। यतस्त्वं देववीतमः, अतिशयेन देवानामाप्यायिता। देवान् वेति तर्पयतीति देववीः, अतिशयेन देववीरिति देववीतमः। 'वी गत्यादौ' क्विप्। दर्शतं दर्शनीयमाहुतिपरिणामभूतम्। अरुषमरोषणम्, अत्युग्रमरोचमानं वा धूमं विसृज विमुञ्च। वीत्युपसर्गस्य सृजेति क्रियया सम्बन्धः, 'इतो वा अयमूर्ध्वᳬ रेतः सिञ्चति धूमᳬ सामुत्र वृष्टिर्भवति' (श० ७।४।२।२२) इति श्रुतेः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैषा बृहत्युत्तमा भवति। बृहतीं वा एष सञ्चितोऽभिसम्पद्यते यादृग्वै योनौ रेतः सिच्यते तादृग्जायते तद्यदेतामत्र बृहतीं करोति तस्मादेव सञ्चितो बृहतीमभिसम्पद्यते' (श० ६।४।२।८)। षष्ठीमृचं विधातुं तद्गतं बृहतीच्छन्दः प्रशंसति—अथैषा बृहतीति। सञ्चितः अग्निः बृहतीमभिसम्पद्यते सम्पत्त्यक्षरसंख्याको भवति। बृहतीसम्पत्तिप्रकारस्तु—संवत्सररूपोऽग्निः प्रागुक्तः। तत्र संवत्सरे द्वादश पौर्णमास्यः, द्वादश कृष्णाष्टम्यः, द्वादशामावास्याः, ताः षट्त्रिंशत् संवत्सरे धार्यमाणेऽग्नौ सम्पद्यन्ते। बृहत्यपि षट्त्रिंशदक्षरेति तत्साम्यमिति सायणाचार्यः। 'स७ं सीदस्व महाँ२॥ असीतीदमेवैतद्रेतः सिक्त७ं स७ं सादयति तस्माद्योनौ रेतः सिक्त७ं स७ंसीदति शोचस्व देववीतम इति दीप्यस्व देववीतम इत्येतद्विधूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतमिति यदा वा एष समिध्यतेऽथैष धूममरुषं विसृजते दर्शतमिति ददृश इव ह्येषः' (श०६।४।२।९)। मन्त्रं व्याचष्टे—इदमेवैतदिति। उत्पत्स्यमानस्याग्ने रेतोरूपत्वाद् मृत्पिण्डस्य बाहुभ्यां धारणं नाम योनौ सिक्तस्य रेतसः संसादनमित्यर्थः। धूमं विसृजेति यदुक्तं तदुपपादयति—यदा वा एष समिध्यत इति। 'ताः षट् सम्पद्यन्ते। षड्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद् भवति यद्वेव संवत्सरमभि-सम्पद्यते तद्बृहतीमभिसम्पद्यते बृहती हि संवत्सरो द्वादश पौर्णमास्यो द्वादशाष्टका द्वादशामावास्यास्तत् षट्त्रि७ंशत् षट्त्रि७ंशदक्षरा बृहती तं दक्षिणत उदञ्चमाहरति दक्षिणतो वा उदग्योनौ रेतः सिच्यत एषो अस्यैतर्हि योनिरविच्छेदमाहरति रेतसोऽविच्छेदाय' (श० ६।४।२।१०)। परिग्रहणे विनियुक्तानां मन्त्राणां संख्यां सम्भूय संवत्सराग्न्यात्मना प्रशंसति—ताः षडिति। उक्तमर्थं विधत्ते—तं दक्षिणत उदञ्चमिति। तं मृत्पिण्डं दक्षिणतः प्रदेशाद् उदञ्चमुदङ्मुखमाहरेत्, यतो दक्षिणतः स्थितेन वामभागे स्थितायां योनौ रेतः सिच्यते। इदानीं मध्ये धार्यमाणस्याग्नेरेष मृत्पिण्डो योनिविच्छेदं विच्छेदराहित्येन मृत्पिण्डाहरणं कर्तव्यं रेतोभूतस्याग्नेरविच्छेदाय।

अथाध्यात्मम्—हे अग्ने परमात्मन्, त्वं भक्तानां हृदयपुष्करे संसीदस्व सम्यक् सीद सदाभिव्यक्तिमान् भव। त्वं महान् अपरिच्छिन्नब्रह्मरूपोऽसि, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१) इति श्रुतेः। त्वं शोचस्व प्रकाशयात्मानं पवित्रय वा भक्तान्। त्वं देववीतमो देवानामतिशयेन तर्पयितासि। हे मियेध्य दुष्टानां प्रक्षेपक बाहुलकाद् औणादिक एध्यप्रत्ययो, 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' इति सौवादिकाद् धातोः। हे प्रशस्त प्रकर्षेण स्तुत त्वम् अधूमं निर्मलं निर्दोषम् अरुषं क्रोधादिरहितं सृज स्वभक्तिदानेन सम्पादय मामिति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे प्रशस्त, मियेध्य मिनोति प्रक्षिपति दुष्टानिति मियेध्यस्तत्सम्बुद्धौ। बाहुलकादौणादिक एध्यप्रत्ययः। अग्ने विद्वत्तम देववीतम देवैर्विद्वद्भिः कमनीयतम त्वं विधूमं विगतमलं दर्शतं द्रष्टव्यम् अरुषं शोभनस्वरूपं अरुषमिति रूपनामसु पठितम्। (नि० ३।७) सृज निष्पद्यस्व शोचस्व च पवित्रो भव। यतस्त्वं महान् महागुणविशिष्टो विद्वानसि तस्मादध्यापने संसीदस्व आस्व' इति, तदपि न किञ्चित्, अध्यापकातिरिक्तेऽपि प्राशस्त्योपपत्तेः। न चाध्यापकस्य दुष्टपृथक्करणे शक्तिः, तत्र शासनाधिकारात्। देवशब्दस्य जातिविशेषोऽर्थ इति साधितं भूमिकायाम्। तस्मात् विदुषां मनुष्याणां देवत्वं खण्डितमेव। न च सुन्दरसृष्टौ मनुष्याणां सामर्थ्यम्, स्रष्टुरीश्वरस्यैव तत्राधिकारात्। न चाध्यापनशब्दो मूलेऽस्ति। पुष्करपर्णे संसीदस्व। अत्र तु ब्राह्मणप्रमाणमुक्तमेव। अरुषमित्यस्यारोषणार्थत्वेऽपि सुन्दरमित्यर्थो न सिद्ध्यति। नहि रूपार्थत्वेऽपि तद्युक्तम्, कुरूपस्यापि रूपत्वाविशेषात् ॥ ३७ ॥

अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, प्रजा के आरोग्य के लिए देवनशील तेजोमय अमृतरूपी जल से इस खनन प्रदेश को सिंचित करो। सिंचित स्थान से सुन्दर फल वाली औषधियों को सब प्रकार से प्राप्त कराओ ॥ ३८ ॥

'अपः श्वभ्रेऽवनयत्यपो देवीरिति' (का० श्रौ० १६।३।२)। अपो देवीरिति मन्त्रेण मृत्पिण्डगर्ते जलं प्रक्षिपेत्। अब्देवत्या न्यङ्कुसारिणी सिन्धुद्वीपदृष्टा। द्वितीयो द्वादशार्णोऽन्ये त्रयोऽष्टार्णा यस्याः सा न्यङ्कुसारिणी। हे अध्वर्यो, त्वं देवीः देवनशीलाः द्योतमाना अपो जलानि अस्मिन्नवटप्रदेशे उपसृज आसिञ्च। कीदृशीरपः ? मधुमतीः रसवतीः मधुररसोपेता आरोग्यदात्रीः। किमर्थम् ? प्रजाभ्य प्रजानाम्, विभक्तिव्यत्ययः, अयक्ष्माय अयक्ष्मणो भावोऽयक्ष्मम्, (भावप्रत्ययलोपः) तस्मै, आरोग्याय। तासां सिक्तानामपाम् आस्थानात् सुक्षेत्ररूपाद् उदकसंसृष्टभूप्रदेशाद् अस्माद् आखननप्रदेशात्, सुपिप्पलाः सुष्ठु शोभनं पिप्पलं पक्वं फलं यासां ता ओषधयः फलपाकान्ताः शाल्यादयः, आसमन्ताद् उज्जिहताम् उद्गच्छन्तु प्ररोहन्तु। शतपथीयसायणभाष्यरीत्या त्वग्निरत्र सम्बोध्यते पूर्वर्चोऽध्याहारात्। द्यौरध्वयुर्वा सम्बोधनीयः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ तत्राप उपनिनयति। यद्वा अस्यै क्षतं यद्विलिष्टमद्भिर्वै तत्सन्धीयतेऽद्भिरेवास्या एतत्क्षतं विलिष्टꣳ सन्तनोति सन्दधाति' (श० ६।४।३।१)। उदकनिनयनं विधत्ते—अथ तत्राप इति। एतत् प्रशंसति—यद्वा अस्यै क्षतमिति। अस्यै अस्याः पृथिव्या यत् क्षतं खण्डितं यच्च विलिष्टं क्षीणं 'लिश् अल्पीभावे' तत्सर्वं स्थलम् अद्भिः सन्धीयते। जलसन्धाने हि विषमं स्थलं समं भवति। तस्मादापः श्वभ्रे निधेयाः। 'अपो देवीरुप सृज। मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्य इति रसो वै मधु रसवतीरयक्ष्मत्वाय प्रजाभ्य इत्येतत्तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पला इत्यपां वा आस्थानादुज्जिहत ओषधयः सुपिप्पलाः' (श० ६।४।३।२)। मन्त्रं विधत्ते—अपो देवीरिति। अयक्ष्मायेति पदं भावत्वेन व्याचष्टे—अयक्ष्मत्वायेति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, प्रजाभ्यः प्रजानाम् अयक्ष्माय यक्ष्मादिव्याधिनिवारणाय मधुमतीः रसवतीः देवीः मोदमाना अप उपसृज आसिञ्च। यत आसामपाम् आस्थानाद् उदकसंसृष्टभूप्रदेशात् सुपिप्पला ओषधय उज्जिहतामुद्गच्छन्तु। प्राणिनां कर्मानुरोधेन परमात्मन एव रसवतीनामपामुद्भावने सामर्थ्यं नान्येषाम्। यद्वा मधुमतीः मधुराणि अपः कर्माणि कीर्तनभजनध्यानादिभक्तिलक्षणानि, उपसृज भक्तेषूत्पादय। तासामपां भक्तिलक्षणानां कर्मणाम् आस्थानाद् हृदयादिप्रदेशात् प्रजाभ्यः प्रजानाम् अयक्ष्माय भवरोगनिवारणाय ओषधयो ज्ञानवैराग्यादिरूपा उद्गच्छन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे सद्वैद्य, त्वं मधुमतीः प्रशस्ता मधवो मधुरादयो गुणा विद्यन्ते यासु ताः, देवीः दिव्यानि पवित्राणि अपो जलानि उपसृज निष्पादय। यतस्तासामपामास्थानाद् आस्थायाः सुपिप्पलाः शोभनानि पिप्पलानि फलानि यासां ताः। प्रजाभ्यः पालनीयाभ्यः। अयक्ष्माय यक्ष्मादिरोगनिवारणाय उज्जिहतां प्राप्नुवन्तु' इति, तदपि न सङ्गतम्, वैद्यस्य सम्बोध्यत्वे मानाभावात्। न च वैद्या जलोत्पादने नियोज्यन्ते, तदुत्पत्तेः प्राकृतत्वात्, वर्णाश्रमिणां समेषामग्निहोत्रादिविशिष्टयज्ञनिष्पादनीयत्वात्, श्रुतिविरोधाच्च। श्रुतौ तु उखादिसम्भारणार्थं निखातश्वभ्रगतायाः पृथिव्याः क्षतनिवारणाय श्वभ्रेऽपां निनयनार्थमयं मन्त्रो विनियुक्तः ॥ ३८ ॥

सं ते॑ वा॒युर्मा॑त॒रिश्वा॑ दधातूत्ता॒नाया॒ हृद॑यं॒ यद्विक॑स्तम्।
यो दे॒वानां॒ चर॑सि प्राण॒थेन॒ कस्मै॑ देव॒ वष॑डस्तु॒ तुभ्य॑म् ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—हे भूमि, ऊर्ध्व मुख से अवस्थित तेरा जो हृदयपिण्ड विराट् रूप से विकसित है, उस स्थान को वायु,

जलप्रक्षेप तृणादि के पूरण से सम्यक् करे। हे देव, तुम अग्नि आदि सम्पूर्ण देवताओं में प्राण भाव से विचरण करते हो। तुम्हारे निमित्त प्रजापति रूप से यह पृथ्वी वषट्कार वाली हो ॥ ३९ ॥

'सं त इति वातमपक्षिपति' (का० श्रौ० १६।३।३)। सं त इति मन्त्रेण पिण्डगर्ते वायुं प्रेरयति। त्रिष्टुप्। कण्डिकार्धं पृथिवीदेवत्यमर्धं च वायुदेवत्यम्। हे पृथिवि, उत्तानाया ऊर्ध्वाभिमुख्येन विस्तृतायास्ते तव पृथिव्या यद् हृदयं विकस्तम् अवस्करणेन खातं तद् मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति श्वसितीति वा मातरिश्वा वायुः सन्दधातु सम्पूरयतु। जलप्रक्षेपेण तृणादिपूरणेन च यथापूर्वम् आसीत्, तथा सम्यक् करोतु। हे वायो, त्वं देवानामग्न्यादीनां वागादीनां वा प्राणथेन प्राणानां भावः प्राणथं तेन। भावे छान्दसः थल्प्रत्ययः। प्राणत्वेन चरसि, वायौ सत्येव वागादीनां चेष्टादर्शनात्। हे देव द्योतमान वायो, कस्मै प्रजापतये तद्रूपाय तस्मै तुभ्यं वषड् अस्तु। इयं पृथिवी वषड्भूता भवतु। वषट्कारेणाहुतिः कार्येति कृत्वा प्रशंसा, 'प्रजापतिर्वै कस्तस्मा एवैतदिमां वषटकरोति नो हैतावत्यन्याहुतिरस्ति यथैषा' (श० ६।४।३।४) इति श्रुतेः। यथा एषा आहुतिः सन्धानकरी नो ह नैव एतावती सन्धानकरी अन्याहुतिः, अन्याहुतिस्तादृशी नास्तीत्यर्थः। यद्वा घृतदुग्धदधिमधु-व्रीहियवादिमूलभूतेयं पृथिवी। अस्या एव वषट्करणेनाहुतिः सर्वोत्कृष्टा। नान्याहुतिरेतावती उत्कृष्टा यथैषेति भावः। तथा च ब्राह्मणम्—'अथैनां वायुना सन्दधाति। यद्वा अस्यै क्षतं यद्विलिष्टं वायुना वै तत् सन्धीयते वायुनै-वास्या एतत्क्षतं विलिष्टꣳ सन्तनोति सन्दधाति' (श० ६।४।३।३)। अवटे वायुपूरणं विधत्ते—अथैनामिति। एनां खननभूमिं (वायुना सन्धानं) प्रशंसति—यद्वा अस्यै क्षतमिति। यथा लोके क्षतं श्वभ्रं निम्नस्थलं वायुना सन्धीयते वायुसञ्चालितैः पर्णकण्टकादिभिः पूर्यते, तथैवात्रापीति मन्तव्यम्।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, उत्तानाया उद् ऊर्ध्वं ब्रह्म तदाभिमुख्येन विस्तृतायास्ते हृदयं मर्म यद्विकस्तं परिश्रम्यमाणाया यत् क्षतं श्रान्तं तन्मातरिश्वा सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः सन्दधातु सन्तनोतु। मातरिश्वानं प्रार्थयते—हे वायो यस्त्वं देवानामग्न्यादीनां वागादीनां वा प्राणथेन चरसि कस्मै प्रजापतिरूपाय तुभ्यं वषट्कारोऽस्तु। वषट्कारेण इयं बुद्धिस्त्वदंशभूता त्वदनुसन्धाने समर्पितास्तु। समष्टिबुद्धिरूपेण हिरण्यगर्भेण एव अनुगृहीता बुद्धिः पुरुषार्थसाधनब्रह्मज्ञाने साफल्यमधिगच्छतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे पत्नि, उत्तानायास्ते उत्कृष्टस्तनशुभलक्षणविस्तारो यस्या राज्ञ्याः, तस्यास्ते यद्विकस्तं विविधतया कस्यते शिष्यते यत् तद् हृदयम् अन्तःकरणं तद् यज्ञशोधिता मातरिश्वा वायुः सन्दधातु। हे देव दिव्यसुखप्रद पते स्वामिन्, यस्त्वं प्राणथेन येन प्राणन्ति सुखयन्ति तेन देवानां धार्मिकाणां विदुषां यद्विकस्तं हृदये चरसि गच्छसि प्राप्नोषि, तस्मै कस्मै सुखरूपाय तुभ्यं मत्तो वषट्क्रिया कौशलमस्तु' इति, तदपि तुच्छम्, पत्न्याः सम्बोध्यत्वे मानाभावात्। न च मातरिश्वा वायुः कस्यचित् प्रेरणया प्रार्थनया वा कस्यचिद् हृदयं सन्दधाति, तस्य स्वभावसिद्धत्वात्, त्वद्रीत्या तस्य जडत्वेन प्रार्थनीयत्वायोगात्। हृदयपदेन तु पुण्डरीकाकारं मांसपिण्डमेवोच्यते, बुद्धौ तु तात्स्थ्यात्तत्पदप्रयोगः। नह्युत्कृष्टविकासवतो हृदयस्य सन्धानमपेक्षितम्, क्षतस्यैव सन्धानापेक्षत्वात्। वायुरपि विदुषामविदुषां समेषामेव हृदयं चरति, न केवलं विदुषामेव। तस्मान्मुधैवैतद् यत्किञ्चित् प्रलपनम् ॥ ३९ ॥

सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत् स्वः।
वासो अग्ने विश्वरूपꣳ संव्ययस्व विभावसो ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—भली प्रकार से प्रकट यह अग्नि अपनी ज्योति के साथ सुखस्वरूप स्वर्ग के समान वरणयोग्य ग्रह कृष्णाजिन पर स्थित हो। हे दीप्तिधन वाले अग्निदेव, इस विचित्र वर्ण के कृष्णाजिन रूप वस्त्र को तुम धारण करो॥४०॥

'आस्तीर्णयोरन्तानुदगृह्णाति सुजात इति' (का० श्रौ० १६।३।५)। सुजात इति मन्त्रेण आस्तीर्णयोः कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोः प्रान्तानन्तभागान् चतुरोऽपि सर्वत ऊर्ध्वान् कुर्यात्। बन्धनायेति शेषः। अग्निदेवत्यानुष्टुप्। द्वितीयो नवार्णः। 'अनामिकया संवपति पुरस्तात् पश्चाद् दक्षिणत उत्तरतश्च' (का० श्रौ० १६।३।३)। अनामिकाङ्गुल्या अवटस्य पुरस्तात् पश्चाद् दक्षिणत उत्तरतश्च क्रमशो मृदं प्रक्षिपेत्। तथाह श्रुतिरपि—'अथैनां दिग्भिः सन्दधाति' (श० ६।४।३।५) इति। अयमग्निः सुजातः सुजन्मा सुष्ठूत्पन्नः। ज्योतिषा महसा स्वकीयेन सह संयुक्तः। शर्म शरणं सुखं वा यथा स्यात्तथा स्वः स्वर्गसदृशं वरूथं वरणीयं गृहं कृष्णाजिननिर्मितम् आसदद् आसीदतु। सदेर्लुङि लृदित्वाच्च्लेरङि असददिति रूपम्। 'त्रिवृता मुञ्जयोक्त्रेणोपनह्यति वासो अग्न इति' (का० श्रौ० १६।३।६)। त्रिगुणितेन मुञ्जयोक्त्रेण दाम्ना कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोः प्रान्तानूर्ध्वकृतान् बध्नाति वसोऽग्न इत्युत्तरार्धेन। हे विभावसो, विभाभिर्दीप्तिभिर्वासयतीति विभावसुस्तत्सम्बुद्धौ। विभा दीप्तिर्वा वसु धनं यस्यासौ विभावसुस्तत्सम्बुद्धौ। अग्ने विश्वरूपं बहुप्रकारं विचित्ररूपं वासः कृष्णाजिनरूपं संव्ययस्व परिधत्स्व। 'वेञ् संवरणे' इत्यस्य रूपम्।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथैनां दिग्भिः सन्दधाति। यद्वा अस्यै क्षतं यद्विलिष्टं दिग्भिर्वै तत्सन्धीयते दिग्भिरेवास्या एतत्क्षतं विलिष्टꣳ सन्तनोति सन्दधाति स इमां चेमां च दिशौ सन्दधाति तस्मादेते दिशौ सꣳहिते अथेमां चेमां च तस्माद्वेवैते सꣳहिते इत्यग्रेऽथेति। अथेत्यथेति तद्दक्षिणावृत्तद्धि देवत्राऽनयाऽनया वै भेषजं क्रियतेऽनयैवैनामेतद्भिषज्यति' (श० ६।४।३।५)। कात्यायनोऽपि तथैवाह। तथोपरिष्टात् प्रदर्शितम्। तद्विधत्ते—अथैनां दिग्भिः सन्दधातीति। तत्र क्रमं विधत्ते—स इमां चेमां चेति। अत्राभिनयेन प्राक्प्रतीच्यौ विवक्षिते। तत्र कारणमाह—एते सन्निहिते इति। इमामिति लोकप्रसिद्धे प्राक्प्रतीच्याविति युज्यते। पुनरिमां चेतिपदेन दक्षिणोदीच्यौ। अत्रापि सन्निहितत्वमेव कारणम्। अथ चतुर्दिशं सन्धानप्रकारम् अभिनयेन दर्शयति—इत्यग्रेऽथेति। प्रथमे प्राचीं दिशमित्यर्थः। इतरदिक्क्रियापेक्षया अथेति पदत्रयम्। उत्तरतः समापनं प्रशंसति—तद् दक्षिणावृदिति। तद् दक्षिणावृद् दक्षिणमावृद् आवर्तनं समापनं यस्य तत्। अर्थात् तद् दक्षिणावर्तनं कर्म देवत्रा देवेषु तदर्हं भवति। अत्र कारणभूतामङ्गुलिमभिनयेन दर्शयति—अनयेति। अनया अनामिकाङ्गुल्या भैषज्यं क्रियासाधनत्वमस्याः प्रसिद्धमिति शब्दार्थः। 'अथ कृष्णाजिनं च पुष्करपर्णं च समुदगृह्णाति। योनिर्वै पुष्करपर्णं योन्या तद्रेतः सिक्तꣳ समुदगृह्णाति तस्माद्योन्या रेतः सिक्तꣳ समुदगृह्यते सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत् स्वरिति सुजातो ह्येष ज्योतिषा सह शर्म चैतद्वरूथं च स्वश्चासीदति' (श० ६।४।३।६)। आस्तीर्णयोः कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोरन्तोद्ग्रहणं विधत्ते—अथेति। उद्ग्रहणम् ऊर्ध्वकरणम्। पुष्करपर्णस्य योनित्वं प्रागुक्तमेव। तद्विधत्ते—सुजात इति। ज्योतिषा सह संयुक्तः सुजातोऽग्निः, वरूथं वरणीयं स्वः स्वर्गाख्यं शर्म शरणं गृहमासदद् आसीददिति। 'अथैनमुपनह्यति। योनौ तद्रेतो युनक्ति तस्माद्योनौ रेतोयुक्तं न निष्पद्यते योक्त्रेण योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति मौञ्जेन त्रिवृता' (श० ६।४।३।७)। योनौ रेतोयुक्तं न निष्पद्यते न निष्पततीत्यर्थः। स्पष्टार्था कण्डिका। 'तत्पर्यस्यति। वासो अग्ने विश्वरूपꣳ संव्ययस्व विभावसविति वरुण्या वै यज्ञे रज्जुरवरुण्यमेवैनदेतत्कृत्वा यथा वासः परिधापयेदेवं परिधापयति' (श० ६।४।३।८)। पूर्वमश्वरासभाजान् पशून् प्रकृत्य ते मौञ्जीभिरभिधानीभिरभिहिता भवन्तीत्यादिना त्रिवृतो भवन्तीत्यनेन रशनाविधानमुक्तं (६।३।१।२६-२७) इति स्थले। अथ योक्त्रस्य समन्त्रं वेष्टनं विधत्ते—तत्पर्यस्यति वास इति। योक्त्रबन्धने

वासः संव्ययस्वेति वस्त्रपरिधापनोक्तेस्तात्पर्यमाह—वरुण्या वै यज्ञ इति। यज्ञे हि रज्जुर्वरुण्या वरुणदेवत्या भवति। योक्त्रपरित्यागे—'प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्' इति मन्त्रः, नैवमिह, किन्त्विह तु एतद्योक्त्रं 'अवरुण्यं कृत्वा यथा वासः परिधापयेद् एवं तत्' इत्यभिप्रायेण वासः संव्ययस्वेत्युक्तम्। पाशस्यैव हि वरुणो देवता न वासस इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर श्रीराम श्रीकृष्ण विष्णो शिव वा, त्वं ज्योतिषा स्वकीयेन दिवाप्रकाशेन सह सुजातः शोभनजन्मासि। स्वः स्वर्गसदृशं वरूथं वरणीयगृहं नवनिर्मितं मन्दिरं हृदयरूपं वा शरणं गृहमासदद् आसीदतु। विश्वरूपं बहुप्रकारं विचित्रं वासः संव्ययस्व परिधत्स्व। हृदये मानसं नूत्नमन्दिरे तु बाह्यमेवानर्घ्यं वासो परिधेहीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विभावसो, विविधया मया दीप्त्या सहितं वसु धनं यस्य तत्सम्बुद्धौ, अग्ने! ज्योतिषा विद्याप्रकाशेन सह सुजातः सुष्ठु प्रसिद्धस्त्वं स्वः सुखदं वरूथं वरं शर्म गृहम् आसदत् सीद। विश्वरूपं विविधस्वरूपं वासो वस्त्रं संव्ययस्व धरस्व' इति, तदपि न मनोज्ञम्, सर्वस्यापि गृहप्राप्तिवस्त्रधारणादे रागप्राप्तत्वेनाविधेयत्वात्, पूर्वोक्तब्राह्मणविरोधाच्च। मृद्रूपोऽग्निरेवात्र सम्बोधनीयः, कृष्णाजिनमेवात्र विश्वरूपं वास इत्युक्तत्वात्॥ ४०॥

उदु॑ तिष्ठ स्वध्वरा॒वा॑ नो॒ दे॒व्या धि॒या। दृ॒शे च॒ भा॒सा बृ॑ह॒ता सु॑शु॒क्वनि॒राग्ने॑ याहि सुश॒स्तिभिः॥ ४१॥

मन्त्रार्थ—हे सुन्दर यज्ञ के निर्वाहक अग्निदेव! उठो, दिव्य गुण क्रीड़ा के स्वभाव वाली बुद्धि से हमारा सब प्रकार से पालन करो और श्रेष्ठ किरणों के फैलाने वाले बड़े तेज से सब प्राणियों को देखने के निमित्त सुन्दर कीर्ति के साथ यहाँ आओ॥ ४१॥

'उत्तिष्ठति पिण्डमादायोदुतिष्ठेति' (का० श्रौ० १६।३।७)। कृष्णाजिनपुष्करपर्णवेष्टितं योक्त्रबद्धं मृत्पिण्डं हस्ताभ्यां तूष्णीमादाय उदुतिष्ठेति मन्त्रेण उत्तिष्ठेत्। अग्निदेवत्या पथ्याबृहती विश्वमनोदृष्टा। तृतीयो द्वादशार्णः, अन्येऽष्टार्णाः। हे स्वध्वर, सुष्ठु शोभनोऽध्वरो यज्ञो येनासौ स्वध्वरस्तत्सम्बुद्धौ सुष्ठुयागविधारक सुप्रज्ञ अग्ने, उदुतिष्ठ उत्तिष्ठैव। उशब्दोऽप्यर्थः। अपि च उत्थाय नोऽस्मान् देव्या देवनस्वभावया क्रीडापरया बुद्धचा अवा अव पालय। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति मन्त्रे दीर्घः। हे अग्ने, बृहता महता भासा तेजसा सुशक्वनिः साधुशुचो रश्मीन् वनति सम्भजतीति, अथवा सुष्ठु शुचां रश्मीनां वनिता सुशक्वनिः, अत्यन्तं दीप्यमानः सन् सुशस्तिभिः शोभनीयकीर्तिभिः साधुशिष्टैरश्वैः कृत्वा वा, 'ये वोढारस्ते सुशस्तयः' (श० ६।४।३।९) इति श्रुतेः। सह दृशे सर्वैः प्राणिभिर्द्रष्टुमायाहि आगच्छ। यद्वा दृशे सर्वान् प्राणिनो द्रष्टुम्। 'दृशे विख्ये च' (पा० सू० ३।४।११) इति पश्यतेस्तुमर्थो निपातः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमादायोत्तिष्ठति। असौ वा आदित्य एषोऽग्निरमुं तदादित्यमुत्थापयत्युदु तिष्ठ स्वध्वरेत्यध्वरो वै यज्ञ उदु तिष्ठ सुयज्ञियेत्येतदवा नो देव्या धियेति या ते दैवी धीस्तया नोऽवेत्येतद्दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिरिति दर्शनाय च भासा बृहता सुशुक्वनिरित्येतदाग्ने याहि सुशस्तिभिरिति ये वोढारस्ते सुशस्तय आग्ने याहि वोढृभिरित्येतत्' (श० ६।४।३।९)। क्रियां विधत्ते—अथैनमादायोत्तिष्ठतीति।

एनं मृत्पिण्डमादायोर्ध्वस्तिष्ठेत् । तत्प्रशंसति—असौ वा आदित्य इति ।[१] 'त्रेधात्मानं विकरोति—अग्निं तृतीयम्, वायुं तृतीयम्, आदित्यं तृतीयम्' (तै० ब्रा० १।७।१।२) इति श्रुतेः । मृदमादायोत्थानेनामुमादित्यमेवोत्थापितवान् भवतीति । सुशस्तिभिरिति पदं विवृणोति—ये वोढार इति ।

अध्यात्मपक्षे—हे स्वध्वर, शोभनोऽध्वरो पूजाराधनादिलक्षणो यज्ञो येन यस्य वा हे सुयज्ञ, यज्ञनिर्वाहक भगवन्नग्ने परमेश्वर, उत्तिष्ठ भक्तानामभ्युदयनिःश्रेयससम्पादनाय । देव्या जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलया मायया भगवत्या नोऽस्मानभीष्टपूर्तिसम्पादनेन रक्ष । हे अग्ने भगवन्, सुशस्तिभिः साधुशिष्टैरश्वैः सुकीर्तिभिर्वा कृतार्थयितुमस्मान् आयाहि आगच्छ । बृहता कोटिकोटिसूर्यतुल्येन प्रौढेन भासा महसा दृशे सर्वान् प्राणिनो द्रष्टुं दृष्ट्याऽनुग्रहीतुमायाहि । यद्वा दृशे दर्शनाय सर्वे प्राणिनो यथा त्वां पश्येयुरित्येतदर्थमायाहि । कीदृशस्त्वम् ? सुशुक्वनिः साधु शुचो ज्ञानलक्षणान् रश्मीन् वनति सम्भजति वितरतीति सुशक्वनिः, साधुतया ज्ञानरश्मिवितरणशीलः ।

दयानन्दस्तु 'हे स्वध्वर, शोभना अध्वरा अहिंसनीया माननीया व्यवहारा यस्य तत्सम्बुद्धौ, सज्जन विद्वन् गृहस्थ, त्वं सततमुत्तिष्ठ । देव्या धिया शुद्धविद्याशिक्षासम्पन्नया प्रज्ञया क्रियया वा नोऽस्मानव रक्ष । हे अग्ने अग्निवत् प्रकाशमान, सुशुक्वनिः सुष्ठु शुचां पवित्राणां वनिः सम्भक्ता त्वमु दृशे द्रष्टुं बृहता महता भासा प्रकाशेन सूर्य इव सुशस्तिभिः शोभनैः प्रशंसितैर्गुणैः सर्वा विद्या याहि प्राप्नुहि अस्मांश्च प्रापय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः । तथाहि—अध्वरपदस्य हिंसनीयव्यवहारः कथमर्थः ? यतो हि व्यवहारो नाम देहादिचेष्टाविशेषा एव । कथं हि नाम ते हिंसनीया अहिंसनीया वा ? तत्र प्राणाभावात्, प्राणवियोगानुकूलव्यापारस्य तेष्वसम्भवात् । कोऽयं प्रार्थयिता को वा प्रार्थनीयः ? नहि सामान्यो गृहस्थोऽग्निवत् प्रकाशमानो भवति सूर्य इव वा भवति । न वा तत्प्रार्थनयाऽन्यस्योपकारः सम्भवति ॥ ४१ ॥

ऊ॒र्ध्व ऊ॒ षु ण॑ ऊ॒तये॒ तिष्ठा॑ दे॒वो न स॑वि॒ता । ऊ॒र्ध्वो वाज॑स्य॒ सनि॑ता॒ यद॒ञ्जिभि॑र्वा॒घद्भि॑र्वि॒ह्वया॑महे ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, हमारी रक्षा के लिये सबके प्रेरक सूर्य देवता के समान ऊँचे स्थान में स्थित हो जाओ, हमें धनधान्य से सम्पन्न कर दो । इसी प्रयोजन से मन्त्रों का उच्चारण करने वाले हव्यवाहक ऋत्विजों के द्वारा हम आपका आह्वान करते हैं ॥ ४२ ॥

'ऊर्ध्वबाहुः प्राञ्चं प्रगृह्णात्यूर्ध्व ऊषुण इति' (का० श्रौ० १६।३।८) । ऊर्ध्व ऊषुण इति मन्त्रेण प्रसारितबाहुरध्वर्युर्बाहुद्वयं पूर्वाभिमुखं कृत्वा पिण्डं प्रागञ्चनं धारयेत् । अग्निदेवत्योपरिष्टाद्बृहती कण्वदृष्टा । यस्याश्चतुर्थः पादो द्वादशार्णोऽन्ये त्रयोदशार्णाः सोपरिष्टाद्बृहती । हे अग्ने, नोऽस्माकमूतये रक्षणाय तर्पणाय वा ऊर्ध्व एव सुष्ठु रीत्याऽवस्थितो भव । 'द्व्यचोतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः । 'णः' इत्यत्र 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा० सू० ८।४।२७) इति नस्य णत्वम् । क इव ? देवो न सविता, सविता देव इव । यथा सविता देव ऊर्ध्वः सन्नस्मान् रक्षति तद्वत् । न इवार्थः । त्वमूर्ध्वः सन् वाजस्य अन्नस्य सनिता दाता, भवेति शेषः । 'षणु दाने' । यद् यस्मात् कारणाद् अञ्जिभिर्मन्त्राभिव्यञ्जकैर्वाघद्भिर्हव्यवाहकैर्ऋत्विग्भिः सह वयमेवंविधं त्वां विह्वयामहे विविधमाह्वयामः, तस्मादूर्ध्व एव तिष्ठेति सम्बन्धः । अञ्जन्ति व्यक्तीकुर्वन्ति ये ते अञ्जिनः,

१. अत्र श्रुतौ पाठस्तु—'स त्रेधात्मानं व्यकुरुत । अग्निं तृतीयम्, रुद्रं तृतीयम्, वरुणं तृतीयम्' (तै. ब्रा. १।७।१।२) इति ।

तैरिति सायणीया व्याख्या। उव्वटरीत्या तु अञ्जिभिर्द्रव्याणां व्यञ्जकै रश्मिभिः सहितं त्वां विह्वयामहे। कीदृशैः? वाघद्भिः हविषां वोढृभिः। ऊसू पादपूरणे।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमित ऊर्ध्वं प्राञ्चं प्रगृह्णाति। असौ वा आदित्य एषोऽग्निरमुं तदादित्यमित ऊर्ध्वं प्राञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य इत ऊर्ध्वः प्राङ्धीयत ऊर्ध्व ऊषुण ऊतये तिष्ठा देवो न सवितेति यथैव यजुस्तथा बन्धुरूर्ध्वो वाजस्य सनितेत्यूर्ध्वो वा एष तिष्ठन् वाजमन्नꣳ सनोति यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामह इति रश्मयो वा एतस्याञ्जयो वाघतस्तानेतदाह परो बाहु प्रगृह्णाति परो बाहु ह्येष इतोऽथैनमुपावहरति तमुपावहृत्योपरि नाभि धारयति तस्योपरि बन्धुः' (श० ६।४।३।१०)। मृत्पिण्डरूपस्याग्नेरूर्ध्वं धारणं विधत्ते—अथैनमित ऊर्ध्वमिति। इतो भूमेः सकाशाद् ऊर्ध्वं प्राङ्मुखं प्रगृह्णीयात्। अन्यत् पूर्ववत्। वाजस्येत्यादेरर्थमाह ऊर्ध्वो वा एष तिष्ठन्नित्यादिनेति सायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, नोऽस्माकमूतयेऽवनाय अस्माकमूर्ध्वमुपरिष्टादेव सुतरां तिष्ठ। सविता देव इव। यथा भगवान् सविता देव उपर्यवस्थितः सर्वानवति तद्वत्। स त्वमूर्ध्वः सन् वाजस्य बाह्यस्य अन्नादेरान्तरस्य ज्ञानभक्त्यादेः सनिता सम्भक्ता, भवेति शेषः। यद् यतः, अञ्जिभिः विवेकविज्ञानभक्तिव्यञ्जकैरनुग्रहरूपैः प्रकाशैः सहितं त्वां वयं विविधमाह्वयामहे।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् अध्यापक, त्वमूर्ध्व उपस्थितो नोऽस्माकमूतये सविता न भास्कर इव ऊतये रक्षणाद्याय सु तिष्ठ सुस्थिरो भव यद् यस्त्वं अञ्जिभिः व्यक्तिकारकैः किरणैरिव वाघद्भिः युद्धविद्याकुशलैर्मेधाविभिः सह वाजस्य विज्ञानस्य ऊर्ध्वं उत्कृष्टः सनिता सम्भाजको भवसि, तमु वयं विह्वयामहे विशेषेण स्पर्धामहे' इति, तदपि तुच्छम्, अध्यापकस्य रक्षणादिकार्येषु विनियोगानर्हत्वात्। नहि भास्करः सुस्थिरत्वे दृष्टान्तत्वमर्हति, तस्य गतिशीलत्वस्य भूमिकायां साधितत्वात्। नहि विज्ञानसेवनाय युद्धविद्याकुशलानां मेधाविनां च सहभावोऽपेक्षितः। किञ्च, संस्कृतव्याख्याने विह्वयामह इत्यस्य स्पर्धामह इति विवरणं कृतम्, हिन्दीभाष्ये तु विशेषेणाह्वानमुक्तमिति परस्परासम्बद्धता च।

सनितेति प्रयोगे सायणाचार्याः 'षणु दाने' लुटि तासिः, वलादिलक्षण इट् तिपो डादेशष्टिलोपः, उदात्तनिवृत्तिस्वरेण तिबादेशस्योदात्तत्वे प्राप्ते 'तास्यनुदात्तेत्……' इति तासेः परस्य डादेशस्यानुदात्तत्वम्, धातुस्वरेण अकारस्योदात्तत्वम्, वाजस्येति सुबन्तात् परस्य सनिता इति तिङन्तस्य 'तिङ्ङतिङः' (पा० सू० ८।१।२८) इति सूत्रेणानुदात्तत्वं प्राप्तम्। 'न लुट्' (पा० सू० ८।१।२९) इति सूत्रेण तस्य निषेधः। एवं च धातुस्वरेणाकारस्योदात्तता। मध्ये इकार आगमानुदात्तत्वेनानुदात्तः। पुनः 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (पा० सू० ८।४।६६) इति स्वरितः, अन्त्य आकारस्तु 'तास्यनुदात्तेन्……' (पा० सू० ६।१।१८६) इत्यनुदात्त एवेति स्वरप्रक्रियामाहुः। अत्र कश्चित् सनिताशब्दः षणु धातोस्तृनि सति निष्पन्न इति नित्स्वरादाद्युदात्तः। लुटि आद्युदात्तता न युक्ता, कानुदात्तत्वस्य प्रत्ययस्वरापवादत्वेनोदात्तनिवृत्तिस्वरस्याबाधेन अन्तोदात्तत्वस्यैव प्राप्तेः। तथा च तैत्तिरीयसंहितायाम् 'अन्वागन्ता' (तै० सं० ५।७।७।१) इत्यत्र लुटि अन्तोदात्तत्वं दृश्यते। भट्टभास्करस्तु तथैव प्रतिपेदे। सायणोक्ता प्रक्रिया तु……'इत्याह। एतत्तु व्याकरणशास्त्ररहस्यविद्भ्यो न रोचते। तत्र कारणानि—(१) तृनि सति वाक्यपूर्तयेऽस्त्यादिक्रियापदस्याध्याहारकल्पने गौरवं स्यात्। (२) वाजस्येति कर्मणि षष्ठ्यां 'न लोकाव्ययनिष्ठा……' (पा० सू० २।३।६९) इति सूत्रेण निषेध आपद्येत। कर्ता कटानिति प्रयोगे द्वितीयावदत्रापि द्वितीया स्यात्। शेषे षष्ठी तु नोचिता, उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसीति सिद्धान्तात्। सायणमते तु कृद्योगाभावे कर्मषष्ठ्या अप्राप्तौ शेषत्वविवक्षया षष्ठी सूपपादा। एवं च वृश्चिकभिया पलायमानः

सर्पमुखे पतितः। (३) प्रत्ययस्वरापवादत्वेनोदात्तनिवृत्तिस्वरस्याबाधनादित्युक्तिस्तु अत्यन्तमुपहासास्पदा, एकशास्त्रस्यापवादोऽपरस्य बाधको न भवतीत्यत्र मानाभावात्। अत्रैव सूत्रे भाष्ये—'चित्स्वरात्तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वं विप्रतिषेधेन' इत्युक्त्या तास्यनुदात्तत्वस्य परत्वाच्चित्स्वरबाधकतायाः स्पष्टमुक्तत्वात्। अतः परत्वादुदात्तनिवृत्तिस्वरस्यापि बाधकता तास्यनुदात्तेदित्यस्य युज्यत एव। (४) विन्दति, खिन्दति इति भाष्यमपि नात्र पक्षे साधकम्, तस्य पूर्वपक्षयुक्तत्वात्। सिद्धान्ते तु 'विन्दोन्धिखिदिभ्यश्च लः सार्वधातुकानुदात्तप्रतिषेधात्' (पा० सू० ६।१।१६१-५) इति वचनेन भाष्यकृता तास्यनुदात्तेदित्यस्य निषेध एव कृतः। अतः प्रत्ययस्वरेणैव तत्र मध्योदात्तता भविष्यति, न तु तदुक्तेनोदात्तनिवृत्तिस्वरेणेति तदभिमतं नैव सिद्धान्तभाष्यरूढम्। 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (पा० सू० ६।१।१६१) इति सूत्रीयं भाष्यं कणेहत्य पर्यालोचनीयम्। (५) 'अन्वागन्ता' इत्यत्र यदि अन्तोदात्तत्वमिष्यते तर्हि उदात्तनिवृत्तिस्वरस्तत्र निःशङ्कं कर्तव्यः, छन्दसि दृष्टानुविधानात्॥ ४२॥

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु।
चित्रः शिशुः परि तमाᳪस्यक्तून् प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद् गाः॥ ४३॥

मन्त्रार्थ—**हे अग्ने, तुम शोभन पूजनीय पुरोडाश आदि लक्षण वाली औषधियों को पुष्ट करने के लिये अनेक वर्ण की ज्वालाओं से विचित्र रूप धारण कर शिशु रूपी द्यावा पृथिवी के मध्य में उत्पन्न हुए हो। तुम रात्रि लक्षण अन्धकार को दूर करते हुए, औषधि वनस्पतियों के प्रकाश से अत्यन्त शब्द करते हुये शीघ्रता से चलो॥ ४३॥**

'अवहृत्योपरिनाभि धारयन्नश्वप्रभृतीनभिमन्त्रयते सजातः स्थिरो भव शिवो भवेति' (का० श्रौ० १६। ३।९)। अध्वर्युः पिण्डं नीचैरवतार्य नाभेरुपरि हस्ताभ्यां धारयन्नश्वगर्दभाजान् सजात इत्यावृत्क्रमेण मन्त्रैरभिमन्त्रयेत्। एकैकं पश्यन्नेकैकं मन्त्रं जपेदित्यर्थः। अश्वदेवत्या त्रितदृष्टा। अश्वमग्निबुद्ध्या स्तौति—हे अग्न्यात्मक अश्व, स त्वं रोदस्योर्द्यावापृथिव्योर्गर्भः सन् इदानीं जातोऽसि। कीदृशस्त्वम्? दातव्यासु चारुः शोभनः पूजनीयो वा। ओषधीषु ओषधिवनस्पत्यादिषु पुरोडाशादिरूपासु, बिभृतः सम्भृतः, विहृतो वा। ओषधीषु दृश्योऽग्निरूपः सन् विशेषेण पोषितः। चित्रो नानावर्णाभिर्ज्वालाभिर्वा विविधरूपः, इदानीमुत्पन्नत्वात् शिशुः शंसनीयो वा। अक्तून् अक्तूनि रात्र्युपलक्षितानि। अक्तुशब्दो रात्रिवाचकः। लिङ्गव्यत्ययः। तमांसि अन्धकाराणि परि परिहरन् परीत्य अतिरोचमान इति वा तादृशस्त्वं मातृभ्य ओषधिभ्यः, अधि सकाशात् कनिक्रदद् अधिकं शब्दं कुर्वन् प्रगाः प्रकर्षेण गच्छेः। यथा शिशुर्मातरमुद्दिश्य क्रन्दन् गच्छेत् तद्वदित्यर्थः। यद्वा मातृभ्य इति चतुर्थी। शरीरस्योत्पादकत्वाद् ओषधयोऽत्र मातृपदवाच्याः। तदर्थं तद्रक्षणार्थं कनिक्रदद् अत्यर्थं हर्षशब्दं कुर्वन् प्रगाः प्रगच्छति। 'इणो गा लुङि' (पा० सू० २।४।४५) इति गादेशः। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति कालविशेषाविवक्षायां लुङ्। अडभावश्छान्दसः। प्रेत्युपसर्गो गा इत्यनेन सम्बद्ध्यते।

तथा च ब्राह्मणम्—'हस्त एष भवत्यथ पशूनभिमन्त्रयते। एतद्वा एषु देवाः सम्भरिष्यन्तः पुरस्ताद् वीर्यमदधुस्तथैवैष्वयमेतत्सम्भरिष्यन् पुरस्ताद् वीर्यं दधाति' (श० ६।४।४।१)। मृत्पिण्डसाहित्येन पश्वभिमन्त्रणं विधत्ते—हस्त एष भवतीति। एष मृत्पिण्डः, एतद् इदानीं पिण्डसम्भरणकाले पश्वभिमन्त्रणेन एषु वीर्यं देवा इव अयं यजमानोऽपि दधाति निहितवान् भवति। 'सोऽश्वमभिमन्त्रयते। स जातो गर्भो असि रोदस्योरितीमे वै द्यावापृथिवी रोदसी तयोरेष जातो गर्भोऽग्ने चारुर्विभृत ओषधीष्विति सर्वासु ह्येष चारुर्विभृत ओषधीषु चित्रः शिशुः परि तमाᳪस्यक्तूनिति चित्रो वा एष शिशुः परि तमाᳪस्यक्तूनति रोचते प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद् गा इत्योषधयो वा एतस्य मातरस्ताभ्य एष कनिक्रदत्प्रैति तदश्वे वीर्यं दधाति' (श० ६।४।४।२)।

पूर्वमश्वाभिमन्त्रणं विधत्ते—सोऽश्वमिति । मन्त्रं प्रतिपादमनूद्य व्याचष्टे—इमे वै द्यावापृथिवी इति रोदस्योर्द्यावापृथिव्योरेष जातो गर्भ इति तात्पर्यम् । परितमांस्यक्तूनित्यस्यार्थमाह—परितमांस्यक्तूनतिरोचत इति । अक्तून् रात्रिगतानि तमांसि परीत्य अतिरोचत इति । प्रमातृभ्य इत्यादेरर्थमाह—ओषधयो वा एतस्य मातर इति । ताभ्य एष कनिक्रदत्प्रैति इत्येवमर्थंकेन मन्त्रेणाभिमन्त्रणादश्वे वीर्यं दधाति यजमानः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, त्वं रोदस्योर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये गर्भः सन् श्रीरामरूपेण वा जातोऽसि । कीदृशस्त्वम् ? चारुः शोभनः परमसौन्दर्यवत्त्वेन सर्वप्रेमास्पदीभूतो भवसि । ओषधीषु चक्रवर्तिदशरथस्याश्वमेधगत-पुत्रेष्टिलक्षणे यज्ञे दिव्यप्राजापत्यपुरुषदत्तपायसलक्षणास्वोषधीषु विभृतः सम्भृतः चित्रः श्यामगौररामलक्ष्मणभरत-शत्रुघ्नरूपेण विविधरूपः सन् सर्वकारणकारणभूतोऽपि तत्कालोत्पन्नत्वात् शिशुः शिशुरूपः, अक्तून् अक्तु(रात्र्यु)-पलक्षितानि सर्वाणि तमांसि तमोरूपाणि रक्षांसि परिहरन् मातृभ्यः कौशल्याकैकेयीसुमित्राभ्यः सकाशात् कनिक्रदद् रोदनशब्दं कुर्वन् प्रगाः प्रकर्षेण सम्राजो दशरथस्याङ्के, अन्यासां मातॄणां वाङ्के गतवानसि ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यस्त्वं रोदस्योर्जातः प्रसिद्धः चारुः सुन्दरः, ओषधीषु सोमादिषु विभृतो विशेषेण भृतो धृतः पोषितो वा चित्रः अद्भुतो गर्भो यो गीर्यते स्वीक्रियते सोऽर्कः, मातृभ्यो मान्यकर्त्रीभ्यः किरणेभ्यः तमांसि अन्धकारान् अक्तून् रात्रीः पर्यधि कनिक्रदत् सन् परितोऽपसारयन् गाः गच्छति तथाभूतः शिशुः गाः विद्याः प्राप्नुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिविरोधात् । श्रुतौ तु 'ओषधयो वा एतस्य मातरस्ताभ्य एष कनिक्रदत् प्रैति' (श० ६।४।४।२) इति व्याख्यातम् । शिशुरित्यपि पदं चारुरित्यादिभिः समानयोगक्षेमम् । अतः शिशु गा विद्याः प्राप्नुहीति योजनमपि निर्मूलमेव ॥ ४३ ॥

स्थिरो॑ भव वी॒ड्व॑ङ्ग आ॒शुर्भ॑व वा॒ज्य॑र्वन् । पृ॒थुर्भ॑व सु॒षद॒स्त्वम॒ग्नेः पु॑रीष॒वाह॑णः ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—हे गमन में कुशल रासभ, तुम स्थिर काय वाले हो, वेगवान् हो, अन्न को पैदा करने वाले हो । हे पुरीष्य अग्नि, तुम पृष्ठ को विस्तीर्ण करते हो, अग्निदेह रूप मृत्तिका में सुख से स्थिति के योग्य हो ॥ ४४ ॥

रासभदेवत्यानुष्टुब् उष्णिग्वेति महीधराचार्यः । इयर्ति प्रति पदार्थं गच्छतीत्यर्वा रासभः, तत्सम्बुद्धौ हे अर्वन् हे अरणवन् गमनकुशल, स्थिरो निश्चलः स्खलनरहितो भव । वीड्वङ्गः वीडूनि दृढानि अङ्गानि यस्य सः, दृढाङ्गश्च भव । आशु वेगवान् सन् वाजी वेजनवान् अन्नहेतुर्भव । पृथुः विस्तीर्णपृष्ठः सन् अग्नेः सुषदः सुखेन सद्यते स्थीयते अस्मिन्निति सुषदः सुखदासनः स्वास्थेयो वा भव । कीदृशस्त्वम् ? पुरीषवाहणः पुरीषः पांसुरूपा मृत् तं वहतीति पुरीषवाहणः । अथवा पुरीषं पशव्यं यवसं वहतीति पुरीषवाहणः । 'कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट्' (पा० सू० ३।२।६५) इति ञ्युटि रूपम् । गोमयसंकतस्य वा वाहकत्वाद् रासभस्य पुरीषवाहकत्वं प्रसिद्धमिति सायणाचार्यः । तत्र ब्राह्मणम्—'अथ रासभम् । स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन्निति । स्थिरश्च भव वीड्वङ्गश्चाशुश्च भव वाजी चार्वन्नित्येतत् पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहण इति पृथुर्भव सुशीमस्त्वमग्नेः पशव्यवाहन इत्येतत् तद्रासभे वीर्यं दधाति' (श० ६।४।४।३) । रासभाभि-मन्त्रणे मन्त्रं विधत्ते—अथ रासभमिति । मन्त्रव्याख्यानेन स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अर्वन् क्रियाकुशल साधक, त्वं स्थिरो भव साधननिष्ठो भव । वीड्वङ्गो वीडूनि दृढान्यङ्गानि हस्तपादादीनि बाह्यानि शमदमादीन्याभ्यन्तराणि च यस्य सः, तादृशो भव । आशुः शीघ्रकारी, अर्थाद् अनलसो भव । वाजी पथ्यान्नवान् भव । पृथुः वस्तुतत्त्वेषु प्रसरणशीलबुद्धियुक्तो भव । त्वमग्नेः

परमेश्वरस्य सुषदः सुखासनो भव । त्वदीयहृदयकमले परमेश्वरस्यासनमस्तु । पुरीषवाहणः पुरीषं भस्म-गोपीचन्दन-ब्रजरजःप्रभृति मृदं वहति धारयतीति, स तादृशो भव, संस्कारार्थं देहेन्द्रियादिशुद्धचर्थं तद्धारणस्य विहितत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'हे अर्वन् पुत्र, त्वं विद्याग्रहणाय स्थिरो भव । वाजी प्राप्तनीतिः । वीड्वङ्गः वीडूनि बलिष्ठान्यङ्गानि यस्य सः । आशुः शीघ्रकारी भव । त्वमग्नेः पावकस्य सुषदः यः शोभनेषु व्यवहारेषु सीदति सः । पुरीषवाहणः पुरीषाणि पालनादीनि कर्माणि वाहयति प्रापयति सः । पृथुः विस्तृतसुखो भव' इति, तदपि न युक्तम्, अध्याहारबाहुल्यात्, पुत्रस्य सम्बोध्यत्वे मानाभावाच्च । विद्याग्रहणायेत्यादिकमपि निर्मूलमेव । विज्ञानयुक्तः स किमर्थमध्ययने नियुज्यते ? श्रुतिव्याख्यानविरोधस्तु पूर्वोक्तव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ ४४ ॥

शिवो॒ भ॑व प्र॒जाभ्यो॒ मानु॑षीभ्य॒स्त्वम॑ङ्गिरः ।
मा द्यावा॑पृथि॒वी अ॒भिशो॑ची॒र्मान्तरि॑क्षं॒ मा वन॒स्पती॑न् ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निरूप अग्नि के प्रिय शिशु अज, तुम मनुष्य सम्बन्धी प्रजाओं के निमित्त कल्याणकारी हो, शान्त स्वभाव के हो । द्यावापृथिवी को सन्तप्त मत करो, अन्तरिक्ष को सन्तप्त मत करो, वनस्पतियों को सन्तप्त मत करो ॥ ४५ ॥

अजदेवत्या पथ्याबृहती । अजमभिमन्त्रयते—हे अज, त्वं मानुषीभ्यो मनुसम्बन्धिनीभ्यः प्रजाभ्योऽर्थेभ्यः शिवः शान्तो भव । हे अङ्गिरः, अङ्गिरोरूप अज ! त्वं द्यावापृथिवी माभिशोचीः मा सन्तापय तथान्तरिक्षं माभिसन्तापयेः । वनस्पतीन् मा अभिशोचीः मा सन्तापय । 'अङ्गिरा वा अग्निराग्नेयोऽजः' (श० ६।४।४।४) इति श्रुत्याऽजस्याङ्गिरोऽग्निरूपत्वं विज्ञायते । अङ्गिरोभिर्ऋषिभिः पूर्वं सम्पादितत्वाद् अङ्गसौष्ठवाद्वाऽयमग्निरङ्गिराः । यद्वा हे अज, त्वं द्यावापृथिव्यौ अभिलक्ष्य मा शोचीः शोकं सन्तापं मा कार्षीः । तथैवान्तरिक्षं वनस्पतींश्चाभिलक्ष्य मा शोचीः, मा हिंसीरिति वा । तत्र ब्राह्मणम्—'अथाजम् । शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिर इत्यङ्गिरा वा अग्निराग्नेयोऽजः शमयत्येवैनमेतदहिꣳसायै मा द्यावापृथिवी अभिशोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीनित्येतत्सर्वं मा हिꣳसीरित्येतत्तदजे वीर्यं दधाति' (श० ६।४।४।४) । अजाभिमन्त्रणं विधत्ते—अथाजमिति । एतद् ब्राह्मणानुसार्येव पूर्वोक्तं व्याख्यानम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अङ्गिरोऽग्ने रुद्र, त्वं मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः शिवो भव । द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वनस्पतीन् माभिशोचीः मा सन्तापय, मा हिंसीर्वा । संहारदेवत्वात् सन्तापकत्वं प्राप्तम्, तस्य शिवरूपत्वेन अहिंसायै प्रार्थनाया युक्तत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'हे अङ्गिरः, प्राण इव प्रिय सुसन्तान, त्वं मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः शिवो भव । द्यावापृथिवी विद्युद्भूमी अभि अभ्यन्तरे मा शोचीः शोकं मा कुर्याः । तथैव अन्तरिक्षं वनस्पतीन् माभिशोचीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः । यो मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः कल्याणकारी भवति, स कथं द्यावापृथिवादिभ्यः शोकमावक्ष्यति ? श्रुतिव्याख्यानविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥ ४५ ॥

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा। भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा। वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम्। अग्न आयाहि वीतये ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—वेगवान् अश्व अतिह्रेषित शब्द करता हुआ वेग से गमन करे, पतनशील गर्दभ दिशाओं को शब्दायमान करता हुआ यवस के वहन के निमित्त पीछे चले। यह अश्व पशुसम्बन्धी अग्नि को धारण करता हुआ यज्ञ कर्म की समाप्ति से पहले विनाश को प्राप्त न हो, कर्म समाप्ति पर्यन्त जीवित रहे। सिंचन में समर्थ रासभ आहुति के परिणाम से फलदान में समर्थ होकर जल के मध्य मेघों में विद्युत् रूप से और सागर में वडवा के रूप से अग्नि को धारण करता हुआ यहां आवे। हे अग्निदेव, आप हवि के भक्षण के निमित्त यहां आइये ॥ ४६ ॥

'धारयत्येषामुपरि पिण्डमनुपस्पृशन् प्रैतु वाजी वृषाग्निमित्यश्वखरयोः' (का० श्रौ० १६।३।१०)। एषां पूर्वोक्तानामश्वरासभाजानामुपरि मृत्पिण्डं धारयति तानस्पृशन् प्रैतु वाजीत्यश्वोपरि वृषाग्निमिति खरोपरीति। महापङ्क्तिस्त्र्यवसाना। अष्टार्णा षट्पादा महापङ्क्तिः। अर्धर्चाविश्वदेवत्यौ। तृतीयोऽर्धर्चो रासभदेवत्यः। वाजी अश्वः प्रैतु प्रकर्षेण गच्छतु। किं कुर्वन्? कनिक्रदन् अत्यन्तं ह्रेषाशब्दं कुर्वन्। रासभश्च प्रैतु यवसवाहनार्थम्। किं कुर्वन्? नानदद् गर्दभरटितेन सर्वा दिशो नादयन्। सोपहासमिदमुच्यते। कनिक्रदन्नानदद्उभयमपि यङ्लुगन्तम्। कीदृशो रासभः? पत्वा पतनशीलः। 'पत्लृ गतौ' इत्यस्मात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति क्वनिप्प्रत्ययः। अश्वमन्त्रे रासभोपादानं रासभोपहासार्थम्, 'तदश्वस्य यजुषि रासभं निराह तद्रासभे शुचं दधाति' (श० ६।४।४।७) इति श्रुतेः। अयमश्वः पुरीष्यमग्निं दाहकं भरन् धारयन् आयुषः कर्मणः पुरा पूर्वं मा पादि मा विनश्यतु। आयुःशब्देन तन्मूलं कर्म विवक्षितम्। यज्ञसम्बन्धेनैवाश्वादीनां स्तुतिः। यद्वा वाजी अन्नवानश्वः प्रैतु आगच्छतु। तं विशिनष्टि—कनिक्रदद् अत्यर्थं ह्रेषाशब्दं कुर्वन्। नानदत् सर्वा दिशो नादयन्। रासभः रासभ इव। अत्रोपमावाचकेवशब्दलोपो द्रष्टव्यः। पत्वा पतनशीलः। अथ रासभमन्त्रः—वृषा सेक्ता रासभोऽग्निं भरन् धारयन् सन्, प्रैत्विति शेषः। कीदृशमग्निम्? वृषणं सेक्तारं फलाभिवर्षणसमर्थम् आहुतिपरिणामेनेति। पुनः कीदृशमग्निम्? अपां गर्भम्, जलमध्येऽवस्थानात्। मेघस्थानां जलानां मध्ये विद्युद्रूपं वा। पुनः कीदृशम्? समुद्रियं समुद्रे वडवाग्निरूपेणोत्पन्नम्। यद्वा समुद्रेऽग्निचयने भवः समुद्रियः, तम्। 'त्रयो ह वै समुद्राः। अग्निर्यजुषां महाव्रतं साम्नां महदुक्थमृचाम्' (श० ९।५।२।१२) इति श्रुतेः। यद्वा वृषणं वर्षकं मृद्रूपमग्निं भरन् अपां गर्भं गर्भभूतं समुद्रियं समुद्रेऽन्तरिक्षे भवमग्निं मृद्रूपं भरन् वृष सिञ्च। वृषतेर्लोटि रूपम्। ब्राह्मणे कन्प्रत्ययान्तं वृषेतिपदं व्याख्यातम्। तद्रीत्या वृषा रेतसः सेक्ता रासभो वृषणमग्निं भरन् तिष्ठतीत्यध्याहारः। तृतीयपादेऽग्निः सम्बोध्यते—हे अग्ने, वीतये आयाहि। 'अग्न आयाहीत्याहृत्य खराच्छागस्यर्तं सत्यमित्यानिधानात्' (का० श्रौ० १६।३।११)। अध्वर्युः 'अग्न आयाहि वीतये' इति मन्त्रेण रासभात् पिण्डमाहृत्य ऋतं सत्यमिति मन्त्रेण अजस्योपरि पिण्डं धारयेत्। 'परिवृते प्राग्द्वारे पिण्डं निदधाति' (का० श्रौ० १६।३।१४) इति, निधानपर्यन्तमित्यर्थः। एकपदा गायत्री अग्निदेवत्या। हे अग्ने, वीतये हविर्भक्षणाय आयाहि आगच्छ। यद्वा हे मृत्पिण्ड, वीतये तर्पणाय रासभादागच्छ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमेतेषां पशूनामुपरिष्टात् प्रगृह्णाति। तदेनमेतैः पशुभिः सम्भरति नोपस्पृशति वज्रो वै पशवो रेत इदं नेदिदं रेतो वज्रेण हिनसानीत्यथो अग्निरयं पशव इमे नेदयमग्निरियान् पशून् हिनसदिति' (श० ६।४।४।६)। अनुपस्पृशन् पिण्डं धारयेदित्युक्तमुपरिष्टात्। तद्विधत्ते अथैनमेतेषां पशूनामिति। उपस्पर्शनाभावं प्रशंसति—वज्रो वै पशव इति। यतो वज्ररूपाः पशवः, मृत्पिण्डश्च रेतोरूपः,

अतो वज्रेण रेतो विच्छिन्नं न करोमीति बुद्ध्या पशून्न स्पृशेत् । यद्वा अयं मृत्पिण्डो हि अग्निः । अग्निः पशून्मा हिंसीदिति बुद्ध्या न स्पृशेत् । हिनसानीति लोटि रूपम् । हिनसदिति लेटि पञ्चमलकारे रूपम् । 'तमश्वस्योपरिष्टात् प्रगृह्णाति । प्रैतु वाजी कनिक्रददिति प्रैतु वाजी कनिक्रद्यमान इत्येतन्नानदद्रासभः पत्वेति तदश्वस्य यजुषि रासभं निराह तद्रासभे शुचं दधाति भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरेति भरन्नग्निं पशव्यं मो अस्मात् कर्मणः पुरा पादीत्येतत्तदेनमश्वेन सम्भरति' (श० ६।४।४।७) । अश्वस्योपरिधारणं समन्त्रं विधत्ते—तमश्वस्योपरिष्टादिति । अश्वस्योपरिधारणमन्त्रे रासभः पत्वेति गर्दभवचनस्य प्रयोजनमाह—तदश्वस्य यजुषि रासभं निराहेति । अश्वमन्त्रे रासभवचने तस्माद्रासभादश्वस्यातिशयितत्वोक्तेस्तस्मिन् गर्दभे शोकबलराहित्यमेव निहितं भवतीति ।

'अथ रासभस्य । वृषाग्निं वृषणं भरन्निति वृषा वा अग्निर्वृषा रासभः स वृषा वृषाणं भरत्यपां गर्भꣳ समुद्रियमित्यपाꣳ ह्येष गर्भः समुद्रियस्तदेनꣳ रासभेन सम्भरति' (श० ६।४।४।८) । अत्र सूत्रानुसारेण ऋचः पूर्वार्धेन रासभस्योपरि मृत्पिण्डस्य धारणं तृतीयपादेनाजस्योपरि धारणाय रासभाद् मृत्पिण्डहरणं चतुर्थेन अजस्योपरि धारणं चतुर्थेन अनद्धापुरुषेक्षणम् । यथोक्तं सूत्रकारेण—'प्रैतु वाजी वृषाग्निमित्यश्वखरयोः । अग्न आयाहीत्याहृत्य खराच्छागस्यर्तꣳ सत्यमित्यानिधानात् । आयन्त्यावर्त्य पशूनजः पुरस्ताद्रासभो मध्ये । अनद्धापुरुषमीक्षते पूर्ववदग्निं पुरीष्यमिति' (का० श्रौ० १६।३।१०-१३) । ततोऽश्वादीन् पशून् प्रदक्षिणावर्तनं प्रत्यङ्मुखान् कृत्वा तैः सह ब्रह्मयजमानाध्वर्यवः परिवृत्तं प्रत्यागच्छेयुः । तत्राजः प्रथमं रासभो मध्ये अश्वः पश्चाद् गच्छेत् । ज्वलत्स्वग्निषु अनद्धापुरुषं पूर्ववदेवेक्षेत । 'अथापादत्ते । अग्न आ याहि वीतय इत्यवितव इत्येतत्तदेनं ब्रह्मणा यजुषैतस्माच्छौद्राद्वर्णादपादत्ते' (श० ६।४।४।९) । खराद् मृदाहरणं समन्त्रं विधत्ते—अथापादत्त इति । वीतय इत्यस्यार्थमाह—अवितव इति । तर्पणार्थाद् वेतेः क्तिन्, तर्पणायेत्यर्थः । अपादानं प्रशंसति—तदेनं ब्रह्मणेति । एनं मृत्पिण्डं ब्रह्मणा ब्रह्मरूपेण यजुषा अग्न आयाहीति पादेन । एतस्मात् शौद्राद् वर्णाद् अपादत्तवान् भवति । रासभस्य वैश्यशूद्रजातिसम्बन्धः 'वैश्यं च शूद्रं चानु रासभः' (श० ६।४।४।१२) इति कण्डिकायामाम्नातः ।

अध्यात्मपक्षे—अयं साधकः, अथवा जीवः, अश्व इव प्रैति परमात्मप्राप्तिपथं प्रकर्षेण तीव्रवेगेन गच्छति । किं कुर्वन् ? कनिक्रदद् मन्त्रमयं नाममयं वा भृशं शब्दं कुर्वन्, रासभ इव नानदद् उच्चैः स्वरेण भृशं हरिनामकीर्तनं कुर्वन्, पत्वा गमनशीलः पुरीष्यं पशव्यं जीवरूपपशुहितैषिणम् अग्निं रुद्रं धरन् हृदये धारयन् । आयुष आरब्धादुपासनाकर्मणः फलपर्यन्तसमाप्तेः पुरा पूर्वं मा पादि मा विनश्यतु । कीदृशमग्निम् ? वृषणं सेक्तारं फलाभिवर्षणसमर्थम् । अपांगर्भम् अन्तर्यामिरूपेण लोकानामन्तरवस्थितं समुद्रियं भवसमुद्रे तदधिष्ठानरूपेण विद्यमानं हे अग्ने वीतये विविधपुरुषार्थप्राप्तये साधकहृदयमासमन्तादागच्छ ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने सुसन्तान, भवान् कनिक्रदद् गच्छन् नानदद् भृशं शब्दं कुर्वन् रासभो दातुं योग्यः पत्वा पतति गच्छति यः स वाजी अश्व इव आयुषो नियतवर्षाद् जीवनात् पुरा पूर्वं मा प्रैतु मा गच्छतु । पुरीष्यं पुरीषेषु पालनेषु साधुम्, अग्निं विद्युतम्, भरन् मा पादि मा गच्छ । इतस्ततो मा गच्छ । वृषा बलिष्ठः, अपां जलानां गर्भं समुद्रियं समुद्रे भवं वृषणं वर्षायितारम् अग्निं सूर्यं भरन् सन् वीतये विविधसुखानां प्राप्तये आयाहि प्राप्नुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिविरोधात्, तत्राश्वरासभाजानां पशूनामेव ग्रहणात् । पुरीष्यमित्यस्य पशव्यमिति तत्र व्याख्यानम् ॥ ४६ ॥

ऋतꣳ सत्यमृतꣳ सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः । ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳ शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः । व्यस्यन् विश्वा अनिरा अमीवा निषीदन्नो अप दुर्मतिं जहि ॥४७॥

मन्त्रार्थ—आदित्य और अग्नि ये दोनों ही व्यष्टिसमष्टि रूप और ऋतसत्य रूप हैं, अजा के द्वारा हम इनकी रक्षा करते हैं, पशुसम्बन्धी अग्नि को अंगिरा ऋषि के समान संग्रह करते हैं। हे सम्पूर्ण औषधियो ! तुम शान्त कल्याणकारक हो, तुम्हारे सम्मुख आ रहे इस अग्नि का प्रत्युत्थान आदि के द्वारा स्वागत करो। हे अग्ने, तुम यहाँ विराजमान होकर हमारे सम्पूर्ण दुर्भिक्ष, पीड़ा, ईति, व्याधि आदि को दूर कर हमारी रक्षा करो, हविर्दान से पराङ्मुख हमारी दुर्मति का नाश करो ॥ ४७ ॥

छागस्योपरि मृत्पिण्डं धारयन् जपति—ऋतꣳ सत्यमिति। प्राजापत्या गायत्री यजुरग्निदेवत्यम्। ऋतमादित्यं सत्यमग्निम् आदित्याग्निरूपं मृत्पिण्डं अग्निम्, अध्याहरामीति शेषः। ऋतसत्यशब्दाभ्यामादित्याग्नी विवक्षितौ। ऋतं सत्यमिति पुनर्वचनमादरातिशयार्थम्। वक्ष्यमाणश्रुतेर् ऋतमग्निः सत्यमादित्य इत्यपि। 'अनद्धापुरुषमीक्षते पूर्ववदग्निं पुरीष्यमिति' (का० श्रौ० १६।३।१३) इति देवपितृकार्यविमुखमनद्धापुरुषम्, उच्छृङ्खलमिति यावत्, अध्वर्युरीक्षते ज्वलत्स्वग्निष्वाहवनीयान्ते स्थित इति पूर्ववत्पदेन ज्ञेयम्। अयं विषयः षोडशेऽध्याये द्वितीयकण्डिकायां त्रयोदशे सूत्रे प्रतिपादितः। आग्नेयं यजुः साम गायत्री। पशव्यमग्निमङ्गिरसो मुनय इव भरामो हरामः। 'उत्तरत आहवनीयस्योद्धतावोक्षिते सिकतोपकीर्णे परिवृते प्राग्द्वारे पिण्डं निदधात्योषधय इति' (का० श्रौ० १६।३।१४)। उखासम्भरणार्थमुद्धृतस्य आहवनीयस्योत्तरस्यां दिशि पञ्चहस्तं परिवृतं गृहं निर्माय तत्र परिवृत आच्छादितप्रदेशे मृत्पिण्डं निदध्याद् ओषधय इति मन्त्रेण। कीदृशे परिवृते प्रदेशे ? उद्धते कृतोल्लेखने, अवोक्षिते सिक्ते प्राग्दिशि द्वारं यस्य तादृशे सिकतोपकीर्णे एतादृशे प्रदेशे। आहवनीयस्योत्तरभागे यस्मिन् देशे मृत्पिण्डो निधीयते, तस्मिन् देशे उच्छिष्टादिशङ्कोपेतस्योपरितनतृणाद्यपेतमृद्भागस्यापसारणं कर्तव्यम्। तदेतदुद्धननं कृत्वा उदकेनावोक्ष्य सिकतां प्रसार्य तस्य देशस्य परितः प्रावरणं कृत्वा प्राग्द्वारं कुर्यात्। तत्र ओषधय इति मन्त्रेण मृत्पिण्डं निदध्यादिति सायणाचार्यः। हे ओषधयः, यूयमेतमग्निं प्रतिमोदध्वम् अभ्युत्थानादिभिः प्रहर्षयत। यद्वा प्रतिमोदस्य भयराहित्यमर्थः। कीदृशमग्निम् ? शिवं शान्तम्। अत्र अस्मिन् देशे स्थितान् युष्मा युष्मान् अभिमुखीकृत्य आयन्तमागच्छन्तम्। एवमर्धर्चेनौषधीरुक्त्वा अग्निमाह—हे अग्ने, त्वमत्र अस्मिन् प्रदेशे निषीदन् निविशमानः सन्नोऽस्माकं दुर्मतिं दुर्बुद्धिं नास्ति दत्तं नास्ति हुतमित्येवमात्मिकां नास्तिक्यबुद्धिम् अपजहि अपनय। किं कुर्वन् ? विश्वाः सर्वाः, अनिरा इरा इत्यन्ननाम, न विद्यते इरा अन्नं यासु ता अतिवृष्ट्याद्या ईतीः। अथवा इरेत्युदकनाम। अनिरा अनावृष्टीः। व्यस्यन् विक्षिपन्। अमीवा व्याधींश्च व्यस्यन् नोऽस्माकं दुर्मतिं प्रमादालस्यादियुक्तां दुर्बुद्धिमपजहि। 'युष्माः' इत्यत्र शसः सकारस्य 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (पा० सू० ६।१।१०३) इत्यनेन नकारः। 'उभयथर्क्षु' (पा० सू० ८।३।८) इति नकारस्य रुत्वं विसर्गः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथाजस्य। ऋतꣳ सत्यमृतꣳ सत्यमित्ययं वा अग्निर्ऋतमसावादित्यः सत्यं यदि वाऽसावृतमयꣳ सत्यमुभयं वेतदयमग्निस्तस्मादाहर्तꣳ सत्यमृतꣳ सत्यमिति तदेनमजेन सम्भरति' (श० ६।४।४।१०)। अजस्योपरि धारणमन्त्रं विधत्ते—अथाजस्यर्तमिति। ऋतं सत्यमिति द्विः पठ्यते। तत्र प्रथमर्तसत्यपदयोरर्थमाह—अयं वा अग्निर्ऋतमिति। यदि वासावृतमयꣳ सत्यमिति द्वितीयर्तसत्यपदयोरर्थ उक्तः। असौ विप्रकृष्ट आदित्य ऋतम् अयमग्निः सत्यम्। उभयरूपोऽयमग्निर्मृद्रूपः, तदेनमजेन सम्भरति।

'त्रिभिः सम्भरति। त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्सम्भरति त्रिभिः पुरस्तादभिमन्त्रयते तत्षट् तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।४।४।११)। अग्निं पुरीष्यमिति मन्त्रशेषविनियोग उत्तरत्र वक्ष्यते। इदानीमश्वादीनामुपरि धारणे विनियुक्तमन्त्रगतसंख्यां त्रिवृदात्मना स्तौति—त्रिभिरिति। 'प्रैतु वाजी' इत्येको मन्त्रः, 'वृषाग्निम्' इति महाब्रूहत्यामपरः, रासभाजयोरुपरि धारणे विनियुक्तौ द्वौ मन्त्रौ। याज्ञिकसमाख्यानस्यैव मन्त्रलक्षणत्वाद् एकस्यामप्यृचि विभज्य विनियोगान्मन्त्रा बहवः सम्पद्यन्त इत्यविरोध इति सायणः। अभिमन्त्रणमन्त्रास्त्रयः, धारणमन्त्रास्त्रयः—ते षट् सम्पद्यन्ते। तस्य स्तावकं ब्राह्मणमतिदिशति—तस्योक्तो बन्धुरिति। पिण्डपरिग्रहमन्त्रसंख्याप्रस्तावे—'ताः षट् सम्पद्यन्ते, षड् वा ऋतवः' (श० ६।४।२।१०) इत्यादिरूपेण तत्प्रशंसा विहिता।

'अथैतान् पशूनावर्तयन्ति। तेषामजः प्रथम एत्यथ रासभोऽथाश्वोऽथैतो यतामश्वः प्रथम एत्यथ रासभोऽथाजः क्षत्रं वा अन्वश्वो वैश्यं च शूद्रं चानु रासभो ब्राह्मणमजः' (श० ६।४।४।१२)। 'तद्यदितो यताम्। अश्वः प्रथम एति तस्मात् क्षत्रियं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनुयन्त्यथ यदमुत आयतामजः प्रथम एति तस्माद् ब्राह्मणं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनुयन्त्यथ यन्नैवेतो यतां नामुतो रासभः प्रथम एति तस्मान्न कदाचन ब्राह्मणश्च क्षत्रियश्च वैश्यं च शूद्रं च पश्चादन्वितस्तस्मादेवं यन्त्यपापवस्यसायाथो ब्रह्मणा चैवैतत् क्षत्रेण चैतौ वर्णावभितः परिगृह्णीतेऽनपक्रमिणौ कुरुते' (श० ६।४।४।१३)। अथैतेषां पशूनामावर्तनं विधत्ते—अथैतान् पशूनिति। स्वस्थानावस्थितानामेवावर्तनं तत्रागन्तॄणां पशूनां क्रमं विधत्ते—तेषामजः प्रथम इति। पूर्वम् इतो मृदाहरणार्थं यतां गन्तॄणां पशूनां मध्ये अश्वः प्रथमो गतो रासभो मध्ये, पश्चाद् अजः, अधुना अजः प्रथमो रासभो मध्ये पश्चाद् अश्वः। गमनागमनयोरुभयोरपि रासभस्य मध्येऽवस्थानम्। अश्वाजयोरेव पौर्वापर्यम्। 'क्षत्रं वा अन्वश्वो वैश्यं च शूद्रं चानु रासभो ब्राह्मणमजः' इत्यादीनामयमर्थः—अश्वादिपशुत्रयस्य क्षत्रियजातिसम्बन्धः, क्षत्रियस्य राज्ञ इतरेभ्यस्त्रिभ्यो वैश्यशूद्रब्राह्मणेभ्यः पुरस्ताद् गमनं लोके दृष्टम्। तत्र यथापूर्वं गमनसमयेऽश्वस्य प्राथम्यम्, तथा ब्राह्मणस्यानूचानस्य स्वव्यतिरिक्तवर्णत्रयात् प्रथमगमनं च दृश्यत इत्यधुना अजस्य प्राथम्यम्। वैश्यशूद्रयोः क्षत्रियाद् ब्राह्मणाद्वा पुरस्ताद् गमनं नास्तीति मृदाहरणसमये पुनरागमनसमये च रासभस्य न प्राथम्यम्। तस्मात् कारणादेवं यान्ति अश्वपूर्वाः प्रथमे, अधुना अजपूर्वा आगच्छन्ति। अपापवस्यसाय पापपरिहाराय। ब्राह्मणेन क्षत्रियेण च एतौ वैश्यशूद्रौ अभितो मध्ये परिगृह्णीते अनपक्रमिणौ अनपक्रान्तौ कुरुते। 'अथानद्धापुरुषमीक्षते। अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद् भराम इत्यग्निं पशव्यमग्निवद् भराम इत्येतत्तदेनमनद्धापुरुषेण सम्भरति' (श० ६।४।४।१४)। तत्र पुरुषं पञ्चमम्, महाब्रूहत्याः पञ्चमपादेनेत्यर्थः, अग्निं पुरीष्यमिति तदीक्षणेन तेनाप्यनद्धापुरुषेण पुरुषप्रतिनिधिना मृदं सम्भृतवान् भवति।

'तमजस्योपरिष्टात् प्रगृह्णन्नेति। आग्नेयो वा अजः स्वेनैवैनमेतदात्मना स्वया देवतया सम्भरत्यथो ब्रह्म वा अजो ब्रह्मणैवैनमेतत् सम्भरति' (श० ६।४।४।१५)। अजस्योपरि मृत्पिण्डं धारयन्नेव ऐति आगच्छेदध्वर्युः। तथाविधं गमनमुभयथा प्रशंसति—आग्नेयो वा अज इति। अजोऽग्निदेवत्यः, मृदप्यग्निः। अतोऽजस्योपरिधारणात् स्वेन रूपेण स्वदेवत्यं सम्भृतवान् भवति। अपि अजो ब्राह्मणजातीयः। ततो ब्राह्मणेनाप्येनं मृत्पिण्डं सम्भृतवान् भवति। 'अथैनमुपावहरति। ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳ शिवमायन्तमभ्यत्र युष्मा इत्येतद्धै तस्मादायत ओषधयो बिभ्यति यद्वै नोऽयं न हिꣳस्यादिति ताभ्य एवैनमेतच्छमयति प्रत्येनं मोदध्वꣳ शिवो वोऽभ्यैति न वो हिꣳसिष्यतीति व्यस्यन् विश्वा अनिरा अमीवा निषीदन्नो अप दुर्मतिं जहीति व्यस्यन् विश्वा अनिराश्चामीवाश्च निषीदन्नोऽप सर्वं पाप्मानं जहीत्येतत्' (श० ६।४।४।१६)। अथाजसकाशाद्

मृत्पिण्डस्यावरोहणं समन्त्रं विधत्ते—अथाजमिति। इरेत्यन्ननाम। अनिरा अन्नप्रतिबन्धहेतून् अनावृष्ट्यादीन् अमीवा रोगांश्च व्यस्यन् विक्षिपन् निषीदन्नुपविशन् नो दुर्मतिं दुष्टुतिमयीं मतिम् अपजहीति। प्रतिमोदध्वमिति यदोषधीः प्रत्युक्तम्, तस्याभिप्रायमाह—एतद्धैतस्मादायत ओषधय इति। आयतः अग्नेः सकाशाद् ओषधयो बिभ्यति स्वस्य आत्मानं भक्षयिष्यति किलेति। तत्परिहाराय प्रतिमोदध्वमित्युक्तिः। यतोऽग्निः शान्तः, अतो यूयमेनं प्रतिमोदध्वमिति। शिवः सुखकर एव सन् वो युष्मान् अभ्येति, न वो हिंसिष्यतीति तात्पर्यम्। उत्तरार्धगतं दुर्मतिपदं व्याचष्टे—सर्वं पाप्मानं जहीति।

अथाध्यात्मम्—हे अग्ने परमात्मन्, त्वत्प्रसादाद् वयम् ऋतं सूनृतां वाणीं सत्यं समदर्शनम् ऋतमबाधितं सत्यं परमार्थसत्यरूपमग्निं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं ब्रह्म भरामो हृदये धरामः। कीदृशमग्निम्? पुरीष्यम्, पशव्यं पशूनां जीवानां हितकरम्, सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात्। कथमिव? अङ्गिरस्वत्, यथा अङ्गिरसो मुनयोऽग्निं भरन्ति तद्वदित्यर्थः। हे ओषधयः, अन्नमयादयः पुरुषा ओषधिपरिणामाः, 'ओषधीभ्योऽन्नम्...स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तै० उ० २।१) इति श्रुतेः। यूयमेनमायन्तमग्निं प्रतिमोदध्वम्, तदागमनेनैव युष्माकमुत्थानसम्भवात्। महाविराजि वाय्वादित्याग्न्यादीनां प्रवेशेऽपि 'नोदतिष्ठत्तदा विराट्' (भा० पु० ३।२६।६३-६९) इति तदनुत्थानमुक्तम्। परमेश्वरप्रवेशेनैव—'चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा। विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥' (भा० पु० ३।२६।७०) इति समुत्थानमुक्तम्। अतः प्रत्युत्थानादिभिस्तत्सम्मानं कुरुत। कीदृशमग्निम्? शिवं निरुपप्लवसुखरूपम्। पुनः कीदृशम्? अत्र युष्मानभिलक्ष्य युष्माकमुत्थानाय ऐहिकामुष्मिकव्यवहारवृत्तिमुद्दिश्यायन्तम्। हे अग्ने, हे भगवन् परमात्मन्, त्वमत्र निषीदन् प्रविशन् नोऽस्माकं दुर्मतिं नास्तिक्यबुद्धिम् असम्भावनाविपरीतभावनामयीं वा दुर्बुद्धिम् अपजहि। किं कुर्वन्? अनिरा इरा भारती ज्ञानलक्षणा सरस्वती, तद्भिन्ना अनिरा संशयविपर्ययादयः, तान्निरस्यन्। अमीवाः कामक्रोधादिलक्षणान् व्याधींश्च निरस्यन् दुर्मतिमपनयेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे सन्तानाः, यथा वयमृतं यथार्थं सत्यमविनश्वरम् ऋतमव्यभिचारी सत्यं सत्सु पुरुषेषु सत्यं मानं भाषणं कर्म च पुरीष्यं पालनसाधनेषु भवम् अग्निं विद्युतम् अङ्गिरस्वद् वायुवद् भरामो धरामः, तथा एतं पूर्वोक्तमायन्तं प्राप्नुवन्तं शिवं मङ्गलकारिणम् अग्निं भूत्वा यूयमप्यभिमोदध्वं सुखयत। या ओषधयो यवादयो युष्मा युष्मान् प्रति प्राप्नुवन्ति, ता वयं भरामः। हे वैद्य, त्वं विश्वाः सर्वा अनिरा नितरां दातुमयोग्या अमीवा रोगमयीः व्यस्यन् विविधतया प्रतिक्षिपन् अत्रायुर्वेदविद्यायां निषीदन् अवस्थितः सन् नोऽस्माकं दुर्मतिमपजहि दूरीकुर्वित्येनं प्रार्थयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सुसन्तानवैद्ययोः सम्बोधने मानाभावात्, ऋतसत्यादिशब्दयोरक्ष्यादित्यपरत्वेन श्रुतिव्याख्यानविरोधात्, अग्निसंस्मरणप्रकरणविरोधाच्च ॥ ४७ ॥

ओषधयः प्रतिगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः।
अयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नꣳ सधस्थमासदत् ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—हे सम्पूर्ण औषधियो, तुम फूलों वाली और अच्छे फलों वाली हो, इस अग्नि को स्वीकार करो। तुम्हारे गर्भरूप ऋतु काल को प्राप्त यह अग्नि पुरातन स्थान में स्थित हो जाय ॥ ४८ ॥

ओषधिदेवत्या प्राजापत्या अनुष्टुप्। हे ओषधयः, एतमग्निं प्रतिगृभ्णीत आदरवत्यः सत्यो गृह्णीत स्वीकुरुत। यूयं कीदृश्यः? पुष्पवतीः पुष्पवत्यः प्रशस्तपुष्पोपेताः, 'वा छन्दसि' (पा० सू० ६।१।१०६) इति

पूर्वसवर्णदीर्घः। पुनः कीदृश्यः ? सुपिप्पलाः सुष्ठु शोभनं पिप्पलं फलं यासां ताः, शोभनपुष्पफला भूत्वा प्रतिगृह्णीत। अयं हि वो युष्माकं गर्भं ऋत्विय ऋतव्यः प्राप्तकालः। प्रत्नं पुराणं शाश्वतिकं सधस्थं सहस्थानम् आसदद् आसीदति—इत्युव्वटः। ऋतुः प्राप्तोऽस्येति ऋत्वियः, 'छन्दसि घस्' (पा० सू० ५।१।१०६) इति कालप्राप्तौ घस्प्रत्ययः, ऋतुकालीनः प्राप्तकालोऽयमग्निर्वो युष्माकं गर्भो भूत्वा प्रत्नं पुरातनं सधस्थं सहस्थानं गर्भयोग्यस्थानमासीदति—इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणः।

तत्र ब्राह्मणम्—'ओषधयः प्रतिगृभ्णीत। पुष्पवतीः सुपिप्पला इत्येतद्वैतासाꣳ समृद्धꣳ रूपं यत्पुष्पवत्यः सुपिप्पलाः समृद्धा एनं प्रतिगृभ्णीतेत्येतदयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नꣳ सधस्थमासददित्ययं वो गर्भ ऋतव्यः सनातनꣳ सधस्थमासददित्येतत्' (श० ६।४।४।१७)। द्वितीयं मन्त्रं विधत्ते—ओषधयः प्रतिगृभ्णीतेति। मन्त्रं व्याचष्टे—एतद्वैतासामिति। पुष्पफलवत्त्वमेव समृद्धं रूपमित्यर्थः। 'द्वाभ्यामुपावहरति। द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदुपावहरति तं दक्षिणत उदञ्चमुपावहरति तस्योक्तो बन्धुरुद्धतमवोक्षितं भवति यत्रैनमुपावहरत्युद्धते वा अवोक्षितेऽग्निमादधति सिकता उपकीर्णा भवन्ति तासामुपरि बन्धुः' (श० ६।४।४।१८)। उपावहरणमन्त्रगतसंख्यां प्रशंसति द्वाभ्यामुपावहरतीति। तदिदं विधत्ते—तं दक्षिणत उदञ्चमित्यादिना। एतद्ब्राह्मणमूलकमेव कात्यायनसूत्रम्—'उत्तरत आहवनीयस्य' (का० श्रौ० १६।३।१४) इत्यादि, तत्तु पूर्वमुद्धृतमेव। तं पिण्डं दक्षिणतः प्रदेशादुदञ्चमुदङ्मुखम् उपावहरेद् निदध्यात्। दक्षिणत उदगागमनस्य स्तावकं ब्राह्मणमतिदिशति—तस्योक्तो बन्धुरिति, 'दक्षिणतो वा उदग्योनौ रेतः सिच्यते' (श० ६।४।२।१०) इति। यत्र स्थाने एनं पिण्डं निदध्यात्, तत्स्थानम् उद्धतम् उद्धननसंस्कृतम् अवोक्षितम् उदकसिक्तं भवेत्। पिण्डस्याग्निरूपत्वात् तत्समानप्रदेशकरणं युक्तमित्याह—उद्धते वा अवोक्षितेऽग्निमिति। गार्हपत्यादिधिष्ण्यमित्यर्थः। तस्मिन् प्रदेशे सिकता विकीर्णा भवन्ति। तत्स्तावकं ब्राह्मणमुपरिष्टाद् वक्ष्यत इत्याह—तासामुपरि बन्धुरिति।

'परिश्रितं भवति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा एतां पुरं पर्यश्रयंस्तथैवास्मा अयमेतां पुरं परिश्रयत्यथो योनिर्वा इयꣳ रेत इदं तिर इव वै योनौ रेतः सिच्यते योनिरूपमेतत्क्रियते तस्मादपि स्वया जायया तिर इवैव चिचरिषति' (श० ६।४।४।१९)। तासां विकीर्णानां सिकतानां परिश्रितमिव परिवृतं भवेत्। परिश्रितकरणं नाम रक्षोभीत्या पुरस्य करणम्। प्रकारान्तरेण स्तौति—अथो योनिर्वा इयमिति। इदं परिश्रितं स्थानं योनिरूपम्, इदं पिण्डरूपं रेतो यतश्च योनौ तिरः अप्रकाशं सिच्यते। उक्तमर्थं लोकप्रसिद्ध्या द्रढयति—तस्मादिति। तस्मात् सर्वोऽपि जनः स्वया जाययापि तिर इवैव चरितुमिच्छति।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधयः, अन्नमयादिपुरुषाः, यूयं पुष्पवत्यः फलवत्यश्च साङ्गोपाङ्गा भूत्वा एनमग्निमात्मरूपं प्रतिगृह्णीत सर्वाधिष्ठानतया निश्चिनुत। अयं वो युष्माकं गर्भः सर्वान्तर ऋत्वियः प्राप्तकालः प्रत्नं पुरातनं सधस्थं सहस्थानं प्राप्तवान् परमात्मा अनादिकालादधिष्ठानभूतः सर्वान्तरत्वेन स्वस्मिन् कल्पितैः सह स्थानं प्राप्तवानस्तीति।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः, यूयं या ओषधयः सोमादयः सन्ति, याभ्योऽयमृत्विय ऋतुः प्राप्तो यस्य सः, गर्भो वो युष्माकं प्रत्नं पुरातनं सधस्थं सहस्थानं गर्भाशयमासदत् प्राप्नुयात्, ताः पुष्पवतीः श्रेष्ठानि पुष्पाणि यासां ताः सुपिप्पलाः शोभनफला ओषधीः प्रतिगृभ्णीत' इति, तत्तु प्राकृतमेव, लोकप्राप्तत्वात्, स्त्रीणां सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, शिक्षाकालेऽयं वो गर्भ इति निर्देष्टुमशक्यत्वाच्च। नह्यध्ययनकालोऽस्य ऋतुः। तर्हि कथं ऋत्विय इति ?॥ ४९॥

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः ।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहꣳ सुहवस्य प्रणीतौ ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—बड़े विस्तार वाले बल से दीप्तिमान् हे अग्ने, तुम शत्रुओं को, राक्षसों को और समस्त व्याधियों को विशेष रूप से दूर करो। सभी प्रकार के सुखों को बुलाने में समर्थ अग्निदेव को प्रसन्न करने के कार्य में मैं नियुक्त हूँ, अतः सभी प्रकार के सुख मुझे प्राप्त हों ॥ ४९ ॥

'विपाजसेति प्रमुच्यैनमजलोमान्यादाय प्रागुदीचः पशूनुत्सृजति' (का० श्रौ० १६।३।१५)। मुञ्जयोक्त्रेण कृष्णाजिनबद्धमेनं मृत्पिण्डं विस्रस्य अजस्य रोमाणि गृहीत्वा पशुत्रयमीशानीं दिशं प्रत्युत्सृजेत्। अग्निदेवत्या त्रिष्टुप् कात्योत्कीलदृष्टा। हे अग्ने, द्विषः शत्रून् रक्षसः राक्षसान् अमीवाः रोगान् पाप्मनः विबाधस्व। वीत्युपसर्गो बाधस्वेति क्रियया सम्बद्ध्यते। कीदृशस्त्वम्? पृथुना विततेन पाजसा बलेन. पाज इति बलनाम (निघण्टु २।९।२), शोशुचानो भृशं दीप्यमानः। शोचतेर्यङ्लुगन्ताच्छानचि रूपम्। एवं प्रत्यक्षं याचित्वा अथेदानीं परोक्षीकृत्याशिषमाशास्ते–अग्नेः प्रणीतौ प्रकृष्टनीतौ अभ्यनुज्ञायां परिचर्यायां वा। शर्मणि शरणे सुखे वा अहं स्यां भवेयम्। आश्रयं सुखं वा प्राप्नुयामित्यर्थः। कीदृशस्याग्नेः? सुशर्मणः साधुशरणस्य। पुनः कीदृशस्य? बृहतो महतः। पुनः कीदृशस्य? सुहवस्य सुष्ठु शोभनं हव आह्वानं यस्य स सुहवस्तस्य सुखेनाह्वातुं शक्यस्य वा।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं विष्यति। तद्यदेवास्यात्रोपनद्धस्य सꣳशुच्यति तामेवास्मादेतच्छुचं बहिर्धा दधात्यथो एतस्या एवैनमेतद्योनेः प्रजनयति' (श० ६।१।४।४।२०)। विष्यति प्रमुञ्चेत्। पूर्वं कृष्णाजिन-पुष्करपर्णयोर्मध्ये पिण्डं निधाय अन्तानुद्गृह्य योक्त्रेण बन्धनं कृतम्, तद् योक्त्रम् अन्तोद्ग्रहणं च मुञ्चेदित्यर्थः। विमोकं स्तौति तद्यदेवास्येति। पूर्वमन्त्रोपनद्धस्य पिण्डस्य शोको जातः। तां बन्धनजातां शुचं तद्विमोकेन बहिर्धा निहितवान् भवति। किञ्च, पुष्करपर्णं च योनिरूपमित्युक्तं श्रुतौ (श० ६।४।१।७), अतो बन्धनरूप-योक्त्रविमोकाद् योनेरेव पिण्डं मुखाद्यात्मना जायतामित्यभिप्रायेण तद्विमोक इत्यर्थः। 'विपाजसा पृथुना शोशुचान इति। विपाजसा पृथुना दीप्यमान इत्येतद्बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवा इति बाधस्व सर्वान् पाप्मन इत्येतत्सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहꣳ सुहवस्य प्रणीतावित्याशिषमाशास्ते' (श० ६।४।४।२१)। एतद्-ब्राह्मणानुसारेणैव अमीवा इत्यस्य सर्वान् पाप्मन इति व्याख्यानं कृतम्। शोशुचान इत्यस्य दीप्यमान इति। 'अथाजलोमान्याच्छिद्य। उदीचः प्राचः पशून् प्रसृजत्येषा ह्योभयेषां देवमनुष्याणां दिग्यदुदीची प्राच्येतस्यां तद्दिशि पशून् दधाति तस्मादुभये देवमनुष्याः पशूनुपजीवन्ति' (श० ६।४।४।२२)। उदीचः प्राच ईशानदिगभिमुखान् प्रसृजति विसृजेत्। तां दिशं प्रशंसति—एषा ह्योभयेषामिति। एतन्मूलकं सूत्रं चोक्तमेव।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, पृथुना विस्तृतेन पाजसा बलेन द्विषः शत्रुभूतान् रक्षसो बाह्यान् रावणादीन् आन्तरान् कामादींश्च, अमीवा आन्तरान् बाह्यांश्च पाप्मनो विबाधस्व विनाशय। परोक्षेणाह—अग्नेः पापनाशकस्य अप्रधृष्यस्य भगवतः प्रणीतौ प्रणयनेऽभ्यनुज्ञायां परिचर्यायां विद्यमानायामहं शर्मणे सुखे स्यां सुखी स्याम्, परमेश्वराज्ञावशवर्तिताया एव सर्वसुखमूलत्वात्। कीदृशस्याग्नेः? सुशर्मणः सुष्ठु शोभनम् अविनश्वरं शं गर्भसुखं यस्मात्तस्य, शोभनं शरणमाश्रयणं यस्य तस्य वा, मोक्षाख्यमविनश्वरं सुखं परमात्माश्रयणेनैव भवति। भगवच्छरणागतिरेव शोभना शरणागतिः, अन्यालम्बनस्य कुशकाशावलम्बन-प्रायत्वात्। पुनः कीदृशस्याग्नेः? बृहतो महतः, तद्भिन्नस्य सर्वस्यैव क्षुद्रत्वात्। पुनः कीदृशस्य? सुहवस्य,

शोभनं हवमाह्वानं यस्य तस्य। परमात्मन आह्वानमपि मङ्गलमयम्। यद्वा सुखेनाह्वातुं शक्यस्य। अन्ये देवा दुराराध्यास्तेषामाह्वानमतीव दुःशकम्। परमेश्वरस्तु सकृदाह्वानेनाप्यागच्छति। गजेन्द्राह्वानेनातिशीघ्रमेव गरुडादीन् शीघ्रगामिवाहनान् परित्यज्यापि शीघ्रमेवागतः।

दयानन्दस्तु—'हे पते, त्वं पृथुना विपाजसा बलेन सह शोशुचानो भृशं शुचिः सन् सदा वर्तेथाः। अमीवा रोग इव प्राणिनां पीडका रक्षसो दुष्टा द्विषः शत्रुभूता व्यभिचारिणीर्वृषलीर्बाधस्व। तर्हि बृहतो महतः सुशर्मणः शोभितगृहस्य सुहवस्य शोभनो हवो ग्रहणं दानं वा यस्य तस्य ते शर्मणि सुखकारके गृहे प्रणीतौ प्रकृष्टायां धर्म्यायां नीतौ अहं पत्नी स्याम्' इति, तदपि निर्मूलम्, मूले पतिपत्नीशब्दयोरभावात्। न च शुद्धौ पृथुबलस्योपयोगः, तदन्तरापि तत्सम्भवात्। न च द्विष इति शब्दस्य व्यभिचारिणीस्त्रीबोधने शक्तिरस्ति। अमीवापदस्य गौणार्थता त्वयैव स्पष्टीकृता, इवशब्दप्रयोगेणेति ॥ ४९ ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—हे जलसमूह, तुम जल को देने वाले हो। सुख की भावना करने वाले व्यक्ति के लिये स्नान-पान आदि के द्वारा सुख के उत्पादक हो। हमारे रमणीय दर्शन के निमित्त और रसानुभव के निमित्त यहाँ स्थापित हो जाओ ॥ ५० ॥

'आपो हि ष्ठेति पर्णकषायपक्वमुदकमासिञ्चति पिण्डे' (का० श्रौ० १६।३।१६)। अग्निनिधानानन्तरं दक्षिणाग्नौ पलाशत्वक्क्वथितमुदकं यदस्ति तस्मादुदकात् फेनमुद्धृत्य पात्रान्तरे स्थापयेत्। तच्च मन्त्रत्रयेण मृत्पिण्डस्योपरि सिञ्चेत्। अब्देवत्यास्तिस्रो गायत्र्यः सिन्धुद्वीपदृष्टाः। हे आपः, आप्यते सर्वं कार्यं प्राणिनाभिरित्यापः। करणे क्विप्। यूयमेव मयोभुवः सुखस्य भावयित्र्यः स्थ भवथ। मयः सुखं भावयन्ति प्रापयन्तीति मयोभुव', स्नानपानादिहेतुत्वेनापां सुखयित्रीत्वं प्रसिद्धमेव। हिशब्द एवार्थे हेत्वर्थे प्रसिद्ध्यर्थे च। तादृश्यो यूयं नोऽस्मान् ऊर्जे अन्नाय रसाय वा दधातन भवदीयरसानुभवाय यथा वयं सर्वस्य सौख्यस्य रसस्य भोक्तारो भवेम तथा स्थापयत, कुरुतेति वा? 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य तनबादेशे रूपम्। यद्वाऽस्मानूर्जे रसायानुभवार्यम्। भवदीयरसानुभावयित्र्यो भवथ, अनुभवार्थं दधातन। किञ्च, महे महते रणाय रमणीयाय चक्षसे दर्शनाय चास्मान् दधातनेत्यनुवर्तते। ब्रह्मात्मदर्शनं महद्रमणीयं तदस्मान् ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यान् कुरुत। ऐहिकामुष्मिकं सर्वसुखं ददथेति भावः। मह्यते पूज्यत इति मट्, क्विप्प्रत्ययः, तस्मै महे। रण्यते स्तूयते सर्वैरिति रणम्, तस्मै रणाय। चष्टे पश्यति सर्वं येन तच्चक्षः, असुन्प्रत्ययः, तस्मै चक्षसे ब्रह्मणे, 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० उ० ६।१।३) इति छान्दोग्यश्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'पर्णकषायनिष्पक्वा एता आपो भवन्ति। स्थेम्ने न्वेव यद्वेव पर्णकषायेण सोमो वै पर्णश्चन्द्रमा उ वै सोम एतदु वा एकमग्निरूपमेतस्यै वाग्निरूपस्योपाप्त्यै' (श० ६।५।१।१)। जलानां पर्णक्वथितत्वं विधत्ते—पर्णकषायनिष्पक्वा इति। एता मृत्पिण्डे सिच्यमाना आपः पर्णकषायनिष्पक्वा भवेयुः। स्थेम्ने स्थिरत्वाय, केवलमृत्तिकयोखादिकरणे विशरणसम्भवात्। तत्प्रशंसति—यद्वेव पर्णेति। सोमस्य पर्णत्वं सर्वौषध्यनुप्रवेशात्। सोमो नाम चन्द्रमाः। स हि 'एकमग्निरूपम्'। पूर्वं कुमारस्याग्नेरष्टौ रुद्रादिनामान्युक्तानि (श० ६।१।३।११-१२)। तेषां चाग्न्युदकौषध्यादीनि रूपाण्युक्तानि। तत्र महादेवेति सप्तमं नाम, चन्द्रमाश्च

तस्य रूपमिति 'चन्द्रमारस्द्रपमभवत्' (श० ६।१।३।१६) इति श्रुतौ। तादृशस्य अग्निरूपस्योपाप्त्यै पर्णकषाय-पक्वाः कुर्यादित्यर्थः। 'ता उपसृजति। आपो हि ष्ठा मयोभुव इति यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सर्क् सो देवता तद्यजुस्ता हैता आप एवैष त्रिचस्तद्या अमूराप एकᳬ रूपᳬ समदृश्यन्त ता एतास्तदेवैतद्रूपं करोति' (श० ६।५।१।२)। उदकसेचनं समन्त्रं विधत्ते—ता इति। अब्देवत्यं तृचं गायत्रम्। मन्त्रार्थ उक्त एव। तिस्र ऋचस्तत्प्रतिपाद्यां देवतां च प्रशंसति— यां वै देवतामिति। आपो हि ष्ठेत्यादिका ऋग् यां देवतामभ्यनूक्ता अनुवदति। कर्तरि क्तप्रत्ययः। यां देवतां यजुर्मन्त्रोऽपि, अर्थाद् यया ऋचा येन यजुषा च या देवता अन्य-गुणाभिधानपुरःसरं प्रतिपाद्यते, सैव प्रतिपाद्या देवता सा च प्रतिपादिका, ऋग्यजुर्मन्त्रपदैरप्रतीयमाना देवता नोत्तमेत्यर्थः। अतः प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदोपचारेण एता आप एव देवताः, 'एष आपो हि ष्ठा इति तृचः। तत् तस्माद् या अमूः, अदःशब्दो विप्रकृष्टप्रदेशवचनः, पूर्वं काण्डादौ अग्निसृष्टेरनन्तरम् अश्वादिपृथिव्यन्तां सृष्टिमुक्त्वा 'सोऽकामयत। आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयमिति' (श० ६।१।१।१२) इत्युपक्रम्य 'तदिदमेकमेव रूपम्' (श० ६।१।१।१२) इत्येकरूपं कृतवान् भवति। एवमनुसन्धानार्थमुदकफेनमृत्सिकताशर्कराश्मादिसृष्टिरुक्तेति चयनादौ प्रतिपादितम्।

अध्यात्मपक्षे—हे आपः! अब्भावापन्नपरमेश्वररूपाः, यूयं हि यस्माद् मयोभुवः सुखस्य भावयित्र्यः, तस्माद् नोऽस्मान् ऊर्जे भवदीयरसानुभवार्थं दधातन स्थापयत। यथा वयं सर्वस्य भोग्यस्य रसस्य भोक्तारो भवेम, तथाऽस्मान् कुरुतेत्यादिकं पूर्ववद् व्याख्येयम्। आपः अबुपलक्षिता अष्टौ प्रकृतयः प्राणमयादिपुरुषा वा अत्र स्तूयन्ते। तासां तेषां च सुखजनकत्वेन मयोभूत्वम्। ऊर्जे अन्नाय रसाय च ता भवन्ति। ता एव महते रमणीयाय चक्षसे ब्रह्मदर्शनाय भवन्त्यनुकूलिताः।

दयानन्दस्तु—'हे जलवद्वर्तमाना आप इव स्त्रियः, या यूयं मयोभुवः स्थ सुखं भावुकाः, ता ऊर्जे बलयुक्ताय महे महते रणाय संग्रामाय चक्षसे ख्यातुं योग्याय नोऽस्मान् दधातन धरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रीणां तदर्थत्वे मानाभावात्। न च व्याप्तिगुणयोगस्तासु सम्भवति, तासामव्यापकत्वात्। के च ते प्रार्थयितारः? कथं च ताभिर्महते रणाय तेषां धारणमित्यस्पष्टत्वात्, श्रुतिविरोधाच्च ॥ ५० ॥

यो वः॑ शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑। उ॒श॒तीरि॑व मा॒तरः॑ ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—हे जलदेवता, तुम्हारा शान्त रूप सुख का एकमात्र कारण रस इस कर्म में स्थित है। हमको उस रस का भागी उसी तरह बनाओ, जैसे कि प्रीतियुक्त माता अपने बच्चे को दूध पिलाती है ॥ ५१ ॥

हे आपः, यो वो यश्च युष्माकं शिवतमः शान्ततमो रसः सुखैकहेतुभूतोऽस्ति, इह कर्मणि लोके वा स्थितान् नोऽस्मान् तस्य रसस्य भाजयत भागिनः कुरुत, तं रसं प्रापयतेत्यर्थः। रसस्येति कर्मणि षष्ठी। तत्र दृष्टान्तः—उशतीः, उशत्यः कामयित्र्यो मातर इव। यथा प्रीतियुक्ताः पुत्रस्य कल्याणं कामयमाना मातरः स्वकीयस्तन्यरसं बालं पाययन्ति, तैस्तैरर्थैश्च भाजयन्ति, तद्वत्। 'वश कान्तौ' इत्यस्य कृतसम्प्रसारणस्य शतृप्रत्ययान्तस्य रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे आपः, पूर्वोक्ता यो वः शिवतमोऽतिशयितो ब्रह्मानन्दसाक्षात्काररलक्षणो रसोऽस्ति, तस्येह अस्मिन् संसारे साधनभूमिकायां वा नोऽस्मान् भागिनः कुरुत। यथा उशत्यः पुत्रस्य शुभं कामयमाना मातरः पुत्रं तैस्तैः कामैर्भाजयन्ति तद्वदित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः, वो यः शिवतमोऽतिशयेन सुखकारी रस आनन्द इह गृहाश्रमेऽस्ति, तस्य मातरो जनन्य उशतीरिव यथा कामयमाना भाजयन्ति तथा सेवयत' इति, तदपि न सङ्गतम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्ता-सङ्गतेः। नहि यथा मातरः पुत्रान् रसं भाजयन्ति, तथैव स्त्रियो गृहपतीन् रसस्य भागिनः कुर्वन्ति। एतेनैव ज्ञायते यन्नात्र सम्बोधनीया इति ॥ ५१ ॥

तस्मा॒ अर॑ङ्गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ। आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—हे जलदेवता, तुम्हारे उस रस की प्राप्ति के लिये हम शीघ्र चलना चाहते हैं, जिससे कि तुम सारे जगत् को तृप्त करते हो और हमें भी उत्पन्न करते हो ॥ ५२ ॥

यस्याहुतिपरिणामभूतस्य क्षयस्य निवासस्य एकदेशेन यूयं जिन्वथ तर्पयथ तस्मै तस्य, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, अरम् अलम् अत्यर्थं पर्याप्तिं वयं गमाम गच्छेम। रसविषये वैतृष्ण्यमेव पर्याप्तिः, सैवालंबुद्धिः। किञ्च, हे आपः ! यूयं नोऽस्मान् जनयथ तत्र भोक्तृत्वेनोत्पादयत। अलमिति लकारस्य रेफश्छान्दसः। यद्वा हे आपः, वो युष्मत्सम्बन्धिनस्तस्मै तस्य रसस्य पूर्वमन्त्रयाचितस्य अलं पर्याप्तिं गमाम गच्छाम। पर्याप्ति नाम रसविषये वैतृष्ण्यम्, सदा तृप्ति वा। 'क्षयो निवासे' (पा० सू० ६।१।२०१) इत्याद्युदात्तः। यस्येति सामानाधिकरण्यात् क्षयायेति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे। क्षयाय क्षयस्य निवासस्य एकदेशेन जिन्वथ ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् तर्पयथ। पञ्चाग्निविद्यारीत्या पञ्चाहुतिक्रमेणेदं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगदुत्पद्यते। हे अग्ने, तत्रास्मान् भोक्तृत्वेन जनयथ, तद्रसभोक्तॄनस्मान् कुरुत। आजानदेवत्वमत्राशास्यते। 'जनयथा' इति 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दैर्घ्यम्। यद्वा यस्य क्षयाय क्षयेण, तृतीयार्थे चतुर्थी, निवासेन। यूयं जिन्वथ प्रीता भवत, तस्मै रसाय तद्रसप्राप्तये वो युष्मानरमत्यर्थं वयं गमामः प्राप्नुमः। किञ्च, हे आपः ! यूयं नोऽस्मान् जनयथ प्रजोत्पादन-समर्थान् कुरुत। गच्छतेर्लुङि उत्तमबहुवचने अगमामेति रूपम्। अडभाव आर्षः। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुकि लोटि वा रूपम्। जिन्वतिः प्रीतिकर्मा। यद्वा वो युष्मत्सम्बन्धिने तस्मै रसाय अरं शीघ्रम् अलं पर्याप्तं वा गमाम गच्छेम। यस्य रसस्य क्षयाय अस्मासु निवासार्थं हि स्वयं जिन्वथ प्रीणयथ। जिविः प्रीणनकर्मा। येन रसेन अस्मान् तर्पयथ तं गच्छेम। हे आपः, नः अस्मान् जनयथ युष्मदीयभोक्तृत्वेनोत्पादयतेति।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ फेनं जनयित्वाऽन्ववदधाति। यदेव तत्फेनो द्वितीयꣳ रूपमसृज्यत तदेवैतद्रूपं करोत्यथ यामेव तत्र मृदꣳ संयौति सैव मृद्यत्तृतीयꣳ रूपमसृज्यतैतेभ्यो वा एष रूपेभ्योऽग्रेऽसृज्यत तेभ्य एवैन-मेतज्जनयति' (श० ६।५।१।३)। पिण्डे फेनासेचनं विधत्ते—अथ फेनं जनयित्वेति। कषायोदकेषु हस्तचालनेन फेनमुत्पाद्य पिण्डे तूष्णीमासिञ्चेत्। यदेव तत्फेन इत्यादेरयमर्थः—पूर्वं 'सोऽकामयताभ्योऽद्भ्योधीमां प्रजनयेयम्' इत्युपक्रम्य 'तदिदमेकमेत्र रूपं समदृश्यताप एव' (श० ६।१।१।१२) इत्युदकलक्षणं रूपमुक्त्वा 'सोऽकामयत भूय एव स्यात्·······तेपानः फेनमसृजत' (श० ६।१।१।१३) इति द्वितीयं फेनात्मकं रूपमुक्तम्। अत्र पिण्डे फेनस्यासेचनेन पूर्वसृष्टफेनात्मकं द्वितीयं रूपमेव मृद्रूपेऽग्नौ निहितवान् भवति। अथ सिक्तेऽग्नौ उदकेन मृदः सम्मिश्रणं विधत्ते—अथ यामेव तत्र मृदमिति। तत्र यां मृदं संयौति जलेन सम्मिश्रयति, सा मृद् एतदनन्तरं सृष्टं मृदात्मकं तृतीयं रूपम्। तत्र ह्येवमाम्नातम्—'अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽग्निरसृज्यतेति' (श० ६।१।१।११)। एतेभ्यो वा एष इति। एष अग्निः, एतेभ्य उदकफेनमृदादिभ्यः पूर्वं सृष्टः, अतो जल-फेनमृदां सम्मिश्रणेन अबादिरूपेभ्यः पूर्वसृष्टाग्निमेवोत्पादितवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—वो युष्मत्सम्बन्धिने तस्मै ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणाय रसाय वयम् अरमलमत्यर्थं गमाम गच्छाम। यस्य अस्मासु क्षयाय निवासाय जिन्वथ प्रीणयत। हे आपः, नोऽस्मान् तद्भोक्तृत्वेन जनयथ तद्रसानुभवयोग्यानस्मान् कुरुत।

दयानन्दस्तु—'हे आपः, जलवद् वर्तमानाः स्त्रियो यूयं नः क्षयाय निवासार्थाय गृहाय जिन्वथ प्रीणयत जनयथ च। ता वो युष्मान् वयम् अरम् अलं गमाम, यस्य प्रतिज्ञातस्य धर्म्यव्यवहारस्य पालिका भवत, तस्यैव वयमपि भवेम' इति, तदतिमन्दम्, स्त्रीणां सम्बोधने मानाभावात्। सन्तानमुत्पादयत प्रतिज्ञातस्य धर्म्य-व्यवहारस्य पालिका भवतेत्यादिकं तु कल्पनामात्रसारम्, निर्मूलत्वात्॥ ५२॥

मित्रः सꣳसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह।
सुजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा सꣳसृजामि प्रजाभ्यः॥ ५३॥

मन्त्रार्थ—मित्रदेवता आदित्य, द्युलोक और इस पिण्डरूप भूमि को ज्योतीरूप अजलोम के साथ एकत्र कर मुझ अध्वर्यु को देते हैं। मैं भी सुन्दर जन्म वाले प्रज्ञासंयुक्त अजलोम नामक अग्नि को प्रजाओं की रोगनिवृत्ति के निमित्त पिण्ड से युक्त करता हूँ॥ ५३॥

'अजलोमभिः सꣳसृजति मित्रः सꣳसृज्येति' (का० श्रौ० १६।३।१८)। पूर्वगृहीतैरजलोमभिः सह पिण्डं मिश्रयेद् मित्रः सꣳसृज्येति मन्त्रेण। मित्रदेवत्योपरिष्टाद्बृहती। यस्यास्त्रयः पादा अष्टार्णाश्चतुर्थो द्वादशार्णः सोपरिष्टाद्बृहती। अध्वर्युराह—मित्रः प्राण आदित्यो देवो वा पृथिवीं द्युलोकं भूमिं च इमां मृत्पिण्डरूपां ज्योतिषा अजलोमभिः सह संसृज्य एकीकृत्य मह्यं प्रयच्छत्विति शेषः। इह पृथिवीशब्दो द्युलोक-वाची। अजस्याग्नेयत्वात् तल्लोम्नां ज्योतिःशब्देन ग्रहणम्। अहमपि सुजातं शोभनोत्पन्नं जातवेदसं जातप्रज्ञान-मजलोमाख्यमग्निं त्वां संसृजामि मृत्पिण्डेन योजयामि। किमर्थम्? प्रजाभ्यः प्रजानाम्, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, अयक्ष्माय अव्याधितायै, प्रजानामारोग्यायेत्यर्थः। लोकत्रयस्यापि पृथिवीभूमिशब्दवाच्यता। 'तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून्' (ऋ० वे० २।२७।८) इतिवत्। चकारादत्रापि त्रीनपि लोकान् ज्योतिषा तेजसा आग्नेयस्याजस्य लोमभिः सह सुजातं जातवेदसं सद्रूपमग्निं त्वां प्रजाभ्योऽयक्ष्माय यक्ष्मणोऽभावोऽयक्ष्मं तस्मै रोगरूपपापापनुत्तये संसृजामि सम्मिश्रयाम्यहमध्वर्युरिति शेषः।

अत्र ब्राह्मणम्—अथाजलोमैः सꣳसृजतीति। स्थेम्ने न्वेव यद्वेवाजलोमैरेतद्वा एनं देवाः पशुभ्योऽधि समभरंस्तथैवैनमयमेतत्पशुभ्योऽधि सम्भरति तद्यदजलोमैरेवाजे हि सर्वेषां पशूनाꣳ रूपमथ यल्लोम लोम हि रूपम्' (श० ६।५।१।४)। अजलोममिश्रणं विधत्ते—अथाजलोमैः संसृजतीति। स्थेम्ने स्थिरत्वाय। अजलोमं प्रशंसति—यद्वेवाजलोमैरिति। यथा पूर्वं देवा एनमष्टरूपात्मना गूढमग्निं पुरुषादिपञ्चपशुभ्यः सकाशात् सम्भृत-वन्तः, तथा अयं यष्टा पिण्डेऽजलोमसंसर्गेण पशुभ्य एव सम्भृतवान् भवति। ननु केवलेनाजलोमसंसर्गेण सर्वेभ्यः पुरुषादिभ्यः कथमग्नेः सम्पादनमिति चेन्न, अजे सर्वस्य पशुरूपस्यान्तर्भावात्। तथा चोदाहृता श्रुतिः—'अजे हि सर्वेषां पशूनां रूपम्' (श० ६।५।१।४) इति, तथैव पुरस्ताद् वायव्यैकपशुप्रस्तावे समाम्नातम्—'यद्वैवैतं पशुमालभते। एतस्मिन् ह पशौ सर्वेषां पशूनां रूपम्। यत्तूपरो लप्सुदी तत् पुरुषस्य रूपम्' (श० ६।२।२।१५) इत्यादिना। प्रकारान्तरेण अजे सर्वपशुरूपमाह—अथ यल्लोमेति। लोमानि सर्वेषु पशुषु सन्ति, अतो लोमलक्षणं रूपं सर्वपशुसाधारणमित्यर्थः। 'मित्रः सꣳसृज्य। पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सहेति प्राणो वै मित्रः

प्राणो वा एतदग्रे कर्माकरोत् सुजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा सꣳसृजामि प्रजाभ्य इति। यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ६।५।१।५)। सुप्रसन्नं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे— मित्रः सर्वभूतसुहृत्परमेश्वरः प्रजाभ्यः प्रजानाम् अयक्ष्माय आरोग्याय पृथिवीं द्युलोकं भूमिं चकारादन्तरिक्षलोकं च ज्योतिषा आदित्यात्मकेन सह संसृज्य सम्यङ् निर्माय प्रयच्छति। अहं साधकः सुजातं शोभनैः शमदमादिसाधनैर्जातं हृदि प्रादुर्भूतं जातवेदसं तत्त्वज्ञानाख्यमग्निं संसृजामि तत्प्रसादाज्जनयामि।

दयानन्दस्तु—'हे पते, यस्त्वं सर्वेषां सुहृत् सन् प्रजाभ्यः पालनीयाभ्योऽयक्ष्माय आरोग्याय ज्योतिषा विद्यान्यायसुशिक्षाप्रकाशेन सह पृथिवीमन्तरिक्षं भूमिं क्षितिं संसृज्य मां सुखयसि, तं सुजातं सुप्रसिद्धं जातवेदसम् उत्पन्नवेदविज्ञानं त्वामहमप्येतदर्थं संसृजामि निष्पादयामि, भवताहं सम्बद्धा भवामि' इत्याह, तदपि वेदस्य लोकायतीकरणमेव, असङ्गतेः। कथं पतिरन्तरिक्षं भूमिं च संसृज्य पत्नीं सुखयतीत्यस्यास्पष्टत्वात्। श्रुतिविरोधस्तु पूर्वव्याख्याने स्पष्ट एव ॥ ५३ ॥

रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे।
तेषां भानुरजस्र इच्छुक्रो देवेषु रोचते ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—जिन रुद्रों ने पार्थिव पिण्डों को बालू, लौहकिट्ट और पाषाण चूर्ण से संयुक्त करके प्रौढ़ अग्नि को प्रदीप्त किया, उन रुद्रों की शुद्ध प्रदीप्त ज्योति देवताओं के मध्य में परिपूर्ण होकर भली प्रकार प्रकाशित होती है ॥ ५४ ॥

'शर्करायोरसाश्मचूर्णैश्च रुद्राः सꣳसृज्येति' (का० श्रौ० १६।३।१९)। सूक्ष्मसिकतालोहरसपाषाणचूर्णैः पिण्डं मिश्रयति रुद्रा इति मन्त्रेण। अयोरसो लोहरसो यस्ताप्यमानो लोहात् पृथग्भवति। रुद्रदेवत्याऽनुष्टुप्। ये रुद्राः, पृथिवीं पार्थिवं पिण्डं संसृज्य शर्करायोरसाश्मचूर्णैः संयोज्य बृहज्ज्योतिः प्रौढमग्निं समीधिरे उखायां सम्यग्दीपितवन्तः, उखास्थमग्निं संवत्सरपर्यन्तं सम्यक् पालितवन्तः, तेषां फलमुच्यते—तेषां रुद्राणां भानुर्दीप्तिः, अजस्रः अनुपक्षीण एव। 'जसु उपक्षये'। इच्छब्द एवार्थः। शुक्रः शुद्धो देदीप्यमानः शुक्लवर्णो वा देवेषु देवानां मध्ये रोचते प्रकाशते।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैतत् त्रयं पिष्टं भवति। शर्कराश्मायोरसस्तेन सꣳसृजति स्थेम्ने न्वेव यद्वेव तेनैतावती वा इयमग्रेऽसृज्यत तद्यावतीयमग्रेऽसृज्यत तावतीमेवैनामेतत्करोति' (श० ६।५।१।६)। शर्कराश्मायोरसचूर्णैः संसर्गं विधत्ते—अथैतत् त्रयं पिष्टमिति। पूर्वं शर्करादीनि त्रीणि रूपाणि सृष्टानि। 'शर्करामश्मानमयो हिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत' (श० ६।१।१।१३) इति हि प्रागाम्नातम्। तेन त्रयेण संसर्गे तैरेव त्रिभी रूपैर्मृदं रूपवतीं कृतवान् भवतीत्यधुनोच्यते। 'रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिर इत्यसौ वा आदित्य एषोऽग्निरेतद्वै तद्रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे। तेषां भानुरजस्र इच्छुक्रो देवेषु रोचत इत्येष वा एषां भानुरजस्रः शुक्रो देवेषु रोचते' (श० ६।५।१।७)। 'रुद्रनामका देवा पृथिवीमुखा निष्पादिकां मृदं संसृज्य बृहज्ज्योतिः प्रौढमग्निं समीधिरे, तेषां रुद्राणां ᳚यमग्निर्भानुना समानः, अजस्रं निरन्तरं शुक्रो दीप्तियुक्तो देवेषु रोचते शोभते' इति काण्वभाष्ये सायणः।

अध्यात्मपक्षे—रुद्राः समष्टीन्द्रियरूपा हिरण्यगर्भात्मानः संसृज्य महदादीनि संयोज्य बृहज्ज्योतिः बृहज्ज्योतिर्मयं पृथिवीं ब्रह्माण्डं समीधिरे सम्यक् पालितवन्तः। तेषामेव प्रयत्नेन भानुः सूर्यो देवेषु रोचते। कीदृशो भानुः ? शुक्रः शुक्लो भास्वरः। अजस्र इत् अनुपक्षीण एव।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषाः, रुद्राः प्राणस्वरूपा वायवः संसृज्य सूर्यमुत्पाद्य पृथिवीं भूमिं बृहत् महद् ज्योतिः प्रकाशं समीधिरे सम्यग् दीपयन्ति। तेषां सकाशादुत्पन्नः शुक्रो भास्वरो भानुः सूर्यो देवेषु दिव्येषु पृथिव्यादिषु, अजस्रो निरन्तरो बहुः प्रकाशो स विद्यते यस्मिन् स इत् इव विद्यान्यायार्कमुत्पाद्य प्रजाजनान् प्रकाशयत तेभ्यश्च प्रजासु दिव्यानि सुखानि प्रचारयत' इति, तदपि निर्मूलमध्याहारमूलकमेव, सम्बोधनस्य दार्ष्टान्तिस्य च तदभ्यूहमात्रत्वेनावेदार्थत्वात्। कथं च वायवः संसर्गेण सूर्यमुत्पादयन्ति ॥ ५४ ॥

सꣳसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम्।
हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम् ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—चन्द्रकला से युक्त अमावस्या के अभिमानी देवता, बुद्धिमान् वसुगण और रुद्रगण शर्करा आदि से संयोजित मृत्तिका को हाथों से कोमल करके उखा कर्म के योग्य बनावें ॥ ५५ ॥

'सꣳसृष्टामिति संयौति' (का० श्रौ० १६।३।२०)। उक्तं शर्कराचूर्णादिकमृक्त्रयेण मृत्पिण्डे सम्यङ् मिश्रयेत्। द्वे ऋचौ सिनीवालीदैवते तृतीया चादितिदेवत्या। तिस्रोऽनुष्टुभः। सिनीवाली दृष्टेन्दुकलामावास्याभिमानिनी देवता हस्ताभ्यां मृदं मृत्तिकां कोमलां कृत्वा पुनस्तां मृदं कर्मण्यामुखाकर्मयोग्यां कृणोतु करोतु। कर्म सम्पद्यते यया सा कर्मण्या ताम्। कीदृशीं मृदम् ? धीरैर्बुद्धिमद्भिर्वसुभी रुद्रैश्च संसृष्टां सेवितां शर्करादिभिः संयोजिताम्। धीशब्दो बुद्धिवचनः। छान्दसो मत्वर्थीयो रप्रत्ययः। धीर्बुद्धिरस्ति येषां ते धीराः। पूर्वमन्त्रे रुद्रशब्देन वसवोऽप्युपलक्षिताः। यद्वा धीरैर्धारयद्भिर्वसुभिर्देवै रुद्रैश्च संसृष्टा। वसुपदेनात्राजलोमसंसर्गमन्त्रो मित्रः संसृज्य इति विवक्षितः। रुद्रपदेन शर्करादिसंसर्गमन्त्रो रुद्राः संसृज्य इति विवक्षितः। तथा च तन्मन्त्रद्वयप्रतिपाद्यैर्वसुभी रुद्रैश्च संयोजितां कर्मण्यां कर्मणे सम्पादितां मृदं मृत्तिकां सिनीवाली दृष्टेन्दुः, तदभिमानिदेवता हस्ताभ्यां मृद्वीं मृदुरूपां कृत्वा तां कर्मार्हां कृणोतु करोत्वित्यर्थः। वसुरुद्राभ्यां मित्रः संसृज्य रुद्राः संसृज्य इति मन्त्रौ विवक्षितावित्यत्र यन्मित्रेण यद्वसुभिर्यद्रुद्रैरिति ब्राह्मणं प्रमाणमिति शतपथव्याख्यायां सायणाचार्यः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ प्रयौति सꣳसृष्टां वसुभी रुद्रैरिति सꣳसृष्टा ह्येषा वसुभिश्च रुद्रैश्च भवति यन्मित्रेण तद्वसुभिर्यद्रुद्रैस्तत्तद्रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदमिति धीरा हि ते कर्मण्यो इयं मृद्धस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु तामिति वाग्वै सिनीवाली सैनाꣳ हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा करोत्वित्येतत्' (श० ६।५।१।९)। मृदः सम्मिश्रणं समन्त्रं विधत्ते—अथ प्रयौतीति। तिसृभिर्ऋग्भिः। मृदं प्रकर्षेण यौति पिण्डे सम्मिश्रयेत्। यन्मित्रेण मित्रप्रतिपादकमन्त्रेण संसर्गस्तद्वसुभिः, यद्रुद्रै रुद्रप्रतिपादकमन्त्रेण संसर्गस्तद्रुद्रैर्धीरैरिति। धीरा हि ते। इयं मृत् कर्मण्या उ एव। कर्मणे सम्पादिता कर्मण्या।

अध्यात्मपक्षे—सिनीवाली दृष्टेन्दुकलायुक्तामावास्याधिष्ठात्री महामाया वसुभिर्देवै रुद्रैश्च संसृष्टा मृदं मृत्तिकां मृदुपलक्षितां शरीरोपादानभूतां पञ्चभूतसंहतिं मृद्वीं कोमलां कृत्वा कर्मण्यां कर्मसम्पादनयोग्यां कृणोतु करोतु। प्रकृतिर्वस्वादिभिर्बुद्धिमद्भिर्विविधोपकरणैः संयोजितां मृदादिसंहतिं कर्मण्यां कर्मनिर्वर्तनक्षमां करोत्वित्यर्थः। प्राणिनामदृष्टवशाद् महामाया शक्तिर्वस्वादिसहकारिभिर्मृदं मृदादिसंहतिं मृद्वीं कर्मफलसम्पादनानुगुण्येन नमनशीलां कर्मण्यां कर्मनिर्वचनयोग्यां करोति, देवमनुष्यादिदेहरूपेण परिणमयतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे पते, भवान् शिल्पी हस्ताभ्यां कर्मण्यां मृदमिव कोमलाङ्गीं धीरैः सुसंयमैर्वसुभिः कृतेन चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्येण प्राप्तविद्यै रुद्रैश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्येण प्राप्तविद्यैर्या शिक्षया संसृष्टा सम्यक् सुशिक्षया सम्पादिता तां मृद्वीं मृदुगुणस्वभावां कृणोतु, या सिनीवाली, या सिनीः प्रेमबद्धाः कन्या वलयति सा, वर्तते तां स्त्रियं कृत्वा सुखयतु·····' इत्यादि, तत्सर्वं प्रमत्तप्रलपितमेव, मन्त्रे पतिपत्नीसंवादसत्त्वे मानाभावात्। वसुरुद्र-पदव्याख्यानमपि निर्मूलमेव, कोमलगुणस्वभावस्यैव विवक्षितत्वे मृदिव कन्या कोमलगुणस्वभावेत्यपेक्षया कमलिनीव कोमलस्वभावेत्यस्यैव वक्तुमुचितत्वात्। सिनीः प्रेमबद्धाः कन्या एव कुतो न पत्नीः कुर्यात्? या प्रेमबद्धाः कन्या वलयति सा किमर्थं पत्नीत्वेन ग्राह्या? कोऽत्राभिप्राय इत्यनुक्तेः। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेन स्फुट एव ॥ ५५ ॥

सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा।
सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—हे दीनतारहित पूजित देवमाता, वह सुन्दर केश और अवयव वाली, सुन्दर मस्तकचन्द्रिका वाली, विलास में चतुर अवयव वाली, चन्द्रकला से युक्त अमावस्या की अभिमानिनी देवी तुम्हारे हाथों में पाकपात्र उखा को स्थापित करे ॥ ५६ ॥

'अदितिरदीना देवमाता' (नि० ४।२२) इति यास्कः। हे अदिते अखण्डनीये देवमातः, तत्सदृशि हे भूमे हे महि प्रौढे महति, सा पूर्वमन्त्रोक्ता सिनीवाली सुकपर्दा सुष्ठु शोभनः कपर्दः स्त्रीणामुचितः केशसंयमन-प्रकारो वेणिर्वा यस्याः सा, सुकुरीरा सुष्ठु शोभनं कुरीरं शृङ्गारार्थं शिरसि धार्यमाणं कनकाभरणं मुकुटो वा यस्याः सा, स्वौपशा उपशेते शयनं कुरुते यैरवयवविशेषैस्ते सर्वेऽप्युपशास्तेषां समूह औपशः, सुष्ठु शोभनः शयनविदग्धो विलासचतुर औपशोऽवयवसमूहो यस्याः सा. तुभ्यं तव। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। हस्तयोर् उखामादधातु। यद्वा सिनीवाल्याः स्त्रीत्वात् तदुचिता धर्मा उच्यन्ते। सुकपर्दा सुष्ठु शोभनः कपर्दः केशसंयमनवेणिर्यस्याः सा, सुकुरीरा सुष्ठु शोभनः कुरीरो मुकुटो यस्याः सा, स्वौपशा सुष्ठु शोभन औपशो जघनभागो यस्याः सा सुजघनेति। तत्र ब्राह्मणम्—'सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशेति। योषा वै सिनीवाल्येतद्‌ योषायै समृद्धᳫ॑ रूपं यत्सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा समर्द्धयत्येवैनामेतत् सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोरितीयं वा अदितिर्मह्यस्यै तदाह' (श० ६।५।१।१०)। अत्र 'योषा वा' इत्यादिना योषात्वसमर्थनम्।

अध्यात्मपक्षे - सैव सिनीवाली योषारूपत्वात् तदुचितैर्धर्मैर्विशेष्यते सुकपर्देत्यादिना। हे अदिते अखण्डनीये महि परमपूज्ये, त्वं सुकपर्दा साधुवेणीयुक्ता सुकुरीरा सुमुकुटा स्वौपशा सुजघना, असीति शेषः। तुभ्यं तव हस्तयोर् उखां ज्ञानाग्नेराधारभूतां बुद्धिम्, आदधातु आदधामि धारयामि। व्यत्ययेन पुरुषभेदः।

दयानन्दस्तु—'हे महि पूज्ये अदिते अखण्डितानन्दे, या सिनीवाली प्रेमास्पदाढ्या सुकपर्दा सुकेशी सुकुरीरा शोभनानि कुरीराण्यलङ्कृतान्याभूषणानि कर्माणि वा यस्याः। स्वौपशा उप समीपे श्यति तनूकरोति यया पाकक्रियया सोपशा तस्या इदं कर्म औपशं तच्छोभनं विद्यते यस्याः सा, तुभ्यं हस्तयोर् उखां सूपादिसाधिनीं स्थालीम् आदधातु सा त्वया संसेव्या' इति, तदपि मन्दम्, हे अदिते! हे महि, सुकेशी स्वाभूषणा पाचिका तव हस्तयोः सूपादिसाधिनीमादधातु सा त्वया सेव्येत्यादिविषयस्यात्यन्तलौकिकत्वेन वेदार्थत्वायोगात्। नहि कश्चित् स्वपत्नीं पूज्यत्वेन हे पूज्ये! इति सम्बोधयति ॥ ५६ ॥

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया । माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भ आ ॥ मखस्य शिरोऽसि ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—अदिति देवता अपनी सामर्थ्य से बुद्धि द्वारा हाथों से उत्कर्ष विधानपूर्वक पाकपात्र स्थापित करे। वह उखा अपने मध्य में सब प्रकार से अग्नि को उसी प्रकार धारण करे, जैसे जननी अपनी गोद में पुत्र को धारण करती है। हे मृत्पिण्ड, तुम यज्ञ के मुख्य भाग हो ॥ ५७ ॥

सा अदितिः, शक्त्या सामर्थ्येन धिया बुद्ध्या बाहुभ्यां च उखां कृणोतु। सा उखा कृता सती गर्भे मध्यभागे आसमन्ताद् अग्निं बिभर्तु सर्वतो धारयतु। कथमिव ? यथा माता जननी उपस्थे अङ्के पुत्रं बिभर्ति तद्वत्। 'यजमान उखां करोति मृदमादाय मखस्य शिर इति' (का० श्रौ० १६।३।२३)। भार्याणां प्रथमलब्धया यजमानपत्न्या महिष्या तस्मात् पिण्डान्मृदमादाय द्वादशाङ्गुलायां त्रिस्थानलिखितायामषाढा-संज्ञकायामिष्टकायां कृतायां यजमानः पिण्डान्मृदमादाय स्वयमेवोखां करोति। एकपशुपक्षे प्रादेशायामविस्तारोर्ध्वां चतुरस्राम्, पञ्चपशुपक्षे त्रिभागोनत्रयोविंशत्यङ्गुलायामविस्तारामूर्ध्वां प्रादेशेनैवेति सूत्रार्थः। मृत्पिण्डदैवतं यजुः, यजुर्गायत्रीछन्दः। हे मृत्पिण्ड, त्वं यज्ञस्य शिरोऽसि। आहवनीयो यज्ञस्य शिरः। तस्मादेवोद्धरणा-ल्लक्षणयाऽत्रापि शिरःशब्दः। तत्र ब्राह्मणम्—'उखां कृणोतु। शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धियेति शक्त्या च हि करोति बाहुभ्यां च धिया च माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भ एति यथा माता पुत्रमुपस्थे बिभृयादेवमग्निं गर्भे बिभर्त्वित्येतत्' (श० ६।५।१।११)। सुप्रसन्नं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे—सा अदितिः शक्त्या सामर्थ्येन बाहुभ्यां धिया च उखां ज्ञानाग्नेराधारभूतां बुद्धिं कृणोतु। सा च कृता बुद्धिरग्निं ज्ञानम् आसमन्तात् तथा बिभर्तु यथा माता पुत्रमुपस्थे बिभर्ति।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थ, यतस्त्वं मखस्य यज्ञस्य शिर उत्तमाङ्गवद् वर्तमानोऽसि, तस्माद् भवान् धिया प्रज्ञया कर्मणा वा शक्त्या पाकविद्यया सामर्थ्येन वा बाहुभ्यामुखां पाकस्थालीं कृणोतु। यादितिर्जननी वर्तते सा पत्नी गर्भे कुक्षौ यथा माता उपस्थे स्वाङ्के पुत्रं धरति तथाग्निमाबिभर्तु, अग्निमिव वर्तमानं वीर्यम्' इति, तदेतदप्यपेशलम्, या अदितिर्जननी सा पत्नीति परस्परविरोधात्। नहि पाकस्थालीसाधनाय पत्युर्बुद्धिशक्ति-बाहूनां करणत्वं युक्तम्, तस्याः शिल्पिभिर्निर्मीयमाणत्वात् ॥ ५७ ॥

वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाᳪं रायस्पोषं गौपत्यᳪं सुवीर्यᳪं सजातान् यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजाᳪं रायस्पोषं गौपत्यᳪं सुवीर्यᳪं सजातान् यज-मानायादित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि द्यौरसि धारया मयि प्रजाᳪं रायस्पोषं गौपत्यᳪं सुवीर्यᳪं सजातान् यजमानाय विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टु-भेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशोऽसि धारया मयि प्रजाᳪं रायस्पोषं गौपत्यᳪं सुवीर्यᳪं सजातान् यजमानाय ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, वसुगण गायत्री छन्द के प्रभाव से अंगिरा के समान तुम्हें स्थापित करें। उनके द्वारा दृढ़ता से स्थापित तुम पृथ्वी रूप होकर, मुझ यजमान के निमित्त सन्तान, धन, पुष्टि, गोपतित्व और सुन्दर पराक्रम दो, सहोदर गण के साथ हमारा यथोचित सौहार्द बनाओ। हे उखे, रुद्रगण त्रिष्टुप् छन्द से अंगिरा के समान तुम्हें स्थापित करें। तुम अन्तरिक्ष रूप हो, अतः दृढ़ होकर यजमान के निमित्त····(पूर्ववत्)। हे उखे, बारह आदित्य जगती छन्द के सामर्थ्य से अंगिरा के समान तुम्हारा निर्माण करते हैं, तुम द्युलोक रूप होने से दृढ़ होकर····(पूर्ववत्)। हे उखे, सब मनुष्यों से प्राप्त होने योग्य विश्वेदेव देवता अनुष्टुप् छन्द के प्रभाव से अंगिरा ऋषि के समान तुम्हारा निर्माण करते हैं, तुम दिशा-स्वरूप होने से दृढ़ होकर मुझ यजमान के निमित्त सन्तान, धन, पुष्टि, गोपतित्व और सुन्दर पराक्रम प्राप्त कराओ, सहोदरगण के साथ हमारा यथोचित सौहार्द स्थापित हो॥ ५८॥

'वसवस्त्वेति प्रथयति' (का० श्रौ० १६।३।२६)। यजमानो गृहीतां मृदम् उखातलनिर्माणाय प्रादेशमात्रविपुलां करोति वसव इति मन्त्रेण। उखादेवत्या ब्राह्मी अनुष्टुप्। हे उखे, वसवो देवविशेषाः सहकारिणो गायत्रेण छन्दसा कृत्वा अङ्गिरस इव त्वा कृण्वन्तु कुर्वन्तु। यतस्त्वं कृता सती ध्रुवा स्थिरासि पृथिवी चासि। अतस्त्वां वच्मि—हे उखे, यजमानाय यजमाने मयि, सप्तम्यर्थे चतुर्थी, प्रजां पुत्रादिकां धारय स्थापय। रायस्पोषं धनस्य पुष्टिं च धारय। गौपत्यं गोपतित्वं च धारय। सुवीर्यं शोभनं वीर्यं वीरकर्म मयि धारय। सजातान् समानोदरोत्पन्नान् भ्रातॄन् मयि धारय। 'अन्तानुन्नीय सर्वतः प्रथमं धातुमादधाति रुद्रास्त्वेति' (का० श्रौ० १६।३।२७)। प्रथनानन्तरं सर्वासु दिक्षु प्रथितस्योखायाः अन्तान् मध्यप्रदेशापेक्षयाऽङ्गुलमात्रमुच्चानूर्ध्वान् कृत्वा प्रथमां पिण्डिकां तत्र योजयेत्। रुद्रास्त्वेति मन्त्रेण धातुप्रक्षेपः। उखादेवत्या आर्षी अनुष्टुप्। हे उखे, रुद्रा त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वां कृण्वन्तु। अङ्गिरस्वद् ध्रुवासि। अन्तरिक्षमसि अन्तरिक्षरूपासि। शेषं पूर्ववत्। 'संलिप्य श्लक्ष्णां कृत्वोत्तरमादित्यास्त्वेति' (का० श्रौ० १६।३।२७)। तामुखां सजलया मृदा लिप्त्वा वारिणा श्लक्ष्णां सचिक्कणां कृत्वा उत्तरं धातुं द्वितीयपिण्डिकां पूर्वोपरि योजयेत्। उखादेवत्या ब्राह्मी अनुष्टुप्। आदित्या देवा जागतेन छन्दसा त्वां कुर्वन्तु। त्वं द्यौरसि। शेषं पूर्ववत्। 'विश्वे त्वेति समीकरोति' (का० श्रौ० १६।३।२९) न्यूनप्रमाणा चेद् धातु(मृत्पिण्ड)प्रक्षेपेण पूर्णां कुर्यात्। अधिकप्रमाणा चेत्तदा तदतिरिक्तां छित्वा पूर्वप्रमाणां कुर्यात्। उखादेवत्या ब्राह्मी बृहती। वैश्वानरा विश्वैर्नरैर्नीयन्ते, विश्वान् नरान् नयन्ति वा, विश्वेषां नराणां वा सम्बन्धिनो देवा विश्वेभ्यो नरेभ्यो हिता वा तथाभूता देवा हे उखे, त्वां कुर्वन्तु। आनुष्टुभेन छन्दसा कृत्वा। त्वं च दिग्रूपासि, शेषं पूर्ववत्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ मृत्पिण्डमुपादत्ते। यावन्तं निधयेऽलं मन्यते मखस्य शिरोऽसीति यज्ञो वै मखस्तस्यैतच्छिर आहवनीयो वै यज्ञस्य शिर आहवनीयमु वा एतं चेष्यन् भवति तस्मादाह मखस्य शिरोऽसीति' (श० ६।५।२।१)। अथोखाया अधस्तलपर्याप्तमृत्पिण्डादानं विधत्ते—अथ मृत्पिण्डमिति। निधिर्नाम उखाया अधस्तलम्, तस्यै यावन्तं पर्याप्तं मन्यते यजमानस्तावन्तमाददीत। उखाकरणे यजमानः कर्ता, 'यजमान उखां करोति मृदमादाय मखस्य शिर इति' (का० श्रौ० १६।३।२३) इति कात्यायनोक्तेः। आदाने मन्त्रं विधत्ते—मखस्य शिरोऽसीति। हे मृत्पिण्ड, त्वं मखस्य शिरोऽसि। एतद्यजुर्व्याचष्टे—यज्ञो वै मख इति। यथा आहवनीयो यज्ञस्य शिरः, अग्न्याधारत्वात्, एवं मृत्पिण्डोऽपि वह्न्याधारत्वादाहवनीयस्य चीयमानत्वाच्च लक्षणया यज्ञशिर इत्युच्यते। 'यद्वेवाह मखस्य शिरोऽसीति। जायत एष एतद्यच्चीयते शीर्षतो वै मुखतो जायमानो जायते शीर्षतो मुखतो जायमानो जायाता इति' (श० ६।५।२।२)। प्रकारान्तरेण स्तोतुमनुवदति—यद्वेवाह मखस्येति। इष्टकाभिश्चीयत इति यत् तद् एषोऽग्निर्जायते। चयनं नाम जन्मेत्यर्थः। लोके ह्युत्पद्यमानः

पुरुषः प्रथमं शीर्षतः शिरःप्रभृतिक एव चीयते जायते। एवमग्निः शीर्षतो जायतामित्यभिप्रायेण यज्ञस्य शिरोऽसीत्युक्तम्। 'जायात्' इति जनेः पञ्चमलकारे रूपम्।

'तं प्रथयति। वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वदित्ययꣳ हैष लोको निधिस्तमेतद्वसवो गायत्रेण छन्दसाऽकुर्वंस्तथैवैनमयमेतद् गायत्रेण छन्दसा करोत्यङ्गिरस्वदिति प्राणो वा अङ्गिरा ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीति पृथिव्यसीति पृथिवी ह्येष निधिर्धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान् यजमानायेत्येतद्वै वसव इमं लोकं कृत्वा तस्मिन्नेतामाशिषमाशासत तथैवैतद्यजमान इमं लोकं कृत्वा तस्मिन्नेतामाशिषमाशास्ते तां प्रादेशमात्रीं कृत्वाऽथास्यै सर्वतस्तीरमुन्नयति' (श० ६।५।२।३)। तत्र प्रथनं समन्त्रं विधत्ते–तं प्रथयतीति। उखा नाम लोकत्रयात्मिकेति स्तुता। तत्र निधिर्भूलोकः, उत्तरत्र 'द्यौर्ह्येष उद्धिर्धारय' इति श्रवणात्। उत्तरोत्तरमृत्पिण्डप्रक्षेपौ अन्तरिक्षद्युलोकात्मकौ। अतो मन्त्रत्रयेऽपि लोकत्रयवाचकानि पदानि विद्यन्ते। यथा निधिप्रथनमन्त्रे एवमाम्नायते—'वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसा' इत्यादि। तदर्थोऽप्येवम्। वसवो नाम भूलोकरक्षका देवाः, त्वामुखां भूलोकात्मिकां कृण्वन्तु कुर्वन्तु। गायत्रेण छन्दसा सह अङ्गिरस्वत् प्राणवत्। हे उखे, ध्रुवासि स्थिरासि पृथिवी असि भूलोकात्मिकासि। धारया मयीति यजुःशेषेण यजमाने आशिषमाशास्ते। मयीति सप्तमीनिर्देशाद् यजमानायेति सप्तम्यर्थे चतुर्थी। शेषं पूर्ववत्। मन्त्रं व्याचष्टे—अयं हैष लोको निधिरिति। एष भूलोकः, निधिर् उखाया अधस्तलम्। तदेतद्यथा 'वसवोऽकुर्वन्' एवं यष्टापि वसव इति पाठेन भूलोकमेव कृतवान् भवति। ध्रुवासीत्यस्य व्याख्यानं स्थिरासीति। तस्यापि व्याख्यानं प्रतिष्ठितासीति। पृथिवीत्यस्य व्याख्यानं पृथिवी ह्येष निधिरिति। धारया मयीत्यादिना यजमानस्य स्वाशीराशासनमिति। 'अथ पूर्वमुद्धिमादधाति। रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वदित्यन्तरिक्षꣳ हैष उद्धिस्तमेतद्रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसाऽकुर्वंस्तथैवैनमयमेतत् त्रैष्टुभेन छन्दसा करोत्यङ्गिरस्वदिति प्राणो वा अङ्गिरा ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीत्यन्तरिक्षमसीत्यन्तरिक्षꣳ ह्येष उद्धिर्धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान्यजमानायेत्येतद्वै रुद्रा अन्तरिक्षं कृत्वा तस्मिन्नेतामाशिषमाशासत तथैवैतद्यजमानोऽन्तरिक्षं कृत्वा तस्मिन्नेतामाशिषमाशास्ते ताꣳ संलिप्य सꣳश्लक्ष्णय' (श० ६।५।२।४)। अथ तिर्यक् प्रादेशमात्रं विस्तारितायां निधिमृद उपरि मृत्पिण्डप्रक्षेपं समन्त्रं विधत्ते—अथ पूर्वमुद्धिमादधातीति। पूर्वं प्रथमम्। उद्धिशब्दो मृत्पिण्डप्रदेशवाची। कात्यायनस्तु 'प्रथमं धातुमादधाति' (का० श्रौ० १६।३।२७) इति धातुशब्देन तमर्थमुक्तवान्। धातुशब्द उत्तरोत्तरक्रमेणावस्थानमाह—'त्रिधा त्वलाबुपात्रम्' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्। रुद्रास्त्वेति मन्त्रः। तदर्थस्तु—हे उखे, त्वा त्वां रुद्रा अन्तरिक्षाभिमानिनो देवाः कृण्वन्तु कुर्वन्तु। अत्र मन्त्रे 'त्रैष्टुभेन छन्दसा' इति, 'अन्तरिक्षमसि' इति च विशेषः। निधेर्भूलोकात्मकत्वेन तदुपरि निहितपिण्डं संलिप्य सम्मार्ज्य श्लक्ष्णां स्निग्धां करोति।

'अथोत्तरमुद्धिमादधाति। आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति द्यौर्हैष उद्धिस्तमेतमादित्या जागतेन छन्दसाऽकुर्वंस्तथैवैनमयमेतज्जागतेन छन्दसा करोत्यङ्गिरस्वदिति प्राणो वा अङ्गिरा ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीति द्यौरसीति द्यौर्ह्येष उद्धिर्धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान्यजमानायेत्येतद्वा आदित्या दिवं कृत्वा तस्यामेतामाशिषमाशासत तथैवैतद्यजमानो दिवं कृत्वा तस्यामेतामाशिषमाशास्ते' (श० ६।५।२।५)। प्रथमोद्धेरुपरि अन्यमृत्पिण्डप्रक्षेपं समन्त्रं विधत्ते—अथोत्तरमुद्धिमिति। आदित्या द्युलोकाभिमानिन्यो देवतास्त्वामुखां कुर्वन्तु। अत्र मन्त्रे—'जागतेन छन्दसा' इति, 'द्यौरसि' इति च विशेषः। प्रथमोद्धेरन्तरिक्षात्मकत्वात् तस्योपरि निहितमृत्पिण्डस्य द्युलोकात्मकत्वम्। 'अथैतेन चतुर्थेन यजुषा करोति। विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति दिशो हैतद्यजुरेतद्वै

विश्वेदेवा वैश्वानरा एषु लोकेषूखायामेतेन चतुर्थेन यजुषा दिशोऽदधुस्तथैवैतद्यजमान एषु लोकेषूखायामेतेन चतुर्थेन यजुषा दिशो दधात्यङ्गिरस्वदिति प्राणो वा अङ्गिरा ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीति दिशोऽसीति दिशो ह्येतद्यजुर्धारया मयि प्रजाᳪ रायस्पोषं गौपत्यᳪ सुवीर्यᳪ सजातान्यजमानायेत्येतद्वै विश्वे देवा वैश्वानरा दिशः कृत्वा तास्वेतामाशिषमाशासत तथैवैतद्यजमानो दिशः कृत्वा तास्वेतामाशिषमाशास्ते' (श० ६।५।२।६)। भिधेरुद्धिद्वयस्य समीकरणं समन्त्रं विधत्ते—अथैतेन चतुर्थेनेति। उक्तमन्त्रत्रयापेक्षया एतस्य यजुषश्चतुर्थत्वम्। वैश्वानरा विश्वनरसम्बन्धिनो विश्वेदेवास्त्वामानुष्टुभेन छन्दसा कुर्वन्त्विति। उखाया लोकत्रयात्मकत्वादेतेन यजुषा समीकरणेन तस्यां दिश एव निहितवान् भवति। अत्र मन्त्रे 'आनुष्टुभेन छन्दसा' इति, 'दिशोऽसि' इति च विशेषः।

'तेनैतेनान्तरतश्च बाह्यतश्च करोति। तस्मादेषां लोकानामन्तरतश्च बाह्यतश्च दिशोऽपरिमितमेतेन करोत्यपरिमिता हि दिशः' (श० ६।५।२।७)। पूर्वमथैतेन चतुर्थेन यजुषा करोतीति क्रियासामान्यमुक्तम्, तद्विशिनष्टि—तेनैतेनान्तरतश्च बाह्यतश्चेति। अन्तरत उद्धिद्वयस्य मध्यदेशेऽपरिमितं छिद्रं कुर्यात्, बाह्यतोऽपि निम्नोन्नतत्वपरिहारेण सर्वतः समं कुर्यात्। एतेन यजुषो दिगात्मकत्वाद् उखायाश्च लोकत्रयात्मकत्वाद् अन्तरतो बाह्यतश्च समीकरणेन लोकस्य मध्ये बहिश्च अपरिमिता दिशो निहितवान् भवति। 'तां प्रादेशमात्रीमेवोर्ध्वां करोति। प्रादेशमात्रीं तिरश्चीं प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुर्योनिरेषा गर्भसम्मितां तद्योनिं करोति' (श० ६।५।२।८)। उखाया ऊर्ध्वपरिमाणं विधत्ते—तां प्रादेशमात्रीमिति। एवकारेण परिमाणान्तरनिवृत्तिः। ऊर्ध्वा यथा प्रादेशमात्री तथा तिरश्चीनापि प्रादेशमात्री। अर्थाद् ऊर्ध्वा तिर्यक् च समा कार्या। तत्परिमाणं प्रशंसति—प्रादेशेति। योनिं गर्भसदृशीं कृतवान् भवति। उखाया योनित्वमग्न्याधारत्वात्। अग्नेश्च गर्भत्वं तन्मध्ये संवत्सरमवस्थानात्। 'सा यदि वर्षीयसी प्रादेशात् स्यात्। एतेन यजुषा ह्रसीयसीं कुर्याद्यदि ह्रसीयस्येतेन वर्षीयसीम्' (श० ६।५।२।९)। सर्वथापि प्रादेशमात्रीमेव कुर्यान्न न्यूनाधिकामित्यर्थः। 'स यद्येकः पशुः स्यात्। एकप्रादेशां कुर्यादथ यदि पञ्च पशवः स्युः पञ्चप्रादेशां कुर्यादिषुमात्रीं वा वीर्यं वा इषुर्वीर्यसम्मितेव तद्भवति पञ्चप्रादेशा ह स्म त्वेव परेषुर्भवति' (श० ६।५।२।१०)। उखायाः परिमाणं पश्वनुष्ठानापेक्षया विकल्पितम्। पञ्चपशुपक्षे पञ्चप्रादेशपरिमाणा, इषुमात्री वा कर्तव्या। एतत्परिमाणद्वयं तिर्यगपेक्षया। ऊर्ध्वपरिमाणं त्वत्रापि प्रादेशमात्रमेव।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, वसवो देवा गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरस इव त्वां कृण्वन्तु संस्कुर्वन्तु। त्वं ध्रुवासि निश्चलासि। पृथिव्यसि विस्तृतविषयासि क्षमाशीलासि। मयि प्रजां ज्ञानविज्ञानलक्षणां रायस्पोषं ज्ञानश्रियः पोषं गौपत्यम् इन्द्रियाधिपत्यं सुवीर्यम् अज्ञानकामक्रोधादिशत्रुजयसामर्थ्यं सजातान् समानसाधकान् सदानुष्ठायिनो धारय। एवं रुद्रास्त्रैष्टुभेन त्वां कृण्वन्तु। ध्रुवासि अन्तरिक्षमसि। आदित्या जागतेन छन्दसा त्वां कृण्वन्तु। वैश्वानरा आनुष्टुभेन छन्दसा त्वां कृण्वन्तु। शेषं पूर्ववत्। त्वमेव अन्तरिक्षं द्यौर्दिशश्चासि, वेदान्तरीत्या सर्वेषामेव बौद्धत्वात्।

दयानन्दस्तु—हे ब्रह्मचारिणि कुमारिके, या त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवासि धनञ्जयप्राणवायुवन्निश्चलासि पृथिव्यसि पृथुसुखकारिण्यसि, तां त्वां गायत्रेण गायत्रीसंज्ञकेन छन्दसा वसवो वसुसंज्ञका विद्वांसो मम स्त्रियं कुर्वन्तु। हे कुमार ब्रह्मचारिन्, यस्त्वमङ्गिरस्वत् प्राणवायुवन्निश्चलोऽसि पृथिव्या तुल्यः क्षमाशीलोऽसि, यं त्वां वसवो विद्वांसो गायत्रेण वेदप्रतिपादितेन छन्दसा मम पतिं कृण्वन्तु स त्वं मयि प्रजां रायस्पोषं राजश्रियः पोषं गौपत्यम् अध्यापकत्वं सुवीर्यं च धारय। आवां सजातान् सन्तानान् सर्वान् यजमानाय विद्याग्रहणार्थं समर्पयेव।

हे स्त्रि, या त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवासि निष्कम्पासि अन्तरिक्षमसि तां त्वा रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसा मम पत्नीं कृण्वन्तु। हे वीर, यस्त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवोऽस्यन्तरिक्षमसि यं त्वा रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसा मम स्वामिनं कृण्वन्तु। स त्वं मयि प्रजां रायस्पोषमित्यादि पूर्ववत्। हे विदुषि, तां त्वादित्या जागतेन छन्दसा मम भार्यां कृण्वन्तु। हे विद्वन्, यं त्वादित्या ममाधिष्ठातारं कृण्वन्तु स त्वं मयि प्रजां धारय। हे सुभगे,...हे पुरुष, यस्त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवोऽसि यं त्वा वैश्वानरा मदधीनं कृण्वन्तु स त्वं मयि प्रजां धारय। हे सुभगे...हे पुरुष ! यस्त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवोऽसि यं त्वा वैश्वानरा मदधीनं कृण्वन्तु' इत्यादिकम्, तत्सर्वमुपहासास्पदम्, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात्, तादृशसम्बोधनानां च मूलेऽभावात्। सिद्धान्ते तु ब्राह्मणसूत्रादिमूलकान्येव सम्बोधनानि ॥ ५८ ॥

अदित्यै रास्नास्यदितिष्टे बिलं गृभ्णातु। कृत्वाय सा महीमुखां मृण्मयीं योनिमग्नये। पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानिति ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—हे मृत्तिकानिर्मित रेखा, तुम अदिति रूप उखा की कांचीगुण के स्थान वाली हो। हे उखे, देवमाता तुम्हारे मध्य भाग को ग्रहण करें। देवमाता अदिति मृत्तिका की सहायता से अग्नि की स्थानभूत उखा का निर्माण कर पाक कार्य के सम्पादन के निमित्त यह कहकर अनुमति प्रदान करें कि हे पुत्रो, तुम इसमें पाक कर्म करो ॥ ५९ ॥

'वितृतीय उत्तरे वर्तिꣳ सर्वतः करोत्यदित्यै रास्नेति' (का० श्रौ० १६।३।३०)। उखोर्ध्वमानं त्रेधा विभज्य उपरि तृतीयभागे सर्वत्र मृण्मयीं मेखलां करोति। तलान्मेखलान्तमपि प्रतिदिशं चतुर्वर्तीः स्तनयुक्ताः कुर्यात्। प्रादेशोच्चाया ऊर्ध्वमानं त्रेधा विभज्य उत्तरे उपरितने भागे सर्वदिक्षु मृण्मयीं वर्तिं वर्त्याकारां मेखलां कुर्यादिति। रास्नादेवत्या यजुर्गायत्री। हे रेखे, त्वमदित्यै अदितिरूपाया उखाया रास्ना काञ्चीगुणस्थानीयासि। 'बिलं गृह्णात्यदितिष्ट इति' (का० श्रौ० १६।४।३)। उखाया मुखमालभते। उखादेवत्या यजुर्बृहती। हे उखे, अदितिर्देवमाता ते तव बिलं मध्यं गृभ्णातु गृह्णातु। 'कृत्वायेति निदधाति' (का० श्रौ० १६।४।४)। एवमुखां निष्पाद्य भूमौ स्थापयतीति सूत्रार्थः। अदितिदेवत्या उष्णिगनुष्टुब्वा। उष्णिक्पक्षे तृतीयपादश्चतुर्दशार्णस्तेन द्व्यधिका, अनुष्टुप्पक्षे तृतीयः षडर्णो व्यूह्यः। सा पूर्वोक्ता अदितिः, उखां कृत्वाय कृत्वा, 'क्त्वो यक्' (पा० सू० ७।१।४७) इति यगागमः, निष्पाद्य पुत्रेभ्यो देवेभ्यो वदन्ती प्रायच्छत्। किं वदन्ती ? हे पुत्राः, इमामुखां भवन्तः श्रपयन्तु। 'श्रा पाके' णिजन्तः। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इत्यन्तीत्यस्येकारस्य लोपे संयोगान्तलोपे च 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे श्रपयानिति रूपम्। कीदृशीमुखाम्? महीं महतीं विशालां भूयसीं वा मृण्मयीं मृत्कार्यभूताम् अग्नये अग्न्यर्थम् अग्नेर्वा योनिस्थानभूताम्। सेयमदितिर्मृण्मयीं मृत्कार्यां योनिम् अग्नये अग्नेः कारणभूतामुखां कृत्वा फलं निष्पाद्य पुत्रेभ्यः पुत्रसदृशेभ्यः श्रपणकारिभ्यः प्रायच्छत्। शेषं पूर्ववत्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ तिरश्चीꣳ रास्नां पर्यस्यति। दिशो हैव सैतद्वै देवा इमाँल्लोकानुखां कृत्वा दिग्भिरदृꣳहन् दिग्भिः पर्यतन्वंस्तथैवैतद्यजमान इमाँल्लोकानुखां कृत्वा दिग्भिर्दृꣳहति दिग्भिः परितनोति' (श० ६।५।२।११)। अथोखाया उत्तरभागे वर्तिकरणं विधत्ते—अथ तिरश्चीमिति। रास्नां पर्यस्यति परितः सर्वतः कुर्यात्। तां रास्नां दिगात्मना स्तौति—एतद्वै देवा इत्यादिना। पूर्वं देवा यथा उखां कृत्वा दिग्भिर्दृढामकुर्वंस्तथा यष्टा वर्तिकरणेन दिग्भिरेव विततां दृढां च कृतवान् भवति। 'तामुत्तरे वितृतीये पर्यस्यति। अत्र हैषां लोकानामन्ताः समायन्ति तदेवैनांस्तदृꣳहति' (श० ६।५।२।१२)।

रास्नाकरणस्य स्थानं विधत्ते—तामुत्तरे वितृतीय इति। उखां त्रिधा विभज्य उत्तरेऽर्धे वितृतीये तृतीयभागादप्यदूरे उखाकण्ठप्रदेशे वर्ति सर्वतस्तिरश्चीनां कुर्यात्। 'अदित्यै रास्नासीति। वरुण्या वै यज्ञे रज्जुरवरुण्यामेवैनामेतद्रास्नां कृत्वा पर्यस्यति' (श० ६।५।२।१३)। मन्त्रं विधत्ते—अदित्यै रास्नासीति। अदित्यै अदीनाया देवमातुः, रास्ना रसनासि। रास्नापदस्याभिप्रायमाह अवरुण्या इति। पाशस्य वरुणो देवता। रास्नेयमवरुण्या, अपाशत्वात्। 'अथ चतस्र ऊर्ध्वाः करोति। तूष्णीमेव दिशो हैव ता एतद्वै देवा इमांल्लोकानुखां कृत्वा दिग्भिः सर्वतो दृꣳहंस्तथैवैतद्यजमान इमांल्लोकानुखां कृत्वा दिग्भिः सर्वतो दृꣳहति' (श० ६।५।२।१४)। अन्याश्चतस्रो वर्तीर्विधत्ते अथ चतस्र इति। तूष्णीमिति तत्र मन्त्रप्रतिषेधः। एता वर्तय उखायाश्चतुर्दिशं कार्याः। कण्ठगतवर्तिपर्यन्तं प्रतिदिशं चतस्रस्तूष्णीं कार्या इत्यर्थः। रास्नाचतुष्टयं दिगात्मना स्तूयते—दिशो हैव ता इत्यादिना। सर्वत ऊर्ध्वानां चतसृणां तृतीयोत्तरकृतरास्नापर्यन्तमिति। 'ता एता एतस्यै भवन्ति। एतद्वा एना एतामस्तभ्नुवंस्तथैवैनामेतत् स्तभ्नुवन्ति तद्यदत ऊर्ध्वं तदेतया तिरश्च्या दृढमथ यदतोऽर्वाक् तदेताभिः' (श० ६।५।२।१५)। उत्तरवर्तिकरणेनातो लोकादूर्ध्वस्थितं सर्वं दृढं भवति। उखाया लोकत्रयात्मकत्वाद् दार्ढ्यार्थं वर्तयः कर्तव्या इति तात्पर्यम्।

'तासामग्रेषु स्तनानुन्नयन्ति। एतद्वै देवा इमाँल्लोकानुखां कृत्वैतैः स्तनैः सर्वान् कामानदुहत तथैवैतद्यजमान इमाँल्लोकानुखां कृत्वैतैः स्तनैः सर्वान् कामान् दुहे' (श० ६।५।२।१६)। अथोर्ध्ववर्तीनामन्ते स्तनोन्नयनं विधत्ते—तासामग्रेषु स्तनानिति। स्तना इव स्तनाः, तदाकाराः कुर्यात्। अर्थात् पूर्वं देवा लोकत्रयात्मिकां गोरूपामुखां कृत्वा तस्या ऊधःस्थानीयाया वितृतीयभागे कृतायास्तिरश्चीनाया रास्नायाः समीपे वर्ती रास्नाग्रेषु चतुरः स्तनान् कृत्वा तेभ्यः सर्वान् कामान् दुग्धवन्तः, तथायं यष्टापि स्वाभिलषितान् कामान् दोग्धुं चतुरः स्तनान् कुर्यादिति। गोरूधोऽपि वितृतीये भागे भवति, सापि गौश्चतुःस्तनीति तत्साम्यम्। मन्त्रव्याख्यानात् पूर्वं सूत्रार्थव्याख्यानमेतैर्ब्राह्मणैः स्फुटयति। तथा च कात्यायनः—'द्विस्तनामष्टस्तनामेके' (का० श्रौ० १६।४।२), 'बिलं गृह्णात्वदितिष्ट इति' (का० श्रौ० १६।४।३), 'कृत्वायेति निदधाति' (का० श्रौ० १६।४।४) इति। तथा च ब्राह्मणम्—'ताꣳ हैके द्विस्तनां कुर्वन्ति। अथो अष्टस्तनां न तथा कुर्याद्ये वै गोः कनीयस्तनाः पशवो ये भूयस्तना अनुपजीवनीयतरा वा अस्यैतेऽनुपजीवनीयतराꣳ हैनां ते कुर्वतेऽथो ह ते न गां कुर्वते शुनीं वाऽविं वा वडवां वा तस्मात्तथा न कुर्यात्' (श० ६।५।२।१९)। चतुःस्तनपक्षं सिद्धान्वयितुं शाखान्तरानुसारेण पक्षान्तरमनुवदति ताꣳ हैक इति। तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति—'द्विस्तनां करोति द्यावापृथिव्योर्दोहाय, चतुःस्तनां करोति पशूनां दोहाय, अष्टस्तनां करोति छन्दसां दोहाय' (तै० सं० ५।१।६।४) इति। द्विस्तनपक्षे एकस्मिन्नेव वर्त्यग्रे स्तनद्वयं क्रियते, अष्टस्तनपक्षे एकैकस्मिन् वर्त्यग्रे द्वौ द्वाविति। तत्पक्षद्वयं दूषयति स्वपक्षे श्रद्धादार्ढ्याय, नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तत इति न्यायात्। न तथा कुर्यादिति। ये पशवो गोः पशोरपेक्षया कनीयस्तना अल्पस्तनास्तेऽनुपजीवनीयतराः, ये च गवापेक्षया भूयस्तनास्तेऽपि तथाविधा एव। सा हि चतुःस्तना। स्तनचतुष्टयादर्वाक्स्तना भूयस्तना वा ये पशवस्तेऽनुपजीवनीया अभोग्या भवन्ति। यद्येनामुखां द्विस्तनामष्टस्तनां वा कुर्यात्, तर्हि अनुपजीवनीयां भोगानर्हामिव कुर्यात्। अभोग्यामेव दर्शयति—शुनीमिति। अष्टस्तनकरणे शुनीं द्विस्तनकरणेऽविं वडवां वा कृतवन्तो भवन्ति। ता यथा भोग्या न भवन्ति, एवं द्विस्तना अष्टस्तना वा उखा न भोगार्हेति तथाकरणमयुक्तमित्यर्थः। 'अथास्यै बिलमभिपद्यते। अदितिष्टे बिलं गृभ्णात्विति वाग्वा अदितिरेतद्वा एनां देवाः कृत्वा वाचाऽदित्या निरष्ठापयंस्तथैवैनामयमेतत्कृत्वा वाचाऽदित्या निष्ठापयति' (श० ६।५।२।२०)। बिलग्रहणं विधत्ते—अथास्या इति। बिलं कष्ठविवरम्। अभिपद्यते गृह्णाति। हे उखे, ते बिलम् अदितिः गृभ्णातु। सा च वाग्रूपत्वेन स्तूयते। निष्ठापयति परिसमाप्तां करोति।

'तां परिगृह्य निदधाति । कृत्वाय सा महीमुखामिति कृत्वाय सा महतीमुखामित्येतन्मृण्मयीं योनिमग्नय इति मृण्मयी ह्येषा योनिरग्नेः पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानित्येतद्वा एनामदितिः कृत्वा देवेभ्यः पुत्रेभ्यः श्रपणाय प्रायच्छत्तथैवैनामयमेतत् कृत्वा देवेभ्यः श्रपणाय प्रयच्छति' (श० ६।५।२।२१) । सा अदितिः, महीं भूरूपां महतीं वा मृण्मयीं मृद्विकारभूताम् अग्नये अग्न्यर्थं योनिं स्थानम् उखां कृत्वाय कृत्वा पुत्रेभ्यः श्रपयान् श्रपयन्तु पक्वां कुर्वन्तु इति हेतोः प्रायच्छदिति सम्बन्धः । 'ता हैके तिस्रः कुर्वन्ति । त्रयो वा इमे लोका इमे लोका उखा इति वदन्तोऽथोऽन्योन्यस्यै प्रायश्चित्त्यै यदीतरा भेत्स्यतेऽथेतरस्यां भरिष्यामो यदीतराथेतरस्यामिति न तथा कुर्याद्यो वा एष निधिः प्रथमो यः स लोको यः पूर्व उद्धिरन्तरिक्षं तद्य उत्तरो द्यौः साथ यदेतच्चतुर्थं यजुर्दिशो हैव तदेतावद्वा इदꣳ सर्वं यावदिमे च लोका दिशश्च स यदत्रोपाहरेदति तद्रेचयेद्यदु वै यज्ञेऽतिरिक्तं क्रियते यजमानस्य तद् द्विषन्तं भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते यदु भिन्नायै प्रायश्चित्तिरुत्तरस्मिंस्तदन्वाख्याने' (श० ६।५।२।२२) उखा एकैव करणीयेति सिद्धान्तयितुं केषाञ्चित् पक्षमुपन्यस्यति—ता हैके तिस्रः कुर्वन्तीति । तत्र युक्तिः—त्रयो वा इमे लोका इति । उखाः खलु लोकात्मिकाः, लोकाश्च त्रयः, अतो लोकसंख्यया उखाः कर्तव्या इति वदन्त एके तिस्रः कुर्वन्तीति सम्बन्धः । युक्त्यन्तरमाह—अथो अन्योऽन्यस्या इति । यद्येका भिद्येत तर्हि अन्यस्यामग्निं भरिष्यामः । यदीतराऽथेतरस्यामिति, अतोऽन्योऽन्यस्यै प्रायश्चित्त्यर्थं तिस्र उखाः कर्तव्या इत्यर्थः । तं पक्षं दूषयति—यो वा एष निधिरित्यादिना । निधिरेकः, उद्धिद्वयं च, भूलोकादित्रयम्, यदेतत् समीकरणार्थं यजुः, तद्दिगात्मकम्, एतावदेव लोकत्रयम् । दिशश्च सर्वं जगत्, न ततोऽतिरिक्तमस्ति । अतो लोकत्रयात्मिकायामेकस्यामुखायां कृतायां यद् यदि अन्यदुखाद्वयमुपाहरेत् सम्पादयेत् तर्हि तद् लोकादिकमतिरेचयेत् । तद् अतिरिक्तं कर्म यजमानस्य द्विषन्तमेवातिरेचितवत् । यतो न्यूनमतिरिक्तं च कर्म दोषावहमेव, अतो न्यूनाधिददोषौ परिहार्यौ । तस्माद् लोकत्रयाद् दिग्भिश्चातिरिक्तस्य वस्तुनः करणं न युक्तमिति तात्पर्यम् ।

यद्युखैका स्यात् सा यदि भिद्येत तर्हि किमुखान्तरकरणं तूष्णीं वाऽवस्थानम्? तूष्णीमवस्थाने कथमुख्याग्निधारणम्, असत्यग्निधारणे कथं चयनाख्यं कर्म, एतस्य सर्वस्योत्तरं ब्राह्मणे वक्ष्यत इत्याह—यदु भिन्नाया इति । अन्वाख्याने ब्राह्मणे तत्र वक्ष्यत इति शेषः । तत्र ह्येवम्—'यद्येषोखा भिद्येत । याभिन्ना न वा स्थाली उरुबिली स्यात् तस्यामेनं पर्यावपेत्' (श० ६।६।४।८) इत्यादिना । 'तस्या एतस्या अषाढां पूर्वां करोति । इयं वा अषाढेयमु वा एषां लोकानां प्रथमाऽसृज्यत तामेतस्या एव मृदः करोत्येषाꣳ ह्येव लोकानामियं महिषी करोति महिषी ह्येयं तद्यैव प्रथमा वित्ता सा महिषी' (श० ६।५।३।१) । अथ संस्कृताया मृदः सकाशादुखानिर्माणात् पूर्वमषाढाख्येष्टकाया निर्माणमाह—तस्या एतस्या अषाढां पूर्वां करोतीति । अषाढलिङ्गकमन्त्रोपधेयामिष्टकामषाढां प्राहुः । तां यजमानस्य प्रथमोढा महिषी निर्माति । इयमिष्टकापि महिषी, प्रथमतो निर्माणात् । सा च यजमानपादमात्री अर्धचन्द्राकाराभिस्तिसृभी रेखाभिर्युक्ता भवति, 'पादमात्री भवति । प्रतिष्ठा वै पाद इयमु वै प्रतिष्ठा त्र्यालिखिता भवति त्रिवृद्धीयम्' (श० ६।५।३।२) इति श्रुतेः । अस्यास्त्रिवृत्त्वं पृथिव्यप्तेजोभिस्त्रिवृत्करणात् सिकतामृत्तिकापाषाणैस्त्रिभिः संहतत्वाद्वा ।

'अथोखां करोति । इमांस्तल्लोकान् करोत्यथ विश्वज्योतिषः करोत्येता देवता अग्निं वायुमादित्यमेता ह्येव देवता विश्वं ज्योतिस्ता एतस्या एव मृदः करोत्येभ्यस्तल्लोकेभ्य एतान् देवान्निर्मिमीते यजमानः करोति त्र्यालिखिता भवन्ति त्रिवृतो ह्येते देवा इत्यधिदेवतम्' (श० ६।५।३।३) । उखाया अषाढानन्तरकर्तव्यतामाह—अथोखामिति । उखाकरणेन त्रींल्लोकान् कृतवान् भवति । अथ विश्वज्योतिर्नामधेयानां तिसृणामिष्टकानामुखानन्तरकर्तव्यतां विधत्ते—अथ विश्वज्योतिषः करोतीति । एतासां निर्माणमेवाग्निवाय्वादित्यानां निर्माणमित्याह—एता

देवना इत्यादिना। विश्वद्योतकत्वमग्न्यादीनां प्रसिद्धमेव। देवानां त्रिवृत्त्वं द्युभूम्यन्तरिक्षस्थानभेदेन 'इष्टकास्तु तिस्रो विश्वज्योतिषः पृथग्लक्षणास्त्र्यालिखिताः' (का० श्रौ० १६।४।६) इति सूत्रनिर्दिष्टाः।

'अथाध्यात्मम्। आत्मैवोखा या वागषाढा तां पूर्वां करोति पुरस्ताद्धीयमात्मनो वाक्तामेतस्या एव मृदः करोत्यात्मनो ह्येवेयं वाङ्महिषी करोति महिषी हि वाक् त्र्यालिखिता भवति त्रेधा विहिता हि वागृचो यजूꣳषि सामान्यथो यदिदं त्रयं वाचो रूपमुपाꣳशु व्यन्तरामुच्चैः' (श० ६।५।३।४)। अथ वक्ष्यमाणम् अध्यात्मम् आत्मानमधिकृत्य प्रवर्त्यमानम्, वक्ष्यत इति शेषः। प्रतिज्ञातमर्थं दर्शयति—आत्मैवोखेति। उखायाः प्राधान्यादात्मत्वम्। आह्वानादिष्वात्मनोऽपि पूर्वं वाचः स्वरूपमस्ति। पुरस्तात् प्रवृत्तेः प्रसिद्धिमाह हिशब्दः। न केवलं वैदिक्या एव वाचस्त्रैविध्यमपि तु यदिदं सर्वैरुच्चार्यमाणं वाचः स्वरूपमस्ति तदपि त्रयम्, त्रिविधमित्यर्थः। उपांशुव्यन्तरामुच्चैरिति। व्यन्तरामित्युपांशूच्चैःस्वरमध्यवर्तिनीं वाचं वदन्ति प्राणिनः, तदेकं रूपं व्यन्तरां शब्दप्रतिपाद्यमित्यर्थः। स्पष्टमन्यत्।

'अथोखां करोति। आत्मानं तत्करोत्यथ विश्वज्योतिषः करोति प्रजा वै विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननमेवैतत्करोति ता एतस्या एव मृदः करोत्यात्मनस्तत्प्रजां निर्मिमीते यजमानः करोति यजमानस्तदात्मनः प्रजाः करोत्यनन्तर्हिताः करोत्यनन्तर्हिताम् ....' (श० ६।५।३।५)। उखाया आत्मरूपत्वात् तदनन्तरं तस्या एव मृदो विश्वज्योतिषामुत्पादने प्रजोत्पादनमित्यर्थः। 'प्रजननं प्रकृष्टं जननं जन्म यस्मात् तत् प्रजननम्, प्रजामित्यर्थः। अनन्तर्हिता व्यापारान्तरेणाव्यवहिता। उखाया विश्वज्योतिषां च मध्ये व्यवधानं न कुर्यादिति भावः।

'प्रजापतिरेषोऽग्निः। उभयं वैतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्या यजुष्कृतायै करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितꣳ रूपं तदस्य तेन संस्करोत्यथ या अयजुष्कृतायै यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितꣳ रूपं तदस्य तेन संस्करोति स ह वा एतꣳ सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिꣳ संस्करोति य एवं विद्वानेतदेवं करोत्यथोपशयायै पिण्डं परिशिनष्टि प्रायश्चित्तिभ्यः' (श० ६।५।३।७)। एष चयनलक्षणोऽग्निः प्रजापतिः सर्वभूतात्मको विराड् निरुक्तं कार्यात्मना स्थितम्, अनिरुक्तं कारणात्मना वर्तमानमिति विवेकः। यन्निरुक्तानिरुक्ताद्यात्मकमुभयमस्ति तद्द्वयं प्रजापतिरेव। निरुक्तं परिमितं कार्यत्वात्, तत्संस्कृतवान् भवति। अतथाभूताभिरिष्टकाभिरतथाभूतं प्रजापतिरूपं संस्करोति। एवं विद्वान् निरुक्तानिरुक्तमुभयं जानन् संस्कर्ता भवति। अवशिष्टाया मृदो विनियोगमाह—अथोपशयायै पिण्डं परिशिनष्टि प्रायश्चित्तिभ्य इति, उखां कृत्वा यजमान इति शेषः। उपशयायै उपशेत इति उपशया मृद् तस्यै। 'मृदमुपशयां निदधाति' (का० श्रौ० १६।४।७)। उखां क्रियमाणामुपशेतेऽतिरिच्यत इत्युपशया अतिरिक्ता मृद्, तां कार्यार्थं निदध्यात्। सूत्रान्ते प्रायश्चित्तय उखाभेदपरिहारोपाया उक्ताः। तदर्थं मृदः परिशेषः।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे श्रुते वा, त्वम् अदित्या अखण्डनीयायाः प्रकृते रास्ना रशना काञ्चीवदलङ्कारभूतासि। अदितिर्भगवती ते तव बिलमन्तर्हृदयं गृह्णाति। सा अदितिः पराम्बा राजराजेश्वरी उखां बुद्धिं श्रुतिं वा कृत्वाय संस्कृत्य पुत्रेभ्यः स्वोपासकेभ्यः प्रायच्छद् ददाति, लकारव्यत्ययः। हे पुत्राः, भवन्तः श्रपयान् इमामुखां बुद्धिं श्रुतिं वा अभ्यासेन परिपक्वां कुर्वन्तु। कीदृशीमुखाम्? महीं महतीं बह्वर्थां मृण्मयीं मृद्विकारामिव पाचनार्हाम् अग्नये ज्ञानाग्नये। अग्नेर्ज्ञानस्य योनिं कारणभूताम्।

दयानन्दस्तु—'हे अध्यापिके विदुषि, यतस्त्वम् अदित्यै विद्याप्रकाशनाय रास्ना दात्री असि तस्मात्ते तव सकाशाद् बिलं ब्रह्मचर्यधारणं कृत्वा दितिः पुत्रः पुत्री च विद्याग्रहणात् सा अदितिर्भवति। मृण्मयीं मृद्विकारां

योनिं मिश्रितां महीं महतीमुखां पूरकस्थालीमग्नयेऽग्निसविधे स्थापनाय पुत्रेभ्यः प्रायच्छत्। विद्यासुशिक्षाभ्यां युक्ता भूत्वोखामिति श्रपयान्नादिपाकं कुर्वन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। अदिति-विद्याप्रकाशौ रास्ना दात्रीत्यादिकमपि निर्मूलमेव। 'बिल भेदने' इति भेदनार्थस्य बिलधातोर्ब्रह्मचर्यधारणं कथमर्थः? मृद्विकार उखा मिश्रिता अमिश्रिता चेत्यप्यसङ्गतमेव। अग्नये अग्निसविधे स्थापनाय पुत्रेभ्यः प्रायच्छदित्यादिकं निरर्थकमेव, तस्य लोकसिद्धत्वात्॥ ५९॥

वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदा-दित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, वसुगण गायत्री छन्द के प्रभाव से अंगिरा के समान तुमको धूपित करें। रुद्रगण त्रिष्टुप् छन्द के प्रभाव से अंगिरा के समान तुमको धूपित करें, आदित्यगण जगती छन्द के प्रभाव से अंगिरा के समान तुमको धूपित करें। सबके हितकारक विश्वेदेव देवता अनुष्टुप् छन्द के प्रभाव से अंगिरा के समान तुमको धूपित करें। इन्द्रदेव तुमको धूप दें, वरुणदेव तुमको धूप दें, विष्णुदेव तुमको धूप दें॥ ६०॥

'सप्तभिरश्वशकृद्भिरुखां धूपयति दक्षिणाग्न्यादीप्तैरेकैकेन वसवस्त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १६।४।८)। अध्वर्युर्दक्षिणाग्निना दीप्तैरश्वस्य सप्तभिः शकृद्भिः लेण्डैरुखां प्रतिमन्त्रं धूपयति। धूपायमानमेकैकमश्वलेण्डमादाय एकैकेन मन्त्रेण उखायामन्तर्बहिश्च धूपयन् भ्रमयेदित्यर्थः। सप्तयजूंष्युखादेवत्यानि। तेषु त्रीणि ऋग्गायत्र्यः, तुर्यं सामजगती, पञ्चमसप्तमे यजुरुष्णिहौ, षष्ठं यजुरनुष्टुप्। हे उखे अष्टौ वसवो गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरस इव त्वां धूपयन्तु, अश्वशकृज्जन्येन धूपेन त्वां संस्कुर्वन्तु। रुद्रा एकादश त्रैष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरस इव त्वां धूपयन्तु। आदित्या द्वादश जागतेन छन्दसा त्वां धूपयन्तु। वैश्वानराः सर्वहिता विश्वेदेवा आनुष्टुभेन छन्दसा त्वां धूपयन्तु। इन्द्रस्त्वां धूपयतु वरुणो विष्णुश्च त्वां धूपयतु। यथा अङ्गिरसः स्वकीये चयनयागे त्वामधूपयन् तद्वद् वस्वादयस्त्वां धूपयन्तु। वसूनां गायत्रच्छन्दसा सम्बन्धेऽष्टसंख्यासादृश्यं निमित्तम्। अष्टौ हि वसवोऽष्टाक्षरा च गायत्री। रुद्रास्त्वा इत्यादीन्यप्यक्षरसंख्याद्वारेण व्याख्येयानि। चतुर्थमन्त्रे विश्वेषां देवानां सर्वदेवात्मकत्वाद् अनुष्टुभश्च सर्वच्छन्दोरूपत्वात् परस्परं सम्बन्धो विज्ञेयः। विश्वे च ते नराश्च विश्वानरास्तेषां हितकारित्वेन सम्बन्धिनो वैश्वानराः। इन्द्रवरुणविष्णूनां प्रतिनियतच्छन्दःसम्बन्धाभावात् ते केवला एवाम्नाताः। एवं शकृन्मन्त्रदेवतानां सप्तसंख्यासाम्यं ज्ञेयम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनां धूपयति। स्थेम्ने न्वेवाथो कर्मणः प्रकृततायै यद्वेव धूपयति शिर एतद्यज्ञस्य यदुखा प्राणो धूमः शीर्षंस्तत्प्राणं दधाति' (श० ६।५।३।८)। न केवलमदृष्टार्थं धूपनं किन्तु स्थेम्ने स्थिरत्वा-यापि। अथो अपि च कर्मण उखयधारणलक्षणस्य चयनस्य वा प्रकृततायै संस्कृतत्वसिद्धये। यद्वेवेत्यादिर्धूपनार्थ-वादः। उखायाः प्राधान्याद् शिरस्त्वाभिधानम्। नासारन्ध्रेण प्राणस्य सञ्चारावसरे धूमस्य तत्सञ्चारदर्शनात् प्राणत्वोपचारः। तस्माद् धूपनेन उखायां प्राणसञ्चारः क्रियते। 'अश्वशकैर्धूपयति। प्राजापत्यो वा अश्वः प्रजापतिरग्निर्नो वा आत्मात्मानꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै तद्वै शकनैव तद्धि जग्धं यातयाम तथो ह नैवाश्वं हिनस्ति नेतरान् पशून्' (श० ६।५।३।९)। धूपनकर्म च अश्वशकृद्भिरेव कर्तव्यमिति नियमे कारणमाह—प्राजापत्यो

वा अश्व इत्यादिना। 'प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्तत्परापतत् तदश्वोऽभवत्, यदश्वयत् तदश्वस्याश्वत्वम्' (तै० सं० ५।३।१२।१) इति श्रुतेः। प्रजापतेरवयवत्वेन सम्बन्धादश्वस्य प्राजापत्यत्वम्। चीयमानस्याग्नेर्विराडात्मकत्वमुक्तमेव। 'संवत्सरः प्रजापतिः' इति श्रुतेः संवत्सरमुख्याग्नेर्धार्यमाणत्वाद्वा अग्निः प्रजापतिः। अश्वशकृद्द्वारा धूपनं प्रशंसति—यद्वै शक्नैवेत्यादिना। 'शक्ना' इति पदे 'पद्न्नोमास…' (पा० सू० ६।१।६३) इत्यादिना सूत्रेण शकन्नादेशः। जग्धं भक्षितम्, अदेर्जग्धादेशः। यातयाम कालान्तरगमनम्, गतसारमित्यर्थः। यद् एवंभूतमतः स्वसम्बन्धिनमश्वमपि न हिनस्ति। अश्वसम्बन्धित्वेन एतेषां पशूनां सम्बन्धाभावादेव हिंसाप्रसङ्गः। अतोऽश्वशकृद्भिर्धूपनं प्रशस्तम्। 'सप्ताश्वशकानि भवन्ति। सप्त यजूꣳषि सप्तत्य एता देवताः सप्त शीर्षन् प्राणा यदु वा अपि बहु कृत्वः सप्त सप्त सप्तैव तच्छीर्षण्येव तत्सप्त प्राणान् दधाति' (श० ६।५।४।११)। शकृन्मन्त्रदेवतानां सप्तसंख्यासाम्यं प्रशंसति—सप्ताश्वशकानि भवन्तीत्यादिना। संख्यागतसप्तत्वस्य त्रित्वं प्रशंसति - यदु वा अपि बहु कृत्वः सप्त सप्त सप्तेति। उ अपि च। यदपि तत्र शकृद्गतमेकं सप्तकम्, मन्त्रगतं चापरम्, देवतागतं चान्यत्। एवं बहुकृत्वः सप्तसंख्यायामावृत्तायामपि सप्तसंख्यानतिरेकात् त्रिभिः सप्तभिः शीर्षण्येव उखाख्ये यज्ञशिरस्येव सप्त प्राणान् दधाति स्थापयति।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, वस्वादयो देवास्त्वा धूपयन्तु ज्ञानवैराग्यगन्धाढ्यान् कुर्वन्तु। वस्वादीनां छन्दःसम्बन्धस्तु पूर्वोक्तरीत्यैव। इन्द्रो वरुणो विष्णुश्च त्वां धूपयतु संस्करोत्विति पूर्ववदेव, देवानामनुग्रहेणैव बुद्धिशुद्धिसंस्कारादिप्रसिद्धेः।

दयानन्दस्तु ब्रह्मचारिणः सम्बोध्य धूपयन्तु विद्यासुशिक्षाभ्यां संस्कुर्वन्तु अङ्गिरस्वदित्यस्य प्राणैस्तुल्यं ब्रह्माण्डस्थशुद्धवायुविद्युद्वदिति स्वकपोलकल्पितं बहु वक्ति, तत्सर्वं निर्मूलं श्रुतिविरुद्धं च ॥ ६० ॥

अदि॑तिष्ट्वा दे॒वी वि॒श्वदे॑व्यावती पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वत् ख॑नत्ववट दे॒वानां॑ त्वा पत्नी॑र्दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वद् द॑धतूखे धि॒षणा॑स्त्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वद॒भी॑न्धतामुखे वरू॒त्रीष्ट्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वच्छ्र॑पयन्तूखे ग्नास्त्वा॑ दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वत् प॑चन्तूखे जन॑यस्त्वाच्छिन्नपत्रा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वत् प॑चन्तूखे ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—हे गर्त, समस्त देवताओं की अधिष्ठात्री, समस्त दिव्यगुण सम्पन्न देवमाता पृथ्वी के ऊपरी भाग पर अंगिरा के समान तुम्हारा खनन करें। हे उखे, देवताओं की औषधिरूप स्त्रियाँ समस्त देवगणों के साथ दीप्यमान पृथ्वी के ऊपर अंगिरा ऋषि के समान तुम्हें स्थापित करें। हे उखे, समस्त देवताओं की वाणी की अधिष्ठात्री देवी वाणी पृथ्वी के ऊपर अंगिरा के समान तुम्हें प्रदीप्त करें। हे उखे, सम्पूर्ण देवताओं से युक्त अहोरात्र के अभिमानी देवता पृथ्वी के ऊपर अंगिरा के समान तुम्हें पकावें। हे उखे, समस्त देवों की अधिष्ठात्री और वैदिक छन्दों की अधिष्ठात्री देवता पृथ्वी के ऊपर अंगिरा के समान तुम्हें पकावें। हे उखे, निरन्तर गमनशील नक्षत्राभिमानी देवियाँ सब देवताओं के साथ पृथ्वी के ऊपर अंगिरा के समान तुम्हारा पाक करें ॥ ६१ ॥

'अभ्र्या श्वभ्रं चतुरश्रं खनत्यदितिष्ट्वेति' (का० श्रौ० १६।४।९)। अषाढोखाविश्वज्योतिषां पाकाय चतुरस्रमवटमभ्र्या खनतीति सूत्रार्थः। अवटदेवत्या प्राजापत्या त्रिष्टुप्। हे अवट गर्त, अदितिर्देवी पृथिव्याः सधस्थे सहस्थाने उपरिभागे त्वा त्वां खनतु। अङ्गिरस इव, यथाङ्गिरसोऽखनंस्तद्वत्। कीदृश्यदितिः? विश्वदेव्यावती, विश्वेषां देवानां समूहो विश्वदेव्यम्, तद्विद्यते यस्याः सा। 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' (पा॰ सू० ६।३।१३१) इति दीर्घः। सर्वैर्देवैः सहिता। यद्वा विश्वेषु देवेषु साधवो विश्वदेव्याः, तेऽस्यां सन्तीति। अनेन मन्त्रेणादितेरेव खननकर्तृत्वम्। तथा च तैत्तिरीयके श्रूयते—'अदितिस्त्वेत्याहेयं वा अदितिरदित्यैवादित्यां खनत्यस्या अक्रूरङ्काराय नहि स्वः स्वꣳ हिनस्ति' (तै० सं० ५।१।७।१)। अत्रादितिशब्देनेयं भूमिरेव विवक्षिता। अवटखननमपि भूम्यामेव। ततोऽदितेः खनने कर्तृत्वे सति भूमेर्हिंसा न भवति। नहि लोके कश्चिदपि स्वयं स्वात्मानं हिनस्ति। तस्मात् खननलक्षणक्रूरकार्यकरणाभावायेत्थमदितिकर्तृत्वं सम्पद्यते। 'श्रपणमास्तीर्य यथाकृतमवदधाति' (का० श्रौ० १६।४।१०)। गर्तेऽषाढादिपाकपर्याप्तमिन्धनं प्रक्षिप्य तत्र अषाढा-उषा-विश्वज्योतिषो येन क्रमेण कृतास्तेन क्रमेण गर्ते स्थापयेत्। उखास्थापने विशेषः—'देवानां त्वेत्युखां न्युब्जाम्' (का० श्रौ० १६।४।११)। अधोमुखीमुखामषाढोत्तरतो गर्ते स्थापयतीति सूत्रार्थः। पञ्च यजूंष्युखादेवत्यानि। द्वे प्राजापत्ये त्रिष्टुभौ। विश्वदेव्यावती विश्वेषां देवानां योग्या विश्वेषु देवेषु साधवो वा विश्वदेव्याः, ते सन्ति यस्यां सा। विश्वैर्देवैः सहिता देवानां पत्नीः देवीः देवपत्न्यो देव्यो दीप्यमाना ओषधयः पृथिव्याः सधस्थे उपरि अङ्गिरस इव हे उखे, त्वां दधतु स्थापयन्तु, 'ओषधयो वा देवानां पत्न्यः' (श० ६।५।४।४) इति श्रुतेः। 'श्रपणेनावच्छाद्य दक्षिणाग्न्यग्निना दीपयति धिषणास्त्वेति' (का० श्रौ० १६।४।१२)। उखास्थापनानन्तरं विश्वज्योतिषस्तूष्णीं श्वभ्रे निधाय श्रपणैरिन्धनैः सर्वमवच्छाद्य दक्षिणाग्नेरानीतेन वह्निनोखां दीपयतीति सूत्रार्थः। हे उखे, धिषणा विद्याभिमानिन्यो देवता देव्यो विश्वेदेवयुक्ताः पृथिव्या उपरि त्वामभीन्धतां समन्ताद् दीपयन्तु। 'ञिइन्धी दीप्तौ'। 'वरूत्रीष्ट्वेतीक्षमाणो जपति' (का० श्रौ० १६।४।१४)। ततो दण्डादिना उखोपरिस्थे श्रपणे छिद्रं कृत्वा तेन छिद्रेणोखामीक्षमाणो वरूत्रीत्यादीनि त्रीणि यजूंषि स्वरेण जपेत्। ऋग्बृहती विश्वेदेवयुक्ता वरूत्रयोऽहोरात्राभिमानिन्यो देव्यः पृथिव्या उपरि अङ्गिरस इव हे उखे, त्वां श्रपयन्तु तव पक्वतां सम्पादयन्तु, 'अहोरात्राणि वै वरूत्रयोऽहोरात्रैर्हीदꣳ सर्वं वृतम्' (श० ६।५।४।६) इति श्रुतेः। ग्नास्त्वा साम जगती। विश्वेदेवयुक्ता ग्नादेव्यश्छन्दोऽभिमानिन्यो देवतास्त्वां पृथिव्याः सधस्थे पचन्तु, 'छन्दाꣳसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति' (श० ६।५।४।७) इति श्रुतेः। 'जनयस्त्वा' ऋक्पङ्क्तिः। जनयो नक्षत्राभिमानिन्यो देवताः, हे उखे, त्वां पचन्तु, 'नक्षत्राणि वै जनयः' (श० ६।५।४।८) इति श्रुतेः। कीदृश्यो जनयः? अच्छिन्नपत्राः, अच्छिन्नं विच्छेदरहितं पत्रं गमनं यासां ताः, सन्ततयायिन्य इत्यर्थः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमस्यां खनति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा इमामेवात्मानमकुर्वन् गुप्त्या आत्मात्मानं गोप्स्यतीति' (श० ६।५।४।१)। अथावटखननं विधत्ते—अथैनमस्यां खनतीति। एकमवटमस्यां भूम्यामुखास्थापनार्थं खनेत्। अवटखननं पुरावृत्तान्ताभिधानमुखेन प्रशंसति—एतद्वै देवा अबिभयुरिति। एतद् एतेन नः अस्माकं उखेष्टकादिरूपं पदार्थं नाशकारीणि रक्षांसि न हन्युरिति देवा भीता आसन्। तस्मै अवयवभूताय उखादिपदार्थाय इमां पृथिवीमेवात्मानमवयविनमकुर्वन्। एवं कुर्वतामभिप्रायमाह—आत्मानं गोप्स्यतीति। यथा आत्मात्मानं स्वयं रक्षति, तथा पृथिवी स्वावयवभूतं पदार्थमुखादिरूपं स्वयं रक्षिष्यतीति। 'तं वा अदित्या खनति। इयं वा अदितिर्नो वा आत्मात्मानꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै यदन्यया देवतया खनेद्धिꣳस्याद्धैनम्' (श० ६।५।४।१२)। अदित्या अदितिदेवतात्मकेन

मन्त्रेणेत्यर्थः। येयमदितिर्देवता सेयं पृथिवी खलु, आदत्ते सर्वमित्यदितिरिति व्युत्पत्तेः। यथा पादतललग्नकण्टकाद्युद्धरणे स्वयं प्रवृत्तश्चेन्न हिनस्ति, अन्यश्चेद् हिंस्यादेवमिति भावः। 'अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती। पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत्खनत्ववटेत्यवटो हैष देवत्राऽत्र सा वैणव्यभ्रिरुत्सीदति चतुःस्रक्तिरेष कूपो भवति चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्यः खनत्यथ पचनमवधायाषाढामवदधाति तूष्णीमेव ता७ँ हि पूर्वां करोति' (श० ६।५।४।३)। अयमर्थः—हे अवट, त्वा अदितिः अखण्डनीया देवमाता खनतु। कीदृशी सा? विश्वदेव्यावती। विश्वेभ्यो देवेभ्यो हितं कर्म विश्वदेव्यम्, तदस्या अस्तीति विश्वदेव्यावती। 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' (पा० सू० ६।३।१३१) इति दीर्घः। किं वत्? अङ्गिरस्वत्, अङ्गिरसो यथा तथा। कुत्र? पृथिव्याः सधस्थे सहस्थाने, उपरीत्यर्थः। इतिशब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतकः। अवटो हैष देवत्रेति। एष अवटो देवत्रा देवमग्निं प्रति साधुः, इष्टकोखारक्षकत्वात्। अवटखननसाधनम् उखार्थमृत्खननार्थं प्रागाहृता वैणव्यभ्रिरेवेत्याह—अथ सा वैणव्यभ्रिरुत्सीदतीति। अत्र अवटखनने सा या पूर्वमुपयुक्ता वैणवी वेणुविकारभूता अभ्रिः, सा उत्सीदति विनश्यति, अर्थात् समाप्तप्रयोजना भवति, खननार्थमाहृतायाः प्रतिपत्तिर्भवतीत्यर्थः। अवटस्य प्रकारविशेषमाह—चतुःस्रक्तिरेष कूपो भवतीति। स्रक्तयोऽश्रयः। प्रक्षेप्तव्यबहुत्वादवटबहुत्वप्रसक्तावुच्यते—एष कूप इति। एकस्मिन्नेव चतुरस्रे श्वभ्रे आषाढोखादीनां पाक इत्यर्थः। एतद्ब्राह्मणानुसारीण्येव पूर्वोक्तानि सूत्राणि। 'श्रपणमास्तीर्य...' (का० श्रौ० १६।४।१०) इत्यादिसूत्रोक्तं विधत्ते—पचनमित्यादिना। पच्यतेऽनेनेति पचनं तृणादिकं तद् अवधाय अवटे आस्तीर्य तूष्णीमेवादौ निष्पादितत्वात् प्रथममषाढामेव तूष्णीं स्थापयेत्।

'अथोखामवदधाति। देवानां त्वा पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वद्दधतूख इति देवाना७ँ हैतामग्रे पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वद्दधुस्ताभिरेवैनामेतद्दधाति ता ह ता ओषधय एवौषधयो वै देवानां पत्न्य ओषधिभिर्हीद७ँ सर्व७ँ हितमोषधिभिरेवैनामेतद्दधात्यथ विश्वज्योतिषोऽवदधाति तूष्णीमेवाथ पचनमवधायाभीन्धे' (श० ६।५।४।४)। अथोखामवदधातीति पश्चादुखां देवानामिति मन्त्रेण अवाङ्मुखीमवदध्यात्। मन्त्रं व्याचष्टे—देवानां हैतामग्र इति। या देवपत्न्य इन्द्राणी, अग्नायी, आश्विनी, राट् इत्याद्याः (नि० १२।४६), पुरा उखामवटे स्थापितवत्यः, अतोऽनेन मन्त्रेण ताभिरेव स्थापितवान् भवति। देवपत्नीशब्दस्य ओषधयोऽर्थ इति सोपपत्तिकं वदन् तेन मन्त्रेणोपधानं प्रशंसति—ता ह ता ओषधय एवेति। न त्वन्या इत्योषध्यात्मना देवपत्नीस्तुतिः। तर्ह्योषधीनां निधानशक्तिः कुत इत्यत आह—ओषधीभिर्हीदं सर्वं हितमिति। व्रीहियवादिरूपाणामोषधीनामस्य कृत्स्नस्य जगतो धारकत्वं प्रसिद्धमिति। निर्माणक्रमप्राप्तानां विश्वज्योतिषामवधानं विधत्ते—अथ पचनमित्यादिना। दीपनं दक्षिणाग्निनैव, 'दक्षिणाग्न्यग्निना दीपयति धिषणास्त्वेति' (का० श्रौ० १६।४।१२) इति सूत्रात्।

'धिषणास्त्वा देवीः। विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वदभीन्धतामुख इति धिषणा हैतामग्रे देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वदभीधिरे ताभिरेवैनामेतदभीन्धे सा ह सा वागेव वाग्वै धिषणा वाचा हीद७ँ सर्वमिद्धं वाचैवैनामेतदभीन्धेऽथैतानि त्रीणि यजू७ँषीक्षमाण एव जपति' (श० ६।५।४।५)। धिषणाशब्दस्य विवक्षितमर्थं ब्रुवन् तस्याः प्रकृतकर्मयोग्यतासमर्थनाय समिन्धनप्रसिद्धिमाह—सा ह सा वागेवेति। या सा खलु धिषणा सा प्रसिद्धा वागेव नान्या, वाचा व्यवहाराभावे कस्यापि वस्तुनोऽभिव्यक्तेरभावाद् वाचा हीदं सर्वमिद्धमित्युक्तम्। इद्धं दीपितं प्रकाशितमित्यर्थः। 'वरूत्रीष्ट्वेतीक्षमाणो जपति' (का० श्रौ० १६।४।१४) इति सूत्रकृतोक्तं विधत्ते—अथैतानि त्रीणीत्यादिना। वरूत्रीष्ट्वा, ग्नास्त्वा, जनयस्त्वा इति त्रीणि। वरूत्रीः,

वरूत्रयः। 'ग्रसिते....' (पा० सू० ७।२।३४) इत्यादिना निपातितः। अर्थवादे बहुवचनान्तत्वेन निर्देशाद् एकेन श्रपणं द्वाभ्यां पचनं यद्यपि वर्णितम्, तथापि पाकश्रपणयोरग्निकर्तव्यत्वेन स्वस्यानुकूलप्रयत्नमन्तरेण स्वकर्तव्याभावाद् ईक्षणपूर्वको जप एव कर्तव्य इत्येवकारस्याभिप्रायः। 'वरूत्रीष्ट्वा देवीः। विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वच्छ्रपयन्तूख इति वरूत्रीर्हैतामग्रे देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वच्छ्रपयाञ्चक्रुस्ताभिरेवैनामेतच्छ्रपयति तानि ह तान्यहोरात्राण्येवाहोरात्राणि वै वरूत्रयोऽहोरात्रैर्हीदꣳ सर्वं वृतमहोरात्रैरेवैनामेतच्छ्रपयति' (श० ६।५।४।६)। 'जनयस्त्वाऽच्छिन्नपत्रा देवीः। ....तानि ह तानि नक्षत्राण्येव नक्षत्राणि वै जनयो ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यन्ति तेषामेतानि ज्योतीꣳषि नक्षत्रैरेवैनामेतत् पचति' (श० ६।५।४।८); तृतीयं यजुरनूद्य व्याचष्टे— जनयस्त्वेति। जायन्ते जनाः पुण्यकृतो नक्षत्ररूपेणेति जनयो नक्षत्राणि। तानि च अच्छिन्नपत्राः, अच्छिन्नपतनसाधनयुक्तानीत्यर्थः। नहि तानि सुकृतक्षयादर्वाक् पतन्ति। जनिशब्दार्थमाह—तानि ह तानि नक्षत्राण्येवेति। नक्ष्यन्ते प्राप्यन्ते सुकृतिभिरिति नक्षत्राणि। 'नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः' (नि० ३।२०) इति निरुक्तम्। तेषां स्वर्गं यतां यान्येतानि ज्योतींषि तानि नक्षत्राणि। श्रपणं पाकक्रियासामान्यम्, पचनं पाकनिर्वृत्तिरिति विवेकः।

अध्यात्मपक्षे—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ० ३।१४।१) इति रीत्या अवटादीनामपि ब्रह्मरूपत्वात् श्रौतव्याख्यानेऽपि तेन तेन रूपेण ब्रह्मैव प्रतिपाद्यते स्तूयते च। प्रकारान्तरेणापि अवतीति अवटः, अवतेरटचि रूपम्। हे ब्रह्मात्मज्ञान, विश्वदेव्यावती विश्वेषां देवानां समूहो यस्यां विद्यते सा सर्वदेवतेजोरूपा, सर्वदेवस्वरूपा अदितिः अखण्डनीया देवी दीव्यमाना, 'ततः समस्तदेवानां तेजोराशिसमुद्भवाम्। तां विलोक्य मुदं प्रापुरमरा महिषार्दिताः॥' इति सप्तशतीवचनात्। पृथिव्याः सधस्थे सहस्थाने त्वां खनतु खनति। लकारव्यत्ययः। वेदादिशास्त्रपर्वतात्मिकां भूमिं खनित्वा प्रादुर्भावयतीत्यर्थः। देवानां पूर्वोक्तानां पत्नीः पत्न्य इन्द्राणी-अग्नायी-आश्विनी-राट्प्रभृतयस्त्वां दधतु स्थापयन्तु। उत्पन्नमपि ज्ञानमिन्द्रियाद्यनिग्रहात् क्षरति। देवानामनुग्रहात्मिकाभिः शक्तिभिरेव तत्प्रतिष्ठां लभते। विश्वदेवयुक्ता धिषणा वागभिमानिन्यो देव्यो वाग्देवतास्त्वामभीन्धन्तां दीपयन्ति। ज्ञानस्य सर्वविधसंशयविपर्ययादिराहित्यमेवाभीन्धनम्। तच्च वाग्देवतानुग्रहेण सिद्ध्यति। हे उखे बुद्धे, विश्वेदेवयुक्ता अहोरात्राभिमानिन्यो वरूत्रयस्त्वां श्रपयन्ति परिपक्वां कुर्वन्ति, परिपाकाय नैरन्तर्यसम्मानाभ्यां सार्धं बह्वहोरात्रलक्षणस्य दीर्घकालस्याप्यपेक्षितत्वात्। 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' (यो० सू० १।१४)। हे उखे बुद्धे, विश्वदेवयुक्ता ग्नादेव्यश्छन्दोऽभिमानिन्यो देवतास्त्वां पचन्तु। हे उखे, विश्वेदेवयुक्ता जनयो नक्षत्राभिमानिन्यो देवता अच्छिन्नपत्रा अच्छिन्नं पत्रं पतनं गमनं यासां ताः सन्ततयायिन्यस्त्वां पचन्तु। नहि त्रिविधानां देवतानामनुग्रहेण विना ज्ञानपरिपाकः। पूर्ववदेव पाकानुगुणक्रियासामान्यं श्रपणम्, पचनं तु पाकनिर्वृत्तिरेव।

दयानन्दस्तु—'हे अवट शिशो अपरिभाषित अनिन्दित, विश्वदेव्यावती विश्वेषु देवेषु विद्वत्सु भवं विज्ञानं प्रशस्तं विद्यते यस्यां सा अदितिर् अध्यापिका देवी विदुषी पृथिव्याः सधस्थे भूमेः सहस्थाने अङ्गिरस्वद् अग्निवत् खनतु। भूमिं खनित्वा कूपजलवद्विद्यायुक्तान्निष्पादयतु। हे उखे कन्ये, देवानां पत्नी विश्वदेव्यावतीर्देवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वद् दधतु। हे उखे, विश्वदेव्यावतीर्धिषणादेवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वदभीन्धताम्। हे उखे, विश्वदेव्यावतीः देवीः ग्नाः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वत् पचन्तु। हे उखे, विश्वदेव्यावतीरच्छिन्नपत्रा जनयो देवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वत् पचन्तु। हे उखे, त्वमेताभ्यः सर्वाभ्यो ब्रह्मचर्येण विद्यां गृहाण' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनानां निर्मूलत्वात्। अदितिरध्यापिकेत्यपि निर्मूलम्।

यत्तु अज्ञानमवद्यतीति व्युत्पत्त्या तद्युक्तमिति तन्न, तथात्वे चेष्टावत्त्वेन देवदत्तस्यापि घटपदार्थत्वापत्तेः। अत एव रूढिर्योगमपहरतीति प्रसिद्धिः। अदितिर्देवमाता तु प्रसिद्धा। देवपदस्य विद्वांसो मनुष्या अर्थ इति तु नैकधा खण्डितमेव, जातिविशेषस्य देवत्वोक्तेः। अवट इत्यपि गर्तार्थकः शब्दः, 'अवटे ये निधीयन्ते तेषां लोकाः सनातनाः' (अरण्य० ४।२२) इति वाल्मीक्युक्तेः, शतपथेऽपि—'अथैनमस्यां खनति' (श० ६।५।४।१) इति श्रुत्या खननीयस्य गर्तस्यैवावटपदार्थत्वात्, मूलेऽपि खनत्ववटेति खनतुक्रियाप्रयोगाच्च। भूमिं खनित्वा कूपजलवद्विद्यायुक्तान्निष्पादयत्विति कथं कया वृत्त्या खनतेरर्थः ? इत्यस्यासमाहितत्वात्। नहि शाब्दनये स्वैरित्वं कामचारित्वं युक्तम्। एवमेव धिषणोखादिशब्दानां यथेष्टार्थकरणे वेदार्थबाध एव स्यात्। शतपथे चोखाषाढाविश्वज्योतिषादिपाकाय गर्तखननादौ मन्त्रा इमे विनियुक्ताः, श्रुत्या च तदानुगुण्येन व्याख्याता अपि। तदतिक्रम्य यत्किञ्चिदर्थकरणमुपहासायैव। तत्र 'ओषधयो वै देवपत्न्यः, वाग्वै धिषणा, अहोरात्राणि वै वरूत्र्यः, छन्दांसि वै ग्नाः, नक्षत्राणि वै जनयः' इत्यादिश्रुतिभिर्मन्त्रगतानि पदानि व्याख्यातानि। तद्विरुद्धोऽर्थोऽसङ्गत एव ॥ ६१ ॥

मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि। द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—दीप्तिमान्, मनुष्यों का पोषण करने वाले मित्र देवता द्वारा किये गये रक्षा कार्यों की, जो कि सनातन यशोरूप से प्रसिद्ध है विचित्र है, तथा अत्यन्त श्रवण के योग्य है, हम स्तुति करते हैं ॥ ६२ ॥

'आचरति मित्रस्येति' (का० श्रौ० १६।४।१५)। आचरति प्रक्षिपति श्रपणमिन्धनं मित्रस्येति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। मित्रदेवत्या गायत्री विश्वामित्रदृष्टा। मित्रस्यादित्यस्य देवस्य द्योतमानस्य अवो रक्षणम्, सानसि अभीष्टफलदानप्रवणम्, 'सानसि....' (उणादि ४।१०८) इति निपातनात् 'षणु दाने' इत्यस्य रूपम्। सानसि पुरातनमित्युव्वटाचार्यः। द्युम्नं यशोऽन्नं वा वयं स्तुम इति शेषः। अथवा कीदृशं द्युम्नम् ? अवो रक्षणं यदनुसन्धानमात्रेण भक्तानां रक्षणं भवतीत्यर्थः। पुनः कीदृशम् ? चित्रश्रवस्तमं चित्रं विचित्रं श्रूयत इति चित्रश्रवः, अनेकैः श्रूयमाणत्वात्, अतिशयितं चित्रश्रव इति चित्रश्रवस्तमम् अतिशयितं श्रवणीयं विचित्रं यशः, स्तुम इति शेषः। कीदृशस्य मित्रस्य ? चर्षणीधृतः चर्षणयो मनुष्याः, तान् धरतीति चर्षणीधृत् तस्य। तेषां धृद् इति वा। 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।३।११४) इत्यधिकारे 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः, मनुष्याणां धारणेऽधिकृतस्येति यावत्। यद्वा यजमानस्य अवो रक्षणं द्युम्नं यशश्चेष्टं च साधयत्विति शेषः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ मित्रस्य चर्षणीधृत इति। मैत्रेण यजुषोपन्याचरति यावत्कियच्चोपन्याचरति न वै मित्रं कञ्चन हिनस्ति न मित्रं कश्चन हिनस्ति तथो हैष एतां न हिनस्ति नो एतमेषा तां दिवैवोपवपेद्दिवोद्वपेदहर्ह्याग्नेयम्' (श० ६।५।४।१०)। उखायाः समन्त्रकमुपावहरणं विधाय प्रशंसति—अथ मित्रस्येति। लोके मित्रं मित्रभूतः पुमान् न कञ्चन हिनस्ति मित्रत्वादेव। मित्रमपि न कश्चन हिनस्ति मित्रत्वादेव। तथो तथा च सति मैत्रेण मन्त्रेण नितरामुपचरणीयस्य पुनस्तृणप्रक्षेपाद्युपचारे सत्येष यष्टा एतामुखां मित्रत्वादेव न हिनस्ति नो नैव एतमुपचरन्तम् एषा उखा मामयं दहतीति क्रुद्धा सती न हिनस्ति। तस्याः प्रक्षेपोत्क्षेपणयोः कालनियममाह—तां दिवैवोपवपेद् दिवोद्वपेदिति। उपवापोऽवटे प्रक्षेपः, उद्वाप स्ततः ऊर्ध्वं नयनम्। अहर्ह्याग्नेयमित्यग्नेः सूर्यस्य तेजस एकत्वात्, अह्नोऽग्नेरभिभावकत्वाच्च।

अध्यात्मपक्षे—मित्रस्य परमात्मनः, 'इन्द्रं मित्रं वरुण....' (ऋ० वे० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। चर्षणीधृतो मनुष्योपलक्षितानां सर्वप्राणिनां धारयितुः, देवस्य द्योतमानस्य स्वप्रकाशस्य सानसि सनातनं सर्वसम्भजनीयं वा द्युम्नं यशः, अवो रक्षकमस्ति, तदनुसन्धानेन मोक्षपदप्राप्तिसम्भवात्। कीदृशं तत्? चित्रश्रवस्तमम् अतिशयितं श्रवः श्रवणीयमिति श्रवस्तमम्, चित्रमाश्चर्यभूतं च तत् श्रवस्तमं चेति तथोक्तम्। यद्वा चित्रं श्रवो यशो भक्तानां यस्मात् तत् चित्रश्रवः, अतिशयितं चित्रश्रव इति चित्रश्रवस्तमम्।

दयानन्दस्तु—'हे मित्र, त्वं चर्षणीधृतो सुशिक्षया मनुष्याणां धर्तुर्मित्रस्य सुहृदो देवस्य कमनीयस्य पत्युश्चित्रश्रवस्तमं चित्राण्याश्चर्यभूतानि श्रवांस्यन्नादीनि यस्मात् तत्, सानसि सम्भक्तव्यं पुराणं द्युम्नं धनं अव रक्ष' इति, तदपि न युक्तम्, समाने धार्यधारकभावानुपपत्तेः। नहि शिक्षया वैशिष्ट्यम्, अन्येषामपि तत्सम्भवात्। न च मित्रस्य कमनीयस्य सर्वस्य पतित्वमपि सम्भवति, अन्नादिरक्षणे रागतः प्रवृत्तौ विधानायोगात्, श्रुतिविरोधाच्च॥ ६२॥

दे॒वस्त्वा॑ सवि॒तोद्व॑पतु सु॒पा॒णिः स्व॑ङ्गु॒रिः सु॑बा॒हुरु॒त शक्त्या॑। अव्य॑थमाना पृथि॒व्यामाशा॒ दिश॒ आपृ॑ण॥ ६३॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, सुन्दर हाथ, सुन्दर अँगुली और सुन्दर भुजा वाले दिव्यगुणयुक्त सबके प्रेरक सविता देवता अपनी बुद्धिरूप शक्ति से तुमको भस्म से प्रकाशित करें। हे उखे, व्यथा को न प्राप्त होने वाली अचल पृथ्वी में स्थित हुई तुम पूर्व आदि दिशाओं और आग्नेयी आदि विदिशाओं को आहुति के रस से पूर्ण करो॥ ६३॥

'उद्वपति श्रपणम्, देवस्त्वेत्युखाम्' (का० श्रौ० १६।४।१८-१९)। भस्मीभूतमिन्धनादिकं पाकानन्तरं सवितेति मन्त्रेण पराकरोति। सवितृदेवत्या बृहती। हे उखे, सविता सर्वस्य प्रेरको देवः शक्त्या स्वसामर्थ्येन त्वामुद्वपतु श्रपणाच्छादनात् प्रकाशीकरोतु। उतापि बुद्ध्या सविता देवस्त्वामुद्वपतु। कीदृशः सविता? सुपाणिः शोभनौ पाणी यस्य सः, स्वङ्गुरिः शोभना अङ्गुलयो यस्य सः। 'वाल-मूल-लघ्वङ्गुलीनां वा लो रमापद्यत इति वक्तव्यम्' (पा० सू० ८।२।१८-२) इति विकल्पेन लकारस्य रेफः। सुबाहुः शोभनौ बाहू यस्य स सुबाहुः सुभुजः। 'उत्तानां करोत्यव्यथमानेति' (का० श्रौ० १६।४।२०)। भस्मीभूतं श्रपणमपाकृत्याषाढां बहिर्निष्काश्योखामूर्ध्वमुखीं करोतीति सूत्रार्थः। हे उखे, त्वं सवित्रा उद्धृता सती अव्यथमाना व्यथामनाप्नुवन्ती अविचलन्ती पृथिव्यां भूमौ स्थिता सती इमाः परिदृश्यमाना आशाः प्राच्यवाच्यादिदिश आग्नेय्यादिविदिशश्च, आपृण आपूरय, आहुतिरसेन सुखेन वेति शेषः।

तत्र ब्राह्मणम्—'ताꣳ सावित्रेण यजुषोद्वपति। सविता वै प्रसविता सवितृप्रसूत एवैनामेतदुद्वपति देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्येति सर्वमु ह्येतत्सविता' (श० ६।५।४।११)। उद्वापे मन्त्रं विधास्यन् सावित्रमाह—तां सावित्रेणेति। सर्वमु ह्येतत् सवितेत्येतद् सर्वं सुपाण्यादिकं सविता एव, न देवतान्तरमित्यर्थः, महाभाग्याद्देवतायाः। 'अथैनां पर्यावर्तयति। अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिश आपृणेत्यव्यथमाना त्वं पृथिव्यामाशा दिशो रसेनापूरयेत्येतत्' (श० ६।५।४।१२)। उखामुत्तानां करोत्यव्यथमानेति यदुक्तं सूत्रकारेण तत्रेयमेव श्रुतिर्मूलम्। तदिदं समन्त्रकं पर्यावर्तनं विधत्ते—अथैनां पर्यावर्तयतीति। पर्यावर्तनमूर्ध्वाभिमुखीकरणम्। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। केनापृणेत्यपेक्षायां रसेनापूरयेत्येतत्।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, सविता सर्वप्रेरकः परमेश्वरो देवः स्वप्रकाशः शक्त्या स्वकीययाऽचिन्त्यशक्त्या अद्भुतसामर्थ्येनोत कृपया च त्वा त्वां उद् ऊर्ध्वे सर्वप्रपञ्चातीते परमात्मनि वपतु प्रतिष्ठापयतु, अज्ञानाहङ्काराच्छादनादिकं पराकृत्य त्वां शुद्धब्रह्माकाराकारितां करोतु। कीदृशः स सविता? सुपाणिः शोभनहस्तः सुबाहुः सुभुजः स्वङ्गुरिः शोभनाङ्गुलिः। एतावता यथा निर्गुणो निराकारः परमेश्वरस्तथैव सगुणः साकारश्चेति निगदव्याख्यातम्। हे बुद्धे, एवं भगवता ऊर्ध्वे ब्रह्मणि प्रतिष्ठापिता सती विषयराहित्येन व्यथामनाप्नुवन्ती त्वं पृथिव्यां जगत्यां ब्रह्माण्डभूमौ आशाः प्राच्यादिदिश आग्नेय्यादिविदिशश्च ब्रह्मानन्देन यशसा च आपृण आपूरयेति।

दयानन्दस्तु 'हे स्त्रि, सुबाहुः सुपाणिः स्वङ्गुरिः सवितेव देवः पतिः शक्त्या पृथिव्यां पृथिवीस्थायां त्वा त्वामुत शक्त्या सामर्थ्येन सह वर्तमानो वर्तमाना अव्यथमाना अभीता अचलिता सती त्वं पत्युः सेवनेन स्वकीया आशा यशसा दिशश्च आपृण' इति, तदपि तुच्छम्, सर्ववेदेषु स्त्रीपुरुषसम्बन्धादिलौकिकार्थस्यैव बोधने तेषामल्पप्रयोजनत्वापत्तेः। नह्युद्वापस्य गर्भाधानमर्थः सम्भवति, आवापोद्वापयोरर्थवैलक्षण्यात्। नहि सवितेति शब्दो मनुष्यसामान्ये प्रवर्तते, मुख्यार्थत्यागे मानाभावात् ॥ ६३ ॥

उत्थाय॑ बृह॒ती भ॒वोदु॑ तिष्ठ ध्रु॒वा त्वम्। मित्रै॒तां त॑ उ॒खां परि॑द॒दाम्यभि॑त्त्या ए॒षा मा भे॑दि ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, तुम इस पाक गर्त से बाहर निकलकर और उचित सत्कार पाकर स्थिर रूप से अपने कर्म में लग जाओ। हे मित्र देवता, तुम प्राणियों का हित करने वाले हो, इस उखा की रक्षा के लिये मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। आपकी सौंपी हुई यह उखा किसी प्रकार विदीर्ण न हो, यथावत् रहे ॥ ६४ ॥

'उद्यच्छत्युत्थायेति, परिगृह्य पात्रे करोति मित्रैतां त इति' (का० श्रौ० १६।४।२१-२२)। तामुखां हस्तद्वयेनोत्थाप्य सर्वतो गृहीत्वा पाकस्थानादवटादूर्ध्वमुत्पाटयेदिति प्रथमसूत्रार्थः। बृहती। पूर्वोऽर्धर्च उखादेवत्यः, उत्तरोऽर्धर्चो मित्रदेवत्यः। हे उखे, त्वमुद्यच्छ एतस्मादवटात् पाकगर्ताद् बहिरागत्य बृहती महती भव। तत उदुत्तिष्ठ प्रवर्तस्व स्वकीये कर्मणि। यतस्त्वं ध्रुवा स्थिरासि स्वभावतः। हस्तगृहीतामुखामुत्तरतः पूर्वस्थापिते कस्मिंश्चित् पात्रे स्थापयतीति द्वितीयसूत्रार्थः। ततो विश्वज्योतिषां तूष्णीमुद्वपनम्। हे मित्र वायो सर्वप्राणिहितैषिन् देव, एतामुखां ते तुभ्यं परिददामि परित्राणाय प्रयच्छामि। परिदानं रक्षणाय दानम्। किमर्थम्? अभित्त्यै अभेदनाय। भेदनं भित्तिः, न भित्तिरभित्तिस्तस्यै। एषा उखा त्वया गृहीता मा भेदि मा भिद्यतां मा विदीर्यताम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनामुद्यच्छति। उत्थाय बृहती भवेत्युत्थाय हीमे लोका बृहन्त उदु तिष्ठ ध्रुवा त्वमित्युदु तिष्ठ स्थिरा त्वं प्रतिष्ठितेत्येतत्' (श० ६।५।४।१३)। उखाया गर्तादुद्धरणं समन्त्रकं विधत्ते—अथैनामुद्यच्छतीति। उद्यमनमूर्ध्वधारणम्। हे उखे उद्गत्य प्रथिता भव। नह्यनुत्थितायाः प्रथनमुपपद्यते। 'तां परिगृह्य निदधाति। मित्रैतां त उखां परिददाम्यभित्त्या एषा मा भेदीत्ययं वै वायुर्मित्रो योऽयं पवते तस्मा एवैनामेतत्परिददाति गुप्त्यै ते हेमे लोका मित्रगुप्तास्तस्मादेषां लोकानां न किञ्चन मीयते' (श० ६।५।४।१४)। क्षीरासेचनार्थं पात्रे स्थापनं विधत्ते तां परिगृह्येति। निदधाति स्थापयेत्, पात्रे इति शेषः। मित्रशब्दस्यात्र

समीहितमर्थमाह—अयं वै वायुर्मित्र इति। योऽयं पवते सततं वाति। पवतिर्गतिकर्मा (निघ० २।१४।१०८)। ते हेमे लोका मित्रगुप्ता इति। लोकत्रयात्मकोखापरिदानेनेदानीमपि त्रयो लोका वायुना गुप्ता धृता अविचलिता वर्तन्ते। तस्मादेषां लोकानां मध्ये न किञ्चन मीयते हिंस्यते।

अध्यात्मपक्षे— हे उखे बुद्धे, उत्थाय अनात्मविषयाद् व्यावृत्य बृहती बृहद् ब्रह्मविषयत्वेन तदधीन-निरूपणा बुद्धिरपि बृहती महती भव। तत उदुत्तिष्ठ स्वकर्मणि प्रपञ्चोपशमनलक्षणे प्रवर्तस्व। हे मित्र परमेश्वर सर्वभूतसुहृत्, एतामुखामुखामिवोखां बुद्धिं ज्ञानाग्निधारणसाम्यात् ते तुभ्यं परिदद्मि। 'मयि बुद्धिं निवेशय' (भ० गी० १२।८) इति गीतोक्तेः। निष्ठादार्ढ्यसंरक्षणाय अभित्त्यै अभेदनाय। अनात्मभेदविषत्वेनैव बुद्धेर्भेदः। अज्ञानाहङ्कारादिनिराकरणेन भेदाभावादभेदब्रह्मविषया सती भवत्येवाभित्त्यै बुद्धिः।

दयानन्दस्तु—'हे विदुषि कन्ये, त्वं ध्रुवा मङ्गलकार्येषु कृतनिश्चया बृहती महापुरुषार्थयुक्ता भव विवाहायोत्तिष्ठ। उत्थायैतं पतिं स्वीकुरु। हे मित्र सुहृत्! एतामुखां प्राप्तव्यां कन्याम् अभित्त्यै भेदराहित्याय परिददामि सर्वतो ददामि। उ त्वयैषा प्रत्यक्षप्राप्ता पत्नी मा भेदि भिद्यताम्' इति, तदपि निर्मूलम्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। बृहती महापुरुषार्थयुक्ता, ध्रुवा विवाहाय कृतनिश्चया, उखां कन्याम् इत्यादिकं निर्मूलमेव। द्वयोर्भेदराहित्यमपि कथं सम्भवति? श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ ६४ ॥

वसवस्त्वाच्छृन्दन्तु गायत्रेण च्छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाच्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन च्छन्द-साङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाच्छृन्दन्तु जागतेन च्छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आच्छृन्दन्त्वानुष्टुभेन च्छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, वसु नामक देवगण गायत्री छन्द के प्रभाव से अङ्गिरा के समान तुम्हें आज दुग्ध से सिंचित करें। हे उखे, रुद्रगण त्रिष्टुप् छन्द के प्रभाव से अङ्गिरा के समान तुम्हें सिंचित करें। हे उखे, आदित्यगण जगती छन्द के प्रभाव से अङ्गिरा के समान तुम्हें सिंचित करें। हे उखे, विश्व के हितकारी विश्वेदेव अनुष्टुप् छन्द के प्रभाव से अङ्गिरा के समान तुम्हें सिंचित करें ॥ ६५ ॥

'अजापयसाऽऽसिञ्चति वसवस्त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १६।४।२३)। उखायामजादुग्धं चतुर्वारं चतुर्मन्त्रैरवनयेदिति सूत्रार्थः। उखादेवत्यानि चत्वारि यजूंषि, आद्या ऋग्गायत्री। हे उखे, त्वां वसवो देवा अष्टसंख्याका अङ्गिरस इव आच्छृन्दन्तु आसिञ्चन्तु। कीदृशाः? गायत्रेण छन्दसा सहिताः। 'उच्छृदिर्दीप्तिदेवनयोः' रुधादिः, अत्र तु सेचनार्थः। रुद्रा इति द्वितीया प्राजापत्यानुष्टुप्। रुद्रा एकादशसंख्याका देवास्त्वा त्वां त्रैष्टुभेन छन्दसा आच्छृन्दन्तु। आदित्या इति तृतीया ऋग्गायत्री। आदित्या द्वादशसंख्याका देवास्त्वां जागतेन छन्दसा आच्छृन्दन्तु। विश्वे इति चतुर्थी सामजगती। विश्वे सर्वे वैश्वानरा विश्वेभ्यो नरेभ्यो हिता आनुष्टुभेन छन्दसा त्वामाच्छृन्दन्तु। शेषं स्पष्टम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनामाच्छृणत्ति। स्थेम्ने न्वेवाथो कर्मणः प्रकृततायै यद्वेवाच्छृणत्ति शिर एतद्यज्ञस्य यदुखा प्राणः पयः शीर्षंस्तत्प्राणं दधात्यथो योषा वा उखा योषायां तत्पयो दधाति तस्माद्योषायां पयः' (श० ६।५।४।१५)। तस्यामुखायां पयआसेचनं विधाय स्तौति—अथैनामिति। स्थेम्ने स्थिरत्वाय, प्रकृततायै

संस्कृतत्वसिद्धये। प्राधान्यादुखायाः शिरस्त्वव्यवहारः। पयसो बलकरत्वात् प्राणत्वव्यपदेशः। उखायां पयःसेचनेन यज्ञस्य मूर्ध्नि प्राणमादधाति। पयोयोग्यत्वमिदानीन्तनप्रसिद्धया समर्थयते—अथो योषा वा उखेति। स्त्रीलिङ्गत्वादुखाया योषात्वम्। तेन योषायां तत्पयो दधाति। रेतोवर्धकत्वात् पयसोऽत्र रेतस्त्वं विवक्षितम्। योषारूपायामुखायां पयःसेचनेन रेतःसेचनं सम्पद्यत इत्यर्थः। 'अजायै पयसाच्छृणत्ति। प्रजापतेर्वै शोकादजाः समभवन् प्रजापतिरग्निर्नो वा आत्मात्मानꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै यद्वेवाजाया अजा ह सर्वा ओषधीरत्ति सर्वासामेवैनामेतदोषधीनाꣳ रसेनाच्छृणत्ति' (श० ६।५।४।१६)। पयस आजत्वं विधाय स्तौति—अजायै पयसेति। प्रजापतेः शोकादजोत्पत्तिः। चीयमानस्याग्नेः प्रजापतित्वं प्रागुक्तमेव। नो वा आत्मात्मानं हिनस्ति, तेनाजायाः पयसाच्छृणत्ति। प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेवेति। 'वसवस्त्वाच्छृन्दन्तु। गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाच्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाच्छृन्दन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आच्छृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदित्येताभिरेवैनामेतद्देवताभिराच्छृणत्ति स वै याभिरेव देवताभिः करोति ताभिर्धूपयति ताभिराच्छृणत्ति यो वाव कर्म करोति स एव तस्योपचारं वेद तस्माद्याभिरेव देवताभिः करोति ताभिर्धूपयति ताभिराच्छृणत्ति' (श० ६।५।४।१७)। तत्र मन्त्रानाह—वसवस्त्वेत्यादिना। अत्रासेचनमन्त्रेषु वस्वादयो देवा उक्ताः, निर्माणमन्त्रेषु धूपनमन्त्रेषु च त एवोक्ताः। तद्देवतैक्यं प्रशंसति—स वै याभिरेवेत्यादिना। यथा लोके तक्षादिः प्रसादनिर्माणादिकर्म करोति, स एव तद्दाढ्यर्थमुपचारं शङ्कुं प्रति दार्वादिस्थापनलक्षणमुपचारजातं जानाति। अतो युक्तमेवोक्तं यैरेव कृतं तैरेव धूपनासेचनोपचरणमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, वसवो देवास्त्वां गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरस इव आच्छन्दन्तु दीपयन्तु। रुद्रा देवास्त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वां छृन्दन्तु। आदित्या देवा जागतेन विश्वेदेवा वैश्वानरा आनुष्टुभेन छन्दसा त्वां छृन्दन्तु। 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इति ब्रह्मसूत्रेण ब्रह्मसाक्षात्कारे सर्वेषां वेदानां वेदोक्तकर्मणां वेदोक्तदेवतानां चोपयोग उक्तः। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० २।१५) इति मन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि पुरुष वा, वसव आदिमा विद्वांसो गायत्रेण गायन्ति सद्विद्या येन तेन वेदस्थविभक्तेन स्तोत्रेण छन्दसा अङ्गिरस्वदग्निवदाच्छृन्दन्तु आसमन्तात् प्रदीप्यन्तां त्वां स्त्रियं च पुरुषं च। रुद्रा मध्यमा विद्वांसस्त्रीणि कर्मोपासनज्ञानानि स्तोभन्ते स्थिरीकुर्वन्ति येन तेन त्वामङ्गिरस्वत् प्राणवत् छृन्दन्तु। आदित्या देवा उत्तमा विपश्चितो देवाः सुखं प्रदातारो जागतेन जगद्विद्याप्रकाशकेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् सूर्यवत् छृन्दन्तु। विश्वे सर्वे देवाः सदुपदेशप्रदातारो वैश्वानराः सर्वेषु नरेषु राजन्त आनुष्टुभेन विद्या गृहीत्वा पश्चाद् दुःखानि स्तभ्नुवन्ति येन तेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् समस्तौषधिरसवत् त्वां छृन्दन्तु' इति, तदपि निर्मूलम्, वस्वादिशब्दार्थानामप्रामाणिकत्वात्। गायत्रादिशब्दानामपि न त्वदुक्तोऽर्थो घटते, सद्विद्याप्रकाशत्वस्य त्रैष्टुभादिषु व्यभिचारात्। तथैव कर्मोपासनज्ञानानां स्थिरीकरणसाधनत्वरूपं त्रैष्टुभत्वं गायत्रादिषु व्यभिचरति, एवं जगद्विद्याप्रकाशत्वमप्यन्यत्र व्यभिचरत्येव। एवमेव अङ्गिरस्वत्पदव्याख्यानान्यपि काल्पनिकान्येव ॥ ६५ ॥

आकूतिमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा प्रजापतये मनवे स्वाहाग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ संकल्प के प्रेरक अग्नि ने हमें इस यज्ञ कर्म में प्रवृत्त किया है, अतः उसके निमित्त यह आहुति दी जाती है। हम मन और मेधा (मन्त्र-धारण-शक्ति) को प्रेरित करने वाले अग्नि को आहुति देते हैं। चित्त से अभिज्ञात अनुष्ठान से ज्ञान-साधन विज्ञान के प्रेरक अग्नि को आहुति देते हैं। मन्त्र पाठ रूप वाणी और विशेष धारणा के प्रेरक अग्नि को आहुति देते हैं। मन्वन्तर के प्रेरक प्रजापति के निमित्त यह श्रेष्ठ आहुति दी जाती है। विश्व के हितकारी अग्नि देवता के निमित्त यह श्रेष्ठ आहुति है ॥ ६६ ॥

'प्राकृतान्यौद्ग्रभणानि हुत्वा सप्ताग्निकान्याकूतिमिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १६।४।३०)। एवमुखासम्भरणं समाप्याग्न्या अपीष्टकाः कृत्वा फाल्गुनामावास्यायां दीक्षां कृत्वा प्रकृतौ सोमे 'आकूत्यै' (वा० सं० ४।७) इति पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चौद्ग्रभणान्युक्तानि 'औद्ग्रभणानि जुहोति·····' (का० श्रौ० ७।३।१३) इत्यत्र। तानि हुत्वा अग्निचयने विहितानि सप्त औद्ग्रभणानि प्रतिमन्त्रं जुहुयादिति सूत्रार्थः। सप्तौद्ग्रभणसंज्ञानि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। आकूतिमिति यजुःपङ्क्तिः। आकूतिः सङ्कल्पोऽग्निचयनानुष्ठानविषयः, तां प्रति प्रयुजं प्रयुङ्क्ते कर्मणि प्रेरयतीति प्रयुक्, तं सङ्कल्पप्रेरकम् अग्निमुद्दिश्य स्वाहा सुहुतमस्तु। मन इति यजुस्त्रिष्टुप्। मनः अनुष्ठेयस्मरणसाधनम्, मेधां श्रुतयोर्मन्त्रतन्त्रयोर्धारणाशक्तिर्मेधा, तदुभयं प्रति प्रयुजं योजकमग्निमुद्दिश्य स्वाहा सुहुतमस्तु। चित्तमिति यजुर्जगती। चित्तम् अविज्ञातस्य अनुष्ठानस्य ज्ञानसाधनम्। तेन चित्तेनावगतं यदनुष्ठानं तद् विज्ञातम्, तदुभयं प्रति प्रयुजं प्रेरकमग्निमुद्दिश्य स्वाहा सुहुतमस्तु। वाच इति यजुर्जगती। वाचो मन्त्रपाठरूपाया विधृतिं विधारणं प्रति प्रयुजं प्रेरकमग्निमुद्दिश्य स्वाहा सुहुतमस्तु। प्रजापतय इति यजुःपङ्क्तिः। मनवे मनुष्याणां जनकाय प्रजापतये प्रजानां पालकाय स्वाहा सुहुतमस्तु—इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणो वाजसनेयिसंहिताभाष्ये महीधरश्च।

यद्वा—आकवनमाकूतिरात्मधर्मो मनसः प्रेरणहेतुस्तदवस्थापनं सङ्कल्पं वा प्रयुजं प्रकर्षेण युनक्ति तादृशीं वृत्तिमिति प्रयुक् तं तादृशमग्निं चयनविराड्रूपं स्वाहा तमभिलक्ष्य सुहुतमस्तु, 'आकूताद्वा एतदग्रे कर्म समभवत् तदेवैतदेतस्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते' (श० ६।६।१।१५) इति श्रुतेः। मनो मेधामिति। उपर्युपरिव्यापारशीला मनसो वृत्तिर्मेधा, तद्रूपं यन्मनो विमर्शलक्षणम्, तदात्मकतामापन्नमग्निं स्वाहेति पूर्ववत्। चित्तमनुसन्धानरूपम्, 'अनुसन्धानतश्चित्तं विमर्शान्मन उच्यते', तद्विषयरूपं विज्ञातं तद्रूपमग्निं स्वाहा। इदं मानसव्यापाररूपापन्नस्याग्नेः प्रतिपादकम्। होमसाधनं मन्त्रमभिधाय वागात्मतामापन्नस्याग्नेर्वाचकं होमसाधनं मन्त्रमाह—वाचो विधृतिमग्निमिति। वाचो विधृतिर्वचसो विधर्ता वाचा नियम्य वाग्रूपतामापन्नमग्निं स्वाहा। मनवे इदं सर्वं जगद् अमनुत अहमित्यवागच्छद् इति मनुः, तस्य विराड्रूपत्वात्। तस्मै मनुरूपाय प्रजापतये स्वाहा। अग्नये वैश्वानराय स्वाहेति पूर्ववत्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथौद्ग्रभणानि जुहोति। औद्ग्रभणैर्वै देवा आत्मानमस्माल्लोकात् स्वर्गं लोकमभ्युदगृह्णत तस्मादौद्ग्रभणानि तथैवैतद्यजमान औद्ग्रभणैरेवात्मानमस्माल्लोकात् स्वर्गं लोकमभ्युद्गृह्णीते' (श० ६।६।१।१२)। औद्ग्रभणानि हवींषि विधाय तन्निर्वचनद्वारेण प्रशंसति—औद्ग्रभणानि जुहोतीति। औद्ग्रभणैर्वै देवा आत्मानमिति। आत्मानं लिङ्गशरीरोपाधिकं जीवात्मानं देवा अस्माद् भूलोकात् स्वर्गं लोकमभिलक्ष्य उदगृह्णत ऊर्ध्वमुखमाकर्षणं कृतवन्तः। उद्ग्रहणसाधनत्वाद् औद्ग्रभणानीति नाम सम्पन्नम्। तद्वद्यजमानोऽप्यात्मानमस्माल्लोकात् स्वर्गं लोकमभिलक्ष्योद्गृह्णीते। 'भूयाꣳसि हवीꣳषि भवन्ति। अग्निचित्यायां·····' (श० ६।६।१।१) इति श्रुतौ चयनाख्ये कर्मणि हविर्भूयस्त्वमुक्तम्।

'पञ्चाध्वरस्य जुहोति। पाङ्क्तो यज्ञो यावान् यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतोभूतꣳ सिञ्चति सप्ताग्नेः सप्तचितिकोऽग्निः सप्तर्तवः....संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतोभूतꣳ सिञ्चति तान्युभयानि द्वादश सम्पद्यन्ते द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद् भवति' (श० ६।६।१।१४)। आध्वरिकाणां पञ्चसंख्यामनूद्य प्रशंसति—पञ्चाध्वरस्येति। प्रातरादिसवनानि त्रीणि प्रायणीयोदयनीयौ द्वौ इति पञ्चसंख्यायोगाद् यज्ञः पाङ्क्तः। यद्वा 'किं यज्ञस्य पाङ्क्तत्वमिति धानाः करम्भः परिवापः पुरोडाशः पयस्या तेन पङ्क्तिराप्यायते तद् यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम्' (तै० सं० ६।५।११।४) इति तैत्तिरीयोक्तहविःपञ्चकयोगात् पाङ्क्तत्वम्। हविष्यपञ्चकत्वनिष्पादनेन सोमयागो भवति। यावान् यज्ञस्तावता तेन कृत्स्नेनाप्युत्पद्यमानं चयनलक्षणमग्निं रेतोभूतं बीजरूपेणावस्थितमेतत् सिञ्चति क्रियमाणप्रकारेण निषेकं कृतवान् भवति। अग्निचयनीयानामौद्ग्रभणानां सप्तसंख्यारूपं यद्धविर्भूयस्त्वं तद्विधाय प्रशंसति—सप्ताग्नेरित्यादिना। तत्र षट्चितय इष्टकामय्यः, सप्तमी श्रूयते—'विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपदधाति सा सप्तमी चितिः' (श० ८।१।४।९) इति। मिलितानां संख्यामनूद्य प्रशंसति—तान्युभयानीति। 'स जुहोति। आकूतिमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहेत्याकूताद्वा एतदग्रे कर्म समभवत् तदेवैतदेतस्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते' (श० ६।६।१।१५)। सप्तौद्ग्रभणहविषां मन्त्राननूद्य व्याचष्टे—स जुहोतीत्यादिना। एतत् पूर्वं सम्भूतप्रकारेण कर्म चयनाख्यम्, अग्रे पुरा आकूतात् प्रकारात्, समभवत् सम्पन्नमासीत्। तदेव इदानीं क्रियमाणप्रकारविशेषम्, एतस्मै चयमकर्मणे प्रयुङ्क्ते प्रयुक्तवान् भवति—'मनो मेधामग्निं प्रयुजꣳ स्वाहेति' (श० ६।६।१।१६)। 'प्रजापतये मनवे स्वाहेति। प्रजापतिर्वै मनुः' (श० ६।६।१।१९)। 'अग्नये वैश्वानराय स्वाहेति' (श० ६।६।१।२०)। प्रजापतेर्मनोश्च वैयधिकरण्यशङ्काव्युदासायाह—प्रजापतिर्वै मनुरिति।

अध्यात्मपक्षे—आकूतिं सङ्कल्पभावापन्नमग्निं योजकं परमात्मानमभिलक्ष्य स्वाहा इदं सर्वं सुहुतमस्तु। मनो मेधामग्निं मनोरूपं मेधारूपं च प्रेरकमग्निं परमात्मानमभिलक्ष्य स्वाहा। चित्तं विज्ञातं तदुभयरूपापन्नं प्रेरकमग्निमभिलक्ष्य स्वाहा। वाचो विधृतिं विधारकमग्निं प्रयुजं प्रेरकमभिलक्ष्य स्वाहा। मनवे प्रजापतये वैश्वानरायाग्नये च स्वाहा। अत्र परमात्मनः सार्वात्म्यं विवक्षित्वा तस्मै हविरभीष्टं स्वसर्वस्वसमर्पणेन आराधनं विवक्षितम्। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषाः, भवन्तो वेदस्थैर्गायत्र्यादिछन्दोभिः स्वाहा सत्यया क्रियया आकूतिम् उत्साहकारिकां क्रियां प्रयुजं यः सर्वान् प्रकर्षेण युनक्ति तमग्निं पावकं स्वाहा सत्यया वाचा आच्छन्दन्तु। मन इच्छासाधनं मेधां प्रज्ञां प्रयुजं व्यवहारेषु प्रयुक्तमग्निं विद्युतं स्वाहा। सत्यया वाचा चित्तं चेतति येन तद् विज्ञातं प्रयुजम् अग्निम् अग्निमिव भास्वरम् आच्छन्दन्तु। मनवे मननशीलाय प्रजापतये प्रजास्वामिने स्वाहा सत्यवाणीम्, अग्नये विज्ञातस्वरूपाय वैश्वानराय विश्वेषु नरेषु राजमानाय जगदीश्वराय स्वाहा धर्म्यां क्रियां प्रापय्य सततमाच्छन्दन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः। त्वद्रीत्या जडत्वादग्नेः क्रियाप्रेरकत्वायोगात्, तस्य च सत्यया वाचा कथं शोधनमित्यस्यानिरूपणाच्च। हिन्दीव्याख्यानमप्यसम्बद्धमेव ॥ ६६ ॥

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।
विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ—सारी मनुष्य जाति सभी प्रकार के फलों को देने वाले परमात्मा से सख्यभाव की प्रार्थना करे। कर्म, उपासना और ज्ञान की पुष्टि के निमित्त यश अथवा अन्न की इच्छा करे। धन-प्राप्ति के निमित्त सभी मनुष्य परमात्मा की प्रार्थना करें, उनके निमित्त श्रेष्ठ आहुति दें ॥ ६७ ॥

कण्डिकेयं ४।८ स्थले व्याख्यातपूर्वा। विश्वो मर्तः सर्वो मनुष्यः, नेतुः फलप्रापकस्य देवस्य दानादि-गुणकस्य सवितुः सख्यं सखिभावं वुरीत वृणुते प्रार्थयते। विश्वः सर्वो जनः, राये धनाय इषुध्यति देवं प्रार्थयते। 'इषुधिर्याच्ञाकर्मसु पठितः' (निघ० ३।१९।१४)। पुष्यसे पोष्टुं पोषणाय द्युम्नं यशोऽन्नं वा वृणीत सर्वो जनः प्रार्थयते। स्वाहा तस्मै प्रेरकाय सुहुतमस्तु।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ सावित्रीं जुहोति। सविता वा एतदग्रे कर्माकरोत् तमेवैतदेतस्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्। विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहेति यो देवस्य सवितुः सख्यं वृणीते स द्युम्नं च पुष्टिं च वृणीत एष वा अस्य सख्यं वृणीते य एतत्कर्म करोति' (श० ६।६।१।२१)। अथ सप्तमं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—अथ सावित्रीमित्यादिना। सविता देवता यस्या ऋचः सा सावित्री, देवस्य नेतुरिति लिङ्गात्। तन्मन्त्रसाध्या आहुतिरपि सावित्री। साकल्येन मन्त्रं पठति—विश्वो देवस्य नेतुरिति। सवितुः सख्यं लब्धवतो हिरण्यादि बहु धनं शरीरपुष्टिश्च सुलभेत्युत्तरार्धस्य तात्पर्यमाह—यो देवस्येत्यादिना। यद्यपि द्युम्नवत् पुष्टिशब्दो द्वितीयान्तो नास्ति, तथापि पुष्यसे इत्यत्र पोषणलक्षणं प्रकृत्यर्थं विवक्षित्वा तथा व्याख्यात-मिति। अस्तु सख्यं कृतवत एतत्फलद्वयम्, किन्तु तुच्छस्य मर्त्यस्य भगवता सवित्रा सह सख्यमेव कथमुपपद्यत इत्याह—एष वा अस्य सख्यं वृणीते य एतत्कर्म करोतीति। यः सवितृदेवताकं कर्म करोति एष खलु सख्यं वृणीते। तथा च तदीयकर्मसम्पादनमेतत्सख्यलाभहेतुरित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वोऽपि मर्तो मनुष्यो नेतुः सर्वनियामकस्य देवस्य जगदुत्पत्त्यादिक्रीडस्य सख्यं वुरीत वृणीते, तत्सख्यस्य सर्वकल्याणहेतुत्वात्। यद्यपि 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रेण स्वाभाविकमेव जीवेशयोः सख्यं बोध्यते, तथापि मायया तदावृतमिव भवति। तत्प्रार्थनया तदभिव्यक्तिर्भवति। विश्वः सर्वोऽपि जनो राये बाह्यधनायान्तराय ज्ञानभक्त्यादिलक्षणाय वा धनाय इषुध्यति भगवन्तं प्रार्थयते, पुष्यसे पोष्टुं भक्तिज्ञानपोषणाय रक्षणाय द्युम्नं यशो भक्तिज्ञानादिलक्षणमन्नं भगवदीययशो वा श्रोतुं वृणीते, तस्मै परमात्मने स्वाहा सर्वस्वार्पणमस्तु।

दयानन्दस्तु—'यथा विद्वांसस्तथा विश्वो मर्तो नेतुः सर्वनायकस्य देवस्य जगत्प्रकाशकस्य परमेश्वरस्य सख्यं सख्युर्भावं कर्म वा वुरीत स्वीकुर्यात्। विश्वमनुष्यो राये श्रियै शरादीनि शस्त्राणि धरेत्। लेट्प्रयोगोऽयम्। स्वाहा सत्यां वाचं द्युम्नं द्योततेः, यशो वा अन्नं वा वृणीते। यथा चैतेन त्वं पुष्यसे तथा वयमपि भवेम' इति, तदपि न किञ्चित्, श्रुतिविरोधात्। यथा विद्वांस इति दृष्टान्तोऽपि निर्मूल एव ॥ ६७ ॥

मा सु भित्था मा सु रिषोऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु। अग्निश्चेदं करिष्यथः ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ—हे माता उखे, तुम कभी विदीर्ण मत होना, विनाश को कभी प्राप्त मत करना। तुम प्रगल्भता पूर्वक भली प्रकार वीर कर्म करो। तुम और अग्नि देवता हमारे इस कर्म की समाप्ति तक इन कार्यों को करते रहोगे ॥ ६८ ॥

'दण्डोच्छ्रयणान्तं कृत्वाऽध्वर्युयजमानयोरन्यतर उखामाहवनीयेऽधिश्रयति मुञ्जकुलायशणकुलायावस्तीर्णा-मन्तरे शणा मा सु भित्था इति तिष्ठन्नुदङ् प्राङ्' (का० श्रौ० १६।४।३१)। औद्ग्रभणहोमानन्तरं कृष्णाजिनदीक्षादि-

दण्डोच्छ्रयणान्तं 'दण्डमुच्छ्रयत्युच्छ्रयस्वेति' (का० श्रौ० ७।४।२) इति सूत्रप्रतिपादितं प्रकृतिवद् दीक्षणीयाशेषभूतं कर्म कृत्वा ईशानाभिमुखस्तिष्ठन् अध्वर्युर्यजमानो वा मुञ्जकुलायं शणकुलायं चोखामध्ये प्रक्षिप्य तामुखां दीप्ते आहवनीयेऽधिश्रयेत् । मुञ्जतृणनिर्मितं पक्षिनीडं मुञ्जकुलायः । आदौ शणकुलायप्रक्षेपस्ततो मुञ्जकुलायस्येति सूत्रार्थः । उखादेवत्ये द्वे गायत्रीत्रिष्टुभौ । प्रथमायास्तृतीयपादोऽग्निदैवतः । हे अम्ब ! मातः उखे, मा त्वं सुतरां भित्थाः भिद्यस्व भिन्ना भव । 'भिदिर् विदारणे' । अभिन्नत्वं यथा सुष्ठु स्यात् तथा विधेयमित्यर्थः । तथा मा सुतरां रिषः मा हिंसिता भव । रिषतिर्हिंसाकर्मा । इदमस्फुटनमपि सुष्ठु विधेयम् । सर्वात्मना द्वैधीभावो भेदः, अंशतः पृथक्त्वं स्फुटनम् । हे उखे, धृष्णु प्रगल्भं यथा स्यात्तथा सुतरां वीरयस्व अग्निधारण-लक्षणं वीरकर्म कुरुष्व । यद्वा धृष्णु धर्षणयुक्ते हे अम्ब मातः, त्वं वीरयस्व शोभनाग्निधारणलक्षणं वीरकर्म कुरुष्व । इत उत्तरम् अग्निश्च चकारात् त्वं च मिलित्वा इदमस्मदीयं कर्म करिष्यथः । यद्वा हे उखे, मा सु भित्थाः सुष्ठु भिन्ना मा भूः, दृढा भवेत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् । तथा सुष्ठु मा रिषः हिंसिता मा भूः । हे उखे, अग्निश्च त्वं च इदं कर्म करिष्यथः समाप्तिं प्रापयिष्यन्तौ भवथः ।

तत्र ब्राह्मणम्—'मुञ्जकुलायेनावस्तीर्णा भवति । आदीप्यादिति न्वेव यद्वेव मुञ्जकुलायेन योनिरेषाग्ने-र्यन्मुञ्जो न वै योनिर्गर्भꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै योनेर्वै जायमानो जायते योनेर्जायमानो जायाता इति' (श० ६।६।१।२३) । उखायामस्यां मुञ्जतृणावस्तरणं विधाय प्रशंसति—मुञ्जकुलायेनावस्तीर्णा भवतीति । एतेन मुञ्जकुलायावस्तरणस्य दृष्टार्थत्वमेव, न त्वशब्दार्थत्वमित्युक्तं भवति । आदीप्तिस्तु तृणान्तरेणापि भवितुं शक्यते किं मुञ्जनियमेनेति, तत्राह—योनिरेषाग्नेर्यन्मुञ्ज इत्यादिना । मुञ्जस्य क्षुद्रतृणत्वेन शीघ्रमग्निजनन-साधनत्वाद् अग्नियोनित्वम् । योनेर्गर्भहिंसकत्वाभावप्रसिद्धिर्वैशब्देनोच्यते । जायमानोऽग्निः स्वयोनेरेव सकाशाज्जायत इति मुञ्जकुलायेनैव भवितव्यमित्यर्थः । 'शणकुलायमन्तरं भवति । आदीप्यादिति न्वेव यद्वेव शणकुलायं प्रजापतिर्यस्यै योनेरसृज्यत तस्या उमा उल्बमासञ्छणा जरायु तस्मात्ते पूतयो जरायु हि ते न वै जरायु गर्भꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै जरायुणो वै जायमानो जायते जरायुणो जायमानो जायाता इति' (श० ६।६।१।२४) । मुञ्जकुलायादप्यन्तरं शणकुलायावस्तरणं कर्तव्यमित्याह—शणकुलायमन्तरं भवतीति । अन्तरवस्तीर्यमाणं वस्तु शणकुलायमेव भवेदित्यस्य कारणमुच्यते यद्वेव शणकुलायं प्रजापतिरित्यादिना । पूर्वं प्रजापतिश्चित्याग्निरूपो यस्या योनेः सकाशादुत्पन्नः, तस्या योनेः, उमाः क्षौमवस्त्रोपादानभूतास्तृणविशेषा उमाः, ता उल्बस्थानीया अभवन्, शणाख्यतृणविशेषा जरायुस्थानीयाः । तस्मात्ते पूतयो दुर्गन्धाः । जरायु हि ते ते शणा एव जरायुपदवाच्याः । न वै जरायु गर्भं हिनस्ति । जरायुषो वै गर्भो जायते । 'तां तिष्ठन् प्रवृणक्ति । इमे वै लोका उखा तिष्ठन्तीव वा इमे लोका अथो तिष्ठन् वै वीर्यवत्तरः' (श० ६।६।२।१) । सूत्रकारेण यद्यदुक्तं तत्सर्वमपि प्रायेण ब्राह्मणमूलकमेव । तद्विधत्ते—तां तिष्ठन् प्रवृणक्तीति । अध्वर्युर्यजमानो वा तिष्ठन् प्रवृणक्ति आहवनीये प्रतितपेत् । उखायां पूर्वं शणकुलायं प्रक्षिप्य ततो मुञ्जनिर्मितपक्षिनीडं कुलाये निक्षिप्य तामुखां दीप्ते आहवनीयेऽधिश्रयेत् । तिष्ठता च तत्कर्तव्यम् । तत्प्रशंसति—तिष्ठन् वा इति । लोकस्थानां प्राणिनामूर्ध्वमवस्थानादुत्तरभावाद्वा तिष्ठन्तीव वा इमे लोका इत्युक्तम् । शयानादासीनाच्च तिष्ठत्सु पुरुषेषु युद्धादिव्यापारे वीर्यदर्शनात् तिष्ठन् वै वीर्यवत्तरो भवति । तस्मात्तिष्ठतैव तत्कर्तव्यमिति ।

'उदङ् प्राङ् तिष्ठन् । उदङ् वै प्राङ् तिष्ठन् प्रजापतिः प्रजा असृजत' (श० ६।६।२।२) । उदङ् प्राङ् तिष्ठन्निति ईशानाभिमुखस्तिष्ठन्नित्यर्थः । पूर्वं प्रजापतिना प्रजासृष्टिकाले प्रागुदङ्मुखेन सृष्टत्वाद् इदानीमपि तन्मुखेनैव कर्तव्यमिति । 'यद्वेवोदङ् प्राङ् तिष्ठन् । एषा ह्योभयेषां देवमनुष्याणां दिग् यदुदीची प्राची' (श० ६।६।२।३) ।

'यद्वेवोदङ् प्राङ् तिष्ठन्। एतस्याꣳ ह दिशि स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं तस्मादुदङ् प्राङ् तिष्ठन्नाहुतीर्जुहोत्युदङ् प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा नयति द्वारैव तत्स्वर्गस्य लोकस्य वित्तं प्रपादयति' (श० ६।६।२।४)। प्रकारान्तरेण तां दिशं प्रशंसति—यद्वेवोदङ् प्राङ् तिष्ठन्निति। यस्मात् स्वर्गद्वारं तस्माद् उदङ् प्राङ् तिष्ठन् सर्वा आहुतीर्जुहोति। तस्मादेव कारणात् तादृङ्मुख एव सन् दक्षिणा नयति प्रयच्छति। यतो ह्येषा देवमनुष्याणां दिक् तस्मात्तथा युक्तम्। तेन तादृङ्मुखः सन् आहुतिप्रदानेन दक्षिणानयनेन च स्वर्गद्वारेणैव वित्तम् आहुतिरूपं दक्षिणारूपं धनं च प्रपादयति दत्तवान् भवति। अनेनैवेशानाभिमुखमाहुतयो होतव्याः, दक्षिणाश्च दातव्या इति विधिरुन्नीयते, अपूर्वार्थत्वात्। 'मा सु भित्था मा सु रिष इति। यथैव यजुस्तथा बन्धुरम्ब धृष्णु वीरयस्व स्विति योषा वा उखाम्बेति वै योषाया आमन्त्रणꣳ स्विव वीरयस्वाग्निश्चेदं करिष्यथ इत्यग्निश्च ह्येतत्करिष्यन्तौ भवतः' (श० ६।६।२।५)। मन्त्र-व्याख्यानेन व्याख्याता कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—हे उखे, उखावद् ज्ञानाग्निधारिके बुद्धे, त्वं मा सु भित्थाः, त्वं मा सुष्ठु भिन्ना भूः। संशय-विपर्ययाद्यनास्कन्दिता सती दृढा भव। मा सु रिषः, मा च हिंसिता भूः। अनात्मादिभेदज्ञानेन बाधिता मा भूः। हे अम्ब मातः, जनन्या इव पालकत्वात्। 'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता' (सप्तशती) इति राजराजेश्वरीरूपत्वाच्च। धृष्णु प्रगल्भं यथा स्यात्तथा सुष्ठु वीरयस्व ज्ञानाग्निधारणलक्षणं कर्म कुरुष्व। अग्निर्ज्ञानम्, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (भ० गी० ४।३७) इति भगवद्वचनात्। अग्निश्च त्वं च अज्ञानाहङ्कारादीनां समूलोन्मूलनलक्षणं कर्म करिष्यथः।

दयानन्दस्तु—हे अम्ब, त्वमस्मात् विद्यातो मा सु भित्था मा भेदं कुर्याः। मा सु रिषो मा हिंस्याः। धृष्णु दाढर्यं वीरयस्व आरब्धस्य कर्मणः समाप्तिमाचर। एवं कुर्वन्तौ युवां मातापुत्रौ अग्निरिवेदं कर्तुं योग्यं सर्वं कर्म करिष्यथः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। का माता? कीदृशी च सा? कथं च विद्यातो भेदं करोति सा? कथं च साहिंसिका भवति? इत्याद्यनिरूपणात्। त्वद्रीत्या नात्र किमपि कर्म प्रकृतम्, यस्य समाप्तिः प्रार्थनीया स्यात्। किञ्च, व्यक्तिविशेषाणां कथासत्त्वेऽङ्गीक्रियमाणे वेदानामितिहासत्वापत्त्या अपसिद्धान्तापत्तिश्च ॥ ६८ ॥

दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय आसुरी माया स्वधया कृतासि।
जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन् ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ—हे देवी पृथ्वी उखे, तुम यजमान के कल्याण के निमित्त दृढ़ हो जाओ, तुम अन्न के निमित्त प्राण सम्बन्धिनी प्रज्ञा के समान हो, यह हवियोग्य अन्न देवताओं को अत्यन्त प्रिय हो। यह कार्य जब तक पूरा न हो जाय, तब तक तुम अभग्न रूप से इस यज्ञ में वर्तमान रहो ॥ ६९ ॥

हे पृथिवि देवि उखे, मृत्कार्यत्वादुखायाः कार्ये कारणत्वोपचारात् पृथिवीत्वम्, मन्त्रैर्निष्पादितत्वाद्देवत्वं च। स्वस्तये यजमानस्य क्षेमाय दृंहस्व दृढा भव। दृढीकुरु स्वात्मानम्। ननु किमर्थमिदमुच्यते? इत्यत्राह—स्वधयेति। स्वधया अन्नेन निमित्तेन त्वमासुरी प्राणसम्बन्धिनी माया प्रज्ञा कृतासि। असूनां प्राणानामियमासुरी। यद्वा शम्बराद्यसुरनिर्मितमायेव स्वधया कृतासि। कव्यप्रधानया स्वधयाऽविनाभूतमन्नमात्रमिहोपलक्ष्यते। तेन

निमित्तभूतेन तद्धेतुयागसिद्धयर्थं निष्पादितासुरी माया। यद्वदचिन्त्यरचनारूपं चित्रं वस्तु भूत्वा आसुरी माया प्रतिभाति, तद्वत् त्वमप्यचिन्त्यरचनारूपा प्रतिभासि। हे उखे, इदं हव्यं देवेभ्य उख्येऽग्नौ होष्यमाणं जुष्टं प्रियं हविरस्तु। त्वदनुग्रहेण देवेभ्यो रोचतामित्यर्थः। त्वमप्यरिष्टा अनार्ता अहिंसिताऽनवखण्डिता अस्मिन् वर्तमाने यज्ञे उदिहि उद्गच्छ उद्गता भव।

तत्र ब्राह्मणम्—'दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय इति। यथैव यजुस्तथा बन्धुरासुरी माया स्वधया कृतासीति प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया स्वधया कृता जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमिति या एवैतस्मिन्नग्नावाहुतीर्होष्यन् भवति ता एतदाहाथो एषैव हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन्निति यथैवारिष्टानार्तैतस्मिन् यज्ञ उदियादेवमेतदाह' (श० ६।६।२।६)। हे पृथिवि देवि, विकारे प्रकृतिशब्दः। हे उखे इत्यर्थः। स्वस्तये क्षेमाय अविनाशाय दृंहस्व दृढा भव। मन्त्रद्वितीयभागं व्याचष्टे—आसुरी मायेति। असोः प्राणस्य सम्बन्धिनी माया प्रज्ञा, तया निर्मितत्वाद् उखापि मायेत्युच्यते, सा च स्वधया कृता। 'स्वधेत्यन्ननामसु' (नि० २।७।१७)। तद्धेतुत्वात् पृथिव्यपि स्वधा। 'ता अग्निमसृजन्त' इत्यत्र यथा अग्निशब्देन पृथिवी विवक्षिता, तद्वत् तादृशी असि तया कृता। तृतीयभागे हव्यशब्देन किमभिप्रेतमिति तद् दर्शयति—जुष्टं देवेभ्य इति। एतस्मिन्नुखया निष्पाद्ये अग्नौ अन्नाहुतीः सोमपश्वाज्यरूपाः। एतद् एतेन हव्यशब्देन आहेति, श्रुतिरिति शेषः। नन्विदं व्यवहितं कथमिदमस्तु हव्यमितीदन्तया व्यपदिश्यत इत्यत्र ब्रूमः, प्रकृतत्वेन बुद्धौ सन्निधानादुपपद्यत इति। चतुर्थभाग आशासनरूप इति व्याचष्टे—अरिष्टेत्यादिना। अरिष्टा अनार्ता।

अध्यात्मपक्षे—हे देवि पृथिवि! ज्ञानविज्ञानवैराग्यादिजन्मभूमे बुद्धे, दृंहस्व दृढा भव ब्रह्मात्मनिष्ठादार्ढ्यवती भव। किमर्थम्? स्वस्तये क्षेमाय प्राप्तस्य ज्ञानादे रक्षणाय। कीदृशी त्वम्? आसुरी शम्बरादिमायावत् आश्चर्यरूपा। स्वधया स्वं दधातीति स्वधा तया स्वप्रकाशया स्वप्रतिष्ठया चिच्छक्त्या कृतासि। हे उखे, देवेभ्यो द्योतनात्मकेभ्य इन्द्रियेभ्य इदं सर्वं दृश्यं हव्यं हवीरूपमस्तु। अस्मिन् यज्ञे इन्द्रियरूपासु स्रुक्षु सर्वं दृश्यं हवीरूपं यदस्ति तदस्मि। तादृशे चिद्रूपेऽग्नौ दृश्यहोमलक्षणे यज्ञे उद् ऊर्ध्वं ब्रह्मरूपप्राप्ता भव ब्रह्माकाराकारिता भव।

दयानन्दस्तु—'हे पृथिवि! भूमितुल्यविद्याविस्तारवति देवि पत्नि, त्वया स्वस्तये सुखाय स्वधया उदकेनान्नेन या आसुरी, येऽसुषु प्राणेषु रमन्ते तेषां स्वा माया प्रज्ञास्ति सा कृतास्ति, तया त्वं मां पतिं दृंहस्व वर्धस्व। अरिष्टा अहिंसिता सती अस्मिन् यज्ञे सङ्गन्तव्ये गृहाश्रमे उदिहि प्राप्नुहि। यत् त्वयेदं जुष्टं हव्यं कृतमस्ति तद् देवेभ्योऽस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थत्वात्। पृथिवीति पदस्य भूमिवद्विस्तारवतीति गौणार्थमेव। न च सति सम्भवे गौणार्थाश्रयणं युक्तम्। प्राणपोषिका बुद्धिरासुरी मायेत्यपि यत्किञ्चित्, तादृशार्थे तदप्रयोगात्। दृंहस्वेत्यस्य वृद्धयर्थतापि धात्वर्थविरुद्धैव ॥ ६९ ॥

द्र॒वन्नः स॒र्पिरा॑सुतिः प्र॒त्नो होता॒ वरे॑ण्यः। सह॑सस्पु॒त्रो अद्भु॑तः ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ—जिसका प्रधान भक्ष्य पलाश-काष्ठ है, जिसका प्रधान पानी घृत है, जो पुरातन देवगणों का आह्वान करने वाला है, वरणीय है और बल से मथन करने पर उत्पन्न होने वाला है, उस आश्चर्य रूप अग्नि देवता को भक्षण के निमित हम समिधा प्रदान करते हैं ॥ ७० ॥

'अग्नावारूढे त्रयोदशाऽस्यां प्रादेशमात्रीः समिध आदधाति' (का० श्रौ० १६।४।३३)। 'घृतोन्नां कार्मुकीं द्रवन्न इति' (का० श्रौ० १६।४।३५)। अग्नौ आरूढे वह्नौ जाते सति, उख्येऽग्नौ प्रादेशमात्रीस्त्रयोदशसंख्याकाः समिधः प्रक्षिपेत्। ताः क्रमेणाह—घृतोन्नामिति। तत्र प्रथमं घृतोन्नां घृतक्लिन्नां क्रमुकसमिधं द्रवन्न इति मन्त्रेण आदध्यात्। क्रमुको धमनः, धनुरुपादानभूतो वृक्षविशेषः। अग्निदेवत्या गायत्री सोमाहुतिदृष्टा। य इत्थंभूतोऽग्निः स कार्मुकीं समिधं भक्षयत्विति शेषः, वाक्यस्य आख्यातसापेक्षत्वाद् मन्त्रे तदभावाच्च। कथंभूतोऽग्निः? द्रवन्नः, द्रवो वृक्षा एव अन्नमदनीयं यस्य सः। द्रुशब्दो द्रुमपर्यायः, 'द्रुपदमित्याह वनस्पतीच्छो नामैवैतेन यजते' इति श्रुतेः, 'पलाशी द्रुद्रुमागमाः' (अ० को० २।४।५) इति कोशाच्च। यद्वा 'द्रु गतौ' द्रवदन्नं यस्य सः। सर्पिरासुतिः सर्पिर्घृतमासुतिरासवस्थानीयं मादकं यस्य सः। यद्वा सर्पिराहारत्वेन सूयते प्रक्षिप्यते यस्मिन् सः। प्रत्नः पुरातनः। होता देवानामाह्वाता। वरेण्यः वरणीयः। सहसस्पुत्रः सहसो बलस्य पुत्रः, मन्थनहेतुना बलेनोत्पद्यमानत्वात्। अद्भुतः आश्चर्यरूपः, अनन्यादृशः। एवंभूत उखायां तिष्ठन्नग्निः कार्मुकीं समिधं भक्षयत्वित्यर्थः।

तत्र ब्राह्मणम्—'तां यदाग्निः सन्तपति। अथैनामर्चिरारोहति योषा वा उखा वृषाग्निस्तस्माद्यदा वृषा योषाᳬं सन्तपत्यथास्याᳬं रेतो दधाति' (श० ६।६।२।८)। सन्तपने सत्युखाया या दीप्तिस्तां रेतआत्मना, सन्तापकमग्निं पुरुषात्मना, उखां च योषिदात्मना, सन्तापं च सम्भोगात्मना प्रशंसति—तां यदाग्निः सन्तपत्यादिना। 'सा कार्मुकी स्यात्। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त ते देवा अग्निमनीकं कृत्वाऽसुरानभ्यायंस्तस्यार्चिषः प्रगृहीतस्यासुरा अग्रं प्रावृश्चंस्तदस्यां प्रत्यतिष्ठत् स क्रमुकोऽभवत्तस्मात् स स्वादू रसो हि तस्मादु लोहितोऽर्चिर्हि स एषोऽग्निरेव यत्क्रमुकोऽग्निमेवास्मिन्नेतत्सम्भूतिं दधाति' (श० ६।६।२।११)। आधातव्यायाः समिधो वृक्षविशेषसम्बन्धमाह—सा कार्मुकी स्यादिति। धनुरुपादानभूतो वृक्षविशेषः क्रमुकः। तद्विकारत्वं समर्थयितुमाख्यायिकामाह—देवाश्चेत्यादिना। स्पर्धमानानां मध्ये ते देवा अग्निमनीकं मुखं कृत्वा असुरानभिगताः। तस्मिन् समयेऽसुराः प्रत्यावृत्य अग्नेरर्चिः प्रगृह्य यावन्मात्रं गृहीतमासीत् तावन्मात्रमर्चिषोऽग्रं प्रावृश्चन्। तत् छिन्नमग्रमस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठितमभूत्। स च तत्र क्रमुकाख्यो वृक्षः सम्पन्नः। क्रमुको नाम धनुष उपादानभूतः सारवान् वृक्षविशेषः। उक्तमर्थं प्रत्यक्षबलेन द्रढयति—तस्मात् स स्वादुरिति। यस्मादग्नेः सारांशस्तस्मात् स स्वादू रसो भवति। तत्रैव प्रत्यक्षान्तरं दर्शयति—तस्मादु लोहितोऽर्चिर्हीति। अर्चिषो लोहितवर्णत्वात् तदात्मको वृक्षोऽपि लोहितः। तस्मात् स एष क्रमुकोऽग्निरेव, वृक्षरूपेण परिणामात्। एतद् एतेन क्रमुकसमिदाधानेन अग्निमेव सम्भूतिं दधाति स्थापितवान् भवति।

'प्रादेशमात्री भवति। प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुरात्मसम्मितामेवास्मिन्नेतत् सम्भूतिं दधाति' (श० ६।६।२।१२)। समिध इयत्तां विधाय प्रशंसति—प्रादेशमात्री भवतीति। प्रादेशमात्रो वै गर्भो भवति। गर्भो विष्णुर्यज्ञरूपः प्रादेशमात्रः। गर्भस्य प्रादेशमात्रत्वं लोकसिद्धम्। विष्णुरेव वामनावतारो गर्भरूपः प्रादेशमात्रः। स च विष्णुरात्मसम्मितामेवैतेन भूतिं दधाति। 'घृते न्युत्ता भवति। अग्निर्यस्यै योनेरसृज्यत तस्यै घृतमुल्बमासीत् तस्मात्तत्प्रत्युद्दीप्यत आत्मा ह्यस्यैष तस्मात्तस्य न भस्म भवत्यात्मैव तदात्मानमप्येति न वा उल्बं गर्भᳬं हिनस्त्यहिᳬंसाया उल्बाद्वै जायमानो जायत उल्बाज्जायमानो जायाता इति' (श० ६।६।२।१३)। आधेयायाः समिधः प्रक्षणं विधाय प्रशंसति—घृते न्युत्तेत्यादिना। उख्यलक्षणोऽग्निः पूर्वं यस्या योनेरसृज्यत तस्या घृतमेव उल्बमासीत्। तस्मात्तत्प्रति घृतमुद्दीप्यते। तस्मादग्न्यवयवत्वादेव तस्य घृतस्य हुतस्य न भस्म भवति इतरकाष्ठवत्। भस्माभावे कारणमाह— आत्मैव तदात्मानमप्येति। 'तामादधाति।

द्रवन्नः सर्पिरासुतिरिति दार्वन्नः सर्पिरशन इत्येतत्प्रत्नो होता वरेण्य इति सनातनो होता वरेण्य इत्येतत् सहसस्पुत्रो अद्भुत इति बलं वै सहो बलस्य पुत्रोऽद्भुत इत्येतत्तिष्ठन्नादधाति स्वाहाकारेण तस्योपरि बन्धुः' (श० ६।६।२।१४)। समिदाधाने मन्त्रं विधाय विभज्य व्याचष्टे—तामादधातीति। द्रवणादूर्ध्वगमनाद् द्रुः वनस्पतिः, स एवान्नं यस्य सः। सरणात् सर्पिर्घृतम्, तदेव आसुतिर् आसवस्थानीयं यस्य सः। प्रथमपादं व्याचष्टे—दार्वन्नः सर्पिरशन इत्येतदिति। द्रवन्न इत्यस्य दार्वन्न इत्यर्थः, अग्नेर्दारुभक्षकत्वस्य प्रसिद्धत्वात्। अशनशब्देनान्नसामान्यवाचिना पानलक्षणान्नविशेष उपलक्ष्यते। द्वितीयपादे प्रत्नशब्दं व्याचष्टे—सनातनो होतेति। तृतीयपादं व्याचष्टे— सहसस्पुत्रो अद्भुत इति। सहते अभिभवति शत्रुमिति सहो बलम्, मथनकाले बलेनोत्पद्यमानत्वात्। पूर्वमभूत इव, सर्वदा नूतन इत्यर्थः। स्वाहाकारेण मन्त्रान्ते समिदाधानं कर्तव्यम्। तच्च तिष्ठतैवेति विधत्ते—तिष्ठन्नादधाति स्वाहाकारेणेति। तस्यार्थवादरूपो बन्धुरुपरि निर्दिष्टः 'स्वाहाकारेण रेतो वा इदꣳ सिक्तमयमग्निः' (श० ६।६।३।१७) इत्यादिना प्रदर्श्यत इत्यर्थः।

'तद्वा आत्मैवोखा। योनिर्मुञ्जाः शणा जरायूल्बं घृतं गर्भः समित्' (श० ६.६।२।१५)। गर्भरूपायाः समिधः सर्वान्तरत्वं प्रशंसति—तद्वा इति। उखा आत्मैव स्त्रीशरीरमेव। इतरस्यामवस्तीर्णानि मुञ्जतृणान्येव योनिः, ततोऽप्यान्तरत्वात्। शणा जरायु घृतमुल्बं समिद् गर्भः। एष्वर्थेषूपपत्तिं ब्राह्मणमेव दर्शयति। तथाहि—'बाह्योखा भवति। अन्तरे मुञ्जा बाह्यो ह्यात्माऽन्तरा योनिर्बाह्ये मुञ्जा भवन्त्यन्तरे शणा बाह्या हि योनिरन्तरं जरायु बाह्ये शणा भवन्त्यन्तरं घृतं बाह्यꣳ हि जराय्वन्तरमुल्बं बाह्यं घृतं भवत्यन्तरा समिद् बाह्यꣳ ह्युल्बमन्तरो गर्भ एतेभ्यो वै जायमानो जायते तेभ्य एवैनमेतज्जनयति' (श० ६।६।२।१६)। आत्मत्वादिकल्पनायाः प्रयोजनमाह—एतेभ्यो वै जायमान इति। जायमानो गर्भ एतेभ्यः शरीरादिभ्यः सकाशाज्जायते। तथैवोत्पद्यमानस्य अग्नेरप्येतेषामपेक्षणाद् एतद् एतेन उखामुञ्जादीनामुक्तक्रमेण सम्पादनेन तेभ्य एवात्मादिभ्य एनं गर्भरूपमग्निं जनयति। उक्तक्रमेण तेषामनुष्ठानं प्रशस्तमिति विधेयस्तुतिः।

अध्यात्मपक्षे—अयं ज्ञानाग्निः, द्रवन्नः, द्रुः संसारवृक्षः अन्नं भक्षणीयं यस्य सः, ज्ञानस्य संसारतन्मूलाज्ञानभक्षकत्वेन तदुपपत्तेः। तादृशो ज्ञानाग्निस्तादृशं संसारं भक्षयतु। कीदृशः सः? सर्पिरासुतिः सर्पिर्घृतगन्धिभगवद्विषयः स्नेह आसुतिर् आसवस्थानीयो यस्य सः। 'भक्त्या मामभिजानाति' (भ० गो० १८।५।५), 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' इत्यादिवचनेभ्यः। सोऽग्निः प्रत्नः पुरातनः, सर्वस्य हृदि सूक्ष्मरूपेण सदैव विद्यमानत्वात्, 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (भ० गी० १३।१७) इति गीतोक्तेः। होता स एव परमात्मन आह्वाता, तत्प्राकट्यहेतुत्वात्। सहसो बलस्य पुरुषकारस्य पुत्रः, महापुरुषकारेणोत्पद्यमानत्वात्। अद्भुतः, आश्चर्यरूपब्रह्मविषयत्वेनाश्चर्यरूपत्वात्, 'आश्चर्यो वक्ता' (कठो० २।७), 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (भ० गी० २।२९) इत्यादिवचनेभ्यः।

दयानन्दस्तु—हे पते, द्रवन्नो वृक्षफलान्योषधयोऽन्नं यस्य स ईदृशः, घृतोदरा सुतिः सवनं शोधनं यस्य सः, प्रत्नः सनातनो होता दाता ग्रहीता वरेण्यः स्वीकर्तुमर्हः सहसस्पुत्रो बलवतोऽपत्यम् अद्भुत आश्चर्यगुणकर्मस्वभावः, त्वं स्वस्तये अस्मिन् यज्ञे गृहे उदिहि उदितो भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रस्य दम्पतीसंवादार्थकत्वे मानाभावात्। नहि कश्चिन्मनुष्यो वृक्षभक्षको भवति, द्रुपदस्य फलार्थकत्वे मानाभावाच्च। सर्पिरासुतिर्घृतादिपदार्थशोधक इत्यपि निर्मूलम्, अप्रासङ्गिकं च। प्रत्नत्वमपि तस्य कुतस्त्यम्? सहस्पदस्य बलवदर्थतापि निर्मूला, गौणार्थप्रसङ्गात्। न वा सर्वस्य पत्युराश्चर्यगुणस्वभाववत्त्वं सम्भवति, मनुष्याणामतथात्वाच्च ॥ ७० ॥

परस्या अधि संवतोऽवराँ२ अभ्यातर। यत्राऽहमस्मि ताँ२ अव ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, शत्रुसम्बन्धी संग्राम से हमारे स्वजनों को दुःख से तारने के लिये सामने आओ और जिस स्थान में मैं स्थित हूँ उसकी रक्षा करो ॥ ७१ ॥

'वैकङ्कतीं परस्या इति' (का० श्रौ० १६।४।३६)। विकङ्कतवृक्षसमिधं जुहोति परस्या इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। आग्नेयी गायत्री विरूपदृष्टा। इममारभ्याध्यायान्तमाग्नेय्यः। संवत् संवन्वते सङ्गच्छन्ते योधा यत्र सा संवत्। संपूर्वस्य वनतेर्गत्यर्थस्य क्विप्। परस्याः शत्रुसम्बन्धिन्याः संवतः संग्रामात्। संवदिति संग्रामनामसु पठितम् (निघ० २।१७।४६)। अवरानस्मदीयान् जनान् अभ्यातर आभिमुख्येनागत्य दुःखादुत्तारयेत्यर्थः। यत्र देवेषु मनुष्येषु वा अहमस्मि भवामि तानव पालय तर्पय वा। यद्वा परस्याः संवतोऽप्युत्कृष्टायाः संवननीयाया इष्टेरप्यवरान् निकृष्टान् अस्मान् त्वमभ्यातर आभिमुख्येनागत्य दुःखेभ्यस्तारय। यत्र येषु बन्धुष्वहमस्मि तान् बन्धूनपि अव रक्ष।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वैकङ्कतीमादधाति। प्रजापतिर्यां प्रथमामाहुतिमजुहोत् स हुत्वा यत्र न्यमृष्ट ततो विकङ्कतः समभवत् सैषा प्रथमाहुतिर्यद्विकङ्कतस्तमस्मिन्नेतज्जुहोति तयैनमेतत्प्रीणाति परस्या अधि संवतोऽवराँ२ अभ्यातर। यत्राहमस्मि ताँ२ अवेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ६।६।३।१)। द्वितीयायाः समिधो वैकङ्कतत्वं विधाय प्रशंसति—अथ वैकङ्कतीमित्यादिना। अर्थात् पुरा प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा यां प्रथमामाहुतिमजुहोत्तां हुत्वा यत्र देशे न्यमृष्ट हुतशेषनिमार्जनं कृतवान् ततो देशाद् विकङ्कतः समभवत्। यत एवं तस्माद् विकङ्कत-साध्या आहुतिः प्रथमाहुतिः। प्रथमाहुतेरंशत्वादस्यापि प्राथम्यम्। अतः प्रथमाहुतिमेव अस्मिन् हुताग्नौ हुतवान् भवति। तयाहुत्या चैनमुख्यमग्निं प्रीणाति।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानाग्ने, परस्याः संवतः अज्ञानाहङ्कारादिशत्रुसम्बन्धिन्याः संग्रामाद् अवरान् पश्चादुत्पन्नत्वान्निर्बलत्वाच्च कनिष्ठानपि शमदमादीन् अभ्यातर अभ्यागत्य संग्रामसङ्कटात्तारय। तामसराजसा असुरा ज्यायांसः, अनादिकालिकत्वाद् बहुसंख्यत्वाद् बद्धमूलत्वेन प्रबलत्वाच्च। सात्त्विकाः शमदमादयो देवा अर्वाचीनत्वादबद्धमूलत्वेनादृढत्वाच्च कनीयांसः, तथापि ज्ञानाग्निमाश्रित्य देवा विजयन्ते, निरुपद्रवभूतार्थ-स्वभावत्वेन प्रबलैरपि विपर्ययादिभिरबाध्यत्वात्। यत्र येषु शमदमादिष्वहं भवामि, तानपि अव पालय। शमादिष्वेवात्मनः सत्त्वं भवति, तेषामात्मनः प्राकट्यहेतुत्वात्, अज्ञानादीनां तदावरकत्वात्।

दयानन्दस्तु—हे कन्ये, यस्याः परस्या उत्तमायाः कन्यायास्तव अहम् अधि अधिष्ठाता स्वामी भवितु-मिच्छामि, सा त्वं संवतो संविभक्तान् अवरान् निकृष्टान् अभ्यातर अभिप्लव मनसा परित्यज। यत्र कुले अहमस्मि तानुत्तममनुष्यान् अव रक्ष' इति, तदप्यसङ्गतम्, श्रुतिसूत्रादिविरोधात्, कन्यायाः सम्बोधने मानाभावाच्च। अधिष्ठाता भवितुमिच्छामीत्यपि निर्मूलमेव। अभिआङ्पूर्वस्य तरतेरुल्लङ्घनार्थत्वमपि निर्मूलमेव ॥ ७१ ॥

परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहागहि। पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरा मृधः ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम्हारे अश्व का नाम रोहित है, तुम पशुओं के हितकारी हो, सबका कल्याण करते हो। तुम अत्यन्त दूर देश से भी इस यज्ञ कर्म में आओ और संग्राम में शत्रुओं का विनाश करो ॥ ७२ ॥

'औदुम्बरीं परमस्या इति' (का० श्रौ० १६।४।३७)। उदुम्बरतरुसमिधं तृतीयामादधाति परमस्या इति मन्त्रेणेति। अनुष्टुप् वारुणीदृष्टा। हे अग्ने, परमस्याः परावतः अत्यन्तदूरदेशाद् इह अस्मिन् कर्मणि त्वमागहि आगच्छ। आङ्पूर्वाद्गच्छतेः शपि लुप्ते 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (पा० सू० ६।४।३७) इति मकारलोपे आगहीति रूपम्। परावत इति दूरनामसु पठितम् (निघ० ३।२६।५)। परमाशब्दस्य सर्वनामत्वमार्षम्। परमा उत्कृष्टा अतिशयिता या परावत्, अतिदूरमित्यर्थः। तत आगत्य मृधः संग्रामान् तर, अतिक्रम्य रिपून् विनाशयेत्यर्थः। 'तरा' इत्यत्र 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः। कथंभूतस्त्वम्? रोहिदश्वः, रोहितः रोहितसंज्ञका अश्वा यस्य स रोहिदश्वः, 'रोहितोऽग्नेः, हरित आदित्यस्य' (निघ० १।१५।२-३) इति निघण्टुवचनात्। लोहितवर्णो वाश्वो यस्य सः। 'रोहितेनाग्निर्देवानां गच्छति' इति काण्वभाष्ये सायणः। पुरीष्यः पशव्यः। पुरीषमुखाहेतुभूतं पांसुं वहतीति वा पुरीष्यः। अथवा बहुभ्यः पशुभ्य आहितः पुरीष्यः। पुरीषशब्देन बहुपुरीषाः पशव उच्यन्ते। पुरुप्रियः पुरूणां बहूनां जनानां प्रियः। अत आगत्य हे अग्ने, त्वं तर विनाशय। मृधः संग्रामानिति वा शत्रूनतिलङ्घयेति वा। अर्थाद् हे अग्ने, या परमा उत्कृष्टा परावद् दूरदेशः, अर्थात् तव या दूरदेशस्थितिरासीत्, तादृशाद् दूरदेशात् शीघ्रमागच्छ। यद्वा अग्ने, त्वं तर मृधः सर्वान् पाप्मन इति। निघण्टौ (२।१७।२०) संग्रामनामसु पठितस्यात्र पापमर्थः। तरतिर्निरासार्थकः। 'मृधु उन्दने' इति भौवादिकात् क्विपि रूपम्। उन्दनं क्लेदनम्। हिंसादिभिर्भयात् चित्तं क्लिद्यते। तस्माद् मृधिर्हिंसाकर्मा। ततोऽत्र पापमर्थः। तथा च श्रुतिः'-तर सर्वान् पाप्मन इत्येतत्' (श० ६।६।३।४)। तथा च—'अमर्धन्ता सोमपेयाय देवः' (ऋ० सं० ३।२५।४) इत्यादौ मृधिर्हिंसार्थ इति स्कन्दस्वामी। मृधु हिंसायामिति सायणः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथौदुम्बरीमादधाति। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त ते ह सर्व एव वनस्पतयोऽसुरानभ्युपेयुरुदुम्बरो हैव देवान् न जहौ ते देवा असुराञ्जित्वा तेषां वनस्पतीनवृञ्जत' (श० ६।६।३।२)। 'ते होचुः। हन्त यैषु वनस्पतिषूर्ग्यो रस उदुम्बरे तं दधाम ते यद्यपक्रामेयुर्यातयामा अपक्रामेयुर्यथा धेनुर्दुग्धा यथाऽनड्वानूहिवानिति तद्यैषु वनस्पतिषूर्ग्यो रस आसीदुदुम्बरे तमदधुस्तयैतदूर्जा सर्वान् वनस्पतीन् प्रति पच्यते तस्मात् स सर्वदार्द्रः सर्वदा क्षीरी तदेतत्सर्वमन्नं यदुदुम्बरः सर्वे वनस्पतयः सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति सर्वैर्वनस्पतिभिः समिन्धे' (श० ६।६।३।३)। तृतीयसमिधो वृक्षविशेषं विधाय प्रशंसति—अथौदुम्बरीमादधाती-त्यादिना। देवासुरेषु परस्परं स्पर्धमानेषु सर्वेऽपि वनस्पतयोऽसुरानेवाभ्युपेयुः। उदुम्बर एक एव देवान्न जहौ। पश्चाद्देवा असुरान् जित्वा तेषां तेभ्यः सकाशाद् वनस्पतीनवृञ्जत वर्जितानकुर्वन्। पश्चात्ते देवा तेषु वनस्पतिषु विश्वासमकृत्वा वनस्पतिषु य ऊर्क् रसः सारांशस्तमुदुम्बरे स्थापयाम इति परस्परमुक्त्वा उदुम्बर एव स्थापितवन्तः। एवं कुर्वतामभिप्रायमाह—ते यदि अपक्रामेयुस्तदा दुग्धधेनुवत्, ऊढबलीवर्दवच्च गतसारा एवापक्रमेयुः। तया स्थापितयोर्जा सर्वेषां प्रतिनिधित्वेन पच्यते परिपक्वबहुफलो भवतीत्यर्थः। प्रतेः कर्मप्रवच-नीयत्वात् तद्योगाद् वनस्पतीनित्यत्र द्वितीया। उक्तमर्थं प्रत्यक्षेण द्रढयति—तस्मात्स सर्ववनस्पतिप्रतिनिधित्वात् सर्वान्नाद्यात्मकः। 'परमस्याः परावत इति। या परमा परावदित्येतद्रोहिदश्व इहागहीति रोहितो ह्यग्नेरश्वः पुरीष्यः पुरुप्रिय इति पशव्यो बहुप्रिय इत्येतदग्ने त्वं तरा मृध इत्यग्ने त्वं तर सर्वान् पाप्मन इत्येतत्' (श० ६।६।३।४)। तस्याः समिध आधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—परमस्याः परावत इति। हे अग्ने, या परमा उत्कृष्टा परावद् दूरनामैतत्। मन्त्रव्याख्यानेन गतार्थं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, या परमा उत्कृष्टा परावत् अतिदूरं वसतिरस्ति त्वदीया, 'दूरात्सुदूरे' (मु० ३।१।७) इति मुण्डकोपनिषदि, 'तद्दूरे' (ई० उ० ५) इति ईशावास्योपनिषदि च। ततः सकाशान्मम

हृदयकमलमागहि आगच्छ। हे रोहिदश्व रोहितो लोहितवर्णो रजोगुण एव अश्व इवाश्वो यस्य स रोहिदश्व-स्तत्सम्बुद्धौ। रजोगुणारूढत्वादौपाधिकं दूरत्वमन्तिकत्वं वा भगवतः। कीदृशस्त्वम्? पुरीष्यः पशव्यः सर्वजीव-रूपपश्वनुगुणः। पुरुप्रियः अनन्तानन्तप्राणिपरप्रेमास्पदीभूतः। हे अग्ने, त्वं मृधः संग्रामान् संघर्षान् पाप्मनो वा तर निरसय।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने पावक इव तेजस्विन् स्वामिन्, रोहितोऽग्न्यात्मकोऽश्वो वाहनानि यस्य सः, पुरीष्यः पुरीषेषु पालनेषु साधुः, पुरुप्रियः पुरूणां बहूनां जनानां मध्ये प्रियः प्रीतस्त्वमिह परावतो दूरदेशात् परमस्याः कन्यायाः कीर्तिं श्रुत्वा आगहि। मया प्राप्तया सह मृधः परपदार्थाभिकाङ्क्षिणः शत्रून् तर उल्लङ्घय' इति, तदप्य-सङ्गतम्, मुख्यार्थत्यागेन गौणार्थाश्रयणात्। रोहिच्छब्दो नाग्न्यादिबोधकः, तत्र तस्याशक्तेः। परमस्याःशब्देन कन्याया ग्रहणे मानाभावाच्च। अग्नियुक्तवाहनार्थकता तु दूरतो निरस्ता। नहि दूरदेशात् स्वगृहे गृहस्थाश्रमे वा आगमनं भवति। मया प्राप्तया सहेति त्वसम्बद्धमेव। न च स्त्रीभिः सह संग्रामे गमनं भवति, पुरुषाणामभाव एव क्वचित् तासामुपयोगसम्भवात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च, औदुम्बर्याः समिध आधाने मन्त्रस्य विनियोगात्। निघण्टौ रोहितोऽग्नेरश्व उक्तः। श्रुतौ मृधः सर्वान् पाप्मन इत्युक्तम्॥ ७२॥

यद॑ग्ने॒ कानि॒ कानि॑ चि॒दा ते॒ दारू॑णि द॒ध्मसि॑।
सर्व॒ तद॑स्तु ते घृ॒तं तज्जु॑षस्व यविष्ठ्य॥ ७३॥

मन्त्रार्थ—युवा पुरुष के समान कान्ति वाले हे अग्निदेव, जो कोई भी काष्ठ तुम्हारे निमित्त अर्पित किया जाय, वह सब तुमको घृत के समान प्रिय हो, उसका प्रीतिपूर्वक सेवन करो॥ ७३॥

'अपरशुवृक्णां यदग्न इति' (का० श्रौ० १६।४।३८)। अकुठारच्छिन्नां वातादिना हस्तादिना वा भग्नां यज्ञियवृक्षसमिधं चतुर्थीं यदग्न इति मन्त्रेण आदध्यादिति सूत्रार्थः। द्वे अनुष्टुभौ जमदग्नेरार्षम्। हे अग्ने, त्वदर्थं यद् यानि कानि कानिचिद् दारूणि कुठारच्छेदरहितानि वातहस्तादिदारितानि काष्ठानि कानिचिदरण्ये पतितानि काष्ठान्यानीय दध्मसि धारयामः, तत्सर्वं काष्ठजातं त्वदर्थं घृतं घृतवत्प्रियमस्तु। हे यविष्ठ्य युवतम तद्दारुजातं जुषस्व सेवस्व यद्वा यच्छब्दो दध्मसीत्यनेन सम्बद्ध्यते। यद् यदा दध्मसि दध्मः। चिच्छब्दोऽनवक्लृप्तौ। असाकल्यार्थ इत्यर्थः। कानिचिद् दारूणि ते त्वयि आदध्मसि आदध्मः, तत्सर्वं घृतमस्तु घृतवत्प्रियमस्तु। तद् घृतत्वेन कल्पितं यत्किञ्चित्काष्ठं जुषस्व सेवस्व।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथापरशुवृक्णमादधाति। जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायत एतद्वैकमन्नं यदपरशुवृक्णं तेनैनमेतत्प्रीणाति यदग्ने कानिकानि चिदा ते दारूणि दध्मसि। सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्येति यथैव यजुस्तथा बन्धुस्तद्यत्किञ्चापरशुवृक्णं तदस्मा एतत्स्वदयति तदस्मा अन्नं कृत्वाऽपि-दधाति' (श० ६।३।३।५)। चतुर्थसमिदाधानं विधाय प्रशंसति—अथेत्यादिना। परशुना अच्छिन्नस्य वाय्वादिना भग्नस्य तस्याधाने प्रयोजनमाह—स एष सर्वस्मा इति। कथमस्य अन्नत्वमित्यत आह—एतद्वैकमन्नमिति। अपरशुवृक्णमप्यन्नेषु मध्ये 'एकमन्नम्' इति। तत्र मन्त्रं विधाय तस्य व्याख्यानानपेक्षत्वमाह—यदग्ने कानिकानि-चिदित्यादिना। तात्पर्यार्थमाह—तद् यत्किञ्च अपरशुवृक्णं तदस्मा एतत्स्वदयति तदस्मा अन्नं कृत्वाऽपिदधातीति। अस्मै शिशुरूपायाग्नये तथा लौकिकशिशोर्नवनीतादिकमन्नं कृत्वा आस्येऽपिदधाति, तथा कृतवान् भवतीति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, कानिकानिचिद् दारूणि दारूपलक्षितानि पत्रपुष्पफलादीनि ते तुभ्यमादध्मसि धारयामः, तत्सर्वं ते तुभ्यं घृतवत्प्रियं भवतु। हे यविष्ठच, अतिशयेन युवा यविष्ठः, यविष्ठ एव यविष्ठ्यः, तत्सम्बुद्धौ। तत्सर्वं जुषस्व प्रीतिपूर्वकं सेवस्व, 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥' (भ० गी० ९।२६) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे यविष्ठ्य अग्ने विद्वन् पुरुष स्त्रि वा, यथा यानि कानिचिद्वस्तूनि ते सन्ति तद्द्वयं दारुण्यादध्मसि। यदस्माकं वस्त्वस्ति तत्सर्वं तेऽस्तु। यदस्माकं घृतं तत् त्वं जुषस्व। यत्ते वस्त्वस्ति तत्सर्वमस्माकमस्तु। यत्ते घृतादिकं वस्तु तद्वयं गृह्णीमः' इति, तदपि निरर्थकम्, वस्तूनां काष्ठपात्रधारणप्रयोजनानुक्तेः। मूले घृतमित्येव पदमस्ति, न वस्तुपदं न वादिपदम्। 'मे' इति पदमपि तत्र नास्ति। तथा च मोघैव श्रुतिसूत्रविरुद्धकल्पना। किञ्च, मूले 'दारूणि' इति प्रथमाबहुवचनान्तपाठोऽस्ति, न तु सप्तम्येकवचनान्तपाठः। तथा च 'दारुणि काष्ठपात्रे' इति सर्वथाप्ययथार्थमेव व्याख्यानम्। पारम्पर्यप्राप्त एव पाठोऽनुश्रवः। गुरोर्मुखादनुश्रूयत एव परं न केनापि क्रियते। तद्विरुद्धकल्पनमुच्छृङ्खलतैव। अत एव तदनुगुणानि कानिकानिचिदिति विशेषणानि सङ्गच्छन्ते। सायणादिभिस्तथैव व्याख्यातं च। 'अपरशुवृक्णमादधाति' इति ब्राह्मणं च तदनुगुणमेव। नहि काष्ठपात्रमवदारणीयं भवति ॥ ७३ ॥

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ७४ ॥

दीमक जिस काष्ठ को खा जाती है, वल्मीक जिस काष्ठ से पार हो निकलती है, हे तरुण अग्ने, वह समिधा तुमको घृतवत् प्रिय हो, उसका प्रीतिपूर्वक सेवन करो ॥ ७४ ॥

'अधःशयां यदत्तीति' (का० श्रौ० १६।४।३९)। अधो निम्नप्रदेशे शेते इत्यधःशया भूलग्ना, स्वयमेव भूमौ निपतिता, तां समिधं पञ्चमीं यदत्तीति मन्त्रेणादधातीति सूत्रार्थः। उपजिह्विका उपदीपिका पिपीलिकासदृशः क्षुद्रजीवो यद्दारु अत्ति भक्षयति, अधःशयत्वादेव, वम्रो वल्मीकश्च यद्दारुअतिसर्पति अतिव्याप्नोति, तत्सर्वं ते घृतमस्तु। यद्वा प्रौढा प्रधाना ज्वाला जिह्वा, तत्समीपवर्तिनी क्षुद्रज्वालोपजिह्विका। अस्माभिरुपनीतेषु दारुषु मध्ये यद्दारु महारण्ये दावाग्नेरुपजिह्विका अत्यल्पज्वाला अत्ति भक्षयति, ईषद्दहति। वम्रशब्दः पिपीलिकासदृशं क्षुद्रजीवमाचष्टे। स च यत्काष्ठमतिसर्पति अतिशयेन व्याप्नोति, काष्ठावयवेषु तत्र तत्र सारं भक्षयति, तत्सर्वं ते घृतमस्तु। हे यविष्ठ्य तज्जुषस्व।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथाधःशयमादधाति। जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायत एतद्वेकमन्नं यदधःशयं तेनैनमेतत्प्रीणाति यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पतीत्युपजिह्विका वा हि तदत्ति वम्रो वाऽतिसर्पति सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्येति यथैव यजुस्तथा बन्धुस्तद्यत्किञ्चाधःशयं तदस्मा एतत्स्वदयति तदस्मा अन्नं कृत्वाऽपिदधाति' (श० ६।६।३।६) पञ्चम्याः समिध आधानं विधाय प्रशंसति—अथाधःशयामादधातीत्यादिना। अधो भूमेरुपरि स्वयमेव पतितः सन् यः शेते स अधःशयः। उपजिह्विका उपदीपिका अत्ति, वम्रो वल्मीको वा यत्काष्ठमुपसर्पति आरोहति। मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—तद्यत्किञ्चाधःशयमित्यादिना। अपरशुवृक्णाधःशययोर्वृक्षविशेषाविधानात् प्रकृतमुदुम्बरत्वमेव तयोरित्यवगन्तव्यम्।

अध्यात्मपक्षे - हे अग्ने, उपजिह्विका यदत्ति यच्च वम्रोऽतिसर्पति, तादृशमपि प्रेम्णा समर्पितं काष्ठं पत्रपुष्पादिकं ते तव घृतं घृतवत्प्रियमस्तु। हे यविष्ठच तज्जुषस्व। 'पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः' (भा० पु० ११।६।१२) इति श्रीमद्भागवते ब्रह्मादयो देवाः। अर्थाद् अग्राह्यमपि सर्वैरुपेक्ष्यमपि भावनया मन्त्रैश्च समर्पितं वस्तु भगवतेऽमृतं भूत्वोपतिष्ठते। तत एव वैदिकेषु कर्मसु स्वरूपलक्षणस्य काष्ठविशेषस्य विधिघसमिदादीनां होमो भवति। भावनाप्रभावान्मन्त्रप्रभावाच्च तत्सर्वं घृतायते अमृतायते चेति देवतानिरूपणप्रसङ्गे भूमिकायामुक्तमेव।

दयानन्दस्तु—'हे यविष्ठ्य, त्वम् उपजिह्विका उपगता अनुकूला जिह्वा यस्याः पत्न्याः सा यदत्ति भुङ्क्ते। वम्रो उद्गलितोदानः, अतिसर्पति अत्यन्तं चलति, तत्सर्वं तेऽस्तु। यत्ते घृतमस्ति तज्जुषस्व' इति, तदपि मन्दम्, अस्पष्टार्थत्वात्। हे युवतम, त्वं जितरसना पत्नी च यदत्ति मुखोद्गलितप्राणवायुश्चात्यन्तं चलति, तत्तेऽस्त्वित्यस्य किं तात्पर्यमित्यनुक्तेः। भावार्थस्तु सर्वथा मन्त्राक्षरबहिर्भूत एव ॥ ७४ ॥

अह॑रहरप्रयावं॒ भर॑न्तोऽश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते घा॒सम॑स्मै।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ समि॒षा मद॑न्तोऽग्ने॒ मा ते॒ प्रति॑वेशा रिषाम ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, तुम्हारे आश्रय में रहने वाले हम निरन्तर अप्रमत्त भाव से, पूरी सावधानी के साथ, आपके निमित्त समिधा रूप से हवि देते रहें, जैसे कि वाजिशाला में स्थित घोड़ों को घास दी जाती है। इससे हमारे धन की पुष्टि हो और अन्न की प्राप्ति से होने वाला हर्ष कभी नष्ट न हो ॥ ७५ ॥

'पालाशीः प्रत्यृचमहरहरिति' (का० श्रौ० १६।४।४०)। त्रयोदशसंख्यासु समित्सु मध्ये 'द्रवन्नः' इत्यादिभिर्मन्त्रैः कार्मुक्यादीन् पञ्च समिद्विशेषान् सन्धाय, इत उत्तरे 'अहरहः' इत्यादिकैर्मन्त्रैः क्रमेण पलाशसम्बन्धिनीः समिध आदध्यादिति सूत्रार्थः। द्वे त्रिष्टुभौ नाभानेदिष्ठदृष्टे। हे अग्ने, ते तव प्रतिवेशाः प्रातिवेशिकाः प्रत्यासन्नास्त्वदुपाश्रिता वयं मा रिषाम हिंसनं मा प्राप्नुम। किं कुर्वन्तः? रायस्पोषेण धनपुष्ट्या इषा अन्नेन च मदन्तो हर्षं कुर्वन्तस्त्वामुत्साहयन्तः। तथा अहरहः प्रतिदिनमप्रयावं प्रमादमकृत्वा एकमपि दिनं प्रमादं वर्जयित्वा अस्मै अग्नये घासं समिद्रूपं भक्ष्यं भरन्तः सम्पादयन्तः। कथमिवेति दृष्टान्तमुच्यते—तिष्ठतेऽश्वाय वाजिशालायां बद्ध्वा स्थापिताय प्रौढायाश्वाय एकमपि दिनं प्रमादं वर्जयित्वा यथा घासं प्रयच्छन्ति तत्सेवकास्तद्वत्। प्रयवणं प्रयावः। 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' इत्यस्य घञि रूपम्। नास्ति प्रयावः प्रमादो यस्यां क्रियायां तदिति क्रियाविशेषणम्।

अत्रोव्वटाचार्यः - द्वितीयचतुर्थपादयोर्विरोधः। अश्वायेति तिष्ठते घासमस्मै। अत्र तिष्ठते अस्मै इति द्वे पदे परोक्षमग्निं ब्रूतः। तथाग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषामेति अग्ने ते इति प्रत्यक्षमग्निं ब्रूतः। न च वाक्यभेदेनार्थभेदः सम्भवति, अतो लक्षणया व्याख्यानम्। अहरहरप्रमत्तं भरन्त आहरन्तः अशनानि। कथमिव? अश्वायेवेति। अश्वस्येव वयं घासं यवसं स्थापयन्तः। अस्मै तव रायस्पोषेण दक्षिणालक्षणेन धनस्य पोषणेन समदन्त उत्साहयन्तः। इषा अन्नेन त्वां हे अग्ने मा रिषाम ते तव प्रतिवेशिकाः, त्वदाश्रया इत्यर्थः। अध्याहारेण वा व्याख्यायते—अप्रमत्ता आहरन्तोऽशनानीति।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैता उत्तराः पालाश्यो भवन्ति। ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैवैनमेतत्समिन्धे यद्वेव पालाश्यः सोमो वै पलाश एषो ह परमाहुतिर्यत्सोमाहुतिस्तामस्मिन्नेतज्जुहोति तयैनमेतत्प्रीणाति' (श० ६।६।३।७)। इत्थं पञ्चसमिधां विलक्षणतां विधाय उत्तरासामष्टानां समिधां पलाशैकद्रव्यतामाह—अथैता उत्तराः पालाश्यो भवन्तीति। पलाशं ब्रह्मत्वेन सोमत्वेन च प्रशंसति—ब्रह्म वै पलाश इत्यादिना। 'देवा वै ब्रह्मन्नवदन्त तत् पर्ण उपाशृणोत्' (तै० सं० ३।५।७।२) इति श्रुतेर्ब्रह्मत्वं पलाशस्य। 'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्, तं गायत्र्याहरत्, तस्य पर्णमच्छिद्यत तत्पर्णोऽभवत्' (तै० सं० ३।५।७।१) इति श्रुतेः। पलाशस्य सोमावयवत्वात् 'सोमो वै पलाश' इत्युक्तम्। 'अहरहरप्रयावं भरन्त इति। अहरहरप्रमत्ता आहरन्त इत्येतदश्वायेव तिष्ठते घासमस्मा इति यथाश्वाय तिष्ठते घासमित्येतद्रायस्पोषेण समिषा मदन्त इति रय्या च पोषेण च समिषा मदन्त इत्येतदग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषामेति यथैवास्य प्रतिवेशो न रिष्येदेवमेतदाह' (श० ६।६।३।८)। समिदाधानस्य षष्ठं मन्त्रं विभज्य व्याचष्टे—अहरहरप्रयावमित्यादिना। मिश्रणनिषेधवाचिना अप्रयावशब्देन तद्विनाभूतोऽप्रमादलक्षणोऽर्थो विवक्षितः। भरन्त इति शब्दस्य समिदाहरणमर्थ इत्युक्तम्। द्वितीयभागेन दृष्टान्तोऽभिधीयते—यथाश्वायेत्यादिना। यथा गृह एव निवसते जात्यश्वाय घासं बालतृणादिकमाहरन्ति तथास्मा अग्नय इत्यर्थः। तृतीयभागे रायस्पोषेणेत्यत्र धनस्य पुष्ट्या इत्येवंरूपोऽर्थो यद्यपि प्रतिभाति, तथापि राय इति निर्देशबलादेव अपुष्टस्य धनस्य सिद्धेः शरीरादिपोषरूपोऽर्थः पृथगेव विवक्षित इत्यभिप्रेत्य रय्या च पोषेण चेति पृथक्तया ब्राह्मणे व्याख्यातम्। न केवलं रय्या पोषेण च, किन्तु इष्टान्नेन च सम्मदन्तो वयं भरिष्याम इत्युत्तरत्रानुषङ्गः। चतुर्थभागस्य तात्पर्यमाह—अग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषामेति। प्रतिवेशो नाम स्वगृहेऽलभ्यमानस्य पदार्थस्य आनयनायोचितं स्वगृहनिकटवर्ति मित्रादिगृहम्। अत्र तद्वान् विवक्षितः। अथास्याग्नेरभिमतहविःप्रदाता प्रतिवेशो यजमानो न रिष्येद् न हिंस्यात्, एवमनुगृहाणेत्येवंरूपमर्थमयं मन्त्रभाग आहेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, अग्निवद् देदीप्यमान परमेश्वर विश्वनाथ विष्णो वा, वयमहरहः प्रतिदिनं सततमप्रयावमप्रमत्ता अस्मै प्रत्यक्षाय प्रत्यक्चैतन्याभिन्नाय तुभ्यं भरन्तो विविधानि हवींषि षट्पञ्चाशद्विधविभक्तं विविधं नैवेद्यं घासमिव हरन्तः सन्तो मा रिषाम मा विनश्येम। विविधैरुपहारैर्भगवतः समर्हणमेवाविनाश-लक्षणस्य क्षेमस्य असाधारणं कारणम्। अत एवाप्रमादेन भगवत्समर्हणपरायणतैव युक्ता। कीदृशा वयम्? रायस्पोषेण ऐहिकामुष्मिकधनस्य पुष्ट्या समीचीनेन इषा अभीष्टेनान्नेन मदन्तो हर्षं कुर्वन्तः, गुणगानादिना भवन्तमुत्साहयन्तः। पुनः कीदृशाः ? प्रतिवेशाः प्रत्यासन्ना भवतोंऽशत्वेन भवदीयत्वाद् भवदुपाश्रिताः। कथमिवेत्यपेक्षायां दृष्टान्तः—अश्वायेव तिष्ठते। यथा अप्रमादेन प्रतिदिनं स्वगृहे स्थिताय अभीष्टायाश्वाय तत्सेवका घासं हरन्ति तद्वत्। रागानुगायाः प्रीतेर्बोधनाय रागास्पदीभूतोऽश्वो दृष्टान्तेनोपादीयते। जना यथा रागास्पदमश्वमप्रमादेन प्रतिदिनं घासं हरन्ति, तथैवाप्रमादेन वयं प्रतिदिनं भवतेऽतिप्रियमुपहारं हराम इत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन् पुरुष, अहरहः प्रतिदिनं यथाश्वाय तिष्ठते वर्तमानाय अस्मै गृहाश्रमाय अप्रयावं प्रयुवत्यन्यायं यस्मिन् स प्रयावः, न विद्यते प्रयावो यस्मिन् गृहाश्रमयोग्ये तम्। घासं भक्ष्यं भरन्तो धरन्तः। रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या इषा अन्नादिना समदन्तो हर्षन्तः प्रतिवेशाः प्रतीता वेशा धर्मप्रवेशा येषां ते वयं ते ऐश्वर्यं मा रिषाम न हिंस्याम। लिङर्थे लुङ्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदेन साधारणविद्वत्पुरुष-सम्बोधने मानाभावात्। अप्रयावमिति पदेन यत्किञ्चिदर्थग्रहणं निरर्थकमेव, श्रुत्यान्यथा व्याख्यानात्। तथैव प्रतीता वेशा धर्मप्रवेशा येषां ते प्रतिवेशा इत्यादिव्याख्यानमपि निर्मूलमेव ॥ ७५ ॥

नाभा पृथिव्याः समिधाने अग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम् ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी की नाभिस्वरूप उखा के मध्य में दीप्यमान आहवनीय नामक अग्नि के प्रज्ज्वलित होने पर अन्न से तृप्त होने वाले, बड़े शस्त्र स्तोत्र वाले, यज्ञ में पूजन के योग्य, संग्रामों को जीतने वाले और शत्रुओं का निरादर करने वाले अग्नि के अधिष्ठात्री देवता का धन और ऐश्वर्य की पुष्टि के निमित्त हम इस यज्ञ में आवाहन करते हैं ॥ ७६ ॥

पृथिवीरूपाया उखाया नाभा नाभौ, विभक्तेराकारः, मध्ये। समिधाने सम्यग् दीप्यमाने, अग्नौ आहवनीयाख्ये, अग्निं तदभिमानिनं देवं वयं हवामहे आह्वयामः। किमर्थम् ? बृहते रायस्पोषाय महते धनपोषणाय। कथम्भूतमग्निम् ? इरम्मदम् इरया अन्नेन घृतादिना माद्यति तृप्यति तुष्यतीति इरम्मदस्तम्, 'उग्रम्पश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च' (पा० सू० ३।२।३७) इति निपातनात् खश्। बृहदुक्थं बृहन्ति महान्ति उक्थानि प्रशंसनानि शस्त्राणि यस्य तम्। यजत्रं यजनीयम्। पृतनासु संग्रामेषु जेतारं जयशीलम्। सासहिं सहते अभिभवति प्रतिपक्षानिति सासहिस्तम्, सोढारं शत्रूणामभिभवितारम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'नाभा पृथिव्याः समिधाने अग्नाविति। एषा ह नाभिः पृथिव्यै यत्रैष एतत्समिध्यते रायस्पोषाय बृहते हवामह इति रय्यै च पोषाय च बृहते हवामह इत्येतदिरम्मदमितीरया ह्येष मत्तो बृहदुक्थमिति बृहदुक्थो ह्येष यजत्रमिति यज्ञियमित्येतज्जेतारमग्निं पृतनासु सासहिमिति जेता ह्यग्निः पृतना उ सासहिः' (श० ६।६।३।९)। अथ तेषु सप्तमसमिदाधानमन्त्रं विभज्य व्याचष्टे—नाभा पृथिव्या इत्यादिना। यत्र यस्मिन् देशे एषोऽग्निः, एतद् एतेन प्रकारेण समिध्यते, एष प्रदेशः पृथिव्या नाभिरुच्यते। अग्नावित्याहवनीयविषयोऽग्निशब्दः, जेतारमित्यधिष्ठातृविषयः।

अध्यात्मपक्षे—पृथिव्या जगत्या ब्रह्माण्डलक्षणाया नाभौ मध्ये भारतवर्षे समिधाने देदीप्यमानेऽग्नौ प्रकाशमयेऽयोध्यावृन्दावनादौ हृदये वा अग्निं भगवन्तमग्निवत्प्रकाशं सगुणं साकारं श्रीरामं श्रीकृष्णं वा हवामहे आह्वयामः। किमर्थम् ? रायो धनस्य बृहते प्रौढाय पोषणाय। कीदृशमग्निम् ? इरम्मदम् इरया भक्तसमर्पितेन प्रेमपरिप्लुतेन सितानवनीतादिना माद्यति तृप्यतीति इरम्मदस्तम्। बृहदुक्थं बृहन्ति महान्ति उक्थानि स्तवानि यस्य तम्। यजत्रं यजनीयम्। पृतनासु संग्रामेषु जेतारं रावणादिजयशीलम्। सासहिं शत्रूणामभिभवितारम्।

दयानन्दस्तु—'हे गृहिणः, यथा वयं बृहते रायस्पोषाय पृथिव्या नाभौ मध्ये समिधाने सम्यक्प्रदीप्तेऽग्नौ पृतनासु सेनासु सासहिम् अतिशयेन सोढारम् इरम्मदं य इरया अन्नेन माद्यति हृष्यति तं बृहदुक्थं बृहन्महद् उक्थं प्रशंसनं यस्य तं यजत्रं संगन्तव्यं जेतारं जयशीलं सेनापतिं हवामहे, तथा यूयमप्याह्वयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निं प्रत्यक्षनिर्दिष्टमपहाय सेनापतेर्विशेष्यत्वकल्पने मानाभावात्। गृहिण इति सम्बोधनमपि निर्मूलमेव ॥ ७६ ॥

याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत ।
ये स्तेना ये च तस्करास्तांस्ते अग्नेऽपिदधाम्यास्ये ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—जो शत्रु की सेना हमारे सामने आने वाली है, जो सेना हमारा सब प्रकार से ताड़न करने वाली है, जो शस्त्रधारी डाकू हमको लूटने वाले हैं, हे अग्ने ! उन सबका नाश करने के लिये तुम्हारे प्रज्वलित मुख में मैं उनकी आहुति देता हूँ ॥ ७७ ॥

इत आरम्भ षट्कण्डिका अनुष्टुभः । याः सेना याः काश्चित् परकीयसेनाः । अभीत्वरीः अभि अभितो यन्ति आगच्छन्तीति अभीत्वर्यः, अस्मदाभिमुख्येनागमनशीलाः । विभक्तिव्यत्ययः । 'इण् गतौ' इत्यस्मात् 'इणनशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' (पा० सू० ३।३।१६३) इति क्वरपि 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) इति तुगागमे 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्' (पा० सू० ४।१।१५) इति ङीपि रूपम् । आव्याधिनीर् आसमन्ताद्विध्यन्तीत्याव्याधिन्यः सर्वतोऽस्मान् पीडयन्त्यः । अत्रापि विभक्तिव्यत्ययः । उतशब्दोऽप्यर्थः । उत अपि च या उगणा उद्गूर्णगणा उत्कृष्टतेजस्विगणोपेता उद्यतायुधगणोपेता इत्यर्थः । एवंविधा याः सेनाः सन्ति । अपि च ये तेना गुप्तचौराः, ये च तस्कराः प्रकटचौराः । 'तस्करः । तत्करोति यत्पापकम्' (नि० ३।१४) इति निरुक्तात् । तान् सर्वान् स्तेनादीन् हे अग्ने, तवास्ये मुखे अपिदधामि प्रक्षिपामि । भक्षणायेति शेषः ।

अत्रत्यं ब्राह्मणं पश्चादुद्धरिष्यते ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर नृसिंह ! शेषं व्याख्यानं मन्त्रव्याख्यानवत् । तान् सर्वांस्तव आस्ये प्रक्षिपामि ।

दयानन्दस्तु—'हे सभासेनापते, यथाहं या अभीत्वरीर् आभिमुख्यं राजविरोधं कुर्वतीः, आव्याधिनीर् आसमन्ताद्बहुरोगयुक्तास्ताडयितुं शीला वा, उगणा उद्यतायुधसमूहाः सेनाः सन्ति ताः, उत ये स्तेना ये च तस्कराः सन्ति, तांस्ते अस्याग्नेः पावकस्यास्येऽपिदधामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजविरोधमित्यध्याहारस्य निर्मूलत्वात् । अग्नेरित्यस्य पावकस्येति व्याख्यानमपि निर्मूलम् । 'ते' इत्यस्य स्थाने 'अस्य' इति व्यत्ययेऽपि मन्त्रस्य किमपि व्याख्यानं स्यात्तदाऽव्यवस्थैव स्यात् ॥ ७७ ॥

दꣳष्ट्राभ्यां मलिम्लूञ्जम्भ्यैस्तस्कराँ२ उत ।
हनूभ्याꣳ स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान् ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निस्वरूप परम ऐश्वर्य सम्पन्न परात्पर परमेश्वर, जो व्यक्ति गाँव में प्रकट भाव से चोरी करते हैं, उनको अपनी दाढ़ों से और जो निर्जन स्थान में दस्युवृत्ति करते हैं, उन तस्करों को आगे के दाँतों से और सामान्य चोरों को अपनी ठोड़ी से पीड़ित करो । ये सब पूरी तरह से नष्ट करने योग्य हैं, इन सबको निर्जीव बनाकर खा जाओ ॥ ७८ ॥

दंष्ट्राभ्यां दंशनशीलाभ्यां दृढाभ्यां मलिम्लून् मलिम्लुचो गूढाः सन्तः स्तेनतया म्लोचन्ति अदृश्या भवन्तीति मलिम्लुचः, उत अपि, तस्करान् परद्रव्यापहरणकारिणः, जम्भ्यैः जम्भनाहैर् उपर्यधोवृत्तिभिः पुरोदन्तैः, तैः खाद । हे भगवः ! हे भगवन्, षड्गुणैश्वर्य अग्ने, हनुभ्यां हननशीलाभ्यां स्तेनान् सुखादितान् यथा ईषदपि न परिशिष्यते, तथा सुष्ठु खादितान् कृत्वा खादेत्यर्थः ।

'गुप्ताः प्रकटाश्चेति द्विविधाश्चौराः । प्रकटा अपि द्विविधाः—अरण्ये मार्गे च प्रहृत्य पलायमानाः प्रकटाः, ततोऽप्यप्रकटाः निर्भयाः । ग्रामेष्वेवागत्य धनापहारिणो मलिम्लुचः । मलं पापाधिक्यमेषामस्तीति मलिनाः, तथाविधा भूत्वा ये म्लोचन्ति जने वने वा अदृश्या भवन्ति ते मलिम्लुचः । ····दन्तपङ्क्तिमध्ये याभ्यां दन्ताभ्यां क्रमुकादिकं भक्ष्यते, ते दंष्ट्रे राक्षसिके । ततः पुरोवर्तिनो बहिर्दृश्यमाना दन्ता जम्भ्या जम्भावृत्तिमुपाश्रिताः । दन्तहीने तु हनू । तथा च दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून् पीडयित्वा जम्भ्यैस्तस्करान् पीडयित्वा हनुभ्यां स्तेनान् पीडयित्वा हे भगवन् ऐश्वर्ययुक्त, तान् सर्वान् सुखादितान् पुनर्जीवनरहिता यथा भवन्ति तथा खाद' इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर नृसिंह, दंष्ट्राभ्यां मलिम्लवादीन् पूर्वोक्तान् दंष्ट्रा-जम्भ्य-हनुभिः सुखादितान् खाद । यद्वा मलिम्लवादीन् कामक्रोधादिचोरभेदान् दंष्ट्रादिभिः शमदमादिभिः समूलमुन्मूलय व्यापादय ।

दयानन्दस्तु—'हे भगवः सभासेनेश, यथा त्वं जम्भ्यैः जम्भेषु मुखेषु भवैः जिह्वादिभिः दंष्ट्राभ्यां तीक्ष्णाग्राभ्यां दन्ताभ्यां यान् मलिम्लून् मलिनाचारान् सिंहादीन् तस्करान् चौरान् चौर इव वर्तमानान् हनुभ्यामोष्ठमूलाभ्यां सुखादितान् अन्यायेन परपदार्थानां भोक्तॄन् स्तेनान् परपदार्थापहर्तॄन् खाद विनाशयेः, तान् वयमुत विनाशयेम' इति, तदपि वेदाक्षरबाह्यमेव, तादृशसम्बोधने मानाभावात् । न च सभासेनेशादयो मनुष्या जम्भ्यैर्दंष्ट्राभ्यां हनुभ्यां मलिम्लून् तस्करान् वा विनाशयन्ति । न वा सामान्यजनास्ताननुकुर्वन्ति ॥७८॥

ये जनेषु मलिम्लवः स्तेनासस्तस्करा वने ।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ—जो ग्रामवर्ती मनुष्यों के आस-पास पूर्वोक्त मलिम्लुच और स्तेन नाम से प्रसिद्ध गुप्त चोर हैं, जो वन में निर्जन प्रदेश में विचरण करते हैं, तस्कर के नाम से प्रसिद्ध चोर हैं, जो नदी-पर्वत आदि गहन स्थानों में पापाभिलाषी लोभ से मनुष्यों के प्राण हरने वाले हैं, हे अग्ने ! उन सबको मैं तुम्हारी दाढों के बीच में भक्षण के लिये स्थापित करता हूँ ॥ ७९ ॥

ये जनेषु ग्रामवर्तिषु मलिम्लवो मलिम्लुचः, स्तेनासः स्तेनाः, 'आज्जसेरसुक्' (पा० सू० ७।१।५०) इत्यसुगागमः, गुप्तचौरा इत्यर्थः । ये च तस्कराः प्रकटचौराः । ये च वने वनाश्रितास्तस्कराः । तथा ये कक्षेषु नदीपर्वतकुहरेषु, अघायवः । अघं पापं परस्य हिंसनमिच्छन्तीत्यघायवः, तान् तव जम्भयोर्दधामि । 'छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्' (पा० सू० ३।१।८) इति सूत्रीयं भाष्यवार्त्तिकम् । ग्रामवर्तिषु जनेषु वने गच्छत्सु सत्सु येऽनेकविधाः पूर्वोक्ताश्चौराः सन्ति, ये चान्ये व्याघ्रादयः कक्षेषु कुञ्जेषु स्थित्वा अघायवो भवन्ति परेषामघं पापं हिंसनमिच्छन्ति ये, तान् सर्वान् तव जम्भयोर्दधामि ।

अध्यात्मपक्षे—हे नृसिंह, ये जनेषु मलिम्लुचः, ये स्तेनासः, तांस्ते जम्भयोर्दंष्ट्रयोर्दधामि ।

दयानन्दस्तु—'हे सभेश, सेनापतिरहं ये जनेषु मलिम्लवो ये मलिनाः सन्तो म्लोचन्ति गच्छन्ति, ते स्तेनासो गुप्ताश्चौरा ये वने तस्कराः प्रसिद्धा, ये च कक्षेषु सामन्तेषु, अघायव आत्मनोऽघेन पापेनायुरिच्छवः, तान् ते जम्भयोर्बन्धने मुखमध्ये ग्रासमिव दधामि, इति, तदपि तुच्छम्, सेनाध्यक्षस्य व्यात्ते मुखे मलिम्लवादीनां प्रक्षेपासम्भवात्, तथा व्यवहारादर्शनाच्च, तादृशसम्बोध्यस्याप्रामाणिकत्वाच्च । अघेनायुरिच्छव इति व्युत्पत्तिरपि चिन्त्या ॥ ७९ ॥

यो अ॒स्मभ्य॑मरातीया॒द्यश्च॑ नो॒ द्वेष॑ते॒ जनः॑ ।
निन्दा॒द्यो अ॒स्मान्धिप्सा॑च्च॒ सर्वं॒ तं म॑स्म॒सा कु॑रु ॥ ८० ॥

मन्त्रार्थ—जो मनुष्य हमसे शत्रुता करे, जो हमारे देय धन को वापस न करे, जो हमसे द्वेष कर हमारे कार्य को नष्ट करे, जो हमारी निन्दा करे, गुण में दोष देखे और जो हमारे प्राणों को हरने का प्रयत्न करे, उन सभी प्रकार के हमारे शत्रुओं को, निन्दक और हमें मार डालने वाले मनुष्यों को आप भस्म कर दें ॥ ८० ॥

यो मनुष्यो अस्मभ्यमरातीयाद् अरातिरिवाचरेत्, यश्च जनो नोऽस्मान् द्वेषते द्वेष्टि। तथा यः अस्मान् निन्दात् निन्दयति, तथा धिप्साच्च, दभ्नोतेः सन्यभ्यासलोपः, दभितुमिच्छति। हे अग्ने, सर्वमेतच्छत्रुजातं मस्मसा कुरु चूर्णीकुरु। चर्वित्वा भक्षयेत्यर्थः। मस्मसेति शब्दोऽनुकरणे। 'पूर्वं चौरभेदा दर्शिताः। इदानीं शत्रुभेदा उच्यन्ते। ते च त्रिविधाः—अरातयो द्वेषिणो निन्दकाश्च। दातव्यत्वेन प्राप्तं धनं यो न ददाति सोऽयमरातिः। कार्यविघातं यो करोति स द्वेषी। वाग्दौर्जन्यमात्रं यः करोति स निन्दकः। हन्तुकामश्चतुर्थः। क्रमेण तदेवोच्यते—योऽस्मभ्यमरातीयति अरातित्वमिच्छति, यश्च नो द्वेष्टि तत्तत्कार्यनाशेन बाधते, योऽन्यो निन्दति यश्चापरोऽस्मान् धिप्सति यश्च दभितुं हिंसितुमिच्छति, तत्सर्वं मस्मसा कुरु, चूर्णेन जनितस्य शब्दस्यानुकरणं मस्मसेति, चूर्णीकुर्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे नृसिंह, योऽस्मभ्यमरातीयात् शत्रुवदाचरेत्, यश्च नो द्वेष्टि, यश्च निन्दति, यश्च दम्भितुमिच्छति, सर्वमेतमाध्यात्मिकं बाह्यं च शत्रुगणं मस्मसा कुरु चूर्णीकुरु।

दयानन्दस्तु—'हे सभासेनेश, त्वं यो जनोऽस्मभ्यमरातीयात्, यश्च द्वेषते अप्रीतयति, निन्दाच्च निन्देद् यः, योऽस्मान् धिप्साद् दम्भितुमिच्छेत् छलेच्च, तं सर्वं मस्मसा कृत्स्नं भस्मेति भस्मसा कुरु' इति, तदपि तुच्छम्, अप्रामाणिकत्वात्। मस्मसेति पाठो वैदिकसम्मतः। तत्र भस्मसेति पाठपरिवर्तनं तस्य कृत्स्नं भस्मेति व्याख्यानमेतत्सर्वमप्यप्रामाणिकमेव।

एतेषु ब्राह्मणम्—'याः सेना अभीत्वरीः। द९७ष्ट्राभ्यां मलिम्लून्ये जनेषु मलिम्लवो यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च तो द्वेषते जनः। निन्दाद्यो अस्मान्धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुर्विति' (श० ६।६।३।१०)। अथ नवम्याः समिध आधानमन्त्रप्रतीकमुपादत्ते—दंष्ट्राभ्यां मलिम्लूनिति। दशम्याः समिध आधानमन्त्रप्रतीकमुपादत्ते ये जनेषु मलिम्लव इति। एकादश्याः समिधो मन्त्रं पठति—यो अस्मभ्यमिति। 'एतद्वै देवाः। यश्चैनानद्वेड् यं चाद्विषुस्त-मस्मा अन्नं कृत्वाप्यदधुस्तेनैनमप्रीणन्नन्नमहैतस्याभवददहद्दु देवानां पाप्मानं तथैवैतद्यजमानो यश्चैनं द्वेष्टि यं च द्वेष्टि तमस्मा अन्नं कृत्वाऽपिदधाति तेनैनं प्रीणात्यन्नमहैतस्य भवति दहत्यु यजमानस्य पाप्मानम्' (श० ६।६।३।११)। मन्त्रप्रशंसार्थयुक्तं पुरावृत्तमाह—एतद्वै देवा इत्यादिना। एतद् अनेन प्रकारेण पुरा खलु देवा एतान् यजमानान् यश्चाद्वेट् द्वेषमकार्षीत्, यं च यजमाना अद्विषुः द्वेषमकुर्वंस्तमुभयविधं जनम् अस्मै उत्पन्नाय शिशुरूपायाग्नये अन्नं कृत्वा अप्यदधुः मुखे स्थापितवन्तः। तेन अन्नेन एनमग्निमप्रीणन्। अपि च, पश्चात् सोऽग्निर्देवानां पाप्मानं द्वेष्यम् अदहद् भस्मसादकरोत् ॥ ८० ॥

सꣳशि॑तं मे॒ ब्रह्म॒ सꣳशि॑तं वी॒र्यं॑ बल॑म् ।
सꣳशि॑तं क्ष॒त्रं जि॒ष्णु यस्या॒हमस्मि॑ पु॒रोहि॑तः ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, हे परमात्मन्! आपके प्रसाद से मेरा ब्रह्मतेज तीक्ष्ण हुआ। इन्द्रियों की शक्ति और शरीर की शक्ति अपने अपने कार्य में समर्थ हुई। जिसका मैं पुरोहित हूँ, उस यजमान के जयशील क्षात्र तेज को आपने बढ़ाया ॥ ८१ ॥

'उपोत्तमां क्षत्रियस्येच्छन्, उत्तमां पुरोहितस्य' (का० श्रौ० १६।४।४१-४२)। क्षत्रिययजमानस्य द्वादशीं समिधं संशितमित्येतेन मन्त्रेणेच्छया दधाति, पुरोहितस्य यजमानस्य अन्यामुदेषामिति मन्त्रेण त्रयोदशीमिच्छया दधाति। एकादश समिधो नित्याः, सर्वासामृचामन्ते स्वाहाकारश्चेति पूर्वमेवोक्तम्। मे मदीयं स्वरूपभूतं ब्रह्म ब्राह्मण्यं संशितं सम्यक् तीक्ष्णीकृतम्, शास्त्रीयमार्गवर्तिकृतमित्यर्थः। मे ब्रह्मणो वीर्यमिन्द्रियशक्तिः श्रुताध्ययनादिजा, बलं शरीरशक्तिः, तदुभयं संशितं 'शो तनूकरणे' स्वकार्यक्षमं कृतम्। तथा यस्य क्षत्रियस्याहं पुरोहितोऽस्मि भवामि, मदीयं तत्क्षत्रं जिष्णु जयनशीलं यथा भवति तथा संशितं तीव्रं कृतम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'ता एता एकादशादधाति। अक्षत्रियस्य वाऽपुरोहितस्य वाऽसर्वं वै तद्यदेकादशासर्वं तद्यदक्षत्रियो वाऽपुरोहितो वा' (श० ६।६।३।१२)। 'द्वादश क्षत्रियस्य वा पुरोहितस्य वा। सर्वं वै तद्यद् द्वादश सर्वं तद्यत् क्षत्रियो वा पुरोहितो वा' (श० ६।६।३।१३)। या एता एकादशसमिध उक्तास्तासां क्षत्रियपुरोहितव्यतिरिक्तविषयतामाह—ता एता इति। क्षत्रियादन्यस्त्रैवर्णिकः, अक्षत्रियः। तत्रापि अपुरोहितस्य पुरोहितक्षत्रियव्यतिरिक्तो यो यागाधिकारी तस्य एकादश समिध आदध्यात्। अन्यैकादशसंख्यायोग्यतामुपपादयति—असर्वमिति। क्षत्रियपुरोहितयोः सर्वरक्षाक्षमवीर्यातिशयदर्शनेन सर्वत्वं प्रसिद्धम्। अत एव तदितरस्यासर्वत्वम्। एकादशसंख्याया विषमरूपत्वादसर्वत्वम्, अतस्तस्य तदुचितमित्यर्थः। तर्हि क्षत्रियपुरोहितयोः कियत्य इत्यत आह—द्वादश क्षत्रियस्येत्यादिना। 'स पुरोहितस्यादधाति। सꣳशितं मे ब्रह्म सꣳशितं वीर्यं बलं सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु अस्याहमस्मि पुरोहित इति तदस्य ब्रह्म च क्षत्रं च सꣳश्यति' (श० ६।६।३।१४)। तर्हि पुरोहितक्षत्रिययोः को द्वादशो मन्त्र इत्यपेक्षायां पूर्वं पुरोहितस्य द्वादशं मन्त्रमाह—स पुरोहितस्येति। तात्पर्यं दर्शयति—तदस्य ब्रह्म च क्षत्रं च संश्यतीति। मन्त्रे ब्रह्मक्षत्रयोः संशितत्वप्रतिपादनादस्य पुरोहितयजमानस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे जाती सम्यक् तीक्ष्णीकरोतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, मे मदीयं ब्रह्म ब्राह्मण्यं व्यावहारिकं पारमार्थिकं च ब्रह्मनिष्ठालक्षणं संशितं सम्यक् तीक्ष्णीकृतम्, त्वत्प्रसादाद् भवत्विति शेषः। तथैव मम वीर्यं विघ्नप्रतीकारसामर्थ्यं बलं श्रुतादिधारणसामर्थ्यं तथा यस्याहं पुरोहितः, येनाहं साधनमार्गे पुरस्कृतः, तस्य गुरोः क्षत्रं शिष्याणामाध्यात्मिकमार्गे प्रसरद्विघ्नगणनिवारकं शिष्याणां पालकं च तेजः, जिष्णु जयनशीलं संशितम्, भवत्विति प्रार्थयेऽहमिति शेषः।

दयानन्दस्तु—'अहं यस्य पुरोहितो यं यजमानः पुरः पूर्वं दधाति स अस्मि। तस्य मे मम च संशितं प्रशंसनीयं ब्रह्म वेदविज्ञानं तस्य च संशितं वीर्यं संशितं बलं संशितं जिष्णु जयनशीलं क्षत्रं क्षत्रियकुलं चास्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदविज्ञानादिसौष्ठवे स्वयमेव प्रशंसा भवति, तदर्थं प्रार्थनावैयर्थ्यात्। नापि च सभासेनेशप्रार्थनया तत्सम्भवति, तस्य तत्रासामर्थ्यात्, अन्यस्य चात्राप्रसक्तेः। किञ्च, कर्मणा वर्णव्यवस्थामभ्युपगच्छतस्तव ब्रह्मकुलं क्षत्रकुलं च न सम्भवत्येव। यं यजमानः पुरः पूर्वं दधाति स इत्यस्य प्रथमधारक इति हिन्दीव्याख्यानमप्यसङ्गतमेव ॥ ८१ ॥

उदे॑षां बा॒हू अति॑र॒मुद्वर्चो॒ अथो॒ बल॑म्।

क्षि॒णोमि॒ ब्रह्म॑णाऽमि॒त्रानुन्न॑यामि॒ स्वाँ२ अ॒हम् ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ—परमात्मा अग्नि के प्रसाद से हमने अपने इन ब्राह्मण राजाओं के बीच में अपनी भुजा ऊँची की। (यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि जब कोई दूसरे से उत्कृष्ट होता है, तब लोग कहते हैं कि इसने अपना हाथ ऊपर किया— इसी लोकोक्ति का प्रस्तुत मन्त्र में निर्देश है।) हमारे तेज ने सबकी कान्ति को अतिक्रमण किया। हमारे बल ने शरीर की शक्ति को, सबके बल को अभिभूत किया। मैं मन्त्र के सामर्थ्य से अपने अमित्रों को नष्ट करता हूँ, अपने पुत्र-पौत्र आदि को उत्कृष्ट स्थान प्राप्त कराता हूँ ॥ ८२ ॥

एषां स्वकीयानां राजब्राह्मणादीनां मध्ये एकैकस्य बाहू भुजौ उदतिरम् उत्कर्षेण वर्धितवानस्मि। तिरतिर्वृद्ध्यर्थः। लोके हि योऽन्यस्मादुत्कृष्टो भवति तं जना एवं वदन्ति यद् अयं स्वहस्तमुपरितनं कृतवानिति। वर्चः कान्तिः, तदप्युदतिरम्। अथो अपि बलं शरीरशक्तिमुदतिरम्। ब्रह्मणा मन्त्रसामर्थ्येन अमित्रान् शत्रून् क्षिणोमि क्षीणान् करोमि। स्वान् स्वकीयान् पुत्रपौत्रादीन् उन्नयामि उत्कर्षं प्रापयामीति काण्वभाष्ये सायणः। यद्वा एषां विरोधिनां बाहू भुजौ उदतिरम् उद्धरितवानस्मि। अथो अपि च बलं क्षिणोमि विनाशयामि, ब्रह्मणा पुरोहितसंज्ञेन नित्याधीतेन मन्त्रेण वा अमित्रान् विरोधिनः क्षिणोमि हिंसितान् करोमि। स्वान् पुत्रादीन् मित्राणि चोन्नयामि।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ क्षत्रियस्य। उदेषां बाहू अतिरमुद्वर्चो अथो बलम्। क्षिणोमि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वाँ२ अहमिति यथैव क्षिणुयादमित्रानुन्नयेत् स्वानेवमेतदाहोभे त्वेवैते आदध्यादयं वा अग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं चेममेवैतदग्निमेताभ्यामुभाभ्या॑ᳯ समिन्धे ब्रह्मणा क्षत्रेण च' (श० ६।६।३।१५)। क्षत्रियपक्षे द्वादश्याः समिधो मन्त्रमाह—अथ क्षत्रियस्योदेषामिति। उत्तरार्धस्य तात्पर्यमाह—यथैव क्षिणुयादमित्रानुन्नयेत् स्वानेवमेतदाहेति। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्। पुरोहितक्षत्रियव्यतिरिक्तस्यैकादश, तयोस्तु द्वादशैव। तत्राप्युपोत्तमा पुरोहितस्य, उत्तमा क्षत्रियस्येति व्यवस्थापितं कात्यायनेन। इदानीमुपोत्तमोत्तमे अपि सर्वेषामाधातव्ये इति सार्थवादमाह—उभे त्वेवैते इति। तुशब्दः पूर्वोक्तव्यवस्थापक्षं वारयति, एवशब्दो भिन्नक्रमः। ये उभे पुरोहितक्षत्रियविषयत्वेनोक्ते ते सर्वत्रादध्यादेव, न परित्यजेत्। तत्रोपपत्तिमाह—अयं वा अग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं चेति। अयमग्निरेव ब्रह्मक्षत्रे, यद् ब्राह्मं क्षात्रं च तेजः, तस्याग्नेयत्वादित्यभिप्रायः। एतद् एतेन ब्रह्मक्षत्र-मन्त्राभ्यामग्नौ समिदाधानेन इममेव उख्यमग्निम् उभाभ्यां समिन्धे दीपितवान् भवति। तस्मादुभे अप्यवश्यं सर्वविषयतयानुष्ठेये इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—पुरोहितक्षत्रियव्यतिरिक्तानामेकादश वा त्रयोदश वा, तयोस्तु द्वादश वा त्रयोदश वेति।

'प्रादेशमात्र्यो भवन्ति। प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुरन्नमेतदात्मसम्मितेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति यदु वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद् भूयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो न तदवति तिष्ठन्नादधाति तस्योपरि बन्धुः स्वाहाकारेण रेतो वा इद॑ᳯ सिक्तमयमग्निस्तस्मिन् यत्काष्ठान्यस्वाहाकृतान्यभ्यादध्याद्धि॑ᳯ स्याद्धैनं ता यत्समिधस्तेन नाहुतयो यदु स्वाहाकारेण तेनान्नमन्न॑ᳯ हि स्वाहाकारस्तथो हैनं न हिनस्ति' (श० ६।६।३।१७)। समिधां प्रादेशमात्रत्वं विधाय प्रशंसति—प्रादेशमात्र्यो भवन्तीत्यादिना। तिष्ठतैवोक्तसमिधामाधानं कर्तव्यमिति विधाय तदर्थवादं वक्ष्यमाणमतिदिशति—तस्योपरि बन्धुरिति। उपरि नवमे काण्डे (श० ९।२।३।४६) इत्यत्रेत्यर्थः। तत्र हि 'तिष्ठन् समिध आदधाति। अस्थीनि वै समिधः' इत्यत्र रुक्मधारणप्रस्तावे 'तिष्ठन् वै वीर्यवत्तरः' इति बन्धुर्वक्ष्यत इत्यर्थः। समिदाधानस्य स्वाहाकारान्ततां विधाय प्रशंसति—स्वाहाकारेणेत्यादिना। ता यत्समिधस्तेन नाहुतय इति। समिधां केवल-मग्निसमिन्धनसाधनत्वेनानाहुतिरूपत्वाद् नाहुतित्वं नान्नत्वं चातो हिंसकाः स्युरित्यर्थः। तर्हि स्वाहाकारसहितानां

कथमहिंसकत्वम् ? तत्राह—यदु स्वाहाकारेण तेनान्नमन्नं हि स्वाहाकारस्तथो हैनं न हिनस्तीति। 'वषट्कारेण वा वै स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते' (श० ९।३।३।१४) इति श्रुतेरन्नप्रदानहेतुत्वाद् अन्नत्वम्। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, एषां विरोधिनां कामादीनां बलवीर्यं अतिरम्, त्वत्प्रसादादुद्धारितवान्। वर्चः तेजो बलं च क्षिणोमि नाशयामि। ब्रह्मणा सेवितेन वेदवेदान्तेन आराधितेन परमात्मना वा भवता अमित्रान् बाधकान् कामादीन् क्षिणोमि। साधकान् शमादीनुन्नयामि ऊर्ध्वं गमयामि। उन्नतान् करोमीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'अहं यजमानः पुरोहितो वा ब्रह्मणा वेदेश्वरज्ञानप्रदानेन एषां चौरादीनां बाहू बलवीर्यं उदतिरं सन्तरेयमुल्लङ्घयेयम्। एषां वर्चस्तेजो बलं सामर्थ्यम् अमित्रान् शत्रून् क्षिणोमि हिनस्मि। अथो स्वान् स्वकीयान् उन्नयामि ऊर्ध्वं बध्नामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अन्यस्य ईश्वरब्रह्मज्ञानेन अन्यबलवीर्यादिविनाशासम्भवात्, तथैवान्यस्य तादृशब्रह्मणाऽन्येषामुन्नयनायोगात्, तथाभ्युपगमे श्राद्धादिसिद्धान्ताभ्युपगमापाताच्च॥ ८२॥

अन्न॑पतेऽन्न॑स्य नो देह्यनमी॒वस्य॑ शु॒ष्मिणः॑।
प्रप्र॑ दा॒तारं॑ तारिष॒ ऊर्जं॑ नो धेहि द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे॥ ८३॥

मन्त्रार्थ—हे अन्न के पालक अग्ने, आप हमें व्याधिरहित, बलवर्धक अन्न प्रदान करें। हे अन्न को देने वाले, हमें आप दिन-प्रतिदिन वृद्धि की ओर बढ़ावें। हमारे सभी सगे-सम्बन्धी पुत्र-पौत्र आदि संतति, गो-अश्व आदि पशुधन और सभी प्रकार के अन्न से परिपूर्ण हों॥ ८३॥

'न्यज्य समिधं व्रते प्रत्ते प्रत्तेऽन्नपत इत्याधानम्' (का० श्रौ० १६।६।८)। अध्वर्युणा व्रते पय आदौ दत्ते सति यजमानः समिधमभ्यज्य उख्येऽग्नावादध्यादिति सूत्रार्थः। प्रत्ते इति वीप्सा प्रतिव्रतं समिदाधानप्राप्त्यर्था। आग्नेयी उपरिष्टाद्बृहती अष्टार्णत्रिपादा। चतुर्थो द्वादशार्णः। हे अन्नपते! अन्नस्य पालक अग्ने, अनमीवस्य नास्ति अमीवा रोगो यस्मात् तस्य रोगरहितस्य शुष्मिणः शुष्मं बलं विद्यते यस्मात्तत् शुष्मि तस्य। रोगनाशकं बलहेत्वन्नं प्रयच्छ। यद्वा नास्ति अमीवा व्याधिर्यस्य तदनमीवं तस्य, शुष्मं बलमस्त्यस्येति शुष्मि तस्य। रोगरहितस्य बलहेतोरन्नस्य प्राप्तिं धेहि। प्र प्रदातारं प्रकर्षेण हविषो दातारं यजमानं प्रतारिषः प्रवर्धय प्रकर्षेण दुरितानि नाशय। नोऽस्माकं द्विपदे मनुष्याय, चतुष्पदे पशवे च ऊर्जं बलमन्नं वा धेहि। पादपूर्त्यर्थमर्थातिशयार्थं वोपसर्गाभ्यासः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यदास्मै व्रतं प्रयच्छन्ति। अथ व्रते न्यज्य समिधमादधाति न व्रते न्यञ्ज्यादित्यु हैक आहुराहुतिं तज्जुहुयादनवक्लृप्तं वै तद्यद्दीक्षित आहुतिं जुहुयादिति' (श० ६।६।४।४)। व्रतप्रदानकाले व्रतपयसि समिधं न्यज्याधातव्यमिति विधत्ते—अथ यदास्मै व्रतमिति। व्रतं तत्साधनं पयः। अत्र केषाञ्चित् पक्षमुदाहृत्य तं निराकृत्य स्वपक्षमुपसंहरति—न व्रते न्यञ्ज्यादित्यु हैक आहुरित्यादिना। न्यञ्जनपक्षे दोषमाह—आहुतिं तज्जुहुयादिति। कामं जुहुयात्, का बाधेति तत्राह—अनवक्लृप्तमिति। असमर्थमित्यर्थः, 'दीक्षितो न जुहोति न ददाति न पचति' इति निषेधात्। 'स वै न्यञ्ज्यादेव। दैवो वा अस्यैष आत्मा मानुषोऽयꣳ स यन्न न्यञ्ज्यान्न हैतं दैवमात्मानं प्रीणीयादथ यन्न्यनक्ति तथो हैतं दैवमात्मानं प्रीणाति सा यत्समित्तेन नाहुतिर्यदु

व्रते न्यक्ता तेनान्नमन्न७ँ हि व्रतम्' (श० ६।६।४।५)। स्वपक्षे युक्तिमाह--स वै न्यञ्ज्यादेवेति। अस्य यजमानस्य दैवो देवसम्बन्धी आत्मा शरीरम्। एषोऽग्निः, उत्तरत्र वैश्वानररूपेण यजमानस्योत्पत्तेः। अयं पाञ्चभौतिक आत्मा मानुषः। अतो न्यञ्जने अकृते सति देवतासम्बन्धिनं स्वात्मानं न प्रीणीयात्, न्यञ्जने तु प्रीणात्येव। ननु अनवक्लृप्तदोषस्य कः परिहार इति तत्राह—सा यत्समित् तेन नाहुतिरिति। तेन न्यक्तायाः समिध आधानेऽपि नाहुतिर्भवति। तेन निषेधातिक्रमणमिति। ननु दैवस्यात्मनः कथं व्रताख्यान्नलाभ इति तत्राह—यदु व्रते न्यक्ता तेनान्नमिति। ननु पय एव कथमन्नमित्याह—अन्नं हि व्रतमिति। व्रतसाधनं पय इत्यर्थः।

'स वै समिधमाधायाथ व्रतयति। दैवो वा अस्यैष आत्मा मानुषोऽयं देवा उ वा अग्रेऽथ मनुष्यास्तस्मात् समिधमाधायाथ व्रतयति' (श० ६।६।४।६)। व्रतपरिग्रहस्य समिदाधानानन्तर्यं प्रशंसति—स वै समिधमाधायेत्यादिना। 'अन्नपतेऽन्नस्य नो देहीति। अशनपतेऽशनस्य नो देहीत्येतदनमीवस्य शुष्मिण इत्यनशनायस्य शुष्मिण इत्येतत्प्रप्र दातारं तारिष इति यजमानो वै दाता प्र यजमानं तारिष इत्येतदूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पद इत्याशिषमाशास्ते यदु भिन्नायै प्रायश्चित्तिमाहोत्तरस्मिंस्तदन्वाख्यान इति' (श० ६।६।४।७)। तत्र मन्त्रं विधाय विभज्य तात्पर्यमाह—अन्नपतेऽन्नस्येत्यादिना। अमीवशब्दो व्याधिवचनः, अत्र तु बुभुक्षाख्यव्याधिपर इति व्याचष्टे—अनशनायस्य शुष्मिण इति। चरमपाद आशीःपर इत्याह—आशिषमाशास्त इति। हे अन्नपते अग्ने, अन्नस्य अन्नम्, कर्मणि षष्ठी। देहि प्रयच्छ। नः अस्मभ्यं देहीत्यर्थः। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अन्नपते परमेश्वर, तस्यैवान्नदानेन सर्वस्य पोषकत्वात्। नोऽस्मभ्यमन्नस्य अन्नं देहधारणार्थं लौकिकमन्नं श्रुतादिधारणक्षममन्नं च प्र प्र देहि। कीदृशस्यान्नस्य ? अनमीवस्य रोगरहितस्य निर्दोषस्य, शुष्मिणो दिव्यबलवतः। सर्वत्र कर्मणि षष्ठी। हे प्रभो, अन्नस्य लौकिकस्य ज्ञानवैराग्यलक्षणस्य चान्नस्य प्रदातारं गुरुं प्रतारिषः प्रवर्धय। नो द्विपदे चतुष्पदे ऊर्जं निष्ठादार्ढ्यं पराक्रमं च क्रमेण धेहि, परमेश्वरप्रार्थनयैव तदानुकूल्येन सर्वेष्टसिद्धिसम्भवात्।

दयानन्दस्तु—'हे अन्नपते यजमान पुरोहित वा, त्वं नोऽनमीवस्य रोगरहितस्य सुखकरस्य शुष्मिणो बहु शुष्मं बलं यस्मात्तस्य अन्नस्य प्र प्रदेहि। अस्यान्नस्य दातारं तारिषः सन्तर। नोऽस्माकं द्विपदे चतुष्पदे ऊर्जं पराक्रमं देहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यजमानं पुरोहितं वा प्रति तादृशप्रार्थनायोगात्। नहि द्विपदां चतुष्पदां पराक्रमं मनुष्याः सम्पादयितुं शक्नुवन्ति। वैद्या वैज्ञानिकाश्च लौकिकैरुपायैर्यत्कर्तुं पारयन्ति, तत्तु द्रव्यादिदानेन कुर्वन्ति। न तत्र प्रार्थनापेक्षिता। तस्माद्विशिष्टाग्न्यादिदेवताप्रार्थनाऽभ्युपेतव्या। इत्यलं वेदानां लौकिकत्वापादनश्रमेण ॥ ८३ ॥

शङ्कापङ्ककलङ्कानां निःशेषेणापसारणे।
वेदार्थपारिजातेऽस्मिन् पूर्ण एकादशोऽधुना ॥

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायामेकादशोऽध्यायः।

द्वादशोऽध्यायः

दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ।
अग्निरमृतो अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत् सुरेताः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—मनुष्यों को लक्ष्मी प्रदान करने के निमित्त अभिलषित अखण्डित आयु वाला सुवर्णाभरण बड़ी दीप्ति से प्रकाशित हो रहा है। यह अग्नि अन्न आदि से पुरोडाश को प्राप्त कर चिरस्थायी हो गया है। सुन्दर अग्निरूप द्युलोकवासी देवगणों ने इस अग्नि को प्रकट किया है ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये उखासम्भरणादिमन्त्रा उक्ताः। अथैतस्मिन् द्वादशेऽध्याये उखाधारणादिमन्त्रा उच्यन्ते। 'यजमानः कण्ठे रुक्मं प्रतिमुञ्चते परिमण्डलमेकविꣳशतिपिण्डं कृष्णाजिननिष्यूतं लोमसु शुक्लकृष्णेषु शणसूत्रे त्रिवृत्योतमुपरिनाभि बहिष्पिण्डं दृशानो रुक्म इति (का० श्रौ० १६।५।१)। यजमानः स्वकण्ठे वर्तुलम् एकविंशतिपिण्डम् एकविंशतिः पिण्डा बिन्दवश्चणकदलसदृशा उन्नताः स्वर्णपाद्बहिर्निसृता यस्मिंस्तत्। कृष्णाजिननिष्यूतं कृष्णाजिनखण्डे यस्मिन् प्रदेशे शुक्लानि कृष्णानि च रोमाणि तस्मिन् प्रदेशे निष्यूतं त्रिवृत्योतं त्रिगुणे शणमये सूत्रे ओतं प्रोतं बहिष्पिण्डं बहिरुपरि प्रदेशे पिण्डा बुद्बुदा यस्य तत्, ईदृशं रुक्मं सौवर्णमाभरणं फलकाकारं नाभेरुपरि धारयेत्। साग्निचित्ये द्वादशाहादौ सर्वेषां रुक्मप्रतिमोचनम्। सर्वमेतद्विस्तरशो ब्राह्मणे स्पष्टम्। तच्च पश्चादुद्धरिष्यते।

रुक्मदेवत्या त्रिष्टुप् वत्सप्रीदृष्टा। आदित्याध्यासेन रुक्मः स्तूयते। रुक्म आभरणविशेषः, उर्व्या महत्या दीप्त्या व्यद्यौद् विद्योतते। 'द्युत द्योतने' व्यत्ययेन शपि लुप्ते वृद्धौ लङि रूपम्। कीदृशो रुक्मः? दृशानः दृश्यमानः प्रत्यक्षत उपलभ्यमानः। शानचि शपो लुकि रूपम्। श्रिये यष्टृभ्यः श्रियं दातुं दुर्मर्षमनवखण्डितमायुर्जीवितं रुचानो वाञ्छन्। रोचते इति रुचानः। रोचतेः शानचि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) शपो लुकि रूपम्। सोयमग्निर्वयोभिरन्नैः पशुपुरोडाशप्रभृतिभिः। अमृतः अमरणधर्मा अभवत्। यद् यस्माद् द्यौः द्युलोकवासिनोदेवता एनमजनयत् उदपादयत्, तस्मादमृतत्वं युक्तमेव। कीदृशी द्यौः? सुरेताः शोभनं रेतोऽग्निरूपं यस्याः सा।

तथैव ब्राह्मणमाह। तथा हि—'दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौदिति। दृश्यमानो ह्येष रुक्म उर्व्या विद्योतते दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचान इति दुर्मरं वा एतस्यायुः श्रियो एष रोचतेऽग्निरमृतो अभवद्वयोभिरिति सर्वैर्वा एष वयोभिरमृतोऽभवद्यदेनं द्यौरजनयदिति द्यौर्वा एतमजनयत् सुरेता इति सुरेता ह्येषा यस्या एष रेतः' (श० ६।७।२।२)। मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—दृशानो रुक्म इत्यादिना। आदित्यात्मक एष रुक्मो महद्दीप्त्या विद्योतते। यस्य आयुर्जीवनोपलक्षितः कालः, दुर्मरमविनाश्यम्। यो जगतः श्रिये रोचमानो भवति। शेषं स्पष्टम्।

अत्र 'अद्यौत्' इति प्रयोगे कश्चन प्रत्यवतिष्ठते। स आह—"अद्यौद् द्युतेः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति सामान्यकाले लुङ्। 'द्युद्भ्यो लुङि' (पा० सू० १।३।९१) इति परस्मैपदम्। 'पुगन्तलघूपधस्य

च' (पा० सू० ७।३।८६) इति गुणप्राप्तौ छान्दसी वृद्धिः । वस्तुतस्तु 'द्यु अभिगमने' इत्येतस्माल्लङि 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (पा० सू० ७।३।८९) इति वृद्धौ सम्यक्तरं स्यात् । यत्तु सायणभाष्ये ऋग्वेदसंहितायाम् (१।१२२।१५) 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ७।२।१) इति वृद्धिरित्याद्युक्तम्, तत्त्वसाधुः, 'सिचि वृद्धिः' (पा० सू० ७।२।१) इति वृद्धेर्दिगन्तलक्षणत्वात् सर्वथाप्यसम्भवात् । यच्च (ऋ० १०।१११.२) सायणभाष्ये 'च्लेर्लुक् छान्दसः, हलन्तलक्षणा वृद्धिरपि' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, वृद्धेः सिज्निमित्तत्वात् । न चेह सिज्भवति, च्लेर्लुका तन्निमित्तस्यापहारात् । यदपि सायणभाष्ये (ऋ० १।११३।४) 'व्यत्ययेन च्लेर्लुक्, गुणे प्राप्ते वृद्धिश्छान्दसी' तत्तु सम्यगेव । महीधरोऽप्यस्यैव मन्त्रस्य व्याख्यान आह—'द्युत् द्योतने' व्यत्ययेन शपि लुप्ते वृद्धौ लङि रूपम्' इति तदसत्, वृद्धेरसम्भवात् । गुणस्तु प्राप्तः स केन बाध्यत इति वक्तव्यमासीत्" इति ।

अत्रेदं वक्तव्यम्—श्रीसायणमहीधरयोरभिप्रायमबुद्ध्वैवायमाक्षेपः । यतो हि—'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (पा० सू० ७।३।८९) इति सूत्रे योगविभागः कर्तव्यः । 'उतो वृद्धिर्लुकि' इति प्रथमो योगः । अङ्गावयवस्योकारस्य वृद्धिः स्याद् लुग्विषये । अत्र अङ्गस्येत्यवयवावयविभावसम्बन्धेनोकारे विशेषणम् । 'सम्भवति सामानाधिकरण्ये क्वचिद् वैयधिकरण्येनाप्यन्वयः' इति नियमेनेष्टानुरोधादियं व्यवस्था । ततश्च द्वितीयो योगः 'हलि' इति । अत्र पूर्वयोगः सम्पूर्णोऽनुवर्तते । अत्रोकारोऽप्यङ्गे भेदसम्बन्धेन विशेषणम् । अतो 'येन विधिस्तदन्तस्य' (पा० सू० १।१।७२) इति तदन्तविधिः । 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' (पा० सू० ७।३।८७) इत्यतः 'पिति सार्वधातुके' इति पदद्वयमनुवर्तते । तस्मिन् सार्वधातुके हलि इत्यभेदेन विशेषणम् । अतो 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति तदादिविधिः । एवं च हलादिपित्सार्वधातुकाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टं यदुकारान्तमङ्गं तस्यान्त्यालो वृद्धिर्लुग्विषय इति द्वितीययोगस्यार्थः सम्पद्यते । प्रथमेन सामान्ययोगेनैव सिद्धौ द्वितीययोगो व्यर्थ इति चेत्, अत्रोच्यते—द्वितीययोगसामर्थ्येन प्रथमस्य क्वाचित्कत्वं ज्ञाप्यते । योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वादिष्टस्थलीयमेवेदं क्वाचित्कत्वं न त्वनित्यस्थलीयम् ।

एषा सरणिः 'आतो धातोः' (पा० सू० ६।४।१४०) इत्यादिसूत्रेषु भाष्यकृद्भिः स्पष्टमुक्ता । न तु नवीना सरणिः । फलतः 'अद्यौत्' इत्यत्र लङ् वा भवेत् लुङ् वा भवेद्, तत्र नास्ति विचारणा । च्लेर्लुक् स्यात् शपो वा लुक् स्यादत्रांशेऽस्ति निमित्तता, यतो हीदमुच्यते—लुग्विषय इति । कस्यापि प्रत्ययस्य लुकि लुग्विषयता भवत्येव । एवं च प्रथमेन योगेन 'अद्यौत्' इत्यत्र वृद्धिर्भविष्यति, गुणः प्राप्तोऽनया वृद्ध्या बाधितो भविष्यति, वृद्धेर्विशेषविहितत्वेनापवादत्वात् । नेयम् 'वद-व्रज-हलन्तस्याचः' इति हलन्तलक्षणा वृद्धिरपि तु लुग्विषया । यदि हलन्तलक्षणा वृद्धिरपीति सायणाचार्यस्य लेखस्तदा तस्यात्रैव तात्पर्यं न तु वदव्रजेत्यत्र । अतश्च हलन्तपदघटितं लक्षणं यस्या इति न समासः, अपि तु हलन्तेऽङ्गे ('द्युत्' इत्यादिरूपे) अस्ति लक्षणं स्थानिरूपं कारणं (उकाररूपम्) यस्याः सा इति विग्रहेण लुग्विषयायां वृद्धौ तात्पर्यम् । एवं सति वृद्धेः सिज्निमित्तत्वं स्वीकृत्य मुधैव खण्डनं सायणभाष्यस्य, गुणप्राप्तिं चोद्भाव्य वृथैवाक्षेपो महीधरभाष्ये च । प्रत्युत छान्दसत्वाद् वृद्धिमभ्युपेत्य आक्षेप्ता स्वयमेव पङ्के निमग्नः, अक्लृप्तकल्पनाकरणात् ।

ननु भवन्मतेऽपि योगविभागकल्पना अक्लृप्तकल्पनैव भविष्यतीति चेन्न, भाष्यकृताऽस्य सूत्रस्याव्याख्यातत्वेऽपीदृशप्रकारस्य बहुशः प्रदर्शितत्वात्, वृद्धेश्छान्दसत्वकल्पनापेक्षया अस्याः सरणेः क्लृप्तप्रायत्वात् । उक्तं च भगवता सूत्रकारेण—'दृढः स्थूलबलयोः' (पा० सू० ७।२।२०) इति ।

यत्तु—'द्यु अभिगमने' इत्येतस्माल्लङि शब्लुकि 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (पा० सू० ७।३।८९) इति वृद्धौ 'अद्यौत्' इति सम्यक्तरं स्यात्' इति, तत्तु अत्यन्तमसाधु । नहि केवलं शास्त्रीयप्रक्रियया शब्दव्युत्पादनमेव

साधुत्वपरिचायकमपि तु अर्थविशेषनियन्त्रितं तद् भवति। यथा व्याकरणदृष्ट्या साधुरप्यश्वशब्दोऽश्व-(दरिद्र)रूपेऽर्थेऽसाधुरेव, भावनारूपेऽर्थे तिङामसाधुतैव, एवं प्रकृतेऽपि दीप्तिरूपेऽर्थे तरयासाधुतैव भविष्यति।

ननु 'अनेकार्था धातवः' इति चेत्, सम्भावितानेकार्था इत्यत्र तात्पर्याभावात्। अन्यथा गच्छतीत्यस्यार्थे पचतीति प्रयोगः स्यात्। कारकाणां विवक्षाधीनत्वेऽपि नहि भवति प्रयोगः—आकाशं पचतीति, प्रामाणिकविवक्षायां तात्पर्यादिति भावः।

मन्त्रार्थं प्रमाणयतीदं ब्राह्मणम्—'दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौदिति। दृश्यमानो ह्येष रुक्म उर्व्या विद्योतते दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचान इति दुर्मरं वा एतस्यायुः श्रियो एष रोचतेऽग्निरमृतो अभवद्वयोभिरिति सर्वैर्वा एष वयोभिरमृतोऽभवद्यदेनं द्यौरजनयदिति द्यौर्वा एतमजनयत् सुरेता इति सुरेता ह्येषा यस्या एष रेतः' (श० ६।७।२।२)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्। पूर्वं प्रतिज्ञातं ब्राह्मणमुद्ध्रियते—'रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति। सत्यꣳ हैतद्यद्रुक्मः सत्यं वा एतं यन्तुमर्हति सत्येनैतं देवा अबिभरुः सत्येनैवैनमेतद्बिभर्ति' (श० ६।७।१।१)। यदुक्तं कात्यायनेन—'यजमानः स्वकण्ठे…' (१६।५।१) इत्यादिसूत्रेण, तदिदं वक्तुमादौ रुक्मप्रतिमोकं विधत्ते—रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्तीति। यजमानो रुक्मं सुवर्णमयमाभरणं कण्ठे बद्ध्वा उखां धारयेत्। विहितं रुक्मप्रतिमोचनपूर्वकं धारणं प्रशंसति—सत्यं हैतद्रुक्म इति। अत्यन्ताग्निसंयोगेऽपि नाशादर्शनात् रुक्मस्य सत्यत्वम्। एतमग्निं यन्तुं नियन्तुं सत्यमेवार्हति। देवाः सत्येन सत्यमाश्रयं कृत्वा अबिभरुः भरणमकुर्वन्, उखाभरणं कृतवन्तः।

'तद्यत्तत्सत्यम्। असौ स आदित्यः स हिरण्मयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतꣳ हिरण्यममृत-मेष परिमण्डलो भवति परिमण्डलो ह्येष एकविꣳशतिनिर्बाध एकविꣳशो ह्येष बहिष्टान्निर्बाधं बिभर्ति रश्मयो वा एतस्य निर्बाधा बाह्यत उ वा एतस्य रश्मयः' (श० ६।७।१।२)। एतद्रुक्मात्मकं सत्यमादित्यात्मना प्रशंसति—तद्यत्तत्सत्यमिति। रुक्मस्य सुवर्णमयतां विधाय प्रशंसति—स हिरण्मयो भवतीति। हिरण्यस्य भास्वररूपत्वाद् ज्योतीरूपत्वम्, तदेव अमृतमविनाशि। एष रुक्मः परिमण्डलो वर्तुलो भवति। तत्रोपपत्तिः—परिमण्डलो ह्येष इति। एष आदित्यः। एकविंशतिनिर्बाध इति। बाधा बिलसहिताः पुलकाः। धारणसमये निर्बाधा यथा बाह्या भवन्ति तथा धारयेत्। निर्बाधस्य बहिर्भावं प्रशंसति—रश्मयो वा एतस्य निर्बाधा इति। एतस्य आदित्यात्मकस्य रुक्मस्य रश्मयः परिमण्डलात्मन आदित्याद्बाह्यत एव भवन्ति तथैव बहिष्टात् निर्बाधं बिभर्ति। 'यद्वेव रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति। असौ वा आदित्य एष रुक्मो नो हैतमग्निं मनुष्यो मनुष्यरूपेण यन्तुमर्हत्येतेनैव रूपेणैतद्रूपं बिभर्ति' (श० ६।७।१।३)। रुक्मधारणं प्रशंसति—यद्वेव रुक्मं प्रतिमुच्येति। मानुषेण रूपेणाग्नेर्धारणस्यानुचितत्वाद् एतेन रुक्माख्येन आदित्येन रूपेण एतद् अग्न्यात्मकं रूपं बिभर्ति। 'यद्वेव रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति। रेतो वा इदꣳ सिक्तमयमग्निस्तेजो वीर्यꣳ रुक्मोऽस्मिंस्तद्रेतसि तेजो वीर्यं दधाति' (श० ६।७।१।४)। पुनः प्रकारान्तरेण प्रशंसति—यद्वेव रुक्मं प्रतिमुच्येति। अस्याग्ने रेतःसेकस्थानीयत्वमुक्तं प्राक्। रुक्मश्च तेजोरूपं वीर्यम्। अग्ने रुक्मसंयोजनेन रेतस्यग्न्याख्ये तेजो वीर्यमेव स्थापितवान् भवति।

'यद्वेव रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा एतमन्तिकाद् गोप्तारमकुर्वन्नमुमेवादित्यमसौ वा आदित्य एष रुक्मस्तथैवास्मा अयमेतमन्तिकाद् गोप्तारं करोति' (श० ६।७।१।५)। पुनरप्यग्ने रुक्मसंयोगमग्नेर्गोप्तृत्वेन रूपेण प्रशंसति—यद्वेवेति। पुरा देवा इममग्निं नाष्ट्रा नाशकानि रक्षांसि यद्वै येनैव प्रकारेण न हन्युः, एतद् एतेन विषयभूतेन अबिभयुरिति तस्मै अग्नये एतमादित्य-मन्तिकाद् गोप्तारमकुर्वन्। तर्हि मानुषैः कथं गोप्तारं कर्तुं शक्यत इति तत्राह—असौ वा आदित्य एष रुक्म

इत्यादि। 'कृष्णाजिने निष्यूतो भवति। यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञो वा एतं यन्तुमर्हति यज्ञेनैतं देवा अबिभरुर्यज्ञेनैवैतमेतद्बिभर्ति लोमतश्छन्दाᳬं सि वै लोमानि छन्दाᳬं सि वा एतं यन्तुमर्हन्ति छन्दोभिरेतं देवा अबिभरुश्छन्दोभिरेवैनमेतद्बिभर्ति' (श० ६।७।१।६)। कृष्णाजिने नितरां स्यूतः सम्बद्धो भवति। यथा कृष्णाजिनस्योपरि वर्तेत तथा कुर्यात्। यज्ञो वै कृष्णाजिनमिति यज्ञसाधनहविराधारत्वाद् यज्ञ इत्युच्यते। निषीवनमपि लोमप्रदेशे कर्तव्यम्। कृष्णाजिनस्य यज्ञत्वविधानात् तल्लोम्नां यज्ञावयवच्छन्दोरूपत्वं युक्तम्। स्पष्टमन्यत्। 'अभि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि निष्यूतो भवति। ऋक्सामयोर्हैते रूपे ऋक्सामे वा एतं यन्तुमर्हत ऋक्सामाभ्यामेतं देवा अबिभरुर्ऋक्सामाभ्यामेवैनमेतद्बिभर्ति शाणो रुक्मपाशस्त्रिवृत्तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।७।१।७)। तत्रापि शुक्लकृष्णलोमरेखयोरुपरि निष्यूतेन भवितव्यमिति दर्शयति—अभि शुक्लानीत्यादिना। उभयविधानां लोम्नामभि उपरि निष्यूतो भवति। ऋक्सामयोर्हैते रूपे इति हशब्दः 'ऋक्सामयोः शिल्पे' (वा० सं० ४।९) इत्यादिमन्त्रप्रसिद्धिद्योतनार्थः। शाणो रुक्मपाशस्त्रिवृदिति रुक्मबन्धनरज्जुः शाणः शणतृणनिर्मितः, त्रिवृत् त्रिगुणितः। 'तमुपरिनाभि बिभर्ति। असौ वा आदित्य एष रुक्म उपरिनाभ्यु वा एषः' (श० ६।७।१।८)। रुक्मधारणप्रदेशं विधाय प्रशंसति—तमुपरिनाभीत्यादिना। एष आदित्य उपरिनाभि नाभेरुपरि प्रदेशे भवति, तत्र मध्ये ध्येयत्वात्, रक्तवर्णनाभेरुपरि वर्तमानत्वाद्वा, जाठरवह्न्यात्मकस्य तस्य नाभेरुपरि वर्तमानत्वाद्वा।

'यद्वेवोपरिनाभि। अवाग्वै नाभे रेतःप्रजातिस्तेजो वीर्यᳬं रुक्मो नेन्मे रेतःप्रजातिं तेजो वीर्यᳬं रुक्मः प्रदहादिति' (श० ६।७।१।९)। उक्तमुपरिनाभित्वं बहुधा प्रशंसति—यद्वेवोपरीत्यादिना। रेतसः प्रजातिरुत्पत्तिर्नाभेरर्वाक्प्रदेशे खलु। अतो तेजोवीर्यरूपो रुक्मस्तां प्रजातिं प्रदहेत्। ततो नेद् नेष्टम्। 'नेत्येष इदित्यनेन सम्प्रयुज्यते परिभये' (नि० १।१०)। 'यद्वेवोपरिनाभि। एतद्वै पशोर्मेध्यतरं यदुपरिनाभि पुरीषसᳬं हिततरं यदवाङ्नाभेस्तद्यदेव पशोर्मेध्यतरं तेनैनमेतद्बिभर्ति' (श० ६।७।१।१०)। यन्नाभेरुपरिष्टाद्वर्तमानं हृदयादिकं तन्मेध्यतरमर्वाग्देशे यदङ्गं तदत्यन्तं पुरीषेण संहितम्। 'यद्वेवोपरिनाभि। यद्वै प्राणस्यामृतमूर्ध्वं तन्नाभेरूर्ध्वैः प्राणैरुच्चरत्यथ यन्मर्त्यं पराक्तन्नाभिमत्येति तद्यदेव प्राणस्यामृतं तदेनमेतदभि सम्पादयति तेनैनमेतद्बिभर्ति' (श० ६।७।१।११)। यन्नाभेरुपरिधारणं तदमृतस्योपरिधारणतया प्रशंसन् गतिभेदेन मृतामृतविभागमाह—यद्वै प्राणस्येति। प्राणस्य द्वावंशौ, अमृतांशो मृतांशश्च। तत्रामृताख्यो योंऽशोऽस्ति नाभेरूर्ध्वप्रदेशे स ऊर्ध्वैः प्राणैरुच्चरति उद्गच्छति। यो मर्त्योंऽशः स नाभेः पराग् अवाङ्मुखः सन् नाभिमत्येति अतिगच्छति। विभागप्रदर्शनप्रयोजनमाह—तद्यदेवेति। तत् प्राणस्यामृतमंशमेनमभि आयुष्याग्नेरुपरि सम्पादयति। एतद् एतेन नाभेरुपरि सम्पादनेन एनमग्निं तेन अमृतेन बिभर्ति। 'तं तिष्ठन् प्रतिमुञ्चते। असौ वा आदित्य एष रुक्मस्तिष्ठतीव वा असावादित्योऽथो तिष्ठन् वै वीर्यवत्तर उदङ् प्राङ् तिष्ठन्....' (श० ६।७।२।१)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्। एवं श्रुत्यारूढं सूत्रम्। तस्मान्मुधैव नास्तिकैः सूत्रमतिक्रम्य स्वैरं मन्त्रा व्याख्यायन्ते।

अध्यात्मपक्षे—यो ब्रह्मात्मबोधरूपो रुक्मो रुक्माभरणवद् दृशानो दर्शनीयरूपः, उर्व्या महत्या दीप्त्या व्यद्यौद् ब्रह्मात्मतत्त्वं विद्योतते प्रकाशयति तदावरणमपाकरोति, यस्य बोधस्य दुर्मर्षमायुर्वेदान्तप्रमाणमूलकत्वेन तस्य निरुपप्लवभूतार्थस्वभावत्वेन विपर्ययादिभिर्बाधितुमशक्यत्वात्। यश्च श्रियो निमित्तं रोचमानः, 'ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि' (छा० उ० ४।९।२) इति श्रुतेः। यश्च अज्ञानाहङ्कारकर्मादिदाहकत्वादग्निरिव, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (भ० गी० ४।३७) इति गीतोक्तेः। यश्चामृतः, अमृतत्वहेतुत्वाद् वयोभिरनेकैर्बाल्ययौवनादिभिरनेकजन्मभिरभवत्, 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' (भ० गी० ७।१९) इति गीतोक्तेः। एवं द्यौः स्वप्रकाशः परमात्मा सुरेताः शोभनानि रेतांसि यस्य सः, भक्तैराराधकैः सन्तुष्टः, अजनयत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा दृशानो दर्शकः, द्यौर्विज्ञानादिभिः प्रकाशमानः, अग्निः सूर्यः, उर्व्या महत्या पृथिव्या सह सर्वान् मूर्तान् पदार्थान् व्यद्यौत्, तथा यः श्रिये शोभायै रुचानो रोचको रुक्मो दीप्तिमान् जनोऽभवद् भवति, यश्च सुरेताः शोभनानि रेतांसि वीर्याणि यस्य सः, अमृतो नाशरहितः, दुर्मर्षं दुःखेन मर्षितुं सोढुं शीलम् आयुः अन्नम्, 'आयुरित्यन्ननामसु' (निघ० २।७), वयोभिर्यावज्जीवनैः सह यमेनं विद्वांसमजनयत्, तं यूयं सततं सेवध्वम्' इति, तदपि निरर्थकमेव, तादृशविदुषो जनकं सेवध्वमित्यादिपदानां निर्मूलाध्याहार-लभ्यत्वेनाप्रामाणिकत्वात्, अन्येषामपि पदानां व्याख्याने गौणार्थाश्रयणाच्च । न चामृतः कश्चन मनुष्यः सम्भवति । श्रुतिसूत्रविरोधस्तु निगदव्याख्यातः ॥ १ ॥

नक्तो॒षासा॒ सम॑नसा॒ विरू॑पे धा॒पये॑ते॒ शिशु॒मेकꣳ॑ समी॒ची ।
द्यावा॒क्षामा॑ रु॒क्मो अ॒न्तर्विभा॑ति दे॒वा अ॒ग्निं धा॑रयन् द्रविणो॒दाः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, समान मन वाले, शुक्ल-कृष्ण के भेद से विलक्षण रूप, परस्पर मिले हुए रात-दिन बालक रूप अग्नि को सुबह-शाम अग्निहोत्र आदि कर्म से तृप्त करते हैं। ऊपर द्युलोक और नीचे भूलोक के मध्य में स्थित रोचमान अग्नि को मैं उठाता हूँ। यज्ञ द्वारा धनरूप फल के दाता देवगणों ने अग्नि को धारण किया है ॥ २ ॥

'परिमण्डलाभ्यामिण्ड्वाभ्यामुखां परिगृह्णाति नक्तोषासेति' (का० श्रौ० १६।५।३)। वर्तुलाभ्यामुखा-धारणसाधनाभ्यामुखां गृह्णीयाद् नक्तोषासेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमिण्ड्वाभ्यां परिगृह्णाति। असौ वा आदित्य एषोऽग्निरहोरात्रे इण्ड्वे अमुं तदादित्यमहोरात्राभ्यां परिगृह्णाति तस्मादेषोऽहोरात्राभ्यां परिगृहीतः' (श० ६।७।१।२५) इण्ड्वे इति तप्तोखाधारणसाधनभूतौ परिमण्डलौ पदार्थविशेषौ । एकस्यैव तेजसः क्षित्यादिष्वग्न्याद्यात्मनावस्थानाद् एषोऽग्निरेवासावादित्यः, 'त्रेधात्मानं व्यकुरुत' (श० १०।६।५।३) इति श्रुतेः। परिभ्रमत आदित्यस्य पुरस्तादधस्ताच्चावस्थिते अहोरात्रे एवेण्ड्वास्थानीये। 'यद्वेवैनमिण्ड्वाभ्यां परिगृह्णाति। असौ वा आदित्य एषोऽग्निरिमा उ लोकाविण्ड्वे अमुं तदादित्यमाभ्यां लोकाभ्यां परिगृह्णाति तस्मादेष आभ्यां लोकाभ्यां परिगृहीतः परिमण्डले भवतः परिमण्डलौ हीमौ लोकौ मौञ्जे त्रिवृती तस्योक्तो बन्धुर्मृदा दिग्धे तस्यो एवोक्तोऽथो अनतिदाहाय' (श० ६।७।१।२६)। इण्ड्वे अहोरात्रात्मना प्रशस्य द्युपृथिव्याख्यलोकद्वयात्मनापि प्रशंसति—यद्वेवेति। तयोर्वर्तुलत्वं प्रशंसति—परिमण्डले भवत इति। इण्ड्वयोर्मुञ्जविधृतत्वं त्रिवृत्त्वं च विधाय तदर्थवादयुक्तमतिदिशति—तस्योक्तो बन्धुरिति, 'त्रिवृद्ध्यग्निः' (श० ६।३।१।२७) इत्यादिनेत्यर्थः। तयोर्बहिर्दाहपरिहाराय मृद्दिग्धत्वं विधाय तद्वाक्यशेषमप्यतिदिशति—मृदा दिग्धे इत्यादि।

अग्निदेवत्या त्रिष्टुप् कुत्सदृष्टा। अर्धमुखाग्रहणे विनियुक्तम्। नक्तोषासा नक्तं च उषाश्चेति नक्तोषसौ, विभक्तेराकारः संहितायां दीर्घः, रात्रिदिवसौ एकमग्निरूपं शिशुं बालं धापयेते पाययेते। सायंप्रातरग्निहोत्रादि-कर्मभिः तर्पयेते इत्यर्थः। अर्थाद् यजमानकर्तृकमेवाग्निधारणं सम्पादयतः। लुप्तोपमानं द्रष्टव्यम्। शिशुं मातापितराविव। 'धेट् पाने' इत्यस्य णिचि 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० सू० ६।१।४५) इत्यात्वे पुकि रूपम्। कथम्भूते नक्तोषसौ? समनसा समनसौ। समानं मनो ययोस्ते, विभक्तेराकारः, एकमनस्के परस्परमैकमत्ययुक्ते। पुनः कथम्भूते? विरूपे विलक्षणं रात्रिः कृष्णा दिवसः शुक्ल इत्येवं विलक्षणं रूपं ययोस्ते। पुनः कथम्भूते? समीची समीच्यौ सम्यगञ्चत इति समीच्यौ, सम्यगञ्चने सम्यगन्विते संश्लिष्टे वा। एवंभूते ये नक्तोषसौ

ताभ्यामिण्ड्वारूपाभ्यामुखां गृह्णामीति शेषः। 'हरति द्यावाक्षामेति' (का० श्रौ० १६।५।४)। आहवनं यो-परिस्थामुखामेवमिण्ड्वाभ्यामादाय द्यावेति पादेनासन्दीं प्रति हरतीति सूत्रार्थः। द्यावाक्षामा द्यौश्च द्युलोकश्च क्षामा च पृथिवी चेति द्यावाक्षामा, दिवो द्यावादेशः, विभक्तेर्लोपः, द्यावापृथिव्योरन्तर्मध्ये अन्तरिक्षे च यो रुक्मो रोचमानोऽग्निर्विभाति प्रकाशते तं हरामीति शेषः। 'आहवनीयस्य पुरस्तादुद्गात्रासन्दीवदासन्द्यां चतुरश्राङ्क्याᳪ शिक्यवत्यां निदधाति देवा अग्निमिति' (का० श्रौ० १६।५।१)। आहवनीयात् पूर्वस्यां दिशि भूमौ स्थापितायामुद्गात्रासन्दीवत् प्रादेशमात्रपाद्यामौदुम्बर्यामरत्निमात्राङ्क्यां मुञ्जरज्ज्वा व्यूतायां चतुष्कोणायां शिक्ययुक्तायामुखां निदध्यादिति सूत्रार्थः। आसन्द्या उपरि स्थिते शिक्ये आहृतामुखां स्थापयेदित्यर्थः। देवा अग्निमिति मन्त्रेणेति। 'उद्गातासन्द्यां प्रादेशपाद्यायाम्' (का० श्रौ० १३।३।२) इति सूत्राद् उद्गात्रा-सन्दीप्रकारो लभ्यते। देवा दीव्यन्ति व्यवहरन्तीति देवाः प्राणा यजमानस्य एतमग्निं धारयन् अधारयन्। अडभावश्छान्दसः। कीदृशा देवाः? द्रविणोदाः, यागद्वारेण धनरूपं फलं ददति प्रयच्छन्तीति ते तथोक्ताः। यमग्निं द्रविणोदा देवा धारितवन्तस्तमग्निमुख्यमहं धारयामीति शेषः। 'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदा इत्याह प्राणा वै देवाः' (तै० सं० ५।१।१०।४) इति तैत्तिरीयश्रुतेर्देवशब्देन प्राणा उच्यन्ते।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमिण्ड्वाभ्यां परिगृह्णाति। नक्तोषासा समनसा विरूपे इत्यहोरात्रे वै नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकᳪ समीची इति यद्वै किञ्चाहोरात्रयोस्तेनैतमेव समीची धापयेते द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभातीति हरन्नेतद्यजुर्जपतीमे वै द्यावापृथिवी द्यावाक्षामा ते एष यदन्तरा विभाति तस्मादेतद्धरन् यजुर्जपति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदा इति परिगृह्य निदधाति प्राणा वै देवा द्रविणोदास्त एतमग्र एवमधारयं-स्तैरेवैनमेतद्धारयति' (श० ६।७।२।३)। अस्याग्नेरिण्ड्वाभ्यां परिग्रहणं विधत्ते—अथैनमिण्ड्वाभ्यामित्यादिना। अत्र प्रथमभागेन अहोरात्रौ विवक्षितौ इति दर्शयति—अहोरात्रे वै नक्तोषासेति। द्वितीयभागेन अहोरात्रकर्तृकं धापनं स्वनिष्ठकृत्स्नप्राणिद्वारेति दर्शयति—यद्वै किञ्चेत्यादिना। तृतीयभागस्य विनियोगमाह—द्यावाक्षा-मेत्यादि। मन्त्रमेनं व्याचष्टे—इमे वै द्यावापृथिवी इति। अन्तराशब्दप्रयोगात् ते इति 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (पा० सू० २।३।४) इति सूत्रेण द्वितीया। तस्मादुक्तविनियोगानुकूलार्थत्वात् तद्यजुर्हरणकाले जपेत्। अथ चतुर्थांशस्य विनियोगं दर्शयति—देवा अग्निमिति। द्रविणोदगुणविशेषिता देवा अत्र प्राणा विवक्षिताः। ते एतमग्निमग्रे एवमधारयन्। एतन्मन्त्रेण धृते सति तैरेव एनमग्निं धारयति यजमानः।

कृत्स्नाया ऋचः सायणरीत्यायमर्थः—नक्तोषासा उषःशब्देन कृत्स्नमहर्विवक्ष्यते, रात्र्यहनी। समनसा समानमनसी। विरूपे विविधरूपे, शुक्लकृष्णभेदेन द्वैविध्यात्। समीची सम्यगञ्चने। यथा लोके एकं शिशुं धापयेते हिताचरणेनानुगच्छतः, एवमेकमसहायमग्न्याख्यं शिशुं स्वावस्थितैः प्राणिभिरग्निहोत्रादि-कर्मद्वारेणानुगतं शिशुमग्निं परिगृह्णामीति शेषः। किञ्च, यौ द्यावाक्षामा द्यावापृथिव्यौ, अन्तस्तयोर्मध्ये रुक्मो रोचमानः, अग्निर्विभाति दीप्यते, तमाहरामीति शेषः। यमग्निं द्रविणोदा धनस्य दातारो देवा धारयन् अधारयन् तं धारयामीति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—हे नक्तोषासा, मायापरमात्मानौ समनसौ ऐकमत्ययुक्तौ विरूपे विलक्षणस्वभावौ समीची जगतां हितार्थं सम्यग्गतिशीलौ संश्लिष्टौ वा द्यावाक्षामा द्यावापृथिवीरूपौ भरणपोषणप्रकाशाश्रयरूपौ एकमनुपमं ज्ञानरूपं शिशुं धापयेते पोषयतः, ब्रह्मज्ञानरूपे शिशौ मायापरिणाममये ब्रह्मप्रकाशमये तत्रोभयोरप्युपकारकत्वात्। द्यावाक्षामा द्यावापृथिव्योरन्तर्मध्ये यो रुक्मो रोचमानोऽग्निर्ज्ञानाग्निर्विभाति, हे भगवन् तं ज्ञानाग्निं मह्यं प्रयच्छेति शेषः। द्रविणोदा द्रविणस्य शान्तिदान्त्यादिलक्षणस्य दातारो देवा इन्द्रादय इमं ज्ञानाग्निं धारयन् अधारयन् धारितवन्तः। एवं महान्तो धारितवन्तस्तमग्निमिति तत्प्रशस्तिः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यमग्निं विद्युतं द्रविणोदा देवा धारयन् धारयेयुः, यो रुक्मो रुचिकरः सन्ननन्तं बिभाति, यं समनसा समानं मनो विज्ञानं ययोस्ते, विरूपे तमःप्रकाशाभ्यां विरुद्धरूपे, समीची ये सम्यगञ्चत सर्वान् प्राप्नुतस्ते, द्यावाक्षामा प्रकाशभूमी नक्तोषासा नक्तं रात्रिर् उषा दिनं च, ते यथैकं शिशुं द्वे मातरौ धापयेते धापयतस्तथा रक्षतः, तं वर्तमानं भवन्तो विजानन्तु' इति, तदपि विसङ्गतमेव, के दिव्याः प्राणा विद्युतं धारयन्तीत्यस्यानिरूपणाद् द्यावापृथिव्योरेव मातृधात्रीस्थानीयत्वमभिप्रेतम्, तच्च नोपपद्यते, तयोः समनसादिविशेषणासङ्गतेः। न च तयोः समानविज्ञानवेद्यत्वम्, न वा तयोरहोरात्ररूपत्वम्, नोत वा सर्वप्रापत्वम्। श्रुतिसूत्रविरोधश्च सुस्पष्ट एव ॥ २ ॥

विश्वा॑ रू॒पाणि॒ प्रति॑ मुञ्चते क॒विः प्रासा॑वीद् भ॒द्रं द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे ।
वि नाक॑मख्यत् सवि॒ता वरे॑ण्योऽनु॑ प्र॒याण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—श्रेष्ठ विद्वान् जगत् के प्रेरक सविता के प्रभाव से सम्पूर्ण जगत् की वस्तुएँ नाना प्रकार के रूपों को धारण करती हैं। सविता देव मनुष्य आदि द्विपदों, गो-अश्व आदि चतुष्पदों, सभी प्रकार के प्राणियों को अपने-अपने व्यवहार को प्रकाशित कर कल्याण की तरफ प्रेरित करता है, स्वर्ग को प्रकाशित करता है। यह सविता देव उषा काल के आगमन के साथ प्रकाशित होता है ॥ ३ ॥

'शिक्यपाशं प्रतिमुञ्चते षडुद्यामं विश्वा रूपाणीति' (का० श्रौ० १६।५।६)। षडुद्यामं उद् ऊर्ध्वं यम्यते नियम्यते यैस्ते उद्यामा रज्जवः, षट् उद्यामा रज्जवः ऊर्ध्वाकर्षणहेतवो यस्य तमासन्दीस्थं शिक्यपाशं यजमानः कण्ठे बध्नातीति सूत्रार्थः। सवितृदेवत्या जगती श्यावाश्वदृष्टा।

'तस्याप एव प्रतिष्ठा। अप्सु ह्रीमे लोकाः प्रतिष्ठिता आदित्य आसञ्जनमादित्ये ह्रीमे लोका रश्मिभिरासक्ताः स यो हैतदेवं वेदैतेनैव रूपेणैतद्रूपं बिभर्ति' (श० ६।७।१।१७)। तस्य शिक्यस्य आप उदकान्येव प्रतिष्ठा आस्पदम्, लोकसृष्टेः प्रागुदकस्य सृष्टत्वात्। शिक्यस्य अधस्ताद्वर्ती उद्यामाधारः पाशरचितोऽवयवविशेषो ग्रामीणभाषायां 'विठयी' इति। स एवात्र प्रतिष्ठाशब्देनोक्तः। आसज्यते बध्यतेऽस्मिन्नित्यासञ्जनं शिक्याधारः काष्ठविशेषः, यद्वा आसज्यत इत्यासञ्जनं शिक्यस्योर्ध्वावयव आदित्योऽत्र तत्स्थानीयः। 'यद्वेवैनं शिक्येन बिभर्ति। संवत्सर एषोऽग्निरृतवः शिक्यमृतुभिर्हि संवत्सरः शक्नोति स्थातुं यच्छक्नोति तस्माच्छिक्यमृतुभिरेवैनमेतद्बिभर्ति षडुद्यामं भवति षड्ढ्यृतवः' (श० ६।७।१।१८)। प्रकारान्तरेण प्रशंसति—यद्वेवैनं शिक्येन बिभर्तीति। अग्नेः संवत्सररूपत्वं संवत्सरभरणात्। शिक्यस्य स्वाश्रिताधारकत्वनियमात् संवत्सरस्याग्निरूपत्वेन ऋतूनां संवत्सराधारत्वात् शिक्यत्वं युक्तम्।

यः कविः क्रान्तदर्शी विद्वान् वरेण्यः श्रेष्ठः सविता सर्वस्य प्रसविता सूर्यः, विश्वा सर्वाणि रूपाणि प्रतिमुञ्चते द्रव्येषु समवायेन प्रतिबध्नाति सम्बद्धं करोति, यश्च द्विपदे द्विपाद्भ्यो मनुष्येभ्यः, चतुष्पदे चतुष्पाद्भ्यः पश्वादिभ्यो भद्रं कल्याणं स्वस्वव्यवहारप्रकाशनरूपं श्रेयः प्रासावीत् प्रसौति प्रेरयति, यश्च नाकं स्वर्गं व्यख्यद् विख्याति प्रकाशयति, उषस उषःकालस्य प्रयाणं गमनमनु पश्चाद् उषःकाले व्यतीते सति विराजति विशेषेण दीप्यते, उषा सवितुः पुरोगामिनीति सवितुः स्तुतिरेव, ईदृशः सविता शिक्यं प्रतिमुञ्चत्विति शेषः।

यद्वा कविः क्रान्तप्रज्ञ उख्योऽग्निर्विश्वा सर्वाणि रूपाणि प्रतिमुञ्चति, शिक्याख्यरूपस्य बहुदामोपेतत्वात्। उव्वटाचार्यरीत्या तु यः सर्वाणि रूपाणि प्रतिमुञ्चते प्रतिबध्नाति, द्रव्येषु रूपाणि शार्वरं तमोऽपहृत्य प्रकाशयति, द्विपदे मनुष्यादिकाय चतुष्पदे गवादिकाय भद्रं भन्दनीयं कल्याणं प्रासावीत् प्रायच्छत्। सविता सर्वस्य प्रेरयिता वरेण्यः सर्वैर्वरणीयः। नाकं कं सुखम्, न विद्यते कं सुखं यत्र तद् अकम्, नास्ति अकं दुःखं यस्मिंस्तद् नाकं स्वर्गम्। 'नभ्राण्नपान्नवेदा·····' (पा० सू० ६।३।७५) इति निपातनात् सिद्धम्। व्यख्यत् प्रकाशयति, अन्तरिक्षे धृतत्वात्। तादृशोऽग्निः सविता उषसः प्रयाणं प्रगमनमनु पश्चाद् विराजति दीप्यत इत्यर्थः। उख्याग्नेः सवितुश्चाभेदं विवक्षित्वा ब्राह्मणेन व्याख्यातम्।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथ शिक्यपाशं प्रतिमुञ्चते। विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविरित्यसौ वा आदित्यः कविर्विश्वा रूपा शिक्यं प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पद इत्युद्यन्वा एष द्विपदे च चतुष्पदे च भद्रं प्रसौति वि नाकमख्यत् सविता वरेण्य इति स्वर्गो वै लोको नाकस्तमेष उद्यन्नेवानुविपश्यत्यनुप्रयाणमुषसो विराजतीत्युषा वा अग्रे व्युच्छति तस्या एष व्युष्टिं विराजन्ननूदेति' (श० ६।७।२।४)। उख्याग्नेः सवितृरूपत्वमुच्यते—असौ वा आदित्य इति। ऊर्ध्वाधोदिग्भिरुपेताश्चतस्रो दिशः शिक्यमित्यभिप्रायः। कृत्स्नस्य प्राणिनो भद्रप्रसव उषस उदयेन भवतीति प्रसिद्धमिति दर्शयति—उषा वा अग्रे व्युच्छतीति। तस्या एष व्युष्टिं विराजन्ननूदेति, विराजन्नेष व्युष्टिमनूदेतीति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—कविः क्रान्तोपलक्षितातीतानागतवर्तमानसर्वदर्शनः, वरेण्यः सर्वप्रेमास्पदत्वात् सर्ववरणीयः परमेश्वरः, विश्वा सर्वाणि रूपाणि प्रतिमुञ्चते प्रतिबध्नाति द्रव्याणि रूपसमवेतानि करोति। यश्च द्विपदे चतुष्पदे भद्रं श्रेयः प्रसौति प्रेरयति नाकं मोक्षं व्यख्यत् प्रकाशयति। यश्च उषसोऽभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणस्य सुप्रभातस्य प्रयाणं प्रकृष्टमागमनमनुविराजति विशेषेण दीप्यते। भगवतः पुरोगामिनी तादृशी उषा ईदृशः सविता परमेश्वरः स्वरूपप्रकाशेनानुगृह्णात्विति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वरेण्यो स्वीकर्तुमर्हः कविः क्रान्तदर्शनः सविता जगत्प्रसविता ईश्वरः सूर्यो वा उषसः प्रभातस्य प्रयाणं प्रकृष्टं प्रापणम्, अनुविराजति अनुप्रकाशते। विश्वा सर्वाणि रूपाणि प्रतिमुञ्चते द्विपदे चतुष्पदे नराद्याय गवाद्याय च नाकं सर्वदुःखरहितं व्यख्यत् प्रकाशयति भद्रं भजनीयं सुखं प्रासावीत् उत्पादयति, तमीदृशमुत्पादकं सूर्यं परमेश्वरं वा विजानीत' इति, तदपि न युक्तम्, त्वद्रीत्या सूर्यस्य जडत्वेन ज्ञानवत्त्वाभावेनोत्पादकत्वानुपपत्तेः, प्रतिमुञ्चत इत्यस्य प्रसिद्धचर्थत्वानुपपत्तेश्च। श्रुतौ तु शिक्यप्रतिमोके मन्त्रोऽयं विनियुक्तः।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथैनꣳ शिक्येन बिभर्ति। इमे वै लोका एषोऽग्निर्दिशः शिक्यं दिग्भिर्हीमे लोकाः शक्नुवन्ति स्थातुं यच्छक्नुवन्ति तस्माच्छिक्यं दिग्भिरेवैनमेतद्बिभर्ति षडुद्यामं भवति षड्ढि दिशो मौञ्जं त्रिवृत्तस्योक्तो बन्धुर्मृदा दिग्धं तस्यो एवोक्तोऽथो अनतिदाहाय' (श० ६।७।१।१६)। एनमुख्याग्निं शिक्येन बिभर्ति शिक्यवत्यामासन्द्यामुखां बिभर्तीत्यर्थः। उक्तमर्थमधिदैवताध्यात्मभेदेन प्रशंसति—इमे वै लोका इति। उख्याग्नेर्लोकत्रयात्मकत्वमुखाद्वारा—'त्रयो वा इमे लोका इमे लोका उखा इति' (श० ६।५।२।२२), उखायाश्च लोकत्रयात्मकत्वम्—'यो वा एष निधिः प्रथमोऽयꣳ स लोकः' (श० ६।५।२।२२) इत्यादिना प्रागुक्तम्। तस्या दिशः शिक्यम्। किं तत इत्यत आह—दिग्भिर्हीमे लोकाः शक्नुवन्ति स्थातुमिति। तस्माच्छिक्येन भरणं युक्तम्। प्रसङ्गाच्छिक्यनिर्वचनं दर्शयति—यच्छक्नुवन्ति तस्माच्छिक्यम्, स्वाधिष्ठितवस्तुधारणसमर्थत्वात्। शिक्यरूपकल्पनायाः प्रयोजनं दर्शयति—दिग्भिरेवैनमिति। ऊर्ध्वाधोविवक्षया दिशः षट्त्वम्। उद्गतानि यमानि उद्यामानि, तेषां षट्त्वेनोपेतं कर्तव्यम्। यद्वा उद्यमनसाधनत्वादुद्यामशब्देन शिक्यदामान्युच्यन्ते।

'तस्याहोरात्रे एव प्रतिष्ठा । अहोरात्रयोर्ह्ययꣳ संवत्सरः प्रतिष्ठितश्चन्द्रमा आसञ्जनं चन्द्रमसि ह्ययꣳ संवत्सर ऋतुभिरासक्तः स यो हैतदेवं वेदैतेनैव रूपेणैतद्रूपं बिभर्ति तस्य ह वा एष संवत्सरभृतो भवति य एवं वेद संवत्सरोपासितो हैव तस्य भवति य एवं न वेदेत्यधिदेवतम्' (श० ६।७।१।१९) । चन्द्रह्रासवृद्ध्युपाध्यायत्तत्वात् संवत्सरस्य चन्द्रासञ्जनरूपत्वम् । संवत्सरात्मकत्वप्रयुक्तमर्थवादमाह—तस्य ह वा एष संवत्सरभृत इति । य एवमग्नेः संवत्सरात्मकत्वं शिक्यस्य ऋत्वात्मकत्वं च वेद, तस्य एष उख्योऽग्निः संवत्सरभृतः संवत्सरादर्वाचीनकाले धारणेऽपि कृत्स्नं संवत्सरं भृतवान् भवति । उक्तविज्ञानप्रशंसार्थमविज्ञातुरुक्तफलाभावं दर्शयति—संवत्सरोपासितो हैवेति । संवत्सरमुपासित एव भवति, न तूक्तरूपेण भृतः । उक्तवक्ष्यमाणयोः साङ्कर्यपरिहाराय उक्तस्याधिदेवतपरत्वं व्यवस्थापयति—इत्यधिदेवतमिति । 'अथाध्यात्मम् । आत्मैवाग्निः प्राणाः शिक्यं प्राणैर्ह्ययमात्मा शक्नोति स्थातुं यच्छक्नोति तस्माच्छिक्यं प्राणैरेवैनमेतद्बिभर्ति षड्दामं भवति षड्ढि प्राणाः' (श० ६।७।१।२०) । स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् । 'तस्य मन एव प्रतिष्ठा । मनसि ह्ययमात्मा प्रतिष्ठितोऽन्नमासञ्जनमन्ने ह्ययमात्मा प्राणैरासक्तः स यो हैतदेवं वेदैतेनैव रूपेणैतद्रूपं बिभर्ति' (श० ६।७।१।२१) । स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् ।

'अथैनमुखया बिभर्ति । इमे वै लोका उखेमे वा एतं लोका यन्तुमर्हन्त्येभिरेतं लोकैर्देवा अबिभरुरेभिरेवैनमेतल्लोकैर्बिभर्ति' (श० ६।७।१।२२) । उखयैव धारणं प्रशंसति—अथैनमुखयेति । शेषं स्पष्टम् । 'सा यदुखा नाम । एतद्वै देवा एतेन कर्मणैतयावृतेमाँल्लोकानुदखनन् यदुदखनंस्तस्मादुत्खोत्खा ह वै तामुखेत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः' (श० ६।७।१।२३) । सा स्थाली यदुखा नाम धृतवती, तदभिधीयत इति शेषः । तत्प्रकारमभिनीय दर्शयति—एतेन कर्मणेति । एतेन परिदृश्यमानप्रकारेण । तद् विशिनष्टि—एतयावृतेति । आवृत् प्रकारविशेषः । उत्खन्यमानत्वादुखा । खननं निर्माणम् । स्पष्टमन्यत् । 'तद्वा उखेति द्वे अक्षरे । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्बिभर्ति सा एव कुम्भी सा स्थाली तत् षट् षड्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद् भवति' (श० ६।७।१।२४) । भरणीयामुखां तद्गताक्षरसंख्यया प्रशंसति—तद्वा उखेति द्वे अक्षरे इत्यादिना । उखा, कुम्भी, स्थाली–इति तस्या नाम, मिलित्वा षडक्षराणि भवन्ति । षड्वा ऋतवः । षड्तवः संवत्सर इति ॥ ३ ॥

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ । स्तोम आत्मा छन्दाꣳसि स्यङ्गानि यजूꣳषि नाम । साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः । सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखास्थित अग्निदेव, तुम ऊर्ध्वगामी होने में समर्थ हो और महान् हो । इसलिये तुम सुन्दर पंख वाले वेगगामी गरुड़ के समान गतिशील बनो । त्रिवृत् स्तोम तुम्हारा शिर है, गायत्री छन्द तुम्हारे नेत्र हैं, बृहत् और रथन्तर साम तुम्हारे दोनों पंख हैं । पंचदश स्तोम तुम्हारा अन्तःकरण है, गायत्री आदि इक्कीस छन्द तुम्हारे हृदय आदि अंग हैं । 'इषे त्वा' आदि यजुर्मन्त्र तुम्हारे नाम हैं, वामदेव्य नामक साम तुम्हारा शरीर है, यज्ञायज्ञिय नामक साम तुम्हारी पुच्छ है, होत्री आदि धिष्ण्यों में स्थित अग्नि तुम्हारे खुरों के नख हैं । इस प्रकार हे अग्निदेव, तुम वेगवान् गरुड़ के समान पक्षी रूप हो । इस कारण आकाश की ओर गमन करो, स्वर्ग लोक की ओर प्रस्थान करो ॥ ४ ॥

'सशिक्यं प्राञ्चं प्रगृह्णाति सुपर्णोऽसीति पिण्डवत्' (का० श्रौ० १६।५।७) । ऊर्ध्वाभ्यां बाहुभ्यां प्राच्यां दिशि शिक्यसहितमुख्यमग्निं पिण्डवद् धारयेत् सुपर्णोऽसीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः । गरुत्मद्देवत्या विषहन्त्री चतु-

रवसाना विकृतिः । हे अग्ने, त्वं सुपर्णः शोभनं पर्णं पतनं यस्य स पक्षिरूपोऽसि, पक्ष्याकारेण चीयमानत्वात्, 'वयसां वा एष प्रतिमया चीयते यदग्निः' (तै० सं० ५।५।३।२) इति तैत्तिरीयश्रुतेः । तत्र दृष्टान्तः—गरुत्मानिति । यथा पक्षिराजो गरुडस्तद्वदित्यर्थः । तस्यावयवा उच्यन्ते—बहिष्पवमानस्तोत्रे योऽयं त्रिवृत्स्तोमः स तव शिरः शिरःस्थानीयः । प्रजापतिमुखजत्वेनोत्तमं गायत्रं गायत्राख्यं साम चक्षुः चक्षुःस्थानीयम् । बृहद्रथन्तरे तन्नामके सामनी तव पक्षौ पक्षस्थानीये । स्तोम आत्मापञ्चदशस्तोमस्तवान्तःकरणस्थानीयः । छन्दांसि गायत्र्यादीन्येकविंशतिच्छन्दांसि, अङ्गानि तव हृदयाद्यङ्गस्थानीयानि । यजूंषि इषे त्वेत्यादीनि नाम तव नामस्थानीयानि । वामदेव्यं साम ते तनूः शरीरस्थानीयम् । यज्ञायज्ञियं तन्नामधेयं साम तव पुच्छं पुच्छस्थानीयम् । धिष्ण्या ये सौमिकवेद्यां होत्राः शफास्ते खुरस्थानीयाः । हे अग्ने, एवंभूतस्त्वं गरुत्मानिव सुपर्णः शोभनपतनः पक्षिरूपोऽसि । अतो दिवं दिव्यमाकाशं प्रति गच्छ । तत्रापि स्वः स्वर्गलोकं पत प्राप्नुहि । यद्वा गरुत्मान् गणवान् अशनवानिति ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमतो विकृत्या विकरोति । इदमेवैतद्रेतः सिक्तं विकरोति तस्माद्योनौ रेतः सिक्तं विक्रियते' (श० ६।७।२।५) । सुपर्णोऽसीत्ययं मन्त्रो विकृतिरुच्यते, अग्नेः पक्षपुच्छादिमत्सुपर्णरूपेण तत्र विकारप्रतिपादनात् । एनम् अग्निम्, अतोऽस्मात् पूर्वावस्थितात् सन्निवेशात् । विकारप्रतिपादकमन्त्रेणाभिमन्त्रणमेवात्र विकरणम् । तेनेदमेवोखायां सिक्तमग्न्याख्यं रेतो विकारयुक्तं कृतवान् भवति । तमेवार्थमिदानीन्तनरेतोविकारप्रसिद्ध्या द्रढयति—तस्माद्योनाविति । 'सुपर्णोऽसि गरुत्मानिति । वीर्यं वै सुपर्णो गरुत्मान् वीर्यमेवैनमेतदभिसंस्करोति त्रिवृत्ते शिर इति त्रिवृतमस्य स्तोमꣳ शिरः करोति गायत्रं चक्षुरिति गायत्रं चक्षुः करोति बृहद्रथन्तरे पक्षाविति बृहद्रथन्तरे पक्षौ करोति स्तोम आत्मेति स्तोममात्मानं करोति पञ्चविꣳशं छन्दाꣳस्यङ्गानीति छन्दाꣳसि वा एतस्याङ्गानि यजूꣳषि नामेति यदेनमग्निरित्याचक्षते तदस्य यजूꣳषि नाम साम ते तनूर्वामदेव्यमित्यात्मा वै तनूरात्मा ते तनूर्वामदेव्यमित्येतद् यज्ञायज्ञियं पुच्छमिति यज्ञायज्ञियं पुच्छं करोति धिष्ण्याः शफा इति धिष्ण्यैर्वा एषोऽस्मिंल्लोके प्रतिष्ठितः सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पतेति तदेनꣳ सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वाह देवान् गच्छ स्वर्गं लोकं पतेति' (श० ६।७।२।६) । विकारमन्त्रमुक्त्वा विभज्य व्याचष्टे—सुपर्णोऽसीत्यादीना । सायणरीत्या ब्राह्मणव्याख्यातस्य मन्त्रस्यायमर्थः—हे अग्ने, त्वं गरुत्मान् प्रबलपक्षोपेतः सुपर्णाख्यः पक्षी असि । यज्ञ एव पक्ष्यात्मनोच्यते—तथाभूतस्य ते त्रिवृत्स्तोमः शिरो मस्तकम्, आदौ स्तूयमानत्वेन मुख्यत्वात् । गायत्र्या शंसितं ते चक्षुः । बृहद्रथन्तरे सामनी ते पक्षौ, सकलयागनिर्वाहकत्वात् तयोः । महाव्रतस्तोत्रवदस्यापि (तै० ब्रा० १।३।६ सा० भा०) पञ्चविंशः स्तोम आत्मा । छन्दांसि गायत्र्यादीनि तेऽङ्गानि । यजूंषि शुक्लकृष्णाख्यानि प्रश्लिष्टवाक्यानि, तत्रत्योऽग्निशब्दस्ते नाम आख्या । वामदेव्यं साम कया नश्चित्र आभुवदित्यस्यामृच्युत्पन्नं साम तनूः शरीरम् । यज्ञायज्ञियं 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' इत्यस्यामृच्युत्पन्नं साम ते पुच्छम् अन्त्यत्वसाम्यात् । धिष्ण्यास्तत्तदायतनस्था अग्नयः शफाः प्रतिष्ठासाधनावयवाः । एवंविधः सुपर्णो गरुत्मानसि, अतस्त्वं दिवं गच्छ । तदेव विशिनष्टि—स्वः पतेति । सुपर्णोऽसीति मन्त्रपाठस्य प्रयोजनमाह—वीर्यमेवैनमिति । सुवर्णात्मना भावनया तस्य वीर्यमेवाभिसंस्कृतवान् भवति । यजुषां कथमग्नेर्नामधेयत्वमित्याशङ्क्य तद् व्याचष्टे—यजूंषि नामेति । यः सर्वैरुच्यमानोऽग्निरिति शब्दोऽस्ति, तस्यापि यजुरन्तःपातित्वाद्यजुष्ट्वम् । तत् तत एव एकस्यापि नाम्नो बहुषु प्रदेशेष्वाम्नातत्वाद् यजूंषीति बहुवचनम् । दिवमित्यनेन तत्रस्था देवा विवक्षिता इति व्याचष्टे—देवान् गच्छेति । तदेनं सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वा आहेति मन्त्रशेषः । किमाह—देवान् गच्छेत्याद्यर्थमाहेति । अथवा मन्त्रोच्चारयिता सुपर्णोऽसीत्यादिना एनमग्निं सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वा आह ब्रूते । किमिति—देवान् गच्छेति ।

'तं वा एतम् । अत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति यादृग्वै योनौ रेतो विक्रियते तादृग्जायते तद्यदेतमत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति तस्मादेषोऽमुत्र पक्षपुच्छवान् जायते' (श० ६।७।२।७) । उक्तविकारं पक्षपुच्छाद्यात्मकं भाविनोऽग्निजननस्य उपयोगितया प्रशंसितुमनुवदति—तं वा एतमिति । वक्ष्यमाणोपयोगिनं लोकन्यायं दर्शयति—यादृगिति । यादृग्विधं रेतः सिच्यते तादृग्जायत इति लोकमर्यादा । यद् यस्मात् पक्षपुच्छवन्तं विकरोति, अत्र उखाधारणसमये । तस्मादेषोऽग्निरमुत्राहवनीयदेशे चयनानन्तरं तादृगेव जायते, चयनेन सुपर्णाकार एव जायत इत्यर्थः । अनेनाभिमन्त्रणचयनयोर्वैसादृश्याभाव उक्तः । 'तमेतया विकृत्या । इत ऊर्ध्वं प्राञ्चं प्रगृह्णात्यसौ वा आदित्य एषोऽग्निरमुं तदादित्यमित ऊर्ध्वं प्राञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य इत ऊर्ध्वः प्राङ् धीयते परोबाहु प्रगृह्णाति परोबाहु ह्येष इतोऽथैनमुपावहरति तमुपावहृत्योपरिनाभि धारयति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।७।२।९) । इतोऽस्माद् धृतप्रदेशात् प्राञ्चं प्राङ्मुखं सूर्यस्याग्नेश्च मध्ये यथा व्यवधानं न भवति तथेत्यर्थः । तत्प्रशंसति—असौ वा आदित्य एषोऽग्निरिति । अग्नेरादित्यात्मकत्वमुक्तमेव । आदित्यस्य प्रागूर्ध्वगतिप्रसिद्धया उक्तार्थमुपोद्बलयति—तस्मादसावादित्य इति । प्रग्रहणे प्रकारविशेषमाह—परोबाहु प्रगृह्णातीति । बाह्वोः पर ऊर्ध्ववर्ती यथा भवति तथेत्यर्थः । एष आदित्य इतो भूस्थानात् परोबाहु सर्वेषां बाह्वोरूर्ध्वप्रदेशवर्तित्वात् तदभिन्नस्याप्यस्य तथा ग्रहणं युक्तमित्यर्थः । बाह्वोरुपरि धृतस्याग्नेः प्रत्यवरोहणम्, तदनन्तरं नाभेरुपरिप्रदेशे धारणं च विधत्ते—अथैनमुपावहरतीति । उपरिनाभिधारणार्थवादो रुक्मधारणप्रस्ताव उक्तः । तदेवोक्तं कात्यायनेन—'स शिक्यं प्राञ्चं प्रगृह्णाति सुपर्णोऽसीति पिण्डवद् धारणं चेति' (का० श्रौ० १६।५।७-८) । चशब्दोऽवधारणे । उखार्थं मृत्पिण्डधारणं यथा तथैवोख्यमग्निं धारयेदित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, त्वं चित्याग्निरूपेण यज्ञरूपेण प्रबलपक्षोपेतः सुपर्णपक्षिरूपोऽसि । तथाभूतस्य ते त्रिवृत्स्तोमः शिरो मस्तकम्, सर्वात्मकस्य परमेश्वरस्य चित्याग्नियज्ञादिरूपेण स्तूयमानत्वात् । शेषं पूर्ववत् ।

'वरूत्रीष्ट्वा देवीः । विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वच्छ्रपयन्तूख इति वरूत्रीर्हैतामग्रे देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वच्छ्रपयाञ्चक्रुस्ताभिरेवैनामेतच्छ्रपयति तानि ह तान्यहोरात्राण्येवा-होरात्राणि वै वरूत्रयोऽहोरात्रैर्हीदꣳ सर्वं वृतमहोरात्रैरेवैनामेतच्छ्रपयति' (श० ६।५।४।६) । 'ग्नास्त्वा देवीः । विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वत्⋯पेचुस्ताभिरेवैनामेतत्पचति तानि ह तानि छन्दाꣳस्येव छन्दाꣳसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति छन्दोभिरेवैनामेतत् पचति' (श० ६।५।४।७) । 'जनयस्त्वाऽच्छिन्नपत्रा देवीः । विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत्पचन्तूख इति जनयो हैतामग्रेऽच्छिन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वत्पेचुस्ताभिरेवैनामेतत्पचति तानि ह तानि नक्षत्राण्येव नक्षत्राणि वै जनयो ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यन्ति तेषामेतानि ज्योतीꣳषि नक्षत्रैरेवैनामेतत् पचति' (श० ६।५।४।८) । 'स वै खनत्येकेन । अवदधात्येकेनाभीन्ध एकेन श्रपयत्येकेन द्वाभ्यां पचति तस्माद् द्विः संवत्सरस्यान्नं पच्यते तानि षट् सम्पद्यन्ते षड् ऋतवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद् भवति' (श० ६।५।४।९) । खननादिमन्त्रगतां संख्यामनूद्य प्रशंसति—स वै खनत्येकेनेत्यादिना । खननादिक्रिया त्वेकेनैव मन्त्रेण, पाकस्य तु मन्त्रद्वयसाध्यत्वम्, तस्यार्थवादः—तस्माद् द्विः संवत्सरस्येत्यादि । शाल्यादिपरिपाकः संवत्सरस्य द्विर्भवतीति प्रसिद्धम् । षड् ऋतवो मिलित्वा संवत्सरो भवति, स संवत्सरोऽग्निः । प्रजापतिना संवत्सरो ध्रियमाणो भवति । तावत्तद् भवतीति नैमित्तिकचित्या सह चितीनामप्यवयवानां षट्त्वात् सा मन्त्रगता संख्या ऋतुसंख्याद्वारेणाग्नेर्मात्रया समा भवति । चित्यात्मकस्याग्नेः स्वरूपपर्यैकत्वाद्

ऋतु(षट्)संख्यावतोऽवयविनः संवत्सरस्याप्येकत्वाच्च सा मन्त्रगता संख्या संवत्सरद्वारेण अग्निर्यावान् तावती भवतीत्यर्थ इति सायणाचार्यः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यतस्ते तव त्रिवृत् त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि वर्तन्ते यस्मिंस्तत् । शिरः श्रृणाति हिनस्ति दुःखानि येन तत् । गायत्रं गायत्र्या विहितं विज्ञानं चक्षुर्नेत्रमिव बृहद्रथन्तरे बृहद्भी रथैस्तरन्ति दुःखानि याभ्यां सामभ्यां ते पक्षौ पार्श्वाविव । स्तोमः स्तोतुमर्हं ऋग्वेद आत्मा स्वरूपं छन्दांसि उष्णिगादीनि अङ्गानि श्रोत्रादीनि । यजूंषि यजुःश्रुतयः नाम आख्या । यज्ञायज्ञियं यज्ञाः सङ्गन्तव्या व्यवहारा अयज्ञास्त्यक्तव्याश्च तान् यदर्हति तत् । वामदेवेन दृष्टं विज्ञापितं वा साम तृतीयो वेदस्ते तव तनूः शरीरम् । तस्मात्त्वं गरुत्मान् गुर्वात्मा वा गरणवान् 'गुर्वात्मा महात्मेति वा' (नि० ७।१८) । सुपर्णः शोभनानि पर्णानि लक्षणानि यस्य सः । यस्य धिष्ण्या दिधिषन्ति शब्दयन्ति यैस्ते धिषाणः खुरोपरिभागाः, तेषु साधवो धिष्ण्याः शफाः खुराः । दीर्घं पुच्छमस्ति तद्वद् योगः सुपर्णोऽस्यास्ति स इव त्वं दिवं दिव्यं विज्ञानं गच्छ प्राप्नुहि । स्वः सुखं पत गृहाण' इति, तदपि न किञ्चित्, मनुष्ये विदुषि तेषां विशेषणानामसङ्गतेः, त्रिवृत्पदस्य कर्मादिव्यवहारार्थत्वे मानाभावात्, त्रयाणां ब्रह्मादीनां ग्रहणसम्भवेन तादृशार्थत्वे विनिगमना-विरहाच्च । शिर इति पदमपि न तथार्थकम्, श्रृणातेरतथार्थत्वात् । गायत्री छन्दोमात्रम्, न केवलेन छन्दसा किञ्चिद्विज्ञानं प्रकाश्यते, एवमेव रथन्तरादिशब्दार्थोऽपि विशेषेण आसमन्ताद् जिघ्रतीति व्याघ्र इति निर्वचनवदुपहासास्पदम्, त्रिवृद्रथन्तरादिशब्दानां वैदिकसाहित्ये स्तोम-सामविशेषार्थेषु प्रसिद्धत्वात् । दीर्घं पुच्छमित्यादिकमसङ्गतमेव । श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥ ४ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्द आरोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्तानुष्टुभं छन्द आरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे प्रथम पादविन्यास, तुम यज्ञाग्नि के शत्रुघाती क्रम हो, इस कारण अनुग्रह कर गायत्री छन्द को स्वीकार करो, फिर भूदेवता रूप इस भूमि के प्रदेश को विशेष रूप से प्राप्त करो । हे द्वितीय पादविन्यास, तुम उखा अग्नि के पापनाशक क्रम हो, त्रिष्टुप् छन्द को अनुग्रह कर स्वीकार करो और अन्तरिक्ष स्थान में पहुँच जाओ । हे तृतीय पादविन्यास, तुम उखाग्नि के लिये धन न ले आने वालों के नाशक हो, तुम जगती छन्द के सहारे द्युलोक में जाकर वहाँ उत्तम स्थान प्राप्त करो । हे चतुर्थ पादविन्यास, तुम उखाग्नि के प्रति शत्रुता करने वालों का नाश करते हो, अनुष्टुप् छन्द की सहायता से तुम आरोहण करो । हे अग्निदेव, तुम सभी दिशा-विदिशाओं में परिव्याप्त हो जाओ ॥ ५ ॥

'विष्णुक्रमान् क्रमते विष्णोरिति प्रतिमन्त्रम्, अग्न्युद्ग्रभणं च तस्मिंस्तस्मिन्' (का० श्रौ० १६।५।११-१२) । विष्णुक्रमसंज्ञकान् पादन्यासान् कुर्यात् । तस्मिंस्तस्मिन् क्रमणे उख्यस्याग्नेरूर्ध्वं ग्रहणं च कुर्यात्, प्रतिविष्णु-क्रमणमुख्यस्याग्नेः सशिक्यस्य सेण्ड्वाभ्यां हस्ताभ्यामूर्ध्वीकरणं च स्तोकं स्तोकं कुर्यात् । तत्र प्रथमं दक्षिणपादेन क्रमणं कृत्वा अग्निं स्तोकं नाभिदेशादूर्ध्वं कुर्यात् । पुनः क्रमणं कृत्वा पुनरपि किञ्चिदुद्गृह्णीयात् । एवं तृतीयवारं

कुर्यादिति सूत्रार्थः। चतुर्थवारं तु न क्रमणमिति वक्ष्यति—'अक्रमश्चतुर्थे' (का० श्रौ० १६।५।१३) इति सूत्रेण। चत्वारि यजूंष्यग्निदेवत्यानि। ऋग्बृहतीछन्दस्कानि त्रीणि चतुर्थं प्राजापत्या बृहती।

हे प्रथमपादविन्यास, त्वं विष्णोर्यज्ञस्याग्नेः क्रमोऽसि। सपत्नहा सपत्नान् शत्रून् हतवानिति, शत्रुघातकश्च। अतो गायत्रं छन्द आरोह अनुग्राहकत्वेन स्वीकुरु। ततः पृथिवीमनुक्रम विक्रमस्व भूदेवतारूपमिमं प्रदेशं विशेषेण प्राप्नुहि। हे द्वितीयपादविन्यास, त्वं विष्णोः क्रमोऽसि, अभिमातिहा अभिमातिर्घातकः शत्रुः पाप्मा वा तं हतवानिति। त्रैष्टुभं छन्द आरोह अनुग्राहकत्वेन स्वीकुरु। अन्तरिक्षप्रदेशं व्याप्नुहि। हे तृतीयपादविन्यास, विष्णोः क्रमोऽसि, अरातीयतो हन्ता रातिर्दानं तदभावोऽरातिः, तमात्मन इच्छतीत्यरातीयन्, तस्य हन्ता, दानप्रतिबन्धकस्य शत्रोर्घातकोऽसीत्यर्थः। जागतं छन्द आरोह द्युलोकं व्याप्नुहि। हे चतुर्थपादविन्यास, त्वं विष्णोः क्रमोऽसि, शत्रूयतो हन्ता। शत्रुत्वं हन्तृत्वमिच्छतीति शत्रूयति, शत्रूयतीति शत्रूयन्, तस्य। क्यजन्तात् शता। आनुष्टुभं छन्द आरोह। अत्र चतुर्ष्वपि पादविन्यासेषु यजमान आत्मनो विष्णुत्वं भावयन् चतुर्णां प्रक्रमाणां प्रदेशान् पृथिव्यादिलोकरूपत्वेन भावयेत्। 'दिशोऽनुवीक्षते दिशोऽनुविक्रमस्वेति' (का० श्रौ० १६।५।१४)। मन्त्रावृत्त्या सर्वा दिशोऽनुपश्येत्। यजुरुष्णिक्। हे अग्ने, त्वं दिशोऽनुविक्रमस्व प्राच्यादिदिशो व्याप्नुहि। अत्र सर्वान् यज्ञप्रयोगान् वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुरिति व्युत्पत्त्या सर्वयज्ञप्रयोगव्यापकस्य यजमानस्य विष्णुत्वमुक्तम्। यद्वा विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्याभेदभावनया यजमानः स्वात्मानं विष्णुं मन्यमान आह—हे पादविन्यास, त्वं विष्णोः क्रमोऽसीति।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ विष्णुक्रमान् क्रमते। एतद्वै देवा विष्णुर्भूत्वेमाँल्लोकानक्रमन्त यद्विष्णुर्भूत्वाऽक्रमन्त तस्माद्विष्णुक्रमास्तथैवैतद्यजमानो विष्णुर्भूत्वेमाँल्लोकान् क्रमते' (श० ६।७।२।१०)। अथ विष्णुक्रमणं विधाय तन्निर्वचनद्वारेण प्रशंसति—अथ विष्णुक्रमानिति। विष्णुभूतैर्देवैः क्रान्तत्वाद् विष्णुक्रम इति नाम सम्पन्नम्। यथा देवैस्तथैव एतद् एतेन समन्त्रकपादाक्रमणेन इमान् लोकान् विष्णुर्भूत्वा क्रान्तवान् भवति यजमानः। 'स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽयमेव स योऽयमग्निरुखायामेतमेव तद्देवा आत्मानं कृत्वेमाँल्लोकानक्रमन्त तथैवैतद्यजमान एतमेवात्मानं कृत्वेमाँल्लोकान् क्रमते' (श० ६।७।२।११)। ननु यजमानस्य कथं विष्णुभावेनाक्रमणं सङ्गच्छते, इत्याशङ्क्याह—स यः प्रसिद्धो विष्णुरस्ति स यज्ञः। पुनश्च स यः प्रसिद्धो यज्ञः, अयमग्निरेव। अयमिति कः ? य उखायां वर्तते सोऽग्निरेव विष्णुरित्यर्थः। प्रतिपादितस्य विष्णोः स्वरूपप्राप्तिं देवानां दर्शयति—एतमेव तद्देवा इति। तथैवैतद्यजमान इत्यादिकं स्पष्टम्। उखाग्निं धृत्वा क्रमणमेव विष्णुक्रमणमित्युक्तं भवति। 'उदङ् प्राङ् तिष्ठन्। एतद्वै तत्प्रजापतिर्विष्णुक्रमैरुदङ् प्राङ् तिष्ठन् प्रजा असृजत तथैवैतद्यजमानो विष्णुक्रमैरुदङ् प्राङ् तिष्ठन् प्रजाः सृजते' (श० ६।७।२।१२)। क्रमणं विधाय प्रशंसति—उदङ् प्राङित्यादिना। अत्र लोकत्रयप्रतिनिधित्वेन त्रिवाराक्रमणम्, तस्य त्रयो मन्त्राः। दिशो विक्रमार्थं पादाक्रमणाभावेऽप्येको मन्त्रः।

'विष्णोः क्रमोऽसीति। विष्णुर्हि भूत्वा क्रमते सपत्नहेति सपत्नान् ह्यत्र हन्ति गायत्रं छन्द आरोहेति ....पृथिवीमनु विक्रमस्वेति पृथिवीमनु विक्रमते प्रहरति पादं क्रमत ऊर्ध्वमग्निमुद्गृह्णात्यूर्ध्वो हि रोहति' (श० ६।७।२।१३)। अत्र सायणाचार्यः—आक्रम्यमाण पादनिधानस्थान, त्वं विष्णोः क्रमोऽसि। मनुष्यस्य मम कीदृशस्त्वं सपत्नहा सपत्नानां हन्ता तथाविधस्त्वं गायत्रं छन्द आरोह, आरूढः सन् पृथिवीं भूलोकं सकलं विक्रमस्व आक्रमणं कुरु। विष्णोः क्रमोऽसीत्येतत् प्रसिद्धमेवेति तद् दर्शयति—विष्णुर्हि भूत्वेति। अत्र आक्रमणकाले सपत्नान् शत्रून् हन्ति हिनस्ति खलु, अतः सपत्नहा इति विशेषणं युक्तम्। गायत्रं छन्दः पृथिवीमन्विति ब्राह्मणं स्पष्टम्। क्रमणप्रकारमाह—प्रहरति पादमिति। पादं पुरोदेशं प्रति नयेत्। नीत्वा च क्रमते पादं प्रक्षिपेत्। तदनन्तरमग्निमूर्ध्वं नाभेरुपरिदेशं प्रति उद्गृह्णीयाद् ऊर्ध्वमुखं गृह्णीयात्। हि यस्माद् ऊर्ध्वो

भूलोकादुपरिदेशं प्रति रोहति विष्णुक्रमणेन, अतोऽग्नेरप्यूर्ध्वदेशं प्रापणं युक्तमित्यर्थ इति । विष्णोः क्रमोऽसीति । विष्णुर्हि भूत्वा क्रमते शत्रूयतो हन्तेति शत्रूयतो ह्यत्र हन्त्यानुष्टुभं छन्द आरोहेत्यानुष्टुभं छन्द आरोहति दिशोऽनु विक्रमस्वेति सर्वा दिशोऽनु वीक्षते न प्रहरति पादं नेदिमांल्लोकानतिप्रणश्यानीत्यूर्ध्वमेवाग्निमुद्गृह्णाति स७ह्यारोहति' (श० ६।७।२।१६) । दिग्विक्रमणे विशेषमाह—दिशोऽनुविक्रमस्वेति । सर्वा दिशोऽनुवीक्ष्य पादं न प्रहरेत् । पादप्रक्षेपाकरणस्य प्रयोजनमाह—नेदिमानिति । नेद् इति परिभये, एतेषां त्रयाणां लोकानामतिक्रमः परिभयम् । अतस्त्वकर्तव्यमिति तस्याभिप्रायः । पादप्रहारवद् अग्नेरुद्ग्रहणस्यापि निवृत्तिप्रसक्तावाह—ऊर्ध्वमेवाग्निमिति । एवशब्दो भिन्नक्रमः, उद्गृह्णात्येव । तत्र प्रयोजनं दर्शयति—संह्यारोहतीति । समारोहणसम्भवात् तत्प्रयोज्यमप्युद्ग्रहणं कर्तव्यमेवेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे आत्मन्, त्वं विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमात्मनः क्रमोऽसि, क्राम्यत्यनेनेति क्रमश्चरणः, चरणाश्रितोऽसि, तदाश्रयेण सपत्नान् लौकिकान् शत्रून् हन्तीति तथोक्तः । त्वं गायत्रं छन्दोऽनुग्राहकत्वेन स्वीकुरु । पृथिवीं भूदेवतारूपामिमां विक्रमस्व । पृथिव्युपलक्षितं स्थूलदेहं विक्रान्तं कुरु, तत्रात्मभावं परित्यज्य ब्रह्मात्मभावं गच्छ । विष्णोः क्रमोऽसि, अभिमातिहा पाप्महासि । त्रैष्टुभं छन्द आरोह । अन्तरिक्षं वायुप्रधानं सूक्ष्मदेहं विक्रमस्व विक्रान्तं कुरु, तत्रात्मभावं परित्यज । विष्णोः क्रमोऽसि, अरातीयतः कामादेर्हन्ता, जागतं छन्द आरोह । दिवं द्युलोकोपलक्षितं कारणदेहं विक्रमस्व । विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतोऽज्ञानाहङ्कारादेर्हन्तासि, आनुष्टुभं छन्द आरोह, दिशः सर्वा दिशः सर्वोपलक्षितं शरीरत्रयकारणमज्ञानं विक्रमस्व ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्य क्रमो व्यवहारः, व्यवहारेण शोधकोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्दो गायत्रीनिष्पन्नमर्थं स्वच्छं पदार्थमारोह आरूढो भव । पृथिवीं पृथिव्यादिकं व्यवहर पृथिव्यादिपदार्थानुकूलं व्यवहारं कुरु । यस्मात्त्वं विष्णोर्व्यापकस्य कारणस्य क्रमः कार्यरूपोऽस्यभिमानिनां हन्ता, अतस्त्रैष्टुभं त्रिभिः सुखैः सम्बद्धं छन्दो बलप्रदं वेदार्थमारोह गृहाण आकाशमनुकूलव्यवहारे योजय, यतस्त्वं विष्णोर्व्याप्तिशीलस्य विद्युद्रूपाग्नेः क्रमो ज्ञातासि, अरातीयतो विद्यादिदानविरोधिपुरुषस्य हन्तासि, अतो जागतं जगज्ज्ञानहेतुं छन्दः सृष्टिविद्यां बलप्रदं विज्ञानमारोह प्राप्नुहि । दिवं सूर्यमग्निं वा अनुविक्रमस्व उपयुक्तं कुरु, यतस्त्वं विष्णोर्हिरण्यगर्भस्य वायोः क्रमो ज्ञापकः । शत्रूयतां हन्ता आनुकूल्येन सुखसम्बन्धहेतुमानन्दकारकं वेदभागम् आरोह उपयोजय दिशामनुकूलं प्रयत्नं कुरु' इति, तदपि निरर्थकमेव, शब्दमर्यादातिक्रमेण यथेष्टार्थाङ्गीकारात्, श्रुतिसूत्रातिक्रमणाच्च ॥ ५ ॥

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आकाश में मेघ के समान गर्जना करते हुए तुम पृथ्वी का आस्वादन करो । वृक्षों को अंकुरित करता हुआ अग्नि प्रदीप्त होता है । जो भी उसके पास रहता है, उसको विज्ञानसम्पन्न और प्रसिद्ध कर देता है, द्यावापृथिवी के मध्य में रश्मि के द्वारा प्रकाशित होता है ॥ ६ ॥

'पिण्डवत् प्रागुदञ्चं प्रगृह्णात्यक्रन्ददग्निरिति' (का० श्रौ० १६।५।१५) । ऊर्ध्वबाहुः प्रागूर्ध्वमग्निम् अक्रन्ददग्निरिति मन्त्रेण गृह्णातीति सूत्रार्थः । अग्निदेवत्या त्रिष्टुप् वत्सप्रीदृष्टा । अग्निर्देवः, द्यौरिव द्युलोकस्थः पर्जन्य इव, स्तनयन् गर्जन् शब्दं कुर्वाणः, अक्रन्दत् क्रन्दति विस्फूर्जति । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू०

३।४।६) इति कालसामान्ये लङ्। द्यौःशब्देन द्युलोकस्थः पर्जन्य उच्यते। 'स्तनगदी देवशब्दे' चुरादिरदन्तः। क्षामा क्षामां पृथिवीम्। 'सुपां सुलुक्.......' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तिलोपः। क्षामेति पृथिवीनामसु। अथवा द्वितीयार्थे प्रथमा। रेरिहत् 'लिह आस्वादने' इत्यस्य यङ्लुगन्ताच्छतृप्रत्ययः, लकारस्य रेफश्छान्दसः। अत्यन्तं लेढीति लेलिहत्, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (पा० सू० ७।१।७८) इति नुमभावः। यथा पर्जन्य उदकभावमुपगच्छन्नत्यर्थं पृथिवीं लेढि आस्वादयति, तद्वदयमग्निः पृथिवीमत्यर्थमास्वादयति। वीरुध ओषधीः स्वकीयज्वालासमूहेन समञ्जन् व्याप्नुवन्। अन्यदपि साधर्म्यमुच्यते हि यस्मात् सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यत्, अर्थाद् यथा पर्जन्यः सद्य एव जायमानोऽभ्ररूपेण इद्धः सन् इदं सर्वं धारासहस्रैर् व्यख्यद् विख्यापयति, वीत्युपसर्गस्य ख्यातिना सम्बन्धः, अख्यदित्यन्तर्भूतणिजर्थो ज्ञेयः, एवमयमग्निः सद्य एव जायमान इद्धो दीप्तः सन् इदं सर्वं रश्मिसहस्रैर्विख्यापयति प्रकाशयति। आरोदसी भानुना भात्यन्तः, यथा पर्जन्यो भानुना विद्युद्रूपेण रोदसी द्यावापृथिव्योरन्तरा स्थित आभाति, एवमयमग्निर्भानुना ज्वालया दीप्त्या द्यावापृथिव्योरन्तर्व्यवस्थित आभाति आसमन्तात् प्रकाशते। ईमिति पादपूरणार्थः।

यद्वा अयमग्निरक्रन्दद् अस्मदनिष्टनिवारणार्थं गर्जतु। किमिव ? स्तनयन्निव द्यौः। यथा द्युलोकस्थः पर्जन्यो गर्जनेन सस्यशोषणभीतिं निवारयति, तद्वत्। किं कुर्वन् ? क्षामदाहकमस्मद्विरुद्धम् आरेरिहत् समन्ताद् लेलिहानः, वीरुधः समञ्जन् पुष्पलतावदस्मदनुकूलानि सम्यगभिव्यञ्जन् हि यस्माद् जज्ञान उत्पद्यमानः सद्य इदानीमिव इद्धो दीप्तो व्यख्यद् विविधं जगत् प्रकाशयति। रोदसी द्यावापृथिव्योरन्तर्भानुना रश्मिना स्वयमासमन्ताद् भाति। यद्वा अत्राग्निपर्जन्ययोरौपचारिक उपमानोपमेयभावः। क्षामा अवर्षणेन क्षयकारी पर्जन्यात्मा अग्नी रेरिहन् भृशं लिहन् वीरुधो लतागुल्मादीन् समञ्जन् सम्यगार्द्रीकुर्वन् अक्रन्दद् गर्जति। अथवा ब्राह्मणानुसारेण वीरुधः समनक्तीति व्याख्येयम्। पर्जन्यात्मा अग्निः सद्यस्तदानीमेव जज्ञानो जायमान इद्धः समिद्धः सन् इदं सर्वं विख्यापयति। अन्यत् पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम् —'अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौरिति। क्रन्दतीव हि पर्जन्यः स्तनयन् क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्निति क्षामा वै पर्जन्यो रेरिह्यमाणो वीरुधः समनक्ति सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदिति सद्यो वा एष जज्ञान इद७ँ सर्वं विख्यापयत्या रोदसी भानुना भात्यन्तरितीमे वै द्यावापृथिवी रोदसी ते एष भानुना भाति परोबाहु प्रगृह्णाति परोबाहु हि पर्जन्यः' (श० ६।७।३।२)। प्रथमपादं व्याचष्टे—पर्जन्योऽग्न्याख्यः स्तनयन् वृष्टिलिङ्गशब्दं कुर्वन् क्रन्दतीव आक्रोशतीव वर्तते। क्षामशब्देनात्र पर्जन्यो विवक्षित इति व्याचष्टे—क्षामा वै पर्जन्य इति। स्पष्टमन्यत्। परोबाहु प्रगृह्णातीति सार्थवाद उख्याग्निधारणप्रस्तावे (श० ६।७।२।९) इत्यत्र प्रोक्त एव।

अध्यात्मपक्षे—यथा द्यौर्द्युलोकस्थः पर्जन्यो रामोऽग्निरिव राक्षसादिदाहकोऽरीन् विनाशयन् पर्जन्यनिनादं करोति, पर्जन्यो यथोदकभावमुपगच्छन् क्षामां पृथिवीमत्यर्थं लेढि आस्वादयति, वीरुध ओषधीः समञ्जन् व्याप्नुवन् गर्जति, तथैव रामोऽग्निरपि क्षामां जगतीं प्रपञ्चभूमिं तत्रत्याश्च वीरुधो लतागुल्मादिस्थानीयाः प्रजाः समञ्जन् व्याप्नुवन् आप्याययन् गर्जति। हि यस्मात् पर्जन्यः सद्यस्तदानीमेव जज्ञानो जायमान इद्धो दीप्तः सन् व्यख्यद् आप्याययति यथा, तथैवाग्निः सद्यो जज्ञानमिदं सर्वं विविधं प्रपञ्चं प्रकाशयति। पर्जन्यो यथा रोदसी रोदस्योर्द्यावापृथिव्योरन्तर्मध्ये भानुना विद्युद्रूपेण भाति, एवमग्निर्भगवानपि स्वप्रकाशेन चिद्रूपेण प्रतापेन व्यक्तरूपेण भाति। यथा पर्जन्यः क्षामां पृथिवीमास्वादयति, तथैवाग्निः श्रीराम ईं चिद्रूपिणीं कामकलां सीतां समञ्जन् स्वरूपेण तां व्यञ्जन् सम्यक् स्नेहयन् गर्जतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः सभेशः सद्यो जज्ञानः समानेऽह्नि जज्ञानः प्रादुर्भूतः सन् द्यौः सूर्यप्रकाशोऽग्निर्विद्युत् स्तनयन्निव यथा दिव्यं शब्दं कुर्वन् अरीन् अक्रन्दत् प्राप्नोति, यथा क्षामा पृथिवी वीरुधो वृक्षान्, तथा प्रजाभ्यः सुखानि रेरिहद् भृशं फलानि ददाति, यथा सवितेद्धः समञ्जन् सम्यक् प्रकाशयन् रोदसी द्यावापृथिव्यौ व्यख्यत् प्रकाशयति, भानुना स्वदीप्त्या अन्तर्मध्ये वर्तमानः सन् आभाति प्रकाशते, तथा यः शुभगुणकर्मस्वभावैः प्रकाशते, तं हि राजकर्मसु प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदप्युपेक्ष्यम्, निर्मूलाध्याहारादिपुरस्कारेण व्याख्यातत्वात्। तथाहि—अक्रन्ददित्यस्य प्राप्नोतीति व्याख्यानं निर्मूलमेव, 'क्रदि आह्वाने रोदने च' इति विरोधात्, 'क्रदि वैकल्ये' इति विरोधाच्च। यत्तु वैदिकनिघण्टौ द्वाविंशशतं गत्यर्था इति यास्करीत्या गत्यर्थता युक्तेति, तत्तुच्छम्, गत्यन्तराभावे तादृशपक्षस्य ग्रहीतुं योग्यत्वात्। रेरिहदित्यस्य दानार्थतापि निर्मूलैव। रिहन्ति लिहन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्ति— इत्यादिकं स्वार्षव्याख्यानात्तथाभ्युपेयते। न त्वनृषिणा तथा स्वैरं व्याख्यातुं शक्यते। 'ईम्' इति पदं तु त्यक्तमिति तदप्ययुक्तम्। किञ्च, दार्ष्टान्तिकस्य मूलमन्त्रेऽभावादेव सर्वा अपि कल्पनाः कल्पनामात्रमेव ॥ ६ ॥

अग्नेऽभ्यावर्तिन्नभि मा निवर्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन सन्या मेधया रय्या पोषेण ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हमारे संमुख आने के स्वभाव वाले, गमनागमन में समर्थ हे अग्निदेव परमात्मन्, आप हमें आयु, तेज, कान्ति, सन्तान, इष्टलाभ, धारणावती बुद्धि और सुवर्ण आदि अलंकार प्रदान कीजिये ॥ ७ ॥

'अवहरत्यग्नेऽभ्यावर्तिन्निति' (का० श्रौ० १६।५।१६)। ऋक्चतुष्टयेन चतुर्वारमुख्याग्निमात्मसमीपं स्तोकं स्तोकं नीचैः कुर्यादिति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्योर्ध्वबृहती द्वादशार्णत्रिपादा। हे अग्ने अभ्यावर्तिन्, अभि आभिमुख्येनावर्तितुं शीलमस्यास्तीत्यभ्यावर्ती तत्सम्बुद्धौ, अस्मदभिमुखागमनशील! मामभि मां प्रति आयुषा अपमृत्युरहितेन जीवनेन वर्चसा ब्रह्मतेजसा ब्राह्मबलेन वा प्रजया पुत्रादिरूपया धनेन वसुना सन्या इष्टलाभेन मेधया श्रुतार्थधारणशक्तिमत्या बुद्ध्या रय्या सौवर्णालङ्कारादिना पोषेण तेषामेवायुरादीनां पुष्ट्या निवर्तस्व शीघ्रमागच्छ। यद्वा हे अग्ने, आयुरादिभिः सह मामभिलक्ष्य निवर्तस्व आवर्तस्व।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुपावहरति। एतद्वै योऽस्मिल्लोके रसो यदुपजीवनं तेनैतत्सहोर्ध्व इमाँल्लोकान् रोहत्यग्निर्वा अस्मिल्लोके रसोऽग्निरुपजीवनं तद्यावत्तावदेव स्यान्न हास्मिल्लोके रसो नोपजीवनꣳ स्यादथ यत्प्रत्यवरोहत्यस्मिन्नेवैतल्लोके रसमुपजीवनं दधाति' (श० ६।७।३।३)। ऊर्ध्वं धृतस्याग्नेरवरोहणं सार्थवादं दर्शयति—अथैनमुपावहरतीति। योऽस्मिल्लोके रसः सारभूतोंऽशः, यच्च सर्वप्राणिनामुपजीवनम्, एतत्सर्वम् एतद्वै अग्निः खलु। यद्वा एतदिति वक्ष्यमाणार्थस्य सामान्यतः संगृह्याभिधानम्। तेन स्वभूतेनोपजीवनेन च सह यजमान एतद् एतेनाग्नेरूर्ध्वप्रापणप्रकारेण ऊर्ध्वम् इमाँल्लोकान् आरोहति। यो रसो यदुपजीवनं चोक्तं तद्विशिनष्टि—अग्निर्वा इति। अग्ने रसत्वमुपजीवनत्वं च दाहपाकाद्युपकारितया सर्वप्रसिद्धम्। तत् पूर्वोक्तं यद् यदि तावदेव ऊर्ध्वं धृतमेव स्यात्, तर्हि अस्मिल्लोके रसोपजीवने न स्तः। अथ आरोहणानन्तरं यद् यदि प्रत्यवरोहत्यस्मिन् पृथिव्यां रसमुपजीवनं चोभयं भूलोके पुनः स्थापयति। 'यद्वेव प्रत्यवरोहति। एतद्वा एतदिमाँल्लोकानित ऊर्ध्वो रोहति स स पराङिव रोह इयमु वै प्रतिष्ठा तद्यत्तावदेव स्यात्प्र हास्माल्लोकाद्यजमानश्च्यवेताथ यत्प्रत्यवरोहतीमामेवैतत् प्रतिष्ठामभिप्रत्यैत्यस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति' (श० ६।७।३।४)। प्रकारान्तरेण

प्रत्यवरोहणं प्रशंसति— यद्वेव प्रत्यवरोहतीति । ऊर्ध्वो रोहति विष्णुक्रमव्याजेन । स पराङ् प्रतिनिवृत्तो रोह आरोहणम् । एवं लोकानां बहुत्वमपेक्ष्य स स इति वीप्साप्रतिरूपे । अथ आरोहणानन्तरं भूलोकं प्रति प्रत्यारोहणाभावेन प्रच्युतिः स्यात् । ह प्रसिद्धौ । शेषं पूर्वब्राह्मणव्याख्याने स्पष्टम् ।

'यद्वेव प्रत्यवरोहति । एतद्वा एतदिमाँल्लोकानित ऊर्ध्वो जयति स स पराङिव जयो यो वै पराङेव जयत्यन्ये वै तस्य जितमन्ववस्यन्त्यथ य उभयथा जयति तस्य तत्र कामचरणं भवति तद्यत्प्रत्यवरोहतीमानेवैतल्लोकानितश्चोर्ध्वानिमतश्चार्वाचो जयति' (श० ६।७।३।५) । पुनः प्रकारान्तरेण तदेव प्रशंसति – यद्वेवेत्यादिना । अस्तु पराजयस्तस्य को बाध इत्यत आह—अन्ये वै तस्येत्यादि । अन्ये शत्रवस्तस्य जितं स्थानम्, अन्ववस्यन्ति अनुक्रमेण क्राम्यन्ति । अथोक्तवैपरीत्येन यद्युभयथा जयति पराजितं पुनः प्रत्यङ् गमयतीत्यर्थः । तस्य उभयथा जयवतस्तत्र जितप्रदेशे कामचरणं भवति, अन्यैरप्रतिबद्धत्वात् । उभयथा जयप्रकारमाह –तद्यत्प्रत्यवरोहतीति । इतश्च ऊर्ध्वान् अस्माद् भूलोकादुपर्युपर्यवस्थितान् पराङ् प्रापणेन जयति । अमुतश्चार्वाचोऽमुष्माद् द्युलोकाद् अधोवर्तिनो लोकान् प्रत्यकचरणेन जयति । 'अग्नेऽभ्यावर्तिन् । अभि मा निवर्तस्वाग्ने अङ्गिरः पुनरूर्जा सह रय्येत्येतेन मा सर्वेणाभिनिवर्तस्वेत्येतच्चतुष्कृत्वः प्रत्यवरोहति चतुर्हि कृत्व ऊर्ध्वो रोहति तद्यावत्कृत्वः····प्रत्यवरोहति तमुपावहृत्योपरिनाभि धारयति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।७।३।६) । आरोहणस्य यथा आरोह्यस्थानभेदेन मन्त्रचतुष्टयं 'विष्णोः क्रमोऽसि' इत्यादिकमुक्तम्, एवमवरोहणीयानामपि त्रिकसहितानां लोकानांच तुष्टवादेवावरोहणस्यापि मन्त्रचतुष्टयस्य प्रतीकमुपादाय संगृह्य तात्पर्यमाह—अग्नेऽभ्यावर्तिन्नित्यादिना । 'अग्ने अङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः' इति द्वितीयः, 'पुनरूर्जा निवर्तस्व' इति तृतीयः, 'सह रय्या निवर्तस्व' इति चतुर्थः । एतेन सर्वेण मन्त्रेण यावन्त आयुर्वर्चःप्रभृतय उक्ताः, तेन सर्वेणापि सहितो निवर्तस्वेत्येतत् सर्वमन्त्रेषु प्रतिपादितम्, न ततोऽधिकमित्यर्थः । स्थानभेदेनैव यत्सिद्धं प्रत्यवरोहणम्, तदनूद्य प्रशंसति –चतुष्कृत्वः प्रत्यवरोहतीति । तत्रोपपत्तिमाह—चतुर्हि कृत्व इति । तमुपावहृत्य पूर्वं यस्मिन्नाभिप्रदेशे धृतं तत्रैव धारयेत् । उक्तमुपरिनाभिधारणार्थवादमतिदिशति – तस्योक्तो बन्धुरिति । रुक्मधारणप्रस्तावे (श० ६।७।१।६-११) उक्त इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अभ्यावर्तिन्, भक्तानामाभिमुख्येनावर्तितुं शीलमस्येत्यभ्यावर्ती, तत्सम्बुद्धौ । यथा वत्सला गौर्वत्साभिमुख्येन धावति, तथैव भगवानपि भक्ताभ्यावर्तनशीलो भवति, भक्तानां वैमुख्येन भगवानपि पराङ् गच्छति, भक्तानां साम्मुख्ये तु तस्याभिनिवर्तनं युक्तमेव । भगवतः परागञ्चनमायुरादिप्रक्षयहेतुर्भवति, तदभ्यावर्तनं तु दीर्घायुष्यादिहेतुर्भवति । अत एवाह—आयुषा वर्चसेत्यादिकम् । एतच्च पूर्ववद् व्याख्येयम् । यद्वा आयुरत्र अबन्ध्यमायुः । तच्च भगवत्परायणत्वादिनैव सम्भवति । वर्चो भगवदाराधनजनितं तेजः, प्रजा भगवद्भक्तपुत्रशिष्यादिरूपाः, तादृशेनैव पुत्रादिना प्रजावत्त्वोपपत्तेः । धनं ज्ञानध्यानादिकम् । सनिर् अभीष्टप्रीतिलाभः । मेधा भगवद्गुणगणधारणक्षमा बुद्धिः । रयिः शमादिसम्पत्तिः । पोषो धनादिपुष्टिः । एतैरायुरादिभिः सह हे भगवन्, मामभिलक्ष्य निवर्तस्व शीघ्रमेवागच्छेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे अभ्यावर्तिन् अग्ने, पुरुषार्थिन् विद्वन् ! त्वमायुषा चिरञ्जीवनेन वर्चसा अन्नाध्ययनादिना प्रजया सन्तानेन सन्या सर्वासां विद्यानां संविभागकर्त्र्या मेधया प्रज्ञया रय्या विद्याश्रिया पोषेण पुष्ट्या सहाभिनिवर्तस्व मां च तैः संयोजय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पुरुषार्थिन् विद्वन्निति कथमभ्यावर्तिपदस्यार्थः ? आभिमुख्येनाभिवर्तनशीलस्याविदुषोऽपि सम्भवात् । अभिनिवर्तस्वेत्युक्तिः परागगमनशीलस्य तन्निवृत्तिपूर्वकमाभिमुख्येनागमनाय युज्यते, न च त्वदुक्तेऽर्थे तत्सम्भवति । मा चैतैः संयोजयेत्युत्सूत्रमेव ॥ ७ ॥

अग्ने॑ अङ्गिरः श॒तं ते॑ सन्त्वा॒वृतः॑ स॒हस्र॑ त उपा॒वृतः॑ ।
अधा॒ पोष॑स्य॒ पोषे॑ण॒ पुन॑र्नो न॒ष्टमाकृ॑धि॒ पुन॑र्नो र॒यिमाकृ॑धि ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ— हे श्रेष्ठ अंगवाले अग्निदेवता, आपकी गमनागमन शक्ति और निवृत्ति शक्ति सैकड़ों-हजारों हैं। इसलिये हम प्रार्थना करते हैं कि हमारी शतसंख्यक आवृत्ति शक्तियों की समृद्धि को लाखों गुना बढ़ा दीजिये, हमारे व्यय हुए धन को फिर ला दीजिये। हमारे पूर्व अर्जित धन की रक्षा कीजिये, अर्थात् आवृत्ति शक्ति के प्रभाव से हमें असंख्य धन का अधिकारी बनाइये और उपावृत्ति शक्ति के प्रभाव से नष्ट हुए धन को पुनः प्राप्त कराइये ॥ ८ ॥

आग्नेयी महाबृहती। एकः पादो द्वादशार्णः, चत्वारोऽष्टार्णाः। हे अङ्गिरः, अङ्गानां रसभूत अङ्गसौष्ठवोपेत हे अग्ने, ते तव शतं शतसंख्याकाः, आवृत आवृत्तिशक्तयः सन्तु, तथा ते तव सहस्रं सहस्रसंख्याकाः, उपावृत उपावृत्तिशक्तयः सन्तु। स्वस्यैवावर्तनमावृत्। तव समीपवर्तिनां पुरुषाणां द्रव्यविशेषाणां चावर्तनमुपावृत्तिः। अस्मासु स्नेहातिशयेन त्वं पुनः पुनरावर्तस्व। त्वदीयाः पुरुषास्त्वदीयानि चेष्टानि द्रव्याणि पुनः पुनरावर्तन्ताम्। अधेत्यव्ययमथार्थे। 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः। अथैवं भूयोभूयः करणेन आवर्तमानः पोषस्य पोषेण अनवच्छिन्नधनागमेन सह पुनर्नोऽस्माकं नष्टं धनम्, आकृधि आगमय। पुनर्नो रयिं धनं पुनरागमय। करोतिरत्र गतिकर्मा। शतसहस्रसंख्यानामावृत्त्युपावृत्तिशक्तीनां यः पोषः समृद्धिः, तस्यापि पोषस्यान्यः पोषोऽयुतलक्षादिसंख्याकाभिवृद्धिः, तादृशेन पोषेण नोऽस्मदीयं नष्टं धनं पुनर्भूयोऽप्याकृधि आवृत्तं कुरु आगमय। पुनर्भूयोऽपि नोऽस्मदीयं पूर्वमसम्पादितं धनमाकृधि सर्वतः सम्पादितं कुरु। करोतिर्गतिकर्मा। 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० सू० ६।४।१०२) इति हेर्धिः। व्यत्ययेन शपो लुक्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, अङ्गिरो दिव्याङ्गसौष्ठवयुक्त श्रीराम, ते तव आवृत आवृत्तयः शतमनन्ता उपावृतस्त्वदीयानां भक्तानां पार्षदानां भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न-हनुमदादीनां प्रेमानुरागादिभावानां च सहस्रं सहस्रसंख्याका उपावृत्तयोऽपरिमिताः सन्तु भवन्तु। अस्मासु स्नेहानुग्रहातिशयेन पुनः पुनरावर्तस्व, त्वदीयाश्च पुनः पुनरावर्तन्तामित्यर्थः। अधा अथापि च शतसहस्रसंख्याकानामावृत्त्युपावृत्तीनां यः पोषस्तेन नोऽस्मदीयं नष्टं ज्ञानध्यानादिकं पुनर्भूयोऽपि आकृधि, पुनर्भूयोऽपि नोऽस्मदीयं पूर्वमसम्पन्नं ज्ञानध्यानादिकं धनमाकृधि आगमय।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, अङ्गिरो विद्वन्, यस्य पुरुषार्थिनस्ते तव अग्नेरिव आवृत्तिरूपाः क्रियाः सहस्रं ते तव उपावृतो ये भागा उपावर्तन्ते ते सन्तु। अथ त्वमेतैः पोषस्य पोषकस्य जनस्य पोषेण पालनेन नष्टमप्यदृष्टं विज्ञानमासमन्तात् कृधि कुरु' इति, तदपि न किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। आवृत्तिरूपाः क्रिया इत्यपि सापेक्षमेव, कस्यावृत्तय इत्यनुक्तेः। उपावृत्तिशब्दस्य ये भागा उपावर्तन्त इत्यर्थोऽपि निर्मूल एव। श्रुतिसूत्रविरोधश्च सुस्पष्टः ॥ ८ ॥

पुन॑रू॒र्जा नि व॑र्तस्व॒ पुन॑रग्न इ॒षायु॑षा। पुन॑र्नः पाह्यꣳह॑सः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, आप हमारे यहाँ क्षीर आदि रसों के साथ पधारिये, अन्न और आनन्दमय जीवन के साथ आप फिर आइये और आकर हमारी सभी पापों से रक्षा कीजिये ॥ ९ ॥

आग्नेय्यौ द्वे गायत्र्यौ। हे अग्ने, त्वमूर्जा दधिक्षीरादिरसेन सह निवर्तस्व पुनरागच्छ। पुनश्च हे अग्ने, इषा अन्नेन सह आयुषा दीर्घजीवनेन च सह पुनरागच्छ। आगतस्त्वं नोऽस्मान् पुनः कृतादंहसः पापात् पाहि।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वमूर्जा त्वदीयनैवेद्ययोग्येन दध्याद्युपसेचनेन सह निवर्तस्व। इषा अन्नेन त्वदाराधनोपयोगिना आयुषा अवन्ध्यजीवनेन च सह आगच्छ। प्रमादकृतादंहसः पापात् पाहि।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं नोऽस्मान् अंहसः पापाद् निवर्तस्व पुनरस्मान् पाहि, पुनरिषा आयुषा ऊर्जा प्रापय' इति, तदपि न, मनुष्यमात्रस्य पापाद्रक्षकत्वानुपपत्तेः, सहयोगे तृतीयासम्भवेऽपि स्वातन्त्र्येण विपरिणामेन वा अन्वयानुपपत्तेः॥ ९॥

सह रय्या निवर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि॥ १०॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप धूम के साथ स्वर्ग में जाइये और सब प्रकार से उपभोग-योग्य वृष्टि रूप जल की वर्षा से सम्पूर्ण जगत् को—तृण, धान्य, लता और वृक्षों को आप्यायित कीजिये॥ १०॥

हे अग्ने, रय्या धनेन सह निवर्तस्व। किञ्च, धारया वृष्टिरूपया जलधारया विश्वतस्परि सर्वेषां तृणधान्यलतापादपानामुपरि पिन्वस्व सिञ्च। पिन्वतिः सेचनार्थः। कथम्भूतया धारया? विश्वप्स्न्या विश्वैः प्सायते भक्ष्यते पीयत इति विश्वप्स्नी, तया। 'प्सा भक्षणे'। यद्वा सर्वजनोपभोग्यया धनधारया सर्वतः परि सर्वतोऽधिगतैरर्थैः पूर्यमाणया पिन्वस्व सिञ्च, अनवच्छिन्नधनदानेन पुनः पुनराप्यायस्व।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने प्रभो, ध्यानज्ञानसम्पत्त्या रय्या सह निवर्तस्व आगच्छ। विश्वप्स्न्या विश्वैः प्सायते उपभुज्यत इति विश्वप्स्नी, तया सर्वविश्वसुखहेतुभूतया धारया कृपावृष्टिधारया विश्वतः परि सर्वेषां भक्तानामुपरि पिन्वस्व सिञ्च।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, त्वं दुष्टाद् व्यवहाराद् निवर्तस्व। विश्वप्स्न्या विश्वं सर्वं भोग्यं वस्तु प्सायते भक्ष्यते यया तादृश्या धारया, धरति सकला विद्या यया सा तया वाचा रय्या धनेन विश्वतः सर्वतः, परि धारेति वाङ्नामसु (निघ० १।११), पिन्वस्व सेवस्व' इति, तदपि न किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। दुष्टव्यवहारेषु विदुषः प्रवृत्त्यसम्भवेन तन्निवारणवैयर्थ्यात्। दुष्टव्यवहारवत्त्वे कथं वा विद्वत्त्वम्? न च सर्वं भोग्यं वस्तु वाचा भक्ष्यते, गन्धरूपादीनां तदयोगात्॥ १०॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाऽविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥ ११॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आपको मैं यहाँ ले आया हूँ। अत्यन्त अचल होकर आप इस उखा के मध्य में निवास करें, हमारी सम्पूर्ण प्रजा आपकी इच्छा करे, हमारा राज्य आपसे शून्य कभी न हो॥ ११॥

'उपरिनाभि धारयन्ना त्वाहार्षमित्यभिमन्त्रयते' (का० श्रौ० १६।५।१७)। नाभेरुपरि उख्याग्निं धारयंस्तमभिमन्त्रयते आ त्वेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। आग्नेयी अनुष्टुप् ध्रुवदृष्टा। हे अग्ने, अहं त्वां द्युलोकाद् मध्यदेशं प्रति आहार्षम् आहृतवानस्मि। आङ्पूर्वस्य हरतेर्लुङि उत्तमैकवचने रूपम्। त्वं च अन्तर् देहस्य मध्ये नाभ्या उपरि अभूः। अन्तर् उखामध्ये वा अभूर् अवस्थितोऽसि। अतो ब्रवीमि त्वं ध्रुवः स्थिरः तिष्ठ। कीदृशस्त्वम्? अविचाचलिः विचलतीति विचाचलिः, न विचाचलिरविचाचलिः, यङन्तादिन्, अत्यन्तं चलनरहितः। सर्वा विशः प्रजास्त्वा त्वां वाञ्छन्तु। यद्वा सर्वा विशः सर्वाण्यन्नानि त्वामुपतिष्ठन्तु, 'अन्नं वै विशः' (श० ६।७।३।७) इति श्रुतेः। इदं राष्ट्रं त्वत् त्वत्तः सकाशाद् मा अधिभ्रशद् मा प्रभ्रश्यतु, अयं

जनपदस्त्वत्तः शून्यो मा भूत्, अस्मिन् राष्ट्रे स्थित्वा सर्वाः प्रजाः पाहीत्यर्थः। यद्वा श्रीस्त्वत्तो मा भ्रश्यत्, 'श्रीर्वै राष्ट्रम्' (श० ६।७।३।७) इति श्रुतेः। 'भ्रंशु अधःपतने' पुषादित्वात् च्लेरङ्, 'न माङ्योगे' (पा० सू० ६।४।७४) इत्यडभावः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमभिमन्त्रयते। आयुर्वा अग्निरायुरेवैतदात्मन् धत्त आ त्वाऽहार्षमित्या ह्येनᳫं हरन्त्यन्तरभूरित्यायुरेवैतदन्तरात्मन् धत्ते ध्रुवस्तिष्ठाऽविचाचलिरित्यायुरेवैतद् ध्रुवमन्तरात्मन् धत्ते विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वित्यन्नं वै विशोऽन्नं त्वा सर्वं वाञ्छत्वित्येतन्मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशदिति श्रीर्वै राष्ट्रं मा त्वच्छ्रीरधिभ्रशदित्येतत्' (श० ६।७।३।७)। अभिमन्त्रणं विधत्ते—अथैनमिति। अथ नाभ्युपरिधारणानन्तरम् आयुर्वा अग्निरिति यावन्तं कालं जाठराग्निर्जठरेऽस्ति तावत्पर्यन्तमायुषोऽवस्थानात्, आयुषोऽग्निनिमित्तत्वाद् आयुर्वा अग्निरित्युच्यते। तत्र मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—आ त्वाहार्षमिति। आ ह्येनं हरन्तीति आ त्वाहार्षमित्यस्य मन्त्रभागस्याभिप्रायः। अन्तरभूरित्येतस्य तात्पर्यकथनम्—आयुरेवैतदन्तरात्मन् धत्त इति। द्वितीयपादेन तस्यायुषो ध्रुवत्वप्रार्थनम्। अन्नदातृत्वाद् अन्नोपजीवित्वाद्वा अन्नं वै विश इत्युक्तम्। अतो विशामन्नरूपत्वात् सर्वा विश इत्यस्य अन्नं सर्वं वाञ्छन्त्वित्येतदेव व्याख्यानम्। राष्ट्रवृद्धिभावाभावस्य श्रियोऽन्वयव्यतिरेकायत्तत्वात् श्रीर्वै राष्ट्रमित्युपचारेणाह।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् राक्षसवनकृशानो राम, अहं त्वां साकेतलोकाद् अहार्षं हृदयप्रदेशमाहृतवानस्मि। त्वमन्तर्देहस्य मध्ये हृदये अभूर् अवस्थितोऽसि। अविचाचलिर् अत्यन्तं निश्चलो ध्रुवः स्थिरो हृदये मदीये तिष्ठ। सर्वा विशः प्रजा भक्ताः सर्वे वा अन्नं भोग्यं वस्तु त्वां वाञ्छन्तूपतिष्ठन्तु। त्वत् त्वत्तः सकाशाद् राष्ट्रं सर्वमनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकं राज्यं मापगच्छतु। ऐश्वर्यमाधुर्यसारसर्वस्वाधिष्ठात्री श्रीर्वा माधिभ्रशद् मापगच्छतु।

दयानन्दस्तु—'हे शुभगुणलक्षण सभेश राजन्, त्वा राज्यपालनायाहम्, अन्तः सभामध्ये आहार्षं हरेयम्। त्वमन्तः सभामध्ये अभूर् भवेः। अविचाचलिः सर्वथा निश्चलो ध्रुवो न्यायेन राज्यपालने निश्चितस्तिष्ठ स्थिरो भव। सर्वा विशस्त्वा वाञ्छन्तु। त्वत् तव सकाशाद् राष्ट्रं राज्यं मा अधिभ्रशद् न नश्यादित्यर्थः।' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतौ शिव इत्यनेनान्नं राष्ट्रमित्यनेन श्रीरित्युक्तत्वेन तद्विरोधात्, राज्ञोऽसम्बोधनाच्च, सूत्रविरोधाच्च, उख्याग्नेः प्रकरणाच्च ॥ ११ ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमᳫं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सकल पाश-ताप-निवारक देव, हमारे उत्तम अंग शिर पर स्थित अपने पाश को हमसे निकाल कर दूर करो और हमारे अधम अंग पादप्रदेश में स्थित पाश को भी खेंच कर दूर करो। इसी तरह से मध्य प्रदेश में स्थित पाश को भी काट डालो। तीनों पाशों को काटने के बाद हे अदितिपुत्र अखंडित शक्तिमान् वरुणदेव, हम सभी प्रकार के अपराधों से मुक्त होकर आपकी आज्ञा में चलते हुए दीनता से रहित होकर अखंडित तत्त्व के योग्य हों ॥ १२ ॥

'पाशा उन्मुच्योदुत्तममिति' (का० श्रौ १६।५।१८)। शिक्यपाशं रुक्मपाशं च फलादूर्ध्वमार्गेण निष्काशयतीति सूत्रार्थः। वरुणदेवत्या त्रिष्टुप् शुनःशेपदृष्टा। उत्, अव, वि इत्येते उपसर्गाः क्रमेण श्रथयेत्यनेन सम्बध्यन्ते। हे वरुण, उत्तमम् उत्तमाङ्गे स्थितं शिरसि स्थापितं त्वदीयं पाशम् अस्मद् अस्मत्तः सकाशाद् उत्कृष्य

उच्छ्थाय उत्कृष्य श्रथय विनाशय। अधमम् अधमाङ्गे पादप्रदेशे स्थापितं पाशमव अवकृष्य श्रथय अस्मत्तो विनाशय। मध्यमं मध्यप्रदेशे मध्यमाङ्गे स्थापितं पाशं वि श्रथय 'श्रथ हिंसायाम्' मित्त्वात् णिचि ह्रस्वः, लोटि मध्यमैकवचने रूपम्। छान्दसो दीर्घः। यद्वा 'श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः' क्र्यादिः। लोटि मध्यमैकवचने 'छन्दसि शायजपि' (पा० सू० ३।१।८४) इति श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशे श्रथायेति रूपम्। अथ पाशत्रयविमोकानन्तरं हे आदित्य, अदितिपुत्र वरुण एतन्नामकदेव! अनागसोऽनपराधा वयं तव व्रते कर्मणि वर्तमानाः सन्तोऽदितयेऽदीनतायै अखण्डितत्वाय योग्याः स्याम भवेम। अथा इत्यत्र 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१०६) इति दीर्घः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ शिक्यपाशं च रुक्मपाशं चोन्मुञ्चते। वारुणो वै पाशो वरुणपाशादेव तत्प्रमुच्यते वारुण्यर्चा स्वेनैव तदात्मना स्वया देवतया वरुणपाशात् प्रमुच्यत उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳ श्रथायेति यथैव यजुस्तथा बन्धुरथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्यामेतीयं वा अदितिरनागसस्तुभ्यं चास्यै च स्यामेत्येतत्' (श० ६।७।३।८)। अथोपस्थानानन्तरं शिक्यरुक्मयोः कण्ठसम्बद्धं पाशमूर्ध्वं विस्रंसयेत्। कृत्स्नस्यापि बन्धनसाधनस्य पाशस्य वरुणदेवताकत्वप्रसिद्धिः 'वारुणो वै पाशः' इत्यत्र वैशब्देन द्योत्यते। पाशोन्मोके वरुणदेवताकामृचं विधाय प्रशंसति—वारुण्यर्चेति। तत् तेन वारुण्यर्चा पाशविमोचकेन स्वेनैवात्मनः पाशस्य वास्तवेन रूपेण स्वया स्वकीयया पाशाभिमानिन्या देवतया वरुणपाशाद्विमुच्यते यजमानः, तामृचं दर्शयति—उदुत्तममिति। पूर्वार्धस्य स्पष्टार्थतामाह—यथा यजुस्तथा बन्धुरिति। यजुर्मन्त्रो यादृशमर्थं प्रकाशयति बन्धुस्तद्ब्राह्मणमपि तादृगर्थप्रकाशकमेव, नात्र व्याख्यातव्यो गूढार्थोऽस्तीत्यर्थः? मन्त्रभागे उत्तमादिभेदभिन्नस्य त्रिविधस्य पाशविश्रथनस्य स्पष्टं प्रतिपादनादित्यभिप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—हे वरुण वरणीय परमेश्वर, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। मायिकं पाशम् उत्कृष्य श्रथाय श्रथय श्लथीकृत्योर्ध्वं नय। अधमं रागमयं पाशम् अवाचीनं श्रथय। मध्यमं कर्ममयं पाशं श्रथय। उत्तमम् उत्कृष्य विनाशय। अधममवकृष्य अस्मत्तो विनाशय। मध्यमं विश्रथय विच्छेदयेत्यर्थः। अथ मायारागकर्ममयबन्धनत्रयविमोकानन्तरं हे आदित्य, अदितेः पुत्र वरुण वरणीय उपेन्द्र, त्वत्स्मरणेन अनागसो निष्पापा वयं तव व्रते त्वदुपासनलक्षणकर्मणि वर्तमाना वयम् अदितये अदीनतायै ब्रह्मात्मभावाय योग्याः स्याम भवेम।

दयानन्दस्तु—'हे वरुण आदित्य, त्वमस्मद् अस्माकं सकाशाद् अधमं निकृष्टं मध्यमं मध्यस्थम् उत्तमं पाशं बन्धनम् उदवविश्रथाय विविधप्रकारेण मोचय। अथानन्तरं वयमदितये पृथिवीराज्याय तव व्रते सत्यन्यायपालननियमे, अनागोनऽपराधिनः स्याम भवेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कस्यचिद्राज्ञः सम्बन्धे तादृशोक्तेरयोगात्॥ १२॥

अग्ने॑ बृ॒हन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वो अ॑स्थान्निर्जग॒न्वान् तम॑सो॒ ज्योति॒षागा॑त्।
अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ग॒ आ जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॑न्यप्राः॥ १३॥

मन्त्रार्थ—अपने प्रभाव के कारण महान् बने अग्निदेव उषाकाल के आगे ऊँचे स्थित हुए, रात्रि रूप अन्धकार से निकले, दिन रूप ज्योति के संग यहाँ प्राप्त हुए हैं। अन्धकार को दूर करते हुए, किरणजाल से सुशोभित शरीर वाले ये अग्निदेव उत्पन्न होने के साथ ही सम्पूर्ण स्थान, अर्थात् सब लोगों को सब प्रकार से अपने तेज से पूर्ण कर देते हैं॥ १३॥

'पिण्डवत् प्राग्दक्षिणा प्रगृह्यारत्न्यग्रे बृहन्निति' (का० श्रौ० १६।५।१९)। पूर्वमन्त्रेण शिक्यपाशं रुक्मपाशं चोन्मुच्य ऊर्ध्वबाहुराग्नेयीं दिशं प्रत्युख्याग्निमूर्ध्वं धारयेद् अग्ने बृहन्निति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्या

त्रिष्टुप् त्रितदृष्टा। अत्रादित्यात्मना अग्निः स्तूयते। योऽग्निः, उषसां प्रभातानामग्रे मुखे बृहन् प्रभावतो महान् ऊर्ध्वः, अस्थात् स्थितः, यद्वा अग्निहोत्रादौ बोध्यमान उत्तिष्ठति, यश्च तमसो रात्रिलक्षणाद् निर्जगन्वान् निर्गतः, अहर्लक्षणेन ज्योतिषा प्रकाशेन सह अगाद् आगतः, सोऽग्निर्जात उत्पन्नमात्र एव विश्वा विश्वानि सर्वाणि सद्मानि स्थानानि सर्वान् लोकान्, 'इमे वै लोका विश्वा सद्मानि' (श० ६।७।३।१०) इति श्रुतेः। आप्राः स्वतेजसा पूरितवान्। कथम्भूतोऽग्निः ? रुशता रुशतीति रुशन् तेन, तमो हिंसता 'रुश हिंसायाम्' भानुना रश्मिना स्वङ्गः सुष्ठु शोभनान्यङ्गानि यस्य स तथाभूतो भास्वरेण भानुना शोभनशरीरः। यद्वा अयमग्निः, उषसां प्रभातानामग्रे बृहन् भूत्वा ऊर्ध्वः सन् निर्गतः सन् अस्थात् तिष्ठति। तमसो नैशात् सकाशात् निर्जगन्वान् निर्गतः सन् ज्योतिषा अहर्लक्षणेन सह आगाद् आगच्छति। रुशता प्रकाशमानेन भानुना दीप्तिविशेषेण स्वङ्गः शोभनाङ्गः। हे अग्ने, जातो जातमात्रः सन् विश्वा सद्मानि सर्वान् लोकान् आहवनीयादीनि स्थानानि वा आप्राः सर्वतः पूरितवानसि। ऊर्ध्वो अस्थादित्यत्र 'एङः पदान्तादति' (पा० सू० ६।१।१०९) इति प्राप्तस्य पूर्वरूपसन्धेः 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्रे बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थादिति। अग्रे ह्येष बृहन्नुषसामूर्ध्वस्तिष्ठति निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषाऽगादिति निर्जगन्वान् वा एष रात्र्यै तमसोऽह्ना ज्योतिषैत्यग्निर्भानुना रुशता स्वङ्ग इत्यग्निर्वा एष भानुना रुशता स्वङ्ग आ जातो विश्वा सद्मान्यप्रा इतीमे वै लोका विश्वा सद्मानि तानेष जात आपूरयति परोबाहु प्रगृह्णाति परोबाहु ह्येष इतोऽथैनमुपावहरतीमामेवैतत् प्रतिष्ठामभिप्रत्यैत्यस्यामेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति जगत्या जगती हेमाँल्लोकानमुतोऽर्वाचो व्यश्नुते' (श० ६।७।३।१०)। मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—अग्रे बृहन्नित्यादिना। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव।

अध्यात्मपक्षे—योऽग्निर्दनुजवनकृशानू रामः, उषसां प्राणिनामभ्युदयनिःश्रेयसप्रभातानामग्रे मुखे बृहन् प्रभावातिशयान्महान् ऊर्ध्वः सर्वकारणत्वात् सर्वव्यापकत्वात् सर्वप्रकाशकत्वाच्चोत्कृष्टः, अस्थात् स्वभवन एव स्थितः। यश्च तमसोऽविद्यालक्षणाद् निर्जगन्वान् निर्गतः, प्रचण्डमार्तण्डमण्डले रात्रेरिव तस्मिन्नविद्याया नित्यनिरस्तसत्ताकत्वात्। 'नाहो न रात्रिः सवितुर्यथा भवेद् ज्ञानं तथाऽज्ञानमिदं द्वयं...सा मे कथं स्थास्यति शुद्धचिद्घने ॥' (अध्यात्मरामायणे)। यश्च ज्योतिषा चिन्मयेन चिच्छक्त्या सीतया सह अगाद् भक्तानां दृष्टिगोचरतामागतः, सोऽग्निः, रुषता तमो हिंसता रोचिष्णुना वा भानुना प्रकाशेन स्वङ्गः शोभनाङ्ग आजात आसमन्तात् प्रादुर्भूतमात्र एव विश्वा सद्मानि सर्वान् लोकान् आप्राः स्वतेजसा पूरितवान्। स्वङ्गशब्दस्यान्यत्र स्वारस्यायोगात् श्रीराम एवात्र स्तूयते, वेदार्थोपबृंहणे रामायणे तथैव तस्य वर्णनात्।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यस्त्वमग्रे यथाग्निः सूर्यः स्वङ्ग आजातो बृहन् महान् उषसामूर्ध्वं उपर्याकाशस्थः, अस्थात् तिष्ठति, रुशता सुरूपेण भानुना दीप्त्या ज्योतिषा प्रकाशेन तमसोऽन्धकाराद् निर्जगन्वान् निर्गतः सन् अगाद् विश्वानि सद्मानि साकाराणि स्थानानि आप्रा व्याप्नोति, तद्वत् प्रजायां भव' इति, तदप्ययुक्तम्, राज्ञः सम्बोध्यत्वे मानाभावात्, अत्र मूले दार्ष्टान्ताभावाच्च ॥ १३ ॥

हँसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—पवित्र स्थान आदित्य रूप दीप्ति में आदित्य रूप से स्थित अहंकार को दूर करने वाला आत्मा, वायु रूप से अन्तरिक्ष में स्थित मनुष्यों का प्रवर्तक, अग्नि रूप से वेदि में स्थित होकर देवताओं का आह्वान करने

वाला, आहवनीय रूप से यज्ञ में स्थित सबका पूजनीय, मनुष्यों में प्राणभाव से स्थित, उत्कृष्ट स्थानों और क्षेत्रों में स्थित, यज्ञ में स्थित, आकाश में मण्डल रूप से स्थित—इस प्रकार सर्वत्र विराजमान परमात्मा की हम प्रार्थना करते हैं। वह सबको उत्पन्न करने वाला है, वह मत्स्य आदि के रूप से जल में और चतुर्विध भूतग्राम के रूप से भूमि में स्थित है। सत्य में प्रकट होने वाले, पाषाण से अग्नि रूप में प्रकट होने वाले, मेघ में जल रूप से स्थित सर्वगत अपर्यन्त परब्रह्म परमात्मा का हम स्मरण करते हैं॥ १४॥

'अवहरति हꣳसः शुचिषदिति' (का० श्रौ० १६।५।२०)। हंस इति मन्त्रेणोख्यमग्निमवतारयतीति सूत्रार्थः। जगती अग्निप्रोक्षणे इयमुक्ता यजुरन्ता, राजसूयप्रकरणे इयमतिजगत्युक्ता, इह तु जगती, अन्ते बृहदिति यजुः। तद्विनियोगमाह कात्यायनः—'आसन्द्यां करोति बृहदिति' (का० श्रौ० १६।५।२१)। बृहदिति यजुषा उख्यमग्निमासन्द्यां स्थापयतीति सूत्रार्थः। मन्त्रस्तु दशमेऽध्याये चतुर्विंश्यां कण्डिकायां व्याख्यातः।

अत्र ब्राह्मणम्—'हꣳसः शुचिषदिति। असौ वा आदित्यो हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसदिति वायुर्वै वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदित्यग्निर्वै होता वेदिषदतिथिरिति सर्वेषां वा एष भूतानामतिथिर्दुरोणसदिति विषमसदित्येतन्नृषदिति प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरस्तद्योऽयं मनुष्येषु प्राणोऽग्निस्तमेतदाह वरसदिति सर्वेषु ह्येष वरेषु सन्न ऋतसदिति सत्यसदित्येतद् व्योमसदिति सर्वेषु ह्येष व्योमसु सन्नोऽब्जा गोजा इत्यब्जाश्च ह्येष गोजाश्चर्तजा इति सत्यजा इत्येतदद्रिजा इत्यद्रिजा ह्येष ऋतमिति सत्यमित्येतद् बृहदिति निदधाति बृहद्ध्येष तद्यदेष तदेनमेतत् कृत्वा निदधाति' (श० ६।७।३।११)। हंस इति पदेन हन्ति गच्छत्याकाश एक एवेति व्युत्पत्त्या आदित्यो बोध्यते। स च शुचौ सीदतीति शुचिषद्। वसुर्वायुर्वै वसुः। वायुश्च अन्तरिक्षसत्। होता अग्निः, वेदिषद् वेद्यां सीदतीति। सोऽग्निर्वै होता आह्वाता देवानाम्। सर्वेषां भूतानामेषोऽग्निरतिथिरतिथिवत् पूज्यः। दुरोणसद् दुरोणे विषये सीदतीति। नृषद् नृषु मनुष्येषु प्राणरूपेणायं सीदतीति। ऋतसद् ऋतं सत्यं तत्र सीदतीति ऋतसत्। व्योमसत् सर्वेषु व्योमसु सीदतीति। ऋतजा, सत्यजा, अद्रिजा इत्यादिकं स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यविवक्षया काठकोपनिषदि भगवत्पादैरयं मन्त्रो व्याख्यातः।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजाजनाः, यूयं यो हंसो दुष्टकर्महन्ता शुचिषु पवित्रेषु व्यवहारेषु वर्तमानो वसुः सज्जनेषु निवस्ता तेषु निवासयिता वा …… ऋतं बृहद् ब्रह्म जीवश्चास्ति यस्तौ जानीयात् तं सभाधीशं राजानं कृत्वा सततमानन्दत' इति, तदपि न युक्तम्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। सार्वात्म्यविवक्षया परमात्मनो दुष्टकर्महन्तृत्वं न विरुद्ध्यते। यद्यपि सर्वव्यापी पवित्रेषु तदितरेषु च व्यवहारेषु सीदत्येव, तथापि शुचिषु तदभिव्यक्तिवैशेष्यात् शुचिषत्त्वं युक्तमेव। यो धर्मावकाशे सीदति सोऽन्तरिक्षसदित्यसङ्गतमेव, धर्मस्य सावकाशत्वं कथमित्यनुक्तेः। वायुरूपेणान्तरिक्षसत्त्वं तु श्रुत्यैवोक्तम्। होता सत्यस्य ग्रहीता ग्राहयितेत्यपि न, निर्विकारस्य कर्तृत्वायोगात्। यो वेद्यां जगत्यां यज्ञशालायां वा सीदतीति सङ्गतमेव, सर्वव्यापकस्य सर्वत्र सत्त्वोपपत्तेः। अतिथिपदस्य राज्यरक्षणाय यथासमयं भ्रमणकर्तेति त्वसङ्गतम्, अभ्यागतातिरिक्तस्य सर्वस्यैव तिथिनैयत्यादतिथिवत् पूज्योऽग्निः परमात्मा वा इत्येवार्थो युक्तः। दुरोणे सर्वर्तुषु प्रापके आकाशे सीदतीति चिन्त्यम्, दुरोणे कोणे त्रिकोणायां प्रकृतौ वा सीदतीति तु युक्तम्, व्योमवद् व्यापके परमेश्वर एव सीदतीति विशेषानुपपत्तेः। तथैव योऽपः प्राणान् जनयति, गा इन्द्रियाणि जनयति, सोऽब्जा गोजा इत्यप्यसाम्प्रतम्, सर्वजनकस्य कतिपयजनयितृत्वे विशेषानुपपत्तेः॥ १४॥

सीद॒ त्वं मा॒तुर॒स्या उ॒पस्थे॒ विश्वा॑न्यग्ने व॒युना॑नि वि॒द्वान् ।
मैनां॒ तप॑सा॒ मार्चि॒षाभिशो॑चीर॒न्तर॑स्या॒ᳪ शु॒क्रज्यो॑ति॒र्विभा॑हि ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, सम्पूर्ण ज्ञान के उपायों को जानने वाले आप माता के समान उखापात्र की गोद में बैठो, इसे अपने सन्ताप से दुःखी मत करो, ज्वाला से दीप्त मत करो। इस उखा के मध्य में स्थिर होकर आप निर्मल प्रकाश से विशेष दीप्तिमान् बनो ॥ १५ ॥

'उपतिष्ठते सीद त्वमिति' (का० श्रौ० १६।५।२२)। आसन्दीनिधानानन्तरमुख्याग्निमुपतिष्ठते ऋचां त्रयेणेति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्या त्रिष्टुप्। हे अग्ने, त्वं सीद अवस्थानं कुरु। क्वेत्यपेक्षायामाह—मातुः मातृतुल्याया अस्या उखाया उपस्थे उत्सङ्गे। कीदृशस्त्वम्? विशानि सर्वाणि वयुनानि प्रज्ञानानि विद्वान् जानन् सर्ववस्तुविषयकयाथात्म्यज्ञानवान्। किञ्च, एनामुखां तपसा सन्तापेन माभिशोचीर्मा सन्तापय। अर्चिषा ज्वालया च माभिशोचीर् अत्यन्तं मा दीपय। तपः कार्यमर्चिः कारणम्। कार्येण भूयांस्तापः कारणेन त्वीषत्। तदुभयमपि कार्यकारणकृतं तापं मा कुर्वित्यर्थः। अस्यामुखायामन्तर्मध्ये शुक्रज्योतिर्निर्मलप्रकाशः सन् विभाहि विशेषेण दीप्यस्वेत्यर्थः, शुक्लकर्मसाधनज्योतीरूपं सद् विविधं दीप्यस्व वा।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुपतिष्ठते। एतद्वा एनमेतल्लघूयतीव यदेनेन सहेति चेति चेमाँल्लोकान् क्रमते तस्मा एवैतन्निह्नुतेऽहिᳪसायै' (श० ६।७।३।१३)। उख्याग्न्युपस्थानं विधत्ते—अथैनमुपतिष्ठत इति। 'सीद त्वं मातुरस्या उपस्थेऽन्तरग्ने रुचा त्वᳪ शिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथो सीद शिवस्त्वमिति शिवः शिव इति शमयत्येवैनमेतदहिᳪसायै तथो हैष इमाँल्लोकान् शान्तो न हिनस्ति' (श० ६।७।३।१५)। प्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन् ज्ञानाग्ने, त्वमस्या बुद्धेरुपस्थे उत्सङ्गे सीद तिष्ठ स्वरूपेण संस्कारात्मना च स्थिरो भव। किं कुर्वन्? विश्वानि सर्वाणि वयुनानि प्रज्ञानविषयान् विद्वान् जानन् प्रकाशयन्। एनां बुद्धिं तपसा श्रमेण अर्चिषा ज्वालया शोकेन माभिशोचीर् माभितापय, ज्ञानेन शोकमोहापगमप्रसिद्धेः। त्वमस्यां बुद्धौ शुक्रज्योतिः शुक्रस्य शुद्धस्य ब्रह्मणो ज्योतिः प्रकाशोऽज्ञानापगमो यस्मात् तादृशो भूत्वा विभाहि सदा दीप्यस्व।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वमस्यां मातरि सत्यां विभाहि प्रकाशितो भव। शुक्रज्योतिः शुक्रं शुद्धाचरणं ज्योतिः प्रकाशो यस्य सः। विद्वान् अस्या भूमेरिव मातुरुपस्थे समीपे सीद तिष्ठ। अस्याः सकाशाद् विश्वानि वयुनानि प्रज्ञानानि प्राप्नुहि। एनामन्तर् अभ्यन्तरे तपसा सन्तापेन अर्चिषा तेजसा माभिशोचीः शोकयुक्तां मा कुर्याः। किन्त्वेतच्छिक्षां प्राप्य विभाहि' इति, तदप्यस्पष्टमेव, केयं मातेत्यनुक्तेः। न च लौकिकी मातैव सा, तस्यास्तत्प्रदानाप्रसक्तेः। शिक्षा च तस्या एव चेत्, तर्हि गुरूपसदनवैयर्थ्यापत्तिः। अध्याहाराश्च निर्मूला एव ॥ १५ ॥

अ॒न्तर॑ग्ने रु॒चा त्वमु॒खायाः॒ सद॑ने॒ स्वे ।
तस्या॒स्त्वᳪ हर॑सा॒ तप॒ञ्जात॑वेदः॒ शि॒वो भ॑व ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप अपनी दीप्ति से इस उखापात्र के मध्य में अपने घर के समान ही प्रज्ज्वलित होकर रहिये। हे सबको जानने वाले, आप अपनी ज्योति से तपते हुए उखापात्र के लिये कल्याणकारी बनिये ॥ १६ ॥

अग्निदेवत्ये द्वे अनुष्टुभौ। हे अग्ने, त्वं तस्या उखाया अन्तर्मध्ये स्वे सदने स्वकीये स्थाने रुचा दीप्त्या युक्तः सन् सीदेति शेषः। हे जातवेदः सर्वज्ञ, जातं जातं विन्दतीति वा जातवेदास्तत्सम्बुद्धौ। जातो वेदो ज्ञानं यस्येति वा तादृशस्त्वं हरसा ज्योतिषा तपन् प्रतपन् तस्या उखायाः शिवः कल्याणकारी भव।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानाग्ने, त्वमुखारूपाया बुद्धेः, अन्तर् उत्सङ्गे स्वे सदने स्थाने स्थितो रुचा विषय-प्रकाशनसामर्थ्येन युक्तः, सीदेति शेषः। हे जातवेदः सर्वप्रकाशनसमर्थ, हरसा ज्योतिषा ब्रह्मावबोधसामर्थ्येन तपन् प्रतपन् तस्यास्तदुपहितस्य चेतनस्य जीवस्य कृते शिवो ब्रह्मात्मभावप्रापको भव।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदः! अग्ने, यस्त्वं यस्या उखायाः प्राप्तायाः प्रजाया अधोऽग्निरिव स्वे सदने अध्ययनस्थाने तपन् शत्रून् सन्तापयन् अन्तर्मध्ये रुचा प्रीत्या वर्तेथाः, तस्या हरसा ज्वलनेन तपन् त्वं शिवो भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अशक्तार्थप्रतिपादनात्। तथाहि—उखापदस्य प्राप्ताः प्रजा इत्यर्थो निर्मूल एव। यत्तु केनचित् 'प्राजापत्यमेतत्कर्म यदुखा' (श० ६।२।२।२३) इति श्रुत्या तत्समर्थनायायामितम्, तदपि न किञ्चित्, उखाकर्मणः प्राजापत्यत्वेऽप्युखाशब्दस्य प्राप्ताः प्रजा इति कथमर्थः? वस्तुतस्त्वग्निधारणार्थमुखासम्भरणं विधीयते। अष्टकायामुखां सम्भरन्तीति तत्रैव अष्टका नाम अष्टमी, तस्यामुखां विदध्यात्। फाल्गुने बहुलाष्टम्या-मुखार्थं मृत्तिकादृढवल्मीकद्रव्यसम्भरणं भवति—'उखासम्भरणमष्टम्याम्' (का० श्रौ० १६।२।१) इति। तत्राष्टमीदिवसस्याधिदेवता प्रजापतिः। तत्र क्रियमाणमुखासम्भरणं प्राजापत्यं कर्मोच्यते। 'उखा' इति यदस्ति, तत्प्राजापत्यं कर्म। कुतः? प्रजापत्यात्मकोऽग्निः, तद्धारणार्थत्वात् प्राजापत्योऽग्निः। तत्सम्बन्धिन्यग्नि उखानिर्माणं क्रियते। उखापदार्थस्तु सिद्धान्ते मृत्तिकानिर्मितोऽग्निधारणार्थः पात्रविशेष एव। 'प्राप्तायाः प्रजाया अधस्ताद् अग्नितुल्येऽध्ययनसदने शत्रूंस्तापयन्' इत्यादिकमसम्बद्धमेव ॥ १६ ॥

शिवो॑ भू॒त्वा मह्य॑मग्ने॒ अथो॑ सीद शि॒वस्त्वम्।

शि॒वाः कृ॒त्वा दिशः॒ सर्वाः॒ स्वं योनि॑मि॒हास॑दः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, आप मेरे लिये कल्याणकारी होकर और इसके अनन्तर सर्वात्मा के समान शान्त स्वरूप होकर यहाँ रहो। सम्पूर्ण दिशाओं को कल्याणमय बना कर इस उखा रूप स्थान में स्थिर होकर बैठो ॥ १७ ॥

हे अग्ने, त्वं मह्यं शिवः शान्तः प्रसन्नो भूत्वा अथो अपि च शिवः सर्वान् प्रति शान्तः सन् सीद उपविश। न केवलं स्वयं शिवः, किन्तु सर्वा दिशः प्राच्यादिकाः शिवाः शान्ताः कृत्वा इह अस्यामुखायां स्वं स्वकीयं योनिं स्थानम् आसदः आसीद आगत्योपविश। अत्र लोडर्थे लुङ्, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति पाणिनिस्मृतेः। ब्राह्मणमपि—'त्वꣳ शिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथो सीद शिवस्त्वमिति शिवः शिव इति शमयत्येवैनमेतदहिꣳसायै' (श० ६।७।३।१५)। 'त्रिभिरुपतिष्ठते त्रय इमे लोका अथो त्रिवृदग्निः' (श० ६।८।३।१६) इति त्रिभिर्मन्त्रैरुपस्थानस्य प्रशंसा।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानाग्ने, त्वं मह्यं शिवः कल्याणरूपः सन् अथो अपि च संशयविपर्ययाद्युपप्लवरहितः शिवो निरुपप्लवो भव। सर्वाश्च दिशः शान्ताः, तत्रत्यान् पदार्थांश्च शिवाः शिवरूपान् तुरीयब्रह्मरूपान् कृत्वा इहास्यामुखारूपायां बुद्धौ स्वं योनिं स्थानमासदः आसीद। ब्रह्मात्मज्ञानं ब्रह्मात्मगोचरत्वात् परमपुरुषार्थसाधनत्वाद् ज्ञात्रे शिवरूपं भवति। तदेव निरुपप्लवं सत् स्वयं शिवरूपं भवति। तेन चाज्ञानस्य तत्कार्यस्य च बाधितत्वात् सर्वा दिशो दिगुपलक्षितानि सर्वाणि वस्तूनि ब्रह्मरूपाण्येव सम्पद्यन्ते, माण्डूक्ये तुरीयब्रह्मणः शिवत्वोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने शत्रुविदारक, त्वं मह्यं शिवो मङ्गलाचारी भूत्वा इह अस्मिन् जगति शिवो मङ्गलकारी सन् सर्वा दिशो या दिश्यन्ते उपदिश्यन्ते दिग्भिः सहचरिताः प्रजाः शिवा मङ्गलाचारिणीः कृत्वा स्वं योनिं राजधर्मासनम् आसदः राजधर्मे सीद' इति, तदपि न युक्तम्, राज्ञः सम्बोधने मानाभावात्। धर्मब्रह्मपरत्वं तु वेदानां निश्चप्रचम्। शिवपदस्य मङ्गलाचरणं मङ्गलकारी मङ्गलाचारी वार्थः कथङ्कारं सिद्ध्यति ॥ १७ ॥

दि॒वस्परि॑ प्रथ॒मं ज॑ज्ञे अ॒ग्निर॒स्मद् द्वि॒तीयं॒ परि॑ जा॒तवे॑दाः।
तृ॒तीय॑म॒प्सु नृ॒मणा॒ अज॑स्र॒मिन्धा॑न एनं जरते स्वा॒धीः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ— सबके ज्ञाता अग्निदेव पहले द्युलोक में सूर्य के रूप में प्रकट हुए, दूसरे जातवेदा अग्नि ब्राह्मणों से पैदा हुए और प्रजापति ने तीसरी बार निरन्तर जल के भीतर छिपे हुए अग्नि को बाहर निकाला। सुन्दर बुद्धि वाला यजमान इस अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ प्रकट करता है ॥ १८ ॥

'वात्सप्रेण च दिवस्परीत्येकादशभिरनुवाकेनैके' (का० श्रौ० १६।५।२३-२४)। दिवस्परीत्येकादशर्चेन द्वादशर्चेन वा वत्सप्रीसम्बन्धिना अनुवाकेन उपतिष्ठेत। तत्र केचिदेकादशभिर्मन्त्रैरासन्द्यामुपरिस्थितमुख्यमग्निमुपतिष्ठेदिति वदन्ति। अन्ये वात्सप्रेण सर्वेणानुवाकेन द्वादशर्चेनोपस्थानं कुर्यादिति वदन्तीति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्या द्वादश त्रिष्टुभो भलन्दनपुत्रवत्सप्रीदृष्टाः। अग्निः प्रथमं दिवस्परि द्युलोकस्योपरि जज्ञे जातः। यद्वा दिवः परि प्राणस्य सकाशाद् अग्निः प्रथमं जज्ञे। 'प्राणो वै दिवः प्राणाद् वा एष प्रथममजायत' (श० ६।७।४।३) इति वक्ष्यमाणश्रुतेः। जातवेदा अग्निरस्मद्यज्ञे प्रसिद्धवह्निरूपेण द्वितीयं जन्म प्राप्तवान्। यद्वा जातवेदा अग्निर् अस्मत्परि अस्मत्तः सकाशात् पुरुषविधात्‌ब्रह्मणो यज्ञे द्वितीयं द्वितीयवारं जज्ञे जातः, 'यदेनमदो द्वितीयं पुरुषविधोऽजनयत्' (श० ६।७।४।३) इति श्रुतेः, 'स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत' (बृ० उ० १।४।६) इति श्रुतेश्च। अप्सु समुद्रे तृतीयं तृतीयवारं वाडवानलरूपेणोत्पन्नः। अजस्रं त्रिष्वपि जन्मसु नृमणा नृषु यजमानेषु मनोऽनुग्रहबुद्धिर्यस्यासौ नृमणाः। 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' (पा० सू० ८।४।३) इति णत्वम्। प्रजापतिरेनमीदृशमग्निमजस्रमनुपक्षीणमिन्धानो दीपयन् स्वाधीः स्वायत्तचित्तो जीर्यति जरापर्यन्तं यजतीत्यर्थः। यद्वा नृमणाः प्रजापतिर् अजस्रमनुपक्षीणमग्निमप्सु जलेष्वन्तर्व्यवस्थितं तृतीयं तृतीयवारमजनयत्। 'यदेनमदस्तृतीयमद्भ्योऽजनयत्' (श० ६।७।४।३), 'अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽग्निरसृज्यत' (श० ६।१।१।११), 'प्रजापतिर्वै नृमणा अग्निरजस्रः' (श० ६ ७।४।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। एवं बहुजन्माग्निः स्वाधीः शोभना आहिता धीर्बुद्धिर्यस्य स यजमान एनमग्निमिन्धानो दीपयन् जरते जनयति। धातूनामनेकार्थत्वादर्थान्तरे वृत्तिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वात्सप्रेणोपतिष्ठते। एतद्वै प्रजापतिर्विष्णुक्रमैः प्रजाः सृष्ट्वा ताभ्यो वात्सप्रेणायुष्यमकरोत्तथैवैतद्यजमानो विष्णुक्रमैः प्रजाः सृष्ट्वा ताभ्यो वात्सप्रेणायुष्यं करोति' (श० ६।७।४।१)। ताभ्यः पृथिव्यन्तरिक्षलोकद्वयव्यापिनीभ्यः प्रजाभ्यः सृष्टाभ्यो वात्सप्रेणानुवाकेनायुष्यमकरोत् प्रजापतिः। तस्मिन् सूक्तेऽग्नेर्लोकत्रयव्याप्तिलक्षणविभूत्याविष्करणस्य विद्यमानत्वाद् आयुषोऽग्न्यायत्तत्वात् तन्मन्त्रपाठेन तत्रत्यानां प्रजानामायुःस्थापनमित्यभिप्रायः। तथैव यजमानोऽपि वात्सप्रेणायुष्यं करोतीति। 'स हैष दाक्षायणहस्तः। यद्वात्सप्रं तस्माद्यं जातं कामयेत सर्वमायुरियादिति वात्सप्रेणैनमभिमृशेत् तदस्मै जातायायुष्यं करोति

तथो ह स सर्वमायुरेत्यथ यं कामयेत वीर्यवान् स्यादिति विकृत्यैनं पुरस्तादभिमन्त्रयेत तथो ह स वीर्यवान् भवति' (श० ६।७।४।२) प्रसन्नादयजसंयुक्तं प्रयोगं दर्शयति—स हैष दाक्षायणहस्त इति। दक्षः प्राणः, तत्सम्बन्धि आयुष्यं दाक्षम्, तस्य अयनं प्रापकम्, तादृग्घस्तस्वरूपमिदं वात्सप्रम्। तस्मादुत्पन्नं शिशुम् आयुर्वृद्धयर्थं वात्सप्रेण अभिमृशेत्। तथैव यं कामयेत वीर्यवान् स्यात् तं वात्सप्रेणाभिमर्शनात् पूर्वं सुपर्णोऽसीति विकृत्याभिमन्त्रयेत्।

'दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरिति। प्राणो वै दिवः प्राणाद् वा एष प्रथममजायतास्मद्द्वितीयं परि जातवेदा इति यदेनमदो द्वितीयं पुरुषविधोऽजनयत् तृतीयमप्स्विति यदेनमदस्तृतीयमद्भ्योऽजनयन्नृमणा अजस्रमिति प्रजापतिर्वै नृमणा अग्निरजस्र इन्धान एनं जरते स्वाधीरिति यो वा एनमिन्धे स एनं जनयते स्वाधीः' (श० ६।७।४।३)। उपस्थाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—दिवस्परीत्यादिना। दिव्शब्दस्य विवक्षितमर्थमाह—प्राणो वै दिव इति। दिवो दिव्प्रतिपाद्य इत्यर्थः। अथवा दिव इति पञ्चम्यन्तपदेन प्रातिपदिकमात्रं विवक्षित्वोक्तम्। दिवप्रातिपदिकात् प्राणो विवक्षित इत्यर्थः। तदेव समर्थयते—प्राणाद् वा एष प्रथममजायतेति। प्राणादग्नेरुत्पत्तिः काण्डादौ 'प्राणा वा ऋषयः' इत्युपक्रम्य 'सप्तपुरुषानेकं पुरुषं करवामेति त एतान् सप्त पुरुषान् एकं पुरुषमकुर्वन्' (श० ६।१।१।१-३) इत्यादिना प्रोक्ता। तथा च श्रोत्रादयः सप्त प्राणा एव प्रजापतिरूपमेकमग्निमुत्पादितवन्तः।

अस्मद्द्वितीयमिति द्वितीयं पादं व्याचष्टे—यदेनमदो द्वितीयं पुरुषविधोऽजनयदिति। यद् यस्माद् एनमग्निम् अदो विप्रकृष्टकाले पुरुषविधो यथा पुरुषस्तदवयवी सम्पद्यते, तथेष्टकाभिरजनयदित्यर्थः। अयमर्थोऽपि तत्रैवोक्तः—'स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। स यः स पुरुषः प्रजापतिरभवद् अयमेव स योऽयमग्निश्चीयते' (श० ६।१।१।५) इति। स एष सप्तभिः पुरुषैर्निष्पन्न एकः पुरुषः प्रजापतिर्विराडभूत्। एवं लिङ्गशरीराभिमानि-हिरण्यगर्भपुरुषकर्तृका विराडुत्पत्तिरुक्ता। विराजोऽग्निरूपतामाह—स यः स पुरुषः प्रजापतिरिति। एष अयं चीयमानोऽग्निरित्यर्थः।

तृतीयमप्स्वित्येतद् व्याचष्टे—यदेनमदस्तृतीयमद्भ्योऽजनयदिति। एनमाहत्याधाररूपमग्निमद्भ्योऽजनयत्। अयमप्यर्थस्तत्रैवोक्तः—'सोऽपोऽसृजत' इत्युक्त्वा 'सोऽकामयताभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् तत आण्डꣳ समवर्तत' (श० ६।१।१।९-१०), 'अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽग्निरसृज्यत' (श० ६।१।१।११) इति। अथ स प्रजापतिः स्वयमेवोत्पद्य पुनः पर्यालोच्य वाचोलोकाद् उच्चारकाद् मुखाद् अपोऽब्रुपलक्षितानि पञ्च स्थूलभूतानि सृष्टवान्। विद्याध्ययनस्थानादुद्भूतत्वाद् वागेव सृष्टेत्यर्थः। आभ्योऽद्भ्यः प्रजायेयेति विचार्य स त्रय्या विद्यया सह सृष्टा अपः प्रविष्टवान्। तत आण्डं समवर्तत। ततो यो जातगर्भः सोऽग्निरसृज्यत। सर्वस्य स्थूलप्रपञ्चस्य अग्रम् आदौ सृष्टत्वादग्निरित्युच्यते। क उत्पादितवानिति प्रश्ने सत्युत्तरयति—नृमणा इति। अस्य विवक्षितमर्थं दर्शयति—प्रजापतिर्वै नृमणा इति। नृविषयमनोयुक्त इति यावत्। अजस्रशब्दं व्याचष्टे—अग्निरजस्र इति। अहिंसितमग्निमित्यर्थः। चतुर्थपादस्य तात्पर्यमाह—यो वा एनमिन्धे स एनं जनयत इति। पुनः पुनः समिन्धनमेवाग्नेरुत्पादनम्। अतो यः स्वाधीः स्वाधानः सुष्ठ्वाधानं यस्य सः, इन्धे सञ्जनयते जनयति। स्तुत्यर्थं जरत इत्यस्य जनयत इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अयमग्निर्ज्ञानरूपः प्रथमं पूर्वं दिवो द्योतनात्मकस्य सत्त्वस्योपरि नित्याखण्डस्वयंप्रकाश-ब्रह्मरूपो जज्ञे प्रादुर्भूतः। जातवेदाः सर्वज्ञः सर्वधीसाक्षिभूतः, अस्मद् अस्मत्तः, अस्मत्पदवाच्यार्थात् समष्टिजीवात्

परि उपरि साक्षिरूपेण द्वितीयं द्वितीयवारं जज्ञे प्रादुर्भूतः। नृमणा नृषु नरूपलक्षितेषु सर्वप्राणिष्वनुग्रहात्मकं मनो यस्य स नृमणाः प्रजापतिः, अप्सु कर्ममयेषु प्राणिषु ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपेण तृतीयं तृतीयवारं जज्ञे। अजस्रमक्षीणमेनं ज्ञानाग्निमिन्धानः स्वाधीः स्वायत्तचित्तः साधकः, जरते तत्परतया परिचरति। निर्विकारब्रह्मरूपो ज्ञानाग्निः प्रथमः, द्वितीयो हिरण्यगर्भसाक्षिभूतो द्वितीयामवस्थामुपगच्छति। महावाक्यजन्यपरब्रह्माकारवृत्त्यभिव्यक्तः स एव ज्ञानाग्निरज्ञानतत्कार्यनिवारकत्वेन सर्वकल्याणहेतुर्भवतीति तृतीयावस्था तस्येत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे सभेश, योऽग्निरिव त्वमस्मद् अस्माकं सकाशाद् दिवो विद्युतः परि उपरि जज्ञे जायते, तमेवं प्रथमं यो जातवेदा जातप्रज्ञानस्त्वं जज्ञे, तमेनं द्वितीयं यो नृमणा नृषु नायकेषु मनो यस्य सः, त्वम् अप्सु प्राणेषु जलेषु वा जज्ञे, तमेनं तृतीयमजस्रमिन्धानो विद्वान् परिजरते स्तौति, स त्वं स्वाधीः शोभनध्यानयुक्ताः प्रजाः स्तुहि' इति, तदप्यपेशलम्, वेदानां लोकायतिकत्वापादनपरत्वात्। नहि कश्चन सभेशोऽग्निर्भवति, न वा तस्य त्रिधा जन्म सम्भवति। गौणार्थाश्रयणं तु मुख्यार्थासम्भव एव न्याय्यम्। मुख्यार्थानुरोधेनोव्वटसायणादिभाष्यमस्त्येव ॥ १८ ॥

वि॒द्मा ते॑ अग्ने त्रे॒धा त्र॒याणि॒ वि॒द्मा ते॒ धाम॒ विभृ॑ता पुरु॒त्रा।
वि॒द्मा ते॒ नाम॑ पर॒मं गुहा॒ यद् वि॒द्मा तमुत्सं॒ यत॑ आज॒गन्थ॑ ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, पूर्व मन्त्र में कहे गये आदित्य, अग्नि और वडवानल नामक तुम्हारे तीनों रूपों को हम जानते हैं और आपके गार्हपत्य, आहवनीय, अन्वाहार्यपचन, आग्नीध्रीय आदि स्थानों को भी हम जानते हैं। मन्त्र में अत्यन्त गुप्त रूप से स्थित नाम को भी हम जानते हैं और उस उत्स्यन्दन जल रूप स्थान को भी हम जानते हैं, जहाँ आप विद्युत् रूप से प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

हे अग्ने, ते तव त्रेधा प्रविभक्तानि रूपाण्यग्निवायुसूर्याख्यानि त्रयाणि धामानि जन्मानि विद्मा जानीमः। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः। धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानि च। प्रकृते धामानि जन्मानि। धामेत्यत्र विभक्तिलोपः। गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्न्यतिप्रणीतधिष्ण्यप्रभृतीनि विभृता विहृतानि पुरुत्रा बहुषु प्रदेशेषु बहुरूपाणि धामानि स्थानान्यपि वयं विद्मः। विभृतेति विभक्तेराकारः। किञ्च, ते तव परममुत्कृष्टं गुहा गुहायां यद् व्यवस्थितं गोप्यं 'यविष्ठ्य' (वा० सं० ११।७३) इति मन्त्रप्रसिद्धं नाम यदस्ति तदपि विद्मः। किञ्च, यदुत्सादब्रूपात् स्थानात् त्वमाजगन्थ वैद्युतरूपेणागतोऽसि तमुत्समुत्स्यन्दनं जलरूपं स्थानं वयं विद्मः। आजगन्थेति गमेर्लिटि रूपम्। यद्वा सायणीयकाण्वभाष्यरीत्या हे अग्ने, यानि पूर्वस्मिन् मन्त्रे दिवस्परीत्यादिना त्रेधा स्वरूपाण्युक्तान्यादित्याग्निवाडवानलरूपाणि तानि त्रिसंख्याकानि ते तव सम्बन्धीनि रूपाणि वयं विद्मः। किञ्च, ते तव सम्बन्धीनि पुरुत्रा बहुषु प्रदेशेषु गार्हपत्याहवनीयान्वाहार्यपचनाग्निध्रीयरूपेषु विभृता विहृतानि बंहितानि धाम धामानि स्थानानि च वयं विद्मः। किञ्च, ते तव परममुत्कृष्टं गुहा गुह्यं गोप्यं 'देवेद्धोमन् विद्ध' इत्यादिमन्त्रप्रतिपाद्यं नाम यदस्ति तदपि विद्मः। देवादीनां नामत्वं मन्त्रान्तरे सम्बोधनबलादवगम्यते। 'अग्ने देवेद्धोमन् विद्ध मन्द्र जिह्वेति' मन्त्रान्तरम्। यत उत्सरूपात् प्रस्रवणादाजगन्थ वैद्युतरूपेण त्वमागतोऽसि तमुत्समपि विद्मः।

तत्र ब्राह्मणम्—'विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणीति। अग्निर्वायुरादित्य एतानि ह्यस्य तानि त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रेति यदिदं बहुधा विह्रियते विद्मा ते नाम परमं गुहा यदिति यविष्ठ इति वा अस्य

तन्नाम परमं गुहा विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थेत्यापो वा उत्सोऽद्भ्यो वा एष प्रथममाजगाम' (श० ६।७।४।४)। त्रेधा त्रयाणीत्येतद् व्याचष्टे—अग्निर्वायुरादित्य एतानि ह्यस्य तानि त्रेधा त्रयाणीति। विद्मा विजानीमः। द्वितीयपादं व्याचष्टे—विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रेति। यदिदं बहुधा विह्रियत इति बहुधा बहुप्रकारमाहवनीयायतनेषु विह्रियत इति यदिदमस्ति एतदेतेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। तृतीयं पादं व्याचष्टे—विद्मा ते नाम परमं गुहा यदितीति। गुह्यं नाम दर्शयति—यविष्ठ इति। चतुर्थपादं व्याचष्टे—विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थेति। हे अग्ने, त्वं यत आजगन्थ आगतोऽसि तम् उत्सम्, उत्स्यन्दतेऽस्मादित्युत्सस्तम्। उत्सशब्देन विवक्षितमर्थं दर्शयति—आपो वा उत्सोऽद्भ्यो वा एष प्रथममाजगामेति। अद्भ्य उत्पत्तिः पूर्वमन्त्रे 'तृतीयमद्भ्योऽजनयत्' इत्यत्रोक्ता। ननु तत्राद्भ्यो जन्म तृतीयमित्युक्तम्, कथमत्र प्रथममाजगामेत्युच्यते ? नैष दोषः, तत्राग्नेः प्राजापत्यात्मकं चित्यात्मकं च रूपमपेक्ष्य तृतीयत्वमुक्तम्। इह तु मथनाद्यपेक्षया प्राथम्यं विवक्षितम्।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानरूपाग्ने, त्रेधा त्रिभिः प्रकारैस्त्रयाणि ते रूपाणि पूर्वमन्त्रोक्तानि ब्रह्मसाक्षिब्रह्माकारवृत्त्युपहितचैतन्यात्मकानि विद्मा विजानीमः। ते तव सम्बन्धीनि पुरुत्रा बहुषूपाधिषु जीवजगदीश्वरादिरूपेण विभृतानि नामानि च विद्मः। ते तव गुहा गुह्यं परमं सर्वोत्कृष्टं यदोमिति नाम तदपि विद्मा। हे ज्ञानाग्ने, यत उत्साद् उद्गमस्थानात् त्वमज्ञाननाशकरूपेणागतोऽसि, त्वदनुग्रहेण तद् ब्रह्मापि वयं स्वप्रकाशत्वेन अविफलतया विद्मः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, ते तव यानि त्रेधा त्रिभिः प्रकारैस्त्रयाणि त्रीणि कर्माणि सन्ति तानि वयं विद्मः। हे स्थानेश, ते यानि विभृता विशेषेण धर्तुं योग्यानि पुरुत्रा बहूनि धाम धामानि सन्ति तानि वयं विद्मः। हे विद्वन्, ते तव यद् गुहा गुहायां स्थितं गुप्तं परमं नामास्ति तद्वयं विद्मः। यतस्त्वमाजगन्थ तं त्वामुत्समिव विजानीमः' इति, तदपि तुच्छम्, त्रेधा त्रीणि कर्माणि कानीत्यनुक्तेः, मूले कर्माणीति शब्दाभावाच्च, मनुष्यस्य कृते स्थानादिज्ञानस्यापुरुषार्थत्वेनापार्थकत्वाच्च। तथैव केषां केषां पुरतः कानि कानि गुप्तानि नामानीति ज्ञानस्यापि काकदन्तगर्दभरोमपरीक्षावन्निरर्थकत्वमेव, अपुरुषार्थत्वात् ॥ १९ ॥

समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवाᳬंसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, मनुष्यों के हितकारी प्रजापति ने समुद्र में वड़वानल रूप से वर्तमान आपको प्रदीप्त किया, मन्त्रों का पाठ करने वाले पुरुषों के कण्ठ से प्रजापति ने वृष्टिरूप जल के भीतर विद्युत् रूप से प्रकाशित किया, द्युलोक के उत्कृष्ट प्रकाशक के रूप में तेजोमण्डल आदित्य में स्थित होकर प्रजापति ने आपको प्रदीप्त किया। महान् प्राणों ने जल के उत्संग में स्थित होकर आपको प्रदीप्त किया ॥ २० ॥

हे अग्ने, त्वामीधे अहं यजमानो दीपयामि। कीदृशो यजमानः ? नृमणाः, नृषु कर्मानुष्ठानतत्परेषु ऋत्विक्षु मनोऽनुसन्धानकारणं चित्तं यस्यासौ। पुनः कीदृशो यजमानः ? नृचक्षाः, नृषु वेदपारङ्गतेषु पुरुषेषु मध्ये चष्टे मन्त्रान् सुस्पष्टं वक्तीति। कीदृशं त्वाम् ? तस्थिवांसं वडवानलादिरूपेणावस्थितम्। तथा अप्सु वृष्टिरूपासु अन्तर्वैद्युतरूपेणावस्थितं तथा दिवो द्युलोकस्य ऊधन् ऊधःस्थानीये तृतीये समुद्रवृष्ट्यपेक्षया तृतीये रजसि रञ्जनात्मके तेजोमण्डले सूर्यरूपेण तस्थिवांसं त्वामीधे। महिषा महान्तो यजमाना अपामुत्सङ्गे अवर्धन् अवर्धयन्। यद्वा हे अग्ने, नृमणा नृषु अनुग्रहात्मकं मनो यस्य स प्रजापतिः समुद्रे वडवानलरूपेण तस्थिवांसं वर्तमानं त्वामीधे

दीपयाञ्चकार। नृचक्षा नृषु पठत्सु पुरुषेषु चष्टे मन्त्रान् विस्पष्टं वक्तीति नृचक्षाः प्रजापतिः, अप्सु वृष्टिरूपासु अन्तर्मध्ये विद्युद्रूपेण स्थितं त्वामीधे। महिषा महान्तः प्राणा अपामुपस्थे उत्सङ्गे नाव्यानामपां मध्ये स्थितं त्वामवर्धयन्। 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति शप आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः। 'प्राणा वै महिषाः' (श० ६।७।४।५) इति श्रुतिः। यद्वा हे अग्ने, त्वा त्वां समुद्रे तत्रापि अप्स्वन्तः, नृमणा नृषु मनुष्येषु मनोऽनुग्रहात्मकं यस्य स प्रजापतिः, ईधे अदीपयत्। तथा नृचक्षाः सर्वसाक्षित्वेन मनुष्याणां द्रष्टा प्रजापतिः, दिव ऊधन् ऊधसि तृतीये रजसि लोके 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (नि० ४।१९) इति यास्कोक्तेः, आदित्यात्मना तस्थिवांसं स्थितवन्तं त्वामपामुपस्थे उत्सङ्गे दिवि महिषा महान्तः प्राणा वायवः, वायुप्राणयोरभेदात्, अवर्धन्। यद्वा अप्शब्देन तज्जं पुष्करपर्णमुच्यते, तस्यैव द्योतमानत्वात् पृथिव्यसंस्पर्शाद् दिवीति ब्राह्मणेन व्याख्यातत्वात्, 'तमद्भ्य उपोदासृप्तं पुष्करपर्णे विवेद' (श० ७।३।२।१४) इति श्रुतेश्च। तत्र महिषा ऋत्विक्सम्बन्धिनः प्राणा अवर्धन् वर्धयाञ्चक्रुः। यद्वा दिवो द्युलोकस्य ऊधसि महोदकप्रदेशे आदित्यात्मना नृचक्षा एव ईधे।

तथा च ब्राह्मणम्—'समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तरिति। प्रजापतिर्वै नृमणा अप्सु त्वा प्रजापतिरित्येत-न्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्निति प्रजापतिर्वै नृचक्षा आपो दिव ऊधस्तृतीये त्वा रजसि तस्थिवाᳬसमिति द्यौर्वै तृतीयᳬरजोऽपामुपस्थे महिषा अवर्धन्निति प्राणा वै महिषा दिवि त्वा प्राणा अवर्धन्नित्येतत्' (श० ६।७।४।५)। नृचक्षःशब्देन प्रजापतिर्विवक्षितः, दिव ऊधन्नित्यनेन आपो विवक्षिता इति व्याचष्टे—प्रजापतिर्वै नृचक्षा आपो दिव ऊध इति। तृतीयं रज इति द्यौर्विवक्षिता, अपामुपस्थ इत्यनेन च द्यौर्विवक्षिता, महिषा इति प्राणा विवक्षिता इति दर्शयति—द्यौर्वै तृतीयं रजः, प्राणा वै महिषाः, दिवि त्वा प्राणा अवर्धन्नित्येतदिति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने ज्ञानाग्ने, त्वा त्वां समुद्रे संसारसमुद्रे, अप्सु कर्मफलभूतेषु विशिष्टमनुष्यशरीरेषु, नृमणाः प्रजानुग्रहमना प्रजापतिः, ईधे अदीपयत्, वेदवेदान्तसम्प्रदायप्रवर्तनद्वारा इति शेषः। कीदृशः प्रजापतिः? नृचक्षाः सर्वसाक्षित्वेन मनुष्याणां द्रष्टा, स्पष्टमन्त्रोच्चारयिता वा। दिवः प्रकाशात्मकस्य सत्त्वगुणस्य ऊधन् ऊधोरूपेऽन्तःकरणे समुद्रापेक्षया तृतीये रजसि रञ्जनात्मके तेजोमयेऽन्तःकरणे ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपेण तस्थिवांसं त्वामीधे। किञ्च, महिषा महान्तः प्राणा वाङ्मनश्चक्षुरादयः, अपां कर्मफलभूतानां देहानामुपस्थे उत्सङ्गे अपां मध्ये स्थितं त्वामवर्धन्। वेदानां पठनश्रवणमनननिदिध्यासनैः संशयविपर्ययज्ञानापनोदनेन वर्धयन्तीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, नृमणा नायकमना अहं त्वां समुद्रेऽन्तरिक्षेऽग्निमिव ईधे प्रदीप्ये। नृचक्षा बहुमनुष्यदर्शनोऽहम् अप्सु अन्नेषु जलेषु वा अन्तर्मध्ये ईधे प्रकाशयामि। दिवः सूर्यप्रकाशस्य ऊधन् ऊधसि उषसि, 'ऊध इति उषसो नामसु' (निघ० ३।३), प्रातःकाले ईधे। तृतीये रजसि लोके तस्थिवांसं सूर्यमिव यं त्वामपामुपस्थे समीपे महिषा महान्तो विद्वांसोऽवर्धन्, स त्वमस्मान् सततं वर्धय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरर्थकत्वात्। कोऽयं नायकपुरुषो विचारकः? कं चान्तरिक्षेऽग्निमिव प्रकाशयति? बहुमनुष्यदर्शनश्च न कश्चिदेक एव, मनुष्येषु तस्य सर्वसाधारणत्वात्। दिव ऊधन्नुषसि त्वां प्रकाशयामीत्यादिषु पदकृत्यानि नोक्तानि ॥ २० ॥

अक्र॑न्दद॒ग्निः स्त॒नय॑न्निव॒ द्यौः क्षामा॒ रेरि॑हद्वी॒रुधः॑ सम॒ञ्जन्।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो वि हीमि॒द्धो अख्य॒दा रोद॑सी भा॒नुना॑ भात्य॒न्तः ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—अग्निदेवता मेघ के समान गर्जन करते हुए, पृथ्वी का आस्वादन करते हुए, औषधि वृक्ष आदि को अंकुरित करते हुए शीघ्र प्रकट होकर द्यावापृथिवी में परिव्याप्त होकर अपनी आभा से देदीप्यमान होते हैं ॥ २१ ॥

कण्डिकेयं (१२।६) स्थले व्याख्याता। केवलं स्वामी दयानन्द एव पूर्वस्मादर्थाद् अत्रत्यं कण्डिकार्थं विशिनष्टि। अतः स एवोद्धृत्य विचार्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यथा द्यौः सूर्योऽग्निः स्तनयन्निव वीरुधः समञ्जन् प्रकटयन् सन् सद्यो ह्यक्रन्दद् गमयति क्षामा पृथिवीं रेरिहत् ताडयति। अयं जज्ञानो जायमान इद्धः प्रदीप्यमानः सन् भानुना किरणसमूहेन रोदसी प्रकाशभूमी ईम् सर्वतो व्यख्यत् ख्याति ब्रह्माण्डस्यान्तरा भातीति तथा भवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथाहि किमियं कण्डिका लोकसिद्धमर्थं वक्ति, अपूर्वं वा? नान्त्यः, सर्वत्र त्वया दृष्टार्थत्वेनैव व्याख्यातत्वात्। न प्रथमः, सूर्यलोकशब्दयितृत्वस्य लोकाप्रसिद्धत्वात्। वीरुधां प्रकटयितृत्वमपि धरणोजलानिलसम्पृक्तबीजानामेव, वीरुत्प्राकट्यहेतुत्वेन सूर्यलोकस्य तत्रान्यथासिद्धत्वात्। सूर्यलोकस्य पदार्थानामितस्ततो भ्रामकत्वमपि प्रमाणशून्यमेव। पृथिव्याः कम्पयित्रीत्वमपि प्रमाणसापेक्षमेव, रोदसीपदेन द्यावापृथिव्योरुक्तत्वात्, दिवः स्वस्य कम्पयितृत्वानुपपत्तेः, ईम् इत्यस्य सर्वत इति कथमर्थ इत्यनुक्तेः ॥ २१ ॥

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः।
वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा विभात्यग्र उषसामिधानः ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ— गाय, घोड़ा आदि पशुधन से और धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण करने वाले, मन की सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले, यजमान के लिये सोमयाग की रक्षा करने वाले, सबके निवासहेतु, मन्थन के वेग रूप बल से प्रकट होने वाले, पुत्र रूप जल में स्थित वरुण रूप राजा, प्रभात के समय आदित्य रूप से देदीप्यमान अग्निदेव विशेष रूप से प्रकाशित होते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रभात काल में अग्नि होम आदि यज्ञ-कर्मों में प्रकट होती है ॥ २२ ॥

एवंविधोऽग्निर्विभाति विशेषेण भासते। कथंभूतोऽग्निः? श्रीणां लक्ष्मीणां सम्पदां गोहस्तिभूहिरण्यादिलक्षणानामुदारोऽत्यर्थं दाता, 'उदारो दातृमहतोर्दक्षिणेऽप्यभिधेयवत्' इति मेदिनीकोषात्। रयीणां धनानां धरुणो धारयिता। कश्चिद्धनवानपि न दाता भवति। नायं तथा। किन्तु मनीषाणां मनसा एषितानामभिलषितानां कामानां प्रार्पणः प्रकर्षेणार्पयिता। सोमगोपाः सोमं गोपायतीति। धिष्ण्या अग्नयः सोमं गोपायन्ति, तदभिप्रायमेतत्। अथवा तत्तद्यजमानकर्तृकसोमयागस्य रक्षिता। वसुः वासयतीति वसुः। सर्वस्य निवासहेतुः। वासयिता। वसुर्धनरूपो वा। यथाऽन्यानि शयनासनरथादिधनानि भूतानामुपकुर्वन्ति, तथायमपि तापपाकप्रकाशैरुपकरोति जनानां तस्मादपि वसुः। सहसो बलस्य सूनुः, मन्थनबलेन जन्यत्वात्। अप्सु राजा जलेऽवस्थितो वरुणात्मना राजा। यद्वा वृष्टिरूपास्वप्सु राजा विद्युद्रूपेण दीप्यमानः। उषसामग्रे प्रातःकाले इधान आदित्यात्मना दीप्यमानः। यद्वा उषसां प्रभातानामग्रेऽग्निहोत्रहोमायाग्नयः प्रदीप्यन्त इत्यभिप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानाग्ने, त्वं श्रीणां साम्राज्यस्वाराज्यवैराज्यमोक्षादिलक्ष्मीणामुदारोऽत्यर्थं दाता। रयीणां धनानां भौतिकानामाध्यात्मिकानां च धरुणो धर्ता। मनीषाणां मनसेप्सितानां कामानां प्रार्पणः प्रापकः सोमेन साम्बशिवेन गोपायिता। ज्ञानादेव शिवः साधकं गोपायति, 'स एनमविदितो न भुनक्ति' (बृ० १।४।१५) इति श्रुतेः। वसुरनुपमधनरूपोऽसि, बौद्धात् प्रयत्नातिशयाज्जातत्वात्। सहसो बलस्य सूनुः सुतोऽसि।

अप्सु लोकेषु त्वमेव राजा प्रकाशमानः। उषसां विविधाभ्युदयप्रभातानामग्रे मुखे इधानो दीप्यमानो भवानेव विभाति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यो जन उषसामग्रे सम्मुखे इधानः प्रदीप्यमानः सूर्य इव श्रीणां लक्ष्मीणामुदारः उत्कृष्टान् परीक्ष्य ऋच्छति। रयीणां धनानां धरुणो धर्ता मनीषाणां प्रज्ञानां याभिर्मन्यन्ते जानन्ति ता मनीषाः, तासां प्रार्पणः प्रापकः सोमगोपाः सोमानामोषधीनामैश्वर्याणां वा रक्षकः सहसो बलवतः पितुः सूनुः सुतो वसुः कृतब्रह्मचर्यः, अप्सु प्राणेषु राजा प्रकाशमानः, विभाति प्रदीप्यते, तं सर्वाध्यक्षं कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विधेयांशस्याप्राप्तत्वात्। सहसो बलार्थत्वेऽपि तद्वत्त्वार्थता तु गौणार्थतैव। सूर्य इव प्रदीप्यमान इत्यपि गौणार्थाश्रयणमेव। उत्तमान् परीक्ष्य ऋच्छतीत्यपि गौणार्थाश्रयणमेव, उदित्यस्य तावदर्थत्वे मानाभावश्च॥ २२॥

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायन् जना यदग्निमयजन्त पञ्च॥ २३॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण जगत् का विज्ञानस्वरूप आत्माग्नि सभी प्राणियों के अन्तर में वायु रूप से प्रकट होने वाला आत्मा द्यावापृथिवी को सब प्रकार के तेज से पूर्ण करता है। चन्द्र रूप से सब ओर विचरण करता हुआ मेघ को विदीर्ण करता है, अर्थात् जो प्रतिदिन उदित होकर अतिसुदृढ़ पर्वत का भी रन्ध्रभेद कर भूलोक से द्युलोक पर्यन्त प्रदेश को अपनी ज्योति से पूर्ण करता है, मनुष्यगण उस अग्नि का सब प्रकार से यजन करते हैं॥ २३॥

सोऽग्निः, विश्वस्य सर्वस्य केतुर्ज्ञाता भुवनस्य लोकस्य गर्भो गर्भवदन्तरेव स्थितः। यद् इत्यविभक्तिको निर्देशः, विभक्तेर्लोपो वा। यश्च जायमानः सूर्यात्मना दीप्यमान एव रोदसी द्यावापृथिव्यौ आ अपृणात् सर्वतः स्वतेजसा पूरयति। यं च यजमानसहिता ऋत्विग्रूपाः पञ्चजनाः, चत्वारो महर्त्विजो यजमानश्च पञ्चसंख्याका जना अयजन्त यजन्ते पूजयन्ति। यद्वा विप्राद्याश्चत्वारो वर्णा निषादश्च पञ्चमो यं पूजयन्ति। तदानीं परायन् आहुतिरूपेणादित्यसमीपं गच्छन् वीडुं चिद् दृढमप्यद्रिं पर्वतसमानं मेघम् अभिनद् विदारितवान्।

उव्वटाचार्यरीत्या व्याख्यानं यथा—यच्छब्दयोगाच्चतुर्थः पादः प्रथमं व्याख्यायते। यद् इत्यविभक्तिको निर्देशः। यमग्निं पञ्चजनाः पूर्वोक्ता अयजन्त इष्टवन्तः स विश्वस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य केतुः प्रजानन् अग्न्यात्मना भुवनस्य भूतजातस्य गर्भो वाय्वात्मना अन्तरवस्थितः स एव रोदसी द्यावापृथिव्यौ जायमान एवादित्यात्मना आ अपृणाद् आपूरयति, स एव मध्यस्थानमन्तरिक्षमारुह्य परायन् परतो गच्छन् इन्द्रात्मना वीडुश्चिद् दृढमपि अद्रिम् अदारयितव्यं मेघमभिनद् भिनत्ति।

अध्यात्मपक्षे—यं ज्ञानरूपमग्निं पञ्चजनाश्चत्वारो वर्णाः पञ्चमो निषादश्च अयजन् इष्टवन्तो ज्ञानेनैव। ज्ञानस्यैव तद्वैशेष्यम्। स एव विश्वस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य केतुः केतुवज्ज्ञापकः, भुवनस्य भूतजातस्य गर्भो गर्भवदन्तरवस्थितः, 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (भ० गी० १३।१७) इति गीतोक्तेः। स एव जायमान उत्पद्यमानो ज्ञानाग्नी रोदसी द्यावापृथिव्यौ आपृणात् सुखेन पूरयति। स एव ब्रह्मात्मज्ञानात्मना परायन् परतो ब्रह्मभावमयन् गमयन्। अन्तर्भावितण्यर्थः। वीडुं चिद् दृढमपि शास्त्रादिभिरभेद्यमद्रिमिवाज्ञानमभिनद् भिनत्ति समूलमुन्मूलयति। अथवा निशाचरचमूवनदाहकोऽग्निः श्रीरामो विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य केतुर्विज्ञापको

ध्वजरूपः सर्वान्तर्यामिरूपेण गर्भेऽदन्तरवस्थितः. यश्च जायमान उदीयमानो रोदसी द्यावापृथिव्यौ आपृणात् आपूरयति यशसा, वीडु चिद् दृढमप्यद्रिवद् दुर्भेद्यं पिनाकमभिनत् त्रोटितवान् परायन् पराभावयन्, शत्रूनिति शेषः। यद् यमग्निं श्रीरामं पञ्चजनाः सयजमाना महर्त्विजो विविधैर्यागैरयजन् इष्टवन्तः। ज्ञानाग्निपक्षेऽप्यद्रिवद् दुर्भेद्यमज्ञानमभिनत्। अन्यदपि यथायथं योज्यम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यद् यो विद्वान् विश्वस्य भुवनस्य केतुः पितृवद्रक्षको गर्भान्तरस्थो जायमानः परायन् परेतः सन् रोदसी प्रकाशभूमी आपृणात् प्रपूर्यति। वीडु दृढबलम् अद्रिं मेघमभिनद् भिन्द्यात्। पञ्चजना अग्निं विद्युतम् अयजन्त संगमयन्ति चिदिव विद्यादिशुभगुणान् प्रकाशयेत, तं न्यायाधीशं मन्यध्वम्' इति, तदपि स्वैरचारित्वमेव, तादृशाध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव। केतुः पालक इत्यपि चिन्त्यम्, गर्भो मध्ये स्थित इत्यपि निर्मूलम्, न्यायाधीशगुणेषु तदनुक्तेः। किञ्च, यदि भुवनशब्दस्य लोकमात्रार्थता, तदा व्यवच्छेद्याभावाद् व्यर्थमेव विशेषणम्। न च न्यायाधीशः शत्रून् प्राप्नोति, न वा रोदसी प्रपूरयति। न चाद्रिभेदको न्यायदानेऽपेक्षितः। प्राणा विद्युतं सङ्गमयन्ति, इत्येतदप्यसङ्गतमेव, प्रकृतानुपयोगात्॥ २३॥

उ॒शिक् पा॑व॒को अ॑र॒तिः सु॑मे॒धा मर्त्ये॑ष्व॒ग्निर॒मृतो॒ नि धा॑यि।
इय॑र्ति धू॒मम॑रु॒षं भरि॑भ्र॒दुच्छु॒क्रेण॑ शो॒चिषा॒ द्यामिन॑क्षन्॥ २४॥

मन्त्रार्थ— यह अग्निदेव लोगों का काम्य, कान्तिमान, शोधक, दुष्टों का दमन करने वाला, श्रेष्ठ बुद्धि वाला और मरणधर्म से रहित है। इस अग्नि को देवताओं ने मरणधर्मा मनुष्यों के कल्याण के लिये स्थापित किया है। इसका धूम जगत् के कल्याण के लिये वृद्धि के निमित्त आकाश में व्याप्त हो जाता है। जगत् को धारण करता हुआ निर्मल प्रभात युक्त यह अग्नि अपनी कान्ति से द्युलोक को व्याप्त कर लेता है॥ २४॥

योऽग्निः, उशिक् कान्तः, वश् कान्तावित्यस्य सम्प्रसारणे रूपम्, पावकः पावयिता, अरतिः यागादिरहितेषु प्रीतिरहितः, अलंमतिः पर्याप्तमतिर्वा। सुमेधाः शोभना सेवकाभिप्रायधारणशक्तिर्यस्यासौ, कल्याणप्रज्ञः साधुयज्ञो वा। अमृतो मरणरहितो मर्तेषु मनुष्येषु यजमानेषु निधायि निहितो देवैस्त्वं नोऽस्य लोकस्याध्यक्ष एधीति अरुषं अरोषं चक्षुरुपद्रवरहितं धूमं भरिभ्रद् अतिशयेन धारयन् शुक्रेण निर्मलेन शोचिषा तेजसा प्रभारूपेण द्यामाकाशम् इनक्षन् व्याप्नुवन्, 'नक्षतिर्व्याप्तिकर्मसु पठितः'। (निघ० २।१८।२), नक्षतेरिकारागमश्छान्दसः, उदियर्ति ऊर्ध्वं प्रसारयति। यद्वा स भरिभ्रद् धारयन्निदं जगद् अरुषम् अरोचनं धूममुदियर्ति उद्गमयति, 'इतो वा अयमूर्ध्वꣳ रेतः सिञ्चति धूमꣳ सामुत्र वृष्टिर्भवति' (श० ७।४।२।२२) इति श्रुतेः। शुक्रेण शुभ्रेण शोचिषा नक्षत्रग्रहतारकसम्बन्धिना तेजसा प्रकाशेन धूममियर्ति, 'इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति' इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—अयमग्निः श्रीरामो ज्ञानाग्निर्वा। उशिग् उश्यते काम्यते लौकिकैरित्युशिक् काम्यमानः पावकः पावयिता नामोच्चारणमात्रेण, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (भ० गी० ४।३७)। अरतिः अलंमतिः पर्याप्तबुद्धिः, अरम् अलं मतिर्बुद्धिर्यस्य यस्माद्वा सोऽरतिः। छान्दसो मलोपः। सुमेधाः शोभना मेधा भक्ताभिप्रायधारणसमर्था बुद्धिर्यस्य यस्माद्वा, ब्रह्मात्मज्ञाने प्रपञ्चबाधाद् बुद्धिस्थैर्ये मेधावृद्धिदर्शनात्। मर्तेषु मरणधर्मसु मनुष्येषु निधायि, 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (भ० गी० १३।१७)। ज्ञानाग्निः सर्वत्र सूक्ष्मरूपेण निहितः। अन्तर्यामिरूपेण श्रीरामश्च मर्त्योपलक्षितेषु सर्वेषु प्राणिषु निहितः स्थितः। कीदृशः सः? अमृतः। अमृतत्वहेतुत्वादमृतो ज्ञानाग्निः श्रीरामस्त्वमृतरूप एव। स उदियर्ति अरुषम् अरोचनं धूमं धूमतुल्यं

दोषमुद्गमयति निष्काशयति । 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इत्युपसर्गक्रिययोर्व्यवधानम् । भरिभ्रद् अतिशयेन धारयन् उत्तमान् गुणानिति शेषः । शुक्रेण निर्मलेन शोचिषा दीप्त्या द्यां द्योतनात्मकमन्तःकरण-मिनक्षन् व्याप्नुवन् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयमीश्वरेण मर्त्येषु य उशिक् कामयमानः पावकः पवित्रकर्ता अरतिर्ज्ञाता सुमेधाः शोभनप्रज्ञः अमृतः अविनाशी निधायि निधीयते, यः शुक्रेण आशुकरेण शोचिषा दीप्त्या द्यां सूर्यम् इनक्षन् व्याप्नुवन् धूममरुषं रूपं भरिभ्रद् अत्यन्तं भरन् पृणन् उदियर्ति प्राप्नोति, तमीश्वरमुपासध्वम् उपकुरुत वा' इति, तदपि विसङ्गतमेव, हिन्दीव्याख्यानासङ्गतेः । तथाहि संस्कृते 'उशिक्' इत्यस्य कामयमान इति, हिन्दी-व्याख्याने माननार्ह इति किं केन श्लिष्यते ? अरतिर्ज्ञानदातेत्यपि चिन्त्यम् । अमृत इति विशेषणं निरर्थकम्, आत्मरूपेण सर्वस्यैवाविनाशित्वात् । निधायि निश्चीयत इत्यपि चिन्त्यम्, धात्वर्थविरोधात् । किञ्च, यो धूममरुषं रूपं भरिभ्रद् इत्यस्याभिप्रायोऽप्यस्पष्ट एव । यत्तु अग्निर्धूमं धरतीति भाव इति, तदपि न, अरुषमिति विशेषणस्य नैरर्थक्यात् । 'धूमं रूपप्रकाशसमर्थं करोति स्वार्चिषा स एवाग्निः' इत्यप्यसाम्प्रतम्, अर्चिषा धूमस्यैव प्रकाशो भवति न तु धूमेन रूपं प्रकाश्यते । ईश्वरोऽपि जीवानामन्धकाररूपमज्ञानं स्वप्रेरणया ज्ञानं प्रकाशसमर्थं करोतीत्यपि बालभाषितम्, ईश्वरो ज्ञानोत्पादनेनाज्ञानं नाशयति, नाज्ञानं ज्ञानं करोति, स्वभाववैषम्यात् ॥ २४ ॥

दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ।
अग्निरमृतो अभवद् वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत् सुरेताः ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—अपने सामने उपस्थित मनुष्यों को लक्ष्मी प्रदान करने के निमित्त अग्निदेव अभिलषित अखण्डित आयु के साथ सुवर्ण के आभरण के रूप में प्रकाशित होता है । यह अग्नि अन्न आदि के पुरोडाश में चिरकाल तक निवास करता है, क्योंकि सुन्दर अग्निरूप द्युलोकवासी देवगणों ने इस अग्नि को प्रकट किया है ॥ २५ ॥

व्याख्यातपूर्वेयं प्रथमकण्डिकायामस्मिन्नेवाध्याये ॥ २५ ॥

यस्ते अद्य कृणवद् भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने ।
प्र तं नय प्रतरं वस्यो अच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—हे कल्याण दीप्ति वाले दिव्य गुणसंयुक्त अग्निदेव, इस समय आज प्रतिपदा के दिन जो यजमान आपके निमित्त घृतसिक्त पुरोडाश प्रदान करता है, हे अतियुवा अग्निदेव, उस यजमान को आप अतिश्रेष्ठ स्थान दीजिये । देवताओं के भोगयोग्य सभी प्रकार के सुख उसे प्राप्त कराइये ॥ २६ ॥

हे भद्रशोचे, भद्रा कल्याणरूपा शोचिर्दीप्तिर्यस्यासौ भद्रशोचिस्तत्सम्बुद्धौ हे अग्ने देव, ते तव अद्य अस्मिन् दिने घृतवन्तं घृतयुक्तमपूपम् उपस्तरणाभिघारणोपेतं पुरोडाशं यो यजमानः कृणवत् कृणोति करोति, हे यविष्ठ युवतम, देवभक्तं देवेषु भक्तियुक्तं तं पुरोडाशकारिणं यजमानम् अभि सुम्नम् अभिमतं सुखमच्छ प्राप्तुं प्र प्रकर्षेण नय प्रेरय । कीदृशं सुम्नम् ? प्रतरं प्रकृष्टतरं वस्योऽतिशयेन निवासकारणम्, 'स आज्यस्योपस्तीर्य द्विर्हविषोऽवदायाथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति' (श० १।७।२।१०) इति श्रुतेः । वसति यत्र तद् वस्तृ, तृन्प्रत्ययः, अतिशयेन वस्तृ वसीयः । 'तुश्छन्दसि' (पा० सू० ५।३।५९) इतीयसुन् प्रत्ययः । 'तुरिष्ठेमेयःसु' (पा० सू०

६।४।१५४) इति तृचो लोपे छान्दस ईलोपे वस्य इति रूपम् । 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति वस्यो अच्छेत्यत्र सन्ध्यभावः । यद्वा तं प्र नयसीति प्राप्ते छान्दसो लोट् । तं यजमानं प्रतरं प्रकृष्टतरं वसीयः स्थानं वस्तृतमं स्थानम् उत्तमं लोकं प्रनय प्रापय । अच्छ आभिमुख्येन सुम्नं सुखं च अभिनय सर्वतः प्रापय । कीदृशं सुखम् ? देवभक्तं देवसेवितं देवयोग्यं सुखं प्रापयेत्यर्थः, 'स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन् वसति शाश्वतीः समाः' (बृ० उ० ५।१०) इति श्रुतेः ।

अध्यात्मपक्षे—हे श्रीरामरूपाग्ने ! इत्यादि पूर्ववदेव व्याख्येया कण्डिका । आहोस्विद् हे भद्रशोचे भद्रदीप्ते ज्ञानाग्ने, यस्ते तुभ्यं त्वत्प्राप्त्यर्थम् अद्य अस्मिन् काले घृतवन्तमपूपं पुरोडाशं कृणोति देवेभ्य इति शेषः। हे यविष्ठ युवतम, तं प्रतरं प्रकृष्टतरं सुम्नं ब्रह्मात्मकं सुखम् अच्छाभिप्राप्तुं प्रणय प्रेरय । कीदृशम् ? वस्यः, उत्तमं ब्रह्मात्मकं निवासस्थानं देवैरपि सेवितम् अच्छाभिप्राप्तुं प्रणय प्रेरयेति सम्बन्धः ।

दयानन्दस्तु—'हे भद्रशोचे यविष्ठ देवाग्ने विद्वन् पुरुष, यस्ते तव घृतवन्तं बहुघृतं विद्यते यस्मिंस्तम् अभिसुम्नं सुखस्वरूपं वस्योऽतिशयितं वसु तद् देवभक्तं विद्वद्भिः सेवितम् अपूपम् अच्छ कृणवत् कुर्यात् तं प्रतरं पाककर्तारं त्वमद्य प्रणय' इति, 'तदपि तुच्छम्, रागास्पदत्वेन तस्य स्वयं प्राप्तत्वात् तद्विधानायोगात् । प्रतरं पाककर्तारमित्यपि निर्मूलम् । प्रणयेत्यस्य प्राप्तो भवेति हिन्दीव्याख्यानमप्यसङ्गतम् ॥ २६ ॥

आ तं भ॑ज सौश्रव॒सेष्व॑ग्न उ॒क्थउ॑क्थ॒ आभ॑ज श॒स्यमा॑ने ।
प्रि॒यः सूर्ये॑ प्रि॒यो अ॒ग्ना भ॑वा॒त्युज्जा॒तेन॑ भि॒नद॒दुज्जनि॑त्वैः ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, उस यजमान की कीर्ति को बढ़ाने वाले यज्ञकर्म में आप उपस्थित रहें । प्रत्येक उक्थ काण्ड में स्तोत्र, शस्त्र आदि को सविधि सम्पन्न कर उसकी प्रीति को बढ़ावें, उसे सूर्य का और अग्नि का प्रीतिपात्र बनावें, उसे पुत्र प्रदान कर उसके वंश की वृद्धि करें ॥ २७ ॥

हे अग्ने, सौश्रवसेषु श्रव एव श्रवसम्, सुष्ठु शोभनं श्रवसं येषां तानि सुश्रवसानि तान्येव सौश्रवसानि तेषु साधुश्रवणीयेषु यज्ञादिकर्मसु तं यं यजमानम् आभज आभजसि । यदः स्थाने तदो वृत्तिः, लटः स्थाने लोटो वृत्तिरर्थसम्बन्धात् । सुष्ठु शोभनं श्रवो यशो येषां तानि सुश्रवांसि, तान्येव सौश्रवसानि तेष्विति वा व्युत्पत्तिः । तेष्वेव कर्मसु उक्थे उक्थे निष्कैवल्ये प्रउगादौ च शस्त्रे शस्यमाने यमाभजसि आसेवसे, स यजमानः सूर्ये सूर्यस्य प्रियो भवति, अग्ना अग्नेश्च प्रियो भवति । विभक्तेराकारः प्रकृतेरिकारलोपश्च छान्दसः । किञ्च, उज्जातेन औरसपुत्रसङ्घातेन भिनदद् धर्मार्थकामान् उद्भिनत्ति, सम्पादयतीत्यर्थः । जनित्वैः जनिष्यमाणैश्च पौत्रप्रपौत्रसंघैश्च उद्भिनत्ति वेदार्थाननुष्ठाय अभ्युदयं प्राप्नोति । प्रजा यस्य स्वर्गयायिनी भवतीत्यभिप्रायः—इत्युव्वटाचार्यः ।

यद्वा—हे अग्ने, सौश्रवसेषु सुष्ठु शोभनं श्रवः कीर्तिः सुश्रवः, तस्य इमानि हेतुत्वेन सम्बन्धीनि यागादिकर्माणि सौश्रवसानि तेषु । उक्थे उक्थे तेष्वेवकर्मसु निष्कैवल्ये प्रउगादिरूपे तत्तच्छस्त्रे शस्यमाने सति तं देवभक्तं यजमानं आभज सर्वतः सेवस्व निरन्तरं कर्मानुष्ठायिनं कुर्वित्यर्थः । आभजेति द्विरुक्तेर्वाक्यद्वयं कर्तव्यम्—कर्मसु प्रेरयेत्येकं वाक्यम्, तत्तच्छस्त्रे प्रेरयेत्यपरम् । अयं यजमानः सूर्ये।सूर्यस्य प्रियो भवाति भवति । लडर्थे लेट् । अग्नौ अग्नेरपि प्रियो भवति । ङसो डादेशः । तथा जातेन उत्पन्नेन औरसपुत्रेण उद्भिनदत्

उद्भेदमुदयं वृद्धिमाप्नोतु । इलोपेऽडागमे च उद्भिनददिति रूपम् । तथा जनित्वैः जनिष्यमाणैश्च उद्भिनदत् । ये जनिष्यन्ते ते जनित्वाः, तैः । भविष्यदर्थे औणादिक इत्वप्रत्ययः । 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' (पा० सू० ३।४।१४) इति त्वन्प्रत्यय इति हलायुधः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम, यः सौश्रवसेषु यागादिकर्मसु निष्ठावान् प्रवृत्तः, तं देवभक्तं यजमानम् आभज अभीष्टप्रदानेन आसेवस्व । उक्थे उक्थे निष्कैवल्यप्रगाथादिरूपे च शस्यमाने तत्तच्छस्त्रे तमाभज, कर्मसु शस्त्रेषु च प्रेरय । एवं त्वया सेवितस्त्वदाराधनलक्षणेषु कर्मसु शस्त्रादिषु प्रेरितः सूर्ये सूर्यस्य अग्ना अग्नेश्च तदुपलक्षितानां सर्वेषामपि देवानां प्रियो भवति, 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' (भा० पु० ५।१८।१२) इति श्रीमद्भागवतोक्तेः । तथा जातेनोत्पन्नेन ज्ञानादिना, तथा जनित्वैर्जनिष्यमाणैश्च शान्तिदान्त्यादिभिः, उद्भिनदद् ऐहिकमामुष्मिकं च उद्भेदमभ्युदयं वृद्धिं प्राप्नोत्वित्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, त्वं यः सौश्रवसेषु शोभमानानि श्रवांसि सुश्रवांसि तेषु भवस्तेषु वर्तमानस्तमाभज सेवस्व । यः शस्यमान उक्थे उक्थे वक्तुं योग्ये योग्ये व्यवहारे प्रियः कान्तः सूर्ये सूरिषु स्तोतृषु भवे अग्नौ च प्रियः सेवनीयो जातेन जनित्वैः सहोद्भवति भवेद् उद्भिनदद् भिन्द्यात् तं त्वमाभज' इति, तदप्यपेशलम्, असङ्गतेः, शोभनधनादिषु यो वर्तमानस्तमाभजेत्यस्याभिप्रायानिरूपणात्, शस्यमाने यः प्रियः प्रीतिं करोतीत्यनेनैवोपपत्तौ वक्तुं योग्ये योग्ये इत्यंशस्य वैयर्थ्यापत्तेः । प्रियपदस्य प्रीतिकरोऽर्थ इत्यपि चिन्त्यम्, उक्थपदस्य वैदिकेषु निष्कैवल्यादिषु रूढत्वेन तदतिरिक्तार्थत्वे मानाभावात् । अग्ना इत्यस्य अग्निविद्यार्थतापि निर्मूलैव । जातेन जनिष्यमाणैः सहोद्भवतीत्यपि निरर्थकमेव, जातानां जनिष्यमाणानां चावर्तमानत्वे सहभावासम्भवात् ॥ २७ ॥

त्वाम॑ग्ने॒ यज॑माना॒ अनु॒ द्यून् विश्वा॒ वसु॑ दधिरे॒ वार्या॑णि ।
त्वया॑ स॒ह द्रवि॑णमि॒च्छमा॑ना व्र॒जं गोम॑न्तमु॒शिजो॒ वि व॑व्रुः ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, यह यजमान आपकी सेवा में लगा हुआ है । इसे दिन में वरणीय सम्पूर्ण धनधान्य, गो-सुवर्ण आदि ऐश्वर्य से आप सम्पन्न करें, यह यजमान आपके साथ यज्ञ-फल द्वारा आपकी सेवा करने की इच्छा से बुद्धिमान् ज्ञानकर्मसमुच्चयकारी मनुष्यों के समान रविमण्डल के मध्य में देवयान मार्ग का सेवन करे ॥ २८ ॥

हे अग्ने, त्वां यजमाना अनुद्यून् अन्वहम् । द्युशब्दो दिनवाची । अहन्यहनि विश्वा विश्वानि वसु वसूनि गोभूहिरण्यादीनि दधिरे धारयन्ति । कीदृशानि तानि ? वार्याणि वरणीयानि । कीदृशा यजमानाः ? त्वया सह द्रविणं यज्ञफलमिच्छमानाः कामयमानाः । किञ्च, त्वया सह स्थितास्त्वां भजन्तस्ते व्रजं व्रजन्ति सुकृतिनोऽनेनेति व्रजस्तं देवयानमार्गं गोमन्तम् आदित्यसम्बन्धिरश्मिसंयुक्तम् । उशिजो मेधाविनः कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठायिनः, विवव्रुः विभिदुः । आदित्यमण्डलस्य मध्येन ज्योतिर्मयं देवयानमार्गं कृतवन्त इत्यर्थः । सायणरीत्या तु हे अग्ने, यजमानाः सर्वे द्यून् प्रतिदिनं त्वामनु त्वामेवानु गच्छन्तो वार्याणि वरणीयानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि वसु वसूनि धनानि गोभूहिरण्यादीनि दधिरे धृतवन्तः । त्वया सहावस्थितास्ते द्रविणमधिकं द्रव्यमिच्छमानाः काङ्क्षन्त उशिजो धनसाध्यानि कर्माणि कामयमाना गोमन्तं गोभिर्युक्तं व्रजं गोनिवासस्थानं विवव्रुर्विशेषेण वृतवन्त इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीकृष्ण, यजमानास्त्वदाराधनपरायणा द्यून् प्रतिदिनं त्वामनु त्वामेवानुगच्छन्तस्त्वद्भक्ता वार्याणि वरणीयानि ज्ञानध्यानादीनि विश्वानि बाह्यानि आध्यात्मिकानि च वसूनि धनानि दधिरे धृतवन्तः। त्वया भगवता सहावस्थिता द्रविणं सर्वाधिकद्रविणमिच्छमानाः काङ्क्षन्त उशिजो धनाद्यानि त्वदर्चनलक्षणानि कर्माणि कामयमाना गोमन्तं गोभिर्युतं व्रजं प्रसिद्धं नन्दव्रजं गोलोकं वा विवव्रुर्विशेषेण वृतवन्तः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यं त्वामाश्रित्य उशिजो मेधाविनो यजमानास्त्वया सह यान् अनुद्यून् दिनानि विश्वा सर्वाणि वार्याणि स्वीकर्तुमर्हाणि वसूनि द्रव्याणि दधिरे धरेयुः। द्रविणमिच्छमाना गोमन्तं प्रशस्ता गावः किरणा यस्मिंस्तं व्रजं मेघं विवव्रुर्वृणुयुः, तथाभूता वयमपि भवेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरर्थकत्वात्, लौकिकार्थस्य लौकिकमानैरेव वेद्यत्वेन तत्र वेदप्रमाणानुपयोगात्॥ २८॥

अस्ताव्यग्निर्नराᳬं सुशेवो वैश्वानर ऋषिभिः सोमगोपाः।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम्॥ २९॥

मन्त्रार्थ—मनुष्यों को सुन्दर सुख देने वाले, जठराग्नि के रूप में सबके हितकारी, सोमरक्षक अग्निदेवता ऋषियों के द्वारा स्तुति किये जाने पर द्वेषरहित होकर भूमि और द्युलोक के अधिष्ठात्री देवताओं का आह्वान करते हैं। हे देवताओं, हमारे निमित्त वीर पुत्र और सुन्दर ऐश्वर्य प्रदान करो॥ २९॥

ऋषिभिर्ऋत्विग्यजमानैः, अग्निः वैश्वानरो विश्वानरसम्बन्धी, अथवा विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो नरेभ्यो हितो जाठराग्निरूपेण। अस्तावि स्तुतः। कथंभूतोऽग्निः? नरां नराणां नुडागमाभावे गुणे च रूपम्। सुशेवः सुष्ठु शोभनं शेवः सुखं यस्मादसौ शोभनं सुखयिता। पुनः कथंभूतः? सोमगोपाः सोमं गोपायतीति सोमगोपाः। तृतीयचतुर्थपादौ लिङ्गोक्तदेवत्यौ। यतोऽग्निः स्तुतः, अतोऽद्वेषे द्वेषरहिते द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ हुवेम आह्वयामः, तदाश्रयकर्मप्राप्त्यर्थम्। हे देवा यूयमपि, अस्मे अस्मभ्यं रयिं धनं धत्त दत्त, सुवीरं शोभनपुत्रं च धत्त दत्त स्थापयत।

अध्यात्मपक्षे—ऋषिभिर्वशिष्ठादिभिः, अग्निः परमेश्वरः, अस्तावि श्रीरामादिरूपेण स्तुतः। कथंभूतः? नरां नराणां मनुष्याणां सुशेवः सुष्ठु रीत्या सेवितुं योग्यः शोभनं यथा स्यात्तथा सुखयिता वा। वैश्वानरः विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितः सर्वहितकारी। सोमगोपाः सोमरसोपलक्षितकर्मकाण्डादीनां रक्षिता, 'प्रचारज्ञश्च कर्मणाम्' (वा० रा० सु० ३५।१२) इति वाल्मीकीयरामायणात्। अद्वेषे रागद्वेषादिविहीनौ द्यावापृथिवी तदभिमानिनौ तद्वत् पूज्यौ वा सीतारामौ हुवेम आह्वयामः। हे देवाः परमेश्वरांशभूताः, यूयम् अस्मे अस्मभ्यं रयिं शमादिसम्पत्तिं सुवीरम् अज्ञानादिनाशक्षयं ज्ञानरूपं पुत्रं धत्त स्थापयत। शोभनपुत्रोपेतं लौकिकं वा धनं दत्त।

दयानन्दस्तु—'द्यावापृथिवीत्यनेन राजनीतिभूराज्ये गृहीते' इति, तदपि निःसारम्, गौणार्थाश्रयणात्। 'रयिं राज्यलक्ष्मीं सुवीरं शोभना वीरा यस्यामित्युक्तम्, तदपि यत्किञ्चित्, राज्यश्रियो वीरलभ्यत्वात्॥ २९॥

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों, तुम लोग समिधा से अग्नि का पूजन करो। घृत की आहुति देकर अतिथि के रूप में उपस्थित पूजनीय अग्नि को प्रज्वलित करो। इस प्रज्वलित अग्नि में नाना प्रकार की आहुतियां दो॥ ३०॥

अथ वनीवाहनसंज्ञकं कर्माह—'प्रागनः कृत्वोख्यस्योत्तरतः समिदाधानꣳ समिधाग्निमिति' (का० श्रौ० १६।६।१५)। उख्याग्नेरुत्तरस्यां दिशि प्रागीषं शकटं संस्थाप्य यजमानस्तत्रस्थे उख्येऽग्नौ वनीवाहनं समिधमाधत्ते समिधाग्निमिति मन्त्रेण। अत्र वनीवाहने सर्वं कर्म यजमान एव स्वयं कुर्यात्, नाध्वर्युः। विरूपाक्षदृष्टा आग्नेयी गायत्री तृतीयाध्याये प्रथमकण्डिकारूपेण व्याख्याताऽपि पुनर्व्याख्यायते। हे ऋत्विग्यजमानाः, एनमग्निं समिधा दुवस्यत परिचरत। घृतैरेतस्येष्टैरतिथिमिवैतं बोधयत प्रबुद्धं कुरुत। ततश्चास्मिन् हव्या हव्यानि आ जुहोतन साकल्येन जुहुत।

अत्र ब्राह्मणम्—'वनीवाह्येताग्निं बिभ्रदित्याहुः। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त ते देवाश्चक्रमचरञ्छालमसुरा आसंस्ते देवाश्चक्रेण चरन्त एतत्कर्मापश्यंश्चक्रेण हि वै देवाश्चरन्त एतत्कर्मापश्यंस्तस्मादनस एव पौरोडाशेषु यजूꣳष्यनसोऽग्नौ' (श० ६।८।१।१)। तत्रोख्याग्नेर्गार्हपत्यं प्रत्यनसा प्रापणं विधास्यंस्तदुपोद्घातमाह—वनीवाह्येताग्निमित्यादिना। अग्निचयनप्रदेशप्रापणीयाग्निं बिभ्रद् यजमानो वनीवाह्येत अनसा तमुख्याग्निं भृशं वाहयेद् इत्याहुः पूर्वमहर्षयः। वहतेर्यङन्तस्य रूपम्। अभ्यासस्य नीगागमश्छान्दसः। तमभिप्रायं पूर्ववृत्तान्तमुखेन दर्शयति—देवाश्चेति। ते देवाश्चक्रमचरन् चक्रेणाचरन्नित्यर्थः। असुरास्तु शालं चक्रव्यतिरिक्तशालसाधना अभवन्नित्यर्थः। ते देवाश्चक्रेण चरन्त एतद् उख्याग्निप्रणयनलक्षणं कर्मापश्यन्। तस्मात् पौरोडाशेषु कर्मसु अनस एव यजूंषि मन्त्राः सन्ति। तथा अग्नौ अग्निचयनेऽप्यनस एव यजूंषि।

'स यो वनीवाह्यते। देवान् कर्मणैति दैवꣳ ह्यस्य कर्म कृतं भवत्यथ यो न वनीवाह्यतेऽसुरान् कर्मणैत्यसुर्यꣳ ह्यस्य कर्म कृतं भवति' (श० ६।८।१।२)। औपोद्घातिकं दर्शयति। स यो वनीवाह्यत इति। भृशमनसा वाहयेत् तद्वनीवाहनलक्षणेन कर्मणा देवान् एति, देवानामाचरणमनुकरोतीत्यर्थः। अथ यो न वनीवाह्यत इत्यादेरयमर्थः—वनीवाहनमकृत्वा शालायामेवाग्निं निष्पादयेत् तदा तत्कर्म असुरेभ्यो हितं भवति। 'स यदहः प्रयास्यन् स्यात्। तदहरुत्तरतोऽग्नेः प्रागन उपस्थाप्याथास्मिन् समिधमादधात्येतद्वा एनं देवा एष्यन्तं पुरस्तादन्नेनाप्रीणन्नेतया समिधा तथैवैनमयमेतदेष्यन्तं पुरस्तादन्नेन प्रीणात्येतया समिधा' (श० ६।८।१।५)। अग्नेर्गार्हपत्यचयनदेशं प्रति प्रणयनप्रयोगमाह—स यदहरिति। यस्मिन्नहनि दीक्षां समाप्य चितिप्रदेशं प्रयास्यन् स्यात्, तदोख्याग्नेरुत्तरतः प्राग् अन उपस्थाप्य अस्मिन् उख्याग्नौ समिधमादध्यात्। एतद्विषयकं कात्यायनवचनमुपरिष्टादुद्धृतम्। एतत्प्रशंसति—एतद्वा एनामिति। यथा लोके प्रयास्यन्तं भोजयित्वा प्रस्थापयति, तत्स्थानीयमिदं समिदाधानमिति स्तुतिः। 'समिधाग्निं दुवस्यतेति। समिधाग्निं नमस्यतेत्येवद् घृतैर्बोधयतातिथिमास्मिन् हव्या जुहोतनेति घृतैरह बोधयतातिथिमो अस्मिन् हव्यानि जुहुतेत्येतद्बुद्धवत्येत्यायै ह्येनमेतद्बोधयति' (श० ६।८।१।६)। तत्र दुवस्यतेत्येतद् व्याचष्टे—समिधाग्निं नमस्यतेत्येतदिति। बोधयतेति यद् बोद्धलिङ्गमस्ति तस्य तात्पर्यमाह—इत्यायै ह्येनमेतद् बोधयतीति। इत्यायै गमनायेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे भक्ताः, एतं वेदवेदान्तवेद्यमग्निं परमात्मानं समिधा समिदुपलक्षितेन पत्रपुष्पफलादिना दुवस्यत परिचरत। अतिथिमिव पूज्यमेनं घृतै रागविशेषैर् एतं बोधयत अनुग्रहबुद्ध्युपेतं कुरुत। ततश्चैतस्मिन हव्या हव्यानि समर्पणीयानि नैवेद्यानि जुहोतन समर्पयत।

दयानन्दस्तु—'समिधाग्निमिवोपदेशकं सेवध्वम्' इत्याह, तच्च निर्मूलमेव ॥ ३० ॥

उदु॑ त्वा॒ विश्वे॑ दे॒वा अग्ने॒ भर॑न्तु॒ चित्ति॑भिः।

स नो॑ भव शि॒वस्त्वꣳ सु॒प्रती॑को वि॒भाव॑सुः ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, आप सम्पूर्ण प्राणरूप देवता हो, उद्यम में प्रवीण बुद्धि की वृत्तियों के द्वारा आपको ऊँची धारणाएँ प्राप्त हों। ऊँची धारणा और सुन्दर मुँह वाले, दीप्ति रूप धन वाले आप हमारे लिये कल्याणकारक बनें॥ ३१॥

'सासन्दीकमुद्यम्योदु त्वेति दक्षिणतोऽनसि करोति' (का० श्रौ० १६।६।१६)। आसन्दीसहितमुख्याग्निमुद्धृत्य अनसो दक्षिणतोऽवस्थितो यजमानः सासन्दीकमग्निमनसि पूर्वभागे स्थापयेदिति सूत्रार्थः। 'स्थाल्यां गार्हपत्यं पश्चात्' (का० श्रौ० १६।६।१७) गार्हपत्यमग्निं स्थाल्यां निधाय अनसि पश्चाद् निदध्यादिति च 'उदु त्वेति' मन्त्रेण। तापसदृष्टा आग्नेयी अनुष्टुप्। मन्त्रार्थस्तु—'हे अग्ने, विश्वे सर्वे देवाः प्राणरूपाः, चित्तिभिर् उद्यमनकुशलाभिर्धीवृत्तिभिः, उद् ऊर्ध्वमेव त्वां भरन्तु धारयन्तु। स उद्धार्यमाणस्त्वं नोऽस्माकं शिवः शान्तो भव। सुप्रतीको भव सुष्ठु शोभनं प्रतीकं मुखं यस्य सः, सुमुखो भव। विभावसुः विभायाः प्रभायाः वसुर्वासयिता, विभा दीप्तिरेव वसु धनं यस्य सः, इति वा भव। भृञो भौवादिकस्य रूपम्। उकारः पादपूरणार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुद्यच्छति। उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिरिति विश्वे वा एतमग्रे देवाश्चित्तिभिरुदभरन्नेतद्धचेषां तदा चित्तमासीत्तथैवैनमयमेतच्चित्तिभिरुद्भरत्येतद्धचस्य तदा चित्तं भवति स नो भव शिवस्त्वꣳ सुप्रतीको विभावसुरिति तथैव यजुस्तथा बन्धुस्तं दक्षिणत उदञ्चमादधाति तस्योक्तो बन्धुः स्थाल्यां गार्हपत्यꣳ समुप्यापरमादधाति स यदि कामयेतोपाधिरोहेत् पार्श्वतो वा व्रजेत्' (श० ६।८।१।७)। अथैनमुद्यच्छतीति। अनस उपरि उखयाग्निं स्थापयितुमूर्ध्वं धारयेत्। तच्च धारणमासन्दीसहितम्, 'सासन्दीकमुद्यम्य' (का० श्रौ० १६।६।१६) इति सूत्रात्। चित्तिभिरित्येतद् व्याचष्टे—एतद्धचेषामिति। एषां देवानां चित्तिभिर्ज्ञानैरुद्भरणं कुर्वतां तदा उद्भरणकाले एतद् उद्भरणमेव चित्तं चेतव्यमासीत्। तथैव देववदेव यजमानोऽपि चित्तिभिर् उद्भृतवान् भवति, अस्यापि यजमानस्य एतद् उद्भरणमेव चित्तं भवति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, विश्वे सर्वे देवास्त्वदंशभूताः, चित्तिभिः चेतोवृत्तिभिः, त्वाम् उद् ऊर्ध्वं हृदये ब्रह्मरन्ध्रे वा भरन्तु धारयन्तु। हे अग्ने परमेश्वर, सर्वैरुद्धार्यमाणस्त्वमेव नोऽस्माकं शिवः कल्याणरूपः सुप्रतीकः सुमुखो विभावसुर्विभायाः स्वस्वरूपभूतायाः प्रभाया वसुर्वासयिता धारयिता च भव।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यं त्वा विश्वे देवाः, चित्तिभिर्विज्ञानैः सह उदु भरन्तु स विभावसुः सुप्रतीकश्च त्वं नः शिव उपदेशको भव। इति, तदपि तुच्छम्, यं विद्वांसं विद्वांसो भरन्ति ज्ञानैः स उपदेशको भवत्विति निरर्थकमेव, विदुषि विज्ञानानपेक्षणात्। शिवपदस्य उपदेशकार्थकता निर्मूलैव॥ ३१॥

प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम्।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिꣳसीस्तन्वा प्रजाः॥ ३२॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप मंगलयुक्त ज्वालाओं से प्रकाशमान होकर हमारे यहाँ आइये। उज्वल किरणों से प्रकाशमान् शरीर वाले आप हमारे प्रजा-पुत्र आदि को किसी प्रकार की पीड़ा मत दीजिये॥ ३२॥

'अनड्वाहौ युक्त्वा प्रेदग्न इति प्राङ् यात्वा यथार्थम्' (का० श्रौ० १६।६।१८)। पूर्वमवस्थापितशकटे गार्हपत्यस्य पश्चिमे भागे तूष्णीं बलीवर्दौ संयोज्य प्रेदिति मन्त्रेण प्राचीं गत्वा यथार्थं प्रयोजनवन्तं देशं गच्छेदिति

सूत्रार्थः। मन्त्रार्थस्तु—हे अग्ने, शिवेभिरर्चिभिः शान्ताभिर्ज्वालाभिः, ज्योतिष्मान् प्रकाशयुक्तस्त्वं प्रयाहि यजमानदेशं प्रयाहि। प्रेद् इत्यत्र इत् पादपूरणार्थः। एवं बृहद्भिः प्रौढैः, भानुभी रश्मिभिर्भासन् जगदवभासयन् तन्वा स्वकीयेन दाहकेन शरीरेण प्रजाः पुत्रादिका मा हिंसीर्मा नाशय।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर श्रीराम, शिवेभिरर्चिभिः शान्तैः सुखमयैः प्रकाशैर्ज्योतिष्मान् विज्ञानवान् सन् भक्तानुद्धर्तुं प्रेत् प्रयाहि। किञ्च, बृहद्भिर्महद्भिः, भानुभिः कान्तिभिः, भासन् दीप्यमानः सन् तन्वा प्रकाशमयेन शरीरेण प्रजा मा हिंसीः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, त्वं यथा ज्योतिष्मान् सूर्यः शिवेभिरर्चिभिः पूजितैर्बृहद्भिर्महद्भिर्विद्या-प्रकाशगुणैरिदेव भासन् वर्तते तथा प्रयाहि, तन्वा प्रजा मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तन्वेत्यस्य नैरर्थक्यात्, यथा सूर्यो भासन् वर्तते तथा प्रयाहीति दृष्टान्तदार्ष्टान्तानुपपत्तेः॥ ३२॥

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद् वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आकाश में मेघ के समान गर्जना करते हुए आप पृथ्वी का आस्वादन करें। वृक्षों को अंकुरित करता हुआ अग्नि प्रदीप्त होता है। जो भी उसके पास रहता है, उसे विज्ञान सम्पन्न और प्रसिद्ध कर देता है। वह द्यावापृथिवी के मध्य में रश्मि द्वारा प्रकाशित होता है॥ ३३॥

'अक्षे खर्जत्यक्रन्ददग्निरिति जपति' (का० श्रौ० १६।६।२०)। अक्षे शब्दं कुर्वति अक्रन्ददग्निरिति मन्त्रं जपेत्। इयं कण्डिका (१२।६) स्थले व्याख्याता। अत्र सूत्रकारेण जपार्थमस्याः पुनरुपादानात् संहितायां पुनः पाठाद् ब्राह्मणेन व्याख्यानाच्च पुनरुदाह्रियते ब्राह्मणम्। 'अथानड्वाहौ युनक्ति। दक्षिणमग्रेऽथ सव्यमेवं देवत्रेतरथा मानुषे स यां कां च दिशं यास्यन् स्यात् प्राङेवाग्रे प्रयायात् प्राची हि दिगग्नेः स्वामेव तद्दिशमनु प्रयाति' (श० ६।८।१।८)। अनस्यनडुहोर्योजनं तत्क्रमं चाह—अथानड्वाहाविति। एवमुक्तक्रमेण चेद् देवत्रा देवेषूचितं भवति। इतरथा सव्यं प्रथमं युनक्ति चेत्, मानुषे मानुष्ये तद्योग्यमित्यर्थः। यजनदेशस्य यत्र कुत्रचिद-वस्थितत्वेऽप्यादौ प्राङ्मुखो यायादिति नियमं सार्थवादं विधत्ते—स यां कां चेति। देवानां दिग्व्यवस्थाकाले अग्निना प्राग्दिक्परिग्रहात् 'प्राची हि दिगग्नेरित्युक्तम्' (श० ६।३।३।२)। 'प्राची दिगग्निर्देवता' इति हि तैत्तिरीयकप्रसिद्धिः 'प्राची दिशां वसन्त ऋतूनामग्निर्देवता' (तै० सं० ४।३।३।१) इति श्रुतौ। तस्मादनसः प्राक् प्रवर्तनम्।

'प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि। शिवेभिरर्चिभिष्ट्वमिति प्रेदग्ने त्वं ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिर्दीप्य-मानैरित्येतद् बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिꣳसीस्तन्वा प्रजा इति बृहद्भिरर्चिभिर्दीप्यमानैर्मा हिꣳसीरात्मना प्रजा इत्येतत्' (श० ६।८।१।९)। मन्त्रे पूर्वार्धस्य तात्पर्यं दर्शयन् अर्चिभिरित्येतस्यावयवार्थमाह—प्रेदग्न इत्यादिना। शिवेभिरर्चिभिर्दीप्यमानैरिति। 'ऋच् स्तुतौ' तौदादिकः। धातूनामनेकार्थत्वाद् दीप्तौ वृत्तिः। अस्मात् 'सर्वधातुभ्य इन्' (उ० ४।११७) इति इन्प्रत्यये अर्चिरिति साधुः। अयं सान्तोऽपि—'अर्चिशुचिहुसृपिच्छादिछर्दिभ्य इसिः' (उ० २।१०९) इति प्रतिपादितं भवति। 'तन्वा' इत्यस्य व्याख्यानमात्मनेति, शरीरेणेत्यर्थः। हे अग्ने, त्वं ज्योतिष्मान् प्रभूतज्योतिष्कः, शिवेभिः मङ्गलैः, अर्चिभिरुपलक्षितः सन् प्रयाहि प्रगच्छ। तथा बृहद्भिर्भानुभिः

प्रकाशैः, भासन् भासमानः, तन्वा शरीरेण अस्मदीया प्रजा मा हिंसीः। यदुक्तं सूत्रकारेण 'अक्षे खर्जति' (का० श्रौ० १६।६।२०) इति, तदाह ब्राह्मणम्—'स यदाक्ष उत्सर्जेत्। अथैतद्यजुर्जपेदसुर्या वा एषा वाग्याक्षस्य तामेतच्छमयति तामेतद्देवत्रा करोति' (श० ६।८।१।१०)। अक्षध्वनौ प्रायश्चित्तमाह—स यदेति। उत्सर्जेद् ध्वनिं कुर्यात् तदा एतद् वक्ष्यमाणम् अक्रन्ददिति यजुर्जपेत्। अक्षसम्बन्धिन्या वाचोऽसुर्यत्वं कर्णकठिनत्वाद् द्रष्टव्यम्। तां वाचमेतेन अक्रन्ददिति पाठेन शमयित्वा असुर्यात्वं दूरीकृत्य देवत्रा देवेषु करोति।

'यद्वैवैतद् यजुर्जपति। यस्मिन वै कस्मिंश्चाहितेऽक्ष उत्सर्जति तस्यैव सा वाग्भवति तद्यदग्नावाहितेऽक्ष उत्सर्जत्यग्नेरेव सा वाग्भवत्यग्निमेव तद्देवा उपास्तुवन्नुपामहयंस्तथैवैनमयमेतदुपस्तौत्युपमहयत्यक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौरिति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।८।१।११)। पुनः प्रशंसति—यद्वैवैतद्यजुरिति। यस्मिन् कस्मिंश्चित् शकटस्योपरि आहिते अक्ष उत्सर्जेद् ध्वनिं कुर्यात् तस्यैव आहितस्यैव सम्बन्धिनी सा वाग्भवति। अथ अग्नावाहिते अग्नेरेव सा स्यात्। यस्मादेवं तस्मात् तत् तेन मन्त्रपाठेन अन्यदीयत्वपरिहाराय अग्निमेव देवा उपास्तुवन् उपामहयन् पूजितमकुर्वंस्तथैवैनमग्निमेतद् एतेन उपस्तौति उपमहयति च। अत्र मन्त्रं विधाय तदपेक्षितं ब्राह्मणं पूर्वोक्तमेवेत्यतिदिशति—अक्रन्ददग्निरिति। तस्योक्तो बन्धुरिति 'क्रन्दतीव हि पर्जन्यः' (श० ६।७।३।२) इत्यादिना उखाप्रग्रहणप्रस्तावे उक्त इत्यर्थः॥ ३३॥

प्र प्रा॒यम॒ग्निर्भ॑र॒तस्य॑ शृण्वे॒ वि यत्सूर्यो॒ न रोच॑ते बृ॒हद्भाः।
अ॒भि यः पू॒रुं पृत॑नासु त॒स्थौ दी॒दाय॒ दैव्यो॒ अति॑थिः शि॒वो नः॥ ३४॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि हवि को धारण करने वाले यजमान के आह्वान को सुनता है। सूर्य के समान दीप्तिमान् होता हुआ अत्यन्त प्रकाशमान् होता है। यह संग्रामों में राक्षसों का सामना करता है। देहसम्बन्धी अतिथि हमारा मंगलकारक यह अग्नि दीप्तिमान् होता है॥ ३४॥

'वासेऽवहरत्युद्धतावोक्षित उत्तरतः समिदाधानं प्र प्रेति' (का० श्रौ० १६।६।२१)। वासो वसतिः। तत्रोत्तरस्यां दिशि पञ्चभूसंस्कारसंस्कृते देशेऽग्निं शकटादवतारयेत्। ततः प्र प्रायमित्युख्येऽग्नौ समिधमादध्यादिति सूत्रार्थः। तेन विश्रामाद्यर्थे रथविमोचनेऽग्निरनसि स्थित एव भवति। यत्र वासस्तत्रैवावहरणं न प्राग्वसतेरिति। वशिष्ठदृष्टा आग्नेयी त्रिष्टुप्। अयमग्निर्भरतस्य भरति हविरिति भरतस्तस्य यजमानस्य शृण्वे शृणोतु, आह्वानमिति शेषः। यद् यः सूर्यो न सूर्य इव। भाः भासत इति भाः, सूर्यवद् भासमानः सन् बृहद् यथा स्यात्तथा वि विशेषेण रोचते दीप्यते। योऽग्निः पृतनासु संग्रामेषु पूरुम्, प्रीणाति येनासौ पूरुर्जपपूर्विस्तम्, अभितस्थौ सर्वतः करोति। तथा कृत्वा च स्तुतिभिर्दीदाय अत्यन्तं दीप्यते, सोऽग्निरस्माकमतिथिर्भवतु। कथम्भूतोऽग्निः? दैव्यो देवेभ्यो हितः। पुनः कथंभूतः? शिवः परममङ्गलरूपः।

यद्वा योऽग्निः प्र प्र महता प्रकर्षेण भरतस्य सर्वभरणशीलस्य प्रजापतेर्वचनं शृण्वे शृणोति। कथमेतदध्यवसीयते प्रजापतेर्वचनं शृणोतीति चेत्, तत्राह श्रुतिः—वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भा इति। यद् यतः समिदाधानानन्तरमेव सूर्यो न सूर्य इव बृहद्भा महादीप्तिर्विरोचते विशेषेण दीप्यते। अथवा वियद् वियति आकाशे सूर्यो न सूर्य इव अयं बृहद्भा बृहती भा दीप्तिर्यस्यासौ महादीप्तिः सन् रोचते, रोचमानश्च एतया समिधा आप्यायितः पृतनासु संग्रामेषु पूरुम् असुरराक्षसम् अभि तस्थौ सम्मुखं तिष्ठति, सम्मुखं तिष्ठंश्च दीदाय भृशं दीप्यते। यस्माच्च दैव्यो देवसम्बन्धी अतिथिः, अतिथिधर्मा नोऽस्माकं शिवो मङ्गलरूपः,

तस्माद् प्रजापतेर्वचनं शृणोतीति युक्तमेव। 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा० सू० ८।१।६) इति प्रशब्दस्य द्वित्वम्। दीदायेति 'दीङ् क्षये' इत्यस्य लिटि रूपम्। धातूनामनेकार्थत्वाद् दीप्तौ वृत्तिः। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति वर्तमाने लिट्। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इति दीर्घः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स यदि पुरा वसत्यै विमुञ्चेत। अनस्येवाग्निः स्यादथ यदा वसत्यै विमुञ्चेत प्रागन उपस्थाप्योत्तरत उद्धत्यावोक्षति यत्रैनमुपावहरति तं दक्षिणत उदञ्चमुपावहरति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।८।१।१२)। स यदि पुरा वसत्यै विमुञ्चेतेति। वसत्यै वसत्याः, अग्निचयनस्थानात् पुरा मध्येमार्गं विमुञ्चेत, शकटमिति शेषः। तदा सोऽग्निरनस्येवावस्थितः स्यात्। अथ उक्तवैलक्षण्येन वसतिं प्राप्य विमुञ्चेत तदा प्रागनोऽनसः प्राग्देशे उपस्थाप्य उत्तरतस्तदुत्तरतो भूमिम् उद्धत्यावोक्षति। यत्रैनमग्निमुपावहरति अधः स्थापयति तं दक्षिणत उदञ्चम् उपावहरति। तस्योक्तो बन्धुरिति। दक्षिणत उदगर्थवाद उखार्थे मृत्पिण्डपरिग्रहप्रकरणे 'दक्षिणतो वा उदग्योनौ रेतः सिच्यते' (श० ६।४।२।१०) इत्युक्त इत्यर्थः। 'अथास्मिन् समिधमादधाति। एतद्वा एनं देवा ईयिवाᳬसमुपरिष्टादन्नेनाप्रीणन्नेतया समिधा तथैवैनमयमेतदीयिवाᳬसमुपरिष्टादन्नेन प्रीणात्येतया समिधा' (श० ६।८।१।१३)। यथाग्निप्रणयनकाले तस्यान्नत्वेन समिदाधानमुक्तम् (अस्मिन्नेव ब्राह्मणे चतुर्थकण्डिकायाम्), एवमेव आसन्नस्याप्यन्नत्वेन समिदाधानं कर्तव्यमित्याह—अथास्मिन् समिधमादधातीति। एतत्प्रशंसति—एतद्वा एनमिति। ईयिवांसं चयनदेशं गतवन्तम्। गमनप्राक्कालमपेक्ष्य उपरिष्टादित्युक्तम्। अन्नेन इत्यस्य व्याख्यानम्—एतया समिधेति। एतदेव सूचितं कात्यायनेन—'वासेऽवहरत्युद्धतावोक्षित उत्तरतः समिदाधानं प्र प्रेति' (का० श्रौ० १६।६।२१) इति।

'प्र प्रायमग्निर्भरतस्य शृण्व इति। प्रजापतिर्वै भरतः स हीदᳬ सर्वं बिभर्ति वियत्सूर्यो न रोचते बृहद्भा इति वि यत्सूर्य इव रोचते बृहद्भा इत्येतदभि यः पूरुं पृतनासु तस्थाविति पूरुर्ह नामासुररक्षसमास तमग्निः पृतनास्वभितष्ठौ दीदाय दैव्यो अतिथिः शिवो न''''इत्येतत्स्थितवत्या वसत्यै ह्येनं तत्स्थापयति' (श० ६।८।१।१४)। समिदाधानमन्त्रं विदधद् विभज्य व्याचष्टे—प्र प्रायमित्यादिना। अयमग्निर्भरतस्य प्रजापतेर्वचनं प्रशृण्वे प्रकर्षेण शृणोति सूर्यो न सूर्य इव बृहद् महद् भा भासमानो विरोचते दीप्यते च। यद्वा भा भासा बृहद् महान् योऽग्निः पूरुं पृतनासु संग्रामेष्वभितष्ठौ पराबभूव पराजितवान् स दैव्यो देवसम्बन्धी, अतिथिर् अतिथिरूपः, नः शिवः सन् दीदाय दीप्यते। भरतशब्दं व्याचष्टे—प्रजापतिर्वै भरत इति। तदुपपादयति—स हीदमिति। सूर्यो नेत्यत्र नशब्द उपमार्थं इति व्याचष्टे—वियत् सूर्य इव रोचत इति। तृतीयपादं व्याचष्टे—पूरुर्ह नामासुररक्षसमासेति। पूरुनामकः सुरविरोधि रक्षोऽभूत्। अस्मिन् मन्त्रे 'पृतुनासु तस्थौ' इति स्थितिः श्रूयते। तन्मुखेन मन्त्रं प्रशंसति—स्थितवत्येति।

अध्यात्मपक्षे—अयमपरोक्षः प्रत्यक्चैतन्याभिन्नः परमेश्वरः श्रीरामो भरतस्य हविर्धारणवतो भक्तस्य भरताख्यस्य भ्रातुर्वा शृण्वे शृणुते, आह्वानमिति शेषः। यद् योऽग्निः सूर्यो न सूर्य इव भा भासमानः सन् बृहद् यथा स्यात्तथा रोचते अत्यन्तं दीप्यते, योऽग्निः पृतनासु रावणादिसंग्रामेषु पूरुं सुरविरोधि राक्षसमभिलक्ष्य तस्थौ सम्मुखे तिष्ठति, दैव्यो देवसम्बन्धी अतिथिः, नोऽस्माकं शिवो मङ्गलरूपः सोऽग्निः श्रीरामः, दीदाय अतिशयेन दीप्यते।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजनाः, योऽयमग्निः सेनापतिः सूर्यवदत्यन्तप्रकाशयुक्तोऽतिप्रकर्षेण सह रोचते, यो नः पृतनासु पूरुं पूर्णबलमुक्तं सेनाध्यक्षस्य समीपे सर्वप्रकारेण तिष्ठति, दैव्यो विदुषां प्रियः, अतिथिस्तद्वन्नित्यं भ्राम्यमाणः शिवो मङ्गलदाता दीदाय विद्याधर्मौ प्रकाशयेत्। यस्य भरतस्य सेवनयोग्यस्य राज्यरक्षकस्य

विजयो विद्या च शृण्वे श्रूयेत, स लब्धलक्षः कुलीनः सेनाया योधयिताऽधिकर्त्तव्यो युष्माभिः' इति तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारबाहुल्यात्, श्रुत्यर्थत्वेन श्रुतौ बलादारोपणाच्च। पूरुं पूर्णबलसेनाध्यक्षमिति च चिन्त्यम्, निर्मूलत्वात् ॥ ३४ ॥

आपो॑ दे॒वीः प्रति॑गृभ्णीत॒ भस्मै॒तत् स्यो॒ने कृ॑णुध्वᳯं सुर॒भा उ॑ लो॒के।
तस्मै॑ नमन्तां॒ जन॑यः सु॒पत्नी॑र्मा॒तेव॑ पु॒त्रं बि॑भृता॒प्स्वे॑नत् ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हे जलदेवताओ, इस भस्म को आप लोग ग्रहण करें, सुखकारक पुष्प, धूप आदि से सुवासित स्थान में इसको धारण करें। वरुण आपके अधिपति हैं। वृक्ष आदि को उत्पन्न कर उनमें अग्नि को प्रकट करने वाले हैं। उस भस्म रूप अग्नि के निमित्त हम नमन करते हैं। हे जलदेवता, उस भस्म को आप उसी प्रकार धारण करें, जैसे माता पुत्र को धारण करती है ॥ ३५ ॥

इतः प्रारभ्य दश कण्डिकाभिर्भस्माभ्यवहरणम्। 'पलाशपुटेनापो देवीरित्येकया' (का० श्रौ० १६।६।२६)। वनीवाहनानन्तरं तडागादिजलस्थानं गत्वा पलाशादिपत्रपुटेन सायंप्रातरुखायाः सकाशादुद्धृतं भस्म एकया आपो देवीरित्येतया ऋचा जले क्षिपेदिति सूत्रार्थः। अब्देवत्या त्रिष्टुप्। हे आपः, देवीः देव्यो दीप्यमानाः, यूयं भस्म प्रतिगृभ्णीत स्वागतादिभिः प्रतिगृह्णीत। किञ्च, स्वागतादिभिः स्वीकृत्य एतत् प्रतिगृहीतं भस्म स्योने सुखकरे सुरभौ पुष्पधूपादिशोभनगन्धयुक्ते लोके स्थाने शय्यायां कृणुध्वं स्थापयत कुरुत वा। 'कृञ् हिंसायाम्' स्वादिः। धातूनामनेकार्थत्वात् कृतौ वृत्तिः। उकारः समुच्चयार्थः पादपूरणो वा। सुपत्नीः सुपत्न्यः सुष्ठु शोभनः पतिर्वरुणरूपो यासां ताः, रूपलावण्ययौवनालङ्कारवैदग्ध्यसम्पन्नाः। 'आपो वरुणस्य पत्नय आसन्' (तै० ब्रा० १।१।३।८) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। जनयो जनयन्त्युत्पादयन्ति वृक्षोत्पत्त्यादि द्वारा अग्निमिति जनयः। अग्नेर्जनन्य आपः। वाडवं वैद्युतरूपमग्निं प्रति अपां जननीत्वम्। ईदृश्यः शोभनपतिकाः सर्वस्योत्पादयित्र्य आपस्तस्मै भस्मरूपायाग्नये नमन्तां प्रह्वीभवन्तु। अथवा जनयो जनयन्त्यस्यामिति जनयो जायारूपाः सुपत्न्य आपो नमन्तामग्निमुपतिष्ठन्तु, तमग्निं पालयितुं सावधाना भवन्त्वित्यर्थः। हे आपः, यथा लोके माता पुत्रं पोषयति, तद्वदेनं भस्मरूपमग्निमप्सूदकरूपासु युष्मास्ववस्थाप्य बिभृत पोषयत, पानभोजनवासोभिर्गोपायतेत्यर्थः।

'अथातो भस्मन एवाभ्यवहरणस्य। देवा वा एतदग्रे भस्मोदवपंस्तेऽब्रुवन् यदि वा इदमित्थमेव सदात्मानमभिसंस्करिष्यामहे मर्त्याः कुणपा अनपहतपाप्मानो भविष्यामो यद्यु परावप्स्यामो यदत्राग्नेयं बहिर्धा तदग्नेः करिष्याम उप तज्जानीत यथेदं करवामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेदं करवामेति' (श० ६।८।२।१)। यदुक्तं प्राक्—'स यदहः सन्निवप्स्यन् स्यात्। तदहः प्रातरुदित आदित्ये भस्मैव प्रथममुद्वपति' (श० ६।७।४।१४) इति। तद्विधातुमाख्यायिकां वदन् प्रतिजानीते—अथातो भस्मन एवाभ्यवहरणस्येति, मीमांसा क्रियत इति शेषः। देवाः खलु अग्रे पूर्वं भस्म अग्नेः सकाशाद् उदवपन् ऊर्ध्वमपागमयन्। अनन्तरं ते परस्परमब्रुवन् यदि वा इदमुद्धृतं भस्म इत्थमेवान्यत्र प्रक्षेपमकृत्वा अनुद्धतप्रकारेणैव स्थितमात्मानमग्नेः शरीरभूतं सन्तं शरीरं कृत्वेत्यर्थः। अभिसंस्करिष्यामहे तदा मर्त्याः कुणपा भस्मनो निर्जीवत्वाद् वयमपि कुणपाः शवसदृशा अनपहतपाप्मानो भस्मनः पापरूपत्वात् तत्संस्कारेणाप्यनपहतपाप्मानो भविष्यामः। यद्यु यद्यपि परावप्स्यामो दूरे प्रक्षिपामस्तदा अत्र भस्मनि यद् आग्नेयं तद् अग्नेः सकाशाद् बहिर्धा करिष्यामः। एवं पक्षद्वयेऽपि दोषसम्भवाद् अन्यतरपक्षमनाश्रयमाणा यथेदं करवाम तत्प्रकारमुपजानीतेति तेऽब्रुवन्। एवमुक्त्वा

पुनरेवमब्रुवन् किमिति चेतयध्वमित्यस्य कोऽभिप्राय इत्याकाङ्क्षायां श्रुतिस्तटस्था सती ब्रूते—चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन् । चितिर्ज्ञानं तदिच्छत इत्येवमब्रुवन् देवाः । पूर्वोदितं 'उप तज्जानीत' इत्येतदुत्तरेण वाक्येनाभिगृणाति—तदिच्छत यथेदं करवामेतीति ।

'ते चेतयमानाः । एतदपश्यन्नप एवैनदभ्यवहरामापो वा अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तद्यत्रास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तदेनत्प्रतिष्ठाप्य यदत्राग्नेयं तदद्भ्योऽधिजनयिष्याम इति तदपोऽभ्यवाहरंस्तथैवैनदयमेतदपोऽभ्यवहरति' (श० ६।८।२।२) । ते चेतयमानाः कर्तव्यविषये बुद्धिं व्यापारयन्त एतद् अपश्यन् । एतत् किं तत्राह—अप एवैनदिति । अप्सु प्रक्षेपमेवापश्यन्नित्यर्थः । अस्य सर्वस्य जगतोऽद्भ्य उत्पन्नत्वात् तदुपजीवनीयत्वाच्च आपः प्रतिष्ठा । तत् तस्माद् यत्राप्सु अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तत्र एनद् भस्म प्रतिष्ठाप्य अत्र जलस्थे भस्मनि यद् आग्नेयमस्ति पुनस्तद् अद्भ्यः सकाशाद् उत्पादयिष्याम इत्येवमपश्यन् । 'आपो देवीः । प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत्स्योने कृणुध्वꣳ सुरभा उ लोक इति जग्धं वा एतद्यातयाम भवति तदेतदाह स्वभिष्ठ एनल्लोके कुरुध्वमिति तस्मै नमन्तां जनय इत्यापो वै जनयोऽद्भ्यो हीदꣳ सर्वं जायते सुपत्नीरित्यग्निना वा आपः सुपत्न्यो मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनदिति यथा माता पुत्रमुपस्थे बिभृयादेवमेनद्बिभृतेत्येतत्' (श० ६।८।२।३) । इदानीमप्सु भस्मप्रक्षेपमन्त्रं विधाय व्याचष्टे—आपो देवीरित्यादिना । उत्तरार्धे सुरभौ कृणुध्वमित्यभिधानस्य तात्पर्यमाह जग्धं वा एतदिति । उदके निमग्नम् एतद् भस्म जग्धं भवति । एतद् यातयाम गतरसं भवति । तस्मात् प्रकृतमन्त्रवाक्यमाह स्वभिष्टेऽतिशयेन सुरभौ लोके कृणुध्वम् । तथा सत्ययातयाम भवति । जनय इति व्याचष्टे—आपो वै जनय इति । तदेव समर्थयते—अद्भ्यो हीदमिति । सुपत्नीरित्येतद् व्याचष्टे—अग्निना वा आपः सुपत्न्य इति । प्रसन्नमन्यद् ब्राह्मणम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे आपः, व्यापनशीला देवीः देव्यः, यूयम् एतद् भस्म ज्ञानदीप्तिमत् प्रत्यक्चैतन्यं प्रतिगृभ्णीत प्रतिगृह्णन्तु वात्सल्यबुद्ध्या प्रतिगृह्य स्योने सुखकरे सुरभौ घ्राणतर्पणे दिव्यपुष्पपरिमलाद्युपेते लोके स्थाने कृणुध्वं स्थापयत । तस्मै सुपत्नीः सुष्ठु शोभनाश्च ताः पत्न्यश्च सुपत्न्यः, अत्र सर्वत्र विभक्तिव्यत्ययः, रूपलावण्ययौवनालङ्कारवैदग्ध्यसम्पन्नाः, नमन्तामुपतिष्ठन्तु । यूयं च मातेव पुत्रं पानभोजनवासोभिर्बिभृत पालयत । यद्वा ज्ञानविज्ञानशमदमादिभिरेनत् पोषयत ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसो मनुष्याः, आपः पवित्रजलानीव सकलशुभगुणव्यापिकाः कन्याः देवीः दिव्यरूपशीलाः स्योने सुसुखकारके सुरभौ ऐश्वर्यप्रकाशके लोके द्रष्टव्ये पतीन् सुखिनः कुर्वन्ति, ताः प्रतिगृभ्णीत स्वीकुर्वीत एताः सुखिनीः कृणुध्वम् । यदेतद् भस्मप्रदीपकं तेजोऽस्ति, तस्मै याः सुपत्नीः शोभनाश्च ताः पत्न्यः सुपत्न्यः, ताः । जनयो विद्यासुशिक्षया प्रादुर्भूता नमन्ति ताः प्रति भवन्तोऽपि नमन्ताम् । उभये मिलित्वा पुत्रं मातेव एनद् अपत्यं बिभृत धारयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधने आप इत्यस्य कन्यार्थत्वे च मानाभावात्, अध्याहारबाहुल्यात्, गौणार्थाश्रयणाच्च, 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति मीमांसासिद्धान्तविरोधाच्च ॥ ३५ ॥

अप्स्वग्ने सधिष्ट्व सौषधीरनु रुध्यसे । गर्भे सन् जायसे पुनः ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे भस्मीभूत अग्निदेव, जल में तुम्हारा स्थान है । वही भस्म जल से प्रकट होकर जौ आदि के रूप में हमें प्राप्त होता है । हे अग्निदेव, आप अरणि के मध्य में बार बार प्रकट होते हो ॥ ३६ ॥

'ततो द्वाभ्याम्' (का० श्रौ० १६।६।२७)। ततोऽनन्तरं पठिताभ्यां द्वाभ्यां 'अप्स्वग्ने' (१२।३६), 'गर्भो असि' (१२।३७) इत्येताभ्यामृग्भ्यां पत्रपुटेन द्वितीयवारमुख्याग्निभस्म अप्सु प्रास्यति। आग्नेयी गायत्री विरूपदृष्टा। अनन्तरोदितेन मन्त्रेण अप्सु स्थितं भस्म अतिथित्वेन संस्तुत्य अथेदानीं गायत्र्यनुष्टुब्भ्यां द्वाभ्यां मन्त्राभ्यामग्नेः सर्वगतत्वं प्रकाशयन् भस्माभ्यवहरणं निह्नुते। हे अग्ने, अप्सु तव सधिः सह धीयतेऽस्मिन्निति सधिः स्थानम्, तव योनिरित्यर्थः। स त्वमोषधीर्यवाद्या अनुरुध्यसे अनुरज्यसि जाठराग्निरूपेण तत्स्वीकाराय, यद्वा ओषधिपरिणाममनु विपरिणमसे, अरण्योर्गर्भे स्थितः पुनः पुनर्जायसे। सौषधीरिति 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' (पा० सू० ६ १।१३४) इति सुलोपे सन्धौ रूपम्। एवं सर्वत्र व्याप्त इति स्तुतिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अप्स्वग्ने सधिष्टवेति। अप्स्वग्ने योनिष्टवेत्येतत् सौषधीरनुरुध्यस इत्योषधीर्ह्येषोऽनुरुध्यते गर्भे सञ्जायसे पुनरिति गर्भे ह्येष सञ्जायते पुनः·····' (श० ६।८।२।४)। द्वितीयं मन्त्रं विधाय प्रशंसति—अप्स्वग्न इत्यादिना। हे अग्ने, तव अप्सु सधिः, सह धीयतेऽस्मिन्निति सधिः सहस्थानम्, तव योनिरित्यर्थः। इदानीं भवति, पश्चात्तु ओषधीस्त्वया परिपच्यमाना अनु त्वमपि ताभी रुध्यसे प्रतिबद्ध्यसे, तत्र निरुद्धो भवसीत्यर्थः। पूर्वपादे सधिशब्देन योनिर्विवक्षित इति व्याचष्टे—अप्स्वग्ने योनिष्टवेत्येतदिति। उपरितनपादद्वयस्य ब्राह्मणं स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर विष्णो, अप्सु तव सधिः स्थानम्, नारायणरूपेण तव तत्र निवासात्, 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥' (म० १।१०) इति स्मृतेः। स त्वमोषधीः व्रीहियवाद्या अनुरुध्यसे चन्द्ररूपेण पुष्णासि, 'पुष्णामि चोषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः' (भ० गी० १५।१३) इति गीतावचनात्। धातूनामनेकार्थत्वाद् रुधेः पोषणे वृत्तिः। गर्भे सर्वप्राणिनामन्तः सन्नपि विद्यमानोऽपि रामकृष्णादिरूपेण पुनः पुनर्जायसे।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने अग्निरिव जीव, यस्त्वं सधिः सहनशीलः, अप्सु ओषधीः सोमलताद्या अनुरुध्यसे प्राप्नोषि, स त्वं गर्भे स्थितः सन् पुनः पुनर्जायसे। इमावेव क्रमावुभौ स्त इति विजानीहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदस्य जीवार्थत्वे मानाभावात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च॥ ३६॥

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि॥ ३७॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप **औषधियों के गर्भ हो, सम्पूर्ण वनस्पतियों और प्राणियों के गर्भ हो। सम्पूर्ण जल आपके ही गर्भ में स्थित हैं॥ ३७॥**

तिस्रोऽनुष्टुभोऽग्निदेवत्याः। हे अग्ने, त्वमोषधीनां गर्भोऽसि, भेषजरूपैरोषधिविशेषैरुत्पद्यमानत्वात्। वनस्पतीनां तरूणां गर्भोऽसि, अरण्यादिभ्यो जायमानत्वात्। विश्वस्य सर्वस्य भूतस्य प्राणिजातस्य गर्भोऽसि, जठराग्निरूपेण विद्यमानत्वात्। अपां गर्भोऽसि, वाडववैद्युतादिरूपत्वात्। अत्र ब्राह्मणम्—'गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्। गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसीति तदेनमस्य सर्वस्य गर्भं करोति' (श० ६।८।२।४)। तृतीयमन्त्रं विधाय स्पष्टार्थत्वात् संगृह्य तात्पर्यं दर्शयति—गर्भो असीत्यादिना, तदेनमस्य सर्वस्य गर्भं करोतीत्यन्तेन। मन्त्रार्थस्तूक्त एव।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वमोषधीनां व्रीहियवादीनां गर्भोऽसि, चन्द्रादिरूपेण त्वयैव पोष्यमाणत्वात्। त्वं वनस्पतीनां वटाश्वत्थप्लक्षादीनां न केवलम् 'अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः' (म० १।४७) इति परिभाषितानाम्, किन्तु सर्वेषां तरुगुल्मवीरुदादीनां गर्भोऽसि, तत्राग्निरूपेण विद्यमानत्वात्। विश्वस्य सर्वस्य भूतस्य प्राणिजातस्य गर्भोऽसि, जाठराग्निरूपत्वात्। यद्वा अन्तर्यामिरूपेण त्वमोषध्यादीनां समेषां गर्भोऽसि, सर्वान्तरत्वात्, 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० उ० ३।४।१) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—हे अग्ने तत्तुल्य जीव, यतस्त्वमोषधीनां गर्भोऽसि, योऽनर्थान् गिरति विनाशयति स गर्भो गृणातेः। यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति। ओषधीनां सोमयवादीनां गर्भो वनस्पतीनामश्वत्थादीनां गर्भो विश्वस्य सर्वस्य भूतस्य उत्पन्नस्यापां प्राणानां वा गर्भश्चासि, तस्मात् त्वमजोऽसि' इति, तदपि तुच्छम्, जीवस्यैकस्य परिच्छिन्नत्वेन सर्वगतत्वायोगात्, त्वमजोऽसीत्यस्य उत्सूत्रत्वात्॥ ३७॥

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने।

सᳪंसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः॥ ३८॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप भस्म के माध्यम से पृथ्वी और जल में व्याप्त होकर, माता रूप जल के माहात्म्य से तेजस्वी होकर फिर उस उखापात्र में विराजमान होइये॥ ३८॥

'अनामिकया प्रास्तादादत्ते प्रसद्येति' (का० श्रौ० १६।६।२९)। प्रास्तादप्सु क्षिप्ताद् भस्मनः सकाशाद् अनामिकया भस्म गृह्णीयात् प्रसद्येति चतसृभिराग्नेयीभिर्ऋग्भिरिति सूत्रार्थः। द्वे अनुष्टुभौ द्वे गायत्र्यौ। मन्त्रार्थस्तु—हे भस्मरूप अग्ने, त्वं भस्मना भस्मरूपेण सह योनिं कारणभूतां पृथिवीमपश्च योनिभूताः प्रसद्य प्रपद्य, प्राप्येत्यर्थः। प्रसन्नो भूत्वा वा मातृभिरद्भिः पृथिव्या च संसृज्य एकीभूय भृशं ज्योतिष्मान् तेजस्वी सम्पन्नः सन् पुनः स्वस्थानमुखाम् आसदः आसीद आगच्छ वा।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथापादत्ते। तद्यदत्राग्नेयं तदेतदद्भ्योऽधि जनयत्यनयाऽनया वै भेषजं क्रियतेऽनयैवैनमेतत्सम्भरति प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्न इति प्रसन्नो ह्येष भस्मना योनिमपश्च पृथिवीं च भवति सᳪंसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासद''''इत्येतत्पुनरासद्य सदनं पुनरूर्जा सह रय्येत्येतेन मा सर्वेणाभिनिवर्तस्वेत्येतत्' (श० ६।८।२।६)। अद्भ्यः पुनरीषद्भस्मादातव्यमिति विधाय प्रशंसति—अथापादत्ते तद्यदत्रेति। अथ प्रक्षेपानन्तरम् अत्र प्रक्षिप्ते भस्मनि अद्भ्योऽधीति पञ्चम्यर्थानुवादी। आग्नेयमंशम् अद्भ्य उत्पादितवान् भवति। अनयेत्यपादानसाधना अनामिका निर्दिश्यते। अनयैवेति कोऽयं नियम इत्याह—अनया वै भेषजं क्रियत इति। मन्त्रमाह—प्रसद्येति। पूर्वार्धे प्रसद्येति पदस्य प्रसन्नार्थतया योनिमय इति सामानाधिकरण्यं विवक्षितमिति व्याचष्टे—प्रसन्नो ह्येष भस्मनेत्यादिना। सᳪंसृज्येत्यस्य संगतिरर्थ इति व्याचष्टे—संगत्य मातृभिरिति। उत्तरमन्त्रत्रयस्य व्याख्येयार्थत्वाभावात् प्रतीकमादाय संगृह्य तात्पर्यमाह—पुनरासद्येति प्रथमः, पुनरूर्जेति द्वितीयः, सह रय्येति तृतीयः। इमे वा० सं० (१२।३९-४१) मन्त्राः।

'चतुर्भिरपादत्ते। तद्ये चतुष्पादाः पशवस्तैरेवैनमेतत्सम्भरत्यथोऽन्नं वै पशवोऽन्नेनैवैनमेतत्सम्भरति त्रिभिरभ्यवहरति तत्सप्त सप्तचितिकोऽग्निः सप्तर्तवः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद् भवति' (श० ६।८।२।७)। उत्तरमन्त्रद्वयस्य पृथग्विनियोगशङ्कानिराकरणायाह—चतुर्भिरपादत्त इति। भस्मापादानमन्त्रगतां संख्यामभ्यवहरणमन्त्रगतया संख्यया समुच्चित्य प्रशंसति—त्रिभिरभ्यवहरति तत्सप्तेत्यादिना। षट्

चितय इष्टकामय्यः प्रसिद्धाः। सप्तमी तु—'विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपदधाति हिरण्यशकलैः प्रोक्षति, अग्निमभ्यादधाति सा सप्तमी चितिः' (श० ८।१।४।९) इति श्रुतत्वात् सप्त चितयः। सप्तचितिकोऽग्निः। 'अपादाय भस्मनः प्रत्येत्य। उखायामोप्योपतिष्ठत एतद्वा एतदयथायथं करोति यदग्निमपोऽभ्यवहरति तस्मा एवैतन्निह्नुतेऽहिᳬसायै...........' (श० ६।८।२।८)। भस्मनः सकाशाद् अपादाय पुनरुखायामोप्य उपतिष्ठते। 'प्रास्योखायामुपतिष्ठते बोधा म इति' (का० श्रौ० १६।६।३०)। उपस्थानमग्नेः कोपशान्तये। तस्य कः प्रसङ्ग इति तं दर्शयति—एतद्वा एतदयथायथं करोतीति। तदेव स्पष्टयति—यदग्निमपोऽभ्यवहरतीति। निह्नवः कृतस्यापराधस्याच्छादनम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम, भस्मना ज्ञानेन त्वं पृथिवीं पृथिवीसुतां सीतां योनिं सुखस्थानभूताम् अपः प्राणरूपान् भ्रातृंश्च सुखहेतून् प्रसद्य प्रपद्य मातृभिः कौशल्यादिभिः संसृज्य मिलित्वा ज्योतिष्मान् सूर्यवद् भ्राजमानः पुनरयोध्यामासदः, आसीद आगच्छ वा।

दयानन्दस्तु 'हे अग्ने, तद्वत्प्रकाशमान पुरुष सूर्य इव ज्योतिष्मान् त्वं भस्मना दग्धेन पृथिवीं चापश्च योनिं प्रसद्य प्रगत्य भ्रातृभिः सह संसर्गीभूत्वा पुनरासदः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भस्मनेत्यस्य दग्धेनेति व्याख्यानासङ्गतेः। न च पुरुषो जीवः सूर्यवज्ज्योतिष्मान् भवति, तस्य नीरूपत्वात्, दयानन्दरीत्या अणुत्वाच्च, मातृभिरिति बहुवचनासङ्गतेश्च ॥ ३८ ॥

पुन॑रा॒सद्य॒ सद॑नम॒पश्च॑ पृथि॒वीम॑ग्ने ।
शेषे॑ मा॒तुर्यथो॒पस्थे॒ऽन्तर॑स्या॒ᳬ शि॒वत॑मः ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, अतिकल्याण रूप आप जल और पृथ्वी के स्थान को प्राप्त होकर फिर इस उखा के मध्य में उसी प्रकार शयन कीजिये, जैसे कि माता की गोद में बालक सोता है ॥ ३९ ॥

हे अग्ने, पुनरपि अपश्च पृथिवीं च जलभूमिरूपं सदनं स्थानमासद्य प्राप्य पुनरप्यस्यामुखायामन्तर्मध्ये त्वं शेषे स्वपिषि। मातुरुपस्थ उत्सङ्गे यथा शिशुः शेते तद्वत्। कीदृशस्त्वम्? शिवतमः कल्याणतमः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम, पुनः पृथिवीं भूमिसुतां प्राणरूपान् भ्रातृंश्च सदनं सुखस्थानभूतान् पुनरासद्य सम्प्राप्य शिवतमः कल्याणतमः सन् शेषे, भक्तहृदयेष्विति शेषः। यथा मातुरुपस्थे शिशुः सुखं शेते तद्वत्।

दयानन्दस्तु—हे अग्ने, यतस्त्वमपः पृथिवीं च सदनं गर्भस्थानं पुनरासद्यास्यां मातरि अन्तः अभ्यन्तरे शिवतमः सन् यथा बालो मातुरुपस्थे शेते तथा त्वमपि शेषे' इति, तदपि तुच्छम्, अग्निपदस्य तथार्थत्वे मानाभावात्, सदन इत्यस्य गर्भोऽर्थ इत्यत्र मानाभावाच्च ॥ ३९ ॥

पुन॑रू॒र्जा निव॑र्तस्व॒ पुन॑रग्न इ॒षायु॑षा । पुन॑र्नः पा॒ह्यᳬह॑सः ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप हमारे यहाँ क्षीर और रसों के साथ पधारिये, अन्न और आनन्दमय जीवन के साथ आप फिर आइये और आ कर हमारी सभी पापों से रक्षा कीजिये ॥ ४० ॥

हे अग्ने, त्वम् ऊर्जा क्षीरादिरसेन सह पुनर्निवर्तस्वागच्छ इषान्नेनायुषा सह पुनरागच्छ । नोऽस्मान् कृतादंहसः पाहि पालय । इयमृग् अस्मिन्नेवाध्याये नवमकण्डिकास्थले व्याख्याता ॥ ४० ॥

सह रय्या निवर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया । विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप धूम के साथ स्वर्ग में जाइये और सब प्रकार के उपभोग योग्य वृष्टि रूप जल की वर्षा से सम्पूर्ण जगत् को, तृण-धान्य, लता-वृक्षों को आप्यायित कीजिये ॥ ४१ ॥

हे अग्ने, रय्या धनेन सह निवर्तस्व विश्वप्स्न्या विश्वैः सर्वैः प्सायते भक्ष्यते पीयत इति विश्वप्स्नी, तया तादृश्या धारया विश्वतस्परि सर्वेषामुपरि पिन्वस्व सिञ्च । इयमस्मिन्नेवाध्याये दशमकण्डिकायां व्याख्याता ॥ ४१ ॥

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः ।
पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे अग्ने ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—हे धनवान् श्रेष्ठ युवारूप अग्निदेव, मेरी बार बार की गई इस प्रार्थना को सुनकर उसके अभिप्राय को जानिये । कोई आपको निन्दा न करे । स्तुति करना मनुष्य का स्वभाव है, स्तुति करने के स्वभाव वाला मैं आपके इस दिव्य शरीर को प्रणाम करता हूँ ॥ ४२ ॥

'प्रास्योखायामुपतिष्ठते बोधा म इति' (का० श्रौ० १६।६।३०) । तडागादागत्य अनामिकया गृहीतं भस्म तूष्णीमुखायां प्रास्य बोधा म इति द्वयृचेनोख्याग्निमुपतिष्ठत इति सूत्रार्थः । दीर्घतमोदृष्टा आग्नेयी त्रिष्टुप् । हे स्वधावः, स्वधा प्रशस्तमन्नमस्यास्तीति स्वधावान्, तत्सम्बुद्धौ हे स्वधावः, हे प्रशस्तान्नवन् । 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति रुत्वम् । 'स्वधेत्यन्ननामसु पठितम्' (निघ० २।७।१७) । हे यविष्ठ युवतम अग्ने, मे मम वचसो बोध बुध्यस्व, अभिप्रायमिति शेषः । यद्वा कर्मणि षष्ठी, मद्वचनं जानीहीत्यर्थः । कीदृशस्य वचसः ? मंहिष्ठस्य अतिशयेन बहु मंहिष्ठं तस्य भूयिष्ठस्य अतिशयेन अभिवृद्धिहेतोर्वा । पुनः कीदृशस्य ? प्रभृतस्य प्रहृतस्य प्रकर्षेण श्रोत्रपथं प्रापितस्य, अथवा प्रकृष्टेन आदरेण सम्पादितस्य । त्व एकः कश्चन पामरः । त्वशब्द एकशब्दपर्यायः सर्वादिः । पीयति आक्रोशति । पीयतिराक्रोशतिकर्मा । 'पीयतिहिंसाकर्मा' इति यास्कः (नि० ४।२५) । अत्राक्रोशो निन्दैव हिंसा । त्व एकः स्तोता त्वामनुगृणाति स्तौति । कश्चिद् वेदज्ञः स्तौति कश्चिन्मन्दो निन्दतीति लोकस्वभावः ।

अथवा त्व एकः स्तोता पीयति वृद्धमधिकं वक्ति । 'ओप्यायी वृद्धौ' इति भौवादिकस्य छान्दसं सम्प्रसारणं परस्मैपदं च । उचितोक्तिमुल्लङ्घ्य निन्दारूपेण प्रशंसारूपेण वा यत्किञ्चिदुक्तितः, त्व एकः स्तोता अनुगृणाति अनुकूलमुचितमेव वक्ति, अतोऽस्मदभिप्रायं बुध्यस्वेत्यग्निः प्रार्थ्यते । वन्दारुः वन्दनशीलः अभिवादनपरोऽहं तु ते तव तन्वं शरीरं वन्दे स्तौमि नमामि च । 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' इति भौवादिकस्य 'शृवन्द्योरारुः' (पा० सू० ३।२।१७३) इत्यारुप्रत्यये वन्दारुरूपसिद्धिः । यद्वा हे स्वधावः ! बह्वन्न युवतम, अस्य वचस एतदुपस्थानमन्त्ररूपं वचो बोध बुध्यस्व । वच एव विशेष्यते—मंहिष्ठस्येति । मंहिष्ठस्य अत्यन्तमहनीयस्य प्रभृतस्य प्रकर्षेण सम्भृतस्य । सर्वत्र कर्मणि षष्ठी । लोके त्व एकः पीयति हिनस्ति तथा त्व एकोऽनुगृणाति

स्तौति । तत्राहं वन्दारुः वन्दनशीलः, अतो हे अग्ने, ते तन्वं शरीरं वन्दे स्तौमि 'बोधा मे' इति दीर्घश्छान्दसः, 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति सूत्रेणेति यावत् ।

तत्र ब्राह्मणम्—'बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठेति । बोध मेऽस्य वचसो यविष्ठेत्येतन्मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधाव इति भूमिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधाव इत्येतत् पीयति त्वो अनु त्वो गृणातीति पीयत्येको न्वेको गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे अग्न इति वन्दिता तेऽहं तन्वं वन्देऽग्न इत्येतत् स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्....' (श० ६।८।२।९) इति । प्रसन्नेयं कण्डिका ।

अध्यात्मपक्षे— हे अग्ने देवानामग्रणीः, हे स्वधावः बहुप्रशस्तान्न, हे यविष्ठ अतिशयेन युवेति यविष्ठः, तत्सम्बुद्धौ । मे मम अस्य स्तुतिलक्षणस्य लौकिकवैदिकमन्त्रस्य मंहिष्ठस्य महनीयतमस्य प्रभृतस्य प्रकर्षेण हृतस्य श्रोत्रैर्धृतस्य तात्पर्यं तादृग् वच एव वा बोध अवधारय । त्व एकः कश्चन पामरो नास्तिकः पीयति आक्रोशति । त्व एको भक्त आस्तिकः, अनुगृणाति स्तौति, वन्दारुरहं तु केवलं ते तन्वं सच्चिदानन्दमयं दिव्यशरीरं वन्दे ।

दयानन्दस्तु—'हे यविष्ठ प्रशस्त बह्वन्न श्रोतृजन, त्वं मम प्रभृतस्य धारकस्य पोषकस्य मंहिष्ठस्य अतिशयेन भाषितुं योग्यस्य वचसोऽभिप्रायं बोध बुद्ध्यस्व । त्वः कश्चिन्निन्दकः पुरुषः पीयति निन्देत् त्वः कश्चिन्निन्दकः, अनु पश्चाद् गृणाति स्तुयात् तस्य ते तव तन्वं शरीरमभिवादनशीलोऽहं वन्दे स्तुवे' इति, तत्तुच्छम्, श्रोतृजनेति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वादसङ्गतेश्च, उपदेशकः श्रोतृजनस्य शरीरं वन्देतेत्यस्य कथं सङ्गतिरित्यनुक्तेः । निन्दास्तुत्योश्च सङ्गतिर्वक्तव्या ॥ ४२ ॥

स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन् ।
युयोध्यस्मद् द्वेषाꣳसि विश्वकर्मणे स्वाहा ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—हे धनपति, धन के दाता अग्निदेव ! आप सबके अभिप्राय को जानने वाले हो, धन से सम्पन्न हो। आप हमारे ऊपर सन्तुष्ट होकर हमारे दुर्भाग्य को दूर करें। आप जगत् की सृष्टि, स्थिति आदि करने वाले हैं। आपके निमित्त अग्नि में दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४३ ॥

सोमाहुतिदृष्टाग्नेयी यजुरन्ता गायत्री । विश्वकर्मणे स्वाहेति यजुः । हे वसुपते धनपते धनरक्षक, हे वसुदावन्, वसूनि ददातीति वसुदावा, तत्सम्बुद्धौ हे वसुदावन् धनदातः । 'आतो मनिन्क्वनिप्वनिपश्च' (पा० सू० ३।२।७४) इति क्वनिप् । यस्त्वं सूरिः पण्डितः, मघवा मघं धनमस्यास्तीति मघवा धनवांश्च स बोधि अस्मत्तात्पर्यं बुद्ध्यस्व । बोधतेः शपि लुप्ते लोटि मध्यमैकवचने 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (पा० सू० ६।४।१०१) इति ध्यादेशे छान्दसे गुणेऽन्त्यलोपे च बोधीति रूपम् । तात्पर्यं बुद्ध्वा सुप्रीतः सन् अस्मत्तो द्वेषांसि दौर्भाग्यानि शत्रुभिः कृतान् द्वेषान् वा द्वेष्यान् पाप्मनो वा युयोधि पृथक् कुरु । यौतेः शपः श्लौ लोटि मध्यमैकवचने 'वा छन्दसि' (पा० सू० ३।४।८८) इति हेरपित्वे 'अङ्गितश्च' (पा० सू० ६।४।१०३) इति ध्यादेशे युयोधीति रूपम् । 'प्रायश्चित्तिꣳ समिधोपहत्याज्यं विश्वकर्मण इति जुहोति' (का० श्रौ० १६।७।१) । स्वस्थानापन्नया समिधा आज्यं गृहीत्वोखयेऽग्नौ जुहुयात् । एतस्य कर्मणः प्रायश्चित्तिरिति संज्ञा । उपपूर्वो हन्तिर्ग्रहणार्थः । विश्वकर्मणे जगत्सृष्टिस्थित्यादिकर्मकर्त्रे स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्। युयोध्यस्मद् द्वेषाᳬसीति यथैवास्माद् द्वेषाᳬसि युयादेवमेतदाह द्वाभ्यामुपतिष्ठते गायत्र्या च त्रिष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।८।२।९)। संग्रहेण तात्पर्यमाह —यथैवास्माद द्वेषांसि युयाद् एवमेतदाहेति। मन्त्रयोर्यद् गायत्रत्वं त्रिष्टुप्त्वं च तदुभयार्थवादं पूर्वोक्तमतिदिशति—तस्योक्तो बन्धुरिति। उखासन्तपनप्रस्तावे 'प्राणो गायत्र्यात्मा त्रिष्टुप्' इत्युपक्रम्य 'अथो अग्निर्वै गायत्रीन्द्रस्त्रिष्टुबैन्द्राग्नोऽग्निर्यावानग्निः' (श० ६।६।२।७) इत्यादिनोक्त इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर श्रीराम, हे वसुदावन् आध्यात्मिकाधिभौतिकधनप्रद वसुपते सर्वधनाधिपते, स त्वं सूरिर्विद्वान् मघवान् धनवांश्च अस्मद् अस्मत्तः सकाशाद् द्वेषांसि पाप्मनो युयोधि अपगमय। तस्मै विश्वकर्मणे विश्वोत्पत्तिस्थितिलयादिकर्मकर्त्रे स्वाहा सर्वं सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—हे वसुपते वसुदावन्, यो मघवा सूरिर्भवान् स त्वं सत्यं बोधि बुद्ध्येत। स विश्वकर्मणेऽखिलशुभकर्मानुष्ठानाय स्वाहा सत्यां वाणीमुपदिशन् संस्त्वम् अस्मद् द्वेषांसि द्वेषमूलानि कर्माणि युयोधि वियोजय' इति, तदपि न सङ्गतम्, विश्वकर्मणेऽखिलशुभकर्मानुष्ठानायेत्यसङ्गतेः, विश्वकर्मेत्यस्य विश्वकर्मानुष्ठानार्थतानुपपत्तेः। सत्यपदाध्याहारोऽपि निर्मूल एव। स्वाहेत्यस्य सत्यवाणीमुपदिशन्नित्यपि निर्मूलोऽर्थः ॥ ४३ ॥

पुन॑स्त्वादि॒त्या रु॒द्रा वस॑वः॒ समि॑न्धतां॒ पुन॑र्ब्र॒ह्माणो॑ वसुनीथ य॒ज्ञैः।

घृ॒तेन॒ त्वं त॒न्वं॑ वर्धयस्व स॒त्याः स॑न्तु॒ यज॑मानस्य॒ कामाः॑ ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, हम धन के निमित्त आपकी स्तुति करते हैं। हे देव आदित्यगण, रुद्रगण और वसुगण आपको पुनः प्रदीप्त करें। हे धननेता, ऋत्विक् और यजमान यज्ञ करके आपको प्रदीप्त करें। आप घृत के द्वारा अपने शरीर को बढ़ावें। आपके वृद्धि को प्राप्त होने से यजमान का मनोरथ सफल हो ॥ ४४ ॥

'उत्थायादधाति समिधं पुनस्त्वेति' (का० श्रौ० १६।७।२)। आज्यहोमानन्तरमुत्थाय तामेव समिधमुख्येऽग्नावादध्यादिति सूत्रार्थः। आग्नेयी त्रिष्टुप्। आद्यपादश्चतुर्दशार्णः, द्वितीयचतुर्थौ एकादशार्णौ, तृतीयो दशार्णस्तेन द्व्यधिका। हे अग्ने, त्वा उपशान्तं त्वाम् आदित्या रुद्रा वसवश्च पुनः समिन्धतां दीपयन्तु। हे वसुनीथ, वसूनां धनानां नीथो नेता वसुनीथस्तत्सम्बुद्धौ। यद्वा वसुप्राप्त्यर्थं नीथा स्तुतिर्यस्यासौ वसुनीथस्तत्सम्बुद्धौ। ब्रह्माणो ब्राह्मणा ऋत्विग्यजमानाः, यज्ञैर्निमित्तभूतैस्त्वां पुनः समिन्धताम्। त्वं घृतेन तुष्टः सन् तन्वं तनूं शरीरं वर्धयस्व। ततस्त्वयि तुष्टे सति यजमानस्य कामाः कामना अभिलषणीयवस्तुविषयाः, सत्याः सफलाः सन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर श्रीराम, निर्गुणस्य निराकारस्य शरीरित्वायोगाद् आदित्यादयो देवास्त्वां पुनः समिन्धन्तु स्तुत्वा दीपयन्तु उत्साहयन्तु, रावणादिवधायेति शेषः। हे वसुनीथ! वसूनां नेतः प्रापयितः, ब्रह्माण ऋत्विजो यज्ञैः साधनैस्त्वां पुनः समिन्धताम् आप्याययन्तु। त्वं च स्वशरीरं ध्यानधिष्ण्यं घृतेन तदुपलक्षितेनास्मद्दत्तेन हविषा वर्धयस्व स्वकीयं दिव्यं स्वरूपं भक्तानां हृदयेष्वाविर्भावय। तथा सति यजमानस्य भवदाराधनतत्परस्य कामा ज्ञानवैराग्यमोक्षसम्बन्धिनोऽभिलाषाः सत्या अवितथाः सफलाः सन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे वसुनीथ, त्वं वसु वेदादिशास्त्रबोधाख्यं सुवर्णादिधनं च यो नयति तत्सम्बुद्धौ। त्वम् अध्यापकः श्रोता वा यज्ञैरध्ययनाध्यापनादिक्रियामयैर्घृतेन सुसंस्कृताज्यादिना जलेन वा तन्वं शरीरं वर्धयस्व।

आदित्याः पूर्णविद्याबलयुक्ता रुद्रा वसवः प्रथमे विद्वांसो ब्राह्मणश्च चतुर्वेदाध्ययनेन ब्रह्मेति संज्ञां प्राप्ताः प्रकाशयन्तु। एवमनुष्ठानाद् यजमानस्य यष्टुं संगन्तुं विदुषः पूजयितुं वा शीलं यस्य तस्य कामाः सत्याः सन्तु साधवः सत्याः सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्ययनाध्यापनयोः शरीरसंवर्धनसाधनत्वासम्भवात्, तादृक्सम्बोधनस्य निर्मलत्वात्, आदित्यादिशब्दानां तथोक्तार्थत्वायोगाच्च ॥ ४४ ॥

अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः।
अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मै ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—हे यमराज के भृत्यगण, तुम लोगों के यहां जो पुराने और नये स्थान हैं, उनको छोड़कर दूर चले जाओ, बहुत दूर चले जाओ। यम ने पृथ्वी का यह स्थान यजमान के लिये दिया है, पितरों ने इस लोक को हमारे यजमान के निमित्त कल्पित किया है ॥ ४५ ॥

अथ गार्हपत्यचयनमुच्यते। 'पलाशशाखया गार्हपत्यं व्युदूहत्यपेत वीतेति पुच्छः प्रतिदिशं पुरस्तात् प्रथमम्' (का० श्रौ० १७।१।३)। पलाशशाखया गार्हपत्यस्थानव्यूहनम् (सम्मार्जनम्) कुर्याद् अपेत वीतेति ऋचः पुच्छः पदैः प्रतिदिशमादौ प्राच्यामपेत वीतेति, दक्षिणस्यां येऽत्रस्थेति, प्रतीच्यामदादिति, उत्तरस्यामक्रन्नित्यादि-मन्त्रैरिति सूत्रार्थः। अत्र भविष्यद्वृत्त्या गार्हपत्यशब्देन शालाद्वार्यं उच्यते। तदर्था चितिः कर्तव्या। चितेः स्थानमपि गार्हपत्यशब्देनोच्यते। अहेरत्र प्रेरणार्थे वृत्तिः। तत्र स्थाने पतितस्य तृणादेः स्थानाद्बहिः क्षेपणमेव व्यूहनम्। लिङ्गोक्तबहुदेवत्या त्रिष्टुप्। अर्धर्चेन तत्स्थानसर्पिण उच्यन्ते। पादेन यमः। पादेन पितरः। यमस्य सर्वभूम्यधिपतित्वात् तद्भृत्याः सर्वत्रैव चरन्तीति तान् प्रत्युच्यते—हे यमभृत्याः, अत्र देवयजन-स्थाने ये पुराणाः पुरातना यूयं स्थ भवथ ये च नूतना इदानीन्तनास्ते सर्वे यूयमतः स्थानाद् अपेत अपगच्छत। वीत अत्यन्तं विदूरं गच्छत। विसर्पत अतः, अतः स्थानाद् अपेत्य सङ्घातं परित्यज्य विविधं गच्छत। कस्मादिति चेत्? यमः पृथिव्या इदमवसानम्, अवस्यति स्थापयत्यस्मिन्नित्यवसानं स्थानम्, अस्मै यजमानाय अदात्। पितरश्चास्मै यजमानाय इमं लोकमक्रन् यजनस्थानं कृतवन्तः। अतोऽपगच्छतेति। करोतेर्लङि शपि लुप्ते अक्रन्निति रूपम्। यद्वा हे यज्ञविरोधिनो जनाः, यूयमपेत अपगच्छत। अपगमनसमयेऽपि वीत विविधं गच्छत, न समूहरूपेणेत्यर्थः। अपगमनविगमनयोः समुच्चयोऽत्राभिप्रेतः। ये तु प्राणिन उदरेणैव सर्पन्ति गच्छन्ति, तान् सरीसृपान् प्रत्युच्यते—हे उदरेणैव सर्पणशीलाः पन्नगाः, अतोऽग्निचयनस्थानाद् विसर्पत विविधं गच्छत। ये पुराणा अतीतकाले भवाः, सनातना इत्यर्थः। ये च नूतना अधुनातना वर्तमानकाले भवाः, ते सर्वे यूयमपेतेति। पितरः पितृदेवाः, अस्मै यजमानाय अग्निचयनार्थमिमं लोकमक्रन् अकुर्वत।

अत्र ब्राह्मणम्—'गार्हपत्यं चेष्यन् पलाशशाखया व्युदूहति। अवस्यति हैतद्यद् गार्हपत्यं चिनोति य उ वै के चाग्निचितोऽस्यामेव तेऽवसितास्तद्यद् व्युदूहत्यवसितानेव तद् व्युदूहति नेदवसितानध्यवस्यानीति' (श० ७।१।१।१)। 'अग्निं चिनुते' (तै० सं० ५।५।२।३) इत्यारभ्य विहितस्य अग्निचयनस्य 'अथातोऽग्नि-मग्निष्टोमेनानुयजति' (मी० सू० २।३।१०) इत्यादिवाक्येन सोमयागशेषत्वावगमात् साग्निकस्य सम्बन्धिनां गार्हपत्यादिधिष्ण्यानां सर्वेषामेव चयनं कार्यम्, संस्कार्यत्वात्। तत्र धिष्ण्येषु गार्हपत्याख्यस्य धिष्ण्यस्य प्राथम्यात् तत्र प्रथमं चयनं विधित्सुस्ततः प्राच्यान् भूसंस्कारान् विधास्यन् तत्स्थानस्य समन्त्रकं व्युदूहनं विधत्ते—गार्हपत्यं चेष्यन्निति। गृहपतिना संयुक्तोऽग्निर्गार्हपत्यः, 'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः' (पा० सू० ४।४।९०) इति

पाणिनिस्मृतेः। इह तु तस्याग्नेराधारभूतो गृहप्रदेशो विवक्षितः, आधाराधेययोरभेदोपचारात् संस्कर्तकत्व-प्रतिपत्तये। अर्थाद् यस्मादेतत् स्थानं गार्हपत्यस्याग्नेरधिकरणम्, अतश्चयनेन संस्कर्तव्यम्। संस्कारश्चात्र प्राधान्यवाचिन्या द्वितीयया 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादाविव बोध्यते। इत्यन्नित्यत्र हेतौ शता। 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (पा० सू० ३।२।१२६)। यतोऽत्र चयनं कर्तव्यमतो हेतोरेतत् स्थानं पलाशवृक्षशाखया 'अपेत' (वा० सं० १२।४५) इति मन्त्रेण व्युदूहति, तत्र पतितं लोष्टतृणादिकमपसारयतीत्यर्थं इति सायणाचार्यः। व्युदूहनस्य प्रयोजनमाह—अवस्यति हैतदिति। गार्हपत्यस्य यत्स्थानं चयनेन संस्कर्तव्यम्, एतद् एतेन व्युदूहनेन अवस्यति ह निश्चिनोत्येव। यद्वा गार्हपत्यस्य यच्चयनं तदेव देवयजनाध्यवसानम्। तथा च ये केचिद् अग्निचितोऽग्निं चिन्वन्तो यजमानाः, तेऽस्यामेव पृथिव्यामेव अवसिता अवसानं प्राप्तास्तत्रैव प्रवर्तन्ते। तत् तथा सति पलाशशाखया चयनस्थानं व्युदूहतीति यत् तत् तेन अवसितानेव तत्र स्थितान् प्राक्तनान् यजमानान् व्युदूहति विविधं निरस्यति। व्युदूहनं कुर्वतो यजमानस्याभिप्रायमाह—नेदिति। अग्निचयनमनुष्ठाय तत्रैवावसितान् यजमानानत्रैव नेदध्यवस्यानि, तेषामुपर्यध्यवसानमवस्थानं नैव करवाणीत्यनेनाभिप्रायेण व्युदूहनमित्यर्थः।

'अपेत वीत वि च सर्पतात इति। अप चैवैत वि चेत व्यु च सर्पतात इत्येतद्य उदरसर्पिणस्तानेतदाह येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतना इति येऽत्र स्थ सनातना ये चाधुनातना इत्येतत्' (श० ७।१।१।२)। तत्र व्युदूहने मन्त्रं विधत्ते—अपेतेति। अपेत वीतेति वाक्यद्वयस्यार्थमाह—अप चैवेत वि चेतेति। हे यज्ञविरोधिनो जनाः, अस्मात् स्थानाद् अपेत अपगच्छत। अपगमनसमयेऽपि वीत विविधं गच्छत। अपगमनविगमनयोः समुच्चयबोधनाय चकारद्वयप्रयोगः। वि च सर्पतात इत्येतदनूद्य व्याचष्टे—व्यु चेति। द्वितीयपादमनूद्य व्याचष्टे—येऽत्र स्थेति। पुराणाः पुरा अतीतकाले भवाः। 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यः' (पा० सू० ४।३।२३) इति पुराशब्दात् टयुप्रत्ययः। 'पुराणप्रोक्तेषु' (पा० सू० ४।३।१०५) इति निर्देशात् तुडभावः। तथा च सनातना इत्यर्थः। 'अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्या इति। यमो ह वा अस्या अवसानस्येष्टे स एवास्मा अस्यामवसानं ददाति' (श० ७।१।१।३)। तृतीयपादमनूद्य व्याचष्टे—अदाद्यम इति। अवसानम् अवस्यत्यस्मिन्नित्यवसानं स्थानं पृथिव्याः सम्बन्धि यत् तद् यमोऽस्मभ्यम् अदाद् दत्तवान्। यमो ह वेत्यादि। अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिनः स्थानस्य यमः खलु ईष्टे। अतः स एवास्मै यजमानाय अस्याः पृथिव्या अवसानं स्थानं ददाति।

'अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मा इति। क्षत्रं वै यमो विशः पितरो यस्मा उ वै क्षत्रियो विशा संविदानोऽस्यामवसानं ददाति तत्सुदत्तं तथो हास्मै क्षत्रं यमो विशा पितृभिः संविदानोऽस्यामवसानं ददाति' (श० ७।१।१।४)। चतुर्थपादमनूद्य व्याचष्टे—अक्रन्निति। पितरः पितृदेवताः, अस्मै यजमानाय अग्निचयनार्थमिमं लोकं स्थानम्, अक्रन् अकृषत। क्षत्रं वेत्यादि। क्षत्रियजातिर्हि यमः, पितरस्तु तस्य विशः प्रजाः। यमः पितृणाꣳ राजा' (तै० सं० ४।१।८।४) इति हि श्रुतिः। यस्मा उ वेति। लोके क्षत्रियो राजा विशा स्वकीयया प्रजया संविदानः सञ्जानान ऐकमत्यं प्राप्तः सन् अस्यां पृथिव्यां यस्मै पुरुषाय स्थानं ददाति तस्य तत् सुदत्तं भवति। यथायं दृष्टान्तस्तथैव खल्वस्मै यजमानाय क्षत्रं क्षत्रियो यमोऽपि पितृरूपया स्वकीयया प्रजया विशा संविदानः सन् अस्यां पृथिव्यामवसानं स्थानं ददाति, तत् सुदत्तमेव भवति। 'पलाशशाखया व्युदूहति। ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैव तदवसितान् व्युदूहति मन्त्रेण ब्रह्म वै मन्त्रो ब्रह्मणैव तदवसितान् व्युदूहति तामुदीचीमुदस्यति' (श० ७।१।१।५)। व्युदूहने पलाशशाखायाः करणत्वं यद्विहितं तदनूद्य स्तौति—पलाशशाखयेति। ब्रह्म ब्राह्मणजातिः पलाशः। यद्वा गायत्र्या सोमाहरणात् तत्पर्णस्य

पलाशरूपेणोत्पत्तेः पलाशो गायत्र्यात्मकः। तेन गायत्रीमन्त्रात्मकेन ब्रह्मणा पलाशेन तत् तत्र अवसितान् अवसाय स्थितान् जनान् अस्मात् स्थानाद् व्युदूहति उच्चाटयति। मन्त्रकरणकत्वमनूद्य स्तौति —मन्त्रेणेति। ब्रह्म वेति। यद् ब्रह्म विवक्ति हि मन्त्रः। तथा च मन्त्रेण क्रियमाणं व्युदूहनं ब्रह्मणैव कृतं भवतीत्यर्थः। तस्याः पलाशशाखाया निरसनं विधत्ते—तामुदीचीमिति। उदीचीमुदगग्राम् उदीचीं दिशं वा प्रति तां पलाशशाखामुदस्यति उत्क्षिपति, परित्यजतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे - ये जपध्यानादिविघ्नकर्तारस्तानपसार्यैव ध्यायिनो ध्याने निषीदन्ति। यथा च हे विघ्नकर्तारो भौमान्तरिक्षदिव्याः, यूयम् अपेत अपगच्छत। वीत विविधं गच्छत। ये च सरीसृपाः पन्नगादयस्तेऽपि सर्पतातः, अतोऽस्मात् स्थानात् सर्पत अपसृप्ता भवन्तु। ये पुराणाः पुरातनाः, ये च नूतना अधुनातनाः, सर्वेऽप्यपगच्छत। यमः, यच्छति सर्वं नियमयतीति यमः, अन्तर्यामी परमेश्वरः, अस्मभ्यं पृथिव्या अवसानम्, अवस्यन्ति निश्चिन्वन्त्यस्मिन् स्थान इत्यवसानं ध्यानस्थानम्, तद् अदात्। पितरश्च पूर्वजाश्च इमं लोकं स्थानमस्मै ध्यायिने कृतवन्तः।

दयानन्दस्तु —'हे विद्वांसः, येऽत्र पृथिव्या मध्ये पुराणा ये च नूतनाः पितरो जनका अध्यापका उपदेशकाः परीक्षका वा स्थ ते अस्मै सत्यसङ्कल्पाय इमं लोकं आर्षं दर्शनम् अक्रन् कुर्वन्तु यान् युष्मान् यम उपरतः परीक्षकोऽवसानमवकाशमवसरं वा अदाद् दद्यात्, ते यूयमतोऽधर्मादपेत धर्मं वीत विविधतया प्राप्नुत। अत्रैव विसर्पतात गच्छत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पितर इत्यस्याध्यापकाद्यर्थकत्वे मानाभावात्, अस्मै सत्यसङ्कल्पायेत्यस्य निर्मूलत्वात्। यम इत्यस्य संस्कृते उपरतः परीक्षक इत्यर्थः कृतः, भाषाभाष्ये तु प्राप्तपरीक्षक इति। नहि यमशब्दस्य उपरतार्थता प्राप्तार्थता वा प्रमाणसिद्धा। न चोपरतः प्राप्तो वा अवकाशमधिकारं वा ददाति। अवसानपदस्य अवकाशार्थतापि स्वकपोलकल्पितैव। लोकपदस्य वैदिकज्ञानसिद्धलोकार्थतापि प्रमाणसापेक्षैव ॥ ४५ ॥

संज्ञानमसि कामधरणं मयि ते कामधरणं भूयात्।
अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि चितः स्थ परिचित ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम् ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखास्वरूप देवता, तुम पशुओं के सम्यक् ज्ञान के साधन हो तथा यज्ञ द्वारा सभी मनोरथों को पूरा करने वाले हो। इस कारण हमारी प्रार्थना है कि तुम्हारी मनोरथ सम्पादन की सामर्थ्य हमारे यजमान में आ जाय। हे सिकता, तुम अग्नि की भस्म हो, अग्नि का पूरण करने वाली हो। हे सिकता के कणों, तुम भूमि पर डालने पर सब ओर फैल जाओ। ऊर्ध्व स्थान में स्थापित तुम इस गार्हपत्य स्थान का सेवन करो ॥ ४६ ॥

'उदीचीᳪ शाखामुदस्योखां निवपति संज्ञानमिति' (का० श्रौ० १७।१।४)। यया पलाशशाखया व्युदूहनं कृतम्, तां शाखामुदगग्रां क्षिप्त्वा गार्हपत्यचितिस्थाने ऊषरप्रदेशस्थान् पांसून् निवपेत् संज्ञानमिति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। ऊषाः क्षारमृत्तिकाः। ऊषदेवत्यं यजुः। हे ऊषस्वरूप देव, त्वं संज्ञानमसि पशूनां सम्यग् ज्ञानसाधनमसि। पशवो हि ऊषरप्रदेशमाघ्राणेन ज्ञात्वा लिहन्ति। त्वं कामधरणमसि, कामा मनोरथा ध्रियन्तेऽनेनेति कामधरणम्, यज्ञद्वारा कामानां धारकमसि, 'यदमुष्या यज्ञियमासीत् तदस्यामदधात्। त

ऊषा अभवन्' (तै० ब्रा० १।१।३।२) इति श्रुत्यन्तरात् । ते तव यत्कामधरणसामर्थ्यमस्ति, तन्मयि भूयात् । यद्वा ते तव कामधरणं पशवः, मयि भूयाद् भूयासुः । यतस्त्वं कामधरणं पशुरूपं कामा ध्रियन्तेऽनेन गोरूपत्वेन स्तुतेनोषरूपेणेति व्युत्पत्त्या मन्त्रगतकामधरणशब्देन पशुविषयकस्य कामस्य धरणं प्रतिपाद्यते । यतस्त्वं कामधरणमसि, अतस्ते तव सम्बन्धि पशुरूपं कामधरणं कामप्रापणं मयि भूयात्, ते तव सम्बन्धिनः पशवो मयि भूयासुरित्यर्थः, तथैव श्रुत्या व्याख्यास्यमानत्वात् ।

अत्रोव्वटाचार्यः—उल्बसंस्तवः पशुसंस्तवश्च । संज्ञानमसीत्यादीनि त्रीणि यजूंषि । समित्येकीभावमाचष्टे । यत एकं ज्ञानमसि, उल्बसंस्तवात् । 'तस्मादप्येतर्हि समानोल्बाः समेव जानते' (श० ७।१।१।७) इति हि तत्र श्रुतिः । कामधरणं च कामान् धारयति सम्पादयति कामधरणम्, 'पशवो वा ऊषाः पशवः कामधरणम्' (श० ७।१।१।८) इति श्रुतेः । अतो मयि ते कामधरणं भूयात् । उल्बाभिप्रायमेकवचनम् । 'मयि ते पशवो भूयासुः' (श० ७।१।१।८) इति हि श्रुतिः ।

'सिकताश्चाग्नेर्भस्मेत्यूषवत्' (का० श्रौ० १७।१।६) । तत्र सिकताश्च प्रक्षिप्य ऊषवन्मण्डलमाच्छादयेत् अग्नेर्भस्मासीति यजुषा सिकताभिरिति सूत्रार्थः । अग्नेर्भस्मासीति सिकतादेवत्यं यजुः । हे सिकतासमूह, अग्नेर्भस्मासि अग्नेर्भासकमसि । 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' भसितं भस्म । भस्मसादृश्यात् सिकता भस्मेत्युक्ताः । 'न वा अग्निः स्वं भस्मातिदहति' (श० ७।१।१।९) इति हि श्रुतिः । भस्माभिप्रायमेकवचनम् । अग्नेश्च पुरीषम्, पूरयतीति पुरीषं पूरणमसि । पिपर्तेरौणादिके 'शॄपॄभ्यां किच्च' (४।२७) इति ईषन्प्रत्यये, तस्य कित्त्वाद् गुणाभावे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा० सू० ७।१।१०२) इत्युदादेशे रपरत्वे च रूपसिद्धिः, 'अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य रेतो यत्सिकताः' (श०७।१।१।१०) इति श्रुतेः । त्वमग्नेरवस्थानाय पुरुषं पांसुरूपं पासीति हेतोः पुरीषमसि । 'परिश्रिद्भिः परिश्रयति पूर्ववदेकविꣳशत्या चितः स्थेति' (का० श्रौ० १७।१।७) । एकविंशतिसंख्याकाभिः परिश्रिद्भिः पाषाणमयीभिरिष्टकाभिस्त्र्यङ्गुलविस्तृताभिः पूर्ववद् ऊर्ध्वाभिर्गार्हपत्यस्थानं प्रदक्षिणं वेष्टयेत् । तत्र सकृन्मन्त्रप्रयोगः श्रुतेः । ताश्च मण्डलस्य समन्ततः परिखां निम्नां कृत्वा चितेरवष्टम्भनार्थं चितिसंलग्ना निखातव्याः । परिश्रिद्दैवत्यं यजुः । हे परिश्रितः शर्कराः, यूयं चितः, चीयन्ते भूमौ निक्षिप्यन्त इति चितः स्थ भूमौ प्रक्षिप्ता भवथ । परिचितः परितः सर्वतः स्थापिता भवथ । ऊर्ध्वचित ऊर्ध्वं चीयन्त इत्यूर्ध्वचितः सिकतानामूर्ध्वं प्रक्षिप्ता भवथ । ऊर्ध्वं स्थापिताः सत्यो यूयं श्रयध्वम् इदं गार्हपत्यायतनं सेवध्वम् ।

अत्र ब्राह्मणम् —'अथोषान्निवपति । अयं वै लोको गार्हपत्यः पशव ऊषा अस्मिंस्तल्लोके पशून् दधाति तस्मादिमेऽस्मिंल्लोके पशवः' (श० ७।१।१।६) । 'यद्वेवोषान्निवपति । प्रजापतिः प्रजा असृजत ता नानोल्बा असृजत ता न समजानत सोऽकामयत संजानीरन्निति ताः समानोल्बा अकरोत्तासामूषानुल्बमकरोत्ताः समजानत तस्मादप्येतर्हि समानोल्बाः समेव जानते देवैः समानोल्बोऽसानीत्यु वै यजते यो यजते तद्यदूषान्निवपति देवैरेव तत्समानोल्बो भवति' (श० ७।१।१।७) । सम्मार्जनानन्तरमूषाणां निवपनं विधत्ते—अथोषानिति । क्षारमृत्तिका ऊषाः । पृथिव्याः पशुसमृद्धिहेतुत्वेनैतत्प्रशंसति—अयं वै लोक इति । ऊषरदेशस्य पशुभिरुपजीव्यत्वाद् ऊषाणां पशुत्वव्यपदेशः । गार्हपत्यायतने ऊषाणां निवपनेन अस्मिंल्लोके पशून् स्थापितवान् भवतीत्यर्थः । यस्मादूषाणां निवपनेन पशवोऽस्मिंल्लोके स्थापिताः, तस्मादेव कारणाद् इदानीमपीमे गवाद्याः पशवोऽस्मिंल्लोके समृद्धा उपलभ्यन्ते । ऊषनिवपनं प्रकारान्तरेण स्तोतुमनुवदति—यद्वेवेति । ऊषाणामुल्बरूपत्वमाख्यायिकया प्रतिपादयन् संज्ञानहेतुतामाह—प्रजापतिः प्रजा इति । ता नानोल्बा इति नानाविधं परस्परं विभिन्नमुल्बं गर्भवेष्टनं यासां तास्तथोक्ताः । ततो भिन्नजातीयत्वात् ताः प्रजाः परस्परं

न समजानत समानज्ञाना नाभवन्। स च प्रजापतिरकामयत इमाः प्रजाः परस्परं सञ्जानीरन्निति। एवं कामयित्वा भिन्नोल्बजनितत्वं दोषमालोच्य ताः प्रजाः समानोल्बाः समानमेकमेवोल्बं यासां तास्तथाविधा अकरोत्। किं तत्समानमुल्बमिति ? तदाह—तासामूषानिति। उत्पद्यमानानां प्रजानामुल्बत्वेनोषान् कृतवानित्यर्थः। तथा चैकोल्बजनितत्वेन समानजातीयास्ताः प्रजाः समजानत ऐकमत्यं प्राप्ता आसन्। यस्मादेवं पुरावृत्तं तस्मादिदानीमपि समानोल्बानामेकमातृकाणां प्रजानां सम्मतिर्दृश्यत इत्यर्थः। देवैरित्यादि। देवैः सह समानजन्मा भवानीत्यनेनाभिप्रायेण हि यो यजमानो यजते तत् तथा सत्युल्बसंस्तुतानामूषाणां निवपनेन देवैः समानोल्बः समानजन्मा भवतीत्यर्थः।

'संज्ञानमसीति। समजानत ह्येतेन कामधरणमिति पशवो वा ऊषाः पशवः कामधरणं मयि ते कामधरणं भूयादिति मयि ते पशवो भूयासुरित्येतत्तैः सर्वं गार्हपत्यं प्रच्छादयति योनिर्वै गार्हपत्या चितिरुल्बमूषाः सर्वां तद्योनिमुल्बेन प्रच्छादयति' (श० ७।१।१।८)। तस्मिन्निवपने मन्त्रं विधाय तदीयपदानि व्याचष्टे—संज्ञानमिति। अत्र 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३।३।११७) इति करणे ल्युट्। समजानतेति। हि यस्माद्विप्रतिपन्नाः प्रजा एतेन ऊषरूपेणोल्बेन समजानत समानज्ञाना अभवन्, तस्माद् हे ऊष, त्वं संज्ञानमसीति मन्त्रेण प्रतिपाद्य इत्यर्थः। मयि त इत्यादेरयमर्थः—हे ऊष, यतस्त्वं कामधरणमसि, अतस्ते तव सम्बन्धि पशुरूपं कामधरणं कामप्रापणं मयि भूयादिति। मन्त्रवाक्यार्थस्य पर्यवसानमाह—मयि ते पशव इति। ते तव सम्बन्धिनः पशवो मयि भूयासुरित्येतदत्र प्रतिपाद्यमित्यर्थः। न्युप्तैरूषैः प्रच्छादनं विधत्ते—तैरिति। तत्प्रच्छादनं प्रशंसति—योनिर्वा इति। गार्हपत्याग्निसम्बन्धिनी या चितिः, सा योनिः सर्वोत्पत्तिकारणम्। गार्हपत्याग्नेराहवनीयाग्न्युत्पत्तिहेतुत्वात् तदीयचयनस्याप्युत्पत्तिहेतुत्वाद् योनित्वेन स्तुतिः। उल्बमूषा इति 'तासामूषानुल्बमकरोत्' (श० ७।१।१।७) इत्याम्नातम्। तत् तेन ऊषैः प्रच्छादनेन सर्वां कृत्स्नां योनिमेव आहवनीयाद्युत्पत्तये उल्बेन प्रच्छादितवान् भवतीति।

'अथ सिकता निवपति। अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य भस्म यत्सिकता अग्निमु वा एतं वैश्वानरं चेष्यन् भवति न वा अग्निः स्वं भस्मातिदहत्यनतिदाहाय' (श० ७।१।१।९)। सिकतानां निवपनं विधत्ते—अथेति। ऊषवत् सिकता बालुका निक्षिपति। पृथिव्या दाहराहित्यहेतुत्वेनैतत् स्तौति—अग्नेरेतदिति। वैश्वानरस्य विश्वनरहितस्य अग्नेरेतद् भस्म यत् सिकताः। वैश्वानरं विश्वेषु नरेष्ववस्थितं हिरण्यगर्भात्मकमग्निं खल्वसौ यजमानश्चेष्यन् भवति। यथा च चीयमानो वैश्वानरोऽग्निः पृथिवीं न दहेत् तथा च सिकतानां निवपनं पृथिव्या अनतिदाहाय अतिक्रम्य अतिशयितो वा दाहोऽतिदाहः, तद्राहित्याय भवति। न खल्वग्निः स्वकीयं भस्मातीत्य दहति, किन्तु तेनैव छन्नः सन् दाहसमर्थो भवतीत्यर्थः। 'यद्वेव सिकता निवपति। अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य रेतो यत्सिकता अग्निमु वा एतं वैश्वानरं चेष्यन् भवति न वा अरेतस्कात्किञ्चन विक्रियतेऽस्माद्रेतसोऽधि विक्रियाता इति' (श० ७।१।१।१०)। पूर्वकण्डिकोक्तमनूद्य प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेवेति। सिकता इति यत्, एतद् अग्नेर्वैश्वानरस्य रेतः, वर्णसादृश्यात्। न वा अरेतस्कादिति न खल्वरेतस्काद् निर्वीर्यात् पुरुषात् किमपीषदपि विक्रियते उत्पद्यते। अतश्चेष्यमाणोऽग्नी रेतसोऽधि उपरि चितः सन् विक्रियातै नानाविधफलसाधनयागहेतुत्वेन विकृतो भवेदित्यनेनाभिप्रायेण सिकतान्निवपनं कर्तव्यमित्यर्थः।

'अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसीति। यातयाम वा अग्नेर्भस्मायातयाम्न्यः सिकता अयातयाममेवैनदेतत्करोति ताभिः सर्वं गार्हपत्यं प्रच्छादयति योनिर्वै गार्हपत्या चिती रेतः सिकताः सर्वस्यां तद्योनौ रेतो दधाति' (श० ७।१।१।११)। सिकतानिवपने मन्त्रं विदधाति—अग्नेर्भस्मेति। यातयाम वा इति। अग्नेर्भस्म यातयाम

गतसारम्, रेतोरूपास्तु सिकता अयातयाम्न्योऽगतसाराः। तथा चैतेन सिकतानिवपनेन अयातयाम अगतसारं सारवदेव एतच्चयनं करोतीत्यर्थः। सिकताभिः प्रच्छादनं विधत्ते—ताभिरिति। यतो रेतःसंस्तुताः सिकताः, तस्मात् तासां गार्हपत्यायतने सर्वत्र प्रक्षेपेण सर्वस्यामेव योनौ प्रजोत्पत्तिहेतुभूतं रेत एव दधाति सिक्तवान् भवति। 'अथैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति। योनिर्वै परिश्रित इदमेवैतद्रेतः सिक्तं योन्या परिगृह्णाति तस्माद्योन्या रेतः सिक्तं परिगृह्यते' (श० ७।१।१।१२)। शर्कराभिः परिश्रयणं विधत्ते—अथैनमिति। एनं गार्हपत्यप्रदेशं परिश्रिद्भिः परिश्रयन्त्येभिरिति परिश्रितः शर्करापरपर्यायाः सूक्ष्मपाषाणा इति सायणाचार्याः। तैः परिश्रयति परितो वेष्टयति। परिश्रयणं प्रशंसति—योनिर्वा इति। योनिस्थानीयाः परिश्रित इत्यर्थः। इदमेव सिकतारूपं सिक्तं रेतः, एतद् एतया परिश्रिद्रूपया योन्या परिगृह्णाति। परितस्तथा धारयति, यथा न विपद्यते। यस्मादेवं वैदिके कर्मणि, तस्मादेव कारणाद् लोके योषित्सु गर्भाशये सिक्तं रेतो योन्या परिगृह्यते परितो धार्यते। एतदुक्तं भवति—गार्हपत्यचितिसकाशाद् एषोत्पाद्यते आहवनीयचितिः। तदुत्पत्तावत्र न्युप्ता ऊषा उल्बम्, सिकता रेतः, परिश्रितो योनिः। अतः परिश्रयणान्तैः संस्कारैराहवनीयचितिर्गर्भावस्थां प्रतिपद्यत इति।

'यद्वेवैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति। अयं वै लोको गार्हपत्य आपः परिश्रित इमं तं लोकमद्भिः परितनोति समुद्रेण हैनं तत्परितनोति सर्वतस्तस्मादिमं लोकꣳ सर्वतः समुद्रः पर्येति दक्षिणावृत्तस्मादिमं लोकं दक्षिणावृत्समुद्रः पर्येति खातेन तस्मादिमं लोकं खातेन समुद्रः पर्येति' (श० ७।१।१।१३)। एतदेव परिश्रयणमनूद्य प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेवैनमिति। अयं वै लोक इति। अयं भूलोकात्मकः खलु गार्हपत्योऽग्निः, तद्वाचिन्या भूरिति व्याहृत्या आहितत्वात्। आपः परिश्रित इति। परिश्रयणार्थाः शर्करा आप उदकात्मिकाः। शर्करायुक्ते हि भूप्रदेशे खननादाप उपलभ्यन्ते। तथा च गार्हपत्यस्य परिश्रिद्भिः परिश्रयणे सतीममेव भूलोकमद्भिः परितनोति परितो वेष्टयति। केनोपायेनाद्भिः परिवेष्टनमिति तदाह—समुद्रेणेति। तस्मादिममिति। यस्मात् परिश्रिद्भिर्गार्हपत्यस्य परिश्रयणं भूलोकस्य समुद्रेणावरणकरणम्, तस्मादिमं लोकं सर्वतः सर्वासु दिक्षु समुद्रः पर्येति परितो व्याप्नोति। परिश्रयणस्य प्रादक्षिण्यं विधाय स्तौति—दक्षिणावृदिति। दक्षिणा प्रदक्षिणम् आवृद् आवर्तनं यथा भवति, तथा परिश्रयेदित्यर्थः। तस्मात् कारणभूते परिश्रयणे दक्षिणावृन्निदर्शनात् समुद्रोऽपीमं लोकं दक्षिणावृत् प्रदक्षिणावर्तनेन पर्येति परितो गच्छति। खाते देशे परिश्रयणं विधाय स्तौति—खातेनेति। गार्हपत्यायतनस्य परितः खातेन प्रदेशेन परिश्रिद्भिः परिश्रयेत्। तदुक्तमेव कात्यायनेन—'मण्डलं छादयति' (का० श्रौ० १७।१।५), 'परिश्रिद्भिः परिश्रयति पूर्ववदेकविꣳशत्या चितः स्थेति' (का० श्रौ० १७।१।७)। अर्थान्मण्डलस्य समन्ततः परिखां निम्नां कृत्वा चितेरवष्टम्भनार्थं चितिलग्नाः परिश्रितो निखातव्या इति।

'चितः स्थेति। चिनोति ह्येना परिचितः स्थेति परि ह्येनाश्चिनोत्यूर्ध्वचितः श्रयध्वमित्यूर्ध्वा उपदधदाह तस्मादूर्ध्व एव समुद्रो विजतेऽथ यत्तिरश्चीरुपदध्यात् सकृद्धैवेदꣳ सर्वꣳ समुद्रो निर्मृज्यान्न सादयत्यसन्ना ह्यापो न सूददोहसाऽधि वदति' (श० ७।१।१।१४) तस्मिन् परिश्रयणे मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—चितः स्थेति। हि यस्मादेनाः शर्कराश्चिनोति स्थापयति, तस्माद् हे शर्करा यूयं चितः स्थ चीयमाना भवथेति समवेतार्थो मन्त्रभागः। परि ह्येना इति। यस्मादेनाः परिश्रितश्चिनोति, तस्मात् परिचितः स्थ परितश्चीयमाना भवथेति। ऊर्ध्वा उपदधदिति। परित ऊर्ध्वमुखा अवस्थापयन् ऊर्ध्वचितः श्रयध्वमिति मन्त्रभागं ब्रूयादित्यर्थः। समुद्रो विजत इति। अब्रूपाणां परिश्रितामूर्ध्वमुखत्वात् तत्समुदायरूपः समुद्रोऽप्यूर्ध्व एव विजते। 'ओविजी भयचलनयोः' इति तौदादिकस्य रूपम्। कल्लोलैरूर्ध्वं चलति समुद्र इत्यर्थः। न तु तिर्यक् कृत्स्नां भूमिमावृणोतीत्यर्थः। अत्र विजतिर्व्याप्तिकर्मा। तिर्यगुपधाने दोषमाह—अथ यत्तिरश्चीरिति। यद् यदि

तिरश्चीस्तिर्यगञ्चना उपदध्यात्, तदा समुद्रस्यापि तिर्यगञ्चनेन युगपदेव इदं सर्वं जगत् समुद्रो निर्मृज्याद् निःशेषेण प्रक्षालयेत्, समुद्रः सर्वमात्मसात् कुर्यादित्यर्थः। तत्र सादनं सूददोहसाधिवदनं च इष्टकाधर्मतया प्रसक्तमत्र निषेधति—न सादयतीति। उपधानकाले मन्त्रेणोपधाय ततस्तया देवतयेत्युपहितस्य सादनम्, 'ता अस्य सूददोहसः' इति मन्त्रः सूददोहाः। तेनाधिवदनमुपरिष्टाद् वदनम्, सर्वेष्टकासाधारणो धर्मः। उपहितानामिष्टकानां स्थिरीकरणं सादनम्, उपहितानामिष्टकानामुपरि हस्तं निधाय ता अस्येति पठनं सूददोहसाधिवदनम्, तदुभयं परिश्रिदुपधाने न कर्तव्यम्। तत्र हेतुः—असन्ना ह्याप इति। क्वचित् क्वचित् सीदन्ति प्रवहणशीलत्वादित्यर्थः।

'अस्थीनि वै परिश्रितः। प्राणः सूददोहा न वा अस्थिषु प्राणोऽस्त्येवेन यजुषा बह्वीरिष्टका उपदधात्येकꣳ ह्येतद्रूपं यदापोऽथ यद् बह्व्यः परिश्रितो भवन्ति बह्व्यो ह्यापः' (श० ७।१।१।१५)। सूददोहसो निषेधमुपपादयति—अस्थीनि वा इति। अस्थ्यात्मिका हि परिश्रितः शर्कराः, तत्साद्रश्यात्। 'ता अस्य सूददोहसः' इति सूददोहःशब्दयुक्तो मन्त्रः सूददोहाः, स च प्राणात्मकः खलु। सुष्ठु शोभनम् उदम् उदकं दोग्धीति सूददोहाः। येन सिक्तः सन् रसो न शुष्यति, यस्मिन्नङ्गे प्राणः सञ्जातो नास्ति तत् काष्ठवत् शुष्कमेव भवति, अतः प्राण एव सूददोहाः। तथा च अस्थिसंस्थितासु परिश्रित्सु नामौ कर्तव्यः। न खल्वस्थिषु प्राणः, अस्ति सञ्चरति, नाडीष्वेव हि तत्सञ्चार इत्यर्थः। चितः स्थ इत्येकेनैव यजुषा बह्वीनां परिश्रितां स्थापनमुपपादयति—एकेनेति। उपदधातीति चोदितत्वात् परिश्रितामिष्टकात्वम्। अत एवापस्तम्बः—'स्रुचौ सप्त स्वयमातृण्णाः शर्करा हिरण्येष्टकाः पञ्च घृतेष्टका दूर्वास्तम्बः कूर्म उलूखलं मुसलं शूर्पमश्मानः पशुशिरांसि सर्पशिरश्चामृन्मयीरिष्टकाः' (आप० श्रौ० १६।१३।१०)। एकꣳ ह्येतदिति। आप इति यत् तदेकमेव हि रूपम्। एकरूपा एव हि लक्ष्यन्ते, अत एकेन यजुषा परिश्रिद्रूपाणामपामुपधानं युक्तमिति। बह्व्यो हीति। हि यस्मात्, आपो बह्व्यो बहुविधाः, तस्मात् तदात्मिकाः परिश्रितोऽपि बह्व्यो भवन्ति। बहुशब्दात् 'वोतो गुणवचनात्' (पा० सू० ४।१।४४) इत्यनुवर्तनात् 'बह्वादिभ्यश्च' (पा० सू० ४।१।४५) इति ङीपि रूपम्।

'तद्वै योनिः परिश्रितः। उल्बमूषा रेतः सिकता बाह्याः परिश्रितो भवन्त्यन्तरा ऊषा बाह्या हि योनिरन्तरमुल्बं बाह्या ऊषा भवन्त्यन्तराः सिकता बाह्यꣳ ह्युल्बमन्तरꣳ रेत एतेभ्यो वै जायमानो जायते तेभ्य एवैनमेतज्जनयति' (श० ७।१।१।१६)। परिश्रिद्रूपसिकतानां बाह्याभ्यन्तरभावं विधाय स्तौति—तद्वै योनिरित्यादिना। तत् तत्र ऊषसिकतापरिश्रित्सु मध्ये परिश्रितः शर्करा योनिर्गर्भनिर्गमनमार्गः। उल्बसंस्तुता ऊषाः, रेतःसंस्तुताः सिकताः, अतो योनिसंस्तुतानां परिश्रितामुल्बात्मकेभ्य ऊषेभ्यो बाह्यत्वम्, ऊषाणां च तत आन्तरत्वमुपपन्नम्। एवमेव उल्बसंस्तुतत्वाद् ऊषाणां बाह्यदेशवर्तित्वम्, रेतःसंस्तुतत्वात् सिकतानामाभ्यन्तरत्वं युक्तमित्यर्थः। बाह्यं हीति। लोकप्रसिद्ध्या उपपादनमेतत्। एतेभ्यो वेति। योन्युल्बरेतोभ्यः खलु जायमानो जन्तुर्जायते। तथा च एनमग्निं तेभ्य एव योन्यादिभ्य इदानीं जनयति।

'अथैनमतश्चिनोति। इदमेवैतद्रेतः सिक्तं विकरोति तस्माद्योनौ रेतः सिक्तं विक्रियते' (श० ७।१।१।१७)। इत्थं संस्कृतस्य गार्हपत्यायतनस्येष्टकाभिश्चयनं विधत्ते—अथैनमिति। अथ अनन्तरं सिकतात्मना सिक्तस्य रेतसो यस्मात्कार्यरूपेण परिणामोऽपेक्षितः, अतः कारणाद् एनं व्युदूहनादिभिः संस्कृतं गार्हपत्यदेशमिष्टकाभिश्चिनोति। इदमेव सिकतारूपेण सिक्तं रेत एतद् एतेन चयनेन विकरोति विकृतमवयवयुक्तं करोति। तस्मादिति लौकिकमुदाहरणम्। 'स चतस्रः प्राचीरुपदधाति। द्वे पश्चात् तिरश्च्यौ द्वे पुरस्तात्तद्याश्चतस्रः प्राचीरुपदधाति स आत्मा तद्यत्ताश्चतस्रो भवन्ति चतुर्विधो ह्ययमात्माऽथ ये पश्चात्ते सक्थ्यौ ये पुरस्तात्तौ

बाहू यत्र वा आत्मा तदेव शिरः' (श० ७।१।१।१८)। विहितस्य चयनस्य निष्पत्तये इष्टकानामुपधानप्रकारं विधत्ते—स चतस्र इति। गार्हपत्यस्यायतनस्य मध्ये प्रथमं चतस्रः प्राचीः प्रागायता इष्टका उपदध्यात्। ततः पश्चात् पश्चाद्भागे तिरश्च्यौ तिर्यगायते द्वे इष्टके उपदध्यात्। तथा चतसृणां पुरस्तादपि द्वे तिरश्च्या उपदध्यात्। एतासु त्रिविधास्विष्टकास्ववयवक्लृप्तिं करोति—तद्याश्चतस्र इत्यादिना। स आत्मेति, मध्यदेह इत्यर्थः। चतुर्विधो ह्ययमिति त्वगसृङ्मांसास्थिभेदेन, मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तैर्वा, जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्टयेन वा आत्मनश्चातुर्विध्यम्। सक्थ्याविति। सक्थिः श्रोणिः, तया च पादौ लक्ष्यते। पश्चादुपहिते इष्टके पादावित्यर्थः। पादपाणियुक्तस्यास्य शरीरस्य किं तर्हि शिर इत्यत आह—यत्र वेति। यत्र खल्वात्मा मध्यदेहो वर्तते, तत्रैव शिरोऽप्यात्मन्येवान्तर्भूतमित्यतो न पृथग् वक्तव्यमित्यर्थः।

'तं वा एतम्। अत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति यादृग् वै योनौ रेतो बिक्रियते तादृग्जायते तद्यदेतमत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति तस्मादेषोऽमुत्र पक्षपुच्छवान् जायते' (श० ७।१।१।१९)। अत्र अस्मिन् गार्हपत्यस्थाने तमेव एतमग्निं पक्षाभ्यां पुच्छेन च युक्तमेव विकरोति, मध्ये च चतस्रः, उभयपार्श्वयोर्द्वे द्वे इत्येवमुपधीयमानत्वात्। यादृग्वा इति। योनौ गर्भाशयेऽवस्थितं रेतो गर्भो यादृगाकारं विक्रियते विशिष्टावयवं क्रियते, जननसमयेऽपि तादृगाकारविशिष्टमेवापत्यं जायते। इत्थं लौकिकीं स्थितिमुक्त्वा प्रकृते योजयति—तद्यदिति। तत् तत्र एतमग्निम्, अत्र गार्हपत्यायतनयोनौ यद् यस्मात् पक्षपुच्छवन्तं विकरोति सूक्ष्मरूपेण निर्मिमीते, तस्माद् एषोऽग्निरमुत्र आहवनीयस्थाने पक्षपुच्छवान् जायते, जायमान उपलभ्यत इत्यर्थः। 'तं वै पक्षपुच्छवन्तमेव सन्तम्। न पक्षपुच्छवन्तमिव पश्यन्ति तस्माद्योनौ गर्भं न यथारूपं पश्यन्त्यथैनममुत्र पक्षपुच्छवन्तं पश्यन्ति तस्माज्जातं गर्भं यथारूपं पश्यन्ति' (श० ७।१।१।२०)। न पक्षपुच्छमिव पश्यन्तीति सतामपि पक्षपुच्छानामदर्शनं योन्यामनभिव्यक्तेर्वा भवति। एतल्लौकिकोदाहरणेनोपपादयति—तस्मादिति। यथारूपमिति। विद्यमानं शिरःपादादिकं कृत्स्नं रूपमित्यर्थः। अथैनममुत्रेति। एनमनभिव्यक्तरूपमग्निम् अमुत्र आहवनीयस्थानेऽभिव्यक्तं पक्षपुच्छवन्तं यस्मात् पश्यन्ति, तस्मादेव कारणाद् जननात् प्रागनभिव्यक्ताबयवं गर्भं जातं जननादूर्ध्वं यथारूपं यथावसितरूपमभिव्यक्तावयवं पश्यन्तीत्यर्थ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वं संज्ञानं सम्यग् ज्ञायतेऽनेनेति संज्ञानं सम्यग् ज्ञानहेतुरसि। त्वं चाग्नेः पुरीषं पूरकमसि। अग्नेर्भस्म प्रकाशमसि। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' (मुण्ड० २।२।१०) इति श्रुतेस्तस्य सर्वकारणत्वेनाग्नेरपि द्योतकत्वात्, 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (भ० गी० १३।१७) इति भगवद्वचनात्। ते तव यत् कामधरणम् अभीष्टधारणसामर्थ्यमस्ति, तन्मयि भूयात्। हे ब्रह्मविदः, हे साधकाः, यूयं चितोऽभीष्टसञ्चेतारः। तथा परिचितः परितः सर्वतश्चेतारः। तथा ऊर्ध्वचित ऊर्ध्वं स्वर्गलोकम्, अथवा परब्रह्मकारणत्वाद् व्यापकत्वाद् भासकत्वाद् तच्चेतारस्तत्प्राप्तिपरायणा यूयं सर्वपुरुषार्थहेतुत्वेन परमार्थमेवाश्रयध्वम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं यत् संज्ञानं प्राप्तोऽसि यत्त्वमग्नेः पावकस्य भस्मासि दग्धशेषोऽसि भस्मवद् दोषाणां भस्मकर्तासि। अग्नेर्विद्युतः पुरीषं पूर्णं बलमाप्तोऽसि तन्मां प्रापय। यस्य ते तव कामधरणं सङ्कल्पानामाधरणमस्ति तत्कामधरणं मयि भूयात्। यथा यूयं विद्युदादिशुभगुणैश्चितः संचिताः स्थ भवत, परिचितः परितः सर्वतश्चेतार ऊर्ध्वचित ऊर्ध्वं चिन्वन्तः स्थ पुरुषार्थं चाश्रयध्वम्, तथा वयमपि भवेम' इति, तदपि यत्किञ्चिदसङ्गतेः, मूले यदिति पदाभावात्। आप्तोऽसीत्यपि पदं मन्त्रबाह्यमेव। नापि भस्मासीत्यस्य दोषाणां भस्मकर्तासीत्यर्थः सम्भवति। तन्मां प्रापयेत्यपि मन्त्रबाह्यमेव। पूर्वमेकवचनम्, उत्तरत्र यूयं चितः परिचित इत्यादिकं बहुवचनं किमर्थम्? कथं च तत्सङ्गतिः? पुरुषार्थं चाश्रयध्वमित्यपि सङ्गतिशून्यमेव। तथा वयमपि भवेमेत्यादिकं सर्वमपि निर्मूलाध्याहारमूलकमेव॥ ४६॥

अयꣳसो अग्निर्यस्मिन् सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः ।
सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिꣳ ससवान् सन् स्तूयते जातवेदः ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—यह वह अग्नि है, जिसकी सहायता से अग्निचयन की इच्छा करनेवाले इन्द्र ने अभिषव किये सहस्रों के योग्य अन्न के समान भक्षण करने में मद न करनेवाले, हर्षकारक, तृप्तिकारक सोम को उदर में धारण किया। हे अग्निदेव, आप भी हवियों का भक्षण करते हुए ऋत्विक् और यजमान द्वारा की गई स्तुति को सावधानी से सुनें ॥ ४७ ॥

'मध्येऽर्धबृहतीश्चतस्रो दक्षिणोत्तराः प्राचीरुपदधाति दक्षिणत उदङ्ङयꣳसो अग्निरिति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १७।१।८) । अध्वर्युर्मण्डलस्य दक्षिणभागे उदङ्मुख उपविश्य मण्डलमध्येऽर्धबृहतीसंज्ञा षडङ्गुलोच्चा द्वादशाङ्गुलविस्ताराश्चतुर्विंशत्यङ्गुलिदीर्घाश्चतस्र इष्टका दक्षिणोत्तराः 'अध्यात्मं चयनम्' (का० श्रौ० १६।७।१२) इत्युक्तत्वाद् दक्षिणसंस्थाः प्राग्लक्षणाः, 'प्राञ्चो दक्षिणोत्तरे' (का० श्रौ० १६।७।२६) इत्युक्तत्वात् प्रत्यृचमेकैकामुपदध्यादिति सूत्रार्थः । अर्थाद् गार्हपत्यस्य मध्यमप्रदेशे दक्षिणमारभ्य उत्तरापवर्गाः प्रागग्राश्चतस्र इष्टका दक्षिणतः स्थित्वा उदङ्मुखः सन् अयꣳसो अग्निरित्यादिभिश्चतसृभिर्ऋग्भिः क्रमेणोपदध्यात् । पञ्च ऋचो विश्वामित्रदृष्टा आग्नेय्यस्त्रिष्टुभः । चतुर्थ्यनुष्टुप् । यस्मिन् गार्हपत्यरूपेऽग्नौ चिते सति वावशानः कामयमान इन्द्रः सुतमभिषुतं सोमं जठरे दधे स्वोदरे धारयिता स तादृशोऽयमग्निरिदानीमिष्टकाभिश्चीयत इति शेषः । हे जातवेदोऽग्ने, त्वम् अत्यं न अश्वमिव सप्तिं सन्ततगमनकुशलमश्वमिव सहस्रियं सहस्रसंख्याकेन धनेन सम्मितं वाजमन्नं ससवान् दत्तवान् यजमानेन स्तूयसे । यद्वा स चीयमानोऽग्निः । अयं भूलोक एव, यस्मिन् शरीरभूते अस्मिन् लोके जठरे मध्ये वावशानः कामयमान इन्द्रः सुतमभिषुतं सोमं तत्कार्यभूता वृष्टिलक्षणा अपो दधे आधत्ते । कीदृशं सोमम् ? सहस्रियं सहस्रोपकारकं वाजमन्नमब्लक्षणं सप्तिं सरणशीलमत्यं सततगामिनमश्वं न इव ससवान् संभक्तवान् । गार्हपत्यरूपेण प्रथमं चितः सन् हे जातवेदः, जातानां वेदितः, अग्ने ! त्वं स्तूयसे आहवनीयात्मना चीयमानस्तद्धारणमन्त्रैः प्रतिपाद्यसे ।

उव्वटाचार्यदृष्ट्या इष्टकोपधानं कुर्वन् अभिनयेन दर्शयति—अयं स इति । अयं स गार्हपत्योऽग्निश्चीयते, यस्मिंश्चिते सत्यभिषुतं सोममिन्द्रो जठरे उदरे दधे धारयति । कीदृश इन्द्रः ? वावशानः कामयमानः । कथंभूतं सोमं दधे ? सहस्रियं सहस्रार्हम्, वाजमन्नभूतं सर्वस्य जगतः, अत्यं न सप्तिम् । नकारः सम्प्रत्यर्थे । अनन्तरं भक्षणादेव प्रीतिकरम् । सप्तिं शरणं तृप्तिकरम् । 'षप समवाये' न केवलं यस्मिन्नग्नौ चिते इन्द्रः सोमं जठरे धारयति, किं तर्हि हे जातवेदः, त्वमपि ससवान् हवींषि संभजमानः सन् ऋत्विग्यजमानैः स्तूयस इति । वष्टीति वावशानः 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति शपः श्लौ द्वित्वेऽभ्यासदीर्घे शानचि रूपम् । ससवान् 'षण सम्भक्तौ' इत्यस्मात् क्वसौ रूपम् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'स चतस्रः पूर्वा उपदधाति । आत्मा ह्येवाग्रे सम्भवतः सम्भवति दक्षिणत उदङ्ङासीन उत्तरार्ध्यां प्रथमामुपदधाति तथो हास्यैषोऽभ्यात्ममेवाग्निश्चितो भवति' (श० ७।१।१।२१) । आत्मा ह्येवाग्र इति । यस्मात् शिरसा युक्तो मध्यदेह एव सम्भवत उत्पद्यमानस्य प्राणिनोऽग्रे प्रथमतः सम्भवत्यभिव्यक्तो भवति, तस्मादात्मसंस्तुता इष्टकाः पूर्वमुपदध्यादिति युक्तमेव । तस्मिन्नुपधाने धर्मविशेषमाह—दक्षिणत इति । गार्हपत्यायतनस्य दक्षिणदेशे उदङ्मुख आसीनश्चतसृणां मध्ये प्रथमामिष्टकामुत्तरार्द्ध्यामुत्तरार्धे भवामुत्तरभागेऽवस्थितामुपदध्यात् । 'दिक्पूर्वपदात् ठञ् च' (पा० सू० ४।३।६) इति सूत्रे चकारादुत्तरार्धशब्दाद् यत्प्रत्ययः । उत्तरार्द्ध्यायाः प्रथममुपधाने प्रयोजनमाह—तथो हेति । तथैव खलु दक्षिणतोऽवस्थितस्य

अध्वर्योरेष अग्निः, अध्यात्मम् आत्माभिमुखमेव चितो भवति। चतसृणामुपाधानेऽयं सो अग्निरित्याद्याश्चत्वारो मन्त्रा विधीयन्ते। 'अयं सो अग्निः। यस्मिन् सोममिन्द्रः सुतं दध इत्ययं वै लोको गार्हपत्य आपः सोमः सुतोऽस्मिंस्तल्लोकेऽप इन्द्रो धत्त जठरे वावशान इति मध्यं वै जठरं सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिमित्यापो वै सहस्रियो वाजः ससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेद इति चितः संश्चीयसे जातवेद इत्येतत्' (श० ७।१।१।२२)। एतदर्थपरतां मन्त्रस्य प्रतिपादयति—अयं वै लोक इत्यादिना। मध्यं वै जठरमिति। देहमध्यवाचिना जठरशब्देन भूलोकस्य मध्यमत्र लक्ष्यते। आपो वै सहस्रिय इति। उपकाराणां सहस्रेण सम्मिताः सहस्रियः, 'सहस्रेण सम्मितौ घः' (पा० सू० ४।४।१३५)। तथाविधो वाजोऽन्नमब्लक्षणं विवक्षितम्।

अध्यात्मपक्षे—अयमपरोक्षः प्रत्यगात्मा सोऽग्निः परोक्षः परमात्मा यस्मिन् परमात्मनि सति इन्द्रः सुतमभिषुतं सोमं वावशानः कामयमानो जठरे दधे धारयति, तस्मिन् सत्येव वर्णाश्रमलक्षणस्य धर्मस्य प्रवृत्तेः। कीदृशं सोमम्? सहस्रियं सहस्राहम्। शेषं पूर्ववत्। अत्यं न अश्वमिव सरणशीलं हे जातवेदः, जातं सर्वं वेत्तीति जातवेदाः, तत्सम्बुद्धौ। हे परमेश्वर, ससवान् हवींषि संभजमानः सन् सर्वैः स्तूयसे।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेद प्राप्तविज्ञान विद्वन्, यथा ससवान् दानं ददत् सन् स्तूयसे तथाऽहमपि भवेयम्। यथा च अयमग्निः, इन्द्रः सूर्यश्च यस्मिन् सोमं सर्वौषध्यादिरसं दधाति तथा सुतं निष्पन्नं जठरे उदरेऽहं दधे धरे। सोऽहं वावशानो भृशं कामयमानः सन् न यथा सहस्रियं वाजसहस्रेषु भवं वाजमन्नादिकम्। अत्यम् अतितुं व्याप्तुं योग्यं सप्तिम् अश्वं दधे तादृशस्त्वं भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लुप्तोपमालङ्कारत्व-कल्पनस्य प्रकृते निर्मूलत्वात्। सहस्रियं सहस्रप्राप्ता भार्या इत्यादि भाष्यं तु सर्वथाप्यशुद्धमेव, तदीयैरेव तदस्वीकारात्॥ ४७॥

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥ ४८॥

मन्त्रार्थ—मर्यादा से यजनयोग्य हे अग्निदेव, द्युलोक में जो सूर्यरूप ज्योति है, भूमि में अग्निस्वरूप, औषधियों में भास्करस्वरूप और जल में प्रभारूप जो ज्योति है, जिसने विद्युत्स्वरूप से विशाल अन्तरिक्ष लोक को व्याप्त किया है, इस विश्व की प्रकाशिका सब ओर गमनशील, मनुष्यों के शुभाशुभ कर्म को देखने वाली जो सूर्यरूप दीप्ति है, ये सब महानारायणस्वरूप आपकी ही विभूतियाँ हैं॥ ४८॥

हे आ यजत्र! मर्यादया यज्ञनिष्पादक, इष्टकारूप अग्ने वा, यत्ते तव वर्चस्तेजो दिवि द्युलोके सूर्यरूपेण वर्तते, पृथिव्यां वह्निज्वालारूपेण वर्तते, तथा यत्तेज ओषधीषु परिपाकत्वाकारेण वर्तते, अप्सु वडवानलरूपेण वर्तते, येन त्वदीयवर्चसा विद्युद्रूपेण उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमाततन्थ सर्वतो विस्तारितवानसि, प्रकाशितवानसीत्यर्थः। त्वेषः त्विषां दीप्तीनां समूहः, स त्वदीयवर्चःसमूहो भानुर्भासकः, अर्णवः समुद्र इव विस्तीर्णो नृचक्षाः मनुष्यान् प्रख्यापयिता, तथाविधतेजोरूपामिष्टकामुपदधामीति शेषः। यद्वा हे आ यजत्र, मर्यादया यजनीय, यत्ते तव दिवि वर्च आदित्यात्मकं ज्योतिर्यच्च पृथिव्यामग्निलक्षणं वर्चो यच्चौषधीषु यच्चाप्स्वन्तर्व्यवस्थितम्, एतान्युक्तानि वर्चांसि लघीयांसि, येन तु वर्चसा उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षम् आततन्थ आतनोषि, त्वेषः त्वेषयति प्रकाशयति सकलं विश्वमिति त्वेषः स भानुः, महस्तद्वर्चः। अर्णवः अर्णांसि उदकानि सन्ति यत्रेत्यर्णवो वायुः 'अर्णसो लोपश्च' (पा० सू० ५।२।१०९-२) इति वार्त्तिकेन मत्वर्थीयो वः, सलोपश्च। यद्वा अर्णवः अर्णस्वान्

अरणवान् गमनवान्, प्रसरणशील इति यावत्, 'वायुः सः' (श० ७।१।१।२३) इति श्रुतेः। नृचक्षाः नृणां शुभाशुभकर्मद्रष्टा, ईदृशो यस्ते भानुः, तमेवेष्टकारूपमुपदधामीति शेषः। एतेन त्रिस्थानोऽग्निः स्तूयते।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्ने यत्ते दिवि वर्च इति। आदित्यो वा अस्य दिवि वर्चः पृथिव्यामित्ययमग्निः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्रेति य एवौषधिषु चाप्सु चाग्निस्तमेतदाह येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थेति वायुः स त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षा·····इत्येतत्' (श० ७।१।१।२३)। द्वितीयं मन्त्रं भागशोऽनूद्य व्याचष्टे—अग्ने यत्त इति। आदित्यो वा अस्य दिवि वर्च इति। हे अग्ने, यत्ते त्वदीयं वर्च आदित्यरूपं दिवि वर्तते तथा पृथिव्यां भूलोके यद्वर्चो दाह-पाक-प्रकाशनसमर्थमग्न्यात्मकं ज्योतिः, ओषधीषु तरुगुल्मादयासु, अप्सु उदकेषु, आकारः समुच्चये, जाठरवाडवरूपेण च यद्वर्तते, हे यजत्र यजनीयाग्ने, येन वाय्वात्मना त्वदीयेन रूपेण उरुं विस्तीर्णमन्तरिक्षमाततन्थ आतनोषि, हे अग्ने! त्वेषो दीप्यमानो महान् सोऽग्निर्वाय्वादिरूपेण लोकत्रयं व्याप्यावस्थितः, त्वदीयो भानुः प्रकाशः, अर्णवः समुद्रोपमः सन् नृचक्षाः सर्वेषां नृणां द्रष्टा प्रकाशको भवति।

अध्यात्मपक्षे - हे अग्ने परमेश्वर, यत्ते वर्चो दिवि पृथिव्यादिषु सूर्याग्निवाय्वादिरूपेण लोकत्रयं व्याप्य वर्तते, स भानुः प्रकाशः समुद्रोपमः सर्वेषां नृणां प्राणिनां प्रकाशकः, परमेश्वरस्यैवादित्यादिरूपेण सर्वप्रकाशकत्वात्, 'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥' (भ० गी० १५।१२) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु- 'हे यजत्र संगन्तुं योग्याग्ने, यद् यस्य तवाग्नेरिव दिवि द्योतनात्मके विद्युदादौ वर्चो विज्ञानप्रकाशः, यत् पृथिव्यां यदोषधीषु यवादिषु अप्सु प्राणेषु जलेषु वा वर्चोऽस्ति, येन नृचक्षा नॄन् चक्षते स भानुः प्रभाकरः, अर्णवः अर्णांसि बहून्युदकानि विद्यन्ते यस्मिन् स अर्णवः, त्वेषः प्रकाशोऽस्ति, येनान्तरिक्षमाकाशमुरु बहु आततन्थ समन्तात्तनुषे, तथा स त्वं तदस्मासु आधेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्ये विदुषि मन्त्रोक्तविशेषणासङ्गतेः। तस्याग्ने इति सम्बोधनमपि न सङ्गतम्, गौणार्थाश्रयणप्रसङ्गात्। दिवीत्यनेन विद्युतो ग्रहणम्, वर्च इत्यनेन तद्विषयं विज्ञानग्रहणमपि निष्प्रमाणमेव। पृथिव्योषध्यप्सु वर्चोऽपि ज्ञानात्मकमेव तेजो गृह्यत इत्यपि निर्मूलमेव, तेन च कोऽयं नृचक्षा भानुः कथं चार्णवः, त्वेषोऽपि यदि ज्ञानात्मक एव, तदा कथं परस्परं हेतुहेतुमद्भावः? अन्तरिक्षस्य स्वत एव विस्तीर्णत्वेन कथं तस्य विस्तारकरणं सम्भवति? ॥ ४८ ॥

अग्ने॑ दि॒वो अर्ण॒मच्छा॑ जिगा॒स्यच्छा॑ दे॒वाँ२ ऊ॑चिषे॒ धिष्ण्या॒ ये।
या रो॑च॒ने प॒रस्ता॒त् सूर्य॑स्य॒ याश्चा॒वस्ता॑दुप॒तिष्ठ॑न्त॒ आपः॑ ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, द्युलोक सम्बन्धी जल को आप अभिमुख होकर प्राप्त करें। बुद्धीन्द्रियों के प्रेरक प्राणरूप देवताओं के प्रति आप गमन करें, दीप्तिरूप मण्डल में वर्तमान सूर्य के ऊपर और नीचे जो जल है, उन सबके मध्य में आप विराजमान हों। अभिप्राय यह है कि इन सब रूपों को आप ही धारण करते हैं ॥ ४९ ॥

हे इष्टकारूपाग्ने, दिवः सकाशाद् अर्णमुदकम् अच्छाभिमुख्येन जिगासि प्राप्नोषि, यागद्वारेण वृष्टिं सम्पादयसीत्यर्थः। ये देवा धिष्ण्याधारास्तान् देवानाभिमुख्येन ऊचिषे हविः स्वीकुरुषे इत्यर्थः। त्वय्यत्रोपहितायाम् आहुता इव देवा आगत्य हविः स्वीकरिष्यन्ति। सूर्यस्य देवस्य रोचने दीप्तिरूपे मण्डले सति या आपः परस्तादूर्ध्वदेशे उपतिष्ठन्ते वर्तन्ते, याश्चावस्तादधोभागे वर्तन्ते, ताः सर्वास्त्वयि उपहितायामिह गामभ्येष्यन्तीति शेषः। यद्वा हे अग्ने, दिवः सम्बन्धि अर्णमुदकम् अच्छा जिगासि। 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (नि० ५।२८)।

अभिजिगासि आभिमुख्येनाप्तुं गच्छसि। 'गा स्तुतौ' जुहोत्यादिः। स्तुतिश्रवणार्थं गमनमपि स्तुतिरेव। 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः। अच्छा देवानभिजिगासि। कतमान् देवानित्यत आह—धिष्ण्यान् इति। धियो बुद्धीरिन्द्रियाणि इष्णन्ति प्रेरयन्तीति धिष्ण्याः प्राणाख्या देवाः। तान् देवांश्च त्वमच्छा जिगासि अभिगच्छसि। किञ्च, ऊचिषे उच्यन्ते, ब्रूञः कर्मणि लिट्। पुरुषवचनयोर्व्यत्ययः। ये देवा धिष्ण्या धियः प्रेरकाः, 'प्राणा वै देवा धिष्ण्यास्ते हि सर्वा धिय इष्णन्ति' (श० ७।१।१।२४) इति श्रुतेः। किञ्च, रोचने दीप्तिरूपे मण्डले वर्तमानस्य सूर्यस्य परस्ताद् उपरिष्टाद् या आप उपतिष्ठन्ते, अवस्तात् सूर्यस्याधस्ताच्च या आप उपतिष्ठन्ते, ताश्च त्वमभिगच्छसि, त्वमेवैतै रूपैः परिणमसीत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगासीति। आपो वा अस्य दिवोऽर्णस्ता एष धूमेनाच्छैत्यच्छा देवां२ ऊचिषे धिष्ण्या य इति प्राणा वै देवा धिष्ण्यास्ते हि सर्वा धिय इष्णन्ति या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आप इति रोचनो ह नामैष लोको यत्रैष एतत्तपति तद्याश्चैतं परेणापो याश्चावरेण ता एतदाह' (श० ७।१।१।२४)। ब्राह्मणानुसारेणायमर्थः—हे अग्ने, अस्य दिवोऽन्तरिक्षस्य सम्बन्धि अर्णमुदकं मेघस्थम् अच्छ अभिलक्ष्य धूमेन जिगासि व्याप्नोषि। तथा अध्यात्मं ये प्राणरूपा धिष्ण्या धिय इष्णन्ति व्याप्नुवन्तो वर्तन्ते, तान् देवान् त्वं जाठराग्निरूपेण ऊचिषे समवैषि। 'उच समवाये' दिवादिः। तथा या आपो रोचने रोचमाने सूर्यलोके वर्तमानस्य सूर्यस्य परस्ताद् उपरिभागे वर्तन्ते, याश्चावस्तादधोभागे उपतिष्ठन्ते वर्तन्ते, आसामाश्रयित्वं प्राप्नोषीति शेषः। उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य दर्शयति—आपो वा अस्य दिवोऽर्ण इति। एष धूमेनेति। एष भूम्यां पार्थिवरूपेणावस्थितः, अग्निरित्यर्थः। प्राणा वै देवा इति। दीव्यन्ति विषयप्रकाशान् जनयन्तीति देवाः प्राणा इन्द्रियाणि। ते हि सर्वा इति। हि यस्मात् ते प्राणाः सर्वा धियः शब्दादिविषयाणि सर्वाणि ज्ञानानि, इष्णन्ति आभीक्ष्ण्येन व्याप्नुवन्ति। 'इष आभीक्ष्ण्ये' इति क्रैयादिको धातुः। तस्मादेते धिष्ण्याः। शेषं स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं सर्वात्मकत्वात् तत्तद्रूपेण तत्तदाप्नोषीति पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यस्त्वं दिवः प्रकाशाद् अर्णं विज्ञानं या आपः प्राणा जलानि वा सूर्यस्य रोचने प्रकाशे परस्तात् परा याश्चावस्ताद् अधःस्था उपतिष्ठन्ते वा अच्छ जिगासि अभिष्टौषि ये धिष्ण्याः सन्ति ये दिधिषन्ति ब्रुवन्ति ते धिषणास्तेषु साधवो धिष्ण्याः, धिष्धातोर्बाहुलकाद् औणादिकः कनिन्, ततो यत्, सन्ति तान् देवान् प्रत्यर्णमच्छ, ऊचिषे वक्षि, स त्वमस्माकमुपदेष्टा भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उपदेष्टा भवेत्यस्य मन्त्रबाह्यत्वात्। सूर्यस्य रोचने परस्तादधस्ताच्च या आपो विद्यन्ते, ताः को मनुष्यो विजानाति ? मनुष्याणामल्पज्ञत्वेन तदनुपपत्तेः। वक्तारो विद्यार्थिन एव धिष्ण्या देवा इत्यत्रापि मूलं चिन्त्यम्। त्वद्रीत्या देवाः स्वयमेव विद्वांसो भवन्ति, ते कुतो विद्यार्थिनः स्युः ? 'ये दिधिषन्ति' इति स्वामिदयानन्दप्रयोगोऽपि 'अदभ्यस्तात्' (पा० सू० ७।१।४) इति सूत्रविस्मरणमूलक एव, अतोऽशुद्धः, शब्दार्थकस्य धिषेर्जुहोत्यादितया प्रथमपुरुषबहुवचने दिधिषतीति प्रयोगस्य शुद्धत्वात्। धिषधातोर्बाहुलकाद् औणादिकः कनिन् ततो यदिति प्रक्रियापि 'सानसि वर्णसिपर्णसितण्डुल०' (उ० ४।१०७) इत्यादिसूत्रविस्मरणमूलिका, अस्मिन् सूत्रव्याख्याने धिष्ण्यशब्दस्य तेनैवान्यथा साधनात् ॥ ४९ ॥

पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः।
जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीः ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप पशुओं के हितकारी हैं। स्नेह के कारण आप कभी इनकी हिंसा नहीं करते। इस इष्टरूप यज्ञ का आप सेवन कीजिये। यह यज्ञ क्षुधा और तृष्णा का निवर्तक है और धन-धान्य से परिपूर्ण है॥ ५० ॥

अनुष्टुप्। हे अग्नय इष्टकारूपाः, इष्टकापेक्षयैव बहुवचनम्। अस्मदीयमिमं यज्ञं जुषन्तां सेवन्ताम्। कीदृशा अग्नयः? पुरीष्यासः पुरीषे पांसुरूपे भवाः। यद्वा पुरीषेभ्यः पशुभ्यो हिताः। 'आज्जसेरसुक्' (पा० सू० ७।१।५०) इति जसोऽसुगागमः। प्रावणेभिः प्रकर्षेण वनन्ति सम्भजन्ति विषयानिति प्रावणानि मनांसि, तैः। संहितायां 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।१।१०) इति बाहुलकाद् भिस ऐस्भावे 'बहुवचने झल्येत्' (पा० सू० ७।३।१०३) इत्येवं रूपसिद्धिः। सजोषसः परस्परं समानप्रीतयः, मनसा प्रीतियुक्ता इत्यर्थः। यद्वा प्रावणैः 'प्रुङ् गतौ' इत्यस्मात् 'हश्च व्रीहिकालयोः' (पा० सू० ३।१।१४८) इत्यत्र सूत्रे चकारग्रहणात् ण्युटि वृद्धावनादेशे णत्वे तृतीयाबहुवचने रूपम्, गमनैरित्यर्थः, लोकव्याप्तिभिरिति भावः। शास्त्रेषु कालस्य गम्भीरवेगादिकं स्मर्यते। तथा च श्रीमद्भागवते—'कालेन सर्वत्र गभीररंहसा' (भा० पु० १।५।१८) इति। सजोषसः समानसेविनः परस्परं समानप्रीतयः। अद्रुहो हिंसारहिताः। अनमीवाः क्षुधापिपासादिरोगरहिताः, क्षुधादिनिवर्तिकाः। इषोऽभीष्टप्राप्तिहेतवः। महीः प्रौढाः। तथाविधा अग्निरूपा इष्टकाः, उपदधामीति शेषः।

तत्र ब्राह्मणम्—'पुरीष्यासो अग्नय इति। पशव्यासोऽग्नय इत्येतत्प्रावणेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं प्रायण१९ ह्येतदग्नेर्यद् गार्हपत्यो जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीरिति जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनशनाया इषो महीरित्येतत्' (श० ७।१।१।२५)। उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे—पशव्यासोऽग्नय इति। प्रावणेभिरिति मन्त्रगतः प्रशब्दः प्रायणरूपं प्रायणस्य प्रगमनस्य प्रारम्भस्य रूपम्। गार्हपत्यचितिश्च अग्नेरग्निचयनस्य प्रायणं प्रारम्भः। अतः प्रशब्दोपेतो मन्त्रोऽत्र योग्य इत्यर्थः। अनमीवा इत्यस्यार्थमाह—अनशनाया इति। अशनेच्छा अशनाया क्षुत्पीडा, सा न विद्यते यासां ताः। 'अशनायोदन्यधनायाः' (पा० सू० ७।४।३४) इति बुभुक्षायां क्यचीत्वाभावो निपात्यते। तथा चार्थः सम्पद्यते। पुरीषं पूरयति पयःप्रभृतिभिर्लोकमिति पुरीषं पशुः। बहुवचने पशवः। तेभ्यो हिताः पुरीष्याः, तथाविधा अग्नयः। प्रावणेभिः प्रवणसम्बन्धिभिर्गार्हपत्यचितिसम्बन्धिभिः सम्भजनयुक्तैस्तैर्दैवैः सजोषसः समानप्रीतयः सन्तोऽस्मदीयं यज्ञं जुषन्तां सेवन्ताम्। अद्रुहो द्रोहरहिताः, अनमीवा अशनायादिरहिताः, महीः महतीः, इषः अन्नानि, अस्मभ्यं प्रयच्छन्त्विति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—पुरीष्यासः पूरयन्ति हव्यकव्यादिभिर्देवपित्रादिलोकमिति पुरीषा जीवरूपाः पशवः, तेभ्यो हिताः पुरीष्यासः पशव्या अग्नयः प्रावणेभिः श्रीरामकृष्णादिरूपेण अनेकधा अभिव्यक्तिप्रकर्षेण आसमन्ताद् वनन्ति सम्भजन्ति भगवन्तमिति प्रावणानि, तैः स्वविषयैर्भक्तमनोभिः सजोषसः समानप्रीतयः, इममस्मदीयमर्चनलक्षणं यज्ञं जुषन्ताम्। कीदृशा अग्नयः? अद्रुहः रक्षकाः। तथा इषः अन्नादिभक्तीश्च जुषन्ताम्। कथम्भूता इषः? अनमीवा नास्ति अमीवा क्षुदादिव्याधिर्याभिस्ताः, अर्थात् क्षुदादिनिवर्तिकाः। पुनः कथंभूताः? महीः महतीः, बहुला इति यावत्।

दयानन्दस्तु—'सर्वे मनुष्याः प्रावणेभिर्विज्ञानैः सह वर्तमाना अनमीवा अरोगाः, अद्रुहो द्रोहरहिताः, सजोषसः समानप्रीतयः, पुरीष्यासः पूर्णासु गुणक्रियासु भवा अग्नय इव सन्तो यज्ञं विद्याविज्ञानदानग्रहणाख्यम्, महीः महतीः, इष इच्छा जुषन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, रागप्राप्तार्थविधानायोगाच्च ॥५०॥

इडा॑मग्ने पुरु॒दꣳस॑ꣳ स॒निं गोः श॑श्वत्त॒मꣳ हव॑मानाय साध ।
स्यान्नः॑ सू॒नुस्तन॑यो वि॒जावाग्ने॒ सा ते॑ सुम॒तिर्भू॑त्व॒स्मे ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, बहुत कर्मों के साधन रूप अन्न को, निरन्तर विद्यमान धेनु सम्बन्धी दान को, अर्थात् दूध, दही, घृत आदि को हवन करने वाले यजमान के निमित्त आप प्रदान कीजिये । हमारे यहाँ प्रजावान् औरस पुत्र हो । हे अग्निदेव, यह आपकी अन्न, गौ, पुत्रदान विषयक सुन्दर बुद्धि हमारे प्रति हो ॥ ५१ ॥

'अपरेण परिक्रम्य परिक्रम्य चयनमिडामग्न इति पश्चिमे प्रतिमन्त्रमुत्तरतः' (का० श्रौ० १७।१।११) । अर्धबृहतीनामपरेण परिक्रम्योत्तरतोऽवस्थितो दक्षिणामुख उपविष्टः पश्चिमे पश्चादुपहिते तिरश्च्यौ तिर्यग्लक्षणे उदक्संस्थे पादमात्र्यौ पद्ये इष्टके उपदध्यादिति सूत्रार्थः । तत्र इडामग्न इति मन्त्रेण दक्षिणाम्, अयं त इति मन्त्रेणोत्तराम् । द्वे आग्नेय्यौ त्रिष्टुबनुष्टुभौ । हे अग्ने, हवमानाय होतुं प्रवृत्ताय यजमानाय गोः सनिं गवादिपशूनां दानं साध सम्पादय । कीदृशं दानम् ? इडां सर्वैरीडयं प्रशंसनीयम् । पुनः कीदृशम् ? पुरुदंसं बहुधा दर्शनीयम्, शश्वत्तमम् अत्यन्ताविच्छेदेन वर्तमानम् । किञ्च, त्वत्प्रसादान्नोऽस्माकं सूनुः पुत्रो भवतु । कीदृशः सूनुः ? तनयः तनूभवः, औरस इति यावत् । पुत्रसामान्यस्य सूनुशब्देनोक्तत्वाद् दत्तकाद्यन्यतमपुत्रव्यावृत्तये विशेषविवक्षया तनयशब्दः प्रयुक्तः । पुनः कीदृशः ? विजावा विविधानां जनयिता । हे अग्ने, तव सा सुमतिस्तथाविधानुग्रहबुद्धिः, अस्मे अस्मासु भूत् भवतु । यद्वा—हे अग्ने, हवमानाय ह्वयति आह्वयति देवान् जुहोति वा देवानुद्दिश्येति हवमानो यजमानस्तस्मै इडाम् अन्नं साध साधय सम्पादय । कीदृशीमिडाम् ? पुरुदंसं पुरूणि बहूनि दंसांसि कर्माणि यया सा पुरुदंसास्तां पुरुदंसमिति प्राप्ते टिलोपश्छान्दसः । 'दंस इति कर्मनामसु' (निघ० २।१।३) । बहुकर्मसाधनभूतमन्नमिति यावत् । गोः सनिं धेनुसम्बन्धि दानं पयोदधिघृतादिकं शश्वत्तमं शाश्वतिकतमम्, अनपायीति यावत् । सोपसेचनं शाश्वतिकमन्नं यजमानाय देहीत्यर्थः ।

ननु 'पशवो वा इडा' (श० ७।१।१।२७) इति श्रुता इडापदेन पशव उक्ताः, कथमत्रान्नमर्थः क्रियत इति चेन्न, तद्बलीवर्दैरुत्पाद्यमानत्वेन औपचारिकया वृत्त्या तथोक्तेः । किञ्च, नोऽस्माकं यजमानानां सूनुस्तनयः औरसः पुत्रः स्यादस्तु त्वत्प्रसादादित्यर्थः । औरसव्यतिरिक्तव्यावृत्त्यर्थं तनयशब्दः । यद्वा तनोत्यग्निहोत्रादि-कर्माणीति तनयः, धर्मनिष्ठ इत्यर्थः । विजावा विविधरूपेण पुत्रपौत्राद्यात्मना जायत इति विजावा प्रजावानित्यर्थः । 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इति धातोराकारः । हे अग्ने, ते तव सान्नगोपुत्रादिविषया सुमतिः शोभना बुद्धिरनुग्रहेण अस्मे अस्मासु भूत् भवतु । व्यत्ययेन शपो लुक् । अस्मे इत्यत्र विभक्तेः शे आदेशे 'शेषे लोपः' (पा० सू० ७।२।९०) इति लोपे रूपसिद्धिः । 'नानोपदधाति । ये नाना कामा आत्मंस्तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तदात्मानं करोति सूददोहसाऽधिवदति प्राणो वै सूददोहाः प्राणेनैवैनमेतत् सन्तनोति सन्दधाति' (श० ७।१।१।२६) । एतासामिष्टकानां क्रमेण कृतमुपधानमनूद्य स्तौति—नानोपदधातीति । नाना पृथगेकैकेष्टकामुपदध्यात् । तेन य आत्मनि स्थिता नानाविधाः कामास्तान् सर्वान् असङ्कीर्णं पृथगेव दधाति स्थापयति । सादनसूददोहसोः सकृत्त्वं विधाय स्तौति—सकृत् सादयतीति । तया देवतयेति यत्सादनं तच्चतसृणामिष्टकानां सम्भूय सकृदेव कर्तव्यम् । अत एव सर्वेष्टकोपधानसाधारण-धर्मत्वेन सादनसूददोहसौ कात्यायनेनोक्तौ । तथाहि तत्सूत्रम्—'नित्ये सादनसूददोहसा उपधानादुत्तरे तया देवतया ता अस्येति' (का० श्रौ० १६।७।१४), 'अविशेषोपदेशात्' (का० श्रौ० १६।७।१५) इति । उपहितानामिष्टकानां 'चिदसि' (वा० सं० १२।५३) इति मन्त्रेण स्थिरीकरणं सादनम्, इष्टकानामुपरि

हस्तं निधाय 'ता अस्य' (वा० सं० १२।५५) इति कण्डिकापठनं सूददोहसाधिवदनम् । सर्वासामिष्टकानामुपधानानन्तरं मन्त्रद्वयेन यथाक्रमं सादनं सूददोहसं च कुर्यात् । उपहितानां यजुष्मतीनामिष्टकानां स्थिरीकरणं सादनम् । ता अस्य सूददोहस इति मन्त्रः सूददोहा उच्यते । अस्य मन्त्रस्योच्चारणं कुर्यादिति सूत्रार्थः । अत्र हेतुमाह कात्यायनः—'अविशेषोपदेशात्' (का० श्रौ० १६।७।१५) इति । अविशेषेण इष्टकाविशेषमनारभ्य श्रुतौ तयोरुपदेशः । अत इष्टकामात्रे तद्द्वयं कर्तव्यमित्यर्थः । प्राणेनैवैनमिति । एनमात्मानम् एतद् एतेन अधिवदनेन सन्तनोति संयोजयति । एतस्यैव विवरणं सन्दधातीति । 'अथ जघनेन परीत्य । उत्तरतो दक्षिणासीनोऽपरयोर्दक्षिणामग्र उपदधातीडामग्ने पुरुद१७ंस१७ं सनिं गोरिति पशवो वा इडा पशूनामेवास्मा एतामाशिषमाशास्ते शश्वत्तम१७ं हवमानाय साधेति यजमानो वै हवमानः स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावेति प्रजा वै सूनुरग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे इत्याशिषमाशास्ते' (श० ७।१।१।२७) । पश्चिमाध्वर्ययोरिष्टकयोरुपधानप्रकारमाह— अथ जघनेति । मध्येष्टकोपधानानन्तर्यमथशब्दार्थः । जघनेन परीत्य गार्हपत्यस्थानस्य पश्चात् परिक्रम्य उत्तरत उत्तरस्यां दिशि दक्षिणामुख आसीनः सन् अपरयोः पाश्चात्त्ययोरिष्टकयोर्दक्षिणां दक्षिणभागस्थामिष्टकामग्रे प्रथममुपदधाति 'इडामग्ने' इति मन्त्रेण ।

ब्राह्मणानुसारमित्थं मन्त्रार्थः— हे अग्ने, हवमानाय हवनं कुर्वते यजमानाय इडां पशुम् । जातावेकवचनम् । तथा च पाणिनिसूत्रम्—'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १।२।५८) इति । अर्थाद् गवाश्वादिपशून् साध साधय । पशुरेव विशेष्यते—पुरुदंसमिति । बहुकर्महेतुभूतम् । अन्त्यलोपश्छान्दसः । शश्वत्तं पुत्रपौत्रादिरूपेण अविच्छेदेन सर्वदा वर्तमानम् । गोः सनिं गवादिपशूनां दातारम् । अस्मै यजमानाय साधय सम्पादय । अपि च नोऽस्माकं तनयः पुत्रः, सूनुस्तत्पुत्रश्च विजावा विविधानां जनयिता स्यात्, उत्पद्यतामित्यर्थः । विपूर्वाज्जनेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति वनिप्, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इत्यात्वम् । किं बहुना—हे अग्ने, ते त्वदीया सा सुमतिः सर्वश्रेयोनिदानभूता कल्याणी बुद्धिः, अस्मे अस्मासु भूतु भवत्वित्यर्थः । एतदर्थपरत्वेन मन्त्रं व्याचष्टे—पशवो वा इडेति । इडा खलु मनोर्दुहिता । तेनाप्सु हुतैर्घृतदधिमस्त्वामिक्षादिरूपैर्द्रव्यैरुत्पन्ना । एतच्च 'तत्पाकयज्ञेनेजे स घृतः' (श० १।८।१।७) इत्यादिना प्रथमकाण्डे प्रतिपादितम् । तथा च पशुप्रभवद्रव्येभ्य उत्पन्नत्वाद् इडायास्तद्वाचिना इडाशब्देन कारणभूताः पशव एवोच्यन्ते । पुरुदंसादिविशेषणेषु लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः । पशूनामेवेति कर्मणि षष्ठी । पशुविषयाम् आशिषं प्रार्थनाम् अस्मै यजमानाय अध्वर्युराशास्ते । यजमानो वै हवमान इत्युपयुक्तव्युत्पत्त्या हवमानशब्दो यजमानवाची । प्रजा वै सूनुरिति तनयशब्देन पुत्रस्य प्रतिपादितत्वात् तत्पुत्रादिरूपाः प्रजाः सूनुशब्देन प्रतिपाद्यन्त इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, हवमानाय प्रेम्णा आह्वात्रे इडां पशून् अन्नं वा भगवदाराधनोपयुक्तं साध साधय सम्पादय । कीदृशीमिडाम् ? पुरुदंसं पुरूणि बहूनि दंसांसि कर्माणि कर्तव्यानि यया ताम् । गोः गोसम्बन्धिनीं सनिं दुग्धदधिघृतादिलक्षणाम्, शश्वत्तमं पुत्रपौत्रादिपरम्परायामविच्छेदेन वर्तमानम् । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने अध्यापक, ते सा सुमतिः, अस्मे अस्माकं भूतु भवतु । यथा ते नोऽस्माकं च विजावा विविधैश्वर्यजनकः सूनुरुत्पन्नस्तनयः पुत्रः स्यात्, तथा त्वं तस्मै हवमानाय विद्यां स्पर्धमानाय इडां स्तोतुमर्हां वाचं गोर्वाचः शश्वत्तममतिशयितमनादिरूपं वेदबोधं पुरुदंसं पुरूणि बहूनि दंसानि कर्माणि भवन्ति यस्मात्तं सनिं संविभागं साध साध्नुहि, अग्ने वयं च साध्नुयाम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापक-

राजमन्त्रिपुरोहिताद्युपदेशस्य बहुधा वर्णितत्वात्। महतायासेन तत्साधनेऽपि न किञ्चित् फलम्, तस्य लौकिकत्वे लौकिकप्रमाणैरेव ज्ञातुं शक्यत्वात्, तदर्थं वेदोपदेशस्य नैरर्थक्यात्। निघण्टौ कर्मार्थकः सान्तोऽयं दंसस्शब्दः। तमुदाजहार देवराजयज्वा—'दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः' इति (ऋ० सं० १।६२।६)। तथा च दंसानीति रूपमप्यसङ्गतमेव। विजावेत्यस्य विविधैश्वर्यजनक इत्यन्तर्भावितण्यर्थकरणे किं मूलम्? 'सूनुः' इत्यस्य उत्पन्न इति नार्थः, तस्य पुत्रे रूढत्वात्। हवमानायेत्यस्य विद्यां स्पर्धमानायेत्यर्थोऽपि न युक्तः, ब्राह्मणेन यजमान इत्यर्थस्य व्याख्यातत्वात्। गोर्वाचः शश्वत्तमं वेदबोधमित्यसङ्गतम्, वेदवाक्यजन्यस्य बोधस्य नित्यत्वासम्भवात्! जन्यत्वाभावे गोः सम्बन्धानुपपत्तिः॥ ५१॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम्॥ ५२॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप सायंकाल और प्रातःकाल प्रकट होते हो, कर्म काल में प्रज्वलित होते हो। गार्हपत्य अग्नि को अपना अंश मानते हुए आप उसमें प्रविष्ट होइये और हमारे निमित्त यज्ञ के साधनभूत धन को चारों ओर से बढ़ाइये॥ ५२॥

इयं कण्डिका तृतीयेऽध्याये चतुर्दशे स्थाने व्याख्याताऽप्यत्र प्रकरणानुसारं पुनर्व्याख्यायते। अनुष्टुप् देवश्रवोदेववातदृष्टा आग्नेयी। हे अग्ने, अयमिष्टकारूपः पदार्थः, ते तव योनिरुत्पत्तिस्थानम्। ऋत्विय ऋतुकालिकस्त्रीपुरुषसङ्गम इव। अतो योनेर्यत उत्पन्नस्त्वम् अरोचथा दीप्यमानोऽसि तं तथाविधयोनिं जानन्नवगच्छन् आरोह प्राप्नुहि। अथ अनन्तरं नोऽस्माकं रयिं वर्धय। अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तराम्। अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथा इत्ययं ते योनिर्ऋतव्यः सनातनो यतो जातोऽदीप्यथा इत्येतत्तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिमिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।१।१।२८)। अथ पाश्चात्ययोरुत्तरस्या इष्टकाया उपधानं विधत्ते—अथोत्तरामिति। उपदधातीति शेषः।

अथ मन्त्रार्थः—हे अग्ने, ऋत्विय ऋतौ भवः सनातनोऽयं भूप्रदेशस्तव योनिरुत्पत्तिस्थानम्। यतो यस्माद्योनेर्जातः सन् अरोचथाः अदीप्यथाः, तं योनिभूतं देशं जानन् आरोह प्राप्नुहि। अथानन्तरं नोऽस्माकं रयिं धनं वर्धय। 'ऋत्वियः' इति मन्त्रपदस्यार्थमाह—ऋतव्य इति। ऋतौ भव इति विग्रहे 'छन्दसि घस्' (पा० सू० ५।१।१०६) इति घसि रूपम्। सनातन इति ऋतव्यपदव्याख्यानम्। ऋत्वात्मकस्य कालस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् तत्र भवोऽग्निः सनातनो नित्य इत्यर्थः। तथा च जात इत्यनेन प्रादुर्भावमात्रं विवक्षितम्, नोत्पत्तिः। अरोचथा अदीप्यथा इति 'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च' इति भौवादिकस्य रूपम्। अत्र दीप्त्यर्थो विवक्षितः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, अयमृत्विय ऋतुकालोद्भवेन स्त्रीपुरुषसंयोगेन जातो देहः, ते तव योनिः स्थानम्, अभिव्यक्तिहेतुत्वात्। यतो जातः प्रादुर्भूतः सन् अरोचथा अदीप्यथाः। तं योनिं जानन्नारोह अभिव्यक्तिं प्राप्नुहि। अथानन्तरं नोऽस्मभ्यं रयिं ज्ञानभक्तिलक्षणं वर्धय।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने! अग्निरिव स्वच्छात्मन्, यस्ते तव ऋत्विय ऋतुः समयोऽस्य प्राप्तः, योनिः दुःखवियोजकः सुखसंयोजको व्यवहारोऽस्ति, यतो जातः प्रादुर्भूतः सन् अरोचथाः प्रदीप्येथाः, अथानन्तरं नो

ह्यस्मभ्यं रयिं प्रशस्तां श्रियं वर्धय' इति, तदयुक्तम्, मनुष्याणामल्पज्ञानाल्पशक्तिमत्त्वेन प्रार्थयितृभ्यः श्रियः प्रापकत्वायोगेन तेभ्यस्तादृशप्रार्थनायोगात्, ऋत्विययोनिपदाभ्यां यथासमयप्राप्तव्यवहारार्थग्रहणे मानाभावाच्च। न च तादृशव्यवहारादेव तदुपपत्तिः, तादृशव्यवहारासिद्धेः। अथपदार्थोऽपि तत्रासङ्गत एव, तदवधित्व-तदानन्तर्याऽनिरूपणात् ॥ ५२ ॥

चिद॑सि त॒या॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द परि॒चिद॑सि त॒या॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टका, तुम स्थापित की हुई हो। उस प्रसिद्ध वाक्रूप देवता द्वारा स्थापित होकर अंगिरा के समान दृढ़तापूर्वक इस स्थान में दृढ़ रहो। हे इष्टके, तुम सब ओर से भोगों का चयन करने वाली हो, उस प्रसिद्ध वाक्रूप देवता द्वारा संपादित हुई हो, अंगिरा के समान दीर्घकाल तक निश्चल भाव से इस स्थान में स्थित रहो ॥ ५३ ॥

'चिदसीति पूर्वे दक्षिणतः प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।१।१२)। तत उत्तरस्मात् प्रदेशाद् अपरमार्गेण दक्षिणप्रदेशे गत्वा पूर्वे तिरश्च्यौ उदग्लक्षणे दक्षिणतोऽवस्थित उदङ्मुखो दक्षिणसंस्थे तिर्यग्लक्षणे उपदध्यात्। चिदसीत्युत्तरां परिचिदसीति दक्षिणामिति सूत्रार्थः। इष्टकादैवत्ये द्वे यजुषी। चित् चिनोति भोगान् सम्पादयतीति चित्। अर्थाद् हे इष्टके, त्वम् अभीष्ट-भोगसम्पादयित्री असि। अथवा चीयत इति चित्, चिता स्थापितासि। या देवता त्वामभिमन्यते तया देवतया अनुगृहीता त्वं ध्रुवा स्थिरा भूत्वा सीद, तया प्रसिद्धया वाग्रूपया देवतया सादिता सतीव सीद। तत्र दृष्टान्तः—अङ्गिरस्वत्, अङ्गिरोभिरुपहितेष्टकायां साधु वा भवति तद्वत्। यद्वा अङ्गिरस्वत् प्राणवत्। प्राणा यथा सर्वाङ्गेषु स्थितास्तथा ध्रुवा सती त्वं सीद निविशस्व। द्वितीयामुपदधाति—परिचिदसीति। हे इष्टके, त्वं परितो भोगांश्चिनोतीति परिचिद् असि सम्पूर्णभोग-सम्पादिकासि। परितो वा चीयसे तया देवतयेति पूर्ववद् व्याख्येयम्। यद्वा हे इष्टके, त्वं चित् चेतयमाना वागसि। या वाग्रूपा देवता त्वामभिमन्यते तया देवतया अङ्गिरस्वद् अङ्गिराः प्राणाः, 'प्राणो हि वा अङ्गानां रसः' (श० १४।४।१।२१) इति श्रुतौ तन्नामव्युत्पत्तेः, सोऽस्यास्तीत्यङ्गिरस्वत्। 'तसौ मत्वर्थे' (पा० सू० १।४।१९) इति भत्वाद्रुत्वाभावः। क्रियाविशेषणमेतत्। तेन युक्तं यथा भवति तथा वाग्देवतया युक्तासि, सा त्वं ध्रुवा सती सीद निषण्णा भव। परिचिदसि परितो भोगांश्चिन्वाना सम्पादयमाना परिचीयमाना वा वागसीत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'सक्थ्यावस्यैते। ते नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाऽधिवदति नाना हीमे सक्थ्यौ द्वे भवतो द्वे हीमे सक्थ्यौ पश्चादुपदधाति पश्चाद्धीमे सक्थ्यावग्राभ्या॑ᳪ सᳪ स्पृष्टे भवत एवᳪ हीमे सक्थ्यावग्राभ्या॑ᳪ सᳪ स्पृष्टे' (श० ७।१।१।२९)। एतयोः पाश्चात्ययोरिष्टकयोरुपधानसादनादीनां पृथक् कर्तव्यतामाह—सक्थ्यावित्यादिना। अस्याग्नेः सक्थ्यौ श्रोण्यौ एते इष्टके, अतस्ते नाना पृथग् उपदध्यात्। सादनसूददोहसाधिवदने अपि पृथक् कर्तव्ये। तत्र कारणमाह—नाना हीमे इति। इमे मनुष्यसम्बन्धिन्यौ सक्थ्यौ। छान्दसं स्त्रीत्वम्। हि यस्माद् नाना पृथग् असंश्लिष्टे भवतः, तस्मात् तत्संस्तुतयोरिष्टकयोरप्यसंश्लेषो युक्त इत्यर्थः। द्वित्वमनूद्य स्तौति—द्वे भवत इति। पश्चाद्भागोपधानमनूद्य स्तौति—पश्चादिति। पश्चाद्धीमे इति। हि यस्माद् इमे दृश्यमाने पुरुषसम्बन्धिन्यौ सक्थ्यौ पश्चात् शरीरस्य अपरभागे भवतः, तस्मादनयोः पश्चादुपधानं युक्तम्। अग्रप्रदेशेन तयोः परस्परं संसर्गं विधत्ते—अग्राभ्यामिति। आत्मसमीपेऽग्रप्रदेशः, तत्रैते संस्पृष्टे भवत इत्यर्थः। एवं हीमे इति लौकिकं निदर्शनम्। 'अथ तेनैव पुनः परीत्य। दक्षिणत उदङ्ङासीनः पूर्वयोरुत्तरामग्र उपदधाति चिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीदेत्यथ दक्षिणां परिचिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा

सीदेति' (श० ७।१।१।३०)। पूर्वार्द्धर्घयोरुपधानप्रकारमाह—अथ तेनैवेति । येन मार्गेण पाश्चात्त्ययोरुपधाने परिक्रमणं कृतम्, तेनैव पुनर्दक्षिणगतः परिक्रम्य तत्रोदङ्मुख आसीनः पूर्वयोरिष्टकयोर्मध्येऽग्रे प्रथममुत्तरामुपदधाति। तत्र मन्त्रः—चिदसीति। अनन्तरं दक्षिणामुपदधाति। तत्र मन्त्रः—परिचिदसीति। मन्त्रयोरर्थस्तूक्त एव। चिदसीति मन्त्रेणोपहितानामिष्टकानां तदभिमानिन्या वाग्देवतया स्थिरीकरणं सादनम् ।

'बाहू अस्यैते । ते नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाऽधिवदति नाना हीमौ बाहू द्वे भवतो द्वौ हीमौ बाहू पूर्वार्ध उपदधाति पुरस्ताद्धीमौ बाहू अग्राभ्याᳬ संᳬस्पृष्टे भवत एवᳬहीमौ बाहू अग्राभ्याᳬ संᳬस्पृष्टौ स वा इतीमा उपदधातीतीमे इतीमे तद्दक्षिणावृत् तद्धि देवत्रा' (श० ७।१।१।३१)। बाहू अस्यैते इति 'सक्थ्यावस्यैते' इतिवद् व्याख्येयम् । एतासामिष्टकानामुपधानस्य प्रादक्षिण्यमुपनयेन दर्शयन् स्तौति—स वा इतीमा इति । इमा मध्ये उपधीयमानाश्चतस्र इष्टका आत्मन उत्तरार्धमारभ्य दक्षिणा उपदधाति । इमे पाश्चात्त्ये इष्टके इति प्रथमं दक्षिणार्द्धर्घ्यां पश्चादुत्तरार्द्धर्घ्यामित्यनेन क्रमेणोपदधाति । तथा इमे पौरस्त्ये इष्टके प्रथममुत्तरार्द्धर्घ्यां पश्चाद्दक्षिणार्द्धर्घ्यामित्यनेन क्रमेणोपदधाति । तत् तथा सति दक्षिणावृत् प्रादक्षिण्येन वर्तनं भवति । तत् खलु देवत्रा देवेषु योग्यमित्यर्थः। 'अष्टाविष्टका उपदधाति । अष्टाक्षरा गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनमेतच्चिनोति पञ्चकृत्वः सादयति पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनमेतच्चिनोत्यष्टाविष्टकाः पञ्चकृत्वः सादयति तत्त्रयोदश त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशाग्नेश्चितिपुरीषाणि यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत् तद् भवति' (श० ७।१।१।३२)। अथोपहितानामिष्टकानां सम्भूय संख्यां प्रशंसति—अष्टाविष्टका इति । गायत्रोऽग्निरिति । अष्टाक्षरपादेन गायत्रीच्छन्दसा सह प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वादग्नेर्गायत्रत्वम्, 'तमग्निर्देवता न्वसृज्यत गायत्रीच्छन्दः' (तै० सं० ७।१।१।४) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। अथोपहितानामिष्टकानां सम्भूय संख्यां प्रशंसति—अष्टाविष्टका उपदधातीति ।

अध्यात्मपक्षे—हे चिद्रूपे परदेवते, त्वं चिदसि विविधभोगसम्पादिकासि, त्वं तया प्रसिद्धया प्राणरूपयाऽपरदेवतया सहाङ्गिरस्वत् प्राणा यथा सर्वाः सर्वाङ्गेषु स्थितास्तथा ध्रुवा स्थिरा सती त्वं सीद निषण्णा भव, हृदय इति शेषः। 'त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्' (भा० पु० ३।९।११) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनात् । हे परदेवते, त्वं परिचिदसि परितः सर्वतः सम्पूर्णस्वर्गापवर्गादिसम्पादिकासि । तया हिरण्यगर्भरूपया बुद्ध्यभिमानिन्या ध्रुवा निश्चला सीद, हृदय इति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे कन्ये, या चिदसि संज्ञप्तासि तया देवतया दिव्यगुणप्रापिकया सह अङ्गिरस्वत् प्राणवद् ध्रुवा सीद । हे ब्रह्मचारिणि, या त्वं परिचिदसि विद्यापरिचयं प्राप्तासि, तया धर्मानुष्ठानयुक्तया क्रियया देवतया दिव्यगुणप्रदया सह हिरण्यगर्भवद् ध्रुवा निष्कम्पा सीद अवतिष्ठस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कन्याब्रह्मचारिण्योः सम्बोधने मानाभावात् । चित्परिचित्-शब्दयोः श्रुतिसूत्ररीत्या इष्टकापरत्वेनार्थान्तरत्वायोगात् । तयेत्यस्य धर्मानुष्ठानयुक्तक्रिययेत्यर्थोऽपि निर्मूल एव, सिद्धान्तरीत्या या त्वामभिमन्यते तयेति व्याख्यानस्य सूत्रसम्मतत्वेन तद्भिन्नार्थायोगात् ॥ ५३ ॥

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके, तुम गार्हपत्य चयनस्थान में पूर्व इष्टिकाओं से अनाक्रान्त होकर इस स्थान को पूर्ण करो और दृढ़ होकर स्थित रहो । इन्द्र देवता, अग्नि देवता और बृहस्पति देवता ने इस स्थान में तुमको स्थापित किया है ॥५४॥

'तिसृषु लोकम्पृणासु मन्त्रो दशसु च, द्वयोर्वा दशस्वेकस्यां च' (का० श्रौ० १७।१।१७-१८)। प्रथमं तिसृषु लोकम्पृणासु तूष्णीमुपहितासु ततो दशसु च लोकम्पृणासु मन्त्रः प्रवर्तते। अथवादौ द्वयोरिष्टकयोरुपहितयोः, ततो दशसूपहितासु, तत एकस्यामुपहितायां मन्त्रः प्रवर्तते। वारद्वयं वारत्रयं वा मन्त्रपाठ इति सूत्रार्थः। एवमेव विंशतीष्टका गार्हपत्ये स्युरिति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ लोकम्पृणामुपदधाति। तस्या उपरि बन्धुस्तिस्रः पूर्वास्त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनमेतच्चिनोति दशोत्तरास्तासामुपरि बन्धुर्द्वे वाऽग्रेऽथ दशार्थैकामेवꣳ हि चितिं चिन्वन्ति तास्त्रयोदश सम्पद्यन्ते तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।१।१।३३)। लोकम्पृणाया इष्टकाया उपधानं विधत्ते—अथेति। एवमष्टाविष्टका उपधायानन्तरमवशिष्टे गार्हपत्यचितिस्थाने लोकम्पृणाख्यामिष्टकामुपदधाति, लोकं शिष्टं स्थानं पृण पूरयेति तन्मन्त्रे (वा० सं० १२।५४) प्रतिपादनात्। तस्या लोकम्पृणाया उपरि उपरिष्टाद् अष्टमकाण्डावसाने 'असौ वा आदित्यो लोकम्पृणा' (श० ८।७।२।१) इत्यादिः स्तावको वाक्यशेष आम्नास्यत इत्यर्थः। सकृदुच्चरितेन लोकम्पृणेति मन्त्रेण तिसृणां युगपदुपधानं विधत्ते—तिस्रः पूर्वा इति। तत्प्रशंसति—त्रिवृदग्निरिति। 'स श्रान्तस्तेपानो मृदꣳ शुष्कापम्' (श० ६।१।१।१३) इत्यादिश्रुतिष्वग्नेस्त्रिवृत्त्वं प्रतिपादितम्। अतोऽग्नेस्त्रिवृत्त्वसंख्यायोगात् तिसृणामुपधानं युक्तमित्यर्थः। अथ तेनैव सकृदुच्चरितेनैव मन्त्रेण दशानामिष्टकानामुपधानं विधत्ते—दशोत्तरा इति। उत्तरा उपरिभाविनीरित्यर्थः, उपदधातीति शेषः। तासामुपरीति। तासां दशानामिष्टकानां यादृशी संख्या तत्स्तावकोऽर्थवादो भविष्यतीत्यर्थः। पूर्वं त्रयोदशानां लोकम्पृणानां द्वेधा विभागेनोपधानमभिधाय त्रेधा विभागपक्षमाह—द्वे वाग्रे इति। एतच्च पक्षद्वयं सूत्रकृतापि दर्शितम्—'तिसृषु लोकम्पृणासु मन्त्रो दशसु च, द्वयोर्वा दशस्वेकस्यां च' (का० श्रौ० १७।१।१७-१८)। मन्त्रार्थश्चोपरिष्टादुक्त एव। द्वितीयं पक्षं लौकिकेन निदर्शनेनोपपादयति—एवं हीति। यत्र हि काष्ठादिभिश्चितिर्निर्मीयते, तत्रैवमेव हि चितिं चिन्वन्ति। मूलाग्रभागयोर्द्वे काष्ठे प्रथमं तिर्यक् स्थापयन्ति। पश्चात्तयोरुपर्युपर्यन्यानि सर्वाणि प्रागग्राण्यवशिष्टानि स्थापयन्ति। उपरिष्टाच्चलनाभावायैकं पुनः स्थापयन्ति। तस्मात्तदनुसारेणायं पक्ष उक्त इत्यर्थः। तासां लोकम्पृणानां संख्यां सम्भूयानूद्य प्रागुक्तं वाक्यशेषं दर्शयति—तास्त्रयोदशेति। 'त्रयोदश मासाः संवत्सरः' इत्यादिरुक्तो वाक्यशेषोऽत्रापि योजनीय इत्यर्थः।

'ता उभय्य एकविꣳशतिः सम्पद्यन्ते। द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविꣳशोऽमुं तदादित्यमस्मिन्नग्नौ प्रतिष्ठापयति' (श० ७।१।१।३४)। पूर्वाभिरिष्टकाभिः सहैतासां संख्यां सम्भूय प्रशंसति—ता उभय्य इति। उभय्य उभयविधाः। 'अयꣳ सो अग्निः' इत्यादिभिर्मन्त्रैः प्रागुपहिता अष्टौ, लोकम्पृणास्त्रयोदशेति मिश्रिता एकविंशतिर्भवन्ति। एकविंश इत्येकविंशतिसंख्यापूरकः। 'तस्य पूरणे डट्' (पा० सू० ५।२।४८) इति डटि 'ति विंशतेर्डिति' (पा० सू० ६।४।१४२) इति तिलोपे पररूपे रूपसिद्धिः। तत् तेन एकविंशतिसंख्यासम्पादनेन अमुं द्युलोकस्थमेवादित्यमस्मिन् चितेऽग्नौ प्रतिष्ठापयति। एकविंशतिसंख्यायोगाच्चीयमानोऽग्निस्तदात्मको भवतीत्यर्थः। 'एकविꣳशतिर्वेव परिश्रितः। द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका अयमग्निरमुतोऽध्येकविꣳश इमं तदग्निममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति तद्यदेता एवमुपदधात्येतावेवैतदन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठापयति तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ तौ वा एतावत्र द्वावेकविꣳशौ सम्पादयत्यत्र ह्येवेमौ तदोभौ भवत आहवनीयश्च गार्हपत्यश्च' (श० ७।१।१।३५)। परिश्रितां संख्यामनूद्य स्तौति—एकविंशतिरिति। 'उ' 'एव' इत्यनयोर्यणादेशे 'वेव' इति रूपम्। उशब्दोऽप्यर्थे। परिश्रितो गार्हपत्यचितेः परितः चिताः शर्करा अप्येकविंशतिसंख्याका एव भवन्ति। तत्रापि मासादिलोकान्ता विंशतिः पूर्ववत्। अयमेव चीयमानोऽग्निः, अमुतः अमुत्र परिश्रिति, एकविंश एकविंशतिसंख्यापूरकः। अधिः सप्तम्यर्थानुवादी। तत् तथा सतीममेकविंशमग्नि·

ममुष्मिन् एकविंशे आदित्ये प्रतिष्ठापयति। तदेव विवृणोति—तद्यदित्यादिना। तत् तत्र यद् यस्माद् एताः परिश्रित इष्टकाश्च एवं प्रत्येकमेकविंशतिसंख्याका उपदधाति, एतद् एतेन कारणेन एतावेव अग्न्यादित्यौ, अन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठापयति। अत एवेदानीं तावेतौ अन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ दृश्येते। आदित्यो रात्रावग्निं प्रविश्य प्रतितिष्ठति, अग्निश्चोद्यन्तमादित्यं प्रविश्य प्रतिष्ठितो भवति। एतच्च अग्निहोत्रब्राह्मणे (श० २।३।१।३ स्थले) प्रतिपादितम्। तयोरुभयोरप्यत्र सन्निधानमाह—तौ वा इति। परिश्रिदिष्टकासंख्यया द्वयोरेकविंशयोरत्र सम्पादनादिमौ अग्न्यादित्यौ उभौ अप्यत्र चित्याग्नौ सन्निहितौ भवतः। तत्राहवनीयचितिरूपेण आदित्यः, गार्हपत्यचितिरूपेणाग्निरिति तयोर्विभाग इत्यर्थः।

अथ कण्डिकार्थो निरूप्यते—लोकम्पृणादेवत्यानुष्टुप्। हे लोकम्पृणेष्टके, त्वं लोकं पृण गार्हपत्यचयनप्रदेशे पूर्वष्टकाभिरनाक्रान्तमवशिष्टस्थानं पूरय। तथा छिद्रं पृण किञ्चिदपि छिद्रं यथा न दृश्यते तथा पूरय, संश्लिष्टा भवेत्यर्थः। 'पृण प्रीणने' तुदादिः। अथो अपि च ध्रुवा दृढा सती त्वं सीद तिष्ठ। किञ्च, इन्द्राग्नी बृहस्पतिश्चैते देवा अस्मिन् योनौ स्थाने त्वाम् असीषदन् सादितवन्तः। सदेश्चङ्। नहि मानुषोऽध्वर्युस्त्वां सादितुं शक्नोतीति भावः।

अध्यात्मपक्षे—हे चिद्रूपे भगवति, लोकं लोकान्। जातावेकवचनम्। पृण तर्पय। परमेश्वरानुग्रहेणैव सर्वतृप्तिर्भवति, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः। छिद्रं ज्ञानभक्त्यादिन्यूनत्वं पृण पूरय। अथो अपि च, ध्रुवा दृढा सती त्वं सीद साधकानां हृदये निषण्णा भव। इन्द्राग्नी बृहस्पतिश्च। इन्द्रः पराक्रमदेवता, अग्निः प्रकाशदेवता, बृहस्पतिः प्रतिभादेवता। त्वाम् अस्मिन् योनौ साधकानां हृदये असीषदन् सादयन्तु। तासां देवतानामनुग्रहेण चिद्रूपा परदेवता निश्चला सती हृदये राजते।

दयानन्दस्तु—'हे कन्ये, यां त्वामस्मिन् विद्याबोधे योनौ बन्धविच्छेदके मोक्षप्रापके इन्द्राग्नी मातापितरौ, बृहस्पतिर्बृहत्या वेदवाचः पालिकाध्यापिका असीषदन् प्रापयन्तु, तस्मिन् त्वं ध्रुवा दृढनिश्चया सीद। छिद्रं छिनत्ति यत्तत् छिद्रं न्यूनत्वं पृण पिपूर्हि। लोकं सम्प्रेक्षितव्यं पृण तर्पय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कन्यायाः सम्बोधने मानाभावात्, 'योनिपदस्य बन्धविच्छेदको मोक्षप्रापकश्चार्थो' इत्यत्र मानाभावात्। इन्द्राग्नी इत्यस्य मातापितरावर्थ इत्यपि निर्मूलम्। सम्प्रेक्षणीयान् पुरुषान् कन्या कथं तर्पयिष्यति ? कथं च तस्य धर्मानुगुण्यमिति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु ॥ ५४ ॥

ता अस्य सूददोहसः सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ द्युलोक सम्बन्धी अनेक प्रकार के जल और अन्न से संयुक्त व प्रसिद्ध जल के अधिष्ठातृ देवता देवताओं के जन्म वाले संवत्सर में तीन सवनों के मध्य में इस यज्ञसम्बन्धी सोम को सम्यक् प्रकार से परिपक्व करते हैं ॥ ५५ ॥

'नित्ये सादनसूददोहसा उपधानादुत्तरे तया देवतया ता अस्येति' (का० श्रौ० १६।७।१४)। 'चिदसि तया देवतया' (वा० सं० १२।५३) इति मन्त्रेण सादनमुपहितानामिष्टकानां स्थिरीकरणम्, 'ता अस्य' (वा० सं १२।५५) इति सूददोहसाधिवदनम्। इष्टकाया उपरि हस्तं निधाय उक्तमन्त्रोच्चारणं सूददोहसाधिवदनम्। एते नित्ये सर्वत्रेष्टकासु कर्तव्ये इति सम्भूय द्वित्राणां सूत्राणामर्थः। इन्द्रपुत्रप्रियमेधदृष्टा अब्देवत्याऽनुष्टुप्। दिवो द्युलोकस्य स्वर्गस्य रोचने प्रकाशके, अस्य यजमानस्य जन्मन् जन्मनि जन्मनिमित्तभूते सति

देवानां सम्बन्धिन्यो विशः प्रजारूपाः पृश्नय अल्पगोसदृशाः सूददोहसोऽन्नस्य दोहयित्र्यस्ता इष्टकास्त्रिषु प्रातःसवन-मध्याह्नसवन-सायंसवनेषु आ समन्तात् सोमं श्रीणन्ति पक्वं कुर्वन्ति। यद्वा दिवो द्युलोकसम्बन्धिनो दिवश्च्युता वा सूददोहसः सूदाश्च आपश्च दोहसश्च अन्नानि चेति सूददोहसः। अथवा सूदेन सहिता दोहसः सूददोहसः। पृश्नयो नानाविधाः। ताः प्रसिद्धा अस्य विशो यज्ञस्य सम्बन्धिनं सोममाश्रीणन्ति सम्यङ् मिश्रयन्ति पक्वं कुर्वन्ति। 'श्रीञ् पाके' क्र्यादिः। अथवा पृश्नयोऽन्नरूपाः, 'आपो वै सूदोऽन्नं दोहः' (श० ८।७।३।२१), 'यज्ञो वै विशः' (श० ८।७।३।२१), 'अन्नं वै पृश्निः' (श० ८।७।३।२१) इति श्रुतिभ्यः। अत्रागत्य व्रीह्यादिधान्यनिष्पादका इत्यर्थः। कदा श्रीणन्तीति चेत्, देवानां जन्मन् जन्मनि, संवत्सर इत्यर्थः। 'संवत्सरो वै देवानां जन्म' (श० ८।७।३।२१) इति श्रुतेः। संवत्सरे संवत्सरे सोमयागस्तदभिप्रायमेतत्। त्रिषु आरोचने त्रिषु आरोचनेषु। 'सवनानि वै त्रीणि रोचनानि' (श० ८।७।३।२१) इति हि श्रुतिः। वचनव्यत्ययः। यज्ञपरिणामभूता अन्नोत्पादिका आपो दिवः सकाशादस्मिल्लोके पतित्वौषधिवनस्पत्यन्नभूताः सत्यः सोमस्योपकुर्वन्तीति भावः।

अत्र ब्राह्मणम्—'ता अस्य सूददोहस इति। आपो वै सूदोऽन्नं दोहः सोमᳪ श्रीणन्ति पृश्नय इत्यन्नं वै पृश्नि जन्मन् देवानामिति संवत्सरो वै देवानां जन्म विश इति यज्ञो वै विशो यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि त्रिष्वा रोचने दिव इति सवनानि वै त्रीणि रोचनानि सवनान्येतदाहानुष्टुभा वाग्वा अनुष्टुब् वागु सर्वे प्राणा वाचा चैवैने एतत्प्राणेन च सन्तनोति सन्दधाति सा वा एषैका सती सूददोहाः सर्वा इष्टका अनुसञ्चरति प्राणो वै सूददोहास्तस्मादयमेक एव प्राणः सन् सर्वाण्यङ्गानि सर्वमात्मानमनुसञ्चरति' (श० ८।७।३।२१)। अस्य यजमानस्य या आपः सवनेषु दधामीति समुदायार्थप्रसिद्ध्यर्थं पदार्थानाचष्टे—आपो वै सूदोऽन्नं दोह इत्यादिना। स्यन्दतीति सूदः संघोदकसंघातः, 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्' (म० स्मृ० १।८) इत्यादिधर्मशास्त्रेषु प्रसिद्धः। स एव कार्येषु भोग्येष्वाद्यभावेन अन्नरूपेण परिणतः। उपजीव्यत्वादन्नं वृत्तमिति प्रकारेण दोहोऽन्नम्। दोग्धि प्रपूरयति कामानिति दोहोऽन्नम्। प्रसन्नमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—दिवो द्युलोकस्य रोचने प्रकाशमये स्थाने अस्य साधकस्य जन्मन् जन्मनिमित्ते कर्मोपासनादौ सति देवानां सम्बन्धिन्यो विशः प्रजाः पृश्नयोऽल्पगोसदृशाः सूददोहसः सूदस्य उदकादिसहितस्य अभीष्टान्नादेर्दोहयित्र्यस्त्रिषु प्रातरादिसवनेषु आ समन्तात् सोमं सोमोपलक्षितमभीष्टं भक्ष्यभोज्यादिकं श्रीणन्ति पचन्ति। भगवदुपासकानां भगवदनुग्रहबलेन सर्वानुकूल्यं सम्पद्यत इत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'या देवानां दिव्यानां विदुषां यतीनां सूददोहसः सूदाः सुष्ठु पाचका दोहसो गवादिदोग्धारश्च यासां ताः पृश्नयः सुस्पर्शास्तन्वङ्ग्यः पत्न्यः। अत्र स्पृशधातोर्निप्रत्ययः सलोपश्च। जन्मन् द्वितीये विद्याजन्मनि विदुष्यो भूत्वा दिवो दिव्यस्य गृहाश्रमस्य सोमं सोमरसान्वितं पाकं श्रीणन्ति परिपक्वं कुर्वन्ति, ता ब्रह्मचारिण्य आरोचने रुचिकरे व्यवहारे त्रिषु भूतभविष्यद्वर्तमानकालेषु सुखदा भवन्ति, विशः प्रजाश्च प्राप्नुवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्य सर्वस्य व्यवहारस्य लोकप्राप्तत्वेनाज्ञातज्ञापके वेदे तदप्रतिपादनात्। देवा मनुष्यभिन्ना देवयोनय इत्युक्तमेव। सूद इति शब्दस्य पाचक एवार्थः। सुष्ठु पाचक इत्यर्थः कुतः? तद्वाचकस्य कस्यापि पदस्य मन्त्रेऽभावात्। सूदा दोहसश्च यासामिति बहुव्रीहिरप्यसंगतः, परस्परमसम्बद्धेषु पदेष्वेकार्थीभावाभावात् समासायोगात्, यत्रान्यपदार्थता विश्राम्यति तादृशस्य पदस्याभावाच्च। न च पृश्नय इति पदे विद्यमाने कथमेवं वक्तुं सुशकमिति वाच्यम्, तत्पदस्यार्थान्तरत्वात्। 'पृश्निरादित्यो भवति' इति तत्र भगवान् यास्कः। 'घृणिपृश्निपार्ष्णि' (उ० ४।५२) इत्यादिना हि पृश्निशब्दः संसाध्यते। तस्य च अल्पतनुरर्थः, 'पृश्निरल्पतनौ' (अ० को० २।६।४८) इत्यमरकोषात्। तथा च पत्नीरूपोऽर्थोऽस्य शब्दस्य

कथङ्कारमपि नायाति। वामनो हि सर्वैरपि स्प्रष्टुं सुशकः। दिव इत्यस्य दिव्यो गृहाश्रम इत्यर्थोऽपि निर्मूल एव। सुखदा इत्यपि निर्मूलम्, श्रुतिविरोधात्। श्रुतौ हि 'आपो वै सूदोऽन्नं दोहः' इति व्याख्यातम् ॥ ५५ ॥

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम् ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण ऋक्, यजुः और साम रूप स्तुतियां समुद्रवत् व्यापक, सब रथियों के मध्य में अत्यन्त रथी, अन्न के पति, निज धर्म में रहने वालों के पालक इन्द्र को वर्धित करती हैं ॥ ५६ ॥

'चात्वालदेशात् पुरीषं निवपतीन्द्रं विश्वा इति' (का० श्रौ० १७।१।१९) चात्वालस्थानान्मृदमानीय गार्हपत्यचितेरुपरि क्षिपतीति सूत्रार्थः। इन्द्रदेवत्या मधुच्छन्दसुतजेतृदृष्टाऽनुष्टुप्। विश्वाः सर्वा गिरोऽस्मदीयाः स्तुतय ऋग्यजुःसामलक्षणाः, इन्द्रम् अवीवृधन् वर्धयन्ति। कीदृशमिन्द्रम्? समुद्रव्यचसम्, समुद्रवद् व्यचो व्याप्तिर्यस्यासौ समुद्रव्यचाः, तम्। समुद्रवद् व्याप्तिमन्तं विविधाञ्चनं नानागतिं वा अक्षोभ्यबलं वा। रथीनां रथयुक्तानां योद्धॄणां मध्ये रथीतममतिशयेन रथवन्तम्, रथयुद्धे लब्धातिशयमित्यर्थः। वाजानामन्नानां स्वामिनम्। सत्पतिं सतां सन्मार्गवर्तिनां पालकम्। तथा वाजानामन्नानां पतिं पालकम्। रथीतममित्यत्र 'ईद्रथिनः' (पा० सू० ८।२।१७) इति घे परे रथिन ईदादेशः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पुरीषं निवपति। तस्योपरि बन्धुस्तच्चात्वालवेलाया आहरत्यग्निरेष यच्चात्वालस्तथो हास्यैतदाग्नेयमेव भवति सा समम्बिला स्यात् तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।१।१।३६)। पुरीषनिवपनं विधत्ते—अथ पुरीषमिति। इष्टकासन्धिषु छिद्रपूरणार्थाः पांसवः पुरीषम्। तस्मात्तासामुपरि प्रक्षिपतीत्यर्थः। तस्योपरि बन्धुरिति तस्य पुरीषनिवपनस्य प्रयोजनप्रतिपादको वाक्यशेषः—'इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्' (श० ८।७।३।७) इति। तन्मन्त्रविधिश्चोपरिष्टादष्टमकाण्डावसान आम्नास्यत इत्यर्थः। 'इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्निति। इन्द्रꣳ हि सर्वाणि भूतानि वर्धयन्ति समुद्रव्यचसं गिर इति महिमानमस्यैतदाह रथीतमꣳ रथीनामिति रथितमो ह्येष रथिनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिमित्यन्नं वै वाजा अन्नानाꣳ सत्पतिं पतिमित्येतदैन्द्र्याऽनुष्टुभा निवपत्यैन्द्रꣳ हि पुरीषं तदेतदर्धमग्नेर्यत्पुरीषमर्धमेष्टकम्' (श० ८।७।३।७)। प्रसन्ना कण्डिका। इयमेव कण्डिका बन्धुरित्यर्थः। पुरीषाहरणं विधत्ते—तच्चात्वालवेलाया इति। उत्तरवेद्यर्थानां पांसूनां निर्हरणस्थानं चात्वाल उत्तरवेद्यंसदेशः, तस्य या वेला समीपदेशः, ततः पुरीषमाहरेदित्यर्थः। तत्प्रशंसति—अग्निरेष इति। आहवनीयाग्न्याधारोत्तरवेदिहेतुत्वाच्चात्वालस्याग्न्यात्मकता। तथो हेति। तथैव खलु सत्यस्य चित्याग्नेरेतत्पुरीषमप्याग्नेयमग्निसम्बद्धमेव भवति। इत्थं पुरीषान्ता गार्हपत्यचितिरुक्ता।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रं परमैश्वर्यशीलं परमात्मानं विश्वाः सर्वा गिर ऋगादिलक्षणाः स्तुतयः, अवीवृधन् वर्धयन्ति प्रोत्साहयन्ति। कीदृशमिन्द्रम्? समुद्रव्यचसं समुद्रवद् जलधिवद् आकाशवच्च व्यापकं सर्वगतं वा। पुनः कीदृशम्? रथीनां रथयोद्धॄणां मध्ये रथीतमं विनापि रथेन योद्धारम्, तस्य निरतिशयवीर्यशालित्वात्। वाजानामन्नानां पतिं स्वामिनं सत्पतिं सज्जनानां सन्मार्गस्थानां पालकम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषाः, यूयं यथा विश्वा अखिला गिरो वेदविद्यासंस्कृता वाचः समुद्रव्यचसं समुद्रस्य व्यचसो व्याप्तय इव यस्मिन् तम्, वाजानां संग्रामाणां मध्ये रथीतममतिशयेन प्रशस्तरथयुक्तम्, सत्पतिं सत ईश्वरस्य वेदस्य धर्मस्य वा पालकमवीवृधन् पालयेयुः, तथा सर्वान् वर्धयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्,

सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । न च समुद्रव्यचसस्तादृशसंग्रामाणां वीराणां मध्ये कश्चिद् रथीतमः प्राकृतः पुरुष उपलभ्यते, यं विश्वा गिरो वर्धयेयुः । न वा तादृशवर्धनमन्येषां सम्भवतीति निरर्थकमेव वचनं स्यात् । भावार्थस्तु सर्वथा मूलमन्त्रासम्बद्ध एव ॥ ५६ ॥

समितꣳ सङ्कल्पेथाꣳ सम्प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । इषमूर्जमभि संवसानौ ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—समान प्रीति वाले, कान्तिमान्, परस्पर श्रेष्ठ चित्त वाले हे उखापाग्नि और चिति के अग्नि देवताओ ! आप लोग अन्न घृत आदि रस का उपभोग करते हुए, अर्थात् हमारे दिये हुए अन्न और रस को स्वीकार करते हुए, एक मन होकर मिलो, एक संकल्प वाले हो जाओ ॥ ५७ ॥

'समम्बिलां कृत्वोख्यं निवपति समितमिति' (का० श्रौ० १७।१।२०) । समम्बिलं मुखं यस्याः सा समम्बिला ताम् । विभक्त्यलुक् छान्दसः । गार्हपत्यचिर्ति पुरीषनिवपनेन समम्बिलामिष्टकोच्चतासमां कृत्वा परिश्रित्समां कृत्वा उख्यमग्निं गार्हपत्यचितेर्मध्ये नीचैः स्थापयेत् चतुर्भिर्मन्त्रैरिति सूत्रार्थः । तथा च ब्राह्मणम्—'सा समम्बिला स्यात् तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।१।१।३६) । सा गार्हपत्यचितिः समम्बिला समं समानं बाह्यान्तरभावेन न्यूनाधिकाकाररहितं बिलं परितः प्रान्तप्रदेशो यस्याः सा । तस्य बिलसाम्यस्य बन्धुः स्तावको वाक्यशेष उखानिर्माणप्रस्तावे (श० ६।५।२।२०) आम्नात इत्यर्थः । चतस्रो द्व्यग्निदेवत्याः । समितमित्युष्णिगेकाधिका, अनियताक्षरपादत्वेऽप्यष्टाविंशत्यक्षरत्वात् । यदिदं गार्हपत्यचयनमभिहितं तस्मिन् उख्याग्निनिर्वचनवेलायां द्वावग्नी सम्पद्येते । पूर्वसिद्धोऽग्निरेकः, उख्योऽग्निरपरः । तावुभौ सम्बोध्येदमुच्यते । हे अग्नी, युवामुभौ समितं सङ्गतौ भवतम् । सङ्गत्य च सङ्कल्पेथाम् एकसङ्कल्पौ भवतम् । यद्वा सम्यग्यज्ञस्य कल्पनं निष्पादनं कुरुतम् । कीदृशौ युवाम् ? सम्प्रियौ सम्यक् परस्परं प्रीतियुक्तौ । रोचिष्णू दीप्यमानौ । सुमनस्यमानौ परस्परं सौमनस्यं प्राप्तौ, परस्परं शोभनचित्तयुक्तौ । इषमन्नमूर्जं रसं वा अभिसंवसानौ अभितः सम्यक् सम्पादयन्तौ । इषमन्नम् ऊर्जमुपसेचनं घृतदुग्धदध्यादि, अभिसंवसानौ अभ्यवहरन्तौ भुञ्जानौ वा । उपवसतीत्यादौ भौवादिकस्य वसेर्भोजननिषेधे वृत्तिर्दृष्टा । आदादिकस्य तु वसेर्भोजननिवृत्तिमपहाय भोजनरूपेऽर्थान्तरे वृत्तिः । 'रुच् दीप्तावभिप्रीतौ च' इति धातोः 'अलंकृञ्निराकृञ्·····' (पा० सू० ३।२।१३६) इत्यादिना ताच्छील्यादाविष्णुचि प्रथमाद्विवचने रूपम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे रामलक्ष्मणौ बलरामकृष्णौ वा, युवामुभौ समितं सङ्गतौ भवतम् । सङ्कल्पेथां समानसङ्कल्पौ भवतम् । भक्ताभीष्टसिद्धेः सम्यक् कल्पनं निष्पादनं कुरुतम् । कीदृशौ ? सम्प्रियौ परस्परं सुष्ठुप्रीतियुक्तौ, रोचिष्णू दीप्यमानौ, सुमनस्यमानौ सौमनस्यं प्राप्तौ, इषमन्नमूर्जं रसं भक्तैः समर्पितम् अभिसंवसानौ भुञ्जानौ, अभितः सम्यक् सम्पादयन्तौ वा । एवं राधाकृष्णौ सीतारामौ लक्ष्मीविष्णू पार्वती-परमेश्वरौ वा सम्बोध्य मन्त्रार्थो व्याख्यातव्यः ।

दयानन्दस्तु—'हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ, युवां सम्प्रियौ परस्परं सम्यक् प्रीतियुक्तौ रोचिष्णू विषयासक्ति-विरहत्वेन देदीप्यमानौ सुमनस्यमानौ सुमनसौ सखायौ विद्वांसाविव आचरन्तौ संवसानौ सम्यक् सुवस्त्रालङ्कारै-राच्छन्नौ सन्तौ इषमिच्छां समितम् एकीभावं प्राप्नुतम् । ऊर्जं पराक्रमम् अभिसङ्कल्पेथां समानाभिप्रायेण कल्पेथां समर्थयेताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधने मानाभावात् । चयनकर्मपक्षे तु ब्राह्मणं प्रमाणम् । परमात्मपक्षे—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १।२।१५) इति श्रुतिः प्रमाणम् ॥ ५७ ॥

सं वां मना॑ᳬसि सं व्र॒ता समु॑ चि॒त्तान्याक॑रम् ।
अग्ने॑ पुरीष्याधि॒पा भ॑व॒ त्वं न॒ इष॒मूर्जं॒ यज॑मानाय धेहि ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—हे दोनों अग्नियो, तुम्हारे मन को मैं सब प्रकार से संगत करता हूँ, व्रत को संगत करता हूँ, मनोगत संस्कारों को संगत करता हूँ। हे पशुसम्बन्धी गृहस्थ के कार्यसाधक अग्निदेव, आप हमारे अधिपति हो। हमारे यजमान के निमित्त अन्न और बल प्रदान करो ॥ ५८ ॥

उपरिष्टाद् बृहती। अष्ट-सप्त-नव-त्रयोदशाक्षरपादत्वात् एकाधिका। हे पूर्वोक्तौ चित्योख्यौ अग्नी, वां युवयोर्मनांसि मनोजन्यान् सङ्कल्पान् सं सर्वतः संगतान् आकरं करोमि। तथा व्रतानि कर्माणि समाकरम्। 'व्रतमिति कर्मनाम' (निघ० २।१।७)। तथा चित्तानि समाकरम्। हे पुरीष्य पांसुयुक्ताग्ने मिलितोभयाग्निस्वरूप! नोऽस्माकमधिपा अधिकं पालयिता भव। तादृशस्त्वं यजमानाय इषमन्नमूर्जं रसं च धेहि देहि। यद्वा—वां युवयोर्मनांसि मनोबुद्ध्यहङ्कारान्। बहुवचनादेवं व्याख्यानम्। समाकरं सङ्गतान् करोमि। करोतेर्लङ्युत्तमैकवचने व्यत्ययेन शपि 'अकरम्' इति रूपम्। तथा सं व्रता व्रतानि कर्माणि समाकरम्। तथा समु चित्तानि मनोगतसंस्कारान् समाकरं सङ्गतान् करोमि। उकारः समुच्चयार्थः। एवं मनःकर्मसंस्कारैरेकीभूतमग्निं प्रार्थये—हे पुरीष्य पशव्य अग्ने, त्वं नोऽस्माकं अधिपा अधिपतिरधिकः पालको भव। इषमन्नं ऊर्जं तदुपसेचनं दध्यादि च यजमानाय धेहि देहि।

अत्र ब्राह्मणम्—'व्याममात्री भवति। व्याममात्रो वै पुरुषः पुरुषः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसम्मितां तद्योनिं करोति परिमण्डला भवति परिमण्डला हि योनिरथो अयं वै लोको गार्हपत्यः परिमण्डल उ वा अयं लोकः' (श० ७।१।१।३७)। गार्हपत्यचितेः परिमाणं विधत्ते—व्याममात्रीति। तत् प्रशंसति— व्याममात्रो वा इति। व्यायम्यतेऽस्मिन् बाहुद्वयमिति व्युत्पत्त्या व्यायाम इति शब्दो निष्पद्यते। स एवात्र वर्णलोपेन व्याम इत्युच्यते। स च तिर्यक्प्रसारितौ बाहू यावत्परिमाणौ भवतः, तस्य परिमाणविशेषस्य संज्ञा। चतुररत्निर्व्याम इति प्रसिद्धम्। व्याममात्रः पुरुषः पुरुषः प्रजापतिरित्यादि ब्राह्मणं स्पष्टम्। 'अथैनौ सन्निवपति। संज्ञामेवाभ्यामेतत्करोति समितᳬ सङ्कल्पेथाᳬ सं वां मनाᳬसि सं व्रताग्ने त्वं पुरीष्यो भवतं नः समनसाविति शमयत्येवैनावेतदहिᳬसायै यथा नान्योन्यᳬ हिᳬस्याताम्' (श० ७।१।१।३८)। गार्हपत्यचितिरूपस्याग्नेरुख्याग्नेश्च चतुर्भिर्मन्त्रैः संसर्जनं विधत्ते—अथैनाविति। अथ गार्हपत्यचयनानन्तरम्, एनौ चित्योख्यरूपावग्नी, सन्निवपति सङ्क्रमयति। इष्टकाभिश्चिते गार्हपत्यधिष्ण्ये उख्यमग्निं स्थापयतीत्यर्थः। सन्निवपतीति संशब्दसूचितमर्थमाह—संज्ञामेवेति। आभ्यामग्निभ्यां संज्ञामग्निद्वयकर्तृकं संज्ञानम्, अर्थात् परस्परैकमत्यमेतेन सन्निवपनेन करोति। तत्र करणभूतानां चतुर्णां मन्त्राणां प्रतीकग्रहणं करोति समितमिति। समितमिति प्रथमस्य प्रतीकम्, सं वामिति द्वितीयस्य, अग्ने त्वं पुरीष्य इति तृतीयस्य, भवतं न इति चतुर्थस्य। मन्त्राणां तात्पर्यमाह—शमयत्येवैनाविति। परस्परं विद्विषाणौ एनौ अग्नी एतेन मन्त्रकरणेन निवपनेन शमयत्येव शान्तावेव करोति। तच्च शमनमहिंसायै हिंसापरिहाराय भवति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्येयम्। हे रामलक्ष्मणौ बलरामकृष्णौ सीतारामौ राधाकृष्णौ पार्वतीपरमेश्वरौ वा, वां युवयोर्मनांसि मनःसङ्कल्पान् सर्वतः सङ्गतान् करोमि। व्रतानि कर्माणि सृष्टिस्थित्यादीनि तदर्थं दैत्यवधादीनि भक्तरक्षणादीनि चैकरूपाणि करोमि। समु चित्तानि समानान् संस्कारान् करोमि। यद्यपि स्वाभाविकमेव तयोः समानमनस्त्वादिकम्, तथापि यथा सदा विजयादिशीलस्यापि भगवतो विजयाद्याशंसा भक्तैः

क्रियते, यथा वा सुखरूपयोरप्युभयोः सुखप्राप्तिराशास्यते, तथैवैकरूपयोरप्येकचित्तत्वादिकमाशास्यते—'यस्य प्रेक्षणमात्रतो जडधियां चैतन्यलाभोऽनिशं सर्वोत्कर्षकलाकलापकलितश्रीविग्रहोद्योतितौ। तौ श्रीनन्दनकन्यका-रघुवरौ नित्यं सुखं प्राप्नुतां कुञ्जागारमनोज्ञकेलिकलया लोकोत्तरश्रीयुतौ॥' (भुशुण्डिरामायणे, पू० खण्डे १२२ अध्याये) इति। एवं मनःकर्मसंस्कारैरेकोकृतैरेकीभूत हे पुरीष्य सर्वजीवपशुहितकारिन्, नोऽस्माकमधिपा आधिक्येन पालको भव। इषं त्वदुपासनोपयुक्तमन्नमूर्जं रसं घृतदुग्धादिकं च देहि।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषौ, यथाहमाचार्यो वां सम्मनांसि सङ्कल्पविकल्पाद्यन्तःकरणवृत्तिरूपाणि मनांसि संव्रता संव्रतानि सत्यभाषणादीनि संचित्तानि संज्ञप्तानि धर्म्याणि कार्याणि समाकरमेकस्मिन् धर्मे सङ्गतानि समन्तादकरं कुर्याम्, तथैव युवामपि मम प्रियमाचरतम्। हे पुरीष्य अग्ने उपदेशक आचार्य, त्वं नो अधिपा अधिकः पालको भव। यजमानाय धर्मेण सङ्गन्तुं शीलाय इषमन्नादिकमूर्जं शरीरात्मबलं च धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आचार्यस्यान्यस्य वोपदेशकस्यान्नशरीरात्मादिबलधारणे सामर्थ्याभावात्॥ ५८॥

अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमाँ२॥ असि।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः॥ ५९॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, तुम पशुसम्बन्धी, पशुहितकारक, धनवान् और पुष्टिमान् हो। तुम्हारे प्रसाद से हम पुष्टि और ऐश्वर्य प्राप्त करें। तुम सब दिशाओं के लिये कल्याणकारक बनकर यहाँ अपने स्थान में स्थित रहो॥ ५९॥

उख्याग्निदेवत्या उष्णिक्। आर्षी एकाधिका अनियताक्षरपादा। हे अग्ने भगवन्, त्वं पुरीष्यः पुरीषादिभिर्युक्तः पशव्यो वासि। पांसुयुक्तो रयिमान् धनवान् पुष्टिमान् पोषणयुक्तश्चासि। सर्वा दिशः शिवाः शान्ताः कृत्वा इह अस्मिश्चयने स्वं योनिं स्वकीयस्थानमासदः प्राप्नुहि। अत्र ब्राह्मणम्—'चतुर्भिः सन्निवपति। तद्यै चतुष्पादाः पशवस्तैरेवाभ्यामेतत्संज्ञां करोत्यथो अन्नं वै पशवोऽन्नेनैवाभ्यामेतत्संज्ञां करोति' (श० ७।१।१।३९)। चतुर्मन्त्रकरणकमुख्याग्नेर्गार्हपत्यचितिमध्ये निवपनं विधत्ते—चतुर्भिः सन्निवपतीति। सन्निवपति नीचैः स्थापयति। तेन निवपनेन ये चतुष्पादाः पशवो गवाश्वादयस्तैरेवोपायनभूतैराभ्यामुख्यचित्यात्मकाभ्यामग्निभ्यां संज्ञां परस्परमैकमत्यं करोति। कारणान्तरमप्याह—अथो इति। अन्नं वै पशवः, सम्भोजनीयत्वात्। अन्नेन पशुरूपेणैतत्संज्ञां करोति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं पुरीष्यः पशव्यः सर्वजीवपशुहितकार्यसि। रयिमान् श्रीमानसि ऐश्वर्यमाधुर्याधिष्ठातृश्रिया लक्ष्म्या सम्पन्नोऽसि। पुष्टिमानसि ज्ञानवैराग्यैश्वर्यादिपोषणशक्तिमानसि। सर्वाः प्राच्यादिदिशस्तत्रस्थाः प्रजाश्च शिवाः सुखमयीः कृत्वा इह संसारे स्वयोनिमभिव्यक्तिस्थानं विष्णु-शिव-राम-कृष्णादिप्रतिमा अधिष्ठाय आसद आस्व।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यतस्त्वमिह पुरीष्य ऐकमत्यपालनेषु भवो रयिमान् विद्याविज्ञानधनयुक्तः पुष्टिमान् प्रशस्तशरीरात्मबलसहितोऽसि, तस्मात् सर्वा दिश उपदेष्टव्याः प्रजाः शिवाः कल्याणोपदेशयुक्ताः कृत्वा स्वं स्वकीयं योनिं सुखसाधकं दुःखविच्छेदकमुपदेशमिहास्मिन् संसारे आस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाभ्यूहमात्रव्याख्यानात्, पुरीषपदस्य ऐकमत्यार्थे मानाभावात्। रयिमानित्यादिशब्दानामपि गौणार्थाश्रयणं निर्मूलमेव। दिश इत्यस्य प्रजाः, योनिरित्यस्य उपदेश इत्यादिरर्थो मूर्खजनप्रतारणमात्रमेव॥ ५९॥

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—हे दोनों प्रकार की अग्नियों, हमारी कार्यसिद्धि के लिये एकाग्र मन और समान चित्त वाली बनो, हमारे ऊपर क्रोध न करो, यज्ञ को नष्ट मत करो, यज्ञपति को किसी प्रकार का नुकसान न पहुँचाओ। आज हमारे निमित्त आप लोग कल्याणकारक बनो ॥ ६० ॥

इयं कण्डिका पञ्चमेऽध्याये तृतीयकण्डिकास्थले व्याख्यातापि पुनर्व्याख्यायते । आर्षी पङ्क्तिः, अनियताक्षरपादत्वात् । द्व्यग्निदेवत्या । योऽग्निः पुरातनो गार्हपत्यो यश्चोख्यः, तौ युवां नोऽस्मदर्थं समनसौ मनसा सहितौ सचेतसौ परस्परं समानचित्तौ, अन्यविषयतां मनसोऽपवार्यास्मदनुग्रहाभिमुखत्वं समनस्त्वम्, तस्मिन् अनुग्रहे परस्परविप्रतिपत्तिराहित्यं सचेतस्त्वम् । अरेपसौ अस्मद्विषये पापरहितौ । सत्यपि प्रामादिकेऽपराधे क्रोधराहित्यमेव पापराहित्यम् । तादृशपापरहितौ भवतम् । 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' (नि० ४।२१) इति रेपःशब्दस्यापि पापार्थता, शब्दसादृश्यात्, अर्थान्तरानवगमाच्च । पापराहित्यमेव स्पष्टयति—'मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टमित्यादिना । अस्मदीयं यज्ञादि कर्म मा हिंसिष्टं मा विनाशं कार्ष्टम् । यज्ञपतिं यजमानं च मा विनाशयतम् । हे जातवेदसौ, युवामद्यास्मिन्ननुष्ठानदिने नोऽस्मदर्थं शिवौ शान्तौ भवतम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदसौ पावकोपमौ रामलक्ष्मणौ सीतारामौ वा, युवां यज्ञं यज्ञपतिं च आराधनामाराधकं च मा हिंसिष्टम् । कीदृशौ युवाम् ? समनसौ····इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ, युवां समनसौ समानविचारौ, सचेतसौ समानसंज्ञानौ, अरेपसौ अनपराधिनौ भवतम् । यज्ञं सङ्गन्तव्यं धर्मं मा हिंसिष्टम् । यज्ञपतिमुपदेशेन धर्मरक्षकं मा हिंसिष्टम् । अद्य नोऽस्माकं जातवेदसौ उत्पन्नाखिलविज्ञानौ शिवौ मङ्गलकारिणौ भवतम्' इति, तदपि फल्गु, तादृशसम्बोधने मूलाभावात् । यज्ञपतिमुपदेशेन धर्मरक्षकमित्यादिकमपि निर्मूलमेव ॥ ६० ॥

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳ स्वे योनावभारुखा ।
तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चतु ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—भूमिरूप मृत्तिका से निर्मित उखा पशुओं के हितकारी अग्नि को अपने गर्भस्थान में उसी प्रकार धारण करती है, जैसे माता अपने पुत्र को अपने गर्भ में धारण करती है। सम्पूर्ण देवता और ऋतुचक्र एक मत से उखा की प्रशंसा करते हैं कि इसने महान् कार्य किया। वृष्टि के निर्माता प्रजापति उस उखा को शिक्य स्थान से मुक्त करें ॥६१॥

'सिकताभिः समम्बिलां कृत्वा मातेव पुत्रमिति शिक्याद्विमुच्याश्रिवन्निधायासिञ्चति पयो मध्ये तूष्णीम्' (का० श्रौ० १७।१।२२)। रिक्तां शून्यामुखां सिकताभिः प्रपूर्य समम्बिलां सममुखां कृत्वा सिकतापूरितां तां शिक्यात् पृथक्कृत्य मातेवेति मन्त्रेण अश्रिवत् स्थापितस्योख्यस्याग्नेरुत्तरतोऽरत्निमात्रे गार्हपत्यचितेरुपर्युखां निधाय सिकतापूर्णोखाया मध्ये तूष्णीं पयो दुग्धमासिञ्चेदिति सूत्रार्थः। उखादेवत्या त्रिष्टुप् । यथा लोके माता पुत्रं बिभर्ति, तथा पृथिवीरूपेयमुषा उखा स्वे योनौ स्वकीयगर्भस्थाने पुरीष्यं पशव्यमेतमग्निमभा अभार्षीद् धृतवती । भृञो लुङि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।३।९७) इतीडागमाभावे सिचो विसर्गे तिपि लुप्ते रूपम् । प्रजापतिः कृतकृत्यां कृतकार्यां तामुखां विमुञ्चतु शिक्यपाशाद्विमुक्तां करोतु । कीदृशः प्रजापतिः ?

विश्वैर्देवैर्ऋतुभिश्च संविदानः संवित्त इत्यैकमत्यं गतः। अथवा अहो महत्कर्म उखया कृतमिति संवादं कुर्वन्। पुनः कथम्भूतः प्रजापतिः? विश्वकर्मा विश्वं सृष्टिरूपं कर्म यस्यासौ।

अत्र ब्राह्मणम्—'तां न रिक्तामवेक्षेत। नेद् रिक्तामवेक्षा इति यद्रिक्तामवेक्षेत ग्रसेत हैनम्' (श० ७।१।१।४०)। रिक्ताया उखाया अध्वर्युकर्तृकं यजमानकर्तृकं वा अवेक्षणं निषेधति—तां न रिक्तामिति। 'नेदिति परिभये' (नि० १।३।४)। रिक्तामुखां नेदवेक्षेत पश्यतु नैव। विपक्षे बाधकमाह—यद्रिक्तामिति। एनमवेक्षितारं ग्रसेत ह भक्षयेदेव। तर्हि किं कुर्यादित्यपेक्षायामाह—'अथास्याँ सिकता आवपति। अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य रेतो यत्सिकता अग्निमेवास्यामेतद्वैश्वानरँ रेतोभूतँ सिञ्चति सा समम्बिला स्यात् तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।१।१।४१)। रिक्ताया उखायाः सिकताभिः समगर्तत्वकरणं विधत्ते—अथास्यामिति। अस्यां रिक्तायामुखायां सिकता आवपति, यावद्बिलं पूरयति। वैश्वानरस्याग्नेरेतद्रेतो यद् याः सिकताः शौक्ल्यसाम्यात्। एतद् एतेन सिकतानिवपनेनास्यामुखायां रेतोभूतं वैश्वानरमग्निं सिञ्चति स्थापयति। सा उखा समम्बिला भवेत्। समं निम्नोन्नतत्वरहितं बिलं मुखं यस्याः सा। अत्र समबिलेति प्राप्ते पूर्वपदस्य मुमागमश्छान्दसः। समम्बिलत्वस्तावकोऽर्थवादः प्रागुक्त इत्याह—तस्येति। स च 'योनिर्वा इयँ रेत इदम्' (श० ६।४।४।१९) इत्यादिना षष्ठे काण्डे प्रतिपादितः।

'अथैनां विमुञ्चति। अप्रदाहाय यद्धि युक्तं न विमुच्यते प्र तद्दह्यत एतद्वा एतद्युक्ता रेतोऽभार्षीदेतमग्निं तमत्राजीजनदथापरं धत्ते योषा वा उखा तस्माद्यदा योषा पूर्वँ रेतः प्रजनयत्यथापरं धत्ते' (श० ७।१।१।४२)। उखायाः शिक्याद्विमोचनं विधत्ते—अथैनामिति। एनां सिकतायुक्तामुखां शिक्याद्विमुञ्चति पृथक्करोति। विमोकप्रयोजनमाह—अप्रदाहायेति। तत्रोपपत्तिमाह—यद्धीति। युक्तम् अश्वादि यद्वाहनं न विमुच्यते तत्प्रदह्यते खलु उक्तमर्थं प्रकृते योजयति—एतद्वा इति। एतद्वै एषा खलूषा युक्ता सती एतमग्निम् उख्यं रेतोऽवस्थापन्नम् अभार्षीद् धृतवती। ततः कृतकार्यत्वाद् विमोकोपपत्तिः। धृतस्याग्नेः प्रजननमाह—तमत्रेति। अत्रावसरे तमुख्याग्निमजीजनत् प्रासोष्ट, उखेति शेषः। प्रजननानन्तरं रेतोधारणद्वारोखायाः स्त्रीसाधर्म्यं प्रतिपादयति—अथापरमिति। अपरं सिकतात्मकं रेतो धत्ते धारयति। योषा वा उखेति। स्पष्टमन्यत्। 'मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमिति। मातेव पुत्रं पृथिवी पशव्यमित्येतदग्निँ स्वे योनावभारुखेत्यग्निँ स्वे योनावभार्षीदुखेत्येतत्तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चत्वित्यृतवो वै विश्वे देवास्तदेनां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चति तामुत्तरतोऽग्नेर्निदधात्यरत्निमात्रे तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।१।१।४३)। विहिते उखाविमोके मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—मातेव पुत्रमिति। पुरीष्यपदस्य पशव्यत्वमर्थः। अभा इति भृञः प्रथमपुरुषैकवचने व्यत्ययेन लुङि रूपमित्याह—अभार्षीदिति। अभारुखा इत्युखाशब्दसामानाधिकरण्यात्। मन्त्रस्यायमर्थः—येयमुखा माता पुत्रमिव पृथिवी भूमिरूपा मृण्मयीत्वात्। पुरीष्यं पशव्यं पशुभ्यो हितमिति यावत्। तादृशमग्निं स्वे योनौ स्वकीये गर्भस्थाने, अभा अभार्षीद् धारितवती। विश्वकर्मा सर्वस्य कर्ता प्रजापतिः, ऋतुभिर्यज्ञं प्रति गच्छद्भिर्विश्वैः सर्वैर्देवैः संविदानः, अहो महत्कर्म कृतमित्येवं संवादं कुर्वन् इदानीं कृतकृत्यां सतीं तामुखां विमुञ्चतु शिक्याद्विमुञ्चति, पृथक्कुरुत इत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्।

'अथास्यां पय आनयति। एतद्वा एतद्रेतो धत्तेऽथ पयो धत्ते योषा वा उखा तस्माद्यदा योषा रेतो धत्तेऽथ पयो धत्तेऽधराः सिकता भवन्त्युत्तरं पयोऽधरँ हि रेत उत्तरं पयस्तन्मध्य आनयति यथा तत्प्रति पुरुषशीर्षमुपदध्यात्' (श० ७।१।१।४४)। सिकतापूर्णाया उखाया मध्ये तूष्णीं पयस आसेचनं विधत्ते—अथास्यामिति। पयआसेके कारणमुपपादयति—एतद्वा इति। एतत्खलु कारणम्—एतत्सिकतालक्षणं रेत उखां धत्ते धारयति, अथ तदनन्तरमिदमानीतं पयो धत्ते। लौकिकदृष्टान्तेन तत्स्पष्टयति—योषा वा इति। सिकता-

पयसोरधरोत्तरभावमनूद्य स्तौति—अधराः सिकता इति। अधरं हि रेत इति गर्भाशयेऽधोभागे स्थितं पुरुषस्य रेतः स्त्रीवीर्यं शोणितरूपं पय उत्तरम् उपर्यवस्थितं सत् तत् पुंवीर्यं वेष्टयति। अत एव षाट्कौशिकस्य शरीरस्य त्वङ्मांसासृगाख्या बाह्यास्त्रयो धातवो मातृतो भवन्तीति स्मर्यते। तस्मात् सिकतापयसोर्बाह्यान्तरभावो गर्भोत्पत्तये सम्पद्यत इत्यर्थः। आनयनस्थानं विधत्ते— तन्मध्य इति। पय उखाया मध्ये आनयति आसिञ्चति। यथा तत्पयःप्रत्युपधानसमये पुरुषशीर्षमुपदध्यात् तथेत्यर्थः।

'प्रजापतिः प्रजा असृजत। स प्रजाः सृष्ट्वा सर्वमाजिमित्वा व्यस्रꣳसत तस्माद्विस्रस्तात् प्राणो मध्यत उदक्रामदथास्माद्वीर्यमुदक्रामत् तस्मिन्नुत्क्रान्तेऽपद्यत तस्मात् पन्नादन्नमस्रवद्यच्चक्षुरध्यशेत तस्मादस्यान्नमस्रवन्नो हेह तर्हि काचन प्रतिष्ठाऽऽस' (श० ७।१।२।१)। उख्यरूपेण संस्कृतस्य गार्हपत्याग्नेविराड्रूपप्रजापत्यात्मकतां वक्ष्यन्नस्य प्रजापतेः संस्कृतिं वक्तुकामस्तच्छरीरविश्लेषं प्रतिपादयति—प्रजापतिरित्यादिना। प्रजापतिर्देव-मनुष्यादिरूपा बह्वीः प्रजाः सृष्ट्वा सर्वमाजिं गन्तव्यं स्थानमित्वा व्याप्य श्रान्तः सन् व्यस्रंसत विस्रस्ताव-यवोऽभवत्। तस्माद्विस्रस्तात् प्रजापतिशरीराद् मध्यतः प्राणः प्राणापानादिपञ्चवृत्त्यात्मकः, उदक्रामद् उत्क्रान्तोऽभवत्। अथ अनन्तरमेव तस्य प्रजापतेर्वीर्यं शुक्रमुदक्रामत्। तस्मिन् निर्गते सति स भूमौ अपद्यत पतितोऽभवत्। तस्मात् पन्नात् पतितात् प्रजापतिशरीराद् अन्तरवस्थितमन्नम् अस्रवत् स्रुतमभवत्। यत् चक्षुरध्यशेत चक्षुषो मध्ये ज्योतिरवस्थितमभवदित्यर्थः, तस्माज्ज्योतिषोऽस्य प्रजापतेरन्नं स्रुतमभवत्। तर्हि तथा सति नैव खलु काचित् प्रतिष्ठा आस। तस्य प्रजापतिशरीरस्य विस्रस्तत्वात् किञ्चिदपि प्रतिष्ठापदं न बभूवेत्यर्थः। 'ते देवा अब्रुवन्। न वा इतोऽन्या प्रतिष्ठास्तीममेव पितरं प्रजापतिꣳ संस्करवाम सैव नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति' (श० ७।१।२।२)। अनन्तरं देवैः कृतमस्य संस्कारं वक्तुमाह—ते देवा इति। स्पष्टार्था कण्डिका। 'तेऽग्निमब्रुवन्। न वा इतोऽन्या प्रतिष्ठास्ति त्वयीयं पितरं प्रजापतिꣳ संस्करवाम सैव नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति किं मे ततो भविष्यतीति' (श० ७।१।२।३)। अथ देवास्तत्संस्कारार्थमग्निं प्रार्थितवन्तः। संस्काराद् मम किं प्रयोजनं भविष्यतीत्यग्नेः प्रश्न इति कण्डिकार्थः। 'तेऽब्रुवन्। अन्नं वा अयं प्रजापतिस्त्वन्मुखा एतदन्नमदाम त्वन्मुखानां न एषोऽन्नमसदिति तथेति तस्माद्देवा अग्निमुखा अन्नमदन्ति यस्यै हि कस्यै च देवतायै जुह्वत्यग्नावेव जुह्वत्यग्निमुखा हि तद्देवा अन्नमकुर्वत' (श० ७।१।२।४)। देवानामग्निमुखत्वं वरेण अग्निरङ्गी-कृतवानिति कण्डिकासंक्षेपार्थः। तथा च यथा प्रतिष्ठारूपस्य प्रजापतेः संस्कारस्तथैव चित्याग्नेरपि संस्कारः। तदर्थमेव समिधामहरहरभ्यादानम्, रुक्मप्रतिमोचनोखासम्भरणादीनां संवत्सरकालव्याप्त्यादिकमुक्तम्।

अध्यात्मपक्षे—माता पुत्रमिव उखा बुद्धिः पुरीष्यमग्निं स्वे योनौ गर्भाशये अभा अभार्षीत्। तां विश्व-कर्मा प्रजापतिर्ऋतुभिर्गमनशीलैर्विश्वैः सर्वैर्देवैः संविदानः, अहो महत्कर्म कृतमनयेति संवादं कुर्वन् विमुञ्चतु मुक्तां करोतु। बुद्धिरेव बद्ध्यते, बुद्धिरेव मुच्यते, पुरुषस्य नित्यासङ्गचिद्रूपत्वादिति सांख्याः। वेदान्तिनां रीत्या तु साभासा बुद्धिरेव बन्धमोक्षभागिनी।

दयानन्दस्तु—'पृथिवी भूमिवद् वर्तमाना या उखा स्त्री स्वे योनौ गर्भाशये पुरीष्यं पुष्टिकरेषु गुणेषु भवम् अग्निं विद्युतमिव सुप्रकाशं पुत्रं मातेव अभा धरति, तां संविदानो सम्यगाज्ञापयन् विश्वकर्मा अखिलोत्तमक्रियः प्रजापतिः परमेश्वरो विश्वैः सर्वैर्देवैर्दिव्यैर्गुणैर्ऋतुभिर्वसन्ताद्यैः सह सततं दुःखाद्विमुञ्चतु पृथग् रक्षतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पुरीष्यमग्निं पुष्टिगुणेषु भवं विद्युतमिव सुप्रकाशमिति गौणार्थाश्रयणस्यैव दोषत्वात्। मातेव पुत्रमिति प्रत्यक्षसम्बन्धमपहाय पुत्रमित्यस्याग्निविशेष्यत्वकल्पनमसङ्गतमेव। यदि सा योनौ गर्भाशये पुत्रं बिभर्ति, तदा मातेवेति दृष्टान्तोपादानमेवापार्थकं स्यात्॥ ६१॥

असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य ।
अन्यमस्मदिच्छ सा त इत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—हे नैर्ऋते, अलक्ष्मी की देवता ! तुम सोम याग न करने वाले, हवि आदि से किसी प्रकार का वैदिक कर्म न करने वाले पुरुषों के पास छिपकर चोर की तरह चली जाओ । हमसे अन्य पुरुष की इच्छा कर उन्हीं के पास रहो, लौटकर यहाँ मत आओ । हे देवि, मैं तुमको नमस्कार करता हूँ ॥ ६२ ॥

'नैर्ऋतीः कृष्णास्तुषपक्वास्तिस्रोऽलक्षणाः पादमात्रीर्हविष्यासन्नहोमवद्देशे दक्षिणोत्तराः कृत्वा दक्षिणामुखोऽनुपस्पृशन्नसुन्वन्तमिति प्रत्यृचं पराचीः' (का० श्रौ० १७।१।२४) । ततोऽध्वर्युर्नैर्ऋत्यां दिशि गत्वा राजसूये हविष्यासन्नहोमे यादृशो देशो विहितः—'स्वयं प्रदीर्णे ईरिणे वाग्नौ जुहोति' (का० श्रौ० १५।१।१०), तादृशे स्वयंप्रदीर्णे ईरिणे वा असुन्वन्तमिति त्रिभिर्मन्त्रैर्निर्ऋतिदेवत्याः पाकेन कृष्णवर्णास्तुषैरेव पक्वा लक्षणहीनाः पादमात्रीस्तिस्र इष्टकाः पराचीरनात्ममुखीः स्वयं दक्षिणामुखः पूर्वमुत्तरां ततो दक्षिणे द्वे निधाय हस्तेन अनुपस्पृशन् उपदध्यादिति सूत्रार्थः । इत आरभ्य तिस्रः कण्डिका निर्ऋतिदेवत्यास्त्रिष्टुभः । हे निर्ऋते देवि, असुन्वन्तं यः सोमयागं न करोति तमयजमानं यश्च हविर्यज्ञान्न करोति तं तादृशमिच्छ, ग्रहीतुमिति शेषः । स्तेनस्य प्रच्छन्नचौरस्य तस्करस्य प्रकटचौरस्य च इत्यां गतिमन्विहि अनुगच्छ । पृष्ठतो गत्वा तावपि गृहाणेत्यभिप्रायः । सर्वथा सोमं सुन्वद्भ्यो हविर्यज्ञैश्च यजद्भ्योऽस्मदन्यमिच्छ, न त्वस्मानित्यभिप्रायः । सा ते तव इत्या गतिर्दुष्टशिक्षार्थमेव । अतस्तुभ्यं नमोऽस्तु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथातो नैर्ऋतीर्हरन्ति । एतद्वै देवा गार्हपत्यं चित्वा समारोहन्नयं वै लोको गार्हपत्य इममेव तल्लोकꣳ संस्कृत्य समारोहंस्ते तम एवानतिदृश्यमपश्यन्' (श० ७।२।१।१) । आख्यायिकया प्रयोजनप्रतिपादनपुरःसरं नैर्ऋतीनामिष्टकानामुपधानं विधित्सुस्तासां हरणं संग्रहेण प्रतिजानीते—अथात इति । अथ गार्हपत्यचयनानन्तरमतोऽस्मात् स्थानान्निर्ऋतिदेवताका इष्टका हरन्ति । एतद् एतस्मिन् खलु गार्हपत्यचयनानन्तरकाले देवाः समारोहन् चयनेन संस्कृतं भूलोकमारूढाः । तेऽनतिदृश्यं दृश्यमतिक्रम्य द्रष्टुमशक्यं सर्ववस्त्वाच्छादकं पापरूपं तम एव सर्वत्रापश्यन् । 'तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथेदं तमः पाप्मानमपहनामहा इति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेदं तमः पाप्मानमपहनामहा इति' (श० ७।२।१।२) उप तज्जानीतेति । उपेत्य तमोऽपहन्तुमुपायं विचारयतेत्यर्थः । तदिच्छतेति । तच्चयनमिच्छत यथा येन चयनेनेदं तमोरूपं पापं नाशयेमेत्यर्थः । 'ते चेतयमानाः । एता इष्टका अपश्यन् नैर्ऋतीस्ता उपादधत ताभिस्तत्तमः पाप्मानमपाघ्नत पाप्मा वै निर्ऋतिस्तद्यदेताभिः पाप्मानं निर्ऋतिमपाघ्नत तस्मादेता नैर्ऋत्यः' (श० ७।२।१।३) । चेतयमाना इति चितिमिच्छन्त इत्यर्थः । पाप्मा वै निर्ऋतिरिति । दक्षिणापरदिगधिदेवता सा पाप्मा वै पापरूपैव । एतत्तादात्म्यमुपजीव्य पापापहतिहेतुभूतानामिष्टकानां नैर्ऋत्य इति नाम निर्वृत्तम् । शेषं स्पष्टम् । 'तद्वा एतत्क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं नु तत्तमः स पाप्मा देवैरेवापहतो यस्त्वेतत् करोति यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणीत्यथो य एव पाप्मा या निर्ऋतिस्तमेताभिरपहते तद्यदेताभिः पाप्मानं निर्ऋतिमपहते तस्मादेता नैर्ऋत्यः' (श० ७।२।१।४) । इत्थमाख्यायिकया नैर्ऋतीनामुपधानस्य पापरूपतमोनिवृत्त्यर्थतां प्रतिपाद्य इदानीन्तनानुष्ठानस्यापि तदर्थतामाह—तद्वा एतत्क्रियत इति । तत् खलु एतद् इदानीं यजमानेन क्रियते यद् देवाः पुरा अकुर्वन् । यथा देवैरपहतो नाशितस्तमोरूपः स पाप्मा इदानीमप्यनुष्ठानेन निवर्तते । यस्त्वेतदिति । यत् खलु एतद् यजमानोऽनुतिष्ठति, देवैर्यत्कृतं तदहमपि करवाणीत्यनेनाभिप्रायेण

तदनुष्ठीयत इत्यर्थः । न केवलमनुकरणमात्रं तथाविधफलसाधनमपीत्याह—अथो इति । उक्तमर्थमनूद्य नैर्ऋतीनामिष्टकानां तमोऽपहन्तृत्वद्वारा नाम निर्ब्रूते—तद्यदेताभिरिति ।

'यद्वेवैता नैर्ऋतीर्हरन्ति । प्रजापतिं विस्रस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तमुखायां योनौ रेतोभूतमसिञ्चन् योनिर्वा उखा तस्मा एता॒ँ संवत्सरे प्रतिष्ठा॒ँ समस्कुर्वन्निममेव लोकमयं वै लोको गार्हपत्यस्तस्मिन्नेनं प्राजनयंस्तस्य यः पाप्मा यः श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरपाघ्नंस्तद्यदस्यैताभिः पाप्मानं निर्ऋतिमपाघ्नंस्तस्मादेता नैर्ऋत्यः' (श० ७।२।१।५) । प्रयोजनान्तरं वक्तुं नैर्ऋतीनां हरणमनुवदति—यद्वेवैता इति । 'यत् उ एव' यस्मादेव प्रयोजनान्तराद् एता नैर्ऋतीरिष्टका हरन्ति, तदुच्यत इति शेषः । आख्यायिकया तत्प्रतिपादयति—प्रजापतिमिति । यदा खलु देवा विस्रस्तं विश्लिष्टावयवं प्रजापतिं समस्कुर्वन् पुनरजनयन्, तदा तं प्रजापतिमुखालक्षणायां योनौ उख्याग्निरूपेण रेतोभूतमसिञ्चन् । योनिर्वा उखेति । उख्याग्नेस्तत उत्पत्तेः । तस्मा एतामिति । तस्मै प्रजापतये संवत्सरे उख्याग्निभरणेन नीते सत्येतां प्रतिष्ठां प्रतितिष्ठत्यनेनेति प्रतिष्ठा भूलोकात्मकं पादद्वयमजनयन्नित्यर्थः । ननु संवत्सरेऽतिक्रान्ते गार्हपत्य एव चीयते, न भूलोकस्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य तयोस्तादात्म्यमाह—अयं वै लोक इति । तस्मिन्नेनमिति । तस्मिन् भूलोकात्मके गार्हपत्ये एनं प्रतिष्ठारूपं प्रजापत्यवयवं प्राजनयन् उदपादयन् । तस्य प्रजायमानस्य यः पाप्मा शरीरे लिप्तः, यः श्लेष्मा, यच्च उल्बम् आन्तरं गर्भवेष्टनम्, तत्सर्वं पाप्मरूपम् । अस्य प्रजापतेरेताभिरिष्टकाभिरपाघ्नन् अपहतवन्तः, तेनापि नैर्ऋत्य इति नाम सम्पन्नम् । 'तथैवैतद्यजमानः । आत्मानमुखायां योनौ रेतोभूत॒ँ सिञ्चति योनिर्वा उखा.......' (श०७।२।१।६) । इतिहाससिद्धमर्थं दृष्टान्तीकृत्य दार्ष्टान्तिके योजयति—तथैवैतदिति । यथा प्रजापतिमुदीरितरीत्या देवाः समस्कुर्वन्, तथैवेदानीं यजमानोऽपि प्रजापतिरूपमात्मानमुखायां योनौ रेतोभूतं सिञ्चतीत्यादि पूर्ववद्योज्यम् ।

'पादमात्र्यो भवन्ति । अधस्पदमेव तत्पाप्मानं निर्ऋतिं कुरुतेऽलक्षणा भवन्ति यद्वै नास्ति तदलक्षणमसन्तमेव तत्पाप्मानं निर्ऋतिं कुरुते तुषपक्वा भवन्ति नैर्ऋता वै तुषा नैर्ऋतैरेव तन्नैर्ऋतं कर्म करोति कृष्णा भवन्ति कृष्ण॒ँ हि तत्तम आसीदथो कृष्णा वै निर्ऋतिः' (श० ७।२।१।७) । इत्थं पापरूपस्य तमसो गर्भसम्बन्धिश्लेष्मोल्बादिरूपस्य च पाप्मनो निर्हरणहेतुत्वेन नैर्ऋतीरिष्टकाः प्रशस्य तासां लक्षणमाह—पादमात्र्य इति । विंशत्यधिकशताङ्गुलिपरिमितः पुरुषः, तस्य दशमोंऽशः पादः, स प्रमाणं यासां ताः पादमात्र्यः । तदुक्तं कात्यायनेन—'पञ्चारत्निर्दशवितस्तिर्विंशतिशताङ्गुलः पुरुषो द्वादशाङ्गुलं पदम्' (का० शु० ८२) । तत्परिमाणं प्रशंसति—अधस्पदमिति । एतदेतेन नैर्ऋतीनां पादमात्रपरिमाणकरणेनाधस्पदं पादस्याधस्तादेव निर्ऋतिरूपं पाप्मानं कृतवान् भवतीत्यर्थः । एतेन पादमात्र्य इत्यत्र पादशब्दोऽङ्घ्रिपर्यायः, न तु चतुर्थांशवाचक इति व्याख्यातं भवति । अलक्षणा भवन्ति, त्र्यालिखितादिकं लक्षणम्, तद्रहिता भवेयुरित्यर्थः । तदुपपादयति—यद्वै नास्तीति । यत्खल्वभावप्रतियोगि तद् निःस्वरूपत्वादलक्षणं व्यावर्तकचिह्नरहितम्, अतोऽत्रालक्षणकरणेन निर्ऋतिं पाप्मानमसन्तं करोति, अभावप्रतियोगिनमेव करोति । ननु पाके सतीष्टकान्तरलक्षणवत्त्वमासामवर्जनीयमित्याशङ्क्य तासां पाकप्रकारमाह—तुषपक्वा भवन्तीति । तत्प्रशंसति—नैर्ऋता वा इति । दर्शपूर्णमासप्रकरणे—'अथ तुषान् प्रहन्त्यपहत॒ँ रक्ष इति' (श० १।१।४।२१) इति रक्षःसम्बन्धस्याम्नातत्वात् तुषाणां नैर्ऋतत्वम् । तासां कार्ष्ण्यं विधत्ते—कृष्णा भवन्तीति । तत्र कारणमाह—कृष्णं हीति । अपहन्तव्यस्य तमसः कृष्णवर्णत्वात् तदभिमानिन्या निर्ऋतिदेवतायाश्च तादृग्वर्णत्वात् ताः कृष्णा भवन्तीत्यर्थः ।

'ताभिरेतां दिशं यन्ति । एषा वै नैर्ऋती दिङ् नैर्ऋत्यामेव तद्दिशि निर्ऋतिं दधाति स यत्र स्वकृतं वेरिण॒ँ श्वभ्रप्रदरो वा स्यात्तदेना उपदध्याद्यत्र वा अस्या अवदीर्यते यत्र वास्या ओषधयो न जायन्ते निर्ऋतिर्ह्यस्यै तद् गृह्णाति नैर्ऋत एव तद् भूमेर्निर्ऋतिं दधाति ताः पराचीर्लोकभाजः कृत्वोपदधाति' (श० ७।२।१।८) ।

तासामुपधानार्थं दिग्विशेषमभिनयेन दर्शयति—ताभिरेतामिति। ताभिरिष्टकाभिः सह एतां दक्षिणां दिशं यन्ति गच्छेयुः। एषा खलु नैर्ऋती निर्ऋतिदेवताधिष्ठिता दिक्। तथा सति स्वकीयदिश्येव एतां निर्ऋतिं दधाति। तत्रापि देशविशेषमाह—स यत्रेति। स अध्वर्युः, नैर्ऋत्यां दिशि यत्र यस्मिन् स्थाने स्वकृतं स्वयमेव सञ्जातम् इरिणं निस्तृणम् ऊषरस्थानं वा भवति, श्वभ्रप्रदरो वा श्वभ्राकारेण प्रदीर्णः प्रदेशो वा भवेत्, तत् तस्मिन् स्थाने एना नैर्ऋतीरुपदध्यात्। तादृकस्थानस्य निर्ऋतिदेवताधिष्ठितत्वमाह—यत्र वा इति। यत्र खल्वस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिनि स्थाने आत्मा अवदीर्यते भिद्यते, यत्र वा ओषधयो न जायन्ते, तदेतत् स्थानद्वयं निर्ऋतिगृहीतम्। तथा च निर्ऋतिसम्बद्धे स्थाने एव नैर्ऋतीनामुपधानेन निर्ऋतिं स्थापितवान् भवति। धर्मविशेषं विधत्ते—ताः पराचीरिति। पराञ्चनाः स्वस्वानभिमुखा यथा भवन्ति, तथा लोकभाजः कृत्वा ता इष्टका उपदध्यात्।

'असुन्वन्तमयजमानमिच्छेति। यो वै न सुनोति न यजते तं निर्ऋतिर्ऋच्छति स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्येति स्तेनस्य चेत्यामन्विहि तस्करस्य चेत्येतदथो यथा स्तेनस्तस्करः प्रलायमेत्येवं प्रलायमिहीत्यन्यमस्मदिच्छ सा त इत्येत्यनित्थंविद्वा७ँ समिच्छेत्येतन्नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्त्विति नमस्कारेणैवैनामपहते' (श० ७।२।१।१९)। तिसृणामिष्टकानां त्रयो मन्त्राः, तान् क्रमेण प्रदर्शयन् व्याचष्टे—असुन्वन्तमिति। यो वै न सुनोतीति। यः पुरुषः सोमाभिषवं न करोति, यश्च दर्शपूर्णमासादिभिर्हविर्यज्ञैर्न यजते, तं निर्ऋतिः पापदेवता ऋच्छति प्राप्नोति। तस्मान्निर्ऋतिं सम्बोध्य 'असुन्वन्तमयजमानमिच्छ' इति मन्त्रपाठो युक्त इत्यर्थः। स्तेनस्य चेत्यामिति। प्रच्छन्नचोरः स्तेनः, प्रत्यक्षं परेषां धनमपहरति यः स तस्करः। अनयोः परस्परविलक्षणत्वादविद्यमानमपि 'च'शब्दमध्याहृत्य योजयति। स्तेनस्य तस्करस्य च या इत्या गतिः, तां गतिं हे निर्ऋते, त्वमन्विहि। 'इण् गतौ' इत्यस्माद् भावे क्यप्। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) इति तुकि साधुः। एतदेव विवृणोति—अथो इति। अपि च यथा स्तेनस्तस्करश्च प्रलायं प्रलीय प्रलीय अदृश्यो भूत्वा एति गच्छति, एवं हे निर्ऋते, त्वमपि प्रलायमदर्शनमिहि गच्छेति मन्त्रभागस्याभिप्रायः। प्रलायमिति 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' (पा० सू० ३।४।२२) इति सूत्रेण 'लीङ् श्लेषणे' इत्यस्य णमुलन्तम्। अनित्थंविद्वांसमिति। इत्थमनेन प्रकारेण उक्तमर्थं यो न वेत्ति सोऽनित्थंविद्वानत्रान्यशब्देन विवक्षित इत्यर्थः। हे निर्ऋते, अस्मत्तोऽन्यं त्वत्स्वरूपानभिज्ञम् इच्छ। सा तादृशी अविद्वद्विषयैव खलु ते तव इत्या गतिरिति मन्त्रभागस्यार्थः। नमो देवि निर्ऋते इत्यन्तिमपादे नमस्कारप्रतिपादनात् तेनैव नमस्कारेणैनां निर्ऋतिमपहतेऽपबाधते, अपसारयतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे निर्ऋते मृत्यो, त्वमसुन्वन्तमयजमानमिच्छ, तयोरमृतत्वप्राप्तिपथप्रवृत्तत्वात्। स्तेनस्य तस्करस्य च इत्यां गतिमन्विहि, पृष्ठतो गत्वा तानपि गृहाणेत्यर्थः। अस्मत्तोऽन्यमिच्छतु सा ते इत्या गतिः। सुन्वतामस्माकं यष्टॄणां स्वधर्मानुष्ठानजनितजिज्ञासातत्त्वज्ञानैरेव मृत्योरतितरणसम्भवात्। हे निर्ऋते देवि, तस्यै तुभ्यं नमः।

दयानन्दस्तु—'हे निर्ऋते देवि, सदाचारेण पृथिवीतुल्ये त्वमस्मद् अस्मत्तः स्तेनस्य अप्रसिद्धचोरस्य तस्करस्य प्रसिद्धचोरस्य सम्बन्धिनं विहायान्यमिच्छ। असुन्वन्तमभिषवादिक्रियारहितमयजमानमदातारं मेच्छ। यामित्याम् एतुमर्हां क्रियाम्, अन्विहि अनुगच्छ सेत्या तेऽस्तु। नमश्च तस्यै तुभ्यमस्तु' इति, तदपि बालभाषितम्, मुख्यार्थत्यागाद् गौणार्थग्रहणाच्च। हे पृथिवीतुल्ये विदुषि स्त्रि, त्वं स्तेनस्य तस्करस्य सम्बन्धिनमस्मत्तोऽन्यमिच्छेति क उपदिशति? पतिरन्यो वा? यदि पतिस्तर्हि किमत्र नियोगो विवक्षितः? यद्यङ्गीकरोषि, तर्हि धन्योऽसि! श्लाघनीयस्ते संन्यासिवेषस्य नियोगः। असुन्वन्तमयजमानं मेच्छेति व्याख्यानं स्वाच्छन्द्यम् (निरङ्कुशत्वम्) एव ते द्योतयति, मूलेऽन्वेषणेऽपि तदनुपलम्भात्॥ ६२॥

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम् ।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधिरोहयैनम् ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ— हे तीक्ष्ण तेजवाली घोर क्रूर स्वभाव वाली निर्ऋति देवता, तुम्हारे निमित्त निरन्तर नमस्कार है। लोह पाश के समान दृढ़ इस जन्ममरण रूप अज्ञान का छेदन करो। अग्नि और पृथ्वी के साथ एक मत होकर इस यजमान को उत्कृष्ट स्वर्गलोक में स्थापित करो ॥ ६३ ॥

हे निर्ऋते, दक्षिण-पश्चिम-मध्यगताऽवान्तरदिगभिमानिनि देवते, नियता ऋतिर्घृणा यस्यां सा निर्ऋतिः। 'ऋतिर्गतौ घृणायां च स्पर्धायां च शुभेऽपि च' इति रभसात्, 'स्यादलक्ष्मीस्तु निर्ऋतिः' (अ० को० १।९।२) इत्यभिधानात्, 'निर्ऋतिः स्यादलक्ष्म्यां स्त्री दिशां पालान्तरे पुमान्' (मे० ६।२।११७) इति मेदिनीकोषात्, 'निर्ऋतिर्निरुपद्रवे। अलक्ष्म्यां दिक्पतौ चापि' (अनेकार्थसंग्रहे, त्रिस्वरतान्ते २८८ श्लोकः) इति हैमवचनाच्च। अथवा निर्ऋतिः कृच्छ्रापत्तिः, भूमिर्वा। हे तिग्मतेजः, तिग्मं तीक्ष्णं दुःसहं तेजो यस्याः सा तिग्मतेजास्तत्सम्बुद्धौ। ते तुभ्यं सु सुष्ठु शोभनं यथा स्यात्तथा नमोऽस्तु। अयस्मयम् अयोनिर्मितशृङ्खलावद् दृढम् एतमस्मदीयं बन्धं जन्ममृतिरूपमज्ञानं स्वर्गप्राप्तिप्रतिबन्धकमिमं पाप्मानं वा विचृत विच्छिन्धि, विनाशयेत्यर्थः। 'चृती हिंसाग्रन्थनयोः' तौदादिकः। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति मन्त्रे संहितायां दीर्घः। ततस्त्वं यमेनाग्निना यम्या पृथिव्या च संविदाना ऐकमत्यं गता सती, एनं यजमानम् उत्तमे उत्कृष्टे नाके सर्वसुखोपेते दुःखमात्ररहिते स्वर्गे, अधिरोहय स्थापय। अजस्य जीवभावलक्षणो जनित्वा म्रियते मृत्वा जायते, एतादृशो बन्ध एव लौहशृङ्खलावद् दृढः।

अत्र ब्राह्मणम्—'नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेज इति। तिग्मतेजा वै निर्ऋतिस्तस्या एतन्नमस्करोत्ययस्मयं विचृता बन्धमेतमित्ययस्मयेन ह वै तं बन्धेन निर्ऋतिर्बध्नाति यमेन त्वं यम्या संविदानेत्यग्निर्वै यम इयं यम्याभ्याᳬ हीदᳬ सर्वं यतमाभ्यां त्वᳬ संविदानेत्येतदुत्तमे नाके अधिरोहयैनमिति स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गे लोके यजमानमधिरोहयेत्येतत्' (श० ७।२।१।१०)। तिग्मतेज इति विशेषणस्य प्रसिद्धिमाह—तिग्म जा वा इति। द्वितीयपादमनूद्य व्याचष्टे—अयस्मयमिति। अयसा लोहेन निर्मितो बन्धोऽयस्मयः। 'मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः' (पा० सू० ४।३।१४३) इति विकारार्थे मयट्। तादृशेन बन्धेन निर्ऋतिः बध्नाति यं बन्धनीयं मन्यते। तस्माद् निर्ऋते, अयस्मयमेतं बन्धं विचृत विमुञ्चेति प्रार्थना युक्ता। यमयमीशब्दयोर्विवक्षितमर्थमाह—अग्निर्वै यम इति। अन्तःप्रविष्टेन सता कृत्स्नजगन्नियमनादग्निर्यमः, तदधिष्ठितत्वादियं पृथिव्येव यमी। इयमपि हि आश्रितं सर्वं जगन्नियच्छति। तथा आभ्यां यमेनाग्निना यम्या पृथिव्या च संविदाना सञ्जानाना त्वमिति तृतीयभागस्यार्थः। चतुर्थं पादमनूद्य व्याचष्टे—उत्तमे नाक इति। कं सुखं न कम् अकं दुःखं तदस्मिन्नास्तीति नाकः स्वर्गाख्यो लोकः। उक्तं हि—'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥' इति।

अध्यात्मपक्षे हे निर्ऋते, भूमिकालोपलक्षिते चिद्रूपे भगवति महेश्वरि, ते तुभ्यं सु शोभनो नमस्कारोऽस्तु। हे तिग्मतेजः, तिग्मानि दुष्प्रेक्ष्याणि तेजांसि यस्याः सा तिग्मतेजास्तत्सम्बुद्धौ। एतं जननमरणाविच्छेदलक्षणं बन्धं विचृत विच्छिन्धि, तत्त्वज्ञानप्रदानेनेति शेषः। यमेन नियामकेन धर्मराजेन यम्या पृथिव्या संविदाना ऐकमत्यमुपगता एनमुपासकं त्वत्स्वरूपाभिज्ञं वा उत्तमे उत्कृष्टे नाके दुःखलेशेनापि रहिते मोक्षलक्षणे स्वर्गे, अधिरोहय स्थापय, अनात्मतादात्म्यनिराकरणेन स्वरूपावस्थितं सम्पादयेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे निर्ऋते, नितरामृतं सत्यं यस्यां तत्सम्बुद्धौ निरन्तरसत्याचरणयुक्ते स्त्रि, यस्यास्ते तिग्मतेजः तिग्मानि तेजांसि यस्मात् तत्, अयस्मयं सुवर्णादिमयं नमोऽन्नादिकमस्ति, सा त्वमेतं बन्धं बध्नाति येन तं बन्धं सुविचृत विमुञ्च यमेन न्यायाधीशेन यम्या न्यायकर्त्र्या च संविदाना सम्यक् कृतप्रतिज्ञा सत्येन पतिमुत्तमे नाके आनन्दे भोक्तव्ये अधिरोहय' इति, तदपि तुच्छम्, लोकसिद्धत्वात्। पत्नी पतिमानन्दभोगायाधिरोहयतीत्येतल्लोकसिद्धमेव पाशविकं ज्ञानम्, न वेदेनोपदेष्टव्यम्, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामज्ञातेऽर्थे एव वेदस्य तात्पर्यात्। किञ्चात्र सम्बोधनीया स्त्री भिन्ना, यमी च भिन्ना। किं सर्वाः स्त्रियो न्यायाधीशेन न्यायकर्त्र्या च सम्यक् कृतप्रतिज्ञाः पतिमानन्दायाधिरोहयन्ति ? किञ्च, न्यायप्राप्तिरेकेनापि सम्भवति, तदर्थं यमयम्योर्ग्रहणस्य को हेतुः ? पतिपदमपि मूले नास्ति। अयस्मयमिति सापेक्षं पदम्, श्रुतं बन्धमपहायाश्रुतभूषणादिकल्पनं निर्मूलमेव ॥ ६३ ॥

यस्या॑स्ते घोर आ॒सन् जु॒होम्ये॒षां ब॒न्धाना॑मव॒सर्ज॑नाय।
यां त्वा॒ जनो॒ भूमि॒रिति॑ प्र॒मन्द॑ते॒ निर्ऋ॑तिं त्वा॒हं परि॑ वेद वि॒श्वतः॑ ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—हे विषम स्वभाववाली क्रूर निर्ऋति देवता, तुम इन यजमानों के स्वर्गगति के प्रतिबन्धक पापों का नाश कर सको, इसके लिये तुम्हारे मुख में आहुति के समान इष्टका को स्थापित करता हूँ। यह सारी भूमि तुम्हारी है। शास्त्र के ज्ञाता सभी मनुष्य इस बात को जानकर तुम्हारी स्तुति करते हैं। मैं तो तुमको निर्ऋति देवी के रूप में ही जानता हूँ ॥ ६४ ॥

हे घोरे क्रूररूपे निर्ऋतिदेवि, यस्यास्ते तव आसन् आसनि आस्ये मुखे जुहोम्याहुतिवदिष्टकामुपदधामि किमर्थं यजमानस्य बन्धानां परलोकप्राप्तिप्रतिबन्धकानां पाप्मनामवसर्जनाय विनाशाय यां त्वां जनो जन्तुमात्ररूपः शास्त्रसंस्काररहितो भूमिरिति प्रमन्दते भूमिर्निर्ऋतिर्देवीति स्तौति प्रशंसति। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' इति भौवादिको धातुः। चन्द्रस्तु 'मदि जाड्ये' इत्येव पपाठ। अहं तु शास्त्राभिज्ञतया तादृशीं त्वां विश्वतः सर्वथापि निर्ऋतिमेव परिवेद सम्यग् जानामि। तत्र तावन्निर्ऋतिरित्येतद्देवताया नामधेयम्। अवयवार्थव्युत्पादनेन तु सर्वदेवसाधारणाद् देवयजनस्थानाद् निः निष्क्रुष्य स्वतन्त्रे देशे ऋतिः प्राप्तिर्यस्याः सा निर्ऋतिः। तदिदं प्रकारद्वयमभिप्रेत्य विश्वत इत्युक्तम्, अवयवार्थरूढ्यर्थभेदादित्यर्थः। यद्वा हे घोरे विषमशीले, एषां बन्धानामवसर्जनाय विमोचनाय यस्यास्ते आसन् आस्ये मुखे जुहोमि हविः, सा त्वमेतान् बन्धान् अस्मत्तः, अवसृजेति शेषः। यां त्वां जनः सर्वसाधारणो जन्तुर्भूमिरिति कृत्वा प्रमन्दते स्तौति, प्रतिष्ठा भूतानां जनयित्री मातेव बिभर्तीत्यादिगुणैस्तां त्वामहमपि तैरेव गुणैः स्तौमि। किञ्च, निर्ऋतिं त्वामहं परिवेद जानामि विश्वतः सर्वतः। नतरां नातिशयेनैव हि विदित आमन्त्रितो वा हिनस्ति बाधते, इत्यत एतान् बन्धानस्मत्तोऽवसृजेति।

अत्र ब्राह्मणम्—'यस्यास्ते घोर आसञ्जुहोमीति। घोरा वै निर्ऋतिस्तस्या एतदासञ्जुहोति यत्तद्देवत्यं कर्म करोत्येषां बन्धानामवसर्जनायेति यैर्बन्धैर्बद्धो भवति यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दत इतीयं वै भूमिरस्यां वै स भवति यो भवति निर्ऋतिं त्वाऽहं परिवेद विश्वत इति निर्ऋतिरिति त्वाऽहं परिवेद सर्वत इत्येतदियं वै निर्ऋतिरियं वै तं निरर्पयति यो निर्ऋच्छति तद्यथा वै ब्रूयादसावामुष्यायणोऽसि वेद त्वा मा मा हिꣳसीरित्येवमेतदाह नतराꣳ हि विदित आमन्त्रितो हिनस्ति' (श० ७।२।१।११)। यस्यास्त इति तृतीयो मन्त्रः। तत्र प्रथमपादस्य तात्पर्यमाह—घोरा वा इति। निर्ऋतिः पापदेवतात्वात् पापस्य च दुःखहेतुत्वाद् घोरा तीव्रा दुःसहा। तथा च तद्देवत्यमेतत् कर्म करोतीति यदेतदेतेन तस्या निर्ऋतेर् आसन् आस्ये जुहोति

प्रक्षिपति। एवं च प्रथमपादस्यायमर्थः—हे घोरे निर्ऋते, यस्यास्तव आस्ये जुहोमि तां त्वामित्युपरि सम्बन्धः। द्वितीयपादमनूद्य एषामितीदंशब्दनिर्देश्यमाह—यैर्बन्धैरिति। शिक्यपाशरुक्मसूत्रादिभिर्दुःखहेतुभिः पापैर्वा यैर्बन्धैर्बद्धो भवति यजमानः, एषां बन्धानां निर्ऋतिबन्धहेतुभूतानां पापानामवसर्जनाय विश्लेषाय जुहोमीति सम्बन्धः। तृतीयपादमनूद्य तत्र भूमिरिति विशेषणस्य तात्पर्यमाह—यां त्वेति। हे निर्ऋते, जनो लोको यां त्वा भूमिर्भवनहेतुः समृद्धिहेतुर्वा इति प्रमन्दते स्तौतीति तस्य पादस्यार्थः। इयं वा इत्यादि। इयं खलु पृथिवी निर्ऋतिरूपा भूर्भवनहेतुः। कुत एतदित्याह—अस्यां वा इति। यो भवत्युत्पद्यते समृद्धयते वा स अस्यां पृथिव्यामाधारभूतायां खलु भवति। तस्माद् भवनाधिकरणत्वाद् भूमिनाम्ना त्वं स्तूयस इत्यर्थः। जनवाद-मुपन्यस्य स्वस्य विशेषज्ञतां चतुर्थपादेनाह—निर्ऋतिं त्वेति। अत्र विश्वशब्दः सर्वशब्दपर्याय एव, न तु जगद्वाचीत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—निर्ऋतिरितीति। अयमभिप्रायः—तृतीयपादे भूमिशब्दादुत्तरत्वेन पठित इति-शब्दोऽत्रानुषज्यते। अहं पुनस्त्वा त्वां निर्ऋतिः सर्वतो निरर्पणहेतुरार्तिकारणमिति परिवेद परितो जानामि। एवं निर्ऋतिं त्वेति द्वितीयान्तं निर्ऋतिपदमिति शब्दानुषङ्गेन व्याख्यायैतदुपपादयति—इयं वा इति। यो निःशेषेण ऋच्छत्यार्तिं प्राप्नोति तं पुरुषमियमेव देवता निरर्पयति निर्ऋतिं प्रयुङ्क्ते। निरुपपदाद् ऋच्छतेः प्रयोजकव्यापारे 'हेतुमति च' (पा० सू० ३।१।२६) इति णिचि, 'अर्तिह्री....' (पा० सू० ७।३।३६) इति पुकि निरर्पयतीति रूपम्। अतो निरर्पणादियमेव पृथिवी निर्ऋतिरित्युच्यते। अतो भवत्याः स्वरूपं सम्यगहं जानामीत्यर्थः। एतज्ज्ञानस्य सदृष्टान्तं प्रयोजनमाह—तद्यथेति। तत् तत्र अरण्यादौ चोरादिष्वागतेष्वसौ त्वमेत-ग्रामासि, अमुष्य यज्ञदत्तस्य पुत्रोऽसि, त्वामहं जानामि, मा मां मा हिंसीर्मा बाधिष्ठा इत्यागतं प्रति यथोच्यते, एवमेव खल्वेतन्निर्ऋतिं त्वाहमित्यादिना निर्ऋतेः स्वरूपप्रतिपादनम्। नामग्रहणस्य फलमाह—नतरामिति। विदितो ज्ञातः, नामगोत्रादिना आमन्त्रित आहूतश्चोरादि आत्मीयत्वेन आह्वातारं पुरुषं नतरामतिशयेन नैव हिनस्ति बाधते, एवमेव निर्ऋतिनामग्रहणादेनं यजमानं निर्ऋतिर्न बाधत इत्यर्थः। यद्यप्यद्यत्वे नामगोत्रा-द्युच्चारणेन परिचये जाते मां ज्ञातवानयं शासनाधिकारिभ्यो निवेदयिष्यतीति भयातिरेकाच्चोरो हिनस्त्येव तादृशं पुरुषम्, तथाप्यात्मीयत्वेन ज्ञानाद् भयाभावे परित्रात्येव न बाधते, 'विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम्' इत्यभियुक्तोक्तेः। निर्ऋतेस्तत्त्वज्ञानेन निर्ऋतेरप्यात्मा भूत्वा तद्भयात् प्रमुच्यत एवेत्यर्थः। 'नोपस्पृशति। पाप्मा वै निर्ऋतिर्नेत् पाप्मना सᳬ स्पृशा इति न सादयति प्रतिष्ठा वै सादनं नेत् पाप्मानं प्रतिष्ठापयानीति न सूददोहसाऽधिवदति प्राणो वै सूददोहा नेत् पाप्मानं प्राणेन सन्तनवानि सन्दधानीति' (श० ७।२।१।१२)। उपस्पर्शन-सादन-सूददोहसामिष्टकान्तरवदासु प्रसक्तानां निषेधं करोति—नोपस्पृशतीत्यादिना। सुप्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—हे घोरे सर्वसंहारिणि महेश्वरि, यस्यास्ते तव आस्ये मुखे एषां बन्धानां बन्धनहेतूना-मविद्याकामकर्मणामवसर्जनाय मोचनाय हविर्जुहोमि, यां त्वां जनो भूमिः सर्वभवनाधारत्वाद् भूमिरिति प्रमन्दते स्तौति, तां त्वां निर्ऋतिमित्यहं विश्वतः सामस्त्येन परितो वेद जानामि। ऋतमेव ऋतिः। निष्क्रुष्टा ऋति-र्निर्ऋतिस्तां मृत्योरपि मृत्युरूपां सर्वाधिष्ठानभूतां संविदं त्वामहं जाने, 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥' (कठोप० १।२।२४) इति श्रुतेः। सामान्यजनास्त्वां भूमिरूपां सर्वकारणरूपां वा जानते, तत्त्वज्ञास्तु प्रपञ्चातीतविशुद्धज्ञानाभिन्नपरमसत्यरूपैव त्वमसीति।

दयानन्दस्तु—'हे घोरे दुष्टानां भयङ्करि पत्नि, यस्यास्ते आसन् आस्ये मुखे एषां बन्धानां दुःखकारकत्वेन निरोधकानामवसर्जनाय अमृतात्मकमन्नादिकं जुहोमि। यो जनो भूमिरिति यां त्वां प्रमन्दते आनन्दयति, तां त्वामहं विश्वतो निर्ऋतिं पृथिवीतुल्यां परि सर्वप्रकारेण वेद सा त्वमपीत्थं मां विद्धि' इति, तदपि यत्किञ्चित्,

'घोरे' इति सम्बोधनस्य पत्न्यामसङ्गतेः। घोरे मुखेऽन्नादिकं जुहोमीत्यपि विश्रृङ्खलमेव, केषां बन्धानां तेन निवृत्तिरित्यनुक्तेश्च। यो भूमिरिति यां प्रमन्दते तां त्वामहं विश्वतो निर्ऋतिमिति परि परिवेदेत्यत्र को भेदः ? तयोः परस्परं वेदनं केन शब्देन लभ्यत इत्यप्यनुक्तेः। गौणार्थाश्रयणं तु दूषणमेव, यतो हि तन्न सार्वत्रिकम्, किन्तु प्रायिकम् ॥ ६४ ॥

यं ते॑ दे॒वी निर्ऋ॑तिराब॒बन्ध॒ पाशं॑ ग्री॒वास्व॑विचृ॒त्यम्। तं ते॒ विष्या॒म्यायु॑षो॒ न मध्या॒दथै॒तं पि॒तुम॑द्धि॒ प्रसू॑तः। नमो॒ भूत्यै॒ येदं च॒कार॑ ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान, निर्ऋति देवी ने तुम्हारे गृह में जो कभी न कटने वाला पाश बाँधा था, उस पाश को मैं तुम्हारे सामने इस अग्नि के मध्य डाल रहा हूँ। इस पाश से विमुक्त होकर तुम निर्ऋति की अनुज्ञा को प्राप्त करो, तुम्हारी रक्षा करने वाले इस अन्न का भक्षण करो। जिस देवी के प्रसाद से यह सब कुछ सम्पन्न हुआ है, उस ऐश्वर्य की देवी को हम नमस्कार करते हैं ॥ ६५ ॥

'शिक्यरुक्मपाशेण्ड्वासन्दीः परेणास्यति यं त इति' (का० श्रौ० १७।२।४)। शिक्यं रुक्मपाशः शणमयः, द्वे इण्ड्वे, आसन्दी च—एतानि नैर्ऋतीभ्य इष्टकाभ्यः पश्चाद् देशे प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः। यजमानदेवत्या त्रिष्टुप्। यजमानं प्रत्युच्यते—हे यजमान, निर्ऋतिर्देवी ते तव ग्रीवासु ग्रीवायाः सम्बन्धिषु प्रदेशविशेषेषु यं पाशं शिक्यरूपमा समन्ताद् बबन्ध बन्धितवती। कीदृशं पाशम् ? अविचृत्यम् अच्छेद्यं मोचयितुं विनाशयितुं वा अशक्यं दृढम्, ते त्वदीयग्रीवायां स्थितं तं पाशमनेन मन्त्रेण विष्यामि विमुञ्चामि। स्यतिर्विपूर्वकोऽत्र विमोचनार्थः। तच्च विमोचनं तदीयस्यायुषो मध्यादारभ्य न भवति, किन्तु कृत्स्नेऽप्यायुषि। अथ पाशविमोकानन्तरं निर्ऋत्या देवतया प्रसूतोऽभ्यनुज्ञातस्त्वमेतं पितुमन्नमद्धि भक्षय। यद्वा—आयुषो न मध्याद् आयुषोऽग्नेर्मध्याद् गार्हपत्यचयनादूर्ध्वमाहवनीयचयनात् पूर्वं न सम्प्रति इदानीमेव पाशं दूरीकरोमीत्यर्थः। नकारः सम्प्रत्यर्थः। 'अग्निर्वा आयुस्तस्यैतन्मध्यं यच्चितो गार्हपत्यो भवत्यचित आहवनीयः' (श० ७।२।१।१५) इति श्रुतेरायुश्शब्देनाग्निरुच्यते। शेषं पूर्ववत्। 'उदपात्रं निषिच्यान्तरात्मेष्टकमुत्तिष्ठन्ति नमो भूत्या इति' (का० श्रौ० १७।२।५)। आत्मा चेष्टकाश्चेत्यात्मेष्टकाः, तासामन्तरा इत्यन्तरात्मेष्टकम्। शिक्यादिनिरसनानन्तरमात्मनो नैर्ऋतीष्टकानां च मध्ये उदपात्रं जलपूर्णं चमसं तूष्णीं निषिच्य निनीय ब्रह्मयजमानाध्वर्यवो नम इति मन्त्रेणोत्तिष्ठन्तीति सूत्रार्थः। भूतिदेवत्या एकपदा विराट्। या देवी इदं नैर्ऋतीष्टकोपधानलक्षणमग्निचयनलक्षणं वा कर्म चकार कृतवती, तस्यै भूत्यै श्रीरूपिण्यै देव्यै नमोऽस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथासन्दीꣳ शिक्यम्। रुक्मपाशमिण्ड्वे तत्परार्धे न्यस्यति नैर्ऋतो वै पाशो निर्ऋतिपाशादेव तत्प्रमुच्यते यं ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध पाशं ग्रीवास्वविचृत्यमित्यनेवंविदुषा ह्यविचृत्यस्तं ते विष्याम्यायुषो न मध्यादित्यग्निर्वा आयुस्तस्यैतन्मध्यं यच्चितो गार्हपत्यो भवत्यचित आहवनीयस्तस्माद्यदि युवाग्निं चिनुते यदि स्थविर आयुषो न मध्यादित्येवाहाथैतं पितुमद्धि प्रसूत इत्यन्नं वै पितुरथैतदन्नमद्धि प्रमुक्त इत्येतत् त्रिष्टुब्भिर्वज्रो वै त्रिष्टुब् वज्रेणैव तत्पाप्मानं निर्ऋतिमपहते' (श० ७।२।१।१५)। आसन्द्यादीनां तत्र प्रासनं विधत्ते—अथेति। अथ समिदाधानानन्तरम्, या उखयाग्निधारणार्था आसन्दी, यच्च भरणसमये उखाधारणार्थं शिक्यम्, यश्च सौवर्णस्य रुक्मस्य प्रतिमोचनार्थं पाशः सूत्रम्, ये च इण्ड्वे अग्निसहिताया उखाया उभयतो धारणाय तृणमयौ पिण्डौ, तत्सर्वं नैर्ऋतीनां परार्धे पश्चाद्भागे न्यस्यति क्षिपेत्। यं ते देवीति तस्य

मन्त्रः। तदेव सूचितं कात्यायनेन—'शिक्यरुक्मपाशेण्ड्वासन्दीः परेणास्यति यं त इति' (का० श्रौ० १७।२।४) इति। मन्त्रस्य पूर्वार्धेऽविचृत्यमिति पदस्याभिप्रायमाह—अनेवंविदुषा हेति। अनेवंविद्वान् उक्तार्थज्ञानरहितः, तेन अविचृत्यः। 'चृती हिंसाग्रन्थनयोः' तौदादिकः। चर्तितुं विश्लेषयितुं न शक्यः। तदयमर्थः—हे यजमान, ते तव ग्रीवासु, अविचृत्यं विमोक्तुमशक्यं यं पाशं निर्ऋतिर्देवता आबबन्ध आबद्धवती, तं ते विष्यामीत्युत्तरत्र सम्बन्धः। तत्रत्यस्यायुःशब्दस्य विवक्षितमर्थमाह—अग्निर्वा आयुरिति। आयुषो दातृत्वादग्निरेवात्रायुः-शब्देनोच्यते। तस्यैतन्मध्यमित्यादि। तस्य चीयमानस्य आयुःशब्दाभिधेयस्याग्नेः, एतन्मध्यं मध्यशरीरं यद् गार्हपत्यचयनादूर्ध्वमाहवनीयचयनात् प्राचीनं कर्म, तदत्र मन्त्रगतेन मध्यशब्देनोच्यत इत्यर्थः। फलितमाह—तस्मादिति। तस्मादायुःशब्दस्य चीयमानाग्निपरत्वाद् यूनः स्थविरस्य च यजमानस्य प्रयोगे आयुषो मध्यादिति मन्त्रभागस्य पाठो न विरुध्यते। यद्यायुःशब्देन यजमानस्य जीवनकालो विवक्षितः स्यात्, तदा यूनः प्रयोगे आयुष आदेरिति विपरिणमयितव्यम्, स्थविरस्य प्रयोगे त्वायुषोऽन्तादिति। मध्यादित्येवाहेत्येव-कारेणेदृग्विधपरिणामो व्यावर्त्यते। तथा च तृतीयपादस्यायमर्थः—हे यजमान, ते तव ग्रीवास्वाबद्धं तं शिक्यपाशं रुक्मपाशं च विष्यामि। 'स्यतिरुपसृष्टो विमोचने' (नि० १।१७) इति यास्कः। तथा च विष्यामीत्यस्य विमुञ्चामीत्यर्थः। आयुषश्चीयमानस्याग्नेर्मध्याद् गार्हपत्यचयनादूर्ध्वभाविनः कर्मकलापान्न विमुञ्चामीति। चतुर्थपादमनूद्य व्याचष्टे—अथैतमिति। पितुशब्दोऽन्नवाची। अथ पाशविमोचनानन्तरमेतं पितुमग्निचयनफलभूतमन्नं प्रसूतो निर्ऋतिदेवतयाऽनुज्ञातः सन् हे यजमान! त्वमद्धि, अशानेत्यर्थः। प्रमुक्त इत्येतदिति। प्रसूत इति मन्त्रपदेन प्रमोचनं विवक्षितमिति भावः। मन्त्रगतं छन्दः प्रशंसति—त्रिष्टुब्भिरिति। वज्रो वै त्रिष्टुबिति। त्रिष्टुभ इन्द्रेण सहोत्पन्नत्वात् (तै० सं० ७।१।१४), वज्रस्य च तदायुधत्वात् त्रिष्टुभस्तत्तादात्म्यम्।

'तिस्र इष्टका भवन्ति। आसन्दी शिक्यᳪ रुक्मपाश इण्ड्वे तदष्टावष्टाक्षरा गायत्री। गायत्रोऽग्नि-र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत्पाप्मानं निर्ऋतिमपहते' (श० ७।२।१।१६)। इष्टकादीन् सम्भूयानूद्य संख्याद्वारेण प्रशंसति—तिस्र इति। 'अथान्तरेणोदचमसं निनयति। वज्रो वा आपो वज्रेणैव तत्पाप्मानं निर्ऋतिमन्तर्धत्ते नमो भूत्यै येदं चकारेत्युपोत्तिष्ठन्ति भूत्यै वा एतदग्रे देवाः कर्माकुर्वत तस्या एतन्नमोऽकुर्वन् भूत्या उ एवायमेतत्कर्म कुरुते तस्या एतन्नमस्करोत्यप्रतीक्षमायन्त्यप्रतीक्षमेव तत्पाप्मानं निर्ऋतिं जहति' (श० ७।२।१।१७)। उदकस्य निनयनं विधत्ते—अथान्तरेणेति। अथ आसन्द्यादीनां प्रासनानन्तरमन्तरेण स्वात्मन इष्टकानां च मध्ये उदकपूर्णं चमसं निनयति निषिञ्चति। तदेतत् कात्यायनेनोक्तम्—'उदपात्रं निषिच्या...' (का० श्रौ० १७।२।५) इति। तत्प्रशंसति—वज्रो वा इति। नैर्ऋत्यो हि ता इष्टकाः। तासामात्मनश्च मध्ये वज्रसंस्तुतानामपां निनयनेन पापरूपां निर्ऋतिमन्तर्धत्ते व्यवदधाति। तत्संसर्ग-परिहारायेत्यर्थः। निषेचनानन्तरमुपोत्थानं समन्त्रकं विधत्ते—नमो भूत्या इति। या भूतिलक्षणा देवता इदं नैर्ऋतेष्टकोपधानरूपं कर्म चकार कृतवती, तस्यै भूत्यै श्रिये नमोऽस्त्विति मन्त्रार्थः। तत्रोदकनिनयन-पूर्वकमुपोत्थानं कात्यायनः सूत्रितवान्। पुरावृत्तन्यायेन भूत्यर्थतां कर्मणः प्रदर्शयन् तन्नमस्कारपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे—भूत्यै वा इति। भूत्यै भवनाय ऐश्वर्याय खलु एतत्कर्म देवा अग्रे प्रागकुर्वत। तस्यै एव भूत्यै एतन्नमोऽकुर्वन् तद्वदेवायं यजमानोऽपि भूत्यर्थमेव एतत्कर्म कुरुते, तस्यै एतन्नमः कुरुते। उपोत्थानानन्तरं शालां प्रत्यागमनं धर्मविशिष्टं विधाय स्तौति—अप्रतीक्षमायन्तीति। प्रतिनिवृत्य नैर्ऋतस्थानस्येक्षणमकृत्वा आयन्ति शालामागच्छन्ति, तद् तेनाप्रतीक्षणेन निर्ऋतिरूपं पाप्मानमप्रतीक्षमेव प्रतीक्षणमकृत्वैव जहति त्यजन्ति।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, निर्ऋतिदेवी साधिष्ठाना विद्या यं पाशमविचृत्यमविच्छेद्यं जननमरणाविच्छेदलक्षणं बन्धनं ग्रीवासु जीवानां गलेष्वाबबन्ध तं ते बन्धनं पाशमायुषो जीवनकालस्य मध्यान्न इदानीमेव विष्यामि मुञ्चामि। अथ बन्धनमुक्तः सन्नेतं पितुमन्नं सर्वानन्दरससाररूपं ब्रह्मात्मकमद्धि भक्षय। तया निर्ऋतिरूपया देवतयाऽनुज्ञातो भगवदाभिमुख्ये जाते बन्धिकापि माया मुक्तौ ब्रह्मानन्दरसास्वादने साहाय्यमाचरति। महामहेश्वरी स्वीयया अविद्याशक्त्या बध्नाति, विद्याशक्त्या च मोचयति। 'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ॥ सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी। संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥' (दु० श० १।५७-५८) इति सप्तशत्युक्तेः। अतस्तया प्रसूतोऽभ्यनुज्ञातः, नवीनप्रसूत इव पितुं परमभोग्यमत्ति, तस्यै भूत्यै श्रीरूपिण्यै नमोऽस्तु। का सा? या महेश्वरी इदं सर्वं जगत् चकार कृतवती। या विश्वेश्वरी जगद्धात्री स्थितिसंहारकारिणी, तस्यै नमः।

दयानन्दस्तु—'हे पते, निर्ऋतिरिव पृथिवी वा अहं ते तव ग्रीवासु कण्ठेषु यमविचृत्यममोचनीयं पाशं धर्म्यं बन्धनमाबबन्ध आसमन्ताद् बध्नामि तं ते तवाप्यहं विष्यामि प्रविशामि। आयुषो जीवनस्य अन्नस्य न इव विष्यामि। अथावयोर्मध्यात् कश्चिदपि नियमात् पृथङ् न गच्छेत्। यथाहमेतं पितुमन्नादिकमद्मि तथा प्रसूत उत्पन्नः सन् त्वमेनमद्धि। हे स्त्रि, या देवी त्वमिदं पतिव्रताधर्मेण सुसंस्कृतं चकार तस्यै भूत्यै नमोऽहं करोमि' इति, तदेतत् सर्वथाऽसम्बद्धम्, असङ्गतेः, अस्य मन्त्रस्य दम्पत्योः संवादरूपत्वे मानाभावात्। नहि निर्ऋतिपदं पृथिवीतुल्यस्त्रीपरम्, ब्राह्मणेन अन्यथा व्याख्यानात्। सा पत्युः कण्ठेऽमोचनीयं पाशं बध्नातीत्यत्रापि न किञ्चित् प्रमाणम्, सूत्रग्रन्थादिषु तदनुल्लेखात्। आयुषोऽन्नस्य न विष्यामीति कथमेतत् सङ्गच्छते? हिन्दी-भाषायामवस्थायाः साधनस्य अन्नस्य न समानाहं विष्यामीत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतम्, षष्ठ्यन्तस्य पदस्य विष्यामीत्यत्र कथं कर्तृत्वेनान्वयः? न च पाशे स्त्रियाः प्रवेशो दृश्यते। न च धर्ममय एव पाश इति वाच्यम्, तस्य ग्रीवासु बन्धनासम्भवात्। कथं वा तत्र स्त्रियाः प्रवेशः? मध्यादिति पदेनावयोर्मध्यात् कश्चिदपि नियमात् पृथङ् न गच्छेदित्यादिकं सर्वं निर्मूलम्, वेदबाह्यत्वात्। यथाहं पितुमद्मि तथेत्यादिकमपि वेदबाह्यमेव। 'प्रसूत उत्पन्नस्त्वमद्धि' इति किं केन श्लिष्यते। अनुत्पन्ने कथमदनप्रसक्तिः? नह्यप्रसिद्धो नास्त्यन्नमिति भावार्थोऽपि मूलासम्बद्ध एव ॥ ६५ ॥

नि॒वेश॑नः स॒ङ्गम॑नो॒ वसू॑नां॒ विश्वा॑ रू॒पाभि च॑ष्टे॒ शची॑भिः।
दे॒व इ॑व सवि॒ता स॒त्यध॒र्मेन्द्रो॒ न त॑स्थौ सम॒रे प॑थी॒नाम् ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान को उसके घर में स्थिर रूप से रखनेवाला, धन-सम्पत्ति को देने वाला, अवश्य होने वाले फल से युक्त, अग्निहोत्र आदि शुभ कर्मों का सम्पादक यह अग्नि देवता अपने अपने कर्मों से संयुक्त सम्पूर्ण आहवनीय, प्रणीता, आग्नीध्र, धिष्ण्य आदि रूपों को प्रकाशित करता है। सविता देवता के समान प्रकाशित होकर शत्रुओं के साथ उसी प्रकार युद्ध करता है, जैसे कि इन्द्र असुरों के साथ युद्ध में प्रवृत्त होता है ॥ ६६ ॥

'अनपेक्षमेत्य शालाद्वार्योपस्थानं निवेशन इति' (का० श्रौ० १७।२।६)। ब्रह्मयजमानाध्वर्यवो नैर्ऋतीष्टको-पधानदेशात् पश्चादपश्यन्तः शालां गच्छन्ति। अध्वर्युरेत्य शालाद्वारि भवं गार्हपत्यचितिरूपमग्निमुपतिष्ठत इति सूत्रार्थः। विश्वावसुगन्धर्वदृष्टा इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप्। अयमग्निर्निवेशनो निवेशयति यजमानं स्वगृहे स्थापयतीति निवेशनः। अथवा निविशन्तेऽस्मिन् प्राणिन इति निवेशनः। तथा वसूनां प्रजापशुरूपाणां सङ्गमनः सङ्गमयति प्रापयतीति सङ्गमनः। सङ्गच्छन्ते वसून्यत्र वेति सङ्गमनः। सत्यधर्मा सत्योऽवश्यम्भाविफलोपेतो

धर्मोऽग्निहोत्रादिलक्षणो यस्यासौ। सविता देव इव यथा सूर्यो देवस्तथा विश्वा विश्वानि रूपा रूपाणि आहवनीयदक्षिणाग्न्यतिप्रणीताग्नीध्रधिष्ण्यादीन्यभिचष्टे सर्वतः पश्यति। इन्द्रः परमैश्वर्यवान्। अत एव पथीनां परिपन्थिनां समरे युद्धे न तस्थौ स्वयमागत्य न तिष्ठति, किन्तु तदीयनामग्रहणमात्रेण ते पलायन्ते। कथंभूतानि रूपाणि? शचीभिः स्वैः स्वैः कर्मभिर्युक्तानि। अथवा यश्चाग्निः पथीनां पथिभिः परिपन्थिभिः सह समरे संग्रामे इन्द्रो न इन्द्र इव तस्थौ स्थितवान्। यथेन्द्रो युद्धेऽविचलस्तिष्ठति तद्वत्। तं वयं स्तुम इति शेषः। पथिन्शब्दस्य मार्गेऽर्थे वृत्तिः। इह तु गौण्या वृत्त्या स परिपन्थिवाचकः। मार्गबोधके पथिन्शब्दे 'भस्य टेः' (पा० सू० ७।१।८८) इति सूत्रप्रवृत्तिः, न परिपन्थिवाचके। तस्मादनेन सूत्रेण टिलोपाभावात् षष्ठीबहुवचने छान्दसे दीर्घे पथीनामिति रूपम्। यद्वा पृथिवीलोकसंस्तुतोऽयमग्निः, निवेशनो निविशन्तेऽस्मिन्निति निवेशनः, वसूनां धनानां सङ्गमनः सङ्गच्छन्तेऽस्मिन्निति सङ्गमनः, यश्चायं विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाण्याहवनीयदक्षिणाग्न्यादीनि शचीभिः स्वैः कर्मभिर्युक्तानीति शेषः, अभिचष्टे अभितः पश्यति। कथं पश्यतीति चेत्, सत्यधर्मा देवः सविता इव अवितथकर्मकारी सूर्यो देव इव। यश्च इन्द्रो न इन्द्र इव। पथीनां पन्थिभिः सह समरे संग्रामे तस्थौ, तं वयं स्तुम इति शेषः।

तत्र ब्राह्मणम् —'प्रत्येत्याग्निमुपतिष्ठते। एतद्वा एतदयथायथं करोति यदग्नौ सामिचित एतां दिशमेति तस्मा एवैतन्निह्नुतेऽहिꣳसायै' (श० ७।२।१।१८)। उपोत्थानानन्तरं शालां प्रत्यागमनं गार्हपत्योपस्थानं च विधत्ते—प्रत्येत्येति। नैर्ऋतस्थानात् प्रतिनिवृत्य गार्हपत्यमग्निमुपतिष्ठते। उपस्थानस्य प्रयोजनमाह—एतद्वा इति। एतद्वा एतस्मिन् समये खल्वेतदयथायथमयथास्वमन्याय्यं करोति। किं पुनरेतदिति? तदाह—यदग्नाविति। अग्नौ गार्हपत्यचितिरूपे शालाद्वार्ये सामिचिते अर्धचिते एतां दिशं नैर्ऋतीमेति गच्छति। अहिंसायै हिंसापरिहाराय। तस्मै गार्हपत्यचितिरूपायाग्नये एतद् निह्नुत एव, अयथायथकरणजनितमपराधं शमयत्येव। 'यद्वेवोपतिष्ठते। अयं वै लोको गार्हपत्यः प्रतिष्ठा वै गार्हपत्य इयमु वै प्रतिष्ठाऽथैतदपथमिवैति यदेतां दिशमेति तद्यदुपतिष्ठत इमामेवैतत्प्रतिष्ठामभिप्रत्यैत्यस्यामेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति' (श० ७।२।१।१९)। प्रकारान्तरेणाप्युपस्थानस्य कर्तव्यतामाह—यद्वेवेति। अयं वा इति। गार्हपत्यः पृथिवीलोकात्मकः खलु प्रतिष्ठात्मकश्च सः। इयमु वै पृथिव्यपि खलु प्रतिष्ठा आस्पदम्। अथैतदिदानीमपथमिवैति अमार्गेणैव प्रतिपद्यते यदेतां नैर्ऋतीं दिशमेति गच्छति। उपस्थानस्य प्रतिष्ठितिहेतुतां प्रतिपादयति—तद्यदिति। एतद् एतेनैवोपस्थानेनेमां प्रतिष्ठारूपां पृथिवीमेवाभिप्रत्यैति साम्मुख्येन प्रतिपन्नो भवति। प्रतिष्ठायामस्यां प्रतितिष्ठति च चिरं स्थितिं लभत इत्यर्थः। 'निवेशनः सङ्गमनो वसूनामिति। निवेशनो ह्ययं लोकः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाऽभिचष्टे शचीभिरिति सर्वाणि रूपाण्यभिचष्टे शचीभिरित्येतद्देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनामिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।२।१।२०)। विहिते शालाद्वार्योपस्थाने मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—निवेशन इति। आधाराधेययोरभेदोपचारेणाग्नेः पृथिवीलोकत्वमित्यभिप्रेत्याह—निवेशनो ह्ययं लोक इति। शेषं निगदव्याख्यातम्।

अध्यात्मपक्षे यः परमेश्वरोऽग्निः श्रीरामः, निवेशनः निविशन्ते सर्वे जनाः सर्वाणि वस्तूनि वाऽत्रेति। सर्वाश्रयः, सर्वकारणत्वात् सर्वाधिष्ठानत्वात्। वसूनां धनानां सङ्गमनः प्रापकः। देवो दीप्यमानः सविता सूर्य इव। सत्यधर्मा सत्योऽवितथो धर्मो विश्वसृष्ट्यादिलक्षणो भक्तादिपालनलक्षणो मुमुक्ष्वादिभ्यः स्वात्मप्रतिपादन-लक्षणो वा कर्म यस्य सः। यश्च इन्द्रो न इन्द्र इव पथीनां पथिभिः परिपन्थिभी रावणादिभिः सह समरे तस्थौ यश्च विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपा रूपाणि मनुष्यान् मनुष्योपलक्षितान् जीवान्, रूपशब्दो मनुष्यार्थको निघण्टौ, शचीभिः प्रज्ञाभिः, अभिचष्टे अभिपश्यति, तं वयं स्तुम इति शेषः।

दयानन्दस्तु—'यः सत्यधर्मा सविता देव इव ईश्वरतुल्यो निवेशनो यः स्त्रियां निविशते सङ्गमनः सम्यग्गन्ता शचीभिः प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा वसूनां पृथिव्यादीनां पदार्थानां विश्वा सर्वाणि रूपाणि, अभिचष्टे अभिपश्यति ? इन्द्रो न सूर्य इव समरे संग्रामे पथीनां गच्छतां सम्मुखे तस्थौ, स एव गृहाश्रमाय योग्यो भवति' इति तन्न, असङ्गतेः श्रुतिसूत्रविरोधात्, सङ्गमन इत्यस्य स्त्रियां गन्तेत्यर्थकत्वे मानाभावात्। नाद्यत्वे कश्चन पृथिव्यादीनां पदार्थानां सर्वरूपाभिद्रष्टा, तत्किं न कश्चनापि गृहाश्रमयोग्यः ? धन्येयं सुमतिः ? धन्यमिदं च व्याख्यानम् ॥ ६६ ॥

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वित॑न्वते॒ पृथ॑क् । धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒या ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ—बुद्धिमान्, अग्निविद्या में कुशल, कृषि कर्म के मर्म को जानने वाले विद्वान् देवलोक में सुख प्राप्त करने के लिये हल और बैल को खेती के लिये जोतते हैं, युगों का भिन्न-भिन्न विस्तार करते हैं ॥ ६७ ॥

'दक्षिणामग्निश्रोणिमपरेण तिष्ठन् युज्यमानमभिमन्त्रयते सीरा युञ्जन्तीति' (का० श्रौ० १७।२।११)। चितेर्दक्षिणश्रोणेः पश्चिमे तिष्ठन्नध्वर्युः प्रतिप्रस्थात्रोत्तरांसं षड्भिर्दशभिश्चतुर्विंशत्या वा वृषैर्युज्यमानमौदुम्बरं हलं द्वाभ्यामभिमन्त्रयत इति सूत्रार्थः। सीरदेवत्ये सोमपुत्रबुधदृष्टे द्वे गायत्रीत्रिष्टुभौ। कवयः सीराः सीराणि लाङ्गलानि हलानि युञ्जन्ति सज्जीकुर्वन्ति वृषैर्योजयन्ति वा। तथा युगा युगानि पृथग् नाना एकैकं विस्तारयन्ति। कीदृशाः कवयः ? धीरा धैर्योपेताः, अनलसा इत्यर्थः। किमर्थम् ? देवेषु देवताविशेषेषु सुम्नया, सुम्नमिति सुखनामा, सुम्नं सुखमिच्छतीति सुम्नायति, सुम्नायतीति सुम्ना तया हेतुभूतया, देवानां सुखं कर्तुमित्यर्थः। अथवा चतुर्थ्या यादेशः। देवानां सुखाय, सुखप्राप्तय इत्यर्थः। सीरकविशब्दयोर्बहुत्वं पूजार्थम्, तयोरेकत्वात्। युगानि तु बहूनि भवन्ति।

तत्र ब्राह्मणम्—'प्रत्येत्य प्रायणीयेन प्रचरति। प्रायणीयेन प्रचर्य सीरं युनक्त्येतद्वा एनं देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादन्नेन समार्धयंस्तथैवैनमयमेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तादन्नेन समर्धयति सीरं भवति सेरꣳ हैतद्यत् सीरमिरामेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० ७।२।२।२)। 'अथ प्रायणीयं निर्वपति' (श० ७।२।२।१) इति शालाद्वार्योपस्थानमभिधाय विहितस्य प्रायणीयहविषः प्रचारं विधत्ते—प्रत्येत्येति। प्रायणीयेन प्रायणीयशेषेण प्रचर्य प्रचारं कृत्वा सीरं हलं युनक्ति युञ्ज्यात्। विहिते सीरयोजने प्रजापतेः सीरलक्षणेनान्नेन समर्धनद्वारा देवकर्तृकं संस्कारं प्रतिपादयति—एतद्वा एनमिति। एतद् एतस्मिन्नवसरे एनं पितरं प्रजापतिं विस्रस्तावयवं चयनेन संस्करिष्यन्तो देवाः पुरस्तात् ततः प्रागेव सीरलक्षणेनान्नेन समृद्धमकुर्वन्। एवमेवायं यजमानोऽप्येनं प्रजापतिं चित्याग्निरूपेण संस्करिष्यन् ततः प्रागेव सीरलक्षणेनान्नेन समर्धयति। नामनिर्वचनेन तस्यान्नरूपताःमाविष्करोति—सीरं भवतीत्यादिना। इरया अन्नेन सह वर्तत इति सेरम्, एतदेव पारोक्ष्येण सीरमित्युच्यते। अतः कर्षणसाधनत्वेन सीरस्य विधानादिरामन्नमेवास्मिन् संस्क्रियमाणे चित्याग्निरूपे प्रजापतौ, एतद् एतर्हि दधाति स्थापयति। 'औदुम्बरं भवति। ऊर्वै रस उदुम्बर ऊर्जैवैनमेतद्रसेन समर्धयति मौञ्जं परिसीर्यं त्रिवृत् तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।२।२।३)। सीरोपादानभूतं वृक्षविशेषं विधाय स्तौति—औदुम्बरं भवतीति। ऊर्ग् बलकरमन्नम्, तदात्मको रस एव उदुम्बरवृक्षात्मना परिणतः, 'देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठत्' (श० ३।२।१।३३) इति श्रुतेः। सीरयोजनार्थानां रज्जूनां प्रकृतिद्रव्यं विधत्ते—मौञ्जमिति। परिसीर्यं परितः सीरस्य योजनायोपयुज्यमानं दाम मौञ्जं मुञ्जतृणैर्निर्मितं त्रिवृत् त्रिगुणं च कर्तव्यम्। मौञ्जस्य त्रिवृत्त्वस्य च स्तावकं 'सैषा योनिरग्नेर्यन्मुञ्जः' (श० ६।३।१।२६) इत्यादिवाक्यं प्रागाम्नातमत्रानुसन्धेयमित्यर्थः।

'सोऽग्नेर्दक्षिणाᳬं श्रोणिम् । जघनेन तिष्ठन्नुत्तरस्याᳬंसस्य पुरस्ताद्युज्यमानमभिमन्त्रयते सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथगिति ये विद्वाᳬंसस्ते कवयस्ते सीरं च युञ्जन्ति युगानि च वितन्वते पृथग्धीरा देवेषु सुम्नयेति यज्ञो वै सुम्नं धीरा देवेषु यज्ञं तन्वाना इत्येतत्' (श० ७।२।२।४) । युज्यमानस्य सीरस्य स्थानविशेषविशिष्टमभिमन्त्रणं विधत्ते—सोऽग्नेरिति । चेष्यमाणस्याग्नेर्यावान् भूभागः शौल्बेन मानेन चतुरस्रीकृतस्तस्य दक्षिणां श्रोणिं जघनेन दक्षिणापरेण तस्य पश्चात् तिष्ठन् उत्तरांसस्याग्निक्षेत्रसम्बन्धिन उत्तरपूर्वकोणस्य पुरस्ताद् युज्यमानं सीरं युगबलीवर्दादिभिः सह रज्ज्वा बध्यमानं 'सीरा युञ्जन्ति' इति मन्त्रद्वयेन अभिमन्त्रयते। अभिमन्त्रणं नाम मन्त्रेण स्मर्यमाणस्यार्थस्य ईक्षणपूर्वकमनुसन्धानम् । उक्तं हि—'मन्त्रमुच्चारयन्नेव मन्त्रार्थं स्वेन संस्मरेत् । सेक्षणं तन्मना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम् ॥ एतदेवाभिमन्त्रणलक्षणं चेक्षणावधि ।' इति । अत्र सीरयोजनस्य तदभिमन्त्रणस्य च भिन्नदेशकर्तव्यकर्मतया यौगपद्याय कर्तृभेदोऽवसीयते । तत्राभिमन्त्रणस्य संस्कार्यतया प्रधानत्वात् सीरयोजनमध्वर्युः कुर्यात्, तत्संस्कारात्मकमभिमन्त्रणं तु द्वितीयः प्रतिप्रस्थाता कुर्यात् । उक्तं हि सूत्रभाष्यकृता कर्कोपाध्यायेन—'प्रतिप्रस्थाताभिमन्त्रयते सीरा युञ्जन्तीत्यनेन मन्त्रेण, योजने तु प्रधानत्वादध्वर्युः' (का० श्रौ० १७।२।११ इत्यत्र) इति ।

मन्त्रस्य पूर्वार्धमनूद्य व्याचष्टे—सीरा युञ्जन्तीति । ये विद्वांसस्ते कवय इति मन्त्रगतेन कविशब्देन सीरयोजनप्रकारं सम्यग्जानानास्तदभिज्ञा विवक्षिताः । सीरं चेति । मन्त्रगतस्य 'सीरा' इत्यस्य व्याख्यानं सीरमिति । मन्त्रे सीरशब्दात् परस्य द्वितीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक्…' (पा० सू० ७।१।३९) इत्याकारादेशः । युगानि चेति । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० सू० ६।१।७०) इति युगशब्दात् परस्य शेर्मन्त्रे लोप इत्यर्थः । तेन तत्र युगा वितन्वत इति पाठः । उत्तरार्धमनूद्य व्याचष्टे—धीरा देवेष्विति । सुम्नशब्देन सुखमुच्यते । तद्धेतुत्वाद् यज्ञोऽपि सुम्नशब्दाभिधेयः । तदाह ब्राह्मणम्—यज्ञो वै सुम्नमिति । तस्मात्परस्य द्वितीयैकवचनस्य यादेशः । तदयं मन्त्रार्थः—कवयस्तदभिज्ञाः सीरं च युञ्जन्ति कर्मणो योग्यं बध्नन्ति षड्द्वादशादिसंख्यानामनडुहां योजनाय पृथग् भेदेन युगानि च वितन्वते विस्तारयन्ति । किं कुर्वन्तः ? देवेषु सुम्नमग्निचयनलक्षणं यज्ञं तन्वाना विस्तारयन्त इति । अत एव धीरास्तदुपायभूतया धिया युक्ता इति ।

अध्यात्मपक्षे—धीराः, धियं बुद्धिमीरयन्ति प्रेरयन्तीति धीराः, देवेषु परमेश्वरे, पूजायां बहुवचनम्, मनो युञ्जन्ति योजयन्ति, तदर्थं पृथग् यमनियमादिसाधनानि वितन्वते विस्तृण्वन्ति । किमर्थम् ? सुम्नया सुम्नं पारमार्थिकं ब्रह्मात्मकं सुखं प्राप्तुम् । क इव ? कवयो यथा सुखार्थं सीराणि हलानि युगानि च बलीवर्दादिभिर्योजयन्ति तद्वत् ।

दयानन्दस्तु 'हे मनुष्याः, यथा धीराः कवयः सीरा हलानि युगा युगानि च युञ्जन्ति, सुम्नया सुम्नेन सुखेन देवेषु विद्वत्सु पृथग्वितन्वते विस्तृणन्ति, तथा सर्वैरेतदनुष्ठेयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथा धीरा हलं युञ्जन्ति सुखाय तथैव सर्वैरपि कर्तव्यमित्यस्यानुक्तत्वात्, निरर्थकत्वाच्च । साधारणहलप्रयोगस्य लोकप्राप्तत्वात् । यच्च भावार्थे—'यथा योगिनो नाडीषु परमेश्वरं समाधियोगेनोपकुर्वन्ति, तथैव कृषिकर्मद्वारा सुखोपयोगः कर्तव्यः' इति, तदपि तथैव, प्रकृतमन्त्रे तदर्थबोधकपदाभावात् । युञ्जन्तीति क्रियापदं सीराणि युञ्जन्तीति गतार्थमेव ॥ ६७ ॥

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ— हे कर्षकगण, तुम हलों को जोतो, हल के जुए, शम्या और योक्त्र आदि का विस्तार करो। कर्षण संस्कार करते समय इस स्थान में 'या ओषधीः' इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए चमस द्वारा संस्कृत व्रीहि आदि के बीजों का वपन करो। व्रीहि आदि अन्नसमूह फलवान् होकर पुष्ट हो, पके हुए धान्य को शीघ्र ही दराती से काटकर हमारे घर में ले आओ॥ ६८॥

हे कर्षकाः, सीरा लाङ्गलानि युनक्त योजयत। 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति थस्य तबादेशे श्नसोरल्लोपाभावे युनक्तेति रूपम्। युगा युगानि वितनुध्वं विस्तारयत। कृते कर्षणेन संस्कृते इह अस्मिन् योनौ स्थाने बीजं व्रीह्यादिकं यूयं वपत। किञ्च, तद्बीजं गिरा आशीर्वादरूपेण मङ्गलवाक्येन युक्तं बीजं वपतेति सम्बन्धः। श्नुष्टिस्तत्र निष्पन्नः स्तम्बो नोऽस्मदर्थं सभरा असत् फलभारयुक्तोऽस्तु। पक्वं च फलं धान्यं नेदीय इद् अन्तिकमेव अल्पकालनिष्पाद्यमेव सत् सृण्यः सृण्या लवनसाधनेन दात्रेण लूनं सद् आ इत्याद् अस्मत्समीपमागच्छतु। यद्वा गिरा 'ओषधीः' (वा० सं० १२।७५) इत्यादिकया मन्त्रवाचा चकाराच्चमसेन च वपत। तथा वपत यथा श्नुष्टिरन्नजातिर्व्रीह्यादिका सभरा, आनमितफलाः, भृत्रः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१८८) इत्यसुन्प्रत्यये रूपसिद्धिः, सान्तोऽयं स्त्रीलिङ्गशब्दः, भराः फलपुष्टिः, तया सह वर्तमाना सभरा व्रीह्यादिजातिः फलव्रातपोषयुक्तास्तु, 'वाग्वै गीरन्नꣳ श्नुष्टिः' (श० ७।२।२।५) इति श्रुतेः। सृण्यो दात्रान् पक्वमौषधम् आ इयात् आगच्छेत्। अतिघनत्वादोषधीनां निकटतमं दात्रं भूमेश्च दात्रपूरं (दात्रलूनम्) पक्वमौषधमागच्छेद् यथा तथा वपतेत्यर्थः। यद्वा—हे यजमानपुरुषाः, सीरा हलानि युनक्त योजयत विशेषेण योक्त्रप्रभृतिभिर्विस्तारयत। इह क्षेत्रे योनौ स्थाने कृते संस्कृते सति बीजं व्रीह्यादि वपत निःक्षिपत। केन साधनेनेत्यपेक्षायामाह—गिरा चेति। गिरा वाचा या ओषधीरित्यादिवक्ष्यमाणमन्त्ररूपया चकाराच्चमसेनापि वपतेत्यर्थः। श्नुष्टिर्व्रीह्यादिकान्नजातिः सभरा फलकृतेन भरसा भरणेन सह वर्तत इति सभराः, अभिमतफलेति यावत्। तादृशी नोऽस्माकं यथा असद् भवेत्, इत्शब्दोऽनर्थकः, तथा सृण्योऽङ्कुशाकारस्य लवनसाधनस्य दात्रस्य नेदीयोऽन्तिकतमं पक्वं व्रीह्याद्यन्नं यथा आ इयाद् आगच्छेत्, तथा वपतेति सम्बन्धः। 'सृणिरङ्कुशो भवति सरणात्, अङ्कुशोऽञ्चतेराकुञ्चितो भवतीति वा' (नि० ५।२८) इति यास्कः।

तत्र ब्राह्मणम्—'युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वमिति। युञ्जन्ति हि सीरं वि युगानि तन्वन्ति कृते योनौ वपतेह बीजमिति बीजाय वा एषा योनिष्क्रियते यत्सीता यथा ह वा अयोनौ रेतः सिञ्चेदेवं तद्यदकृष्टे वपति गिरा च श्नुष्टिः सभरा असन्न इति वाग्वै गीरन्नꣳ श्नुष्टिर्नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयादिति यदा वा अन्नं पच्यतेऽथ तत्सृण्योपचरन्ति द्वाभ्यां युनक्ति गायत्र्या च त्रिष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।२।२।५)। अयं द्वितीयोऽभिमन्त्रणमन्त्रः। पुरा परोक्षवदुक्तोऽत एवास्य पादेन प्रत्यक्षवदुच्यते। हे यजमानपुरुषाः, सीरा सीरं विभक्तेराकारः। युनक्त बध्नीत। इरित्संज्ञकस्य युजे रौधादिकस्य लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने तबादेशेन रूपम्। युगा युगानि वितनुध्वं विस्तारयतेति। द्वितीयपादमनूद्य व्याचष्टे—बीजाय वा इति। बीजवपनाय सीतारूपा योनिर्विधीयते। विपक्षे दोषमुद्भावयति—यथा ह वा इति। अकृष्टेऽलिखिते यद् यदि वपति तर्ह्ययोनौ गर्भाशयादन्यत्र यथा रेतःसेकस्तथा व्यर्थं भवेदित्यर्थः। तृतीयपादनूद्य तन्मध्यपातिनोर्गीःश्नुष्टिशब्दयोरर्थमाह—वाग्वै गीरन्नं श्नुष्टिरिति। 'स दक्षिणमेवाग्रे युनक्ति। अथ सव्यमेवं देवत्रेतरथा मानुषे षड्गवं भवति द्वादशगवं वा चतुर्विꣳशतिगवं वा संवत्सरमेवाभिसम्पदम्' (श० ७।२।२।६)। विहिते सीरयोजने दक्षिणसव्ययोर्धुर्ययोः पौर्वापर्यं विधत्ते—स दक्षिणमेवाग्र इति। सीरयोजनेऽनड्हां वैकल्पिकं संख्यात्रितयं विधत्ते—षड्गवमित्यादिना। षड्तु-द्वादशमास-चतुर्विंशतिपक्षसम्पत्त्यात्मकः संवत्सरः। तमभिलक्ष्य त्रयोऽप्येते पक्षा उपपन्ना इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे धीराः, सीरा हलानि युगानि च रज्ज्वादिभिर्बलीवर्दैर्योजयमानाः कर्षका इव यूयं यमैर्नियमैश्च मन इन्द्रियाणि च योजयत । यथा कृते कृष्टे योनौ क्षेत्रकर्षका बीजं वपन्ति, तथैव यमनियमादिभिः परिष्कृते मनसि वेदान्तश्रवणादिलक्षणं बीजं वपत । केन साधनेन ? इत्याकाङ्क्षायामाह—गिरा वेदान्तवाक्येन, चकारात् षड्विधैर्लिङ्गैस्तात्पर्यनिर्धारणेन च वपत । यथा बीजवपनेन कर्षकाणां सभराः श्रुष्टिरभिमतफला व्रीह्यादिका अन्नजातिः स्यात्, यथा च कर्षकाणां सृण्यो दात्रस्य नेदीयोऽन्तिकतमं पक्वमन्नम् आ इयात्, तथैव भरसा पुष्ट्या सहिता सभरा श्रुष्टिर्ब्रह्मात्मव्याप्तिर्ब्रह्मसाक्षात्कृतिः, असत् स्यात्, ययाऽङ्कुशस्य अन्तिकतमं पक्वमन्नमिव मोक्षाख्यं फलं हस्तगतं भवति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयमिह साधनानि वितनुध्वम् । सीरा हलादीन्युपकरणानि नाडीर्वा युगान्युपासनयुक्तानि कर्माणि वा युनक्त । कृते कर्षिते योनौ क्षेत्रे अन्तःकरणे वा वपत । इहास्यां भूमौ बुद्धौ वा बीजं यवादिकं सिद्धिमूलं गिरा च कृषियोगकर्मोपयुक्तया सुशिक्षितया वाचा स्वसुविचारेण च सभराः समानधारणपोषणाः श्रुष्टिः शीघ्रं भवत । 'श्रुष्टीति शीघ्रनामसु' (नि० ६।१२) । याः सृण्यः क्षेत्रयोगानुगता यवादिजातय उपासनावृत्तयस्ताभ्यो यन्नेदीयोऽतिशयेनान्तिकम्, असद् अस्तु पक्वं भवेत् तद् इद् एव एयात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात् । याः सृण्य इत्यस्य क्षेत्रयोगानुगता यवादिजातय इति कथमर्थ इत्यनिरूपणात् । धर्मपरत्वं तु श्रुतिसूत्रसम्मतम्, ब्रह्मपरत्वमपि श्रुतिसम्मतम् ॥ ६८ ॥

शुन१ँ सफाला विकृषन्तु भूमि१ँ शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तनास्मे ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ—हे सुन्दर फलक वाले हल, तुम पृथ्वी को सुखपूर्वक जोतो । फलक वाले मनुष्य हल आदि को लेकर सुखपूर्वक विचरण करें । हे वायु और आदित्य देवताओं, आप लोग जल से भूमि को सींचते हुए हमारी ओषधियों को सुन्दर फलों से भर दो ॥ ६९ ॥

'आत्मनि कृषत्यनु परिश्रिच्छुन१ँ सुफाला इति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १७।२।१२) । परिश्रित्संलग्नं हलेनात्मनि भूमिं कृषेत्, न पक्षपुच्छयोः । हलस्याग्रे महतीं मौञ्जीं त्रिवृतं रज्जुं बद्ध्वा तस्याः प्रान्तं बलीवर्दानां स्कन्धे युगे बध्नीयात् । बलीवर्दास्त्वग्निक्षेत्राद्बहिरेव तिष्ठन्ति । सीरं च कर्षणवेलायामध्वर्युपुरुषा अग्रतो नयन्ति । तथा च चितिस्थाने परिश्रित्समीपे चतुर्भिर्ऋत्विग्भिर्दक्षिणपश्चिमोत्तरपूर्वेषु चतस्रः सीताः कृषति शुनमिति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः । कुमारहारितदृष्टाः सीतादेवत्याश्चतस्रः । द्वे त्रिष्टुभौ तृतीया पङ्क्तिश्चतुर्थ्यनुष्टुप् । सुफालाः सुशोभनाः फाला लाङ्गलाग्रस्थितलोहविशेषाः 'ञिफला विशरणे' इत्यस्मात् णिजन्तात् पचादेराकृतिगणत्वादच् । 'फालः सीरोपकरणोत्प्लवयोः फालमंशुके' इति रामाश्रम्यामुद्धृतम् । भूमिं शुनं सुखं यथा स्यात्तथा, 'शुनमिति सुखनाम' (निघ० ३।६।११), विकर्षन्तु कर्षणं कुर्वन्तु । कीनाशा हलिनः कर्षका वाहैर्बलीवर्दैः सह शुनं सुखं यथा स्यात्तथा अभियन्तु अभितो गच्छन्तु प्रवर्तयतां वा । शुनासीरा हे शुनासीरौ विभक्तेर्डाऽऽदेशः । शुनो वायुः, सीर आदित्यः, तावुभौ युवामेव क्षेत्रे कृष्टे हविषा उदकेन तोशमाना तोशमानौ । तोशतिर्वधकर्मा । सुपिप्पलाः शोभनफलोपेता ओषधीः, अस्मे अस्मभ्यं कर्तन कुरुतम्, बीजावापं कुरुतमित्यर्थः । कुरुतेति वचनव्यत्ययः । तस्य तनबादेशः । 'कीनाशः कर्षके क्षुद्रे कृतान्तोपांशुघातिनोः' । 'शुनो वायुः । शु इत्यन्तरिक्षे । सीरआदित्यः सरणात्' (नि० ९।३५) इति यास्कः । पिप्पलं फलम् ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं विकृषति। अन्नं वै कृषिरेतद्वा अस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादन्नमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतत्संस्करिष्यन् पुरस्तादन्नं दधाति' (श० ७।२।२।७)। चित्याग्निक्षेत्रमध्ये विकर्षणं विधत्ते—अथैनमिति। एनमात्मानम्। तदेव कर्षणमन्नात्मना स्तौति—अन्नं वा इति। अन्नं खलु कृषिस्तद्धेतुत्वात्। कृष्ट एव हि सम्यगन्नं पच्यते। कर्षणमेव तद्देवकर्तृकान्नाधानतया स्तौति—एतद्वा इति। पुरस्तात् चयनात् प्रागेव देवाः संस्कारं करिष्यन्तोऽस्मिन्नात्मन्येतदेतेन कर्षणेनान्नमेव स्थापितवन्तः, तथैवायं यजमानोऽपीति। 'स वा आत्मानमेव विकृषति। न पक्षपुच्छान्यात्मंस्तदन्नं दधाति यदु वा आत्मन्नन्नं धीयते तदात्मानमवति तत्पक्षपुच्छान्यथ यत्पक्षपुच्छेषु नैव तदात्मानमवति न पक्षपुच्छानि' (श० ७।२।२।८)। पक्षपुच्छानि विहायात्मन्येव कर्षणं विधत्ते—स वा आत्मानमिति। तत् तेन विकर्षणेन आत्मन् आत्मनि अन्नमेव स्थापितवान् भवति। अथात्मन्यन्नाधानं स्तौति—यदु वा इति। आत्मनि यदेवान्नं धीयते स्थाप्यते तदेवान्नं पक्षपुच्छसहितमात्मानं रक्षति। पक्षपुच्छेष्वन्नाधानं त्वकिञ्चित्करमित्याह अथ यदित्यादिना। 'स दक्षिणार्धेनाग्नेः। अन्तरेण परिश्रितः प्राचीं प्रथमाꣳ सीतां कृषति शुनꣳ सुफाला विकृषन्तु भूमिꣳ शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैरिति शुनꣳशुनमिति यद्वै समृद्धं तच्छुनꣳ समर्धयत्येवैनामेतत्' (श० ७।२।२।९)। अथ परिश्रितां समीपे आत्मनो दक्षिणभागेऽन्तरतः प्रागायतां सीतां विधत्ते—स दक्षिणार्धेनेति। परिश्रितोऽन्तरेण तत्संलग्नमेव चित्याग्नेरात्मनो दक्षिणार्धेन दक्षिणपार्श्वे प्रागपवर्गां प्रथमां सीतां लाङ्गलपद्धतिं कृषेत्। 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (पा० सू० २।३।४) इति परिश्रिच्छब्दे द्वितीया। मन्त्रं विधाय तन्मध्यपातिशुनशब्दस्य समृद्धार्थकतया प्रथमसीतायाः समर्धनमाह—शुनं सुफाला इत्यादिना।

अध्यात्मपक्षे—शोभनफाला लाङ्गलाग्राः शुनं सर्वसुखकारकमैहिकामुष्मिकं मोक्षरूपं च सुखं यथा स्यात्तथा भूमिं कृषन्तु, ध्यानादीनि साधनानि हृदयभूमिं विलिख्य मलापसारणं कुर्वन्त्वित्यर्थः। कीनाशा जनकादयः कर्षका यजमाना वाहैर्बलीवर्दैः सह शुनं यथा स्यात्तथा अभियन्तु। सिद्धा मलविक्षेपादिनिवारणार्थं साधकैः समागच्छन्त्वित्यर्थः। शुनासीरा शुनासीरौ वाय्वादित्यौ हविषोदकेन भूमिं तोशमाना तोशमानौ ओषधीः सुपिप्पलाः कर्तन कुरुतम्। 'अन्नं वै कृषिः' इति पूर्वोक्तश्रुत्या अन्नरूपैव कृषिरुक्ता। तत एव चयनात् प्राग् आत्मन्यन्नाधानाय कर्षणेन देवा इव चयनाख्ययज्ञे इदानीन्तनोऽपि यजमान आत्मन्यन्नमादधाति। सीता लाङ्गलपद्धतिः, सैवान्नस्य हेतुः, सैव च कृषिः। शुनासीरौ वाय्वादित्यौ अन्तर्भूतौ स्तो यस्मिन्नसौ शुनासीरः, स शुनासीरः सीरध्वजो जनको वैदेहः। अर्शआद्यच्। तादृशेन कर्षणेनैव सर्वैश्वर्यपरिपूर्णाया भूमेः सकाशात् सीतां सर्वैश्वर्यजनयित्रीं लाङ्गलपद्धतिं तदुपलक्षितां सीतोपनिषदुक्तामनन्तसत्तासामान्यरूपां सम्पत्तिं लक्ष्मीं मोक्षलक्ष्मीमष्टसिद्धिनवनिधिरूपां कल्पवृक्ष-चिन्तामणि-कामधेनुरूपां सस्यपत्रपुष्पफलपल्लवाढ्यां शाकम्भरीरूपां वेदरूपां प्रकृतिरूपां च प्रादुश्चक्रे। यद्वा साधको यमनियमादीन् वाहान् योजयित्वा अभ्यासलाङ्गलस्थसुमतिफालेन पुनः पुनः परिकृष्य परिष्कृतायां बुद्धिरूपायां भूमौ गुरूपदेशरूपं बीजं निक्षिपति। ततश्च सर्वैश्वर्यपेतां रामोपेतां सीतां लभते। लोकेऽपि सैव लाङ्गलपद्धतिरूपेण सर्वैश्वर्यदात्रीति। सुफालाः शोभनाः सीराग्रस्था लोहविशेषाः शुनं सुखं यथा स्यात्तथा भूमिं विकृषन्तु। कीनाशाः शुनं सुखवाहैः सहाभियन्तु। हे शुनासीरा शुनासीरौ युवाम्, अस्मे अस्मभ्यम्, सुपिप्पला ओषधीः कर्तन कुरुतम्। लौकिकेन पुरुषार्थेनोपासिता कृष्यधिष्ठात्री सीतैव श्रियं प्रयच्छति। यद्वा शोभनबुद्धिरूपाः फाला वेदपुराणादिरूपां भूमिं शुनं सुखेन विकृषन्तु। कीनाशाः कृषीवलाः साधका वाहैर्यमनियमरूपैर्बलीवर्दैः सह तत्राभितो यन्तु। हे शुनासीरौ वाय्वादित्यौ ज्ञानवैराग्यरूपौ हविषा एकाग्रतारूपेण जलेन भूमिं तोशमानौ सिञ्चन्तौ उपदेशरूपा व्रीह्यादिका ओषधीर्ब्रह्मात्मसाक्षात्कारफलवतीः कुरुतमित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'ये कीनाशाः, ये श्रमेण क्लिश्यन्ति ते कृषीबलाः। फालाः फलन्ति भूमिं विस्तीर्णां कुर्वन्ति यैस्ते। वाहैः वहन्ति यैस्ते वाहास्तैर्वृषभादिवाहनैः सह वर्तमाना हलादिभिर्भूमिं विकृषन्तु विलिखन्तु। शुनं सुखमभियन्तु प्राप्नुवन्तु। हविषा शुद्धघृतादिना तोशमाना सन्तुष्टिकरौ तुष्टौ वर्णव्यत्ययेन शः, शुनासीरौ शुनो वायुः, सरत्यन्तरिक्षे इति सीर आदित्यः, तावेव अस्मे अस्मभ्यं सुपिप्पलाः सुशोभनानि पिप्पलानि फलानि यासु ताः ओषधीर्यवादीन् कर्तन कुर्वन्तु। ताभिः सुशुनं च प्राप्नुयुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'तोशमानौ शुनासीरौ' इति द्विवचनासङ्गतेः। हिन्दीभाष्ये तु वायुसूर्यसदृशानि कृषिसाधनानीत्युक्तम्। तथा च कथं द्विवचनसङ्गतिः? कथं च साधनानां वायुसूर्यतुल्यत्वम्? कथं च तोषकत्वमिति? शुनासीरा इत्यत्र 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इति पूर्वपदस्यानङ्ङादेशः। महीधरस्य पूर्वपददीर्घवचनं चिन्तनीयमिति, तत्तुच्छम्, अत्र पूर्वपदे आनङ्ङादेश एव महीधराभिमतः। यतस्तेन सूत्रमुद्धृतम्—'देवताद्वन्द्वे च' इति। असत्यानङ्ङादेशे दीर्घासम्भवः। तथा लेखनं तु लेखकप्रमादादिति मन्तव्यम् ॥ ६९ ॥

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान् सीते पयसाभ्याववृत्स्व ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण देवगण से अंगीकृत यह हल की फाल मधुर घृत, अर्थात् अमृतमय जल से सिंचित हो। हे फाल, तुम ओज, अन्न तथा दूध-दही, घृत आदि से दिशाओं को पूरित करती हुई सब प्रकार से अनुकूल बनो, खेत में उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण ओषधियाँ अमृत जल से परिपुष्ट होकर सतेज हों। हे फाल, इस प्रकार तुम अमृतमय जल का संचय करके हमारी कामनाएं पूरी करो ॥ ७० ॥

इयं सीता लाङ्गलपद्धतिः, मधुना मधुरेण, घृतेन उदकेन, समज्यतां संसिच्यताम्। अतः सा सीता विश्वैर्देवैर्मरुद्भिश्च अनुमता समीचीनेयमित्यङ्गीकृता सा पुनरूर्जस्वती रसवती पयसा जलेन पिन्वमाना आप्यायिता वर्तते। हे सीते, जलेनाप्यायिता त्वमस्मान् प्रत्यभ्याववृत्स्व अभित आवृत्ता भव। यद्वा पयसा पयोदधिघृतादिभिः पिन्वमाना दिशः पूरयन्ती सती पयसा दुग्धादिभिः सह अस्मदभिमुखा सती आवृत्ता अस्मदनुकूला भवेत्यर्थः। ववृत्स्वेति 'वृतु वर्तने' इत्यस्मात् 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपः श्लौ लोटि रूपम्। उव्वटाचार्यरीत्या—घृतेन उदकेन मधूदकेन समज्यतां संसिच्यताम्। विश्वैः सर्वैर्देवैरभ्यनुज्ञाता, मरुद्भिश्चानुज्ञाता। मरुतो ह वै वर्षास्वीशते। एवं क्षारोदकेन सिक्ता अभ्यनुज्ञाता मरुदादिभिः। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ जघनार्धेनोदीचीम्। घृतेन सीता मधुना समज्यतामिति यथैव यजुस्तथा बन्धुर्विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिरिति विश्वे च वै देवा मरुतश्च वर्षस्येशत ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानेति रसो वै पय ऊर्जस्वती रसेनान्नेन पिन्वमानेत्येतदस्मान् सीते पयसाऽभ्याववृत्स्वेत्यस्मान् सीते रसेनाभ्याववृत्स्वेत्येतत्' (श० ७।२।२।१०)। ततो दक्षिणश्रोणेरारभ्योदगपवर्गां पश्चिमपार्श्वे द्वितीयां सीतां विधत्ते—अथ जघनार्धेनेति। तत्र मन्त्रं विधत्ते—घृतेनेति। तत्र प्रथमपादो निगदव्याख्यातः। द्वितीयपादेऽनुमतेतिशब्दस्य विश्वेदेवानां मरुतां च वृष्टेरीशितृत्वं प्रयोजकमिति व्याचष्टे—विश्वे च वै देवा इति। तृतीयपादे पयःशब्दस्य रसोऽर्थ इति व्याचष्टे—रसो वै पय इति। तत्रैव पिन्वमानेति पदमध्याहृत्यान्नपदेनान्वेतीति व्याचष्टे—अन्नेन पिन्वमानेत्येतदिति। ततश्च मन्त्रस्यायमर्थः—सीता पश्चिमत उदीची क्रियमाणा लाङ्गलपद्धतिर्मधुना घृतेन मधुरेणोदकेन समज्यतां संसिच्यताम्। 'घृतमित्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः' (नि० ७।२४) इति हि यास्कः।

विश्वैर्देवैर्वृष्टेरीशानैर्मरुद्भिश्च गणदेवैरनुमताऽभ्यनुज्ञाता तथा पयसा रसेन ऊर्जस्वती बलकररसोपेता तथा पिन्वमाना सेचनं कुर्वती, अन्नेनेति शेषः। तथा श्रुतिरेव व्याचष्टे—अन्नेनेति। एवं स्तुते हे सीते, त्वमस्मान् अभ्याववृत्स्व अतिशयेनाभिमुखमावृत्ता भवेति।

अध्यात्मपक्षे—सीता कृष्युपलक्षिता चिद्रूपा परमैश्वर्याधिष्ठात्री जनकनन्दिनी विश्वैः सर्वैर्देवैरनुमता पूजिता घृतेन आज्येन मधुना क्षौद्रेण च समज्यतां सिक्ता भवतु। हे सीते भगवति, ऊर्जस्वती दिव्यान्नरसवती भूत्वा त्वं पयसा दुग्धादिभिः पिन्वमाना दिशः पूरयन्ती ऋद्धिसिद्धिसमृद्धिज्ञानविज्ञानादिभिः साधकानन्तर्बहिः पूरयन्ती अस्मदभिमुखमावृत्ता भव।

अत्र दयानन्दः—'विश्वैः सर्वैः देवैरन्नादिकामयमानैर्विद्वद्भिर्मनुष्यैरनुमताऽनुज्ञापिता पयसा जलेन दुग्धेन वा ऊर्जस्वती ऊर्जः पराक्रमसम्बन्धो विद्यते यस्याः सा, पिन्वमाना सिक्ता सेविता वा सीता साययन्ति क्षेत्रस्थलोष्टान् क्षपयन्ति यया सा सीता काष्ठपट्टिका घृतेन आज्येन मधुना क्षौद्रेण शर्करादिना वा समज्यतां संयुज्यताम्। सा सीताऽस्मान् घृतादिना संयोक्ष्यतीति पयसाऽभ्याववृत्स्व अभ्यावर्ततताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृश्याः काष्ठमय्याः सीताया घृतदुग्धक्षौद्रादिभिः संयोजनस्य प्रयोजनानुक्तेः। कथं च सा जडा प्रार्थ्यते? कथं च सा प्रार्थिता सती अस्मान् घृतादिभिः संयोक्ष्यति? सीता च लाङ्गलेन क्रियमाणा रेखैव, 'सीता लाङ्गलपद्धतिः' (२।९।१४) इत्यमरकोषवचनात्। तथा च श्रुतिः—'प्राचीं प्रथमा१७सीतां कृषति' (श० ७।२।२।९) इति। ज्ञायतेऽनया यद् हलेन क्रियमाणा रेखैव सीता। सायते क्षीयते खन्यते भूमिर्यया लाङ्गलगतया सैव सीता भवति, तथैव सायणादिभिर्व्याख्यातत्वात्॥ ७०॥

लाङ्गलं पवीरवत् सुशेव१७ सोमपित्सरु। तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहणम्॥ ७१॥

मन्त्रार्थ—वह पूर्वोक्त फाल संयुक्त, यजमान के निमित्त भूमि को खोदने वाला सुखकारक हल अति वेगवान् छाग, स्थूल पुष्ट अंग वाली गाय और गमन में समर्थ रथवाहक अश्व आदि को प्राप्त करता है॥ ७१॥

इदं लाङ्गलमुद्वपति उद्गमयति प्रापयतीत्यर्थः। उद्धतानि प्रौढलोष्ठानि यथा भवन्ति तथा कर्षणं कुर्यादित्यर्थः। कीदृशं लाङ्गलम्? पवीरवद् वज्रवत् तीक्ष्णधारोपेतम्। सुशेवं कर्षकैः सुष्ठु सेवितुं शक्यम्। अतितीक्ष्णत्वेन सहसा भूमिभेदात् कर्षकाणां नास्ति प्रयास इत्यर्थः। सोमपित्सरु सोमं पिबतीति सोमपा यजमानस्तस्मिन् सोमपि यजमानरूपायां भूमौ त्सरणशीलं पापनाशकं खननशीलं वा। अनेन कर्षणेन फलाधिक्ये सति गवादिकं यजमानः प्राप्नोत्विति शेषः। तत्र गौरविरित्युभयं प्रसिद्धम्। प्रफर्व्यं प्रकर्षेण फर्वितुं योग्या प्रफर्वी, तां प्रफर्व्यं प्रथमवयस्कां कन्यां पीवरीं पुष्टाङ्गीम्। प्रस्थावत् प्रस्थानसमर्थं रथवाहणं रथं वोढुं योग्यमश्वादिकं तदानीमेवैतत्सर्वं यजमानस्य सुलभं यदा कृषिः समृद्धा भवेत्। यद्वा तत्पूर्वोक्तं लाङ्गलं हलं गां धेनुमविं छागविशेषं रथवाहणं रथवाहकमश्वादिकमुद्वपति उद्गमयति प्रापयति। अत एव लाङ्गलं गवादिप्रापकम्। कीदृशं लाङ्गलम्? पवीरवत् पविर्धारास्यास्तीति पवीरं फालं तदस्यास्तीति पवीरवत् फालसंयुक्तम्। सुशेवं सु शोभनं शेवं सुखं यस्मात् तत्। 'शेवमिति सुखनाम' (निघ० ३।६।१७)। सोमपित्सरु सोमपि यजमाने त्सरु त्सरति नाशयति पापमिति त्सरु, 'त्सर छद्मगतौ' इति धातोः शीलार्थे 'भृमृशीतृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः' (उ० १।७) इत्युप्रत्ययः। 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।९) इति विभक्तेरलुक्। 'आतो धातोः' (पा० सू० ६।४।१४०) इत्याकारलोपे हलन्तत्वात्। यजमान-

निमित्तं भूमिं त्सरति खनति वा । यद्वा सोमः पीयतेऽनेनेति सोमपिश्चमसः, तस्य त्सरु निष्पादकं सोमपित्सरु । नहि लाङ्गलकर्म विना सोमचमसाः स्युः । ईदृशं लाङ्गलं गवादि गमयति । कीदृशीं गामविं च ? प्रफर्व्यं प्रकर्षेण फर्वति फरफरध्वनिं कुर्वन् गच्छतीति प्रफर्वी, ताम् । 'वा छन्दसि' (पा० सू० ६।१।१०६) इत्यमि पूर्वसवर्णदीर्घाभावे यणादेशः । युवतित्वादतिवेगवतीमित्यर्थः । तथा पीवरीं स्थूलां पुष्टाङ्गीम् । कीदृशं रथवाहनम् ? प्रस्थावत् । प्रस्थानं प्रस्था गतिः, साऽस्यास्तीति प्रस्थावत् प्रयाणसमर्थम्, उत्कृष्टजवोपेतमित्यर्थः ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरार्धेन प्राचीम् । लाङ्गलं पवीरवदिति लाङ्गलꣳ रयिमदित्येतत् सुशेवꣳ सोमपित्सर्वित्यन्नं वै सोमस्तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद् रथवाहणमित्येतद्धि सर्वꣳ सीतोद्वपति' (श० ७।२।२।११) । अथोत्तरपार्श्वे प्रागपवर्गां तृतीयां सीतां विधत्ते—अथोत्तरार्धेनेति । सप्तम्यर्थे 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (पा० सू० २।३।१८) इति सूत्रस्थात् 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति वार्त्तिकात् तृतीया । तत्र मन्त्रं विधत्ते—लाङ्गलमिति । तत्र प्रथमपादे भूमेः खननेन श्रीरूपान्ननिष्पादनद्वारा फालस्य साधनत्वाल्लक्षणया पवीरवद् रयिमदिति व्याचष्टे—लाङ्गलं रयिमदिति । द्वितीयपादे 'सोमपित्सरु' इति पदैकदेश-भूतस्य सोमशब्दस्यान्नमर्थ इत्याह—अन्नं वै सोम इति । उत्तरार्धपरिष्ठितस्य पदार्थजातस्य सीतैवोद्गम-यित्रीत्याह—एतद्धि सर्वं सीतोद्वपतीति । उद्वपति उद्गमयतीत्यर्थः ।

एतदनुसारी मन्त्रार्थस्तु—लाङ्गलं हलं पवीरवत्, पविः धारा सा अस्यास्तीति पवीरं फालः, रो मत्वर्थे, छान्दसं दीर्घत्वम्, तदस्यास्तीति पवीरवत्, फालसंयुक्तमित्यर्थः । सुशेवं सुष्ठु शोभनं शेवयति सुखयति तत् सुशेवम् । 'शेवमिति सुखनाम' (निघ० ३।६।१७) । सोमपित्सरु सोमं पिबतीति सोमपा यजमानः, तस्मिन् सोमपि यजमाने त्सरति पापादिकं नाशयतीति सोमपित्सरु । यद्वा सोममन्नं पाति रक्षतीति सोमपाः, तस्मिन् वर्तमानमशनायादुःखं त्सरति नाशयतीति तथा । श्रुतेरभिमतमेतद् व्याख्यानम् । सोमपीत्यत्र 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।९) इति विभक्तेरलुक् छान्दसः । यदित्थंभूतं लाङ्गलं तत् कर्तृ गवादिरथ-वाहनान्तमुद्वपति उद्गमयति । गां गोजातिम्, अविं मेषजातिम्, प्रफर्व्यं प्रथमयुवतिम्, तरुणीमित्यर्थः । फर्वतिर्गतिकर्मा । प्रकर्षेण फर्व्या गम्या प्रफर्व्यः, छान्दसो ह्रस्वः, तां प्रफर्व्यम् । कीदृशीं ताम् ? पीवरीम् उन्नतस्तनकपोलाम् । प्रस्था प्रस्थानम्, तद्वदुत्कृष्टजवोपेतं रथवाहणम् अश्वम्, रथं वहतीति रथवाहनं यानम् ।

अध्यात्मपक्षे—लाङ्गलं सीताप्रादुर्भावसाधनमुपासनं कर्म वा पवीरवद् बुद्धिरूपफालयुक्तं सुष्ठु सुखकरं सोमपित्सरु सोमपि यजमाननिमित्तं पूर्वोक्तवेदशास्त्ररूपभूमिं त्सरति खनतीति सोमपित्सरु तद्रूपं तदुपासनं गां कामरूपाम्, अविं रक्षणसाधनं दिव्यास्त्रादिकम्, प्रथमयुवतिं पीवरीमुच्छूनस्तनकपोलां दृढां परमात्मबुद्धिं वा प्रस्थावद् उत्कृष्टजवोपेतं रथवाहणमश्वं च उद्वपति उद्गमयतीत्यर्थः । सर्वसमृद्धिमुद्गमयतीति यावत् ।

दयानन्दस्तु—'हे कृषीबलाः, यूयं यत् सोमपित्सरु ये सोमयवाद्योषधीः पालयन्ति तान् त्सरयति कुटिलं गमयति तत् । पवीरवत् पवीरः फालो विद्यते यस्मिन् तत् । सुशेवं सुष्ठु सुखकरं लाङ्गलं सीरा पश्चाद्भागे दार्ढ्याय संयोज्यं काष्ठं प्रफर्व्यं प्रफर्वितुं योग्यं प्रस्थानवत् प्रशस्तं प्रस्थानं यस्यास्ति तत् । रथवाहणं रथं वहति येन तत् । येन अविं रक्षणादिहेतुं पीवरीं यया पाययन्ति तां स्थूलां गां पृथिवीमुद्वपति उत्खनति, तद्यूयं साध्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तद्यूयं साध्नुतेत्यध्याहारे मानाभावात्, असङ्गतेश्च, सोमरक्षकान् किं किमर्थं कुटिलं चालयतीत्यनुक्तेः । लाङ्गलं रथवाहनं कथं भवति ? पीवरीमित्यस्य यया पाययन्ति तामिति द्रविडप्राणायामेन पृथिवीरूपाया गोविशेषणत्वेऽपि नार्थसङ्गतिः । पृथिव्याः स्थूलत्वबोधनस्यापि व्यावर्त्या-भावाद् वैयर्थ्यमेव ॥ ७१ ॥

कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च ।
इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्यः ओषधीभ्यः ।। ७२ ।।

मन्त्रार्थ—हे मनोरथ को पूरा करने वाली सीते ! मित्र, वरुण, इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार और पूषा देवता प्रजाओं के भोगार्थ और औषधियों के निमित्त अपेक्षित भोग का सम्पादन करें ।। ७२ ।।

हे कामदुघे, काम्यन्त इति कामा भोगा मनोरथा वा, तान् दोग्धि प्रपूरयतीति कामदुघा लाङ्गलपद्धतिः, तत्सम्बुद्धौ । मित्राय सूर्याय, वरुणाय जलाधिष्ठात्रे देवाय, इन्द्राय देवराजाय, अश्विभ्याम्, पूष्णे तन्नामकाय देवाय, प्रजाभ्य ओषधीभ्यः प्रजार्थमोषधिनिष्पत्त्यर्थं च काममपेक्षितं भोगं धुक्ष्व निष्पादय ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पूर्वार्धेन दक्षिणाम् । कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च । इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्य इति सर्वदेवत्या वै कृषिरेताभ्यो देवताभ्यः सर्वान् कामान् धुक्ष्वेत्येतदित्यग्रे कृषत्यथेति । अथेत्यथेति तद्दक्षिणावृत् तद्धि देवत्रा' (श० ७।२।२।१२) । पूर्वपार्श्वे दक्षिणापवर्गां चतुर्थीं सीतां विधत्ते—अथ पूर्वार्धेनेति । तत्र मन्त्रः—'कामं कामदुघे' (वा० सं० १२।७२) इति । मन्त्रार्थस्तूक्त एव । इतिशब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतक । कृषेः सर्वदेवतासम्बन्धद्वारा मन्त्रोक्तदेवताभ्यः कामप्रपूरणमाशास्यमिति मन्त्रतात्पर्यमाह—सर्वदेवत्या वै कृषिरिति । इत्थं दक्षिणादिचतसृषु दिक्षु प्रादक्षिण्येन कृतं कर्षणमभिनयेन निर्दिश्य स्तौति—इत्यग्र इति । अथ अनन्तरम् । इति अनेन प्रकारेण । अथ जघनार्धेन इत्युक्तलक्षणेन पश्चिमत उदीचीं कृषति । अथ उत्तरार्धेन उत्तरतः प्राचीं कृषति । अथ पूर्वार्धेन पूर्वस्यां दिश्युदग्दक्षिणायतां सीतां कृषति । तदेवं सति दक्षिणावृत् प्रादक्षिण्येन आवृत्तिर्भवति । तत्खलु देवत्रा देवसम्बन्धिनि कर्मणि योग्यं भवति । 'चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्यच्चतसृषु दिक्ष्वन्नं तदस्मिन्नेतद्दधाति तद्वै यजुषाऽद्धा वै तद्यद्यजुरद्धो तद्यदिमा दिशः' (श० ७।२।२।१३) । उक्तं कर्षणं समन्त्रकमनूद्य स्तौति—चतस्र इति । स दक्षिणार्धेन इत्यादिना चतसृषु दिक्षु क्रमेण प्रोक्ताश्चतस्रः सीताः शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिमित्यादिना यजुषा यजुर्वेदपठितेन मन्त्रेण कृषति । तेन प्रागादिषु दिक्षु यत् प्रसिद्धं कृष्टपच्यं व्रीहियवादिकमन्नमस्ति, तदस्मिन्नग्नौ यजमाने वा एतेन कर्षणेन दधाति । यजुर्मन्त्रेण कर्षणं प्रकारान्तरेण स्तौति—तद्वा इति । तत्खलु कर्षणं यजुषा क्रियते । यजुरिति यदस्ति तद् अद्धा वै अनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वात् प्रत्यक्षतो विस्पष्टम् । इमाः प्रागाद्या दिशश्च प्रत्यक्षत्वाद् विस्पष्टतराः, अतो यजुषो दिशां चाद्धात्वसाम्याद् दिक्षु यजुषा कर्षणं युक्ततरमिति भावः । 'तिस्रस्तिस्रः सीताः कृषति' (श० ७।२।२।१५), 'द्वादश सीतास्तूष्णीं कृषति' (श० ७।२।२।१६) इत्यादिभिः सीतापदेन लाङ्गलपद्धतय एव विहिताः । सीतापदेन लोष्ठादिनाशककाष्ठविशेषादिग्रहणं दयानन्दस्यासङ्गतमेव । एतच्चानुपदमेव तदर्थालोचने आलोच्यते ।

अध्यात्मपक्षे—हे सीतोपलक्षिते कामप्रपूरिके, मित्रादिभ्यः कामं धुक्ष्व पूरय ।

दयानन्दस्तु—'हे कामदुघे पाचिके, त्वं भूमिरिव सुसंस्कृतैरन्नैर्मित्राय सुहृदे वरुणाय उत्तमविदुषे च अतिथये इन्द्राय परमैश्वर्ययुक्ताय अश्विभ्यां प्राणापानाभ्यां पूष्णे पुष्टिकराय प्रजाभ्यः स्वसन्तानेभ्य ओषधीभ्यः सोमयवादिभ्यः काममिच्छां धुक्ष्व पिपूर्हि' इति, तदपि निरर्थकमेव, असङ्गतेः, पाचिकाया ओषधीनामिच्छापूरकत्वासम्भवात् । प्राणापानयोरिच्छापूरकत्वे जाते कृतमन्येषामुल्लेखेन । यश्च पुष्टिकरस्तस्य कामपूरकत्वं कथं तस्यां सम्भवति ? तस्मात् सीतैव कामदोग्ध्री । लाङ्गलपद्धत्याः पारम्पर्येण तदधिष्ठात्र्याः सीताया अपि पारमैश्वर्यात् सुतरां सर्वकामपूरकत्वम् ।। ७२ ।।

वि॒मु॑च्यध्वमघ्न्या देवयाना॒ अग॑न्म॒ तम॑सस्पा॒रम॒स्य ज्योति॑रापाम ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ— देवताओं के निमित्त कार्य करने वाले मारने के अयोग्य हे बलीवर्द ! जगत् की स्थिति के लिये तुम कृषि कार्य का सम्पादन करो। तुम्हारी कृपा से हम क्षुधा, पिपासा आदि से उत्पन्न हुए दुःख के पार को प्राप्त हो गये हैं, हम ज्योतिस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हुए हैं ॥ ७३ ॥

'अनडुहो विमुच्य विमुच्यध्वमिति, पशुवदुत्सृज्य दक्षिणाकालेऽध्वर्यवे ददाति' (का० श्रौ० १७।२।२१-२२)। वृषान् हलाद्विमोच्य पशुवदित्यैशानीं दिशं प्रति विसृजत्यध्वर्युः। यजमानश्च सुत्यायां ससीरांस्तानध्वर्यवे ददातीति सूत्रार्थः। विमोचने मन्त्रः। आर्षी गायत्री पादानियमात्। हे अघ्न्या अहन्तव्या गावो बलीवर्दाः, यूयं विमुच्यध्वम्। मुचेः कर्मकर्तरि यक्। लोटि रूपम्। युगानि मुञ्चत। देवयाना देवेभ्यो देवार्थं यानं कृष्याद्युद्यमो येषां ते तथोक्ताः। यद्वा देवयानमार्गहेतुभूताः कर्मद्वारा तत्प्रापका यूयमस्य क्रियात्मकस्य तमसः परं पारं तीरं वयमगन्म गताः स्मेति संवदध्वमिति शेषः। यद्वा क्षुत्पिपासाद्युद्भूतस्य दुःखस्य पारं समाप्तिं प्राप्ताः स्मेति। अतो वयं ज्योतिः सुखाभिव्यञ्जकं यज्ञलक्षणं परमात्मरूपं वा ज्योतिः। आपाम प्राप्तवन्तः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनान् विमुञ्चति। आप्त्वा तं कामं यस्मै कामायैनान् युङ्क्ते विमुच्यध्वमघ्न्या इत्यघ्न्या ह्येते देवत्रा देवयाना इति दैवᳬ ह्येभिः कर्म करोत्यगन्म तमसस्पारमस्येत्यशनाया वै तमोऽगन्मास्या अशनायायै पारमित्येतज्ज्योतिरापामेति ज्योतिर्ह्याप्नोति यो देवान् यो यज्ञमथैनानुदीचः प्राचः प्रसृजति तस्योक्तो बन्धुस्तानध्वर्यवे ददाति स हि तैः करोति तांस्तु दक्षिणानां कालेऽनुदिशेत्' (श० ७।२।२।२१)। कर्षणानन्तरमनडुहां विमोचनं विधत्ते—अथैनानिति। यस्मै खलु प्रयोजनाय एनान् पूर्वं युक्तवान् तं कामं कर्षणलक्षणं प्रयोजनमाप्त्वा लब्ध्वा तेषां विमोचनं युक्तमिति शेषः। विमोचने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—विमुच्यध्वमिति। 'अघ्न्या इति गोनाम' (निघ० २।११।१)। एते खल्वनड्वाहो देवत्रा देवेष्वघ्न्या अहन्तव्याः, देवसम्बन्धिनो गाव इत्यर्थः। दैवं ह्येभिरिति। एभिरनडुद्भिर्दैवं देवसम्बन्धि कर्षणलक्षणं कर्म करोति। तस्माद्देवान् याति प्राप्नोत्येभिरिति व्युत्पत्त्या देवयाना इत्यनडुद्विशेषणं युक्तमिति भावः। द्वितीयं पादमनूद्य तत्रत्यतमःशब्दस्य विवक्षितमर्थमाह—अगन्मेति। अशनस्येच्छा अशनाया क्षुत्पीडा। 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि 'अशनायोदन्य....' (पा० सू० ७।४।३४) इति निपातनात्, 'क्यचि च' (पा० सू० ७।४।३३) इति ईत्वाभावे, 'अप्रत्ययात्' (पा० सू० ३।३।१०२) इत्यकारप्रत्यये 'अशनाया' इति रूपम्। स्पष्टमन्यत्। ज्योतिर्हीत्यादि। यो हि हविःप्रदातृत्वेन यज्ञं तत्रत्यान् देवांश्च प्राप्नोति, एष हि ज्योतिर्ज्योतिर्मयं स्वर्गादिभोगयोग्यं शरीरमाप्नोति, 'सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि' (तै० सं० ५।४।१।३) इति श्रुतेः। अतोऽत्र मन्त्रे ज्योतिरापाम इति ज्योतिराप्तिप्रतिपादनं युक्ततरमित्यर्थः। उत्तरपूर्वस्यां दिशि तेषामनडुहां प्रस्थापनं विधत्ते—अथैनानुदीच इति। अथ विमोचनानन्तरमेवानडुह उदीच उदङ्मुखान् प्राचः प्राङ्मुखांश्च कृत्वा प्रसृजति प्रस्थापयति। तत्स्तावकं प्रागाम्नातं वाक्यशेषमतिदिशति—तस्योक्त इति। 'एषा ह्युभयेषां देवमनुष्याणां दिग् यदुदीची प्राची' (श० ६।६।२।३) इत्यादि। तेषां दक्षिणाकाले दानं विधत्ते—तानध्वर्यव इति। अध्वर्योरेव सम्प्रदानत्वे कारणमाह—स हीति। अध्वर्युर्हि तैरनडुद्भिः कर्षणं करोति, तस्मादध्वर्यवे दानं युक्तमित्यर्थः। तस्मिन् दाने कालविशेषं विधत्ते—तांस्त्विति। ऋत्विक्परिक्रयहेतवो दातव्या गावो दक्षिणाः। तासां यः कालो माध्यन्दिनसवनात्मकस्तस्मिन् ताननडुहोऽनुदिशेद् दद्यात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अघ्न्या गाव इन्द्रियाणि, यूयं देवयाना देवस्य कार्यब्रह्मणः परब्रह्मणश्च प्राप्तिसाधनभूताः, कर्मानुष्ठानद्वारा श्रवणादिद्वारा तत्तद्ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वात्। विमुच्यध्वम् उपरता भवत। त्वत्प्रसादाद्

वयं तमसोऽविद्यातत्कार्यलक्षणस्य तमसः पारमगन्म प्राप्ताः। ज्योतिरपरब्रह्मलक्षणं परब्रह्मलक्षणं वा आपाम प्राप्तवन्तः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा यूयमघ्न्या देवयाना याभिर्देवान् दिव्यान् भोगान् प्राप्नुवन्ति ताः प्राप्य संस्कृतान्यन्नानि भुक्त्वा रोगेभ्यो विमुच्यध्वम्, तथा वयमपि विमुच्येमहि। यथा यूयं तमसः पारं रात्रेः पारं प्राप्नुत तथा वयमगन्म। यथा यूयमस्य सूर्यस्य ज्योतिः प्रकाशं व्याप्नुत तथा वयमप्यापाम' इति, तदपि वेदमन्त्राणां लौकायतिकत्वापादनमेव, तादृशसम्बोधने मानाभावात्, 'अघ्न्या''''इति नव गोनामानि' (निघ० २।११) इति निघण्टुविरोधाच्च, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च, देवपदस्य दिव्यभोगा अर्थ इत्यस्य साधयितुमशक्यत्वाच्च। लोके तु लौकिका एव भोगा इति कुतो भोगानां दिव्यत्वम्? मनुष्ययोनेर्भिन्ना देवयोनिरिति भूमिकाभागे देवतावादप्रसङ्गे प्रोक्तत्वाच्च। सुसंस्कृतान्यन्नानि देवयाना इत्यपि निर्मलमेव। वाचकलुप्तोपमालङ्काराश्रयणमपि निर्मलमेव। अस्य सूर्यस्य ज्योतिः पशवोऽपि प्राप्नुवन्त्येवेति तदाम्रेडनं व्यर्थमेव॥ ७३॥

स॒जूर॒ब्दो अय॑वोभिः स॒जूरु॒षा अरु॑णीभिः। स॒जोष॑साव॒श्विना॒ दꣳसो॑भिः स॒जूः सूर॒ एत॑शेन स॒जूर्वै॑श्वान॒र इड॑या घृ॒तेन॒ स्वाहा॑॥ ७४॥

मन्त्रार्थ—जलों का दाता, मास-अधिमास आदि अवयवों के साथ विद्यमान संवत्सर हमारे ऊपर प्रीतियुक्त हों। प्रातःकाल की अधिष्ठात्री उषा देवता अरुण वर्ण वाली गायों से प्रीति युक्त हो, अश्विनीकुमार चिकित्सा कार्य से, सूर्य घोड़े से और वैश्वानर अग्नि पृथ्वी और घृत से प्रीति युक्त हों। इन सब देवताओं के निमित्त हम श्रेष्ठ आहुतियाँ देते हैं॥ ७४॥

'पञ्चगृहीतेनोद्गृह्णन्नभिजुहोति सजूरब्द इति' (का० श्रौ० १७।३।२)। तदानीं संस्कृतेन जुह्वा पञ्चगृहीतेन आज्येन कृष्टात्ममध्यस्थापितकुशस्तम्बे स्रुचमूर्ध्वां कुर्वन् जुहोति सजूरब्द इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। लिङ्गोक्तदेवत्यं यजुः। ब्राह्मी अनुष्टुप् छन्दः। अब्दः, अपो जलानि ददातीत्यब्दः संवत्सरः। स हि अपो ददाति। अयवोभिः यवा अर्धमासाश्च अयवा मासाश्च अयवसः, तैः। छान्दसं निपातनम्। सजूः जोषणं जुट् प्रीतिः। सह जुषा वर्तत इति सजूः। समाना जुड्वा यस्यासौ सजूः। जुषतेः सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्। मासार्धमासैः प्रीतियुक्तो भवत्विति शेषः। तथा उषाः प्रातरधिष्ठात्री देवता अरुणीभिः अरुणवर्णाभिः गोभिः सजूः प्रीतियुक्ता भवतु। अश्विना अश्विनौ देवभिषजौ दंसोभिः कर्मभिश्चिकित्सादिभिः सजोषसौ प्रीतिमन्तौ भवताम्। सूरः सूर्यः एतशेन अश्वेन सजूस्तुष्टो भवतु। वैश्वानरोऽग्निरिडया पृथिव्या सजूः प्रीतो भवतु, तस्य पृथिव्यधिष्ठानत्वात्। गौर्वागन्नं च इडाशब्देनोच्यन्ते। अत्र तु इडाशब्देन पृथिव्येव ग्राह्या। कथङ्कारमेतेषां सजोषणम्? इत्युच्यते—घृतेन स्वाहेति। एभ्योऽब्दादिभ्यो घृतेन स्वाहा सम्पद्यतामिति शेषः। इदं घृतमेतेभ्यः सुहुतमस्त्विति भावः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दर्भस्तम्बमुपदधाति। एतद्वै देवा ओषधीरुपादधत तथैवैतद्यजमान ओषधीरुपधत्ते' (श० ७.२।३।१)। अथ कुशस्तम्बोपधानं विधत्ते—अथ दर्भस्तम्बमिति। एकमूलोऽनेकशाखः स्तम्ब इत्युच्यते। दर्भाणां स्तम्बो दर्भस्तम्बः। तमात्ममध्ये पक्षपुच्छातिरिक्तचितिमध्ये तूष्णीमुपदधाति स्थापयेदित्यर्थः। तदुपधानं देवकर्तृकौषध्युपधानद्वारा स्तौति—एतद्वा इति। 'यद्वेव दर्भस्तम्बमुपदधाति। जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायत उभयं वेतदन्नं यद्दर्भा आपश्च ह्येता ओषधयश्च या वै वृत्राद्बीभत्समाना आपो धन्व दृभन्त्य उदायंस्ते दर्भा अभवन्यद्दृभन्त्य उदायंस्तस्माद्दर्भास्ता हैताः शुद्धा मेध्या आपो वृत्राभिप्रक्षरिता यद्दर्भा

यदु दर्भास्तेनौषधय उभयेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति' (श० ७।२।३।२)। तदेव प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेवेति। य एष आहवनीयोऽग्निश्चीयते, एष जायत उत्पद्यत एव। स एष जायमानोऽग्निः सर्वस्मै कृत्स्नाय अन्नाय तदुपभोक्तुं जायते। नामनिर्वचनद्वारा दर्भाणामुभयविधान्नत्वमुच्यते—उभयं वेतदिति। उभयविधत्वमेव विवृणोति—या वै वृत्रादिति। 'वृत्रो ह वा इदंᳪ सर्वं वृत्वा शिश्ये' इत्युपक्रम्य 'तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे' (श० १।१।३।४-५) इत्यादिना प्रथमकाण्डे दर्भोत्पत्तिरुक्ता। या आपो वृत्रासुराद्बीभत्समाना जुगुप्साश्रयत्वाद्बिकुर्वाणा धन्व अन्तरिक्षं दृभन्त्यो गुम्फनं कुर्वन्त्य उदायन् उद्गतवत्यः, 'धन्वान्तरिक्षम्। धन्वन्त्यस्मादापः' (नि० ५।५) इति यास्कोक्तेः। दृभन्त्य इति तौदादिकात् 'दृभी ग्रन्थे' इति धातोः शतरि 'उगितश्च' ... 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (पा० सू० ४।१।५) इति ङीपि प्रथमाबहुवचने। ते दर्भा अभवन् आप एव दर्भत्वमाप्ता इत्यर्थः। 'ते' इति पुंल्लिङ्गत्वं दर्भापेक्षम्। यस्माद् दृभन्त्यो गुम्फनं कुर्वन्त्य उद्गतवत्यः, तस्माद्दर्भणादापो दर्भा दर्भपदवाच्याः। ताः प्रशंसति—ता हैता इति। एता आपः शुद्धाः शुद्धिसाधनभूताः, तथा मेध्या मेधार्हाः। तदेव स्पष्टयति—आपोऽवृत्राभिप्रक्षरिता इति। न वृत्रादभिप्रक्षरिता अभिप्रसृताः, किन्तु उ पुनर्यद् यस्माद् दर्भाः, तेन कारणेन ओषधयः। दर्भाणामोषधित्वमन्यत्राप्याम्नायते—'ओषधयो बर्हिः' इति। एनं चित्याग्निमेतद् एतेनोभयविधेनान्नेन प्रीणाति।

'सीतासमरे। वाग्वै सीतासमरः प्राणा वै सीतास्तासामयᳪ समयो वाचि वै प्राणेभ्योऽन्नं धीयते मध्यतो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं दधाति तूष्णीमनिरुक्तं वै तद्यत्तूष्णीᳪ सर्वं वा अनिरुक्तᳪ सर्वेणैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति' (श० ७।२।३।३)। तदुपधानं क्षेत्रे विधाय स्तौति—सीतासमर इति। कृष्टाः सीता समृच्छन्ते सङ्गच्छन्ते यत्रासौ सीतासमरः क्षेत्रमध्यप्रदेशः, तत्रोपदध्यादिति शेषः। आधियज्ञिकस्य सीतासमरस्याध्यात्मं मुखरूपतामाह—वाग्वा इति। वागायतनत्वाद् वाङ्मुखं खलु सीतासमरः। कथमित्यपेक्षायां तदुपपादयति—प्राणा वा इति। प्राणाः खलु सीता नाड्यः, तत्सञ्चारितत्वात्। तासां नाडीरूपाणां सीतानामयं मुखलक्षणः समयः सङ्गमः, सम्यगयन्ते सङ्गच्छन्ते यत्र सोऽयं समयः। मुखे हि सर्वे प्राणा नाड्यः सङ्गच्छन्ते। ततः किमित्याकाङ्क्षायामाह—वाचि वा इति। वाचि वै मुखे एव प्राणेभ्योऽर्थेऽन्नं धीयते स्थाप्यते, मुखेनैव हि जग्धेऽन्ने प्राणानामाप्यायनस्य सद्भावात्। सीतासमरेऽपि मध्यदेश उपदध्यादित्याह—मध्यत इति। सप्तम्यर्थे तसिल्। अस्मिन् चित्याग्नौ मध्य एव एतद् एतेनान्नं स्थापितवान् भवति। उपधाने मन्त्राभावमाह—तूष्णीमिति। अन्यत् स्पष्टम्।

'अथैनमभिजुहोति। जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायते सर्वस्यो अस्यैष रसो यदाज्यमपां च ह्येष ओषधीनां च रसोऽस्यैवैनमेतत्सर्वस्य रसेन प्रीणाति यावानु वै रसस्तावानात्मानेनैवैनमेतत्सर्वेण प्रीणाति पञ्चगृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति' (श० ७।२।३।४)। अभिहोमं विधत्ते—अथैनमभीति। एनं दर्भस्तम्बम्। अभिहोमे आज्यं द्रव्यं विधातुं स्तौति—सर्वस्यो अस्यैष इति। यद् आज्यं सर्पिः, एषोऽस्य सर्वस्य विश्वस्य रसः। रसत्वमेवोपपादयति—अपां च हीति। गोभिरपां पानादोषधीनां च भक्षणाद् हि आज्यमुत्पद्यते। रसत्वोपपादनस्य प्रयोजनमाह—अस्यैवैनमिति। एनं चित्याग्निं प्रीणाति तर्पयति। आज्यस्य पञ्चगृहीतत्वं विधत्ते—पञ्चगृहीतेनेति। पञ्चगृहीतत्वं स्तौति—पञ्चचितिकोऽग्निरित्यादिना। 'सजूरब्द इति चितिः। अयवोभिरिति पुरीषᳪ सजूरुषा इति चितिररुणीभिरिति पुरीषᳪ सजोषसावश्विनेति चितिर्दᳪसोभिरिति पुरीषᳪ सजूः सूर इति चितिरेतशेनेति पुरीषᳪ सजूर्वैश्वानर इति चितिरिडयेति पुरीषं घृतेनेति चितिः स्वेति पुरीषᳪ हेति चितिः' (श० ७।२।३।८)। अभिहोमं बहुधा प्रशस्य तत्र मन्त्रं विधाय व्याहृतिरूपेण त्रयोदशधा विभज्य चितिपुरीषात्मना स्तौति—सजूरब्द इति चितिरित्यादिना। तदनुसारेणायं मन्त्रार्थः—अब्दः संवत्सरः,

अयवोभिर्मासैरर्धमासैश्च सजूः समानजोषणः। यवा अयवाश्चार्धमासा मासाश्चोच्यन्ते, अर्धमासा एव वा, 'पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवाः' (श० ८।४।२।११) इति श्रुतेः। उषा रात्रेरपरः कालः। अरुणीभिररुणवर्णाभिर्गोभिः सजूः समानजोषणः। 'अरुण्यो गाव उषसम्' (निरु० १।१५)। अश्विना नासत्यौ देवौ दंसोभिः कर्मभिः सजोषसौ समानजोषणौ। सूरः सूर्यः। एतशेन हरितवर्णेनाश्वेन सजूः। 'एतश इति अश्वनामसु पठितः' (निघ० १।१४।१०)। वैश्वानरो विश्वनरनेता अग्निः, इडया अन्नाद्या, घृतेन आज्येन हविषा च सजूः। स्वाहा इदमाज्यं सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—यथा अब्दादयो मासार्धमासादिभिः प्रीतिमन्तः, तथैव स्वाहा परमेश्वरे स्वात्मसमर्पणरूपो ज्ञानयोगो घृतेन स्नेहेन भक्त्या सजूः, प्रीतिमान् इति शेषः। भवतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वयं सर्वे स्त्रीपुरुषा यथाऽवयोभिर्मिश्रिताभिश्चितैरन्नैः क्षणादिभिः कालावयवैः सजूः सह वर्तमानोऽब्दः संवत्सरोऽरुणीभी रक्तप्रभाभिः सजूः उषाः प्रभातो दंसोभिः कर्मभिः सजोषसावश्विनौ एतशेनाश्वेनेव व्याप्तिशीलेन वेगवता किरणनिमित्तेन वायुना सजूः संयुक्तः। सूर्य इडया अन्नादिरूपया पृथिव्या घृतेन जलेन स्वाहा सत्येन वागिन्द्रियेण सजूर्वैश्वानरश्च वर्तते तथैव प्रीत्या वर्तामहे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथैव प्रीत्या वर्तामह इत्यस्याप्रामाणिकत्वात्, स्वाहापदस्य सत्यार्थत्वे मानाभावाच्च, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च ॥ ७४ ॥

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहꣳशतं धामानि सप्त च ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—सृष्टि के आदि में जो ओषधियाँ वसन्त, वर्षा और शरद् ऋतु में पहले उत्पन्न हुई थीं, वे ही ओषधियाँ अब भी जगत् की उत्पत्ति और पालन में समर्थ हैं। पाक से पीली हुई इस तरह की ओषधियों की संख्या सैकड़ों है, उनमें व्रीहि, गोधूम आदि सात प्रधान ओषधियों के नाम मैं जानता हूँ ॥ ७५ ॥

'या ओषधीरिति तृचैर्वपत्युदपात्रवत्' (का० श्रौ० १७।३।७)। या ओषधीरित्यारभ्य पञ्चभिस्तृचैः, अर्थात् पञ्चदशभिर्ऋग्भिरुदचमसोन्नयनवत् सर्वौषधं वपति। एकैकचमसस्थाने एका ऋक्। धान्यानि च चमसेनैव वपेन्न तु हस्तेन, औदुम्बरेण चमसेन चतुःस्रक्तिनेति चमसस्य वपनकरणत्वेन श्रवणादिति सूत्रार्थः। इत आरभ्य यो अस्मानभिदासतीत्यन्ता सप्तविंशतिरनुष्टुभ ओषधिदेवत्याः। तत्र पूर्वाः पञ्चदश ऋचोऽथर्वपुत्रभिषग्दृष्टाः। शेषा मुञ्चन्तु मेत्याद्या द्वादश बन्धुदृष्टा, अनारभ्याधीताः। पादानां न्यूनाधिक्ये व्यूहाधिक्ये कार्ये। त्रियुगं त्रयाणां युगानां समाहारस्त्रियुगम्। युगशब्दः कालवाची। त्रिकालं वर्षाशरद्वसन्तेति कालत्रयमुद्दिश्य पुरा सृष्ट्यादौ देवेभ्यः सकाशाद् ओषधय पूर्वाः प्रथमा भाविनीभ्य आद्या जाता उत्पन्नाः। किमर्थं जाताः ? इत्याकाङ्क्षायामाह—देवेभ्य इति। देवेभ्य ऋतुभ्यः, 'ऋतवो वै देवाः' (श०७।२।४।२६) इति श्रुतेः। ऋतव ओषधियुक्ताः कर्तव्या एतदर्थम्। बभ्रूणां प्राणिभरणसमर्थानां परिपाकेन पिङ्गलवर्णानां वा तासामोषधीनां शतं धामानि स्थानभेदान् जातिभेदान् असंख्यान् सप्त च विशेषाकारेण ग्राम्यान् आरण्यांश्च सप्त धान्यभेदान् अहं मनै नु मन्ये जानामि। मनै इति मन्यतेर्लोटि आत्मनेपदे उत्तमैकवचने शपि 'एत ऐ' (पा० सू० ३।४।९३) इत्यैकारे रूपम्। यद्वा संवत्सरोपलक्षितमेकैकं स्थानम्। 'शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुत्यनुसारेण वर्षात्मकानि शिरःस्थानि मुखदृङ्नासाश्रोत्राख्यानि सप्त स्थानानि, 'य एवेमे सप्त

शीर्षन् प्राणास्तानेतदाह' (श० ७।२।४।२६) इति श्रुतेः। नराणां शतवर्षपर्यन्तमिन्द्रियाणामोषधिभिस्तर्प्यमाणत्वात् तासां तत्स्थानत्वम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेत्यृतवो वै देवास्तेभ्य एतास्त्रिः पुरा जायन्ते वसन्ता प्रावृषि शरदि मनै नु बभ्रूणामहमिति सोमो वै बभ्रुः सौम्या ओषधय ओषधः पुरुषः शतं धामानीति यदिदꣳ शतायुः शतार्घः शतवीर्य एतानि हास्य तानि शतं धामानि सप्त चेति य एवेमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तानेतदाह' (श० ७।२।४।२६)। अथ बीजावापमन्त्रपदानामनुवादपूर्वकमभिप्रायं व्याचष्टे—या ओषधीरित्यादिना। देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा इत्यस्य मन्त्रभागस्याभिप्रायमाह—ऋतवो वै देवा इति। या ओषधीः ओषधयः सृष्ट्यादावुत्पन्नास्ता देवेभ्य ऋतुभ्यो वसन्तादिभ्यः पुरा पूर्वं वसन्तप्रावृट्शरदामादिषु संवत्सरमध्ये त्रियुगं त्रिकालं जायन्त इत्यर्थः। उत्तरार्धमनूद्य व्याचष्टे—मनै नु बभ्रूणामिति। अमृतरूपेण सर्वेषां भरणाद् बभ्रुः सोमः। ओषधयोऽपि सोमदेवताकत्वादत्र बभ्रुशब्दाभिधेयाः, तादृगोषधिपरिणामविशेष एव पुरुषो मनुष्यशरीरमिति तत्तादात्म्यम्। अयमर्थः—बभ्रूणां सौम्यानामोषधीनां सम्बन्धीनि वक्ष्यमाणानि, अहं नु अद्य मनै मन्ये जानामि। कानि पुनस्तानि मन्तव्यानीत्याशङ्क्य चतुर्थपादं व्याचष्टे—शतं धामानीति। ओषधीपरिणामस्य पुरुषस्य शरीरस्य यदिदं शतसंवत्सरं जीवनम्, एवं शतसंख्याका अर्घाः पूजाप्रयोजनानि, यानि च तन्निष्पादकानि शतसंख्याकानि वीर्याणि सामर्थ्यानि, एतानि खल्वस्य ओषधिविकारस्य शरीरस्य तानि मन्त्रोक्तानि शतसंख्याकानि धामानि, 'धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि, नामानि, जन्मानीति' (निरु० ९।२८) इति धामशब्दस्य त्रयोऽर्था यास्केनोक्ताः। 'जन्मान्यत्राभिप्रेतानि' इत्यपि तत्रैव यास्केनोक्तम्। सप्त चेति। य एवेमे सप्तसंख्याकाः शीर्षन् शीर्ष्णि सम्बद्धाश्चक्षुःश्रोत्रादिरूपाः प्राणाः सप्त चेत्येतत् तानेव प्राणान् प्रतिपादयतीत्यर्थः। एवमुक्तलक्षणानि शतसंख्याकानि धामानि सप्त शीर्षण्यान् प्राणांश्च ओषधीनां सम्बन्धित्वेन जानामीत्यन्वय इति श्रीसायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—तानि सर्वाण्यहं मनै ब्रह्मविवर्तत्वाद् ब्रह्मत्वेन मनै मन्ये जानामि, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'अहं या ओषधीः सोमाद्या देवेभ्यः पृथिव्यादिभ्यस्त्रियुगं वर्षत्रयं पुरा पूर्वा जाता प्रसिद्धाः, या बभ्रूणां भरणानां धारकाणां रोगिणां शतं शतसंख्याकानि सप्त च धामानि मर्मस्थानानि व्याप्नुवन्ति, ता नु मनै शीघ्रं जानीयाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्रियुगमित्यस्य वर्षत्रयार्थकत्वे मानाभावात्, धामानीत्यस्य स्थानार्थकत्वेऽपि मर्मस्थानानि व्याप्नुवन्तीत्यर्थकत्वे मानाभावात्, पूर्वोक्तश्रुतिव्याख्यानविरोधाच्च ॥ ७५ ॥

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ—हे माता के समान हमारा पालन करने वाली औषधियों, तुम्हारे सैकड़ों नाम हैं और तुम्हारे अंकुर असंख्य हैं। तुम्हारे बल से जगत् के सारे कार्य होते हैं, अतः हे अनन्तकार्यसाधक औषधियों, तुम सब मेरे इस यजमान को क्षुधा, पिपासा आदि छः प्रकार के रोगों से विमुक्त करो, अर्थात् हमारा यह यजमान किसी प्रकार के रोग से पीड़ित न हो ॥ ७६ ॥

हे अम्ब ! मातृस्थाना ओषधयः, वो युष्माकं धामानि जातिभेदाः क्षेत्राणि वा शतं सन्ति । उत अपि च वो युष्माकं रुहः प्ररोहा अङ्कुराश्च सहस्रं सन्ति । शतसहस्रशब्दाभ्यामपरिमितत्वमुपलक्ष्यते । अधा अथैवं बहुभेदोपेतत्वेऽपि सति शतसङ्ख्याका ऋतवो याभिर्युष्माभिर्निष्पाद्यन्ते, तादृश्यः शतक्रत्वः शतं क्रतवः कर्माणि याभिस्ताः शतक्रत्वः । शतक्रतुशब्दात् प्रथमाबहुवचने जसि 'जसि च' (पा० सू० ७।३।१०९) इति प्राप्तस्य गुणस्य छान्दसत्वादभावे यणि रूपम् । शतक्रत्वो यूयं मे मदीयमिमं यजमानमगदं क्षुत्पिपासादिरोगरहितं कुरुत । 'अधा' इत्यत्र 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः । उव्वटाचार्यास्तु—हे ओषधयः ! अश्वमातरः, शतक्रत्वो युष्माकं धामानि जन्मानि, उतापि च सहस्रं वो युष्माकं रुहो विरोहणानि सन्ति । अधा अथैवं सति हे शतक्रत्वो बहुकर्माणो यूयमिमं प्रजापतिं यजमानं वा मे सम्बन्धिनमगदमव्याधिं कृत कुरुत । करोतेश्छान्दसत्वात् शपो लुकि कृतेति रूपम् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'शतं वो अम्ब धामानि । सहस्रमुत वो रुह इति यदिदꣳ शतधा च सहस्रधा च विरूढा अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृतेति यमिमं भिषज्यामीत्येतत्' (श० ७।२।४।२७) । द्वितीयस्या ऋचः पूर्वार्धमनूद्य व्याचष्टे—शतं वो अम्बेति । इदम् इदानीं शतधा शतप्रकारेण सहस्रधा सहस्रप्रकारेण च विरूढा उत्पन्ना ओषधयो दृश्यन्त इति यदेतद् एतेनार्धेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । अम्ब हे मातः ओषधयः, वो युष्माकं धामानि स्थानानि शतं शतसंख्याकानि । उतशब्दोऽप्यर्थे । तथा वो युष्माकं रुहः प्ररोहा अंकुरा अपि सहस्रं सहस्रसंख्याका इति । द्वितीयार्धमनूद्य तात्पर्यमाह—अधा शतक्रत्व इति । अधशब्दो हेतौ । हे शतक्रत्वः शतकर्माण ओषधयः । यूयं मदीयमिमं पुरुषमगदं व्याधिरहितं कृत कुरुत । यमिममातुरमिदानीमहं भिषज्यामि चिकित्सामि । 'भिषज् चिकित्सायाम्' इति कण्ड्वादीयधातो रूपम् । चिकित्सकोऽनेन मन्त्रेण आतुरस्य ओषधीः प्रार्थयेदित्यपि सिद्धयति ।

अध्यात्मपक्षे—हे अम्ब कृष्युपलक्षितसोमादिसर्वौषध्यधिष्ठात्रि सीते मातः, शतमनन्तानि वो युष्माकमोषधिरूपाणां धामानि स्थानानि क्षेत्राणि वा सन्ति, उतापि सहस्रं सहस्राण्यनन्तानि वो विरोहणानि । अध अतो हे शतक्रत्वः शतकर्माणो यूयमिमं मे मदीयं शिष्यं यजमानमातुरं वा अगदं ज्वरादिरोगरहितं कामादिदोषरहितं वा कृत कुरुत ।

दयानन्दस्तु—'हे शतक्रत्वः ! शतं क्रतवः प्रज्ञाः क्रिया येषां तत्सम्बुद्धौ, तादृशा मनुष्या यूयं यासां शतमुत सहस्रं रुहो नाडचङ्कुराः सन्ति, ताभिर्मे मम इमं देहमगदं रोगरहितं कृत कुरुत । अध स्वयं वो युष्माकं देहानगदान् कुरुत । यानि वोऽसंख्यानि धामानि गर्भस्थानानि तानि प्राप्नुत । हे अम्ब, त्वमप्येवमाचर' इति, तदपि निरर्थकम्, अज्ञस्यैवं वचनानुपपत्तेः, विज्ञस्य स्वयमेव तथाचरणसम्भवेन तादृग्वचनायोगात्, अम्बामात्रस्य तथावगमाभावेन तथोक्त्ययोगाच्च, अध्याहारबाहुल्याच्च ॥ ७६ ॥

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—हे औषधिगण, पुष्पों से युक्त फल उत्पन्न करने वाली, घोड़ों के समान वेग से गमन करने वाली, अनेक प्रकार की व्याधियों का निवारण करने वाली, फलपाकान्त के सिवाय बहुत काल तक कर्मपरायण तुम सब हमारे ऊपर प्रसन्न रहो, अश्व के समान वेग से शीघ्र पुष्पवान् और फलवान् बनो ॥ ७७ ॥

ओषधीः हे ओषधयः, यूयं प्रतिमोदध्वं प्रहृष्यत। कीदृश्यो यूयम्? पुष्पवतीः पुष्पवत्यः पुष्पैरुपेताः। पुनः कीदृश्यः? प्रसूवरीः प्रसुवते जनयन्ति फलानीति प्रसूवरीः प्रसूवर्यः फलप्रसववत्यः। प्रोपसृष्टसूतेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति वनिपि 'वनोर च' (पा० सू० ४।१।७) इति ङीपि रान्तादेशे च रूपम्। अश्वा इव संग्राम्या अश्वा इव सजित्वरीः सह जयन्ति तच्छीला इति सजित्वरीः सजित्वर्यः। यथा अश्वाः संग्रामे जयशीलास्तथा फलपाकपर्यन्तत्वाद् जयशीला भूत्वा वीरुधो विविधं व्याधिं रुन्धन्तीति वीरुधो विभिन्नव्याधिनिवारिकाः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। अथवा विविधं रोहन्तीति वीरुधः। न्यङ्क्वादिगणे 'वीरुत्' शब्दपाठान्निपातनाद् दीर्घत्वमिति पदमञ्जरी। अथवा विविधं रोचत इति वीरुत्। 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (पा० सू० ६।३।११६) इति दीर्घः। पारयिष्णवः पारयन्ति तच्छीला इति पारयिष्णवः। फलपाकानन्तरमपि बहुकालं यावत् कर्मपरायणशीलाः। भवतास्माकमिति शेषः। 'णेश्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१३७) इति 'पार तीर कर्मसमाप्तौ' इति चौरादिकात् पारधातोरिष्णुचि रूपम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'ता एता एकव्याख्यानाः। एतमेवाभि यथैतमेव भिषज्येदेतं पारयेत्ता अनुष्टुभो भवन्ति वाग्वा अनुष्टुब्वागु सर्वं भेषजꣳ सर्वेणैवैनमेतद्भेषजेन भिषज्यति' (श० ७।२।४।२८)। ता एता बीजवपनार्था ऋच एकव्याख्यानाः समानव्याख्यानाः। अतो न पृथग् व्याख्यायन्त इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधयः, यूयं प्रतिमोदध्वं प्रहृष्टा भवत, युष्मदीयपत्रपुष्पफलादीनां भगवति समर्पणात्। पुष्पवतीः प्रशस्तभगवत्समर्पणादिपुष्पवत्यः प्रसूवरीः प्रशस्तफलवत्यः। अश्वा इव भगवत्समर्पित-पुष्पफलवत्त्वेन परमपदफलविजयित्र्यो वीरुधो विविधरोगनाशयित्र्यः पारयिष्णवो जीवानां संसारपारतारयित्र्यः, भवतेति शेषः। अनेनैव मन्त्रेण भक्ता भगवति पुष्पाणि पुष्पमालाश्च समर्पयन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयमश्वा इव सजित्वरीः शरीरैः संयुक्ता रोगान् जेतुं शीला वीरुधः सोमादीन् पारयिष्णवो रोगजदुःखेभ्यः पारं नेतुं समर्थाः पुष्पवतीः प्रशस्तपुष्पवतीः सुखप्रसाविका ओषधीः संसेव्य प्रतिमोदध्वम्' इति, तदपि तुच्छम्, हे मनुष्या इति सम्बोधने मानाभावात्, श्रुतिसूत्रादिविरोधाच्च, पारयिष्णव इति पदस्य कर्मतयाऽन्वयायोगात्॥ ७७॥

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे।

सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष॥ ७८॥

मन्त्रार्थ—हे जगत् का निर्माण करने वाली, दिव्य गुणों से युक्त सम्पूर्ण ओषधियों, आगे बताई गई विधि से हम तुम सबसे प्रार्थना करते हैं। हे यज्ञपुरुष, आपके प्रसाद से मैं अश्व, गौ, वस्त्र आदि से सम्पन्न हो रोगों से रहित शरीर को प्राप्त कर सकूँ, यज्ञपुरुष से की गई इस प्रार्थना को ओषधियाँ सावधानी से सुनें॥ ७८॥

ओषधीः, हे ओषधयः, यूयमितीत्थमशन-दान-व्याध्यपगमादि कुर्वन्त्यो मातरो जगन्निर्मात्र्यो हे देव्यः, वो युष्मान् देवीरित्यमुना प्रकारेण तत् प्रसिद्धं मदभीष्टमुपब्रुवे उपसङ्गम्य प्रार्थये। हे पुरुष यज्ञपुरुष, तव कृपया अश्वं तुरङ्गं गां धेनुं वास उत्तमवस्त्रमात्मानं सुशरीरं च सनेयं सम्भजेयम्। यज्ञपुरुषो यदश्वादिकृते प्रार्थ्यते तदोषधिभिरनुमन्यतामित्यर्थः। यद्वा—हे मातरः मातृसमाना देवीर्देवाः, इतिशब्दोऽत्र हेत्वर्थः। यस्मादोषधी-र्यूयमोषधयस्तस्माद्वो युष्मान् उपब्रुवे प्रार्थये। कथं प्रार्थनमिति तदुच्यते—हे पुरुष, तव त्वदीयं सनेयं सह नेतव्यमश्वं तुरङ्गं गां पशुं वासो वस्त्रं स्थानं वा आत्मानं शरीरमेतत्सर्वमोषधयोऽभिवृद्धिं प्रापयन्त्वित्यह-मोषधीः प्रार्थये। हे ओषधयो यूयं यजमानाश्वादिकं वृद्धिं प्रापयतेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधीः ! ओषधय ओषधिरूपाः, वो युष्मान् देवीर्दीप्यमाना उपब्रुवे प्रार्थये। कथं प्रार्थनमिति तदाह—हे पुरुष आत्मानं तव सनेयं सहसम्भजनीयमश्वादिकमोषधिरूपा मातरोऽभिवर्धयन्ति, त्वया तु निश्चिन्तेन धर्मपरायणेन भवितव्यमिति।

दयानन्दस्तु 'हे ओषधीः ! ओषधय इति इव मातरः, अहं तनयो वो युष्मान् तत् पथ्यं वच उपब्रुवे। हे पुरुष, सुसन्तानाहं माता तव अश्वं गां वास आत्मानं च सततं सनेयं सम्भजेयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परस्परासङ्गतेः। इतिशब्दस्य इवार्थकत्वं चिन्तनीयम्। केवलस्य जीवस्य अमूर्तत्वात् कथं तत्सम्भजनं सम्भवति ? ॥ ७८ ॥

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ— पीपल की लकड़ी से निर्मित उपभृत् और स्रुक्पात्र तुम्हारा स्थान है, पलाशपत्र से निर्मित जुहू में तुम्हारा स्थान है। इस पात्र में हम हवि रखते हैं, होम के निमित्त जुहू में रखते हैं। हे हविर्भूत ओषधियों, निश्चय ही तुम सब आदित्य की उपासना करने वाली हो, क्योंकि अग्नि में दी हुई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है। इस कारण तुम सब यजमान को अन्न आदि से पुष्ट करो ॥ ७९ ॥

हे ओषधिदेवताः, वो युष्माकम् अश्वत्थे निषदनम् अश्वत्थवृक्षछायायामुपवेशनस्थानं भवति। पर्णे पलाशवृक्षे वो युष्माकं वसतिर्निवासकारणं गृहं कृतम्। देवताधिष्ठितत्वाल्लोकेऽश्वत्थवृक्षः प्रदक्षिणानमस्कारादिभिः पूज्यते, पलाशवृक्षश्च इध्मादिरूपेण यज्ञाङ्गत्वेनाद्रियते। ईदृश्योऽपि यूयं गोभाज इद् भवदीये स्थावररूपे भूमिभाज एव भूत्वा असथ स्थिताः किल। तत्किमर्थमिति चेदुच्यते—इद् यस्मात् कारणादिमं यजमानं मनुष्यं सनवथ सनुथ अन्नदानेन पोषयथ। 'षणु दाने' इत्यस्य लटि मध्यमबहुवचने रूपम्। शबौत्सर्गिकः। छान्दसी द्विविकरणता। यद्वा—हे ओषधयो व्रीहियवाद्याः, यस्माद् यूयं पुरुषं यजमानं सनवथ सेवध्वे अन्नदानेन पोषयथ तस्माद् वो युष्माकमश्वत्थे आश्वत्थ्यामुपभृति स्रुचि हवीरूपेण निषदनं स्थानं भवति। पर्णे पलाशमय्यां जुह्वां युष्माकं वसतिः स्थितिर्होमार्थमध्वर्युणा कृता। अश्वत्थपर्णशब्दाभ्यां विकारार्थकप्रत्ययलोपश्छान्दसः। 'अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (नि० २।२५)। हे हवीरूपा ओषधयः, यूयं गोभाज इत्किल। गोशब्देनादित्योऽभिधीयते। आदित्यभाजो यूयमित्किल भवथ। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' (म० ३।७६) इति मनूक्तेः। यद्वा—अश्वत्थे फलिते सर्वौषधीनां फलवत्त्वाद् अश्वत्थे वो निषदनमित्युक्तिः। पर्णे पलाशे फलिते व्रीह्यादीनां फलितत्वेन च पर्णे वो वसतिष्कृता—इत्युक्तिः। अत एव यूयमुप्ताः सत्यो गोभाजो भूमिभाज एव किल असथ भवथ। असधातोर्लटि मध्यमपुरुष-बहुवचने छान्दसत्वादकारस्य शपश्चुलोपाभावे रूपम्। 'गौर्नादित्ये बलीवर्दे मखभेदर्षिभेदयोः। स्त्रियां स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि ॥' इति कोशाद् गोपदस्य भूम्यर्थकत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—अश्वत्थे न श्वोऽपि स्थाता इत्यश्वत्थः संसारः, तस्मिन्। हे ओषधयो जीवाः, वो युष्माकं निषदनं भवनं स्थानमित्यर्थः। पर्णे पत्रपुष्पफलादिनिमित्ता वो युष्माकं स्थितिः परमेश्वरेण कृता। यद् यस्मात् कारणाद् यूयं गोभाज गा इन्द्रियाणि गां गोविकारं देहं वात्मत्वेन भजन्तीति गोभाजः, इद् एव किल असथ भवथ। तस्मादश्वत्थे पर्णे वा युष्माकमवस्थानं स्थितिर्वा। अतः सर्वानर्थप्रशान्तये पुरुषं पूर्यते सर्वं जगदनेनेति पुरुषः परमात्मा, तम्। सर्वतोभावेन सेवध्वम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ओषधय इव यद् वोऽश्वत्थे देहनिषदनम्। पर्णे चलितपत्रे वसतिः कृता। तस्माद् गोभाजः किल पुरुषं देहं सनवथ ओषधीभिः सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य स्वकपोलकल्पितत्वात्, अश्वत्थपदस्य देहार्थत्वे मानाभावाच्च। न च श्वोऽपि स्थाता न वेति सन्देहास्पदत्वेन देहस्य तथात्वमिति वाच्यम्, संसारस्यापि तथात्वेन देहार्थग्रहणे विनिगमनाविरहात्। पर्णपदस्यापि चलितपत्र इति कथमर्थः ? सर्वस्यैतस्य गौणार्थकत्वात् ॥ ७९ ॥

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ८० ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, तुम सब चिकित्सा करने वाले वैद्य के पास उसी प्रकार जाती हो, जैसे राजा संग्राम में शत्रु पर विजय पाने के लिये जाता है। वह चिकित्सा करने वाला वैद्य तुम्हारी सहायता से ही पुरोडाश, क्वाथ आदि बनाकर राक्षस रूप रोगों का नाश करता है। औषधि देकर रोग का नाश करने वाला यह ब्राह्मण वैद्य कहलाता है ॥ ८० ॥

हे ओषधीः ओषधयः, यत्र यस्मिन् क्षेत्रे यूयं समग्मत फलप्रदानाय सङ्गता भवत, क इव राजानः समिताविव यथा युद्धे प्रतिपक्षिणः सेनां जेतुं परस्परमनुकूला राजानः सङ्गच्छन्ते, एवं सङ्गता भवत। ओषधीषु तादृशीष्वोषधीषु विप्रो मेधावी रसवीर्यविपाकाभिज्ञो यः पुरुषः स भिषगुच्यते। क्षुदादिरोगस्य चिकित्सकोऽभिधीयते। कथं भिषक्त्वमिति तदुच्यते—रक्षोहा पक्वाभिरेताभिरोषधीभिः पुरोगमं रक्षो हन्ति तदुपद्रवं रोगं निवारयति। अमीवचातन ओषधिजन्यपथ्यादिभिरमीवो रोगान् चातयति नाशयतीत्यमीवचातनः। 'चातयतिर्नाशने' (नि० ६।३०)। यद्वा राजानः समिताविव यथा राजानः समितौ संग्रामे शत्रून् जेतुं समागच्छन्ति, तद्वदित्यर्थः। यस्मिन् पुरुषे भैषज्यकर्तरि यूयं समागच्छत व्याधिं जेतुं विप्रः स भवदाश्रितो ब्राह्मणो भिषग् वैद्य उच्यते। कीदृशो विप्रः ? रक्षोहा रक्षांसि हन्तीति रक्षोहा। यथा रक्षोघ्नं पुरोडाशं कृत्वा रक्षसां हन्ता रक्षःकृतोपद्रवानां नाशकः, तथा अमीवचातन ओषधिदानै रोगनाशकः। समग्मतेति सम्पूर्वस्य गमेर्लुङि मध्यमपुरुषबहुवचने 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।१।५५) इति च्लेरङि 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (पा० सू० ६।४।९८) इति छान्दस उपधालोपे रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—यत्र देशे काले वा ओषधीः ओषधयः संसाररोगदाहकाः शमदमादयः श्रवणमनननिदिध्यासनतत्त्वसाक्षात्काराः सम्भाव्यन्ते, तत्र राजानो यथा समितौ संग्रामे सन्नद्धा सङ्गच्छन्ते, तथैव हे साधकाः, यूयं समग्मत सङ्गच्छध्वम्। यस्तासु विप्रो मेधावी प्रविष्टबुद्धिः स भिषक् संसाररोगनिवारको वैद्य उच्यते। स च रक्षोहा अज्ञानकामादिरक्षसां हन्ता। अमीवचातनः सर्वरोगनाशकः सर्वतोभावेनाश्रयणीय इति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यत्रौषधीः सोमाद्याः सन्ति ता राजानः समिताविव समग्मत प्राप्नुत। यो रक्षोहा दुष्टानां रोगाणां हन्ता अमीवचातनोऽमीवान् रोगान् शातयति सः। वर्णव्यत्ययः। विप्रो भिषग् भवेत् स युष्मान् प्रत्युच्यते तद्गुणान् प्रकाशयेत् तास्तं च सदा सेवध्वम्' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। स युष्मान् प्रत्युच्यते, तद्गुणान् प्रकाशयेत्, तास्तं च सदा सेवध्वमित्यादिकं मन्त्रबाह्यमेव। यत्तूच्यते—'उपदिश्येत लेट्प्रयोगोऽयम्' इति, तदपि न, स भिषगुच्यत इति कर्मणि प्रत्ययेनैवोपपत्तौ लेट्लकाराश्रयणस्य निरर्थकत्वात् ॥ ८० ॥

अ॒श्वा॒व॒तीᳪं᳭ सो॑माव॒तीमू॒र्जय॑न्ती॒मुदो॑जसम् ।
आवि॑त्सि॒ सर्वा॒ ओष॑धीर॒स्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ—इस यजमान के अरिष्ट का नाश करने वाली, अश्व आदि पशुगण के लिये उपयोगी, सोमयाग के लिये उपयोगी, बल और प्राण का सम्पादन करने वाली, तेज का सम्पादन करने वाली सभी ओषधियों को मैं भली प्रकार से जानता हूँ ॥ ८१ ॥

अश्वावती काचिदोषधिजातिः । अथवा अश्वाः सन्त्यस्यां सा अश्वावती, 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' (पा० सू० ६।३।१३१) इति दीर्घः, तामश्वावतीम् । ओषधिसमृद्धौ सत्यां धनवत्त्वं तथात्वे अश्वा लभ्यन्त इत्यर्थः । अन्या काचिदोषधिः सोमावती । सोमः सोमयागोऽस्यामस्तीति सोमावती । यस्याः सत्त्वे धनबाहुल्येन सोमयागः सुलभः सा सोमावती, ताम् । अपरा काचिदोषधिजातिरूर्जयन्ती, ऊर्जं बलं प्राणचेष्टां या करोतीत्यूर्जयन्ती, 'ऊर्ज बलप्राणनयोः' । उदोजा अन्या जातिः । उद् उत्कृष्टमोजोधातुरङ्गे यस्याः सा उदोजास्ताम्, या अन्नद्वारेण शरीरस्थमोजोधातुं पोषयति सा उदोजाः । ताः सर्वा ओषधीरहमाविस्सि सर्वतो लब्धवानस्मि, वेद्मि वा । वेत्तेर्लुङि आत्मनेपदे उत्तमपुरुषैकवचने इडभावे अवित्सीति रूपम् । किमर्थम् ? अस्मा अस्य यजमानस्य अरिष्टतातये । रिषतिर्नाशनार्थः, रेषणं रिष्टं भावे क्तः, न रिष्टमरिष्टमनाशो मङ्गलमिति यावत्, अरिष्टं करोतीत्यरिष्टतातिः, 'शिवशमरिष्टस्य करे' (पा० सू० ४।४।१४३) इति तातिल्प्रत्यये रूपम् । अथवा क्रियत इति करः क्रियामात्रम्, भाव इत्यभिप्रायः, अरिष्टस्य करो भावोऽरिष्टतातिः, तस्मै यजमानस्य हिंसाराहित्याय । यद्वा तननं तातिर्विस्तारः, अरिष्टस्य मङ्गलस्य तातिर्विस्तारस्तस्मै । सर्वा ओषधीरिति बहुवचनानुरोधेनाश्वावतीमित्यादावपि बहुवचनमूह्यम् । तथा च या ओषधयोऽश्ववत्योऽश्वसम्पादिन्यः, सोमवत्यः सोमयागसम्पादिन्यः, ऊर्जयन्त्यो बलप्राणसम्पादिन्यः, उदोजस उत्तमौजःसम्पादिन्यस्ताः सर्वा अहमाविस्सि जानामि । विदित्वा चास्मै अरिष्टतातयेऽस्य यजमानस्यारिष्टविनाशमङ्गलविस्ताराय भैषज्यं करोमीति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे—अस्मै अस्य साधकस्य अरिष्टतातये मङ्गलविस्ताराय अहं सर्वा भौतिकीराध्यात्मिकीश्च ओषधीर्जानामि । कास्ता इत्याकाङ्क्षायां पूर्वोक्तोऽर्थः । अश्वावतीम् अश्वः सूर्यः, विवस्वदयुतप्रकाशाम् । सोमावतीं परःशतसुधामयूखशीतलाम् । ऊर्जयन्तीं बलप्रदात्रीम्, उत्कृष्टपराक्रमसम्पादयित्रीं कुण्डलिनी-महमाविस्सि जानामि, तस्या ज्ञानेन अनुभवेन ध्यानेन सर्वारिष्टनिवृत्तिसम्भवात् । एकैव सा सर्वौषधिकार्य-कारिणी, अतः सर्वा ओषधीरिति बहुवचनेन निर्दिश्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहमरिष्टतातये रिष्टाणां हिंसकानां रोगाणामभावाय अश्वावतीं प्रशस्तशुभगुणयुक्तां सोमावतीं बहुरससहितामूर्जयन्तीं बलं प्रापयन्तीमुदोजसमुत्कृष्टपराक्रमं महौषधीमाविस्सि जानीयाम्, यतः सर्वा ओषधीर्मह्यं सुखप्रदाः स्युः, तथा अस्मै यूयमपि प्रयतध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्याध्याहृतांशानां च निर्मूलत्वात् । अश्वशब्दस्य प्रशस्तगुणार्थत्वं च चिन्त्यम् । उदोजसमित्यस्य उत्कृष्टपराक्रममिति व्याख्यानम्, हिन्दीभाष्ये तु उत्कृष्टपराक्रमवर्धनीमिति व्याख्यानमिति परस्परं विरोधः । उत्कृष्टपराक्रममित्यस्य केन सम्बन्ध इति च नोक्तम् ॥ ८१ ॥

उच्छुष्मा॒ ओष॑धीनां॒ गावो॑ गो॒ष्ठादि॑वेरते ।
धनᳪं᳭ सनि॒ष्यन्ती॑नामा॒त्मानं॒ तव॑ पूरुष ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ—हे यज्ञपुरुष, तुम्हारे शरीर के प्रति धनरूप हवि को देने की इच्छा वाली ओषधियों की सामर्थ्य उसी प्रकार प्रकट होती है, जैसे कि गाय अपने बाड़े में से निकलती है ॥ ८२ ॥

पुरुष हे यज्ञपुरुष, तव आत्मानं शरीरं प्रति धनं हवीरूपं सनिष्यन्तीनां दातुमिच्छन्तीनामोषधीनां सकाशात् शुष्मा तदुपभोगजन्यबलविशेषा उदीरते उद्गच्छन्ति। कथमिव ? गावो गोष्ठादिव। यथा गावो गोष्ठात् स्वनिवासस्थानाद् गृहादेररण्यदेशं प्रति उदीरते उद्गच्छन्ति, तद्वत्। 'ईर गतौ कम्पने च'। उदुपसर्गस्य क्रियया सम्बन्धः। यद्वा—ओषधीनां शुष्मा वीर्याणि सामर्थ्यान्युदीरते प्रकाशीभवन्ति। कथमिव ? गोष्ठादिव निष्क्रान्ता गाव इव। किं कुर्वतीनाम् ? हे पुरुष, तव त्वदीयमात्मानं प्रति धनं सनिष्यन्तीनां संविभजमानानामिति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—हे पुरुष साधक, तव आत्मानं प्रति धनमैश्वर्यं सनिष्यन्तीनां दातुमिच्छन्तीनां पूर्वोक्तानामोषधीनां कुण्डलिनीरूपाणां वा शुष्मा बलानि सामर्थ्यान्युदीरते उद्गच्छन्ति। कथमिव ? गोष्ठाद् गाव इव।

दयानन्दस्तु—'हे पुरुष देहिन्, या धनं यद् धिनोति वर्धयति तत्। सनिष्यन्तीनां संभजन्तीनामोषधीनां सोमयवादीनां शुष्माः प्रशस्तबलकारिण्यः, अर्शआदित्वादच्। गावो धेनवः किरणा वा गोष्ठादिव तवात्मानं शरीराद्यधिष्ठातारमुदीरते वत्सान् प्राप्नुवन्ति, तास्त्वं सेवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यद्धिनोति तद्धनमिति व्युत्पत्त्या धनपदेन ऐश्वर्यवर्धकार्थबोधासम्भवात्। पुरुषविशेषणे पुंलिङ्गतापत्तिश्च, शुष्मा उदीरत इति क्रियान्वयोपपत्तौ ताः सेवस्वेति क्रियाध्याहारस्यासङ्गतत्वाच्च ॥ ८२ ॥

इष्कृ॑ति॒र्नाम॑ वो मा॒ताथो॑ यू॒यꣳ स्थ॒ निष्कृ॑तीः।
सी॒राः प॑त॒त्रिणी॑ः स्थ॒न॒ य॒दा॒मय॑ति॒ निष्कृ॑थ ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, निष्कृति नाम वाली तुम्हारी माता है, तुम व्याधि को दूर करने वाली हो, अन्न के सहित वर्तमान, गमनयुक्त और प्रसरणशील हो, अतः तुम सब मनुष्यों में स्थित रोगों का निवारण करो ॥ ८३ ॥

'हे ओषधयः, वो युष्माकम् इष्कृतिर्निष्कृतिः। 'निशब्दो बहुलम्' (३।१।१७) इति प्रातिशाख्यसूत्रेणोपसर्गैकदेशस्य नकारस्य लोपः। निष्क्रयणं क्षुदादिविनाशनमेव माता मातृवदुत्पत्तिनिमित्तम्, क्षुदादिकं निवारयितुमेव युष्माकमुत्पत्तिः। वो युष्माकं माता निष्कृतिनाम्नी वा। यूयं व्याधिनिष्क्रमणाः। निष्करोति व्याधिं नाशयतीति निष्कृतिः। अथो अपि चैवं सति यूयं निष्कृतिर्निष्कृतयः क्षुदादिविनाशका भवथ। सीरा इरया अन्नेन सह वर्तन्त इति सीराः सहस्य सादेशे टिलोप इकारदीर्घश्छान्दसः। यद्वा सीराः क्षुदादीनामपसारयित्र्यः। यद्वा सीरं हलं निष्पादकत्वेन यासु ताः सीराः। पतत्रिण्यः पतत्रं पतनमस्मान् प्रत्यागमनं तदस्त्यासामिति पतत्रिण्यः। तेनागमनेनोपेता इत्यर्थः। स्थन भवथ। 'वा छन्दसि' (पा० सू० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः। अस धातोर्लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति थस्य थनादेशः। यद् यस्माद् आमयति आमयाविनि 'अम रोगे' चुरादिः शत्रन्तः, नरे स्थितं रोगं निष्कृथ नाशयथ। यद्वा यत् क्षुदादिकं रोगवद् बाधते, तन्निष्कृथ नाशयथ। करोतेर् उविकरणे लुप्ते लटि रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे पूर्वोक्ता अश्वावत्यादयः, कुण्डलिनीरूपा वा, वो युष्माकं माता जननी निष्कृतिः सर्वव्याधिविनाशिनी चितिरूपिणी, यस्याः साक्षात्कारात् सर्वानर्थनिवृत्तिसद्भावाद् यूयमपि निष्कृतयः

सर्वव्याधिविनाशिन्यः, 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इति न्यायात्। सीरा अभीष्टानन्दात्मकदिव्यान्नसहिता पतत्रिणीः प्रसरणशीलाः स्थन भवथ। यद् यत आमयति भौतिकाध्यात्मिकरोगवति पुरुषे स्थितं रोगं संसारं वा निष्कृथ नाशयथ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं या वो युष्माकमिष्कृतिर्निष्कर्त्री माता जननीव ओषधिर्नाम वर्तते, तस्याः सेवका इव ओषधीः सेवितारः स्थ। पतत्रिणीः पतितुं गन्तुं शीलाः सीरा नद्य इव निष्कृतीः प्रत्युपकारान् सम्पादयन्तः स्थन भवत। अथो यदामयति रोगयति तन्निष्कृथ नितरां कृथ कुरुत' इति, तदपि न युक्तम्, सर्वस्यैतस्य लोकसिद्धत्वात्, अध्याहारबाहुल्यसापेक्षत्वाच्च ॥ ८३ ॥

अति विश्वाः परिष्ठाः स्तेन इव व्रजमक्रमुः।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किञ्च तन्वो रपः ॥ ८४ ॥

मन्त्रार्थ—सब ओर से रोगों को दबाकर बैठने वाली रोगनाशक सम्पूर्ण औषधियाँ जब भक्षित होकर देह को व्याप्त करती हैं, जैसे कि दस्यु गोष्ठ को व्याप्त करते हैं, उस समय वे शरीर में स्थित सिर की व्यथा, गुल्म, अतीसार आदि पाप के फल के रूप में उत्पन्न हुए सभी रोगों का नाश करती हैं ॥ ८४ ॥

परिष्ठाः परि उपरि तिष्ठन्तीति परिष्ठाः शरीरस्योपरि स्थिता उदरमध्ये प्रविष्टा विश्वाः सर्वा ओषधयः, अति अजीर्णादिदोषमतिलङ्घ्य अक्रमुः क्रान्ता देहे व्याप्ता भवन्ति, तत्र दृष्टान्तः—स्तेन इव व्रजमिति। यथा रात्रौ गुप्तश्चोरो गोष्ठ उपविश्य गामपहर्तुं सावधानो गोशालायां सर्वत्र व्याप्नोति तद्वत्। तन्वः शरीरस्य सम्बन्धी यत्किञ्चिद् रपः पापं शरीरे शिरोव्यथागुल्मातिसाररूपं पापफलं यत्किञ्चिदस्ति, तत्सर्वमोषधीर् ओषधयः प्राचुच्यवुः प्रच्यावयन्ति विनाशयन्ति। यद्वा परिष्ठाः परि सर्वतो व्याधीनधिष्ठाय तिष्ठन्तीति। सर्वा ओषधीर् ओषधयो यदा अक्रमुर् आक्राम्यन्ति, भक्षिताः सत्यो देहं व्याप्नुवन्ति। झेरुस् छान्दसः। कथमिव? स्तेन इव व्रजं यथा तस्करो व्रजमत्यक्रमत्, एवं परिमुमोचयिषया ओषधयो रोगानपहर्तुमत्यक्रमुः। अथ अनन्तरमेव ओषधयो यत्किञ्चित् तन्वः शरीरस्य रपः पापजनितं व्याधिं प्राचुच्यवुः प्रच्यावयन्ति नाशयन्ति। 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' (नि० ४।२१)। अचुच्यवुरिति 'च्युङ् गतौ' इत्यस्य णिजन्तस्य लुङि 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (पा० सू० ३।१।४८) इति च्लेश्चङादेशे रूपम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं या परिष्ठाः सर्वतः स्थिता विश्वाः सर्वा ओषधीः सोमयवाद्या ओषधयो व्रजं गोस्थानं स्तेना अत्यक्रमुः अतिक्रामन्ति, यत् किञ्च तन्वो रपः पापफलमिव रोगाख्यं दुःखं तत्सर्वं प्राचुच्यवुः प्रच्यावयन्ति, ता युक्त्योपयुञ्जीध्वम्' इति, तदपि तुच्छम्, दृष्टान्तानुपपत्तेः, स्तेनस्य व्रजप्रवेशे भित्तिस्फोटानुक्तेः, उपयुञ्जीध्वमित्यस्य कल्पनाप्रसूतत्वाच्च ॥ ८४ ॥

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥ ८५ ॥

मन्त्रार्थ—जिस समय मैं इन औषधियों का पूजन करता हुआ इन्हें अपने हाथ में लेता हूँ, उस समय यक्ष्मा रोग खाने से पहले ही उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे कि वध के निमित्त ले जाया जा रहा प्राणी वध से पहले ही अपने को मरा हुआ मान लेता है ॥ ८५ ॥

यद् यदाऽहं वाजयन् वाजमन्नमिच्छन्नहमिमा ओषधीर्हस्ते आदधामि, तदानीमेव यक्ष्मस्य क्षुदादिरोगस्य आत्मा स्वरूपं पुरा नश्यति। भोजनादोषधिभक्षणात् प्रागेव नष्टमदृश्यं भवति। तत्र दृष्टान्तः—यथा लोके धीवरैर्जीवगृभो जीवित एव मारणार्थं गृह्यत इति जीवगृप्, तस्य जीवितस्य शशादेर्ग्रहणात् पुरा प्रागेव स यथा भीतः कर्णाभ्यां नेत्रे पिधाय भूमिसंश्लिष्टो मृत इव तिष्ठति तद्वत्। यद्वा—यदा यदैव इमा ओषधीर्वाजयन् पूजयन् मानयन् अहं हस्ते आदधे स्थापयामि तदैव यक्ष्मस्य आत्मा भक्षणात् प्रागेव नश्यति। जीवगृभो जीवन्नेव हिंसार्थं यो गृह्यते पशुर्वा अन्यो वा मनुष्यादिराघातस्थानं नीयते स जीवगृप्, तस्य प्रागेव विषादाद् मृतोऽहमिति मन्यमानस्य आत्मा यथा नश्यति नष्टप्रायो भवति, तथौषधौ हस्ते धृतायां व्याधेरात्मा नश्यतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—यद् यदा इमाः पूर्वोक्ताः शमदमादिसहिताः कुण्डलिन्युपासनारूपा वा सर्वा ओषधीः, वाजयन् मानयन् अहं हस्त आदधे उपासनार्थम् अङ्गीकर्तुमिच्छामि, तदैव भौतिकस्य आध्यात्मिकस्य च रोगस्य आत्मा स्वरूपं नश्यति। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा पुरा वाजयन् प्रापयन् अहं यद् या इमा ओषधीर्हस्त आदधे याभ्यो जीवगृभो यो जीवं गृह्णाति तस्य व्याधेर्यक्ष्मस्य क्षयस्य राजरोगस्य आत्मा तत्त्वमूलं नश्यति, तथा भवन्तस्ताः सद्युक्त्योपयुञ्जताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सिद्धान्तरीत्याऽध्याहारमन्तरैव व्याख्यानसम्भवे निर्मूलाध्याहारस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, जीवस्यामूर्तत्वाद् व्याधिभिर्ग्रहीतुमशक्यत्वात्। अत एव व्याधिभिर्देह एव नश्यति, न जीव इति सिद्धान्तः ॥ ८५ ॥

यस्यौ॑षधीः प्र॒सर्प॒थाङ्ग॑मङ्गं॒ परु॑ष्परुः। तता॒ यक्ष्मं॒ विबा॑धध्व उ॒ग्रो म॑ध्यम॒शीरि॑व ॥ ८६ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, तुम जिस रोगी के अंग-अंग में, ग्रन्थि-ग्रन्थि में फैलती हो, तब यक्ष्मा आदि रोगों को उसी प्रकार नष्ट कर देती हो, जिस प्रकार देह के मध्य में मर्म भाग को पीड़ा देने वाला उग्र रुद्र युगान्त में त्रिशूल के मध्य भाग से जगत् को पीड़ा देता है ॥ ८६ ॥

हे ओषधीः! ओषधयः, यस्य रोगिणोऽङ्गमङ्गं प्रत्यङ्गं सर्वाण्यङ्गानीति यावत्। परुष्परुः परुष्शब्दः पर्ववचनः। प्रतिपरुः सर्वाणि पर्वाणीति यावत्। सर्वान् ग्रन्थीन् यूयं प्रसर्पथ प्रगच्छथ व्याप्नुथ ततोऽङ्गपर्वसमुदायाद् यक्ष्मं रोगं यूयं विबाधध्वे निवर्तयथ। तत्र दृष्टान्तः—मध्यमशीर्मध्ये देहमध्ये भवतीति मध्यमो देहमर्मभागः, तं शृणाति हिनस्तीति मध्यमशीर्मर्मघातक उग्रो बद्धगोधाङ्गुलित्राण उद्गूर्णशस्त्रः क्षत्रियो यथा शत्रुं बाधते, एवं यूयमपि रोगिणो रोगं बाधध्वमित्यर्थः। यद्वा उग्रो रुद्रो देवः, स यथा त्रिशूलस्य मध्यमेन शूलेन शृणाति हिनस्तीति मध्यमशीः, स यथा युगान्ते सर्वं जगद् भस्मसात्करोति, एवं यूयमपि व्याधिं विबाधध्व इत्यर्थः। 'गॄ निगरणे' इति तौदादिकस्य क्विपि 'ॠत इद् धातोः' (पा० सू० ७।१।१००) इति ॠकारस्येदादेशे 'उरण् रपरः' (पा० सू० १।१।५१) इति रपरत्वे च रूपसिद्धिः।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधयः, पूर्वोक्ता यस्यातुरस्य अङ्गमङ्गं परुष्परुः प्रसर्पथाः, ततोऽङ्गादिसमुदायाद् यक्ष्मं दैहिकं मानसं च रोगं विबाधध्वे। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यस्य अङ्गमङ्गं परुष्परुः प्रति वर्तमानं यक्ष्मं तस्य उग्रो मध्यमशीरिव यो मध्यमानि मर्माणि शृणातीति विबाधध्वे तत ओषधीः प्रसर्पथ विजानीथ ता वयं सेवेमहि' इति, तत्तुच्छम्, मनुष्याणां सम्बोधने मानाभावात्, बाह्याध्याहारापेक्षया ओषधीरित्यस्य सम्बोधनत्वे विपरिणामस्य लाघवात्, तासामेव प्रत्यङ्गं प्रतिपरुः प्रसर्पणसम्भवात्। न च मनुष्याणां व्याधिबाधने सामर्थ्यमस्ति, ओषधीनामेव

तथाविधसामर्थ्यस्य प्रसिद्धत्वात् । प्रसर्पणस्य ज्ञानार्थता असिद्धैव । उग्र इत्यस्य क्वान्वयः ? न चोग्र इति यक्ष्मणो विशेषणम्, नपुंसकत्वापातात् । अत एव तीव्रमिति तद्व्याख्यानमप्यसङ्गतम् ॥ ८६ ॥

साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना ।

साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ—हे व्याधियों, तुम कफ से रुके कण्ठ से उठे शब्द के द्वारा क्रीड़ा करने वाले श्लेष्म रोग और पित्त रोग के साथ इस शरीर से निकल जाओ, वात रोग के साथ नष्ट हो जाओ। सर्वांग वेदना से रोगी का जो हाहाकार है, उस दुःख के साथ तुम सब नष्ट हो जाओ ॥ ८७ ॥

हे यक्ष्म, यक्षयते लोकान् यक्ष्यते वा लोकैः प्राणत्यागभीतैरिति यक्ष्म राजरोगः । औणादिको मनिन्, तत्सम्बुद्धौ । किकिदीविना श्लेष्मावरुद्धकण्ठजन्यध्वनेरनुकरणार्थोऽयं किकिशब्दः । किकिना ध्वनिविशेषेण दीव्यति व्यवहरतीति किकिदीविः, तेन श्लेष्मजन्येन व्याधिना । चाषः 'चष भक्षणे' चषते व्याकुलान् कृत्वा सर्पशावकानपि भक्षयतीति चाषः पक्षिविशेषः । तद्वत्तीव्रत्वात् पित्तजन्यरोगोऽपि चाषः, तेन । अर्थात् श्लेष्मजन्येन पित्तजन्येन च व्याधिना साकं त्वं प्रपत प्रपलायस्व, प्रकर्षेण नष्टो भव । तथा वातस्य वातीति वातः, 'हसिमृ·····' इत्यादिना औणादिकस्तन् । अर्थाद् वातजन्यो व्याधिस्तस्य । ध्राज्या गत्या व्याध्या सह नष्टो भव । तथा निहाकया नितरां हतोऽस्मि हा कष्टमिति यया पीडया शब्दं करोति सा निहाका सर्वाङ्गवेदना, तया साकं नश्य नष्टो भव । यद्वा हे यक्ष्म, त्वं चाषेण पक्षिणा साकं प्रपत प्रणश्य प्रकर्षेण गच्छ वा । कीदृशेन चाषेण ? किकिदीविना किकीत्यनुकरणशब्दः, तेन दीव्यतीति किकिदीविस्तेन । स हि चाषस्तवोचितः सार्थः । वातस्य ध्राज्या गत्या साकं प्रपत वातगतिवत् पलायस्व । किञ्च, निहाकया नितरां हन्ति कायमिति निहाका निर्ऋतिः कृच्छ्रापत्ति, तया सह नश्य । यद्वा हे यक्ष्म, त्वं निहाकया हा कष्टं कया ओषध्या निहतोऽहमिति शब्दं करोति यस्यां साऽवस्था निहाका, तामवस्थामापन्नः, विभक्तिव्यत्ययः, त्वं नश्य । वातस्य ध्राजिर्वातरोगस्तया, अर्थात् त्वं कफवातपित्तरोगैः सह प्रपत गच्छ ।

अध्यात्मपक्षे—हे यक्ष्म, अस्वास्थ्यमूलाज्ञान ! त्वमित्यादि पूर्वव्याख्यानवत् ।

दयानन्दस्तु—'हे चिकित्सो विद्वन्, किकिदीविना किं किं ज्ञानं दीव्यति ददाति यस्तेन चाषेण भक्षणेन, 'चष भक्षणे', साकं यक्ष्म रोगराजः प्रपत प्रपतति यथा तस्य वातस्य ध्राज्या गत्या साकमपनश्य । निहाकया नितरां हातुं योग्यया साकं दूरीभवेत् तदर्थं प्रयतस्व । हे वैद्य विद्वन्, ज्ञानवर्धकेन आहारेण साकमौषधियुक्तेन पदार्थैर्यक्ष्म प्रपत नश्यति यथा तस्य वातस्य ध्राज्या गत्या सह नश्येत्, निहाकया निरन्तरं हातुं योग्यया पीडया सार्धं नश्येत् तथा प्रयतस्व । 'कि ज्ञाने' इत्यस्मात् सन्वति डौ कृते 'किकिः' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, मूलमन्त्रगतस्य यक्ष्मेतिपदस्य सम्बोधनत्वे सम्भवत्यध्याहारबहुलकल्पनायोगाच्च ॥ ८७ ॥

अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत ।

ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, तुम्हारे बीच में से कोई एक ओषधि दूसरी की रक्षा करे, रक्षित हुई कोई दूसरी ओषधि रक्षा करने के लिये समीप आवे, अर्थात् आपस में मिलकर तुम रोगनिवारण की शक्ति को बढ़ाओ, तुम सब परस्पर एकमति होकर मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार करो ॥ ८८ ॥

हे ओषधयः, वो युष्माकं मध्ये अन्याः काचिदोषधिव्यक्तिरन्यामोषधिव्यक्तिमवतु। तथा रक्षिता सा अन्या अन्यस्या रक्षिकाया उपावत समीपमागत्य तामप्यवतु। पुरुषवचनव्यत्ययः। संहत्यकारित्वात् परस्पररक्षकत्वमुचितमेव। ताः सर्वास्तथाविधा ओषधयः संविदानाः परस्परमैकमत्यं गताः सत्यो यूयं मे मम इदं वचो वाक्यं प्रार्थनारूपं प्रावत प्रकर्षेण रक्षत। यद्वा अन्या अन्यस्याः प्रभावमवतु।

अध्यात्मपक्षे—हे दैवीसम्पद्रूपाः शमदमादिरूपाः संसाररोगनाशका ओषधयः, वो युष्माकमन्या अन्यामवतु, सर्वासां सम्भूयसंसाररोगनिवर्तकत्वे परस्परोपकार्योपकारकभावस्य युक्तत्वात्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः, संविदानाः परस्परं संवादं कुर्वाणा यूयमिदं मे वचः प्रावत। ताः सर्वा ओषधीरन्या अन्यस्या इवोपावत। यथान्याऽन्यां रक्षति तथा वोऽध्यापिकाऽवतु' इति, तत्त्वतीबोपहासास्पदम्। एतादृशसम्बोधनकल्पनायां स्त्रीलिङ्गदर्शनमात्रस्य मूलत्वात्, अस्मिन् मन्त्रे ओषधिशब्दस्याभावाच्च। ता इति पदेन तत्परामर्शेऽपि सादृश्यार्थकपदाभावेन तासां दृष्टान्तत्वानुपपत्तेश्च ॥ ८८ ॥

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वꣳहसः ॥ ८९ ॥

मन्त्रार्थ—जो ओषधियाँ फलवाली हैं, या फल से रहित हैं, जो ओषधियाँ फूलवाली हैं, अथवा फूलों से रहित हैं, वे सब ओषधियाँ प्रजापालक परमात्मा की प्रेरणा से हमारे पापों को दूर करें (रोगों को दूर करें) ॥ ८९ ॥

या ओषधयः फलिनीः फलिन्यः फलवत्यः, विभक्तिव्यत्ययः, ताः सर्वा ओषधयो बृहस्पतिप्रसूता बृहस्पतिप्रेरिताः सत्यो नोऽस्मानंहसः पापाद् रोगाद् मुञ्चन्तु मोचयन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधयः, युष्मासु काश्चन संसाररोगनिवर्तिकाः, काश्चन फलवत्यः साक्षात् फलसम्पादयित्र्यः, यथा सन्तोषेण असन्तोषनिवृत्तिः, वस्तुयाथात्म्यज्ञानेन भ्रान्तिनिवृत्तिः, काश्चन तथा फलवत्यो न दृश्यन्ते यथाहिंसासत्यादयः, किन्तु पर्यवसाने स्वास्थ्यनिर्वर्तिकाः, काश्चन पुष्पवत्योऽदृष्टोत्पत्तिद्वारा फलजनयित्र्यो नित्याग्निहोत्रादयः, काश्चन अपुष्पाः, या दृष्टफला विवेकविचारादयस्ताः सर्वा बृहस्पतिप्रसूता ज्ञानविज्ञानाधिष्ठातृदेवेन प्रेरिता नोऽस्मान् संसाररूपाद् अंहसो मोचयन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, याः फलिनीर्बहुफला याश्चाफला याः पुष्पिणीर्बहुपुष्पा बृहस्पतिप्रसूता बृहतां पतिनेश्वरेण उत्पादिता नोंऽहसो मुञ्चन्तु मोचयन्तु' इति, तदपि न, तथा सम्बोधनासिद्धेः, तथा युष्मानपि मोचयन्त्वित्यस्याप्रामाणिकत्वाच्च ॥ ८९ ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ ९० ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, आप सब हमें शपथ के कारण होने वाले पाप से, जल क्रीड़ा से पैदा होने वाले रोग से, यम सम्बन्धी पाप से और भी सभी प्रकार के देवापराध आदि से पैदा होने वाले पापों से हमें छुड़ाओ ॥ ९० ॥

इमं मन्त्रमारभ्य द्वादशमन्त्रा अनारभ्याधीताः। एतेषां लिङ्गबलाद्विनियोगः। शपथ्यात् शपथे भवं शपथ्यं तस्मात्, किल्बिषात् पापाद् मामोषधयो मुञ्चन्तु मोचयन्तु। अथो अपि च वरुण्याद् वरुणे भवं वरुण्यम्,

तस्माद् वरुणापराधनिमित्तात् पापाद् मां मुञ्चन्तु । उत अथो अपि च यमस्य यमसम्बन्धिनः पड्वीशात् यमबन्धननिमित्तात् पापात्, पड्वीशशब्दो बन्धनवचनः, मां मुञ्चन्तु । अथो अपि च सर्वस्माद् देवकिल्बिषाद् देवतापराधनिमित्तात् पापाद् मां मुञ्चन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—हे शमदमसत्यादिरूपा ओषधयः, यूयं मां शपथ्यादिभ्यो मुञ्चन्तु, तासां सत्त्वे तत्प्रसङ्गानापत्तेः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, भवन्तो यथौषधयो रोगात् पृथग् रक्षन्ति, तथा शपथ्यात् शपथे भवात् कर्मणः, वरुण्याद् वरुणे भवादपराधात्, उतापि यमस्य न्यायाधीशस्य पड्वीशाद् न्यायविरोधाचरणात् सर्वस्माद् देवकिल्बिषाद् मां मुञ्चन्तु यथा, तथा युष्मानपि रोगेभ्यो मुञ्चन्तु' इति, तदपि तुच्छम्, अध्याहारबाहुल्यात्, यथौषधयो रोगात् पृथग् रक्षन्तीत्यस्य मूलेऽभावात् । न च विद्वांसोऽपि शपथ्यादिभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ति, तथा सति व्यवस्थाकोपप्रसङ्गात् । किञ्च, यथा विद्वांसो भवन्तो मां शपथ्यादिभ्यो रक्षन्तु, तथा युष्मान् रोगेभ्यो मुञ्चन्त्विति दृष्टान्तः कथमुपपद्यते ? रोगेभ्यः सेविता ओषधयः स्वयमेव मुञ्चतेति व्याख्याने प्रार्थनाया वैयर्थ्यमेव । पड्वीशपदस्य न्यायविरुद्धाचरणं कथमर्थः ? अयमर्थो निर्मूल एव । बन्धनार्थकत्वं तु बृहदारण्यके प्रसिद्धम् । तथाहि—'अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून् संवृहेदेवꣳ हैवेमान् प्राणान् संववर्ह' (बृ० उ० ६।१।१३) इत्यत्र बन्धनार्थत्वं तस्य दृश्यते । तथा च पशनं पड्, 'पश बन्धने', तस्य वीः प्रजन उपक्रम इति यावत्, तमेव श्यति तनूकरोतीति पड्वीशो दृढबन्धनम् । तथा चोव्वटमहीधरादीनामाचार्याणां पदवी अधुनातनानां कृते दवीयसी ॥ ९० ॥

अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ ९१ ॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक से भूमि पर आती हुई ओषधियों ने कहा कि जिस प्राणी को हम व्याप्त करती हैं, वह कभी नष्ट नहीं होता ॥ ९१ ॥

द्युलोकात् पतन्तो वृष्टिबिन्दव ओषधिरूपेणोत्पद्यन्ते । तथा च—'यावन्तः स्तोका अवापद्यन्त तावतीरोषधयोऽजायन्त' (तै० ब्रा० २।१।१।१) इति तैत्तिरीयाग्निहोत्रब्राह्मणवचनम् । तद्रीत्यैवात्रापि दिवः परि स्वर्गस्योपरितनप्रदेशादवयतीरवयत्योऽधस्ताद् भूमौ पतन्त्य ओषधय समवदन्त परस्परं सम्यगेतद्वचनमुक्तवत्यः । कीदृशं तद्वचनमिति तदुच्यते—यं जीवं प्राणिनमश्नवामहै व्याप्नुमः, स पुरुषो न रिष्यतीति । पूरुष इत्यत्र छान्दसो दीर्घः । रिष्यातीति लेटि रूपम् ।

अध्यात्मपक्षे—दिवः परि द्युलोकात् सकाशाद् भूमौ साधकानुग्रहार्थमवाचीनं पतन्त्यः शमाद्यभिमानिन्यो देवता अवदन्—यं जीवं साधकं वयं शमादयोऽश्नवामहै स पुरुषो न रिष्यति न म्रियते, जननमरणाविच्छेदलक्षणायाः संसृतेर्मुक्तो भवतीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'वयं या दिवोऽवपतन्तीर् ओषधयः सन्ति, या विद्वांसः पर्यवदन् या भ्यो यं जीवमश्नवामहै, ताः संसेव्य स पूरुषो न रिष्याति कदाचिद् रोगैर्हिंसितो न भवति' इति, तदपि तुच्छम्, प्रत्यक्षं मन्त्रगतं कर्तृपदमुपेक्ष्य विद्वांस इत्यध्याहारस्याप्रामाणिकत्वात् । पर्यवदन्नित्यस्य उपदेशार्थतापि चिन्त्या ॥ ९१ ॥

या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शꣳ हृदे ॥ ९२ ॥

मन्त्रार्थ—जो सोम की पत्नियां हैं, अनन्त असंख्यात शुभ गुणों से युक्त ओषधियां हैं, उनके मध्य में हे ओषधि, तुम सबसे उत्तम हो। इच्छित रोग की निवृत्ति में समर्थ तुम मन से रोग-निवृत्ति के द्वारा हमको सुख देने वाली बनो ॥ ९२ ॥

या ओषधीर् ओषधयः, सोमराज्ञीः सोमो राजा यासां ताः सोमराज्यः, बह्वीर् बह्व्योऽनन्ताः शतविचक्षणाः शतं विचक्ष्यन्ते प्रोच्यन्त इति शतविचक्षणाः, बहुवीर्या वा। शतं विचक्षणाः स्तोतारो यासां ताः शतविचक्षणाः सन्ति, तासामोषधीनां मध्ये हे ओषधे, त्वमुत्कृष्टासि, अतः कामाय अभीप्सिताय अरमलमत्यर्थं समर्थासि। ततो हृदे हृदयाय शं सुखकारिणी, भवेति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—सोमराज्ञीः सोमस्तत्प्रधानः शमो राजा यासां ता दयादिरूपा या ओषधयः सन्ति, कीदृश्यः ? बह्व्योऽनन्ताः, शतविचक्षणाः शतवीर्या बहुस्तोतृका वा, तासां मध्ये ब्रह्मसाक्षात्कृतिरूपे हे ओषधे, त्वमुत्कृष्टासि कामाय अभीष्टब्रह्मप्रापणाय अरं समर्थासि, हृदे हृदयाय शं शान्तिरूपासि।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यतस्त्वं याः शतविचक्षणा बह्वीः सोमराज्ञीर् ओषधीः सन्ति, तासामुत्तमा विदुष्यसि, तस्मात् शं कल्याणकारिणी हृदे हृदयाय अरं कामाय भवितुमर्हसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। मूले सोमराज्ञीर् ओषधीः, तासां त्वमुत्तमाऽसीति प्रत्यक्षसम्बन्धमपहाय तासां त्वं विदुष्यसीति सम्बन्धकल्पनस्य स्वैरित्वमेव बोधयति ॥ ९२ ॥

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु।
बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सन्दत्त वीर्यम् ॥ ९३ ॥

मन्त्रार्थ—जो सोम की पत्नी ओषधियां पृथ्वी पर नाना प्रकार से स्थित हैं, बृहस्पति द्वारा प्रेरित वे ओषधियां हमारी लाई हुई इस औषधि को पराक्रम दें, अर्थात् इसको वीर्यसपम्न्न कर दें ॥ ९३ ॥

याः सोमराज्य ओषधयः पृथिवीमनु विष्ठिता विविधं स्थिताः, ता यूयं बृहस्पतिप्रसूता बृहस्पतिना प्रेरिताः सत्यः, अस्यै मद्गृहीतायै ओषध्यै वीर्यं सामर्थ्यं सन्दत्त प्रयच्छत। 'अस्यै पृथिव्यै' इति काण्वसंहिताभाष्यम्। तच्च चितिक्षेत्राभिप्रायेण द्रष्टव्यम्।

अध्यात्मपक्षे—याः पूर्वोक्ता ओषधयः सोमराज्यः पृथिवीं व्यवहारभूमिमनु विष्ठिताः, बृहस्पतिना प्रेरितास्ता अस्यै ब्रह्मविद्यायै वीर्यं प्रपञ्चोन्मूलनसामर्थ्यं सन्दत्त।

दयानन्दस्तु—'हे विवाहितपुरुष, याः सोमराज्ञीर्बृहस्पतिप्रसूता ईश्वरस्य निर्माणादुत्पन्ना ओषधीः पृथिवीमनु विष्ठितास्ताभ्योऽस्यै पत्न्यै वीर्यं देहि। हे विद्वांसः, यूयमेतासां विज्ञानं सर्वेभ्यः सन्दत्त' इति, तदपि न किञ्चित्, असङ्गतेः। निर्माणादुत्पन्ना इत्यसङ्गतिः। ताभ्योऽस्यै वीर्यं देहीत्यस्य कोऽभिप्रायः ? एतासां विज्ञानमित्यादिकं तु मन्त्रबाह्यमेव ॥ ९३ ॥

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः।
सर्वाः सङ्गत्य वीरुधोऽस्यै सन्दत्त वीर्यम् ॥ ९४ ॥

मन्त्रार्थ—जो ओषधियां हमारे पास हैं, अथवा हमसे दूर हैं, वे हमारे इस वचन को सुन रही होंगी। वे सारी वनस्पतियां मिलकर हमारे द्वारा गृहीत इस ओषधी में बल का आधान करें ॥ ९४ ॥

याश्चौषधिदेवताः समीपस्थाः सत्य इदं मदीयं प्रार्थनारूपं वचः शृण्वन्ति, याश्च दूरं यथा भवति तथा परागता व्यवहिताः सत्य ईषच्छृण्वन्ति, हे वीरुधो विविधरोहणा लतारूपाः सर्वा ओषधयः, यूयं सङ्गत्य सङ्गत्येदं भूत्वा अस्यै ओषध्यै पृथिव्यै वा वीर्यं सामर्थ्यं पृथग् दत्त ।

अध्यात्मपक्षे—याः सन्निहिता असन्निहिता वा ओषधिरूपाः शमदमादयः सन्ति, तास्ताः सङ्गत्य अस्यै ब्रह्मविद्यायै सामर्थ्यं दत्त ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसो भवन्तो याश्चोपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागतास्ताः सर्वा वीरुधः सङ्गत्य वीर्यं प्रसाध्नुवन्ति, तासां विज्ञानमस्यै कन्यायै सन्दत्त' इति, तदप्यसङ्गतमेव, यस्यै पूर्वं वीर्यदानमुक्तं तस्याः कन्यात्वायोगात् । सङ्गत्य एकीभूत्वेति संस्कृतव्याख्यानस्य हिन्दीभाषायां (निकट प्राप्त कर) इत्यर्थः कृतः, सर्वमेव तदसङ्गतम्, प्रकृतिप्रत्ययार्थविरोधात् । सम्बोधनं च निर्मूलम् ॥ ९४ ॥

मा वो॑ रिषत्ख॒नि॒ता यस्मै॑ चा॒हं खना॑मि वः ।
द्वि॒पाच्चतु॑ष्पाद॒स्माक॑ꣳ॒ सर्व॑मस्त्वना॒तु॒रम् ॥ ९५ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, रोग की चिकित्सा के लिये तुम्हारी जड़ की जरूरत है, इसलिये कोई तुम्हें खोदता है । वह खनन के अपराध से हानि को प्राप्त न हो । जिस रोगी की चिकित्सा के लिये तुम्हें खोदा गया है, वह भी हानि को प्राप्त न हो । हमारे सम्बन्धी स्त्री-पुत्र आदि द्विपद और चतुष्पद सब रोगरहित हों ॥ ९५ ॥

हे ओषधयः, वो युष्मान् खनिता चिकित्सायै युष्माकं खननकर्ता मा रिषत् मा विनश्यतु । यस्मै रुग्णाय चिकित्सार्थं वो युष्मानहं खनामि युष्मन्मूलमादातुं खननं करोमि, स च मा रिषत् । किं बहुना, अस्माकं सम्बन्धि द्विपात् स्त्रीपुंसम्, चतुष्पाद् गवादिप्राणिजातम्, सर्वमनातुरं रोगरहितमस्तु । यद्वा हे ओषधयः, वो युष्माकं चिकित्सायै खनिता युष्मदीयं मूलं ग्रहीतुं खननस्य कर्ता मा रिषत् । अहं च यस्मै रुग्णाय चिकित्सार्थं वः खनामि युष्मन्मूलं ग्रहीतुं सोऽहमपि मा विनश्यामि । किं बहुना, अस्माकं सम्बन्धि सर्वं द्विपाच्चतुष्पाद् वा प्राणिजातं युष्मानुपजीवति तत्सर्वमनातुरमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधयः पूर्वोक्ताः शमादिरूपाः, युष्माकं खनिता वेदादिशास्त्रपर्वतेभ्य उद्धर्ता मा रिषत् । यस्मै संसाररोगनाशाय अहं वो युष्मान् खनामि उद्धरामि सोऽहं मा विनश्येयमिति शेषः । सर्वमस्माकं सम्बन्धि प्राणिजातमनातुरमस्तु । शान्तस्य सर्वं वस्त्वनातुरमेव भवति । सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अहं यस्मै यामोषधीं खनामि सा खनिता सती वो युष्मान् मा रिषत् । यतो वोऽस्माकं च सर्वं द्विपात् चतुष्पादनातुरमस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या हि जडानामोषधीनां प्रार्थना निरर्थिकैव ॥ ९५ ॥

ओष॑धयः॒ सम॑वदन्त॒ सोमे॑न स॒ह राज्ञा॑ ।
यस्मै॑ कृ॒णोति॑ ब्राह्म॒णस्त॑ꣳ॒ रा॑जन् पारयामसि ॥ ९६ ॥

मन्त्रार्थ—अपने स्वामी सोम को ओषधियाँ कहती हैं कि ब्राह्मण जिस रोगी के निमित्त हमारे मूल, फल, पत्र आदि से चिकित्सा करता है, हे स्वामी सोम ! उस रोगी को हम रोगरहित करती हैं ॥ ९६ ॥

ओषधय ओषधिदेवता राज्ञा स्वस्वामिना सोमेन राज्ञा सह समवदन्त संवादं कृतवत्यः। सोमो हि ओषधीनां राजा। कथं संवादस्तमाह—ब्राह्मणो यस्मै रुग्णाय कृणोति अस्मत्पत्रपुष्पमूलादिभिश्चिकित्सां करोति, हे राजन् स्वामिन् सोम, तं रुग्णं नरं वयं पारयामसि व्याधेरुत्तारयामः। सोमसंवादोऽयं व्याधिनाशदार्ढ्यार्थम्। 'कृञ् हिंसायाम्' इति सौवादिकस्य कृणोतीति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—ओषधयः सोमेन राज्ञा समवदन्त। मनोऽधिष्ठात्रा सोमेन सह ओषधयः शमदमादिरूपाः समवदन्त, हे राजन्, यस्मै अस्वस्थाय अनात्मतादात्म्याभिमानिने ब्राह्मणो ब्रह्मविद्वरिष्ठः कृणोति चिकित्सां शमदमादिपूर्वकब्रह्मज्ञानोपदेशेन तं वयमस्वस्थं पारयामः अपारसंसारसागराद् उत्तारयामः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, याः सोमेन राज्ञा सह वर्तमाना ओषधयः सन्ति, तद्विज्ञानार्थं भवन्तः समवदन्त परस्परं संवादं कुर्युः। हे राजन्, वयं वैद्या ब्राह्मणो वेदोपवेदविद् यस्मै ओषधीः कृणोति, तं रोगिणं रोगात्पारयामसि रोगसमुद्रात्पारं गमयेम' इति, तदपि तुच्छम्, अन्यव्यापारेऽन्यस्य पारगमनहेतुत्वासम्भवात्, तद्विज्ञानमित्यध्याहारस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ ९६ ॥

नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी ॥ ९७ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, तुम क्षय, अर्श, मेदरोग, श्वयथु (सूजन), श्लीपद आदि रोगों का नाश करने वाली हो और क्षत आदि सैकड़ों रोगों का तथा मुखपाक आदि रोगों का नाश करने वाली हो ॥ ९७ ॥

हे ओषधे, त्वं बलासस्य बलमस्यति क्षिपतीति बलासस्तस्य अर्शसो मूलव्याधेर्नाशयित्र्यसि। किञ्च, उपचिताम् उपचीयन्ते शरीरेऽन्ये ये रोगास्ते उपचितः, तेषामपि नाशयित्र्यसि। अथो अपि च शतस्य यक्ष्माणां व्याधीनां शतस्यापि नाशिनी त्वमसि। पाकारोः क्षयव्याधेरपि नाशिनी त्वमसि। यद्वा—बलासस्य क्षयव्याधेः, अर्शसो गुदव्याधेश्च त्वं नाशयित्री। शरीरे ये उपचीयन्ते उपचिन्वन्ति वर्धयन्ति वा शरीरं ये ते उपचितः श्वयथुगड्डुश्लीपदादयस्तेषां नाशयित्री। अथो अपि यक्ष्माणां रोगाणां शतस्य असंख्यरोगाणां पाकारोः, अरुः क्षतमुच्यते। पाकेनारुः पाकारुः, मुखपाकक्षतादिस्तस्य नाशिनी त्वमसि। यद्वा पाकस्य अन्नपाकस्य अरुर् अदीप्तिर्मन्दाग्नित्वं तस्य च त्वं नाशिनी भवसि। 'रुच दीप्तौ' इत्यस्मात् 'अश्वादयश्च' (उ० ५।२९) इति डुनि 'रुः' इति रूपम्। न रुः अरुः।

अध्यात्मपक्षे—हे विरतिरूपौषधे, त्वं बलासस्य बलक्षपयितुः शोकस्य नाशयित्र्यसि। तथा मोहरूपस्य मूलव्याधेरपि क्षपयित्र्यसि। उपचितां रोगाणां यक्ष्माणां महारोगाणां शतस्य नाशयित्र्यसि। तथा पाकारोर्मन्दाग्निरूपस्य मन्दजिज्ञासुत्वादेरपि नाशिनी असि।

दयानन्दस्तु—'हे वैद्याः, या बलासस्य आविर्भूतकफस्य अर्शसो मूलेन्द्रियव्याधेः, उपचितां वर्धमानानां रोगाणां नाशयित्र्यसि। अथो शतस्य अनेकेषां यक्ष्माणां महारोगाणां पाकारोर्मुखादिपाकस्यारोर्मर्मच्छिदः शूलस्य च नाशिनी असि, तामोषधिं यूयं विजानीत' इति, तदपि तुच्छम्, अध्याहारादिदोषबाहुल्यात्, एतमुपदेशं विनापि वैद्यानां तत्र स्वारसिकप्रवृत्तेः। मर्मच्छिदः शूलस्य इत्यत्र मूलं मृग्यम् ॥ ९७ ॥

त्वां गन्धर्वा अखनंस्त्वामिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः ।
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत ॥ ९८ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, गन्धर्वों ने तुमको खोदा, इन्द्र और बृहस्पति ने तुमको खोदा। सोम राजा ने तुम्हारी सामर्थ्य जानकर तुमको सेवन कर यक्ष्मा रोग से छुटकारा पाया। तुम्हारे गुणों के ज्ञाता तुमको पाकर अनेकों रोगों से मुक्त हुए हैं ॥ ९८ ॥

हे ओषधे, यतस्त्वमित्थंभूतासि, अतस्त्वां गन्धर्वा देवयोनिविशेषा अखनन् अभिलषितकामप्राप्त्यर्थं खननमकुर्वन्, त्वामिन्द्रो बृहस्पतिश्चाखनत्। हे ओषधे, सोमो राजा विद्वान् त्वत्सामर्थ्यं जानन् त्वामखनत्। उपयुज्य च त्वां यक्ष्माद् महाव्याधेरमुच्यत मुक्तोऽभूत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे विरते यतस्त्वमित्थंप्रभावासि, अतस्त्वां गन्धर्वा गाननिपुणा अखनन् अन्विष्टवन्तः। ततो भगवद्गानपरायणाः सन्तो मुक्ता अभवन्। इन्द्रः परमैश्वर्यवान् चक्रवर्ती नरेन्द्रो देवराजश्च त्वामखनत्। 'न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः। यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः ॥' इत्यभियुक्तोक्तेः। बृहस्पतिर्वाचस्पतिरपि त्वामखनत्, त्वां विना वाचस्पत्यस्य नैरर्थक्यात्। 'पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः। सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् (अविरतेः) पतन्त्यधः ॥' (भा० पु० ७।१५।२१) इति। सोमो राजा त्वां विद्वान् यक्ष्मान्महाव्याधेर्मोहान्मुक्तोऽभवत्। यद्वा सोम उमया सहितः शिवः, राजा सर्वोपरि राजमानस्त्वां विद्वान् यक्ष्मात् संसाररोगाद् मुक्तः सन् श्मशाने क्रीडतीति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यया सेवितया रोगी यक्ष्मादमुच्यत। ओषधे यामोषधिं यूयमुपयुङ्ध्वं तां त्वां गन्धर्वा गानविद्याकुशला अखनन् खनन्ति। इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तः, बृहस्पतिर्वेदवित्, सोमः सौम्यगुणसम्पन्नः, राजा प्रकाशमानो राजन्यस्त्वां खनेत्' इत्यादि, तदपि निरर्थकम्। 'ओषधे' इति सम्बोधनपदस्य व्यत्यये प्रमाणानुक्तेः, सायणादिकृतसरलव्याख्यानमुपेक्ष्य द्रविडप्राणायामतुल्यस्य व्यापारस्याकिञ्चित्करत्वात्, यया सेवितयेत्याद्यंशस्य निर्मूलत्वाच्च, गन्धर्वादिदेवजातेरपलापस्य शास्त्रविरुद्धत्वाच्च ॥ ९८ ॥

सहस्व मे अरातीः सहस्व पृतनायतः ।
सहस्व सर्वं पाप्मानꣳ सहमानास्योषधे ॥ ९९ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, तुम शत्रुओं का तिरस्कार करने वाली हो, मेरे अदानशील शत्रु की सेना का तिरस्कार करो, संग्राम चाहने वाले शत्रुओं को जीतकर सारे अशुभ को दूर करो ॥ ९९ ॥

हे ओषधे, यतस्त्वमेवंभूतासि, अतस्त्वां याचे। सहस्व अभिभव मे मम अरातीः, नास्ति रातिर्दानं यासु ता अरातयोऽदानशीलाः शत्रुसेनाः, ताः। तथा सहस्व अभिभव च पृतनायतः पृतनाः संग्रामान् कामयन्त इति पृतनायतः, तान्। सर्वं पाप्मानम् अशुभं च सहस्व अभिभव। ननु कथमभिभवकर्मणि त्वमस्माभिर्नियुज्यस इति चेत्, तत्राह—त्वं सहमानासि यतस्त्वमभिभवनशीलाऽसि, अतो नियुज्यसे।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधे विरते, मे अरातीः कामादिशत्रून् सहस्व। पृतनायतोऽन्यान् क्रोधादीन् सहस्व। सर्वं पाप्मानं मोहाज्ञानादिकं सहस्व। यतस्त्वं सहमानासि अभिभवनशीलासि।

दयानन्दस्तु—'हे ओषधे, ओषधिवद्वर्तमाने स्त्रि, यथौषधिः सहमानासि मे मम रोगान् सहते, तथा अरातीः सहस्व। स्वस्य पृतनायत आत्मनः पृतनां सेनामिच्छतः सहस्व। सर्वं पाप्मानं सहस्व' इति, तदपि बालभाषितम्, स्त्रीषु तथा प्रार्थनाऽयोगात्, तासु पृतनायतः प्रतीकारासामर्थ्यात् ॥ ९९ ॥

दीर्घायुस्त ओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम्।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात् ॥ १०० ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, तुम्हारा खनन करने वाला दीर्घायु हो, जिस रोगी के निमित्त तुम्हारा खनन किया गया है, वह भी दीर्घायु हो। तुम भी दीर्घायु होकर सैकड़ों अंकुर वाली होकर वृद्धि को प्राप्त करो ॥ १०० ॥

हे ओषधे, पुनरपि त्वां प्रार्थयामहे। अहं ते तव खनिता दीर्घायुर्भूयासम्। यस्मै च आतुराय त्वां खनामि स च दीर्घायुर्भूयात्। अथो अपि च त्वं दीर्घायुर्भूत्वा अनवखण्डितायुर्भूत्वा शतवल्शा शतं वल्शा अङ्कुरा यस्याः सा। बह्वङ्कुरा सती विरोहताद् विरोह। 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' (पा० सू० ७।१।३५) इति तातङ्ङादेशः। अनवखण्डिता भूत्वा त्वमनेकैरङ्कुरैः सन्तिष्ठस्वेति प्रार्थना।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव व्याख्यानम्। विरतेरन्वेषकस्य यस्मै च तदन्वेषणं तस्य च दीर्घायुष्ट्वं जननमरणराहित्येन ब्रह्मात्मभावप्राप्तिः। विरतिः स्वयमपि ब्रह्मात्मभावप्राप्तिमूला तत्त्वसाक्षात्कारप्राप्तिद्वाराऽनवखण्डितमूला बह्वङ्कुरा भवति, सर्वेषां साधनानां तन्मूलत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे ओषधे, ओषध इव मनुष्य, यस्य ते तव यामोषधीं खनिता सेविताहं यस्मै खनामि तया त्वं दीर्घायुर्भव। दीर्घायुर्भूत्वाऽथो त्वं या शतवल्शौषधिर्वर्तते, त्वा तां सेवित्वाऽथ सुखी भव तथा विरोहतात्' इति, तदप्यव्यापारेषु व्यापारमात्रम्, कार्यकारणभावानुपपत्तेः। नहि वीरुधां गुणदोषज्ञो वीरुद् भवति। तेषामोषधीमहं खनिता यस्मै पुरुषाय खनामि तस्मादपि त्वं दीर्घायुर्भवेति सर्वथाऽसम्बद्धं निरर्थकमेव ॥ १०० ॥

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ२ अभिदासति ॥ १०१ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधि, तुम श्रेष्ठ हो। तुम्हारे निकट के शाल, ताल, तमाल आदि वृक्ष तुम्हारे समीप में स्थित होकर, उपद्रवों का निवारण कर छाया आदि के द्वारा सबका उपकार करते हैं। जो हमसे चिरकाल से द्वेष कर रहे हैं, वे हमारे अनुगत हों ॥ १०१ ॥

हे ओषधे, त्वमुत्तमा उत्कृष्टगुणासि। वृक्षा अन्ये साल-तमाल-वटाश्वत्थादयस्तव उपस्तय उप समीपे संहताः सन्त उपासका इव तिष्ठन्ति। अथवा उपस्त्यायन्ति उपकाराय उपद्रवनिरासाय च समीपे संहतास्तिष्ठन्तीत्युपस्तयो वृक्षाः, 'स्त्यै ष्ट्यै शब्दसङ्घातयोः'। किञ्च, यः कश्चिन्नरोऽस्मान् अभिदासति अभिहन्ति, सोऽस्माकमुपस्तिः समीपस्थ उपासको भवतु त्वत्प्रसादात्। 'दासृ दाने' इत्यस्य रूपम्। अत्र 'दोऽवखण्डने' इत्यस्य दासशब्दः, तस्माद् हिंसार्थकता।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधे विरतिरूपे, त्वमुत्तमा संसाररोगस्य ओषधिरसि। तव वृक्षा अन्ये वृक्षा विवेक-

विज्ञानादय उपस्तयः संहतास्तव सेवकाः सन्ति । योऽस्मानभिदासति हिनस्ति स त्वत्प्रसादादस्माकमुपस्तिरुपासको भवतु ।

दयानन्दस्तु—'हे वैद्यजन, योऽस्मानभिदासति, अभीष्टं सुखं ददाति 'दासृ दाने', स त्वमस्माकमुपस्तिः संहतिरस्तु । योत्तमौषधे ओषधिरस्ति, तव यस्य वृक्षा उपस्तयस्तेनौषधिनाऽस्मभ्यं सुखं देहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । हे ओषधे, त्वमुत्तमासीति सरलतयाऽन्वये सम्भवे व्यत्ययेनार्थान्यथात्वसम्पादनस्यायुक्तत्वात् ॥ १०१ ॥

इत्यनारभ्याधीतानां मन्त्राणां व्याख्यानम् ।

मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवꣳसत्यधर्मा व्यानट् ।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १०२ ॥

मन्त्रार्थ—जो प्रजापति पृथ्वी को उत्पन्न करने वाला है, जो सत्य को धारण करने वाला है, द्युलोक की सृष्टि कर चुका है और जो आदिपुरुष जगत् के आह्लादक एवं तृप्तिसाधक जल को उत्पन्न करने वाला है, वह प्रजापति मुझे किसी प्रकार की हानि न पहुँचावे, उस प्रजापति के निमित्त यह आहुति अर्पित है, वह हमारी रक्षा करे ॥ १०२ ॥

'लोगेष्टकाः स्फ्येनाहृत्य बहिर्वेदेरनूकान्तेषूपदधाति तिष्ठन् मा मा हिꣳसीदिति प्रत्यृचं प्रतिदिशं पुरस्तात् प्रथमम्' (का० श्रौ० १७।३।१०) । अध्वर्युस्तिष्ठन् प्रत्यृचं सर्वासु दिक्ष्वनूकान्तेषु पद्याप्रमाणानि स्फ्येन वेदेर्बाह्यत आनीयोपदध्यादिति सूत्रार्थः । मा मा हिꣳसीदित्यादिभिश्चतसृभिर्ऋग्भिः पूर्वादिदिक्क्रमेण प्रादक्षिण्येन लोगेष्टकासंज्ञका लोकरूपा इष्टका उपदध्यात् । तदुक्तं शतपथब्राह्मणे—'अथ लोगेष्टका उपदधाति । इमे वै लोका एषोऽग्निर्दिशो लोगेष्टका एषु तल्लोकेषु दिशो दधाति तस्मादिमा एषु लोकेषु दिशः' (श० ७।३।१।१३) । लोगेष्टकानामुपधानं विधाय प्रशंसति—इमे वै लोका इति । इमे खलु ये पृथिव्यादयस्त्रयो लोका एष एव खल्वग्निरिति । लोकसंस्तुताभिः स्वयमातृण्णाभिर्युक्तत्वाल्लोकत एव सिद्धा लोष्टरूपा इष्टका लोकेष्टकाः । ता एव परोक्षतया लोगेष्टका इत्युच्यन्ते । तैत्तिरीयकेऽपि तथैवाम्नातम् –'दिग्भ्यो लोष्टान् समस्यति, दिशामेव वीर्यमवरुध्य' (तै० सं० ५।२।५।६) इति । लोकसम्बन्धिन्यः प्राच्यादिदिशः, ता लोकेष्टकाः । अतस्तदुपधानेन एष्वेव लोकेषु ता एव दिशः स्थापयति । तस्मात् कारणादिमाः प्राच्यादिदिश एषु लोकेषु दृश्यन्ते ।

'बाह्येनाग्निमाहरति । आप्ता वा अस्य ता दिशो या एषु लोकेष्वथ या इमाँल्लोकान् परेण दिशस्ता अस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ७।३।१।१४) । वेदेर्बाह्यदेशेनेष्टकानामाहरणं विधाय स्तौति—बाह्येनाग्निमिति । अग्नि बाह्येनाग्निक्षेत्राद् बाह्यदेशेन एता इष्टका आहरति । आप्ता वेत्यादि । अस्याग्नेर्यजमानस्य वा ता दिश आप्ताः प्राप्ता या इमा एषु लोकेषु दृश्यन्ते । अथ या दिश इमान् लोकान् परेण एभ्यो लोकेभ्यो बहिर्वर्तन्ते, अस्मिन्नग्नौ, एतदेतेन बाह्यदेशादाहरणेन दधाति धारयति । 'बहिर्वेदेरियं वै वेदिः । आप्ता वा अस्य ता दिशो या अस्यामथ या इमां परेण दिशस्ता अस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ७।३।१।१५) । आहरणस्याग्निक्षेत्रापेक्षया बहिर्देशसम्बन्धो विहितः, वेद्यपेक्षयापि तथात्वं विधत्ते—बहिर्वेदेरिति । अग्नेर्लोकत्रयात्मकत्वात् ततो बहिराहरणं लोकत्रयाद् बहिरवस्थितानां दिशामाप्तिहेतुरित्युक्तम्, इदानीं तु वेदेर्भूमिरूपत्वादस्या बहिरवस्थिता यावत्यो दिशस्तासां प्राप्त्यर्थं वेदिबाह्यदेशादाहरणमित्यभिप्रेतोऽर्थः । अथ या इमां परेणेत्यस्याः पृथिव्याः परेण परस्ताद् बहिरित्यर्थः । 'यद्वेव लोगेष्टका उपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तस्य सर्वा दिशो रसोऽनु-

व्यक्षरत्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेताभिर्लोगेष्टकाभिस्त१७ँ रसमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति' (श० ७।३।१।१६)। प्रकारान्तरेण लोगेष्टकाविधानं स्तौति—यद्वेवेति। विस्रस्तस्य विस्रस्तावयवस्य सर्वाः प्राच्यादिदिशोऽनुलक्ष्य तदीयो रसो व्यक्षरद् विविधमस्रवत्। यत्र यस्मिन् देशे तत् तथाविधं प्रजापतिं देवाः समस्कुर्वन् चित्याग्निरूपेण संस्कृतवन्तः, तत्राग्न्यात्मके प्रजापतौ एताभिर्लोगेष्टकाभिस्तं रसमदधुः स्थापितवन्तः, एवमेवास्मिन्नग्नावयं यजमानोऽप्येतं रसं दधाति धारयति, लोगेष्टकोपधानेनेत्यर्थः।

'बाह्येनाग्निमाहरति। आप्तो वा अस्य स रसो य एषु लोकेष्वथ य इमाँल्लोकान् पराङ् सोऽत्यक्षरत् तमस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ७।३।१।१७)। आहरणस्याग्निबाह्यत्वमनूद्य स्तौति—बाह्येनेति। 'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः' (पा० सू० ५।३।३५) इत्येनप्। अत एव—'एनपा द्वितीया' (पा० सू० २।३।३१) इत्यनेनाग्निमित्यत्र द्वितीया। अग्नेर्बाह्यदेशेनेत्यर्थः। तेन एषु लोकेषु यो रसोऽस्ति, स आप्तो भवति। इमान् पृथिव्यादिलोकान् विहाय पराङ् यः परागतो रसो भवति, तमस्मिन् एतेन दधातीत्यर्थः। 'बहिर्वेदेरियं वै वेदिः। आप्तो वा अस्य स रसो योऽस्यामथ य इमां पराङ् सोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ७।३।१।१८)। बहिर्वेदेरित्येतदप्यनूद्य पृथिवीसकाशाद् बहिर्भूतरसस्थापनहेतुत्वेन स्तौति—बहिर्वेदेरिति। 'स्फ्येनाहरति। वज्रो वै स्फ्यो वीर्यं वै वज्रो वित्तिरियं वीर्येण वै वित्तिं विन्दते' (श० ७।३।१।१९)। इत्थं लोकेष्टकानामाहरणेऽग्नेर्वेदेश्च बाह्यो देशो विहितः। तत्र साधनं विधाय स्तौति—स्फ्येनेति। वज्रो वै स्फ्य इति। त्रेधा भग्नस्य वज्रस्यांशत्वात् स्फ्यस्य वज्रात्मकता। तथा च तैत्तिरीयकम्—'इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्, स त्रेधा व्यभवत्, स्फ्यस्तृतीय१७ँ रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयम्' (तै० सं० ५।२।६।१-२) इति। वृत्रासुरवधहेतुत्वात् स वज्रो वीर्यात्मकः। इयं वेदिलक्षणा भूमिर्वित्तिर्लब्धव्या धनरूपा। तथा च स्फ्येनाहरन् वज्ररूपेण वीर्येणैव वित्तिं लब्धव्यां भूमिं विन्दते लभते।

एवं विस्तरशः श्रुत्यर्थनिरूपणेन सूत्रार्थः स्फुटतरं विज्ञायते। तथाहि—अध्वर्युः स्फ्येन वेदेर्बहिः प्रदेशाद् लोगेष्टकाश्चतुरो मृत्खण्डान् पद्मप्रमाणानानीयात्मनो दक्षिणोत्तरपूर्वापरमध्यसूत्रप्रान्तेषु पूर्वादिषु तिष्ठन् मन्त्रचतुष्टयेनोपदध्यात्। हिरण्यगर्भदृष्टा कदेवत्या त्रिष्टुप्। यः प्रजापतिः पृथिव्या धरित्र्या जनिता जनयिता 'जनिता मन्त्रे' (पा० सू० ६।४।५३) इति णिचो लोपः। यश्च दिवं द्युलोकं व्यानट् व्याप्तवान्। यश्च चन्द्रा आह्लादिका जगत्कारणभूता अपो जलानि प्रथम आदिभूतः सन् जजान जलसृष्टिद्वारा उत्पादितवान्। कीदृशः प्रजापतिः? प्रथमः, शरीरीति शेषः। पुनः कीदृशः? सत्यधर्मा सत्यं धरतीति सत्यस्य धारयिता। स प्रजापतिर्मा हिंसीद् मा वधीद्। मा माम्। यतः कस्मै काय प्रजापतये हविषा विधेम हविर्दद्मः। हविर्दानाद् मा वधीदिति। कशब्दस्य देवतावाचकत्वेन सर्वनामत्वाभावात् 'स्मै' आदेशश्छान्दसः। हविषेत्यत्र विभक्तिव्यत्ययः। विदधातिर्दानार्थः। अत्र 'एकस्मै' इत्यस्य स्थाने छान्दस एकारलोप इति भगवान् शङ्कराचार्यः। तथा च कस्मै एकस्मै प्रधानाय प्रजापतिदेवायेत्यर्थः। 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते॥' इति शिष्टाः। यद्वा यश्चाप आपनीयः प्रथमः शरीरी आपनीयानां कारणभूतानां जननेन मनुष्यान् जनितवान् इति कारणे कार्योपचारः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स पुरस्तादाहरति। मा मा हि१७ँसीज्जनिता यः पृथिव्या इति प्रजापतिर्वै पृथिव्यै जनिता मा मा हि१७ँसीत् प्रजापतिरित्येतद्यो वा दिव१७ँ सत्यधर्मा व्यानडिति यो वा दिव१७ँ सत्यधर्माऽसृजतेत्येतद्⋯कस्मै देवाय हविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेत्येतत्तामाहृत्यान्तरेण परिश्रित आत्मन्नुपदधाति स यः प्राच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधात्यथो प्राचीमेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति' (श० ७।३।१।२०)।

पूर्वस्माद्दिग्भागादाहरणं समन्त्रकं विधत्ते—स पुरस्तादाहरतीति। पुरस्तात् पूर्वस्या दिशः सकाशाल्लोकेष्टकां रूपेण आहरति। 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' (पा० सू० ५।३।२७) इति पञ्चम्यर्थे अस्तातिः। तत्र मन्त्रः—'मा मा हिंसीदिति। यः पृथिव्या जनिता जनयिता स मा मां मा हिंसीद् मा वधिष्ट। य इति सर्वनाम्ना सर्वजगत्कारणत्वेन प्रसिद्धः प्रजापतिरेव प्रतिपाद्यत इत्याह—प्रजापतिर्वा इति। पृथिव्यै इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। जनिता जनयिता। उक्तमर्थं योजयति—मा मा हिंसीत् प्रजापतिरित्येतदिति। द्वितीयपादमनूद्य तत्र व्यानडिति क्रियापदस्यार्थमाह—यो वा दिवमिति। यो दिवं द्युलोकं व्यानट् व्याप्नोत्। व्यापनमत्र सर्जनमेवेत्याह—असृजतेत्येतदिति। चन्द्रा आह्लादिका आपो रेतोरूपाः। अनेन कारणवाचिना शब्देन कार्यभूता मनुष्या एवोच्यन्ते। अत एव छान्दोग्ये समाम्नातम्—'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० उ० ५।९।१) इति। पर्यवसितार्थमाह—मनुष्यान् प्रथम इति। सर्वप्राणिभ्यः पूर्वमुत्पन्नत्वात् प्रजापतिरेव प्रथमः। अत एवाम्नातम्—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' (वा० सं० १३।४) इति। स्मृतं च—'स वै शरीरी प्रथमः' इति। चतुर्थपादमनूद्य 'क' इति शब्दस्यार्थमाह—प्रजापतिर्वै क इति। निरुक्तानिरुक्तरूपेणा-निर्धारितस्वरूपत्वात् किंशब्दः प्रजापतेर्वाचक इत्यर्थः। एवं भूतो यस्तस्मै देवाय। अत्र 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (पा० सू० १।४।३२) इति सूत्रे वार्त्तिकम्—'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति। अर्थात् क्रियया यमभिप्रैति तस्यापि सम्प्रदानसंज्ञा भवतीति वार्त्तिकेण कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। तं देवं विधेम परिचरेम। विदधातिः परिचरणार्थः। एवमाहृताया इष्टकायाः स्थानविशेषे उपधानं विधत्ते—तामाहृत्येति। परिश्रित्संज्ञानामुपहितानां शर्कराणामभ्यन्तरदेशे आत्मनि तामुपदध्यात् स्थापयेत्। तस्य प्रयोजनमाह—स य इति। स यः प्रसिद्धो यो रसो विस्रस्तात् प्रजापतिशरीरात् प्राच्यां दिश्यत्यक्षरद् अतिक्रम्य स्रुतोऽभवत्, एतेनोपधानेन तमेव रसमस्मिन् प्रजापतिरूपेऽग्नौ पुनः स्थापयति। अथो अपि च प्राचीं दिक्सम्बन्धात्तामेव दिशमस्मिन् स्थापितवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—यः पृथिव्या जनयिता यः सत्यधर्मा सत्यधारकः सत्यं धर्मः प्रधानभूतः प्राप्तिसाधनं यस्य सः। यश्च दिवं द्युलोकं व्यानट् व्याप्तवान् ततोऽपि सूक्ष्मा यश्चाह्लादिका अपः प्रथमः सन् सर्वादिः सन् जजान प्रजापतिरूपं तं परमात्मानं हविषा परिचरेम।

दयानन्दस्तु—'यः सत्यधर्मा जगदीश्वरः पृथिव्या जनिता, यो वा दिवं सूर्यादिकमपो वायुं च चन्द्राश्चन्द्रादिलोकान् व्यानट् व्याप्तोऽस्ति, तं यो जजान यस्मै कस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेम स प्रथमो जगदीश्वरो मा मा हिंसीत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुत्या अपश्चन्द्रा इति मनुष्या व्यानड् इत्यसृजतेति च व्याख्यातत्वात्॥ १०२॥

अ॒भ्या॒वर्त॑स्व पृथिवि य॒ज्ञेन॒ पय॑सा स॒ह। व॒पां ते॑ अ॒ग्निरि॑षि॒तो अ॑रोहत्॥ १०३॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि, यज्ञ और उसके फल वृष्टि के साथ तुम हमारे सामने आओ, परितृप्त हुए प्रजापति से प्रेरित अग्नि तुम्हारे पृष्ठ देश में आरोहण करे॥ १०३॥

अग्निदेवत्या उष्णिक्। हे पृथिवि, यज्ञेन यज्ञसाधनभूतेन हविषा, यद्वा अस्मच्चिकीर्षितेन यज्ञेन पयसा यज्ञफलभूतेन दुग्धादिभोगेन च सह अभ्यावर्तस्व आभिमुख्येनागच्छ। कस्मात् कारणात्? इत्यत आह—इषितः प्रजापतिप्रेषितोऽग्निस्ते तव वपां त्वचं पृष्ठं वपासदृशमिमं प्रदेशमरोहद् आरोहतु। अनयर्चा दक्षिणे लोगेष्टकोप-

धानम् । यद्वा इषित इच्छावानग्निः, ते वपां त्वदीयवपासदृशमिमं प्रदेशम् अरोहद् आरोहतु स्वीकरोतु । यद्वा यज्ञेन यागसाधनेन पयसा पयोलक्षणेन रसेन सह अभ्यावर्तस्व । इषितः प्रेरितो दीप्तोऽयमग्निस्ते वपां त्वदीयं तरुगुल्मादिरूपं पृष्ठम् अरोहद् आरोहति, अधितिष्ठतीति यावत् ।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणतः । अभ्यावर्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सहेति यथैव यजुस्तथा बन्धुर्वपान्ते अग्निरिषितो अरोहदिति यद्वै किञ्चास्याᳬ सास्यै वपा तामग्निरिषित उपादीप्तो रोहति तामाहृत्यान्तरेण पक्षसन्धिमात्मन्नुपदधाति स यो दक्षिणायां दिशि रसोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधात्यथो दक्षिणामेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति' (श० ७।३।१।२१) । दक्षिणस्या दिश आहरणं समन्त्रकं विधत्ते—अथ दक्षिणत इति । 'पञ्चम्यास्तसिल्' (पा० सू० ५।३।७) इति पञ्चम्यर्थे तसिल् । आहरतीति शेषः । अथवा पूर्वदिग्विभागाद्यदाहरणं तदनन्तरं दक्षिणस्या दिशः सकाशाल्लोकेष्टकामाहरतीत्यर्थः । 'अभ्यावर्तस्व' इति तन्मन्त्रः । पूर्वार्धं निगदव्याख्यातम् । उत्तरार्धमनूद्य तत्र वपाशब्दार्थमाह—यद्वै किञ्चेति । अस्यां पृथिव्यां यदेव किञ्चिद्वस्तु तरुगुल्मादिकं दृश्यते, सैवास्यै वपा विधेया । यत्किञ्चेति नपुंसकलिङ्गस्य आर्थिको निर्देशः सेति स्त्रीलिङ्गरूपेण विहितः । स च विधेयापेक्षः । एवमेव कविकुलगुरुः कालिदासोऽपि व्याजहार —'शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य' इति । इषितः, प्रेरितः, दीप्तः, उपादीप्त इतिशब्दैरिषितपदार्थ उक्तः । आहृतायास्तस्याः स्थानविशेषे उपधानं विधत्ते—तामाहृत्येति । लोकेष्टकां दक्षिणदिग्विभागाद् बहिर्वेदेराहृत्य पक्षसन्धिमन्तरेण दक्षिणपक्षस्य आत्मभागस्य च यः सन्धिप्रदेशः, तस्याभ्यन्तरे आत्मभागे स्थापयेदित्यर्थः । अनेनापि पूर्ववद् रसस्थापनं दिक्स्थापनं चात्र कृतवान् भवतीत्याह—स यो दक्षिणायामिति ।

अध्यात्मपक्षे—हे पृथिवि सीताविशिष्टे, त्वं यज्ञेन तत्फलेन पयसा रसेन भोगेन च सहास्मानभ्यावर्तस्व । अग्निरिषित इच्छातो राक्षसचमूनाशकोऽग्निरूपो रामचन्द्रस्ते वपां तत्तुल्यां त्वत्त आविर्भूतां सीतां जानकीम् अरोहत् प्राप्नोतु ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, त्वं या पृथिवी भूमिर्यज्ञेन सङ्गमनेन पयसा जलेन च सह वर्तते, तामभ्यावर्तस्वाभिमुख्येनावर्तस्व तस्या उपयोगं कुरु । यस्ते वपां वपनमिषितः प्रेरितोऽग्निररोहद् उत्पादयति, स गुणकर्मस्वभावतः सर्वैर्वेदितव्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'पृथिवि' इति सम्बोधनपदस्य व्यत्यासे मानाभावात् । अभ्यावर्तस्वेत्यस्योपयोगं कुरु, वपामित्यस्य वपनमित्यादिव्याख्यानं निर्मूलम्, वपाशब्दस्याङ्गविशेषे रूढत्वात् । सोऽग्निः सर्वैर्वेदितव्य इत्यपि निर्मूलमेव ॥ १०३ ॥

अग्ने॒ यत्ते॑ शु॒क्रं यच्च॒न्द्रं यत्पू॒तं यच्च॑ य॒ज्ञिय॑म् । तद् दे॒वेभ्यो॑ भरामसि ॥ १०४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम्हारा जो अंग शुक्ल वर्ण का है और दीप्तिमान् है, जो ज्योति चन्द्रमा के समान आह्लाद देने वाली है, जो ज्योति पवित्र है, गृहकार्य के योग्य है, सब प्रकार से श्लाघनीय उस ज्योति को देवकार्य की सिद्धि के लिये हम सम्पादित करते हैं ॥ १०४ ॥

अग्निदेवत्या गायत्री पश्चाल्लोगेष्टकोपधाने विनियुक्ता । हे अग्ने, यत्ते त्वदीयमङ्गं शुक्रं सारं शुक्लं शुद्धं दीप्तिमद्वा, यच्चन्द्रमाह्लादकरं यदन्यत् पूतं पवित्रं यच्चान्यदङ्गं यज्ञियं यज्ञार्हम्, तत्सर्वं श्लाघ्यरूपं देवेभ्यो देवानामर्थे, अथवा देवेभ्यः सकाशाद् भरामसि भरामः सम्पादयामः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पश्चात् । अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियमितीयं वा अग्निरस्यै तदाह तद्देवेभ्यो भरामसीति तदस्मै दैवाय कर्मणे हराम इत्येतत्तामाहृत्यान्तरेण पुच्छसन्धिमात्मन्नुपदधाति स यः

प्रतीच्यां दिशि रसोऽस्त्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधात्यथो प्रतीचीमेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति स न सम्प्रति पश्चादाहरे-न्नेद्यज्ञपथाद्रसमाहराणीनीत इवाहरति' (श० ७।३।१।२२) । प्रतीच्यां दिशि समन्त्रकं लोकेष्टकाया आहरणं विधत्ते—अथ पश्चादिति । अथ अनन्तरं प्रतीच्या दिशः सकाशात् स्फ्येन लोकेष्टकामाहरतीति शेषः । तत्र मन्त्रः—'अग्ने यत्ते' इति । अत्राग्निशब्देन तदधिष्ठिता भूमिरेवाभेदोपचारेणोच्यत इत्याह—इयं वा अग्निरिति । अस्यै पृथिव्यै इति तादर्थ्ये चतुर्थी । पूर्वार्धेन प्रार्थनं पृथिव्यर्थमित्यर्थः । तदस्मै दैवायेति । एतदग्निचयनाख्यं कर्मैवात्र देवशब्दार्थः । चितिरूपावयवभेदापेक्षया बहुवचनमित्यभिप्रायः ।

तथा चायमर्थः—हे पृथिवि, त्वदीयं यत् शुक्रं रसवदङ्गं यच्च चन्द्रम् आह्लादकरं यच्च पूतं शुद्धं यज्ञियं यज्ञार्हं च यदस्ति, तदस्मै अग्न्याख्याय दैवाय कर्मणे आहराम इति । तां चेष्टकामाहृत्यान्तरेण पुच्छात्मसन्धिमिति पक्ष्याकारस्य चित्याग्नेः पुच्छस्यात्मभागस्य च यः सन्धिः, तमन्तरेण तस्य मध्ये आत्मन् आत्मन्युपदधाति । तेन प्रतीचीदिग्गतं रसं तां दिशं च स्थापितवान् भवतीति पूर्ववद् व्याख्येयम् । साक्षात्पश्चादाहरणं निषेधति—स न सम्प्रतीति । स अध्वर्युः सम्प्रति मुख्या या प्रतीची दिक्, तत्सकाशान्नाहरेत् । निषेधाभिप्रायमाह—नेद्यज्ञपथादिति । यज्ञस्य पन्था यज्ञपथः, अग्नेः पाश्चात्यो देशो हविर्द्धानादिः । ततः सकाशान्नैव रसमाहराणीति । यदि खलु तादृग्विधात् साक्षात् पश्चाद्भागादाहरेत्, तर्हि प्रजापतिसम्बन्धिनो विस्रस्तरसस्याहृतत्वात् तत्र करिष्यमाणो यज्ञो नीरसः स्यात् । कथं तर्हि तत्राहरणमित्यत आह—इत इवेति । इतः प्रतीच्या दिश इव न तु साक्षात् प्रतीच्या दिशः, उत्तरापरस्या दिश आहरेदित्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन—'उत्तरापरस्याः पश्चात्' (का० श्रौ० १७।३।११) । अपरस्यां दिश्युपधानार्थं वायव्यकोणा-द्बहिर्वेदेर्लोकेष्टका आनीयोपदध्यादिति तदर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, हे श्रीराम, यत्ते शुक्रं सारं शुक्लं वाङ्गं यच्च चन्द्रं चन्द्रवदाह्लादकं रूपं यच्च पूतं शुद्धं सर्वशुद्धिहेतुत्वाद् यच्च यज्ञियं यज्ञादिभिः समर्हणीयत्वाद् यज्ञियं यज्ञयोग्यं यजनीयं वा, तत्सर्वं श्लाघ्यरूपं देवेभ्यो देवेभ्यो हिताय भरामसि हृदये धारयामः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यत् पावकस्य शुक्रमाशुकरं यच्चन्द्रं हिरण्यवदानन्दप्रदं यच्च पूतं पवित्रं यच्च यज्ञियं यज्ञानुष्ठानार्हं स्वरूपमस्ति, तत्ते देवेभ्यो दिव्यगुणेभ्यो भरामसि भरेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषि मनुष्ये तादृशगुणासम्भवात् । देवशब्दस्य दिव्यगुणार्थत्वमपि चिन्त्यमेव, योनिविशेषस्य देवस्य युक्तिप्रमाणाभ्यां साधितत्वात् ॥ १०४ ॥

इषमूर्जमहमित आदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम् ।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम् ॥ १०५ ॥

मन्त्रार्थ—सत्य की उत्पत्तिके कारण अन्न और उसके उपसेचन दही, दूध, घृत आदि को, महत् इच्छा वाले अग्नि की आहुति को इस प्रदेश में, उदीची दिशा में मैं भक्षण करता हूँ । ये मुझमें प्रवेश करें, मेरे पुत्र आदि के शरीरों में, धेनु आदि पशुओं में प्रवेश करें । अन्न के अभाव में क्लेशदायक व्याधियों का मैं परिहार करता हूँ ॥ १०५ ॥

आशीःप्रायो मन्त्रः । दैवी त्रिष्टुप् । पादत्रयस्योत्तरतो लोकेष्टकोपधाने विनियोगः । इषमन्नम्, ऊर्जं तदुपसेचनं पयोदधिघृतादिकम्, ऋतस्य सत्यस्य योनिं स्थानं विद्यात्रयं महिषस्य महत इच्छावतोऽग्नेर्धारां धारणामाहुतिं वा इतोऽस्मात् प्रदेशादुदीच्या दिशः सकाशादहमादमद्मि भक्षयामि स्वीकरोमि वा । 'अद भक्षणे'

इत्यस्य लङि रूपम्। किञ्च, एतत्सर्वमिडादिकं मामाविशतु आगत्य प्रविशतु। तनूषु मदीयपुत्रादिशरीरेषु गोषु मदीयधेन्वादिपशुषु चाविशतु। 'उत्तरस्याः सिकताः प्रमार्ष्टि जहामि सेदिमिति' (का० श्रौ० १७।३।१२) उत्तरलोकेष्टकातः सिकताः पातयतीति तदर्थः। अनिराम् अविद्यमाना इरा अन्नं यस्यां सा अनिरा अन्नरहिता, ताम्। अमीवां व्याधियुताम्। सेदिमवसादमहं जहामि त्यजामि। अन्नाभावरोगदुःखानि मे मा सन्त्विति। यद्वा अस्मिन् मन्त्रे विशेषणविशेष्यभावाद् यत्तद्भ्यां वाक्यं परिपूर्यते। यद् इषमन्नं यच्च ऊर्जं तदुपसेचनं दध्यादिकं तदहमित उदीच्या दिशः सकाशाद् आदम् आददे गृहीतवान्। यच्च ऋतस्य सत्यस्य योनिं स्थानं तिस्रो विद्या तद् अहमाददे। यच्च महिषस्य महत इच्छावतोऽग्नेर्धारामाहुतिमहमाददे उदीच्या दिशः, एतत् सर्वम् आ मा गोषु विशतु मदीयगोषु मा आविशतु तनूषु मदीयपुत्रपौत्रादिकासु च मा आविशतु। सिकताः प्रध्वंसयत्यग्रेतनेन मन्त्रेण। जहामि परित्यजामि, उदीच्यां दिशि स्थापयामि। सेदिमवसादम्। अनिरामनन्ताम् अमीवां व्याधिम्। इराशब्देन अन्नप्रभवा पृथिवी लक्ष्यते। सा हि सर्वस्य वस्तुजातस्य सीमा। अनिरा सीमारहिता, अनन्तेति यावत्। यद्वा ऋतस्य यज्ञस्य योनिं स्थानम्, महिषस्य महतोऽग्नेर्धारां धारणमिषमन्नमूर्जं रसं च इतोऽस्मात् प्रदेशादहमादं स्वीकरोमि। एतत्सर्वं मामाविशतु पूर्ववदन्यत्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरतः। इषमूर्जमहमित आदमितीषमूर्जमहमित आदद इत्येतदृतस्य योनिमिति सत्यं वा ऋतꣳ सत्यस्य योनिमित्येतन्महिषस्य धारामित्यग्निर्वै महिषः स हीदं जातो महान् सर्वमैष्णादा मा गोषु विशत्वा तनूष्वित्यात्मा वै तनूरा मा गोषु चात्मनि च विशत्वित्येतज्जहामि सेदिमनिराममीवामिति सिकताः प्रध्वꣳसयति तद्यैव सेदिर्याऽनिरा याऽमीवा तामेतस्यां दिशि दधाति तस्मादेतस्यां दिशि प्रजा अशनायुकास्ता-माहृत्यान्तरेण पक्षसन्धिमात्मन्नुपदधाति स य उदीच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधात्यथो उदीचीमेवा-स्मिन्नेतद्दिशं दधाति' (श० ७।३।१।२३)। उत्तरस्या दिश आहरणं विधत्ते—अथोत्तरत इति। आहरतीति शेषः। 'इषमूर्जम्' इत्याहरणमन्त्रः। आदमिति क्रियापदस्यार्थमाह—आदद इत्येतदिति। मनसा यथार्थं सङ्कल्पनमृतम्, यथार्थं भाषणं सत्यम्, अत्र तु ऋतस्य योनिमिति मन्त्रभागे तादृशो भेदो न विवक्षित इत्यभिप्रेत्याह—सत्यं वा ऋतमिति। महिषस्य धारामिति। अग्निर्वै महिषः। कथमग्नेर्महिषशब्दाभिधे-यतेत्याशङ्क्य तन्निर्ब्रूते—स हीदमिति। सः खल्वग्निरिदमिदानीम्, जातो जातमात्र एव, महानतिरिक्तो भूत्वा सर्वं जगद् ऐष्णाद् व्याप्नोत्। अतो महत्त्वादेषितृत्वाच्च महिषशब्दाभिधेयः सम्पन्न इत्यर्थः। 'इष आभीक्ष्ण्ये' इत्यस्माल्लङि रूपमैष्णादिति। तृतीयपादमनूद्य तत्र तनूशब्दस्यार्थमभिधाय योजयति—आ मेति। तथा चायं निर्गलितोऽर्थः—इष्यमाणमन्नमूर्जं बलकरं रसमितोऽस्या उदीच्या दिशः सकाशादहमाददे। किं विशिष्टम्? ऋतस्य सत्यस्य यथार्थफलस्य यज्ञस्य योनिं कारणम्। महिषस्य महतो जातमात्रव्यापकस्याग्नेर्धारां धाराप्रवाहभूतां तद्वत् साधितां धारणामाहुतिं वा अहमादद इति सम्बन्धः। ईदृशी च सा मामुद्दिश्य मदीयासु गोषु तनूषु शरीरेष्वाविशत्विति चतुर्थपादेन सम्बद्ध्यते। तस्यां दिशि सिकतानां प्रध्वंसनं विधत्ते—जहामीति। मन्त्रस्यार्थमाह—तद्यैवेति। तत् तत्र यैव खलु सेदिरवसादापरपर्याया हानिः, या च अनिरा, इरा अन्नम् (निघ० २।७।१३) अन्ननामसु, तदभावरूपा पीडा, या च अमीवा रोगात्मिका पीडा, तामेतस्यामुत्तरस्यां दिश्येतन्मन्त्रकरणकेन सिकताप्रध्वंसनेन जहामि परित्यजामि स्थापयामीति। इरादीनां तत आहृतत्वादिति भावः। एतच्च तत्कार्यदर्शनादवगम्यत इत्याह—तस्मादिति। एतस्यामुत्तरस्यां दिशि प्रजा अशनायुका अशनाया अशनेच्छा क्षुधा, तया पीडिता अशनायुका दृश्यन्ते। तामाहृत्येत्यादि पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—ऋतस्य मोक्षाख्यस्य सत्यफलत्वात् सत्यस्य ब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्य योनिं कारणम् इषमिष्यमाणमुपासनरूपम् अन्नम् ऊर्जं बलकरमहमितोऽस्माद् गुरूपदेशाद् गुरूपदिष्टाद्वेदाद्वा आदम् आददे।

महिषस्य महतो जातमात्रव्यापकस्य च अग्नेर्भगवतो रामचन्द्रस्य धारां धारिकां भक्तिमहमाददे। एतादृशी भक्तिर्मामाविशतु, तनूषु मदीयपुत्रपौत्रादिषु गोषु धेन्वादिषु चाविशतु। मदीयपशुपुत्रादयः सर्वेऽपि भक्तिपरायणा भवन्त्विति भावः। तत्प्रसादादेव हि अनिरामन्नरहितां व्याधियुक्तां सेदिमवसादरूपां जहामि परित्यजामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहमितोऽस्मात् पूर्वोक्ताद् विद्युत्स्वरूपाद् आदम् अत्तुं योग्यम् इषमन्नम् ऊर्जं पराक्रमं महिषस्य महत ऋतस्य सत्यस्य योनिं कारणं धारां धारिकां वाचं प्राप्नुयाम्, यथेयमिडूर्क् मामाविशतु, येन मम गोषु तनूषु प्रविष्टां सेदिं हिंसाम्, अनिराम् अविद्यमाना इरा अन्नभुक्तिर्यस्या ताम्, अमीवां रोगोत्पन्नां पीडां जहामि त्यजामि, तथा यूयमपि कुरुत' इति, तदपि न युक्तम्, श्रुतिविरोधात्। श्रुतौ तु आदमित्यस्य आदद इत्यर्थ उक्तः। महिषस्य महत इत्यपि श्रुतिविरुद्धम्, तया पूर्वोक्तरीत्या अन्यथा व्याख्यातत्वात्। इत इत्यस्य पूर्वोक्तविद्युत्स्वरूपाद् इत्यप्यनर्थः, इतःशब्दस्य पूर्वोक्तार्थत्वाभावात्। न च पूर्वमन्त्रे विद्युत्प्रसङ्गः, त्वया 'अग्ने' इत्यस्य विद्वन् पुरुष इत्यर्थस्योक्तत्वात्। धारामित्यस्य धारिकां वाणीमित्यप्यसङ्गतोऽर्थः, निर्मूलत्वात्। इरेत्यस्य नान्नभुक्तिरर्थः, निर्मूलत्वादेव। अमीवां रोगोत्पन्नां पीडामित्यपि निर्मूलम्, इरामीवशब्दयोर् अन्नरोगयोरेव प्रसिद्धत्वात्॥ १०५॥

अग्ने॒ तव॒ श्रवो॒ वयो॒ महि॑ भ्राजन्ते अ॒र्चयो॑ विभावसो।
बृह॑द्भानो॒ शव॑सा॒ वाज॑मु॒क्थ्यं॒ दधा॑सि दा॒शुषे॑ कवे॥ १०६॥

मन्त्रार्थ—हे कान्तिरूप धन वाले अत्यन्त प्रकाशशील अग्नि देवता, तुम यजमान के अभिप्राय को जानने वाले हो, तुम्हारी यज्ञीय प्रवृत्ति को देवताओं तक पहुँचाने वाला धूम और तुम्हारी कान्ति है। तुम हविर्दाता यजमान के निमित्त बल सहित, शस्त्र आदि से युक्त, यज्ञ के योग्य अन्न को देते हो॥ १०६॥

'अग्ने तवेति सिकता न्युप्य छादयत्यात्मानम्' (का० श्रौ० १७।३।१४)। उत्तरवेदौ सिकताः षड्चेन प्रक्षिप्य ताभिः पुच्छपक्षं विना आत्मानं छादयेदिति सूत्रार्थः। पावकाग्निदृष्टं षड्चमग्निदेवत्यम्। आद्ये द्वे विष्टारपङ्क्ती। यस्या द्वितीयतृतीयपादौ द्वादशाक्षरौ आद्यतुर्यावष्टाक्षरौ सा विष्टारपङ्क्तिः। हे अग्ने, तव श्रवस्त्वदीयत्वेन श्रूयमाणं वयोऽन्नं महि महदस्ति। हे विभावसो, विभा दीप्तिरेव वसु धनं यस्यासौ विभावसुः, तत्सम्बुद्धौ। तव अर्चयो दीप्तयो भ्राजन्ते। हे बृहद्भानो, बृहन्तो भानवो रश्मयो यस्यासौ बृहद्भानुः, तत्सम्बुद्धौ। कविः क्रान्तदर्शी विद्वान् यजमानाभिप्रायज्ञः, तत्सम्बुद्धौ। तादृश हे अग्ने, दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय उक्थ्यं शस्त्राद्युपेतयज्ञयोग्यं वाजमन्नं शवसा त्वदीयेन बलेन दधासि स्वयं ददासीत्यर्थः। वयो, वीयते भक्ष्यते प्राणिभिरिति वयोऽन्नम्, 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु', यद्वा वयो धूमः, तस्याहुतिपरिणामद्वारेणान्नहेतुत्वात्। कीदृशं वयः? श्रवः श्रावयति कृतं कर्म द्युलोक इति श्रवो धूमः। धूमदर्शनादेव देवानां कर्मज्ञानम्। पुनः कथंभूतं तत्? महि महद् नभोव्यापित्वात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरवेदिं निवपति। इयं वै वेदिर्द्यौरुत्तरवेदिर्दिशो लोगेष्टकास्तद्यदन्तरेण वेदिं चोत्तरवेदिं च लोगेष्टका उपदधातीमौ तल्लोकावन्तरेण दिशो दधाति तस्मादिमौ लोकावन्तरेण दिशस्तां युगमात्रीं वा सर्वतः करोति चत्वारिꣳशत्पदां वा यतरथा कामयेताथ सिकता निवपति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।३।१।२७)। चोदकप्राप्तमुत्तरवेदिनिवपनमस्मिन् काले कर्तव्यमिति विधत्ते—अथेति। लोकेष्टकोपधानानन्तर्यमथशब्दार्थः। तदुपपादयति—इयं वा इत्यादिना। इयं भूमिरेव महावेदिः, उत्तरवेदिर्द्युलोकात्मिका,

लोकेष्टकात्मिका दिशः। एवं च वेद्युत्तरवेद्योर्मध्ये लोकेष्टकोपधानं द्यावापृथिव्योर्मध्ये दिशां स्थापनाय भवति। तस्मात् कारणाद् इदानीमनयोर्लोकयोर्मध्ये दिशो लक्ष्यन्त इत्यर्थः। उत्तरवेदेः परिमाणं विधत्ते—तां युगमात्रीमिति। षडशीत्यङ्गुलपरिमितं युगम्। उक्तं ह्यापस्तम्बेन—'अष्टाशीतिशतमीषा तिर्यगक्षश्चतुःशतं षडशीतिर्युगं चास्य' इति। सर्वतः सर्वासु दिक्षु तावन्मात्रामुत्तरवेदिं कुर्यादित्येकं परिमाणम्, 'चत्वारिंशत्पदां वा' इति परिमाणान्तरम्, चत्वारिंशत्पदानि प्रमाणमस्याः सा तथोक्ता। अनयोः प्रमाणयोर्मध्ये यथा कामयेत तथा कुर्यात्। सिकतानिवपनं विधत्ते—अथेति। उत्तरवेदिनिवपनानन्तर्यमथशब्दार्थः। तस्योक्त इति। तस्य सिकतानिवपनस्य स्तावको वाक्यशेषः—'वैश्वानरस्य भस्म' (श० ७।१।१।९) इत्यादिः प्रागाम्नातः। 'ता उत्तरवेदौ निवपति। योनिर्वा उत्तरवेदिर्योनौ तद्रेतः सिञ्चति यद्वै योनौ रेतः सिच्यते तत्प्रजनिष्णु भवति ताभिः सर्वमात्मानं प्रच्छादयति सर्वस्मिंस्तदात्मन् रेतो दधाति तस्मात् सर्वस्मादेवात्मनो रेतः सम्भवति' (श० ७।३।१।२८)। निवपनस्य स्थानविशेषं विधाय स्तौति—ता उत्तरवेदाविति। अग्निवपनक्षेत्रे युगमात्रीत्यादिलक्षणा योत्तरवेदिर्नियुक्ता, तस्यां सिकता निवपति। योनिर्वा उत्तरवेदिरिति। निखिलयागोत्पत्तिकारणाहवनीयस्थानत्वाद् उत्तरवेदिरपि योनिः। तत् तेन उत्तरवेदौ सिकतानां निवपनेन योनावेव रेतः सिक्तं भवतीत्यर्थः। यत् खलु योनौ गर्भाशये रेतः सिच्यते, तत् प्रजनिष्णु प्रजननशीलं भवति। अस्यात्मभागस्य ताभिः प्रच्छादनं विधत्ते—ताभिः सर्वमिति। तत् तेन प्रच्छादनेन सर्वस्मिन्नेव आत्मनि रेतो दधाति स्थापयति। तस्मादेव कारणात् सर्वस्मादेव हस्तपादादिसर्वावयवसहितादात्मनो देहाद् रेतः सम्भवति। अत एव मन्त्रवर्णः—'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे' इति।

'अग्ने तव श्रवो वय इति। धूमो वा अस्य श्रवो वयः स ह्येनममुष्मिंल्लोके श्रावयति महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसविति महतो भ्राजन्तेऽर्चयः प्रभूवसवित्येतद् बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यमिति बलं वै शवो बृहद्भानो बलेनान्नमुक्थ्यमित्येतद्दधाति दाशुषे कव इति यजमानो वै दाश्वान् दधासि यजमानाय कव इत्येतत्' (श० ७।३।१।२९) अस्मिन्निवपने 'अग्ने तव' इति षडृचं सूक्तं करणत्वेन विधत्ते—अग्ने तव श्रवो वय इतीति। तत्र श्रवःपदस्याभिप्रेतार्थमाह—धूमो वा अस्येति। अस्याऽग्नेः श्रवः श्रवणहेतुर्वयः स्वरूपं धूमो वै धूमः खलु। एतदुपपादयति—स ह्येनमिति। एनमग्निम् अमुष्मिन् स्वर्गे लोके स खलु धूमः श्रावयति प्रख्यापयति। आकाशे यज्ञीयं धूमं दृष्ट्वा यागार्थमग्नय आहिता इति द्युलोकवर्तिनो देवा बुध्यन्त इत्यर्थः। अतोऽन्तर्भावितण्यर्थात् शृणोतेः श्रावयत्यनेनेति करणे 'ऋदोरप्' (पा० सू० ३।३।५७) इत्यप्प्रत्यये श्रव इति रूपम्। महि भ्राजन्त इति महत्प्रातिपदिकस्याच्छब्दलोपे महीति सप्तम्यन्तं पदम्। अत्र व्यत्ययेन षष्ठीति व्याचष्टे—महतो भ्राजन्त इति। विभाशब्दस्य तेजोवाचकत्वं प्रसिद्धम्, अत्र तु भूयस्त्वमेव विवक्षितमित्याह—प्रभूवसवित्येतदिति। शवःशब्दस्य बलमर्थः (निघ० २।९।३), वाजशब्दस्य चान्नमर्थं (निघ० २।७।२) इत्याह—बलं वै शव इत्यादिना। दाशुषे इति पदस्यार्थमाह—यजमानो वै दाश्वानिति। तच्चतुर्थ्यां दाशुषे इति। तथा चायमृगर्थः—हे अग्ने, तव सम्बन्धी श्रवो धूम आहुतिपरिणामरूपत्वाद् वयो देवानामन्नम्। हे विभावसो, प्रभूतधनसम्पन्नाग्ने दीप्तिधनाग्ने वा, महि महतस्तव अर्चयः अर्चींषि भ्राजन्ते दीप्यन्ते। किञ्च, हे बृहद्भानो महादीप्ते हे कवे क्रान्तदर्शिन्, शवसा बलेन सहितमुक्थ्यम् उक्थार्हं प्रशस्यं वाजमन्नं दाशुषे आहुतिं दत्तवते यजमानाय दधासि प्रयच्छसि।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, तव श्रवो यशो वयो भक्तानामन्नम्। हे ज्ञानधन महि महतस्तव अर्चयो ज्ञानप्रकाशा भ्राजन्ते दीप्यन्ते। हे महाप्रकाश कवे सर्वज्ञ शवसा बलेन सहित, उक्थार्हं प्रशस्यं वाजं

भक्तानामभीष्टमन्नं स्वस्वरूपं प्रयच्छसि, 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्, अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' (तै० उ० ३।१०।६) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—हे बृहद्भानो, बृहन्तो भानवो विद्याप्रकाशा यस्य तत्सम्बोधने, अग्निवद्विद्याप्रकाशयुक्त विभावसो, यो विविधायां कान्त्यां वसति तत्सम्बुद्धौ। हे कवे बुद्धिमन् विद्वन्, यतस्त्वं शवसा बलेन साकं दाशुषे दातुं योग्याय विद्यार्थिने उक्थ्यं वक्तुं योग्यं वाजं विज्ञानं दधासि धारयसि, तस्मात्त्वाग्नेरिव महि पूजितुं योग्यं श्रवः श्रोतुं योग्यं शब्दं वयो जीवनं अर्चयो दीप्तयो भ्राजन्ते' इति, तदयुक्तम्, पूर्वोक्तश्रुतितद्व्याख्यानविरुद्धत्वात्, गौणार्थाश्रयणाच्च ॥ १०६ ॥

पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे ॥ १०७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, तुम शोधक दीप्ति वाले, निर्मल कान्ति वाले और पूर्ण शक्ति वाले हो। तुम अपनी दीप्ति से उत्कृष्टता को प्राप्त हो तथा चारों ओर विचरण करते हुए देवता और मनुष्य सहित सारे जगत् की रक्षा करते हो। जैसे पुत्र वृद्ध हुए माता-पिता की रक्षा करता है, उसी प्रकार तुम माता-पिता रूप द्यावापृथिवी का धूमपुंज द्वारा, अर्थात् हवि के द्वारा द्युलोक का और जल के द्वारा भूमि का पालन करते हो ॥ १०७ ॥

हे अग्ने, त्वं पावकवर्चाः पावकं शोधकं वर्चो दीप्तिशक्तिर्यस्य सः। शुक्रवर्चाः शुक्रं शुक्लं निर्मलं वर्चो दीप्तिशक्तिर्यस्य सः। अनूनवर्चाः अनूनमहीनं वर्चो यस्य सः पूर्णशक्तिरन्यूनशक्तिर्वा। भानुना दीप्त्या भासा उदियर्षि उत्कर्षं गच्छसि। किञ्च, हे अग्ने, त्वमुभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ विचरन् परिचरन् उप सङ्गम्य अवसि पालयसि सदेवमनुष्यं जगद्रक्षसि, पृणक्षि च तयोः सम्पर्कमपि करोषि। परिचरणे दृष्टान्तः—पुत्रो मातरा यथा, यथा लोके शास्त्रीयमार्गेणानुशिष्टः पुत्रो मातरा मातरौ मातापितरौ परिचरति तद्वत्। यद्वा उभे रोदसी पृणक्षि पूरयसि हविषा द्यां वृष्ट्या भूमिं पूरयसीत्यर्थः। तं त्वां स्तुम इति वाक्यशेषः।

अत्र ब्राह्मणम्—'पावकवर्चाः शुक्रवर्चा इति। पावकवर्चा ह्येष शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुनेत्यनूनवर्चा उद्दीप्यसे भानुनेत्येवत्पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसीति पुत्रो ह्येष मातरा विचरन्नुपावति पृणक्षि रोदसी उभे इतीमे वै द्यावापृथिवी रोदसी ते एष उभे पृणक्ति धूमेनामूं वृष्टयेमाम्' (श० ७।३।१।३०)। द्वितीयामृचं पादशो व्याचष्टे—पावकवर्चा इति। उदियर्षीत्यस्यार्थमाह—उद्दीप्यस इति। अग्नेरुद्गमनं नामोर्ध्वज्वलनम्, अत उद्दीप्यस इत्यर्थे पर्यवस्यति। पृणक्ति संयुक्तं करोति। केन किमिति तत्राह—धूमेनेति। द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानोऽयमग्निर्धूमेनोद्गच्छता अमूं दिवं पृणक्ति, आहुतिद्वारा जनितया वृष्ट्या च इमां पृथिवीं संयोजयति।

तथा चायं मन्त्रार्थः—पावकवर्चाः शोधकदीप्तिः, शुक्रवर्चा निर्मलदीप्तिः, अनूनवर्चा न्यूनतारहिततेजस्कश्च सन् हे अग्ने, त्वं भानुना तेजसा उदियर्षि उद्गच्छसि उद्दीप्यसे। द्यावापृथिव्योर्मध्ये जातत्वात् तयोः पुत्रो भूत्वा मातरा सकलभूतानां निर्मात्र्यौ द्यावापृथिव्यौ विचरन्नुपावसि समीपगतो रक्षसि। यथा लौकिकः पुत्रो मातृसमीपे सञ्चरन् तां रक्षति तद्वत्। रक्षणप्रकारोऽभिधीयते—उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ क्रमाद् धूमेन वृष्ट्या च पृणक्षि संयोजयसि।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन् रामचन्द्र, त्वं पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा इत्यादेः पूर्ववद् व्याख्यानम्। भानुना प्रतापेन उदियर्षि उत्कर्षं प्राप्नोषि, उद्दीप्यसे वा। यथा पुत्रोऽनुशिष्टो मातरौ मातापितरौ विचरन् परिचरन् उप समीपमागत्य अवति रक्षति, तथा उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ विचरन् दण्डकादिषु विचरन् उपावसि मानुषरूपेण समीपमागत्य जगति स्थितः सन् सर्वं जगद्रक्षसि। पृणक्षि उभे पूरयसि यज्ञेनामूं दिवं धनधान्यादिभिरिमां च पूरयसि। सर्वैः काकगृध्रवानरभल्लूकनिषादकोलभिल्लकिरातदेवर्ष्यादिभिश्च सम्पर्कं करोषि।

दयानन्दस्तु—'हे जन, यतस्त्वं यथा पुत्रो ब्रह्मचर्यादिषु विचरन् सन् विद्यामवाप्नोति, यथा भानुना धर्मप्रकाशेन पावकवर्चाः पावकस्य पवित्रीकारिकाया विद्युतो वर्चो दीप्तिरिव वर्चोऽध्ययनं यस्य सः, शुक्रवर्चाः शुक्रस्य सूर्यस्येव वर्चो न्यायाचरणं यस्य सः, अनूनवर्चा न विद्यते ऊनं न्यूनं वर्चो विद्याभ्यासो यस्य स राजा न्यायं करोति, यथा उभे रोदसी सम्बध्नीत, तथा विद्याम् उद् इयर्षि प्राप्नोषि राज्यं पृणक्षि, मातरा मातापितरौ उपावसि रक्षसि, तस्मात् त्वं धार्मिकोऽसि' इति, तदपि तुच्छम्, तादृशसम्बोधने मानाभावात्, यथादिशब्दस्य मूलेऽभावाच्च, न्यायं करोषि धार्मिकोऽसीत्यादीनां मन्त्रबाह्यत्वाच्च ॥ १०७ ॥

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः।
त्वे इषः सन्दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥ १०८ ॥

मन्त्रार्थ—हे जल देवता के पौत्र अग्निदेव, (जल से वृक्ष और वृक्षों के मथन से उत्पन्न होने से यह जल देवता का पौत्र कहलाता है।) हे प्रज्ञावान्, यज्ञीय कर्मों के निमित्त स्थापित हुए तुम श्रेष्ठ स्तुतियों से हृष्ट-पुष्ट बनो। अनेक रूप वाले, बहुत प्रकार की रक्षा करने वाले तुमसे तर्पित श्रेष्ठ जाति और कुल में उत्पन्न हुए यजमानों ने तुममें हविरूप अन्न की आहुति दी है ॥ १०८ ॥

तिस्रः सतोबृहत्यः। यस्या आद्यतृतीयौ द्वादशार्णौ द्वितीयचतुर्थावष्टार्णौ सा सतोबृहती। ऊर्जोऽन्नस्य नपान्न पातयतीत्यविनाशयिता तादृश हे जातवेदो जातप्रज्ञानाग्ने, धीतिभिर्दीप्तिभिर्हितो युक्तः सन् सुशस्तिभिः शोभनाभिः स्तुतिभिर्मन्दस्व हृष्यस्व। भूरिवर्पसः भूरीणि वर्पांसि येषां ते नानारूपा यजमानाः, त्वे त्वयि इषो हविर्लक्षणान्यन्नानि सन्दधुः सम्पादितवन्तः। ईदृशा यजमानाश्चित्रोतयश्चित्रास्त्वया कृता ऊतयो रक्षा येषां ते। वामजाता वामं वननीयं सम्भजनीयं जातं जन्म येषां ते। देशतो जातितः कुलतो वा विशिष्टजनिमन्त इत्यर्थः। उव्वटाचार्यरीत्या तु ऊर्क्शब्देनाप उच्यन्ते, नपाच्छब्देन च पौत्रः। अद्भ्यो वनस्पतयो जायन्ते तेभ्योऽग्निर्जायते, एवमपांनपादग्निरुच्यते। जातवेदो जातप्रज्ञानः सुशस्तिभिः शोभनैः स्तवैः, स्तुत इति शेषः। मन्दस्व दीप्यस्व मोदस्व, हृष्टो भवेति शेषः। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' इति धातुः। धीतिभिः कर्मनिमित्तभूतैर्हितो निहितः स्थापितः। कुतो हर्ष इत्याह—भूरिवर्पस इति। भूरीणि बहूनि वर्पांसि रूपाणि येषां ते जगदात्मत्वेनोपगता बहुरूपा यजमानाः, त्वे त्वयि इषो हविर्लक्षणान्यन्नानि सन्दधुः जुहुवुः। 'वर्प इति रूपनाम' (निघ० ३।७।३)। कीदृशा यजमानाः? चित्रोतश्चित्राणि चायनान्यूतयोऽवनानि तर्पणानि येषां ते, अथवा चित्रा नानाविधा ऊतयोऽवनानि येषां ते चित्रोतयः। त्वया तर्पिता रक्षिता वेत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिरिति। ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुष्टुतिभिरित्येतन्मन्दस्व धीतिभिर्हित इति दीप्यस्व धीतिभिर्हित इत्येतत्त्वे इषः सन्दधुर्भूरिवर्पस इति त्वे इषः सन्दधुर्बहुवर्पस

इत्येतच्चित्रोतयो वामजाता इति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।३।१।३१) । इदं ब्राह्मणं तृतीयामृचं व्याचष्टे । एतद्रीत्या मन्त्रार्थस्तु—हे ऊर्जो नपाद् बलकरस्य अन्नरसस्य न पातयितः, पौत्र वा, सुशस्तिभिः सुष्टुतिभिरस्मत्प्रयुक्ताभिर्हृष्टो भूत्वा हितो निहितस्त्वं धीतिभिः कर्मभिः प्रभाभिर्वा मन्दस्व दीप्यस्व । त्वे त्वयि खलु इष इष्यमाणान्यन्नानि सन्दधुः संहितानि बभूवुः । इषो विशेष्यन्ते—भूरिवर्पस इति । भूरिवर्पसो बहुरूपाश्चित्रोतयो विचित्ररक्षणोपेताः, वामजाताः प्रशस्तजननोपेताः ।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदः, जाता आविर्भूता वेदा यस्मादसौ जातवेदास्तत्सम्बुद्धौ । हे सर्वज्ञ परमेश्वर, ऊर्जोऽन्नस्य रसस्य वा नपाद् अविनाशयितः, सुशस्तिभिः सुष्टुतिभिर्धीतिभिः कान्तिभिश्च हितो भक्तैः स्वहृदये सुनिहितः सुसंस्थापितो मन्दस्व मोदस्व । कुतो मोद इति तत्राह—त्वे त्वयि भक्ता इषोऽन्नानि भक्तिरसाक्तानि विविधनिवेदनीयानि दधुः समर्पितवन्तः । कीदृशा भक्ताः ? भूरिवर्पसो नानारूपा देवर्षिमनुष्यपशुपक्ष्यादयः, चित्रोतयश्चित्राणि त्वत्कृतानि विचित्राण्यूतयोऽवनानि रक्षणानि येषां ते । वामजाता विशिष्टदेशजातिकुलोत्पन्ना इत्यादि पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदस्तनय, नपान्न विद्यते पातो धर्मात्पतनं यस्य सः, यस्मिंस्त्वे त्वयि भूरिवर्पसो बहूनि प्रशंसनीयानि रूपाणि यासु ताः, चित्रोतयश्चित्रा आश्चर्यवद्रक्षणाद्याः क्रिया यासु ताः, वामेषु प्रशस्येषु कुलेषु कर्मसु वा जाताः प्रसिद्धाः, 'वाम इति प्रशस्यनामसु' (निघ० ३।८।९), मात्रादयोऽध्यापिका इषोऽन्नादीनि सन्दधुः । सुशस्तिभिः शोभनाभिः प्रशंसाभिः क्रियाभिः सह धीतिभिः स्वाङ्गुलीभिः, 'धीतय इत्यङ्गुलिनामसु' (निघ० २।५।७), आहूतस्त्वम् ऊर्जो नपाद् ऊर्जः पराक्रमस्य नपाद्धितः सदा मन्दस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जातवेदःपदस्य पुत्रार्थत्वे मानाभावात्, समासार्थस्यान्यपदार्थस्यान्यस्यापि ग्रहणसम्भवे पुत्रपदार्थग्रहणे विनिगमनाविरहात् । तथैव भूरिवर्पसः, चित्रोतयः, वामजाता इत्यादिपदैरध्यापिकादिग्रहणे मूलाभावः, विनिगमनाविरहादेव । श्रुतिविरोधश्च दुस्तरः ॥ १०८ ॥

इ॒र॒ज्यन्न॑ग्ने प्रथयस्व ज॒न्तुभि॑र॒स्मे रायो॑ अमर्त्य ।
स द॑र्श॒तस्य॒ वपु॑षो॒ वि रा॑जसि पृ॒णक्षि॑ सान॒सिं क्रतु॑म् ॥ १०९ ॥

मन्त्रार्थ—हे मरणधर्मरहित अग्निदेवता, हवि देने वाले प्राणियों के द्वारा प्रदीप्त हुए तुम हमारे निकट अनेक प्रकार के धन और ऐश्वर्य का विस्तार करो । तुम दर्शनीय चित्याग्नि रूप शरीर के मध्य में विशेष रूप से प्रदीप्त होते हो, सभी प्राणियों के चिरन्तन संकल्प को पूर्ण करते हो ॥ १०९ ॥

हे अमर्त्य अमरणधर्मन्नग्ने, अस्मे अस्मासु रायो धनानि त्वं प्रथयस्व विस्तारय । कीदृशस्त्वम् ? जन्तुभिः पुरोडाशादिहविःप्रदैः प्राणिभिरध्वर्य्वादिभिरिरज्यन् दीप्यमानः । किञ्च, एवंभूतस्त्वं दर्शतस्य दर्शनीयस्य वपुषश्चित्याग्निरूपस्य शरीरस्य मध्ये विराजसि विशेषेण दीप्यसे । यद्वा विभक्तिव्यत्ययेन दर्शतेन दर्शनीयेन वपुषा ज्वालालक्षणेन शरीरेण विराजसि सानसिं चिरन्तनं क्रतुं सङ्कल्पं पृणक्षि, सर्वेष्टं ददासीत्यर्थः । यद्वा हे अग्ने, जन्तुभिः प्रशस्तजननैर्मनुष्यैर्ऋत्विग्भिः, इरज्यन् दीप्यमानः, प्रथयस्व विस्तीर्णो भव । स्वार्थिको णिच् । हे अमर्त्य मरणरहिताग्ने, त्वत्प्रसाद् अस्मे अस्माकं रायो धनानि सन्तु । ब्राह्मणे तु अस्मे रयिं दधद् इत्यर्थतो व्याख्यातम् । तथाविधः स त्वं दर्शतस्य दर्शनीयस्य वपुषो ज्वालारूपशरीरस्य शोभया अतिशयेन विराजसि विशेषेण दीप्यसे, तथा सानसिं सनातनं नित्यफलविषयं क्रतुं यजमानसङ्कल्पं पृणक्षि फलेन संयोजयसि ।

तथा च ब्राह्मणम्—'इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरिति । मनुष्या वै जन्तवो दीप्यमानोऽग्ने प्रथस्व मनुष्यै-रित्येतदस्मे रायो अमर्त्येत्यस्मे रयिं दधदमर्त्येत्येतत् स दर्शतस्य वपुषो विराजसीति दर्शतस्य ह्येष वपुषो विराजति पृणक्षि सानसिं क्रतुमिति पृणक्षि सनातनं क्रतुमित्येतत्' (श० ७।३।१।३२) । चतुर्थीमृचमनूद्य व्याचष्टे—मनुष्या वै जन्तव इति । जायन्ते पुरुषार्थोपयोगित्वेनोत्पद्यन्त इति जन्तवो मनुष्याः, न तु कृमिकीटपतङ्गादयः । इरज्यतिः कण्ड्वादिर्दीप्तिकर्मा । राय इत्यस्यार्थमाह—रयिं दधदिति । सानसिशब्दः सनातनपर्याय इति श्रुत्यैवोक्तम्—सनातनं क्रतुमिति । ब्राह्मणानुसारी अर्थस्तूक्त एव ।

अध्यात्मपक्षे—हे अमर्त्य अग्ने परमेश्वर, अस्मे अस्मासु रायः श्रियः प्रथयस्व । जन्तुभिः प्राणिभिर्मनुष्य-देवगन्धर्ववानरगृध्रादिभिश्च इरज्यन् स्तुत्यादिभिर्दीप्यमानः स त्वं दर्शतस्य दर्शनीयस्य वपुषः श्रीरामादि-शरीरस्य शोभातिशयेन विराजसि । तादृशेन चिदानन्दमयेन शरीरेण वा विराजसि विशेषेण दीप्यसे । सानसिं चिरन्तनं क्रतुं सङ्कल्पं जन्मजन्मान्तरैर्भावितं त्वत्प्राप्तिसम्बन्धिनं सङ्कल्पं पृणक्षि पूरयसि । पृणक्षीति दानकर्मसु (निघ० ३।२०।६) ।

दयानन्दस्तु—'हे अमर्त्याग्ने, य इरज्यन् ऐश्वर्यं कुर्वन् । 'इरज्यतीति ऐश्वर्यकर्मसु पठितः' (निघ० २।२१।१)। त्वं दर्शतस्य द्रष्टुं योग्यस्य वपुषो रूपस्य 'वपुरिति रूपनामसु' (निघ० ३।७।४) । सानसिं सनातनीं क्रतुं प्रज्ञां पृणक्षि सम्बध्नासि तत्रैव विराजसि, सोऽस्मे अस्मभ्यं जन्तुभिर्मनुष्यादिप्राणिभी रायः श्रियः प्रथयस्व विस्तारय' इति, तदपि न सङ्गतम्, द्रष्टुं योग्यस्य रूपस्य सनातनीं प्रज्ञां बध्नासीत्यस्य निरर्थकत्वात् । नहि देवानां सनातनी प्रज्ञा सम्भवति तस्या अनित्यत्वात् । रूपे च कथं तस्य सम्बन्धः ? विषयत्वेन आश्रयत्वेन वा ? नाद्यः, अवैशेष्यात् । नान्त्यः, अनुपपत्तेः । तत्रैव विराजसीत्यपि न, पुरुषस्य तदाधारत्वायोगात् । अन्यदपि व्याख्यानं तादृगेव ॥ १०९ ॥

इ॒ष्क॒र्तार॑मध्व॒रस्य॒ प्रचे॑तसं॒ क्षय॑न्त॒ꣳ राध॑सो म॒हः ।
रा॒तिं वा॒मस्य॑ सु॒भगां॑ म॒हीमिषं॒ दधा॑सि सान॒सिꣳ र॒यिम् ॥ ११० ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ की रचना करने वाले और श्रेष्ठ चित्त वाले हे अग्निदेव, तुम यज्ञ स्थान में निवास करने वाले यजमान के निमित्त श्रेष्ठ धन-सम्पत्ति और श्रेष्ठ ऐश्वर्ययुक्त धनधान्य रूपी चिरन्तन धन प्रदान करो, क्योंकि तुम्हीं इन सबके स्वामी हो ॥ ११० ॥

हे अग्ने, अध्वरस्य यज्ञस्य इष्कर्तारं निष्पादकम् । 'निस्' उपसर्गस्य नकारस्य 'निशब्दो बहुलम्' (वाज-सनेयिप्रातिशाख्य ३।१८) इति नकारलोपः । प्रचेतसं प्रकृष्टचित्तयुक्तं क्षयन्तं विशिष्टस्थाने निवसन्तम्, 'क्षि निवासगत्योः' । यजमानं प्रति वामस्य वननीयस्य महो महतो राधसो धनस्य रातिं दानं त्वं दधासि ददासि । किञ्च, सुभगां सुष्ठु भजनीयां महीं महतीमिषमन्नं च ददासि । सानसिं पुराणं रयिं धनम् अस्मर्यमाणविषयं निधानलक्षणं च दधासि निधिं दर्शयसीत्यर्थः । उव्वटाचार्यरीत्या—राधसो मह इति सप्तम्यर्थे षष्ठ्यौ । राधसि महति स्तुमः । महाधननिमित्तं प्रार्थयामह इति यावत्, अथवा धननिमित्तं महत्त्वनिमित्तं वा, केशेषु चमरीं हन्तीतिवत् । स त्वं रातिं दानं दधासि । कस्य सम्बन्धिनीम् ? वामस्य वननीयस्य दातुः सम्बन्धिनीम् । कथंभूताम् ? सुभगाम् । भगशब्दो धनवचनः । महीमिषं महतीं वृष्टिमन्नं वा दधासि । सानसिं पुराणं रयिम् अस्मर्यमाणविषयं निधानलक्षणं दधासि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसमिति । अध्वरो वै यज्ञः प्रकल्पयितारं यज्ञस्य प्रचेतसमित्येतत् क्षयन्तꣳ राधसो मह इति क्षयन्तꣳ राधसि महतीत्येतद्राति वामस्य सुभगां महीमिषमिति राति वामस्य सुभगां महतीमिषमित्येतद्दधासि सानसिꣳ रयिमिति दधासि सनातनꣳ रयिमित्येतत्' (श० ७।३।१।३३) । पञ्चमीमृचं व्याचष्टे—इष्कर्तारमिति । 'निष्कर्तारमध्वरस्य' (तै० सं० ४।२।७।३) इति तित्तिरिणाम्नातम् । उपसर्गादिनकारलोपश्छान्दसः । इष्कर्तारं निश्चयेन निःशेषेण वा अध्वरस्य यज्ञस्य कर्तारं यज्ञस्य प्रकल्पयितारम् । द्वितीयपादे राधसो मह इति षष्ठयन्तयोः सप्तम्यर्थतामाह—राधसि महतीति । तृतीयपादे महीतिशब्दस्य महती-शब्दपर्यायतामाह—महतीमिषमिति । तदयं निर्गलितोऽर्थः—इष्कर्तारं यज्ञस्य निःशेषेण कर्तारम्, अत एव प्रचेतसं प्रकृष्टज्ञानवन्तम् । 'राध इति धननाम' (निघ० २।१०।१७) महति प्रभूते राधसि धने धनविषये क्षयन्तम्, 'क्षयतिरैश्वर्यकर्मा' (निघ० २।२१।३) । ईश्वरत्वेन सन्तम्, ममेति शेषः । तादृशं मां यजमानं प्रति हे अग्ने, सुभगां सुष्ठु भजनीयां महीं महतीम् इषमन्नं सानसिं चिरन्तनं गवाश्वादिपशुरूपं च दधासि ।

अध्यात्मपक्षे—हे पूर्वोक्त अग्ने, अध्वरस्य अश्वमेधादेरिष्कर्तारं निष्कर्तारं प्रचेतसं प्रकृष्टप्रज्ञावन्तं सर्वज्ञं महति राधसि धने क्षयन्तम् ईश्वरत्वेन सन्तं यस्त्वं वामस्य वननीयस्य अभीष्टफलस्य रातिं दानं सुभगां सुष्ठु भजनीयां महीं सानसिं पुराणं रयिं धनं दधासि ददासि तं त्वा पूर्वोक्तं रामचन्द्रं परमेश्वरं स्तुम इति शेषः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वमध्वरस्याहिंसनीयस्य वर्धितुं योग्यस्य यज्ञस्य इष्कर्तारं निष्कर्तारं प्रचेतसं प्रकृष्टप्रज्ञम्, 'चेत इति प्रज्ञानामसु' (निघ० ३।९।३) । वामस्य प्रशस्यस्य महो महतो राधसो धनस्य रातिं दातारं क्षयन्तं निवसन्तं सुभगां शोभनैश्वर्यप्रदां महीं पृथिवीम् इषमन्नादिकं सानसिं पुराणं रयिं च दधासि, तस्मादस्माभिः पूज्योऽसि' इति, तदेतदसाम्प्रतम्, तस्मादित्यादेर्मन्त्रबाह्यत्वात् । न च यस्तादृशं धनं धारयति स पूजनीयो भवति, रागप्राप्ते कर्मणि प्रवृत्तेः स्वाभाविकत्वेनाचोदनीयत्वात् । यज्ञोऽपि त्वद्रीत्या वायुशुद्धि-साधनत्वेन लौकिक एव ॥ ११० ॥

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निꣳ सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ।
श्रुत्कर्णꣳ सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ॥ १११ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, बुद्धिमान् मनुष्यों ने पूर्णमासी, अमावस्या आदि पर्वों में वेदवाणी द्वारा सत्यस्वरूप, महान् गुण शाली, संसार के दर्शनीय, कर्णों से प्रार्थना सुनने वाले, अतिकीर्तिमान्, देवताओं के हितकारी तुमको यज्ञ के निमित्त पूर्व भाग में स्थापित किया है ॥ १११ ॥

उपरिष्टाज्ज्योतिः । यस्यास्त्रयः पादा द्वादशाक्षराश्चतुर्थोऽष्टाक्षरः सोपरिष्टाज्ज्योतिः । मानुषा मनुष्याः, जना जन्तवो मनुष्यजातियुक्ता जन्तव ऋत्विग्यजमानाः । पुरः पूर्वस्मिन् काले युगा गिरा योग्यया स्तुतिरूपया वाचा विभक्तेराकारः, सुम्नाय सुखार्थम् । 'सुम्नमिति सुखनामसु' (निघ० ३।६।१६) । अग्निमत्र दधिरे स्थापितवन्तः । कीदृशमग्निम् ? ऋतावानं सत्यवन्तं यज्ञवन्तं वा । पुनः कीदृशम् ? महिषं महान्तम् । पुनः कीदृशम् ? विश्वदर्शतं सर्वतो दर्शनीयम् । पुनः कीदृशम् ? श्रुत्कर्णम्, शृण्वत्कर्णम् । यद्विज्ञाप्यते तत्सत्यमेव कर्णाभ्यां श्रुत्वा सम्पादयतीत्यर्थः । पुनः कीदृशम् ? सप्रथस्तमम्, प्रथनं प्रथः कीर्तिः, 'प्रथ प्रख्याने' भौवादिकादस्मात् 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१८८) । इत्यसुन्प्रत्ययः, प्रथसा सह वर्तमानः सप्रथाः, अतिशयेन सप्रथाः सप्रथस्तमस्तम्, अतिकीर्तिमन्तम् । पुनः कीदृशम् ? दैव्यम्, देवेभ्यो हितम् ।

दधिरे स्थापितवन्त इति सम्बन्धः। यद्वा युगा युगैः कालैर्दर्शपौर्णमासादिनिमित्तैः। गिरा वेदवाचा कृत्वा सुम्नाय सुखाय सुखप्राप्तिहेतवे यज्ञाय त्वामग्निं पुरोऽग्रतः पूर्वभागे आहवनीयरूपेण दधिरे स्थापितवन्तः। कीदृशमग्निम्? ऋतावानम्, ऋतमस्यास्तीति ऋतावान् तं सत्यवन्तम्, छान्दसो दीर्घः। 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ वंश्च मतुप् च' (पा० सू० ५।२।१०९-३) इत्यस्त्यर्थे वन्प्रत्ययः। श्रुत्कर्णं शृणोत्याह्वानं श्रुत्वा चानुतिष्ठति यः स श्रुत्कर्णः। यद्वा शृणुत इति श्रुतौ, क्विप्। श्रुतौ कर्णौ यस्य तम्। यद्विज्ञाप्यते भक्तैस्तत्सत्यमेव कर्णाभ्यां श्रुत्वा सम्पादयतीत्यर्थः। महिषं महान्तम्। महति आद्रियते सर्वानिति महिषः, 'अविमह्योष्टिषच्' (उ० १।४६) इति 'मह पूजायाम्' इत्यस्मात् टिषच्प्रत्ययः, तम्। विश्वदर्शतं विश्वस्य दर्शनीयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'ऋतावानमिति। सत्यावानमित्येतन्महिषमित्यग्निर्वै महिषो विश्वदर्शतमिति विश्वदर्शतो ह्येषोऽग्निᳪ सुम्नाय दधिरे पुरो जना इति यज्ञो वै सुम्नं यज्ञाय वा एतं पुरो दधते श्रुत्कर्णᳪ सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगेत्याशृण्वन्तᳪ सप्रथस्तमं त्वा गिरा देवं मनुष्या हवामह इत्येतत्' (श० ७।३।१।३४)। षष्ठीमृचमनूद्य पादशो व्याचष्टे—ऋतावानमिति। यद्यपि ऋतसत्ययोर्मानसवाचिकयथार्थसङ्कल्पनतद्भाषणरूपत्वाद् भेदोऽस्ति, तथाप्यत्र तादृशो भेदो न विवक्षित इत्याह—सत्यावानमेतदिति। अग्निर्वै महिष इति, 'सहीदं जातो महान् सर्वमैष्णात्' (श० ७।३।१।२१) इति तन्नामनिर्वचनस्य प्रागाम्नातत्वात्। यज्ञो वै सुम्नमिति। यद्यपि सुम्नशब्दः सुखवाची (निघ० ३।६।१६), तथाप्यत्र प्रकरणात् तत्साधनं यज्ञ एव तस्यार्थः। श्रुत्कर्णपदं व्याचष्टे—आशृण्वन्तमिति। श्रवणशीलकर्णोपेतम्, आ समन्तात् शृण्वन्तमिति यावत्। 'गिरा' इति विशिष्टसाधनश्रवणाद् योग्यक्रियाध्याहारेण वाक्यं पूरयति—मनुष्या हवामह इत्येतदिति। तदयमृचो निर्गलितोऽर्थः—सत्यवन्तं महान्तं सर्वेषां दर्शनीयम् एवंभूतमग्निम् ऋत्विग्यजमानलक्षणा जनाः सुम्नाय सुखसाधनाय यज्ञाय पुरो दधिरे पुरस्कुर्वन्ति। वयमपि श्रुत्कर्णम् अभिमतफलप्रार्थनं सम्यक् शृण्वन्तं सप्रथस्तमम् अतिशयकीर्तिमन्तं दैव्यं देवं देवहितं वा त्वां गिरा स्तुतिरूपया वाचा हवामहे आह्वयामः। आह्वानकर्तारो विशेष्यन्ते—मानुषेति। मानुषाणि मनोः सम्बन्धीनि युगा युगानि युगलानि भूत्वा, जायापत्यात्मना युगलभूता मनुष्या इत्यभिप्राय इति शतपथे सायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—मानुषाः सम्बन्धिनो मानुषाः अग्निम् अग्रगामिनं परमात्मानं रामचन्द्रं पुरो दधिरे पुरस्कुर्वन्ति। कीदृशमग्निम्? ऋतावानं सत्यवन्तं सत्यव्रतं सत्यव्रतप्राप्यं महिषं महान्तं सन्तं सर्वलोकव्यापकं विश्वदर्शतं सर्वैर्दर्शनीयम्। यं सुम्नाय परमार्थसुखाय जनाः पुरो दधिरे हे अग्ने भगवन् श्रुत्कर्ण भक्तकृतप्रार्थनां श्रुत्वा चानुतिष्ठति यस्तं सप्रथस्तमम् अतिशयकीर्तिमन्तं त्वां गिरा वेदलक्षणया दिव्यया वाचा दैव्यं देवेभ्यो हितं त्वां प्रसादयाम इति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, यथा जना गिरा वाचा सुम्नाय सुखाय दैव्यं देवेषु विद्वत्सु कुशलं श्रुत्कर्णं श्रुतौ श्रवणसाधकौ कर्णौ यस्य बहुश्रुतस्य तं विश्वदर्शतं सर्वविद्याबोधस्य द्रष्टारं सप्रथस्तमं प्रथसा विस्तरेण सह वर्तमानः सप्रथाः, तमतिशयितम् ऋतावानम् ऋतं सत्यं बहु विद्यते यस्मिंस्तं महिषमग्निं महान्तं विद्वांसं मानुषा विद्याविज्ञानेन प्रादुर्भूता मनुष्या युगा युगानि वर्षाणि कृतादीनि वा पुरो दधिरे, तथैव विद्वांसमेतानि च त्वं धेहीति त्वां शिक्षयामि' इति, तत्तुच्छम्, तादृशसम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, विश्वपदस्य सर्वविद्याबोधार्थत्वे मानाभावात्। जना इत्यस्यापि विद्याविज्ञानेन प्रादुर्भूता मनुष्या इत्यपि स्वाभ्यूहमात्रम्, निर्मूलत्वात्। पूर्वोक्तश्रुतिव्याख्याविरुद्धं चैतद् व्याख्यानम्॥ १११॥

आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् । भवा वाजस्य सङ्गथे ॥ ११२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, सब ओर से सब प्राणियों की उत्पत्ति करने वाला तेज तुमको प्राप्त हो । तुम अपने वीर्य से सब प्रकार से परिवर्धित होकर यज्ञ आदि सत्कार्य के उपयोगी अन्न की प्राप्ति के निमित्त हमारे निकट आओ ॥ ११२ ॥

'आप्यायस्वेति सिकतालम्भनमृग्भ्याम्' (का० श्रौ० १७।३।१५)। आत्मनि विस्तारिताः सिकताः स्पृशति ऋग्द्वयेनेति सूत्रार्थः । गोतमदृष्टाः सोमदेवत्यास्तिस्र ऋचो गायत्रीत्रिष्टुबुष्णिक्छन्दस्काः । एतासु तृतीयस्या विनियोगः सूत्रे नास्ति । हे सोम, त्वम् आप्यायस्व सर्वतो वर्धस्व । विश्वतः सर्वस्माद् वृष्ण्यं वीर्यं सर्वोत्पत्तिकृद्बीजं ते तव समेतु समागच्छतु । तेन च वीर्येण आप्यायस्व सर्वतो वर्धस्व । ते तव वृष्ण्यं वीर्यं विश्वतः सर्वस्मात् समेतु सम्प्राप्नोतु । किञ्च, वाजस्य अन्नस्य सङ्गथे सङ्गमननिमित्तं भव, अन्नमस्मासु सङ्गमयेत्यर्थः । यद्वा हे सोम, आप्यायस्व अस्मानभिवर्धय । विश्वतः सर्वतो वृष्ण्यं वीर्यं ते समेतु त्वामागच्छतु । ततस्त्वं सर्वभूतोत्पत्तिना वृष्ण्येन वीर्येण युक्तो भवेत्यर्थः । वाजस्य अन्नस्य सङ्गथे सङ्गमने निमित्तं भव, अन्नभावं प्राप्नुहि अन्नं वा प्राप्नुहि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'ता एता यजुष्मत्य इष्टकाः । ता आत्मन्नेवोपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मन् ह्येव यजुष्मत्य इष्टका उपधीयन्ते न पक्षपुच्छेषु न सादयति नेद्रेतः प्रजातिꣳ स्थापयानीति' (श० ७।३।१।४४)। लोकेष्टकावत् सिकतानामप्यात्मभाग एवोपधानं विधत्ते—ता एता इति । सिकतानामपीष्टकात्वाद् इतरेष्टकास्विव प्रसक्तं सादनं निषेधति—न सादयतीति । 'तया देवतया' इति मन्त्रेण स्थापनं सादनम्, तन्न कर्तव्यम् । निषेधकारणमाह—नेद् रेत इति । प्रजातिं प्रजोत्पत्तिकारणं रेतः शुक्रं नैव क्वचिदपि स्थापयानीत्यभिप्रायेणेत्यर्थः । सादने हि तत् क्वचिदेकत्रैव प्रतिष्ठितं स्यात्, न तु चलितं सद् गर्भाशये प्रविशेत् । 'अथैना आप्यानवतीभ्यामभिमृशति । इदमेवैतद्रेतः सिक्तमाप्याययति तस्माद्योनौ रेतः सिक्तमाप्यायते सौमीभ्यां प्राणो वै सोमः प्राणं तद्रेतसि दधाति तस्माद्रेतः सिक्तं प्राणमभिसम्भवति पूयेद्ध यदृते प्राणात् सम्भवेदेषो हैवात्र सूददोहाः प्राणो वै सोमः प्राणः सूददोहाः' (श० ७।३।१।४५) । समन्त्रकमेतासामभिमर्शनं विधत्ते—अथैना इति । आप्यानवतीभ्याम् आप्यायनक्रियावतीभ्याम्, 'आप्यायस्व, सं ते' (वा० सं० १२।११२-११३) इति ऋग्भ्यामित्यर्थः । इदमेवैतत् सिकतात्मकं सिक्तं रेत आप्याययति धातुयुक्तमन्त्रकरणकाभिमर्शनेन आप्याययति प्रवर्धयति । यत एवं तस्मात् स्त्रीणां योनौ पुरुषैः सिक्तं रेत आप्यायते शरीराकारेण परिणतं सद्वर्धते । मन्त्रसम्बन्धिदेवताद्वारेण प्रशंसति—सौमीभ्यामिति । सोमोऽनयोर्देवतेति ताभ्यामृग्भ्यामभिमृशतीत्यर्थः । प्राणो वै सोम इति । प्राणस्य तावदुदकमयत्वं प्रसिद्धम्, 'आपोमयः प्राणः' (छा० उ० ६।५।४) इति श्रुतेः । सोमोऽप्यमृतमयरसात्मकतया प्राणोपादानत्वात् प्राण एव । तत् तेन सौमीभ्यामभिमर्शनेन सिकतात्मके सिक्ते रेतसि सोमात्मकं प्राणमेव स्थापयति । यत्तु प्राणादृते रेतः सिच्यते, तत् पूयेद् ह, न शरीराकारता तस्य सम्पद्येतेत्यर्थः । अस्याभिमर्शनस्य सूददोहसाधिवदनकार्यकरत्वात् तदात्मकतामाह—एषो हैवात्रेति । यत् सौमीभ्यामभिमर्शनमेषैवात्र सिकतोपधाने सूददोहाः । 'ता अस्य सूददोहसः' इति मन्त्रकरणकमधिवदनम् । कथमन्यस्यान्यात्मतेत्यत आह—प्राणो वा इति । अभिमर्शनमन्त्रप्रतिपाद्यस्य सोमस्य सूददोहसश्च प्राणात्मकत्वसाम्यादित्यर्थः । 'आप्यायस्व समेतु ते । विश्वतः सोम वृष्ण्यमिति रेतो वै वृष्ण्यमाप्यायस्व समेतु ते सर्वतः सोम रेत इत्येतद् भवा वाजस्य सङ्गथ इत्यन्नं वै वाजो भवान्नस्य सङ्गथ इत्येतत् सं ते पयाꣳसि समु यन्तु वाजा इति रसो वै पयोऽन्नं वाजाः' (श० ७।३।१।४६)। प्रथमामृचमनूद्याप्रसिद्धार्थं पदं व्याचष्टे—आप्यायस्वेति । वृषा सेचनसमर्थो युवा, तत्र भवं वृष्ण्यमिति व्युत्पत्तेर्वृष्ण्यशब्देन रेतः

प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थं योजयति—सर्वतः सोम रेत इत्येतदिति। अन्नं वै वाज इति। वाजशब्दस्य 'वज व्रज गतौ' इत्यस्माद् व्युत्पन्नस्य गत्यर्थत्वादत्र च तत्प्रतिपादकत्वायोगाद् रूढ्या वाजशब्देनान्न-मुच्यते। अत एव वाजशब्दोऽन्ननामसु पठ्यते—'अन्धः। वाजः। पयः' (निघ० २।७।१-३)। तथा च हे सोम, त्वमाप्यायस्व वर्धस्व, अस्मान् वा वर्धय। त्वदीयं वृष्णस्त्वत्सम्बन्धि रेत इममग्निं विश्वतः सर्वतः समेतु प्राप्नोतु। अन्नस्य सङ्गमनाय त्वमस्माकं भवेति मन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वमाप्यायस्व आत्मानमस्मांश्च वर्धयस्व। विश्वतः सर्वतो वृष्ण्यं वीर्यं समेतु त्वयि समागच्छतु, सर्वाश्रयत्वात्। तेन वीर्येण आप्यायस्व सर्वं वर्धयस्व। किञ्च, वाजस्यान्नस्य सङ्गथे सङ्गमननिमित्तं भव, सर्वकारणत्वात् सर्वपोषकत्वाच्च।

दयानन्दस्तु—'हे सोम कान्तियुक्तराजपुरुष, तादृशस्य विदुषः सङ्गात् ते वृष्ण्यं वृष्णो वीर्यवतः कर्म विश्वतः सर्वतः समेतु सङ्गच्छताम्। तेन त्वमाप्यायस्व वर्धस्व। वाजस्य विज्ञानवेगाभ्यां संग्रामस्य वेत्ता सन् सङ्गथे युद्धे विजयी भव' इति, तदपि सारशून्यम्, निर्मूलकल्पनाजालप्रायत्वात्। सोमकान्तियुक्तराजपुरुषबोध-कत्वं सोमशब्दस्य गौणार्थाश्रयणमेव। अन्वयाद्यनुपपत्तेस्तदयुक्तमेव। नह्यत्र कश्चन तादृशो विद्वान् प्रसक्तो न च तत्सङ्गादेव वृष्ण्यसङ्गमो दृश्यते, न वा संग्रामवेदनेनैव जयो लभ्यते, शस्त्रास्त्रादिबलप्रयोगसाध्यत्वाद् विजयस्येति ॥ ११२ ॥

सं ते पयाᳬंसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवाᳬंस्युत्तमानि धिष्व ॥ ११३ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, पीने योग्य यह रस तुम्हारे सम्पर्क से पापनाशक शक्ति को प्राप्त करे, यजमान को अन्न की संगति प्राप्त हो, वीर्य तुमको प्राप्त हो। दूध, अन्न और वीर्य से वृद्धि को प्राप्त होते हुए तुम अमरण धर्म को प्राप्त कराने वाले हो और द्युलोक में श्रेष्ठ आहुति के परिणामस्वरूप अन्न को धारण करने वाले हो ॥ ११३ ॥

हे सोम, तव पयांसि पातव्यानि क्षीरादीनि संयन्तु सम्प्राप्तानि भवन्तु। उतापि च वाजा अन्नान्यपि संयन्तु। वृष्ण्यानि रेतांस्यपि संयन्तु। कीदृशस्य तव ? अभिमातिषाहः अभिमाति पाप्मानं सहते तिरस्करोतीत्यभिमातिषाट्, तस्य। षत्वं छान्दसम्। हे सोम, क्षीरादिसम्पत्तौ सत्यां स्वयं पयोऽन्नवृष्ण्यैराप्यायमानो वर्धमानोऽमृताय यजमानस्यामृतत्वाय देवभावाय भवेति शेषः। तथा प्रजात्यै यजमानस्य पुत्रादिवृद्ध्यै यजमानस्य भव। अमृतशब्देन श्रुत्या प्रजातिर्व्याख्याता। तथा च श्रुतिः—'प्रजात्यां तदमृतं दधाति तस्मात् प्रजातिरमृतेति' (श० ७।३।१।४६)। एवं चामृतायामरणधर्मिण्यै प्रजात्यै पुत्रादिवृद्ध्यै यजमानस्य भवेति। दिवि द्युलोके उत्तमानि उत्कृष्टानि श्रवांस्यन्नानि आहुतिपरिणामजनितानि धिष्व धारय सम्पादय। 'धि धारणे' इति तौदादिकस्य रूपम्। विकरणव्यत्यय आत्मनेपदं च छान्दसम्। धत्स्वेत्यर्थे 'सुधितवसुधितनेमधितधिष्वधिषीय च' (पा० सू० ७।४।४५) इति निपातनं वा।

अत्र ब्राह्मणम्—'सं ते रसाः समु यन्त्वन्नानीत्येतत् सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाह इति सᳬरेताᳬसि पाप्मसह इत्येतदाप्यायमानो अमृताय सोमेति प्रजात्यां तदमृतं दधाति तस्मात् प्रजातिरमृता दिवि श्रवाᳬ-स्युत्तमानि धिष्वेति चन्द्रमा वा अस्य दिवि श्रव उत्तमᳬ स ह्येनममुष्मिँल्लोके श्रावयति द्वाभ्यामाप्याययति गायत्र्या च त्रिष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।३।१।४६)। द्वितीयामाप्यानवतीमनूद्याप्रसिद्धार्थानि पदानि

व्याचष्टे—सं ते पयांसीति। अत्र पयःशब्दो रसपरः, वाजशब्दोऽन्नपरः। अभिमातिशब्देन पाप्मोच्यत इत्याह—पाप्मसह इत्येतदिति। तृतीयपादेऽमृतशब्दस्याभिप्रायमाह—प्रजात्यामिति। पुत्रपौत्रादिरूपेण यैव प्रजातिलक्षणा प्रजोत्पत्तिरूपा क्रिया सा अमृता। आप्यायमान इत्यनेन मन्त्रभागेन तस्यां प्रजात्याममृतत्वं स्थापयति। यस्मादेवं तस्मात् प्रजातिः प्रजोत्पत्तिः, अमृता मरणरहिता अविच्छिन्ना सार्वकालिकी वर्तत इत्यर्थः। चतुर्थपादे श्रवःशब्दस्यार्थमाह—चन्द्रमा वा अस्य दिवि श्रव इति। अस्य अधियज्ञं लतारूपेण वर्तमानस्य सोमस्य दिवि द्युलोके उत्तमम् उत्कृष्टं श्रवो नाम चन्द्रमा एवोच्यते। अस्य श्रवःशब्दाभिधेयतां प्रतिपादयति—स ह्येनमिति। अमुष्मिन् स्वर्गे लोके स खलु चन्द्रमा एनं सोमममृतात्मना पीयमानः सन् श्रावयति प्रख्यापयति, अतः श्रावयितृत्वात् श्रवःशब्देन स उच्यत इत्यर्थः। मन्त्रगतं द्वित्वं छन्दोविशेषं चानूद्य तस्य स्तावको वाक्यशेषः प्रागाम्नात इत्याह—द्वाभ्यामिति। तथा च हे सोम, पयोऽन्नवृष्ण्यैराप्यायमानः सन् अमृताय अमरणधर्मिण्यै प्रजात्यै पुत्रादिवृद्धयेऽविच्छित्तये वा यजमानस्य भव। दिवि उत्तमानि उत्कृष्टानि श्रवांसि अन्नानि आहुतिपरिणामजनितानि धिष्व धारय। लोकद्वयसंयोगं सम्पादयेति निर्गलितार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे तथाविध सोम, पयांसि पातव्या रसाः, ते तव संयन्तु सङ्गच्छन्ताम्। तथैव वाजा अन्नानि वृष्ण्यानि वीर्याणि च संयन्तु। अभिमातिषाहः स्वरूपेणैव पाप्मतिरस्कर्तुस्तव प्रसादात् पयोन्नवृद्धया आप्यायमानस्त्वं साधकस्य अमृताय अमृतत्वाय मोक्षपदप्राप्तये भव। ततो दिवि द्युलोके स्वप्रकाशे परमात्मनि श्रवांसि भगयशोरूपाण्यन्नानि धिष्व धारय।

अत्र दयानन्दः—'हे सोम, यस्मै ते पयांसि संयन्तु अभिमातिषाहो येऽभिमानयुक्तान् शत्रून् सहन्ते निवारयन्ति वाजा धनुर्वेदबोधजा वेगाः समुयन्तु वृष्ण्यानि वीर्याणि संयन्तु, स आप्यायमानस्त्वं दिवि द्योतनात्मके परमेश्वरे अमृताय मोक्षसुखाय उत्तमानि श्रवांस्यन्नानि धत्स्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यरूपाय सोमाय नह्याशीर्वादमात्रेण संयन्ति, न वा अभिमानिशत्रुनिवारणसमर्था वीरा धनुर्वेदबोधजा वेगाश्च आशीर्वादमात्रलभ्याः। तस्मान्निरर्थकप्रलापमात्रमेतत् ॥ ११३ ॥

आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरꣳशुभिः।
भवा नः सप्रथस्तमः सखा वृधे ॥ ११४ ॥

मन्त्रार्थ—अतिशय तृप्त अन्तःकरण वाले हे सोमदेव, अत्यन्त विख्यात कीर्ति वाले तुम सम्पूर्ण सूक्ष्म अंशों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करो और हमारी वृद्धि के निमित्त सहायक बनो ॥ ११४ ॥

हे मदिन्तम, मदयति तर्पयतीति मदी, 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) इति ग्रह्यादित्वाण्णिनिः, यद्वा मदस्तृप्तिरस्यास्तीति मदी, 'अत इनिठनौ' (पा० सू० ५।२।११५) इतीन्, अतिशयेन मदी मदिन्तमः। 'नाद् घस्य' (पा० सू० ८।२।१७) इति नान्तात् परस्य तमपो नुडागमः। ईदृश हे सोम, त्वमात्मानमाप्यायस्व वर्धस्व। ततो विश्वेभिर्विश्वैः सर्वैरंशुभिः सूक्ष्मांशैः सखा सखिभूतः सन्नोऽस्माकं वृधे वर्धनाय सखा सहायो भव। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः। कीदृशस्त्वम्? सप्रथस्तमः, अतिशयसत्कीर्तिः।

अध्यात्मपक्षे—हे मदिन्तम तर्पयितृतम सोम साम्बसदाशिव, त्वमस्मान् आप्यायस्व वर्धयस्व। कैः साधनैरित्याशङ्क्याह—विश्वेभिः सर्वैरंशुभिर्ज्ञानरूपै रश्मिभिः। एवंभूत हे सोम, स त्वं नोऽस्माकं वृधे वर्धनाय सखा सहायो भूत्वा सप्रथस्तमो भव निरवच्छिन्नपरब्रह्मरूपेण आविर्भूतस्वरूपो भव।

दयानन्दस्तु—'हे मदिन्तम सोम, त्वमंशुभिः किरणैः सूर्य इव विश्वेभिः साधनैराप्यायस्व। सप्रथस्तमः सखा मित्रः सन् नो वृधे वर्धनाय भव' इति. तदपि यत्किञ्चित्, जीवस्य कस्यचिदपि तादृशानन्दासम्भवात्। किञ्च, नात्राल्पज्ञ उपदेष्टा, तथा सति वेदे पौरुषेयत्वापत्तिः। न वा सर्वज्ञः, तथा सति नो वृधे भवेति प्रार्थनायोगात्। सुहृद्वाचकस्य मित्रशब्दस्य नित्यनपुंसकत्वं स्वीकुर्वाणोऽप्यत्र 'मित्रः' इति प्रयुङ्क्ते। तदस्य बुद्धिवैशद्यम् ॥ ११४ ॥

आ ते॑ व॒त्सो मनो॑ यमत् पर॒माच्चि॑त् स॒धस्था॑त्। अग्ने॒ त्वां का॑मया गि॒रा ॥ ११५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम्हारा वत्सस्वरूप यजमान तुम्हारी स्तुति करने को इच्छा वाली वेदवाणी के द्वारा उत्कृष्ट द्युलोक से तुम्हारे मन को अपनी तरफ आकृष्ट करता है ॥ ११५ ॥

'श्वेतेऽश्वे पुरस्तात्तिष्ठति श्वेताभावेऽश्वेतेऽश्वाभावेऽनडुहि, अग्निभ्यः प्रह्रियमाणेभ्योऽनुवाचयति' (का० श्रौ० १७।३।१९-२०)। प्राच्यां दिशि श्वेतेऽश्वे तदभावेऽश्वेतेऽश्वे तदभावेऽनडुहि तिष्ठति सत्यग्निभ्यः प्रह्रियमाणेभ्योऽनुब्रूहीति प्रेषितो होता आ ते वत्स इति तृचमनुवक्तीति सूत्रार्थः। अयमभिप्रायः—क्वचित् पाकस्थे घृते कुशाग्राणि न्यज्य तैराज्याक्तैः कुशाग्रैश्चर्मस्था इष्टकाः प्रोक्षेत्। इष्टकाचर्मणः प्राच्यां दिशि श्वेतेऽश्वेते वा अश्वे, तदभावेऽनडुहि तिष्ठति सत्यग्निभ्यः प्रह्रियमाणेभ्योऽनुब्रूहीति वाचयेत्। इदं चानुवाचनम्—'उत्तरवेदिप्रोक्षणाद्यासम्भारनिवपनात् कृत्वा' (का० श्रौ० १७।३।२६) इति वक्ष्यमाणत्वादत्र पूर्वमाज्यं संस्कृत्य पञ्चगृहीतं गृहीत्वा आज्यप्रोक्षणीरुद्यम्य इष्टकाश्चोद्यम्य कुर्यात्। अग्निदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्यः। आद्या वत्सारदृष्टा, द्वितीया विरूपदृष्टा, तृतीया तु प्रजापतिदृष्टैव। हे अग्ने, ते तव वत्सः प्रियभूतो यजमानस्त्वां कामया त्वां स्तोतुं काम्यया अनया गिरा वाचा परमाच्चित् सधस्थादुत्कृष्टादपि स्थानाद् मनः अन्तःकरणम् आ यमत् समन्तात् नियच्छति। यद्वा हे अग्ने, आयमद् गृहीतवान् ते तव वत्सः, पयोजीवनसामान्याद् यजमानो वत्सः, स हि पयोव्रतो भवति। पयोव्रतत्वाद् वत्ससमस्त्वत्प्रियः। परमाद् उत्कृष्टात्। चिच्छब्दोऽप्यर्थः। उत्कृष्टादपि सधस्थात् सह तिष्ठति यस्मिंस्तत् सधस्थं द्युलोकम् 'सधमादस्थयोश्छन्दसि' (६।३।९६) इति सहस्य सधादेशः। द्युलोके देवैः सह अग्निस्तिष्ठतीत्यर्थः। उत्कृष्टादपि द्युलोकाद् मन आहृत्येति शेषः। आ यमद् आयच्छति, मनोनिग्रहं करोतीत्यर्थः। 'इषुगमियमां छः' (पा० सू० ७।३।७७) इति छत्वाभावः, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपश्च छान्दसौ। केन कारणेन मन आयमति तत्राह—त्वाङ्कामया त्वां स्तोतुं कामयमानया गिरा वाचा। यद्वा त्वां कामयते स्तोतुमिच्छतीति त्वाङ्कामस्तया, अलुक्समासश्छान्दसः।

तत्र ब्राह्मणम्—'तद्धैकेऽन्वाहुः। पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं न तथा कुर्यादाग्नेयीरेव गायत्रीः कामवतीरनुब्रूयादा ते वत्सो मनो यमत्तुभ्यं ता अङ्गिरस्तमाग्निः प्रियेषु धामस्विति' (श० ७।३।२।८)। तत्र होत्राऽनुवक्तव्यामृचमेकीयमतेनोपन्यस्य व्याचष्टे—तद्धैक इति। तत् तत्र एके केचन ऋक्शाखाध्यायिनः 'पुरीष्यासो अग्नयः' (ऋ० सं० ३।२२।४) इत्येतामृचं होत्रानुवक्तव्यामाहुः। पुरीषशब्दस्य पशुपर्यायत्वात् पुरीष्यास इत्यस्य पशव्यास इति व्याख्यानम्। पशुभ्यो हिता इत्यर्थः। प्रावणेभिरिति पदस्यार्थमाह—प्रायणरूपमिति। प्रायणस्य प्रगमनकर्मप्रवृत्तेः प्रावणेभिरिति प्रशब्दोपेतं पदं सूचकम्। एतदेकीयमतं प्रतिषिध्य स्वमतमाह—न तथा कुर्यादिति। आग्नेयीरग्निदेवताकाः, कामवतीः कामशब्दोपेताः, गायत्रीर् गायत्रीच्छन्दस्का एव ऋचो ब्रूयात्। का पुनस्ता इत्याह—आ ते वत्स इत्यादिना।

'आग्नेयीरन्वाह । अग्निरूपाणामुपाप्त्यै कामवती: कामानामुपाप्त्यै गायत्रीर्गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतोभूतꣳ सिञ्चति तिस्रस्त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतोभूतꣳ सिञ्चति ताः सप्त सम्पद्यन्ते सह त्रिरनूक्ताभ्याꣳ सप्तचितिकोऽग्निः सप्तर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद् भवत्युपाꣳश्वन्वाह रेतो वा अत्र यज्ञ उपाꣳशु वै रेतः सिच्यते पश्चादनुब्रुवन्नन्वेति छन्दोभिरेवैतद्यज्ञं पश्चादभिरक्षन्नेति' (श० ७।३।२।९)। आग्नेयीत्यादिधर्मानिवयुत्यानूद्य स्तौति—आग्नेयीरन्वाहेति । देवतारूपेणाग्निना तत्सम्बन्धिनां सर्वेषां रूपाणामुपाप्तिर्भवतीत्यर्थः। तथा तासामृचां कामशब्दोपेतत्वात् सर्वकामोपाप्तिरपि भवति । रेतोभूतं सिञ्चतीति । अस्यामवस्थायां रेतःसंस्तुतानां सिकतानां निवपनाद् रेतोरूपापन्नः खल्वयं चित्योऽग्निस्तादृशं सिञ्चति, अङ्गप्रत्यङ्गयुक्तं संस्करोतीत्यर्थः। ऋचां त्रित्वमनूद्य स्तौति— तिस्र इति । ताः सप्तेत्यादि । तास्तिस्र ऋचः सप्तसंख्याकाः सम्पद्यन्ते । सम्पत्तिप्रकारमाह— सहेति । त्रिः त्रिवारम् अनूक्ताभ्याम् आद्योत्तमाभ्यां सह सप्तसंख्या सम्पद्यत इत्यर्थः। सप्तर्तवः संवत्सर इति । वसन्ताद्याः षट संसर्पांहस्पतिलक्षणः सप्तम ऋतुः। अनुवचने उपांशुस्वरं विधाय स्तौति—उपाꣳश्वन्वाहेति । यथा पार्श्वस्था जना न शृणुयुस्तथाऽनुब्रूयादित्यर्थः। रेतःसेचनस्योपांशुत्वं परैरज्ञायमानत्वेन कर्तव्यत्वं लोके प्रसिद्धम् । तस्मादनुवचनमुपांशु कर्तव्यमित्यर्थः। अनुवचनसमये होतुरनुगमनं विधत्ते—अनुब्रुवन्नेतीति । अनुवचनं कुर्वन् होता स्वयमपीष्टका अन्वेत्यनुगच्छति । सर्वेषां छन्दसां गायत्र्यामन्तर्भावात् तदन्तर्भूतैश्छन्दोभिरेवैतदेतेनानुगमनेन यज्ञं पृष्ठतोऽभिरक्षन् अभितः सर्वतो रक्षःप्रभृतिभ्यो गोपायन् एति ।

'अथाश्वꣳ शबलं पुरस्तान्नयन्ति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति त एतं वज्रमपश्यन्नमुमेवादित्यमसौ वा आदित्य एषोऽश्वस्त एतेन वज्रेण पुरस्ताद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रे स्वस्ति समाश्नुवत तथैवैतद्यजमान एतेन वज्रेण पुरस्ताद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रे स्वस्ति समश्नुवत आगच्छन्त्यग्निं दक्षिणतः पुच्छस्य चितिमुपनिदधत्युत्तरतोऽश्वमाक्रमयन्ति' (श० ७।३।२।१०)। इष्टकाहरणसमये श्वेताश्वस्य पुरतो नयनं विधत्ते—अथाश्वमिति । अश्वस्य आदित्यरूपवज्रात्मकत्वं कथयंस्तस्य पुरस्तान्नयनं यज्ञविघातकरक्षोनिबर्हणहेतुत्वेन स्तौति—एतद्वा इत्यादिना । असौ वा आदित्य एषोऽश्व इति । विराड्रूपस्य प्रजापतेश्चन्द्रसूर्यौ हि चक्षुषी, अश्वश्च तदीयाच्चक्षुष उत्पन्नः। तथा च श्रूयते—'प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्तत्परापतत्ततोऽश्वः समभवत्' (श० १३।३।१।१)। तथा तैत्तिरीयेऽपि—'अमुमादित्यमश्वं श्वेतं भूतं दक्षिणामनयन्' (तै० ब्रा० १।६।८)। आगच्छन्त्यग्निं दक्षिणत इति । अश्वप्रमुखास्ते ऋत्विग्यजमाना इष्टकाभिः सहाग्निसमीपमागच्छेयुः, आगत्य चाग्निचितिक्षेत्रे पुच्छस्य दक्षिणभागे चर्मणा हृतां चितिमुपनिदधति, चित्यर्थमानीता इष्टकाः स्थापयन्तीत्यर्थः। तस्याग्निपुच्छस्योत्तरभागे तमश्वमाक्रमयन्ति । आक्रमणानन्तरं पुनस्तमश्वमग्नेरुत्तरार्धेनाग्निक्षेत्रस्योत्तरभागे परिश्रिदाख्याः शर्करा अन्तरेण परिश्रितामग्नेश्च मध्यप्रदेशे प्राङ्मुखं नयन्ति । तेन प्राचीदिक्सम्बन्धिनं पाप्मानमादित्यात्मकाश्वलक्षणेन वज्रेणापहन्ति । पुनस्तमश्वं पूर्वस्यां दिश्यग्नेः परिश्रितां च मध्ये दक्षिणा दक्षिणतो निहितमुखमित्यर्थः। तं प्रत्यञ्चमित्यादावेवमेव योज्यम् । एवं चतसृषु दिक्ष्वाक्रमणेन सर्वाभ्य एव दिग्भ्यो रक्षांसि विनाश्यानन्तरमेनमश्वं प्रागुदङ्मुखं विमुञ्चति । 'तं प्रत्यञ्चं यन्तम् । एतां चितिमवघ्रापयत्यसौ वा आदित्य एषोऽश्वः·····' (श० ७।३।२।१२)। तस्याश्वस्य प्रत्यङ्मुखनयनसमये चितेरवघ्रापणं विधत्ते—तं प्रत्यञ्चमिति । यथा सोऽश्वश्चितिमवजिघ्रति, तथा तं प्रेरयेदित्यर्थः। तदेतदिष्टकानामादित्येऽवघ्रापणं प्रजासु प्राणप्रतिष्ठापनहेतुत्वेन स्तौति—असौ वा आदित्य एषोऽश्व इति ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, ते तव वत्सो वत्सवत् प्रिय उपासकः परमाच्चित् सधस्थाद् उत्कृष्टादपि द्युलोकाद् गिरा वेदवाचा, मन आहृत्येति शेषः। आयमद् आयच्छति गृह्णाति । त्वत्कृपया दुष्करमपि चित्त-

निग्रहं सम्पादयतीत्यर्थः। कीदृश्या वाचा ? त्वाङ्कामया त्वां कामयते स्तोतुमिच्छति या सा त्वाङ्कामा, तया त्वत्स्तुतिप्रवणया इति यावत्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, त्वाङ्कामया यया त्वां कामयते तया गिरा वाचा यस्य ते मनः परमादुत्कृष्टात् चिद् अपि सधस्थात् समानस्थानाद् वत्सो गोरिव अयमत् उपरमेत, स त्वं मुक्तिं कथं नाप्नुयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'विद्वन्' इति सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च ॥ ११५ ॥

तुभ्यं ता अङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक्। अग्ने कामाय येमिरे ॥ ११६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अतिहविर्भक्षक अग्निदेवता, सम्पूर्ण प्रसिद्ध स्वर्ग आदि सुन्दर स्थानों को देने वाली ये अनेक प्रकार की स्तुतियाँ हमारी अभिलाषा को पूर्ण करने वाले तुम्हारे निमित्त हमने की हैं ॥ ११६ ॥

हे अङ्गिरस्तम, अन्यते जीव्यते येन तद् अन् अन्नम्, अन् गिरति स्वात्मसात् करोतीत्यङ्गिराः, अतिशयेन अङ्गिरा अङ्गिरस्तमः, तत्सम्बुद्धौ, हे अग्ने ! तुभ्यं यजमानैः कृता याः पृथग् नानाभूता विश्वाः सर्वाः सुक्षितयः सुष्ठु शोभना क्षितिर्निवासो यासां ताः स्थानकरणानुप्रदानवत्यो देवता याथात्म्यचिन्तनगर्भाः। अथवा सुष्ठु क्षितिर्याभ्यस्ताः स्वर्गादिशुभस्थानप्रदाः स्तुतयः कामाय अभिलाषपूरणार्थं तुभ्यं त्वयि येमिरे नियम्यन्ते, यजमानैरिति शेषः। कर्मणि लिट्। यजमाना इह कामनापूर्त्यै द्युलोकावाप्त्यै च मन्त्रैस्त्वामेव स्तुवन्तीति भावः ॥ ११६ ॥

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति ॥ ११७ ॥

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां द्वादशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—उत्पन्न और उत्पद्यमान यजमानों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले, सम्यक् प्रकार से विराजमान अग्नि देवता अपने प्रिय स्थानों में बिना किसी की सहायता के सम्राट् के समान विराजमान रहते हैं ॥ ११७ ॥

१२वाँ अध्याय समाप्त।

अग्निर्भूतस्य उत्पन्नस्य भव्यस्य भविष्यतश्च जनस्य कामः कामपूरकः। कथम्भूतोऽग्निः ? सम्राट्, सम्यग् राजत इति सम्राट्। पुनः कथंभूतः ? कामः, काम्यत इष्यते सर्वैर्यष्टुमिति कामः। अथवा भूतस्य भव्यस्य च सम्राड् ईश्वरः। प्रियेष्वभिरुचितेषु धामसु स्थानेषु, एकः सहायनिरपेक्षः सन् विराजति विशेषेण दीप्यते।

अध्यात्मपक्षे—योऽग्निः परमेश्वरो रामचन्द्रो भूतस्य भव्यस्य तदुपलक्षितस्य सर्वस्यैव सम्राट परमेश्वरः, कामः काम्यते सर्वैरपि परप्रेमास्पदतयेति कामः। प्रियेष्वभिरुचितेषु धामसु स्थानेषु, एकोऽसहायो विराजति देदीप्यते, अन्यनिरपेक्ष एव सर्वकामपूरको भगवान् रामचन्द्र इति यावत्।

दयानन्दस्तु—'यो मनुष्यः पावक इव वर्तमानः सम्राट् सम्यक् प्रकाशकः, एकोऽद्वितीयः सभेशः परमेश्वर इव भूतस्य भव्यस्य आगामिसमयस्य प्रियेष्विष्टेषु धामसु जन्मस्थाननामसु विराजति, स एव राज्येऽभिषेचनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, अध्याहारस्यापि निर्मूलत्वात् ॥ ११७ ॥

इति वेदार्थपारिजाते द्वादशोध्यायः।

—:०:—

त्रयोदशोऽध्यायः

मयिं गृह्णाम्यग्रें अग्निꣳ रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वायं सुवीर्याय। मामु देवताः सचन्ताम् ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—मैं यजमान सबसे पहले धन की पुष्टि के लिये, श्रेष्ठ पुत्र आदि की प्राप्ति के लिये तथा उत्तम सामर्थ्य की प्राप्ति के लिये अग्निदेव को अपनी आत्मा में धारण करता हूँ। देवगण मेरी सहायता करें ॥ १ ॥

तत्र द्वादशेऽध्याये उखाधारणगार्हपत्यचयनक्षेत्रकर्षणौषधवपनादिमन्त्रा उक्ताः। अधुना त्रयोदशेऽध्याये पुष्करपर्णाद्युपधानमन्त्रा उच्यन्ते। 'उत्तरवेदिप्रोक्षणाद्या सम्भारनिवपनात् कृत्वोत्तरवेदिमपरेण तिष्ठन् यजमानो मयि गृह्णामीति जपति' (का० श्रौ० १७।३।२६)। 'उत्तरवेदिं प्रोक्षतीन्द्र घोषस्त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० ५।४।१०) इत्यारभ्य 'अग्नेः पुरीषमिति निवपति' (का० श्रौ० ५।४।१५) इत्येतदन्तं कृत्वा उत्तरवेदेः पश्चात्तिष्ठन् यजमानो मयि गृह्णामीति जपति। अग्निदेवत्या ककुप्। यस्या मध्यपादो द्वादशकः, आद्यतृतीयावष्टकौ सा ककुप्। अत्र मध्यश्चतुर्दशस्तेन द्व्यधिका। अहं यजमानः, अग्रे प्रथमम्, मयीति अहमित्यर्थे, मयि आत्मनि, अग्निं गृह्णामि धारयामि, ततोऽग्निं चिनोमीति शेषः। किमर्थमग्निचयनमिति चेत्—रायस्पोषाय रायो धनस्य पोषाय पुष्ट्यर्थम्। पुनः किमर्थम्? सुप्रजास्त्वाय सुष्ठु शोभनाः प्रजा यस्यासौ सुप्रजाः, तस्य भावः सुप्रजास्त्वम्, दीर्घश्छान्दसः, तस्मै। शोभनपुत्रादिनिष्पत्त्यै इत्यर्थः। सुवीर्याय सुष्ठु शोभनं वीर्यं सुवीर्यम्, तस्मै। शोभनशक्तय इति यावत्। उकारोऽप्यर्थे। किञ्च, देवता उ अपि मां सचन्तां सेवन्ताम्। उकार एवार्थको वा। देवता मामेव सचन्ताम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'आत्मन्नग्निं गृह्णीते चेष्यन्। आत्मनो वा एतमधि जनयति यादृशाद्वै जायते तादृङ्ङेव भवति स यदात्मन्नगृहीत्वाग्निं चिनुयाद् मनुष्यादेव मनुष्यं जनयेन्मर्त्यान्मर्त्यमनपहतपाप्मनोऽनपहतपाप्मानमथ यदात्मन्नग्निं गृहीत्वा चिनोति तदग्नेरेवाध्यग्निं जनयत्यमृतादमृतमपहतपाप्मनोऽपहतपाप्मानम्' (श० ७।४।१।१)। अग्निग्रहणसत्यसामगानपुष्करपर्णोपधानानि पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे संग्रहेण विहितानि। तथाग्निग्रहणं प्रपञ्चयति—आत्मन्नग्निमित्यादिना। चेष्यन् चयनं करिष्यन्नध्वर्युः। आत्मनोऽधि, अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी, आत्मनः सकाशात् खल्वध्वर्युः, एतं चित्याग्निं जनयति। इयं खलु लोकस्थितिः। यादृशाद् मनुष्यादिशरीराद् गर्भो जायते स तादृङ् निष्पद्यते। सति ह्यात्मन्नग्निग्रहणेऽध्वर्युरग्न्यात्मको भवति। तस्मादध्वर्योर्जायमानश्चित्याग्निरपि साक्षादग्निरूपो भवति। शिष्टं स्पष्टमेव। 'स गृह्णाति। मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निमिति तदात्मन्नेवाग्रेऽग्निं गृह्णीते रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्यायेति तदु सर्वा आशिष आत्मन् गृह्णीते मामु देवताः सचन्तामिति तदु सर्वान् देवानात्मन् गृह्णीते तद्यत्किञ्चनात्मनोऽधि जनयिष्यन् भवति तत्सर्वमात्मन् गृह्णीते स वै तिष्ठन्नात्मन्नग्निं गृहीत्वाऽनूपविश्य चिनोति पशुरेष यदग्निस्तस्मात् पशुभिस्तिष्ठन् गर्भं धित्वाऽनूपविश्य जायते' (श० ७।४।१।२)। समन्त्रकमग्निग्रहणं विधत्ते—स गृह्णातीति। मयि गृह्णामीति ग्रहणमन्त्रः। तत्र मयीत्यस्मच्छब्दश्रवणादात्मन्यग्नेर्ग्रहणं निगदसिद्धमित्याह—तदात्मन्नेवेति। रायस्पोषो धनसमृद्धिः। सुप्रजास्त्वं शोभनपुत्रपौत्रादियुक्तत्वम्। शोभनवीर्ययोगः सुवीर्यम्। तत् तेन मन्त्रभागेनोक्तलक्षणाः सर्वा आशिषः फलान्यात्मनि स्वीकरोति। तृतीयभागमनूद्य व्याचष्टे—मामु देवता इति। यक्ष्यमाणदेवता माम् उ एव सचन्तां मदीययज्ञमेव सेवन्तामित्येतेन

मन्त्रभागेन देवतानामात्मनि ग्रहणं कृतं भवति। चयनसमये तूपवेशनं तस्य विधत्ते—अनूपविश्य चिनोतीति। यत्र यत्रेष्टकामुपदधाति, तं तं देशं गत्वा तत्समीपे उपविश्य चिनुयादित्यर्थः। एतदुभयं स्तौति—पशुरेष इति। पशुरूपो ह्येषोऽग्निः। तस्मादेव हि कारणाद् गवादिलक्षणः पशुस्तिष्ठन्नेव गर्भं धत्ते अनूपविश्य विजायते प्रसूते। अतोऽग्निग्रहणं गर्भधारणभूतत्वात् तिष्ठतैव कार्यम्। चयनं तु प्रसवरूपत्वादुपविष्टेनैवेति तात्पर्यम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, अहं मयि स्वात्मनि, अग्निं सर्वेषामग्रगण्यं परमात्मानं गृह्णामि त्वंपदार्थे तत्पदार्थमभेदेनानुसन्दधामि। किमर्थम्? रायस्पोषाय मोक्षलक्ष्म्याः पुष्ट्यर्थम्। सुप्रजास्त्वाय शोभनब्रह्मवित्पुत्र-शिष्यादिप्राप्त्यर्थम्। सुवीर्याय शोभनसामर्थ्यसिद्ध्यर्थम्। मामु मामेव ब्रह्मात्मभावापन्नं देवताः सचन्तां सङ्गच्छन्ताम्, 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' (भा० पु० ५।१८।१२) इति श्रीमद्भागवतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे कुमाराः कुमार्यश्च, यथाहमग्रे मयि आत्मनि रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय अग्निं परमविद्वांसं गृह्णामि, येन मामु देवता विद्वांसो गुणा वा सचन्तां समवयन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एतादृशार्थस्य नैकधा प्रतिपादितत्वात्। परमविदुषो ग्रहणमपि कीदृशम्? शुश्रूषाध्ययनादिकं संतोषादिसम्पादनं वा? नाद्यः, तज्जनितविद्यादिप्राप्त्यत्वे रायस्पोषादिकं प्रति तस्यान्यथासिद्धत्वात्। नान्त्यः, तस्य तदहेतुत्वात्॥ १॥

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ२ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व॥ २॥

मन्त्रार्थ—हे पुष्करपर्ण, तुम जल के ऊपर रहने से पृष्ठ रूप हो, अग्नि के निमित्त पिण्ड के कारण हो। सूखी जमीन को सींचता हुआ यह जल समुद्र की ओर वृद्धि को प्राप्त करे, समुद्र के जल में सब तरह से समा जाय। हे पत्र, तुम द्युलोक के परिमाण की दीर्घता से विस्तार को प्राप्त करो॥ २॥

'पुष्करपर्णमुपदधाति स्तम्बे पूर्ववत्' (का० श्रौ० १७।४।१)। ततोऽध्वर्युः कुशस्तम्बोपरि कमलिनीपत्र-मुपदधाति पूर्ववदित्युखासम्भरणवत्। तेन 'अपां पृष्ठम्' इति मन्त्रेण पुष्कर इत्यन्तेन उपधानं 'दिवो मात्रया' इति मन्त्रेण तस्य मार्जनमिति सूत्रार्थः। व्याख्यातपूर्वेयं कण्डिका एकादशेऽध्याये एकोनत्रिंश्याम्।

अत्र ब्राह्मणम् 'अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेरिति। अपाꣳ ह्येयं पृष्ठं योनिर्ह्येयमग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानमिति समुद्रो हीमामभितः पिन्वते वर्धमानो महाँ२ आ च पुष्कर इति वर्धमानो महीयस्व पुष्कर इत्येतद्दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्वेत्यनुविमाष्ट्र्यसौ वा आदित्य एषोऽग्निर्नो हैतमन्यो दिवो वरिमा यन्तुमर्हति द्यौर्भूत्वैनं यच्छेत्येवैतदाह....' (श० ७।४।१।९)। पुष्करपर्णोपधाने मन्त्रं विधाय पदशो व्याचष्टे—अपां पृष्ठमसीति। इयं पृथिवी अपामुपर्यवस्थानात् पृष्ठवत् पृष्ठम्। अतो हे पुष्करपर्ण, त्वमपामुदकानां पृष्ठमसि पृष्ठभागो भवसि। योनिर्ह्येयमिति। चित्यस्याग्नेर्योनिः पृथिवी, इष्टकोपादानत्वात्। हे पुष्करपर्ण, त्वमग्ने-स्तादृशी योनिरसीति प्रथमपादार्थः। समुद्रो हीमामिति। इमां पृथिवीमभितः सर्वतः पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु समुद्रः पिन्वते सिञ्चति। 'पिवि सेचने' इति भौवादिको धातुः। महच्छब्दस्य व्याख्यानं महीयस्वेति। 'महीङ् पूजायाम्' कण्ड्वादिः। हे पुष्करपर्ण, आसमन्ताद् महीयस्व पूजितो भव। अनुविमार्ष्टीति, चतुर्थपादावसाने पुष्करपर्णमुपदधानस्वस्यानुलोम्येन विमार्जनं कुर्यात्। नो हैतमन्य इति। द्युलोकव्यति-

रिक्तोऽन्यो वरिमा, भाववाचिना तद्वाँल्लक्ष्यते, उरुतरः पदार्थः। एतमग्निं नो खलु यन्तुमर्हति। तथा च 'दिवो मात्रया वरिम्णा' इति इत्थंभावे तृतीया। अतोऽयमर्थः—हे पुष्करपर्ण, त्वं द्युलोको भूत्वा एतमग्निं यच्छ यमय।

'अथ रुक्ममुपदधाति। असौ वा आदित्य एष रुक्म एष ह्यीमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते रोचो ह वै तꣳ रुक्म इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवा अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति स हिरण्मयो भवति परिमण्डल एकविꣳशतिनिर्बाधस्तस्योक्तो बन्धुरधस्तान्निर्बाधमुपदधाति रश्मयो वा एतस्य निर्बाधा अवस्तादु वा एतस्य रश्मयः' (श० ७।४।१।१०)। आकाशात्मना स्तुतस्य पुष्करपर्णस्य मध्ये सूर्यमण्डलात्मना ध्यातव्यस्य रुक्मस्योपधानं विधत्ते—अथ रुक्ममिति। एष परिदृश्यमान आदित्यो रुक्म इमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते, अतो रोच इति तस्य नाम सम्पद्यते। तदेव पारोक्ष्येण रुक्म इत्युच्यते। स रुक्मः सुवर्णमयः कार्यः परिमण्डलो वर्तुलाकृतिः, एकविंशतिनिर्बाध एकविंशतिसंख्याकैः पुलकैर्युक्तः कार्यः। 'तं पुष्करपर्ण उपदधाति। योनिर्वै पुष्करपर्णं योनावेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति' (श० ७।४।१।११)। तस्य रुक्मस्य पुष्करपर्णमध्ये उपधानं विधत्ते—तं पुष्करपर्ण इति। 'यद्वेव पुष्करपर्ण उपदधाति। प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णमियं वै पुष्करपर्णमियमु वै प्रतिष्ठा यो वा अस्यामप्रतिष्ठितोऽपि दूरे सन्नप्रतिष्ठित एव स रश्मिभिर्वा एषोऽस्यां प्रतिष्ठितोऽस्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति' (श० ७।४।१।१२)। प्रकारान्तरेण पुष्करपर्णे रुक्मोपधानं स्तौति —यद्वेवेति। प्रतिष्ठा आस्पदम्। यो वा अस्यामिति। यः खल्वस्यां पृथिव्यामप्रतिष्ठितः प्रतिष्ठितो न भवति, स दूरदेशे वर्तमानोऽप्यप्रतिष्ठितः प्रतिष्ठारहितो निरालम्बन एव भवति। आकाशे वर्तमानस्य सूर्यस्य पृथिव्यामनवस्थानादेतेन पुष्करपर्णोपधानेन एनं रुक्मरूपमादित्यं पृथिवीरूपायामेव प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति। 'इन्द्रो वृत्रꣳ हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्ता अब्रवीद्बिभेमि वै पुरं मे कुरुतेति स योऽपाꣳ रस आसीत्तमूर्ध्वꣳ समुदौहंस्तामस्मै पुरमकुर्वंस्तद्यदस्मै पुरमकुर्वंस्तस्मात्पूष्करं पूष्करꣳ ह वै तत्पुष्करमित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्तद्यत्पुष्करपर्ण उपदधाति यमेवोस्मै तमापो रसꣳ समुदौहन्यामस्मै पुरमकुर्वंस्तस्मिन्नेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति' (श० ७।४।१।१३)। नास्तृषि न खल्वहमद्यापि वृत्रमहिंसिषमिति विपर्यस्तमतिः सन्नित्यर्थः। स इन्द्रोऽपः प्राविशत् ता अब्रवोच्च अहं वृत्राद्बिभेमि। बिभ्यतो मम पुरं भयरहितमावासस्थानं हे आपः, यूयं कुरुत। आपश्चैतद्वचः श्रुत्वा यः स्वकीयो रसः प्रातिस्विक आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन् समुदक्षिपन्। तमेव रसं पुष्करपर्णात्मना परिणतं निवासस्थानमकुर्वन्। यस्मादेवं पूरक्रियत तस्मात्तस्य पुष्करमिति नाम सम्पन्नम्। पूः क्रियतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः पूष्करमिति प्रयोक्तव्ये पुष्करमिति प्रयोगस्तु पारोक्ष्यकरणायेति संग्रहार्थः। एवं पुष्करनामनिर्वचनं कृत्वा प्रकृते योजयति—तद्यत्पुष्करपर्ण इति। अस्मै इन्द्राय यमेव तं रसमापः पुरा समुदौहन् समुत्क्षिप्तवत्यः, तदनन्तरमस्मा एवेन्द्राय यां पुरं पुष्करपर्णात्मिकां अकुर्वंस्तस्मिन्नेव उभयरूपे स्वाश्रये रुक्मरूपेणावस्थितमिन्द्रशब्दाभिधेयमेनं सूर्यमेतेन प्रतिष्ठापयतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वमपामबुपलक्षितानां लोकानां पृष्ठमधिष्ठानमसि। अग्नेर्भौतिकस्य योनिः कारणमसि। पिन्वमानं सिञ्चन्तं समुद्रमभितः सर्वतो वर्धमानो महान्, ततोऽपि ज्यायानसीत्यर्थः। पुष्करे हृदयकमले दिवोमात्रया वरिम्णा उरुत्वेन उरोर्महतो भावेन आप्रथस्व।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वमभितोऽपां व्यापकानां प्राणानां जलानां वा पृष्ठमधिकरणं समुद्रं पिन्वमानमन्तरिक्षमिव सागरं पिन्वमानं सिञ्चमानमग्नेर्विद्युदादेर्योनिः कारणं दिवो द्योतमानस्य मात्रया यया सर्वं मिमीते पुष्करे वर्धमानो महांश्चासि, सोऽस्मासु वरिम्णा प्रथस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्। यदुक्तमयं मन्त्रः (श० ७।४।९।१) इत्यत्र व्याख्यात इति, तत्तु मूर्खजनप्रतारणमेव, तत्रास्याव्याख्यानात्॥ २॥

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒न आ॑वः ।
स बु॒ध्न्या उप॒मा अ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ विव॑: ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—पूर्व दिशा में सबसे प्रथम प्रकट हुए आदित्य रूप ब्रह्म ने भूगोल के मध्य से आरम्भ कर सुन्दर रुचि वाले अन्य सभी लोकों में अपने प्रकाश को फैलाया है। यह कमनीय मेधावी सूर्य अवकाश युक्त और जगत् के वासस्थान अन्तरिक्ष में स्थित दिशाओं तथा उनमें विद्यमान मूर्त घट, पट आदि और अमूर्त वायु आदि के उत्पत्ति स्थान ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥

'तस्मिन् रुक्ममधःपिण्डं ब्रह्म जज्ञानमिति' (का० श्रौ० १७।४।२)। तस्मिन् पुष्करपर्णे पूर्वं कण्ठे धृतं सौवर्णं रुक्मं पिण्डस्याधस्तात् प्राङ्मुखोऽध्वर्युरुपदध्यादिति सूत्रार्थः। एतदर्थकं ब्राह्मणमग्र उद्धरिष्यते। आदित्य-देवत्या त्रिष्टुप्। प्रथमं जज्ञानम् आदौ उत्पन्नम्, जनेर्लिटः कानजादेशे रूपम्, इदं रुक्मस्वरूपं ब्रह्म परिवृढम् अत्यन्तं महदित्यर्थः। तस्य रुक्मस्य दृष्टान्तत्वेन सूर्यः प्रपञ्च्यते। पुरस्तात् पूर्वस्यां दिश्यवस्थितः, वेनः कमनीयः सूर्यः सीमतः सर्वस्यां सीम्नि सुरुचः शोभनरश्मीन् वि विशेषेण आवः आवृणोत्। अस्य रुक्मस्य उपमा उपमानभूता विष्ठा विशेषेणावस्थिताः, बुध्न्या बुध्ने मूले पृथिवीरूपे भवाः, यदा ये सन्ति तदा तानपि सेवन्ते। विवो विवृतवान् प्रकाशितवानित्यर्थः। यद्वा ब्रह्मलक्षण आदित्यो जज्ञानम् अधियज्ञं यजमानः प्रथमं पुरस्तात् प्राच्यां दिशि जायते। ततोऽनन्तरं विसीमतः सीमतो मध्यतो मर्यादातः सुरुचः सुरोचनानिमान् लोकान् वेनः कान्तो मेधावी वा आदित्यः, बुध्नमन्तरिक्षं तत्र भवा बुध्न्या दिशः, उपमा उपमीयन्ते आसु स्थितानि भूतानीत्युपमा दिशः, अस्य जगतो विष्ठा विविधं स्थानं सतश्च विद्यमानस्य मूर्तस्य स्थानम्, असतश्च अमूर्तस्य वाय्वादेर्योनिं विवा विवृणोति। आदित्य एव लोकान् दिशो भूतानि चाभिव्यनक्ति, नान्य इति स्वीयेन कर्मणा स एव स्तूयते।

अत्र ब्राह्मणम्—'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति। असौ वा आदित्यो ब्रह्माहरहः पुरस्ताज्जायते वि सीमतः सुरुचो वेन आवरिति मध्यं वै सीमेमे लोकाः सुरुचोऽसावादित्यो वेनो यद्वै प्रजिजनिषमाणोऽवेनत्त-स्माद्वेनस्तानेष सीमतो विवृण्वन्नुदेति स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठा इति दिशो वा अस्य बुध्न्या उपमा विष्ठास्ता ह्येष उपवितिष्ठते सतश्च योनिमसतश्च विवरितीमे वै लोकाः सतश्च योनिरसतश्च यच्च ह्यस्ति यच्च न तदेभ्य एव लोकेभ्यो जायते त्रिष्टुभोपदधाति त्रैष्टुभो ह्येष सादयित्वा सूददोहसाऽधिवदति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।४।१।१४)। तस्मिन् रुक्मोपधाने मन्त्रं दर्शयति—ब्रह्म जज्ञानमिति। ब्रह्म जज्ञानं प्रादुर्भूतम्। ननु जनिरिति षड्भावविकारेषु गण्यते—जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यतीति षड् भावविकाराः। औपनिषदं ब्रह्म तु विक्रियारहितम्। कथं तस्य जनिक्रियायोगो मन्त्रेण प्रतिपाद्यते? इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—असौ वा आदित्यो ब्रह्मेति। अत्र प्रादुर्भाव एव जनेरर्थो न तूत्पत्तिः। अयमर्थः—ब्रह्म सगुणं सद् द्युलोकस्थ आदित्यो भूत्वा प्रत्यहं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि जायते उदेति। जज्ञानमिति जनेर्लिटः 'लिटः कानज्वा' (पा० सू० ३।२।१०६) इति कानजादेशे रूपम्। द्वितीयपादे क्रमेण पदार्थानाह—मध्ये वा इति। सीमत इति पदं यत्सीमेति प्रातिपदिकं तन्मध्यमाचष्टे। सुरुचः सुष्ठु रोचन्ते सवितृप्रकाशेन दीप्यन्त इति सुरुचः पृथिव्यादिलोकाः। असावादित्यो वेन इति यद्वेनोऽसावुच्यते, तन्नामनिर्वचनं करोति—यद्वा इति। यस्मात् कारणात् प्रजिजनिषमाणः प्रजनितुं प्रादुर्भवितुमुदेतुमिच्छन्, अवेनत् कान्तियुक्तोऽभवत्, तस्माद्वेनति दीप्यत इति। अत एव यास्कोऽप्याह—'वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः' (निरु० १०।३८)। इत्थं पदार्थानुक्त्वा वाक्यार्थमाह—तानेष इति। तान् सुरुक्छब्दा-भिधेयान् पृथिव्यादिलोकान्, एष सूर्यः सीमतो मध्यतो व्यावो व्यावृणोद् उदयेन प्रकाशितवान्। तृतीयपादमनूद्य

व्याचष्टे—स बुध्न्या इति। बुध्नो मूलं तत्र भवा बुध्न्याः पादाः। ते चास्य सूर्यस्य दिगात्मकाः, रश्मिप्रसरणहेतुत्वात्। ता बुध्न्यशब्दाभिधेया दिशः। उपमा उप समीपे स्वगतिभेदेन निर्मिमीत इत्युपमाः सूर्यः। तथा ता दिशोऽनुलक्ष्य वितिष्ठते विविधं पूर्वपश्चिमादिदिग्भेदहेतुत्वेनावतिष्ठत इति विष्ठाः। तिष्ठतेर्माङश्च 'आतो मनिन्क्वनिप्वनिपश्च' (पा० सू० ३।२।७४) इति विच्। एवंभूतः सूर्यः सतो लोकत्रयात्मकस्य भावरूपस्य, असतोऽभावात्मकस्य च योनिमुत्पत्तिस्थानं विवः विवृणोति। सदसच्छब्दयोश्च भावाभावपरतां व्याचष्टे—यच्च ह्यस्ति यच्च नेति। छन्दोद्वारेण प्रशंसति—त्रिष्टुभेति। त्रैष्टुभो ह्येष इति। 'गायत्री वै पृथिवी त्रैष्टुभमन्तरिक्षम्' (तै० सं० ५।२।१।१) इत्यादिश्रुतेः। द्वितीयस्थानत्वाच्चान्तरिक्षस्य त्रिष्टुप्सम्बन्धः। तत्र सञ्चरतस्त्रिष्टुप्छन्दस इन्द्रेण सहोत्पत्तेश्च इन्द्रात्मक एष सूर्योऽपि त्रैष्टुभः।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मसत्यज्ञानादिलक्षणं सीमतः सीमानं मर्यादां मध्यभागमारभ्य सुरुचः सुरोचनानिमाँल्लोकान् वि विशेषेण आवः स्वप्रकाशेन विवृतानकरोत्। कीदृशं ब्रह्म? प्रथममादौ सूर्यरूपेण पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि जायमानं प्रादुर्भूयमानम्। यद्वा सर्वप्रकाशिकाया बुद्धेरपि प्रथमं सर्वप्रकाशेभ्यः पुरस्ताद् जज्ञानं सर्वप्रकाशकत्वेन प्रसिद्धम्, 'तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डको० २।२।१०) इति श्रुतेः। किञ्च, वेनः कमनीयः सर्वप्राणिभिरिष्यमाणो बुध्न्याः बुध्ने अन्तरिक्षे भवा दिशो विवः विवृणोति। सर्वसाक्षित्वेन सूर्यरूपेण वा सतो विद्यमानस्य मूर्तस्य योनिः स्थानम्, असतोऽमूर्तस्य वाय्वादेश्च प्रभवं विवः प्रकाशयति। बुध्न्याः पुनः कीदृशीः? उपमाः, उप समीपे मान्ति भूतानि यासु ताः, सावकाशा इत्यर्थः। अत एवास्य जगतो विष्ठा विविधस्थानभूताः, विविधं तिष्ठन्ति यासु ताः।

दयानन्दस्तु—'यत् पुरस्ताद् जज्ञानं सर्वस्य जनकं विज्ञात् प्रथमं विस्तृतं विस्तारयितृ ब्रह्म सर्वेभ्यो बृहद् यः सुरुचः सुप्रकाशमानः सुष्ठु रुचिविषयश्च वेनः कमनीयः, यस्यास्य बुध्न्या बुध्न्ये जलसम्बन्धेऽन्तरिक्षे भवाः सूर्यचन्द्रपृथिवीतारकादयो लोका उपमा उपमिमते याभिस्ताः सन्ति, सर्वभावः स विसीमतः विसीमातो मर्यादातः सतश्च विद्यमानस्य व्यक्तस्य असतश्च अविद्यमानस्य अव्यक्तस्य कारणस्य च महत्त्वादेर्योनिं स्थानम् आकाशं विवो विवृणोति, तत्सर्वैरुपासनीयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पुरस्तादित्यस्य सृष्ट्याद्यर्थत्वे मानाभावात्, 'अहरहः पुरस्ताज्जायते' (श० ७।४।१।१४) इति श्रुतिविरोधाच्च। जज्ञानं सर्वस्य जनकमित्यप्यशुद्धम्, क्रियापदविरोधात्। यः सुरुचः सुप्रकाशमानमित्यप्यसङ्गतम्, 'इमे लोकाः सुरुचः' (श० ७।४।१।१४) इति श्रुतिविरोधात्। वेनः कमनीय इत्यप्यसङ्गतम्, 'आदित्यो वेनः' (श० ७।४।१।१४) इति श्रुतिविरोधात्। प्रथममित्यस्य विस्तृतो विस्तारकर्ता चेत्यप्यसङ्गतम्, प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात्। बुध्न्या अन्तरिक्षस्थाः सूर्यचन्द्रादय इत्यपि व्यर्थम्, 'दिशो वा अस्य बुध्न्याः' (श० ७।४।१।१४) इति श्रुतिविरोधात्। विष्ठा विविधस्थलस्थिता उपमा ईश्वरज्ञानदृष्टान्तभूता लोका इत्यप्यशुद्धम्, योनिं कारणं गृह्णातीत्यप्यशुद्धम्, विवो विवृणोतीति स्वव्याख्यानविरोधश्च ॥ ३ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हिरण्यपुरुषरूप ब्रह्माण्ड में गर्भ रूप से अवस्थित प्रजापति हिरण्यगर्भ प्राणी मात्र की उत्पत्ति के प्रथम कारण हैं। वे उत्पन्न होते ही बाद में उत्पन्न हुए इस सारे जगत् के स्वामी हैं। वे ही अन्तरिक्ष, द्युलोक और भूलोक नामक तीनों लोकों का निर्माण कर उन्हें धारण करते हैं। उस प्रजापति के निमित्त हम आहुति देते हैं ॥ ४ ॥

'उत्तानं प्राञ्च७ँ हिरण्यपुरुषं तस्मिन् हिरण्यगर्भ इति' (का० श्रौ० १७।४।३)। तस्मिन् रुक्मे प्राञ्चमुत्तानं सुवर्णमयं पुरुषाकारमुपदध्यात्, ऋग्द्वयेनेति शेष इति सूत्रार्थः। हिरण्यगर्भदृष्टा प्रजापतिदेवत्या त्रिष्टुप्। हिरण्यगर्भो हिरण्ये हिरण्यपुरुषरूपे ब्रह्माण्डे गर्भो गर्भरूपेणावस्थितः समष्टिसूक्ष्मशरीराभिमानी हिरण्यगर्भः प्रजापतिः, भूतस्य प्राणिमात्रस्य अग्रे पूर्वं समवर्तत प्राणिजातोत्पत्तेः पुरा स्वयं शरीरधारी बभूव। स च जात उत्पन्नमात्र एक एव उत्पत्स्यमानस्य सर्वस्य जगतः पतिर् ईश्वरः स्वामी पालको वासीत्। अत एव पृथिवीं द्यां विस्तीर्णां दिवं दाधार धृतवान्। उतापि इमां प्रत्यक्षां भूमिं दाधार। तादृशाय कस्मै प्रजापतये देवाय वयं हविषा विधेम परिचरेम। यद्वा हिरण्यं गर्भो गर्भरूपेण ब्रह्माण्डरूपेणावस्थितः, अथवा हिरण्यं ब्रह्माण्डं गर्भे यस्य सः, सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य चित्कवलितत्वात्। स एव पृथिवीमन्तरिक्षं द्यां द्युलोकमुतापि चेमां भूमिं दाधार धारयति। 'पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु' (निघ० १।३।९)।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ पुरुषमुपदधाति। स प्रजापतिः सोऽग्निः स यजमानः स हिरण्मयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरग्निरमृत७ँ हिरण्यममृतमग्निः पुरुषो भवति पुरुषो हि प्रजापतिः' (श० ७।४।१।१५)। रुक्ममध्ये हिरण्मयपुरुषस्योपधानं विधत्ते—अथ पुरुषमिति। स उपधेयः पुरुषः प्रजापतिः स्थूलप्रपञ्चाभिमानी विराडात्मकः, स एवाग्निः सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानी हिरण्यगर्भात्मकः, यजमानस्य तद्रूपप्राप्तेर्यजमानात्मकोऽपि स एवेत्यर्थः। तस्य हिरण्यविकृतित्वं विधाय स्तौति—स हिरण्मय इति। ज्योतिर्वा इति। भास्वररूपोपेतत्वाद् ज्योतिरात्मकं हिरण्यम्। तथाऽत्यन्ताग्निसंयोगेऽपि समुच्छित्त्यभावादमृतममरणस्वभावं हिरण्यम्। चीयमानोऽग्निरप्येतदुभयात्मक इति हिरण्मयत्वं युक्तम्। पुरुषरूपतामनूद्य प्रतिपादयति—पुरुषो भवतीति। हि यस्माच्चित्याग्निरूपेण संस्कर्तव्यः प्रजापतिः पुरुषविधस्तत्प्रतिरूपत्वाद् हिरण्मयस्योपधेयस्य पुरुषाकृतिर्युक्तेत्यर्थः। 'यद्वेव पुरुषमुपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्ताद्रम्या तनूर्मध्यत उदक्रामत्तस्यामेनमुत्क्रान्तायां देवा अजहुस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेता७ँ रम्यां तनूं मध्यतोऽदधुस्तस्यामस्य देवा अरमन्त तद्यदस्यैतस्या७ँ रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त तस्माद्धि रम्य७ँ हिरम्य७ँ ह वै तद्धिरण्यमित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्तथैवास्मिन्नयमेता७ँ रम्यां तनूं मध्यतो दधाति तस्यामस्य देवा रमन्ते प्राणो वा अस्य सा रम्या तनूः प्राणमेवास्मिन्नेतं मध्यतो दधाति' (श० ७।४।१।१६)। एतदेव पुरुषोपधानमनूद्य मनःप्राणाद्यात्मकसूक्ष्मशरीरस्थापनरूपेण स्तौति—यद्वेवेति। प्रजापतिर्हि पुरा विस्रस्तशरीरोऽभूत्। तथाविधात्तस्माद्रमणीया ज्ञानक्रियाशक्तिरूपा सूक्ष्मा तनूर्मध्यतः शरीरमध्याद् उदक्रामद् उद् ऊर्ध्वं निरगमत्। तस्यामूर्ध्वं निष्क्रान्तायां प्रजापतिमेनं चक्षुराद्यभिमानिनो देवा आदित्यादयः, अजहुः अत्यजन्। 'ओहाक् त्यागे' इत्यस्य रूपम्। तं तथाविधं प्रजापतिं देवास्तत्पुत्रा यत्र यस्मिन् प्रदेशे समस्कुर्वन् चित्याग्निरूपेण संस्कृतवन्तः, तत् तत्र अस्मिन् प्रजापतौ एतां निष्क्रान्तां रम्यां तनूं मध्यतोऽदधुः स्थापयाञ्चक्रुः। अस्य प्रजापतेस्तस्यां तन्वां पुरा निष्क्रान्ता इन्द्रियदेवता अरमन्त पुनः प्रविश्यातिष्ठन्नित्यर्थः। उक्तार्थोपजीवनेन हिरण्यनामनिर्वचनं करोति—तद्यदस्येति। एतस्यां हितायां स्थापितायां ज्ञानक्रियाशक्त्युपेतत्वेन रमणीयायां तन्वां यस्माद्देवा अरमन्त, तस्माद् हितेऽस्मिन् रमत इति व्युत्पत्त्या हिरम्यमिति नाम सम्पन्नम्। तदेव पारोक्ष्येण हिरण्यमित्युच्यते। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० सू० ६।३।१०९) इति रूपसिद्धिः। अत एवाह यास्कः—'हिरण्यं कस्मात्' इति प्रक्रम्य 'हितरमणं भवतीति वा' (निरु० २।१०)। एवं पुराकल्पमभिधाय प्रकृते योजयति—तथैवास्मिन्नित्यादिना। अयं यजमान एतां रम्यां तनूं मध्यतो दधाति। तस्यामस्यां देवा रमन्ते। का पुनरसौ रम्या तनूरिति तामाह—प्राणो वा अस्य सा रम्या तनूः प्राणमेवास्मिन्नेतं मध्यतो दधातीति। प्राणापानादिपञ्चवृत्त्यात्मकः प्राणोऽस्य प्रजापतेरेव रम्या तनूः, अतस्तत्स्थापनमेव कृतं भवतीति।

'तꣳ रुक्म उपदधाति। असौ वा आदित्य एष रुक्मोऽथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः स एष तमेवैतदुपदधाति' (श० ७।४।१।१७)। तस्य पुरुषोपधानस्याधारविशेषं विधाय स्तौति—तं रुक्म इति। यो रुक्मः पुष्करपर्णे उपहितस्तस्य मध्ये तं हिरण्मयं पुरुषमुपदध्यात्। आदित्यमण्डलात्मको ह्येष रुक्मः। आदित्यमण्डलमध्ये यो हिरण्मयः पुरुष आस्ते, स एवैष उपधीयमानो हिरण्मयः पुरुषो रुक्मरूपे आदित्यमण्डले तमेव पुरुषमुपहितवान् भवति। अत एव श्रूयते—'एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः' (छा० उ० १।६।६) इति, 'हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः' (छा० उ० १।६।६) इति च। 'उत्तानमुपदधाति। एतद्वै देवा अब्रुवन् यदि वा इमाववञ्चा उपधास्यामः सर्वमेवेदं प्रधक्ष्यतो यद्य पराञ्चौ पराञ्चावेव तप्स्यतो यद्य सम्यञ्चावन्तरैवैतावेतज्ज्योतिर्भविष्यत्यथो अन्योन्यꣳ हिꣳसिष्यत इति तेऽर्वाञ्च-मन्यमुपादधुः पराञ्चमन्यꣳ स एष रश्मिभिरर्वाङ् तपति रुक्मः प्राणैरेष ऊर्ध्वः पुरुषः प्राञ्चमुपदधाति प्राङ् ह्येषोऽग्निश्चीयते' (श० ७।४।१।१८)। तत्रोपधाने पुरुषस्योपरिमुखत्वं विधत्ते—उत्तानमुपदधातीति। तत्र आख्यायिकामाह—'एतद्वै देवा अब्रुवन्निति। यदि खलु इमौ रुक्मपुरुषौ अर्वाञ्चौ अधोमुखौ उपधास्यामः, तदोभयोस्तेजसोः संसृष्टत्वे प्रबलतरौ अधोमुखौ सन्तौ सर्वमेवेदं जगत् प्रधक्ष्यतः। यदि पराञ्चौ पराङ्मुखौ ऊर्ध्वमुखौ उपधास्यामः, तथा सति पराञ्चावेव पराङ्मुखावेव सन्तौ तप्स्यतः, अर्थात् सूर्यमण्डलाद्ये उपरितना लोकास्तत्रैव सूर्यप्रकाशः स्यात्, न त्वधस्तनेषु लोकेष्विति भावः। यदि सम्यञ्चौ परस्पराभिमुखौ रुक्मपुरुषौ उपदध्यामस्तदा एतावन्तरैव एतयोर्मध्य एव तदीयं ज्योतिर्भविष्यति। तथा च व्यवधानादुपरितनानधस्तनांश्च लोकान् न प्रकाशयेताम्। अथो अपि च अन्योन्यं हिंसिष्यतः, रुक्मस्य ज्योतिषा पुरुषज्योतिः प्रतिहन्येत, तेन च रुक्मज्योतिरिति परस्परहिंसेत्यर्थः। कथं तर्हि तावुपधेयाविति तत्राह—तेऽर्वाञ्चमिति। ते देवा अन्यम् एकं सूर्यमण्डलात्मकं रुक्मम् अर्वाञ्चमधस्तान्निर्बाधम् उपादधुः, अन्यं पुरुषं पराञ्चं पराङ्मुखमुत्तानमुपादधुरित्यनुषङ्गः। यस्मादेवं तस्मादेष मण्डलात्मकः सूर्यो रश्मिभिः किरणैरर्वाङ् अधोमुखस्तपति। स एव रुक्मात्मक एष प्राणात्मको मण्डलान्तरवर्ती पुरुषः प्राणिनां प्राणैः सह ऊर्ध्वो वर्तते। अत एवान्यत्राम्नातम्—'सोऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति' (तै० आ० १।१४।१) इति। तस्य प्राङ्मुखत्वं विधाय स्तौति—प्राञ्चमिति। तमुत्तानं पुरुषं प्राञ्चं प्राङ्मुखमुपदध्यात्। हि यस्मादेवं प्राङ्मुखः प्राक्शिरस्कश्चीयते, तस्माद्धिरण्मयपुरुषस्यापि तथात्वं युक्तम्।

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इति। हिरण्यगर्भो ह्येष समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीदित्येष ह्यस्य सर्वस्य भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमामित्येष वै दिवं च पृथिवीं च दाधार कस्मै देवाय हविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेत्येतत्' (श० ७।४।१।१९)। यत्पूर्वमुक्तमृग्द्वयेन सुवर्णमयं पुरुषाकारमुपदध्यादिति, तत्र प्रथमामृचं पादशोऽनूद्य व्याचष्टे हिरण्यगर्भ इत्यादिना। हिरण्यगर्भो ह्येष इति। एष हिरण्यपुरुषः सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती हिरण्यगर्भः, अपञ्चीकृतभूततत्कार्याभिमानी परमेश्वरो हिरण्यगर्भः, स च हिरण्मयाण्डमध्ये गर्भवदवस्थानाद् हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। अयमग्रे सृष्ट्यादौ हिरण्यगर्भाख्यः प्रजापतिः प्रथमं समवर्तत प्रथमशरीरी जात इत्यर्थः, 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते' इति स्मरणात्। एष ह्यस्येत्यादि। एष खलु हिरण्यगर्भोऽस्य सर्वस्य भूतभौतिकात्मकस्य कृत्स्नस्य जगतो जातावस्थ एव सन् एकोऽसाधारणः पतिर्नियन्ता आसीत्। एष आदित्यात्मको हिरण्यगर्भः, दिवं द्युलोकं पृथिवीं भूमिं च प्रकाशन-वर्षणादिव्यापारेण दाधार धृतवान्। कस्मै देवायेति। किंशब्दादिह निरुक्तानिरुक्तकृत्स्नजगदात्मकत्वाद् ईदृग्रूप इति निर्वक्तुमशक्यः प्रजापतिरेवोच्यते इत्याह—प्रजापतिर्वै क इति।

अध्यात्मपक्षे—हिरण्यगर्भः हिरण्यं सर्वज्ञानलक्षणं ज्योतिर्गर्भवद् यस्मिन् स सर्वज्ञः परमेश्वरः, अग्रे सृष्टेः प्राक् समवर्तत। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं योऽस्य भूतस्य जातः जनकः, कर्तरि क्तः, पतिरेको हिरण्यगर्भोऽग्रे समवर्ततासीत्, हिरण्यानि सूर्यादीनि ज्योतींषि गर्भे मध्ये यस्य सः, 'ज्योतिर्वै हिरण्यम्' (श० ६।७।१।१) इति श्रुतेः। स इमां सृष्टिं रचयित्वोतापि पृथिवीं प्रकाशरहितं भूगोलादिकं द्यां प्रकाशमयं सूर्यादिकं दाधार, तस्मै कस्मै सुखरूपाय देवाय परमेश्वराय हविषा विधेम, तथा यूयमप्येनं सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहार-बाहुल्यात्। हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि गर्भे मध्ये यस्येत्यप्यसङ्गतम्, परमेश्वरस्य निर्विकारस्य निरवकाशस्य सूर्याद्याधारत्वायोगात्। सिद्धान्ते तु दर्पणे प्रतिबिम्बस्येव निरवकाशेऽपि चिदात्मनि सूर्याद्याधारत्वमुपपद्यते। न च तव तथा, अपसिद्धान्तापातात्। एवमन्यान्यपि दूषणान्यूह्यानि ॥ ४ ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—जो प्रथम उत्पन्न हुआ हिरण्यपुरुष सबका मुख्य कारण है, जिसका कोई आदि नहीं है और जो प्रसिद्ध आदित्य का रूप धारण कर अन्तरिक्ष को मनुष्य आदि के धारण के निमित्त सींचता है, द्युलोक के साथ वह भूलोक को भी आहुति के परिणाम स्वरूप रस से सींचता है, उस सम्पूर्ण स्वरूप वाले त्रिलोकी में विचरण करते हुए आदित्य को मैं सब दिशाओं में स्थापित करता हूँ ॥ ५ ॥

आदित्यदेवत्या देवश्रवोदृष्टा त्रिष्टुप्। द्रव्यान्तरसङ्घट्टनेन स्फुरितो हिरण्यपुरुषावयवलेशो द्रप्सः, स पृथिवीमन्तरिक्षमनु चस्कन्द गच्छति। स च द्रप्सो हुतः सन् स्थानत्रयेण सञ्चरति—द्युलोकेऽन्तरिक्षलोके भूलोके च। तदभिप्रेत्यैव स्मर्यते—'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' (म० ३।७६) इति। सोऽयमर्थो द्यामित्यादिनाभिधीयते। द्यामिमं च योनिमनु अन्तरिक्ष-रूपमिदं स्थानमनु सञ्चरति। यश्च पूर्वो योऽपि पृथिवीमन्तरिक्षमनु चस्कन्देति पूर्वोक्तस्थानविशेषः, तमप्यनु-सञ्चरति। समानं सदृशं स्वस्य योग्यं योनिं द्युलोकमादित्यस्थानमनुसञ्चरति। तमिमं त्रिषु स्थानेष्वनुसञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोमि, मनसा हुतमिव भावयामीत्यर्थः। कुत्र होम इति तदुच्यते—अनु सप्त होत्रा इति। यस्यां दिशि द्रप्सः पतितः, तद्व्यतिरिक्ताः सप्त दिशः सन्ति। तास्वनुक्रमेण जुहोमि, यथायं द्रप्सो हुत आदित्यादि-स्थानत्रये सञ्चरन्नुपकरोति, तथा भावयामीत्यर्थः। यद्वा अनुजुहोमि सप्त होत्रा इति विभक्तिव्यत्ययः। सप्तसु होत्रासु दिक्षु स्थापयामि, हिरण्यपुरुषरूपेण सर्वदिक्षु सूर्यमेव स्थापयामीत्यर्थः, 'असौ वा आदित्यो द्रप्सो दिशः सप्त होत्रा अमुमादित्यं दिक्षु प्रतिष्ठापयति' (श० ७।४।१।२०) इति श्रुतेः। पूर्वादिचतस्रो दिशः, अध एका, उपर्येका, मध्य एका चेति सप्त दिशः। उव्वटाचार्यरीत्या अस्यामृच्यादित्यः सर्वं बिभर्ति पालयतीत्युच्यते। य आहुतिपरिणामरसनिधानभूतो द्रप्स आदित्यश्चस्कन्द पृथिवीमन्तरिक्षमुदकरूपेण स्कन्दति गच्छति मनुष्यादिधारणाय, यश्च द्युलोकमनुस्कन्दति गच्छत्याहुतिपरिणामभूतेन रसेन देवादिधारणाय। इमं च य इमं योनिं स्थानं भूलोकमनुस्कन्दत्यागच्छत्याहुतिग्रहणाय, एवं समानं योनिं सर्वेषां तुल्यं स्थानं लोकत्रयमनुसञ्चरन्तं द्रप्समादित्यं सप्त होत्रा अनु सञ्जुहोमि। यद्वा यश्चेमं लोकं स्कन्दत्याहुतिग्रहणाय, यश्चानुस्कन्दति पूर्वयोनिममुं लोकं सुकृतिनां तर्पणाय, तमेव समानं योनिं स्थानमनुसञ्चरन्तं द्रप्समादित्य-मनुजुहोमीत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिति। असौ वा आदित्यो द्रप्सः स दिवं च पृथिवीं च स्कन्दतीत्यमूमितीमामिमं च योनिमनु यश्च पूर्व इतीमं च लोकममुं चेत्येतदथो यच्चेदमेतर्हि चीयते यच्चादः

पूर्वमचीयतेति समानं योनिमनु संचरन्तमिति समान७्, ह्येष एतं योनिमनु संचरति द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्रा इत्यसौ वा आदित्यो द्रप्सो दिशः सप्त होत्रा अमुं तदादित्यं दिक्षु प्रतिष्ठापयति' (श० ७।४।१।२०)। द्वितीयामृचमनूद्य व्याचष्टे—द्रप्सश्चस्कन्देति। असौ वा आदित्य इत्यादि। द्रप्सो द्रवानुदबिन्दून् किरणैः प्साति भक्षयतीति, द्रवणेन प्सानीयो वा, द्राक् प्सानीयो वा। 'घञर्थे कविधानम्' (पा० सू० ३।३।५८.२) घञर्थे कः। पृषोदरादित्वाद् द्रादेशः। स दिवं च पृथिवीं च स्कन्दति गच्छति शोषयति वा। 'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' इति भौवादिकस्य रूपम्। स्कन्दनप्रकारविशेषमभिनयेन दर्शयति—इत्यमूमितीमामिति। इत्यनेनोर्ध्वगमनप्रकारेणामूं दिवं व्याप्नोति, इत्यनेन प्रकारेणाधोमुखैः किरणैः प्रकाशनेनेमां पृथिवीं व्याप्नोतीत्यर्थः। द्वितीयपादमनूद्य व्याचष्टे—इमं च योनिमिति। इमं चाहवनीयाख्यं योनिं यश्च पूर्वश्चितो गार्हपत्यः। तदुभयं द्यावापृथिव्यात्मकमसावादित्यो व्याप्नोतीत्येतदर्थपरतां व्याचष्टे—इमं च लोकमिति। लोकद्वयरूपतामुक्त्वा चितिद्वयरूपतामाह—अथो इति। अपि च, एतर्हि एतस्मिन् समये यदिदं चीयते आहवनीयाख्यं स्थानम्, यच्चादो विप्रकृष्टं गार्हपत्याख्यं स्थानं पूर्वमचीयत, एतदुभयं हिरण्मयपुरुषरूपः सूर्यो व्याप्नोतीत्यर्थः। तृतीयपादमनूद्य व्याचष्टे—समानं योनिमिति। एष सूर्यः समानमेकविधमेतं योनिं स्थानमनुलक्ष्य सञ्चरति, प्राच्यां दिश्युद्यन् एकेनैव मार्गेण प्रतिदिवसं सञ्चरतीत्यर्थः। चतुर्थपादमनूद्य व्याचष्टे—द्रप्सं जुहोमीति। तं सञ्चरन्तं द्रप्सं प्राच्यां दिश्युद्यन्तं तद्व्यतिरिक्तासु सप्तस्वपि दिक्षु जुहोमि प्रतिष्ठापयामि। 'अनुर्लक्षणे' (पा० सू० १।४।८४) इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वम्, 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा० सू० २।३।८) इति होत्राशब्दाद् द्वितीया। 'द्वाभ्यामुपदधाति·····' (श० ७।४।१।२१)। मन्त्रद्वित्वमनूद्य स्तौति—द्वाभ्यामिति।

अध्यात्मपक्षे—यः पूर्वः प्रथमः, मुख्य इति यावत्। द्रप्सो द्रवान् अविद्योपस्थापितान् भोगान् प्साति भक्षयतीति द्रप्सश्चिदादित्यांशो भोक्ता जीवः, पृथिवीमन्तरिक्षं द्यां द्युलोकं चानुलक्ष्य चस्कन्द गच्छति। इमं भूलोकं योनिं स्थानं चस्कन्द। एवं समानं योनिं लोकत्रयमनुसञ्चरन्तं द्रप्सं सप्त होत्रा अनुजुहोमि। सप्तसु दिक्षु स्थापयामि, उपाधितादात्म्यापोहेन सर्वव्यापकं ब्रह्म चिदादित्यरूपेणानुसन्दधामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं यस्य सप्त पञ्च प्राणा मन आत्मा चेति होत्रा आदातारः, यः पृथिवीं भूमिं द्यां प्रकाशमिमं च योनिं कारणं चानु यः पूर्वो द्रप्सो हर्ष उत्साहः, 'दृप विमोहनहर्षणयोः', अनु चस्कन्द प्राप्नोति, तस्य योनिं स्थानमनु सञ्चरन्तं समानं द्रप्सं सर्वत्राभिव्याप्तमानन्दमनु जुहोमि गृह्णामि, तथैनमादत्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्याणां सम्बोध्यत्वस्य पञ्चप्राणमनआत्मनां सप्तहोत्रत्वस्य च निर्मूलत्वात्, 'असौ वा आदित्यो द्रप्सो दिशः सप्त होत्राः' इत्यादिश्रुतिविरोधाच्च ॥ ५ ॥

नमो॑ऽस्तु स॒र्पेभ्यो॒ ये के च॑ पृथि॒वीमनु॑।
ये अ॒न्तरि॑क्षे॒ ये दि॒वि तेभ्यः॑ स॒र्पेभ्यो॒ नमः॑ ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी के अनुगत जो नक्षत्र आदि लोक हैं, उनके निमित्त मेरा नमस्कार। जो लोक अन्तरिक्ष में वर्तमान हैं, जो सम्पूर्ण द्युलोक में आश्रित हैं, उन नक्षत्रों के निमित्त भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

'उपतिष्ठते यजमानो नमोऽस्त्विति' (का० श्रौ० १७।४।६)। यजमानो हिरण्यपुरुषं पश्यन् इत आरभ्य ऋक्त्रयं पठेदिति सूत्रार्थः। सर्पदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः। ये केचित् सर्पाः पृथिवीमनुगतास्तेभ्यः सर्पेभ्यो

नमोऽस्तु। अन्तरिक्षलोके वर्तमाना ये सर्पा दिवि द्युलोके वा वर्तमाना वासुकिप्रभृतयस्तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः। यद्वा ये के च ये केचित् सर्पाः सर्पन्तीति सर्पा लोकाः, 'इमे वै लोकाः सर्पाः' (श० ७।४।१।२५) इति वक्ष्यमाणश्रुतेः सर्पशब्देन लोका उच्यन्ते।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ सर्पनामैरुपतिष्ठते। इमे वै लोकाः सर्पास्ते ह्यनेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किञ्च सर्वेषामु हैष देवानामात्मा यदग्निस्ते देवा एतमात्मानमुपधायाबिभयुर्यद्वै न इमे लोका अनेनात्मना न सर्पेयुरिति' (श० ७।४।१।२५)। 'त एतानि सर्पनामान्यपश्यन्। तैरुपातिष्ठन्त तैरस्मा इमाँल्लोकानस्थापयंस्तैरनमयन् यदनमयंस्तस्मात् सर्पनामानि तथैतद्यजमानो यत् सर्पनामैरुपतिष्ठत इमानेवास्मा एतल्लोकान् स्थापयतीमाँल्लोकान्नमयति तथो ह्यस्यैत एतेनात्मना न सर्पन्ति' (श० ७।४।१।२६)। यजमानकर्तृकं हिरण्यपुरुषस्योपस्थानं विधत्ते—अथ सर्पनामैरिति। नमोऽस्तु सर्पेभ्य इत्याद्याः सर्पनामाख्या मन्त्राः। अथैतत्सर्पनामभिरुपस्थानं लोकत्रयस्थापनहेतुत्वेनाख्यायिकया प्रतिपादयति—इमे वै लोका इत्यादिना। यदिदं लोकत्रयवर्ति किमपि प्राणिजातमस्ति, अनेन सर्वेण सह पृथिव्यादयस्ते लोकाः सर्पन्ति। तस्मात् सर्पणनिमित्तात् सर्पशब्दाभिधेया लोका इत्यर्थः। तथा चित्याग्निरिति यदस्ति एष एव खलु सर्वेषां देवनामात्मा। अतस्ते देवा एनमात्मानं हिरण्मयपुरुषमुपधायाबिभयुर्भयं प्राप्ताः। यद्वै न इत्यादिना भयस्वरूपप्रतिपादनम्। यदि खलु नोऽस्माकमनेनात्मना सह इमे लोका न सर्पेयुस्तर्हि अस्मदीयस्यात्मनो लोकसम्बन्धविरहाद् आश्रयो न स्यादित्येवं भीतास्ते देवा एतानि 'नमोऽस्तु' इत्यादीनि सर्पनामान्यपश्यन्, दृष्ट्वा च तैरुपस्थानं कृतवन्तः। तेन चोपस्थानेनास्मै हिरण्मयपुरुषरूपायाग्नये इमान् पृथिव्यादिलोकान् अस्थापयन्, तैः स्थापितैर्लोकैरनमयन् वशीकृतवन्तः। यदनमयन्निति सर्पनामाख्यानिर्वचनम्। सर्पाणां नमनहेतुत्वाच्च सर्पनामानीत्यर्थः। तथैवैतदित्यादिनाख्यायिकया सिद्धार्थस्य दार्ष्टान्तिके योजनम्। सर्पनामभिरुपस्थाने सत्यस्य यजमानस्य एते लोका एतेन चित्याग्निरूपेण आत्मना न सर्पन्ति, किन्त्ववतिष्ठन्त इत्यर्थः।

'यद्वेव सर्पनामैरुपतिष्ठते। इमे वै लोकाः सर्पा यद्धि किञ्च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति तद्यत्सर्पनामैरुपतिष्ठते यैवैषु लोकेषु नाष्ट्रा यो व्यध्वरो या शिमिदा तदेवैतत्सर्वꣳ शमयति' (श० ७।४।१।२७)। तदेव प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेवेति। यदिदं किञ्च स्थावरजङ्गमात्मकं प्राणिजातमस्ति, तत्सर्वमेष्वेव लोकेषु सर्पति चलति, अतः सर्पणाधिकरणत्वात् सर्पा लोकाः। तत् तथा सति सर्पनामाख्यैर्मन्त्रैरुपतिष्ठत इति यदस्ति, तत् तेन एष्वेव लोकेषु वर्तमानं नाष्ट्रादिकं शमयति। नाष्ट्रा नाशकारिणी आसुरी प्रजा। व्यध्वरो व्यधनशीलो दन्दशूकादिः। शिमिदा विषहेतुर्लूतावृश्चिकादिः। 'नमोऽस्तु सर्पेभ्यः। ये के च पृथिवीमनु ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति य एवैषु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तेभ्य एतन्नमस्करोति' (श० ७।४।१।२८)। तत्र प्रथमं सर्पनाममन्त्रमनूद्य तात्पर्यं व्याचष्टे—नमोऽस्त्वित्यादिना। एषु त्रिषु लोकेषु ये सर्पणशीला दन्दशूकाद्याः प्राणिनस्तेभ्य एतन्नमस्करोतीति मन्त्रार्थः। 'पृथिवीमनु' इत्यत्र 'अनुर्लक्षणे' (पा० सू० १।४।८४) इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वम्। 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा० सू० २।३।८) इत्यनेन पृथिवीमित्यत्र द्वितीया।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यविवक्षया परस्यैकस्यैव सर्पणशीलत्वादिविविधरूपतां दन्दशूकादिरूपेण प्रदर्श्य तेभ्यो नमस्करणम्। तेषां च देवविशेषत्वेन पृथिव्यां दिव्यन्तरिक्षे च सर्पणं सम्भवत्येव।

दयानन्दस्तु—'ये के चात्र सर्पाः सन्ति तेभ्यो नमोऽन्नमस्तु। ये चान्तरिक्षे ये दिवि ये च पृथिवीमनुसर्पन्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽन्नमस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दिव्यन्तरिक्षे च के जीवाश्चरन्ति, कथं च तेभ्योऽन्नं केन दीयत इत्याद्यनुक्तेः। शतपथब्राह्मणसङ्गतिस्तूक्तैव ॥ ६ ॥

या इष॑वो यातु॒धाना॑नां॒ ये वा॒ वन॒स्पती॑१ँ॥ रनु॑ ।
ये वा॑ऽव॒टेषु॒ शेर॑ते॒ तेभ्य॑: स॒र्पेभ्यो॒ नम॑: ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—राक्षस गणों के साथ जो सर्प बाण रूप से रहते हैं, या जो सर्प चन्दन, वृक्ष आदि वनस्पतियों के आश्रित हैं और जो बिलों में शयन करते हैं, उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ७ ॥

याः सर्पजातयो यातुधानानां यातुं यातनां तीव्रवेदनां परेषां कृते दधति ये ते यातुधाना रक्षःप्रभृतयः, तेषामिषवो बाणरूपेण वर्तन्ते । ये चान्ये वनस्पतीन् चन्दनादिवृक्षान् अनुवेष्ट्य स्थिताः, ये चान्येऽवटेषु बिलेषु शेरते, तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'या इषवो यातुधानानामिति । यातुधानप्रेषिता हैके दशन्ति ये वा वनस्पतीँ२रनु । ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति ये चैव वनस्पतिषु सर्पा ये चाऽवटेषु शेरते तेभ्य एतन्नमस्करोति' (श०७।४।१।२९) । स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् ।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यप्रदिदर्शयिषया तत्तत्सर्पाद्यात्मना स्थिताय परमात्मन एवैतन्नमस्करणम् ।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यूयं या यातुधानानां ये यान्ति परपदार्थान् दधति तेषामिषवो गतयः, ये वा वनस्पतीननु वर्तन्ते, ये वावटेषु शेरते, तेभ्यश्चञ्चलदुष्टप्राणिभ्यो नमो वज्रं प्रक्षिपत' इति, तदपि न सङ्गतम् । अनेके महात्मानो वनस्पतीनाश्रित्य तिष्ठन्ति, अवटेषु लोके 'भूइंधरा' इत्याख्येषु च शेरते, तेषां कृते वज्रप्रहारोपदेशस्यासङ्गतत्वात् । न च केचनापि सर्पाः परधनापहारिणामिषवो गतयो भवन्ति, जीवानां गतिरूपत्वायोगात्, 'यातुधानप्रेषिता हैके दशन्ति' इति श्रुतिविरोधाच्च ॥ ७ ॥

ये वा॒मी रो॑च॒ने दि॒वो ये वा॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिषु॑ ।
येषा॑म॒प्सु सद॑स्कृ॒तं तेभ्य॑: स॒र्पेभ्यो॒ नम॑: ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—जो सर्प सम्पूर्ण द्युलोक के दीप्तिमय स्थान में हैं, जो हमें नहीं दिखाई पड़ते अथवा जो सूर्य की किरणों में निवास करते हैं, जिन्होंने जल में अपना स्थान बनाया है, उन सभी प्रकार के सर्पों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ८ ॥

दिवो द्युलोकस्य रोचने दीप्तस्थाने ये चामी सर्पा अस्माभिरदृश्यमानाः सन्ति, तथा सूर्यस्य रश्मिषु ये सर्पा वसन्ति, येषां सर्पाणामप्सु जलेषु सदः स्थानं कृतम्, तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु, 'रोचनो ह नामैष लोको यत्रैष एतत्तपति' (श० ७।१।१।२४) इति श्रुतेः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'ये वामी रोचने दिवः । ये वा सूर्यस्य रश्मिषु येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति यत्र यत्रैते तदेवैभ्य एतन्नमस्करोति नमो नम इति यज्ञो वै नमो यज्ञेनैवैनानेतन्नमस्कारेण नमस्यति तस्मादु ह नायज्ञियं ब्रूयान्नमस्त इति यथा हैनं ब्रूयाद्यज्ञस्त इति तादृक् तत्' (श० ७।४।१।३०) । तृतीयं सर्पनाममन्त्रमनूद्य मन्त्रत्रयतात्पर्यं व्याचष्टे—ये वामीति । सर्वत्र वाशब्दश्चार्थे । दिवो द्युलोकस्य सम्बन्धिनि रोचने रोचमाने स्थाने ये च अमी सर्पाः सूर्यस्य रश्मिषु च ये वर्तन्ते, येषां सर्पाणामप्सु उदकमध्ये सदः सदनं स्थानं कृतमस्ति, तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति । यत्र यत्रेत्यादिना मन्त्रत्रयतात्पर्यकथनम् । यत्र यत्र देशे एते सर्पा वर्तन्ते, तत्र तत्रैव एभ्यः सर्पेभ्यो नमो नम इति त्रिष्वपि मन्त्रेषु पठितानां नमःशब्दानां संग्रहार्था पुनरुक्तिः । नमो नम इति पुनः पुनर्नमः-

शब्दप्रयोगेण एतान्नमस्करोति। नमस्कारं स्तौति—यज्ञो वै नम इति। देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागो यज्ञः, स यथा देवताप्रीतिकरस्तद्वन्नमस्कारोऽपीति तस्य यज्ञात्मकता। तथा च यज्ञात्मकेन नमस्कारेण एतान् सर्पान् नमस्यति पूजयति। नमसः पूजायामर्थे 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' (पा० सू० ३।१।१९) इति क्यचि रूपम्। प्रासङ्गिकं किञ्चिदाह श्रुतिः—तस्मादिति। यस्मादेवं नमस्कारप्रतिपादको नमःशब्दोऽपि यज्ञात्मकः प्रयुज्यते, तस्मादेव कारणाद् अयज्ञियं यज्ञानर्हं हे देवदत्त नमस्तुभ्यमित्येवं न ब्रूयात्। कथं तर्हि ब्रूयात्? 'भो देवदत्त नमस्ते' इत्येव ब्रूयात्। तस्य वचनस्य यज्ञियत्वमाविष्करोति—यथा खल्वेनमतिथिं ब्रूयाद् यज्ञस्ते कल्पित इति तादृक् तत्सदृशमेव तन्नमस्ते इति वचनम्।

अध्यात्मपक्षे—परस्यैव सर्वात्मत्वदिदर्शयिषया पूर्ववदेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, येऽमो दिवो विद्युतो रोचने दीप्तौ सूर्यस्य रश्मिषु येषां वाप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो दुष्टप्राणिभ्यो नमो वज्रं दत्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, पूर्वोक्तशतपथश्रुति-विरोधाच्च ॥ ८ ॥

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ२इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप शत्रुओं का नाश करने वाले हो, आप उनकी तरफ बढ़ो। जैसे सहायवान् राजा हाथी पर चढ़कर शत्रुओं पर आक्रमण करता है, वैसे ही तुम आगे बढ़ो। पक्षियों को पकड़ने के लिये जैसे जाल बिछाया जाता है, वैसे ही तुम अपने बल का विस्तार करो, मजबूत जाल में शत्रुओं को फँसाने वाले राक्षसों को तुम शिक्षा दो ॥ ९ ॥

'उपविश्य पञ्चगृहीतं जुहोति पुरुषे कृणुष्व पाज इति प्रत्यृचं प्रतिदिशं परिसर्पम्' (का० श्रौ० १७।४।७)। अध्वर्युराज्यं संस्कृत्य पञ्चगृहीतमादायात्मानमारुह्य पुरुषान्तिके उपविश्य प्रतिदिशं गत्वा पुरुषस्योपरि पञ्चभिर्जुहोतीति सूत्रार्थः। पञ्चगृहीतमाज्यं हिरण्मये पुरुषे कृणुष्व पाज इत्यादिभिः पञ्चभिर्ऋग्भिः क्रमेण प्रागाद्यूर्ध्वान्तं पञ्चदिशोऽभिलक्ष्य जुहुयादित्यर्थः। वामदेवदृष्टा राक्षोघ्नाः प्रतिसरा अग्निदेवत्याः पञ्च त्रिष्टुभः। प्रतिसरशब्देनाग्निदेवत्या रक्षोघ्ना मन्त्रा उच्यन्ते। 'पाज इति बलनामसु' (निघ० २।९।२)। हे अग्ने, पाजो बलं कृणुष्व कुरुष्व। तत्र दृष्टान्तः—पृथ्वीं विशालां प्रसितिं न प्रसितिमिव। प्रसितिर्जालम्, 'पाजः पालनात्....प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वा' (निरु० ६।१२) इति यास्कोक्तेः, 'षिञ् बन्धने' प्रसीयन्ते प्रबध्यन्ते पक्षिणो मृगा वा यया सा प्रसितिः, ताम्। नकार इवार्थकः। अर्थाद् मृगबन्धनहेतुभूतां वागुरामिव पृथ्वीं प्रसारितामतोऽनन्तरं याहि। पक्षिग्रहणाय प्रसारितं जालमिव शत्रुग्रहणाय बलं प्रसारयेत्यर्थः। ततो राजेव नृप इव अमवान् सहायवान् इभेन गजेन याहि शत्रून् प्रति गच्छ। अमन्तीत्यमाः सेवकाः। 'अम् गत्यादिषु' आदिशब्देन गतेः परयोः शब्दसम्भक्तिरूपयोरर्थयोर्ग्रहः, 'अम् गतौ शब्दे सम्भक्तौ च' इति तात्पर्यार्थः। अमाः सन्ति यस्यासौ अमवान्। तृष्वीं क्षिप्रगामिनीम्। 'तृष्विति क्षिप्रनामसु' (निघ० २।१५।१०)। प्रसितिं प्रकृष्टसेनां द्रूणानो हिंसन्। 'द्रूञ् हिंसायाम्' द्रूणीतेऽसाविति द्रूणानः, शानच्प्रत्ययः। अस्ता शत्रूणां क्षेप्तासि, अतो रक्षसो राक्षसान् तपिष्ठैरतिसन्तापकैर्बाणैर्विध्य ताडय। अर्थाद् हे अग्ने, मृगबन्धनाय प्रसारितां पृथ्वीं च वागुरां रक्षोनिरोधाय प्रौढबलां कुरु। अमात्ययुक्तो गजेन सहितो राजेव रक्षसामुपरि याहि। क्षिप्रगामिनीं परकीय-सेनामनु पृष्ठतो गत्वा पलायनविशिष्टायां धावयिता भव। पलायमानान् राक्षसान बाणैस्तीक्ष्णैर्विध्य।

यद्वा—हे अग्ने, पृथिवीं विशालां प्रसितिं वागुरामिव पृथुजालमिव वा बलं कुरुष्व अमवान् अमात्मवान् भूत्वा अभ्यमनवान् वा अभ्यमनं शत्रूणां भयादप्रतिपक्षकरणम्। गृहवान् वा भूत्वा शत्रून् प्रति इभेन हस्तिना तद्रूपेण बलेन वा राजेव याहि। तृष्वीमनुप्रसितिं द्रूणानस्तृष्व्या प्रसित्या शत्रून् हिंसन्। विभक्तिव्यत्ययः। यतश्च त्वं तृष्व्या क्षिप्रया प्रसित्या तन्तुना जालेन वा द्रूणानो हिंसन् अस्ता क्षेप्ता असि विकटः कृतास्त्रोऽसि, अतो ब्रवीमि विध्य ताडय छिन्धि रक्षसो राक्षसान् तपिष्ठैस्तप्ततमैः प्रहारैः। यद्वा अतीव तप्ततमैरतिशयेन क्लेशकरैर्बाणादिभिः। पक्षिग्रहणाय प्रसारितं जालमिव शत्रुग्रहणाय बलं प्रसारय। ततो राजेव नृप इव अमात्यादिसेवकयुक्तराजेव याहि। अस्ता शत्रूणां क्षेप्तासि, अतो रक्षसो विध्य ताडय। तपिष्ठैः तपन्ति तापयन्ति वेति तप्तॄणि, अतिशयेन तप्तॄणि तपिष्ठानि, तैस्तादृशैरायुधैः, तृष्व्या क्षिप्रया प्रसित्या वागुरयेव अनुद्रूणानः शत्रून् मारयन्निति मन्त्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुपविश्याभिजुहोति। आज्येन पञ्चगृहीतेन तस्योक्तो बन्धुः सर्वतः परिसर्पᳪ सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्योऽन्नेन प्रीणाति' (श० ७।४।१।३२)। अभिहोमं विधत्ते—अथैनमिति। एनं हिरण्मय-पुरुषम् अभिजुहोति अभितः सर्वासु दिक्षु उपरिहोमेन संस्कुर्यात्। तत्र द्रव्यं विधत्ते—आज्येनेति। आहुति-पञ्चकार्थं पञ्चगृहीतमाज्यं स्रुचि गृहीत्वा तेनाभिजुहुयादित्यर्थः। सर्वतः परिसर्पं तां तां दिशं परिक्रम्य। आभीक्ष्ण्ये णमुल्। परिसर्पणस्य प्रयोजनमाह—सर्वाभ्य इति। सर्वाभ्यो दिग्भ्यः सकाशादेनं पुरुषमन्नेन प्रीणाति। 'यद्वेवैनमभिजुहोति। एतद्वै देवा एतमात्मानमुपधायाबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाᳪसि नाष्ट्रा न हन्युरिति त एतान् राक्षोघ्नान् प्रतिसरानपश्यन् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीमिति राक्षोघ्ना वै प्रतिसरास्त एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रक्षाᳪसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्र एतमात्मानᳪ समस्कुर्वत तथैवैतद्यजमान एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रक्षाᳪसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्र एतमात्मानᳪ संस्कुरुते' (श० ७।४।१।३३)। मन्त्रविध्यर्थमनुवदति—यद्वेवैनमिति। कृणुष्व पाज इत्याद्यान् राक्षोघ्नान् पञ्च मन्त्रान् विधातुमाख्या-यिकामाह—एतद्वै देवा इति। यद्वै न इममिति। नः अस्माकम् इमम् आत्मानम् इह अस्मिन्नवसरे नाष्ट्रा रक्षांसि यद् येनोपायेन न हन्युः, स उपायः क इति विचारितवन्त इत्यर्थः। राक्षोघ्नान् प्रतिसरानित्यादि। राक्षसान् प्रति अस्त्ररूपेण सरन्ति गच्छन्तीति प्रतिसराः 'कृणुष्व पाजः' इत्याद्या मन्त्राः। प्रसिद्धौ वैशब्दः। सा च 'अस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः' इत्यादि मन्त्रवर्णैरवसेया। तथैवैतदित्यादिना उक्तार्थदृष्टान्तमुखेनाभिहोममन्त्रविधिः। 'आज्येन जुहोति। वज्रो वा आज्यं वज्रेणैवैतद्रक्षाᳪसि नाष्ट्रा अपहन्ति पञ्चगृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः.... संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैतद्रक्षाᳪसि नाष्ट्रा अपहन्त्याग्नेयीभिरग्निर्वै ज्योती रक्षोहाऽग्निनैवैतद्रक्षाᳪसि नाष्ट्रा अपहन्ति त्रिष्टुब्भिर्वज्रो वै त्रिष्टुब् वज्रेणैवैतद्रक्षाᳪसि नाष्ट्रा अपहन्ति सर्वतः परिसर्पᳪ सर्वाभ्य एवैतद्दिग्भ्यो रक्षाᳪसि नाष्ट्रा अपहन्ति' (श० ७।४।१।३४)। मन्त्रद्वारा रक्षोहननहेतुतां प्रतिपाद्य द्रव्यमुखेनापि तत्प्रतिपादयति—वज्रो वा इति। 'घृतं खलु वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्' (तै० सं० ६।२।२) इति तैत्तिरीयके प्रसिद्धं घृतस्य वज्ररूपत्वमत्र वैशब्दो द्योतयति। आज्यस्य अग्निज्वालाहेतुत्वादपि वज्रत्वम्। पञ्चर्तवः संवत्सर इति हेमन्तशिशिरयो-र्मासाभिप्रायेण। मन्त्रदेवताद्वारेणार्थं प्रशंसति—आग्नेयीभिरिति। छन्दोद्वारेण स्तौति—त्रिष्टुब्भिरिति।

'पश्चादग्नेः प्राङासीनः। अथोत्तरतो दक्षिणाथ पुरस्तात् प्रत्यङ्ङथ जघनेन परीत्य दक्षिणत उदङ्ङासीन-स्तद्दक्षिणावृत् तद्धि देवत्राऽथानुपरीत्य पश्चात् प्राङासीनस्तथो हास्यैतत् प्रागेव कर्म कृतं भवति' (श० ७।४।१।३५)। पश्चादग्नेरित्यादिना परिसर्पणप्रकार उच्यते। अग्नेः पश्चात् प्रतीच्यां दिशि प्राङ्मुख उपविष्टः सन् प्रथमेन मन्त्रेण पुरुषमभिजुहोति। अथोत्तरभागे दक्षिणामुख उपविष्टः सन् द्वितीयेन

मन्त्रेणाभिजुहोति। अथ पुरस्तात् प्राच्यां दिशि प्रत्यङ्मुख उपविष्टस्तृतीयेन मन्त्रेण। अथ यथेतं प्रतिनिवृत्य जघनेन परीत्य पुरुषस्य पश्चाद्भागेन परिक्रम्य दक्षिणतो दक्षिणस्यां दिश्युदङ्मुख उपविष्टश्चतुर्थेन मन्त्रेणाभिजुहोति। तद्दक्षिणावृदिति। एवं क्रियमाणे सति होमस्य प्रादक्षिण्येन वृत्तिरुपपन्ना भवति। तत्खलु प्रादक्षिण्यं देवत्रा देवसम्बन्धिनि कर्मणि योग्यम्। अथ अनन्तरम् अनुपरीत्य दक्षिणदिक्सकाशात् प्रतीचीं दिशं गत्वा तत्र प्राङासीनः पञ्चमेन मन्त्रेणाभिजुहुयात्। तथैवं सति ह्यस्यैतदभिहोमाख्यं कर्म प्रागपवर्गं कृतं भवति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, प्रशस्ताङ्गवान् श्रीराम, पृथिवीं विशालां प्रसृतिं वागुरामिव पाजो वानरर्क्षबलं कुरुष्व। ततोऽमवान् सुग्रीवजाम्बवदादिसहायवान् राजेव इभे इभेन, विभक्तिव्यत्ययः, इभकोटिप्रबलेन हनूमता शत्रून् रावणादीन् याहि। यतस्त्वममोघबाणानामस्ता प्रक्षेप्तासि, तृष्वीं क्षिप्रप्रसितिं वेगवतीं वागुरां शत्रुबन्धनहेतुभूतां शत्रुसेनां वा द्रूणानो हिंसन् तपिष्ठैरतिशयेन सन्तापकैरायुधैः रक्षसो रावणप्रभृतीन् विध्य ताडय, विनाशयेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे सेनापते, त्वं पाजो बलं कृणुष्व। प्रसृतिं जालं न इव पृथिवीं भूमिं याहि। यतस्त्वमस्ता प्रक्षेप्तासि, तस्मादिभेन हस्तिना अमवान् अमा अमात्या बहवः सचिवा विद्यन्ते यस्य स भवान् राजेव तपिष्ठैरतिशयेन सन्तापकरैः शस्त्रैः प्रसितिं जालं संसाध्य रक्षसश्च द्रूणानो हिंसन् तृष्वीं क्षिप्रगतिमनु विध्य ताडय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सेनापतेः सम्बोधने मानाभावात्, अमशब्दस्य सचिवार्थकत्वे मूलाभावात्, शतपथश्रुतिविरोधश्च ॥ ९ ॥

तव॑ भ्र॒मास॑ आशु॒या प॑त॒न्त्यनु॑ स्पृश धृष॒ता शोशु॑चानः।
तपू॑ᳪष्यग्ने जु॒ह्वा पत॒ङ्गानस॑न्दितो॒ वि सृ॑ज॒ विष्व॑गु॒ल्काः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ— हे अग्नि देवता, आपकी जो शीघ्रगामी ज्वालाएँ पवन से इधर-उधर चलायमान होती हैं, उस प्रगल्भ ज्वालासमूह से प्रकाशमान आप तपाने वाले राक्षसों और पक्षियों को जला डालो। स्रुचा से हूयमान अखण्डित होकर आप सर्वत्र तिरछी, ऊँची-नीची ज्वालाओं को राक्षसों के नाश के लिये छोड़ो, पतंगों के समान राक्षस आपमें प्रविष्ट होकर नष्ट हो जाँय ॥ १० ॥

हे अग्ने, तव ये भ्रमासो भ्रमणशीला विस्फुलिङ्गा वातोद्धूता ज्वालासमूहा वा आशुया आशवः शीघ्रगमनाः। आशुशब्दात् परस्य जसः 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना यादेशः। अथवा आशु यान्तीत्याशुयाः शीघ्रयातारः, पतन्ति गच्छन्ति, तैर्भ्रमैस्तपूंषि तपन्ति सन्तापयन्तीति तपूंषि तापयितॄणि रक्षांसि तानि पतङ्गान् पतन्तः सन्तो गच्छन्तीति पतङ्गाः पिशाचास्तांश्च अनुस्पृश स्पर्शनं कुरु, ज्वालाभिस्तान् दहेत्यर्थः। कीदृग्भूतस्त्वम्? धृषता प्रगल्भेन ज्वालौघेन शोशुचानः, अत्यन्तं शुच्यते वैरूप्यादिनिराकरणेन पूतीभवतीति शोशुच्यते, शोशुच्यत इति शोशुचानो देदीप्यमानः। 'ईशुचिर पूतीभावे' इति दैवादिकाद् यङन्तात् शानच्। जुह्वा स्रुचा हूयमान इति शेषः। असन्दितः अखण्डितः सन् विष्वक् सर्वतस्तिर्यग् ऊर्ध्वमधश्च उल्का ज्वाला रक्षोविघाताय विसृज विविधरूपेण उत्पादय। 'दोऽवखण्डने' इत्यस्य निष्ठायां दितः, सम्पूर्वकः सन्दितः, नञ्समासे असन्दितः। छन्दस्त्वात् ल्यबभावः। इत्युव्वटाचार्या महीधराचार्याश्च।

अध्यात्मपक्षे—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० १।२।१५) इति रीत्या श्रीरामरूपेणावतीर्णः परमात्मैवात्राग्निपदेन सम्बोध्यते। हे अग्ने, खलवनदवाग्ने! ये तव भ्रमासो भ्रमणशीला वानरभटा आशुयाः

शीघ्रगमना मनोजवा राक्षसेषु पतन्ति तैः पतङ्गान् पतन्तो गच्छन्ति ये ते पतङ्गास्तान् पिशाचांश्च तपूंसि तापयितॄणि रक्षांसि शत्रूंश्च अनुस्पृश सन्दह । धृषता धृष्टेन प्रगल्भेन वानरर्क्षभटसमूहेन शोशुचानो भृशं देदीप्यमानः स्रुचा स्रुगादिभिर्जुह्वा समर्च्यमान इति शेषः । असन्दितः अखण्डितः, विष्वक् सर्वतः, उल्का विद्युत्पातानिव बाणसमूहान् विसृज रक्षोविघातायेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने सेनापते, शोशुचानो भृशं पवित्राचरणस्त्वं ये तव भ्रमासो भ्रमणशीला वीरा यथा विष्वक् सर्वत आशयाः शीघ्रगमना उल्का विद्युत्पातास्तथा शत्रुषु पतन्ति, तान् धृषता दृढेन सैन्येन अनुस्पृश अनुगतो भव । असन्दितः अखण्डितः सन् जुह्वा आज्यहवनसाधनतया अग्नेः अग्निरिव वर्तमानस्तपूंषि तापा इव शत्रूणामुपरि सर्वतो विततो विसृज । पतङ्गान् सुशिक्षितानश्वान् कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य अप्रामाणिकत्वात्, 'धृषता' इत्यस्य दृढेन सैन्येनेति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्, निघण्टुरीत्या पतङ्गशब्दस्याश्वार्थकत्वेऽपि 'सुशिक्षितान् कुरु' इत्यस्य निर्मूलत्वात् ॥ १० ॥

प्रति स्पशो विसृ॑ज॒ तूर्णि॑तमो॒ भवा॑ पा॒युर्वि॒शो अ॒स्या अद॑ब्धः ।
यो नो॑ दू॒रे अ॒घशं॑ᳬसो॒ यो अन्त्य॑ग्ने॒ मा कि॑ष्टे॒ व्यथि॒राद॑धर्षीत् ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, हमारा दूर देश में जो शत्रु स्थित है, अथवा वर्तमान में निकट है, आप उसकी तरफ तीव्र गति से बढ़कर उसे बाँध लो । आप हमारी प्रजा के रक्षक बनो । कोई भी शत्रु आपको पराजित न कर सके ॥ ११ ॥

अत्र तृतीयपादस्य प्रथमं व्याख्यानम्, यच्छब्दयोगात् । यः अघशंसः अघं पापं शंसतीच्छतीति तथाविधः, अस्मद्द्रोही अथवा अघस्य पापस्य शंसः शंसक उत्कीर्तकः कश्चन दुर्जनो दूरे वसतीति शेषः । यश्च अन्ति समीपे वसति तं प्रति हे अग्ने ! स्पशः स्पशन्ति बध्नन्तीति स्पशस्तान् 'स्पश बाधनस्पर्शनयोः' इति भौवादिकस्य रूपम् । प्रणिधीन् गुप्तचारकान् विसृज प्रेरय । अपि च, अस्या अस्मदीयाया विशः प्रजायाः पायुः पालको भव । पातीति पायुः । कीदृशस्त्वम् ? तूर्णितमः, तूर्णं वेगोऽस्यास्तीति तूर्णी, अतिशयेन तूर्णी तूर्णितमो वेगवत्तरः । अदब्धः अनुपहिंसितः । एवं चेत्थमस्मदनुग्रहार्थं प्रवृत्तस्य ते मा किः मा कश्चिद् इत्यस्य स्थाने 'किः' इति प्रयोगश्छान्दसः । अथवा माकिरित्यव्ययपदं परिवर्जने । व्यथिः व्यथयतीति व्यथिः पीडकः शत्रुः । आदधर्षीद् मा धाष्टर्यं कार्षीत् । अर्थाद् दूरस्थान् समीपस्थांश्चास्मच्छत्रून् प्रति त्वरितं बन्धकान् प्रेरय । केनाप्यहिंसितोऽस्मत्प्रजापालको भव, राक्षसाश्च त्वां प्रति धृष्टा मा सन्त्वित्यर्थः । 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' इति लुङि छान्दसं द्वित्वम्, अडभावश्च माङ्योगादिति काण्वभाष्ये सायणः । अघशंसः पापस्योत्कीर्तको दुर्जन इत्युव्वटाचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने निशाचरचमूदाहक रामचन्द्र, नोऽस्माकं दूरे बाह्यो योऽघशंसश्चौरादिः, यश्चान्ति समीपे अघशंसः कामादिरनिष्टेच्छुः शत्रुरस्ति, तं प्रति स्पशो बन्धनकृतः प्रणिधीन् विसृज । तूर्णितमः अतिशयं त्वरन् अदब्धः कस्याप्यनुपहिंसितो विशः प्रजायाः पायू रक्षको भवा भव । हे भगवन्, एवमस्माकमनुग्रहे प्रवृत्तस्य ते तव व्यथिर्व्यथयिता शत्रुः, मा किः मा कश्चिद् आदधर्षीत् प्रत्यनीको भवतु ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने अग्निवच्छत्रुदाहक, ते तव नोऽस्माकं च यो व्यथिर्व्यथकः शत्रुः, अघशंसः योऽघं पापं कर्तुं शंसति स स्तेनः, दूरे विप्रकृष्टे अन्ति निकटेऽस्ति, यथा सोऽस्मान् माकिः निषेधे, अत्र मकिधातोर्बाहुलकादिन् नुमभावश्च, दधर्षीत् धर्षेत, तं प्रति त्वं तूर्णितमः अतिशयेन त्वरितः सन् भव, स्पशो बन्धनानि विसृज,

अस्या विशः प्रजायाः पायुः रक्षकः अदब्धोऽहिंसको भव' इति, तदपि न युक्तम्, मनुष्यविशेषस्य संबोधने मानाभावात् । नह्यल्पज्ञो दूरस्थान् अन्तिकस्थांश्च शत्रून् ज्ञातुं प्रभवति, न वा तेषु बन्धनानि प्रक्षेप्तुं शक्नोतीति व्यर्थमेतत् प्रार्थनम् ॥ ११ ॥

उद॑ग्ने तिष्ठ प्रत्यात॑नुष्व न्यमित्राँ॑२ओषतात् तिग्महेते ।
यो नो अरा॑तिँ समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यत॒सं न शुष्क॑म् ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, आप जागृत होकर अपनी ज्वालाओं का विस्तार करो । हे उत्साहरूप आयुध वाले, आप शत्रुओं को पूरी तरह से भस्म कर दो । हे दीप्तिमान् ! हमारे जो शत्रु दान का प्रतिषेध करते हैं, उनको पूरी तरह से भस्म कर दो । जिस प्रकार आप सूखे अलसी के पौधों को भस्म कर देते हैं, उसी तरह से हमारे शत्रुओं का नाश कर दो ॥ १२ ॥

हे अग्ने, त्वम् उत्तिष्ठ । ततः प्रत्यातनुष्व ज्वाला विस्तारय । हे तिग्महेते तिग्मास्तीक्ष्णा उत्साहवन्तो हेतयो वज्रोपमा बाणा यस्यासौ तिग्महेतिः, तत्सम्बुद्धौ, उत्साहवदायुध । 'हेतिर्वज्रनामसु पठितः' (निघ० २।२०।१३) । अमित्रान् शत्रूंश्च नि नितराम् ओषताद् दह । 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' (पा० सू० ७।१।३५) इति हेस्तातङ्ङादेशः । हे समिधान, समिन्धे दीप्यतेऽसाविति समिधानस्तत्सम्बुद्धौ । हे दीप्यमानाग्ने, यो नोऽस्माकम् अरातिं चक्रे दानं प्रतिषेधति तं नीचा नीचैः कृत्वा धक्षि दह । 'दह भस्मीकरणे' इति भौवादिकाद् लोटि मध्यमैकवचने 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लोपे 'दादेर्धातोर्घः' (पा० सू० ८।२।३२), 'खरि च' (पा० सू० ८।४।५५), 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) इति घत्व-चर्त्व-षत्वानि । छान्दसत्वाद्धिकाराभावः । धक्षीति रूपम् । तत्र दृष्टान्तः—शुष्कम् अतसं न शुष्कवृक्षमिव । अतसो वृक्षः । अदातारं दानप्रतिषेधकं वा निर्दहेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने रामचन्द्र, त्वमुत्तिष्ठ भक्तानां रक्षार्थं सन्नद्धो भव । प्रत्यातनुष्व शस्त्रास्त्रजालान् विस्तारय । हे तिग्महेते वज्रोपमायुध, अमित्रान् शत्रून् बाह्यान् आन्तरांश्च न्योषताद् नितरां दह । यश्च नोऽस्मभ्यमरातिमदानं चक्रे अश्रद्धालुः सन् न दातुमिच्छेत्, हे समिधान देदीप्यमान देव, तं नीचा नीचैः कृत्वा अतसं न शुष्कं वृक्षमिव दह ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने सभाध्यक्ष, त्वं राजधर्मं उत्तिष्ठ धार्मिकान् प्रत्यातनुष्व । हे तिग्महेते, तिग्मा तीव्रा हेतिर्वज्रो दण्डो वा यस्य सः, अमित्रान् धर्मद्वेष्टॄन् शत्रून् न्योषतात् । हे समिधान सम्यक् तेजस्विन्, यो नोऽरातिं शत्रुं चक्रे करोति, तं नीचा न्यग्भूतं कृत्वा शुष्कमतसं न काष्ठमिव धक्षि' इति, तन्न, सम्बोधनस्याप्रामाणिकत्वात् । अक्षरार्थस्तु सायणादिकृतानेवार्थाननुसरति ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वो भ॑व प्रति॑विध्याध्यस्मदा॒विष्कृ॑णुष्व दैव्या॑न्यग्ने । अव॑ स्थिरा त॑नुहि यातुजूना॑ जामिमजा॑मि॒ प्रमृ॑णीहि॒ शत्रू॑न् । अग्नेष्ट्वा तेज॑सा सादयामि ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, हमारे ऊपर आक्रमण करने के लिये तत्पर उद्धत शत्रुओं को आप दण्डित करें, दैव सम्बन्धी कर्मों को प्रकट करें, राक्षसों के स्थिर धनुषों को प्रत्यंचा रहित करें, ताड़ित-अताड़ित सभी प्रकार के शत्रुओं का नाश करें । हे स्रुक्‌देवता, मैं अग्नि के तेज से आपको भरता हूँ ॥ १३ ॥

हे अग्ने, ऊर्ध्वो भव ऊर्ध्वस्तिष्ठ। स्थित्वा च अध्यस्मद् अस्मत्त उपरि व्यवस्थितान् शत्रून् प्रतिविध्य प्रतिताडय। दैव्यानि देवसम्बन्धीनि कर्माणि आविष्कृणुष्व प्रकाशीकुरुष्व। किञ्च, यातुजूनां जवनप्रधानानां यातुधानानां स्थिरा स्थिराणि धनूंषि अवतनुहि अवतारय, शिथिलयेत्यर्थः। यज्ञस्य जामिं पुनरुक्तवचनम्, अजामिम् अपुनरुक्तवचनं कृत्वा शत्रून् प्रमृणीहि प्रमारय। पुनः पुनः ताडनमताडनं वा कृत्वा शत्रून् प्रमारयेत्यर्थः। जाम्यजामिशब्दौ पुनरुक्तापुनरुक्तवचनौ। अत्र कात्यायनः—'कार्ष्मर्यमयीं दक्षिणतः पाणिमात्रपुष्करां बाहुमात्रीं पादमात्रीं वा सामर्थ्याद् घृतपूर्णामग्नेष्ट्वेति' (का० श्रौ० १७।४।१२)। कार्ष्मर्यः श्रीपर्णी। तन्निर्मितां पादमात्रदीर्घां षडङ्गुलविपुलां प्रागग्रां घृतपूर्णां स्रुचमग्नेष्ट्वेति यजुषा (वा० सं० १३।१३), अग्निर्मूर्धेति ऋचा (वा० सं० १३।१४) चोपदधाति। आग्नेयं यजुः। हे स्रुक्, अग्नेस्तेजसा त्वा त्वां सादयामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ स्रुचा उपदधाति। बाहू वै स्रुचौ बाहू एवास्मिन्नेतत् प्रतिदधाति·····' (श० ब्रा० ७।४।१।३६)। स्रुचोरुपधानं विधत्ते—अथ स्रुचाविति। तत्प्रशंसति—बाहू वा इति। 'जुहूर्दक्षिणो हस्त उपभृत् सव्यः' (तै० ब्रा० ३।३।१।५) इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः स्रुचोर्बाहुरूपता। तथा सत्येतद् एतेन स्रुगुपधानेन, अस्मिन् हिरण्मयपुरुषे बाहू एव प्रतिदधाति सन्दधाति। 'कार्ष्मर्यमयीं दक्षिणत उपदधाति।···· आज्येन पूर्णा भवति····' (श० ब्रा० ७।४।१।३७)। तत्र दक्षिणपार्श्वे उपधेयायाः स्रुचो वृक्षविशेषं विधत्ते—कार्ष्मर्यमयीमिति। कार्ष्मर्यः, काश्मरी, श्रीपर्णी, गम्भारिरिति समानार्थाः। कुम्भेर, खम्भारी इति लोके प्रसिद्धो वृक्षविशेषः। कार्ष्मर्यवृक्षेण निर्मिता स्रुक्। स्रुच आज्येन पूरणं विधाय स्तौति—आज्येन पूर्णा भवतीति। 'वज्रो वा आज्यं वज्रेणैवैतद् दक्षिणतो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति' (श० ७।४।१।३७)। 'अथौदुम्बरीमुत्तरत उपदधाति' (श० ७।४।१।३८), 'यद्वेव स्रुचा उपदधाति' (श० ७।४।१।३९), 'तावब्रवीत्' (श० ७।४।१।४०) इति ब्राह्मणकण्डिकासु स्रुचोरुपधानमनूद्य तयोर्बाहुरूपतोक्ता। तथाहि तत्र—'प्रजापतेर्विस्रस्तस्याग्निस्तेज आदाय दक्षिणाकर्षत् सोऽत्रोदरमद्यत्कृष्ट्वोदरमत्तस्मात्कार्ष्मर्योऽथास्येन्द्र ओज आदायोदङ्ङुदक्रामत् स उदुम्बरोऽभवत्' (श० ७।४।१।३९)। स्रुचोरुपधानमनूद्य तयोर्बाहुरूपतां वक्तुं तावत्तदुपादानयोर्वृक्षयोरुत्पत्तिमाह—यद्वेवेत्यादिना। विस्रस्तस्य विश्लिष्टावयवस्य प्रजापतेस्तेज आदाय गृहीत्वा अग्निर्दक्षिणतोऽकर्षद् अनैषीत्। स अग्निरत्र कार्ष्मर्यवृक्षे उदरमद् उत्कृष्टम् अरमद् अवात्सीदित्यर्थः। कृषेर्धातो रमेश्च कार्ष्मर्यशब्दो निष्पन्नः। सा च निष्पत्तिर्वर्णविकारेण द्रष्टव्या। अथ अग्निनिर्गमनानन्तरम् अस्य विस्रस्तावयवस्य प्रजापतेरोज आन्तरं वीर्यं स्वीकृत्य इन्द्र उत्तरामुखः सन् उत्तरभागे उदक्रामत्, उत्क्रमणात् स उदुम्बरो वृक्षो जातः।

अनन्तरम्—'तावब्रवीत्। उप मेतं प्रति म एतद्धत्तं येन मे युवमुदक्रमिष्टमिति ताभ्यां वै नौ सर्वमन्नं प्रयच्छेति तौ वै मा बाहू भूत्वा प्रपद्येथामिति तथेति ताभ्यां वै सर्वमन्नं प्रायच्छत्तावेनं बाहू भूत्वा प्रापद्येतां तस्माद् बाहुभ्यामेवान्नं क्रियते बाहुभ्यामद्यते बाहुभ्याꣳ सर्वमन्नं प्रायच्छत्' (श० ७।४।१।४०)। ततस्तावग्नीन्द्रौ प्रजापतिरब्रवीत्। मा उपेतम् उपगच्छतम्। एतद् मदीयमङ्गं प्रतिधत्तं पुनःसन्धानेन संस्कुरुतम्। येन कारणेन मे मदीयशरीराद् युवमुदक्रमिष्टमिति। प्रजापतिवाक्यावसाने इतिशब्दः। ताभ्यामित्यादि तयोरग्नीन्द्रयोर्वाक्यम्। हे प्रजापते, ताभ्यां वै खलु नौ आवाभ्यां सर्वमन्नं प्रयच्छ तर्हि आवां त्वामुपगच्छावेति। 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ' (पा० सू० ८।१।२०) इति चतुर्थ्यन्तस्य नौभावः। पुनः प्रजापतिरब्रवीत्—हे अग्नीन्द्रौ, तौ युवां बाहू भूत्वा मा मां प्रपद्येथां प्रविशतामिति। तौ अग्नीन्द्रावपि तथास्तु इत्यब्रूताम्। एवं तौ वशीकृत्य प्रतिज्ञातप्रकारेण प्रजापतिः सर्वमन्नं ताभ्यां प्रायच्छत्। तौ अग्नीन्द्रावपि बाहू भूत्वा एनं प्रजापतिं प्रापद्येतां प्राप्तवन्तौ। हि यस्मात् प्रजापतिरुक्तक्रमेण सर्वमन्नं प्रायच्छत्, तस्मादेव कारणाद् अन्ननिष्पादनम् अन्नादनं च बाहुकरणकं लोके दृश्यते। 'स कार्ष्मर्यमयीं दक्षिणत

उपदधाति। अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामीति यदेवास्य तदग्निस्तेज आदाय दक्षिणाऽकर्षत्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति' (श० ७।४।१।४१)। इत्थं कार्ष्मर्योदुम्बरयोरुत्पत्तिमग्नेरिन्द्रस्य च बाहुरूपतां प्रतिपाद्य तदुपजीवनेन आग्नेय-मन्त्रेण कार्ष्मर्यमय्याः स्रुच उपधानं विधत्ते—स कार्ष्मर्यमयीमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् श्रीराम, ऊर्ध्वो भव आन्तरबाह्योभयविधशत्रुनिग्रहाय उद्युक्तो भव। अस्मद् अस्मत्त उपरि वर्तमानान् बाह्यान् आन्तरांश्च शत्रून् प्रतिविध्य प्रतिताडय। स्वीयानि दैव्यान्यलौकिकानि सामर्थ्यान्याविष्कृणुष्व प्रकटय। यातुजूनां यातुधानानां स्थिरा स्थिराणि दृढानि शस्त्रास्त्राण्यवतनुहि अवसन्नानि कुरु। किञ्च, यज्ञस्य जामिम् अजामिं वा पुनः पुनस्ताडितमताडितं वा कृत्वा शत्रून् प्रमृणीहि। हे साधक, अग्नेर्भगवतः श्रीरामस्य तेजसा त्वा त्वां सादयामि प्रतिष्ठापयामि।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन् राजन्, यतस्त्वमूर्ध्व उत्कृष्टो भव शत्रून् प्रति विध्य अस्मत् स्थिरा निश्चलानि दैव्यानि देवैर्विद्वद्भिर्निर्वृत्तानि वस्तूनि, आविष्कृणुष्व प्राकट्यं कुरुष्व, सुखानि तनुहि विस्तृणुहि, यातुजूनां ये यान्ति ये च जवन्ते तेषां जामिं भोजनयुक्तम् अजामिं भोजनरहितम् अवतनुहि विनाशय, जमुधातोर्वपादिभ्य इञ्, शत्रून् प्रमृणीहि। तस्मादहं त्वा अग्नेस्तेजसा सादयामि' इति, तदपि न सङ्गतम्, तादृशसम्बोधनस्य स्वकपोलकल्पितत्वात्, देवपदेन वेदेषु योनिविशेषस्य ग्रहणमिति भूमिकायां विस्तरशः साधितत्वात्। 'वसिवपियजि' इत्यादिके औणादिके सूत्रे न वपादिगणः प्रस्तुतः। अत एव दयानन्दीयभाष्यटिप्पण्यामस्याः प्रक्रियायाः प्रामादिकत्वमेवोक्तम्। अपरोऽपि दोषः। इञ्प्रत्यये आद्युदात्तेन भाव्यम्। अस्ति चात्र पदेऽन्तोदात्तता। जाम्यजामिशब्दाभ्यां भोजनाभोजनयुक्तस्थानग्रहणे मानाभावश्च ॥ १३ ॥

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपाᳪं रेताᳪंसि जिन्वति इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि स्वर्गलोक का सिर के समान प्रधान देवता है, बैल के कन्धे के समान सर्वोन्नत एवं जगत् का महान् कारण है। सूर्य रूप से प्रकाश देने के कारण यह पृथ्वी का पालक है। यह जल के सार भाग को पुष्ट करता है, अर्थात् द्युलोक से गिरते हुये वर्षा के जल से अन्न आदि के पकाने की शक्ति देता है, अथवा आहुति के फल से वर्षा को उत्पन्न करता है। हे अग्निदेवता, आपको मैं इन्द्र के तेज से आप्यायित करता हूँ ॥ १४ ॥

तृतीयेऽध्याये द्वादशीयं कण्डिका। व्याख्याता च तत्र। 'एवमौदुम्बरीमुत्तरतो दधिपूर्णामिन्द्रस्य त्वेति' (का० श्रौ० १७।४।१३)। एवंविधामेवोदुम्बरीं दधिपूर्णां स्रुचमुत्तरस्यामुपदधाति, इन्द्रस्य त्वेति यजुषा भुव इति ऋचा च। इन्द्रदेवत्यं यजुः। हे स्रुक्, इन्द्रस्यौजसा तेजसा त्वां सादयामि स्थापयामि।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथौदुम्बरीमुत्तरत उपदधाति। इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामीति यदेवास्य तदिन्द्र ओज आदायोदङ्ङुदक्रामत् तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेतेत्येष उ स इन्द्रः सा यदाग्नेय्यग्निकर्म ह्यथ यत्त्रिष्टुप् त्रैष्टुभो हीन्द्र ऐन्द्राग्नोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनामेतदुपद-धातीन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः सर्वदेवत्योऽग्निर्यावानग्नियावत्यस्य मात्रा तावतैवैनामेतदुपदधाति दध्ना पूर्णा भवत्यैन्द्रं वै दधि स्वेनैवैनमेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति' (श० ७।४।१।४२)। एवं दक्षिणभागे कार्ष्मर्यमय्युपधानमुक्त्वा तथैवोत्तरभागे औदुम्बर्युपधानमिन्द्रदेवत्येन यजुषा कर्तव्यमित्याह—अथौदुम्बरीमिति। अत्रैव मन्त्रान्तरं विधत्ते -भुवो यज्ञस्येति। एष उ स इन्द्र इति। एष खलु चित्योऽग्निः स प्रसिद्धो

मन्त्रप्रतिपाद्य इन्द्रः। सा यदित्यादि। सा भुवो यज्ञस्येति ऋग् यस्मादाग्नेयी, कथमैन्द्रे औदुम्बरीस्रुगुपधाने विनियोग इत्यत्राह—अथ यत्त्रिष्टुबिति। यस्मात् सा ऋक् त्रिष्टुप्छन्दस्का तस्मादैन्द्रे कर्मणि विनियोक्तुमर्हा, यस्मादिन्द्रस्त्रिष्टुप्छन्दसा सहोत्पन्नः। अभिधावृत्त्या छन्दोद्वारेण च मन्त्रस्योपाधिसिद्धमिन्द्राग्निदेवताकत्वं प्रशंसति—ऐन्द्राग्नोऽग्निरिति। एतदेव विवृणोति—इन्द्राग्नी वै सर्वे देवा इति। इन्द्रस्य अधिपतित्वात् सर्वदेवतात्मकत्वम्। अग्नेरपि सर्वान् देवान् प्रति हविषो वहनात् सर्वदेवतात्मकता। यद्वा इन्द्रस्य प्राथम्याद् अग्नेश्चरमभावित्वात् तदन्तरवर्तिन एव सर्वे देवा इतीन्द्राग्न्योः सर्वदेवतात्मकत्वम्। चित्याग्निश्च सर्वदेवत्यः सर्वदेवताप्रीतिकरः। दध्ना पूरणमनूद्य स्तौति—दध्ना पूर्णेति। ऐन्द्रं वा इत्यादि। ऐन्द्रम् इन्द्रदेवत्यं खलु दधि, दर्शयागे इन्द्रं प्रति दध्नो हविष्ट्वेन दीयमानत्वात्, 'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्' (तै० सं० २।५।२) इति श्रुतेः। स्वेन रसेनेति। इन्द्रस्य स्वकीयो रसः सान्नाय्यम्। वृत्रवधानन्तरमिन्द्रशरीरान्निर्गतस्य पृथिव्यामोषधिवीरुदात्मना परिणतस्य पशुभिर्भक्षणेनात्मन्याहृतस्येन्द्रसम्बन्धिनो वीर्यस्यैव पयोरूपेण परिणामात् तद्विकारभूतं दध्यपि परम्परया इन्द्रस्य स्वकीयो रसः। एतदेव—'इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यम्' (तै० सं० २।५।३) इत्यादिना श्रुत्यन्तरे प्रपञ्चितम्। अन्यत् स्पष्टम्।

'तावस्यैताविन्द्राग्नी एव बाहू। तावेनं तेजसा च वीर्येण च सह प्रपद्येते स सम्प्रत्युरः पुरुषमाकाश्य यत्राभ्याप्नोति तदालिख्यैने उपदधात्येष हैतयोर्लोकः' (श० ७।४।१।४३)। अस्य प्रजापतेरिन्द्राग्नी बाहू अभूताम्। स्रुचोरुपधाने स्थानविशेषमाह—स सम्प्रतीति। सोऽध्वर्युरुपहितस्य हिरण्मयपुरुषस्य उरः, सम्प्रति उरःप्रदेशेन समानं स्रुचौ उपदध्यात्। तत्कथमिति चेदुच्यते—पुरुषमाकाश्य अभिज्ञाय यत्र यस्मिन् स्थाने उपहितं स्रुग्द्वयं तदुरःप्रदेशमभ्याप्नोति, तत् तत्र आलिख्य चिह्नं कृत्वा एने स्रुचौ उपदध्यात्। एष य उरोदेशः खल्वेतयोर्बाहुसंस्तुतयोर्लोकः स्थानमित्यर्थः। 'ते हैके तिरश्च्या उपदधति। तिर्यञ्चौ वा इमौ बाहू' (श० ७।४।१।४४) इति पूर्वपक्षस्य 'न तथा कुर्यात्' इति प्रतिषिद्धय प्रागग्रत्वमुपपाद्य स्रुचोरपि प्रागग्रतैव युक्तेति सिद्धान्तयति श्रुतिः—'नैतस्य पुरुषस्य बाहू कुर्यात्' (श० ७।४।१।४५) इति। ते स्रुचौ उपहिते खलु बाहू, तदतिरिक्तौ बाहू न कार्याविति पूर्वपक्षस्य कुर्यादेवेति सिद्धान्त उक्तः।

अध्यात्मपक्षे—अग्निः परमेश्वरः श्रीरामः, दिवो द्युलोकस्य मूर्धा शिरोवदुत्कृष्टः। पृथिव्या भूमेः ककुत्तुल्यः पतिः पालकः, अयं भक्तैरपरोक्षतया सूर्यरूपेण उपलभ्यमानो भगवान् अपां जलानां रेतांसि वीर्याणि व्रीहियवादिरूपेण परिणतानि जिन्वति प्रीणयति तर्पयति वर्धयति च।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यथायमग्निः सूर्यो दिवः प्रकाशयुक्तस्याकाशस्य पृथिव्या भूमेर्मूर्धा, सर्वेषां शिर इव ककुद् महान् पतिः पालकोऽपां रेतांसि वीर्याणि जिन्वति तर्पयति तथा त्वं भव। अहं त्वामिन्द्रस्य सूर्यस्य ओजसा पराक्रमेण राज्याय सादयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेरप्रामाणिकत्वात्। तथा त्वं भवेत्यादिकमपि कपोलकल्पितमेव, मन्त्रे तदभावात्। अपां रेतांसि जिन्वतीत्यपि निरर्थकमेव, रेतसां तर्पणीयत्वायोगात्॥ १४॥

भुवो॑ य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भिः॒ सच॑से शि॒वाभिः॑।

दि॒वि मू॒र्धानं॑ दधिषे स्व॒र्षां जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे हव्य॒वाह॑म्॥ १५॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप जब हवि धारण करने वाली जिह्वा रूप ज्वाला को प्रकट करते हैं, तब द्रव्य-देवतात्यागात्मा यज्ञ के और यज्ञ के परिणामरूप जल के प्रवर्तक और पावक होते हो। यहाँ मंगलरूप अश्वों के साथ आते हो और द्युलोक में स्वर्ग देनेवाले आदित्य को धारण करते हो॥ १५॥

त्रिशिरोदृष्टा अग्निदेवत्या त्रिष्टुप्। हे अग्ने, त्वं यदा हव्यवाहं हव्यं वहतीति हव्यवाट्, तां हविषो वोढ्रीं जिह्वां ज्वालां चकृषे करोषि। लडर्थे लिट्। तदा यज्ञस्य देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागात्मनो नेता भुवो भवसि। भवतेर्लेटि मध्यमैकवचने सिपि 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपे 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (पा० सू० ६।४।७७) इत्युवङि च कृते भुव इति रूपम्। रजसो यज्ञपरिणामरूपोदकस्य च नेता भवसि। यत्र यस्मिन् स्थाने शिवाभिर्मङ्गलरूपाभिर्नियुद्भिरश्वाभिस्त्वं सचसे समवैषि सम्बन्धं प्राप्नोषीति यावत्। नियुतो नाम वायोरश्वाः। ताभिर्वायुर्लक्ष्यते, तेन चान्तरिक्षम्। यत्र च दिवि द्युलोके मूर्धानमादित्यं दधिषे धारयसि। अत्रापि लिट् लडर्थे। कीदृशं मूर्धानम्? स्वर्षां स्वः स्वर्गं सनोति ददातीति स्वर्षाः। 'षणु दाने' इत्यस्मात् 'जनसनखनक्रमगमो विट्' (पा० सू० ३।२।६७) इति विट्प्रत्यये 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इति नकारस्य आत्वे कृते रूपम्। यद्वा स्वः स्वर्गे स्यति अवसानं भजते स्थिरं तिष्ठतीति स्वर्षाः, तम्। 'षोऽन्तकर्मणि' अस्मात् क्विपि 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० सू० ६।१।४५) इत्यात्वे रूपम्। अन्तरिक्षे द्युलोके यज्ञस्य रजसश्च नेता भवसीत्यर्थः। यत्रेत्यस्य संहितायाम् 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१२६) इति दीर्घः। यस्य तवैतत्कर्म तं त्वां स्रुग्रूपेण स्थापयामीति पूर्वतोऽनुवृत्तम्।

उव्वटाचार्यरीत्या—यज्ञस्य द्रव्यदेवतात्यागात्मनो नेता देवयानपितृयानमार्गानुसारिणो रजसश्चोदकस्य यज्ञपरिणामभूतस्य नेता भवसि जगदुत्पत्त्यर्थम्। कुत्र नेता भवसीत्याह—यत्र यस्मिन् स्थाने नियुद्भिर्नियुद्गुणविशिष्टाभिः शिवाभिरश्वाभिः सहितं वायुं सचसे सेवसे 'नियुतो वायोरित्यादिष्टोपयोजनानि' (निघ० १।१५) इति नियुद्भिर्वायुर्लक्ष्यते, वायुना चान्तरिक्षम्। अत्रेदमवधेयम्—'दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय' (निरु० २।२८) इत्युत्तराणि यानि दशाश्वनामानि, तान्यादिष्टोपयोजनान्यादिष्टेनादेशेनोपदेशेनोपयोजनमुपयोगो येषां तानि, तथाविधानीत्यर्थः। शास्त्रैर्वा आचार्यैर्वा यथोपदिश्यते, यथा हरी इन्द्रस्य रोहितोऽग्नेः, तदनुसार्येव एतेषामुपयोगः। अयं चोपयोगोऽनादिष्टदैवतेषु मन्त्रेषु, एतेषां शब्दानां साहचर्येणामुकदैवतोऽयं मन्त्र इति ज्ञातव्य इति यावत्। यथाऽत्र 'नियुतो वायोः' (निघ० १।१५) इत्यादेशाद् नियुद्भिःशब्देन वायुर्लक्ष्यते, तद्वत्। अत्रत्यं ब्राह्मणम्—'अथौदुम्बरीमुत्तरत उपदधाति' इत्यादि पूर्वमेवोद्धृतम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम, त्वं यज्ञस्य नेता आचरणेन मर्त्यान् शिक्षयन् प्रवर्तकः। तथा च श्रीमद्भागवतम्—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः' (भा० पु० ५।१९।५)। श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणमपि—'प्रचारज्ञश्च कर्मणाम्' (सुन्दरकाण्डे ३५।१२) इति। रजसो लोकस्य नेता सन्मार्गे प्रवर्तकः। कुत्र नेतासीत्याह—यत्र शिवाभिर्मङ्गलाभिर्नियुद्भिरश्वाभिः सहितं वायुं सचसे सिञ्चसि स्वसम्बन्धेनानुगृह्णासि। यत्र दिवि द्युलोके मूर्धानमादित्यं दधिषे। कीदृशं मूर्धानम्? स्वः स्वर्गे स्यति तिष्ठतीति स्वर्षास्तम्। हे अग्ने, त्वं यज्ञवाहं जिह्वां यज्ञनिर्वाहाय तद्रसास्वादाय जिह्वां चकृषे, उपलक्षणमेतत्। अप्राणो ह्यमना अपि सन् भक्तेच्छानुसारेण मनः प्राणान् जिह्वादिकमपि निर्माय भक्तसमर्पितवस्तून्यास्वादयसीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्! यथाग्निर्नियुद्भिर्वायोर्वेगादिगुणैः सह रजसो लोकस्य ऐश्वर्यस्य वा नेता नयनकर्ता सन् दिवि न्यायप्रकाशे मूर्धानं शिरो धरति, तथा यत्र राज्ये शिवाभिः कल्याणकारिकाभिर्नीतिभिः सह भुवः पृथिव्या यज्ञस्य राजधर्मस्य सचसे समवैषि राज्यं दधिषे धरसि, हव्यवाहं होतुं दातुमर्हाणि प्रज्ञानानि वहन्ति यया तां जिह्वां जोहवोति यया तां वाचं चकृषे करोषि, तत्र सर्वाणि सुखानि वर्धन्त इति जानीहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्यैवाप्रामाणिकत्वात्। यत्र राज्ये इत्यपि निर्मूलम्, नियुद्भिर्वायुवेगादिगुणैर्युक्तो

वायुर्दिवि न्यायप्रकाशे मूर्धानं धरतीत्यादिकं सर्वं निष्प्रमाणं स्वकपोलकल्पितं च। भुवः पृथिव्या यज्ञस्य राजधर्मस्य पालयितेत्यादिकं सर्वं निराधारमेव, प्रकृतिप्रत्ययार्थविरोधात्। किं बहुना, सर्वत्रैवान्वयानुपपत्तिं तात्पर्यानुपपत्तिं चान्तरा गौणार्थाश्रयणेन वेदार्थपारम्पर्योपरोधमेव करोत्ययं व्याख्याता ॥ १५ ॥

ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा। मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीं दृᳬंह ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णा नामक देवी, तुम भूमि रूप से विश्व को धारण करने वाली हो, प्रजापति द्वारा विस्तृत की गई हो, दृढ़ हो। समुद्र तुमको नष्ट न कर सके, अचल होकर तुम भूभाग को दृढ़ करने में समर्थ हो, इस कारण तुम इस पृथ्वी को दृढ़ करो ॥ १६ ॥

'स्वयमातृण्णां पुरुषे शर्करां छिद्रां ध्रुवासीति' (का० श्रौ० १७।४।१५)। हिरण्मयस्य पुरुषस्योपरि शर्करां पाषाणमयीं छिद्रां छिद्रवतीं स्वयमातृण्णाख्यामिष्टकामुपदध्याद् ध्रुवासीति मन्त्रेण। छिद्राणि सन्त्यस्यामिति छिद्रा ताम्। 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा० सू० ५।२।१२७) इत्यच्। छिद्राणि तत्र स्वाभाविकान्येव भवेयुर्न कृत्रिमाणीति। अश्ममयी इष्टकैव स्वयमातृण्णेति। अत एव स्वयमातृण्णेत्यभिधानं तस्याः। द्वादशाक्षरपादा त्रिपादा ऊर्ध्वबृहती। अत्र प्रथमस्त्रयोदशार्णः, तृतीयो दशार्णः। हे स्वयमातृण्णे, त्वं ध्रुवा स्थिरासि। कीदृशी त्वम्? धरुणा भूमिरूपेण विश्वस्य धारयित्री। विश्वकर्मणा विश्वं करोतीति विश्वकर्मा तेन। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिन्। विश्वकर्त्रा प्रजापतिना आस्तृता उपहिता। समुद्रो रुक्मस्त्वा मोद्वधीत् स्वोदरमध्ये निमज्जनलक्षणं वधं मा कार्षीत्। सुपर्णः पक्षिराजोऽपि सर्पोद्यमनवेलायां त्वामादाय मोद्वधीत्। दूरे तत्परित्यागलक्षणं वधं मा कार्षीत्। एवं सत्यव्यथमाना भयरहिता त्वं पृथिवीमिमां दृंह दृढीकुरु। यद्वा सुपर्णः पुरुषश्च त्वां मोद्वधीत्, 'रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्णः' (श० ७।४।२।५) इति वक्ष्यमाणश्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स्वयमातृण्णामुपदधाति। इयं वै स्वयमातृण्णेमामेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हितां पुरुषादुपदधात्यन्नं वै स्वयमातृण्णेयं वै स्वयमातृण्णेयमु वा अन्नमस्याᳬं हि सर्वमन्नं पच्यतेऽनन्तर्हितमेवास्मादेतदन्नं दधात्युत्तरामुत्तरमेवास्मादेतदन्नं दधाति' (श० ७।४।२।१)। अत्र ब्राह्मणे स्वयमातृण्णादूर्वेष्टकाद्युपधानं विधास्यते। तथाह कात्यायनः—'स्वयमातृण्णां……शर्करां छिद्रां……' (का० श्रौ० १७।४।१५) इति। पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वत एव छिद्रयुक्ता शर्करा क्षुद्रपाषाणविशेषः सा स्वयमातृण्णा, तां हिरण्मये पुरुषे उपदध्यात्। तद्विधत्ते—स्वयमातृण्णामुपदधातीति। अत्र स्वयमातृण्णाख्यामिष्टकामुपदध्यादिति विधिरुन्नेयः। यथा 'औदुम्बरो यूपो भवत्यूर्ग्वा उदुम्बर ऊर्क् पशव ऊर्जैवास्मा ऊर्जं पशून् अवरुन्धे' (तै० सं० २।१।१।६) इति श्रुतौ भवतीति वर्तमानापदेशत्वात् प्रत्यक्षविधित्वासम्भवेऽपि 'ऊर्ग्वा उदुम्बरः' इत्याद्यर्थवादकृतस्तुत्या विधिरुन्नीयत इति प्रथमाध्याये द्वितीयपादे द्वितीयाधिकरणे निर्णीतम्। ननु 'ऊर्ग्वा उदुम्बरः' इत्यादेर्यूपोदुम्बरस्य फलाभिधायकत्वात् कथमर्थवादत्वमिति चेन्न, अविहितस्य फलाभिधानायोगाद् विहितस्यैव तदिति वक्तव्यम्। विधिश्च तस्यार्थवादत्वमन्तरेण न सम्भवतीति। एवमेवात्रापि 'इयं वा' इत्याद्यर्थवादस्य वर्तमानापदेशत्वाद् उन्नेतव्यो विधिः। एवमन्यत्रापि वर्तमानापदेशेष्वयमेव न्यायो द्रष्टव्य इति श्रीसायणाचार्याः। तस्याः स्वयमातृण्णायाः पृथिवीविकारत्वात् तदुपधानेन पृथिव्युपधानमेव सम्पादितं स्यादित्याह—इयं वा इति। यदुक्तं सूत्रे पुरुष इति तद्विधत्ते—तामनन्तर्हितामिति। तामिष्टकां पुरुषादनन्तर्हिताम् अव्यवहितां तत्सम्बद्धामुपदध्यादित्यर्थः। पुरुषसम्बद्धत्वेनोपधानं

प्रशंसति—अन्नं वा इति । पृथिव्यां व्रीह्यादीनां सर्वेषामन्नानां पच्यमानत्वादन्नरूपा हि पृथिवी । स्वयमातृण्णा च पृथिवीत्युक्तम् । अतश्च पुरुषसम्बद्धेनोपधानेन तस्मिन्नन्नं निहितवान् भवति । अनन्तर्हितामित्युक्तत्वात् क्वचित् तत्पार्श्वे संश्लेषेणाप्यव्यवधानमुपपद्यत इत्यत आह—उत्तरामिति । उत्तरां पुरुषस्य उपरि अवस्थिताम् । विधेयविशेषणमेतत् । अत एव सूत्रे 'पुरुषे' इति सप्तम्योपधानाधिकरणत्वमुक्तम् । उत्तरमेवास्मादिति । अस्मात् पुरुषाद् उत्तरम् उपर्यवस्थितम् अन्नं करोति, पुरुषस्य मुखे दधातीति भावः ।

'यद्वेव स्वयमातृण्णामुपदधाति । प्राणो वै स्वयमातृण्णा प्राणो ह्येवैतत् स्वयमात्मन आतृन्ते प्राणमेवैतदुप-दधाति तामनन्तर्हितां पुरुषादुपदधाति प्राणो वै स्वयमातृण्णेयं वै स्वयमातृण्णा इयमु वै प्राणो यद्धि किञ्च प्राणीयं तत्सर्वं बिभर्त्यनन्तर्हितमेवास्मादेतत्प्राणं दधात्युत्तरामुत्तरमेवास्मादेतत् प्राणं दधाति' (श० ७।४।२।२)। विहितां स्वयमातृण्णामनूद्य प्राणात्मना स्तौति -यद्वेवेति । स्वयमातृण्णामुपदधातीति यदस्ति तत्कारणमुच्यत इत्यर्थः । प्राणो नाम शरीरान्तर्वर्तमानो वायुः । स ह्यात्मनोऽर्थे स्वयमातृन्ते आतर्दनं कुरुते शरीरान्तर्गतनाडीष्ववकाशं कृत्वा प्रवर्तते । अथवा आत्मनः शरीरस्य अन्त आतृन्ते । 'उतृदिर् हिंसानादरयोः' इत्यस्माद् आङ्पूर्वकाद् रौधादिकाल्लटि 'आतृन्ते' इति रूपम् । अतः स्वयमातर्दनसामान्यात् स्वयमातृण्णायाः प्राणात्मत्वमित्यर्थः । विहितमव्यवधानमनुवदन् न केवलमातर्दनसामान्यात् स्वयमातृण्णायाः प्राणत्वम्, अपि तु पूर्वोक्तपृथिवीत्वप्रणाल्यापि प्राणत्वमस्या विद्यत इति दर्शयति—तामनन्तर्हितामित्यादिना । यत्किञ्चिन्मनुष्य-सरीसृपादिकं प्राणिजातमस्ति, तत्सर्वं पृथिवी बिभर्ति खलु । अनेन पृथिव्याः प्राणात्मकत्वमुपपादितम् । अन्यत् स्पष्टम् । 'यद्वेव स्वयमातृण्णामुपदधाति । प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तासु व्युत्क्रामन्तीषु प्रतिष्ठामभिपद्योपाविशत्' (श० ७।४।२।३) । अथ पुनरपि तामेवेष्टकां विस्रस्तावयवस्य प्रजापतेः प्रतिष्ठारूपेण प्रशंसति—यद्वेवेति । पूर्वं प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विस्रस्ताङ्गोऽभूत् । तादृशं प्रजापतिं देवा अवयवश आदाय व्युदक्रामन् । तेषु व्युत्क्रामत्सु स प्रजापतिः प्रतिष्ठारूपमङ्गं स्वयमभिपद्य गृहीत्वा उपाविशत् । 'स यः स प्रजापति-र्व्यस्रꣳसत । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ या सा प्रतिष्ठैषा सा प्रथमा स्वयमातृण्णा तद्यदेतामत्रोपदधाति यदेवास्यैषात्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतामत्रोपदधाति' (श० ७।४।२।४) । स यः प्रजापति-र्विस्रस्तोऽभूत्, स अयमेव य इष्टकासङ्घातरूपोऽग्निश्चीयते । अथ या च प्रजापतिना प्राप्ता प्रतिष्ठा, सा एषा इदानी-मुपधीयमाना प्रथमा स्वयमातृण्णा । प्रथममध्यमोत्तमासु तिसृष्वपि चितिषु तिस्रः स्वयमातृण्णा उपधीयन्ते, अतः प्रथमेति स्वयमातृण्णाया विशेषणम् । तद्यदिति । यत एतामिष्टकामस्मिन् पुरुष उपदधाति, तत् तेन अस्य प्रजापते-रात्मनः स्वस्य यदेतत् प्रतिष्ठालक्षणमङ्गम्, एषेति लिङ्गव्यत्ययः, तदस्मिन् प्रजापतावेव एतद् निहितवान् भवति ।

'तां वै प्रजापतिनोपदधाति । प्रजापतिर्ह्येवैतत्स्वयमात्मनः प्रत्यधत्त ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीति धरुणेति प्रतिष्ठा वै धरुणमास्तृता विश्वकर्मणेति प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा तेनास्तृतासीत्येतन्मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्ण इति रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्णस्तौ त्वा मोद्वधिष्टामित्येतदव्यथमाना पृथिवीं दृꣳहेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।४।२।५) । विहित उपधाने मन्त्रं विधत्ते—तां वा इत्यादिना । अत्र 'ध्रुवासि धरुणास्तृता', 'प्रजापतिष्ट्वा सादयतु', 'भूरसि भूमिरसि' इति तिसृभिर्ऋग्भिः, 'विश्वस्मै प्राणाय' इति यजुषा चैषा स्वयमातृण्णेष्टकोपधीयते । अतः प्रजापतिशब्देन तद्विशिष्टं मन्त्रं लक्षयित्वा तेन लक्षितलक्षणया ते सर्वे मन्त्रा उच्यन्ते । 'प्रजापति र्ह्येवैतत् स्वयमात्मनः प्रत्यधत्त' इत्यनेन लक्षितलक्षणाविवक्षाकारणमुच्यते । यतः प्रजापतिः स्वयमात्मन एतत्प्रतिष्ठालक्षणमङ्गं प्रत्यधत्त, अतस्तत्प्रतिष्ठात्मकस्वयमातृण्णोपधानमन्त्रेऽपि तत्सम्बन्ध-प्रतीतिर्यथा स्यादिति प्रजापतिनोपदध्यादित्युक्तम् । तत्र प्रथमामृचं व्याचष्टे ध्रुवासीति । स्थिरासीत्येतदिति ध्रुवासीत्यस्य व्याख्यानम् । अथो प्रतिष्ठासीति । एतदपि ध्रुवासीत्येतस्यैव विवरणम् । धरुणेति प्रतीकमादाय

व्याचष्टे प्रतिष्ठा वै धरुणमिति। सर्वस्याधारभूतेत्यर्थः। आस्तृता विश्वकर्मणेत्यस्य व्याख्यानम्—प्रजापतिर्वै विश्वकर्मेति। विश्वस्य कृत्स्नप्रपञ्चस्य कर्म सृष्टिलक्षणमस्यास्तीति विश्वकर्मशब्देन प्रजापतिरभिधीयते। तेन आस्तृता आच्छादिना उपहिता इति। रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्णं इति। अत्र पुष्करपर्णे रुक्मं निधाय तत्र च हिरण्मयपुरुषमवस्थाप्य तस्योपरि स्वयमातृण्णोपधानं कर्तव्यम्। अतश्च 'मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्णः' इत्यनेनाधारभूतौ रुक्मपुरुषौ तव हिंसां मा कार्ष्टाम्, किन्त्वानुकूल्येनाङ्गीकुरुतामित्यर्थः। अन्यत् स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, त्वं ध्रुवासि स्थिरासि दृढनिश्चयासि। धरुणा अन्येषां धारयित्री असि। विश्वकर्मणा परमेश्वरेण आस्तृता विस्तारं नीतासि। त्वा त्वां समुद्रः समुद्रतुल्यविश्वप्लावकमज्ञानम्, सुपर्णः पक्षिराजतुल्यवेगोऽहङ्कारश्च मोद्वधीत्। अव्यथमाना पृथिवीं दृंह दृढीकुरु।

दयानन्दस्तु—'हे राजपत्नि, यतो विश्वकर्मणा पत्या सह वर्तमाना आस्तृता वस्त्रालङ्कारादिगुणैः सम्यगाच्छादिता धरुणा विद्याधर्मादिधर्त्री ध्रुवा निष्कम्पासि। साऽव्यथमाना पीडामप्राप्ता सती त्वं पृथिवीं, स्वराज्यभूमिम् उद्दृंह वर्धय, त्वा समुद्रो समुद्द्रवन्ति कामुका यस्मिन् व्यवहारे स जारव्यवहारः, सुपर्णः शोभनानि पर्णानि पालितान्यङ्गानि यस्य, त्वत्पतिर्मावधीत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। विश्वकर्मणा पत्या इत्यप्यसाम्प्रतम्, विनिगमनाविरहात्। समुद्रपदं जारपरम्, सुपर्णपदं च पतिपरमित्यपि निर्मूलम्, व्युत्पत्तेरन्यपरत्वेऽप्युपपत्तेः॥ १६॥

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि॥ १७॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णे, प्रजापति ने तुम्हें अवकाशवाली और विस्तारयुक्त बनाया है, जल के ऊपर और समुद्र में तुम्हें स्थापित किया है। तुम प्रजापति के द्वारा विस्तार को प्राप्त होकर भूमि के निकट तक पहुँच गई हो, इसलिये तुम पृथ्वीरूप हो॥ १७॥

अनुष्टुप्। हे स्वयमातृण्णे प्रजापतिस्त्वा त्वां सादयतु स्थापयतु। स हि त्वामासादयितुं समर्थः। क्व स्थापयत्वित्यपेक्षायामाह—अपां जलानां पृष्ठे उपरि। समुद्रस्य उदकसङ्घातस्य एमन् एमनि अवस्थाने समुद्रवलयिते पृथिवीस्थाने। कथंभूतां त्वामासादयतु? व्यचस्वतीं व्यञ्जनवतीमभिव्यक्तियुक्ताम्, प्रथस्वतीं पृथुत्वयुक्तां विस्तारयुक्ताम्। त्वमपि सादिता सती प्रथस्व अस्याश्चितेः प्रथनं कुरु। यतस्त्वं पृथिव्यसि, पृथिव्युत्पन्नत्वात्। प्रजापतिरपां पृष्ठे आच्छादके समुद्रं प्राप्तवति भूप्रदेशे व्यचस्वतीं विस्तारवतीं त्वां सादयतु। यतस्त्वं पृथिव्यसि, अतः प्रथस्व विस्तारवती भव।

'प्रजापतिष्ट्वा सादयत्विति। प्रजापतिर्ह्येतां प्रथमां चितिमपश्यदपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्नित्यपाᳲ ह्ययं पृष्ठᳲ समुद्रस्य ह्ययमेमा व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमिति व्यचस्वती च ह्ययं प्रथस्वती च प्रथस्व पृथिव्यसीति प्रथस्व पृथिवी चासीत्येतत्' (श० ७।४।२।६)। अथ द्वितीयामृचं व्याचष्टे—प्रजापतिष्ट्वेति। यतः प्रजापतिरेतां प्रथमां चितिमपश्यत्, अतः प्रजापतिष्ट्वा सादयत्विति मन्त्र आह। अपामाच्छादकत्वादियं पृथिवी अपां पृष्ठे तथा समुद्रमपि, एमन् 'इण् गतौ' इत्यस्माद् धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिन्प्रत्ययः। समुद्रस्येति 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २।३।६५) इति कृद्योगे षष्ठी। समुद्रस्य एमा समुद्रं प्राप्तेत्यर्थः, परितः समुद्रेण वलयितत्वात्। सप्तम्येकवचनस्य 'सुपां सुलुक्

पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) इति लुकि रूपम्। अपां पृष्ठे, पृथिव्यामित्यर्थः। इयं पृथिवी व्यचस्वती व्यञ्जनवती अभिव्यक्तियुक्ता, प्रथस्वती विस्तारयुक्ता चेत्येतत् प्रत्यक्षसिद्धम्। स्वयमातृण्णा च पृथिव्यात्मिका। अतश्च व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमिति मन्त्र आह। प्रथस्व पृथिवी चासीदित्येतदिति। यतस्त्वं पृथिव्यसि, अतः प्रथस्व इत्येतदुक्तं भवतीत्यर्थः। 'तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् यदप्रथयत्तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्' (तै० ब्रा० १।१।३।७) इति श्रुतेः, 'साऽप्रथत सा पृथिव्यभवत् तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्' (तै० सं० ७।१।५।१) इति श्रुतेश्च।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे माये वा, प्रजापतिः परमेश्वरस्त्वां सादयतु प्रतिष्ठापयतु। क्व? अपां लोकानां पृष्ठे उपरि ब्रह्मात्मके शुद्धचैतन्ये, तस्य प्रपञ्चातीतत्वेन सर्वलोकानामुपरि स्थितत्वात्, 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' (वा० सं० ३१।१) इति मन्त्रवर्णात्। समुद्रस्येमन् संसारसमुद्रं प्राप्ते, तस्यैव संसाराधिष्ठानत्वात्। त्वं व्यचस्वतीम् अभिव्यक्तियुक्ताम्, प्रथस्वतीं विस्तारवतीं ब्रह्माकारां वृत्तिं प्रथस्व विस्तारयस्व। त्वमपि पृथिव्यसि तत्कारणत्वात् तद्रूपासीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विदुषि प्रजापालिके राज्ञि, यथा प्रजापतिः प्रजायाः स्वामी समुद्रस्य सागरस्य अपां जलानाम् एमन् प्राप्तव्ये स्थाने पृष्ठे उपरि नौकेव व्यचस्वतीं बहु व्यचो व्यञ्जनं विद्यागमनं सत्करणं वा विद्यते यस्यास्ताम्, प्रथस्वतीं प्रथा प्रख्याता कीर्तिर्विद्यते यस्यास्ताम्, त्वां सादयतु, यतस्त्वं पृथिव्यसि भूमिरिव सुखप्रदासि, तस्मात् स्त्रीन्यायकरणे प्रथस्व प्रख्याता भव, तथा ते पतिर्भवेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणाध्याहारबाहुल्यात्, गौणार्थाश्रयणाच्च। यथा प्रजापतिः समुद्रस्य अपामेमन् पृष्ठे नौकेवेत्यप्यस्पष्टमेव। प्रथस्वतीमित्यत्र कीर्तिपदसन्निवेशोऽपि निर्मूल एव ॥ १७ ॥

भूर॑सि भूमि॑रस्यदि॑तिरसि वि॒श्वधा॑या॒ विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य ध॒र्त्री।
पृ॒थि॒वीं य॑च्छ पृथि॒वीं दृ॑ꣳह पृथि॒वीं मा हि॑ꣳसीः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णे, तुम सुखों की भावना करने वाली भूमि के नाम से प्रसिद्ध हो, विश्व को पुष्ट करने वाली देवमाता हो, सम्पूर्ण संसार को धारण करने वाली हो। तुम पृथ्वी को कृपादृष्टि से देखो, भूभाग को दृढ़ करो, पृथ्वी को कष्ट मत दो।। १८ ।।

प्रस्तारपङ्क्तिः। 'आद्यौ चेत् प्रस्तारपङ्क्तिः' इति कात्यायनोक्तेर्यत्राद्यौ पादौ द्वादशकौ, अन्त्यौ अष्टकौ सा प्रस्तारपङ्क्तिः। अत्र त्वाद्य एकादशकः, द्वितीयचतुर्थौ पञ्चकौ पञ्चमः षडक्षर एवं पञ्च पादाः। हे स्वयमातृण्णे, त्वं भूरभीष्टानां भावयित्री असि। भूमिः पृथिव्यसि, भूम्यभिमानिनी देवतारूपासि। अदिति-रखण्डनीया देवमाता वासि। विश्वधाया विश्वं दधाति पुष्णातीति विश्वधायाः, विश्वं धीयतेऽस्यामिति वा विश्वधायाः। विश्वोपपदाद् धाधातोः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उणा० ४।१९०) इत्यसुनि 'वसेर्णित्' (उ० ४।२१९) इति बाहुलकाद् असुनो णिद्वद्भावात् 'आतो युक् चिण्कृतोः' (पा० सू० ७।३।३३) इति युगागमे विश्वधाया इति रूपम्। विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य भूतग्रामस्य धर्त्री धारयित्री भवसि, सा त्वं पृथिवीं यच्छ नियन्त्रितां कुरु। पृथिवीं दृंह दृढीकुरु। पृथिवीं मा हिंसीः। यद्वा यतश्च त्वमियमेव, अतः पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह इत्यादिभिरात्मानं निगृह्णीष्व, आत्मानं दृढीकुरु, आत्मानं मा हिंसीरित्युक्तं भवतीत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'भूरसीति। भूर्हीयं भूरसीति भूमिर्हीयमदितिरसीतीयं वा अदितिरियꣳ हीदꣳ सर्वं ददते विश्वधाया इत्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वꣳ हितं विश्वस्य भुवनस्य धर्त्रीति सर्वस्य भुवनस्य धर्त्रीत्येतत्

पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीरित्यात्मानं यच्छात्मानं दृꣳहात्मानं मा हिꣳसीरित्येतत्' (श० ७।४।२।७)। तृतीयामृचं व्याचष्टे—भूरसीति। इयं पृथिवी यतः सर्वेभ्यः सुखानि भावयतीति भूः। अस्याः सकाशादिदं सर्वमविज्ञातमभूदिति भूमिश्च, 'अभूद्वा इयमिति तद् भूम्यै भूमित्वम्' इति, तस्माद् भूरसि भूमिरसीत्यभिधत्ते। 'इयं हीदं सर्वं ददते' इत्यनेनादितित्वोपपादनम्। इयं पृथिवी इदं सर्वं भोग्यवस्तुजातमस्मभ्यं ददते तस्माददितिः। नञो दाञो डितिः, ददेश्चेति वचनाद् ददधातोर्डिति प्रत्यये प्रथमदकारलोपे च 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० सू० ६।३।१०९) इति साधुः। विश्वं सर्वमस्यां निहितमिति विश्वधायाः। सर्वस्य भुवनस्येति। भुवनशब्देनात्र भुवनवर्तिपदार्थजातं लक्ष्यते। तस्य सर्वस्य भुवनवर्तिपदार्थजातस्य धारयित्रीत्येतदुक्तं भवति। पृथिवीरूपत्वादात्मनः 'पृथिवीं यच्छ' इत्यादिना आत्मन एव नियमनादिकं क्रियतामित्युच्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे माये वा, त्वं भूरसि सर्वस्याभीष्टभावयित्री असि, भूमेरपि त्वत्कृतकर्मफलत्वात्, त्वत्परिणामत्वाद्वा। अदितिरसि अबाधितविषयत्वादखण्डनीयासि, परमेश्वरशक्तित्वाद्वा। विश्वधाया असि, विश्वस्य पोषणत्वात्। विश्वस्य भुवनस्य भूतग्रामस्य धर्त्री। पृथिवी विस्तृतब्रह्मविषयत्वात्। पृथिवीं ब्रह्माकारां वृत्तिं यच्छ नियतां कुरु। तामेव दृढीकुरु। तां च मा हिंसीः, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठो० १।२।९) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे राजपत्नि, यतस्त्वं भूरिवासि तस्मात् पृथिवीं यच्छ निगृहाण। यतस्त्वं विश्वधाया या विश्वं सर्वं गृह्णाति गृहाश्रमी राजव्यवहारं दधाति सा। विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य राज्यस्य धर्त्री धारिका भूमिरिवासि, तस्मात्पृथिवीं दृंह वर्धय। यतस्त्वमदितिरिवासि तस्मात् पृथिवीं मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भूरिव भूमिरिव अदितिरिवेत्यादाविवशब्दाध्याहारस्य निष्प्रमाणत्वात्। सम्बोधनमपि तादृगेव। भवन्ति भूतानि यस्मिन् राज्ये तस्येत्यपि निर्मूलम्, राज्यादन्यत्रापि भूतानां भवनात्, गृहाश्रमीत्यस्यासङ्गतेश्च ॥ १८ ॥

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। अग्निष्ट्वाऽभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णे, सम्पूर्ण प्राण, अपान, व्यान, उदान नामक शरीर स्थित वायुओं की उन्नति की कामना के निमित्त तथा प्रतिष्ठा-कीर्ति के लाभ के निमित्त, शास्त्रीय आचरण के निमित्त अग्निदेवता महान् कल्याण, योगक्षेम की सम्पत्ति और अत्यन्त सुखकारी गृह के द्वारा तुम्हारी रक्षा करें। उस परम देवता के अनुग्रह से दृढ़ होकर तुम अङ्गिरा के समान स्थित रहो ॥ १९ ॥

यजुः, एकाधिका आर्षी अनुष्टुप्। हे स्वयमातृण्णे विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय प्राणापानव्यानोदानाख्यवायुवृत्तिलाभाय प्रतिष्ठायै कीर्त्यै स्वगृहे स्थितिलाभाय वा चरित्राय शास्त्रीयाचरणाय च प्राणिनामेतस्य सर्वस्य सिद्धयर्थं त्वां सादयामीति शेषः। अयमग्निस्त्वामभितः पातु रक्षतु। केन रक्षणमित्याह—मह्या महत्या योगक्षेमसम्पत्त्या शन्तमेन छर्दिषा अत्यन्तसुखकारिणा छर्दिषा गृहेण। तया देवतया वाग्रूपया तव स्वामिभूतया अनुगृहीता सती त्वं ध्रुवा स्थिरा सती सीद उपविश। अङ्गिरस्वद् अङ्गिरसां चयनानुष्ठाने यथा त्वं स्थिरस्थिता तद्वदिहोपविश।

अत्र ब्राह्मणम्—'विश्वस्मै प्राणायापानाय। व्यानायोदानायेति प्राणो वै स्वयमातृण्णा सर्वस्मा उ वा एतस्मै प्राणः प्रतिष्ठायै चरित्रायेतीमे वै लोकाः स्वयमातृण्णा इम उ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्रमग्निष्ट्वाभि-

पात्वित्यग्निष्ट्वाभिगोपायत्वित्येतन्मह्या स्वस्त्येति महत्या स्वस्त्येत्येतच्छर्दिषा शन्तमेनेति यच्छर्दिः शन्तमं तेनेत्येतत्सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुरथ साम गायति तस्योपरि बन्धुः' (श० ७।४।२।८)। यजुर्मन्त्रं व्याचष्टे—विश्वस्मै प्राणायेति। एक एव प्राणवायुर्वृत्तिभेदात् प्राणापानव्यानोदानसमानशब्दैरुच्यते। 'प्राणो ह्येवैतत् स्वयमात्मन आतृन्ते' (श० ७।४।२।२) इति स्वयमातृण्णायाः प्राणत्वमुक्तम्। 'सर्वस्मा उ वा एतस्मा' इति 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इति सूत्रस्थितेन 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीवचनम्' इति वार्त्तिकेन षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। सर्वस्य खलु प्राणिसङ्घस्य प्राण एवाशास्यो भवति, अतः सर्वस्यापि प्राणादिस्थैर्यार्थं तवोपधानमित्यर्थः। इमे वै लोका इति। तिस्रः स्वयमातृण्णाः पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकात्मिकाः। इमे खलु लोकाः प्रतिष्ठा सर्वप्राणिनामाधारः। चरित्रमिति प्रत्येकविवक्षया एकवचनम्। नियतलिङ्गत्वान्नपुंसकलिङ्गम्। ततश्च प्रथमायाः स्वयमातृण्णायाः पृथिव्यात्मकत्वात् सर्वेषामाधारभूताय संसारसाधनभूताय चास्मै लोकाय तवोपधानम्। गोपायत्वित्येतदिति। पृथिव्यभिमानिदेवतात्वाद् अग्निस्त्वां गोपायत्वित्येतदुक्तम्। यच्छर्दिः शन्तमं तेनेत्येतदिति। हे स्वयमातृण्णे त्वं स्थिरासि सर्वेषां प्रतिष्ठासि प्रजापतिनोपहितासि। त्वां रुक्मो मोद्बधीत्, हिरण्मयपुरुषश्च मोद्बधीत्। तथा सती अव्यथमाना त्वं पृथिवीं दृढीकुरु। किञ्च, प्रजापतिरपां पृष्ठेऽपामाच्छादके समुद्रे प्रास्रवति भूप्रदेशे समुद्रवलयिते व्यचस्वतीं विस्तारवतीं त्वां सादयतु। यतस्त्वं पृथिव्यसि, अतः प्रथस्व विस्तारवती भव। किञ्च, त्वं सर्वेषां सुखानां भावयित्र्यसि, सर्वेषां चोत्पत्तिस्थानमसि। सर्वस्यापि भोग्यवस्तुनो दात्र्यसि। कृत्स्नस्य भुवनवर्तिपदार्थजातस्य धारयित्र्यसि। तादृशी त्वं पृथिवीरूपमात्मानं नियच्छ। मा हिंसीः। प्रयोजनमन्तरेण त्वां नोपदधे, किन्तु सर्वस्य प्राणिजातस्य स्थैर्यार्थं त्वामुपदधामि। त्वं चाग्निर्मह्या महत्या। टिलोपश्छान्दसः। स्वस्त्या अविनाशेन छर्दिषा शन्तमेन सुखातिशयसम्पादकेन तेजसा च गोपायतु। तया देवतया अङ्गिरस्वद् अङ्गिरसा तुल्या ध्रुवा स्थिरा सती सीदेति सायणाचार्यरीत्या कृत्स्नमन्त्रार्थः। अथ तया देवतयेति मन्त्रेण सादयित्वा ता अस्येत्यनेनाधिवदेत्।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे माये वा, विश्वस्य सर्वस्य प्राणादिवायुवृत्तिलाभाय प्रतिष्ठायै कीर्त्यै चरित्राय प्राणिनामेवत्सर्वसिद्धयर्थं त्वां सादयामि प्रतिष्ठापयामि, सर्वस्यैव बुद्धिप्रतिष्ठापनाधीनत्वात्, 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' (भ० गी० २।६३) इति गीतोक्तेः, परमेशशक्तिमायाधीनत्वाच्च सर्वस्य। किञ्च, मह्या महत्या स्वस्त्या योगक्षेमसम्पत्त्या शन्तमेन अत्यन्तसुखकारिणा छर्दिषा गृहेण चाग्निः परमेश्वरस्त्वां सर्वतः पातु। तया त्वदभिमानिभूतया देवतयाऽनुगृहीता सती त्वम् अङ्गिरस्वत् प्राणवत् सीद सदोपस्थिता भव।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, योऽग्निस्ते पतिर्मह्या महत्या स्वस्त्या सुखप्रापकक्रियया शन्तमेन अत्यन्तसुखरूपेण कर्मणा छर्दिषा प्रदीप्तेन 'उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः' रुधादिः, उपादिपठिते इसिप्रत्यये विश्वस्मै सम्पूर्णाय प्राणाय जीवनहेतवे, अपानाय दुःखनिवारणाय, उदानाय उत्कृष्टाय बलाय प्रतिष्ठायै सत्कृतये चरित्राय धर्माचरणाय यां त्वाभिपातु, सा त्वं तया देवतया सुखप्रदया पतिरूपया सह अङ्गिरस्वत् कारणवद् ध्रुवा निश्चला सीद' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्य कपोलकल्पितत्वात्। स्वस्त्या सुखप्रापिकया क्रिययेत्यपि निर्मूलमेव। प्राणाय जीवनहेतव इत्यपि निर्मूलम्, प्राणस्य जीवनहेतुत्वेऽपि प्राणशब्दस्य तत्राशक्तिः। अपानाय दुःखनिवारणाय, व्यानाय विविधोत्तमव्यवहाराय उदानाय उत्कृष्टबलाय—इतीमानि सर्वाण्यपि व्याख्यानानि व्याख्यानाभासान्येव, निर्मूलत्वात्॥ १९॥

काण्डा॑त् काण्डात् प्ररोह॑न्ती परु॑षः परुषस्परि॑।

एवा नो॑ दूर्वे॒ प्रत॑नु स॒हस्रे॑ण श॒तेन॑ च॥ २०॥

मन्त्रार्थ—हे दूर्वा, तुम प्रत्येक काण्ड से और प्रत्येक पर्व से सब ओर से अंकुरित होती हो। इसी तरह से हमें भी निश्चय ही सैकड़ों-हजारों, अर्थात् असंख्य पुत्र-पौत्र आदि के रूप में अंकुरित कर हमारी सब प्रकार से वृद्धि करो ॥२०॥

'मूलाग्रवर्तीं दूर्वां तस्यां पुरस्ताद् भूमिप्राप्तां काण्डात् काण्डादिति' (का० श्रौ० १७।४।१८) अध्वर्युरुदङ्मुख उपविश्य मूलाग्रयुक्तां दूर्वां दूर्वेष्टकां स्वयमातृण्णाया उपरि काण्डात् काण्डादिति ऋग्द्वयेन उपदध्यादिति सूत्रार्थः। इदमत्रावधेयम्—तस्या मूलानि स्वयमातृण्णाया उपरि भवन्ति, अग्राणि च स्वयमातृण्णायाः पुरस्ताद् भूमावर्धपद्यालोकं यथा व्याप्नुवन्ति तथोपधानं कार्यमिति विद्याधरः। अग्निदृष्टे दूर्वेष्टकादेवत्ये द्वे अनुष्टुभौ। काण्डशब्दः स्तम्बवाची। मूलैर्भूसम्बद्धं पर्व काण्डं भूम्यसम्बद्धं परुः। यावन्तः काण्डाः स्तम्बाः सन्ति, तत्र एकैकस्मात् प्रकर्षेण दूर्वोत्पद्यते। हे दूर्वेष्टके, त्वं तत्तत्काण्डात् तत्तत्पर्वणः प्रकर्षेणोत्पद्यमाना वर्तसे। एवं परुषः परुषः प्रतिपरुः सर्वतः प्ररोहन्ती सती यथा शताङ्कुरा भवसि, एवा एवमनेन प्रकारेण नोऽस्मदर्थं शतसंख्याकेन सहस्रसंख्याकेन वा त्वदीयभेदेन तत्तत्स्वरूपं धनपुत्रादिकं प्रतनु विस्तृतं कुरु। यद्वा भूमौ सम्बद्धं जटाभिः पर्व काण्डम्। हे दूर्वेष्टके, काण्डात् काण्डात् प्रतिकाण्डम्, परुषः परुषः प्रतिपरुः, भूमिसम्बद्धासम्बद्धेभ्यः सर्वपर्वभ्यः सकाशाद् यथा त्वं परि समन्तात् प्ररोहन्ती शताङ्कुराँल्लभसे, एवा एवं हे दूर्वे, स्वाङ्कुरविस्तारवत् सहस्रेण शतेन च असंख्येयैः पुत्रपौत्रादिभिः, नोऽस्मान् प्रतनु। 'नित्यवीप्सयोः' (पा० सू० ८।१।४) इति वीप्सार्थे काण्डपरुषोर्द्वित्वम्। एवेत्यत्र 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः। शतसहस्रशब्दावसंख्येयार्थकौ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दूर्वेष्टकामुपदधाति। पशवो वै दूर्वेष्टका पशूनेवैतदुपदधाति तद्यैरदोऽग्निरनन्तर्हितैः पशुभिरुपैत्त एते तानेवैतदुपदधाति। तामनन्तर्हिताᳬं स्वयमातृण्णाया उपदधातीयं वै स्वयमातृण्णा अनन्तर्हितांस्तदस्यै पशून् दधात्युत्तरामुत्तरांस्तदस्यै पशून् दधाति' (श० ७।४।२।१०)। स्वयमातृण्णेष्टकोपधानानन्तरं दूर्वेष्टकोपधानं विधत्ते—अथेति। इष्टकाशब्दो मृण्मयेष्टकासु मुख्यः, दूर्वायां तूपधानसामान्याद् गौणः। पशुपुष्टिसाधनत्वेन दूर्वाणामपि पशुत्वात् तदुपधानेन पशूनामेवोपधानं कृतं भवतीत्याह—पशवो वा इति। तत्किं साधारणपशुविषयम्? नेत्याह—तद्यैरद इति। अदः पुरस्ताद् अग्निः, अनन्तर्हितैरव्यवहितैः, स्वस्य तेष्वनुप्रवेशादनन्तर्हितत्वम्, तादृशैर्यैः पञ्चभिः पशुभिरन्यत्रोपजगाम, ते पशव एते दूर्वेष्टकाः। अग्निः पशून् प्रविश्य अन्यत्र जगामेत्येतत् 'स एतान् पञ्च पशून् प्राविशत्' (श० ६।२।१।४) इत्यादिना षष्ठकाण्डे विस्तरश उक्तम्। उपदधातीति सामान्येन विधानात् स्थानविशेषं विधाय प्रशंसति—तामनन्तर्हितामित्यादिना। 'तामनन्तर्हितां पुरुषादुपदधाति' (श० ७।४।२।१) इति स्वयमातृण्णेष्टकास्थानविधिव्याख्यानेनैव कृतव्याख्यानमेतत्। 'यद्वेव दूर्वेष्टकामुपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्तस्य यानि लोमान्यशीर्यन्त ता इमा ओषधयोऽभवन्नथास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामत्तस्मिन्नुत्क्रान्तेऽपद्यत' (श० ७।४।२।११)। विहितमुपधानमनूद्य ओषधीनां दूर्वायाश्च उत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वकं तदुपधानेनैवान्याः सर्वौषधीः प्राणं रसं चोपहितवान् भवतीति स्तौति—यद्वेवेत्यादिना। 'सोऽब्रवीदयं वाव मा धूर्वीदिति यदब्रवीदधूर्वीन्मेति तस्माद् धूर्वा धूर्वा ह वै तां दूर्वेत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्तदेतत्क्षत्रं प्राणो ह्येष रसो लोमान्यन्या ओषधय एतामुपदधत् सर्वा ओषधीरुपदधाति' (श० ७।४।२।१२)। अयमेव प्राणो माम् अधूर्वीद् अहिंसीदिति प्रजापतिर्यदब्रवीत्, तस्माद् एष प्राणो नाम्ना धूर्वा अभूत्। ननु धूर्वा कथं दूर्वा भवितुमर्हति? इत्यत आह—धूर्वा ह वै तां दूर्वा इत्युच्यते। धूर्वाशब्दः पचाद्यजन्तः। लोके किञ्चिन्नामधेयविशिष्टं पुरुषं गौरवार्थं भ्राता पितेत्येव परोक्षेण व्यपदिशन्ति। तदेतदिति। यत एष दूर्वा प्राणात्मको रसः। प्राणस्य रसात्मकत्वं श्रूयते—'प्राणो हि वा अङ्गानाᳬं रसः' (श० १४।१।१।२१) इति। एष इति पुंल्लिङ्गत्वं प्राणरसापेक्षम्। अतस्तदेतद् दूर्वाक्षत्रं प्रधानम्। क्षत्रशब्देनात्र प्राधान्यं लक्ष्यते। तदेतदित्यपि क्षत्रशब्दा-

पेक्षम्। तथा सति लोम्नः प्राणानुविधायित्वात् प्राणरसात्मिकामेतां दूर्वेष्टकामुपदधद् लोमात्मिकाः सर्वा अपि ओषधीरुपदधाति।

'तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेतं प्राणꣳ रसं मध्यतोऽदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति तामनन्तर्हिताꣳ स्वयमातृण्णाया उपदधातीयं वै स्वयमातृण्णानन्तर्हितास्तदस्या ओषधीर्दधात्युत्तरामुत्तरास्तदस्या ओषधीर्दधाति सा स्यात् समूला साग्रा कृत्स्नतायै यथा स्वयमातृण्णायामुपहिता भूमिं प्राप्नुयादेवमुपदध्यादस्याꣳ ह्येवैता जायन्त इमामनुप्ररोहन्ति' (श० ७।४।२।१३)। किञ्च, यदा देवास्तं प्रजापतिं चयनसंस्कारेण संस्कृतवन्तः, तदा अस्मिन् प्रजापतौ मध्यतो मध्ये प्राणं रसमदधुः, तथैवायमध्वर्युरेतद् एतेन दूर्वेष्टकोपधानेन प्राणं रसं निहितवान् भवतीत्यर्थः। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्। उपधातव्याया दूर्वेष्टकाया लक्षणमाह—सा स्यादिति। कृत्स्नतायै अविच्छिन्नमूलाग्रं हि सम्पूर्णमन्यूनं भवति। ततो मूलाग्रवती कार्या। उपधाने विशेषमाह—यथेति। अत्र कात्यायनः—'मूलाग्रवतीं दूर्वां तस्यां पुरस्तादभिप्राग्राम्' (का० श्रौ० १७।४।१८)। दूर्वेष्टकायाः पुरस्ताद् भूमिसंस्पर्शेनोपधान इमां दूर्वामुपलक्ष्यैता ओषधयो भूमौ प्ररोहेयुरित्याह—अस्यां ह्येवैता इति। 'काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परीति काण्डात् काण्डाद्ध्येषा पर्वणः पर्वणः प्ररोहत्येवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन चेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।४।२।१४)। यावन्तः काण्डाः स्तम्बा विद्यन्ते, तत्र एकैकस्मात् स्तम्बात् प्रकर्षेणोत्पद्यमाना, एकैकस्मात् पर्वणः परितः प्रकर्षेण उत्पद्यमाना। अथवा काण्डशब्देन पर्वणोर्मध्यवर्ती दण्ड उच्यते। काण्डात् काण्डात् सर्वस्मात् काण्डात्, परुषः परुषः सर्वस्मात् पर्वणः, हे दूर्वे, येषु काण्डेषु यानि सर्वाणि पर्वाणि विद्यन्ते, तेभ्यः सर्वेभ्यः परितः प्ररोहन्ती भवसीत्यर्थः। एवा एवं यथा त्वं भवसि, एवं नः अस्मान् शतेन सहस्रेण च शतसहस्रसंख्याकैः पुत्रादिभिः प्रतनु विस्तारयेति।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवच्छक्तिभूते प्रकृते, मूलसम्बन्धासम्बन्धेभ्यः सर्वपर्वभ्यः प्रतिकाण्डं प्रतिपरुः प्ररोहन्ती प्रकर्षेण वर्धमाना भवसि। कार्याणि काण्डाः, अवान्तरकार्यकारणभावः परुरिति वा। यथा त्वं सहस्रेण शतेन असंख्यातैः कार्यकारणभावैः कार्यैश्च वर्धसे, एवा एवमेव नोऽस्मान् पुत्रपौत्रशिष्यप्रशिष्यादिभिश्च प्रतनु। भक्तिज्ञानवैराग्यादिपारम्पर्यैर्वा प्रतनु।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, त्वं यथा सहस्रेण शतेन च काण्डात् काण्डाद् ग्रन्थेर्ग्रन्थेः परुषः परुषो मर्मणो मर्मणः परि सर्वतः प्ररोहन्ती प्रकृष्टतया वर्धमाना हे दूर्वे! दूर्वावद्वर्तमाने, तथैव नोऽस्मान् पुत्रपौत्रैश्वर्यादिभिः प्रतनु विस्तृणुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, काण्डपरुष्शब्दयोर्ग्रन्थिमर्मार्थत्वे प्रमाणाभावात्, स्वकीयहिन्दीभाष्येऽवयवग्रन्थिपरत्वोक्तिविरोधाच्च ॥ २० ॥

या शतेन॑ प्रत॒नोषि॑ स॒हस्रे॑ण वि॒रोह॑सि।
तस्या॑स्ते देवीष्टके वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे देदीप्यमान इष्टके, तुम सैकड़ों काण्डों से विस्तार को प्राप्त होती हो, सहस्रों अंकुरों से अनेक प्रकार से अंकुरित होती हो। हम तुम्हारे लिये हवि का विधान करते हैं ॥ २१ ॥

हे देवि, दीव्यमाने हे इष्टके! या त्वं शतेन काण्डानां प्रतनोषि विस्तारयसि, सहस्रेण च अङ्कुराणां विरोहसि विविधं प्ररूढा भवसि, वयं हविषा सह ते तव स्वरूपं स्थानं वा विधेम परिचरेम। अत्र ब्राह्मणम्—'या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसीति शतेन ह्येषा प्रतनोति सहस्रेण विरोहति तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयमिति····' (श० ७।४।२।१५)। पूर्ववदेव व्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे—हे चिदधिष्ठिते प्रकृते, या त्वं काण्डानां शतेन प्रतनोषि अङ्कुराणां सहस्रेण विरोहसि। हे देवि, द्योतमाने इष्टके ! अनुकम्पमाने इष्टदेवते तस्यास्ते स्वरूपं हविषा वयं परिचरेम।

दयानन्दस्तु—'हे इष्टके इष्टकावद् दृढाङ्गे देवि स्त्रि, यथेष्टकाशतेन असंख्यातेन प्रतनोति सहस्रेण विरोहति, तथा त्वमस्मान् शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि, तस्यास्ते तव हविषा वयं विधेम त्वां परिचरेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्, 'इष्टके' इति सम्बोधनस्य निरर्थकत्वाच्च। यदि दृढाङ्गत्वमेवापेक्षितम्, तदा शैलीति सम्बोधनं स्यात्। न चेष्टका प्रतनोति न वा विरोहति, तस्या निर्जीवत्वात्। न चैकया इष्टकया भवनादिनिर्मितिर्भवति। तस्मात् सर्वमेतदनर्गलमेव। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पदे पदे शिरस्यापतितः। सिद्धान्ते दूर्वेष्टकायां सर्वमुपपन्नमेव ॥ २१ ॥

यास्ते॑ अग्ने॒ सूर्ये॒ रुचो॒ दिव॑मात॒न्वन्ति॑ र॒श्मिभिः॑।
ताभि॑र्नो अ॒द्य सर्वा॑भी रु॒चे जना॑य नस्कृधि ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आपकी जो दीप्ति सूर्यमण्डल में वर्तमान किरणों के द्वारा द्युलोक को प्रकाशित करती है, उस सम्पूर्ण कान्ति के द्वारा आज इस समय आप हमारी शोभा के निमित्त बनें तथा हमारे पुत्र-पौत्र आदि को जगत् में प्रसिद्ध करें ॥ २२ ॥

'यास्त इति द्वियजुषं द्वितीये' (का० श्रौ० १७।७।२०)। दूर्वेष्टका पुरस्ताद् द्वितीये पद्यालोके 'यास्ते' इति ऋग्द्वयेन द्वियजुःसंज्ञां पद्येष्टकामुपदध्यादिति सूत्रार्थः। इन्द्राग्निदृष्टे अग्निदेवत्ये द्वे अनुष्टुभौ। हे अग्ने, सूर्ये सूर्यमण्डले ते तव या रुचो दीप्तयो रश्मिभी रश्मिस्वरूपेण दिवमन्तरिक्षमातन्वन्ति सर्वतो व्याप्नुवन्ति, या अग्नेर्दीप्तयस्ता एव सूर्योदयकाले सूर्यरश्मयो भवन्ति। एतच्च तैत्तिरीयेऽग्निहोत्रब्राह्मणे स्फुटम्। 'उद्यन्तं वावादित्यमग्निरनुसमारोहति' (तै० ब्रा० २।१।२।१०)। ताभिः सर्वाभिर्दीप्तिभिरद्यास्मिन् दिने नोऽस्मदर्थं नोऽस्मदीयाय जनाय पुत्रभृत्यादिरूपाय रुचे कृधि रुचं दीप्तिं कुरु। 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इति विभक्तिव्यत्ययः। यद्वा रश्मिः सरूपभूतैः किरणैस्ताभिः सर्वाभी रुग्भिर्नोऽस्मान् रुचे रोचनाय शोभायै अद्य अस्मिन् दिने कृधि जनाय पुत्रपौत्रादिकाय च कुरु। नस्कृधीत्यत्र 'कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः' (पा० सू० ८।३।५०) इत्यादिना विसर्जनीयस्य सः। द्युलोकप्रकाशिकाः सर्वाः कान्तीः पुत्रांश्च अस्मभ्यं देहीत्यर्थः। यद्वा विभक्तिव्यत्ययेन नोऽस्माकं जनाय जनं पुत्रादिकं ताभी रुग्भी रुचे शोभायै कुरु जगत्प्रसिद्धं पुत्रादिकं देहीत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ द्वियजुषमुपदधाति। इन्द्राग्नी अकामयेताᳬ स्वर्गं लोकमियावेति तावेतामिष्टकामपश्यतां द्वियजुषमिमामेव तामुपादधातां तामुपधायास्यै प्रतिष्ठायै स्वर्गं लोकमैतां तथैवैतद्यजमानो यद् द्वियजुषमुपदधाति येन रूपेण यत्कर्म कृत्वेन्द्राग्नी स्वर्गं लोकमैतां तेन रूपेण तत्कर्म कृत्वा स्वर्गं लोकमयानीति सा यद् द्वियजुर्नाम द्वे ह्येतां देवते अपश्यतां यद्वेव द्वियजुषमुपदधाति यजमानो वै द्वियजुः' (श० ७।४।२।१६)। 'यास्ते अग्ने सूर्ये रुचः' (वा० सं० १३।२२), 'या वो देवाः' (वा० सं० १३।२३) इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां द्वियजुर्नामिष्टकामुपदध्यादिति सूत्रार्थः। एतद्विधत्ते—अथेति। विहितामिष्टकां यजमानस्य स्वर्गप्राप्तिसाधनत्वेन प्रशंसति—इन्द्राग्नी इत्यादिना। स्पष्टमेतत्। इमामेवेति। ताम् आत्मना दृष्टाम् इमाम् अस्माभिरधिष्ठीयमानाम् इष्टकामेव उपादधाताम्। तामुपधाय अस्यै प्रतिष्ठायै अस्याः प्रतिष्ठायाः, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, सकाशात् सोपानवदिमामारुह्य

स्वर्गं लोकं प्राप्नुतामित्यर्थः। तथैवैतदिति यजमानो द्वियजुषमुपदधातीति। यदेतत्तथैवेन्द्राग्निदेवतावदेव दर्शयति—येनेति। येन प्रकारेण यत्कर्म कृत्वा इन्द्राग्नी स्वर्गं लोकं प्राप्नुतां तेनैव प्रकारेण तत्कर्म कृत्वा अहमपि स्वर्गं लोकमियानीति यजमानो द्वियजुषमुपदधाति। तस्मादेषा स्वर्गप्राप्तिसाधनमिति भावः। इष्टकाया द्वियजुरिति नामधेयप्राप्तिं दर्शयति—सा यदिति। यत एतां द्वे एव देवते इन्द्राग्नी अपश्यताम्, तस्माद् द्वियजुर्नाम्नी इयमिष्टकेत्यर्थः। ननु कथमेतदिति चेदुच्यते—यतो द्वे देवते एतामपश्यताम्, अत एव द्वाभ्यां यजुर्भ्यामुपधीयते। तथा सति यजुर्द्वयेनोपधानस्यापि देवताद्वयदर्शनोपाधिकत्वाद् द्वियजुरिति नामधेयस्यापि देवताद्वयदर्शनमेव निमित्तमिति। ननु 'यास्ते अग्ने', 'या वो देवाः' इत्यनयोर्मन्त्रयोर्ऋग्व्यवस्थया पठितत्वात् कथं यजुःशब्देन तदभिधानमिति चेन्न, प्रकृते यजुःशब्देन मन्त्रमात्रस्य लक्षितत्वात् (विवक्षितत्वात्)—'तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः' (जै० सू० २।१।११,३५,३७) इति। अत एवोक्तमभियुक्तैः—'नर्क्सामयजुषां लक्ष्मसाङ्कर्यादिति शङ्क्यते। पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्करः॥' इति। यद्यपि जैमिन्यादिभिर्मन्त्रभेद उक्तः, तथापि प्रकृते मन्त्र एव यजुःशब्दव्यवहारो लाक्षणिकः, 'तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयमिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।४।२।१५) इत्येवमादौ तथा दर्शनात्। अथ तामेवेष्टकां यजमानात्मना प्रशंसति—यद्वेवेति। द्वियजुषो यजमानात्मकत्वात् तदुपधानेन यजमानमेवामुष्मिल्लोकेऽर्पितवान् भवति।

'तदाहुर्यदसावेव यजमानो योऽसौ हिरण्मयः पुरुषोऽथ कतमदस्येदꣳ रूपमिति दैवो वा अस्य स आत्मा मानुषोऽयं तद्यत्स हिरण्मयो भवत्यमृतं वा अस्य तद्रूपं देवरूपममृतꣳ हिरण्यमथ यदियं मृदः कृता भवति मानुषꣳ ह्यस्येदꣳ रूपम्' (श० ७।४।२।१७)। द्वियजुषो यजमानत्वोक्त्या याज्ञिकानां जिज्ञासामवतारयति—तदाहुरिति। अथ कतमदिति। अस्य यजमानस्य इदं द्वियजुर्नाम कतमद्रूपं स्वरूपम्? रूपत्वापेक्षया नपुंसकत्वम्। उक्तस्योत्तरमाह दैवो वा इति। स हिरण्मयः पुरुषोऽस्य यजमानस्य देवत्वप्रयुक्त आत्मा शरीरम्, यद् द्वियजुरिष्टका स मनुष्यत्वप्रयुक्त आत्मेत्यर्थः। हिरण्मयत्वात् पुरुषस्य देवशरीरत्वम्, मृण्मयत्वाद् द्वियजुषो मानुषशरीरात्मकत्वम्। तदेतत्प्रतिपादयति—तद्यदित्यादिना। देवरूपमिति। यतो देवरूपम्, अतोऽस्य यजमानस्य तद्रूपममृतं खलु, विलायनेऽप्यविनश्वरत्वात्। मानुषं हीति। इदं द्वियजुर्लक्षणं स्वरूपं यतो मानुषम्, अत इयं मृदः कृता भवति पार्थिवी भवति, मानुषाणां पार्थिवत्वादित्यर्थः। 'स यदमूमेवोपदध्यात्। नेनामपशिꣳष्यात् क्षिप्रे हास्माल्लोकाद् यजमानः प्रेयादथ यदिमामपशिनष्टि यदेवास्येदं मानुषꣳ रूपं तदस्यैतदपशिनष्टि तथो हानेनात्मना सर्वमायुरेति' (श० ७।४।२ १८)। द्वियजुष उपधानस्य अन्वयव्यतिरेकयोर्गुणदोषप्रदर्शनेनावश्यकत्वमाह—स यदमूमिति। स यदि हिरण्मयलक्षणामिष्टकामेवोपदध्यात्, नेमां द्वियजुर्लक्षणामिष्टकामपशिष्यात् क्षिप्रं झटिति इह अस्माल्लोकाद् यजमानः प्रेयाद् एतस्यास्तदानीमनुपधानेन, अवशेषणे त्वनेन द्वियजुर्लक्षणेन मानुषशरीरेण अस्मिल्लोके यजमानः कृत्स्नमायुरेतीत्यर्थः। 'स यन्नानूपदध्यात्। न हैतं दैवमात्मानमनुप्रजानीयादथ यदनूपदधाति तथो हैतं दैवमात्मानमनुप्रजानाति तामनन्तर्हितां दूर्वेष्टकाया उपदधाति पशवो वै दूर्वेष्टका यजमानं तत्पशुषु प्रतिष्ठापयति' (श० ७।४।२।१९)। समीपेऽनुपधाने सत्यसम्बन्धाद् यजमानः स्वकीयं देवरूपमनुक्रमेण न प्रजानीयात्, उपधाने तु प्रजानीयात्। अथ तामेवेष्टकां दूर्वेष्टकासंस्पर्शेन उपदध्यादित्याह—तामनन्तर्हितामिति।

'प्राणो वै स्वयमातृण्णा' (श० ७।४।२।२०) इति स्वयमातृण्णायाः प्राणत्वमुक्तम्। 'अथास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामत्' (श० ७।४।२।११) इत्यादिना प्राणरस एव दूर्वाभूदित्यप्युक्तम्। यजमानस्य हिरण्मयः पुरुषो दैवं शरीरम्, द्वियजुस्तु मानुषमित्युक्तम्। तयोर्मध्ये स्वयमातृण्णादूर्वेष्टकयोरुपधानेनाव्यवधानात् शरीरद्वयस्यापि

प्राणेनाव्यवच्छेद इत्याह—'एवम् ह्यस्यैतावात्मानौ प्राणेन सन्ततावव्यवच्छिन्नौ भवतः' (श० ७।४।२।२०) इति। 'यास्ते अग्ने सूर्ये रुचः। या वो देवाः सूर्ये रुच इति रुचᳬ रुचमित्यमृतत्वं वै रुगमृतत्वमेवास्मिन्नेतद् दधाति द्वाभ्यामुपदधाति तस्योक्तो बन्धुरथो द्वयᳬ ह्येवैतद्रूपं मृच्चापश्च सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।४।२।२१)। मन्त्रयोः पुनः पुना रुक्पदप्रयोगस्याभिप्रायमाह—रुचं रुचमिति। अस्मिन् यजमाने रुचं दधातीति यावत्। हे इन्द्राग्नी, हे बृहस्पते, त्रयोऽपि यूयं सूर्यमण्डले वर्तमानाभिः सर्वाभिर्दीप्तिभिरस्मत्सम्बन्धिने यजमानाय प्रकाशं सम्पादयत इति भावः। ननु चास्य मन्त्रस्याध्वर्युणा पठ्यमानत्वाद् रुचं नो धत्तेति लिङ्गेन अध्वर्योरेव तत्फलं युज्यते, अतो 'न' इति पदं किमित्युपचरितमिति चेन्न, यजेतेत्यात्मनेपदश्रुत्या साङ्गप्रधानफलस्य यजमानगामित्वप्रतीतेः। न च परिक्रीतस्याध्वर्योर्दक्षिणातिरिक्तफलसम्बन्धो न्याय्यः, तस्मात् श्रुतिन्यायाभ्यां विरुद्धं तल्लिङ्गं यजमानपरत्वेनोपचरणीयम्। तस्माद्यजमानेन पाठ्येषु 'आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि' इत्यादिषु क्रियमाणानुवादिषु प्रत्यगाशीर्मन्त्रेषु श्रुतं फलं यथा याजमानमेव, तथैवाध्वर्युणा पाठ्येषु करणमन्त्रेषु श्रुतमपि फलं याजमानमेव। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, ते तव सम्बन्धिन्यो या रुचः स्वरूपज्ञानलक्षणा दीप्तयः, ता एव सूर्ये सूर्यमण्डले रश्मिभी रश्मिरूपेण दिवमातन्वन्ति. 'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥' (भ० गी० १५।१२) इति गीतोक्तेः। हे देव, ताभिः सर्वाभिर्दीप्तिभिर्नोऽस्मभ्यं जनाय पुत्रपौत्रादिकाय च रुचं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारलक्षणं ज्ञानं कृधि सम्पादय।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विदुष्यध्यापिके स्त्रि, यास्ते रुचयः सन्ति, ताभिः सर्वाभिर्नो यथा रुचः सूर्ये रश्मिभिर्दिवमातन्वन्ति, तथा त्वमातनु। अद्य रुचे रुचिकारकाय जनाय प्रसिद्धाय नः प्रीतान् कृधि' इति, तदपि न किञ्चित्, तादृशसम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्। नह्यग्निपदस्याध्यापिकार्थता सम्भवति, तत्र तस्याशक्तत्वात्। न च रुच इत्यस्य रुचय इत्यर्थः सम्भवति। न च रश्मिभिर्व्यतिरिक्तोऽन्यः प्रकाशो वितन्यतेऽप्रसिद्धेः। 'विस्तृतसुखयुक्तान्' इति हिन्दीभाष्यं प्रीतान् कुरु इति च निर्मूलमेव॥ २२॥

या वो॑ दे॒वाः सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु॒ या रुचः॑।
इ॒न्द्रा॒ग्नी ताभि॑ः सर्वा॑भि॒ रुचं॑ नो धत्त बृहस्पते॥ २३॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति देवो, आपकी जो दीप्ति सूर्यमण्डल में वर्तमान है, जो दीप्ति धेनुओं और अश्वों में स्थित है, उन सम्पूर्ण दीप्तियों से देदीप्यमान होकर आप सब हमारे निमित्त कान्ति और नीरोगता को प्रदान कीजिये॥ २३॥

हे देवाः, वो युष्माकं सम्बन्धिन्यो या रुचः सूर्यमण्डले वर्तमाना दीप्तयः सन्ति, तथा गोषु अश्वेषु च या रुचः सन्ति, हे इन्द्राग्नी! हे बृहस्पते! त्रयोऽपि यूयं ताभिः सर्वाभी रुग्भिः कृत्वा नोऽस्मदर्थं रुचं धत्त, विशिष्टरुचोऽस्मान् कुरुतेत्यर्थः। एतत्सम्बन्धि ब्राह्मणं तद्व्याख्यानं च पूर्वकण्डिकायामेवोपन्यस्तम्।

अध्यात्मपक्षे—हे देवास्तत्तदधिष्ठातारः, हे इन्द्राग्नी, विशेषतो स्तनयित्नुपावकाधिष्ठातारौ बृहस्पते बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पालक परमेश्वर, वो युष्माकं या रुचो दीप्तयः सूर्यमण्डले सन्ति, याश्च गोषु धेनुषु, अश्वेषु तुरगेषु विद्यन्ते, ताभिः सर्वाभिर्नोऽस्माकं मध्ये रुचं विशिष्टब्रह्मात्मज्ञानं धत्त।

दयानन्दस्तु—'हे देवाः, यूयं या वः सूर्ये रुचो रुचयो या गोषु धेनुषु अश्वेषु च रुचः प्रीतयः सन्ति, ताभिः सर्वाभी रुग्भिर्नोऽस्माकं मध्ये रुचं कामनाम् इन्द्राग्नी विद्युत्सूर्याविव तदध्यापकोपदेशकौ धत्त। हे बृहस्पते परीक्षक, भवानस्माकं परीक्षां कुरुताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित् विसङ्गतेः। विदुषां याः सूर्यादिषु प्रीतयस्ताभिः कथं प्रार्थयितृषु कामना देवैराधातुं शक्याः ? इन्द्राग्निपदाभ्यामध्यापकोपदेशकग्रहणं यथेष्टचेष्टत्वमेव द्योतयति ॥ २३ ॥

वि॒राड् ज्योति॑रधारयत् स्व॒राड् ज्योति॑रधारयत्। प्र॒जाप॑तिष्ट्वा सादयतु पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्या ज्योति॑ष्मतीम्। विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नाय॒ विश्वं॒ ज्योति॑र्यच्छ। अ॒ग्निष्टेऽधि॑पतिस्तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—विशेष शोभा से युक्त विराट् रूप इस लोक ने अग्निरूप ज्योति को धारण किया है। स्वयं प्रकाशमान द्युलोक ने अग्निरूप ज्योति को धारण किया है। हे इष्टके, प्रजा के पालक प्रजापति देव प्राण, अपान, व्यान की सम्पत्ति के निमित्त ज्योतिर्युक्त तुमको पृथ्वी के ऊपर स्थापित करें, तुम सम्पूर्ण ज्योतियों पर अपना नियन्त्रण स्थापित करो। अग्नि तुम्हारा अधिपति है। तुम उस प्रसिद्ध देवता के साथ दृढ़ होकर अंगिरा के समान स्थित रहो ॥ २४ ॥

'विराट् स्वराडिति रेतःसिचौ प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।४।२२)। द्वियजुषः पूर्वे अव्यवहिते रेतःसिचौ द्वे पद्येष्टके प्राग्लक्षणे अनूकमभित उदङ्मुखो विराट् स्वराडिति, प्रतिमन्त्रमुपदधाति, विराडित्युत्तरां स्वराडिति दक्षिणामिति सूत्रार्थः। द्वे यजुषी इदंलोकादोलोकदेवत्ये क्रमाद्यजुरनुष्टुभौ। विशेषेण राजते दीप्यत इति विराट्। एवंविधा रेतःसिचाख्या प्रथमा इष्टका। अस्मदनुग्रहार्थं ज्योतिरधारयत्। स्वयमेव राजत इति स्वराट्, तादृशी द्वितीया रेतःसिचाख्या इष्टका अस्मदनुग्रहार्थं ज्योतिरधारयत्। यद्वा विराड् अयं लोको ज्योतिरग्निलक्षणमधारयद् धारयति। स्वेनैव राजते इति स्वराट् असौ लोको ज्योतिरादित्यलक्षणमधारयत्। 'प्रजापतिरिति विश्वज्योतिषम्' (का० श्रौ० १७।४।२३)। रेतःसिग्भ्यां पुरस्ताद् विश्वज्योतिषं यजमानकृतां प्रथमां पद्यामिष्टकामुदङ्मुखोऽध्वर्युरनूके उपदध्यादिति सूत्रार्थः। विश्वज्योतिर्दैवतं यजुः शक्वरीछन्दस्कम्। पृथिव्या पृष्ठे उपरि ज्योतिष्मतीं ज्योतिषोपेतां त्वामिष्टकां प्रजापतिः सादयतु। किमर्थम् ? विश्वस्मै सर्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय प्राणादिसम्पत्त्यर्थम्। किञ्च, हे इष्टके ! त्वं विश्वं सर्वं ज्योतिर्यच्छ निगृह्णीष्व देहि वा। अग्निश्च ते तव अधिपतिः स्वामी। तया देवतया अग्निलक्षणया ध्रुवा स्थिरा सती सीद। अङ्गिरस्वद् यथा अङ्गिरसां चयने स्थिरा सीदः, तद्वदत्रापि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ रेतःसिचा उपदधाति। इमौ वै लोकौ रेतःसिचाविमौ ह्येव लोकौ रेतः सिञ्चत इतो वा अयमूर्ध्वꣳ रेतः सिञ्चति धूमꣳ साऽमुत्र वृष्टिर्भवति तामसावमुतो वृष्टिं तदिमा अन्तरेण प्रजाः प्रजायन्ते तस्मादिमौ लोकौ रेतःसिचौ' (श० ७।४।२।२२)। रेतःसिङ्नामधेययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते—अथेति। विहिते इष्टके पृथिवीद्युलोकात्मना प्रशंसति—इमौ वै लोकावित्यादिना। तद्रेतःसेचनमेतयोः प्रत्यक्षसिद्धमित्याह—इमौ ह्येवेति। इतो वा अयमित्यादिना तदेव प्रत्यक्षत्वं दर्शयति—अयं लोक इतोऽस्मात् प्रदेशाद् धूमलक्षणं रेतः सिञ्चति। सा धूमोऽमुत्र द्युलोके वृष्टिर्भवति। सेति वृष्ट्यपेक्षं स्त्रीलिङ्गत्वम्, धूमस्य मेघकारणत्वात् तद्द्वारा वृष्टिकारणत्वाद् धूमो वृष्टिरिति कारणे कार्यत्वोपचारः। तां वृष्टिमसौ द्युलोकः, अमुतोऽमुष्मात् प्रदेशात् सिञ्चति। तस्मादनयोर्लोकयोर्मध्ये वृष्टिपरिणतान्नद्वारा प्रजाः प्रजायन्ते। 'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' (तै० उ०

२।२) इति श्रुतेः, 'वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' (मनु० ३।७६) इति स्मृतेश्च । तस्मादिमौ लोकौ रेतःसिचौ। तद्रूपेणानुसन्धानाद् इष्टके अपि रेतःसिचावित्युच्येते। 'विराड् ज्योतिरधारयदिति। अयं वै लोको विराट् स इममग्निं ज्योतिर्धारयति स्वराड् ज्योतिरधारयदित्यसौ वै लोकः स्वराट् सोऽमुमादित्यं ज्योतिर्धारयति विराड्वहेमौ लोकौ स्वराट् च नानोपदधाति नाना हीमौ लोकौ सकृत्सादयति समानं तत् करोति तस्मादु हानयोर्लोकयोरन्ताः समायन्ति' (श० ७।४।२।२३)। प्रथमाया उपधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—विराड् ज्योतिरिति। अयं लोकः पृथिवी विराट्शब्देनाभिधीयते। स च इममस्मदादीनां प्रत्यक्षमग्निरूपं ज्योतिर्धारयति। प्रथमा रेतःसिग् भूलोकात्मिकेत्युक्तम्। तस्मात् प्रथमरेतःसिगात्मको विराट्शब्दाभिधेयो भूलोकोऽग्निरूपं ज्योतिर्धारयति। स्वराड् ज्योतिरिति द्वितीयोपधानमन्त्रः। अनयोर्विराट्स्वराट्शब्दाभिधेयत्वमेवोपपादयति—विराड्वहेमाविति। इह स्थापनाकर्मणि विराट्स्वराट्नाम्न्यौ इष्टके लोकद्वयस्वरूपे विराड्वेहेमावित्यस्य स्थाने विराड्वहेमाविति व्यत्ययेन एकारस्थाने अकारः। तयोः पृथक् पृथङ्मन्त्रेणोपधानमाह—नानोपदधातीति। यत इमौ लोकौ नाना तस्मात्तदात्मिकयोरिष्टकयोरुपधानं पृथक् पृथङ्मन्त्रेण कर्तव्यमित्यर्थः। उपाधानमन्त्रवत्सादनमन्त्रस्यापि पार्थक्येन प्राप्तावाह—सकृदिति। 'तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद' इति सादनमन्त्रः। तमेकवारमुच्चार्य सादयेत्, न तु प्रतीष्टकमित्यर्थः। तेन तदुपधानं समानं करोति। तस्मादनयोर्लोकयोरन्ताः प्रान्ताः समायन्ति परस्परं सम्बद्धा भवन्ति। अन्तरिक्षभागा हि पृथिवीभागैः सम्बद्धचन्त इत्येतत् प्रत्यक्षसिद्धमेव। 'यद्वेव रेतःसिचा उपदधाति। आण्डौ वै रेतःसिचौ यस्य ह्याण्डौ भवतः स एव रेतः सिञ्चति विराड्ज्योतिरधारयत् स्वराड्ज्योतिरधारयदिति विराड्वहेमावाण्डौ स्वराट् च तावेतज्ज्योतिर्धारयतो रेत एव प्रजातिमेव नानोपदधाति नाना हीमावाण्डौ सकृत् सादयति समानं तत्करोति तस्मात् समानसम्बन्धनौ ते अनन्तर्हिते द्वियजुष उपदधाति यजमानो वै द्वियजुरनन्तर्हितौ तद्यजमानादाण्डौ दधाति' (श० ७।४।२।२४)। आण्डौ पुरुषसम्बन्धिनौ बीजकोशा उच्येते। अण्डशब्दात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पा० सू० ५।४।३८) इति स्वार्थिको अण्। यस्य ह्याण्डौ भवत इत्याण्डयो रेतःसिक्त्वं प्रतिपादितम्। आण्डयोः प्रजोत्पादनसामर्थ्याद् विराट्त्वं प्रत्यक्षसिद्धम्। प्रजातिशब्देन प्रजोत्पादनमभिधीयते। रेतःप्रजातिशब्दाभ्यां प्रजा लक्ष्यन्ते। तत्प्रकाशकत्वाज्ज्योतिष्ट्वमवगन्तव्यम्। प्रकृतयोरिष्टकयोः स्थानविशेषमाह—ते अनन्तर्हिते इति।

'अथ विश्वज्योतिषमुपदधाति। अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योतिरग्निर्ह्येवास्मिँल्लोके विश्वं ज्योतिरग्निमेवैतदुपदधाति। तामनन्तर्हिताᳬ रेतःसिग्भ्यामुपदधातीमौ वै लोकौ रेतःसिचावनन्तर्हितं तदाभ्यां लोकाभ्यामग्निं दधात्यन्तरेवोपदधात्यन्तरेव हीमौ लोकावग्निः' (श० ७।४।२।२५)। विश्वज्योतिराख्याया इष्टकाया उपधानं विधाय तामग्न्यात्मना स्तौति—अथेति। स्वयमातृण्णा इव विश्वज्योतिषोऽपि तिस्रा विद्यन्ते, अतोऽत्र प्रथमेति विशेषणम्। अस्मिँल्लोके यत्किञ्चन ज्योतिरस्ति तत्सर्वमग्निमयमेव। अग्निर्विश्वज्योतिरिति तदात्मकत्वेनानुसन्धानादिष्टकापि विश्वज्योतिः, अतस्तदुपधानेऽग्निमेवोपहितवान् भवतीति। सादनप्रकारं विधत्ते—तामनन्तर्हितामिति। तां विश्वज्योतिषं रेतःसिग्भ्यामनन्तर्हितामव्यवहितां तत्संस्पर्शेनोपदध्यात्। तथा सति रेतःसिचोः पृथिवीद्युलोकात्मकत्वात् ताभ्यामव्यवहितमेवाग्निं दधाति। क्वचित् पार्श्वेऽपि तत्संस्पर्शेनोपधानेऽव्यवधानमुपपद्यत इत्यत आह—अन्तरेव हीति। अन्तरा इव इति पदविभागः। इवशब्द एवकारार्थः। 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (पा० सू० २।३।४) इत्यनेन इमौ इति द्वितीया। अनयोर्लोकयोर्मध्ये पृथिव्या उपरि अन्तरिक्षे खल्वग्निः प्रकाशते, तस्मान्मध्यत उपधानम्। 'यद्वेव विश्वज्योतिषमुपदधाति। प्रजा वै विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननमेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हिताᳬ रेतःसिग्भ्यामुपदधात्याण्डौ वै रेतःसिचावनन्तर्हितां तदाण्डाभ्यां प्रजातिं दधात्यन्तरेवोपदधात्यन्तरेव ह्याण्डौ प्रजाः प्रजायन्ते' (श० ७।४।२।२६)। अथैतामिष्टकां प्रजात्मनापि

स्तौति—यद्वेवेति। प्रजा हि विश्वज्योतिः। यतः प्रजा ज्ञानशक्त्या सर्वान् पदार्थान् प्रकाशयति, तस्मात् प्रजा विश्वं ज्योतिरित्येतदपरोक्षम्। तथा सत्येतद् एतेनेष्टकोपधानेन प्रजननं प्रजोत्पादनमेवोपहितवान् भवति। प्रजायाः प्रजोत्पादनस्य च कार्यकारणभावादभेदविवक्षया एवमुक्तम्। रेतःसिचोराण्डत्वाद् विश्वज्योतिश्च प्रजात्वात् ताभ्यामव्यवहितत्वेन मध्यत उपधाने प्रजोत्पादनमेवाण्डयोर्निहितं भवतीति दर्शयति—तामनन्तर्हितामिति। आण्डयोर्मध्यत एव रेतोनिर्गमनद्वारत्वात् तत एव प्रजाः प्रजायन्ते। 'प्रजापतिष्ट्वा सादयत्विति। प्रजापतिर्ह्येतां प्रथमां चितिमपश्यत् पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीमिति पृष्ठे ह्ययं पृथिव्यै ज्योतिष्मानग्निः' (श० ७।४।२।२७)। तत्रोपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे—प्रजापतिष्ट्वेत्यादिना। यतः प्रजापतिरेतां प्रथमां चितिमपश्यत्, अतः प्रथमां विश्वज्योतिषं 'प्रजापतिष्ट्वा सादयतु' इति मन्त्रेणोपदध्यादित्यर्थः। यतश्च पृथिव्याः पृष्ठे उपरि अग्निर्ज्योतिष्मान् विश्वज्योतिश्चाग्निः, 'अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योतिः' इत्युक्तम्, अतः पृष्ठे पृथिव्या इति मन्त्रवचनम्।

'विश्वस्मै प्राणायापानाय। व्यानायेति प्राणो वै विश्वज्योतिः सर्वस्मा उ वा एतस्मै प्राणो विश्वं ज्योतिर्यच्छेति सर्वं ज्योतिर्यच्छेत्येतदग्निष्टेऽधिपतिरित्यग्निमेवास्या अधिपतिं करोति सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।४।२।२८)। प्राणस्य सत्त्व एव सर्वेषामिन्द्रियाणां स्वस्वविषयप्रकाशकत्वात् तस्य विश्वज्योतिष्ट्वम्। सर्वस्मा उ वा एतस्मा इति। सर्वस्य खल्वेतस्य लोकस्य, प्राण आशास्यो भवतीति शेषः। अपानो व्यानश्चेति प्राण एव वृत्तिभेदभिन्नः। प्राणस्य विश्वज्योतिष्ट्वाद् विश्वस्मै सर्वस्य लोकस्य प्राणादिस्थैर्यार्थं तवोपधानमिति मन्त्रभाग आह। सर्वं ज्योतिरिति विश्वशब्दार्थविवरणम्। 'अग्निष्टेऽधिपतिः' इति मन्त्रभागकथनेनाग्निमेवास्या विश्वज्योतिषोऽधिपतिं करोति। हे विश्वज्योतिः, पृथिव्याः पृष्ठे उपरि ज्योतिष्मतीं ज्योतिषा युक्तां त्वां प्रजापतिः सादयतु स्थापयतु। किमर्थमिति तत्राह—विश्वस्मा इति। विश्वस्मै विश्वस्य सर्वलोकस्य प्राणायापानाय व्यानाय प्राणादिव्यापारार्थम्। किञ्च, विश्वं समस्तं ज्योतिस्तेजो यच्छ नियच्छ अस्मदायत्तं कुरु। ते तव अग्निरधिपतिः, अतः स त्वां परेभ्यो गोपायत्विति कृत्स्नमन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे—विविधं राजत इति विराट् परमेश्वरः समष्टिप्रपञ्चोपहितः, ज्योतिरादित्यादिकं धारयति। स्वेनैव राजत इति स्वराट् प्रत्यक्चैतन्यात्मा ज्ञानलक्षणं ज्योतिर्धारयति। प्रजापतिः परमेश्वरो ज्योतिष्मतीं रुचां शक्तिं पृथिव्याः पृष्ठे उपरि सादयतु। किमर्थम्? प्राणादिव्यापारार्थम्। हे भगवति ज्योतिष्मति, ज्योतिर्यच्छ। अग्निः परमेश्वरस्तेऽधिपतिः। तया देवतया अङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद।

दयानन्दस्तु—'या विराट् स्त्री विविधासु राजते सा ज्योतिर्विद्याप्रकाशमधारयद् धारयति। यः स्वराट् पुरुषो ज्योतिर्विद्युदादिप्रकाशं धारयेत्, सा स च अखिलं सुखं प्राप्नुयात्। हे स्त्रि, योऽग्निर्विज्ञानवान् ते तवाधिपतिरस्ति तया देवतया सह त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद। हे पुरुष, योऽग्निस्तवाधिपत्यस्ति तया देवतया त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद। हे स्त्रि, यः प्रजापतिः पृथिव्याः पृष्ठे तले विश्वस्मै प्राणाय प्राणिति सुखं येन तस्मै, अपानाय अपानिति दुःखं येन तस्मै, व्यानाय व्यानिति सर्वान् शुभगुणकर्मस्वभावान् येन तस्मै, ज्योतिष्मतीं विद्युतमिव त्वां सादयतु। सा त्वं ज्योतिर्विज्ञानं यच्छ। एतस्मा एतं पतिं त्वं सादय' इति, तदपि यत्किञ्चित्। तादृशसम्बोधनादेरप्रामाणिकत्वात्, अध्याहारबाहुल्याच्च। 'अग्निष्टेऽधिपतिः' इति तु मूलम्, अग्निस्तवाधिपत्यस्तीति भाष्यम्, भाष्यमेतत् कपोलकल्पितमेव। प्राणापानादिव्याख्यानमपि निर्मूलमेव ॥ २४ ॥

मधु॑श्च माध॑वश्च वास॑न्तिकावृतू अ॒ग्नेर॑न्तःश्लेषो॑ऽसि कल्पे॑तां द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्तामाप॒ ओष॑धयः कल्प॑न्तामग्नयः॒ पृथ॒ङ्मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य सव्र॑ताः । ये अ॒ग्नयः॒ सम॑नसोऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी इ॒मे । वास॑न्तिकावृतू अ॑भि॒कल्प॑माना इन्द्र॑मिव दे॒वा अ॑भि॒सं॑विश॑न्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ — चैत्र और वैशाख मास वसन्त ऋतु सम्बन्धी हैं, अथवा हे ऋतुरूप दोनों इष्टकाओं ! तुम चीयमान अग्नि के अन्तर में स्थिर होकर श्लेष, अर्थात् दृढ़ता के निमित्त लगाई गई हो । मुझ यजमान की उत्कृष्टता के निमित्त यह द्युलोक और भूलोक अपने योग्य उपकार की कल्पना करें, जल और औषधियाँ हमारा प्राधान्य सम्पादन करें, समान व्रत वाली अनेक नाम की अग्नि स्वयमातृण्णा आदि इष्टकाएं उत्कर्ष का सम्पादन करें । यह द्यावा-पृथिवी के मध्य में वर्तमान एक मन वाली जो अग्नियाँ हैं, वे चयन की हुई वसन्त सम्बन्धी ऋतु का सम्पादन कर इस कर्म को सहारा दें, जैसे कि देवता इन्द्र की सेवा करते हुए उसकी सहायता करते हैं । हे इष्टके, उस प्रसिद्ध देवता के द्वारा स्थापित होकर तुम अंगिरा के समान स्थिर बनो ॥ २५ ॥

'ऋतव्ये मधुश्च माधवश्चेति' (का० श्रौ० १७।४।२४) । विश्वज्योतिषः पुरस्तात् संलग्ने द्वे पद्ये ऋतव्ये प्रागुक्तलक्षणे अनूकमभित उदङ्मुख उपदध्याद् मधुश्च माधवश्चेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः । ऋतुदैवतं यजुः । अष्टोत्तरशताक्षरत्वात् छन्दो नास्ति । मधुश्चैत्रो मासः । माधवो वैशाखो मासः । तावुभौ वासन्तिकौ बसन्त-सम्बन्धिनौ ऋतू ऋत्ववयवौ । हे तादृश वसन्ताख्य ऋतो, त्वं चीयमानस्याग्नेः, अन्तःश्लेषोऽसि यथा कुड्यस्या-न्तर्दार्ढ्याय काष्ठपाषाणादयः श्लिष्यन्ते तद्वत् । मम अग्निं चिन्वतो यजमानस्य ज्यैष्ठ्याय उत्कर्षार्थम्, इमे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ कल्पेतां स्वोचितमुपकारं सम्पादयताम् । यद्वा मयेति तव स्थाने व्यत्ययः । द्यावाभूमी तवोत्कर्षाय कल्पेतामित्यर्थः । आपश्च ओषधयश्च कल्पन्तां स्वोचितमुपकारं सम्पादयन्तु । सव्रताः समानं व्रतं कर्म येषां ते, एकस्मिन् चयनाख्यकर्मण्यवस्थिता आहवनीयाद्यग्नयोऽपि पृथक्कल्पन्तां प्रत्येकं स्वस्वोचितं व्यापारं सम्पादयन्तु । इमे द्यावापृथिवी अन्तरा अनयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानाः समनस एकमनस्का येऽग्नयोऽन्यैरपि चिताः, तेऽपि वासन्तिकौ ऋतू वसन्तसम्बन्धिनौ ऋत्ववयवौ अभिकल्पमानाः सम्पादयन्तः सन्तः, अभिसंविशन्तु एतत्कर्म आश्रयन्तु । तत्र दृष्टान्तः—इन्द्रमिव देवा इति । यथा देवा इन्द्रं परिचरणाय अभिसंविशन्ति अभितः सेवन्ते तद्वत् । हे ऋतव्ये, युवां तया देवतया अङ्गिरसां कर्मणेव ध्रुवे सत्यौ सीदतम् उपविशतम् । यद्वा मधुश्च माधवश्च वसन्तः । वसन्त एव वासन्तिक ऋतुः । विनयादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थिकष्ठक् । ऋतू इति द्विवचनम् एकवचनस्थाने, अर्थसम्बन्धात् । यस्त्वमग्नेश्चीयमानस्य संवत्सराख्यस्य अन्तःश्लेषोऽसि, अन्तर्मध्ये व्यवस्थितः श्लेषकोऽसि, तस्य तव द्यावापृथिव्यौ ज्यैष्ठ्याय ज्येष्ठभावाय कल्पेताम् । अग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय कल्पन्ताम्, 'अग्नयो हैत पृथग् यदेता इष्टकाः' (श० ८।७।१।६) इति श्रुतेः । मम त्वेति प्राप्ते व्यत्ययेन ममेति च्छान्दसः । याः स्वयमातृण्णादयो नानाभूतास्तव ज्यैष्ठ्याय ज्येष्ठत्वाय सव्रताः समानकर्माणः समानं कर्म इष्टकानामग्निचयनं नाम । किञ्च, येऽग्नयोऽन्यैरपि चिताः समनसः समानमनस्का अनयोर्द्यावापृथिव्योरन्तरा मध्ये वर्तन्ते, तेऽपि वसन्तमृतुमभिकल्पमानाः संविशन्त्विति सम्बन्धः । अत्रापि वासन्तिकाविति स्वार्थे तद्धितः । ऋतू इति द्विवचन-मेकवचनस्यार्थे । यथेन्द्रं राजानं परिचरणाय देवा अभिसंविशन्ति, एवं वसन्तमृतुमन्या इष्टकाः परिचरणायाभि-संविशन्तु । अन्यत् सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथर्तव्ये उपदधाति। ऋतव एते यदृतव्ये ऋतूनेवैतदुपदधाति मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू इति नामनी एतनयोरेते नामभ्यामेवैने एतदुपदधाति द्वे इष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोति' (श० ७।४।२।२९)। ऋतव्याख्ययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते—अथेति। ऋतव्ये इति। ऋतुर्देवताऽनयोरिति विग्रहे 'वाय्वृतुपित्रुषसो यत्' (पा० सू० ४।२।३१) इति देवतार्थे यत्प्रत्यये 'यचि भम्' (पा० सू० १।४।१८) इति भसंज्ञायाम्, 'ओर्गुणः' (पा० सू० ६।४।१४६) इति गुणे, 'वान्तो यि प्रत्यये' (पा० सू० ६।१।७९) इत्यवादेशे रूपम्। ऋतुदेवत्येष्टकोपधानेन ऋतूनामेवोपधानं भवतीत्याह—ऋतव एते इति। ऋतव्यसंज्ञकयोरिष्टकयोरुपधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—मधुश्चेति। ऋतुशब्दो मासद्वये मुख्यः। अत्र तदवयवभूते मासे उपचाराद् वर्तते। मधुश्च माधवश्चेत्येतौ वसन्तसम्बन्धिनौ ऋतू मासौ, अतश्च तद्देवत्यत्वेन तदात्मिके वामुपदधामि। नामनी इत्यादिना मधुमाधवशब्दोपयोगं दर्शयति। मधुमाधवशब्दाभ्यां चैत्रवैशाखा उच्येते। ननु स्वयमातृण्णादिवद् एकैकस्या इष्टकाया उपधानं विहाय किमिति द्वयोरुपधानम्? तत्राह—द्वे इष्टके इति। इष्टकयोर्द्वित्वेऽपि सकृत्वादनेन एकमेव ऋतुं सम्पादयतीति। वसन्तर्तोः संवत्सरप्रथमावयवत्वात् प्रतिष्ठात्वम्। यत्रावयवे प्रतितिष्ठति सा प्रतिष्ठा। यथा पुरुषः पादयोः प्रतितिष्ठति तद्वत् संवत्सरोऽपि वसन्ततौ प्रतितिष्ठति। प्रथमायाश्चितेस्तूत्तरचितिलक्षणान् प्रजापतेरवयवान् प्रत्याधारत्वात् प्रतिष्ठात्वम्। अतश्च प्रथमायां चितौ प्रकृतयोरिष्टकयोरुपधाने प्रजापतेः स्वस्य वसन्तर्तुदेवत्यत्वेन तदात्मकैतदिष्टकाद्वयलक्षणं यत्प्रतिष्ठारूपमङ्गमस्ति, तदस्मिन्नेतेन प्रतिनिहितवान् भवतीत्यर्थः। 'प्रजापतिरेषोऽग्निः संवत्सर उ प्रजापतिस्तस्य प्रतिष्ठैव प्रथमा चितिः…' (श० ७।४।२।३१)। तयोः स्थानविशेषं विधाय प्रशंसति—ते अनन्तर्हिते इति। 'ते अनन्तर्हिते विश्वज्योतिष उपदधाति प्रजा वै विश्वज्योतिरनन्तर्हितास्तत्प्रजा ऋतुभ्यो दधाति' (श० ७।४।२।३१)। अनन्तर्हितोपधानेन ऋतुषु प्रतिष्ठापयतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अत्र कालात्मनो भगवतः स्तुतिः। हे मधुमाधवरूपवसन्तर्तो, त्वं संवत्सरस्य अग्नेः श्लेषोऽसि श्लेषको भवसि। तव ज्येष्ठत्वाय द्यावापृथिवी कल्पेताम्। आपश्चौषधयश्च तव ज्येष्ठत्वाय कल्पन्ताम्, सर्वेषां कालहेतुकत्वात्, प्रागभाव-प्रध्वंसाभावप्रतियोगित्वात्, कालायत्तत्वाच्च। समानकर्माणोऽग्नय आहवनीयाद्याः पृथग् नानाभूतास्तव ज्यैष्ठ्याय कल्पन्ताम्, तैरपि संवत्सराख्यस्याग्नेरेवाराध्यत्वात्। किञ्च, अनयोर्द्यावापृथिव्योरन्तरा (मध्ये) वर्तमानाः समनस एकमनस्काश्चिता अग्नयो वसन्तमृतुमभिकल्पमानाः सम्पादयन्तः सर्वे देवा इन्द्रमिव संवत्सरात्मानं त्वामेव संविशन्तु। हे मधुमाधवौ, युवां क्रत्वभिमानिन्या तया देवतया अङ्गिरस्वत् प्राण इव ध्रुवे स्थिरे सीदतम्। ऋतूनां कालात्मकत्वात् कालस्य च सदातनत्वात् सर्वोत्पत्तिनिमित्तत्वाद् अजातावस्था, जायमानावस्था, जातावस्था च तत्रैव सम्पद्यत इति भावः।

दयानन्दस्तु—'यथा मम ज्यैष्ठ्याय यावग्नेरुत्पद्यमानौ ययोरन्तःश्लेषो भवति, तौ मधुश्च माधवश्च वासन्तिकौ सुखायर्तू कल्पेताम्, याभ्यां द्यावापृथिवी चापः कल्पन्ताम्, पृथगोषधयोऽग्नयश्च कल्पन्ताम्। हे सव्रताः समनसो देवाः, वासन्तिकावृतू येऽत्रान्तराग्नयश्च सन्ति तांश्चाभिकल्पमानाः सन्तो भवन्त इन्द्रमिवाभिसंविशन्तु। यथेमे द्यावापृथिवी तया देवतया सहाङ्गिरस्वद् ध्रुवे वर्तेते, तथा युवां स्त्रीपुरुषौ निश्चितौ सीदतम्' इति, तत्सर्वं वेदस्य लोकायतिकापादनमेव, तादृशसम्बोधनासम्भवात्। चैत्रवैशाखयोरग्नेरुत्पत्तिः, तयोरन्तर्वायुः, तथा युवां स्त्रीपुरुषौ निश्चितौ सीदतमित्यादिकं सर्वं निर्मूलमेव, युवामित्यनेन ऋतव्यसंज्ञकयोरिष्टकयोरेव ग्रहणात्॥ २५॥

अषाढासि सहमाना सहस्वारातीः सहस्व पृतनायतः। सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्व॥२६॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके, तुम स्वभाव से शत्रुओं को जीतने वाली हो, तुम शत्रुओं को सहन नहीं कर सकती, अतः शत्रुओं का तिरस्कार करो, संग्राम की इच्छा करने वाले शत्रुओं का तिरस्कार करो, तुम अनन्त बल वाली हो, मुझ पर प्रसन्न होवो ।। २६ ।।

'अषाढासीत्यषाढाम्' (का० श्रौ० १७।४।२५)। अषाढासंज्ञकामिष्टकां पत्नीकृतां पद्यां प्राग्लक्षणाम् ऋतव्याभ्यां पुरस्तात् संल्लग्नाम् अनूके उपदधात्यषाढासीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। सवितृदृष्टा देवदृष्टा वा इष्टका-देवत्या विराडनुष्टुप्। हे इष्टके त्वमषाढासि शत्रून् सहते इत्यषाढा केनाप्यपरिभूता, स्वभावतश्च सहमाना सहते विरोधिन इति सहमाना विरोधिपरिभवशीला असि, अतोऽरातीरदानशीला येऽस्मभ्यं दातव्यं धनं न प्रयच्छन्ति तथाविधाः प्रजाः सहस्व अभिभव। तथा पृतनायतः पृतनां संग्राममिच्छन्ति ये ते पृतनायन्ति, पृतनायन्तीति पृतनायन्तस्तान् संग्रामेच्छून् शत्रून् सहस्व। किञ्च, या त्वं स्वभावतः सहस्रवीर्या बहुसामर्थ्या सा मां जिन्व प्रीणीहि। यद्वा अषाढासि नाम्ना। नाम चान्वर्थम्—'यदसहन्त तस्मादषाढेति' (श० ७।४।२।३३) इति श्रुत्यभिप्रायकम्। जिन्वतिः प्रीतिकर्मा।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाषाढामुपदधाति। इयं वा अषाढेमामेवैतदुपदधाति तां पूर्वार्धे उपदधाति प्रथमा हीयमसृज्यत' (श० ७।४।२।३२)। अथ ऋतव्येष्टकोपधानानन्तरम् अषाढाभिधामिष्टकामुपदध्यात्। अषाढाया मृण्मयेष्टकात्वात् तदुपधाने पृथिव्युपधानमेव सम्पादितं भवतीत्याह—इयं वा इति। तस्या आधानं चयनस्थलस्य पूर्वभागे कर्तव्यमित्याह—तां पूर्वार्धे इति। ननु किमर्थं तथोपधानमिति चेत्तत्राह—प्रथमेति। इयमषाढा उखायाः प्रथमा असृज्यत खलु। 'सा यदषाढा नाम। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त ते देवा एतामिष्टकामपश्यन्नषाढामिमामेव तामुपादधत तामुपधायासुरान् सपत्नान् भ्रातृव्यानस्मात् सर्वस्मादसहन्त यदसहन्त तस्मादषाढा तथैवैतद्यजमान एतामुपधाय द्विषन्तं भ्रातृव्यमस्मात् सर्वस्मात् सहते' (श० ७।४।२।३३)। अषाढेति नामधेयप्राप्तिप्रदर्शनपूर्वकमुपधानोपयोगं दर्शयति—सा यदषाढा नामेत्यादिना। पुरा खलु देवाश्चासुराश्च प्राजापत्याः प्रजापतेरपत्यभूताः 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' (पा० सू० ४।१।८५) इत्यनेनाऽपत्यार्थे पत्युत्तरत्वात् ण्यप्रत्यये रूपसिद्धिः। उभये अप्येते स्पर्धां परस्परं सङ्घर्षमकुर्वन्। ते देवाः केनोपायेन असुरान् जयेमेति विचार्य तदुपायत्वेन एनाम् अषाढाभिधामिष्टकामपश्यन्। दृष्ट्वा च तामिष्टकामुपहितवन्तः। तामुपधाय असुरान् सपत्नान् वैरिणो भ्रातृव्यान् इति सपत्नशब्दार्थविवरणम्। भ्रातृशब्दात् 'भ्रातुर्व्यच्च' सपत्ने' (पा० सू० ४।१।१४५) इति सपत्नार्थे व्यनो विधानात्। तानसुरान् अस्मात् सर्वस्मात् स्थानाद् असहन्त निराकुर्वन्। यथा तेषु लोकेषु असुरा अवस्थानं न लभन्ते तथा पर्यबीभवन्नित्यर्थः। यत एतया असुरान् असहन्त तस्मात् अषाढेति नामधेयम्। अत्र असुराणां सहनकथनेन स्वेषामसहनमर्थतः प्राप्तम्। अतश्च एतस्या इष्टकायाः स्वेषामसहनं प्रत्यपि कारणत्वाद् असहनसाधनत्वेन अषाढेत्युच्यते। 'साढ्यै साढ्वा साढेति निगमे' (पा० सू० ६।३।११३) इति साढाशब्दो निपातितः। ततो नञ्समासः। ततो मूर्धन्यादेशो व्यत्ययेन। तथैवैतदिति। यथैव देवा अषाढामुपधाय असुरान्निराकुर्वन्, तथैव यजमान एतामुपधाय द्विषन्तं द्वेषं कुर्वन्तं भ्रातृव्यम् अस्मात् सर्वस्मात् प्रदेशान्निराकुरुते।

'यद्वेवाषाढामुपदधाति। वाग्वा अषाढा वाचैव तद्देवा असुरान् सपत्नान् भ्रातृव्यान् अस्मात् सर्वस्माद-सहन्त तथैवैतद्यजमानो वाचैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमस्मात् सर्वस्मात् सहते वाचमेव तद्देवा उपादधत तथैवैतद्यजमानो वाचमेवोपधत्ते' (श० ७।४।२।३४)। वागात्मनापि तामिष्टकां प्रशंसति—यद्वेवेति। वाचैव तद्देवा इत्यादिना वाग्रूपत्वमषाढायाः प्रतिपाद्यते। यतो देवा निर्भर्त्सनादिविशिष्टया वाचैव असुरान् असहन्त तस्मान्निराकरण-साधनत्वसाधर्म्याद् अषाढा वाक् खलु। ततो देववद्यजमानोऽपि वाचैव द्विषन्तं सहते। उक्तन्यायेन वागात्मिका

सा। अतोऽषाढोपधानेन वाचमेव उपादधत देवाः, तथैव यजमानो वाचमेवोपधत्ते। 'सेयं वामभृत्। प्राणा वै वामं यद्धि किञ्च प्राणीयं तत्सर्वं बिभर्ति तेनेयं वामभृद् वाग्घ त्वेव वामभृत् प्राणा वै वामं वाचि वै प्राणेभ्योऽन्नं धीयते तस्माद् वाग् वामभृत्' (श० ७।४।२।३५)। इयं वा अषाढेति यत्पृथिव्यात्मकत्वमषाढाया उक्तम्, तदुपजीव्य अस्या इष्टकाया वामभृत्संज्ञाप्राप्तिं दर्शयति—सेयमिति। वामं वननीयं प्रार्थनीयं वस्तु। प्राणा वै सर्वैराशास्यमानत्वाद् वामं वस्तु। यत्किञ्चित्प्राणवदर्थजातमस्ति, तत्सर्वमियं पृथिवी बिभर्ति खलु। अतश्च वामदेवशब्देन प्राणानामभिधानात् प्राणानां प्राणिनां चाभेदविवक्षयेयं पृथिवी वामभृत्संज्ञका इति तदात्मिका अषाढापि वामभृत्संज्ञकेत्यर्थः। 'वाग्वा अषाढा' इति यदुक्तमषाढाया वागात्मत्वम्, तदुपजीव्य एतत्संज्ञालाभमाह—वाग्घ त्वेवेति। 'वाचि वै' इत्यत्र वाक्शब्देन वागिन्द्रियस्थानं मुखं लक्ष्यते, प्राणानुविधायित्वात्। प्राणशब्देन च श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि। प्राणेभ्योऽर्थे वाचि मुखेऽन्नं धीयते, तस्माद्वाग् वामभृद् इति तदात्मिका अषाढापि वामभृदभिधीयते। 'त एते सर्वे प्राणा यदषाढा। तां पूर्वार्धे उपदधाति पुरस्तात्तत्प्राणान् दधाति तस्मादिमे पुरस्तात्प्राणास्तान्नान्यया यजुष्मत्येष्टकया पुरस्तात् प्रत्युपदध्यादेतस्यां चितौ नेत् प्राणानपि दधानीति' (श० ७।४।२।३६)। सेयमित्यादिना निष्पन्नमर्थमाह—त एत इति। सेयमित्यादिना त्वषाढाया आधिभौतिकप्राणात्मकत्वमुक्तम्। 'वाग्घ त्वेव' इत्यादिना त्वाध्यात्मिकप्राणात्मकत्वम्। ततश्च अषाढा इति यद् एषा ते सर्वे प्राणाः। आध्यात्मिकाधिभौतिकत्वादिभेदेनोभयविधा अपि प्राणा इत्यर्थः। त एते इति प्राणा इत्येतदपेक्षया लिङ्गवचने। उक्तमषाढाया उभयविधप्राणात्मकत्वमुपजीव्य तस्याः पूर्वभागे उपधानमुपपादयति—तां पूर्वार्धे इति। अषाढायाः पूर्वभागे मन्त्रवत्या इष्टकाया उपधानं निवारयति—तान्नान्ययेति। तत्र हेतुः—एतस्यां चिताविति। 'नेत्' इति निपातः परिभये वर्तते (निघ० १।३।५)। अषाढाया प्राणात्मकत्वादेतस्यां प्रथमायां चितौ तस्याः पुरस्ताद् मन्त्रवदिष्टकोपधाने तद्व्यवधानात् प्राणानेवापिहितवान् भवतीति परिभयेन नोपदध्यात्। 'यद्वपस्याः पञ्च पुरस्तादुपदधाति। अन्नं वा आपोऽनपिहिता वा अन्नेन प्राणास्तामनन्तर्हितामृतव्याभ्यामुपदधात्यृतुषु तद्वाचं प्रतिष्ठापयति सेयं वागृतुषु प्रतिष्ठिता वदति' (श० ७।४।२।३७)। ननु यदि समन्त्रकाणामिष्टकानामुपधाने प्राणापिधानम्, तर्हि अपस्यानामपि मन्त्रविशिष्टानामुपधानेन तत्कस्मान्न भवतीत्यत आह—यद्वपस्या इति। अपस्यानामन्नात्मकत्वं तद्विधायकब्राह्मणे—'अपां त्वा पाथसि सादयामि' (श० ७।५।२।६०) इत्यत्राभिधास्यते। आपश्चान्नात्मिकास्तत्कारणत्वात्। अन्नेन तु प्राणानामपिधानं न सम्भवति, अन्नोपजीवित्वात् प्राणानाम्। अतश्च अन्नात्मकत्वाद् अपस्यानां समन्त्रकाणामप्युपधानं न विरुध्यते। अथ तस्या ऋतव्ययोः समीपे उपधानं विधाय स्तौति—तामनन्तर्हितामिति। सेयमिति। ऋतुष्ववस्थितेषु प्राणिष्वित्यर्थः।

'प्रजा वै विश्वज्योतिः' इति विश्वज्योतिषः प्रजात्वमुक्तम्। 'वाग्वा अषाढा' इत्यषाढाया वाक्त्वं प्रतिपादितम्। ततश्च विश्वज्योतिषः समीपेऽषाढाया उपधाने सति प्रजासु वागुपहिता भवति। तदकृत्वा तयोर्मध्ये किमर्थमृतव्ययोरुपधानमित्याशङ्क्य तत्कारणमाह—'तदाहुः। यत्प्रजा विश्वज्योतिर्वागषाढाऽथ कस्मादन्तरेणर्तव्ये उपदधातीति संवत्सरो वा ऋतव्ये संवत्सरेण तत्प्रजाभ्यो वाचमन्तर्दधाति तस्मात्संवत्सरवेलायां प्रजा वाचं प्रवदन्ति' (श० ७।४।२।३८)। 'ऋतव एते यदृतव्ये' (श० ७।४।२।२९) इति ऋतव्ययोऋर्तुत्वात्मकत्वात् सम्भूय सर्वेषामृतूनां संवत्सरात्मकत्वाद् ऋतव्ये संवत्सरः। ततश्च ऋतव्ययोर्मध्ये उपधाने संवत्सरेण प्रजाभ्यो वाचं व्यवहितां करोति। तस्मादिदानीमुत्पत्तेरुपरि संवत्सरे गते सति पश्चात् प्रजा वाचं प्रवदन्ति। 'अषाढासि सहमानेति। असहन्त ह्येतया देवा असुरान् सहस्वारातीः सहस्व पृतनायत इति यथैव यजुस्तथा बन्धुः सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्वेति सर्वं वै सहस्रꣳ सर्ववीर्यासि सा मा जिन्वेत्येतत् सादयित्वा

सूददोहसाऽधिवदति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।४।२।३९)। प्रकृताया अषाढाया इष्टकाया उपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे—अषाढासीत्यादिना। यतो देवा एतया इष्टकया असुरान् असहन्त निराकुर्वन्, अतः सहनसाधनत्वाद् अषाढासीति मन्त्र आह। सहस्रवीर्यासीत्यत्र सहस्रशब्देनापरिमितसंख्या विवक्षितेति दर्शयति—सर्वं वै सहस्रमिति। तथा चेत्थं मन्त्रार्थः—हे इष्टके त्वं सहमाना असुराणां निराकर्त्री, अतो नाम्ना अषाढासि। तस्माद् अरातीरदानशीलान् शत्रून् सहस्व परिभावय। किञ्च, ये पूर्वं विरोधिनो न भवन्ति, इतः परं पृतनां संग्राममिच्छन्ति ते पृतनायन्तः, तानपि परिभावय। किञ्च, त्वं सहस्रवीर्यासि अपरिमितवीर्यविशिष्टासि। अनेन विशेषणेन शत्रुनिराकरणसामर्थ्यमुपपादितं भवति। सा त्वं मां जिन्व प्रीणीहि। दूर्वेष्टकादीनां स्वयमातृण्णायाः प्राग्भागे उपधाने कारणमाह—'तदाहुः। कस्मादभि स्वयमातृण्णमन्या इष्टका उपधीयन्ते प्राच्य एता इति द्वौ वै योनी इति ब्रूयाद्देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः प्राचीनप्रजनना वै देवाः प्रतीचीनप्रजनना मनुष्यास्तद्यदेताः प्राचीरुपदधाति देवयोनेरेवैतद्यजमानं प्रजनयति' (श० ७।४।२।४०)। अभिस्वयमातृण्णं स्वयमातृण्णामभिलक्ष्य स्वयमातृण्णाया उपरि भाग इत्यर्थः। 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' (पा० सू० २।१।१४) इत्यव्ययीभावसमासः। अन्या इष्टका उपरि वक्ष्यमाणा उपधीयन्ते, एता दूर्वेष्टकादयस्तु तस्याः प्राच्य उपधीयन्ते, तत्कथमिति यच्चोद्यमस्ति तत्रोत्तरमाह—द्वौ वै योनी इति। अर्थाद् देवयोनिरन्यः, मनुष्ययोनिरन्यः। एतद्विवृणोति—प्राचीनप्रजनना इति। प्राचीने पूर्वभागे प्रजननम् उत्पत्तिस्तत्कारणं वा येषां ते तथोक्ता देवाः। मनुष्यास्तु प्रतीचीनप्रजननाः। ततश्च एता इष्टकाः स्वयमातृण्णायाः प्राचीः प्रागपवर्गा उपदधातीति यत्तेन देवयोनेरेव एनं यजमानमुत्पादयति। एतेन मनुष्ययोनेर्भिन्ना देवयोनिर्नास्तीति वदन्तोऽर्धनास्तिकाः परास्ता वेदितव्याः।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवति राजराजेश्वरि, त्वमषाढासि शत्रून्न सहसे इति यावत्। सहमाना शत्रून् सहते अभिभवतीति तथाविधासि, अतोऽरातीर्बाह्यानान्तरांश्च शत्रून् अभिभव। पृतनायतोऽरातीः शत्रून् सहस्व। त्वमनन्तपराक्रमासि, अतः सा त्वं मां जिन्व प्रीणीहि, स्वचरणारविन्दयोरनुरागं दत्त्वेति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे पत्नि, या त्वमषाढासि शत्रुभिरसह्यमानासि, सा त्वं सहमाना पत्यादीन् सोढुमर्हा सती पतिं मां सहस्व। या त्वं सहस्रवीर्या असंख्यातपराक्रमासि, सा त्वं पृतनायतोऽरातीरात्मनः पृतनां सेनामिच्छतः शत्रून् सहस्व। यथाहं त्वां प्रीणामि तथा मां पतिं जिन्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मूले यथाहं त्वां प्रीणामि तथा त्वं मां जिन्वेत्याद्यभावात्, सम्बोधनस्यापि निर्मूलत्वाच्च ॥ २६ ॥

मधु॒ वाता॑ ऋताय॒ते मधु॑ क्षरन्ति॒ सिन्ध॑वः। माध्वी॑र्नः स॒न्त्वोष॑धीः ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ की इच्छा करने वाले यजमान के निमित्त वायु पुष्परस का वहन करती है, बहती हुई नदियाँ मधु के समान जल को बहाती हैं। सम्पूर्ण औषधियाँ हमारे लिये मधुर रस से भर जाँय ॥ २७ ॥

'कूर्मं दधिमधुघृतैरनक्ति मधु वाता इति' (का० श्रौ० १७।४।२७)। दधिमधुघृतैर्मिश्रितैर्मधुव्वातेति तिसृभिर्ऋग्भिः कूर्मं कच्छपमनक्तीति सूत्रार्थः। गोतमदृष्टा विश्वेदेवदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्यः। ऋतायते ऋतं यज्ञमिच्छतीति ऋतयति, ऋतयतीति ऋतयन् तस्मै ऋतयते। छान्दसो दीर्घः। यजमानाय वाता वायवो मधु मधुमन्तो रसवन्तो वान्तु इति शेषः। सिन्धवः स्यन्दमाना नद्यः समुद्रा वा मधु मधुरसं क्षरन्ति स्रावयन्तु। मधुमद् रसवद् उदकं स्रवन्तु। ओषधीर् ओषधयोऽपि नोऽस्मदर्थं माध्वीर्मधुररसोपेताः सन्तु। 'ऋतायते' इत्यत्र प्राप्तस्य 'क्यचि च' (पा० सू० ७।४।३३) इतीत्वस्य 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० सू० ७।४।३५) इत्यनेन निषेधात्, 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (पा० सू० ७।४।२५) इति प्राप्तदीर्घत्वस्य 'अश्वाघस्यात्' (पा० सू० ७।४।३७) इति क्यचि अश्वाघशब्दयोरेव आत्वविधाननियमान्निषेधेन छान्दसमेव दीर्घत्वमिति भावः।

तत्र ब्राह्मणम्—'कूर्ममुपदधाति। रसो वै कूर्मो रसमेवैतदुपदधाति यो वै स एषां लोकानामप्सु प्रविद्धानां पराङ्रसोऽत्यक्षरत्स एष कूर्मस्तमेवैतदुपदधाति यावानु वै रसस्तावानात्मा स एष इम एव लोकाः' (श० ७।५।१।१)। कूर्मोपधानं विधाय तं रसात्मना स्तौति कूर्ममुपदधातीति। उक्तमेव कूर्मस्य रसत्वं प्रतिपादयति—यो वै स इति। एषां पृथिव्यादिलोकानामप्सु प्रविद्धानां मग्नानां स प्रसिद्धो यो रसः पराङ् अनावृत्तः, अत्यक्षरत् अस्रवत्, स रस एषोऽस्माभिरुच्यमानः कूर्मोऽतस्तमेव रसमेतेन कूर्मोपधानेन उपहितवान् भवति। लोकरसत्वप्रणाल्या कूर्मस्य लोकात्मकत्वमेवाह यावानु वा इति। रसो यावान् यावत्परिमाणः, आत्मा देहोऽपि तावान् तावत्परिमाणः, रस एव देहस्यान्तर्भावात्। यथा विलीने लोहपिण्डे तत्स्वरूपं तद्रसे सूक्ष्माकारेणावतिष्ठते, तद्वल्लोकरसात्मके कूर्मे लोका अपि सूक्ष्मरूपेण अवतिष्ठन्ते। स एष कूर्म एव सर्वलोकात्मकः। 'तस्य यदधरं कपालम्। अयꣳ स लोकस्तत्प्रतिष्ठितमिव भवति प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकोऽथ यदुत्तरꣳ सा द्यौस्तद् व्यवगृहीतान्तमिव भवति व्यवगृहीतान्तमेव हि द्यौरथ यदन्तरा तदन्तरिक्षꣳ स एष इम एव लोका इमानेवैतल्लोकानुपदधाति' (श० ७।५।१।२)। पृथिव्यादिलोकत्रयात्मकत्वं विविच्य कूर्मशरीरे दर्शयति—तस्येति। तस्य कूर्मस्य यदधस्तनं कपालं कठिनत्वक् सोऽयं लोकः पृथिवी। अधरकपालपृथिव्योः कस्यचित्साधर्म्यस्य प्रदर्शनात् तदात्मकत्वमुपपादयति—तत्प्रतिष्ठितमिवेति। प्रतिष्ठितम् अधः सर्वत्र पृष्ठतलम्। अधरकपालपृथिव्योस्तथाविधत्वात् तस्य पृथिव्यात्मकत्वम्। अथेति यदुत्तरं कपालं तद् द्यौः द्युलोकः। तदेवोपपादयति—तद् व्यवगृहीतान्तमिति। विविधम् अवगृहीतोऽवनतोऽन्तः प्रान्तो यस्य तत्। कूर्मस्योपरिकपालं सर्वतो मण्डलाकारेणावनतप्रान्तमिव भवति। द्यौरपि तथाविधा। तेन तस्य तदात्मकत्वम्। यदधरोत्तरयोर्द्वयोः कपालयोरन्तरा मध्यमस्ति तदन्तरिक्षम्। अतः स एष कूर्म इमे पृथिव्यादय एव लोकाः। तस्मादेतेनोपधानेन इमानेव लोकानुपदधाति।

'तमभ्यनक्ति। दध्ना मधुना घृतेन दधि हैवास्य लोकस्य रूपं घृतमन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य स्वेनैवैनमेतद्रूपेण समर्धयत्यथो दधि हैवास्य लोकस्य रसो घृतमन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य स्वेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति' (श० ७।५।१।३)। विहितस्य कूर्मस्य दधिमधुघृतैरभ्यञ्जनं विधत्ते—तमभ्यनक्तीति। दधिमधुघृतानां पृथिव्यादिलोकरूपत्वात् तैरभ्यञ्जनैः कूर्मं स्वकीयेनैव रूपेण समृद्धं करोतीत्याह—दधि हैवेति। घनीभावसाधर्म्याद् दध्नः पृथिवीलोकरूपत्वम्, घृतस्य दध्न उपरिभावित्वात् पृथिव्युपरितनान्तरिक्षलोकरूपत्वम्, मधुनस्तु वृक्षाचलशिखरादिषूपरिभागेष्ववस्थितत्वाद् द्युलोकात्मकत्वम्। अथवा मधुनो मधुररसत्वेन सोमात्मकत्वात् सोमस्य च द्युलोकेऽवस्थानाद् मधुनो द्युलोकरूपत्वम्। प्रकारान्तरेणापि दध्यादिभिरभ्यञ्जनं प्रशंसति—अथो इति। 'मधुव्वाता ऋतायत इति। यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सर्क सो देवता तद्यजुस्तद्वैतन्मध्वेदेवेष त्रिचो रसो वै मधु रसमेवास्मिन्नेतद्दधाति गायत्रीभिस्त्रिसृभिस्तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।५।१।४)। अभ्यञ्जने मन्त्रं विधत्ते—मधुव्वाता ऋतायत इति। विहितमभ्यञ्जनं रसात्मना प्रशंसति—यां वै देवतामिति। यां देवतामभिलक्ष्य या ऋग् अनूक्ता उच्चारिता यद्देवताप्रतिपादकत्वेनोच्यते, सा ऋक् तत्प्रतिपादकत्वात् सैव प्रतिपाद्या देवता, तथैव यजुरपि। अत एव छान्दोग्यादिषु ब्रह्मप्रतिपादकत्वात् प्रणवस्य ब्रह्मरूपता मात्राणां च पादरूपतोक्ता—'ओमितीदं ब्रह्म मात्राः पादाः पादाश्च मात्राः' इति। साम्नां गीतिरूपत्वान्नार्थान्तरत्वम्, ऋक्ष्वेव तेषामध्यूढत्वात्। तथा सति तत्तद्देवतास्वरूपमेतन्मधु, 'मधुव्वाता ऋतायते' इत्यनया ऋचा प्रतिपाद्यत्वात्। ततश्च एष तृचः प्रतिपाद्यत्वेन देवताभूतमध्वात्मकः। तिस्र ऋचो यस्मिन् समुदाये स तृचः। 'ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्च छन्दसि' (पा० सू० ६।१।३४ वा० १) इति त्रिशब्दस्य सम्प्रसारणमृवर्णस्य च लोपः। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (पा० सू० ५।४।७४) इति समासान्तः। मधु च रसः रसस्वरूपम्। अतश्चैतेन तृचेन उपधाने सति रसात्मकेऽस्मिन् कूर्मे रसमेव निहितवान्

भवति। अभ्यञ्जनमन्त्राणां छन्दःसंख्ये विधत्ते—गायत्रीभिस्तिसृभिरिति। तद्व्याख्यानं प्रागुक्तमित्याह—तस्योक्तो बन्धुरिति। एतच्च 'गायत्रीभिः प्राणो गायत्री प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति, तिसृभिस्त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० ६।४।२।५) इति षष्ठकाण्डे विहितम्।

अध्यात्मपक्षे—ऋतं सत्यज्ञानादिलक्षणं परमार्थतत्त्वमात्मन इच्छतीति ऋतायन् उपासकः परब्रह्मात्मदर्शी वा, तस्मै। वाता वायवो मधु मधुरसं क्षरन्ति स्रवन्ति स्रावयन्ति वा। सर्वस्य परमार्थब्रह्मरूपत्वाद् ब्रह्मात्मकं रसमेवानुभावयन्ति। सिन्धवः स्यन्दमाना नद्यः समुद्रा वा मधु क्षरन्ति। ओषधीर् ओषधयोऽपि 'वा च्छन्दसि' (पा० सू० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः। नोऽस्मभ्यम् उपासनाकारिभ्यो माध्वीः मधुररसोपेताः सन्तु। सर्वमेव वस्तु परमानन्दरसमयं सद् रसमेव क्षरति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वाता वसन्ते नो मधु मधुरं यथा स्यात्तथा ऋतायते ऋतमिवाचरन्ति, अत्र वचनव्यत्ययः, सिन्धवो नद्यः समुद्रा वा मधु क्षरन्ति, ओषधीर् ओषधयो माध्वीर्माध्व्यः सन्तु, तथा वयमनुतिष्ठेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणमध्याहारव्यत्ययबाहुल्यात्। अन्वयाद्यनुपपत्त्यैव श्रुतार्थपरित्यागेनाश्रुतार्थकल्पनं युक्तम् ॥ २७ ॥

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवꣳ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—पिता के समान हमारा पालन करने वाला द्युलोक अमृतमय हो, माता रूप पृथ्वी सम्बन्धी रज अमृतमय हो, रात्रि और दिन अमृतमय हों, अर्थात् ये सब हमारा मंगल सम्पादन करें ॥ २८ ॥

नक्तं रात्रिर्नः अस्माकम्, मधु मधुमयमानन्दकरमस्तु। उतापि च उषस उषःकाला दिवसा वा मधुमद् मधुमन्तः सन्तु। पार्थिवं रजः पृथिवीलोकः, मातृभूतो मधुमद् मधुररसोपेतमस्तु। पिता पितृभूतो द्यौर्द्युलोको मधुमान् मधुररसोपेतोऽस्तु। लिङ्गवचनव्यत्ययः। मधुमद् इत्ययं मतुप् सर्वेषां मधुशब्दानामनुसङ्गी द्रष्टव्यः, साकाङ्क्षत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मचिन्तनपरायणानां साधकानामपि नोऽस्माकं ब्रह्मध्यानेन नक्तं मधुमयं भवतु। उषस उषःकाला मधुमन्तः स्युः। तथा यत्पार्थिवं रजस्तत्सर्वं मधुमद् भवतु। नोऽस्माकं पितृभूता द्यौर्मध्वस्तु। ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण सर्वं ब्रह्मरसमयं भवत्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वसन्ते नक्तं मधु, उतापि उषसः प्रातर्मुखानि दिनानि मधुमन्ति, पार्थिवं पृथिव्या विकारो द्व्यणुकादिरूपो मधुमत्, द्यौः प्रकाशो मधु पिता पालको नोऽस्तु, तथा यूयमप्येतं युक्त्या सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, अध्याहाराश्रयणाच्च ॥ २८ ॥

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण वनस्पतियाँ हमारे लिये मधुर रस से भर जांय, सूर्य हमारे लिये मधुर रस से सम्पन्न हो जाय, गायें हमें मधुर रस से सम्पन्न दुग्ध प्रदान करें ॥ २९ ॥

वनस्पतिः वनस्य पतिर्वनस्पतिः, 'पारस्करप्रभृतीनि च' (पा० सू० ६।१।१५७) इति निपातनात् सुट्। अश्वत्थ-न्यग्रोध-प्लक्षादिरस्मदर्थं मधुमानस्तु रसवानस्तु माधुर्यगुणविशिष्टो भवतु। सूर्योऽपि मधुमान् सन्तापराहित्यलक्षणमाधुर्यरसोपेतोऽस्तु। तथा गावो नोऽस्मदर्थं माध्वीर्मधुरक्षीरोपेता भवन्तु। यद्वा वनस्पतिः सोमो नोऽस्मदर्थं मधुमान् यज्ञसाधनभूतोऽस्तु। सूर्योऽपि मधुमान् यज्ञसाधनभूतोऽस्तु, 'आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं

ततः प्रजाः' (म० ३।७६) इति स्मृतेः। माध्वीर्मधुमत्यो रसवत्यो गावो रश्मयः पशवो वा भवन्तु, 'रसो वै मधु' इति श्रुतेः। वाय्वादीनि रसवन्ति नो भोग्यानि भवन्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—नः अस्माकं साधककुलानां कृते वनस्पतिर्वनानां जलानां संस्काररूपेण स्थितानां पतिः पालको द्रष्टा अन्तर्यामी मधुमान् मधुमयो भवतु। अर्थादन्तःकरणे स्थितास्तदितरवासनाः समाप्तिं भजन्ताम्। सूर्यो लोकानुग्रहाय प्रकाशं तन्वन् मधुमान् भवतु अतिवृष्ट्यनावृष्ट्यादिनिवारको भवतु। गाव इन्द्रियाण्यपि माध्वीर्मधुमन्ति रागद्वेषाद्यपर्याकुलानि भवन्तु। अथवा मधुविद्योपदिष्टब्रह्मज्ञानेन वनस्पत्यादयः सर्वेऽपि मधुमन्तो ब्रह्मरूपा भवन्तु, सर्वमोदहेतुत्वात् तस्यैव ब्रह्मरूपत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा वसन्ते नो वनस्पतिर्मधुमान् सूर्यश्च मधुमानस्तु, नो गावो गोतुल्याः किरणा माध्वीर्माधुर्योपेता भवन्तु, तथोपदिशत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे तादृशपदाभावात्॥ २९॥

अपां गम्भ॑न्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माऽग्निर्वैश्वानरः।
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में कूर्म रूप में प्रजापति या आदित्य का ग्रहण किया गया है। हे कूर्म, तुम जल के गम्भीर स्थान आदित्यमण्डल में स्थित हो, वहाँ रहते समय सूर्यदेव तुमको सन्तप्त न करें, सम्पूर्ण मनुष्यों के हितकारी अग्निदेव तुमको सन्तप्त न करें, अखण्डित अवयव वाली इष्टका तुमको निरन्तर देखे और दिव्य वर्षा तुम्हारी सेवा करे॥ ३०॥

'अरत्निमात्रेऽषाढां दक्षिणेनावकासूपरिष्टाच्च पुरुषमभिमुखमपां गम्भन्निति तिसृभिः' (का० श्रौ० १७।४।२८-५।१)। अषाढाया दक्षिणस्यां दिश्यरत्निमात्रे पद्यालोकद्वयमन्तरालं मुक्त्वा तृतीये पद्यालोके तत्र पूर्वमेव स्थापितास्ववकासु शेवालेषु 'अपाम्' इत्यादित्र्यृचत्रयेण पुरुषसम्मुखं कूर्ममुपदधातीति सूत्रार्थः। स्वराट् पङ्क्तिः, दशाक्षरचतुष्पादा एकाधिका कूर्मदेवत्या। कूर्मः प्रजापतिरादित्यो वा। हे कूर्म, अपां जलानां गम्भन् गम्भनि गम्भीरे स्थाने रविमण्डले त्वं सीद उपविश, 'एतद्वापां गम्भिष्ठं यत्रैष एतत्तपति' (श० ७।५।१।१८) इति श्रुतेः। तत्रोपविष्टं त्वा त्वां सूर्यो माभिताप्सीद् अभितो मा सन्तापयतु। वैश्वानरः सर्वेषामुदरस्थोऽग्निस्त्वामभितो मा सन्तापयतु। त्वम् अच्छिन्नपत्रा अखण्डितपक्षाः प्रजारूपा इष्टका अनुवीक्षस्व निरन्तरं पश्य। किञ्च, दिव्या दिवि भवा वृष्टिश्च त्वा त्वाम् अनु सचतां सेवताम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अपां गम्भन् सीदेति। एतद्वापां गम्भिष्ठं यत्रैष एतत्तपति मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माऽग्निर्वैश्वानर इति मैव त्वा सूर्यो हिꣳसीन्मो अग्निर्वैश्वानर इत्येतदच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वेतीमा वै सर्वाः प्रजा या इमा इष्टकास्ता अरिष्टा अनार्ता अनुवीक्षस्वेत्येतदनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचतामिति यथैवैनं दिव्या वृष्टिरनुसचेतैवमेतदाह' (श० ७।५।१।१८)। अथ कूर्मोपधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—अपां गम्भन्नित्यादिना। यत्र स्थाने एष सूर्य एतत्तपनं करोति, एतत्खल्वपां गम्भिष्ठं गम्भीरतमं स्थानम्, ह्रद इत्यर्थः। सूर्यस्य वृष्टिहेतुत्वात् तस्यावस्थानप्रदेशस्य ह्रदत्वमुच्यते। ततश्च कूर्मस्यापामन्तरेवावस्थानात् सूर्यावस्थानसमीपदेशलक्षणेऽपां ह्रदे सोद उपविशेति मन्त्र आह। गम्भन्निति गम्भीरशब्दस्य छान्दसो गम्भन्नादेशः। ततः सप्तम्याः 'सुपां सुलुक्....' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना लुकि रूपम्। अतिशयेन गम्भीरमिति विग्रहे 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (पा० सू० ५।३।५५) इतीष्ठनि प्रत्यये, 'टेः' (पा० सू० ६।४।१५५) इति टिलोपे रूपम्। 'अच्छि-

ताप्सीदित्येतत्पदार्थमाह—मैव त्वेति । अच्छिन्नपत्रा इति पत्रशब्देनात्रावयवो लक्ष्यते । तेनात्राच्छिन्नावयवा इत्यर्थः । या इमा उपहिता इष्टकास्ता इमा एव सर्वाः प्रजाः खलु । इष्टकानां प्राजापत्यात्मकत्वेन प्रजापतेश्च सर्वप्रजाकारणत्वेन तदात्मकत्वादित्यर्थः । रिष्टशब्देन अनिष्टं व्याधिप्रभृतिकमुच्यते, हिंसार्थकाद् रिष्धातोर्निष्पन्नत्वात् । तद्रहिता अरिष्टाः । एतस्यैव विवरणम्—अनार्ता इति । तथा सत्यच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वेत्यनेन एतदुपहितेष्टकारूपाः प्रजा यथा अरिष्टा अनार्ता भवन्ति, तथा ता अनुवीक्षस्व अनुपालयेत्येतदुक्तं भवतीत्यर्थः । यथैवैनमिति । एनं कूर्ममनुलक्ष्य यथैव दिव्या वृष्टिः सम्बध्नीयात्, एवमनेनाभिप्रायेणैतद् अनु त्वा इत्यादिकमाह ।

एवं मन्त्रं व्याख्याय कूर्मोपधानीयं ब्राह्मणमुद्ध्रियते—'स यत्कूर्मो नाम । एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात् कूर्मः कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति' (श० ७।५।१।५) । अथ कूर्म इति नाम्नः प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति—स यत्कूर्म इति । एतत्कूर्मसम्बन्धि रूपम् आत्मनः कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत । असृजतेत्यस्य व्याख्यानम्—यदसृजताकरोदिति । असृजत इति यत् तद् अकरोदित्यर्थः । तत् तेन कूर्मरूपेण अकरोदिति यत् तस्मादकरोदिति कूर्म इति कूर्मशब्दो नामधेयमित्यर्थः । बाहुलकात् करोतेरौणादिके मकि प्रत्यये, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।१।१०३) इति ऋकारस्य उत्वे, 'उरण्रपरः' (पा० सू० १।१।५१) इति रपरत्वे, 'हलि च' (पा० सू० ८।२।७७) इति दीर्घे च कूर्म इति रूपं सिद्ध्यति । 'कश्यपो वा' इत्यादेरयमर्थः—कूर्मशब्दस्य करणप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात् कश्यपस्य प्रजापतित्वेन प्रजाकारकत्वात् कश्यपः कूर्मः खलु । अत एव सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इत्याहुर्जनाः । अतश्च कूर्मस्य कश्यपात्मकत्वात् तदुपधानं प्रशस्तमिति भावः । 'स यः स कूर्मोऽसौ स आदित्यः । अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति तं पुरस्तात् प्रत्यञ्चमुपदधात्यमुं तदादित्यं पुरस्तात् प्रत्यञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य पुरस्तात् प्रत्यङ् धीयते दक्षिणतोऽषाढायै वृषा वै कूर्मो योषाऽषाढा दक्षिणतो वै वृषा योषामुपशेतेऽरत्निमात्रेऽरत्निमात्राद्धि वृषा योषामुपशेते सैषा सर्वासामिष्टकानां महिषी यदषाढैतस्यै दक्षिणतः सन्त्सर्वासामिष्टकानां दक्षिणतो भवति' (श० ७।५।१।६) । अथ तमेव कूर्ममादित्यात्मना प्रशंसति—स य इति । स प्रकृतो यः कूर्मोऽस्ति, असौ विप्रकृष्ट आदित्यः । आदित्यात्मकत्वं मण्डलाकारसाम्यात् । यथा 'आदित्यो यूपः' इति । एतस्योपधाने आदित्यस्यैवोपधानं कृतं भवति । उक्तमादित्यात्मकत्वमुपजीव्य तस्य चयनप्रदेश एव पूर्वभागे प्रत्यङ्मुखत्वेनोपधानमाह—तं पुरस्तादिति । ननु कूर्मस्य आदित्यात्मकत्वेन पुरस्तात् प्रत्यगुपधानेन आदित्यस्य पुरस्तात् प्रत्यङ्निधानम्, तथा निधानेन च कूर्मस्य आदित्यात्मकत्वमित्यन्योन्याश्रयता ? इति चेन्नायं दोषः, कारकज्ञापकयोर्हेतुहेतुमद्भाववैपरीत्यस्य भूषणत्वानपायात् । यथा धूमोऽग्नेर्ज्ञापको हेतुः, अग्निश्च धूमस्य कारको हेतुरिति, तथात्रापि कूर्मस्य पुरस्तात् प्रत्यगुपधानमादित्यस्य पुरस्तात् प्रत्यङ्निधाने कारकम्, आदित्यस्य पुरस्तात् प्रत्यगवस्थानं कूर्मस्य एवंविधोपधाने ज्ञापकम् । पुरस्तात् प्रत्यगुपधानमषाढायाः पुरस्तादुत्तरतो वापि स्यादित्यत आह—दक्षिणत इति । अषाढायै इति 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' (पा० सू० २।३।६२ वा० १) इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । उक्तेऽर्थे उपपत्तिमाह—वृषा वा इति । वृषशब्देन सेवनसमर्थः पुमानुच्यते । अषाढाशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाद् अषाढा योषा खलु, 'उत्तरतो हि स्त्री पुमाꣳसमुपशेते' (श० १।१।१।२०) इति श्रुतेः । पुमान् दक्षिणभागे योषामुपशेते । उपशयनेन ईप्सिततमत्वाद् योषामित्यत्र 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा० सू० १।४।४९) इति कर्मसंज्ञायाम्, 'कर्मणि द्वितीया' (पा० सू० २।३।२) इति द्वितीया । अतश्चास्य कूर्मस्य अषाढाया दक्षिणभागे उपधानमुपपन्नमित्यर्थः । दक्षिणभागे विप्रकृष्टेऽप्युपधानं सम्भवेदित्यत आह—अरत्निमात्र इति । उखाया अपि पुरस्तादषाढायाः शिष्टत्वेन सर्वेष्टकानामपि प्रशस्तत्वाद् दक्षिणभागे उपधानेन सर्वेष्टकानामपि दक्षिणभागे उपशयनं सिद्धं भवतीति दर्शयति—सैषेति ।

'यद्वेव कूर्ममुपदधाति। प्राणो वै कूर्मः प्राणो हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति प्राणमेवैतदुपदधाति तं पुरस्तात् प्रत्यञ्चमुपदधाति पुरस्तात्तत्प्रत्यञ्चं प्राणं दधाति तस्मात्पुरस्तात् प्रत्यङ् प्राणो धीयते पुरुषमभ्यावृत्तं यजमाने तत्प्राणं दधाति दक्षिणतोऽषाढायै प्राणो वै कूर्मो वागषाढा प्राणो वै वाचो वृषा प्राणो मिथुनम्' (श० ७।५।१।७)। तमेव कूर्मं प्राणात्मनापि प्रशंसति—यद्वेवेति। प्राणो हीमा इति। प्राणः खलु इमाः सर्वाः प्रजाः करोति, प्राणिभिरेव प्रजानामुत्पादनात्। अतश्च कर्तव्यत्वसाम्यात् प्राणः कूर्म इति तदुपधाने प्राणस्यैवोपधानं भवति। तं पुरस्तादित्यादिनोक्तं प्राणात्मकत्वमुपजीव्य पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखत्वेन उपधानमुपपाद्यते—तस्मादिति। यत एवं तस्मात्कारणात् पुरस्तान्मुखः प्राणवायुः प्रत्यङ्मुखत्वेन धीयते ध्रियते। कूर्मस्य प्राणात्मकत्वाद् हिरण्मयपुरुषाभिमुख्येन तस्योपधाने पुरुषस्य यजमानरूपत्वाद् यजमाने प्राणनिधानं भवतीत्याह—पुरुषमभ्यावृत्तमिति। कूर्मस्य प्राणत्वादषाढाया वाक्त्वम्, तस्य अषाढादक्षिणत उपधानं युज्यत इति दर्शयति—दक्षिणत इति। स्त्रीत्वसामान्यादषाढाया वागात्मकत्वम्। प्राणो वाचो वृषा पतिः खलु, प्राणोपजीवनेन वाचः प्रवृत्तेः। अतः प्राणो वागित्युभयमपि मिथुनम्। तथा च वागात्मिकाया अषाढाया दक्षिणभागे प्राणात्मकस्य कूर्मस्य उपधानमुपपन्नमिति।

अध्यात्मपक्षे—'हे साधक, त्वमपां कर्मणां लोकानां वा गम्भन् गम्भीरे स्थाने सूर्यमण्डलान्तर्गतेऽन्तर्यामिणि, अथवा अपां शमहेतूनां गम्भन् गम्भीरे स्थाने शान्तिकेन्द्रे भगवति परमात्मनि सीद उपविश, इदङ्ग्रहोपासनया अहङ्ग्रहोपासनया वा इति शेषः। तत्र स्थितं त्वां सूर्यः प्रसिद्धो माभिताप्सीत्। मा च वैश्वानरोऽग्निस्त्वाभिताप्सीत् क्रोधः सूर्यो मोहोऽग्निर्वा। अच्छिन्नपत्रा अखण्डितावयवाः प्रजा अनुवीक्षस्व। अनु त्वा दिव्या वृष्टिः परमेश्वरीयकृपापीयूषपूर्णदृष्टिवृष्टिः सचतां सम्बध्नीयात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, त्वं वसन्तेऽपां गम्भन् गम्भनि धारके मेघ इव, गमधातोरौणादिके मनिन्प्रत्यये लुकि च रूपम्, सीद आस्स्व। यतः सूर्यस्त्वा माभिताप्सीत् तपेत, वैश्वानरो विश्वेषु नरेषु राजमानोऽग्निस्त्वां माभिताप्सीत्, अच्छिन्नपत्रा अच्छिन्नानि पत्राणि यासां ताः प्रजाः, अनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्, तथा त्वमनुवीक्षस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। वसन्तपदाध्याहारोऽपि निर्मूल एव। न च वसन्ते मेघो भवति, तस्य वर्षास्वेवोदयात्। वसन्ते तदुदयस्त्वकालजलदोदय एव। न च मेघे मनुष्यस्थितिः सम्भवति। न वा मेघेऽवस्थित्या विद्युतस्तापापनोदनम्। किञ्च, सर्वमेतद् रागास्पदत्वादनायासप्राप्तमेव, अज्ञातज्ञापकस्य वेदस्य तद्बोधनेऽप्रवृत्तेः॥ ३०॥

त्रीन् समुद्रान् समसृपत् स्वर्गानपां पतिर्वृषभ इष्टकानाम्।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—हे कूर्मदेव, तीनों समुद्रों के अधिपति तुम इष्टकाओं की उपधान क्रिया के प्रधान अंग हो। तुमने तीन प्रकार के भोगों के साधन लोकों को भली प्रकार प्राप्त किया है। अब तुम पुरिष का आच्छादन कर उस स्थान में जाओ, जहाँ पुण्यात्माओं के लोक में पुरातन कूर्म अग्नियों से उपहित होकर गये हैं॥ ३१॥

'घट्टयति मध्यमया' (का० श्रौ० १७।५।२)। यत् तिसृभिर्ऋग्भिः कूर्मोपधानमुक्तम्, तत्र मध्यमया 'त्रीन् समुद्रान्' इत्येतया ऋचा हस्तस्थितं कूर्मं कम्पयेदिति सूत्रार्थः। ततश्च तृतीयायामृचि पठितायामन्ते कूर्ममुपदध्यात्। तत उपरिष्टात् पुनरष्टकाभिः कूर्मं प्रच्छादयेत्। कूर्मदेवत्या त्रिष्टुप्। हे कूर्म, यो भवान् इष्टकानां

वृषभो वर्षिता, अपां जलानां पतिर्मेघः, त्रीन् समुद्रान् समुद्द्रवन्ति स्वकारणात् समुद्भवन्तीति समुद्रा लोकास्तान् समसृपत् सम्यक् प्राप्तो भवति। 'सृप्लृ गतौ' इत्यस्माद् लुङि च्लेः 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।१।५५) इत्यङि रूपम्। कीदृशान् समुद्रान् ? स्वर्गान् भोगसाधनभूतान्। स त्वं यत्र पूर्वे परेता यस्मिन् स्थाने पुरातनाः कूर्मा अन्येष्वग्निषूपहिताः परेताः परागताः सुकृतस्य शोभनकृतस्याग्नेः, तत्र तस्मिन् लोके स्थाने स्थित्वा पुरीषं शुष्कपांसुरूपां मृदं वसान आच्छादयन्, अथवा पुरीषं हुतान् पशून् वसान आच्छादयन् गच्छ गमय, यजमानाय यज्ञफलमिति शेषः। यज्ञोपयुक्तपश्वन्तरापेक्षयापि कूर्मस्य प्रजापतिरूपत्वेनोत्कृष्टगतिकत्वात् फलप्रापकत्वाद्वा।

अत्र ब्राह्मणम् -'अथैनमेजयति। त्रीन् समुद्रान् समसृपत् स्वर्गानितीमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकास्तानेष कूर्मो भूत्वाऽनुसꣳसर्पापां पतिर्वृषभ इष्टकानामित्यपाꣳ ह्येष पतिर्वृषभ इष्टकानां पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोक इति पशवो वै पुरीषं पशून् वसानः सुकृतस्य लोक इत्येतत्तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेता इति तत्र गच्छ यत्रैतेन पूर्वे कर्मणेयुरित्येतत्' (श० ७।५।१।१९)। 'अपां गम्भन्, त्रीन् समुद्रान्, मही द्यौः' इति तिसृभिर्ऋग्भिरयं कूर्म उपधीयत इत्युक्तम्। तत्र मध्यमया कूर्मचालनम्, तदेतद्दर्शयन् व्याचष्टे—अथेति। एजयति कम्पयति। इमे इति। य इमे त्रयः समुद्राः समुद्द्रवन्ति समुद्गच्छन्तीति समुद्रा लोकाः, स्वर्गाः सुखसाधनभूताः, तानेष प्रजापतिः कूर्मो भूत्वानुसंससर्प, प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकत्वात्। 'स एष इम एव लोकाः' (श० ७।५।१।२) इत्यादिना कूर्मस्य लोकत्रयात्मकत्वाभिधानात् प्रजापतिः कूर्मरूपेण लोकाननुसंससर्प इत्ययमत्रानुसन्धिः। अपां पतित्वं कूर्मस्य तत्रैव सर्वदावस्थानात्। वृषभशब्देन श्रेष्ठत्वं लक्ष्यते। अथवा इष्टकात्मनां स्त्रीणां वृषभः पुमान्। पुरीषशब्देन पशवोऽभिधीयन्ते। तान् वसान आच्छादयन्, यजमानस्य सम्पादयन्नित्यर्थः। अथवा इष्टकारूपान् पशून् आच्छादयन्निति। एतेनोपधानलक्षणेन कर्मणा पूर्वमुपहिताः कूर्मा यत्र परेता मृताः प्राप्नुवन्, तत्र गच्छेत्युक्तं भवति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं यथा अपां पतिः प्राणानां रक्षको वृषभो वर्षकः श्रेष्ठो वा पुरीषं पूर्णसुखकरमुदकं वसानो वासयन् सन् इष्टकानाम् इज्यन्ते सङ्गम्यन्ते कामा यैः पदार्थैस्तेषां त्रीन् अधोमध्यमोर्ध्वस्थान् समुद्रान् समुद्द्रवन्ति पदार्था येषु तान् भूतभविष्यद्वर्तमानान् समयान् लोकान् स्वर्गान् स्वः सुखं गच्छन्ति येभ्यस्तान् समसृपत् संसर्पति तथा सर्प। यत्र सुकृतस्य सुष्ठु कृतो धर्मो येन तस्य लोके द्रष्टव्ये स्थाने मार्गे पूर्वे प्राक्तना जनाः परेताः सुखं प्राप्तास्तत्र त्वमपि गच्छ' इति, तदप्यसङ्गतम्, संस्कृतप्राकृतयोः स्वकृतव्याख्यानयोः परस्परं विरोधात्। संस्कृते 'समुद्रान्' इत्यस्य भूतादिसमयानित्यर्थः कृतः, प्राकृते तु लोकानिति। स्वर्गपदव्याख्यानेनापि लोक एवार्थो व्यज्यते स्वः सुखं गच्छन्ति येभ्य इति। यदि समुद्रशब्दस्य भूतादिसमया अर्थोऽभिप्रेयते, तदा तत्राधोमध्यमोर्ध्वत्वं कथं सङ्गच्छते? त्रीनित्यस्य कथं तादृशोऽर्थः? सर्वमेतत् तस्य स्वसिद्धान्तविरुद्धम्। नहि दयानन्दः स्वर्गादिलोकानभिप्रैति। धात्वर्थानुसारेण वसान इत्यस्य आच्छादयन्नित्यर्थो भवति। संस्कृते वासयन्नित्युक्तम्, भाषायां धारयन्नित्युक्तम्। एवमन्या अप्यसङ्गतय ऊह्याः।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, यो भवान् त्रीन् समुद्रान् त्रिसंख्याकान् लोकान् स्वर्गान् स्वर्गतुल्यान् समसृपत् प्राप्तोऽभवत्। कीदृशो भवान्? अपां पतिर्लोकानां पालकः, इष्टकानामभीष्टानां वृषभो वर्षिता। स त्वं यत्र पूर्वे पुरातनाः परेताः परागताः सुकृतस्य सुसम्पादितस्योपासनादेर्लोके फले गच्छ प्राप्नुहि ॥ ३१ ॥

म॒ही द्यौः पृ॑थि॒वी च॑ न इ॒मं य॒ज्ञं मि॑मिक्षताम् । पि॒पृ॒तां नो॒ भरी॑मभिः ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—विशाल द्युलोक और भूलोक हमारे इस यज्ञ को अपने-अपने भागों से पूर्ण करें, कृपा रूपी जल की वर्षा करें, हिरण्य, धन-धान्य, पशु-प्रजा आदि अनेक वस्तुओं के द्वारा, जो कि प्रयोजनीय हों, उन उन अपने भागों से हमारे घर को परिपूर्ण कर दें ॥ ३२ ॥

मेधातिथिदृष्टा इयं कण्डिका (८।३२) इत्यत्र व्याख्याता । तत्रेदं ब्राह्मणं नोद्धृतम् । अत्रोद्ध्रियते—'मही द्यौः पृथिवी च न इति । महती द्यौः पृथिवी च न इत्येतदिमं यज्ञं मिमिक्षतामित्तीमं यज्ञमवतामित्येतत् पिपृतां नो भरीमभिरिति बिभृतां नो भरीमभिरित्येतद् द्यावापृथिव्ययोत्तमयोपदधाति द्यावापृथिव्यो हि कूर्मः' (श० ७।५।१।१०) । 'तस्य यदधरं कपालमयꣳ स लोकः' (श० ७।५।१।२) इत्यादिना कूर्मस्य अधस्तनोपरितनयोः कपालयोर्द्यावापृथिवीरूपस्योक्तत्वात् कूर्मो द्यावापृथिव्यः' अतस्तदुपधाने उत्तमाया ऋचो द्यावापृथिव्यत्वं प्रशस्तमिति यावत् । 'द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वदग्नीषोम·····' (पा० सू० ४।२।३२) इति देवतार्थकयत्प्रत्ययान्तो द्यावापृथिव्यशब्दः ॥ ३२ ॥

विष्णोः॒ कर्मा॑णि पश्यत॒ यतो॑ व्र॒तानि॑ पस्प॒शे । इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों, परमात्मा विष्णु के सृष्टि-संहार आदि कर्मों को देखो, क्योंकि वह इन्द्र का अनुरूप मित्र है । उसने लौकिक-वैदिक कर्मों को रचा है ॥ ३३ ॥

'उलूखलमुसले स्वयमातृण्णामुत्तरेणारत्निमात्रे औदुम्बरे प्रादेशमात्रे चतुरस्रमुलूखलं मध्यसंगृहीतमूर्ध्वं वृत्तं मुसलं दक्षिणमुलूखलाद्विष्णोः कर्माणीति' (का० श्रौ० १७।५।३) । स्वयमातृण्णामुत्तरेण स्वयमातृण्णामध्यादरत्निमात्रे तृतीये लोके औदुम्बरे प्रादेशमात्रे उलूखलमुखले स्थापयेत् । तत्रोलूखलं चतुष्कोणं मध्यप्रदेशे संकुचितं प्रयोजनाभावादखातमूर्ध्वमुत्तरे उपदध्यात् । मुसलं च वृत्तमुलूखलाद् दक्षिणमुपदध्यात् । पद्ये चैते भवतः । अत्रोलूखलोपधाने पूर्वमर्थात् परिमाणं खातं कृत्वा तत्रोलूखलाद्युपधानं तथा कर्तव्यम्, यथा सिकतापूर्णाया उखाया उपरि उपहितानि पशुशिरांसि पार्श्वेष्टकाभिः समोच्छ्रयाणि भवन्ति, विष्णोः कर्माणि पश्यतेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः । इयमपि कण्डिका (६।४) इत्यत्र व्याख्यातपूर्वा ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोलूखलमुसले उपदधाति । विष्णुरकामतान्नादः स्यामिति स एते इष्टके अपश्यदुलूखलमुसले ते उपाधत्त ते उपधायान्नादोऽभवत् तथैवैतद्यजमानो यदुलूखलमुसले उपदधाति येन रूपेण यत्कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्तेन रूपेण तत्कर्म कृत्वाऽन्नादोऽसानीति तदेतत्सर्वमन्नं यदुलूखलमुसले उलूखलमुसलाभ्याꣳ ह्येवान्नं क्रियत उलूखलमुसलाभ्यामद्यते' (श० ७।५।१।१२) । कूर्मोपधानानन्तरमुलूखलमुसलयोरुपधानं विधत्ते—अथेति । अन्नादत्वसाधनतया तत्प्रशंसति—विष्णुरित्यादिना । येन प्रकारेण यत्कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्, तेन प्रकारेण तत्कर्म कृत्वा अहमन्नादोऽसानीत्यभिप्रायेण यजमान उलूखलमुसले उपदधाति यतः, अतो यथैव विष्णुरभूत् तथैव एतद् एतेन यजमानोऽप्यन्नादो भवति । अन्नादनसाधनतामुपपादयति—तदेतदिति । यत उलूखलमुसलाभ्यामन्नं क्रियते, ताभ्यां व्रीह्यादीनां वितुषीकरणात्, वितुषीकृतानामेवान्नत्वादन्नमप्युलूखलमुसलाभ्यामेव क्रियते । अतश्चोलूखलमुसले इति यदेतत् कृत्स्नमन्नम्, तथा सत्यन्नादनसाधनताऽनयोरुपपद्यत इति भावः । 'ते रेतःसिचोर्वेलयोपदधाति । पृष्ठ्यो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्ठ्यो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं दधात्युत्तरे उत्तरमेवास्मादेतदन्नं दधात्यरत्निमात्रेऽरत्निमात्राद्ध्यन्नमद्यते' (श० ७।५।१।१३) ।

प्राग्विहितयो रेतःसिचोरिष्टकाविशेषयोः स्थानविशेषं विधाय स्तौति—ते इति। वेलया वेलायां प्रान्ते। सप्तम्यर्थे तृतीया। एते उलूखलमुसले उपदध्यात्। पृष्टिशब्देन कटिपार्श्वस्थौ अस्थिविशेषौ उच्येते। अवयवापेक्षया बहुवचनम्। रेतःसेचनसाधनत्वसामान्याद् रेतःसिचोः पृष्टिरूपता। शरीरमध्येऽवस्थानात् पृष्ट्योर्मध्यं हि, अतश्च तत्प्रान्तेऽनयोरुपधानाद् मध्यभाग एवास्मिन् प्रजापतौ चीयमानाग्निरूपे एतदन्नं निहितवान् भवति। दिगन्तरेऽपि रेतःसिचोरुपधानं सम्भवेदित्यत आह—उत्तरे इति। स्वयमातृण्णाया प्रमाणविशेषमाह—अरत्निमात्र इति। लोके ह्यरत्निमात्रप्रदेशादन्नमादायाभ्यवह्रियते। अतश्चान्नरूपयोरनयोरुपधानं तावति प्रदेशे कर्तव्यम्।

'प्रादेशमात्रे भवतः। प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुरन्नमेतदात्मसम्मितमेवास्मिन्नेतदन्नं दधाति यदु वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद् भूयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो न तदवति' (श० ७।५।१।१४)। प्रकृते उलूखलमुसले प्रादेशमात्रे कर्तव्ये इत्याह- प्रादेशमात्रे भवत इति। परिमाणविशेषोपादाने कारणमाह - प्रादेशमात्रो वा इति। विष्णुर्यज्ञश्चीयमानाग्निरूपस्तदानीमनिष्पन्नत्वेन गर्भः खलु। अतो यज्ञः प्रादेशमात्रः, लोके गर्भाणां तावत्प्रमाणत्वात्। उलूखलमुसलं चान्नम्, 'तदेतत्सर्वमन्नम्' इत्युक्तत्वात्। ततश्चास्मिन् गर्भरूपे विष्णौ, एतेन आत्मसदृशप्रमाणमेवान्नं दधाति। अन्नस्य आत्मानुरूपप्रमाणपरिग्रहे को लाभस्तदतिक्रमे वा को दोष इत्यत आह—यदु वा इत्यादि। आत्मसम्मितमन्नमात्मानं रक्षति, न तु हन्ति। यत्तु ततोऽधिकं न्यूनं वा तत्तथा न करोति। अल्पस्य बलाङ्गपोषानाधायकत्वात्, अधिकस्य च दुर्जरत्वेन पीडाकरत्वादित्यर्थः। 'औदुम्बरे भवतः। ऊर्ग्वै रस उदुम्बर ऊर्जमेवास्मिन्नेतद्रसं दधात्यथो सर्वे एते वनस्पतयो यदुदुम्बर एते उपदधत् सर्वान् वनस्पतीनुपदधाति रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद्वनस्पतीन् दधाति तस्मादनयोर्वनस्पतयश्चतुःस्रक्ति भवति चतस्रो वै दिशः सर्वासु तद्दिक्षु वनस्पतीन् दधाति तस्मात् सर्वासु दिक्षु वनस्पतयो मध्ये संगृहीतं भवत्युलूखलरूपतायै' (श० ७।५।१।१५)। अनयोर्वृक्षविशेषं विधाय स्तौति—औदुम्बरे इति। उदुम्बरविकारौ उदुम्बरनिष्पन्नौ भवत इत्यर्थः। ऊर्ग् बलकरो रसः। उदुम्बरस्य ऊर्ग्रूपत्वं तैत्तिरीयके श्रूयते—'देवा वाऊर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठत्' (तै० सं० १।२।५)। तथा च एतेन अस्मिन् प्रजापतौ ऊर्जमेव रसमेव निदधाति। सर्ववनस्पतीनामुपधानसिद्ध्यर्थमुदुम्बरस्य सर्ववनस्पतिरूपतामाह—अथो सर्वे इति। एते उलूखलमुसले उपदधद् उपदधानः सर्वान् वनस्पतीन् उपहितवान् भवति। रेतःसिग्वेलायामुपधानेन द्यावापृथिव्योर्वनस्पत्युपधानं प्रतिपादयति—रेतःसिचोर्वेलयेति। इमे द्यावापृथिव्यौ खलु रेतःसिचाविष्टके। तत् तेन अनयोर्द्यावापृथिव्योर्वनस्पतीनुपहितवान् भवति। तस्माद् द्यावापृथिव्योर्वनस्पतयः सन्तीति शेषः। उलूखलस्य चतुष्कोणत्वाभिधानेन सर्वदिक्षु वनस्पत्युपधानमाह—चतुःस्रक्तीति। चतस्रः स्रक्तयः कोणा यस्य तत् चतुःस्रक्ति। तथा मध्ये संगृहीतं मध्यप्रदेशे संकुचितम्। किमर्थम्? उलूखलरूपतायै। एवंरूपं हि प्रसिद्धमुलूखलम्। एतस्मादेव वाक्यशेषादुलूखलमेव चतुःस्रक्ति मध्यसंगृहीतं च भवति, न मुसलम्।

'यद्वेवोलूखलमुसले उपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्तात् प्राणो मध्यत उदचिक्रमिषत्तमन्नेनागृह्णात्तस्मात् प्राणोऽन्नेन गृहीतो यो ह्येवान्नमत्ति स प्राणिति' (श० ७।५।१।१६)। अथ विश्लिष्टावयवस्य प्रजापतेः प्राणमन्नमूर्जमस्मिन्नग्नौ प्रतिनिधातुमितिहासमाह—यद्वेवेति। मध्यतो मध्यप्रदेशात् प्राणोऽशेषवृत्तिर्वायुरुदचिक्रमिषद् उत्क्रमितुमैच्छत्। तं प्राणमुत्क्रमितुमिच्छन्तमन्नेनादनीयेनागृह्णाद् गृहीतवान् वशीकृतवान्, प्रजापतिरिति शेषः। अत एव यो ह्यन्नमत्ति, स प्राणिति चेष्टते। 'प्राणे गृहीतेऽस्मादन्नमुदचिक्रमिषत् तत्प्राणेनागृह्णात् तस्मात् प्राणेनान्नं गृहीतं यो ह्येव प्राणिति सोऽन्नमत्ति' (श० ७।५।१।१७)। प्रसन्ना कण्डिका। 'एतयोरुभयोर्गृहीतयोः।

अस्मादूर्गुदचिक्रमिषत्तामेताभ्यामुभाभ्यामगृह्णात् तस्मादेताभ्यामुभाभ्यामूर्ग्ँ गृहीता यो ह्येवान्नमत्ति स प्राणिति तमूर्जयति' (श० ७।५।१।१८)। 'ऊर्जि गृहीतायाम्। अस्मादेते उभे उदचिक्रमिषतां ते ऊर्जाऽगृह्णात् तस्मादेते उभे ऊर्जा गृहीते यꣳ ह्येवोर्जयति स प्राणिति सोऽन्नमत्ति' (श० ७।५।१।१९)। ऊर्जयति बलयतीति ऊर्ग्ँ बलम्। 'ऊर्ज बलप्राणनयोः' इति धातोरूर्गिति। यद्वा बलहेतुरन्नरसोऽप्यूर्गित्यभिधीयते (निघ० २।७।१६)। शेषा कण्डिका सुप्रसन्ना, स्पष्टार्थेति यावत्।

'तान्येतान्यन्योन्येन गृहीतानि। तान्यन्योन्येन गृहीत्वात्मन् प्रापादयत तदेतदन्नं प्रपद्यमानꣳ सर्वे देवा अनुप्राप्द्यन्तान्नजीवनꣳ हीदꣳ सर्वम्' (श० ७।५।१।२०)। यतस्तानि सर्वाण्यन्योन्येन गृहीतानि ततस्तान्यन्योन्येन गृहीत्वा प्रजापतिरात्मनि प्रापादयत प्रापयत्। यदिदं सर्वमिन्द्रियजातमन्नजीवनमन्नेन जीवनं यस्य तत्, तदभावे सर्वेषामेव स्वस्वव्यापारासमर्थत्वात्। अतोऽस्मिन् प्रजापतौ प्रपद्यमानमन्नं सर्वे देवा इन्द्रियाणि प्रपन्नान्यभूवन्। 'तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः' (श० ७।५।१।२१)। एष च मन्त्र इत्थम्—'तद्वै स प्राणोऽभवन्महान् भूत्वा प्रजापतिः। भुजो भुजिष्या वित्त्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि॥' इति। तद्धि तदाऽन्नलाभाय स वै खलु प्राणोऽभवत्। प्राणशब्देनेन्द्रियाण्युच्यन्ते। ततश्च सेन्द्रियोऽभूत्। इन्द्रियाणि यदा तं प्रापद्यन्त तदा स महानभूत्। भोगसाधनत्वेन भुजः प्राणा उच्यन्ते, भुजिष्याशब्देन भोग्यत्वादन्नम्। एतत् सर्वं वित्त्वा लब्ध्वा पुरि शरीरे प्राणान् प्राणयत् स्वव्यापारसमर्थानकरोत्। यत एवं प्राणयत् तस्मादिन्द्रियाणि प्राप्यन्त इति व्युत्पत्त्या प्राणा अभूवन्। अथ प्रजापतिस्तान् यत् प्राणयत्, तस्मात् सोऽपि प्राणोऽभूत्। प्रजापतेर्विस्रस्तादित्याद्युपक्रमेण प्रकृते किमायातमित्यत आह—'यो वै स प्राण एषा सा गायत्र्यथ यत्तदन्नमेष स विष्णुर्देवताऽथ या सोर्गेष स उदुम्बरः' (श० ७।५।१।२१)। स पूर्वोक्तः प्रजापतिसम्बन्धी यः प्राणोऽस्ति सैषा गायत्री, 'विष्णोः कर्माणि' (वा० सं० ६।४) इत्यत्र यद् गायत्र्यात्मकं छन्दः स प्राण इत्यर्थः। प्रकृतोपधानमन्त्रसन्निहितत्वादेषेति परामृश्यते। सैषेति स्त्रीलिङ्गं विधेयापेक्षम्। उत्तरत्राप्येवं द्रष्टव्यम्। प्राणो वृत्तिभेदेन त्रेधा भिद्यते, गायत्र्यपि पादभेदेन तथैव। अतः सादृश्यात् प्राणो गायत्रीत्युक्तम्। अथ यत्प्रजापतिसम्बन्धि अन्नमस्ति, स एष विष्णुर्देवता। विष्णुरिति यज्ञोऽभिधीयते। भोगसाधनत्वसामान्यादन्नस्य विष्णुरूपत्वम्। अथ या सा ऊर्क्ँ स एष उदुम्बरः। उदुम्बरस्य बलकरसत्वादूर्गात्मकत्वम्।

'सोऽब्रवीत्। अयं वाव मा सर्वस्मात् पाप्मन उदभार्षीदिति यदब्रवीदुदभार्षीन्मेति तस्मादुदुम्भर उदुम्भरो ह वै तमुदुम्बर इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः·····सैषा सर्वेषां प्राणानां योनिर्यदुलूखलꣳ शिरो वै प्राणानां योनिः' (श० ७।५।१।२२)। उदुम्बरोलूखलशब्दनिर्वचनम्—सोऽब्रवीदिति। सर्वस्मात् पाप्मनः कृच्छ्राद् मामयं हि उदभार्षीद् उद्धृतवान् इति स प्रजापतिरब्रवीत्। कृच्छ्रादुद्धरणं चास्यान्नप्राणयोरवरोधकत्वात्। उदभार्षीन्मामिति यदब्रवीत् तस्माद् ऊर्ग्ँ उदुम्भरोऽभूत्। तमेव देवा उदुम्बर इति परोक्षमाचक्षते। पारोक्ष्येणाभिधानं गौरवाय कल्पत इति देवानां परोक्षकामत्वम्। तथा मे उरु अधिकमकरद् अकार्षीदिति यदब्रवीत्, तस्मादुरूकरं देवा उलूखलमिति परोक्षमाचक्षते। उदुम्बरस्योर्गात्मकत्वाद् उलूखलस्य च औदुम्बरत्वाद् उरुकरणं पाप्मन उदभार्षीदित्युक्तं च सम्पद्यते। उलूखलं शिरोरूपेण प्रशंसति—सैषेत्यादिना। शिरः सर्वेषां प्राणानामिन्द्रियाणां योनिः खलु। मुखस्यापि शिरःप्रदेशत्वात् तत्रैव सर्वेन्द्रियाणामुत्पत्तिः। तथा सत्युलूखलमिति यत् सैषापि सर्वेषां प्राणानां योनिः।

'तत्प्रादेशमात्रं भवति। प्रादेशमात्रमिव हि शिरश्चतुःस्रक्ति भवति चतुःस्रक्तीव हि शिरो मध्ये संगृहीतं भवति मध्ये संगृहीतमिव हि शिरः' (श० ७।५।१।२३)। उलूखलस्य शिरःसाधर्म्यसम्पादनादेतदुपपद्यते।

तत्प्रदर्श्यते— तदिति । तदुलूखलं प्रादेशमात्रं चतुःस्रक्ति मध्ये च संगृहीतं भवति । शिरोऽपि तथैवेति सर्वप्राणियोनित्वमुलूखलस्योपपद्यत इत्यर्थः । 'तं यत्र देवाः समस्कुर्वन् । तदस्मिन्नेतत्सर्वं मध्यतोऽदधुः प्राणमन्नमूर्जं तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति रेतःसिचोर्वेलया पृष्ठ्यो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्ट्यो मध्यत एवास्मिन्नेतत्सर्वं दधाति' (श० ७।५।१।२४) । तं यत्रेति । यत्र यदा देवास्तं प्रजापतिं संस्कृतवन्तस्तदेतस्मिन् प्राणमन्नमूर्जमित्येतत्सर्वं मध्यप्रदेशे निहितवन्तः । तस्मात्तथैवायं यजमानोऽप्यनेनोपधानेनैतत्सर्वं सम्पादयति । 'विष्णोः कर्माणि पश्यतेति । वीर्यं वै कर्म विष्णोर्वीर्याणि पश्यतेत्येतद्यतो व्रतानि पस्पश इत्यन्नं वै व्रतं यतोऽन्नꣳ स्पाशयाञ्चक्र इत्येतदिन्द्रस्य युज्यः सखेतीन्द्रस्य ह्येष युज्यः सखा द्विदेवत्ययोपदधाति द्वे ह्युलूखलमुसले सकृत् सादयति समानं तत्करोति समानꣳ ह्येतदन्नमेव सादयित्वा सूददोहसाऽधिवदति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।५।१।२५) । उलूखलमुसलयोरुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— विष्णोः कर्माणीति । कर्मशब्देन वीर्यं विवक्षितम् । अतश्च हे जनाः, विष्णोर्यज्ञस्य वीर्याणि पश्यतेत्येतदुक्तं भवति । व्रतशब्देनान्नमुच्यते । यतो वीर्यतोऽन्नानि पस्पशे स्पाशयाञ्चक्रे, स्पर्शयमानश्च स्वजनैर्लम्भयामासेत्यर्थः । एष यज्ञ इन्द्रस्य युज्यो योग्यः सखा, तस्य तृप्तिहेतुत्वात् । उलूखलमुसलयोर्द्वित्वात् तदुपधानमन्त्रस्य द्विदेवत्यत्वमुपपन्नमिति दर्शयति—द्विदेवत्ययेति । शेषं प्रसन्नम् ।

दयानन्दस्तु —'हे मनुष्याः ! य इन्द्रस्य जीवस्य युज्यः सखाऽस्ति, यतोऽयं विष्णोः कर्माणि जगत्सृष्ट्यादीनि व्रतानि सत्यभाषणादीनि च पस्पशे स्पृशति, तस्मात् तस्य एतानि यूयमपि पश्यत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रपदस्य जीवार्थत्वे हेतुत्वानुक्तेः । युज्य इत्यस्य उपासनायोग्य इत्यपि नार्थः, विशेषणस्य व्यर्थत्वात् । न च सृष्ट्यादीनि जीवः स्पृशति, कर्मणाममूर्तानां स्पर्शायोग्यत्वात् ।

अध्यात्मपक्षे—'हे भक्ताः, यूयं विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमेश्वरस्य कर्माणि जगत्पालनादिलक्षणानि पश्यत, यतो व्रतान्यग्निहोत्रादिलक्षणान्यनुष्ठितवन्तो यजमानाः । स विष्णुः, इन्द्रस्य देवराजस्य, युज्यो योग्यः सखा सहायकः ॥ ३३ ॥

ध्रुवाऽसि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्यो अधि जातवेदाः ।
स गायत्र्या त्रिष्टुभाऽनुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, तुम जगत् को धारण करने वाली हो, स्थिर हो । अग्निदेव पहले उखा में ही प्रकट हुए थे । वे फिर अपने कारण में से प्रकट होते हैं, वे अपने अधिकार को भली प्रकार जानते हैं । गायत्री, त्रिष्टुप् और अनुष्टुप् छन्दों की सामर्थ्य से देवताओं के निमित्त हवि ले जाते हैं ॥ ३४ ॥

'उलूखल उखां कृत्वोपशयां पिष्ट्वा न्युप्य पुरस्ताद् ध्रुवासीत्युखाम्' (का० श्रौ० १७।५।१४) । उलूखलस्योपरि तूष्णीमुखां स्थापयित्वा उपशयां मृदं पिष्ट्वा उखायाः पुरस्ताद् भूमौ प्रक्षिप्य तत्र मन्त्रद्वयेन उखामुपदध्यादिति सूत्रार्थः । उखादेवत्या त्रिष्टुप् । हे उखे, धरुणा जगतो धारयित्री त्वं ध्रुवा स्थिरासि । इदानीमग्निजनकत्वेन उखा स्तूयते । योऽग्निः, इतोऽस्या उखायाः सकाशात् प्रथममादौ जातवेदा जातप्रज्ञानोऽधिजज्ञे प्रादुर्बभूव, तत एतेभ्यो योनिभ्यः स्वकारणेभ्योऽरण्यादिभ्यः, अधिजज्ञे जायते । स चाग्निर्गायत्र्या अनुष्टुभा त्रिष्टुभा च छन्दस्त्रयेण स्वाधिकारं प्रकर्षेण जानानो देवेभ्यो देवानां प्रीणनाय हव्यमस्मदीयं हविः, वहतु प्रापयतु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोखामुपदधाति । योनिर्वा उखा योनिमेवैतदुपदधाति तामुलूखल उपदधात्यन्तरिक्षं वा उलूखलं यद्वै किञ्चास्या ऊर्ध्वमन्तरिक्षमेव तन्मध्यं वा अन्तरिक्षं मध्यतस्तद्योनिं दधाति तस्मात् सर्वेषां भूतानां

मध्यतो योनिरपि वनस्पतीनाम्' (७।५।१।२६)। उलूखलमुसलोपधानानन्तरमुखाया उपधानं विधत्ते - अथेति। इष्टकाचितिषु निधास्यमानस्याग्नेरुखायां कृत्वोत्पादनादुखाया योनित्वेन तदुपधाने योनेरेवोपधानं भवतीत्याह—योनिर्वा इति। विहितमुपधानमुलूखले कर्तव्यमित्याह—तामिति। तत्रोपधानं प्रशंसति—अन्तरिक्षमिति। यत्किमपि वस्त्वस्याः पृथिव्या ऊर्ध्वमुपर्यवस्थितम्, तत्सर्वमन्तरिक्षमेव। अन्तरिक्षं च द्यावापृथिव्योरन्तरालेऽवस्थानान्मध्यम्। ततश्च उलूखलस्यापि पृथिव्या उपर्यवस्थानेन मध्यभूतान्तरिक्षात्मकत्वात् तत्रोपधाने मध्यभाग एव योनेरुपधानं भवति। मध्यत इति सार्वविभक्तिकस्तसिः, मध्ये इत्यर्थः। दृष्टानुसारेणोक्तमर्थं प्रमाणयति—तस्मादिति। वनस्पतीनामपि बीजानां मध्यभागं भित्त्वोत्पन्नत्वाद् मध्यतो योनिरित्यर्थः। 'यद्वेवोखामुपदधाति। यो वै स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसतैषा सोखेमे वै लोका उखेमे लोकाः प्रजापतिस्तामुलूखल उपदधाति तदेनमेतस्मिन् सर्वस्मिन् प्रतिष्ठापयति प्राणेऽन्न ऊर्ज्यथो एतस्मादेवैनमेतत्सर्वस्मादनन्तर्हितं दधाति' (श० ७।५।१।२७)। अथोखायाः प्राजापत्यात्मकत्वेनोलूखल उपधानं प्रशंसति—यद्वेवोखामिति। स इति प्रजासर्जनेनावयवविश्लेषदशापन्नः प्रजापतिः परामृश्यते। स यः प्रजापतिर्व्यस्रंसत विस्रस्तावयवोऽभूत्, सा उखा। सेति स्त्रीलिङ्गमुखापेक्षया। अत एव प्रजापतेरेतल्लोकत्रयात्मकत्वादुखापि इमे पृथिव्यादयो लोकाः। तथा सति प्रजापत्यात्मिकाया उखाया उलूखल उपधानेन विस्रस्ताङ्गं प्रजापतिमेतस्मिन् सर्वस्मिन् प्रतिष्ठापयति। तदेव प्रदर्श्यते—प्राणेऽन्न ऊर्जीति। उलूखलस्य औदुम्बरत्वेन तस्य चान्नरसात्मकत्वादन्नरसेन च प्राणानां धारणात् प्राणात्मकत्वमनुसन्धेयम्। प्राणान्नोर्जां परस्परग्रहणमुक्तम्। न केवलं प्रतिष्ठापनमात्रम्, अपि त्वव्यवधानेन तत्सम्बद्धमेव कुर्यादित्याह—अथो इति।

'अथोपशयां पिष्ट्वा लोकभाजमुखां कृत्वा पुरस्तादुखाया उपनिवपत्येष हैतस्यै लोकस्तथो हास्यैषाऽनन्तरिता भवति' (श० ७।५।१।२८)। उपशया नाम उखाभेदे सति तत्प्रतिसन्धानार्थं प्रागवशेषिता मन्त्रसंस्कृता मृत्। तां चूर्णीकृत्य उखायाः पुरोभागे निदध्यादित्याह—अथेति। उखां लोकभाजं स्थानभाजमुलूखलभाजिनीं कृत्वा। उखाभेदप्रतिसन्धानार्थत्वादुपशयायास्तत्पुरोभागेऽवकाशः। अतस्तत्रोपनिवापेन स्वावकाशस्याव्यवहिता भवतीत्याह—एष हैतस्या इति। एष प्रदेश एतस्यै एतस्या उपशयाया लोकः स्थानम्। तथा सत्येषाऽनन्तरिता भवति। 'तदाहुः। कथमस्यैषा पक्वा शृतोपहिता भवतीति यदेव यजुष्कृता तेनाथो यद्वै किं चैतमग्निं वैश्वानरमुपनिगच्छति तत एव तत्पक्वꣳ शृतमुपहितं भवति' (श० ७।५।१।२९)। इष्टकोपधानप्रदेशे पक्वानामेवोपधानादुपशयायाश्चापक्वत्वात् कथमत्रोपधानं युज्यत इति याज्ञिकानां जिज्ञासामवतारयति—तदाहुरिति। अस्योपधानप्रदेशावकाशस्य एषा उपशया पक्वा शृता उपहिता भवति। शृतेति पाकविशेषाभिधानात् पक्वा शृतेति न पुनरुक्तिः। कालकृतपाकेऽपि पाकशब्दः प्रयुज्यते। शृतं तु वह्नौ वह्निसंयुक्तद्रव्यान्तरे वा निधानेन भवति। अथवा पाकेन शृता सतीत्यर्थः। एतस्योत्तरं द्वेधा दर्शयति—यदेवेत्यादिना। एषोपशया नाम यजुष्कृता इति यत् तेनासौ पक्वा शृता च भवति। मन्त्रेण आहृतैव मृद् उपशया क्रियते, अतश्चास्या मन्त्रेण निष्पादनादेव पाकसम्पत्तिरित्यर्थः। किञ्च, यत्किञ्चिदपि वस्तु एतं वैश्वानरमग्निमिष्टकोपधानस्थलात्मकं प्राप्नोति, तत्सर्वं तत एव तत्प्राप्तेरेव पक्वं शृतं सदेव उपहितं भवति। 'ध्रुवासि धरुणेति। तस्योक्तो बन्धुरितो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्यो अधि जातवेदा इत्येतेभ्यो हि योनिभ्यः प्रथमं जातवेदा अजायत स गायत्र्या त्रिष्टुभाऽनुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्नित्येतैर्वा एष छन्दोभिर्देवेभ्यो हव्यं वहति प्रजानन्' (श० ७।५।१।३०)। उखोपधाने 'ध्रुवासि' इति, 'इषे राये' इति च द्वौ मन्त्रौ विदधानो व्याचष्टे—ध्रुवासीत्यादिना। ध्रुवासि धरुणा इत्यस्य व्याख्यानं 'ध्रुवासीति स्थिरासि' (श० ७।४।२।५) इत्यादिना प्रागुक्तम्। एतेभ्य इति। प्रथमतो यदुखाया जनयित्वा पश्चादेतेभ्यो योनिभ्यो लोकेभ्यो जातवेदा अजायत, अतश्चामुमर्थमित

इत्यादिमन्त्रभागो ब्रूते । एतैर्गायत्र्यादिभिश्छन्दोभिः सह एषोऽग्निः स्वाधिकारं प्रजानन् हव्यं वहति खलु। छन्दसां हविर्वहनं तैत्तिरीयके समाम्नायते—'छन्दांसि देवेभ्योऽपाक्रामन्न वो भागानि हव्यं वक्ष्याम इति' (तै० सं० ५।१।१।१) इति । एतेनापक्रमणात् पूर्वं तेषां हविर्वहनं विज्ञायते ।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, धरुणा जगतो धारयित्री त्वं ध्रुवासि स्थिरासि । अथ ज्ञानाग्निजनकत्वेन उखा स्तूयते—योऽयं ज्ञानाग्निरितोऽस्या बुद्धेः सकाशात् प्रथममादौ जातवेदा जातमात्रस्य प्रकाशकोऽधिजज्ञे, तत एतेभ्यो योनिभ्यः स्वकारणेभ्यः प्रत्यक्षानुमानागमादिभ्योऽधिजज्ञे अधिजायते, सोऽग्निः प्रजानन् स्वप्रकाश्यं प्रकाशयन् गायत्र्या त्रिष्टुभा अनुष्टुभा च छन्दस्त्रयेण देवेभ्यो द्योतमानेभ्यः साधकेभ्यो देवार्थं हव्यं वहतु आदानार्हब्रह्मात्मकं वस्तु प्रापयतु ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यथा त्वं धरुणा धर्त्री ध्रुवासि, यथैभ्यो योनिभ्यः कारणेभ्यः स जातवेदाः प्रथममधिजज्ञे तथेतोऽधिजायस्व । यथा स तव पतिर्गायत्र्या विद्यया त्रिष्टुभा अनुष्टुभा च प्रजानन् देवेभ्यो हव्यं वहतु, तथैतया प्रजानन्ती ब्रह्मचारिणी कन्या भवन्तीभ्यः स्त्रीभ्यो विज्ञानं प्राप्नोतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्, तादृशार्थस्य केनाप्यस्वीकृतत्वात् । सिद्धान्ते तु शतपथादिश्रुतयः प्रमाणम् । इतोऽधिजायस्वेत्यत्र इत इति कर्मणो ग्रहणे पुरुषव्यत्यये च प्रमाणाभावात् । यथेत्यादिकमपि निर्मूलमेव । गायत्र्यादिच्छन्दसां प्रसिद्धत्वेऽपि तद्विद्यानामप्रसिद्धत्वात् । हव्यमित्यस्य विज्ञानार्थतापि चिन्त्यैव, धात्वर्थानुसारेणान्यस्याप्यादानार्हत्वोपपत्तेः । प्रजानन्ती ब्रह्मचारिणी कन्येत्यपि निर्मूलमेव ॥ ३४ ॥

इषे राये रमस्व सहसे द्युम्न ऊर्जे अपत्याय ।
सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम् ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे ! अन्न, धन, बल, यश, दुग्ध, दधि, घृत आदि रस और पुत्र-पौत्र आदि प्रजा को देने के लिये तुम यहाँ दीर्घकाल तक स्थित रहो, तुम भूमि पर भली प्रकार प्रकाशित रहो, तुम स्वर्ग में स्वयं दीप्तिमान् राजमान हो, सरस्वती सम्बन्धी वाणी तुम्हारी रक्षा करे ॥ ३५ ॥

उखादेवत्या बृहती । हे उखे, त्वं रमस्व अत्र क्रीडां कुरु । कस्मै प्रयोजनाय ? तदुच्यते—इषे अन्नाय राये धनाय सहसे बलाय द्युम्ने द्युम्नाय यशोऽर्थम् । 'द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा' (निरु० ५।५) इति यास्कः । ऊर्जे उपसेचनाय पयोदधिघृतादिरसार्थम्, अपत्याय पुत्रपौत्रादिकाय । किञ्च, त्वं सम्राडसि सम्यग् राजत इति सम्राट् । स्वराडसि स्वेनैव राजत इति स्वराट् । एवंभूतां त्वामुत्सौ अत्युत्सुकौ सारस्वतौ सरस्वतीसम्बन्धिनौ ऋग्वेदसामवेदौ प्रावतां प्रकर्षेण रक्षताम्, 'ऋक्सामे वै सारस्वतावुत्सौ' (तै० ब्रा० १।४।४।९) इति श्रुतेः । अथवा सारस्वतौ सरस्वतीनदीसम्बन्धिनौ उत्सौ उत्स्यन्दनौ कूपौ प्रवाहौ वा। तौ चोत्सौ मनोवाचौ । सर्वशास्त्रज्ञानाय कूप इवोत्स्यन्दतीति मनः कूपः । तत्प्रतिपादनं कुर्वन्ती वागपि कूपः, 'मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वत्येतौ सारस्वतावुत्सौ' (श० ७।५।१।३१) इति श्रुतेः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'इषे राये रमस्व । सहसे द्युम्न ऊर्जे अपत्यायेत्येतस्मै सर्वस्मै रमस्वेत्येतत् सम्राडसि स्वराडसीति सम्राट् च ह्येष स्वराट् च सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावतामिति मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वत्येतौ सारस्वता उत्सौ तौ त्वा प्रावतामित्येतद् द्वाभ्यामुपदधाति तस्योक्तो बन्धुरथो द्वयꣳ ह्येवैतद्रूपं मृच्चापश्च सादयित्वा सूददोहसाऽधिवदति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।५।१।३१) । इषे राये इत्यादिना इट्प्रभृतिभ्यः

सर्वेभ्यो रमस्वेत्येतदुक्तं भवतीति व्याचष्टे—एतस्मा इति । सारस्वताविति । सारस्वान् मन उच्यते, सरस्वती च वाक्, एतौ सारस्वतौ । अत्र स्वार्थिकोऽण्प्रत्ययः । उत्सौ वारिप्रवाहौ वाङ्मनसात्मकौ । मनस्तावत् सर्वशास्त्रार्थपरिज्ञानरसाधारत्वाद् वाचश्च तत्प्रतिपादनरसाधारत्वादुत्सत्वमनयोः । तौ त्वा प्रावतां पालयतामभिज्ञानवदनव्यापाराभ्यामित्यर्थः ।

एवं च सायणाचार्योक्तरीत्या उपर्युक्तयोर्मन्त्रयोरयमर्थः—हे उखे, त्वं ध्रुवासि स्थिरासि धरुणा धारिणी चासि । जातिवेदा इतस्त्वत्सकाशात् प्रथममधिजज्ञे पश्चादेभ्यो लोकेभ्योऽधिजातः । स तथाविधो जातवेदा गायत्र्यादिच्छन्दोभिः सह स्वाधिकारं प्रजानन् देवेभ्यो हव्यं वहतु धारयतु । किञ्च, त्वमिषे अन्नाय राये धनाय सहसे बलाय द्युम्ने द्युम्नाय यशसे ऊर्जे पयोदध्याद्युपसेचनाय, अपत्याय पुत्रपौत्रादिकाय, अथवा अपत्याय पत्याय स्वामित्वाय रमस्व तत्सर्वं सम्पादयितुं रतिं कुरु । त्वं सम्यग् राजमानासि स्वेनैव राजमानासि । त्वां च वाङ्मनसरूपा उत्सौ प्रकर्षेण पालयतामिति । अत्र 'अथोपशयां विष्ट्वा' इत्यादिश्रुतिक्रमेणानुष्ठानमुपशयोपनिवापोत्तरकालं च मन्त्रवचनम् । उपधानमन्त्रयोर्द्वित्वसंख्याया व्याख्यानं प्रागुक्तमित्याह—द्वाभ्यामिति । अद्भिरेव सिक्तया मृदा कृतत्वादुखायां मृच्चापश्चेति द्विविधं रूपमस्ति । अतश्च तदुपधानमन्त्रयोर्द्वित्वमुपपद्यत इत्याह—अथो इति । अन्यत् पूर्ववत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, इषे अन्नाद्यर्थं क्रीडस्व सर्वस्य बुद्धिवैभवं सम्पादय । साम्राज्यं स्वाराज्यं चापि तत्कार्यमेव । सारस्वतौ चोत्सौ वाङ्मनसे त्वामवतां पालयताम् ।

दयानन्दस्तु—'हे पुरुष ! यस्त्वं सम्राडसि, हे स्त्रि ! या त्वं स्वराडसि, स त्वं च इषे राये सहसे द्युम्न ऊर्जेऽपत्याय रमस्व । उत्साविव सारस्वतौ सन्तावेतानि प्रावतामिति त्वां पुरुषं स्त्रियं चोपदिशामि' इति, तदपि निर्मूलम्, तादृशसम्बोधनस्य निष्प्रमाणत्वात् । न च क्रीडनेन धनादिप्राप्तिः सम्भवति । हिन्दीभाषायां तु यतस्वेत्युक्तम्, तदपि निर्मूलमेव । कूपवत्कोमलीभूत्वेति सर्वथाऽपार्थकमेव वचः, कूपे कोमलताया लोके वेदे चात्यन्तमप्रसिद्धत्वात् । किञ्च, त्वावतामिति मन्त्रस्थयोः कर्मक्रियापदयोरन्वये सम्भवति त्वां पुरुषं स्त्रियं चोपदिशामीति पदान्तराध्याहारः स्वैरित्वमेव द्योतयति । किञ्च, उभयोर्विवक्षायां युवामिति स्यात्, न तु त्वामिति ॥ ३५ ॥

अग्ने॑ यु॒क्ष्वा हि ये तवाश्वा॑सो देव सा॒धवः॑ । अरं॒ वह॑न्ति म॒न्यवे॑ ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे दीप्यमान अग्निदेवता, आपके चतुर श्रेष्ठ जाति के घोड़े आपको शीघ्र यज्ञ के निमित्त यज्ञस्थान पर ले जाते हैं, उनको आप रथ में जोतिये ॥ ३६ ॥

'अग्ने युक्ष्वा हीति प्रत्यृचꣳ स्रुवाहुतीर्जुहोत्युखायाम्' (का० श्रौ० १७।५।५) । अनया ऋचा, युक्ष्वा हीत्यपरया च ऋग्द्वयेन उखामध्ये द्वे आहुती जुहुयादिति सूत्रार्थः । भरद्वाजदृष्टा अग्निदेवत्या गायत्रीछन्दस्का ऋक् । ऋगर्थस्तु—हे देव दीप्यमान अग्ने, ये साधवो दान्तास्तव सम्बन्धिनोऽश्वासोऽश्वा अरम् अलम् अत्यर्थं मन्यवे मन्यते देवान् यष्टव्यत्वेनात्रेति मन्युर्यज्ञः, तस्मै मन्यवे यज्ञाय वहन्ति देवानिति शेषः । तान् युक्ष्व योजय । हीति पादपूरणार्थः । अथवा हे देव दानादिगुणयुक्त अग्ने ! ये साधव उत्कृष्टजातिगुणसमन्विताः प्रशस्ता अश्वा अरम् अलं पर्याप्तं मन्यये दीप्तये क्रोधाय वा वहन्ति तान् युक्ष्व योजय । 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः । 'युजिर् योगे' इति रौधादिकस्य रूपम् । श्नमो लोपश्छान्दसः । 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इति विकरणस्य लोपः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनामभिजुहोति। एतद्वा अस्यामेतत्पूर्वं॑ रेतः सिक्तं भवति सिकतास्तदेतदभिकरोति तस्माद्योनौ रेतः सिक्तमभिक्रियत आज्येन जुहोति स्रुवेण स्वाहाकारेण द्वाभ्यामाग्नेयीभ्यां गायत्रीभ्यां तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।५।१।३२)। उपधानानन्तरमुखाया उपरि होमं विधत्ते—अथेति। अभिहोमस्योपयोगमाह—एतद्वा इति। भिन्नं वाक्यमेतत्। एतदित्यस्य एतत्खलु समभूदित्यर्थः। भिन्नवाक्याभावेऽभिहोमपरामर्शकत्वमेतत्पदस्य स्यात्, तथा च नार्थः समञ्जसो भवेत्। भिन्ने वाक्येऽर्थो विव्रियते—अस्यामेतत्पूर्वं रेतः सिक्तं भवति सिकतेति। पूर्वम् अस्याम् उखायाम् एतद्रेतः सिक्तं भवति। सिकतास्तदेतदिति निर्दिष्टप्रदर्शनम्, अग्न्युद्वापानन्तरमेव उखायाः सिकताभिः पूरितत्वात्। तद्रेत एतेन अभिहोमेन अभिकरोति अभिवर्धयति। यत एवं तस्मादिदानीं योनौ सिक्तं रेतोऽभिक्रियते अवयवविरूपेण क्रियत इत्यर्थः। विहितोऽभिहोम आज्येन स्रुवेण स्वाहाकारेण द्वाभ्यामाग्नेयीभ्यां गायत्रीभ्यां कर्तव्य इत्याह—आज्येनेत्यादिना। आज्यस्रुवाद्यर्थवादस्तु (श० ६।३।३।१८-२१) इत्यत्र प्रागुक्त इत्याह—तस्योक्तो बन्धुरिति। 'अग्ने युक्ष्वा हि ये तव। युक्ष्वा हि देवहूतमानिति युक्तवतीभ्यामिदमेवैतद्योनौ रेतो युनक्ति तस्माद्योनौ रेतो युक्तं न निष्पद्यते' (श० ७।५।१।३३)। द्वाभ्यामित्यादिनोक्ते ऋचौ प्रदर्शयन् तयोर्युजिधातुसम्बन्धं प्रशंसति—अग्ने युक्ष्वा हीति। युक्तवतीभ्यां युजिधातुमतीभ्यामित्यर्थः। एतद् एतेनोपधानमन्त्रयोर्युजिधातुसम्बन्धेन योनौ सिक्तं रेतो युनक्ति नियच्छति। तस्मादिदानीं योनौ सिक्तं रेतोऽपत्योत्पादनार्हं युक्तं सन्न निष्पद्यते न निष्पतति, तत्रैवावतिष्ठते।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने! श्रीराम परमात्मन् देव जगदुत्पत्तिस्थितिलयक्रीडाविशिष्ट, तव ये अश्वासः अश्वाः साधवः शुभजातिगुणान्वितास्तान् युक्ष्व युङ्क्ष्व। एवं च सति तेऽश्वा मन्यवे रावणादीन् प्रति क्रोधाय यागाद्यर्थम् अरम् अलम् अत्यर्थं त्वां वहन्ति वक्ष्यन्ति। वर्तमानसामीप्ये भविष्यत्यर्थे लृट्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, देव दिव्यविद्यायुक्त ये तव साधवोऽश्वासस्तुरङ्गा अभीष्टं साध्नुवन्तो मन्यवे शत्रूणामुपरि क्रोधाय अलमत्यर्थं वहन्ति रथादीनि प्रापयन्ति, तान् हि त्वं युक्ष्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तेजस्विनोऽपि विदुषोऽश्वा न भवन्ति। निरर्थकश्चायमुपदेशः। अग्निदेवादिशब्दानां न मनुष्यो विद्वानर्थः, देवशब्दस्य योनिविशेषे रूढत्वात्। अग्निशब्दस्यापि तथाविधैव स्थितिः॥ ३६॥

युक्ष्वा हि दे॒वहू॑त॒माँ २॥ अश्वाँ॑ २॥ अग्ने र॒थीरि॑व। नि होता॑ पू॒र्व्यः स॑दः॥ ३७॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, आप देवताओं को बुलाने वाले घोड़ों को अवश्य ही रथी के समान उत्साहपूर्वक रथ में शीघ्र जोतिये। कारण यह है कि पुरातन काल से आह्वान करने वाले आप आज इस यज्ञ कर्म में अपना स्थान ग्रहण कर रहे हैं॥ ३७॥

विश्वरूपदृष्टा अग्निदेवत्या गायत्रीछन्दस्का ऋक्। हे अग्ने, देवहूतमान् देवान् ह्वयन्ति ये ते देवह्वः, अतिशयेन देवह्वो देवहूतमाः, तान्। अश्वान् नियुक्ष्व नियोजय। 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' इति धातोः क्विपि सम्प्रसारणे तमपि च रूपम्। क इव? रथीरिव। रथोऽस्यास्तीति रथीः। 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' (पा० सू० ५।२।१२२ वा० २) इति मत्वर्थीय ईप्रत्ययः। देवहूतमान् अश्वान् इत्युभयत्र 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० सू० ८।३।९) इति नकारस्य रुत्वे 'आतोऽटि नित्यम्' (पा० सू० ८।३।३) इत्याकारस्यानुनासिकत्वम्। हि यस्मादेवमतः सदः सदसि, विभक्तिव्यत्ययः, पूर्व्यः अग्र्यो होता सन्निषीदेति शेषः। यद्वा त्वं पूर्व्यः पूर्वभवः पुरातनो होता मानुषाद्धोतुः प्रथमो हि अस्मिन् प्रसिद्धयागे निसदः होतृसदने निषीद। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति लोडर्थे लुङ्। लृदित्वात् च्लेरङ्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५)

इत्यडागमाभावः। यद्वा होता होमोत्पादको भूत्वा अस्मिन् यागस्थाने निषीद। तथा चोव्वटाचार्यो वचनमेकमुद्दधार—'अव्याद्यज्ञं जातवेदा अन्तरः पूर्वोऽस्मिन्निषद्य' इति।

अध्यात्मपक्षे— हे अग्ने श्रीराम, त्वं देवहूतमान् देवैरतिशयं स्पर्धमानान् अश्वान् इन्द्रियरूपान् रथीरिव रथस्वामीव नियुक्ष्व ममाभीष्टध्यानादौ प्रेरय। त्वं पूर्व्यः पुरातनः, सर्वकारणत्वात्। सदः सदसि मनसि होता भक्तानामाह्वाता सन्निषीदेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, पूर्व्यः पूर्वैर्विद्वद्भिः कृतशिक्षो होता दाता त्वं देवहूतमान् विद्वद्भिः स्पर्धितान् अश्वान् रथीरिव यथा शत्रुभिर्बहुरथादिसेनाङ्गवान् योद्धा युद्धयते तथा युक्ष्व, हि न्यायासने नि षदः निषीद' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्वानां विद्वद्भिः स्पर्धास्वरूपानिरूपणात्। तमपश्च क उपयोगः? रथीरित्यस्य कथं सार्थक्यम्? यः स्वयं योद्धा न भवति, तस्य योद्धृतुल्यता कीदृशी? योद्धृत्वे तुल्यताकथनस्य किं वा स्वारस्यम्? एवमेव पूर्वैर्विद्वद्भिः कृतशिक्ष इत्यर्थः कथम्? एतस्मिन्नर्थे कः प्रत्ययः? यत्तु 'ईर् मत्वर्थे' इति महीधरोक्तौ 'ईर इति रेफान्तः प्रत्यय इति महीधरः, तच्चिन्त्यम्' इति, तत्तुच्छम्, अपदं न प्रयुञ्जीतेति वैयाकरणानां राद्धान्ताद् ईशब्दात् प्रथमैकवचने सौ रुत्वे 'ईर् मत्वर्थे' इति शब्दसाधुत्वात्॥ ३७॥

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये अग्नेः॥ ३८॥

मन्त्रार्थ— चिति के मध्य में जो हिरण्मय पुरुष स्थित है, वह हृदय के अन्तर में वर्तमान विषयों की व्याकुलता से रहित होकर श्रद्धा वाले मन से पवित्र किये हुए अन्न और घृत की धारा का भली प्रकार क्षरण करता है। जैसे नदियाँ समुद्र को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार होमी हुई आहुतियां उस हिरण्मय पुरुष को प्राप्त होती हैं। इसका मैं स्वयं द्रष्टा हूँ॥ ३८॥

'प्रतिशिरः सप्त सप्त हिरण्यशकलान् मुखे करोति सम्यक् स्रवन्तीति' (का० श्रौ० १७।५।७)। पञ्चपशुपक्षे प्रतिशिरः सप्त सप्त सुवर्णखण्डानि प्रक्षिपेत्। तत्र मुखे प्रथममेकं शकलं प्रक्षिपेत् सम्यक् स्रवन्तीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। काण्वभाष्ये तु हिरण्यपुरुषाश्वादीनां मध्ये एकैकस्य शिरःस्थितेषु सप्तसु सप्तसु छिद्रेषु सप्त सप्त स्वर्णशकलानि निक्षिपेत् सम्यक् स्रवन्तीति मन्त्रेणेति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैषु हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति। प्राणा वै हिरण्यमथवा एतेभ्यः पशुभ्यः संज्ञप्यमानेभ्य एव प्राणा उत्क्रामन्ति तद्यद्धिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति प्राणानेवैष्वेतद्दधाति' (श० ७।५।२।८)। तेषु पशुशीर्षेषु सुवर्णशकलानां प्रक्षेपं विधाय प्रशंसति—अथैष्विति। प्राणसाधनत्वाद् हिरण्यस्य प्राणात्मकत्वम्। शेषं स्पष्टम्। 'सप्त प्रत्यस्यति। सप्त वै शीर्षन् प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधात्यथ यदि पञ्च पशवः स्युः पञ्चैव कृत्वः सप्त सप्त प्रत्यस्येत् पञ्च वा एतान् पशूनुपदधाति सप्त सप्त वा एकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु प्राणान् दधाति' (श० ७।५।२।९)। सुवर्णशकलानां संख्याविशेषं विधत्ते—सप्त प्रत्यस्यतीति। शिरसि वागेका, नेत्रे द्वे, श्रोत्रे द्वे, नासाविवरे च द्वे इति सप्त प्राणाः। सप्तहिरण्यशकलनिधानेन सप्तप्राणवान् भवतीत्याह—सप्त वा इति। पञ्चपशुपक्षः, एकपशुपक्ष इति पक्षद्वयमस्ति। तत्र पञ्चपशुपक्षे पञ्चकृत्वः सप्त सप्त हिरण्यशकलान् प्रतिशीर्षं प्रत्यस्यति। 'तद्धैकेऽपि। यद्येकः पशुर्भवति पञ्चैव कृत्वः सप्त सप्त प्रत्यस्यन्ति पञ्च वा एतान् पशूनुपदधाति सप्त सप्त वा एकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु प्राणान् दध्म इति न तथा कुर्यादेतस्मिन् वै पशौ सर्वेषां पशूनाꣳ रूपं तद्यदेवस्मिन्

प्रत्यस्यति तदेवैषु सर्वेषु प्राणान् दधाति' (श० ७।५।२।१०)। यद्येकोऽपि पशुर्भवेत्तदापि पञ्चकृत्व एव सप्त सप्त सुवर्णशकलान् प्रत्यस्येदिति एके शाखिन आहुः। तेषामयमाशयः—पञ्चानामपि पशूनां स्थाने एकस्योपधानादसौ अध्वर्युः पञ्च एतान् पशूनुपदधाति। तथा च एकैकस्मिन् पशौ सप्त सप्त प्राणा विद्यन्ते। तस्मात्तावतां हिरण्यशकलानां प्रत्यसनेन एतेषु सर्वेष्वपि प्राणान् दधाति। न तथा कुर्यादित्यनेन तं पक्षं दूषयति—न तथा कुर्यादिति। कथं तर्हि सर्वेषां पशूनां प्राणसङ्घटनेति तत्राह—एतस्मिन् वा इति। एतस्मिन् उपधीयमाने एकस्मिन्नेव पशौ सर्वेषां पशूनां रूपमस्ति। तेषां सर्वेषामपि कार्ये एतस्यैव सामर्थ्यावधारणात्। तस्मादेतस्मिन् सप्तसंख्याविशिष्टहिरण्यशकलप्रत्यसनेन सर्वेष्वपि पशुषु प्राणप्रतिसन्धानं सम्पादितवान् भवति।

लिङ्गोक्ता देवता त्रिष्टुप्। तत्र सम्यक् स्रवन्तीति कण्डिकया प्रथममास्ये स्थापयेत्। हिरण्मयपुरुषोद्देशेन कण्डिकेयं प्रवृत्ता। अन्तः शरीरस्याभ्यन्तरे हृदा मनसा हृदयपुण्डरीकवर्तिना युक्तेनान्तःकरणेन पूयमानाः पवित्रीक्रियमाणा धेना अन्नलक्षणाः, 'अन्नं वै धेनाः' (श० ७।५।२।११) इति श्रुतेः। घृतस्य दीप्तियुक्ता हिरण्मयं पुरुषं प्रति सुवर्णस्य धाराः सम्यक् स्रवन्ति। तत्र दृष्टान्तः—सरितो न, नकार इवार्थः। यथा नद्यः प्रवहन्ति तद्वत्। अपि च, उखाग्निमध्ये यो हिरण्मयो वेतसः पुरुषोऽवभासते, तं पुरुषमभिलक्ष्य स्रवन्तीस्ता धारा अभिचाकशीमि अभिपश्यामि। अग्नेर्मध्ये चितिमध्ये हिरण्मयो वेतसः पुरुषो यो निहितोऽस्ति, तं प्रति धेना अन्नानि सम्यक् स्रवन्ति क्षरन्ति, हूयमानानि हवींषि तं प्रति गच्छन्तीत्यर्थः। कीदृश्यो धेनाः? अन्तर्हृदा हृदयपुण्डरीकवर्तिना हृत्प्रतिष्ठेन विषयव्यावृत्तेन, अव्याकुलेनेति यावत्, पूयमानाः पवित्रीक्रियमाणाः, श्रद्धायुक्तेन मनसा दत्ता इत्यर्थः, 'अन्तर्वै हृदयेन मनसा सतान्नं पूतं य ऋजुः' (श० ७।५।२।११) इति श्रुतेः। तत्र दृष्टान्तः—सरितो न सरितो यथा सागरं प्रति स्रवन्ति गच्छन्ति तद्वत्। न केवलं धेना एव स्रवन्ति, किन्तु घृतस्य धारा अपि स्रवन्ति। ताश्च धेना घृतधाराश्च हिरण्मयं पुरुषं प्रति स्रवन्तीरहमपि चाकशीमि अभिपश्यामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'मुखे प्रथमं प्रत्यस्यति। सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना इत्यन्नं वै धेनास्तदिदꣳ सम्यङ्मुखमभिसꣳस्रवन्त्यन्तर्हृदा मनसा पूयमाना इत्यन्तर्वै हृदयेन मनसा सतान्नं पूतं य ऋजुस्तस्य घृतस्य धारा अभिचाकशीमीति या एवैतस्मिन्नग्नावाहुतीर्होष्यन् भवति ता एतदाह हिरण्ययो वेतसो मध्ये अग्नेरिति य एवैष हिरण्मयः पुरुषस्तमेतदाह' (श० ७।५।२।११)। प्रथमं मुखे शकलस्य प्रत्यसनं विधत्ते—मुखे प्रथममिति। मन्त्रं व्याचष्टे—सम्यक् स्रवन्तीति। धेना इत्यन्नमुच्यते। सम्यक् स्रवन्ति। कथमिव? सरितो न सरित इवेति मन्त्रभागेनोच्यते। अन्तर्हृदेति। य ऋजुरकुटिलाङ्गस्तस्य अन्तः शरीरमध्ये हृदा हृदयदेशेन मनसा च सता विद्यमानेन अन्नं पूतं भवति, सारासारभेदेन विवेचितं भवति। हृदयदेशस्य अन्नावतरणप्रदेशत्वात् शोधकत्वम्। ऋजुरकुटिलः शोभनकर्मा यजमानः, तस्य मनसेति। घृतस्य धारा इत्यनेन होष्यमाणाहुत्यभिधानमभिप्रेतमित्याह—या एवैतस्मिन्निति। चतुर्थपादेऽग्निमध्यावस्थितहिरण्मयपुरुषाभिधानं क्रियत इति व्याचष्टे—हिरण्यय इति। तथा च ब्राह्मणानुसारी मन्त्रार्थः—अकुटिलावयवस्य यजमानस्य अन्तः शरीरमध्ये हृदयेन हृत्प्रतिष्ठेन मनसा शोध्यमानान्यन्नानि इदं मुखमभिलक्ष्य स्रवन्ति, यथा नद्यः समुद्रं प्रति स्रवन्ति तद्वत्। तथाविधेऽस्मिन्मुखे शकलं निदधामि। निहितं शकलं चेदमग्नेर्मध्ये यो हिरण्मयो वेतसः पुरुषस्तं प्रति संस्रवन्तीर्घृतस्य धारा अभिचाकशीमि अभिपश्यति। 'चाकशीमि' इति पुरुषव्यत्ययः। यङ्लुगन्तस्य रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—अग्नेः पार्थिवस्याग्नेः सूर्यस्य वा मध्ये हिरण्मयो वेतसः पुरुषो यो विद्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः सर्वान्तर्यामी 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) इति न्यायेन निर्धारितस्तं प्रति सरितो न यथा नद्यः समुद्रं प्रति स्रवन्ति, तथा धेना अन्नानि विविधानि स्रवन्ति। कीदृशीर्धेनाः? अन्तः शरीरस्य मध्ये

हृदा हृत्पुण्डरीकान्तर्वर्तिना समाहितेन मनसा अन्तःकरणेन पूयमानाः पवित्रीक्रियमाणा घृतस्य धाराश्च तं प्रति स्रवन्ति, ताः स्रवन्तीर्धेना धाराश्च अहमभिचाकशीमि ध्यानेनाभिपश्यामि ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा अग्नेर्मध्ये हिरण्यय इव वर्तमानोऽहं या घृतस्य उदकस्य वेतसो वेगवत्यो धाराः सरितो न नद्य इव अन्तः अभ्यन्तरे हृदा हृदयेन मनसा विज्ञानवता चित्तेन पूयमानाः पवित्रा धेना वाचः, 'धेना इति वाङ्नामसु' (१।११।३९), सम्यक् स्रवन्ति, ता अभिचाकशीमि । तथा यूयमप्येताः प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात् । न च विद्युतो मध्ये पुरुषावस्थानं सम्भवति । हिरण्यय इवेत्यपि निर्मूलम्, तत्रेवपदाभावात् । सरित इत्यनेनैव गतार्थत्वे वेगयुक्तधारारूपा इत्युक्तिरपार्थैव, वेगवत्यो धारा इत्युक्त्यैव गतार्थत्वे सरित इत्युक्तिर्व्यर्था स्यात् ॥ ३८ ॥

ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा ।
अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—हे हिरण्यशकल, दीप्ति के निमित्त तुम्हारा वाम नासिका में प्रासन करता हूँ । सम्यक् दीप्ति के लिये तुम्हारा दक्षिण नासा में प्रासन करता हूँ । कान्ति के लिये तुम्हारा वाम चक्षु से स्पर्श कराता हूँ । तेज की प्राप्ति के लिये तुम्हारा दक्षिण नेत्र से स्पर्श कराता हूँ । यह श्रोत्र सम्पूर्ण प्राणिसमूह तथा सम्पूर्ण मनुष्यों के हितकारी अग्नि के वचन को सुनने वाला है, तुम्हारा इससे स्पर्श कराता हूँ ॥ ३९ ॥

'उत्तरान् द्वौ द्वौ, नासिकयोर्ऋचे त्वेति, अक्ष्योर्भासे त्वेति, श्रोत्रयोरभूदिदमिति' (का० श्रौ० १७।५।८–११) । उत्तरान् वक्ष्यमाणान् मन्त्रान् एकप्रतीकोपादानेऽपि द्वौ द्वौ मन्त्रौ प्रतीयात् । एकैकं हिरण्यखण्डं नासिकयोः क्रमेण (१) ऋचे त्वा (२) रुचे त्वा इति मन्त्राभ्याम् आदौ वामनसि ततो दक्षिणनसि स्थापयेत् । चक्षुषोः (१) भासे त्वा (२) ज्योतिषे त्वा इति मन्त्राभ्यां पूर्वं वामचक्षुषि ततो दक्षिणचक्षुषि एकैकं हिरण्यखण्डं स्थापयेत् । श्रोत्रयोः (१) अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनम् अग्नेर्वैश्वानरस्य च, (२) अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मानित्यादिमन्त्रेण च तेनैव क्रमेण एकैकं हिरण्यखण्डं स्थापयेदिति सूत्रार्थः । हिरण्यशकलदेवत्या आर्षी बृहती, पादार्णनियमाभावात् । हे हिरण्यशकल, ऋचे ऋग्वेदाय तदुक्तहौत्रादिसिद्धये त्वा त्वां वामनसि, क्षिपामीति शेषः । अथवा येयमृक् श्रोत्ररूपा तदर्थं रुचे दीप्त्यै त्वां दक्षिणनासाछिद्रे क्षिपामि । भासे कान्त्यै त्वां वामनेत्रे प्रास्यामि । ज्योतिषे तेजसे तत्प्राप्त्यै त्वां दक्षनेत्रे प्रास्यामि । इदं श्रोत्रं विश्वस्य भुवनस्य भूतजातस्य वैश्वानरस्य विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो नरेभ्यो हितस्य अग्नेश्च वाजिनं वाचो ज्ञातृ अभूत् । सर्वप्राणिशब्दा वह्नेश्च शब्दोऽपि श्रोत्रेणैव ज्ञायतेऽतः श्रोत्रे हिरण्यं प्रास्यामीति शेषः । वाचमेति जानातीति वाजिनम् । वाच्पूर्वादितेः 'इण् सिञ्जि' (उ० ३।२) इत्यादिना नक्प्रत्ययः । छान्दसः कुत्वाभावः । 'झलां जशोऽन्ते' (पा० सू० ८।२।३९) इति जश्त्वम् । 'अयमग्निर्वैश्वानरः' (श० १४।८।१०।१) इत्युपक्रम्य 'तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति' इति श्रूयते । तदनुवादकोऽयं मन्त्रः । यद्वा इदं दक्षिणश्रोत्रे प्रक्षिप्यमाणं सुवर्णं विश्वस्य भुवनस्य सर्वस्य भूतजातस्य वाजिनमन्नं वीर्यरूपं तेजोजनकं वा अभूद् भवति । तथा वैश्वानरस्य विश्वेषां नराणां स्वामिनोऽग्नेः स्ववीर्यरूपमभूद् भवति ।

अत्र ब्राह्मणम्—'ऋचे त्वेतीह । प्राणो वा ऋक् प्राणेन ह्यर्चति रुचे त्वेतीह प्राणो वै रुक् प्राणेन हि रोचतेऽथो प्राणाय हीदꣳ सर्वꣳ रोचते भासे त्वेतीह ज्योतिषे त्वेतीह भास्वती हीमे ज्योतिष्मती चक्षुषी अभूदिदं

विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य चेतीहाग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वानितीह विश्वावतीभ्यां विश्वꣳ हि श्रोत्रम्' (श० ७।५।२।१२)। अथ दक्षिणनासाविवरे समन्त्रकं शकलनिधानं विधत्ते—ऋचे त्वेतीति। 'इह' इति दक्षिणनासाविवरस्य निर्देशोऽभिनयेन। व्याचष्टे—प्राणो वा इति। यतः प्राणो वा अर्चति प्राप्नोति, प्राणवतैव सर्वस्य प्राप्तेः। धातूनामनेकार्थत्वादत्र प्राप्त्यर्थोऽर्चतिः। अतश्च 'ऋक्' इति प्राणः। तथा सति ऋचे प्राणाय सञ्चरमाणाय प्रत्यस्यामीति मन्त्रार्थः। सव्यमपि नासाविवरमभिनयेन निर्दिश्य समन्त्रकं शकलनिधानं विधत्ते—रुचे त्वेतीति। इहेति सव्यनासाविवरस्य अभिनयेन निर्देशः। प्राणो वै रुग् दीप्यमानः। प्राणेन हि शरीरादिकं दीप्यते, प्राणार्थमेव सर्वमिदं जगत् प्रियं भवति। दक्षिणनेत्रमभिनयेन निर्दिश्य समन्त्रकं शकलनिधानं विधत्ते—भासे त्वेतीति। इह दक्षिणनेत्रे। ज्योतिषे त्वेतीह सव्ये नेत्रे प्रत्यस्यति। यत इमे चक्षुषी भास्वती अर्थप्रकाशनलक्षणतेजोविशिष्टे ज्योतिष्मती स्वयं च ज्योतिर्विशिष्टे, अतस्तत्र शकलप्रत्यसनमन्त्रयोः 'भासे' 'ज्योतिषे' इति प्रयुक्तम्। श्रोत्रयोः समन्त्रकं शकलप्रत्यसनं विधत्ते—अभूदिति। इदं दक्षिणश्रोत्रं विश्वस्य भुवनस्य समस्तस्य लोकस्य वाजिनं शब्दोपलब्धिसाधनम् अभूत्। न केवलमस्यैवाभूत्, अपि तु वैश्वानरस्य विश्वेषां नराणामयं वैश्वानरस्तस्य सर्वजनानां जनकत्वेन सम्बन्धिनः। 'तस्येदम्' (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यणि, 'नरे संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।१२९) इति पूर्वपदस्य दीर्घे आदिवृद्धौ च रूपम्। तस्याग्नेः प्रजापतेरपि शब्दोपलब्धिसाधनमभूत्। तादृशे तत्र त्वां प्रत्यस्यामीत्यर्थः। अग्निर्ज्योतिषेति। ज्योतिषा ज्योतिष्मान् प्रशस्तज्योतिष्मान् प्रशस्तज्योतिर्विशिष्टोऽग्निरिव। वर्चसा वर्चस्वान् प्रशस्तवर्चोविशिष्टोऽग्निरिव। इवशब्दोऽध्याहर्तव्यः। इदं यद् दक्षिणेतरत् श्रोत्रं प्रकाशते, तथाविधे तत्र त्वां प्रक्षिपामीत्यर्थः। मन्त्रे विश्वपदप्रयोगस्याभिप्रायमाह—विश्वावतीभ्यामिति। यद्यप्यत्र एकस्यामेव विश्वपदप्रयोगः, तथापि प्राणभृन्न्यायेन लिङ्गसमवायादुभयोरपि 'विश्वावती' इत्यभिधानमुपपद्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे परमात्मन्, ऋचे ऋगुपलक्षितचतुर्वर्गप्राप्तिहेतुभूतचतुर्वेदप्राप्त्यर्थम्, त्वा त्वाम्, आश्रय इति शेषः। रुचे रोचनाय भासे कान्त्यै ज्योतिषे तेजसे तत्प्राप्त्यै त्वा त्वाम् आश्रये। इदं परमात्मतत्त्वं विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य भूतजातस्य वैश्वानरस्य सर्वप्राणिहितस्य वह्नेर्वाजिनं वीर्यं तेजोजनकमभूत्। अतस्तदाश्रये।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्य तव विश्वस्य सर्वाधिकारस्य जगतो भुवनस्य वैश्वानरस्य अखिलेषु नरेषु राजमानस्य अग्नेर्विद्युदाख्यस्य च वाजिनं वाजिनां विज्ञानवतामिदमवयवभूतं विज्ञानमभूज्जातम्, तमृचे स्तुतये रुचे प्रीतये त्वा भासे विज्ञानाय त्वा ज्योतिषे न्यायप्रकाशाय त्वा वयमाश्रयेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषामपरिगणितत्वादेकस्यैव सम्बोध्यत्वानुपपत्तेः। न चैकस्यैव सर्वत्र विनियोगः सम्भवति। वाजिनामिदमिति वाक्यस्य विज्ञानवतामवयवभूतं विज्ञानमिति कथमर्थः? यदि 'वज गतौ' इति धातोर्निष्पन्नत्वेन वाजो विज्ञानम्, तदस्त्यस्येति वाजिन्नित्यस्य विज्ञानवानित्यर्थः स्यात्, तथापि वाजिनामिदमिति तदवयवविवक्षणेऽपि नोपपत्तिः, ज्ञानविज्ञानवतोऽवयवानुपपत्तेः। ज्योतिःशब्दस्य न्यायप्रकाशार्थतापि चिन्त्यैव ॥ ३९ ॥

अ॒ग्निर्ज्योति॑षा॒ ज्योति॑ष्मान् रु॒क्मो वर्च॑सा॒ वर्च॑स्वान्। स॒ह॒स्र॒दा अ॑सि स॒ह॒स्राय॑ त्वा ॥४०॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि पशु के कान पर स्थित हिरण्य की कान्ति से कान्तिमान् है। रोचमान अग्नि सुवर्ण की अग्नि से कान्तिमान् है। हे पुरुष, तुम यजमान की हजारों अभिलाषाओं को पूरा करने वाले हो, इस कारण सहस्रों अभिलाषाओं के लाभ के निमित्त मैं तुमको सिद्ध करता हूँ ॥ ४० ॥

हिरण्यशकलदेवत्या उष्णिक्। द्वौ पादौ अष्टार्णौ तृतीयो द्वादशको व्यूहेन। दक्षिणश्रोत्रे शकलं प्रास्यत्यग्निर्ज्योतिषेति मन्त्रेण। अयमग्निर्ज्योतिषा पशुश्रोत्रस्थितहिरण्यतेजसा ज्योतिष्मान् तेजस्वी अस्तु। तथा रुक्मो रोचमानोऽग्निर्वर्चसा हिरण्यकान्त्या वर्चस्वान् कान्तिमानस्तु। बाह्यप्रभा ज्योतिः, शरीरान्तर्गता कान्तिर्वर्च इति ज्योतिर्वर्चसोर्भेदः। यद्वा श्रोत्रमेव हिरण्यज्योतिषाग्निरिव ज्योतिष्मदस्तु। हिरण्यवर्चसा च वर्चस्वदस्तु। रुक्म इव सुवर्णपुरुष इव। उभयत्रापीवशब्दोऽध्याहार्यः, लिङ्गव्यत्ययेन च योजना कार्येति महीधराचार्यः। 'सहस्रदा इति पुरुषशिर उद्गृह्य मध्ये' (का० श्रौ० १७।५।१४) पुरुषशिर आदाय उखामध्ये 'सहस्रदा' इति मन्त्रेण उत्थाप्य उपदधातीति सूत्रार्थः। हे पुरुष, त्वं सहस्रदाः सहस्रसंख्याकस्य धनस्य दातासि। अतः सहस्राय सहस्रधनलाभाय त्वा त्वामुद्गृह्णामीति शेषः। आदौ पुरुषशिरसि शकलप्रासनं ततोऽश्वगोऽव्यजानां क्रमेण। एकपशुपक्षे मुखादिषु प्रत्येकं सप्त सप्त पञ्चकृत्व एकैकमित्यन्येऽभिप्रयन्ति। यथाह कात्यायनः– 'सर्वानप्येकस्मिन्नेके' (का० श्रौ० १७।५।१२) इति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पुरुषशीर्षमुद्गृह्णाति। महयत्येवैनदेतत् सहस्रदा असि सहस्राय त्वेति सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वस्य दातासि सर्वस्मै त्वेत्येतत्' (श० ७।५।२।१३)। 'पशुशीर्षाण्युपदधाति। पशवो वै पशुशीर्षाणि पशूनेवैतदुपदधाति तान्युखायामुपदधातीमे वै लोका उखा पशवः पशुशीर्षाण्येषु तल्लोकेषु पशून् दधाति तस्मादिम एषु लोकेषु पशवः' (श० ७।५।२।१) इति पशुशीर्षाणामुपधानं विधाय प्रशस्य तेषां पशवयवत्वेन पशुत्वेन पशूनामेवोपधानमुक्त्वा तेषामुपधानस्य स्थानविशेष उक्तः—तान्युखायामिति। तस्या लोकात्मकत्वेन लोकेषु पशूनुपहितवान् भवति। पुनश्च—'योनिर्वा उखा पशवः पशुशीर्षाणि योनौ तत्पशून् प्रतिष्ठापयति तस्मादद्यमानाः पच्यमानाः पशवो न क्षीयन्ते' (श० ७।५।२।२)। उपभोगाद् वयःपरिपाकाच्च विनाशे सत्यपि योनौ प्रतिष्ठितत्वाद् नोच्छिद्यन्ते, किन्तु पुनरुत्पद्यन्ते इत्यर्थः। 'या वै ताः श्रिय एतानि तानि पशुशीर्षाण्यथ यानि तानि कुसिन्धान्येतास्ताः पञ्च चितयः' (श० ७।५।२।३)। अत एतेषामुपधाने श्रियामेवोपधानं कृतवान् भवति। 'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयतान्नꣳ सृजेय प्रजायेयेति स प्राणेभ्य एवाधि पशून्निरमिमीत मनसः पुरुषं चक्षुषोऽश्वं प्राणाद् गाꣳ श्रोत्रादविं वाचोऽजं तद्यदेनान् प्राणेभ्योऽधि निरमिमीत तस्मादाहुः प्राणाः पशव इति' (श० ७।५।२।६) इति पशूनामुत्पत्तिमुक्त्वा—'अथैषु हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति। प्राणा वै हिरण्यमथवा एतेभ्यः पशुभ्यः संज्ञप्यमानेभ्य एव प्राणा उत्क्रामन्ति तद्यद्धिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति प्राणानेवैष्वेतद्दधाति' (श० ७।५।२।८)। 'सप्त प्रत्यस्यति। सप्त वै शीर्षन् प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ७।५।२।९) इति कण्डिकासु पशुशीर्षाणामुपधानं तस्य स्थानविशेषमुपधाने प्रकारभेदं तदुत्पत्त्यादिकं च प्रदर्श्य अनन्तरमुपधानार्थं त्रयोदश्यां कण्डिकायां पुरुषशिरस उद्ग्रहणं विधत्ते—अथेति। विहिते उद्ग्रहणे मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—सहस्रदा इति। सर्वं वेति। यतः सहस्रं सर्वम्, तस्मिन्नेव शतादीनामन्तर्भावात्। तस्मात् सर्वस्मै त्वामुद्गृह्णामीत्येतदुक्तं भवतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अयं जीवोऽग्निरिव ज्योतिषा परमात्मज्योतिषा ज्योतिष्मान् भवति। रुक्मो रोचमानस्तदीयेन वर्चसा वर्चस्वान् कान्तिमानस्तु। हे परमेश्वर, त्वं सहस्रदा सर्वदातासि, तस्मात् सर्वस्मै सर्वप्राप्तये त्वामुच्चैर्महातात्पर्येण गृह्णामि मनसा धारयामि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वं ज्योतिषा दीप्त्या ज्योतिष्मान् रुक्मः सुवर्ण इव वर्चसा विद्यादीप्त्या वर्चस्वान् विद्याविज्ञानवानसि सहस्रदा असि सहस्राय अतुलविज्ञानाय तं त्वां वयं सत्कुर्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्याणां सीमितशक्तिमत्त्वेनासंख्यसुखदातृत्वासम्भवात्। न चाग्नेरिव ज्योतिष्मत्त्वं वर्चस्वत्वं वा सम्भवति, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च। सिद्धान्ते तु शातपथी श्रुतिरेव मूलम्॥ ४०॥

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् ।
परिवृङ्ग्धि हरसा माऽभिमंᳫंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—चयन कार्य में लगे हुए हे पुरुष ! देवताओं की उत्पत्ति के स्थान, सहस्रों मूर्तियों वाले चिति नामक आदित्याग्नि को दूध से सिंचित करो और सम्पूर्ण वीर्य को हरने वाले अग्नि के तेज से यजमान को अलग करो। यजमान को मत मारो और चयन कर्म में लगे हुए यजमान को शतायु बनाओ ॥ ४१ ॥

'अश्वाव्योरुत्तरतः पूर्वापरे, गोऽजयोश्च दक्षिणतः, आदित्यं गर्भमिति प्रतिमन्त्रं मन्त्रक्रमेण' (का० श्रौ० १७।५।१५-१७)। उखायामेवोत्तरे भागेऽश्वाव्योः शिरसी निदध्यात्। तत्र ईशानकोणेऽश्वस्य, वायव्यकोणेऽवेर्निदध्यात्, उखायामेव दक्षिणभागे आग्नेयकोणे गोर्नैर्ऋत्यकोणेऽजस्य शिरसी निदध्यात्. पुरुषादीनां शिरांसि प्रतिमन्त्रमेकैकं शिर उपदध्यादिति सूत्रत्रयार्थः। अश्वादीनां मध्ये हिरण्यपुरुषमुपदध्यात्। तस्योत्तरतः प्राचीनदेशेऽश्वस्य पश्चिमेऽवेर्दक्षिणतो गोः पश्चिमोत्तरतोऽजस्य शिरः स्थापयेत्। पुरुषादीनामेकैकस्य स्थापनम्। पञ्च ऋचोऽग्निदेवत्यास्त्रिष्टुभः। आदौ पुरुषशिरो मध्ये उपदध्यात्। हे पुरुषशिरः, त्वमादित्यं चित्याग्निं पयसा समङ्ग्धि संरचय समञ्जयसि। अञ्जेर्लोटि मध्यमैकवचने रूपम्। पयसि स्थाप्य इत्येवमुच्यते। आदत्ते पशूनित्यादित्यः, आदित्यवद् ईष्टे वा सर्वपशूनामित्यादित्यः, चित्योऽग्निः। कथंभूतमादित्यम्? गर्भम्, गृह्णाति पशूनिति गर्भः, पचाद्यच्। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१।८४ वा० १) इति रूपसिद्धिः। पुनः कथंभूतम्? सहस्रस्य प्रतिमां बहुधनस्य प्रतिमाभूतम्, बहुधनप्रदमित्यर्थः। पुनः कथंभूतम्? विश्वरूपम्, विश्वानि रूपाणि यस्मादसौ विश्वरूपः सर्वरूपप्रकाशकस्तम्। किञ्च, हरसा हरति सर्ववीर्यमिति हरः, तेन हरसा। असुन् प्रत्ययः। सर्वाभिभावकेनाग्नितेजसा यजमानं परिवृङ्ग्धि परिवर्जय। 'वृजो वर्जने' रुधादिः। लोटि रूपम्। माभिमंस्थाः मा हिंसीः, यजमानमिति शेषः। अभिपूर्वो मन्यतिर्हिंसार्थः। किञ्च, चीयमान उपधीयमानः सन् यजमानं शतायुषं कृणुहि कुरु। अथवा—हे अग्ने, आदित्यवत् त्वं स्तूयसे। सर्वाणि हि रूपाण्यादित्यस्य। अथवा—हे अग्ने, चीयमानः सन् आदित्यम् अदितिर्देवमाता, तस्याः सम्बन्धि तत्कार्यरूपं गर्भसदृशमिमं पुरुषं पयसा क्षीरेण समङ्ग्धि सम्यगार्द्रीकुरु। कीदृशं तम्? सहस्रस्य प्रतिमां बहुधनस्य प्रतिमानभूतम्। विश्वरूपं परिवृङ्ग्धि परित्यज यजमानम्। हरसा त्वदीयज्वालारूपेण तेजसा माभिमंस्थाः मा हिंसीः।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथैनानुपदधाति। पुरुषं प्रथमं पुरुषं तद्वीर्येणात्यादधाति मध्ये पुरुषमभित पशून् पुरुषं तत्पशूनां मध्यतोऽत्तारं दधाति तस्मात् पुरुष एव पशूनां मध्यतोऽत्ता' (श० ७।५।२।१४)। पशूनामुपधानमनूद्य तत्र पुरुषस्य प्राथम्यं विधत्ते—अथेति। उपधाने पुरुषस्य प्राथम्याद् वीर्येण पुरुषमतिशयितं करोतीत्याह—पुरुषं तदिति। उखायामुपधानस्य विहितत्वात् तस्यां मध्ये पुरुषोपधानम्, तत्पार्श्वयोरितरपशूनामुपधानं कुर्यादित्यर्थः। विहितस्य सन्निवेशस्य प्रयोजनमाह—पुरुषं तदिति। तत् तेन सन्निवेशेनोपधाने पशूनां मध्ये पुरुषमत्तारं भोक्तारं करोति, भोक्तुः पार्श्वे भोगस्यावस्थानात्। तस्मात् साम्प्रतमपि पशूनां मध्ये पुरुष एव भोक्ता भवति, सामान्येन 'अभित इतरान् पशून्' इति विधानात्। 'अश्वं चाविं चोत्तरतः। एतस्यां दिश्येतौ पशू दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशू भूयिष्ठौ' (श० ७।५।२।१५)। 'गां चाजं च दक्षिणतः। एतस्यां तद्दिश्येतौ पशू दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशू भूयिष्ठौ' (७।५।२।१६)। 'पयसि पुरुषमुपदधाति। पशवो वै पयो यजमानं तत्पशुषु प्रतिष्ठापयत्यादित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धीत्यादित्यो वा एष गर्भो यत्पुरुषस्तं पयसा समङ्ग्धीत्येतत्सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपमिति पुरुषो वै सहस्रस्य पुरुषस्य ह्येव सहस्रं भवति परिवृङ्ग्धि हरसा

माभिमᳪं स्था इति पर्येनं वृङ्ग्ध्यर्चिषा मैनᳪं हिᳪं सीरित्येतच्छतायुषं कृणुहि चीयमान इति पुरुषं तत् पशूनाᳪं शतायुं करोति तस्मात् पुरुष एव पशूनाᳪं शतायुः' (श० ७।५।२।१७) । कस्य कुत्रोपधानमिति विशेषजिज्ञासायामाह—अश्वं चावि चेत्यादि । मध्ये पुरुषमिति पुरुषोपधानस्य मध्यस्थानं विहितम्, तत्रैव विशेषं विधत्ते—पयसीति । उखामध्ये पयःपूरिते पुरुषमुपदध्यात् । एवं च सति यजमानस्य पुरुषत्वात् पयसः पशुकार्यत्वेन पशुत्वात् तत्र यजमानं प्रतिष्ठापयति । विहिते उपधाने मन्त्रं विदधानः पादशो विभज्य व्याचष्टे—आदित्यं गर्भमिति । पुरुष इति यदेष आदित्यो गर्भः खलु । अदितेः सकाशाद् विवस्वदाख्य आदित्योऽजायत । तथा च श्रूयते—'ततो विवस्वानादित्योऽजायत' (तै० सं० ६।५।६) इति । विवस्वत्सम्बन्धिनश्च सर्वे पुरुषा इति पुरुषस्याप्यादित्यगर्भत्वम् । तथा सति पुरुषमेव पयसा समङ्ग्धीत्येनदुक्तं भवति । द्वितीयपादेऽपि सहस्रस्य प्रतिमामित्यनेन पुरुष एव विवक्षित इति दर्शयति—सहस्रस्येति । यतः पुरुषस्यैव पशूनां सहस्रं भवति, अतोऽयं सहस्रस्य सदृशः । तृतीयपादे हरःशब्देनार्चिरुच्यते, माभिमंस्था इत्यनेन अहिंसनमिति दर्शयति—परिवृङ्ग्धीति । चतुर्थपादे शतायुषं कृणुहीत्युच्चारणेन पुरुषस्य शतायुष्ट्वं सम्पादयतीत्याह—शतायुषमिति । तथा चायं मन्त्रार्थः—हे अग्ने, चीयमानस्त्वं पूर्वोक्तप्रकारेण आदित्यगर्भरूपं सहस्रस्य सदृशम्, अत एव विश्वरूपं पयसा आर्द्रीकुरु । किञ्च, एनं परितो वर्जय अर्चिषा का हिंसीः, शतायुषं च कृणुहि ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं चीयमानः स्तुतिभिः परिवर्धमान आदित्यम् आदित्यवत् क्षेत्रप्रकाशकम्, गर्भं प्रकृतिगर्भतुल्यं जीवात्मानं पयसा समङ्ग्धि सम्यक् शोधय, भक्तिजलेनेति शेषः । कीदृशम् ? सहस्रस्य असंख्यस्य प्रतिमानं प्रतिमानभूतमसंख्यधनप्रदम्, विश्वरूपं कर्मवैचित्र्येण देवमनुष्यतिर्यगादिबहुरूपधरम् । हरसा संसारानलज्वालया परिवृङ्ग्धि परिवर्जय, रक्षेत्यर्थः । माभिमंस्थाः मा हिंसीः । शतायुषं कृणुहि यथायं श्रवणमननिदिध्यासनैस्त्वां साक्षात्करोतु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं यथा विद्युत्पयसा जलेनेव सहस्रस्य असंख्यपदार्थसमूहस्य प्रतिमां प्रतीयन्ते सर्वे पदार्था यया तां विश्वरूपं सर्वरूपवत्पदार्थदर्शकं गर्भं स्तुतिविषयमादित्यं सूर्यं धरति, तथान्तःकरणं संशोधय । हरसा ज्वलितेन तेजसा रोगान् परिवृङ्ग्धि सर्वतो वर्जय । चीयमानः सन् शतायुषं तनयं कृणुहि । कदाचिन्माऽभिमंस्थाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात्, असङ्गतेश्च । प्रतिमामित्यस्य सूर्यार्थत्वे कथं स्त्रीलिङ्गता ? सूर्यवन्निश्चयकारिणी बुद्धिरिति कथमर्थः ? ॥ ४१ ॥

वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानᳪं सरिरस्य मध्ये ।
शिशुं नदीनाᳪं हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिᳪंसीः परमे व्योमन् ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, वायु के समान वेग वाले आप वरुण देवता के नाभिस्वरूप जल के मध्य में उत्पन्न, नदियों के बालक, हरित वर्ण, इस लोक में स्थित होने वाले और खुर से पर्वत को खोदने वाले इस घोड़े को मत मारिये ॥ ४२ ॥

वातस्य जूतिमिति मन्त्रेण अश्वशिर ईशाने उपदध्यात् । हे अग्ने, अश्वं मा हिंसीः, ज्वालया मा दहेत्यर्थः । विविधम् ओम रक्षणं परममुत्कृष्टं यद् व्योम सन्ततिसहस्रम् अश्वस्य रोगास्तेभ्यस्तेभ्यः पालनमित्यर्थः । तत्र परममुत्कृष्टं रक्षितस्याश्वस्य पुनरुपद्रवः कदाचिदपि न जायते तथा करणं रक्षणस्य परमत्वम् । तादृशे परमे व्योमन् एतमश्वं स्थापयेत्यर्थः । कीदृशमश्वम्? वातस्य जूतिम् । जूतिर्गतिः प्रेमपात्रं वा । वायोर्गतिस्वरूपवत् शीघ्रगतिमित्यर्थः । वायोः प्रेमपात्रं वा । वरुणस्य अपामधिपतेः, नाभिमिवान्तरम् । यथा नरेण

स्वनाभिर्वस्त्रावरणादिना पाल्यते, तद्वद् वरुणेन अतिप्रियत्वात् पाल्यम्, तमभिप्रेत्य 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' (तै० सं० २।३।१२।१) इति तैत्तिरीये आम्नातत्वात्। सरिरस्य सलिलस्य मध्ये जज्ञानं समुद्रजलमध्ये वडवारूपेणोत्पन्नम्, 'अप्सु योनिर्वा अश्वः' (तै० सं० ५।३।१२।४) इति श्रुत्यन्तराद् वडवारूपेणोत्पन्नमित्यर्थः। नदीनां शिशुं पुत्रम्। यथा नदीनां पतिः समुद्र उक्तन्यायेन अश्वस्य पितापि समुद्रः। तदा नदीनाम् अश्वमातृत्वात् तच्छिशुरप्यश्वः। पुनः कथंभूतमश्वम्? हरिम् उपर्यारूढस्य पुरुषस्य हर्तारं नेतारम्। अद्रिबुध्नम् अद्रिबुद्धम्। नकारोपजनश्छान्दसः। मध्येमार्गं खुरैश्चूर्णीकृता येऽद्रिप्रभवाः पाषाणास्तैर्बुद्धम्। तादृशान् पाषाणान् दृष्ट्वा मार्गेऽस्मिन्नश्वो गत इति बोद्धुं शक्यते। यद्वा—अद्रिः गिरिः, बुध्नं मूलं कारणं यासां ता अद्रिबुध्ना आपः, तज्जातमद्रिबुध्नम्। अथवा—अद्रिः पर्वतः, तस्य बुध्नमादिः, तत्र भवा आपोऽप्यद्रिबुध्नाः, अद्भ्यो जातोऽश्वोऽप्यपत्यप्रत्ययलोपेनाद्रिबुध्नशब्देनोच्यते। परमे व्योमन्निषीदन्तमिति शेषः। 'इमे वै लोकाः परमं व्योम' (श० ७।५।२।१८) इत्यधिलोकं व्याख्यानमित्युव्वटाचार्यः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरतोऽश्वम्। वातस्य जूतिमिति वातस्य वा एष जूतिर्यदश्वो वरुणस्य नाभिमिति वारुणो ह्यश्वोऽश्वं जज्ञानꣳ सरिरस्य मध्य इत्यापो वै सरिरमप्सुजा उ वा अश्वः शिशुं नदीनाꣳ हरिमद्रिबुध्नमिति गिरिर्वा अद्रिर्गिरिबुध्ना उ वा आपोऽग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमैषु लोकेष्वेनं मा हिꣳसीरित्येतत्' (श० ७।५।२।१८)। उत्तरतोऽश्वस्य उपधानमनूद्य मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे—अथेति। अश्व इति यदेष वातस्य जूतिः खलु। जूतिशब्देन वेग उच्यते। तद्रूपत्वादश्वोऽपि तच्छब्देन वायुवेग इत्यर्थः। अपामधिपतेर्वरुणस्य सम्बन्धित्वादश्वो वरुणस्य नाभिः। अद्रिबुध्नमिति। अद्रिरिति गिरिरुच्यते। आपो गिरिरूपाः खलु, तत्रोत्पद्यमानत्वात्। तथाविधजलसमुद्भूतत्वादश्वोऽपि गिरिबुध्न इत्यर्थः। इमे वै लोकाः परमं व्योमेत्यनेन मन्त्रगतं व्योमपदमितरलोकयोरप्युपलक्षणमिति दर्शितम्। तथा च हे अग्ने, वायुवेगविशिष्टं वरुणस्य नाभिस्थानीयं सलिलमध्ये उत्पन्नमत एव नदीनां शिशुमद्रिबुध्नं गिरिमूलोत्पत्तिस्थानं हरिमारोढुर्हर्तारमश्वं परमे व्योमन् उत्कृष्टेषु पृथिव्यादिषु लोकेषु मा हिंसीरिति मन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, पूर्वोक्तविशेषणमश्वं तद्रूपं प्रजापतिं विराजं मा हिंसीः। अश्वमेधीयस्याश्वस्य प्रजापतिरूपत्वं बृहदारण्यके प्रतिपादितम्—'उषा वा मेध्यस्याश्वस्य शिरः' (बृ० उ० १।१।१) इत्यादिना। अथवा श्रीरामकार्यार्थं समुद्रमुल्लङ्घ्य गच्छतो हनूमतः कुशलं कामयमाना देवा आहुः—हे अग्ने परमेश्वर वा, वातस्य जूतिं वायुवेगं वायोः प्रीतिजनकं वा, वरुणस्य अपांपतेर्नाभिमिव पालनीयं सलिलस्य मध्ये जज्ञानं प्रादुर्भूतमिव श्रीरामलक्ष्मणयोरश्वमिव वाहकं नदीनां शिशुमिव हरिं वानरमद्रिबुध्नमद्रीणां पर्वतानां बुध्नं मूलमिव महास्वर्णशैलाभदेहत्वात् परमे व्योमन् महाकाशे सीतादर्शनार्थं समुत्पतन्तं मा हिंसीः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने तेजस्विन् विद्वन्, त्वं परमे व्योमन् प्रकृष्टे व्योमनि व्याप्ते आकाशे वातस्य वायोर्मध्ये जूतिं वेगमश्वमश्ववद् व्याप्तुं शीलं सरिरस्य सलिलस्य वरुणस्य जलसमूहस्य नाभिं बन्धनं नदीनां जज्ञानं प्रादुर्भूतं शिशुं बालमिव वर्तमानं हरिं हरमाणमद्रिबुध्नं मेघाकाशं मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मेघाकाशे पूर्वोक्तविशेषणानुपपत्तेः। न च मनुष्या मेघान् नाशयितुं शक्नोति। मेघाकाशस्य सूक्ष्ममेघस्य वा कथमद्रिबुध्नशब्दवाच्यत्वमिति तु नोक्तम्। अश्वत्वं च तत्र कथम्? निरर्थकमन्यच्च गौणार्थाश्रयणम् ॥ ४२ ॥

अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः।

स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिꣳसीरदितिं विराजम् ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—क्षयरहित, ऐश्वर्य से युक्त, रोषरहित, पूर्व महर्षियों के द्वारा अर्जित, चयन के योग्य, अन्न से सबका पोषण करने वाले अग्निदेव की मैं स्तुति करता हूँ। वह अग्नि अमावास्या आदि पर्वों पर प्रत्येक ऋतु में कर्मों को सम्पादित करता हुआ, अखण्ड और अदीन हो दही, दूध आदि देने वाली गायों को कोई हानि न पहुँचावे ॥ ४३ ॥

गामाग्नेय्यामुपदधात्यजस्रमित्यादिना मन्त्रेण। अहमग्निमीडे स्तौमि। ईड स्तुतौ। कीदृशमग्निम्? अजस्रमनुपक्षीणम्। पुनः कीदृशम्? इन्दुम् इन्दतीति इन्दु, तम्। निरन्तरं परमैश्वर्योपेतम्। अथवा उनत्ति क्लेदयति जनमनांसीति इन्दुः। 'उन्देरिच्चादेः' (उ० १।१२) इत्युप्रत्ययः, आदिवर्णस्य इकारादेशश्च। पुनः कथंभूतम्? अरुषं रोषरहितम्। यद्वा—अरुर्मर्म। मर्मस्थानीयं रहस्यमिति यावत्, आराध्यमित्यर्थः। पुनः कथंभूतम्? नमोभिरन्नैर्भुरण्युं सर्वेषां पोष्टारम्। यथा यजमानमर्माणि वैरिणो नोद्घाटयन्ति तथा कुर्वन्तम्। पुनः कथंभूतम्? पूर्वचित्तिं पूर्वैर्महर्षिभिः चित्तिं चेतव्यम्। योऽग्निरादित्यरूपेण स्थित्वा पर्वभिरमावास्यादिभिस्तिथिभिर्ऋतुश ऋतौ ऋतौ कल्पमानः कर्माणि सम्पादयन् वर्तते स तादृशः। हे अग्ने, उपधीयमानां गां मा हिंसीः। कीदृशीं गाम्? अदितिमखण्डनीयाम्, अदीनां वा। पुनः कीदृशीम्? विराजं विविधं राजमानाम्, विशेषेण राजमानां वा। दुग्धदानादिना गौर्विराट्। गोश्च दशवीर्याणि 'तस्यै शृतं तस्यै शरः' (श० ३।३।३।२) इति श्रुतौ समाम्नातानि। यद्वा—यस्य तव संस्कारार्थम् अजस्रम् अनुपक्षीणम् इन्दुं सोमं चन्द्रमसमरुषमरोचनं भुरण्युं भेत्तारं वाहदोहादिभिरग्निमाग्नेयम्, तद्धितलोपः, ईडे याचामि उपधानाय। पूर्वचित्तिं प्राक् चयनम्, 'प्राञ्चमग्निमुद्धरन्ति' (श० ७।५।२।१९) इत्यग्न्यध्यासेन गोस्तुतिः। नमोभिरन्नैरभ्युद्यतैः। स त्वमेताभिः पर्वेष्टकाभिः पर्वभिः पश्वष्टकाभिर्ऋतौ ऋतौ कल्पमानो गां मा हिंसीरित्युव्वटाचार्यः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणतो गाम्। अजस्रमिन्दुमरुषमिति सोमो वा इन्दुः स हैष सोमोऽजस्रो यद् गौर्भुरण्युमिति भर्तारमित्येतदग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिरित्याग्नेयो वै गौः पूर्वचित्तिमिति प्राञ्चꣳ ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्ति स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमान इति यद्वा एष चीयते तदेष पर्वभिर्ऋतुशः कल्पते गां मा हिꣳसीरदितिं विराजमिति विराड् वै गौरन्नं वै विराडन्नमु गौः' (श० ७।५।२।१९)। दक्षिणदेशे गोरुपधानमनूद्य स्तुतिवन्मन्त्रं विधत्ते—अथेति। सोमो वा इन्दुरिति। यतः स एषोऽजस्रः सोमो हि, सर्वदा पयोलक्षणस्य अमृतस्य स्यन्दनाद्। इन्दोस्तु कदाचिदुपक्षयोऽपि विद्यत इत्यभिप्रायेणाजस्रमित्युक्तम्। भुरण्युमिति दोहनादिभिर्भर्तारमित्येतदुक्तं भवति, गोजातीयस्य धृतत्वात्। अथवा गौः पुङ्गवोऽजस्रः सोमः, कृषिसाधनत्वेन सर्वदाह्लादकत्वाद् भर्तृत्वाच्च भुरण्युमिति। अग्निमीड इति यतो गौराग्नेयः, अतोऽसावग्निः। यतोऽग्निं प्राञ्चमुद्धरन्ति प्राञ्चमेव होमादिनोपचरन्ति, अतोऽग्निः पूर्वचित्तिः पूर्वस्मिन् प्रदेशे चित्तिरनुष्ठेयस्य प्रतीतिर्यस्य स तथोक्तः। यद्वा इति। एषोऽग्निश्चीयत इति यत् तेन एष पर्वभिरिष्टकाचितिलक्षणैर्ऋतुशस्तेन तेन ऋतुना कल्पते सम्पद्यते, चितिलक्षणानां पर्वणामृतुरूपत्वादित्यर्थः। विराड् वा इति। अन्नसाधनत्वाद् विराजोऽन्नत्वम्। गोरपि तथैवान्नत्वमिति विराड् गौरेवेत्यर्थः। सर्वदाह्लादकत्वेनाजस्रमिन्दुमरुषमारोचमानं कृष्यादिसाधनत्वेन भर्तारं पूर्वचित्तिं पूर्वत्रानुष्ठेयप्रतीतिविशिष्टमग्निं तदीयत्वेन तदात्मकं गामत्रोपधानाय नमोभिर्नमस्कारैर्युक्तोऽहमीडे। हे अग्ने, पर्वभिश्चितिलक्षणैर्ऋतुशः कल्पमानस्तथाविधस्त्वमदितिमखण्डनीयं विराजमन्नसाधनं गां मा हिंसीः।

अध्यात्मपक्षे—अहमग्निं परमात्मानमीडे स्तौमि। कीदृशमग्निम्? अजस्रम् अनुपक्षीणम्, इन्दुं परमैश्वर्योपेतम्, इन्दुवदाह्लादकं वा। अरुषं रोषरहितम्, सदा प्रसन्नमित्यर्थः। यद्वा मर्मस्थानीयं रहस्यं वा।

पूर्वचित्तिं पूर्वैर्महर्षिभिश्चिन्तनीयं ध्येयम्। नमोभिरन्नैर्भुरण्युं विश्वस्य भर्तारं सर्वेषां पोष्टारम्। हे अग्ने, एवं स्तूयमानः सन् गां वेदलक्षणां भूमिरूपां धेनुरूपां वा मा हिंसीः। कीदृशीं गाम्? अदितिमखण्डनीयां विराजं शृतशरादिदानैर्विशेषेण राजमानाम्। कीदृशस्त्वम्? पर्वभिर्दर्शपूर्णमासचातुर्मास्यादिभिः कर्मकलापैर्हेतुभिः कल्पमानं विश्वं सम्पादयामः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथाहं पर्वभिः पूर्णैः साधनाङ्गैर्नमोभिरन्नैः सह वर्तमानमिन्दुं जलम् (निघ० १।१२), अरुषमश्वम् (निघ० १।१४), भुरण्युं पोषकम्, भुरण्धातोर्युच्प्रत्ययः, पूर्वचित्तिं पूर्वा चित्तिश्चयनं यस्य तमग्निं विद्युतमजस्रं निरन्तरमीडे। ऋतशो बहून् ऋतून् कल्पमानः समर्थः सन्नदितिमखण्डितां विराजं पृथिवीं न नाशयामि, तथैव त्वमेतमेनां च मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदस्य मुख्यार्थमुल्लङ्घ्य विद्युदर्थत्वे मानाभावात्। पर्वभिरित्यस्य पूर्णसाधनैरिति व्याख्यापि निर्मूलैव। नमःपदस्यान्नार्थत्वेऽपि न तस्य विद्युतोऽन्वेषण उपयोगः, भोजनोपयोगित्वेऽपि तां प्रत्यन्यथासिद्धत्वात्, विद्युतोऽबिन्धनत्वेऽपि जलरूपत्वानुपपत्तेः। अश्वत्वमपि तस्यामनुपपन्नमेव। ईडे इत्यस्यान्वेषणार्थत्वमपि न युक्तम्, धात्वर्थविरोधात्। पृथिव्या नाशोऽपि नोपपन्नः। यथाहं न नाशयामि तथा त्वमपि मा हिंसीरित्यपि निर्मूलमेव ॥ ४३ ॥

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाᳫं रजसः परस्मात्।
महीᳫं साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिᳫंसीः परमे व्योमन् ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, उत्कृष्ट रणस्थान में स्थापित रूपों का निर्माण करने वाले, वरुण की नाभि के समान रक्षणीय, विराड्रूप लोक से जायमान, विशालकाय, सहस्र मूल्य के योग्य, सहस्रों उपकार करने वाले प्राणियों को प्रज्ञा देनेवाली अवि को आप नष्ट मत करो ॥ ४४ ॥

वायव्येऽविमुपदधाति। हे अग्ने, परमे व्योमन् उत्कृष्टे विविधरक्षणस्थाने स्थितामविं मा हिंसीः मा वधीः। कीदृशीमविम्? त्वष्टुः रूपाणां निर्मातुर्देवस्य अनुग्रहात् वरूत्रीम्, वृणोति कम्बलादिना आच्छादयति लोकानिति वरूत्री ताम्। पुनः कीदृशीम्? वरुणस्य नाभिम्, अनिष्टनिवारकस्याग्नेर्नाभिस्थानीयां नाभिवद् रक्षणीयाम्। पुनः कीदृशीम्? परस्माद् उत्कृष्टात् प्राजापत्यरजसो जज्ञानां जायमानाम्। तथा च तैत्तिरीये 'उरसो बाहुभ्याम्' (तै० सं० ७।१।१।४) इत्यादिवाक्ये 'अविः पशूनाम्' (तै० सं० ७।१।१।५) इति श्रुतम्। महीं महतीं साहस्रीं सहस्रमूल्यार्हाम्, सहस्रोपकारक्षमां वा। असुरस्य मायां स्वर्भानोरसुरस्य सम्बन्धित्वेन निर्मिताम्। 'स्वर्भानुर्वा आसुरः' (ता० ब्रा० ६।६।८) इत्यादिवाक्ये 'सा कृष्णाविरभवत्' इति श्रुतम्। यद्वा—वरूत्रीं वरान् वृणोतीति वरूत्री, 'वारुणी च हि त्वाष्ट्री चाविः' (श० ७।५।२।२०) इति श्रुतेः। यजमानानां परस्माद्रजसो जज्ञानामुत्पन्नाम्। 'श्रोत्रं वै परᳫं रजो दिशो वै श्रोत्रं दिशः परᳫं रजः' (श० ७।५।५।२०) इति श्रुतेः। असुरस्य मायाम् असवः प्राणा विद्यन्ते यस्यासावसुरः, मत्वर्थीयश्छान्दसो रः, तस्य प्राणवतो वरुणस्य मायां प्रज्ञाम्। मीयते ज्ञायतेऽनयेति माया प्रज्ञा ताम्। प्राणिनां प्रज्ञाप्रदामित्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरतोऽविम्। वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमिति वारुणी च हि त्वाष्ट्री चाविरविं जज्ञानाᳫं रजसः परस्मादिति श्रोत्रं वै परᳫं रजो दिशो वै श्रोत्रं दिशः परᳫं रजो महीᳫं साहस्रीमसुरस्य मायामिति महतीᳫं साहस्रीमसुरस्य मायामित्येतदग्ने मा हिᳫंसीः परमे व्योमन्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमेषु लोकेष्वेनं मा हिᳫंसीरित्येतत्' (श० ७।५।२।२०)। अथोत्तरप्रदेशेऽवेरुपधानमनूद्य मन्त्रं

विधत्ते—अथैति । वारुणी च हीति । यतो वरुणस्याऽनिष्टनिवारस्याग्नेर्नाभिस्थानीया, रूपाणां निर्माता यस्त्वष्टा तस्यानुग्रहणीयरूपयुक्ता, अतोऽविस्त्वष्टुर्वरुत्री वरुणस्य नाभिश्च । श्रोत्रं वा इति । श्रोत्रं खलु परं रज उत्कृष्टो लोकः । तदेवोपपादयति—दिशो वा इति । श्रोत्रं च दिशः खलु, तस्य तत्कार्यत्वात् । 'दिशः परं रजः' दिग्भ्यश्चावय उत्पद्यन्ते, दिशां सर्वोत्पत्तौ निमित्तकारणत्वात् । महीं साहस्रीमित्यत्र महीपदस्य महतीत्यर्थं इति दर्शितम्—महतीमिति । तथा च ब्राह्मणानुसारेणायमर्थः—हे अग्ने, त्वष्टुर्वरणीयरूपयुक्तां वरुणस्य नाभिस्थानीयां परस्माद्रजसो दिग्भ्यो जातां महतीं सहस्रमूल्यार्हाम् असुरस्य मायां स्वर्भानोरसुरस्य सम्बन्धित्वेन निर्मिताम् अविं पृथिव्यादिष्वेषु लोकेषु मा हिंसीरिति । अस्मिन्नर्थे तैत्तिरीयश्रुतिः पुरस्तादुद्धृता ॥ ४४ ॥

यो अ॒ग्निर॒ग्नेरध्यजा॑यत॒ शोका॑त् पृथि॒व्या उ॒त वा॑ दि॒वस्परि॑ ।

येन॑ प्र॒जा वि॒श्वक॑र्मा ज॒जान॒ तम॑ग्ने॒ हेडः॒ परि॑ ते वृणक्तु ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—अग्निरूप अज प्रजापति के शोक से उत्पन्न हुआ है, द्युलोक के और पृथ्वी के शोकरूप अग्नि से उत्पन्न हुआ है । प्रजापति ने जिस अज, अर्थात् वाग् रूप से प्रजा को उत्पन्न किया है, हे चितिनामक अग्निदेव ! आपका क्रोध उस अज को कोई हानि न पहुँचावे ॥ ४५ ॥

अस्याः कण्डिकाया व्याख्यानमुपरिष्टाद्विधास्यते । ब्राह्मणव्याख्येनैवेयं व्याख्याता । अतोऽत्र ब्राह्मणमुद्ध्रियते—'अथ दक्षिणतोऽजम् । यो अग्निरग्नेरध्यजायतेत्यग्निर्वा एषोऽग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या उत वा दिवस्परीति यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तद्दिवश्च पृथिव्यै च शोकादजायत येन प्रजा विश्वकर्मा जजानेति वाग्वा अजो वाचो वै प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्त्विति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।५।२।२१) । दक्षिणदेशेऽजस्योपधानमनूद्य मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे—अथेति । अग्निर्वा इति । एषोऽग्निरजः, अग्नेः प्रजापतेरध्यजायत । अग्नेः सकाशादुत्पन्नत्वादजस्याग्नित्वम् । अग्नेः सकाशादुत्पत्तिरेव प्रदर्श्यते—शोकादिति । यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तद्दिवः पृथिव्याश्च शोकादजायत । प्रजापतेस्तदात्मकत्वादग्निपदेन प्रजापतिरेवोच्यते । येन अजेनेत्यर्थः । विश्वकर्मा प्रजापतिर्वाचः सकाशात् प्रजा जजान । अन्तर्भावितण्यर्थो जनिः, उत्पादितवानित्यर्थः । अजश्च वागात्मकः । ततश्च येन विश्वकर्मा प्रजा जजान । यथैव यजुस्तथा बन्धुरिति । मन्त्रो यथैव तथैव व्याख्याने स्पष्टार्थः । तथा चायमर्थः—हे अग्ने, उपधीयमानो योऽग्न्यात्मकोऽजोऽग्नेः प्रजापतेरध्यजायत । तत्कथम् ? यतः पृथिव्याः शोकात्, अपि च दिवः शोकादध्यजायत । किञ्च, येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमजं ते, 'हेडः कोपः' (निघ० २।१३।१) इति हेडशब्दः क्रोधनामसु, परिवृणक्तु परिवर्जयतु ।

उभयोः कण्डिकयोरध्यात्ममर्थः प्रदर्श्यते—हे अग्ने भगवन्, परमे व्योमन् परमोत्कृष्टे चिदाकाशब्रह्मणि स्थितां तद्विषयिणीं ब्रह्माकारां वृत्तिमविं संसारतापाद् रक्षित्रीं मा हिंसीः । त्वष्टुर्देवस्य सूर्यस्य अनुग्रहाद् वरूत्रीं ब्रह्मात्मतत्त्ववरयित्रीं वरुणस्य सर्वविघ्ननिवारकस्य गणपतेर्नाभिं नाभिवद्रक्षणीयां परस्माद् उत्कृष्टात् परमेश्वरस्य पादारविन्दरजसोऽनुग्रहाद् जज्ञानामुत्पन्नां महीं महतीं साहस्रीमनन्तमूल्यार्हामसुरस्य प्राणवतो जीवस्य मायां ब्रह्मात्मताज्ञापयित्रीं मा हिंसीः ।

योऽग्निर्ज्ञानाग्निरग्नेर्ब्रह्माग्नेः शोकात् शोकनाशकप्रकाशात्, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० वा० ७) इति मन्त्रवर्णात्, यश्च पृथिव्या उत वा दिवो द्युलोकस्य परि उपरि वर्तते, येन ज्ञानेन विश्वकर्मा परमेश्वरः प्रजा जजान उत्पादितवान्, तं ज्ञानाग्निं हे अग्ने, ते तव हेडः क्रोधो वृणक्तु वर्जयतु न नाशयत्विति यावत् ।

दयानन्दस्तु— हे अग्ने विद्वन्, यः पृथिव्याः शोकात् शोषकाद् उत वा दिवः सूर्यादग्नेर्विद्युताख्यादग्निश्चाक्षुषोऽध्यजायत, येन विश्वकर्मा विश्वानि कर्माणि यस्य सः, प्रजाः परिजजान परिजनयति, तं ते हेडोऽनादरः परिवृणक्त छिन्नो भवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नैरर्थक्यात्, अग्निना परमेश्वरो जगत् सृजतीत्यसिद्धेः। श्रुतौ हि—आकाशादिक्रमेणैव जगत्सृष्टिः समाम्नाता, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० उ० २।१) इति। शोकादित्यस्य शोषकादित्यर्थोऽपि निर्मूल एव। प्रसङ्गेऽस्मिन्नग्नेरग्न्युत्पत्तिवर्णनमपि निष्प्रयोजनम्। सिद्धान्ते तु तात्पर्यानुपपत्तितो लक्षणा वृत्तिराश्रीयते। अथवा पृथिव्याः शोकाद् अग्निदेवत्योऽजः पर्यजायतेति श्रुतिसम्मतं व्याख्यानम्। यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तद्दिवः पृथिव्याः शोकादजायतेति श्रुत्यैवोक्तम् ॥ ४५ ॥

चि॒त्रं दे॒वाना॒मुद॑गा॒दनी॑कं॒ चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः।
आप्रा॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरि॑क्षꣳ॒ सूर्य॑ आ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—यह कैसा आश्चर्य है कि देवताओं के जीवनाधार, ब्रह्मा, विष्णु और महेश का रूप धारण करने वाले, परमेश्वर के नेत्रों के समान प्रकाशमान, जंगम और स्थावर जगत् के अन्तर्यामी सूर्यदेव उदय को प्राप्त हो रहे हैं, भूलोक से द्युलोक पर्यन्त अन्तरिक्ष को अपने तेज से पूर्ण कर रहे हैं ॥ ४६ ॥

'चित्रं देवानामित्यर्धर्चशः स्रुवाहुती मध्यमे' (का० श्रौ० १७।५।१८)। अर्धर्चद्वयेन मध्यमे (अर्थात् पुरुषशिरसि) आहुतिद्वयं जुहुयादिति सूत्रार्थः। सप्तमेऽध्याये द्वाचत्वारिंश्यामियं व्याख्याता।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पुरुषशीर्षमभिजुहोति। आहुतिर्वै यज्ञः पुरुषं तत्पशूनां यज्ञियं करोति तस्मात्पुरुष एव पशूनां यजते' (७।५।२।२३)। उपधानानन्तरं पुरुषशिरसि होमं विधत्ते—अथेति। अभिहोमस्योपयोगमाह—आहुतिरिति। यदेषा खल्वाहुतिस्तदात्मको यज्ञः स्यात्। तथा सत्यभिहोमेन पशूनां मध्ये पुरुषं यज्ञियं यज्ञार्हं करोति, तस्मात् पुरुष एव पशूनां मध्ये यजते। 'यद्वेवैनदभिजुहोति। शीर्षंस्तद्वीर्यं दधात्याज्येन जुहोति वज्रो वा आज्यं वीर्यं वै वज्रो वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति स्रुवेण वृषा वै स्रुवो वीर्यं वै वृषा वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति स्वाहाकारेण वृषा वै स्वाहाकारो वीर्यं वै वृषा वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति त्रिष्टुभा वज्रो वै त्रिष्टुब् वीर्यं वै वज्रो वीर्यं त्रिष्टुब् वीर्येणैवास्मिन्नेतद्वीर्यं दधाति' (श० ७।५।२।२४)। न केवलमभिहोमस्य यज्ञियत्वमेव प्रयोजनमपि तु वीर्यत्वमपीत्याह—यद्वेवेति। एतत्पुरुषशीर्षमभिलक्ष्य जुहोतीति यत् तेन शीर्षन् शीर्ष्णि वीर्यं दधाति। 'शीर्षंश्छन्दसि' (पा० सू० ६।१।६०) इति शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशः। तत उत्तरस्याः सप्तम्याः 'सुपां सुलुक्....' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना लुक्। एतदेव वीर्यनिधानमभिहोमसाधनभूताज्यस्रुवादीनां मध्ये प्रत्येकसाध्यतया दर्शयति—आज्येनेत्यादिना। आज्यस्य वज्रत्वं तैत्तिरीयके श्रुतम्—'घृतं खलु देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्' (तै० सं० ६।२।२।४)। वज्रस्य प्रहरणरूपत्वाद् वीर्यत्वम्। वृषा वै स्रुव इति। वृषा पुरुषः। स्रुवस्य पुंल्लिङ्गत्वाद् वृषत्वम्। वृष्णश्च वीर्यत्वाद् वीर्याधानहेतुत्वमिति। स्वाहाकारस्याप्येवमेव वीर्यत्वम्। वज्रो वै त्रिष्टुबिति। त्रिष्टुभो रजोहननसाधनत्वसादृश्याद् वज्रता। तथा च वज्रस्य वीर्यरूपत्वात् त्रिष्टुभोऽपि वीर्यतया त्रिष्टुबात्मकत्वेन वीर्येणैव हेतुना अस्मिन् पुरुषशिरसि वीर्यं दधाति।

'स वा अर्धर्चमनुद्रुत्य स्वाहाकरोति। अस्थि वा ऋगिदं तच्छीर्षकपालं विहाप्य यदिदमन्तरतः शीर्ष्णो वीर्यं तदस्मिन् दधाति' (श० ७।५।२।२५)। 'चित्रं देवानामुदगात्' इत्यभिहोममन्त्रस्य पूर्वेण अर्धर्चेन एकाहुतिः क्रियते, उत्तरेणार्धर्चेन चान्या। तत्र पूर्वार्धर्चसाध्यामाहुतिं दर्शयति—स वा अर्धर्चमिति। स खलु अध्वर्युरर्धर्चमनुद्रुत्य स्वाहाकारेण एकामाहुतिं सम्पादयेदित्यर्थः। किमर्थमिति चेत्, तत्राह—अस्थि वा

ऋगिति। ऋचोऽस्थ्यात्मकत्वं पादबन्धेन दार्ढ्ययोगात्। ऋचो दार्ढ्यं तैत्तिरीयके समाम्नातम्—'यद्दचा तद् दृढम्' (तै० सं० ६।५।१०।४) इति। तथा च सति ऋचो विभागेन तदिदं पुरुषसम्बन्धि शीर्षकपालं विहाप्य विभिद्य, 'ओहाक् त्यागे' इति धातोः ण्यन्तस्य ल्यपि रूपम्, शीर्ष्णः शिरसोऽन्तरे यदिदमत्र विद्यमानं वीर्यं तदस्मिन्निदधाति, आज्यस्वाहाकारयोर्वीर्यात्मकत्वादित्यर्थः। 'अथोत्तरमर्धर्चमनुद्रुत्य स्वाहाकरोति। इदं तच्छीर्षकपालꣳ सन्धाय यदिदमुपरिष्टात् शीर्ष्णो वीर्यं तदस्मिन् दधाति' (श० ७।५।२।२६)। अथोत्तरार्धर्चस्योपयोगमाह—अथेति। पूर्वमन्तरे वीर्यनिधानार्थं कपालभेदनात् पुनस्तत्कपालं सन्धाय शिरसि उपरितनं वीर्यमत्र निहितवान् भवति। 'चित्रं देवानामुदगादनीकमिति। असौ वा आदित्य एष पुरुषस्तदेतच्चित्रं देवानामुदेत्यनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेरित्युभयेषाꣳ हैतद्देवमनुष्याणां चक्षुराप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षमित्युद्यन् वा एष इमाँल्लोकानापूरयति सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेत्येष ह्यस्य सर्वस्यात्मा यच्च जगद्यच्च तिष्ठति' (श० ७।५।२।२७)। मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे—चित्रं देवानामिति। एष उपधीयमानः पुरुषः, असौ परिदृश्यमान आदित्यः खलु, आदित्यस्य सर्वात्मकत्वात्। आदित्यमण्डलं च देवानां रश्मीनां चित्रमनीकं समुदायः। तथा सत्यस्य पुरुषस्योपधानेन तदेतच्चित्रं देवानामनीकमुदेति। अत उच्यते—चित्रं देवानामुदगादनीकमिति मन्त्रेणेत्यर्थः। चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेरिति। एवं मित्रादिदेवताग्रहणमन्येषामप्युपलक्षणम्। उभयान् प्रत्यस्य प्रकाशकत्वसाधारण्यादिति दर्शितम् उभयेषामिति। उभयेषां देवमनुष्याणां चक्षुरेतदुदेतीत्यर्थः। उद्यन् वेति। उदयमानः सन्नेष आदित्य इमान् पृथिव्यादीन् लोकान् आपूरयति प्राणैः समर्थयति चेष्टयतीत्यर्थः। एतच्च तैत्तिरीयके श्रूयते—'असौ य आपूर्यति स सर्वेषां भूतानां प्राणैरापूर्यति' (तै० आ० १।१४) इति। अत एवोक्तम्—'आ प्रा' इति। 'प्रा प्रपूरणे' इति धातोर्लङि रूपम्। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेत्यनेन स्थावरजङ्गमात्मकस्य सर्वस्य जगतोऽयं सूर्यश्चेष्टकत्वेनान्तर आत्मेति विवक्षितमित्याह—एष हीति। अन्यत्तु पूर्वत्र व्याख्यातमेव।

अध्यात्मपक्षे—देवानां द्योतनात्मकानामिन्द्रियाणामनीकं समष्टिरूपं हिरण्यगर्भाख्यं चित्रमद्भुतं सूर्यरूपेण उदगात्। तच्च मित्रस्य वरुणस्य उपकारकस्य अवरोधकस्य अग्नेश्च चक्षुः प्रकाशकम्। स च जगतस्तस्थुषश्च आत्मेव जीवनहेतुः। द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च आप्रा आपूरितवान्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, भवन्तो यद् ब्रह्म देवानां पृथिव्यादीनां मध्ये चित्रमद्भुतमनीकं सेनेव किरणसमूहं मित्रस्य प्राणस्य वरुणस्य उदानस्य अग्नेः प्रसिद्धस्य चक्षुर्दर्शकं सूर्य इव उदगात्, जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च आत्मा सर्वस्यान्तर्यामी सद् द्यावापृथिवी प्रकाशाप्रकाशे जगती अन्तरिक्षमाकाशं च आप्रा व्याप्नोति, तज्जगन्निर्मातृ, पातृ संहर्तृ व्यापकं सततमुपासीरन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्यस्येव प्राणोदानादीनां दर्शकस्य ब्रह्मणः प्रत्यक्षेणानुपलम्भात्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकायोगात्, ब्रह्मणोऽरूपत्वात् ॥ ४६ ॥

इ॒मं मा हि॑ꣳसीर्द्वि॒पादं॑ प॒शुꣳ स॑हस्रा॒क्षो मेधा॑य ची॒यमा॑नः। म॒युं प॒शुं मेध॑मग्ने जुषस्व तेन॑ चिन्वा॒नस्त॒न्वो॒ निषी॑द। म॒युं ते॒ शुगृ॑च्छतु॒ यं द्वि॒ष्मस्तं ते॒ शुगृ॑च्छतु ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, यज्ञ के निमित्त चयन किये गये, सहस्रों नेत्र वाले सुवर्ण खण्डरूप तुम इस पुरुषरूप पशु को पीड़ा मत दो। यदि तुम्हें किसी को पीड़ा देना है, तो तुम पवित्र तुरंगवदन किंपुरुष पशु के पास जाओ। उसके सेवन से ज्वालारूप शरीर को पुष्ट करते हुए तुम यहाँ स्थित रहो, तुम्हारा संताप किंपुरुष को प्राप्त हो, तुम्हारा संताप, जिससे हम द्वेष करते हैं, उसको प्राप्त हो ॥ ४७ ॥

'बहिर्वेद्युदङ् तिष्ठन्नुपतिष्ठत उत्सर्गैरिमं मा हिꣳसीरिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।५।१९)। 'इमं मा हिꣳसीः' इत्यादयो मन्त्रा उत्सर्गा इत्युच्यन्ते। चित्याग्नेरुत्तीर्य वेदेर्बहिर्दक्षिणे उदङ्मुखस्तिष्ठन् उत्सर्गसंज्ञैः पञ्चभिर्मन्त्रैः पुरुषादिशिरांस्युपतिष्ठतेऽध्वर्युः। एकपशुपक्षे तमेव पञ्चभिरप्युपतिष्ठत इति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्याः पञ्च त्रिष्टुभः। आद्ययोरन्ते द्वे यजुषी। तिसृणामन्ते त्रीणि त्रीणि यजूंषि। हे अग्ने, सहस्राक्षः सहस्राण्यक्षीणि ज्वालारूपाणि यस्य सः, हिरण्यशकलरूपसहस्रनेत्रो वा, 'हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः' (श० ७।५।२।३२), 'द्विपादा एष पशुर्यत्पुरुषः' (श० ७।५।२।३२) इति श्रुतेः। मेधाय यज्ञाय चीयमानश्चयनेन संस्क्रियमाण इमं द्विपादं पादद्वयोपेतं ग्राम्यपशुं मा हिंसीः मा दह। दाहरूपां हिंसां मा कार्षीः। यदि ते भक्ष्यापेक्षा तर्हि तव भक्षणाय मेधं शुद्धं पशुं मयुं कृष्णमृगं तुरङ्गवदनम्, 'किंपुरुषो वै मयुः' (श० ७।५।२।३२) इति श्रुतेः किम्पुरुषं वा जुषस्व सेवस्व, भक्षयस्वेत्यर्थः। 'मयुर्मृगाश्वमुखयोः' इति हैमः। तेन मयुभक्षणेन तन्वो ज्वालारूपास्तनूश्चिन्वानः पोषयन् निषीद। तन्व इति द्वितीयार्थे प्रथमा। इतः परं यजुः। ते तव शुक् शोकः सन्तापो मयुं किन्नरं मृगं वा ऋच्छतु प्राप्नोतु। किञ्च, यं पुरुषं प्रति वयं द्विष्मो द्वेषं कुर्मः, ते तव शुक् तमृच्छतु।

अत्र ब्राह्मणम् —'अथोत्सर्गैरुपतिष्ठते। एतद्वै यत्रैतान् प्रजापतिः पशूनालिप्सत त आलिप्स्यमाना अशोचंस्तेषामेतैरुत्सर्गैः शुचं पाप्मानमपाहंस्तथैवैषामयमेतदेतैरुत्सर्गैः शुचं पाप्मानमपहन्ति' (श० ७।५।२।२८)। अग्निहोमानन्तरमुपहितानां पुरुषशिरःप्रभृतीनां पशुशिरसामुत्सर्गनामकैर्मन्त्रैरुपस्थानं विधत्ते—अथेति। विहित-मन्त्रसाध्यस्योपस्थानस्य प्रयोजनाभिधानं प्रतिजानीते—एतद्वा इति। एतत्खलु प्रयोजनमित्यर्थः। तदेव दर्शयति—यत्रैतानिति। यत्र यस्मिन् प्रस्तावे प्रजापतिरेतान् पुरुषमुख्यान् पशून् आलब्धुमैच्छत्, तदा आलिप्स्यमानास्ते अशोचन्. आलम्भस्य शोकहेतुत्वात्। ततस्तेषां शोकरूपं पापमेतैर्वक्ष्यमाणैरुपसर्गमन्त्रैरपहतवान्। तथैवायमपि यजमान एतेनोपस्थानेनैषां शोकरूपं पापमपहन्ति। 'मयं पशुं मेधमग्ने जुषस्व' इत्यादिना आरण्यपशूत्सर्गप्रति-पादनेन तेषामुत्सर्गत्वं शोकोत्सर्गहेतुत्वाद्वा। 'तद्धैके। यं यमेव पशुमुपदधति तस्य तस्य शुचमुत्सृजन्ति नेच्छुचं पाप्मानमभ्युपदधामहा इति ते ह ते शुचं पाप्मानमभ्युपदधति याꣳहि पूर्वस्य शुचमुत्सृजन्ति तामुत्तरेण सहो-पदधति' (श० ७।५।२।२९)। अत्र पञ्चानामपि पशूनामुपधानानन्तरमुत्सर्गमन्त्रैरुपस्थानमिति स्वकीयं मतम्, तथैवोक्तत्वात्। अपरे पुनरत्रानुष्ठानक्रमे किञ्चिद्वैषम्यमाचक्षते। तन्मतं दूषयितुमनुवदति—तद्धैक इति। तेषामाशयमाह—नेदिति। पूर्वमुपहितस्य पशोः शोकमुत्सारितमभिलक्ष्यैवोत्तरपशोरुपधानं स्यात्। अतस्तन्मा भूदिति तथा कुर्वन्तीत्यर्थः। तन्मतं दूषयति —ते हेति। तथाविधाभिप्रायवन्तस्ते खलु याज्ञिकाः शोकरूपं पापमभि-लक्ष्यैवोपदधति। यतः पूर्वस्य पशोर्यां शुचमुत्सृजन्ति, तामेवोत्तरेण सहोपदधति, निवृत्तसजातीयानुवृत्ति-भावादित्यर्थः। 'विपरिक्राममु हैक उपतिष्ठन्ते। ऊर्ध्वाꣳ शुचमुत्सृजाम इति ते ह ते शुचं पाप्मानमनूद्यन्त्यूर्ध्वो ह्येतेन कर्मणैत्यूर्ध्वामु शुचमुत्सृजन्ति' (श० ७।५।२।३०)। अथैतेषामेवोपस्थाने केषाञ्चिच्छाखिनां प्रकारविशेषं दूषयितुमनुवदति—विपरिक्राममिति। पशूनां शुचमूर्ध्वामुत्सृजाम इति केचिद् विपरिक्रम्य विपरिक्रम्योपतिष्ठन्ते। उत्क्रमणपूर्वकत्वाद् विपरिक्रमणस्येति तथोपस्थाने शोक ऊर्ध्व एवोत्सृष्टो भवतीति तेनोपतिष्ठन्त इति भावः। तदपि दूषयति —ते ह ते इति। तथाविधाभिप्रायवन्तस्ते शोकरूपं पापमनूद्यन्ति विपरिक्रमणार्थमुद्गमने कृते शोकं प्रत्यनुगतवन्तो भवन्ति। अतो न तथा कुर्यात्। कथं तर्हि शोक ऊर्ध्वमुत्सृष्टो भवतीत्याह—ऊर्ध्वो हीति। एतेनोपधानलक्षणेन कर्मणा ऊर्ध्वोऽध्वर्युरेति, उत्तरोत्तरमेतेषां शिरसामुपधानात्। अतस्तेनैव कर्मणोर्ध्वामुत्सृजन्ति। व्यत्ययेन बहुवचनं प्रयोगबहुत्वापेक्षं वा।

'बाह्येनैवाग्निमुत्सृजेत्। इमे वै लोका एषोऽग्निरेभ्यस्तल्लोकेभ्यो बहिर्धा शुचं दधाति बहिर्वेदीयं वै वेदिरस्यै तद्बहिर्धा शुचं दधात्युदङ् तिष्ठन्नेतस्याꣳ ह दिश्येते पशवस्तद्यत्रैते पशवस्तदेवैष्वेतच्छुचं दधाति'

(श० ७।५।२।३१)। अग्नेर्बहिर्देशे शोकमुत्सृजेदित्याह—बाह्येनेति। अग्नेर्बाह्यदेशेनोपलक्षिते शुचमुत्सृजेदित्यर्थः। अग्नेः प्रजापत्यात्मकत्वेन तत्पृथिव्यादिलोकात्मनोक्तत्वात् तस्य बहिर्देशे शोकोत्सर्जनेन लोकेभ्य एव शोको बहिर्धा भवतीति। बाह्येनैवाग्निमित्यनेनाग्निप्रदेशव्यतिरिक्तदेशे विधानाद् वेदिमध्येऽपि स्यादित्यत आह—बहिर्वेदीति। वेद्या बहिर्बहिर्वेदि शोकोत्सर्गे वेद्याः कृत्स्नपृथिव्यात्मकत्वात् तस्या बहिरेव शोकोत्सर्गो भवतीति दर्शितम्—इयं वा इत्यादिना। उत्तरस्यां दिशि वक्ष्यमाणा मयुप्रभृतयः पशवोऽवतिष्ठन्त इति तत्र शोकनिधानाय उदङ्मुखस्तिष्ठन्नुत्सृजेदित्याह—उदङ् तिष्ठन्निति। 'पुरुषस्य प्रथममुत्सृजति। तꣳ हि प्रथममुपदधातीमं मा हिꣳसीर्द्विपादं पशुमिति द्विपाद्वा एष पशुर्यत्पुरुषस्तं मा हिꣳसीरित्येतत्सहस्राक्षो मेधाय चीयमान इति हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षो मेधायेत्यन्नायेत्येतन्मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्वेति किम्पुरुषो वै मयुः किम्पुरुषमग्ने जुषस्वेत्येतत्तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेत्यात्मा वै तनूस्तेन चिन्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतन्मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तन्मयौ च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिꣳश्च' (श० ७।५।२।३२)। उत्सर्गमन्त्रैरुपस्थानं तत्र स्वाभिमतप्रकारं देशविशेषमध्वर्योरवस्थानविशेषं च प्रदर्श्योपधानक्रमेणैव पुरुषस्य शोकं पूर्वमुत्सृजेदित्याह—पुरुषस्येति। तत्र मन्त्रविशेषं प्रदर्शयन् पादशो विभज्य व्याचष्टे—इमं मा हिंसीरिति। सहस्रशब्दो लक्षणया बह्वर्थकः, अत्र सहस्रसंख्यानां हिरण्यशकलानामभावात्। अथवा उत्तरत्र सहस्रसंख्याकैर्हिरण्यशकलैः प्रोक्ष्यमाणत्वात् तदभिप्रायेण सहस्रसंख्यानां हिरण्यशकलानां प्रकाशकत्वेन आक्षिप्योपचारः। आत्मा वै तनूरिति, तेनाधिष्ठितत्वादित्यर्थः। तथा चायं मन्त्रार्थः—हे अग्ने, हिरण्यशकलैः सहस्राक्षो मेधाय चीयमानस्त्वं पशूनां मध्ये द्विपादमिमं पुरुषं मा हिंसीः। यदि तव भक्ष्यापेक्षास्ति, तर्हि आरण्यं किम्पुरुषमुत्सृजामि। तेन किम्पुरुषेण आत्मानं पोषयन् संस्कुरुष्व। त्वत्सम्बन्धिनी शुङ् मयुं प्राप्नोतु, यं च वयं द्विष्मस्तमपि प्राप्नोत्विति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् श्रीराम प्रत्यगात्मन्, सहस्राक्षः सहस्रमनन्तान्यक्षीणि यस्यासौ, 'सहस्राक्षः सहस्रपात्' (वा० सं० ३१।१) इति मन्त्रवर्णात्। मेधाय ज्ञानरूपाय यज्ञाय चीयमानः शमदमादिभिः संस्क्रियमाणः सन् त्वं द्विपादमिमं मनुष्यं पशुं जीवं मा हिंसीर्ज्ञानेन वञ्चितं मा कार्षीः। मयुं किन्नरं पशुं तदुपलक्षितमृक्षवानरादिकम्, मेधं पवित्रं जुषस्व प्रीणीहि। तेन प्रीणनेन तन्वस्तनूर्गोब्राह्मणसाधुधर्मरूपाश्चिन्वानः सञ्चयनं कुर्वन्, पोषयन्नित्यर्थः। निषीद, भक्तानां हृदयेष्विति शेषः। ते तव शुग् अपराधान्निर्वृत्तं रोषात्मकं तेजो मयुममेधमपवित्रं पशुमृच्छतु, यं च वयं द्विष्मस्तमृच्छतु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने पावक इव मनुष्य, मेधाय सुखसङ्गमाय चीयमानो वर्धमानः सहस्राक्षोऽसंख्यदर्शनस्त्वमिमं द्विपादं मनुष्यादिकं मेधं पवित्रकारकं मयुं जाङ्गलं पशुं गवादिकं प्रसिद्धं मा हिंसीः, तं पशुं जुषस्व प्रीणीहि। तेन चिन्वानः सन् तन्वो मध्ये निषीद। इयं ते शुङ् मयुं शस्यादिहिंसकं पशुमृच्छतु। ते तव यं शत्रुं वयं द्विष्मस्तं शुगृच्छतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिसूत्रादिविरोधात्, गौणार्थाश्रयणाच्च। सङ्गमार्थकस्य मेधृधातोर्न केवलं सुखसङ्गमोऽर्थो भवितुमर्हति, दुःखसङ्गमस्यापि तदर्थसम्भवात्। असंख्यदर्शनस्य सहस्राक्षत्वे सर्वस्यापि तत्प्रसक्त्या विशेषणवैयर्थ्यात्। तच्च सममन्यत्रापि। मयुमित्यस्य एकत्र गवादिकोऽर्थः, अन्यत्र शस्यादिहिंसकोऽर्थ इत्यर्थभेदे हेतुर्वक्तव्यः। सर्वोऽपि शरीरस्य मध्ये तिष्ठत्येवेति तदुपदेशोऽपि व्यर्थ एव। शोकोऽपि न कस्यचित्प्रार्थनया अन्यत्र गन्तुं प्रभवति त्वद्रीत्या। सनातनधर्मरीत्या तु देवानामचिन्त्यशक्तित्वेन तत्प्रसादात्तत्सम्भवत्येव ॥ ४७ ॥

इमं मा हिꣳसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद । गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, बार-बार हिनहिनाने वाले, वेगवानों में अति वेगवान्, एक खुर वाले घोड़े को तुम पीड़ा मत दो। तुम्हारे लिये मैं वन के गौर वर्ण मृग को देता हूँ। उससे अपना शरीर पुष्ट करते हुए तुम यहाँ रहो। तुम्हारा सन्ताप अश्व को प्राप्त न होकर गौर वर्ण मृग को प्राप्त हो। तुम्हारा सन्ताप उसे प्राप्त हो, जिससे हम द्वेष करते हैं ॥ ४८ ॥

अयमश्वोपस्थानमन्त्रः इममिति। हे अग्ने, इममेकशफमेकखुरमश्वरूपं पशुं मा हिंसीः। अस्य दाहरूपां हिंसां मा कार्षीः। कीदृशमश्वम्? कनिक्रदम्, ह्रेषाशब्देनात्यन्तक्रन्दनोपेतम्, अतिशयेन क्रन्दितारं ह्रेषमाणमिति यावत्। वाजिनेषु शीघ्रगतियुक्तेषु प्राणिषु वाजिनम् अत्यन्तशीघ्रगतियुक्तम्। यदि ते तव भक्ष्यापेक्षा तर्हि ते तव भक्षणाय इममारण्यं गौरं सिंहम् अनुदिशामि। पुरुषशीर्षमनु त्वद्भक्ष्यत्वेनातिसृजामि। तेन गौरभक्षणेन त्वदीया ज्वालारूपास्तनूः पोषयन् इह निषीद। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाश्वस्य। इमं मा हिꣳसीरेकशफं पशुमित्येकशफो वा एष पशुर्यदश्वस्तं मा हिꣳसीरित्येतत् कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेष्विति कनिक्रदो वा एष वाज्यु वाजिनेषु गौरमारण्यमनु ते दिशामीति तदस्मै गौरमारण्यमनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतद् गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तद्गौरे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च' (श० ७।५।२।३३)। अथाश्वस्य शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् पूर्ववद् व्याचष्टे—अथेति। अश्वः कनिक्रदः अत्यर्थं क्रन्दिता। वाजिनेषु वेगवत्सु वाजी अत्यर्थं वेगयुक्तः। गौरम्, सिंहमित्यर्थः। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन्, इममेकशफमेकखुरमश्वं वाजिनेषु वाजिनं वेगवत्स्वतिशयेन वेगवन्तं हनूमन्तं मा हिंसीर्ज्ञानवञ्चितं मा कार्षीः, ज्ञानोपदेशेन कृतार्थं कुर्वित्यर्थः। आरण्यं वनवासिनं गौरं तेजोमयं शुद्धसाधकं ते तुभ्यमनुदिशामि त्वामनुलक्ष्य समर्पयामि। तेन तन्वः पूर्वोक्तास्तनूश्चिन्वानः पोषयन्निषीद। तद्भिन्नं गौरं पशुं ते तव शुग् गच्छतु। यं द्विष्मस्तं ते तव मायात्मकं तेजो गच्छतु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, त्वं वाजिनेषु वाजिनानां संग्रामाणामवयवेषु कर्मसु, एकशफम् एकखुरमश्वादिकं कनिक्रदं भृशं विकलं प्राप्तव्यर्थं वाजिनं वेगवन्तं पशुं मा हिंसीः। ईश्वरोऽहं ते तुभ्यमारण्यं गौरं पशुमनुदिशामि। तेन चिन्वानो वर्धमानस्तन्वोर्मध्ये निषीद। ते तव सकाशाद् गौरं शुगृच्छतु। यं वयं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु' इति, तदपि न युक्तम्, राज्ञोऽत्र सम्बोद्धयत्वे मानाभावात्। वाजिनं मा हिंसीः, तुभ्यमारण्यं पशुमनुदिशामीत्यनयोः सङ्गत्यभावात्। यद्यत्र मन्त्रे परमेश्वरो वक्ता तदा यं वयं द्विष्मस्तमृच्छत्विति नोपपद्यते, तस्य द्वेषादिशून्यत्वात् ॥ ४८ ॥

इमꣳ साहस्रꣳ शतधारमुत्सं व्यच्यमानꣳ सरिरस्य मध्ये। घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्। गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, उत्कृष्ट स्थान में स्थित सहस्र मूल्य के योग्य शतसंख्याक क्षीरधारा से युक्त कूप के सदृश दूध के सोते वाली, लोकों के मध्य में अनेक प्रकार से व्यवहार को प्राप्त, समस्त जनों के हित के निमित्त घृत के कारणभूत दूध को देने वाली इस नीरोग गौ को किसी प्रकार की पीड़ा मत दें। यदि पीड़ा देने की इच्छा हो, तो वन में रहने वाले गाय सरीखे गवय पशु को मैं तुम्हें सौंपता हूँ। अपने शरीर को उसी से पुष्ट करते हुए आप यहां स्थित रहें, आपकी ज्वाला गवय को प्राप्त हो। जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे भी आपकी ज्वाला प्राप्त हो ॥ ४९ ॥

अथ गोरुपस्थानमन्त्रः—इमं साहस्रमिति। अत्र विशेषणद्वयं स्त्रीलिङ्गम्। शेषाणि पुंलिङ्गानि। व्यत्ययेनोभाभ्यां गौरेव स्तूयते। हे अग्ने, परमे व्योमन् उत्कृष्टे स्थाने स्थितमिमं गोरूपं पशुं त्वं मा हिंसीः। कीदृशम्? साहस्रम्, सहस्रमूल्यार्हं सहस्रोपकारक्षमं वा। पुनः कीदृशम्? शतधारं शतसंख्याकक्षीरधारायुतम्। अत एवोत्सम् उत्समिव उत्सम्। उत्सः कूपस्तत्सदृशम्, बहुस्रोतसमित्यर्थः। अथवा बाहुदोहादिभिर्बहूपकारकम्। सरिरस्य मध्ये एषु लोकेषु अन्तर् व्यच्यमानं जनैर्विविधैरच्यमानम् उपजीव्यमानम्, 'इमे वै लोकाः सरिरम्' (श० ७।५।२।३४) इति श्रुतेः। जनाय सर्वलोकाय घृतं दुहानां घृतकारणं क्षीरं क्षरन्तीम्, घृतपूरणीं वा। अदितिमखण्डनीयाम्। ते तव आरण्यं गवयं गोसदृशं पशुं ते अनुदिशामि। तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ गोः। इमꣳ साहस्रꣳ शतधारमुत्समिति साहस्रो वा एष शतधार उत्सो यद् गौर्व्यच्यमानꣳ सरिरस्य मध्य इतीमे वै लोकाः सरिरमुपजीव्यमानमेषु लोकेष्वित्येतद् घृतं दुहानामदितिं जनायेति घृतं वा एषाऽदितिर्जनाय दुहेऽग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमैषु लोकेष्वेनं मा हिꣳसीरित्येतद् गवयमारण्यमनु ते दिशामीति तदस्मै गवयमारण्यमनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतद् गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तद्गवये च शुच दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च' (श० ७।५।२।३४) गोः शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे—अथ गोरिति। साहस्रो वा इति। गौरिति यदेष साहस्रः सहस्राक्षः सजातीयधेनुद्वारा शतसंख्याकक्षीरधारासम्पन्नः, अत एव उत्सः कूपः, 'उत्स इति कूपनामसु' (निघ० ३।२३।१०), तस्यानेकजलधारावाहित्वादस्य चानेकक्षीरधारावाहित्वाद् उत्सत्वोपचारः। घृतं वा एषेति। अदितिरखण्डनीया अदीना वा एषा गौः, जनाय घृतं दुहे, क्षीरादिद्वारा तस्य सम्पादनात्। अत्रापि सजातीयधेनुद्वारा घृतदोहनम्, तदपेक्षं वाऽत्र स्त्रीलिङ्गम्। 'दुहे' इत्यत्र 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तकारलोपः। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, इमं साहस्रं सहस्रमनन्तं मूल्यमर्हतीति साहस्रम्, सहस्रोपकारकं वा। शतधारं शतमनन्तं क्षीरधारा यस्मात्तं शतधारम् उत्सं स्रोत इव व्यच्यमानं जनैर्विविधमुपजीव्यमानं परमे व्योमन् उत्कृष्टे स्थाने स्थितं सरिरस्य लोकानां मध्ये घृतं दुहानामाज्यं प्रपूरयन्तीमदितिमखण्डनीयां गां मा हिंसीः, किन्तु सर्वतः परिपालयेत्यर्थः। आरण्यं गवयं गोसदृशं पशुं तेऽनुदिशामि त्वामनुलक्ष्य दिशामि समर्पयामि। तमपि रक्ष। तेन चिन्वानस्तन्वस्तनूः पोषयन् निषीद। ते तव शुक् शुङ्निवर्तकः प्रकाशो गवयमृच्छतु। यं द्विष्मस्तं शत्रुं रोषात्मकं तेजो गच्छतु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं जनाय इमं साहस्रं सहस्रस्य असंख्यातानां सुखानामयं साधकस्तं शतधारं शतम् असंख्याता दुग्धधारा यस्मात्तं व्यच्यमानं विविधप्रकारेण पालनीयम् उत्सं कूपमिव पालकं गवादिकं वीर्यसेचकं वृषभं घृतमाज्यं दुहानां प्रपूरयन्तीमदितिमखण्डनीयां धेनुं मा हिंसीः। स ते तुभ्यमारण्यं गवयं गोसदृशमनुदिशामि। तेन परमे व्योमन् प्रकृष्टे व्याप्तेऽन्तरिक्षे सरिरस्य अन्तरिक्षस्य मध्ये चिन्वानः पुष्टः सन्

तन्वो निषीद । तं गवयं ते शुगृच्छतु । यं ते शत्रुं वयं द्विष्मस्तमपि शुगृच्छतु' इति, तदपि न सङ्गतम्, गोसदृशस्य गवयस्य सस्यादिनाशकत्वेन हिंसनीयत्वे तुल्यन्यायेन गवादिपशूनामपि सस्यादिनाशकत्वेन हिंसनीयत्वापत्तेः। न च गवादीनामारण्यकत्वासम्भवः, तादृशानां वन्यानामद्यापि प्रत्यक्षेणोपलम्भात् । तस्माद् गवयादीनां हिंसनीयत्वोक्तिः स्वसिद्धान्तविरुद्धैव । सिद्धान्ते तु विधिदृष्टिरेव सर्वतोऽपि बलीयसीति ॥ ४९ ॥

इ॒मम्मू॒र्णा॒युं॒ वरु॑णस्य॒ नाभि॒न्त्वचं॑ प॒शू॒नां द्वि॒पदां॒ चतु॑ष्पदाम् । त्वष्टुः॑ प्र॒जानां॑ प्रथ॒मं ज॒नित्र॒मग्ने॒ मा हि॑ꣳसीः पर॒मे व्यो॑मन् ॥ उष्ट्र॑मार॒ण्यमनु॑ ते दिशामि॒ तेन॑ चिन्वा॒नस्त॒न्वो॒ निषी॑द । उष्ट्रं॑ ते॒ शुगृ॑च्छतु॒ यं द्वि॒ष्मस्तं ते॒ शुगृ॑च्छतु ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, उत्कृष्ट स्थान में स्थित ऊन से भरे हुए, वरुण की नाभि, अर्थात् सन्तान के समान प्रिय, मनुष्य और चौपाये, इन दोनों प्रकार के पशुओं को कम्बल आदि से आच्छादित करने के कारण त्वचास्वरूप, प्रजापति की प्रजा में सबसे पहले उत्पन्न हुए अवि (भेड़) नामक पशुको पीड़ा मत दो । मैं वन में रहने वाले ऊँटों को आपको देता हूँ । आप यहीं रहते हुए अपनी ज्वाला को वनैले ऊटों से तृप्त करो । जिससे हम द्वेष करते हैं, उनको भी आपकी ज्वाला प्राप्त हो ॥ ५० ॥

अथावेरुपस्थानमन्त्रः—इममूर्णायुमिति । हे अग्ने, परमे व्योमन् स्थितमिममूर्णायुम् ऊर्णा अस्त्यस्मिन्नित्यूर्णायुस्तम् ऊर्णावन्तम् । 'ऊर्णाया युस्' (पा० सू० ५।२।१२३) इति मत्वर्थीयो युस् । सित्वात् 'सिति च' (पा० सू० १।४।१६) इत्यूर्णाशब्दस्य पदत्वेन 'यस्येति च' (पा० सू० ६।४।१४८) इत्याकारलोपो न भवति । अविं मा हिंसीः । कीदृशमविम् ? वरुणस्य अनिष्टनिवारकस्य अग्नेर्नाभिस्थानीयं तद्वत् प्रियं वा । द्विपदां मनुष्याणां चतुष्पदां गवादीनामुभयरूपाणां पशूनां त्वचं त्वक्सदृशम् । यथा त्वचा शरीरमावृतं तथा द्विपादो मनुष्याः शीतनिवारणार्थमविजन्येन कम्बलादिना आच्छादिता भवन्ति । चतुष्पादोऽप्यश्वादयो बलीवर्दादयश्च भारवहने मार्दवार्थं पृष्ठे कम्बलेन आच्छादिता भवन्ति । पुनः कथंभूतम् ? त्वष्टुः प्रजापतेः प्रजानां मध्ये प्रथमं जनित्रं प्रथममुत्पन्नम्, प्रधानत्वेनोत्पन्नं वा । प्राधान्यं च वीर्यवत्त्वेन । वीर्यवत्त्वं च सर्वेषां बाहुजन्यानां तैत्तिरीये आम्नातम्—'तस्मात्ते वीर्यवन्तो वीर्याद्ध्यसृज्यन्त' (तै० सं० ७।१।१।४) इति । उष्ट्रं प्रसिद्धं ते ददामि । अन्यत् स्पष्टम् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथावेः । इममूर्णायुमित्यूर्णाबलमित्येतद्वरुणस्य नाभिमिति वारुणो ह्यविस्त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदामित्युभयेषाꣳ ह्येष पशूनां त्वग् द्विपदां च चतुष्पदां च त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमित्येतद्ध त्वष्टा प्रथमꣳ विचकाराग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमैषु लोकेष्वेनं मा हिꣳसीरित्येतदुष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामीति तदस्मा उष्ट्रमारण्यमनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आत्मानं संस्कुरुष्वेत्येतदुष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तदुष्ट्रे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च' (श० ७।५।२।३५) । अवेः शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे—उभयेषां ह्येष इति । एष अविरूपः पशुः, उभयेषां पशूनां द्विपदां मनुष्याणां चतुष्पदामश्वादीनां च त्वग्रूपं भवति, स्वकीयत्वचा कम्बलादिना ह्येषामाच्छादनात् । एतद्धेति । त्वष्टा प्रजानां निर्माता देवः । प्रजानां मध्ये एतद् अविरूपं पशुं प्रथमं विचकार उत्पादितवान् । अत उक्तम्—त्वष्टुरिति । विशदार्थमन्यत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, त्वमिमं वरुणस्य नाभिं परमे व्योमन् स्थाने स्थितमविं मा हिंसीः । कीदृशम् ? ऊर्णायुमित्यादि पूर्ववत् । त्वष्टुः प्रजापतेः प्रजाः पालय । उष्ट्रं प्रसिद्धं ते ददामि, तमपि पालयेति शेषः, सर्वस्यात्मत्वात् सर्वान्तिर्यामित्वाच्च ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने राजन्, त्वमिमं वरुणस्य वरस्य प्राप्तव्यसुखस्य नाभिं निबन्धनं द्विपदां चतुष्पदां पशूनां त्वचं त्वष्टुः सुखप्रकाशकस्य प्रजानां प्रथममादिमं जनित्रमुत्पत्तिनिमित्तं परमे व्योमन् वर्तमानमूर्णायुमविं मा हिंसीः । ते यं धान्यहिंसकमारण्यमुष्ट्रं हन्तुमनुदिशामि, तेन चिन्वानः सन् तन्वो मध्ये निषीद । ते शुग् आरण्यमुष्ट्रमृच्छतु, यं ते द्वेष्टारं वयं द्विष्मस्तमृच्छतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तेनैव न्यायेनोभयोरपि हिंसनीयत्वापत्तेः । कथमवेः प्रजानामादिममुत्पत्तिनिमित्तमिति तु नोक्तम् ॥ ५० ॥

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे । तेन देवा देवतामग्रमायंस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः ॥ शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद । शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—अजा (बकरी) निश्चय ही प्रजापतिरूप अग्नि के शोक से उत्पन्न हुई है । उसने सबसे पहले अपने उत्पन्न करने वाले को देखा है, देवगण उसके द्वारा पूर्वजन्म में यज्ञ आदि कर्म करके देवत्व को प्राप्त हुए हैं तथा वर्तमान काल में यजमान इसकी सहायता से यज्ञ करके स्वर्ग को प्राप्त करते हैं । हे अग्निदेव, मैं वन के शरभ नामक सिंहघाती आठ चरण वाले मृग को आपको देता हूँ । आप उससे अपने शरीर को पुष्ट कर हमारे यहाँ ही रहें । आपकी ज्वाला शरभ को प्राप्त हो । जिससे हम द्वेष करते हैं, उसको भी आपकी ज्वाला प्राप्त हो ॥ ५१ ॥

अथाजस्य शोकोत्सर्गमन्त्रः—अजो ह्यग्नेरिति । हि यस्मादयमजः शोकाद्दीप्तियुक्तादग्नेः सकाशादजनिष्ट, 'यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तदग्नेः शोकादजायत' (श० ७।५।२।३६) इति श्रुतेः । तैत्तिरीया अपि तथैव समामनन्ति—'स आत्मनो वपामुदखिदत् तामग्नौ प्रागृह्णात् ततोऽजस्तूपरः समभवत्' (तै० सं० २।१।१।४) इति । स एवाग्नेः प्रजापतिरूपादुत्पन्नोऽजो जनयितारं स्वोत्पादकं प्रजापतिरूपमग्रेऽपश्यद् उत्पत्त्यनन्तरमेव दृष्टवान् । यस्मादेवमजः प्रशस्तस्तस्मादिदानीं वर्तमाना देवा अग्रे पूर्वस्मिन् जन्मनि तेनैवाजेन कर्माण्यनुष्ठाय देवतां देवभावमायन् प्राप्ताः । किञ्चेदानीं मेध्यासो योगयोग्या यजमाना रोहं रोहणीयं स्वर्गमुपायन् सामीप्येनैव प्राप्ताः, अविलम्बेनैव प्राप्ता इत्यर्थः । शरभोऽष्टापदः सिंहघाती । तमारण्यं तेऽनुदिशामीत्यादि पूर्ववत् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाजस्य । अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकादिति यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तदग्नेः शोकादजायत सो अपश्यज्जनितारमग्र इति प्रजापतिर्वै जनिता सोऽपश्यत् प्रजापतिमग्र इत्येतत्तेन देवा देवतामग्रमायन्निति वाग्वा अजो वाचो वै देवा देवतामग्र आयंस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यास इति स्वर्गो वै लोको रोहस्तेन स्वर्गं लोकमायन्नुप मेध्यास इत्येतच्छरभमारण्यमनु ते दिशामीति तदस्मै शरभमारण्यमनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतच्छरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तच्छरभे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च' (श० ७।५।२।३६) । अजस्य मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे—अथाजस्येति । यद्वेति । प्रजापतेः शोकादजायतेति यत् तेन अग्नेरेव शोकादजायत, तस्य तदात्मकत्वात् । अत एव प्रागुक्तम्—'अग्निर्वा एषोऽग्नेरध्यजायत' (श० ७।५।२।२१) इति । प्रजापतिर्वा इति । सर्वोत्पादकत्वात्

प्रजापतिर्जनिता खलु। स जातोऽजः प्रजापतिं प्रागपश्यत्। अत उक्तम्—सो अपश्यदिति। 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावान्न पूर्वरूपत्वम्। तेन देवा इत्यजस्य वागात्मकत्वं तज्जन्यत्वात्। देवाः खलु अग्रे वाचमिमामाश्रित्य देवत्वमाप्नुवन्। स्तोत्रशस्त्रादिरूपया वाचा यज्ञनिष्पत्तेर्यज्ञस्य च देवत्वप्राप्तिहेतुत्वाद् वाचमाश्रित्य देवत्वमाप्नुवन्नित्यर्थः। अथवा वेदलक्षणया वाचा। 'स्वाध्याय एषां देवत्वम्' (म० भा०, वन० ३१३।५०) इति स्वाध्यायेनैव देवत्वाप्तिः स्मर्यते। उप मेध्यास इति मेधार्हा यज्ञार्हाः। शरभो नाम सिंहघातकः कश्चिन्मृगविशेषः। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—अजः अजवज्जीवोऽग्नेः परमेश्वरस्य शोकाद् मायारूपाद् अजनिष्ट प्रादुर्भूतः। अजोऽपि सन् परमेश्वरीयस्वरूपभूतात्तेजस उत्पद्यते। सोऽजो हिरण्यगर्भो जनितारं परमात्मानमग्रे पूर्वमपश्यत्। तेनैव स्वजनितृपरमेश्वरदर्शनेनैव देवाः, ऋष्यादीनामप्युपलक्षणमेतत्, देवा ऋषयो मनुष्याश्च देवतां देवत्वं परमात्मभावमित्यर्थः, उप सामीप्येन अभेदेन आयन् प्राप्तवन्तः। तेनैव च रोहं जीवभावं परित्यज्य रोहणं परमात्मभावारोहणमायन् उपगताः। मेध्यासः पवित्राः सन्तो मायाकालुष्यानाविलाः परमात्मभावं प्राप्ता इत्यर्थः। शरभं शरवद् भातीति शरभस्तं स्वात्मानं जीवं तुभ्यमतिदिशामि। 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते' (मुण्डकोप० २।२।४) इति श्रुतेः। तेन तनूश्चिन्वानो निषीद। तं ते शुक् ऋच्छतु। यं कामादिकं द्विष्मस्तं ते शुक् सन्तापो गच्छतु। यद्वा—आसु पञ्चसु कण्डिकासु सर्वत्रैवाध्यात्मपक्षे मयु-गौर-गवयोष्ट्र-शरभान् पाप्मरूपांस्तेऽनुदिशामि तुभ्यं समर्पयामि। तांस्ते शुक् तापकः क्रोधो गच्छतु। तेन पाप्मनाशनेन तनूश्चिन्वानो निषीद। अत्र ब्राह्मणम्—'तदाहुः। यां वै तत्प्रजापतिरेतेषां पशूनाᳬं शुचं पाप्मानमपाहᳬंस्त एते पञ्च पशवोऽभवंस्त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्या अयज्ञियास्तेषां ब्राह्मणो नाश्नीयात्तानेतस्यां दिशि दधाति तस्मादेतस्यां दिशि पर्जन्यो न वर्षुको यत्रैते भवन्ति' (श० ७।५।२।३७)। अथानुद्देश्यानां मयुप्रभृतीनां पशूनां शोकादेवोत्पत्तिं ब्राह्मणस्य तदभक्ष्यतां च दर्शयन् दिग्विशेषे तेषां निधानमाह—तदाहुरिति। शेषं स्पष्टम्।

दयानन्दस्तु—'हे राजंस्त्वं यो हि अजश्छागोऽजनिष्ट, सोऽग्रे जनितारमपश्यत्। येन मेध्यासो देवा अग्र देवतां दिव्यगुणतां सुखमुपायन्, येन रोहं प्रादुर्भावमुपायन्, तेन उत्तमगुणतामग्रं सुखं तेन वृद्धिं च प्राप्नुहि। यमारण्यं शरभं शल्यकं तेऽनुदिशामि, तेन चिन्वानः सन् तन्वो निषीद। तं शरभं शुगृच्छतु। शेषं पूर्ववत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वथाप्यसङ्गतेः। छागः कं जनितारं कदा पश्यतीत्यनुक्तेः। नहि स्वोत्पादकं जानाति छागः, परज्ञानस्य अन्याप्रत्यक्षत्वात्। मनुष्यश्छागापेक्षया अधिकज्ञोऽपि न स्वोत्पादकं साक्षात् पश्यति, मात्रादिवचनैरेव तज्ज्ञानसम्भवात्। छागकर्तृकस्वोत्पादकदर्शनेन देवानां विदुषां पावित्र्यस्य कः सम्बन्धः? कथं च तेषां दिव्यगुणतासुखादिप्राप्तिः? शरभपदस्य शल्यकार्थकतापि निर्मूलैव, कोषेषूपनिषत्सु च अष्टापदे सिंहघातिन्येव तत्प्रसिद्धेः॥ ५१॥

त्वं य॑विष्ठ दा॒शुषो॒ नॄँः पा॑हि शृणु॒धी गिर॑ः। रक्षा॑ तो॒कमु॒त त्मना॑॥ ५२॥

मन्त्रार्थ—हे अतिशय तरुण अग्निदेव, आप हमारे द्वारा की गई स्तुतियों को सुनें, हवि देने वाले यजमान के मनुष्यों की रक्षा करें और हमारे यजमान के अपत्यों (सन्तानों) की रक्षा करें॥ ५२॥

'एत्य च त्वं यविष्ठेति चित्योपस्थानम्' (का० श्रौ० १७।६।१)। बहिर्वेदेरग्निसमीपमागत्यार्धचितमग्निमध्वर्युरुपतिष्ठेदिति सूत्रार्थः। उशनोदृष्टाऽनिरुक्ताग्नेयी गायत्री। हे यविष्ठ युवतम, अथवा मिश्रयितृतम

अग्ने ! त्वं दाशुषो हविर्दत्तवतो यजमानस्य नॄन् मनुष्यान् भृत्यादीन् पाहि । ऋत्विजां गिर आशिषः प्रार्थनाः श्रुणुधी शृणुहि । उतापि च त्मना आत्मना त्वदीयेन प्रयत्नेन तोकमपत्यं रक्ष । श्रुणुधीत्यत्र 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० सू० ६।४।१०२) इति हेर्धिः । 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति संहितायां दीर्घः । 'रक्षा' इत्यत्रापि 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रत्येत्याग्निमुपतिष्ठते । एतद्वा एतदयथायथं करोति यदग्नौ सामिचिते बहिर्वेद्येति तस्मा एवैतन्निह्नुतेऽहिꣳसाया आग्नेय्याऽग्नय एवैतन्निह्नुते गायत्र्या गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मा एतन्निह्नुतेऽनिरुक्तया सर्वं वा अनिरुक्तꣳ सर्वेणैवास्मा एतन्निह्नुते यविष्ठवत्यैतद्धास्य प्रियं धाम यद्यविष्ठ इति यद्वै जात इदꣳ सर्वमयुवत तस्माद्यविष्ठः' (श० ७।५।२।३८) । उपस्थानानन्तरं पुनरग्निसमीपमागत्य उपतिष्ठत इत्याह—प्रत्येत्येति । तत्र कारणं प्रतिजानीते—एतद्वा इति । तदेवाह—एतदिति । अग्नौ सामिचिते अर्धचिते बहिर्वेद्येति इति यदेतेन तत्कर्म अयथायथं करोति । 'यथास्वे यथायथम्' (पा० सू० ८।१।१४) इति योऽयमात्मा यच्चात्मीयं तत्र यथायथमिति निपात्यते । अयथायथं यथाक्रमं न भवतीत्यर्थः । तथा कृतवान् भवति । अत उपस्थानेनाहिंसार्थं तस्मै अग्नये एतद् निह्नवनं करोति । निह्नवनमपनयः, बहिर्वेदिगमननिबन्धनमपराधं परिमार्ष्टीत्यर्थः । उपस्थानमन्त्र आग्नेयो गायत्रोऽनिरुक्तो यविष्ठशब्दयुक्तश्च भवेदित्याह—आग्नेय्येत्यादिना । अग्नेर्गायत्रत्वं षष्ठकाण्डे उक्तम् (श० ६।१।१।१५) इत्यत्र । अनिरुक्तया अविस्पष्टदेवतया । यत्र देवताविशेषवाचकं पदं नास्ति तदनिरुक्तम् । यविष्ठशब्दस्तु गुणवचनो न पुनरिन्द्रादिशब्दवत् कस्यचिद्देवताविशेषस्य वाचकः । अनिरुक्तत्वादेवास्य आग्नेयत्वम् । अनिरुक्तो मन्त्र आग्नेयः प्राजापत्यो वा भवतीत्यनिरुक्तस्य सर्वत्वं साधारण्यात्, देवताविशेषाप्रतिपादकत्वाच्च । अस्याग्नेर्यविष्ठमिति यदेतत्पदं प्रियं धाम नामधेयम् । अथाग्नौ यविष्ठपदप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति—यद्वा इति । यतोऽयमग्निर्विराड्रूपत्वादिदं सर्वं कृत्स्नमपि जगद् अयुवत मिश्रितवान् व्याप्तवानित्यर्थः, तस्मादसावग्निर्यविष्ठः । अयुवत इति 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' इत्येतस्य धातोर्लङि व्यत्ययेन शब्विकरणे रूपम् । यविष्ठ इति युधातोः पचाद्यचि निष्पन्नाद् यवशब्दाद् इष्ठन्प्रत्यये रूपम् । तदेतदाह श्रुतिः—'यद्वै जात इदꣳ सर्वमयुवत तस्माद्यविष्ठः' (श० ७।५।२।३८) इति । 'त्वं यविष्ठ दाशुष इति । यजमानो वै दाश्वान्नॄः पाहीति मनुष्या वै नरः श्रुणुधी गिर इति शृणु न इमाꣳ स्तुतिमित्येतद्रक्षा तोकमुत त्मनेति प्रजा वै तोकꣳ रक्ष प्रजां चात्मानं चेत्येतत्' (श० ७।५।२।३९) । नॄः पाहीति । 'नॄन् पे' (पा० सू० ८।३।१०) इति नकारस्य रुः । 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' (पा० सू० ८।३।२) इत्यनुनासिककादेशः । एवं च ब्राह्मणानुसारी मन्त्रस्यायमर्थः— हे यविष्ठ युवतम मिश्रयितृतम वाग्ने, त्वं दाशुषो यजमानस्य नॄन् मनुष्यान् पाहि । नोऽस्माकं स्तुतिरूपा गिरः शृणु । न केवलं यजमानसम्बन्धिमनुष्यपालनं त्वया कार्यम्, अपि त्वात्मना सहितं तोकं प्रजां सन्ततिं रक्षेति ।

अध्यात्मपक्षे—हे यविष्ठ युवतम श्रीराम, शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे यविष्ठ, त्वं संरक्षितैरेतैः पशुभिर्दाशुषो नॄन् धर्मनेतॄन् पाहि । इमा गिरः सत्या वाचः श्रुणुधि । त्मना आत्मना मनुष्याणामुत पशूनां तोकं रक्ष' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एतैः संरक्षितैः पशुभिरित्यस्य निर्मूलत्वात् । नहि सत्या अपि सर्वा गिरः श्रोतव्या भवन्ति, अपेक्षितानां श्रोतव्यानामेव श्रवणसम्भवात् । त्मनाशब्देन मनुष्याणां पशूनामिति ग्रहणमपि निर्मूलमेव ॥ ५२ ॥

अपां त्वेमन् सादयाम्यपां त्वोद्मन् सादयाम्यपां त्वा भस्मन् सादयाम्यपां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि सरिरे त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा सधिषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपां त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामि । गायत्रेण त्वा च्छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा च्छन्दसा सादयामि ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अपस्या नामक इष्टके, मैं जल के स्थान में तुम्हें स्थापित करता हूँ, औषधियों के स्थान में स्थापित करता हूँ, अभ्र में स्थापित करता हूँ, विद्युत् ज्योति में स्थापित करता हूँ, भूमि पर स्थापित करता हूँ, प्राण के स्थान में स्थापित करता हूँ, मन के स्थान में स्थापित करता हूँ, वाणी के स्थान में स्थापित करता हूँ, चक्षु के निवास में स्थापित करता हूँ, श्रोत्र में स्थापित करता हूँ, द्युलोक में स्थापित करता हूँ । अन्तरिक्ष लोक में स्थापित करता हूँ, समुद्र में स्थापित करता हूँ सिकता (बालू) में स्थापित करता हूँ, अन्न में स्थापित करता हूँ । हे अपस्या, मैं तुम्हारा गायत्री छन्द के प्रभाव से साधन करता हूँ, त्रिष्टुप् छन्द के प्रभाव से स्थापित करता हूँ, जगती छन्द के प्रभाव से स्थापित करता हूँ, अनुष्टुप् छन्द के प्रभाव से स्थापित करता हूँ, पंक्ति छन्द के प्रभाव से तुमको स्थापित करता हूँ ॥ ५३ ॥

'अपरेण स्वयमातृण्णामेत्यापस्याः पञ्च पञ्चानुकान्तेष्वपां त्वेमन्निति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।६।२)। तीर्थेनाग्निमारुह्य स्वयमातृण्णामपरेण पूर्वानूकान्तमेत्य चतुर्ष्वप्यनूकान्तेषु 'अपां त्वेमन्' इति प्रतिमन्त्रं पञ्च पञ्च अपस्यासंज्ञका इष्टका अध्वर्युरुपदध्यादिति सूत्रार्थः । विंशतिरिष्टकादेवत्यानि यजूंषि पञ्चदश अपस्यादेवत्यानि, पञ्च छन्दस्यादेवत्यानि । अब्लिङ्गैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका अपस्यासंज्ञकाः । हे इष्टके अपस्ये, अपामेमन् एमनि जलसम्बन्धिनि प्रवाहादिगमनप्रकारे त्वा त्वां सादयामि । 'इण् गतौ' इत्यस्माद् मनिन्प्रत्ययेन 'एमन्' इति । ततः सप्तम्याः 'सुपां सुलुक्⋯' (पा० सू० ७।१।३९) इति लुकि 'एमन्' इति रूपम् । त्वा एमन् इत्यत्र पररूपत्वात् त्वेमन्निति । अथवा अपामेमन्नित्यादीनां श्रुत्युक्तोऽर्थो ग्राह्यः । 'वायुर्वा अपामेम' (श० ७।५।२।४६) इति श्रुत्या वायावित्यर्थः । वायौ त्वां सादयामीति । अपाम् ओद्मन् ओद्मनि ओषधिषु त्वां सादयामि, 'ओषधयो वा अपामोद्म' (श० ७।५।२।४७) इति श्रुतेः । 'उन्दी क्लेदने' इत्यस्मान्मनिन् प्रत्ययो नलोपो गुणश्च सप्तम्याश्च लुक् । ओद्मनि वीचितरङ्गादिरूपे जले वा । एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम् । भस्मन् भस्मनि त्वां सादयामि । शुक्लरूपे अभ्रे वा, 'अभ्रं वा अपां भस्म' (श० ७।५।२।४८) इति श्रुतेः । अपां ज्योतिषि विद्युति, 'विद्युद्वा अपां ज्योतिः' (श० ७।५।२।४९) इति श्रुतेः । प्रकाशे नैर्मल्ये वा त्वां सादयामि । अपामयने भूमौ, 'इयं पृथिव्यपामयनम्' (श० ७।५।२।५०) इति श्रुतेः । कूपाद्याधारे वा । अर्णवे सदने स्थाने प्राणरूपे, 'प्राणो वा अर्णवः' (श० ७।५।२।५१) इति श्रुतेः । अथवा अर्णवशब्देन सादृश्यात् प्रौढतटाकाद्युपलक्ष्यते । तत्र सदने स्थाने त्वां सादयामि स्थापयामि । समुद्रे सदने मनसीत्यर्थः, 'मनो वै समुद्रः' (श० ७।५।२।५२) इति श्रुतेः । प्रसिद्धे समुद्रे वा । सरिरे सदने त्वां स्थापयामि, वाचीत्यर्थः, 'वाग्वै सरिरम्' (श० ७।५।२।५३) इति श्रुतेः ।

अथवा अनिर्धारितस्थानविशेषे जलमात्रे वा त्वां स्थापयामि । अपां क्षये चक्षुसि त्वां स्थापयामि, 'चक्षुर्वा अपां क्षयः' (श० ७।५।२।५४) इति श्रुतेः । क्षयो निवासः । अथवा क्षीयन्ते शुष्यन्त्यापोऽत्रेति क्षयः, शुष्कस्तडागादिः, तत्र त्वां स्थापयामि । अपां सधिषि श्रोत्रे त्वां सादयामि, 'श्रोत्रं वा अपाᳬं सधिः' (श० ७।५।२।५५) इति श्रुतेः । अथवा जलेन सह धीयत इति सधिः, वर्षोपलादिः, तत्र त्वां सादयामि । अपां सदने दिवि त्वां सादयामि, 'द्यौर्वा अपाᳬं सदनम्' (श० ७।५।२।५६) इति श्रुतेः । अथवा अपां स्थाने नद्यादौ त्वां सादयामि । अपां सधस्थेऽन्तरिक्षे त्वां सादयामि, 'अन्तरिक्षं वा अपाᳬं सधस्थम्' (श ७।५।२।५७) इति श्रुतेः । अथवा अद्भिः सह विद्युदादयो यत्र मेघे तिष्ठन्ति सोऽयं मेघः सधस्थः, तत्र त्वां सादयामि । अपां योनौ समुद्रे त्वां सादयामि, 'समुद्रो वा अपां योनिः' (श० ७।५।२।५८) इति श्रुतेः । अथवा योनिशब्देन जलमात्रकारणभूतोऽग्निरुच्यते, 'अग्नेरापः' (तै० उप० २।१) इति श्रुतेः । अपां पुरीषे सिकतासु त्वां सादयामि, 'सिकता वा अपां पुरीषम्' (श० ७।५।२।५९) इति श्रुतेः । अपां पाथसि अन्ने त्वां सादयामि, 'अन्नं वा अपां पाथः' (श० ७।५।२।६०) इति श्रुतेः । अथवा पीयते जलं जीमूतैरत्रेति पाथः समुद्रः, तत्र त्वां सादयामि । अतः परं पञ्च यजुर्भिः पञ्च छन्दस्या इष्टका उपदध्यात् । गायत्रेण छन्दसा गायत्री एव गायत्रं तेन त्वां सादयामि । त्रैष्टुभेन त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभं तेन छन्दसा त्वां सादयामि । जागतेन जगती एव जागतं तेन छन्दसा त्वां सादयामि । आनुष्टुभेन अनुष्टुबेव आनुष्टुभं तेन छन्दसा त्वां सादयामि । पाङ्क्तेन पङ्क्तिरेव पाङ्क्तं तेन छन्दसा त्वां सादयामि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'आरुह्याग्निं जघनेन स्वयमातृण्णां परीत्यापस्या उपदधाति । आप एता यदपस्या अथ वा एतेभ्यः पशुभ्य आप उत्क्रान्ता भवन्ति तद्यदपस्या उपदधात्येष्वेवैतत्पशुष्वपो दधात्यनन्तर्हिताः पशुभ्य उपदधात्यनन्तर्हितास्तत्पशुभ्योऽपो दधाति पञ्च पञ्चोपदधाति पञ्च ह्येते पशवः सर्वत उपदधाति सर्वत एवैष्वेतदपो दधाति' (श० ७।५।२।४०) । उपस्थानानन्तरमग्निं पश्चाद्भागेनारुह्य स्वयमातृण्णां प्रदक्षिणीकृत्य गत्वा अपस्याख्या इष्टका उपदध्यादित्याह—आरुह्याग्निमिति । अपस्योपधाने प्रयोजनं दर्शयितुमेतासामबात्मकत्वमाह—आप एता इति । तत्प्रयोजनमाह—अथ वा इति । अथ खलु आलम्भसमये एतेभ्यः पुरुषादिभ्यः पशुभ्य आप उत्क्रान्ता भवन्ति । अतश्च अपस्यानामुपधाने तासामबात्मकत्वादेतेषु पशुष्वपो निहितवान् भवति । तासां पशुशिरःस्वव्यवधानेन उपधानमाह—अनन्तर्हिता इति । एकैकस्मिन् प्रदेशे पञ्च पञ्च उपदध्यादित्याह—पञ्च पञ्चेति । पञ्च पञ्च सर्वासु दिक्षु उपधेया इत्याह—सर्वत इति । 'तद्याः पञ्चदश पूर्वाः । ता अपस्या वज्रो वा आपो वज्रः पञ्चदशस्तस्माद्येनापो यन्त्यपैव तत्र पाप्मानं घ्नन्ति वज्रो हैव तस्यार्धस्य पाप्मानमपहन्ति तस्माद्वर्षत्यप्रावृतो व्रजेदयं मे वज्रः पाप्मानमपहनदिति' (श० ७।५।२।४१) । प्रतिदिशं पञ्चानामुपधाने विंशतिः सम्पद्यन्ते । तत्र याः पञ्चदश पूर्वा इष्टकास्ता अपस्याख्या भवन्तीत्याह—तद्या इति । पञ्चदशसंख्याकानामेव अपस्यात्वमुपपादयति—वज्रो वा इत्यादिना । अपां वज्रत्वं नैशित्यात् पर्यन्तसेवनात् । तदेव श्रूयते—'तस्मादिन्द्रोऽबिभेत् । स प्रजापतिमुपाधावत् शत्रुर्मेऽजनीति । तस्मै वज्रं सिक्त्वा प्रायच्छदेतेन जहीति' (तै० सं० २।५।२।२) इति । पञ्चदशस्य वज्रात्मकत्वं वीर्यवत्त्वात् । तत्पुनः प्रजापतेर्वीर्यवत्प्रदेशादुत्पत्तेः । अत एव श्रूयते—'उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत' इत्यारभ्य—'तस्मात्ते वीर्यवन्तो वीर्याद्ध्यसृज्यन्त' (तै० सं० ७।१।१।५) । यत एवं तस्माद्येन मार्गेण आपो यन्ति तत्र पाप्मानमपघ्नन्त्येव, अपां वज्रत्वात् । वज्र एव खलु तस्य भागस्य पाप्मानमपहन्ति । तस्मात् पापहननादेव वर्षति पर्जन्येऽयं वज्रो मे पाप्मानमपहन्त्वित्यप्रावृत एव व्रजेत् । 'अथ याः पञ्चोत्तराः । ताश्छन्दस्याः पशवो वै छन्दाᳬंस्यन्नं पशवोऽन्नम् पशोर्माᳬंसमथ वा एतेभ्यः पशुभ्यो माᳬंसान्युत्क्रान्तानि भवन्ति तद्यच्छन्दस्या उपदधात्येष्वेवैतत्पशुषु माᳬंसानि दधात्यनन्तर्हिताः पशुभ्य उपदधात्यनन्तर्हितानि तत्पशुभ्यो माᳬंसानि दधात्यन्तरा अपस्या भवन्ति बाह्याश्छन्दस्या अन्तरा ह्यापो बाह्यानि

माꣳसानि' (श० ७।५।२।४२) । अथ या उत्तराः पञ्चेष्टकास्ताश्छन्दस्या इत्याह—अथेति । छन्दस्यानामुपधानेन पशुपूत्क्रान्तमांसप्रतिविधानं भवतीत्याह—पशवो वा इत्यादिना । पशूनां छन्दस्त्वं यज्ञसाधनत्वात्, अथवा जगत्यानीतत्वात्, 'जगत्युदपतच्चतुर्दशाक्षरा सती साऽप्राप्य न्यवर्तत तस्यै द्वे अक्षरे अमीयेतां सा पशुभिश्च दीक्षया चागच्छत्' (तै० सं० ६।१।६।२) इति श्रुतेः । 'अन्नमु पशोर्मांसम्' इत्यनेन अन्नं पशव इत्येतदुपपादितम् । एवं च सति छन्दस्यानां पश्वात्मकत्वेन मांसरूपत्वाद् आलम्भावसरे उत्क्रान्तानि मांसानि पुनरेतेषु निहितवान् भवति । तासामप्यपस्यावदव्यवधानेनोपधानमाह—अनन्तर्हितानीति । अपामुदरमध्यवर्तित्वेन आन्तरत्वाद् मांसानां ततो बाह्यत्वम् । तथैव अपस्या अन्तराश्छन्दस्या बाह्या भवेयुरित्याह—अन्तरा अपस्या इति । उक्तप्रकारेण पशुष्वापो मांसानि च सम्पादितानि, नैतावता तेषां कार्त्स्न्यं सम्पद्यते, किं पुनस्ततोऽपि बाह्ययोस्त्वग्लोम्नोरपि कारणत्वेन अन्नत्वाच्छन्दस्यानां चान्नात्मकत्वस्योक्तत्वात् तदुपधानेनैव तयोरप्युपधानं सम्पादितं भवतीत्यादिकमपि तत्रैव दर्शितमिति ।

'तदाहुः । यदिमा आप एतानि माꣳसान्यथ क्व त्वक् क्व लोमेत्यन्नं वाव पशोस्त्वगन्नं लोम तद्यच्छन्दस्या उपदधाति सैव पशोस्त्वक् तल्लोमाथो यान्यमून्युखायामजलोमानि तानि लोमानि बाह्योखा भवत्यन्तराणि पशुशीर्षाणि बाह्यानि हि लोमान्यन्तर आत्मा यदीतरेण यदीतरेणेति ह स्माह शाण्डिल्यः सर्वानेव वयं कृत्स्नान् पशून् संस्कुर्म इति' (श० ७।५।२।४३) । प्रकारान्तरेण पशूनां लोमसम्पत्तिमाह—अथो इति । कृष्णाजिनलोमादनुबद्धया मृदा उखाया निर्माणात्, उखायां यानि चाजलोमानि सन्ति तान्येव पशूनां लोमानि भवन्ति । लोमाधारत्वेनोखाया अभिधानादुखा लोमानीत्यभिप्रेत्य 'बाह्योखा भवति' इत्यादिनोक्तस्यैवार्थस्योपपादनम् । त्वग्लोमसम्पादने उक्तं पक्षद्वयमप्यभिमतमित्याह—यदीति । यदीतरेण अन्येन प्रकारेण तत्सम्पादनं भवति, तर्हि तथैवास्तु, अथवा इतरेण प्रकारान्तरेण यदि भवति तर्हि तथैवास्तु, इत्यन्योन्यापेक्षया उभयोरपीतरत्वम् । अपस्याद्युपधानेनान्नादिसम्पादनं केन विवक्षितमिति तत्राह—इति स्माह शाण्डिल्य इति । तेनापि केनाभिप्रायेण एवमुक्तमित्यत आह—सर्वानेवेति । सर्वानेव पशून् कृत्स्नान् कार्त्स्न्येन संस्कुर्मः सर्वावयवसम्पादनेन समृद्धान् कुर्म इत्यभिप्रायेण तथोक्तमित्यर्थः । 'यद्वेवापस्या उपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तादाप आयंस्तास्वितास्वविशद्यदविशत् तस्माद्विꣳशतिस्ता अस्याङ्गुलिभ्योऽध्यस्रवन्नन्तो वा अङ्गुलयोऽन्तत एवास्मात्ता आप आयन्' (श० ७।५।२।४४) । प्रकारान्तरेणाप्यस्योपधानं प्रशंसति यद्वेवेति । विस्रस्तावयवात् प्रजापतेराप आयन् निर्गताः । ततस्तासु निर्गतासु अविशत् उपाविशत् । अपां निर्गमने दौर्बल्याद् गन्तुमक्षमस्तथैवोपविष्टवान् । ततश्चोपवेशनसाधनत्वादपस्या विंशतिः सम्पन्नाः । यद्यपि पूर्वं पञ्चदश अपस्या इत्युक्तम्, तथापि छन्दस्यासाहित्येन अत्र विंशतिरित्युक्तम् । सर्वासां वा अपस्याशब्देनाभिधानं भूमलिङ्गात्, सृष्टीरुपदधातीतिवत् । 'स यः स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ या अस्मात्ता आप आयन्नेतास्ता अपस्यास्तद्यदेता उपदधाति या एवास्मात्ता आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मादेता अत्रोपदधाति' (श० ७।५।२।४५) । एवमपि स यः प्रजापतिर्व्यस्रंसत सोऽयमेव य इदानीमग्निश्चीयते । अथ प्रजापतेः सकाशाद् या आपो निर्गतास्ता अपस्याः । ततश्च एतासामत्रोपधाने ततो निर्गता अप एव प्रतिदधाति ।

'अपां त्वेमन् सादयामीति । वायुर्वा अपामेम यदा ह्येवैष इतश्चेतश्च वात्यथापो यन्ति वायौ ताꣳ सादयति' (श० ७।५।२।४६) । क्रमेण तासामुपधाने मन्त्रान् प्रदर्शयन् व्याचष्टे—अपां त्वेमन्नित्यादिना । यदा हि एष वायुरितश्चेतश्च वाति, तदा आपो यन्ति चलन्ति । अतो यन्त्यापोऽनेनेति व्युत्पत्त्या एम

वायुः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति सूत्रेण इणधातोर्व्यत्ययेन करणे मनिन्प्रत्ययः। 'एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम्' (पा० सू० ६।१।७० वा० १) इति 'त्वा एमन्' इत्यवस्थायां पररूपत्वम्। 'अपां त्वोद्मन् सादयामीति। ओषधयो वा अपामोद्म यत्र ह्याप उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो जायन्त ओषधिषु ताᳪ सादयति' (श० ७।५।२।४७)। आपो यत्र देशे उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तत्र ओषधयो जायन्त इत्यधिकरणव्युत्पत्त्या अपामोद्म ओषधयः। 'उन्दी क्लेदने' इत्यस्माद् मनिन्प्रत्यये छान्दसेऽनुनासिकलोपे गुणे च 'ओद्मन्' इति। 'अपां त्वा भस्मन् सादयामीति। अभ्रं वा अपां भस्माभ्रे ताᳪ सादयति' (श० ७।५।२।४८)। अभ्रं मेघः। स चाप्सु निर्गतासु निःसारत्वाद् अपां भस्म इत्युच्यते। एवं भस्म मेघः। भस्मन् इति 'सुपां सुलुक्……' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना सप्तम्या लुक्। 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति नलोपाभावः। एवं मेघे त्वां सादयामीति। 'अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति। विद्युद्वा अपां ज्योतिर्विद्युति ताᳪ सादयति' (श० ७।५।२।४९)। प्रसन्ना कण्डिका। 'अपां त्वायने सादयामीति। इयं वा अपामयनमस्याᳪ ह्यापो यन्त्यस्यां ताᳪ सादयति तद्या अस्यैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधात्यथो एतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति' (श० ७।५।२।५०)। सर्वा अप्यापः पृथिवीमधिष्ठायैव प्रवहन्तीति तत् तदा विस्रंसनावसरे खल्वस्य प्रजापतेरेतेभ्यो वाय्वादिभ्यो रूपेभ्य आपो निर्गताः। तथाविधास्ता अप एव एतस्मिन् प्रजापतौ प्रतिदधाति। न केवलमपामेव प्रतिनिधानम्, अपि तु येभ्यो रूपेभ्य आपो निर्गतास्तेषामपि तदा निर्गतत्वात् तान्यपि पुनरस्मिन् योजयति। उक्तमन्त्रसाध्योपधानाः पञ्चेष्टकाः पूर्वस्यां दिशि उपदध्यात्। एवं वक्ष्यमाणमन्त्रसाध्योपधाना अपोष्टकाः पञ्च पञ्च दक्षिणादिषु दिक्षूपधेयाः।

'अर्णवे त्वा सदने सादयामीति' प्राणो वा अर्णवः प्राणे ताᳪ सादयति' (श० ।५।२।५१)। 'अर्णो जलम्' (निघ० १।१२।१) औणादिकादसुन्प्रत्ययादर्तेर्निष्पन्नात् सान्ताद् अर्णस्शब्दात् 'अर्णसो लोपश्च' (पा० सू० ५।२।१०९ वा० २) इति मत्वर्थीये वप्रत्यये सलोपे चार्णवशब्दसिद्धिः। यदा तु पचाद्यजन्तस्तदा 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (पा० सू० ५।२।१०९ वा० १) इति वप्रत्ययेऽर्णवशब्दसिद्धिः। उभयथापि निगमे प्रयोगः। तथाहि— 'सृजदर्णांस्यव यद्युधा' (ऋ० सं० १।१७४।४), 'अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगासि' (ऋ० सं० ३।२२।३) इति। अर्णवत्वं च प्राणवता जलस्य पीयमानत्वात्। तथा च प्राणे त्वां सादयामीत्यर्थः। 'समुद्रे त्वा सदने सादयामीति। मनो वै समुद्रो मनसो वै समुद्राद्वाचाभ्र्या देवास्त्रयीं विद्यां निरखनंस्तदेष श्लोकोऽभ्युक्तो ये समुद्रान्निरखनन् देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः। सुदेवो अद्य तद्विद्याद्यत्र निर्वपणं दधुरिति मनः समुद्रो वाक् तीक्ष्णाभ्रिस्त्रयी विद्या निर्वपणमेतदेष श्लोकोऽभ्युक्तो मनसि ताᳪ सादयति।' (श० ७।५।२।५२) मनःसमुद्राद्वाचा अभ्र्या देवास्त्रयीं विद्यां निरखनन्निति मन्त्रे मनसि समुद्रशब्दप्रयोग उक्तः। तस्मात् समुद्रे मनसि त्वां सादयामीत्यर्थः। 'सरिरे त्वा सदने सादयामीति। वाग्वै सरिरं वाचि ताᳪ सादयति' (श० ७।५।२।५३)। सरणवत्त्वेन वाक् सलिलं खलु। अतो वाचि तां सादितवान् भवति। 'अपां त्वा क्षये सादयामीति। चक्षुर्वा अपां क्षयस्तत्र हि सर्वदैवापः क्षियन्ति चक्षुषि ताᳪ सादयति' (श० ७।५।२।५४)। तत्र हीति। तत्र चक्षुषि सर्वदैवापः क्षियन्ति निवसन्ति, अतश्चक्षुरपां क्षयः। 'अपां त्वा सधिषि सादयामीति। श्रोत्रं वा अपाᳪ सधिः श्रोत्रे ताᳪ सादयति तद्या अस्यैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधात्यथो एतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति' (श० ७।५।२।५५)। सधिःशब्देन स्थानमुच्यते, श्रोत्रस्यान्तरार्द्रीभावात्। एतच्च तैत्तिरीयके श्रूयते—'तस्मादार्द्रा अन्तरतः प्राणाः' (तै० सं० ६।२।११।२) इति श्रुतौ। 'अपां त्वा सदने सादयामीति। द्यौर्वा अपाᳪ सदनं दिवि ह्यापः सन्ना दिवि ताᳪ सादयति' (श० ७।५।२।५६)। प्रसन्ना कण्डिका।

'अपां त्वा सधस्थे सादयामीति। अन्तरिक्षं वा अपाᳬ सधस्थमन्तरिक्षे ताᳬ सादयति' (श० ७।५।२।५७) । आपोऽस्मिन् सम्भूय तिष्ठन्तीत्यन्तरिक्षमपां सधस्थम्। 'सधमादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति सहशब्दस्य सधादेशः। तत्रान्तरिक्षे त्वां सादयामीति तामन्तरिक्षे सादयति। 'अपां त्वा योनौ सादयामीति। समुद्रो वा अपां योनिः समुद्रे ताᳬ सादयति' (श० ७।५।२।५८) । समुद्रस्य सकाशादपामुत्पत्तेरपां योनिः समुद्रः। 'अपां त्वा पुरीषे सादयामीति। सिकता वा अपां पुरीषᳬ सिकतासु ताᳬ सादयति' (श० ७।५।२।५९) । भक्तस्य निःसारोंऽशो लोके पुरीषशब्दवाच्यः, तद्वत् सिकतानामपि निःसारत्वादपां पुरीषत्वम्। सिकतासु त्वां सादयामीत्यर्थः। 'अपां त्वा पाथसि सादयामीति। अन्नं वा अपां पाथोऽन्ने ताᳬ सादयति तद्या अस्यैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्यथो एतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति' (श० ७।५।२।६०) । पाथः सारांशः। अन्नस्य तत्सम्पाद्यत्वेन तत्सारत्वादन्नमपां पाथः। 'गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि। त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामीति तद्या अस्यैतेभ्यश्छन्दोभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधात्यथो एतान्येवास्मिन्नेतच्छन्दाᳬसि दधाति' (श० ७।५।२।६१) । गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामीत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैरुत्तरस्यां दिशि छन्दस्या उपदध्यात्।

अध्यात्मपक्षे—हे सर्वात्मन् ब्रह्मन्, कर्मलोकहेतुभूतानामपाम् एमन् वायौ त्वां सादयामि स्थापयित्वा तद्रूपेण त्वां चिन्तयामि। अन्यत् सर्वं पूर्ववदूह्यम्। गायत्रेण छन्दसा त्वामुपदधामि गायत्रीच्छन्दसा त्वां सर्वत्र अनुसन्दधामि। त्रैष्टुभेन जागतेन आनुष्टुभेन पाङ्क्तेन च छन्दसा त्वामनुसन्दधामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, शिक्षकोऽहमपां प्राणानां रक्षणे मे मन एति गच्छति तस्मिन् वायौ त्वां सादयामि। अपां जलानां भस्मन् अभ्रे त्वां सादयामि। अपां व्याप्नुवतां विद्युदादीनां ज्योतिषि विद्युति सादयामि। अपामन्तरिक्षस्यायने भूमौ त्वां सादयामि। अर्णवे प्राणे सदने स्थातव्ये त्वा सादयामि। समुद्रे मनसि त्वा सदने गन्तव्ये सादयामि। सरिरे वाचि त्वा सदने प्राप्तव्ये सादयामि·····' इत्यादिकं शतपथानुसारेणैव कण्डिकां व्याख्याति। तत्र हे मनुष्येति सम्बोधनम्, शिक्षकोऽहमित्यादिकं तु निर्मूलमेव। मनुष्यस्य तत्र तत्र सादनायोगाच्च गायत्रेण गायत्रीनिर्मितेन छन्दसा स्वच्छेनार्थे सादयामीत्यादिकमपि निर्मूलमेव, गायत्रीनिर्मितस्वच्छार्थस्याद्याप्यनिरूपणात्। सादयामि नियोजयामीत्यपि निर्मूलमेव ॥ ५३ ॥

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनो गायत्री वासन्ती गायत्र्यै गायत्रङ्गायत्रादुपाᳬशुरुपाᳬशोस्त्रिवृत् त्रिवृतो रथन्तरं वसिष्ठ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके, जो यह सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला अग्नि है, तू उसके रूप वाली है। प्राण उस भुव नामक अग्नि की सन्तान है। प्राण का पुत्र वसन्त ऋतु है। वसन्त की सन्तान गायत्री है। गायत्री से गायत्र साम उत्पन्न होता है। गायत्र साम से उपांशु ग्रह उत्पन्न हुआ है। उपांशु ग्रह से त्रिवृत् स्तोम और त्रिवृत् स्तोम से रथन्तर साम उत्पन्न हुआ है। सभी जन्तुओं में अधिष्ठित सर्वाधार वसिष्ठ रूप प्राण सबको जानता है। हे इष्टके, तुम प्रजापति के द्वारा गृहीत हो, तुम्हारी सहायता से मैं प्रजा के नीरोग प्राण-लाभ के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ॥ ५४ ॥

'व्याघारणवत् प्राणभृतः कर्णसहिता दश दश पुरुषमुपार्प्यैके रेतःसिग्वेलायां च सर्वतो यथायोगमयं पर इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।६।३)। ततो व्याघारणहोमक्रमेण प्राणभृत्संज्ञका इष्टकाः प्रथमं दक्षिणेंऽसे तत उत्तरश्रोण्यां ततो दक्षिणश्रोण्यां तत उत्तरेंऽसे ततो मध्ये—अनेन क्रमेण चतुर्ष्वप्यक्ष्णयादेशेषु संल्लग्ना मध्ये च दश दश प्राणभृत उपदध्यात्। तत दक्षिणांसोत्तरश्रोण्योरक्ष्णयादेशे प्राणभृतः प्राग्लक्षणा भवन्ति, दक्षिण-श्रोण्युत्तरांसयोरक्ष्णयादेशे चोदग्लक्षणाः। दक्षिणांसप्राणभृतां या दशमी स्वयमातृण्णासंल्लग्ना सा अर्धपद्या। उत्तरांसप्राणभृतां च या दशमी स्वयमातृण्णासंल्लग्ना सा तिरश्चालिखिता। तथा दक्षिणोत्तरश्रोण्योर्ये दशम्यौ स्वयमातृण्णासंलग्ने, ते द्वे अपि पादोने पादभागेन ऊने पद्ये इत्यर्थः। शेषाः षट्चत्वारिंशत् पद्या एव भवन्ति। तत्र प्रथमं दक्षिणांसकोणादारभ्य प्राङ्मुख उपविष्ट एवोपसृत्योपसृत्य स्वयमातृण्णापर्यन्ता दश प्राणभृत उपदधाति। तत्रायं पुरो भव इति प्रथमाम्, तस्य प्राण इति द्वितीयाम्, वसन्त इति तृतीयाम्, गायत्रीति चतुर्थीम्, गायत्र्या इति पञ्चमीम्, गायत्रादिति षष्ठीम्, उपांशोरिति सप्तमीम्, त्रिवृत इत्यष्टमीम्, वसिष्ठ इति नवमीम्, प्रजापतिगृहीतयेति दशमीं स्वयमातृण्णासहितामर्धपद्याम्। ततः सक्थ्निस्ये दशसु। तत उत्तरश्रोणेरारभ्य स्वयमातृण्णापर्यन्तं दश प्राणभृतः पश्चिमाभिमुखोऽपसृत्यापसृत्योपदध्यादिति प्रक्रियासहितः सूत्रार्थ इति विद्याधरः। सूत्रार्थस्तु—ततो व्याघारणवद् दक्षिणेंऽसे उत्तरश्रोण्यां दक्षिणश्रोण्यामुत्तरेंऽसे मध्ये च कर्णसंल्लग्नाः कोणादारभ्य स्वयमातृण्णापर्यन्तं दश दश प्राणभृत्संज्ञका इष्टका उपदध्यात्। एके आचार्याः पुरुषसमीपे प्रथमामुपधाय ततोऽक्ष्णयादेशे कोणपर्यन्तमुपधानमिच्छन्ति। अपरे तु कोणादारभ्य पुरुषपर्यन्तमिति दश प्राणभृतो रेतःसिग्वेलायां सर्वासु दिक्षु यथायोगमुपदध्यादिति वदन्ति। एवं चतुर्ष्वक्ष्णयादेशेषु चत्वारिंशत्प्राणभृत उपहिताः। अवशिष्टा दश। तासां दशानां मध्ये चतुर्ष्वपि स्थानेषु अक्ष्णयासंल्लग्ने द्वे द्वे। एवमष्टौ। पश्चादनूकमभितश्च द्वे। एवं दश।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्राणभृत उपदधाति। प्राणा वै प्राणभृतः प्राणानेवैतदुपदधाति ताः प्रथमायां चिता उपदधाति पूर्वार्धे एषोऽग्नेर्यत्प्रथमा चितिः पुरस्तात् तत्प्राणान् दधाति तस्मादिमे पुरस्तात् प्राणाः' (श० ८।१।१।१)। प्रथमचितौ प्राणभृदुपधानं विधत्ते—प्राणभृत उपदधातीति। प्राणान् बिभर्ति शरीरे धारयत्याभिरिति प्राणभृत इष्टकाः, प्राणलिङ्गोपेतमन्त्रोपधानाद्वा प्राणभृत इष्टकाः। श्रुत्या तु प्रकारान्तरेणापि निर्वचनमग्रे करिष्यते। ता उपदध्यादित्यर्थः। तदेतत्प्रशंसति—प्राणा वा इति। याः प्राणभृदाख्या इष्टकास्ताश्चक्षुरादिप्राणात्मिकाः खलु। तथा च एतद् एतेन प्राणभृदुपधानेनाग्नौ प्राणानेव स्थापितवान् भवति। प्रथमचितिरग्निशरीरस्य पूर्वो भागः। तत्र प्राणभृतामुपधानेन प्राणानेव स्थापयतीति। 'ता दशदशोपदधाति। दश वै प्राणा यदु वा अपि बहुकृत्वो दश दश दशैव तत्पञ्चकृत्वो दशदशोपदधाति पञ्च वा एतान् पशूनुपदधाति दशदश वा एकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु प्राणान् दधात्यनन्तर्हिता पशुभ्य उपदधात्यनन्तर्हितांस्तत्पशुभ्यः प्राणान् दधाति सर्वत उपदधाति सर्वत एवैष्वेतत् प्राणान् दधाति' (श० ८।१।१।२)। ताः पञ्चाशत्संख्याकाः प्राणभृतो दशदशोपधेयाः। दशसंख्याकाः खलु प्राणाः सप्त शीर्षण्याः, द्वाववाञ्चौ, नाभिर्दशमीति। अतः संख्यासाम्यात् तासामिष्टकानां प्राणरूपता सिद्धेति। यदु वेत्यादि। यद् यद्यपि बहुकृत्वो बहुवारं दशसंख्याका इष्टका उपधीयन्ते, तथापि विभज्यमानाः सत्यस्ताः प्राणभृतो दशैव सम्पद्यन्ते। दशसङ्ख्यातानां संख्यां विधाय स्तौति—पञ्चकृत्वो दशदशोपदधातीति। पञ्चसंख्याकान् हि पशून् अयमध्वर्युरुपदधाति। तेष्वेकैकस्मिन् पशौ दश दश प्राणाः। तान् तथा सत्येषु सर्वेषु पञ्चस्वपि पशुषु प्रत्येकं दश दश प्राणान् स्थापितवान् भवतीत्यर्थः। उपहितानां पशुशीर्षाणां समीपे तासामुपधानं विधाय स्तौति—अनन्तर्हिताः पशुभ्य इति। पशुभ्यः पशुशीर्षेभ्यः सकाशादनन्तर्हिता अव्यवहितास्तत् तेन पशुभ्योऽनन्तर्हितानव्यवहितानेव प्राणान्

स्थापयति । प्राच्याद्यासु पञ्चसु दिक्षु तासामुपधानं विधत्ते— सर्वत उपदधातीति । सर्वतः सर्वासु दिक्षु दश दशोपदध्यात् । सर्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः । स्पष्टमन्यत् ।

'यद्वेव प्राणभृत उपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तात् प्राणा उदक्रामन् देवता भूत्वा तानब्रवीदुप मेत प्रति म एतद्धत्त येन मे यूयमुदक्रमिष्टेति स वै तदन्नꣳ सृजस्व यत्ते वयं पश्यन्त उपवसामेति ते वा उभये सृजामहा इति तथेति प्राणाश्च प्रजापतिश्चैतदन्नमसृजन्तैताः प्राणभृतः' (श० ८।१।१।३)। प्राणभृत उपधानं प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेव प्राणभृत उपदधातीति । विस्रस्ताद् विश्लिष्टावयवात् प्रजापतेः सकाशात् प्राणा उत्क्रान्ताः । केन रूपेणेति ? देवता भूत्वेति । अग्न्याद्यधिष्ठातृदेवतारूपं प्राप्येत्यर्थः । प्रजापतिस्तानब्रवीत्—हे प्राणाः, यूयं मा माम् उपेत उपगच्छत मे मदीयमेतदङ्गं प्रतिधत्त व्यवहारयोग्यं संस्कुरुत । येन विस्रस्तेन हेतुना यूयमुदक्रमिष्ट उत्क्रान्ता अभूत तद्यथापूर्वं कुरुत । एवं प्रार्थितानां प्राणानां वाक्यम्—स वै तदन्नमित्यादि । हे प्रजापते, स तादृशस्त्वमस्मदर्थमन्नं सृजस्व । ते तव सम्बन्धि सृष्टमन्नं पश्यन्तो वयं तव समीपे उपवसाम उपविशाम इति । अथ प्रजापतिस्तानब्रवीत् । ते तथाविधा उभये उभयविधा अहं च यूयं च मिलिताः सन्तस्तदन्नं सृजामहा इति प्रार्थितवान् । तेऽपि तथेत्यङ्गीचक्रुः । तदनन्तरं ते प्राणाः प्रजापतिश्च सम्भूय प्राणभृदिष्टकारूपमन्नमसृजन्तेत्यर्थः ।

तत्र पञ्चाशद्यजूंषि प्राणभृदिष्टकादेवत्यानि प्रतिकण्डिकं दश दश । प्रथमं दशकं दक्षिणेंऽसे । योऽयं पुरोभुवश्चाग्निर्वर्तते हे इष्टके ! त्वं तद्रूपासि । प्राण एवाग्निर्भूत्वा पुरस्तिष्ठति । अतोऽग्निरूपां त्वामुपदधामीति शेषः । अथवा भवत्यस्माज्जगदिति भुवःशब्दः प्रजापतिमाचष्टे । पुरः पूर्वस्यां दिश्ययं भुवः प्रजापतिर्वर्तत इति शेषः । हे इष्टके, त्वं तद्रूपासीति । एवमुत्तरेषु योज्यम् । तथा भुवःशब्दाभिधेयस्य प्रजापतेः सम्बन्धी प्राणः । अत एव तत्रापत्यत्वमुपचर्यते । भुवोऽपत्यं भौवायनः । तस्य प्राणस्य श्वासवृत्तिरूपस्यापत्यत्वेनोपचरितः प्राणायनो वसन्त ऋतुः । तस्य च वसन्तस्य सम्बन्धिनी गायत्री । तस्याश्छन्दोरूपाया गायत्र्या सम्बन्धि गायत्रं साम । तस्माच्च गायत्रसाम्न इवोपांशुग्रहः । तस्माच्चोपांशुग्रहादुत्पन्नमिव त्रिवृत्स्तोमम् । तस्मात् त्रिवृत्स्तोमादुत्पन्नं रथन्तरं साम । यो वसिष्ठ ऋषिस्तद्रूपासि । हे इष्टके, यथोक्तप्रकारेण प्रजापतिप्राणवसन्तादिरूपोपचारेण प्रजापतिगृहीतया त्वया प्रजाभ्यः सर्वासां प्रजानां प्राणं गृह्णामि, प्रजानां प्राणसिद्धये त्वां गृह्णामीत्यर्थः । यद्यप्यनेकवाक्यत्वाभावादेक एव मन्त्रः, तथापि प्रतीष्टकमावृत्त्या दश मन्त्राः सम्पद्यन्त इति कण्डिकार्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'स पुरस्तादुपदधाति । अयं पुरो भुव इत्यग्निर्वै पुरस्तात्तमाह पुर इति प्राञ्चꣳ ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्त्यथ यद्भुव इत्याहाग्निर्वै भुवोऽग्नेर्हीदꣳ सर्वं भवति प्राणो हाग्निर्भूत्वा पुरस्तात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।१।१।४)। अथ प्राच्यां दिशि प्राणभृदुपधानं समन्त्रकं विधत्ते—स पुरस्तादिति । पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि । सप्तम्यर्थेऽस्तातिः । अत्र 'पञ्चाशदिष्टकाः पञ्चाशद्यजूंषि' इति वचनात् खण्डशः पञ्चाशद्धा विभक्ता मन्त्राः प्रयोक्तव्या इत्येकः पक्षः । विभक्तानां मन्त्रभागानामपरिसमाप्तार्थत्वात् पञ्चैव मन्त्राः, पञ्चाशत्संख्या त्वावृत्त्या पूरणीयेति पक्षान्तरम् । कर्काचार्यरीत्या त्वन्तिम एव पक्षो ज्यायान् । तथा च तद्वचनम्—'अत्र चैके खण्डशो मन्त्रान् प्रयुञ्जते, पञ्चाशदिष्टकाः पञ्चाशद्यजूंषीति वचनात् । तत्पुनरयुक्तम्, वाक्यानामपरिसमाप्तत्वात् । कथं तर्हि यजुषां पञ्चाशत्त्वम् ? अभ्यासेनेत्यदोषः, लिङ्गाच्च । कथमस्यैताः सर्वाः प्राजापत्या भवन्तीति प्रकृत्याह—यदेव सर्वास्वाह । प्रजापतिगृहीतया त्वयेत्येवमु हास्यैताः सर्वाः प्रजापत्या भवन्ति । तस्मात् सकलमन्त्रप्रयोगो न खण्डशः' इति । सायणाचार्यस्तु पक्षद्वयमेतदुपस्थाप्य प्रथमं प्रथमपक्षानुसारं व्याख्याति । तथाहि—'अयं पुरो भुवः' इत्याद्याः पूर्वस्यां दिशि प्राणभृदुपधानमन्त्राः । 'अग्निर्वै पुरः' इति पूर्वदिग्वाचिना पुरःशब्देन तत्सम्बद्धोऽग्निरत्र विवक्षित इत्यर्थः । तदेवोपपादयति—तद्यत्तमाहेति ।

तत् तत्र यद् यस्मात् तमग्निं पुर इत्याह पुरःशब्दवाच्यतया प्रतिपादयति, तत्कारणमभिधीयत इति शेषः। प्राञ्चं हीत्यादिना तत्कारणवर्णनम्। प्राञ्चं पूर्वदिगभिमुखमग्निमाहवनीयात्मना उद्धरन्ति। तथा प्राञ्चं प्रागपवर्गमुपचरन्ति, अग्निपरिचर्यां कुर्वन्ति हि यस्मात्, तस्मात् पुरःशब्देनाग्निरभिधीयत इत्यर्थः। पक्षान्तरमनूद्य व्याचष्टे—अथ यद्भुव इति। भवत्यस्मादिति व्युत्पत्त्या भवःशब्दोऽग्निवचनः। उक्तार्थपरतामाह—प्राणो हेति। प्राणवायुरेव ह्यग्निर्भूत्वा पुरस्तात् पूर्वस्यां दिश्याहवनीयात्मना तस्थौ स्थितवान्। तत् तेनाग्न्यात्मकं प्राणमेवोपहितवान् भवति। एवं पुरस्तादुपधीयते, प्रागुद्ध्रियते प्राङुपचर्यत इति पुरोऽग्निः। अतो हे इष्टके, प्राणात्मकाग्निरूपां त्वामुपदधामीति शेष इति प्रथममन्त्रार्थः।

'तस्य प्राणो भौवायन इति। प्राणं तस्माद्रूपादग्नेर्निरमिमीत वसन्तः प्राणायन इति वसन्तमृतुं प्राणान्निरमिमीत गायत्री वासन्तीति गायत्रीं छन्दो वसन्तादृतोर्निरमिमीत गायत्र्यै गायत्रमिति गायत्र्यै छन्दसो गायत्रꣳ साम निरमिमीत गायत्रादुपाꣳशुरिति गायत्रात् साम्न उपाꣳशुं ग्रहं निरमिमीतोपाꣳशोस्त्रिवृदित्युपाꣳशोर्ग्रहात् त्रिवृतꣳ स्तोमं निरमिमीत त्रिवृतो रथन्तरमिति त्रिवृतः स्तोमाद् रथन्तरं पृष्ठं निरमिमीत' (श० ८।१।१।५)। द्वितीयं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—तस्य प्राण इति। भवति सर्वरूपेणेति भुवोऽग्निः, अथवा भवति सर्वमस्मादिति भवोऽग्निः। अग्निरूपेणेष्टका ध्येयेति। भुवस्यापत्यं भौवायनः। स च प्राणस्याग्नेरनन्तरमुत्पन्नः। प्राणं तस्मादिति। तस्मात्प्रथममन्त्रप्रतिपाद्यादग्न्यात्मकाद् रूपात् प्राणं निरमिमीत निर्मितवान् सृष्टवान् भवतीत्यर्थः। 'वसन्तः प्राणायनः' इति तृतीयो मन्त्रः। प्राणस्यापत्यं प्राणायनः। अत्र पूर्वपूर्वमन्त्रप्रतिपाद्यादुत्तरोत्तरमन्त्रप्रतिपाद्यानामुत्पत्तिरिति प्रकरणार्थः। स च प्राणसृष्टो वसन्तः। हे इष्टके, तदात्मिकां त्वामुपदधामीति सर्वत्र योजना। प्राणायन इत्यनेन प्राणाद्वसन्तमृतुं सृष्टवान् इत्यर्थः सिद्धः। वसन्तादुत्पन्नत्वाद् गायत्री वासन्ती। तदेवाह—गायत्रीमिति। गायत्र्याः सकाशाद् गायत्र्याख्यं साम सृष्टम्। तदाह—गायत्र्यै छन्दस इति। षष्ठ्यर्थे 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' (पा० सू० २।३।६२ वा० १) इति चतुर्थी। तस्माच्च गायत्र्याख्यात् साम्न उपांशुनामको ग्रहो निर्मितः। तदाह—गायत्र्यात् साम्न उपांशुमिति। स्तोत्रियानवकात्मकः स्तोमस्त्रिवृत्। स च उपांशोर्निर्मितः। तदाह—उपांशोर्ग्रहात् त्रिवृतमिति। तस्मात् त्रिवृतो रथन्तराख्यं साम निर्मितम्। पृष्ठस्तोत्रस्य निष्पादकत्वाद् रथन्तरं साम पृष्ठम्।

'वसिष्ठ ऋषिरिति। प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येतत्प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्य इति प्राणं पुरस्तात् प्रापादयत नानोपदधाति ये नाना कामाः प्राणे तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तत्प्राणं करोत्यथ यन्नाना सादयेत् प्राणꣳ ह विच्छिन्द्यात् सैषा त्रिवृदिष्टका यजुः सादनꣳ सूददोहास्तत् त्रिवृत् त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्कृत्वोपदधाति' (श० ८।१।१।६)। तस्याद्वसिष्ठ ऋषिरुत्पन्नः। तस्य वसिष्ठस्य स्वरूपमाह—प्राणो वा इति। देहस्थितिहेतुत्वेनेन्द्रियाणां वासयितृत्वेन वसिष्ठ इति प्राण एवोच्यते। तदेवाह—यद्वा इति। यद्वै यस्मादेव नु निश्चितमिन्द्रियाणां मध्ये प्राणः श्रेष्ठः, अनुग्रहीतृत्वात्। तदनुगृहीतानि हीन्द्रियाणि स्वस्वव्यापारं कर्तुं प्रभवन्ति। तेन श्रेष्ठगुणयोगेन प्राणो वसिष्ठो जातः। पक्षान्तरमाह—अथो इति। यद् यस्मात् प्राणो वस्तृतमोऽतिशयेन वासयिता सन् शरीरे वर्तते, तेनैव कारणेन वसिष्ठः। वस्तृशब्दादातिशायनिकेऽर्थे 'तुश्छन्दसि' (पा० सू० ५।३।५९) इतीष्ठनि 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृशब्दस्य लोपे वसिष्ठ इति रूपम्। प्रजापतिगृहीतयेति दशमो मन्त्रः। तं व्याचष्टे—प्रजापतिसृष्टयेति। कर्तृविशेषोपादानसामर्थ्यादत्र ग्रहिः सृज्यर्थकः। हे इष्टके, प्रजापतिसृष्टया त्वया प्रजाभ्यः सर्वप्रजार्थं प्राणं गृह्णामि सृजामि। प्रजापतिरनेन प्राणं पूर्वस्यां दिशि प्रापादयत

प्रावेशयत्, यजमानोऽप्यनेन मन्त्रेण प्राणं प्रपादयति प्रवेशयतीत्यर्थः। दशानां पूर्वदिगुपधेयानां प्राणभृतामुपधानस्य पृथक्त्वं विधाय स्तौति—नानोपदधातीति। ये नाना कामा इति। प्राणाख्ये वायौ ये नानाविधफलविषयाः कामाः सन्ति, तान् तेनोपधानेन स्थापितवान् भवतीत्यर्थः। सादनस्याप्युपधानवत् प्रसक्तं नानात्वं व्यावर्तयति—सकृत्सादयतीति। तत् तेन सकृत्सादनेन प्राणमेकमविच्छिन्नं करोति। व्यतिरेके बाधं दर्शयति—अथ यन्नाना सादयेदिति। पार्थक्येन सादने त्रिवृत्त्वसम्पत्तिविघातः स्यादित्यर्थः। त्रिवृत्त्वं विवृणोति—सैषेत्यादिना। सैषा प्राणभृदिष्टका त्रिवृत् त्रिगुणा। त्रैगुण्यमेव दर्शयति—यजुरिति। तत्तदुपधानमन्त्रो यजुः, तया देवतयेत्येतत्सादनम्, ता अस्येति सूददोहाः। तदेतत् त्रितयं मिलितं सत् त्रिवृत्। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—अनया कण्डिकया परमेश्वरस्य सार्वात्म्यमुच्यते। अयं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नः परमेश्वरः पुरो भुव आहवनीयाग्निरूपः। शेषं पूर्ववत्। पुरोभुवाग्निभौवायनप्राणादिवसिष्ठऋषिपर्यन्तः कार्यकारणभावेन प्रसिद्धः सकलोऽपि वैदिकः पदार्थजातोऽयं परमेश्वर एव, तज्जत्वात्। हे प्रज्ञे, प्रजापतिगृहीतया प्रजापतिनानुगृहीतया त्वयाऽहं प्रजाभ्यः प्रजाहितार्थं प्राणं प्राणस्यापि प्राणं परमात्मानं गृह्णामि हृदये धारयामि, 'प्राणस्तथानुगमात्' (ब्र० सू० १।१।२८) इति न्यायात्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यथायं पुरो भुवः पुरः पूर्वं यो भवति सोऽग्निस्तस्य भौवायनो भुवेन सत्तारूपेण कारणेन निर्वृत्तः प्राणो येन प्राणिति, स प्राणायनो प्राणा निर्वृत्ता यस्मात्। वसन्तो यः सुगन्धादिभिर्वासयति। वासन्ती वसन्तस्य व्याख्यात्री गायत्री या गायन्तं त्रायते सा। गायत्र्यै गायत्र्याः। गायत्रं गायत्र्येव छन्दः। गायत्रादुपांशु उपांशुगृहीता। उपांशोस्त्रिवृद् यस्त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैर्वर्तते सः। त्रिवृतो रथन्तरं यद्रथं रमणीयैस्तारयति तत्। वसिष्ठ ऋषिश्च प्रजापतिगृहीतया स्त्रिया तया त्वया सह प्रजाभ्यः प्राणं गृह्णाति, तथा त्वया साकमहं प्रजाभ्यो बलं गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रियाः सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। भौवायनः प्राणः प्राणायन इत्यादीनामपि व्याख्यानं तथाविधमेव। न चाग्नेः प्रथमभुवत्वम्, वाय्वाकाशयोः ततः प्राग्भावित्वात्, श्रुतिविरोधाच्च। श्रुतौ तु प्राञ्चं ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्तीत्यादिना पूर्वादिकसम्बन्धेन पुरोभुवत्वमुक्तम्। 'अथ दक्षिणतः' (श० ८।१।१।७), 'अथ पश्चात्तात्' (श० ८।१।२।१), 'अथोत्तरतः' (श० ८।१।२।४) इति श्रुतिषु दिशामेव प्रसङ्ग उक्तः। भुवेन सत्तारूपेण कारणेन निर्वृत्त इत्यपि रिक्तं वचः, सर्वस्यैव वस्तुजातस्य तथात्वात्। नह्यसिद्धेन कारणेन किञ्चिदुत्पद्यते। यः सुगन्धादिभिर्वासयति स वसन्तः, प्राणा निर्वृत्ता यस्माद् इत्यादिकमपि निःसारमेव। वसन्तस्य व्याख्यात्री गायत्रीत्यादिकमपि तथाविधमेव, निर्मूलत्वात्। त्रिवृद्रथन्तरादिव्याख्यानमप्येतादृशमनाघ्रातवेदार्थगन्धस्यैव शोभते, शतपथे पूर्वोक्तरीत्या तद्व्याख्यानात् ॥ ५४ ॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणं ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुब्ग्रैष्मी त्रिष्टुभः स्वारꣳ स्वारादन्तर्यामोऽन्तर्यामात् पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद् भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—इस इष्टका को विश्व का निर्माता विश्वकर्मा नाम से प्रसिद्ध देवता दक्षिण दिशा से आर्यावर्त में वहन करता है। मन उस विश्वकर्मा का अपत्य है। ग्रीष्म ऋतु मन का अपत्य है। त्रिष्टुप् छन्द ग्रीष्म ऋतु से प्रकट होता है। त्रिष्टुप् छन्द से स्वार नामक साम प्रकट होता है। स्वार साम से अन्तर्याम ग्रह, अन्तर्याम से पंचदश स्तोम और पंचदश स्तोम से बृहत् साम प्रकट होता है। अन्न को धारण करने वाला मन सचेतन है। हे इष्टके, तुम प्रजापति द्वारा सादर गृहीत हो। तुम्हारी सहायता से मैं प्रजाओं का मन ग्रहण करता हूँ ॥ ५५ ॥

एभिर्मन्त्रैस्तृतीयं दशकं दक्षिणश्रोणेरारभ्योपधेयम्। विश्वकर्मा विश्वानि कर्माणि जगद्व्यापारादीनि यस्यासौ। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। अथवा विश्वं सर्वं करोति सृजतीति विश्वकर्मा वायुः। अयं दक्षिणा दक्षिणस्यां दिश्यार्यावर्ताद् भूयो वाति। तद्रूपां त्वां सादयामि। तस्य विश्वकर्मणोऽपत्यं मनः। अत एव वैश्वकर्मणं 'तस्येदम्' (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यणि 'इनण्यनपत्ये' (पा० सू० ६।४।१६४) इति प्रकृतिभावे टिलोपाभावाद् रूपम्। मनोरूपां त्वां सादयामि। मनसोऽपत्यं ग्रीष्म ऋतुर्मानसः। मानसग्रीष्मरूपां सादयामि। ग्रैष्मी त्रिष्टुप्, ग्रीष्मस्येयं ग्रैष्मी ग्रीष्मोत्पन्ना त्रिष्टुप्छन्दः। तद्रूपां त्वां सादयामि। त्रिष्टुभ उत्पन्नं स्वारं साम। तद्रूपां त्वां सादयामि। स्वारादुत्पन्नोऽन्तर्यामग्रहः। तद्रूपां त्वां सादयामि। अन्तर्यामादुत्पन्नः पञ्चदशः स्तोमः। तद्रूपां त्वां सादयामि। पञ्चदशस्तोमादुत्पन्नं बृहत्पृष्ठम्। तद्रूपां त्वां सादयामि। भरद्वाज ऋषिर्बिभर्तीति भरन्, भरन् वाजमन्नं यः स भरद्वाजोऽन्नधर्ता मनः, मनसि स्वस्थे ह्यन्नादनेच्छोत्पत्तेः। ऋषिः सचेतनो मनोरूपः। तद्रूपां त्वां सादयामि। तथा च श्रुतिः—'मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः' (श० ८।१।१।९) इति। प्रजापतिगृहीतया धातृसृष्टया त्वयेष्टकया प्रजाभ्यो मनो गृह्णामि। एभिर्दशभिर्मन्त्रैर्मन एव गृह्णामीत्यर्थः।

तथा चात्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणतः। अयं दक्षिणा विश्वकर्मेत्ययं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवत एष हीदꣳ सर्वं करोति तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति मनो ह वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।१।१।७)। दक्षिणस्यां दिश्युपधेयानां प्राणभृतां मन्त्रान् विधाय व्याचष्टे—अथ दक्षिणत इति। पुरस्तादुपधानानन्तरं दक्षिणस्यां दिशि 'अयं दक्षिणा' इत्यादिभिर्मन्त्रैर्दश प्राणभृत उपदध्यादित्यर्थः। अयं वै वायुरिति। योऽयमन्तरिक्षे पवते सञ्चरति सोऽयं वायुर्विश्वकर्मा विश्वं सर्वं जगत् कर्म कर्तव्यं यस्य सूत्रात्मनो वायोः सः। श्रूयते हि—'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्, वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि' (श० १४।६।७।६) इति। क्रियाशक्त्यात्मनाऽवस्थित एष खलु वायुरिदं सर्वं करोति। तस्माद्विश्वकर्मोच्यते। तत् तत्र तं वायुं दक्षिणेति दक्षिणदिग्वाचिना शब्देन यद् यस्मादाह, तस्मादेष वायुः प्राणः सन् दक्षिणैव शरीरस्य दक्षिणभाग एव भूयिष्ठमधिकतरं वाति सञ्चरते। मनो ह वायुर्भूत्वेत्यादि। सुखापरोक्ष्यसाधनमान्तरमिन्द्रियं मनः। तत्खलु प्राणवायुर्भूत्वा दक्षिणतो देहस्य दक्षिणभागे तस्थौ स्थितवत्। तस्मात्तदेव वाय्वात्मकं मनसो रूपमुपहितवान् भवति। 'तस्य मनो वैश्वकर्मणमिति। मनस्तस्माद्रूपाद्वायोर्निरमिमीत ग्रीष्मो मानस इति ग्रीष्ममृतुं मनसो निरमिमीत त्रिष्टुब् ग्रैष्मीति त्रिष्टुभं छन्दो ग्रीष्मादृतोर्निरमिमीत त्रिष्टुभः स्वारमिति त्रिष्टुभश्छन्दसः स्वारꣳ साम निरमिमीत स्वारादन्तर्याम इति स्वारात् साम्नोऽन्तर्यामं ग्रहं निरमिमीतान्तर्यामात् पञ्चदश इत्यन्तर्यामाद् ग्रहात् पञ्चदशꣳ स्तोमं निरमिमीत पञ्चदशात् बृहदिति पञ्चदशात् स्तोमाद् बृहत्पृष्ठं निरमिमीत' (श० ८।१।१।८)। तस्य मनो वैश्वकर्मणमिति। द्वितीयदशकस्य द्वितीयमन्त्रः। विश्वकर्मसंज्ञकाद् वायोर्जातं मनो वैश्वकर्मणम्। हे इष्टके, तद्रूपां त्वामुपदधामीति शेषः। एतन्मन्त्रप्रयोगेण तस्माद् विश्वकर्मसंज्ञकाद्वायोर्मन इन्द्रियं सृष्टवान्। ग्रीष्मो मानस इति तृतीयेन मन्त्रेण ग्रीष्माख्यमृतुं मनसः सकाशान्निर्मितवान्। ग्रीष्मादुत्पन्नं छन्दस्त्रिष्टुप्। त्रिष्टुप् च ग्रैष्मी। त्रिष्टुबादीनां स्त्रीलिङ्गत्वाद् ग्रैष्मीति। तथा च ग्रीष्मादृतोः सकाशात् त्रिष्टुबाख्यं छन्दो निर्मितवान्। त्रिष्टुभः स्वारमिति पञ्चमो मन्त्रः। स्वरसंज्ञकैरकारादिभिरेव वर्णैः समाप्यमानं साम स्वारम्, तदुत्पन्नमित्यर्थः। अन्तर्यामपदेन सोमग्रहः। पञ्चदशभिः स्तोत्रियाभिर्ऋग्भिर्निष्पाद्यः स्तोमः पञ्चदशः। बृहत्पृष्ठमिति। 'त्वामिद्धि हवामहे' इत्यस्यामृच्युत्पन्नं साम बृहत्। तच्च पृष्ठस्तोत्ररूपेण प्रयुज्यमानत्वात् पृष्ठम्।

'भरद्वाज ऋषिरिति । मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति । तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येतन्मनो गृह्णामि प्रजाभ्य इति मनो दक्षिणतः प्रापादयत नानोपदधाति ये नाना कामा मनसि तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तन्मनः करोत्यथ यन्नाना सादयेन्मनो ह विच्छिन्द्यात् सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।१।१।९) । भरद्वाज ऋषिरिति नवमो मन्त्रस्तं व्याचष्टे—मनो वा इति । एतन्निर्ब्रूते—अन्नं वाज इति । यः खलु प्राणी मनो बिभर्ति धारयति जीवनविशिष्टो भवतीत्यर्थः, स च वाजाख्यमन्नं भरति देहे धत्ते । तस्माद् भरणाद् वाजेन धार्यमाणत्वाच्च भरन् ध्रियमाणो वाजश्च यस्येति व्युत्पत्त्या मन एव भरद्वाज ऋषिः । मनो गृह्णामि प्रजाभ्य इत्यनेन मन्त्रभागेन दक्षिणदिशि प्राणमृदुपधानं कुर्वन् प्रजापतिर्दक्षिणतः शरीरस्य दक्षिणभागे मनः प्रापादयत प्रावेशयत् । उपधानस्य नानात्वं सादनस्य सकृत्त्वं पूर्ववद्विधाय स्तौति—नानोपदधातीत्यादिना । मनसि स्थिता ये नानाविधाः कामा अभिलाषविशेषाः, तांस्तत्र मनसि स्थापयति । एकं तन्मन इति । तत् तेन मनःसादनसकृत्त्वेन एकमविच्छिन्नं मनः सम्पादयति । पृथक्सादने तु दोषविशेषमाह—यन्नाना सादयेदिति । सैषा दशमीष्टका त्रिवृत् । स्पष्टार्थमन्यत् ।

अध्यात्मपक्षे अयं परमेश्वराभिन्नः प्रत्यगात्मा दक्षिणा दक्षिणस्यां दिशि विश्वकर्मा हिरण्यगर्भरूपो वायुः । शेषं पूर्ववदूह्यम् । प्रजापतिगृहीतया त्वया बुद्धया अहं प्रजाभ्यो मनो मनसो मनः परमात्मानं गृह्णामि ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यथा दक्षिणा दक्षिणतोऽयं विश्वकर्मा वायुरिवास्ति, तस्य वैश्वकर्मणं मनो यस्माद् विश्वानि कर्माणि निर्वृत्तानि भवन्ति, तद् मानसो मनस ऊष्मेव वर्तमानो ग्रीष्मो यो रसान् ग्रसते सः । ग्रैष्मी ग्रीष्मर्तुव्याख्यात्री ऋक् । त्रिष्टुप् छन्दः । त्रिष्टुभश्छन्दसः स्वारं तापाज्जातं तेजः, स्वाराद् अन्तर्यामोऽन्तर्मध्ये यामाः प्रहरा यस्मिन् समये सः । अन्तर्यामात् पञ्चदशः पञ्चदशानां तिथीनां पूरकः स्तोमः । पञ्चदशाद् बृहद् महान् । भरद्वाजो वाजोऽन्नं विज्ञानं वा बिभर्ति येन श्रोत्रेण तत् । ऋषिर्विज्ञापकः प्रजापतिगृहीतया विद्यया त्वया सह राजा प्रजाभ्यो मनो गृह्णातीति विज्ञानयुक्तं चित्तं गृह्णाति, तथा त्वया साकमहं विश्वस्माद्विज्ञानं गृह्णामि' इति, तदपि निरर्थकप्रतारणमात्रम्, विशृङ्खलत्वात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च । विश्वकर्मपदस्य वाय्वर्थकत्वे तद्विद्वानिति कथमर्थः ? स च दक्षिणदेशादेव किमर्थं चलति ? वेदे तद्वर्णनस्य किं प्रयोजनम् ? मनस ऊष्मा कीदृशः ? तस्यास्पर्शवत्त्वेन तदयोगात् । ततश्च ग्रीष्मर्तुः कथं जायते ? त्रिष्टुभा कया रीत्या ग्रीष्मर्तुव्याख्यानं भवति ? कथं च तस्मात् तापजं तेजः ? कथं च ततः पौर्णमासी भवति ? कथं च ततः श्रोत्रमिति सामाजिका विचारयन्तु ॥ ५५ ॥

अ॒यं प॒श्चाद्वि॒श्वव्य॑चा॒स्तस्य॒ चक्षु॑र्वैश्वव्यच॒सं व॒र्षाश्चा॑क्षु॒ष्यो᳚ जग॑ती वा॒र्षी जग॑त्या॒ ऋक्स॑म॒मृक्स॑माच्छु॒क्रः शु॒क्रात् स॑प्तद॒शः स॑प्तद॒शाद्वै॑रू॒पं ज॒मद॑ग्नि॒र्ऋषि॑ः प्र॒जाप॑तिगृहीतया॒ त्वया॒ चक्षु॑र्गृह्णामि प्र॒जाभ्य॑ः ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—यह पश्चिमगामी नेत्र ऋतु से उत्पन्न है, ऋतु चक्षु से प्रकट होती है, जगती छन्द वर्षा ऋतु से प्रकट होता है, जगती छन्द से ऋक्साम, ऋक्साम से शुक्र ग्रह, शुक्र ग्रह से सप्तदश स्तोम, सप्तदश स्तोम से वैरूप पृष्ठ और वैरूप पृष्ठ से चक्षु रूप जमदग्नि ऋषि प्रकट होते हैं । हे इष्टके, तुम प्रजापति द्वारा सादर गृहीत हो । तुमको मैं प्रजा के निमित्त चक्षु इन्द्रिय के रूप में ग्रहण करता हूँ ॥ ५६ ॥

अयं पश्चादित्यादिमन्त्रैर्द्वितीयं दशकमुत्तरश्रोणेरारभ्योपदधाति । अयं प्रसिद्धः पश्चात् प्रतीचीं दिशमञ्चति गच्छतीति पश्चात् प्रतीचीगमनशीलः। विश्वव्यचा विश्वं सर्वं विचति व्याप्नोतीति विश्वव्यचाः प्रजापतिः। अथवा विश्वं विचति उदितः सन् प्रकाशयतीति विश्वव्यचा आदित्यः। तद्रूपां त्वां सादयामि। तस्यादित्यस्य सम्बन्धि चक्षुः। अत एव वैश्वव्यचसं विश्वव्यचसो रवेरुत्पन्नं तद्रूपां सादयामि। चाक्षुष्यः चक्षुष उत्पन्ना वर्षा ऋतुस्तद्रूपां सादयामि। वर्षाभ्य उत्पन्नं जगती च्छन्दस्तद्रूपां सादयामि। जगतीच्छन्दस उत्पन्नम् ऋक्समसंज्ञं साम तद्रूपां सादयामि। ऋक्समादुत्पन्नो यः शुक्रग्रहस्तद्रूपां सादयामि। शुक्रादुत्पन्नो यः सप्तदशः स्तोमस्तद्रूपां त्वां सादयामि। सप्तदशात् स्तोमादुत्पन्नं यद् वैरूपं पृष्ठं तद्रूपां सादयामि। जमदग्निः, जमति जगत्पश्यतीति जमत्, अङ्गति सर्वत्र कुटिलमूर्ध्वं गच्छतीत्यग्निः, जमच्चासावग्निश्चेति। ऋषिः ऋषति जानातीति ऋषिः। ईदृशं यच्चक्षुस्तद्रूपां सादयामि। प्रजापतिसृष्टया त्वयेष्टकया प्रजार्थं चक्षुर्गृह्णामीति दशमन्त्रैश्चक्षुरेव गृह्णाति।

एतदेवाह ब्राह्मणम्—'अथ पश्चात्। अयं पश्चाद्विश्वव्यचा इत्यसौ वा आदित्यो विश्वव्यचा यदा ह्येवैष उदेत्यथेदꣳ सर्वं व्यचो भवति तद्यत्तमाह पश्चादिति तस्मादेतं प्रत्यञ्चमेव यन्तं पश्यन्ति चक्षुर्हादित्यो भूत्वा पश्चात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।१।२।१)। अथ प्रतीच्यां दिश्युपधेयानां प्राणभृतां दशकस्य दश मन्त्रान् दर्शयन् क्रमेण व्याचष्टे—अथ पश्चादिति। 'अयं पश्चाद्विश्वव्यचाः' इति प्रथमो मन्त्रः। पश्चाद् अपरस्मिन्निति पश्चात्। 'पश्चात्' (पा० सू० ५।३।३२) इति सूत्रेण अपरशब्दस्य पश्चभावोऽस्तात्यर्थे आतिश्च प्रत्ययो निपात्यते। प्रतीच्यां दिशीति तदर्थः। व्यचतिर्व्याप्तिकर्मा विश्वं व्यचति व्याप्नोतीति विश्वव्यचाः। असौ द्युलोकस्थ आदित्यः। एतदेवाह यदा ह्येवैष इति। यस्मिन् काले एष सूर्य उदेत्यथानन्तरमेवेदं सर्वं व्यचो व्याप्तं भवति। तस्मादसौ विश्वव्यचा इत्यर्थः। तद्यत्तमाहेति। तमादित्यं पश्चादिति प्रत्यग्दिग्वाचिना शब्देन यद् यस्मात् प्रतिपादयति, तस्मादेव प्रतीचीदिक्सम्बन्धकारणादेतमादित्यं प्रत्यञ्चं प्रत्यङ्मुखमेव यन्तं गच्छन्तं पश्यन्ति जनाः। सर्वप्राणिनां चक्षुरेव ह्यादित्यो भूत्वा पश्चात् प्रत्यङ्मुखस्तस्थौ। तदेव चक्षुरात्मकमेव तदादित्यात्मकं रूपमुपहितवान् भवतीत्यर्थः। 'तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसमिति। चक्षुस्तस्माद्रूपादादित्यान्निरमिमीत वर्षाश्चाक्षुष्य इति वर्षाऋतुं चक्षुषो निरमिमीत जगती वार्षीति जगतीं छन्दो वर्षाभ्य ऋतोर्निरमिमीत जगत्या ऋक्सममिति जगत्यै छन्दस ऋक्समꣳ साम निरमिमीतर्क्समाच्छुक्र इत्यृक्समात् साम्नः शुक्रं ग्रहं निरमिमीत शुक्रात् सप्तदश इति शुक्राद् ग्रहात् सप्तदशꣳ स्तोमं निरमिमीत सप्तदशाद्वैरूपमिति सप्तदशात् स्तोमाद्वैरूपं पृष्ठं निरमिमीत' (श० ८।१।२।२)। तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसमिति द्वितीयो मन्त्रः। विश्वव्यचसो जातं वैश्वव्यचसम्। अनेन मन्त्रेण तस्मादादित्यरूपात् कारणात् चक्षुर्निर्मितवान्, प्रजापतिरिति शेषः। वर्षा ऋतुश्चाक्षुष्यः, तस्माच्चक्षुषः सृष्टाः। 'अप्सुमनःसिकतासमावर्षाणाम्' (लिङ्गानुशासनम् १।२९) इति स्मरणान्नियतबहुत्वेन एकस्मिन्नपि बहुत्वम्। वर्षाख्यमृतुं चक्षुषो निर्मितवान्। जगतीं छन्दो वर्षाभ्यः ऋतोर्निर्मितवान्। वर्षाभ्यो जाता वार्षी। जगत्या ऋक्सममिति। यत्साम ऋचा समं समाप्यते न न्यूनाधिकभावेन, तत् ऋक्समं साम जगतीच्छन्दसः सकाशात् सृष्टम्। तदेवाह—जगत्यै छन्दस इति। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। तस्माद् ऋक्समाख्यात् साम्नः शुक्राख्यः सोमग्रहः सृष्टः। सप्तदश इति। सप्तदशभिः स्तोत्रियाभिर्निष्पाद्यः स्तोमः सप्तदशः। तस्माच्च वैरूपाख्यं पृष्ठं साम निर्मितम्।

'जमदग्निर्ऋषिरिति। चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येच्चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्य इति चक्षुः पश्चात् प्रापादयत नानोपदधाति

ये नाना कामाश्चक्षषि तांस्तद्धाति सकृत् सादयत्येकं तच्चक्षुः करोत्यथ यन्नाना सादयेच्चक्षुर्ह विच्छिन्द्यात् सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।१।२।३)। जमदग्निर्ऋषिरिति नवमो मन्त्रः। तद् व्याचष्टे—चक्षुर्वा इति। एनेन चक्षुषा जगद् रूपादिकं पश्यतीति यद् अथो अपि च चक्षुषैव मनुते जानातीति यत् तस्माद् हेतोर्जगन्मनुतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या वर्णलोपेन जमच्चक्षुः प्रकाशत्वादग्निर्दर्शनादृषिश्चेति 'जमदग्निर्ऋषिः' इति वाक्यतात्पर्येण चक्षुरेव प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। प्रजापतिगृहीतयेति दशममन्त्रं पूर्ववद् व्याचष्टे—प्रजापतिसृष्टयेत्यादिना। पूर्ववदुपधाने नानात्वं सादने सकृत्वं च विधत्ते—नानोपदधातीत्यादिना। एकं तच्चक्षुरिति। एकमविच्छिन्नम्। नानासादने पूर्ववद्दोषमाह—नाना सादयेदिति। विच्छिन्द्याद् विच्छिन्नं प्रशीर्णं वियुक्तं वा कुर्यादित्यर्थः। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववत् सार्वात्म्यविवक्षयैव तानि तानि कार्याणि कारणानि च निरूपितानि। अयमात्मैव जमदग्निर्ऋषिः। चक्षुरप्ययमेव। प्रजापतिगृहीतया त्वया हे बुद्धे, प्रजाभ्यश्चक्षुषश्चक्षुः परमात्मानमेव वा अहं गृह्णामि। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे वरानने, यथायमादित्य इव विद्वान् विश्वव्यचा विश्वं व्यचति प्रकाशेनाभिव्याप्य प्रकटयति, सन् पश्चात् पश्चिमस्यां दिशि वर्तमान आदित्यो वैश्वव्यचसं प्रकाशकं चक्षुर्नयनं चाक्षुष्यश्चक्षुष इमा दर्शनीया वर्षा या मेघा वर्षन्ति ता वर्षा वर्षाणां व्याख्यात्री जगती जगद्गता जगत्या ऋक्सममृ ऋचः सनन्ति सम्भजन्ति येन तद् ऋक्समम् ऋक्समात् शुक्रः पराक्रमः शक्रात् सप्तदशः सप्तदशानां पूरकः सप्तदशाद् वैरूपं विविधानि रूपाणि यस्मात् तस्येदम्। यथा च जमदग्निः प्रज्वलिताग्निर्नयनम् ऋषिरूपप्रापकः प्रजापतिगृहीतया तया सह प्रजाभ्यश्चक्षुर्गृह्णाति, तथाहं त्वया साकं संसाराद् बलं गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। आदित्यो विद्वानित्यपि निर्मूलम्, लक्षणायां बीजाभावात्। पश्चिमदिशि वर्तमानः सूर्यः किमर्थं गृह्यते ? न च विद्वान् सूर्यवत् सर्वजगत्प्रकाशको भवति। तस्य चक्षुषा कः सम्बन्धः ? वर्षाः कथं चक्षुष्यः ? वसन्तादिष्वपि तत्सम्भवात्। कथं च जगती तद्व्याख्यात्री ? काचिज्जगती तद्व्याख्यात्री सर्वा वा ? आद्यं चेत् का सा ? न चान्तिमं सर्वासां तथाऽदर्शनात्। कथं च जगत्या ऋक्सेवनहेतुभूतं विज्ञानमुत्पद्यते ? कथं च विज्ञानं तदर्थः ? तस्माद् विज्ञानात् कथं पराक्रमोत्पत्तिः ? तस्माच्च कथं सप्तदशं विज्ञानम् ? कानि च तत्पूर्ववर्तीनि षोडश विज्ञानानि ? सर्वथापि निरर्गलमुपेक्षणीयमेवैतद् व्याख्यानम् ॥ ५६ ॥

इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रꣳ सौवꣳ शरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभ ऐडमैडान्मन्थी मन्थिन एकविꣳश एकविꣳशाद्वैराजं विश्वामित्र ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—उत्तर दिशा में स्वर्ग स्थित है। श्रोत्र स्वर्ग से सम्बद्ध है। शरद् ऋतु श्रोत्र से उत्पन्न होती है। शरद् ऋतु से अनुष्टुप् छन्द, अनुष्टुप् छन्द से ऐड साम, ऐड साम से मन्थी ग्रह, मन्थी ग्रह से एकविंश स्तोम और एकविंश स्तोम से वैराज साम प्रकट होता है। श्रद्धापूर्वक दूसरों की बात सुनने के कारण श्रोत्र सबका मित्र और ज्ञाता है। हे इष्टके, तुम प्रजापति के द्वारा सादर गृहीत हो, तुम्हारी सहायता से प्रजाओं के निमित्त मैं श्रोत्र इन्द्रिय का ग्रहण करता हूँ ॥ ५७ ॥

दशमन्त्रैश्चतुर्थं दशकमुत्तरांसादारभ्योपदधाति । उत्तराद् उत्तरस्यामित्युत्तरात् । 'उत्तराधरदक्षिणादातिः' (पा० सू० ५।३।३४) इत्यातिप्रत्ययः । स्वः सौति सर्वं जगत् प्रेरयतीति स्वः प्रजापतिः । उत्तरस्यां दिशि यदिदं स्वः प्रजापतिशरीरम्, हे इष्टके ! त्वं तद्रूपामि । अथवा उत्तराद् उत्तरस्यां सर्वस्मादुत्तरभागस्था या दिशः, यदिदं स्वः स्वर्गो लोकस्तां दिक् स्वर्गरूपां त्वां सादयामि । दिग्रूपेण बहुत्वे कथमेकवचनमिति चेन्न, 'क्रियाव्ययविशेषणानां नपुंसकत्वमेकत्वं च' इति वचनं व्याकरणान्तरगं गदाधरेण व्युत्पत्तिवादे कर्मविचार उद्धृतम्, तद्बलात् । तस्य स्वर्गस्य सम्बन्धि श्रोत्रम् । कीदृशं तदित्याह—सौवम् । स्वरिदं सौवम् 'तस्येदम्' (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यण् । 'द्वारादीनां च' (पा० सू० ७।३।४) इत्यैजागमः । अव्ययानां भमात्रे टिलोपाद् रूपसिद्धिः । श्रोत्रादुत्पन्ना या शरत् सा श्रौत्री । तद्रूपां त्वां सादयामि । शरद उत्पन्ना अनुष्टुप् शारदी । अनुष्टुपछन्दोरूपां त्वां सादयामि । अनुष्टुभ उत्पन्नं यद् ऐडं साम तद्रूपां त्वां सादयामि । ऐडात् साम्न उत्पन्नो यो मन्थी ग्रहः, तद्रूपां त्वां सादयामि । मन्थिग्रहादुत्पन्नो य एकविंशः स्तोमः, तद्रूपां त्वां सादयामि । एकविंशात् स्तोमादुत्पन्नं यद् वैराजं पृष्ठं तद्रूपां त्वां सादयामि । विश्वामित्र ऋषिर्विश्वं सर्वं मित्रं येन सः । 'मित्रे चर्षौ' (पा० सू० ६।३।१३०) इति दीर्घः । विश्वामित्रर्षिरूपं यत् श्रोत्रं तद्रूपां त्वां सादयामि । प्रजापतिसृष्ट्या त्वयेष्टकया प्रजाभ्यः श्रोत्रं गृह्णामि । दशमन्त्रैः श्रोत्रमेव सादयति । ये नाना कामाः श्रोत्रे तांस्तद्दधाति । सकृत् सादयति । एकं श्रोत्रं करोति ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरतः । इदमुत्तरात् स्वरिति दिशो वा उत्तरात् तद्यत्ता आहोत्तरादित्युत्तरा ह्यस्मात् सर्वस्माद्दिशोऽथ यत्स्वरित्याह स्वर्गो हि लोको दिशः श्रोत्रꣳ ह दिशो भूत्वोत्तरतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।१।२।४) । अथोत्तरस्यां दिश्युपधेयस्य प्राणभृद्दशकस्य मन्त्रदशकं विधाय व्याचष्टे—अथोत्तरत इत्यादिना । 'इदमुत्तरात् स्वः' इति प्रथमो मन्त्रः । उत्तरादिति पदस्य विवक्षितमर्थमाह—दिशो वा उत्तरादिति । एतदेव विवृणोति—तद्यदिति । तत् तत्र ता दिश उत्तरादिति शब्देन आह, तत्कारणमुच्यत इति शेषः । हि यस्माद् अस्माद् दृश्यमानात् स्थावरजङ्गमात्मकात् सर्वस्माज्जगतो दिशः प्राच्याद्या उत्तरा उत्कृष्टतराः, उत्तरभागे वर्तमाना वा, अतो हेतोरुत्तरादिति पदेन दिशः प्रतिपाद्यन्त इत्यर्थः । दिशां स्वर्गलोकात्मकत्वात् 'स्वः' इति पदेनापि दिश एवोच्यन्त इत्याह—अथ यत् स्वरिति । श्रोत्रं ह दिश इत्यादि । श्रोत्रं शब्दग्रहणसाधनमिन्द्रियम्, तत्स्वकारणात्मना दिग्रूपत्वं प्राप्य उत्तरत उत्तरस्यां दिशि तस्थौ । तद्रूपमिति । श्रोत्रं स्वकारणात्मकमेव दिगात्मकमेव रूपमुपहितवान् भवतीत्यर्थः । 'तस्य श्रोत्रꣳ सौवमिति । श्रोत्रं तस्माद्रूपादिभ्यो निरमिमीत शरच्छ्रौत्रीति शरदमृतुꣳ श्रोत्रान्निरमिमीतानुष्टुप् शारदीत्यनुष्टुभं छन्दः शरद ऋतोर्निरमिमीतानुष्टुभ ऐडमित्यनुष्टुभश्छन्दस ऐडꣳ साम निरमिमीतैडान्मन्थीत्यैडात् साम्नो मन्थिनं ग्रहं निरमिमीत मन्थिन एकविꣳश इति मन्थिनो ग्रहादेकविꣳशꣳ स्तोमं निरमिमीतैकविꣳशाद्वैराजमित्येकविꣳशात् स्तोमाद्वैराजं पृष्ठं निरमिमीत' (श० ८।१।२।५) । तस्य श्रोत्रꣳ सौवमिति द्वितीयो मन्त्रः । दिगात्मकात् स्वर्गलोकाज्जातं श्रोत्रं सौवम् । तस्मात् स्वर्शब्दाभिधेयाद् रूपात् श्रोत्रेन्द्रियं दिग्भ्यः सकाशाद् निर्मितवानित्यर्थः । श्रोत्रादुत्पन्ना शरच्छ्रौत्री । तस्याः शरदः सकाशादुत्पन्ना अनुष्टुप् शारदी । तथाविधादनुष्टुप्छन्दस ऐडं साम उत्पन्नम् । इडाशब्दोऽन्ते विद्यते यस्य तद् ऐडं साम । तस्माच्च ऐडात् साम्नो मन्थिसंज्ञः सोमग्रहो निर्मितः । तस्मान्मन्थिग्रहाद् एकविंशाख्यः स्तोमः, तस्माच्च वैराजाख्यं पृष्ठं साम निर्मितम् । एतावदत्र प्रतिपाद्यम् । अक्षरयोजना पूर्ववत् । 'विश्वामित्र ऋषिरिति । श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्ट्या त्वयेत्येतच्छ्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्य इति श्रोत्रमुत्तरतः प्रापादयत नानोपदधाति ये नाना कामाः श्रोत्रे तांस्तद्दधाति सकृत् सादय-

तच्छ्रोत्रं करोत्यथ यन्नाना सादयेच्छ्रोत्रꣳ ह विच्छिन्द्यात् सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः' (श०८।१।२।६)। श्रोत्रं वा इत्यादि। विश्वं सर्वं मित्रमनेन भवतीति विश्वस्य मित्रहेतुत्वाद् दर्शनसाधनत्वाच्च श्रोत्रं खलु विश्वामित्राख्य ऋषिरित्यर्थः। उक्तमेवार्थमाविष्करोति--यदेनेनेति। अथो यदस्या इति व्युत्पत्त्यन्तरप्रदर्शनम्। अथो इति पक्षान्तरे। अस्मै शृण्वते जनाय यद् यस्मात् सर्वतः सर्वासु दिक्षु मित्रं भवति सम्पद्यते, तस्माद्विश्वामित्र इत्यर्थः। श्रोत्रस्य विच्छेदो बाधिर्यम्।

अध्यात्मपक्षे—इदमुत्तरादित्यत्र पूर्वस्मान्मन्त्रादयमिति पदमनुवर्तनीयम्। सर्वस्मादुत्तरभागस्थाया दिशो यदिदं स्वं स्वर्गलोकः सा दिक् स्वर्गरूपा, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अभावात्। हे प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मन्, त्वं दिक्स्वरूपस्वर्गरूपोऽसि। एवं पूर्वोक्तेषु सार्वात्म्यबोधकेषु मन्त्रेषु सम्बोधनादिकमपि। तस्य स्वर्गस्य सम्बन्धि सौवश्रोत्ररूपोऽसि, श्रोत्रादुत्पन्नशरद्रूपोऽसि। तद्रूपां त्वां चिन्तयामीति शेषः। हे बुद्धे, प्रजापतिसृष्टया अनुगृहीतया प्रजाभ्यो हितार्थं श्रोत्रं गृह्णामि। प्रजानां श्रोत्रसिद्धये त्वां चिन्तयामीति पूर्ववत्। यद्वा श्रोत्रस्य श्रोत्रं परमात्मानं गृह्णामि ॥ ५७ ॥

इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ्मात्या हेमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हैमन्ती पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवत आग्रयण आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याꣳ शाक्वररैवते विश्वकर्म ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यो लोकं ता इन्द्रम् ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—सबसे ऊपर विराजमान चन्द्र यह वाणी है। वाणी उस चन्द्ररूप मति से उत्पन्न है। वाणी से हेमन्त ऋतु, हेमन्त से पंक्ति छन्द, पंक्ति छन्द से निधन साम, निधन साम से आग्रयण ग्रह, आग्रयण ग्रह से त्रिणव और त्रयस्त्रिंश नामक दो साम एवं इन दो सामों से शाक्वर और रैवत नामक दो पृष्ठस्तोम प्रकट होते हैं। वाणी सम्पूर्ण संसार की रचना करने वाली है। हे इष्टके, तुम प्रजापति के द्वारा सावर गृहीत हो, तुम्हारी सहायता से प्रजाओं की नीरोगता की प्राप्ति के निमित्त इन दस मन्त्रों से मैं वाणी को ग्रहण करता हूँ ॥ ५८ ॥

'लोकम्पृणा दक्षिणाꣳसादध्यामध्यात् प्रदक्षिणमानुकान्तात् पूर्वस्मात्। (का० श्रौ० १७।६।५)। आत्मनो दक्षिणकोणादारभ्य आमध्यादधि स्वयमातृण्णापर्यन्तं लोकम्पृणा उपदध्यात्। तासां लोकम्पृणेत्यभिमन्त्रणम्। ता अस्येति सूददोहःसंज्ञकमन्त्रेणाधिवदनं स्पृष्ट्वा पठनमिति सूत्रार्थः। 'मध्ये पुरीषं निवपति पूर्ववत्' (का० श्रौ० १७।६।९)। आत्मनो मध्ये स्वयमातृण्णाया उपरि पूर्ववत् 'इन्द्रं विश्वा' (वा० सं० १२।५७) इति मन्त्रेण चात्वालात् पुरीषमादाय निवपेद् मध्ये राशिं कुर्यादिति सूत्रार्थः। तिस्र ऋचः प्रतीकोक्ताः 'लोकं पृण' (वा० सं० १२।५४), 'ता अस्य' (वा० सं० १२।५५), 'इन्द्रं विश्वा' (वा० सं० १२।५६) पूर्वमुक्त्वा निवपेदिति। दशमन्त्रैः पञ्चमं दशकं रेतःसिग्भ्यामुत्तरां प्रथमां कृत्वा प्रादक्षिण्येनोपधेयम्। उपरि ऊर्ध्वदेशस्थश्चन्द्रः, इयं मतिर्वाक्। मन्यते ज्ञायते यया सा मतिः। वागेव चन्द्रो भूत्वा उपरि तिष्ठति, तद्रूपां त्वां सादयामि, 'चन्द्रमा वा उपरि' (श० ८।१।२।७) इति श्रुतेः। तस्यै तस्याश्चन्द्ररूपाया मतेरुत्पन्ना, अत एव मात्या, मतेरियं मात्या या वाक् तद्रूपां त्वां सादयामि, 'वाचं तस्माद्रूपाच्चन्द्रमसो निरमिमीत' (श० ८।१।२।८) इति श्रुतेः। वाचोऽपत्यं वाच्यः, वाच उत्पन्नो यो हेमन्तस्तद्रूपां त्वां सादयामि। हेमन्तस्येयं हैमन्ती या पङ्क्तिः, तन्नामकं छन्दः, तद्रूपां त्वां सादयामि। पङ्क्तेरुत्पन्नं यन्निधनवत्संज्ञकं साम तद्रूपां त्वां सादयामि। निधनवतः साम्न उत्पन्नो य आग्रयणो ग्रहस्तद्रूपां त्वां सादयामि। आग्रयणादुत्पन्नौ यौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ द्वौ

स्तोमौ तद्रूपां त्वां सादयामि। त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यामुत्पन्ने ये द्वे शाक्वररैवते पृष्ठे तद्रूपां त्वां सादयामि। विश्वकर्मा विश्वं सर्वं करोति योऽसौ विश्वकर्मा ऋषिर्वागेव। वाचा हि सर्वं कुरुते, तद्रूपां त्वां सादयामि। प्रजापतिसृष्टया त्वयेष्टकया प्रजाभ्यो वाचं गृह्णामि। एभिर्दशमन्त्रैर्वाचमेव गृह्णाति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ मध्ये। इयमुपरि मतिरिति चन्द्रमा वा उपरि तद्यत्तमाहोपरीत्युपरि हि चन्द्रमा अथ यन्मतिरित्याह वाग्वै मतिर्वाचा हीदꣳ सर्वं मनुते वाग्घ चन्द्रमा भूत्वोपरिष्टात् तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।१।२।७)। मध्यभाग उपधेयस्य प्राणभृद्दशकस्य दशमन्त्रान् प्रदर्शयन् व्याचष्टे—अथ मध्य इति। अथ चतसृषु दिक्षूपधानान्तरमग्निक्षेत्रस्य मध्यभागे दश प्राणभृत उपदध्यादित्यर्थः। तत्र 'इयमुपरि मतिः' इति प्रथमो मन्त्रः। उपरिशब्दस्य विवक्षितमर्थमाह—चन्द्रमा वा उपरीति। प्रतिज्ञातमर्थमुपपादयति—तद्यदिति। तं चन्द्रमसमुपरीत्यूर्ध्ववाचिना शब्देन यस्मात्कारणादाह तत्कारणमुच्यत इत्यर्थः। उपरि हीति। यस्मादुपरिष्टा-द्दिश्याकाशे चन्द्रमा दृश्यते, तस्मात् तं सोममुपरि दिक्सम्बन्धादुपरीत्युच्यत इत्यर्थः। मतिः शब्दो ज्ञाने। मनुते जानाति हि यस्मादेवं तस्मान्मननसाधनत्वाद् वागिन्द्रियं चन्द्रमा भूत्वा चन्द्ररूपतां प्राप्य उपरिष्टादूर्ध्वदिशि तस्थौ। अतस्तदेव वागात्मकं रूपमुपहितवान् भवतीत्यर्थः।

'तस्यै वाङ् मात्येति। वाचं तस्माद्रूपाच्चन्द्रमसो निरमिमीत हेमन्तो वाच्य इति हेमन्तमृतुं वाचो निरमिमीत पङ्क्तिर्हैमन्तीति पङ्क्तिं छन्दो हेमन्तादृतोर्निरमिमीत पङ्क्त्यै निधनवदिति पङ्क्त्यै छन्दसो निधन-वत्साम निरमिमीत निधनवत आग्रयण इति निधनवतः साम्नः आग्रयणं ग्रहं निरमिमीताग्रयणात्त्रिणवत्रयस्त्रिꣳ-शावित्याग्रयणाद् ग्रहात्त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ निरमिमीत त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याꣳ शाक्वररैवते इति त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याꣳ स्तोमाभ्याꣳ शाक्वररैवते पृष्ठे निरमिमीत' (श० ८।१।२।८)। तस्यै वाङ् मात्येति द्वितीयो मन्त्रः। मतेः सकाशाज्जाता वाग् मात्या। वाचं तस्मादित्यादि। तस्माद् वाक्कारणभूताद् रूपात् चन्द्रमसः सकाशाद् वाचं सृष्टवान् भवतीत्यर्थः। तस्या वाचः सकाशादुत्पन्नो हेमन्तो वाच्यः। तस्माद्धेमन्ता-दुत्पन्ना हैमन्ती पङ्क्तिः पङ्क्त्याख्यं छन्दः। पङ्क्त्यै पङ्क्त्याः सकाशाद् निधनवत् पञ्चभक्तिकस्य साम्नोऽन्तिमो भागो निधनम्, 'विश्वं समत्रिणं दह' इत्यादि, तद्युक्तं साम निधनवत्, तदुत्पन्नमित्यर्थः। तस्माच्च निधनवतः सकाशाद् आग्रयणाख्यः सोमग्रहो जातः। तस्माद् आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ जातौ। त्रिरावृत्त-स्तोत्रियानवकेन निष्पाद्यः स्तोमस्त्रिणवः। त्रयस्त्रिंशता स्तोत्रियाभिर्निष्पाद्यस्त्रयस्त्रिंशः। 'स्तोमे डविधिः' (पा० सू० ५।१।५८ वा० २) इति वार्त्तिककृत्स्मृतेः स्तोमवाचिनः पञ्चदशसप्तदशादयः शब्दा डप्रत्ययान्ताः। ताभ्यां त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यां सकाशात् शाक्वररैवताख्ये पृष्ठसामनी निष्पन्ने। 'विश्वकर्म ऋषिरिति। वाग्वै विश्वकर्मर्षि-र्वाचा हीदꣳ सर्वं कृतं तस्माद्वाग्विश्वकर्मर्षिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येतद्वाचं गृह्णामि प्रजाभ्य इति वाचमुपरिष्टात् प्रापादयत नानोपदधाति ते नाना कामा वाचि तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकां तद्वाचं करोत्यथ यन्नाना सादयेद्वाचꣳ ह विच्छिन्द्यात् सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।१।२।९)। विश्वकर्मर्षि-रिति मन्त्रस्य पूर्ववदिन्द्रियपरतामाह—वाग्वा इति। एतदुपपादयति—वाचा हीदमिति। वागिन्द्रियेण खलु कारणेन इदं सर्वं जगत् प्रजापतिना कृतम्। अत एव करणीयस्य वाक्पूर्वकत्वमन्यत्राम्नातम्—'यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' इति। विश्वं क्रियतेऽनयेति व्युत्पत्त्या वागेव विश्वकर्मा सैव दर्शनादृषिश्च। अन्यन्निगदव्याख्यातम्। प्रजापतिर्वाचं सृष्ट्वा ऊर्ध्वायां दिशि तां प्रावेशयत्।

पूर्वं व्याख्यातास्वनन्तरासु पञ्चसु कण्डिकासु प्राणमनश्चक्षुःश्रोत्रवाचां प्रजाभ्यो ग्रहणमित्यस्य चतुर्थी-पञ्चमीभेदेन अर्थद्वयं प्रत्येतव्यम्। चतुर्थीपक्षे प्रजार्थं प्राणादीनां ग्रहणम्, पञ्चाशदिष्टकास्थापनेन प्रजानां

यजमानापत्यपश्वादीनां प्राणादयः पुष्टा भवन्तीत्यर्थः। पञ्चमीपक्षे प्रजाभ्यो नानालोकेभ्यः सकाशात् प्राणादीन् गृह्णामि मद्वशगान् करोमीति प्राणभृतामुपधानेन सर्वाः प्रजा मद्वशगा भवन्त्वित्यर्थ इति महीधराचार्याः। अत्र एकैकस्मिन् मन्त्रे प्रजापतिरिन्द्रियमृतुश्छन्दःसामविशेषग्रहस्तोमपृष्ठस्तोत्रसामऋष्यादीनां पदार्थानां यद्यपि लोकप्रसिद्धो जन्यजनकभावो नास्ति, तथापि मन्त्रार्थत्वेन मनसा भावयितुमिदमुक्तमित्यविरोधः। इत्थं पञ्चाशत्संख्याकैर्मन्त्रैर्यावन्तोऽर्था उक्ता एतदात्मकं खलु तदन्नं यत्प्राणभृदाख्यमन्नं सृष्ट्यादौ प्राणाश्च प्रजापतिश्च सह मिलिताः सृष्टवन्त इति। एतद्वै तदन्नं यत्प्राणाश्च प्रजापतिश्चासृजन्त। एतदेव 'एतावान् वै सर्वो यज्ञो यज्ञ उ एव देवानामन्नम्' (श० ८।१।२।१०) इति श्रुतौ प्रतिपाद्यते। अग्नि-प्राण-वसन्त-गायत्र्यादयो यावन्तोऽर्था अनुक्रान्ता एतावानेव सर्वो यज्ञः, सर्वेषां यज्ञसाधनानां कालछन्दःसामग्रहस्तोमपृष्ठादीनामेतन्मन्त्रेष्वन्तर्भूतत्वात्। तादृशश्च यज्ञो देवानामन्नम् उपजीवनीयो जीवनोपायः। अतस्तन्मन्त्रोपहितानां प्राणभृतामन्नरूपत्वं युक्तमेव। ताः प्राणभृतः प्रतिदिशं दशदशोपधीयन्ते। दशाक्षरा विराडिति दशसंख्यायोगाद् विराड्रूपता सम्पद्यते। लोके भुज्यमानं सर्वमन्नं विराडात्मकम्, अतोऽस्मिन् चित्येऽग्नौ सर्वमेवान्नजातं कृत्स्नं निरवशेषमेव प्राणभृदुपधानेन स्थापितवान् भवतीति। सर्वासु दिक्षूपधानेन सर्वत एवास्मिन्नेतत्कृत्स्नमन्नं दधाति (श० ८।१।२।११)। मनश्चक्षुरादिप्राणानां धारणादासां प्राणभृदित्यन्वर्थसंज्ञा सम्पन्ना। ननु 'अयं पुरो भुवः' (वा० सं० १३।५४) इत्यादिभिर्विभक्तैः पञ्चाशता मन्त्रैः पञ्चाशदिष्टका उपधेयाः। अस्मिन् पक्षे कथं पञ्चाशदिष्टकाः प्राजापत्या उपहिता भवन्ति। प्रजापतिगृहीतया इत्येकस्मिन्नेव मन्त्रे प्रजापतिनामनिर्देशादिति चेन्न, 'कथमस्यैताः सर्वाः प्राजापत्या भवन्तीति यदेव सर्वास्वाह प्रजापतिगृहीतया त्वयेत्येवमु हास्यैताः सर्वाः प्राजापत्या भवन्ति' (श० ८।१।३।२) इति श्रुत्या समाहितत्वात्। अस्या व्याख्यानेन सर्वं स्पष्टमतो व्याख्यायते। अस्याग्नेः सम्बन्धिन्य एताः पञ्चाशदिष्टकाः सर्वाः कथं प्राजापत्याः प्रजापतिदेवताका उपहिता भवन्तीति प्रश्नः। तस्मिन् पक्षे एकस्मिन्नेव हि मन्त्रे प्रजापतिगृहीतया इति पदं न सर्वत्र। अतः सर्वासां प्राजापत्यता न सम्भवतीति। अस्योत्तरमाह— यदेव सर्वास्वाहेति। यस्मादेव कारणात् सर्वास्वपि पञ्चाशदिष्टकासु यत् प्रजापतिगृहीतयेत्याह, अनेनैव खलु एताः प्राणभृतः सर्वाः प्राजापत्या भवन्ति।

अयमभिसन्धिः—यत् 'अयं पुरः' इत्यादीनां विभक्तानां मन्त्राणां प्रयोग एव न सम्भवति, अपरिसमाप्तार्थत्वात्। अयं पुर इत्यारभ्य प्रजाभ्य इत्यन्तेन वाक्येन ह्येकोऽर्थः परिसमाप्यते। एकार्थावच्छेदकत्वादेको मन्त्र इति प्रतीष्टकं सङ्ग एवावर्तनीयः। अतः सर्वास्वपीष्टकासु प्रजापतिगृहीतयेत्येतत् प्रजापतिशब्दसम्बन्धो भविष्यतीति सर्वासां प्राजापत्यतासिद्धिरिति। ननु प्रथमं ग्रहग्रहणं तदनु स्तोत्रं तदनु शस्त्रमित्येवमनुष्ठानक्रमो भवति, अत्र च गायत्रादिसामानि वैपरीत्येनोक्तानीति क्रमभङ्ग इति चेन्न, 'प्रतिपदा ग्रहो गृह्यत ऋचि साम गीयते' (श० ८।१।३।३) इत्यादिश्रुतौ तत्समाधानात्। प्रतिपद्यते ज्ञायते देवतास्वरूपमनयेति प्रतिपत्, तया खलु ऋचा प्रथममैन्द्रवायवादिग्रहो गृह्यते, ततः सामाधारभूतायाम् ऋचि साम गीयते, तत् तस्मात् साम्न ऋगाश्रितत्वाद् ऋचश्च प्रतिपद्रूपत्वाद् ग्रहग्रहणात् पूर्वभावित्वाद् ऋचां गायत्रीत्रिष्टुबादीनां साम्नां गायत्रसामादीनां चोपांश्वादिग्रहेभ्यः पूर्वमुपधानमुत्पत्तिक्रमानुरोधाद् युक्तमेव। प्रयोगक्रमानुसारेणाप्युपांश्वादिग्रहाणामुपरिष्टाद् उत्तरकाले उपांशोस्त्रिवृत् त्रिवृतो रथन्तरमित्यादिना त्रिवृदादीन् स्तोमान् रथन्तरादीनि पृष्ठसामानि चोपदधाति, अतो न क्रमभङ्गः।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मन्, येयं वाग्रूपा मतिश्चन्द्रो भूत्वा ऊर्ध्वायां दिश्याकाशे तिष्ठति, त्वं तद्रूपमसि। या मतेरुत्पन्ना मात्या वाक् त्वं तद्रूपमसि। विश्वकर्म ऋष्यात्मकवाग्रूपमसि। हे बुद्धे, प्रजापतिसृष्ट्या त्वया

प्रजाभ्यः प्रजाहितार्थं वाचं वाचो ह वाचं परमात्मानं गृह्णामि चिन्तयामि। एवमन्यान्यपि प्रश्नोत्तराणि शतपथ-श्रुतौ स्पष्टानीति तत्रैव कणेहत्यालोचनीयानि।

दयानन्दस्तु –'हे विदुषि पत्नि, य इयमुपरि सर्वोपरि विराजमाना मतिः प्रज्ञा, तस्यै तस्या मात्या मतेर्भावः कर्म वा, वाग् वक्ति यया सा, वाच्यो वाचो भावः कर्म वा। हेमन्तो हन्ति उष्णतां येन सः। हैमन्ती हेम्नो व्याख्यात्री, पङ्क्तिश्छन्दः, पङ्क्त्या निधनवद् निधनं प्रशस्तं मृत्युव्याख्यानं विद्यते यस्मिंस्तत् साम। निधनवत आग्रयणः, अञ्चति प्राप्नोति येन तस्यायम्। आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ ताभ्यां शाक्वररैवतौ शक्तिधनप्रतिपादके विदित्वा विश्वकर्मर्षिर्वर्तते, तथाहं प्रजापतिगृहीतया त्वया सह प्रजाभ्यो वाचं विद्यासुशिक्षान्वितां वाणीं गृह्णामि' इति, एतदपि सर्वथा वैदिकवृत्तान्तानभिज्ञस्यैव शोभते, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। द्वादश-त्रयस्त्रिंश-साम-स्तोत्राणि कानि ? किम्प्रमाणकानीत्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्। ताण्ड्यादिब्राह्मणेषु स्तोमस्वरूपभेदा उक्ताः। तानविज्ञायैवायं यत्किञ्चित् प्रलपति। पाञ्चभक्तिकसाम्नोऽन्तिमभागस्य संज्ञा निधनमिति छान्दोग्योपनिषदादिभिर्ज्ञातुं शक्यते। शाक्वररैवतादिसामभेदमपि न जानात्ययं वराकः। कथं च पञ्चमीबोधितः कार्यकारणभावोऽत्रेति ? प्रशस्तं मृत्युव्याख्यानं कस्मिन् साम्नि विद्यते ? यथा कश्चन व्याघ्रशब्दस्य विशेषेण आसमन्ताद् जिघ्रतीति व्युत्पत्तिमभिप्रेत्य व्याघ्रमभिगच्छन् मृत्युमुपेयात्, तथैवास्य व्याख्यानम्। 'लोकं ता इन्द्रम्' इति पाठोऽस्यां कण्डिकायाम्। परम्पराप्राप्तत्वात्, कात्यायनसम्मतत्वाच्च स प्रामाणिक एव। सर्वथापि प्रमाणविधुरं दयानन्दीयं व्याख्यानम् ॥ ५८ ॥

इति वेदार्थपारिजाते त्रयोदशोऽध्यायः।

चतुर्दशोऽध्यायः

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया ।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम स्थिर निवास वाली, अचल कारण वाली, उख्य अग्नि के पहले प्रथम चितिरूप स्थान को सेवन करती हुई स्थिर बनो । रेतःसिग्वेला नामक श्रेष्ठ स्थान पर बैठो । देवताओं के अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुम्हें इस स्थान पर स्थापित करें ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये त्रयोदशे प्रथमा भूलोकरूपा चितिरुक्ता, 'अयं वै लोकः प्रथमा चितिः' (श० ८।२।१।१) इति श्रुतेः । चतुर्दशेऽध्याये द्वितीयादिचितित्रयं वक्ष्यते, 'द्वितीयां चितिमुपदधाति' (श० ८।२।१।१) इति श्रुतेः । तस्यां चितौ पञ्चाश्विन्य इष्टकाः । द्वितीयचितिमन्त्रा देवदेवत्याः । 'आश्विनीर्ध्रुवक्षितिरिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।८।१५) । पञ्चकण्डिकाभिराश्विनीसंज्ञका इष्टका रेतःसिग्वेलायामुपदध्यात् प्रतीष्टकं नित्ये इति सूत्रार्थः । पञ्चाश्विनीदेवत्याः प्रथमा विराट् चतस्रस्त्रिष्टुभो यजुरन्ताः । अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेति यजुः । आदित्यास्त्वार्षी त्रिष्टुबेकाधिका पादानियमात् । हे इष्टके, ध्रुवक्षितिर्ध्रुवा स्थिरा क्षितिर्निवासभूमिर्यस्याः सा । यस्यां भूमौ इष्टकावसतिस्तस्या भूमेश्चाञ्चल्याभावात् स्थैर्यमिति ज्ञातव्यम् । ध्रुवयोनिर्ध्रुवा विनाशरहिता योनिरुत्पत्तिहेतुर्मृद्रूपा यस्याः सा ध्रुवयोनिः । हे इष्टके, तादृशी त्वं स्वरूपतो ध्रुवासि, आमकपालादिभिः संयोज्य निर्मितत्वात् । साधुया अस्माभिः साधनीया उपधातव्या त्वं ध्रुवं योनिं स्थिरमग्निक्षेत्ररूपं स्थानम् आसीद आगत्य उपविश । किञ्च, उख्यस्य उखायां स्थितस्याग्नेः केतुं प्रज्ञापकं स्थानं वा प्रथमं द्वितीयायां चितौ मुख्यं स्थानं जुषाणौ सेवमानौ देवानामध्वर्यू उभा अश्विनौ इह अस्मिन्नग्निक्षेत्रे रेतःसिग्वेलायां वा हे इष्टके, त्वां सादयताम् । यद्वा साधुया साधुस्थानम् 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यमो यादेशः । केचिदिदं यजुश्चतुर्थं पादमङ्गीकृत्य त्रिष्टुभमभिप्रयन्ति ।

अत्र ब्राह्मणम्—'द्वितीयां चितिमुपदधाति । एतद्वै देवाः प्रथमां चितिं चित्वा समारोहन्नयं वै लोकः प्रथमा चितिरिममेव तल्लोकꣳ संस्कृत्य समारोहन्' (श० ८।२।१।१) । इत्थं प्रथमचितावुपधेयानां प्राणभृतामुपधानं पुरीषनिवपनान्तं वर्णितम् । तावता प्रथमा चितिः समापिता । अथ द्वितीयस्याश्चितेरुपधानं विधत्ते—द्वितीयां चितिमुपदधातीति । इष्टकानां प्रस्तारश्चितिः । एतस्य द्वितीयचित्युपधानस्य प्रयोजनं प्रथमचितिप्रयोजनप्रतिपादनपूर्वकमुपपादयति—एतद्वै देवा इत्यादिना । एतद् एतर्हि खलु देवा उदीरितरूपां प्रथमां चितिं चित्वा समारोहन् सम्यगारोहणं कृतवन्तः । समारोहणीयमाह—अयं वै लोक इति । स्वयमातृण्णोपधानादौ पूर्वचितेर्भूलोकरूपतोक्ता । तथा च प्रथमचित्यात्मना इममेव भूलोकं संस्कृत्य तस्योपरि देवताः समारोहन् । 'तेऽब्रुवन् । चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्नित ऊर्ध्वमिच्छतेति ते चेतयमाना एतां द्वितीयां चितिमपश्यन् यदूर्ध्वं पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरिक्षात्तेषामेष लोकोऽध्रुव इवाप्रतिष्ठित इव मनस्यासीत्' (श० ८।२।१।२) । तेऽब्रुवन्नित्यादि व्याख्यातपूर्वम् । इत ऊर्ध्वमिच्छतेति । इतोऽस्मात् प्रथमचितिरूपाद्

भूलोकाद् ऊर्ध्वं लोकमिच्छतेति । एवं परस्परं सम्प्रधार्य चेतयमानाः सञ्जानन्तस्ते देवा एतां वक्ष्यमाणां द्वितीयां चितिमपश्यन् । तामेव लोकात्मना विशिनष्टि—यदूर्ध्वमिति । पृथिव्या ऊर्ध्वमुपरिभागः, अन्तरिक्षादर्वाचीनमधोभागः पृथिव्यन्तरिक्षयोर्मध्यवर्ती यो लोकस्तदात्मिका द्वितीया चितिरित्यर्थः । तत्राश्विनीनां प्रथममुपधानं विधित्सुराह—तेषामेष लोक इति । एष उदीरितलक्षणो लोकस्तेषां देवानामप्रतिष्ठित आधाररहित इवासीत् । 'तेऽश्विनावब्रुवन् । युवं वै ब्रह्माणौ भिषजौ स्थो युवं न इमां द्वितीयां चितिमुपधत्तमिति किं नौ ततो भविष्यतीति युवमेव नोऽस्या अग्निचित्याया अध्वर्यू भविष्यथ इति तथेति तेभ्य एतामश्विनौ द्वितीयां चितिमुपाधत्तां तस्मादाहुरश्विनावेव देवानामध्वर्यू इति' (श० ८।३।१।३) । ते देवास्तस्य लोकस्य प्रतिष्ठितत्वाय अश्विनावब्रुवन् । युवं युवां खलु ब्रह्माणौ परिवृढौ भिषजौ स्थः, अतो युवां नोऽस्माकमिमां द्वितीयां चितिमुपधत्तम् उपधानेन सम्पादयतमिति देवानां वचः श्रुत्वा अश्विनावब्रूताम् । ततो द्वितीयचित्युपधानान्नौ आवयोः किं प्रयोजनं भविष्यतीति । नोऽस्माकं सम्बन्धिन्या अस्या अग्निचित्याया युवामेवाध्वर्यू भविष्यथ इति देवानां वाक्यमश्विनावपि तथास्त्वित्यङ्गीकृत्य तेभ्यो देवेभ्य एतां वक्ष्यमाणां द्वितीयां चितिमुपाधत्ताम् उपहितवन्तौ । यस्मादेवमश्विभ्यामाध्वर्यवमाचरितं देवकर्तृकेऽग्निचयने, तस्मादेव कारणाद् अश्विनावेव देवानामध्वर्यू इत्याहुर्ब्रह्मवादिनः ।

'स उपदधाति । ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवाऽसीति यद्वै स्थिरं यत्प्रतिष्ठितं तद् ध्रुवमथ वा एषामेष लोकोऽध्रुव इवाप्रतिष्ठित इव मनस्यासीत्तमेवैतत्स्थिरं ध्रुवं कृत्वा प्रत्यधत्तां ध्रुवं योनिमासीद साधुयेति स्थिरं योनिमासीद साधुयेत्येतदुख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणेत्ययं वा अग्निरुख्यस्तस्यैष प्रथमः केतुर्यत्प्रथमा चितिस्तं जुषाणेत्येतदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू उपाधत्ताम्' (श० ८।२।१।४) । एवमुपोद्घातत्वेन द्वितीयचित्युपधानेऽश्विकर्तृत्वं प्रतिपाद्य औपोद्घातिकमाश्विनीनामुपधानं समन्त्रकं विधत्ते—स उपदधातीति । स अध्वर्युः प्रथममाश्विनीः पञ्चेष्टका उपदध्यात् । ध्रुवक्षितिरित्याद्यास्तन्मन्त्राः । अत्र प्रथममन्त्रे ध्रुवशब्दं कुर्वन् प्रागुक्तदोषपरिहाररूपं तस्य प्रयोजनमाविष्करोति—यद्वै स्थिरमिति । यत्खलु स्थिरमनश्वरं प्रतिष्ठितं लब्धास्पदं च तदुभयं ध्रुवं ध्रुवशब्दप्रतिपाद्यम् । एषामित्यादि । अथ खल्वेषां प्रागुक्तानां देवानां मनसि पृथिव्यन्तरिक्षमध्यवर्ती लोकोऽस्थिर इव निराधार इव च आसीत् । तमेव लोकमेतदेतेन ध्रुवशब्दोपेतमन्त्रकरणकोपधानेन स्थिरमनश्वरं प्रतिष्ठितं च कृत्वा प्रत्यधत्ताम् अश्विनौ समाहितवन्तौ । द्वितीयपादमनूद्य तत्रापि ध्रुवशब्दस्योक्तार्थपरतामाह—स्थिरं योनिमिति । तृतीयं व्याचष्टे—अयं वा अग्निरुख्य इति । उखायां भवोऽग्निरुख्यः । गर्भरूपेण स्थित उख्योऽग्निरेव शिरःपक्षाद्युपेतचित्याग्निरूपेण स्थितः । तस्य चोख्यस्याग्नेरेष प्रथमः केतुः प्रज्ञापकोऽवयवः, येयं प्रथमा चितिः । तमवयवं जुषाणा सेवमानेत्यर्थः सम्पद्यते । अश्विनाध्वर्यू इत्यादि निगदसिद्धम् ।

मन्त्रार्थस्तु—हे इष्टके, त्वं ध्रुवक्षितिः स्थिरनिवासा, ध्रुवयोनिः स्थिराधारा, ध्रुवा स्थिरस्वरूपा चासि । ध्रुवं स्थिरतरं योनिं प्रथमचितिलक्षणमासीद उपविश । साधुया अस्माभिः साधनीया । उख्यस्य उखायामुत्पन्नस्य चित्याग्नेः केतुं प्रज्ञापकं प्रथमं प्रथमचितिरूपं जुषाणा सेवमाना असि । तादृशीं त्वामध्वर्यू सह सादयतामत्र स्थापयताम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मात्मज्ञाननिष्ठे, त्वं ध्रुवक्षितिर्निश्चलनिवासा ध्रुवयोनिः स्थिराधारा, स्थिरा बुद्धिरेव तस्या वसतिः । स्थिरं नित्यमपौरुषेयं वेदान्तशास्त्रमेव तस्या योनिः । ध्रुवासि स्थिरस्वरूपासि । ध्रुवं स्थिरतरं योनिं ब्रह्मात्मतत्त्वमभिलक्ष्याभिव्यञ्जिका सती आसीद । साधुया त्वमस्माभिः साधनीयासि, निष्ठाया अभ्यासादि-

प्रयत्नसाध्यत्वात्। उखायां बुद्धौ भवमुख्यं ज्ञानविज्ञानादिकं तस्य केतुं प्रज्ञानं साक्षिणं परमात्मानं सेवमानासि। तादृशीं त्वां ज्ञानयज्ञस्य अध्वर्यू निर्वाहकौ शास्त्राचार्यौ श्रोतृवक्तारौ अध्येत्रध्यापकौ वा सादयेताम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं साधुया साधुना धर्मेण उख्यस्य उखायां स्थाल्यां भवस्य पाकसमूहस्य प्रथमं विस्तीर्णं केतुं प्रज्ञां जुषाणा प्रीत्या सेवमाना ध्रुवक्षितिर्ध्रुवा निश्चला क्षितिर्जनपदो यस्याः सा। ध्रुवयोनिर्ध्रुवा योनिर्गृहं यस्याः सा ध्रुवा निश्चलासि, सा त्वं ध्रुवं योनिं गृहमासीद। त्वामिहाध्वर्यू आत्मनोऽध्वरमहिंसनीयं गृहाश्रमादिकं यज्ञमिच्छू अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ सादयताम् अवस्थापयताम् इह गृहाश्रमे त्वां सादयताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। अध्वर्यूपदस्य 'अध्वरं कामयत इति वा' (निरु० १।८) इति रीत्या यज्ञकामयित्रर्थत्वेऽपि गृहाश्रमस्य यज्ञत्वासिद्ध्या त्वदभिमतार्थासिद्धेः। नह्यहिंसनीयत्वमात्रेण गृहाश्रमस्य यज्ञत्वमुपपद्यते, संन्यासाश्रमस्यापि तथात्वेन तादृशार्थग्रहणे विनिगमनाभावात्। तथात्वेऽपि नाध्यापकोपदेशकयोः स्त्रियो गृहसादयितृत्वम्, अन्यथासिद्धत्वात्। पतिरेव तत्सादयिता भवति। परम्परया कथञ्चित् कारणत्वे त्वन्यथासिद्धत्वमेव। न वा तयोरश्विनोरिव नियतसहभावित्वं सौभ्रात्रत्वं वा, पृथग्व्यापारत्वात्॥ १॥

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः। अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥ २॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! पक्षी के घोंसले के समान आकार वाली, होमे हुए घृत से युक्त, नीचे स्थित प्रथम चिति इष्टकाओं को धारण करने वाली तुम पृथ्वी के सुखदायक स्थान में स्थिर रहो। ग्यारह रुद्र और आठ वसु तुम्हारी स्तुति करें। इन मन्त्रों को ऐश्वर्य के निमित्त वृद्धि दो, यजमान का भाग्योदय हो। अध्वर्यु अश्विनीकुमार इस स्थान में तुमको स्थापित करें॥ २॥

हे इष्टके, त्वं कुलायिनी कुलायं नीडं गृहमस्ति यस्याः सा, 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' (अ० को० २।५।३७) इत्यमरात्। सा हि रेतःसिग्वेलायामिष्टकाभिरुपहिताभिर्गृहाकारा भवति। अत्र इनिः सादृश्यार्थकः। निवासस्थानवती वा। घृतवती भविष्यद्वृत्त्या। होष्यमाणेन आज्येन संयुता। इह हि वसोर्धाराद्या आहुतयो होष्यन्ते। पुरन्धिः पुरमिष्टकासमूहं दधातीति। अथवा पुरु बहुधा धीयते सम्यगवस्थाप्यत इति। तादृशी त्वं पृथिव्याः प्रथमचितिरूपाया भूमेः सम्बन्धिनि स्योने सुखरूपे स्थाने सीद उपविश। किञ्च, सौभगाय ऐश्वर्याय। रुद्रा वसव इत्युपलक्षणं सर्वदेवानाम्। सर्वे देवास्त्वामभिगृणन्तु स्तुवन्तु। इमा इमानि ब्रह्म ब्राह्मणानि मन्त्रात्मकानि पीपिहि आप्यायस्व, प्राप्नुहीति यावत्। ब्रह्मेत्यत्र 'सुपां सुलुक्....' (पा० सू० ७।१।३९) इति सुपो लुक्। 'पीङ् पाने' इति दैवादिकस्य 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति श्यनः श्लौ 'श्लौ' (पा० सू० ६।१।१०) इति द्वित्वे 'तुगादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घे पीपिहीति रूपम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'कुलायिनी घृतवती पुरन्धिरिति। कुलायमिव वै द्वितीया चितिः स्योने सीद सदने पृथिव्या इति पृथिवी वै प्रथमा चितिस्तस्यै शिवे स्योने सीद सदन इत्येतदभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्वित्येतास्त्वां देवता अभिगृणन्त्वित्येतदिमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायेतीमा ब्रह्माव सौभगायेत्येतदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू उपाधत्ताम्' (श० ८।२।१।५)। द्वितीयं मन्त्रं पादशोऽनूद्य व्याचष्टे—कुलायिनीति।

कुलायमिव वा इति। कुलायो नीडम्, तदिव हि द्वितीया चितिर्भवति। यथा वृक्षादेरुपरि नीडमवतिष्ठते, तथा द्वितीयचितेरपि प्रथमचितेरुपर्यवस्थानात् तत्सादृश्यम्। द्वितीयपादे पृथिव्यै इति पदस्यार्थमाह पृथिवी वै प्रथमा चितिरिति। प्रथमचितेः पृथिवीरूपता प्राक् प्रतिपादिता (श० ८।२।१।१) इत्यत्र। तस्याः सम्बन्धिनि शिवे शोभने स्योने सुखकरे।

अथ मन्त्रार्थः—हे इष्टके, त्वं कुलायसदृशी, द्वितीया चितिः कुलायस्तत्सम्बन्धिनी, घृतमुदकमाज्यं वा तद्वती। पुरन्धिः पुरं शरीरं धीयते गर्भतया यस्यां सा, योषिद्रूपासि। सा त्वं पृथिव्याः प्रथमचितेः सम्बन्धिनि सुखकरे स्थाने सीद आस्व। रुद्रा वसवो देवास्त्वामभिष्टुवन्तु। सौभाग्याय यद्वा धनाय इमानि ब्रह्माणि परिवृढानि हविरादीनि पीपिहि अभिपालय वर्धय। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मात्मप्रज्ञे, त्वं कुलायिनो देहमगे वृक्षे बुद्धिमयकुलायसम्बन्धिनी असि। घृतवती घृतसारस्नेहवती, ज्ञानवैराग्यादीनां भक्तिपुत्रत्वेन तत्सम्बद्धत्वात्। पुरन्धिः पुरं बहुगुणजातं शमदमादिकं दधातीति तथा। रुद्रवसूपलक्षिताः सर्वेऽपि देवास्त्वामभिगृणन्तु अभिगृणन्ति स्तुवन्ति। किञ्च, त्वं सौभगाय स्वस्याः साधकस्य च सौभाग्याय इमा इमानि ब्रह्म ब्रह्माणि ब्रह्मावबोधकमन्त्रान् पीपिहि अविद्यातत्कार्यात्मकप्रपञ्चापनोदनेन साफल्यापादनेन आप्यायस्व।

दयानन्दस्तु—'हे स्योने, यां त्वां रुद्रा मध्या विद्वांसः, वसव आदिमा विपश्चितो ब्रह्मदातृन् गृहीतृनभिगृणन्तु प्रशंसन्तु, सा त्वं सौभगाय एतानि पीपिहि प्राप्नुहि। घृतवती पुरन्धिः कुलायिनी कुलं यदेति तत्कुलायम्, तत्प्रशस्तं विद्यते यस्याः सा सती पृथिव्या भूमेः सदने सीद। अध्वर्यू अश्विना त्वेह सादयताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरर्थककल्पनाबाहुल्यात्। 'स्योनम्' निघण्टौ (३।६।१५) सुखनामसु नपुंसकस्य स्योनमित्यस्य पाठात् 'स्योने' इति सप्तमीरूपम्, न तु सम्बोधनम्, स्त्रीलिङ्गत्वाभावात्। रुद्रवस्वादिशब्दैर्देवविशेषानपहाय विद्वत्सु आदिमध्यादिकक्ष्याकल्पनं निर्मूलमेव। कुलायिनीशब्दस्यापि प्रसिद्धकुलायशब्दप्रकृतिकतामपहाय 'कुलं यदेति तत्कुलायं तत्प्रशस्तं विद्यते यस्याः सा' इत्यादिकल्पनं निरर्थकमेव। तथा विवक्षायां कुलवती कुलीना आर्या सभ्या इत्यादयः प्रयोगाः स्युः। नहि लोके त्वां रुद्रा वसवः प्रशंसन्त्विति स्त्रियं कश्चिदुपदिशति ॥ २ ॥

स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद देवानाᳬं सुम्ने बृहते रणाय। पितेवैधि सूनव आ सुशेवा स्वावेशा तन्वा संविशस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! बल की रक्षा करने वाली तुम देवताओं के रमणीय सुख को देने वाली इस दूसरी चिति में अपने बल के साथ स्थिर और सदा सुख देने वाली बनो, जिस प्रकार कि पिता पुत्र के लिये सुखदायक होता है। तुम सुख देने वाले शरीर के साथ यहाँ रहो। अध्वर्यु अश्विनीकुमार इस स्थान में तुमको स्थापित करें ॥ ३ ॥

हे इष्टके, त्वं स्वैः स्वकीयैर्दक्षैर्वीर्यैः सह दक्षपिता दक्षं वीर्यं पातीति वीर्यस्य पालयित्री सती इह द्वितीयायां चितौ सीद उपविश। किमर्थम्? देवानां सम्बन्धिने रणाय रमणीयाय बृहते सुम्ने सुम्नाय सुखाय सुखप्राप्त्यर्थम्। चतुर्थ्यर्थे सप्तमी। देवानां सुखार्थं तिष्ठेत्यर्थः। तत्र आ सर्वतः सुशेवा सुखेन सेवितुं शक्या सुष्ठु शोभनं शेवं सुखं यस्यास्तादृशी वा एधि भव। क इव? सूनवे पितेव। यथा जनकः सूनवे पुत्राय सुशेवः सुखयिता भवति तद्वत्। अथवा पुत्रार्थं पिता सुखेन सेव्यो भवति तद्वत्। तन्वा स्वकीयेन शरीरेण स्वावेशा सुखेन प्रवेशवती

सती संविशस्व अवस्थानं कुरु । यद्वा तृतीयार्थे प्रथमा । स्वावेशया सुखप्रवेशवत्या तन्वा शरीरेण संविशस्व अवस्थानं कुरु । शेषं पूर्ववत् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीदेति । स्वेन वीर्येणेह सीदेत्येतद्देवानाᳩ सुम्ने बृहते रणायेति देवानाᳩ सुम्नाय महते रणायेत्येतत्पितेवैधि सूनव आ सुशेवेति यथा पिता पुत्राय स्योनः सुशेव एवᳩ सुशेवैधीत्येतत् स्वावेशा तन्वा संविशस्वेत्यात्मा वै तनूः स्वावेशेनात्मना संविशस्वेत्येतदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू उपाधत्ताम्' (श० ८।२।१।६)। तृतीयं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—स्वैर्दक्षैरिति । दक्षशब्दो वीर्यवचनः। बहुवचनं पूजार्थमभिप्रेत्याह—स्वेन वीर्येणेति । 'सुम्ने' इति चतुर्थ्येकवचने 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इति ङेस्थाने यादेशस्य विकल्पितत्वात् 'अतो गुणे' (पा० सू० ६।१।९७) इति पररूपमेव । तृतीयपादमनूद्य व्याचष्टे—पितेवैधीति । तथा चायमर्थः— हे इष्टके, दक्षपिता दक्षो वर्धयिताऽग्निः पिता पालको यस्याः सा तादृशी भूत्वा इह अस्मिन् स्थाने स्वेन वीर्येण उपविश । किमर्थम् ? देवानां महते रणाय रमणीयाय सुम्नाय सुखाय । यथा पिता सूनवे पुत्राय स्योनः सन् सुशेवः सुमुखो भवति, एवं त्वं देवानां सुखयित्री एधि भव । चतुर्थपादमनूद्य व्याचष्टे-- स्वावेशा तन्वेति । अत्र तनूशब्दः शरीरवाचीत्याह—स्वावेशेनात्मनेति । सुष्ठु आवेशयतीति स्वावेट्, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति विच्, तस्य सर्वापहारिलोपे रूपम्, तया। तथा च स्वावेशेन सुखोपवेशनहेतुभूतेन आत्मना संविशस्व सम्यगुपविश ।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मात्मप्रज्ञे, स्वैर्वीर्यैस्त्वमिह ब्रह्मात्मन्यासीद तद्विषयावरणनिवर्तकत्वेन तदाभिमुख्येन तिष्ठ। कीदृशी त्वम् ? दक्षपिता दक्षं वेदान्तविचारनिपुणं साधकं पातीति । किमर्थं स्थातव्यं तत्राह— देवानां महते रमणीयाय सुम्नाय सुखाय । किञ्च, त्वमासमन्ताद् भावेन सुशेवा सुमुखा एधि भव । क इव ? यथा पिता जनकः सूनवे पुत्राय सुखयिता भवति तद्वत् । स्वावेशा सुखप्रवेशवत्या तन्वा सुगमेन स्वरूपेण साधकानां बुद्धौ अवस्थानं कुरु । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, त्वं यथा स्वैर्दक्षैर्बलैश्चतुरैर्भृत्यैर्वा सह वर्तमानो देवानां धार्मिकाणां विदुषां मध्ये बृहते महते रणाय संग्रामाय सुम्ने सुखे दक्षपिता दक्षस्य बलस्य चतुरभृत्यानां वा पिता पालको विजयेन वर्धते, तथैव एधि भव । सुम्न आसीद । पितेव सूनवे अपत्याय सुशेवा सुष्ठु सुखा स्वावेशा सुष्ठु आसमन्ताद् वेशो यस्याः सा तथाभूता सती तन्वा शरीरेण संविशस्व । अध्वर्यू अश्विनौ त्वामिह सादयताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, पितेव सूनव इत्युपमानानुपपत्तेश्च । यथा पिता पुत्राय सुखाय ददाति तथा स्वलङ्कृता संविशस्व । पत्या सह प्रवेशवती शरीरेण प्रविशेति केन किं श्लिष्यते ? वेशशब्दस्य स्वलङ्कारार्थता कुतस्त्या ? विशतेस्तदर्थत्वाभावात् ॥ ३ ॥

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभिगृणन्तु देवाः । स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणायजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम पहली चिति की पूरक और जल के कारणीभूत रस से अभिन्न हो । सम्पूर्ण देवता तुम्हारी सब ओर से स्तुति करें । त्रिवृत् आदि स्तोम, रथन्तर आदि पृष्ठ जिसमें पढ़े जाते हैं, ऐसी हवन होने योग्य घृत से युक्त तुम इस दूसरी चिति में ठहरो । पुत्र, पौत्र आदि से युक्त धन को हमारे लिये सब ओर से दो । अध्वर्यु अश्विनीकुमार इस स्थान में तुमको स्थापित करें ॥ ४ ॥

हे इष्टके, त्वं पृथिव्याः प्रथमचितेः पुरीषं पूरकं वस्तु असि, 'पृथिवी वै प्रथमा चितिस्तस्या एतत्पुरीषमिव यद् द्वितीया' (श० ८।२।१।७) इति श्रुतेः। पृणाति पूरयतीति पुरीषम्, 'शृपृभ्यां किच्च' (उ० ४।२।७) इति पृणातेरीषन् प्रत्ययः। 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा० सू० ७।१।१०२) इत्युदादेशो रपरत्वं च। अप्सः अपः सनोति ददातीत्यप्सः। अप्सो नाम अपां कारणीभूतो रसः। तादृशरसरूपा त्वमसि। तां तादृशीं प्रथमचितिपूरिकां जलदरसभूतां त्वा त्वां विश्वे सर्वे देवा अभिगृणन्तु सर्वतः स्तुवन्तु। स्तोमपृष्ठा सप्तदशादिस्तोमैर्युक्तानि पृष्ठस्तोत्राणि यस्याः सा। अथवा स्तोमास्त्रिवृदादयः पृष्ठानि रथन्तरादीनि यस्याः सा। घृतवती होष्यमाणेन आज्येन युक्ता सती इह द्वितीयचितौ सीद तिष्ठ। ततोऽस्मे अस्मभ्यं प्रजावत् पुत्रपौत्रादियुक्तं द्रविणा द्रविणं धनम् आ समन्ताद् यजस्व देहि। यजतिरिह दानार्थकः। अस्मे इत्यत्र 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेः शे आदेशः। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'पृथिव्याः पुरीषमसीति। पृथिवी वै प्रथमा चितिस्तस्या एतत्पुरीषमिव यद् द्वितीयाप्सो नामेति रसो नामेत्येतत्तां त्वा विश्वे अभिगृणन्तु देवा इति तां त्वा सर्वेऽभिगृणन्तु देवा इत्येतत् स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीदेति यान् स्तोमानस्यां तꣳस्यमानो भवति तैरेषा स्तोमपृष्ठा प्रजावदस्मे द्रविणाऽऽयजस्वेति प्रजावदस्मे द्रविणमायजस्वेत्येतदश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू उपाधत्ताम्' (श० ८।२।१।७)। चतुर्थं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—पृथिव्याः पुरीषमसीत्यादिना। प्रथमचितेरुपरि पुरीषमुप्यते, द्वितीया चितिरपि तथेति तस्याश्चितेः पुरीषसाम्यम्। अप्सपदं व्याचष्टे—रसो नामेत्येतदिति। अप्स इत्युदकनामसु पठितत्वात् तदपहाय श्रुत्या तेन अप्सशब्देन रसः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। स्तोमपृष्ठा इति पदं व्याचष्टे—यान् स्तोमानिति। यान् त्रिवृदाद्यान् स्तोमान् तस्यमानो विस्तारयिष्यमाणो भवति, तैः स्तोमैरुपेतत्वात् स्तोमाः पृष्ठे यस्या इति व्युत्पत्त्या, एषा स्तोमपृष्ठा। द्रविणा इति द्वितीयार्थे आकार इत्याह—द्रविणमायजस्वेति। शेषं पूर्ववत्।

हे इष्टके, त्वं पृथिव्याः प्रथमचितेरुपरि पुरीषं रज इवासि। अप्सो रसोऽसि। तां तादृशीं त्वां विश्वेदेवा अभिगृणन्तु—इत्यादिमन्त्रार्थः पूर्वमुक्त एव।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मात्मप्रज्ञे, त्वं पृथिव्या जीवभूतायाः परप्रकृतिरूपायाश्चितेः पुरीषमसि पूरकमसि, परिच्छिन्नायास्तस्या ब्रह्मात्मज्ञानेनैव पूर्णब्रह्मरूपताभिव्यक्तेः। अप्सो नाम रूपं नाम त्वमसि, अविद्यादि-मलाधारहेतुत्वात्। तादृशीं त्वां विश्वेदेवा अभिगृणन्तु। स्तोमपृष्ठा स्तोमास्त्रिवृदादयः स्तावकत्वेन पृष्ठे यस्याः सा। घृतवती घृतगन्धिस्नेहवती असि। सा त्वमिह ब्रह्मणि विषये विषयित्वेन सीद, अन्तःकरणे वा सीद तिष्ठ। इदमत्रावधेयम्—सत्यां तस्यां प्रज्ञायां देशकालवस्तुभेदाद्यभावोपलक्षिते ब्रह्मणि देशकालादिकमध्यस्तत्वेन प्रतीयते। अनन्तानन्तस्वर्गवैकुण्ठादयोऽनन्तानन्तब्रह्मचैतन्यसागरे तरङ्गादय इव स्फुरन्ति। अनन्तानन्त-जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिसमाधयो विज्ञेयाश्च अत्यन्तासन्तोऽपि तत्र प्रतीयन्ते। तादृशमपरिच्छिन्नं ब्रह्मैवात्मा, न परिच्छिन्नो देहादिः। यथा दर्पणे प्रतिबिम्बाः, जले छाया, वियति नीलिमादि प्रतीयमानमपि मिथ्या, तथैव प्रपञ्चः प्रतीयमानोऽपि मिथ्या। एकमपरिच्छिन्नं चैतन्यमेव वृत्तिवृत्तिमद्विषयाणामधिष्ठानम्। स्वप्रकाशत्वेन साक्षिणो ज्ञातत्वेऽपि तद् ब्रह्म वेदान्तैर्युक्तिभिश्च ज्ञातव्यम्। सर्वदेशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं सर्वभावाभावप्रकाशकं यद् ब्रह्म तत् प्रत्यक्चैतन्याभिन्नमेव। सर्वाणि देशकालवस्तूनि विशुद्धबोधे कल्पितानि, न तु बोधो देशे काले वा प्रतीयते। तादृशं ब्रह्म मदीयं त्वदीयं समेषामेव वा स्वरूपमेव। तदिदानीमपि सर्वदा सर्वत्रैवास्ते। अत एव विस्मृतकण्ठमणेरिव नित्यप्राप्तस्यैव प्राप्तिर्ज्ञानेनोपचर्यते।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या स्तोमपृष्ठा स्तोमानां पृष्ठं ज्ञीप्सा यस्याः सा त्वमिह पृथिव्याः पुरीषं पालनम् अप्सो रूपं नाम आख्यां च धृतवत्यसि, तां त्वां विश्वेदेवा अभिगृणन्तु। इह गृहाश्रमे सीद। त्वाध्वर्यू अश्विनौ

इह सादयताम् । सा त्वं सत्वरमेव प्रजावद् द्रविणा यजस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पृष्ठपदस्य ङीप्सार्थतायाश्चिन्त्यत्वात् । 'अप्सः इति रूपनामसु' (निघ० ३।७।६) इत्यप्सशब्दस्य रूपपरत्वेऽपि तस्य नामशब्दस्य च कथं स्त्रिया विशेषणत्वम् ? पृथिव्याः पुरीषमित्यस्य तथैव स्थितिः । यद्यस्य मन्त्रस्य परमेश्वरो वक्ता, तदा स कथं तस्याः सकाशात् प्रजावद् द्रविणं याचते । न च सा मानुषी सर्वेभ्यस्तद्दातुं प्रभवति । न वा काचित् केभ्यश्चित् प्रजां ददाति ॥ ४ ॥

अदि॑त्यास्त्वा पृ॒ष्ठे सा॑दयाम्य॒न्तरि॑क्षस्य ध॒र्त्रीं वि॑ष्ट॒म्भनीं॑ दि॒शामधि॑पत्नीं॒ भुव॑नानाम् ।
ऊ॒र्मिर्द्र॒प्सो अ॒पाम॑सि वि॒श्वक॑र्मा त॒ ऋषि॑र॒श्विना॑ध्व॒र्यू सा॑दयतामि॒ह त्वा॑ ॥५॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम भुवर्लोक को धारण करने वाली हो, पूर्व आदि दिशाओं का स्तम्भन करने वाली, सब प्राणियों की स्वामिनी तुमको प्रथम चिति रूप पृथ्वी के ऊपर स्थापित करता हूँ । तुम जल का रस और तरंगें हो । प्रजापति तुम्हारे द्रष्टा हैं । अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुम्हें इस स्थान में स्थापित करें ॥ ५ ॥

हे इष्टके, अदित्याः प्रथमचितिरूपाया भूमेरुपरि त्वा त्वां सादयामि स्थापयामि । कीदृशीं त्वाम् ? अन्तरिक्षस्य लोकस्य धर्त्रीं धारयित्रीम्, तथा प्राच्यादीनां दिशां विष्टम्भिनीं विविधकार्यार्थं स्तम्भयन्तीं व्यवस्थापयित्रीम्, भुवनानां सर्वेषामधिपत्नीम् आधिक्येन पालयित्रीम् । यस्यास्ते विश्वकर्मा प्रजापतिर्ऋषिर्द्रष्टाः सा त्वम् अपामूर्मिर्यश्च द्रप्सस्तदुभयरूपासि । शेषं पूर्ववत् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'ता एता दिशः । ता रेतःसिचोर्वेलयोपदधातीमे वै रेतःसिचावनयोस्तद्दिशो दधाति तस्मादनयोर्दिशः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्दिशो दधाति तस्मात् सर्वतो दिशः सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्समीचीर्दिशो दधाति तस्मात् सर्वतः समीच्यो दिशस्ता नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना हि दिशः' (श० ८।२।१।१८) एताश्चतस्र इष्टकाः सम्भूय प्रशंसति—ता एता इति । प्राच्यादिदिक्षूपधीयमानत्वात् ता दिगात्मिकाः । तासामुपधाने स्थानविशेषं विधाय स्तौति—ता रेतःसिचोरिति । इमे द्यावापृथिव्यौ हि रेतःसिचौ, अखिलजगदुत्पत्तिहेतुत्वात् । तत् तेन आश्विनीनां रेतःसिक्समीपोपधानेनानयोर्द्यावापृथिव्योः प्राच्याद्याश्चतस्रो दिशो दधाति स्थापयति । तस्मादिति लोकप्रसिद्धिकथनम् । सर्वासु दिक्षु क्रमेण चतसृणामुपधानं विधत्ते—सर्वत उपदधातीति । आसामुपधाने गुणान्तरं विधाय स्तौति—सर्वतः समीचीरिति । सर्वास्वपि दिक्षु समीचीरनूचीनाग्राः, न तु तिर्यगवस्थिता इत्यर्थः । उपधान-सादन-सूददोहसां नानात्वं विधाय स्तौति—ता नानोपदधातीति । 'अथ पञ्चमीं दिश्यामुपदधाति । ऊर्ध्वा ह सा दिक् सा या सोर्ध्वा दिगसौ स आदित्योऽमुमेवैतदादित्यमुपदधाति तामन्तरेण दक्षिणां दिश्यामुपदधात्यमुं तदादित्यमन्तरेण दक्षिणां दिशं दधाति तस्मादेषोऽन्तरेण दक्षिणां दिशमेति' (श० ८।२।१।१९) । अथ मध्ये उपधेयामाश्विनीं विधत्ते—अथ पञ्चमीमिति । इमां पञ्चमीमूर्ध्वदिगादित्यरूपेण स्तौति—ऊर्ध्वा हेत्यादिना । या इयं पञ्चमी इष्टका सा ऊर्ध्वा दिक् । सा इष्टकारूपा या सा ऊर्ध्वा दिक् । असौ एव सः प्रसिद्ध आदित्यः । ऊर्ध्वायां हि तस्य सञ्चरणम् । अतोऽमुमाकाशे दृश्यमानमेवादित्यमेतदेतेन पञ्चमेष्टकोपधानेनोपहितवान् भवतीत्यर्थः । तामन्तरेणेत्यादि । दक्षिणदिश्युपहिता येयं दिश्या तामन्तरेण तस्या अभ्यन्तरदेशे तां पञ्चमीमादित्यरूपामिष्टकामुपदध्यात् । तस्मात् कारणादेष आदित्यो दक्षिणां दिशमन्तरेण दक्षिणस्या दिशोऽभ्यन्तरदेशे एति गच्छति । 'अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयामीति । इयं वा अदितिरस्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयत्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानामित्यन्तरिक्षस्य

ह्येष धर्त्ता विष्टम्भनो दिशामधिपतिर्भुवनानामूर्मिर्द्रप्सो अपामसीति रसो वा ऊर्मिर्विश्वकर्मा त ऋषिरिरिति प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा प्रजापतिसृष्टाऽसीत्येतदश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू उपाधत्ताम्' (श० ८।२।१।१०)। तन्मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—अदित्यास्त्वेति। अदितिशब्देनात्र पृथिवी विवक्षितेत्याह—इयं वा अदितिरिति। अस्यामेवैनमित्येनं पञ्चमेष्टकारूपमादित्यम्। आदित्यरूपतया वर्णयति—अन्तरिक्षस्य ह्येषेत्यादि। एष खलु सूर्योऽन्तरिक्षस्य धर्ता धारयिता, यथा दिशो न पतन्ति तथा तासां विष्टम्भनो विशेषेण स्तम्भयिता, भुवनानामधिकं प्रकाशवर्षादिना पालयिता। अतस्तद्रूपिण्या इष्टकाया अपि सर्वमेतदुपपद्यत इति विशेषणानामभिप्रायः, रसो वा ऊर्मिरिति। रस एव ह्यप्सु तरङ्गरूपेण वर्तते। तस्मादत्रोर्मिशब्दो रसपरः। एतदुक्तं भवति—हे इष्टके, अपां सम्बन्धी यो रसरूप ऊर्मिस्तरङ्गो द्रप्सो दृढश्च, त्वं तदुभयरूपासीति। प्रजापतिर्वै विश्वकर्मेति। विश्वं सर्वं जगत् कर्म कर्तव्यं येनेति व्युत्पत्तेर्विश्वकर्मा प्रजापतिः। हे इष्टके, उदीरितरूपायास्ते तव विश्वकर्मा ऋषिर्द्रष्टा। अस्य तात्पर्यमाह—प्रजापतिसृष्टाऽसीत्येतदिति।

अध्यात्मपक्षे—हे चितिरूपे भगवति, अदित्या अदीनायाः प्रकृतेरुपरि पृष्ठे त्वां सादयामि धारयामि, चिन्तयामीत्यर्थः। त्वमन्तरिक्षस्य धर्त्री धारयित्री, परमात्मरूपत्वात्। कीदृशीं त्वाम्? दिशां प्राच्यादीनां विष्टम्भिनीं संस्तम्भनकर्त्रीम्, सूर्यरूपया त्वयैव तस्या व्यवस्थापितत्वात्। पुनः कीदृशीम्? भुवनानां भूतजातानामधिपत्नीं स्वामिनीम्। त्वमपां द्रप्सः कठिन उपलः कूर्चादिरूपः, ऊर्मिः कल्लोलरूपः, एतदुभयरूपासि। विश्वकर्मा प्रजापतिस्ते द्रष्टा, प्रजापतेस्त्वदुपासकत्वात्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यस्ते विश्वकर्मा शुभाखिलकर्मा ते तव ऋषिर्विज्ञापकः पतिरहमन्तरिक्षस्य अन्तरक्षयविज्ञानस्य धर्त्री दिशां पूर्वादीनां विष्टम्भिनीं भुवनानामधिपत्नीमधिष्ठातृत्वेन पालिकां सूर्यामिव त्वादित्या भूमेः पृष्ठे उपरि सादयामि स्थापयामि। योऽपां जलानामूर्मिरिव ते द्रप्सो हर्षस्तेन युक्तासि, तां त्वेहाध्वर्यू अश्विना सादयताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेरनुपपत्तेः। नह्यनुपचारेण मनुष्यमात्रो विश्वकर्मा भवति, तस्य सीमितकर्मत्वात्। न वा पतिर्ऋषिर्विज्ञानदाता भवति, 'ऋषिर्दर्शनात्' (निरु० २।११) इति विरोधात्। न च विज्ञानदाता अध्यापकादिः पतिर्भवत्यन्तरिक्षस्य, न च सा अपामूर्मिर्द्रप्सो वा सम्भवति, भेदावभासात्। पूर्वादिदिशां धारयित्रीत्वविष्टम्भिनीत्वमपि तत्र खपुष्पायितम्। भुवनानां स्वामिनीत्वमपि तत्र न सम्भवति। पृथिव्याः पृष्ठे सर्वोऽपि तिष्ठति, न तत्र स्थापनापेक्षा ॥ ५ ॥

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे। ग्रैष्मावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—ज्येष्ठ और आषाढ़ मास ग्रीष्म ऋतु से सम्बद्ध हैं। हे ऋतुरूप दोनों इष्टकाओं, तुम अग्नि के मध्य में स्थित हो, मेरे उत्कर्ष के निमित्त द्युलोक और भूलोक में स्थित हो, जल और औषधि को देने में समर्थ हो, समान कर्म वाली स्वयमातृण्णा आदि इष्टकाएँ तुम्हारा ही स्वरूप हैं। तुम द्युलोक और भूलोक के मध्य में समान चित्त वाली दूसरी इष्टकाओं के साथ ग्रीष्म ऋतु का सम्पादन करती हुई इस स्थान में स्थित रहो, जैसे देवता इन्द्र को प्राप्त होते हैं। हे ऋतव्य इष्टके ! देवताओं के द्वारा स्थापित तुम अंगिरा ऋषि के समान दृढता के साथ यहाँ रहो ॥ ६ ॥

'शुक्रश्च शुचिश्चेत्यृतव्ये पूर्वयोरुपरि' (का० श्रौ० १७।८।१६)। प्रथमचितावुपहितयोर्ऋतव्ययोरुपरि द्वे ऋतव्ये पद्ये प्राग्लक्षणेऽनूकमभित उदङ्मुख उपदध्यात्। शुक्रश्च शुचिश्चेति प्रत्येकमुपधाय ग्रैष्मावृतू इति मन्त्रशेषो द्वे अप्यालभ्य पाठ्य इति सूत्रार्थः। शुक्रो ज्येष्ठमासः शुचिराषाढः, तावुभौ ग्रीष्मसम्बन्धिनावृतू। हे ग्रीष्माख्य ऋतो, त्वं चीयमानस्याग्नेरन्तःश्लेषोऽसि यथा कुड्यस्यान्तर्दार्ढ्यार्थं काष्ठपाषाणादयः श्लेष्यन्ते तद्वत्। ममाग्निं चिन्वतो यजमानस्य ज्यैष्ठ्योत्कर्षार्थमिमे द्यावापृथिव्यौ स्वोचितमुपकारं कल्पेतां सम्पादयेताम्। आपश्च ओषधयश्च कल्पन्तां स्वोपकारं सम्पादयितुम्। समानव्रताः समानं व्रतं कर्म येषां ते। एकस्मिन् कर्मण्यवस्थिता आहवनीयाद्यग्नयः पृथक् कल्पन्ताम्, प्रत्येकं स्वोचितव्यापारं सम्पादयन्तु। किञ्च, इमे द्यावापृथिवी अन्तरा अनयोर्मध्ये वर्तमानाः समनस एकमनस्का येऽग्नयस्ते सर्वेऽपि ग्रीष्मसम्बन्धिनावेतावृत्ववयवा अभिकल्पन्तां सर्वतः सम्पादयन्त एतत्कर्म अभिसंविशन्तु। तत्र दृष्टान्तः—इन्द्रमिव देवाः। यथा अन्ये सर्वे देवा इन्द्रमभितः सेवन्ते, तद्वत्। हे ऋतव्ये इष्टके, युवां तया देवतया अङ्गिरस्वद् अङ्गिरसां कर्मणां च ध्रुवे स्थिरे सत्यौ सीदतम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथर्तव्ये उपदधाति। ऋतव एते यदृतव्ये ऋतूनेवैतदुपदधाति शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू इति नामनी एनयोरेते नामभ्यामेवैने एतदुपदधाति द्वे इष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत् सादयत्येकं तदृतुं करोति' (श० ८।२।१।१६)। इत्थमाश्विनीर्विधाय ऋतव्ययोरुपधानं विधत्ते—अथर्तव्ये उपदधातीति। तत्प्रशंसति—ऋतव्य इति। संवत्सरात्मकस्य चित्यस्याग्नेः 'मधुश्च माधवश्च' इत्यादिमन्त्रैरुपधेया ऋतव्या इष्टका ऋतुस्थानीयाः। अतस्तदुपधानेनैव ऋतून् स्थापितवान् भवतीत्यर्थः। मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—शुक्रश्च शुचिश्चेति। नामनी एनयोरिति। एनयोर्ग्रीष्मर्त्वात्मिकयोर्ऋतव्ययोरेते शुचिशुक्रशब्दरूपे नामनी, अतो नामभ्यामेव एतयोरुपधानं कृतं भवतीत्यर्थः। ऋतव्ये उपदधातीति विशिष्टविधिनैव सिद्धं द्वित्वमनूद्य स्तौति—द्वे इष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतु इति। हिशब्दः सर्वजनप्रसिद्धिद्योतनार्थः। इष्टकयोर्द्वित्वात् पृथक् पृथक् सादनप्रसक्तौ आह—सकृत् सादयतीति। तेन सकृत्करणेन ऋतुमेकमद्वयात्मकं करोति यजमानः। 'तद्यदेते अत्रोपदधाति। संवत्सर एषोऽग्निरिम उ लोकाः संवत्सरस्तस्य यदूर्ध्वं पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरिक्षात् तदस्यैषा द्वितीया चितिस्तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुस्तद्यदेते अत्रोपदधाति यदेवास्यैते आत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेते अत्रोपदधाति' (श० ८।२।१।१७)। ऋतव्ययोर्द्वितीयचितावुपधानं प्रशंसति—तद्यदेते अत्रेति। वसन्ताद्यृत्विष्टकानिष्पाद्यत्वात् एष चीयमानोऽग्निः संवत्सरः। स च संवत्सर इमे लोकाः खलु, संवत्सरात्मकेन प्रजापतिना सृष्टत्वात्। अग्नेः संवत्सररूपस्य लोकत्रयात्मकत्वकल्पनायाः प्रयोजनमाह—तस्य यदूर्ध्वमिति। पृथिव्याः प्रथमचितिरूपायास्तदुपरितनमन्तरिक्षादधस्तनं यदस्ति तदस्याग्नेर्द्वितीयचितिस्थानम्। तदु तदेव अस्य संवत्सररूपस्य ग्रीष्म ऋतुः। तत् तस्माद् एते इष्टके अत्र द्वितीयायां चितौ उपदधातीति यत् तत् तेन यदेवास्याग्नेरात्मनः शरीरस्येष्टकाद्वयरूपमङ्गं विकलमभूत्, तद् विकलमस्मिन्नात्मन्येतदिदानीं प्रतिदधाति पुनः स्थापितवान् भवति। तस्मादेते इति निगमनम्। अयमत्र भावः—लोकत्रयात्मकस्य चित्याग्नेर्यत्पृथिव्यन्तरिक्षान्तरालरूपमङ्गं तद् द्वितीयचित्यनुष्ठानेन, यत्तु संवत्सरात्मकस्य ग्रीष्मर्तुरूपं तदृतव्ययोरुपधानेन प्रतिहितं भवतीति। 'यद्वेवैते अत्रोपदधाति। प्रजापतिरेषोऽग्निः संवत्सर उ प्रजापतिस्तस्य यदूर्ध्वं प्रतिष्ठाया अवाचीनं मध्यात्तदस्यैषा द्वितीया चितिस्तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुस्तद्यदेते अत्रोपदधाति यदेवास्यैते आत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेते अत्रोपदधाति' (श० ८।२।१।१८)। एष चीयमानोऽग्निः प्रजापतिः, सोऽपि संवत्सर एव। तस्य संवत्सरादभिन्नस्य प्रजापतिरूपस्याग्नेर्यत् प्रतिष्ठायाः प्रतिष्ठापादौ तस्या ऊर्ध्वं मध्यात् कटिप्रदेशादधस्तनं च यदस्ति। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—भगवद्भजनोन्मुखस्य साधकस्य कृते सर्वोऽपि स्वोचितमुपकारपरायणो भूयादित्यर्थे प्रथमार्थेनैव गतार्थतेति न पृथगर्थो निर्दिश्यते ।

दयानन्दस्तु – 'हे स्त्रीपुरुषौ, यथा मम ज्यैष्ठ्याय शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू ययोरग्नेरन्तः श्लेषोऽस्यास्तीति याभ्यां द्यावापृथिवी कल्पेताम्....तया देवतया परमेश्वररूपया सह युवामिमे द्यावापृथिवी ध्रुवे एतौ चाङ्गिरस्वद् ध्रुवं सीदतम्' इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम् । कस्यचिज्ज्यैष्ठ्याय शुक्रशुचिमासयोर्ग्रीष्मत्वाभावात् । न चात्र कफबोधकः कश्चन शब्दोऽस्ति, श्लेषश्लेष्मयोरैक्यायोगात् । संस्कृतव्याख्याने मध्य आलिङ्गनमित्युक्तम्, तेन स्वोक्तिविरोधश्च । श्रुतिविरोधश्च पदे पदे प्राप्त एव ॥ ६ ॥

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा । सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा । सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजू रुद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा । सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा । सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम ऋतुओं के साथ और जल के साथ प्रीतिमान् हो, बाल्य आदि अवस्था प्राप्त करने वाले प्राणों के साथ तथा इन्द्र आदि देवताओं के साथ प्रेम करने वाली हो । तुमको सबके हितकारी अग्निदेवता की तृप्ति के लिये ग्रहण करता हूं । अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुम्हें इस दूसरी चिति में स्थापित करें । हे इष्टके ! ऋतुओं के साथ, जल के साथ, वसुओं के साथ, प्राणों और देवताओं के साथ प्रीति रखनेवाली तुमको विश्व के हितकारी अग्निदेवता की तृप्ति के निमित्त स्थापित करता हूं । अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुमको इस दूसरी चिति में स्थापित करें । हे इष्टके ! ऋतुओं के साथ, जल के साथ, रुद्रों के साथ, प्राणों के साथ और देवताओं के साथ प्रीति रखने वाली तुमको विश्व के हितकारी अग्निदेवता के निमित्त स्थापित करता हूँ । अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुमको इस तीसरी चिति में स्थापित करें । हे इष्टके ! ऋतुओं के साथ, जल के साथ, आदित्य के साथ और प्राण देवताओं के साथ प्रीति करनेवाली तुमको सारे विश्व के हितकारी अग्निदेवता की प्रीति के निमित स्थापित करता हूँ । अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुमको इस चौथी चिति में स्थापित करें । हे इष्टके ! तुम ऋतुओं से, प्राणों से, सम्पूर्ण देवताओं से और प्राण देवताओं से सेवित हो, तुमको सब जगत् के हितकारी अग्निदेवता की प्रीति के लिये ग्रहण करता हूँ । अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुमको इस पाँचवीं चिति में स्थापित करें ॥ ७ ॥

'वैश्वदेवीः सजूर्ऋतुभिरिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।८।१८) । सजूर्ऋतुभिरित्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैर्वैश्वदेवीसंज्ञकाः पूर्वादिदिक्षु मध्ये चोपदध्यादिति सूत्रार्थः । विश्वदेवदृष्टानि विश्वेदेवदेवत्यानि पञ्च यजूंषि । हे इष्टके, ऋतुभिर्वसन्तादिभिः सजूः समानप्रीतिरसि । वसन्तादीनां यादृशी प्रीतिस्तादृशीत्यर्थः । विधाभिर्विविधं जगद् दधति पोषयन्तीति विधा ब्रह्मादयः, तैः समानप्रीतिरसि । यद्वा—विधा आपः, 'आपो वै विधा

अद्भिर्हीद७ँ सर्वं विहितम्' (श० ८।२।२।८) इति श्रुतेः। ताभिः समानप्रीतिरसि। सजूर्देवैरिन्द्रादिभिर्वयोनाधैर्वयो बाल्यादि नह्यन्ति बध्नन्तीति वयोनाधाः प्राणा देवा दीप्यमानास्तैश्च सजूः समानप्रीतिरसि, 'प्राणा वै वयोनाधाः प्राणैर्हीद७ँ सर्वं वयुनं नद्धम्' (श० ८।२।२।८) इति श्रुतेः। यद्वा—वयोनाधैर्देवैश्छन्दोभिः सजूः समानप्रीतिरसि, 'अथो छन्दा७ँसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीद७ँ सर्वं वयुनं नद्धम्' (श० ८।२।२।८) इति श्रुतेः। यद्वा—ऋतुदेवप्राणान् जनयित्वा तैः सजूः सयुग्भूत्वा प्रजापतिर्यथा त्वामुपहितवान्, एवं तादृशैस्तैर्देवैः समानप्रीतियुक्तां त्वां वैश्वानराय अग्नये सर्वपुरुषाणां हितकारिवह्न्यर्थमहमुपदधामीति शेषः। एवमुपहितां त्वां देवानामध्वर्यू अश्विनौ इहास्मिन् क्षेत्रे सादयताम्। यद्वा—हे इष्टके, देवानामध्वर्यू अश्विनौ देवौ तां त्वा त्वामिह स्थाने द्वितीयचितौ सादयताम्। किमर्थम्? विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो नरेभ्यो हिताय अग्नये अग्नितृप्तये। अग्नये त्वेति त्वाशब्दो या इति प्रथमार्थे। प्रातिपदिकमुपोर्व्यत्ययः। तां कां या त्वमृतुभिः सजूः। जोषणं जुट् प्रीतिः। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्। 'सम्पदादिभ्यः क्विप्' (पा० सू० ३।३।९४ वा० ४) इति वार्त्तिकात्। 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' (पा० सू० ६।३।८४) इति समानशब्दस्य सादेशः। एवं वसुभी रुद्रैरादित्यैर्विश्वेदेवैः सजूरित्युत्तरचतुर्मन्त्रेषु विशेषः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वैश्वदेवीरुपदधाति। एषा वै सा द्वितीया चितिर्यामिभ्यस्तदश्विना उपाधत्तां तामुपधायेद७ँ सर्वमभवतां यदिदं किञ्च' (श० ८।२।२।१)। ऋतव्ययोरुपधानानन्तरं वैश्वदेवीनामुपधानं विधाय आख्यायिकया स्तौति—अथ वैश्वदेवीरिति। यामिष्टकामेभ्योऽर्थाय अश्विनौ उपाधत्ताम्, सैषा द्वितीया चितिः। तां द्वितीयामुपधायेदं सर्वमभवताम्, सर्वमिदं तयोः स्वाधीनमभूदित्यर्थः। सर्वशब्दस्यासङ्कोचं दर्शयति-यदिदं किञ्चेति। यत्प्रतीयते तत्सर्वमित्यर्थः। 'ते देवा अब्रुवन्। अश्विनौ वा इद७ँ सर्वमभूतामुप तज्जानीत यथा वयमिहाप्यसामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथा वयमिहाप्यसामेति ते चेतयमाना एता इष्टका अपश्यन् वैश्वदेवीः' (श० ८।२।२।२) 'तेऽब्रुवन्। अश्विनौ वा इद७ँ सर्वमभूतामश्विभ्यामेवाश्विनोश्चितिमनूपदधामहा इति तेऽश्विभ्यामेवाश्विनोश्चितिमनूपादधत तस्मादेतामाश्विनी चितिरित्याचक्षते तस्माद्यथैव पूर्वासामुदर्कं एवमेतासामश्विभ्या७ँ ह्येवाश्विनोश्चितिमनूपादधत' (श० ८।२।२।३)। ते देवा इदं सर्वमश्विनावेवाभूताम्, अतो यथा येन प्रकारेण इहास्मिन् वयमप्यसाम तत्तथा उपजानीत इति परस्परमब्रुवन्। पुनरब्रुवन् चेतयध्वमिति। एवं वदतामुक्तेरभिप्रायं श्रुतिरितरथा ब्रूते—चितिमिच्छतेति। इतस्ततो विक्षिप्ताया बुद्धिवृत्तेरैकाग्र्येणैकत्र समावेशश्चितिः। स्वातन्त्र्येण कार्यं साधयितुमशक्तास्ते देवा एवमब्रुवन्। कथं पूर्वमिदं सर्वमश्विनावेव अभूताम्, अतो वयमप्यश्विभ्यामेव साधनाभ्यां (तद्धस्तादित्यर्थः) तयोश्चितिमनुसृत्यैव वैश्वदेवीरुपदधामहा इति। एवमुक्त्वा ते तथैवाकुर्वन्। तस्मादश्विप्रधानत्वादेतां द्वितीयां चितिमाश्विनीत्याचक्षते तज्ज्ञाः। तस्मादश्विसाधितत्वाद् यथा पूर्वासामाश्विनीनाम् उदर्के मन्त्रस्यावसानम् अश्विनावध्वर्यू सादयतामित्येवंरूपम्, एवमेतासां वैश्वदेवीनामुदर्कं इति शेषः।

'यद्वेव वैश्वदेवीरुपदधाति। ये वै ते विश्वे देवा एतां द्वितीयां चितिमपश्यन् ये त एतेन रसेनोपायंस्त एते तानेवैतदुपदधाति वा एताः सर्वाः प्रजास्ता रेतःसिचोर्वेलयोपदधातीमे वै रेतःसिचावनयोस्तत्प्रजा दधाति तस्मादनयोः प्रजाः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तत्प्रजा दधाति तस्मात् सर्वतः प्रजा दिश्या अनूपदधाति दिक्षु तत्प्रजा दधाति तस्मात् सर्वासु दिक्षु प्रजाः' (श० ८।२।२।४)। यत्कारणाद् वैश्वदेवीरुपदधाति तदभिधीयत इत्यर्थः। ये खलु ते विश्वे देवा एतां वैश्वदेवीभिर्निर्मितां द्वितीयां चितिमपश्यन्, ते देवा एतेन रसेनोपायन् रसेन सङ्गता अभवन्नित्यर्थः। त एते प्रसिद्धा विश्वे देवाः। तानेव रसेनोपेतान् देवानेव एतद् एतेन

वैश्वदेवीनामुपधानेनोपदधात्यध्वर्युः। कोऽसौ रस इत्युच्यते—ता एताः सर्वाः प्रजा इति। ता रसत्वेन निर्दिष्टा इष्टका एताः परिदृश्यमानाः सर्वाः प्रजाः। एतासां स्थानमाह—ता रेतःसिचोर्वेलयेति। तस्माद्रेतःसिचोर्द्यावापृथिव्यात्मकत्वाद् अनयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये प्रजा वर्तन्त इति शेषः। तत्रापि विशेषं सार्थवादमाह—सर्वत उपदधातीति। तत्राप्यश्विनीनामान्तर्यमाह—दिश्या अन्विति। दिश्या आश्विन्यः। ताः सर्वत उपहिताः, ता अनु एता अप्युपदध्यात्। 'यद्वेव वैश्वदेवीरुपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्तात् सर्वाः प्रजा मध्यत उदक्रामन्नेतस्या अधि योनेस्ता एनमेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते प्रापद्यन्त' (श० ८।२।२।५)। विस्रस्तात्प्रजापतेर्मध्यतः सर्वाः प्रजा उद्गताः। मध्यं विशिनष्टि- एतस्या अधि योनेरिति। अधि इति पञ्चम्यर्थानुवादी। एतस्याः प्रजोत्पादिकाया योनेः सकाशाद् उदक्रामन्। ता उद्गताः प्रजापतिसम्बन्धिन्य एतस्मिन् मध्ये प्रतिहिते समाहिते सत्येनं प्रजापतिं पुरस्तात् प्रापद्यन्त। 'स यः स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत। अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ या अस्मात्ताः प्रजा मध्यत उदक्रामन्नेतास्ता वैश्वदेव्य इष्टकास्तद्यदेता उपदधाति या एवास्मात्ताः प्रजा मध्यत उदक्रामंस्ता अस्मिन्नेतत् प्रपादयति रेतःसिचोर्वेलया पृष्ट्यो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्ट्यो मध्यत एवास्मिन्नेताः प्रजाः प्रपादयति····सर्वत एवास्मिन्नेताः प्रजाः प्रपादयति' (श० ८।२।२।६)। कोऽसौ विस्रस्तः प्रजापतिरिति तमाह—अयमेव स इति। उत्क्रान्ताः प्रजाः का इति तत्राह—एतास्ता इति। तद्यदेता वैश्वदेवीरत्र द्वितीयायां चिता उपदधाति, या एव प्रजा अस्मात् प्रजापतेर्मध्यतो मध्यदेशाद् उत्क्रान्ता ता एव पुनस्तत्र प्रपादयति। 'यद्वेव वैश्वदेवीरुपदधाति। एतद्वै प्रजापतिरेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहितेऽकामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति स ऋतुभिरद्भिः प्राणैः संवत्सरेणाश्विभ्याꣳ सयुग्भूत्वैताः प्रजाः····प्रजनयति तस्मादु सर्वास्वेव सजूः सजूरित्यनुवर्तते (श० ८।२।२।७)। अथासां पञ्चानां वैश्वदेवीनामुपधाने मन्त्रं विधातुमाह—यद्वेव वैश्वदेवीरित्यादिना। आत्मनः शरीरस्य एतस्मिन् मध्यमेऽङ्गे प्रतिहिते सत्यकामयत प्रजाः सृजेयेति। प्रजायेयेति सृज्यमानप्रजारूपेण मम प्रादुर्भावोऽप्यस्त्वित्यर्थः। एवं कामयमानः स ऋत्वप्प्राणसंवत्सराश्विभिः सयुक् तत्सहायो भूत्वा एता वक्ष्यमाणवैश्वदेव्याख्याः प्रजाः प्राजनयत्। तस्माद् एवं सयुग्भावाद्धेतोर्वैश्वदेवीनामुपधानमन्त्रेषु सजूः सजूरित्यनुवर्तते।

'सजूर्ऋतुभिरिति। तदृतून् प्राजनयदृतुभिर्वै सयुग्भूत्वा प्राजनयत् सजूर्विधाभिरित्यापो वै विधा अद्भिर्हीदꣳ सर्वं विहितमद्भिर्वै सयुग्भूत्वा प्राजनयत् सजूर्देवैरिति तद्देवान् प्राजनयद्यद्देवा इत्याचक्षते सजूर्देवैर्वयोनाधैरिति प्राणा वै देवा वयोनाधाः प्राणैर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धमथो छन्दाꣳसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धं प्राणैर्वै सयुग्भूत्वा प्राजनयदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विभ्यां वै सयुग्भूत्वा प्राजनयत्' (श० ८।२।२।८)। अनुवृत्तिप्रकारं स्वयमेवाह—सजूर्ऋतुभिरिति। 'इति' एवं प्रतिमन्त्रमनुवर्तते। तत् तेन ऋतून् प्राजनयत्। ऋतूत्पादनमितरप्रजासृष्टेर्ऋतुसयुग्भावान्यथानुपपत्त्या समर्थयते—ऋतुभिर्वै सयुग्भूत्वा प्राजनयदिति। अन्यानिति शेषः। उत्पन्नस्य ऋतोः सयुग्भावमापद्य तत्साहाय्यवान् अन्यान् विश्वदेववस्वादीन् प्राजनयदित्यर्थः। एवमुत्तरेष्वपि 'सजूर्विधाभिः', 'सजूर्देवैः' 'सजूर्देवैर्वयोनाधैः' इत्यादिष्वनुषञ्जनीयभागेष्वपि द्रष्टव्यम्। सजूर्विधाभिरित्यनुषञ्जनीयो द्वितीयभागः। तत्र विधाशब्दार्थमाह–आपो वै विधा इति। तत्प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति–अद्भिर्हीति। विधीयते क्रियत आभिरद्भिरिति विधा आपः। हिशब्दोऽपां सर्वाश्रयत्वस्य प्रसिद्धिद्योतनार्थः। शिष्टं पूर्ववत्। इत्थं पञ्चस्वपि मन्त्रेषु पूर्वभागेऽनुषञ्जनीयमभिधाय प्रथमं मन्त्रं व्याचष्टे—सजूर्देवैरिति। तद्देवान् प्राजनयद् इत्यत्रत्यदेवशब्देन वक्ष्यमाणा वस्वादयः सर्वेऽपि देवा विवक्षिताः। यद्देवा इत्याचक्षत इति देवशब्देन येऽभिधीयन्ते, ते सर्वेऽप्यनेन विवक्षिता इत्यर्थः। उपरिष्टादनुषञ्जनीयप्रथमभागं व्याचष्टे—सजूर्देवैर्वयोनाधैरिति। वयोनाधशब्दार्थमाह—प्राणा वै देवा वयोनाधा इति। वयोनाधशब्दस्य प्राणाभिधानतामुपपादयति—प्राणैर्हीदं

सर्वं वयुनं नद्धमिति । वयो वयुनं नह्यन्ति बध्नन्ति ये ते वयोनाधाः प्राणाः । वयःशब्दस्य विवक्षितमर्थान्तरमाह—अथो छन्दांसि वै वयोनाधा इति । शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम् । अनुषङ्गस्य द्वितीयभागमुदाहृत्य व्याचष्टे—अग्नये त्वा वैश्वानरायेत्यादिना । तृतीयभागं विधाय व्याचष्टे—अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेति । हे इष्टके, त्वामश्विनावध्वर्यू इह द्वितीयचितिप्रदेशे सादयतामिति ।

'सजूर्वसुभिरिति दक्षिणतः । तद्वसून् प्राजनयत् सजू रुद्रैरिति पश्चात्तद्रुद्रान् प्राजनयत् सजूरादित्यैरित्युत्तरतस्तदादित्यान् प्राजनयत् सजूर्विश्वैर्देवैरित्युपरिष्टात्तद्विश्वान् देवान् प्राजनयत्ता वै समानप्रभृतयः समानोदर्का नाना मध्यतस्ता यत्समानप्रभृतयः समानोदर्काः समानीभिर्हि देवताभिः परस्ताच्चोपरिष्टाच्च सयुग्भूत्वा प्राजनयदथ यन्नाना मध्यतोऽन्या अन्या हि प्रजा मध्यतः प्राजनयत्' (श० ८।२।२।९) । द्वितीयेष्टकोपधानमन्त्रमुक्त्वा व्याचष्टे—सजूर्वसुभिरिति । दक्षिणत इति, उपदध्यादिति शेषः । तत् तेन एतन्मन्त्रसाध्येष्टकोपधानेन वसून् अष्टसंख्याकान् प्राजनयत् । सजू रुद्रैरिति तृतीयो मन्त्रः । रुद्रा एकादश, तन्मन्त्रेण पश्चादुपदध्यात् । सजूरादित्यैरिति चतुर्थेन मन्त्रेण उत्तरतः सादयेत् । सजूर्देवैरित्युपरिष्टात् सादयेत् । उक्तानां सादनमन्त्राणामाद्यन्तानुषङ्गसाम्यमाह—ता वै समानप्रभृतयः समानोदर्का इति । प्रभृतिरुपक्रमः । उदर्कोऽवसानम् । तौ सर्वासामिष्टकानां समानावित्यर्थः । कृत्स्नमन्त्राणां मध्यमभागस्य नानारूपतामाह—नाना मध्यत इति । 'सजूरृतुभिः' इत्यादिकः सर्वासामुपक्रमः । मध्ये 'सजूर्देवैः सजूर्वसुभिः' इत्यादिकः पञ्चसु मन्त्रेषु एकैको मन्त्रः । अन्ते 'सजूर्देवैर्वयोनाधैः' इत्यादिक इत्यर्थः । एतत् त्रितयं प्रशंसति—ता यत्समानप्रभृतय इत्यादिना । 'समानीभिर्हि देवताभिः' 'पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च' इति ऋत्वादिभिः पुरस्तात् 'सजूर्वयोनाधैः' इत्यादिभिरुपरिष्टाच्चेति विभागः । अन्या अन्या हि प्रजा इति प्रजानां वैलक्षण्यं वस्वादीनां विलक्षणत्वाद् द्रष्टव्यम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रज्ञे, यथा ऋतुभिः समानजोषणो यथा च विधाभिरद्भिः सह समानजोषणो देवैश्चेन्द्रादिभिर्वयोनाधैर्देवैश्छन्दोरूपैः प्राणरूपैर्वा जोषणः परमेश्वरो वैश्वानराय विश्वेभ्यो नरेभ्यो हिताय अग्नये ज्ञानाग्नये त्वामुपहितवान्, एवमहमप्येताभिर्देवताभिः समानप्रीतिर्भूत्वा त्वामुपदधामि । अश्विनौ चाध्वर्यू इह पारम्पर्यादध्येत्रध्यापयितारौ त्वां सादयताम्, ऋतुविद्यादेवादीनामपि तत्र सहायकत्वात् । अथवा हे ब्रह्मात्मप्रज्ञे, या त्वमृत्वादिभिः समानप्रीतिरसि तां त्वा त्वाम् अश्विनावध्वर्यू इह बुद्धौ स्थापयताम् ।

दयानन्दस्तु—हे स्त्रि पुरुष वा, यं यां वा त्वामिहाध्वर्यू अश्विना वैश्वानरायाग्नये विश्वेषां नराणामिदं हितं तस्मै अग्नये सुशिक्षाप्रकाशाय वयं यं च त्वा सादयेम स त्वम् ऋतुभिः सह सजूः । यः समानं प्रीणाति सेवते वा सः सजूः । विधाभिरद्भिः सह सजूः । देवैर्दिव्यगुणैर्वयोनाधैर्वयांसि जीवनादीनि गायत्र्यादीनि छन्दांसि वा नह्यन्ति यैः प्राणैस्तैर्देवैः सजूश्च भव । हे पुरुषार्थयुक्त स्त्रि पुरुष वा, यं त्वां वैश्वानरायाग्नये अध्वर्यू अश्विना सादयताम्, यं त्वा वयं च सादयेम, स त्वम् ऋतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजूर्वसुभिः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह सजूर्भव विद्याध्ययनाय प्रवृत्ते ब्रह्मचारिणि ब्रह्मचारिणं यं वैश्वानरायाग्नयेऽध्वर्यू चाश्विना सादयताम्, यं त्वा वयं सादयेम, स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजू रुद्रैः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह सजूर्भव । हे पूर्णविद्ये, त्वां वैश्वानरायाग्नयेऽश्विनौ सादयताम्, यं त्वा वयं सादयेम स त्वमृतुभिः सजूरादित्यैः सह सजूर्वयोनाधैः सह सजूर्भव । हे सत्यार्थोपासिके, यं त्वेह वैश्वानरायाग्नयेऽश्विना अध्वर्यू सादयताम्, यं त्वा वयं सादयेम, स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजूर्विश्वदेवैः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह सजूर्भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनादौ मानाभावात्, गौणीवृत्त्याश्रयणात्, अध्याहारबाहुल्यात्, श्रुतिविरोधाच्च ॥ ७ ॥

प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्म उर्व्या विभाहि श्रोत्रं मे श्लोकय।
अपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात् पाहि दिवो वृष्टिमेरय ॥८॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम मेरी नाभि से ऊपर चलने वाली प्राण वायु की रक्षा करो, मेरी नाभि से नीचे चलने वाली अपान वायु की रक्षा करो, मेरे शरीर की संधिगत वायु की रक्षा करो। हे इष्टके ! तुम मेरे नेत्रों को विस्तीर्ण दृष्टि से देखने में समर्थ करो, मेरे कानों को शब्दों के श्रवण में समर्थ करो। हे इष्टके ! तुम्हारे प्रसाद से यह पृथ्वी वृष्टि के जल से सिंचित हो, औषधियाँ तृप्त हों। दो पैर वाले प्राणी मनुष्यों की तुम रक्षा करो, चौपाये पशुओं की रक्षा करो, द्युलोक से वर्षा को सब ओर प्रेरित करो ॥ ८ ॥

'प्राणभृतः प्राणं म इति' (का० श्रौ० १७।८।२०)। पञ्च यजुर्भिः प्राणभृत्संज्ञका इष्टकाः पूर्वादिषूपदधातीति सूत्रार्थः। पञ्च वायुदेवत्यानि यजूंषि। हे इष्टके, त्वं मे मदीयं प्राणं प्राणस्वरूपं वायुं पाहि रक्ष। एवमपानं मे पाहि। व्यानं वायुं च मे मम पाहि। उर्व्या विस्तीर्णया दृष्ट्या मे चक्षुर्विभाहि विशेषेण प्रकाशय, इष्टानिष्टदर्शनसमर्थं कुर्वित्यर्थः। मे मदीयं श्रोत्रं कर्णेन्द्रियं श्लोकय सङ्घाते शक्तं कुरु, बहुविधशास्त्रश्रवणसमर्थं कुर्वित्यर्थः। 'श्लोकृ सङ्घाते'। यद्वा—श्रोत्रं मे श्लोकय श्लोकं पाहि। श्लोक इति वाङ्नामसु (निघ० १।११।१)। वेदादिलक्षणवाक्समूहश्रवणधारणसमर्थं कुरु। यद्वा—श्रोत्रं श्लोकय स्तुत्यं कुरु वेदादिशास्त्रग्रहणेनैव श्रोत्रं प्रशस्यते। 'अपः पिन्वेत्यपस्याः' (का० श्रौ० १७।८।२१)। अपस्यासंज्ञकाः पञ्चेष्टकाः पञ्चभिर्मन्त्रैरुपदध्यादिति सूत्रार्थः। हे इष्टके, त्वमपो जलानि पिन्व सिञ्च। 'पिवि सेवने, सेचने चेत्येके' इति भौवादिकस्य रूपम्। ओषधीर्जिन्व प्रीणय, 'जिवि प्रीणने' इति रूपम्। द्विपाद् मनुष्यशरीरम् अव रक्ष। चतुष्पाद् गवादिपशुशरीरं पाहि पालय। यद्वा—द्विपाद् द्विपादं मनुष्यमव गोपाय। चतुष्पात् चतुष्पादं गवादिपशुं पाहि पालय। विभक्तिव्यत्ययः। दिवो द्युलोकसकाशाद् वृष्टिम् आसमन्दाद् ईरय आगमय प्रवर्तय।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ प्राणभृत उपदधाति। एतद्वै देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमाना वायुमेव चितिमपश्यंस्तामस्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति' (श० ८।२।३।१)। प्राणभृत्संज्ञकानामिष्टकानामुपधानं विधाय स्तौति अथ प्राणभृत इति। चेतयमानास्ते वायुमेव चितिमपश्यन्। तां वायुरूपां चितिमस्मिन् द्वितीयचितिप्रदेशेऽदधुः स्थापितवन्तः। तथैवायं यजमानोऽस्मिन्नेतद्दधातीति। 'प्राणभृत उपदधाति। प्राणो वै वायुर्वायुमेवास्मिन्नेतद्दधाति रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद्वायुं दधाति तस्मादनयोर्वायुः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्वायुं दधाति तस्मात् सर्वतो वायुः सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्सम्यञ्चं वायुं दधाति तस्मात् सर्वतः सम्यङ् भूत्वा सर्वाभ्यो दिग्भ्यो वाति दिश्यो अनूपदधाति दिक्षु तद्वायुं दधाति तस्मात् सर्वासु दिक्षु वायुः' (श० ८।२।३।२)। पुनः स्तोतुमनुवदति प्राणभृत इति। प्राणो वै वायुरिति। वैशब्दो 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐ० उ० १।४) इति श्रुत्यनन्तराम्नातवायुप्राणैकत्वप्रसिद्धिद्योतनार्थः। तासां स्थानमाह—रेतःसिचोर्वेलयेति। तस्मात् क्षित्यन्तरिक्षसंस्तुतरेतःसिचोर्निकटे प्राणभृतामुपधानाद् रेतःसिग्रूपयोरनयोः क्षित्यन्तरिक्षयोर्मध्ये वायुः सञ्चरतीति शेषः। सर्वतः समीचीरिति प्रागादिसर्वदिक्षु तिर्यक्त्वाभावेन आर्जवेन यथा वर्तन्ते तथा उपदध्यादित्यर्थः। तत् तेन तथोपधानेन वायुमपि सम्यञ्चम् अकुटिलं स्थापितवान् भवति। दिश्या अनूपदधातीति दिश्यानन्तर्यार्थवादो वैश्वदेवीष्टकावाक्यवद् व्याख्येयः। 'यद्वेव प्राणभृत उपदधाति। आस्वेवैतत्प्रजासु प्राणान् दधाति ता अनन्तर्हिता

वैश्वदेवीभ्य उपदधात्यनन्तर्हितांस्तत्प्रजाभ्यः प्राणान् दधाति प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्म उर्व्या विभाहि श्रोत्रं मे श्लोकयेत्येतानेवास्वेतत्क्लृप्तान् प्राणान् दधाति' (श० ८।२।३।३)। प्रकारान्तरेण प्राणभृतः प्रशंसति—यद्वेव प्राणभृत इति। आस्वेव प्रजास्विति वैश्वदेवीनां प्रजारूपत्वेन संस्तुतत्वात् तासामनन्तरं प्राणभृतामुपधानेन प्रजासु प्राणान् स्थापितवान् भवति। तासामुपधानमन्त्रान् विधाय संगृह्य तात्पर्यमाह—प्राणं मे इत्यादिना। प्राणं मे पाहीति प्रथमः, अपानं मे पाहीति द्वितीयः, व्यानं मे पाहीति तृतीयः, चक्षुर्म उर्व्या इति चतुर्थो मन्त्रः। हे चतुर्थेष्टके, मे मम चक्षुरुर्व्या अविकृतया दृष्ट्या विभाहि विशेषेण दीपय। हे पञ्चमेष्टके, मे मम श्रोत्रं श्लोकय श्लाघनं कुरु। अत्र यद्यपि प्रथमेष्टकामन्त्र एव 'प्राणं मे' इति प्राणलिङ्गमुक्तम्, तथापि छत्रिन्यायेन लिङ्गमात्रमपेक्ष्य सर्वा अपि प्राणभृत इत्युच्यन्ते।

'अथापस्या उपदधाति। एतद्वै देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमाना वृष्टिमेव चितिमपश्यंस्तामस्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति' (श० ८।२।३।४)। अपस्या विधाय प्रशंसति—अथापस्या इति। अब्लिङ्गैर्मन्त्रैरुपधेयत्वादपस्याः। यद्वा वृष्टिमेव चितिमपश्यन्नित्युक्तत्वादभेदादाप एव अपस्याः। 'अपस्या उपदधाति। आपो वै वृष्टिर्वृष्टिमेवास्मिन्नेतद्दधाति रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद् वृष्टिं दधाति तस्मादनयोर्वर्षति सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्वृष्टिं दधाति तस्मात् सर्वतो वर्षति सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्समीचीं वृष्टिं दधाति तस्मात् सर्वतः सम्यङ्भूत्वा सर्वाभ्यो दिग्भ्यो वर्षति वायव्या अनूपदधाति वायौ तद्वृष्टिं दधाति तस्माद्यां दिशं वायुरेति तां दिशं वृष्टिरन्वेति' (श० ८।२।३।५) वृष्टिकर्मत्वादाप एव वृष्टिः। वायव्या अनूपदधातीति प्राणभृतामन्वित्यर्थः। शेषं स्पष्टम्। 'यद्वेवापस्या उपदधाति। एष्वेवैतत्प्राणेष्वपो दधाति ता अनन्तर्हिताः प्राणभृद्भ्य उपदधात्यनन्तर्हितास्तत्प्राणेभ्योऽपो दधात्यथो अन्नं वा आपोऽनन्तर्हितं तत्प्राणेभ्योऽन्नं दधात्यपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात्पाहि दिवो वृष्टिमेरयेत्येता एवैष्वेतत्क्लृप्ता अपो दधाति' (श० ८।२।३।६)। प्रकारान्तरेण स्तौति यद्वेवेति। एष्वेवैतदिति पूर्वोपस्थापितेषु प्राणेष्वेवापो दधाति, 'आपोमयः प्राणः' (छा० उ० ६।५।४) इति श्रुतेः। तासामभावे प्राणाः सीदन्तीत्यतः प्राणेष्वपां निधानं युक्तम्। आसां प्राणभृद्भ्यो व्यवधानाभावं विधत्ते—ता अनन्तर्हिता इति। तेन प्राणानामपां चाव्यवधानं कृतं भवति। अनन्तर्हितत्वस्य परम्परायितं प्रयोजनं दर्शयति—अथो इति। अथो अपि च अन्नं वा एतत्, अन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादन्नस्य। तत् तेन अन्नं प्राणेभ्योऽनन्तर्हितं स्थापितवान् भवति। अपस्यानां मन्त्रान् विधाय संगृह्य तात्पर्यमाह—अपः पिन्वेति। हे इष्टके, त्वमपः पिन्व सेचय। तेन च ओषधीर्व्रीहियवाद्या जिन्व प्रीणय। तदन्तरं हे इष्टके, द्विपात् पादद्वयोपेतं यन्मनुष्यादिकं तद् अव रक्ष। तथा चतुष्पात् पश्वादिकं पाहि पालय। दिवः सकाशाद् वृष्टिमेरय आसर्वतः प्रेरय। इत्येतदिष्टकोपधानेन एता एवापः क्लृप्ताः स्वकार्यसमर्था एष्वेव प्राणेषु दधाति स्थापितवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—हे राजराजेश्वरि त्रिपुरसुन्दरि, त्वमपः पिन्व सेचय। सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम्, आञ्जस्येन प्राणापानव्यानरक्षणस्य तत्रैव सम्भवात्। सैव विशालया अनुग्रहोपेतया दृष्ट्या चक्षुर्दीपयति। सैव च श्रोत्रं श्लोकयति। भगवत्स्वरूपगुणचरित्रादिश्रवणावसरशक्त्यादिप्रदानेन श्रोत्रं श्लाघनीयं करोति। सैवापः सेचयति। ओषधीः प्रीणयति। द्विपदश्चतुष्पदश्च सैव रक्षति। दिवः सकाशाद् वृष्टिं चापि सैव प्रेरयति, तस्या अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे पते स्त्रि पुरुष वा, त्वमुर्व्या बहुरूपया उत्तमफलप्रदया सह मे प्राणं नाभेरूर्ध्वगामिनं पाहि मेऽपानं यो नाभेरर्वाग् गच्छति तं पाहि। मे व्यानं विविधेषु शरीरसन्धिष्वनिति तं पाहि। चक्षुर्मे विभाहि।

श्रोत्रं मे श्लोकय शास्त्रश्रवणाय सम्बन्धय। अप: प्राणान् पिन्व पुष्णीहि। किञ्च, ओषधी: सोमयवादीन् जिन्व प्राप्नुहि। गतिकर्मा द्विपाद् मनुष्यादीन् अव चतुष्पाद् गवादीन् पाहि। दिव: सूर्यप्रकाशाद् वृष्टिमेरय। यथा सूर्यो दिवो वृष्टि करोति, तथा गृहकृत्यमेरय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनासिद्धे:। किं स्त्रीपुंसादि-प्रार्थनया प्राणादिरक्षणं भवति? तत्रापि किं स्वीयं प्राणादिकं रक्षेति प्रार्थ्यते, प्रार्थयितुर्वा? सर्वस्य वा? नाद्य:, रागप्राप्तत्वादुपदेशानपेक्षणात्। नेतरौ, तत्राक्षमत्वात्। उर्व्या सह प्राणरक्षणं तु ततोऽप्यसम्भवम्। श्लोकय सम्बन्धयेत्यप्ययुक्तम्, धात्वर्थविरोधात्। अत एव वृष्टिमेरयेत्यत्रासम्भवदर्थकं समीक्ष्य गौणार्थताङ्गी-कृतेति दिक् ॥ ८ ॥

मू॒र्धा वय॑: प्र॒जाप॑तिश्छन्द॑: क्ष॒त्रं वयो॒ मय॑न्दं॒ छन्दो॑ विष्ट॒म्भो वयो॒ऽधिप॑तिश्छन्दो॑ विश्वक॑र्मा॒ वय॑: परमे॒ष्ठी छन्दो॑ ब॒स्तो वयो॑ विब॒लं छन्दो॑ वृ॒ष्णिर्वयो॑ विशा॒लं छन्द॑: पुरु॑षो॒ वय॑स्त॒न्द्रं छन्दो॑ व्या॒घ्रो वयो॒ऽना॑धृ॒ष्टं छन्द॑: सि॒ꣳहो वय॑श्छ॒दिश्छन्द॑: पृष्ठ॒वाड् वयो॑ बृह॒ती छन्द॑ उ॒क्षा वय॑: क॒कुप्छन्द॑ ऋष॒भो वय॑: स॒तोबृ॑ह॒ती छन्द॑: ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने गायत्री छन्द होकर वय द्वारा ब्राह्मण जाति की रचना की है, दु:ख से रक्षा करने वाली क्षत्रिय जाति और सुख देने वाले अनिरुक्त छन्द प्रजापति ही बने हैं। पालन करने वाले जगत् के स्तम्भनकर्ता प्रजापति संसार रूप पशु की अवस्था वाले छन्द बने हैं। परम पद में स्थित होने वाले सब के स्रष्टा प्रजापति वय द्वारा छन्द बने हैं, अर्थात् प्रजापति ने छन्द के प्रभाव से विविध कर्मचारी सेवावृत्तियुक्त शूद्र जाति को उत्पन्न किया है। प्रजापति ने अजा (बकरी) जाति को एकपद नामक छन्द से, सेचन में समर्थ मेष (भेड़) पशु को द्विपदा गायत्री छन्द से, किन्नरों की अवस्था को पंक्ति छन्द से, व्याघ्र आदि को विराट् छन्द से, सिंह आदि क्रूर पशुओं को अतिजगती छन्द से, पाँच वर्ष के पीठ पर भार वहन करने वाले पशु को बृहती छन्द से, सांड़ आदि को ककुप् छन्द से और भालू आदि को बारह अक्षर के त्रिपाद वाले सतोबृहती छन्द से उत्पन्न किया है ॥ ९ ॥

'वयस्या: पञ्च पञ्चानूकान्तेषु मूर्धा वय इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।८।२२), 'चतस्र: पुरस्तात्' (का० श्रौ० १७।८।२३)। दक्षिणोत्तरपश्चिमेष्वनूकान्तेषु पञ्च पञ्च पूर्वे तु चतस्रो वयस्यासंज्ञका इष्टका उपदधातीति सूत्रार्थ:। एकोनविंशतिमन्त्रैरेकोनविंशतियजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। वय:शब्दोपेतैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका वयस्या इत्युच्यन्ते। ता एव छन्दस्या अपि। पुरा खलु विस्रस्तात् प्रजापते: शरीररूपकोशात् सृष्टा: पशवश्छन्दोरूपमास्थाय निरगच्छन्। प्रजापतिरपि गायत्र्यादिछन्दोरूपं कृत्वा पशुसम्बन्धिन्या तत्तद्वयोऽवस्थया तान् पशूनाप्नोत्। तत्र तावदादौ चतुर्भिर्मन्त्रैरष्टावयवात्मकं गायत्रीरूपं परिकल्प्यते। एवं गायत्रीछन्दोरूपेण परिकल्पितोऽसौ प्रजापति: स्वयमेव मूर्धा पशुसम्बन्धिशिरो वय: शरीरावस्था। प्रजापतिरेव मूर्धलक्षणं वयोऽभवत्। अत एव मूर्ध्नि इतरावयवेभ्य: प्राधान्यं दृश्यते। यद्वा मूर्धा मूर्धवत्प्रधान: प्रजापतिर्गायत्रीरूपो भूत्वा वयो वयसा, विभक्तिव्यत्यय:, कृत्वा पशूनाप्नोदिति शेष:। हे इष्टके, तद्रूपां त्वां दधामीति सर्वत्र योज्यम्। प्रजापति: स्वयमेव छन्दोऽभवत्। अनेन मन्त्रेण प्रजापतेर्द्वाववयवौ कल्पितौ। क्षत्रं क्षतात् त्रायत इति क्षत्रशब्देन क्षत्रियजातिगतो बलविशेषो लक्ष्यते। 'क्षत्रं द्रविणं वा' (निघ० २।१०।९)। बलमेव तस्य धनमिति यावत्। तादृशं वय: शरीरावस्था प्रजापतिरभवत्। मयन्दं छन्द:, मयं सुखं ददातीति तादृशमनिरुक्तं छन्द: प्रजापतिरभवत्। अधिपति: अधिकं पालक:, अधिष्ठापयति वा, एतदात्मकं छन्दो भवति। विष्टम्भो वयो

विष्टभ्नोति जगत् कृत्स्नं शरीरं वेति तादृशः प्रजापतिर्वयः। तत्तत्पशुवयोऽवस्थावान् छन्दश्च स्वयमेव प्रजापतिरभवत्। विश्वकर्मा विश्वं सर्वं कर्म कर्तव्यं यस्य सः सर्वस्रष्टा प्रजापतिः परमेष्ठी परमे पदे तिष्ठतीति विश्वकर्मा वयश्छन्दश्चाभवत्। एवं प्रतिमन्त्रं द्वौ द्वौ अवयवावित्यष्टावयवः प्रजापतिर्गायत्रीरूपः परिकल्पितः। तथा चाष्टसंख्योपेतत्वात् सर्वच्छन्दःप्रकृतिभूतं गायत्रीच्छन्दो भूत्वा वयसा वयोऽवस्थया वक्ष्यमाणान् पञ्चदश पशून् प्रजापतिरगृह्णात्। वय इति 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति तृतीया-विभक्तेर्लुक्। वस्तः अजः। अत्र द्वितीयाविभक्तेः 'सुपां सुलुक' (पा० सू० ७।१।३९) इति 'सु' आदेशः। वस्तः अजः पशुः विवलं विविधं विशिष्टं वा बलं वरम् उत्कृष्टं वा विवलं छन्दोरूपमास्थाय उदक्रामत्। तं प्रजापतिर्गायत्रीरूपेण वयसा आप्नोत्। अथवा विबलं श्रुत्यनुसारं विबलं विगतं बलं यस्य तद् एकपदं च्छन्दो भूत्वा, द्वितीयपदाभावादर्थापरिसमाप्तेरर्थावबोधनाक्षमत्वात्, 'एषा वै सा गायत्री या तद् भूत्वा प्रजापतिरेतान् पशून् वयसाप्नोत्' (श० ८।२।३।१४) इति श्रुतेः। एवमुत्तरमन्त्रेष्वपि विभक्तिविपरिणामं कृत्वा प्रजापति-स्तत्तच्छन्दोरूपमास्थाय तत्तद्वयसा तांस्तान् पशून् जग्राहेति योज्यम्। वृष्णिर्वयः, विशालं छन्दः, विशालं द्विपदागायत्रीछन्दो भूत्वा वृष्णिं सेचनसमर्थं मेषं वयसा जग्राह। एकपदापेक्षया द्विपदागायत्रीच्छन्दो विशाल-मुच्यते। पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दः, तन्द्रं पङ्क्तिश्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तं पुरुषं पशुं वयसाप्नोत्। अनाधृष्टं विराट्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तं व्याघ्रं पशुं वयसा अग्रहीत्। सिंहो वयश्छदिश्छन्दः। छादयतीति छदिः, अतिच्छन्दा छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तं सिंहं पशुं वयसाऽग्रहीत्। पृष्ठवाड् वयः, बृहतीछन्दः। पृष्ठे पृष्ठभागे वहतीति पञ्चवर्षः पशुः, बृहतीच्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तं पृष्ठवाहं पशुं वयसाग्रहीत्। उक्षा वयः ककुप्छन्दः। उक्षा सेचनसमर्थः पशुः ककुप्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तमुक्षाणं पशुं वयसा अगृह्णात्। यस्या आद्यन्तावष्टाक्षरौ पादौ, मध्यमो द्वादशाक्षरः सा ककुप्। ऋषभो वयः सतोबृहतीछन्दः। ऋषभः सेचनसमर्थोऽनड्वान्। सतोबृहतीछन्दो भूत्वा उत्क्रान्तमृषभं पशुं वयसाऽग्रहीत्। द्वादशाक्षरत्रिपादा सतोबृहती।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ छन्दस्या उपदधाति। एतद्वै देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति। चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमानाः पशूनेव चितिमपश्यंस्तामस्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति' (श० ८।२।३।७)। छन्दस्येष्टका विधाय प्रशंसति—अथ छन्दस्या इत्यादिना। चेतयमाना देवाः पशूनेव चितित्वेनापश्यन्। तां च पशुरूपां चितिमस्मिन् द्वितीयचयनेऽदधुः। अयं यजमानोऽपि तथैवास्मिन्नेतदिदानीं दधाति स्थापयति। 'छन्दस्या उपदधाति। पशवो वै छन्दाꣳसि पशूनेवास्मिन्नेतद्दधाति सर्वत उपदधाति सर्वतस्तत्पशून् दधाति तस्मात् सर्वतः पशवोऽपस्या अनूपदधात्यप्सु तत्पशून् प्रतिष्ठापयति तस्माद्यदा वर्षत्यथ पशवः प्रतितिष्ठन्ति' (श० ८।२।३।८)। छन्दःशब्देन पशवो विवक्षिता इति दर्शयति—पशवो वै छन्दांसीति। एतासामपस्यासान्निध्यं विधाय प्रशंसति—अपस्या अन्विति। तत् तेन अपस्यानन्तर्येण अप्सु उपजीवनीयासु पशून् प्रतिष्ठापयति स्थिरीकरोति। इदानीन्तनी या वृष्टिसमनन्तरभाविनी पशूनां प्रतिष्ठा साप्यपस्या, छन्दस्यानां मेलनप्रयुक्तेति दर्शयति—तस्माद्यदा वर्षति तदा पशवः प्रतितिष्ठन्तीति। 'यद्वेव छन्दस्या उपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्तात्पशव उदक्रामंश्छन्दाꣳसि भूत्वा तान् गायत्री छन्दो भूत्वा वयसाप्नोत्तद्यद् गायत्र्याप्नोदेतद्धि छन्द आशिष्ठꣳ सा तद् भूत्वा प्रजापतिरेतान् पशून् वयसाप्नोत्' (श० ८।२।३।९)। छन्दस्यानां पशुरूपत्वेन स्तुतिः कृता। पुनस्तामेव पशुरूपतां ज्येष्ठां दर्शयति—यद्वेव छन्दस्या इति। प्रजापतेर्विस्रस्ताद् विश्लिष्टाङ्गात् पशवो वक्ष्यमाणा अजादिलक्षणा उदक्रामन्। केन रूपेणेति चेत्, छन्दांसि भूत्वा वक्ष्यमाणाविवलादिछन्दोरूपमास्थाय। तान् उद्गतान् पशून् गायत्री छन्दो भूत्वा वयसा तत्तन्निर्गतपशूचितस्वशरीरपरिणामेन परिणतो भूत्वा। आप्नोत् पूर्वमन्तर्गतान् पशून् पुनः स्वस्मिन् कृतवान्। गायत्र्या यदाशुतरत्वं तद् गायत्रीद्वारा प्रजापतिना शीघ्रं या

सर्वपश्वाप्तिस्तन्मूलमिति दर्शयति—तद्यद् गायत्र्याप्नोदिति । यस्माद् गायत्र्यैव सर्वान् पशूनाप्नोत्, तस्मादेतच्छन्दो गायत्र्याख्यम् आशिष्ठम् आशुतरं हि श्रुत्या स्वयं प्रतिपादितोऽर्थः। पूर्वं तथासीदिति श्रुतिराह—सा तद् भूत्वेति । तत् तदा पूर्वं प्रजापतिः सा गायत्री भूत्वा एतान् पशून् वयसाप्नोत् ।

'मूर्धा वय इति । प्रजापतिर्वै मूर्धा स वयोऽभवत् प्रजापतिश्छन्द इति प्रजापतिरेव च्छन्दोऽभवत्' (श० ८।२।३।१०)। इत्थमिष्टकानां पशुरूपतामुपपाद्य पूर्वदिश्युपधेयानां चतसृणामिष्टकानां मन्त्रान् विधाय व्याख्यास्यन् अर्थान्निष्पन्नं गायत्रीरूपमिष्टमपि दर्शयति-- मूर्धा वय इत्यादिना। प्रजापतिर्वै मूर्धा, स वयोऽभवदिति, उत्तरतस्तत्प्राप्तव्यपशूचिता वयोविशेषास्तेन तेन प्राप्तव्यास्तत्तच्छन्दोरूपाः पशवश्च वक्ष्यन्ते। अत्र तावत्तानि वयांसि तानि छन्दांसि सामान्येन प्रजा एवेति प्रतिपाद्यते । यथा प्रजापतिः सर्वेषां प्रधानम्, तथा मूर्धापि सर्वेषामङ्गानां प्रधानमिति प्राधान्येन विवक्षितत्वात् प्रजापतिरेव मूर्धेत्युच्यते । एवमुत्तरवाक्येष्वपि तत्तदुपचारबीजं द्रष्टव्यम् । वयोऽभवद् वयस्वानभवदित्यर्थः । यद्वा स प्रजापतिर्वै प्रसिद्धः प्रजापतिर्ननु मूर्धावयोऽभवत् । मूर्धरूपमत्युत्कृष्टं वयोऽभवत् । एवमुत्तरत्र मन्त्रत्रयेऽपि योज्यम्। प्रजापतिश्छन्द इति। प्रजापतिरेव वक्ष्यमाणं तद्विवलं छन्दोऽभवत्। अथवा प्रजापतिरेव छन्दः प्राजापत्याख्यं छन्दोऽभवदित्यर्थः । 'क्षत्रं वय इति । प्रजापतिर्वै क्षत्रꣳ स वयोऽभवन्मयन्दं छन्द इति यद्वा अनिरुक्तं तन्मयन्दमनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिरेव च्छन्दोऽभवत्' (श० ८।२।३।११)। क्षत्रं वय इति क्षत्रियजातितया बलविशेषो लक्ष्यते, तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्' (बृ० उ० १।४।११) इत्यादिश्रुतेः । अथवा क्षत्रमिति द्रविणनाम (निघ० २।१०।९)। बलमेव क्षत्रस्य द्रविणम् । शरीरपरिणामेन तद्रूपं प्राप्त इत्यर्थः । मयन्दं छन्द इति । मय इति सुखनाम (निघ० ३।६।७), तद्ददातीति मयन्दम् । अस्य प्रजापतिरूपत्वे बीजमाह—यद्वा अनिरुक्तं तन्मयन्द इति । सुखदस्वरूपस्य विशेषेण अनभिधानाद् लोकेऽपीदृक् सुखदमित्यविशेषितम्, सामान्येन मयन्दमिति व्यवहृतत्वादिदमनिरुक्तम् । प्रजापतेस्तु सर्वात्मकत्वाद् विशेषेण निर्वक्तुमशक्यत्वादनिरुक्तत्वम् । 'विष्टम्भो वय इति । प्रजापतिर्वै विष्टम्भः स वयोऽभवदधिपतिश्छन्द इति प्रजापतिर्वा अधिपतिः प्रजापतिरेव च्छन्दोऽभवत्' (श० ८।२।३।१२)। अत्र प्रजापतिर्वै विष्टम्भ इति वैशब्देन 'विष्टम्भो धरुणः पृथिव्याः' इत्यादिसर्वश्रुतिगता प्रजापतेः सर्वजगदवलम्बनप्रसिद्धिर्द्योत्यते । अधिपतिश्छन्द इत्यत्र प्रजापतेः सर्वाधिपतित्वम् 'सर्वस्याधिपतिः सर्वस्येशानः' (बृ० उ० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धमुक्तम् । 'विश्वकर्मा वय इति । प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा स वयोऽभवत् परमेष्ठी छन्द इत्यापो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति प्रजापतिरेव परमेष्ठी छन्दोऽभवत्' (श० ८।२।३।१३)। अत्र प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा इति प्रजापतेर्विश्वकर्मत्वम् 'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्', 'यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा' इत्यादिप्रसिद्धिं दर्शयति। अत्र प्रजापतेः परमेष्ठित्वं शब्दद्वारकमिति दर्शयति—आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठीति । जगत्सृष्टेः पूर्वमपां सर्जनात् तदभेदेनापां परमेष्ठिरूपप्रजापतिरूपत्वम् । अपामस्तु प्रजापतिरूपत्वमभेदात्, कथं पुनस्तासां परमेष्ठित्वमिति तद्दर्शयति—ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्तीति, 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' (म० स्मृ० ३।७६) इति स्मृतेः, 'दिवो वृष्टिमेरय' (वा० सं० १४।८), 'दिवो ह्यापः सन्नाः' इत्यादिश्रुतेश्च वृष्टेः परमस्थानभूतद्युसम्बन्धः ।

'तानि वा एतानि । चत्वारि वयाꣳसि चत्वारि छन्दाꣳसि तदष्टावष्टाक्षरा गायत्र्येषा वै सा गायत्री या तद् भूत्वा प्रजापतिरेतान् पशून् वयसाप्नोत् तस्माज्जीर्णं पशुं वयसाप्त इत्याचक्षते तस्मादु सर्वास्वेव वयो वय इत्यनुवर्ततेऽथ येऽस्मात्ते पशव उदक्रामन्नेते ते पञ्चदशोत्तरे वज्रो वै पशवो वज्रः पञ्चदशस्तस्माद्यस्य पशवो भवन्त्यपैव स पाप्मानꣳ हते वज्रो हैव तस्य पाप्मानमपहन्ति तस्माद्यां कां च दिशं पशुमानेति वज्रविहताꣳ हैव तामन्वेति' (श० ८।२।३।१४)। तान् गायत्रीछन्दो भूत्वेति यद् गायत्रीछन्द उक्तं तदिदानीं सम्पाद्य दर्शयति—तानि वा एतानि चत्वारि वयांसीत्यादिना। एषा वै सा गायत्रीति । एषेतीदानीं सम्पादितप्रकारा गायत्री या

प्राङ्निर्दिष्टा सा खलु। सा केति तामाह—या तद् भूत्वा प्रजापतिरिति। प्रजापतिर्यद् भूत्वा पशूनाप्नोत् सेत्यर्थः। 'वयोऽभवत्'. 'वयोऽभवत्' इति या प्रजापतेर्वयस आप्तिरुक्ता सा इदानीन्तनव्यवहारस्य मूलमिति दर्शयति—तस्माज्जीर्णं पशुं वयसाप्त इत्याचक्षत इति। यथा जीर्णं वृद्धं पशुं दृष्ट्वासौ प्रभृतेन वयसाप्त इतीदानीं ब्रूते, तथा पूर्वमपि प्रजापतिर्वयसाप्नोदिति एष सत्यवादः। तस्माद् तस्मादेव वयसाप्तत्वादेव पशुस्थानीयासु सर्वास्वपीष्टकासु मूर्धा वयः, वस्तो वय इत्येवं वयःशब्दोऽनुवर्तते। इत्थं गायत्र्यात्मना सम्पन्नेन मन्त्रचतुष्टयेन आप्तस्य प्रजापतेः स्वरूपं दर्शितम्। अथाप्तव्यानां पशूनां स्वरूपं सामान्येन निर्दिशन्ती श्रुतिः पशूंस्तद्गतसंख्यां च प्रशंसति—अथ येऽस्मादिति। अस्माद् विस्रस्तात् प्रजापत्यङ्गाद् ये पशव उदक्रामन्, एते ते प्रसिद्धा वक्ष्यमाणा बस्तादय इत्यर्थः। के ते? कियन्तो वा? पञ्चदशेत्युत्तरम्। पञ्चदशस्तोमस्य प्रजापतेः सारभूतांशबाहुलक्षणावयवेभ्य उत्पन्नत्वाद्वा बाह्वोर्वधसाधनत्वाद् वज्रत्वम्। पशूनां वज्रत्वं स्वयमेव दर्शयति—तस्माद्यस्य पशवो भवन्तीति। पाप्मानं क्षुद्दारिद्र्यलक्षणं स पशुमान् अपहत एव भवति। वज्रो हैव वज्रः खलु तस्य पाप्मानमपहन्ति। अतो यद्धनन-साधनं तद् वज्रमिति सिद्धोऽर्थः। युक्तिभिरुपपादितमर्थं लोकस्थित्या द्रढयति—तस्माद्यां कां चेति। तां दिशं वज्रविहतामेवान्वेति, पशुभिरुपक्रान्तस्य वर्त्मनोऽप्रतिहतत्वात्।

'वस्तो वय इति। वस्तं वयसाप्नोत् विवलं छन्द इत्येकपदा वै विवलं छन्द एकपदा ह भूत्वाऽजा उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।१)। 'पञ्चदशोत्तरे' इति ये पशवः संग्रहेण निर्दिष्टाः, तानिदानीं दक्षिणोत्तरपश्चिमदिक्षु क्रमेणोपधेयेष्टकानां मन्त्रव्याख्यानप्रसङ्गेन दर्शयति—बस्तो वय इत्यादिना। बस्तः अजजातिः शरीरपरिमाण-विशेषः, वयो बस्ताकारः शरीरपरिमाणो बस्ततया प्रजापतिना स्वीकृत इत्यर्थः, 'अजेतराऽभवद् बस्त इतरः' इति श्रुतेः। 'बस्तं वयसाप्नोत्' इति तात्पर्यतो व्याख्यानं बस्तोचितवयो धृत्वा बस्तमाप्नोति। ब्राह्मणं तु मन्त्रपदयोर्विभक्ति विपरिणमय्य व्याचष्टे—बस्तः, बस्तमित्यर्थं। वयः, वयसेत्यर्थः। वयसा बस्तमाप्नोदिति वाक्यार्थः। एवं सर्वत्र व्याख्येयम्। एवं स्वाभाविकं पशूनां रूपमभिधाय उत्क्रमणसमये छन्दोरूपेण उत्क्रान्तत्वात् तद्रूपप्राप्तिमाह—विवलं छन्द इति। स्वीकृतवानिति शेषः। एतद् व्याचष्टे—एकपदा वै विवलं छन्द इति। विगतं बलं यस्या एकपदायाः सकाशादित्येकपदा वाग् विवलं छन्दः। पदद्वयाभावाद् एकपदाया विवलछन्दोरूपता युक्ता, अर्थापरिसमाप्तेः। ननु बस्तापरपर्यायेष्वजेषूत्क्रान्तेषु विवलच्छन्दोऽवाप्तिः कुत्रोपयुज्यते? इत्यत आह—एकपदा ह भूत्वाऽजा उच्चक्रमुरिति। एवमुत्तरत्र तत्तच्छन्दोवाक्यानि व्याख्येयानि। 'वृष्णिर्वय इति। वृष्णिं वयसाप्नोद्विशालं छन्द इति द्विपदा वै विशालं छन्दो द्विपदा ह भूत्वा वय उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।२)। वृष्णिनामा अविजातिः। व्याख्या पूर्ववत्। विशालं छन्द इति। अत्र द्विपदा वै विशालं छन्द इति द्विपदायामृचि पादद्वयसद्भावादेकपदापेक्षया युक्ता विशालछन्दोरूपता। उत्क्रमणसमयेऽवीनां द्विपदारूपाश्रयणाद् द्विपदारूपस्य विशालच्छन्दस आप्तिः प्रजापतेर्युक्तैव। 'पुरुषो वय इति। पुरुषं वयसाप्नोत्तन्द्रं छन्द इति पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दः पङ्क्तिर्ह भूत्वा पुरुषा उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।३)। 'व्याघ्रो वय इति। व्याघ्रं वयसाप्नोदनाधृष्टं छन्द इति विराड्वा····छन्दोऽन्नं वै विराडन्नमनाधृष्टं विराड्ढ भूत्वा व्याघ्रा उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।४)। वयसाप्तव्यस्य व्याघ्रस्यानाधृष्टत्वात् तदीयस्य छन्दसोऽप्यनाधृष्टत्वेनैव भवितव्यमित्येतद् व्याचष्टे—विराड्वा अनाधृष्टं छन्द इति। विराट्छन्दोऽन्नात्मना स्तौति—अन्नं वै विराडिति। अन्नत्वेन स्तुतौ बीजमनाधृष्टत्वसाम्यमिति दर्शयति—अन्नमनाधृष्टमिति। अन्नस्य धर्षणायोग्यत्वं सर्वप्रसिद्धम्।

'सिꣳहो वय इति। सिꣳहं वयसाप्नोच्छदिश्छन्द इत्यतिच्छन्दा वै छदिश्छन्दः सा हि सर्वाणि छन्दाꣳसि छादयत्यतिच्छन्दा ह भूत्वा सिꣳहा उच्चक्रमुरथावो निरुक्तानेव पशून्निरुक्तानि च्छन्दाꣳस्युपदधाति'

(श० ८।२।४।५)। छदिश्छन्द इति। सर्वेषां च्छन्दसामाच्छादकम्, न चैकपदा द्विपदा पङ्क्तिरित्येवमादीनि छन्दांसि यथा प्रसिद्धानि तादृशमिव छदिश्छन्दः, अतस्तस्यार्थमाह— अतिच्छन्दा वै छदिश्छन्द इति। यथा सिंहः सर्वान् पशूनतीत्य वर्तते, एवं तद्रूपं छन्दोऽप्यतिच्छन्दा इति युक्तम्। कुतस्तस्यातिच्छन्दस्त्वमिति तत्राह— सा हि सर्वाणि छन्दांसि छादयतीति। सर्वाण्यतिजगत्यादीनि छन्दांसि, 'सा' इति तच्छन्दोबद्धामृचमपेक्ष्य स्त्रीलिङ्गता। अस्याश्च इतो न्यूनच्छन्दसामन्तर्भावादतिच्छन्दस्त्वव्यपदेशः। अर्थात् छादनात् छदिरिति व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता भवति। इत्थं दक्षिणत उपधेयानां पञ्चानामिष्टकानां पञ्च मन्त्रा व्याख्याताः। अथोत्तरतः पश्चाच्चोपधेयानां दशानामिष्टकानां मन्त्रान् विधाय व्याचिख्यासुरुक्तेभ्यो वक्ष्यमाणानां किञ्चिद्वैलक्षण्यमाह— अथातो निरुक्तानेव पशून्निरुक्तानि च्छन्दांस्युपदधातीति। उक्तवैलक्षण्यद्योतनार्थमथशब्दः। पूर्वत्र पशवो निरुक्ता अजाव्यादयः, छन्दांसि तु विवलादीन्यनिरुक्तान्युक्तानि। यद्वा पूर्वत्र छन्दांसि पशवश्चेत्युभयमप्यनिरुक्तम्, उत्तरत्र निरुक्तमिति विशेषः। पूर्वं हि प्रजापतिश्छन्दः, मयन्दं छन्द इत्युक्तत्वाच्छन्दसां मध्ये प्रजापतिमयन्दादेरपि गणनात्। वक्ष्यमाणास्तु पष्ठवाडादयस्तद्वद्वयुक्ता निरुक्ता एव छन्दांस्यपि बृहतीककुबादीनि निरुक्तान्येव। अत उत्तरत्र निरुक्तानेव पशून् निरुक्तानि छन्दांस्युपदध्यात्।

'पष्ठवाड् वय इति। पष्ठवाहं वयसाप्नोद् बृहती छन्द इति बृहती ह भूत्वा पष्ठवाह उच्चक्रमः' (श० ८।२।४।६)। तत्र प्रथमं पशुं छन्दश्च निरुक्तं दर्शयति—पष्ठवाडित्यादिना। पष्ठं पृष्ठभागः। तत्र भारं वोढुं शक्तः पष्ठवाट् तं पष्ठवाहं प्रजापतिराप्नव्यपष्ठवाड् योऽयं वयः शरीरविकारं प्राप्तवानित्यर्थः। बृहती छन्द इति बृहती ककुबादीनि छन्दांसि प्रसिद्धानि। बृहतीरूपेणोत्क्रान्तत्वात् प्रजापतिरपि बृहतीच्छन्दोऽभूदित्यर्थः। 'उक्षा वय इति। उक्षाणं वयसाप्नोत् ककुप् छन्द इति ककुब्भ भूत्वोक्षाण उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।७)। सेचनसमर्थः पशुरुक्षा। ककुप् छन्द इति। 'ककुन्मध्ये चेदन्त्यः' (पि० छ० ३।१९)। गायत्रयोः पादयोर्मध्ये जागतश्चेत्पादो भवति, तदा सा उष्णिक् ककुप्संज्ञां लभत इति तदर्थः। अष्टाक्षरयोर्मध्ये द्वादशाक्षर इति भावः। 'ऋषभो वय इति। ऋषभं वयसाप्नोत् सतोबृहती छन्द इति सतोबृहती ह भूत्वर्षभा उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४८)। ऋषभस्ततोऽप्युत्कृष्टवयाः। सतोबृहती छन्द इति। आद्यतृतीयौ पादौ द्वादशाक्षरौ द्वितीयचतुर्थौ अष्टाक्षरौ चेत्सा सतोबृहतीनाम बृहत्यवान्तरविशेषः। 'अयुजौ जागतौ सतोबृहती' इति तल्लक्षणमिति सायणाचार्यः। पिङ्गलछन्दःसूत्रे तु—त्रिभिर्जागतैर्महाबृहती' (पि० छ० ३।३५)। त्रिभिर्जागतैः पादैश्छन्दो महाबृहती नामेति तदर्थं इति हलायुधः। 'सतोबृहती ताण्डिनः' (पि० छ० ३।३६)। इयमेव महाबृहती ताण्डिन आचार्यस्य मतेन सतोबृहती नामेति तदर्थः।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिः परमेश्वरो मूर्धा सर्वेषां प्रधानश्छन्दः स्वतन्त्रो वयो वयस्वान् तत्तच्छरीरावस्थावान् जात इति शेषः। स एव क्षत्रं क्षत्रियजातिगतं बलं तदनुगुणं वयो मयन्दं सुखकरं छन्दः स्वातन्त्र्यं च गतवानिति शेषः। स एव विष्टम्भो जगद्धारकः। अधिपती राजादिः, तदुचितवयोऽवस्थावान्, छन्दस्तदुचितस्वातन्त्र्योपेतः, अभवदिति शेषः। प्रजापतिरेव परमेष्ठी परमे उत्कृष्टे ब्रह्मादिपदे स्थितः सन् विश्वकर्मा विश्वस्रष्टा भूत्वा तदुचितशरीरावस्थास्वातन्त्र्योपेतोऽभवत्। स एव बस्तः, अजस्तदुचितवयस्वान् विवलं छन्दो विगतबलस्वाच्छन्द्योऽभवत्। स एव वृष्णिर्मेषः, तदुचितवयस्वान् पूर्वापेक्षया विशालस्वातन्त्र्योऽभवत्। स एव पुरुषो मनुष्यस्तदुचितवयोऽवस्थावान् तन्द्रं पङ्क्तिश्छन्दः स्तुतोऽभवत्। स एव व्याघ्रस्तदनुगुणवयस्वान् विराट्छन्दः स्तुतोऽभवत्। तथैव सिंहस्तदनुगुणवयस्वान् अतिच्छन्दः स्तुतोऽभवत्। पष्ठवाडुक्षादि तदनुगुणवयस्वान् बृहतीछन्दः स्तुतोऽभवत्। उक्षा तदनुगुणवयस्वान्। अन्यानि वाक्यानि रीत्याऽनया व्याख्येयानि।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि पुरुष वा, मूर्धा मूर्धवदुत्तमं ब्राह्मणकुलं प्रजापतिरिव च वयः कमनीयं मयन्दं यन्मयं सुखं ददाति तत् छन्दो विद्या धर्मः शमादिकं क्षत्रं क्षत्रियकुलमेरय। विष्टम्भो विशो वैश्यस्य विष्टम्भो रक्षणं येन सः। अधिपतिः अधिष्ठातेव त्वं वयो न्यायविनयपराक्रमव्याप्तं छन्दो बलयुक्तमेरय। विश्वकर्मा अखिलोत्तरकर्मकर्ता राजा परमेष्ठीव सर्वेषां स्वामीव त्वं वयः कमिता छन्दः स्वाधीन एरय। बस्तो व्यवहारैराच्छादित इव त्वं वयो विविधव्यवहारव्यापी विबलं विविधं बलं यस्मात् तच्छन्द एरय। वृष्णिः सुखसेचकस्त्वं विशालं विस्तीर्णं छन्दः स्वाच्छन्द्यम् एरय। पुरुषः पुरुषार्थयुक्त इव त्वं वयः सुखप्रापकं तन्द्रं कुटुम्बधारणं 'तत्रि कुटुम्बधारणे' छन्दो बलम् एरय। व्याघ्र इव त्वं यो विविधान् समन्ताद् जिघ्रति स इव त्वं वयः कमनीयम् अनाधृष्टं धाष्ट्र्यं छन्दो बलम् एरय। सिंहः यो हिनस्ति पश्वादीन् स इव त्वं वयः पराक्रमं छदिर् अपवारणं छन्दः प्रदीपनम् एरय। पष्ठवाडिव यः पृष्ठेन वहत्युष्ट्रादिः स इव त्वं बृहती महत्त्वं वयो बलवान् छन्दः पराक्रमम् एरय। उक्षेव सेचको वृषभ इव त्वं वयो बलिष्ठः ककुप दिशश्छन्द आनन्दम् एरय। ऋषभ इव गतिमान् पशुरिव त्वं वयो बलिष्ठः सतोबृहतीछन्दः स्वातन्त्र्यमेरय' इति, तत्सर्वमसङ्गतमेव, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, गौणार्थाश्रयणात्, मुख्यार्थत्यागात्, वयश्छन्दआदिपदानां निर्मूलशब्दार्थकल्पनाबाहुल्याच्च, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च। 'तद्यानि वर्षिष्ठानि छन्दा ँ सि। ये स्थविष्ठाः पशवस्तान्मध्य उपदधाति मध्यं तत्प्रति पशुं वरिष्ठं करोति तस्मान्मध्यं प्रति पशुर्वरिष्ठोऽथ ये वीर्यवत्तमाः पशवस्तान् दक्षिणत उपदधाति दक्षिणं तदर्धं पशोर्वीर्यवत्तरं करोति तस्माद्दक्षिणोऽर्धः पशोर्वीर्यवत्तरः' (श० ८।२।४।१९) इत्यादिश्रुतिभिः स्पष्टमेव छन्दसां पशूनां च सम्बन्धे छन्दस्यानामिष्टकानां चयने उपधानमुक्तम्। ॥ ९ ॥

अनड्वान्वयः पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगतीच्छन्दस्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दो दित्यवाड्वयो विराट् छन्दः पञ्चाविर्वयो गायत्रीच्छन्दस्त्रिवत्सो वयं उष्णिक् छन्दस्तुर्यवाड्वयोऽनुष्टुप् छन्दो लोकं ता इन्द्रम् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने पंक्ति छन्द से बलीवर्द को, जगती छन्द से धेनु को, त्रिष्टुप् छन्द से अठारह मास के पशु को, विराट् छन्द से धान्य वहन करने वाले पशुओं को, गायत्री छन्द से ढाई वर्ष के पशुओं को, उष्णिक् छन्द से तीन वर्ष के पशुओं को और अनुष्टुप् छन्द से चार वर्ष के पशुओं को उत्पन्न किया ॥ १० ॥

अनड्वान् अनः शकटं वहतीति तथोक्तो बलीवर्दः पङ्क्तिश्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तमनड्वाहं पशुं वयसाऽग्रहीत्। धेनुर्नवप्रसूता सवत्सा गौर्जगतीच्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्ता, तां वयसाऽग्रहीत्। षण्मासात्मकः कालोऽविः षड्भिर्मासैः खलु ता जायन्त इत्यविशब्देन गर्भधारणं प्रारभ्य प्रसवपर्यन्तः षण्मासकालो लक्ष्यते। तिस्रोऽवयोऽस्येति त्र्यविरष्टादशमासात्मकः पशुस्त्रिष्टुप्छन्दो भूत्वोत्क्रान्तः, तं वयसाऽग्रहीत्। दित्यवाड् दितिं खण्डनमर्हतीति दित्यं धान्यं तद्वहतीति दित्यवाट्, यद्वा द्विवर्षः पशुर्दित्यवाट्, विराटछन्दो भूत्वोत्क्रान्तः, तं पशुं वयसाऽग्रहीत्। पञ्चाविः पञ्चावयो यस्य सः सार्धद्विवर्षः पशुर्गायत्रीच्छन्दो भूत्वोत्क्रान्तः, तं वयसा पर्यगृह्णात्। त्रिवत्सो वत्सो नवमासात्मकः कालः, त्रयो वत्सा यस्यासौ त्रिवत्सः पशुरुष्णिक्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तः, तं वयसा जग्राह। तुर्यवाट् तुर्यं चतुर्थं वर्षं वहतीति तथोक्तश्चतुर्वर्षः पशुः, अनुष्टुप्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तः, तं प्रजापतिर्वयसा जग्राह। एवं श्रुत्यनुसारेण मन्त्रा व्याख्याताः। 'दक्षिणश्रोणेरधि लोकम्पृणाः पूर्ववत्' (का० श्रौ० १७।८।२५)। दक्षिणश्रोणेरारभ्य पूर्ववत् प्रथमं द्वे ततो दश दश लोकम्पृणाः प्रदक्षिणमुपदध्यात्, ततः पूर्ववत् पक्षपुच्छचयनम्, ततः पुरीषनिवापः, सप्तर्चोपस्थानं चेति सूत्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अनड्वान् वय इति। अनड्वाहं वयसाप्नोत् पङ्क्तिश्छन्द इति पङ्क्तिर्ह भूत्वाऽनड्वाह उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।९)। अनो वहनसमर्थोऽनड्वान्। अष्टाक्षरपञ्चपदा पङ्क्तिः। धेनुर्वय इति। धेनं वयसाप्नोज्जगती च्छन्द इति जगती ह भूत्वा धेनव उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।१०)। धेनुर्नवप्रसूतिका। अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती। 'त्र्यविर्वय इति। त्र्यविं वयसाप्नोत् त्रिष्टुप्छन्द इति त्रिष्टुब्भभूत्वा त्र्यवय उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।११)। पश्चादुपधेयानां मन्त्रानाह—त्र्यविर्वय इति। त्रेधा मनसा वाचा कर्मणा अवतीति त्र्यविः, त्रैवार्षिको वा अविस्त्र्यविः। त्रिष्टुप्छन्द इति। चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्। 'दित्यवाड् वय इति। दित्यवाहं वयसाप्नोद् विराट्छन्द इति विराड्ढ भूत्वा दित्यवाह उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।१२)। दित्यवाड् दितिरवखण्डनम्, तदर्हतीति दित्यं धान्यम्, तद्वहतीति तथोक्तः। अल्पानल्पवाहक इत्यर्थः। दशाक्षरा विराट्। 'पञ्चाविर्वय इति। पञ्चाविं वयसाप्नोद् गायत्री छन्द इति गायत्री ह भूत्वा पञ्चावय उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।१३)। पञ्चाविर्वय इति। पञ्चवार्षिकोऽत्यन्तवर्षीयान् वा अविः। गायत्री छन्द इति चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। 'त्रिवत्सो वय इति। त्रिवत्सं वयसाप्नोदुष्णिक् छन्द इत्युष्णिग्घ भूत्वा त्रिवत्सा उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।१४)। त्रिवत्सस्त्रयो वत्सा यस्य साम्येन शक्ताः स त्रिवत्सः। उष्णिग् अष्टाविंशत्यक्षरा। 'तुर्यवाड् वय इति। तुर्यवाहं वयसाप्नोदनुष्टुप्छन्द इत्यनुष्टुब्भ भूत्वा तुर्यवाह उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।१५)। अनआदेरग्रतः प्रविश्य तुर्यत्वेन वोढुं शक्तस्तुर्यवाट्। द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप्। 'एते वै ते पशवः। यांस्तत्प्रजापतिर्वयसाप्नोत् स वै पशुं प्रथममाहाथ वयोऽथ छन्दो वयसा च ह्येनांश्छन्दसा च परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत तथैवैनानयमेतद्वयसा चैव छन्दसा च परिगत्यात्मन् धत्त आत्मन् कुरुते' (श० ८।२।४।१६)। उपक्रमे प्रतिपादितमर्थं प्रतिज्ञापयन्नुपसंहरति—एते वै ते पशव इति। एते प्रागुक्ताः पशवस्ते वै बस्तो वय इत्यादिनोक्ताः खलु। के ते ? यांस्तत्प्रजापतिर्वयसाप्नोद् इत्युत्तरम्। तत् तदा यान् पशून् प्रजापतिर्वयसाप्नोत् त एत इत्यर्थः। सर्वेषु मन्त्रेषु पशुवयश्छन्दसां यत्पौर्वापर्यं तत्प्रशंसति—स वै पशुमिति। स प्रजापतिर्बस्तो वय इत्येवमादौ बस्तं पशुं पश्चात् वयः, तदनन्तरं विबलं छन्दः, तथा सत्येनं प्रथमनिर्दिष्टं पशुं वयसा स्वाभाविकेन रूपेण छन्दसा पलायनोचितैकपदादिरूपेण च परिगत्य आत्मन् आत्मनि अधत्त, धृत्वा च स्वात्मन्यकुरुत स्वात्मना सहैकीकृतवान्। तथैवैनान् यजमानोऽपि स्वात्मनि धत्ते। इति द्वितीया चितिः सम्पूर्णा।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वकण्डिकाव्याख्यानवदेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि पुरुष, अनड्वानिव त्वं पङ्क्तिश्छन्दो वयो बलं प्रेरय। धेनुरिव त्वं जगती छन्दो जगदुपकारकमाह्लादकं वयः प्रजननं प्रेरय। त्र्यविरिव त्रयोऽव्यादयो यस्मात्त्वं त्रिष्टुप् त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि स्तुवन्ति यया सा तथोक्ता। छन्दो वयः प्रापणम् एरय। दित्यवाडिव त्वं विराट् छन्दो वय एरय। पञ्चाविरिव त्वं गायत्री छन्दो वय एरय। त्रिवत्स इव त्वमुष्णिक् छन्दो वय एरय। त्रिवत्स इव त्वमुष्णिक् छन्दो वय एरय। तुर्यवाडिव त्वमनुष्टुप् छन्दो वय एरय' इति, तदपि पूर्ववदेव खण्डनीयम् ॥ १० ॥

इन्द्राग्नी अव्यथमानामिष्टकां दृꣳहतं युवम्।
पृष्ठेन द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च विबाधसे ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र और अग्नि नामक देवताओं! तुम दोनों अचल और वक्रता से रहित स्वयमातृण्णा नामक इष्टका को दृढ़ करो। हे स्वयमातृण्णा इष्टके! तुम अपने ऊपर के भाग में पृथ्वी, स्वर्ग और अन्तरिक्ष को बाधित करने में समर्थ बनो ॥ ११ ॥

अथ तृतीया चितिः। इन्द्राग्नी विश्वकर्मा च तन्मन्त्राणामृषिः। 'तृतीयायाᳬ स्वयमातृण्णामिन्द्राग्नी इति मध्ये' (का० श्रौ० १७।९।११)। तृतीयायां चितावात्मनो मध्ये स्वयमातृण्णामुपदध्यादिति सूत्रार्थः। अनुष्टुप्। पूर्वोऽर्धर्च इन्द्राग्निदेवत्यः, उत्तरः स्वयमातृण्णादेवत्यः। अर्थानुरोधादुत्तरोऽर्धर्चः पूर्वं व्याख्यायते—विबाधस इति पुरुषव्यत्ययः, विबाधत इति। येयमिष्टका पृष्ठेन स्वकीयेनोत्तरभागेन च द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च, लोकत्रयमित्यर्थः। विबाधते अभिभवति। हे इन्द्राग्नी, युवं युवाम् अव्यथमानाम् अचलन्तीम् अभङ्गुरां तामिष्टकां स्वयमातृण्णाख्यां दृंहतं दृढीकुरुतम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'तृतीयां चितिमुपदधाति। एतद्वै देवा द्वितीयां चितिं चित्वा समारोहन् यदूर्ध्वं पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरिक्षात्तदेव तत्संस्कृत्य समारोहन्' (श० ८।३।१।१)। तृतीयां चितिं विधाय प्रशंसति—तृतीयां चितिमित्यादि। एतद्वै एतत्खलु पूर्वमासीद् यद् देवा द्वितीयां चितिं चित्वा समारोहन्। तत्किमित्याह—यदूर्ध्वं पृथिव्या इति। पृथिव्यन्तरिक्षयोर्मध्यदेशमारोहन्नित्यर्थः। तत्समारोहणकाले तदेव द्वितीयचितिस्वरूपं संस्कृत्य समारोहन्। 'तेऽब्रुवन्। चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्नित ऊर्ध्वमिच्छतेति ते चेतयमाना अन्तरिक्षमेव बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यंस्तेभ्य एष लोकोऽच्छदयत्' (श० ८।३।१।२)। लोकान्तरसमारोहणेऽपि चितिसंस्कारमेवोपायत्वेनामनन्तस्ते देवाः परस्परं चेतयध्वमित्यब्रुवन्। चेतयमानास्तेऽन्तरिक्षमेव बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यन्। अस्या बृहतीत्वमुत्तरत्र षट्त्रिंशत्संख्याकेष्टकासम्पादनेन वक्ष्यति—'त्रीणि द्वादशान्युपदधाति' (श० ८।३।३।८) इति कण्डिकायाम्। एषोऽन्तरिक्षलोक इष्टकाच्छादनाभिधः, अच्छदयद् आत्मानं छादित्वा आच्छन्नोऽभूत्, अस्पष्टोऽभूदित्यर्थः। 'त इन्द्राग्नी अब्रुवन्। युवं न इमां तृतीयां चितिमुपधत्तमिति। किं नौ ततो भविष्यतीति युवमेव नः श्रेष्ठौ भविष्यथ इति तथेति तेभ्य एतामिन्द्राग्नी तृतीयां चितिमुपाधत्तां तस्मादाहुरिन्द्राग्नी एव देवानाᳬ श्रेष्ठाविति' (श० ८।३।१।३)। ते देवा इन्द्राग्नी प्रति एवमब्रुवन्। युवं युवां नोऽस्मदर्थे इमां तृतीयामन्तरिक्षरूपां चितिमुपधत्तमिति। अथ तौ सर्वदेवेष्वात्मनः श्रैष्ठ्यं वृतवन्तौ। तच्च लब्ध्वा तृतीयां चितिमुपाधत्ताम्। तस्माद् वेदवादिन इन्द्राग्नी एव देवानां श्रेष्ठावित्याहुः। 'स वा इन्द्राग्निभ्यामुपदधाति। विश्वकर्मणा सादयतीन्द्राग्नी च वै विश्वकर्मा चैतां तृतीयां चितिमपश्यंस्तस्मादिन्द्राग्निभ्यामुपदधाति विश्वकर्मणा सादयति' (श० ८।३।१।४)। स खलु यजमानोऽपि, इन्द्राग्निभ्यां तृतीयां चितिमुपदधाति, उपधानमन्त्रे तथा प्रतिपादनात्। विश्वकर्मणा विश्वकर्मलिङ्गकेन मन्त्रेण सादयति। 'विश्वकर्मा त्वा सादयतु' इति हि मन्त्रः। ननु देवैः प्रार्थितत्वाद् इन्द्राग्निभ्यामुपधानम्, विश्वकर्मणः कः प्रसङ्ग इति तत्राह—इन्द्राग्नी च वै विश्वकर्मा च एतां तृतीयां चितिमपश्यन्निति। तस्मादित्युपसंहारः।

'यद्वेवेन्द्राग्निभ्यामुपदधाति। विश्वकर्मणा सादयति प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तस्येन्द्राग्नी च विश्वकर्मा च मध्यमादायोत्क्रम्यातिष्ठन्' (८।३।१।५)। उक्तमर्थमनूद्य प्रकारान्तरेण प्रशंसति—यद्वेवेन्द्राग्निभ्यामित्यादिना। पुरा किल विस्रस्तस्य प्रजापतेरेकैकमंशमादाय देवता व्युदक्रामन् विविधमुद्गताः। तस्य मध्यभागमिन्द्राग्नी च विश्वकर्मा च आदायोत्क्रम्यातिष्ठन्। 'तानब्रवीत्। उप मेत प्रति म एतद्धत्त येन मे यूयमुदक्रमिष्टेति किं नस्ततो भविष्यतीति युष्मद्देवत्यमेव म एतदात्मनो भविष्यतीति तथेति तदस्मिन्नेतदिन्द्राग्नी च विश्वकर्मा च प्रत्यदधुः' (श० ८।३।१।६)। तान् मध्यदेशापहर्तॄन् प्रजापतिरब्रवीत्—उपमेतेति मा माम् उपेत उपगच्छत, उपगत्य च मे मदीयमेतदपहृतमङ्गं प्रतिधत्त सन्धानं कुरुत। तस्मादस्माकं को लाभः? इति तैरुक्ते—ममात्मनः शरीरस्य सम्बन्धि एतदङ्गं तृतीयचितिरूपं युष्मद्देवत्यं यूयं देवता दीपयित्र्यो यस्य तद् युष्मद्देवतमिति

प्रजापतिनोक्तमाकर्ण्य तथेत्यङ्गीकृत्य तदङ्गमस्मिन् चयनात्मकप्रजापतिशरीरमध्यदेशे प्रत्यदधुः प्रतिनिहितवन्तः। 'तद्यैषा मध्यमा स्वयमातृण्णा। एतदस्य तदात्मनस्तद्यदेतामत्रोपदधाति यदेवास्यैषात्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतामत्रोपदधाति' (श० ८।३।१।७)। किं तदङ्गमिति तत्राह—तद्यैषेति। स्वयमातृण्णा एव मध्ये उपधेयत्वेन प्राधान्यान्मध्यमचितिरूपास्ति। एतदस्य प्रजापतेरात्मनः शरीरस्य तद् विस्रस्तमङ्गम्। तद्यदेतां स्वयमातृण्णामत्र मध्यदेशे उपदधाति। 'इन्द्राग्नी अव्यथमानाम्। इष्टकां दृꣳहतं युवमिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः पृष्ठेन द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च विबाधस इति पृष्ठेन ह्येषा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च विबाधते' (श० ८।३।१।८)। स्वयमातृण्णाया उपधानमन्त्रस्य पूर्वभागः स्पष्टार्थ इत्याह—इन्द्राग्नी अव्यथमानामित्यादिना। हे इन्द्राग्नी, युवं युवामव्यथमानां कुशलां युवाभ्यामुपधेयत्वाद् व्यथारहितां सुखितामित्यर्थः। दृंहतं दृढीकुरुतम्। हे स्वयमातृण्णेष्टके, त्वं पृष्ठेन द्यावापृथिवी अन्तरिक्षमिति लोकत्रयं विबाधसे अभिभवसि।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्राग्नी जीवेश्वरौ, युवामव्यथमानां प्रपञ्चोपप्लवैरनुपद्रुतामिष्टकां तद्वत् संसार-मण्डपभित्तिरूपां महामायां वा दृंहतं दृढीकुरुतम्। जीवः कर्मानुष्ठानेन तां द्रढयति, ईश्वरश्च सत्तास्फूर्तिप्रदानेन। हे महामाये, पृष्ठेन पृष्ठभागेन भित्तीष्टकेव द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च न केवलं वहसि, अपितु विबाधसे लोकत्रयमभिभवसि।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्राग्नीव वर्तमानौ स्त्रीपुरुषौ, युवमव्यथमानां प्रज्ञां प्राप्य इष्टकामिव गृहाश्रमं दृंहतं दृढीकुरुतम्। यथा द्यावापृथिवी पृष्ठेन अन्तरिक्षं बाधेते, तथा दुःखानि शत्रूंश्च बाधेथाम्। हे पुरुष, त्वमेतस्याः स्वपत्न्याः पीडां विबाधसे, तथा चेयमपि तव पीडां बाधताम्' इति, तदप्युच्छृङ्खलत्वमेव व्याख्यातुर्बोधयति, तादृशसम्बोधने मानाभावात्। स्त्रीपुरुषयोश्च नहीन्द्राग्निद्वयवद् वर्तमानत्वं सम्भवति। लक्ष्मीनारायणौ गौरीशङ्करौ इत्येव स्यात्। तथात्वे च विबाधस इत्यस्य का गतिः? वचनव्यत्ययश्च निर्मूल एव, शत्रुदुःखादीना-मध्याहारोऽपि निर्मूल एव। पुनश्च प्रथमवचनेन परस्परदुःखबाधकत्वोपन्यास इत्येतत्सर्वमपि स्वैरित्वमेव द्योतयति। कीदृशीं परस्परसम्बन्धिनीं पीडां दम्पती बाधेते? ॥ ११ ॥

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीः। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। वायुष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णे! विश्वकर्मा प्रजापति अवकाशयुक्त विस्तार वाली तुमको अन्तरिक्ष के ऊपर स्थापित करें। हे इष्टके! तुम सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण, अपान, व्यान, उदान नामक वायुबल की दृढ़ता के निमित्त, स्वगृह की प्रतिष्ठा और शास्त्रानुसार आचरण के निमित्त अन्तरिक्ष को गन्धर्व, अप्सरा आदि के धारणयोग्य बनाओ, अन्तरिक्ष को दृढ़ करो, अन्तरिक्ष को पीड़ा मत दो। वायु देवता तुम्हारी योगक्षेम की सम्पत्ति से, शुभकारी विशेष तेज से सब ओर से रक्षा करे। तुम्हारे जो अधिष्ठात्री देवता हैं, उन देवताओं से अनुगृहीत हुई तुम अंगिरा के समान निश्चल एवं दृढ़ बनो॥ १२ ॥

वायुदेवत्यं विकृतिच्छन्दस्कं यजुः स्वयमातृण्णोपधाने विनियुक्तम्। हे स्वयमातृण्णे, विश्वकर्मा प्रजापतिस्त्वा त्वामन्तरिक्षस्य पृष्ठे उपरि सादयतु स्थापयतु। कीदृशीं त्वाम्? व्यचस्वतीम् अभिव्यक्तियुक्ताम्। पुनः कीदृशीम्? प्रथस्वतीं प्रथनं प्रथो विस्तारः, सोऽस्त्यस्या इति प्रथस्वती, ताम्। हे इष्टके, तादृशी त्वमन्तरिक्षं यच्छ यक्षगन्धर्वाप्सरोगणादिधारकतया नियमय। अन्तरिक्षं दृंह परोपद्रवाभावेन दृढीकुरु। तदन्तरिक्षं मा हिंसीः। किमर्थम्? विश्वस्मै सर्वस्मै प्राणाय अपानाय उदानाय, अर्थात् तत्तद्वायुवृत्तिलाभाय, प्रतिष्ठायै स्वगृहे स्थितिलाभाय, चरित्राय शास्त्रीयाचरणाय। प्राणिनामेतत् सर्वं लोकदार्ढ्ये सत्येव सम्भवतीति तदर्थमन्तरिक्षनियमनादिकं प्रार्थ्यते। किञ्च, सर्वस्य सिद्ध्यर्थमयं वायुस्त्वामभितः सर्वतः पातु। त्वत्सहचारितया पातु रक्षतु च। केन प्रकारेण रक्षणमिति चेदुच्यते—मह्या महत्या स्वस्त्या योगक्षेमसम्पत्त्या शन्तमेन अत्यन्तशुभकारिणा छर्दिषा दीप्तिविशेषेण, एतत्सर्वं सम्पाद्येति यावत्। तवाधिष्ठात्री या देवता, तया देवतयानुगृहीता ध्रुवा स्थिरा सती सीद उपविश। अङ्गिरस्वद् अङ्गिरसां चयनानुष्ठाने यथा त्वं ध्रुवा स्थिता तद्वदत्र सीदेत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम् 'विश्वकर्मा त्वा सादयत्विति। विश्वकर्मा ह्येतां तृतीयां चितिमपश्यदन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमित्यन्तरिक्षस्य ह्येतत्पृष्ठं व्यचस्वत्प्रथस्वदन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीरित्यात्मानं यच्छात्मानं दृꣳहात्मानं मा हिꣳसीरित्येवैतत्' (श० ८।३।१।९)। हि यस्माद् विश्वकर्मा सकलजगन्निर्माता देवः, एतां तृतीयां चितिं स्वयमातृण्णाख्यामपश्यत्, अतस्तन्मन्त्रोऽपि विश्वकर्मा त्वा सादयत्विति ब्रूते। कुत्र सादनम्? अन्तरिक्षस्य पृष्ठे, एतन्मध्यस्थानं यदन्तरिक्षस्य पृष्ठं न प्रसिद्धमन्तरिक्षमिति। तच्च व्यचस्वद् व्यञ्जनवत् प्रथस्वत् प्रथनं निम्नोन्नतत्वराहित्यम्, तद्वद्विस्तारवदित्यर्थः। अन्तरिक्षं यच्छेत्यादयस्त्रयो मन्त्रभागाः। तत्रत्यैरन्तरिक्षशब्दैरात्मैवाभिधीयते। तथा चात्मानं यच्छ, आत्मानं दृंह, आत्मानं मा हिंसीरित्यर्थो ज्ञातव्यः। तत्र मध्यस्थाने स्थापिता स्वयमातृण्णापि व्यचस्वती पृथस्वती च भवति। 'विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानायेति। प्राणो वै स्वयमातृण्णा सर्वस्मा उ वा एतस्मै प्राणः प्रतिष्ठायै चरित्रायेतीमे वै लोकाः स्वयमातृण्णा इम उ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्रं वायुष्ट्वाभिपात्विति वायुष्ट्वाभिगोपायत्वित्येतन्मह्या स्वस्त्येति महत्या स्वस्त्येत्येतच्छर्दिषा शन्तमेनेति यच्छर्दिः शन्तमं तेनेत्येतत्सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुरथ साम गायति तस्योपरि बन्धुः' (श० ८।३।१।१०)। विश्वस्मा इत्यादिमन्त्रभागस्य तात्पर्यमाह—प्राणो वा इति। येयं स्वमातृण्णा सा प्राणो वै, चित्यात्मशरीरस्य मध्ये प्राणरूपतयोपधीयमानत्वात्। अतस्त्वस्या उपधानम् एतस्मै परिदृश्यमानाय सर्वस्मै जगते तदर्थं प्राणाधारस्थानीयमित्यर्थः। एतदर्थं त्वामुपदधामीत्यन्वयः। अपानादीनामपि प्राणवृत्तिविशेषत्वात् प्राधान्येन प्राणस्यैव कीर्तनम्—प्राणो वै स्वयमातृण्णा इति। मन्त्रे 'प्रतिष्ठायै चरित्राय' इत्यनेन लोकत्रयं विवक्षितमिति व्याचष्टे—इमे वै लोका स्वयमातृण्णा इम उ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्रमिति। प्रथममध्यमोत्तमचितिषु लोकत्रयरूपेणोपधेयत्वात् तिस्रः स्वयमातृण्णा इमे लोकाः खलु। इम उ इमे एव लोकाः प्रतिष्ठा चरित्रं चरत्यत्र कृत्स्नं जगदिति चरित्रम्। प्रतितिष्ठत्यत्रेति प्रतिष्ठा, इमे त्रयोऽपि लोकाश्चरित्ररूपाः। प्रतिष्ठात्मकत्वमस्य भूलोकस्यैव, तदर्थं त्वामुपदधामीत्यर्थः। वायुष्ट्वेत्यस्य व्याख्यानभूतं ब्राह्मणं स्पष्टम्। मह्या इत्यस्य व्याख्यानं महत्या इति। तदयं मन्त्रभागत्रयस्यार्थः—हे स्वयमातृण्णे, वायुर्महत्या प्रभूतया स्वस्त्या अविनाशेन शन्तमेन अत्यन्तसुखहेतुभूतेन छर्दिषा, गृहनामैतत् (निघ० ३।४।१८), त्वा त्वाम् अभिपातु सर्वतो गोपायतु। 'तया देवतया' इति मन्त्रेण सादयित्वा 'ता अस्य सूददोहसः' इति मन्त्रेणाधिवदति। गार्हपत्यचितौ (श० ७।१।१।२६) उक्त-

मस्यार्थवादमतिदिशति—तस्योक्तो बन्धुरिति। अथ अग्निवदनानन्तरं साम स्वयमातृण्णाङ्गभूतं गायेत्। तत्प्रतिपादकं ब्राह्मणमुपर्यन्त्यचितौ प्रदर्शयिष्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे महामाये, विश्वकर्मा परमेश्वरस्त्वामन्तरिक्षस्य आकाशस्य चिदाकाशस्य पृष्ठे उपरि सादयतु, 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' (संक्षेपशारीरके, १।३१९) इत्युक्तेः। किमर्थं त्वां सादयतु ? इत्युच्यते—विश्वस्मै सर्वस्मै प्राणाय, सर्वस्य प्राणापानादिवृत्तिलाभाय। सर्वस्य च प्रतिष्ठायै स्थित्यै सर्वस्य चरित्राय कर्मोपासनज्ञानादिसम्पादनाय। कीदृशीं त्वाम् ? व्यचस्वतीं विविधाञ्चनवतीं प्रथस्वतीं देवनरतिर्यगादिविविधरूपेण विस्तारवतीम्। हे देवि, त्वमन्तरिक्षं भौतिकं यक्षगन्धर्वादिसहितमाकाशं यच्छ नियमय। तदेव दृढीकुरु। तच्च मा हिंसीः। वायुः सूत्रात्मा त्वामभिपातु तत्तत्कार्यसम्पादनेन साहाय्यमाचरतु। महत्या स्वस्त्या योगक्षेमरूपया शन्तमेन परमसुखमयेन छर्दिषा प्रकाशेन अभिपातु। या परदेवता त्वदधिष्ठानभूता तया देवतयाऽनुगृहीता सती ध्रुवा सती सीद। अङ्गिरस्वद् यथा प्राणानां सम्बन्धिनी भूत्वा स्थितासि तद्वत्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, विश्वकर्मा पतिर्यां व्यचस्वतीं प्रशस्तं व्यचो विज्ञानं सत्करणं यस्यास्तां प्रथस्वतीमुत्तमविस्तीर्णविद्यायुक्तामन्तरिक्षस्य आकाशस्य पृष्ठे भागे त्वां सादयतु संस्थापयतु। सा त्वं विश्वस्मै समग्राय प्राणाय अपानाय व्यानाय उदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय शुभकर्माचाराय अन्तरिक्षं जलं यच्छ। अन्तरिक्षं प्रशस्तं शोधितमुदकं दृंह। अन्तरिक्षं मधुरादिगुणयुक्तं रोगनाशकमुदकं मा हिंसीः। यो वायुः प्राण इव प्रियस्तव स्वामी मह्या महत्या स्वस्त्या सुखक्रियया छर्दिषा प्रकाशेन शन्तमेन अतिशयेन सुखकारकेण त्वामभिपातु। तया पत्याकारया देवतया दिव्यसुखप्रदानक्रियया सह अङ्गिरस्वद् सूत्रात्मवायुवद् ध्रुवा निश्चलज्ञानयुक्ता सीद स्थिरा भव' इति, तदपि विशृङ्खलम्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, पत्यौ विश्वकर्मत्वायोगात्। आकाशस्य पृष्ठं किम् ? कथं च तत्र स्त्रियाः स्थापनम् ? प्रथस्वतीपदेन उत्तमविद्या कथं गृहीता ? तत्स्थापनेन कथं प्राणादे रक्षणम् ? अत एव ते प्रतिष्ठा शुभाचरणं च खपुष्पायितमेव। अन्तरिक्षपदस्य जलार्थत्वेऽपि शोधितं जलं मधुरं रोगनाशकमिति कथमर्थः ? ध्रुवेति त्वद्रीत्या स्त्रिया विशेषणम्। ध्रौव्यं तद्विशेषणे ज्ञाने कथमुपपद्यते ॥ १२ ॥

राज्ञ्यसि प्राची दिग्विराडसि दक्षिणा दिक् सम्राडसि प्रतीची दिक् स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिक् ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे दिश्या इष्टके ! तुम पूर्व दिशा में राजमान गायत्री रूप हो, दक्षिण दिशा में विराजमान त्रिष्टुप् रूप हो, पश्चिम दिशा में राजमान जगती रूप हो, उत्तर दिशा में विराजमान अनुष्टुप् रूप हो। स्वयं अधिक रक्षा करने वाली तुम पंक्ति छन्द रूप हो। मैं तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ १३ ॥

'अनूकेषु पञ्च दिश्या वैश्वदेवीवद्राज्ञ्यसीति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।९।२)। वैश्वदेवीवदिति प्रतिदिशं रेतःसिग्वेलायामनूकस्योपरि पञ्च दिश्यासंज्ञका इष्टका उपदध्यात्। अनूकः कोषः। तत्र पूर्वानूके उदङ्मुखः, दक्षिणस्यां दिशि प्राङ्मुखः, अपरस्यां दिशि दक्षिणामुखः, उत्तरस्यां दिशि प्राङ्मुखः, दक्षिणामुत्तरेण पञ्चमीमर्धपद्यामुदङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। वायुरपश्यत्। दिक्शब्दोपेतमन्त्रैरुपधेयत्वादासामिष्टकानां

दिश्या इति संज्ञा। दिग्देवत्यानि पञ्च यजूंषि। हे इष्टके, त्वं राज्ञी राजमाना सती दीप्यमाना सती प्राची पूर्वा दिग्भवसि। गायत्रीरूपासि। विराड् विविधं राजमाना सती दक्षिणा दिग्भवसि त्रिष्टुब्रूपासि। सम्राट् सम्यग्राजमाना सती प्रतीची दिग् जगत्यसि। स्वराट् परनिरपेक्षतया स्वयं राजमाना उदीची दिगसि अनुष्टुब्रूपासि। अधिपत्नी अधिकं पातीति तादृशी, त्वं बृहती प्रौढोर्ध्वा दिक् पङ्क्तिरसि। दिक्छन्दोरूपां त्वां सादयामीति सर्वत्र योज्यम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दिश्या उपदधाति। दिशो वै दिश्या दिश एवैतदुपदधाति तद्याभिरदो वायुर्दिग्भिरनन्तर्हिताभिरुपैत्ता एतास्ता एवैतदुपदधाति ता उ एवामूः पुरस्ताद्दर्भस्तम्बं च लोगेष्टकाश्चोपदधात्यसौ वा आदित्य एता अमुं तदादित्यं दिक्ष्वध्यूहति दिक्षु चिनोति ता यत्तत्रैव स्युर्बहिर्धा तत स्युर्बहिर्धो वा एतद्योनेरग्निकर्म यत्पुरा पुष्करपर्णात्ता यदिहाहृत्योपदधाति तदेना योनौ पुष्करपर्णे प्रतिष्ठापयति तथो हैना अबहिर्धा भवन्ति ता अनन्तर्हिताः स्वयमातृण्णाया उपदधात्यन्तरिक्षं वै मध्यमा स्वयमातृण्णानन्तर्हितास्तदन्तरिक्षाद्दिशो दधात्युत्तरा उत्तरास्तदन्तरिक्षाद्दिशो दधाति रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद्दिशो दधाति तस्मादनयोर्दिशः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्दिशो दधाति तस्मात सर्वतो दिशः सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्समीचीर्दिशो दधाति तस्मात सर्वतः समीच्यो दिशः' (श० ८।३।१।११)। दिश्या नामेष्टका विधाय प्रशंसति—अथ दिश्या इति। दिग्लिङ्गैर्मन्त्रैरुपधेया दिश्याः, ताः, पञ्चोपदध्यात। तेन साक्षाद्दिश एव उपहितवान् भवति, दिक्तदुपधेययोरभेदात्। तद्याभिरिति। तत् तदा अदो विप्रकृष्टकाले प्रजापतिर्विस्रंसनावसरेऽनन्तर्हिताभिरतिरोहिताभिर्याभिर्दिग्भिः प्रजापत्यवयवभूताभिः सहितो वायुरूपेद उपगतः, ता एता इष्टका इति तासामुपधानेन दिश उपस्थापितवान् भवति। एतासां दिश्यानां प्रथमचितावेवोपहितत्वाद् मध्यमचितौ किमर्थं तदुपधानमित्याशङ्क्य अत्राप्युपधेयत्वं सोपपत्तिकमाह—ता उ एवामूरित्यादिना। ता उ एव ता अपि प्रजापतेर्दिग्रूपावयवस्था एव, या अमूर्दर्भस्तम्बं च लोगेष्टकाश्च पुरस्तात ताभ्यः पूर्वं प्रथमचितौ उपदधाति। एता दिश्याः। असौ उपरि दृश्यमान आदित्यो रुक्मरूपेणोपहितः, अतोऽमुमादित्यं दिक्षु अध्यूहति, उपरि स्थापितवान् भवति। अतस्तत्रावश्यमेता उपधेया इत्यर्थः। ता दिश्या यद यदि तत्रैव स्युः प्रथमचितावेव भवेयुः, नात्र तत् तर्हि बहिर्धा भूगोलापेक्षया अत्यन्तं बहिरेव भवेयुः। तत्कथमिति तदुपपादयति—बहिर्धो वा एतद्योनेरग्निकर्म यत्पुरा पुष्करपर्णादिति। पुष्करपर्णोपधानस्य चितेर्योनिस्थानीयत्वात् ततः पुरा यदग्निचयनलक्षणं कर्म क्रियते, तत्सर्वं योनेर्बहिर्धो बाह्यं खलु। यस्मादेवं तस्मात ता दिश्या यदिह तृतीयायां चितौ आहृत्योपदधाति तदेना दिश्या योनिभूते पुष्करपर्णे प्रतिष्ठापयति। तथा सति ता अबहिर्भूता भवन्ति। आसां स्वयमातृण्णानन्तर्हितत्वतदुत्तरभावित्व-रेतःसिङ्निकटभावत्व-सर्वतोभावित्व-सम्यक्त्वार्थवादाः पूर्ववदित्यादि सर्वं सायणाचार्याः स्पष्टयन्ति।

'यद्वेव दिश्या उपदधाति। छन्दाꣳसि वै दिशो गायत्री वै प्राची दिक् त्रिष्टुब् दक्षिणा जगती प्रतीच्यनुष्टुबुदीची पङ्क्तिरूर्ध्वा पशवो वै छन्दाꣳस्यन्तरिक्षं मध्यमा चितिरन्तरिक्षे तत्पशून् दधाति तस्मादन्तरिक्षायतनाः पशवः' (श० ८।३।१।१२)। छन्दोरूपेण पुनस्ताः प्रशंसति—यद्वेव दिश्या इति। कथं छन्दोरूपत्वमिति तत्राह—गायत्री वै प्राची दिगित्यादिना। प्रागादिदिशां गायत्र्यादिरूपत्वे लिङ्गमात्रं बीजम्। छन्दसां पशुरूपत्वे तु 'प्रजापतेर्विस्रस्तात्पशव उदक्रामन् छन्दांꣳसि भूत्वा' (श० ८।२।३।९) इति प्राक् प्रतिपादितम्। येयं मध्यमा चितिस्तदन्तरिक्षम्, अतोऽत्र दिश्यानामुपधानेन अन्तरिक्षे पशून् दधाति। तस्मादन्तरिक्षायतनाः पशवः, अवकाशेनोरस्यवष्टम्भाभावात्। 'यद्वेव दिश्या उपदधाति। छन्दाꣳसि वै दिशः पशवो वै छन्दाꣳस्यन्नं पशवो मध्यं

मध्यमा चितिर्मध्यतस्तदन्नं दधाति ता अनन्तर्हिताः स्वयमातृण्णाया उपदधाति प्राणो वै स्वयमातृण्णामनन्तर्हितं तत्प्राणादन्नं दधात्युत्तरा उत्तरं तत्प्राणादन्नं दधाति रेतःसिचोर्वेलया पृष्टयो वै रेतःसिचौ मध्यम् पृष्टयो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं दधाति'''सर्वत एवास्मिन्नेतदन्नं दधाति' (श० ८।३।१।१३)। अन्नरूपेणापि दिश्या इष्टकाः प्रशंसति—यद्वेवेति। अन्नं पशवः, उपभोग्यत्वात्। अन्यत् स्पष्टम्। पूर्वं स्वयमातृण्णाया अन्तरिक्षरूपत्वेन संस्तुतिः, इह तु प्राणरूपत्वेन। दिश्यानां च छन्दःपशुद्वारा अन्नरूपत्वेन स्तुतिरिति विशेषः। 'राज्ञ्यसि प्राची दिक्। विराडसि दक्षिणा दिक् सम्राडसि प्रतीची दिक् स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिगिति नामान्यासामेतानि नामग्राहमेवैना एतदुपदधाति ता नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना हि दिशः' (श० ८।२।३।१४)। 'राज्ञ्यसि' इत्यादयः पञ्च दिश्योपधानमन्त्राः, तेषां तात्पर्यतो व्याख्यानम्—नामान्यासामेतानीत्यादिकम्। राज्ञी, विराड् इत्यादीनि प्रागादिदिशां यानि नामानि, एतद् एतेन 'राज्ञ्यसि' इत्यादिमन्त्रेण तत्तन्नाम गृहीत्वैव एना इष्टका उपहितवान् भवति। हे प्राच्यामुपधेयेष्टके, त्वं राज्ञी एतन्नामिका भवसि। का सा? प्राची दिक्। एवं सर्वेऽपि व्याख्येयाः। दिश्यानां पृथक् पृथग् मन्त्रभेदेनोपधानम्, पृथक् पृथक् सादनम्, पृथक् पृथग् अधिवदनं च। प्रागादीनां नानात्वात् पार्थक्यं युक्तमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे महात्रिपुरसुन्दरि, त्वं राज्ञी राजमाना सती प्राचीदिग्रूपासि। विविधं राजमाना दक्षिणादिग्रूपासि। सम्यग्राजमाना प्रतीचीदिग्रूपासि। स्वराट् चितिरूपत्वाद् अन्यनैरपेक्ष्येण उदीचीदिग्रूपासि। अधिपत्नी अधिकं पातीति बृहती प्रौढोर्ध्वदिग्रूपासि, प्रत्यगभिन्नायाः परचिद्रूपायास्तस्याः सार्वात्म्यप्रतिपादनात्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं प्राचीदिगिव राज्ञी राजमानासि भवसि, दक्षिणादिगिव विराडसि विविधविनयविद्याप्रकाशयुक्तासि, प्रतीचीदिगिव सम्राडसि सम्यक् सुखे भूगोले राजमानासि, उदीची दिगिव स्वराडसि या स्वयं राजते सासि। बृहतीदिगिव अधिपत्नी गृहाधिकृता स्त्री असि, सा त्वं पत्यादीन् प्रीणीहि' इति, तदपि विशृङ्खलम्, प्राच्यादिदिशां साधर्म्यस्य स्त्रियामनिरूपणात्। न च स्त्रियां स्वराट्त्वादिकं सम्भवति, सर्वासु तदसम्भवात्, जडायां जीवरूपायां वा तस्यां स्वातन्त्र्यायोगात्॥ १३॥

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ। वायुष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥ १४॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! वायुरूप प्रजापति तुमको अन्तरिक्ष के ऊपर स्थापित करें। तुम यजमान के सम्पूर्ण प्राण अपान और व्यान के निमित्त अपनी सारी ज्योति प्रदान करो। वायु देवता तुम्हारे स्वामी हैं। उस अधिष्ठात्री देवता के प्रभाव से समष्टि प्राण के साथ तुम इस अग्निचयन कार्य में बिना हिले-डुले दृढ़ रूप से स्थित रहो॥ १४॥

'विश्वकर्मेति विश्वज्योतिषमुपरि पूर्वस्याः' (का० श्रौ० १७।९।३)। प्रथमायां चिता उपहिताया विश्वज्योतिष उपरि यजमानकृतां द्वितीयां विश्वज्योतिषं पद्यामिष्टकां प्राग्लक्षणामुदङ्मुख उपदध्याद् विश्वकर्मेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। वायुदेवत्यं शक्वरीच्छन्दस्कं यजुः। हे इष्टके, विश्वकर्मा परमेश्वरो ज्योतिष्मतीं वायुरूपां त्वा त्वामन्तरिक्षस्य पृष्ठे उपरि सादयतु सर्वप्राणिनां प्राणवृत्तिलाभार्थम्। हे इष्टके, त्वं विश्वं सर्वं ज्योतिर्यच्छ प्रयच्छ, वायुस्ते तव अधिपतिः अधिदेवः। तया देवतया ध्रुवा स्थिरा सती अङ्गिरसां चयन इव अत्रापि प्रविष्टा वायोरन्तरिक्षस्य भागे सीद।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ विश्वज्योतिषमुपदधाति । वायुर्वै मध्यमा विश्वज्योतिर्वायुर्ह्येवान्तरिक्षलोके विश्वं ज्योतिर्वायुमेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हितां दिश्याभ्य उपदधाति दिक्षु तद्वायुं दधाति तस्मात् सर्वासु दिक्षु वायुः' (श० ८।३।२।१)। विश्वज्योतिराख्यामिष्टकां विधाय स्तौति—अथ विश्वज्योतिषमिति । मध्यमाया विश्वज्योतिरिष्टकाया वायुत्वोक्तौ मध्यमचितेस्तद्रूत्वात् तद्देवताकान्तरिक्षस्थानीयत्वं बीजम् । ननु तथापि कथं वायोस्तच्छब्दवाच्यत्वम् ? इति चेत्तत्राह—वायुर्ह्येवान्तरिक्षलोक इति । उपचारप्रयोजनमाह—वायुमेवैतदुपदधातीति । पूर्वेष्टकाभ्योऽस्या अव्यवहितत्वं विधाय स्तौति—तामनन्तर्हितामिति । 'यद्वेव विश्वज्योतिषमुपदधाति । प्रजा वै विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननमेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हितां दिश्याभ्य उपदधाति दिक्षु तत्प्रजा दधाति तस्मात् सर्वासु दिक्षु प्रजाः' (श० ८।३।२।२)। इत्थं वायुरूपेण प्रशस्याथ प्रजारूपेणापि प्रशंसति—यद्वेव विश्वज्योतिषमित्यादिना । 'विश्वकर्मा त्वा सादयत्विति । विश्वकर्मा ह्येतां तृतीयां चितिमपश्यदन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीमित्यन्तरिक्षस्य ह्ययं पृष्ठे ज्योतिष्मान् वायुः' (श० ८।३।२।३)। स्वयमातृण्णावद्विश्वज्योतिषोऽपि विश्वकर्मणा सादनम् । अयं वायुरेव अन्तरिक्षस्य पृष्ठवर्ती ज्योतिष्मान्, तत्स्थानत्वात् । अतस्तदभेदेन इष्टकापि तद्रूपिणीत्यर्थः । 'विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायेति प्राणो वै विश्वज्योतिः सर्वस्मा उ वा एतस्मै प्राणो विश्वं ज्योतिर्यच्छेति सर्वं ज्योतिर्यच्छेत्येतद्वायुष्ट्वेऽधिपतिरिति वायुमेवास्या अधिपतिं करोति सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धः' (श० ८।३।२।४)। स्पष्टार्था कण्डिका ।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रज्ञे, विश्वकर्मा परमेश्वरस्त्वां ज्योतिष्मतीं चिदाभासयुक्तां त्वामन्तरिक्षस्य पृष्ठे चिदाकाशस्य उपरि तदाकाराकारितां स्थापयतु । विश्वस्मै प्राणाय प्राणादिवृत्तिलाभाय त्वं तदाकाराकारिता सती विश्वं ज्योतिर्यच्छ सर्वं प्रकाशं प्रयच्छ । वायुः सूत्रात्मा ते अधिपतिः । तया देवतया ध्रुवा सीद ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यां ज्योतिष्मतीं बहुविज्ञानवेत्रीं विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायान्तरिक्षस्य जलस्य पृष्ठे उपरिभागे विश्वकर्मा सकलेष्टक्रियः सादयतु, सा त्वं विश्वं सर्वं ज्योतिर्विज्ञानं यच्छ गृहाण । यो वायुरिव ते प्राणप्रियोऽधिपतिरस्ति, तया देवतया सह ध्रुवाऽङ्गिरस्वत् सीद' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जलस्य पृष्ठे तत्सादनानुपपत्तेः, नौव्यवहिते तत्सादनसम्भवेऽपि विशेषानुपपत्तेः । न च तेन प्राणादिपुष्टिरन्यथासिद्धेः । मनुष्येषु विश्वकर्मत्वं वायुत्वं चौपचारिकमेव । तस्मान्मुधैव श्रौतार्थत्यागः ॥ १४ ॥

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे । वार्षिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—श्रावण और भाद्रपद ये दोनों वर्षा ऋतु के मास हैं । हे ऋतुरूप दोनों इष्टकाओं ! तुम चीयमान अग्नि के अन्तर में स्थिर होकर दृढ़तापूर्वक रहने के लिये लगाई गई हो । मुझ यजमान के उत्कर्ष के निमित्त यह द्युलोक और भूलोक हमारे योग्य उपकार की कल्पना करें । जल और औषधि हमारा प्राधान्य सम्पादन करें । समान व्रत वाली अनेक नाम की अग्नियों की स्वयमातृण्णा आदि इष्टकाएँ उत्कृष्टता सम्पादित करें । यह द्यावापृथिवी के मध्य में वर्तमान एक मन वाली अग्नियाँ चयन की हुई वर्षा सम्बन्धी ऋतु को सम्पादित करके इस कर्म को सहारा दें, जैसे कि देवगण इन्द्र की परिचर्या करते हैं । हे इष्टके ! उस प्रसिद्ध देवता द्वारा अंगिरा के समान स्थिर होकर तुम यहाँ रहो ॥१५॥

'ऋतव्ये नभश्च नभस्यश्चेति' (का० श्रौ० १७।९।४)। पूर्वयोर्ऋतव्ययोः पुरीषाच्छन्नयोरुपरि अवका निधाय प्राग्लक्षणे अर्धोत्सेधे पद्ये द्वे ऋतव्ये अनूकमभित उदङ्मुख उपदध्याद् नभश्च नभस्यश्चेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। ऋतुदेवत्यमुत्कृतिछन्दस्कं यजुः। नभः श्रावणः। नभस्यो भाद्रपदः। एतावुभौ वार्षिकौ मासौ वर्षा ऋतुः। हे तादृश ऋतो, त्वं चीयमानस्याग्नेरन्तर्मध्ये व्यवस्थितः सन् श्लेषकोऽसि। यथा काष्ठपाषाणादयः कुड्यस्यान्तर्दार्ढ्याय श्लिष्यन्ते, तद्वन्ममाग्निं चिन्वतो यजमानस्य ज्यैष्ठ्याय उत्कर्षाय इमे द्यावापृथिवी कल्पेतां स्वोचितमुपकारं सम्पादयेताम्। यद्वा ममेति तवस्थाने व्यत्ययः। आपश्चौषधयश्च ज्यैष्ठ्याय कल्पन्ताम्। सव्रताः समानं व्रतं कर्म येषां ते तादृशा येऽग्नय इमे द्यावापृथिवी अन्तरा अनयोर्मध्ये वर्तमानाः समनस एकमनस्का येऽग्नयः, अन्यैरपि चिता ये तेऽपि वार्षिकमृतुमभिकल्पमानाः सम्पादयन्तोऽभिसंविशन्तु एतत्कर्म आश्रयन्तु। तत्र दृष्टान्तः—यथा देवा इन्द्रं परिचरणाय अभिसंविशन्ति, एवमन्येष्टका वर्षर्तुंपरिचरणायाग्निमभिसंविशन्तु। अन्यत् पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथर्तव्या उपदधाति। ऋतव एते यदृतव्या ऋतूनेवैतदुपदधाति नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू इति नामनी एनयोरेते नामभ्यामेवैने एतदुपदधाति द्वे इष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोत्यवकासूपदधात्यवकाभिः प्रच्छादयत्यापो वा अवका अपस्तदेतस्मिन्नृतौ दधाति तस्मादेतस्मिन्नृतौ भूयिष्ठं वर्षति' (श० ८।३।२।५)। 'अथर्तव्या उपदधाति' इत्यादिः 'एकं तदृतुं करोति' इत्यन्तो द्वितीयचितिवद् द्रष्टव्यः। नभश्च नभस्यश्चेति तयोरुपधानमन्त्रः। नभो नाम श्रावणो मासः, नभस्यो नाम भाद्रपदः, तावुभौ वर्षाख्यौ ऋतू। अवयवापेक्षया द्विवचनम्। ताश्चतस्र ऋतव्या अवकासूपधायावकाभिरेव प्रच्छादयेत्। अवका नाम ह्रदादिजलेषु स्तवकाकारेण प्ररोहन्तो हरितवर्णाः पदार्थाः, शैवलानीत्यर्थः। तासां चाप्सु एव जायमानत्वाद् आश्रयाश्रयिणोरभेदेन अबात्मता। ऋतव्यानामृतुत्वात् तेनावकास्थापनेन तस्मिन्नेवर्तौ अप एव स्थापितवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—व्याख्यानं पूर्ववद् (१३।२५) अनुसन्धेयम्।

स्वामी दयानन्दस्तु स्त्रीपुरुषावेव सम्बोधयति। तच्च पूर्ववन्निराकरणीयम्॥ १५॥

इषश्चोर्जश्च शारदावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे शारदावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥ १६॥

मन्त्रार्थ—आश्विन और कार्तिक ये दो मास शरद् ऋतु से सम्बद्ध हैं। बाकी मन्त्र का अर्थ ऊपर के मन्त्र के जैसा ही है। विशेषता इतनी ही है कि यहाँ वर्षा ऋतु के स्थान पर शरद् ऋतु की चर्चा है॥ १६॥

'इषश्चोर्जश्चेत्यपरे' (का० श्रौ० १७।९।६)। अपरे तथाविधे ऋतव्ये पूर्वयोरुपरि दधाति इषश्चोर्जश्चेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। तेन तृतीयायां चितौ चतस्र ऋतव्याः। इतरासु द्वे द्वे इति। ऋतव्या नभस्वद्देवत्या। उत्कृतिच्छन्दः। यजुः। इष आश्विनः, ऊर्जः कार्तिकः, तौ शारदौ शरदृतुसम्बन्धिनौ मासौ। हे शरदृतो, त्वमग्नेश्चीयमानस्य श्लेषोऽसि। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरे। इषश्चोर्जश्च शारदावृतू इति नामनी एनयोरेते नामभ्यामेवैने एतदुपदधाति द्वे इष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोत्यवकासूपदधात्यापो वा अवका अपस्तदेतस्यर्तोः पुरस्ताद्दधाति तस्मादेतस्यर्तोः पुरस्ताद्वर्षति नोपरिष्टात् प्रच्छादयति तस्मान्न तथेवोपरिष्टाद्वर्षति' (श० ८।३।२।६)। 'अथोत्तरे ऋतव्ये इष्टके अभिधीयेते इति शेषः। 'इषश्चोर्जश्च शारदावृतू' इत्युत्तरयोर्ऋतव्ययोरुपधानमन्त्रः। अत्रोत्तरयोर्ऋतव्ययोरवकासूपधानमेव, नोपर्यवकाभिश्छादनं कर्तव्यमित्यमुमर्थमिदानीन्तनवर्षणप्रकारप्रदर्शनमुखेनोपपादयति—अवकासूपदधातीति। अधस्तादवकासम्बन्धाद्यथा ऋत्वादौ वृष्टिर्जायते, तथैवोपरिष्टात्तु तदृत्वन्ते वृष्टिर्नास्ति, अवकासम्बन्धाभावात्। अत एतस्य तादृग्विधत्वं सिद्धमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—संवत्सरात्मनः कालस्यावयवभूता ऋतवः। चीयमानोऽग्निश्च तदभिन्न एव। अतो वार्षिकौ मासौ वर्षर्तुं शारदौ मासौ शरदृतुं सम्बोध्य कालात्मनोऽग्नेः संश्लेष उक्तः। त्वत्प्रसादान्ममोपासकस्य इमे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ स्वोचितमुपकारं सम्पादयताम्। आपश्चौषधयश्च मम ज्यैष्ठ्याय कल्पन्ताम्। सव्रताः समनसोऽग्नय इमे द्यावापृथिवी अन्तरा अनयोर्मध्ये वर्तमाना आहवनीयादयो देवा इन्द्रमिव वर्षाख्यं शरदाख्यं च ऋतुं तदुपलक्षितं संवत्सराख्यं प्रजापतिम् अभिसंविशन्तु। हे ऋतव्ये ऋतुसम्बन्धिन्यौ मासद्वयाधिष्ठात्र्यौ देवते तया संवत्सररूपया देवतया अधिष्ठिते अनुगृहीते अङ्गिरसः प्राणा इव ध्रुवे सीदतम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, याविषश्चोर्जश्च शारदावृतू यथा मे ज्यैष्ठ्याय भवतो ययोरग्नेरन्तः श्लेषो मध्यस्पर्शोऽस्ति द्यावापृथिवी कल्पेताम्। आप ओषधयश्च कल्पन्ताम्। सव्रता अग्नयः पृथक् कल्पन्ताम्। येऽन्तरा समनसोऽग्नय इमे द्यावापृथिवी कल्पेताम्। शारदावृतू इन्द्रमिवाभिकल्पमाना देवा अभिविशन्तु। तथा तया देवतया सह अङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मासयोर्ऋतोश्च जाड्येन प्रार्थनीयत्वानुपपत्तेः। न च तयोरवकाशपृथिव्योरप्युपकारकत्वं सम्भवति। आपश्चोषधयश्चापि मासद्वयात्मकर्तुप्रार्थनया नोपकारसम्पादनक्षमा भवितुं शक्नुवन्ति, न वा मनुष्या एतेषां प्रार्थनया समर्था भवितुं शक्नुवन्ति, न वा बाह्याश्चाभ्यन्तराश्चाग्नयस्तथा कर्तुं प्रभवन्ति, न वा ते सर्वे वार्षिकं शारदं वा ऋतुं समर्थं कर्तुं शक्नुवन्ति। किञ्च, देवा इन्द्रमिवेत्यस्यार्थोऽप्यस्पष्ट एव, त्वद्रीत्या तदनभ्युपगमात्। नह्यैश्वर्यतुल्यं देवा विद्वांसोऽभिसंविशन्ति॥ १६॥

आयु॑र्मे पाहि प्रा॒णं मे॑ पाह्यपा॒नं मे॑ पाहि व्या॒नं मे॑ पाहि॒ चक्षु॑र्मे पाहि॒ श्रोत्रं॑ मे पाहि॒ वाचं॑ मे पिन्व॒ मनो॑ मे जिन्वा॒त्मानं॑ मे पाहि॒ ज्योति॑र्मे यच्छ॥ १७॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! तुम मेरी आयु की रक्षा करो, मेरे प्राण, अपान और व्यान वायु की रक्षा करो। मेरे दोनों नेत्रों की और दोनों कानों की रक्षा करो। मेरी वाणी को कामनाओं से पूर्ण करो, मेरे मन को प्रसन्नता से भर दो, मेरे शरीर की जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त रक्षा करो, मेरे प्राण रूप तेज की रक्षा करो॥ १७॥

'पूर्वार्धे प्राणभृतो दशायुर्म इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।९।७)। आत्मनः पूर्वभागे प्राणभृत्संज्ञका दशेष्टका उपदध्यादिति सूत्रार्थः। दश यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। हे इष्टके, मे मम आयुस्त्वं पाहि रक्ष। एवं प्राणमपानं व्यानं चक्षुः श्रोत्रं रक्ष। मे वाचं पिन्व सिञ्च, कामैः पूरयेत्यर्थः। मनो जिन्व प्रीणय। ममात्मानं जीवं पाहि। मह्यं ज्योतिस्तेजो यच्छ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ प्राणभृत उपदधाति । प्राणा वै प्राणभृतः प्राणानेवैतदुपदधाति ता दश भवन्ति दश वै प्राणाः पूर्वार्धे उपदधाति पुरस्ताद्धीमे प्राणा आयुर्मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छेति प्राणो वै ज्योतिः प्राणं मे यच्छेत्येवैतदाह ता अनन्तर्हिता ऋतव्याभ्य उपदधाति प्राणो वै आयुर्ऋतुषु तद्वायुं प्रतिष्ठापयति' (श० ८।३।२।१४)। प्राणलिङ्गकमन्त्रोपधेयाः प्राणभृत इष्टकाः । ता दश एव । दश वै प्राणा इति सप्त शीर्षण्याः, द्वाववाञ्चौ, नाभिर्दशमीति । एतां चितिं पूर्वार्धे उपदध्यात् । तत्रोपपत्तिः—पुरस्ताद्धीमे प्राणा इति । पुरस्तात् शरीरस्य पुरोभागे इमे शीर्षण्यादयः प्राणाः, वर्तन्त इति शेषः । निगदव्याख्यातमन्यत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे प्राणभृत्परमेश्वरि, त्वं मे प्राणादिकं पाहि । 'प्राणापानौ तथा व्यानं समानोदानमेव च । यशः कीर्तिं च लक्ष्मीं च सदा रक्षतु चक्रिणी ॥' इत्युक्तेः ॥ १७ ॥

मा छन्दः प्रमा छन्दः प्रतिमा छन्दो अस्रीवयश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्द उष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! अन्तरिक्ष लोक का मनन करते हुए तुम्हें स्थापित करता हूँ, तुम प्रतीतिकारक द्युलोक को छादिका हो । प्रतिमा छन्द का मनन करते हुए तुमको स्थापित करता हूँ । पतनशील अन्न त्रिलोकी का छादक हो । अस्रीवय छन्द का मनन करते हुए, पंक्ति छन्द का मनन करते हुए, उष्णिक् छन्द का मनन करते हुए, बृहती छन्द का मनन करते हुए, अनुष्टुप् छन्द का मनन करते हुए, विराट् छन्द का मनन करते हुए, गायत्री छन्द का मनन करते हुए, त्रिष्टुप् छन्द का मनन करते हुए और जगती छन्द का मनन करते हुए तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ ! इन सब छन्दों के गुण तुम्हारे में विद्यमान हैं ॥ १८ ॥

'छन्दस्या द्वादश द्वादशाप्ययेषु मा छन्द इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।९।८) । अप्ययाः पक्षपुच्छात्मसन्धयः । तेषु त्रिष्वप्ययेषु, अर्थाद् दक्षिणपक्षसन्धौ पुच्छसन्धौ उत्तरपक्षसन्धौ चानुक्रमभितो द्वादश द्वादश छन्दस्या इष्टका उपदध्यादिति सूत्रार्थः । अनुक्तः कोषः । षट्त्रिंशद्यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि । मा छन्दो मीयत इति मा मितः, छादनाच्छन्दः, अयं लोको मितत्वात्, छन्नत्वाच्च । हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि । प्रमा छन्दः, अस्माल्लोकात् प्रमीयत इति प्रमा अन्तरिक्षलोकः । हे इष्टके, त्वं प्रमा अन्तरिक्षलोकरूपासि । प्रतिमा छन्दः, प्रतिमीयत इति प्रतिमा द्यौः, सा ह्यन्तरिक्षे प्रतिमिता । अस्रीवयश्छन्दः । अस्यते क्षिप्यत इत्यस्रि पतनशीलं वयोऽन्नं यस्मात् तदस्रिवयः । दीर्घश्छान्दसः । अस्रीवयो लोकत्रयरूपं छादनाच्छन्दः, तद्रूपासि । हे इष्टके, त्वं माच्छन्दोरूपा, प्रमाच्छन्दोरूपा प्रतिमाच्छन्दोरूपा, अस्रीवयश्छन्दोरूपासि । इतः स्पष्टान्येव छन्दांसि पङ्क्त्यादीन्यष्टौ । अर्थाद् हे इष्टके, त्वं पङ्क्त्युष्णिग्बृहत्यनुष्टुब्विराड्गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीछन्दोरूपासीत्यर्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'मा च्छन्द इति । अयं वै लोको माऽयꣳ हि लोको मित इव प्रमाच्छन्द इत्यन्तरिक्षलोको वै प्रमाऽन्तरिक्षलोको ह्यस्माल्लोकात् प्रमित इव प्रतिमाच्छन्द इत्यसौ वै लोकः प्रतिमैष ह्यन्तरिक्षलोके प्रतिमित इवास्रीवयश्छन्द इत्यन्नमस्रीवयस्तद्यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्रीवयोऽथो यदेभ्यो लोकेभ्योऽन्नꣳ स्रवति तदस्रीवयोऽथातो निरुक्तान्येव छन्दाꣳस्युपदधाति' (श० ८।३।३।५) । तत्र दक्षिणत उपधेयेष्टकानां मन्त्रान् विधाय व्याचष्टे—मा च्छन्द इत्यादिना । मासंज्ञया छन्दो माच्छन्दः । तच्चायं लोको वै भूलोकः खलु । मीयते परिच्छिद्यत इति मा इति व्युत्पत्तेः । एतल्लोकसाम्यमुपपादयति- अयं हि लोको मित इवेति । सर्वतः परिच्छिन्न एव,

पञ्चाशत्कोटियोजनविस्तारा पृथिवीति ह्याचक्षते। प्रमाच्छन्द इति द्वितीयो मन्त्रः। प्रकर्षेण मितः प्रमा, तत्संज्ञकश्छन्दोऽन्तरिक्षलोकः खलु। तल्लोकसाम्यमाह—अन्तरिक्षलोको ह्यस्माल्लोकात् प्रमित इवेति। भूलोकादप्यधिकतरेण मानेन मित इव वर्ततेऽन्तरिक्षलोकः। छादनाच्छन्दः। तथा च भूलोको माख्यं छन्दः, अन्तरिक्षलोकश्च प्रमाख्यं छन्दः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। प्रतिमाच्छन्द इति तृतीयो मन्त्रः। असौ वै लोकः प्रतिमेत्यसौ द्युलोकः प्रतिमाच्छन्दः। कुतः? एषोऽन्तरिक्षलोके प्रतिमित इव, अन्तरिक्षपरिमाणेन परिच्छिन्न इव वर्तते। अतः प्रतिरूपत्वेन मितत्वात् प्रतिमा असौ लोकः। चतुर्थं मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—अस्रीवयश्छन्द इति। अन्नम् अस्रीवयः, लोकानां त्रित्वात् तन्निष्ठान्नस्यापि त्रित्वम्। अस्यते क्षिप्यत इत्यस्रि पतनशीलं वयोऽन्नं यस्मात्तदस्रिवयो लोकत्रयरूपं छादनाच्छन्दस्तद्रूपासि। यद्वा यदेभ्यो लोकेभ्य आहुतिपरिणामभूतमन्नं स्रवति तदस्रीवयः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। यद्वा भूम्यादिलोकेभ्यो य आ समन्ताद् वृष्टिरूपेण स्रवति सोऽस्रीविः। छान्दसत्वादभिमतरूपसिद्धिः। लोकत्रयापेक्षया बहुवचनेऽस्रीवय इति। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। एवं ब्राह्मणेन मादीनां छन्दसामर्थाद् व्युत्पत्तयः प्रदर्शिताः। मादीनि हि गायत्र्यादिष्वपाठादनिरुक्तानि। अत उक्तेभ्यो वक्ष्यमाणानां वैलक्षण्यं दर्शयन्नुत्तरा अष्टाविष्टका विधत्ते—अथातो निरुक्तान्येव छन्दांस्युपदधातीति। अनिरुक्तेष्टकामन्त्रचतुष्टयादनन्तरं निरुक्तानि पङ्क्त्यादीनि प्रसिद्धानि छन्दांस्युपदधातीत्युच्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रत्यगभिन्नब्रह्मचिते, त्वं सर्वस्वरूपासि, ब्रह्मस्वरूपत्वात्, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ० ३।१४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। त्वं पृथिवीलोकात्मकमाच्छन्दोरूपासि, अन्तरिक्षलोकात्मकप्रमाच्छन्दोरूपासि, द्युलोकात्मकप्रतिमाच्छन्दोरूपासि, लोकत्रयात्मकलोकत्रयस्राव्यन्नरूपात्मकास्रीवयश्छन्दरूपासि। पङ्क्त्यादिछन्दोरूपा चासि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिर्यया मीयते सा माच्छन्द आनन्दकरी, प्रमा यया प्रमीयते सा प्रमा प्रज्ञाच्छन्दो बलम्, प्रतिमीयते यया क्रियया सा प्रतिमाच्छन्दः स्वातन्त्र्यम्। अस्रीवयो यदस्यति कामयते च तदस्रीवयोऽन्नादिकं छन्दः बलकारि। पङ्क्तिः पञ्चावयो योगश्छन्दः प्रकाशः, उष्णिक् स्नेहनम्, छन्दः प्रकाशः, बृहती महती प्रकृतिः, छन्द आश्रयः। अनुष्टुप् सुखानामनुष्टम्भनम्, छन्दो योगः। विराड् विविधविद्याप्रकाशनं छन्दो विज्ञानम्, गायत्री गायन्तं त्रायते सा (ईश्वरः) छन्दस्तद्बोधः, त्रिष्टुब् यया त्रीणि सुखानि स्तोभति सा, छन्द आनन्दः। जगती गच्छति सर्वं जगद्यस्यां सा, छन्दः पराक्रमः। इत्येतत्सर्वं स्वीकृत्य विज्ञाय च सुखयितव्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैव निर्मूलत्वात्। एकस्यैव छन्दःशब्दस्य नैकधोच्चरितस्य आनन्दकरत्वादयोऽर्थाः कथमिति तु नोक्तम्। माप्रमादीनां तदुक्ता व्युत्पत्तयस्तु पूर्वोक्तश्रुतिविरुद्धा एव। पङ्क्त्यादीनां पञ्चावियोगादयोऽर्था निर्मूलाः, छन्दःशास्त्रविरुद्धाश्च। हे मनुष्याः, युष्माभिः सर्वं स्वीकृत्य विज्ञाय च सुखयितव्यमिति तु स्पष्टमेव व्याख्यातुः स्वकपोलकल्पना॥ १८॥

पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक्छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजा छन्दोऽश्वश्छन्दः॥ १९॥

मन्त्रार्थ—पृथिवी देवता वाले छन्द का मनन करते हुए मैं इस इष्टका को स्थापित करता हूँ। अन्तरिक्ष देवता वाले छन्द का, द्युलोक के देवता वाले छन्द का, वर्ष के देवता वाले छन्द का, नक्षत्र देवता वाले छन्द का, वाग् देवता वाले छन्द का, मन देवता वाले छन्द का, कृषि देवता वाले छन्द का, हिरण्य देवता वाले छन्द का, गो देवता वाले छन्द का, अजा देवता वाले छन्द का और अश्व देवता वाले छन्द का मनन करते हुए मैं इस इष्टका को स्थापित करता हूँ॥१९॥

हे इष्टके, पृथिव्यादिदेवत्यानि यानि छन्दांसि, त्वं तद्रूपासि। स्पष्टमन्यत्। अत्र ब्राह्मणम्—'पङ्क्तिश्छन्दः। उष्णिक्छन्दो बृहतीछन्दोऽनुष्टुप्छन्दो विराट्छन्दो गायत्रीछन्दस्त्रिष्टुप्छन्दो जगतीच्छन्द इत्येतानि निरुक्तानि विराडष्टमानि छन्दाꣳस्युपदधाति पृथिवीच्छन्दोऽन्तरिक्षं छन्द इति यान्येतद्देवत्यानि छन्दाꣳसि तान्येवैतदुपदधात्यग्निर्देवता वातो देवतेत्येता वै देवताश्छन्दाꣳसि तान्येवैतदुपदधाति' (श० ८।३।३।६)। तानि निरुक्तानि छन्दांसि दर्शयति—पङ्क्तिश्छन्द इत्यादिना। एतेषां प्रजापतिरूपता द्वितीयचितौ दर्शिता (श० ८।२।४।३-१५)। विराट्छन्दसः प्रसिद्धगायत्र्यादिछन्दोमध्ये पाठाभावात् 'द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ' (पि० सू० ३।६०) इति पिङ्गलोक्तेर्गायत्र्यामन्तर्भावान्निर्दिष्टस्याप्यनिरुक्तवद् विराडष्टमानीति पुनरभिधानम्। पङ्क्तिश्छन्द इत्यादिमन्त्रैरुपहिता इष्टका निरुक्तछन्दोरूपाः, तासामुपधानेनेमानि छन्दांस्युपहितवान् भवति। पश्चादुपधेयानां द्वादशानामिष्टकानां ये मन्त्रास्तेषां प्रतीकमादाय तेषां समानार्थत्वेन मादिच्छन्दोरूपतामाशङ्क्य तद्भिन्नत्वमुपपादयन् तात्पर्यमाह—पृथिवीच्छन्दोऽन्तरिक्षं छन्द इति। एतद्देवत्यानि पृथिव्यन्तरिक्षादिदेवताकमन्त्रोपरिबद्धानि यानि छन्दांसि, तान्येवैतदुपदधाति। पूर्ववदुपधेयेष्टकामन्त्रप्रतीकमुपादाय व्याचष्टे—अग्निर्देवतेति। एता वै देवताश्छन्दांसि तान्येवैतदुपदधातीत्यग्निवातसूर्यादिदेवताः खलु छन्दांसि। अग्नेर्गायत्र्यभवदिति वाक्याद् देवताभ्यश्छन्दसामुत्पत्तेरुत्पादकोत्पाद्यानामभेदविवक्षया देवतानामेव छन्दस्त्वव्यपदेशः। निरुक्तानि पङ्क्त्यादिजगत्यन्तानि छन्दांस्यष्टादश्यां पृथिवीच्छन्दोऽन्तरिक्षं छन्द इत्यादीन्येकोनविंश्याम्, अग्निर्देवता वातो देवतेत्यादीनि विंश्यां कण्डिकायामस्मिन्नेवाध्याये वर्णितान्यनुसन्धेयानि।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रत्यगभिन्नब्रह्मचिते, त्वं पृथिवीदेवताकमन्त्रोपरिबद्धच्छन्दोरूपासि। तथैवान्तरिक्षद्युलोकसमानक्षत्रवाङ्मनःकृषिहिरण्यगोऽजाश्वादिदेवताकास्तत्तत्प्रतिपादका ये मन्त्राः सन्ति, तदुपरिबद्धच्छन्दोरूपासि। वेदमन्त्रेषु पूर्वोक्ताः सर्वेऽर्थास्तत्तत्प्रसङ्गेषूक्ताः। ते ते मन्त्राः, ते तेऽर्थाः, तदीयच्छन्दांसि च त्वमेव भवसि, सर्वात्मत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषाः, यूयं यथा पृथिवीच्छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक्छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजाश्छन्दोऽश्वच्छन्दोऽस्ति, तथा विद्याविनयधर्माचरणेषु स्वाधीनतया वर्तध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, छन्दःशब्दस्यार्थानां निर्मूलत्वात्, श्रुतिविरोधाच्च। नहि पृथिव्यादीनां स्वातन्त्र्यमस्ति, जडत्वात्। नहि मनुष्यैरजाश्वादयोऽनुकरणीया भवन्ति ॥ १९ ॥

अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा दे॒वता॑दि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑ ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—अग्नि देवता का मनन करते हुए मैं इस इष्टका को स्थापित करता हूँ। वायु देवता, सूर्य देवता, चन्द्रमा देवता, वसु देवता, रुद्र देवता, आदित्य देवता, मरुत् देवता, विश्वेदेव देवता, बृहस्पति देवता और इन्द्र देवता का मनन करते हुए मैं इस इष्टका को स्थापित करता हूँ ॥ २० ॥

हे इष्टके, त्वमग्न्यादिदेवतारूपासि। तां त्वामुपदधामीति शेषः। एवं सर्वत्र योज्यम्। अग्न्यादीनां देवतात्वं प्रसिद्धम्। 'अग्निर्देवता वातो देवतेत्येता वै देवताश्छन्दाꣳसि तान्येवैतदुपदधाति' (श० ८।३।३।६) इति पूर्वस्यां कण्डिकायामुद्धृतेन ब्राह्मणेन, गायत्र्यादीनामग्न्यादिप्रभवत्वेन च कार्यकारणाभेदेनाग्न्यादिदेवतानां छन्दोरूपत्वमुक्तम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'स वै निरुक्तानि चानिरुक्तानि चोपदधाति । स यत्सर्वाणि निरुक्तान्युपाधास्यदन्तवद्धान्नमभविष्यदक्षेष्यत हाथ यत्सर्वाण्यनिरुक्तानि परोऽक्षꣳ हान्नमभविष्यन्न हैनदद्रक्ष्यंश्चन निरुक्तानि चानिरुक्तानि चोपदधाति तस्मान्निरुक्तमन्नमद्यमानं न क्षीयते' (श० ८।३।३।७) । अथ दक्षिणोत्तरपक्षपुच्छसन्धिषु निरुक्तानिरुक्तभेदेन द्विविधानामपि छन्दसामुपधानमन्यतरोपधानपक्षे दोषप्रदर्शनपुरःसरं प्रशंसति—स वै निरुक्तानि चेत्यादिना । स उपधाता यदि केवलं निरुक्तान्येवोपाधास्यत्, तर्हि छन्दसां पशुरूपत्वेनान्नत्वात् तेषां छन्दसां नि शेषोपधानेन मितत्वादन्नमप्यन्तवदेवाभविष्यत् । यथा द्विप्रस्थं त्रिप्रस्थमित्येवं निरुक्तिमापन्नं ख्यापितं सत् पुनश्चानिरुक्तस्यान्नस्यासम्भवादन्तवदेव भवति । तथा सति को बाधः ? इति चेत्तत्राह—अक्षेष्यत हेति । 'ह इति विनिग्रहार्थीयः' (निरु० १।५) । क्षयमापद्येत । अथोक्तवैपरीत्येन यदि सर्वाण्यपि छन्दांस्यनिरुक्तान्येवोपाधास्यत्, तर्हीदमिति निरुक्तत्वाभावादन्नं परोक्षमभविष्यत् । न हैनदद्रक्ष्यंश्चनेति । तथा सत्येतदन्नं जना नाप्यद्रक्ष्यन्, अस्पष्टत्वेनेन्द्रियाविषयत्वात् । अतो दोषद्वयासंस्पर्शायोपायमाह—निरुक्तानि चानिरुक्तानि चोपदधातीति । तस्मादुभयस्याप्यनुष्ठितत्वान्निरुक्तमन्नमद्यमानमप्यनिरुक्तस्यासंख्यातस्यान्यस्यान्नस्य सद्भावान्न संक्षीयते । अतः केषाञ्चिन्निरुक्तानां केषाञ्चिदनिरुक्तानां चोपधानं प्रशस्तम् । 'तानि वा एतानि । त्रीणि द्वादशान्युपदधाति तत् षट्त्रिꣳशत् षट्त्रिꣳशदक्षरा बृहत्येषा वै सा बृहती यां तद्देवा अन्तरिक्षं बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यंस्तस्या एतस्यै देवा उत्तमाः' (श० ८।३।३।८) । प्रतिदिक्षु यद् द्वादशत्वं तद् बृहतीसम्पत्तिद्वारा स्तौति—तानि वा एतानीति । छन्दसां यद् द्वादशकं द्वादशम्, तादृशानि त्रीणि द्वादशान्युपदध्यात् । मिलितानि षट्त्रिंशत्, बृहत्याश्च षट्त्रिंशदक्षराणि, अत एषा बृहती सम्पन्ना । तृतीयचित्युपक्रमे प्रतिपादिता या बृहती, 'अन्तरिक्षं बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यन्' (श० ८।३।१।२) इति, तस्या एतस्मै देवा उत्तमाः, उपधीयन्त इति शेषः । ते च 'अग्निर्देवता वातो देवता' इत्यादिना निर्दिष्टाः ।

'यद्वेवैता इष्टका उपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तात् सर्वाणि भूतानि सर्वा दिशोऽनु व्युदक्रामन्' (श० ८।३।३।९) । 'स यः स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ यान्यस्मात् तानि भूतानि व्युदक्रामन्नेतास्ता इष्टकास्तद्यदेता उपदधाति यान्येवास्मात्तानि भूतानि व्युदक्रामंस्तान्यस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति' (श० ८।३।३।१०) । 'तद्या दश प्रथमा उपदधाति । स चन्द्रमास्ता दश भवन्ति दशाक्षरा विराडन्नं विराडन्नम् चन्द्रमा अथ या उत्तराः षट्त्रिꣳशदर्धमासाश्च ते मासाश्च चतुर्विꣳशतिरर्धमासा द्वादश मासाश्चन्द्रमा वै संवत्सरः सर्वाणि भूतानि' (श० ८।३।३।११) । एता एवेष्टकाः पुनर्विस्रस्तप्रजापत्यवयवप्रतिसन्धानरूपत्वेन स्तौति यद्वेवैता इष्टका उपदधाति प्रजापतेरित्यादिना । प्रजापतिर्नाम चितिलक्षणोऽग्निः, ततो विस्रस्तानि भूतानीत्येताः षट्त्रिंशदिष्टकाः, अत एतासामुपधानेन विस्रस्तात् प्रजापतेर्निर्गतानां भूतानां प्रतिसन्धानं कृतं भवतीत्यर्थः । अथैताः पूर्वोक्ताभिः सह समुच्चित्य स्तौति—तद्या दशेत्यादिना । या दश प्रथमाः प्राणभृत उपहिताः स चन्द्रमाः । चन्द्रमोऽपेक्षया स इति पुंल्लिङ्गनिर्देशः । उक्तं चन्द्रमस्त्वमेवोपपादयति—ता दश भवन्तीत्यादिना । ताः प्राणभृतो दश विराडपि दशाक्षरा । सा तु अन्नम् । विराजोऽन्नत्वं प्रागुक्तम् (श० ८।३।२।१३) इत्यत्र । चन्द्रमा अपि अन्नमु अन्नमेव, 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नम् । तं देवा भक्षयन्ति' (श० २।४।४।१५) इति श्रुतेः । ओषध्यादिरूपस्य तस्यान्नत्वं व्यक्तमेव । अथ या उत्तराः षट्त्रिंशत् छन्दस्याः सन्ति, तेऽर्धमासाश्च मासाश्च । मासापेक्षया 'ते' इति पुंल्लिङ्गनिर्देशः । चन्द्रमस उपचयापचयाभ्यां शुक्लकृष्णौ पक्षौ भवतः, तयोरावृत्त्या मासादिद्वारेण संवत्सरो निष्पद्यत इत्यभिप्रेत्य चन्द्रमा वै संवत्सर इत्युक्तम् । स च सर्वाणि भूतानि, संवत्सरकाले सर्वभूतानामुत्पत्तेः । 'तं यत्र देवाः समस्कुर्वन् । तदस्मिन्नेतानि सर्वाणि भूतानि मध्यतोऽदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति ता अनन्तर्हिता ऋतव्याभ्य उपधात्यृतुषु तत्सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठापयति' (श० ८।३।३।१२) ।

यस्मिन् काले देवास्तं प्रजापतिं समस्कुर्वन्, तदा सर्वाणि भूतानि मध्यदेशे स्थापयामासुः। तथैव देववदयं यजमानोऽप्येतेन छन्दस्येष्टकोपधानेन सर्वाणि भूतानि स्थापयति।

अध्यात्मपक्षे—हे चिते, त्वमेवाग्निर्देवता, त्वमेव वातो देवता, त्वमेव सूर्यो देवता, त्वमेव चन्द्रमा देवता, त्वमेव वसवो देवता, त्वमेव रुद्रादित्यमरुद्विश्वेदेवबृहस्पतीन्द्रवरुणाख्या देवताः, अतस्तां त्वामहमाश्रये।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषाः, युष्माभिरग्निर्देवता वातो देवता चन्द्रमा वसवः प्रसिद्धाग्न्यादयोऽष्टौ रुद्राः प्राणादय एकादश आदित्या द्वादशमासा वसुरुद्रादित्यसंज्ञका विद्वांसश्च मरुतो ब्रह्माण्डस्था मनुष्या विद्वांस ऋत्विजो विश्वे सर्वे देवा दिव्यगुणा मनुष्याः पदार्थाश्च बृहस्पतिर्बृहतो ब्रह्माण्डस्य पालको देवता इन्द्रो विद्युत् परमैश्वर्यं वा देवता वरुणो जलं वरगुणाढ्योऽर्थो वा देवता सम्यग्विज्ञेयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विज्ञेया इति पदस्य मूलेऽभावात्, विज्ञानफलानुक्तेश्च। नहि वेदे निरर्थकानि क्रिया ज्ञानानि चोपदिष्टानि। भूमिकायां योनिविशेषाणां देवत्वसाधनाच्च ॥ २० ॥

मूर्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी। आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे वालखिल्ये! तुम प्रकाशवान् मूर्धा के समान उत्तम हो, धारण हेतु और स्थिर हो, तुम ध्रुव रूप से इस स्थान को धारण करो, तुम धारण करने वाली भूमि हो, धरणी रूप से इस स्थान को धारण करने में तत्पर बनो। आयु की वृद्धि के लिये तुमको स्थापित करता हूँ। कान्ति के लिये, अन्न की वृद्धि के लिये और कल्याण की वृद्धि के लिये तुमको स्थापित करता हूँ ॥ २१ ॥

'वालखिल्याः सप्त पुरस्तात्, प्राणभृद्भ्यो वाऽपराः, द्वादशभ्योऽपरास्तु, मूर्धासि राडिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।९।१०-१३)। प्रागुक्ताः सप्त वालखिल्यसंज्ञका इष्टका दशप्राणभृद्भ्यः पूर्वा अपरा वोपदध्याद् मूर्धाऽसीत्यादिभिः सप्तभिर्मन्त्रैः। तु विशेषे। अपराः सप्त वालखिल्यास्तु द्वादश च्छन्दस्याभ्योऽपरा एवोपधेया यन्त्रीत्यादिभिः सप्तभिर्मन्त्रैरिति सूत्रार्थः। मूर्धासीत्यनुष्टुप्। यन्त्रीति परोष्णिक्। ऋग्द्वये चतुर्दश यजूंषि वालखिल्यादेवत्यानि। हे इष्टके, त्वं मूर्धा मूर्धवदुत्तमा राड् राजमाना चासि। हे इष्टके, त्वं ध्रुवा स्थिरा धरुणा धारणहेतुश्चासि। हे इष्टके, त्वं धर्त्री धारणं कुर्वती भूमिरूपा चासि। एवमिष्टकात्रयस्य त्रिलोकीरूपत्वम्। आयुषे त्वा आयुर्वृद्ध्यर्थं त्वामुपदधामि। वर्चसे कान्त्यर्थं त्वामुपदधामि। कृष्यै सस्यनिष्पत्तये त्वामुपदधामि। क्षेमाय सम्पादितधनरक्षणाय त्वामुपदधामि। तदेतत्सर्वं स्पष्टं ब्राह्मणे। तथाहि—

'अथ वालखिल्या उपदधाति। प्राणा वै वालखिल्याः प्राणानेवैतदुपदधाति ता यद् वालखिल्या नाम यद्वा उर्वरयोरसम्भिन्नं भवति खिल इति वै तदाचक्षते वालमात्राद् हेयं प्राणा असम्भिन्नास्ते यद्वालमात्रादसम्भिन्ना-स्तस्माद्वालखिल्याः' (श० ८।३।४।१)। वालखिल्येष्टका विधाय स्तौति—अथ वालखिल्या इति। प्राणत्वमुपरिष्टाद् वक्ष्यते। प्रतिज्ञापूर्वकं नाम निर्ब्रूते—ता यद्वालखिल्या नामेति। तत्प्रकारः प्रदर्श्यत इति शेषः। खिलस्वरूपं तावदाह—यद्वा इति। यदेव खलु क्षेत्रम् उर्वरयोः सर्वसस्याढ्ययोर्द्वयोः क्षेत्रयोरसम्भिन्नमस्पृष्टं भवति, स्वयमसस्यं भवतीत्यर्थः, तत्क्षेत्रं खिल इत्याचक्षते जनाः। 'पलिहर' इति भोजपुरीभाषायाम्। प्रकृते तत्कथमित्यत आह—वालमात्राद्धिति। इमे प्राणा वालमात्राद् व्यवधानादसम्भिन्ना असंस्पृष्टा अत एव खिलाः, खिला एव खिल्याः। यस्मादेवं तस्मात् प्राणा वालखिल्याः। देहे स्थितानां प्राणानां वालमात्रेणापि भेदाभावे देहेन साङ्कर्यं

स्यात्। प्राणानां वालमात्रनाडीव्यवधानं शास्त्रसिद्धम्। 'स वै सप्त पुरस्तादुपदधाति। सप्त पश्चात्तद्याः सप्त पुरस्तादुपदधाति य एवेमे सप्त पुरस्तात् प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ८।३।४।२)। प्रसन्ना कण्डिका। 'अथ याः सप्त पश्चात्। एषामेवैतत्प्राणानामेतान् प्राणान् प्रतिप्रतीन् करोति तस्माद्यदेभिरन्नमत्ति तदेतैरत्येति' (श० ८।३।४।३)। तत्पश्चाद्भागे च सप्त उपदध्यात्। एषामेव पुरस्तादुपधीयमानेष्टकालक्षणसप्तप्राणानामेव एतद् एतेन पश्चादुपधानेन एतान् अधोवर्तिनः प्राणान् प्रतिप्रतीन् प्रतिनिधिरूपान् अथवा प्रतिकूलव्यापारवतः करोति। तेषामूर्ध्वमुखव्यापारः, एषां त्वधोमुख इति प्रातिकूल्यमेव दर्शयति—तस्माद्यदेभिरन्नमत्तीति। एभिः पुरस्ताद्वर्तमानैर्भक्षितमन्नमेतैरधो वर्तमानैरत्येति देहान्मलादिरूपेण अतिक्रमयति, निःसारयतीत्यर्थः। यद्यप्यूर्ध्व-प्राणेष्वेकस्यैवात्तृत्वम्, तथापीतरेषां षण्णां तदनुकूलव्यापारवत्त्वादत्तृत्वमुपचर्यते। एवमधस्तात् प्राणानामप्य-न्नापसारकत्वम्।

'यद्वेव सप्त पुरस्तादुपदधाति। सप्त वा इमे पुरस्तात् प्राणाश्चत्वारि दोर्बाहवाणि शिरो ग्रीवा यदूर्ध्वं नाभेस्तत्सप्तममङ्गेऽङ्गे हि प्राण एते वै सप्त पुरस्तात् प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ८।३।४।४)। इत्थं प्राणात्मना पुरस्तात् पश्चाच्चोपधेयेष्टकाः प्रशस्येदानीं प्राणशब्दस्य विवक्षितमर्थमभिदधत् प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेव सप्त पुरस्तादित्यादिना। के ते पुरस्तात् प्राणा इति तान् दर्शयति—चत्वारि दोर्बाहवाणीति। दोर्द्वयं बाहुद्वयं चेति चत्वार्यङ्गानि। मध्यसन्धेरुपरिभागो दोः, अधोभागो बाहुः, एवं चत्वारि दोर्बाहवाणि, शिरो ग्रीवा चेति द्वे अङ्गे, नाभेरूर्ध्वं यदेकमङ्गं तत्सप्तमम्। सर्वाणि मिलित्वोपरिष्टात् सप्त प्राणाः। नन्वेतान्यङ्गानि भवन्ति, कथमेषां प्राणत्वमिति तत्राह—अङ्गे अङ्गे हि प्राण इति। प्रत्यङ्गं प्राणाभावे तु तत्तदङ्गचेष्टैव नोपपद्यते। 'अथ याः सप्त पश्चात्। सप्त वा इमे पश्चात् प्राणाश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ्नाभेः तत्सप्तममङ्गेऽङ्गे हि प्राण एते वै सप्त पश्चात् प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ८।३।४।५)। पादस्य मध्यसन्धेरुपरिभाग ऊरुः, अधोभागोऽष्ठीवशब्दवाच्यः। द्वे प्रतिष्ठे पादौ नाभेरधोऽङ्गं सप्तमम्। 'मूर्धासि राड्। ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्रीत्येतानेवास्मिन्नेतद् ध्रुवान् प्राणान् यच्छति' (श० ८।३।४।६)। पुरस्तात् पश्चाच्चोपधेयानां मध्ये त्रींस्त्रीन् मन्त्रानुदाहृत्य संगृह्य तात्पर्यमाह—मूर्धासीत्यादिना। उत्तरत्र मूर्धादीनां त्रयाणां भूरादिलोकत्रयरूपेण स्तूयमानत्वान्मूर्धादिभिः शब्दैर्भूरादयो लोका विवक्षिताः। हे इष्टके, त्वं मूर्धासि मूर्धवदुत्कृष्टभूर्लोकरूपासि। मूर्धत्वं भूमेः सर्ववस्त्वाश्रयत्वात्। तथा राड् राजमानासि। हे द्वितीयेष्टके, त्वं ध्रुवा उभयतो लोकसद्भावाद् ध्रुवोऽन्तरिक्षलोकः, तद्रूपासि। तामेव विशिनष्टि—धरुणेति। सर्वस्य पक्ष्यादेरपि धारिका। हे तृतीयेष्टके, त्वं धर्त्र्यसि धरणी चासि। त एते त्रयो मन्त्राः। आयुषे त्वा, वर्चसे त्वा, कृष्यै त्वा, क्षेमाय त्वेति चत्वार आम्नास्यन्ते। ते तु स्पष्टार्थाः। तान् पृथगुदाहृत्य व्याख्यास्यति श्रुतिः। तत्र यन्त्री राड् इति पश्चादुपधेयानां प्रथमो मन्त्रः। एतेषां त्रयाणां स्वर्गादिक्रमणसाधनत्वेन स्तूयमानत्वादिष्टकाः स्वर्गादिरूपेण स्तूयन्ते—हे प्रथमेष्टके, त्वं यन्त्री सर्वस्य नियमयित्री राड् राजमाना, उक्तलक्षणस्वर्गरूपासीत्यर्थः। हे द्वितीयेष्टके, त्वं यमनी विशेषेण नियन्तृरूपा यन्त्री उक्तलक्षणान्तरिक्षरूपासीत्यर्थः। हे तृतीयेष्टके, त्वं ध्रुवा अविचलिता धरित्री सर्वस्य धारिका उक्तलक्षणपृथिवीरूपासीत्यर्थः। अग्रिमेष्टकोपधानमन्त्राश्चत्वारः। इषे त्वा, ऊर्जे त्वा, रय्यै त्वा, पोषाय त्वा—इत्येते उपरिष्टादाम्नास्यन्ते। ते स्पष्टार्थाः। निर्दिष्टानां षण्णां मन्त्राणां तात्पर्यमाह—एतानेवास्मिन्नेतद् ध्रुवान् प्राणान् यच्छतीति। एषु मन्त्रेषु ध्रुवसंशब्दनाद् एतानेव ध्रुवान् लोकान् ध्रुवप्राणात्मकान् कृत्वा अस्मिन् प्रजापतिशरीरात्मके चितिस्वरूपे एतेन मूर्धादिमन्त्रसाध्येष्टकोपधानेन यच्छति स्थापयतीत्यर्थः।

'यद्वेव वालखिल्या उपदधाति । एतद्वै देवा वालखिल्याभिरेवेमाँल्लोकान्त्समयुरितश्चोर्ध्वानमुतश्चार्वाचस्तथैवैतद्यजमानो वालखिल्याभिरेवेमाँल्लोकान्त्संयातीतश्चोर्ध्वानमुतश्चार्वाचः' (श० ८।३।४।७)। प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेव वालखिल्या इत्यादिना । एतद्वै एतत्खलु पुरासीत् । देवाः पुरा वालखिल्याभिरिष्टकाभिरेवेमाँस्त्रींल्लोकान् समयुः सम्यगाप्तवन्तः । केन क्रमेणेत्युच्यते—इतो भूलोकाद् ऊर्ध्वान् अमुतः स्वर्गाद् अर्वाचोऽधस्तनान् इत्यारोहावरोहभेदाद् द्विप्रकारेण समयुरित्यर्थः । शेषं स्पष्टम् । 'मूर्धासि राडितीमं लोकमरोहन् । ध्रुवासि धरुणेत्यन्तरिक्षं लोकं धर्त्र्यसि धरणीत्यमुं लोकमायुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वेति चत्वारश्चतुष्पादाः पशवोऽन्नं पशवस्त एतैश्चतुर्भिश्चतुर्भिश्चतुष्पादैः पशुभिरेतेनान्नेनामुष्मिँल्लोके····प्रतितिष्ठति' (श० ८।३।४।८)। उक्तं प्रकारं विभज्य दर्शयति—मूर्धासीति । एतन्निगदसिद्धम् । पुरस्तादुपधेयेष्टकानां चतुरो मन्त्रानुदाहृत्य तात्पर्यं दर्शयति—आयुषे त्वेत्यादिना । एते चत्वारः पशवश्चतुष्पादाः । ते च अन्नम् । ते देवा एतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतुःसंख्यासाम्येन चतुष्पादयुक्तैः पशुभिस्तद्रूपेणैतेनामुष्मिन् भूरादिक्रमेणारूढे स्वर्गे प्रतिष्ठिता अभूवन् । एवं पूर्वोक्तास्त्रयो मन्त्राः क्रमेण लोकत्रयाक्रमणस्थानीयाः, उपरितनाश्चत्वार आक्रान्तवतां देवानामन्नस्थानीया इति सिद्धा पुरस्तादुपधेयानां वालखिल्यानां स्तुतिः । 'स स पराङिव रोहः । इयमु वै प्रतिष्ठा ते देवा इमां प्रतिष्ठामभिप्रत्यायंस्तथैवैतद्यजमान इमां प्रतिष्ठामभिप्रत्यैति' (श० ८।३।४।९)। पश्चाद्वालखिल्याप्रसञ्जनार्थमाह—स स पराङिवेति । लोकानां त्रित्वेन तदारोहस्यापि त्रित्वात् तदपेक्ष्य स स इति वीप्सा । पराङिव पुनरावृत्तिरिव इयम् । ननु स्वर्गेऽपि प्रतिष्ठानं किं न स्यात् ? इत्यत आह—इयमु वै प्रतिष्ठेति । सुकृतक्षये पुनर्भूलोके पतनात् । अस्याः प्रतिष्ठात्वं तु सर्वजीवाश्रयत्वात् । यस्मादेवं तस्माद्देवाः स्वर्गं प्राप्ताः सन्तोऽपीमां प्रतिष्ठां भुवमभिलक्ष्य प्रत्यायन् प्रतिमुखं प्राप्ताः । 'यन्त्री राडित्यमुं लोकमरोहन् । यन्त्र्यसि यमनीत्यन्तरिक्षलोकं ध्रुवासि धरित्रीतीमं लोकमिषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वेति चत्वारश्चतुष्पादा····' (श० ८।३।४।१०)। प्रतिगतिप्रकारं विभज्य दर्शयति—यन्त्री राडित्यमुं लोकमित्यादिना । एवमुत्तरांश्चतुरो मन्त्रान् प्रदर्शयन् भुवः प्रतिष्ठात्वमन्नत्वेन स्तौति—इषे त्वेत्यादिना ।

अध्यात्मपक्षे—हे चिते, त्वं मूर्धासि मूर्धवत् सर्वोत्कृष्टासि । राड् राजमानासि, अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षस्य व्यवहारायोग्यत्वात् । ध्रुवासि कूटस्थासि । धरुणासि धरित्री असि, सर्वाधिष्ठानरूपत्वात् । त्वं धर्त्री धारणं कुर्वती धरित्रीरूपासि । आयुषे आयुर्वृद्धयर्थं वर्चसे कान्त्यर्थं कृष्यै सस्यादिनिष्पत्तये, क्षेमाय प्राप्तज्ञान-ध्यान-योग-लक्ष्म्यादिरक्षायै च त्वामुपाश्रये । 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥' (भा० पु० २।३।१०) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनात् ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं सूर्यवन्मूर्धासि राडिव ध्रुवासि स्वकक्षायां गच्छन्त्यपि निश्चलासि । धरुणा धरणीव धर्त्र्यसि । तामायुषे त्वां वर्चसे त्वां कृष्यै त्वां क्षेमाय त्वामहं परिगृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आयुरादीनां तदनधीनत्वात् । नहि कृषिकर्मण्यपि तदुपयोगः, हलबलीवर्दादिभिरन्यथासिद्धत्वात् ॥ २१ ॥

यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री । इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा लोकं ता इन्द्रम् ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे वालखिल्ये ! तुम नियम से युक्त विराजमान हो, इस स्थान में विराजमान हो, स्वयं नियम में रहती हुई सबको नियमित करने वाली हो, स्थिर धरणी भूमि रूप हो । हे वालखिल्ये ! अन्न की प्राप्ति के निमित्त, बल की प्राप्ति के निमित्त, धन की प्राप्ति के निमित्त और धन की पुष्टि के निमित्त तुमको स्थापित करता हूँ ॥ २२ ॥

हे इष्टके, त्वं यन्त्री नियमोपेता राड् राजमानासि। तथा स्वयमपि यन्त्री सती यमनी सर्वेषां नियमनकारिणी असि भवसि। ध्रुवा स्थिरा सती धरित्री भूमिरूपा चासि। अत्र पूर्वस्यां कण्डिकायां वर्णितो ब्राह्मणोक्तोऽर्थोऽनुसन्धेयः। हे इष्टके, इषेऽन्नाय त्वामुपदधामि। ऊर्जे बलाय त्वामुपदधामि। रय्यै धनाय त्वामुपदधामि। पोषाय धनपुष्ट्यै त्वामुपदधामि। चतसृणां पूर्वोक्तब्राह्मणानुसारेण पशुरूपेण संस्तवः। 'उत्तराश्रोणेरधि लोकम्पृणाः पूर्ववत्' (का० श्रौ० १७।९।१५)। तत उत्तरश्रोणेरारभ्य प्रदक्षिणं पूर्वानूकान्तं यावत् प्रथमचित्युक्तप्रकारेण लोकम्पृणा उपदध्यात्, ततः प्रत्यागत्य प्रागनूकस्य दक्षिणत आरभ्योत्तरश्रोण्यक्ष्णयादेशपर्यन्तं लोकम्पृणाशेषमुपदध्यात्। ततो दक्षिणपक्षपुच्छोत्तरपक्षेष्विति सूत्रार्थः। ततः पुरीषनिर्वापोपस्थाने। लोकम्, ता, इन्द्रम् इति तिस्र ऋचः प्रतीकगृहीताः—'लोकम्पृण छिद्रम्पृण' (वा० सं० १२।५४), 'ता अस्य' (वा० सं० १२।५५), 'इन्द्रं विश्वा' (वा० सं० १२।५६) इति। तत्र लोकम्पृणेत्यनया लोकम्पृणा उपदध्यात्। ता अस्येति सूददोहःसंज्ञकया अधिवदनं स्पृष्ट्वा पठनम्। 'इन्द्रं विश्वा' इति मन्त्रेण स्वयमातृण्णोपरि मृत्क्षेप इति पूर्वं व्याख्यातमनुसन्धेयम्।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथ याः सप्त पश्चात्। य एवेमे सप्त पश्चात्प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति ता अनन्तर्हिता एताभ्यो द्वादशभ्य उपदधात्यनन्तर्हितांस्तदात्मनः प्राणान् दधाति स एष वायुः प्रजापतिरस्मिंस्त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षे समन्तं पर्यक्तस्तद्यत्तृतीयां चितिमुपदधाति वायुं चैव तदन्तरिक्षं च संस्कृत्योपधत्तेऽथ लोकम्पृणे उपदधात्यस्यां स्रक्त्यां तयोरुपरि बन्धुः पुरीषं निवपति तस्योपरि बन्धुः' (श० ८।३।४।१५)। एवमेव 'अथ याः सप्त पश्चात्' इत्युत्तरवाक्यमपि व्याख्येयम्। सप्त पश्चात् प्राणाः 'चत्वार्युर्वष्ठीवानि' इत्यादिनोक्ताः। एताभ्यो द्वादशभ्य इति। मध्यत उपधेयाभ्यश्छन्दस्याभ्योऽनन्तर्हिता उपदध्यात्। स एषः प्राणभृदादिवालखिल्यान्त इष्टकारूपः प्राणशरीरवान् प्रजापतिरस्मिन् स्वयमातृण्णाद्युतव्यान्तैकादशेष्टकारूपे त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षे समन्तं पर्यक्तः परिव्याप्तो वर्तते। तत् तस्मादिमां तृतीयां चितिमुपदधातीति यत्, तत् तेनोपधानेन वायुं चान्तरिक्षं च संस्कृत्योपहितवान् भवति। अथ लोकम्पृणे इति द्वे इष्टके उपदधाति। तयोर्ब्राह्मणमुपरि वक्ष्यते—'असौ वा आदित्यो लोकम्पृणा इति' (श० ८।७।२।१)। अथ पुरीषं निवपति। एतस्यापि ब्राह्मणमुत्तरत्र वक्ष्यत इत्यतिदिशति—तस्योपरि बन्धुरिति। 'असौ वा····अन्नं वै पुरीषम्' (श० ८।७।३।१-२) इत्यादिना वक्ष्यत इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे चिद्रूपे भगवति, त्वं यन्त्री नियन्त्री सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य नियामिकासि राड् राजमानासि। त्वं यन्त्री सती स्वयं नियमवती सती सर्वेषां यमयित्री ध्रुवा सती धरित्री भूमिरूपा चासि। इषे वृष्ट्यै त्वा ऊर्जे बलाय रसाय च रय्यै धनलाभाय च पोषाय धनशरीरादिपुष्ट्यै च त्वामुपाश्रये। त्वां लोकं भोगरूपां ता इष्टकारूपामिन्द्रं परमात्मरूपां च त्वामुपाश्रये।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं यन्त्री राड् यन्त्री भूमिरिवासि। यमनी ध्रुवा धरित्र्यसि। इषे इच्छासिद्धये ऊर्जे पराक्रमप्राप्तये पोषाय चाहं त्वां स्वीकरोमि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रीमात्रात्तदसिद्धेः॥ २२॥

आ॒शुस्त्रि॒वृद् भा॒न्तः प॑ञ्चद॒शो व्यो॑मा सप्तद॒शो ध॒रुण॑ एकवि॒ꣳशः प्रतू॑र्तिरष्टाद॒शस्तपो॑ नवद॒शो॒ऽभीव॒र्तः स॑वि॒ꣳशो वर्चो॑ द्वावि॒ꣳशः स॒म्भर॑णस्त्रयोवि॒ꣳशो योनि॑श्चतुर्वि॒ꣳशो गर्भाः॑ पञ्चवि॒ꣳश ओज॑स्त्रिण॒वः क्रतु॑रेकस्त्रि॒ꣳशः प्र॑ति॒ष्ठा त्र॑यस्त्रि॒ꣳशो ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टप॑ञ्चतुस्त्रि॒ꣳशो नाकः॑ षट्त्रि॒ꣳशो वि॑व॒र्तो॒ऽष्टाचत्वारि॒ꣳशो ध॒र्त्रं च॑तुष्टो॒मः॥ २३॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! त्रिवृत् स्तोम तथा त्रिलोक में व्याप्त वायु देवता का ध्यान करते हुए त्रिवृत् आशु रूप तुमको मैं इस स्थान में स्थापित करता हूँ। पन्द्रह दिन में ह्रास और वृद्धि को पाने वाले पंचदश कला के अधिपति चन्द्रज्योति को नमन करते हुए तुम्हारा सादन करता हूँ। अनेक प्रकार से रक्षा करने वाले प्रजापति सप्तदश स्तोम रूप हैं। धारणकर्ता प्रतिष्ठारूप एकविंश स्तोम है। संवत्सर बारह महीना, पाँच ऋतु और एक वर्ष को मिलाकर अठारह अवयव वाला है। नवदश स्तोम तपोरूप है। सविंश स्तोम समावृत्ति रूप है। द्वाविंश स्तोम विशेष बल देने वाला है। त्रयोविंश स्तोम सम्यक् पुष्टि को देनेवाला है। चतुर्विंश स्तोम प्रजा का उत्पादक है। पंचविंश स्तोम सामगर्भ है। त्रिणव स्तोम तेज को देने वाला है। एकत्रिंश स्तोम यज्ञ के लिये उपयोगी है। त्रयस्त्रिंश स्तोम स्थिति का कारण है। चतुस्त्रिंश स्तोम सूर्य का स्वाराज्य निवासस्थान है। षट्त्रिंश स्तोम स्वर्ग को देने वाला है। अष्टाचत्वारिंश स्तोम साम के आवर्तनों से युक्त है और धारक होने से त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश, एकविंश – इन चार स्तोमों का समूहरूप है ॥२३॥

'उत्तरां पूर्वयोराशुस्त्रिवृदिति' (का० श्रौ० १७।१०।६)। पूर्वयोः पूर्वानुक्रान्तविहितयोर्दक्षिणोत्तरयोर्मध्ये उत्तरां जङ्घामात्रीमुदङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। अस्यां कण्डिकायामष्टादश यजूंषि। तत्र चतुर्णां मृत्युमोहिन्युपधाने विनियोगः, प्रतूर्तिरित्यादीनां चतुर्दशानां चार्धपद्योपधाने। चतुर्थीं चितिमृषयोऽपश्यन्। हे इष्टके, त्वं त्रिवृत् स्तोमरूपासि। अत्र त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशादिशब्दाः स्तोमविशेषवाचिनः। स्तोमाश्च त्रिवृतस्त्रिष्वस्य साम्न आवृत्तिभेदान्निष्पद्यन्ते। आवृत्तिप्रकारस्तु एकादशाध्याये पूर्वमुक्त एव। एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंशाख्या आपस्तोमाः सामब्राह्मणे पठिताः। अष्टादशनवदशादयस्तु तेनैव न्यायेनोन्नेयाः। आवृत्तिप्रकारः सामसूत्रतोऽवगन्तव्यः। यद्वा—आशुर्वायुः, अश्नुते व्याप्नोति सर्वान् स्तोमान् सर्वांल्लोकान् वेत्याशुः। 'अशूङ् व्याप्तौ'। स हि त्रिवृत् त्रिषु लोकेषु वर्तत इति। क्विप्। सर्वभूतव्यापकत्वादाशुर्वायुः। त्वं तद्रूपासि। 'दक्षिणां दक्षिणयोर्भान्तः पञ्चदश इति' (का० श्रौ० १७।१०।८)। दक्षिणानुक्रान्तविहितयोर्दक्षिणोत्तरपद्ययोर्मध्ये भान्त इति मन्त्रेण दक्षिणां पद्यां प्रत्यङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। भान्तो वज्ररूपो यः पञ्चदशः स्तोमः, हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। यद्वा भान्तश्चन्द्रः पञ्चदशाहानि पूर्यमाणत्वात् पञ्चदशाहानि क्षीयमाणत्वात् पञ्चदशः। भा कान्तिरेव अन्तः स्वरूपं यस्यासौ। हे इष्टके त्वं तद्रूपासि। दक्षिणामुत्तरयोर्व्योमा सप्तदश इति' (का० श्रौ० १७।१०।९)। उत्तरानुक्रान्तविहितयोर्दक्षिणोत्तरपद्ययोर्मध्ये दक्षिणां पद्यां व्योमेति मन्त्रेण प्रत्यङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। व्योमा विविधमवतीति प्रजापतिः सप्तदशः स्तोमः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। 'दक्षिणामपरयोर्धरुण एकविᳬंश इति' (का० श्रौ० १७।१०।७)। अपरानुक्रान्तविहितयोर्दक्षिणोत्तरयोर्मध्ये दक्षिणां जङ्घामात्रीं धरुण इति मन्त्रेण दक्षिणामुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। धरुणो धारकः, प्रतिष्ठाभूत एकविंशः स्तोमः। यद्वा धरुण आदित्यः। स एकविंशावयवत्वाद् एकविंशः। द्वादशमासाः, पञ्चर्तवः, त्रयो लोकाः, आदित्य इत्यवयवाः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। 'चतुर्दश प्रतिमन्त्रं प्रतूर्तिरष्टादश इति' (का० श्रौ० १७।१०।१०)। चतस्र उपधाय चतुर्दश अर्धपद्या उदङ्मुख उपदध्याच्चतुर्दशमन्त्रैरिति सूत्रार्थः।

अतः परं संवत्सररूपाण्युपदधाति। प्रतूर्तिः प्रकृष्टा तूर्तिस्त्वरा यस्य स अष्टादशः स्तोमः। यद्वा संवत्सरः प्रतूर्तिः, स ह्यष्टादशावयवः। द्वादशमासाः पञ्चर्तवः संवत्सरश्चेत्यवयवाः। तद्रूपां त्वामुपदधामीत्यर्थः। तपस्तपोरूपो नवदशः स्तोमः। यद्वा संवत्सर एव तपः। स हि शीतोष्णवर्षैस्तपतीति। स खलु नवदशः। द्वादश मासाः षडृतवः संवत्सर इति। हे इष्टके त्वं तद्रूपासि। अभीवर्तः, अभिवर्त्यत आवर्त्यत इत्यभीवर्तः, आवृत्तिरूपः सविंशः स्तोमः। यद्वा—अभिवर्तयत्यावर्तयति सर्वाणि भूतानीत्यभीवर्तः संवत्सरः। स च द्वादशमास-सप्तर्तु-संवत्सररूपविंशतिसंख्यया सहितः। अत एव सविंशः। हे इष्टके, तद्रूपां त्वामुपदधामि। वर्चो बलविशेषप्रदो

द्वाविंशः स्तोमः। यद्वा वर्चः संवत्सरो वर्चस्वितमः, द्वादश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सरश्चेति द्वाविंशतिसंख्योपेतत्वाद् द्वाविंशः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। तद्रूपां त्वामुपदधामि। सम्भरणः सम्यग् बिभर्ति पोषयतीति त्रयोविंशः स्तोमः। सम्भरत्युत्पादयति संहरति विनाशयतीति वा सम्भरणः संवत्सरः। त्रयोदश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे एकः संवत्सर इति त्रयोविंशावयवः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। योनिः प्रजोत्पादकश्चतुर्विंशः स्तोमोऽसि। यद्वा योनिः सर्वस्थानभूतः संवत्सरश्चतुर्विंशतिपक्षात्मकः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। गर्भाः, व्यत्ययेन बहुत्वम्। सामगर्भः पञ्चविंशः स्तोमोऽसि। यद्वा गर्भः संवत्सरः, भूतोत्पादकत्वाच्चतुर्विंशतिः पक्षा एकः संवत्सर इति। अधिकमासो भूत्वा ऋतुषु गर्भो भवतीति वा। ओज ओजस्वी, तेजस्वी। मतुब्लोपः। वज्रो वा ओजः, तद्रूपस्त्रिणवः स्तोमोऽसि। यद्वा ओजः संवत्सरश्चतुर्विंशतिः पक्षाः, अहोरात्रे द्वे, संवत्सरश्चेति त्रिणवः त्रिरावृत्ता नव यत्रासौ। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। क्रतुः करोति सर्वाणि भूतानीति क्रतुः। यज्ञोपयोगी एकत्रिंशः स्तोमोऽसि। यद्वा संवत्सर एव क्रतुः, स हि पक्षर्तुसंवत्सरात्मकत्वादेकत्रिंशः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। प्रविष्ठा प्रतितिष्ठत्यनेनेति प्रतिष्ठा स्थितिहेतुस्त्रयस्त्रिंशः स्तोमोऽसि। यद्वा संवत्सर एव प्रतिष्ठा, संवत्सरे सर्वस्य प्रतिष्ठितत्वात्, पक्षर्त्वहोरात्रसंवत्सरात्मकत्वात्। स हि त्रयस्त्रिंशः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। ब्रध्नस्य बध्नाति तिमिरमिति ब्रध्नः सूर्यस्तस्य विष्टपं निवासस्थानम्। 'जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' (अ० को० २।१।६) इत्यमरकोषात्। ब्रध्नस्य विष्टपं स्वाराज्यं स्वतन्त्रत्वं तद्रूपस्तत्प्रदो यश्चतुस्त्रिंशः स्तोमस्तद्रूपासि। यद्वा संवत्सरो ब्रध्नस्य विष्टपम्, रविणैव कालनिर्माणात्। चतुर्विंशतिपक्षसप्तर्त्वहोरात्रसंवत्सरात्मकत्वाच्चतुस्त्रिंशः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। नाकः स्वर्गः, अर्थात् स्वर्गप्रदः 'स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' (अ० को० १।१।६) इति कोषात्। षट्त्रिंशः स्तोमोऽसि। संवत्सरो वा नाकः। काम्यते सर्वैरिति कं सुखं न कमकं दुःखं तन्नास्ति यत्रासौ नाकः। तद्रूपो यः षट्त्रिंशः स्तोमः। संवत्सरो हि पक्षमासात्मकत्वात् षट्त्रिंशः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। विवर्तः, विवर्त्यन्त आवर्त्यन्ते सामानि यत्रेति विवर्तः, अष्टाचत्वारिंशः स्तोमः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। यद्वा संवत्सरो विवर्तः, विविधं वर्तन्ते भूतानि यत्रेति। स ह्यधिमासत्वेन षड्विंशतिः पक्षाः सप्तर्तवस्त्रयोदश मासा द्वे अहोरात्रे इत्यष्टाचत्वारिंशः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। धर्त्रं धारकः, चतुष्टोमश्चतुरुत्तरः स्तोमश्चतुष्टोमः। मध्यमपदलोपी समासः। त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशैकविंशानां समूहः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। अथवा धर्त्रं वायुः, जगदाधारत्वात्। स एव चतुर्दिग्भिः स्तूयमानत्वाच्चतुष्टोमः। आदावन्ते च वायूपधानेन वायुना सर्वभूतानि वशीकरोतीति भावः। एतैरष्टादशमन्त्रैः स्तोमवादिभिः स्तोमरूपत्वं नीता अष्टादशेष्टका उपधेया इत्यर्थ इति महीधराचार्यः।

श्रीमदुव्वटाचार्यस्तु—अथो वायुर्वा आशुः शीघ्रः, त्रिवृत् त्रिलोकसञ्चारी। भान्तः पञ्चदशः, चन्द्रमा उच्यते। स हि भाति च पञ्चदशाहान्यापूर्यते चापक्षीयते च। व्योमा सप्तदशः संवत्सर उक्तः। स हि विविधमवति प्राणिनः सप्तदशावयवश्च। धरुण एकविंश आदित्यः स्तोमो वोच्यते। प्रतूर्तिः संवत्सरः। स हि सर्वाणि भूतानि प्रतिरति प्रवर्धयति। तपः संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तपति शीतोष्णवर्षैः। अभीवर्तः संवत्सरो हि सर्वाणि भूतान्यभिवर्तते। तेनाभिवृत्तेन हि ऋतुलिङ्गानि भूतेषु दृश्यन्ते। वर्च इति। 'संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां वर्चस्वितमः' (श० ८।४।१।१६) इति ब्रुवन्ती श्रुतिर्मतुब्लोपं दर्शयति। वर्चो वर्चस्वी महाभाग्यवान् संवत्सरः। संभरणः संवत्सरः। संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि सम्भरत्युत्पादयति संहरति वा विनाशयतीति। गर्भः संवत्सरस्त्रयोदशमास इहोच्यते। स च गर्भो भूत्वा ऋतून् प्रविशति। कथं पुनस्त्रयोदशो मास ऋतून् प्रविशति? उच्यते—साग्रैरेकोनमासाहोरात्रैश्चन्द्रो द्वादशराशीन् विभ्रमति। आदित्यस्तु किञ्चिन्न्यूनैरेकषष्टिदिवसै राशिद्वयमतिक्रामति। स कालः सौर ऋतुर्भवति। तैश्च षड्भिः सौरैर्ऋतुभिः

संवत्सरो भवति। ततश्च एकस्मिन्नृतौ सौरचान्द्रौ मासौ भवतः, तिथिद्वयं चान्द्रमासादतिरिच्यते। एवं षड् ऋतुषु द्वादश तिथयः प्रविशन्ति। अपरेषु षट्स्वपरा द्वादश। अपरेषु त्रिषु षट्तिथयः। स एषोऽर्धतृतीयेषु संवत्सरेषु चान्द्रो मासः प्रविशति। स एवाधिमासः, स एव त्रयोदशो मासः सौरान् ऋतून् द्वाभ्यां तिथिभ्यां प्रविशतीति। अत्रावधेयम्—त्रयोदशस्य मासस्य कस्मिन्नप्येकस्मिन् ऋतौ प्रवेशो न नियन्तुं शक्यः। अतः षट्सु ऋतुषु न तस्यान्तर्भावः। किन्तु षडतिरिक्तः सप्तमः कश्चन ऋतुरङ्गीकरणीयः। तथा चाह श्रुतिः—'द्वादशमासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सरः' (श० ८।४।१।१६) इति। कालगणनायामृतूनामपि समावेशमाह भीष्मः—

कलाः काष्ठाश्च युज्यन्ते मुहूर्ताश्च दिनानि च। अर्धमासाश्च मासाश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा॥
ऋतवश्चापि युज्यन्ते तथा संवत्सरा अपि। एवं कालविभागेन कालचक्रं प्रवर्तते॥

(म० भा०, विराट० ५२।१-२)

अत्र ब्राह्मणम्—'चतुर्थीं चितिमुपदधाति। एतद्वै देवास्तृतीयां चितिं चित्वा समारोहन्नन्तरिक्षं वै तृतीया चितिरन्तरिक्षमेव तत्संस्कृत्य समारोहन्' (श० ८।४।१।१)। चतुर्थचित्या उपधानं विधाय स्तौति—चतुर्थीं चितिमित्यादिना। अन्तरिक्षादूर्ध्वं दिवोऽर्वाचीनं यत्स्थानं तच्चतुर्थी चितिः। 'ते ब्रह्माब्रुवन्। त्वामिहोपदधामहा इति किं मे ततो भविष्यतीति त्वमेव नः श्रेष्ठं भविष्यसीति तथेति तेऽत्र ब्रह्मोपादधत तस्मादाहुर्ब्रह्मैव देवानाꣳ श्रेष्ठमिति तदेतया वै चतुर्थ्या चित्येमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे ब्रह्म वै चतुर्थी चितिस्तस्मादाहुर्ब्रह्मणा द्यावापृथिवी विष्टब्धे इति स्तोमानुपदधाति प्राणा वै स्तोमाः प्राणा उ वै ब्रह्म ब्रह्मैवैतदुपदधाति' (श० ८।४।१।३)। ते देवा ब्रह्माख्यां देवतामब्रुवन् त्वामिहोपदधामहा इति। तान् ब्रह्म किं तेन मे भविष्यतीत्यब्रवीत्। ते देवास्त्वमेव श्रेष्ठं भविष्यतीत्यब्रुवन्। तथेति चोक्तास्ते ब्रह्मैवात्रोपादधत। तस्माद् वेदविदो वदन्ति ब्रह्मैव देवानां श्रेष्ठमिति। तत् तस्मात् परिवृढस्य ब्रह्मण उपहितत्वादेतया चतुर्थ्या चित्या इमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे विशेषेण धृते। चतुर्थ्याश्चित्या विष्टम्भकारणमाह—ब्रह्म वै चतुर्थी चितिरिति। स्तोमसंज्ञका इष्टका विधाय ब्रह्मात्मना स्तौति—प्राणा वै स्तोमा इति। त्रिवृत्स्तोमस्य वायुत्वेन स्तूयमानत्वाद् वायोश्च प्राणत्वात् तत्प्राधान्येन सर्वेऽपि स्तोमाः प्राणा इत्युच्यन्ते। ते च प्राणा ब्रह्मैव, तदधिष्ठितत्वात्। अतस्तेनोपधानेन साक्षाद् ब्रह्मैवोपदधाति। 'यद्वेव स्तोमानुपदधाति। एतद्वै देवाः प्रजापतिमब्रुवंस्त्वामिहोपदधामहा इति तथेति स वै नाब्रवीत्किं मे ततो भविष्यतीति यदु ह किञ्च प्रजापतिर्देवेष्वीषे किमस्माकं ततो भविष्यतीत्येवोचुस्तस्मादु हैतद्यत्पिता पुत्रेष्विच्छते किमस्माकं ततो भविष्यतीत्येवाहुरथ यत्पुत्राः पितरि तथेत्येवाहैवꣳ हि तदग्रे प्रजापतिश्च देवाश्च समवदन्त स्तोमानुपदधाति प्राणा वै स्तोमाः प्राणा उ वै प्रजापतिः प्रजापतिमेवैतदुपदधाति' (श० ८।४।१।४)। पुनः प्रजापत्यात्मना स्तौति—यद्वेवेत्यादिना। पुरा देवाः प्रजापतिं चतुर्थचिता उपदधामहा इत्यब्रुवन्। स तु तथैवाङ्गीचकार ब्रह्मवत् किं मे ततो भविष्यतीति नोवाच। तदमुमर्थं लौकिकपितृपुत्रव्यवहारप्रदर्शनपूर्वकमुपपादयति—स वै नाब्रवीदित्यादिना। यदेव किञ्चित् फलं प्रजापतिर्देवानधिकृत्य ऐच्छत्, तदा देवाः किमस्माकं ततो भविष्यतीत्येवोचुः। तस्मादेव कारणाद् इदानीमपि पिता पुत्रेषु कार्यमिच्छते यदि किञ्चित्फलमिच्छति तदा स्वकर्तव्यप्रतिनिधित्वे किमस्माकं ततो भविष्यतीत्येव पुत्रा ब्रूयुः। अथ यत्पुत्राः पितरि इच्छेयुस्तर्हि तथैवेत्याह। पिता हि पुत्रार्थं कस्मिन्नपि फले साध्ये सति तथैवेत्यङ्गीकुर्यात्, किं ततः स्यादिति न ब्रूयादित्यर्थः। शेषं स्पष्टम्। अङ्गाङ्गिनोरभेदात् प्राण एव प्रजापतिः। अतः स्तोमोपधानेन प्रजापतिमेवोपदधाति।

'ये वै ते प्राणा ऋषय एतां चतुर्थीं चितिमपश्यन् ये त एतेन रसेनोपायंस्त एते तानेवैतदुपदधाति स्तोमानुपदधाति प्राणा वै स्तोमाः प्राणा उ वा ऋषय ऋषीनेवैतदुपदधाति' (श० ८।४।१।५)। ये प्राणाख्या ऋषय एतां चतुर्थीं चितिमपश्यन्। एते चितिद्रष्टार ऋषयः प्राणाः। एतेन रसेन चतुर्थचित्यात्मना दृष्टेन सारेण उपायन्। ते प्रजापत्यात्मकतां प्राप्ता एव एते प्रसिद्धाः प्राणा इत्यर्थः। तानेव चितिरसाभिज्ञान् प्राणानेवोपदधाति। उक्तमृषित्वमुपजीव्य पुनः स्तौति—प्राणा उ वा ऋषय इति। स्तोमदर्शनाद् ऋषयः प्राणाः। 'यद्वेव स्तोमानुपदधाति। प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तस्य यदूर्ध्वं मध्यादवाचीनꣳ शीर्ष्णस्तदस्य वायुरादायोत्क्रम्यातिष्ठद्देवताश्च भूत्वा संवत्सररूपाणि च' (श० ८।४।१।६)। पुनर्विस्रस्तप्रजापत्यवयवप्रतिसन्धानरूपतया प्रशंसति—यद्वेवेत्यादिना। पितुः प्रजापतेः सर्वपुत्रसाधारणद्रव्यत्वाद् इतरदेवतावद् वायुरपि प्रजापतेर्मध्यभागशिरोभागयोर्मध्यदेशमादाय देवताश्च संवत्सररूपाणि च भूत्वा उत्क्रम्य अतिष्ठत्। 'तमब्रवीत्। उप मेहि प्रति म एतद्धेहि येन मे त्वमुदक्रमीरिति किं मे ततो भविष्यतीति त्वद्देवत्यमेव म एतदात्मनो भविष्यतीति तथेति तदस्मिन्नेतद्वायुः प्रत्यदधात्' (श० ८।४।१।७)। अथ तं वायुं प्रजापतिरब्रवीत्। मा माम् उपेहि मदीयमेतदङ्गं यत्त्वयापहृतं तत् प्रतिधेहि। येन मे अङ्गेन सह त्वमुदक्रमीः उत्क्रम्य गतवानसि। किं मे तत इति वायुनोक्ते त्वद्देवत्यमेतदङ्गं भविष्यतीति प्रजापतिरुवाच। तथेत्युक्त्वा वायुस्तदङ्गं प्रत्यदधात्। 'तद्या एता अष्टादश प्रथमाः। एतदस्य तदात्मनः....' (श० ८।४।१।८)। प्रतिहितो भागः क इति तं दर्शयति—तद्या इत्यादिना। प्रथमम् 'आशुस्त्रिवृत्' इत्यादि मन्त्रैरुपधेया या अष्टादशसंख्याकाः स्तोमेष्टकाः सन्ति, एतदेव तदङ्गमित्यर्थः। 'स पुरस्तादुपदधाति। आशुस्त्रिवृदिति य एष त्रिवृत्स्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाहाशुरित्येष हि स्तोमानामाशिष्ठोऽथो वायुर्वा आशुस्त्रिषुवृत् स एष त्रिषु लोकेषु वर्तते तद्यत्तमाहाशुरित्येष हि सर्वेषामाशिष्ठो वायुर्ह भूत्वा पुरस्तात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।९)। उपधानमनूद्य मन्त्रान् विधाय व्याचष्टे—स पुरस्तादित्यादिना। आशुस्त्रिवृदिति मन्त्रसाध्येष्टकोपधानेन य एव त्रिवृदाख्यः 'तिसृभ्यो हिङ्करोति' इत्याद्युक्तलक्षणः स्तोमोऽस्ति, तमेव तत्रोपदधाति। एवं पञ्चदशस्तोमादिष्वपि योज्यम्। त्रिवृतो यद्विशेषणमाशुरिति तद् व्याचष्टे—तद्यत्तमाहेति। तत् तत्र यद् येनाभिप्रायेण तं त्रिवृत्स्तोमम् आशुरित्याह मन्त्रः, सोऽभिप्रायोऽभिधीयत इत्यर्थः। एष हि त्रिवृत्स्तोमः खलु स्तोमानां पञ्चदशादीनां मध्ये आशिष्ठोऽतिशयेन आशुः, ऋचां नवकरूपेण शीघ्रं समाप्तेः। प्रकारान्तरेण मन्त्रं व्याचष्टे—अथो वायुर्वा आशुस्त्रिवृदिति। स च त्रिषु लोकेषु वर्तमानस्त्रिवृत्। अस्तु त्रिवृद् वायुः, तस्य आशुत्वविशेषणं कथमिति तदुपपादयति—त द्यत्तमाहेत्यादिना। अस्तु व्युत्पत्त्या वायुराशुस्त्रिवृत्, तथापि तस्य चितिसम्बन्धः कथमिति तत्राह—वायुर्ह भूत्वेत्यादि। पुरा त्रिवृत्स्तोमो वायुर्भूत्वा पूर्वस्यां दिशि देवानां चयनानुष्ठानसमये तस्थौ स्थितवान्। तदेव वायुरूपं पुरस्ताद्देशे उपदधाति यजमानः।

'भान्तः पञ्चदश इति। य एव पञ्चदशस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह भान्त इति वज्रो वै भान्तो वज्रः पञ्चदशोऽथो चन्द्रमा वै भान्तः पञ्चदशः स च पञ्चदशाहान्यापूर्यते पञ्चदशापक्षीयते तद्यत्तमाह भान्त इति भाति हि चन्द्रमाश्चन्द्रमा ह भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१०)। दक्षिणत उपधेयद्वितीयेष्टकामन्त्रं व्याचष्टे—भान्त पञ्चदश इति। मन्त्रेण द्वितीयामिष्टकामुपदध्यात्। सप्तदशादिस्तोमाश्च सामब्राह्मणे तत्सूत्रे च द्रष्टव्याः। पञ्चदशस्तोमेष्टकोपधानेन साक्षात्तं स्तोममेवोपदधाति। भान्त इति पञ्चदशस्तोमविशेषणम्। विशेषणविशेष्ययोः सामानाधिकरण्याय एकार्थपरतामाह—वज्रो वै भान्तो वज्रः पञ्चदश इति। मन्त्रस्यार्थान्तरमाह—अथो चन्द्रमा वै भान्तः पञ्चदश इति। पञ्चदशस्तोमस्य यथा स्तोत्रीयागत-

पञ्चदशसंख्यासम्बन्धः, एवं पञ्चदशशब्दाभिधेयस्य चन्द्रमसोऽपि पञ्चदशसंख्यायोगमाह—स च पञ्चदशाहान्यापूर्यत इत्यादि। सर्वजनदृश्योऽयमर्थः। उपचयापचयकालावच्छेदकत्वेन पञ्चदशानामह्नां सम्बन्धाच्चन्द्रोऽपि पञ्चदश उच्यते। एवं भान्तशब्दस्यापि चन्द्रे प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति—भाति हि चन्द्रमा इति। भाति दीप्यत इति भान्तश्चन्द्रः। 'दक्षिणतस्तस्थौ' इति लिङ्गादनेन मन्त्रेण दक्षिणत उपदध्यादित्यर्थः। एवमेवोत्तरतः पश्चादित्यनयोरपि वाक्ययोरभिप्रायः। 'व्योमा सप्तदश इति। य एव सप्तदशस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह व्योमेति प्रजापतिर्वै व्योमा प्रजापतिः सप्तदशोऽथो संवत्सरो वाव व्योमा सप्तदशस्तस्य द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्तद्यत्तमाह व्योमेति व्योमा हि संवत्सरः संवत्सरो ह भूत्वोत्तरतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।११)। उत्तरत्रोपधेयेष्टकामन्त्रः—व्योमा सप्तदश इति। तत्र उभे अपि विशेष्यविशेषणे एकार्थवृत्तित्वप्रदर्शनाय प्रजापतिमेव ब्रूत इत्याह—प्रजापतिर्वै व्योमेति। विशेषेणावति सर्वमिति व्योमा। प्रजापतिः सप्तदश इति। सप्तदशत्वं स्पष्टयति—द्वादश मासाः पञ्चर्तव इति।

'धरुण एकवि꣡ꣳश इति। य एव एकवि꣡ꣳशस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह धरुण इति प्रतिष्ठा वै धरुणः प्रतिष्ठैकवि꣡ꣳशोऽथो असौ वा आदित्यो धरुण एकवि꣡ꣳशस्तस्य द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावेवादित्यो धरुण एकवि꣡ꣳशस्तद्यत्तमाह धरुण इति यदा ह्येवैषोऽस्तमेत्यथेद꣡ꣳ सर्वं ध्रियत आदित्यो ह भूत्वा पश्चात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधात्यथ संवत्सररूपाण्युपदधाति' (श० ८।४।१।१२)। पश्चादुपधेयेष्टकामन्त्रमुदाहृत्य व्याचष्टे—धरुण एकविंश इति। आदित्यस्यैकविंशत्वं द्वादशमासपञ्चर्तुलोकत्रयात्मकान् पदार्थानपेक्ष्यास्यैकविंशतिसंख्यापूरकत्वादित्याह—द्वादशेत्यादिना। आदित्यस्य धरुणत्वमुपपादयति—यदा ह्येवैषोऽस्तमेत्यथेदं सर्वं ध्रियत इति। अस्तमयानन्तरं स्वस्वव्यापारस्य दृष्टिप्रसवाभावात् सर्वं निभृतं धृतमिव भवति, अतोऽसावेवादित्यो धरुण इति। इत्थं चतुर्दिक्षु वाय्वादिदेवतारूपाणां चतसृणामिष्टकानामुपधानमभिधायोत्तरत्रोपधेयानां चतुर्दशानामिष्टकानां संवत्सररूपतां प्रतिजानीते—अथ संवत्सररूपाण्युपदधातीति। 'प्रतूर्तिरष्टादश इति। य एवाष्टादशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव प्रतूर्तिरष्टादशस्तस्य द्वादश मासाः पञ्चर्तवः संवत्सर एव प्रतूर्तिरष्टादशस्तद्यत्तमाह प्रतूर्तिरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि प्रतिरति तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१३)। तानि क्रमेण दर्शयति—प्रतूर्तिरष्टादशेत्यादिना। प्रजापतेः प्रतूर्तित्वमुपपादयति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि प्रतिरतीति सर्वाणि भूतानि उद्दिश्य तत्तदुत्पत्त्यादिनिमित्तं स्वयं प्रतिरति, कलाकाष्ठादिक्रमेण वर्धते। शेषं पूर्ववत्।

'तपो नवदश इति। य एव नवदशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव तपो नवदशस्तस्य द्वादश मासाः षडृतवः संवत्सर एव तपो नवदशस्तद्यत्तमाह तप इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तपति तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१४)। 'अभीवर्तः सवि꣡ꣳश इति। य एव सवि꣡ꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वा अभीवर्तः सवि꣡ꣳशस्तस्य द्वादश मासाः सप्तर्तवः संवत्सर एवाभीवर्तः सवि꣡ꣳशस्तद्यत्तमाहाभीवर्त इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतान्यभिवर्तते तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१५)। 'वर्चो द्वावि꣡ꣳश इति। य एव द्वावि꣡ꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव वर्चो द्वावि꣡ꣳशस्तस्य द्वादश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव वर्चो द्वावि꣡ꣳशस्तद्यत्तमाह वर्च इति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां वर्चस्वितमस्तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१६)। 'सम्भरणस्त्रयोवि꣡ꣳश इति। य एव त्रयोवि꣡ꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव सम्भरणस्त्रयोवि꣡ꣳशस्तस्य त्रयोदश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव सम्भरणस्त्रयोवि꣡ꣳशस्तद्यत्तमाह सम्भरण इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि सम्भृतस्तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१७)।

'योनिश्चतुर्वि७ँ श इति । य एव चतुर्वि७ँ शस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव योनिश्चतुर्वि७ँ शस्तस्य चतुर्वि७ँ शतिरर्धमासास्तद्यत्तमाह योनिरिति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां योनिस्तत्तैव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१८)। 'गर्भाः पञ्चवि७ँ श इति । य एव पञ्चवि७ँ शस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव गर्भाः पञ्चवि७ँ शस्तस्य चतुर्वि७ँ शतिरर्धमासाः संवत्सर एव गर्भाः पञ्चवि७ँ शस्तद्यत्तमाह गर्भा इति संवत्सरो ह त्रयोदशो मासो गर्भोऽभूत्वर्तून् प्रविशति तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१९)। 'ओजस्त्रिणव इति। य एव त्रिणवस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाहौज इति वज्रो वा ओजो वज्रस्त्रिणवोऽथो संवत्सरो वा ओजस्त्रिणवस्तस्य चतुर्वि७ँ शतिरर्धमासा द्वे अहोरात्रे संवत्सर एवौजस्त्रिणवस्तद्यत्तमाहौज इति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानामोजस्वितमस्तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।२०)। 'क्रतुरेकत्रि७ँ श इति । य एवैकत्रि७ँ शस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव क्रतुरेकत्रि७ँ शस्तस्य चतुर्वि७ँ शतिरर्धमासाः षडृतवः संवत्सर एव क्रतुरेकत्रि७ँ शस्तद्यत्तमाह क्रतुरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि करोति तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।२१)।

अत्र ब्राह्मणे तपोऽभीवर्तवर्चःसम्भरणयोनिगर्भौजःक्रतुप्रतिष्ठाब्रध्नस्यविष्टपनाकविवर्तधर्त्रैस्त्रयोदशभिर्विशेषणैर्विशेष्या नवदश-मविंश-द्वाविंश-त्रयोविंशचतुर्विंश-पञ्चविंश-त्रिणवैकत्रिंश-त्रयस्त्रिंश-चतुस्त्रिंश-षट्त्रिंशाष्टाचत्वारिंश-चतुष्टोमाख्यास्त्रयोदशस्तोमा एव । तत्र पूर्वपूर्वस्तोमेभ्यश्चतुःस्तोत्रियाधिकस्तोमश्चतुष्टोमः । तस्य क्लृप्तिप्रकारो लाट्यायने सामसूत्रे प्रदर्शितः । शिष्टास्तत्तत्संख्याकाभिः स्तोत्रियाभिर्निष्पाद्यास्तत्रैव द्रष्टव्याः । एतैः सर्वैः सविशेषणैः स्तोमैः प्रजापतिरेवाभिधीयते । तस्य तावत्संख्यापूरकत्वं मासार्धमासपञ्चषट्सप्तर्तुलोकत्रयाहोरात्राद्यपेक्षया तत्र तत्रोक्तप्रकारेण द्रष्टव्यम् । तपआदिविशेषणानां संवत्सराभिधायकत्वं योजयित्वा प्रदर्श्यते । तथाहि—तपतीति तपः संवत्सरः । कथम् ? संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तेषामर्थाय तपति सकलभौतिकपदार्थपरिपाकस्य संवत्सरकालाधीनत्वात् तत्तद्भूततपनस्य भूतार्थता । संवत्सरः सर्वाणि भूतान्यभिवर्तते, तदर्थं पुनः पुनरावर्तत इत्यभीवर्तः । अभिवर्तनस्य भूतार्थत्वं पूर्ववद् द्रष्टव्यम् । संवत्सरः सर्वेषां भूतानां मध्ये वर्चस्वितमः, अतिशयेन तद्वानित्यर्थः । तत्तद्वतोरभेदाद् वर्चः संवत्सरः । यस्मात् सर्वाणि भूतानि सम्भ्रियन्ते स्वाङ्गैः सम्पूर्णैः, अतः सम्भरतीति सम्भरणः संवत्सरः । 'कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः' (म० भा० ११।१।२४८) इति स्मरणात् सर्वभूतोत्पत्त्याश्रयत्वाद् योनिरुच्यते । संवत्सरः कदाचित् त्रयोदशेनाधिकमासेन गर्भः । अतः 'संवत्सरो ह त्रयोदशो मासो गर्भो भूत्वर्तून् प्रविशति' (श० ८।४।१।१९) इत्युक्तम् । यथा गर्भो जननीजठरे प्रविष्ट एवमृत्वन्तःप्रवेशाद् गर्भत्वम् । अयमेव मासोऽधिको भवतीति नियमाभावात् कदाचित् कस्मिंश्चिदृतावनुप्रवेशात् ऋतून् प्रविशतीति बहुवचननिर्देशः । संवत्सरस्य ओजोरूपत्वमोजस्वित्वाभिप्रायेण । सर्वाणि भूतानि करोतीति क्रतुः । भूतशब्देन भूतविकाराः पदार्था उच्यन्ते ।

'प्रतिष्ठा त्रयस्त्रि७ँ श इति । य एव त्रयस्त्रि७ँ शस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह प्रतिष्ठेति प्रतिष्ठा हि त्रयस्त्रि७ँ शोऽथो संवत्सरो वाव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रि७ँ शस्तस्य चतुर्वि७ँ शतिरर्धमासाः षड् ऋतवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रि७ँ शस्तद्यत्तमाह प्रतिष्ठेति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।२२)। सर्वभूतानां प्रतिष्ठास्पदत्वात् संवत्सरः प्रतिष्ठा । 'ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रि७ँ श इति । य एव चतुस्त्रि७ँ शस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रि७ँ शस्तस्य चतुर्वि७ँ शतिरर्धमासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रि७ँ शस्तद्यत्तमाह ब्रध्नस्य विष्टपमिति स्वाराज्यं वै ब्रध्नस्य विष्टप७ँ स्वाराज्यं चतुस्त्रि७ँ शस्तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।२३)। चतुस्त्रिंशस्तोमात्मकस्य संवत्सरस्य ब्रध्नस्य विष्टपत्वं प्रतिपादयति—स्वाराज्यं वै ब्रध्नस्य विष्टपं स्वाराज्यं चतुस्त्रिंश इति । ब्रध्नो

ब्रध्नाति तिमिरमित्यादित्यस्तस्य विष्टपं विशन्त्यत्र जना इति स्थानम्, ब्रध्नस्य विष्टपं तत् स्वाराज्यम्। स्वयमेव राजतेऽनन्यपरतन्त्रतयेति स्वराट्, तस्य भावः स्वाराज्यम्। सूर्यलोके हि तथाविधस्वाराज्योपपत्तेरत्र लोक एव स्वाराज्यमिति व्यपदिश्यते। 'नाकः षट्त्रिꣳश इति। य एव षट्त्रिꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव नाकः षट्त्रिꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासा द्वादश मासास्तद्यत्तमाह नाक इति न हि तत्र गताय कस्मै-चनाकं भवत्यथो संवत्सरो वाव नाकः संवत्सरः स्वर्गो लोकस्तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।२४)। नाकशब्देन षट्त्रिंशस्तोमो विशेष्यते। कथं स नाक इति तदुपपादयति—न हि तत्र गताय कस्मैचनाकं भवतीति। स्वर्गं प्राप्ताय कस्मैचन पुरुषाय अकं दुःखं न खलु भवति, अतो न विद्यतेऽकं यत्रेति नाकः। 'न वै तत्र जग्मुषे किञ्चनाकम्' (ता० म० ब्रा० २१।८।४) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेश्च। 'षड्दङ्क्षेति मासाꣳस्तान् मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यम्' (छा० उ० ४।१५।५) इति छन्दोगश्रुतेश्च। सुकृतिभिः प्राप्तव्यत्वात् संवत्सरो वाव नाकः, अत एव स स्वर्गो लोकः।

'विवर्तोऽष्टाचत्वारिꣳश इति। य एवाष्टाचत्वारिꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव विवर्तोऽष्टा-चत्वारिꣳशस्तस्य षड्विꣳशतिरर्धमासास्त्रयोदश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे तद्यत्तमाह विवर्त इति संवत्सराद्धि सर्वाणि भूतानि विवर्तन्ते तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।२५)। 'संवत्सराद्धि सर्वाणि भूतानि विवर्तन्ते' इति श्रुतिप्रतिपादनात् सर्वभूतविवर्तनायतनत्वाद् विवर्तः संवत्सरः। 'धर्त्रं चतुष्टोम इति। य एव चतुष्टोमस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह धर्त्रमिति प्रतिष्ठा वै धर्त्रं प्रतिष्ठा चतुष्टोमोऽथो वायुर्वाव धर्त्रं चतुष्टोमः स आभिश्चतसृभिर्दिग्भिः स्तुते तद्यत्तमाह धर्त्रमिति प्रतिष्ठा वै धर्त्रं वायुरु सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा तदेव तद्रूपमुप-दधाति स वै वायुमेव प्रथममुपदधाति वायुमुत्तमं वायुनैव तदेतानि सर्वाणि भूतान्युभयतः परिगृह्णाति' (श० ८।४।१।२६)। धर्त्रं चतुष्टोम इति। स च परमेष्ठकोपधानमन्त्रः। उक्तं चतुष्टोमस्वरूपम् (अत्रैव १४ कण्डिकाव्याख्याने) धर्त्रचतुष्टोमावुभावपि प्रतिष्ठात्मना स्तौति—प्रतिष्ठा वै धर्त्रं प्रतिष्ठा चतुष्टोम इति। यद् धर्त्रं धारकं वस्तु तस्य सर्वस्याप्याश्रयः संवत्सर इति धर्त्रशब्दवाच्यस्य संवत्सरस्य प्रतिष्ठात्मकता। चतुष्टोमस्यापि चतुःसंख्यायोगात् पादचतुष्टययोपेतमिवेति प्रतिष्ठारूपत्वम्। प्रकारान्तरेण व्याचष्टे—अथो वायुरिति। वायो-श्चतुष्टोमवाच्यत्वमाह—स आभिश्चतसृभिर्दिग्भिः स्तुत इति। वायोश्चतुर्दिङ्मध्ये सशब्दं सञ्चारात् चतसृभि-र्दिग्भिः स्तुते स्तूयते इत्युपचर्यते। यकारलोपश्छान्दसः। ततश्च निमित्ताभावाद् दीर्घाभावः। अतश्चतसृभिः स्तूयमानत्वाच्चतुष्टोमः। वायुपक्षेऽपि धर्त्रशब्दस्य सङ्गतार्थतामाह—प्रतिष्ठा वै धर्त्रमिति। यद् धर्त्रं सा प्रतिष्ठा इत्येतत् पृथिव्यादौ दृष्टम्। वायुरपि सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा, प्राणरूपेण धारकत्वात्। एवं स्तोमविशेषण-त्वपक्षेऽपि तपआदिशब्दा यथायोगं द्रष्टव्याः। शिष्टं त्रिवृदादिवाक्यवद् व्याख्येयम्। आद्यन्तस्तोमेष्टकयोर्वायुरूपतां स्तौति—स वै वायुमेव प्रथममित्यादिना।

अध्यात्मपक्षे—हे चिते, त्वमाशुस्त्रिवृत्स्तोमरूपासि, त्रिलोकवासिवायुरूपा वासि। हे चिते, त्वं भान्तो वज्ररूपो यः पञ्चदशस्तोमस्तद्रूपासि। भा कान्तिरेवान्तः अन्तर्गतं स्वरूपं यस्य तादृशचन्द्ररूपासीति। हे चिते, त्वं व्योमा सप्तदशस्तोमरूपासि। विविधमवतीति व्युत्पत्त्या संवत्सरात्मप्रजापतिरूपा वाऽसीति सर्वं पूर्ववदेव व्याख्यानम्, चितेः सार्वात्म्यप्रतिपत्तिपर्यवसानात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यस्मिन् संवत्सर आशुस्त्रिवृत् शीते चोष्णे द्वयोर्मध्ये च वर्तते सः। भान्तः प्रकाशः पञ्चदशः पञ्चदशानां पूरणः, पञ्चदशविधो व्योमा व्योमवद् विस्तृतः, सप्तदशो धरुणो धारणगुणः, एकविंश एकविंशतिधा प्रतूर्तिः शीघ्रगतिः, अष्टादशः अष्टादशधा तपः सन्तापः सन्तापिगुणः, नवदशः नवदशधा

अभीवर्तो य आभिमुख्ये वर्तते सः, सविंशः विंशत्या सह वर्तमानो वर्चो दीप्तिः, द्वाविंशः द्वाविंशतिधा सम्भरणः सम्यग् धारकः, त्रयोविंशः त्रयोविंशतिधा योनिः संयोजको वियोजको गुणः, चतुर्विंशः चतुर्विंशतिधा गर्भः गर्भधारणशक्तयः, पञ्चविंशः पञ्चविंशतिधा ओजः पराक्रमः, त्रिणवः सप्तविंशतिधा क्रतुः कर्म प्रज्ञा वा, एकत्रिंशः प्रतिष्ठा प्रतितिष्ठति यस्यां सा, त्रयस्त्रिंशो ब्रध्नस्य महतो विष्टपं व्याप्तिः, चतुस्त्रिंशः चतुस्त्रिंशद्विधो नाक आनन्दः, षट्त्रिंशः विवर्तः विविधं वर्तते यस्मिन् सः, अष्टाचत्वारिंशः धर्त्रः धारणः, चतुष्टोमः चत्वारः स्तोमाः स्तुतयो यस्मिन् संवत्सरे तं संवत्सरं विजानीत' इति, तत्सर्वं मूढजनप्रतारणमेव, उक्तविशेषणैः संवत्सरस्य विशेष्यत्वोक्तौ मानाभावात्। प्रकाशस्य पञ्चदशादिपदानि पञ्चदशधाद्यर्थपराणीत्यपि चिन्त्यम्। त्रिवृत् कथमायुः ? शीतोष्णयोर्मध्ये कथं प्रकाशः ? के चाकाशतुल्यविस्तारयुक्ताः ? पञ्चदश प्रकाराः सप्तदशधा धारणगुणाः के के ? एकविंशतिधा शीघ्रगतिमत्त्वं कथम् ? किञ्च तत्र प्रमाणमित्यादिचोद्यानां परिहारानुक्तेः। अष्टादशधा सन्तापिगुणाः के ? एकोनविंशतिधा के अभीवर्ताः ? सविंशाः का दीप्तयः ? द्वाविंशतिधा के धारणकारका गुणाः ? चतुर्विंशतिधा का गर्भधारणशक्तयः ? पञ्चविंशतिधा कः पराक्रमः ? सप्तविंशतिधा कानि कर्माणि प्रज्ञा वा ? काः परमेश्वरस्य त्रयस्त्रिंशद्व्याप्तयः ? चतुर्विंशतिरानन्दाः के ? अष्टाचत्वारिंशत्संख्याकानि धारणानि स्तुतिवाक्यानि किंप्रमाणकानि चेत्याद्यनुक्तेश्च। वस्तुतस्तु दुःसाहसमेव ईदृशं मन्त्राणां यत्किञ्चिदर्थापनम् ॥ २३ ॥

अ॒ग्नेर्भा॒गो॑ऽसि दी॒क्षाया॒ आधि॑पत्यं॒ ब्रह्म॑ स्पृ॒तं त्रि॒वृत्स्तोम॒ इन्द्र॑स्य भा॒गो॑ऽसि॒ विष्णो॒राधि॑पत्यं क्ष॒त्रᳪ स्पृ॒तं प॑ञ्चद॒शः स्तोमो॑ नृ॒चक्ष॑सां भा॒गो॑ऽसि धा॒तुराधि॑पत्यं ज॒नित्रᳪ स्पृ॒तᳪ स॑प्तद॒शः स्तोमो॑ मि॒त्रस्य॑ भा॒गो॑ऽसि॒ वरु॑ण॒स्याधि॑पत्यं दि॒वो वृ॒ष्टिर्वात॑ः स्पृ॒त ए॑कवि॒ᳪशः स्तोम॑ः ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम अग्नि के भाग को ग्रहण करने वाली हो, तुम्हारे ऊपर दीक्षा का आधिपत्य है। इस कारण तुमसे त्रिवृत् स्तोम द्वारा ब्राह्मण जाति मृत्यु से रक्षित हुई है। त्रिवृत् स्तोम का मनन करते हुए मैं तुम्हारा यहाँ सादन करता हूँ। हे इष्टके ! तुम इन्द्र का भाग हो, तुम्हारे ऊपर विष्णु का आधिपत्य है। तुमने पंचदश स्तोम से क्षत्रिय जाति की मृत्यु के मुख से रक्षा की है। हे इष्टके ! तुम मनुष्यों के शुभाशुभ को जानने वाले देवताओं का भाग हो, तुम्हारे ऊपर धाता का आधिपत्य है। सप्तदश स्तोम द्वारा तुमने वैश्य जाति की मृत्यु के मुख से रक्षा की है, सप्तदश स्तोम का मनन करते हुए मैं तुमको स्थापित करता हूँ। हे इष्टके ! तुम प्राणों का भाग हो, तुम्हारे ऊपर वरुण का आधिपत्य है, एकविंश स्तोम के द्वारा तुम द्युलोक से सम्बद्ध वर्षा और पवन की मृत्यु के मुख से रक्षा करती हो ॥ २४ ॥

'दक्षिणां पूर्वयोरग्नेर्भाग इति' (का० श्रौ० १७।१०।११)। पूर्वानूकान्ते विहितयोर्जङ्घानाभ्योर्मध्ये दक्षिणां तन्नाम्नीमिष्टकां जङ्घामात्रीमुदङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। उत्तरेष्टका तु पूर्वमुपहिता। अत्र कण्डिकासु दश यजूंषि। तत्र चतुर्भिर्मृत्युमोहन्युपधानम्, षड्भिश्च षट्पद्योपधानम्। इमे दशेष्टकाः स्पृतसंज्ञकाः। हे इष्टके, या त्वमग्नेर्भागोऽसि, यस्यां च त्वयि दीक्षाया वाच आधिपत्यं स्वामित्वम्, यया च त्वया त्रिवृत् स्तोमः, त्रिवृता स्तोमेन, विभक्तिव्यत्ययः, ब्रह्म ब्राह्मण्यं स्पृतं पाप्मनो मृत्योरपनीतं रक्षितम्, अथवा यस्यां त्वयि त्रिवृत्स्तोमः, एतादृशगुणगणविशिष्टां त्वामुपदधामीति शेषः। 'स्पृ प्रीतिपालनयोः' स्वादिर्गणः। प्रीतिर्बलम्, पालनं जीवनमिति क्षीरस्वामी, 'वाग्वै दीक्षा' (श० ८।४।२।३) इति श्रुतेः। 'उत्तरामुत्तरयोरिन्द्रस्य भाग इति' (का० श्रौ० १७।१०।१४)। उदगनूकान्ते विहितयोर्दक्षिणोत्तरयोः पद्ययोर्मध्ये उत्तरामिन्द्रस्य भागोऽसीति मन्त्रेण प्रत्यङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। दक्षिणा तूपहिता। हे इष्टके, त्वमिन्द्रस्य भागोऽसि।

यस्यां त्वयि विष्णोराधिपत्यम्। यया त्वया पञ्चदशेन स्तोमेन क्षत्रं क्षत्रजातिः स्पृतं मृत्योर्मोचितम्। 'उत्तरां दक्षिणयोर्नृचक्षसां भाग इति' (का० श्रौ० १७।१०।१३)। दक्षिणानूकान्तविहितयोर्दक्षिणोत्तरयोः पद्ययोर्मध्ये उत्तरां पद्यां प्राङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। दक्षिणा तूपहिता। हे इष्टके, त्वं नृचक्षसां नॄन् शुभाशुभकर्तॄन् चक्षते जानन्तीति नृचक्षसो देवास्तेषाम्। चक्षिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः। भागोऽसि। यस्यां त्वयि धातुराधिपत्यम्। यया त्वया सप्तदशेन स्तोमेन जनित्रमाश्चर्येण जायत इति। अथवा वैश्यजातिः 'विड् वै जनित्रम्' (श० ८।४।२।५) इति श्रुतेः। स्पृतं रक्षितम्। यद्वा ये नरो मनुष्याः सन्तश्चक्षते वेदं व्यक्तमुच्चारयन्ति ते नृचक्षस ऋत्विजः। तेषां भागोऽसि। दक्षिणा गवादिरूपासि। धातृप्रभृतेर्यदाधिपत्यं यच्च स्पृतं प्रीतिकारणं जनित्रं जननशीलमन्नं यश्च सप्तदशः स्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि तद्रूपां त्वामुपदधामि। 'उत्तरामपरयोर्मित्रस्य भाग इति' (का० श्रौ० १७।१०।१२)। अपरानूकान्तविहितयोर्दक्षिणोत्तरयोर्जङ्घामात्र्योर्मध्ये उत्तरां जङ्घामात्रीं दक्षिणामुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। दक्षिणा तूपहिता। हे इष्टके, त्वं मित्रस्य प्राणस्य भागोऽसि। त्वयि वरुणस्य अपानस्य आधिपत्यम्। यया त्वया एकविंशेन स्तोमेन दिवो वृष्टिर्द्युसम्बन्धिनी वर्षा वातश्च स्पृतस्तादृशीं त्वां सादयामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ स्पृत उपदधाति। एतद्वै प्रजापतिरेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते सर्वाणि भूतानि गर्भ्यभवत्तान्यस्य गर्भ एव सन्ति पाप्मा मृत्युरगृह्णात्' (श० ८।४।२।१)। अथ स्पृत्संज्ञकेष्टका विधाय स्तौति—अथ स्पृत उपदधातीत्यादिना। पुरा प्रजापतिरात्मनः स्वशरीरस्य सम्बन्धिन्येतस्मिन्नन्तरिक्षस्वर्गयोरन्तराल-लक्षणेऽङ्गे पूर्वोक्तेष्टकोपधानेन प्रतिहिते सति सर्वाणि भूतान्यपेक्ष्य गर्भी अभवद् भूतज्ञानलक्षणेन गर्भेण तद्वानासीत्। तान्यस्य प्रजापतेर्गर्भ एव सन्ति अवस्थितान्युदरस्थान्येव पाप्मा पापरूपो मृत्युरगृह्णात्। 'स देवानब्रवीत्। युष्माभिः सहेमानि सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योः स्पृणवानीति किं नस्ततो भविष्यतीति वृणीध्वमित्यब्रवीत्तं भागो नोऽस्त्वित्येकेऽब्रुवन्नाधिपत्यं नोऽस्त्वित्येके स भागमेकेभ्यः कृत्वाधिपत्यमेकेभ्यः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योरस्पृणोद्यदस्पृणोत्तस्मात् स्पृतस्तथैवैतद्यजमानो भागमेकेभ्यः कृत्वाधिपत्यमेकेभ्यः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योः स्पृणोति तस्मादु सर्वास्वेव स्पृत७ँ स्पृतमित्यनुवर्तते' (श० ८।४।२।२)। स प्रजापति-र्देवानब्रवीत्। हे देवाः! युष्मत्सहायो भूत्वाहं गर्भस्थानीमानि भूतानि मृत्योः सकाशात् स्पृणवानि स्पृतानि चलितानि करवाणीति। अथ देवैः किं नस्तत इति पृष्टो वृणीध्वमित्युक्तैर्वृतश्च केषाञ्चिद्देवानामिष्टकास्वध्यस्त-रूपाणां ब्रह्मक्षत्रादिरूपाणां भूतानां भागम्, केषाञ्चिदाधिपत्यं च तत्तदभिलाषानुसारेण प्रदाय पश्चाद् देवसहायः सन् सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योरस्पृणोद् बलवन्ति कृतवान्। 'स्पृ प्रीतिपालनयोः' प्रीतिर्बलम्। पालनं जीवनमिति क्षीरस्वामी। प्रीतिवलनयोरित्येके, प्रीतिचलनयोरित्यन्ये। स्थितिचलनयोरिति केषाञ्चित् पाठः। प्रविचालितवानित्यर्थः। प्रसङ्गात् तन्नामनिर्वचनम्—यदस्पृणोत्तस्मात् स्पृत इति। स्परणात् स्पृत इत्युक्तं भवति। तथैव यजमानोऽप्येकेभ्यो भागमपरेभ्य आधिपत्यं दत्त्वा सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योः स्पृणोति। तस्मात् सर्वास्विष्टकासु स्पृतं स्पृतमित्यनुवर्तते। शेषं स्पष्टम्।

'अग्नेर्भागोऽसि। दीक्षाया आधिपत्यमिति वाग्वै दीक्षाग्नये भागं कृत्वा वाच आधिपत्यमकरोद् ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत् स्तोम इति ब्रह्म प्रजानां त्रिवृता स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।३)। प्रथमेष्टकामन्त्रं विधाय व्याचष्टे—अग्नेर्भागोऽसीत्यादिना। हे इष्टके, त्वमग्नेर्देवस्य भागोऽसि। तथा दीक्षाया वाग्देव्या आधिपत्य-मधिपतित्वं तव, त्वं दीक्षास्वामिकेत्यर्थः। ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोम इति भागान्तरम्। अत्र अध्यासाश्रयाणामिष्ट-कानामध्यस्यमानानां ब्रह्मक्षत्रादिभूतानां चाभेदस्य विवक्षितत्वात् तत्स्थं रूपमभिधीयते। प्रजानां भूतानां मध्ये

ब्रह्म ब्राह्मणजातिः स्पृतं पाप्मनो मृत्योः सकाशादपसारितम्। केन साधनेनेति ? तदुच्यते—त्रिवृत्स्तोम इति। ब्राह्मणानुसारं विभक्तिविपरिणमयितया। तव स्वभूतेन त्रिवृता स्तोमेन। तत्र दीक्षाशब्दस्योक्तार्थपरत्वामाह—वाग्वै दीक्षेति। वाग्देवताया दीक्षाभिमानिदेवतात्वाद्वा नियन्तव्यतया वाक्सम्बन्धाद्वा दीक्षा वागित्युच्यते। तामिष्टकामग्नये भागं कृत्वा दीक्षायै तस्या इष्टकाया आधिपत्यमकरोत् प्रजापतिः। भागान्तरं व्याख्यातुं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोम इत्यस्य विभक्तिविपरिणामः कृतः। ब्रह्म प्रजानां त्रिवृता स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्। अत्र ब्राह्मणस्त्रिवृत्स्तोमसम्बन्धे प्राथम्यं बीजम्, प्रजापतिमुखात् सहोत्पत्तिर्वा कारणं त्रिवृद्ब्राह्मणोः सम्बन्धे। एवमुत्तरेषां मन्त्राणां ब्राह्मणान्यपि व्याख्यातव्यानि। 'इन्द्रस्य भागोऽसि। विष्णोराधिपत्यमितीन्द्राय भागं कृत्वा विष्णव आधिपत्यमकरोत् क्षत्रꣳ स्पृतं पञ्चदशस्तोम इति क्षत्रं प्रजानां पञ्चदशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।४)। व्याख्यातप्रायं ब्राह्मणम्। पञ्चदशेन स्तोमेन प्रजानां मध्ये क्षत्रं क्षत्रियजातिर्मृत्योः पाप्मनोऽपसारितम्। 'नृचक्षसां भागोऽसि। धातुराधिपत्यमिति देवा वै नृचक्षसो देवेभ्यो भागं कृत्वा धात्र आधिपत्यमकरोज्जनित्रꣳ स्पृतꣳ सप्तदश स्तोम इति विड् वै जनित्रं विशं प्रजानाꣳ सप्तदशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।५)। देवा वै नृचक्षस इति। नॄन् पुण्यपापकृतो मनुष्यान् साक्षितया चक्षते पश्यन्तीति नृचक्षसो देवाः। विड् वै जनित्रमिति। जायत इति जनित्रम्, विड् वैश्यजातिः, एतच्छूद्रस्याप्युपलक्षणम्। यद्वा सामान्येन विट्शब्दः प्रजामभिधत्ते। प्रजानां मध्ये जनित्रं विशं प्रजासामान्यं वा सप्तदशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्। 'मित्रस्य भागोऽसि। वरुणस्याधिपत्यमिति प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः प्राणाय भागं कृत्वाऽपानायाधिपत्यमकरोद्दिवोर्वृष्टिर्वातः स्पृत एकविꣳशः स्तोम इति वृष्टिं च वातं च प्रजानामेकविꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।६)। मित्रः, मेथनं हिंसा मित्, ततस्त्रायत इति मित्रः प्राणः। ऊर्ध्वं निर्गच्छन्तं प्राणमावृणोतीति वरुणोऽपानः, वृष्टिं वातं चैकविंशस्तोमेनास्पृणोद् रक्षितवान्। यद्वा मित्रस्य हविर्लक्षणो भागः, यच्च वरुणस्याधिपत्यम्, यश्च दिवः सम्बन्धिनी वृष्टिर्वातश्च स्पृतः, एकविंशस्तोमश्च, तत् सर्वं त्वमसि।

अध्यात्मपक्षे—हे चिते, त्वमग्नेर्यो हविर्लक्षणो भागो यच्च वाग्देव्या आधिपत्यं यच्च प्रीतिकरं ब्रह्म यश्च त्रिवृत्स्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि। तद्रूपां त्वां चिन्तये। तथा यश्चेन्द्रस्य भागो यच्च विष्णोराधिपत्यं यच्च प्रीतिकरं क्षत्रं यश्च पञ्चदशस्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि। यश्च नृचक्षसां देवानां हविर्भागो यच्च धातुराधिपत्यं यच्च प्रीतिकरं जनित्रमन्नं वैश्यकुलं वा, यश्च सप्तदशस्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि। यश्च मित्रस्य देवस्य भागो यच्च वरुणस्याधिपत्यं यच्च प्रीतिकारणं दिवो वृष्टिर्वातश्च एकविंशस्तोमश्च, तत्सर्वं त्वमसि। तद्रूपां त्वां चिन्तय इति यावत्।

दयानन्दस्तु—'यस्त्वं पञ्चदशस्तोमो नृचक्षसां भाग इवासि, स त्वं धातुः स्पृतं जनित्रमाधिपत्यं प्राप्नुहि। यस्त्वं सप्तदशस्तोमो मित्रस्य भाग इवासि स त्वं वरुणस्याधिपत्यं याहि। यस्त्वं वातः स्पृत एकविंशस्तोम इवासि तेन त्वया दिवो वृष्टिर्विधेया' इति, तत्सर्वं मूढजनप्रतारणमेव, सामप्रसिद्धत्रिवृत्स्तोमपञ्चदशस्तोमाद्यनभिज्ञानात्। मूले दीक्षा आधिपत्यमिति पठितम्। तत्सम्बन्धमपहाय ब्रह्मज्ञकुलस्याधिपत्यमिति कुतो लब्धम् ? एतादृशं व्याख्यानं व्याख्यातुर्धाष्ट्र्यमेव सूचयति। एवं क्षत्रकुलस्याधिपत्यमाप्नुहीत्यपि निर्मूलमेव। विष्णोः स्पृतमित्यस्य हिन्दीभाष्ये व्यापकस्येश्वरस्य प्रीत्या सेवितुं योग्यानां क्षत्रियाणामाधिपत्यं प्राप्नुहीत्युक्तम्। तत्कथं सङ्गतमिति तु विद्वद्भिर्विभावनीयम् ॥ २४ ॥

वसूनां भागोऽसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात्स्पृतं चतुर्विꣳशः स्तोम आदित्यानां भागोऽसि मरुतामाधिपत्यं गर्भाः स्पृताः पञ्चविꣳशः स्तोमोऽदित्यै भागोऽसि पूष्ण आधिपत्यमोजः स्पृतं त्रिणवः स्तोमो देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेराधिपत्यꣳ समीचीर्दिशः स्पृताश्चतुष्टोमः स्तोमः ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम वसुगण का भाग हो, तुम्हारे ऊपर रुद्रों का आधिपत्य है । चतुर्विंश स्तोम के द्वारा तुमने चौपायों को मृत्यु के मुख से रक्षा की है । हे इष्टके ! तुम आदित्यगणों का भाग हो, तुम्हारे ऊपर मरुद्‌गणों का आधिपत्य है । पञ्चविंश स्तोम के द्वारा तुम गर्भों की मृत्यु के मुख से रक्षा करती हो । चतुर्विंश और पञ्चविंश स्तोम का मनन करते हुए मैं तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ । हे इष्टके ! तुम अदिति का भाग हो, तुम्हारे ऊपर पूषा देवता का अधिकार है, तुमने त्रिणव स्तोम द्वारा प्रजा के ओज नामक आठवीं धातु की रक्षा की है । त्रिणव स्तोम के देवताओं का मनन करते हुए मैं तुमको स्थापित करता हूँ । हे इष्टके ! तुम सबके प्रेरक सविता देव का भाग हो, तुम्हारे ऊपर बृहस्पति देवता का अधिकार है । चतुष्टोम स्तोम के द्वारा तुमने सम्पूर्ण मनुष्यों के जाने योग्य दिशाओं की मृत्यु से रक्षा की है । चतुष्टोम स्तोम के देवताओं का मनन करते हुए मैं तुम्हारा यहाँ सादन करता हूँ ॥ २५ ॥

'षट् प्रतिमन्त्रं वसूनां भाग इति' (का० श्रौ० १७।१०।१५) । उदङ्मुख उत्तरामारभ्य दक्षिणसंस्थाश्चतुर्दशभ्योऽपराः षट्पद्या वसूनां भाग इत्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैरुपदध्यादिति सूत्रार्थः । हे इष्टके, त्वं वसूनां भागोऽसि । त्वयि रुद्राणामाधिपत्यम् । त्वया चतुर्विंशेन स्तोमेन प्रजानां चतुष्पाद् गवाश्वादिकं स्पृतं पापान्मोचितम् । त्वामुपदधामि । तत्तद्रूपां वा त्वामुपदधामि । या त्वमादित्यानां भागोऽसि, यस्यां त्वयि मरुतामाधिपत्यम्, यया त्वया पञ्चविंशेन स्तोमेन प्रजानां गर्भा मृत्यो रक्षिताः, तां त्वामुपदधामि । या त्वमदित्यै अदितेर्भूमेर्भागोऽसि, यस्यां त्वयि पूष्ण आधिपत्यम्, यया त्वया त्रिणवेन स्तोमेन प्रजानामोजो बलम्, अष्टमो धातुर्वा स्पृतं मृत्योर्मोचितम्, तां त्वामुपदधामि । या त्वं देवस्य सवितुर्भागोऽसि, यस्यां त्वयि बृहस्पतेराधिपत्यम्, यया त्वया चतुष्टोमेन स्तोमेन समीचीः समीच्यः सम्यगञ्चन्ति जना यासु ताः, दिशः स्पृता मृत्योर्मोचिताः तां त्वामुपदधामि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'वसूनां भागोऽसि । रुद्राणामाधिपत्यमिति वसुभ्यो भागं कृत्वा रुद्रेभ्य आधिपत्यमकरोच्चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विꣳशस्तोम इति चतुष्पात् प्रजानां चतुर्विꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।७) । अत्र चतुष्पादोपेतं पशुजातं 'स्पृतम्' इति सामान्याभिप्रायेण नपुंसकता । 'आदित्यानां भागोऽसि । मरुतामाधिपत्यमित्यादित्येभ्यो भागं कृत्वा मरुद्भ्य आधिपत्यमकरोद् गर्भाः स्पृताः पञ्चविꣳशस्तोम इति गर्भान् प्रजानां पञ्चविꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।८) । सुप्रसन्ना कण्डिका । 'अदित्यै भागोऽसि । पूष्ण आधिपत्यमितीयं वा अदितिरस्यै भागं कृत्वा पूष्ण आधिपत्यमकरोदोजः स्पृतं त्रिणवस्तोम इत्योजः प्रजानां त्रिणवेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।९) । सुप्रसन्ना कण्डिका । ओजो बलम्, तत्कारणमष्टमो धातुर्वा, 'ओजो नामाष्टमो धातुः' इत्याचार्यस्मरणात् । 'देवस्य सवितुर्भागोऽसि । बृहस्पतेराधिपत्यमिति देवाय सवित्रे भागं कृत्वा बृहस्पतय आधिपत्यमकरोत् समीचीर्दिशः स्पृताश्चतुष्टोमस्तोम इति सर्वा दिशः प्रजानां चतुष्टोमेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।१०) । सुप्रसन्ना कण्डिका ।

अध्यात्मपक्षे—हे परचिते, यो वसूनां हविर्लक्षणो भागः, यच्च रुद्राणामाधिपत्यं यच्च स्पृतं प्रीतिकरं चतुष्पात् पशुजातं यश्च पञ्चविंशस्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात्। यश्चादित्यानां भागः, यच्च मरुतामाधिपत्यम्, ये च स्पृता गर्भाः, यश्च त्रिणवः स्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि। यश्च सवितुर्भागः, यच्च बृहस्पतेराधिपत्यम्, यच्च स्पृतमोजः, यश्च चतुष्टोमस्तोमस्तत्सर्वं त्वमसि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्! यस्त्वं वसूनां भागोऽसि, स त्वं रुद्राणामाधिपत्यं गच्छ' इत्यादिकमाह। तत्सर्वमपि निर्मूलम्, सर्वत्र गौणार्थाश्रयणात्। 'गर्भा गर्भतुल्या विद्याभिः शुभगुणैराच्छादिताः' इत्यपि निर्मूलम्, विगानात्। त्रिणवः सप्तविंशतिधा स्तोमः स्तोतव्य इत्यप्यसम्बद्धमप्रामाणिकं च ॥ २५ ॥

यवा॑नां भा॒गो॒ऽस्यय॑वाना॒माधि॑पत्यं प्र॒जाः स्पृ॒ताश्च॑तुश्चत्वारि॒ꣳशः स्तोम॑ ऋभू॒णां भा॒गो॒ऽसि विश्वे॑षां दे॒वाना॒माधि॑पत्यं भू॒तꣳ स्पृ॒तं त्र॑यस्त्रि॒ꣳशः स्तोमः॑ ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! तुम शुक्ल पक्ष के भाग हो, तुम्हारे ऊपर कृष्ण पक्ष की तिथियों का स्वामित्व है, तुमने चत्वारिंश स्तोम के द्वारा प्रजाओं की मृत्यु के मुख से रक्षा की है। हे इष्टके! तुम ऋभु नामक देवताओं का भाग हो, तुम्हारे ऊपर सम्पूर्ण देवताओं का आधिपत्य है। त्रयस्त्रिंश स्तोम के द्वारा तुमने प्राणी मात्र की मृत्यु के मुख से रक्षा की है ॥ २६ ॥

हे इष्टके, त्वं यवानां पूर्वपक्षाधिष्ठातृदेवानां भागोऽसि। अयवानामपरपक्षाधिष्ठातृदेवानामाधिपत्यं त्वयि। त्वया चतुश्चत्वारिंशेन स्तोमेन प्रजाः स्पृता रक्षिताः, तां त्वामुपदधामि। त्वमृभूणां देवविशेषाणां भागोऽसि, त्वयि विश्वेषां देवानामाधिपत्यम्, त्वया त्रयस्त्रिंशेन स्तोमेन भूतं प्राणिमात्रं स्पृतं रक्षितम्। तां त्वामुपदधामीति शेषः।

अत्र ब्राह्मणम्—'यवानां भागोऽसि। अयवानामाधिपत्यमिति पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवास्ते हीदꣳ सर्वं युवते चायुवते च पूर्वपक्षेभ्यो भागं कृत्वाऽपरपक्षेभ्य आधिपत्यमकरोत् प्रजा स्पृताश्चतुश्चत्वारिꣳशस्तोम इति सर्वाः प्रजाश्चतुश्चत्वारिꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।११)। यवायवशब्दयोः पूर्वपक्षापरपक्षवाचकत्वमुपपादयति—ते हीदमित्यादिना। ते पूर्वपक्षा अपरपक्षाश्च क्रमेणेदं सर्वं जगद् युवते चायुवते च यथाक्रमं मिश्रणामिश्रणं कुर्वन्ति। अयुवत इत्यत्र 'अमानोनाः प्रतिषेधे' इति [1]स्मरणाद् अ इति प्रतिषेधवाचि भिन्नं पदम्। पूर्वपक्षेषु चन्द्रस्य कलावृद्धिसद्भावात् सर्वजगदाप्यायनस्य च तदधीनत्वाद् युवत इत्युक्तम्, उक्तवैपरीत्याच्चायुवत इति। यद्वा मासर्तुसंवत्सरादिरूपस्य कालस्य पूर्वापरपक्षावृत्तिरूपत्वात् ते पूर्वापरपक्षरूपाः कालविशेषा इदं सर्वमुत्पत्त्यवस्थापन्नं युवते, विनाशावस्थापन्नं वियुवते चेत्यर्थः। 'ऋभूणां भागोऽसि। विश्वेषां देवानामाधिपत्यमित्यृभुभ्यो भागं कृत्वा विश्वेभ्यो देवेभ्य आधिपत्यमकरोद् भूतꣳ स्पृतं त्रयस्त्रिꣳशः स्तोम इति सर्वाणि भूतानि त्रयस्त्रिꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्तथैवैतद्यजमानः सर्वाणि भूतानि त्रयस्त्रिꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योः स्पृणोति' (श० ८।४।२।१२)। इत्थं भूतानां मध्ये ब्रह्मक्षत्रादिभूतैकैकदेशमभिधायान्ते सर्वं भूतजातं संगृह्याभिधत्ते—भूतं स्पृतं त्रयस्त्रिंशः स्तोम इति। भूतशब्दस्य भविष्यदादिप्रतियोगिकालविशेषे प्रसिद्धेरत्राभि-

---

१. एतच्च 'चादयोऽसत्त्वे' (१।४।५७) इत्यत्र काशिकायां स्थितम्।

मतमर्थमाह– सर्वाणि भूतानीति। एतदेवाभिप्रेत्य विश्वेभ्यो देवेभ्य आधिपत्यमकरोदित्यन्ते विश्वेऽपि देवा उपात्ताः। 'ये देवासो दिव्येकादश स्थ' (वा० सं० ७'१९) इत्यादिकण्डिकासु त्रयस्त्रिंशत्संख्याकानां देवानामभिधानात्, 'त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वा देवताः' (शाङ्खा० ब्रा० ८।६) इति श्रुतेश्च सर्वेषां देवानामेष्वन्तर्भावादुचितस्त्रयस्त्रिंशस्तोमोऽन्ते निर्दिष्ट इति वेदितव्यम्। इत्थं प्रजापत्यनुष्ठितमर्थं दृष्टान्तत्वेन प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकतया यजमानेऽपि योजयति—तथैवैतद्यजमानः सर्वाणि भूतानि त्रयस्त्रिंशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योः स्पृणोतीति। अन्तिमवाक्ये तथैवैतदित्यभिधानमितरवाक्येष्वप्येवं द्रष्टव्यमित्यवगमयितुम्। यद्वास्य सर्वोत्तमार्थपरत्वादस्मिन्नेवाभिधानं कृतमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे परचिते, यश्च यवानां पूर्वपक्षाधिष्ठातृदेवानां भागो हविर्लक्षणः, अयवानामपरपक्षाधिष्ठातृदेवानां च यदाधिपत्यम्, याश्च प्रीताः प्रजाः, यश्च चतुश्चत्वारिंशस्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि। यश्च ऋभूणां भागो यच्च विश्वेषां देवानामाधिपत्यं यच्च स्पृतं भूतं यश्च त्रयस्त्रिंशः स्तोमः, तत्सर्वं त्वमेवासि। इत्थं ब्रह्मरूपायाश्चितेः सार्वात्म्यमिह विवक्षितम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, यस्त्वं यवानां मिश्रितानां भागः शरदृतुरिवासि, योऽयवानाममिश्रितानामाधिपत्यं प्राप्य प्रजाः स्पृताः करोति, यश्चतुश्चत्वारिंश स्तोमः, ऋभूणां मेधाविनाम्, 'ऋभुरिति मेधाविनामसु' (निघ० ३।१५।८), भागोऽसि, विश्वेषां देवानां भूतं स्पृतं सेवितमाधिपत्यं प्राप्य यस्त्रयस्त्रिंशः स्तोमोऽसि, स त्वमस्माभिः सत्कर्तव्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणेऽप्यसङ्गतेस्तादवस्थ्यात्, स्तोमानामर्थानवगमाच्च। शरदृतुः कथं यवानां भागः सेवनीयः? कथमयवानामाधिपत्येन प्रजानां स्परणम्? चतुश्चत्वारिंशः कोऽयं स्तुत्यः? इत्याद्यनुपपत्तेः॥ २६॥

सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे। हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥ २७॥

मन्त्रार्थ—मार्गशीर्ष और पौष ये दोनों मास हेमन्त ऋतु के अवयव हैं। हे ऋतुरूप दोनों इष्टकाओं! तुम चीयमान अग्नि के अन्तर में स्थिर होकर दृढ़ता से बंठने के लिये लगाई गई हो, मुझ यजमान के उत्कर्ष के लिये यह द्युलोक और भूलोक अपने योग्य उपकार की कल्पना करें। जल और औषधि हमारा प्राधान्य सम्पादन करें। समान व्रत वाली अनेक नामों वाली अग्नि स्वयमातृण्णा आदि इष्टकाओं में उत्कर्ष का आधान करें, यह द्यावापृथिवी के मध्य में वर्तमान एक मन वाली अग्नियाँ हेमन्त ऋतु का सम्पादन कर इस कर्म को आश्रय दें। जैसे देवता इन्द्र की परिचर्या कर अपने अभीष्ट को पाते हैं, उसी प्रकार हमारी सारी इच्छाएँ इन इष्टकाओं के द्वारा प्राप्त हों। हे इष्टके! उस प्रसिद्ध देवता द्वारा अंगिरा के समान स्थिर होकर तुम यहाँ स्थित रहो॥ २७॥

'ऋतव्ये सहश्च सहस्यश्चेति' (का० श्रौ० १७।१०।१६)। अनूकमभित एकैकां पद्याम्, अर्थाद् द्वे पद्ये सहश्च सहस्यश्चेति मन्त्रेणोपदध्यादिति सूत्रार्थः। ऋतुदेवत्यं यजुः। सहो मार्गशीर्षः, सहस्यः पौषः। एतौ हैमन्त्विकौ हेमन्तावयवौ। शिष्टा कण्डिका (१३।२५) इत्यत्र व्याख्यातपूर्वा।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथर्तव्ये उपदधाति। ऋतव एते यदृतव्ये ऋतूनेवैतदुपदधाति सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू इति नामनी एनयोरेते नामभ्यामेवैने एतदुपदधाति द्वे इष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोति' (श० ८।४।२।१४)। अथर्तव्ये उपदधातीत्यादिकमृतव्येष्टकाब्राह्मणं पूर्वचितिब्राह्मणवद् व्याख्येयम्। 'तद्यदेते अत्रोपदधाति। संवत्सर एषोऽग्निरिम उ लोकाः संवत्सरस्तस्य यदूर्ध्वमन्तरिक्षादर्वाचीनं दिवस्तदस्यैषा चतुर्थी चितिस्तद्वस्य हेमन्त ऋतुस्तद्यदेते अत्रोपदधाति यदेवास्यैते आत्मनस्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मादेते अत्रोपदधाति' (श० ८।४।२।१५)। 'यद्वेवैते अत्रोपदधाति। प्रजापतिरेषोऽग्निः संवत्सर उ प्रजापतिस्तस्य यदूर्ध्वं मध्यादवाचीनꣳ शीर्ष्णस्तदस्यैषा चतुर्थी चितिस्तद्वस्य हेमन्त ऋतुस्तद्यदेते अत्रोपदधाति यदेवास्यैते आत्मनस्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मादेते अत्रोपदधाति' (श० ८।४।२।१६)। 'प्रजापतिरेषोऽग्निः, संवत्सर उ प्रजापतिः' इत्यर्थवादद्वयेन प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकं संवत्सरात्मकं चेति यद्रूपद्वयम्, यच्च तस्य विश्लिष्टमङ्गम्, तत्प्रतिसन्धानस्थानीयमिति ऋतव्ययोः स्तुतिः कृतेति तात्पर्यार्थः। अन्यत्सर्वं पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

आध्यात्मिकोऽर्थः पूर्वव्याख्यानस्थले पठनीयः।

दयानन्दीयं व्याख्यानं तत्समीक्षा चेत्युभयं तत्रैवावलोकनीयम्॥ २७॥

एकयाऽस्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत्तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानाम्पतिरधिपतिरासीत् सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताऽधिपतिरासीत्॥ २८॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने एक ही वाणी के साथ आत्मा की स्तुति की। उससे सारी प्रजा उत्पन्न हुई। प्रजापति उसके स्वामी बने। प्रजापति ने प्राण, उदान और व्यान से स्तुति कर वेदों की रचना की। वे वेदकर्ता कहलाये। प्रजापति ने पाँच प्राणों से स्तुति की। उससे पाँच भूत और सम्पूर्ण प्राणी प्रकट हुए। भूतपति महादेव उनके स्वामी हुए। प्रजापति ने दो कान, दो नासिका, दो आँख और एक जिह्वा—इन सातों की सहायता से स्तुति की। इससे सात ऋषि प्रकट हुए। जगत् के कर्ता देव उनके स्वामी बने॥ २८॥

'रेतःसिग्वेलायां च सप्तदश सर्वतो नव दक्षिणेनानूकꣳ सृष्टीरेकयाऽस्तुवतेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।१०।१७)। सर्वासु दिक्षु रेतःसिग्वेलायां सृष्टिसंज्ञकाः सप्तदशेष्टका उपदध्यात्। तासां मध्ये प्रागनूकं दक्षिणेन नव, उत्तरेणाष्टौ। तेन प्रतिदिशं चतस्रश्चतस्रः पद्या दक्षिणतः पञ्चेति सूत्रार्थः। सप्तदश यजूंषि सृष्टीष्टकादेवत्यानि। कण्डिकार्थस्य स्पष्टतया प्रतिपत्त्यर्थं पूर्वं ब्राह्मणमुद्ध्रियते।

'अथ सृष्टीरुपदधाति। एतद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वाऽकामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति' (श० ८।४।३।१)। 'स प्राणानब्रवीत्। युष्माभिः सहेमाः प्रजाः प्रजनयानीति ते वै केन स्तोष्यामह इति मया चैव युष्माभिश्चेति तथेति ते प्राणैश्चैव प्रजापतिना चास्तुवत यदु ह किञ्च देवाः कुर्वते स्तोमेनैव तत्कुर्वते यज्ञो वै स्तोमो यज्ञेनैवतत्कुर्वते तस्मादु सर्वास्वेवाऽस्तुवताऽस्तुवतेत्यनुवर्तते' (श० ८।४।३।२)। सृष्टिसंज्ञकाः

इष्टकाः विधाय स्तौति— अथ सृष्टीरुपदधातीत्यादिना। 'तद्यदसृजत तस्मात् सृष्टयः' (श० ८।४।३।२०) इति श्रुतेः सृष्टिशब्दोपेतमन्त्रैरुपधेयत्वात् सृष्टिशब्दवाच्यता। यद्यपि 'एकयाऽस्तुवत, सप्तविंशत्याऽस्तुवत' (श०८।४।३।२-१९) इत्यादौ सृष्टिशब्दो नास्ति, तथापि धातुमात्रं सृष्टानां प्राणिनां तत्सृष्टीनां च समूहे वर्तते। नहि कोऽपि धातुरेतं व्यभिचरतीति सर्वासामिष्टकानां सृष्टिशब्दवाच्यता द्रष्टव्या। पुरा प्रजापतिः पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वाणि भूतानि ब्रह्मक्षत्रादीनि पाप्मनो मृत्योः सकाशात् सर्वभूतानां स्वव्यक्तिरूपत्वाद् भूतसमष्टिरूपः स्वयं मृत्योः सकाशान्मुक्तः सन्नित्यर्थः। यद्वा भूतानां गर्भरूपावस्थानस्योक्तत्वात्तानि स्वयं मुक्त्वा इत्युच्यते। यद्वा मुक्त्वा मोचयित्वा देहारम्भककर्माणि तत्संस्कारविशेषांश्च प्रादुर्भाव्येत्यर्थः। अकामयत। किमिति ? प्रजाः सृजेयेति। सृष्टाभिस्ताभिः स्वयमेव प्रजायेयेत्यकामयत। स स्वयमेक एवाशक्तः सन् युष्माभिः सहितः प्रजायेयेति प्राणानब्रवीत्। प्रजापतेः स्थूलशरीरत्वात् प्राणाभावे केवलस्य शरीरस्य निर्वाहाभावात् सृज्यमानस्य प्राणिजातस्य शरीरप्राणसङ्घातात्मकत्वात् प्राणसाहाय्यमपेक्षितवानित्यभिप्रायः। इत्थं सृष्टिपुरुषसामग्रीमभिधाय सृष्टेः सामर्थ्यसव्यपेक्षत्वात् तस्याश्च कर्मजन्यत्वात् तद्रूपां सामग्रीं दर्शयति—ते वै केन स्तोष्यामह इति, अब्रुवन्निति शेषः। स्वव्यतिरिक्तस्य कस्याप्यन्यस्याभावाद् उद्गात्रादिस्थानीयेन केन स्तोष्यामह इति पृष्टवन्तः। अलमन्यैरस्मद्व्यतिरिक्तैः, परं मया च युष्माभिश्च स्तोष्यामह इति प्रजापतिरब्रवीत्। तथेति प्राणा अङ्गीकृत्य ते प्राणा प्रजापतयः प्राणैः स्वस्वरूपेण प्रजापतिना चास्तुवत। स्वात्मानमेव देवत्वादनन्यतयाऽभिधानम्, स्वयमेव कर्तारः स्वैरेव कारणभूतैरस्तुवतेत्यर्थः। स्तोत्रं त्रिवृदादिस्तोमसाध्यम्। स च स्तोमः किमर्थमपेक्ष्यत इत्यत आह—यद् ह किञ्च देवाः कुर्वत इति। यज्ञो वै स्तोम इति। स्तोमप्राधान्याज्ज्योतिष्टोमादियज्ञो नाम स्तोम एवेत्यर्थः। अस्तुवतास्तुवतेत्यनुवर्तत इति। तस्मात् सर्वस्या विकृतेः स्तोमसाध्यत्वात् सर्वास्विष्टकासु तत्तत्सृष्ट्यभिधायकेष्टकामन्त्र इति यावत्।

अयमभिप्रायः—प्रजापतिरिन्द्रियाद्यधिष्ठातृदेवान् मां स्तुवध्वमित्यब्रवीत्। ते च देवाः केन स्तोष्यामह इत्यवोचन्। एवमुक्तः प्रजापतिर्मया च युष्माभिश्च स्तुतिः करिष्यत इति प्रोवाच। इत्थं सर्वं निदानं स्पष्टमुक्तमुद्धृते ब्राह्मणे। 'एकयाऽस्तुवतेति। वाग्वा एका वाचैव तदस्तुवत प्रजा अधीयन्तेति प्रजा अत्राधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीदिति प्रजापतिरत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।३)। तत्र प्रथमेष्टकामन्त्रं विधाय व्याचष्टे—वाग्वा एकेत्यादिना। यद्यपि परापश्यन्त्यादिभेदेन बहुविधा वाक्, तथापि वागात्मना एकत्वात् 'वाग्वा एका' इत्याह श्रुतिः। तत् तेन एकयाऽस्तुवतेति मन्त्रपाठेन वाच एकत्वात् साक्षाद् वाचैवाऽस्तुवत। यद्वा तदा प्रजासृष्टिसमये वाचैवाऽस्तुवत, अतो मन्त्रः 'एकयाऽस्तुवत' इत्याहेत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम्। एकया स्तोत्रियया अस्तुवत, एकेन स्तोमेनाऽस्तुवतेत्यर्थः। सैवैका स्तोत्रिया वागात्मना स्तुता भवति। भागान्तरमुदाहृत्य व्याचष्टे—प्रजा अधीयन्तेति प्रजा अत्राधीयन्तेति। अत्र सृष्टिप्रस्तावे प्रजा धारिता आसन्। दधातेः कर्मणि लङि बहुवचने रूपम्। अतः प्रजा अधीयन्तेति मन्त्र आहेत्यर्थः। अपरं भागान्तरमुदाहृत्य व्याचष्टे—प्रजापतिरधिपतिरासीदिति। अत्र प्रजासृष्टौ प्रजापतिः प्रजास्वाधिपत्यवानासीत्। तस्मान्मन्त्रः प्रजापतिरधिपतिरासीदित्याहेत्यर्थः। एवमुत्तरत्र षोडशमन्त्राणां तद्ब्राह्मणानां चापि व्याख्यानं द्रष्टव्यम्। अधीयन्तेत्यस्य स्थानेऽसृज्यन्तेति विशेषः।

प्रजापतिरेकया वाचा सहात्मानमस्तुवत अस्तुत स्तुतवान्। एनं देवाः प्रथममस्तुवत स्तुतिमकुर्वन्। ततः प्रजापतिना प्रजा अधीयन्त उदपाद्यन्त। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' प्रजापत्यर्थमस्थाप्यन्तेति वा। सृष्टानां

प्रजानां प्रजापतिरेवाधिपतिरासीत् । एवं षोडश मन्त्रा व्याख्येयाः । तिसृभिः प्राणोदानव्यानैरस्तुवत अस्तुत । ब्रह्म ब्राह्मणजातिरसृज्यत सृष्टा । ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीद् ब्रह्मणस्पतिर्ब्राह्मणजातेः स्वाम्यभूत् । पञ्चभिः प्राणैरस्तुवत अस्तौत् । भूतानि पञ्चमहाभूतानि, असृज्यन्त सृष्टानि । भूतानां पतिर्देवविशेषोऽधिपतिरासीत् तेषां स्वाम्यभूत् । सप्तभिः श्रोत्रचक्षुर्नासावाग्रूपैः सप्तशीर्षण्यप्राणैरस्तुवत अस्तौत् । सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त सृष्टाः । धाता जगत्स्रष्टा आद्यो देवोऽधिपतिरासीत् स्वाम्यभूदिति मन्त्रार्थः ।

'तिसृभिरस्तुवतेति । त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तैरेव तदस्तुवत ब्रह्मासृज्यतेति····ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीदिति ब्रह्मणस्पतिरत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।४) । ब्रह्म सर्वसृष्टिसाधनभूतो वेदराशिर्ब्रह्मेत्युच्यते, ब्रह्मणस्पतिस्तत्पालकश्च चतुर्वक्त्रोऽधिपतिरासीत् । यद्वा उत्तरत्र पञ्चदशभिरस्तुवतेत्यत्र पञ्चदशेन स्तोमेन क्षत्रसृष्टेरभिधास्यमानत्वादत्र त्रिवृत्स्तोमेन ब्राह्मणजातिर्विवक्षिता । तत्र ब्रह्मणस्पतिरग्निरधिपतिरुच्यते, 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' (श० ११।५।४।१२) इति श्रुतेः । 'पञ्चभिरस्तुवतेति । य एवेमे मनःपञ्चमाः प्राणास्तैरेव तदस्तुवत भूतान्यसृज्यन्तेति भूतान्यत्रासृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीदिति भूतानां पतिरत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।५) । मनःपञ्चमा इति । मन एकम्, पूर्वोक्ताः वाक्प्राणोदानव्यानाश्चेत्यवगन्तव्यम् । 'सप्तभिरस्तुवतेति । य एवेमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तैरेव तदस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्तेति सप्तर्षयोऽत्रासृज्यन्त धाताऽधिपतिरासीदिति धाताऽत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।६) । चक्षुःश्रोत्रनासारन्ध्रगताः षट् प्राणाः, वदनस्थ एक इति सप्त शीर्षण्याः प्राणाः । सप्त ऋषय इति । भरद्वाजः कश्यपोऽत्रिर्गौतमो विश्वामित्रो जमदग्निर्वशिष्ठः सप्तर्षयः । धाता देवता तेषामधिपतिरासीत् ।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिः परमात्मा एकया वाचा प्रधानभूतया वाग्देवीरूपया सरस्वत्या तं परमात्मानमस्तौत् । तेन प्रजा उत्पादिताः । तासां प्रजापतिरेवाधिपतिरासीत् । पुनस्तिसृभिः प्राणोदानव्यानैरस्तौत् । ब्रह्म ब्राह्मणजातिः सृष्टा । ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् तिसृभिरिति स्त्रीलिङ्गप्रयोगस्तु तदभिमानिदेवताभिप्रायेण । शेषं पूर्ववत् । अग्रिममन्त्रस्याप्येवमेवाध्यात्मिकोऽर्थो ज्ञातव्यः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यः प्रजापतिरधिपतिः सर्वस्य स्वामीश्वर आसीत्तमेकया वाण्यास्तुवत स्तुवन्तु, सर्वा प्रजाश्चाधीयन्त अधीयताम् । यो ब्रह्मणस्पतिर्वेदस्य पालकोऽधिपतिरासीत्, येनेदं सर्वविद्यामयं ब्रह्म वेदोऽसृज्यत, तं तिसृभिः प्राणोदानव्यानगतिभिरस्तुवत स्तुवन्तु । येन भूतान्यसृजन्त यो भूतानां पतिरधिपतिरासीत् सर्वे मनुष्याः पञ्चभिः समानचित्तबुद्ध्यहङ्कारमनोभिः स्तुवन्तु । येन पञ्च मुख्याः प्राणा महत्तत्त्वमहङ्कारश्चेति सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त, यो धाताधिपतिरासीत् । सप्तभिर्नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयेच्छाप्रयत्नैः स्तुवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात् । 'प्रजा अधीयन्त वेदद्वारा विद्यायुक्ताः कृताः' इत्यपि निर्मूलम् । तथैव 'तिसृभिः प्राणोदानव्यानगतिभिः स्तुवन्तु' इत्यपि निर्मूलम्, ताभिः स्तुतेरसम्भवात् । चेतनाधिष्ठातारोऽभ्युपेयन्ते चेत्, तदापसिद्धान्तापातः । एवमुपरिष्टादपि दोषा अनुसन्धेयाः । श्रुतिविरोधस्तु पूर्वोक्तव्याख्यानेन स्पष्ट एव, उपरिष्टादसृज्यत असृज्यन्तेत्यादिश्रुतिभिस्तस्य स्पष्टीकृतत्वात् । एवमेव प्रजा अधीयन्त इत्यत्रापि सृष्टिप्रस्तावे प्रजा धारिता आसन्नित्येवार्थः, उदपाद्यन्तेति वा, अत्र प्रकरणेऽधीतेरप्रसङ्गात् । दधातेः कर्मणि लङि बहुवचने रूपमिति प्रागुक्तमेव । उदपाद्यन्तेत्यर्थः ॥ २८ ॥

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदेकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तार्तवा अधिपतय आसंस्त्रयोदशभिरस्तुवत मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत् सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने सात शिरोभाग स्थित द्वार और दो नीचे के द्वार, कुल नौ द्वार वाले शरीर को धारण करने वाले प्राणों की सहायता से प्रार्थना की । उससे अग्निष्वात्त आदि पितृगण उत्पन्न हुए । प्रजापति की अखण्डित शक्ति उनकी स्वामिनी बनी । इसीलिये पितृगण अपनी इस अखण्ड शक्ति की सहायता से श्राद्ध करने वालों के पास सब जगह पहुँच जाते हैं । प्रजापति ने दस प्राण और ग्यारहवीं आत्मा की सहायता से स्तुति की । उससे बसन्त आदि ऋतुएँ प्रकट हुईं । उनके ऋतुपालक देवविशेष स्वामी बने, प्रजापति ने दस प्राण, दो पाद (प्रतिष्ठा), एक आत्मा इन तेरह अभ्यन्तरीय संस्थानों से स्तुति की । उससे अधिमास सहित चैत्र आदि बारह मास उत्पन्न हुए । दो अयनों का अभिमानी वही उनका पालक हुआ । प्रजापति ने दस हाथ की अंगुलियाँ, दो हाथ, दो भुजा, एक नाभि का ऊर्ध्व भाग—इन पंचदश संस्थानों की सहायता से स्तुति की और क्षत्रिय जाति को उत्पन्न किया । इनका स्वामी इन्द्र बना । प्रजापति ने दस पैर की अंगुलियाँ, दो ऊरू, दो जानु, दो पाद और नाभि का अधोभाग—इन सत्रह अवयवों की सहायता से स्तुति की । इससे ग्राम के गौ आदि पशुओं की रचना हुई । बृहस्पति इनके स्वामी बने ।। २९ ।।

नवभिः सप्त शिरःप्राणा द्वावधो मलमूत्रत्यागमार्गस्थाविति सम्भूय नव प्राणास्तैः प्रजापतिरस्तौत् । ततः पितरोऽग्निष्वात्तादयः सृष्टाः । अदितिरखण्डिता प्रजापतिशक्तिः सृष्टानां पितॄणामधिपत्नी स्वामित्वेनाधिकं पालयित्री आसीत् । एकादशभिः पूर्वोक्ता नव प्राणाः, दशमो नाभिः, एकादश आत्मा शरीरम्, तैरस्तुवत । ततो वसन्तादय ऋतवः सृष्टाः । आर्तवा ऋत्वभिमानिनो देवास्तेषां स्वामिनोऽभूवन् । त्रयोदशभिः, उक्ता एकादश द्वौ पादौ च सम्भूय त्रयोदश । तैः प्रजापतिरस्तौत् । ततो मासाश्चैत्रादयः सृष्टाः । षण्मासाभिमान्ययनद्वयात्मकः संवत्सरस्तेषामधिपतिरासीत् । पञ्चदशभिः, दश हस्ताङ्गुलयः करौ बाहू नाभेरूर्ध्वभागश्च तैरस्तौत् । ततः क्षत्रं क्षत्रियजातिः सृष्टा । इन्द्र ऐश्वर्यशाली तदभिमानी देवस्तस्याः स्वाम्यभूत् । सप्तदशभिः पादाङ्गुलयो दश ऊरू जानुनी पादौ नाभेरधोभागश्चेति । तैरेव प्रजापतिरस्तौत् । ततो ग्राम्या गवाश्वादयः पशवोऽजायन्त । बृहस्पतिस्तेषां स्वाम्यभूत् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'नवभिरस्तुवतेति । नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तैरेव तदस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तेति पितरोऽत्रासृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदित्यदितिरत्राधिपत्न्यासीत्' (श० ८।४।३।७) । अवाञ्चौ द्वाविति । मलमूत्रद्वारस्थावित्यर्थः । पितरोऽग्निष्वात्ता बर्हिषदश्च असृज्यन्त । देवमाता अदितिरदीनत्वात् पितॄणामधिपत्न्यासीत् । 'एकादशभिरस्तुवतेति । दश प्राणा आत्मैकादशस्तेनैव तदस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तेत्यृतवोऽत्रासृज्यन्तार्तवा अधिपतय आसन्नित्यार्तवा अत्राधिपतय आसन्' (श० ८।४।३।८) । 'नाभिर्दशमो' (तै० ब्रा० १।३।७।४) इति श्रुत्यन्तरान्नवभिः सहिताः पूर्वोक्ता दश, आत्मा देहः स चैकादशः । तस्मै एकादशाय अस्तुवत । आर्तवा ऋत्वभिमानिदेवाः, तेषामधिपतय आसन् ।

'त्रयोदशभिरस्तुवतेति। दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोदशस्तेनैव तदस्तुवत मासा असृज्यन्तेति मासा अत्रासृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीदिति संवत्सरोऽत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।९)। द्वे प्रतिष्ठे इति द्वौ पादावित्यर्थः। अन्यत् स्पष्टम्। 'पञ्चदशभिरस्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि यदूर्ध्वं नाभेस्तत्पञ्चदशं तेनैव तदस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेति क्षत्रमत्रासृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीदितीन्द्रोऽत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।१०)। अत्र हस्तद्वयगता दशाङ्गुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि दोर्द्वयं बाहुद्वयमिति चत्वारीत्यर्थः। नाभेरुपरिष्टाद्भागः सर्वोऽपि पञ्चदशः। क्षत्रं क्षत्रियजातिरसृज्यत, इन्द्रस्तस्या अधिपतिरासीत्। 'सप्तदशभिरस्तुवतेति। दश पाद्या अङ्गुलयश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ्नाभेस्तत्सप्तदशं तेनैव तदस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्तेति ग्राम्याः पशवोऽत्रासृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीदिति बृहस्पतिरत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।११)। पाद्याः पादयोर्भवा अङ्गुलयो दश, ऊर्वष्ठीवानि चत्वारि ऊरुद्वयमष्ठीवद्द्वयं च। अष्ठीवच्छब्देन जानुमण्डलभाग उच्यते। द्वे प्रतिष्ठे द्वौ पादौ। नाभेरधोभागः सप्तदशसंख्यापूरणः। ग्राम्याः पशवो गोमहिषाजादयः॥ २९॥

न॒व॒द॒शभि॑रस्तुवत शू॒द्रा॒र्याव॑सृज्येतामहोरा॒त्रे अधि॑पत्नी आस्ता॒मेक॑वि॒ꣳ शत्याऽस्तुवतै॒क॑शफाः प॒शवो॑ऽसृज्यन्त॒ व॒रुणो॒ऽधि॑पतिरासी॒त् त्रयो॑वि॒ꣳ शत्याऽस्तुवत क्षु॒द्राः प॒शवो॑ऽसृज्यन्त पू॒षाधि॑पतिरासी॒त् पञ्च॑वि॒ꣳ शत्याऽस्तुवतार॒ण्याः प॒शवो॑ऽसृज्यन्त वा॒युरधि॑पतिरासी॒त् स॒प्तवि॑ꣳ शत्याऽस्तुवत द्यावा॑पृथि॒वी व्यै॑तां॒ वस॑वो रु॒द्रा आ॑दि॒त्या अ॑नु॒व्या॑य॒स्त ए॒वाधि॑पतय आस॒न्॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने दस हाथ की अँगुलियों और ऊपर नीचे के नवद्वाररूप नौ प्राणों से स्तुति की। उससे शूद्र और वैश्य जाति उत्पन्न हुई। दिन और रात उनके स्वामी बने। बीस हाथ पैर की अँगुलियों और एक आत्मा से प्रजापति ने स्तुति की। इससे एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए। वरुण उनके स्वामी बने। बीस हाथ पैर की अँगुलियों, दो चरणों और एक आत्मा से प्रजापति ने स्तुति की। इससे क्षुद्र पशु अजा आदि उत्पन्न हुए। पूषा उनके स्वामी बने। बीस हाथ पैर की अँगुलियों, दो हाथ, दो चरण और एक आत्मा की सहायता से प्रजापति ने स्तुति की। उससे वन के कृष्णमृग आदि पशु उत्पन्न हुए। वायु उनके स्वामी बने। बीस हाथ-पैर की अँगुलियों, दो भुजाओं, दो ऊरु, दो प्रतिष्ठा, एक आत्मा इन सत्ताईस अवयवों की सहायता से प्रजापति ने स्तुति की। इससे स्वर्गलोक, भूलोक और अन्तरिक्ष लोक प्रकट हुए। वसुगण, रुद्रगण और आदित्यगण इनके अनुगत होने से क्रमशः यही तीन उक्त तीनों लोकों के स्वामी बने॥ ३०॥

नवदशभिः, दश हस्ताङ्गुलय ऊर्ध्वाधश्छिद्ररूपा नव प्राणाश्च नवदश, तैरस्तौत्। ततः शूद्रार्यौ शूद्रवैश्यौ असृजेतां सृष्टौ, 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति पाणिनिस्मरणात्। अहोरात्रे तयोः स्वामित्वेनास्ताम्। एकविंशत्या विंशतिः करचरणाङ्गुलय आत्मा चेत्येकविंशतिस्तया अस्तौत्। तत एकशफाः पशवोऽश्वादयः सृष्टाः। एकं शफं खुरः प्रतिपादं येषां ते, 'शफं क्लीबे खुरः पुमान्' (अ० को० २।८।४९) इत्यमरकोषवचनात्। वरुणस्तेषामधिपतिरासीत्। त्रयोविंशत्या करपादाङ्गुलयोविंशतिः पादौ आत्मा चेति त्रयोविंशतिस्तया अस्तौत्। ततः क्षुद्राः पशवोऽजादयः सृष्टाः। तेषां स्वामी पूषाऽभूत्। पञ्चविंशत्या विंशतिः करपादाङ्गुलयः करौ पादौ आत्मा चेति तैरस्तौत्। तत आरण्याः पशवः कृष्णमृगादयः सृष्टाः। तेषां स्वामी वायुरभूत्। सप्तविंशत्या

करपादाङ्गुलयः करौ पादौ आत्मा चेति तैरस्तौत्। ततो द्यावापृथिवी द्युभूलोकौ व्यैतां विशेषेण आगच्छतामित्यर्थः। विपूर्वादिण्गताविति धातोर्लङि प्रथमपुरुषद्विवचनम्। वसवोऽष्टौ रुद्रा एकादश आदित्या द्वादशेति ते अनुव्यायन् अन्वगच्छन्। त एव स्वामिनोऽभूवन्।

अत्र ब्राह्मणम्—'नवदशभिरस्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो नव प्राणास्तैरेव तदस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामिति शूद्रार्यावत्रासृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्तामित्यहोरात्रे अत्राधिपत्नी आस्ताम्' (श० ८।४।३।१२)। 'एकविꣳशत्याऽस्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविꣳशस्तेनैव तदस्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्तेत्येकशफाः पशवोऽत्रासृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीदिति वरुणोऽत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।१३)। एकशफाः पशवः गर्दभाश्वादयः, 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' (श० १३।२।२।१९) इति श्रुतेः, अपां च वरुणस्वामिकत्वादेकशफानां वरुणोऽधिपतिरासीदित्युक्तम्। 'त्रयोविꣳशत्यास्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोविꣳशस्तेनैव तदस्तुवत क्षुद्राः पशवोऽत्रासृज्यन्त····पूषाधिपतिरासीदिति पूषात्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।१४)। क्षुद्राः पशवोऽजाविप्रभृतयः, तेषां पूषा पुष्ट्यभिमानी देवोऽधिपतिः स्वामी इत्यभिप्रायः। 'पञ्चविꣳशत्यास्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्याश्चत्वार्यङ्गान्यात्मा पञ्चविꣳशस्तेनैव तदस्तुवतारण्याः पशवोऽसृज्यन्तेत्यारण्याः पशवोऽत्रासृज्यन्त वायुरधिपतिरासीदिति वायुरत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।१५)। चत्वार्यङ्गानीति द्वौ पादौ पाणी चेत्यर्थः। आरण्यानां वायुरधिपतिरित्यर्थः। 'सप्तविꣳशत्यास्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्याश्चत्वार्यङ्गानि द्वे प्रतिष्ठे आत्मा सप्तविꣳशस्तेनैव तदस्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतामिति द्यावापृथिवी अत्र व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या····अत्रानुव्यायंस्त एवाधिपतय आसन्निति त उ एवात्राधिपतय आसन्' (श० ८।४।३।१६)। द्यावापृथिवी अत्र व्यैतामिति। पूर्वसृष्टे द्यावापृथिव्यौ प्राण्युपकारार्थं विभक्ते अभवताम्। संसर्गस्तु शाखान्तर उक्तः—[1]'द्यावापृथिवी संसृष्टे आस्तां ते वियती अब्रूताम्' (तै० ब्रा० १।१।३।२)। द्यावापृथिव्योर्ग्रहणेन तदन्तरालवर्तिनोऽन्तरिक्षस्यापि ग्रहणं बोध्यम्। अत एव तत्तत्स्वामिनो वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायन्नित्युक्तम्।

अध्यात्मपक्षे—नवदशभिः पूर्वोक्तैः परमात्मानं प्रजापतिरस्तौत्, ततः शूद्रार्यावसृज्येताम्, अहोरात्रे तयोरधिपत्नी स्वामिनावभूताम्। एवमेवान्यदपि व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं येनोत्पादिते अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्, येन शूद्रार्यावसृज्येताम्, तं परमात्मानमेकविंशत्यास्तुवत। येन निर्मितः पूषाधिपतिरासीत्, येन पशवोऽसृज्यन्त, तं त्रयोविंशत्यास्तुवत। येनोत्पादितो वायुरधिपतिरासीत्, येनारण्याः पशवोऽसृज्यन्त, तं पञ्चविंशत्यास्तुवत। येन सृष्टे द्यावापृथिवी व्यैताम्, येन रचिता वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायन्, तं सप्तविंशत्यास्तुवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गात्। तथाहि–शूद्रार्यावित्यत्र शूद्रस्यार्यस्य चोत्पत्तावभ्युपगम्यमानायां शूद्रा आर्यपदव्यपदेश्यायोग्या इत्यायातम्। सामाजिकैस्तु सर्व एवार्या उच्यन्त इत्यपसिद्धान्तापातः सुस्थिरः। किञ्चात्र पूर्वं ब्रह्मक्षत्रिययोरुत्पत्तिः समाम्नाता, तेनात्र शूद्रवैश्ययोरेवोत्पत्तिर्वक्तव्या। अत एव सिद्धान्तव्याख्याने 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' इति पाणिनिसूत्रमुद्धृतम्। 'मनुष्याणां त्रयोविंशतिसंख्याकैरवयवैः स्तुवन्तु' इत्यपि यत्किञ्चित्, अवयवेषु स्तावकत्वानुपपत्तेः। सिद्धान्ते तु स्रष्टुर्गुणाभिव्यञ्जनरूपा स्तुतिः सम्भवत्येव, 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (ब्र० सू० २।१।५) इति न्यायात्। तदधिष्ठातृदेवैर्वा तत्सम्भवः॥ ३०॥

---

१. तत्र तु—'द्यावापृथिवी सहास्तां ते वियती अब्रूताम्' इति पाठः।

नवविँ्शत्याऽस्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीदेकत्रिँ्शताऽस्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसंस्त्रयस्त्रिँ्शताऽस्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासील्लोकं ता इन्द्रम् ।। ३१ ।।

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयसंहितायां चतुर्दशोऽध्यायः ।।

मन्त्रार्थ—बीस हाथ पैर की अंगुलियों और नौ प्राणों के छिद्रों से प्रजापति ने स्तुति की। इससे वनस्पति, अश्वत्थ, वट आदि की रचना की। उनके स्वामी सोम बने। बीस हाथ पैर की अंगुलियों, दस इन्द्रियों और एक आत्मा इन इकतीस अवयवों की सहायता से प्रजापति ने स्तुति की। इससे अन्यान्य सारी प्रजा की सृष्टि हुई। पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष इनके स्वामी बने। बीस अंगुलियों, दस इन्द्रियों, दो पाद और आत्मा इन तैंतीस अवयवों से प्रजापति ने स्तुति की। इससे अब तक उत्पन्न समस्त प्राणियों को शान्ति का लाभ हुआ, सारी प्रजा सुखपूर्वक रहने लगी। सत्य लोक में स्थित होने वाले प्रजापालक ईश्वर उनके स्वामी बने ।। ३१ ।।

नवविंशत्या करपादाङ्गुलयो विंशतिः, सप्त शीर्षण्याः प्राणाः, द्वाववाञ्चौ, सम्भूय नवविंशतिस्तया। ततो वनस्पतयोऽश्वत्थवटाद्याः सृष्टाः। तेषां स्वामी सोम आसीत्। एकत्रिंशता करपादाङ्गुलयो विंशतिः, दशेन्द्रियाणि, आत्मा चैकत्रिंशत् तैरस्तुवत। ततः प्रजाः सृष्टाः। यवाः पूर्वपक्षाः, अयवा अपरपक्षाः, स्वामिनोऽभूवन्। त्रयस्त्रिंशता अङ्गुलय इन्द्रियाणि पादौ आत्मेति। तैर्देवैः सह प्रजापतिरस्तवत। ततो भूतानि सर्वे प्राणिनोऽशाम्यन् शान्ताः सुखिनोऽभूवन् परमेष्ठी परमे सत्यलोके तिष्ठतीति परमेष्ठी प्रजापतिः सर्वभूतानामधिपतिरासीत्, अत्र या या इष्टका येन येन मन्त्रेणोपधेया सा सा तन्मन्त्रोपदिष्टदेवतारूपेण ध्येयेत्यर्थः। 'उत्तराँ्सादधि लोकम्पृणाः पूर्ववत्' (का०श्रौ० १७।१०।१८)। उत्तरांसादारभ्य प्रागनूकोत्तरांसाक्षणया देशान्तराले मध्यपर्यन्तं ततो दक्षिणपक्षपुच्छोत्तरपक्षेषु प्रथमचितिवल्लोकम्पृणा उपधाय प्रत्येत्य प्रागनूकस्य दक्षिणत आरभ्य प्रदक्षिणमुत्तरांसाक्षणयादेशपर्यन्तं पूर्ववल्लोकम्पृणा उपदध्यात्। पुरीषनिवपनं सप्तर्चोपस्थानं च कुर्यादिति सूत्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'नवविँ्शत्यास्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या नव प्राणास्तैरेव तदस्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्तेति वनस्पतयोऽत्रासृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीदिति सोमोऽत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।१७)। अत्र वनस्पतिशब्देन ओषध्यादयोऽपि विवक्षिताः, तासां पृथगनभिधानात्। 'एकत्रिँ्शतास्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा आत्मैकत्रिँ्शस्तेनैव तदस्तुवत प्रजा असृज्यन्तेति प्रजा अत्रासृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन्निति पूर्वपक्षापरपक्षा एवात्राधिपतय आसन्' (श० ८।३।१८)। विविच्याभिहितं संगृह्याभिधत्ते—प्रजा असृज्यन्तेति। तासां यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन्। अत एव प्रजा अधीयन्तेति न पुनरुक्तिः। तासां यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन्। सर्वासां प्रजानामुत्पत्तेः कालसव्यपेक्षत्वान्मासर्त्वादिकालस्य पूर्वपक्षापरपक्षावृत्तिसाध्यत्वात् तेषां तदधिपतित्वाभिधानमिति द्रष्टव्यम्। 'त्रयस्त्रिँ्शतास्तुवतेति। दश हस्त्याङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयस्त्रिँ्शस्तेनैव तदस्तुवत भूतान्यशाम्यन्निति सर्वाणि भूतान्यत्राशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीदिति प्रजापतिः परमेष्ठ्यत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।१९)। त्रयस्त्रिंशेन स्तोमेन स्तुते सर्वाणि भूतान्यशाम्यन्

अपगतोपद्रवाण्यभवन् । त्रयस्त्रिंशस्तोमो हि सर्वेषां स्तोमानां श्रेष्ठः । अतः परमे निरतिशये स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी, तादृशः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भोऽत्राधिपतिरिति यत्तम । 'ता वा एताः । सप्तदशेष्टका उपदधाति सप्तदशो वै संवत्सरः प्रजापतिः स प्रजनयिता तदेतेन वै सप्तदशेन संवत्सरेण प्रजापतिना प्रजनयित्रैताः प्रजाः प्राजनयत यत्प्राजनयदसृजत तदसृजत तस्मात् सृष्टयस्ताः सृष्ट्वात्मन्····प्रपादयते रेतःसिचोर्वेलया पृष्ट्यो वै रेतःसिचौ मध्यम् पृष्ट्यो मध्यत एवास्मिन्नेताः प्रजाः प्रपादयति सर्वत उपदधाति सर्वत एवास्मिन्नेताः प्रजाः प्रपादयति' (श० ८।४।३।२०) । इष्टकागतां संख्यां स्तौति—ता वा एता इति । संवत्सरात्मकः प्रजापतिः सप्तदशः सप्तदशसमुदायात्मकः, द्वादश मासाः पञ्चर्तव इति सप्तदशता । स एव भूतानां प्रजनयिता तत्स्रष्टव्यं जगत्सृष्ट्वा स प्रजापतिस्तेन सप्तदशेन सप्तदशसंख्यात्मकेन संवत्सरलक्षणेन प्रजापतिना स्वकीयकालात्मकशरीरेण प्रजनयित्रा सर्वोत्पादकेन एता ब्रह्मक्षत्रादिरूपाः प्रजाः प्राजनयद् उदपादयत् । सर्वेषामेवोत्पत्तिमतां कालत एवोत्पत्तेः प्रजनयितृत्वम् । तद्यदसृजत तस्मात् सर्जनात् सृष्ट्य इत्युक्तम् । ननु सृष्टाः प्रजाः कथमिष्टकाः सृष्ट्य इत्युच्यन्ते ? इति चेन्नैष दोषः, इष्टकासु तासामध्यस्तरूपत्वात् । अन्यत् पूर्वं व्याख्यातमेव ।

अध्यात्मपक्षे—देवैः सह प्रजापतिर्नवविंशत्या हस्तपादयोर्विंशतिरङ्गुलयो नव प्राणास्तैरेतैः परमात्मानमस्तौत् । ततः प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्च पूर्वापरपक्षास्तत्राधिपतय आसन् । तथैव एकत्रिंशताऽस्तौत् । ततो भूतान्यशाम्यन् शान्ताः सुखिनः सञ्जाताः । परमेष्ठी हिरण्यगर्भश्च तेषामधिपतिर्जातः । परमेश्वरानुग्रहेणैव प्रजापतिः सर्वमुत्पादितवान् । स एव सर्वजनकत्वात् सर्वाराध्य इत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं येनोत्पादिताः सोमोऽधिपतिरासीत्, येन ते वनस्पतयोऽसृज्यन्त तं जगदीश्वरं नवविंशत्या स्तुवन्तु । यासां यवा मिश्रिताः पर्वतादय त्रसरेणवः, अयवाः प्रकृत्यवयवाः सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः परमाणवश्चाधिपतय आसन्, ताः प्रजा येनासृज्यन्त तमेकत्रिंशतास्तुवत । यस्य प्रभावाद् भूतान्यशाम्यन्, यः प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्, तं त्रयस्त्रिंशतास्तुवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, येनोत्पादिताः सोम इत्यादेर्निर्मूलत्वात् । 'सोमेन ते वनस्पतय उदपाद्यन्त' इत्यप्यसाम्प्रतम्, निर्मूलत्वादेव । नवविंशतिरङ्गानि कानि ? कथं च तैस्तत्स्तुतिरित्याद्यनुक्तेः ॥ ३१ ॥

इति श्रीवेदार्थपारिजातभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् नुद जातवेदः ।
अधि नो ब्रूहि सुमना अहेडंस्तव स्याम शर्मंस्त्रिवरूथ उद्भौ ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे सबको जानने वाले अग्निदेव ! हमारे पूर्व उत्पन्न शत्रुओं को पूरी तरह से नष्ट कर दो । अब उत्पन्न होने वाले शत्रुओं को भी नष्ट कर दो । अच्छे मन से क्रोधरहित होकर हमें वर प्रदान करो । हे अग्निदेव ! आपकी प्रसन्नता के कारण सुख से सम्पन्न होकर हम मनुष्य, पशु, धन धान्य आदि के प्रभवस्थान सदोमण्डप, हविर्धान्य और आग्नीध्र नामक तीन स्थानों में सदा यज्ञ का अनुष्ठान करें ॥ १ ॥

चतुर्दशेऽध्याये द्वितीयतृतीयचतुर्थचितिमन्त्रा उक्ताः । पञ्चदशेऽध्याये पञ्चमचितिमन्त्रा उच्यन्ते । 'पञ्चम्यामन्तेष्वाश्विनीवदसपत्नाः, दक्षिणयोररत्न्यन्तरम्, अग्ने जातानिति प्रतिमन्त्रम्' (का०श्रौ० १७।११।१-३) । पञ्चम्यां चितौ प्रतिदिशमात्मनः प्रान्तेष्वाश्विनीवदसपत्नासंज्ञकाः पञ्चपद्या इष्टका 'अग्ने जातान्', 'सहसा जातान्', 'षोडशी' 'चतुश्चत्वारिꣳशः' 'अग्नेः पुरीषम्' इति पञ्चभिर्मन्त्रैरुपदध्यादिति सूत्रार्थः । पञ्चमचितिमन्त्राणां परमेष्ठी ऋषिः । तत्र द्वे अग्निदेवत्ये त्रिष्टुभौ । हे अग्ने, नः अस्माकं जातान् पूर्वमुत्पन्नान् सपत्नान् शत्रून् प्रणुद प्रकर्षेण नाशय । किञ्च, हे जातवेदः ! जातप्रज्ञान अग्ने ! अजातान् अनुत्पन्नांश्च इतः परमुत्पत्तिप्रसक्तियुक्तांश्च प्रतिनुद उत्पत्तिप्रतिबन्धेन निराकुरु । प्रतीत्युपसर्गव्यवधानमार्षम् । किञ्च, सुमनाः स्नेहानुबन्धेन सानुग्रहचित्तः, अहेडन् अनादरमकुर्वन्, अनुपेक्षमाण इत्यर्थः । नः अस्मान् अधिब्रूहि अधिवद, उपदिशेति यावत्, यज्ञसम्बन्धिनीमितिकर्तव्यतामिति शेषः । किञ्च, त्वत्सम्बन्धिनि त्रिवरूथे वरूथं गृहं त्रयाणां वरूथानां समाहारस्त्रिवरूथम्, तस्मिन् । अत्र यज्ञगृहे सदो हविर्धानाग्नीध्ररूपे । कीदृशे ? शर्मन् शर्मणि सुखाश्रये । पुनः कीदृशे ? उद्भौ उद्भवति समृध्यते द्विपदचतुष्पदधनधान्यादिभिरित्युद्भिः, तस्मिन् । वयं स्याम भवेम । आर्षोऽयं प्रयोगो भवतेर्डिप्रत्ययेन साधनीयः । नह्याकरे पञ्चपाद्यामुणाद्यां वा डिप्रत्ययोपलब्धिः । यद्वा हे अग्ने, जातान् उत्पन्नान् सपत्नान् समानपतित्वदर्शिनः प्रणुद प्रेरय नाशय अपुनरागमनायेति । प्रत्यजातान् प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञाय अजातान् अनुत्पन्नान् जनिष्यमाणान् नुद उत्पत्तिप्रतिबन्धेन अनुत्पादाय प्रेरय । शर्मन् शरणे आश्रये त्रिवरूथे त्रिपुरे उद्भौ उद्भिनत्ति अन्येषां यज्ञक्रतूनित्युद्भिः, तस्मिन् । शेषं पूर्ववत् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'पञ्चमीं चितिमुपदधाति । एतद्वै देवाश्चतुर्थीं चितिं चित्वा समारोहन् यदूर्ध्वमन्तरिक्षादर्वाचीनं दिवस्तदेव तत्संस्कृत्य समारोहन्' (८।५।१।१) । विराजामुपधानमुपन्यस्यति—पञ्चमीं चितिमित्यादि । कुत एतदिति चेत्—'तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्नित ऊर्ध्वमिच्छतेति ते चेतयमाना दिवमेव विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यंस्तेभ्य एष लोकोऽच्छदयत्' (श० ८।५।१।२) । 'ते चेतयमाना विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यन्' इति वचनात् 'एषा वै सा विराड् यां तद्देवा विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यन्' (श० ८।५।१।५) इति वचनाच्च तेभ्यो देवेभ्यः, एष लोको यो नाम अच्छदयत् अरुचत् । यद्यपि 'छद अपवारणे' इति चुरादौ पठ्यते, तथापि धातूनामनेकार्थत्वादत्र रुच्यर्थता । तथा सत्येव तेभ्य इत्यत्र 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (पा० सू० १।४।३३) इत्यनेन सम्प्रदानत्वं ततश्चतुर्थीति नान्या चतुर्थी युज्यते । 'तेऽकामयन्त ।

असपत्नमिमं लोकमनुपबाधं कुर्वीमहीति तेऽब्रुवन्नुप तज्जानीत यथेमं लोकमसपत्नमनुपबाधं करवामहा इति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेमं लोकमसपत्नमनुपबाधं करवामहा इति' (श० ८।५।१।३) । 'ते चेतयमानाः । एता इष्टका अपश्यन्नसपत्नास्ता उपादधत ताभिरेतं लोकमसपत्नमनुपबाधमकुर्वत····तस्मादेता असपत्नास्तथैवैतद्यजमानो यदेता उपदधात्येतमेवैतल्लोकमसपत्नमनुपबाधं कुरुते··· ' (श० ८।५।१।४) इति कण्डिकाद्वयेनैतेन असपत्नानां पञ्चानामिष्टकानामुपधानं तस्य च देवा द्रष्टार इत्युच्यते । सर्वतः सर्वासु दिक्षु । परार्द्धे परस्मिन्नग्नेर्मार्गेऽन्त्ये लोक इत्यर्थः । पञ्चम्या उपधानं च वक्ष्यति 'अन्तरेण दक्षिणस्यां दिश्याम्' (श० ८।५।१।१३) इति कण्डिकायाम् । 'अथ विराज उपदधाति । एषा वै सा विराड् यां तद्देवा विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यंस्ता दश दशोपदधाति दशाक्षरा विराड् विराडेषा चितिः सर्वत उपदधाति यो वा एकस्यां दिशि विराजति न वै स विराजति यो वाव सर्वासु दिक्षु विराजति स एव विराजति' (श० ८।५।१।५) । अथ विराज इति । असपत्ना उपधाय अथ अनन्तरं विराज उपदधातीति क्रमवचनम् । अथ यदुक्तम्—'पञ्चमीं चितिमुपदधाति ते चेतयमाना दिवमेव विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यन्' इति, किमियं पञ्चमी चितिः ? किं पूर्वमुक्त एवार्थोऽत्र पुनरुपन्यस्यते, आहोस्विदन्यासामेवेष्टकानामपूर्वमेवेदमुपधानमुपदिश्यते ? इति सन्देहनिवृत्त्यर्थमाह—एषा वै सा विराडिति । ननु च 'अथ विराजः' इति या विराज उपक्रान्ताः, कथं ता 'एषा वै सा विराट्' इत्येकवचनेन परामृश्यन्ते ? इति चेन्नैष दोषः, विराडक्षरास्तावच्छन्दोवचनास्ते संख्यासामान्याच्च प्रयुज्यन्ते । तच्च छन्दो दशाक्षरेणैवैकेनापि पादेन विराडित्युच्यते, चतुर्भिरपि । ततश्च तदनुकारेणायमत्र विराड्' इष्टकानां दशके यदा प्रयुज्यते, तदा ते चत्वारो दशका इति कृत्वा विराज इति बहुवचनं भवति । यदा तु चत्वारिंशदक्षरा विराट् च तत्सामान्यादिष्टकानामपि चत्वारिंशदेव विराड् इत्येतदभिप्रायकमेतदेकवचनमेव भवतीत्युपपन्नम् । उपधीयमाना कीदृशी सा विराट् ? किं चत्वारिंशदात्मिका, आहोस्विद् दशात्मिका ? इत्यत आह—ता दश दशेति । दशात्मिका विराजो न चत्वारिंशदात्मिका इति तदर्थः । चत्वारिंशद्विराज इत्येतदात्मका एव लोकाः । चतस्रो विराजो दशात्मिकास्ताश्चत्वारिंशद्यजुष्मत्य इति । अत्र सायणभाष्ये व्याख्यान्तरमपि प्रपञ्चितम् । तत्तु तत एवावसेयम् ।

'यद्वेवैता असपत्ना उपदधाति । एतद्वै प्रजापतिमेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते सर्वतः पाप्मोपायतत स एता इष्टका अपश्यदसपत्नास्ता उपाधत्त ताभिस्तं पाप्मानमपाहत पाप्मा वै सपत्नस्तद्यदेताभिः पाप्मानꣳ सपत्नमपाहत तस्मादेता असपत्नाः' (श० ८।५।१।६) । एवं तावद्देवैरसपत्ना विराजश्च दृष्टा इत्येतदुक्तम् । सम्प्रति ब्राह्मणशेषेणाऽसपत्नासु प्राजापत्यं दर्शनं प्रपञ्च्यते । परेण च ब्राह्मणेन विराड् 'एतस्मिन्नात्मनः' इति तदूर्ध्वमध्या···· सर्वतः सर्वासु दिक्षु पाप्मा न क्षरणे पातव्यं तस्मादिति पाप्मा दृष्टादृष्टम् उपपातकम् । अदृष्टस्तावदधर्मः, तत्पूर्वश्चाध्यात्मिको मोहरागद्वेषमिथ्याभिनिवेशनिद्रालस्यप्रमादव्याधिगौरवादि', बाह्यश्चाकीर्तिप्रभवो विभूतिः । साधनवैगुण्यद्वेष्टा द्वेष्यदात्मको दन्दशूकोऽन्यो वा, न तु कुलशीतोष्णादि उपायतत इति (प्रयां तु उपरमन्ते यतस्तस्मिन्) । 'तद्यदेताभिः' इत्यनेन सोपपन्नताकारणभूता असपत्ना इत्येतद्दर्शयति । 'तद्वा एतत्क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं न्विमꣳ स पाप्मा नोपयतते यत्त्वेतत्करोति यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणीत्यथो य एव पाप्मा यः सपत्नस्तमेताभिरपहते तद्यदेताभिः पाप्मानꣳ सपत्नमपहते तस्मादेता असपत्नाः सर्वत उपदधाति सर्वत एवैतत् पाप्मानꣳ सपत्नमपहते परार्ध उपदधाति सर्वस्मादेवैतदात्मनः पाप्मानꣳ सपत्नमपहते' (श० ८।५।१।७) । प्राजापत्यस्येतिहासस्यायमधियज्ञमुपसंहारः—यद्देवा अकुर्वन्निति । प्रजापतिवद् देवैरप्युपहिता इति बहुवचनम् । इतरथा त्वेवमवक्ष्यत् तद्वा एतत्क्रियते यत्प्रजापतिरकरोदिति । इदमिति सन्निहितं प्रमाणान्तरं दृश्यं दर्शयति । चतुर्थ्यां चितौ चितायां यजमानं स पाप्मा चोपयतते, इदं दृश्यत एव न वियोगः । एतस्यामवस्थायां स केन-

चिदाध्यात्मिकेन बाह्येन चोपद्रवेणासाध्यत इत्यर्थः। 'अथो य एव' इति यद्यप्यपूर्वपाप्मानमेनमपाहत तयोर्याभिर्मनुष्यत्वात् तस्यास्त्येव कश्चित् पाप्मा। तम् 'एताभिरपाहते' यः सपत्नः पाप्मविशेष एव, यश्च समानार्थस्य पतिरेकार्थाभिलाषी सोऽपि सपत्नः समुच्यते। तस्य च भेदेन ग्रहणमिहासपत्नशब्दार्थः। एवदुक्तं भवति—असपत्नशब्दे सपत्नशब्दः पाप्मलक्षणार्थः। सपत्नः स पाप्मा इत्येवार्थः। सर्वत उपदधातीति सर्वत उपधानेन सर्वस्मादेवैतदात्मनः पाप्मानं सपत्नमुपहते। 'स पुरस्तादुपदधाति। अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नानिति यथैव यजुस्तथा बन्धुरथ पश्चात् सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नानिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ८।५।१।८)। 'सर्वत उपदधाति' (श० ८।५।१।७) इति श्रुत्या दिशः प्राप्ताः। सर्वत उपधाने कां दिशं प्रारभ्योपदध्यादिति प्रश्ने पुरस्तात् प्रथमं ततः पश्चात् ततो दक्षिणतस्तत उत्तरतो मध्ये चेत्युत्तरम्। यद्यपीह दिग्विधानं स्पष्टं नास्ति, यथा गायत्र्यादिषु, तत्र हि—'तस्य शिरो गायत्र्यः। ता यद् गायत्र्यो भवन्ति गायत्रꣳ हि शिरस्तिस्रो भवन्ति त्रिवृद्धि शिरः पूर्वार्धे उपदधाति पुरस्ताद्धीदꣳ शिरः' (श० ८।६।२।६) इति दिग्विधानं स्पष्टम्, तथाप्येतदनुरोधेनैवाश्विनीवदनूकमुत्तरेण द्वितीयेषु लोकेषूपधेया इति गम्यते। यथैव यजुरितीष्टकाशरीरोऽग्निरात्मन्युपधीयत इत्यभिप्रायः। 'सा या पुरस्तादग्निः। सा या पश्चादग्निः साग्निनैव तत्पुरस्तात् पाप्मानमपाहताग्निना पश्चात्तथैवैतद्यजमानोऽग्निनैव पुरस्तात् पाप्मानमपहतेऽग्निना पश्चात्' (श० ८।५।१।९)। पूर्वकण्डिकोक्तमर्थं स्पष्टयति—सा या पुरस्तादित्यादिना। सा या पुरस्तादुपधीयत इष्टकाभ्योऽग्निरूपा इष्टका, साग्निनैव पुरस्तात् पाप्मानमपहत। तथैवैतदेतेन पुरस्तादिष्टकोपधानेन यजमानोऽग्निनैव पुरस्तात् पाप्मानं हन्ति, अग्निनैव पश्चादपि पाप्मानं हन्ति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर! त्वं जातानुत्पन्नान् सपत्नान् बाह्यानान्तरांश्च शत्रून् प्रणुदा नाशय। अजातान् प्रतिनुद तदुत्पत्तिप्रतिबन्धेन निवर्तय। किञ्च, अहेडन् अनादरमकुर्वन्, अनुपेक्षमाण इति यावत्। सुमनाः शोभनमनस्कः संस्त्वमस्माकमधिवद उपदिशस्व, प्राप्त्युपायानुष्ठानप्रकारमिति यावत्। किञ्च, वयं तव त्वत्सम्बन्धिनि त्रिवरूथे त्रयाणां स्थूल-सूक्ष्म-कारणदेहरूपाणां वरूथानां गृहाणां समाहारस्त्रिवरूथं तस्मिन्। शर्मन् शर्मणि सन्तोषावहे सुखाश्रये स्याम जीवन्मुक्ता भवेम। कीदृशे समाहारे? उद्भौ उद्भवन्ति सुखानि दुःखानि च यस्मिन्नसौ उद्भुः, तस्मिन्। ननु प्रार्थनामन्तरापि सर्व स्वभावादेव त्रिवरूथे सम्भवन्ति, किमिति प्रार्थनयेति चेन्न, अज्ञानिनां विवेकाभावात् उद्भूतात्मनैव स्थितत्वात् शरीरत्रयव्यतिरिक्तात्मदर्शिन एव शरीरेऽवस्थानसम्भवात्। 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥' (भ० गी० ५।१३) इति श्रीमद्भगवद्गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने राजन्, त्वं नो जातान् प्रसिद्धान् सपत्नान् प्रणुद। हे जातवेदः, अजातान् अप्रकटान् शत्रून् नुद। अहेडन् अनादरमकुर्वन् सुमनाः प्रसन्नस्वान्तस्त्वं नोऽस्मान् प्रति अधिब्रूहि अधिकमुपदिश। यतो वयं तव उद्भौ उत्कृष्टानि वस्तूनि भवन्ति यस्मिन् तस्मिन्, त्रिवरूथे त्रीणि वरूथानि आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानि सुखानि यस्मिन् तस्मिन्, शर्मन् शर्मणि गृहे स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदेन राज्ञो ग्रहणे मानाभावात्। वरूथशब्दस्यापि त्वदुक्तार्थता स्वकपोलकल्पिता, निघण्टौ तृतीयेऽध्याये गृहनामसु वरूथशब्दपाठात्। उणादौ स्वव्याख्यायामपि सुखस्य वरूथशब्दार्थानुक्तेः॥ १॥

सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व।
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयꣳ स्याम प्रणुदा नः सपत्नान्॥ २॥

मन्त्रार्थ—हे सबको जानने वाले अग्निदेव ! अब तक उत्पन्न हुए हमारे सभी शत्रुओं का सभी ओर से बलपूर्वक नाश कर दो, भविष्य में होने वाले शत्रुओं को उत्पन्न ही मत होने दो। अच्छे मन से क्रोधरहित हो हमारे सभी शत्रुओं से हमारी रक्षा करो, हमें बलवान् बनाओ। आपके प्रसाद से हम सदा शत्रुओं से बढ़ चढ़ कर रहें, हमारे सभी प्रकार के शत्रुओं को आप नष्ट कर दें ॥ २ ॥

ततः पश्चाद् दक्षिणाभिमुखः 'सहसा जातान्' इत्यपरामुपदध्यात्। सहसा बलेन जातानुत्पन्नान् नोऽस्माकं सपत्नान् प्रणुद नाशय। यद्वा सहसा बलेन स्वशक्त्या उत्पन्नान् नः सपत्नान् प्रणुद। अजातान् उत्पत्स्यमानानपि प्रतिनुदस्व। आत्मनेपदमार्षम्। किञ्च, सुमनस्यमानोऽस्मासु शुभचित्तः सन् नोऽस्मानधिब्रूहि। शत्रुभ्योऽधिकान् वद। तथा सति तव सत्यवचनसङ्कल्पत्वात् त्वदधिवदनेन वयं सपत्नेभ्योऽधिकाः स्याम भवेम। नः सपत्नान् भूयो भूयश्च प्रणुद। पुनरुक्तिरादरार्था। सुमनस्यमान इति शोभनं मनो यस्यासौ सुमनाः, असुमनाः सुमना भवतीति सुमनस्यते 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' (पा० सू० ३।१।१२) इत्यभूततद्भावे क्यङ्। लोपाभाव आर्षः। ततः शानच्।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदः ! जातान् वेत्तीति जातवेदाः, अथवा जाता वेदा अस्माद्वा जातवेदाः परमेश्वरस्तत्सम्बुद्धौ। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदः, हे राजन्, त्वं नः सहसा बलेन जातान् सपत्नान् विरोधिनः प्रणुद विजयस्व। तान् प्रत्यजातान् युद्धे अप्रकटान् शत्रुसेविनो मित्रान् जातवेदो जातप्रज्ञान नुदस्व पृथक्कुरु। सुमनस्यमानस्त्वम् अधि नो ब्रूहि विजयोपायविधिमुपदिश। वयं तव सहायाः स्याम। यान्नः सपत्नान् त्वं प्रणुद, तान् वयमपि प्रणुदेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अल्पज्ञस्योपदेशानधिकारात्, सर्वज्ञस्योपदेशप्रार्थनानुपपत्तेश्च ॥ २ ॥

षोडशी स्तोम ओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिꣳशः स्तोमो वर्चो द्रविणम्। अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभिगृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! पंचदश कला और पक्ष के स्वामी आदित्यरूप षोडश वृत्तिमय स्तोम के प्रभाव से तुम्हें स्थापित करता हूँ। इस स्थल में तेज और धन की प्राप्ति हो। हे इष्टके ! चौवालीस आवृत्ति वाला चतुश्चत्वारिंश स्तोम रूप वज्र कान्तियुक्त धन प्राप्त करावे। रक्षक नाम से युक्त पंचदश कला वाले चन्द्र रूप अग्नि को तुम पूर्ण करने वाली हो, सभी देवता तुम्हारी स्तुति करते हैं। सम्पूर्ण स्तोमपृष्ठ मन्त्रों के प्रभाव से होमे हुए घृत से संयुक्त होकर तुम इस चौथी चिति के ऊपर ठहरो, हमें इस अनुष्ठान के फलस्वरूप पुत्र और धन की प्राप्ति कराओ ॥ ३ ॥

अथ दक्षिणत उपदध्यात्। इष्टकादेवत्यं यजुः। हे इष्टके, यस्यास्तव षोडशी पञ्चदशकलस्य पक्षस्य भर्ता य आदित्यरूपः स्तोमः षोडशावृत्त्युपेतो वा यः स्तोमः, यच्च ओजो बलरूपं द्रविणं धनं त्वं तदुभयरूपासि तां त्वामुपदधामि। अथोत्तरत उपदध्यात्। इष्टकादेवत्यं यजुः। हे इष्टके, यस्यास्तव चतुश्चत्वारिंशस्त्रिष्टुप् वज्राक्षरसम्मितः स्तोमश्चतुश्चत्वारिंशदावृत्त्या सम्पन्नो वा यः स्तोमः, यच्च वर्चोरूपं द्रविणं धनं तदुभयरूपां त्वामुपदधामि। अथ मध्ये पञ्चमीमुपदध्यात्। त्रिष्टुप्। अप्सः, न प्साति भक्षयति विनाशयतीत्यप्सो रक्षको नाम, 'प्सा भक्षणे', योऽग्निस्तस्याग्नेश्चन्द्ररूपस्य पञ्चदशकलस्य पुरीषमसि पूरयित्री भवसि। हे इष्टके, या

एवंविधा त्वं तां त्वां विश्वेदेवा अभिगृणन्तु स्तुवन्तु । स्तोमाः पृष्ठाश्च सन्ति यस्यां सा स्तोमपृष्ठा । अर्शआद्यच् । अर्थात् स्तोमैः पृष्ठैश्च युता । घृतवती घृतमस्ति यस्यां सा होष्यमाणघृतयुक्ता । सा त्वमिह चतुर्थ्यां चितौ सीद उपविश । अस्मे अस्मासु प्रजावत् पुत्रयुतं द्रविणं धनं यजस्व देहि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणतः । षोडशी स्तोम ओजो द्रविणमित्येकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रैष्टुभमन्तरिक्षं चतस्रो दिश एष एव वज्रः पञ्चदशस्तस्यासावेवादित्यः षोडशी वज्रस्य भर्ता स एतेन पञ्चदशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभा दक्षिणतः पाप्मानमपाहत तथैवैतद्यजमान एतेन पञ्चदशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभा दक्षिणतः पाप्मानमपहते' (श० ८।५।१।१०) । षोडशिमन्त्रोपात्तास्त्रिष्टुभोऽन्तर्गता इति दर्शयति—षोडशी स्तोम इत्यादिना । त्रैष्टुभमन्तरिक्षमिति त्रिष्टुभो विकारभूतं त्रिष्टुभा वा सम्मितम्, दश दिश एकादशमन्तरिक्षं रुद्रायतनं चेति कृत्वा । तत्र उदयन्नेव सूर्यो मणिः, स च दश दिशोऽपेक्ष्य एकादशः । सूर्येणैव दिशो विभागाद् महत्यो दिशश्चतस्र इति पञ्चदशः । पञ्चदशपरिमाणमस्य वज्रस्येति पञ्चदशः । उत्पत्त्यैवं वज्रमात्रेण प्रत्ययो द्रष्टव्यः । तस्य च वज्रं यस्य पञ्चदशादित्यो भर्ता स च षोडशी । षोडशानां पूरण इत्येतस्मिन्नर्थे णिनिः । अथवा षोडशं स्थानमस्य यजमानस्यास्तीति षोडशी यजमानः । मत्वर्थीय एव णिनिः । एवं षोडश्युपादानेनैव वज्र इति त्रिष्टुभोऽनुपातं दर्शयित्वा प्रजापतिरेतेन ब्रूते, इमं मन्त्रार्थं दर्शयति । यः षोडशी स्तोम इति त्रिष्टुब् वज्रस्तं पाप्मानमपहते यद्येतेनोपधेयमुपदधातीति । एवमुत्तरत्रापि यश्चतुश्चत्वारिंशो वज्रस्तमुपदधामीति मन्त्रार्थः । अर्थे हि तद्यदेताभिरपाहतेतीष्टकाभिरपयातो दर्शितः । तेन मन्त्रे इष्टका वज्रात्मिका दर्शनीया इति । 'अथोत्तरतः । चतुश्चत्वारिꣳशस्तोमो वर्चो द्रविणमिति चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रैष्टुभो वज्रः स एतेन चतुश्चत्वारिꣳशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभोत्तरतः पाप्मानमपाहत तथैवैतद्यजमान एतेन चतुश्चत्वारिꣳशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभोत्तरतः पाप्मानमपहते' (श० ८।५।१।११) । त्रिष्टुप्सम्मितो वज्रः, त्रिष्टुप् च चतुश्चत्वारिंशदक्षरा चतुर्भिः पादैः । तदुपहितवदेव वज्रः, एकैका दिगित्येवं संगृह्य एकादशं रुद्रस्थानमन्तरिक्षमपि चतुर्भिः पादैश्चतुश्चत्वारिंशद् भवति । 'अथ मध्ये । अग्नेः पुरीषमसीति ब्रह्म वै चतुर्थी चितिरग्निरु वै ब्रह्म तस्या एतत्पुरीषमिव यत्पञ्चम्यप्सो नामेति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।५।१।१२) । अग्निरु वै ब्रह्मेति चतुर्थ्यां चितौ ब्रह्मोपहितं तदग्न्यात्मकमिति दर्शयति । किंदेवत्या पुनरेषा ? पुरीषवती चन्द्रावतीति । अनन्तरं पूर्यते हैषा चन्द्रमाश्च दैवमन्नमिति । तथा च 'अप्सो नाम' इति मन्त्रवर्णस्य रसो नामेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे राजराजेश्वरि, पञ्चदशकलस्य पक्षस्य भर्ता य आदित्यरूपः स्तोमः षोडशावृत्त्युपेतो वा यः स्तोमः, यच्च ओजो बलं द्रविणं धनं तदुभयरूपा त्वमसि । तां त्वामुपाश्रये । प्रशस्तानि षोडशाक्षराणि वा सन्ति स्वररूपाणि, उच्चारणे परानपेक्षत्वात्, यस्मिन् स मन्त्रस्तोमः स्तुतिसमूहरूपः, ओजो लोकोत्तरसामर्थ्यरूपं द्रविणमनन्तैश्वर्यं तत्सर्वं त्वमेवासि । चतुश्चत्वारिंशदावृत्त्या सम्पन्नो यः स्तोमस्त्रिष्टुब्रूपो वा यच्च वर्चस्तेजो यच्च द्रविणं तद्रूपा त्वमसि । यश्चाविनाशको नाम (जाठररूपेण धारकः) प्रसिद्धोऽग्निः, तस्य चन्द्ररूपस्य पञ्चदशकलस्य च पुरीषं पूरयित्री भवसि । हे देवि, यां त्वां विश्वेदेवा अभिगृणन्तु स्तुवन्ति स्तोमैः पृष्ठैः सामविशेषैश्च युता स्तुता सती त्वमिह भक्तहृदये सीद । अस्मभ्यं प्रजायुक्तं द्रविणं च देहि ।

दयानन्दस्तु—'यः षोडशी प्रशस्ताः षोडशकलाः सन्ति यस्मिन् स स्तोमः स्तोतुमर्हं ओजः पराक्रमः, द्रविणं धनं यश्चत्वारिंश एतत्संख्यापूरको ब्रह्मचर्यव्यवहारकरः स्तोमो स्तुवन्ति येन स नाम प्रसिद्धं द्रविणं च ददाति, योऽग्नेः पुरीषं पूर्तिकरं प्राप्तोऽप्सो न विद्यते परपदार्थस्य प्सो भक्षणं यस्य सः, तं त्वां तां च विश्वेदेवा अभिगृणन्तु । सा त्वं स्वोमपृष्ठा स्तोमाः पृष्ठा ज्ञापयितुमिष्टा यस्याः सा घृतवती सतीह गृहाश्रमे सीद । अस्मे

अस्मभ्यं प्रजावद् द्रविणं च आयजस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, षोडशी षोडशकलासम्पन्नः कोऽत्र वर्णितः ? इति तदनिरूपणात्। स्तोमशब्दस्य स्तोतुमर्हं इति कथमर्थः ? चत्वारिंश इत्यस्य ब्रह्मचर्यव्यवहारकर इति कथमर्थः ? कथं च स तत्संख्यापूरकः ? किं च तत्प्रमाणमित्याद्यनुक्तेश्च। वर्चं इत्यस्य अध्ययनमर्थोऽप्यसाम्प्रतम्। स्तोमपृष्ठाघटकपृष्ठपदस्य ज्ञापयितुमिष्टेत्यर्थोऽपि निर्मूल एव ॥ ३ ॥

एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्द आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप् छन्दस्त्रिककुप् छन्दः काव्यं छन्दो अङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरोभ्रजश्छन्दः ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! जिसमें सब प्राणी चलते हैं, ऐसे भूलोक को मनन करते हुए तुम्हें मैं स्थापित करता हूँ। प्रभामण्डल से व्याप्त अन्तरिक्ष लोक को, सुखदायक द्युलोक को, सब ओर से व्याप्त कर वर्तमान दिशाओं को, अपने रस से शरीर को आच्छादित करने वाले अन्न को, प्रजापति रूप मन को, सब जगत् को व्याप्त करने वाले आदित्य को, नाड़ियों द्वारा शरीर को व्याप्त करने वाले प्राण वायु को, समुद्र के समान गम्भीर विकल्पयुक्त मन को, मुख से निकलने वाली वाणी को, शरीर को धारण करने वाले प्राण को, पिये हुए जल को परिणत करने वाले उदान को, तीन वेदों को, कुटिल गति से चलने वाले जल को, नाशरहित स्वर्गलोक को, चरण रखने के स्थान भूलोक को, सकल वस्तुओं के विस्तार स्थान पाताल को, तीव्रता से आकाश में चमकने वाले विद्युत्पुञ्ज को और आदित्य को मनन करते हुए सावधानी से मैं तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ४ ॥

'विराजो दश दश प्रतिदिशं पुरस्तात् प्रथममेवश्छन्द इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।११।५)। ततः सर्वासु दिक्षु दश दश सपत्नासंलग्ना अनूकमभितो विराट्संज्ञका इष्टका उपदध्यात्। ताश्च चत्वारिंशत्पद्या एवेति सूत्रार्थः। चत्वारिंशद्यजूंषि इष्टकादेवत्यानि। एवः, एति गच्छति सर्वजन्तुसमूहो यस्मिन्नित्येवः पृथिवीलोकः, स एव छन्दोरूपेण स्थितत्वात् छादकत्वाद्वा छन्दः। हे इष्टके ! त्वं तद्रूपासि, तां त्वामुपदधामीति शेषः। एवमुत्तरमन्त्रेषु श्रुत्युक्ता व्याख्या ज्ञेया, 'अयं वै लोक एवश्छन्दः' (श० ८।५।२।३) इति श्रुतेः। वरिवश्छन्दः, व्रियते आव्रियते प्रभामण्डलेनेति वरिवोऽन्तरिक्षं स एव छन्दः, 'अन्तरिक्षं वै वरिवश्छन्दः' (श० ८।५।२।३) इति श्रुतेः। शम्भूश्छन्दः शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भूर्द्युलोकः, 'द्यौर्वै शम्भूश्छन्दः' (श० ८।५।२।३) इति श्रुतेः। परिभूश्छन्दः परितो भवति व्याप्य वर्तत इति परिभूर्दिग्वाचकः, 'दिशो वै परिभूश्छन्दः' (श: ८।५।२।३) इति श्रुतेः। आच्छच्छन्दः, आच्छादयति स्वरसेन सर्वं शरीरमित्याच्छदन्नम्, 'अन्नं वा आच्छच्छन्दः' (श० ८।५।२।३) इति श्रुतेः। मनश्छन्दः प्रथमसृष्टं प्रजापत्यात्मकं यन्मनस्तदेव छन्दः, तद्रूपासि, 'प्रजापतिर्वै मनश्छन्दः' इति श्रुतेः। व्यचश्छन्दः, व्यचतिर्व्याप्तिकर्मा, विचति व्याप्नोति सर्वं जगदिति व्यच आदित्यः, 'असौ वा आदित्यो व्यचः' इति श्रुतेः। सिन्धुश्छन्दः स्यन्दते नाडीभिः शरीरं व्याप्नोतीति सिन्धुः प्राणवायुः, 'प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः' (श० ८।५।२।४) इति श्रुतेः। समुद्रश्छन्दः समुद्द्रवन्त्यस्माद्विकल्पसमूहा इति समुद्रो मनः, 'मनो वै समुद्रः' इति श्रुतेः। यद्वा समुद्रसाम्याद् गाम्भीर्येण समुद्रो मनः। सरिरं छन्दः, सरिरं सलिलम्, रलयोरैक्यम्, सरति वदनगह्वरान्निर्गच्छतीति सरिरं वाक्, 'वाग्वै सरिरं छन्दः' इति श्रुतेः। ककुप्छन्दः कं सुखं शरीरे स्कुभ्नाति धारयतीति ककुप् प्राणः, सलोपश्छान्दसः, 'प्राणो वै ककुप्छन्दः' इति श्रुतेः। त्रिककुप्छन्दः त्रेधा कं पीतमुदकं स्कुभ्नातीति त्रिककुब् उदानः, 'उदानो वै त्रिककुप्छन्दः' इति श्रुतेः। काव्यं छन्दः कवेः क्रान्तदर्शिनः परमात्मन इदं काव्यं वेदत्रयीरूपं छन्दः, 'त्रयी विद्या काव्यꣳ छन्दः' इति

श्रुतेः। अङ्कुपं छन्दः। 'अकि कुटिलायां गतौ'। अङ्केन कुटिलगत्या आप्नोतीति अङ्कुपम् उदकम्, 'आपो वा अङ्कुपं छन्दः' इति श्रुतेः। अक्षरपङ्क्तिश्छन्दः, न क्षरतीत्यक्षरा नाशरहिता पङ्क्तिर्नक्षत्राणामावलिर्यस्या सा अक्षरपङ्क्तिर्द्यौः, 'असौ वै लोकोऽक्षरपङ्क्तिः' इति श्रुतेः। पदपङ्क्तिश्छन्दः पदानां चरणन्यासानां पङ्क्तयो यस्मिन्नसौ पदपङ्क्तिर्भूलोकः, 'अयं वै लोकः पदपङ्क्तिश्छन्दः' इति श्रुतेः। विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः, विस्तीर्यंत इति विस्तारा विस्तारिता प्रसारिता वस्तूनां पङ्क्तयो यत्रेति विष्टारपङ्क्तिर्दिक्, 'दिशो वै विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः' इति श्रुतेः। क्षुरोभ्रजश्छन्दः क्षुरति विलिखति व्याप्नोतीति वा क्षुरम्, भ्राजते दीप्यत इति भ्रजः, छान्दसो ह्रस्वः, क्षुरं तीव्रं यथा स्यात्तथा भ्रजः क्षुरोभ्रजः, छान्दस ओभावः, आदित्यः, 'असौ वा आदित्यः क्षुरोभ्रजश्छन्दः' (श० ८।५।२।४) इति श्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ छन्दस्या उपदधाति। एतद्वै प्रजापतिः पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वाऽन्नमैच्छत् तस्मादु हैतदुपतापी वसीयान् भूत्वाऽन्नमिच्छति तस्मिन्नाशꣳसन्तेऽन्नमिच्छति जीविष्यतीति तस्मै देवा एतदन्नं प्रायच्छन्नेताश्छन्दस्याः पशवो वै छन्दाꣳस्यन्नं पशवस्तान्यस्मा अच्छदयंस्तानि यदस्मा अच्छदयंस्तस्माच्छन्दाꣳसि' (श० ८।५।२।१) प्रजापतिः पाप्मनो मृत्योरात्मानं मुक्त्वा मोचयित्वा अधियज्ञमेवान्नमैच्छत्। तस्मादु हैतदुपतापी उपतप्यतेऽनेनेत्युपतापो रोगः, सोऽस्यास्तीत्युपतापी आतुरः, वसीयान् भूत्वा, वसुशब्दः प्रशस्तवाची, तत ईयसुनि वसीयानिति। अत्र प्रशस्तता च रोगनिर्मुक्तौ सत्यां स्वस्थतायां पर्यवस्यति। ततश्च यथा प्रजापतिर्मृत्युमुक्तः सन् स्वस्थतायै अन्नमैच्छत्, तथैवाधुनातनोऽपि जनो रोगनिर्मुक्तो भूत्वा स्वस्थतायै अत्तुं वाञ्छति। तथा सति तत्पार्श्वस्था अयं जीवितं कामयते, अन्नमिच्छतीति मत्वा तस्मै अन्नं पचन्ति। तस्मै प्रजापतये एतदधियज्ञात्मकमन्नं छन्दस्यारूपं देवा दत्तवन्तः। एतदुक्तं भवति—एता इष्टकाश्छन्दांसि पश्वात्मकानि, पशवोऽन्नात्मकाः, तथा च छन्दस्येष्टकोपधानेन प्रजापतिशरीरमेवोपदधात्येवं मन्त्रार्थं श्रुतिर्दर्शयति। एवमुत्तरेष्वपि द्रष्टव्यम्। तानि छन्दांस्यस्मै प्रजापतयेऽच्छदयन्नाराधयन्नित्यर्थः। 'ता दश दशोपदधाति। दशाक्षरा विराड् विराड् कृत्स्नमन्नꣳ सर्वमेवास्मिन्नेतत्कृत्स्नमन्नं दधाति सर्वत उपदधाति सर्वत एवास्मिन्नेतत्कृत्स्नमन्नं दधाति' (श० ८।५।२।२)। 'एवश्छन्द इति। अयं वै लोक एवश्छन्दो वरिवश्छन्द इत्यन्तरिक्षं वै वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्द इति द्यौर्वै शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्द इति दिशो वै परिभूश्छन्द आच्छच्छन्द इत्यन्नं वा आच्छच्छन्दो मनश्छन्द इति प्रजापतिर्वै मनश्छन्दो व्यचश्छन्द इत्यसौ वा आदित्यो व्यचश्छन्दः' (श० ८।५।२।३)। 'सिन्धुश्छन्द इति। प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्द इति मनो वै समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्द इति वाग्वै सरिरं छन्दः ककुप्छन्द इति प्राणो वै ककुप्छन्दस्त्रिककुप्छन्द इत्युदानो वै त्रिककुप्छन्दः काव्यं छन्द इति त्रयी वै विद्या काव्यं छन्दोऽङ्कुपं छन्द इत्यापो वा अङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्द इत्यसौ वै लोकोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्द इत्ययं वै लोकः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्द इति दिशो वै विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरोभ्रजश्छन्द इत्यसौ वा आदित्यः क्षुरोभ्रजश्छन्द आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्द इत्यन्नं वा आच्छच्छन्दोऽन्नं प्रच्छच्छन्दः' (श० ८।५।२।४)। इमाः कण्डिका मन्त्रव्याख्यानेनैव व्याख्याताः।

अध्यात्मपक्षे—हे राजराजेश्वरि त्रिपुरसुन्दरि, त्वमेवश्छन्दो भूलोकरूपासि। त्वमेव वरिवश्छन्दोऽन्तरिक्षलोकरूपासि। अन्यत्सर्वं पूर्ववदेव व्याख्येयम्, सार्वात्म्यविवक्षया तस्या एव सर्वरूपत्वप्रतिपादनात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं परमप्रयत्नेन एवो ज्ञानं छन्द आनन्दं वरिवः सत्यसेवनं छन्दः सुखप्रदं शम्भूः सुखं भावुकश्छन्द आह्लादकारी व्यवहारः परिभूः सर्वतः पुरुषार्थी छन्दः सत्यदीपक आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः क्षुरोभ्रजश्छन्दः सुखाय साध्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, छन्दआदिशब्दानां व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्, श्रुतिविरोधाच्च ॥ ४ ॥

आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरं छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः सᳪस्तुप्छन्दोऽनुष्टुप् छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विष्पर्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दोऽङ्काङ्कं छन्दः ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! शरीर के आच्छादक अन्न को, शरीर के प्रच्छादक जल को, व्यापार की निवारक रात्रि को, विशेष व्यापार के प्रवर्तक दिन को, रथ आदि के गमनस्थान भूलोक को, अत्यन्त शब्दकारक वायु को, भूत-प्रेत आदि के निवासस्थान अन्तरिक्ष लोक को, भक्षणयोग्य अन्न को, प्रकाशवान् अग्नि को, वैखरी और मध्यमा वाणी को, पृथ्वी लोक को, प्रभामण्डल को, बाल्य आदि अवस्था के हेतु अन्न को, जठराग्नि को, विविध ऐश्वर्य वाले स्वर्ग लोक को, स्पर्धामूलक अहंतत्त्व को, मनुष्यों के निवासस्थान भूलोक को, सूर्य की किरणों से आच्छादित अन्तरिक्ष लोक को, ज्ञान और अज्ञान को, आस्तिकता के निदर्शक अथवा गर्त, पाषाण आदि से युक्त जल को भक्तिभावपूर्वक स्मरण करते हुए मैं तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ५ ॥

आच्छादयति शरीरमित्याच्छद् अन्नम्, प्रच्छादयति शरीरमिति प्रच्छदन्नम्, 'अन्नं वा आच्छच्छन्दोऽन्नं प्रच्छच्छन्दः' (श० ८।५।२।४) इति श्रुतेः। संयत् संयच्छति व्यापारान्निवर्तयति जन्तूनिति संयद् रात्रिः, 'रात्रिर्वै संयच्छन्दः' (श० ८।५।२।५) इति श्रुतेः। वियद् विशेषेण यच्छन्ति गच्छन्ति व्यापारायेतस्ततो जना यत्रेति वियद् दिनम्, 'अहर्वै वियच्छन्दः' इति श्रुतेः। बृहद् विस्तीर्णं स्वः, 'असौ वै लोको बृहच्छन्दः' इति श्रुतेः। रथन्तरं रथैस्तीर्यते स्थानात् स्थानान्तरं गम्यते यत्र तद् रथन्तरं भूमण्डलम्, 'अयं वै लोको रथन्तरं छन्दः' इति श्रुतेः। निकायो नितरां कायति शब्दं करोति वृक्षादीनुन्मूलयन्निति निकायो वायुः, 'वायुर्वै निकायश्छन्दः' इति श्रुतेः। विवधो विविधं वध्यन्ते हन्यन्ते पापफलानि भोज्यन्ते भूतप्रेतादिरूपेण प्राणिनो यत्रेति विवधोऽन्तरिक्षम्, 'अन्तरिक्षं वै विवधश्छन्दः' इति श्रुतेः। गिरो गीर्यते भक्ष्यत इति गिरोऽन्नम्, 'अन्नं वै गिरः' (श० ८।५।२।५) इति श्रुतेः। भ्रजो भ्राजते दीप्यत इति भ्रजोऽग्निः, 'अग्निर्वै भ्रजश्छन्दः' इति श्रुतेः। संस्तुप्छन्दोऽनुष्टुप्छन्दः सम्यक् स्तुभ्यते रुध्यते वशीक्रियतेऽनयेति संस्तुप्, अनु निरन्तरं स्तुभ्यते वशीक्रियतेऽनयेत्यनुष्टुब् वाक्, 'वागेव सᳪस्तुप्छन्दो वागनुष्टुप्छन्दः' इति श्रुतेः। एवः, वरिव इति पदद्वयं पूर्वस्यां कण्डिकायां व्याख्यातम्। वयो बाल्यादिवयोहेतुभूतमन्नम्, 'अन्नं वै वयश्छन्दः' इति श्रुतेः। वयस्कृद् वयांसि बाल्यादीनि करोतीति वयस्कृद् जाठराग्निः, 'अग्निर्वै वयस्कृत्' इति श्रुतेः। विष्पर्धा विविधं स्पर्धन्ते ऐश्वर्याधिक्यदर्शनेन जना यत्रासौ विष्पर्धाः स्वर्गः, 'असौ वै लोको विष्पर्धाश्छन्दः' इति श्रुतेः। विशालं विशन्ति जना यत्रेति विशालं भूतलम्, 'तमिविशि' इत्यादिना औणादिकः कालन्प्रत्ययः, 'अयं वै लोको विशालं छन्दः' इति श्रुतेः। छदिश्छाद्यतेऽर्करश्मिभिरिति छदिरन्तरिक्षम्, 'अन्तरिक्षं वै छदिश्छन्दः' इति श्रुतेः। दूरोहणं दुःखेन रोढुमारोहणं कर्तुं शक्यं निष्कामज्योतिष्टोमादियज्ञप्रयासजातज्ञानसाध्यत्वादिति दूरोहणं रविः, 'असौ वा आदित्यो दूरोहणं छन्दः' इति श्रुतेः। तन्द्रं तद् द्राति कुत्सितं सीदति स्थानसङ्कोचेनेति तन्द्रं श्रेणी, 'स्पृहिगृहि' (पा० सू० ३।२।१५८) इत्यादिना तदो नान्तत्वं निपात्यते, 'पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दः' इति श्रुतेः। अङ्काङ्कम् अङ्के स्थले अङ्कानि गर्तपाषाणादिचिह्नानि यत्रेत्यङ्काङ्कं जलम्, 'आपो वा अङ्काङ्कं छन्दः' इति श्रुतेः। अत्रेष्टकानां भूलोकादिरूपेण स्तुतिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'संयच्छन्द इति । रात्रिर्वै संयच्छन्दो वियच्छन्द इत्यहर्वै वियच्छन्दो बृहच्छन्द इत्यसौ वै लोको बृहच्छन्दो रथन्तरं छन्द इत्ययं वै लोको रथन्तरं छन्दो निकायश्छन्द इति वायुर्वै निकायश्छन्दो विवधश्छन्द इत्यन्तरिक्षं वै विवधश्छन्दो गिरश्छन्द इत्यन्नं वै गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्द इत्यग्निर्वै भ्रजश्छन्दः सꣳस्तुप्छन्दोऽनुष्टुप्छन्द इति वागेव सꣳस्तुप्छन्दो वागनुष्टुप्छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्द इति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।५।२।५)। सुप्रसन्ना कण्डिका। 'वयश्छन्द इति। अन्नं वै वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्द इत्यग्निर्वै वयस्कृच्छन्दो विष्पर्धाश्छन्द इत्यसौ वै लोको विष्पर्धाश्छन्दो विशालं छन्द इत्ययं वै लोको विशालं छन्दश्छदिश्छन्द इत्यन्तरिक्षं वै छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्द इत्यसौ वा आदित्यो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्द इति पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दोऽङ्काङ्कं छन्द इत्यापो वा अङ्काङ्कं छन्दः' (श० ८।५।२।६)। इयमपि सुप्रसन्ना।

अध्यात्मपक्षे—हे राजराजेश्वरि परचिते, त्वम् अच्छत् प्रच्छदन्नादिरूपासि तां त्वामुपाश्रये। एवमन्यदपि पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'मनुष्यैराच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः स्वीकृत्य प्रचार्य प्रयतितव्यम्। आच्छद् आसमन्तात् पापनिवारकं कर्म छन्दः प्रकाशनं प्रच्छत् प्रयत्नेन दुष्टस्वभावदूरीकरणार्थं कर्म छन्द उत्साहनम्' इत्यादिकमाह। तत्सर्वं निर्मूलमेव, श्रुतिविरुद्धं चेत्युपेक्षणीयमेव ॥ ५ ॥

र॒श्मिना॑ स॒त्याय॑ स॒त्यं जि॑न्व॒ प्रेति॑ना॒ धर्म॑णा॒ धर्मं॑ जि॒न्वान्वि॑त्या दि॒वा दिवं॑ जिन्व स॒न्धिना॒ऽन्तरि॑क्षेणा॒न्तरि॑क्षं जिन्व प्रति॒धिना॑ पृथि॒व्या पृ॑थि॒वीं जि॑न्व विष्ट॒म्भेन॑ वृ॒ष्ट्या वृष्टिं॑ जिन्व प्र॒वया॒ह्नाह॑र्जिन्वानु॒या रात्र्या॒ रात्रीं॑ जिन्वो॒शिजा॒ वसु॑भ्यो॒ वसू॑न् जिन्व प्र॒केते॑नादि॒त्येभ्य॑ आदि॒त्यान् जि॑न्व ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम अन्न के प्रभाव से सत्य के निमित्त सत्यवाणी से प्रीति करो, देह में गति वाले अन्न के प्रभाव से धर्म के निमित धर्म से प्रीति करो, दिव्य लोक के निमित्त द्युलोक से प्रीति करो, बल आदि के आधार अन्न के प्रभाव से अन्तरिक्ष के निमित्त अन्तरिक्ष से प्रीति करो, प्रत्येक इन्द्रिय के आधार अन्न के प्रभाव से अन्तरिक्ष के निमित पृथ्वी से प्रीति करो, देहादि का स्तम्भन करने वाले अन्न के प्रभाव से वृष्टि के निमित्त वर्षा से प्रीति करो, देह में गमनागमन करने वाले अन्न के प्रभाव से दिन के निमित दिन से प्रीति करो, देहान्तर्गत बहत्तर नाडियों में गमनागमन करने वाले अन्न के प्रभाव से रात्रि के निमित्त रात्रि से प्रीति करो, समस्त प्राणियों के वांछनीय अन्न के प्रभाव से वसुगणों के निमित्त उनसे प्रीति करो, सुखानुभूति के कारण अन्न के प्रभाव से आदित्यों के निमित्त आदित्यों से प्रीति करो ॥ ६ ॥

'सर्वतोऽषाढावेलायाꣳ स्तोमभागा रश्मिना सत्यायेति प्रतिमन्त्रम्, पञ्चदश दक्षिणेनानूकम्' (का० श्रौ० १७।११।९-१०)। अषाढावेलायां सर्वासु दिक्षु स्तोमभागसंज्ञका एकोनत्रिंशदिष्टका रश्मिनेत्याद्येकोनत्रिंशन्मन्त्रैरुपदध्यात्। तन्मध्ये पञ्चदश स्तोमभागा इष्टकाः प्रागनूकं दक्षिणेन चतुर्दश प्रागनूकमुत्तरेणोपदध्यादिति सूत्रार्थः। एकोनत्रिंशद्यजूंषीष्टकादेवत्यानि। इमे मन्त्राः श्रुत्या त्रिधा व्याख्याताः। तत्र कण्डिकाद्वयपर्यन्तममुनोपहिता सती अदो जिन्वेति प्रथमः प्रकारः। अदोऽस्यमुष्मै त्वामुपदधामीति द्वितीयः प्रकारः। अधिपतिनोर्जोर्जं जिन्वेति तृतीयः प्रकारः। तथा च हे इष्टके, त्वं रश्मिना तेजोरूपेणान्नेन सत्याभिमानिदेवतार्थमुपहिता सती सत्यं जिन्वती प्रीणय। यद्वा सत्यायोपहिता सती सत्यं वचस्तर्पय।

तेजोवृद्धिप्रदत्वादन्नं रश्मिः, 'रश्मिरन्नम्' (श० ८।५।३।३) इति श्रुतेः। प्रेतिना प्रकर्षेण देहमेति गच्छतीति प्रेतिरन्नम्, तेन। 'धर्मणा' इत्यत्र विभक्तिव्यत्ययः। धर्मणा धर्मायोपहिता सती धर्मं जिन्व प्रीणयेति प्रकारेण सम्बन्धः। परस्तात् सर्वमन्त्रेषु द्वितीयं पदं चतुर्थ्यन्तं कार्यम्। अन्वित्या अन्वेति देहमनुगच्छतीत्यन्वितिरन्नम्, तया दिवा दिवेऽर्थाय दिवं जिन्व प्रीणय, 'अन्वितिरन्नम्' इति श्रुतेः। सन्धिना सम्यग् बलादिकं धीयतेऽस्मिन्निति सन्धिरन्नम्, तेन। अन्तरिक्षेण अन्तरिक्षाय उपहिता सती अन्तरिक्षं जिन्व। प्रतिधिना प्रतिधीयतेऽस्मिन्निति प्रतिधिरन्नम्, तेन। पृथिव्या पृथिव्यै उपहिता सती पृथिवीं जिन्व। विष्टम्भेन विष्टम्भयति धारयति देहमिति विष्टम्भोऽन्नं तेन। वृष्ट्या वृष्ट्यै उपहिता सती वृष्टिं जिन्व। प्रवया प्रकर्षेण वाति देहं गच्छतीति प्रवा अन्नम्, तया। अह्ना अह्ने उपहिता सती अहर्दिनं जिन्व। अनुया देहान्तर्गतद्वासप्तति-नाडीभिरनुयात्याप्नोति देहमित्यनुया अन्नम्, तया। तृतीयैकवचने 'आतो धातोः' (पा० सू० ६।४।१४०) इत्याकारलोपः। रात्र्या रात्र्यै उपहिता सती रात्रीं जिन्व। उशिजा उश्यते सर्वैः काम्यत इत्युशिगन्नम्, तेन। 'वश कान्तौ'। वसुभ्योऽर्थायोपहिता सती वसून् जिन्व। प्रकेतेन प्रकर्षेण कं सुखमीयतेऽनेनेति प्रकेतमन्नं तेन आदित्येभ्योऽर्थाय उपहिता सती आदित्यान् जिन्व।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ स्तोमभागा उपदधाति। एतद्वै प्रजापतेरेतदन्नमिन्द्रोऽभ्यध्यायत् सोऽस्मादुदचिक्रमिषत् तमब्रवीत् कथोत्क्रामसि कथा मा जहासीति स वै मेऽस्यान्नस्य रसं प्रयच्छेति तेन वै मा सह प्रपद्यस्वेति तथेति तस्मा एतस्यान्नस्य रसं प्रायच्छत् तेनैनꣳ सह प्रापद्यत' (श० ८।५।३।१)। अथ स्तोमभागा इति। उपदधातीत्यतः परेणेतिहासेन तासामधिदैवं निरूपयन्नाह—एतद्वा इति। पूर्वमेतद्वै छन्दस्यात्मकं प्रजापतेरन्नमासीत्। तदिन्द्रः प्राणोऽभिध्यातवान्। स इन्द्रोऽस्मात्प्रजापतेरपक्रमितुमैच्छत्। तमिन्द्रं प्रजापतिरब्रवीत् कथा केन हेतुना मा पितरं जहासीति स प्रजापतिमुवाच अस्यान्नस्य छन्दस्यात्मकस्य रसं प्रयच्छेति। प्रजापतिरुवाच तेन रसेन सहैव त्वं मा मां प्रपद्यस्व, अर्थाद् मच्छरीररस एव भव। तथेत्यङ्गीकृते प्रजापतिस्तस्मा इन्द्राय एतस्य छन्दस्यात्मकस्य अधिदैवतया अध्यात्मस्यान्नस्य रसं प्रायच्छत्। तथैवानेन रसेन सहैव एनं प्रजापतिमिन्द्रः प्रपन्नः। 'स यः स प्रजापतिः। अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ यत्तदन्नमेतास्ताश्छन्दस्या अथ यः सोऽन्नस्य रस एतास्ता स्तोमभागा अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः स एष एव स्तोमो यद्धि किञ्च स्तुवत एतमेव तेन स्तुवन्ति तस्मा एतस्मै स्तोमायैतं भागं प्रायच्छत्तद्यदेतस्मै स्तोमायैतं भागं प्रायच्छत्तस्मात् स्तोमभागाः' (श० ८।५।३।२)। स यः स प्रजापतिरिति। प्रजापत्यादीनि मन्त्राद्यात्मकानि शरीराणि दृश्यन्ते। तत्राध्यात्मादिपक्षत्रयम्। योऽयमग्निश्चीयतेऽथ यत्तदन्नमिति ताश्छन्दस्या इति च तदधियज्ञमधिभूतं च। अथ यः सोऽन्नस्य रसस्ताः स्तोमभागा इत्यध्यात्मम्। यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्य इति अधिदैवम्। रसाज्जायमानत्वाद्वाचो वाचैव स्तुवन्ति तदाह—आदित्यश्च स्तोमश्च यद्धि किञ्चित् स्तुवतः, एतमेव तेन स्तुवन्तीति। यतः परमात्मसपत्नकं देवाधिदेवाकारेणावस्थितं ततो भजनीयमित्यत्र हेतुभूतं प्रभवमित्यादिनिर्वचनम्। तथा च यथा प्राणः शरीरे तथा आदित्यमण्डलान्तर्वर्ती पुरुषः स एव वाचा स्तोमरूपेणासञ्जनीयः। तस्यैव भाग इति स्तोमभागशब्दे षष्ठीसमासं दर्शयति—अतः स्तोमस्य भागाः स्तोमभागा इति। आसामिष्टकानां भागवत्त्वात् स्त्रीलिङ्गबहुवचनेनोपधेयता।

'रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्वेति। एष वै रश्मिरन्नꣳ रश्मिरेतं च तद्रसं च सन्धायात्मन् प्रपादयते प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्वेत्येष वै प्रेतिरन्नं प्रेतिरेतं च तद्रसं च सन्धायात्मन् प्रपादयतेऽन्वित्या दिवा दिवं जिन्वेत्येष वा अन्वितिरन्नमन्वितिरेतं च तद्रसं च सन्धायात्मन् प्रपादयते तद्यदेतदाह तच्च तद्रसं च सन्धायात्मन् प्रपादयतेऽमुनादो जिन्वादोऽस्यमुष्मै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्वेति त्रेधा विहितास्त्रेधा विहितꣳ ह्यन्नम्' (श० ८।५।३।३)।

स्तोमभागाः, छन्दस्या इत्यादिनिरूढबहुवचनान्तस्त्रीलिङ्गस्य व्युत्पत्तिमप्रदर्श्यैव मन्त्रमात्रपुरस्कारेणैव व्याख्यानमारभ्यते श्रुत्या—रश्मिनेति । एष वै रश्मिरित्यादिनेतिहासार्थं मन्त्राणामभिधानं दर्शयति । विश्वरूपस्य प्रजापतेः सत्यधर्मादिभिराकारैरवस्थितस्य रश्मिः स्थावरजङ्गमात्मकमन्नमादाय सञ्चरति सर्वांश्च प्रत्यङ्गभूता देवता रसेन तर्पयति । न केवलमात्मानं तर्पयति । तथैवायमध्यात्मं प्राणः सर्वान् प्राणान् प्राणिनामात्मानमवान्तररसेन तर्पयतीति प्रजापतिसंवादेन निष्पन्नम् । तच्चैतदधियज्ञमन्त्रेणेष्टकासु दर्शयते श्रुतिः । तत्र प्रथममन्त्रं व्याचष्टे—हे इष्टके, सत्याय सत्यात्मकाय प्रजापतये यदात्मने उपहिता सती सत्यमादित्यं जिन्व तर्पयेति । अत्र श्रुतिकृता व्याख्या—अमुना अदो जिन्वेति अदोऽस्यमुष्मै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्वेति प्रथममन्त्रगणस्य द्विकण्डिकाबधिपठितस्य व्याख्यानम् । अमुना रश्मिना अदः सत्यं जिन्व । रश्मिना अन्नेन सत्याय उपहिता सती सत्यं जिन्व तर्पयेति द्वितीयमन्त्रगणस्य व्याख्यानम् । अदोऽसि अमुष्मै त्वा यथा प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वा उपदधामीति । अधिपतिनोर्जोर्जं जिन्वेत्यधिपतिना ईश्वरेण ऊर्जा अन्नरसेन ऊर्जमन्नरसं जिन्व तर्पयेत्यर्थः । एवमेते मन्त्रास्त्रिषु स्थानेषु त्रेधा विहिताः । आद्युक्ता इष्टकास्त्रेधा विहिताः । त्रेधा विहितमन्नम् । तत्र जङ्गमं तावत् पिता, माता, पुत्र इत्येव । स्थावरं तपो वृष्टिर्बीजमिति । तदनुकारेण मन्त्रोऽपि त्रेधा विहितः । तदनुकारा इष्टका इत्यभिप्रायः ।

अध्यात्मपक्षे—हे परचिते, रश्मिना अन्नेन रसाय आराधिता सती सत्यं जिन्व प्रीणय । प्रेतिना अन्नेन धर्मणा धर्मणे धर्माय आराधिता सती धर्मं जिन्व प्रीणय । तादृशीं त्वामुपाश्रये । शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं रश्मिना सत्याय सति वर्तमाने भवाय स्थूलाय पदार्थसमूहाय सूर्य इव नित्यसुखाय सत्यं जिन्व अव्यभिचारि कर्म प्राप्नुहि । प्रेतिना प्रकृष्टविज्ञानयुक्तेन धर्मणा न्यायाचरणेन धर्मं जिन्व जानीहि । अन्वित्या अन्वेषणेन दिवा धर्मप्रकाशेन दिवं सत्यप्रकाशं जिन्व । सन्धिना सन्धानेन अन्तरिक्षेण आकाशेन अन्तरिक्षमवकाशं जिन्व जानीहि । प्रतिधिना प्रतिदधाति यस्मिंस्तेन पृथिव्यां भूगर्भविद्यया पृथिवीं भूमिं जिन्व जानीहि । विष्टम्भेन विशेषेण स्तभ्नोति शरीरं येन तेन वृष्ट्या वृष्टिविद्यया वृष्टिं जिन्व जानीहि । प्रवया कान्तिमता अह्ना अहर्विद्यया अहर्दिनं जिन्व । अनुया यानुयाति तया रात्र्या रात्रिं जिन्व । उशिजा कामयमानेन वसुभ्योऽग्न्यादिभ्यो वसून् अग्न्यादीन् जिन्व । प्रकेतेन प्रकृष्टविज्ञानेन आदित्येभ्यो मासेभ्य आदित्यान् द्वादश मासान् जिन्व' इति, तदपि कल्पनामात्रम्, सत्यशब्दस्य स्थूलपदार्थत्वे मानाभावात् । सूक्ष्मपदार्थानामपि सति भवत्वात् । तथैवाव्यभिचारिकर्मार्थत्वमपि न युज्यते, ज्ञानस्याप्यव्यभिचारित्वोपपत्तेः । कथं च रश्मिशब्दे करणत्वं घटते ? प्रेतिना प्रकृष्टविज्ञानयुक्तेन धर्मणा न्यायाचरणेनेत्यपि तथाविधमेव, निर्मूलत्वात् । दिवा धर्मप्रकाशेन दिवं सत्यप्रकाशमित्यपि नार्थः, विनिगमनाविरहात् । इत्थं सर्वत्रास्य स्वेच्छाचारितैव दृश्यते, सर्वत्रैव प्रायः शाब्दन्यायातिपातः । सन्धिनाकाशेन प्रतिधिना सम्बन्धेन विष्टम्भेन शरीरधारणभूतेन अन्नरसेन अवकाशपृथिवीवृष्टीनां कार्यकारणभावासिद्धेः, तत्तच्छब्दानां तत्तदर्थासिद्धेश्च, श्रुतिविरोधश्च । अनुयापदस्य रात्रिः, रात्रिपदस्य रात्रिविद्या, वसुपदस्य वसुविद्या अर्थं इत्यप्यसिद्धम् । लक्षणा गौणी च वृत्तिर्मुख्यार्थबाध एव सम्भवति, प्रकृते तदभावान्न काप्यनुपपत्तिः ॥ ६ ॥

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व सꣳसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—शरीर के वर्धक अन्न के प्रभाव से धन की पुष्टि के लिये धन की पुष्टि से प्रीति करो, प्रत्येक इन्द्रिय में फैलने वाले अन्न के प्रभाव से शास्त्र के निमित शास्त्र से प्रीति करो, प्रसिद्ध औषधियों के निमित्त औषधियों से प्रीति करो, पृथ्वी के उत्कृष्ट पदार्थ अन्न के प्रभाव से शरीर के निमित्त शरीर से प्रीति करो, शरीर के उपचयकारी अन्न के प्रभाव से अध्ययन के निमित्त अध्ययन से प्रीति करो, बलकारी अन्न के प्रभाव से तेज के निमित्त तेज से प्रीति करो ॥ ७ ॥

हे इष्टके, त्वं तन्तुना तन्यते विस्तार्यंत इति तन्तुरन्नम्, तेन। रायस्पोषेण रायस्पोषाय धनपुष्ट्यै उपहिता सती रायस्पोषं जिन्व। संसर्पेण सम्यक् सर्पति देहे रसरक्तादिरूपेणेति संसर्पोऽन्नम्, तेन श्रुताय शास्त्राय उपहिता सती श्रुतं जिन्व। इडा अन्नम्, इडैवेडं प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्। तेन औषधीभिरोषध्यर्थमुपहिता सती ओषधीः जिन्व। उत्तमेन उद्गतं तमो यस्मात् तद् उत्तममन्नमुत्कृष्टं वा तेन, तनूभिः शरीरार्थमुपहिता सती तनूः शरीराणि जिन्व। वयोधसा वयो दधाति पुष्णातीति वयोधा अन्नम्, तेन। अधीतेन अधीताय वेदाध्ययनाय उपहिता सती अधीतं वेदाध्ययनं जिन्व। अभिजिता अभि अभितः सर्वतो जीयते येनेत्यभिजित् सर्वजयहेतुरन्नम्, तेन। तेजसा तेजोऽर्थमुपहिता सती तेजो जिन्व। तत्तदवस्थाविशिष्टेनान्नेन साधनेन तत्तदर्थायोपहिता सती तत्तदर्थं प्रीणयेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे परचिते, त्वं तन्तुना अन्नेन रायस्पोषायोपाश्रिता सती रायस्पोषं जिन्व प्रीणय। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, त्वं तन्तुना विस्तृतेन रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या धनस्य पोषं जिन्व प्राप्नुहि। सम्यक् प्रापणेन श्रुताय श्रवणाय श्रुतं श्रवणं जिन्व। इडाया अन्नस्येदं संस्करणमैडं तेन ओषधीभिरोषधिविद्यां जिन्व' इत्यादिकम्, तदपि यत्किञ्चित्, धनस्य पुष्ट्या धनपुष्टिं प्राप्नुहीत्यस्यासङ्गतेः, कार्यकारणभावस्य भेदनियतत्वात्। तथैव श्रवणाय श्रवणं जिन्वेत्यपि निरर्थकम्। अन्नसंस्करणस्यौषधीषु कथं करणत्वम्? अधीतेनाधीतमित्यपि तादृगेव ॥ ७ ॥

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! जिससे जीवन का अस्तित्व प्राप्त होता है, उस अन्न का रूप धारण कर अन्न की प्राप्ति के निमित तुम्हारा उपधान करता हूं। इन्द्रियों को अपने अपने कार्यों में समर्थ करने वाली तुम अन्न रूप हो, अन्न के निमित्त तुम्हारा उपधान करता हूं। तुम सम्पत्ति की दाता अन्न रूप हो, अन्न-सम्पत्ति के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूं। शरीर में तेज का आधान करने वाली अन्न रूप तुम्हारा तेज के निमित्त सादन करता हूं ॥ ८ ॥

'अदोऽस्यमुष्मै त्वा' (श० ८।५।३।३) इति श्रुत्या व्याख्यातमन्त्रानाह—प्रतिपदसीति। द्वितीयस्य मन्त्रवर्गस्य व्याख्यानम्—हे इष्टके, त्वं प्रतिपत् प्रतिपद्यते जीवनमनेनेति प्रतिपदन्नम्, असि। प्रतिपदेऽन्नाय त्वामुपदधामीति शेषः। एवं सर्वत्र व्याख्येयम्। अनुपत् प्रतिदिनमनुपद्यत इत्यनुपद् अन्नम् असि। अनुपदेऽन्नाय त्वामुपदधामि। हे इष्टके, त्वं सम्पत् सम्पद्यत इति सम्पदन्नम्, असि। सम्पदेऽर्थाय त्वामुपदधामि। तेजसः कारणत्वात् तेजोऽन्नम्, तेजसे त्वामुपदधामि। तेजसेऽर्थायोपहिता सती तेजो जिन्व प्रीणय।

अध्यात्मपक्षे—हे परचिते, सर्वात्मरूपत्वात् त्वं प्रतिपदन्नरूपासि, तेन प्रतिपदेऽन्नाय त्वामुपाश्रये। एवमन्यदपि।

दयानन्दस्तु—'हे पुरुषार्थिनि विदुषि, त्वं प्रतिपदिव प्राप्यते या सा लक्ष्मीरसि। प्रतिपदे ऐश्वर्याय त्वां गृह्णामि। अनु पश्चात् प्राप्यते या सा अनुपत् शोभा। त्वं तत्तुल्यासि, तां त्वामनुपदे विद्याध्ययनपश्चात्प्राप्तव्याय त्वां गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वैरूप्यात्। पूर्वं त्वं लक्ष्मीरूपासि, ऐश्वर्याय त्वां गृह्णामीत्युक्तम्, उत्तरत्र तु शोभारूपासि विद्याध्ययनपश्चात्प्राप्तव्याय त्वां गृह्णामीति। हिन्दीटीकायां तु पश्चात् प्राप्तव्यां त्वां गृह्णामीत्युक्तम्। नहि त्वदर्थमेव त्वां गृह्णामीति सम्भवति, प्रयोज्यप्रयोजकभावस्यैकत्रायोगात् ॥ ८ ॥

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाऽधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! तुम कृषि, वृष्टि और बीज से उत्पन्न अन्न हो, अन्न के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ। तुम सब प्राणियों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करने वाले अन्न का रूप हो, कार्यप्रवृत्ति के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ। तुम प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करने वाले अन्न का रूप हो, प्रवृत्ति के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ। तुम जीवन के सहचारी अन्न का रूप हो, अन्न के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ। तुम क्षुधा का तिरस्कार करने वाले अन्न का रूप हो, अन्नप्राप्ति के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ। तुम सन्तान उत्पत्ति के बीज अन्न का रूप हो, सन्तानप्राप्ति के निमित्त तुमको उपहित करता हूँ। तुम जन्म के निदानभूत अन्न का रूप हो उत्पत्ति के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ। तुम उत्कृष्ट गमन करने वाले अन्न का रूप हो, उत्क्रान्ति के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ ॥ ९ ॥

हे इष्टके, त्वं त्रिवृत् कृषिवृष्टिबीजरूपेण त्रिगुणत्वात् त्रिधा वर्तत इति त्रिवृदन्नम् असि, तादृशीं त्वां त्रिवृतेऽन्नायोपदधामीति शेषः। प्रवृत् प्रवृणोति भूतानीति प्रवृदन्नम् असि, अतः प्रवृतेऽन्नाय त्वामुपदधामीति शेषः। विवृद् विशेषेण वर्तते भूतेष्विति विवृदन्नम् असि, विवृतेऽर्थाय त्वामुपदधामि। सवृत् सह वर्तत इति सवृद् अन्नमसि, तस्मै सवृते त्वामुपदधामि। आक्रम आक्राम्यति पराभवति क्षुधामित्याक्रमोऽन्नम्, त्वमाक्रमोऽसि, आक्रमाय त्वामुपदधामि। संक्रमः संक्राम्यति देह इति संक्रमोऽन्नम्, त्वं संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वामुपदधामीति। उत्क्रमः सन्तानोत्पत्त्यै बीजरूपेण परिणम्योत्क्रामतीत्युत्क्रमोऽन्नम्, त्वं तद्रूपासि, उत्क्रमाय त्वामुपदधामि। उत्क्रान्तिरुत्कृष्टा क्रान्तिर्गमनं यस्याः सा उत्क्रान्तिरन्नम्। हे इष्टके, त्वमुत्क्रान्तिरसि, अत उत्क्रान्त्यै अर्थाय त्वामुपदधामि।

अथ तृतीयो व्याख्याभेदः—अधिपतिना अधिकं पातीत्यधिपतिः, तेन अधिकपालकेन ऊर्जा अन्नरसेन ऊर्जम् अन्नरसं जिन्व तर्पय। एवं मन्त्रेष्वभिधेयगतां क्रियां पर्यालोच्याभिधानव्युत्पत्तिः कृता। 'यत्तदन्नमेतास्ताश्छन्दस्या अथ यः सोऽन्नस्य रस एतास्ता स्तोमभागाः' (श० ८।५।३।२) इति श्रुतिरीत्या अन्नरूपाश्छन्दस्या इष्टकाः, अन्नरसरूपाः स्तोमभागा इष्टका इत्यन्नावस्थाभेदेन नामभेदस्तद्भेदाच्चेष्टकाभेदोपपत्तिः।

अध्यात्मपक्षे—हे परचिते परदेवते, त्वं त्रिवृदन्नरूपासि, सर्वाधिष्ठानत्वात्। त्रिवृतेऽन्नाय त्वामुपाश्रये। अन्यत् पूर्ववत्। हे परदेवते, अधिपतिना परमपालकेन ऊर्जान्नरसेन ऊर्जमन्नरसं जिन्व तर्पय, सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥ ९ ॥

राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवा अधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिवृत्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳪं श्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरᳪं साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम राजमान पूर्व दिशा का रूप हो, आठ वसु देवता तुम्हारे पालक हैं, अग्नि देवता तुम्हारी सारी बाधाओं को दूर करते हैं, त्रिवृत् स्तोम तुमको पृथ्वी पर स्थापित करें, आज्यनामक शस्त्र व्यथा के निवारण के लिये तुमको दृढ़ करें, रथन्तर साम अन्तरिक्ष लोक में प्रतिष्ठा के लिये तुमको दृढ़ करें, प्रथम उत्पन्न प्राण देवता आकाश के विशाल परिमाण के समान तुम्हारा विस्तार करें। इष्टका को बनाने वाला और उसका पालन करने वाला भी तुम्हारा विस्तार करे। इस प्रकार से वे सम्पूर्ण वसु आदि देवता एक विचार में स्थित होकर सुख-स्वरूप लोक के ऊपर स्वर्ग लोक में यजमान को अवश्य ही प्रतिष्ठित करें॥ १० ॥

'नाकसदोऽनूकेषु पूर्ववर्जमृतव्यावेलायामाश्विनीवद् राज्ञ्यसीति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।१२।१)। पूर्वानूके स्थानाभावात् पूर्वानूकवर्जं त्रिदिक्ष्वनूकेषु ऋतव्यावेलायामनूकोपरि राज्ञीत्यादिपञ्चकण्डिकाभिराश्विनीवन्नाकसत्संज्ञेष्टका उपदध्यादिति सूत्रार्थः। 'स पुरस्तादुपदधाति। राज्ञ्यसि' (श० ८।६।१।५) इति हि श्रुतिः। अत्र कण्डिकायां पञ्च यजूंषि लिङ्गोक्तदेवतानि। हे इष्टके, त्वं राज्ञी राजमाना पूर्वा दिगसि। वसवः पृथिव्यादयोऽष्टौ देवास्तेऽधिपतयोऽधिकं पालयितारः, अधिष्ठातारो वा। अग्निर्हेतीनामुपद्रवकार्यायुधानां प्रतिधर्ता प्रतीपतया धारयिता, निराकर्तेति यावत्। किञ्च, त्वा त्वां त्रिवृत्स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु स्थापयतु। आज्यमाज्यनामकमुक्थं शस्त्रम् 'प्र वो देवायाग्नये' (ऐ० ब्रा० ३।४०) इत्यादिकम् अव्यथायै व्यथा विचलं तदभावाय त्वां स्तभ्नातु दृढीकरोत्विति यावत्। रथन्तरं साम अन्तरिक्षे लोके प्रतिष्ठित्यै प्रतिष्ठानाय त्वां स्तभ्नातु। प्रथमजाः प्रथमोत्पन्ना ऋषयः प्राणाः, 'प्राणा वा ऋषयः प्रथमजाः' (श० ८।६।१।५) इति श्रुतेः। देवेषु द्युलोकमध्ये दिव आकाशस्य मात्रया परिमाणेन वरिम्णा उरुत्वेन त्वां प्रथन्तु प्रथयन्तु। 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति शपः सार्वधातुकार्धधातुकोभयसंज्ञत्वाद् आर्धधातुकं मत्वा णिलोपः। आकाशवत् त्वां विशालां कुर्वन्त्वित्यर्थः। विधर्ता इष्टकानिर्माता चायमधिपतिरिष्टकापालकश्च त्वां प्रथयताम्। यद्वा विधर्ता विशेषेण धारयिता वागभिमानी देवः, अयमधिपतिः प्रधानभूतो देवो मनोऽभिमानी च, तौ द्वौ त्वां प्रथयताम्, 'विधर्ता चायमधिपतिश्चेति वाक् च मनश्च तौ हीदᳪं सर्वं विधारयतः' (श० ८।६।१।५) इति श्रुतेः। किञ्च, ते सर्वे वस्वादयो देवाः संविदाना ऐकमत्येनावस्थिताः सन्तो नाकस्य पृष्ठे कं सुखं न कम् अकम् दुःखम्, न अकं नाकं सुखम्, 'नभ्राण्नपात्' (पा० सू० ६।३।७५) इत्यादिनिपातनात् साधु। तस्य पृष्ठे स्वरूपे, सुखस्वरूप इति यावत्। स्वर्गे लोके यजमानं चकाराद् हे इष्टके ! त्वां च सादयन्तु। स्तोमाः सामानि च राजसूयप्रकरणे दशमेऽध्याये 'प्राचीमारोह' (वा० सं० १०।१०) इत्यादिपञ्चकण्डिकासु व्याख्यातानि।

अत्र ब्राह्मणम्—'नाकसद उपदधाति। देवा वै नाकसदोऽत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र नाकः स्वर्गो लोकस्तस्मिन् देवा असीदंस्तद्यदेतस्मिन्नाके स्वर्गे लोके देवा असीदंस्तस्माद्देवा नाकसदस्तथैवैतद्यजमानो यदेता उपदधात्येतस्मिन्नेवैतन्नाके स्वर्गे लोके सीदति' (श० ८।६।१।१)। नाकसत्संज्ञकानां पञ्चेष्टकानामुपधानमेतासु

दशसु कण्डिकासु प्रपञ्च्यते। देवा वै नाकसदो····नाके स्वर्गे लोके देवा असीदन्निति। तेषां चाधियाज्ञिकानि शरीराणि। इष्टका अपि तदात्मिका एवेति नाकसदः। यजमानोऽप्यात्मरूपा एता उपधाय नाके स्वर्गे लोके सीदति। यद्वेव नाकसद उपदधाति। एतद्वै देवा एतं नाकꣳ स्वर्गं लोकमपश्यन्नेताः स्तोमभागास्तेऽब्रुवन्नुप तज्जानीत यथास्मिन्नाके स्वर्गे लोके सीदामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्मिन्नाके स्वर्गे लोके सीदामेति' (श० ८।६।१।२)। 'ते चेतयमानाः। एता इष्टका अपश्यन्नाकसदस्ता उपादधत ताभिरेतस्मिन्नाके स्वर्गे लोकेऽसीदंस्तद्यदेताभिरेतस्मिन्नाके स्वर्गे लोकेऽसीदंस्तस्मादेता नाकसदस्तथैवै-तद्यजमानो तदेता उपदधात्येतस्मिन्नेवैतन्नाके स्वर्गे लोके सीदति' (श० ८।६।१।३)। देवाः स्वर्गं लोकं कामयमाना एता नाकसद इष्टका अपश्यन्। ता उपधाय नाके लोकेऽसीदन्। तथैवैतद्यजमानोऽप्येता उपधाय नाके स्वर्गे लोके तिष्ठति। 'दिक्षूपदधाति। दिशो वै स नाकः स्वर्गो लोकः स्वर्ग एवैना एतल्लोके सादयत्यृतव्यानां वेलया संवत्सरो वा ऋतव्यः संवत्सरः स्वर्गो लोकः स्वर्ग एवैना एतल्लोके सादयत्यन्तस्तोमभागमेष वै स नाकः स्वर्गो लोकस्तस्मिन्नेवैना एतत् प्रतिष्ठापयति' (श० ८।६।१।४)। 'स पुरस्तादुपदधाति। राज्ञ्यसि प्राची दिगिति राज्ञी ह नामैषा प्राची दिग् वसवस्ते देवा अधिपतय इति वसवो हैतस्यै दिशो देवा अधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्ते-त्यग्निर्हैवात्र हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिवृत्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳ श्रयत्विति त्रिवृता हैषा स्तोमेन पृथिव्याꣳ श्रिताज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नात्वित्याज्येन हैषोक्थेनाव्यथायै पृथिव्याꣳ स्तब्धा रथन्तरꣳ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष इति रथन्तरेण हैषा साम्ना प्रतिष्ठितान्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेष्विति प्राणा वा ऋषयः प्रथमजा-स्तद्धि ब्रह्म प्रथमजं दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्त्विति यावती द्यौस्तावतीं वरिम्णा प्रथन्त्वित्येतद्विधर्ता चायमधिपतिश्चेति वाक् च तौ मनश्च तौ हीदꣳ सर्वं विधारयतस्ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्त्विति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ८।६।१।५)। इत्युद्धृतेन ब्राह्मणेन मन्त्रस्य पूर्वोक्तं व्याख्यानं समर्थ्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे परदेवते, त्वं राज्ञी राजमाना प्राची दिगसि। अष्टौ वसवो देवास्ते तव रक्षकाः सेवकाश्च। अग्निस्ते तव वधहेतूनामस्त्राणां धारयिता। त्रिवृत्स्तोमस्त्वामिष्टकारूपां पृथिव्यां स्थापयतु। आज्यं च उक्थं चाव्यथायै अविचलनायेष्टकारूपां त्वां स्तभ्नातु। रथन्तरं च साम त्वामन्तरिक्षलोके प्रतिष्ठानाय स्तभ्नातु। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, तेऽधिपतिर्यथा यस्या वसवो देवा अधिपतयस्तथा प्राची दिगिव राज्ञी असि। यथा हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिवृत्स्तोमोऽग्निरस्ति तथा त्वाहं धरामि। पृथिव्यामव्यथाया उक्थं वक्तुमर्हमाज्यं घृतं श्रयतु। प्रतिष्ठित्यै प्रतितिष्ठन्ति यस्यां तस्यै रथन्तरं रथैस्तारकं साम एतदुक्तं कर्म स्तभ्नातु। यथान्तरिक्षे दिवो विद्युतो मात्रया लेशविषयेण वरिम्णा प्रथन्तु उपदिशन्तु। यथा चायं विधर्ता ते पतिर्वर्तते, तथा तेन सह त्वं वर्तस्व। यथा च सर्वे संविदाना विद्वांसो नाकस्य सुखप्रायस्य भूगोलस्य पृष्ठे उपरि लोके त्वां यजमानं च सादयन्तु, तथा युवां सीदेतम्' इति, तदपि सर्वथाऽसङ्गतमेव, वैदिकशब्दमर्यादानभिज्ञानात्। यो हि सामविधान-ताण्ड्यब्राह्मणादिप्रसिद्धं त्रिवृत्स्तोमरथन्तरादिसामस्तोत्रम्, आज्योक्थादिशस्त्रादिकं च न जानाति, स कथमिव वेदार्थं जानीयादिति। मनुष्येषु प्रयुक्तमस्त्रादिकं त्रिवृदग्निश्चेत् प्रतिधरेत्, कृतं तर्हि कवचादिधारणेन। कथं च तस्य स्तोमत्वम्। नहि स्तोमपदस्य स्तुतियोग्यगुणोऽर्थः, निष्प्रमाणत्वात्। न च पत्नीवज्रादिवद् घातयित्रीति विषमो दृष्टान्तः। सामपदस्य सिद्धान्तकर्मेति कथमर्थः? कथं च तद्रथैस्तारकं भवतीति सर्वथाप्युपेक्षणीयमिदं व्याख्यानम्॥ १०॥

विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवा अधिपतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳪं श्रयतु प्रउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम विशेष रूप से राजमान दक्षिण दिशा हो, रुद्र तुम्हारे पालक हैं, इन्द्र देवता इयाधियों के निवर्तक हैं। पञ्चदश स्तोम तुमको पृथ्वी पर स्थापित करें। प्रउग नामक उक्थ दृढ़ता के निमित्त तुमको स्तम्भित करें। बृहत् साम अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठा का कारण हो। प्रथम उत्पन्न प्राण देवता अपने विस्तृत परिमाण से तुम्हारा विस्तार करें। इष्टका का निर्माण करने वाला और उसका पालन करने वाला तुम्हारा विस्तार करे। वे सम्पूर्ण वसु आदि देवता एक मति में स्थिर होकर सुखस्वरूप लोक के ऊपर स्वर्ग लोक में यजमान को अवश्य ही प्रतिष्ठित करें ॥ ११ ॥

अथ दक्षिणतः। हे इष्टके, त्वं विराड् विशेषेण राजमाना दक्षिणा दिगसि, तद्रूपां त्वामुपदधामीति शेषः। रुद्रा देवास्तवाधिपतयोऽधिष्ठातारः, इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्ता निवारकः। पञ्चदशस्तोमस्त्वां पृथिव्यां श्रयतु। प्रउगसंज्ञकमुक्थं 'वायुरग्रेगाः' (२७।३१) इति प्रउगं शस्त्रम्, अव्यथायै त्वां स्तभ्नातु दृढीकरोतु। बृहत्साम अन्तरिक्षे लोके प्रतिष्ठित्यै त्वा स्तभ्नातु। ऋषयः प्राणाः प्रथमजा देवेषु द्युलोकमध्येषु दिव आकाशस्य मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु प्रथयन्तु। विधर्ता चायमधिपतिश्च त्वां प्रथयताम्। ते सर्वे देवाः संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं त्वां च सादयन्त्विति।

अध्यात्मपक्षे—हे इष्टकाधिष्ठानरूपे परचिते, त्वं विशेषेण राजमाना दक्षिणा दिग्रूपासि। रुद्रा देवास्तवाधिपतयः। इन्द्रो देवराजो हेतीनां प्रतिधर्ता। पञ्चदशः स्तोमस्त्वामिष्टकारूपां श्रयतु स्थापयतु। प्रउगमुक्थमव्यथायै विचलनराहित्याय त्वां स्तभ्नातु। बृहत्साम प्रतिष्ठित्यै अन्तरिक्षे त्वा स्तभ्नातु। प्रथमजा ऋषयो देवेषु द्युलोकमध्ये दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथयन्तु। विधर्ता चायमधिपतिश्च प्रथयताम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं विराड् दक्षिणा दिगिवासि, यस्यास्ते पत्यौ रुद्रा देवा अधिपतय इव, पञ्चदशस्तोम इन्द्रस्त्वां पृथिव्यां श्रयतु' इत्यादिकम्, तत्सर्वमप्यसम्बद्धमेव, दक्षिणस्या दिशो विशेषाभावात्, प्राचीप्रतीच्योरपि पदार्थैर्भासमानत्वाविशेषात्, पत्युर्मनुष्यस्य दिव्यवायुतुल्यत्वानिरूपणाच्च। प्रउगं कथनीयम्, उक्थम् उपदेशयोग्यवचनमित्यादि स्वाच्छन्द्यम्, शस्त्रविशेषस्य प्रउगस्यापरिज्ञानात् ॥ ११ ॥

सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा अधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳪं श्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपᳪं साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम विशेष दीप्तिमान् पश्चिम दिशा हो, आदित्य देवता तुम्हारे पालक हैं, वरुण दुःखों को दूर करते हैं। सप्तदश स्तोम तुमको पृथ्वी के ऊपर दृढ़ करें, मरुत्वतीय शस्त्र दृढ़ता के निमित्त तुमको स्थापित करें, वैरूप साम प्रतिष्ठा के निमित्त अन्तरिक्ष में तुमको दृढ़ करें, प्रथम उत्पन्न प्राण देवता आकाश के विशाल परिमाण के समान तुम्हारा विस्तार करें। इष्टका को बनाने वाला और उसका पालन करने वाला भी तुम्हारा विस्तार करे। इस प्रकार से वे सम्पूर्ण वसु आदि देवता एक विचार में स्थिर होकर सुखस्वरूप लोक के ऊपर स्वर्ग लोक में यजमान को अवश्य ही प्रतिष्ठित करें॥ १२॥

अथ पश्चात्। हे इष्टके, त्वं सम्राट् सम्यग् राजत इति प्रतीची दिग्रपासि आदित्यास्ते देवा अधिपतयः। वरुणो हेतीनां प्रतिधर्ता। सप्तदशस्तोमस्त्वां पृथिव्यां श्रयतु। मरुत्वतीयमुक्थम् 'आ त्वा रथं यथोतये' (ऋ० सं० ८।६८।१) इति, अव्यथायै त्वां स्तभ्नातु दृढीकरोतु। वैरूपं साम प्रतिष्ठित्यै त्वा स्तभ्नातु। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षीयोऽप्यर्थः पूर्ववद् व्याख्येयः।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, त्वं प्रतीचो दिगिव सम्राडसि। तस्यास्ते पतिरादित्या देवा अधिपतय इवार्य सप्तदशस्तोमो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्ता' इत्यादिकम्, तदपि तथाविधमेव, पत्न्याः समाद्बाधसिद्धेः। पत्युश्च सप्तदश-संख्यापूरकत्वादिकमपि सर्वमेव काल्पनिकम्, निर्मूलत्वात्॥ १२॥

स्वराडस्युदीची दिङ्मरुतस्ते देवा अधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्तैकविᳬशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬ श्रयतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैराजᳬ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥ १३॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम स्वयं विराजमान होने वाली उत्तर दिशा हो, मरुत् देवता तुम्हारे पालक हैं, सोम व्याधियों के निवारक हैं। एकविंश स्तोम तुमको पृथ्वी पर स्थापित करें, निष्केवल्य नामक शस्त्र दृढ़ता के निमित्त तुमको स्थापित करें। वैराज साम प्रतिष्ठा के निमित्त तुमको अन्तरिक्ष में दृढ़ करें। प्रथम उक्थ प्राणदेवता आकाश के विशाल परिमाण के समान तुम्हारा विस्तार करें, इष्टका को बनाने वाला और उसका पालन करने वाला भी तुम्हारा विस्तार करे, वसु आदि सभी देवता एक विचार में स्थिर होकर सुखस्वरूप लोक के ऊपर स्वर्ग लोक में यजमान को अवश्य ही प्रतिष्ठित करें॥ १३॥

अथोत्तरतः। हे इष्टके, त्वं स्वराडसि। स्वेनैव राजत इति स्वराट्। मरुतो देवा अधिपतयः। सोमो हेतीनां प्रतिधर्ता। 'अभि त्वा शूर नोनुमः' (ऋ० सं० ७।३२।२२) इत्यादिकं निष्केवल्यं शस्त्रम्। शेषं पूर्ववत्।

आध्यात्मिकोऽर्थोऽपि पूर्ववदेव योज्यः।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यथा स्वराडुदीची दिगस्ति, तथा ते पतिर्भवतु' इत्यादिकम्, तदपि यत्किञ्चित्, तथा ते पतिर्भवत्वित्यस्य निर्मूलत्वात्। मूले तादृशशब्दाभावात्॥ १३॥

अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवा अधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याꣳ श्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथायै स्तभ्नीताꣳ शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम अधिक पालन करने वाली विशाल ऊर्ध्व दिशा हो, सम्पूर्ण देवता तुम्हारे पालक हैं, बृहस्पति देवता विघ्नों और दुःखों के निवारक हैं। त्रिणव और त्रयस्त्रिंश स्तोम तुम्हें पृथ्वी पर स्थापित करें, वैश्वदेव अग्निमारुत उक्थ तुम्हें दृढ़ करें, शाक्वर और रैवत दोनों साम प्रतिष्ठा के निमित्त तुम्हें अन्तरिक्ष में स्थापित करें। प्रथम उत्पन्न प्राणदेवता आकाश के विशाल परिमाण के समान तुम्हारा विस्तार करें। इष्टका को बनाने वाला और उसका पालन करने वाला भी तुम्हारा विस्तार करे। इस प्रकार से वे सम्पूर्ण वसु आदि देवता एक विचार में स्थिर होकर सुखस्वरूप लोक के ऊपर स्वर्ग लोक में यजमान को अवश्य ही प्रतिष्ठित करें ॥ १४ ॥

अथ मध्ये। हे इष्टके, त्वमधिपत्नी अधिकं पालयित्री बृहती प्रौढोर्ध्वा दिगसि। त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ त्वां पृथिव्यां श्रयताम्। वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे शस्त्रे अविचलनाय स्तभ्नीताम्। शाक्वररैवते सामनी अन्तरिक्षे स्थित्यै त्वां स्तभ्नीताम्। 'तत्सवितुर्वृणीमहे' (ऋ० सं० ५।८२।१) इत्यादिकं वैश्वदेवं शस्त्रम्। 'वैश्वानराय पृथुपाजसे' (ऋ० सं० ३।३।१) इत्यादिकमाग्निमारुतं शस्त्रम्। शेषं पूर्ववत्।

आध्यात्मिकोऽप्यर्थो पूर्ववदेव योज्यः।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं बृहती अधिपत्नी सर्वासां दिशामुपरि वर्तमाना दिग्विवासि, तस्यास्ते पतिर्विश्वेदेवा अधिपतयः सन्ति। तद्वद्यो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रविधर्ता त्वा च त्रिणवस्तोमो च पृथिव्यामव्यथायै वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे च श्रयताम्, प्रतिष्ठित्यै शाक्वररैवते सामनी च स्तभ्नीताम्। यथा तेऽन्तरिक्षे प्रथमजा ऋषयो देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा त्वां प्रथन्ते तान् मनुष्याः प्रथन्तु, यथायमधिपतिर्विधर्ता सूर्योऽस्ति, यथा संविदाना विद्वांसो नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके सादयन्ति, यथा सर्वे यजमानं च सादयन्तु, तथा त्वं पत्या सह वर्तेथाः' इति, तत्तु साहसमात्रम्, सर्वासां दिशामुपरि वर्तमानाया दिशोऽनिरूपणात्, कीदृशं च साधर्म्यं तया पत्न्या इत्यनुक्तेश्च। केयं कस्य पत्नी, यैवं प्रशस्यते ? कस्याश्चिद्विशिष्टायाः सत्त्वे वेदस्येतिहासत्वापत्तिः। सर्वासामपि तथात्वं त्वसिद्धमेव। वक्ता चात्र कः ? न च विशिष्टः कश्चित्, इतिहासत्वापत्तेरेव। न च सर्वस्तथाऽनुपलम्भात्। तस्याः पृथिव्यामव्यथायै त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ कौ ? वैश्वदेवाग्निमारुते सामनी स्तभ्नीतामित्यादिकं सर्वमपि मूर्खजनप्रतारणमात्रमेव ॥ १४ ॥

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ। पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—पूर्व दिशा में स्थापित इष्टका रूप अग्नि कनक वर्ण के केश वाला और सूर्य के समान किरण वाला है। उस अग्नि के रथविद्या में कुशल और रथयुद्ध में कुशल सेनानायक और ग्रामनायक दोनों वसन्त ऋतु हैं। रूप, लावण्य, सौभाग्य आदि गुणों को भण्डार, संकल्प और रूप आदि ज्ञान की आधारभूत अप्सरा दिशा और उपदिशा रूप हैं। काटने का स्वभाव धारण करने वाले व्याघ्र आदि पशु आयुध हैं। परस्पर हनन रूप वध शस्त्र हैं। इस प्रकार के अग्नि के सभी परिचारकों को हम नमस्कार करते हैं। वे सब हमको सुख दें, वे सब हमारी रक्षा करें। जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करने वाले हैं, उन सबको वे दाढ़ों से चबा जांय॥ १५॥

'पुरीषमोप्योपर्यय पुर इति पञ्चचूडाः प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्गम्' (का० श्रौ० १७।१२।२-३)। उपधानानन्तरं नाकसदामुपरि तूष्णीं चात्वालमृदं प्रक्षिप्य तासामुपरि सर्वदिक्षु यथालिङ्गं लिङ्गमनतिक्रम्य वर्तत इति, अर्थाद् यल्लिङ्गको मन्त्रस्तद्दिशि तन्मन्त्रेण पञ्चचूडासंज्ञकाः पञ्चेष्टका उपदध्यादिति सूत्रार्थः। पञ्च यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। हरिकेशो हरयो हरितवर्णा हिरण्यवर्णाः केशाः केशसमा ज्वाला यस्यासौ सुवर्णवर्णार्चिः, 'हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित् कपिलवर्णयोः' इति विश्वकोषात्। सूर्यरश्मिः सूर्यो रश्मिर्यस्यासौ सूर्यरश्मिः। एवंभूतो योऽयमिष्टकारूपोऽग्निः पुरः पूर्वस्यां दिश्यवस्थापितः, तस्याग्ने रथगृत्सो रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ, रथे गृत्सो मेधावी कुशलो रथगृत्सः, 'गृत्सो मेधावी, गृणातेः स्तुतिकर्मणः' (निरु० ९।५) इति यास्कोक्तेः। रथौजा रथे ओजस्तेजो यस्यासौ रथौजाः, रथयुद्धकुशल इत्यर्थः। चकारौ समुच्चयार्थौ। एतन्नामकौ सेनानीग्रामण्यौ सेनां नयतीति सेनानीः, सैन्यसंचालकः। ग्रामं नयतीति ग्रामणीः। सेनानीश्च ग्रामणीश्च सेनानीग्रामण्यौ परिचारकौ, तौ च वासन्तिकावृतू इत्यर्थः, 'वासन्तिकौ तावृतू' (श० ८।६।१।१६) इति श्रुतेः। तथा पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चेत्यप्सरसौ दिगुपदिग्रूपे यस्य परिचारिके स्तः। पुञ्जिकस्य पुञ्जीकृतस्य रूपलावण्यसौभाग्यादिगुणसमूहस्य स्थला आधारभूता। क्रतूनां सङ्कल्पानां रूपादिज्ञानानां स्थला स्थानभूता। पुञ्जिकस्य स्थलं यस्यां सा। क्रतूनां स्थलं यस्यां सेति बहुव्रीहिर्वा। दङ्क्ष्णवो दशनशीलाः पशवो व्याघ्रादयः। हेतिरायुधम्। पौरुषेयः पुरुषसम्बन्धी वधो हननम्। प्रहेतिः प्रकृष्टमायुधं यस्मिन्नस्त्रे मुक्ते रावणसेनेव परस्परं रिपवो घ्नन्ति स पौरुषेयो वधः, 'यदन्योन्यं घ्नन्ति स पौरुषेयो वधः प्रहेतिः' (श० ८।६।१।१६) इति श्रुतेः। यस्याग्नेरियं सामग्री, योऽयमग्निर्यौ च तस्य सेनानीग्रामण्यौ ये चाप्सरसौ ये च हेतिप्रहेती, तेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वदा नमो नमस्कारोऽस्तु। ते सर्वे नोऽस्मान् मृडयन्तु सुखयन्तु। ते नोऽस्मानवन्तु रक्षन्तु। यं नरं वयं द्विष्मो यस्यानिष्टं चिन्तयामः, यश्च नो द्वेष्टि तमेषां पूर्वोक्तानां हेतिप्रहेतीनां जम्भे दंष्ट्राकराले मुखे वयं दध्मः प्रक्षिपामः। 'जभि नाशने'। जम्भयति नाशयतीति जम्भा, सा अस्मिन्नस्तीति जम्भं मुखम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पञ्चचूडा उपदधाति। यज्ञो वै नाकसदो यज्ञ उ एव पञ्चचूडास्तद्य इमे चत्वार ऋत्विजो गृहपतिपञ्चमास्ते नाकसदो होत्राः पञ्चचूडा अतिरिक्तं वै तद्यद्धोत्रा यदु वा अतिरिक्तं चूडः स तद्यत् पञ्चातिरिक्तास्तस्मात् पञ्चचूडाः' (श० ८।६।१।११)। पञ्चचूडानामेष्टका उपदध्यात्। तथाह भगवान् परमर्षिः कात्यायनः—'पुरीषमोप्योपर्यय पुर इति पञ्चचूडाः प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्गम्' (का० श्रौ० १७।१२।२-३)। यज्ञरूपा नाकसदः। यजमानपञ्चमेष्वृत्विक्षु यज्ञाङ्गेषु पञ्चचूडत्वं संख्यासाम्यात्, 'आत्मा वै नाकसदः प्रजा पञ्चचूडाः' (श० ८।६।१।१३) इति श्रुतेः। 'दिशो वै नाकसदो दिश उ एव पञ्चचूडाः' (श० ८।६।१।१४) इति तत्प्रपञ्चः। 'एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इमाँल्लोकानुपरिष्टाद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति त एतानेषां लोकानामुपरिष्टाद् गोप्तॄनकुर्वत य एते हेतयश्च प्रहेतयश्च तथैवैतद्यजमान एतानेषां

लोकानामुपरिष्टाद् गोप्तॄन् कुरुते य एते हेतयश्च प्रहेतयश्च' (श० ८।६।१।१५)। अग्न्यादिभिरधिष्ठिता एव हेतिप्रहेतयो गोप्तार इति ज्ञातव्यम्। 'स पुरस्तादुपदधाति। अयं पुरो हरिकेश इत्यग्निर्वै पुरस्तद्यत्तमाह पुर इति प्राञ्चꣳ ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्त्यथ यद्धरिकेश इत्याह हरिरिव ह्यग्निः सूर्यरश्मिरिति सूर्यस्येव ह्यग्ने रश्मयस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्याविति वासन्तिकौ तावृतू पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिः सेना च तु ते समितिश्च दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिरिति यदन्योन्यं घ्नन्ति स पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्त्विति तेभ्य एव नमस्करोति ते नो मृडयन्त्विति त एवास्मै मृडयन्ति ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्म इति यमेव द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि तमेषां जम्भे दधात्यमुमेषां जम्भे दधामीति ह ब्रूयाद् यं द्विष्यात्ततो ह तस्मिन्न पुनरस्त्यपि तन्नाद्रियेत स्वयं निर्दिष्टो ह्येव स यमेवंविद् द्वेष्टि' (श० ८।६।१।१६)। अग्निर्वै अयं पुरो हरिकेशः। हि यतोऽग्निमेव प्राञ्चमुद्धरन्ति तमेव प्राञ्चमुपचरन्ति। अथ यद्धरिकेश इत्याह तेन हरिरिवाग्निर्हरिज्ज्वाल इत्युच्यते। सूर्यरश्मिरित्यस्य सूर्यस्य रश्मय इव रश्मयो यस्येत्यर्थ उक्तो भवति। तस्याग्नेः रथगृत्सो रथयुद्धकुशलः सेनानी रथौजाश्च ग्रामणीः, तौ च वासन्तिकावृतू। तस्य पुञ्जिकस्थला क्रतुस्थला चेत्यप्सरसौ दिक् चोपदिशा चेति स्माह माहित्थिरिति। सेना च समितिश्च ते। यद्वै सेनायां समितौ चर्तीयन्ते ते दङ्क्ष्णवः पशवः अन्यत् स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे चिदानन्दमयि परदेवते, योऽयमग्निर्हरिकेशः सूर्यरश्मिः, तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ, पुञ्जिकस्थला क्रतुस्थला चेत्यप्सरसौ, दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिः, तेभ्यो नमः। यस्याग्नेरीदृशं लोकोत्तरमुपकरणम्, त्वं तद्रूपासि, तद्रूपेणापि तवैवाविर्भावात्। तेनोऽवन्तु ते मृडयन्तु। यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः।

दयानन्दस्तु—'योऽयं पुरो हरिकेशः सूर्यरस्मिरस्ति, तस्य रथगृत्सो रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ तस्य पुञ्जिकस्थला क्रतुस्थला चेत्यप्सरसौ, समूहस्थाना दिक् पुञ्जिकस्थला प्रज्ञाकर्मज्ञापनोपदिक् क्रतुस्थला। अप्सु प्राणेषु सरन्त्यौ ते अप्सरसौ। ये दङ्क्ष्णवः पशवः सन्ति, तेषामुपरि हेतिर्वज्रः पततु। यो पौरुषेयो वधः प्रहेतिरिव वर्तमानाः सन्ति तेभ्यो नमोऽस्तु। ये धार्मिका राजादयः सभ्या राजपुरुषाः सन्ति ते नोऽवन्तु। ते नो मृडयन्तु। ते वयं यं द्विष्मः, यश्च नो द्वेष्टि, तमेषां जम्भे दध्मः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, रश्मिमात्रस्य जडत्वात्, तस्योपकरणत्वेन सारथिवाहनाद्यसम्भवात्। सेनापतिग्रामाध्यक्षसदृशा अन्येऽपि रश्मय इत्यादिकमपि निरर्थकं प्रलपितमेव। कथङ्कारं प्रधानदिशां पुञ्जिकस्थलात्वम्? उपदिशां च कथं प्रज्ञाकर्मज्ञापकत्वम्? प्राणेषु च कथं तयोः सरणम्? रश्मिना च तेषां कः सम्बन्धः? हिंस्रपशूनामुपरि हेतिर्वज्रः पतत्विति किं त्वदीयशापेन वज्रपातः? पततुशब्दश्च मन्त्रे नास्त्येव।

आसां कण्डिकानां ब्राह्मणं तु पूर्वत्रास्मिन्नेवाध्याये दशमकण्डिकाव्याख्याने उपन्यस्तम्, तन्न विस्मर्तव्यम्॥ १५॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षाꣳसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥ १६॥

मन्त्रार्थ—यह दक्षिण दिशा में स्थापित इष्टका सकल कर्मकर्ता वायु का रूप है। रथ में स्थित हो शब्द करने वाला और रथ के ऊपर चित्र के समान स्थित हो नगर का शासन करने वाला सेनापति और नगररक्षक ग्रीष्म ऋतु यही है। सबके माननीय सर्वसाधारण के साथ रहने वाली ये दो अप्सराएँ हैं, राक्षसों का अवान्तर जातिभेद शस्त्र है, अतिक्रूर राक्षस शस्त्र है, इस प्रकार वायु के सम्पूर्ण परिवारकों के निमित्त नमस्कार हो। वे सब हमको सुख दें, वे सब हमारी रक्षा करें। जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करने वाले हैं, उनको हम इनकी दाढ़ों के बीच डालते हैं॥ १६॥

अथ दक्षिणतः। हे इष्टके, अयं दक्षिणा, दक्षिणस्यां दिशीति दक्षिणा, 'दक्षिणादाच्' (पा० सू० ५।३।३६) इति सप्तम्यन्ताद् दक्षिणाशब्दाद् आच्प्रत्यये रूपम्। विश्वकर्मा विश्वं सर्वं कर्म यस्यासौ विश्वकर्मा, विश्वं करोतीति वा विश्वकर्मा, विश्वस्य रचयिता वायुः, 'अयं वै वायुर्विश्वकर्मा' (श० ८।६।१।१७) इति श्रुतेः। तस्य वायोः, रथस्वनो रथे स्थितः स्वनति शूरशब्दं करोतीति शूरोचितं निनदतीति रथस्वनः सेनानीः। रथेचित्रो रथे स्थितः सन् चित्र आश्चर्यकारी ग्रामणीः। 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।९) इति सप्तम्या अलुक्। तस्य मेनका मानयन्त्येनामिति, सहजन्या जनैः सर्वैः सह स्थिता इति, अप्सरसां सर्वसाधारणत्वात्, एते अप्सरसौ परिचारिके। यातुधाना इति रक्षसामवान्तरजातिभेदः, हेतिः क्रूरा यातुधानास्तीक्ष्णहेतिरूपाः, अतिक्रूराणि रक्षांस्यतितीक्ष्णप्रहेतिस्वरूपाणि। यस्य वायोरिदं सर्वं वैभवं त्वं तद्रूपासि। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणतः। अयं दक्षिणा विश्वकर्मेत्ययं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवत एष हीदꣳ सर्वं करोति तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्याविति ग्रैष्मौ तावृतू मेनका च सहजन्या चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिरिमे तु ते द्यावापृथिवी यातुधाना हेती रक्षाꣳसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्त्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।६।१।१७)। द्यौर्मेनका पृथिवी सहजन्येति। स्पष्टमितरत्।

अध्यात्मपक्षे—हे परदेवते, अयं दक्षिणा दक्षिणस्यां दिशि वर्तमानो विश्वकर्मा वायुः। तस्य रथस्वनो रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ। इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्। यस्येदृशं वैभवं त्वं तद्रूपासि। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा योऽयं विश्वकर्मा वायुर्दक्षिणा वाति, तस्य वायो रथस्वनश्च रथस्य स्वनः शब्द इव स्वनो यस्य सः। रथे रमणीये चित्रा चित्राण्याश्चर्यरूपाणि चिह्नानि यस्य सः। सेनानीग्रामण्याविव वर्तमानौ। यया मन्यते सा मेनका। सहजन्या सहोत्पन्ना अप्सरसौ वर्तेते। ये यातुधानाः सन्ति तेषामुपरि हेतिः पततु। रक्षांसि दुष्टकर्मकारिणस्तेषामुपरि प्रहेतिः। तेभ्यो नमो वज्रोऽस्तु। शिक्षका न्यायाधीशास्ते नोऽवन्तु' इत्यादिकम्, तदप्यसङ्गतमेव, निर्मूलत्वात्, रथस्वनरथेचित्रयोरनिरूपणात्। मेनका सहजन्या चान्तरिक्षे वर्तमानाः किरणा उक्ताः, किरणानां च जाड्यमेव। तथा च यया मन्यते सा मेनकेति व्युत्पत्तिर्विरुध्येत। न च किरणानां रथस्वनत्वम्, तथाऽननुभवात्। न च रमणीये रथे चिह्नयुक्तान्याश्चर्यमयानि कार्याणि दृश्यन्ते, न वा मनुष्याणां प्रार्थनामात्रेण प्रजापीडकेषु दुष्टेषु वा हेतिप्रहेतिपातो दृश्यते। वज्रोऽपि न तेषु पतति। ताभ्यामेव तन्निराकरणोपपत्तौ नम इत्यस्य वज्रार्थताकल्पनापि निरर्थिकैव। न च मनुष्येच्छामात्रेण वज्रपातो भवति। राज्ञा दण्डपातने तु न प्रार्थनापेक्षा, तत्प्रवृत्तेः संविधानाधीनत्वात्। पूर्वं नम इत्यस्य नमस्कार एवार्थ उक्तः। अत्र तु वज्र इति पूर्वापरविरोधोऽपि॥ १६॥

अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ । प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—यह पश्चिम दिशा में स्थापित इष्टका सारे विश्व के प्रकाशक आदित्य का रूप है। उसका रथयुद्ध में धैर्यवान् शूर और अनुपम रथी सेनापति और ग्रामप्रधान वर्षा ऋतु है। अपने वेशविन्यास आदि के द्वारा सर्वसाधारण का मन हरने में समर्थ और एक बार मुग्ध होकर क्लेश पाने वाले व्यक्ति को फिर मोह में डालने वाली दो अप्सराएँ हैं। व्याघ्र जीव शस्त्र है। सर्प तीक्ष्ण शस्त्र है। इस प्रकार आदित्य के इन समस्त परिवारकों को हम नमन करते हैं। वे सब हमको सुख दें, वे सब हमारी रक्षा करें। जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करने वाले हैं, उन सबको हम इनकी दाढ़ों के बीच डालते हैं ॥ १७ ॥

अथ पश्चात्। पश्चात् पश्चिमदेशे। अपरस्मिन् प्रदेशे इत्यर्थेऽपरशब्दस्य पश्चभावः, आतिश्च प्रत्ययः 'पश्चात्' (पा० सू० ५।३।३२) इति सूत्रेण निपात्यते। अयमादित्यो विश्वव्यचा विश्वं सर्वं विचति, उदयेन सम्भावयति, व्याप्नोतीति। असुन्। पश्चिमायां स्पष्टं दृश्यत इति पश्चात्। तस्य आदित्यस्य रथप्रोतो रथे स्थितः प्रोत इव स्थिरः, असमरथोऽसमोऽन्यै रथैरतुल्यो रथो यस्यासौ, तावेतौ सेनानीग्रामण्यौ। तौ च वार्षिकावृतू वार्षिकौ मासौ। प्रम्लोचन्ती प्रम्लोचति नरं प्रत्यात्मानं दर्शयतीति, अनुम्लोचन्ती अनु वारं वारं म्लोचतीत्यनुम्लोचन्ती, ते एते अप्सरसौ। व्याघ्राः प्रसिद्धा हेतिः, सर्पाः प्रहेतिः। सर्वमेतद्यस्य वैभवं हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। तेभ्यो नमोऽस्तु। इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पश्चात्। अयं पश्चाद्विश्वव्यचा इत्यसौ वा आदित्यो विश्वव्यचा यदा ह्येवैष उदेत्यथेद७ सर्वं व्यचो भवति तद्यत्तमाह पश्चादिति तस्मादेतं प्रत्यञ्चमेव यन्तं पश्यन्ति तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्याविति वार्षिकौ तावृतू प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिरहोरात्रे तु ते ते हि प्रम्लोचतोऽनुचम्लोचतो व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिरिति व्याघ्रा हैवात्र हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्त्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।६।१।१८)। एतदनुसृत्यैव पूर्वोक्तं व्याख्यानम्। अहरेव प्रम्लोचन्ती रात्रिरेवानुम्लोचन्ती।

अध्यात्ममपि पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथायं विश्वव्यचा अस्ति विद्युद्रूपोऽग्निरस्ति, तस्य सेनानीग्रामण्याविव रथप्रोतश्चासमरथश्च प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ स्तः। यथा हेतिः प्रहेतिः सर्पा व्याघ्राश्च सन्ति, तेभ्यो नमोऽस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कल्पनामात्रप्रसूतत्वात्, अत एव निर्मूलत्वाच्च ॥ १७ ॥

अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ । विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—उत्तर दिशा में स्थापित इष्टका धन से प्राप्त होने वाला यज्ञ है। उसका अन्तरिक्ष में तीक्ष्ण पक्ष रूपी आयुधों का विस्तार करने वाला और अरिष्टनाशक अप्रतिहत आयुध वाला सेनानी और ग्रामपालक शरद ऋतु है। घृताची और विश्वाची नामक दो अप्सराएँ हैं। जल शस्त्र है और पवन तीक्ष्ण शस्त्र है। इस प्रकार के यज्ञ के सभी परिवारकों का हम नमन करते हैं। वे सब हमको सुख दें। वे सब हमारी रक्षा करें। जिनसे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करने वाले हैं, उन सबको हम इनकी दाढ़ों के बीच छोड़ते हैं॥ १८॥

अथोत्तरतः। उत्तराद् उत्तरस्मिन्निति। 'उत्तराधरदक्षिणादातिः' (पा० सू० ५।३।३४) इति सप्तमी-प्रधानेऽर्थे आतिः प्रत्ययः। अयम् उत्तरत उत्तरस्यां दिशि संयद्वसुः सम्यग् यन्ति गच्छन्ति वसूने धनार्थं यं प्रति स यज्ञः। यज्ञं गतेभ्यो हि दानमावश्यकम्। यज्ञस्योत्तरोपचारत्वाद् उत्तराद् यज्ञः। तस्य तार्क्ष्यस्तीक्ष्णेऽन्तरिक्षे क्षिपति पक्षाविति तार्क्ष्यः, अरिष्टनेमिः अरिष्टा अनुपहिंसिता नेमिरायुधं यस्यासौ, एतन्नामकौ सेनानीग्रामण्यौ। तौ च शारदावृतू शरत्सम्बन्धिनौ मासौ। विश्वाची विश्वं सर्वं प्रति अञ्चति या सा, सर्वसाधारणत्वात्। घृताची घृतमञ्चति भुङ्क्त इति तथोक्ता। घृतं ह्यप्सरसामन्नम्, 'घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नाम्' (ऋ० सं० १०।९५।१६) इत्युर्वशीवचनात्। आपः अपां समूहः, 'तस्य समूहः' (पा० सू० ४।२।३७) इत्यण्प्रत्ययः, हेतिः। वातः प्रहेतिः। तेभ्यो नमोऽस्त्वित्यादि पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरतः। अयमुत्तरात् संयद्वसुरिति यज्ञो वा उत्तराद् यत्तमाहोत्तरादित्युत्तरत उपचारो हि यज्ञोऽथ यत्संयद्वसुरित्याह यज्ञꣳ हि संयन्तीतीदं वस्विति तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्याविति शारदौ तावृतू विश्वाची च घृताची चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति स्माह माहित्थिर्वेदिश्च तु ते स्रुक् च वेदिरेव विश्वाची स्रुग्घृताच्यापो हेतिर्वातः प्रहेतिरित्यापो हैवात्र हेतिर्वातः प्रहेतिरतो ह्येवोष्णो वात्यतः शीतस्तेभ्यो नमो अस्त्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।६।१।१९)। संयद्वसुर्यज्ञः। यतो यज्ञस्योत्तरतोऽयमुपचारो यद् यज्ञमागतेभ्यो दानमावश्यकम्। तस्मात् संयन्ति वसुने जना यं सोऽयं यज्ञः संयद्वसुः। तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ। तौ च शारदौ मासावेव। विश्वाची च घृताची च अप्सरसौ। ते च दिगुपदिग्रूपे। वेदिरेव विश्वाची स्रुग्घृताची। सा हि स्पष्टं घृतमञ्चतीति। अतो दक्षिणत उष्णो वायुर्वाति, उत्तरतः शीतो वायुर्ग्रीष्मर्तावपि। तस्मादापो हेतिर्वायुः प्रहेतिरिति।

अध्यात्मपक्षे—हे परदेवते, संयद्वसुर्यज्ञः, तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ, सर्वमेतद्यस्य वैभवं त्वं तद्रूपासि। तेभ्यस्त्वद्रूपेभ्यो नम इत्यादि पूर्ववदूहनीयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथायमुत्तरात् संयद्वसुरिव शरदृतुरस्ति, तस्य सेनानीग्रामण्याविव तार्क्ष्य-श्चारिष्टनेमिश्च विश्वाची घृताची चाप्सरसौ स्तः। यथापो हेतिरिव वर्तिका वातः प्रहेतिरिवानन्दप्रदो भवति, तं ये युक्त्या सेवन्ते तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु....इत्यादिकम्' तदपि विसङ्गतमेव, श्रुतिविरोधात्। उक्तरीत्या श्रुत्या यज्ञ एव संयद्वसुरुक्तः। शारदावृतू तस्य सेनानीग्रामण्यावुक्तौ। न च सङ्गतिकरणाद्धेतोः शरदेव यज्ञ इति वाच्यम्, तथात्वे वसन्तादेरपि यज्ञत्वापत्तेः। तथैव वेदिरेव विश्वाची स्रुग् घृताची चोक्तेति तद्विरुद्धकल्पना निर्मूलैव॥ १८॥

अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यावुर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ-वस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत् प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥ १९॥

मन्त्रार्थ—यह मध्य दिशा में वर्तमान इष्टका पर्जन्य का रूप है। उसके सेना को जीतने वाले और सुन्दर सैन्य वाले सेनापति और ग्रामपालक हेमन्त ऋतु है, उर्वशी और पूर्वचिति नामक दो अप्सराएँ सब पुरुषों का मन हरने वाली हैं। भयजनक वज्र का शब्द शस्त्र और बिजली तीक्ष्ण शस्त्र है। इस प्रकार के पर्जन्य के सभी परिचारकों को हम नमस्कार करते हैं। वे सब हमको सुख दें, वे सब हमारी रक्षा करें। जिनसे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करने वाले हैं, उन सबको चबा जाने के लिये हम इनकी दाढ़ों के बीच छोड़ते हैं ॥ १९ ॥

अथ मध्ये। अयं पर्जन्य उपरि ऊर्ध्वदेशे 'उपर्युपरिष्टात्' (पा० सू० ५।३।३१) इत्यूर्ध्वदेशे इत्यर्थे उपरीति निपातितः। अर्वाग् अधोमुखं वसु धनं जलरूपं यस्मादसावर्वाग्वसुः, अधः प्रजाभ्यो जलं ददातीत्यर्थः। तस्य पर्जन्यस्य सेनजित् सेनां जयतीति तथोक्तः। 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इति ह्रस्वः। सुषेणः सुष्ठु सेना यस्यासौ सुषेणः, 'पूर्वपदात्' (पा० सू० ८।३।१०६) इति षत्वम्, ततो णत्वम्। तौ सेनानीग्रामण्यौ। तौ च हैमन्तिकावृतू। उर्वशी उरुः पृथुः कामो वशो यस्याः सा उर्वशी, पूर्वचित्तिश्च रूपातिशयात् पूर्वमेव पुंसां चित्तमुपैतीति पूर्वचित्तिः, एते अप्सरसौ तस्य परिचारिके। अथवा पूर्वं पुंसां चित्तं सौभाग्यातिशयात् तामभ्युपैतीति पूर्वचित्तिः, एते अप्सरसौ दिगुपदिशौ। अवस्फूर्जन् वज्रनिर्घोषं कुर्वन्, स्फूर्जतिर्वज्रनिर्घोषे, पर्जन्यो हेतिः, विद्युत् तडित् प्रहेतिः। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ मध्ये। अयमुपर्यर्वाग्वसुरिति पर्जन्यो वा उपरि तद्यत्तमाहोपरीत्युपरि हि पर्जन्योऽथ यदर्वाग्वसुरित्याहातो ह्यर्वाग्वसु वृष्टिरन्नं प्रजाभ्यः प्रदीयते तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्याविति हैमन्तिकौ तावृतू उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिराहुतिश्च तु ते दक्षिणा चावस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत् प्रहेतिरित्यवस्फूर्जन् हैवात्र हेतिर्विद्युत् प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्त्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।६।१।२०)। 'एते वै ते हेतयश्च। यांस्तद्देवा एषां लोकानामुपरिष्टाद् गोप्तॄनकुर्वताथ यास्ताः प्रजा एते ते सेनानीग्रामण्योऽथ यत्तन्मिथुनमेतास्ता अप्सरसः सर्व एव तद्देवाः कृत्स्ना भूत्वा सह प्रजया सह मिथुनेनैतस्मिन्नाके स्वर्गे लोकेऽसीदंस्तथैवैतद्यजमानः सर्व एव कृत्स्नो भूत्वा सह प्रजया सह मिथुनेनैतस्मिन्नाके स्वर्गे लोके सीदति' (श० ८।६।१।२१)। सुस्पष्टः कण्डिकार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे परदेवते, यस्यावार्ग्वसोरीदृशं वैभवं त्वं तद्रूपासि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अयमुपरि वर्तमानोऽर्वाग्वसुर्हेमन्तर्तुरस्ति, तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्याविव मार्गशीर्षपौषौ मासौ' इति, तदपि श्रुतिविरुद्धमेव। उरु बहु अश्नाति यया सेति दीप्तिः, पूर्वा प्रथमा चितिः संज्ञानं यस्याः सा चाप्सरसावित्यप्यसाम्प्रतम्, श्रुतौ दिगुपदिक्त्वोक्तेः ॥ १९ ॥

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपाᳬं रेताᳬंसि जिन्वति ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि स्वर्गलोक का सिर के समान प्रधान और बैल के कन्धे के समान उन्नत, जगत् का महान् कारण है। सूर्य रूप से प्रकाश देने के कारण यह पृथ्वी का पालक है। यह जल के सार भाग को पुष्ट करता है। अर्थात् द्युलोक से गिरते हुए वर्षा के जल को यह अन्न आदि के पकाने की शक्ति देता है, अथवा आहुति के फल से वर्षा को उत्पन्न करता है ॥ २० ॥

'छन्दस्यास्तिस्रस्तिस्रोऽनूकान्तेषु पुरस्ताद् गायत्रीरग्निर्मूर्धेति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १७।२।४)। वक्ष्यमाणा गायत्र्याद्याश्छन्दस्या एकैकस्मिन् स्थाने तिस्र उपदध्यात्। तासां मध्यमा पद्यानूके, तामभितो द्वे

अर्धपद्ये । अत्र पूर्वदिश्यनूकान्ते तिस्रो गायत्रीरिष्टका उपदध्याद् उदङ्मुखः प्राग्लक्षणाः, अग्निर्मूर्धेति प्रत्यृचम्. एवं वक्ष्यमाणा अपीति सूत्रार्थः । अयमग्निरादित्यरूपेण दिवो द्युलोकस्य ककुद् गोपृष्ठोन्नतावयववच्छ्रेष्ठः । मूर्धा शिरःस्थानीयः । पृथिव्याः पतिर्दाहपाककारित्वेन पालकोऽप्ययमपां जलानां रेतांस्युदककार्याणि स्थावरजङ्गम-शरीराणि जाठराग्निरूपेण जिन्वति प्रीणाति । इयमृक् तृतीये द्वादश्यां कण्डिकायां व्याख्यातपूर्वा ।

आध्यात्मिकोऽर्थो विशेषेण तत्रैवावसेयः ।

दयानन्दस्तु—'यथा हेमन्तर्तावयमग्निर्दिवः पृथिव्याश्च मध्ये मूर्धा ककुत्पतिः सन्नपां रेतांसि जिन्वति, तथैव मनुष्यैर्बलिष्ठैर्भवितव्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथातथैवाद्यंशानां मन्त्रबाह्यत्वात् ॥ २० ॥

अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः । मूर्धा कवी रयीणाम् ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि सहस्र संख्या वाले और शत संख्या वाले अन्न का स्वामी, क्रान्तदर्शी और सभी प्रकार के धनों में प्रधान धन है ॥ २१ ॥

अयमग्निः पुरोवर्ती सहस्रिणः सहस्राणि बहूनि विद्यन्ते यस्यासौ सहस्री तस्य, शतिनः शतान्यनन्तानि विद्यन्ते यस्यासौ शती, तस्य वाजस्य अन्नस्य पतिः स्वामी, अनन्तान्नप्रद इत्यर्थः । तथा रयीणां धनानां मूर्धा शिरोवदुत्तमः । अग्निर्हि सर्वधनानां प्रधानभूतः, दृष्टादृष्टाभीष्टसाधनत्वात् । कविः क्रान्तदर्शी, अतीतानागत-वर्तमानद्रष्टा, अतस्तं स्तुम इति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे—अयं प्रत्यगभिन्नोऽग्निः परमेश्वरः सहस्रिणः शतिनश्च वाजस्य धनस्य पतिः, रयीणां धनानां मूर्धा, सर्वधनसाध्यसुखसिन्धुस्वरूपत्वात् । कविः क्रान्तदर्शी सर्वदर्शी । तमहमाश्रये ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथायमग्निः सहस्रिणः शतिनो वाजस्य रयीणां च पतिर्मूर्धा कविरस्ति, तथैव यूयं भवत' इति, तदपि तुच्छम्, सम्बोधनोपसंहारयोर्निर्मूलत्वात् ॥ २१ ॥

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! प्राण ने जल के बीच में से मथ कर तुमको निकाला है । सम्पूर्ण संसार के यज्ञीय ऋत्विजों ने आदर के साथ तुम्हारा मन्थन किया है ॥ २२ ॥

इयमेकादशे द्वात्रिंशत्तमकण्डिकायां व्याख्यातपूर्वापि व्याख्यायते । हे अग्ने, अथर्वा एतदाख्य ऋषिः पुष्करादधि पद्मपत्रस्योपरि त्वां निरमन्थत निःशेषेण मथितवान्, 'पुष्करपर्णे ह्येनमुपश्रितमविन्दत्' (तै० सं० ५।१।४।४) इति श्रुतेः । कीदृशात् पुष्करपर्णात् ? मूर्ध्नः उत्तमाङ्गवत् श्रेष्ठाद् विश्वस्य सर्वस्य जगतो वाघतो वाहकात् । इदं हि पुष्करपर्णमग्निमन्थनयज्ञनिष्पादनद्वारा सर्वं जगन्निर्वहति ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, अथर्वोपलक्षिता ऋषयस्त्वां पुष्कराद् हृदयकमलाद् ध्यानाभ्यासरूप-निर्मन्थनाद् आविर्भावितवन्तः । कीदृशात् पुष्करात् ? मूर्धवदुत्तमाद् विश्वस्य सर्वस्य वाहकात् । विश्वाधारस्य भगवतो धारकत्वात् सुतरां सर्ववाहकत्वमिति ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यथा अथर्वा रक्षको वाघतः सुशिक्षिताभिर्वाग्भिरविद्या हन्यते येन स मेधावी, 'वाघत इति मेधाविनामसु' (निघ० ३।१५।२४) पठितत्वात् । पुष्कराद् अन्तरिक्षस्य अधि मध्ये मूर्ध्नः शिरोवद्वर्त्तं वर्तमानमग्निं विद्युतं निरमन्थत मथित्वा गृह्णाति, तथैव त्वां बोधयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, द्वितीयान्ताग्निशब्दस्य मूलेऽभावात्, मूर्धन् इत्यस्य तद्विशेषणानुपपत्तेश्च ॥ २२ ॥

भुवो॑ य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भिः॒ सच॑से शि॒वाभिः॑ ।
दि॒वि मू॒र्धानं॑ दधिषे स्व॒र्षां जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे हव्य॒वाह॑म् ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! तुम जब हवि को धारण करने वाली जिह्वारूप ज्वाला को प्रकट करते हो, तब द्रव्य और देवता के त्यागरूप यज्ञ के एवं यज्ञ के परिणाम रूप जल के प्रवर्तक और प्रापक होते हो। मंगल रूप अश्वों के साथ तुम यहाँ आते हो और द्युलोक में स्वर्ग को देने वाले आदित्य को धारण करते हो ॥ २३ ॥

'पुरस्तात्त्रिष्टुभो रेतःसिग्वेलायां भुवो यज्ञस्येति' (का० श्रौ० १७।१२।७)। पूर्वस्यां दिशि रेतःसिग्वेलायां त्रिष्टुप्संज्ञकास्तिस्र इष्टकाः प्राग्लक्षणा उदङ्मुखास्त्रिष्टुप्छन्दस्काभिस्तिसृभिर्ऋग्भिरुपदध्यादिति सूत्रार्थः। तिस्र ऋच आग्नेय्यः। तत्रेयं प्रथमा त्रयोदशेऽध्याये पञ्चदश्यां कण्डिकायां व्याख्याता। हे अग्ने, भुवो भूर्लोकस्य तत्रानुष्ठितस्य यज्ञस्य तस्मिन् यज्ञे प्रवर्तकस्य रजसो रजोगुणस्य च त्वं नेता निर्वाहकः। यत्र यस्यां दिवि सूर्यरूपो भूत्वा नियुद्भिर्नितरां योज्यमानाभिरश्वाभिः शिवाभिः सचसे समवैषि सम्बन्धं करोषि, नियुतो वायोः' (निघ० १।१५।१०) इत्युक्तेर्नियुतो नाम वायोरश्वाः। तस्यां दिवि मूर्धानं शिरोवत् प्रधानमादित्यं दधिषे धारयसि। कीदृशं मूर्धानम् ? स्वर्षाम्, स्वः स्वर्गं सनोति ददातीति स्वर्षास्तम्। यद्वा स्वः स्वर्गं स्यति सदा तिष्ठति न ततोऽपसरतीति स्वर्षास्तम्। तथा अस्मिन् यज्ञे हव्यवाहं हव्यं वहतीति हव्यवाट्, तां जिह्वां हविषः प्रापिकां ज्वालां चकृषे करोषि।

अध्यात्मपक्षे हे अग्ने परमेश्वर, त्वं भुवो भूर्लोकस्य यज्ञस्य रजसश्च नेता प्रेरकः, यत्र यस्यां दिवि नियुद्भिर्नियुद्गुणविशिष्टाभिरश्वाभिः सहितं वायुं सचसे सेवसे, नियुद्भिर्वायुर्लक्ष्यते, यत्र च मूर्धानमादित्यं दधिषे धारयसि, कीदृशमादित्यम् ? स्वर्षाम्, स्वर्गलोकदातारम्, तत्र च हव्यवाहं हविर्वोढ्रीं जिह्वां चकृषे करोषि, परमेश्वरस्यैवाग्निज्वालादिरूपेण देवेभ्यो हविषः प्रापकत्वात् ॥ २३ ॥

अबो॑ध्य॒ग्निः स॒मिधा॒ जना॑नां॒ प्रति॑ धे॒नुमि॑वाय॒तीमु॒षास॑म् ।
य॒ह्वा इ॑व॒ प्र व॒यामु॒ज्जिहा॑नाः॒ प्र भा॒नवः॑ सिस्रते॒ नाक॒मच्छ॑ ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—ज्ञान, श्रद्धा, द्विजतर्पण, सत्य आदि से सम्पन्न अग्निहोत्रियों की संविदा से अग्नि प्रज्वलित होता है। दीप्तिमान् अग्नि की किरणें स्वर्ग के चारों ओर उसी प्रकार फैलती हैं, जैसे कि पक्षी अपने पंखों की सहायता से वृक्षों की शाखाओं पर से आकाश में उड़ जाते हैं ॥ २४ ॥

अयमग्निर्जनानां ज्ञानश्रद्धाद्विजतर्पणसत्यादिनिष्ठानामग्निहोत्रिणां समिधा समिन्धनेन प्रत्यबोधि प्रतिबुद्धयते, कर्मणि स्वाधिकारं जानातीत्यर्थः। क इव ? यथा वत्स आयतीं समागच्छन्तीं धेनुं प्रतिबुद्धयते तद्वत्। यथा वा उषासम् उषःकालाधिष्ठात्रीं देवतां मनुष्याः प्रतिबुद्धयन्ते तद्वत्। आहुतिभिर्दीप्तस्य तस्याग्नेर्भानवो रश्मयो नाकमच्छ स्वर्गमभिप्राप्तुं प्र सिस्रते प्रसरन्ति। 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः (निरु० ५।२८)। तत्र दृष्टान्तः—यह्वा महान्तो जातपक्षाः पक्षिणो वयां वृक्षशाखां प्रोज्जिहानाः परित्यजन्तो नाकमाकाशं प्रति प्रसरन्ति तद्वत्। यद्वा जनानामृत्विजां सम्बन्धिन्या समिधा अग्निसमिन्धनसाधनेन काष्ठेन अग्निः प्रत्यबोधि प्रतिबोधितः प्रज्वलितो भवति। आयतीमागच्छन्तीमुषासं प्रातःकालं प्रति यथा धेनुं प्रतिबोधयन्ति उत्थापयन्ति जनाः, तथाग्निहोत्रिणोऽग्निमुद्बोधयन्तीत्यर्थः। तस्य प्रबुद्धस्याग्नेर्भानवः प्रोज्जिहानाः

नाकमभि प्र सिस्रते। तत्र दृष्टान्तः—वयां पक्षिणां मध्ये यह्वा महान्तः पक्षिणो यथा प्रोद्गच्छन्तः प्रसरन्ति, तद्वत्। विः पक्षी, तस्य षष्ठीबहुवचने छान्दसे गुणे वयामिति रूपम्। एकः प्रशब्द उज्जिहाना इत्यनेनापरः सिस्रते इत्यनेन च सम्बद्धयते। उषासमिति 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इति ह्रस्वस्य दीर्घव्यत्ययः।

अयमभिप्रायः—आयतीमागच्छन्तीं धेनुं गां वत्सो यथा प्रतिबुद्धयते, आयतीमुषासमुषसं प्रातःकालं यथा मनुष्याः प्रतिबुद्धयन्ते, तथायमग्निर्जनानामाहिताग्नीनां समिधा समिन्धनेन प्रत्यबोधि कर्मणि स्वाधिकारं जानाति। यथा यह्वा महान्तः, पक्षिण इति शेषः, वयां वृक्षशाखां प्रोज्जिहानाः परित्यजन्तो नाकमाकाशमच्छमभि सिस्रते प्रसरन्ति, तथा तस्याग्नेर्भानवः किरणा नाकं स्वर्गमच्छ अभि सिस्रते। अत्र धेनुमित्यत्र वत्सस्य, उषासमित्यत्र मनुष्या इत्यस्य, यह्वा इत्यत्र पक्षिण इत्यस्य च शेषत्वं द्रष्टव्यम्। यद्वा—अयमग्निर्जनानामाहिताग्नीनां समिधा अबोधि प्रज्वलितोऽभूत्। तत्र दृष्टान्तः—आयतीमुषासं प्रति धेनुमिव उषःकाले समागते सति दोहनार्थं समागतां धेनुं प्रति यथा वत्सः प्रतिबुद्धयते तद्वत्। उद्बुद्धयमानस्याग्नेर्भानवः किरणाः प्रोज्जिहानाः प्रकर्षेणोद्गच्छन्तो नाकमच्छ स्वर्गमभिप्राप्तुं प्र सिस्रते। तत्र दृष्टान्तः—यह्वा महान्तः पक्षिण इव वयां वीनां पक्षिणां मध्ये नाकमच्छ सिस्रते आकाशमभिप्राप्तुं प्रसरन्ति तद्वत्।

अध्यात्मपक्षे—अयं ज्ञानाग्निर्जनानामधिकारिणां साधनचतुष्टयसम्पन्नानां समिधा ज्ञानसाधनेन वेदान्तश्रवणमननादिभिः प्रत्यबोधि प्रतिबुद्धयते प्रज्वलितो भवति। क इव? यथा आयतीमागतां धेनुं प्रति वत्सो बुद्धयते, यथा वा आयतीमुषासं प्रातःकालं प्रति मनुष्यादयो बुद्धयन्ते तद्वत्। तस्य ज्ञानाग्नेर्भानवो रश्मयो नाकं दुःखातीतं परमात्मानम् अच्छ अभि प्राप्तुं सिस्रते प्रसरन्ति। यथा वयां पक्षिणां मध्ये यह्वा महान्तो जातपक्षा नाकमाकाशमभि सिस्रते तद्वत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा समिधाऽयमग्निरबोधि प्रकाशते, आयतीमुषासं प्रति जनानां धेनुमिवास्ति यस्य, यह्वा इव महान्तो धार्मिका इव प्रवयां व्यापिकां सुखनीतिमुज्जिहाना उत्कृष्टतया प्राप्नुवन्तः प्रभानवः किरणा नाकमविद्यमानदुःखमाकाशम् अच्छ सम्यक् सिस्रते प्रापयन्ति तं सुखाय यूयं सम्प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि निरर्थकमेव, असम्बद्धत्वात्, अत्रत्यस्य हिन्दीभाष्यस्य चास्पष्टत्वात्॥ २४॥

अवो॑चाम क॒वये॒ मेध्या॑य॒ वचो॑ व॒न्दारु॑ वृष॒भाय॒ वृष्णे॑।
गवि॑ष्ठिरो॒ नम॑सा॒ स्तोम॑म॒ग्नौ दि॒वीव॑ रु॒क्मम॑रु॒व्यञ्च॑मश्रेत्॥ २५॥

मन्त्रार्थ हम क्रान्तदर्शी उद्गातागण यज्ञ के योग्य श्रेष्ठ कामना करने में समर्थ अग्नि की स्तुति करने वाले वचनों का कथन करते हैं। वाणी में स्थिर होता हुआ पुरुष अन्न से युक्त स्तुति को आहवनीय अग्नि में उसी प्रकार अर्पित करता है, जिस प्रकार स्वर्ग में रोचमान आदित्य को सन्ध्यावन्दन, सूर्योपस्थान आदि में प्रयुक्त स्तुति अर्पित की जाती है॥२५॥

सामस्तोत्राणामुद्गातार ऋत्विजो वदन्ति। किं वदन्तीत्युच्यते—कवये क्रान्तदर्शनाय मेध्याय मेधे यज्ञे योग्यो मेध्यस्तस्मै। अग्नये अवोचाम स्तुतिरूपं वचो वाक्यमुक्तवन्तो वयम्। कीदृशं वचः? वन्दारु वन्दनशीलं स्तुतितत्परम् 'शृवन्द्योरारुः' (पा० सू० ३।२।१७३)। वन्दतेऽभिवादयते स्तौति वेति वन्दारु। कीदृशाय अग्नये? वृषभाय श्रेष्ठाय, कामानां वर्षित्रे फलदात्रे वा। आहुतिपरिणामाभिप्रायमेतत्। पुनः कीदृशाय? वृष्णे

सेक्त्रे। अर्थाद् यूने परिणामादिविकारशून्यायेत्यर्थः, नित्यं नवीनायेति तात्पर्यम्। गविष्ठिर इदानीं गवि वाचि स्थिरोऽप्रच्याव्यो होता, 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' (पा० सू० ८।३।९५) इति षत्वम्। नमसा अन्नेन युते स्तोमं स्तुतिम् अग्नौ आहवनीये, अश्रेद् आसञ्जयिष्यति, अग्निसम्बद्धं करिष्यतीत्यर्थः। अन्तर्भूतण्यर्थः श्रयतिः। लङ् च लृडर्थे, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति वचनात्। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुकि गुणः। कथमिव ? दिवीव रुक्मम्। यथा द्युलोके रुक्मं रोचनमादित्यम्, उरु व्यञ्चं सन्ध्यावन्दनसूर्योपस्थानादिषु विशेषेण प्रयुक्ता उरवो बहवो व्यञ्चाः स्तुतयो गतयो वा यस्य सः, तमिव। अथवा उरुभिः स्तुतिभिर्भक्तिभिः स्वरसौष्ठवाद्युपेताभिर्युक्तम्। स्तोम आदित्येन आहवनीयो दिवा चोपमीयते।

अध्यात्मपक्षे—उद्गातारो होतारो भक्ताश्च भगवन्तं स्तुवन्ति। वयमग्नये परमेश्वराय वचोऽवोचाम नैकधा स्तुतिवाचमुक्तवन्तः। कीदृशायाग्नये ? कवयेऽतीतानागतवर्तमानदर्शिने। पुनः कीदृशाय ? मेध्याय परमपवित्राय, पावनानां पावनत्वात्। पुनः कीदृशाय ? वृषभाय वृषो धर्मो भाति शोभते यस्मादसौ वृषभः, तस्मै। पुनः कीदृशाय ? वृष्णे अभीष्टकामवर्षुकाय। कीदृशं वचः ? वन्दारु वन्दनादियुक्तम्। गविष्ठिरो वाच्यस्खलितः, अथवा गवि उच्चभक्तिभूमिकायां स्थिरः स्थितो भक्तो नमसा हविर्नैवेद्याद्यन्नेन युक्तं स्तोमं स्तुतिसमूहम् अग्नौ भगवति, अश्रेत् आसञ्जयिष्यति। कुत्र किमिव ? दिवि द्युलोके रुक्मं रोचमानम् उरुव्यञ्चं बहुभिः स्तुतिभिर्गतिभिर्वा युक्तमादित्यमिव।

दयानन्दस्तु—'वयं यथा गविष्ठिरो गोषु किरणेषु तिष्ठतीति दिवि सूर्यप्रकाश इव, उरुव्यञ्चम् उरुषु बहुषु विशेषेण अञ्चतीति उरुव्यञ्चस्तम्, रुक्ममादित्यं अश्रेत् श्रयेत्, तथा मेध्याय सर्वशुभलक्षणसङ्गताय पवित्राय वृषभाय बलिष्ठाय वृष्णे वृष्टिकर्त्रे कवये मेधाविने वन्दारु प्रशंसनीयं वचोऽग्नौ पावके नमसा अन्नादिना अवोचाम उच्याम' इति, तदप्यसङ्गतम्, विद्युदग्नेः सूर्यकिरणेषु सत्त्वे मानाभावात्। यदि किरणेषु तिष्ठति, तर्हि किरणा एव तदाश्रयभूताः, पुनः किमर्थमादित्याश्रयणम् ? किञ्च, सूर्यस्य किरणाः प्रकाशाश्च परस्परमभिन्ना एवेति पृथग्वचनं निरर्थकमेव। किञ्च, कोऽयं कविः, यस्मै वन्दारुवचः प्रयोक्तव्यम् ? न जीवः, निरर्थकत्वाद् रागप्राप्तत्वाच्च। नापीश्वरः, कवित्वादीनामन्यत्रापि सम्भवात् ॥ २५ ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि देवताओं का आह्वान करने वाला, यज्ञ में स्थित अथवा अतिशय यज्ञ कराने वाला, यज्ञों में ऋत्विजों के द्वारा स्तुत होकर इस कर्मस्थान में स्थापित किया गया है। पुत्रवान् यज्ञविद्या जानने वाले भृगुवंशी मुनियों ने यजमान के उपकारार्थ आश्चर्यरूप व्यापक शक्ति वाले इस अग्नि को प्रज्वलित किया था ॥ २६ ॥

'जगतीश्च पश्चादयमिहेति' (का० श्रौ० १७।१२।८)। तिसृभिः पश्चाद्रेतःसिग्वेलायां तिस्रो जगतीसंज्ञेष्टकाः प्राग्लक्षणा दक्षिणामुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। आसां मध्यमा पद्यान्तूके तामभितो द्वे अर्धपद्ये। तासु तिसृषु जगतीषु प्रथमेयमृक्। इयं च तृतीयेऽध्याये पञ्चदश्यां कण्डिकायां व्याख्याता ॥ २६ ॥

अथ द्वितीया जगती—

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—यजमानों का रक्षक, कर्म में सावधान, अति उत्साह युक्त, घृत को मुख में रखने वाला यह पवित्र अग्नि नवीन यज्ञ के निमित्त ऋत्विजों के द्वारा प्रकट किया गया है। यह अग्नि स्वर्ग को स्पर्श करने वाली विशाल कान्ति से प्रकाशमान् है ॥ २७ ॥

योऽग्निर्भरतेभ्य ऋत्विग्भ्यः सकाशाद् अजनिष्ट जातः। तैर्मथितत्वात् तेभ्यो जातत्वोक्तिः। भरता[1] इति ऋत्विङ्नामसु (निघ० ३।१८।१) पठितम्। किमर्थं जात इति चेदुच्यते—नव्यसे नवीयसे नवतराय अतिशयेन नवं नवीयस्तस्मै। ईकारलोप आर्षः। अभिनवाय यागादिकर्मणे जात इत्यर्थः। कथंभूताय ? नवीयसे सुविताय सूताय प्रसूताय कर्मणे यागाय। सूतेरिडागम आर्षः। सोऽग्निर्दिविस्पृशा द्युलोकस्पर्शिना बृहता ज्वालासमूहेनेति शेषः। द्युमत्कान्तिमद्यथा स्यात् तथा विभाति विविधं दीप्यते। कीदृशोऽग्निः ? जनस्य यजमानस्य गोपाः। गोपायति रक्षतीति गोपाः, क्विप्। 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) इति यकारलोपः। जागृविः जागरणशीलः कर्मणि रक्षायां च सावधानः। सुदक्षः सुष्ठु शोभनो दक्ष उत्साहो यस्य सः, अतिकुशल इत्यर्थः। घृतप्रतीको घृतं प्रतीके मुखे यस्य सः, तदुद्देश्येनान्यदेवतोद्देश्येन वा घृतस्य तन्मुखे हूयमानत्वात्। शुचिः शुद्धः, बहूनां हविषां भक्षणेनाप्यनुच्छिष्टत्वात्। अथवा शुचिः शोधकः। यद्वा—योऽयं जनस्य यजमानस्य गोपा गोपायिता अजनिष्ट जातः, जागृविः, जागर्तीति तथोक्तः। अम्लानज्ञान इत्यर्थः। सुदक्षः शोभनोत्साहः। सुविताय सुप्रभूताय। नव्यसे नवतराय कर्मणे। घृतप्रतीको घृतमुखः। बृहता महता दिविस्पृशा दिवं स्पृशतीति दिविस्पृक् तेन भानुना द्युमद् दीप्तिमत्। भरतेभ्य ऋत्विग्भ्योऽर्थाय। शुचिः शुद्धः। मनुष्येभ्यो जायमानोऽपि मनुष्यसम्बद्धैर्दोषैर्न लिप्यते। स विभाति विविधं दीप्यते।

अध्यात्मपक्षे—अयमग्निः परमेश्वरो जनस्य भक्तजनस्य गोपा रक्षकोऽजनिष्ट श्रीरामकृष्णादिरूपेणोत्पन्नः। जागृविः सदा भक्तरक्षणे जागरूकः। सुदक्षः शोभनोत्साहोऽतिकुशलो वा। घृतप्रतीको घृतमुखः, नवनीतप्रियत्वात्। शुचिर्भावानुसारेण सर्वेषां नैवेद्यानि भक्षयन्नप्यमेध्यो न भवति। किमर्थं जात इत्युच्यते ? नव्यसे नवनवायमानाय सुविताय प्रसूताय चरित्राय, तच्चरितस्य श्रवणमात्रेण विश्वपावनत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यो जनस्य जातस्य गोपा रक्षको जागृविर्जागरूकः सुदक्षो घृतप्रतीकः प्रतीतिकरं जलमाज्यं वा यस्य सः। शुचिरग्निर्नव्यसे सुवितायाजनिष्टातिशयेन नवीनायोत्पादनीय ऐश्वर्याय जातः, बृहता महता दिविस्पृशा दिवि प्रकाशे स्पृशति येन तेन भरतेभ्य आदित्येभ्यो द्युमद् द्यौः प्रकाशोऽस्त्यस्मिन् तद् विभाति तं यूयं विजानीत' इति, तदपि न, सम्बोधनोपसंहारयोर्निर्मूलत्वात्, विद्युदग्निबोधस्य लौकिकोपायबोध्यत्वेनाज्ञातज्ञापकवेदस्य तद्बोधने तात्पर्यायोगात्। किञ्च, त्वद्रीत्या वेदस्यानादित्वेन तद्विहितस्य विद्युदग्निज्ञानस्य कथं नवीनत्वम् ? कथं वा नव्यकार्यकरत्वं सम्भवति ? घृतप्रतीक इत्यत्र प्रतीकशब्दस्य प्रतीतिकरत्वं कथमर्थः ? कथं च प्रतीतेर्वृद्धिरर्थः ? इत्यादिजाज्वल्यमानदोषाणां समुल्लासात् ॥ २७ ॥

त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—निरन्तर यज्ञ में विचरण करने वाले हे अग्निदेव ! अंगिरा ऋषि के वंश में उत्पन्न हुए ऋषियों ने निगूढ़ देश में स्थित, अनेक वनस्पतियों में निवास करने वाले तुमको खोजा है। वह तुम बड़े बल से मथ्यमान होने के कारण अरणि से उत्पन्न होते हो। इसी कारण मुनिगण तुमको बल का पुत्र और ब्रह्मज्योति कहते हैं ॥ २८ ॥

---

१. वस्तुतस्तु ऋत्विङ्नामसु भारतशब्दस्य पाठः। यज्ञद्वारेण कृत्स्नं भरन्तीति स्कन्दस्वामिरीत्या भरता अपि ऋत्विज एव।

हे अग्ने, यं त्वामङ्गिरसोऽङ्गिरोवंशोद्भवा ऋषयः, अन्वविन्दन् उपलब्धवन्तः, अन्विष्य प्रापुरित्यर्थः। कीदृशं त्वाम् ? गुहा गुहायां निगूढे प्रदेशे हितं स्थितम्, अप्सु प्रविष्टमित्यर्थः। 'अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत् सोऽप आविशत्' इति श्रुतेः[1]। 'सुपां सुलुक्....' (पा० सू० ७।१।३९) इति गुहाशब्दात् सप्तमीलोपः। हे अग्ने, पुनर्नष्टं त्वां वने वने शिश्रियाणं नानावनस्पतिश्रितमङ्गिरसोऽन्वविन्दन्। 'नित्यवीप्सयोः' (पा० सू० ८।१।४) इति वनेपदस्य द्वित्वम्। स त्वमिदानीमपि जायसे उत्पद्यसे, अरणिभ्य इति शेषः। कीदृशस्त्वम् ? महत् सहो मथ्यमानो महता बलेन अरणिकाष्ठेभ्यो मथ्यमानः। महत्-सहस्-शब्दाभ्यां परस्यास्तृतीयाया लोपः। अतश्च कारणाद् हे अङ्गिरः ! अग्ने त्वां सहसस्पुत्रं सहसो बलस्य पुत्रमृषय आहुः, बलेन मथनाज्जायमानत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, त्वा अङ्गिरसस्तदुपलक्षिता ऋषयो गुहाहितं गुहायां बुद्धिरूपायां हितं स्थितमन्वविन्दन् उपलब्धवन्तः। शिश्रियाणं सर्वभूतेषु श्रितम्। कीदृशा अङ्गिरसः ? वने वने तपस्यमाना इति शेषः। स त्वं हे अङ्गिरो अग्ने, महता बलेन प्रयासेन मथ्यमानो ध्याननिर्मथनाभ्यां मनसि स्थिरीक्रियमाणो जायसे प्रादुर्भवसि। अतो मुनयस्त्वां सहसस्पुत्रमाहुः।

दयानन्दस्तु—'हे अङ्गिरोऽग्ने प्राणवत् प्रिय, त्वं मथ्यमानोऽग्निरिव विद्यया जायसे। यथा महत्सहोमयं सहसस्पुत्रं वने वने शिश्रियाणं गुहाहितं त्वामाहुरङ्गिरसोऽन्वविन्दन्, तथा त्वामहं दीपयामि' इति, तदपि तुच्छम्, प्रमाणमन्तरा लक्षणावृत्तेराश्रयणस्यायुक्तत्वात्, त्वद्रीत्या बलयुक्तस्य वायोः पुत्राप्रसिद्ध्या तद्दृष्टान्तानुपपत्तेश्च। न च रश्मौ रश्मौ पदार्थे पदार्थे कस्यचिन्मनुष्यस्य विदुषोऽविदुषो वा श्रयणं गुहाहितत्वं च सम्भवति। तस्मान्निरर्थकमेव तत्प्रलपनम् ॥ २८ ॥

सखा॑यः॒ सं वः॑ स॒म्यञ्च॒मिष॒ꣳ स्तोमं॑ चा॒ग्नये॑।
वर्षि॑ष्ठाय क्षिती॒नामू॒र्जोन॑प्त्रे॒ सह॑स्वते ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान ऋत्विजों से कहते हैं कि हे ऋत्विजों, मेरे साथ मित्रता का व्यवहार करने वाले तुम लोग मनुष्यों के परम उपकारक, जल के पौत्र रूप, बड़े बल वाले अग्निदेवता के निमित्त समीचीन नवीन हविरूप अन्न प्रदान करो और स्तोत्र का पाठ करो ॥ २९ ॥

'अपरास्ताभ्योऽनुष्टुभः सखायः सं व इति' (का० श्रौ० १७।१२।९)। जगतीभ्योऽपरास्तिस्रोऽनुष्टुप्संज्ञेष्टकाः प्राग्लक्षणा दक्षिणामुखः सखाय इति ऋक्त्रयेणोपदध्यादिति सूत्रार्थः। आसां मध्यमा पद्याऽनूके तामभितो द्वे अर्धपद्ये। तिस्रोऽनुष्टुभः। ऋत्विजो यजमानेन सम्बोध्यन्ते—हे सखायः ऋत्विजः, सम्यञ्चं समीचीनमिषमन्नं हविर्लक्षणं समीचीनं स्तोमं च अग्नये अग्निदेवतायै यूयं सम्पादयत। अग्निदेवताकं हविः कुरुतेत्यर्थः। त्रिवृत् पञ्चदशादिस्तोमं च वदतेत्यर्थः। व्यत्ययेन प्रथमास्थाने द्वितीयाबहुवचनं कृत्वा वसादेशे व इति रूपम्। समित्युपसर्गस्यापेक्षितः क्रियाविशेषोऽध्याहर्तव्यः, सम्पादयतेति। कीदृशायाग्नये ? क्षितीनां वर्षिष्ठाय। क्षियन्ति निवसन्ति भूमाविति क्षितयो मनुष्यास्तेषाम्। अतिशयेन वृद्धो वर्षिष्ठः, तस्मै वृद्धतमाय। 'प्रियस्थिर....' (पा० सू० ६।४।१५७) इति वृद्धशब्दस्येष्ठनि वर्षादेशः, सर्वपूज्यायेति यावत्। तथा ऊर्जो जलस्य नप्त्रे पौत्राय। अद्भ्यो वनस्पतयो जायन्ते, तेभ्योऽग्निरित्यपां पौत्रत्वमग्नेः। तथा सहस्वते सहो बलमस्यास्तीति सहस्वानग्निः, तस्मै। यद्वा हे सखायः शृणुत, वो युष्मान्, ब्रवीमीति शेषः। सम्यञ्चमेकीभूतम् इषं हविर्लक्षणमन्नं स्तोमं च त्रिवृत्पञ्चदशादि अग्नये, भरतेति शेषः। शेषं पूर्ववत्।

---

१. इयं श्रुतिर्नाधुनोपलभ्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे सखायो मित्राणि, यूयं शृणुत वो युष्मान् ब्रवीमीति शेषः। सम्यञ्चं समीचीनमृतकृत्त्विषं निवेदनीयमन्नं स्तोमं स्तुतिसमूहं चाग्नये परमात्मने समर्पयत। कीदृशायाग्नये ? क्षितीनां प्राणिनां वर्षिष्ठाय पूज्यतमाय, ऊर्जो जीवरसस्य नप्त्रे पौत्राय पौत्रवत् प्रियतमाय, सहस्वते प्रशस्तबलाय।

दयानन्दस्तु—'यथा विद्वांसः सखायः सन्तः क्षितीनां वो युष्माकमूर्जोनप्त्रे सहस्वते वर्षिष्ठायाग्नये यं सम्यञ्चमिषं स्तोमं च समाहुः, तथा यूयमनुतिष्ठत' इति तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थश्रयणात्, सम्बोधनोपसंहारयोर्निर्मूलत्वाच्च ॥ २९ ॥

सᳪँसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ। इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हे सेचन करने वाले अग्निदेव, तुम हमारे स्वामी हो, सम्पूर्ण यज्ञ-फलों को यजमान को प्राप्त कराते हो, तुम पृथ्वी के स्थान उत्तरवेदि में कर्म के निमित्त प्रदीप्त होते हो। तुम हमारे लिये सभी ओर से धन जुटाकर प्राप्त कराओ ॥ ३० ॥

हे वृषन्, वर्षति कामानिति वृषा तत्सम्बुद्धौ, सेक्तः अभीष्टवर्षणशील ! 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा० सू० ८।१।६) इत्युपसर्गाभ्यासः। इदिति पादपूरणोऽनर्थकः। अग्ने विश्वानि सर्वाणि वसूनि धनानि, अर्यः स्वामीश्वरः सन् त्वम् आलोच्यालोच्य समन्तात् संयुवसे संयौषि यजमानेन सङ्गमयसि, नोऽस्माकं यजमानानामिड इडायाश्च पदे कर्मार्थं समिद्ध्यसे दीप्यसे। यद्वा इडायाः पृथिव्याः पदे उत्तरवेदौ सन्दीप्यसे। यद्वा अर्यः स्वामी त्वं विश्वानि सर्वाणि फलान्यासमन्तात् संयुवसे। युवसे इति विकरणव्यत्ययः। ईदृशस्त्वं नोऽस्मभ्यं वसूनि आभर आहर। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति निपातनम्। आभरेत्यत्र 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१।८४ वा०) इति हकारस्य भकारः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, हे वृषन् अभीष्टफलवर्षितः ! विश्वानि सर्वाणि वसूनि धनानि बाह्यान्याध्यात्मिकानि च आसमन्तात् संयुवसे भक्तैः सङ्गमयसि। इडाया गवाम्, जातावेकवचनम्। पदे गोष्ठे व्रजे समिध्यसे दीप्यसे, श्रीरामरूपेण सरय्वा उत्तरस्मिन् भागे कृष्णरूपेण वृन्दावने च। स त्वं नोऽस्मभ्यं वसूनि त्वदाकारा वृत्तीराभर सङ्गमय।

दयानन्दस्तु—'हे वृषन्नग्ने, अर्य वैश्य, त्वं सं समायुवसे मिश्रय। इडः प्रशंसनीयस्य पदे प्रापणीये समिध्यसे प्रदीप्यसे, स नो वसून्याभर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य अग्नेपदस्य स त्वमिदमग्निनेत्यन्वयानुपपत्तेः, तदन्यस्य तृतीयान्तस्य तस्य मन्त्रेऽभावात्। न च वैश्यः प्रार्थयितृणामर्थाय धनमर्जयति, समेषां स्वाभीष्टसिद्धयर्थमेव प्रवृत्तिदर्शनात्। न च 'युवसे' इति पदस्यापि तत्र सङ्गतिः ॥ ३० ॥

त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः। शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—कीर्ति और ऐश्वर्य से अतिविचित्र यजमानों के प्रिय हे अग्निदेव ! प्रजा के कल्याण के लिये ऋत्विक् और यजमान तुमको हवि का वहन करने के लिये बुलाते हैं ॥ ३१ ॥

हे चित्रश्रवस्तम ! चित्रं नानारूपं धनं कीर्तिर्वा यस्य स चित्रश्रवाः, अतिशयेन चित्रश्रवा इति चित्रश्रवस्तमस्तत्सम्बुद्धौ। हे पुरुप्रिय पुरूणां बहूनां यजमानानां प्रियः पुरुप्रियस्तत्सम्बुद्धौ। अथवा पुरवो बहवो यजमानाः प्रिया यस्य स पुरुप्रियस्तत्सम्बुद्धौ। अथवा पुरु बहु हव्यं प्रियं यस्य स पुरुप्रियस्तत्सम्बुद्धौ। हे अग्ने, विक्षु प्रजासु जन्तव ऋत्विग्यजमानास्त्वां हवन्ते आह्वयन्ति। 'ह्वः सम्प्रसारणम्' (पा० सू० ६।१।३२) इति

शपि विनापि निमित्तं सम्प्रसारणम्, छन्दसि दृष्टानुविधित्वात् । कीदृशं त्वाम् ? शोचिष्केशम्, शुच्यन्ते स्वभावतः पूता भवन्तीति शोचींषि ज्वालाः केशा इव केशस्थानीयानि वा यस्य स शोचिष्केशस्तम् । 'अर्चिशुचि....' (उ० २।१०८) इति इसिः । 'ईशुचिर् पूतीभावे' इति दैवादिकस्य रूपम् । यत्तु व्याकरणज्ञानशून्येन दयानन्देन उणादिटीकायां शोचतीति शुचिरिति, तदत्यन्तं मन्दम्, ज्वालायास्तत्सिद्धान्ते जडत्वात् शोकाभावात् । किमर्थम् ? हव्याय वोढवे हव्यं वोढुं प्राप्तम् । विभक्तिव्यत्ययः । 'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्....' (पा० सू० ३।४।९) इति तवेप्रत्ययः ।

अध्यात्मपक्षे— हे अग्ने तेजस्विन् भगवन्, हे चित्रश्रवस्तम लोकोत्तरयशोदीप्त, हे पुरुप्रिय सर्वप्राणिपरप्रेमास्पद, विक्षु प्रजासु बहवो भक्तास्त्वां हवन्ते आह्वयन्ति । कीदृशं त्वाम् ? शोचिष्केशं हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टमादित्यमण्डलस्थम् । किमर्थम् ? हव्यायाभीष्टज्ञानवैराग्यादिप्राप्तये वोढवे हृदयकमले त्वां वोढुं धारयितुमित्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे पुरुप्रिय अद्भुतान्नाग्ने ! विक्षु प्रजासु हव्याय वोढवे वोढुं यं शोचिष्केशं सूर्यस्य रश्मय इव तेजांसि यस्य तं त्वां जन्तवो हवन्ते, तं वयमपि हवामहे' इति, तदपि तुच्छम्, मनुष्यस्य शोचिष्केशत्वानुपपत्तेः । न च 'हवामहे' इत्यस्य स्वीकुर्म इत्यर्थः, धात्वर्थाननुरोधात् ॥ ३१ ॥

एना वो॑ अ॒ग्निं नम॑सो॒र्जो नपा॑त॒माहु॑वे ।
प्रि॒यं चेति॑ष्ठमर॒तिꣳ स्व॑ध्व॒रं विश्व॑स्य दू॒तम॒मृत॑म् ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ— हे ऋत्विक् और यजमानों, तुम्हारे इस अन्न के द्वारा जलदेवता के पौत्र, यजमान की प्रीति के कारण, अतिशय चैतन्यधर्मा, ज्ञानदाता, सदा उद्यमी, श्रेष्ठ यज्ञ वाले, सम्पूर्ण गृहपाक आदि कार्य करने से दूतरूप, मरणरहित अग्निदेव को आदरपूर्वक तुम लोग यहाँ बुलाओ ॥ ३२ ॥

'अषाढावेलायाः पुरस्ताद् बृहतीरेना व इति ।' (का० श्रौ० १७।१२।१०) । अषाढायाः पुरस्ताद् उदङ्मुखस्तिस्रो बृहतीष्टकाः प्राग्लक्षणा एना व इति तिसृभिर्ऋग्भिरुपदध्यादिति सूत्रार्थः । आसां मध्यमा पद्या अनूके तामभितो द्वे अर्धपद्ये । तिस्रो बृहत्यः प्रगाथः । ऋग्द्वयग्रन्थनेन ऋक्त्रयसम्पादनं प्रगाथः । बृहती पूर्वा सतोबृहती उत्तरा । आभ्यां प्रग्रथनेन तिस्रो बृहत्यः सम्पादिताः । यस्यास्तृतीयः पादो द्वादशाक्षरोऽन्ये त्रयोऽष्टार्णाः सा बृहती । 'एना वोऽग्निं नमसोऽर्जोनपातमाहुवे । प्रियं चेतिष्ठमरतिꣳ स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥' इति । यस्याः प्रथमद्वितीयौ द्वादशार्णौ द्वितीयचतुर्थावष्टार्णौ सा सतोबृहती । 'स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः । सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवꣳ राधो जनानाम् ॥' इति । तत्र बृहत्यास्तुरीयं पादं द्विरावर्त्य सतोबृहत्याः पूर्वार्धेन सह द्वितीया बृहती कृता । सतोबृहत्या द्वितीयं पादं द्विरावर्त्य तस्या एवोत्तरार्धेन सह तृतीया बृहती कृता । एवं तिस्रो बृहत्यः संहितायां पठिताः । तत्रावर्तितपादानामर्थान्तराभावाद् द्वे ऋचौ व्याख्यायेते इति महीधराचार्यः ।

हे ऋत्विग्यजमानाः, वो युष्माकं सम्बन्धिना एना एनेन नमसा हविर्लक्षणेन अन्नेन अग्निमहमाहुवे आह्वयामि । वो युष्माकमेनमग्निं नमसा हवे इति वा । एना इत्यत्र तृतीयाया द्वितीयाया वा स्थाने आकारः । कीदृशमग्निम् ? ऊर्जोनपातम् अपां पौत्रं पौत्रवत् प्रियम्, यजमानानां प्रीतिहेतुम्, सर्वजनप्रियमिति वा । प्रियमिति पदमावर्त्योभयत्र योज्यम् । पुनः कीदृशम् ? चेतिष्ठम्, अतिशयेन चेतयितारम् । 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इतीष्ठनि परे तृचो लोपः । अरतिम् अलं मतिं पर्याप्तमतिम् । यद्वा रतिरुपरमो विरामः, तद्रहितम्,

सततोद्युक्तम् । पुनः कीदृशम् ? स्वध्वरम्, सु शोभना अध्वरा यस्य स स्वध्वरः, तम् । यद्वा हे ऋत्विग्यजमानाः, वो युष्माकं सम्बन्धिनमग्निम्, एना एनेन नमसा नमस्कारेण युक्तोऽहं हुवे आह्वयामि । कीदृशमग्निम् ? ऊर्जो अन्नस्य नपातं विनाशयितारम् । पुनः कीदृशम् ? प्रियम्, प्रीतिहेतुं विश्वस्य सर्वस्य जगतो दूतं दूतवत् कार्यकारिणम् । सर्वस्य गृहे दाहपाकादिकार्यं करोत्यग्निः । अमृतं मरणरहितम्, मनुष्यादिवद् देवानां शीघ्रमरणायोगात् ।

अध्यात्मपक्षे—हे भक्ताः, वो युष्माकं सम्बन्धिनमेनमग्निं भगवन्तं नमसा नमस्कारेण हविर्लक्षणेन अन्नेन वा युक्तोऽहं हुवे । कीदृशमग्निम् ? प्रियं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदम्, सर्वेषामात्मत्वात् । ऊर्जोऽतिबलवतो रावणादेर्नपातं विनाशयितारम् । चेतिष्ठम् अतिशयेन चेतनायुक्तम्, चेतनानां चेतनत्वात्, आत्मनामप्यात्मत्वात्, 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (कठोप० २।२।१३) इति मन्त्रवर्णात् । अरतिं भक्तेभ्यो हिताय सदोद्यमशीलम् । अथवा अलंमतिं वा । स्वध्वरं सु सुष्ठु शोभनोऽव्यङ्गोऽध्वरो यज्ञो यस्मात् स स्वध्वरः, तम् । 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु । न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥' इति स्मरणात्, 'यत्पादपद्मस्मरणाद् यस्य नामजपादपि । न्यूनं कर्म भवेत् पूर्णं तं वन्दे साम्बमीश्वरम् ॥' (शिव० पु० कैलास० १२।६४) इति शिवमहापुराणवचनात्, 'मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः । सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं तव ॥' (भाग० पु० ८।२३।१६) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनाच्च । विश्वस्य जगतो दूतं दूयते सन्देशहरणादिनेति दूतः, तम् । नैकधा कष्टान् सोढ्वापि हितकारिणं सुहृदम् । 'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति' (भ० गी० ५।२९) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनात् । पुनः कीदृशम् ? अमृतम्, षड्विधभावविकारवर्जितम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं वो युष्मभ्यमेना एनेन पूर्वोक्तेन नमसा ग्राह्येणान्नेन नपातमपतनशीलं प्रियं चेतिष्ठं स्वध्वरं शोभना अहिंसनीया व्यवहारा यस्मात्तम्, अरतिम् नास्ति रतिश्चैतन्यं यस्मिंस्तम्, अमृतं कारकरूपेण नित्यम्, विश्वस्य दूतं सर्वत्राभिगन्तारम्, विद्युतमग्निमूर्जः पराक्रमाद् आहवे स्वीकरोमि, तथा यूयं मह्यं जुहुत' इति, तदपि विसङ्गतमेव, मन्त्रे यथातथाशब्दाभावात्, अन्नस्य विद्युतोऽनुपकारकत्वाच्च । न चात्र परस्परार्थं तदङ्गीकरणम्, तथाऽदर्शनात् ॥ ३२ ॥

विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम् । स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—मरण धर्म रहित, सब के लिये दूत का काम करने वाले जिस अग्नि को हम बुलाते हैं, वह क्रोध-रहित होकर यज्ञ के भाग को भोगने वाले दो अश्वों को रथ में जोतता है और रथ पर चढ़ कर हमारी दी हुई आहुति को ग्रहण करने के लिये शीघ्र यहाँ आता है ॥ ३३ ॥

विश्वस्य सर्वस्य जगतो दूतं दूतवत् कार्यकारिणम्, अमृतममरणशीलमग्निमाह्वयामि । पुनर्वचनमादरार्थम् । अथ सतोबृहतीव्याख्यानम्—स योजत इति । यमग्निमाह्वयामि सोऽग्निररुषा अरुषौ रोषरहितावक्रोधनौ अश्वौ । विश्वभोजसा विश्वभोजसौ विश्वं भुञ्जाते इति विश्वभोजसौ, तौ सर्वस्य भोक्तारौ । उभयत्र द्वितीयाद्विवचने आकारः । भुजेरसुन् 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इति । एवंविधावश्वौ रथे योजते युनक्ति । विशेषणाभ्यां विशेष्यमश्वपदं रथपदं चाध्याहार्यम् । स एव च दुद्रवद् द्रवति गच्छति । 'द्रु गतौ' इति भौवादिकस्य लुङि 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (पा० सू० ३।१।४८) इति च्लेश्चङि द्वित्वे दुद्रवदिति

रूपम्, अडभावगुणाभावावार्षौ। कथम्भूतोऽग्निः ? स्वाहुतः सुष्ठु शोभनप्रकारेण आहुतः सन्। रथेन अस्मद् यज्ञे, आगमनायेति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—विश्वस्य सर्वस्य दूतं दूतवद्धितकारिणम्, अमृतं मरणादिवर्जितं भगवन्तमहमाहुवे। आदरार्थमभ्यासः। सोऽत्रागमनाय अरुषा अक्रोधनौ विश्वभोजसा सर्वस्य भोक्तारौ अश्वौ रथे योजते युनक्ति। स स्वाहुतः सुष्ठु आहूत आहुतः, व्यत्ययेन ह्रस्वः, दुद्रवद् आगच्छतीति भक्तपारवश्यं द्योत्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं विश्वस्य दूतं परितापकं विद्युदग्निममृतमाहुवे, तथा विश्वभोजसा विश्वस्य पालकेन अरुषा रूपवता पदार्थसमूहेन सर्वैः पदार्थैः सह वर्तते, स योजते। यः स्वाहुतः सम्यक्स्वीकृतः सन् दुद्रवद् स युष्माभिर्वेद्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अरुषा रूपरहितपदार्थसमूहेनेति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्। न च विद्युतः सर्वलोकतापकत्वम्, तथात्वे सर्वलोकनाशापत्तेः। न चाप्येतद्वर्णनं फलपर्यवसायि, तदुद्भूतिप्रकारानिरूपणात् ॥ ३३ ॥

स द्रुवत् स्वाहुतः स द्रुवत् स्वाहुतः। सब्रह्मा यज्ञः सशमी वसूनां देवꣳ राधो जनानाम् ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हमारा यह यज्ञ श्रेष्ठ ऋत्विजों से युक्त है। इसके सारे कार्य भली-भाँति सम्पन्न हो रहे हैं। इसमें वह अग्नि भली-भाँति आहुत है। वह जहाँ यजमानों का दीप्यमान धन है, वहीं वसु, रुद्र आदि देवगणों के तीन सवन वाले यज्ञ में अवश्य आता है ॥ ३४ ॥

क्व गच्छति सोऽग्निरित्याह—स इति। स एवाग्निः, रथारूढः सन् स्वाहुतः शोभनप्रकारेणाहुतः सन् दुद्रवत् द्रवति गच्छति यत्र सुब्रह्मा सु शोभनो ब्रह्मा यत्र सः, सुब्रह्मग्रहणं सर्वेषां शोभनर्त्विजामुपलक्षणार्थम्। एवंभूतो यज्ञः सुशमी सु शोभनाः शम्यः कर्माणि यस्मिन् सः, 'शमीति कर्मनामसु' (निघ० २।१।२३), शोभनकर्मवान् यज्ञः। वसूनां वसुरुद्रादित्यानां सवनत्रयदेवानाम्। वसुग्रहणं रुद्रादित्ययोरप्युपलक्षणार्थम्। देवं दीप्यमानम्। अर्थाद् यत्र यज्ञस्तत्र, तथा यत्र च जनानां यजमानानां देवं दीप्यमानं राधो धनं हविर्लक्षणं चास्ति, तत्राग्निर्गच्छतीत्यर्थः। एवं च आहुतोऽग्निर्यज्ञे हविर्भोक्तुं रथेऽश्वान्नियुज्य आश्वागच्छतीति सर्वकण्डिकार्थः।

अध्यात्मपक्षे—'स परमेश्वरः स्वाहुतः सुष्ठु रीत्या हुतो बलिपूजोपहारादिभिराहूतो यत्र सुब्रह्मा यज्ञस्तत्र दुद्रवद् गच्छति। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्। यद्वा सुब्रह्मा सु शोभनं कमनीयं सगुणं ब्रह्मोपास्यत्वेनास्ति यत्र, तादृशो यज्ञो यत्र तत्र गच्छति। सुशमी सुष्ठु शमो मनोनिग्रहोऽस्ति यस्मिन् सः। वसूनां वस्वादिदेवानामङ्गोपाङ्गतया अर्चनं यत्र सः। जनानां देवं दीप्यमानं ज्ञानविज्ञानलक्षणं राधो धनं यत्रास्ति, तत्र गच्छतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, स स्वाहुतः सखिवद् दुद्रवत् स्वाहुतो विद्वानिव दुद्रवत् सुब्रह्मा सुष्ठुतया चतुर्वेदविद् यज्ञः सङ्गन्तुं योग्यः सुशमीव सुशमयितुमर्हो वसूनां पृथिव्यादीनां च देवं कमनीयं राधो धनमस्ति, तं यूयं प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैतस्य वेदोपदेशमन्तरैव लोकतः सिद्धत्वात्। सुब्रह्मेत्यादिविशेषणानि तत्रासङ्गतान्येव, जडत्वात्। न च स सुशमी, तत्र संहारकत्वस्यापि दर्शनात् ॥ ३४ ॥

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो । अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—बल के पुत्र ज्ञानसम्पन्न हे अग्निदेव, तुम धेनुओं के और अन्न के अधिपति हो। तुम हमारे लिये ढेर सारा धन दो ॥ ३५ ॥

'अपरा गायत्रीभ्य उष्णिहोऽग्ने वाजस्येति' (का० श्रौ० १७।१२।१३)। गायत्रीभ्योऽपरास्तिस्र उष्णिहोऽग्ने इति ऋक्त्रयेण अर्धपद्यास्तिरश्चालिखिता उदगायताः प्राग्लक्षणा उदङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। तिस्र उष्णिहः। हे अग्ने, हे सहसो यहो बलस्य पुत्र ! सह इति बलनाम। यहुरिति पुत्रनाम। बलप्रयुक्तमन्थनाज्जायमानत्वाद् बलस्य पुत्रत्वम्। हे जातवेदो हे जातप्रज्ञ ! अस्मे अस्मभ्यं महि महत् श्रवो धनं धेहि प्रयच्छ। यतो हि त्वं गोमतो धेनयुक्तस्य वाजस्य बाह्यस्य धनान्तरस्य ईशानः, अतो धनं प्रयच्छेति भावः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, तेजोमय परमेश्वर, हे सहसो बलस्य कृते, यहो यातः पुण्यवशेन प्राप्तो हुतो विपदादिभ्यो रक्षार्थमिति यहुः, तत्सम्बुद्धौ, हे भगवन् हे जातवेदो, जातप्रज्ञ ! अथवा सहस्य बलस्याधिष्ठातुरिन्द्रस्य यहो पुत्रवदुपेन्द्र महि महत्त्वपूर्णं श्रवो यशो ज्ञानविज्ञानरूपं धनं वा अस्मभ्यं देहि। यतो हि त्वं गोमतो गवादियुक्तस्य वाजस्य धनान्तरस्य बाह्यस्य चेशानो भवसि।

दयानन्दस्तु—'हे सहसो यहो जातवेदो जातं विज्ञानं यस्य तत्सम्बोधने, त्वमग्निरिव वाजस्य गोमत ईशानः सन्नस्मे महि श्रवो धेहि' इति, तत्तुच्छम्, मनुष्यं प्रति धनयाच्ञोपदेशस्य वेदेऽयोगात्। न चात्र धारणमेव प्रार्थ्यते, तस्य रागप्राप्तत्वेन प्रार्थनासङ्गतेः ॥ ३५ ॥

स इधानो वसुष्कविरग्निरीडेन्यो गिरा। रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप अनेक मुखों वाले और कान्तिमान् हैं। सबके निवास के हेतु और क्रान्तदर्शी हैं। तीनों वेदों की वाणी से आपकी स्तुति की जाती है। आप प्रथम यज्ञप्रवर्तक हैं। हे अग्निदेव, आप हमारे निमित्त धन के साथ दीप्ति भी प्रदान कीजिये ॥ ३६ ॥

स पूर्वोक्तगुणः, अग्निरग्रे नयतीति तथोक्तः प्रथमं यज्ञप्रवर्तक, इधानो दीप्यमानः, वसुरुपकारभूतः, पाकतापप्रकाशैरुपकारकत्वात्। धनस्वरूपो वासयिता निवासहेतुर्वा। कविः क्रान्तदर्शनो मेधावी। ईडेन्य ईडितुं स्तोतुं योग्यः, औणादिक एन्यः प्रत्ययः। हे पुर्वणीक पुरु बहु रमणीयमनीकं मुखं यस्य सः, 'यतो ह्येव कुतश्चाग्नेरभ्यादधाति तत एव प्रदहति' (श० ४।६।३।१५) इति श्रुतेः। अस्मभ्यमस्मदर्थं रेवद् रयिमद् धनवद् यथा स्यात्तथा दीदिहि दीप्यस्व। दिवेः शपः श्लुः, द्वित्वम्, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घः, 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) इति वलोपः, 'रयेर्मतौ' (पा०सू० ६।१।३७) इति सम्प्रसारणेन रयिरस्यास्तीति रेवत्। त्वया तथा हविर्ग्राह्यं यथास्माकं धनावाप्तिः स्यादिति तात्पर्यम्।

अध्यात्मपक्षे—स त्वं पूर्वोक्तविशेषणो हे पुर्वणीक बहुमुख विश्वरूप, इधानः कोटिकोटिमार्तण्डमण्डल इव दीप्यमानः, वसुर्भक्तानां चिन्तामणिकोटिदुर्लभधनमसि। कविः सर्वज्ञः, अग्निः सर्वेषां देवानां नेता, गिरा त्रय्या रेवद् रयिमद् यथा स्यात्तथा दीप्यस्व।

दयानन्दस्तु—'हे पुर्वणीक ! पुरु बहु अनीकं सैन्यं यस्य तत्सम्बुद्धौ, हे विद्वन्, स त्वं गिरेडेन्यो गिरा वाण्या अन्वेषणीयः कविः समर्थ इधानः प्रदीप्तः सोऽग्निरिवास्मभ्यं रेवत् प्रशस्तधनयुक्तं दीदिहि प्रकाशय' इति,

तदपि तुच्छम्, मनुष्यान् प्रति वेदेन याच्ञोपदेशानुपपत्तेः। न च मनुष्यः प्रभूतं दातुं शक्नोति, तस्य परिच्छिन्नसाधनत्वात्। रागप्राप्ता च सा, न तत्र इधानप्रभृतीनि विशेषणानि सङ्गच्छन्ते। न च वेदस्य मनुष्यस्तावकत्वं सम्भवति, तस्य धर्मब्रह्मपरत्वात्॥ ३६॥

क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः। स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति॥ ३७॥

मन्त्रार्थ—हे दीप्यमान करालवदन वज्र के समान दृढ़ दाढ़ों वाले अग्निदेव! आप स्वभाव से ही राक्षसों का नाश करने वाले हैं। इसलिये दिन और रात्रि में विचरण करने वाले राक्षसों को आप भस्म कर दीजिये॥ ३७॥

हे राजन्, राजते दीप्यत इति राजा, तत्सम्बुद्धौ। हे तिग्मजम्भ! तिग्मास्तीक्ष्णा जम्भा दंष्ट्रा यस्य स तिग्मजम्भस्तत्सम्बुद्धौ। यद्वा 'तिग्मेति वज्रनाम' (निघ० २।२०।१४), तिग्मा वज्ररूपा दंष्ट्रा यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ। हे अग्ने, स त्वं वस्तोरहःसम्बन्धिनः, 'वस्तोरित्यहर्नामसु' (निघ० १।९।१), उताप्युषस उषःकालसम्बन्धिनो रक्षसो राक्षसान् प्रति दह प्रत्येकं भस्मीकुरु। लिङ्गव्यत्ययेन रक्षस इति पुंस्त्वम्। 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इति क्रियापदात् प्रत्युपसर्गस्य परत्वम्। कीदृशस्त्वम्? क्षपः क्षपयतीति क्षपः, 'क्षप प्रेरणे' इति चौरादिकस्य पचाद्यच्। रक्षसां क्षपयिता नाशयितासि। केन रूपेण नाशयितेति चेत्, त्मना स्वरूपेणैव, स्वभावत इति यावत्। 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा० सू० ६।४।१४१) इत्यात्मनस्तृतीयैकवचने आकारलोपः।

अध्यात्मपक्षे—हे राजन्, राजमानतिग्मजम्भवज्रद्रंष्ट्रनृसिंहकालरुद्र! 'वज्रदंष्ट्रं त्रिनयनं कालकण्ठमरिन्दमम्' (स्कन्दमहापुराणे ब्रह्मोत्तरखण्डे ११ अध्याये) इति स्कन्दपुराणवचनात्। हे अग्ने, अग्निवद्दुर्धर्ष वस्तोरहःसम्बन्धिनः, उतापि उषस उषःकालसम्बन्धिनो रक्षसो रक्षांसि राक्षसान् प्रति दह। उत त्मना आत्मनापि स्वभावेनापि त्वं रक्षसां क्षपयितासि।

दयानन्दस्तु—'हे तिग्मजम्भ! तिग्मं तीव्रं जम्भो गात्रविनामं यस्मात्तत्सम्बुद्धौ राजन्नग्ने, स त्वं यथा तीक्ष्णतेजा अग्निः क्षपो रात्रीर् उत वस्तोर्दिनम् उतोषसः सायंसमयान् जनयति, तथा सुशिक्षां जनय। रक्षसस्तम इव तीव्रात्मना प्रतिदह' इति, तदपि विसङ्गतमेव, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात्, गौणार्थाश्रयणस्याप्रामाणिकत्वाच्च। गात्रविनामस्य तीक्ष्णतापि चिन्त्या॥ ३७॥

भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः। भद्रा उत प्रशस्तयः॥ ३८॥

मन्त्रार्थ—हे श्रेष्ठ ऐश्वर्य से सम्पन्न, ऋत्विजों के द्वारा बुलाये गये अग्निदेव! आप हमारे लिये कल्याणकारी बनिये। हमारे यज्ञ, दान आदि कल्याणकारी हों, हमारी प्रशस्तियाँ भी सुखकारी हों॥ ३८॥

'भद्रो न इति ककुभस्ताभ्यो बृहत्यन्तरश्रुतेर्मन्त्रक्रमेण' (का० श्रौ० १७।१२।११)। भद्रो न इत्येभिर्मन्त्रैर्बृहतीनां पुरस्तान्मन्त्रक्रमेण तिस्रः ककुप्संज्ञका इष्टका उपदध्यादिति सूत्रार्थः। प्रगाथः। ककुप्सतोबृहतीभ्यां पादावृत्त्या तिस्रः ककुभः कृताः। पूर्वा ककुप् सतोबृहती उत्तरा। 'भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः। भद्रा उत प्रशस्तयः॥' इति ककुप्, मध्यः पादो द्वादशक आद्यतृतीयावष्टकाविति तल्लक्षणम्। 'भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहः। अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टिभिः॥' इति सतोबृहती, आद्यतृतीयौ द्वादशकौ द्वितीयतुर्यावष्टकाविति तल्लक्षणम्। आवृत्तस्य

नार्थान्तरम्। हे सुभग, सुष्ठु शोभनानि भगान्यैश्वर्यधर्मादीनि यस्य स सुभगस्तत्सम्बुद्धौ। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥' (६।५।७४) इति विष्णुपुराणवचनात्। हे षड्विधैश्वर्ययुक्त! आहुत ऋत्विग्भिराहुतो भवान् अग्निर्नोऽस्माकं भद्रो भन्दनीयः कल्याणकरो भवत्विति शेषः। रातिर्दानं भद्रा भवतु। अध्वरो यज्ञो भद्रो भवतु। उतापि प्रशस्तयः कीर्तयो भद्राः सुखदायिन्यः सन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे सुभग षड्भगोपेत परमेश्वर! तत्रैव निरुपचारेण षण्णां भगानां सम्भवात्। नोऽस्माकमाहुत आहुत्यादिभिः सत्कृतोऽग्निर्भद्रः सुखकरो भवतु। रातिर्भवदीयं दानं भद्रमस्तु। नोऽस्माकमध्वरो भद्रोऽस्तु। नोऽस्मत्कृताः प्रशस्तयो भवत्प्रशंसनानि भद्रा भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे सुभग विद्वन्, यथाहुतः सखाग्निः संगृहीतो धर्म इव भद्रो भजनीयो रातिर्भद्रा सेवनीया अध्वरो भद्रः कल्याणकरः, उत प्रशस्तयो भद्राः कल्याणप्रतिपादकाः स्युस्तथा त्वं नो भव' इति, तदपि तुच्छम्, सम्बोधनोपसंहारयोर्निर्मूलत्वात्॥ ३८॥

भद्रा उत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये। येना समत्सु सासहः॥ ३९॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! जिस मन से संग्रामों में आप हमारे शत्रुओं का मर्दन करते हैं, उस मन को हमारे पापों के नाश के निमित्त कल्याणकारी बनाइये! हमारी प्रशस्तियाँ भी सुखकारी हों॥ ३९॥

अथ द्वितीया ककुप्। हे अग्ने, येन मनसा समत्सु संग्रामेषु त्वं सासहः शत्रूनभिभवसि, 'षह मर्षणे' छन्दस्यभिभवे च वृत्तिः, लङ्, द्वित्वाऽभावौ छान्दसौ, संहितायामभ्यासदीर्घः। तन्मनो वृत्रतुर्ये पापनाशाय शत्रुवधाय वा भद्रमस्मत्कल्याणकरं कृणुष्व कुरुष्व। वृत्रः पापम्, 'पाप्मा वै वृत्रः' (श० ६।४।२।३) इति श्रुतेः। तुर्यतिर्वधकर्मा, छान्दसो यकारः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, येन मनसा सङ्कल्पेन समत्सु रावणादिसंग्रामेषु त्वं सासहः शत्रून् पराजित्य अभिभवसि, तन्मनस्तादृशं सङ्कल्पं वृत्रतुर्येऽस्माकं पापनाशाय भद्रं कल्याणकरं कुरुष्व।

दयानन्दस्तु—'हे सुभग, येन नोऽस्माकं वृत्रतुर्ये भद्रं मनः, उतापि भद्राः प्रशस्तयो येन समत्सु सासहः स्यात्, तत्कर्म कृणुष्व' इति, तत्र, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात्, श्रुतस्य कर्मणो मनसस्त्यागेऽश्रुतस्य कर्मणोऽध्याहारे च मानाभावात्॥ ३९॥

येना समत्सु सासहोऽव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम्। वनेमा ते अभिष्टिभिः॥ ४०॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, जिस पराक्रम से आप संग्रामों में शत्रुओं का तिरस्कार करते हैं, उसी पराक्रम से आप शत्रुओं के मजबूत धनुषों की प्रत्यंचा को काट दें। आपके दिये हुए ऐश्वर्य भोग से हम सब सदा सुखी रहें॥ ४०॥

किञ्च, येन मनसा समत्सु संग्रामेषु त्वं सासहः शत्रूनभिभवसि, तेनैव भूरि बहुप्रकारं शर्धतां बलं कुर्वतां 'शर्ध इति बलनामसु' (निघ० २।९।७), शर्धं बलं कुर्वन्ति शर्धन्ति, शर्धन्तीति शर्धन्तस्तेषां सम्बन्धीनि स्थिरा स्थिराणि धनूंषि, अवतनुहि अवतारय ज्यारहितानि कारय। ततो शत्रुभिरप्रतिवध्यमानास्ते तवाभिष्टिभिरभीष्टयागैर्वयं वनेम सम्भजेम, भोग्यानि वस्तूनि सेवेमहि। वनेमा, येना इत्युभयत्र संहितायां दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, येन मनसा सासहः शत्रूनभिभवसि, तेनैव भूरि शर्धतां बहु प्रकारं बलमात्मनि कुर्वतां शत्रूणां सम्बन्धीनि स्थिराण्यायुधानि धनुरादीनि, अवतनुहि अवतारय ज्यारहितानि निर्वीर्याणि कुरु। ते तव अभिष्टिभिरभीष्टैर्यागैर्वयं वनेम अभीष्टभोग्यानि सेवेमहि।

दयानन्दस्तु—'हे सुभग, येन त्वं समत्सु सासहः स्यात् स त्वं भूरि शर्धतामस्माकं स्थिरा स्थिराणि सैन्यान्यवतनुहि विस्तृणु। ते अभिष्टिभिरिच्छाभिः सह वर्तमाना वयं तानि वनेम सम्भजेम' इति, तदपि विसङ्गतमेव, अवपूर्वस्य तनोतेर्विस्तारार्थे मानाभावात्, अवततधन्वा, अवतन्मसीत्यादाववतारणार्थत्वदर्शनात्। तदनुरोधेन धनूंषीत्येवाध्याहार्यं न सैन्यानि ॥ ४० ॥

अ॒ग्निं तं म॑न्ये॒ यो वसु॒रस्तं॒ यं यन्ति॑ धे॒नवः॑। अस्त॒मर्व॑न्त आ॒शवोऽस्तं॒ नित्या॑सो वा॒जिन॒ इष॑ᳪं स्तो॒तृभ्य॒ आभ॑र ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—जो अग्निदेव ताप, पाक और प्रकाश करके हमारा उपकार करते हैं, धन रूप हैं, उन्हें मैं जानता हूँ। धेनुएँ जिस अग्नि को प्रज्वलित जानकर अपने-अपने घरों को आ जाती हैं, शीघ्रगामी बलवान् घोड़े जिस अग्नि को प्रज्वलित देखकर अश्वशाला को आ जाते हैं, हे अग्ने, तुम स्तुति करने वाले यजमान के लिये सब ओर से अन्न लाकर दो ॥ ४१ ॥

'अनूकान्ते दक्षिणे पङ्क्तीरग्निं तमिति' (का० श्रौ० १७।१२।१४)। दक्षिणेऽनूकान्ते तिस्रः पङ्क्तिसंज्ञा इष्टका उदग्लक्षणाः प्राङ्मुखः प्रत्यक्संस्था अग्निं तमिति तिसृभिर्ऋग्भिरुपदध्यादिति सूत्रार्थः। पङ्क्तिस्तृचः। यस्या द्वौ पादावष्टकौ सा पङ्क्तिः। वसुस्तापपाकप्रकाशैरुपकुर्वन् धनरूपो वसुरित्युच्यते, वसुर्वासयिता वा यस्तमग्निं मन्ये जानामि। धेनवो गावो यमग्निमुद्धृतं ज्ञात्वा अस्तं गृहं यन्ति गच्छन्ति दोहकालोऽस्माकं होमार्थं प्राप्त इत्याशयः। नित्यासो नित्याः शाश्वताः सर्वकालभाविनो वाजिनो बलवन्तोऽश्वा वेगवन्तो वा, सैन्धवाश्वाभिप्रायेण पुनर्वचनम्, यं दृष्ट्वा अस्तं यन्ति, नित्यत्वं वाजिनां तत्प्रवाहाभिप्रायेण, नित्यप्रहसितादिवत्, यमुपास्य गवाश्वादिकं लभ्यत इत्यर्थः, तादृश हे अग्ने ! स्तोतृभ्यः स्तुतिकृद्भ्यो यजमानेभ्य इषमन्नमाभर आहर, देहीत्यर्थः। अधस्तनाश्चत्वारः पादाः परोक्षकृताः, अयं तु प्रत्यक्षकृतः। स्वामी हि पशूनामग्निः। [1]'यत्तज्जातः पशूनविन्दत' इत्युपक्रम्य 'तस्मात् सर्वान् ऋतून् पशवोऽग्निमभिसंयन्ति' इति श्रुतिः।

अध्यात्मपक्षे तमग्निं भोक्तृभोग्यसमूहस्याग्रे नेतारं तेजस्विनं परमात्मानमहं मन्ये प्रत्यगभेदेन साक्षात्करोमि। योऽसौ वसुर्धनं धनवदुपकारकः प्रियः, यमन्तर्यामिणमाश्रित्य धेनवो गाव इन्द्रियाणि यन्ति स्वमस्तं गृहमिव स्वस्वविषयं गच्छन्ति, अर्वन्तोऽश्वा आशवः शीघ्रगामिनो मनोबुद्धिचित्तानि नित्यासो नित्या वाजिनोऽस्तं यन्ति, विषया एव तेषां गृहम्, विश्रामहेतुत्वात्। हे अग्ने, स्तोतृभ्य इषमन्नं भौतिकं ज्ञानविज्ञानरूपमाध्यात्मिकं च आभर।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यो वसुरस्ति यमग्निं धेनवोऽस्तं यन्तीव नित्यासो वाजिन आशवोऽर्वन्तोऽस्तमिवाहं तं मन्ये, स्तोतृभ्य इषमाभर' इति, तदप्यनुपपन्नम्, अग्नेर्गृहरूपत्वानुपपत्तेः। धेन्वर्वद्वाजिन एव न गृहं व्रजन्ति, किन्तु मनुष्या अपि गृहं व्रजन्ति, अतो विशेषानुपपत्तिः ॥ ४१ ॥

१. उव्वटाचार्येणोद्धृताऽपीयं श्रुतिर्न साम्प्रतमुपलभ्यते।

सो अ॒ग्निर्यो वसु॑र्गृ॒णे सं यमा॒यन्ति॑ धे॒नवः॑ । समर्व॑न्तो रघु॒द्रुवः॒ सᳪं सु॑जा॒तासः॑ सू॒रय॒ इष॑ᳪं स्तो॒तृभ्य॒ आभ॑र ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ— हमारी यह सुखसम्पत्ति अग्निदेव का ही प्रसाद है। मैं उसी की स्तुति करता हूँ। इस अग्नि को धेनुएँ प्राप्त करती हैं, शीघ्रगामी घोड़े प्राप्त करते हैं। अच्छे संस्कार वाले विद्वान् इस अग्नि की उपासना करते हैं। हे अग्निदेव ! तुम स्तुति करने वालों के लिये सब ओर से अन्न लाकर दो ॥ ४२ ॥

योऽग्निर्वसुर्वासयिता सोऽग्निः, तमग्निं विभक्तिव्यत्ययः, गृणे स्तौमि, 'गॄ शब्दे' क्र्यादिः, लटि तङि उत्तमैकवचने 'प्वादीनां ह्रस्वः' (पा० सू० ७।३।८०) इति रूपसिद्धिः। यद्वा योऽग्निर्गृणे स्तूयतेऽस्माभिः, व्यत्ययेन कर्मस्थाने कर्तृप्रत्ययः। यद्वा स एवाग्निर्यो वसुर्वासयितेति गीयते स्तोतृभिः, यमग्निं दृष्ट्वा धेनवो गावः समायान्ति, यं रघुद्रवो लघुद्रवणाः, रलयोरैक्याद् लघुद्रवः, 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' (अ० को० १।१।६४) इति कोषात्। लघु क्षिप्रं द्रवन्ति गच्छन्तीति लघुद्रवो लघुद्रवणाः, 'द्रु गतौ' भौवादिकः, क्विपि रूपम्। अर्वन्तोऽश्वाः समायान्ति। कथंभूता अश्वाः ? सुजातासः सु सुष्ठु शोभनं जातं जन्म येषां ते सुजाताः, 'आज्जसेरसुक्' (पा० सू० ७।१।५०) इत्यसुकि सुजातासः, कल्याणजन्मानः। सूरयः पण्डिताश्च यं समायान्ति, तादृश हे अग्ने, त्वं स्तोतृभ्य इषमन्नमाभर देहि।

अध्यात्मपक्षे—यो वसुः सर्वनिवासाश्रयो भगवानग्निरग्निवत्तेजस्वी तमग्निं परमात्मानं कृष्णमहं गृणे स्तौमि। यं दृष्ट्वैव धेनवो गावः समायान्ति सत्वरमायान्ति, न केवलं गावोऽपि तु यं दृष्ट्वा क्षिप्रगामिनोऽर्वन्तोऽश्वा अपि समायान्ति, सुजातासः कुलीनाः कल्याणाभिजनाः सूरयो विद्वांसोऽपि यं दृष्ट्वा श्रुत्वा च तदभिमुखाः समायान्ति, तमहं गृणे।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथाहं यो वसुरग्निस्तं गृणे, यं धेनवः समायान्ति, रघुद्रवोऽर्वन्तः सुजातासः सूरयः स्तोतृभ्य इषं समाभरन्ति, स स्तौति च, तथा त्वमेतानि समाभर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, मूले यथेतिशब्दाभावाच्च। किञ्च, कोऽयं निवासहेतुरग्निः ? प्रसिद्धोऽग्निरीश्वरो वा ? नाद्यः, तस्य स्तुतौ तवापसिद्धान्तात्। परमात्मा चेत्, कथं तं धेनवो वाण्योऽर्वन्तश्च समायान्ति ? भावार्थे तु—'यथा अश्वाः शीघ्रं गत्वा अश्वारूढं ग्रामं प्रापयन्ति, तथैवाध्यापकाश्छात्रान् विद्यायाः पारं प्रापयन्ति' इति, तदपि निःसारम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तानुपपत्तेः। स्तोतृभ्यो विद्यार्थिभ्य इषं ज्ञानं समाभरेत्यादिकं सर्वथा गौणार्थमेव। दयानन्दस्तु प्रायेण सर्वत्रैव गौणार्थमेवाभ्युपगम्य मन्त्रान् व्याख्याति, मुख्यार्थमुपेक्षते। मुख्यार्थोपेक्षणं च प्रमाणमन्तरा अशक्यमेव, मुख्यार्थबाध एव लक्षणाद्यङ्गीकारात्। अत्र सूरिभिर्बहुधा पराक्रान्तम्।

गौणमुख्यार्थविचारः शब्दनये महत्त्वपूर्णः। यथोत्तरमीमांसायामानन्दमयाधिकरणे 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १।१।१२) इति सूत्रे केचिदानन्दमयपदेन ब्रह्म गृह्णन्ति। 'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० उ० २।५) इति विकारवाचि प्रायः पठितम्। तत्किं पुच्छपदसमभिव्याहारादन्नमयादिषु चावयवपरत्वेन प्रयोगादानन्दमयवाक्येऽप्यवयवपरत्वात् पुच्छपदस्य तत्समानाधिकरणं ब्रह्मपदमपि स्वार्थत्यागेन कथञ्चिद् अवयवपरत्वेन व्याख्यायताम्, आहोस्विदन्नमयादिविकारवाचिप्रायःपठितमानन्दमयपदं प्रचुरानन्दवाचि ब्रह्मण्यप्रसिद्धं कयाचिद् वृत्त्या ब्रह्मणि व्याख्यायतामिति विचारे आनन्दपदाभ्यासेन ज्योतिःपदेनेव ज्योतिष्टोम आनन्दमयो लक्ष्यतामुतानन्दमयपदं विकारार्थकमस्तु, ब्रह्मपदं ब्रह्मण्येव स्वार्थेऽस्तु, आनन्दपदाभ्यासश्च स्वार्थे; पुच्छपदमात्रमवयवप्रायलिखितमधिकरणपरतया

व्याक्रियतामिति कृतबुद्धयो विदाङ्कुर्वन्तु । तत्र पुच्छपदमपि लाङ्गूले मुख्यं सदानन्दमयावयवे गौणमेव । तेन मुख्यशब्दार्थलङ्घनमवयवपरतायामधिकरणपरतायां च तुल्यमेव । अवयवप्रायलेखबाधश्च विकारप्रायलेखबाधेन तुल्य एव । ब्रह्मपदमानन्दमयपदमानन्दपदमिति त्रितयस्य स्वार्थलङ्घनं त्वधिकम् । तस्मान्मुख्यत्रितयलङ्घनाद-साधीयान् पूर्वः पक्षः । मुख्यत्रयानुगुण्येन तूत्तरपक्षो युक्तः । किञ्चानन्दमयपदस्य ब्रह्मार्थत्वे ब्रह्मपुच्छमिति न समञ्जसम्, एकत्रावयवावयविभावानुपपत्तेः । आधारपरत्वे च पुच्छशब्दस्य प्रतिष्ठेत्येतदप्यपपन्नतरं भवति । आनन्दमयस्य चान्तरत्वमन्नमयादिकोशापेक्षया ब्रह्मणस्त्वान्तरत्वमानन्दमयादपीत्यर्थलिङ्गमस्ति इति श्रुत्या नोक्तम् । तथा सत्यानन्दमयस्य प्रियाद्यवयवयोगोऽपि सङ्गच्छते । वाङ्मनसागोचरे तु परब्रह्मण्युपाधिमन्तर्भाव्य प्रियादियोगः, प्राचुर्यं च क्लेशेन व्याख्यातव्यम् । 'सोऽकामयत' (तै० उ० २।६) इत्याद्याः श्रुतयोऽपि ब्रह्मपरा नानन्दमयपराः । वेदसूत्रयोर्विरोधे तु 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' (जै० सू० ९।३।१७) इति रीत्या सूत्राण्येव श्रुत्यनुसारेण व्याख्येयानि ।

दयानन्दस्तु सर्वत्र प्रायेण गौणार्थतामेवाङ्गीकृत्य मन्त्रान् व्याख्यातीति सुधीभिर्विभावनीयम् ॥ ४२ ॥

उ॒भे सु॑श्चन्द्र स॒र्पिषो॒ दर्वी॑ श्रीणीष आ॒सनि॑ । उ॒तो न॒ उत्पु॑पूर्या उ॒क्थेषु॑ शवसस्पत॒ इष॑ᳪं स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—चन्द्रमा के समान आह्लाद देने वाले हे अग्निदेव ! तुम अपने मुख में घृतपान करने के निमित्त दर्वी के आकार वाले दोनों हाथों से उसे ग्रहण करते हो, हे बल के अधिपति, यज्ञ में स्तुति करने वाले हमको धन से परिपूर्ण करो, अन्य स्तुति करने वालों को भी अन्न दो ॥ ४३ ॥

हे सुश्चन्द्र सु सुष्ठु चन्द्र आह्लादक इति सुश्चन्द्रः, 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे' (पा० सू० ६।१।१५१) इति ह्रस्वात् परस्य चन्द्रशब्दस्य सुडागमः, तत्सम्बुद्धौ । हे सुष्ठु आह्लादकारिन्नग्ने ! अथवा चन्द्रमिति हिरण्यनाम (निघ० १।२।२) । शोभनं चन्द्रं हिरण्यं यस्मात् स सुश्चन्द्रस्तत्सम्बुद्धौ । यद्वा शोभनश्चन्द्र इव चन्द्रो धनदाता । शोभने चन्द्रे धनप्राप्तिर्भवतीति ज्योतिःशास्त्रे उक्तम्—'आद्यश्चन्द्रः श्रियं कुर्याद् द्वितीये धनधान्यदः' इत्यादि । यद्वा शोभनं चन्दत्याह्लादयतीति सुश्चन्द्रस्तत्सम्बुद्धौ । हे अग्ने, आसनि त्वदीय आस्ये सर्पिष आज्यस्य सम्बन्धिन्यौ उभे दर्वी दर्वीसदृशहस्तौ, यद्वा सर्पिषः पानार्थं दर्वीसदृशौ हस्तौ, अथवा सर्पिषः सर्पिःसम्बन्धिन्यौ जुह्वुपभृतौ, श्रीणीषे सेवसे । हस्तप्रेरणपर्यन्तं सर्पिस्त्वया पीतमित्यर्थः । 'श्रीञ् पाके' क्र्यादिः, अत्राश्रयार्थः । उतो अपि च हे शवसस्पते बलस्याधिपते, उक्थेषु शस्त्रवत्सु यज्ञेषु नोऽस्मान् उत्पुपूर्या उत्कर्षेण पूरय, धनानि प्रापयेत्यर्थः । स्तोतृभ्यो यजमानेभ्य इषमन्नमाभर सम्पादय ।

अध्यात्मपक्षे—शोभनश्चन्द्र इव हे रामचन्द्र कृष्णचन्द्र वा, आसनि आस्ये सर्पिषो घृतस्य नवनीतस्य सम्बन्धिन्यौ दर्वी दर्व्यौ दर्व्याकारौ हस्तौ श्रीणीषे सेवसे । उतो अपि च, हे शवसस्पते बलस्याधिपते, उक्थेषु शस्त्रस्तोत्राद्युपेतेषु यज्ञेषु त्वदर्चालक्षणेषु नोऽस्मान्, उत्पुपूर्या ज्ञानवैराग्यादिभिः पूरय, स्तोतृभ्यश्च इषमामर ।

दयानन्दस्तु—'हे सुश्चन्द्र अध्यापक, त्वं सर्पिषो दर्वी श्रीणीषे पचसि । आसनि आस्ये उभे द्वे पठन-पाठनक्रिये आभर । हे शवसस्पते, त्वमुक्थेषु वक्तुं श्रोतुमर्हेषु वेदविभागेषु नोऽस्मभ्यम्, उतो अपि च स्तोतृभ्य इषं चोत्पुपूर्याः' इति, तदप्यसङ्गतम्, 'उभे' इत्यस्य श्रुतदर्वीविशेषणोपपत्तावश्रुतपठनपाठनक्रियाक्षेपस्य निर्मूलत्वात्, तावत्येव विवक्षिते 'सर्पिषः श्रीणीषे' इत्यादिपदानां नैरर्थक्यापत्तेश्च । अध्यापके शवसस्पतित्वमपि

चिन्त्यमेव । तथैव शस्त्रेषु प्रसिद्धस्य उक्थशब्दस्य वेदविभागार्थकल्पनं श्रुतिषु बलात्कार एव । न चाध्यापकः सर्वेभ्योऽन्नं दातुं प्रभवतीति तदपि तात्पर्यशून्यमेव ॥ ४३ ॥

अग्ने॒ तम॒द्याश्वं॒ न स्तोमैः॒ क्रतुं॒ न भ॒द्रꣳ हृ॑दि॒स्पृश॑म् । ऋ॒द्ध्यामा॑ त॒ ओहैः॑ ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आज हम इस यज्ञ को तुम्हारे नाम, रूप और कर्म के प्रतिपादन करने वाले फल-प्रापक साम मन्त्रों से उसी प्रकार समृद्ध करते हैं, जैसे कि अनेक स्तुतियों से अश्वमेध के यज्ञों को ब्राह्मण समृद्ध करते हैं, जिस प्रकार अतिप्रिय चिरकाल से मन में स्थित कल्याणरूपी यज्ञ के संकल्प को यजमान समृद्ध करते हैं ॥ ४४ ॥

'उत्तरे पदपङ्क्तीरग्ने तमद्येति' (का० श्रौ० १७।१२।१५)। उत्तरानूकान्ते तिस्रः पदपङ्क्तीष्टका उदग्लक्षणाः प्रत्यक्संस्थाः प्राङ्मुखोऽग्ने तमिति तिसृभिर्ऋग्भिरुपदध्यादिति सूत्रार्थः । तिस्रः पदपङ्क्तयः । यस्याः पञ्चाक्षराश्चत्वारः पादाः, एकः षडर्णः, सा पदपङ्क्तिः । यद्वा त्रयः पञ्चार्णाश्चतुर्थश्चतुरर्णः पञ्चमः षडर्ण इति, पञ्चकाश्चत्वारः षट्कश्चैकश्चतुर्थश्चतुष्को वा पदपङ्क्तिरित्युक्तेः । तत्राद्यायां चतुर्थश्चतुष्कः । हे अग्ने, ते तव तं प्रसिद्धं क्रतुं यज्ञमद्यास्मिन् दिने ऋद्ध्यामा वयं समर्धयामः, समृद्धं करवामेत्यर्थः । आशिषि लोट् । संहितायां दीर्घः । कथमिव ? अश्वं न स्तोमैः, न इवार्थः, यथा स्तोमैः स्तुतिभिरश्वमाश्वमेधिकमश्वं विप्राः समर्धयन्ति तद्वत् । यथा वा क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् । हृदि स्पृशतीति हृदिस्पृक् तं चिरं मनसि स्थितं भद्रं कल्याणं क्रतुं सङ्कल्पं समर्धयन्ति तद्वत् । यथा चिराभिलषितं सङ्कल्पं सन्तः सम्पादयन्ति, तथा अद्य ते पावकं क्रतुं समर्धयाम इत्यर्थः । क्रतुर्यज्ञः सङ्कल्पश्चेत्येकस्यैव क्रतुशब्दस्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सम्बन्धः । कीदृशैः स्तोमैः ? ओहैः, 'वह प्रापणे' वहन्ति फलं प्रापयन्तीत्योहाः, तैः । अथवा वहन्ति प्रतिपादयन्ति त्वन्नामबन्धुकर्मरूपाणीति वोहास्तैस्त्वन्नामगुणरूपादिप्रतिपादकैः फलप्रापकैः स्तुतिसमूहैर्दक्षिणाभिश्च यज्ञं समर्धयेमहीति समस्तार्थः । यद्वा—हे अग्ने, हृदिस्पृशमत्यन्तप्रियं ते त्वामद्य अस्मिन् कर्मणि ओहैः फलप्रापकैः स्तोमैर्ऋद्ध्यामा समृद्धं करवाम । तत्रैको दृष्टान्तः—अश्वं न यथा लोके अश्वं घासादिप्रदानेन समर्धयन्ति तद्वत् । यथा वा क्रतुं ज्योतिष्टोमादि भद्रं कल्याणकरं सङ्गीतानुष्ठानेन समर्धयन्ति तद्वत् । भद्रं कल्याणमित्यग्निविशेषणं वा ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, ते तव प्रसिद्धं तं पावनं ज्ञानोपासनादिलक्षणं क्रतुमद्य ओहैः स्वरूपप्रतिपादकैः स्तोमैः स्तुतिसमूहैर्ऋद्ध्यामा ऋद्ध्यामः । तत्रैव दृष्टान्तद्वयम्—यथा अश्वमाश्वमेधिकं विप्राः समर्धयन्ति, यथा वा हृदिस्पृशमतिप्रियं मनसि स्थितं भद्रं कल्याणकरं क्रतुं सङ्कल्पं समर्धयेयुस्तद्वत् ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने अध्यापक, वयं ते तव सकाशादोहैः विद्यासुखप्रापकैः स्तोमैर्विद्यास्तुतिविशेषैर्वेदभागैरद्यास्मिन् वर्तमाने समयेऽश्वं न सुशिक्षितं तुरङ्गमिव भद्रं क्रतुं न प्रज्ञानमिव तं हृदिस्पृशं हृद्यात्मनि स्पृशति तं विद्याबोधं प्राप्य सततमृद्ध्यामा वर्धेमहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विद्याबोधस्याश्वेनोपमानायोगात् । प्रज्ञानबोधयोश्चैक्येनोपमानोपमेयभावो न युज्यते, तस्य भेदमूलकत्वात् । अग्निपदस्याध्यापकोऽर्थ इत्यपि चिन्त्यम् ॥ ४४ ॥

अधा॒ ह्य॑ग्ने॒ क्रतो॑र्भ॒द्रस्य॒ दक्ष॑स्य सा॒धोः । र॒थीर्ऋ॒तस्य॑ बृह॒तो ब॒भूथ॑ ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, अब आप सब प्रकार से समृद्ध, सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित, कल्याण रूप, अमोघ फल वाले हमारे इस विशाल यज्ञ का उसी प्रकार निर्वाह कीजिये, जैसे कि सारथी रथ का निर्वाह करता है ॥ ४५ ॥

अधा अथ समनन्तरमेव, अधेत्यव्ययस्याऽथार्थत्वात्। 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः। हिः पादपूरणः। अस्मदीयस्तोत्रानन्तरमेवानुष्ठीयमानस्य क्रतोरस्मद्यज्ञस्य भद्रस्य कल्याणरूपस्य दक्षस्य समृद्धस्य फलदानसमर्थस्य साधोः, साध्यते निष्पाद्यत इति साधुः, तस्यास्माभिः साधुतया निष्पादितस्य ऋतस्य अमोघफलस्य बृहतो महतः प्रौढस्य रथीः, रथोऽस्यास्तीति रथीः सारथिरिव बभूथ भव। सारथिर्यथा रथनिर्वाहं करोति तथा यज्ञनिर्वाहको भवेत्यर्थः। 'बभूथाततन्थजगृम्भ' (पा० सू० ७।२।६४) इत्यादिना निपातनात् साधुः। रथीरित्यत्र 'छन्दसीवनिपौ च' (पा० सू० ५।२।१०९ वा० २) इति वार्त्तिकेन ईप्रत्ययः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, अस्मदादिस्तोत्रानन्तरमेवास्मन्निष्पादितस्य क्रतोः सङ्कल्पात्मकस्योपासनस्य प्रज्ञानस्य वा रथीः सारथिर्भव, सारथिं विना रथस्येव त्वां विना अस्मत्सङ्कल्पस्य फलपर्यवसायित्वाभावात्। कीदृशस्य क्रतोः? भद्रस्य कल्याणरूपस्य दक्षस्य भवसागरतारणक्षमस्य, साधोः सर्वसाधनेषु श्रेष्ठस्य ऋतस्य मोक्षफलस्य बृहतः प्रौढस्य।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यथा त्वं भद्रस्य दक्षस्य साधोर्ऋतस्य बृहतः क्रतोः सकाशाद्रथीर्बभूथ, तथाऽधा हि वयमपि भवेम। अथ मङ्गले' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शङ्खभेर्यादिवत् श्रुत्या मङ्गलार्थस्याप्यथशब्दस्य वाक्येऽनन्वयेन तदयुक्तेः। रथी रमणसाधनैर्यानैर्युक्तो भवेत्यपि न सङ्गतम्, तादृशार्थस्य रागप्राप्तत्वेनोपदेशानर्हत्वात्। ऋतस्य सत्यप्राप्तस्येत्यप्यसङ्गतम्, ऋतशब्दस्य तथाभूतेऽर्थेऽसङ्गतेः। बृहतो महाविषयस्येत्यप्यसङ्गतम्, तादृशेऽर्थे शक्तिग्रहाभावात्॥ ४५॥

ए॒भिर्नो॑ अ॒र्कैर्भवा॑ नो अ॒र्वाङ् स्व॒र्णज्योतिः॑। अग्ने॒ विश्वे॑भिः सु॒मना॒ अनी॑कैः॥ ४६॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, हमारे इन पढ़े हुए मन्त्रों से प्रसन्न होकर आप अपने सम्पूर्ण मुखों के साथ हमें दर्शन दीजिये, जैसे कि सूर्य आकाश में उदित होकर सम्पूर्ण जगत् को अपना साक्षात्कार कराता है॥ ४६॥

हे अग्ने, विश्वेभिर्विश्वैः सर्वैरनीकैस्त्वदीयसैन्यैः सहितः सुमनाः सौमनस्यं प्राप्त एभिरिदानीं क्रियमाणैर्नोऽस्मत्सम्बन्धिभिरर्कैरर्चनीयैः स्तोत्रैर्नोऽस्मान् प्रति अर्वाङ् समीपस्थोऽस्मत्संमुखो भव। अवरं समीपदेशमञ्चति गच्छतीत्यर्वाङ्। तत्र दृष्टान्तः—स्वर्णज्योतिः स्वः न ज्योतिः। न इवार्थे। यथा स्वः सूर्यरूपं ज्योतिरर्कैरर्चनीयैर्मन्त्रैः स्तुत उदयादारभ्य सर्वसमीपवर्ती भवति, तथा त्वं समीपस्थो भव, अनुगृहाणेत्यर्थः। यद्वा हे अग्ने, एभिरर्कैरर्चनीयैर्मन्त्रैर्नोऽस्माकं सम्बन्धिभिः, स्तूयमान इति शेषः। सुमनाः शोभनमनस्कः सन्नस्मान् प्रत्यर्वाङ् अभिमुखं च नो भव। कथमिव? स्वर्णज्योतिः, यथा स्वराख्यं सूर्यात्मकं ज्योतिरुदयादारभ्यावार्गञ्चनं सत् सर्वप्राणिनोऽनुगृह्णाति, एवं भवानर्वागञ्चनो विश्वेभिः सर्वैरनीकैर्मुखैः सुमनाः सौमनस्यं प्राप्तोऽनुगृहाणेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः। अर्वाग्भव अभिमुखो भव, वृत्तो अभिव्यक्तो भवेति विशेषः।

दयानन्दस्तु—हे अग्ने, त्वं नोऽस्मभ्यं विश्वेभिरनीकै राजेव सुमना भव। एभिरर्कैर्नोऽस्मभ्यं ज्योतिरर्वाङ् स्वर्न भव' इति, तदपि चिन्त्यम्, राजभिन्नानां विदुषां सैन्यायोगात्। यदि च सैन्यानां राज्ञा सम्बन्ध इष्येत, तदप्यसङ्गतम्, मूले तादृशशब्दादर्शनात्, अर्वाक्पदस्याप्यनुत्कृष्टानुत्कृष्टान् कर्तुमञ्चतीति व्याख्यानमपव्याख्यानमेव, निर्मूलत्वात्। न चार्कशब्दस्य विद्वानर्थः, तादृशकोषाद्यभावात्। न विद्वान् स्वर्भवति, गुणद्रव्ययोरैक्यायोगात्। न च सादृश्यमपि सम्भवति, सुखे गुणावयवायोगात्, भूयोऽवयवगुणवत्त्वेनैव सादृश्यसम्भवात्॥ ४६॥

अग्निᳬं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुᳬं सूनुᳬं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा । घृतस्य विभ्राष्टिमनुवष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिषः ।। ४७ ।।

मन्त्रार्थ—दान आदि शुभ गुण वाला यह यज्ञीय अग्नि अपनी ऊँची ज्वालाओं से सब ओर से दी गई आहुति को लेकर देवताओं के समीप जाता है । अंग-अंग में फैलने वाले घृत के पान की निरन्तर इच्छा करता है । उस अग्नि को देवताओं को बुलाने वाले दानशील सबको सहारा देने वाले ब्रह्मज्योति के पुत्र सब प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न सभी शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मण के समान मैं जानता हूँ ।। ४७ ।।

'पुरीषवत्याः पूर्वामतिच्छन्दसं प्राच्यौ पुरीषसहिते भद्रारातिर्वृत्रतूर्येऽवस्थिरागिनᳬं होतारमिति' (का० श्रौ० १७।१२।१६) । अग्नेः पुरीषमसीति पुरीषशब्दवता मन्त्रेणोपहिता पञ्चमी असपत्ना पुरीषवतीष्टका । तस्याः पुरस्तादतिच्छन्दससंज्ञकामिष्टकां पद्यां प्राग्लक्षणां प्राङ्मुख उपदध्यात् । भद्रारातिर्वृत्रतूर्ये अवस्थिरेति ककुभां चतुश्चतुरक्षरसहितया अग्निᳬं होतारमित्यृचा पुरीषवदतिच्छन्द इष्टके प्राग्लक्षणे पुरीषयुक्ते च भवतः । अनयोरन्तः पुरीषावापः कार्य इति सूत्रार्थः । अतिच्छन्दा अवसानत्रिकोपेताः । छन्दांसि गायत्र्यादीनि सप्तातिक्रान्ता अतिच्छन्दाः । चतुःषष्ट्यक्षरत्वादष्टिः, अत्यष्टिर्वा, ककुभामक्षरैः सहातिधृतिः । तं प्रसिद्धमग्निं होतारं देवानामाह्वातारमहं मन्ये जानामि । कीदृशमग्निम् ? दास्वन्तं दातारम् 'दासृ दाने', वसुं वासयितारम्, सहसो बलस्य सूनुं पुत्रम्, बलपूर्वकमथनाज्जातत्वात्, जातवेदसं जातप्रज्ञानं जातो वेदो यस्माद्वा, 'त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः' (श० ११।५।८।३) इति श्रुतेः । विप्रं न जातवेदसं विप्रमिव जातसर्वशास्त्रज्ञानं तादृशं तमग्निमहं मन्ये । यो देवो दानादिगुणयुक्तः, स्वध्वरः सुष्ठु शोभनोऽभीष्टफलदोऽध्वरो यज्ञो यजनं यस्य सः । ऊर्ध्वया ऊर्ध्वोन्मुखया उन्नतया देवाच्या देवान् प्रत्यञ्चति गच्छतीति देवाची, तया देवान् प्रति गमनशीलया, कृपा कृप्यते इति कृप् तया क्लृप्त्या समर्थया, शोचिषा ज्वालया घृतस्य आज्यस्य विभ्राष्टिं विभ्रंशपातमनुवष्टि कामयते । कीदृशस्य घृतस्य ? आजुह्वानस्य आसमन्ताद् हूयमानस्य सर्पिषः सर्पतीति सर्पिः, तस्याग्नेरङ्गे प्रसर्पणशीलस्य । य एतादृशोऽग्निस्तमग्निमहं जानामि उपास्ति करोमि ।

यद्वा—इममग्निं होतारं देवानामाह्वातारमहं मन्ये । कीदृशम् ? वसुं धनं दास्वन्तं प्रयच्छन्तं सहसो बलस्य सूनुं पुत्रं जातवेदसं जगदभिज्ञं विप्रं ब्राह्मणं ब्रह्मविद्वरिष्ठमिव जातवेदसं परावरविदम् । योऽग्निर्देव ऊर्ध्वया अत्युन्नतया देवाच्या देवान् प्रति गच्छन्त्या कृपा क्लृप्त्या समर्थया ज्वालया स्वधरः सुष्ठु यागनिष्पादको भवति, यश्च घृतस्य विभ्राष्टिं विशेषदीप्तिं शोचिषा स्वकीयेन तेजसा अनुवष्टि अनुकामयते । कीदृशस्य ? आजुह्वानस्य सर्वतो हूयमानस्य सर्पिषः सर्पणशीलस्य ।

अध्यात्मपक्षे—यो देवो दीव्यति क्रीडते सृष्टिस्थितिलयादिभिरिति । स्वध्वरः सुष्ठु शोभनो मुक्तिदाता अध्वरो यजनं यस्य सः, देवाच्या देवं निर्गुणं परमात्मनम्, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० उ० ६।११) इति श्रुतेः । अञ्चति गच्छति प्राप्नोतीति देवाची, तया । कृपा समर्थया शोचिषा प्रकाशेन समर्थेन ब्रह्मप्रापकेन ज्ञानेन सहितस्य घृतस्य घृतगन्धिस्नेहस्य विभ्राष्टिं विशेषदीप्तिमनुवष्टि कामयते, तमग्निं प्रसिद्धमग्निं परमात्मानं होतारं भक्तानामाह्वातारं वसुं भक्तानामभीष्टधनरूपं दास्वन्तं मोक्षादिदातारं सूनुं कौशल्याया इति शेषः, देवक्या वा, सहसः सहो बलरूपम्, विभक्तिव्यत्ययः, सहसो बलस्य सूनुं वा, बहुजन्मनामन्ते महता प्रयत्नेन आविर्भावात् ।

जातवेदसं वेदोत्पत्तिहेतुं विप्रं न ब्राह्मणमिव जातवेदसं परावरब्रह्मविदमहं मन्ये जानामि, साक्षात्करोमि उपाश्रये वा ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य ऊर्ध्वया उपरि गत्या स्वध्वरः शोभनकारित्वादहिंसनीयः, देवाच्या देवानञ्चति तया कृपा समर्थया क्रियया देवो दिव्यगुणः शोचिषा दीप्त्या आजुह्वानस्य समन्ताद्धूयमानस्य सर्पिष आज्यस्य घृतस्योदकस्य विभ्राष्टिं विविधा भ्राष्टयः प्रकाशनानि यस्मिन् तमनुवष्टि अनुप्रकाशते, तं होतारं सुखदातारं जातवेदसं सर्वेषु जातेषु पदार्थेषु विद्यमानं सहसो बलिष्ठस्य सूनुं पुत्रमिव वसुं दास्वन्तमन्नप्रदं जातवेदसमग्निं विप्रं न आप्तमिव अहं मन्ये, तथा यूयमपि मन्यध्वम्' इति, तदपि न सङ्गतम्, गौणार्थाश्रयणात्, देवपदस्य योनिविशेषार्थकस्य भूमिकायां साधितत्वाच्च । 'ऊर्ध्वया' इत्यस्य ऊर्ध्वगत्यर्थता च चिन्त्या । स्वध्वरः शोभनकर्मकारित्वादचिन्तनीय इत्यपि निर्मूलम्, तादृक्प्रत्ययाभावात् ।। ४७ ।।

अग्ने॒ त्वं नो॒ अन्त॑म उ॒त त्रा॒ता शि॒वो भ॑वा वरू॒थ्यः । वसु॑र॒ग्निर्वसु॑श्रवा॒ अच्छा॑ नक्षि द्यु॒मत्त॑मꣳ र॒यिं दाः । तं त्वा॑ शोचिष्ठ दीदिवः सु॒म्नाय॑ नू॒नमी॑महे॒ सखि॑भ्यः ।। ४८ ।।

मन्त्रार्थ—हे निर्मल स्वभाव वाले अग्निदेव, ब्रह्मरश्मि रूप आहवनीय रूप से गमन करने वाले, धन देने से कीर्तिमान् तुम हमारे अति समीप रहने वाले हो, हमारी रक्षा करने वाले हो, हमारे पुत्र आदि का कल्याण करो । हे निर्मल स्वभाव वाले, हमारे होमस्थान में आइये और अति दीप्तियुक्त धन को दीजिये । हम अत्यन्त कान्तियुक्त, सबको प्रकाशित करने वाले पूर्वोक्त गुणों से युक्त तुम्हारे मित्रों के कल्याण के निमित्त, सुख के निमित्त तुम्हारी प्रार्थना करते हैं ।। ४८ ।।

'अग्ने त्वमित्यनूकान्तेऽपरे द्विपदाः' (का० श्रौ० १७।१२।१७) । ततः पश्चादनूकान्ते तिस्रो द्विपदाः प्राग्लक्षणा उदक्संस्था दक्षिणामुखः (१) अग्ने त्वम्, (२) वसुरग्निः, (३) तं त्वा इति मन्त्रैरुपदध्यादिति सूत्रार्थः । आसां मध्यमा पद्या अनूके, तामभितो द्वे अर्धपद्ये । तिस्रो द्विपदा विराज आग्नेय्यः । तृतीयेऽध्याये २५–२६ स्थले कृतव्याख्याना अपि पुनः किञ्चिद् व्याख्यायन्ते । हे अग्ने, त्वं नोऽस्माकमन्तमोऽन्तिकतमः समीपस्थो भव । उतापि च त्राता रक्षको भव । शिवो मङ्गलरूपो भव । वरूथ्यो वरूथे गृहे नित्यं सन्निहितो भव । वसुर्वसुमानयमग्निर्वसुश्रवा वसुभिरिन्द्रादिदैवतैरादरेण श्रूयत इति । हे तादृश अग्ने, अच्छा अस्मदभिमुखं नक्षि प्राप्नुहि । द्युमत्तममतिशयेन दीप्तियुक्तं रयिं धनं दाः प्रयच्छ । हे शोचिष्ठ शुद्धतम दीदिव दीप्यमान, सखिभ्यः सखीनामस्माकं सुम्नाय सुखाय तं पूर्वोक्तगुणं त्वाम् ईमहे प्राप्नुमः ।। ४८ ।।

येन॒ ऋष॑य॒स्तप॑सा स॒त्रमाय॒न्निन्धा॑ना अ॒ग्निꣳ स्व॑रा॒भर॑न्तः ।
तस्मि॑न्न॒हं निद॑धे॒ नाके॑ अ॒ग्निं यमा॒हुर्मन॑वस्ती॒र्णब॑र्हिषम् ।। ४९ ।।

मन्त्रार्थ— अग्नि को प्रदीप्त करके स्वर्ग की इच्छा करने वाले ऋषिगण चित्त को एकाग्र करके यज्ञरूपी तप करने को उद्यत हुए हैं । उस तप के पूरा होने पर स्वर्ग को प्राप्त कराने वाले अग्नि को मैं स्थापित करता हूँ । मननशील विद्वान् इस अग्नि को ही यज्ञ का प्रधान साधन मानते हैं ।। ४९ ।।

'पुनश्चितिं चोपरि तद्वद् येन ऋषय इति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १७।१२।१९) । मध्योपहितस्यास्येष्टकस्य गार्हपत्यस्योपरि गार्हपत्यवदेव पुनश्चितिमुपदध्याद् येनेत्यष्टर्चेन प्रत्यृचमिति सूत्रार्थः । आग्नेय्योऽष्टौ षट् त्रिष्टुभो द्वे अनुष्टुभौ । ऋषयो वसिष्ठप्रभृतयो येन तपसा चित्तैकाग्र्येण सत्रमनेकयजमानकर्तृकं यागमायन्

आगतवन्तः सत्रं कर्तुमुद्यताः, अग्निमिन्धाना अग्निमादीपयन्तः, तथा स्वः स्वर्गलोकमाभरन्त आहरन्तः स्वीकुर्वाणाः, तेनैव तपसा ह सत्रमागत्य अग्निं सन्दीप्य स्वर्लोकं च स्वीकृत्य तस्मिन् तपसि सति नाके स्वर्गलोकनिमित्तमहमग्निं निदधे स्थापयामि। यमग्निं मनवो मननप्रधाना विद्वांसः स्तीर्णबर्हिषं स्तीर्णमाच्छादितं बर्हिर्यत्र स स्तीर्णबर्हिस्तं बर्हिरुपलक्षितसर्वयज्ञसाधनोपेतम्, 'मनसश्चेन्द्रियाणां च निग्रहः परमं तपः' इत्याप्तोक्तेः। यद्वा—येन स्वर्गेण निमित्तभूतेन ऋषयो वसिष्ठाद्यास्तपसा सन्तापयुक्तेनाग्निना सत्रमायन् सत्रमनुष्ठितवन्तः। कीदृशा ऋषयः ? अग्निमिन्धाना आहवनीयं प्रज्वालयन्तः। स्वराभरन्तः स्वर्गमाहर्तुमुद्यताः। अहमपि तस्मिन्नाके निमित्तभूते सत्यग्निं दधे स्थापयामि, यमग्निं मनवः पूर्वमनुष्याः स्तीर्णबर्हिषं प्रसारितयज्ञसाधनमाहुः, तमग्निं निदध इति सम्बन्धः।

अत्र ब्राह्मणम्—'येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निति। अमूनेतदृषीनाहेन्धाना अग्निꣳ स्वराभरन्त इतीन्धाना अग्निꣳ स्वर्गलोकमाहरन्त इत्येतत्तस्मिन्नहं निदधे नाके अग्निमिति स्वर्गो वै लोको नाको यमाहुर्मनवस्तीर्णबर्हिषमिति ये विद्वाꣳसस्ते मनवस्तीर्णबर्हिषमिति सर्वदा हैव स स्तीर्णबर्हिः' (श० ८।६।३।१८)। प्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—तपसा चित्तैकाग्र्येण ऋषयो वसिष्ठाद्याः सत्रमायन् ज्ञानसत्रं कर्तुमुद्यताः। कीदृशाः ? स्वः ब्रह्मात्मकं सुखमाभरन्तः। तस्मिन् तपसि सत्यहमपि नाके दुःखासंस्पृष्टमोक्षरूपनिमित्ते भगवन्तमग्निं निदधे हृदये धारयामि। यमग्निं भगवन्तं मनवः पूर्वं मननशीलाः स्तीर्णबर्हिषं विस्तारितयज्ञमाहुः।

दयानन्दस्तु—'येन कर्मणा तपसा धर्मानुष्ठानेन इन्धानाः प्रकाशमानाः स्वः सुखमाभरन्तः समन्ताद् हरन्त ऋषयो वेदार्थवेत्तारः सत्रं सत्रा सत्यं विद्यते यस्मिन् विज्ञाने तत्। सत्रा इति सत्यनामसु (निघ० ३।१०।३)। अग्निं विद्युदादिकमायन् प्राप्नुयुः, तस्मिन्नाकेऽविद्यमानदुःखे सुखे प्रासव्ये सति मनवो विद्वांसो यं स्तीर्णबर्हिषं स्तीर्णमाच्छादितं बर्हिरन्तरिक्षं येन तमग्निं अहं निदधे' इति, तदप्यापातरमणीयम्, सत्रपदस्य विज्ञानपरत्वेऽग्निसामानाधिकरण्यायोगात्। अन्वये सत्रमग्निं, भाषाभाष्ये च विज्ञानप्रयुक्तमग्निमित्युक्तम्, तच्च नोपपद्यते, अग्नेर्विज्ञानरूपत्वाभावात्। अद्यत्वे धर्मानुष्ठानमन्तरापि विद्युत्प्रादुर्भावदर्शनेन येन तपसेति सूचितधर्मानुष्ठानस्य कारणत्वमपि बाधितम्, अन्यथासिद्धत्वात्। न च तादृशमग्निं कश्चिद् मनुष्येषु धारयितुं शक्नोति, तस्य ताम्रतन्त्राद्याधारत्वप्रसिद्धेः। न चाविद्यमानदुःखं सुखं तेन प्राप्यते, तेनानेकनेत्ररोगाद्युत्पत्तिदर्शनात् ॥ ४९ ॥

तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः।
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—हे विद्वान् ऋत्विजों, भूमि से तीसरे द्युलोक के ऊपर शुभ कर्मों के फलरूप दीप्यमान आदित्यमण्डल में दुःखहीन स्थान को स्वीकार करते हुए हम स्त्री, पुत्र, भाई और सुवर्ण आदि द्रव्यों के साथ उस अग्नि देवता की सेवा करते हैं, जिससे कि हमें तीसरे स्वर्ग लोक की प्राप्ति हो ॥ ५० ॥

हे देवाः, दीप्यमाना ऋत्विजः, वयं सर्वे तमग्निं पत्नीभिः पाणिगृहीतीभिः स्त्रीभिः सह उतापि पुत्रैः सह भ्रातृभिश्च हिरण्यैः काञ्चनादिसाधनद्रव्यैश्च सह तमग्निमनुगच्छेम अनुसरेम, सेवेमहीत्यर्थः। कीदृशा वयम् ? तृतीये भूलोकमारभ्य त्रिसंख्यापूरके दिवः पृष्ठे रविमण्डले नाकं दुःखहीनं स्थानम् अधि गृभ्णाना अधिकं सुखस्थानं स्वीकुर्वन्तः। कीदृशे दिवः पृष्ठे ? सुकृतस्य लोके सम्यगनुष्ठितस्य शुभकर्मणः फलभूते। पुनः कीदृशे ? रोचने दीप्यमाने। एतच्च श्रुतिप्रामाण्यात्। तथा च ब्राह्मणम्—'तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः। पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा

हिरण्यैरित्येतेनैनꣳ सर्वेणानुगच्छेमेत्येतन्नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोक इति स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गं लोकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोक इत्येतत् तृतीये पृष्ठेऽधिरोचने दिव इत्येतद्ध तृतीयं पृष्ठꣳ रोचनं दिवो यत्रैष एतत् तपति' (श०८।६।३।१९) ।

अध्यात्मपक्षे—हे देवाः, भगवता सह क्रीडमाना भक्ता वयं सर्वे तमग्निं भगवन्तं परमेश्वरं पत्नीभिः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत हिरण्यैर्धनादिभिरनुगच्छेम संराध्नुयाम। कीदृशा वयम्? तृतीये कार्यकारणापेक्षया तृतीये कार्यकारणातीते दिवो द्योतनात्मकस्य बोधात्मकस्य पृष्ठे उपरि नाकं दुःखलेशरहितं स्थानम् अधिगृभ्णानाः प्रापञ्चिकसुखादधिकं ब्रह्मात्मकं सुखं स्वीकुर्वाणाः। कीदृशे दिवः पृष्ठे? सुकृतस्य स्वनुष्ठितस्य ज्ञानाभ्यासस्य लोके फलभूते रोचने दीप्यमाने।

दयानन्दस्तु—'हे देवा विद्वांसः, यथा यूयं तं गृह्णाना दिवः सुकृतस्य अधिरोचने तृतीये विज्ञानजे पृष्ठे लोके वर्तमानाः पत्नीभिः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः सह नाकं गच्छत, तथैतैः सहिता वयमनुगच्छेम' इति, तदप्यसङ्गतम्, यथा यूयं तथा वयमित्यंशस्य निर्मूलत्वात्, निरर्थकत्वाच्च। वैद्युताग्नेर्जडत्वात्तदनुगमनं नोपपद्यते, तस्य चेतनानुगामित्वात्। अनुगमनं नामानुसरणम्, तच्च सेवनापरपर्यायमुपासन एव पर्यवस्यतीति तवैवापसिद्धान्तः। सुकृतस्य सुन्दरस्य वेदोक्तकर्मण इत्यप्यसाम्प्रतम्, तस्य तत्रानुपयोगात्। न च तस्य प्रकाशयुक्तत्वम्, कर्मणो नीरूपत्वात्। तस्याधिरोचने तृतीये पृष्ठे लोके इत्यस्यासङ्गतिरेव। तृतीय इति पदस्य विज्ञानज इति व्याख्यानमप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्। न च पृष्ठशब्दस्य ज्ञीप्सितमर्थः, निर्मूलत्वात्। 'पृषु सेचने' इति भौवादिकस्य 'तिथपृष्ठ' (उ० २।१२) इत्यादिना निपातनात् तत्सिद्धेः। पृच्छतेर्निष्ठायां तु पृष्टमित्येव भवति, न तु पृष्ठमिति ॥ ५० ॥

आ वाचो मध्यमरुहद् भुरण्युरयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः।
पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—यह जगत् का कर्ता, सत्पुरुषों का पालक, ज्ञानी, पृथ्वी के ऊपर स्थापित अत्यन्त प्रकाशमान अग्नि चयन के मध्य स्थान में स्थित होकर युद्ध की इच्छा वाले पापियों को अपने चरणों से रौंद दे ॥ ५१ ॥

अयमग्निर्वाचो मध्यं चयनस्थानम्, आरुहत् चयनस्थानस्योपर्यारूढः, 'एतद्ध वाचो मध्यं यत्रैष एतच्चीयते' (श० ८।६।३।२०) इति श्रुतेः। कीदृशोऽयमग्निः? भुरण्युर्भर्ता, सर्वस्य जगत इति शेषः, 'भुरण्युरिति भर्तेत्येतत्' (श० ८।६।३।२०) इति श्रुतेः। पुनः कीदृशः? सत्पतिः सतां पालकः। पुनः कीदृशः? चेकितानः चेतयमानः, अभिज्ञानवानित्यर्थः। पुनः कीदृशः? पृथिव्या भूमेः पृष्ठे उपरि निहितः स्थापितः। पुनः कीदृशः? दविद्युतद् अत्यन्तं द्योतमानः, 'दाधर्तिदर्धर्तिदर्धर्षि·····' (पा० सू० ७।४।६५) द्युतेर्यङ्लुगन्तस्य शतर्यभ्यासस्य सम्प्रसारणाभावः, अत्वं विजागमश्च निपात्यते। सोऽयमेतादृशोऽग्निः? ये पृतन्यवोऽस्माभिर्युद्धं चिकीर्षवः, पृतनां सेनां युद्धं वा इच्छन्तीति पृतन्यन्ति, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इति टिलोपः। पृतन्यन्तीति पृतन्यवः 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्यये रूपम्। अर्थात् पाप्मानस्तान् अधस्पदं पादयोरधः अधस्पदम्, 'कस्कादिषु च' (पा० सू० ८।३।४८) इति सकारे रूपम्, कृणुतां करोतु, बाह्यान् आन्तरांश्चास्मच्छत्रून् चरणाधश्चरान् करोत्विति यावत्। यद्वा अयमग्निर्वाचः स्तोत्ररूपाया वाचो मध्यं प्रतिपाद्यमर्थमारूढः स्तोत्रगतसर्वगुणयुक्तः। अन्यत् पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'आ वाचो मध्यमरुहद् भुरण्युरिति । एतद्ध वाचो मध्यं यत्रैष एतच्चीयते भुरण्युरिति भर्तेत्येतदयमग्निः सत्पतिश्चेकितान इत्ययमग्निः सताम्पतिश्चेतयमान इत्येतत्पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदिति पृष्ठे पृथिव्या निहितो दीप्यमान इत्येतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यव इत्यधस्पदं कुरुतां सर्वान् पाप्मन इत्येतत्' (श० ८।६।३।२०) । विशदा कण्डिका ।

अध्यात्मपक्षे—अयमग्निः परमेश्वरो वाचो वेदलक्षणाया मध्यं हृदयमाशयं तात्पर्यगोचरतामारुहत् । स्वभावत एव वेदमहातात्पर्यगोचरः । भुरण्युः जगद्धारकः, अधिष्ठानत्वात् । सत्पतिः सतां पालकः । चेकितानः सर्वज्ञः । पृथिव्या भूमेर्मायाया उपरिष्टाद् निहितो नितरां स्थितो दविद्युतद् अतिशयेन द्योतते । ये पृतन्यवोऽस्माभिः कलहं कर्तुमिच्छन्ति तान् सोऽयमग्निः परमेश्वरः, अधस्पदम् अस्माकं पादयोरधस्तादवस्थितान् कुरुताम् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, चेकितानो विज्ञानयुक्तः सत्पतिर्भवान् वाचो मध्यं वाचो मध्ये भवं प्राप्य यथायं भुरण्युः पोषकोऽग्निर्विद्वान् पृथिव्याः पृष्ठे उपरि भागे निहितो नितरां धृतो दविद्युतत् प्रकाशयति, आरुहद् रोहति, तेन ये पृतन्यवस्तानधस्पदं कृणुताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात् । वाचो मध्यमित्यस्य वाचो मध्ये भवमुपदेशं प्राप्येत्यपि तथाविधमेव, उपदेशस्य शब्दात्मकत्वेन तदयोगात् । सर्वस्यैव भूमेः पृष्ठे वर्तमानत्वात् तथोक्तिरपि न वैशेष्यावहा । धर्ममारोहतीति भाषाव्याख्यानमपि निर्मूलम्, तथाध्याहारे मानाभावात् । सर्वोऽपि लोकः शत्रूनधस्पदं कर्तुं वाञ्छतीत्ययमुपदेशोऽपि निरर्थक एव ॥ ५१ ॥

अ॒यम॒ग्निर्वी॒रत॑मो वयो॒धाः स॑ह॒स्रियो॑ द्योतता॒मप्र॑युच्छन् ।
वि॒भ्राज॑मानः सरि॒रस्य॒ मध्य॒ उप॒ प्र या॑हि दि॒व्यानि॒ धाम॑ ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—महान् पराक्रमी, हवि ग्रहण करने वाले, सहस्र इष्टकाओं के तुल्य अग्निदेव कर्मों में प्रमाद न करते हुए प्रज्वलित हों, त्रिलोकी के मध्य में दीप्यमान दिव्य स्थानों को प्राप्त हों ॥ ५२ ॥

अयमग्निर्वीरतमः, अजति शत्रून् क्षिपतीति वीरः । 'स्फायितञ्चि' (उ० २।१२) इत्यादिना रक्प्रत्ययः । 'अजेर्व्यघञपोः' (पा० सू० २।४।५६) इति प्रकृतेर्व्यादेशः । अथवा वेति व्याप्नोति शत्रून् बलेनेति वीरः । 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' इति वीधातो रप्रत्ययः । अतिशयेन वीरो वीरतमः । वयोधाः, वयो हविर्लक्षणमन्नं धीयतेऽस्मिन्निति वयोधाः, अथवा वयो दधातीति वयोधाः । सहस्रिय इष्टकानां सहस्रेण सम्मितः, 'सहस्रेण सम्मितौ घः' (पा० सू० ४।४।१३५) इति घप्रत्ययः, सहस्रार्हो वा । तादृशोऽयमग्निः, द्योततां दीप्यताम् । अप्रयुच्छन् कर्मसु अप्रमाद्यन् । सरिरस्य लोकत्रयस्य, 'इमे वै लोकाः सरिरम्' (श० ८।६।३।२१) इति श्रुतेः । मध्ये विभ्राजमानो दीप्यमानो दिव्यानि धाम एषु लोकेषु लोकोत्तराणि धाम धामानि स्थानानि, स्वर्गं लोकमिति यावत् । उपप्रयाहि उपप्रयातु उपगच्छतु । अत्र पुरुषव्यत्ययः, मन्त्रस्य परोक्षकृतत्वात् । यद्वा—अयमग्निर्द्योततां कर्मण्यस्मिन् प्रकाशताम् । कीदृशोऽग्निः ? वीरतमोऽतिशयेन शूरः । वयोधा आयुषो धाता स्थापयिता । सरिरस्य जलस्य मध्ये । अन्यत् पूर्ववत् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अयमग्निर्वीरतमो वयोधा इति । अयमग्निर्वीर्यवत्तमो वयोधा इत्येतत् सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन्निति सहस्रियो दीप्यतामप्रमत्त इत्येतद्विभ्राजमानः सरिरस्य मध्य इतीमे वै लोकाः सरिरं दीप्यमान एषु लोकेष्वित्येतदुप प्रयाहि दिव्यानि धामेत्युप प्रयाहि स्वर्गं लोकमित्येतत्' (श० ८।६।३।२१) इति ।

अध्यात्मपक्षे—अयं प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानोऽग्निः परमेश्वरो रामचन्द्रः। वीरतमः शूरतमः। वयोधा भक्तानामायुषोऽन्नस्य भोग्यस्य वा धाता। सहस्रियः अनन्तमूल्यार्हः। अथवा अनन्तेन योद्धसेनासमूहेन सम्मितः। सहस्रशब्दोऽनन्तवाची। द्योतताम्, भक्तहृदयेष्विति शेषः। अप्रयुच्छन् भक्तनामर्थे सदा सावधानः। सरिरस्य समुद्रस्य मध्ये लङ्कायां रक्षसां वधाय विभ्राजमानः। दिव्यानि धाम अथर्ववेदप्रसिद्धमयोध्याख्यं स्वर्गं गच्छतु।

दयानन्दस्तु—'योऽयं वीरतमो वयोधाः सहस्रियः सहस्रेण योद्धसमूहेन सम्मितः सरिरस्य अन्तरिक्षस्य मध्ये विभ्राजमानो विशेषेण विद्यान्यायाभ्यां देदीप्यमानोऽप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन् अग्निरिव स भवान् सेनापतिर्द्योततां दीप्यताम्। दिव्यानि धाम धामानि त्वमुप प्रयाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रे सेनापतौ प्रोक्तविशेषणानुपपत्तेः, वेदे मनुष्यस्तुतेर्निरर्थकत्वात् ॥ ५२ ॥

सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम्।
पुनः कृण्वानाः पितरा युवानाऽन्वाताᳬंसीत् त्वयि तन्तुमेतम् ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे ऋषियों, तुम इस अग्नि के समीप आओ, समीप आकर शान्ति से बैठो। हे अग्निदेव, तुम देवयान मार्ग को सिद्ध करो। वाणी और मन से तरुण ऋषियों ने इस यज्ञ का तुम्हारी सहायता से क्रमपूर्वक विस्तार किया है ॥ ५३ ॥

ऋषीनाह मन्त्रद्रष्टा—हे ऋषयः, यूयमेतमग्निं सम्प्रच्यवध्वम् अग्निं प्रत्यागच्छत। आगत्य च उपसम्प्रयात सम्यक श्रद्धाभक्त्यादिभिस्तं प्राप्नुत, वक्ष्यमाणश्रुतेः। अथाग्निमाह—हे अग्ने, देवयानान् पथः कृणुध्वं कुरु। वचनव्यत्ययः। देवा यायन्ते प्राप्यन्ते यैस्ते देवयानास्तान् देवलोकप्राप्तिहेतुभूतान् मार्गान् कुरु। हे अग्ने, यत ऋषय एतं तन्तं यज्ञं त्वय्यन्वातांसीद अतानिषुः, अनुक्रमेण विस्तारितवन्तः। वचनव्यत्ययः। कीदृशा ऋषयः? पुनर्भूयः पितरा वाङ्मनसे युवानौ तरुणौ अयातयामौ अन्योन्यसङ्गतौ वा कृण्वानाः कुर्वाणाः। स्वादेः कृञः शानच। विभक्तेराकारः। सङ्गते हि वाक् च मनश्च यज्ञं साधयतः, संयताभ्यां सङ्गताभ्यामेव च यज्ञसाधनतोपपत्तेः। यद्वा सम्प्रच्यवध्वं स्वकीयात् स्थानात् सम्यङ् निर्गच्छ। ततोऽस्मदीयं देवयजनमेत्य सम्प्रयात सम्यक प्राप्नुहि। ततो देवयानान् देवलोकप्राप्तिमार्गान् कृणुध्वं कुरु। पूजनार्थं बहुवचनम्। किं कुर्वन्? त्वयि पितरा मातापितरौ युवाना तरुणौ पुनर्भूयोभूयः कृण्वानाः कुर्वन् सोऽग्निस्तं तन्तं यज्ञप्रवाहमन्वातांसीत्। ते वाङ्मनसे संयते कृत्वा जितेन्द्रियः सन् यज्ञमन्वातांसीद् अवतनोतु सम्पादयतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'सम्प्रच्यवध्वमुपसम्प्रयातेति। अमूनेतदृषीनाह समेनं प्रच्यवध्वमुप चैनᳬं सम्प्रयातेत्यग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वमिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः पुनः कृण्वाना पितरा युवानेति वाक् च वै मनश्च पितरा युवाना वाक् च मनश्चैतावग्नी अन्वाताᳬंसीत् त्वयि तन्तुमेतमिति योऽसावृषिभिस्तन्तुस्ततस्तमेतदाह' (श० ८।६।३।२२)। वाक् च मनश्च पितरा स्वोपकारेण जगतः पालयितारौ युवाना नित्यतरुणौ अन्वातांसीत् ऋषिभिर्योऽसौ तन्तुस्वतस्तमेव तनुतामिति प्रार्थ्येते। वाङ्मनश्च एतावग्नी गार्हपत्याहवनीयौ, तत्पूर्वकत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मविदः, सम्प्रच्यवध्वं ब्रह्मात्मभावात् सम्यक् प्रच्यवध्वं प्रच्युता भवन्तु। कल्पितद्वैतबुद्धिमूरेत्य भगवन्तं श्रीरामचन्द्रं श्रीकृष्णचन्द्रं वा सम्यग् उपसम्प्रयात श्रवणकीर्तनध्यानादिभि-

स्तत्सामीप्यं प्राप्नुध्वम्, 'द्वैतं मोहाय बोधात् प्राग् जाते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादतिसुन्दरम् ॥' इत्याचार्यनरहर्युक्तेः। एष सिद्धान्तः श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादैर्भक्तिरसायने वर्णितः, तद्भूमिकायां चास्माभिः सुभृशं सुस्थापितः। तत्रैव मनोहत्य आलोचनीयः। हे अग्ने भगवन् श्रीराम, देवयानान् पथो मार्गान् कृणुध्वं कुरुत। एते भक्ताः पितरौ वाक् च मनश्च युवानौ अन्योन्यसङ्गतौ कृण्वानाः कुर्वाणा एतं त्वयि ततं तन्तुं ध्यानात्मकं यज्ञमन्वातांसीद् अन्वातंशिषुः। वचनव्यत्ययः। अनुक्रमेण विस्तारितवन्तः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं विद्या उपसम्प्रयात। देवयानान् पथः सम्प्रच्यवध्वं सम्यग् गच्छत। धर्मं कृणुध्वम्। हे अग्ने, त्वयि पितामहे विद्यमाने सति पितरा कृण्वाना युवाना भूत्वा स्वयंवरं विवाहं कृत्वा पुनरेतं तन्तुमन्वातांसीत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकरणप्राप्तमग्निं विहाय विद्यानां कर्मत्वापादाने प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्, धर्मशब्दमनध्याहृत्यापि देवयानानिति पदस्य कर्मत्वेनान्वयसम्भवात्। अग्नेः पितुः पितृत्वानिर्णयेन पितामहत्वानिर्णयोऽपि तदवस्थः। न च पित्रोर्विवाहमन्तरा पुत्रोत्पत्तिरिति कथमनुत्पन्नः पुत्रः पित्रोर्विवाहं पितामहाय वर्णयेत् ॥ ५३ ॥

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम सावधान रहो। श्रौत और स्मार्त कर्म में यजमान से सम्पर्क करो। तुम्हारे प्रसाद से इष्टापूर्त कर्म से निष्पाप हुआ यह यजमान भी देवताओं के साथ रहने योग्य बन कर सबसे उत्कृष्ट स्वर्ग लोक में चिरकाल तक निवास करे॥ ५४॥

हे अग्ने, त्वमुद्बुद्ध्यस्व प्रतिबुद्धो भव, अस्मद्विषये सावधानो भवेत्यर्थः। प्रतिजागृहि यजमानहिते जागरूको भवेत्यर्थः। यद्वा एनं यजमानं प्रतिजागृहि प्रतिदिनं जागरूकं सावधानं कुरु। तत इष्टापूर्ते इष्टं च पूर्तं च इष्टापूर्ते, 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० सू० ६।३।१०९) इति साधु। इष्टं च आपूर्तं चेति रामायणतिलके (१।२१।८) नागेशः। संसृजेथां त्वत्प्रसादाद् यजमानेन श्रौतस्मार्ते कर्मणी संसृष्टे भवेताम्, अर्थादियं यजमान इष्टापूर्ताभ्यां संसृष्टो भवतु। ततः संसृष्टेष्टापूर्तो विगतकल्मषः सन् अस्मिन् सधस्थे देवैः सहस्थाने, अध्युत्तरस्मिन् सर्वोत्कृष्टे आदित्यलोके विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत। अनेन यजमानस्य विश्वैर्देवैः सालोक्यं प्रार्थ्यते। यदा अयं च त्वं च मिलित्वा इष्टापूर्ते श्रौतस्मार्तकर्मणी संसृजेथाम्। यद्वा हे विश्वेदेवाः, यूयं कृतेष्टापूर्तो निष्पापो यजमानश्च सधस्थे देवैः सह स्थितियोग्येऽस्मिन्नुत्तरस्मिन् सर्वोत्कृष्टे सूर्यलोके, अधि अधिकं चिरं सीदत तिष्ठतेत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिति। इममेतदग्निमाहोच्चैनं बुध्यस्व प्रति चैनं जागृहीतीष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं चेति यथैव यजुस्तथा बन्धुरस्मिन् सधस्थेऽध्युत्तरस्मिन्निति द्यौर्वा उत्तरꣳ सधस्थं विश्वे देवा यजमानश्च सीदतेति तद्विश्वैर्देवैः सह यजमानꣳ सादयति' (श० ८।६।३।२३)।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने प्रभो श्रीराम, त्वमस्मद्रक्षायामुद्बुद्धो भव, साधकं प्रति च जागृहि जागरूकं कुरु। अयं साधकस्त्वं चेष्टापूर्ते इष्टं हुतप्रहुतादिकं पूर्तं वापीकूपतडागादिनिर्माणकार्यं सम्पादयतम्। साधकः फलप्राप्त्यर्थम्, ईश्वरस्तु लोकसंग्रहार्थमिष्टापूर्ते सम्पादयतः। तेनास्मिन्नुत्तरस्मिन् सधस्थे देवानां सहस्थाने साकेते विश्वे देवाः सर्वे देवाः युवां च सर्वे यूयं सीदत। मर्यादापुरुषोत्तमो भगवान् स्वयं कर्माणि करोति मर्त्यशिक्षणार्थम्, 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः' (भा० पु० ५।१९।५)

इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनात् । अधिकारिसाधकांश्च भगवान् कर्माणि कारयति । तेन साधकैर्देवैश्च सहितः साकेते सर्वेभ्यः सालोक्यं ददाति ॥ ५४ ॥

येन वह॑सि स॒हस्रं॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् । तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम अपनी जिस सामर्थ्य से सहस्र दक्षिणा वाले यज्ञ को प्राप्त कराते हो, जिस सामर्थ्य से सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञ को प्राप्त कराते हो, उसी सामर्थ्य से हमारे इस छोटे से यज्ञ को भी देवताओं के पास स्वर्ग में ले जाओ। यज्ञ के स्वर्ग में जाने से हमारा भी वहाँ जाने का रास्ता खुल जायगा ॥ ५५ ॥

हे अग्ने, येन हेतुना व्यापारेण सामर्थ्येन वा सहस्रं सहस्रदक्षिणाकं यज्ञं त्वं वहसि प्रापयसि, येन च सर्ववेदसं सर्वं वेदो धनं दक्षिणा यस्य तं सर्वस्वदक्षिणाकं यज्ञं वहसि, तेन सामर्थ्येन नोऽस्माकमिमं यज्ञं देवेषु गन्तवे देवान् प्रति गन्तुं स्वः स्वर्गं नय प्रापय । गमेस्तमर्थे तवेप्रत्ययः । यज्ञे स्वर्गं गतेऽस्माकमपि तत्र गमनं स्यात्, 'सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति तदनूची दक्षिणा यां ददाति सैति दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः' (श० १।९।३।१) इति श्रुतेः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'येन वहसि सहस्रम् । येनाग्ने सर्ववेदसमित्येतद्वास्य प्रतिज्ञाततमं धाम येन सहस्रं वहति येन सर्ववेदसं तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तव इति तेन न इमं यज्ञं नय स्वर्गं लोकं देवेषु गन्तव इत्येतदयं ते योनिर्ऋत्विय इति तस्योक्तो बन्धुरष्टाविंशिका उपदधाति तस्यो एवोक्तः' (श० ८।६।३।२४) ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, येन प्रभावेण । शेषं पूर्ववत् । अग्नेरप्यन्तर्यामिप्रेरितस्यैव तत्तत्कार्यकरणत्वमिति तत्कार्यमपि पारमेश्वरमेव कर्मेति मन्तव्यम् ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं तेनेह स्वर्गन्तवे येन सहस्रं वहसि, येन सर्ववेदसं वहसि, तेनेमं यज्ञं नोऽस्मांश्च नय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्ववेदसं सर्ववेदैस्वतं कर्मेति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्, सर्ववेदसाभिधाने यज्ञविशेषेऽस्य शब्दस्य प्रसिद्धेश्च । स्वः सुखमित्यपि न सङ्गतम्, ब्राह्मणे स्वरिति पदस्य स्वर्गं लोकमिति व्याख्यानात् ॥ ५५ ॥

अ॒यं ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्वियो॒ यतो॑ जा॒तो अरो॑चथाः ।
तं जा॒नन्न॑ग्न॒ आ रो॒हाथा॑ नो॒ वर्ध॑या र॒यिम् ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, यह तुम्हारा सायंकाल और प्रातःकाल सम्बन्धी उत्पत्ति का स्थान है । यहाँ से प्रकट होकर तुम कर्मकाल में प्रज्वलित होते हो, गार्हपत्य अग्नि को जानते, अर्थात् उसे अपना अंश मानते हुए तुम उसमें प्रविष्ट हो जाओ और हमारे निमित्त यज्ञ के साधनभूत धन को चारों तरफ से बढ़ाओ ॥ ५६ ॥

उभयत्र (३।१४, १२।५२) पठितेयं कण्डिका । अत्र पुनः पठिता । तृतीये व्याख्यातपूर्वेषा ॥ ५६ ॥

तप॑श्च तप॒स्य॑श्च शैशि॒रावृ॒तू अ॒ग्नेर॑न्तःश्ले॒षो॑ऽसि॒ कल्पे॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्ता॒माप॒ ओष॑धयः॒ कल्प॑न्ताम॒ग्नयः॒ पृथ॒ङ्मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ताः । ये अ॒ग्नयः॒ सम॑नसोऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी इ॒मे । शै॒शि॒रावृ॒तू अ॑भि॒कल्प॑माना॒ इन्द्र॑मिव दे॒वा अ॑भि॒संवि॑शन्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—माघ और फाल्गुन मास शिशिर ऋतु के अवयव हैं, हे ऋतुरूप दोनों इष्टकाओं, तुम चीयमान अग्नि के अन्तर में स्थिरता और दृढ़ता के लिये लगाई गई हो, मुझ यजमान के उत्कर्ष के निमित्त यह द्युलोक और भूलोक मेरे योग्य उपकार की कल्पना करें, जल और औषधि हमारा वर्चस्व स्थापित करें। समान व्रत और अनेक नाम वाली अग्नि स्वयमातृण्णा आदि इष्टकाओं में उत्कर्ष का आधान करें। यह द्यावापृथिवी के मध्य में वर्तमान एक मन वाली अग्नियाँ शिशिर ऋतु सम्बन्धी कार्य का उसी प्रकार सम्पादन करें, जैसे देवता इन्द्र की परिचर्या कर उसको प्रसन्न करते हैं। हे इष्टके, उस प्रसिद्ध अंगिरा ऋषि के समान स्थिर होकर तुम यहाँ रहो ॥ ५७ ॥

एवं पुनश्चित्युपस्थानमुक्त्वा पञ्चमचितिशेषभूतेष्टकोपधाने मन्त्रा उच्यन्ते—तपश्चेति। 'ऋतव्ये तपश्च तपस्यश्चेति' (का० श्रौ० १७।१२।२३)। प्राग्लक्षणे अनूकमभित उदङ्मुख ऋतव्ये द्वे पद्येष्टके उपदध्यादिति सूत्रार्थः। ऋतुदेवत्यं यजुः। उत्कृतिश्छन्दः। तपो माघः, तपस्यः फाल्गुनः। शैशिरौ ऋतू शिशिरर्तोरवयवौ। शिष्टं त्रयोदशेऽध्याये (१३।२५) व्याख्यातम् ॥ ५७ ॥

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ। सूर्यस्तेऽधिपतिस्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके, वायुरूप विश्वकर्मा ज्योतिष्मती स्वरूप तुमको द्युलोक के ऊपर स्थापित करें। सूर्य तुम्हारा स्वामी है ॥ ५८ ॥

'विश्वज्योतिषं परमेष्ठी त्वेति' (का० श्रौ० १७।१२।२४)। यजमानकृतां प्राग्लक्षणां पद्यां बिश्वज्योतिषं तृतीयोपहिताया विश्वज्योतिष उपरि उपदध्यादिति सूत्रार्थः। सूर्यदेवत्यं यजुः। शक्वरीच्छन्दः। हे इष्टके, परमेष्ठी त्वां दिवः पृष्ठे उपरि सादयतु। सूर्यस्ते तवाधिपतिः पालकः। अन्यत् चतुर्दशेऽध्याये (१४।१४) व्याख्यातम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'परमेष्ठी त्वा सादयत्विति। परमेष्ठी ह्येतां पञ्चमीं चितिमपश्यद्दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीमिति दिवो ह्यसौ पृष्ठे ज्योतिष्मानादित्यः' (श० ८।७।२।२१) ॥ ५८ ॥

लोकम्पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम्।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके, तुम गार्हपत्य चयन स्थान में पूर्व इष्टकाओं से अनाक्रान्त होकर इस स्थान को पूर्ण करो और दृढ़तापूर्वक यहाँ स्थित हो जाओ। इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति देवता ने इस स्थान पर तुमको स्थापित किया है ॥ ५९ ॥

'दक्षिणाꣳसात् प्रत्यगरत्निमात्रादधि लोकम्पृणाः पूर्ववत्' (का० श्रौ० १७।१२।२५)। आत्मनो दक्षिणादाग्नेयकोणादपरस्यां दिश्यरत्निमात्रादधिपद्या लोकद्वयं परित्यज्य तृतीयलोकादारभ्य प्रथमचितिवल्लोकम्पृणा पदध्यादिति सूत्रार्थः। इमां कण्डिकामारभ्य तिस्रोऽपि कण्डिका द्वादशेऽध्याये (१२।५४-५६) व्याख्याताः ॥ ५९ ॥

ता अस्य सूददोहसः सोमᳪ श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्वारोचने दिवः ॥ ६० ॥

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमᳪ रथीनां वाजानाᳪ सत्पतिं पतिम् ॥ ६१ ॥

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् यदा महः संवरणाद् व्यस्थात् ।
आदस्य वातो अनुवाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक सम्बन्धी अनेक प्रकार के जल और अन्न से संयुक्त वे प्रसिद्ध जलदेवता संवत्सर के तीन सवनों के मध्य में इस यज्ञ सम्बन्धी सोम को सम्यक् प्रकार से परिपक्व करते हैं ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण ऋक्, यजुः और सामवेद रूपी स्तुतियाँ समुद्र के समान व्यापक, सब रथियों के मध्य में अत्यन्त पराक्रमी, अन्न के पति, निज धर्म में रहने वालों के पालक इन्द्र के बल को बढ़ाती हैं ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—जिस समय बड़े अरणि काष्ठ से अग्नि प्रकाशित होती है, तब उसी प्रकार शब्द करती है, जैसे कि घोड़ा भोजन की इच्छा रहने पर घास के लिये हिनहिनाता है। अग्नि के प्रज्वलित होने के उपरान्त उसको बढ़ाने वाला वायु अग्नि की ज्वाला को देख कर बहन करता है। इसके उपरान्त हे अग्ने, उस समय तुम्हारा यह गमन कृष्ण वर्ण का होता है ॥ ६२ ॥

'प्रच्छाद्य पुरीषेण विकर्णी स्वयमातृण्णे शर्करे सᳪस्पृष्टे छिद्रे प्रोथदश्व इत्युत्तरां विकर्णीम्' (का० श्रौ० १७।१२।२६)। पञ्चमीं चितिं पुरीषेण पूर्ववत् प्रच्छाद्य शर्करामय्यौ परस्परसंलग्ने सच्छिद्रे विकर्णी स्वयमातृण्णासंज्ञके द्वे इष्टके दक्षिणोत्तरे उदङ्मुख उपदध्यात्, तयोर्मध्ये उत्तरदिश्यनूकरेखामध्ये प्रोथदश्व इति विकर्णीमिष्टकामुपदध्यादिति सूत्रार्थः। वशिष्ठदृष्टा आग्नेयी त्रिष्टुप्। अत्र मथ्यमानोऽग्निरुच्यते। यदा यस्मिन् काले महो महतः, विभक्तिव्यत्ययः, संवरणात् संव्रियतेऽग्निरस्मिन्निति संवरणमरणिकाष्ठम्, तस्मात्। व्यस्थाद् वितिष्ठते प्रकाशते तदा प्रोथत् प्रोथति शब्दायत इत्युव्वटाचार्यः। 'प्रोथति सूदति अश्व इवायमग्निः' इति भट्टभास्करः। अयमेव—'अप प्रोथ दुन्दुभे दुश्छुनान्' (वा० सं २९।५६) दुरववलिप्तान्, उपसर्गान्तरविकारः 'प्रोथृ पर्याप्तिगतौ' इत्याह। क्षरणे तु अपप्रोथनं हुङ्करणमिति। एवं प्रोथतेः शब्दसूदन हुङ्काराद्यर्थाः पुराणैः शिष्टैः प्रतिपादिताः। प्रोथतीत्यत्र 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति तिप इकारलोपः। तत्रैव दृष्टान्तः—अश्वो न अश्व इव। यवसे घासे विषयभूते अविष्यन् यवसं भक्षयिष्यन् अश्वो यथा प्रोथति तद्वत्। अस्य वह्निज्वलनशब्दस्य आद् अनन्तरं वातो वायुरस्याग्नेरनुवात्यग्निमनुलक्ष्य प्रसरति, वाय्वग्न्योः परस्परं सख्यादिति भावः। कीदृशो वायुः ? शोचिः शोचयति ज्वलयतीति शोचिः, अग्नेः सन्दीपनः। शोचिरिति निघण्टौ (१।१७।६) ज्वलन्नामसु पठितम्। यद्वा अस्याग्नेः शोचिर्ज्वालामनुलक्ष्य वातो वाति। अधेति निपातोऽथार्थः। अथ वातेनाग्नौ प्रज्वलिते सत्येतस्याग्नेर्व्रजनं व्रजत्यत्रेति गमनस्थानम्, कृष्णमस्ति श्यामं भवति। अविष्यन्निति 'अत्तिकर्मसु' (निघ० २।८।६) पठितम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपदधाति । वायुर्वै विकर्णी द्यौरुत्तमा स्वयमातृण्णा वायुं च तद्दिवं चोपदधात्युत्तमे उपदधात्युत्तमे हि वायुश्च द्यौश्च सꣳ स्पृष्टे सꣳ स्पृष्टे हि वायुश्च द्यौश्च पूर्वां विकर्णीमुपदधात्यर्वाचीनं तद्दिवो वायुं दधाति तस्मादेषोऽर्वाचीनमेव वातः पवते' (श० ८।७।३।९) । विष्णोः स्थानाकाराश्छिद्राः शर्कराः, स्वयमातृण्णाः स्वयंछिद्राः शर्कराः, तयोः पुरीषस्योपधानं त्रयोदशभिः कण्डिकाभिः प्रपञ्च्यते । 'यद्वेव विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपदधाति । आयुर्वै विकर्णी प्राणः स्वयमातृण्णाऽऽयुश्च तत्प्राणं चोपदधात्युत्तमे उपदधात्युत्तमे ह्यायुश्च प्राणश्च सꣳ स्पृष्टे सꣳ स्पृष्टे ह्यायुश्च प्राणश्च पूर्वामुत्तरां विकर्णीमुपदधात्यायुषा तत्प्राणमुभयतः परिगृह्णाति' (श० ८।७।३।११) । 'प्रोथदश्वो न यवसे । अविष्यन् यदा महः संवरणाद् व्यस्थाद् आदस्य वातो अनुवाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्तीति यदा वा एतस्य वातोऽनुवाति शोचिरथैतस्य व्रजनं कृष्णं भवति' (श० ८।७।३।१२) । प्रसन्ने कण्डिके ।

अध्यात्मपक्षे—अयमग्निः परमेश्वरः प्रोथत् प्रोथति निःश्वासेन वेदं प्रकटयन् शब्दायते । कथमिव ? यथा अश्वो यवसे निमित्तेऽविष्यन् ग्रसिष्यन् शब्दायते तद्वत् । यदा महतः संवरणान्महतो मायामयादावरणाद् व्यस्थाद् व्युत्तिष्ठते, आवरणमपसार्याभिव्यज्यते श्रीरामश्रीकृष्णादिरूपेण, आद् अथ अनन्तरमेव वातो वायुजो हनुमान्, 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० ९।४६।४) इतिवदत्र कार्ये कारणशब्दप्रयोगः, तमनुलक्ष्य वाति तमनुगच्छति । कीदृशो वातः ? शोचिः सन्दीपनः, तन्महिम्नः प्रख्यापकः । अथ ते तस्याग्नेर्व्रजनं प्राप्तिः कृष्णं सदानन्दमभिभवति । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥' इति हि ब्रह्मवैवर्तपुराणवचनम् ।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, भवान् यवसेऽश्वो न प्रजाः प्रोथत् पर्याप्नुयात्, यदा महतः संवरणादाच्छादनादविष्यन् व्यवस्थाद् वितिष्ठेत्, आद् अस्य ते तव व्रजनं कृष्णं शोचिरस्ति, अथ स्मास्य तव वातोऽनुवाति' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । प्रजापदाध्याहारोऽपि निर्मूल एव । वातपदं भृत्यपरमित्यपि चिन्तनीयम् । व्रजनं कृष्णं शोचिरप्यप्रसिद्धमेव । तस्मात् सिद्धान्तविरुद्धमेतदुपेक्षणीयमेव ॥ ६०–६२ ॥

आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छायायाꣳ समुद्रस्य हृदये ।
रश्मीवतीं भास्वतीमा या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम् ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णे, जगत् का पालन करने वाले, वर्षा से जगत् को आर्द्र करने वाले, आयु नाम से प्रसिद्ध आदित्य देवता के आश्रय रूप प्रधान हृदय स्थान में बहुत किरणों से प्रकाशमान तुमको स्थापित करता हूँ । तुम द्युलोक को प्रकाशित करती हो, भूलोक को प्रकाशित करती हो और विस्तीर्ण अन्तरिक्ष लोक को भी प्रकाशित करती हो ॥ ६३ ॥

'आयोष्ट्वेति स्वयमातृण्णाम्' (का० श्रौ० १७।१२।२६ । आयोरिति कण्डिकाद्वयेन विकर्णीदक्षिणां स्वयमातृण्णामुपदध्यादिति सूत्रार्थः । आयोः परमेष्ठीति द्वे यजुषी स्वयमातृण्णादेवत्ये । आद्यं ब्राह्मी उष्णिक्, द्वितीयम् आकृतिः । हे स्वयमातृण्णे, या त्वं द्यां द्युलोकं पृथिवीं भूलोकम्, उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमन्तरिक्षलोकम्, आभासि आभासयसि प्रकाशयसि, तां त्वाम्, आयोर् एति निरन्तरं गच्छतीत्यायुरादित्यः, तस्य । अयनस्य वा । कीदृशस्य आयोः ? अवतः अवनस्य जगत्पालयितुः, दीप्यमानस्य वा । सदने अवस्थाने सादयामि । पुनः कीदृशस्य ? समुद्रस्य । सम्यग् उनत्ति आर्द्रीकरोतीति समुद्रस्तस्य । आदित्यो हि वृष्ट्या जगदार्द्रीकुर्वन् समुद्र

उच्यते। 'उन्दी क्लेदने'। कथंभूते सदने ? छायायां आश्रये हृदये प्रधानदेशे। कीदृशीं त्वाम् ? रश्मीवतीं किरणवतीम्। रश्मिपदस्य संहितायां दीर्घः। पुनः कीदृशीम् ? भास्वतीं बहु शोभमानाम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ स्वयमातृण्णामुपदधाति। आयोष्ट्वा सदने सादयामीत्येष वा आयुस्तस्यै-तत्सदनमवत इत्येष हीद७ँ सर्वमवति छायायामित्येतस्य हीद७ँ सर्वं छायाया७ँ समुद्रस्य हृदय इति समुद्रस्य ह्येतद् हृदय७ँ रश्मीवतीं भास्वतीमिति रश्मीवती हि द्यौर्भास्वत्या या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षमित्येव७ँ ह्येष इमाँल्लोकानाभाति' (श० ८।७।३।१३)। अनेन ब्राह्मणेन आदित्य एवायुरिति स्पष्टमुक्तम्।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रज्ञे, आयोर् एति निरन्तरं गच्छतीत्यायुर् आदित्यः, तस्य। आदित्यवत् स्वप्रकाशस्य परमात्मनोऽवतः सर्वपालकस्य समुद्रस्य समुद्रवदगाधस्य गम्भीरस्य हृदये प्रधानभूते छायायामाश्रये त्वां सादयामि स्थापयामि। कीदृशीं त्वाम् ? रश्मीवतीं विविधवृत्तिरश्मियुक्ताम्, भास्वतीं दीप्तिमतीम्। त्वं कीदृशी ? तत्राह—या त्वं द्यां पृथिवीम् उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् आभासि प्रकाशयसि, तादृशीं त्वां सादयामीति।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं पृथिवीमन्तरिक्षम् उरु आभासि, तां रश्मीवतीं प्रशस्तविद्याप्रकाशयुक्ताम्, भास्वतीं त्वामायोः सदनेऽवतश्छायायां समुद्रस्य हृदयेऽहमासादयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रियः साधारण्या द्युपृथिव्यादिप्रकाशकत्वानुपपत्तेः। आयोरित्यस्य न्यायानुसारिण इत्यर्थोऽपि निर्मूलः, गत्यर्थस्य धातोरननुसारित्वात् ॥ ६३ ॥

प॒र॒मे॒ष्ठी त्वा॑ सादयतु दि॒वस्पृ॒ष्ठे व्यच॑स्वतीं॒ प्रथ॑स्वतीं॒ दिवं॑ यच्छ॒ दिवं॑ दृ७ँह॒ दिवं॒ मा हि॑७ँसीः। विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नायो॑दा॒नाय॑ प्रति॒ष्ठायै॑ च॒रित्रा॑य। सूर्य॑स्त्वा॒भिपा॑तु म॒ह्या स्व॒स्त्या छ॒र्दिषा॒ शन्त॑मेन॒ तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णे, परमेष्ठी नामक प्रजापति तुम्हें अतिविस्तार युक्त द्युलोक में स्थापित करें। तुम यजमान को स्वर्ग में ले जाओ और स्थिर रूप से वहाँ बैठा दो, जिससे कि वह वहाँ से च्युत न हो। सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण, अपान, व्यान, उदान की वृत्तियों के लाभ के लिये, अर्थात् वायुबल की दृढ़ता के लिये, स्वगृह की प्रतिष्ठा और शास्त्रानुसार आचरण करने के निमित्त द्युलोक को दृढ़ करो। सूर्य देवता योगक्षेम की सम्पत्ति से, शुभकारी विशेष तेज से तुम्हारी रक्षा करें। तुम्हारे जो अधिष्ठाता देवता हैं, उन देवताओं से अनुगृहीत हुई तुम अंगिरा ऋषि के समान निश्चल दृढ़ बनो ॥ ६४ ॥

इयं कण्डिका चतुर्दशेऽध्याये (१४।१२) व्याख्याता। अंशतोऽत्रापि (१५।५८) स्थले। अत्र ब्राह्मणम्—'परमेष्ठी त्वा सादयत्विति। परमेष्ठी ह्येतां पञ्चमीं चितिमपश्यत्' (श० ८।७।३।१४)। 'यद्वेव परमेष्ठिनोपदधाति। प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तस्य परमेष्ठी शिर आदायोत्क्रम्यातिष्ठत्' (श० ८।७।३।१५)। 'तमब्रवीत्। उप मेहि प्रति म एतद्धेहि येन मे त्वमुदक्रमीरिति किं मे ततो भविष्यतीति त्वद्देवत्यमेव म एतदात्मनो भविष्यतीति तथेति तदस्मिन्नेतत् परमेष्ठी प्रत्यदधात्' (श० ८।७।३।१६)। 'तद्यैषोत्तमा स्वयमातृण्णा। एतदस्य तदात्मनस्तद्यदेतामत्रोपदधाति यदेवास्यैषात्मनस्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मादेतामत्रोपदधाति' (श० ८।७।३।१७) ॥ ६४ ॥

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमा स सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ॥६५॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदवाजसनेयिमाध्यन्दिनसंहितायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, तुम सहस्र इष्टकाओं के प्रमाण के तुल्य हो, तुम सहस्र इष्टकाओं की प्रतिनिधि हो, तुम सहस्र इष्टकाओं की तुला हो, तुम सहस्र इष्टकाओं के उपयुक्त हो। अनन्त फल प्राप्ति के निमित्त मैं तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ ॥ ६५ ॥

'तिष्ठन्नग्निं प्रोक्षति हिरण्यशकलसहस्रेण शते द्वे द्वे प्रकिरति सहस्रस्येति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।१२।२६)। इष्टकाचितं सपक्ष-पुच्छमग्निं पश्चादुत्तरपूर्वदक्षिणपश्चिमेष्वेकस्मिन्नुदकपूर्णे पात्रे हिरण्यशकलानां सहस्रं प्रक्षिप्य तैः प्रोक्षेत्। तत्राग्नेः पश्चात् प्राङ्मुख उत्तरतो दक्षिणामुखः, पुरस्तात्प्रत्यङ्मुखः दक्षिणत उदङ्मुखः, पुनः पश्चात् प्राङ्मुखस्तिष्ठन्निति सूत्रार्थः। तत्र शकलसहस्रमध्ये द्वे द्वे शते सहस्रस्येत्येकैकेन मन्त्रेण प्रकिरेत्। पञ्च आग्नेयानि यजूंषि। हे अग्ने, त्वं सहस्रस्येष्टकानां प्रमा प्रमाणमसि। सहस्रस्य प्रतिमा प्रतिमानं प्रतिनिधिरसि। सहस्रस्य उन्मा उन्मानं तुलासि। साहस्रः सहस्रार्होऽसि। सहस्राय अनन्तफलाप्त्यै त्वा त्वां प्रोक्षामीति शेषः। हे चित्याग्ने, पूर्वभागावस्थितस्य इष्टकासहस्रस्य प्रमा तुल्योऽसि, तथा दक्षिणभागावस्थितस्य इष्टकासहस्रस्य प्रतिमा तुल्योऽसि, तथा पश्चिमदिग्भागावस्थितस्य इष्टकासहस्रस्य उन्मा तुल्योऽसि। उत्तरस्यां दिशि साहस्रः सहस्रसम्बन्ध्यसि। तथा ऊर्ध्वायां दिशि सहस्रसंख्याकफलसिद्ध्ये त्वां प्रोक्षामि।

तत्र ब्राह्मणम्—अथैनꣳ हिरण्यशकलैः प्रोक्षति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतस्तस्मिन् देवा एतदमृतꣳ रूपमुत्तममदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतदमृतꣳ रूपमुत्तमं दधाति' (श० ८।७।४।७)। 'यद्वेवैनꣳ हिरण्यशकलैः प्रोक्षति·····' (श० ८।७।४।८)। 'द्वाभ्यां द्वाभ्याꣳ शताभ्याम्·····' (श० ८।७।४।९)। 'पश्चादग्रे प्राङ् तिष्ठन्। अथोत्तरतो दक्षिणाऽथ पुरस्तात् प्रत्यङ्ङथ जघनेन परीत्य दक्षिणत उदङ् तिष्ठंस्तद्दक्षिणावृत् तद्धि देवत्राऽथानुपरीत्य पश्चात् प्राङ्तिष्ठंस्तथो हास्यैतत् प्रागेव कर्म कृतं भवति' (श० ८।७।४।१०)। 'सहस्रस्य प्रमासि। सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्माऽसि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वेति सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वमसि सर्वस्मै त्वेत्येतत्' (श० ८।७।४।११)। 'अथातश्चितिपुरीषाणामेव मीमाꣳसा। अयमेव लोकः प्रथमा चितिः पशवः पुरीषं यत्प्रथमां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयतीमं तल्लोकं पशुभिः प्रच्छादयति' (श० ८।७।४।१२)। 'अन्तरिक्षमेव द्वितीया चितिः। वयाꣳसि पुरीषं यद् द्वितीयां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयत्यन्तरिक्षं तद्वयोभिः प्रच्छादयति' (श० ८।७।४।१३)। 'द्यौरेव तृतीया चितिः। नक्षत्राणि पुरीषं यत् तृतीयां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयति दिवं तन्नक्षत्रैः प्रच्छादयति' (श० ८।७।४।१४)। 'यज्ञ एव चतुर्थी चितिः। दक्षिणाः पुरीषं यच्चतुर्थीं चितिं पुरीषेण प्रच्छादयति यज्ञं तद्दक्षिणाभिः प्रच्छादयति' (श० ८।७।४।१५)। 'यजमान एव पञ्चमी चितिः। प्रजा पुरीषं यत्पञ्चमीं चितिं पुरीषेण प्रच्छादयति यजमानं तत्प्रजया प्रच्छादयति' (श० ८।७।४।१६)। 'स्वर्ग एव लोकः षष्ठी चितिः। देवाः पुरीषं यत् षष्ठीं चितिं पुरीषेण प्रच्छादयति स्वर्गं तल्लोकं देवैः प्रच्छादयति' (श० ८।७।४।१६)। 'अमृतमेव सप्तमी चितिः। तामुत्तमामुपदधात्यमृतं तदस्य सर्वस्योत्तमं दधाति तस्मादस्य सर्वस्यामृतमुत्तमं तस्माद्देवा अनन्तर्हितास्तस्मादु तेऽमृता इत्यधिदेवतम्' (श० ८।७।४।१७)।

'अथाध्यात्मम्। यैवेयं प्रतिष्ठा यश्चायमवाङ् प्राणस्तत्प्रथमा चितिर्माꣳसं पुरीषं यत्प्रथमां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयत्येतदस्य तदात्मनो माꣳसैः संच्छादयतीष्टका उपधायास्थीष्टका अस्थि तन्माꣳसैः संच्छादयति

नावस्तात् संच्छादयति तस्मादिमे प्राणा अवस्तादसंच्छन्ना उपरिष्टात् प्रच्छादयत्येतदस्य तदात्मन उपरिष्टान्मा७ँसैः संच्छादयति तस्मादस्यैतदात्मन उपरिष्टान्मा७ँसैः संच्छन्नं नावकाशते' (श० ८।७।४।१९)। 'यदूर्ध्वं प्रतिष्ठाया अवाचीनं मध्यात्। तद् द्वितीया चितिर्मा७ँसं पुरीषं यद् द्वितीयां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयत्येतदस्य तदात्मनो मा७ँसैः संच्छादयतीष्टका उपधायास्थीष्टका अस्थि तन्मा७ँसैः संच्छादयति पुरीष उपदधाति पुरीषेण प्रच्छादयत्येतदस्य तदात्मन उभयतो मा७ँसैः संच्छादयति तस्मादस्यैतदात्मन उभयतो मा७ँसैः संच्छन्नं नावकाशते' (श० ८।७।४।२०)। 'मध्यमेव तृतीया चितिः। यदूर्ध्वं मध्यादवाचीनं ग्रीवाभ्यस्तच्चतुर्थी चितिर्ग्रीवा एव पञ्चमी चितिः शिर एव षष्ठी चितिः प्राणा एव सप्तमी चितिस्तामुत्तमामुपदधाति प्राणांस्तदस्य सर्वस्योत्तमान् दधाति तस्मादस्य सर्वस्य प्राणा उत्तमाः पुरीष उपदधाति मा७ँसं वै पुरीषं मा७ँसेन तत्प्राणान् प्रतिष्ठापयति नोपरिष्टात् प्रच्छादयति तस्मादिमे प्राणा उपरिष्टादसंच्छन्नाः' (श० ८।७।४।२१)। एतावता सन्दर्भेण श्रुतौ सप्तानां चितीनां क्रमाद् भूम्यन्तरिक्षद्युयज्ञयजमानस्वर्गामृतरूपत्वं प्रतिपाद्य तासां क्रमात् पशुवयोनक्षत्रदक्षिणाप्रजादेवामृतात्मना पुरीषेण प्रच्छादनमभिधाय तद्द्वाराधिदेवतरूपेण प्रशंसनम्। पुनस्तासामेव चितीनां सोपपत्तिकमध्यात्मरूपेण प्रशंसनं वर्णितम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं सहस्रस्य अनन्तस्य सर्वस्य प्रमा प्रमाणमसि। सर्वस्य प्रतिमा प्रतिनिधिरसि। सर्वस्य उन्मा तुलासि। साहस्रः सर्वार्होऽसि। सर्वप्राप्त्यै त्वामहमाश्रये।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, विदुषि वा, यतस्त्वं सहस्रस्य प्रमेवासि, सहस्रस्य प्रतिमेवासि, सहस्रस्य उन्मेवासि, तस्मात् सहस्राय त्वां परमेष्ठी सत्ये व्यवहारे सादयतु' इति, तदप्यसङ्गतम्, मनुष्यस्य असंख्यजगत्प्रमाणत्वासम्भवात्, गौणार्थाश्रयणस्य निर्मूलत्वाच्च। गौणार्थोऽपि न मनुष्ये सङ्गच्छते, प्रमादितुल्यत्वानिरूपणात् ॥ ६५ ॥

इति वेदार्थपारिजातभाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

१६—२० अध्यायात्मको भागः

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्

कलकत्ता * वृन्दावनम्

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

[१६-२० अध्यायात्मको भागः]

भाष्यप्रणेतारः
अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

भाषानुवादकः
डॉ० प० गजाननशास्त्री मुसलगांवकरः
मीमांसा-वेदान्त-साहित्याचार्यः, एम० ए०, पी०-एच० डी०

सम्पादकः
प० व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचरः

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्
कलकत्ता ▫ वृन्दावन

श्रीवृन्दावनम् प्रथमसंस्करणम् संवत् २०४८

प्रकाशक—
श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्
कलकत्ता ० वृन्दावन

□

मूल्य : ११०.०० रूप्यकाणि

□

अस्य ग्रन्थस्य सर्वेऽधिकारा राजकीयनियमानुसारेण सुरक्षिताः

□

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

१. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
११३ पार्क स्ट्रीट, पोद्दार पोइन्ट, कलकत्ता—७०००१६

२. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५/१८ नारद घाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

४. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पैट्रो केमिकल्स लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेन्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

५. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
ई० ४/२४, ईस्ट पटेल नगर
दिल्ली—८

मुद्रक—
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी

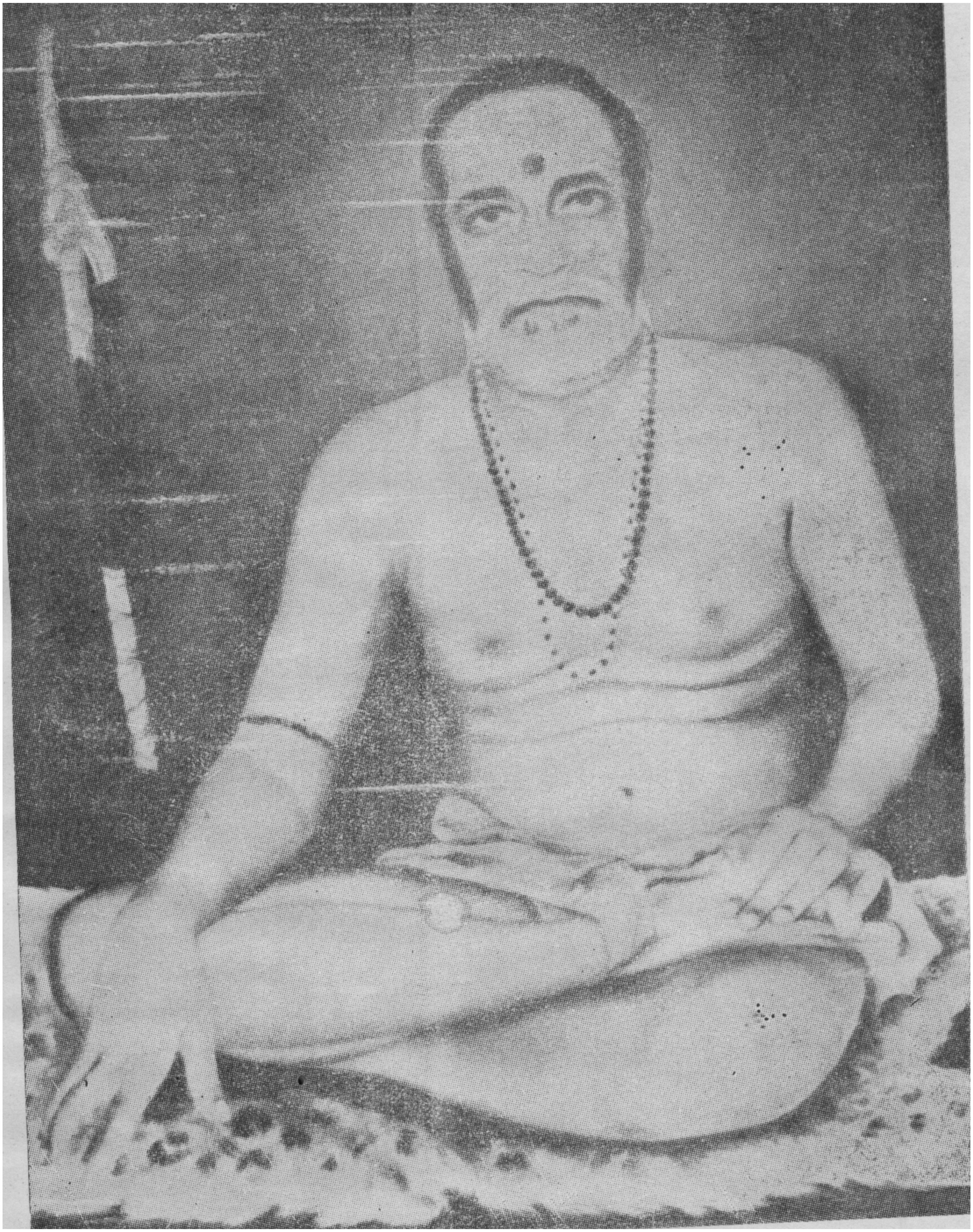

परब्रह्मस्वरूप

धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

पंचाध्यायी(१६-२०)-भाष्यनिष्कर्ष

११-१५ अध्याय के भाष्यनिष्कर्ष के प्रारम्भ में भाष्यरचना की पद्धति पर प्रकाश डालते हुए बताया गया था कि अग्निचयन के मन्त्र इस माध्यन्दिन संहिता के ११-१८ अध्याय पर्यन्त वर्णित हैं। अग्निचयन सम्बन्धी उस भाग में ११-१५ अध्यायों में वर्णित उख्यसंभरण आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया था। शेष तीन अध्यायों के अग्निचयन संबन्धी विषयों को तथा १९-२१ अध्यायों के सौत्रामणी याग सम्बन्धी विषयों में से केवल १९-२० अध्यायों के विषयों को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है। साथ ही शतपथ ब्राह्मण के, मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ के और स्वामी दयानन्द के भाष्य के अवधेय अंशों को भी दिखाया जा रहा है।

षोडश अध्याय : शतरुद्रिय होम

प्रस्तुत अध्याय में शतरुद्रहोम सम्बन्धी मन्त्रों का वर्णन है। सुवर्ण के टुकड़ों से अग्नि का प्रोक्षण करने के उपरान्त शतरुद्र सम्बन्धी इस यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है। बुभुक्षित अग्नि रुद्र का स्वरूप धारण कर लेती है। उसकी शान्ति के लिये ये आहुतियां दी जाती हैं। ये आहुतियां आहवनीयाग्नि में नहीं दी जातीं, किन्तु चित्याग्नि के उत्तर पक्ष के नैर्ऋत्य कोण में पहले से खोदी गई जंघाप्रमाण परिश्रित् भूमि में यह शतरुद्रिय होम किया जाता है। यहाँ जर्तिल-मिश्रित गवेधुक के सत्तू को उत्तराभिमुख अध्वर्यु जुहूस्थानीय दाहिने हाथ में लेकर बायें हाथ में स्थित अर्ककाष्ठ से उसकी परिश्रित् स्थान में आहुति देता है। कुछ आचार्यों का मानना है कि जर्तिलमिश्रित गवेधुक-सक्तु के स्थान पर अजाक्षीर की आहुति दी जाती है। [1]वन में पैदा हुए तिल जर्तिल और गेहूँ गवेधुक कहलाते हैं।

'नमस्ते' आदि सोलह ऋचाओं का पहला अनुवाक और बाद के पाँच-पाँच ऋचाओं के अन्य दो अनुवाक, इन तीन अनुवाकों की २६ कण्डिकाओं से जानुप्रमाण परिश्रित् स्थान में आहुतियां दी जाती हैं। इसके बाद पाँच-पाँच कण्डिकाओं के चतुर्थ और पंचम अनुवाकों से नाभिप्रमाण परिश्रित् स्थान में स्वाहाकार किया जाता है। इस अध्याय की अन्तिम तीन कण्डिकाएँ प्रत्यवरोह संज्ञक हैं। इनसे पहले की ३७-६३ कण्डिकाओं से मुखपरिमाण परिश्रित्स्थान में आहुतियां दी जाती हैं। 'नमोऽस्तु' (१६।६४-६६) इत्यादि तीन ऋचाओं से प्रतिलोम होम किया जाता है, अर्थात् पहले मन्त्र से मुखप्रमाण, दूसरे से नाभिप्रमाण और तीसरे मन्त्र से जानुप्रमाण परिश्रित्स्थान में होम सम्पन्न किया जाता है।

१७-४६ संख्या तक की सभी कण्डिकाएँ ''शेषे यजुःशब्दः'' इस मीमांसा सूत्र में वर्णित लक्षण के अनुसार यजुर्मन्त्र हैं। इनमें से 'नमो हिरण्यबाहवे' (१६।१७) से लेकर 'धनुष्कृद्भ्यश्च' (१६।४६) पर्यन्त कण्डिकाओं के २४० यजुर्मन्त्रों में इतनी ही संख्या के रुद्र देव..ा हैं। ४६वीं कण्डिका के शेष चार मन्त्रों के देवता अग्नि, वायु और सूर्य हैं। ये तीनों देवता रुद्र के हृदयस्थानीय हैं। यहाँ चार ही नमः शब्द आये हैं। इसलिये यहाँ इन तीन देवताओं के ये चार मन्त्र माने गये हैं। इन रुद्रों के मध्य में कुछ के उभयतः नमस्कार मन्त्र हैं, अर्थात् रुद्र के दो-दो नामों के पहले और बाद में भी नमः पद संयुक्त हैं। १७वीं कण्डिका से लेकर 'श्वपतिभ्यश्च' (१६।२८) पर्यन्त उभयतः नमस्कार मन्त्र हैं। इसके उपरान्त 'नमो भवाय च' (१६।२८) से लेकर 'प्रखिदते च' (१६।४६) पर्यन्त कण्डिकाओं में अन्यतरतः नमस्कार-मन्त्र हैं, अर्थात् यहाँ प्रत्येक दो यजुर्मन्त्रों के प्रारम्भ में नमः पद संयोजित है। इसके बाद 'नम इषुकृद्भ्यः' (१६।४६) इत्यादि कण्डिकाओं के शेष यजुर्मन्त्र उभयतः नमस्कार हैं। 'नमः सभाभ्यः' (१६।२४) इत्यादि कण्डिकाओं में जातसंज्ञक

---

१. ''जर्तिला आरण्यतिलाः। गवेधुका आरण्यगोधूमाः'' (भाष्य, पृ० १)।

रुद्र वर्णित हैं। इनमें से उभयतः नमस्कार वाले रुद्र अत्यन्त घोर, अत्यन्त अशान्त स्वभाव वाले हैं। अन्यतरतः नमस्कार वाले रुद्र अत्यन्त शान्त स्वभाव के हैं। जातसंज्ञक रुद्रों की स्थिति रुद्रलोक में मानी गई है। सर्वत्र रुद्राद्वैत सिद्धान्त की स्थापना के लिये यहाँ उनका वर्णन किया गया है।

'नम इषुमद्भ्यः' (१६।२२) इत्यादि छः मन्त्रों में प्रयुक्त 'वः' शब्द पूजार्थक है, युष्मदर्थक नहीं, क्योंकि यहाँ सम्बोधन विवक्षित नहीं है। 'नमो ह्रस्वाय' (१६।३०) इत्यादि मन्त्र स्वरूप, गति, वय (अवस्था), वर्ण (रंग) आदि के सूचक हैं। ४६वीं कण्डिका तक रुद्रों की तीन अशीतियां, अर्थात् कुल २४० रुद्रों के नाम पूरे हो जाते हैं। इनसे रुद्र की सर्वात्मकता व्यक्त होती है। इसी के साथ रुद्रों में प्रधानभूत रुद्रहृदयरूप अग्नि, वायु और सूर्यात्मक देवताओं का प्रतिपादन पूरा हो जाता है। ४७वीं से लेकर ५३वीं कण्डिका तक की ७ ऋचाओं में से प्रत्येक में एक-एक रुद्र देवता का माहात्म्य वर्णित है। इसके बाद के दस (१६।५४-६३) अवतानसंज्ञक अनुष्टुप् मन्त्रों के देवता अनेक रुद्र हैं। यहाँ पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पाताल आदि में स्थित रुद्रों को नमनपूर्वक स्वाहाकार समर्पित किया जाता है। अन्तिम तीन कण्डिकाओं (१६।६४-६६) में प्रत्यवरोह संज्ञक तीन यजुर्मन्त्रों का विधान है। इनसे तीनों लोकों में स्थित रुद्रों को विपरीत क्रम (द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवी) से आहुतियां दी जाती हैं। इस प्रकार यह शतरुद्रिय होमविधि समाप्त होती है। प्रस्तुत खण्ड में इस अध्याय के भाष्य का विस्तृत भाषानुवाद भी समाविष्ट है।

सप्तदश अध्याय : चित्याग्निपरिषेक

सर्वप्रथम यहाँ चित्याग्नि के परिषेक का विधान है। 'अग्नीत्' नामक ऋत्विक् सपक्षपुच्छात्मा स्थापित चित्याग्नि के दक्षिण पक्ष से जुड़े हुए आत्मभाग के नीचे पाषाण को स्थापित कर, जलकुम्भ से हाथ में जल लेकर उस पाषाण खण्ड से प्रारम्भ कर सपक्षपुच्छ चित्याग्नि को प्रदक्षिण क्रम से 'अश्मन्नूर्जम्' (१७।१) मन्त्र का उच्चारण करते हुए जलधारा से चारों तरफ से सींचता है। तदुपरान्त मन्त्र के अपर भाग का उच्चारण करता हुआ पाषाण पर कुम्भ को रखता है। वहाँ से पुनः कुम्भ को उठा कर पूर्ववत् दुबारा परिषेक करता है। इतना करने के उपरान्त अग्नीत् इस जलकुम्भ को यज्ञशाला से बाहर कर देता है और बिना पीछे देखे यज्ञशाला में आकर दक्षिणवेदि के मध्यभाग के पास ईशानाभिमुख खड़ा होकर चित्याग्नि के आत्मभाग के ऊपर अपने हाथों को पूरी तरह से फैला कर उसके मध्यभाग का स्पर्श करते हुए 'इमा मे' (१७।२-३) इत्यादि दो कण्डिकाओं का सस्वर पाठ करता है। इसके बाद वह मण्डूक, शैवाल और वेतसशाखा को एक बाँस में बाँधकर, उसे दाहिने हाथ से पकड़ कर, उस बाँस से आगे की सात ऋचाओं (१७।४-१०) का पाठ करते हुए अग्निक्षेत्र का कर्षण करता है। इसका क्रम यह है—प्रथम ऋचा से दक्षिण श्रोणि से दक्षिणांस पर्यन्त भाग का, द्वितीय से दक्षिण श्रोणि से उत्तर श्रोणि पर्यन्त भाग का, तृतीय से उत्तरश्रोणि से उत्तरांस पर्यन्त भाग का, चतुर्थ से उत्तरांस से लेकर दक्षिणांस पर्यन्त भाग का, पंचम से आत्मा के सम्मुख दक्षिण पक्ष का, षष्ठ से पुच्छ का तथा सप्तम से उत्तर पक्ष का कर्षण किया जाता है।

इसके उपरान्त अध्वर्यु सुवर्ण खण्ड सहित घृत से भरी स्रुवा को और दही, मधु, घृत के पात्र को कुशमुष्टि के साथ लेकर 'नमस्ते' (१७।११) इत्यादि मन्त्र का पाठ करता हुआ चित्याग्नि स्थल पर बैठता है, साथ ही ब्रह्मा और यजमान अग्नि के दक्षिण भाग में बैठते हैं। इसके बाद अध्वर्यु स्वयमातृण्णा इष्टका के ऊपर पंचगृहीत आज्य की 'नृषदे (१७।१२) इत्यादि कण्डिका के पाँच मन्त्रों से आज्य का व्याघारण तथा हिरण्यशकल को छोड़ कर पूर्वगृहीत पाँच द्रव्यों की आहुतियाँ देता है। इनका क्रम इस प्रकार है—पहले नाभि के दक्षिण अंस में, तब उत्तर श्रोणि में, दक्षिण श्रोणि में, उत्तर अंस में और अन्तिम आहुति मध्य भाग में दो जाती है। [1]एक कोण से लेकर दूसरे कोण तक घृत की धारा का निरन्तर क्षारण

१. ''व्याघारणं नाम एकस्मात् कोणात् कोणान्तरं प्रति आज्यधाराक्षारणम्। तच्च व्याघारणं पञ्चगृहीतेनाज्येन क्रियते'' (भा०, पृ० ९३)।

ही आज्य का व्याघारण कहा जाता है। पंचगृहीत आज्य से इस क्रिया को पूरा किया जाता है। इसके उपरान्त अध्वर्यु पात्र में अवशिष्ट दही, मधु और घृत को कुशा से लेकर परिश्रित् के साथ सपक्षपुच्छ अग्नि का मध्य में और बाहर दो ऋचाओं (१७।१३-१४) से प्रोक्षण करता है। तब 'प्राणदा' (१७।१५) इत्यादि मन्त्र के पाठ के साथ चित्याग्नि स्थान से उत्तर जाता है।

वह प्रवर्ग्य के उत्सादन के बाद यज्ञशाला में आकर पंचगृहीत आज्य की शालाद्वार पर 'अग्निस्तिग्मेन (१७।१६) मन्त्र से आहुति देता है। इसके उपरान्त षोडशगृहीत आज्य को जुहू में भर कर उसके आधे भाग की 'य इमा' (१७।१७-२४) इत्यादि मन्त्रों में शालाद्वार्य अग्नि में ही आहुति दी जाती है। षोडशगृहीत आज्य के बचे आधे भाग की 'चक्षुषः पिता' (१७।२५-३२) इत्यादि आठ मन्त्रों से आहुति दी जाती है। इसके उपरान्त अग्निचयन के इस प्रकरण में चित्याग्नि के प्रति आहवनीय अग्नि का प्रणयन करते समय अध्वर्यु से संप्रेषित ब्रह्मा दक्षिण दिशा में चलता हुआ 'आशुः शिशानः' (१७।३३-४४) इत्यादि अप्रतिरथ सूक्त की बारह ऋचाओं का पाठ करता है। अन्य शाखाओं में बताया गया है कि सभी क्रतुओं में, चाहे वे साग्निक हों अथवा अनग्निक, अप्रतिरथ सूक्त की इन बारह ऋचाओं का पाठ करता हुआ अध्वर्यु भी ब्रह्मा का अनुवर्तन करे।

४५ से ४८ संख्या की चार ऋचाओं का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र में नहीं बताया गया। ४९वें मन्त्र में प्रदर्शित विनियोग की पद्धति से इनका लैंगिक विनियोग महाव्रत याग में अध्वर्यु द्वारा योद्धा को इषु (बाण)[1] प्रदान करने में तथा योद्धा एवं मरुद्देवता की स्तुति में किया जा सकता है। 'मर्माणि ते' (१७।४९) मन्त्र से महाव्रत याग में अध्वर्यु क्षत्रिय योद्धा को पहनने के लिये कवच प्रदान करता है। तब उदुम्बर (गूलर) की गीली, रातभर घृत में डुबाई गई, प्रादेश-प्रमाण तीन समिधाओं की 'उदेनम्' (१७।५०-५२) इत्यादि तीन ऋचाओं से शालाद्वार्य पर आहुति दी जाती है। इसके बाद अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है। 'उदु त्वा'(१७।५३) मन्त्र को होता तीन बार पढ़ता है। तब अध्वर्यु प्रदीप्त काष्ठ को शालाद्वार्य से उठाता है और 'पञ्च दिशः' (१७।५४-५८) इत्यादि पाँच ऋचाओं का पाठ करते हुए ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और यजमान चित्य स्थान की ओर बढ़ते हैं। इन मन्त्रों का पाठ सभी को करना चाहिये, यह कर्काचार्य का मत है। हरिस्वामी के अनुसार केवल अध्वर्यु इनका पाठ करे।

इसके उपरान्त अध्वर्यु आग्नीध्र प्रदेश की दक्षिण दिशा में पृष्ठ्या[2] से संलग्न पृश्नि संज्ञक पाषाण को 'विमानः' (१७।५९-६०) इत्यादि दो ऋचाओं से रखता है। यहाँ इस पाषाण की आदित्य के रूप में स्तुति की जाती है। तदुपरान्त इस पाषाण को किसी गुप्त स्थान में छिपा कर 'इन्द्रं विश्वा' (१७।६१-६४) इत्यादि चार ऋचाओं का पाठ करते हुए सभी चयन-स्थान की ओर बढ़ते हैं और ऋत्विक्गण 'क्रमध्वम्' (१७।६५-६९) इत्यादि पांच ऋचाओं का उच्चारण करते हुए [3]तीर्थ मार्ग से चिति-स्थान पर चढ़ते हैं। यहाँ अध्वर्यु स्वयमातृण्णा इष्टका के स्थान से थोड़ा ऊपर कृष्ण वर्ण

१. इस प्रसंग में कात्यायनयज्ञपद्धतिविमर्श (पृ० ४०१) में बताया गया है कि गवामयन सत्र के अन्त में महाव्रत का अनुष्ठान किया जाता है। इसमें पृष्ठसंज्ञक स्तोत्र का उपाकरण सौ तार वाली 'बाण' नामक महावीणा के वादन से किया जाता है। वहाँ कात्यायन श्रौतसूत्र (१३।२।२५) और ताण्ड्य महाब्राह्मण के सायण भाष्य (५।६।१२) को भी उद्धृत किया गया है।

२. "तादृशसूत्रस्य आधारभूतत्वेनोपलक्षिता भूमिगता रेखा 'पृष्ठ्या' इति व्यवह्रियते" (श्रौतपदार्थनिर्वचन, पृ० ४)। इसका विशेष विवरण वहीं देखिये।

३. तीर्थ पद के अर्थ के लिये देखिये श्रौतपदार्थनिर्वचन—"आहवनीयायतनस्योत्तरतः प्रागग्रेषु दर्भेषु प्रणीता-प्रणयने प्रणीता नाम आप आसाद्यन्ते। तासां पश्चिमदेश उत्करस्य तु पूर्वदेशो विहारप्रवेशनिर्गमयोर्मार्गस्तीर्थ-संज्ञकः। प्रणीताऽभाववति कर्मणि आहवनीयोत्तरदेशे आसादितस्येध्मस्य पश्चिमभाग उत्करस्य पूर्वदेशस्तीर्थ-मित्युच्यते। चात्वालवत्सु कर्मसु चात्वालपश्चिमदेश उत्करपूर्वदेश एव तीर्थपदवाच्यः" (पृ० ११)।

की श्वेत वत्स वाली गाय के जुहूस्थानीय मृण्मय पात्र में भरे दूध से सींचते हुए इध्मस्थ अग्नि में 'नक्तोषासा' (१७।७०-७१) इत्यादि दो मन्त्रों से आहुति देता है। अध्वर्यु के ऐसा करते समय प्रतिप्रस्थाता प्रज्वलित काष्ठ को हाथ में लिये रहता है। यहाँ बिना मन्त्र का उच्चारण किये [1]सान्नाय्य धर्मों की प्रवृत्ति होती है। दोहनपात्र में दोहन से सम्बद्ध सारे संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं, क्योंकि यहाँ दोहनपात्र से जुहू का कार्य लिया जाता है।

इस प्रकार दुग्ध से सिंचित इस स्थान पर 'सुपर्णोऽसि' (१७।७२-७३) इत्यादि दो वषट्कारान्त मन्त्रों से अग्नि की स्थापना की जाती है। चित्याग्नि में उख्याग्नि के निधान के बाद अध्वर्यु उस अग्नि में तीन मन्त्रों से (१७।७४-७६) से तीन समिधाओं का आधान करता है। प्रथम मन्त्र से शमी की, द्वितीय से विकंकत की और तृतीय से औदुम्बरी समिधा स्थापित की जाती है। इनमें से तृतीय औदुम्बरी समिधा सकर्णक होनी चाहिये। 'कर्णक'[2] लकड़ी का एक प्रकार का रोग है, जिससे लकड़ी फट जाती है। इन तीन समिधाओं के आधान के बाद 'अग्ने त्वम्' (१७।७७-७८) इत्यादि दो ऋचाओं से घृत की दो आहुतियाँ तथा 'सप्त ते' (१७।७९) इत्यादि मन्त्र से पूर्णाहुति दी जाती है। घृत से भरो स्रुचा से जो आहुति दी जाती है, उसे पूर्णाहुति[3] कहते हैं। इसके बाद वैश्वानर पुरोडाश से याग कर हाथ से मारुत पुरोडाशों की 'शुक्रज्योतिश्च (१७।८०-८६) इत्यादि मन्त्रों से एक-एक आहुति दी जाती है, अथवा एक अतिविपुल (बहुत बड़ा) वैश्वानर पुरोडाश बनाकर उसी के ऊपर सभी मारुत पुरोडाशों की आहुति देनी चाहिये। अरण्य (वन) में पठनीय सप्तम मारुत पुरोडाशों की आहुति विमुख संज्ञक 'उग्रश्च' (१७।८६) मन्त्र से दी जाती है। तदुपरान्त 'इमं स्तनम्' (१७।८७-९९) इत्यादि अध्याय समाप्ति पर्यन्त १३ मन्त्रों का वाचन अध्वर्यु यजमान से कराता है अथवा इनका स्वयं पाठ करता है। यहाँ जप और वाचन का विकल्प है। तेरह ऋचाओं वाले इस अनुवाद से यज्ञ की अथवा वसोर्धारा में उपयुक्त होने वाले घृत की स्तुति की जाती है। ८९ वीं कण्डिका में अन्नाध्यास से घृत की और प्राणाध्यास से अग्नि की स्तुति की गई है। इसी अनुवाक में वाणी की स्तुति में विनियुक्त 'चत्वारि शृङ्गाः' इत्यादि मन्त्र भी पठित हैं। अन्तिम मन्त्र (१७।९९) में मन्त्रद्रष्टा ऋषि ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त सारे जगत् को आहुति का ही परिणाम मान कर अग्नि की स्तुति करता है।

अष्टादश अध्याय : वसोर्धारा एवं राष्ट्रभृत् आदि होम

इस अध्याय की प्रारम्भ की २९ कण्डिकाओं में वसोर्धारा नामक आहुति के मन्त्र उपदिष्ट हैं। यहाँ पहले यजमान घृत को संस्कृत करता है। फिर उदुम्बर वृक्ष की बहुत बड़ी स्रुवा से पाँच बार घृत भर कर अरण्यानूच्य पुरोडाश के ऊपर निरन्तर अविच्छिन्न धारा से वसोर्धारा संज्ञक आहुति देता है। घृत जब अग्नि तक पहुँच जाय, तब 'वाजश्च' इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण प्रारंभ करना चाहिये। प्रत्येक मन्त्र के अन्त में 'वेट् स्वाहा' पदों का संयोजन आवश्यक है। इन २९ कण्डिकाओं में कुल ४०१ यजुर्मन्त्र हैं और कामनाओं की संख्या ११५ है। यहाँ वर्णित कामनाओं की पूर्ति के लिये ये आहुतियाँ दी जाती हैं। इनका पूरा विवरण भाष्य (पृ० १७३) में ही देखना चाहिये। कामनाओं का आश्रय कोई न कोई वस्तु होती है। इन मन्त्रों में वर्णित वाज, प्रसव आदि सब वस्तुएँ ही हैं। इन वस्तुओं को, सब प्रकार की कामनाओं को प्राप्त कराने वाली मन्त्रसाध्य यह धारा वसुमयी कही गई है। वसु की यह धारा ही यहाँ वसोर्धारा नाम से अभिहित है। इन २९ कण्डिकाओं में से २४ वीं अयुग्म स्तोम वाली और २५वीं युग्म स्तोम वाली है, अर्थात् इनमें

---

१. दही और दूध के मिश्रण को सान्नाय्य कहा जाता है। इसके लिये किये जाने वाले सारे संस्कारों की प्रवृत्ति यहाँ अमन्त्रक होती है।

२. "कर्णशब्देनात्र पत्रशाखादिकं विवक्षितम्।.........कर्णकशब्देन दारुस्फोटो रोगो विवक्षित इति केचनाचार्या आहुः" (भा०, पृ० १४९-१५०)।

३. "घृतपूर्णया स्रुचा आहुतिः पूर्णाहुतिरित्यर्थः" (भा०, पृ० १५२)।

विषम संख्या और सम संख्या के मन्त्रों से आहुति दी जाती है। सामविधान, ताण्ड्यमहाब्राह्मण आदि में स्तोत्र नामक मन्त्रों का स्वरूप प्रदर्शित है। अयुग्म और युग्म के भेद से इनके दो प्रकार होते हैं। २६-२७ संख्या की दो कण्डिकाओं का विनियोग [1]वयोहोम में और आगे की कण्डिका का नामग्राहहोम में है। २९ वीं कण्डिका में कल्पहोम के मन्त्र उपदिष्ट हैं।

अग्नि क्षेत्र में जैसे सर्वौषधियों का वपन किया जाता है, उसी तरह से यहां भी औदुम्बर चमस में सर्वौषधियों को भर कर चतुष्कोण औदुम्बर स्रुवा से पहले नवम अध्याय (९।२३-२९) में उपदिष्ट सात मन्त्रों से वाजपेय सम्बन्धी वाजप्रसवीय आहुतियाँ दी जाती हैं। इसके बाद उसी विधि से अग्निसम्बन्धी आहुतियाँ देनी चाहिये। इसके लिये 'वाजस्य' (१८।३०-३६) इत्यादि सात मन्त्र विनियुक्त हैं। इस कर्म की समाप्ति पर औदुम्बर चतुष्कोण स्रुवा को आहवनीय अग्नि में प्रक्षिप्त कर और चित्याग्नि की पुच्छ की उत्तर दिशा में परिश्रित् से संलग्न पूर्व दिशा में ग्रीवा और उत्तर दिशा में लोम वाले कृष्ण मृगचर्म को बिछा कर उस पर बैठता है। चयन याग के लिये तत्पर ब्रह्मवर्चसकाम यजमान को अध्वर्यु 'देवस्य त्वा' (१८।३७) मन्त्र का उच्चारण करते हुए सर्वौषधशेष से अभिषिक्त करता है। प्रोक्षण के लिये सर्वौषधि को दूध और जल से सिंचित किया जाता है, केवल जल से नहीं, क्योंकि कात्यायन श्रौतसूत्र में इसी पक्ष को स्वीकार किया गया है। इसके बाद द्वादशगृहीत घृत के बारह विभाग कर 'ऋताषाट्' इत्यादि छः कण्डिकाओं (१८।३८-४३) में स्थित १२ मन्त्रों को स्वाहाकार से संयुक्त कर राष्ट्रभृत् संज्ञक १२ आहुतियाँ दी जाती हैं। इन मन्त्रों के निर्माण की विधि भाष्य (पृ० १९४) में निर्दिष्ट है।

राष्ट्रभृत् संज्ञक होम के अनन्तर पूर्व संस्कृत आज्य से ही पाँच बार घृत लेकर प्रतिप्रस्थाता आदि रथ के शिरोभाग के पास आहवनीय अग्नि के समक्ष खड़े रहें और अध्वर्यु उस घृत को पाँच भागों में विभक्त कर 'स नो भुवनस्य' (१८।४४) मन्त्र की आवृत्ति करते हुए पाँच आहुतियाँ दे। रथ का शिरोभाग[2] वह है, जहाँ कि ईषा के दोनों तरफ के भागों में युग को बाँधा जाता है। रथ के शिरोभाग में पंचगृहीत आज्य की आहुति देने के बाद अध्वर्यु उस रथ को अग्नि से दूर हटा कर उत्तर दिशा में वेदि के मध्य में युग, योक्त्र आदि के साथ स्थापित करे और तब उसके तीन स्थानों पर वातहोम नामक तीन आहुतियाँ 'समुद्रोऽसि' (१८।४५) कण्डिका स्थित तीन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए दे। रथयुग की दक्षिण धुरा के नीचे पहली, उत्तर धुरा के नीचे दूसरी और युग के मध्यभाग के नीचे तीसरी आहुति दी जाती है।

वातहोम के अनन्तर पूर्व संस्कृत आज्य में से एक-एक कर नौ बार घृत का ग्रहण किया जाता है और पांच कण्डिकाओं (१८।४६-५०) में स्थित नौ मन्त्रों से नौ आहुतियाँ दी जाती हैं। ये आहुतियाँ रुङ्मती होम और अर्काश्वमेध-सन्तति होम के नाम से प्रसिद्ध हैं। अब प्रातरनुवाक के मन्त्रों का पाठ (उपाकरण) करते हुए तीन ऋचाओं (१८।५१-५३) से उपधान के क्रम से प्रत्येक परिधि को अग्नि से संयोजित किया जाता है। तब आग्निमारुत स्तोत्र के यज्ञायज्ञीय साम से पहले 'दिवो मूर्धासि' (१८।५४-५५) आदि दो ऋचाओं से दक्षिण और उत्तर परिधि के सन्धिस्थलों का स्पर्श कर अग्नि का विमोचन किया जाता है। इसके बाद आठवें अध्याय के नौ मन्त्रों (८।१५-२३) से समष्टियजुःसंज्ञक होम को सम्पादित कर यहाँ के दो मन्त्रों (१८।५६-५७) से पुनः अग्नि देवता के निमित्त दो आहुतियां दी जाती हैं। तब [3]हृदयशूल के समक्ष 'यदाकूतात्'[4] (१८।५८-६५) आदि आठ मन्त्रों में से प्रत्येक से स्रुवाहुतियाँ दी जाती हैं। इतना कार्य सम्पन्न

---

१. "एकहायनप्रभृत्या पञ्चहायनात् पशवो वयांसीत्युच्यन्ते" (भा०, पृ० १८४)।

२. "ईषाग्रयोरुपरि यत्र युगस्य बन्धनं क्रियते, तत् स्थानं रथस्य शिरः" (भा०, पृ० २००)।

३. "यस्मिन् शूले पशुहृदयं प्रोतं भवति, तद् हृदयशूलमित्युच्यते" (श्रौत० नि०, पृ० १२१)।

४. "आकूतो नाम प्राङ्मनोप्रवृत्तेरात्मनो धर्मो मनःप्रवृत्तिहेतुः" (भा०, पृ० २१४)।

कर अब यजमान 'अग्निरस्मि' (१८।६६) मन्त्र का पाठ करते हुए अपने में अग्नि की भावना करता है, अर्थात् अग्नि के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव करता है। इस त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्र से यजमान और अग्नि की अभिन्नता का, अद्वय-दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। अग्नि के साथ अद्वयभावापन्न यजमान 'ऋचो नामास्मि' (१८।६७) मन्त्र से चित्याग्नि का उपस्थान करता है और अन्त में पुरीष-निवाप के बाद सात, आठ अथवा दस (१८।६८-७७) मन्त्रों से चिति का उपस्थान करता है। यह उपस्थान पुरीष-निवाप (मृत्पूरण) के बाद प्रत्येक चिति का किया जाता है।

इस प्रकार इन आठ अध्यायों (११-१८) में यह अग्निचयन की प्रक्रिया पूरी होती है।

एकोनविंश अध्याय : सौत्रामणी याग

इसके बाद के तीन अध्यायों (१९-२१) में सौत्रामणी याग की विधि निरूपित है। ऐहिक समृद्धि की कामना वाले, अग्निचयन की विधि को पूरा कर लेने वाले, मुखेतर छिद्र से अथवा मुख से सोम का वमन कर देने वाले, अर्थात् इसको पचा सकने में असमर्थ, राज्य से च्युत नृपति का अथवा पशुकाम यजमान का इसमें अधिकार है। यहाँ सुरा और सोम को बेचने वाले से अथवा किसी नपुंसक से पहले पूँछ लिया जाता है कि क्या तुम सौत्रामणी याग के लिये उपादेय द्रव्यों को बेच सकते हो? उसकी स्वीकृति मिल जाने पर सीसे से शष्पों को, ऊन से तोक्म को, सूत से लाजा को और किसी योग्य द्रव्य से नग्नहु को खरीदा जाता है। यहाँ शष्प अंकुरित व्रीहि को, तोक्म अंकुरित यव को और लाजा भूंजे गये व्रीहि (खील = धान का लावा) को कहते हैं। सर्ज की छाल से लेकर शष्प पर्यन्त द्रव्यों को जब एक में मिला दिया जाता है, तो उसे नग्नहु कहते हैं (पृ० २२९)। इनको खरीद लेने के बाद शष्प को हाथ में लेकर दक्षिण द्वार से अग्न्यागार में प्रवेश कर नग्नहु नाम से अभिहित सभी द्रव्यों का चूर्ण बना दिया जाता है। इसी तरह शष्प, तोक्म और लाजा का भी चूर्ण तैयार किया जाता है। तब दर्शपूर्णमास की पद्धति से पात्रासादन आदि की विधि को सम्पन्न कर ढेर सारे पानी में व्रीहि और श्यामाक का अलग-अलग पात्र में चरु पकाया जाता है। इनकी मांड (आचाम) में गरम जल मिलाकर उसे दो अलग-अलग पात्रों में भर लिया जाता है। इनमें नग्नहु का बनाया गया चूर्ण मिला दिया जाता है। ऊपर वर्णित पदार्थों के चूर्ण और इस आचाम (मांड) को मिलाने से बने घोल को [1]मासर कहा जाता है। इस तरह से दो तरह के आचामों और नग्नहु आदि के चूर्णों को मिलाकर मासर तैयार कर लेने के बाद दोनों पात्रों के ओदनों, व्रीहि और श्यामाक के चरुओं को शष्प, तोक्म, लाजा और नग्नहु के चूर्ण के साथ मिला दिया जाता है। तब 'स्वाद्वीं त्वा' (१९।१) और 'अंशुना' (२०।२७) इन दो ऋचाओं का पाठ करते हुए एक ही पात्र में चूर्णसंसृष्ट ओदनों को मासरों के साथ मिला कर यज्ञशाला के नैर्ऋत्य कोण में गड्ढा खोद कर उसमें तीन रात्रि पर्यन्त इसे रहने दे।

इसकी प्रयोगविधि इस प्रकार है—व्रीहि और श्यामाक का चरु अलग-अलग पका कर दो अलग-अलग पात्रों में इनके मांड को भर कर उसमें गरम पानी मिला दिया जाता है। तब शष्प, तोक्म और लाजा के अलग-अलग तीन जगह बनाये गये चूर्ण के तृतीय अंश के दो भाग कर उन मांड से भरे दो पात्रों में उन्हें मिला दिया जाता है। इसके बाद नग्नहु के चूर्ण के दो भाग किये जाते हैं। पहले हिस्से के पुनः दो भाग कर इनको आचाम पात्रों में मिला दिया जाता है। जैसा कि पहले कहा गया है, इस चूर्णसंसृष्ट आचाम को मासर कहा जाता है। अब शष्प, तोक्म और लाजा चूर्ण के द्वितीय तृतीयांश को दो भागों में विभक्त कर इनके एक-एक भाग को ओदन पात्रों में डाला जाता है। इसी तरह से नग्नहु चूर्ण के द्वितीय भाग को भी द्विधा विभक्त कर इन ओदन पात्रों में डाल दिया जाता है। तब इन दोनों पात्रों के ओदनों को एक ही पात्र में भर दे और उक्त दो मन्त्रों का पाठ करते हुए चूर्ण, मासर और ओदनों को हिला-डुला कर एकरस कर दे। इतना कर लेने के बाद इस घोल को तीन रात्रि तक गड्ढे में रखा जाता है। शष्प, तोक्म और लाजा

---

१. "व्रीहिश्यामाकयोश्चरू पक्त्वा तयोरोदनयोराचामौ पृथक् पात्रद्वये निषिच्य अवस्राव्य तदुदकं नग्नहुप्रभृतिभिश्चूर्णैः संसृज्य निदध्यात्।......तस्य चूर्णसंसृष्टस्य आचामस्य मासरमिति संज्ञा" (भा०, पृ० ३४८)।

चूर्ण के अवशिष्ट तृतीयांश को प्रतिदिन उस निष्पाद्य सुरा में डालने के लिये तीन भागों में विभक्त कर सुरक्षित रख लिया जाता है।

इस सौत्रामणी याग के प्रारंभ में ऊपर की विधि को पूरा कर लेने के बाद सायंकालीन होम के उपरान्त 'अश्विभ्यां पच्यस्व' (१९।११) मन्त्र से एक गाय का स्पर्श कर उसको दुहे और उसके दूध से अध्वर्यु 'परीतः' (२९।१२) मन्त्र से सुरा का सेचन करे। बचा कर रखे गये शष्पचूर्ण के तृतीयांश को सुराभाण्ड में डाले। दूसरे दिन निशान्त (प्रातःकाल) में 'सरस्वत्यै पच्यस्व' (१९।११) मन्त्र से दो गायों का स्पर्श करे और उनको दुह कर पूर्ववत् सुरा-सेचन करे। साथ ही तोक्म के चूर्ण का तृतीयांश उसमें डाले। तीसरे दिन रात्रि में 'इन्द्राय सुत्राम्णे' (१९।११) मन्त्र से तीन गायों का स्पर्श कर उन्हें दुहे। तीनों के दूध को एक पात्र में मिला कर पुनः सुरा-सेचन करे तथा लाजा-चूर्ण के तृतीयांश को इसमें मिला दे।

आगे की दो कण्डिकाओं (१९।१३-४) में से पहली में दो मन्त्र हैं और दूसरी में एक ही। इन तीनों मन्त्रों का विनियोग यहाँ सुरासेचन में विपरीत क्रम से बताया गया है। इस सुरा को लेकर गाय और अश्व के केशों से निर्मित पवित्र से छान कर सत (पलाश) निर्मित एक बड़े पात्र में 'पुनाति' (१९।१४) मन्त्र से भर दिया जाता है। 'सत' शब्द से कुछ आचार्य वारण पात्र का ग्रहण करते हैं। मुखेतरछिद्र से सोम का वमन करने वाले यजमान के लिये सौत्रामणी में 'वायो पूतः' (१९।१३) कण्डिका के उत्तरार्ध से और मुख से सोमवामी के लिये 'वायोः पूतः' कण्डिका के पूर्वार्ध से उक्त पात्र में सुरा को छाना जाता है। [1]उत्तर वेदि में अजा और मेष के लोम से निर्मित पवित्र से वेतस निर्मित पात्र में 'ब्रह्म क्षत्रम्' (१९।१५) मन्त्र से दूध डाला जाता है। इस प्रकार सुरा और दूध को मिलाने के उपरान्त 'कुविदङ्ग' (१९।१६) मन्त्र से तीन पयोग्रहों का ग्रहण किया जाता है। मन्त्रपाठ में 'उपयामगृहीतोऽसि' और 'एष ते योनिः' इन दो याजुष मन्त्रों का यद्यपि एक ही बार पाठ किया गया है, किन्तु तीन पयोग्रहों का ग्रहण करते समय इनकी अलग-अलग आवृत्ति की जाती है। ऐसा करते समय तीन मन्त्रों का जो स्वरूप बनता है, उसे भाष्य में दिखा दिया गया है (पृ० २३५)। 'नाना हि वाम्' (१९।१७) मन्त्र से तीनों पयोग्रहों का ग्रहण करने के उपरान्त तीन सुराग्रहों का ग्रहण इन्हीं मन्त्रों द्वारा विपरीत क्रम से किया जाता है। जैसे कि पहले आश्विन पयोग्रह का ग्रहण कर आश्विन सुराग्रह का ग्रहण करे। तब सारस्वत पयोग्रह और सारस्वत सुरा का और अन्त में ऐन्द्र पयोग्रह के साथ ऐन्द्र सुराग्रह का। भाष्य में इसी स्थल पर (पृ० २३६) पात्रों के ग्रहण के बाद उनके सादन-क्रम का भी निरूपण किया गया है। ग्रहण और सादन के बाद अध्वर्यु तीनों पयोग्रहों की उत्तराग्नि में एक साथ 'उपयाम' (१९।१८) मन्त्र से आहुति देता है। प्रतिप्रस्थाता दक्षिणाग्नि में एक आहुति पालाश के उलूखल से दे, मृण्मय स्थाली से नहीं, क्योंकि तैत्तिरीय श्रुति ने इसको निषिद्ध माना है। अन्य शाखाओं में सौर ग्रहों का अवघ्राणन मात्र निर्दिष्ट है। इनका भक्षण वर्जित है। वैश्य और राजन्य में से कोई एक मूल्य से इसका क्रय कर भक्षण कर सकता है। एक अन्य पक्ष भी यहाँ बताया गया है कि दक्षिण आहवनीय के अंगारों में परिधि के बाहर दक्षिण दिशा में होमावशिष्ट सुराग्रहों की आहुति दे। इनका क्रम इस प्रकार है—आश्विन सुराग्रह की उत्तर में, सारस्वत की बीच में और ऐन्द्र सुराग्रह की दक्षिण में आहुति दे।

आश्विन ग्रह के ग्रहण के उपरान्त और सादन से पहले दो दर्भ-तृणों के अग्रभाग को पूर्व दिशा में कर पात्र के ऊपर रखा जाता है। इसके साथ ही गोधूम और कुवल के चूर्ण को भी दुग्धपात्र में डाला जाता है। कुवल बड़े बेर को कहते हैं। सारस्वत ग्रह में उपवाक और बदरी फल के चूर्ण को डाला जाता है। यवसदृश गोधूमवर्ण गोधूम (गेहूँ) के समान तुष से रहित इन्द्रयव नामक धान्य को यहाँ उपवाक कहा गया है। यव और कर्कन्धु (अतिस्थूल बदरी फल) के

---

१. "चातुर्मास्य याग के वरुणप्रघास पर्व में, पशुबन्ध याग में और अग्निष्टोम प्रभृति यागों में आहवनीय स्थानीय जिस अग्नि पर प्रधान याग किया जाता है, उस अग्नि के स्थान को उत्तरवेदि कहते हैं" (कात्या० यज्ञ०, पृ० ४७०)।

चूर्ण को ऐन्द्र पयोग्रह में मिलाया जाता है। ऐसा करते समय नवीं कण्डिका में स्थित प्रारंभ के मन्त्रों का पाठ आवश्यक है। अवशिष्ट मन्त्र (१९।९) के तीन भागों से वृक आदि के रोमों का सुराग्रह के तीन पात्रों में निक्षेप किया जाता है। 'या व्याघ्रम्' (१९।१०) इत्यादि मन्त्र से अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों मिलकर [1]अन्तःपात्य स्थान में अवस्थित पूर्वाभिमुख यजमान का श्येन पक्षी के पंखों से प्रोक्षण करते हैं। 'यदा पिपेष' (१९।११) मन्त्र का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु यजमान को अग्नि देखने के लिये कहता है। तदनुसार यजमान औत्तरवेदिक अग्नि का ईक्षण करता है। इसी कण्डिका के 'सम्पृच स्थ' (१९।११) मन्त्रभाग से यजमान पयोग्रहों का और 'विपृच स्थ' (१९।११) से सुराग्रहों का स्पर्श करता है।

'देवा यज्ञम्' (१९।१२-३१) इत्यादि बीस कण्डिकाओं का कात्यायन श्रौतसूत्र में विनियोग नहीं बताया गया। इनमें सौत्रामणी याग और सुरा की सोमयाग और सोम से समानता बताई गई है। निदान वाले मन्त्रों का निदान बताने से अर्थ को समझने में सहायता मिलती है। इसके लिये भाष्य में (पृ० २४२) सौत्रामणी संबन्धी इतिहास शतपथ ब्राह्मण के आधार पर बताया गया है। यहाँ मासर, आसन्दी, वेदि, हविर्धान धाना आदि द्रव्य, शस्यसम्पत्ति, न्यूंख, सवन-सम्पत्ति, वायव्य पात्र, इडा, हुतोच्छिष्ट सुरा आदि की सोमयागीय इन्हीं द्रव्यों से तुलना की गई है।

सौत्रामणी याग और सोमयाग की इस समानता से परिचित अध्वर्यु तीनों पयोग्रहों की एक साथ 'सुरावन्तम्' (१९।३२) मन्त्र से आहुति देता है। इसके बाद प्रतिप्रस्थाता दक्षिणाग्नि में पलाश उलूखल से सुराग्रह की 'यस्ते' (१९।३३) मन्त्र से आहुति देता है। मृण्मय स्थाली से आहुति नहीं दी जाती, क्योंकि श्रुति के अनुसार यह निषिद्ध है। 'यमश्विना' (१९।३४) मन्त्र से अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और अग्नीत्—ये तीनों मिलकर आश्विन पयोग्रह को हाथ में लेकर एक बार मन्त्रोच्चार के साथ तथा दुबारा बिना मन्त्र का उच्चारण किये भक्षण करते हैं। [2]होता, [3]ब्रह्मा और [4]मैत्रावरुण इसी क्रम से सारस्वत ग्रह का और यजमान ऐन्द्र ग्रह का भक्षण करते हैं। 'यदत्र' (१९।३५) मन्त्र में उत्तराग्नि में पयोग्रहों की तथा दक्षिणाग्नि में सुराग्रहों की आहुति देकर भक्षण करने का विधान है। कात्यायन श्रौतसूत्र (१९।३।१६-२०) का कहना है कि विहार के दक्षिण में उपविष्ट प्राचीनावीती अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और अग्नीत् पयोग्रहण और भक्षण की इतिकर्तव्यता का बिना अतिक्रम किये सौर और आश्विन ग्रहों का भक्षण दो बार करते हैं। यहाँ पूर्व-पूर्व ग्रह के भक्षण से बचे अंश का उत्तर ग्रह में निक्षेप किया जाता है। जैसे कि आश्विन शेष का सारस्वत में और सारस्वत शेष

---

१. "अग्निष्टोम प्रभृति यागों में प्रकृतिशाला से पूर्व और महावेदि के मध्य का तीन अरत्नि का स्थान अन्तःपात्य है" (कात्या० यज्ञ०, पृ० ४५९)।

२. "यह श्रौत याग का एक प्रमुख ऋत्विक् है। इसका कृत्य ऋग्वेद के अनुसार होता है। यह देवता का आवाहन और स्तुति करता है। याज्या और पुरोनुवाक्या के मन्त्रों का पाठ भी यही करता है। वेदि के पश्चिम में उत्तर श्रोणी के निकट इसके बैठने का स्थान है। सोम याग में यह अपने गण का प्रमुख ऋत्विक् है और पूर्ण दक्षिणा का अधिकारी है" (कात्या० यज्ञ०, पृ० ५३१)।

३. "यह श्रौत याग का प्रमुख ऋत्विक् है। श्रौत याग यथाविधि हो, इस बात का उत्तरदायित्व इसी पर है। याग के कर्म में वैषम्य होने पर इसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसे सम्पूर्ण श्रौतविधि एवं समस्त ऋत्विजों द्वारा विहित कार्यविधि की जानकारी होनी चाहिये। गोपथब्राह्मण के वचन के आधार पर इसे अथर्ववेदी होना चाहिये। यह श्रौत याग का कर्णधार है। याग के कार्यों में इससे अनुमति माँगनी पड़ती है" (कात्या० यज्ञ०, पृ० ५०५)।

४. "यह सोम याग के होतृगण का द्वितीय ऋत्विक् है। इसे होता की अपेक्षा आधी दक्षिणा मिलती है। इसे अर्घी भी कहते हैं। प्रशास्ता इसका नामान्तर है" (कात्या० यज्ञ०, पृ० ५१०)।

का ऐन्द्र ग्रह में अवनयन किया जाता है। अन्य शाखा वालों का कहना है कि सौर ग्रहों का अवघ्राणन मात्र किया जाता है, मुख से भक्षण नहीं। अथवा वैश्य और राजन्य में से कोई एक मूल्य से खरीद कर सौर ग्रहों का पान कर सकता है। पूर्व (१९।३५) मन्त्र में सुराग्रहों के भक्षण, अवघ्राणन अथवा पान—ये तीन पक्ष बताये गये हैं। 'पितृभ्यः' (१९।३६) मन्त्र में चतुर्थ पक्ष यह बताया गया है कि परिधि के बाहर दक्षिण दिशा में स्थापित दक्षिणसंस्थ दक्षिण आहवनीय के अंगारों में होमावशिष्ट सुराग्रहों की आहुति दी जाय। इनमें से आश्विन सुराग्रह की उत्तर में, सारस्वत ग्रह की मध्य में और ऐन्द्र ग्रह की दक्षिण में आहुति दी जाती है। ये आहुतियाँ भी अपसव्य रहते हुए ही दी जाती हैं। 'अक्षन् पितरः' (१९।३६) मन्त्र से होम के क्रम से सौर ग्रह के पात्रप्रक्षालन जल से यथाक्रम अंगारों का भी अपसेचन किया जाता है और इसी कण्डिका के 'पितरः शुन्धध्वम्' मन्त्र का जप किया जाता है।

इसके बाद चरक सौत्रामणी कुम्भ की १५ वें अध्याय की दसवीं कण्डिका में बताई गई पद्धति से शतछिद्रा कुंभी को लेकर दक्षिण आहवनीय के ऊपर सिकहर बांध कर उसमें बाल, पवित्र और हिरण्य को रख कर उसमें परिस्रुत्[1] शेष का आसिंचन करे। कुंभी के छिद्रों से जब यह रिस कर अग्नि में गिरने लगे, तब 'पुनन्तु' (१९।३७-४४) इत्यादि मन्त्रों का पाठ करे। गोबाल से निर्मित सुरागलन बाल और अजाविलोम से निर्मित पयोगलन पवित्र कहलाता है। हिरण्य शतमान परिमित होना चाहिये। शतछिद्रा कुंभी के स्थापन की विधि यह है कि दक्षिण आहवनीय के दोनों तरफ स्थापित दो खंभों के ऊपर दक्षिणाग्र वंश को रख कर और कुंभी के तल में बाल आदि को रखकर उसमें सुराशेष का सेचन करे। अग्नि के ऊपर सुरा का स्रवण होते समय यजमान उक्त मन्त्रों का पाठ करे। यहाँ ३७ वीं कण्डिका में दो मन्त्र हैं। इस प्रकार इन मन्त्रों की संख्या नौ हो जाती है।

'ये समानाः' (१९।४५) मन्त्र से प्राचीनावीती दक्षिणामुख यजमान सकृत् गृहीत आज्य की दक्षिणाग्नि में जुहू से आहुति देता है और 'ये समानाः' (१९।४६) मन्त्र से उत्तर दिशा में उत्तर वेदि की आहवनीय अग्नि में उपवीती यजमान पूर्ववत् सकृत् गृहीत आज्य की आहुति दे। यहाँ भाष्य (पृ० २६१) में वाल्मीकि रामायण के प्रमाण से बताया गया है कि सगोत्र बन्धु-बान्धव सहज मात्सर्य से कैसे ग्रस्त रहते हैं। तदुपरान्त सभी ऋत्विक् जब यजमान का अनुवर्तन करते हुए चलते हैं, उस समय अध्वर्यु 'द्वे सृती' (१९।४७) मन्त्र से दुग्ध की आहुति देता है और यजमान 'इदं बर्हि' (१९।४८) मन्त्र से उखास्थित शेष दुग्ध को प्रसाद के रूप में ग्रहण करता है। 'उदीरताम्' (१९।४९-६१) इत्यादि १३ ऋचाओं वाले अनुवाक के प्रथम तीन और १३वीं कण्डिका का विनियोग कल्पकार ने अग्निष्वात्त पितरों के लिये, इनके बीच की नौ ऋचाओं में से प्रथम तीन का सोमपा पितरों के लिये, आगे की तीन का बर्हिषद् पितरों के लिये और अन्तिम तीन का पुनः अग्निष्वात्त पितरों की स्तुति में किया है। 'पुनन्तु मा' (१९।३९-४७) इत्यादि नौ ऋचाओं के पाठ के अनन्तर सोमवत्, बर्हिषत् और अग्निष्वात्त पितृदेवताक तीन-तीन, अर्थात् 'त्वं सोम' (१९।५२-६०) इत्यादि नौ ऋचाओं का पाठ अध्वर्यु यजमान से कराता है।

आगे का अनुवाक दस ऋचाओं वाला है (१९।६२-७१)। यद्यपि इसका विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र में निर्दिष्ट नहीं है, तो भी पूर्वतन १३ ऋचाओं वाले अनुवाक का और इस दस ऋचा वाले अनुवाक का लैंगिक विनियोग श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणभोजन के समय वाचन में किया जाता है। इनमें से अन्तिम मन्त्र (१९।७१) इन्द्रसंबन्धी है और यह अगले 'सोमो राजा' (१९।७२-७९) अनुवाक का निदानभूत है। इस आठ ऋचा वाले अनुवाक से अध्वर्यु पयोग्रहों और सुराग्रहों का एक साथ उपस्थान करता है। यहाँ दूसरा पक्ष यह है कि चार ऋचाओं से पयोग्रहों का और शेष चार से सुराग्रहों का ग्रहण किया जाता है, तदुपरान्त उपस्थान। आगे (१९।८०-९५) की सोलह कण्डिकाओं में से प्रत्येक से दो-दो आहुतियाँ दी जाती हैं। इसके लिये ऋषभ के ३२ खुरों को अग्नि में तपा कर उनमें से वसा निकाल कर किसी पात्र में

१. "शिश्नाद् रसात्मना सुतात् सोमात् परिस्रुत्" (भा०, पृ० २३०)।

इकट्ठी की जाती है। इन्हीं से अध्वर्यु ३२ आहुतियाँ देता है। एक-एक मन्त्र से दो-दो वसाग्रहों की आहुति देकर प्रत्येक आहुति के शेष भाग को वेतस पात्र में इकट्ठा करता है। भाष्य (पृ० ३००) में बताया गया है कि वृक, व्याघ्र और सिंह के लोमों का भी सुराग्रह के पात्रों के लिये प्रयोग होता है।

विंशाध्याय : सौत्रामणी याग[1]

सोमयाग की आसन्दी के समान यहाँ भी मूँज की रस्सी से बुनी गई औदुम्बर काष्ठ की अरत्नि प्रमाण घुटनों तक के चार पायों वाली आसन्दी बनाई जाती है। इसके दो पायों को दक्षिण वेदि पर और दो को उत्तर वेदि पर स्थापित किया जाता है। सोम याग ही इस याग की प्रकृति है। वहाँ नाभिप्रमाण पायों वाली आसन्दी का विधान है। उसके स्थान पर यहाँ जानुप्रमाण पायों वाली आसन्दी बनती है। इस पर कृष्णाजिन बिछाया जाता है। यह सारा कार्य इस अध्याय के प्रथम मन्त्र से किया जाता है। दूसरे मन्त्र का पाठ करते हुए यजमान उस पर बैठता है। इस आसन्दी पर बैठे यजमान के वाम पाद के पास 'मृत्योः पाहि' (२०।२) मन्त्र से और 'विद्योत्पाहि' (२०।२) से दक्षिण पाद के समीप पृथ्वी पर सौवर्ण रुक्माभरण रखा जाता है। कुछ आचार्यों के मत से प्रथम मन्त्र से सिर पर और दूसरे से दक्षिण पाद में इनको रखा जाता है। तृतीय कण्डिका में तीन मन्त्र हैं। इनसे चन्दन, कपूर, कस्तूरी, केसर आदि सुगन्धित द्रव्यों से उद्वर्तित, आसन्दी पर बैठे यजमान के मुख पर अध्वर्यु वेतस पात्र में स्थापित वसाग्रह-शेष को चारों दिशाओं में बहाता हुआ उसका अभिषेक करता है। यहाँ के तीनों मन्त्रों को 'सावित्रं देवस्य त्वा' मन्त्र से जोड़ा जाता है। चतुर्थ उपसेचन उत्तराभिमुख अध्वर्यु द्वारा तीनों मन्त्रों को एक साथ पढ़ कर किया जाता है। यहाँ भी सावित्र मन्त्र का संयोजन आवश्यक है। अन्य आचार्यों के मत से चतुर्थ उपसेचन महाव्याहृतियों से किया जाता है। एक पक्ष यह भी है कि चतुर्थ अभिषेक प्रस्तुत कण्डिका के 'इन्द्रस्येन्द्रियेण' (२०।३) मन्त्र से किया जाता है। इतना करने के उपरान्त अध्वर्यु 'कोऽसि' (२०।४) मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान का स्पर्श करता है।

तब यजमान 'शिरो मे' (२०।५-९) इत्यादि पाँच मन्त्रों से अपने शरीर के मन्त्रनिर्दिष्ट विभिन्न अंगों का स्पर्श करता है और आसन्दी से उतर कर 'प्रति क्षत्रे' (२०।१०) मन्त्र का उच्चारण करते हुए नीचे कृष्णाजिन बिछा कर उस पर बैठता है। शस्त्र-मन्त्र की समाप्ति पर वषट्कार का उच्चारण कर 'त्रयो देवाः' (२०।११-१२) इत्यादि दो कण्डिकाओं के मन्त्रों से अवशिष्ट ३३ वें वसाग्रह की आहुति दी जाती है। इस ग्रह के अवशिष्ट भाग का यजमान उपहवपूर्वक 'लोमानि' (२०।१३) मन्त्र का पाठ करते हुए प्रसाद ग्रहण करता है। तदनन्तर अवभृथेष्टि को पूरा कर 'यद्देवाः' (२०।१४-१८) इत्यादि साढे चार कण्डिकाओं से मासर कुंभ को जल में उतारता है और १८ वें मन्त्र के शेष भाग से उसे जल में डुबो देता है। तदनन्तर यजमान अवभृथ स्नान करने से पहले दो डग उत्तर दिशा की ओर बढ़ता है, 'सुमित्रिया' (२०।१९) से जलग्रहण कर 'दुर्मित्रिया' (२०।१९) मन्त्र से उसे उस दिशा में फेंकता है, जिसमें कि उसका शत्रु रहता हो। अब सोमयाग की पद्धति से स्नान कर यजमानदम्पती कर्मकाल में धृत वस्त्र का जल में परित्याग कर देते हैं (२०।२०)। तदुपरान्त अगले मन्त्र (२०।२१) से सोमपान की पद्धति से ही जल से निकल कर ये 'अपाम सोमम्' (८।४८।३) इस ऋचा का पाठ करते हुए त्रिपशुस्थान पर वापस आ जाते हैं। यहाँ 'आपो अद्य' (२०।२२) मन्त्र से यजमान आहवनीय अग्नि का उपस्थान करता है। तब 'एधोऽसि' (२०।२३) मन्त्र से समिधा का ग्रहण कर 'समिदसि' (२०।२३) से अग्नि में उसकी आहुति देता है। इसके उपरान्त कण्डिका (२०।२३) के शेष भाग से सकृत् गृहीत आज्य की आहुति दी जाती है।

अब यजमान सौत्रामणी याग से पहले आदित्येष्टि का अनुष्ठान कर त्रिपशुओं के निमित्त आहवनीय और दक्षिणाग्नि का विहरण कर अग्नि का अन्वाधान और ब्रह्मा का वरण करे। तब आहवनीय अग्नि में तीन (२०।२४-२६)

१. इस याग का विशेष विवरण कात्या० यज्ञ० (पृ० १८४-१९९) में देखिये।

मन्त्रों से तीन समिधाओं का आधान करे। आगे का मन्त्र (२०।२७) सुरा के संसर्जन में विनियुक्त है। तब यजमान कारोतर से छानी गई सुरा का 'सिञ्चन्ति' (२०।२८) मन्त्र से किसी पात्र में ग्रहण करता है और दक्षिण वेदि के खर के पास वेदि के बाहर एक गड्ढा खोद कर वहाँ गोचर्म बिछा कर उस सुरा का सेचन करता है। उसके ऊपर कारोतर को, वंशमय पात्र को, जो कि सुरा को छानने में समर्थ हो, रखता है। ऐसा करने से मैला पदार्थ नीचे रह जाता है और पूत सुरा कारोतर से ऊपर आ जाती है। अथवा ऐसा भी किया जा सकता है कि पहले चर्म के ऊपर कारोतर को रखे और उस पर सुरा गिरावे। इससे कारोतर से छन कर पूत सुरा चर्म पर गिरेगी। 'कारोतरेण' (१९।८२) मन्त्र से इसी प्रक्रिया को समर्थन मिलता है। आगे का मन्त्र (२०।२९) श्रवणा कर्म से संबद्ध धानाहोम में विनियुक्त है। यही मन्त्र प्रातःसवनीय पुरोडाश की पुरोनुवाक्या भी है। आगे के 'बृहदिन्द्राय' (२०।३०) मन्त्र से अध्वर्यु से प्रेषित (प्रैष-प्राप्त) ब्रह्मा इन्द्र-देवताक बृहती छन्द के इस मन्त्र का साम की पद्धति से गान करता है और 'अध्वर्यो' (२०।३१) मन्त्र से पूयमान पय (दूध) का अनुमन्त्रण करता है।

१९वें अध्याय में 'सीसेन तन्त्रम्' (१९।८०) इत्यादि १६ ऋचाओं से आर्षभ खुरों की वपा की ३२ आहुतियों का और वसाग्रहों के संस्रव से यजमान के अभिषेक का विधान किया गया था। अब यहाँ अध्वर्यु 'यो भूतानाम्' (२०।३२-३३) इत्यादि सार्धकण्डिकात्मक मन्त्र से आर्षभ खुरों के वसाशेष से निर्मित ३३वें वसाग्रह का ग्रहण और शेष आधे मन्त्र से उसका सादन करता है। इस ३३वें वसाग्रह का होम करने के उपरान्त ऋत्विक्गण शेष भाग को 'प्राणदा' (२०।३४-३५) इत्यादि मन्त्रों का पाठ करते हुए सूँघते हैं। सौत्रामणी से संबद्ध आध्वर्यव कर्म यहाँ पूरा हो जाता है।

इसके बाद की 'समिद्धः' (२०।३६-४६) इत्यादि ग्यारह कण्डिकाओं में प्रथम ऐन्द्र पशु के प्रयाज के याज्या-मन्त्र हैं। यहीं से सौत्रामणी याग का हौत्र कर्म प्रारंभ होता है। आगे के छः मन्त्रों (२०।४७-५२) में वपा, पशु और पुरोडाश के याज्यानुवाक्या मन्त्र हैं। भाष्य (पृ० ३३५) में इस विषय को स्पष्ट किया गया है। पुनः आगे के दो मन्त्र (२०।५३-५४) इन्द्र की स्तुति में विनियुक्त हैं। बाद की बारह अनुष्टुप् ऋचाएँ (२०।५५-६६) त्रिपशु संबन्धी प्रयाजयाज्याओं में विनियुक्त हैं। 'अश्विना' (२०।६७-६९) इत्यादि तीन ऋचाएँ त्रिपशुसंबन्धी वपाओं की याज्यानुवाक्याएँ हैं। पुनः आगे के तीन मन्त्र (२०।७०-७२) पुरोडाशों की याज्यानुवाक्याएँ और बाद के तीन मन्त्र (२०।७३-७५) तीन हवियों की याज्यानुवाक्याएँ हैं। यहाँ भी भाष्य (पृ० ३५९) में इस विषय को स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

तीन पयोग्रहों और सुराग्रहों के क्रमशः 'युवम्' (२०।७६) और 'पुत्रमिव' (२०।७७) ये दो पुरोनुवाक्या और याज्या मन्त्र हैं। पशुस्विष्टकृद् याग में 'यस्मिन्नश्वासः' (२०।७८) पुरोनुवाक्या और 'अहाव्यग्ने' (२०।७९) याज्या मन्त्र हैं। ३३वें वसाग्रह के सादन के अनन्तर अध्वर्यु प्रतिगर (उत्साहवर्धन) के लिये होता के सामने बैठता है। उस समय होता इस अध्याय के अन्तिम ११ मन्त्रों (२०।८०-९०) का शस्त्र के रूप में शंसन करता है।

शतपथ ब्राह्मण के अवधेय अंश

१६ से २० अध्यायों के मन्त्रों का यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र के १८-१९ अध्यायों के आधार पर दिया गया है। भाष्यकार ने यहाँ १६ से १८ अध्यायों में निर्दिष्ट मुनि कात्यायन के उक्त विनियोगों का समर्थन स्थान-स्थान पर शतपथब्राह्मण के ९वें काण्ड से और १९-२० अध्यायों में निर्दिष्ट कात्यायन सूत्रों का समर्थन १२वें काण्ड के वचनों को विस्तार अथवा संक्षेप में उद्धृत कर किया है। साथ ही मन्त्रों की विशिष्ट शब्दावली की व्याख्या भी ब्राह्मण-वचनों के आधार पर की है। विशेष रूप से अवधेय बात यह है कि इस खण्ड में शतपथ के वचन उतने विस्तार से उद्धृत नहीं मिलते, जितने कि पूर्व खण्ड (११-१५ अ०) में ये मिलते हैं।

१६वें अध्याय में शतरुद्रिय होम की प्रक्रिया को बताने वाले कुछ ही वचन यहाँ मिलते है (पृ० ७-८)। यहाँ संस्कृत अग्नि को ही रुद्र देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कुमार अग्नि के भव, शर्व आदि नामों की चर्चा पहले

आ चुकी है। यजमान पर वह क्रूर न हो जाय, इसके लिये अन्नसंभरण किया जाता है, जर्तिल (आरण्य तिल) आदि की आहुतियाँ दी जाती हैं। आगे (पृ० ४३) जातसंज्ञक रुद्रों का परिचय दिया गया है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में दो-चार ही छोटे-छोटे वचन शतपथ के मिलते हैं।

सोलहवें अध्याय की अपेक्षा १७वें अध्याय में शतपथ के वचन कुछ विस्तार से मिलते हैं। यहाँ (पृ० ८०-८१) बताया गया है कि नवें अध्याय के पहिले ब्राह्मण में शतरुद्रिय होम संबन्धी मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत की गई थी। अब दूसरे ब्राह्मण में परिषेक, धेनूकरण, विकर्षण आदि कर्मों का स्वरूप दिखाया जा रहा है। यहाँ यह भी कहा गया है कि परिषेक विधि को आग्नीध्र सम्पादित करता है, अध्वर्यु नहीं। धेनूकरण को विधि द्वितीय मन्त्र की व्याख्या (पृ० ८२-८३) के अवसर पर बताई गई है और विकर्षण का स्वरूप चतुर्थ से अष्टम मन्त्र की व्याख्या (८५-८९) में। बीच के तृतीय मन्त्र की व्याख्या (पृ० ८४) में अनेक प्रकार की इष्टकाओं की चर्चा आई है। ११वें मन्त्र की व्याख्या में औपवसथीय दिवस की इतिकर्तव्यता तथा १२वें में स्वयमातृण्णा इष्टका पर व्याघारण की विधि प्रदर्शित है। एक कोने से दूसरे कोने तक आज्यधारा का जो क्षारण किया जाता है, उसे ही व्याघारण[1] कहते हैं। यह व्याधारण पंचगृहीत आज्य से किया जाता है और स्वाहाकारपूर्वक यह क्रिया सम्पन्न होती है। यहाँ स्वाहाकार और वषट्कार का अन्तर बताया गया है और व्याघारण का क्रम भी (पृ० ९३)। पाँच आहुतियाँ क्यों दी जाती हैं, इसका प्रतिपादन १३-१६ मन्त्रों के भाष्य में मिलता है (पृ० ९४-९८)।

आगे ३३वें मन्त्र के भाष्य में अग्निप्रणयन के लिये उपयोगी क्रियाओं का निरूपण आख्यायिका के साथ प्रदर्शित है। ब्रह्मा आदि के चित्याग्नि के प्रति गमन का प्रदर्शक ब्राह्मण ५४वें मन्त्र के भाष्य में उद्धृत है। अगले मन्त्र के भाष्य में स्मृत शतपथवचन में भी यही विषय प्रदर्शित है। ५६ वें मन्त्र के भाष्य में इस मन्त्र के सारे विशेषण अग्निपरक ही हैं, इसको दिखाया गया है। ५७-५८ मन्त्रभाष्य में शतपथवचन उपलब्ध हैं, किन्तु ५९वें मन्त्रभाष्य में पृश्नि पाषाण, अर्थात् श्वेत पाषाण के उपधान की विधि को विस्तार से बताने वाले ब्राह्मण-वचनों को दिखाया गया है। आगे के कुछ (६१-६३) मन्त्रों में पुनः संक्षेप में ब्राह्मणवचन उद्धृत हैं और बताया गया है कि 'रजस्' शब्द का प्रयोग यहाँ 'लोक' अर्थ में किया गया है (पृ० १३५)। आगे बताया गया है कि गार्हपत्य, आग्नीध्रीय और आहवनीय अग्नियां पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक का प्रतिनिधित्व करती हैं (पृ० १४०)। अग्नि को चक्षु इसलिये कहा गया है कि यह प्रजा का अनेकविध उपकार करतो है (पृ० १४२)। इसको सहस्राक्ष इसलिये कहा जाता है कि सहस्र संख्या के हिरण्य-शकलों (खण्डों) से इसका प्रोक्षण किया जाता है (पृ० १४३)। सुपर्ण शब्द में पर्ण शब्द का अर्थ पतन है (पृ० १४५)। एक मत में कर्णक शब्द का पत्र, शाखा आदि अर्थ विवक्षित है, तो अन्य आचार्य दारुस्फोट नामक लकड़ी में लगने वाले रोग को कर्णक कहते हैं। ऐसी समिधा के न मिलने पर द्रप्स, अर्थात् दधि-बिन्दु का लेप कर तब समिधा की आहुति दी जाती है। (पृ० १४९-१५०)। आज्याहुतिकरण के प्रसंग में बताया गया है कि लोक में जैसे भोजन परोसते समय पहले शाक, दाल, भात आदि परोसे जाते हैं, जल आदि पेय पदार्थ बाद में दिये जाते हैं, उसी तरह से समिद्धोम परिवेषणस्थानीय है और आज्याहुति पेयस्थानीय (पृ० १५०)। सात समिधाओं की प्राणात्मकता का प्रतिपादन षष्ठ काण्ड के आरंभ में ही किया गया है। वहाँ सात शीर्षण्य प्राणों को ऋषि बताया गया है। यहाँ प्राण शब्द से शरीर-स्थित इन्द्रियाँ, जिह्वा शब्द से सात पुरुषात्मक इन्द्रियाँ और ऋषि शब्द से इष्टकास्थानीय इन्द्रियों का बोध कराया गया है। इस प्रकार सभी शब्दों की इन्द्रियवाचकता के होते हुए भी उनमें अर्थभेद हो जाता है (पृ० १५२-१५३)। वैश्वानर शब्द यहाँ अग्नि का वाचक न होकर उसके लिये प्रदीयमान हवि के लिये प्रयुक्त है। इसकी आध्यात्मिक व्याख्या भी यहाँ शतपथ के आधार पर की गई है (पृ० १५४)।

---

१. ऊपर पृ० ६ की टिप्पणी देखिये।

१८वें अध्याय में वसोर्धारा मन्त्रों के प्रसंग में शतपथ के वचनों को अलग से उद्धृत न कर मन्त्रार्थ के समर्थन में उसके साथ ही दिया गया है। १, १६, १९, २१-२६ मन्त्रों की व्याख्या में यही विधि अपनाई गई है। २८-३० मन्त्रों के भाष्य में ये वचन कुछ विस्तार से मिलते हैं। यहाँ (पृ० १८६) सर्वप्रथम संवत्सरात्मक त्रयोदश-मासाधिपति प्रजापति वाज आदि नामों से अभिहित है और ऊक्ं शब्द से अन्न का ग्रहण किया गया है। इसी तरह से कल्पहोम के प्रसंग में कल्पों की प्राणात्मकता प्रतिपादित है (पृ० १८७-१८८)। कल्प शब्द का प्रयोग यहाँ मन्त्र के अर्थ में हुआ है। साथ ही स्तोम, यजुः, ऋक्, साम, बृहत्, रथन्तर आदि शब्दों के अर्थ दिये गये हैं और बताया गया है कि वसोर्धारा होम के मन्त्रों के साथ 'वेट् स्वाहा' शब्द जोड़े जाते हैं (पृ० १८८)। वाजप्रसवीय होम के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह कर्म का नाम है। सर्वौषधि शब्द से सात ग्राम्य और सात आरण्य धान्यों का ग्रहण किया जाता है। इसका विधान चितिस्थल पर बीजवपन के प्रसंग में किया गया है। यहाँ यह भी निर्दिष्ट है कि इस कर्म का अनुष्ठान करने वाले को इन १४ प्रकार के अन्नों में से किसी एक का जीवनपर्यन्त परित्याग कर देना चाहिये। यह भी कहा गया है कि वाजप्रसवीय होम स्रुव से ही किया जाता है, चमस से नहीं। औदुम्बर चमस का प्रयोग बाद में सम्पात के अवनयन के लिये और अभिषेक के लिये किया जाता है (पृ० १८९)।

आगे के कुछ मन्त्रों (१८।३८-४५) में विस्तार अथवा संक्षेप से कात्यायन के विनियोगों को समर्थन दिया गया है और राष्ट्रभृत् होम, रथशिरो होम, वात होम जैसे विषयों को स्पष्ट करके इन शब्दों की स्पष्ट व्युत्पत्ति दी गई है। साथ ही यह भी बताया गया है कि पुरुष देवता के लिये वषट्कार और स्वाहाकार से तथा स्त्री देवता के लिये केवल स्वाहाकार से आहुति दी जाती है। वाट् पद वषट्कार का ही परोक्ष रूप है। यहाँ यह भी बताया गया है कि 'ऋताषाद्' (१८।३८) इत्यादि छः मन्त्रों की औषधि, मरीचि इत्यादि छः देवतायें हैं। पुरुष देवताओं और स्त्री देवताओं के मन्त्रों के स्वरूप में किस प्रकार परिवर्तन कर लेना चाहिये, इसका भी निर्देश यहाँ किया गया है (पृ० १९५) और इन मन्त्रों में प्रयुक्त भुज्यु, स्तावा जैसे शब्दों का अर्थ भी। वात की आहुति किस प्रकार कहाँ कहाँ दी जाती है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए (पृ० २०१-२०२) आगे के मन्त्रों में (१८।४८-५१) रुड्मती होम और अर्काश्वमेधसन्तति होम का विवरण इनके शब्दार्थ को स्पष्ट करते हुए दिया गया है। 'इन्दुर्दक्षः (१८-५३) मन्त्र में आये 'परिदा' शब्द की व्याख्या की गई है और तदनुसार परिदा-उपयाचना का अर्थ है मनौती मानना। आगे के (१८।५४) के मन्त्र में अग्नि के विमोचन की प्रक्रिया विस्तार से समझाई गई है। 'यदाकूतात्' (१८।५८) इत्यादि मन्त्र में वैश्वकर्मण होम के आठ मन्त्रों की तो व्याख्या की ही गई है; आकूत, हृत् और मन शब्दों के सूक्ष्म अन्तर को भी दिखाया गया है। इस अध्याय के शेष मन्त्रों में से अधिकांश में ब्राह्मण उद्धृत नहीं है। जहाँ उद्धृत हैं, वहाँ भी वे मात्र कात्यायन के विनियोग का समर्थन करते हैं।

१९वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में उद्धृत शतपथ-वचनों में सौत्रामणी याग की पूरी प्रक्रिया को समझाया गया है। यहाँ पहले सौत्रामणी याग की उत्पत्ति के प्रसंग में विश्वरूप की आख्यायिका वर्णित है। इन्द्र विश्वरूप को मार डालता है, तो विश्वरूप का पुत्र इन्द्र के विरुद्ध आभिचारिक याग का अनुष्ठान करता है। इन्द्र इसके यज्ञ को विनष्ट कर देता है और बलात् सोमपान करता है। यह सोम इन्द्र के सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है और इसके प्रत्येक अंग से बाहर रिसने लगता है। इन्द्र की आँख, नाक, मुख और कान से क्रमशः तेज, वीर्य, बल और यश के रूप बहे सोम से अजा (बकरी), अवि (भेड़), गाय, घोड़ा, खच्चर और गदहे की तथा पक्ष्म, अश्रु, श्लेष्म, स्नीहा और फेन से गोधूम, कुवल, उपवाक, बदर, यव और कर्कन्धु की उत्पत्ति होती है। इसी तरह से स्तनों से शुक्र के रूप में स्रुत सोम से दूध को, वक्षस्थल से त्विषि के रूप में स्रुत सोम से श्येन पक्षी की, नाभि से शूष के रूप में स्रुत सोम से सीस की, रेतोरूप से स्रुत सोम से हिरण्य की, शिश्न से रस के रूप में स्रुत सोम से परिस्रुत् की, स्फिगी से क्रोध के रूप में स्रुत सोम से सुरा की, मूत्र से ओजोरूप में स्रुत सोम से वृक पशु की, अवन्ध्य से मन्यु के रूप में स्रुत सोम से व्याघ्र की, लोहित से सह रूप से स्रुत सोम से सिंह की, लोम से चित्त के रूप में स्रुत सोम से श्यामाक की, त्वक् से अपचिति के रूप में स्रुत सोम से अश्वत्थ वृक्ष की, मांस से ऊर्ग् के रूप

में स्रुत सोम से उदुम्बर वृक्ष की, अस्थियों से स्वधा के रूप में स्रुत सोम से न्यग्रोध वृक्ष की, मज्जा से सोमपीथ के रूप में स्रुत सोम से व्रीहि की--इस तरह से सौत्रामणी याग के सभी उपकरणों की उत्पत्ति कहीं सामान्य रूप से, तो कहीं विशेषणों के साथ बताई गई है।

आगे कहा गया है कि किसी समय इन्द्र नमुचि नाम के असुर के साथ विचरण कर रहा था। नमुचि ने उसे सुरा पिला कर इसकी इन्द्रियों के वीर्य का, सोमपीथ और अन्नाद्य का अपहरण कर लिया। तब इन्द्र भ्रमजाल में फंस गया। उसकी यह दशा देख देवों ने सोचा कि यह तो हममें अत्यन्त श्रेष्ठ था। लगता है यह किसी पाप कर्म में फँस गया है। हमें इसकी चिकित्सा करानी चाहिये। इसके लिये देवताओं ने अश्विनीकुमारों और सरस्वती को उपचार के लिये बुलाया और इनसे कहा कि तुम दोनों वैद्य हो और यह सरस्वती औषधि है। इसलिये तुम लोग इन्द्र की चिकित्सा करो। देवताओं की प्रार्थना को सुन कर इन लोगों ने देवताओं से कहा कि चिकित्सा करने के बदले में हमें क्या मिलेगा ? इस पर देवताओं ने अश्विनीकुमारों के लिये धूम्र वर्ण का अज और सरस्वती के लिये मेष निर्धारित किया। इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ था। इस लिये इसके निमित्त ऋषभ पशु निश्चित किया गया। तब अश्विनीकुमारों और सरस्वती ने इन्द्र के शरीर का रस जिस जिस मार्ग से बह गया था, उस सारे रस को नमुचि के पास से लाकर इन्द्र के शरीर में पुनः स्थापित कर दिया।

इस तरह से आख्यायिका के रूप में सौत्रामणी याग के अंगभूत तीन पशुओं की उत्पत्ति को बताकर सौत्रामणी शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए इसको जानने से किस फल की प्राप्ति होती है, इसका वर्णन कर दक्षिणा, अधिकार और विधि का भी यहाँ निरूपण किया गया है।

द्वितीय मन्त्र के भाष्य में उद्धृत शतपथ-वचन में सोम-सम्पादन की प्रक्रिया का उल्लेख है। आगे इस अध्याय के कुछ ही मन्त्रों में शतपथ-श्रुति को उद्धृत किया गया है। जहाँ वह उद्धृत है, वहाँ भी कात्यायन मुनि के बताये विनियोगों का ही समर्थन किया गया है। भाष्यकार एक स्थान पर (पृ० २५६) आचार्य हरिस्वामी के मत का स्मरण करते हैं और 'सीसेन तन्त्रम्' (१९।८०) मन्त्र में उद्धृत शतपथ-श्रुति में ३३ वसाग्रहों का, यजमानाभिषेक, स्तोत्र-शस्त्र पाठ आदि का विवरण दिया गया है। १९वें अध्याय के अन्तिम मन्त्र में स्वामी दयानन्द के मत का खण्डन करते समय विस्तार से शतपथ ब्राह्मण के वचनों को उद्धृत किया गया है और ब्राह्मणगत आत्मा, वेदि और संस्था पदों का अर्थ दिया गया है।

२०वें अध्याय के बहुत ही कम मन्त्रों के भाष्य में शतपथ ब्राह्मण के वचन मिलते हैं। जहाँ ये मिलते हैं, वहाँ भी मात्र कात्यायन की विनियोग-पद्धति का समर्थन करने वाले वचन ही हैं। विशेष बात इतनी ही है कि 'यद् ग्रामे' (२०।१७) मन्त्र में आये इन्द्रिय पद का अर्थ शतपथ के अनुसार देवता है और 'उद्वयम्' (२०।२१) मन्त्र में आया 'तमः' पद पाप का वाचक है।

मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ

प्रस्तुत भाष्य के प्रायः प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी किया गया है, इसका उल्लेख पूर्व भाग (११-१५ अ०) के भाष्यनिष्कर्ष में हो चुका है। मन्त्रगत पदों से, विभक्तियों और वचनों से स्वाभाविक रूप से सूचित होने वाले, परमात्मा के सामान्य और विशेष, विभिन्न स्वरूपों को ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के किन-किन स्वरूपों को यहाँ स्मरण किया गया है, सामान्य रूप से प्रायः इसका भी उल्लेख पूर्व भाग में हो चुका है। इस भाग में आये इस तरह के विशेष शब्दों का उल्लेख यथास्थान किया जायगा।

१६वें अध्याय के लिये यहाँ बताया गया है कि इस पूरे अध्याय के मन्त्रों का अर्थ स्वतः अध्यात्मपरक है, अर्थात् पूरे अध्याय में भगवान् रुद्र की स्तुति की गई है, अतः इनकी अलग से आध्यात्मिक व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है (पृ० ८)।

१७वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में 'मरुत्' शब्द से मरुदुपलक्षित भगवदंशभूत सम्यक् दानशील देवताओं के लिये प्रयुक्त है। तृतीय मन्त्र में बताया गया है कि इष्टका आदि जड़ पदार्थों में भी उसी प्रकार देवता की भावना करनी चाहिये, जैसी कि व्रीहि, यव, कुशा, समिधा आदि में वैदिकगण देवत्व की भावना करते हैं। यहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' जैसे श्रुति-वाक्यों को भी उद्धृत किया गया है। इससे आगे के कुछ मन्त्रों में भक्तियोग की चर्चा है। छठे मन्त्र में राम-कृष्ण, वराह-नृसिंह आदि विष्णु के अवतारों और सीता, राधा, रुक्मिणी आदि देवियों का उल्लेख है। यहाँ 'मण्डूकी' शब्द का अर्थ महाशक्ति किया गया है। ८वें मन्त्र में बताया गया है कि श्रीराम आदि अवतारों का प्रयोजन रावण जैसे त्रिलोकी के कण्टकों के शोधन हेतु होता है। इस प्रसंग में श्रीमद्भागवत के वचनों का भी स्मरण किया गया है। १३वें मन्त्र में 'वेट्' पद का अर्थ हमारे द्वारा दिये जा रहे पत्र, पुष्प, फल आदि हवि के रूप में भगवान् को समर्पित हों, किया गया है। २१वें मन्त्र में विश्वकर्मन् शब्द का अर्थ विश्वस्रष्टा है। श्रीमद्भागवत के प्रमाण से यहाँ बताया गया है कि भगवान् की अनुग्रह शक्ति से प्रेरित होकर ही जीव यज्ञ-याग आदि धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। २८वें मन्त्र में केनोपनिषद् के प्रमाण से असु, अर्थात् प्राण शब्द का परमात्मा अर्थ किया गया है। ३३वें मन्त्र में इन्द्र शब्द का निरंकुश ऐश्वर्य से सम्पन्न राम अर्थ है, जो कि खेल-खेल में रावण जैसे शत्रुओं को जीत लेते हैं। इस प्रसंग में श्रीमद्भागवत का श्लोक भी उद्धृत है। अग्रिम मन्त्र में 'युधः' शब्द से राम की वानर, भालू आदि की सेना के योद्धाओं को संबोधित किया गया है। इसी तरह से ३५वें मन्त्र की आध्यात्मिक संगति भी श्रीराम के साथ बैठा कर वाल्मीकि रामायण के चार श्लोक दिये गये हैं। आगे के कुछ मन्त्रों की संगति भी श्रीराम, हनूमान् आदि के साथ ही बैठाई गई है। ४०वें मन्त्र में रावण की अहंकार से तुलना कर बताया गया है कि श्रीराम, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनूमान्, अंगद, नल, नील, द्विविद, मन्द आदि सभी दिशाओं से आक्रमण करते हुए इसका नाश कर देते हैं। ४१वें मन्त्र में भी कुछ इसी प्रकार का प्रसंग है। ४४वें मन्त्र में भगवती सीता से प्रार्थना की गई है। रामायण, सप्तशती आदि के मत को उद्धृत करते हुए यहाँ बताया गया है कि इस मन्त्र की यह आध्यात्मिक व्याख्या श्रीवल्लभाचार्य महाराज के सिद्धान्त के अनुसार की गई है।

भगवान् भक्तों की रक्षा के लिये राम, कृष्ण आदि अवतार लेकर किस प्रकार जागरूक रहते हैं, इस विषय का प्रतिपादन ५६वें मन्त्र में भगवद्गीता, महिम्नस्तोत्र और श्रीमद्भागवत के प्रमाण से किया गया है। ५९वें मन्त्र में आदित्य शब्द का अर्थ आदित्यमण्डल में विद्यमान पुरुष किया गया है। ६२वें मन्त्र में रावण आदि से पीडित देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् विष्णु राम का अवतार लेते हैं, इसका प्रतिपादन वाल्मीकि रामायण के प्रमाण से किया गया है। ७१वें मन्त्र में बताया गया है कि सहस्राक्ष, सहस्रमूर्धा परमात्मा ही अग्नि हैं। इसी तरह से ७२वें मन्त्र में ऋग्वेद के प्रमाण से अग्नि, मित्र, वरुण और इन्द्र के समान गरुत्मान् सुपर्ण को भी परमात्मस्वरूप माना गया है। ७५वें मन्त्र में श्रीराम, श्रीकृष्ण और कल्कि अवतारों की चर्चा है। ७६वें मन्त्र की श्रीरामपरक व्याख्या तो की ही गई है, साथ ही महिम्नस्तोत्र में आये यविष्ट शब्द के आधार पर इसकी शिवपरक व्याख्या भी की गई है। ७९-८५ संख्या के मन्त्रों में श्रीमद्भागवत, कठोपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता आदि के प्रमाण से सर्वत्र ब्रह्मात्मकता की भावना का निरूपण किया गया है। ८७वें मन्त्र में बताया गया है कि यह भावना शालिग्राम में विष्णु की भावना की पद्धति से की जाती है। आगे पुनः परमेश्वर के रूप में अग्नि की उपासना वर्णित है। ९०वें मन्त्र में चतुःशृंग पद से ब्रह्म के विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय रूपों का अथवा विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत और तुरीय स्वरूपों का ग्रहण किया गया है। चतुःशृंग पद की यही व्याख्या ९१वें मन्त्र में भी दी गई है। इसके अतिरिक्त यहाँ त्रयः पादा, द्वे शीर्षे, सप्त हस्तासः, त्रिधा बद्धः, ऋषभः, रोरवीति आदि पदों की व्याख्या भी अवलोकनीय है। ९२वें मन्त्र में 'त्रिधा हितम्' पदों की व्याख्या में स्थूल, सूक्ष्म, और कारण रूपों का अभिधान किया गया है। अगले दो मन्त्रों में वाणी शब्द से वेदवाणी का ग्रहण कर भगवान् की स्तुति में उनका विनियोग किया गया है। इससे आगे के तीन मन्त्रों (९५-९७) में बताया गया है कि भागवतों के यज्ञ में अग्निस्वरूपी भगवान् को जो कुछ समर्पित किया जाता है, भक्तों के द्वारा भक्तिपूर्वक निवेदित उस उपहार को वे प्रेमपूर्वक

ग्रहण करते हैं, जैसा कि भगवद्गीता (९।२६) में कहा गया है। भक्तों के द्वारा समर्पित घृतधारा भी, अभिषुत सोम के समान, नवपरिणीता वधू के पति के पास पहुँचने के समान, भगवान् के पास पहुँच जाती है। अन्तिम दो मन्त्रों (९८-९९) में भगवान् के पार्षदों की और अग्निरूपी परमेश्वर की प्रार्थना की गई है।

१८ वें अध्याय के प्रारम्भ की २९ कण्डिकाओं में परमेश्वर से यज्ञ के द्वारा वाज आदि को कामनाओं की पूर्ति के लिये प्रार्थना की गई है। ५ वें मन्त्र में श्रद्धा, धन, मोद, क्रीडा आदि शब्दों के अर्थ प्रदर्शित हैं। २८ वें मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है कि इस मन्त्र की आध्यात्मिक व्याख्या भी ईश्वरपरक ही करनी चाहिये। इसी न्याय का अन्य मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या के लिये भी अनुकरण करना चाहिये। इसीलिये २९ वें मन्त्र में कहा गया है कि सिंह का शिशु जैसे सिंह ही होता है, उसी तरह से परमेश्वर का पुत्र भी परमेश्वर ही है। यहाँ 'अमृतस्य पुत्राः' (१०।१३।१) यह ऋग्वेद की ऋचा प्रमाण के रूप में उद्धृत है। आगे के कुछ मन्त्रों में बताया गया है कि सर्वात्मभूत भगवान् की ही यहाँ मरुत् आदि के रूप में स्तुति की जाती है। भक्तों का भगवान् ही अन्न है, यही भक्तों की सारी कामनाओं की पूर्ति करता है। दान, याग, पुत्रप्राप्ति, जयप्राप्ति इसी की कृपा से होती है। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि सब उस परमात्मा के ही रूप हैं। वही ऋताषाट् भी है। ४३ वें मन्त्र में वासिष्ठ रामायण के प्रमाण से बताया गया है कि वही ब्रह्मा, अव्याकृत, हिरण्यगर्भ और विराट् है और वही भूमि, बीज, अंकुर और वृक्षस्थानीय है। ४४ वें मन्त्र में साकेत, गोलोक, वैकुण्ठ और कैलाश की तथा अयोध्या, वृन्दावन, वाराणसी आदि की इहलोक और परलोक में स्थिति बताई गई है। अगले मन्त्र में बताया गया है कि भगवान् ही हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा के रूप में सारे प्रपंच पर शासन करते हैं, वायुरूप में उन्हीं को स्तुति की जाती है (पृ० २०३)।

आगे के कुछ मन्त्रों में 'इन्द्रं मित्रम्' (१।१६४।४६) इत्यादि ऋचा के आधार पर वरुण आदि की परमेश्वरता वर्णित है। इसी तरह से धर्म आदि भी परमेश्वर के ही रूप हैं। एक मन्त्र (१८।६०) में कर्मसमुच्चित उपासना करने वाले के हृदय में भगवान् निवास करते हैं, इस विषय का श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रमाण देते हुए उल्लेख किया गया है। अग्नि, अर्क, चित्याग्नि आदि के रूप में भी प्रत्यगात्मा ही प्रकाशित होती है (१८।६६)। पुरुहूत इन्द्र भी वही है; आदित्य, विद्युत् आदि के रूप में भी उसी की स्तुति की जाती है (१८।७३)। अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा, बृहस्पति, विश्वेदेव—ये सब स्वरूप उस प्रत्यगात्मा में अभिन्न रूप से स्थित हैं (१८।७६)।

१९ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में आये सुरा और सोम पदों का आध्यात्मिक अर्थ ब्रह्मविद्या और विवेक किया गया है। विवेक से सम्पन्न ब्रह्मविद्या की सहायता से सब कुछ मंगलमय हो जाता है। यह सारा संसार उसके लिये नन्दन-वन बन जाता है। द्वितीय मन्त्र में परमात्मा की सर्वात्मकता प्रतिपादित है। जैसे घट, शराव, उदंचन आदि मिट्टी के विस्तार मात्र हैं, उसी तरह से याग, यागांग, द्रव्य, देवता आदि में भी ब्रह्म का ही विस्तार है। आगे के मन्त्रों में साम्ब सदाशिव से प्रार्थना की गई है। ७ वें मन्त्र में निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग चर्चित हैं। १० वें मन्त्र में बताया गया है कि विषूचिका स्वरूपिणी अविद्या की बाधा को दूर कर जो साधक कूर्म के अंग के समान विषयों से अपने को समेट लेता है, वह अवश्य ही परमात्मा को प्राप्त करता है। १३ वें मन्त्र में रूपकालंकार की शैली से इन्द्र को अनधिकारी जीव, अश्विनी-कुमारों को प्राणापान और सरस्वती को त्रयीलक्षणा वाक् कहा गया है। यहाँ अनेक मन्त्रों में भगवान् की सर्वात्मकता का विविध रूपों में वर्णन है। २६ वें मन्त्र में बताया गया है कि प्रातःसवन आदि के अनुष्ठान से बुद्धि की शुद्धि के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होती है। ३१वें मन्त्र में इस सारे जगत् को यज्ञात्मक विष्णु का स्वरूप कहा गया है। ३४ वें मन्त्र में नमुचि की मोह (अज्ञान) के रूप में कल्पना कर कहा गया है कि तत्त्वज्ञान के बिना इसकी निवृत्ति नहीं होती।

३६ वें मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ विशेष रूप से अवधेय है। यहाँ पिता, पितामह और प्रपितामह को परमात्मा का ही स्वरूप बताया गया है और महाभारत एवं भगवद्गीता के प्रमाण से कहा गया है कि किस प्रकार

परमात्मा के इन स्वरूपों की उपासना करनी चाहिये । आगे बताया गया है कि इनकी उपासना न करने पर ये क्रुद्ध हो जाते हैं । अतः इनकी सौम्यता के लिये उपासना अपेक्षित है । ४२ वें मन्त्र में पवमान को वेदान्त की दृष्टि से ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा है । ४३ वें मन्त्र में भगवद्गीता के प्रमाण से ज्ञान की निर्मल पवित्र शक्ति को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है । अगले मन्त्र में दुर्गासप्तशती के विस्तृत उद्धरण के आधार पर वैश्वदेवी भगवती की आराधना वर्णित है । यही राज-राजेश्वरी सौन्दर्यलहरी के प्रमाण से नीप वन में निवास करती है, मोक्षलक्ष्मी को देने वाली है । ४७ वें मन्त्र में भगवद्गीता के प्रमाण से देवयान और पितृयान मार्ग का उल्लेख कर इनकी महिमा वर्णित है । यहीं ब्रह्मसूत्र आदि के प्रमाण से इन द्विविध गतियों का निरूपण कर भगवान् शंकराचार्य की पद्धति से आतिवाहिक मार्ग आदि का भी स्वरूप प्रदर्शित है (पृ० २६७-२६९) । जिज्ञासुओं के लिये यह प्रकरण विशेष रूप से अवधेय है ।

अगले मन्त्र (१९।४८) में अन्न, पयस्, रेतस् जैसे शब्दों का आध्यात्मिक अर्थ किया गया है । अगले कुछ मन्त्रों में अभियुक्तवचन, महाभारत, भागवत पुराण आदि के प्रमाण पर सौम्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त आदि पितरों को और कव्य-वाहन जातवेदा को परमात्मा का ही स्वरूप मान कर उनकी उपासना विहित है । ७१ वें मन्त्र में इन्द्र को परमेश्वर के रूप में वर्णित कर कहा गया है कि इनकी कृपा के बिना नमुचि रूपी अज्ञान का आवरण नष्ट नहीं होता । ७४ वें मन्त्र में बताया गया है कि नीर और क्षीर के विवेक में निपुण हंस के समान जो साधक सार और असार तत्त्वों के विवेक में निपुण है, वह सांसारिक मृगतृष्णा में न पड़ कर शिवामृत का पान करता है । अगले मन्त्र में बताया गया है कि राजस और तामस वृत्तियों से मुक्त जीव ही मायामय पाश को काट सकता है । ७७ वें मन्त्र में कहा गया है कि परमेश्वर ही सत्य और असत्य के भेद का उपदेशक है । तदनुसार ही जीव में आस्तिक और नास्तिक भाव जागृत होते हैं । ८० वें मन्त्र का उपदेश है कि आचार्य और त्रयी विद्या से प्राप्त ज्ञानरूपी यज्ञ का अनुष्ठान करने से ही जीव का उपाधिजन्य सांसारिक स्वरूप विलीन होकर शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है । इस अध्याय के अन्तिम कुछ मन्त्रों में पुनः परमेश्वर की सर्वात्मकता वर्णित है । ८९ वें मन्त्र में बताया गया है कि सौत्रामणी गत स्थाली आदि पात्र ही इन्द्र के रुग्ण शरीर को स्वस्थ करने के लिये आंत आदि का रूप धारण कर लेते हैं । यह सब उस परमात्मा का लीलाविलास है । वही सौत्रामणी का और उसके उपकरणों का भी रूप धारण कर लेता है । इन सबसे उस परमात्मा का सार्वात्म्य ही प्रकट होता है । अन्तिम मन्त्र (१९।९५) में सौत्रामणी याग के उपदेशक उस परमात्मा के प्रति नमस्कार निवेदित है ।

इस खण्ड के अन्तिम २० वें अध्याय के अनेक मन्त्रों में साधक अपनी, अपने विविध अंगों की तथा धन, ऐश्वर्य और यश की रक्षा के लिये भगवान् से प्रार्थना करता है । मन्त्रद्रष्टा कहता है कि हे परमेश्वर आपके इन भक्तों की आप रक्षा करें । प्रथम मन्त्र में ही बताया गया है कि अंकुश के बिना जैसे हाथी और लगाम के बिना जैसे घोड़ा अनियमित हो जाता है, उसी तरह से क्षात्र धर्म परमात्मा के नियन्त्रण के बिना पथभ्रष्ट हो सकता है, धर्मविरोधी आचरणों में लिप्त हो सकता है । तृतीय मन्त्र के अश्विनी शब्द से अश्विनीकुमारों के समान परम सुन्दर भवरोग के वैद्य राम और लक्ष्मण का ग्रहण किया गया है । 'पृष्ठीर्मे' (२०।८) मन्त्र में साधक को राष्ट्र के प्रति समष्टिभावना का उपदेश है, क्योंकि व्यष्टिभावना मृत्यु को और समष्टिभावना अमृतत्व को प्राप्त कराती है । नवें मन्त्र में साधक अपने नाभि आदि अंगों में चित्त आदि की भावना करता है । अगले मन्त्र में पुनः समष्टि भावना का उपदेश है । ११ वें मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि ३३ देवता ब्रह्मज्ञान की सम्पत्ति प्रदान कर अविद्यालक्षण संसार से हमें मुक्ति दिलावें । अगले मन्त्र में रक्षा का प्रकार प्रदर्शित है कि ब्रह्मात्मसाक्षात्कार में श्रुति और सूत्र के अनुसार साधक सभी की अपेक्षा रखता है । १३ वें मन्त्र में प्रतिपादित है कि साधक भौतिक व्यष्टि कार्यकारणसंघात रूप न होकर समष्टिभावना द्वारा ज्ञेय हिरण्यगर्भ-स्वरूप है । आगे साधक वायु, सूर्य, मासर कुम्भ आदि के विभिन्न रूपों में विद्यमान परमात्मा की प्रार्थना करता है । १९ वें मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि साधक का हृदय ब्रह्माकाराकारित वृत्ति से ब्रह्मानन्द रस से परिपूर्ण हो जाय, काम-क्रोध आदि उसके आध्यात्मिक शत्रु पराभूत हों ।

२१वें मन्त्र में ब्रह्म के उपासक अपने अनुभव का वर्णन करते हैं और २३वें मन्त्र में जगत् के यावत् पदार्थों की प्रकाशिका चिति-शक्ति की स्तुति है। इसी तरह से अगले मन्त्र में व्रतपति अग्निस्वरूप परमात्मा स्तुत हैं। आगे बताया गया है कि ब्राह्म और क्षात्र तेज को सदा अविरोध भाव से रहना चाहिये। २६वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि वेदों में ब्रह्म के पर और अपर दोनों ही रूप प्रसिद्ध हैं। २७-२८ मन्त्रों में विश्वविस्मारिका ब्रह्मानन्दानुभूति की प्रार्थना है। ३३वें मन्त्र में निवेदनीय द्रव्य के प्रति उक्ति है कि मैं तुम्हें राम और लक्ष्मण, बलदेव और श्रीकृष्ण एवं ज्ञानरूपिणी सरस्वती के लिये, निर्गुण-निराकार परमात्मा के लिये ग्रहण करता हूँ। अगले मन्त्र में निवेदित द्रव्य की प्रार्थना है। ३६वें मन्त्र का कहना है कि इन्द्ररूपी परमात्मा धर्ममेघ नामक समाधि के विविध मार्गों का उद्घाटन करता है। ३७वें मन्त्र में वानर, भुसुण्डी, गरुड़ आदि से परिवृत भगवान् श्रीराम की आराधना का विधान है और आगे के तीन मन्त्रों (२०।३८-४०) में श्रीराम की महिमा वर्णित है।

४१वें मन्त्र में बताया गया है कि तूलाविद्या और मूलाविद्या, अर्थात् बुद्धि और प्रकृति मिल कर नाना जन्मों के कर्मों की वासना से मलिन होकर परमात्मा को अपने स्वरूप में न देख कर जगत् के रूप में देखने लगती है। अगले मन्त्र में सत्त्व और क्षेत्रज्ञ का होता के रूप में वर्णन है और ४३वें मन्त्र में सुषुम्ना, इडा और पिंगला नामक तीन नाड़ियाँ वर्णित हैं। ४५वें मन्त्र में बताया गया है कि यूपभावापन्न परमात्मा, अथवा वृक्षभावापन्न यमलार्जुन पाशबद्ध भगवान् श्रीकृष्ण के स्पर्श से जैसे मुक्त हो गये, उसी प्रकार दुग्ध, दधि नवनीत आदि से उनकी सेवा करने वाला साधक भी अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अगले मन्त्रों (२०।४७-४९) में श्रीराम की, तब (२०।५०-५२) इन्द्र की स्तुति है। इस प्रसंग से दो विशिष्ट श्लोक भी यहाँ उद्धृत हैं (पृ० ३३९)। आगे बताया गया है कि भक्तगण विष्णु, राम अथवा कृष्ण को अपनी भावना के अनुसार भजते हैं। यहाँ भी भक्तियोग के प्रतिपादक दो विशिष्ट श्लोक हैं (पृ० ३४१)। ५५वें मन्त्र में 'अश्विनौ' पद का अर्थ सीताराम अथवा पार्वतीपरमेश्वर तथा घर्म पद का 'ध्यान' अर्थ कर भक्त की भावना को अभिव्यक्ति दी गई है। ५६वें मन्त्र में श्रीमद्भागवत और सीतोपनिषद् के प्रमाण से राम, लक्ष्मण और सीता की आराधना वर्णित है। आगे के मन्त्रों में विष्णुपुराण के अनुसार भक्ति को महिमा बताते हुए भक्ति-मन्दाकिनी बहाई गई है। इस अध्याय में अश्विनी और सरस्वती पदों के अनेक अर्थ किये गये हैं।

६१-६२ मन्त्रों में विद्या और अविद्या दशा का वर्णन है। यहाँ बताया गया है कि ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, एक के बिना दूसरी कुछ भी करने में असमर्थ है। देह, बुद्धि आदि और श्रवण, मनन आदि अविद्या के विलास हैं और इन्हीं से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। ६४वें मन्त्र में अश्विनी पद से शास्त्र और आचार्य का तथा सरस्वती पद से उपासना लक्षणा विद्यारूपी औषधि का ग्रहण कर बताया गया है कि इनके सेवन से पाशविक कल्पनाओं के निवर्तक वैदिक काम-कर्मों की प्रवृत्ति होती है और इससे भगवान् के प्रति प्रेमभाव अंकुरित होता है। ६५वें मन्त्र में भुशुण्डीरामायण और रामचरितमानस के अनुसार वर्णित है कि ऋतुकाल की प्रतीक्षा किये बिना ही वृक्ष श्रीराम के लिये फल प्रदान करने लगे थे। अश्विनी और सरस्वती पदों के अनेक अर्थों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। ७८वें मन्त्र में जगत् की अग्नीषोमात्मकता का निरूपण है। सोम प्रकृति और अग्नि पुरुष है। इनके संयोग से विश्व की उत्पत्ति होती है। आगे के मन्त्रों में विविध रूपों में भगवान् की स्तुति की गई है। यहाँ ब्रह्माकाराकारित चित्तवृत्ति के निष्पन्न होने की प्रक्रिया भी वर्णित है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र (२०।९०) में यह कामना की गई है कि श्रीराम सीता के प्रति पत्नीबुद्धि से और लक्ष्मण मातृबुद्धि से प्रीतिमान् होकर भक्त समर्पित द्रव्य का सोमबुद्धि से पान कर भक्त पर अनुग्रह करते हैं।

स्वामी दयानन्द के भाष्य की समालोचना

वेदार्थपारिजातकार ने स्वामी दयानन्द के भाष्य का चुन-चुन कर खण्डन किया है। इसकी सामान्य प्रक्रिया पर ११-१५ अध्यायों के भाष्य-निष्कर्ष (पृ० २३-२५) में प्रकाश डाला गया है, अतः यहाँ पिष्टपेषण से बचने के लिये १६-२० अध्यायों में आये कुछ विशेष स्थलों की ही चर्चा की जायगी।

१६वें अध्याय में अपरस्तु, अपरस्त्वाह, अपर आह, अन्य आह इत्यादि शब्दों से स्वामी दयानन्द ही बोधित हैं। यहाँ इन्होंने रुद्र पद का अर्थ राजा किया है, यह "रूढियोगमपहरति" इस प्रसिद्ध न्याय के विपरीत है। द्वितीय मन्त्रगत गिरिशन्त पद का और आगे भी इसी तरह के अनेक पदों का अर्थ इन्होंने छोड दिया है। अनेक स्थलों पर पदों का अर्थ करते समय सायण आदि का अनुसरण किया है, किन्तु कहीं-कहीं उसको विकृत कर दिया है और उसके लिये कोई प्रमाण नहीं दिया। इनके बताये अनेक अर्थों से वेदों की अज्ञातज्ञापकता नष्ट हो जाती है। सप्तम मन्त्र के दयानन्दीय अर्थ की विशेष रूप से समालोचना की गई है। भाषानुवाद के सहारे जिज्ञासुओं को इसे अवश्य देखना चाहिये। नमः पद का अर्थ नमस्कार होता है, किन्तु यहाँ (पृ० २१) अन्न आदि भोग्य पदार्थ, शस्त्रास्त्र-बल आदि किया है, जिसमें कि कोई प्रमाण नहीं दिया गया। ९वें मन्त्र में मुच् धातु का योजन अर्थ कर 'परावत' क्रिया पद से शत्रु पद का अध्याहार किया है। इस प्रकार के अध्याहार में कोई प्रमाण नहीं है। १०वें मन्त्र में 'किम्' शब्द की आक्षेपार्थकता तथा कपर्द पद का मुकुट के अर्थ में प्रयोग भी निष्प्रमाण है। इसी तरह से आगे के मन्त्रों में शस्त्रागार, शतघ्नी जैसे शब्दों का प्रयोग वेदविरुद्ध है। कुछ शब्दों का दुबारा प्रयोग भी शास्त्रविरुद्ध है।

अनेक जगह इन्होंने काल्पनिक अर्थों की योजना की है। १४वें मन्त्र में रुद्र की बाहुओं का वर्णन है। यह वर्णन उनके निराकारवाद के विपरीत पड़ता है, अतः उन्होंने इसका अर्थ पार्श्ववर्तिनी सेना कर दिया। १५वें मन्त्र में ईश्वर पर आरोपित वैषम्य और नैर्घृण्य दोषों का परिहार किया गया है और शास्त्रों के प्रमाण से यह भी बताया गया है कि भक्ति और स्तुति से सभी प्रकार के प्रत्यवाय दूर हो जाते हैं। स्वामी दयानन्द ने भी इस बात को स्वीकार किया है, किन्तु उनके अनुसार मन्त्र में संयोजित राजा अथवा सेनापति स्तोता के जन्मान्तरीय कर्मों में परिवर्तन करने में सामर्थ्यहीन हैं। आगे के मन्त्रों में हिरण्यबाहु आदि पदों का इन्होंने सेनापति, शिल्पी, सेवक, राजमन्त्री आदि अर्थ किया है, जिससे कि निराकारवाद को बचाया जा सके, किन्तु वहां इनकी कोई संगति नहीं बैठती। नमः शब्द का अर्थ सर्वत्र अन्न नहीं किया जा सकता। वेद में सेना, राष्ट्र, राज्य आदि शब्दों का प्रयोग वेद की प्रकृति के विपरीत है। इस अध्याय के २३ से ६५ संख्या तक के मन्त्रों का दयानन्दीय अर्थ इसी पद्धति पर चला है, अतः यहाँ उनका अलग से उल्लेख न कर अन्तिम ६६वें मन्त्र में बताया गया है कि स्वामी दयानन्द ने यद्यपि अनेक स्थानों पर इन मन्त्रों में आये पदों का अर्थ उव्वट और महीधर के अनुसार ही किया है, तो भी अनेक पदों का अर्थ करने में अपनी मनमानी को छोड़ा नहीं है। अनेक पदों की इस प्रकार की असंभव व्याख्या का यहाँ उल्लेख किया गया है। भाषानुवाद के सहारे उसको देखा जा सकता है।

१७वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में स्वामी दयानन्द पर्वताकार मेघों में छिपी विद्युत् के उपयोग के लिये वायु के समान क्रियाकुशल मनुष्यों की बात करते हैं। यह अर्थ मुख्यार्थ के त्याग और गौणार्थ के ग्रहण के बिना सम्भव नहीं है और ऐसा अर्थ की अनुपपत्ति के बिना नहीं किया जा सकता। दूसरे मन्त्र में इन्होंने इष्ट का अर्थ यज्ञसामग्री और अग्नि का अर्थ विद्वान् किया है, किन्तु ऐसा करने का प्रयोजन क्या है, यह उन्होंने नहीं बताया। आगे के मन्त्रों में कहीं स्त्री, कहीं सभापति, कहीं विदुषी स्त्री और कहीं विद्वान् पुरुष को सम्बोधित किया गया है। इन सब पदों का यौगिक अर्थ तब तक नहीं लिया जा सकता, जब तक कि रूढि विद्यमान हो। यहाँ कुछ पदों का अर्थ ही नहीं किया। १०वें मन्त्र में सेनापति को सम्बोधित कर बल (सेना) और राज्य की चर्चा है, किन्तु ये दोनों पद मन्त्र में हैं ही नहीं। मन्त्रगत 'ततृपाणः' पद का अर्थ भी यहाँ गलत किया गया है। इसी तरह से ११वें मन्त्र में नमः, हेतयः, शिवः—इन पदों के अर्थ सही नहीं दिये गये हैं। १२वें मन्त्र में सभापति के न्यायासनस्थ होने का निर्देश और वेट् पद की विविधार्थता भी विचारणीय है। १३वें मन्त्र में विद्वान् का अहुताद विशेषण अनावश्यक है, क्योंकि यदि कोई विद्वान् हुताद होता, तब इसकी आवश्यकता पड़ती। १९वें मन्त्र में स्वामी दयानन्द परमाणुओं से आकाश की उत्पत्ति की बात कहते हैं। यह कथन स्पष्ट ही श्रुति और दर्शनशास्त्र के भी विपरीत है। यही स्थिति इस मन्त्र के बाहु, पाद आदि शब्दों के अर्थ की भी है। अनेक पदों का अर्थ स्वामी दयानन्द ने मनमाना किया है। २५वें मन्त्र में प्रजापुरुषों को सम्बोधित कर 'चक्षु' का अर्थ उपदेशक किया है। यह सारा अर्थ अस्त-

व्यस्त है। उपदेशक का पिता कौन है? वह घृत को कैसे पैदा करता है? उसको ऐसा करने का अधिकार किसने दिया? यह सब कुछ 'अव्यापारेषु व्यापारम्' है।

२६वें मन्त्र की व्याख्या में दोष यह है कि यहाँ यम्, प्राप्य और जीव पद का निर्मूल अध्याहार किया गया है। 'सप्त ऋषीन्' शब्दों से पाँच प्राणों के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है। मरीचि आदि सात ऋषि शास्त्रों में अवश्य प्रसिद्ध हैं। २८वें मन्त्र में भी अनेक पदों और क्रियाओं की उनके बताये अर्थ में शक्ति नहीं है। यही स्थिति २९वें मन्त्र के प्रथम और गर्भ शब्दों की है। ३० वें मन्त्र में निर्विकार ब्रह्म में गर्भाधान की चर्चा निष्प्रमाण है। भगवद्गीता में प्रकृति अथवा शक्ति का कारण के रूप में वर्णन है, गर्भ के रूप में नहीं। ३१ वें मन्त्र में नीहार पद का अर्थ धूम किया गया है। यह भी निष्प्रमाण है। ३२ वें मन्त्र में धनंजय को प्राणों का पिता मान कर आकाश से भी पहले उसकी उत्पत्ति बताई गई है। धनंजय की उपप्राणों में गणना की जाती है। वह प्राणों का पिता कैसे हो सकता है? फिर प्राण तो वायुरूप है। ऐसी स्थिति में उसकी आकाश से पहले उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है? इन्द्र पद का अर्थ सेनापति करना भी निर्मूल है (पृ० ११४)। भुशुण्डी, शतघ्नी आदि अर्थों की कल्पना भी निराधार है (पृ० ११५)। इन्द्र, बृहस्पति आदि शब्दों की मुख्यार्थता के रहते उनका गौणार्थ करना गलत है, किन्तु अर्धनास्तिथों को ऐसा अर्थ करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। ४४ वें मन्त्र में 'निर्ऋति' पद का अर्थ 'प्राणापनेत्री क्षत्रिया' किया है। यह ठीक नहीं है। वस्तुतः 'निर्ऋति' 'प्राणापनेत्री कृत्या' का पर्याय है, क्षत्रिया से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस मन्त्र की व्याख्या महात्मा दयानन्द ने ऐसी की है, जो कि उनकी ही उक्ति के विपरीत है।

४५ वें मन्त्र में बाणविद्या में कुशल सेनापति को पत्नी के युद्ध में जाने की चर्चा की गई है। वीर पुरुषों के रहते ऐसी कल्पना आर्यमर्यादा के विपरीत है। ४६ वें मन्त्र की व्याख्या में दोष यह है कि यहाँ समीपस्थ पदों का अन्वय न कर उनको दूरस्थ पदों से संयोजित किया गया है, जो कि उचित नहीं माना जाता। ४७ वें मन्त्र में अपव्रत और तमस् शब्द का अर्थ गलत किया गया है। दूरस्थ पदों से अन्वय करने का दोष ५१ वें मन्त्र में भी है। ५४ वें मन्त्र में यज्ञ पद का अर्थ गृहाश्रम और देव पद का अर्थ विद्वान् किया है। यह सब सही नहीं है। इस विषय की चर्चा भूमिका-भाग के देवता सम्बन्धी प्रकरण में विस्तार से हो चुकी है। सूत्र और ब्राह्मण ग्रन्थों के विपरीत व्याख्या करना तो इनकी क्षेत्रिय व्याधि है, स्वभाव बन गया है (पृ० १२८)। उक्थ आदि वैदिक शब्दों के अर्थों का या तो इनको ज्ञान नहीं है, अथवा ये जानबूझ कर इनका मनमाना अर्थ करते हैं। 'घर्म' पद 'महावीर' के अर्थ में प्रयुक्त है। उसका अर्थ 'अग्निहोत्र' कथमपि नहीं हो सकता (१७।५५)। अगले मन्त्र में बताया गया है कि संनिधान आदि से उपस्थित योग्य पद को छोड़ कर अनुपस्थित दूरस्थ पद से अन्वय जोड़ना उचित नहीं माना जाता। विद्वान् मनुष्य की प्रसन्नता के लिये यज्ञ करने की कोई आवश्यकता नहीं है, वह तो अन्य कार्यों से भी प्रसन्न हो सकता है। जगत् को धारण करने की सामर्थ्य उसमें है भी नहीं। ५८ वें मन्त्र की समालोचना में बताया गया है कि 'ददाति' पद का मन्त्र में अभाव है और मन्त्र में आये केश पद का अर्थ यहाँ नहीं दिया गया है। विद्या पद भी मन्त्र में नहीं है। स्वामी दयानन्द के भाष्य में इस प्रकार के दोष सामान्य रूप से अनेक स्थलों पर मिलते हैं कि वे निर्मूल अध्याहार करते रहते हैं और मन्त्रगत कुछ अनभीष्ट पदों को अपनी व्याख्या में छोड़ देते हैं। ५९ वें मन्त्र में उन्होंने 'अभिचष्टे' पद का अर्थ गलत किया है और सविता को स्थिर सिद्ध किया है, जो कि "देवो याति भुवनानि पश्यन्" इस मन्त्र वचन के विपरीत है। सविता की स्थिरता को भूमिका-भाग में स्थापित किया जा चुका है।

६० वें मन्त्र में अन्ति अथवा अन्तु शब्द का अर्थ बन्धन दिया है, जो कि हमारे लिये विचारणीय है। ६२ वें मन्त्र में बताया गया है कि शाब्दी मर्यादा का उल्लंघन उच्छृङ्खलता को ही जन्म देता है। इस पद्धति से अर्थ करने पर तो उनके अपने मत के विपरीत भी बातें उसी मन्त्र से निकाली जा सकती हैं। यहाँ (१७।६२) 'देवान्' पद का अर्थ दिव्य गुण अथवा दिव्य भोग करना उसी का उदाहरण है। ६३ वें मन्त्र में सेनापति पद है ही नहीं। यही स्थिति ६४ वें मन्त्र की है। वहाँ सेनापति पद का प्रयोग द्विवचन में किया गया है, जिसका कोई आधार नहीं है। ६६ वें मन्त्र में सभेश का पूर्व

दिशा में गमन किस लिये निर्दिष्ट है, इसका कोई प्रयोजन वहाँ नहीं बताया गया । सिद्धान्त पक्ष में तो आहवनीय अग्नि की स्थिति यज्ञशाला की पूर्व दिशा में रहने से प्राचीगमन उचित ही है । द्यावापृथिवी के मध्य में सोपाधिक सुख की ही प्राप्ति हो सकती है, आत्यन्तिक सुख की नहीं । भगवद्गीता में भी यही बात कही गई है (पृ० १४१) । ७१ वें मन्त्र में अक्षि पद का अर्थ चक्षु तो हो सकता है, किन्तु चक्षुर्विज्ञान अर्थ बिना लक्षणा के सम्भव नहीं है और लक्षणा के लिये अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति अपेक्षित है, जो कि यहाँ नहीं है । ७२ वें मन्त्र में पर्ण शब्द का अर्थ पूर्ण तथा गरुत्मान् का अर्थ गुर्वात्मा क्रिया है । प्रक्षेप और अध्याहार द्वारा व्याख्या करना कभी उचित नहीं माना जाता । इस मन्त्र में सविता, राज्यम् आदि पदों का निरर्थक आक्षेप किया गया है, जब कि सिद्धान्त की पद्धति से बिना इन पदों का आक्षेप किये मन्त्रार्थ परिपूर्ण हो जाता है । अगले मन्त्र में अग्नि पद का अर्थ योगाभ्यास से प्रकाशित आत्मा किया है । इसी तरह से सुप्रतीक, योनि, विश्वेदेव आदि शब्दों का मनमाना अर्थ कर दिया गया है । शब्दशास्त्र की इस अराजकता की चर्चा यहाँ अनेक स्थलों पर की जा चुकी है ।

७४ वें मन्त्र में कण्व पद के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ दिया गया है और यहाँ अविद्यमान यथा-तथा पदों का निरर्थक अध्याहार किया गया है । ७५ वें मन्त्र में अग्नि पद का अर्थ योगी किया है । बिना लक्षणा के यह सम्भव नहीं है । योगाग्नि में दुःख के होम की बात भी निराधार है । भगवान् पतंजलि द्वारा प्रदर्शित चित्तवृत्ति के निरोध से अवश्य दुःख की निवृत्ति हो सकती है । चार्वाक दर्शन का अनुसरण करते हुए स्वामी दयानन्द ने सिद्धियों को अस्वीकार कर दिया है । अतः संकल्प की सिद्धि से भी ऐसा नहीं हो सकता । ७८ वें मन्त्र में चित्ति और जुहोमि पदों का अर्थ निराधार है । ७९ वें मन्त्र में अग्नि की सात समिधाओं का उल्लेख किया है, किन्तु उनके नाम नहीं बताये गये । सात ऋषियों के रूप में प्राण, अपान आदि का ग्रहण किया है, जब कि इनकी संख्या १० है । धाम पद से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ग्रहण भी प्रतारणामात्र है । सात होता और सात ऋत्विक् कौन हैं ? यह भी यहाँ प्रदर्शित नहीं है । ८०वें मन्त्र में ईश्वर को ज्योतिर्मय बताया गया है । आपके मत से निराकार ईश्वर कैसे ज्योतिर्मय हो सकता है ? ८४वें मन्त्र में मरुत् पद का अर्थ विद्वान् किया है । इसी तरह से इस मन्त्र में 'सदृक्षासः' इत्यादि अनेक पदों का अर्थ निराधार है । ८६ वें मन्त्र में इन्द्र पद का अर्थ सामान्य राजा कर विद्वानों की प्रजा और मूर्खों की प्रजा का उल्लेख है । यह सब निराधार कल्पनामात्र है । अभ्युदय और निश्रेयस की सिद्धि ही वेदोपदेश का प्रयोजन है । इसके विपरीत अर्थ को उसमें से निकालना अनुचित है । फिर शब्द की ज्ञापकता ही शास्त्र-निर्दिष्ट है, कारकता नहीं (पृ० १६१) । ८९ वें मन्त्र में ऊर्ध्वगामिनी मधुमती तरंगों का उल्लेख किया गया है, किन्तु ऐसी तरंगें न तो शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं और न कहीं उपलब्ध ही हैं । अगले मन्त्र में भी अवमीत् यज्ञ आदि पदों का निराधार अर्थ किया गया है ।

'चत्वारि शृङ्गाः' (१७।९१) मन्त्र की व्याख्या में इनको अनपेक्षित रूप से निरुक्त का सहारा लेना पड़ा है, किन्तु महाभाष्यकार और निरुक्तकार ने यहाँ यज्ञ, सवन आदि की जो व्याख्या की है, उसे ये स्वीकार नहीं करते । इनके मत से वायुशुद्धिमात्र यज्ञ का प्रयोजन है । इसके लिये सवनों की कोई अपेक्षा नहीं है । कात्यायन सूत्रों को ये प्रमाण नहीं मानते । उनके बिना प्रायणीय, उदयनीय आदि शब्दों का अर्थ कैसे ज्ञात हो सकता है ? 'सिन्धोरिव' (१७।९५) मन्त्र में लहरियों को वात से अनुमेय बताया गया है । लहरियाँ तो प्रत्यक्ष हैं, इसके लिये अनुमान की अपेक्षा नहीं है । हाथी जब सामने खड़ा हो तब चीत्कार से उसका अनुमान करने की क्या आवश्यकता है ? अगले मन्त्र में वाणी को घृत, अर्थात् ज्ञान की धारा बताया गया है । इसकी प्रस्तुत मन्त्र से कोई संगति नहीं बैठती । ९८वें मन्त्र में स्त्री-पुरुषों को सम्बोधित कर धन और प्रशंसा प्राप्त करने को कहा गया है । यह सब तो रागप्राप्त है, इसके लिये उपदेश की अपेक्षा नहीं रहती । 'अभ्यर्षत' क्रिया का 'प्राप्ति' अर्थ भी निराधार है । संग्राम की प्राप्ति किसी के भी लिये कभी अभीष्ट नहीं हो सकती । इस अध्याय के अन्तिम (१७।९९) मन्त्र में जगदीश और सभापति को सम्बोधित कर जो कहा गया है, वह सर्वथा अस्पष्ट है ।

सभापति के प्राणों के भीतर संसार की कल्पना भी निराधार है। सिद्धान्त पक्ष में तो "विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यम्" इत्यादि दक्षिणामूर्तिस्तोत्र की पद्धति से संगति बैठ जाती है।

१८वें अध्याय के 'वाजश्च' (१८।१-२७) इत्यादि मन्त्रों में आये चकारों के तथा 'वाजः' इत्यादि पदों के स्वामी दयानन्द ने बिना प्रमाण के मनमाने अर्थ किये हैं। उनको किसी भी प्रकार से प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये शतपथ ब्राह्मण, श्रौतसूत्र आदि के द्वारा समर्थित अर्थ के पूरी तरह से विपरीत हैं। पारिजातभाष्यकार ने उस विषय को ७, २१ और २४वें मन्त्र में उक्त मत के खण्डन के अवसर पर स्पष्ट कर दिया है। २९वें मन्त्रपर्यन्त स्वामी दयानन्द के व्याख्यान की यही स्थिति है।

३१ वें मन्त्र में विद्वान् मनुष्यों से अभीष्ट सिद्धि की प्रार्थना की गई है, किन्तु विद्वान् सभी मनुष्यों की कामना पूरी नहीं कर सकता। अगले मन्त्र की भी यही स्थिति है, क्योंकि अन्न आदि की प्राप्ति प्रयत्न से होती है, प्रार्थनामात्र से नहीं। शस्त्र के प्रहार से भी उपदेशमात्र से कोई बच नहीं सकता। ३३ वें मन्त्र में मनुष्यों को संबोधित कर जड़ अन्न की प्रार्थना का निर्देश किया गया है। जड़ पदार्थ की कोई क्यों प्रार्थना करेगा ? वेग रूप गुण की सहायता से वसन्त आदि ऋतुएँ समीचीन गुणों का समर्थन करती है, इस अर्थ की क्या संगति है ? 'वाजः' (१८।३४) इत्यादि मन्त्र में जयेयम् और यत् पद का बिना प्रमाण के अध्याहार किया गया है। ३५वें मन्त्र की व्याख्या में भोक्ता, अर्थात् शुद्ध आत्मा के पृथिवी, जल और ओषधि से संमिश्रण की चर्चा है। यह कैसे संभव होगा ? मन्त्र में यह शब्द है भी नहीं। ३७वें मन्त्र में अभिषेक से वाक्सिद्धि और ऐश्वर्य-प्राप्ति की चर्चा है, किन्तु अभिषेक से कोई पुण्य या अदृष्ट उत्पन्न होता है, इस बात को जब आप स्वीकार नहीं करते, तो यह कैसे संभव हो सकता है ? 'ऋताषाट्' (१७।३८) मन्त्र की इनकी व्याख्या भी यहीं भाष्य में उद्धृत श्रुति के विपरीत होने से प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। स्वाहा और वाट् इन दो शब्दों का प्रयोग एक साथ क्यों किया गया, इसका भी इनके पास कोई उत्तर नहीं है। ३९वें मन्त्र की व्याख्या भी श्रुति के विपरीत ही है। कोई भी विद्वान् सूर्य नहीं हो सकता और न पृथिवी को धारण ही कर सकता है। भाष्यकार ने इस मन्त्र की व्याख्या में अन्य भी अनेक विसंगतियां दिखाई हैं। ४०वें मन्त्र में किया गया वाट् और स्वाहा पदों का अर्थ भी वैदिक मर्यादा के विरुद्ध है।

४४वें मन्त्र में तो इनकी संस्कृत और हिन्दी व्याख्या में भी परस्पर कोई संगति नहीं है। ४९वें मन्त्र की व्याख्या में भी अनेक विसंगतियां हैं। यजमान जिसको चाहता है, जिसको प्राप्त करता है, वक्ता उसको कैसे प्राप्त कर सकता है ? मनुष्य से आयु आदि की कामना पूरी तरह से असंगत है। ५०वें मन्त्र में यह शंका उठती है कि किसकी सत्यक्रिया से किस विधि से घर्म आदि सुखतुल्य हो जाते हैं ? मनुष्यों की सत्क्रिया से यह संभव नहीं है, उनमें तो असत्क्रिया भी रहती है, उससे दुःखतुल्यता भी उत्पन्न हो सकती है। इस मन्त्र का भावार्थ तो पूरी तरह से मन्त्राक्षरों से विपरीत है। ५२ वें मन्त्र में मनुष्य के दो पंखों की चर्चा की गई है, जिससे कि वह दुष्टों को मारता है। कार्यकारणभाव को हम पंख नहीं कह सकते, क्योंकि उनसे वह उड़ नहीं सकता। इधर के सारे मन्त्रों में यहाँ विद्वान् को सम्बोधित किया गया है, किन्तु मनुष्य में वह सामर्थ्य नहीं हो सकती, जिसकी कि इन मन्त्रों में चर्चा है। चेतन विग्रहवती देवता को ये स्वीकार नहीं करते। मनुष्य में जल की नदी बहा देने की भी सामर्थ्य नहीं है, वह घृत और दूध को नदी कहाँ से बहावेगा। ५८ वें मन्त्र के दयानन्दीय अर्थ का यहाँ विस्तार से खण्डन किया गया है। वेद नित्य हैं। उनमें किसी लौकिक घटना और इतिहास की कल्पना नहीं की जा सकती। आख्यायिका सरलता से मन्त्रार्थ को समझाने के लिये दी जाती है। इनमें देवताओं के बाह्य अथवा आन्तर व्यापार के वर्णन के व्याज से वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी आचारों का वर्णन अवश्य मिल सकता है। ये आख्यायिकाएँ कहीं विधि की स्तुति में अर्थवाद का रूप ले लेती हैं और अर्थवाद के सहारे विधि की भी कल्पना कहीं-कहीं की जाती है।

६३ वें मन्त्र में प्रस्तर और परिधि शब्द का अर्थ गलत किया गया है। वस्तुतः ये दोनों शब्द कुशमुष्टि और बाहुपरिमित काष्ठत्रय के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इसी तरह से ६४ वें मन्त्र में पूर्त शब्द का अर्थ भी सही नहीं है। ६५ वें मन्त्र में घृतधारा का तो विधान मिलता है, किन्तु वैदिक वाङ्मय में मधु की धारा का कहीं उल्लेख नहीं है। ६६ वें मन्त्र में जीव की सर्वव्यापकता का, घृत की प्रकाशकता का और अग्नि में हुत द्रव्य की अमृतता का उल्लेख है। जीव को अणुप्रमाण कहा गया है, घृत स्वयं प्रकाशशून्य है और अग्नि में दी गई आहुति तो नष्ट हो जाती है। आपके मत के अनुसार उससे अदृष्ट की उत्पत्ति भी नहीं होती। त्रिधातु और विमान पद का अर्थ भी यहाँ गलत है। ६८ वें मन्त्र में वृत्र पद का अर्थ वर्तमान शत्रु करने में कोई प्रमाण नहीं है। आवरक अज्ञान, मेघ या अन्धकार ही इसका अर्थ हो सकता है। ७१ वें मन्त्र में कुचर पद का कुटिल गति और मृग का सिंहतुल्य अर्थ भी काल्पनिक है। इसी तरह से आगे के मन्त्र में वैश्वानर और परावत् शब्दों का अर्थ भी प्रमाणरहित है। मनुष्य की स्तुति की अपेक्षा परमेश्वर की स्तुति में ही मन्त्रों का विनियोग उचित है। ७३ वें मन्त्र में उपमावाचक कोई पद नहीं है। ७४ वें मन्त्र में वाज पद का अर्थ संग्राम में विजय प्राप्त करना बताया है और मनुष्य की अजरता की चर्चा है। जिसका जन्म हुआ है, वह जरा आदि विकारों से अवश्य ग्रस्त होगा और वाज पद के उक्त अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है। ७६ वें मन्त्र में अग्नि पद का इन्द्र अर्थ करना भी प्रमाणशून्य है।

१९ वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में बिना प्रमाण के वैद्य और ओषधी की चर्चा की गई है। यह शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र से समर्थित नहीं है। आयुर्वेद में ही वैद्य और ओषधी की चर्चा उचित है। धर्म और ब्रह्म के प्रतिपादक वेद से इनको निकालना सर्वथा असंगत है। दूसरे मन्त्र में हवि पद से सामान्य भोजन का ग्रहण किया गया है और मेघ से सोम की उत्पत्ति मानी गई है। वस्तुतः 'हवि' पद आहुति के अर्थ में प्रयुक्त है और सोम आदि की उत्पत्ति भूमि से होती है, मेघ से नहीं। इस पूरे अध्याय में सुरा और सोम की चर्चा है, किन्तु स्वामी दयानन्द ने नाना प्रकार की ओषधियों की और विद्वान् वैद्य की चर्चा मानी है। इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। सुरा और सोम दो भिन्न पदार्थ हैं। इनकी एकता भी नहीं मानी जा सकती। १० वें मन्त्र में विदुषी राज्ञी के लिये विषूचिका विशेषण दिया गया है। लोक में यह शब्द एक बुरे रोग के लिये प्रयुक्त है। सामान्य स्त्री के लिये भी इसका प्रयोग हमारे लिये उद्वेगकारी हो सकता है। ११ वें मन्त्र में पितृ ऋण से विमुक्ति की चर्चा एक दम निराधार है। फिर एक व्यक्ति के पुण्य-पाप किसी दूसरे व्यक्ति में संक्रान्त नहीं हो सकते। १२ वें मन्त्र में विसंगति यह है कि केवल वाणी से न तो रोग ही दूर हो सकते हैं और न ऐश्वर्य की प्राप्ति ही हो सकती है। अश्विनीकुमारों और सरस्वती की योजना यहाँ तीन वैद्यों के रूप में की गई हैं। इनमें दो पुरुष हैं और एक स्त्री। ऐसा करते समय इन्होंने प्रमाण नहीं दिया। मनमाना अर्थ करने का यही फल होता है कि कभी-कभी उसका जबाब देना भारी पड़ जाता है।

अगले मन्त्र में भी दीक्षा, प्रायणीय आदि वैदिक शब्दों का व्युत्पत्ति के सहारे मनमाना अर्थ किया गया है। मासर, नग्नहु, महावीर, परिस्रुत्, सरस्वती, आसन्दी, कारोतर, यूप आदि शब्दों के अर्थ भी पूरी तरह से वैदिक प्रसिद्धि के विपरीत किये गये हैं। इस तरह के निरर्थक प्रसंगों को चर्चा यहाँ मात्र विद्वानों के मनोविनोद के लिये और उनके कौतुक के लिये की गई है (पृ० २४६)। १९ वें मन्त्र में प्रैष, आप्री और अनुयाज शब्दों की भी यही स्थिति है। वषट्कार से आहुति प्राप्त नहीं होती, दी जाती है। पुरोडाश, आमिक्षा, वाजिन, धाय्या, प्रगाथ, उक्थ, सवन, इडा, व्रत, दीक्षा, दक्षिणा आदि सभी वैदिक शब्दों की यहाँ पूरी तरह से दुर्गति की गई है। इन सबका निरूपण करने के साथ यहाँ ३० वें मन्त्र में "तं परमेश्वरं धर्मं वा आप्यते" इस वाक्यगत अशुद्धि को दिखाया गया है। ३१ वें मन्त्र में सौत्रामणी जैसे प्रसिद्ध शब्द का अर्थ भी गलत किया है। ३२ वें मन्त्र में बताया गया है कि आपके मत से यज्ञ से केवल वायु-शुद्धि होती है। इस स्थिति में उससे वीरभाव की प्राप्ति कैसे हो सकती है? यज्ञ की अन्तरिक्ष में स्थिति भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि आप अदृष्ट को नहीं मानते। ३३ वें मन्त्र में आनन्द को ओषधि का रस बताना सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि यह तो आत्मा

का धर्म है। इस मन्त्र में सरस्वती का अर्थ विदुषी और अश्विनीकुमारों का अर्थ अध्यापक करके जो कुछ कहा गया
है, वह अतीव हास्यास्पद है। ३६ वें मन्त्र के दयानन्दीय अर्थ की भी विचित्र स्थिति है। मृत पितरों के श्राद्ध की बात
आप स्वीकार नहीं करते। जीवित पितरों के लिये स्वधा आदि शब्दों का उच्चारण निरर्थक है। शास्त्रीय पद्धति से मनुष्यों
के लिये हन्तकार, पितरों के लिये स्वधाकार और देवताओं के लिये स्वाहाकारपूर्वक हवि आदि द्रव्य अर्पित किये जाते हैं।
आपके मत में पितरों और देवताओं की कोई स्थिति नहीं है, तो फिर केवल मनुष्यों के लिये इन तीन तरह के शब्दों के
प्रयोग का प्रयोजन क्या है? पितृकार्य अपसव्य होकर और देवकार्य उपवीती होकर किया जाता है। इसका भी कारण
बताना होगा। मनुष्यों, देवों और पितरों में कोई भेद न करने से एक दोष यह भी आवेगा कि तब देवयान और पितृयान
नामक दो मार्गों की क्या आवश्यकता है? फिर द्यावापृथिवी शब्द से माता-पिता के ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है।
'सृती' शब्द से देवयान और पितृयान का ही ग्रहण होता है, जननमरण का नहीं (पृ० २६९)।

४८वें मन्त्र में अग्नि पद से पति का ग्रहण करने में क्या प्रमाण है? अश्वमेध सम्बन्धी महीधर व्याख्या की
अश्लीलता की स्वामी दयानन्द निन्दा करते हैं, किन्तु वे स्वयं स्थान-स्थान पर इस प्रकार का अश्लील अर्थ करते हैं, उसका
यह मन्त्र एक उदाहरण है। यहाँ ६२वें मन्त्र में भी इसी प्रकार का अर्थ देखा जा सकता है। ४९वें मन्त्र में वृक शब्द का
अर्थ चोर किया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसी तरह से यम शब्द की सन्तानार्थता भी अप्रसिद्ध है (पृ० २७३)।
५२वें मन्त्र में अविद्यमान 'यं तं माम्' पदों का अध्याहार अनावश्यक है। अगले मन्त्र में भी इसी तरह के अनेक पद अध्याहृत
हैं। ५६वें मन्त्र की संस्कृत और हिन्दी व्याख्याएँ परस्परविरुद्ध हैं। ५८वें मन्त्र के 'अग्निष्वात्ताः' पद का और अगले मन्त्र
के 'बर्हि' शब्द का अर्थ अपारम्परिक है। ६०वें मन्त्र के स्वधा पद की और अगले मन्त्र के नाराशंस पद की भी यही स्थिति
है। ६३वें मन्त्र में दिवंगत पितरों की स्तुति की गई है, क्योंकि घुटने जोड़ कर दक्षिण दिशा में मुँह कर कुतप आदि का
दान पितरों के लिये ही किया जाता है। स्वामी दयानन्द श्राद्ध, तर्पण आदि के विरोधी हैं। इसलिये ऐसे स्थलों पर इनको
क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। हव्य और कव्य शब्द भी इनकी कल्पना के शिकार हो गये हैं। यहाँ (पृ० २८२) तो इनकी
व्याकरणगत अशुद्धि भी उजागर होती है। ६६वें मन्त्र में हव्य और स्वधा शब्द का अर्थ यदि एक ही है, तब दोनों का एक
साथ प्रयोग अनावश्यक है। चार्वाकों के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना इस प्रकार के अर्थों की कोई कल्पना नहीं की जा
सकती। ६९वे मन्त्र में अविद्या और आवरण पद मन्त्र में हैं ही नहीं। अरुणी पद सुशील स्त्री का बोधक है, इसमें भी कोई
प्रमाण नहीं है। ७०वे मन्त्र के अग्नि पद का अर्थ विद्यार्थी अथवा पुत्र किया गया है। स्थापन और संदीपन तो अग्नि का
ही हो सकता है, पुत्र अथवा शिष्य का नहीं।

७४वें मन्त्र की व्याख्या में कितनी अस्पष्टता है, इसको उनकी वाक्यावली को उद्धृत कर दिखाया गया है।
७५वें मन्त्र में इन्होंने अन्ध और अन्धस् शब्दों को एक ही मान लिया है। यह स्थिति स्वजन और श्वजन, सकृत् और शकृत्
को एक मान लेने के समान है। किसी भी कोशकार ने अन्धस् शब्द अन्धकारार्थक नहीं माना है। आगे के मन्त्रों में स्थित
अन्धस् शब्द की भी यही स्थिति है। ७८वें मन्त्र में बताया गया है कि मन्त्रात्मक वेदभाग में विधि का उल्लेख नहीं है और
विधि-निषेधप्रधान ब्राह्मणभाग को स्वामी दयानन्द वेद नहीं मानते। आगे के मन्त्रों में सौत्रामणी यागगत परिस्रुत्, सोम,
सूत्र, शष्प, वेम, नग्नहु, नासत्य आदि शब्दों का काल्पनिक अर्थ किया गया है। ८७वें मन्त्र में कुंभ और कुंभी शब्द का अर्थ
स्त्री और पुरुष किया गया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ८९वें मन्त्र में 'अश्विनौ' पद से दम्पती के ग्रहण की भी यही
स्थिति है। अश्लीलता ने इनका यहाँ भी पिण्ड नहीं छोड़ा है। अगले मन्त्र में अश्वि पद का अर्थ ढेर सारा खाने वाले स्त्री-
पुरुष किया है। मन्त्रार्थ और भावार्थ की विसंगति और अस्पष्टता तो अनेक मन्त्रों में देखने को मिलती है। 'अङ्गान्यात्मन्'
(१९।९३) मन्त्र में बिना प्रसंग के योगांगों का उल्लेख है और आत्मा के समाधान की चर्चा की गई है। वस्तुतः समाधान
चित्त का होता है, आत्मा का नहीं। जैसा कि गंगालहरी में पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है—'समाधानं बुद्धेः'। इस
अध्याय के अन्तिम मन्त्र की स्थिति यह है कि अन्य अनेक मन्त्रों के समान यहाँ भी 'अश्विभ्याम्' पद से वैद्यों का ग्रहण

किया गया है। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि जब इस पद से लौकिक वैद्य का ग्रहण करना है, तो उस शब्द के साथ वेदों में सर्वत्र द्विवचन के जुड़े रहने की क्या संगति है ? सुतासुत शब्द की द्विवचनान्तता की भी यहाँ संगति नहीं बैठती। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो यहाँ परिस्रुत् और पयस् का ग्रहण किया गया है। इसलिये इनके लिये क्रमशः सुत और असुत शब्दों का द्विवचनान्त प्रयोग शास्त्रसंगत है।

२०वें अध्याय का आरम्भ 'क्षत्रस्य योनिः' से होता है। यहाँ स्वामी दयानन्द ने क्षत्र का अर्थ राज्य किया है। वस्तुतः क्षत्र शब्द जातिविशेष में रूढ़ है। काशिका, सिद्धान्तकौमुदी और महाकवि कालिदास का प्रयोग—ये सब इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। मनुष्य मनुष्य की अपमृत्यु से रक्षा करने में असमर्थ है और इस तरह की प्रार्थना भी वीर पुरुषों के लिये उचित नहीं है। इसीलिये द्वितीय मन्त्र का अर्थ भी असंगत है। 'पस्त्या' पद न्यायगृह के अर्थ में कहीं प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता। छठे मन्त्र में अंगुलियों की मोद-प्रमोदरूपता असंगत है। सिद्धान्त पक्ष में तो सभी जड़ और अजड़ पदार्थों में ब्रह्म की भावना उसी प्रकार की जाती है, जैसे कि शालिग्राम में विष्णु की बुद्धि तथा स्त्री में अग्नि की बुद्धि। आगे के मन्त्रों के अर्थ में अखण्ड प्रतीकोपासना को न मानने के कारण असंगति रहेगी। सर्वत्र उद्देश्य और विधेय का भेद ही माना जाता है। आपके ऐसा न मानने से नवें मन्त्र का अर्थ असंगत हो जाता है। ११वें मन्त्र में आठ वसु, दस प्राण, जीवात्मा, बारह मास, विद्युत् और यज्ञ—३३ देवों के रूप में आपको मान्य हैं। इन सबकी रक्षा की सामर्थ्य मनुष्य में नहीं है। ११ रुद्रों की आपने भी चर्चा की है। यहाँ उनको छोड़ देने का क्या कारण है ? शस्त्र, स्तोत्र, पुरोनुवाक्या, याज्या, धाय्या, वषट्कार—ये सब वेदों के पारिभाषिक शब्द हैं। १३ वें मन्त्र में इनका मनमाना अर्थ किया गया है। यह सब भारतीय परम्परा के विपरीत है।

स्वामी दयानन्द ने देव पद का अर्थ सर्वत्र विद्वान् किया है। यह हाथ के लड्डू को छोड़ कर अंगुलियों को चाटने वाली कहावत को चरितार्थ करने वाला है। विद्वान् मनुष्य भी अन्य जीवों के जाग्रत् अथवा स्वप्नावस्था में किये गये अपराधों को क्षमा करने में असमर्थ है। 'उद्वयम्' (२०।२१) मन्त्र के अर्थ में भी विसंगति है, क्योंकि आपके मत से परमात्मा के नीरूप होने से उसकी चक्षुगोचरता असंभव है। हमारे मत में तो सूर्य का चक्षु से, हिरण्यश्मश्रुत्व आदि विशेषणों से संयुक्त परमात्मा का ध्यान से और नीरूप ब्रह्मज्योति का अपने प्रत्यगात्मस्वरूप से साक्षात्कार संभव है। आप तो आत्मा और परमात्मा का भेद मानने वाले हैं, अतः आपके यहाँ यह व्यवस्था संभव नहीं है। २२वें मन्त्र में जलविद्या की चर्चा का कोई आधार नहीं है। वेद में मधुर जलपान की चर्चा का भी क्या तुक हो सकता है। २३वें मन्त्र में अनेक पदों का निरर्थक अध्याहार किया गया है और स्वाहा पद का अर्थ भी पारम्परिक नहीं है। २४वें मन्त्र में समित्, श्रद्धा आदि पदों का अर्थ निराधार है। २७वें मन्त्र में आत्मगत अच्युत गन्ध और रस की चर्चा है। इसमें असंगति यह है कि एक तो आत्मा में इनकी स्थिति हो ही नहीं सकती, फिर ये भौतिक गन्ध और रस कभी अनश्वर नहीं हो सकते। २८ वें मन्त्र में 'किं स्वो वदति' का अर्थ असंगत है। अगले मन्त्र में करम्भ और इन्द्र पद की भी यही स्थिति है। ३०वें मन्त्र में मरुत् पद के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ दिया गया है। सत्य की वृद्धि असंगत है और परमात्मज्योति के नित्य होने से उसकी उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकती।

३१वें मन्त्र की 'पुनीहि' क्रिया सकर्मक है, अतः उसका 'पवित्रा भव' अर्थ नहीं किया जा सकता। ३३वें मन्त्र में अश्वि, इन्द्र और सुत्राम पदों का अर्थ असंगत है। ३५वें मन्त्र में वाक्यार्थ की असंगति है। ३८वें मन्त्र में 'हवि' पद का अर्थ 'सद्विद्यादान' किया है और मन्त्रों के द्वारा सेनापति के आह्वान का विधान है। मन्त्रों से तो देवताओं का आह्वान किया जाता है। ४०वें मन्त्र में इन्द्र की स्तुति है, किन्तु स्वामी दयानन्द यहाँ स्वयंवर का विधान बताते हैं। ४१वें मन्त्र में उषस्, पयस् आदि शब्दों का अर्थ निराधार है। सभी मनुष्य किसी शूरवीर का अनुगमन करें, यह भी जरूरी नहीं है, क्योंकि वीतराग मनुष्य के लिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। ४४वें मन्त्र में त्वष्टा पद का अर्थ 'विद्युत् के समान विद्वान्' किया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ४५वें मन्त्र में वनस्पति शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को

छोड़ कर 'वृक्ष समूह का पालक मनुष्य' अर्थ किया है। यह शब्दों के साथ खिलवाड़ ही तो है। ४६वें मन्त्र में 'घृतप्रुषा' पद का भी मनमाना अर्थ है। अगले मन्त्र में पूर्वी, तविषी आदि पदों की तथा ४८वें मन्त्र में तुर्वणि पद की भी यही स्थिति है। ४९वें मन्त्र में वज्री पद का अर्थ शस्त्रविद्याकुशल और हरि पद का सुशिक्षित अर्थ किया है। वह भी निष्प्रमाण है।

५२वें मन्त्र में इन्द्र पद का अर्थ 'पिता के समान वर्तमान' किया है और ५५वें मन्त्र के 'अश्विनौ' का स्त्री-पुरुष, धर्म का यज्ञ और इन्द्रिय का धन अर्थ किया है, किन्तु ऐसा करते समय कोश आदि का कोई प्रमाण नहीं दिया गया। ५६वें मन्त्र की भी यही स्थिति है। अश्विनौ, भिषजौ, नासत्यौ—ये सब शब्द देवताओं के वैद्यों के लिये प्रसिद्ध हैं, जो कि दोनों सदा एक साथ रहते हैं। इस अर्थ के अभाव में लौकिक वैद्य के साथ सदा दो संख्या के रहने का प्रयोजन बताना पड़ेगा। गौण अर्थ करने पर भी दो सुन्दर पुरुष तो अर्थ हो सकता है, किन्तु इससे स्त्री और पुरुष का ग्रहण किस आधार पर किया जायगा ? ५७वें मन्त्र में नग्न पद की व्युत्पत्ति और नराशंस पद का अर्थ पूरी तरह से हास्यास्पद है। ६२वें मन्त्र में इन्द्र का अर्थ सोमलता किया गया है। भावार्थ का इनके यहाँ मूल से कोई संबन्ध नहीं रहता, इस बात की चर्चा तो यहाँ बहुत जगह हो चुकी है। ६६वें मन्त्र में मासर पद की व्याख्या पूरी तरह से श्रुति और सूत्र के विरुद्ध है। ६७वें मन्त्र में नमुचि और इन्द्र पद का अर्थ भी बड़ा अनोखा है। ७०वें मन्त्र के पदों की ऐसी व्याख्या की गई है कि आपस में इन पदों की संगति ही ठीक से नहीं बैठ पाती। ७२वें मन्त्र में यूयं और प्राप्नोति पदों का व्यर्थ ही अध्याहार किया गया है। ७३वें मन्त्र में निर्दिष्ट 'हु' धातु की पुरुषार्थता में भी कोई प्रमाण नहीं है। कहाँ तक गिनाया जाय, स्वामी दयानन्द के किये अर्थ में सर्वत्र इसी तरह की विप्रतिपत्तियों के दर्शन होते हैं।

७४ वें मन्त्र के संस्कृत और हिन्दी अर्थों में परस्पर विरोध है। यहाँ सरस्वती का अर्थ सुवर्ण से व्यवहार करने वाली स्त्री किया है। इस तरह से वेदों को चार्वाक की झोली में डाल देने का यह एक अच्छा प्रयास है। यह बार-बार पूछा जा चुका है कि वैद्यों के साथ सदा जो द्वित्व संख्या जुड़ी हुई है और सरस्वती पद का प्रयोग सदा एकवचन में होता है, इसका क्या कारण है ? इन्द्र पद की ऐश्वर्यार्थता में भी प्रमाण देना होगा। ७६ वें मन्त्र में मेघ की नित्यता बताई गई है। ग्रीष्म आदि ऋतुओं में मेघ की कोई स्थिति नहीं रहती, अतः उसमें तो प्रवाहनित्यता भी नहीं मानी जा सकती। ७८ वें मन्त्र में सोमपृष्ठ का अर्थ पूरी तरह से असंगत है। ८० वें मन्त्र में मनुष्यों के प्राण, नेत्र आदि के धारण-सामर्थ्य की चर्चा की गई है, किन्तु प्राण आदि का धारण मनुष्य के अधीन नहीं है। ऐसा होता तो मनुष्य कभी मरता ही नहीं। ८४ वें मन्त्र में वाणी की विज्ञानाश्रयता बताई गई है, किन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो चिदात्मा का गुण है। ८७ वें मन्त्र का राजा की स्तुति में विनियोग बताया गया है। राजपूजा कोई धर्म का अंग नहीं है, जिसकी स्तुति में वेद की प्रवृत्ति मानी जाय। ८८ वें मन्त्र में ब्रह्म पद का अन्न और धन अर्थ किया है। क्या मनुष्य-जीवन की सार्थकता अन्न और धन के उपार्जन में ही है ? इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र (२०।९०) में अश्वि पद के साथ सुत्रामा और वृत्रहा पदों का भी गौण अर्थ किया गया है। यह अनेक बार बताया जा चुका है कि मुख्यार्थ की सम्भावना के रहने पर गौण अर्थ करना ठीक नहीं है। सभी मनुष्यों को ओषधियों के रस के पान का उपदेश करने की कोई उपयोगिता भी नहीं है और न वह अश्विनीकुमारों की तरह सबको सुलभ ही है।

भाष्य के विशेष अवधेय अंश

१६ वें अध्याय के पहिले और दूसरे मन्त्र (पृ० ४-६, १०-११) में परमेश्वर के निर्गुण, निराकार स्वरूप के साथ सगुण, साकार स्वरूप की प्रतिष्ठा छान्दोग्य, बृहदारण्यक, केन आदि उपनिषदों, वाल्मीकिरामायण, महाभारत, पुराण और रामतापनीय, गोपालतापनीय, नृसिंहतापनीय, त्रिपुरातापनीय, गणेशाथर्वशीर्ष, सूर्योपनिषद् आदि के प्रमाण से की गई है। साथ ही ईश्वर के एकत्व एवं अनेकत्व से सम्बद्ध पक्षों का भी समाधान किया गया है। यहाँ (पृ० ६) भाष्यकार ने

बताया है कि इस विषय की जिनको विशेष जानकारी अपेक्षित है, वे भाष्यकार-रचित रामायणमीमांसा का अवलोकन करें। आगे १७ वें मन्त्र के भाष्य में अर्चिरादि और धूमादि मार्ग की तथा सद्योमुक्ति एवं क्रममुक्ति की चर्चा के साथ बृहदारण्यक उपदिष्ट तृतीय मार्ग की भी चर्चा है (पृ० ३२-३३)। २० वें मन्त्र में वृन्दारण्य, बदरिकारण्य और धर्मारण्य आदि पुण्यारण्यों की चर्चा है (पृ० ३८)। 'परि नो' (१६।५०) मन्त्र स्थित अघायु शब्द की व्युत्पत्ति यहां सम्भारपूर्वक दी गई है।

१७ वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में वाल्मीकिरामायण के प्रमाण से कोटि, शंकु आदि संख्याओं का स्वरूप बताया गया है। 'य इमा विश्वा भुवनानि' (१७।१७) मन्त्र का दार्शनिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। आचार्य उव्वट के अनुसार यहाँ ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का प्रतिपादन किया गया है। 'किं स्विद्वनम्' (१७।२०) मन्त्र में भी दार्शनिक प्रश्नों को उठाया गया है। वस्तुतः यहाँ के अनेक मन्त्रों में ब्रह्मविषयक प्रश्न-प्रतिवचनों के रहने से इन सबका दार्शनिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। आगे ७६ वें मन्त्र में सूर्मी शब्द के अर्थ के विषय में मनुस्मृति का प्रमाण देकर अच्छा विचार किया गया है। ७० वें मन्त्र में सात छन्दों, सात धामों (अग्नियों), सात होताओं और सात संस्थाओं का विवरण दर्शनीय है। इस अध्याय की 'चत्वारि शृङ्गाः' (१७।९१) आदि कई ऋचाओं का अपना दार्शनिक महत्त्व है। यहाँ वाणी की महिमा विशेष रूप से गाई गई है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक चार वाणियों का उल्लेख करने वाले इस मन्त्र की निरुक्त और महाभाष्य में ही नहीं, तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में भी विशेष रूप से व्याख्या की गई है।

१८ वें अध्याय के ३८ वें मन्त्र में बताया गया है कि पुरुष[1] देवता के लिये आहुति देते समय वषट्कार और स्वाहाकार का तथा स्त्री देवता के लिये केवल स्वाहाकार का उच्चारण किया जाता है। ४९ वें मन्त्र में स्वामी करपात्री जी महाराज ने निरुक्त के प्राचीन व्याख्याकार स्कन्दस्वामी के मत को उद्धृत कर उसमें अपनी अरुचि प्रदर्शित की है। इस प्रसंग में निरुक्त और व्याकरण की अलग-अलग भूमिकाओं का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने शाकटायन व्याकरण की भी चर्चा की है। यह प्रसंग विद्वानों के लिये विशेष रूप में विचारणीय है। १९ वें अध्याय के २५ वें मन्त्र में 'न्यूंख' पद पर विचार किया गया है और इसके उच्चारण के क्रम को शास्त्रीय पद्धति से दिखाया गया है। पाणिनि सूत्र (१।२।३४) काशिका, पदमञ्जरी, सायण आदि के मत को भी यहाँ दिखाया गया है। १७ वें अध्याय के १७ वें मन्त्र में धूमादिमार्ग और अर्चिरादि मार्ग की संक्षिप्त चर्चा हुई है। यहाँ (पृ० २६७-२६९) ब्रह्मसूत्र और शांकर भाष्य के आधार पर इन पर विस्तार से चर्चा की गई है। साथ ही आतिवाहिक मार्ग का भी उल्लेख है।

इस प्रकार यहाँ १६ से २० अध्यायों तक के मन्त्रभाष्य में विवेचित चतुर्विध विषयों को और विशेष अवधेय अंशों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इससे हिन्दी पाठकों को भी इस अतिविशिष्ट भाष्य के विषयों की अवश्य कुछ न कुछ जानकारी मिलेगी, ऐसा हमारा पूरा विश्वास है। भाष्य के शेष भागों को भी शीघ्र प्रकाशित करा देने के लिये हम सतत प्रयत्नशील हैं।

विद्वद्वशंवद
व्रजवल्लभ द्विवेदी

वाराणसी

माघी पूर्णिमा, संवत् २०४८

---

१. "स्वाहाकारवषट्काराभ्यां पुंसे हूयते, स्वाहाकारेणैव स्त्रीभ्यः" (भा०, पृ० १९५)।

विषय-सूची

		पृष्ठसंख्या
प्रतिपाद्य विषय		३
प्रकाशकीय वक्तव्य		५-३१
पञ्चाध्यायी(१६-२०)-भाष्यनिष्कर्ष		

षोडश अध्याय : शतरुद्रिय होममन्त्र

कण्डिकासंख्या		१-३०
१-१६.	सोलह ऋचाओं वाले अनुवाक से एकात्मक रुद्र देवता की स्तुति	३०-४७
१७-२८.	उभयतः नमस्कार मन्त्रों के द्वारा नाना रुद्रों की स्तुति (जातसंज्ञक रुद्रों की स्तुति, पृ० ४३)	४७-६३
२८-४६.	अन्यतरतः नमस्कार मन्त्रों के द्वारा नाना रुद्रों की स्तुति	६३-६४
४६.	उभयतः नमस्कार मन्त्रों के द्वारा नाना रुद्रों की स्तुति	६४-६५
४६.	रुद्रहृदयस्वरूप तीन देवताओं की स्तुति	६५-७०
४७-५३.	सात ऋचाओं से एकात्मक रुद्र देवता की स्तुति	७०-७४
५४-६३.	अवतान संज्ञक दस मन्त्रों के द्वारा त्रिलोकी स्थित नाना रुद्रों की स्तुति	७४-७८
६४-६६.	प्रत्यवरोह संज्ञक तीन यजुर्मन्त्रों से नाना रुद्रों की स्तुति	

सप्तदश अध्याय : चित्यपरिषेकादि मन्त्र

		७९-८१
१.	सपक्षपुच्छ अग्नि का प्रदक्षिण क्रम से चारों तरफ जल से सिञ्चन	
२-३.	जलकुम्भ के परित्याग के बाद ईशानाभिमुख यजमान का चयनप्रदेश के स्पर्शपूर्वक इन दो मन्त्रों का सस्वर पाठ	८१-८५
४-१०.	बाँस में मंडूक, शैवाल और वेतस की शाखा को बांधकर यजमान द्वारा अग्निक्षेत्र का कर्षण और अग्निस्तवन	८५-९१
११.	दधि, मधु, घृत, दर्भमुष्टि और हिरण्यशकल से संयुक्त पात्र को लेकर अध्वर्यु का चित्याग्नि स्थल पर आरोहण	९१-९२
१२.	अध्वर्यु का स्वयमातृण्णा इष्टका पर पंचगृहीत घृत की पाँच यजुर्मन्त्रों द्वारा पाँच आहुतियों का प्रदान	९२-९४
१३-१४.	पात्र में लगे दधि, मधु और घृत का कुशा से ग्रहण और उनसे सपक्षपुच्छ चित्याग्नि का प्रोक्षण	९४-९६
		९६-९७
१५.	अग्निचयन स्थल में अध्वर्यु का अवतरण	
१६.	प्रवर्ग्य के उत्सादन के बाद यज्ञशाला में आकर पंचगृहीत आज्य की शालाद्वार्य पर आहुति	९७-९८

१७-२४.	जुहू में सोलह बार गृहीत आज्य के अर्ध भाग की आठ मन्त्रों के द्वारा शालाद्वार्य पर एक साथ आहुति	९८-१०४
२५-३२.	पूर्वगृहीत आज्य के अवशिष्ट अर्ध भाग की आठ मन्त्रों के द्वारा शालाद्वार्य पर एक साथ आहुति	१०४-१११ १११-१२१
३३-४४.	अध्वर्यु संप्रेषित ब्रह्मा द्वारा बारह ऋचाओं वाले अप्रतिरथ सूक्त का पाठ	१२१-१२४
४५-४८.	कात्यायन श्रौतसूत्र में अविनियुक्त इषु, योद्धा, मरुत् और इन्द्र आदि की स्तुति के मन्त्र	१२४
४९.	महाव्रत याग में क्षत्रिय के लिये अध्वर्यु द्वारा कवच का प्रदान	
५०-५२.	अशुष्क, रात्रिपर्यन्त घृतप्लुत, प्रादेश-प्रमाण तीन औदुम्बर समिधाओं की शालाद्वार्य पर आहुति	१२५-१२६
५३.	होता द्वारा मन्त्र की तीन आवृत्ति करने पर प्रदीप्त इध्म का अध्वर्यु द्वारा शालाद्वार्य से उत्थापन	१२६
५४-५८.	पाँच ऋचाओं का पाठ करते हुए ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और यजमान का चयन-स्थान के प्रति गमन	१२७-१३२
५९-६०.	अध्वर्यु द्वारा दो ऋचाओं का पाठ करते हुए आग्नीध्र गृह की दक्षिण दिशा में चित्र-वर्ण के पाषाण का उपधान	१३२-१३५
६१-६४.	उक्त पाषाण को गुह्य देश में स्थापित कर चार ऋचाओं का पाठ करते हुए सभी का चयनस्थान के प्रति गमन	१३५-१३८ १३८-१४२
६५-६९.	ऋत्विग् गणों का पाँच मन्त्रों का पाठ करते हुए चयनस्थान पर आरोहण	१४२-१४४
७०-७१.	गोदुग्ध से स्वयमातृण्णा को सिंचित करते हुए अध्वर्यु द्वारा इध्मस्थ अग्नि में आहुति	१४४-१४६
७२-७३.	वषट्कारान्त दो मन्त्रों द्वारा स्वयमातृण्णा पर अग्नि की स्थापना	१४६-१५०
७४-७६.	चित्याग्नि में उख्याग्नि की स्थापना के बाद उसमें तीन समिधाओं का आधान	१५०-१५२
७७-७८.	समिदाधान के बाद अग्नि में दो घृताहुतियों का अर्पण	१५२-१५३
७९.	घृतपूर्ण स्रुक् से पूर्णाहुति का प्रदान	१५३-१५९
८०-८६.	वैश्वानर पुरोडाश से याग करने के उपरान्त मारुत पुरोडाशों से याग का सम्पादन	
८७-९९.	तेरह ऋचाओं वाले अनुवाक का अध्वर्यु-प्रेषित यजमान द्वारा वाचन, पक्षान्तर से अध्वर्यु द्वारा स्वयं ही पठन	१५९-१७१

अष्टादश अध्याय : वसोर्धारा तथा अन्य होम मन्त्र

१-२९.	आठ अनुवाकों की उन्तीस कण्डिकाओं से वसुधारा संज्ञक अविच्छिन्न धारा वाली घृत की आहुति का प्रदान	१७२-१८८ १८८-१९२
३०-३६.	वाजप्रसवीय आहुतियों के बाद सात मन्त्रों से सर्वौषधियों द्वारा हवन	
३७.	कर्म की समाप्ति पर चतुष्कोण स्रुवा का आहवनीय अग्नि में प्रक्षेप, कृष्णाजिन का आस्तरण और उस पर बैठे ब्रह्मवर्चसकाम यजमान का अध्वर्यु द्वारा सर्वौषधशेष से अभिषेक	१९३
३८-४३.	द्वादशगृहीत आज्य के बारह विभाग कर छः कण्डिकाओं में स्थित बारह मन्त्रों से राष्ट्रभृत् संज्ञक बारह आहुतियों का प्रदान	१९३-१९९

४४. पंचगृहीत आज्य को पंचधा विभक्त कर रथशीर्ष पर पाँच आहुतियों का प्रदान — २००-२०१

४५. उत्तर वेदि के मध्य में प्राङ्मुख रथ के तीन स्थानों पर वातहोम नामक तीन आहुतियों का प्रदान — २०१-२०३

४६-५०. पूर्व संस्कृत आज्य से एक-एक कर नौ आहुतियों का पाँच कण्डिकाओं में स्थित नौ मन्त्रों से समर्पण — २०३-२०६ / २०६-२०७

५०. अर्काश्वमेध सन्तति संज्ञक पाँच आहुतियां — २०८-२१०

५१-५३. तीन ऋचाओं से परिधियों पर अग्नि का संयोजन — २१०-२१३

५४-५५. दक्षिणोत्तर परिधि-सन्धियों का उपस्पर्शन कर अग्नि का विमोचन — २१३-२१४

५६-५७. समिष्ट यजु:संज्ञक होम के बाद अग्नि-सम्बन्धी दो आहुतियों का समर्पण — २१४-२१९

५८-६५. हृदयशूल के समीप आठ मन्त्रों द्वारा स्रुवा से आठ वैश्वकर्म आहुतियों का समर्पण — २२०

६६. यजमान द्वारा अपने में अग्नि से अभिन्नता की भावना — २२१

६७. चित्याग्नि का उपस्थान — २२२-२२८

६८-७७. पुरीषनिवाप के बाद सात, आठ अथवा दस मन्त्रों से चित्याग्नि का उपस्थान

एकोनविंश अध्याय : सौत्रामणी याग

२२९-२३१

१. सौत्रामणी याग के लिये सुरा-निष्पादक द्रव्यों का क्रय — २३१-२३२

२. गोदुग्ध से अध्वर्यु द्वारा सुरा का सेचन — २३२-२३४

३-४. पवित्र की गई सुरा का पालाश पात्र में स्थापन — २३४-२३५

५. वेतस वृक्ष के पात्र में पवित्र की गई सुरा की स्थापना — २३५-२३६

६. सुरा और दुग्ध से पूरित तीन पयोग्रहों का ग्रहण — २३६-२३८

७. तीन सुराग्रहों के द्रव्यों का मृत्तिका-निर्मित स्थालियों में व्यत्यस्त ग्रहण — २३८-२३९

८. अध्वर्यु द्वारा तीनों सुराग्रहों के द्रव्यों की अग्नि में आहुति देना — २३९-२४०

९. आश्विन ग्रह के ग्रहण के उपरान्त उसमें गोधूम आदि के चूर्ण का प्रक्षेप — २४०-२४१

१०. अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता के द्वारा यजमान का श्येन-पिच्छ से प्रोक्षण — २४१-२४२

११. अध्वर्यु द्वारा यजमान का उत्तर वेदि की अग्नि के ईक्षण के लिये प्रैष देना

१२-३१. बीस अनुष्टुप् यजुर्मन्त्रों द्वारा सौत्रामणी याग और सोम याग की समानता का नाना रूपों में प्रदर्शन — २४२-२५४

(भाष्य में न्यूंख के स्वरूप का विवेचन, पृ० २५०) — २५४-२५५

३२. अध्वर्यु द्वारा तीन पयोग्रहीय द्रव्यों की एक साथ आहुति — २५५-२५६

३३. प्रतिप्रस्थाता द्वारा दक्षिणाग्नि में सुराग्रहों की पालाश उलूखलों से आहुति देना — २५६-२५७

३४. अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और अग्नीत् आदि के द्वारा आश्विन आदि पयोग्रहों का भक्षण — २५७-२५८

३५. इन्हीं के द्वारा इसी क्रम से सौर ग्रहों का भक्षण, अवघ्राणन अथवा पान

३६. भक्षण, अवघ्राणन और पान के अतिरिक्त चतुर्थ पक्ष के रूप में आहवनीय अग्नि में सुराग्रहों की आहुति — २५८-२६०

३७-४४. शतच्छिद्रा कुम्भी की आहवनीय अग्नि के ऊपर शिक्य पर स्थापना और उसमें हिरण्य आदि का प्रक्षेप — २६०-२६५

४५. प्राचीनावीती दक्षिणमुख यजमान द्वारा सकृत् गृहीत आज्य की दक्षिणाग्नि में जुहू द्वारा आहुति २६५-२६६
४६. उपवीती उत्तरमुख यजमान द्वारा सकृत् गृहीत आज्य की आहवनीय अग्नि में आहुति २६६-२६७
४७. सभी ऋत्विजों द्वारा यजमान का अनुवर्तन और अध्वर्यु द्वारा दुग्ध की आहुति २६७-२६९
४८. उखा स्थित शेष दुग्ध का यजमान द्वारा भक्षण २६९-२७१
४९-६१. तेरह ऋचाओं वाले अनुवाक के मन्त्रों का सोमपा, बर्हिषद् और अग्निष्वात्त नामक पितरों की प्रसन्नता के लिये अध्वर्यु-प्रेषित यजमान द्वारा वाचन २७१-२८०
६२-७१. दस ऋचाओं वाले इस अनुवाक का पूर्व अनुवाक की तेरह ऋचाओं के साथ श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन के समय वाचन (पाठ)। २८०-२८७
७२-७९. आठ ऋचाओं वाले अनुवाक से अध्वर्यु के द्वारा पयोग्रहों और सुराग्रहों का एक साथ उपस्थान २८७-२९२
८०-९५. सोलह मन्त्रों में से प्रत्येक के दो दो विभाग कर बनाये गये बत्तीस मन्त्रों से अध्वर्यु द्वारा बत्तीस वसाग्रहों की आहुति २९२-३०३

विंश अध्याय : सौत्रामणी याग

१. दक्षिण और उत्तर वेदि के मध्य यथानिर्दिष्ट आसन्दी का निधान ३०४
२. यजमान का कृष्णाजिन पर उपवेशन ३०५
३. आसन्दी स्थित उद्वर्तित यजमान का अध्वर्यु द्वारा वसाग्रहशेष से अभिषेचन ३०५-३०६
४. अध्वर्यु द्वारा यजमान का स्पर्श तथा यजमान द्वारा अपने सम्बन्धियों का आह्वान ३०६-३०७
५-९. यजमान द्वारा अपने शरीर के विभिन्न अंगों का स्पर्श ३०७-३१०
१०. यजमान का आसन्दी से उतर कर कृष्णाजिन पर बैठना ३१०
११-१२. शस्त्र मन्त्र की समाप्ति पर वषट्कार का उच्चारण करते हुए यजमान द्वारा ३३ वें वसाग्रह की आहुति ३१०-३१२
१३. यजमान द्वारा ग्रहशेष का भक्षण ३१२-३१३
१४-१८. अवभृथेष्टि के अनुष्ठान के बाद साढ़ी चार कण्डिकाओं का पाठ करते हुए यजमान द्वारा मासरकुंभ का जल में अवतारण ३१३-३१५
१८. कण्डिकाशेष से मासरकुंभ को जल में डुबाना ३१५-३१६
१९. यजमान का अवभृथ स्नान से पहले दो डग आगे बढ़ कर जलग्रहण और शत्रु की दिशा में उसका प्रक्षेप ३१६
२०. यजमान-दम्पती का अवभृथ स्नान के उपरान्त धृत वस्त्रों का जल में प्रक्षेप ३१६-३१७
२१. जल से निष्क्रमण, मन्त्रपाठ के साथ त्रिपशु-देश में प्रत्यागमन ३१७-३१८
२२. यजमान द्वारा आहवनीय अग्नि का उपस्थान ३१८-३१९
२३. यजमान द्वारा समिधा का ग्रहण और उसका अग्नि में प्रक्षेप ३१९-३२०
२४-२६. सौत्रामणी के प्रारंभ में आदित्येष्टि के अनुष्ठान के बाद त्रिपशुनिमित्तक अन्वाधान और ब्रह्मवरण, यजमान द्वारा तीन मन्त्रों से आहवनीय अग्नि में तीन समिधाओं का आधान ३२०-३२१
२७. सुरा संसर्जन ३२१-३२२

२८. कारोतर से पूत सुरा का पात्र में ग्रहण ३२२-३२३
२९. श्रवणा कर्म के निमित्त धाना-होम ३२३
३०. अध्वर्युप्रेषित ब्रह्मा द्वारा साम के रूप में प्रस्तुत मन्त्र का गान ३२३-३२४
३१. ब्रह्मा द्वारा पूयमान दुग्ध का अनुमन्त्रण ३२४
३२-३३. अध्वर्यु द्वारा तैंतीसवें वसाग्रह का ग्रहण और हवन ३२४-३२५
३४-३५. तैंतीसवें वसाग्रह के होम के अनन्तर ऋत्विजों द्वारा अवशिष्ट अंश का अवघ्राणन ३२६-३२७
३६-४६. एकादश ऋचाओं में प्रथम ऐन्द्र पशु के प्रयाजयाज्या मन्त्रों का विधान ३२७-३३५
४७-५२. वपा और पशुपुरोडाश के याज्यानुवाक्या मन्त्र ३३५-३३९
५३-५४. इन्द्र की स्तुति में विनियुक्त मन्त्र ३४०-३४१
५५-६६. त्रिपशुसम्बन्धी प्रयाजयाज्या रूप बारह अनुष्टुप् छन्दोमय मन्त्र ३४१-३४८
६७-६९. तीन वपाओं के याज्या-अनुयाज्या मन्त्र ३४८-३४९
७०-७२. तीन पशुपुरोडाशों के याज्यानुवाक्या मन्त्र ३४९-३५१
७३-७५. तीन हवियों के याज्यानुवाक्या मन्त्र ३५१-३५३
७६-७७. तीन पयोग्रहों और सुराग्रहों के याज्यानुवाक्या मन्त्र ३५३-३५४
७८-७९. पशु-स्विष्टकृद् याग के याज्यानुवाक्या मन्त्र ३५४-३५५
८०-९०. तैंतीसवें वसाग्रह के सादन के अनन्तर अध्वर्यु का होता के सामने प्रतिगर के लिये उपवेशन, होता द्वारा एकादश ऋगात्मक शस्त्र का शंसन ३५५-३६०

षोडशोऽध्यायः

नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः । बाहुभ्यामुत ते नमः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे दुःखनाशक रुद्र ! तुम्हारे क्रोध, बाण और हस्तों को हम प्रणाम करते हैं ॥ १ ॥

इतः पूर्वं पञ्चदशेऽध्याये चयनमन्त्रा उक्ताः। अस्मिन् षोडशेऽध्याये शतरुद्रियहोममन्त्रा उच्यन्ते। हिरण्यशकलैरग्निप्रोक्षणानन्तरं शतरुद्रियसंज्ञो होमः। 'अथातः शतरुद्रियं जुहोति' (श० ९।१।१।१) इत्युपक्रम्य 'स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानः' (श० ९।१।१।१) इत्यादिश्रुत्या बुभुक्षमाणस्याग्ने रुद्ररूपताव्याहरणात् तस्माद् भीतैर्देवैस्तत्तर्पणं कृतम्। तस्य आहवनीयाग्नौ होमे प्राप्ते तदपवादमाह कात्यायनः—'शतरुद्रियहोम उत्तरपक्षस्यापरस्यां स्रक्त्यां परिश्रित्स्वर्कपर्णेनार्ककाष्ठेन शातयन्त्सन्ततं जर्तिलमिश्रान् गवेधुकासक्तूनजाक्षीरमेके तिष्ठन्नुदङ् नमस्त इत्यध्यायेन, त्र्यनुवाकान्ते स्वाहाकारो जानुमात्रे, पञ्चान्ते नाभिमात्रे, प्राक् च प्रत्यवरोहेभ्यो मुखमात्रे, प्रतिलोमं प्रत्यवरोहान् जुहोति प्रमाणेषु नमोऽस्त्विति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १८।१।१-५) इति। उत्तरपक्षस्य वायव्यकोणे पूर्वं निखातासु जङ्घामात्र्याद्यासु परिश्रित्सु शतरुद्रियसंज्ञको होमः कार्यः। तत्प्रकारमाह—जर्तिलमिश्रितान् गवेधुकासक्तून् दक्षिणहस्तस्थितेन जुहूस्थानीयेन तिष्ठन्नुदङ्मुखोऽध्वर्युर्नमस्त इत्यध्यायेन जुहोति। किं कुर्वन्? तान् सक्तूनर्ककाष्ठेन सव्यहस्तधृतेन परिश्रित्सु पातयन्। एके आचार्या अत्र अजाक्षीरं जुह्वति, न जर्तिलमिश्रितान् गवेधुकासक्तून्। जर्तिला आरण्यतिलाः। गवेधुका आरण्यगोधूमा इति प्रथमसूत्रार्थः। अत्र नाहवनीय इति शेषणीयम्। 'नमस्ते' इति षोडशर्चः प्रथमोऽनुवाकः। ततः पञ्चभिः पञ्चभिः

भाष्यभाषानुवाद

इसके पूर्व पन्द्रहवें अध्याय में चयन-मन्त्र कहे गये हैं। इस सोलहवें अध्याय में शतरुद्रिय होम के मन्त्र बताये जा रहे हैं। हिरण्य-शकलों से अग्निप्रोक्षणानन्तर शतरुद्रियसंज्ञक होम होता है। 'अथातः शतरुद्रियं जुहोति' ऐसा उपक्रम कर 'स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानः' इस ब्राह्मण-श्रुति ने बुभुक्षमाण अग्नि की रुद्ररूपता बताई है। उस कारण भयभीत हुए देवताओं ने उसको तृप्त किया है। उसका आहवनीय अग्नि में होम प्राप्त होने पर कात्यायन महर्षि उसका अपवाद बताते हैं—उत्तर पक्ष के वायव्य कोण में पूर्व से निखात की हुई जंघामात्र परिमाण की परिश्रित् में शतरुद्रियसंज्ञक होम करना चाहिये। उसका प्रकार बताते हैं—जर्तिलमिश्रित गवेधुका सक्तु की दक्षिण हस्त में स्थित जुहूस्थानीय 'नमस्ते' इस अध्याय से उदङ्मुख खड़े होकर अध्वर्यु आहुति देता है। क्या करते हुए? सव्य हस्त में लिये हुए अर्ककाष्ठ से उन सक्तुओं को परिश्रित् में गिराते हुए। अन्य आचार्य यहाँ पर अजाक्षीर की आहुति देना बताते हैं, जर्तिलमिश्रित गवेधुका सक्तुओं की नहीं। आरण्य तिलों को जर्तिल कहते हैं। आरण्य गोधूमों को गवेधुक कहते हैं। इस प्रकार प्रथम सूत्र का अर्थ है। यहाँ 'नाहवनीये' यह शेष रखना चाहिये। 'नमस्ते' यह सोलह ऋचाओं का प्रथम अनुवाक है। उसके पश्चात् पाँच-पाँच कण्डिकाओं के दो अनुवाक हैं। इन छब्बीस कण्डिकाओं के अन्त में जानुमात्र परिमाण के परिश्रित् में स्वाहाकार करना चाहिये। यह द्वितीय सूत्र का अर्थ है।

तदनन्तर ग्यारह कण्डिकाओं के चतुर्थ और पंचम दो अनुवाक हैं। उनकी समाप्ति पर 'सुधन्वने च' जब कहा जाय, तब नाभिपरिमाण के परिश्रित् में स्वाहाकार करना चाहिये। यह तृतीय सूत्र का अर्थ है। 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यः' ये

कण्डिकाभिरनुवाकद्वयम् । एवं च षड्विंशतिकण्डिकानामन्ते जानुमात्रे परिश्रिति स्वाहाकारो विधेय इति द्वितीय-सूत्रार्थः । तत एकादशभिः कण्डिकाभिश्चतुर्थपञ्चमावनुवाकौ । तदन्ते सुधन्वने चेत्यत्र नाभिमात्रे परिश्रिति स्वाहाकारः कर्तव्य इति तृतीयसूत्रार्थः । नमोऽस्तु रुद्रेभ्य इति तिस्रः कण्डिकाः प्रत्यवरोहाः । तेभ्यः प्राग् मुखमात्रे परिश्रिति स्वाहाकारः कर्तव्य इति चतुर्थसूत्रार्थः । नमोऽस्त्विवति कण्डिकात्रयेण प्रतिलोमं होमः । 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि' इति मुखमात्रे, 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे' इति नाभिमात्रे, 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्याम्' इति जानुमात्र इति पञ्चमसूत्रार्थः ।

अस्याध्यायस्य परमेष्ठिदेवप्रजापतयः ऋषयः । 'मा नो महान्तम्, मा नस्तोके' इत्यनयोः कुत्सोऽपि ऋषिः । अत्र प्रथमः षोडशर्चोऽनुवाक एकरुद्रदेवत्यः । आद्या गायत्री, तिस्रोऽनुष्टुभः, तिस्रः पङ्क्तयः, सप्तानुष्टुभः, द्वे जगत्यौ । अथ कण्डिकार्थः—यजमानाः, ऋत्विजः, अन्ये वा भक्ता भगवन्तं नानारूपेण स्तुवन्ति । हे रुद्र परमेश्वर ! रोदयतीति रुत् तापत्रयात्मकं संसारदुःखम्, दुःखहेतुर्वा—'रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा द्रावयत्येव नः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते सद्भिः शिवः परमकारणम् ॥ अशुभं द्रावयन् रुद्रो यज्जहार पुनर्भवम् ॥' इदं वचनं 'रुद्र जलाष भेषज' (अ० सं० २।२७।६) इति मन्त्रव्याख्याने सायणेनोद्धृतम् । तथा हि तदीयं वचनम्—'अथवा रुद् रोदनकरं सांसारिकं दुःखम्, तद्धेतुभूतामविद्यां वा द्रावयति विनाशयतीति रुद्रः । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम् ॥' इति । एवं च अशुभं द्रावयन् रुद्रः, भवं जन्ममरणाविच्छेदलक्षणं संसारमपहरन् हर इति स एव गीयते । यद्वा रुद् दुःखं पीडा रोगो विपत्तिर्वा, तद् द्रावयतीति रुद्रः, परमेश्वराश्रयणादेव दुःखाब्धिसन्तरणसम्भवात्, तत्सम्बुद्धौ । यद्वा रवणं रुत् । 'रु शब्दे' । शब्दस्य ज्ञान एव पर्यवसानम्, शक्तिग्रहादेः शब्देनैव जायमानत्वात् । रुद् ज्ञानं स्वात्मसाक्षात्काररूपं राति ददातीति रुद्रः, ज्ञानप्रद इत्यर्थः । 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' (कठो० १।२।२३), 'ददामि बुद्धियोगं तं

तीन कण्डिकाएँ 'प्रत्यवरोह' हैं । उनसे पूर्व मुखमात्र के परिश्रित् में स्वाहाकार करना चाहिये । यह चतुर्थ सूत्र का अर्थ है । 'नमोऽस्तु' इन तीन कण्डिकाओं से प्रतिलोम होम करना चाहिये । 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि' से मुखपरिमाण वाले, 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे' से नाभि परिमाण वाले, और 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्याम्' से जानुपरिमाण वाले परिश्रित् में स्वाहाकार करना चाहिये । यह पंचम सूत्र का अर्थ है ।

इस अध्याय के परमेष्ठी, देव, प्रजापति ऋषि हैं । 'मा नो महान्तम्', 'मा नस्तोके' इन दो के कुत्स भी ऋषि हैं । इनमें प्रथम सोलह ऋचाओं का एक अनुवाक है और एकरुद्र देवता है । आद्या गायत्री, तीन अनुष्टुप्, तीन पंक्ति, सात अनुष्टुप् छन्द की और दो जगती छन्द की ऋचाएँ हैं ।

कण्डिका का अर्थ यह है—यजमान, ऋत्विक् अथवा अन्य भक्तगण भगवान् की अनेक रूपों में स्तुति करते हैं । हे रुद्र परमेश्वर ! यह वचन 'रुद्र जलाष भेषज'—इस अथर्ववेद के मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य ने उद्धृत किया है । वह उनका वचन इस प्रकार है—'अथवा रुद् रोदनकरं सांसारिकं दुःखम्, तद्धेतुभूतामविद्यां च द्रावयति विनाशयतीति रुद्रः । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—'रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम् ॥' इति । एवं च अशुभ को जो खदेड़ देता है, उसे रुद्र कहते हैं । भव अर्थात् जन्म-मरण के अविच्छेद लक्षण संसार का अपहरण करनेवाला 'हर' कहलाता है, अतः उसी को गाया जाता है । 'रोदयतीति रुत्, तापत्रयात्मक संसारदुःख, अथवा दुःखहेतु । कहा भी है—'रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा द्रावयत्येव नः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते सद्भिः शिवः परमकारणम् ॥ अशुभं द्रावयन् रुद्रो यज्जहार पुनर्भवम् ॥' इति । इस रीति से अशुभ को नष्ट कर अपुनर्भव को जो प्राप्त कराता है, वह रुद्र ही है । अथवा 'रुत्' यानी दुःख-पीडा-रोग अथवा विपत्ति को जो विनष्ट करता है, वह रुद्र है । परमेश्वर का आश्रय करने से ही दुःखसागर से पार होना संभव है । उसके संबोधन के एकवचन में हे रुद्र ! कहा गया है । अथवा 'रवणं रुत्', 'रु शब्दे'

येन मामुपयान्ति ते (भ० गी० १०।१०) इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्, तत्सम्बुद्धौ। यद्वा रुतिर्वेदरूपा वाणी, तया द्रावयति बोधयति धर्मब्रह्मादीति रुद्रः, 'द्रु गतौ', तत्सम्बुद्धौ। यद्वा रुत्या प्रणवरूपया वाण्या द्रावयति प्रापयति स्वात्मानमिति रुद्रः, तत्सम्बुद्धौ। अथवा रोरूयमाणो द्रवति प्रविशति मर्त्यानिति रुद्रः शिव उच्यते। रोधिका बन्धिका च शक्तिरेव रुत्, तां भक्तेभ्यो द्रावयति अपसारयति स रुद्रः, तत्सम्बुद्धौ। अथवा रुत् शब्दं वेदात्मानं कल्पादौ ब्रह्मणे ददातीति रुद्रः, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० उ० ६।१८) इति श्रुतेः, तत्सम्बुद्धौ।

अथवा पातकिनो जनान् दुःखभोगदानेन रोदयतीति रुद्रः परमात्मा, शुभकर्मणामिवाशुभकर्मणामपि तस्यैव फलदातृत्वात्। 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं....उन्निनीषते....एवैनमसाधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते (कौ० ब्रा० उ० ३।८), 'फलमत उपपत्तेः' (ब्र० सू० ३।२।३८) इति श्रुतिसूत्राभ्याम्। तस्यैव रुद्रस्य अंशभूतो रुद्रो ब्रह्मणो जातो रुरोदेति पौराणिकाः, 'सोऽरोदीद्यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१) इति श्रुतेश्च, तत्सम्बुद्धौ। अथवा एकादशेन्द्रियाधिष्ठातृदेवतरूपेण तस्य पूर्वदेहाद् देहान्तरगमनेन जनानां रोदनहेतुत्वादपि रुद्रः। एकादशत्वं चापि तेनैव, 'सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम्' (भा० पु० २।१।३५) इति श्रीम-

---

यहाँ शब्द से तात्पर्य 'ज्ञान' ही समझना चाहिये, क्योंकि शक्तिग्रह आदि शब्द से ही हुआ करते हैं। एवं च 'रुत्' यानी ज्ञानम्, अर्थात् स्वात्मसाक्षात्काररूपं राति ददाति इति 'रुद्रः'। तात्पर्य यह है कि स्वात्मसाक्षात्काररूप ज्ञान को देनेवाला 'रुद्र' है, अर्थात् वह 'ज्ञानप्रद' है। 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' अर्थात् यह आत्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देती है। उसी तरह 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' ये श्रुति और स्मृति के वचन उपर्युक्त कथन का समर्थन करते हैं।

अथवा 'रुतिः' वेदरूपा वाणी, उसके द्वारा जो द्रावयति यानी बोधयति = ज्ञान करा देता है, धर्म, ब्रह्म आदि का, उसे 'रुद्र' कहते हैं। 'द्रु गतौ' धातु से यह अर्थ निकलता है। उसकी संबुद्धि में यह एकवचन है—हे रुद्र! अथवा 'रुत्या प्रणवरूपया वाण्या = प्रणवरूप वाणी के द्वारा, द्रावयति = प्रापयति स्वात्मानम् = आत्मतत्त्व के प्रति जो पहुँचा देता है, उसे 'रुद्र' कहते हैं, उसके संबोधन में हे रुद्र! कहा गया है।

अथवा 'रोरूयमाणो द्रवति प्रविशति मर्त्यान् इति रुद्रः', अर्थात् जो मर्त्यों को देखता हुआ उनमें प्रवेश करता है, उसे 'रुद्र' यानी 'शिव' कहते हैं। रोधिका और बन्धिका शक्ति को ही 'रुत्' कहते हैं, उस शक्ति को जो अपने भक्तों से दूर करता है, उसे 'रुद्र' कहते हैं। उसके संबोधन का रूप 'हे रुद्र' है।

अथवा 'रुत् शब्दं वेदात्मानं कल्पादौ ब्रह्मणे ददातीति रुद्रः', अर्थात् रुत् = वेदात्मक शब्द को कल्प के आरंभ में ब्रह्मा के लिये जो देता है, उसे 'रुद्र' कहते हैं। क्योंकि भगवती श्रुति कह रही है—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० उ० ६।१८)। उसका संबोधन में हे रुद्र! रूप है।

अथवा 'पातकिनो जनान् दुःखभोगदानेन रोदयतीति रुद्रः', अर्थात् पातकी लोगों को दुःखभोग दिलाकर जो रुलाता है, उसे रुद्र कहते हैं। जो पुण्यवान् या पापी रहते हैं, उनसे वैसे ही कर्म वह करवाता है, यह बात श्रुति-स्मृति के वचनों से अवगत होती है। उसी रुद्र का अंशभूत रुद्र ब्रह्मा से उत्पन्न होकर रोने लगा, ऐसा पौराणिकों ने बताया है। 'सोऽरोदीद्यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१) यह श्रुतिवचन भी उसी बात को बता रहा है। उसके संबोधन में हे रुद्र! रूप निष्पन्न होता है।

अथवा ग्यारह इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवता के रूप में उसके पूर्व शरीर से शरीरान्तर में जाकर लोगों के रुदन में जो कारणीभूत होता है, उसे रुद्र कहते हैं। उसकी एकादश संख्या भी उसी से होती है। श्रीमद्भागवत में अहङ्कार के

द्भागवतेऽहङ्काररूपेणोपास्यत्वाभिधानात् । तथा चाह श्रीतोटकाचार्यः—'यदि सा न भवेज्जनमोहकरी व्यवहारमिमं न जनोऽनुभवेत्' इति । सा अहङ्कृतिरित्यर्थः, तत्सम्बुद्धौ । ते तव सम्बन्धिने मन्यवे क्रोधाय नमो नमस्कारोऽस्तु । उतो अपि च ते तव सम्बन्धिने इषवे काण्डाय शराय वा नमो नमस्कारोऽस्तु । उत अपि च ते तव सम्बन्धिभ्यां बाहुभ्यां नमो नमस्कारोऽस्तु । तव क्रोधबाणहस्ता अस्मदरिष्वेव प्रसरन्तु, नास्मास्वित्यर्थः ।

तस्य परमेश्वरस्य निर्गुणत्वे निराकारत्वे च सत्यपि लोकसंचालनाय भक्तहिताय च सगुणत्व-साकारत्वादिकं च । अनन्तानन्तब्रह्माण्डनिर्माणक्षमस्य तस्य दिव्यगुणविग्रहादिधारणे सुतरां सक्षमत्वम् । न चैतावतापि सगुणत्वनिर्गुणत्वयोः साकारनिराकारत्वयोश्च विरोधः, समानसत्ताकयोरेव भावाभावयोर्विरोधो न विषमसत्ताकयोरिति न्यायस्य सुप्रसिद्धत्वात् । अत एव व्यावहारिकसत्ताकरजताभाववत्यामपि शुक्तिकायां प्रातिभासिकसत्ताकं रजतं भवत्येव । तथैव भगवत्स्वरूपसत्तापेक्षया किञ्चिन्न्यूनसत्ताकानां दिव्यगुणलीलाविग्रहादीनां सत्त्वे बाधाभावः । न च सत्यत्वे भेदाभावान्न वैषम्यमिति वाच्यम्, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० उ० ६।१।४), 'आप इत्येव सत्यम्', 'तेज इत्येव सत्यम्' इति श्रुतिषु सत्यभेदश्रवणात् । यथा साधारणराजापेक्षया राजराजस्य वैशिष्ट्यम्, तथैव 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' (बृ० उ० २।१।२०) इति भगवतः श्रोत्रस्य श्रोत्रत्ववत्, मनसा मनस्त्ववत् सत्यानां सत्यत्वश्रवणात् । तथा च रामायणे—'सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः । श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमा क्षमा । (वा० रा०, अ० ४४।१५) । यथा नित्यनिरतिशयदाहकत्वप्रकाशकत्ववतो वह्नेः प्रसादादेव अयस्पिण्डादौ सातिशयानित्यदाहकत्वादिकं भवति, यथा वा नित्य-

---

रूप में उसे उपास्य बताया है । इसी बात को श्री तोटकाचार्य भी बता रहे हैं—'यदि सा न भवेज्जनमोहकरी व्यवहारमिमं न जनोऽनुभवेत्' इति । यहाँ 'सा' शब्द से अहंकृति समझनी चाहिये । उसकी सम्बुद्धि में 'हे रुद्र' रूप बना है । हे रुद्र ! तुम्हारे क्रोध को मेरा प्रणाम रहे । उसी तरह तुम्हारे काण्ड अथवा शर को मेरा प्रणाम रहे । तुम्हारे दोनों बाहुओं को मेरा प्रणाम रहे । अर्थात् तुम्हारे क्रोध, बाण और हाथ हमारे शत्रुओं पर ही चलें, हम पर नहीं ।

उस परमेश्वर की निर्गुणता, निराकारता रहने पर भी लोकसंचालनार्थ और भक्त जनों के कल्याणार्थ उसकी सगुणता, साकारता भी हुआ करती है । अनन्त अनन्त ब्रह्माण्डों के निर्माण करने में समर्थ रहने वाले उस परमात्मा की दिव्यगुणविग्रह धारण करने में भी पूर्णरूपेण क्षमता है । उस कारण उसके सगुणत्व-निर्गुणत्व, साकारत्व-निराकारत्व के स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं होना चाहिये । 'समानसत्ता वाले भाव-अभाव का विरोध हुआ करता है, विषमसत्ताक भाव-अभाव का विरोध नहीं है'—यह नियम तो सर्वत्र सुप्रसिद्ध ही है । अत एव व्यावहारिकसत्ताक रजतभाव वाली शुक्तिका पर भी प्रातिभासिकसत्ताक रजत की प्रतीति होती ही है । उसी तरह भगवत्स्वरूप की सत्ता की अपेक्षा किञ्चित् न्यूनसत्ता वाले दिव्यगुण लीलाविग्रह आदि के होने में कोई किसी तरह का बाध होता दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है । सत्य में भेद न रहने से वैषम्य के अभाव की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि श्रुति ने अनेक वचनों के द्वारा सत्य में भी भेद बताया है—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० उ० ६।१।४), 'आप इत्येव सत्यम्', 'तेज इत्येन सत्यम्' इति । जैसे साधारण राजा की अपेक्षा राजाधिराज की विशेषता रहती है, तथैव 'प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्' (बृ० उ० २।१।२०) इस वचन से भगवान् के 'श्रोत्रस्य श्रोत्रत्वम्', 'मनसो मनस्त्वम्' के समान 'सत्यानां सत्यत्वम्' भी सुना जाता है । उसी तरह रामायण में कहा भी है—'सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः । श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमा क्षमा ॥' (वा० रा०, अयो० ४४।१५) ।

जैसे नित्य निरतिशय दाहकत्व प्रकाशत्व धर्म वाले अग्नि के अनुग्रह से ही अयःपिण्ड आदि में अत्यधिक अनित्य दाहकत्व आदि धर्म प्राप्त होते हैं, अथवा नित्य निरवद्य स्वप्रकाश चैतन्य के अनुग्रह से ही श्रोत्र आदि की वृत्तियों में अपने विषय का प्रकाशत्व होता है, उसी तरह पारमार्थिक सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों के सत्य होने से ही माया और उसके कार्यभूत

निरवद्यस्वप्रकाशचितोऽनुग्रहेणैव श्रोत्रादितद्वृत्तिषु स्वविषयावद्योतकत्वं भवति, तथैव पारमार्थिकसतो भगवतः सत्यत्वेनैव मायातत्कार्यस्य निखिलप्रपञ्चस्य सत्यत्वम्। भगवदीयगुणविग्रहादयस्तु भगवतः परमान्तरङ्गदिव्यशक्तिमयत्वाद् भगवत्स्वरूपमया एव। अत एवास्मिन् मन्त्रे भगवतः क्रोधोऽपि वन्द्यते, घातकः शरोऽपि नमस्क्रियते, किमु वक्तव्यं स्वरूपभूतस्य बाह्वोः पूजायाम्। 'नमो हिरण्यबाहवे', 'नीलग्रीवाः' इत्यादिश्रुतिशतैर्भगवतो दिव्यविग्रहवत्त्वं सगुणसाकारत्वं डिण्डिमघोषेणोद्घोषितम्। एतेन वेदेषु विग्रहवत्त्वं भगवतः परमेश्वरस्य नोपवर्णितमित्यपास्तम्, एकस्यैव परमेश्वरस्य शिवविष्णुशक्तिसूर्यगणपतिरामकृष्णनृसिंहादिरूपेण तत्र तत्र भूयस्सु शास्त्रेषु वर्णनात् समेषामैकात्म्यमेव मन्तव्यम्, मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु रामतापनीय-गोपालतापनीय-नृसिंहतापनीय-त्रिपुरातापनीय-गणेशाथर्वशीर्ष-सूर्योपनिषदादिषु च समेषां परमेश्वरत्व-निर्गुणत्व-निराकारत्व-सगुणसाकारत्वादिप्रतिपादनात्, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० १।२।१५), 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (भ० गी० १५।१५), 'वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ। आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥ ९३ ॥' (हरिवंशेऽन्तिमेऽध्याये) इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणैरेकस्यैव तत्तद्रूपेण वर्णनात्।

अनेकेषामीश्वरत्वं न सम्भवत्येव। यद्यनेके ईश्वरास्तदा तैः परस्परं संमतिं संगृह्य जगदुत्पादनपालनसंहाररूपाणि कार्याणि सम्पादनीयानि, स्वातन्त्र्येण वा? नाद्यः पक्षः, अनेकेषामीश्वराणां काचित् समितिः, तत्र न कश्चनापि सत्यसङ्कल्पः, कश्चनापि न सर्वशक्तिमान्, कश्चनापि न स्वतन्त्रः, समितेः पराधीनत्वात्। तथा च न कस्यापीश्वरत्वम्। नापि द्वितीयः, उत्पादन-पालन-संहाररूपेषु कार्येषु परस्परं विभिन्नेषु प्रत्येकं भिन्ने सङ्कल्पे जाते समानबलत्वेन न कस्यचनैकस्यापि सिद्धिः, किन्तु सर्वोऽपि सङ्कल्पो विध्वंसेत। अतो यस्य स्वातन्त्र्येण

सम्पूर्ण प्रपंच का सत्यत्व है। भगवदीय गुण, विग्रह आदि तो भगवान् के परम अन्तरंग दिव्य शक्तिमय हैं, भगवत्स्वरूपमय ही हैं। अत एव इस मन्त्र में भगवान् के क्रोध को भी प्रणाम किया जा रहा है, घातक शर (बाण) को भी नमस्कार किया जा रहा है, तब पूजा में भगवत्स्वरूप उनकी भुजाओं के विषय में कहना ही क्या है। 'नमो हिरण्यबाहवे', 'नीलग्रीवाः' इत्यादि शतशः श्रुतिवचनों ने भगवान् के दिव्यविग्रहवत्त्व, सगुण-साकारत्व की डिण्डिमघोषपूर्वक घोषणा की है। यह कहने से 'वेदों ने भगवान् परमेश्वर का विग्रहवत्त्व (साकारत्व) नहीं बताया है', इस कथन का खण्डन पूर्णरूप से हो जाता है। शास्त्रों में यत्र-तत्र पुनः पुनः एक ही परमेश्वर का शिव-विष्णु-शक्ति-सूर्य-गणपति-राम-कृष्ण-नृसिंह आदि के रूपों में वर्णन किया गया है। अतः सभी को एकरूप ही समझना चाहिये। मन्त्रों में, ब्राह्मणों में तथा रामतापनीय, गोपालतापनीय, नृसिंहतापनीय, त्रिपुरातापनीय, गणेशाथर्वशीर्ष, सूर्योपनिषद् आदि ग्रन्थ सभी का परमेश्वरत्व, निर्गुणत्व, निराकारत्व, सगुण-साकारत्व बता रहे हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ० १।२।१५), 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (भ० गी० १५।१५), तथा—'वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ। आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते' ॥ ९३ ॥—(हरिवंश, अन्तिमाध्याय में) इत्यादि श्रुति, स्मृति और पुराणों ने उस एक ही परमेश्वर का अनेक रूपों में वर्णन किया है।

अनेक व्यक्तियों में ईश्वरत्व का होना संभव नहीं है। यदि अनेक ईश्वरों को स्वीकार किया जाय, तो क्या वे परस्पर एक-दूसरे की संमति लेकर सृष्टि (जगत्) के उत्पादन, पालन, संहारात्मक कार्यों का सम्पादन करते हैं? या प्रत्येक ईश्वर किसी की संमति लिये बिना ही स्वतन्त्र रूप से उन कार्यों को करता है? इनमें प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अनेक ईश्वरों की ऐसी कोई एक समिति बनी हुई नहीं है। यदि कोई एक समिति है, ऐसा मान भी लें, तो उसमें कोई एक व्यक्ति सत्यसंकल्प हो या सर्वशक्तिमान् हो, यह भी नहीं कहा जा सकता और समिति का कोई व्यक्ति स्वतन्त्र भी नहीं है, क्योंकि सभी समिति के पराधीन हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि समिति के किसी व्यक्ति में ईश्वरत्व नहीं है। उसी तरह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पादन, पालन, संहार के कार्यों में परस्पर विभिन्नता रहने से तद्विषयक प्रत्येक व्यक्ति का संकल्प (इच्छा) भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। प्रत्येक के भिन्न-भिन्न संकल्प होने पर किसी का भी संकल्प सफल नहीं

सर्वशक्तिमत्त्वं सर्वज्ञत्वं सर्वकारणत्वं च निरङ्कुशं स्यात्, तस्यैव परमेश्वरत्वमुपपन्नम्। अन्येषां देवानामपि विग्रहवत्त्वं मन्त्रैर्ब्राह्मणैश्च सिद्ध्यत्येव। 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' (तै० ब्रा० २।७।३।२) इत्यादिभिः श्रुतिभिः, देवताधिकरणादौ च ब्रह्मसूत्रभाष्ये प्रतिपादनात्। विस्तरस्तु अस्मत्कृतरामायणमीमांसायां द्रष्टव्यः।

यद्यपि भगवान् रुद्रः शिवः शान्तोऽघोरो दयालुरेव, तथापि प्राणिनां कर्मवैचित्र्यात् तत्फलप्रदानाय सत्त्वादिगुणाश्रयेण दयापरवशस्यापि परमेश्वरस्य क्रोधवत्त्वसम्भवात्। यद्यपि सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात् परमानन्दरूपतैव भगवतः, तथाप्यविदुषां समुद्यतस्य वज्रस्येव भयहेतुत्वमपि, वायु-सूर्य-कालादीनामपि तद्भीत्यैव नियमेन प्रवृत्तिमत्त्वात्। तथा च श्रुतिः—'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥' (तै० उ० २।८), 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठो० २।६।२), 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (तै० उ० २।७) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

यथा कारुणिकस्य चिकित्सकस्य आतुरहितायैव तीक्ष्णशस्त्रेण तदीयव्रणच्छेदे प्रवृत्तिः, तथैव प्राणिनां हितायैव भगवदीयः क्रोधोऽपि। 'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'[1] इति स्मरणात्। तथैव तदीयबाणादयोऽपि। महाप्रलयेऽपि पापतापाद्युपतप्तजीवानां महासुप्तिसम्पादनेन प्रलयस्य अनन्तसत्त्वविश्रान्तिपर्यवसायित्वात्। तथा च भगवदीयो बाहुरेव न कल्याणमयः, किन्तु तस्य क्रोधशरादयोऽपि कल्याणमया वन्दनीयाश्च।

हो पावेगा, सभी के संकल्प ध्वस्त हो जायंगे, क्योंकि कोई भी ईश्वर व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से दुर्बल नहीं है, सभी समान बल वाले हैं। अतः यही स्वीकार करना होगा कि जिसका स्वतन्त्र सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वविद् बलशालित्व और सर्वकारणत्व निरंकुश हो, वही परमेश्वर है, उसी में परमेश्वरत्व उपपन्न हो सकता है। अन्य देवताओं का विग्रहवत्त्व (शरीरधारित्व) मन्त्र-ब्राह्मणात्मक श्रुति से सिद्ध ही है। जैसे—'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' (तै० ब्रा० २।७।३।२) इत्यादि श्रुतिवचनों के द्वारा तथा ब्रह्मसूत्र के भाष्य में देवताधिकरण के द्वारा बताया गया है। इसी प्रसंग को विस्तार से जानना हो, तो हमारी (पूज्यपाद स्वामी करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित) 'रामायण मीमांसा' को देखना चाहिये।

यद्यपि भगवान् रुद्र शिव, शान्त, अघोर दयालु ही हैं, तथापि प्राणियों के कर्मवैचित्र्य से तत्तत् कर्मों का फल देने के लिये सत्त्वादि गुणों का आश्रय कर दयालु होने पर भी परमेश्वर को भी क्रोध आना संभव है। यद्यपि भगवान सभी प्राणियों के परप्रेमास्पद होने से परमानन्दरूप ही हैं, तथापि समुद्यत हुए वज्र के तुल्य अविद्वानों के लिये वह भयहेतु भी हैं। उसके भय से ही सूर्य, काल आदि भी नियमपूर्वक प्रवृत्तिशील रहते हैं। तथा च श्रुति कह रही है—'इसके भय से वायु बहती है, इसके भय से सूर्य उदित होता है, इसके भय से अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु भी दौड़ता रहता है' (तै० उ० २।८)। इसी प्रकार कठ, तैत्तिरीय आदि श्रुतियों में अन्यान्य वचन हैं।

जैसे कारुणिक चिकित्सक आतुर के कल्याणार्थ ही तीक्ष्ण शस्त्र से उसके व्रण-च्छेदन में प्रवृत्त होता है, तथैव प्राणियों के हितार्थ ही भगवान् का क्रोध भी हुआ करता है। रावण के प्रति भगवान् सनत्कुमार का यह वाक्य है—'ये ये हताश्चक्रधरेण राजन् त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन। ते ते गतास्तन्निलयं नरेन्द्राः क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः॥' (वा० रा० उ० ३६ सर्गानन्तर प्रक्षिप्त पाँच सर्गों में से द्वितीय सर्ग का २२ वाँ श्लोक है)। उसी तरह भगवान् के बाण आदि आयुध भी हैं। महाप्रलय में भी पाप-ताप आदि से सन्तप्त हुए जीवों को महासुषुप्ति का सम्पादन कराकर प्रलय का पर्यवसान भी अनन्त सत्त्व में ही विश्रान्त हो जाता है। अत एव उसे हिंसा भी करनी पड़ती है।

---

१. इदं रावणं प्रति भगवतः सनत्कुमारस्य वाक्यम्। श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे उत्तरकाण्डे षट्त्रिंशसर्गानन्तरं प्रक्षिप्तेषु पञ्चसर्गेषु द्वितीयेसर्गे द्वाविंशः श्लोकोऽयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथातः शतरुद्रियं जुहोति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र रुद्रो देवता तस्मिन् देवा एतदमृतꣳ रूपमुत्तममदधुः स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानस्तस्माद् देवा अबिभयुर्यद्वै नोऽयं न हिꣳस्यादिति' (श० ९।१।१।१)। अथ चित्युपधानपरिसमाप्त्यनन्तरम्, अतो यतः कारणात् संचितोऽग्निरुपशमनीयः, अतो हेतोः। शतरुद्रियमिति कर्मनामधेयम्। शतरुद्रियाख्यं होमं भावयेदित्यर्थः। रुद्ररूपतापन्नस्याग्नेरुपशमनार्थोऽयं होमः। एवं सत्यग्निः साकल्येन संस्कृतो भवति। यतो देवाश्चयनलक्षणेन संस्कारेण निष्पन्नममृतमुत्तमं रूपं विस्रंसनात् प्राग् यदमृतं रूपमस्ति तस्य विस्रंसनावसरे गतत्वात् तदेव पुनरत्र चयनसंस्कारेण अदधुः। तस्मादेषोऽग्निर्दीप्यमानः, अन्नमिच्छमानः, अतिष्ठत्। इषेः परस्मैपदित्वाद् उपग्रहव्यत्ययेन शानच्। अथवा 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (पा० सू० ३।२।१२९) इति शक्यार्थे चानश्। अस्मादग्नेर्हिंसाशङ्कया देवा अबिभयुः, यथा न हिंस्यादिति विचारं च चक्रुः।

'तेऽब्रुवन्। अन्नमस्मै सम्भराम तेनैनꣳ शमयामेति तस्मा एतदन्नꣳ समभरञ्छान्तदेवत्यं तेनैनमशमयंस्तद्यदेतं देवमेतेनाशमयंस्तस्माच्छान्तदेवत्यꣳ शान्तदेवत्यꣳ ह वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्तथैवास्मिन्नयमेतदमृतꣳ रूपमुत्तमं दधाति स एषोऽत्र दीप्यमानस्तिष्ठत्यन्नमिच्छमानस्तस्मा एतदन्नꣳ सम्भरति शान्तदेवत्यं तेनैनꣳ शमयति' (श० ९।१।१।२)। पश्चात् ते देवाः, अस्मै रुद्राय अन्नं सम्भराम तेनैनं शमयामेति परस्परमुक्त्वा तथैवाकार्षुः। अतः शमनार्थत्वात् तदन्नं शान्तदेवत्यम्। तच्च देवाः परोक्षकामत्वात् शतरुद्रियमित्यभिदधते, तदन्नसाध्यत्वात् कर्मापि तथैव व्यपदिश्यते। पूर्वं यथा देवा अकार्षुः, तथैव यजमानोऽपि तेनान्नेन रुद्रं शमितवान् भवति।

'जर्तिलैर्जुहोति। जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायत उभयं वेतदन्नं यज्जर्तिला यच्च ग्राम्यं यच्चारण्यं यदह तिलास्तेन ग्राम्यं यदकृष्टे पच्यन्ते तेनारण्यमुभयेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ग्राम्येण

ग्राहकत्वविशिष्ट प्राणवियोगानुकूल व्यापार को ही 'हिंसा' शब्द से कहा गया है, अतः अनुग्राहक प्राणवियोगानुकूल व्यापार को 'हिंसा' नहीं समझना चाहिये। तथा च भगवान् का केवल 'बाहु' ही कल्याणमय नहीं है, अपितु उसके क्रोध, शर आदि भी कल्याणमय और वन्दनीय हैं। इस विषय में ब्राह्मण कह रहा है—'अथातः शतरुद्रियं जुहोति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र रुद्रो देवता। तस्मिन् देवा एतदमृतं रूपमुत्तममदधुः। स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानस्तस्माद् देवा अबिभयुर्यद्वै नोऽयं न हिंस्यादिति' (श० ब्रा० ९।१।१।१)।

इसका अभिप्राय यह है कि चिति का उपधान समाप्त होने के बाद, जब कि संचित अग्नि उपशमनीय है, अतः अर्थात् उस कारण। 'शतरुद्रियम्' यह एक कर्मविशेष का नाम है, यानी 'शतरुद्रियं जुहोति' का अर्थ होगा कि 'शतरुद्रियाख्यं होमं भावयेत्'। एवं च रुद्ररूपता को प्राप्त हुए अग्नि के उपशमनार्थ यह होम है। उससे अग्नि सम्पूर्णतया संस्कृत हो जाता है, क्योंकि देवताओं ने चयनलक्षण संस्कार से निष्पन्न हुए अमृत, अर्थात् उत्तम रूप को धारण किया है, जो उत्तम रूप विस्रंसन के पूर्व था, वह विस्रंसन के समय समाप्त हो चुका था, किन्तु चयनसंस्कार के कारण उसी को पुनः उन्होंने प्राप्त कर लिया। उससे दीप्यमान हुआ यह अग्नि अन्न की इच्छा करता हुआ रहने लगा। 'इष' धातु परस्मैपदी होने से उपग्रह के व्यत्यय से शानच् किया गया है। अथवा 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (पा० सू० ३।२।१२९) सूत्र से शक्ति के अर्थ में 'चानश्' किया गया है। इस अग्नि से हिंसा की आशंका करके देवता लोग डर गये। जिस प्रकार से हिंसा न हो पावे, वैसा विचार करने लगे। शतपथ ब्राह्मण कहता है—'तेऽब्रुवन्। अन्नमस्मै सम्भराम तेनैनं शमयामेति। तस्मा एतदन्नं ······ तेनैनं शमयति'। (श० ब्रा० ९।१।१।२)। पश्चात् उन देवताओं ने परस्पर यह कहा कि इस रुद्र के लिये हम अन्न देकर उससे इसे शान्त करेंगे और वैसा ही उन्होंने किया। अतः शमनार्थ होने से वह अन्न शान्तदेवत्य है। देवता लोग

चारण्येन च' (श० ९।१।१।३), 'अर्कपर्णेन जुहोति' (श० ९।१।१।४), 'गवेधुकासक्तुभिर्जुहोति' (श० ९।१।१।८), 'परिश्रित्सु जुहोति' (श० ९।१।१।१०)। प्रकृते होमद्रव्यविशेषं विधाय तस्य चोभयविधान्नात्मकत्वात् चयन-संस्कारे जातरुद्रदैवतोचितरूपत्वेन प्रशंसति—जर्तिलैरित्यादिना। जर्तिला आरण्यतिलाः। प्रकृते होमे साधनतया प्राप्ताया जुह्वा अपवादत्वेन अर्कपर्णविधानम्। प्रकृतहोमस्य परिश्रित्सु चितीः परितो निक्षिप्तेषु क्षुद्रपाषाणेषु कर्तव्यतया विधानम्। पुनस्तस्यैव होमस्य शतशीर्ष्णो रुद्रस्य इतरेषां च रुद्राणामुत्पत्तिप्रकारं दर्शयित्वा तच्छमनार्थत्वेन प्रशंसनम्। होमस्य द्रव्यान्तरं विधाय तत्प्रशंसनम्। होमसाधनत्वेन विहितस्य अर्कपर्णस्य प्रकारान्तरेण प्रशंसनम्। एवं शतपथे शतरुद्रियस्यानेकाभिः कण्डिकाभिर्द्रव्यदेवतादिप्रशंसनमिति।

प्रायोऽस्मिन्नध्याये आध्यात्मिकपक्षीय एवार्थः, नातः पृथक् तन्निरूपणावश्यकता।

अपरस्तु राजपरत्वेन रुद्रशब्दं योजयति। तथा च—'हे रुद्र दुष्टरोदक राजन्, त्वदधीनस्थेभ्यो नमस्काराहाणि शक्तिवीर्यशस्त्राण्युपनमन्तु। त्वदीयेभ्यो बाणधारिसैन्येभ्योऽन्नान्युपसीदन्तु। त्वदीयबाहुरूपमित्रेभ्यः शत्रुपराभूष्णु वीर्यमुपतिष्ठतु' इति। यद्यप्येतादृशी प्रार्थना नानुचिता, तथापि मन्त्राक्षरसम्बन्धशून्यैवैषा। अत्र त्रयो नमःशब्दाः। तद्योगे त्रीण्येव चतुर्थ्यन्तानि पदानि। रुद्र इति सम्बुद्धिः। तेन स्वाभा-

---

परोक्षकाम होने से उसे शतरुद्रिय कहते हैं। वह अन्नसाध्य होने से कर्म के लिये भी उसी प्रकार का शब्द प्रयोग करते हैं ? यानी शतरुद्रिय कहते हैं। पूर्व काल में देवताओं ने जैसे किया, वैसे ही यजमान भी उस अन्न से रुद्र को शान्त करता है। पुनः शतपथ ब्राह्मण (९।१।१।३, ४, ८, १०) में कहा गया है कि प्रकृत में होमीय द्रव्यविशेष का विधान करे, क्योंकि वह उभयविध अन्नात्मक है, इसलिये चयन संस्कार में जातरुद्र दैवतोचित रूप में उसकी प्रशंसा की जाती है।

प्रकृत होम के साधन के रूप में प्राप्त हुई जुहू का बाध करके 'अर्कपर्ण' का विधान किया गया है। प्रकृत होम को परिश्रितों में चितियों के चारों ओर निक्षिप्त क्षुद्र पाषाणों पर करने का विधान है। पुनः उसी होम की शतशीर्ष रुद्र और अन्य रुद्रों की उत्पत्ति के प्रकार को प्रदर्शित कर उसके शमनार्थ प्रशंसा की गई है। होमसाधन के रूप में विहित अर्कपर्ण की प्रकारान्तर से प्रशंसा की गई है। इसी प्रकार शतपथ में अनेक कण्डिकाओं के द्वारा शतरुद्रिय के द्रव्य-देवता आदि की प्रशंसा की गई है।

प्रायः इस अध्याय में जो अर्थ है, वह अध्यात्म पक्ष का ही है, अतः उसके निरूपण की पृथक् से आवश्यकता नहीं है।

कोई अन्य व्याख्याकार 'रुद्र' शब्द को राजा के अर्थ में लगाते हैं। तथा च—'हे रुद्र यानी दुष्टरोदक राजन्! तुम्हारे अधीन रहनेवालों के पास नमस्कारार्ह शक्ति-वीर्य-शस्त्र आदि सर्वदा रहें। तुम्हारे बाणधारी सैनिकों के पास अन्न आदि सर्वदा रहे। तुम्हारे बाहुरूप मित्रों के पास शत्रुओं को पराजित करनेवाला पराक्रम सर्वदा रहे'।

यद्यपि यह प्रार्थना अनुचित नहीं है, तथापि मन्त्र में प्रयुक्त अक्षरों से कोई मेल नहीं खा रही है, यानी मन्त्र के शब्दों से उस प्रार्थना का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस मन्त्र में 'नमः' शब्द का प्रयोग तीन बार हुआ है। उसके योग में तीन बार ही चतुर्थ्यन्त पदों का प्रयोग हुआ है। रुद्र! यह संबोधन का एकवचन है। इन सब पर ध्यान रखते हुए ही व्याख्याकार को मन्त्रार्थ करना चाहिये। अतः उव्वट, महीधर आदि पूर्ववर्ती भाष्यकारों का अनुसरण करके किया हुआ पूर्व निर्दिष्ट अर्थ ही तत्तत् मन्त्र-शब्दों के साथ स्वाभाविक रूप से सम्बद्ध है।

संपूर्ण संसार में 'रुद्र' शब्द देवता के अर्थ में प्रसिद्ध है, किन्तु किसी व्याख्याकार ने उस प्रसिद्धि की ओर ध्यान न देकर 'रुद्र' शब्द को राजपरक लगाकर मन्त्र का अर्थ किया है, जो अत्यन्त असंगत है, क्योंकि 'रूढिर्योगमपहरति' यह नियम है, इस नियम का उल्लंघन उसने किया है, जो नहीं करना चाहिये था। 'रुद्र' शब्द को योगरूढ मानना

विकोऽयमेवार्थो यः पुरस्तान्निर्दिष्टः। रुद्रशब्दस्य देवपरत्वप्रसिद्धिमपहाय राजपरत्वयोजनमप्यसङ्गतम्, रूढिर्योग-मपहरतीति न्यायविरोधात्। योगरूढतया च रुद्रशब्दस्य पातकिरोदकत्वेन प्रलये सर्वसंहारकत्वेन च परमेश्वर-परत्वोपपत्तेः। अत्र शस्त्रवीर्याणीति कैः शब्दैरुपात्तानि? बाहुपदेन सेना कथं गृह्यते? कथञ्चिद् गौण्या वृत्त्या तदुपपत्तावपि तन्मित्रग्रहणस्य क आधारः? सङ्गतिरपि नास्ति तथाविधेष्वर्थेषु। तस्मादुव्वटमहीधरा-नुसार्येवार्थो युक्तः ॥ १ ॥

या ते॑ रुद्र शि॒वा त॒नूरघो॒राऽपा॑पकाशिनी।
तया॑ नस्त॒न्वा॒ शन्त॑मया॒ गिरि॑शन्ता॒भिचा॑कशीहि ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—कैलास पर रह कर संसार का कल्याण करने वाले हे रुद्र! तुम्हारा जो मङ्गलदायक, सौम्य, केवल पुण्यप्रकाशक शरीर है, उस अनन्त सुखकारक शरीर से हमारी ओर देखो, यानी हमारी रक्षा करो ॥ २ ॥

भक्तानां पुरतस्तु प्रादुर्भवन्ती तनूरनन्तसुखशान्तिपरमविश्रामावहेत्याह—हे रुद्र, ते तव या शिवा शान्ता मङ्गलरूपा तनूः शरीरम्, अघोरा अविषमा अनुद्वेगिनी, सौम्येति यावत्। अपापकाशिनी पापमसुखं काशयति प्रकाशयति या सा पापकाशिनी, तद्भिन्ना अपापकाशिनी सर्वथा सर्वदा सुखदायिन्येव दिव्यकर्मोपासनादि-फलमेव सा ददाति न पापफलम्। यस्याः स्मरणमात्रेणापि पापतापादिकमपैति, तया शन्तमया अतिशयेन शमिति शन्तमा तया सुखतमया अतिशयेन सुखरूपया सुखप्रियया च तन्वा हे गिरिशन्त! गिरौ कैलासे स्थितः सन् प्राणिनां शं सुखं तनोति विस्तारयतीति गिरिशन्तः, तस्य शुभानुसन्धानेनैव मङ्गलसम्पत्तेः। अनेन पुराणप्रसिद्धः कैलासवासी भगवान् शिवः स्तूयते, तत्सम्बुद्धौ। यद्वा गिरि वाचि स्थितो वाचोच्चार्यमाणः स्तूयमानः शं सुखं तनोतीति गिरिशन्तः। 'यस्य नाम महद्यशः' (वा० सं० ३२।३) इति मन्त्रवर्णात्, तत्सम्बुद्धौ। यद्वा गिरौ मेघेऽव-स्थितस्तदन्तर्यामिरूपेण वृष्ट्या शं सुखं तनोतीति गिरिशन्तः, तत्सम्बुद्धौ। यद्वा गिरौ शेत इति गिरिशः, अमति

चाहिये। योगरूढ मानने पर पातकियों को रुलाने से और प्रलय काल में सम्पूर्ण संसार का संहार करने से उस 'रुद्र' शब्द की परमेश्वरपरकता उपपन्न हो जाती है। राजपरकता तो उसको अनुपपन्न ही है। किञ्च शस्त्र, वीर्य आदि अर्थों को मन्त्र के किन शब्दों ने बताया है? 'बाहु' शब्द से 'सेना' का अर्थ, किस प्रकार किया गया है? किसी तरह 'गौणी वृत्ति' से उसकी उपपत्ति लगाने पर भी उसका 'मित्र' अर्थ करने में कौन सा आधार है? उस प्रकार के अर्थ करने में कोई किसी प्रकार की संगति भी नहीं है। इसलिये उव्वट व महीधर के अनुसार ही अर्थ करना समुचित है ॥ १ ॥

भक्तों के सामने प्रकट होनेवाला शरीर अनन्त सुख, अनन्त शान्ति, परम विश्रामावह रहता है, इस तथ्य को भगवती श्रुति बता रही है—हे रुद्र! तुम्हारा जो शान्त मंगलमय शरीर है, वह अघोर, यानी अविषम है, अर्थात् अनुद्वेजक है, सौम्य है। वह 'अपापकाशिनी' अर्थात् सर्वदा सुखदायी है। वह दिव्य कर्म, उपासना आदि के फल को देता है, पाप फल को नहीं। जिसके स्मरणमात्र से पाप-ताप आदि नष्ट हो जाते हैं, उस सुखस्वरूप और दूसरे को सुखी बनाने वाली अपनी तनू (शरीर) से हे गिरिशन्त! अर्थात् कैलास गिरि पर रहते हुए प्राणियों के सुख (शं) का विस्तार करने वाले हे भगवान् शिव! आपके नाम का शुभानुसन्धान करने से ही मंगल की सम्पत्ति (प्राप्ति) हो जाती है। इस प्रकार से पुराण-प्रसिद्ध कैलासवासी भगवान् शिव की स्तुति की जाती है। उसीका संबोधन के एक वचन में प्रयोग किया गया है।

गच्छति जानाति सर्वमित्यन्तः सर्वज्ञः, गिरिशश्चासावन्तश्चेति गिरिशन्तः, शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्, तत्सम्बुद्धौ । नः अस्मान् सुखयितुम् अभिचाकशीहि अभितः करुणापूर्णदृष्ट्या पश्य । 'चाकशीतिः पश्यतिकर्मा' (निघ० ३।११।८) ।

इदमत्रावधेयम्—निर्गुणनिराकारनिर्विकारसच्चिदानन्दात्मकस्य ब्रह्मणोऽतनुत्वेऽपि स्वतोऽचिन्त्यदिव्यशक्त्या दिव्यतनुत्वं भवति । यथा काष्ठगतोऽव्यक्तोऽग्निर्निराकारोऽपि मन्थनादिभिरभिव्यज्यते दाहकत्वप्रकाशकत्वरूपेण, यथा वा घृतवर्तिकाद्युपाधिभिर्दीपकलिकारूपेणाग्निरेव व्यज्यते, तथैव भक्तभक्तिभावनया दिव्यशक्त्या च परमेश्वरस्तनुमान् भवति । यथा वा निस्तरङ्गमेव गङ्गाजलं वायुसङ्घट्टनया तरङ्गमालि भवति, तथैव निर्गुणं निराकारमपि ब्रह्म सगुणं साकारं च भवति । यथा वा अतिशयशैत्ययोगेन गङ्गाजलमेव घनीभूतं सद् हिमतामुपैति, तथैव निर्गुणं निराकारं ब्रह्म भक्तिशक्त्येशशक्त्या च सगुणं साकारं भवति । तत एव 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' (केनो० ३।१) इत्यादिप्रघट्टकेन केनोपनिषदि ब्रह्मणो महायक्षरूपेण प्रादुर्भावः श्रूयते ।

छान्दोग्ये हिरण्यश्मश्रुत्वहिरण्यकेशत्वविशिष्टस्य हिरण्मयस्य परमेश्वरस्य आदित्यमण्डले दक्षिणेऽक्षिणि चोपासनं विहितम् । हिरण्यं ज्योतिरित्यनर्थान्तरम् । 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७), 'तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० २।२।१०) इत्यादिमन्त्रवर्णश्रुतिसिद्धब्रह्मज्योतिरेव

अथवा हे गिरिशन्त ! 'गिरि = वाणी में स्थित, यानी वाणी से उच्चारण किया जाने वाला, अर्थात् स्तुति किया जाने वाला वह 'शं' सुख का 'तनोति' विस्तार करता है, अतः उसे 'गिरिशन्त' कहते हैं । 'यस्य नाम महद् यशः' (वा० सं० ३२।३) ऐसी मन्त्रवर्णात्मक श्रुति है । 'गिरिशन्त' यह संबोधन के एकवचन का रूप है ।

अथवा हे गिरिशन्त ! 'गिरौ' = मेघ में तदन्तर्यामी रूप से अवस्थित रह कर वृष्टि के द्वारा 'शं' सुख का विस्तार करता है, उसे 'गिरिशन्त' कहा जाता है, उसके संबोधन में एकवचन का यह रूप है ।

अथवा गिरौ शेत इति गिरिशः, अयति गच्छति जानाति सर्वमिति अन्तः सर्वज्ञः, गिरिशश्चासावन्तश्चेति गिरिशन्तः' । शकन्ध्वादित्वात् पररूप होकर संबोधन के एकवचन में गिरिशन्त रूप निष्पन्न हो जाता है। अतः हे गिरिशन्त ! हे कैलासवासी सर्वज्ञ शिव ! 'नः' हम लोगों को सुखी बनाने के लिये 'अभिचाकशीहि' अभितः करुणापूर्ण दृष्टि से देखो । 'चाकशीतिः पश्यतिकर्मा' (निघ० ३।११।८) ।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि निर्गुण, निराकार, निर्विकार सच्चिदानन्द ब्रह्म अशरीरी होने पर भी अपनी अचिन्त्य शक्ति से दिव्य शरीर से भी सम्पन्न हो जाता है । जैसे काष्ठगत अव्यक्त अग्नि निराकार रहता हुआ भी मन्थन आदि के द्वारा उसे अभिव्यक्त किया जाता है, जो तब दाहक, प्रकाशक कहलाता है। अथवा जैसे घृत, वर्तिका (बत्ती) आदि उपाधि के कारण दीप-कलिका के रूप में अग्नि ही प्रकट होता है, वैसे ही भक्तों की भक्तिभावना और दिव्य शक्ति से परमेश्वर शरीर धारण भी कर लेता है । जैसे—तरंगरहित भी गंगाजल वायु के संघट्टन से अनेक तरंगों को धारण कर तरंगमाली बन जाता है, तथैव निर्गुण निराकार भी ब्रह्म सगुण और साकार हो जाता है । अथवा जैसे अत्यन्त शैत्य के कारण गंगाजल ही घनीभूत होकर 'हिम' बन जाता है, वैसे ही निर्गुण निराकार ब्रह्म भक्तों की भक्तिमयी शक्ति और अपनी ईशन शक्ति से सगुण साकार भी हो जाते हैं । यही कारण है कि 'ब्रह्म देवेभ्यो विजिग्ये' (केनोप० ३।१) इत्यादि प्रघट्टक से केनोपनिषद् में महान् यक्ष के रूप में 'ब्रह्म' का प्रादुर्भाव होना बताया गया है ।

छान्दोग्योपनिषद् में हिरण्यश्मश्रुत्व, हिरण्यकेशत्व से युक्त हिरण्मय परमेश्वर की उपासना करने का विधान आदित्य-मण्डल के दक्षिण नेत्र में कहा गया है । 'हिरण्य' और 'ज्योति' पर्याय शब्द हैं, क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण, मुण्डक उपनिषद् इत्यादि मन्त्रवर्ण-श्रुतिसिद्ध जो ब्रह्म है, वह ज्योति ही है, उसी को हिरण्यश्मश्रुत्वादि विशिष्ट हिरण्मय परमेश्वर के रूप में भी प्रकट किया गया है । उसी को ब्रह्म, शक्ति, विष्णु, राम, कृष्ण, नृसिंह आदि देवताओं के रूप में

हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टहिरण्यमयपरमेश्वररूपेणापि व्यज्यते। तदेव ब्रह्म शक्ति-विष्णु-राम-कृष्ण-नृसिंहादिरूपेणापि व्यज्यते। 'वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ। आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥' (हरिवंशेऽन्तिमेऽध्याये) इत्येवं वेदवेद्यो भगवान् परमात्मैव रामायण-महाभारत-पुराणादिषु शिव-विष्णु-राम-कृष्णादिरूपेण प्रतिपिपादयिषितः।

अपर आह—'हे रुद्र राजन्, त्वदीयकल्याणकारिणी सौम्या पापातिरिक्तस्य पुण्यस्यैव प्रकाशिका विस्तृतविधिव्यवस्था आज्ञारूपा वाग्वास्ते, तच्छान्तिविस्तारिण्या वाचा व्यवस्थया वाण्या वा हे सर्वशान्तिप्रद त्वं सर्वमभिपश्य' इति, तदपि पूर्वव्याख्यानुकारि इति किमुपालम्भनीयम्। अत्रापि व्याख्यायां तनूशब्दस्य व्यवस्थार्थकत्वमप्रामाणिकमेव। गिरिशन्तशब्दस्तु व्याख्यात्रा सर्वथाप्यस्पृष्टः। अन्येऽपि सर्वेऽर्थाः सायणादिभाष्यदृष्ट्यैव गृहीता विकृतिमुपनीताश्च॥ २॥

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्॥ ३॥

मन्त्रार्थ—कैलास पर रह कर जगत् का कल्याण करने वाले हे रुद्र! तथा मेघों में स्थित होकर वृष्टि के द्वारा जगत् की रक्षा करने वाले हे सर्वज्ञ रुद्र! शत्रुओं का नाश करने के लिये जिस बाण को तुम अपने हाथ में धारण किये हो, वह सबके लिये कल्याणकारक हो और जंगम जो पुत्र-पौत्र आदि तथा गो, अश्व आदि हैं, उनका नाश तुम करो॥ ३॥

हे गिरिशन्त, स्मृतिमात्रेण सुखप्रद, यामिषुं यं शरं त्वमस्तवे शत्रून् प्रति क्षेप्तुं हस्ते बिभर्षि धारयसि, हे गिरित्र, गिरौ कैलासे स्थितो भक्तान् भूतजातं वा त्रायत इति गिरित्रः, तत्सम्बुद्धौ। तामिषुं शिवां कल्याणकारिणीं कुरु। यथा व्याघ्रस्य या दंष्ट्रा भूतोद्वेगिनी सैव स्वशावकान् प्रति शिवैव भवति तद्वत्। अत एव भगवतो

भी व्यक्त किया जाता है। इस तथ्य को हरिवंश के अन्तिम अध्याय में—'वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ। आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥' कहा गया है। वेदवेद्य भगवान् परमात्मा को ही रामायण, महाभारत, पुराण आदि में शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि के रूप में प्रतिपादन करने की इच्छा की है।

किसी ने उक्त मन्त्र की व्याख्या यह की है कि 'हे रुद्र राजन्! तुम्हारी कल्याणकारिणी सौम्या पापातिरिक्त की = पुण्य की ही प्रकाशिका विस्तृत विधिव्यवस्था आज्ञारूपा वाक् तुम्हारी शान्ति का विस्तार करनेवाली वाचा = व्यवस्था अथवा वाणी से हे सर्वशान्तिप्रद! तुम सब देखो'। यह व्याख्या भी उनकी अपनी पूर्व व्याख्या के अनुसार ही मन्त्र से असम्बद्ध है, अतः क्या पुनः पुनः उस असम्बद्धता को बतावें? इस व्याख्या में भी 'तनू' शब्द को व्यवस्थार्थक बताना अप्रामाणिक ही है। 'गिरिशन्त' शब्द को तो व्याख्याकार ने छुआ तक नहीं है। अन्य अर्थ भी सायण आदि के भाष्य के अनुसार ही ग्रहण कर उनको विकृत कर दिया है॥ २॥

हे गिरिशन्त! स्मरण करने मात्र से सुख देने वाले! जिस बाण को तुम शत्रुओं पर फेंकने के लिये हाथ में धारण करते हो, हे गिरित्र! गिरौ = कैलास गिरि पर स्थित होता हुआ भक्त जनों का अथवा प्राणी मात्र का जो रक्षण करता है, उसे 'गिरित्र' कहते हैं, उसके सम्बोधन में—हे गिरित्र! कहा गया है। ताम् = उस बाण को तुम कल्याणकारक बनाओ, जैसे व्याघ्र की दंष्ट्रा प्राणियों की उद्वेजक होती है, वही अपने शावकों के प्रति कल्याणमयी भी होती है। अत एव भगवान्

नृसिंहस्य नखा दंष्ट्राश्च प्रह्लादस्य कृते सुखकरा एव जाताः। किञ्च, पुरुषं मम पुत्रपौत्रादिकं जगद् जङ्गममन्यदपि गवाश्वादिकं मा हिंसीर्मा वधीः। अस्धातोः 'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः' (पा० सू० ३।४।९) इति तवेङ्प्रत्ययस्तुमर्थे। असिर्भौवादिको गतिदीप्त्यादानार्थः, आदादिकश्च सत्तार्थकः, दैवादिकश्च क्षेपणार्थकः, काण्ड्वादिकश्च उपतापार्थकः। तदेते सर्वेऽप्यर्थाः सम्भावयितुं सुशकाः।

अपरस्तु—'हे गिरिशन्त, आज्ञप्तिरूपायां वाचि सर्वशान्तिदायक! यद्वा हे मेघवत् सर्वसुखवर्षकरूपेण सर्वशान्तिदायक, यं बाणादिशस्त्रगणं शत्रूणामुपरि प्रक्षेप्तुं हननकारिणि स्वहस्ते बिभर्षि, हे विद्वद्रक्षक, यद्वा हे स्वव्यवस्थायां सर्वरक्षक, तन्माङ्गल्यकारकं रक्ष मनुष्यानन्यान् जङ्गमान् गवादिपशून् मा हिंसीः' इति, तदत्रापि सैव दिक्। मेघवत् सुखवर्षकत्वं हस्तस्य हननकारित्वं च न मन्त्रगतस्य कस्यचनापि शब्दस्यार्थः। तस्मादत्राप्युव्वटमहीधरानुसार्येवार्थो युक्तः॥ ३॥

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाऽच्छावदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मꣳ सुमना असत्॥ ४॥

मन्त्रार्थ—हे कैलासनिवासी रुद्र! तुम्हें प्राप्त करने के लिये हम लोग तुम्हारी स्तुति करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि तुम हमारे जंगम पुत्र-पौत्र आदि को तथा गो, अश्व आदि सबको नीरोग और निर्मल मन के बना दो॥ ४॥

हे गिरिश, गिरौ कैलासे शेते विश्राम्यतीति गिरिशः, तत्सम्बुद्धौ। अथवा गिरि भक्तानां स्तुतिरूपायां वाचि शेते विश्राम्यतीति गिरिशः, तत्सम्बुद्धौ। शिवेन मङ्गलमयेन स्तुतिरूपेण वैदिकेन वचसा वचनेन त्वा त्वाम् अच्छ त्वामेव प्राप्तुम्। अच्छेत्यस्य आप्तुमित्यर्थः। तथा च निरुक्तम्—'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः'

नृसिंह के जो नख और दंष्ट्राएँ थीं, वे प्रह्लाद के लिये सुखकर ही सिद्ध हुईं। किञ्च, मेरे पुत्र-पौत्र, गो-अश्व आदि जङ्गम-स्थावर जगत् का विनाश मत करो। 'अस्तवे' = 'अस्' + तवेङ्। 'अस्' धातु से 'तुमर्थे सेसेनसे' (पा०सू० ३।४।९) से 'तवेङ्' प्रत्यय 'तुमुन्' के अर्थ में किया गया है। यह 'अस्' धातु अनेक गणों में आया है। भ्वादिगण के 'अस्' धातु का अर्थ 'गति-दीप्ति-आदान' है, अदादिगण के 'अस्' धातु का अर्थ 'सत्ता' है, दिवादिगण के 'अस्' धातु का अर्थ 'क्षेपण' है, कण्ड्वादिगण के 'अस्' धातु का अर्थ 'उपताप' है। अतः इन सभी अर्थों की सम्भावना यहाँ की जा सकती है।

किसी व्याख्याकार ने उक्त मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार है—'हे गिरिशन्त! आज्ञप्तिरूप वाणी में सर्वशान्तिदायक! अथवा हे सर्वसुखवर्षकरूप से सर्वशान्तिदायक! जिस बाण आदि शस्त्रसमूह को शत्रुओं के ऊपर फेंकने के लिये तुम अपने हननकारी हाथ में धारण करते हो। हे विद्वद्रक्षक अथवा अपनी व्यवस्था में हे सर्वरक्षक! उसके मंगलकारक की रक्षा करो, मनुष्यों के अन्य जंगम गाय आदि पशुओं की हिंसा मत करो' इति।

इस व्याख्या में भी वही उनकी अपनी दिशा है। 'मेघ के समान सुखवर्षकत्व और हस्त का हननकारित्व' यह अर्थ मन्त्रगत किसी शब्द का नहीं है। इसलिये यहाँ भी उव्वट-महीधरानुसारी अर्थ करना ही उचित होगा॥ ३॥

हे गिरिश! 'गिरौ शेते इति गिरिशः, तत्सम्बुद्धौ इति'। कैलास गिरि पर जो विश्राम करता है, उसे गिरिश कहते हैं, उसे संबोधित करने में हे गिरिश! कहा गया है। अथवा 'गिरि' भक्तों की स्तुति रूप वाणी में जो शेते = विश्राम करता है, उसे 'गिरिश' कहते हैं, उसका संबोधन में यह रूप है। मंगलमय स्तुतिरूप वैदिक वचन के द्वारा तुम्हें ही 'अच्छ' प्राप्त करने के लिये। 'अच्छ' का अर्थ 'आप्तुम्' है। तथा च निरुक्त का प्रमाण दिया जा रहा है—'अच्छाभेराप्तुमिति शाक-

५।२८) इति । 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।३।११४) इत्यधिकारे 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति दीर्घः । तेन 'अच्छा' इति रूपम् । वदामसि वदामः, प्रार्थयामह इति यावत् । 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) इतीगागमे वदामसीति रूपम् । किमर्थं प्रार्थयामह इति चेत्, तवैव परमपुरुषार्थरूपत्वाय अन्यस्य सर्वस्य गौणपुरुषार्थत्वमेव, 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः' (तत्त्वप्रदीपिका ४।८) इति रीत्या ज्ञातत्वोपलक्षितस्य आत्मनो मोक्षरूपतोक्ता । भक्तिसिद्धान्तरीत्यापि सर्वनैरपेक्ष्येण भगवदर्थैव भगवत्स्तुतिरभिप्रेयते । अत एव ज्ञानी त्वेकभक्तित्वाद् विशिष्यते । तथा च श्रीभगवानाह—'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।। उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।' (भ० गी० ७।१६-१८) । आर्तादय आर्तिनिवृत्त्यादिकामा अपि भगवद्भक्ता भवन्ति । ज्ञानी तु निष्कामत्वान्नान्यभक्तः, किन्तु स एकभक्तिरेव । एकस्मिन् भगवत्येव भक्तिर्यस्य स एकभक्तिः ।

केचित्तु यथा लब्धगजेनापि राज्ञाऽश्वः काम्यते, तथैव लब्धब्रह्मानन्देनापि पुत्रादयः काम्यन्त इत्यधिकारिभेदेन वा अन्यकामनापि युज्यते । किञ्च, यथा येन प्रकारेण नोऽस्माकं सर्वमित् सर्वमेव, इच्छब्द एवार्थकः, जगद् जङ्गमादि पुत्रपश्वादि, अयक्ष्मं यक्ष्मादिसर्वव्याधिरहितम्, सुमनाः शोभनमनस्कं च असद् भवति, तथा कुरु । जगद्विशेषणत्वात् सुमन इति प्रयोगेण भाव्यम् । तत्स्थाने सुमना इति पुम्प्रयोग आर्ष, छन्दसि दृष्टानुविधेः । असदिति अस्धातोर्लेटि लेटस्तिपि 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे ङिद्वदतिदेशाच्च 'इतश्च' (पा० सू०

पूणिः' (नि० ५।२८) इति । 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।३।११४) इस अधिकार में 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) से दीर्घ हुआ है । तब 'अच्छा' यह रूप निष्पन्न हुआ । 'वदामसि' = हम बोलते हैं, यानी हम प्रार्थना करते हैं । 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) सूत्र से इगागम होने पर 'वदामसि' रूप बना है ।

किसलिये प्रार्थना कर रहे हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना है कि जिसकी प्रार्थना की जा रही है, वह परम पुरुषार्थ रूप है । उससे भिन्न अन्य-अन्य जो पदार्थ हैं, उनमें पुरुषार्थत्व का व्यवहार 'गौण' रूप में ही किया जाता है । 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः' (त० प्र० ४।८) इस रीति से ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा की मोक्षरूपता बताई गई है । भक्ति सिद्धान्त की रीति से भी सर्वनैरपेक्ष्येण यानी सांसारिक किसी भी विषय की अपेक्षा न करते हुए एकमात्र भगवत्प्रीत्यर्थ भगवत्स्तुति करना ही अभिप्रेत है । अत एव एकमात्र भगवान् में ही भक्ति के कारण 'ज्ञानी' की विशेषता बताई गई है । तथा च श्रीकृष्ण भगवान् कह रहे हैं — 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतवर्षभ ।। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।। उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवाऽनुत्तमां गतिम् ।।' (भ० गी० ७।१६-१८) आर्त आदि, आर्ति (पीडा) निवृत्ति की इच्छा करने वाले भी भगवद्भक्त कहे जाते हैं, किन्तु ज्ञानी तो निष्काम होने के कारण अन्य भक्त नहीं है, अपि तु वह 'एकभक्ति' कहलाता है । 'एकस्मिन् भगवत्येव भक्तिर्यस्य स एकभक्तिः' एक भगवान् में ही है भक्ति जिसकी, उसे 'एकभक्ति' कहा जाता है ।

कुछ लोगों का कहना है कि जैसे किसी राजा को हाथी के उपलब्ध होने पर भी घोड़े की कामना रहती है, वैसे ही ब्रह्मानन्द की उपलब्धि हो जाने पर भी पुत्र आदि की कामना रहती ही है, अथवा अधिकारी के भेद से अन्यान्य कामना भी हो सकती है । किञ्च, जिस प्रकार से हमारा सारा जगत्, अर्थात् पुत्र-पशु आदि जङ्गम-सम्पत्तियुक्त यक्ष्मादि सर्वव्याधियों से रहित, अच्छे मनवाला हो, वैसा करो । जगत् का विशेषण होने से 'सुमनः' प्रयोग होना चाहिये । तथापि उसके बजाय 'सुमनाः' प्रयोग किया गया है, अतः उसे आर्ष प्रयोग समझना चाहिये, क्योंकि 'छन्दसि दृष्टानुविधयः' कहा गया है । 'असत्' यह 'अस' धातु का 'लेट्' लकार का रूप है । 'तिप्' करके 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) सूत्र से अडागम

३।४।१००) इतीकारलोपे असदिति रूपम् । एतेन भगवत्कामनया पुत्रादिकामनया सर्वकामनया च भगवांस्तोतव्य इत्यायातम् । 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥' (भा० पु० २।३।१०) इति श्रीमद्भागवतवचनात् ।

अपरस्तु—'हे समस्ताज्ञप्तिषु स्वयमाज्ञापकरूपेण व्यवस्थापकरूपेण वा विद्यमान राजन्, तुभ्यं कल्याणकारिणा वचसा सम्यङ् निवेदयामि—यथास्माकं समस्तप्राणिवर्गो राज्यव्यवहारश्च राजयक्ष्मादिरोगरहितः परस्परं सुमना भवेत्, तथा यतस्वेति शेषः' इति, तदपि न चारु, यतो हि वैदिकानां वेद एव व्यवस्थापको भवति, न कश्चिद् राजा पर्षद्वा, वैदिकानां सर्वेषां नियमानां शास्त्रमूलकत्वात् । सर्वास्वपि वाक्षु राज्ञ आज्ञापकत्वमप्यसङ्गतमेव, राज्ञः स्वातन्त्र्ये वेनरावणादिवाक्ष्वपि तथात्वापत्तेः । प्राणिवर्गस्य यक्ष्मादिराहित्येन सौमनस्येन च सम्बन्धसत्त्वेऽपि राज्यव्यवहारस्य तदसम्बन्धादसङ्गतिश्च, राजव्यवहारबोधकशब्दस्य मन्त्रेऽभावादस्यार्थस्य स्वकपोलकल्पितत्वात् । तस्मादुव्वटमहीधरोक्त एवार्थः कण्डिकायाः साधीयान् ॥ ४ ॥

अध्य॑वोचदधिव॒क्ता प्र॑थ॒मो दै॑व्यो॑ भि॒षक् । अही॑ँश्च॒ सर्वा॑न् ज॒म्भय॒न् सर्वा॑श्च यातुधा॒न्यो॒ऽध॒राची॒ः परा॑सुव ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—जिसका स्वभाव दूसरे को सर्वश्रेष्ठ बनाने का है, ऐसा सर्वश्रेष्ठ देव कल्याणकारी रोगनाशक रुद्र मुझे सर्वश्रेष्ठ बना दे । हे रुद्र ! समस्त सर्प, व्याघ्र आदि हिंसकों का नाश करके अधोगमन कराने वाली राक्षसियों को तुम हमसे दूर कर दो ॥ ५ ॥

अध्यवोचत्, अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वेत्युव्वटः । सर्वोपरि भाविना ऐश्वर्येण अधिवदतु ब्रवीतु कञ्चित् स्वकीयं पुरुषं भगवान् रुद्रः । स च अधिवक्ता य ऐश्वर्येणैव वक्तुं जानाति । प्रथमो मुख्यः, दैव्यो देवसम्बन्धी,

---

और ङित् के समान अतिदेश होने से 'इतश्च' (पा० सू० ३।४।१००) सूत्र से इकार का लोप होने पर 'असत्' यह रूप बना है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवत्कामना से, पुत्र आदि की कामना से और सर्वकामना से मनुष्य को भगवान् की स्तुति करनी चाहिये । कहा भी है—'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ।।' (भाग० २।३।१०) ।

किसी ने उक्त मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—'समस्त आज्ञाओं में स्वयं आज्ञापक रूप से अथवा व्यवस्थापक रूप से विद्यमान हे राजन् ! कल्याणकारक वाणी से आपको मैं अच्छी तरह निवेदन कर रहा हूँ कि हमारा सम्पूर्ण प्राणी वर्ग और राज्य-व्यवहार जिस प्रकार से भी राजयक्ष्म आदि रोग से रहित और परस्पर सुमनस्क हो जाय, वैसा आप प्रयत्न करें' । किन्तु ये सभी व्याख्याएँ ठीक नहीं है, क्योंकि वैदिक जनों का व्यवस्थापक भगवान् वेद ही होता है, उनका व्यवस्थापक कोई राजा अथवा परिषद् नहीं हुआ करती । वैदिक जनों के सभी नियम शास्त्रमूलक हुआ करते हैं । सभी वाणियों में राजा का आज्ञापकत्व बताना असंगत ही है, क्योंकि राजा को यदि स्वतन्त्र माना जाय तो वेन, रावण आदि की वाणियों में भी वैसा मानना होगा । प्राणी वर्ग का यक्ष्मादिराहित्य से और सौमनस्य से संबन्ध रहने पर भी राज्यव्यवहार का उसके साथ संबन्ध न रहने से असंगति है । मन्त्र में राजव्यवहारबोधक किसी भी शब्द के न रहने से उक्त व्याख्या को कपोल-कल्पित ही समझना चाहिये । इसलिये उव्वट, महीधर आदि के द्वारा बताया गया कण्डिकार्थ ही सुसंगत समझना चाहिये ।। ४ ।।

'अध्यवोचत्' । 'अधि' शब्द उपरिभाव अथवा ऐश्वर्य अर्थ में है, ऐसा उव्वट कहते हैं । भगवान् रुद्र अपने किसी स्वकीय पुरुष को सर्वोपरि रहने वाले ऐश्वर्य के साथ कहें । अधिवक्ता वही है, जो अपने ऐश्वर्य के साथ बोलना जानता है ।

भिषग् वैद्यः, 'देवाद्यञञौ (पा० सू० ४।१।८५, वा० २) इति रूपसिद्धिः। किमभिवदत्वित्याह—अहींनिति। सर्वान् सर्वप्रकारान् अहीन् असुरान् सर्पव्याघ्रादीन् वा जम्भयन् नाशयन्। यातुधान्यो याति प्रापयति कष्टमिति यातुः यातना, धापयन्ति यास्ता धान्यः, यातूनां यातनानां धान्यो यातुधान्यस्ता राक्षसीश्च जम्भयन्। कथम्भूताः अधराचीः, अधोऽञ्चना अधोगमनशीलयः कृत्वा परासुव परिक्षिप, दूरतराः कुर्वित्यर्थः।

यद्वा—अध्यवोचत् सर्वोपरि राजमान ईश्वरो रुद्रोऽधिवक्ता अधिवदतु। किमित्यपेक्षायाम्—प्रथमो दैव्यो भिषग् अहीन् जम्भयन् यातुधानीश्च अधराचीः कृत्वा परासुव। रुद्रोऽध्यवोचत्—मां सर्वाधिकम् अधिवक्तु। तेनोक्ते मम सर्वाधिक्यं भविष्यति, तस्यामोघवचनात्। सर्वाधिक्यमेव प्रकटयति—अधिवक्तेति। तद्वचनादहमधिवक्ता ऐश्वर्येण वदनशीलो भविष्यामि, भिषग् रोगनाशकश्च भविष्यामि। यथा स्मरणमात्रेणापि रोगनाशको रुद्रः, तस्य वचनादहमपि तथाविध एव भविष्यामि, 'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्' (भा० पु० ८।१०।५५) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। एवं परोक्षमुक्त्वा प्रत्यक्षमुच्यते—हे रुद्र, सर्वाश्च यातुधानी राक्षसीः, अधराचीर् अधोगमनशीलाः कृत्वा परासुव अस्मत्तो दूरीकुरु। ईश्वरस्य सत्यसङ्कल्पत्वेन तदुक्तामोघवचनेन च भगवत्स्वरूपावाप्तिः सर्वविघ्ननिवृत्तिश्च। तदुक्तं वाल्मीकीये रामायणे—'अमोघं देव वीर्यं ते न ते मोघाः पराक्रमाः॥ अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः। अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि'॥ (वा० रा०, युद्ध० ११७।२९-३०) इति रामायणवचनात्, 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० उ० ८।७।१) इति श्रुतेश्च। कामक्रोधपापतापादयोऽहयः, सर्पवत् कुटिलस्वभावत्वात्। तद्वासनाश्च यातुधान्यः, ता एव प्राणिभ्यो यातना धारयन्ति। उभयेषामेषां पराक्षेपेण निर्मलमनस्कोऽभ्युपैति परमात्मानम्।

देवताओं से संबद्ध वह मुख्य वैद्य क्या कहे ? अहींनिति। ('दैव्यः' यह रूप 'देवाद्यञञौ' (पा० सू० ४।१।८५, वा० २) से निष्पन्न होता है।) सभी प्रकार के असुरों को अथवा सर्प-व्याघ्रादिकों को नष्ट करते हुए और राक्षसियों को अधोगमनशील करते हुए उन्हें अत्यन्त दूर कर दो। 'यातुधान्यः' याति प्रापयति कष्टमिति यातुः = यातना। 'धापयन्ति यास्ता धान्यः। यातूनां यातनानां धान्यो यातुधान्यस्ताः'। यातनाओं को देनेवाली राक्षसियाँ।

अथवा 'अध्यवोचत्' अर्थात् सर्वोपरि विराजमान ईश्वर यानी रुद्र अधिवक्ता कह दे। क्या कह दे ? यह अपेक्षा होने पर कहा गया है कि पहिला दैव्य भिषक् अहियों को नष्ट करता हुआ और यातुधानियों को अधोगमनशील बनाता हुआ उन्हें दूर खदेड़ दे। रुद्र ने मुझे सर्वाधिक अधिवक्ता कहा है। इस प्रकार उसके कहने पर मैं सबसे अधिक हो जाऊँगा, क्योंकि उसका कथन अमोघ, यानी अव्यर्थ रहता है। सर्वाधिकता को ही प्रकट करते हैं—अधिवक्तेति। उसके कहने से मैं अधिवक्ता, अर्थात् ऐश्वर्य के साथ वदनशील बन जाऊँगा और भिषक् यानी रोगनाशक हो जाऊँगा। जैसे स्मरण करने मात्र से ही रुद्र रोगनाशक होता है, अतः उसके कहने मात्र से ही मैं भी वैसा ही हो जाऊँगा। 'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्' (भाग० ८।१०।५५) ऐसा श्रीमद्भागवत का वचन है।

इस प्रकार से परोक्ष बताकर प्रत्यक्ष कहते हैं—हे रुद्र! समस्त राक्षसियों को अधोगमनशील बनाकर हमसे उन्हें दूर कर दो। ईश्वर सत्यसंकल्प है, उसके अमोघ वचन से भगवत्स्वरूप की प्राप्ति और सर्व विघ्नों की निवृत्ति होती है। यही बात वाल्मीकीय रामायण में कही गई है—'अमोघं देव वीर्यं ते न ते मोघाः पराक्रमाः॥ अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः। अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि॥ (वा०रा० यु ११७।२९-३०)। 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० उ० ८।७।१) यह श्रुतिवचन भी है। काम-क्रोध-पाप ताप आदि को ही 'अहि' समझिये, क्योंकि ये भी सर्प के समान ही कुटिल स्वभाव के हैं। इनके जो संस्कार हैं, वे ही 'यातुधानियाँ' हैं। वे यातुधानियाँ ही प्राणियों को विविध यातनाओं (कष्टों = पीडाओं) को देती रहती हैं। इन दोनों को त्यागने पर (दोनों के नष्ट हो जाने पर) निर्मल मन हुआ मनुष्य परमात्मा को पा लेता है।

अपरस्तु—'यः सर्वश्रेष्ठो देवानां राज्ञो विदुषां च हितकारी शरीरगतानां राष्ट्रगतानां च रोगपीडादीनां निवर्तनक्षमः, यश्च सर्वेषामुपर्यधिष्ठातृत्वेन आज्ञापको भूत्वा आज्ञां दद्यात्, एवंविधसामर्थ्योपेत हे राजन्, यथा सर्वानहीन् विषवैद्यो वशयति, तथैव त्वं सर्पवत् कुटिलाचारान् पुरुषानुपायैर्विनाशयन् सर्वप्रजानां पीडारोगकष्टबाधाप्रदायिनोः कुसृतिरता निकृष्टा योषितः शक्तीर्वा राष्ट्राद् दूरीकुरु' इति, तदपि स्वकपोलकल्पितम्, मन्त्रे सम्बोधनपदाभावात्। तथा च नानाविशेषणविशिष्टस्य सम्बोधनपदस्यार्थे स्थापने नास्ति किमपि मूलम्। एवमेव अधिवक्तेति शब्दस्यापि सर्वोपरिशासक इति नार्थः, तादृशेऽर्थे तस्याशक्तत्वात्। अध्यवोचदिति पदस्यार्थोऽपि परित्यक्तः ॥ ५ ॥

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः। ये चैनꣳ रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाꣳ हेड ईमहे ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—उदय और अस्त के समय रक्त वर्ण तथा अन्य समय में पिंगल वर्ण का, समस्त मंगलों का प्रदायक यह रविरूप रुद्र है। दसों दिशाओं में रहने वाले हजारों रुद्रों ने उसका आश्रय किया है। उनका हम पर जो क्रोध है, उसे हम भक्ति के द्वारा दूर करते हैं ॥ ६ ॥

स एव रुद्र आदित्यरूपेण स्तूयते, रुद्रस्य परमेश्वरस्यैव आदित्यरूपेणाविर्भावात्। असौ यः प्रत्यक्षो रुद्रः सूर्यरूपः, स उदयकाले ताम्रवर्णः अत्यन्तरक्तः, अस्तमनकाले अरुणः, उतापि च अन्यदा बभ्रुः पिङ्गलवर्णः कपिलवर्णो वा। सुमङ्गलः शोभनानि मङ्गलानि यस्य सः, तन्मूलत्वात् सर्वमङ्गलानाम्। ये चैनं भगवन्तमादित्यं रुद्रा रश्मयः, अभित इतश्चेतश्च दिक्षु प्राच्यादिषु सर्वासु सहस्रशः असंख्याताः श्रिताः। प्रथमे एषां हेडः क्रोधमस्मादिप्रमादजम्। 'हेड इति क्रोधनामसु पठितम्' (निघ० २।१३।१)। अव ईमहे अवनयामो भक्त्या निराकुर्मः।

किसी ने उक्त मन्त्र की ऐसी व्याख्या की है—'देवताओं में, राजाओं में और विद्वानों में जो सर्वश्रेष्ठ है, हितकारी है, शरीर और राष्ट्र के रोग तथा पीड़ाओं को नष्ट करने में जो समर्थ है और जो सबके ऊपर अधिष्ठाता के रूप में आज्ञापक बनकर सबको आज्ञा दे सकता है, ऐसे सामर्थ्य से युक्त हुए हे राजन्! जैसे कोई विषवैद्य समस्त सर्पों को अपने वश में कर लेता है, वैसे ही तुम सर्प की तरह कुटिल व्यवहार करने वाले लोगों को अनेक उपायों से विनष्ट कर सम्पूर्ण प्रजाओं को पीड़ा, रोग, कष्ट, बाधा पहुँचाने वाली कुमार्गगामिनी निकृष्ट स्त्रियों का अथवा शक्तियों का राष्ट्र से निष्कासन कर दो'। किन्तु यह व्याख्या भी कपोल-कल्पित ही है, क्योंकि मन्त्र में संबोधन पद का अभाव है। तथा च अनेक विशेषणों से विशिष्ट संबोधन पद का अर्थ बताने में कोई मूल भी नहीं है। एवमेव 'अधिवक्ता' शब्द का भी 'सर्वोपरि शासक' यह अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह शब्द उस अर्थ में शक्त नहीं है। वे 'अध्यवोचत्' शब्द का अर्थ ही नहीं कर पाये, उसे छोड़ ही दिया है ॥ ५ ॥

उसी रुद्र की आदित्य के रूप में स्तुति की जा रही है। आदित्य के रूप में परमेश्वर रुद्र का ही आविर्भाव हुआ है। जो यह प्रत्यक्ष दृश्यमान सूर्य है, वह रुद्र ही है। वह उदय काल में अत्यन्त लाल (रक्तवर्ण = ताम्रवर्ण) रहता है और अस्त के समय में भी अरुण वर्ण (लाल वर्ण) का रहता है। इन दोनों कालों के अतिरिक्त समय में पिंगल वर्ण (बभ्रु वर्ण) अथवा कपिल वर्ण का रहता है। उसके समस्त मंगल शोभन ही हुआ करते हैं, क्योंकि समस्त मंगल, सूर्यमूलक ही हैं। इधर-उधर (अभितः) पूर्व आदि दिशाओं में (दिक्षु) असंख्यात (सहस्रशः) जो रश्मियां (किरणें = रुद्र) हैं, वे सभी इस भगवान् सूर्य (आदित्य) के ही आश्रित रहती हैं। हम लोगों के प्रमादों (अपराधों) से उत्पन्न हुआ जो इनका क्रोध (हेड) है, उसे हम लोग उसकी भक्ति करके प्रथमतः निराकृत (दूर) करते हैं।

अथवा रुद्र एव ताम्रवर्णः,अरुणवर्णः, बभ्रुवर्णः, सुमङ्गलः, कार्यवशात् स एवानेकानि रूपाणि बिभर्ति। असंख्यातास्तदंशभूता अन्ये च रुद्रास्तमेनमभितः सर्वासु दिक्षु श्रिताः। अज्ञानप्रमादादिवशाज्जीवास्तान् प्रति स्वधर्मोल्लङ्घनतदवमानादिभिरपराध्नुवन्ति, अतस्तेषां भक्त्या तत्क्षमापणेन तन्निवारणं युक्तमेव, एकस्यैवाखण्डचैतन्यात्मकस्य रुद्रस्यानन्तानन्तशक्तिमत्त्वेन तत्तच्छक्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपाणां रुद्राणामानन्त्यं युज्यत एव। आदित्यपक्षे किरणा एव रुद्राः, तेषामपि विचित्रशक्तित्वादनन्तत्वाच्च।

अपर आह—'असौ यः योऽयं ताम्रवद्रक्तोऽग्निवत्तेजस्वी सूर्यवद् भरणपोषणकारको राष्ट्रमङ्गलेच्छुः सेनापतिश्चान्ये शत्रुरोदकाः सैनिकगणा अस्याभितो दिक्षु सहस्रसंख्याका विराजन्ते, तेषां क्रोधवृत्तिं दूरयतु शमयतु वा' इति, तत्कुतोऽयमर्थो लब्धः? पूर्वं रुद्रपदेन राजा गृहीतः, अतोऽत्रापि स एव ग्रहीतव्यः। सेनापतिबोधकः कः शब्द इत्यपि नोक्तम्। सेनापतिश्च ताम्रवद्रक्तः कथम्? अग्निवत्तेजस्वीति कस्य शब्दस्यार्थः? बभ्रुशब्दस्य तु पिङ्गलवर्णः कपिलवर्णो वार्थः प्रसिद्धः। सर्वथापि वेदानामज्ञातज्ञापकत्वेन प्रामाण्यम्। अर्थनीत्यादिशास्त्रसिद्धस्यार्थस्यानुवादकत्वेन वेदानामप्रामाण्यापत्तिर्दुर्निवारा। तस्माद् वेदप्रामाण्यव्यवस्थायै उव्वटमहीधरोक्त एवार्थो ग्रहणीयः॥ ६॥

अ॒सौ यो॑ऽव॒सर्प॑ति॒ नील॑ग्रीवो॒ विलो॑हितः। उ॒तैनं॑ गो॒पा अ॑दृश्र॒न्नदृ॑श्रन्नुदहा॒र्यः॑ स दृ॒ष्टो मृ॑डयाति नः॥ ७॥

मन्त्रार्थ—जिसे अज्ञानी गोप तथा जल भरने वाली दासियाँ भी प्रत्यक्ष देख सकती हैं, विष धारण करने से जिसका कण्ठ नील वर्ण का हो गया है, तथापि विशेषतः रक्त वर्ण का होकर जो सर्वदा उदय और अस्त को प्राप्त होकर गमन करता है, वह रविमण्डल स्थित रुद्र हमें सुखी कर दे॥ ७॥

अथवा रुद्र ही ताम्र वर्ण, बभ्रु वर्ण और सुमङ्गल स्वरूप है। कार्यवशात् वही अनेक रूपों को धारण करता है। उसी के अंशभूत अन्यान्य जो असंख्यात रुद्र हैं, वे सब दिशाओं में इसी के चारों ओर आश्रित हैं, किन्तु इस रहस्य को न समझते हुए किये जाने वाले प्रमादों के कारण ये जीवधारी लोग उनके प्रति अपने कर्तव्य को भूल कर स्वधर्म का उल्लघंन करते रहते हैं। इस प्रकार उनका अपमान करने से ये जीवधारी निरन्तर अपराधी बनते जाते हैं। अतः उनकी भक्ति करके, उनसे क्षमा प्राप्त कर अपने अपराधों का निवारण करना उचित ही है। अखण्ड चैतन्यात्मक एक ही रुद्र अनन्त-अनन्त शक्तियों से युक्त होने के कारण उनकी तत्तत् शक्ति से विशिष्ट हुए चैतन्यरूप रुद्रों का आनन्त्य जो बताया गया है, वह उचित ही है।

आदित्यपक्ष में 'किरणें' ही 'रुद्र' हैं। उनकी भी शक्तियाँ विचित्र, विलक्षण और अनन्त होती हैं।

किसी ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—'जो यह ताम्र के तुल्य रक्त वर्ण का और अग्नि के तुल्य तेजस्वी तथा सूर्य के समान भरण-पोषण करने वाला, एवं राष्ट्र के मंगल को चाहनेवाला सेनापति और अन्य भी जो शत्रुओं को रुलाने वाले सैनिकगण हैं, वे इसके चारों ओर समस्त दिशाओं में हजारों की संख्या में विराज रहे हैं, उनकी क्रोधवृत्ति को दूर कर दो अथवा शान्त कर दो'। किन्तु यह अर्थ मन्त्र के किस शब्द से उपलब्ध हो रहा है? पहले 'रुद्र' शब्द से 'राजा' बताया है, अतः यहाँ भी उसी को बताना चाहिये। 'सेनापति' के अर्थ का बोधक कौन सा शब्द है? यह भी नहीं बताया। 'सेनापति' को ताम्रवत् रक्त कैसे बताया है? 'अग्निवत् तेजस्वी' यह किस शब्द का अर्थ है? 'बभ्रु' शब्द का तो 'पिङ्गल वर्ण' या 'कपिल वर्ण' अर्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है। वेदों का प्रामाण्य सर्वथा 'अज्ञात-ज्ञापकत्वेन' हुआ करता है। अर्थनीतिशास्त्र से सिद्ध अर्थ का अनुवादक होने से वेद की अप्रामाण्यापत्ति दुर्निवारणीय है। इसलिये वेदप्रामाण्य के व्यवस्थापनार्थ उव्वट-महीधरोक्त अर्थ को ही स्वीकार करना चाहिये॥ ६॥

असौ यः आदित्यरूपो रुद्रः, अवसर्पति अस्तमनकाले अवाचीनं गच्छति। अस्तं गच्छन् नीलग्रीवो नीलकण्ठ इव लक्ष्यते। विलोहितो विशेषेण रक्तः। एनं गोपा गोपाला वेदादिसंस्कारशून्या उत अपि गवां प्रवेश-कालं मन्यमाना अदृश्रन् अभिपश्यन्ति। उदहार्य उदकं हरन्तीति 'मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु' च (पा० सू० ६।३।६०) इत्युदकशब्दस्य उदादेशः, जलभरणपरायणा नार्योऽपि, अदृश्रन् पश्यन्ति, आगोपालाङ्गना-प्रसिद्ध इति यावत्। स दृष्टो दृष्टमात्रः सन् नोऽस्मान् मृडयाति मृडयति, सुखयतीत्यर्थः। मृदुतमहृदयो दयापरवशः स्तुत्यादिनिरपेक्षो दर्शनमात्रेण शं तनोति भगवान् रुद्रः। स्वेन रूपेणापि भक्त्या स्तुत्या प्रत्यक्षो भूत्वा भक्तस्या-भिमुखमागच्छति। नीलग्रीवो नीला ग्रीवा विषधारणेन यस्य सः, दयापरवश इति यावत्। सर्वजगद्रक्षणाय हालाहलविषपानं भगवता शिवेन कृतमिति पुराणप्रसिद्धम्। विलोहितो विगतकलुषभावो नित्यनिरस्तसमस्तानर्थ-व्रातः। अथवा विलोहितो विशेषेण रक्तः शिवाङ्कनिलयायाः सिन्दूरारुणविग्रहायाः श्रीमद्राजराजेश्वर्याः संश्लेषाद् आत्मना हृदयेन विग्रहेण च विशिष्टरागवान् अनायासेन दृष्टमात्रो मृडयाति, प्रिययाश्लिष्टत्वाच्च प्रहृष्टः सच्चिदा-नन्दरूपत्वात् सुखयति, ऐहिकामुष्मिकभोगापवर्गप्रदानेन कृतार्थयति। 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः।

अपरस्त्वाह—'योऽयं नीलकण्ठो विशेषेण अरुणवस्त्रादिपरिहितः, निरन्तरं पुरो वर्धिष्णुस्तं गोपाला जलहारिण्यश्च प्रत्यभिजानन्ति। स नेत्रैर्दृष्टोऽस्मान् प्रजाजनान् सुखयतु' इत्यादिकम्, तदपि न समञ्जसम्, कथं

यह जो आदित्य रूप रुद्र है, वह अस्त के समय अवाचीन जाता है। अस्त होते समय नीलग्रीव 'नीलकण्ठ' की तरह लक्षित होता है। 'विलोहितः' का अर्थ 'विशेष रक्त' होता है। गोपालक ग्वाले वेदादि-संस्कार से शून्य रहने पर भी गायों का यह गोष्ठ में प्रवेश करने का काल है, ऐसा समझ कर इसे देखते हैं। जलभरणपरायण (उदहार्य) नारियाँ भी उसे देखती हैं। तात्पर्य यह है कि यह आदित्यस्वरूप रुद्र आगोपालाङ्गना प्रसिद्ध है। 'उदकं हरन्ति इति उदहार्यः'। यहाँ 'उदक' शब्द को 'मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभार' (पा० सू० ६।३।६०) सूत्र से 'उदादेश' होता है।

उसका दर्शनमात्र करने से वह हमें सुखी कर देता है। उसका हृदय मृदुतम होने से वह दयापरवश हो जाता है, स्तुति आदि की अपेक्षा उसे नहीं रहती। ऐसे भगवान् रुद्र दर्शन करने मात्र से ही हम दर्शक भक्तों को सुखी कर देते हैं। भक्तिपूर्वक उसकी स्तुति करने पर वह अपने निजी स्वरूप से भी प्रत्यक्ष दर्शन देकर भक्त के सामने आ जाते हैं। वह दयापरवश हुए विषपान करने से नीलग्रीव कहलाने लगे। सम्पूर्ण जगत् का रक्षण करने के लिये भगवान् शिव ने हालाहल विष का पान किया था, यह पुराणों ने बताया है। उस रुद्र में कलुषभार तो है ही नहीं, अर्थात् समस्त अनर्थसमूह जिससे नित्यनिरस्त रहते हैं, अत एव उसे 'विलोहित' कहा गया है। अथवा 'विलोहित' का अर्थ 'विशेषेण रक्तः' यानी अत्य-धिक प्रसन्न भी किया जा सकता है, क्योंकि भगवान् शिव जी के अंक में बैठी हुई, सिन्दूर के तुल्य अरुण वर्ण के शरीरवाली श्रीराजराजेश्वरी का संश्लेष प्राप्त होने से हृदय और शरीर से भी अत्यधिक प्रसन्न होने वाले शिवजी का दर्शन करने मात्र से अनायास दर्शन करने वाले को सुखी कर देते हैं। वे अपनी प्रिया से आश्लिष्ट हैं, अतः प्रहृष्ट हैं और स्वयं सच्चि-दानन्दरूप भी हैं। अतः अपने भक्तों को सुख पहुँचाने में उन्हें किञ्चिन्मात्र भी आयास करने की आवश्यकता नहीं होती। निष्कर्ष यह है कि ऐहिक और आमुष्मिक भोग तथा अपवर्ग दिलाकर अपने भक्तों को ये कृतार्थ कर देते हैं। यही बात भगवती श्रुति के द्वारा भी कही गई है—'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७)।

किसी ने जो यह कहा है—'जो यह नीलकण्ठ है, विशेषेण अरुण वस्त्र आदि का परिधान जिसने किया है, निरन्तर पुरः (सामने) जो वर्धिष्णु है, उसे गोपाल और जल-हरण करने वाली स्त्रियाँ पहचानती हैं। हमारे नेत्रों से दृष्ट हुआ वह हम प्रजाजनों को सुखी करे' आदि-आदि, वह भी सुसंगत नहीं है। यह 'पुरः' अर्थ कैसे और किससे निकल रहा है? इस

पुरोऽर्थकत्वम् ? तत्र च किं प्रमाणमित्यनुक्तेः । नेत्रैर्दृष्ट इत्यादिना सेनापतिरेवात्रापि वर्णितः । तत्रैवं पृच्छा ? कश्चैवं वर्णयति? यदि कश्चन मनुष्य इति चेत्, मन्त्राणां पौरुषेयत्वापत्तिः, ईश्वरवक्तृको वेद इतिसिद्धान्तव्याहतिश्च । ईश्वरवक्तृकत्वे च कथमीश्वरस्य स्वं प्रति तत्सुखयितृत्वकामना सम्भवति, ईश्वरस्य परमानन्दरूपत्वेन अवाप्तसमस्तकामत्वात् । अतः कस्य कं प्रत्येतद्वर्णनमित्यपि चिन्त्यमेव । तस्मादुव्वटमहीधरोक्त एव समीचीनो वेदार्थः ।

यच्च तेनोक्तम्—'ब्रह्मध्याने समाधिकाले ताम्रारुणबभ्रुनीलरक्तवर्णानां साक्षात्कारो भवति । तस्यात्मनः प्रभावाद् रोदनशीलाः सहस्रशः प्राणिन आश्रिताः । तस्यानादरं न कुर्मः, यतस्तत्र स एव चेतनांशो योऽस्मासु विद्यते । नीलमणिवत् स्वच्छं कान्तिमन्तं विशुद्धलोहितं जितेन्द्रिया अभ्यासिनो ब्रह्मामृतरसपायिनश्चित्तभूतयः साक्षात्कुर्वन्ति, सोऽस्मान् सुखयतु' इति, तदपि न युक्तम्, समाधिकाले नीलरक्तादिवर्णानां प्रतीतावपि तेषामात्मना कः सम्बन्धः ? यदि त्वात्मन एव ताम्रारुणादिवर्णवत्त्वेन भानम्, तदा दत्तो जलाञ्जलिस्त्वया निराकारत्वेनाभिमताय स्वसिद्धान्ताय । नीलमणिवत् स्वच्छत्वे कान्तिमत्त्वे च सति निराकारत्वहानिरेव । रक्तमणिवद्विशुद्धलोहितत्वमपि निराकारस्य न सम्भवत्येव, कण्ठशब्दस्य निरर्थकत्वापत्तिश्च । चित्तभूतयस्तु दृश्यत्वाज्जडत्वाच्च न तं साक्षात्कर्तुं प्रभवेयुः, चक्षुषा द्रष्टुरिव दृश्याभिस्ताभिर्दृशोऽवभासासम्भवात् । सिद्धान्ते तु निराकारस्यापि सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्य दिव्यलीलाशक्त्या साकारत्वाद्युपपत्तिः ।

यदपि चोक्तम्—'पातकिनां पीडकत्वात् ताम्रत्वम्, शरणदत्वादरुणत्वम्, पोषकत्वाद् बभ्रुत्वम्, सुखमयेन रूपेण व्यापकत्वात् सुमङ्गलत्वम् । समस्तानां महाशक्तीनामाश्रयत्वात् तदनादरणं न युक्तम् । स एव प्रलय-

---

'पुरः' अर्थ के करने में क्या प्रमाण है ? यह भी आपने नहीं बताया है । 'नेत्रैर्दृष्टः' से यहाँ पर भी 'सेनापति' का ही वर्णन किया है । उस पर यह पूछा जा सकता है कि यह वर्णन कौन कर रहा है ? इसके उत्तर में यदि यह कहें कि कोई मनुष्य वर्णन कर रहा है, तो 'मन्त्रों' को पौरुषेय कहना होगा और 'ईश्वरवक्तृक वेद' है, इस सिद्धान्त की हानि होगी । ईश्वरवक्तृक मानने पर उस ईश्वर के मन में दूसरों को सुखी करने की कामना क्यों होगी ? क्योंकि ईश्वर तो परमानन्दस्वरूप होने से वह तो अवाप्तसमस्तकाम है, उसे कोई कामना करनी नहीं है । अतः यह वर्णन किसका और किसके लिये है ? यह विचारणीय ही है । तस्मात् उव्वट-महीधरोक्त अर्थ ही सुसंगत वेदार्थ है ।

यह जो उसने कहा है—'ब्रह्म का ध्यान करने में, यानी समाधिकाल में ताम्र के तुल्य अरुण, बभ्रु, नील, रक्तादि वर्णों का साक्षात्कार होता है । उस आत्मा के प्रभाव से रोदनशील सहस्रशः जो प्राणी आश्रित हैं, उनका अनादर हमें नहीं करना चाहिये, क्योंकि वहाँ भी वही चेतनांश है, जो हममें है । जितेन्द्रिय, अभ्यासी, ब्रह्मामृत के रस का पान करने में जिनका चित्त लगा हुआ है, वे लोग नीलमणि के तुल्य स्वच्छ कान्तिसम्पन्न विशुद्धलोहित का साक्षात्कार कर पाते हैं, ऐसा वह विशुद्धलोहित हम लोगों को सुखी करे' । किन्तु यह कथन भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि समाधिकाल में नील-रक्तादि वर्णों की प्रतीति होने पर भी उनका आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है ? यदि यह कहो कि आत्मा के ताम्र-अरुण आदि वर्णों का भान होने से आत्मा का ही भान होता है, तब तो आपने अपने निराकारता के सिद्धान्त को जलाञ्जलि ही दे दी, यही कहना पड़ेगा । नीलमणिवत् स्वच्छ और कान्तिमान् कहने पर 'निराकारत्व' सिद्धान्त की हानि हो ही गई । रक्त मणि के समान विशुद्धलोहितत्व का संभव भी 'निराकार' में कैसे हो सकेगा ? तब 'कण्ठ' शब्द को निरर्थक कहना होगा । चित्तभूमियां तो दृश्य और जड़ होने से उसका साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं हो सकतीं । द्रष्टा को चक्षु से जैसा अवभास होता है, वैसा अवभास उन दृश्य और जड़ चित्तभूमियों को कदापि नहीं हो सकता । हमारे सिद्धान्त के अनुसार तो परमेश्वर निराकार होने पर भी सर्वशक्तिसम्पन्न रहने से अपनी दिव्य लीलाशक्ति के द्वारा उसका साकार होना भी उपपन्न हो जाता है ।

यह जो कहा है—'पातकियों को पीड़ा देने से उसकी 'ताम्रता' है, शरणद होने से उसकी 'अरुणता' है, पोषक होने से उसकी 'बभ्रुता' है, अपने सुखमय रूप से सर्वत्र व्यापक रहने से उसकी 'सुमङ्गलता' है और सम्पूर्ण महाशक्तियों का

काले जगल्लयाधारत्वाद् नीलग्रीवः, सृष्टिकाले विविधवस्तूनां नैरन्तर्येणोत्पादकत्वाद् विलोहितः, तं संयमिजना ब्रह्मरसपायिन्य ऋतम्भराश्चित्तवृत्तयश्च साक्षात्कुर्वन्ति। स ईश्वरो नो मृडयतु' इति, तदपि चिन्त्यम्, हेडःशब्दस्य क्रोधार्थकत्वे हेडः क्रोधम् अव ईमहे अवनमयामो निवारयाम इत्यर्थो भवति। हेड इत्यस्य अनादरार्थत्वे तदकरणबोधकत्वं कस्य शब्दस्यार्थः ? 'लीनमास्यं मुखं प्रवृत्तिद्वारं रागादि येषां ते तथा' इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, राज-सेनापति-सैनिक-महत्त्ववर्णनप्रसङ्गे परमेश्वरवर्णनस्याकाण्डताण्डवायितत्वात्, विसङ्गतेश्च। असत्यामनुपपत्तौ पदानां मुख्यार्थत्यागेन वृत्त्यन्तराश्रयणं दूषणमेव। किञ्च, साक्षात्कर्तृत्वमपि प्रमातृनिष्ठं भवति, न प्रमाणरूपचित्तवृत्तिनिष्ठमित्यादि विभावनीयम् ॥ ७ ॥

नमो॑ऽस्तु नील॑ग्रीवाय सहस्राक्षाय॑ मी॒ढुषे॑ ।
अथो॒ ये अ॑स्य सत्वा॑नो॒ऽहं तेभ्यो॑ऽकरं॒ नमः॑ ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—नीलकण्ठ, सहस्रनेत्र, इन्द्रस्वरूप और वृष्टि करने वाले रुद्र को मेरा प्रणाम है। उसके जो भृत्य हैं, उनको भी मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ८ ॥

नीलग्रीवाय नीलकण्ठाय सहस्राक्षाय अनन्ताक्षिपादादिमते। सर्वप्राणिनामात्मत्वात् सर्वेषामक्षिपादादीनि तस्यैव। 'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' (भ० गी० १३।१३)। अथवा सहस्रं सहस्रसंख्यापरिमितानि, अक्षीणि चक्षूंषि (इन्द्रस्वरूपे यस्य स सहस्राक्षस्तस्मै, 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० सू० ५।४।११३) इति रूपसिद्धिः। मीढुषे मिमेहेति मीढ्वान्, 'मिह सेचने' अस्मात् 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२) इति क्वसन्तो निपातः। तस्मै नित्यतरुणाय शश्वदपरिणामिने भगवते। सेक्त्रे वृष्टिकर्त्रे

आश्रय होने से उसका अनादर करना उचित नहीं है। वही प्रलय काल में सम्पूर्ण जगत् के लय का आधार होने से 'नीलग्रीव' है, सृष्टि काल में निरन्तर विविध वस्तुओं का उत्पादक होने से 'विलोहित' है। उसका साक्षात्कार संयमी लोग और ब्रह्मरस का पान करने वाली ऋतम्भरा चित्तवृत्तियाँ किया करती हैं। वह ईश्वर हमें सुखी करे' इति। किन्तु यह अर्थ भी विचारणीय है। 'हेड' शब्द को क्रोधार्थक मानने पर 'हेडः क्रोधम् अव ईमहे' अर्थात् क्रोध का निवारण करते हैं, यह अर्थ होता है। तथा 'हेड' शब्द को अनादरार्थक मानने पर उसे न करने का बोध कराने वाला कौन सा शब्द है ? 'लीयमानस्य मुखं प्रवृत्तिद्वारं रागादि येषां ते तथा' अर्थात् 'लीन होने वाले के प्रवृत्तिद्वार रागादि हैं जिनके' यह अर्थ भी असंगत है, क्योंकि राजा के सेनापति-सैनिकों का महत्त्व वर्णन करने के प्रसंग में परमेश्वर का वर्णन कर बैठना अकाण्डताण्डव का ही आचरण कर दिया है और वह असंगत भी है। किसी अनुपपत्ति के न होते हुए भी पदों के मुख्यार्थ का त्याग कर वृत्त्यन्तर का आश्रय करना तो दोष ही कहलायगा। साक्षात्कारित्व भी प्रमातृनिष्ठ होता है, प्रमाणरूप चित्तवृत्तिनिष्ठ नहीं। इत्यादि बातें सभी विचारणीय ही हैं ॥ ७ ॥

जो नीलकण्ठ है, जिसके अक्षि-पाद आदि अनन्त हैं, क्योंकि समस्त प्राणियों का वह आत्मा है, अतः सभी के जो अक्ष-पाद आदि हैं, वे सब उसी के हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' (१३।१३)। अथवा 'सहस्रम्' सहस्रसंख्यापरिमित 'अक्षीणि' चक्षु (नेत्र) हैं जिसके, उसे सहस्राक्ष कहते हैं, अर्थात् 'देवराज इन्द्र'। उस इन्द्र के लिये 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० सू० ५।४।११३) से इस 'सहस्राक्ष' पद की की सिद्धि होती है। 'मीढुषे' मिमेह इति मीढ्वान्, 'मिह सेचने' धातु से 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२)

पर्जन्यरूपाय वा । नमो नमस्कारः, हृद्वाग्वपुर्भिः प्रह्वीभावोऽस्तु । अथो अपि च, येऽस्य सत्त्वानः सत्त्वभूता रुद्रा भृत्या वा, अहं तेभ्यो नमो नमस्कारम् अकरं करोमि । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति कालसामान्ये लङ् ।

अपर आह—'नीलग्रीवाय नीलमणिभूषितकण्ठाय सहस्राक्षाय सहस्रसंख्याकेषु जनेषु दृष्टिमते मीढुषे प्रजासु सुखवर्षुकाय सेनापतये नमोऽस्तु । शत्रूणां नमनानि वज्राणि अन्नमादरभावश्च उपनमन्तु । ये चास्याधीनाः सामर्थ्यवन्तो वीरास्तेभ्यो वयं प्रजाजना अन्नादिभोगपदार्थान् शस्त्रास्त्रबलानि सम्मानं चोपहरामः' इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, नमःपदेन नमस्कारविज्ञानात् । शस्त्रास्त्रबलादिभोगपदार्थसमर्पणं तु कुतो विज्ञायत इति व्याख्यातैव विचारयतु । सेनापतिः सैनिकाश्च काल्पनिका एवेत्युव्वटमहीधरादिसम्मत एवार्थो युक्तः ॥ ८ ॥

प्रमु॑ञ्च॒ धन्व॑न॒स्त्वमु॒भयो॒रार्त्न्यो॒र्ज्याम् ।
याश्च॑ ते॒ हस्त॒ इष॑वः॒ परा॒ ता भ॑गवो वप ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे भगवन् ! आप धनुष की दोनों कोटियों में अटकी हुई डोरी (प्रत्यंचा) का त्याग कर दें और अपने हाथ में स्थित बाणों का भी त्याग कर दें ॥ ९ ॥

तमेव भगवन्तं स्तुवन्नाह—हे भगवः, भगं षड्विधमैश्वर्यमस्यास्तीति भगवान् । 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥' इति रीत्या नित्ययोगेऽतिशायने चात्र 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (पा० सू० ५।२।९४) इति मतुप्प्रत्ययो बोध्यः । तेन षड्विधमैश्वर्यं नित्यं निरतिशयं च यत्र स्यात्, स एव भगवान् भवति । अत एव—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग

इन क्वसन्त शब्दों का निपातन किया गया है । नित्यतरुण, शश्वत् अपरिणामी भगवान् के लिये नमस्कार, अर्थात् हृदय, वाणी, शरीर यानी शरीर, वाणी और मन से हमारा सर्वदा प्रह्वीभाव रहे । 'अथो' = अपि च, जो इसके सत्त्वभूत रुद्र अथवा भृत्य हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ । मन्त्र में 'अकरम्' यह कालसामान्य में 'लङ्' का प्रयोग किया गया है ।

किसी ने उक्त मन्त्र की व्याख्या यह की है— 'नीलमणि भूषित कण्ठवाले और हजारों जनों में जो दृष्टिमान् है तथा प्रजाओं पर सुख की वर्षा करने वाले सेनापति के लिये हमारा नमस्कार रहे । शत्रुओं के नमन, वज्र, अन्न और आदरभाव ये सब हमें प्राप्त हों । जो इसके अधीन रहने वाले सामर्थ्यवान् वीर हैं, उनके लिये हम प्रजाजन अन्नादि भोग्य पदार्थ और शस्त्र-अस्त्र बल, सम्मान देते रहें' । किन्तु यह अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि 'नमः' पद से नमस्कार विज्ञान, शस्त्रास्त्र बलादि भोगपदार्थ समर्पण करना, यह आपने किस शब्द से जान लिया ? इसका विचार व्याख्याता ही करे । सेनापति और सैनिक सब कपोलकल्पित ही बना लिये हैं । अतः उव्वट-महीधरादिसम्मत अर्थ ही उचित है ॥ ८ ॥

उसी भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—हे भगवः ! 'भगं षड्विधमैश्वर्यं यस्यास्तीति भगवान्' अर्थात् षड्विध ऐश्वर्य है जिसके पास, उसे भगवान् कहते हैं । 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥' इस रीति से यहाँ पर नित्ययोग और अतिशायन अर्थ में 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'(पा. सू. ५।२।९४) सूत्र से 'मतुप्' प्रत्यय हुआ समझना चाहिये । अतः जहाँ यानी जिसके पास षड्विध ऐश्वर्य नित्य और निरतिशय हो, उसी को 'भगवान्' कहा जा सकता है । अत एव—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव

इतीरणा ॥' (विष्णुपुराण ६।५।७४) इत्यत्र समग्रमिति विशेषणमैश्वर्यादिभिः सर्वैरेव शब्दैः सम्बद्ध्यते। समग्रस्य नित्यस्य निरतिशयस्य ऐश्वर्यस्य तथाविधस्यैव धर्मादेश्च भग इतीरणा, भगशब्देनैते ज्ञायन्त इत्यर्थः। 'ईर गतौ कम्पने च' इति धातुः। अत एव तदनुग्रहेणैव अन्येऽपीन्द्रादयो देवा ऐश्वर्यभाजो भवन्ति। 'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥' एवंविधो भगवानीश्वर एव भवति। अन्यत्र तु गौण्या वृत्त्यैव भगवच्छब्दप्रयोगः, तत्सम्बुद्धौ हे भगवन्, धन्वनो धनुषः, उभयोर् आर्त्न्योः कोटयोः स्थितां ज्यां मौर्वीं त्वं प्रमुञ्च प्रकृष्टतया दूरीकुरु। याश्च ते हस्ते इषवो बाणास्ता इषूः परावप पराक्षिप। भक्तानां निर्भयत्वाय परित्यजेत्यर्थः।

अपर आह—'हे सेनापते, धन्वनो धनुषः, आर्त्न्योः कोटयोः, जयदायिनीं ज्यां योजय। ये च त्वदीयहस्ते बाणाः सन्ति, तान् हे ऐश्वर्यवन्, दूरपर्यन्तं शत्रुषु प्रक्षिप' इति, तदपि कल्पनादावदग्धम्, प्रोपसृष्टस्य मोक्षणार्थस्य मुचेः क्रियापदस्य प्रकर्षतया मोक्षणमर्थः, न तु योजनम्। मन्त्रे योजनार्थको नास्ति कश्चन शब्दः। परावपेति क्रियापदस्य दूरदेशसम्बन्धेनैव नैराकाङ्क्ष्ये शत्रुष्वित्यादिशब्दाध्याहारे किं मूलम्? शत्रुष्वित्यादीनामध्याहारेण वा नैराकाङ्क्ष्ये दूरपर्यन्तेत्यध्याहारे वा न किमपि मूलमिति विचारे क्रियमाणे व्याख्याया निःसारत्वानपायात् ॥ ९ ॥

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ२॥ उत।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—जटाजूट धारण करने वाले रुद्र का धनुष प्रत्यंचारहित रहे, तूणीर में स्थित बाणों के नोंकदार अग्र भाग नष्ट हो जाँय, उसके बाण नष्ट हो जाँय तथा तलवार का कोष भी तलवार से रहित हो जाय ॥ १०॥

षण्णां भग इतीरणा॥' (वि० पु० ६।५।७४)। यहाँ पर 'समग्र' इस विशेषण का सम्बन्ध ऐश्वर्यादि सभी शब्दों के साथ है। अर्थात् समग्र नित्य निरतिशय ऐश्वर्य को, उसी प्रकार के धर्म आदि को भी 'भग' शब्द से जाना जाता है। 'ईरणा' में 'ईर गतौ कम्पने च' धातु है। उस भगवान् के ही अनुग्रह से अन्य इन्द्र आदि देवता भी ऐश्वर्यवान् हो जाते हैं। 'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥' इस प्रकार का भगवान् तो ईश्वर ही हो सकता है। उसके अतिरिक्त जहाँ कहीं 'भगवत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह गौणी वृत्ति से ही किया जाता है। 'भगवत्' शब्द के संबोधन का एकवचन 'हे भगवः' यानी हे भगवन्! तुम धनुष की दोनों कोटियों पर स्थित मौर्वी (प्रत्यंचा) को 'प्रमुञ्च' अर्थात् प्रकृष्टतया दूर कर दो। तथा तुम्हारे हाथ में जो बाण हैं, उन बाणों को भक्तों की निर्भयता के लिये त्याग दो।

किसी ने इस मन्त्र की व्याख्या यह की है—'हे सेनापते! धनुष की दोनों कोटियों पर जय देने वाली प्रत्यंचा को चढ़ाओ। तुम्हारे हाथ में जो बाण हैं, उन्हें हे ऐश्वर्यशालिन्! दूर तक शत्रुओं पर फेंको' इति। किन्तु इस प्रकार से की गई अपनी व्याख्या को व्याख्याकार ने ही अपनी कल्पना की दावाग्नि में जला दिया है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक मोक्षणार्थक 'मुच्' धातु से निष्पन्न 'प्रमुञ्च' क्रियापद का अर्थ 'प्रकर्षतया मोक्षण' होता है, 'योजन' करना नहीं। मन्त्र में 'योजना' के अर्थ को बताने वाला कोई भी शब्द नहीं है। 'परावप' इस क्रियापद की आकांक्षा, 'दूरदेश के सम्बन्ध' से ही शान्त हो जाती है, तब 'शत्रुओं पर' इत्यादि शब्द के अध्याहार करने की निर्मूलता स्पष्ट हो है। अथवा 'शत्रुषु' इस अध्याहार से ही नैराकांक्ष्य मान लिया जाय, तो 'दूरपर्यन्तम्' इस प्रकार के अध्याहार करने में कोई भी मूल नहीं है। इस रीति से विचार करने पर व्याख्या की निःसारता स्पष्ट हो जाती है ॥ ९ ॥

कपर्दिनो जटाबन्धनवतः । पर्वणं पर्, 'पर्व पूरणे' इत्यस्मात् सम्पदादित्वाद् भावे क्विप् । 'राल्लोपः'(पा० सू० ६।४।२१) इति वकारस्य लोपे पर् । केन सुखेन अनायासेन जलेन वा परं भक्तमनोरथानां पूरणं ददातीति कपर्दः । अथवा कस्य जलस्य परा पूरणेन दायति शोधयति मनोमलमिति कपर्दः, 'कपर्दोऽस्य जटाजूटः' (अ० को० १।१।३५) इति कोषात् । कपर्दोऽस्यास्तीति कपर्दी, तस्य रुद्रस्य धनुः, विज्यं विगता ज्या यस्मात् तत्, मौर्वीरहितमस्तु । उतापि च बाणवान् बाणाः सन्त्यस्मिन्निति इषुधिः, इषवो धीयन्तेऽस्मिन्निति स तथोक्तो विशल्यः शल्यं बाणाग्रगतो लौहभागः, विगतं शल्यं फलं यस्मात् स तथाविधः, अस्य तूणीरः फलरहितबाणवान् भवत्वित्यर्थः । अस्य रुद्रस्य या इषवः फलरहितबाणाः, ता अपि अनेशन् नश्यन्तु । अदर्शनार्थकस्य नशेर्लुङि प्रथमपुरुषबहुवचने पुषादित्वात् च्लेरङि नशेरत एत्वे च अनेशन्निति रूपम् । किञ्चास्य रुद्रस्य निषङ्गधिः, निषज्यते गात्रेष्विति निषङ्गः खड्गः, स धीयतेऽस्मिन्निति निषङ्गधिः असिकोशः, आभुः आसमन्ताद् भावयति प्रकाशयति स्वात्मरूपमिति आभुः रिक्तः । 'आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च' (उ० १।३३) इति बाहुलकाद् उप्रत्यये रूपम् । अस्य असिकोशोऽपि खड्गरहितो भवत्वित्यर्थः । अथवा नितरां सजति सङ्गं करोतीति निषङ्गधिस्तूणीरो बाणकोशः । 'नौ सञ्जेर्घिन्' (उ० ४।८८) इति निपूर्वकात् परिष्वङ्गार्थकात् सञ्जेर्घिन्प्रत्ययः । 'लशक्वतद्धिते' (पा० सू० १।३।८) इति घकारस्येत्संज्ञायाम्, 'चजोः कु घिण्यतोः' (पा० सू० ७।३।५२) इति कुत्वे रूपम् । अस्मान् प्रति न्यस्तसर्वशस्त्रो भगवान् रुद्रो भवत्वित्यर्थः । यथा व्याघ्र्या नखा दंष्ट्राश्च स्वशावकान् प्रति अकिञ्चित्करा भवन्ति, तथैव भगवतः सर्वाणि शस्त्रास्त्राण्यनुद्वेगकराणि भक्तरक्षकाणि च भवन्त्वित्यर्थः ।

'कपर्दिनः' जटाबन्धन से युक्त । 'पर्वणं पर्' 'पर्व पूरणे' धातु से 'सम्पदादित्वात्' भाव अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय, और 'राल्लोपः' (पा० सू० ६।४।२१) से 'वकार' का लोप कर देने से 'पर्' बना । 'केन सुखेन अनायासेन जलेन वा परं भक्तमनोरथानां पूरणं ददाति इति कपर्दः । अर्थात् अनायास ही अथवा जल से भक्तों के मनोरथों को जो पूर्ण कर देता है वह कपर्द है । अथवा 'कस्य जलस्य परा पूरणेन दायति शोधयति मनोबलम् इति कपर्दः' । अर्थात् जल का पूरण करके मनोबल का जो शोधन करता है, उसे कपर्द कहते हैं । 'कपर्द' शब्द का अर्थ 'कपर्दोऽस्य जटाजूटः' कोष के अनुसार 'जटाजूट' है । 'कपर्दः अस्य अस्तीति कपर्दी तस्य कपर्दिनः' । जटाजूट है जिसके उसे कपर्दी कहते हैं, उस कपर्दी यानी रुद्र का धनुष प्रत्यञ्चारहित हो और 'बाणवान्' बाणाः सन्ति अस्मिन् इति ऐसा 'इषुधिः' इषवो धीयन्ते अस्मिन् इति सः अर्थात् बाण जिसमें रखे जाते हैं, यानी तरकस (भाता) विशल्य रहे । 'शल्यः' अर्थात् बाण का अग्र भाग (लौह भाग) 'विगतं शल्यं फलं यस्मात् सः' लौह भाग से रहित रहे, अर्थात् उसका तूणीर (तरकस) फलरहित बाणवान् रहे । उस रुद्र के इषु (बाण) यानी फलरहित बाण भी नष्ट हों । 'नश्' धातु से लुङ् लकार में 'पुषादित्वात् च्लेरङि' से नश के अकार को एत्व और तकार को नकार होने पर 'अनेशन्' रूप सिद्ध होता है । किञ्च, अदर्शनार्थक नश् धातु से लुङ् लकार के प्रथम पुरुष बहुवचन में 'पुषादित्वात् च्लेरङि' च्लि को अङ् होने पर नश के अकार को एत्व करने पर 'अनेशन्' रूप बनता है । किञ्च, इस रुद्र का 'निषङ्गधिः' निषज्यते गात्रेषु इति निषङ्गः, स धीयते अस्मिन् इति निषङ्गधिः, अर्थात् असिकोष, 'आभुः' आसमन्ताद् भावयति प्रकाशयति स्वात्मरूपम् इति आभुः, अर्थात् रिक्त हो जाय । 'आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च' (उ० १।३३) से बाहुजकात् 'उ' प्रत्यय करने पर 'आभुः' रूप बनता है । अर्थात् इसका असिकोश भी खड्गरहित हो जाय । अर्थात् हमारे प्रति समस्त शस्त्रों को त्याग कर भगवान् रुद्र शान्त हो जाँय । व्याघ्री के नख और दंष्ट्राएँ अपने बच्चों के प्रति जैसे अकिञ्चित्कर रहते हैं, वैसे ही भगवान् के समस्त शस्त्र-अस्त्र भी हम लोगों के लिये अनुद्वेगकर और भक्तरक्षक हो जाँय ।

यत्तु कश्चित्—'शिरसि शुभं पल्लवाङ्कुरं शिरोभूषणं मुकुटविशेषं वा धृतवतो वीरपुरुषस्य धनुः किं ज्यारहितं सम्भवति ? न चेत्तदीयतूणीरमपि बाणशून्यं कथं स्थास्यति ? तस्य बाणाः किं नश्यन्ति ? एवं किं तस्यासिकोशोऽसिहीनः सम्भवति ? नैतत्सर्वं कदाचिदपि सम्भवति' इति, तच्चिन्त्यम्, मन्त्रेऽस्मिन्नाक्षेपार्थकस्य किमादेरप्रयोगात्। उतेति निपातोऽप्यर्थकः। एवं कपर्दशब्दो जटाजूटे प्रसिद्धः। तथा चामरसिंहवचनमुद्धृतम्। तद्वान् कपर्दी शङ्कर एवात्र गृह्यते, तत्रास्य शब्दस्य योगरूढत्वात्। विशल्य इति पदस्यार्थोऽपि न कृतः। वेदाक्षरानुसारी त्वक्षरार्थं उव्वटमहीधरसम्मतो मदुक्त एव ग्राह्यः ॥ १० ॥

या ते॑ हे॒तिर्मी॑ढुष्टम॒ हस्ते॑ ब॒भूव॑ ते॒ धनुः॑।
तया॒स्मान् वि॒श्वत॒स्त्वम॑य॒क्ष्मया॒ परि॑भुज ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे अत्यधिक वृष्टि करने वाले रुद्र ! तुम्हारे हाथ में जो धनुष है, उस सुदृढ धनुष से हमारी सब ओर से रक्षा करो ॥ ११ ॥

हे मीढुष्टम, अतिशयेन वर्षणशील ! 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२) इति सूत्रेण क्वसन्तो निपातो मीढ्वानिति। अतिशयेन मीढ्वान् मीढुष्टमः। 'तसौ मत्वर्थे' (पा० सू० १।४।१९) इति भसंज्ञायाम्, 'वसोः सम्प्रसारणम्' (पा० सू० ६।४।१३१) इति सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' (पा० सू० ६।१।१०८) इति पूर्वरूपे; 'आदेश-प्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) इति मूर्धन्यादेशे, 'ष्टुना ष्टुः' (पा० सू० ८।४।४१) इति ष्टुत्वे रूपसिद्धिः। सेक्तृतमो वर्षकः यविष्ठो वा, 'नमो बंहिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमः' (महिम्नस्तोत्र० २९) इत्युक्तेः। परिणामनिषेधेन षड्विधभावविकारविवर्जितः परमेश्वरोऽत्र सम्बोध्यते। अथवा—'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥' (भ० गी० १४।३) इति रीत्या प्रकृतिरूपायां योनौ स्वप्रतिबिम्बमयवीर्या-

---

किसी ने यह व्याख्या की है—'सिर पर शुभ पल्लवाङ्कुररूप शिरोभूषण अथवा मुकुटविशेष को धारण करने वाले वीर पुरुष का धनुष क्या प्रत्यञ्चा से रहित हो सकता है ? यदि ज्यारहित होना संभव नहीं है, तो उससे सम्बद्ध तूणीर भी बाणशून्य कैसे रहेगा ? उसके बाण क्या नष्ट होते हैं ? उसी प्रकार क्या उसका असिकोष असिरहित होना संभव है ? ये सब बातें कदापि संभव नहीं हो सकतीं'। किन्तु यह व्याख्या चिन्तनीय ही है, क्योंकि प्रस्तुत मन्त्र में आक्षेपार्थक 'किम्' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं है। 'उत' यह निपात 'अपि' के अर्थ में है। इसी प्रकार 'कपर्द' शब्द 'जटाजूट' में प्रसिद्ध है। उसके समर्थन में अमरसिंह का वचन पहले उद्धृत कर ही दिया है। तद्वान् यानी जटा-जूटवान् कपर्दी शब्द से 'शङ्कर' का ग्रहण यहाँ पर किया जाता है। शङ्कर के अर्थ में यह कपर्दी शब्द योगरूढ है। 'विशल्य' पद का अर्थ भी नहीं किया। उव्वट-महीधरसम्मत वेदाक्षरानुसारी अक्षरार्थ को हमने ऊपर बताया है, अतः वही ग्राह्य है ॥ १० ॥

हे मीढुष्टम ! खूब अच्छी तरह से वर्षण करने वाले ! 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२) सूत्र से 'मीढ्वान्' यह क्वसन्त निपात किया गया है। अतिशयेन मीढ्वान् इति मीढुष्टतमः। 'तसौ मत्वर्थे' (पा० सू० १।४।१९) से भसंज्ञा और 'वसोः सम्प्रसारणम्' (पा० सू० ६।४।१३१) से सम्प्रसारण, तदनन्तर 'सम्प्रसारणाच्च' (पा० सू० ६।१।१०८) से पूर्वरूप और 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) से मूर्धन्यादेश, 'ष्टुना ष्टुः' (पा० सू० ७।४।४१) से ष्टुत्व करने पर 'मीढुष्टतमः' रूप निष्पन्न होता है। 'मीढुष्टतम' का अर्थ है—सेक्तृतम, वर्षुक अथवा यविष्ठ, क्योंकि महिम्नस्तोत्र में कहा गया है—'नमो बंहिष्ठाय त्रिनयनयविष्ठाय च नमः' (महि० स्तो० १९)। परिणामनिषेध से षड्भाव विकारों से विवर्जित परमेश्वर को ही यहाँ सम्बोधित किया गया है। अथवा—'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥'(भ० गी० १४।३) इस वचन की रीति से प्रकृति रूप योनि में स्वप्रतिबिम्बमय वीर्य के आधायक होने से सर्वोत्पादक परमेश्वर है, अतः वह सेक्तृतम कहलाता है, यानी मीढुष्टतम कहलाता है, उसका संबोधन में रूप है—हे

धायकत्वेन सर्वोत्पादकत्वात् परमेश्वरः सेक्तृतमो भवति, तत्सम्बुद्धौ। ते तव हस्ते या हेतिर्वज्रोपमो बाणविशेषो विद्यते, यच्च ते धनुर्बभूव अस्ति, तया धनूरूपया अयक्ष्मया अविद्यमानो यक्ष्मा रोगो यस्यां सा अयक्ष्मा। 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (पा० सू० २।२।४, वा० २) इति रूपसिद्धिः। तया रोगरहितया दृढया अनुपद्रवकारिण्या वा हेत्या विश्वतः सर्वतोऽस्मान् परिभुज परिपालय। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इति भुजेः रौधादिकस्य सतो विकरणव्यत्ययेन तौदादिकः शः।

अपरस्त्वाह—'हे अधिकवीर्यशालिन्, शत्रूणामुपरि मेघवच्छरवर्षक! त्वदीये हस्ते वज्रं धनुश्चास्ति, तेन अरुग्णेन विशुद्धबाणेन त्वं सर्वप्रकारेण अभितोऽस्मान् रक्ष। अत्र व्याख्याने द्वितीयस्य तेशब्दस्य व्याख्या न कृता' इति, तन्न क्षोदक्षमम्, शरवर्षकेऽर्थे मीढुष्टमशब्दस्य स्वाभाविक्या वृत्त्या अप्रवृत्तेः। जलवर्षणादिरूपेऽर्थे एव तस्य स्वाभाविकी प्रवृत्तिः, अत्रापि लौकिकवीरस्तावकत्वेनानुवादकत्वेन वेदस्याप्रामाण्यापत्तेर्दुर्निवारत्वात्॥ ११॥

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान् वृणक्तु विश्वतः।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्निधेहि तम्॥ १२॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र! तुम्हारा धनुषरूप आयुध सब ओर से हमारा त्याग करे, अर्थात् हमें न मारे। तुम अपने बाणों से भरे तूणीर को हमसे दूर रखो॥ १२॥

हे रुद्र, ते तव धन्वनो धनुःसम्बन्धिनी धनुःप्रेरिता वा हेतिः। आयुधं विश्वतः सर्वतोऽस्मान् परिवृणक्तु परिवर्जयतु, मा हन्त्वित्यर्थः। अथो अपि च, यस्तव इषुधिस्तूणीरः, तमस्मद् अस्मत्सकाशाद् आरे दूरे निधेहि स्थापय। अपराधप्रसङ्गेन शत्रुकृतप्रयोगादिप्रभावेण वा प्रवृत्तानां रुद्रायुधादीनाम् अवरोधाय इयमभ्यर्थना ज्ञेया।

मीढुष्टम। तुम्हारे हाथ में जो वज्र के तुल्य बाणविशेष है और जो तुम्हारा धनुष है, उस धनुष रूप अयक्ष्मा से 'अविद्यमानो यक्ष्मा रोगो यस्यां सा अयक्ष्मा'। 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोप-' (पा० सू० २।२।४, वा० २) इस रीति से 'अयक्ष्मा' यह रूप सिद्ध होता है। इस रोगरहित दृढ अथवा अनुपद्रवकारी हेति (शस्त्र) से हमारा सर्वथा पालन करो। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इस रौधादिक भुज धातु से विकरण व्यत्यय से तौदादिक 'श' हुआ है।

किसी ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—'हे अधिक वीर्यशालिन्! शत्रुओं पर मेघ के समान बाणों की वर्षा करनेवाले! तुम्हारे हाथ में वज्र और धनुष है, उस अरुग्ण यानी विशुद्ध बाण से तुम सब प्रकार से चारों ओर से हमारी रक्षा करो'। इस व्याख्या में द्वितीय 'ते' शब्द की व्याख्या नहीं की गई है। 'मीढुष्टम' शब्द स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि वह जलवर्षणादि रूप अर्थ में साधारण है', किन्तु यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि शरवर्षक अर्थ में 'मीढुष्टम' शब्द की स्वाभाविक वृत्ति से प्रवृत्ति नहीं है। जलवर्षणादि रूप अर्थ में ही उस शब्द की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यहाँ भी लौकिक वीरों की स्तुति होने से अनुवादकत्व कहना होगा, जिससे वेद में अप्रामाण्यापत्ति प्राप्त होगी, जो दुर्निवारणीय है॥ ११॥

हे रुद्र! तुम्हारी धनुःसम्बन्धिनी अथवा धनुःप्रेरित हेति यानी आयुध सब ओर से हमें त्याग दे, अर्थात् हमें न मारे। अपि च, जो तुम्हारा तूणीर है, उसको हम लोगों से दूर रखो। अपराध के प्रसंग से अथवा शत्रुकृत प्रयोगादि के प्रभाव से प्रवृत्त रुद्रायुधादिकों के अवरोधनार्थ यह प्रार्थना है।

अपर आह—हे रुद्र, त्वदीयधनुःसम्बन्धिनो बाणाः सर्वतोऽस्मान् रक्षन्तु। ये त्वदीया बाणास्तान् दूरे रक्ष। शास्त्रागाराः शतघ्न्यादयो नगरात् पर्याप्तं दूरे तिष्ठन्तु। यतस्तेषां विस्फोटेन नगरहानिर्न भवेत्। शस्त्रेषु शतघ्न्यो नगरस्याभितो रक्षार्थं नियुज्यन्ताम्' इति, तन्न रोचते, यतो ह्यत्रापि व्याख्याने रुद्रपदेन राजैव विवक्षितः स्यात्। नीतिज्ञो राजा लोकत एवैतज्जानाति। वेदेनापि तदेव बोध्यते चेत्, तदा ध्रुवम् अनुवादकत्वेन वेदस्याप्रामाण्यमापतेत्। परिपूर्वकस्य वृजेर्वर्जनमेवार्थो न रक्षणम्। इषुधिशब्दोऽपि तूणीरे रूढो न शास्त्रागारे। नापीषुशब्देन शतघ्न्यो बोध्यन्ते, निष्प्रमाणत्वात्। आरेशब्द एकधैव प्रयुक्तो दूरत्वबोधकः। द्विवारं तदुपयोगोऽपि अशुद्ध एव ॥ १२ ॥

अवतत्य धनुष्ट्वᳬ सहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे सौ तूणीर और सहस्र नेत्रधारी इन्द्र ! धनुष की प्रत्यंचा दूर करके और बाणों के अग्र भागों को तोड़ कर तुम हमारे विषय में शान्त और सद्बुद्धि धारण करो ॥ १३ ॥

हे सहस्राक्ष, सहस्रम् अक्षीणि नेत्राणि यस्य स सहस्राक्षः, तत्सम्बुद्धौ। हे शतेषुधे शतम् इषुधयो यस्य स शतेषुधिः, तत्सम्बुद्धौ। त्वं धनुर् अवतत्य अवतार्य ज्यारहितं कृत्वा शल्यानां बाणफलानां मुखा मुखानि निशीर्य शातयित्वा कुण्ठितानि कृत्वा अस्मान् प्रति शिवः शान्तः सुमनाः शोभनचित्तो भव, अनुगृहाणेत्यर्थः।

अन्यस्त्वेवमाह—हे सहस्राक्ष, सहस्रशः कार्येषु दृष्टिमन्, बाणशततूणीरवान् शस्त्रागारवांश्च त्वं धनुरवतत्य बाणमुखानि तीक्ष्णीकृत्य अस्मान् प्रति कल्याणकरः शुभचित्तश्च भव' इति, तदपि पूर्वव्याख्यानसदृशमेव

किसी ने इसकी व्याख्या यह की है—'हे रुद्र ! तुम्हारे धनुष के बाण हमारी सब तरह से रक्षा करें। जो तुम्हारे बाण हैं, उन्हें दूर रखो। शतघ्नी आदि शस्त्रागार नगर से पर्याप्त दूर स्थित रहें, क्योंकि उनके विस्फोट हो जाने पर नगर की हानि न हो सके। नगर के चारों ओर रक्षणार्थ शस्त्रों में से शतघ्नियों की नियुक्तियां की जाय', किन्तु यह व्याख्यान ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें भी 'रुद्र' पद से 'राजा' की ही विवक्षा करनी होगी। नीतिज्ञ राजा इन सब बातों को लोक से हो जान लेता है, उन्हीं बातों को यदि वेद भी बोधन कराने लगे, तो निश्चित ही उसे अनुवादक कहना होगा, जिससे वेद में अप्रामाण्य का प्रसंग प्राप्त होगा। परिपूर्वक 'वृज' धातु का 'वर्जन' ही अर्थ है, 'रक्षण' नहीं। 'इषुधि' शब्द भी तूणीर में रूढ हैं, 'शस्त्रागार' अर्थ में नहीं। 'इषु' शब्द से 'शतघ्नियों' को बोधित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे निष्प्राण हैं। दूरत्व का बोधक 'आरे' शब्द मन्त्र में एक ही बार प्रयुक्त हुआ है। व्याख्याकार के द्वारा उसका दो बार प्रयोग किया जाना भी अशुद्ध है ॥ १२ ॥

हे सहस्राक्ष ! 'सहस्रम् अक्षीणि नेत्राणि यस्य स सहस्राक्षः, तत्सम्बुद्धौ' हजार नेत्र हैं जिसके, उसे सहस्राक्ष कहते हैं, उसके सम्बोधन में रूप बना 'सहस्राक्ष !' हे शतेषुधे ! 'शतम् इषुधयो यस्य स शतेषुधिः, तत्सम्बुद्धौ' सौ तूणीर हैं जिसके पास, उसे शतेषुधि कहते हैं, उसके संबोधन में 'शतेषुधे' रूप बनता है। तुम अपने धनुष को प्रत्यंचारहित करके और बाणफलकों के मुखों को कुण्ठित करके हम लोगों के प्रति शान्त और प्रसन्नचित्त होकर हम पर अनुग्रह करो।

किसी अन्य व्यक्ति ने यह अर्थ किया है—'हे सहस्राक्ष, यानी हजारों कार्यों में दृष्टि रखनेवाले ! सैकड़ों बाण-तूणीर और शस्त्रागारों को रखनेवाले तुम अपने धनुष को खींचकर तथा बाणमुखों को तीक्ष्ण कर हमारे प्रति कल्याणकर और प्रसन्नचित्त हो जाओ', किन्तु यह अर्थ भी पूर्व व्याख्या के समान ही त्याज्य है। 'इषुधि' शब्द को

हेयम्, इषुधिशब्दस्य शस्त्रागारार्थत्वस्य रूढिविरुद्धत्वात्, तूणीरे तस्य योगरूढत्वात्। अवपूर्वस्य ततेरवतारणमेवार्थो न त्वाताननम्। शॄ हिंसायामिति धातोर्निपूर्वकान्निष्पन्नस्य निशीर्यशब्दस्य हिंसनमेवार्थो नोत्तेजनम्, तथा प्रयोगादर्शनात्।

सिद्धान्ते तु रुद्र ईश्वरोऽत्र प्रार्थ्यते। तस्य शस्त्राणि शत्रुषु वेदादिशास्त्रादिप्रतीपेषु सुतीक्ष्णान्यपि सन्मार्गस्थान् वैदिकान् प्रति कुण्ठितान्येव भवन्त्विति प्रार्थ्यते। यथा व्याघ्रादीनां नखा दंष्ट्राश्च हिंसनीयान् प्रति तीक्ष्णा अपि स्वशावकान् प्रति कुण्ठिता भवन्तीति, तद्वत्। सहस्राक्षशब्दस्यापि सहस्रकार्यदृष्टित्वं नार्थः, कार्यशब्दस्य तत्रासत्त्वात्॥ १३॥

नम॑स्त॒ आयु॑धा॒याना॑तताय धृ॒ष्णवे॑।
उ॒भाभ्या॑मु॒त ते॒ नमो॑ बा॒हुभ्यां॒ तव॒ धन्व॑ने॥ १४॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र! शत्रुओं को मारने में जो धृष्ट है, ऐसे और धनुष पर न चढ़ाये गये तुम्हारे बाण को हमारा प्रणाम है। तुम्हारे दोनों बाहुओं को और धनुष को भी हमारा प्रणाम है॥ १४॥

हे रुद्र, ते तव अनातताय धनुष्यनारोपिताय आयुधाय बाणाय नमः। कीदृशाय? धृष्णवे धर्षणशीलाय शत्रुवधे प्रगल्भाय। उत अपि च, तव उभाभ्यां बाहुभ्यां नमः। अनातताय अवतारितज्याय धृष्णवे शत्रुवधप्रगल्भाय धन्वने धनुषे च नमः।

अपर आह—'आयुधाय अभितो योद्ध्रे अनातताय धृष्णवे स्वल्पकायत्वेऽपि शत्रुपराजिष्णवे ते तुभ्यं वयं प्रजागणा नम आदरम् अन्नादिपदार्थांश्च समर्पयामः। त्वदीयपार्श्ववर्तिनीभ्यः सेनाभ्यश्च बलादन्नादिकमुपनयतु। त्वदीयाय धनुष्मते सेनाबलाय च अन्नं वीर्यं चोपतिष्ठतु' इति, तन्न शोभनम्, सर्वस्याप्यर्थस्य उदक्षरत्वात्

शस्त्रागारार्थक बताना रूढिविरुद्ध है, क्योंकि वह 'तूणीर' के अर्थ में योगरूढ है। अवपूर्वक 'तत' का 'अवतारण' ही अर्थ होता है, 'आतानन' नहीं। 'शॄ हिंसायाम्' धातु को 'निर्' उपसर्ग लगाकर निष्पन्न हुए 'निशीर्य' शब्द का 'हिंसन' अर्थ ही होता है, 'उत्तेजन' नहीं, क्योंकि उस अर्थ में प्रयोग दिखाई नहीं देता।

सिद्धान्त की दृष्टि से यहाँ पर भगवान् रुद्र (ईश्वर) की प्रार्थना की गई है। उस ईश्वर के शस्त्र वेद-शास्त्र के विपरीत चलनेवाले शत्रुओं पर सुतीक्ष्ण होकर गिरें और सन्मार्ग पर स्थिर रहने वाले वैदिकों के प्रति वे तीक्ष्ण शस्त्र कुण्ठित ही हो जांय। जैसे व्याघ्र आदि हिंसक प्राणियों के नख और दाढ़ें हिंसनीय प्राणियों के लिये तीक्ष्ण रहती हुई भी अपने बच्चों के लिये कुण्ठित ही हो जाती हैं, उसी तरह तुम्हारे सुतीक्ष्ण शस्त्र हमारे लिये कुण्ठित हों। 'सहस्राक्ष' शब्द का अर्थ भी सहस्र कार्यों पर दृष्टि रखना नहीं है, क्योंकि 'कार्य' शब्द वहाँ है ही नहीं॥ १३॥

हे रुद्र! तुम्हारे धनुष पर अनारोपित (अनातताय) बाण रूप आयुध के लिये प्रणाम हो, जो आयुध धर्षणशील अर्थात् शत्रुवध करने में प्रगल्भ है। अपि च, तुम्हारे दोनों बाहुओं को प्रणाम है और अनातत अर्थात् जिसकी प्रत्यंचा उतारी नहीं गई है, अत एव शत्रुवध करने में प्रगल्भ है, उस धनुष के लिये प्रणाम है।

कोई व्याख्याकार इस मन्त्र का अर्थ यह करता है—'चारों ओर युद्ध करनेवाले, स्वल्प काय रहने पर भी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले तुमको हम लोग प्रजागण नमस्कार और आदर तथा अन्नादि पदार्थों को अर्पित करते हैं। तुम्हारी पार्श्ववर्तिनी सेनाओं को बल आदि प्राप्त हो। तुम्हारे धनुष और सेनाबल के लिये अन्न और वीर्य प्राप्त हो',

काल्पनिकत्वाच्च। शस्त्रास्त्रेषु रूढस्य आयुधशब्दस्य सर्वतो योद्धृपरत्वं न सम्भवति। एवमेव नमःशब्दस्य वीर्यादिप्रदानमपि नार्थः, तादृशेऽर्थे शक्तिग्रहाभावात्। बाहुभ्यामिति पदेन पार्श्ववर्तिनीसेनाग्रहणे न किमपि प्रमाणम्। वस्तुतस्तु परमेश्वरस्य रुद्ररूपस्य बाहुमत्त्वेन त्वदीयो निराकारत्वाभ्युपगमवादो नितरां बाध्यते। तद्रक्षणायैव काल्पनिकनिष्प्रमाणार्थकल्पनम् ॥ १४ ॥

मा नो॑ म॒हान्त॑मु॒त मा नो॑ अर्भ॒कं मा न॒ उक्ष॑न्तमु॒त मा न॑ उक्षि॒तम्।
मा नो॑ वधीः पि॒तरं॒ मोत मा॒तरं॒ मा नः॑ प्रि॒यास्त॒न्वो रुद्र रीरिषः ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र ! हमारे सम्बन्धी जो बालक, तरुण और वृद्ध हैं, उनका विनाश मत करो तथा हमारे गर्भस्थ सम्बन्धी और माता-पिता तथा प्रिय पुत्र-पौत्रों का भी नाश मत करो ॥ १५ ॥

हे रुद्र, नोऽस्माकं महान्तं वृद्धं वयसा विद्यया च गुरुपितृव्यादिकं मा वधीर्मा हिंसीः। उतापि नो अस्माकम् अर्भकम् अल्पं बालं मा वधीः। नः उक्षन्तं सेचनसमर्थं तरुणम् उतापि न उक्षितं सिक्तं गर्भस्थं च मा वधीः। उतापि नः पितरं मातरं च मा वधीः। यद्यपि महान्तमित्यनेनैव पित्रोरपि ग्रहणं जातमेव, तथापि आदरातिशयार्थं पुनर्ग्रहणम्। नः प्रियास्तन्वस्तनूः प्रेमास्पदशरीरप्रायाणि पुत्रपौत्रादीनि च मा रीरिषो मा मनो हिंसितुं कार्षीः। 'रिष हिंसायाम्' इत्यस्य ण्यन्तस्य रूपम्।

अन्य आह—'हे सेनापते, त्वमस्माकं महतो वृद्धान् आदरणीयान् पूजनीयान् अर्भकान् निम्नपदस्थांश्च मा हिंसीः। वीर्यसेचनसमर्थान् अस्माकं तरुणपुरुषानपि मा हन्तु। गर्भस्थान् डिम्भांश्च मा नाशयतु। पितरं मातरं च मा हन्तु। हे दुष्टरोदक, अस्मत्प्रियशरीराणि मा पीडयस्व' इति, तदप्यशोभनम्, विरुद्धार्थत्वात्। तथाहि—पूर्वं

किन्तु यह अर्थ मन्त्राक्षरों से मेल न खाने के कारण शोभा नहीं दे रहा है। यह सम्पूर्ण अर्थ कल्पनाप्रसूत ही है। शस्त्र-अस्त्र के अर्थ में रूढ हुए 'आयुध' शब्द का 'सर्वतो योद्धृपरत्व' अर्थ करना कैसे संभव है ? एवमेव 'नमः' शब्द का 'वीर्यादिप्रदान करना' अर्थ नहीं है, क्योंकि उस अर्थ में शक्तिग्रह नहीं है। 'बाहुभ्याम्' पद से 'पार्श्ववर्तिनी सेना' का अर्थ ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है।

वस्तुतः इस प्रकार के काल्पनिक अर्थ के गढ़ने में रहस्य यह है कि रुद्र भगवान् के भुजाओं से युक्त होने के कारण तुम्हारा 'निराकारत्व' का सिद्धान्त पूर्णतया भंग हो जाता है। अतः अपने निराकारत्व सिद्धान्त को यथाकथञ्चित् बचा पाने की इच्छा से ही उक्त काल्पनिक अर्थ को गढा गया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है ॥ १४ ॥

हे रुद्र ! हमारे वयोवृद्ध और विद्यावृद्ध गुरु पितृव्य आदि की हिंसा मत करो तथा हमारे छोटे बालकों को भी हिंसा मत करो। उसी प्रकार हमारे सेचनसमर्थ (तरुण) तथा सिक्त और गर्भस्थित शिशुओं की भी हिंसा मत करो, एवं हमारे पिता और माता को भी हिंसा मत करो। यद्यपि 'महान्तम्' कह देने से ही माता-पिता का भी ग्रहण हो ही जाता है, तथापि आदरातिशय के प्रदर्शनार्थ पुनः ग्रहण किया है। हमारे प्रेमास्पद शरीरप्राय पुत्र-पौत्रादिकों की भी हिंसा मत करो, अर्थात् उनकी हिंसा करने की बात मन में भी मत लाओ। 'रिष् हिंसायाम्' धातु के ण्यन्त का रूप 'हिंसीः' है।

किसी ने इस मन्त्र की व्याख्या यह की है—'हे सेनापते ! तुम हमारे महान् वृद्ध, आदरणीय पूजनीय और निम्न पद पर स्थितों की हिंसा मत करो। हमारे वीर्यसेचन समर्थ तरुण पुरुषों की भी हिंसा मत करो। तथा गर्भस्थ और डिम्भों (शिशु) का भी नाश मत करो। हमारे पिता-माता का भी हनन मत करो। हे दुष्टरोदक ! हमारे प्रिय शरीरों की भी

रुद्रपदेन राजा सम्बोधितः, इदानीं तु सेनापतिः सम्बोध्यते। राजा वा सेनापतिर्वा राष्ट्ररक्षको भवति, न राष्ट्रपीडकः। तेन तत्कर्तृकः प्रजाया महदर्भकतरुणगर्भस्थशिशुघातो मातापितृघातश्च अप्राप्त एवेति मुधैव तदभ्यर्थना। नन्वीश्वरपक्षेऽपि तस्य न्यायकारित्वात् तद्विघातोऽप्यप्राप्त एवेति चेन्न, जन्मान्तरीयदुष्कृतवशात् फलदातुरीश्वरस्य तत्फलदानरूपेण तथा प्रवृत्तिसम्भवात्। तावतापि न तस्य वैषम्यनैर्घृण्ये, कर्मसापेक्षत्वात्, 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' (ब्रा० सू० २।१।३४) इति बादरायणसूत्रे तथा निर्णयात्। नन्वेवमवश्यम्भावित्वेऽपि तथाभ्यर्थनापार्थैवेति चेत्, तदपि तुच्छम्, भक्त्या स्तुत्या दुष्कृतनाशस्य वेदादिशास्त्रेषु श्रवणात्, त्वयापि तथाभ्युपगमाच्च। न चैवं राजादिषु जन्मान्तरीयदुष्कृतफलदातृत्वं सम्भवति, तेषां परागदर्शित्वेन तद्बोधासम्भवात्, लोकप्रत्यक्षाणां कर्मणामेव फलदाने तेषामधिकाराच्च ॥ १५ ॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र ! हमारे पुत्र-पौत्र, आयु, गाय, घोड़ों आदि का नाश मत करो तथा हमारे क्रोधी भृत्यों का भी नाश मत करो। हम हमेशा ही हविर्धारण करके यज्ञ में तुमको बुलाते हैं ॥ १६ ॥

नः अस्माकम्, तोके पुत्रविषये, मा रीरिषः मा हिंसीः। तनये पौत्रे च मा हिंसीः। नः अस्माकमायुषि जीवने विषयभूते मा हिंसीः। नः अस्माकं गोषु धेनुषु विषयभूतासु मा हिंसीः। नः अस्माकमश्वेषु विषयभूतेषु मा हिंसीः। हिंसितुं मनोऽपि मा कार्षीः। अथवा विभक्तिव्यत्ययेन व्याख्यानम्। नः अस्माकम् तोकं तनयमायुर्गाः

हिंसा मत करो', किन्तु यह व्याख्या विरुद्धार्थक होने से अशोभन ही है, क्योंकि पहले तो 'रुद्र' पद से 'राजा' को संबोधित किया था, किन्तु अब 'रुद्र' पद से 'सेनापति' को संबोधित कर रहे हैं। राजा अथवा सेनापति राष्ट्र का रक्षक होता है, राष्ट्र का पीड़क नहीं। इस कारण उस राजा या सेनापति के द्वारा वृद्ध, अर्भक, तरुण, गर्भस्थ शिशु आदि प्रजा का और माता-पिता का हनन हो ही नहीं सकता, अर्थात् उनका हनन अप्राप्त है, तब उसकी अभ्यर्थना करना व्यर्थ ही है।

यदि कहो कि ईश्वरपक्ष में भी उसके न्यायकारी होने से उनका भी विघात अप्राप्त ही है, किन्तु यह विचार करना ठीक नहीं है। जन्म-जन्मान्तर के दुष्कृत के कारण उसका फल देने के लिये फलदाता ईश्वर की उस प्रकार की प्रवृत्ति होना संभव है। उस प्रवृत्ति से ईश्वर में किसी प्रकार भी वैषम्य-नैर्घृण्य की संभावना नहीं की जा सकती, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति में प्राणियों के कर्म की अपेक्षा रहती है। अर्थात् कर्मसापेक्ष उसकी प्रवृत्ति है। कहा भी है—'वैषम्य-नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' (ब्रा० सू० २।१।३४) बादरायणसूत्र में उक्त निर्णय किया गया है। यदि कोई यह शंका करे कि इस प्रकार की अवश्यंभाविता रहने पर भी प्रार्थना की जा सकती है, उसे व्यर्थ कैसे कह सकते हैं? किन्तु यह शंका सारहीन है, क्योंकि भक्ति से, स्तुति से दुष्कृतपुंज का नाश होना वेदादि शास्त्रों में श्रुत है। तुमने उसे स्वीकार भी किया है। तब तो यह भी कह सकते हैं कि राजा भी जन्मान्तरीय दुष्कृत का फलदाता है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि राजा परागदर्शी है, अतः जन्मान्तरीय दुष्कर्मों का ज्ञान उसे होना संभव नहीं है। उसे तो वर्तमान जन्म के ही कतिपय कर्मों का ज्ञान हो पाता है, इसीलिये लोकप्रत्यक्ष कर्मों के फलदान में ही उनका अधिकार बताया गया है ॥ १५ ॥

हमारे पुत्र (तोक) की हिंसा मत करो, पौत्र (तनय) की हिंसा मत करो, हमारी आयु की (प्राणों की) हिंसा मत करो, हमारी गायों की हिंसा मत करो, हमारे अश्वों (घोड़ों) की हिंसा मत करो, उनकी हिंसा करने बात को मन में भी मत लाओ। अथवा विभक्तिव्यत्यय करके व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं—हमारे तोक, तनय, आयु, गो, अश्व—इनको अपनी हिंसन क्रिया का साध्य मत बनाओ।

अश्वान् मा रीरिषः हिंसीः । हे रुद्र, नः अस्माकम् भामिनः भामन्ते इति भामिनः, 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) इति ग्रहादित्वाण्णिनिः, तान् । क्रुद्धानपि वीरान् योद्धॄन् मा वधीः । यतो हविष्मन्तो हवि-र्युक्ता वयं सदं सदैव त्वा इत् त्वामेव, इच्छब्द एवार्थकः । यागाय आह्वयामहे आह्वयामः । सर्वदैव त्वदेकशरणा वयमिति भावः ।

अपर आह—'हे दुष्टरोदक, अस्मन्नवजातशिशून् पञ्चवर्षाधिकवयस्कांश्च पुत्रान् मा हिंसीः । वयं सदैव अन्नाद्युपहरणीयैः पदार्थैस्तवैव सम्मानं कुर्मः' इति, अत्रापि 'गोषु-अश्वेषु' इत्यनयोः पदयोर्व्याख्यानं कुतो न कृतम् ? हवामह इत्यस्य आदरकरणमर्थोऽप्रमाणकः । रुद्रस्य राज्ञः सेनापतेर्वा नहि गवाश्वादिहनने प्रवृत्तिः सम्भवति । वीरास्तु तदुपयोगिन एवेति कुतस्तद्धननं प्राप्यते ? परमेश्वरस्य रुद्रस्य तु प्राणिनां प्राक्तनकर्मवशात् तथा प्रवृत्तौ न काचिद्बाधा । शुभकर्मभिः स्तुत्यादिभिश्च तद्वारणमपि सम्भवत्येव । न च राज्ञः सेनापतेर्वा प्राक्तनकर्मज्ञानं न वा तदनुसारेण फलप्रदायकत्वम् ? ।। १६ ।।

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशा-योपवीतिने पुष्टानां पतये नमः ।। १७ ।।

मन्त्रार्थ—जिसकी भुजाएँ अलंकार स्वरूप हैं, सेनापति, दिक्पालक, हरित पत्रवाले वृक्षों का रूप धारण करने वाला, जीवों का रक्षण करने वाला, बाल तृण के समान पीतता लिये हुए रक्त वर्ण का, कान्तिमान्, मार्गों का रक्षक, कृष्ण केशयुक्त, मंगलार्थ यज्ञोपवीत धारण करने वाला, सम्पूर्ण गुणों से युक्त नरों का अधिपति जो रुद्र है उसे हमारा प्रणाम है ।। १७ ।।

'नमो हिरण्यबाहवे' (कण्डिका १७) इत्यारभ्य 'द्रापे अन्धसस्पते' (कण्डिका ४७) इत्यतः प्राक् सर्वाणि यजूंषि यजुर्मन्त्राः, नियताक्षरावसानपादत्वाभावात् ।

हे रुद्र ! क्रुद्ध होने पर भी उनका वध मत करो । 'भामिनः', 'भामन्ते इति भामिनः', 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) सूत्र से ग्रहादित्वात् णिनिः । तान् भामिनः, अर्थात् क्रुद्धान् । क्रुद्ध होने वाले उन वीरों को मत मारो, क्योंकि हम हविष्मान् हैं । हवि लिये हुए हम सर्वदा ही (सदं) तुम्हीं को (इत् = एव) यज्ञ में आने के लिये बुलाते हैं । सर्वदा हमलोग एकमात्र तुम्हारी शरण में हैं ।

किसी ने इस मन्त्र का अर्थ यह किया है—'हे दुष्टरोदक ! हमारे नवजात शिशुओं की और पाँच वर्ष से अधिक अवस्था वाले वयस्कों की और पुत्रों की हिंसा मत करो । हम सदैव अन्नादि उपहारों के योग्य पदार्थों से तुम्हारा ही सम्मान करते हैं' इति । इस अर्थ में भी 'गोषु, अश्वेषु' इन दो पदों की व्याख्या क्यों नहीं की गई ? 'हवामहे' का 'आदरकरण' रूप अर्थ अप्रामाणिक है । राजा या सेनापति (रुद्र) की प्रवृत्ति गो-अश्व आदि के हनन में नहीं हो सकती, क्योंकि वीर लोग ही उसके उपयुक्त हैं, तब उनके हनन में राजा या सेनापति की प्रवृत्ति क्यों होगी ? परमेश्वर रुद्र की तो प्राणियों के प्राक्तन कर्मवशात् उस विषय में प्रवृत्ति हो सकती है । उसकी प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं है । शुभ कर्मों से और स्तुति आदि करने से उसका निवारण भी हो सकता है । राजा या सेनापति को प्राक्तन कर्मों का ज्ञान होना संभव नहीं और न ही तदनुसार उनका फलप्रदायकत्व ही है ।। १६ ।।

'नमो हिरण्यबाहवे' (कण्डिका १७) से आरंभ कर 'द्रापे अन्धसस्पते' (कण्डिका ४०) के पूर्व तक सब यजुस्, अर्थात् यजुर्मन्त्र हैं, क्योंकि उनमें नियताक्षरावसानपादत्व नहीं है ।

तत्र 'नमो हिरण्यबाहवे' इत्यारभ्य 'धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः' इत्यन्तानां चत्वारिंशदधिकद्विशतसंख्याकानां यजुषां तावन्तो रुद्रा देवताः, 'नमो वः किरिकेभ्यः' इत्यादि चतुर्णाम् अग्निवायुसूर्या देवता रुद्राणां प्रधानभूताः। छन्दांसि तु चतुरक्षरं दैवी बृहती, पञ्चाक्षरं दैवी पङ्क्तिः, षडक्षरं यजुर्गायत्री, सप्ताक्षरं यजुरुष्णिग्, अष्टाक्षरं यजुरनुष्टुप्, नवाक्षरं यजुर्बृहती, दशाक्षरं यजुःपङ्क्तिः, एकादशाक्षरं यजुस्त्रिष्टुप्, द्वादशाक्षरं यजुर्जगती, चतुर्दशाक्षरं साम उष्णिक्। एकमेव किरिकेभ्य इति चतुर्णाम्। तद्रुद्रमध्ये केचनोभयतोनमस्काराः। अर्थात् पदद्वयात् पूर्वं पदोच्चारणात् पश्चाच्च नमःपदं येषां ते। 'हिरण्यबाहवे' इत्यारभ्य 'श्वपतिभ्यश्च वो नमः' (कण्डिका २८) इत्यन्तम्। ततोऽन्यतरतोनमस्काराः, अन्यतरत आदावेव यजुर्द्वयस्य नमस्कारो येषां ते। 'नमो भवाय च रुद्राय च' (कण्डिका २८) इत्यारभ्य 'प्रखिदते च' (कण्डिका ४६) इत्यन्ताः। तत उभयतोनमस्काराः, 'नम इषुकृद्भ्यश्च वो नमः' (कण्डिका ४६) इति। 'नमः सभाभ्यः' (कण्डिका २४) इत्यारभ्य जातसंज्ञा रुद्राः। तेषामुभयतोनमस्कारा घोरतरा अशान्ततराः। अन्यतरतोनमस्काराः शान्ततराः। तथा चाह ब्राह्मणम्—'तेषां वा उभयतोनमस्कारा अन्येऽन्यतरतोनमस्कारा अन्ये ते ह ते घोरतरा अशान्ततरा य उभयतोनमस्कारा उभयत एवैनानेतद्यज्ञेन नमस्कारेण शमयति' (श० ९।१।१।२०) इति।

अथ मन्त्राणामर्था उच्यन्ते। एकैकस्यां कण्डिकायाम् अष्टावष्टौ रुद्राः। मन्त्रार्थस्तु—हिरण्यबाहवे हिरण्यं स्वर्णमयमाभरणं बाह्वोर्यस्य स हिरण्यबाहुस्तस्मै रुद्राय नमः। स्पष्टमत्र रुद्रस्य परमेश्वरस्य सगुणसाकारविग्रहवत्त्वं विज्ञायते। सेनान्ये हिरण्यबाहू रुद्रश्च सेनां नयतीति सञ्चालयतीति सेनानीः, तस्मै रुद्राय नमः। दिशां च पतये पालकाय रुद्राय नमः। हरिकेशेभ्यः हरयो हरितवर्णाः केशाः पर्णरूपा येषां ते हरिकेशास्तेभ्यः, वृक्षेभ्यः वृक्षरूपरुद्रेभ्यो नमः। पशूनाम्पतये रागद्वेषादिदोषान्धाः सन्तः सर्वमविशेषमेव पश्यन्तीति पशवो जीवाः, तेषां पतये

उनमें 'नमो हिरण्यबाहवे' से आरम्भ कर 'धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः' तक दो सौ चालीस (२४०) यजुस् (यजुर्मन्त्र) हैं, उतने ही उनके रुद्र देवता हैं और 'नमो वः किरिकेभ्यः' इत्यादि चार मन्त्रों के अग्नि, वायु, सूर्य देवता हैं. जो रुद्रों के प्रधानभूत हैं। उनके छन्द तो अनेक हैं। चार अक्षर वाले दैवी बृहती, पाँच अक्षरवाले दैवी पङ्क्ति, छह अक्षरों वाली यजुर्गायत्री, सात अक्षरों वाली यजुरुष्णिक्, आठ अक्षरों वाली यजुरनुष्टुप्, नौ अक्षरों वाली यजुर्बृहती, दश अक्षरों वाली यजुःपङ्क्ति, ग्यारह अक्षरों वाली यजुस्त्रिष्टुप्, बारह अक्षरों वाली यजुर्जगती, चौदह अक्षरों वाली साम उष्णिक्, किरिकों के लिये एक ही।

उन रुद्रों में से कुछ के दोनों ओर नमस्कार हैं, अर्थात् पदोच्चारण से पूर्व और पश्चात् 'नमः' पद है, 'हिरण्यबाहवे' से आरम्भ करके 'श्वपतिभ्यश्च वो नमः' (कण्डिका २८) के अन्त तक। उसके बाद एक ओर से नमस्कार है, 'अन्यतरतः' आदि में ही दो यजुओं को नमस्कार हैं। 'नमो भवाय च रुद्राय च' (कण्डिका २८) से आरम्भ कर 'प्रखिदते च' (कण्डिका ४६) के अन्त तक। उसके आगे उभयतः नमस्कार हैं, 'नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः' (कण्डिका ४६) इति। 'नमः सभाभ्यः' (कण्डिका २४) से आरम्भ करके जातसंज्ञक रुद्र हैं। उनको उभयतः नमस्कार हैं, जो घोरतर यानी अशान्ततर हैं। जो शान्ततर हैं, उनको अन्यतरतः नमस्कार है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण (९।१।१।२०) भी बता रहा है।

एक-एक कण्डिका में आठ-आठ रुद्र हैं। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—स्वर्णमय आभरण है बाहुओं में जिसके, उस हिरण्यबाहु रुद्र के लिये नमस्कार। इससे स्पष्ट है कि परमेश्वर रुद्र सगुण-साकार विग्रहधारी है। वह हिरण्यबाहु रुद्र सेना का संचालन करता है, इसलिये उसे 'सेनानी' कहते हैं, उस सेनानी रुद्र को नमस्कार हैं। दिशाओं के पालक रुद्र को नमस्कार है। हरित वर्ण के हैं पर्णरूप केश जिनके, वे हरिकेश कहलाते हैं, वे हरिकेश वृक्ष हैं। उन वृक्षरूप रुद्रों को नमस्कार है। 'पशूनाम्पतये' रागद्वेषादि दोषों से अन्ध होकर सबको समान रूप से जो देखते हैं, वे पशु कहलाते हैं। उन

पालकाय रुद्राय नमः। शष्पिञ्जराय शष्पं बालतृणं तद्वत् पिञ्जरः पीतरक्तवर्णः शष्पिञ्जरः, छान्दसष्टिलोपः, तस्मै। त्विषीमते त्विषिर्दीप्तिरस्यास्तीति त्विषिमान्। संहितायां त्विषिशब्दस्य दीर्घभावः, त्विषीमान् तस्मै। ईदृशाय रुद्राय नमः। पथीनां मार्गाणां पतये पालकाय रुद्राय नमः। पथामित्यस्य स्थाने पथीनामिति छान्दसं रूपम्। 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥', (भ० गी० ८।२४-२६) 'एते सृती ते नृप वेदगीते त्वयाभिपृष्टे ह सनातने च। ये वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्ट आराधितो भगवान् वासुदेवः॥' (भा० पु० २।२।३२) इत्यर्चिरादिमार्गो धूमादिमार्गश्चेति द्वे सृती, यद्वा सद्योमुक्तिः क्रममुक्तिश्चेति द्वे सृती, सनातने वेदगीते। तथा च श्रुतिः—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥' (बृ० उ० ४।४।७) इति सद्योमुक्तिः, 'तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति' (बृ० उ० ६।२।१५), 'ते धूममभिसम्भवन्ति' (बृ० उ० ६।२।१६) इति क्रममुक्तिः संसाराभिगमनं चेति मार्गद्वयं प्रतिपाद्य 'य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्' (बृ० उ०

पशु कहलाने वाले जीवों के पालक स्वरूप रुद्र को नमस्कार है। 'शष्पिञ्जराय' बालतृण के समान पीत-रक्तवर्ण को शष्पिञ्जर कहते हैं। यहाँ 'टि'लोप छान्दस हुआ है। पीत-रक्तवर्ण वाले और 'त्विषीमते त्विषिः दीप्तिः अस्य अस्ति इति त्विषिमान्'। अर्थात् कान्तिमान्। संहिता में त्विषि शब्द को दीर्घ होकर त्विषीमान् बना है। उस पीतरक्त वर्ण वाले और कान्तिसम्पन्न रुद्र के लिये नमस्कार। 'पथीनां पतये' मार्गों के पालक बने हुए रुद्र को नमस्कार। 'पथाम्' के स्थान में 'पथीनाम्' यह छान्दस रूप है।

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत महापुराण में अर्चिरादि मार्ग और धूमादि मार्ग, ये दोनों सृतियां (मार्ग) बताई गई हैं, अथवा सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति, ये दो सृतियाँ सनातन हैं, ऐसा वेद ने बताया है। भगवती श्रुति कह रही है—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥' (बृ० उ० ४।४।७)। अर्थात् जिस समय इसके हृदय में आश्रित संपूर्ण कामनाओं का नाश हो जाता है, तो फिर यह मरणधर्मा अमृत हो जाता है और इस शरीर में ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। यह सद्योमुक्ति, 'तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति' (बृह० उ० ६।२।१५) इस वचन के द्वारा देवयान मार्ग (सद्योमुक्ति) को बताया गया है। इस द्वितीय ब्राह्मण की पन्द्रहवीं श्रुति में यह बताया है कि जो गृहस्थ इस पञ्चाग्नि विद्या को जानते हैं तथा जो संन्यासी अथवा वानप्रस्थ वन में श्रद्धायुक्त होकर सत्य, अर्थात् ब्रह्म-हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे ज्योति के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, वहां से दिन के अभिमानी देवता को, वहां से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को, वहाँ से उत्तरायण के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। वहाँ से देवलोक को, वहाँ से आदित्य को, वहाँ से विद्युत् सम्बन्धी देवताओं को प्राप्त होते हैं। वैद्युत देवों के पास एक मानस पुरुष आकर उन्हें ब्रह्मलोक में ले जाता है। वे उन ब्रह्मलोकों में अनन्त संवत्सर तक रहते हैं। उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।

उसी तरह 'ते धूममभिसम्भवन्ति' (बृ० उ० ६।२।१६) इस वचन से क्रममुक्ति को बताया गया है। इसमें धूमयान मार्ग का वर्णन किया है। जो लोग यज्ञ-दान-तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं, वे धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। वहाँ से रात्रि देवता को, वहाँ से कृष्णपक्षाभिमानी देवता को, वहाँ से दक्षिणायन मार्ग के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। वहाँ से पितृलोक को, वहाँ से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं, चन्द्रमा में पहुँच कर वे 'अन्न' हो जाते हैं। वहाँ जैसे ऋत्विक्गण सोम राजा को 'आप्यायस्व, अपक्षीयस्व' कहकर चमस में भरकर पी जाते हैं, उसी प्रकार इन्हें देवगण भक्षण कर जाते हैं। जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं, तो वे इस आकाश को ही प्राप्त होते हैं। आकाश से वायु को, उससे वृष्टि को, उससे पृथ्वी को प्राप्त होते हैं। वहाँ पर वे अन्न हो जाते हैं, फिर उनका पुरुष रूप अग्नि में हवन किया जाता है, स्त्रीरूप अग्नि में हवन किया जाता है। इसी प्रकार वे पुनः पुनः परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रकार के दो मार्गों को बता

६।२।१६) इति शास्त्रेषु मार्गत्रयं प्रसिद्धम्। तेषां मार्गाणाम्, अर्थात् तन्मार्गजुषां जीवानां पतये पालकाय रुद्राय नमः। हरिकेशाय हरयो नीलवर्णाः केशा यस्य स हरिकेशो नित्यतरुणः, नित्यनव इति यावत्, तस्मै उपवीतिने मङ्गलार्थं यज्ञोपवीतधारिणे रुद्राय नमः। अथवा हरिश्च कश्च ईशश्च वशे सन्ति यस्यासौ हरिकेशस्तस्मै ब्रह्माण्डसृष्टिस्थितिप्रलयकारिणामपि स्वामिने। पुष्टानां गुणपूर्णानां समृद्धानां वा पतये स्वामिने रुद्राय नमः।

अपरस्त्वाह—'हिरण्यबाहवे स्वर्णपदकभूषितबाहवे सेनानायकाय वज्रं बलं च प्राप्नोतु। दिशाम्पालकेभ्योऽन्नमुपनमतु। क्लेशहारिभ्यः शत्रुहन्तृभ्यो वीरपुरुषेभ्योऽन्नं बलं चोपनमतु। पशुपालकेभ्यो वीरेभ्योऽपि तदन्नादिकमुपतिष्ठतु। शुष्कतृणवच्छत्रुदाहकाय तेजस्विपुरुषाय मार्गेषु मार्गयात्रिपालकेभ्यो मार्गाध्यक्षेभ्यश्च राष्ट्रियमन्नं बलं च प्राप्तं भवतु। नीलकेशेभ्यो यज्ञोपवीतिने बालब्रह्मचारिणे हृष्टपुष्टबालकानां मातापितृभ्योऽन्नमादरश्चोपलभ्यताम्। अथवा सेनान्यादयो राष्ट्रस्य विभिन्नविभागाधिकारिणः। तेषामेव हिरण्यबाहु-हिरण्यकेश-त्विषीमदादिसम्मानवाचकपदानि, तेभ्यो राष्ट्रियान्नादीनि प्राप्नुवन्तु' इति, अत्रापि परमेश्वरस्य हिरण्यबाहुत्वेन ज्योतिर्मयशरीरत्वं सिद्धयति। ततो निराकारत्वभङ्गभिया तद्विरुद्धास्वाभाविकार्थकल्पनं स्वामिना कृतम्। 'पुष्टानां बालकानां पतये' इत्यनेन मातापित्रोर्ग्रहणमपि निरभिप्रायमेव, बालकाबालकसाधारणानामपि मात्रादीनां सम्मानावश्यकत्वात्॥ १७॥

कर 'य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्' (बृ० उ० ६।२।१६), अर्थात् जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते, वे कीट, पतंग और डाँस-मच्छर आदि होते हैं। इस प्रकार शास्त्र में तीन मार्ग प्रसिद्ध हैं। उन मार्गों की सेवा करने वाले जीवों के पालक रुद्र को नमस्कार है। 'हरिकेशाय' नील वर्ण के हैं केश जिसके, वह हरिकेश यानी नित्यतरुण (नित्यनवीन) उस उपवीतधारी, अर्थात् मंगलार्थ यज्ञोपवीत धारण करने वाले रुद्र को नमस्कार। अथवा 'हरिश्च कश्च ईशश्च वशे सन्ति यस्य असौ हरिकेशः, तस्मै'। अर्थात् हरि, ब्रह्मा, शिव हैं वश में जिसके, वह 'हरिकेश' है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि-स्थिति-प्रलय करने वालों के भी स्वामी के लिये और 'पुष्टानां पतये' गुणों से पूर्ण अथवा समृद्धि से पूर्ण लोगों के स्वामी रुद्र के लिये नमस्कार है।

किसी ने इस मन्त्र का अर्थ यह किया है—'हिरण्यबाहवे' स्वर्णपदक से विभूषित बाहु वाले सेनानायक के लिये वज्र और बल प्राप्त हो। दिशाओं के पालकों के लिये अन्न प्राप्त हो। क्लेशों के हरण करने वाले शत्रुओं का हनन करने वाले वीर पुरुषों को अन्न और बल प्राप्त हो। पशुओं का पालन करने वाले वीरों के लिये भी वह अन्न आदि प्राप्त हो। शुष्क तृण के समान शत्रुओं के दाहक तेजस्वी पुरुष के लिये, मार्गों में मार्ग के यात्रियों के पालक और मार्ग के अध्यक्षों के लिये राष्ट्रिय अन्न और बल प्राप्त हो। नीलकेश, यज्ञोपवीती, बालब्रह्मचारी हृष्ट-पुष्ट बालकों के माता-पिताओं के लिये अन्न और आदर प्राप्त हो। अथवा जो सेनानी आदि हैं, जो विभिन्न विभागों के अधिकारी हैं, उन्हीं को हिरण्यबाहु, हिरण्यकेश, त्विषीमत् आदि सम्मानवाचक पद और उन्हीं को राष्ट्रिय अन्न आदि प्राप्त हों। इस मन्त्र में भी परमेश्वर को हिरण्यबाहु बताकर उसका ज्योतिर्मय शरीर सिद्ध किया गया है। इस कारण निराकारत्व सिद्धान्त के भंग हो जाने की भीति से विरुद्ध और अस्वाभाविक अर्थ की कल्पना दयानन्द स्वामी ने की है। 'पुष्टानां बालकानां पतये' से माता-पिता का ग्रहण भी अभिप्रायशून्य ही है। बालक-अबालक साधारण माता आदि को भी संमान की आवश्यकता होती है॥ १७॥

नमो॑ बभ्लु॒शाय॑ व्याधिने॒ऽन्नानां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ भ॒वस्य॑ हे॒त्यै॑ जग॑तां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ रु॒द्राया॑तता॒यिने॒ क्षेत्रा॑णां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमः॑ सू॒ताया॒हन्त्यै॒ वना॑नां॒ पत॑ये॒ नमः॑ ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—कपिल वर्ण, शत्रुनाशक, अन्नपालक, संसारनाशक, आयुधस्वरूपी, जगत्पति, आततायी, क्षेत्रपालक, हनन न करनेवाला, सारथीरूपी, वनों का पालक जो रुद्र है, उसे हमारा प्रणाम है ॥ १८ ॥

बभ्लुशाय, बभ्रुः पिङ्गलवर्णः (भूरा इति भाषायाम्) अस्ति अस्येति बभ्लुशः। रेफस्थाने लः। 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः' (पा० सू० ५।२।१००) इति लोमादित्वात् शप्रत्ययः, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा बिभर्ति रुद्रमिति बभ्रुः वृषभः, तस्मिन् शेते इति बभ्रुशः, रेफस्य लः, तस्मै वृषवाहनाय रुद्राय नमः। व्याधिने विध्यति शत्रूनिति व्याधी, णिनिः, तस्मै रुद्राय नमः। अन्नानां भोग्यपदार्थानां पालकाय रुद्राय नमः। भवस्य जननमरणाविच्छेदलक्षणस्य संसारस्य हेत्यै छेदकाय संसारनिवर्तकाय मोक्षदात्रे रुद्राय नमः। जगतां जङ्गमानां पालकाय रुद्राय योगक्षेमप्रदानेन सर्वेषां पालकाय नमः। आततायिने आततेन उद्यतेन आयुधेन सह एतीत्याततायी, तस्मै उद्यतायुधाय रुद्राय नमः। क्षेत्राणां धान्यवपनभूमीनां व्रीह्यादिसस्योपेतानां स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूपाणां शरीरत्रयाणां पतये पालकाय नमः। महाभूतादिधृत्यन्तानां वा गीतोक्तानां क्षेत्राणां पालकाय क्षेत्रज्ञरूपाय अन्तर्यामिरूपाय वा रुद्राय नमः। 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥⋯⋯महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ॥ इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥' (भ० गी० १३।१, ५-६) इत्यादिस्मृतिभ्यः। अहन्त्यै न हन्तीत्यहन्तिः, (उ० ४।१८१) इति बाहुलकात् तिः, तस्यै, अहन्त्रे इति यावत्। सूताय रथसारथये तद्रूपाय रुद्राय नमः। पार्थसारथिः कृष्णो वा अहन्तिः, न कञ्चित्तदानीं हतवान्। वनानामरण्यानां वननीयाभीष्टफलानां वा पतये रुद्राय नमः।

'बभ्लुशाय' बभ्रुः पिङ्गलवर्णः (भूरा रंग) अस्ति अस्य इति बभ्लुशः। रेफ के स्थान में 'ल' होता है। 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः' (पा० सू० ५।२।१००) सूत्र से लोमादित्वात् 'श' प्रत्यय हुआ है, तस्मै पिंगल वर्ण वाले रुद्र के लिये नमस्कार। अथवा 'बिभर्ति रुद्रमिति बभ्रुः वृषभः, तस्मिन् शेते इति बभ्रुशः। रेफ को 'ल' हो गया है, तस्मै वृषभवाहन रुद्र के लिये नमस्कार। 'व्याधिने' विध्यति शत्रून् इति व्याधी, णिनिस्तस्मै शत्रुओं को बेधने वाले रुद्र को नमस्कार। भोग्य पदार्थों के पालक रुद्र को नमस्कार। जनन-मरण के अविच्छेदलक्षण संसार के छेदक अर्थात् संसारनिवर्तक यानी मोक्षदायक रुद्र को नमस्कार। 'जगतां पतये' जङ्गमों के पालक और योग-क्षेम प्रदान के द्वारा सबके पालक रुद्र को नमस्कार। 'आततायिने' आततेन उद्यतेन आयुधेन सह एति इत्याततायी, तस्मै। आयुध को उठाये हुए रुद्र को नमस्कार। 'क्षेत्राणां पतये' धान्यवपन (बोना) करने की भूमियों के व्रीहि आदि धान्य (सस्य) से भरे हुए तथा स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप त्रिविध शरीरों के पालक को नमस्कार। महाभूतादि धृत्यन्त गीता में उक्त क्षेत्रों के पालक यानी क्षेत्रज्ञ, अर्थात् अन्तर्यामी रूप रुद्र को नमस्कार। यह सब श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में एक, पांच, छह संख्या वाले श्लोकों में बताया गया है। 'सूतायाहन्त्यै' अहन्त्यै न हन्ति इति अहन्तिः, (उ० ४।१८१) से बाहुलकात् 'तिः'। तस्मै अहन्त्रे इत्यर्थः। किसी को न मारनेवाले 'सूताय' रथ के सारथीरूप रुद्र को नमस्कार। अथवा पार्थसारथी कृष्ण 'अहन्ति' है, क्योंकि उस समय (युद्ध में) किसी को भी उन्होंने नहीं मारा था। 'वनानाम्पतये' अरण्यों के अथवा वननीय अभीष्ट फलों के स्वामी रुद्र को नमस्कार।

यत्तु—'राज्यभरणपोषणकारिणे मृगयापरायणाय पुरुषाय वन्यपशुभ्यः क्षेत्राणां रक्षकाय च राष्ट्रियान्नाभोगः प्राप्नोतु। उत्पन्नप्राणिनां वृद्धये जङ्गमानां च पालकाय बलवीर्याणि लभ्यन्ताम्। चतुर्दिक्षु विततेषु शत्रुदलान्यालक्ष्य आक्रमणकारिभ्यो बलं प्राप्यताम्। अश्वनियन्त्रे युद्धेष्वप्रहारिणे क्षेत्राणां पालकाय वनानां पालकाय चान्नमुपतिष्ठतु' इति, तन्न मनोरमम्, सर्वथाप्यस्यार्थस्य काल्पनिकत्वात्, अत्रार्थे मन्त्रस्यास्वारस्याच्च। तथाहि—कोऽयमाज्ञाप्रदः प्रार्थयिता वा? न प्रजाजनः, राज्ञः सेनायाश्च भीत आत्मत्राणकामः पूर्वनिर्दिष्टः प्रजाजनः कथमाज्ञापयेत्? ईश्वरश्चेदाज्ञापकः, स कथमात्मपशुपुत्रादित्राणकामः स्यात्, कथं वा कं नमस्कुर्यात्? तस्माद् उव्वटादिसम्मतः पूर्वोक्त एवार्थः साधीयान् ॥ १८ ॥

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—लोहित वर्ण का, विश्वकर्मा के रूप में गृहों का निर्माता, वृक्षपालक, भूमण्डल का विस्तारक, द्रव्योत्पादक, गांव की और अरण्य की औषधियों का पालक, मन्त्री, व्यापारी, वन के तृण और गुल्मों का वर्धक, ऊँचा और महान् शब्द करने वाला तथा पैदल (पदाति) सेना का अधिपति जो रुद्र है, उसे हमारा प्रणाम है ॥ १९ ॥

रोहिताय वर्णतो निर्देशः। रोहितो लोहितवर्णः। शोणो धावतीतिवद् अजहल्लक्षणया शिवोऽत्र लक्ष्यते। स च कण्ठे नीलोऽन्यत्र लोहितः, नीललोहित इति यावत्, तस्मै। स्थपतिर्गृहादिकर्ता विश्वकर्मरूपेण त्रिभुवनभवननिर्माता अनन्तानन्तब्रह्माण्डभवननिर्माता परमेश्वर एव वा स्थपतिः शिल्पी। "येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः। मयूराश्चित्रिता येन" इति नारदपाञ्चरात्रवचनात्। येन महदादीनि शरीरान्तानि

यह जो किसी ने कहा है—'राज्यभरण पोषणकारी, मृगयापरायण पुरुष के लिये और वन्य पशुओं के लिये, क्षेत्ररक्षकों के लिये राष्ट्रिय अन्न का भोग प्राप्त हो। उत्पन्न हुए प्राणियों के संवर्धनार्थ अन्न प्राप्त हो। जङ्गमों के जो पालक हैं, उन्हें बल-वीर्य प्राप्त हो। इन विशाल चारों दिशाओं में शत्रु दलों को लक्षित कर उन पर आक्रमण करने वालों के लिये बल प्राप्त हो। अश्व का नियन्त्रण करने वाले को, युद्धों में प्रहार न करने वाले को, क्षेत्रों के और वनों के पालक को अन्न प्राप्त हो', किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि सभी अर्थ काल्पनिक हैं। इस अर्थ में मन्त्र का स्वारस्य नहीं है। जैसे—यह आज्ञा देने वाला कौन है? आशीर्वाद देने वाला अथवा प्रार्थना करने वाला। प्रजा में से तो कोई व्यक्ति हो नहीं सकता, क्योंकि राजा से और सेना से भयभीत हुआ अपनी रक्षा चाहने वाला कोई भी प्रजाजन आज्ञा कैसे दे सकता है? ईश्वर को यदि आज्ञापक कहो, तो उसे अपने पशु, पुत्र आदि के त्राण (रक्षा) की इच्छा क्यों होगी? ये किसी को वह क्यों नमस्कार करेगा? इसलिये उव्वट आदि प्राचीन व्याख्याकारों का संमत अर्थ ही सुन्दर और प्रामाणिक है ॥ १८ ॥

'रोहिताय' यह वर्णतः निर्देश है। 'रोहित' का अर्थ है लोहित वर्ण। 'शोणो धावति' के तुल्य अजहल्लक्षणा से यहाँ 'शिव' को लक्षित किया गया है। वह कण्ठ में नील है, अन्यत्र लोहित है अर्थात् 'नीललोहित' है। 'स्थपति' विश्वकर्मा के रूप में गृह आदि का निर्माण करनेवाला, अर्थात् नीललोहित विश्वकर्मा के रूप में स्थपति को और वृक्षों के पालक को नमस्कार। त्रिभुवन-निर्माता अथवा अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड रूपी भवन का निर्माता परमेश्वर ही स्थपति यानी शिल्पी है। 'येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः। मयूराश्चित्रिता येन' यह नारद पाञ्चरात्र का वचन है। जिसने महदादि शरीरान्त विलक्षण कार्यों को रचा है, उस महाशिल्पी रुद्र को नमस्कार है।

विलक्षणानि कार्याणि चितानि, तस्मै महाशिल्पिने रुद्राय नमः। वृक्षाणां फलच्छायादिभिरुपकारकाणां पतये पालकाय नमः। भुवन्तये भुवं तनोतीति भुवन्तिः, भूमण्डलविस्तारको वराहपृथिव्यादिरूपेण वा परमेश्वरो रुद्रस्तस्मै। वारिवस्कृताय 'वरिवो धनम्' (निघ० २।१०।५), तत्कृतं येन स वरिवस्कृतः। स एव वारिवस्कृतः, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्, छान्दसं दीर्घत्वं वा, तस्मै स्थानभोग्यकराय भूपश्वन्नरत्नहिरण्यादिनिर्मात्रे वा रुद्राय नमः। ओषधीनां ग्राम्यारण्यानां पतये पालकाय नमः। मन्त्रिणे मन्त्रयतीति मन्त्री आलोचनकुशलो नीतिनिपुणो वा तस्मै, मन्त्राणां वैदिकतान्त्रिकाणामाविर्भावयित्रे वा। तदनुष्ठात्रे वा रुद्राय नमः। वाणिजाय वणिगेव वाणिजो व्यापारी क्रयविक्रयादिकर्ता। स्वार्थिकोऽण्। तस्मै तद्रूपाय रुद्राय नमः। कक्षाणां नदीतटगता गिरिवनादिगता वा तृणगुल्मवीरुधादयः कक्षाः, तेषां पतये पालकाय रुद्राय नमः। उच्चैर्घोषाय उच्चैर्घोषो ध्वनिर्यस्य स उच्चैर्घोषः, तस्मै युद्धे महाशब्दायेत्यर्थः। आक्रन्दयते आसमन्तात् क्रन्दयति रोदयति शत्रूनिति आक्रन्दयन्, तस्मै युद्धे महाशब्देन रिपुरोदकाय रुद्राय नमः। पत्तीनां पद्यन्ते पद्भ्यां गच्छन्तीति पत्तयः पदातयः, तेषाम्। क्तिच् प्रत्ययः। सेनाविशेषाणां वा। 'एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः पञ्चपदातिका' (अ० को० २।८।८०) इत्यमरोक्तेः, 'एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः। त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते॥' (म० भा० १।२।१९) इति भारतोक्तेश्च। पतये पालकाय तद्रूपाय रुद्राय नमः।

अपर आह—'वृक्षारोपकाय गृहादिनिर्मात्रे तक्ष्णे शिल्पिने वृक्षाणां पालकाय पर्वतारण्यादिषु कृषियोग्यभूमिनिर्मात्रे सेवकाय राजमन्त्रिणे व्यापारकुशलाय वन्यलताघासादिपालकाय राजगृहप्रान्तरक्षकाय राष्ट्रे राजाज्ञामुच्चैर्घोषयद्भ्यः शत्रुरोदकेभ्यः पदातिसेनापतिभ्यश्च अन्नमुपतिष्ठतु' इति, तच्चिन्त्यम्, नमःशब्देन सर्वत्र

फल, छाया आदि के द्वारा उपकारक वृक्षों के पालन करने वाले को नमस्कार। 'भुवन्तये' भुवं तनोति इति भुवन्तिः, भूमण्डल का विस्तार करनेवाला वराह अथवा पृथिवी आदि के रूप में परमेश्वर रुद्र को नमस्कार। 'वारिवस्कृताय' 'वरिवो धनम्' (निघ० २।१०।५) तत्कृतं येन स वरिवस्कृतः, स एव 'वारिवस्कृतः', प्रज्ञादित्वात् स्वार्थ में अण्। अथवा 'दीर्घत्व' छान्दस है, ऐसे रुद्र को नमस्कार। स्थान को भोग्य बनाने वाले अथवा भूपश्वन्नरत्नहिरण्यादि का निर्माण करने वाले रुद्र को नमस्कार। 'ओषधीनाम्' ग्राम्यारण्य ओषधियों के पालक को नमस्कार।

'मन्त्रिणे' मन्त्रयतीति मन्त्री यानी आलोचन कुशल अथवा नीतिनिपुण रुद्र को नमस्कार। अथवा वैदिक-तान्त्रिक मन्त्रों के आविर्भावक अथवा उनका अनुष्ठान करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'वाणिजाय' वणिगेव वाणिजः, व्यापारी क्रय-विक्रय करनेवाला। 'स्वार्थिक अण्' तद्रूप रुद्र को नमस्कार। 'कक्षाणाम्' नदीतटगत अथवा गिरि-वनादिगत तृण, गुल्म, वीरुध आदि कक्षों के पालक रुद्र को नमस्कार। 'उच्चैर्घोषाय' उच्चैर्घोषो ध्वनिर्यस्य स उच्चैर्घोषः, तस्मै, अर्थात् युद्ध में महान् शब्द करने वाले। 'आक्रन्दयते' आसमन्तात् क्रन्दयति रोदयति शत्रून् इति आक्रन्दयन् तस्मै। अर्थात् युद्ध में महाशब्द करके शत्रुओं को रुलाने वाले रुद्र को नमस्कार। 'पत्तीनाम्' पद्यन्ते पद्भ्यां गच्छन्तीति पत्तयः पदातयस्तेषाम्। 'क्तिन्' प्रत्यय। अथवा सेनाविशेषों के—'एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः पञ्चपदातिका' ऐसा अमरकोशकार ने कहा है। 'एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः। त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते॥' (महाभा० १।२।१९) ऐसा महाभारत में कहा है। 'पतये' पालक रुद्र को नमस्कार।

किसी ने इस मन्त्र का अर्थ यह किया है—'वृक्षों का आरोपण करनेवाले, गृह आदि का निर्माण करनेवाले, शिल्पी (तक्षा) के लिये, वृक्षों का पालन करनेवाले, पर्वत-अरण्य आदि स्थानों में कृषियोग्य भूमि का निर्माण करनेवाले, सेवक राजमन्त्री, व्यापारकुशल, वन्यलता-घास आदि के पालक, राजगृह प्रान्त-भाग के रक्षक और राष्ट्र में राजाज्ञा को जोर से घोषित करनेवाले, शत्रुओं को रुलानेवाले, पदाति, सेनापति के लिये अन्न का लाभ हो' इति। किन्तु यह अर्थ चिन्तनीय है, क्योंकि 'नमः' शब्द से सर्वत्र अन्नप्राप्ति का वर्णन करना निर्मूल है। निघण्टु में यद्यपि अन्न के नामों से 'अन्न'

अन्नप्राप्तिवर्णनस्य निर्मूलत्वात् । निघण्टौ अन्ननामसु नमःशब्दपाठादपि नहि सर्वत्रैव अन्नार्थता तवाप्यभिप्रेता । बाहुभ्यामुत ते नम उत अपि च, बाहुभ्यां स्वभुजाभ्यामहं ते तुभ्यं नमः अन्नं समर्पयामीत्याद्यर्थाकरणात् । एतेभ्यः अन्नोपस्थापयिता च कः ? न तावत् सर्वसाधारणः प्रजाजनः, सेनामध्ये तस्य प्रवेशानर्हत्वात् । न वा राजा, राजभृत्यैः सैनिकैरेव सर्वस्यैतस्य सम्पादनात् । प्रायेण सर्वे जनाः पुरुषार्थपरायणा भवन्ति राष्ट्रेषु । नहि तेषां कृतेऽन्नदानमपेक्षितम्, स्वप्रयत्नेनैव अन्नार्जकत्वात् । सिद्धान्ते तु रुद्रस्य परमेश्वरस्य सार्वात्म्यबोधनाय अयमुपक्रमः । तेन तत्तद्रूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमस्काररूपं पूजनमेव समर्प्यते । यथा चायमर्थस्तथा दर्शित एव ॥ १९ ॥

नमः कृत्स्नायतया धावते सत्त्वनां पतये नमो नमः सहमानाय निव्याधिनं आव्याधिनीनां पतये नमो नमो निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—कान तक खींचकर दीर्घ धनुष को लिये रणभूमि में दौड़ने वाला, प्राणों का स्वामी, शत्रुओं को पराजित करने वाला, विशेषतया उनका नाश करने वाला, शूर सेना का पालक, खड्ग धारण करने वाला, गुप्त चोरों का पालक, चौर्य और अपहरण की बुद्धि से जहाँ-तहाँ घूमने वाला, चोर का स्वरूप धारण करने वाला और अरण्यों का अधिपतिस्वरूप जो रुद्र है, उसे हमारा प्रणाम है ॥ २० ॥

कृत्स्नायतया कृत्स्नं समग्रम् आयतम् आकर्णमाकृष्टं धनुर्यस्य स कृत्स्नायतः, तस्य भावः कृत्स्नायतता, तया आकर्णपूर्णधनुष्ट्वेन । छान्दसस्तकारलोपः । धावते युद्धे शीघ्रं गच्छते रुद्राय नमः । अथवा कृत्स्नः सर्वविधोऽपि आयो लाभो यस्य स कृत्स्नायः, तस्य भावः कृत्स्नायता, तया । भक्तानामभ्युदयनिःश्रेयसलाभाय शीघ्रं धावते । यद्वा भक्तानां योगक्षेमनिर्वाहाय शीघ्रं धावते । यद्वा कृत्स्नं च तदायतं च कृत्स्नायतं धनुः, तस्य भावः कृत्स्नायतता, तया हेतुभूतया । छान्दसस्तकारलोपः । धावते भक्तारिवधाय शीघ्रं गच्छते । शीघ्रगतौ सरतेर्धावा-

---

शब्द का पाठ है, तथापि सर्वत्र 'नमः' शब्द की अन्नार्थता आपको भी अभिप्रेत नहीं है । 'बाहुभ्यामुत ते नमः' यहाँ पर 'उत' का अर्थ 'अपि च' है । 'बाहुभ्याम्' अपनी दोनों भुजाओं से मैं तुमको 'नमः' नमस्कार करता हूँ । यहाँ 'नमः' का 'अन्नं समर्पयामि' यह अर्थ नहीं किया है । इनके लिये अन्न का उपस्थापयिता कौन है ? सर्वसाधारण प्रजाजन तो हो नहीं सकेगा, क्योंकि उसका सेना में प्रवेश नहीं है । उसी तरह राजा, राजसेवक या सैनिक भी अन्न के उपस्थापक नहीं हो सकते, क्योंकि सभी के पास इसका सम्पादन हुआ रहता है । प्रायः सभी लोग राष्ट्र में पुरुषार्थपरायण हुआ करते हैं । उनके लिये अन्नदान अपेक्षित नहीं है, क्योंकि वे स्व-प्रयत्न से ही अन्न सम्पादन कर लेते हैं । सिद्धान्त तो यह है कि यहाँ परमेश्वर का सार्वात्म्य बोधन करने के लिये यह उपक्रम किया गया है । उस कारण तत्तद्रूप में रुद्र भगवान् को नमस्काररूप पूजन ही समर्पित किया जा रहा है । जो इसका वास्तविक अर्थ है, उसे वैसा ही प्रदर्शित किया गया है ॥ १९ ॥

'कृत्स्नायतया' कृत्स्नं समग्रम् आयतम् आकर्णमाकृष्टं धनुर्यस्य स कृत्स्नायतः, तस्य भावः कृत्स्नायतता, तया', यानी कान तक पूर्णरूप से धनुष को खींच कर । 'कृत्स्नायतया' में तकार का लोप छान्दस है । 'धावते' युद्ध में शीघ्र जानेवाले रुद्र को नमस्कार अथवा 'कृत्स्नः सर्वविधोऽपि आयो लाभो यस्य स कृत्स्नायः, तस्य भावः कृत्स्नायता, तया कृत्स्नायतया । सब प्रकार का लाभ जिसके पास है, उसे 'कृत्स्नाय' कहते हैं, उसके भाव को 'कृत्स्नायता' कहते हैं । उस कारण शीघ्र दौड़ कर जानेवाले, अर्थात् भक्तों के अभ्युदय-निःश्रेयस लाभ के लिये शीघ्र गमन करनेवाले । अथवा भक्तों के योग-क्षेम का निर्वाह

देशः। सत्त्वनां समेषां प्राणिनां पतये पालकाय, पशुपतित्वात्। यद्वा सत्त्वानः सात्त्विकाः शरणागताः प्राणिनः, तेषां पालकाय रुद्राय नमः। सहमानाय सहते अभिभवत्यरीनिति सहमानः, तस्मै। निव्याधिने नितरां विध्यतीति निव्याधी तस्मै नितरां शत्रुघातिने रुद्राय नमः। आव्याधिनीनाम् आसमन्ताद् विध्यन्तीति आव्याधिन्यः शूरसेनाः, तासां पालकाय। रुद्रानुग्रहेणैव शूरसेना अपि सुरक्षिताः सत्यो विजयमासादयन्ति। निषङ्गिणे नितरां सजति अङ्गेष्विति निषङ्गः खड्गः, तूणीरो वा, सोऽस्यास्तीति निषङ्गी, तस्मै। ककुभाय महते रुद्राय नमः। 'कक लौल्ये' लौल्यं गर्वश्चापल्यं मर्षणं च। एतस्माद् उभः प्रत्ययः। ककते क्षमतेऽपराधानिति ककुभः, तस्मै। दिक्स्वरूपाय व्यापकाय वा, दिङ्नामसु पाठात्। 'ककुभशब्दस्य महन्नामसु पाठः' इत्युव्वटाचार्यः। स्तेनानां स्तेनयन्तीति स्तेना गुप्तचोराः, तेषां पतये पालकाय रुद्राय नमः। ईश्वरकृपयैव जीवस्य शक्तिलाभात्, शक्तिप्रदानेन सर्वस्यैव पालकत्व-मीश्वरे। निचेरवे अपहारबुद्ध्या निरन्तरं चेलतीति निचेरुः। लस्य रः। तस्मै रुद्राय नमः। परिचराय परित आपणवाटिकादिषु हरणेच्छया चरतीति परिचरः, तस्मै रुद्राय नमः। अरण्यानाम्, ऋच्छन्ति गृहाद् गच्छन्ति यत्र तानि अरण्यानि पुण्यारण्यानि वृन्दारण्य-बदरिकारण्य-धर्मारण्यादीनि, तेषां पतये पालकाय रुद्राय नमः। 'अर्तेर्निच्च' (उ० ३।१०२) इत्यन्यप्रत्ययः। वनानाम्पतये इत्यत्र तु अरण्यसामान्यं गृहीतम्। लीलया रुद्रस्य चौरादिरूपत्वम्, सार्वात्म्याद्वा। यद्वा स्तेनादिशब्दा अभिधाशक्त्या तांस्तान् जीवान् बोधयन्ति, लक्षणया तु शाखाचन्द्रन्यायेन तत्तदन्तर्यामिणं बोधयन्ति, मन्त्रेषु लक्ष्यार्थविवक्षया लौकिकशब्दानां बाहुल्येन प्रयोगात्।

करने के लिये शीघ्र गमन करनेवाले। अथवा 'कृत्स्नं च तद् आयतं च कृत्स्नायतं धनुः। तस्य भावः कृत्स्नायतता, तया हेतुभूतया। तकार का लोप छान्दस है। अर्थात् धनुष को सम्पूर्ण तान लेने के कारण भक्तों के शत्रुओं का वध करने के लिये शीघ्र दौड़कर जानेवाले। शीघ्रगति के अर्थ में 'सृ' धातु को 'धाव्' आदेश हुआ है। 'सत्त्वनाम्' समस्त प्राणियों के पालक हैं, क्योंकि वे 'पशुपति' हैं, उनके लिये नमस्कार। अथवा 'सत्त्वानः सात्त्विकाः शरणागताः प्राणिनः, तेषाम्। यानी शरण में आये हुए प्राणियों के पालक रुद्र को नमस्कार। 'सहमानाय' सहते अभिभवति अरीन् इति सहमानः, तस्मै। शत्रुओं का अभिभव करनेवाला, उसके लिये। 'निव्याधिने' नितरां विध्यति इति निव्याधी, तस्मै। शत्रुओं का सम्यक् रीति से घात करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'आव्याधिनीनाम्' आ समन्ताद् विध्यन्तीति आव्याधिन्यः शूरसेनाः, तासां पालकाय। रुद्र के अनुग्रह से ही शूरसेना भी सुरक्षित रहती हुई विजय प्राप्त करती है।

'निषङ्गिणे' नितरां सजति अङ्गेषु इति निषङ्गः खड्गः, तूणीरो वा सोऽस्यास्तीति निषङ्गी, तस्मै। खड्ग अथवा तूणीर लिये हुए और 'ककुभाय महते' 'कक लौल्ये' 'लौल्य' का अर्थ है—'गर्व, चापल्य और मर्षण। 'कक' से 'उभ' प्रत्यय करने पर 'ककुभ' निष्पन्न होता है। ककते क्षमते अपराधान् इति ककुभः, तस्मै। अपराधों को क्षमा करनेवाले दिक्स्वरूप अथवा व्यापक रुद्र को नमस्कार। दिक् के नामों में 'ककुभ' का पाठ है। उव्वट का कहना है कि 'ककुभ' शब्द का महत् के नामों में पाठ है। 'स्तेनानाम्' स्तेनयन्तीति स्तेना, गुप्तचौराः, तेषां पतये, अर्थात् गुप्त चौरों के पालक रुद्र को नमस्कार। ईश्वर की कृपा से ही जीव को शक्ति-लाभ होता है। शक्ति-प्रदान के द्वारा ही ईश्वर में सर्वपालकत्व है। 'निचेरवे' अपहारबुद्ध्या निरन्तरं चेलति इति निचेरुः। 'ल' को 'र' हुआ है। ऐसे रुद्र को नमस्कार। 'परिचराय' परितः आपण-वाटिकादिषु हरणेच्छया चरतीति परिचरः। बाजार, वाटिका आदि में हरण करने की इच्छा से चलनेवाले रुद्र को नमस्कार। अरण्यानाम् ऋच्छन्ति गृहान् गच्छन्ति यत्र तानि अरण्यानि पुण्यारण्यानि वृन्दारण्यबदरिकारण्यधर्मारण्यादीनि, तेषाम्। जहाँ गृह के पति जाते हैं, ऐसे वृन्दारण्य, बदरिकारण्य, धर्मारण्य आदि पुण्यारण्यों के पालक रुद्र को नमस्कार। 'अर्तेर्निच्च' (उ० ३।१०२) से 'अन्य' प्रत्यय हुआ है। 'वनानां पतये' यहाँ पर तो अरण्यसामान्य का ग्रहण किया गया है। लीला से रुद्र का चौरादिरूपत्व है, अथवा सार्वात्म्य होने से चौरादिरूपत्व समझना चाहिये। अथवा स्तेनादि शब्द अपनी अभिधा शक्ति से उन-उन जीवों का बोध कराते हैं। लक्षणा से तो शाखाचन्द्र न्याय से तत्तदन्तर्यामी का बोध कराते हैं। मन्त्रों में लक्ष्यार्थ की विवक्षा से लौकिक शब्दों का बाहुल्येन प्रयोग होता है।

यत्तु—'पूर्णतया धनुरायम्य शत्रुषु वेगेन आक्रमणसमर्थाय वीर्यवतां सैनिकानां पतये शत्रूणां पराजेत्रे लक्षव्याधिने अभितः शस्त्रास्त्रप्रहारिणीनां सेनानां पतये शस्त्रागारपालकाय चौराणां वशयित्रे कारागारप्रधानाध्यक्षाय राजकार्यसम्बन्धिगुप्तचराय भृत्याय वनाध्यक्षाय चान्नमुपलब्धं भवतु' इति, तत्तु यत्किञ्चित्, तादृगर्थस्य निष्प्रयोजनत्वात्। सिद्धान्ते तु रुद्रपरत्वेन तत्स्तुतिः पुरुषार्थरूपा ॥ २० ॥

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिण इषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तञ्चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—एक अथवा अनेक लोगों की वंचना करके उनके द्रव्य को हर लेने वाला, गुप्त रूप से दूसरे के द्रव्य को हरण करने वाला, चोर के स्वरूप को धारण करने वाला, बाण और तूणीर को धारण करने वाला, प्रकट रूप में चोरी करने वालों का अधिपति, वज्रधारियों का तथा शत्रुओं का नाश चाहने वालों को स्वरूप धारण करने वाला, लुटेरों का अधिपति, खड्गधारी और रात्रि में संचार करने वालों का तथा दूसरों का नाश करके उनके द्रव्य को हरण करने वालों का अधिपति जो रुद्र है, उसे हमारा प्रणाम है ॥ २१ ॥

वञ्चते 'वञ्चु गतौ' इति भौवादिकः, 'वञ्चु प्रलम्भने' इति चौरादिकश्च। वञ्चति गच्छतीति वञ्चन् गन्ता, तस्मै। वञ्चयते प्रलम्भयति प्रतारयतीति वा वञ्चन्, णिचो वैकल्पिकत्वस्य सामान्यापेक्षज्ञापनात्, तस्मै रुद्राय नमः। परिवञ्चते परितो गन्त्रे सर्वव्यापकाय रुद्राय नमः। यद्वा सर्वतः प्रतारयित्रे रुद्राय नमः। य आप्यायितः स्वामिन आप्तो भूत्वा कुत्रचिद् व्यवहारे तदीयं धनमपहरति स वञ्चकः, यः सर्वत्रैव व्यवहारे धनमपहरति स परिवञ्चक इति विवेकः। स्तायूनां गुप्तचौराणाम्। गुप्तचौरा द्विविधाः। रात्रौ गृहे खातादिना सन्धिं कृत्वा द्रव्यहर्तार एके। स्वीया एव अहर्निशमज्ञाता हर्तारोऽपरे। पूर्वे स्तेना उत्तरे स्तायवः। पतये स्वामिने पालकाय रुद्राय नमः। तदन्तर्यामिण इति यावत्। निषङ्गिणे निषङ्गः खड्गो बाणो वा, तद्वते रुद्राय नमः। इषुधिमते

यह जो किसी ने कहा है कि 'पूर्णतया धनुष को खींचकर शत्रुओं पर वेग के साथ आक्रमण करने में समर्थ और बलवान् सैनिकों के पालक, शत्रुओं को पराजित करनेवाले, लाखों को व्याधित करनेवाले, सब ओर से शस्त्रास्त्रों का प्रहार करनेवाली सेनाओं के पालक, शस्त्रागार के पालक और चोरों को वश में करनेवाले, कारागार के प्रधानाध्यक्ष, राजकार्य-सम्बन्धी गुप्तचर, भृत्य तथा वनाध्यक्ष के लिये अन्न उपलब्ध होता रहे', यह अर्थ तो बिलकुल ही सारहीन है, क्योंकि इस अर्थ से कोई प्रयोजन ही निष्पन्न नहीं हो पाता। सिद्धान्त पक्ष में तो रुद्रपरक अर्थ करने पर उसकी स्तुति पुरुषार्थरूप सिद्ध होती है ॥ २० ॥

'वञ्चते' 'वञ्चु गतौ' (भ्वा०), 'वञ्चु प्रलम्भने (चुरा०) वञ्चति गच्छतीति वञ्चन् गन्ता, तस्मै। वञ्चयते प्रलम्भयति प्रतारयति वा वञ्चन्। अर्थात् जानेवाले अथवा वञ्चना करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'परिवञ्चते' परितो गन्त्रे अर्थात् सर्वव्यापक रुद्र को नमस्कार। अथवा सब तरह से प्रतारणा करनेवाले रुद्र को नमस्कार। जो स्वामी का आप्त होकर भी किसी व्यावहारिक कार्य में उसके धन का अपहरण करता है, उसे 'वञ्चक' कहते हैं और जो सर्वत्रैव व्यावहारिक कार्य में धन का अपहरण करता है, उसे 'परिवञ्चक' कहते हैं, यही दोनों में भेद है। 'स्तायूनाम्' गुप्तचौराणाम्। गुप्त चोर दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे गुप्त चोर हैं, जो रात्रि के समय घर में सेंध लगाकर द्रव्यहरण करते हैं, दूसरे गुप्त चोर वे हैं, जो अपने ही लोग हैं, वे रातदिन द्रव्यहरण किया करते हैं, फिर भी वे अज्ञात रहते हैं, उन्हें कोई पहिचान नहीं पाता। इनमें पूर्व के 'स्तेन' हैं और दूसरे 'स्तायु' हैं। उनके पालक रुद्र को नमस्कार, अर्थात् वह रुद्र उनका भी अन्तर्यामी है।

इषवो धीयन्तेऽस्मिन्निति इषुधिस्तूणीरः, सोऽस्यास्तीति इषुधिमान्, तस्मै रुद्राय नमः। तस्कराणां तत्कुर्वन्तीति तस्कराः प्रकटचौराः, 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (पा० सू० ६।१।१५७ वा० १) इति साधुः। तेषां पतये स्वामिने श्रीकृष्णरूपाय चोराग्रगण्याय रुद्राय नमः। सृकायिभ्यः सृकेण वज्रेण सार्धमेतुं शीलं येषां ते सृकायिणः। तेभ्यो वज्रेण सहागमनशीलेभ्यः। 'सृक इति वज्रनाम' (निघ० २।२०।६) जिघांसद्भ्यो हन्तुमिच्छन्ति जिघांसन्ति, जिघांसन्तीति जिघांसन्तः, तेभ्यो हन्तुमिच्छद्भ्यो रुद्रेभ्यो नमः। हन्तेः सन्नन्तात् शता। मुष्णतां मुष्णन्ति क्षेत्रादिषु स्थितं धान्यादिकमिति मुष्णन्तः, 'मुष् स्तेये' इत्यस्य रूपम्, तेषां पतये पालकाय रुद्राय नमः। असिमद्भ्यः असयः खड्गाः सन्ति येषु ते असिमन्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। नक्तञ्चरद्भ्यः नक्तं रात्रौ चरन्तीति चरन्तः, तेभ्यो रात्रौ गच्छद्भ्यो नमः। विकृन्तानां विशेषेण कृन्तन्ति छिन्दन्तीति विकृन्ताः, छित्वा छित्वापहारिणः, तेषां पतये पालकाय रुद्राय नमः।

विशिष्टतत्तद्रूपावच्छिन्नचैतन्यरूपा रुद्रविभूतयः। तेन तद्रूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। द्यूतमपि भगवद्विभूतिः। 'द्यूतं छलयतामस्मि' (भ० गी० १०।३६) इति गीतायां भगवदुक्तेः। तद्वदेव चोराणां मध्ये चोराग्रगण्योऽपि भगवद्विभूतिरेव। 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥' (भ० गी० १०।४१) इति गीतातां भगवदुक्तेः। किञ्च, सर्वेषामपि पदार्थानां व्यवहारे सत्त्वेऽपि साधर्म्यवैधर्म्यादौ परमार्थतोऽधिष्ठानदृष्टया सर्वस्य रुद्रत्वमेव। व्यवहारे साधुत्वासाधुत्वग्राह्यत्वाग्राह्यत्वादिभेदसत्त्वेऽपि परमार्थतो भेदमात्रस्यासत्त्वेन अधिष्ठानभूतस्य रुद्रस्य समत्वमेव। 'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥' (भ० गी० ६।९) इति भगवदुक्तेः।

'निषङ्गिणे' खड्ग अथवा बाण धारण करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'इषुधिमते' इषवो धीयन्तेऽस्मिन्, इति इषुधिस्तूणीरः, स अस्य अस्तीति इषुधिमान्, तस्मै। अर्थात् तूणीर धारण करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'तस्कराणाम्' तत्कुर्वन्तीति तस्कराः प्रकटचौराः। 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुप् तलोपश्च' (पा० सू० ६।१।१५८, वा० १) से 'तस्कर' शब्द निष्पन्न होता है। उन तस्करों के स्वामी श्रीकृष्णरूप चौराग्रगण्य रुद्र को नमस्कार।

'सृकायिभ्यः' सृकेण वज्रेण सार्धम् एतुं शीलं येषां ते सृकायिणस्तेभ्यः, अर्थात् वज्र के साथ आनेवाले के लिये। 'सृक' यह वज्र का नाम है (निघ० २।२०।६)। 'जिघांसद्भ्यः' हन्तुमिच्छन्ति जिघांसन्ति, जिघांसन्तीति जिघांसन्तस्तेभ्यः। मारने की इच्छा करनेवाले रुद्रों को नमस्कार। सन्नन्त हन् धातु से शतृ प्रत्ययान्त रूप है। 'मुष्णताम्' मुष्णन्ति क्षेत्रादिषु स्थितं धान्यादिकमिति मुष्णन्तः। 'मुष् स्तेये' का यह रूप है, अर्थात् क्षेत्र में लगे हुए धान्यादि को चुरानेवाले चोरों के पालक रुद्र को नमस्कार। 'असिमद्भ्यः' असयः खड्गाः सन्ति येषु ते असिमन्तः, तेभ्यः। यानी खड्गधारी रुद्रों को नमस्कार। 'नक्तञ्चरद्भ्यः' नक्तं रात्रौ गच्छद्भ्यः। रात्रिचर रुद्रों को नमस्कार। विकृन्तानाम्पतये विशेषेण कृन्तन्ति छिन्दन्तीति विकृन्ताः, तेषां पतये। अर्थात् छीन-छीनकर अपहरण करनेवालों के पालक रुद्र को नमस्कार। विशिष्ट तत्तद्रूपावच्छिन्न चैतन्यरूप जो हैं, वे सब रुद्र की ही विभूतियाँ हैं, अतः तद्रूप रुद्रों को नमस्कार किया गया है। 'द्यूत' भी भगवान् की ही विभूति है। 'द्यूतं छलयतामस्मि' (भ० गी० १०।३६) इस प्रकार गीता में भगवान् ने ही कहा है। उसी प्रकार चौरों में जो चौराग्रगण्य है, वह भी भगवान् की विभूति ही है। 'यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥' (१०।४१) भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं यह बताया है।

किञ्च, व्यवहार में सभी पदार्थों का सत्त्व रहने पर भी उनके साधर्म्य-वैधर्म्यादि में परमार्थतः अधिष्ठान की दृष्टि से सभी की रुद्ररूपता ही प्रतीत होती है। व्यवहार में साधुत्व-असाधुत्व, ग्राह्यत्व-अग्राह्यत्व आदि का भेद विद्यमान रहने पर भी वस्तुतः भेदमात्र का असत्त्व रहने से अधिष्ठानरूप रुद्र का समत्व ही प्रतीत होता है, क्योंकि—'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥' (भ० गी० ६।९) ऐसा भगवान् ने ही कहा है।

यत्तु—'छद्मना शत्रुसेनापदार्थोलब्धे शत्रुसेनासु कपटेन निवसते खड्गधारणसमर्थाय बाणतूणीरादिवाह-काय कार्यकारिभ्यः शत्रूणां जिघांसद्भ्यः खड्गवद्भ्यो गृहेभ्यः प्रहरिभ्यो जङ्गलच्छेतृभ्योऽधिकारिगणेभ्यः क्षेत्रेभ्यश्च अन्नादिपदार्थान् आहरद्भ्योऽन्नमुपनमतु' इति, तन्न, कः कं प्रार्थयते इति निर्देशमन्तरा सर्वस्याप्येवं-विधस्यार्थस्य असङ्गतत्वात्, उन्मत्तप्रलापायितत्वाच्च। सर्वत्र राष्ट्रेषु तासु तासु शासनव्यवस्थासु स्वतन्त्राः पुरुषार्थपरायणा जनाः स्वयमेव अन्नमुपार्जयन्ति। कर्मचारिगणाः परस्परं समयबन्धेन वेतनमुपलभन्ते। न तत्राज्ञा प्रार्थना वाऽपेक्षिता। मन्त्रार्थस्तु सिद्धान्तानुसारी उक्त एव। 'वञ्चु गतौ', 'वञ्चु प्रलम्भने' इति धातुभ्यां निष्पन्नस्य वञ्चत इति पदस्य छद्मनाऽर्थप्रापक इति कथङ्कारमर्थः ? गतिर्वञ्चनं वा तदर्थः प्रसिद्धः। स्तायूना-मित्यस्य सृकायिभ्य इत्यस्यापि चार्थो नोक्तः॥ २१॥

नमं उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो नमं इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो नमं आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो नमं आयच्छद्भ्यो स्यद्भ्यश्च वो नमः ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—सिर पर पगड़ी पहने हुआ, पर्वतादि दुर्गम स्थानों में संचार करने वाला, छोटी-मोटी चोरी करने वालों का अधिपति जो रुद्र है, उसे हमारा प्रणाम है। उसी तरह बाण और धनुष धारण करने वाले, धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने वाले, धनुष पर बाण सन्धान करने वाले, धनुष का आकर्षण करने वाले और बाण चलाने वाले जो रुद्र हैं, उनको हमारा प्रणाम प्राप्त हो ॥ २२ ॥

उष्णीषिणे उष्णं तदुपलक्षितं शीतादिकं सर्वं बाधकम् ईषते तिरोदधातीति उष्णीषं शिरोवेष्टनं किरीटं वा। 'ईष गतिहिंसादर्शनेषु' इत्यस्मात् 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कः, शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्, तदस्यास्तीति उष्णीषी, तस्मै रुद्राय नमः। गिरिचराय गिरौ पर्वते चरतीति गिरिचरस्तस्मै रुद्राय

किसी ने यह कहा है—'कपट से शत्रुसेना के पदार्थों को उपलब्ध करने वाले, शत्रुसेना में कपटपूर्वक निवास करने वाले, खड्ग धारण करने वाले, बाण-तूणीर आदि अपने पास रखनेवाले, काम करने वाले, शत्रुओं को मारने की इच्छा करने वाले खड्गधारियों के लिये, घर के लोगों के लिये, प्रहरियों के लिये, जंगल काटने वाले अधिकारियों के लिये, क्षेत्रों से अन्न आदि पदार्थों को लाने वालों के लिये अन्न प्राप्त हो' इति। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि कौन किससे प्रार्थना कर रहा है, इसका निर्देश किये बिना इस प्रकार का सम्पूर्ण अर्थ असंगत ही है, उन्मत्त के प्रलाप के समान ही यह अर्थ प्रतीत हो रहा है। सर्वत्र राष्ट्रों में तत्तत् शासन-व्यवस्थाओं में नियुक्त हुए जन स्वतन्त्र और पुरुषार्थपरायण हुआ करते हैं। वे स्वयं ही अन्नोपार्जन कर लेते हैं। कर्मचारीगण आपस में परस्पर समय-बन्ध करके वेतन प्राप्त करते हैं। उसमें आज्ञा या प्रार्थना की अपेक्षा नहीं होती। किञ्च, 'वञ्चु गतौ', 'वञ्चु प्रलम्भने' इन दो धातुओं से निष्पन्न हुए 'वञ्चते' पद का 'कपट से अर्थ प्राप्त करने वाला 'छद्मना अर्थप्रापकः' यह अर्थ कैसे निकला है ? 'वञ्चते' का अर्थ तो 'गति अथवा वञ्चन करना' सर्वत्र प्रसिद्ध है। किञ्च, 'स्तायूनाम्' और 'सृकायिभ्यः' इन दो पदों का अर्थ तो आपने बताया ही नहीं। सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रार्थ की पूर्व बता ही चुके हैं॥ २१ ॥

'उष्णीषिणे' उष्णं तदुपलक्षितं शीतादिकं सर्वबाधकम् ईषते तिरोदधातीत्युष्णीषं शिरोवेष्टनं किरीटं वा। अर्थात् उष्ण-शीत आदि बाधकों को जो तिरोहित करता है, उसे 'उष्णीष' यानी शिर को वेष्टित करने वाली पगड़ी, साफा अथवा किरीट कहते हैं। 'ईष गतिहिंसादर्शनेषु' धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा०सू० ३।१।१३५) सूत्र से 'क' प्रत्यय और शकन्ध्वादित्वात् पररूप हुआ है। वह उष्णीष है जिसके पास, उसे 'उष्णीषी' कहते हैं। उस किरीट पहने हुए रुद्र को नमस्कार। 'गिरिचराय' गिरौ पर्वते चरतीति गिरिचरस्तस्मै। पर्वतचारी रुद्र को नमस्कार। 'कुलुञ्चानां पतये' कुत्सितं लुञ्चन्तीति कुलुञ्चाः,

नमः। कुलुञ्चानां कुत्सितं लुञ्चन्तीति कुलुञ्चाः कुत्सितदुष्टघातकाः, तेषां पतये स्वामिने रुद्राय नमः। अथवा कुलानि दुष्टकुलानि लुञ्चन्तीति कुलुञ्चाः, कुं भूमिं क्षेत्रारामगृहादिरूपां वा लुञ्चन्ति हरन्तीति कुलुञ्चाः, तेषां पतये पालकाय रुद्राय नमः। इषुमद्भ्य इषवो बाणाः सन्ति येषां त इषुमन्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। धन्वायिभ्यश्च धन्वति गच्छति आखेटार्थमनेनेति धन्वा, धविर्गत्यर्थको भौवादिकः, अस्मात् 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५६) इति कनिन्प्रत्ययः। धन्वना धनुषा सह यन्ति गच्छन्ति तच्छीला इति धन्वायिनः, तेभ्यः। हे रुद्राः, धनुर्धरेभ्यश्च वो युष्मभ्यं नमः। चकारो मन्त्रभेदज्ञापनार्थः। एवमग्रेऽपि। आतन्वानेभ्यः आतन्वन्ति आरोपयन्ति मौर्वीं धनुषीत्यातन्वानाः, तेभ्यस्तद्रूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। प्रतिदधानेभ्यः प्रतिदधते सन्दधते बाणं धनुषीति प्रतिदधानाः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। आयच्छद्भ्य आयच्छन्ति आकर्षन्ति धनूंषि ये त आयच्छन्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। अस्यद्भ्यः अस्यन्ति क्षिपन्ति बाणानिति अस्यन्तः, तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः।

यत्तु—'उष्णीषिणे शिरोवेष्टनवस्त्रविशेषधारिणे ग्रामपतये पर्वतीयकुलानामध्यक्षाय बाणवद्भ्यो धनुर्धरेभ्योऽधिज्येभ्यः, तत्र लक्ष्यं प्रति बाणान् सन्दधानेभ्यः शत्रुनिग्रहकारिभ्यः शस्त्राण्यस्यद्भ्यश्च अन्नमुपलब्धमस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यक्षग्रामपत्याद्यर्थानां मन्त्रबाह्यत्वात् ॥ २२ ॥

नमो॑ वि॒सृ॒जद्भ्यो॒ विध्य॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॑ स्वप॒द्भ्यो जाग्र॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॒ शया॑नेभ्य आसी॑नेभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒स्तिष्ठ॑द्भ्यो धाव॑द्भ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—शत्रुओं पर बाण छोड़ने वाले, शत्रुओं को विद्ध करने वाले, स्वप्न, जागृति और सुषुप्ति की अवस्थाओं को धारण करने वाले, बैठने वाले, उठने वाले और दौड़ने वाले जो रुद्र हैं, उन्हें हमारा प्रणाम प्राप्त हो ॥ २३ ॥

अर्थात् कुत्सित दुष्टघातकों के स्वामी रुद्र को नमस्कार। अथवा 'कुलानि दुष्टकुलानि लुञ्चन्तीति कुलुञ्चाः', अर्थात् दुष्ट कुलों को जो नष्ट करते हैं, उनको कुलुञ्च कहते हैं। अथवा 'कुं भूमिं क्षेत्रारामगृहादिरूपां लुञ्चन्ति हरन्तीति कुलुञ्चाः। यानी क्षेत्र, बगीचा, गृहादिरूप भूमि (कु) के हरण करने वालों को कुलुञ्च कहते हैं। उन कुलुञ्चों के पालक रुद्र को नमस्कार। 'इषुमद्भ्यः' इषवो बाणाः सन्ति येषां ते इषुमन्तः। अनेक बाणों को पास रखने वाले रुद्रों को नमस्कार। 'धन्वायिभ्यश्च' धन्वति गच्छति आखेटार्थमनेनेति धन्वा। मृगया को जाने वाला यानी शिकारी। गत्यर्थक धवि धातु भौवादिक है, उससे 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५६) सूत्र से 'कनिन्' प्रत्यय होता है। धन्वना धनुषा सह यन्ति गच्छन्ति तच्छीला इति धन्वायिनः, तेभ्यः। हे रुद्रों! तुम धनुर्धारियों को नमस्कार। 'चकार' का प्रयोग मन्त्रभेद के ज्ञापनार्थ है। इस प्रकार आगे भी समझना चाहिये। 'आतन्वानेभ्यः' आतन्वन्ति आरोपयन्ति मौर्वीं धनुषीत्यातन्वानाः, तेभ्यस्तद्रूपेभ्यः। धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा कर तानने वाले रुद्रों को नमस्कार। 'प्रतिदधानेभ्यः' प्रतिदधते सन्दधते बाणं धनुषीति प्रतिदधानाः, तेभ्यः। धनुष पर बाण-संधान करनेवाले तुम रुद्रों को नमस्कार। 'आयच्छद्भ्यः' आयच्छन्ति आकर्षन्ति धनूंषि ये ते आयच्छन्तः, तेभ्यः। धनुषों को खींचने वाले उन रुद्रों को नमस्कार। 'अस्यद्भ्यः' अस्यन्ति क्षिपन्ति बाणान् इति अस्यन्तः, तेभ्यः। बाणों को फेंकने वाले तुम रुद्रों के लिये नमस्कार।

यह जो किसी ने अर्थ किया है कि 'उष्णीषिणे' शिरोवेष्टन-वस्त्रविशेष को धारण करनेवाले ग्रामपति के लिये, पर्वतीय कुलों के अध्यक्ष के लिये, धनुर्बाण को लिये हुओं के लिये, धनुष को सज्ज रखनेवालों के लिये, लक्ष्य के प्रति बाणों का संधान करने वालों के लिये, शत्रुओं का निग्रह करने वालों के लिये, शस्त्रप्रक्षेप करने वालों के लिये अन्न की उपलब्धि होती रहे'। किन्तु यह अर्थ भी मन्त्र के शब्दों से नहीं निकल रहा है, मन्त्रबाह्य अर्थ हैं, क्योंकि अध्यक्ष, ग्रामपति इत्यादि अर्थ मन्त्र के किसी शब्द से भी निष्पन्न नहीं हो रहा है ॥ २२ ॥

विसृजद्भ्यो विसृजन्ति बाणान् योद्धृषु इति विसृजन्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। विध्यद्भ्यश्च विध्यन्ति ताडयन्ति शत्रूनिति विध्यन्तः, तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः। मुक्तस्य बाणस्य लक्ष्ये प्रवेशो वेधः। स्वपद्भ्यः स्वप्नावस्थामनुभवन्तीति स्वपन्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। जाग्रद्भ्यो जाग्रति इन्द्रियैरर्थोपलब्धिरूपां जाग्रदवस्थामनुभवन्तीति जाग्रतः, तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः। शयानेभ्यः शेरतेऽज्ञानमात्रमनुभवन्तीति शयानाः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। आसीनेभ्यश्च आसत उपविशन्तीत्यासीनाः। 'आस उपवेशने' इति धातोः शानचि 'ईदासः' (पा० सू० ७।२।८३) इत्याकारस्य ईत्वे रूपसिद्धिः। तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः।

तिष्ठद्भ्यः, तिष्ठन्तीति गमनमवरुद्ध्य वर्तन्त इति तिष्ठन्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। धावद्भ्यो धावन्ति भूयसा वेगेन गच्छन्तीति धावन्तः, तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः॥ २३॥

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नम उगणाभ्यस्तृꣳहतीभ्यश्च वो नमः॥२४॥

मन्त्रार्थ—सभा, सभापति, अश्व और अश्वपति के स्वरूप को धारण करने वाले जो रुद्र हैं, उनको हमारा प्रणाम है। सब ओर से विशेष कर बिद्ध करने वाले, उत्कृष्ट सेवकों से युक्त, वध करने में समर्थ ब्रह्मादि देवताओं को हमारा प्रणाम प्राप्त हो॥ २४॥

इत उत्तरं 'जातेभ्यो जुहोति'(श०९।१।१।१९) इति जातसंज्ञा रुद्रा रुद्रलोके सन्ति, त इहोच्यन्ते रुद्राद्वैतप्रतिपादनाय, 'अथो एवꣳ हैतानि रुद्राणां जातानि' (श० ९।१।१।१९) इति श्रुतेः। रुद्रलोके किल इत्थंभूता रुद्रा सन्ति, तेभ्यो जुहोति। सभाभ्यः सभारूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। सभादिषु रुद्रदृष्टिः कर्तव्येति तात्पर्यम्। उव्वट-महीधरौ बाधसामानाधिकरण्येन रुद्रदृष्टिमाहुः, अर्थादधिष्ठानज्ञानेन सभादीन् बाधित्वा तत्र रुद्रयाथात्म्य-

---

'विसृजद्भ्यः' विसृजन्ति बाणान् योद्धृष्विति विसृजन्तः, तेभ्यः। योद्धाओं पर बाण छोड़ने वाले रुद्रों के लिये नमस्कार। 'विद्ध्यद्भ्यश्च' विध्यन्ति ताडयन्ति शत्रून् इति विध्यन्तः, तेभ्यः। शत्रुओं को ताडित करनेवाले तुम रुद्रों के लिये नमस्कार। छोड़े गये बाण का लक्ष्य में प्रवेश होना 'वेध' कहलाता है। 'स्वपद्भ्यः' स्वप्नावस्थामनुभवन्तीति स्वपन्तः, तेभ्यः। स्वप्नावस्था का अनुभव करनेवाले रुद्रों को नमस्कार। 'जाग्रद्भ्यः' जाग्रति इन्द्रियैरर्थोपलब्धिरूपां जाग्रदवस्थामनुभवन्तीति जाग्रतः, तेभ्यः। इन्द्रियों के द्वारा अर्थोपलब्धिरूप जाग्रदवस्था का जो अनुभव करते हैं, उन्हें जाग्रत् कहते हैं: उन जाग्रत् स्वरूप तुम रुद्रों को नमस्कार। 'शयानेभ्यः' शेरते प्रज्ञानमात्रमनुभवन्तीति शयानाः, तेभ्यः। केवल ज्ञानमात्र का अनुभव करनेवाले शयान स्वरूप रुद्रों को नमस्कार। 'आसीनेभ्यश्च' आसने उपविशन्तीति आसीनाः। 'आस उपवेशने' धातु से 'शानच्' करके 'ईदासः' (पा० सू० ७।२।८३) सूत्र से आकार का ईत्व करने पर यह रूप सिद्ध होता है। आसन पर बैठने वाले तुम रुद्रों को नमस्कार। 'तिष्ठद्भ्यः' तिष्ठन्तीति गमनमवरुद्ध्य वर्तन्त इति तिष्ठन्तः, तेभ्यः। स्थित रहने वाले उन रुद्रों को नमस्कार। 'धावद्भ्यः' धावन्ति भूयसा वेगेन गच्छन्तीति धावन्तः, तेभ्यः। बहुत तेजी से जाने वाले तुम रुद्रों को नमस्कार॥ २३।

इसके आगे 'जातेभ्यो जुहोति' (श० ब्रा० ९।१।१।१९) जातसंज्ञक 'रुद्र' रुद्रलोक में हैं, उन्हें यहाँ बताया जा रहा है, जिससे रुद्राद्वैत का प्रतिपादन हो सके। क्योंकि 'अथो एवꣳ हैतानि रुद्राणां जातानि' (श० ब्रा० ९।१।१।१९) श्रुति कहती है। रुद्रलोक में निश्चित ही इस प्रकार के रुद्र हैं। उनके लिये हवन करना चाहिये। 'सभाभ्यः' सभारूप रुद्रों को नमस्कार। सभा आदि में रुद्रदृष्टि करनी चाहिये, यह तात्पर्य है। उव्वट-महीधर दोनों ने बाधसामानाधिकरण्य से रुद्रदृष्टि करने के लिये कहा है। अर्थात् अधिष्ठान के ज्ञान से सभा आदि का बाध करके उसमें रुद्रयाथात्म्य दृष्टि का सम्पादन करना

दृष्टिरुपार्जनीया। सभापतिभ्यः सदसस्पतिभ्यश्च वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः। अश्वेभ्यस्तुरगेभ्यस्तद्रूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। अश्वपतिभ्यश्च अश्वानां पतयोऽश्वपतयस्तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः। आव्याधिनीभ्य आसमन्ताद् विध्यन्तीति आव्याधिन्यो रुद्रदेव्यो रुद्रशक्तयो रुद्रसेना गणरूपा वा, ताभ्यो रुद्ररूपाभ्यो नमः। विविध्यन्तीभ्यो विशेषेण विध्यन्तीति विविध्यन्त्यः, ताभ्यो रुद्ररूपाभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। उगणाभ्य उद् उदीर्णा उद्गूर्णा उद्रिक्ता गणा भृत्यभक्तादिसमूहा वा यासां ता उगणाः, पृषोदरादित्वाद् उपसर्गान्त्यलोपः। ब्राह्म्याद्या मातरः, ताभ्यो नमः। 'ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा। चामुण्डा च तथेन्द्राणी वाराही सप्त मातरः॥' इति शिष्टोक्तेः। तृंहतीभ्यस्तृंहन्ति घ्नन्तीति तृंहत्यो हन्तुं समर्था दुर्गादयः, ताभ्यो रुद्ररूपाभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। तृंहू हिंसार्थकस्तौदादिकः। रुद्रसेना एव वा विविधविशेषणाः॥ २४॥

नमो॑ ग॒णेभ्यो॑ ग॒णप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ व्राते॑भ्यो व्रात॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ गृत्से॑भ्यो गृत्स॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ विरू॑पेभ्यो वि॒श्वरू॑पेभ्यश्च वो॒ नमः॥ २५॥

मन्त्रार्थ—**भूतविशेषों के संघों के और देवताओं के सेवकसमूहों के पालक, भिन्न-भिन्न जातियों के पालक, बुद्धिमान् और बुद्धिमानों के पालक, विकृत स्वरूप वाले और अश्वमुख आदि भिन्न-भिन्न रूपों वाले जो रुद्र हैं, उनको हमारा प्रणाम प्राप्त हो॥ २५॥**

गणेभ्यः, देवानुचरा नन्दिभृङ्ग्यादयो भूतविशेषाः समूहा वा गणाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। गणपतिभ्यो गणानां भूतप्रेतादिगणानां महदादिगणानां देवगणानां वा पतयः पालका गणपतयः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। व्रातेभ्यो नानाजातीयसङ्घातेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। यद्वा भोजननियमार्थे व्रतशब्दात् 'मुण्डमिश्र' (पा० सू० ३।१।२१) इत्यादिना णिजन्ताद् घञि व्रातशब्दो निष्पन्नः। व्रत्यते नियम्यते इति व्रातः, व्रातमर्हन्तीति

चाहिये। 'सभापतिभ्यः' अर्थात् सदसत्पतिरूप तुम रुद्रों को नमस्कार। 'अश्वेभ्यः' तुरगस्वरूप रुद्रों को नमस्कार। 'अश्वपतिभ्यश्च' अश्वपति स्वरूप तुम रुद्रों को नमस्कार। 'आव्याधिनीभ्यः' 'आसमन्ताद् विध्यन्तीति आव्याधिन्यो रुद्रदेव्यो रुद्रशक्तयो रुद्रसेना गणरूपा वा, ताभ्यः। चारों ओर से बंधने वाली को आव्याधिनी कहते हैं। वह रुद्रदेवी, या रुद्रशक्ति, या रुद्रसेना, या रुद्रगण के रूप में होती है, उन रुद्ररूपिणियों को नमस्कार। 'विविध्यन्तीभ्यः' विशेषेण विध्यन्तीति विविध्यन्त्यः, ताभ्यः। विशेष रूप से जो बेधती हैं, वह विविध्यन्ती' कही जाती है। अर्थात् विशेषतया बेधनेवाली उन रुद्ररूपिणियों के रूप में स्थित रुद्रों को नमस्कार। 'उगणाभ्यः' अद् उदीर्णा उद्गूर्णा उद्रिक्ता गणा भृत्यभक्तादिसमूहा वा यासां ता उगणाः। अर्थात् जिन रुद्ररूपा शक्तियों के सेवक-भक्तादिगण अथवा समूह इतनी अधिक संख्या में उमड़ रहे हैं, प्रकट हो रहे हैं, उन शक्तियों को 'उगण' कहा गया है। उन उगण ब्राह्मी आदि मातृकाओं को नमस्कार। 'उत् + गण' उगण में पृषोदरादित्वात् उपसर्गान्त्यलोपः। शिष्टों ने कहा भी है—'ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा। चामुण्डा च तथेन्द्राणी वाराही सप्तमातरः॥' इति। 'तृंहतीभ्यः' तृंहन्ति घ्नन्तीति तृंहत्यो हन्तुं समर्था दुर्गादयः, ताभ्यः। हनन करने में समर्थ दुर्गा आदि रूप वाले रुद्र देवताओं को नमस्कार। तृंह हिंसार्थक तौदादिक धातु है, अथवा रुद्रसेना के ही ये विविध विशेषण हो सकते हैं॥ २४॥

'गणेभ्यः' देवानुचर नन्दी, भृङ्गी आदि भूतविशेष अथवा समूह को 'गण' कहा गया है। उन रुद्ररूप गणों को नमस्कार। 'गणपतिभ्यः' भूत-प्रेतादिगण, या महदादिगण, या देवगणों के जो पति यानी पालक हैं, उन्हें गणपति कहा गया है। उन रुद्ररूप गणपतियों को नमस्कार। 'व्रातेभ्यः' रुद्ररूप नानाजातीय संघातों के लिये नमस्कार। अथवा भोजन-नियम के अर्थ में 'व्रत' शब्द के होने से 'मुण्डमिश्र' (पा० सू० ३।१।२१) सूत्र से णिजन्त धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'व्रत' शब्द निष्पन्न होता। 'व्रत्यते नियम्यत इति व्रातः, व्रातमर्हन्तीति व्राताः, तेभ्यः। नियमित किये जाने वाले रुद्ररूप

व्राताः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। व्रातपतिभ्यो व्रातानां पतयः स्वामिनः पालका व्रातपतयः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। गृत्सेभ्यो विषयविषमपहाय कैवल्यमयं भगवन्तमेव गृध्यन्ति वाञ्छन्तीति गृत्साः, गृधेः 'गृधिपण्योर्दकौ च' (उ० ३।६९) इति सप्रत्ययः, धकारस्य दकारादेशश्च, मेधाविनो वीतरागाः ब्रह्मप्रतिपित्सवः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। यद्वा गृणातेः स्तुतिकर्मणो बाहुलकात् सक्प्रत्ययो ह्रस्वत्वं तुगागमश्च। गृत्सः स्तुत्यो लोकानां स्तोता वा देवानाम्, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। गृत्सपतिभ्यो गृत्सानां पतयः स्वामिनः पालकाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। विरूपेभ्यो विविधानि विकृतानि वा रूपाणि येषां ते विरूपाः, एकानेकबाहूर्वक्षिमुखसिंहतुरगखरवानरहयमुखा नग्नमुण्डजटिलादयो वा, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। विश्वरूपेभ्यो विश्वं सर्वं नानाविधं रूपं येषां ते विश्वरूपा व्यष्टिसमष्टिकार्यकारणवाच्यवाचकतदतीततुरीयरूपेभ्यो रुद्रेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः॥ २५॥

नमः॒ सेना॑भ्यः सेना॒निभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ र॒थिभ्यो॑ अर॒थेभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमः॑ क्ष॒त्तृभ्यः॑ संग्रही॒तृभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ मह॒द्भ्यो॑ अर्भ॒केभ्य॑श्च वो॒ नमः॑॥ २६॥

मन्त्रार्थ—सेना का स्वरूप धारण किये हुए, सेनापति का रूप धारण किये हुए, रथ पर बैठकर जाने वाले, रथ पर बैठकर न जाने वाले, रथों के स्वामी तथा सारथी भी, जातिगुणों से युक्त और अल्प प्रमाण के जो रुद्र हैं, उनको हमारा प्रणाम प्राप्त हो॥ २६॥

सेनाभ्यः सेनारूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। सेनानिभ्यः सेनां नयन्ति नियम्य सञ्चालयन्तीति सेनान्यः सेनापतयः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। रथिभ्यो रथाः सन्ति येषां ते रथिनो रथवन्तः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। अरथेभ्यः अविद्यमाना रथा येषां ते अरथाः, 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (पा० सू० २।२।२४ वा० १) इति समासः, उत्तरपदलोपश्च। अश्वारूढगजारूढपदातिरूपेभ्यो योद्धृभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्यभ्यं नमः। क्षत्तृभ्यः क्षदति संवृणोतीति क्षत्ता द्वारपालः, 'क्षद संवरणे' इति सौत्रो धातुः। अस्मात् 'तृन्तृचौ शंसिक्षदा-

---

=रुद्रस्वरूप पदार्थों को नमस्कार। 'व्रातपतिभ्यः' नियमित किये हुए व्रतीय पदार्थों के स्वामी भी रुद्ररूप हैं, अतः उनको भी नमस्कार। 'गृत्सेभ्यः' विषयविषमपहाय कैवल्यमयं भगवन्तमेव गृध्यन्ति वाञ्छन्तीति गृत्साः, तेभ्यः। अर्थात् मेधावी वीतराग ब्रह्मजिज्ञासु उन रुद्र रूपों को नमस्कार। 'गृध्' धातु से 'गृधिपण्योर्दकौ च' (उ० ३।६९) सूत्र से 'स' प्रत्यय और धकार को दकारादेश हुआ है। अथवा गृणातेः स्तुतिकर्मणो बाहुलकात् 'सक्' प्रत्यय, ह्रस्वत्व और तुगागम हुआ है। लोगों में जो प्रशंसनीय है अथवा देवताओं की स्तुति करने वाला है, उसे 'गृत्स' कहते हैं। उन रुद्र रूप गृत्सों को नमस्कार। 'गृत्सपतिभ्यः' गृत्सों के पालक रुद्र रूप तुम्हारे लिये नमस्कार। 'विरूपेभ्यः' विविधानि विकृतानि वा रूपाणि येषां ते विरूपाः। अनेक प्रकार के अथवा विकृत रूपवालों को विरूप कहते हैं। अथवा एक-अनेक बाहु, ऊरु, अक्षि, मुखवाले, या सिंह, तुरग, खर, वानर, अश्व के मुखवाले, अथवा नग्न, मुण्ड, जटाधारी उन रुद्र रूपों को नमस्कार। 'विश्वरूपेभ्यः' विश्वं सर्वं नानाविधं रूपं येषां ते विश्वरूपाः, तेभ्यः। समस्त अर्थात् नानाविध रूपवाले, व्यष्टि, समष्टि, कार्यकारण, वाच्यवाचक आदि के परे तुरीयरूप तुम रुद्रों को नमस्कार॥ २५॥

'सेनाभ्यः' सेना रूप रुद्रों के लिये नमस्कार। 'सेनानिभ्यः' सेनां नयन्ति नियम्य सञ्चालयन्तीति सेनान्यः सेनापतयः, तेभ्यः। तुम सेनापति रूप रुद्रों को नमस्कार। 'रथिभ्यः' रथाः सन्ति येषां ते रथिनो रथवन्तः, तेभ्यः। जिनके पास रथ हैं, उन रुद्रों को नमस्कार। 'अरथेभ्यः' अविद्यमाना रथा येषां ते अरथाः, तेभ्यः। रथरहित तुम रुद्रों को नमस्कार। 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (पा० सू० २।२।२४, वा० २) से समास और उत्तरपद का लोप। अश्वारूढ, गजारूढ, पदातिरूप योद्धा रुद्र रूपों को नमस्कार। 'क्षत्तृभ्यः' क्षरति संवृणोतीति क्षत्ता द्वारपालः। उस रुद्र रूप द्वारपाल को नमस्कार। 'क्षद संवरणे' यह सौत्र धातु है, उससे 'तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ' (उ० २।९५) से

दिभ्यः संज्ञायां चानिटौ' (उ० २।९५) इति तृच्। तस्मै रुद्ररूपाय नमः। संग्रहीतृभ्यः संगृह्णन्ति अश्वानिति संग्रहीतारः सारथयः, 'ण्वुल्तृचौ' (पा० सू० ३।१।१३३) इति तृच्, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। महद्भ्यो मह्यन्ते कुलेन अभिजनेन जात्या वीर्यातिरेकेण विद्यावैभवेन वेति महान्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। अर्भकेभ्य ऋध्नुवन्ति वर्धन्ते इत्यर्भकाः, 'अर्भकपृथुकपाका वयसि' (उ० ५।५३) इति निपातितो वुन्प्रत्ययः, धस्य भश्च निपात्यते, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। बालरूपेभ्योऽल्पप्रमाणेभ्यो वा नमः॥ २६॥

नम॑स्तक्ष॑भ्यो रथका॒रेभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमः॑ कुला॒लेभ्यः॑ क॒र्मारे॑भ्यश्च॒ वो॒ नमो॒ नमो॑ निषा॒देभ्यः॑ पु॒ञ्जिष्ठे॑भ्यश्च॒ वो॒ नमो॒ नमः॑ श्व॒निभ्यो॑ मृग॒युभ्य॑श्च॒ वो॒ नमः॑ ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—बढ़ई का काम करने वाले, रथ बनाने वाले, कुम्हार, लोहार, भील, तन्तुवाय, अन्त्यज, कुत्तों के गले की डोरी पकड़ने वाले, चिड़ीमार (व्याध) के रूप को धारण करने वाले रुद्रों को हमारा प्रणाम प्राप्त हो॥ २७॥

तक्षभ्यः, तक्षाणः शिल्पिविशेषाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। रथकारेभ्यो रथं कुर्वन्तीति रथकाराः, एतेऽपि तद्विशेषा एव, न तु रथनिर्मातारः। यतो ह्येतेभ्योऽन्येऽपि रथकारा भवन्ति, योगरूढत्वादस्य पदस्य, तथा च योगियाज्ञवल्क्यः—'माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते' (या० स्मृ० १।९५), तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। कुलालेभ्यः कुं भूमिं लालयतीति कुलालः। 'लड् विलासे' कर्मण्यण्। डलयोरभेदः। अथवा कुल-मालातीति कुलालः। आङ् पूर्वकाद् लाधातोः कप्रकरणे 'मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्' (पा० सू० ३।२।५ वा० १) इति कः। बहुत्वविवक्षायां कुलालाः कुम्भकाराः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। कर्मारेभ्यः कर्म क्रियामृच्छन्तीति कर्मारा लोहकाराः, तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्ररूपेभ्यो नमः। निषादेभ्यो निषीदति पापमेष्विति निषादा गिरिचरा

तृच् प्रत्यय हुआ है। 'संग्रहीतृभ्यः' संगृह्णन्ति अश्वान् इति संग्रहीतारः सारथयः, तेभ्यः। उन सारथी स्वरूप तुम रुद्रों को नमस्कार। 'ण्वुल्तृचौ' (पा० सू० ३।१।१३३) से तृच् होता है। 'महद्भ्यः' मह्यन्ते कुलेन अभिजनेन जात्या वीर्यातिरेकेण विद्यावैभवेन वेति महान्तः, तेभ्यः। कुल से, अभिजात्य से, अत्यधिक पराक्रम से, अथवा विद्या-वैभव से महान् रहनेवाले रुद्रों को नमस्कार। 'अर्भकेभ्यः' ऋध्नुवन्ति वर्धन्त इति अर्भकाः। उन अर्भकरूप रुद्रों को नमस्कार। बालरूप अथवा अल्प प्रमाणवालों को नमस्कार 'अर्भकपृथुकपाका वयसि' (उ० ५।२३) से निपातित शब्द है। वुन् प्रत्यय और 'घ' को 'भ' का निपातन किया है। उससे 'अर्भक' शब्द निष्पन्न होता है॥ २६॥

'तक्षभ्यः' तक्षाणः शिल्पिविशेषाः, तेभ्यः। उन शिल्पिविशेष रुद्रों को नमस्कार। 'रथकारेभ्यः' रथं कुर्वन्तीति रथकाराः, तेभ्यः। शिल्पिविशेष रथकार रूप रुद्रों को नमस्कार। ये रथकार भी शिल्पिविशेष ही हैं। ये रथ के निर्माण करने वाले नहीं हैं। यह 'रथकार' शब्द योगरूढ होने से उक्त रथकार के अतिरिक्त भी रथकार होते हैं। जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य ने कहा है—'माहिष्येण करिण्यां तु रथकारः प्रजायते' (या० स्मृ० १।९५)। 'कुलालेभ्यः' कुं भूमिं लालयतीति कुलालः, जो पृथिवी (भूमि) को लालित करता है, उसे कुलाल कहते हैं। 'लड् विलासे' धातु से 'कर्मण्यण्' अण् प्रत्यय होता है। ड-लयोरभेदः, ड-ल का अभेद माना जाता है। अथवा कुलमालातीति कुलालः। आङ्पूर्वक 'ला' धातु से क प्रकरण में 'मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्' (पा० सू० ३।२।५, वा० १) से 'क' प्रत्यय हुआ। बहुत्व की विवक्षा में 'कुलालाः' कुम्भकाराः। उन कुम्भकारस्वरूप रुद्रों को नमस्कार। कर्मारेभ्यः, कर्म क्रियामृच्छन्तीति कर्मारा लोहकाराः, तेभ्यः। लोहकार स्वरूप रुद्रों को नमस्कार। 'निषादेभ्यः' निषीदति पापम् एषु इति निषादा गिरिचरा मांसाशिनो भिल्लाः, तेभ्यः। पर्वत पर संचार करनेवाले मांसभक्षी भिल्ल (भील) स्वरूप रुद्रों को नमस्कार। अथवा निषादा

मांसाशिनो भिल्लाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। अथवा निषादा मात्सिकाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। पुञ्जिष्ठेभ्यो जात्यन्तरसम्बद्धाः पक्षिपुञ्जघातकाः पुल्कसादयः पुञ्जिष्ठाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। श्वनिभ्यः शुनो नयन्तीति श्वन्यः श्वकण्ठबद्धरज्जुधारकाः श्वगणिनः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। नयतेर्ह्रस्व आर्षः। मृगयुभ्यश्च मृगान् कामयन्ते ये ते मृगयवः, मृगशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि, 'क्यचि च' (पा० सू० ७।४।३३) इति प्राप्तस्य ईत्वस्य 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० सू० ७।४।३५) इति निषेधे, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युत्वे रूपसिद्धिः। 'इदंयुरिदंकामयमानः' इति यास्काभिप्रायेणेदं व्याख्यानम्। मृगाणां वधार्थं यातीति वा मृगयुः, मृगोपपदात् 'या प्रापणे' इत्यस्मात् 'मृगय्वादयश्च' (उ० १।३७) इति कुप्रत्ययान्तनिपातनाद् रूपसिद्धिः। बहुत्वविवक्षायां मृगयवो लुब्धकाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः॥ २७॥

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च॥ २८॥

मन्त्रार्थ—श्वान (कुत्ते) और उनका पालन करने वाले रुद्रों को प्रणाम है। सम्पूर्ण प्राणियों के उत्पादक, दुःखनाशक, पापों को नष्ट करने वाले, आदेशों का पालन करने वाले, विषभक्षण करने से जिसके कण्ठ का कुछ भाग नीला और उसी कण्ठ का कुछ भाग श्वेत है, उस रुद्र को हम नमस्कार करते हैं॥ २८॥

श्वभ्यः श्वयति गच्छति वर्धते वा असौ श्वा कुक्कुरः। 'श्वन्नुक्षन्' (उ० १।१५९) इति कनिनन्तो निपातितः। बहुत्वविवक्षायां श्वानः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। श्वपतिभ्यश्च शुनां पतयः श्वपतयस्तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। किरातदेवस्य अनुचरेभ्य इत्यर्थः। इत्युभयतोनमस्काराः समाप्ताः। 'नम इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमः' (१६।२२) इत्यारभ्य ये वःशब्दा अतिक्रान्तास्ते पूजावचना ज्ञेयाः। यद्यपि व्याख्यायां युष्मदादेशो व्याख्यातः, तथापि तथा सम्बोध्याभावात् पूजार्थत्वमेव तेषां ज्ञेयम्। सर्वस्य वा रुद्ररूपत्वात् सम्बोध्योऽर्थोऽपि

मात्स्यिकाः, तेभ्यः। मछुओं का रूप धारण किये हुए रुद्रों को नमस्कार। पुञ्जिष्ठेभ्य, जात्यन्तरसम्बद्धाः पक्षिपुञ्जघातकाः पुल्कसादयः पुञ्जिष्ठाः, तेभ्यः। पक्षियों के घातक पुल्कस जातिवाले रुद्रों को नमस्कार। श्वनिभ्यः शुनो नयन्तीति श्वन्यः। श्वकण्ठबद्धरज्जुधारकाः श्वगणिनः, तेभ्यः। कुत्तों के कण्ठ में बन्धी रज्जु को पकड़ने वाले श्वगणिस्वरूप रुद्रों को नमस्कार। नी का ह्रस्वत्व आर्ष है। 'मृगयुभ्यश्च' मृगान् कामयन्ते ये ते मृगयवः। जो मृगों को चाहते हैं, वे मृगयु कहलाते हैं। मृग शब्द से 'सुप आत्मनः 'क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) से क्यच् करने पर, 'क्यचि च' (पा० सू० ७।४।३३) से प्राप्त हुए ईत्व का 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० सू० ७।४।३५) से निषेध होने पर, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) से उत्व करने पर मृगयु शब्द निष्पन्न होता है। 'इदंयुरिदंकामयमानः' इस यास्काभिप्राय के अनुसार यह व्याख्या की गई है। मृगान् वधार्थं यातीति वा मृगयुः। मृगों के वधार्थ जानेवाले को मृगयु कहते हैं। मृगयवो लुब्धकाः, तेभ्यः। मृगलुब्धक मृगयु रूपधारी रुद्रों को नमस्कार। मृग उपपद वाले 'या प्रापणे' धातु से 'मृगय्वादयश्च' (उ० १।३७) से कुप्रत्ययान्त का निपातन करके इस रूप की निष्पत्ति की गई है। बहुत्व की विवक्षा में 'मृगयवः' है॥ २७॥

'श्वभ्यः' श्वयति गच्छति वर्धते वा असौ श्वा कुक्कुरः। बहुत्वविवक्षायां श्वानः, तेभ्य.। कुक्कुर का रूप धारण करने वाले उन रुद्रों को नमस्कार। 'श्वपतिभ्यश्च' शुनां पतयः श्वपतयः, तेभ्यः। किरात देव के अनुचरों के रूप में स्थित रुद्रों को नमस्कार। इस प्रकार के उभयतः नमस्कार वाले मन्त्र समाप्त हुए। 'नम इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमः' (१६।२२) से आरंभ कर जो 'वः' शब्द अतिक्रान्त हुए हैं, उन्हें पूजावाचक समझना चाहिये। यद्यपि व्याख्या में युष्मदादेश की व्याख्या की गई है, तथापि वैसा संबोध्य न होने से उन्हें पूजार्थक ही समझना चाहिये। अथवा सभी कुछ रुद्ररूप होने से सम्बोध्य अर्थ भी असंभव नहीं है।

नासम्भवी। अथ नमस्कारोपक्रमा नाममन्त्रा उच्यन्ते। भवाय भवन्ति उत्पद्यन्ते जन्तवोऽस्मादिति भवः, तस्मै नमः। रुद्राय रुद् दुःखं द्रावयति नाशयतीति रुद्रः, तस्मै नमः। शृणाति हिनस्ति पापमिति शर्वः, तस्मै नमः। पशुपतये पशून् मायापाशबद्धान् अज्ञान् संसारिणो जीवान् पाति रक्षतीति पशुपतिः, तस्मै नमः। नीलग्रीवाय विषपानेन नीला ग्रीवा कण्ठो यस्य स नीलग्रीवः, तस्मै नमः। शितिकण्ठाय शितिः श्वेतः कण्ठो नीलातिरिक्तभागो यस्य स शितिकण्ठः, तस्मै नमः। 'शिती धवलमेचकौ' (अ० को० ३।३।८२) इत्यमरकोषात्॥ २८॥

नमः॑ कप॒र्दिने॑ च॒ व्यु॑प्तकेशाय च॒ नमः॑ सह॒स्रा॒क्षाय॑ च श॒तध॑न्वने च॒ नमो॑ गिरिश॒याय॑ च शिपिवि॒ष्टाय॑ च॒ नमो॑ मी॒ढुष्ट॑माय॒ चेषु॑मते च॥ २९॥

मन्त्रार्थ—जटा धारण करने वाले, जिसके केशों का मुण्डन हुआ है, सहस्रनयन और सौ धनुषों को धारण करने वाले, कैलास पर्वत पर रहने वाले, प्राणीमात्र के शरीरों में व्याप्त रहने वाले, अतिवृष्टि करने वाले, बाणों को अपने पास रखने वाले रुद्र को हम नमस्कार करते हैं॥ २९॥

कपर्दिने केन सुखेन जलेन वा परं पूर्तिं ददातीति कपर्दः शिवस्य जटाजूटः, 'कपर्दोऽस्य जटाजूटः' (अ० को० १।१।३५) इत्यमरसिंहोक्तेः, सोऽस्यास्तीति कपर्दी, तस्मै नमः। व्युप्तकेशाय व्युप्ता मुण्डिताः केशा यस्य स व्युप्तकेशः, तस्मै नमः। सहस्राक्षाय सहस्रमक्षीणि यस्यासौ सहस्राक्षः, तस्मै इन्द्ररूपाय विराड्रूपाय वा रुद्राय नमः। शतधन्वने शतं धनूंषि यस्यासौ शतधन्वा, 'धनुषश्च' (पा० सू० ५।४।१२३) इत्यनङ्ङादेशः, तस्मै रुद्राय नमः। गिरिशयाय गिरौ कैलासे शेत इति गिरिशयः, तस्मै रुद्राय नमः। शिपिविष्टाय शिपिविष्टो विष्णुर्महेश्वरो वा, 'शिपिविष्टस्तु खलतौ दुश्चर्मणि महेश्वरे' (अ० को० ३।३।३४) इत्यमरसिंहवचनात्, तस्मै विष्णुरूपाय रुद्राय नमः।

अब नमस्कार से आरंभ होने वाले नाम मन्त्रों को बता रहे हैं—'भवाय' भवन्ति उत्पद्यन्ते जन्तवोऽस्मादिति भवः। समस्त प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उस भव को नमस्कार। 'रुद्राय' रुद् दुःखं द्रावयति नाशयतीति रुद्रः, तस्मै। दुःख का नाश करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'शर्वाय' शृणाति हिनस्ति पापमिति शर्वः, तस्मै। पाप को नष्ट करनेवाले शर्व को नमस्कार। 'पशुपतये' पशून् मायापाशबद्धान् अज्ञान् संसारिणो जीवान् पाति रक्षतीति पशुपतिः, तस्मै। मायापाश से बद्ध हुए अज्ञ संसारी जीवों की रक्षा करनेवाले पशुपति को नमस्कार। 'नीलग्रीवाय' विषपानेन नीला ग्रीवा कण्ठो यस्य स नीलग्रीवः, तस्मै। विषपान करने से नील वर्ण के कण्ठवाले नीलग्रीव को नमस्कार। 'शितिकण्ठाय' शितिः श्वेतः कण्ठो नीलातिरिक्तभागो यस्य स शितिकण्ठः, तस्मै। जिसके कण्ठ का नीलातिरिक्तभाग श्वेत है, उस शितिकण्ठ को नमस्कार। 'शिती धवलमेचकौ' (अ० को० ३।३।८२) शिति के श्वेतार्थक होने में उक्त कोष प्रमाण है॥ २८॥

'कपर्दिने' केन सुखेन जलेन वा परं पूर्तिं ददातीति कपर्दः शिवस्य जटाजूटः, सोऽस्यास्तीति कपर्दी, तस्मै। सुख अथवा जल के पूरक जटाजूट को धारण करने वाले कपर्दी को नमस्कार। अमरकोशकार ने 'कपर्दोऽस्य जटाजूटः' कपर्द का अर्थ शिव का जटाजूट बताया है। 'व्युप्तकेशाय' व्युप्ता मुण्डिताः केशा यस्य स व्युप्तकेशः, तस्मै। मुण्डित केशवाले व्युप्तकेश को नमस्कार। 'सहस्राक्षाय' सहस्रम् अक्षीणि यस्याऽसौ सहस्राक्षः, तस्मै। इन्द्रसंज्ञक सहस्राक्ष को नमस्कार। अथवा विराड् रूपी रुद्र को नमस्कार। 'शतधन्वने' शतं धनूंषि यस्यासौ शतधन्वा, तस्मै। सौ धनुषों को धारण करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'धनुषश्च' (पा० सू० ५।४।१२३) से अनङ् आदेश हुआ है। 'गिरिशयाय' गिरौ कैलासे शेत इति गिरिशयः, तस्मै। कैलास पर्वत पर शयन करने वाले रुद्र को नमस्कार। 'शिपिविष्टाय' विष्णु अथवा महेश्वर। 'शिपिविष्टस्तु खलतौ दुश्चर्मणि महेश्वरे' इत्यमरः। इस कोशप्रामाण्य से विष्णुरूप रुद्र को नमस्कार। अथवा 'शिपिषु पशुषु विष्टः प्रविष्टः शिपिविष्टः, तस्मै

यद्वा शिपिषु पशुषु विष्टः प्रविष्टः शिपिविष्टः, 'पशवः शिपिः' (तै० ब्रा० १।३।८।५) इति श्रुतेः। सर्वप्राणिष्वन्तर्यामितया स्थित इत्यर्थः, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा 'यज्ञो वै विष्णुः' (ता० म० ब्रा० ९।७।१०) इति श्रुतेर्यज्ञेऽधिदेवतात्वेन प्रविष्टः। अथवा शिपयो बालरश्मयः, तैराविष्टः शिपिविष्ट आदित्यो वा मण्डलाधिष्ठाता। तथा च यास्कः—'शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते, तैराविष्टो भवतीति' (निरु० ५।८), तस्मै शिपिविष्टाय रुद्राय नमः। मीढुष्टमाय मीढ्वान् मेघरूपेण सेक्ता, अतिशयेन मीढ्वान् मीढुष्टमः, तस्मै रुद्राय नमः। इषुमते इषवः सन्त्यस्येति इषुमान्, तस्मै बाणधारिणे रुद्राय नमः॥ २९॥

नमो॑ ह्र॒स्वाय॑ च वाम॒नाय॑ च॒ नमो॑ बृह॒ते च॒ वर्षी॑यसे च॒ नमो॑ वृ॒द्धाय॑ च स॒वृधे॑ च नमोऽग्र्या॑य च प्रथ॒माय॑ च॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—छोटा, ठिंगना, बड़ा, विद्या-विनयादि गुणों से विशिष्ट, वृद्धों के साथ रहने वाला, सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रथम जो रुद्र है, उसे हम प्रणाम करते हैं॥ ३०॥

अथ रूपतो नमस्कारमन्त्राः। ह्रस्वाय ह्रसति प्रमाणेन लघुतया यं कमपि दृष्ट्वा शब्दायत इति ह्रस्वः। 'ह्रस्वं लघु' (पा० सू० १।४।१०) इति निर्देशाद् बाहुलकाद् वप्रत्ययः। तस्मै लघुप्रमाणदेहाय रुद्राय नमः। वामनाय वमति उद्गिरति सुषमादिकमिति वामः, 'ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः' (पा० सू० ३।१।१४०) इति णप्रत्ययः, सोऽस्यास्तीति वामनः, 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः' (पा० सू० ५।२।१००) इति नप्रत्ययः, तस्मै सङ्कुचितावयवाय रुद्राय नमः। बृहते बर्हति वर्धत इति बृहत्, 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च' (उ० २।८५) इति निपातनात् साधु, प्रौढाङ्गः, तस्मै रुद्राय नमः। वर्षीयसे अतिशयेन वृद्ध इति वर्षीयान् 'प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः' (पा०सू० ६।४।१५७) इति वर्षादेशः, तस्मै रुद्राय नमः। वृद्धाय वर्धनं वृद्धिः, सास्यास्तीति वृद्धः, तस्मै रुद्राय नमः। 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा० सू०

शिपिविष्टाय। 'पशवः शिपिः' (तै० ब्रा० १।३।८।५) इस श्रुतिवचन से 'शिपि' का अर्थ 'पशु' है। समस्त पशुओं में प्रविष्ट हुए उस रुद्र को नमस्कार, अर्थात् सभी प्राणियों में अन्तर्यामी के रूप में वह स्थित है। अथवा 'यज्ञो वै विष्णुः' (ता० म० ब्रा० ९।७।१०) इस श्रुतिवचन के अनुसार यज्ञ में अधिदेवता के रूप से प्रविष्ट हुए उस रुद्र को नमस्कार। अथवा शिपयो बालरश्मयः, तैराविष्टः शिपिविष्टः, आदित्यो वा मण्डलाधिष्ठाता, तस्मै। बाल किरणों से व्याप्त आदित्य या मण्डलाधिष्ठाता रूप शिपिविष्ट रुद्र को नमस्कार। यास्क ने बताया है—'शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते, तैराविष्टो भवतीति' (निरु० ५।८)। 'मीढुष्टमाय' मीढ्वान् मेघरूपेण सेक्ता। अतिशयेन मीढ्वान् मीढुष्टमः, तस्मै। मेघ का रूप धारण कर अच्छी तरह से सिंचन करने वाले रुद्र को नमस्कार। 'इषुमते' इषवः सन्त्यस्येति इषुमान्, तस्मै। बाणधारी रुद्र को नमस्कार॥ २९॥

अब रूप को बताने वाले नमस्कार मन्त्र—'ह्रस्वाय' ह्रसति प्रमाणेन लघुतया यं कमपि दृष्ट्वा शब्दायत इति ह्रस्वः, तस्मै। लघु प्रमाण के देह वाले रुद्र को नमस्कार है। 'ह्रस्वं लघु' (पा०सू० १।४।१०) इस निर्देश के कारण बाहुलकात् 'व' प्रत्यय हुआ है। 'वामनाय' वमति उद्गिरति सुषमादिकमिति वामः, सोऽस्यास्तीति वामनः, तस्मै। 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः' (पा०सू० ५।२।१००) से 'न' प्रत्यय। संकुचित विभव वाले रुद्र को नमस्कार। 'बृहते' बर्हति वर्धत इति बृहत् प्रौढाङ्गः, तस्मै। प्रौढ अंग वाले रुद्र को नमस्कार। 'वर्षीयसे' अतिशयेन वृद्ध इति वर्षीयान्, तस्मै। अत्यधिक वृद्ध रुद्र को नमस्कार। 'वृद्धाय' वर्धनं वृद्धिः, सास्यास्तीति वृद्धः, तस्मै। अधिक अवस्था वाले रुद्र को नमस्कार। 'सवृधे' वर्धन्ते

५।२।१२७) इत्यजन्तः, वयसाधिकाय नमः। सवृधे वर्धन्ते विद्याविनयादिगुणैरिति वृधः पण्डिताः, तैः सह वर्तत इति सवृत्, तस्मै विद्वद्वरिष्ठपरिवृताय रुद्राय नमः। अग्र्याय अग्रे संसारे सर्वतः प्रथमं भवतीति अग्र्यः, 'अग्राद्यत्' (पा० सू० ४।४।११६) इति यत्प्रत्ययः, तस्मै रुद्राय नमः। प्रथमाय प्रथते प्रख्यातो भवतीति प्रथमः, 'प्रथेरमच्' (उ० ५।६८) इत्यमच्प्रत्ययः, सर्वत्र मुख्यः, तस्मै रुद्राय नमः॥ ३०॥

नम॑ आ॒शवे॑ चाजि॒राय॑ च॒ नमः॒ शीघ्र्या॑य च॒ शीभ्या॑य च॒ नम॒ ऊर्म्या॑य चावस्व॒न्या॑य च॒ नमो॑ नादे॒याय॑ च॒ द्वीप्या॑य च॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—सर्वव्यापक, गतिशील, शीघ्रताशील, जल-प्रवाह में रहने वाले, लहरों में विद्यमान रहने वाले, स्थिर जल में, गर्त के जल में, नदी में, द्वीप में रहने वाले रुद्र को नमस्कार है॥ ३१॥

आशवे अश्नुते व्याप्नोति जगदित्याशुः, तस्मै विभवे रुद्राय नमः। 'कृवापिजि॰ (उ० १।१) इत्युणि साधुः। अजिराय अजति क्षिपति व्याध्यादिकं गच्छत्यचिरं वेति अजिरः, 'अजिरशिशिर (उ० १।५६) इति निपातितः। व्यापकत्वान्न चलति परिच्छिन्नत्वाच्चलति च, 'तदेजति तन्नैजति' (वा० सं० ४०।५) इति मन्त्रवर्णात्। तस्मै रुद्राय नमः। 'उभावपि क्षिप्रनामसु (निघ० २।१५।१६, २।१५।१३)। शीघ्र्याय च शीभ्याय च। शीघ्रशीभशब्दौ क्षिप्रनामनी इत्युव्वटाचार्यः, 'तत्र भवः' (पा० सू० ४।३।५३) इति छान्दसो यद् अधिष्ठातृदेवतावचनः। शीघ्रे वेगवद्वस्तुनि वाय्वादौ भवः शीघ्र्यः, तस्मै वाय्वाद्यधिष्ठातृदेवताय नमः। शीभ्याय शीभते कत्थते स्वात्मानमिति शीभः, पचाद्यच्, आत्मश्लाघी, तत्र भवः शीभ्यः। जलप्रवाहो वा शीभः। स हि सर्वैरपि उष्णार्दितैर्जन्तुभिः कत्थते। क्षिप्रो वा शीभः। तत्र भवः शीभ्यः। तस्मै रुद्राय नमः। ऊर्म्याय ऋच्छतीति ऊर्मिः। 'अर्तेरुच्च' (उ० ४।४५) इति मिः, अर्तेरुदादेशः, रपरत्वम्, 'हलि च' (पा० सू० ८।२।७७) इति दीर्घः। यत्तु दयानन्दस्वामिना स्वीये ऋग्भाष्ये (१।९५।१०) 'अर्तेरुच्च' इति सूत्रमुद्धृत्य 'ऋधातोर्मिःप्रत्यय उकारादेशश्च' इत्युक्तम्, तत्तु

विद्याविनयादिगुणैरिति वृधः पण्डिताः, तैः सह वर्तत इति सवृत्, तस्मै विद्वद्वरिष्ठपरिवृताय। वरिष्ठ विद्वानों से परिवृत हुए रुद्र को नमस्कार। 'अग्र्याय' अग्रे संसारे सर्वतः प्रथमं भवतीति अग्र्यः, तस्मै। संसार में सबसे प्रथम गणनीय उस रुद्र को नमस्कार। 'प्रथमाय' प्रथते प्रख्यातो भवतीति प्रथमः। सर्वत्र मुख्य रूप से माननीय उस रुद्र को नमस्कार। 'प्रथेरमच्' से अमच् प्रत्यय॥ ३०॥

'आशवे' अश्नुते व्याप्नोति जगदित्याशुः, तस्मै। जगत् को व्याप्त करके रहने वाले उस रुद्र को नमस्कार। 'अजिराय' अजति क्षिपति व्याध्यादिकं गच्छति अचिरं वेत्यजिरः, व्यापकत्वान्न चलति, परिच्छिन्नत्वाच्चलति च, तस्मै। व्याधि आदि के प्रक्षेप करने वाले अथवा शीघ्र चलने वाले उस रुद्र को नमस्कार। 'शीघ्र्याय च शीभ्याय च' शीघ्र और शीभ्य शब्द दोनों क्षिप्र के नाम हैं, ऐसा उव्वटाचार्य का कहना है। अधिष्ठातृवाचक छान्दस 'यत्' किया गया है। शीघ्रे भवः शीघ्र्यः, तस्मै। अर्थात् वायु आदि के अधिष्ठातृदेवता को नमस्कार। 'शीभ्याय' शीभते कत्थते स्वात्मानमिति शीभ आत्मश्लाघी, तत्र भवः शीभ्यः, जलप्रवाहो वा शीभः। गर्मी से पीड़ित हुए सभी प्राणियों के द्वारा उसकी प्रशंसा की जाती है। क्षिप्रो वा शीभः, तत्र भवः शीभ्यः, तस्मै। शीघ्र गति वाले, शीघ्र गति की वस्तुओं में रहने वाले उस रुद्र को नमस्कार। 'ऊर्म्याय' ऋच्छतीति ऊर्मिः। 'अर्तेरुच्च' (३।४।४५) से 'मि' प्रत्यय और अर्ति को उदादेश, रपर और 'हलि च' (पा० सू० ८।२।७७) से दीर्घ हुआ है। तत्र कल्लोले भव ऊर्म्यः, तस्मै रुद्राय नमः। जलप्रवाह में रहने वाले या जलतरंग में रहने

सर्वथापि प्रामादिकम्, उद्धृतसूत्रपाठविरोधात्, केनापि पूर्वाचार्येण तथा पाठानादराच्च । तत्र कल्लोले भव ऊर्म्यः, तस्मै रुद्राय नमः । अवस्वन्याय अवाचीनमुदकस्य गच्छतः स्वनो ध्वनिरवस्वनः । यद्वा अवगतो व्यपगतः स्वनो यस्मात् तद् अवस्वनं स्थिरजलम् । तत्र भवोऽवस्वन्यः, तस्मै रुद्राय नमः । नादेयाय नद्यां भवो नादेयः 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा० सू० ४।१।१२०), तस्मै रुद्राय नमः । द्वीप्याय द्विर्गता आपो यस्मिन् तद् द्वीपम् । द्वाभ्यां दिग्भ्यां वा अनुकूला आपो यस्मिन् तद् द्वीपम् । 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (पा० सू० ५।४।७४) इति समासान्ते अप्रत्यये 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (पा० सू० ६।३।९७) इत्यपोऽकारस्य ईकारे रूपम् । तत्र जलान्तर्वर्तिनिर्जलभूमौ भवो द्वीप्यः । समुद्राद्विप्रकृष्टं द्वीपमेतत् । तस्मै रुद्राय नमः ॥ ३१ ॥

नमो॑ ज्ये॒ष्ठाय॑ च कनि॒ष्ठाय॑ च॒ नमः॑ पूर्व॒जाय॑ चापर॒जाय॑ च॒ नमो॑ मध्य॒माय॑ चापग॒ल्भाय॑ च॒ नमो॑ जघ॒न्या॒य च बु॒ध्न्या॒य च ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—सबसे ज्येष्ठ और सबसे कनिष्ठ, सृष्टि के आदि में, प्रलय काल में और मध्य काल में विद्यमान रहने वाले, अज्ञानी, गाय आदि के जघन भाग से तथा वृक्षों के मूल भाग (जड़) से प्रकट होने वाले रुद्र को हम प्रणाम करते हैं ॥ ३२ ॥

वयोऽवस्थाभिप्रायाः, अर्थाद् अवस्थाभेदाभिधायकाः षण्नमस्काराः । ज्येष्ठाय अत्यन्तं प्रशस्यो ज्येष्ठः । 'ज्य च' (पा० सू० ५।३।६१) इति इष्ठनि ज्यादेशः, तस्मै प्रशस्यतमाय रुद्राय नमः । कनिष्ठाय अत्यन्तं युवा अल्पो वा कनिष्ठः । 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' (पा० सू० ५।३।६४) इति कनादेशः, तस्मै युवतमाय अल्पतमाय वा नमः, 'अणोरणीयान्' (कठो० २।२१) इति श्रुत्यन्तरात् । पूर्वजाय पूर्वं सृष्ट्यादौ हिरण्यगर्भरूपेण जात ईश्वरः

वाले उस रुद्र को नमस्कार । दयानन्द स्वामी ने अपने ऋग्भाष्य (१।९५।१०) में 'अर्तेरुच्च' सूत्र का उल्लेख करके 'ऋ धातु' से 'मि' प्रत्यय और उकारादेश जो बताया है, वह सर्वथा ही प्रामादिक है । वह उद्धृत सूत्रपाठ के विरुद्ध है । किसी भी पूर्वाचार्य ने वैसा पाठ स्वीकार नहीं किया है । 'अवस्वन्याय' अवाचीनमुदकस्य गच्छतः स्वनो ध्वनिरवस्वनः । अथवा अवगतो व्यपगतः स्वनो यस्मात्, तद् अवस्वानं स्थिरजलम्, तत्र भवोऽवस्वन्यः, तस्मै रुद्राय नमः । गर्त स्थित जल में अथवा स्थिर जल में रहने वाले । 'नादेयाय' नद्यां भवो नादेयः । 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा० सू० ४।१।१२०) सूत्र से ढक् और एयादेश हुआ है । नदी के जल में रहने वाले । 'द्वीप्याय' द्विर्गता आपो यस्मिन् तद् द्वीपम् । द्विर्गत हुआ है जल जिसमें, उसे द्वीप कहते हैं, अथवा 'द्वाभ्यां दिग्भ्यां वा अनुकूला आपो यस्मिन् तद् द्वीपम् । 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (पा० सू० ५।४।७४) से समासान्त अप्रत्यय करके 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (पा० सू० ६।३।९७) से अप् के अकार को ईकार करके 'द्वीप' शब्द निष्पन्न होता है । तत्र जलान्तर्वर्तिनिर्जलभूमौ भवो द्वीपः, समुद्राद्विप्रकृष्टं द्वीपमेतत्, तस्मै रुद्राय नमः । जलान्तर्वर्ती निर्जल भूमि पर होने वाला द्वीप कहलाता है । यह द्वीप समुद्र से कुछ दूर है । ऐसे द्वीप में रहने वाले उस रुद्र को नमस्कार ॥ ३१ ॥

अवस्था (वय) का भेद बताने वाले छह नमस्कार कहे जा रहे हैं—'ज्येष्ठाय' अत्यन्तं प्रशस्यो ज्येष्ठः । 'ज्य च' (पा० सू० ५।३।६१) से इष्ठन् प्रत्यय होने पर ज्यादेश हुआ है, तस्मै । प्रशस्यतम रुद्र के लिये नमस्कार । 'कनिष्ठाय' अत्यन्तं युवा अल्पो वा कनिष्ठः, तस्मै । 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' (पा० सू० ५।३।६४) से कनादेश हुआ है । उस युवतम अथवा अल्पतम को नमस्कार । 'अणोरणीयान्' यह श्रुति भी इसी बात को बता रही है ।

पूर्वजः, तस्मै रुद्राय नमः । अपरजाय अपरस्मिन् प्रलयकाले कालाग्निरूपेण जातोऽपरजः, तस्मै रुद्राय नमः । मध्यमाय मध्ये सृष्टिसंहारयोरन्तराले देवनरतिर्यगादिरूपेण भवो मध्यमः, तस्मै रुद्राय नमः । अपगल्भाय गल्भनं गल्भो धाष्टर्यम्, अपगतो गल्भो यस्मात् सोऽपगल्भः, अव्युत्पन्नेन्द्रियः, तस्मै रुद्राय नमः । विनीतो वा अपगल्भः, तस्मै रुद्राय नमः । अपगतो गर्भो वा अपगर्भः, रेफलकारयोरभेदेऽपगल्भः, एकगर्भान्तरितः, तस्मै रुद्राय नमः । जघन्याय जघनं गवादीनां पश्चाद् भागः, तत्र भवो जघन्यः, 'शरीरावयवाच्च' (पा० सू० ४।३।५५) इति यत्, तस्मै पवित्रतमपुच्छगोमूत्रगोमयादिरूपाय रुद्राय नमः । बुध्न्याय बुध्नम् आदिः, मूलमित्यर्थः, तत्र अश्वत्थवृक्षादिमूले भवतीति बुध्न्यो ब्रह्मा, तस्मै अश्वत्थमूलनिवासिब्रह्मरूपाय रुद्राय नमः । अथवा जघनमिव जघन्यः, 'दिगादिभ्यो यत्' (पा० सू० ४।३।५४), अपकृष्ट इति यावत्, तस्मै रुद्राय नमः । बुध्नं मूलम् आदिपुरुषः, सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ३२ ॥

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नम उर्वर्याय च खल्याय च ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—गन्धर्वनगर में और अभिचार कर्म में प्रकट हुआ, नरक की पीडा देने वाला, कुशल कर्म में और वैदिक मन्त्रों में विद्यमान रहने वाला, वेदों में दृष्टिगोचर होने वाला, भूमि में धान्य के रूप में उत्पन्न होने वाला, गर्त में विद्यमान रहने वाला जो रुद्र है, उसे हम प्रणाम करते हैं ॥ ३३ ॥

सोभ्याय सोभं गन्धर्वनगरम्, तत्र भवः सोभ्यः, तस्मै प्रतिभासमात्रशरीरेषु गन्धर्वनगरादिष्वपि सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन विद्यमानाय रुद्राय नमः । यद्वा उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां सहितः सोभो मनुष्यलोकः, 'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यां मनुष्यलोकम्' (प्रश्नो० १) इत्याथर्वणश्रुतेः । तत्र ब्रह्मविद्वरिष्ठ-दत्तात्रेय-

---

'पूर्वजाय' पूर्वं सृष्टयादौ हिरण्यगर्भरूपेण जात ईश्वरः पूर्वजः, तस्मै रुद्राय नमः । सृष्टि के आरंभ में हिरण्यगर्भ के रूप में हुआ ईश्वर ही सबका पूर्वज है, उस रुद्र को नमस्कार ।

'अपरजाय' अपरस्मिन् प्रलयकाले कालाग्निरूपेण जातोऽपरजः, तस्मै । प्रलय काल में कालाग्नि रूप से होने वाले उस रुद्र को नमस्कार । 'मध्यमाय' मध्ये सृष्टिसंहारयोरन्तराले देव-नर-तिर्यगादिरूपेण भवो मध्यमः, तस्मै । सृष्टि और संहार के मध्यकाल में देव-नर-तिर्यक् आदि रूप से रहने वाले उस रुद्र को नमस्कार । 'अपगल्भाय' गल्भनं गल्भो धाष्टर्यम्, अपगतो गल्भो यस्मात् स अपगल्भोऽव्युत्पन्नेन्द्रियः, तस्मै । अव्युत्पन्नेन्द्रिय रुद्र को नमस्कार । अथवा 'विनीतो वा अपगल्भः' विनीत रुद्र को नमस्कार । अथवा 'अपगतो गर्भो वा अपगर्भः, रेफ-लकारयोरभेदेऽपगल्भः । एकगर्भान्तरित रुद्र को नमस्कार । 'जघन्याय' जघनं गवादीनां पश्चाद्भागः, तत्र भवो जघन्यः, तस्मै । 'शरीरावयवाच्च' (पा० सू० ४।३।५५) से 'यत्' प्रत्यय हुआ है । तस्मै उस पवित्रतम पुच्छ, गोमूत्र, गोमयादि रूप रुद्र को नमस्कार । 'बुध्न्याय' बुध्नम् आदिः, मूलमित्यर्थः, तत्र अश्वत्थवृक्षादिमूले भवतीति बुध्न्यो ब्रह्मा, तस्मै । अश्वत्थमूल निवासी ब्रह्मरूप रुद्र को नमस्कार । अथवा जघनमिव जघन्यः । 'दिगादिभ्यो यत्' (पा० सू० ४।३।५४) सूत्र से यत् प्रत्यय हुआ है, अपकृष्ट इति यावत्, तस्मै । अपकृष्ट रुद्र को नमस्कार । बुध्नं मूलम् आदिपुरुषः, सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः, तस्मै । सर्वोत्कृष्ट रुद्र को नमस्कार ॥ ३२ ॥

सोभ्याय सोभं गन्धर्वनगरम्, तत्र भवः सोभ्यः, तस्मै । प्रतिभासमात्र शरीर वाले गन्धर्वनगरादि में भी सत्तास्फूर्तिप्रद के रूप में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार । अथवा 'उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां सहितः सोभो मनुष्यलोक', क्योंकि 'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यां मनुष्यलोकः' (प्रश्न० १) यह आथर्वण श्रुति प्रमाण है । तत्र ब्रह्म-

दुर्वास-आदिरूपेण भवतीति सोभ्यः, तस्मै रुद्राय नमः। प्रतिसर्याय सरति निरन्तरं मलमनेनेति सरः अभिचारकर्म। तस्य प्रतिकूलः प्रतिसरः प्रत्यभिचारः, तत्र भवः प्रतिसर्यः, तस्मै रुद्राय नमः। अथवा प्रतिसरो विवाहोचितं हस्तकङ्कणम्, 'भवेत् प्रतिसरो मन्त्रभेदे माल्ये च कङ्कणे। व्रणशुद्धौ चमूपृष्ठे पुंसि न स्त्री तु मण्डले। आरक्षे करसूत्रे च नियोज्ये त्वन्यलिङ्गकः॥' इति मेदिनीकोषात्। तत्र भवः प्रतिसर्यः, तस्मै रुद्राय नमः। याम्याय यमः पापिनां नरकार्तिदाता, तत्र भवो याम्यः, यमान्तर्यामी, तस्मै रुद्राय नमः। क्षेम्याय क्षेमः प्राप्तस्य परिरक्षणम्, तत्र भवः क्षेम्यः, तस्मै रुद्राय नमः। श्लोक्याय श्लोका वैदिका मन्त्रा यशो वा, तत्र भवः श्लोक्यो वेदपरमतात्पर्यभूतः, तस्मै रुद्राय नमः। अवसान्याय अवसानं समाप्तिः, वेदानामन्तभागो वेदान्तो वा, तत्र भवोऽवसान्यः, वेदान्ततात्पर्यविषयः, तस्मै रुद्राय नमः। उर्वर्याय उर्वरः सर्वसस्याढ्यभूभागः, 'उर्वरा सर्वसस्याढ्या' (अ० को० २।१।४) इत्यमरकोषवचनात्। सर्वसस्याढ्ययोर्लाङ्गलपद्धत्योरन्तराल उर्वर इत्युव्वटाचार्यः, तत्र भव उर्वर्यः, तस्मै धान्यरूपाय रुद्राय नमः। खल्याय खलो तुषादिभ्यो धान्यविवेचनदेशः, तत्र भवः खल्यः स्फीतधान्यम्, तस्मै रुद्राय नमः॥३३॥

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नम आशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—वनों में और गुल्मों में रहने वाले, ध्वनि और प्रतिध्वनि का स्वरूप धारण करने वाले, जिसकी सेना और रथ शीघ्रगामी हैं और जो शूर एवं शत्रुनाशक है, उस रुद्र को प्रणाम है॥ ३४॥

वन्याय वनं कान्ताररूपवृक्षसमूह उदकं वा, तत्र भवो वन्यः, वृक्षलतादिरूपो वरुणो वा, तस्मै रुद्राय नमः। कक्ष्याय कक्षः शुष्कं तृणं वल्ली वा, तत्र भवः कक्ष्यः, तस्मै रुद्राय नमः। श्रवाय श्रूयत इति श्रवः शब्दः,

---

विद्वरिष्ठदत्तात्रेयदुर्वास-आदिरूपेण भवतीति सोभ्यः, तस्मै। मनुष्य लोक में ब्रह्मज्ञानी दत्तात्रेय, दुर्वासा आदि के रूप में अवतीर्ण होने वाले उस रुद्र को नमस्कार। प्रतिसर्याय सरति निरन्तरं मलमनेनेति सरः, अभिचारकर्म, तस्य प्रतिकूलः प्रतिसरः प्रत्यभिचारः, तत्र भवः प्रतिसर्यः, तस्मै। प्रत्यभिचार में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। अथवा प्रतिसरो विवाहोचितं हस्तकङ्कणम्, तत्र भवः प्रतिसर्यः, तस्मै। माङ्गलिक हस्तकङ्कण में रहनेवाले रुद्र को नमस्कार। याम्याय यमः पापिनां नरकार्तिदाता, तत्र भवो याम्यो यमान्तर्यामी, तस्मै। यम के अन्तर्यामी रुद्र को नमस्कार। क्षेम्याय क्षेमः प्राप्तस्य परिरक्षणम्, तत्र भवः क्षेम्य, तस्मै। कुशल कर्म में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। श्लोक्याय श्लोका वैदिका मन्त्रा यशो वा, तत्र भवः श्लोक्यो वेदपरमतात्पर्यभूतः, तस्मै। वैदिक मन्त्रों में अथवा यश में रहने वाले परमतात्पर्यभूत उस रुद्र को नमस्कार। अवसान्याय अवसानं समाप्तिः, वेदानामन्तभागो वेदान्तो वा, तत्र भवोऽवसान्यो वेदान्ततात्पर्यविषयः, तस्मै। वेदान्ततात्पर्यविषयभूत उस रुद्र को नमस्कार।

उर्वर्याय, उर्वरः सर्वसस्याढ्यभूभागः, सर्वसस्याढ्ययोर्लाङ्गलपद्धत्योरन्तराल उर्वर इत्युव्वटाचार्यः। तत्र भव उर्वर्यः, तस्मै। धान्यरूप रुद्र को नमस्कार। खल्याय खलस्तुषादिभ्यो धान्यविवेचनदेशः, तत्र भवः खल्यः स्फीतधान्यम्, तस्मै। खलिहान के देश में रहने वाले रुद्र को नमस्कार॥ ३३॥

वन्याय, कान्ताररूप वृक्षसमूह को 'वन' कहते हैं। अथवा 'उदक' को भी वन कहते हैं। उसमें होने वाला 'वन्य' कहलाता है। एवं च वृक्षलतादिरूप अथवा वरुणस्वरूप रुद्र को नमस्कार। कक्ष्याय शुष्क तृण अथवा वल्ली को कक्ष कहते हैं। उसमें होने वाला कक्ष्य कहलाता है। शुष्क तृण अथवा गुल्मों में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। श्रवाय शब्दरूप को नमस्कार।

तस्मै शब्दरूपाय रुद्राय नमः। प्रतिश्रवः प्रतिशब्दः, तस्मै रुद्राय नमः। आशुषेणाय आशुः शीघ्रगा सेना यस्य स आशुषेणः, तस्मै रुद्राय नमः। आशुरथाय आशुः शीघ्रगामी रथो यस्यासौ आशुरथः, तस्मै रुद्राय नमः। शूराय शूरयत इति शूरः, 'शूर वीर विक्रान्तौ' पचाद्यच्, तस्मै युद्धधीराय रुद्राय नमः। अवभेदिने अवभिनत्ति रिपून् नीचैर्विदारयतीत्यवभेदी, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ३४ ॥

नमो॑ बि॒ल्मिने॑ च कव॒चिने॑ च॒ नमो॑ व॒र्मिणे॑ च वरू॒थिने॑ च॒ नमः॑ श्रु॒ताय॑ च श्रुतसे॒नाय॑ च॒ नमो॑ दुन्दु॒भ्या᳖य चाहन॒न्या᳖य च ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—पगड़ी, रुई का अंगरखा और लोहे के कवच को धारण करने वाले, जिसके रथ पर गुम्मट लगा है तथा जो स्वयं प्रसिद्ध है और जिसकी सेना भी प्रसिद्ध है, दुन्दुभि (नगाड़ा) में और उसे बजाने के दण्ड में जो विद्यमान रहता है, उस रुद्र को प्रणाम है ॥ ३५ ॥

बिल्मिने बिल्मं शिरस्त्राणमस्यास्तीति बिल्मी, तस्मै रुद्राय नमः। कवचिने कवचं पटस्यूतं कार्पासगर्भं देहरक्षकमस्यास्तीति कवची, तस्मै रुद्राय नमः। वर्मिणे वर्म लोहमयं शरीररक्षकमस्यास्तीति वर्मी, तस्मै रुद्राय नमः। वरूथिने वरूथो गजोपरिस्थो गृहाकारो कोष्ठकः, रथगुप्तिर्वा, सोऽस्यास्तीति वरूथी, तस्मै रुद्राय नमः। श्रुताय प्रसिद्धाय सर्वलोकविदिताय रुद्राय नमः। श्रुतसेनाय श्रुता प्रसिद्धा सेना यस्य स श्रुतसेनः, तस्मै रुद्राय नमः। दुन्दुभ्याय दुन्दुभौ भेर्यां भवो दुन्दुभ्यः, तस्मै रुद्राय नमः। आहनन्याय आहन्यते ताड्यतेऽनेनेत्याहननम्, वाद्यसाधनं दण्डादि, तत्र भव आहनन्यो दण्डादिनिष्ठवादनसौष्ठवजननसामर्थ्यरूपः, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ३५ ॥

नमो॑ धृ॒ष्णवे॑ च प्रमृ॒शाय॑ च॒ नमो॑ निष॒ङ्गिणे॑ चेषुधि॒मते॑ च॒ नम॑स्ती॒क्ष्णेष॑वे चायु॒धिने॑ च॒ नमः॑ स्वायु॒धाय॑ च सु॒धन्व॑ने च ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—जो प्रगल्भ और विचारशील है, जिसके पास खड्ग, तूणीर, तीक्ष्ण बाण और आयुधसमूह है, तथा जो त्रिशूल और उत्तम धनुष धारण करने वाला है, उस रुद्र को हम प्रणाम करते हैं ॥ ३६ ॥

प्रतिश्रवाय प्रतिध्वनिरूप रुद्र को नमस्कार। आशुषेणाय शीघ्रगतिक सेना वाले रुद्र को नमस्कार। आशुरथाय शीघ्रगामी रथ वाले रुद्र को नमस्कार। शूराय शूरस्वरूपी रुद्र को नमस्कार। अवभेदिने अवभिनत्ति रिपून् नीचैर्विदारयतीत्यवभेदी, तस्मै। शत्रुविनाशक रुद्र को नमस्कार ॥ ३४ ॥

बिल्मिने बिल्मं शिरस्त्राणमस्यास्तीति बिल्मी, तस्मै। शिरस्त्राण धारण करने वाले रुद्र को नमस्कार। कवचिने कवचं पटस्यूतं कार्पासगर्भं देहरक्षकमस्यास्तीति कवची, तस्मै। रुई का अंगरखा पहने हुए रुद्र को नमस्कार। वर्मिणे वर्म लोहमयं शरीररक्षकमस्यास्तीति वर्मी, तस्मै। लोहमय कवच पहने हुए रुद्र को नमस्कार। वरूथिने वरूथो गजोपरिस्थो गृहाकारकोष्ठको रथगुप्तिर्वा, सोऽस्यास्तीति वरूथी, तस्मै। हाथी पर घुम्मटदार रथ वाले रुद्र को नमस्कार। श्रुताय प्रसिद्धाय सर्वलोकविदिताय। सर्वलोक के विदित रुद्र को नमस्कार। श्रुतसेनाय श्रुता प्रसिद्धा सेना यस्य स श्रुतसेनः, तस्मै। प्रसिद्ध सेना वाले रुद्र को नमस्कार। दुन्दुभ्याय दुन्दुभौ भेर्यां भवो दुन्दुभ्यः, तस्मै। दुन्दुभी (नगाडा) में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। आहनन्याय आहन्यते ताड्यतेऽनेनेत्याहननं वाद्यसाधनदण्डादि, तत्र भव आहनन्यः, दण्डादिनिष्ठवादनसौष्ठव-जननसामर्थ्यरूपः, तस्मै। नगाड़ा बजाने के दण्ड में सौष्ठवोत्पादक सामर्थ्यसम्पन्न रुद्र को नमस्कार ॥ ३५ ॥

धृष्णवे धृष्णोतीति धृष्णुः, तस्मै प्रगल्भाय रुद्राय नमः। 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' (पा० सू० ३।२।१४०) इति रूपसिद्धिः। प्रमृशाय प्रकर्षेण मृशति सदसद्विवेकपूर्वकं विचारयतीति प्रमृशः। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति रूपसिद्धिः, तस्मै पण्डिताय रुद्राय नमः। निषङ्गिणे खड्गयुताय रुद्राय नमः। इषुधिमते तूणीरधराय रुद्राय नमः। तीक्ष्णेषवे तीक्ष्णा असह्या इषवो बाणा यस्य स तीक्ष्णेषुः, तस्मै रुद्राय नमः। आयुधिने आयुधान्यन्यान्यपि सन्तीति आयुधी, तस्मै विविधायुधधारिणे रुद्राय नमः। स्वायुधाय शोभनमायुधं त्रिशूलं यस्य स स्वायुधस्तस्मै रुद्राय नमः। सुधन्वने सु सुष्ठु शोभनं धनुः पिनाकरूपं यस्यासौ सुधन्वा, 'धनुषश्च' (पा० सू० ५।४।१३२) इत्यनङ्गादेशे रूपसिद्धिः, तस्मै रुद्राय नमः॥ ३६॥

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च॥ ३७॥

मन्त्रार्थ—गली में, विस्तृत मार्ग में, संकुचित मार्ग में, पर्वत की तलहटी में, छोटी नदी अथवा नहर में, सरोवर में, नदियों में और गोष्पद में विद्यमान रहने वाले रुद्र को प्रणाम है॥ ३७॥

स्रुत्याय नद्या एकदिशोदकवाहिनी स्रुतिः, क्षुद्रमार्गो वा स्रुतिः, तत्र भवः स्रुत्यः, तस्मै रुद्राय नमः। पथ्याय पन्था रथाश्वगजादियोग्यो मार्गः, तत्र भवः पथ्यः, तस्मै रुद्राय नमः। शरीरादिस्वास्थ्यानुकूलमशनपान-विहारादिकं पथ्यम्, तस्मै रुद्राय नमः। ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयनिःश्रेयसानुगुणो वेदादिशास्त्रसम्मतो मार्गः पन्थाः, तत्र भवं पथ्यम्, तस्मै रुद्राय नमः। काट्याय कुत्सितमटति जनो यत्र स काटो विषममार्गः, कूपो वा, कुल्याप्रदेशो वा। तत्र भवः काट्यः, तस्मै रुद्राय नमः। नीप्याय नीचैर्यन्ति पतन्त्यापो यत्र स नीपः, गिर्यधोभागो नीपः। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (पा० सू० ५।४।७४) इत्यप्रत्ययः। 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (पा० सू० ६।३।९७) इति ईकारादेशः, तस्मै रुद्राय नमः। कुल्याय कौ पृथिव्यां लीयन्त इति कुलानि शरीराणि, तेषु क्षेत्रज्ञरूपेण अन्तर्यामि-रूपेण वा भवतीति कुल्यः, तस्मै रुद्राय नमः। प्रशस्ते कुले वा भवतीति कुल्यः कुलीनः, तस्मै तद्रूपाय रुद्राय नमः।

धृष्णवे धृष्णोतीति धृष्णुः, तस्मै। प्रगल्भ रुद्र को नमस्कार। प्रमृशाय प्रकर्षेण मृशति सदसद्विवेकपूर्वकं विचार-यतीति। पण्डित रुद्र को नमस्कार। निषङ्गिणे खड्ग से सम्पन्न रुद्र को नमस्कार। इषुधीमते तूणीरधारी रुद्र को नमस्कार। तीक्ष्णेषवे तीक्ष्णा असह्या इषवो बाणा यस्य स तीक्ष्णेषुः, तस्मै। असह्य बाण वाले रुद्र को नमस्कार। आयुधिने आयुधान्यन्यान्यपि सन्तीत्यायुधी, तस्मै। विविध आयुधों को धारण करने वाले रुद्र को नमस्कार। स्वायुधाय शोभनमायुधं त्रिशूलं यस्य स स्वायुधः, तस्मै। त्रिशूलधारी रुद्र को नमस्कार। सुधन्वने सु सुष्ठु शोभनं धनुः पिनाकरूपं यस्याऽसौ सुधन्वा, तस्मै। पिनाकधारी रुद्र को नमस्कार॥ ३६॥

स्रुत्याय नद्या एकदेशोदकवाहिनी स्रुतिः, क्षुद्रमार्गो वा स्रुतिः, तत्र भवः स्रुत्यः, तस्मै। नदी के एकदेशोदकवाहिनी को स्रुति कहते हैं, अथवा क्षुद्र मार्ग (गली) को स्रुति कहते हैं, उसमें विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। पथ्याय पन्था रथाश्वगजादियोग्यो मार्गः, तत्र भवः पथ्यः, तस्मै। राजमार्ग में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। काट्याय कुत्सित-मटति प्रान्ते यत्र सः काटो विषममार्गः कूपो वा, कुल्याप्रदेशो वा, तत्र भवः काट्यः, तस्मै। विषम मार्ग, अथवा कूप, अथवा कृत्रिम सरित् (नहर आदि) में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। नीप्याय नीचैर्यन्ति पतन्त्यापो यत्र स नीपः, तत्र भवो नीप्यः, तस्मै। पर्वत की तलहटी में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। कुल्याय कौ पृथिव्यां लीयन्त इति कुलानि शरीराणि, तेषु क्षेत्रज्ञरूपेणान्तर्यामिरूपेण वा भवतीति कुल्यः, तस्मै। शरीरों में क्षेत्रज्ञ रूप से अथवा अन्तर्यामी होकर जो

'सजातीयगणे गोत्रे देहेऽपि कथितं कुलम्' इति विश्वकोषः। सरस्याय सरसि भवः सरस्यः, तस्मै रुद्राय नमः। नादेयाय नद्यां भवं नादेयं जलम्, तस्मै रुद्राय नमः। वैशन्ताय वेशन्तोऽल्पसरः, तत्र भवो वैशन्तः, तस्मै रुद्राय नमः। सर्वरूपस्य भगवतः सार्वात्म्यद्योतनाय गौणान्येतानि नामानि ॥ ३७ ॥

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—कूप, खड्डे, शरद् ऋतु के बादल, धूप (आतप), मेघ, विद्युत्, वृष्टि, अनावृष्टि—इन सब में विद्यमान रहने वाले रुद्र को प्रणाम है ॥ ३८ ॥

कूप्याय कूपे भवः कूप्यः, तस्मै रुद्राय नमः। अवट्याय अवटो गर्तः, तत्र भवोऽवट्यः, तस्मै रुद्राय नमः। वीध्र्याय विशेषेण इन्धे दीप्यत इति वीध्रः शरदभ्रं निरभ्रं चन्द्रनक्षत्रादिमण्डलं वा, स्वभावशुद्धं वा। विपूर्वाद् इन्धेः 'वा विन्धेः' (उ० २।२७) इति क्रनि, 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (पा० सू० ६।४।२४) इत्युपधालोपे दीर्घे च रूपम्। तत्र भवो वीध्र्यः। तस्मै स्वभावशुद्धाय रुद्राय नमः। 'वीध्रं तु विमलात्मकम्' (अ० को० ३।१।५५) इत्यमरः। यद्वा विगत इध्रो दीप्तिर्यस्मादसौ वीध्रो घनागमः, तत्र भवो वीध्र्यः, तस्मै रुद्राय नमः। आतप्याय आतपतीत्यातपः, तत्र घर्मे भव आतप्यः, तस्मै रुद्राय नमः। मेघ्याय मेघे पर्जन्ये भवो मेघ्यः, तस्मै रुद्राय नमः। विद्युत्याय विद्युति तडिति भवो विद्युत्यः, तस्मै रुद्राय नमः। वर्ष्याय वर्षे वृष्टौ भवो वर्ष्यः, तस्मै रुद्राय नमः। अवर्ष्याय अवर्षेऽवग्रहे वृष्टिप्रतिबन्धे भवोऽवर्ष्यः, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ३८ ॥

नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—वायु, प्रलयकाल और गृहों में वर्तमान रहने वाले, गृहपालक के स्वरूप में स्थित, पार्वती के साथ रहने वाले, दुःख-नाशक, ताम्र और अरुण वर्ण के रुद्र को हम नमस्कार करते हैं ॥ ३९ ॥

रहता है, उस रुद्र को नमस्कार। अथवा प्रशस्ते कुले भवतीति कुल्यः कुलीन, तस्मै। उस कुलीन रुद्र को नमस्कार। सरस्याय सरसि भवः सरस्यः, तस्मै। सरोवर में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। नादेयाय नद्यां भवं नादेयं जलम्, तस्मै। जल में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। वैशन्ताय वेशन्तोऽल्पसरः, तत्र भवो वैशन्तः, तस्मै। अल्प सरोवर में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। सर्वरूप भगवान् के सार्वात्म्य का द्योतन करने के लिये ये गौण नाम हैं ॥ ३७ ॥

कूप्याय कूपे भवः कूप्यः, तस्मै। कूप में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। अवट्याय अवटो गर्तः, तत्र भवः अवट्यः, तस्मै। गर्त में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। वीध्र्याय विशेषेण इन्धे दीप्यत इति वीध्रः शरदभ्रम्, निरभ्रं चन्द्रनक्षत्रादिमण्डलं वा, स्वभावशुद्धं वा, तत्र भवो वीध्र्यः, तस्मै। स्वभावशुद्ध, अथवा शरदृतु के मेघ, अथवा नीरभ्र अथवा चन्द्र-नक्षत्रादिमण्डल के रूप में स्थित रुद्र को नमस्कार। अथवा विगत इध्रो दीप्तिर्यस्मादसौ वीध्रो घनागमः, तत्र भवो वीध्र्यः, तस्मै। घनागम में विद्यमान रुद्र को नमस्कार। आतप्याय आतपतीत्यातपः, तत्र घर्मे भव आतप्यः, तस्मै। आतप (घर्म) में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। मेघ्याय मेघे पर्जन्ये भवो मेघ्यः, तस्मै। पर्जन्य में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। विद्युत्याय विद्युति तडिति भवो विद्युत्यः, तस्मै। विद्युत् में विद्यमान रुद्र को नमस्कार। वर्ष्याय वर्षे वृष्टौ भवो वर्ष्यः, तस्मै। वृष्टि में विद्यमान रुद्र को नमस्कार। अवर्ष्याय अवर्षे अवग्रहे वृष्टिप्रतिबन्धे भवोऽवर्ष्यः, तस्मै। अवर्षण में रहनेवाले रुद्र को नमस्कार ॥ ३८ ॥

वात्याय वाते भवो वात्यः, तस्मै रुद्राय नमः। रेष्म्याय रिष्यन्ते नश्यन्ति भूतानि यत्र स रेष्मा, 'रिष् हिंसायाम्' इत्यस्मात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिन्, तत्र भवो रेष्म्यः परमात्मा प्रलयकालेऽपि विद्यमानत्वात्। वास्तव्याय वास्तुनि गृहभूमौ भवो वास्तव्यः, 'वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्' (अ० को० २।२।१९) इत्यमरः, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा वसतीति वास्तव्यः, 'वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च' (पा० सू० ३।१।९६, वा० १) इति वार्त्तिकात् सिद्धिः, सर्वशरीरवासी रुद्रः, तस्मै रुद्राय नमः। वास्तुपाय वास्तुं गृहं भुवं पातीति वास्तुपः, तस्मै रुद्राय नमः। सोमाय उमया बहु शोभमानया ब्रह्मविद्यया महाशक्त्या वा सहितः सोमः, तस्मै साम्बसदाशिवाय रुद्राय नमः। रुद्राय रुद् दुःखं रोदनं वा द्रावयतीति रुद्रः सर्वविधानिष्टहन्ता, तस्मै रुद्राय नमः। इति नामतो नमस्काराः।

अथ वर्णतो नमस्काराः। ताम्राय ताम्रो रक्तवर्णः, उदयद्रविरूपेण, तस्मै रुद्राय नमः। अरुणाय अरुण ईषद्रक्तः, उदयोत्तरकालिकार्करूपेण, तस्मै रुद्राय नमः॥ ३९॥

नमः॑ श॒ङ्गवे॑ च पशु॒पत॑ये च॒ नम॑ उ॒ग्राय॑ च भी॒माय॑ च॒ नमो॑ऽग्रेव॒धाय॑ च दूरेव॒धाय॑ च॒ नमो॑ ह॒न्त्रे च॒ हनी॑यसे च॒ नमो॑ वृ॒क्षेभ्यो॒ हरि॑केशेभ्यो॒ नम॑स्ता॒राय॑॥ ४०॥

मन्त्रार्थ—सुखदायक वाणी बोलने वाले, प्राणियों के अधिपतिस्वरूप, शस्त्रों को ऊँचा धारण करने वाले, भयंकर, सामने आने वाले और दूर स्थित शत्रुओं का नाश करने वाले, सामान्य रूप से मारने वाले, विशेष रूप से प्रलय काल में मारने वाले रुद्र को प्रणाम तथा हरे-भरे कल्पवृक्ष रूप रुद्रों को तथा संसारतारक रुद्रों को हमारा प्रणाम॥ ४०॥

शङ्गवे शं सुखं गवां यस्मादसौ शङ्गुः, यद्वा शं सुखं गमयति प्रापयति भक्तानामिति शङ्गुः, अथवा शं सुखरूपा गावो धेनवो वाचो वेदरूपा वा यस्यासौ शङ्गुः, तस्मै रुद्राय नमः। पशुपतये पश्यन्ति विषममिति पशवः परादृशः संसारिणः, तान् पाति पालयतीति पशुपतिः, तस्मै रुद्राय नमः। उग्राय उच्यति समवैति सर्वं जगत्

वात्याय वाते भवो वात्यः, तस्मै। वायु में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। रेष्म्याय रिष्यन्ते नश्यन्ति भूतानि यत्र स रेष्मा, तत्र भवो रेष्म्यः, तस्मै। प्रलय काल में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। 'रिष् हिंसायाम्' धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) से मनिन् प्रत्यय हुआ है। वास्तव्याय वास्तुनि गृहभूमौ भवो वास्तव्यः, तस्मै। गृहभूमि में विद्यमान रुद्र को नमस्कार। 'वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्' इत्यमरः। अथवा वसतीति वास्तव्यः, 'वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च' (पा० सू० ३।१।९६, वा० १) इस वार्तिक से यह रूप सिद्ध है। सर्वशरीरवासी रुद्र को नमस्कार। वास्तुपाय वास्तुं गृहभुवं पातीति वास्तुपः, तस्मै। गृहभूमि को रक्षा करने वाले रुद्र को नमस्कार। सोमाय उमया बहुशोभमानया ब्रह्मविद्यया महाशक्त्या वा सहितः सोमः, तस्मै। साम्ब सदाशिवरूपी रुद्र को नमस्कार। रुद्राय रुद् दुःखं रोदनं वा द्रावयतीति रुद्रः, तस्मै। सर्वविध अनिष्ट के विनाशक रुद्र को नमस्कार। ये नामग्रहणपूर्वक नमस्कार कहे गये हैं। अब वर्ण को बता कर रुद्र को नमस्कार कर रहे हैं—ताम्राय ताम्रो रक्तवर्ण उदयद्रविरूपेण, तस्मै। उदित होने वाले सूर्य के रूप में रक्त वर्ण के उस रुद्र को नमस्कार। अरुणाय अरुण ईषद्रक्त उदयोत्तरकालिकार्करूपेण, तस्मै रुद्राय नमः। उदय के उत्तर क्षणवर्ती सूर्य के रूप में ईषद् रक्त वर्ण वाले रुद्र को नमस्कार॥ ३९॥

'शङ्गवे' शं सुखं गवां यस्मादसौ शङ्गुः। गौओं को जिससे सुख होता है, उसे 'शङ्गु' कहते हैं। अथवा शं सुखं गमयति प्रापयति भक्तानामिति शङ्गुः। भक्तों को जो सुख प्राप्त कराता है, उसे 'शङ्गु' कहते हैं। अथवा शं सुखरूपा गावो धेनवो वाचो वेदरूपा वा यस्याऽसौ शङ्गुः। जिसकी वाणी अथवा वेदरूपा वाणी सुखरूप है, उसे शङ्गु कहते हैं। उस

प्रलयकाले स्वात्मनेत्युग्रः, 'ऋज्रेन्द्राग्र (उ० २।२८) इत्यादिना रन्, निपातनात् चकारस्य गकारश्च, महेश्वरः, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा उग्र उद्‌गूर्णायुधो धर्मध्वंसकान् प्रति सदैवेति संहारकाले प्रचण्डो वा, तस्मै रुद्राय नमः। भीमाय बिभ्यति शत्रवो यस्मात् स भीमः, तस्मै रुद्राय नमः। अग्रेवधाय अग्रे पुरतो वर्तमानः सन् हन्तीति अग्रेवधः, 'हश्च वधः' (पा० सू० ३।३।७६) इत्यप्प्रत्ययः, हनो वधादेशश्च, तस्मै रुद्राय नमः। दर्शनं दत्त्वा रिपूनपि हत्वा तारयतीत्यर्थः। दूरेवधाय च दूरे वर्तमानो हन्तीति दूरेवधः, तस्मै रुद्राय नमः, दूराद् लक्ष्यभेदीति यावत्। हन्त्रे हन्तीति हन्ता, तस्मै रुद्राय नमः। हनीयसे अतिशयेन हन्तेति हनीयान्, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृशब्दस्य लोपः, तस्मै रुद्राय नमः, प्रलये सर्वहन्त्रे इत्यर्थः। हरिकेशेभ्यो वृक्षेभ्यो हरयो हरितवर्णाः केशाः पत्ररूपा येषां ते हरिकेशास्तेभ्यो वृक्षेभ्यः कल्पतरुरूपेभ्यो नमः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। ताराय तारयति उत्तारयति ज्ञानोपदेशेन अधिकारिजनानिति तारः, यद्वा तारयति काशीस्थान् सर्वान् कीटपतङ्गादीनपि स तारः, अथवा तारयति आत्यन्तिकप्रलये सर्वान् सर्वत्रस्थान् इति तारः शिवः, तस्मै रुद्राय नमः॥ ४०॥

नमः॑ शम्भवाय॑ च मयोभवाय॑ च नमः॑ शङ्कराय॑ च मयस्कराय॑ च नमः॑ शिवाय॑ च शिवत॑राय च॥ ४१॥

मन्त्रार्थ—संसार के रूप में तथा मोक्ष के रूप में स्थित सांसारिक तथा अन्य ऐहिक और पारलौकिक मोक्ष सुख देने वाले, स्वयं निष्पाप और भक्तों को भी निष्पाप बना देने वाले रुद्र को हम प्रणाम करते हैं॥ ४१॥

रुद्र को प्रणाम है। 'पशुपतये' पश्यन्ति विषममिति पशवः पराग्दृशः संसारिणः। तान् पाति पालयतीति पशुपतिः। जो विषम दृष्टि से देखते हैं, वे पशु हैं, यानी पराग् दृष्टिवाले संसारी जीव हैं, उनके पालन करने वाले को पशुपति कहते हैं। उस रुद्र को प्रणाम है। 'उग्राय' उच्यति समवैति सर्वं जगत् प्रलयकाले स्वात्मनेत्युग्रो महेश्वरः। प्रलय काल में सम्पूर्ण जगत् को स्वयं ही अपने में समा लेता है, उसे उग्र कहते हैं, यानी महेश्वर, तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। यद्वा उग्र उद्‌गूर्णायुधो धर्मध्वंसकान् प्रति सदैवेति संहारकाले प्रचण्डो वा। धर्मविध्वंसकों के प्रति सदैव जो संहार काल में आयुध उठाये हुए रहता है, अथवा संहार काल में जो प्रचण्ड हो जाता है, उस रुद्र को प्रणाम। 'भीमाय' बिभ्यति शत्रवो यस्मात् स भीमः। शत्रु जिससे डरते हैं, उसे भीम कहते हैं। उस रुद्र को प्रणाम। 'अग्रेवधाय' अग्रे पुरतो वर्तमानः सन् हन्तीत्यग्रेवधः। सामने खड़े होकर जो वध करता है, उसे अग्रेवध कहते हैं, उस रुद्र को प्रणाम। अर्थात् दर्शन देकर और शत्रुओं को भी मार कर वह उद्धार करता है। 'दूरेवधाय च' दूरे वर्तमानो हन्तीति दूरेवधः। दूर रह कर भी जो मारता है, उसे दूरेवध कहते हैं, अर्थात् दूर से लक्ष्यभेद करने वाले उस रुद्र को प्रणाम। 'हन्त्रे' हन्तीति हन्ता, तस्मै रुद्राय नमः। हनन करने वाले उस रुद्र को प्रणाम। 'हनीयसे' अतिशयेन हन्तेति हनीयान्। प्रलय काल में जो सर्वहन्ता है, उस रुद्र को प्रणाम। 'हरिकेशेभ्यो वृक्षेभ्यः' हरयो हरितवर्णाः केशाः पत्ररूपा येषां ते हरिकेशास्तेभ्यः। वृक्षेभ्यः कल्पतरुरूपेभ्यो नमः। तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। हरे रंग के पत्ररूप केश वाले कल्पतरुस्वरूप रुद्र को प्रणाम। 'ताराय' तारयति उत्तारयति ज्ञानोपदेशेन अधिकारिजनानिति तारः। अधिकारी जनों को ज्ञानोपदेश देकर जो तार देता है। अथवा तारयति काशीस्थान् सर्वान् कीटपतङ्गादीनपि स तारः। काशी क्षेत्र में स्थित कीट-पतङ्ग आदि सभी को जो तार देता है। अथवा तारयत्यात्यन्तिकप्रलये सर्वान् सर्वत्रस्थान् इति तारः शिवः, तस्मै रुद्राय नमः। आत्यन्तिक प्रलय में सर्वत्र स्थित प्राणियों को जो तारता है, उसे 'तार' कहते हैं, अर्थात् 'शिव' कहते हैं। उस शिवस्वरूप रुद्र को प्रणाम॥ ४०॥

शम्भवाय शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भवः, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः। अथवा भवते प्राप्नोति सर्वमिति भवः, शं सुखरूपश्चासौ भवः संसाररूपश्चेति शम्भवः, ज्ञानिनां निरावरणब्रह्मसुखरूपोऽपि भगवानज्ञानां सावरणत्वात् संसाररूप एव। शं सुखेन अनायासेन भावयति जगदुत्पादयतीति वा शम्भवः, 'निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि। स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः ॥' इत्युक्तेः। यद्वा शं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं भवनमस्तित्वं यस्य स शम्भवः अपरिच्छिन्नशिवस्वरूपः। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१), 'एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (श्वे० उ० ३।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मै रुद्राय नमः। मयोभवाय मयः संसारसुखं मोक्षसुखं च भवत्यस्मादिति मयोभवः। भोगमोक्षप्रद इत्यर्थः। तस्मै रुद्राय नमः। शङ्कराय शं लौकिकसुखं करोतीति शङ्करः, तस्मै रुद्राय नमः। मयस्कराय मयो मोक्षसुखं करोतीति मयस्करः, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा स्रक्चन्दनादिरूपेण सुखकारित्वात् शङ्करत्वम्। वेदान्तशास्त्रतज्जनितप्रत्यगभिन्नब्रह्म-साक्षात्कारादिरूपेण मयस्करत्वम्। एताभ्यां पदाभ्यां साक्षात्सुखकारित्वं पूर्वपदाभ्यां तद्द्वारा कारयितृत्वमिति विवेकः। शिवाय शिवः शान्तः कल्याणरूपो निष्पापः, तस्मै रुद्राय नमः। शिवतराय शिवतरोऽत्यन्तं शिवो भक्तानपि निष्पापान् कल्याणरूपान् करोतीति, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ४१ ॥

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च ॥ ४२ ॥

'शम्भवाय' शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भवः। जिससे सुख होता है, उसे 'शम्भव' कहते हैं। 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) यह तैत्तिरीय श्रुति कह रही है। यद्वा शं सुखरूपश्चासौ भवः संसाररूपश्चेति शम्भवः। ज्ञानिनां निरावरण-ब्रह्मसुखरूपोऽपि भगवान् अज्ञानां सावरणत्वात् संसाररूप एव। सुखरूप जो भव यानी संसार, अर्थात् सुखरूप संसार जिसका स्वरूप है, उसे शम्भव कहते हैं। ज्ञानी पुरुषों के लिये निरावरण ब्रह्म सुखरूप होता हुआ भी अज्ञानी पुरुषों के लिये वह ब्रह्म आवरणसहित होने के कारण संसाररूप ही है। अथवा शं सुखेन अनायासेन भावयति जगदुत्पादयतीति शम्भवः। अनायास ही जो जगत् को उत्पन्न कर देता है, उसे शम्भव कहते हैं। 'निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि। स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः ॥' इस ब्रह्म के निःश्वसित 'वेद' हैं, उसका वीक्षण ही 'पञ्चभूत' हैं, उसका स्मित 'चराचर जगत्' है एवं उसकी सुषुप्ति (निद्रा) 'महाप्रलय' है, ऐसा कहा गया है। यद्वा शं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं भवनम् अस्तित्वं यस्य स शम्भवः। परिच्छेदत्रयशून्य जिसका अस्तित्व है, उसे शंभव कहते हैं। वह शिवस्वरूप 'अपरिच्छिन्न' है, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१), 'एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (श्वे० उ० ३।२) इत्यादि श्रुतियाँ उसमें प्रमाण हैं। उस रुद्र को प्रणाम है।

'मयोभवाय' मयः संसारसुखं मोक्षसुखं भवत्यस्मादिति मयोभवः। अर्थात् भोग और मोक्ष को देनेवाले उस रुद्र को प्रणाम। 'शङ्कराय' शं लौकिकसुखं करोतीति शङ्करः। लौकिक सुख को देनेवाले रुद्र को प्रणाम। 'मयस्कराय' मयो मोक्षसुखं करोतीति मयस्करः। मोक्षसुख देने वाले रुद्र को प्रणाम। यद्वा—स्रक्चन्दनादिरूपेण सुखकारित्वात् शङ्करत्वं स्रक् माल्य), चन्दन आदि के रूप में सुखकारी होने से वह शङ्कर कहलाता है। वेदान्तशास्त्र तज्जनित–प्रत्यगभिन्नब्रह्म-साक्षात्कारादिरूपेण मयस्करत्वम्। वेदान्तशास्त्र से होने वाले ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार के रूप में वह मयस्कर कहलाता है, उस रुद्र को प्रणाम है। इन दोनों पदों में साक्षात् सुखकारित्व और पूर्व के दो पदों से तद्द्वारा कारयितृत्व बताया गया है। 'शिवाय' शिवः शान्तः कल्याणरूपो निष्पापः। कल्याणरूप निष्पाप उस रुद्र को प्रणाम।

'शिवतराय' शिवतरोऽत्यन्तं शिवो भक्तानपि निष्पापान् कल्याणरूपान् करोतीति। जो अपने भक्तों को भी निष्पाप बनाकर कल्याणरूप कर देता है, उसे शिवतर कहते हैं। उस रुद्र को प्रणाम है ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—संसार के उस पार और इस पार भी स्थित रहने वाले, पाप और संसार को तरने में हेतुभूत, प्रयागादि तीर्थ, उनके तट, बालतृण और फेन में स्थित रहने वाले रुद्र को प्रणाम है ॥ ४२ ॥

पार्याय पारे संसारसमुद्रस्य परतीरे भवः पार्यः, विष्णुः परस्वरूपः, तस्मै रुद्राय नमः। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (क० उ० ३।९) विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमं सर्वोत्कृष्टं पदं प्रपदनीयस्वरूपं ब्रह्मेत्यर्थः। तदेव अध्वनः पारम्। पारे स्थितः पार्यः संसारातीतो जीवन्मुक्तो वा, तस्मै तद्रूपाय रुद्राय नमः। अवार्याय अवारे संसारमध्ये संसाररूपेण भवतीत्यवार्यः, तस्मै संसारव्यापिने संसारिरूपाय वा रुद्राय नमः। यद्वा पार्यपदेन विकारावर्तित्वेन मुक्तोपसृप्यत्वम्, अवार्यपदेन सप्रपञ्चं ब्रह्मोक्तम्। अत्र महीधराचार्येण 'पारावारे परार्वाची तीरे पात्रं यदन्तरम्' इति कोषवचनमुद्धृतम्। प्रतरणाय प्रकर्षेण दुःखपापतरणहेतवे रुद्राय नमः। उत्तरणाय उत्कृष्टेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण संसारतरणहेतवे रुद्राय नमः। प्रतरन्ति येन तत्प्रतरणमुदकम्, उत्तरन्ति येन तद् उत्तरणं नौरित्युव्वटाचार्यः। तदुभयरूपाय रुद्राय नमः। तीर्थ्याय तीर्थेषु प्रयागादिषु भवस्तीर्थ्यः। 'निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ' (३।३।८६) इत्यमरः, तस्मै रुद्राय नमः। कूल्याय कूले गङ्गादितटे भवः कूल्यः, तस्मै रुद्राय नमः। शष्प्याय शष्पं गङ्गादितटोद्भूतकुशाङ्कुरादि बालतृणम्, तत्र भवः शष्प्यः, तस्मै रुद्राय नमः। फेन्याय जलविकारोऽब्धिकफः फेनः, तत्र भवः फेन्यः। तस्मै रुद्राय नमः ॥ ४२ ॥

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किᳬंशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च ॥ ४३ ॥

'पार्याय' पारे संसारसमुद्रस्य परतीरे भवः पार्यः, विष्णुः परस्वरूपः। संसार समुद्र के पर तीर पर रहने वाला 'पार्य' कहलाता है, अर्थात् परस्वरूप विष्णु है। उस विष्णुरूप रुद्र को प्रणाम है। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्', अर्थात् व्यापनशील विष्णु के सर्वोत्कृष्ट पद को ही प्रपदनीयस्वरूप ब्रह्म कहते हैं। वही अध्वा का पार है। पारे स्थितः पार्यः संसारातीतो जीवन्मुक्तो वा। अर्थात् संसारातीत अथवा जीवन्मुक्त को पार्य कहते हैं। तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'अवार्याय' अवारे संसारमध्ये संसाररूपेण भवतीत्यवार्यः। संसार के रूप में जो रहता है, उसे 'अवार्य' कहते हैं। संसारव्यापी अथवा संसारी रूप रुद्र को प्रणाम। यद्वा—पार्यपदेन विकारावर्तित्वेन मुक्तोपसृप्यत्वम्, अवार्यपदेन सप्रपञ्चं ब्रह्म उक्तम्। अथवा 'पार्य' पद से विकारावर्ती के रूप में मुक्तोपसृप्यत्व को और 'अवार्य' पद से सप्रपञ्च ब्रह्म को बताया गया है। यहाँ महीधराचार्य ने 'पारावारे परार्वाची तीरे पात्रं यदन्तरम्' यह कोषवचन उद्धृत किया है। 'प्रतरणाय' प्रकर्षेण दुःखपापतरणहेतवे रुद्राय नमः। दुःख, पाप आदि से प्रकृष्टतया तारने वाले रुद्र को प्रणाम। 'उत्तरणाय' उत्कृष्टेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण संसारतरणहेतवे रुद्राय नमः। उत्कृष्ट ब्रह्मसाक्षात्कार करा कर संसार से तारने वाले रुद्र को प्रणाम। प्रतरन्ति येन तत् प्रतरणमुदकम्, उत्तरन्ति येन तत् उत्तरणम्। नौरित्युव्वटाचार्यः। तदुभयरूपाय रुद्राय नमः। जो पार किया जाता है, उसे 'प्रतरण' यानी 'उदक' कहा जाता है, जिससे पार किया जाता है, उसे 'उत्तरण' कहते हैं। अर्थात् 'नौका', ऐसा उव्वटाचार्य कहते हैं। इस उभयरूप रुद्र को प्रणाम है। 'तीर्थ्याय' तीर्थेषु प्रयागादिषु भवस्तीर्थ्यः। प्रयाग आदि तीर्थों में होने वाले रुद्र को प्रणाम। 'कूल्याय' कूले गङ्गादितटे भवः कूल्यः, तस्मै रुद्राय नमः। गंगा आदि नदियों के तट पर होने वाले को 'कूल्य' कहते हैं, उस कूल्य रुद्र को प्रणाम है। 'शष्प्याय' शष्पं गङ्गादितटोद्भूतकुशाङ्कुरादि-बालतृणम्, तत्र भवः शष्प्यः, तस्मै रुद्राय नमः। गंगा आदि नदियों के तट पर उत्पन्न होने वाले अंकुरादि बाल तृण को 'शष्प' कहते हैं, तत्र भवः शष्प्यः। उसमें होनेवाले को 'शष्प्य' कहते हैं। उस रुद्र को प्रणाम है। 'फेन्याय' जलविकारोऽब्धि-रूपः फेनः, तत्र भवः फेन्यः, तस्मै। जलविकार अब्धिरूप को फेन कहते हैं, उसमें होने वाला 'फेन्य' कहा जाता है, उस रुद्र को प्रणाम है ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—रेतीले प्रदेश में, जल-प्रवाह में, बालुकामय प्रदेश में, स्थिर जल वाले प्रदेश में विद्यमान रहने वाले, जटाधारी सर्वान्तर्यामी, पथरीले प्रदेश में और विशाल राजमार्गों में रहने वाले रुद्र को हमारा प्रणाम है ॥ ४३ ॥

सिकत्याय सिकतासु गङ्गादिवालुकासु भवः सिकत्यः, तस्मै रुद्राय नमः। प्रवाह्याय प्रवाहे स्रोतसि भवः प्रवाह्यः, तस्मै रुद्राय नमः। किंशिलाय किमेतदुदकं हिमीभूतमुत शिलेति यत्र वितर्कः स किंशिलः, अथवा कुत्सिताः क्षुद्राः शिलाः शर्कराख्पाः पाषाणा यत्र प्रदेशे स किंशिलः, तस्मै रुद्राय नमः। क्षयणाय क्षियन्ति निवसन्ति आपो यत्र स क्षयणः स्थिरजलप्रदेशः, तस्मै रुद्राय नमः। कपर्दिने जटामुकुटधारिणे रुद्राय नमः। पुलस्तये शुभाशुभदिदृक्षया पुरोऽग्रे तिष्ठतीति पुलस्तिः, थस्य तत्वं रस्य लत्वं च छान्दसम्। यद्वा पूर्षु शरीरेषु अस्तिः सत्ता यस्य स पुलस्तिः सर्वान्तर्यामी, तस्मै रुद्राय नमः। इरिण्याय इरिणम् ऊषरम् तृणाद्युद्भवानर्हो देशः, अथवा निरुदकप्रदेशः, तत्र भव इरिण्यः, तस्मै रुद्राय नमः। प्रपथ्याय प्रकृष्टः पन्थाः प्रपथो बहुसेवितो मार्गः, तत्र भवः प्रपथ्यः, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ४३ ॥

नमो व्रज्या॑य च गोष्ठ्या॑य च नमस्तल्प्या॑य च गेह्या॑य च नमो हृदय्या॑य च निवेष्प्या॑य च नमः काट्या॑य च गह्वरेष्ठाय॑ च ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—गोसमूह में, गोष्ठ में, शय्या में, गृह में, हृदय में, जल के भँवर में, गहन वनप्रदेशों में और गुफाओं में विद्यमान रहने वाले रुद्र को हमारा प्रणाम है ॥ ४४ ॥

व्रज्याय व्रजतीति व्रजो गोसमूहः, 'व्रज गतौ', पचाद्यच्। 'व्रजो गोष्ठाध्ववृन्देषु' (मेदिनी० ३०।१५), तत्र भवो व्रज्यः, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा प्रसिद्धे व्रजे गोपेश्वरादिरूपेण भवतीति व्रज्यः, तस्मै रुद्राय नमः।

'सिकत्याय' सिकतासु गङ्गादिवालुकासु भवः सिकत्यः, तस्मै रुद्राय नमः। गंगा आदि नदियों की वालुकाओं में होने वाले को 'सिकत्य' कहते हैं, उस रुद्र को प्रणाम। 'प्रवाह्याय' प्रवाहे स्रोतसि भवः प्रवाह्यः, तस्मै। प्रवाह से होने वाले को प्रवाह्य कहते हैं, उस रुद्र को प्रणाम है।

'किंशिलाय' किमेतदुदकं हिमीभूतमुत शिलेति यत्र वितर्कः स किंशिलः। क्या यह उदक हिम हो गया है अथवा शिला है, ऐसा वितर्क जहां होता है, उसे 'किंशिल' कहते हैं। अथवा—कुत्सिताः क्षुद्राः शिलाः शर्कराख्पाः पाषाणा यत्र प्रदेशे स किंशिलः, तस्मै। क्षुद्र शिला अर्थात् शर्कराख्प पाषाण जिस प्रदेश में हैं, उस प्रदेश को 'किंशिल' कहते हैं, तत्स्वरूप रुद्र को प्रणाम है। 'क्षयणाय' क्षियन्ति निवसन्ति आपो यत्र सः क्षयणः स्थिरजलप्रदेशः, तस्मै। स्थिर जल जिस प्रदेश में है, तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'कपर्दिने' जटा मुकुटधारी रुद्र को प्रणाम। 'पुलस्तये' शुभाशुभदिदृक्षया पुरोऽग्रे तिष्ठतीति पुलस्तिः। थस्य तत्वं रस्य लत्वं च छान्दसम्। शुभाशुभ देखने की इच्छा से जो सामने खड़ा रहता है, उसे 'पुलस्ति' कहते हैं। उस पुलस्तिरूप रुद्र को प्रणाम। यहाँ 'थ' को 'त' और 'र' को 'ल' छान्दस हुआ है। यद्वा—पूर्षु शरीरेषु अस्तिः सत्ता यस्य स पुलस्तिः। सर्वान्तर्यामी स्वरूप रुद्र को प्रणाम। 'इरिण्याय' इरिणम् ऊषरम् तृणाद्युद्भवानर्हो देशः। ऊसर भूमिरूप रुद्र को प्रणाम है। अथवा निरुदकप्रदेशः, तत्र भव इरिण्यः, तस्मै। निरुदक प्रदेशरूप रुद्र को प्रणाम है। 'प्रपथ्याय' प्रकृष्टः पन्थाः प्रपथो बहुसेवितो मार्गः, तत्र भवः प्रपथ्यः। अनेक जनों से संसेवित मार्ग में होने वाले रुद्र को प्रणाम है ॥ ४३ ॥

'व्रज्याय' व्रजतीति व्रजो गोसमूहः, 'व्रज गतौ' पचाद्यच्, तत्र भवो व्रज्यः, तस्मै। गोसमूह में होनेवाले को व्रज्य कहते हैं, उस व्रज्यरूप रुद्र को प्रणाम है। यद्वा प्रसिद्धे व्रजे गोपेश्वरादिरूपेण भवतीति व्रज्यः, तस्मै। प्रसिद्ध व्रज

गोष्ठ्याय गावस्तिष्ठन्ति यस्मिंस्तद् गोष्ठम्, तत्र भवो गोष्ठ्यः, तस्मै रुद्राय नमः। तल्प्याय तल्पते प्रतिष्ठीयतेऽस्मिन्निति तल्पः शय्या। 'खष्पशिल्पशष्पबाष्परूपपर्पतल्पाः' (उ० ३।२८) इति पप्रत्ययान्तो निपातितः। तस्मै रुद्राय नमः। गेह्याय गेन गणेशेन गन्धर्वेण वा ईह्यते काम्यत इति गेहम्। कर्मणि घञ्। गः गणेशो गन्धर्वो वा, ईह ईप्सितो यस्मिंस्तद् गेहम्, तत्र भवो गेह्यस्तस्मै रुद्राय नमः। हृदय्याय हृदये भवो हृदय्यो जीवः, तस्मै रुद्राय नमः। ईश्वरो वा, तस्मै रुद्राय नमः। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रवर्णात्। निवेष्प्याय निवेष्प आवर्तो नीहारजलं वा, तत्र भवो निवेष्प्यः, तस्मै रुद्राय नमः। काट्याय कुत्सितमटन्ति गच्छन्ति जना यत्र स काटो दुर्गारण्यप्रदेशः, कूपो वा। तत्र भवः काट्यः, तस्मै रुद्राय नमः। गह्वरेष्ठाय गह्वरे विषमे गिरिगुहादौ गम्भीरे जले वा तिष्ठतीति गह्वरेष्ठः, 'गुहादम्भौ गह्वरे द्वे' (अ० को० ३।३।१८३) इति कोषः, तस्मै रुद्राय नमः॥ ४४॥

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—सूखी और गीली लकड़ियों में, मोटी और बारीक धूल में, अगम्य प्रदेशों में, बल्वजसंज्ञक तृण में, वडवानल तथा प्रलयकाल की अग्नि में विद्यमान रहने वाले रुद्र को हमारा प्रणाम है ॥ ४५ ॥

शुष्क्याय शुष्के काष्ठादावपि सत्तारूपेण भवतीति शुष्क्यः, तस्मै रुद्राय नमः। हरित्याय हरिते आर्द्रे काष्ठादौ भवति सत्तारूपेणेति हरित्यः, तस्मै हरित्याय नमः। पांसव्याय पांसुषु धूलिषु भवतीति पांसव्यः, 'उग-

---

(वृन्दारण्य) में गोपेश्वर के रूप में रहने वाले को व्रज्य कहते हैं, उस व्रज्यरूपी रुद्र को प्रमाण है। 'गोष्ठ्याय' गावस्तिष्ठन्ति यस्मिंस्तद् गोष्ठम्, तत्र भवो गोष्ठ्यः, तस्मै। गायों के रहने वाले गोष्ठ में रहने वाले को गोष्ठ्य कहते हैं, उस गोष्ठ्यरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'तल्प्याय' तल्पते प्रतिष्ठीयतेऽस्मिन्निति तल्पः शय्या। यहाँ 'तल्प्य' शब्द 'य'प्रत्ययान्त का निपातन किया गया है। जिस पर प्रतिष्ठित होते हैं, उसे 'तल्प्य' कहते हैं। उस तल्प्यरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'गेह्याय' गेन गणेशेन गन्धर्वेण वा ईह्यते काम्यत इति गेहम्। कर्मणि घञ्। अथवा गः गणेशः गन्धर्वो वा, ईहः ईप्सितो यस्मिन् तत् गेहम्, तत्र भवो गेह्यः, तस्मै। गणेश अथवा गन्धर्व के द्वारा जो चाहा जाता है, उसे 'गेह' कहते हैं। अथवा गणेश या गन्धर्व अभीष्ट हैं जिसमें, उसे 'गेह' कहते हैं, उसमें होनेवाले को 'गेह्य' कहते हैं, उस गेह्यरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'हृदय्याय' हृदये भवो हृदय्यो जीवः, तस्मै। हृदय में रहनेवाले को जीव कहते हैं, उस जीवरूपी रुद्र को प्रणाम है। ईश्वरो वा तस्मै। अथवा ईश्वररूपी रुद्र को प्रणाम है। मन्त्रवर्ण के द्वारा उक्त तथ्य का समर्थन किया गया है। 'निवेष्प्याय' निवेष्प आवर्तो नीहारजलं वा, तत्र भवो निवेष्प्यः, तस्मै। 'निवेष्प' का अर्थ है आवर्त या नीहार जल, उसमें होनेवाले को निवेष्प्य कहते हैं, उस निवेष्प्य रूपी रुद्र को प्रणाम है। 'काट्याय' कुत्सितमटन्ति गच्छन्ति जना यत्र स काटो दुर्गारण्यप्रदेशः कूपो वा, तत्र भवः काट्यः, तस्मै। जहाँ लोग कुत्सित गति से चलते हैं, उसे 'काट' कहते हैं, यानी दुर्गारण्य प्रदेश अथवा कूप, उसमें रहने वाले को काट्य कहते हैं, उस काट्य स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'गह्वरेष्ठाय' गह्वरे विषमे गिरिगुहादौ गम्भीरे जले वा तिष्ठतीति गह्वरेष्ठः, तस्मै। अर्थात् गिरि-गुहा आदि में अथवा गम्भीर जल में जो रहता है, उसे गह्वरेष्ठ कहते हैं, उस गह्वरेष्ठ रूपी रुद्र को प्रणाम है॥ ४४॥

'शुष्क्याय' शुष्के काष्ठादावपि सत्तारूपेण भवतीति शुष्क्यः, तस्मै। काष्ठ आदि शुष्क पदार्थों में भी सत्ता रूप से जो रहता है, उसे शुष्क्य कहते हैं, उस रुद्र को प्रणाम है। 'हरित्याय' हरिते आर्द्रे काष्ठादौ भवति सत्तारूपेणेति हरित्यः,

वादिभ्यो यत्' (पा० सू० ५।१।२) इति यति 'ओर्गुणः' (पा० सू० ६।४।१४६) इति गुणे रूपम्, तस्मै रुद्राय नमः। रजस्याय रजसि गुणे परागे वा भवो रजस्यः, 'रजो रेणौ परागे स्याद् आर्तवे च गुणान्तरे' इति जान्तेषु मेदिनी, तस्मै रुद्राय नमः। लोप्याय लोपे अदर्शने सर्वेन्द्रियव्यापारशान्तावपि, अथवा प्रलयेऽपि भवति साक्षिरूपेणेति लोप्यः, तस्मै रुद्राय नमः। अथवा लुप्यते नश्यति गमनादिर्यत्र स लोपोऽगम्यप्रदेशः, तत्र भवो लोप्यः, तस्मै रुद्राय नमः। उलप्याय उलपास्तृणविशेषा बल्वजादिनामधेयाः, तत्र भव उलप्यः, तस्मै रुद्राय नमः। ऊर्व्याय उर्व्यां भूमौ भव ऊर्व्यः, छान्दसो दीर्घः, तस्मै रुद्राय नमः। अथवा उरोः स्वमातुरुरुप्रदेशाज्जात ऊर्वः, तत्र भव ऊर्व्यो वाडवाग्निः, तस्मै रुद्राय नमः। सूर्व्याय शोभन ऊर्वो वडवानलः सूर्वः, तत्र भवः सूर्व्यः, तस्मै रुद्राय नमः॥ ४५॥

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नम उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नम आखिदते च प्रखिदते च नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानाᳬ हृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नम आनिर्हतेभ्यः ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—पत्तों में, पत्तों के गिरने की भूमि में रहने वाले, उद्योगी, शत्रुओं का नाश करनेवाले, अथवा पापियों को सब प्रकार से दीन बना देने वाले रुद्र को हमारा प्रणाम है। उसी तरह बाण और धनुष धारण करने वाले, वृष्टि के द्वारा जगत् की वृद्धि करने वाले, पापी और पुण्यवानों का विभाग करने वाले, अनेक प्रकार से हिंसा करने वाले, सृष्टि के आरम्भ में उदित होने वाले और रुद्रों के हृदयरूप अग्नि, वायु तथा सूर्य के रूप में विद्यमान रुद्रों को मेरा प्रणाम हो॥ ४६॥

पर्णाय पिपर्ति पालयति पूरयति वा तत् पर्णम्, 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ० ३।६) वृक्षस्य पत्रम्, तस्मै रुद्राय नमः। अथवा पृणति सुखयति वृक्षमिति पर्णः, पचाद्यच्, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा पर्णयति हरि-

---

तस्मै। आर्द्र काष्ठ आदि में सत्ता रूप से जो रहता है, उसे हरित्य कहते हैं, उस रुद्र को प्रणाम है। 'पांसव्याय' पांसुषु धूलिषु भवतीति पांसव्यः, 'दिगादिभ्यो यत्' इति यति, 'ओर्गुणः' इति गुणे रूपम्, तस्मै। धूलि में होने वाले को पांसव्य कहते हैं उस पांसव्य रूपी रुद्र को प्रणाम है। 'दिगादिभ्यो यत्' इस पाणिनिसूत्र से 'यत्' प्रत्यय और 'ओर्गुणः' इस पाणिनिसूत्र से गुण होकर 'पांसव्य' निष्पन्न हुआ है। 'रजस्याय' रजसि गुणे परागे वा भवो रजस्यः, तस्मै। गुण अथवा पराग में होने वाले को रजस्य कहते हैं, उस रजस्य रूपी रुद्र को प्रणाम है। 'लोप्याय' लोपेऽदर्शने सर्वेन्द्रियव्यापारशान्तावपि, अथवा अत्ययेऽपि भवति साक्षिरूपेणेति लोप्यः, तस्मै। सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार की शान्ति होने पर भी अथवा संहार में भी जो साक्षी बन कर रहता है, उसे लोप्य कहते हैं, उस लोप्य रूपी रुद्र को प्रणाम है। अथवा लुप्यते नश्यति गमनादिर्यत्र स लोपोऽगम्यप्रदेशः, तत्र भवो लोप्यः, तस्मै। अगम्य प्रदेश में होनेवाले को लोप्य कहते हैं, उस लोप्य रूपी रुद्र को प्रणाम है। 'उलप्याय' उलपास्तृणविशेषा बल्वजादिनामधेयाः, तत्र भव उलप्यः, तस्मै। बल्वजादि तृण विशेषों में होने वाले को उलप्य कहते हैं, उस उलप्य रूपी रुद्र को प्रणाम है। 'ऊर्व्याय' उर्व्यां भूमौ भव ऊर्व्यः, छान्दसो दीर्घः, तस्मै। भूमि पर होनेवाले उस रुद्र को प्रणाम। अथवा उरोः स्वमातुरुरुप्रदेशाज्जात् ऊर्वः, तत्र भव ऊर्व्यो वाडवाग्निः, तस्मै। अपनी माता के उरुप्रदेश से पैदा होनेवाले को ऊर्व कहते हैं, उसमें रहने वाले को ऊर्व्य यानी वाडवाग्नि कहते हैं, तद्रूपी रुद्र को प्रणाम है। 'सूर्व्याय' शोभन ऊर्वो वाडवानलः कल्पानलः, तत्र भवः सूर्व्यः, तस्मै। वही वाडवानल कल्पानल है, उसमें होने वाले सूर्व्यरूपी रुद्र को प्रणाम है॥ ४५॥

'पर्णाय' पिपर्ति पालयति पूरयति वा तत् पर्णम्, वृक्षस्य पत्रम्, तस्मै रुद्राय नमः। जो पालन करता है या पूरण करता है, उसे पर्ण कहते हैं, अर्थात् वृक्ष का पत्र, तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। अथवा पृणति सुखयति वृक्षमिति पर्णः,

तयति वृक्षमिति पर्णः, पचाद्यच्, तस्मै रुद्राय नमः। पर्णशदाय पर्णानि शीयन्ते जना यत्र देशे स पर्णशदः, पचाद्यच्, तस्मै रुद्राय नमः। अथवा पर्णानि शीयन्ते स्वभावतो यत्र काले स पर्णशदो वसन्तर्तुः, तस्मै रुद्राय नमः। उद्गुरमाणाय उद्गूरयत इत्युद्गुरमाण उद्यमी, गूरी उद्यमने, क्वचिदयं लघूपधोऽपि, पुरुषार्थपरायण इति यावत्, तस्मै रुद्राय नमः। अभिघ्नते अभितः सर्वतो हन्ति शत्रूनित्यभिघ्नन्, शतरि 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (पा० सू० ६।४।९८) इत्युपधालोपे रूपम्, तस्मै रुद्राय नमः। आखिदते आसमन्तात् खिद्यते खिन्ते वा, दैन्यं करोत्यभक्तानामित्यर्थः, स आखिदन्, तस्मै रुद्राय नमः। प्रखिदते प्रकर्षेण खिद्यते खिन्ते वा प्रलयकाले सर्वभूतानि संहृत्येति प्रखिदन्, तदनन्तरं तस्य स्वापः स्वरूपेऽवस्थानमिति यावत्, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा प्रकर्षेण खेदयति दीनभावं सम्पादयत्यभक्तानामिति प्रखिदन्, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा भक्तपारवश्येन आत्मदुःखेन आ समन्तात् स्वयं खिद्यत इति आखिदन् भक्तदुःखदुःखी दयार्द्रहृदयः, तस्मै रुद्राय नमः। इषुकृद्भ्य इषून् बाणान् कुर्वन्ति ते इषुकृतः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। धनुष्कृद्भ्यश्च वः, धनूंषि चापानि कुर्वन्तीति धनुष्कृतः, तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रभ्यो नमः। व इति युष्मदादेशप्रयोगात् प्रत्यक्षा एते रुद्राः।

तिस्रोऽशीतयो रुद्राणां समाप्ताः। एवं चत्वारिंशदधिकशतद्वयमन्त्रै रुद्रस्य सर्वात्मकता निगदव्याख्याता। अथ रुद्रेषु प्रधानभूतानां रुद्रहृदयरूपाणामग्निवायुसूर्याणां सम्बन्धीनि चत्वारि यजूंष्युच्यन्ते। चतुर्णामिवादौ नमःशब्दप्रयोगात् चत्वार्येव यजूंषि। आद्यं चतुर्दशाक्षरम्, त्रीणि सप्ताक्षराणि। तानि व्याहृतिसंज्ञानि। नमो व इति। देवानां हृदयेभ्यः, रुद्राणां हृदयवत् प्रधानभूतेभ्योऽग्निवायुसूर्येभ्यो वो युष्मभ्यं नमः, 'देवानाᳬं हृदयेभ्य इत्यग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवानाᳬं हृदयानि' (श० ९।१।१।२३) इति श्रुतेः। हृदयानीव हृदयानि यथाङ्गानां

तस्मै। वृक्ष को जो सुखी करता है, उसे पर्ण कहते हैं, तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। यद्वा पर्णयति हरितयति वृक्षमिति पर्णः, तस्मै रुद्राय नमः। वृक्ष को जो हरित बना देता है, उसे पर्ण कहते हैं, तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'पर्णशदाय' पर्णानि शीर्यन्ते जना यत्र देशे स पर्णशदः, तस्मै। जिस स्थान पर लोग पत्रों को शीर्ण करते हैं, उस देश (स्थान) को पर्णशद कहते हैं, तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। अथवा पर्णानि शीर्यन्ते स्वभावतो यत्र काले स पर्णशदो वसन्ततुंः, तस्मै। जिस काल में पर्ण अपने आप ही शीर्ण होते हैं, उस वसन्त ऋतु को पर्णशद कहते हैं, तद्रूपी रुद्र को प्रणाम। 'उद्गरमाणाय' उद्गूरयत इत्युद्गुरमाणः, उद्यमी। 'गूरी उद्यमने'। क्वचिदयं लघूपधोऽपि, पुरुषार्थपरायण इति यावत्, तस्मै। पुरुषार्थ परायण रहने वाले उस रुद्र को प्रणाम। 'अभिघ्नते' अभितः सर्वतो हन्ति शत्रून् इत्यभिघ्नन्, तस्मै। सब ओर से शत्रुओं का हनन करने वाले रुद्र को प्रणाम। 'आखिदते' आसमन्तात् खिद्यते खिन्ते वा दैन्यं करोत्यभक्तानामित्यर्थः, स आखिदन्, तस्मै। सब ओर से अभक्तों को जो दीन बना देता है, उस रुद्र को प्रणाम है। 'प्रखिदते' प्रकर्षेण खिद्यते खिन्ते वा प्रलयकाले सर्वभूतानि संहृत्येति प्रखिदन्, तदनन्तरं तस्य स्वापः स्वरूपेऽवस्थानमिति यावत्, तस्मै। प्रलय काल में समस्त भूतों का संहार करके जो श्रान्त हो जाता है, तदनन्तर उसका स्वाप यानी अपने स्वरूप में स्थिति होती है, उस रुद्र को प्रणाम है। यद्वा प्रकर्षेण खेदयति दीनभावं सम्पादयत्यभक्तानामिति प्रखिदन्, तस्मै। अथवा जो लोग भक्त नहीं हैं, उन अभक्तों को जो अत्यधिक दीन बना देता है, उस रुद्र को प्रणाम है। यद्वा भक्तपारवश्येन आत्मदुःखेन आसमन्तात् स्वयं खिद्यत इति आखिदन् भक्तदुःखदुःखी दयार्द्रहृदयः, तस्मै। अपने भक्तों के दुःखों से दुःखी होने के कारण दया से आर्द्रहृदय होने वाले उस रुद्र को प्रणाम है। 'इषुकृद्भ्यः' इषून् बाणान् कुर्वन्ति ते इषुकृतः, तेभ्यः। बाण निर्माण करने वाले उन रुद्रों को प्रणाम है। 'धनुष्कृद्भ्यश्च वः' धनूंषि चापानि कुर्वन्तीति धनुष्कृतः तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः। धनुषों को जो करते हैं, बनाते हैं, उन्हें धनुष्कृत् कहते हैं, उन रुद्रों के लिये प्रणाम। 'वः' इस युष्मदादेश के प्रयोग से ये रुद्र प्रत्यक्ष हैं।

तीन अशीतियाँ (२४०) रुद्रों की समाप्त हुईं। इस रीति से दो सौ चालीस मन्त्रों के द्वारा रुद्र की सर्वात्मकता निगदव्याख्यात ही है। अब रुद्रों में प्रधातभूत रुद्रहृदयरूप अग्नि, वायु और सूर्य से सम्बद्ध चार यजुओं को बताया जा रहा है।

हृदयं प्रधानम्, एवमेते रुद्राणां प्रधाना इत्यर्थः। कीदृशेभ्यस्तेभ्यः ? किरिकेभ्यः, कुर्वन्ति जगद् वृष्ट्यादिद्वारेति किरिकाः, तेभ्यः रुद्रेभ्यो नमः, 'एते हीदꣳ सर्वं कुर्वन्ति' (श० ९।१।१।२३) इति श्रुतेः। पुनः कीदृशेभ्यः ? विचिन्वत्केभ्यः, विचिन्वति विवेचयन्ति पृथक् पृथक् कुर्वन्ति धर्मिष्ठं पापिष्ठं चेति विचिन्वत्काः, तेभ्योऽग्न्यादिभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। पुनः कीदृशेभ्यः ? विक्षिणत्केभ्यः, विविधं क्षिण्वन्ति हिंसन्ति सुकृतदुष्कृतसाक्षिण एते पापं रोगम् अकल्याणं भक्तानामिति विक्षिणत्काः, तेभ्योऽग्न्यादिभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। पुनः कीदृशेभ्यः ? आनिर्हतेभ्यः। आ समन्ताद् आभिमुख्येन निर्हता निर्गताः सर्गादौ लोकेभ्य इत्यानिर्हताः, तेभ्यो रुद्रावतारेभ्योऽग्निवायुसूर्येभ्यो नमः। हन्तिर्गत्यर्थः, 'स इमांस्त्रीँल्लोकानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतीꣳष्यजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः' (श० ११।५।८।२) इति श्रुतेः ॥ ४६ ॥

द्रापे॒ अन्ध॑सस्पते॒ दरि॑द्र॒ नील॑लोहित। आ॒सां प्र॒जाना॑मे॒षां प॑शू॒नां मा भे॒र्मा रोङ् मो च॑ नः किञ्च॒नाम॑मत् ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—पापियों को बुरी गति देनेवाले, सोमरस के स्वामी, किसी प्रकार का परिग्रह न करने वाले, जिसका कण्ठमात्र नील वर्ण का और शेष शरीर ताम्र वर्ण का है ऐसे हे रुद्र ! हमारी पुत्रादि प्रजाओं तथा गो आदि पशुओं को भयभीत मत करो, उनको नष्ट मत करो और उनको किसी प्रकार के रोग से रुग्ण भी मत करो ॥ ४७ ॥

इतः प्रारभ्य सप्त ऋच एकरुद्रदेवत्याः। आद्या उपरिष्टाद्बृहती सप्ताष्टद्वादशार्णपादा। द्रापे द्रापयति कुत्सितां गतिं प्रापयत्ययथोक्तकारिणो दुष्कृतिन इति द्रापिः। 'द्रा कुत्सायां गतौ' तत्सम्बुद्धौ, हे अन्धसस्पते !

प्रथमतः चारों के साथ ही 'नमः' शब्द का प्रयोग होने से चार ही यजुः हैं। आद्य चतुर्दश अक्षर का है, तीन यजुः सात अक्षरों के हैं। वे व्याहृतिसंज्ञक हैं।

नमो व इति। देवानां हृदयेभ्यः, रुद्रों के हृदय के समान प्रधानभूत तुम अग्नि, वायु, सूर्य स्वरूपों को प्रणाम। इसी रहस्य को शतपथ ने भी बताया है। हृदयानीव हृदयानि। हृदयों के समान ही हृदय हैं। जैसे अंगों में हृदय प्रधान होता है, वैसे ही ये रुद्रों में प्रधान हैं। वे अग्नि, वायु, सूर्य स्वरूप कैसे हैं, जिनको प्रणाम किया जा रहा है ? तो उत्तर दे रहे हैं कि 'किरिकेभ्यः' कुर्वन्ति जगद् वृष्ट्यादिद्वारेति किरिकाः, तेभ्यः किरिकेभ्यः। वृष्टि आदि के द्वारा जो जगत् का निर्माण करते हैं, उन्हें किरिक कहते हैं। उन रुद्रों को प्रणाम है। 'एते हीदꣳ सर्वं कुर्वन्ति' (श० ब्रा० ९।१।१।२३) इस शतपथश्रुति ने भी उसी बात को बताया है। पुनः कीदृशेभ्यः ? विचिन्वत्केभ्यः, विचिन्वन्ति पृथक् पृथक् कुर्वन्ति धर्मिष्ठं पापिष्ठं चेति विचिन्वत्काः, तेभ्यः। पुनः कैसे हैं ? यह प्रश्न होने पर उत्तर दे रहे हैं कि जो धर्मिष्ठ और पापिष्ठ जनों को पृथक्-पृथक् करते हैं, उन्हें 'विचिन्वत्क' कहते हैं। उन अग्नि आदि रुद्रों को प्रणाम है। पुनः कीदृशेभ्यः ? विक्षिणत्केभ्यः, विविधं क्षिण्वन्ति हिंसन्ति सुकृतदुष्कृतसाक्षिण एते पापं रोगमकल्याणं भक्तानामिति विक्षिणत्काः, तेभ्यः। भक्तों के पाप, रोग, अकल्याण को दूर कर देने वाले, सुकृत-दुष्कृत के साक्षी रहने वाले ये अग्नि आदि रुद्र हैं, उनको प्रणाम है। पुनः कीदृशेभ्यः? अनिर्हतेभ्यः, आसमन्ताद् आभिमुख्येन निर्हता निर्गताः सर्गादौ लोकेभ्य इत्यनिर्हताः, तेभ्यः। ये अग्नि, वायु, सूर्य सर्ग के आदि में आभिमुख्येन (मुख्यतया) इन लोकों से निर्गत हुए हैं, उन अग्नि, वायु, सूर्य स्वरूप रुद्रों को प्रणाम है। ये अग्नि वायु, सूर्य रुद्र के अवतार हैं। 'स इमांस्त्रीँल्लोकान् अभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतीꣳष्यजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः' इस शतपथश्रुति ने भी यही बताया है ॥ ४६ ॥

यहाँ से आरम्भ करके सात ऋचाएँ एक रुद्रदेवता वाली हैं। ऊपर की आद्या ऋक् बृहती छन्द की है। वह सात, आठ और बारह अक्षरों की है। 'द्रापे' द्रापयति कुत्सितां गतिं प्रापयत्ययथोक्तकारिणो दुष्कृतिन इति द्रापिः, 'द्रा कुत्सायां गतौ', तत्सम्बुद्धौ। आज्ञा न मानने वाले दुष्कृतियों को जो कुत्सित गति को प्राप्त कराता है, उसे द्रापि कहते हैं।

सोमस्य पते पालक, 'अन्धसस्पत इति सोमस्य पत इत्येतत्' (श० ९।१।१।२४) इति श्रुतेः। हे दरिद्र हे निष्परिग्रह हे अशेषविशेषातीत, सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यत्वेन अद्वितीयत्वात्। परमेश्वरस्यैव सगुणत्वेऽचिन्त्यानन्तज्ञानवैराग्याद्यैश्वर्यपूर्णकल्याणगुणाकरत्वेऽपि निर्गुणस्य तस्यैव केवलस्य सर्वराहित्येन अनन्ताखण्डानन्दबोधवपुष्ट्वमेव, 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्' (भा० पु० ११।१३।४०) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। निर्विशेषब्रह्मात्मक कामेश्वर! हे नीललोहित, निराकारत्वेन आकाशवन्नीलत्वेऽपि सिन्दूरारुणविग्रहायाः षोडश्याः सन्निधानेन लौहित्यम्। अथवा कण्ठे नीलत्वेऽप्यन्यत्र लोहितत्वेन वा लौहित्यम्। नीलश्चासौ लोहितश्चेति नीललोहितस्तत्सम्बुद्धौ, 'नीललोहितेति नामानि चास्यैतानि रूपाणि च' (श० ९।१।१।२४) इति श्रुतेः। नोऽस्माकम्, आसां प्रजानां पुत्रादीनाम्, एषां पशूनां गवाश्वादीनाम्, त्वं मा भेर्भयं मा कुरु। सगुणत्वे संहारदेवतात्वात् त्वत्तोऽभयप्रार्थना युक्तैव। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुकि रूपम्। मा रोग् भङ्गं मा कार्षीः। 'रुजो भङ्गे'। च पुनः, नोऽस्माकम्, किञ्चन किमपि द्विपदचतुष्पदादिकम्, मो मा उ आममद् रुग्णं मा कार्षीत्। यद्वा रुग्णं माऽस्तु। 'अम् रोगे' धातोरमागम आर्षः ॥ ४७ ॥

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—हम अपनी बुद्धि को रुद्र के स्वाधीन करते हैं (अर्थात् हम रुद्र का चिन्तन करते रहते हैं), इस कारण हमारे पुत्र-पशुओं को सुख प्राप्त हो, हमारे ग्राम के सम्पूर्ण प्राणी परिपुष्ट और रोगरहित हों। वह रुद्र शक्तिमान् है, जटाओं को धारण किये हुए है और शत्रुनाशक है ॥ ४८ ॥

कुत्सदृष्टा जगती। वयमिमा अस्मदीयाः, मतीर्बुद्धीः, याभिर्भवांस्तूयते ताः, रुद्राय शङ्कराय प्रभरामहे प्रहरामहे समर्पयामः, प्रेरयामो वा। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ८।२।३२, वा० १)। कथम्भूताय रुद्राय?

उसके सम्बोधन में 'द्रापे' रूप होता है। हे द्रापे! हे अन्धसस्पते! सोमस्य पते पालक! हे सोमपालक! 'अन्धसस्पत इति सोमस्य पत इत्येतत्' इस श्रुति से भी यह अर्थ ज्ञात होता है। हे दरिद्र, हे निष्परिग्रह, हे अशेषविशेषातीत! सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य होने से तू अद्वितीय है। परमेश्वर के ही सगुण होने पर अचिन्त्य-अनन्त-ज्ञान-वैराग्यादि ऐश्वर्यपूर्ण कल्याण-गुणाकर होने पर भी उसी निर्गुण केवल का सर्वसाहित्य होने से अनन्त-अखण्ड-आनन्दबोध-शरीरत्व ही है, क्योंकि 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्' ऐसा भागवत का वचन है। हे निर्विशेष ब्रह्मात्मक कामेश्वर! हे नीललोहित! निराकार होने से आकाश के समान नील रहने पर भी सिन्दूरारुण विग्रहवती षोडशी के सन्निधान से आपमें लौहित्य भी है। अथवा कण्ठ में नीलता होने पर भी अन्यत्र लौहित्य रहने से आपमें लौहित्य है। 'नीलश्चासौ लोहितश्चेति नीललोहितः, तत्सम्बुद्धौ हे नीललोहित! 'नीललोहितेति नामानि चास्यैतानि रूपाणि च' यह श्रुति कह रही है।

नोऽस्माकम्, आसां प्रजानां पुत्रादीनाम्, एषां पशूनां गवाश्वादीनाम्, त्वं मा भेः भयं मा कुरु। हमारी इन पुत्रादि, इन गाय-अश्वरूप पशु आदि प्रजाओं को भय मत होने दो। तुम्हारे सगुण होने पर तुम संहार के भी देवता हो, अतः तुम्हारी दोनों प्रकार से प्रार्थना करना उचित ही है। 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से शप् का लुक् होने पर यह रूप है।

मा रोक्, 'रुजो भङ्गे', प्रजा-पशु आदि का नाश न होने दो। कर्म के अर्थ में दोनों षष्ठी विभक्तियाँ हैं। पुनः हमारी जो भी द्विपाद-चतुष्पाद प्रजा है, उसे 'मा उ आममत्', रोगग्रस्त मत होने दो, अथवा वह रुग्ण न होने पावे। 'अम् रोगे' धातु से लङ् लकार में अमागम आर्ष है ॥ ४७ ॥

इस कण्डिका के द्रष्टा ऋषि 'कुत्स' हैं, छन्द 'जगती' है। वयमिमा अस्मदीयाः, मतीः बुद्धीः, याभिर्भवान् स्तूयते ताः, हमलोगों की जो बुद्धियाँ हैं, जिनसे आपकी स्तुति की जाती है, उन बुद्धियों को हम रुद्र के लिये समर्पित

तवसे महते बलवते वा, उभयत्र तवः, तवस इति शब्दपाठात्। कपर्दिने जटिलाय जटाजूटधारिणे। क्षयद्वीराय क्षयन्तो निवसन्तो वीराः शूरा यत्रासौ क्षयद्वीरस्तस्मै, यमाश्रित्य वीराः शूराश्च वीर्यं शौर्यं च लभन्ते तस्मै, अनन्तशौर्यवीर्यपूर्णाय भगवते रुद्राय नमः। अथवा क्षयन्ति नश्यन्ति वा वीरास्त्रिपुरान्धकादयो यस्मात् स क्षयद्वीरः शत्रुसंहारको भगवान्, तस्मै रुद्राय नमः। द्विपदे द्वौ पादौ यस्यासौ द्विपात्, तस्मै पुत्रपौत्रादये चतुष्पदे गवादिपशवे। यद्वा द्विपदे चतुष्पदे इति सप्तम्यौ। पुत्रादिविषये गवादिविषये वा यथा येन प्रकारेण शं सुखम् असद् भवति, अस्मिन् ग्रामे वासस्थाने विश्वं सर्वं प्राणिजातं पुष्टं समृद्धम् अनातुरं निरुपद्रवं स्वस्थं च यथा असद् भवति, तथाभिप्रायेण स्वमतीः शिवाय समर्पयामः, तदीयस्मरणचिन्तनादिभक्तिपरायणा भवामः ॥ ४८ ॥

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र! तुम्हारा शरीर उत्तम है, यह सभी समय में कल्याणप्रद है, व्याधियों को नष्ट करने वाला भेषज (औषधि) रूप है, अतः हम लोगों को दीर्घ आयु देकर सुखी करो ॥ ४६ ॥

इयमनुष्टुप्। हे रुद्र, या ते तव ईदृशी मङ्गलमयी तनूः शरीरम्, तया तन्वा नोऽस्मान् जीवसे जीवितुं मृड सुखय। कीदृशी तनूः? शिवा शान्ता अघोरा सुखमयी विश्वाहा विश्वानि च तान्यहानि च विश्वाहा। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया, तस्या आकारः। सर्वेष्वहस्सु सर्वदा शिवा कल्याणकारिणी भेषजी औषधरूपा संसारव्याधिनिर्वर्तिका दिव्यौषधरूपा, रुतस्य शारीरव्याधेर्निर्वर्तिका, शिवा समी-

---

करते हैं, अथवा प्रेरित करते हैं, अर्थात् रुद्र का स्मरण करते हैं। किस प्रकार के रुद्र को हम स्मरण करते हैं? 'तवसे' महते बलवते वा, अर्थात् महान् अथवा बलवान् रुद्र को हम स्मरण या समर्पण करते हैं। दोनों जगह 'तवः तवसः' शब्द का पाठ है। कपर्दिने जटिलाय जटाजूटधारिणे, अर्थात् जटा-जूट धारण करने वाले। 'क्षयद्वीराय' क्षयन्तो निवसन्तो वीराः शूरा यत्र असौ क्षयद्वीरः, तस्मै। अर्थात् जिसका आश्रय करके शूर लोग वीर्य और शौर्य को प्राप्त करते हैं, उस अनन्त शौर्यवीर्यपूर्ण भगवान् रुद्र के लिये प्रणाम है। अथवा क्षयन्ति नश्यन्ति वीरास्त्रिपुरान्धकादयो यस्मात् स क्षयद्वीरः, अर्थात् उस शत्रुसंहारक भगवान् रुद्र को प्रणाम है। 'द्विपदे' द्वौ पादौ यस्याऽसौ द्विपात् तस्मै पुत्र-पौत्रादये चतुष्पदे गवादिपशवे। अथवा 'द्विपदे-चतुष्पदे' ये दोनों पद सप्तम्यन्त भी हो सकते हैं। तब अर्थ होगा कि पुत्रादि अथवा गवादि के विषय में जिस प्रकार से सुख प्राप्त हो, इस निवास स्थान में सम्पूर्ण प्राणिवर्ग समृद्ध और निरुपद्रव जैसे हो सके, उस अभिप्राय से हम अपनी बुद्धि को शिव के लिये समर्पित कर रहे हैं, अर्थात् उसके स्मरण-चिन्तन स्वरूप भक्ति में हम तत्पर हो रहे हैं ॥ ४८ ॥

यह कण्डिका अनुष्टुप् छन्द की है। हे रुद्र, या ते तव ईदृशी मङ्गलमयी तनूः शरीरम्, तया तन्वा नः अस्मान् जीवसे जीवितुं मृड सुखय। अर्थात् हे रुद्र! तुम्हारा जो मङ्गलमय शरीर है, उससे हमें जीवित रहने के लिये सुखी बनाओ। कीदृशी तनूः? तुम्हारा शरीर कैसा है? शिवा शान्ता अघोरा सुखमयी, 'विश्वाहा' विश्वानि च तान्यहानि च विश्वाहा, अर्थात् तुम्हारा शरीर शान्त है, सुखमय है और विश्वाहा यानी सभी दिन (सर्वदा) वह एकरूप है। वह तुम्हारी कल्याणकारिणी तनू साक्षात् भेषजी है, यानी औषधरूपा है, संसारव्याधि की निवर्तिका है, दिव्य औषधि स्वरूपा है। 'रुतस्य' शारीर व्याधि की निवर्तिका है, शिवा यानी समीचीन औषधि है। यद्वा शिवारुतस्य शृगालोफेत्कृतस्य शब्दस्य भेषजी,

चीना निवर्तकौषधिः । यद्वा शिवारुतस्य श्रृगालीफेत्कृतस्य भेषजी तदुपलक्षितसर्वविधस्य अपशकुनस्य अपहन्त्री । ईदृश्या लोकोत्तरया अमङ्गलघ्न्या तन्वा नोऽस्मान् मृडयेत्यर्थः ॥ ४९ ॥

परि॑ नो रु॒द्रस्य॑ हे॒तिर्वृ॑णक्तु॒ परि॑ त्वे॒षस्य॑ दुर्म॒तिर॑घा॒योः ।
अव॑ स्थि॒रा म॒घव॑द्भ्यस्तनुष्व॒ मीढ्व॑स्तो॒काय॒ तन॑याय मृड ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र ! तुम्हारा आयुध और क्रुद्ध हुए द्वेषी पुरुषों की दुर्बुद्धि हम लोगों को वर्जित कर दे, अर्थात् उनसे हम लोगों को किसी प्रकार की पीडा न हो पावे । अभिलषित वस्तुओं की वृष्टि करनेवाले हे रुद्र ! तुम अपने धनुष को प्रत्यंचा से रहित करके यजमान-पुरुषों के भय को दूर कर दो और उनके पुत्र-पौत्रों को सुखी बनाओ ॥५०॥

इयं त्रिष्टुप् । रुद्रस्य शिवस्य हेतिरायुधम्, नोऽस्मान् परिवृणक्तु परितो वर्जयतु । अस्मान् मा हन्त्वित्यर्थः । त्वेषस्य त्वेषति दीप्यते, क्रोधेनेति त्वेषः, पचाद्यच्, तस्य क्रुद्धस्य अघायोः परानिष्टेच्छोः, अघं परस्येच्छतीति अघायति, अघायतीत्यघायुः, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति सूत्रे छन्दसि परेच्छायामपि क्यच् भवतीति व्याख्येयम् । व्याख्यानं पुनर्यदयमाचार्योऽघशब्दात् क्यचि कृते 'क्यचि च' (पा० सू० ७।४।३३) इति प्राप्तेत्वबाधनार्थम् 'अश्वाघस्यात्' (पा० सू० ७।४।३३) इत्यघशब्दस्यात्वं शास्ति । एतदेव ज्ञापयति छन्दसि परेच्छायामपि क्यच् भवतीति । नहि कश्चनाप्यात्मनोऽघमिच्छति । 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युः । तस्य द्रोग्धुर्दुर्मतिर्द्रोहबुद्धिः, अस्मान् परिवृणक्तु परिवर्जयतु । हे मीढ्वः, मेहति वर्षति कामानिति मीढ्वान्, तत्सम्बुद्धौ कामाभिवर्षुक । स्थिरा स्थिराणि दृढानि, अर्थाद् धनूंषि त्वमवतनुष्व अवतारयः, मौर्वीरहितानि कुर्वित्यर्थः । किमर्थमिति चेत् ? मघवद्भ्यः, 'मघमिति धननाम' (निघ० २।१०।१) । मघं हविर्लक्षणं धनं विद्यते येषां ते मघवन्तो यजमानाः, तेभ्यः । यजमानानां भयनिवृत्तय इति यावत् । किञ्च, तोकाय पुत्राय तनयाय पौत्राय च मृड पुत्रं पौत्रं च सुखय । कर्मणि चतुर्थ्यौ । तौतीति पूरयति कुलमिति तोकम् । तुः सौत्रो धातुर्हिंसावृत्तिपूर्तिषु । तनोतीति तनयः । 'बलिमतितनिभ्यः कयन्' (उ० ४।९९) इति रूपसिद्धिः ॥ ५० ॥

तदुपलक्षितसर्वविधस्य अपशकुनस्य अपहन्त्री । अथवा श्रृगाली के अपशकुनरूपी शब्द की यानी सर्वविध अपशकुनों को निवारक तुम्हारी मंगलमयी तनू है । इस प्रकार की अलौकिक और अमङ्गल की विनाशक अपनी तनू से हमें सुखी बना दो ॥ ४९ ॥

यह कण्डिका त्रिष्टुप् छन्द की है । रुद्रस्य शिवस्य हेतिर् आयुधम्, नः अस्मान् परिवृणक्तु परितो वर्जयतु । शिव का आयुध हमारा हनन न करे । 'त्वेषस्य' त्वेषति दीप्यते क्रोधेनेति त्वेषः, पचाद्यच्, तस्य क्रुद्धस्य, अघायोः पराऽनिष्टेच्छोः, अघं पापं परस्य इच्छतीत्यघायति, अघायतीत्यघायुः, 'सुप आत्मनः क्यच्' इत्यत्र परेच्छायामपि वाच्यमिति क्यच् । 'क्यचि च' इतीत्वे प्राप्ते 'अश्वाघस्यात्' सूत्रेण आकारः, 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से 'उ' प्रत्यय हुआ है । त्वेषस्य क्रुद्धस्य अघायोः द्रोग्धुः दुर्मतिः दुष्टमतिः द्रोहबुद्धिश्च अस्मान् परिवृणक्तु, अर्थात् द्रोह करने वाले क्रुद्ध पुरुष की दुष्टबुद्धि हमारा अनिष्ट न करने पावे, यानी हमको त्याग दे, अर्थात् हमसे दूर रहे । हे मीढ्वः ! मेहति वर्षति कामानिति मीढ्वान्, तत्सम्बुद्धौ हे मीढ्वः, कामनाओं (फलों) की वर्षा करने वाले ! अर्थात् कामाभिवर्षक ! स्थिरा स्थिराणि दृढानि, अर्थात् धनूंषि, त्वम् अवतनुष्व अवतारय मौर्वीरहितानि कुर्वित्यर्थः, अर्थात् अपने सुदृढ धनुषों को प्रत्यञ्चारहित कर दो । किमर्थमिति चेत् किसलिये धनुषों को प्रत्यञ्चारहित करें ? तो 'मघवद्भ्यः' मघं हविर्लक्षणं धनं विद्यते येषां ते मघवन्तो यजमानाः, तेभ्यः । हविर्लक्षण धन को अपने पास सुरक्षित रखने वाले यजमानों के भय का निवारण करने के लिये । 'मघमिति धननाम' । किञ्च, तोकाय पुत्राय तनयाय पौत्राय च मृड । अर्थात् हमारे पुत्र-पौत्रों को सुखी कर दो । दोनों चतुर्थी विभक्तियां कर्म के अर्थ में हैं । तौतीति पूरयति कुलमिति तोकम्, जो कुल को पूर्ण बनाता है, उसे 'तोक' कहते है । 'तुः सौत्रो धातुः' तनोतीति तनयः ॥ ५० ॥

मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव । परमे वृक्ष आयुधं निधाय कृत्तिं वसान आचर पिनाकं बिभ्रदागहि ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—अभीष्ट फल और कल्याणों की अत्यधिक वृष्टि करनेवाले हे रुद्र ! तुम हम पर प्रसन्न रहो, अपने त्रिशूल आदि आयुधों को कहीं दूर स्थित वृक्षों पर रख दो, गजचर्म का परिधान करके तप करो और केवल शोभा के लिये धनुष मात्र लेकर आओ ॥ ५१ ॥

इयमेकोना यवमध्या त्रिष्टुप् । तृतीय एकादशार्णः । चत्वारोऽन्येऽष्टार्णाः । पञ्चपादा । हे मीढुष्टम, अतिशयेन मीढ्वान् मीढुष्टतमः, अतिशयेन अभीष्टकामवर्षुकः, तत्सम्बुद्धौ । शिवतम अतिशयेन शिवः कल्याणकर्ता शिवतमः, तत्सम्बुद्धौ, परमकल्याणमय । नोऽस्मान् प्रति शिवः शान्तः सुमना हृष्टचित्तश्च भव । किञ्च, परमे दूरस्थे उन्नते वा वृक्षे वटादौ आयुधं त्रिशूलादिकं निधाय संस्थाप्य कृत्तिं चर्म वसानः परिदधानः, आचर आगच्छ, तपश्चरणं कुर्विति वा । आगच्छन्नपि पिनाकं स्वीयमजगवं धनुः, बिभ्रद् धारयन्, आगहि आगच्छ । ज्याशरहीनं धनुर्मात्रं शोभार्थं धारयन्नागच्छेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

विकिरिद्र विलोहित नमस्ते अस्तु भगवः ।
यास्ते सहस्रꣳ हेतयोऽन्यमस्मन्निवपन्तु ताः ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—विविध प्रकार के उपद्रवों का विनाश करने वाले तथा शुद्ध स्वरूप वाले हे भगवन् रुद्र ! तुम्हें हमारा प्रणाम है, तुम्हारे जो असंख्य आयुध हैं, वे हमसे अतिरिक्त दूसरों पर जाकर गिरें ॥ ५२ ॥

द्वे अनुष्टुभौ । हे विकिरिद्र, विविधं यथा स्यात्तथा किरीन् उपद्रवान् द्रावयति नाशयतीति विकिरिद्रः, तत्सम्बुद्धौ, हे सर्वोपद्रवनाशक, किरति विक्षिपति वैकल्यमापादयति शरीरे मनसि वेति किरिः, उपद्रवः । 'कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिछिदिभ्यश्च' (उ० ४।१४४) इति इप्रत्यये साधुः । बहुवचने किरयः । अथवा विविधं किरन् बाणान् द्रावयति शत्रूनिति विकिरिद्रः, तत्सम्बुद्धौ । हे विलोहित, विगतं विनष्टं लोहितं रजोमयं कल्मषं यस्मादसौ

यह कण्डिका एकोना यवमध्या त्रिष्टुप् है । तृतीय पाद एकादश अक्षर का है, अन्य चार आठ अक्षर के हैं । पाँच पाद हैं । हे मीढुष्टम ! अतिशयेन मीढ्वान् मीढुष्टतमः । अत्यधिक अभीष्ट फलों की वर्षा करने वाला मीढुष्टतम कहलाता है, उसका संबोधन में रूप 'मीढुष्टतम' है । 'शिवतम' अतिशयेन शिवः कल्याणकर्ता शिवतमः, इसका संबोधन में रूप 'शिवतम' है । अत्यन्तं कल्याणकर्तः ! 'नः' हम लोगों के प्रति 'शिवः' शान्त और 'सुमनाः' प्रसन्नचित्त 'भव' हो जाओ । किञ्च 'परमे' दूर स्थित अथवा ऊँचे वट आदि वृक्ष पर 'आयुधं' अपने त्रिशूलादि आयुध को 'निधाय' रखकर 'कृत्तिम्' चर्म को 'वसानः' धारण किये हुए 'आचर' आओ, अथवा तपश्चरण करो । आते हुए भी 'पिनाकम्' अपने अजगव धनुष को धारण करते हुए 'आगहि' आओ । अर्थात् प्रत्यञ्चा = शर से रहित केवल धनुष को शोभार्थं धारण करके आओ ॥ ५१ ॥

इस कण्डिका में दो अनुष्टुप् हैं । हे विकिरिद्र ! विविधं यथा स्यात्तथा किरिं वाताद्युपद्रवं द्रावयति नाशयति विकिरिद्रः, तत्सम्बुद्धौ हे विकिरिद्र ! हे सर्व उपद्रवों के विनाशक ! किरति विक्षिपति वैकल्यमापादयति शरीरे मनसि वेति किरिः उपद्रवः । शरीर में अथवा मन में विकलता जिससे प्राप्त होती है, उसे 'किरि' कहते हैं । अथवा विविधं किरन् बाणान् द्रावयति शत्रूनिति विकिरिद्रः, तत्सम्बुद्धौ हे विकिरिद्र ! विविध बाणों को छोड़ते हुए जो शत्रुओं को नष्ट करता है, उसे 'विकिरिद्र' कहते हैं । उसके संबोधन में 'विकिरिद्र' रूप बनता है । हे विलोहित ! विगतं विनष्टं लोहितं रजोमयं

विलोहितः, तत्सम्बुद्धौ, शुद्धसच्चिदानन्द । हे भगवः, भगवन् 'मतुवसोरुः सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति नस्य रेफस्तस्य विसर्गः । ते तुभ्यं नमः प्रह्वीभावः, अस्तु भवतु । एवमभिष्टुत्य आशिषं प्रार्थयते—हे रुद्र, तव याः सहस्रं हेतयोऽसंख्यातान्यायुधानि, ता हेतयोऽस्मदन्यमस्मद्व्यतिरिक्तं निवपन्तु घ्नन्तु ॥ ५२ ॥

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः ।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—जगत् के स्वामी हे रुद्र ! तुम्हारे हाथों में हजारों प्रकार के जो असंख्य आयुध हैं, उनके अग्र भागों (मुखों) को हमारी विरुद्ध दिशाओं की ओर कर दो, अर्थात् हम पर आयुधों का प्रयोग मत करो ॥ ५३ ॥

हे भगवः, हे भगवन्, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न, तव बाह्वोर्भुजयोर्याः सहस्राणि सहस्रशोऽसंख्यातानि सहस्राणि, 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (पा०सू० ५।४।४३) इति शस् अनन्तत्वप्रतिपादनार्थम्, हेतयः सन्ति, तासां हेतीनां सहस्रसंख्याकानि धनुःशूलखड्गादिभेदेन सहस्रसंख्याकत्वम् । तासां हेतीनां मुखा मुखानि शल्यानि पराचीना अस्मत्तः पराङ्मुखानि त्वं कृधि कुरु, यतो भवानीशानः सर्वं कर्तुमीष्टे, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

असङ्ख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् ।
तेषांᳬ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी पर जो असंख्य रुद्र हजारों रीति से निवास करते हैं, उनके असंख्य आयुधों को हम लोग हजारों कोसों के पार जो मार्ग है, उस पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ५४ ॥

बहुरुद्रदेवत्या दशानुष्टुभोऽवतानसंज्ञाः । पृथिवीस्थानां तेषां रुद्राणां नमस्कारः । असंख्याता असंख्यातानि सहस्राणि अनन्ता ये रुद्रा भूम्यां पृथिव्या उपरि स्थिताः, तेषां रुद्राणां सहस्रयोजने सहस्रं योजनानि यस्मिन् स सहस्रयोजनस्तस्मिन् अध्वन्यवस्थितानाम्, हविषा धन्वानि धनूंषि, अवतन्मसि अवतन्मः, अवतारयामः, अपज्यानि

कल्मषं यस्माद् असौ विलोहितः । तत्सम्बुद्धौ 'हे विलोहित' । नष्ट हो गया है लोहित, यानी रजोमय कल्मष जिससे, उसे 'विलोहित' कहते हैं, उसके संबोधन में 'हे विलोहित' रूप बना है । अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द ! हे भगवः ! हे भगवन् ! तुम्हें हमारा प्रणाम हो । इस प्रकार भगवान् की स्तुति करके आशीर्वाद प्राप्ति की अभ्यर्थना की है । हे रुद्र ! तुम्हारी जो हजारों हेतियाँ यानी 'आयुध' हैं, वे हमसे भिन्न जो तुम्हारे अभक्त हों, उन पर गिरें, अर्थात् उनका नाश करें ॥ ५२ ॥

हे भगवः ! हे भगवन् षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न ! तुम्हारे हाथों में हजारों जो हेतियां यानी आयुध हैं, उन आयुधों के जो शल्य हैं, उन्हें हमसे पराङ्मुख करो, क्योंकि तुम कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ हो । यहाँ पर 'सहस्र' शब्द अनन्तत्व के प्रतिपादनार्थ है ॥ ५३ ॥

यह कण्डिका बहुरुद्रदेवत्या है । अनुष्टुप् छन्द की इन दस कण्डिकाओं की अवतान संज्ञा है । पृथिवी पर स्थित उन रुद्रों को प्रणाम है । असंख्याताः, असंख्यातानि सहस्राणि, अनन्ता ये रुद्रा भूम्यां पृथिव्या उपरि स्थिताः, तेषां रुद्राणां सहस्रयोजने सहस्रं योजनानि यस्मिन् सहस्रयोजनः, तस्मिन् अध्वनि स्थितानां हविषा धन्वानि धनूंषि, अवतन्मसि अवतन्मः अवतारयामः, अपज्यानि कृत्वा अस्मत्तो दूरं क्षिपाम इत्यर्थः । जिनका अन्त नहीं हैं, ऐसे हजारों जो रुद्र हैं, वे भूमि पर स्थित हैं, उन रुद्रों के लिये जो सहस्र योजन के मार्ग पर स्थित हैं, हवि देकर उनके धनुषों को हम उतार रहे हैं, अर्थात् धनुषों को

कृत्वा अस्मत्तो दूरं क्षिपाम इत्यर्थः। भक्त्या परमेश्वरमनुकूल्य तद्द्वारैव तेषां धनूंष्यपज्यानि कुर्म इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अस्मिन् महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवा अधि ।
तेषाᳬं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—महान् मेघमण्डल से भरे हुए आकाश में जो रुद्र रहते हैं, उनके असंख्य धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार जो मार्ग है, उस पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ५५ ॥

अन्तरिक्षस्थानां तेषां रुद्राणां नमस्कारः। अस्मिन् अन्तरिक्षरूपे महति विशाले अर्णवे अर्णांसि जलानि विद्यन्ते यत्र तद् अर्णवम्, मेघाधारत्वादन्तरिक्षमर्णव उच्यते। 'अर्णसो लोपश्च' (पा० सू० ५।२।१०९, वा० २) इति वप्रत्ययेऽन्त्यलोपे च रूपसिद्धिः। तस्मिन् अधिश्रित्य ये भवा रुद्राः स्थिताः, तेषां धन्वानि धनूंषि, अवतन्मसि अवतारयामः ॥ ५५ ॥

नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवᳬं रुद्रा उपश्रिताः।
तेषाᳬं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—जिनका कण्ठ कुछ हिस्से में नील वर्ण है और कुछ हिस्से में श्वेत वर्ण है, द्युलोक में निवास करने वाले उन रुद्रों के असंख्य धनुषों को हम लोग हजारों कोस दूर के मार्ग पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ५६ ॥

द्युस्थानां तेषां रुद्राणां नमस्कारः। ये रुद्रा दिवं द्युलोकमुपश्रिताः स्वर्गस्थाः। कीदृशाः ? नीलग्रीवाः। कृष्णवचनो नीलशब्दः। शितिशब्दः श्वेतवचनः। नीला ग्रीवा येषां ते। शितिः कण्ठो येषां ते। विषग्रासात् कियान् कण्ठभागः कृष्णः कियानपि श्वेत इत्यर्थः। तेषामित्यादीनां व्याख्यानं पूर्ववत् ॥ ५६ ॥

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधः क्षमाचराः।
तेषाᳬं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५७ ॥

प्रत्यंचारहित करके अपने से दूर फिकवा देते हैं। अभिप्राय यह है कि उन रुद्रों की भक्तिपूर्वक उपासना करके उस भक्ति के द्वारा ही उनके धनुषों को हम प्रत्यंचारहित कर देते हैं ॥ ५४ ॥

अन्तरिक्ष में स्थित रहनेवाले उन रुद्रों को प्रणाम है। अस्मिन् अन्तरिक्षे महति विशाले अर्णवे अर्णांसि जलानि विद्यन्ते यत्र तद् अर्णवम्, मेघाधारत्वाद् अन्तरिक्षमर्णव उच्यते। इस विशाल अन्तरिक्ष रूप अर्णव में उसके आश्रित होकर जो रुद्र स्थित रहते हैं, उनके धनुषों को हम उतरवा देते हैं। मेघों का आधार होने से उस अन्तरिक्ष में जल रहता है, इसलिये अन्तरिक्ष को अर्णव शब्द से कहा जाता है ॥ ५५ ॥

द्युलोक में स्थित रहने वाले उन रुद्रों को प्रणाम है। जो रुद्र स्वर्ग में स्थित हैं, उनकी ग्रीवा नील है और उनका कण्ठ श्वेत है, क्योंकि विषपान करने से कण्ठ का भाग कृष्ण है और उसी का कुछ भाग श्वेत है। अग्रिम अंश की व्याख्या पूर्ववत् ही है। 'नील' शब्द कृष्ण वर्ण का वाचक है और 'शिति' शब्द श्वेत वर्ण का वाचक है ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—कुछ भाग में नील वर्ण और कुछ भाग में शुक्ल वर्ण के कण्ठ वाले भूमि के अधोभाग में स्थित पाताल लोक में निवास करने वाले रुद्रों के असंख्य धनुषों को हम लोग हजारों कोस दूर मार्ग पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ५७ ॥

पातालस्थानां तेषां रुद्राणां नमस्कारः। अधः अधोभागे ये शर्वा रुद्राः क्षमाचराः क्षमाया भुवोऽधोभागे चरन्ति गच्छन्तीति, पाताले वर्तमाना इति यावत्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ५७ ॥

ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः।
तेषाᳬं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—बाल तृण के समान हरित वर्ण के तथा कुछ भाग में नील वर्ण एवं कुछ भाग में शुक्ल वर्ण के कण्ठ वाले, जो रुधिररहित रुद्र (तेजोमय शरीर रहने से उन शरीरों में रक्त और मांस नहीं रहता) हैं, वे अश्वत्थ आदि के वृक्षों पर रहते हैं। उन रुद्रों के धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार किसी मार्ग पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ५८ ॥

ये रुद्रा वटाश्वत्थादिवृक्षेषु स्थिताः। कीदृशाः ? शष्पिञ्जराः शष्पं बालतृणं तद्वत् पिञ्जरा हरितवर्णाः। पकारलोपश्छान्दसः। नीलग्रीवाः केचन कण्ठे नीलवर्णाः, तथा केचन विरोहिता विशेषेण रक्तवर्णाः। यद्वा विगतं लोहितं रक्तं रक्तोपलक्षितं मांसमज्जास्थ्यादि भौतिकं येषां ते, अप्राकृतचिन्मयदिव्यविग्रहा इति यावत्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ५८ ॥

यो भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः।
तेषाᳬं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—जिनके शिर पर केश नहीं हैं जो जटाजूट धारण किये हैं और पिशाचों के जो अधिपति हैं, उन रुद्रों के धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार किसी मार्ग पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ५९ ॥

ये भूतानां प्राणिनामधिपतयः स्वामिनः पालका रुद्राः, यद्वा भूतानां भूतप्रेतपिशाचादीनाम् अन्तर्धानादि-शक्तिमतां देवविशेषाणामधिपतयः पालका रुद्राः, तेषु केचिद् विशिखासः शिखाकेशादिहीनाः, मुण्डितमुण्डा इति यावत्। केचिच्च कपर्दिनो जटाजूटधारिणः, तेषां धन्वानि धनूंषि अवतारयाम इति पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ५९ ॥

पाताल लोक में रहने वाले उन रुद्रों को प्रणाम है। अधो भाग में जो शर्व (रुद्र) हैं, वे 'क्षमाचराः' अर्थात् क्षमाया भुवोऽधोभागे चरन्ति गच्छन्तीति ते 'क्षमाचराः', पृथिवी के निचले भाग में जो चलते हैं, उन्हें क्षमाचर कहते हैं, यानी पाताल में विद्यमान रहने वाले। शेष भाग की व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिये ॥ ५७ ॥

जो रुद्र वट, अश्वत्थ आदि वृक्षों पर स्थित रहते हैं। वे कैसे हैं ? 'शष्पिञ्जराः' बाल तृण के समान हरित वर्ण के हैं। 'नीलग्रीवाः' कुछ तो नीलवर्ण के कण्ठ वाले हैं तथा कुछ 'विलोहिताः' विशेष रूप से रक्त वर्ण के हैं। यद्वा विगतं लोहितं रक्तं रक्तोपलक्षितं मांसमज्जाऽस्थ्यादि भौतिकं येषां ते विलोहिताः, अर्थात् रक्त और मांस-मज्जा-अस्थि आदि भौतिक पदार्थों से रहित हैं, यानी लोहितादि धातुओं से रहित हैं, अर्थात् तेजोमय शरीर वाले हैं। चिन्मय दिव्य शरीर वाले हैं, प्राकृत नहीं हैं। शेष भाग की व्याख्या पूर्ववत् ही है ॥ ५८ ॥

जो प्राणियों के अधिपति यानी स्वामी, अर्थात् पालक रुद्र हैं, यद्वा 'भूतानां' अन्तर्धान हो जाने की शक्ति वाले भूत-प्रेत-पिशाच आदि हैं, ऐसे देवविशेषों के पालक जो रुद्र हैं उनमें से कुछ तो 'विशिखासः' शिखा-केश आदि से हीन हैं, यानी मुण्डित शिर वाले हैं और कुछ 'कपर्दिनः' जटा-जूटधारी हैं, उनके धनुषों को हम उनसे दूर करवाते हैं। ऐसी पूर्ववत् ही व्याख्या है ॥ ५९ ॥

ये प॒थां प॑थि॒रक्ष॑य ऐलबृ॒दा आ॑यु॒र्युध॑: । तेषा॑ᳫँ सहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—अन्न देकर प्राणियों का पोषण करने वाले, आजीवन युद्ध करने वाले, लौकिक-वैदिक मार्ग का रक्षण करने वाले तथा अधिपति कहलाने वाले रुद्रों के धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार किसी मार्ग पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ६० ॥

ये रुद्राः पथां लौकिकवैदिकमार्गाणाम् अधिपतयो रक्षकाः, पथामधिपतय इति पूर्वर्चेनानुषङ्गः, ये च पथि रक्षयः पथो मार्गांस्तानेवान्यानपि वा रक्षन्ति पालयन्ति ते पथिरक्षयः, ये च ऐलबृदा इलानाम् अन्नानां समूह ऐलम् । यद्वा इला पृथ्वी, तस्या इदमैलम् अन्नम्, तद् बिभ्रतीत्यैलभृतः, ऐलभृतः सन्तः परोक्षवृत्त्या ऐलबृदा उच्यन्ते, अन्नैर्जन्तूनां पोषका इत्यर्थः । आयुर्युध आयुषा जीवनेन युद्ध्यन्ते इत्यायुर्युधः, यावज्जीवं युद्धकर्तार इति यावत् । अथवा आयुर्वा पणीकृत्य ये युध्यन्ते ते आयुर्युधः, तेषां धनूंषि सहस्रयोजने अवतारयाम इति पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ६० ॥

ये ती॒र्थानि॑ प्र॒चर॑न्ति सृ॒काह॑स्ता निष॒ङ्गिण॑: । तेषा॑ᳫँ सहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—आयुधों को हाथ में लेकर और खड्गों को धारण कर जो रुद्र तीर्थों पर जाते हैं, उनके धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार किसी मार्ग पर ले जाकर डाल आते हैं ॥ ६१ ॥

ये रुद्रास्तीर्थानि काशी-प्रयाग-कुरुक्षेत्र-पुष्कर-प्रभृतीनि प्रचरन्ति गच्छन्ति । कीदृशाः ? सृकाहस्ताः सृका आयुधानि हस्ते येषां ते तथोक्ताः । 'सृकेत्यायुधनामसु' (निघ० २।२०।६) । 'सृवृभूसुषिमुषिभ्यः कक्' । सरतीति सृकः । वज्रं तद्वदायुधमिति यावत् । निषङ्गिणो निषङ्गाः खड्गा विद्यन्ते येषां ते तथोक्ताः । उभाभ्यां हस्ताभ्यां वज्रखड्गधारयितारः । युगपद् उभयपार्श्वतः पुरतश्च युद्धकरणसमर्थाः । तेषां धनूंषीत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ६१ ॥

जो रुद्र लौकिक और वैदिक मार्गों के रक्षक हैं, जो 'पथिरक्षयः' मार्गों का अथवा अन्यों का भी पालन (रक्षण) करते हैं, जो 'ऐलबृदाः' इलानाम् अन्नानां समूह ऐलम्, अर्थात् अन्नसमूहः । यद्वा—इला पृथिवी तस्या इदम् ऐलम् अन्नम्, तद् बिभ्रतीत्यैलभृतः, ऐलभृतः सन्तः परोक्षवृत्त्या ऐलबृदा उच्यन्ते । अर्थात् अन्न के द्वारा प्राणियों के जो पोषक हैं । 'आयुर्युधः' आयुषा जीवनेन युध्यन्त इति आयुर्युधः, अर्थात् जीवन भर युद्ध करने वाले । अथवा 'आयुः' जीवनं पणीकृत्य युध्यन्ते त आयुयुधः, अर्थात् जीवन की बाजी लगाकर जो युद्ध करते हैं, उन्हें 'आयुर्युध' कहते हैं । उन रुद्रों के धनुषों को हम अपने से हजार योजन दूर उतरवा देते हैं । ऐसी पूर्ववत् ही व्याख्या करनी चाहिये ॥ ६० ॥

ये रुद्रास्तीर्थानि काशीप्रयागकुरुक्षेत्रपुष्करप्रभृतीनि प्रचरन्ति गच्छन्ति । कीदृशाः ? सृकाहस्ताः सृका आयुधानि हस्ते येषां ते सृकाहस्ताः । सरतीति सृको वज्रम्, तद्वदायुधमिति यावत् । 'सृकेत्यायुधनामसु' (निघ० २।२०।६) । जो रुद्र काशी, प्रयाग, कुरुक्षेत्र, पुष्कर प्रभृति तीर्थों में चलते रहते हैं, वे सृक नाम के आयुधों को हाथ में लिये रहते हैं । जो सरण करता है, उसे सृक कहते हैं, यानी वज्र के समान आयुधविशेष । 'निषङ्गिणः' निषङ्गाः खड्गा विद्यन्ते तेषां ते निषङ्गिणः । उभाभ्यां हस्ताभ्यां वज्रखड्गधारयितारः । युगपद् उभयपार्श्वतः पुरतश्च युद्धकरणसमर्थाः । जिनके पास खड्ग है, वे निषङ्गी कहलाते हैं, अर्थात् दोनों हाथों में वज्र, खड्ग धारण किये रहते हैं । यानी युगपत् दोनों ओर से और सामने से भी युद्ध करने में समर्थ रहते हैं । उनके धनुष आदि आयुधों को हम उनके पास से दूर करवा देते हैं, इत्यादि पूर्ववत् ही व्याख्या समझनी चाहिये ॥ ६१ ॥

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्। तेषाᳩं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—अन्नभक्षण और जलपान करने पर उनमें स्थित जो रुद्र हैं, वे अन्नभक्षण तथा जलपान करने वाले प्राणियों को पीड़ा देते हैं। उन रुद्रों के धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार किसी मार्ग पर डाल देते हैं ॥६२॥

ये रुद्रा अन्नेषु भुज्यमानेषु स्थिताः सन्तो जनान् विविध्यन्ति विशेषेण ताडयन्ति, धातुवैषम्यं कृत्वा रोगानुत्पादयन्तीत्यर्थः। तथा पात्रेषु पात्रस्थक्षीरोदकादिषु स्थिताः सन्तः पिबतः क्षीरादिपानं कुर्वतो जनान् विविध्यन्ति अन्नपानादिभोजनपानपरायणान् स्वधर्मविमुखान् ये विविधं ताडयन्ति, तेषां धनूंषीत्यादि पूर्ववत् ॥ ६२ ॥

य एतावन्तश्च भूयाᳩंसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे। तेषाᳩं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—दसों दिशाओं में व्याप्त रहने वाले जो अत्यधिक रुद्र हैं, उनके धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार किसी मार्ग पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ६३ ॥

ये रुद्रा एतावन्त एतत्प्रमाणं येषां ते तथोक्ता उक्तप्रमाणाः। भूयांसश्च अतिशयेन बहव इति भूयांसः। उक्तप्रमाणेभ्योऽपि बहुतरा इत्यर्थः। दिशो दशदिशो वितस्थिरे विष्टभ्य स्थिताः, तेषां धनूंषीत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ६३ ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवस्तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वास्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६४ ॥

ये रुद्रा अन्नेषु भुज्यमानेषु स्थिताः सन्तो जनान् विविध्यन्ति विशेषेण ताडयन्ति, धातुवैषम्यं कृत्वा रोगानुत्पादयन्तीत्यर्थः, जो रुद्र भोज्य अन्न में स्थित होकर लोगों को विशेष रूप से ताडित करते हैं, अर्थात् धातुवैषम्य को उत्पन्न कर रोगों को पैदा करते हैं, तथा पात्रेषु पात्रस्थक्षीरोदकादिषु स्थिताः सन्तः, पिबतः क्षीरादिपानं कुर्वतो जनान् विविध्यन्ति अन्नपानादिभोजनपानपरायणान् स्वधर्मविमुखान् ये विविधं ताडयन्ति। उसी प्रकार पात्रस्थित क्षीर, उदक आदि में स्थित होकर क्षीर, उदक पान करने वाले लोगों को, अर्थात् खान-पान में ही तत्पर (परायण) रह कर स्वधर्म से विमुख रहने वाले लोगों को जो विविध प्रकार से प्रताडित करते हैं, उन रुद्रों के धनुरादि आयुधों को हम उनसे दूर करवा देते हैं, अर्थात् हम लोगों की भक्ति-उपासना आदि से प्रसन्न होकर वे अपने आयुधों का प्रयोग हम पर न करके उन्हें दूर रख देते हैं ॥ ६२ ॥

ये रुद्रा एतावन्त एतत्प्रमाणं येषां ते तथोक्ता उक्तप्रमाणाः। भूयांसश्च अतिशयेन बहव इति भूयांसः। उक्तप्रमाणेभ्योऽपि बहुतरा इत्यर्थः। अर्थात् पूर्वोक्त प्रमाण वाले ये रुद्र बहुत अधिक हैं, यानी उक्त प्रमाणों से भी बहुत अधिक हैं। दिशो दशदिशो वितस्थिरे विष्टभ्य स्थिताः ; दसों दिशाओं में वे स्थित हैं। उनके धनुरादि आयुधों को हम उनकी भक्तिपूर्वक उपासना के द्वारा उनसे दूर करवा देते हैं। ऐसी पूर्ववत् ही व्याख्या कर लेनी चाहिये ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक में रहने वाले जो रुद्र हैं और जिनके बाण वृष्टिरूप हैं, उनको हम लोग सभी दिशाओं की ओर हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं। वे रुद्र हम लोगों की रक्षा करें, हमें सुख दें। जो हमारा द्वेष करता है तथा हम जिससे द्वेष करते हैं, उन शत्रुओं को हम रुद्र की दाढ में रख देते हैं, अर्थात् उन शत्रुओं का नाश हो ॥ ६४ ॥

इत उत्तरं त्रीणि यजूंषि कण्डिकात्रयात्मकानि प्रत्यवरोहसंज्ञानि धृतिछन्दस्कानि बहुरुद्रदेवत्यानि। एषु त्रिस्थानास्त्रिलोकीस्था रुद्राः स्तूयन्ते। दिवि द्युलोके ये रुद्रा वर्तन्ते। येषां च रुद्राणां वर्षं वृष्टिरेव इषवो बाणाः, एषामायुधस्थानीया वृष्टिः, अतिवृष्ट्यादीतिभिः प्राणिनो घ्नन्ति, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। तेभ्यो रुद्रेभ्यो दश दश-संख्याकाः प्राचीः प्रागभिमुखा दशाङ्गुलीः कृत्वा नमस्करोमि। प्राङ्मुखाञ्जलिबन्धेन प्राच्यो दशाङ्गुलयो भवन्ति। तथैव दक्षिणा दक्षिणाभिमुखा दशाङ्गुलीः कृत्वा नमस्करोमि। तथैव प्रतीचीः प्रत्यङ्मुखा दशाङ्गुलीः कृत्वा नमस्करोमि। तथैव उदीचीर् उदङ्मुखा दशाङ्गुलीः कृत्वा नमस्करोमि। तथैव ऊर्ध्वा उपरि दशाङ्गुलीः कृत्वा नमस्करोमि। तेभ्यः साञ्जलिबन्धं नमोऽस्तु नमस्करोमि, 'दश वा अञ्जलेरङ्गुलयो दिशि दिश्येवैभ्य एतदञ्जलिं करोति' (श० ९।१।१।३९) इति श्रुतेः। ते रुद्रा नोऽस्मानवन्तु रक्षन्तु। ते रुद्रा नोऽस्मान् मृडयन्तु सुखयन्तु। किञ्च, ते रुद्रा अस्मान् प्रति सन्तुष्टाः सन्तः, यं पुरुषं द्विषन्तीति शेषः। वयं च यं द्विष्मो यस्य द्वेषं कुर्मः, पुनर्यो नरो नोऽस्मान् द्वेष्टि तं सर्वमपि पुरुषं पूर्वोक्तानामेषां रुद्राणां जम्भे दंष्ट्राकराले मुखे दध्मः स्थापयामः। अस्मद्द्विषम् अस्मद्द्वेष्यं च नरं पूर्वोक्ता रुद्रा भक्षयन्तु, अस्मांश्चावन्तु ॥ ६४ ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वात इषवस्तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वास्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ—आकाश में जो रुद्र रहते हैं और जिनके बाण वायुरूप हैं, उनको हम लोग हाथ जोड़कर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊर्ध्व दिशाओं की ओर दस अंगुलियों को करते हैं, अर्थात् सभी दिशाओं को हम हाथ जोड़-कर प्रणाम करते हैं। वे रुद्र हम लोगों की रक्षा करें, हमें सुख दें। जो हमसे द्वेष करते हैं तथा हम जिनसे द्वेष करते हैं, उन शत्रुओं को हम लोग रुद्र की दाढ़ में रख देते हैं, अर्थात् उस शत्रु का नाश हो ॥ ६५ ॥

इसके आगे तीन यजुः कण्डिकात्रयात्मक हैं, जो प्रत्यवरोहसंज्ञक हैं, धृति छन्दवाले हैं और बहुरुद्रदेवताक हैं। उनमें से त्रिलोकीस्थ रुद्रों की स्तुति की जा रही है। द्युलोक में जो रुद्र हैं और जिन रुद्रों के 'बाण' वर्षण (वृष्टि) ही हैं, अर्थात् उनकी आयुधस्थानापन्न 'वृष्टि' ही है; अतिवृष्टि आदि ईतियों से जो प्राणियों का हनन करते हैं, उन रुद्रों को प्रणाम है। उन रुद्रों के लिये दसों अंगुलियों को प्रागभिमुख करके मैं प्रणाम करता हूँ। प्राङ्मुख अंजलिबन्ध में दसों अंगुलियाँ प्राच्य नहीं होती हैं। तथैव दसों अंगुलियों को दक्षिणाभिमुख करके मैं प्रमाण करता हूँ। तथैव दसों अंगुलियों को प्रत्यङ्मुख करके मैं प्रमाण करता हूँ। तथैव दसों अंगुलियों को उदङ्मुख करके मैं प्रणाम करता हूँ। तथैव दसों अंगुलियों को ऊपर करके मैं प्रणाम करता हूँ। उन रुद्रों के लिये सांजलिबन्ध यानी अंजलि बाँध कर मैं प्रणाम करता हूँ। इसी अभिप्राय को शतपथश्रुति ने भी बताया है। वे रुद्र हमारी रक्षा करें। वे रुद्र हमें सुखी करें। किञ्च, वे रुद्र हमारे प्रति सन्तुष्ट होते हुए जिस पुरुष से वे द्वेष रखते हैं, हम जिस पुरुष से द्वेष करते हैं और जो पुरुष हमसे द्वेष करता है, उन सभी पुरुषों को पूर्वोक्त रुद्रों के दंष्ट्राकराल मुख में हम स्थापित करते हैं। हमारे द्वेष्यभूत मनुष्य को पूर्वोक्त रुद्र भक्षण कर ले और हमारी रक्षा करें ॥ ६४ ॥

येऽन्तरिक्षे रुद्रा वर्तन्ते, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमोऽस्तु। येषां रुद्राणां वात इषवो वायुरायुधस्थानीयः, कुवातेन अन्नं विनाश्य वातरोगं चोत्पाद्य जनान् घ्नन्ति, तेभ्योऽन्तरिक्षस्थेभ्यो रुद्रेभ्यो नमोऽस्तु। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ६५ ॥

नमो॑ऽस्तु रु॒द्रेभ्यो॒ ये पृ॑थि॒व्यां येषा॒मन्न॒मिष॑वस्तेभ्यो॒ दश॒ प्राची॒र्दश॑ दक्षि॒णा दश॑ प्रती॒चीर्दशो॒दी॑चीर्दशो॒र्ध्वास्तेभ्यो॒ नमो॑ अस्तु ते नो॑ऽवन्तु ते नो॑ मृडयन्तु ते यं द्वि॒ष्मो यश्च॑ नो॒ द्वेष्टि॒ तमे॑षां जम्भे॑ दध्मः ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ—जो रुद्र पृथिवी पर रहते हैं और जिनके बाण अन्नरूप हैं, उन रुद्रों को हम लोग हाथ जोड़कर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व दिशाओं की ओर दसों अंगुलियां करते हैं, अर्थात् सब दिशाओं को हाथ जोड़कर हम नमस्कार करते हैं। वे रुद्र हमारी रक्षा करें और हमें सुख दें। जो हमसे द्वेष रखते हैं और जिनसे हम द्वेष रखते हैं, उन शत्रुओं को हम रुद्र की दाढ़ में रख देते हैं, अर्थात् उस शत्रु का नाश हो ॥ ६६ ॥

॥ इति षोडशोऽध्यायः समाप्तः ॥

ये पृथिव्यां रुद्रा वर्तन्ते, येषामन्नमिषवः, अन्नमदनीयं वस्तु आयुधम्, अयथान्नभक्षणे कदन्नभक्षणे चौर्ये वा लोकान् प्रवर्त्य रोगमुत्पाद्य जनान् घ्नन्ति, तेभ्यः पृथिवीस्थानेभ्योऽन्नायुधेभ्यो रुद्रेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वास्तत्तद्दिगभिमुखा अङ्गुलीः कृत्वा साञ्जलिबन्धं नमस्करोमि। ते प्रसन्नाः सन्तो नोऽवन्तु, नः अस्मांश्च सुखयन्तु। ते यं द्विषन्ति, यं च वयं द्विष्मः, यश्च नो द्वेष्टि तं तान् सर्वानपि वयं रुद्राणां जम्भे दध्मः।

सामाजिकेन तु इतः पूर्वं प्राय उव्वटमहीधराद्यनुसार्येवार्थो लिखितः। आशवे, आजिराय, शीघ्रयाय, शीभ्यायेत्यादिषु स्वाच्छन्द्यमेवाश्रितम्। शीघ्रकार्यकरत्वम्, निरन्तरतया चिरकालमविश्रम्य कार्यकरत्वम्, शैघ्र्येण

ये अन्तरिक्षे रुद्रा वर्तन्ते, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमोऽस्तु। जो अन्तरिक्ष में रुद्र हैं, उन रुद्रों के लिये हमारा प्रणाम हो। येषां रुद्राणां वात इषवो वायुरायुधस्थानीयः, कुवातेन अन्नं विनाश्य वातरोगं चोत्पाद्य जनान् घ्नन्ति, तेभ्योऽन्तरिक्षस्थेभ्यो रुद्रेभ्यो नमोऽस्तु। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्। अर्थात् जिन रुद्रों के 'वात' ही बाण हैं, 'वायु' ही आयुधस्थानापन्न है, कुवायु से अन्न का विनाश कर और वात रोग को उत्पन्न कर लोगों को मार दिया है, उन अन्तरिक्ष में स्थित रुद्रों को हमारा प्रणाम हो। शेष भाग की व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिये ॥ ६५ ॥

जो पृथिवी पर रुद्र हैं, जिनके 'अन्न' ही इषु (बाण) हैं, अर्थात् अदनीय (भक्षणीय) वस्तु ही आयुध है, अभिप्राय यह है कि कदन्न भक्षण में अथवा चौर्य में लोगों को प्रेरित कर और रोग उत्पन्न कर जो लोगों का नाश करते हैं, उन पृथिवी स्थान में स्थित एवं अन्नात्मक आयुध लिये हुए रुद्रों के लिये 'दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः' अर्थात् तत्तद् दिशाओं के संमुख अंगुलियों को करके, अंजलि बाँधकर हम प्रणाम करते हैं। वे प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करें और हमें सुखी करें। वे रुद्र जिससे द्वेष करते हैं, हम जिनसे द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करते हैं, उन सभी को हम रुद्रों की विकराल दंष्ट्रा में रख देते हैं।

आर्यसमाजी ने इसके पूर्व तो प्रायः उव्वट, महीधरादि के अनुसार ही अर्थ लिखा है, किन्तु 'आशवे, आजिराय, शीघ्रयाय, शीभ्याय इत्यादि पदों के अर्थों को अपनी स्वच्छन्द वृत्ति से ही बताया है। शीघ्रकार्यकरत्व, अर्थात् निरन्तर चिरकाल तक बिना विश्राम किये ही कार्य करना, यानी शीघ्रता से चातुर्य से कार्य करना, तरंग से और उत्साह से कार्य

चातुर्येण कार्यकरत्वम्, तरङ्गेण उत्साहेन च कार्यकरत्वमित्यादिकं कथमर्थ इति दर्शनीयमासीत् । उव्वटमहीधरादिभिः प्रदर्शितरीत्या व्युत्पत्तिस्तु पूर्वव्याख्याने स्पष्टैव । एवमेव उर्वर्याय, कक्ष्याय, दुन्दुभ्याय, अहन्यायेत्यादिषु स्वाच्छन्द्येन तत्तत्पालकत्वाद्यर्थः प्रमाणशून्य एव । सिकत्यायेति वालुकाविज्ञानवान्, जलधाराविज्ञानवान्, बहुभारवदुत्थापकयन्त्रनिर्मातेत्यादिकोऽर्थः कथं कैः शब्दैर्ज्ञातुं शक्य इति विषये व्याख्यातुः स्वाच्छन्द्यमेव शरणम् । पर्णशब्दस्य पर्णप्रतिभूरिति कथमर्थः ?

४७ तमे मन्त्रे—'हे राजन्, प्रजापशूनां मध्ये कञ्चनापि रोगैर्मा पीडयस्व' इति व्याख्यानम् । एतद्रीत्या राजैव स्वराष्ट्रे रोगानप्युत्पादयतीत्यायातम् । तच्च प्रत्यक्षविरुद्धमेव । ४९ तमे मन्त्रे तनूरित्यस्य राजशक्तिरर्थः कृतोऽनेन व्याख्यात्रा । तदपि प्रमाणशून्यमेव । ५२ तमे मन्त्रे विकिरिद्रपदस्य व्याख्याने उव्वटमहीधरदयानन्दानां व्याख्याभेदा लिखिताः । विकिरीनिषून् द्रावयतीति विकिरिद्र इत्युव्वटः । तदेतदुद्धरणमपि भ्रान्तिमूलकमेव, यत उव्वटभाष्ये विकिरन्निषून् द्रावयतीति विकिरिद्र इत्युट्टङ्कितम् ।

वृक्षेषु शष्पिजरा नीलग्रीवा इत्यादिष्वपि तत्तच्चिह्नधारका वृक्षमारोहन्तीत्यर्थोऽपि स्वाच्छन्द्यमूलकः । 'येऽन्नेषु' इति ६२ तमे मन्त्रे लिखितम्—'ये दुष्टा अन्नादिभोजनानां जलदुग्धादीनां च पात्रेषु पिबत्सु जनेषु प्रहरन्ति, तेषां दूरीकरणाय सहस्रयोजने धनूंषि विस्तृतानि कुर्मः' इति, तत्रेदं विचारणीयं यद् यत्तदोः सम्बन्धः स्वाभाविकः । तथा च ये विविध्यन्ति तेषां धन्वानीत्येव सम्बन्धो युक्तः । तमपहाय तेषां दूरीकरणाय धनुषां विस्तार इत्यर्थः सर्वथा विरुद्ध एव । किञ्च, पूर्वं समष्टिकार्यकरणाय राजा सेनापतिर्वा प्रार्थ्यते स्म । इदानीं तु सहस्रयोजने धनुर्विस्तारस्य स्वकर्तृकत्वमेवोच्यते । वस्तुतस्तु राज्ञापि सहस्रयोजनेषु धनूंषि विस्तारयितुं न

करना इत्यादि अर्थ कैसे होगा, यह प्रदर्शित करना चाहिये था । उव्वट, महीधर आदि के द्वारा प्रदर्शित रीति के अनुसार जो व्युत्पत्ति होती है, उसे पूर्वव्याख्यान में स्पष्ट कर ही चुके हैं । इसी तरह 'उर्वर्याय, दुन्दुभ्याय, अहन्याय' इत्यादि पदों में भी अपनी स्वच्छन्द वृत्ति के अनुसार 'तत्तत्पालकत्व' आदि अर्थ किया है, जो प्रमाणशून्य है । 'सिकत्याय' इस पद का 'वालुकाविज्ञानवान्, जलधाराविज्ञानवान्, बहुभारवदुत्थापकयन्त्रनिर्माता' इत्यादि अर्थ कैसे किन शब्दों से जाना जा सकता है, इस विषय में व्याख्याता ने स्वच्छन्दता की ही शरण ली है । 'पर्ण' शब्द का 'पर्णप्रतिभू' यह अर्थ कैसे कर डाला है ?

४७वें मन्त्र में—'हे राजन् ! प्रजा-पशुओं में से किसी को भी रोगों से पीड़ित मत करो' ऐसी व्याख्या की है । इस व्याख्या के अनुसार यह अर्थ सूचित होता है कि 'राजा ही अपने राष्ट्र में रोगों को भी उत्पन्न करता है' । किन्तु यह तो प्रत्यक्ष से विरुद्ध ही है । ४९ वें मन्त्र में 'तनूः' का अर्थ 'राजशक्ति' किया है, किन्तु वह भी प्रमाणशून्य ही है । ५२ वें मन्त्र में—'विकिरिद्र' पद के व्याख्यान में उव्वट, महीधर, दयानन्द आदि के व्याख्या-भेदों को लिखा है । 'विकिरीनिषून् द्रावयतीति विकिरिद्र' इत्युव्वटः, किन्तु यह उद्धरण भी भ्रान्तिमूलक ही है । जब कि उव्वट भाष्य में 'विकिरन्निषून् द्रावयतीति विकिरिद्रः' यह उल्लिखित है । 'वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवाः' इनका अर्थ 'तत्तच्चिह्नधारका वृक्षमारोहन्ति' किया है, किन्तु यह अर्थ भी स्वाच्छन्द्यमूलक ही है । 'येऽन्नेषु' इस ६२वें मन्त्र में लिखा है—'ये दुष्टा अन्नादिभोजनानां जलदुग्धादीनां च पात्रेषु पिबत्सु जनेषु प्रहरन्ति, तेषां दूरीकरणाय सहस्रयोजने धनूंषि विस्तृतानि कुर्मः' । अर्थात् जो दुष्ट लोग अन्नादि-भोजन तथा जल-दुग्धादि को पात्रों से पीने वाले जनों पर प्रहार करते हैं, उनको दूर करने के लिये सहस्रयोजन पर धनुषों को हम विस्तृत करते हैं, किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि 'यत् और तत्' दो शब्दों का स्वाभाविक सम्बन्ध रहता है । तथा च—'ये विविध्यन्ति तेषां धन्वानि' यही सम्बन्ध करना उचित है । किन्तु इस औचित्यपूर्ण सम्बन्ध को त्यागकर 'उनको दूर करने के लिये धनुषों का विस्तार' यह अर्थ करना सर्वथा विरुद्ध ही है । किंच, पहले समष्टि कार्य करने के

शक्यन्ते। सिद्धान्ते तु हविषा हविर्दानेन स्तुतिनमस्कारादिभिः परमेश्वरमनुकूलयित्वा तद्द्वारैव धनूंष्यपज्यानि कुर्म इत्यर्थः।

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि ६४-६६ इत्यादिमन्त्रेष्वप्यस्य स्वाच्छन्द्यम्। तथाहि—'द्युलोकस्थसूर्यादिसमाना रुद्रा राजाश्रिता राजगणाः, येषां शस्त्रवर्षणमेव कार्यम्, तेभ्यः समादरोऽस्तु। अन्तरिक्षस्थवायुमेघादितुल्या ये सन्ति, वायुवत्तीव्रवेगवन्तो ये बाणाः सन्ति, तेभ्यो नमः' इत्यर्थो विहितः। मूलमन्त्रेषु सूर्य-वायु-मेघादिबोधका शब्दा न सन्त्येव। तत्र तु ये रुद्रा दिवि सन्ति, येषां वर्षमिषवः, तेभ्यो नमस्कारः। किं राजाश्रितगणानां दिवि स्थितिः सम्भाव्यते ? किञ्च, वर्षमिषव इति सामानाधिकरण्यमुक्तम्। तेन वर्षस्य वर्षणस्यैव इषुरूपत्वमुक्तम्। शरवर्षणमेव येषां कर्मेति समानीतम्। तथात्वे च इषूणां वर्षणं येषां कार्यमित्युच्येत ? एवमन्नं बाणवद्वशकारीत्यर्थोऽपि चिन्त्यः। पोषकत्वघातकत्वाभ्यामन्नस्य इषूणां चातुल्यत्वं स्पष्टमेव। किञ्च, यदि तेऽन्नरूपेण बाणेनैव वशीकुर्वन्ति, तदा तेभ्यो भयाशङ्कैव नास्ति, पुनः कथं तेभ्यो रक्षणं प्रार्थ्यते। द्युलोकस्थानामन्तरिक्षस्थानां शरवर्षणं वातवेगाश्च बाणास्त्वद्रीत्याप्यनिष्टकराण्येव। तत एव तेभ्यो रक्षणं काम्यते। ततः पृथिवीस्थानामन्नरूपा इषवोऽप्यनिष्टकरा एव मन्तव्याः। अन्यथा पौर्वापर्यवैरूप्यापत्तिः। तस्मात् सनातनसिद्धान्तानुसारिण्येव मन्त्राणां व्याख्या शुद्धा ॥६६॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदवाजसनेयिसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां षोडशोऽध्यायः समाप्तः ॥

लिये राजा अथवा सेनापति की प्रार्थना की गई थी, किन्तु अब सहस्रयोजन तक धनुर्विस्तार करने में स्व-कर्तृकत्व हो बता रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि राजा भी सहस्र योजन तक धनुषों का विस्तार नहीं कर सकता। सिद्धान्त की दृष्टि से तो यह अर्थ होता है कि हविर्दान और स्तुति-नमस्कार आदि से परमेश्वर को अपने अनुकूल करके उसके द्वारा ही धनुषों को प्रत्यंचारहित हम करवा देते हैं।

'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि' (६४-६६) इत्यादि मन्त्रों में भी इस व्याख्याकार की स्वच्छन्दता दृष्टिगोचर हो रही है। तथाहि—द्युलोकस्थसूर्यादिसमाना रुद्रा राजाश्रिता राजगणाः, येषां शस्त्रवर्षणमेव कार्यम्, तेभ्यः समादरोऽस्तु। अन्तरिक्षस्थ-वायुमेघादितुल्या ये सन्ति, वायुवत् तीव्र वेगवन्तो ये बाणाः सन्ति तेभ्यो नमः'—द्युलोकस्थ सूर्य आदि के समान राजाश्रित राजगण रुद्र हैं, जिनका शस्त्रवर्षण करना ही कार्य है, उनके लिये हमारा समादर रहे। अन्तरिक्षस्थित वायु, मेघ आदि के तुल्य जो हैं, वायु के समान तीव्र वेगवाले जो बाण हैं, उनको नमस्कार है', यह अर्थ इस व्याख्याता ने किया है। किन्तु मूलभूत मन्त्रों में सूर्य, वायु, मेघ आदि के बोधक शब्द तो कोई है ही नहीं। मूलभूत मन्त्र में तो 'जो रुद्र द्युलोक में हैं, जिनका वर्षण ही इषु(बाण) रूप है, उन रुद्रों को नमस्कार कहा गया है। क्या राजाश्रित गणों की द्युलोक में स्थिति संभव है ? किंच, 'वर्षमिषवः' ऐसा सामानाधिकरण्य मन्त्र में उक्त है। अतः वर्षण ही इषुरूप है। अर्थात् 'शरवर्षण ही जिनका कर्म है' यह फलित होता है। तब 'इषुओं की वर्षा करना जिनका कार्य है' यह कहा जायगा। अन्न की बाण से तुलना का जो अर्थ किया है, वह भी चिन्तनीय है, क्योंकि एक पोषक है और दूसरा घातक है। अतः इषुओं की अन्न से तुलना नहीं हो सकती। दोनों की अतुल्यता (असमानता) स्पष्ट है। किंच, यदि वे अन्नरूप बाण से ही वश में कर लेते हैं, तो उनको भय की आशंका ही नहीं होनी चाहिये, तब वे उनसे रक्षण की प्रार्थना क्यों करते हैं ? द्युलोक स्थितों और अन्तरिक्ष स्थितों के द्वारा किया जाने वाला शरवर्षण और वातवेग बाण तुम्हारी रीति से भी अनिष्टकारी ही हैं। इसलिये उनसे रक्षा की इच्छा की जाती है। अतः पृथिवी पर स्थिर रहने वालों के अन्नरूप इषु भी अनिष्टकर ही समझने चाहिये। अन्यथा पौर्वापर्यवैरूप्य होगा। तस्मात् सनातन सिद्धान्तानुसारिणी मन्त्रव्याख्या ही शुद्ध है ॥ ६६ ॥

षोडश अध्याय समाप्त ॥

सप्तदशोऽध्यायः

अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्य ओषधीभ्यो वनस्पतिभ्यो अधि सम्भृतं पयः। तां न इषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणा अश्मँस्ते क्षुन्मयि त ऊर्क् यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे प्रसिद्धिदाता मरुद्गण ! आप विन्ध्याचल, हिमालय आदि पर्वतों में आश्रित सारभूत बल के कारण जल, औषधि, अश्वत्थ आदि से अधिक सिद्ध तथा मेघजनित जल और गौ से उत्पन्न हुए दुग्ध रूप प्रसिद्ध अन्न और रस को हमारे लिये स्थापित कीजिये, अर्थात् हमें दीजिये। हे प्रस्तररूप सर्वभक्षक अग्निदेव, आपको हवि निरन्तर प्राप्त होती रहे। हे प्रस्तर, तुम्हारा सारभाग मेरी रक्षा करे। हे अग्निदेव, तुम्हारा क्रोध उस मनुष्य को प्राप्त हो, जिससे हम द्वेष करते हैं, अर्थात् जो कोई हमारा शत्रु हो, उसको तुम भस्म कर दो ॥ १ ॥

षोडशोऽध्याये शतरुद्रियहोम उक्तः। सप्तदशे चित्यपरिषेकादिमन्त्रा उच्यन्ते। 'चित्यं परिषिञ्चत्यग्नीद् दक्षिणे निकक्षेऽद्रिं कृत्वाश्मन्नूर्जमित्यद्रेरधि' (का० श्रौ० १८।२।१)। पक्षस्य अपरसन्धिः कक्षः, तस्य समीपं निकक्षम्। अग्नीद् दक्षिणपक्षस्य अपरसन्धिसमीपवर्तिन्यात्मभागे पाषाणं निधाय उदकुम्भमादाय तस्माद्द्रेरारभ्य अश्मन्नूर्जमिति मन्त्रेण सपक्षपुच्छमग्निं प्रदक्षिणं जलधारया समन्तात् सिञ्चतीति सूत्रार्थः। यजुर्मरुद्देवत्यम्, आर्षी त्रिष्टुप्।

हे मरुतः ! तां प्रसिद्धाम् इषमन्नम् ऊर्जं रसं च नोऽस्मभ्यं धत्त दत्त, यूयमिति शेषः। किंभूता यूयम् ? संरराणाः सम्यग् रान्ति ददति ये ते संरराणाः, सम्यग् दातारः। 'रा दाने' इत्यस्माद् 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इत्यादादिकस्यापि रातेर्बहुलं श्लुः। श्लौ च द्वित्वम्, शानचि रूपम्। कीदृशीमिषमूर्जं रसरूपाम्। अश्मन् अश्मनि पाषाणे पाषाणमये पर्वते विन्ध्यहिमालयादौ शिश्रियाणाम्, श्रयत इति शिश्रियाणा, ताम्। पूर्ववदेव श्लुर्द्वित्वं कानच्च। अथवा सारभूतां बलहेतुभूताम्। विन्ध्यहिमालयादिपाषाणसन्धिनिर्झरोद्भूताम् इषम् इष्यमाणाम् ऊर्जम्।

यद्वा या अश्मन् अश्नातीत्यश्मा तस्मिन् अशनवति मेघे, पर्वते पर्वाणि सन्ति यस्मिन्नसौ पर्वतः। 'तत्पर्वमरुद्भ्याम्' (पा० सू० ५।२।१२१, वा० ९) इति तप्। तस्मिन् मेघे शिश्रियाणा आश्रिता ऊर्ग् उदकलक्षणा ताम्, वृष्टिसम्पाद्यामित्यर्थः। तथा अद्भ्यो जलेभ्यः, अधि सकाशात्, ओषधीभ्य ओषः प्लोषो दीप्तिर्वा धीयतेऽस्यां सा ओषधी, 'कर्मण्यधिकरणे च' (पा० सू० ३।३।९३) इति किः, 'कृदिकारादक्तिनः' (पा० सू०, ग० सू० ४।१४५) इति ङीषि रूपम्। यद्वा 'ओषं धयतीत्योषधी फलपाकान्ता जातिः' इति क्षीरस्वामी। बहुवचने ओषध्यः, ताभ्यो यवादिभ्यः सकाशात्। वनस्पतिभ्यः अश्वत्थादिभ्यः सकाशात्। अधि सम्भृतम् अधिकं सम्पादितम्, गोद्वारेण पयो दुग्धं च शिश्रियाणाम्। गौः पयः पीत्वा ओषधीः वनस्पतींश्च भक्षयित्वा पयो जनयति। तामुभयरूपां मेघसम्भवां गोसमुत्थां पयोरूपां च इषमूर्जमस्मभ्यं धत्त सम्यग् दत्त, 'मरुतो वै वर्षस्येशते' (श० ९।१।२।५) इति श्रुतेः।

'अश्मंस्ते क्षुदित्यद्री कुम्भं कृत्वा मयि त ऊर्गित्यादायैवं द्विरपरम्' (का० श्रौ० १८।२।२-३)। परिषेकानन्तरमग्नीद् अश्मंस्ते क्षुदिति मन्त्रेण तस्मिन् पाषाणे कुम्भं निधाय 'मयि त ऊर्क्' इति मन्त्रेण पाषाणात् कुम्भमादाय पुनः 'अश्मंस्ते क्षुद्' इति मन्त्रेण कुम्भस्य पाषाणे निधानम्, पुनरपि 'मयि ते' इति कुम्भादानम् 'अश्मन्' इति परिषेकः। एवं पुनर्द्विरपरं परिषिञ्चेदिति सूत्रार्थः। अश्मा देवता, देवीबृहती छन्दः। अश्मन् अश्नातीत्यश्मा तत्सम्बुद्धौ। हे सर्वभक्षक अग्ने, ते तव क्षुत् क्षुधा अस्तु, बहुहविषां भोज्यत्वात्। कुम्भमादत्ते। आशीर्देवता। दैवीबृहती। हे अश्मन्! ते तव ऊर्क् सारभागो मय्यस्तु इति शेषः। 'कुम्भेऽद्रिं कृत्वा दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणास्यति यं द्विष्म इति' (का० श्रौ० १८।२।४)। अध्वर्युस्तस्मिन् कुम्भे तमेव पाषाणं निधाय दक्षिणस्यां श्रोणौ प्राङ्मुखस्तिष्ठन् दक्षिणस्यां दिशि अदूरे तमश्मगर्भं कुम्भं यं द्विष्म इति निरस्येदिति सूत्रार्थः। यं द्विष्म इति निरस्यति साश्मानं घटमिति। यजुर्बृहती शुक् देवता। हे अग्ने, ते तव शुक् शोकः, तं नरमृच्छतु। तं कम्? यं नरं वयं द्विष्मः, अस्मद्द्वेषविषयं तव शोको गच्छतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्नीत् परिषिञ्चति। अग्निरेष यदाग्नीध्रो नो वा आत्मात्मानꣳ हिनस्त्यहिꣳसाया अश्मनोऽध्यश्मनो ह्यापः प्रभवन्ति निकक्षान्निकक्षाद्ध्यापः प्रभवन्ति दक्षिणान्निकक्षाद्दक्षिणाद्धि निकक्षादापः प्रभवन्ति' (श० ९।१।२।४)। पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे शतरुद्रियहोमोऽभिहितः। अथास्मिन्नग्नौ परिषेकधेनूकरणावकर्षणादिकं कर्म अभिधास्यते। आग्नीध्रो दक्षिणकक्षप्रदेशे पाषाणं निधाय 'अश्मन्नूर्जम्' इति मन्त्रेण पाषाणस्योपरि आरभ्य अग्निं चित्यं परिषिञ्चति। यतः संचितोऽग्नी रुद्ररूपत्वादशान्तः, अत एनं शान्त्यर्थमभिषिञ्चेत्। न चात्र संचितस्याग्ने रुद्ररूपत्वेन अशान्तस्य शमनार्थमेव शतरुद्रियहोमो विहितः, तथापि भूयोऽस्य शमनार्थम् 'अथैनमतः परिषिञ्चति' (श० ९।१।२।१) इति श्रुतेः परिषेकः। 'भूय एव शमयति' (श० ९।१।२।१), 'त्रिष्कृत्वः परिषिञ्चति' (श० ९।१।२।२) इति श्रुतिभ्यां च। यद्यपि समाख्यावशाद् अध्वर्योः परिषेकप्राप्तिः, तथापि परिषिक्तस्याग्नेः शमनेऽक्षमत्वादध्वर्यौ परिषेक्तरि हिंसा सम्भाविता स्यात्। आग्नीध्रस्य पुनरग्न्यात्मकत्वेन आत्मनैवात्मनो हिंसाया असम्भवाद् आग्नीध्रकर्तृक एव परिषेकः।

'अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणमिति। अश्मनि वा एषोर्क् पर्वतेषु श्रिता यदापोऽद्भ्य ओषधीभ्यो वनस्पतिभ्यो अधि सम्भृतं पय इत्येतस्माद्ध्येतत् सर्वस्मादधिसम्भृतं····पयस्तान्न इषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणा इति मरुतो वै वर्षस्येशतेऽश्मंस्ते क्षुदिति निदधाति तदश्मनि क्षुधं दधाति तस्मादश्मा नाद्योऽथो स्थिरो वा अश्मा स्थिरा क्षुत्स्थिर एव तत्स्थिरं दधाति मयि त ऊर्गित्यपादत्ते तदात्मन्नूर्जं धत्ते तथा द्वितीयं तथा तृतीयम्' (श० ९।१।२।५)। इत्थं सप्रकारं परिषेकं विधाय तत्र मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—आप इति। एषा पर्वतेषु अश्मनि स्थिता ऊर्ग् रसः, पर्वतेषु पाषाणसन्धिभ्योऽपामुत्पत्तेः। अतश्च अश्मन्नूर्जमित्येष भागोऽप एवाभिधत्ते। शिश्रियाणामिति कानचि इयङादेशे रूपम्। 'रराणाः' इत्येतदपि कानजन्तम्। पर्वते अश्मनि शिश्रियाणामाश्रिताम्। ऊर्जं रसमप इत्यर्थः। अशनवति पर्ववति मेघे वा शिश्रियाणां श्रितामूर्जं रसं जलम्। अद्भ्यो वनस्पतिभ्यः पयः क्षीरं गोद्वारा सम्पाद्यते। सम्पादितं च रसं पयो व्याहरन्ति, तद्रसरूपत्वात्। एवं पर्वतोत्थमेघोत्थजलरूपां गोसमुत्थामद्भ्यो वनस्पतिभ्य ओषधीभ्यो जातां पयोरूपामिषमूर्जं हे मरुतः संरराणाः सम्यग्ददाना यूयमस्मभ्यं धत्त। अश्मनि कुम्भस्य निधाने परिषेकेण शान्तस्य रुद्रस्य क्षुधं पाषाणे निहितवान् भवति। यतोऽश्मनि क्षुन्निहिता, तस्मादश्मा नाद्यो न भक्षणीयः, तस्य अग्निक्षुदाधारत्वेन घस्मरत्वात्। ननु तत्रैव किमिति क्षुन्निधीयते? तत्राह—अथो इति। अश्मा कठिनत्वात् स्थिरः, क्षुदपि स्थिरा, इदानीमुपशान्ताया अपि कालान्तरेऽनुवर्तनात्। अश्मनि क्षुधो निधाने स्थिर एव स्थिरं दधाति। अश्मनि निहितस्य कुम्भस्य पुनर्मन्त्रेण स्वीकारं विधत्ते—मयि त इति। तत् तेन स्वीकारेण पुनरात्मनि ऊर्जम् अबात्मिकां धत्ते।

क्षुधोऽपगमनार्थं पूर्वमश्मनि कुम्भो निहितः। आत्मन्यूर्जोधारणार्थं पुनस्तस्य स्वीकारः। परिषेकादि अश्मनिधानान्तं कर्म पुनर्द्विवारं कर्तव्यमित्याह—तथा द्वितीयं तथा तृतीयमिति।

'अथ तमश्मानमुदहरणेऽवधाय। एता दिशᳬहरन्त्येषा वै नैर्ऋती दिङ् नैर्ऋत्यामेव तद्दिशि शुचं दधाति' (श० ९।१।२।९)। त्रिः पर्येत्य पश्चात् साश्मानं कुम्भं नैर्ऋत्यां दिशि प्रक्षिपेदित्याह—अथेति। 'स वेदेर्दक्षिणायाᳬश्रोणौ। प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा निरस्यति यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति यमेव द्वेष्टि तमस्य शुगृच्छति' (श० ९।१।२।१२)। उक्तप्रकारेण साश्मानं कुम्भं कृत्वा वेदेर्दक्षिणस्यां श्रोणौ प्राङ्मुखस्तिष्ठन् 'यं द्विष्मः' इत्यनेन मन्त्रेण दक्षिणतो निरस्यतीत्याह—स वेदेरित्यादिना।

अध्यात्मपक्षे—हे मरुतः! मरुदुपलक्षिता भगवदंशा देवाः सम्यग्दानशीलाः, तां प्रसिद्धामिषमन्नम् ऊर्जं रसं च यूयं नः अस्मभ्यं धत्तम्। हे अश्मन् सर्वभक्षक अग्ने परमेश्वर, ते तव क्षुद् अशनाया अस्तु भक्तसमर्पितानां हविषां भोज्यत्वात्। हे अश्मन्, ते तव ऊर्क् पराक्रमः, मय्यस्त्विति शेषः। हे अग्ने, ते तव शुक् शोकः क्रोधः, तमृच्छतु यं वयं द्विष्म इति।

दयानन्दस्तु—'हे सम्यग्दानशीला वायुवत् क्रियाकुशला मनुष्याः! यूयं पर्वताकारमेघावयवेषु स्थितां विद्युतं पराक्रममन्नं च नोऽस्मभ्यमाधिक्येन धत्त। जलाशयेभ्यो यवाद्योषधीभ्योऽश्वत्थादिवनस्पतिभ्यः सम्भृतं पयोरसयुतं जलमिषमन्नमूर्जं पराक्रमं विद्युतं धारयत। हे मनुष्य, यत्ते रसः पराक्रमोऽस्ति सोऽपि मय्यस्तु। या ते क्षुत् सा मय्यस्तु। समानसुखदुःखा भूत्वा वयं परस्परसहाया भूत्वा यं दुष्टं द्विष्मः, तं ते तव शोको गच्छतु' इति. तदपि न समञ्जसम्, विसङ्गतत्वात्। मुख्यार्थत्यागे गौणार्थाश्रयणे च मानाभावेन वायुवत्क्रियाकुशला मनुष्या इत्यर्थासङ्गतेः। त्वद्रीत्या जडो वायुः। न तत्र क्रियाकौशलमपि विद्यते, कौशलस्य चेतनधर्मत्वात्। अन्नपराक्रमादिकं च स्वबलेनोपार्जनीयं भवति, नान्येभ्यस्तद्याच्ञा युक्तेति कुतः परमेश्वरस्तदुपदिशेत्? अबोषधिवनस्पतीनाम् ऊर्जा कः सम्बन्धः, कथं च ततस्तत्प्राप्तिरित्यनुक्तेश्च। किञ्च, बहूनां द्वेषास्पदमेकस्यैव शोकः कथमृच्छेत्? सिद्धान्ते तु अग्निं सम्बोध्य सर्वे वयं यं द्विष्मः, तं प्रति ते तव शोको गच्छत्वित्येवार्थः। कोऽयं यस्य शोकः सर्वद्वेषास्पदं गच्छत्विति प्रार्थ्यते? नहि कस्यचिद्वचनेनैव अन्यस्य शोकोऽन्यत्र गच्छति, तादृशसामर्थ्यादर्शनात्, अन्यसमवेतधर्मस्य अन्यत्र संक्रमणस्याप्रामाणिकत्वात्॥ १॥

इमा मे॑ अग्न॒ इष्ट॑का धे॒नवः॑ सन्त्वेका॑ च॒ दश॑ च॒ दश॑ च श॒तं च॑ श॒तं च॑ स॒हस्रं॑ च स॒हस्रं॑ चा॒युतं॑ चा॒युतं॑ च नि॒युतं॑ च नि॒युतं॑ च प्र॒युतं॒ चार्बु॑दं च॒ न्य॒र्बु॑दं च समु॒द्रश्च॒ मध्यं॒ चान्त॑श्च परा॒र्धश्चै॒ता मे॑ अग्न॒ इष्ट॑का धे॒नवः॑ सन्त्वमु॒त्रामु॒ष्मिँ॑ल्लो॒के॥ २॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, ये पाँच चितियों में स्थापित इष्टकाएँ तुम्हारे प्रसाद से इस लोक में मुझे अभिमत फल देनेवाली गोरूप हों, उनकी संख्या निरन्तर दस गुनी होती जाय। एक को दस से गुणा करने पर दस, दस से दस को गुणा करने पर सौ, सौ को दस से गुणा करने से हजार, हजार को दस गुना करने से दस हजार, दस हजार को दस से गुणा करने पर लाख, लाख से दस लाख, दस लाख से एक करोड़, एक करोड़ से दस करोड़, दस करोड़ से एक अरब, दस अरब, खरब, दस खरब, निखर्व, महापद्म, शंख, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्ध संख्या हो जाती हैं। हे अग्निदेव, ये इष्टकाएँ दूसरे जन्म में, दूसरे लोक में मेरी कामनाओं को पूर्ण करें॥ २॥

'अनपेक्षमेत्योदङ् प्राङ् तिष्ठन्नात्मन उपरि प्रापणान्ते जपतीमा म इति' (का० श्रौ० १८।२।१०)। कुम्भनिरसनानन्तरं पृष्ठतोऽनवलोकयन् यजमानोऽग्निं प्रत्यागत्य दक्षिणवेदिश्रोणिसमीपे ईशानदिगभिमुखस्तिष्ठन् आत्मन

उपरि हस्तौ प्रसार्य चयनप्रदेशं यावत् स्प्रष्टुं शक्नोति तावत् स्पृष्ट्वा 'इमा मे' इति कण्डिकाद्वयं सस्वरं जपेदिति सूत्रार्थः। विकृतिरग्निदेवत्या। तत्र प्रथमा यजुः, द्वितीया बृहती वा पङ्क्तिर्वेत्युव्वटाचार्यः।

हे अग्ने, या इष्टकाः पञ्चसु चितिषूपहिताः, ता इमा मे मह्यं धेनवोऽभिमतफलदोग्ध्र्यः सन्तु, अस्मिँल्लोके, त्वत्प्रसादादिति शेषः। तासां संख्यामाह—एकेत्यादिना। अत्र एकादिपरार्धपर्यन्तैः शब्दैरुत्तरोत्तरं दशदशगुणिता संख्योच्यते। एका एकत्वसंख्याविशिष्टा सा दशगुणिता सती दशसंख्यामापद्यते। सा दशगुणिता शतं सम्पद्यते। पूर्वसंख्यासहितोत्तरसंख्याग्रहणमाधिक्याय। शतं दशगुणितं सहस्रं भवति। सहस्रं दशगुणितमयुतं भवति। अयुतं दशगुणितं नियुतं भवति। नियुतं लक्षम्। नियुतं दशगुणितं प्रयुतं लक्षदशकम्। प्रयुतग्रहणं कोटि-रुपलक्षकम्। प्रयुतं दशगुणं दशकोटिः। दशकोटिर्दशगुणिता अर्बुदम्। अर्बुदं दशगुणं न्यर्बुदम्। न्यर्बुदशब्देन शङ्कुसंख्या ज्ञेया। एतेषां ग्रहणमब्जसमुद्रान्तर्वर्तिनीनां खर्वपद्मशङ्क्वादिसंख्यानामुपलक्षकमिति काण्वभाष्ये सायणः। न्यर्बुदशब्देनाब्जसंख्या ज्ञेया। अब्जं दशगुणं खर्वम्। खर्वं दशगुणं निखर्वम्। निखर्वं दशगुणं महापद्मम्। महापद्मं दशगुणं शङ्कुः। शङ्कुर्दशगुणः समुद्रः। समुद्रो दशगुणो मध्यम्। मध्यं दशगुणमन्तः। अन्तो दशगुणः परार्धम्। चकारा इतरेतरसमुच्चयार्थाः। एवमेकाद्यष्टादशसंख्यासंज्ञासम्मिता इष्टका एताः, हे अग्ने मे धेनवः, धेनव इवोपजीवनीया इति पूर्वोक्तस्य निगमनम्। एताः संख्या विस्तरशः क्रमरूपेण श्रीमद्वाल्मीकीये रामायणे युद्धकाण्डे अष्टाविंशे सर्गे उपनिबद्धाः। तथाहि—

शतं शतसहस्राणां कोटिमाहुर्मनीषिणः। शतं कोटिसहस्राणां शङ्कुरित्यभिधीयते ॥ ३३ ॥
शतं शङ्कुसहस्राणां महाशङ्कुरिति स्मृतः। महाशङ्कुसहस्राणां शतं वृन्दमिहोच्यते ॥ ३४ ॥
शतं वृन्दसहस्राणां महावृन्दमिति स्मृतम्। महावृन्दसहस्राणां शतं पद्ममिहोच्यते ॥ ३५ ॥
शतं पद्मसहस्राणां महापद्ममिति स्मृतम्। महापद्मसहस्राणां शतं खर्वमिहोच्यते ॥ ३६ ॥
शतं खर्वसहस्राणां समुद्रमभिधीयते। शतं समुद्रसाहस्रं महौघमिति विश्रुतम् ॥ ३७ ॥ इति।

एतद्धेनुभवनं कुत्र प्रार्थ्यते? तदाह—अमुत्र जन्मान्तरे तथा अमुष्मिन् स्वर्गे लोके। सर्वत्र इष्टदाः, सन्त्वित्यर्थः। यद्यपि नियतसंख्याका एवेष्टकाश्चीयन्ते, तथापि मन्त्रसामर्थ्याद् वर्धमाना एकादिपरार्धान्तसंख्या भवन्तीति भाव इति सायणाचार्यः।

इमा म इति द्वाभ्यां कण्डिकाभ्यामग्निमभिमृश्येष्टका धेनूः कुरुते। अग्निस्त्वासां धेनुकरणस्येष्टे इत्यग्निरुच्यते। हे अग्ने, इमा इष्टका मे धेनव इवोपजीवनीयाः सन्तु। अस्मिल्लोक इति शेषः। किंसंख्याकाः? एकाप्रभृति दशसंख्यागुणिताः परार्धपर्यन्ताः। पूर्वोत्तरसंख्याविशेषसमुच्चितं वर्धमानसंख्येयनिष्ठं संख्याजातमभिधाय अग्निमाह—हे अग्ने, एता मे मम इष्टका धेनवः सन्तु। अमुत्रेति जन्मान्तरनिर्देशः। अमुष्मिल्लोक इति इष्टलोक-निर्देश इत्युव्वटाचार्यः।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रत्येत्येष्टका धेनूः कुरुते। एता एनं देवाः शतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्य प्रत्येत्येष्टका धेनूरकुर्वत तथैवैनमयमेतच्छतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्य प्रत्येत्येष्टका धेनूः कुरुते' (श० ९।१।२।१३)। साश्मानं कुम्भं निरस्य प्रत्येत्येष्टका धेनूः कुर्यादित्याह—प्रत्येत्येति। धेनुकरणं नाम वक्ष्यमाणमन्त्रजपपूर्वकं धेनुरूपेणानुसन्धानम्। शतरुद्रियादिकुम्भनिरसनान्तं कर्म कृत्वा प्रत्येत्य देवैर्धेनुकरणाद् यजमानोऽप्येतेन तथैव कृतवान् भवति। स्पष्टमन्यत्। 'उदङ् प्राङ् तिष्ठन्। पुरस्ताद्वा एषा प्रतीची यजमानं धेनुरुपतिष्ठते दक्षिणतो वै प्रतीचीं धेनुं तिष्ठन्तीमुपसीदन्ति' (श० ९।१।२।१५)। उदङ् प्राङिति ऐशानी दिगुच्यते, तदभिमुखस्तिष्ठन्नित्यर्थः। लोके हि यजमानपूर्वभागे धेनोः प्रत्यङ्मुखतयाऽवस्थानात्, दोग्धॄणां च

प्रत्यङ्मुखाया धेनोर्दक्षिणतो दोहनात् स्वाभिलषितदोहनार्थे इष्टकानां धेनुकरणे तथा करणमुचितमित्याह—पुरस्ताद्वा इति ।

'स यत्राभ्याप्नोति । तदभिमृश्यैतद्यजुर्जपतीमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वित्यग्निर्हैतासां धेनुकरणस्येष्टे तस्मादेतावतीनां देवतानामग्निमेवामन्त्रयत एका च दश चान्तश्च''' परार्धश्चावरार्धतश्चैवैना एतत्परार्धतश्च परिगृह्य देवा धेनूरकुर्वत तथैवैना अयमेतदवरार्धतश्चैव परार्धतश्च परिगृह्य धेनूः कुरुते तस्मादपि नाद्रियेत बह्वीः कर्तुममुत्र वा एष एता ब्रह्मणा यजुषा बह्वीः कुरुतेऽथ यत्सन्तनोति कामानेव तत्सन्तनोति' (श० ९।१।२।१६) । धेनुकरणे स्थानविशेषस्पर्शपूर्वकं मन्त्रं विधत्ते—स यत्रेति । अग्नेरात्मभागस्योपरि यत्र स्प्रष्टुमाप्नोति, तत्स्थानमभिमृश्य 'इमा मे अग्ने' इति मन्त्रं जपेत् । सतीष्वपि बह्वीषु देवतास्वग्नेः प्राधान्येन सम्बोधने कारणमाह—अग्निर्हैतासामिति । य एष अवराध्यों भूमा अवकृष्टं बहुत्वम् अवरसंख्याचरमसीमा, एकत्वमिति यावत्, ततोऽर्वाचीनायाः संख्याया अभावात् । पराध्यों भूमा उत्कृष्टं बहुत्वम् अधिकसंख्याचरमसीमा, परार्ध इति यावत् । तत उत्कृष्टसंख्याया अभावात् । नन्वेवं सति मन्त्रे यत्संख्याकानामिष्टकानां धेनुरूपता सम्पाद्यते, तत्संख्याका इष्टका धेनवः क्रियन्ते, किन्तु उक्तसंख्यातिक्रमाद् बह्वीः कर्तुं नाद्रियेत । कथं तथेष्टकास्तत्संख्याका धेनवः सम्पाद्यन्ते ? इत्यत आह – अमुत्र वा इति । अमुष्मिन् लोके । उपलक्षणमेतत्, इह लोकेऽपि ब्रह्मणा बृहता वीर्यवतेत्यर्थः । यजुषा यजुर्मन्त्रेण बह्वीः कुरुते । मन्त्रसामर्थ्याद् अल्पस्य बहुभवनं तैत्तिरीयक आम्नातम्—'धान्यमसि धिनुहि देवानित्याह । एतस्य यजुषो वीर्येण । यावदेका देवता कामयते तावदाहुतिः प्रथते । नहि तदस्ति यत्तावदेव स्याद् यावज्जुहोति' (तै० ब्रा० ३।२।६।३) ।

'यद्वेवेष्टका धेनूः कुरुते । वाग्वा अयमग्निर्वाचा हि चितः स यदाहैका च दश चान्तश्च परार्धश्चेति वाग्वा एका वाग् दश वागन्तो वाक् परार्धो वाचमेव तद्देवा धेनुमकुर्वत तथैवैतद्यजमानो वाचमेव धेनुं कुरुतेऽथ यत्सन्तनोति वाचमेव तत्सन्तनोत्येता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिल्लोक इत्येतद्वा एना अस्मिल्लोके धेनूः कुरुतेऽथैना एतदमुष्मिल्लोके धेनूः कुरुते तथो हैनमेता उभयोर्लोकयोर्भुञ्जन्त्यस्मिंश्चामुष्मिंश्च' (श० ९।१।२।१७) । तदेवेष्टकाधेनुकरणं वाग्धेनुकरणात्मना प्रशंसति—यद्वेवेति । मन्त्ररूपया वाचा चितत्वादग्निर्वागात्मकः । एकत्वादिकाः संख्या अपि वाचा प्रकाश्यमानत्वाद् वागात्मिकाः । एवं च सत्यग्न्यवयवीभूतानामिष्टकानाम् 'एका च दश च' इत्यादिसंख्याप्रकाशकेन मन्त्रेण देवा वाचमेव धेनुमकुर्वन् । अत एव यजमानोऽपि तथैव करोति । एकत्वादिसंख्यानां वागात्मकत्वाद् उत्तरोत्तराधिकसंख्यासन्तानेन वाचमेव भूयसीमविच्छिन्नां सम्पादितवान् भवतीत्याह—अथेति । ननु 'इमा मे अग्न इष्टका धेनवः' इत्यनेन धेनुरूपत्वसम्पादनात् 'एता मे अग्ने' इत्यादिना पुनरपि तदेव सम्पाद्यत इति पौनरुक्त्याशङ्कां निवारयति—एतद्वा इति । 'इमा मे अग्ने' इत्यनेनैता इष्टका अस्मिन् लोके धेनूः करोति, 'एता मे अग्ने' इत्यनेन स्वर्गे धेनूः करोति । अतः पृथगर्थत्वान्न पुनरुक्तिः ।

अध्यात्मपक्षे—चयनादेरपि परमेश्वराराधनरूपत्वात् चित्याग्न्यवयवभूताः पूर्वोक्ता इष्टकाः पूर्वोक्तरीत्या स्पृष्ट्वा अग्निं परमेश्वरं पूर्ववत् सम्बोध्य प्रार्थयते । यद्वा कश्चिद् भक्तः पाण्डुरङ्गाय भगवते सशक्तिकाय आसनत्वेन एकैकामिष्टकां दत्त्वा भगवतो मन्दिरादिनिर्माणाय शेषा इष्टकाः प्रयोजयति । तासामिष्टकानामिदं धेनूकरणम् । व्याख्यानं तु पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'इष्टसुखसाधकत्वाद् यज्ञसामग्र्य इष्टकाः । ता एव गोतुल्या भवन्तु । वेदिगता वा इष्टका एव धेनुतुल्या भवन्त्विति वा । अग्निपदेन तु विद्वान् सम्बोध्यते' इति, सर्वोऽप्ययमर्थ उपेक्षणीयः,

अपर्याप्तत्वात्। तथाहि—एकादिपरार्धान्तानां संख्यानामत्र क उपयोग इति तु नोक्तवान्। विदुषः सम्बोधनस्यापि नोपयोगमुक्तवान्। न चात्र मन्त्रबलेन इष्टकानां धेनूकरणम्, न वा बह्वीकरणमत्रोक्तम्। एवं सत्यपर्याप्त एवार्थः॥ २॥

ऋ॒तव॑: स्थ ऋता॒वृध॑ ऋतु॒ष्ठाः स्थ॑ ऋता॒वृध॑: ।
घृ॒त॒श्चुतो॑ मधु॒श्चुतो॑ वि॒राजो॒ नाम॑ काम॒दुघा॒ अक्षी॑यमाणाः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके, तुम सत्य या यज्ञ को बढ़ाने वाली वसन्त आदि ऋतुरूप हो, यज्ञ की वृद्धि करने वाली वसन्त आदि ऋतुओं में स्थित हो। घृत और मधु का क्षरण करने वाली हो, विराज नाम से प्रसिद्ध हो, तुम सबकी कामना पूरी करने वाली हो। हमारी कामनाएं अक्षय रूप से पूरी करो॥ ३॥

बृहती पङ्क्तिर्वा, अष्टात्रिंशदक्षरत्वाद्विकल्पः। अग्निदेवत्या इष्टकादेवत्या वा। हे इष्टकाः! या यूयम् एवंविधाः स्थ भवथ, ता मे धेनवः सन्त्विति पूर्वेण सम्बन्धः। कीदृश्यः? ऋतवो वसन्तादिरूपाः। पुनः कीदृश्यः? ऋतावृध ऋतं सत्यं यज्ञं वा वर्धयन्तीति ऋतावृधः। संहितायामित्यधिकारे दीर्घः पूर्वपदस्य। ऋतुष्ठा ऋतुषु वसन्तादिषु तिष्ठन्तीति। स्थशब्दस्य पुनरुक्तिः पादपूरणाय। ऋतावृध इति पुनर्वचनमादरार्थम्। घृतश्चुतो घृतं श्च्योतन्तीति घृतश्च्युतो घृतस्राविण्यः। छान्दसे यकारलोपे घृतश्चुतः। मधुश्चुतो मधुश्च्योतन्तीति मधुश्च्युतो मधुस्राविण्यः। छान्दसे यकारलोपे मधुश्चुत इति। नामेति प्रसिद्धौ। विराजो विशेषेण राजन्ते दीप्यन्ते इति विराजः। दशलोकम्पृणाभिप्रायमेतत्। अथवा नाम्ना विराज इति ख्याताः। कामदुघाः कामान् दुहन्तीति तथोक्ताः। यत्काम्यं तस्य दोग्ध्र्यः पूरयित्र्यः। 'दुहः कब्घश्च' (पा० सू० ३।२।७०) इति कप्, हकारस्य च घकारः। अक्षीयमाणा न क्षीयन्ते इत्यक्षीयमाणाः क्षयरहिताः। एवंविशेषणविशिष्टा भवथेत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'ऋतवः स्थेति। ऋतवो ह्येता ऋतावृध इति सत्यवृध इत्येतदृतुष्ठाः स्थ ऋतावृध इत्यहोरात्राणि वा इष्टका ऋतुषु वा अहोरात्राणि तिष्ठन्ति घृतश्चुतो मधुश्चुत इति तदेना घृतश्चुतश्च मधुश्चुतश्च कुरुते' (श० ९।१।२।१८)। तत्रैव मन्त्रान्तरं प्रदर्शयन् व्याचष्टे—ऋतवः स्थेति। एता इष्टका ऋतवः खलु, संवत्सरात्मकस्य अग्नेरवयवत्वात्। अहोरात्राणि वा इष्टकाः, तथात्वादेव। 'विराजो नामेति। एतद्वै देवा एता इष्टका नामभिरुपाह्वयन्त यथायथैना एतदाचक्षते ता एनानभ्युपावर्तन्ताथ लोकम्पृणा एव पराच्यस्तस्थुरविहित-नाम्न्यो निमेमिहत्यस्ता विराजो नामाकुर्वत ता एनानभ्युपावर्तन्त तस्माद्दशदशेष्टका उपधाय लोकम्पृणयाऽभि-मन्त्रयते तदेना विराजः कुरुते दशाक्षरा हि विराट् कामदुघा अक्षीयमाणा इति तदेनाः कामदुघा अक्षीयमाणाः कुरुते' (श० ९।२।१९)। एतस्मिन् काले खलु देवा यथायथा एता इष्टका आचक्षाणा यैर्नामभिरेना इष्टका आचक्षते जनास्तैरेव नामभिः स्वयमप्युपाह्वयन्त। ततश्चैता इष्टका एनान् देवान् अभ्युपावर्तन्त समीपमगमन्। अथ लोकम्पृणा इत्येता अविहितनाम्न्यो धेनुरूपतया निमेमिहत्यो नितरां मेहनं कुर्वन्त्यः, अत्यर्थं मूत्रं विसृजन्त्यः पराङ्मुख्य एव तस्थुः। अन्यासामिष्टकानां स्वयमातृण्णा-रेतःसिग्विश्वज्योतिरपस्या-प्राणभृदित्यादिकानि नामानि विद्यन्ते। लोकम्पृणानां तु तथा प्रातिस्विकनामधेयाभावादितरेष्टकावत् स्वसमानाह्वानेन विमुखीभूता अवस्थिता इत्यर्थः। पश्चाद् देवास्ता इष्टका विराड्नाम्नीरकुर्वत, अतः स्वयमपि तत्समीपमगमन्। अत एव तदुपधाना-वसरेऽपि लोकम्पृणा दश दशोपधाय मन्त्रेण अभिमन्त्रयते। एवं च सति विराजो दशाक्षरत्वादेता विराजः कृतवान् भवतीति मन्त्रे लोकम्पृणा उद्दिश्य विराजो नामेति प्रयुक्तम्। स्पष्टमन्यद् ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे ता इष्टकाः प्रत्याह—हे इष्टकाः, या यूयम् ऋतवः स्थ, संवत्सरात्मकस्याग्नेरवयवत्वसामान्यात् तत्तदृतुसुखदत्वाद्वा। ऋतावृधः सत्यस्य वर्धयित्र्यश्च या यूयम् ऋतुष्ठा ऋतुषु वसन्तादिषु तिष्ठन्तीति तथोक्ता अहोरात्ररूपाः। आदरार्थं पुनर्वचनम्। ता यूयं घृतश्चुतश्च मधुश्चुतश्च। अग्निसम्बन्धान्मन्त्रप्रभावाच्च घृतमधूपलक्षितामृतादिरसस्राविण्यो भवथ। विराजो विशेषेण राजमानाः कामदुघा यत्काम्यं तस्य पूरयित्र्यः अक्षीयमाणाः परिपूर्यमाणाश्च भवथ, भगवत्सम्बन्धान्मन्त्रप्रभावाच्च जडानामपि तथात्वात्। अधिष्ठातॄन् देवांस्तु व्रीहियवकुशसमिदादिष्वप्यभ्युपगच्छन्त्येव वैदिकाः। अध्यात्मरीत्या तु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० ३।१४।१) इति सर्वस्यैव ब्रह्मचैतन्यात्मकत्वाद् व्यक्ताग्निसम्बन्धेन काष्ठादिष्वग्नेरभिव्यक्तिवद् व्यक्तब्रह्मसम्बन्धेन तत्सम्बन्धिनीष्विष्टकास्वपि तादृशैश्वर्यं नानुपपन्नम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः, या यूयम् ऋतव ऋतुतुल्याः स्थ ऋतावृध उदकेन नद्य इव सत्येन वर्धनशीलाः, ऋतुष्ठा वसन्तादिषु ऋतुषु स्थिता वा सत्यवर्धयित्र्यो घृतश्चुतो घृतस्राविण्यो मधुश्चुतो मधुररसेनोपेता अक्षीयमाणा रक्षितुं योग्या विविधगुणैः प्रकाशमानाः कामपूरिका धेनव इवास्मान् सुखयन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, स्त्रीषु वसन्तादिकतुरूपत्वासम्भवेन गौणार्थाश्रयणस्य निष्प्रमाणत्वाच्च। 'धेनवः' इति पदस्य मन्त्रेऽभावात्, इवकारसहितस्य तस्याध्याहारे प्रमाणाभावाच्च। अक्षीयमाणा इत्यस्य रक्षितुं योग्या इति व्याख्यानं चिन्त्यमेव ॥ ३ ॥

स॒मु॒द्रस्य॑ त्वा॒वक॑या॒ग्ने॒ परि॑व्ययामसि। पा॒व॒को अ॒स्मभ्य॑ᳪं॑ शि॒वो भ॑व ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! समुद्र, तालाब आदि के जल में फैलने वाले शैवाल द्वारा तुमको चारों तरफ से वेष्टित करता हूँ। हे अग्निदेव, हमारे लिये आप शैवाल के समान शोधक और कल्याणकारी बनो, अर्थात् शैवाल जैसे जल को स्वच्छ रखता है, उसी प्रकार आप हमारे मन को पवित्र रखो ॥ ४ ॥

सप्तभिर्ऋग्भिर्विकर्षति आग्नेयीभिः। 'मण्डूकावकावेतसशाखा वेणौ बद्ध्वाऽवकर्षति मन्त्रकृष्टवत् समुद्रस्य त्वेति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १८।२।११)। मण्डूक-शैवाल-वेतसशाखा वंशे बध्वा तं हस्तेनादाय तेन अग्निक्षेत्रं प्रत्यृचं कृषेदिति सूत्रार्थः। आद्यया दक्षिणश्रोणेरारभ्य दक्षिणांसं यावत् कर्षति। द्वे गायत्र्यौ अग्निदेवत्ये। हे अग्ने, समुद्रस्य सम्यग् उन्दति क्लिन्नं करोतीति समुद्रो जलम्। तस्य अवकया शैवालेन त्वा त्वां परिव्ययामसि परितो वेष्टयामः। 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) इति निपातः। उपरिभागे सर्वत्र विकर्षाम इत्यर्थः। त्वं च अस्मभ्यं पावकः शोधकः शिवः शान्तश्च भव।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं विकर्षति। मण्डूकेनावकया वेतसशाखयैतद्वा एनं देवाः शतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्याथैनमेतद् भूय एवाशमयंस्तथैवैनमयमेतच्छतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्याथैनमेतद् भूय एव शमयति सर्वतो विकर्षति सर्वत एवैनमेतच्छमयति' (श० ९।१।२।२०)। प्रसन्ना कण्डिका। 'यद्वेवैनं विकर्षति। एतद्वै यत्रैतं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निᳪं समस्कुर्वंस्तमद्भिरवोक्षंस्ता आपः समस्कन्दंस्ते मण्डूका अभवन्' (श० ९।१।२।२१)। एनमग्निं मण्डूकादिभिर्विकर्षतीति यत् तत्र एतत् कारणं खल्विति कारणाभिधानं प्रतिज्ञाय यत्रैतमित्यादिना तत्प्रदर्श्यते—अग्रे पूर्वं यत्र यस्मिन् प्रस्तावे ऋषिशब्दाभिधेयाः प्राणा एतमग्निं समस्कुर्वन्, तदा ते प्राणास्तमग्निमद्भिरवोक्षितवन्तः। ता आपः समस्कन्दन्। ते मण्डूका अभवन्। 'ताः प्रजापतिमब्रुवन्। यद्वै नः कमभूदवाक्तदगादिति सोऽब्रवीदेष व एतस्य वनस्पतिर्वेत्त्विति वेत्तु स वेत्तु सो ह वै तं वेतस इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवा अथ यदब्रुवन्नवाङ् नः कमगादिति ता अवाक्का

अभवन्नवाक्का ह वै ता अवका इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्ता हैतास्त्रय्य आपो यन्मण्डूकोऽवका वेतसशाखैताभिरेवैनमेतत्त्रयीभिरद्भिः शमयति' (श० ९।१।२।२८)। ततः प्रजापतिं प्रति नोऽस्माकं कं रसोऽवाग् अगात् किञ्चिदनुक्त्वैव मूकं सद् गतमित्यद्भिरुक्ते स प्रजापतिः वः एतस्य रसस्य एष वनस्पतिर्वेत्तु इत्यब्रवीत्। एष इति प्रत्यक्षेण निर्दिष्टः, तं वनस्पतिर्वेतु स इति परोक्षेणाप्याह। यत एवमुक्तं तेन वेत्तुसोऽभूत्। तं देवाः परोक्षकामत्वाद् वेतस इत्याचक्षते। अथ आपो यदब्रुवन् अवाक् तदगादिति तस्मात् स रसोऽवाक्का अभवन्। विधेयप्राधान्येन बहुत्वम्। ताश्च देवाः परोक्षकामत्वादवका इत्याचक्षते।

'यद्वेवैनं विकर्षति। जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायते सर्वं वेतदन्नं यन्मण्डूकोऽवका वेतसशाखा पशवश्च ह्येता आपश्च वनस्पतयश्च सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति' (श० ९।१।२।२३)। उक्तप्रकारेण मण्डूकाः साक्षादेवापः, वेतसोऽपि तद्रसवेदनात्, अवकास्तु रसात्मकत्वादिति सर्वेऽप्येते मण्डूकादयः अबात्मकाः। त्रिविधा अपि आपः खलु। तस्मात्तैराकर्षणे एताभिरेनमग्निं शमितवान् भवति। पूर्वं प्रजासृष्टिनिबन्धनेन परासुः प्रजापतिः, इदानीं चयनलक्षणान्नसंस्कारेण प्राणादीनां निधानात् पुनरुत्पद्यते। जायमानस्य च सर्वान्नभोगार्थमेवोत्पत्तिः। तदुक्तं सर्वस्मा अन्नाय जायत इति। मण्डूकादयश्च कृत्स्नमन्नं तदाह—पशवश्च ह्येता इति। यद्यप्येते मण्डूकादयः सर्वेऽप्यबात्मकाः, तथाप्यवकानां जलैकायतनत्वाद् वेतसानामप्प्ररूढवनस्पतिरूपत्वाच्च ता आप इत्युक्तम्। एवं सति मण्डकादिभिर्विकर्षणेन एनमग्निं सर्वेणैवान्नेन प्रीणाति। 'मण्डूकः पशूनामनुपजीवनीयतमो····अवका अपामनुपजीवनीयतमा····वेतसो वनस्पतीनामनुपजीवनीयतमः' (श० ९।१।२।२४)। विकर्षणेन वान्तरसा मण्डूकादयोऽनुपजीवनीया आसन्नित्याह श्रुतिः। पशूनां मध्ये मण्डूकेन विकर्षणाद् गतसारत्वात् स पश्वन्तरवदुपकारको न भवति। गतसारत्वादेव अवका अपि भक्ष्याः पेया वा न भवन्ति। वेतसोऽपि वनस्पत्यन्तरवत् पुष्पफलादिनोपकारको न भवति। 'तानि वᳪंशे प्रबध्य। दक्षिणार्धनाग्नेरन्तरेण परिश्रितः प्रागग्रे विकर्षति समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परिव्ययामसि। पावको अस्मभ्यᳪं शिवो भवेति समुद्रियाभिस्त्वाद्भिः शमयाम इत्येतत्' (श० ९।१।२।२५)। हे अग्ने, त्वां समुद्रसम्बन्धिन्या अवकया परिव्ययामसि परितः संवृणुमः। तेन संवरणेन शान्तस्त्वमस्मदर्थं पावयति शोधयतीति पावकः सन् शिव आनुकूल्यवान् भवेति मन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, समुद्रस्य समुद्रतुल्यस्य संसारस्य सम्बन्धिन्या अवकया अवति पालयतीति अवका प्रीतिः, तया पशुपुत्रादिसम्बन्धिन्या प्रीत्या त्वां परिवेष्टयामः। संसारात् प्रीतिमपनीय रागानुगया त्वां भजाम इत्यर्थः। संसारसम्बन्धादशुद्धान् अस्मान् पावकः पावयिता सन् अस्मभ्यं शिवः सुखकरो भव।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने सभापते, यथा वयं समुद्रस्य आकाशस्य मध्ये अवकया रक्षणक्रियया वर्तमानाः परिव्ययामसि प्राप्नुमः, तथैव पावकः पवित्रकारकस्त्वमस्मभ्यं शिवो मङ्गलकरो भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। कथं च स आकाशमध्ये स्यात्? कथं च रक्षणक्रियया के वा कथं प्राप्नुवन्तीत्याद्यनुक्तेः॥ ४॥

हिमस्य॑ त्वा ज॒राय्॑ुणाग्ने॒ परि॑व्ययामसि। पा॒व॒को अ॒स्मभ्य॑ᳪं शि॒वो भ॑व॥ ५॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, मैं आपको हिम के जरायु के समान उत्पत्तिस्थान शैवाल से सब ओर से वेष्टित करता हूँ। आप हमारे लिये पूर्व मन्त्र में उपदिष्ट विधि से हमारे मन के शोधक और कल्याणकारी बनो॥ ५॥

दक्षिणश्रोण्याद्युत्तरश्रोण्यन्तं कर्षति अनया ऋचा। हे अग्ने, हिमस्य शैत्यस्य जरायुणा जरायुवदुत्पत्तिस्थानीयेन शैवालेन त्वां परिव्ययामसि तव संवरणं कुर्मः। त्वमस्मभ्यं पावकः शोधकः सन् शिवो भव। यद्वा हे अग्ने,

हिमस्य शीतस्य जरायुणा प्रशीतेन प्रकृष्टेन शीतेन त्वां परिवेष्टयामः। शेषमुक्तप्रायम्। अयमभिप्रायः—यत्खलु शीतस्यापि प्रशीतं तद्धिमस्य जरायुः। जरायुशब्दो गर्भवेष्टनवचनः। जरायुर्यथा गर्भमाच्छादयति तद्वदधिकं शीतमप्यल्पशीतं वेष्टयति। तद्धिमस्य जरायुणेति शीतादप्यधिकं प्रशीतमुच्यते। अत्रात्मका मण्डूकादय एव हिमस्य जरायुणेत्येतेन विवक्ष्यन्ते। तेन शब्देन तेषामभिधानं प्रकृष्टशमनसमर्थत्वसूचनार्थमिति। तदेव ब्राह्मणं वक्ति—'यद्वै शीतस्य प्रशीतं तद्धिमस्य जरायु शीतस्य त्वा प्रशीतेन शमयाम इत्येतत्' (श० ९।१।२।२६)।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, हिमस्य हिमतुल्यस्य प्रशस्यस्य जरायुणा जरायुवत्तस्यापि रक्षकेण भक्तियोगेन त्वां परिवेष्टयामः। स त्वं तेन पावकः सन् अस्मभ्यं शिवः परमकल्याणरूपो भव।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, वयं हिमस्य जरायुणा जरयित्रा वस्त्रेण अग्निना वा त्वामाच्छादयामः' इति, तदपि विसङ्गतमेव, सभापतेर्वस्त्राद्यभावकल्पनानुपपत्तेः, रूढेर्योगापहारकत्वेनापि तथानुपपत्तेश्च ॥ ५ ॥

उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा। अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णꣳ शिवं कृधि ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप पृथ्वी के ऊपर आओ और वेतस शाखा का सहारा लो, नदियों में स्थित शैवाल का सहारा लो। हे अग्निदेव, आप जल को निर्मल करने वाले हो। हे मण्डूकि, तुम भी जल की पित्तस्वरूप हो, अर्थात् उसको निर्मल करती हो, अतः जल के साथ तुम भी अग्नि की शान्ति के निमित्त यहाँ आओ। तुम हमारे इस चयन यज्ञ को अग्नि के समान तेजस्वी बनाओ ॥ ६ ॥

उत्तरश्रोणेरुत्तरांसपर्यन्तं कर्षति। परिनिष्ठितकण्डिका तु त्रिष्टुबेव, चतुश्चत्वारिंशदक्षरत्वात्। 'नदीषु + आ, सा + इमम्' इति व्यूहद्वयेन द्व्यधिका त्रिष्टुप्, द्व्यूना जगती वा। हे अग्ने, त्वम् ज्मन् ज्मा पृथिवी। सप्तम्या लुक्। ज्मनि पृथिव्याम् उपावतर आगच्छ। 'ज्मा' (निघ० १।१।३) इति पृथ्वीनामसु। तथा वेतसे वेतसशाखायाम् उपावतर। नदीषु आ। आ उपसर्गोऽध्यर्थे। नदीषु आ अवकासु उपावतर। नदीशब्देन तत्प्रभवा अवका लक्षणया बोध्यन्ते। यद्वा अधिशब्देन लक्षणया नद्या अधिवर्तमाना अवका बोध्यन्ते। मण्डूकावकावेतसशाखाः कर्षणार्थं वेणौ बद्धाः सन्ति। तमेवार्थं मन्त्रो वदति। हे अग्ने, त्वम् अपां पित्तं तेजोऽसि। यो यस्यावयवः, स तं न हिनस्ति तद्धर्मा च भवति। तस्मात्त्वां वच्मि ज्मनि नदीष्ववतरेति। एवमग्निं सम्बोध्य मण्डूकीमाह—हे मण्डूकि! मण्डूकपत्नि, ताभिः पूर्वोक्ताभिरद्भिः सह आगहि आगच्छ। छान्दसे शपि लुप्ते 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (पा० सू० ६।४।३७) इति मकारलोपः। हे मण्डूकि, मण्डूकस्य स्त्री मण्डूकी, तत्सम्बुद्धौ, यासामग्निः पित्तम्, यत्र त्वमुत्पन्ना वा, या त्वमग्नेः शान्त्यै इतस्ततो नीयसे सा त्वमस्माभिः क्रियमाणमिमं चयनलक्षणं यज्ञं पावकवर्णमग्निसमानतेजसम्, शिवं फलप्रदत्वेन शान्तं च कुरु कृधि सम्पादय।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरार्धेन प्राक्। उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरागहि सेयं नो यज्ञं पावकवर्णꣳ शिवं कृधीति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ९।१।२।२७)। पश्चाद्भागे विकर्षणानन्तरमुत्तरभागं प्रागपवर्गं विकर्षेदित्याह—अथोत्तरार्धेनेति। विकर्षणे मन्त्रमाह—उप ज्मन्निति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं ज्मनि पृथिव्यामुपावतर रामकृष्णादिरूपेण आविर्भव। तथा वेतसे वेतसाद्युपलक्षितेऽरण्ये वराहनृसिंहादिरूपेण आविर्भव, तत्तत्कार्यसिद्ध्यर्थमिति शेषः। हे अग्ने, त्वमपां

जलानां पित्तं तेजोऽसि, वाडवाग्निरूपेण। यद्वा अपां कर्माङ्गसमवेतानां सोमाज्यपयआदीनाम्, पित्तं कर्मरूपं तेजोऽसि। अपां लोकानां पित्तं दीपकं तेजोऽसि। हे मण्डूकि ! दिव्यैश्वर्यमाधुर्यादिमण्डनैर्मण्डितेऽलङ्कृते महाशक्ते, ताभिः सीता-राधा-रुक्मिणीरूपाभिः सहागत्य नोऽस्माकमिममाराधनलक्षणं यज्ञं पावकवर्णं तेजस्विनं शिवं सुखप्रदं कृधि कुरु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्नितुल्ये तेजस्विनि विदुषि मण्डूकि अलङ्कृते, त्वं पृथिव्यां नदीषु तथा वेतसे पदार्थविस्तारेऽवतर पारगा भव। यथा अग्निरपां पित्तं तेजोरूपमस्ति, तथैव त्वं ताभिर्जलैः प्राणैश्च न उप आगहि। सा त्वमिमं गृहाश्रमलक्षणं यज्ञं पावकवर्णं शिवं कृधि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्। मण्डूकीपदस्य अलङ्कृतार्थतापि चिन्त्यैव। उपावतरेत्यस्य पारगमनार्थत्वे सप्तम्याः कथं सङ्गतिः? अग्नेः सम्बन्धनं च न तत्रानुकूलमस्तीति क्रियापि विसङ्गतैव स्यात्। यज्ञपदस्य गृहार्थतापि गौण्या वृत्त्यैव वक्तव्या। न च अग्निवर्णतापि तत्र समञ्जसा॥ ६॥

अपामिदं न्ययनꣳ समुद्रस्य निवेशनम्। अन्यांस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव॥ ७॥

मन्त्रार्थ—इस चिति में स्थित अग्नि का यह स्थान, जल की प्राप्ति का साधन, अग्नि के गृहरूप समुद्र में स्थित है। हे अग्निदेव, आपकी ज्वाला हमारे विरोधियों को तपावे, उनको क्लेश दे। इसके विपरीत आपकी वही ज्वाला हमारे लिये शोधक, अर्थात् कल्याणकारी हो॥ ७॥

उत्तरांसाद्दक्षिणांसं कृषति। आग्नेयी बृहती। इदं चित्याग्निस्थानं मण्डूकयवकावेतसलक्षणं वा अपां न्ययनम्, नितरामीयते प्राप्यते येन तन्न्ययनम्, नियमत उदकप्राप्तिसाधनम्, यज्ञद्वारा अपां प्राप्तिसम्भवात्, तन्मध्ये लीनत्वेन तदयनत्वं सम्भवतीति तत्राह—समुद्रस्य जलस्य निवेशनम्। निविशतेऽस्मिन्निति निवेशनं गृहस्थानीयम्, अपां बाहुल्यात्। नह्यमहीयसीनामपामयनमेतत्, अपि तु समुद्रस्य जलनिधेरिव निवेशनम्। तथाविधेन मण्डूकादिना विकृष्यसे, अतो ब्रवीमि—हे तादृशाग्ने, ते तव हेतयोऽस्त्राणि अर्चींषि अस्मद् अस्मत्तोऽन्यान् विरोधिनः, तपन्तु दहन्तु। अस्मभ्यम् अस्मदर्थं त्वं पावकः शोधकः सन् शिवो भव।

तथैवात्र ब्राह्मणम्—'अथ पूर्वार्धेन दक्षिणा। अपामिदं न्ययनꣳ ....शिवो भवेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः....' (श० ९।१।२।२८)। निगदव्याख्यातमेतत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, इदं जगद् अपां अबुपलक्षितकर्मणां नितरामयनं कर्म कार्यत्वात् कर्मक्षेत्रत्वाच्च। अपां कर्मणां निवेशनं गृहस्थानीयम्। हे अग्ने परमेश्वर, ते तव अस्त्राणि चक्रपिनाकधनुरादीनि, अस्मत्तोऽन्यान् तपन्तु, बाह्यान् आन्तरांश्च शत्रून् क्लेशयन्त्वित्यर्थः। त्वमस्मभ्यं पावकः शोधकः सन् शिवो भव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् पुरुष, इदमाकाशमपां प्राणानां वा न्ययनं निश्चितं स्थानम्। तस्य आकाशस्य निवेशनं स्थितितुल्यं गृहाश्रमं प्राप्य पावकः पवित्रं कर्म कुर्वन् त्वमस्मभ्यं शिवो भव' इति, तदपि निरर्गलम्, इदंपदेन आकाशग्रहणे मानाभावात्, निवेशनपदेन निश्चितस्थितितुल्यगृहाश्रमग्रहणस्य निर्मूलत्वात्॥ ७॥

अग्ने॑ पावक रो॒चिषा॑ म॒न्द्रया॑ देवजि॒ह्वया॑ । आ दे॒वान् व॑क्षि॒ यक्षि॑ च ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे शोधक अग्निदेव, तुम्हारी ये ज्वालाएं आहवनीयरूप और आनन्दरूप होकर होता की वाणी में विराजमान हों, सब देवताओं का आह्वान करें, उनको आहुति दें ॥ ८ ॥

'पक्षपुच्छानि चाभ्यात्ममग्ने पावक रोचिषेति' (का० श्रौ० १८।२।११)। पक्षपुच्छानि प्रान्तादारभ्य अभ्यात्मम् आत्मसम्मुखं सन्धिपर्यन्तं कर्षति प्रत्यृचमग्ने इति दक्षिणं पक्षं स न इति पुच्छं पावकयेत्युत्तरं पक्षमिति सूत्रार्थः। आग्नेयी गायत्री वसूयुदृष्टा। हे अग्ने पावक! शोधक देव द्योतनात्मक, रोचिषा दीप्तिमत्या मन्द्रया गम्भीरया जिह्वया वाचा देवान् वक्षि आह्वय, धातूनामनेकार्थत्वात्। यक्षि च यज च। यद्वा हे अग्ने पावक पावयितः, रोचिषा रोचनेन ज्वालासमूहेन आहवनीयात्मना स्थित इति शेषः। मन्द्रया मदनीयया च देवजिह्वया होतृवाग्रूपेण स्थित इति शेषः। आवक्षि आवह, यक्षि च यज च। द्वौ ह्यग्नेरधिकारौ—हौत्रं चाहवनीयरूपेण हविर्ग्रहणं च। अत एवाग्निरुभयथा स्तूयते। वहतेर्यजेश्च लोटि मध्यमैकवचने शपि लुप्ते 'हो ढः' (पा०सू० ८।२।३१) इति ढत्वे, 'षढोः कः सि' (पा० सू० ८।२।४१) इति कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) इति मूर्धन्यादेशे वक्षीति, 'व्रश्चभ्रस्ज……' (पा० सू० ८।२।३६) इति षत्वे, 'षढोः कः सि' (पा० सू० ८।२।४१) इति कत्वे मूर्धन्यादेशे च यक्षीति रूपम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'आत्मानमग्रे विकर्षति। आत्मा ह्येवाग्रे सम्भवतः सम्भवत्यथ दक्षिणं पक्षमथ पुच्छमथोत्तरं तद्दक्षिणावृत् तद्धि देवत्रा' (श० ९।१।२।२९)। आत्मभागविकर्षणस्य प्राथमिकत्वमुपपादयति—आत्मानमिति। दक्षिणार्धेनेत्यादिना विहितं विकर्षणमग्नेरात्मभाग एव क्रियते। अतश्चाग्रे आत्मानं विकर्षतीत्येतदुपपन्नम्। यतः सम्भवतो जायमानस्य करचरणाद्यवयवजातस्य मध्ये पूर्वमात्मभाग एव सम्भवति। तत्सकाशात् करचरणादीनामुत्पत्तिरिति। अथ दक्षिणपक्षादीनां विकर्षणं विधाय पूर्ववत् प्रशंसति—अथेति। 'अभ्यात्मं पक्षपुच्छानि विकर्षति। अभ्यात्ममेव तच्छान्तिं धत्ते परस्तादर्वाक् परस्तादेव तदर्वाचोꣳ शान्तिं धत्तेऽग्ने पावक रोचिषेति दक्षिणं पक्षꣳ स नः पावक दीदिव इति पुच्छं पावकया यश्चितयन्त्या कृपेत्युत्तरं पावकं पावकमिति यद्वै शिवꣳ शान्तं तत्पावकꣳ शमयत्येवैनमेतत्' (श० ९।१।२।३०)। पक्षादीनां विकर्षणमात्मभागमभिलक्ष्य कुर्यादित्याह—अभ्यात्ममिति। अग्निरूपमात्मानं प्रतीत्यभ्यात्मम्। विकर्षणानुसारेण शान्तिं निहितवान् भवतीत्याह—अभ्यात्ममेवेति। दक्षिणपक्षादीनां विकर्षणेषु मन्त्रान् विधत्ते—अग्ने पावक रोचिषेत्यादिना। मन्त्रेषु पावकशब्दप्रयोगस्याभिप्रायमाह—पावकं पावकमिति। यद्वै वस्तु शिवं तस्यैवार्थप्रदर्शनम्—शान्तमिव तत्पावकं भवतीति। शान्तं शान्तेः शुद्धिसम्पादकत्वात्। अतश्चाग्नेः शान्ततासिद्धये तेन शब्देन सम्बोधनमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम परमेश्वर हे पावक शोधयितः, रावणादित्रिलोकीकण्टकशोधकत्वात्, परमेश्वरस्यैव सर्वशुद्धिहेतुत्वात्। हे देव द्योतनात्मक स्वप्रकाश, रोचिषा दीप्तिमत्या ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतया मन्द्रया सुखदायिन्या गम्भीरया जिह्वया वेदलक्षणया वाचा देवानाह्वय देवान् यज च। 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः' (भा० पु० ५।१९।५) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनात्।

दयानन्दस्तु—'हे पावक, जनानां हृदयशोधक देव सुन्दर अग्ने विद्याप्रकाशक, मन्द्रया आनन्दसाधयित्र्या जिह्वया सत्यप्रियवाण्या रोचिषा प्रकाशेन देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वा आवक्षि उपदिशसि यक्षि समागमं करोषि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणतरार्थाश्रयणान्निरर्थकत्वाच्च। नहि व्यवहारानुवादाय आम्नायः प्रवर्तते, अप्राप्तकार्यार्थत्वेनैव तत्सार्थक्यात्, 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मी० सू० १।२।१) इति न्यायात् ॥ ८ ॥

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ२॥ इहावह । उप यज्ञᳬं हविश्च नः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे शोधक दीप्तिमान अग्निदेव, तुम हमारे इस यज्ञ में देवताओं को बुलाओ, हमारी यज्ञ में दी हुई आहुति के समीप देवताओं को लाओ ॥ ९ ॥

गायत्री आग्नेयी मेधातिथिदृष्टा। हे पावक पावयितः, हे दीदिवः, दिदेवेति दीदिवान्, तत्सम्बुद्धौ हे दीप्तिमन्। 'दिवु क्रीडादिषु' छन्दसि भूतसामान्ये लिट्, 'क्वसुश्च' (पा० सू० ३।२।१०७) इति क्वसुः, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।८) इति द्वित्वम्, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्याभ्यासदीर्घः, 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) इति वलोपः। हे अग्ने, इह नोऽस्माकं यज्ञे देवान् आवह आनय। उप यज्ञं यज्ञस्य समीपं नोऽस्माकं हविश्च देवान् आवह प्रापय।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, पावक पावयितः, हे दीदिवः, देवान् आवह देवान् यज।

दयानन्दस्तु—'हे पावक दीदिवः, तेजस्विन् शत्रुदाहक ! इह संसारे यज्ञं गृहाश्रमं देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वा नोऽस्मभ्यमुपावह' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्य निर्मूलत्वात् ॥ ९ ॥

पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन्रुरुच उषसो न भानुना। तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नू रण आ यो घृणेन ततृषाणो अजरः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—ये अग्निदेव, पवित्र करने वाले, दृढ़ चयन करने वाले सामर्थ्य से पृथ्वी पर उसी प्रकार शोभा को प्राप्त करते हैं, जैसे उषाकाल अपने प्रकाश से शोभायमान होता है। ये अग्निदेव पूर्णाहुति के पान की इच्छा करने वाले, जरारहित, गगन में कुशल घोड़ों से युद्ध में सहायता लेने वाले, शत्रुओं का नाश करते हुए प्रकाशमान होते हैं। इस अग्निदेव को हम बुलाते हैं ॥ १० ॥

जगती आग्नेयी भरद्वाजदृष्टा। पावकया पावयित्र्या चितयन्त्या चितं करोति चितयति, चितयतीति चितयन्ती, तया परिदृढचयकारिण्या कृपासमर्थया दीप्त्या वा। 'कृपू सामर्थ्ये' क्विपि तृतीया। क्षामन् पृथिव्याम्। क्षामेति पृथिवीनाम। योऽग्निः, रुरुचे दीप्यते। उषसो न भानुना उषसो ज्योतिषा इवेति शोभने रोचने दृष्टान्तः। यथा प्रातःकालाः शोभनेन भानुना रोचन्ते, तद्वत्। किञ्च, यश्चाग्निः घृणिः। घृणिरिति दीप्तिनाम। जिघर्तीति घृणिः। 'घृ क्षरणदीप्त्योः' 'घृणिपृश्नि.......' (उ० ४।५३) इत्यादिना निपातितः। विभक्तेः 'सुपां सुलुक्.......' (पा० सू० ७।१।३९) इति शे आदेशः। घृणिना दीप्त्या आसमन्ताद् नु निश्चितं रुरुचे इत्यनुषङ्गः। नकारश्चार्थः। एतशस्य एतीत्येतशो गमनकुशलोऽश्वः, तस्य यामन् यामनि नियामके रणे युद्धे तूर्वन् परबलानि हिंसन्। न इवार्थे। शत्रून् हिंसन्निव रोचते। यद्वा यामन्शब्दः कर्मवाचकः। नु अनर्थकं पादपूरणार्थम्। यामनि कर्मणि तूर्वन्न त्वरमाण इव एतशस्य अश्वस्य रणे रमणीये पदे आहितोऽध्वर्युणा। तथा ततृषाणः 'ञितृषा पिपासायाम्'। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) बाहुलकात् शानचि श्लौ द्वित्वे रूपम्। पूर्णाहुतिं पिपासुरित्यर्थः। अजरो जरारहितः। य ईदृशोऽग्निस्तं कृषाम इत्यर्थः। यद्वा यश्च यामन् आधानकर्मणि तूर्वन्न त्वरमाण इव एतशस्य आज्यस्य रणे रमणीये पदे आधीयतेऽध्वर्युणा; आहितश्च यो घृणेन घृणे दीप्तः। विभक्तेः शे। नेत्यनर्थकः। ततृषाणः, तृष्यन् पिपासुः पूर्णाहुतिम्। पूर्णाहुत्या तं तत्र शमयन्ति। पीत्वा च अजरः सम्पाद्यते, तमवकादिभिः शमयाम इति शेषः।

योऽग्निः पावकया पावयित्र्या चितयन्त्या चेतयित्र्या चितं दृढं चयनं कुर्वाणया वा कृपाकल्पनया सामर्थ्येन युक्तः सन् क्षामन् क्षाम्णि पृथिव्यां रुरुचे दीप्तवान्, शोभते वा। तत्र दृष्टान्तः—उषसो न यथा उषसः प्रातःकाला भानुना प्रकाशेन दीप्यन्ते, तद्वत्। किञ्च, योऽग्निः, एतशस्य गमनकुशलस्य अश्वस्य यामन् यामनि नियामके रणे युद्धे तूर्वन्न परबलानि हिंसन्निव आघृणे सर्वतो दीप्यते खलु। यथा लोके शीघ्रगमनस्वभावमश्वं वामहस्तगतेन खलीनेन दृढं नियम्य रणे प्रवर्तमानः पुरुषः परबलं हिंसन्नत्यन्तं त्वरते, एवमयमग्निः प्रज्वलति। न कदाचिज्जीर्यति, नाप्यसौ तृष्णायुक्तो भवति, किन्तु तृप्त इति काण्वभाष्ये सायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—योऽग्निः श्रीरामः परमेश्वरः पावकया पावयित्र्या चितयन्त्या चेतयित्र्या कृपा कृपया कल्पनया सामर्थ्येन दीप्त्या वा युक्तः सन् क्षामन् पृथिव्यां रुरुचे रोचते। क इव? भानुना सूर्येण उषसः प्रातःकाला इव। यश्चाग्निः श्रीरामो घृणे न घृणे घृणिना दीप्त्या आसमन्तात्, नु निश्चितं रुरुचे। नकारश्चार्थः। किं कुर्वन्? एतशस्य युद्धकुशलस्य रावणादेर्यामनि नियामके रणे तूर्वन् तद्बलानि हिंसन्। नेत्यनर्थकः। यद्वा हिंसन्निव वस्तुतो हतेभ्यस्तेभ्यः स्वर्गतिं प्रयच्छन्। ततृषाणो न तृष्यन्निव परकीयसैन्यार्णवं पिबतीति शेषः। अजरो जरादिरहितः। तं भगवन्तं वयमाश्रयाम इत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'यः पावकया चेतनताकारिण्या कृपाशक्त्या वर्तमानः सेनापतिर्भानुना दीप्त्या प्रभात इव क्षामन् राज्यभूमौ रुरुचे रोचते, यश्च यामन् मार्गे प्रहरे वा एतशस्य अश्वस्य बलानि नु शीघ्रं तूर्वन् मारयति, न तथैव घृणे प्रदीप्ते रणे युद्धे ततृषाणो न तृष्यन्निव अजरोऽजेयो युवा आसमन्ताद् भवति स राज्यार्हो भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सेनापतेः पावयित्र्या शक्तेः साधनीयत्वासम्भवात्। बलानीति पदं तु मन्त्रे नास्त्येव। स राज्यं कर्तुं योग्य इत्यपि मन्त्रे नास्ति। ततृषाणःपदस्यापि विसङ्गतिरेव॥ १०॥

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे। अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव॥ ११॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम्हारी सब रसों का आकर्षण करने वाली तेजस्विनी ज्वाला को हम प्रणाम करते हैं। तुम्हारे पदार्थप्रकाशक तेज को हमारा प्रणाम। आपकी यह ज्वाला हमको छोड़कर दूसरों के लिये तापदायक हो, हमारे लिये तो चित्त की शोधक और कल्याणकारक हो॥ ११॥

'दधि मधु घृतं पात्र्याꣳ समासिच्य स्थाल्यां वा महामुख्यां कुशमुष्टिं चोपर्युभयमादाय चित्यारोहणं नमस्त इति' (का०श्रौ० १८।३।१०)। वारण्यां पात्र्यां महामुख्यां स्थाल्यां वा दध्यादीन् कृत्वा तदुपरि दर्भमुष्टिं निदध्यात्। हिरण्यशकलसहितं स्रुवस्थमाज्यं दधिमधुघृतकुशमुष्टियुता पात्री चैतद्द्वयमादाय नमस्त इति मन्त्रेण अध्वर्युश्चित्याग्निमारोहति। ब्रह्मयजमानौ तु अग्नेर्दक्षिणत उपविशत इति सूत्रार्थः। 'आग्नेयी बृहती लोपामुद्रादृष्टा। हे अग्ने, ते तव शोचिषे शोचनहेतवे शोषणहेतवे वा तेजसे नमोऽस्तु। कीदृशाय शोचिषे? तत्राह—हरस इति। हरति सर्वरसानिति हरस्तस्मै, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इति हरतेरसुन्। ते तव अर्चिषे पदार्थप्रकाशकाय तेजसे नमोऽस्तु। ते तव हेतयोऽस्त्राणि अस्मत्तोऽन्यान् विरोधिनस्तपन्तु। त्वं चास्मभ्यं पावकः सन् शिवो भव।

अत्र ब्राह्मणम्—'उपवसथीयेऽहन् प्रातरुदित आदित्ये। वाचं विसृजते वाचं विसृज्य पञ्चगृहीतमाज्यं गृह्णीते तत्र पञ्च हिरण्यशकलान् प्रास्यत्यथैतत्त्रयꣳ समासिक्तं भवति दधि मधु घृतं पात्र्यां वा स्थाल्यां वोरुबिल्यां

तदुपरिष्टाद्दर्भमुष्टिं निदधाति' (श० ९।२।१।११)। औपवसथ्यदिवसात् प्राचीने दिवसे कर्तव्यं प्रयोगमभिधाय उपवसथीयेऽह्नि कर्तव्यमभिधत्ते—उपवसथीय इत्यादिना। प्रातरुदित आदित्ये वाचं विसृजते, यजमान इति शेषः। वाचं विसृज्य इत्यत्र पूर्वकालमात्रे क्त्वा। नहि तत्र पूर्वोत्तरक्रिययोः समानकर्तृत्वम्। यजमानस्य वाग्विसर्जनादध्वर्योराज्यग्रहणादिति। पात्री शरावाकारा, स्थाली पिठराकारा, उरुबिली महामुखी। अन्यत् स्पष्टम्। 'अथाग्निमारोहति। नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिष इत्यत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र तस्या अलं यद्धिꣳस्याद्यं जिहिꣳसिषेद्यमु वा एष हिनस्ति हरसा वैनꣳ शोचिषा वार्ऽचिषा वा हिनस्ति तथो हैनमेष एतैर्न हिनस्त्यन्यांस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव इति' (श० ९।२।१।१२)। दर्भमुष्टिनिधानानन्तरं तदाज्यं दध्यादि चादाय नमस्त इति मन्त्रेण अग्निमारोहेत्। आरोहणे 'नमस्ते' इत्यस्य मन्त्रस्य पूर्वार्धस्य पाठे प्रयोजनमाह—अत्रैष सर्वोऽग्निरिति। अत्र अस्मिन्नवसरे एषोऽग्निः सर्वः संस्कृतः साकल्येन कृतसंस्कारः, यद्वस्तु हिंस्यात् यं वा जिहिंसिषेत्, तस्मै अलं समर्थः। हननेच्छाया हननस्य चेत्युभयस्यापि समर्थः। स च यं हिनस्ति, एनं हरसा शोचिषा अर्चिषा वा हिनस्ति। अतश्चास्य मन्त्रभागस्य पाठेन एनमध्वर्युमेतैर्हरःप्रभृतिभिर्न हिनस्ति। हर इति हरणसमर्थं तेजः, शोचिरिति शोचनसमर्थम्, अर्चिरिति तदहतं प्रशस्तं तेजः। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम, ते तव हरसे सर्वसंहर्त्रे शोचिषे पापसिन्धुशोषणकर्त्रे अहताय तेजसे नमोऽस्तु। तव हेतयोऽस्त्राणि, अस्मत्तोऽन्यान् अस्मच्छत्रून् तपन्तु। अस्मभ्यं तु शिवो भव।

दयानन्दस्तु—हे सभापते दुःखहर्त्रे, ते तुभ्यं नमः सत्कारोऽस्तु। शोचिषे पवित्राय अर्चिषे सत्कारयोग्याय ते तुभ्यं नमोऽस्तु। ते हेतयः शस्त्रोपेतायै सेनायै अस्मत्तोऽन्यान् शत्रून् तपन्तु। पावकः शोधकस्त्वमस्मभ्यं शिवो न्यायकारी भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। नमः, हेतयः, शिवः—इत्यादिशब्दानां व्याख्यानस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ ११ ॥

नृषदे वेडप्सुषदे वेड् बर्हिषदे वेड् वनसदे वेट् स्वर्विदे वेट् ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि मनुष्यों में जठराग्नि के रूप में स्थित प्राणरूप है, उसकी प्रीति के निमित्त यह आहुति दी जाती है, यह सम्यक् रूप से गृहीत हो। जो अग्नि समुद्र आदि के जल के बीच वाडवाग्नि के रूप में स्थित है, जो अग्नि यज्ञीय कुशा आदि के ऊपर निवास करती है, वृक्षसमूह में दावाग्नि के रूप में स्थित है और जो अग्नि स्वर्गलोक में प्रधान सूर्य के नाम से प्रसिद्ध है, इन सबके निमित्त हम यह आहुति देते हैं। यह भली प्रकार गृहीत हो ॥ १२ ॥

'स्वयमातृण्णायां पञ्चगृहीतं जुहोति नाभिवद्धिरण्यादर्शनं च नृषदे वेडिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १८।३।११)। अध्वर्युश्चित्याग्निमारुह्य स्वयमातृण्णाया इष्टकाया उपरि नाभिव्याघारणवत् पञ्चगृहीतमाज्यं नृषदे इत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं हिरण्यदर्शनं वर्जयित्वा जुहुयादिति सूत्रार्थः। आदौ नाभेर्दक्षिणेंऽसे तत उत्तरश्रोण्यां ततो दक्षिणश्रोण्यां तत उत्तरेंऽसे ततो मध्ये जुहुयात्। अयं क्रमः 'नाभ्याः श्रोण्यंसेषु.......' (का० श्रौ० ५।४।१२) इत्यत्र निर्दिष्टः। तत्र हिरण्यं पश्यन्नित्यप्युक्तम्। तदेवात्र हिरण्यादर्शनशब्देन निषेधति। पञ्चाग्नेयानि यजूंषि। आद्या दैवीबृहती। ततस्तिस्रो दैव्यः पङ्क्तयः। अन्त्या दैवीबृहती। नृषदे नृषु मनुष्येषु जाठराग्निरूपेण तिष्ठतीति नृषत् प्राणः, तस्मै। वेट् हविर्दत्तमस्तु। वेडिति परोक्षं वषट्कारः। इत्येकं यजुः। अप्सुषदे अप्सु उदकेषु और्वरूपेण सीदतीति अप्सुषत्, तस्मै वेट् हविर्दत्तमस्तु। इति द्वितीयम्। बर्हिषदे बर्हिषि यज्ञे आहवनीयादिरूपेण सीदतीति बर्हिषत्, यद्वा बर्हिषु ओषधीषु सीदतीति बर्हिषत्, तस्मै वेट् हविर्दत्तमस्तु। इति

तृतीयम् । वनसदे वने वृक्षसमूहे दावाग्निरूपेण सीदतीति वनसत्तस्मै वेट् हविर्दत्तमस्तु । इति चतुर्थम् । स्वर्विदे स्वः स्वर्गे आदित्यरूपेण विद्यते सीदतीति स्वर्वित्, यद्वा स्वरादित्यं विन्दते योऽग्निः स स्वर्वित् । स्वर्शब्दोऽव्ययमत्रादित्यवचनः । यद्वा स्व आदित्ये विद्यते स स्वर्वित्, तस्मै वेट् हविर्दत्तमस्तु । इति पञ्चमम् । तानीमानि पञ्च यजूंषि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'आरुह्याग्निꣳ स्वयमातृण्णां व्याघारयति । आज्येन पञ्चगृहीतेन तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।२।१।३) । प्रथममध्यमोत्तमासु चितिषु तिस्रः स्वयमातृण्णा उपधीयन्ते । तत्र तृतीयायां स्वयमातृण्णायां व्याघारणक्रियाया ईप्सिततमत्वात् तत्र द्वितीया । व्याघारणं नाम एकस्मात् कोणात् कोणान्तरं प्रति आज्यधाराक्षारणम् । तच्च व्याघारणं पञ्चगृहीतेनाज्येन क्रियत इति तस्य उभयस्य ब्राह्मणं प्रागुक्तमित्याह—आज्येनेति । 'स्वयमातृण्णां व्याघारयति । प्राणः स्वयमातृण्णा प्राणे तदन्नं दधाति' (श० ९।२।१।४) । व्याघारणस्य स्वयमातृण्णाधारकत्वं प्रशंसति— स्वयमातृण्णामिति । स्वयमातृण्णा प्राणः । तत्र आघारणेन आज्यरूपमन्नमग्निसम्बन्धिनि प्राणे निहितवान् भवति । स्वयमातृण्णायाः प्राणत्वम् 'प्राणो वै स्वयमातृण्णा प्राणो ह्येवैतत् स्वयमात्मानमातृन्ते' (श० ७।४।२।२) इति श्रुतौ व्याख्यातम् । 'यद्वेव स्वयमातृण्णां व्याघारयति । उत्तरवेदिर्हैषाग्नेरथ याममू पूर्वां व्याघारयत्यध्वरस्य साथ हैषाग्नेस्तामेतद् व्याघारयति' (श० ९।२।१।५) प्रकारान्तरेणापि स्वयमातृण्णायां व्याघारणमुपपादयति—यद्वेवेति । एषा स्वयमातृण्णा अग्नेरुत्तरवेदिः खलु । 'याममू' बुद्धौ परामर्शः । पूर्वामुत्तरवेदिं व्याघारयति । सा पुनः सोमयागस्य । अतोऽस्यां स्वयमातृण्णायां व्याघारणेन अग्नेस्तामुत्तरवेदिं व्याघारयति । 'पश्यंस्तत्र हिरण्यं व्याघारयति । प्रत्यक्षं वै तद्यत् पश्यति प्रत्यक्षꣳ सोत्तरवेदिः प्रास्ता एवेह भवन्ति परोक्षं वै तद्यत् प्रास्ताः परोक्षमियमुत्तरवेदिः' (श० ९।२।१।६) । ननु यद्येषा स्वयमातृण्णा अग्नेरुत्तरवेदिस्तर्हि तद्व्याघारणं पूर्वोत्तरवेदिवद् हिरण्यदर्शनादिपूर्वकं भवितव्यमित्यत आह—पश्यंस्तत्रेति । प्रत्यक्षं सा उत्तरवेदिः । उत्तरवेदिसंयुक्तमन्त्रादिनिर्मितत्वाभावेन औपचारिकोत्तरवेदित्वाद् व्याघारणमित्यर्थः ।

'स्वाहाकारेण तां व्याघारयति । प्रत्यक्षं वै तद्यत् स्वाहाकारः प्रत्यक्षꣳ सोत्तरवेदिर्वेट्कारेणेमां परोक्षं वै तद्यद्वेट्कारः परोक्षमियमुत्तरवेदिराज्येनाज्येन ह्युत्तरवेदिमाघारयन्ति पञ्चगृहीतेन पञ्चगृहीतेन ह्युत्तरवेदिं व्याघारयन्ति व्यतिहारं व्यतिहारꣳ ह्युत्तरवेदिं व्याघारयन्ति' (श० ९।२।१।७) । स्वाहाकारस्य सर्वत्र हविःप्रदानार्थसाधनत्वेन प्रत्यक्षत्वम्, वेट्कारस्य तु तथात्वाभावेन परोक्षत्वम् । आज्येन पञ्चगृहीतेन व्यतिहारमुत्तरवेदेर्व्याघारणात्, तथैवास्याप्युत्तरवेदित्वेन व्याघारणमुपपन्नमित्याह—आज्येनेत्यादिना व्यतिहारमित्यन्तेन । पूर्वं दक्षिणांसे व्याघारणम्, तत उत्तरश्रोणौ, पश्चाद्दक्षिणश्रोणौ, तत उत्तरांसे, ततो मध्ये—इत्ययं क्रमो विवक्षितः । 'नृषदे वेडिति । प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरस्तद्योऽयं प्राणोऽग्निस्तमेतत्प्रीणात्यप्सुषदे वेडिति योऽप्स्वग्निस्तमेतत्प्रीणाति बर्हिषदे वेडिति य ओषधिष्वग्निस्तमेतत्प्रीणाति वनसदे वेडिति यो वनस्पतिष्वग्निस्तमेतत् प्रीणाति स्वर्विदे वेडित्ययमग्निः स्वर्विदिममेवैतदग्निं प्रीणाति' (श० ९।२।१।८) । व्याघारणमन्त्रान् प्रदर्शयन् व्याचष्टे—नृषदे वेडिति । वेडिति सम्प्रदानार्थीयो निपातः । तथा च मनुष्येषु वर्तमानाय प्राणरूपायाग्नये वेट्, इदमाज्यरूपं हविर्दत्तमित्यर्थः । अयमग्निः स्वर्वित् स्वः स्वर्गं विन्दते लम्भयतीत्यन्तर्भावितण्यर्थः, स्वर्वित् । स्पष्टार्थमन्यत् । 'यद्वेवाह नृषदे वेडप्सुषदे वेडित्यस्यैवैतान्यग्नेर्नामानि तान्येतत्प्रीणाति तानि हविषा देवतां करोति यस्यै वै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यतेऽथो एतानेवैतदग्नीनस्मिन्नग्नौ दधाति' (श० ९।२।१।९) । प्रकारान्तरेण मन्त्राणामभिधानं प्रशंसति—यद्वेवाहेति । एतानि नृषदित्यादीन्यस्यैव सञ्चिताग्नेर्नामानि, अस्य सर्वात्मकत्वेन मनुष्यादिस्थिताग्न्यात्मकत्वात् । अत एतेन तान्येव नामानि प्रीणितवान् भवति । न केवलं तेषां

प्रीणनमपि तु देवतात्वसम्पत्तिरपीत्याह—तानीति। तदर्थहविर्ग्रहणात् तानि नामानि देवताः कृतवान् भवति। किञ्चैतेन नृषदादिशब्दाभिधेयानग्नीन् नामग्राहमस्मिन् सञ्चितेऽग्नौ निदधाति।

अध्यात्मपक्षे—नृषदे मनुष्येषु प्राणरूपेण आत्मरूपेण च स्थिताय परमात्मने, वेट् अस्मत्समर्पितहविः पत्रपुष्पफलादिकं वा दत्तमस्तु। अप्सुषदे वरुणरूपेण अन्तर्यामिरूपेण च स्थिताय, बर्हिषदे यज्ञेषु आहवनीयादिरूपेण स्थिताय वेऽस्तु। वनसदे वनाधिष्ठातृदेवतारूपेण तदन्तर्यामिरूपेण श्रीरामरूपेण वा स्थिताय भगवते वेऽस्तु। स्वर्विदे मोक्षादिप्रापकाय परमात्मने वेऽस्तु। उपलक्षणमात्रमेतत्। सर्वरूपेण सर्वत्र तस्यैव स्थितत्वात् तस्य सार्वात्म्यमुच्यते मन्त्रेणानेनेति।

दयानन्दस्तु—'हे सभापते, त्वं नायकस्थपुरुषभवनाय, वेट् न्यायासनस्थो भव, जलस्थनौकादिस्थितये न्यायासनस्थो भव, प्रजावृद्धिहेतुव्यवहारस्थितये वेट् अधिष्ठाता भव, वनस्थेभ्य वेट् न्यायाविष्टो भव, स्वर्विदे सुखाभिज्ञाय उत्साहविसिष्टो भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, वेट्पदानां विविधार्थताया-श्चिन्त्यत्वाच्च ॥ १२ ॥

ये दे॒वा दे॒वानां॑ य॒ज्ञिया॑ य॒ज्ञियाना॒ᳬं संवत्सरी॒णमुप॑ भा॒गमास॑ते। अ॒हु॒तादो॑ ह॒विषो॑ य॒ज्ञे अ॒स्मिन् स्व॒यं पि॑बन्तु॒ मधु॑नो घृ॒तस्य॑ ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—जो देवता बिना स्वाहाकार किये अन्न का भक्षण करते हैं, वे प्राणरूप देवता इस चयनरूप यज्ञ में मधु और घृत का, अर्थात् मधु, घृत दधिरूप हवि का भाग स्वयं ही स्वाहाकार के बिना पान करें। जो देवता यजन करने योग्य देवताओं के मध्य में दीप्तिमान् हैं, वे संवत्सर में होने वाले यज्ञ के भाग का सेवन करें ॥ १३ ॥

'समासिक्तान् कुशैः प्रोक्षति सपरिश्रित्कं बाह्येन च ये देवा इति' (का० श्रौ० १८।३।१२)। पात्र्यां सिक्तान् दधिमधुघृतान् कुशैः गृहीत्वा परिश्रित्सहितं सपक्षपुच्छाग्निं मध्ये बहिश्च प्रोक्षति ऋग्द्वयेनेति सूत्रार्थः। एतच्च ब्राह्मणे स्पष्टम्। ब्राह्मणं च मन्त्रव्याख्यानानन्तरमुद्धरिष्यते। द्वे ऋचौ जगत्यौ प्राणदेवत्ये। ये देवाः प्राणा देवानाम्, उत्कृष्टा इति शेषः। यज्ञियानां यज्ञार्हाणां देवानां मध्ये यज्ञिया अतिशयेन यज्ञार्हाः। संवत्सरीणं संवत्सरेण प्राप्यत इति संवत्सरीणः, 'संपरिपूर्वात् ख च' (पा० सू० ५।१।९२) इति खः। संवत्सरं हि भूत्वाग्नि-श्चीयते। तं संवत्सरनिर्वृत्तं भागमुपासते। कथंभूताः प्राणाः? अहुतादः, अन्ये हि देवा अग्निप्राप्तामाहुतिमदन्ति। प्राणास्तु साक्षादन्नमदन्ति। ते प्राणा हविषो मधुनो घृतस्य दध्नश्च स्वमंशमस्मिन् यज्ञे स्वयं पिबन्तु, स्वाहा-कारं विनैवेति शेषः। द्विविधाः खलु देवाः—हविर्भुज इन्द्रवरुणादयः, शरीरनिर्वाहकाः प्राणादयश्च। दीव्यन्तीति व्युत्पत्त्या उभयत्र देवशब्दप्रवृत्तिः। उभयेऽप्येते यज्ञियाः। तत्र इन्द्रादयो यज्ञपूज्यत्वाद् यज्ञियाः। प्राणादयस्तु यज्ञेन तेषां पूजकत्वाद् यज्ञियाः। यज्ञियानां यज्ञार्हाणां देवानां मध्येऽतिशयेन यज्ञिया यज्ञयोग्या देवा दीव्यमानाः प्राणाः। अहुतादो हुतं स्वाहाकारेण समर्पितं हविरदन्ति ये ते हुताद इन्द्रादयः, तद्भिन्ना ये साक्षाददन्ति तेऽहुतादः प्राणा देवाः। ये संवत्सरेण साध्यं संवत्सरेण निर्वृत्तं वा संवत्सरीणं भागमुपासते, तेऽस्मिन् चयनाख्ये यज्ञे हविषो हवीरूपस्य मधुनो घृतस्य दध्नस्तं भागं स्वयं पिबन्तु। मदीयेन स्वाहाकारार्पणेन विनैव स्वयमेव दधिमधुघृतांशं स्वीकुर्वन्त्वित्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'पञ्चैता आहुतीर्जुहोति। पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्या-वानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति' (श० ९।२।१।१०)। 'अथैनᳬं समुक्षति। दध्ना मधुना घृतेन

जायत एष एतच्चच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायते सर्वं वेतदन्नं यद्दधि मधु घृतᳬं सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति सर्वतः समुक्षति सर्वत एवैनमेतत्सर्वेणान्नेन प्रीणाति' (श० ९।२।१।११)। 'यद्वेवैनᳬं समुक्षति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतस्तस्मिन् देवा एतद्रूपमुत्तममदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्रूपमुत्तमं दधात्यन्नं वै रूपमेतदु परममन्नं यद्दधि मधु घृतं तद्यदेव परमᳬं रूपं तदस्मिन्नेतदुत्तमं दधाति सर्वतः समुक्षत्यपि बाह्येन परिश्रितः सर्वत एवास्मिन्नेतद्रूपमुत्तमं दधाति दर्भैस्ते हि शुद्धा मेध्या अग्रेरग्रᳬं हि देवानाम्' (श० ९।२।१।१२)। आहुतीनां पञ्चत्वसंख्या अग्नेः कार्त्स्न्येन प्रीतिहेतुर्भवतीत्याह—पञ्चैता इति। पञ्चगृहीतमाज्यं दध्यादिकं चेत्युभयमपि सञ्चितस्याग्नेरुपर्यानीतं तत्राज्यस्य विनियोगोऽभिहितः। अवशिष्टस्य विनियोगमाहैकादश्या कण्डिकया—अथैनमिति। दध्यादीनां बहुत्वात् सर्वान्नत्वं विहितम्। तत्समुक्षणं परिश्रिद्भ्यो बहिरपि कर्तव्यमित्याह—सर्वत इति। 'उपरिष्टाद्दर्भमुष्टिं निदधाति' (श० ९।२।१।१) इत्युक्तान् दर्भान् समुक्षणे विनियुज्य प्रशंसति—दर्भैरिति। दध्यादिभिः समुक्षणेन अस्मिन् संस्कृतेऽग्नौ उत्तमरूपनिधानं भवतीत्याह—यद्वेवेति। अन्नं वै रूपमित्यादिना परमरूपत्वमुपपाद्यते। अन्नं तावद्रूपकारणत्वाद्रूपम्, रसातिशयवत्त्वाद् दध्यादीनि परमं रूपमित्यर्थः। 'ये देवा देवानाम्। यज्ञिया यज्ञियानामिति देवा ह्येते देवानां यज्ञिया उ यज्ञियानाᳬं संवत्सरीणमुप भागमासत इति संवत्सरीणᳬं ह्येत एतं भागमुपासतेऽहुतादो हविषो यज्ञे अस्मिन्नित्यहुतादो हि प्राणाः स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्येति स्वयमस्य पिबन्तु मधुनश्च घृतस्य चेत्येतत्' (श० ९।२।१।१४)। अथ समुक्षणे मन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे—ये देवा देवानामिति। देवानामपि देवा यज्ञियानां यज्ञार्हाणामपि तत्पूर्वकत्वकथनेन सर्वेषां यज्ञार्हत्वमित्यर्थः। यज्ञियास्ते प्राणा इति यावत्। संवत्सरीणमुप भागमासते संवत्सरसम्बन्धिनं भागमुपासत इति यावत्। अस्मिन् यज्ञे एतस्य समुक्षणस्य संवत्सरक्रियमाणत्वात् संवत्सरीणे भागे प्राणा दध्यादीनहुतानेवादन्ति, अतोऽहुतादो हविष इत्युक्तम्। चतुर्थपादे मधुनो घृतस्येति कर्मणि षष्ठी मधु घृतम्। उपलक्षणमेतत्, दध्यपि पिबन्त्विति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—ये देवानां प्रसिद्धानामिन्द्रादीनामपि देवाः, यज्ञियानां यज्ञार्हाणामपि यज्ञिया यजनार्हा ईश्वरावतारभूताः श्रीरामादयः संवत्सरीणं संवत्सरेण प्राप्तव्यं भागमुपासते, तेऽहुतादो होममन्तरैव सर्वात्मत्वेन सर्वान्तरात्मानः सन्तोऽदन्ति। तेऽस्मिन् अस्माभिः क्रियमाणे यज्ञे मधुनो घृतस्य हविषो मधुदधिघृतानि स्वयं पिबन्तु, तेषां देवानामपि देवत्वात्। पूजायां वा बहुवचनम्। तथा च देवानां यज्ञार्हाणामपि यज्ञार्हः परमेश्वरः संवत्सरीणं संवत्सरोपलक्षितं तत्तत्कालप्राप्यभागं भजनीयं भक्तसमर्पितं भागमुपासते सेवन्ते, ते घृतस्य मधुनो घृतमधुतुल्यं प्रेमपरिप्लुतं भक्तसमर्पितं वस्तु पिबन्तु, स्वयमेव स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'ये देवानां विदुषामहुतादोऽकृतहोमानां पदार्थानां भोक्तारो देवा विद्वांसः, यज्ञियानां यज्ञकुशलानां मध्ये यज्ञिया योगाभ्यासादियज्ञयोग्या विद्वांसः संवत्सरं यावत्पुष्टं भागं भजनीयं परमात्मानमुपासते, तेऽस्मिन् यज्ञे समागमे मधुनो घृतस्य मधुनो जलस्य हवनार्हं पदार्थानां भागं पिबन्तु' इति, तदपि विसङ्गतम्, मनुष्यभिन्नानां विशिष्टयोनीनां देवानां भूमिकायां साधितत्वात्। न च विद्वांसो मनुष्या हुतादो भवन्ति, येषां व्यावृत्त्यर्थमहुताद इति विशेष्येत। परमात्मा कथं संवत्सरं यावत् पुष्यति? तस्य नित्यपुष्टत्वात् ॥ १३ ॥

ये॒ दे॒वा दे॒वेष्वधि॑ देव॒त्वमाय॒न् ये ब्रह्म॑णः पु॒र ए॒तारो॑ अ॒स्य। येभ्यो॒ न ऋ॒ते पव॑ते॒ धाम॒ किञ्च॒न न ते दि॒वो न पृ॑थि॒व्या अधि॒ स्नुषु॑ ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—प्राण आदि देवताओं ने इन्द्र आदि देवताओं के बीच अधिष्ठातृत्व प्राप्त किया है, अर्थात् देवगणों में प्रधान देवत्व पाया है। जो प्राण इस जीव के आगे गमन करते हैं, जिन प्राणों के बिना कोई भी शरीर चेष्टा नहीं कर सकता, वे प्राण न तो द्युलोक में हैं और न पृथ्वी पर ही। वे तो प्रत्येक इन्द्रिय में वर्तमान हैं ॥ १४ ॥

ये देवाः प्राणाः, देवेष्विन्द्रादिषु देवत्वमायन् अधिष्ठातृत्वेन देवभावं प्राप्ताः, प्राणैरधिष्ठिता एव इन्द्रादि-विग्रहा व्यवहरन्तीत्यर्थः। किञ्चास्य भ्राम्यमाणस्य अग्नेर्ब्रह्मणः परिवृढस्य पुर एतारः पुरतो गन्तारः, निर्वाहका इति यावत्। न खलु प्राणैर्विना चीयमानोऽग्निर्निर्वोढुं शक्यते। यद्वा ब्रह्मणो जीवस्य वा पुर एतारः पुरोऽग्रे यन्तीति तथा। 'इण् गतौ' इत्यस्मात् तृच्प्रत्ययः। 'प्राणा हि प्राणिनां पुरःसराः' (श० ९।२।१।१५) इति श्रुतेः। येभ्य ऋते यान् प्राणान् विना किञ्चन धाम स्थानं शरीरं जन्म वा न पवते न चेष्टते, 'पूङ् गतौ' भौवादिकस्य। अथवा 'पूञ् पवने' विकरणव्यत्ययः, न पवते शुद्धं न भवतीत्यर्थः। इत्थंभूता ये प्राणा देवास्ते पुनः क्वासते ? तत्राह—ते प्राणरूपा देवा न दिवो न दिवि स्वर्गे न सन्ति। सप्तम्यर्थे षष्ठी। न पृथिव्याः पृथिव्यामपि नैव सन्ति। यद्वा दिवः प्रदेशेषु पृथिव्याः प्रदेशेषु च न सन्ति। क्व तर्हि सन्तीति ? तत्राह—स्नुषु अधि स्नुवन्ति क्षरन्ति यानि तानि स्नूनि स्रोतांसि चक्षुरादीनि प्राणायतनानि, तेषु अधि अधिश्रित्य वर्तन्ते तेषूपलभ्यन्ते। स हि तेषां विशिष्टः प्रदेशः।

अत्र ब्राह्मणम्—'ये देवा देवेषु। अधिदेवत्वमायन्निति देवा ह्येते देवेष्वधिदेवत्वमायन् ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्येत्ययमग्निर्ब्रह्म तस्यैते पुर एतारो येभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चनेति नहि प्राणेभ्य ऋते पवते धाम किञ्चन न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुष्विति नैव ते दिवि न पृथिव्यां यदेव प्राणभृत्तस्मिंस्त इत्येतत्' (श० ९।२।१।१५)। अथ द्वितीयमन्त्रं व्याचष्टे—ये देवा इति। ये देवा देवेष्वप्यधिदेवत्वं प्राप्नुयुः, एते देवाः प्राणाः। अधिका देवा अधिदेवास्तेषां भावस्तत्त्वम् आयन् आप्नुवन्, तान् प्रति स्वेषामुपजीव्यत्वात्। अत उक्तम्—ये देवा देवेष्विति। द्वितीयपादे सर्वात्मकत्वं प्राणस्याह—ये ब्रह्मण इति। अत्र बृहत्त्वाद् ब्रह्मशब्देनाग्निरुक्तः। ये ब्रह्मणोऽग्नेः पुर एतारोऽग्रे गन्तारः। येभ्यो विना किञ्चिदपि धाम शरीरं न प्रवर्तते, ते देवाः प्राणा दिव्यपि न सन्ति, पृथिव्यामपि न सन्ति, किन्तु यदेव प्राणभृद्वस्तु तस्मिन् सन्ति।

अध्यात्मपक्षे—ये देवाः प्राणा वागादयो मुख्यस्य प्राणस्य सूत्रात्महिरण्यगर्भरूपस्य अङ्गरूपा देवेष्व-ग्न्यादिष्वप्यधिदेवत्वमायन्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'ये देवाः पूर्णविद्वांसो देवेषु विद्वत्स्वधिदेवत्वं सर्वोत्तमकक्षासु विराजमानं स्वगुणकर्म-स्वभावमायन् प्राप्नुवन्ति, ये चास्य ब्रह्मणः परमेश्वरस्य पुर एतारः प्रथमप्रापकाः, यानन्तरा किञ्चन सुखस्थानं न पवते पवित्रं न भवति, ते दिवः सूर्यलोकस्य प्रदेशेषु पृथिव्या अधि स्नुषु कस्मिंश्चिद् भागे नाधिकं वसन्ति, किन्त्वीश्वरे स्थिरा भूत्वा अव्याहतगत्या सर्वत्र विचरन्ति' इति, तदपि सर्वं कल्पनामात्रम्, निर्मूलत्वात्। विद्वांसो विद्वत्स्वधिदेवत्वं सर्वोत्तमकक्षासु स्वगुणकर्मस्वभावमायन्नित्यस्य निर्मूलत्वात्, तद्बोधकपदानां मन्त्रेऽभावात्। 'ब्रह्मणस्तानन्तरा न किञ्चन स्थानं पूयते' इत्यप्यसाम्प्रतम्, मनुष्याणां परिच्छिन्नत्वेन सर्वधामपावकत्वानुपपत्तेः। न च विद्वांसो मनुष्या दिवि पृथिव्यां न तिष्ठन्ति, मर्त्यलोक एव मनुष्याणां स्थितिदर्शनात्। परमात्मनि स्थिराश्चेत् कथमन्यत्र सर्वत्र अव्याहतगत्या विचरन्ति, स्थिरस्य तदनुपपत्तेः ॥ १४ ॥

प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः। अन्यांस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम प्राण को देने वाले, अपान को देने वाले, सारे शरीर में स्थित व्यान वायु को देने वाले, बल और धन के दाता बनो। हमारे लिये चित्त के शोधक कल्याणकारी बनो, तुम्हारा ज्वालारूप आयुध हमसे दूर रह कर दूसरों को तापित करे ॥ १५ ॥

'प्राणदा इत्यवरोहति' (का० श्रौ० १८।३।१३)। प्रोक्षणानन्तरमग्नेरवतरतीति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्या द्व्यधिका बृहती द्व्यूना पङ्क्तिर्वा। अष्टात्रिंशदक्षरत्वाद् विकल्पः। हे अग्ने, तव हेतयो ज्वाला अस्मदन्यान् तपन्तु। त्वमस्माकं पावकः शिवश्च भव। कीदृशस्त्वम्? प्राणदाः प्राणान् यजमानाय ददातीति प्राणदाः, प्राणं सुस्थिरं करोतीत्यर्थः। अपानदा अपानं ददातीति तथोक्तः। व्यानदा व्यानं सर्वशरीरसंचारिणं वायुं ददातीति तथोक्तः। वर्चोदा वर्चो बलं तेजोरूपं ददातीति तथोक्तः, 'तेजःपुरीषयोर्वर्चः' (अ० को० ३।३।२३१) इति कोषात्। अन्नस्य दाता वा। 'वर्च इति अन्ननामसु' (निघ० २।७।२६)। वरिवोदा वरिवो धनं ददातीति तथोक्तः। 'वरिव इति धननामसु' (निघ० २।१०।५)।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ प्रत्यवरोहति। प्राणदा अपानदा इति सर्वे हैते प्राणा योऽयमग्निश्चितः स यदेतामत्रात्मनः परिदां न वदेतात्र हैवास्यैष प्राणान् वृञ्जीताथ यदेतामत्रात्मनः परिदां वदते तथो हास्यैष प्राणान्न वृङ्क्ते प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदा इत्येतद्वा मेऽसीत्येवैतदाहान्यांस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भवेति' (श० ९।२।१।१७)। योऽयमग्निश्चयनेन संस्कृतः, एष सर्वे प्राणाः, प्रजापत्यात्मकत्वात् सर्वेषां प्राणा इत्यर्थः। अतः स अध्वर्युरत्रावसरे यदि प्राणदा इत्येतन्मन्त्ररूपामात्मनः परिदां प्राणरक्षां न वदेत्, तर्हि एषोऽग्निरस्याध्वर्योः प्राणान् वृञ्जीत वर्जयेदपगमयेदित्यर्थः। प्राणदा इत्यादिमन्त्ररूपपरिदाभिधाने तु तथा न कुर्यात्। इत्थं मन्त्रस्योपयोगमभिधाय मन्त्रं व्याचष्टे—प्राणदा इति। एतद्वा मेऽसीति। एतेन मदर्थमेषां प्राणादीनां दातासीत्येतदेवोक्तं भवति, न पुनरन्यार्थमित्यर्थः। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं प्राणादीनां दातासि, तेन तव हेतयोऽस्त्राणि रोगादिरूपाणि अस्मतोऽन्यान् तपन्तु। 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥' (केनो० २।२।५) इति श्रुत्या कर्मफलदातृत्वाच्च परमेश्वरादेव भोगायतनभोगसाधनादिप्राप्तिसम्भवात्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् हे राजन्, ते त्वदीया उन्नतयोऽस्त्राणि च नोऽस्मभ्यं प्राणदा जीवनदाः, अपानदा दुःखापनोदिन्यः, व्यानदा व्याप्तिविज्ञानदाः, वर्चोदा अध्ययनहेतुदाः, वरिवोदाः सत्यधर्मदा····इत्यादिकम्' तदपि विसङ्गतम्, व्युत्क्रमान्वयानुपपत्तेः, नह्युन्नतीनामस्त्राणां प्राणादिदातृत्वं सम्भवति। पदार्था अपि प्रमाणशून्या एव॥ १५॥

अ॒ग्निस्ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ यास॒द्विश्वं॒ न्य॑त्रिण॑म्। अ॒ग्निर्नो॑ वनते र॒यिम्॥ १६॥

मन्त्रार्थ—यह अग्निदेवता अपने तीक्ष्ण तेज से यज्ञविघ्नकारी राक्षस आदि को दूर भगा दे। यह अग्नि हमारे लिये धन का दाता हो॥ १६॥

'पञ्चगृहीतं जुहोत्यग्निस्तिग्मेनेत्यृचा' (का० श्रौ० १८।३।१७)। प्रवर्ग्योत्सादनानन्तरं शालायामागत्य पञ्चगृहीतमाज्यं शालाद्वार्ये जुहुयादिति सूत्रार्थः। आग्नेयी गायत्री भरद्वाजदृष्टा। अयं चीयमानोऽग्निः, तिग्मेन तीक्ष्णेनोत्साहवता वा। 'तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः' (निरु० १०।६)। शोचिषा तेजसा विश्वं सर्वम् अत्रिणम् अत्तीति अत्री, 'अदेस्त्रिनिश्च' (उ० ४।६९) इति त्रिन्प्रत्ययः, तं भक्षकं राक्षसादिकम्। नियासद् नितरां क्षीणं करोतु। धातूनामनेकार्थत्वाद् दैवादिकस्य यसेरुपक्षयार्थे वृत्तिः, लेट्। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपः, धातोरामागमश्चार्षः। अथवा नितरां प्रयतताम्, विनाशयितुमिति शेषः। किञ्च, अग्निर्नोऽस्मभ्यं रयिं धनं वनते ददातु। अत्र वनतिर्दानार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स वै पञ्चगृहीतं गृह्णीते। पञ्चधाविहितो वा अयᳬशीर्षन् प्राणो मनो वाक् प्राणश्चक्षुःश्रोत्रमेतमेवास्मिन्नेतत् पञ्चधाविहितᳬ शीर्षन् प्राणं दधात्यग्निस्तिग्मेन शोचिषेति तिग्मवत्या शिर एवास्यैतया सᳬश्यति तिग्मतायै' (श० ९।२।२।५)। प्रथमाहुत्यर्थं पञ्चवारग्रहणमग्नेः शीर्षण्यप्राणपञ्चकोपधानरूपेण प्रशंसति, स वै पञ्चगृहीतमिति। वागिति मुखम्, प्राण इति घ्राणम्, चक्षुर्द्वयं श्रोत्रद्वयं च द्वौ प्राणौ। मनःसहिता वागादयः शिरसि पञ्चधाविहितः प्राणः। अतश्च पञ्चवारग्रहणेन अस्मिन्नग्नौ शिरसि मनःप्रभृति प्राणपञ्चकं निदधाति। होममन्त्रस्य तिग्मपदसम्बन्धं प्रशंसति–अग्निस्तिग्मेनेति। तिग्मशब्दस्य तीक्ष्णवाचकत्वात् तद्वत्या ऋचा होमेन तैक्ष्ण्यसिद्धयेऽग्नेः शिरस्तीक्ष्णं करोति। संश्यति—'शो तनूकरणे' इत्यस्य लटि श्यनि 'ओतः श्यनि' (पा० सू० ७।३।७१) इत्योकारलोपः।

अध्यात्मपक्षे—अयं वेदादिप्रमाणसिद्धोऽग्निः परमेश्वरः, तिग्मेनोत्साहवता उत्साहप्रदेन शोचिषा स्वरूपभूतप्रकाशेन विश्वं सर्वं न्यत्रिणं नितरां ज्ञानविज्ञानादिभक्षकं बाधकमज्ञानविपर्ययादिकं यासत् उपक्षयतु। यद्वा महावाक्यजन्यब्रह्माकारवृत्त्यभिव्यक्तेन तिग्मेन तीक्ष्णेन सर्वदाहकेन शोचिषा स्वरूपभूतप्रकाशेन विश्वं न्यत्रिणं यासद् उपक्षीणं करोतु। अग्निः स एव नोऽस्मभ्यं रयिं ज्ञानविज्ञानलक्षणं धनं वनते ददाति, व्यत्ययेन ददात्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथाग्निस्तिग्मेन शोचिषा अत्रिणं भोगयोग्यं विश्वं यासत् प्राप्नोति, यथाग्निर्विद्युद् नोऽस्मभ्यं रयिं धनं निरन्तरं विभजति, तथास्माकं भूयाः। यथाग्निः शुष्कमार्द्रं विश्वं सर्वं तृणादि दहति, तथास्माकं दोषान् दग्ध्वा गुणान् प्रापयतु। यथा विद्युत् सर्वपदार्थान् सेवते, तथास्मान् सर्वा विद्याः सेवयतु' इति, तदेतत् सर्वमविचारितरमणीयम्, मन्त्रे तादृशपदानामभावात्, मुख्यार्थं परित्यज्य गौणार्थाश्रयणे मानाभावाच्च ॥ १६ ॥

य इ॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि॒ जुह्व॒दृषि॒र्होता॒ न्यसी॑दत्पि॒ता नः॑।
स आ॒शिषा॒ द्रवि॑णमि॒च्छमा॑नः प्रथम॒च्छद॑वराँ२॥ आवि॑वेश ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—जो अतीन्द्रिय द्रष्टा सर्वज्ञ, संहार रूप, होम का कर्ता, हम सारे प्राणियों का पालन करने वाला है, जो इन सम्पूर्ण लोकों का संहार कर स्वयं अपने में स्थित है, वह परमेश्वर 'प्रथम एक अद्वितीय रूप को छादन कर मैं अनेक रूपों में प्रकट होऊं' इस अभिलाषा से जगत् रूप धन की इच्छा करता हुआ प्रकट होता है, उपाधि वाले माया के विकार रूप जीवों में प्रवेश करता है ॥ १७ ॥

'षोडशगृहीतार्धमनुवाकशेषेण' (का० श्रौ० १८।३।१७)। षोडशगृहीतमाज्यं जुह्वां गृहीत्वा तस्यार्धमनुवाकशेषेण, अर्थाद् य इमेत्यष्टभिर्मन्त्रैः शालाद्वार्येऽग्नौ जुहुयात्। य इमा विश्वेत्यारभ्य विहव्यो यथासदित्यन्तोऽष्टर्चं इति। भुवनपुत्रविश्वकर्मदृष्टा विश्वकर्मदेवत्याः षोडश त्रिष्टुभः। जन्मान्तरीयविशिष्टकर्मोपासनादिप्रभावेणाभिव्यज्यमानविशिष्टदर्शनो मन्त्रद्रष्टा प्रजाः संहरन्तं सृजन्तं विश्वकर्माणं पश्यन् कथयति—य इमेति। यो विश्वकर्मा परमेश्वरः, इमा इमानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि जुह्वन् संहरन् सन् प्रलयकाले पृथिव्यादीन् सर्वान् लोकान् भूतजातानि च स्वात्मन्याहुतिप्रक्षेपवत् संहरन् सन् न्यसीदत् निषण्णः स्वयं स्थितवान्। कीदृशः स ऋषिः ? अतीन्द्रियद्रष्टा सर्वज्ञः। होता संहाररूपस्य होमस्य कर्ता। नोऽस्माकं प्राणिनां पिता जनकः। प्रलयकाले सर्वलोकान् संहृत्य यः परमेश्वरः स्वयमेक एव आसीत्, 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्' (ऐ० उ० १।१।१), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ० ६।२।१) इत्यादिश्रुतेः।

इदं सर्वं नामरूपक्रियात्मकं जगद् अग्रे सृष्टेः प्राग् आत्मा वै आत्मैव सच्चिदानन्दरूपः परमेश्वर एवासीत्, नान्यत् किञ्चन मिषद् व्यापारवत् स्वतन्त्रसत्ताकमित्यर्थः। प्रकृतिपुरुषादिकं तु तस्मिन्नेव कल्पितत्वात् सदपि तत्समानसत्ताकं पारमार्थिकं नासीदित्यर्थः। नहि कल्पितेन द्वितीयेन परमार्थसतः सद्वितीयत्वं सम्भवति, समानसत्ताकयोरेव भावाभावयोर्विरोधात्। इदं सर्वमग्रे सदेवासीत्, तदतिरिक्तं किमपि नासीदित्यर्थः। तच्च सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यमासीत्। कल्पितैर्मिथ्याभूतैः सजातीयादिभिस्तस्य परमार्थसतस्तादृशभेदासम्भवाद् इत्यादिकं तदर्थः। स तादृशः परमेश्वरः, आशिषा 'बहु स्यां प्रजायेय' (छा० उ० ६।२।३) इत्येवंरूपया कामनया प्रपञ्चसिसृक्षया द्रविणं द्रविणोपलक्षितं जगद्भोगमिच्छमानोऽपेक्षमाणः, अवरान् अभिव्यक्तोपाधीन् स्थूल-सूक्ष्मदेहरूपान् आविवेश जीवरूपेण प्राविशत्, 'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपस्तप्त्वा। इदꣳ सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' (तै० उ० २।६) इत्यादिश्रुतिभ्यः। कीदृशः स परमेश्वरो यस्तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति ? तत्राह—प्रथमच्छत् प्रथमं स्वकीयमेकमेवाद्वितीयमुत्कृष्टं रूपं छादयति आवृणोतीति तथोक्तः, छादयतेः क्विपि ह्रस्वः।

उव्वटाचार्यरीत्या तु ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायी कल्पान्तरीणो यजमानो हिरण्यगर्भमात्मत्वेन ध्यायन् तदुपास्तिक्षपितकल्मषस्तद्भावमुपगतः सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन कल्पादावभिव्यक्तं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्ययुक्तं प्रजाः सृजमानं हिरण्यगर्भात्मानं पश्यन्नाचष्टे—य इमानि भूतजातान्यात्मनि जुह्वद् आत्मत्वेन पश्यन् ऋषिः साक्षात्कृतधर्मा होता आह्वाता देवानां कल्पादौ न्यसीदत् निषण्णः। पिता पाता नोऽस्मत्प्रभृतीनामेव ऋषिर्मनुष्यादिभावमुपगतः सन् यज्ञसम्बन्धिन्या आशिषा द्रविणं यज्ञफलमिच्छमानः प्रथमच्छत् प्रथमच्छादको मूर्तशरीरग्राही अवरान् द्विपदचतुष्पदस्थावरादीन् आविवेश आविष्टस्तत्तद्रूपैराविर्बभूवेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षेऽप्युक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! य ऋषिर्ज्ञानिस्वरूपो होता सर्वपदार्थानां दाता ग्रहीता च नोऽस्माकं पिता पालयिता परमेश्वरो विश्वानि भुवनानि व्याप्य न्यसीदद् निरन्तरं स्थितः, यश्च सर्वलोकानां जुह्वद् धारयिता स आशिषा आशीर्वादेन नोऽस्मभ्यं द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छत् विस्तृतपदार्थान् छादयति अवरान् पूर्णादीन् आविवेश सम्यग् व्याप्तवानिति जानत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। व्याप्येति पदाध्याहारोऽपि निर्मूलः। जुह्वदित्यस्य धारयितेत्यप्यनर्थः, धात्वर्थविपरीतत्वात्। प्रथमशब्दस्य विस्तृतार्थत्वमपि निर्मूलम्। न च परमेश्वरो विस्तृतान् परिच्छिन्नान् वा छादयति, सर्वप्रकाशकत्वात्। अवरपदस्य पूर्णार्थतापि चिन्त्यैव ॥१७॥

किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—प्रश्न उठता है कि द्यावाभूमी का निर्माण करते समय इस परमात्मा का आधार क्या था ? घट को बनाने में मृत्तिका के समान जगत् के निर्माण में इसको सामग्री कहाँ से प्राप्त हुई थी ? इसको जगत् के निर्माण की विधि किसने बताई थी ? जिसके आधार पर अतीत, अनागत, वर्तमान काल को एक साथ देखने वाले विश्वकर्ता परमात्मा ने इस विस्तृत भूलोक और द्युलोक की सृष्टि करके अपनी महती सामर्थ्य से इसको ढक दिया, वह सर्वदर्शी विश्वकर्ता सर्वत्र विराजमान है ॥ १८ ॥

अथेश्वरो यथा जगत्सृजति तत्प्रश्नोत्तराभ्यामाह—किंस्विदिति। लोके हि घटादिचिकीर्षुः कुलालादिर्गृहादिकं स्थानमधिष्ठाय मृदादिरूपेण आरम्भकद्रव्येण च चक्राद्युपकरणैर्घटादि निष्पादयति। ईश्वरस्य

सृष्टिरचनायां सर्वनिरपेक्षत्वात् तत्सर्वमाक्षिप्यते। स्विदिति वितर्के। द्यावापृथिव्योरुत्पादनवेलायामीश्वरस्य अधिष्ठानमधितिष्ठत्यस्मिन्नित्यधिष्ठानं निवाससंस्थानं किंस्विदासीत्? न किञ्चिदासीदित्यर्थः, द्यावापृथिव्यतिरिक्तस्य अधिष्ठानत्वासम्भवात्। तथा आरम्भणम् आरभ्यतेऽनेनेत्यारम्भणम् उपादानं कारणं प्रपञ्चस्य कतमत् स्विदासीत्? मृदिव घटानाम्। नहि द्यावापृथिव्यौ जनयितुं किञ्चिदुपादानं सम्भवति। कथा किम्प्रकारकं निमित्तकारणमप्यासीद्दण्डादिवद् घटादीनामिति शेषः। 'था हेतौ च छन्दसि' (पा० सू० ५।३।२६) इति किंशब्दात् थाप्रत्ययः। यद्वा कथा क्रिया किम्प्रकारा क्रियासीत्। विश्वचक्षा विश्वं चष्ट इति विश्वचक्षाः सर्वद्रष्टा अतीतानागतवर्तमानकालानां युगपद् द्रष्टा, अनन्यशक्तिरित्यर्थः। विश्वकर्मा विश्वं कर्म यस्य सः। यतो यस्मिन् काले भूमिं द्यां स्वर्गं च जनयन् सन् वर्तते, तस्मिन् काले महिना महिम्ना स्वमहाभाग्येन स्वसामर्थ्येन साधनान्तरं विनैव वि विशेषेण और्णोत् सृष्टे द्यावापृथिव्यौ आच्छादितवान्, व्याप्तवानिति यावत्। नहीदमाच्छादनमावरकम्। 'ऊर्णुञ् आच्छादने' इत्यस्य लङि रूपम्, 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इत्युपसर्गस्य व्यवधानेन प्रयोगः।

अध्यात्मपक्षेऽप्युक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् पुरुष, अस्य जगतोऽधिष्ठानमाधारः किंस्वित् आश्चर्यरूपमासीत्। तथारम्भणं कारणं कतमत्। वह्न्योदनेषु कतमत्। कथा केन प्रकारेण यतो विश्वकर्मा विश्वचक्षा भूमिं द्यां सूर्यलोकं च जनयन् महिना स्वमहिम्ना व्यौर्णोद् विविधमाच्छादितवान्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अपव्याख्यानात्। विश्वकर्मेत्यस्य सर्वसत्कर्मेति व्याख्यानमपव्याख्यानम्, परमेश्वरस्य विधिनिषेधातीतत्वात्, सत्कर्मदुष्कर्मादिव्यवस्थायोगात्॥ १८॥

वि॒श्वत॑श्चक्षुरु॒त वि॒श्वतो॑मुखो वि॒श्वतो॑बाहुरु॒त वि॒श्वत॑स्पात्।
सं बा॒हुभ्यां॒ धम॑ति॒ सं पत॑त्रै॒र्द्यावा॒भूमी॑ ज॒नय॑न् दे॒व एकः॑॥ १९॥

मन्त्रार्थ—सब ओर नेत्र वाले, सब ओर मुख वाले, सब ओर भुजा वाले और सब ओर चरण से युक्त एक अद्वितीय परमात्मा द्युलोक और भूलोक को बिना किसी आधार के प्रकट करते हुए अपनी भुजाओं में उन्हें समेट लेते हैं॥ १९॥

पूर्वोक्ताक्षेपाणां समाधानमुच्यते मन्त्रेणानेन। द्यावापृथिव्योरुत्पत्तेरूर्ध्वं विश्वरूपः परमेश्वर एव भासते। कथमिति चेत्तत्रोच्यते—विश्वतश्चक्षुः विश्वतः सर्वतः चक्षुरस्येति तथोक्तः। यस्य यस्य प्राणिनो ये चक्षुषी तदुपाधिकस्य परमेश्वरस्यैव तानि तानि चक्षूंषि सम्पद्यन्ते। एवं विश्वतोमुखः विश्वतो मुखानि यस्य सः। विश्वतोबाहुः विश्वतो बाहवो भुजा यस्य सः। उतापि विश्वतस्पाद् विश्वतः पादा यस्य सः, तथोक्तः। 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' (पा० सू० ५।४।१३८) इत्यन्त्यलोपेन साधुः। परमेश्वरस्य सर्वात्मकत्वात् सर्वेषां प्राणिनां चक्षुरादयस्तस्यैव चक्षुरादयः सम्पद्यन्ते। तेन तत्तदुपाधिकस्य परमेश्वरस्य विश्वतश्चक्षुष्ट्वादिकमुपपद्यते। तादृश एको देवः सहायशून्यो द्यावाभूमी जनयन् बाहुभ्यां बाहुस्थानीयाभ्यां निमित्तकारणाभ्यां धर्माधर्माभ्यां सन्धमति जगत्सर्वं सम्यग्ज्ञातं प्राप्तं स्वाधीनं करोति। तथा पतत्रैः पतनशीलैरनित्यैः पञ्चभूतैरुपादानकारणैर्जगत् स्वाधीनं करोति। यद्वा 'धमतिर्गत्यर्थः' (नि० २।१४।५०)। धर्माधर्माभ्यां सन्धमति सङ्गच्छते, संयोगं प्राप्नोतीति यावत्। पतत्रैः पतनशीलैरनित्यैः पञ्चभूतैश्च धर्माधर्मरूपैर्निमित्तैरुपादानैश्च सङ्गच्छते। साधनान्तरं विनैव सृजतीत्यर्थः। यद्वा धर्माधर्माभ्यां भूतैश्च सन्धमति सङ्गमयति जीवान्। अन्तर्भावितण्यर्थः।

ऐश्वर्ययोगात् साधनमन्तराप्येको देवो विश्वतश्चक्षुर्विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुर्विश्वतःपाच्च भूत्वा बाहुभ्यां बाहुस्थानीयाभ्यां धर्माधर्माभ्यामुपादानस्थानीयैः पतत्रैश्च पञ्चभूतैः सन्धमति सर्वं सृजति। तस्य लोकोत्तरैश्वर्यमेव तादृग् येन स्वे महिम्नि स्थितो दिव्यया मायाख्यशक्त्या सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मानुरोधेन पञ्चभूतानि विरच्य तैः सर्वं सृजति। 'किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च' इत्याक्षिप्य 'अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः। कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः॥' इति समाहितुं बद्धपरिकरस्य सतः—'अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगतामधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति। अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरो यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे॥' पुष्पदन्तस्योक्तेः।

अध्यात्मपक्षेऽप्येष एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं सर्वतश्चक्षुः सर्वसंसारदर्शनः सर्वोपदेशकः सर्वप्रकारेण अनन्तबलपराक्रम उत विश्वतस्पात् सर्वव्याप्तियुत एकोऽसहायो देवः स्वयंप्रकाशः पतत्रैः क्रियाशीलैः परमाणुभिर्द्यावाभूमी जनयन् बाहुभ्यां बलपराक्रमाभ्यां सर्वं जगत् सम्यक् प्राप्नोति। तादृशं परमेश्वरं जानत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परमाणुभिराकाशोत्पत्त्यसम्भवात्, सृष्टिप्रकरणे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० उ० २।१) इति श्रुतौ तदुत्पत्तिश्रवणाच्च। न च चक्षुःशब्दो दर्शनार्थः, न वा मुखशब्द उपदेशार्थकः। बाहुशब्दस्य बलपराक्रमार्थतापि चिन्त्यैव। पादशब्दोऽपि न व्याप्त्यर्थकः, प्रमाणशून्यत्वात्। लक्षणापि न युक्ता, अन्वयाद्यनुपपत्तेः। शक्यार्थसम्बन्धाभावादपि न लक्षणा। यथाकथञ्चित् सम्बन्धेन लक्षणाभ्युपगमे तु पृथिवीशब्दे घ्राणेन रूपमपि लक्ष्येत, समानशेषत्वसम्बन्धस्य सौलभ्यात्॥ १९॥

किँस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥ २०॥

मन्त्रार्थ—प्रश्न उठता है कि वह कारणरूप वन किस प्रकार का था। वह कार्यरूप वृक्ष कौन सा था? जिसके सहारे कि विश्वकर्मा ने स्वर्ग और पृथ्वी को अलंकृत किया। हे मन का निग्रह करने वाले मनीषियों! सब भुवनों को धारण करते हुए विश्वकर्मा ने जिस स्थान को अधिष्ठित किया, उसको अपने मन से समझ कर उसके बारे में प्रश्न करो॥ २०॥

लोके हि प्रौढप्रासादनिर्माणकुशलः कस्मिंश्चित् प्रौढे वने कञ्चन महान्तं वृक्षं छित्त्वा तक्षणादिना स्तम्भादिकं सम्पाद्य प्रासादं रचयति। इह तु परमेश्वरप्रेरिता जगत्स्रष्टारः, यतो यस्माद् वनाद् वृक्षमादाय द्यावापृथिवी निष्टतक्षुस्तक्षणेन द्यावापृथिव्यौ निष्पादितवन्तः, तद्वनं किंस्वित् किन्नाम स्यात्। स्विदिति वितर्के। न किञ्चित् तादृशं सम्भवतीत्यर्थः। तथा कः स वृक्षस्तादृशः प्रौढो वृक्षः क आस? न कश्चित् तादृशो वृक्षः सम्भवति। हे मनीषिणः, मनसा स्वकीयेन विचार्य तद् इद् उ तदपि पृच्छत इदं सर्वं पृच्छत। किञ्च, ईश्वरो भुवनानि धारयन् यदध्यतिष्ठत् यत्स्थानमधिष्ठितवान्, तदपि स्थानं सर्वतः पृच्छत। एतस्य सर्वस्यापि प्रश्नस्योत्तरं श्रुत्यन्तेषु 'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्' इत्यत्राम्नातम्। स्वरूपव्यतिरिक्तवनादिनिरपेक्ष एव परमेश्वरः सर्वं स्वयोगमायया रचयतीत्येव तदुत्तराभिप्रायः। अतोऽत्रापि किंस्विद्वनमित्याक्षेपपरत्वेन याजिनं पृच्छतेत्यस्यापि महद्भिः पृष्टा अभिज्ञास्तस्य स्रष्टुर्वनादिसर्वनिरपेक्षत्वमेव वदिष्यन्ति। ऊर्णनाभवदयमात्मारम्भण इति भावः।

अध्यात्मपक्षे—यतो वनाद् वृक्षाद्वा द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः करोति, 'तक्षतिः करोतिकर्मा'। बहुवचनं पूजार्थम्। विश्वकर्मा तद्वनं स उ वृक्षश्च क आस। यदि तादृशं वनं वृक्षो वा सम्भवेत्, तदा किं द्यावापृथिव्यौ भुवनानि धारयद् यत्स्थानमध्यतिष्ठद् उपरिष्टादास्ते, तदपि किम्? हे मनोषिणः, मनसा पर्यालोच्य पृच्छत। अभिन्ननिमित्तोपादानकत्वमेव परमात्मनोऽत्र प्रश्नमुत्थाप्य बुबोधयिषितम्, 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० उ० २।७।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

दयानन्दस्तु—'हे मनीषिणः, यूयं मनसा विज्ञानेन किंस्विद् वनं सेवनयोग्यं कारणरूपं वनम्, तथा कः स वृक्षश्छिद्यमानोऽनित्यकार्यरूपः संसारोऽस्तीति पृच्छत। यतो द्यावापृथिव्यादिलोकान् को निर्मितवान्? तत्रोत्तरम्—यद् यो भुवनानि धारयन् अध्यतिष्ठद् अधिष्ठाता तद् उ तदेव प्रसिद्धं ब्रह्म सर्वस्यास्य कारणं जानीत' इति, तदपि विसङ्गतमेव, वनवृक्षशब्दयोः प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात्। न च वननीयं कारणमेव भवति, कार्यस्यापि तथात्वात्। कारणकार्ययोः प्रतिपित्सितत्वे तदनुरूपेणोत्तरेणापि भाव्यम्। इदं कार्यमिदं कारणमिति। तदनुरूपमुत्तरमिदम्। यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुरित्यस्य द्युलोकादीन् को निर्मितवानिति प्रश्नरूपोऽर्थोऽपि नोपपद्यते। तथात्वे यत इत्यस्य स्थाने क इति स्यात्। उत्तरमपि निर्मूलम्, ब्रह्मैव तदिति मन्त्रेऽनुक्तेः॥ २०॥

या ते॒ धामा॑नि पर॒माणि॒ याव॒मा या म॑ध्य॒मा वि॑श्वकर्मन्नु॒तेमा।
शिक्षा॒ सखि॑भ्यो ह॒विषि॑ स्वधावः स्व॒यं य॑जस्व त॒न्वं॑ वृधा॒नः॥ २१॥

मन्त्रार्थ—स्वधावान् ढेर सारे अन्न से युक्त सारे जगत् के कर्ता ईश्वर के उत्कृष्ट, निकृष्ट और मध्यम श्रेणी के जो स्थान हैं, इन ऊपर, नीचे और मध्य में स्थित लोकों को भक्त यजमानों को आप दीजिये तथा यजमान की दी हुई हवि के उपस्थित होने पर अपने शरीर को समृद्ध करते हुए आप ही यजन कीजिये। हम यजन करते हैं, यह हम कैसे कह सकते हैं? आपके यजन में कौन मनुष्य समर्थ है? इसीलिये हमारा कहना है कि यजन करने वाले स्वयं आप भगवान् ही हैं॥ २१॥

हे विश्वकर्मन्, ते तव या यानि परमाणि उत्कृष्टानि धामानि स्थानानि, या यानि च अवमानि कनीयांसि, उत अपि च या यानि इमानि मध्यमा मध्यमानि, इमा इमानि त्रिविधानि धामानि, सखिभ्यः समानख्यानेभ्यो यजमानेभ्यः शिक्षा शिक्ष उपदिश, देहि वा। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः। हे स्वधावः, स्वधा अन्नम् अस्यास्तीति स्वधावान्, तत्सम्बुद्धौ हे स्वधावः! 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति सः। हे हविर्लक्षणान्नवन्! त्वं तन्वं यजमानशरीरं वृधानो वर्धयन् सन्, वर्धतेः शानचि व्यत्ययेन शपो लुक्। तन्वमित्यत्र 'वा छन्दसि' (पा० सू० ६।१।१०६) इति पूर्वरूपाभावे यणादेशः। स्वयं यजस्व, त्वदनुग्रहमन्तरेण अन्यस्य कस्यचिद् यष्टुमसामर्थ्यात्। यद्वा हविषि यजमानसम्बन्धिन्युपस्थिते सति तन्वं स्वशरीरं वृधानो वर्धयन् सन् स्वयं यजस्व। स्वस्यासामर्थ्येन वयं यजामह इति कथं वक्तुं शक्यम्? अथवा हे विश्वकर्मन्, यानि धामानि परमाणि, यानि च अवमानि, यानि च मध्यमानि, अपि च इमानि यानि प्रत्यक्षत उपलभ्यन्ते, तेभ्यो द्रव्यमादाय सखिभ्यः समानख्यानेभ्यो यजमानेभ्यो हविषि हविर्निमित्तं शिक्ष देहीति। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वकर्मन् विश्वस्रष्टः, हे स्वधावः सर्वाभीष्टान्नादिमन् परमेश्वर, ते त्वदीयानि यानि स्थानानि उत्तम-मध्यम-कनिष्ठानि, उत इमानि प्रत्यक्षत उपलब्धानि, तानि सखिभ्यो जीवेभ्यो यथायोग्यं शिक्ष देहि 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति जीवेशयोः सख्यश्रवणात्। तवोपकारं कर्तुं यद्यपि

नास्ति सामर्थ्यम्, तव सर्वज्ञसर्वशक्तित्वात्, तेषामल्पज्ञाल्पशक्तित्वात्, तथापि तेषां तन्वं तनूः स्वरूपभूता वृधानः वर्धयन्, अर्थात् तत्सामर्थ्यं जनयन् स्वयं यजस्व स्वयं सामर्थ्यप्रदानेन तैरात्मानं याजयस्व। त्वदनुग्रहेणैव जनास्त्वां भजन्ति यजन्ति च, 'सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये। पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥' (भा० पु० १०।४०।२८) इति श्रीमद्भागवतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे बह्वन्नयुक्त विश्वकर्मन्, ते तव सृष्टौ यानि परमाणि उत्तमानि, यानि अवमानि निकृष्टानि, यानि मध्यमानि धामानि सर्वपदार्थानामाधारभूतानि स्थानानि जन्मस्थानानि नामानि च इमानि सर्वाणि हविषि दातुमादातुं योग्ये व्यवहारे स्वयं यजस्व संगतं कुरु। उत अस्माकं तन्वं शरीरमुन्नतं कुर्वन् आज्ञापालकेभ्यः सखिभ्यः शुभगुणान् शिक्ष उपदिश' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागात्, गौणार्थाश्रयणाच्च, पदार्थानामित्यध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। तथात्वेऽपि वस्तूनां नामानि जन्मानि स्थानानि च व्यवहारे सङ्गतान्येवेति। नोऽस्माकं तन्वमित्यपि निर्मूलम्, मन्त्रे तद्बोधकपदाभावात्, यजस्वेत्यस्याव्याख्यानाच्च ॥ २१ ॥

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितः सपत्ना इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमात्मन्! मेरे दिए हुए हविरूप अन्न से प्रसन्न हुए आप मेरे यज्ञ में पृथ्वी और द्युलोक के आश्रित जीवों को मेरे ऊपर अनुग्रह कर स्वयं ही यजन करें। आपके प्रसाद से सब ओर से हमारे शत्रु काम, मोह आदि को प्राप्त हों। इस यज्ञ में इन्द्र और यज्ञद्रष्टा ब्रह्मा हमको आत्मज्ञान का उपदेश करें ॥ २२ ॥

हे विश्वकर्मन्, हविषा मया समर्पितेन चरुपुरोडाशादिना वावृधानो वर्धमानो भृशमुपसञ्जातहर्षः सन् मदीये यज्ञे स्वयं यजस्व मदनुग्रहाय स्वयमात्मानमस्माभिर्याजयस्व। किञ्च, पृथिवीं पृथिव्याश्रितानि भूतानि, उतापि च द्यां द्युलोकाश्रितानि भूतानि याजयस्व। अन्ये अभितः स्थिताः सपत्ना अस्माकं शत्रवः, ते मुह्यन्तु मोहिताः सन्तोऽस्मद्वशगा भवन्तु। किञ्च, मघवान् धनवानिन्द्रः, इह अस्माकं सूरिः पण्डित आत्मज्ञानोपदेशकोऽस्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वकर्मन्, मदीयेन हविषा पत्रपुष्पादिना वावृधानो हर्षोल्लसितो मदनुग्रहाय स्वयं यजस्व मां याजय। पृथिवीं द्याम् इमम् अमुं च लोकं यजस्व अस्मभ्यं देहि। ये चाभितः सपत्नास्तेऽस्माकं प्रभावे रूपे च मुह्यन्तु मोहमाप्नुवन्तु। त्वं चास्माकमिह इहैव जन्मनि सूरिः पण्डितो गुरुर्भूत्वाऽज्ञानोपनोदनज्ञानदानाभ्यामपवर्गं च प्रयच्छ।

दयानन्दस्तु—हे विश्वकर्मन् सभापते, हविषा उत्तमगुणानां ग्रहणेन वावृधान उन्नतिं प्राप्नुवन् यथेश्वरः पृथिवीमुत सूर्यलोकं यजस्व संगतं करोति, तथैव त्वं स्वयं यजस्व सर्वैः समागमं कुरु। इह जगति मघवा प्रशस्तो धनवान् सूरिर्विद्वानस्तु। येनास्माकमन्ये सपत्ना अभितो मुह्यन्तु मोहं प्राप्नुवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाभ्यूहमूलकव्याख्यानात्। तथाहि— हविषेत्यस्य ग्रहणार्थता, यथातथापदयोर्मन्त्रेऽभावाद् अध्याहारः, यथेश्वरः पृथिवीं द्यां च सङ्गमयति, तथा त्वं सर्वैः समागमं कुर्वित्यादि सर्वमपि व्याख्यानं तथाविधमेव ॥ २२ ॥

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—आज हम महाव्रतीय अन्न के लिये वाणियों के पालक, मन के समान वेग वाले सृष्टिकर्ता ईश्वर को रक्षा के लिये पुकारते हैं । वह संसार का कल्याण करने वाला, सुन्दर कर्म करने वाला हमारी समस्त आहुतियों की रक्षा करे ॥ २३ ॥

इयं व्याख्याताऽष्टमे पञ्चचत्वारिंश्यां कण्डिकायाम् ॥ २३ ॥

विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम् ।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत् ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—हे विश्वकर्मन् परमात्मन् ! वर्धमान हविष्प्रदान द्वारा वर्धन के वाक्यों से प्रीति करने वाले इन्द्र को आपने जगत् का रक्षक बनाया है । इसको कोई मार नहीं सकता । इस प्रकार के इन्द्र के लिये पूर्व काल की प्रजा, महर्षिगण आदि प्रणाम करते हैं, जिससे कि शत्रुओं के नाश के लिये यह इन्द्र अपना वज्र उठावे । यह इन्द्र अनेक शुभ कार्यों में आह्वान के योग्य है, अतः हम इसको प्रणाम करते हैं ॥ २४ ॥

इयं व्याख्याताऽष्टमे षट्चत्वारिंश्यां कण्डिकायाम् ॥ २४ ॥

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने ।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—जिस समय पूर्व महर्षियों ने पृथ्वी और आकाश की अन्तर्दिशाओं को दृढ़ किया, उसके बाद ही इनका विस्तार हुआ । तब सम्पूर्ण ज्योति को पालन करने वाले, मन से धीर परमात्मा ने नममान द्यावापृथिवी में घृत और जल को उत्पन्न किया ॥ २५ ॥

'चक्षुषः पितेत्यपरमनुवाकेन' (का० श्रौ० १८।३।१८) । षोडशगृहीतस्य अपरमर्धमष्टर्चेन एकामाहुतिं जुहुयादिति सूत्रार्थः । चक्षुषश् चक्षुरादेः प्राणसमुदायस्य पितोत्पादको धीरो धैर्यवान् विश्वकर्मा परमेश्वरो मनसा स्वेच्छया घृतं घृतवत्त्वात् प्राणिनामुपभोगसाधनभूते एने द्यावापृथिव्यौ नम्नमाने परस्परानुकूल्येन नमनोपेते अजनद् अजनयद् उत्पादितवान् । यदा इद् यदैव पूर्वे प्रथमोत्पन्ना वशिष्ठादयः, अन्ता अन्तान्, विभक्तिव्यत्ययः, द्यावापृथिव्योरन्तप्रदेशान् अददृहन्त । आत् इत् । आदनन्तरवाची, इदेवार्थे । अनन्तरमेव युक्तचेष्टावन्तश्चक्षुरादयः प्राणा दृढा अभवन्निति । अथवा द्यावापृथिव्योर्दृढिमानन्तरमेव द्यावापृथिव्यौ अप्रथेतां विस्तृते अभूताम् । महीधराचार्यस्तु सायणरीत्या चक्षुरादीन्द्रियाणां पालक इति व्याख्यातवान् । उव्वटाचार्यरीत्या तु चक्षुर्नाम ऋषिः, तस्य पिता प्राणः प्रजया स्तूयते । मनसा हि धीरो हि निश्चितं यथा स्यात्तथा मनसा धीमान्, एने द्यावापृथिव्यौ प्रति घृतम् उदकम् अजनत् जगदनुग्रहाय अजनयत् । रोदस्योर्दार्ढ्ये वृष्टिं कुरुत इत्यर्थः । किं कुर्वन् ? नम्नमाने नममाने रोदसी स्तम्भयन् घृतमुदकमजनयदित्यनुषङ्गः ।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजापुरुषाः ! यूयं यश्चक्षुषो न्यायदर्शकस्य उपदेशकस्य पिता रक्षकः, मनसा योगाभ्यासशान्तेनान्तःकरणेन धीरो घृतमजनयत्, तस्मै अधिकारं दत्त्वा एने राजप्रजयोर्दले नम्नमाने नम्रव्यवहारयुक्ते पूर्वे प्रथमतो वर्तमाने द्यावापृथिव्यौ प्रकाशपृथिवीवत् सम्मिलिते अप्रथेतां प्रख्यातौ भवेताम्, तथैव यदा अन्ता अन्त्यावयवा इव अददृहन्त वृद्धिं प्राप्तौ भवेताम्, तदा आत् पश्चात्, हि एव, स्थिरराज्ये भवेताम्' इति, तत् सर्वथा विशृङ्खलमेव, पदार्थासम्बन्धात्। चक्षुष इत्यस्य कथमुपदेशकोऽर्थः ? कश्च तदीयः पिता ? स कथं घृतमजनयत् ? तस्मै केनाधिकारो दत्तः ? तस्य किं जातम् ? कथमुत्तरवाक्येन तत्सम्बन्धः ? इत्यादिकं सर्वमव्यापारेषु व्यापारतुल्यमेव ॥ २५ ॥

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—जिस लोक में सात ऋषियों को विश्वकर्मा के साथ एक कहते हैं, जिनका जगन्निर्माता श्रेष्ठ मन सम्पूर्ण कर्म का ज्ञाता, आकाश में व्यापक, धारण-पोषण-स्थिति करने वाला, सबका उत्पादक और सबसे उत्कृष्ट परमात्मा सम्यक् देखने वाला है, वह उस लोक में उन पुरुषों को अभिलषित वस्तुओं को आहुति के रसभूत अन्न के साथ आनन्द से मोदयुक्त होकर पुष्ट करता है ॥ २६ ॥

विश्वकर्मा विश्वमस्ति विषयत्वेन येषां तानि विश्वानि, अजन्तः। विश्वानि सृष्टिस्थितिप्रलयरूपाणि कर्माणि यस्यासौ तथोक्तः परमेश्वरः। विमनाः विश्वभूतमनाः, विशिष्टं वा मनो यस्य सः, सर्वकर्मज्ञ इत्यर्थः। आत् अपि च विहाया आकाश इव महान्, व्यापक इत्यर्थः। यद्वा विशेषेण जहाति त्यजति सर्वं प्रविलापयतीति विहाया संहर्ता। धाता धारयिता। पोष्टा पालयिता। विधाता विदधाति कर्मफलेन योजयति जनानिति, उत्पादको वा। उत अपि। परमा परमः सर्वोत्कृष्टः, विभक्तेराकारः। सन्दृक् सम्यग् द्रष्टा। यद्वा समीचीनया अनुग्रहदृष्ट्या आनुकूल्येन भक्तान् पश्यतीति तथोक्तः। येषां भूतानामेतादृशो विश्वकर्मा परमेश्वरो द्रष्टा, तेषां भूतानां प्राणिनां मध्ये यानि इष्टानि दम-दान-दयादिभिर्युक्तानि तानि इषा अन्नेन आहुतिरसभूतेन सम्मदन्ति सम्मोदन्ते, यद्वा तेषां भूतानां प्राणिनां मध्ये यानि इष्टानि अभिलषितवस्तूनि तानि इषा आहुतिरसभूतेन सह सम्मदन्ति मोदयुक्तानि पुष्टानि भवन्तीत्यर्थः। यत्र यस्मिन् प्रदेशे सप्त ऋषीन् सप्त च ते ऋषयः सप्त ऋषयः, तान् प्राणभूतान् मरीचिप्रभृतीन्, 'ऋत्यकः' (पा० सू० ६।१।१२८) इति ह्रस्वविधानसामर्थ्याद् गुणाभावः। परः परेण सर्वोत्कृष्टेन विश्वकर्मणा सह। एकमाहुर् एकीभूतान् विद्वांसो वदन्ति। स हि साध्यानां लोकः। तेऽपि विश्वकर्मत्वं प्रार्थयन्त इति शेषः। विभक्तेः सुः। यद्वा परस्मिन् एकम् एकीभूतानाहुः। य एते मरीच्यत्रिप्रमुखाः सप्त ऋषयो विविधा दृश्यन्ते, सर्वे ते सृष्टेः प्राक् परस्मिन्नेकीभूता इति वेदान्तविद आहुः। स च परमेश्वरस्तेषां सप्तर्षिप्रभृतीनामिष्टानि अपेक्षितानि स्थानादीनि इषा स्वेच्छामात्रेण सम्पादयति। तेन ते महर्षयो नन्दन्ति। यद्वा यत्र यस्मिँल्लोके सप्तर्षीन् परेण विश्वकर्मणा सह एकीभूतान् परस्मिन् ब्रह्मणि विश्वकर्मरूपे एकीभूतान् आहुर्वेदविदो वदन्ति, तत्र तेषां भूतानां पुंसामिष्टान्यभिलषितानि वस्तूनि इषा अन्नेन आहुतिरसभूतेन सह सम्मदन्ति। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—उक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, विश्वकर्मा विमना विविधविज्ञानोपेतः, विहाया विविधपदार्थेषु व्याप्तः, धाता सर्वस्य धारकः, पोषकश्च। विधाता सन्दृक् परः सर्वोत्तमः। यमेकमद्वितीयमाहुः, आत् अपि च। यत्र सप्त

ऋषीन् पञ्च प्राणान् वा सूत्रात्मानं धनं जयं च प्राप्य इषा इच्छामात्रेण जीवं मदन्ति, उतापि तेषां जीवानां परमा उत्तमानि इष्टान्यभिलषितानि सुखसाधकानि कार्याणि साधयति, तं यूयमुपाश्रयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे यमिति पदाभावात्। 'सप्त ऋषीन्' इत्यस्यापि पञ्च प्राणादय इति कल्पित एवार्थः। मरीचिप्रभृतीनां तु सप्तर्षित्वं प्रसिद्धमेव। सप्तर्षीन् प्राप्येति वाक्ये प्राप्येत्यस्य निर्मूलोऽध्याहारः। जीवं मदन्तीत्यपि निर्मूलमेव, मूले मन्त्रे जीवपदाभावात्। अन्यदपि तथैवोह्यम् ॥ २६ ॥

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तꣳ सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—जो विश्वकर्मा परमेश्वर हमारा पालक और उत्पादक है, जो विशेष कर धारण करने वाला है, सम्पूर्ण स्थान और प्राणियों को जानता है, जो एक होकर भी देवताओं के अनेक नामों को धारण करता है, उस परमात्मा में भक्तजन प्रश्नोत्तर करते हुए प्रवेश करते हैं ॥ २७ ॥

यः पूर्वोक्तो विश्वकर्मा नः अस्माकं पिता पाता जनिता जनयिता उत्पादकः। 'जनिता मन्त्रे' (पा० सू० ६।४।५३) इति निपातितः। यो विधाता विशेषेण धारकः। यश्च विश्वा विश्वानि सर्वाणि धामानि स्थानानि भुवनानि चतुर्दश भुवनानि भूतजातानि वा वेद जानाति। यश्च एक एव अद्वितीय एव सन् देवानां बहूनां नामधा नामान्यग्निमित्रादीनि दधाति धारयति करोतीति वा स नामधाः। नाम च पितैव करोति। तस्मादन्या अन्यानि भुवनानि भूतजातानि सम्प्रश्नं सम्यक् प्रश्नो यस्यां क्रियायां सा सम्प्रश्ना। क्रियाविशेषणे क्लीबत्वैकत्वम्। सम्प्रश्नमिति। तं विश्वकर्माणं यन्ति गच्छन्ति प्रलयकाले एकत्वं प्राप्नुवन्ति। यद्वा सम्प्रश्नं सम्यक् प्रश्नं कर्तुं स्वाधिकारविषयं प्रश्नं कर्तुं भुवनानि यं यन्ति, स विश्वकर्मैव सर्वान् प्रजापत्यादीन् स्वाधिकारेषु नियुङ्क्त इति भावः। यद्वा—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति रीत्या यो बहूनां देवानां नामानि धारयन्नपि स्वयमेक एव भवति, तं विश्वकर्माणं परमेश्वरमन्या अन्यानि सृष्टानि सर्वाणि भुवनानि संप्रश्नो यथा भवति, तथा यन्ति प्रलयकाले एकत्वं प्राप्नुवन्ति। एकीभावयुक्ते प्रलये एक ईश्वरः, कानि भुवनानि इत्येवं प्रश्नः समवधारणं प्रवर्तते, विभागाभावेन श्रुत्यनभिज्ञैर्ज्ञातुमशक्यत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—उक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यो नः पिता जनिता पदार्थानामुत्पादकः, यो विधाता कर्मानुसारेण फलदाता, विश्वानि भुवनानि लोकान् धामानि जन्मस्थानानि वेद जानाति, यो देवानां विदुषां पृथिव्यादिपदार्थानां च स्वविद्यया नामानि धारयति, एकोऽसहाय एवास्ते, यमन्या भुवना लोकस्थाः पदार्था यन्ति प्राप्नुवन्ति, यन्निमित्तं सम्यक् प्रश्नाः प्रष्टव्याः, तं जानत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषामेव नामधारयितृत्वे विशेषानुपपत्तेः। सिद्धान्ते तु देवा महाभाग्या देवविशेषाः। तेषामपि तस्य नामधारकत्वेन तेषामपि पितृत्वेन माहात्म्यातिशयो व्यज्यते। पृथिव्यादिपदार्थानां नामधारयितृत्वं तु मन्त्रबाह्यमेव। यं भुवना यन्ति यन्निमित्ताः सम्प्रश्नास्तं जानतेत्यपि निर्मूलम्, तथार्थावबोधकपदाभावात् ॥ २७ ॥

त आयजन्त द्रविणꣳ समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना ।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—स्तुति करने वाले विश्वकर्मा के रचे हुए वे पूर्वकालीन ऋषि इस भूतसमूह को जलरूप धन भली प्रकार से देते हुए सबकी कामनाओं को पूरा करते हुए सत्रह अवयव वाले लिंगशरीर से भली प्रकार प्रेरित अन्तरिक्ष लोक में स्थित हो इन प्राणियों की रक्षा करते हैं ॥ २८ ॥

ते पूर्वे ऋषयो विश्वकर्मसृष्टा मरीच्यत्र्यादयः, अस्मै भूतग्रामाय द्रविणं जललक्षणं धनं भोगजातं वा समायजन्त सम्यग् आभिमुख्येन दत्तवन्तः । यजतिरत्र दानार्थः । कथं ददुः ? न भूना न भूम्ना न बाहुल्येन, किन्तु युक्त्या यथाकामयथाकर्मवर्षित्वेनेत्यर्थः । मलोपश्छान्दसः । कथम्भूता ऋषयः ? जरितारः स्तोतारः । 'जरिता इति स्तोतृनामसु' (निघ० ३।१६।२) । कथम्भूताश्च ते ? इत्यत्राह—ये ऋषयः, इमानि भूतानि समकृण्वन् । सौवादिकस्य करोतेर्लङि रूपम् । ये तानि सृजन्ति त एवोदकदानेन जीवयन्तीत्यर्थः । अनेकार्थत्वादत्र उत्पत्तौ वृत्तिः । पुनः कीदृशाः ? असूर्ते असूर्ताः । असुभिः सप्तदशावयवैर्लिङ्गशरीरैर् ईरिता असूर्ताः । असुपूर्वस्य 'ईर गतौ कम्पने च' इत्यस्य निष्ठायां छान्दस इडभावः । ईकारस्य च पूर्वसवर्णदीर्घः । जस एकारः । तथा रजसि अन्तरिक्षलोके । 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (निरु० ४।१९) इति यास्कः । निषत्ते निषत्ता निषण्णाः । जस एकारः । कीदृशे रजसि ? सूर्ते सुष्ठु ईरिते प्रेरिते विस्तीर्णे । सुपूर्वस्य ईरधातोर्निष्ठायां रूपम् । 'नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्तानि छन्दसि' (पा० सू० ८।२।६१) इति निपातेन सदेर्निषत्ते इति रूपम् ।

उव्वटाचार्यरीत्या तु—असूर्ते असुसमीरिते । असुः प्राणः सप्तदशकलिङ्गदेहयुक्तात्मानः सूर्ते सुष्ठु समीरिते रजस्यन्तरिक्षलोके निषत्ते निर्गतसत्ताके निरालम्बने यत्र स्थिताः सन्तो ये भूतानि समकृण्वन् कृतवन्तः, ते इमानि भूतानि आयजन्त आभिमुख्येन दत्तवन्तः । किं दत्तवन्तः ? उदकलक्षणं धनमेभ्यो भूतेभ्यो जीवनाय दत्तवन्त इति सम्बन्धः । समस्मै सङ्गत्य अस्मै भूतग्रामाय । शेषमुपर्युक्तवत् । प्राणरूपाः प्रजापतय एवात्र ऋषयः, स्रष्टृत्वात्, जीवननिमित्तभोग्यद्रविणदानेन पालकत्वाच्च ।

अध्यात्मपक्षे—असुः प्राणः परमेश्वरः, 'प्राणस्य प्राणः' (केनो० १।२) इति श्रुतेः 'प्राणस्तथानुगमात्' (ब्र० सू० १।१।२८), 'अत एव प्राणः' (ब्र० सू० १।१।२३) इति सूत्रनिदर्शनाच्च । तेन परमात्मना ईरिताः प्रेरिताः, असूर्ते तादृशा ऋषयः पूर्वे प्राणरूपाः, अस्मै जरितारः स्तोतारः सूर्ते सुशोभनेन अन्तर्यामिणा ईरिते नियन्त्रिते रजसि अन्तरिक्षे लोके निषत्ते निरालम्बने इमानि इदङ्कारास्पदानि भूतानि समकृण्वन् कृतवन्तः, तत्प्रेरणमन्तरा निरालम्बनेऽन्तरिक्षे भूतनिर्माणासम्भवात् । न केवलं भूतान्येव निर्मितवन्तः, किन्त्वस्मै स्वरचितभूतप्राणिसमुदायाय द्रविणं धनमुदकादिलक्षणं भोगजातं समायजन्त दत्तवन्तः । कथं दत्तवन्तः ? न भूना न भूम्ना बाहुल्येन, किन्तु यथाकामयथाकर्मवर्षित्वेन ।

दयानन्दस्तु—'ये पूर्वविधया सर्वपुष्टिकर्तारः स्तोतारश्च इव ऋषयो वेदार्थज्ञा भूना बहवः, असूर्ते परोक्षा अप्राप्ताः, सूर्ते प्रत्यक्षाः प्राप्ताः, निषत्ते स्थापिताः, रजसि इमानि भूतानि प्राणिनः समाकृण्वन् शिक्षयन्ति, ते अस्मै अस्य परमेश्वरस्य आज्ञापालनाय द्रविणं धनं समायजन्त सङ्गमयन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित् । समकृण्वन्-भूना-असूर्ते-सूर्ते—इत्यादिपदानां तत्तदुक्तेष्वर्थेष्वशक्तेः । 'अस्मै' इत्यस्य 'ईश्वराज्ञापालनाय' इत्यपि काल्पनिक एवार्थः, निर्मूलत्वात् ॥ २८ ॥

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कंस्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे ।। २९ ।।

मन्त्रार्थ—जो ईश्वर का तत्त्व हृदय-कमल में विद्यमान है, वह द्युलोक से भी दूर, अर्थात् दुर्ज्ञेय है। वह इस पृथ्वी से भी दूर है। जल ने पहले किसके गर्भ को धारण किया ? यह तो देखो कि उसने पहले जल को उत्पन्न किया। जिस समय जल को प्रथम गर्भ में धारण किया, वह गर्भ कैसा आश्चर्य रूप है ? जहाँ पूर्वकाल के देवता और महर्षियों ने जगत् को देखा ।। २९ ।।

ब्रह्मविषयकप्रश्नप्रतिवचनरूपा मन्त्राः। अत्र मन्त्रे विभक्तिव्यत्ययबाहुल्यम्। यत् परब्रह्मतत्त्वमस्ति, हृदीति शेषः। हृदयपुण्डरीके यद् ब्रह्मतत्त्वमस्ति, तद् दिवा परो द्युलोकादपि दूरे तिष्ठति, दिवो दुर्ज्ञेयत्वात्। परस्शब्दः सान्तो दूरवाची। एना अस्याः पृथिव्या भूमेरपि परो दूरे। दूरत्वं नाम विलक्षणत्वम्, सर्वजगद्विलक्षणत्वात्, शास्त्राचार्योपदेशसंस्कारशून्यैर्वर्षकोटिभिर्लब्धुमशक्यत्वात्। देवेभिः देवेभ्यः, असुरेभिः असुरेभ्यश्च दूरे, तैरपि लब्धुमशक्यत्वादेव। इन्द्रविरोचनाभ्यां द्वात्रिंशद्वर्षब्रह्मचर्यपालनेनापि विपरीतमेव प्रतिपन्नम्, महतायासेनैव ज्ञातत्वात्। किञ्च, स्विदिति वितर्के। आपः प्रथमं कं गर्भं दध्रे दधिरे अधारयन्। धाञो लिटि तङि प्रथमपुरुषबहुवचनस्य 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (पा० सू० ३।४।८१) इतीरेचि कृते 'इरयोरे' (पा० सू० ६।४।७६) इति रे आदेशे तस्य स्थानिवत्त्वात् 'आतो लोप इटि च' (पा० सू० ६।४।६४) इत्याकारलोपे 'दध्रे' इति रूपम्। पूर्वे देवाः प्रथमोत्पन्नाः सर्वे देवा वशिष्ठादयः, यत्र गर्भे समपश्यन्त सम्यग् दृष्टवन्तः, जगदिति शेषः। तस्मिन् गर्भे देवमनुष्यादयः सर्वे प्राणिनः सन्तीति शास्त्रप्रसिद्धिः। सोऽपि गर्भः क इति न ज्ञायते। यदा स्थूलोऽप्ययं जगदाधारो न विज्ञायते, तदा अत्यन्तं सूक्ष्मं ब्रह्म आत्मतत्त्वं न विज्ञायत इति किमु वक्तव्यमिति तात्पर्यम्। यच्च सर्वदा सर्वदेशेषु सर्वकालेषु चास्ति, तद् ब्रह्मेति शेषः। यद्वा कं गर्भं दध्रे धारितवत्य आपः, यत्र गर्भे पूर्वे पूर्वजाता देवाः प्रजापतिना सङ्गताः समपश्यन्त इदं जगत् सम्यग् दृष्टवन्तः।

अध्यात्मपक्षे—उक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य एना सूर्यादिलोकेभ्यः परः अत्युत्तमः। पृथिव्याः पृथिव्यादिलोकेभ्योऽपि परः। देवेभिः विद्वद्भ्यो दिव्यप्रजाभ्यो वा। असुरैः असुरेभ्यः अपण्डितेभ्यः कालरूपप्रजाभ्यश्च परोऽस्ति। यत्र आपः प्राणाः कंस्विद् कञ्चित् प्रथमं विस्तृतं गर्भं ग्रहणयोग्यं पदार्थम्, दध्रे धारणमाणाः, यत् पूर्वे पूर्णविद्याया अध्येतारो देवा विद्वांसः समपश्यन्त ज्ञानचक्षुषा पश्यन्ति, तं जानत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्यलोकादिभ्य परस्य तद्धेतूनां प्रकृतिमहदहङ्कारादीनामपि सम्भवात्। प्रथमगर्भशब्दयोर्व्याख्यानमपि निर्मूलमेव ।। २९ ।।

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।। ३० ।।

मन्त्रार्थ—जल ने पहले उसे ही गर्भ में धारण किया, क्योंकि गर्भ में सम्पूर्ण देवता एकत्र होकर रहते हैं। उस गर्भ का आधार क्या है ? जन्मरहित परमेश्वर के नाभिस्थानीय मध्य भाग में एक अविभक्त अनन्यभूत किंचित् वस्तु को बीज (गर्भरूप) में स्थापित किया, जिसमें सम्पूर्ण भूतसमूह विद्यमान थे, अर्थात् वह परमात्मा ही सबका आश्रय है, उसका कोई आश्रय नहीं है ।। ३० ।।

तमिदिति प्रत्युत्तररूपो मन्त्रः। आपः प्रथमं तमित् तमेव आश्चर्यभूतं गर्भं दध्रे दधिरे। इच्छब्दो निपात आश्चर्यवचनः। यत्र गर्भे विश्वे सर्वे देवाः समगच्छन्त सङ्गताः। नन्वद्भिः सहितस्य तस्य गर्भस्य अण्डरूपस्य क आधार इति चेत्, तत्रोच्यते—अजस्य न जायत इत्यजः, तस्य जन्मरहितस्य परमात्मनो नाभावधि नाभिस्थानीयस्य स्वरूपस्य मध्ये एकमविभक्तमनन्यभूतमर्पितं समर्पितं किंचिद्बीजं गर्भरूपं स्थापितम्। 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्। तदण्डमभवद्धैमं सूर्यकोटिसमप्रभम्॥' (म० १।८-९) इति मनुनाप्ययमर्थः समर्थ्यते। स एव सर्वाश्रयो न तस्यान्य आश्रयः, सर्वमूलस्यापि मूलान्तरकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० उ० ७।२४।१) इति श्रुतेः।

काण्वभाष्यरीत्या तु—इदानीं गुरुशास्त्रानुशासनोपेतेषु विद्यमानस्तत्त्वनिर्णयोऽभिधीयते—यत्र यस्मिन् ब्रह्माण्डगर्भे विश्वे सर्वेऽपि देवाः समगच्छन्त सङ्गताः सम्भूय वर्तन्ते, तमिममेव गर्भमापः प्रथमं दधिरे। तत्प्रकार एव स्पष्टीक्रियते—अजस्य जन्मरहितस्य परमेश्वरस्य नाभौ नाभिस्थानीयस्वरूपमध्ये एकं किञ्चिद्बीजमध्यर्पितम् अधिकत्वेन स्थापितम्। अस्मिन् बीजे विश्वानि सर्वाण्यपि भुवनानि भूतजातानि तस्थुः, तद्बीजमर्पितमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यत्र ब्रह्मणि, आपः कारणं प्राणा जीवो वा प्रथमं विस्तारयुक्तं गर्भं सर्वलोकोत्पत्तिस्थानं प्रकृतिं दध्रे धारयन् भवति, यत्र विश्वे देवा दिव्यात्मानो योगिजनाः समगच्छन्त प्राप्नुवन्ति, अजस्य अनुत्पन्नस्य अनादिजीवस्य अव्यक्तकारणसमूहस्य वा नाभौ मध्ये अधि अधिष्ठातृत्वेन सर्वस्योपरि विराजमानम् एकं स्वतः सिद्धम् अर्पितं स्थितम्, यस्मिन् विश्वानि भुवनानि लोकोत्पन्नद्रव्याणि तस्थुः, यूयं तमेव जानत' इति, तदपि विसङ्गतमेव, ब्रह्मणि निर्विकारे गर्भाधानस्य निष्प्रमाणकत्वात्। ब्रह्मण्यापो गर्भं धारयन्तीति सर्वथा प्रमाणशून्यमेव। आप इत्यस्य जीवार्थकत्वं कारणसमूहार्थत्वं च निर्मूलमेव। 'प्रथमं विस्तारयुक्तं गर्भं प्रकृतिं दध्रे' इत्यपि विचित्रम्। प्रकृतिः शक्तिर्वा कारणत्वेनोक्ता न तु गर्भत्वेन, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० उ० ४।१०) इति श्रुतेः। 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (भ० गी० १३।१९) इति भगवद्वचनाच्च॥ ३०॥

न तं वि॑दाथ॒ य इ॒मा ज॒जाना॒न्यद्यु॒ष्माक॒मन्त॑रं बभूव।
नी॒हा॒रेण॒ प्रावृ॑ता॒ जल्प्या॑ चासु॒तृप॑ उक्थ॒शास॑श्चरन्ति॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—जिस परमात्मा ने इस सारे जगत् को उत्पन्न किया है और जो अहंकार आदि से युक्त जीवों के अन्तर में भी विद्यमान है, उसको तुम नहीं जान सकते, क्योंकि अन्धकारसदृश अज्ञान से मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, यह मेरा गृहक्षेत्र है, इत्यादि असत् बातों से आच्छादित हुआ जिस किसी प्रकार से प्राण के पोषण की चिन्ता में लगा ईश्वर के वास्तविक तत्त्व को न विचार कर परलोक के भोगों को पाने के लिये सकाम यज्ञों में स्तुति करता हुआ वह प्राणी विचरता है। वास्तव में ईश्वर तत्त्व का ज्ञान सब प्रकार के अहंकार को छोड़ने पर ही होता है॥ ३१॥

वेदपुरुष उपदिशति—न तमिति। यो विश्वकर्मा इमा इमानि भूतजातानि जजान उत्पादितवान् पालयति संहरति च, जनेरुपलक्षणत्वात्, तं विश्वकर्माणं न विदाथ हे जीवाः! यूयं न जानीथ। 'लेटोऽडाटौ' (पा०

सू० ३।४।९४) इत्याडागमः। ननु चैत्रोऽहम्, मैत्रोऽहम्, विष्णुमित्रोऽहमिति रूपेण सर्वोऽप्यात्मानं जानात्येव, आत्मैव च परमेश्वरः 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिश्रुतिभ्यः, इति चेत्, तदसत्, परमेश्वरस्य अहंप्रत्ययगम्येभ्यो जैवरूपेभ्योऽन्यत्वात्। तदेवाह—युष्माकमिति। युष्माकमहं प्रत्ययगम्यानां जीवानामन्तरमाभ्यन्तरं वास्तवं रूपमन्यद् अहंप्रत्ययगम्यादतिरिक्तं सर्ववेदान्तमहातात्पर्यगोचरं पारमेश्वरं तत्त्वं बभूव भवति विद्यते। ननु जीवरूपवत् तदपि कुतो न विद्म इति चेत्, नीहारेण प्रावृता नीहारसदृशेन अज्ञानेन आवृतत्वान्न जानीथेति। नीहारो यथा दृष्टेरावरकत्वान्नात्यन्तमसन्, पाषाणादिवदवरोधकत्वाभावाच्च नात्यन्तं सन्, एवमज्ञानमपि नात्यन्तमसत्, ब्रह्मात्मतत्त्वावरकत्वात्; नापि सत्, बोधमात्रनिवर्त्यत्वात्। तादृशेन अज्ञानेन सर्वे जीवाः प्रावृताः। जल्प्या च जल्पनं जल्पिस्तया देवोऽहं मनुष्योऽहं ममेदं गृहक्षेत्रादिकम् इत्यनृतजल्पनेन व्याप्ताश्च। किञ्च, असुतृपः असुषु प्राणेषु प्राणोपलक्षितेष्वनात्मसु तृप्यन्तीत्यसुतृपो ब्रह्मात्मतत्त्वविचारपराङ्मुखाः, न केवलं लौकिकभोगपरायणाः, किन्तु उक्थशासः परलोकभोगान् सम्पादयितुं यज्ञेषु उक्थानि शंसन्तीति उक्थशास उक्थादिशस्त्रस्तोतारः। शसेः क्विपि रूपम्। ऐहिकामुष्मिकभोगप्रवृत्तानामज्ञानमिथ्याज्ञानपराधीनानां तत्त्वज्ञानं नास्तीत्यर्थः। यद्वा न तं विदाथ य इमा जजान। कुतो न विद्म इति चेत्तत्राह—युष्माकमिति। युष्माकं तस्य च अन्यद् महद् अन्तरं भेदो बभूव स परमेश्वरो जनको यूयं जन्याः, स भ्रामको यूयं भ्राम्याः। यदि तु ज्ञात्वा आत्मत्वेनोपाध्वं तदा संसृतेरुन्मूलनं भवति। एवं प्रत्यक्षज्ञानुक्त्वा परोक्षज्ञानां भियं दर्शयन्नाह—नीहारेणेति। ये चैते नीहारेण अविद्यया प्रावृता अवगुण्ठिताः, ये च जल्प्याः पक्षहेतुदृष्टान्तैरात्मज्ञानं जल्पन्तीति जल्प्याः, कुतार्किकाभिप्रायमेतत्। ये चासुतृपः असून् प्राणान् तर्पयन्तीत्यसुतृपः अलङ्करिष्णवः, तैरपि सह तस्य पुरुषस्य महदेवान्तरं बभूव। ये उक्थशास उक्थानां शसितारः। उक्थानि च यज्ञेषु शस्यन्ते, अत उक्थशासःपदेन यज्वानो गृह्यन्ते। ये यज्ञशीलास्ते पुरुषं प्रतिविचरन्ति, ये तु पुरुषविदस्ते तु पुरुषा एव भवन्ति, नीहारप्रावृतास्तु नरकयायिनो भवन्तीत्युव्वटाचार्याभिप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा ब्रह्मानभिज्ञा नीहारेण धूमसदृशेन मिहिकया तुलितेन अज्ञानेन अन्धकारेण प्रावृता जल्प्या सत्यासत्यवादानुवादनिरता असुतृपः प्राणपोषका उक्थशासो योगाभ्यासमपहाय खण्डनमण्डनादौ रममाणाश्चरन्ति, तं परमात्मानं न जानन्ति जानीथ य इमा इमानि यद् ब्रह्म युष्माकमधर्मिणामज्ञानिनां च सकाशाद् अन्यत् सर्वेषु स्थितोऽपि दूरस्थो बभूव, तमतिसूक्ष्मं परमात्मानं न विदाथ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अज्ञानिनोऽज्ञानेनावृता इत्युक्तेर्निरर्थकत्वादशब्दार्थत्वाच्च, अज्ञानिन इत्यनेनैवाज्ञानावृतत्वसिद्धेः। नीहारपदस्य धूमो नार्थः, मिहिकार्थत्वात्। जल्प्या इत्यस्यापि व्याख्यानं चिन्त्यम्, 'जल्प व्यक्तायां वाचि' इति धात्वर्थविरोधात्। उक्थशास इत्यस्य खण्डनमण्डनाद्यर्थता निर्मूलैव, उक्थादिशस्त्रानभिज्ञानात्। दूरस्थपदमपि मूले नास्त्येव ॥ ३१ ॥

वि॒श्वक॑र्मा॒ ह्यज॑निष्ट दे॒व आदिद्ग॑न्ध॒र्वो अ॑भवद् द्वि॒तीयः॑।
तृ॒तीयः॑ पि॒ता ज॑नि॒तौष॑धीनाम॒पां गर्भं॒ व्य॑दधात् पुरु॒त्रा ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—इस ब्रह्माण्ड के बीच सर्वप्रथम देव, तिर्यक् आदि जगत् का भेद करने वाले सत्यलोकवासी चतुर्मुख देव प्रादुर्भूत हुए, अर्थात् आदित्य के अन्तर में पुरुष रूप से प्रकट हुए। अनन्तर दूसरी सृष्टि में गन्धर्व, पृथ्वी को धारण करने वाले अग्नि अथवा गानविद्या में चतुर देवयोनिविशेष प्रकट हुए। तीसरी सृष्टि औषधियों के उत्पादक और पालक पर्जन्य (वृष्टि) की हुई। वह पर्जन्य उत्पन्न होते ही आहुति के परिणामभूत जल को अनेक प्रकार से गर्भ में धारण करता रहा ॥ ३२ ॥

ब्रह्माण्डगतानामुत्पत्तिरुच्यते। हि यस्माद् विश्वकर्मा ब्रह्माण्डमध्ये प्रथमं देवतिर्यगादिजगद्भेदकर्ता ब्रह्मलोकस्थश्चतुर्मुखो देवो दीव्यमानः प्रथमम् अजनिष्ट उत्पन्नः। आत् इद् अनन्तरमेव तदपेक्षया द्वितीयो गन्धर्वः। गोर्वाचो धारयिता, गोः पृथिव्या वा धारयिताग्निः, 'अग्निर्ह गन्धर्वः' (श० ९।४।१।७) इति श्रुतेः। गानाद्वा गन्धर्वः, अभवत्। पिता पालयिता ओषधीनां जनिता उत्पादकः पर्जन्य उत्पन्नः, स पूर्वोक्तद्वयापेक्षया तृतीयोऽभवत्। स उत्पन्नः सन् अपामाहुतिपरिणामभूतानाम् अपां गर्भं व्यदधात् करोति धारयति वा। कथंभूतं गर्भम्? पुरुत्रा पुरून् बहून् त्रायते रक्षतीति पुरुत्रा, बहूनां रक्षकं बहुप्रकारं वा, विभक्तेराकारः। यद्वा विश्वकर्मा आदित्यमण्डलान्तर्गतः पुरुषः। हि यस्मात्, अजनिष्ट जातः। स च देवो दानादिगुणकः, तस्मात् प्रथममजनिष्ट। आदिद् अनन्तरमेव गन्धर्वो गोः पृथिव्या धारयिताग्निः, गानाद्वा गन्धर्वोऽग्निः, द्वितीयः सहायाय अजनिष्ट, 'अथो आहुरग्निरेवास्यै पृष्ठे सर्वः कृत्स्नो मन्यमानोऽगायद् यदगायत् तस्मादग्निः' (श० ६।१।१।१५) इति श्रुतेः। ओषधीनां पिता पालयिता जनयिता पूर्वद्वयापेक्षया तृतीयः पर्जन्योऽभवत्। स चोत्पन्नः सन्नपामाहुतिपरिणामभूतानां गर्भं व्यदधात्। कीदृशः पर्जन्यः? पुरुत्रा बहूनां त्राता। यद्वा—अपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा बहुप्रकारं पृथिव्यां धारयति।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, जगत्यस्मिन् विश्वकर्मा समस्तशुभकर्मयुक्तो देवो दिव्यस्वरूपो वायुः प्रथमम् इद् एव आद् अनन्तरं गन्धर्वः, यः पृथिव्या धारकः सूर्यः सूत्रात्मा वायुर्वा अजनिष्ट। ओषधीनामपां जलानां प्राणानां वा पिता पालको हि द्वितीयो धनञ्जयः, अपां प्राणानां गर्भं धारकं व्यदधात्। पुरुत्रा बहूनां रक्षको जनिता जलानां धारको मेघस्तृतीय उत्पन्नस्तज्जानीथ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वायोरेवाशुभस्यापि कर्मणः कर्तृत्वेन तदयोगात्, अन्यस्य आदित्यस्य वायोरनिरूपणात्। न च तस्य प्रथमोत्पत्तिः, आकाशस्य तत्पूर्वभावित्वात्। न च सूर्यः पृथिव्या धारकः, एतादृशमतस्य आधुनिकत्वात्। कोऽयं धनञ्जयो यः प्राणानां पिता? उपप्राणश्चेत्, कथं तस्य मुख्यप्राणपालकत्वम्? अन्यदप्येतादृगेव व्याख्यानम्॥ ३२॥

आ॒शुः शिशा॑नो वृष॒भो न भी॒मो घ॑नाघ॒नः क्षोभ॑णश्चर्षणी॒नाम्।
स॒ङ्क्रन्द॑नोऽनिमि॒ष ए॑कवी॒रः श॒तꣳ सेना॑ अजयत् सा॒कमिन्द्रः॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—शीघ्रगामी, वज्र के समान तीक्ष्ण, वर्षा के स्वभाव की उपमा वाला, भयकारी शत्रुओं का अतिशय घातक, मनुष्यों के क्षोभ का हेतु, बार-बार गर्जन करने वाला देवता होने से पलक न झपकाने वाला, अत्यन्त सावधान अद्वितीय वीर इन्द्र एक साथ ही शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं को जीत लेता है॥ ३३॥

'आहवनीये प्रणीयमानेऽप्रतिरथस्य द्वादश ब्रुवन्नग्नौ, सर्वत्रैके' (का० श्रौ० ११।१।९-१०)। अग्निचयने चित्याग्निं प्रति आहवनीये प्रणीयमाने अध्वर्युणा सम्प्रेषितो ब्रह्मा दक्षिणतोऽनुव्रजन् आशुः शिशान इत्येतस्य अप्रतिरथसूक्तस्य द्वादशर्चो जपेत्। एके शाखिनः सर्वत्र अनग्निके साग्निके च क्रतौ अग्निप्रणयनेऽप्रतिरथस्य द्वादश ऋचो ब्रुवन् ब्रह्मानुगच्छेदित्याहुरिति सूत्रद्वयार्थः। अप्रतिरथदृष्टा इन्द्रदेवत्या द्वादश त्रिष्टुभः। इन्द्रः शतं सेनाः शतसंख्याकाः परकीयसेनाः साकं सहैव एकप्रयत्नेनैव अजयद् जयति। कीदृशः इन्द्रः? आशुः अश्नुते व्याप्नोतीत्याशुः शीघ्रगामी। शिशानः 'शो तनूकरणे' इत्यस्य बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति जुहोत्यादित्वात् शानचि द्वित्वे रूपम्। श्यति वज्रं तीक्ष्णीकरोतीति शिशानः। वृषभो न वृषभ इव भीमो भयङ्करः,

अत्युग्र इत्यर्थः। घनाघनः शत्रूणामतिशयेन घातकः, हनहनेति वक्ता वा, वृष्टिकर्तृमेघरूपो वा। 'शक्रो घातुकमत्तेभो वर्षुकाब्दो घनाघनः' (अ० को० ३।३।१०) इति कोषात्। चर्षणीनां परसेनागतानां मनुष्याणां क्षोभणः क्षोभहेतुः। संक्रन्दनः समीचीनं क्रन्दनं परभयहेतुध्वनिविशेषो यस्यासौ संग्रामकारिणां समाह्वाता वा। अनिमिषो न निमिषतीत्यनिमिषः, अत्यन्तं सावधानः। अथवा देवोऽनिमिषस्तस्य निमेषाभावात्। एकवीर एकः प्रधानश्चासौ वीरः, स तथोक्तः। परनैरपेक्ष्येण स्वयमेव अनन्तशत्रुसेना जेतुं शक्तः। तादृश इन्द्रः शतं सेना अजयद् इति सम्बन्धः

अत्र ब्राह्मणम्—'अथातः सम्प्रेष्यति। उद्यच्छेध्ममुपयच्छोपयमनीरग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूह्यग्नीदेकस्फ्याऽनूदेहि ब्रह्मन्नप्रतिरथं जयेति' (श० ९।२।३।१)। इत्थमग्निप्रणयनार्थं यथोक्तं होमं विधाय तत्प्रणयनौपयिकीः क्रियाः कर्तुं तदुचितं सम्प्रैषमाह—अथातः सम्प्रेष्यतीति। प्रणेष्यमाणाग्निसिद्ध्यर्थं गार्हपत्ये प्रक्षिप्तं काष्ठमिध्मं तद् उद्यच्छ। अग्निधारणार्थमधस्तात्क्रियमाणाः सिकता उपयमन्यः, ताश्च उपयच्छ। ताः कुरु। तदेतदुभयं प्रतिप्रस्थातारं प्रत्युच्यते। हे होतः, प्रह्रियमाणायाग्नये अनुब्रूहि, अग्निप्रणयनीया ऋचोऽनुब्रूहीति यावत्। हे अग्नीत्, त्वमेकया स्फ्यरेखयाऽनुगच्छ। हे ब्रह्मन्, 'आशुः शिशानः' इत्याद्यप्रतिरथाख्यं सूक्तं जप। एवं तत्र तत्र व्यापारे तं तं विनियुञ्ज्यादित्यर्थः। 'एतद्वै देवानुपप्रैष्यतः। एतं यज्ञं तॅंस्यमानान् दक्षिणतोऽसुरा रक्षाॅंसि नाष्ट्रा अजिघाॅंसन्न यक्ष्यध्वे न यज्ञं तॅंस्यध्व इति' (श० ९।२।३।२)। अप्रतिरथजपोपयोगं पुराकल्पेनाह—एतद्वा इति। चयनाख्यं यज्ञं करिष्यमाणान्, कर्तुमग्निविहारसमीपे गच्छतो देवान् दक्षिणभागेन एत्य असुरा रक्षांसि च न यक्ष्यध्वे न यजध्वम्। व्यत्ययेन लोडर्थे लट्। न यज्ञं तंस्यध्वे विस्तारयध्वमित्यजिघांसन् देवानां यज्ञं विहन्तुमैच्छन्।

'ते देवा इन्द्रमब्रुवन्। त्वं वै नः श्रेष्ठो बलिष्ठो वीर्यवत्तमोऽसि त्वमिमानि रक्षाॅंसि प्रतियतस्वेति। तस्य वै मे ब्रह्म द्वितीयमस्त्वित्वति तथेति तस्मै वै बृहस्पतिं द्वितीयमकुर्वन् ब्रह्म वै बृहस्पतिस्त इन्द्रेण चैव बृहस्पतिना च दक्षिणतोऽसुरान् रक्षाॅंसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेनाष्ट्र एतं यज्ञमतन्वत' (श० ९।२।३।३)। देवा इन्द्रमब्रुवन् नोऽस्माकं मध्ये त्वमेव श्रेष्ठो बलिष्ठश्च। त्वमिमानि रक्षांसि प्रतियतस्व प्रतियत्नं कुरुष्व। इन्द्रेण मे ब्राह्मणो द्वितीयोऽस्त्वियुक्तम्। तथैव कुर्म इत्युक्त्वा देवा बृहस्पतिं द्वितीयमकुर्वन्। तथा कृत्वा ते देवा इन्द्रेण बृहस्पतिना च दक्षिणभागे नाशकान् असुरान् रक्षांसि चापहत्य अनाष्ट्रे अभये प्रदेशे प्रकृतं यज्ञमकुर्वत। 'तद्वा एतत्क्रियते। यद्देवा अकुर्वन्निदं नु तानि रक्षाॅंसि देवैरेवापहतानि यत्त्वेतत् करोति यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणीत्यथो इन्द्रेण चैवैतद् बृहस्पतिना च दक्षिणतोऽसुरान् रक्षाॅंसि नाष्ट्रा अपहत्याऽभयेऽनाष्ट्र एतं यज्ञं तनुते' (श० ९।२।३।४)। देवाः पूर्वं यत्कर्म अकुर्वन्, इदानीन्तनेऽपि यज्ञे याज्ञिकास्तथैव कुर्वन्ति। यद्यप्यस्य रक्षसामपहननकर्मणः पूर्वं देवैरेव सम्पादितत्वात् चरितार्थत्वादेतत्कर्म न करणीयम्, तथापि देवैः कृतमतोऽस्माभिरपि करणीयमिति धियैव एतत्कर्मानुष्ठानम्। शेषं सुगमम्। 'स यः स इन्द्रः। एष सोऽप्रतिरथोऽथ यः स बृहस्पतिरेष स ब्रह्मा तद्यद् ब्रह्माप्रतिरथं जपतीन्द्रेण चैवैतद् बृहस्पतिना च दक्षिणतोऽसुरान् रक्षाॅंसि नाष्ट्रा अपहत्याऽभयेऽनाष्ट्र एतं यज्ञं तनुते तस्माद् ब्रह्माऽप्रतिरथं जपति' (श० ९।२।३।५)। ननु देवाः पूर्वमिन्द्रबृहस्पतिभ्यां रक्षांस्यपाघ्नन्नित्येतदस्तु, प्रकृते क इन्द्रः ? को वा बृहस्पतिः ? कथं वा ताभ्यां रक्षसामपहननं कर्तुं युक्तमुपपद्यते ? इत्याह—स यः स इति। प्रथमतच्छब्देन पूर्वं दक्षिणभागे रक्षसामपहन्ता इन्द्रः परामृश्यते। स य इन्द्रोऽस्ति, एष सोऽप्रतिरथ इत्यादि स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रो निरङ्कुशपरमैश्वर्यो भगवान् श्रीरामः शतं सेना रावणादीनामेकप्रयत्नेनैव अजयत्। कीदृश इन्द्रः ? आशुः शीघ्रगामी गरुडादिभ्यो मरुद्भ्यो मनसोऽपि वेगवत्तमो भूत्वा भक्तरक्षार्थं गच्छति। गजेन्द्र-

रक्षार्थं गरुडमपि त्यक्त्वाऽधावत्। 'छन्दोमयेन गरुडेन समूह्यमानश्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः' (भा० पु० ८।३।३१)। तत्र भगवान् वेद एव गरुडः संवृत्तः। चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्माद् हस्ते प्रगृह्य गजेन्द्रमुद्धृत्य सुखासीनं भगवन्तं पश्चादेव महता वेगेन धावन्नपि गरुडस्तत्रोपगतः, 'मनसो जवीयः'(वा० सं० ४०।४), 'तद्धावतोऽन्यानत्येति' (वा० सं० ४०।४) इति मन्त्रवर्णात्। शिशानो वज्रवत्तीक्ष्ण उग्रश्च, 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठो० २।६।२) इति श्रुतेः। वृषभो न भीमो वृषभ इव भयङ्करः। यद्वा वर्षति कामान् भरति च यः स वृषभो धर्मराजः। धर्मराज एव दण्डधरो यमराज उच्यते। तद्वद् भीमः। घनाघनः शत्रूणामतिशयेन घातकः, वृष्टिकर्तृमेघरूपो वा। चर्षणीनां शत्रुसेनागतानां मनुष्याणां क्षोभणः क्षोभहेतुः। अन्यत् सर्वं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः! यूयं तमेव वीरं सेनापतिं कुरुत, यश्चर्षणीनां मनुष्याणां सेनासु वा शीघ्रकारी शिशानः पदार्थानां सूक्ष्मत्वापादकः, वृषभ इव भीमः शत्रूणामतिशयेन घातकः, रिपूणां प्रकम्पनहेतुः, संक्रन्दनः शत्रूणां रोदनकारकः, अनिमिषः अहर्निशं प्रयतमानः, एकवीरो मुख्यो वीरः, इन्द्रः शत्रुविदारकः सेनाधिपतिरस्माभिः साकं शतं सेना अजयद् जयेत्' इति, तदपि महीधराद्यनुकरणमात्रम्। सम्बोधनं तु निर्मूलमेव। प्रकृते शिशानः सूक्ष्मत्वापादक इत्यपि विसङ्गतम्, तनूकरणस्य तीक्ष्णीकरणार्थत्वात्। अनिमिष इत्यस्य अहर्निशं नार्थः, प्रमाणशून्यत्वात्॥ ३३॥

संक्रन्दनेनाऽनिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥ ३४॥

मन्त्रार्थ—हे युद्ध करने वाले मनुष्यों! प्रगल्भ भयरहित शब्द करने वाले, अनेक युद्धों को जीतने वाले, युद्ध करने वाले, एक चित्त होकर हाथ में बाण धारण करने वाले, जयशील स्वयं अजेय, कामनाओं की वर्षा करने वाले इन्द्र के प्रभाव से उस शत्रुसेना को जीतो और शत्रुसेना को अपने वश में करके उसे विनष्ट कर दो॥ ३४॥

हे युधः, युध्यन्ते ते युधः, नरो योद्धारो मनुष्याः! इन्द्रेण कृत्वा यूयं तत्परबलं जयत वशीकुरुत। इन्द्रेण सह वा इन्द्रेणानुगृहीता वा। वशीकृत्य च तत्सहध्वम् अभिभवत, विनाशयतेति यावत्। विना कारणं द्वेष्टॄणि रक्षांसि प्रतीयमुक्तिः। अतः परमिन्द्रशब्दविशेषणानि व्याख्यायन्ते। कथम्भूतेन इन्द्रेण? संक्रन्दनेन सम्यक् क्रन्दयति शत्रूनिति संक्रन्दनः, तेन शत्रुभयावहशब्दकारिणा। पुनः कीदृशेन? अनिमिषेण एकचित्तेन, अप्रमादिनेति यावत्। पुनः कीदृशेन? जिष्णुना जयनशीलेन। पुनः कीदृशेन? युत्कारेण युध्यत इति युत्, भावे प्रत्ययः, तत्करोतीति युत्कारः, कर्मण्यण्, तेन युद्धकारिणा। दुश्च्यवनेन दुःखेन च्यावयितुं शक्यो दुश्च्यवनः, अजय्य इयि तावत्, तेन अप्रच्युतस्वभावेन। धृष्णुना धृष्णोतीति धृष्णुः प्रगल्भः, 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' (पा० सू० ३।२।१४०) इति रूपसिद्धिः, तेन निर्भीकेणेति यावत्। पुनः कीदृशेन? इषुहस्तेन, इषवो हस्ते यस्य स इषुहस्तस्तेन वज्राद्यायुधहस्तेन। वृष्णा वर्षति कामानिति वृषा, 'कनिन् युवृषि' (उ० १।१५६) इति रूपसिद्धिः, तेन कामानां वर्षुकेण।

अध्यात्मपक्षे—हे युधो योद्धारो वानरभल्लूकादिभटाः, हे नरो मनुष्यादिभटाश्च, यूयमिन्द्रेण पूर्वोक्तेन श्रीरामेण सार्धं परबलं जयत वशीकुरुत। वशीकृत्य च सहध्वमभिभवतेति देवा भक्ताश्च प्रार्थयन्ते। कीदृशेन श्रीरामेण? इषुहस्तेन इषवो बाणा हस्ते यस्यासौ इषुहस्तस्तेन। वृष्णा अभीष्टवर्षिणा। संक्रन्दनेन शत्रुभयावहशब्दकारिणा, इत्यादि पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे योद्धारो नराः, यूयमनिमिषेण निरन्तरप्रयत्नवता दुश्च्यवनेन शत्रूणां कष्टकारकेण धृष्णुना दृढोत्साहवता युत्कारेण विविधरचनाभिर्योद्धॄणां मिश्रणामिश्रणकारिणा इन्द्रेण सेनापतिना शत्रून् जयत सहध्वं च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रशब्दस्य सेनापत्यर्थतायां मानाभावात्। दुश्च्यवनेनेत्यस्य कष्टकारित्वं कथमर्थः? अनिमिषेणेत्यस्य निरन्तरप्रयत्नकारित्वार्थोऽपि चिन्त्य एव ॥३४॥

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी सᳪं स्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
सᳪं सृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—वह जितेन्द्रिय हाथ में बाण लिये हुए धनुषधारियों को युद्ध के लिये ललकारने वाला इन्द्र शत्रुसमूहों को एक साथ युद्ध में जीत सकता है। यजमानों के यज्ञ में सोमपान करने वाला बाहुबली उत्कृष्ट धनुष वाला वह इन्द्र अपने धनुष से छोड़े हुए बाणों से शत्रुओं का नाश कर देता है। वह इन्द्र हमारी रक्षा करे ॥ ३५ ॥

इन्द्र एव विशेष्यते—स इन्द्रः, अस्मानवत्विति शेषः। स च इन्द्रः, इषुहस्तैर् इषवो बाणा हस्तेषु येषां ते इषुहस्ता बाणधारणकर्तारः, तैः। निषङ्गिभिर् निषङ्गाः खड्गाः सन्ति येषां ते निषङ्गिणः, तैस्तादृशैः सैनिकैः सह, स्वप्रभावात् सदा वर्तमानः। वशी वशयति रिपूनिति वशी, यद्वा वशयति इन्द्रियाणीति वशी आत्मतन्त्रो निगृहीतकामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यारिषड्वर्ग ईश्वरो वा। यद्वा उश्यते काम्यते जनैरिति वशी 'वश कान्तौ' जनप्रियः। यद्वा स्वकीयैर्धानुष्कैः खड्गहस्तैश्च परकीयं बलं स्ववशं नयतीति वशी, यद्वा परसैन्यगतैर्धानुष्कैः खड्गहस्तैश्च सहितान् परकीयान् सर्वान् वशीकरोतीति वशी स इन्द्रः। गणेन रिपुसमूहेनापि सह युधः, युध्यत इति युधः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः, एकाकी युद्धकर्ता। अथवा गणेन परकीयभटसमूहेन संस्रष्टा समीचीनतया मिश्रितो भवति। यद्वा संस्रष्टा युद्धाय परैः संसर्गं करोति। संसृष्टजित् स्वेन संसृष्टान् सर्वान् जयतीति तथोक्तः। सोमपा यज्ञेषु सोमं पिबतीति सोमपाः। बाहुशर्धी शर्धं बलमस्त्यस्येति शर्धी। 'शर्धमिति बलनामसु' (निघ० २।९।७)। बाह्वोः शर्धी बाहुशर्धी बाहुबलोपेतः। उग्रधन्वा उग्रमुत्कृष्टं धनुर्यस्यासौ उग्रधन्वा, उद्यतधनुष्कः 'धनुश्च' (पा० सू० ५।४।१३१) इत्यनङादेशः। प्रतिहिताभिस्तेन धनुषा प्रेषिताभिः, इषुभिर् अस्ता क्षेप्ता, शत्रूणां विनाशयितेति यावत्। सशब्दावृत्तिः पादपूरणार्था।

उव्वटाचार्यरीत्या तु स इन्द्र इषुहस्तैर्योद्धृभिः संसृजति इषुहस्तानेव योद्धॄन् संसृजति। तथैव स इन्द्रो निषङ्गिभिरेव खड्गिभिरेव संसृजति। निषङ्गिण एव योद्धॄन् संसृजति युद्धाय संसर्गं करोति, न शस्त्रास्त्रहीनैः पलायनपरायणैर्वा युद्ध्यत इत्यर्थः। स एवेन्द्रो युधः स्वान् योद्धॄन् शत्रुगणेन संस्रष्टा युद्धाय संयोजयति। संसृष्टजित् संसृष्टान् युद्धाय सङ्गतान् जयतीति संसृष्टजित्, प्रतिहिताभिः शत्रुशरीरेषु प्रतिनिहिताभिरिषुभिरेव इन्द्र अस्तेत्यनुमीयते। न स शरान् क्षिपन् दृश्यते। लघुसन्दधानो लक्षपाती चेत्यभिप्रायः। 'नाददानं शरान् घोरान् विमुञ्चन्तं महाबलम् ॥ न कार्मुकं विकर्षन्तं रामं पश्यामि संयुगे। हन्यमानं तु तत्सैन्यं पश्यामि शरवृष्टिभिः ॥' (वा० रा० अ० ३४।७-८) शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—श्रीरामपक्षेऽपि सुसङ्गतानि पूर्वोक्तानि व्याख्यानानि, देवराजेन्द्रापेक्षयापि तस्य युद्धकौशलप्रसिद्धेः। तत एवेन्द्रादिदैवतविजेतॄन् रावणमेघनादादीन् निहतवान् श्रीराम इति वाल्मीकीये रामायणे प्रसिद्धिः। तथाहि—

ततः शरसहस्राणि निर्ययुश्चापमण्डलात् । सर्वा दश दिशो बाणैरापूर्यन्त समागतैः ॥
नाददानं शरान् घोरान् विमुञ्चन्तं शरोत्तमान् । विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसास्ते शरार्दिताः ॥
शरान्धकारमाकाशमावृणोत् स दिवाकरम् । बभूवावस्थितो रामः प्रक्षिपन्निव तान् शरान् ॥
युगपत्पतमानैश्च युगपच्च हतैर्भृशम् । युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाऽभवत् ॥
(वा० रा० अ० २४।३८-४१)

दयानन्दस्तु—'स सेनापतिः, इषुहस्तैर् निषङ्गिभिः शिक्षितैर्भुशुण्डीशतघ्न्याग्न्येयादिशस्त्रास्त्रहस्तैर्भृत्यैः सह वर्तमानः संस्रष्टा श्रेष्ठमनुष्यैः शस्त्रास्त्रैश्च संसर्गकर्ता वशी जितेन्द्रियान्तःकरणः प्राप्तशत्रुविजेता, सोमपा बलिष्ठौषधिरसपाता बाहुशर्धी बलोपेतबाहुस्तीक्ष्णधन्वा युद्धशीलः, अस्ता शस्त्रास्त्रप्रक्षेप्ता इन्द्रः शत्रुविदारको गणेन शिक्षितवीरैः प्रत्यक्षतया स्वीकृतसेनाभिर्वर्तमानो जयति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे भुशुण्डीशतघ्न्यादिबोधकपदाभावात्, संस्रष्टा श्रेष्ठमनुष्यैः शस्त्रादिभिः संसर्गवानिति व्याख्यानस्य प्रकृतेऽसङ्गतेः । सोमपदस्यापि बलिष्ठौषध्यर्थकत्वे मानाभावः । गणेन प्रतिहिताभिरिति पदयोः सम्यक् शिक्षा, प्रत्यक्षतया स्वीकृता सेना चेति व्याख्यानं निर्मूलमेव ॥३५॥

बृह॑स्पते॒ परि॑दीया॒ रथे॑न रक्षो॒हामित्राँ॑ अप॒बाध॑मानः ।
प्र॒भ॒ञ्जन् सेनाः॑ प्रमृ॒णो यु॒धा जय॑न्न॒स्माक॑मेध्यवि॒ता रथा॑नाम् ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—वाणी का पति, अर्थात् व्याकरण का बनाने वाला होने से इन्द्र बृहस्पति कहलाता है, अथवा बृहस्पति उसके पुरोहित का संबोधन है । हे बृहस्पते ! तुम राक्षसों का नाश करने वाले हो, रथ के द्वारा सब ओर विचरण करते हुए शत्रुओं को और उनकी सेनाओं को अतिशय हानि पहुंचाते हो । तुम युद्ध में हिंसाकारियों को जीत कर हमारी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

हे बृहस्पते हे इन्द्र, वाग्वै बृहती तस्या एष पतिः, व्याकरणकर्तृत्वादिन्द्रस्य बृहस्पतित्वं युक्तमेव । तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति—'ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति' (तै० सं० ६।४।७।३) इति । यद्वा पूर्वोक्तार्थवादेन इन्द्रस्य बृहस्पतिब्राह्मणद्वितीयत्वेनैव शत्रुहन्तृत्वात् तत्सहकारी पुरोहितश्च बृहस्पतिरेव सम्बोध्यते । हे बृहस्पते, त्वं रथेन परिदीया सर्वतो गच्छ । 'दीयतिर्गतिकर्मा' (निघ० २।१४।६९) । गत्वा च अस्माकं रथानामविता रक्षक एधि भव । कीदृशस्त्वम् ? रक्षोहा रक्षसां हन्ता । अमित्रान् शत्रून् अपबाधमानः पीडयन् । सेनाः परकीयाः प्रभञ्जन् प्रकर्षेण मर्दयन् युधा युद्धेन प्रमृणो हिंसकान् शत्रून् जयन् पराभवन् । 'मृणातिर्हिंसाकर्मा', तस्य क्विपि द्वितीयाबहुवचनम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे बृहस्पते, बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पतिर्महातात्पर्यगोचरः परमेश्वरो बृहस्पतिस्तत्सम्बुद्धौ । हे श्रीराम, त्वं रथेन परिदीया सर्वतो याहि विचर । श्रीरामाय दिव्यं रथं समर्पयन् इन्द्रः प्रार्थयते । गत्वा च शत्रून् हत्वा अस्माकं देवानां सम्बन्धिनां रथानाम् अविता रक्षक एधि भव । कीदृशस्त्वम् ? रक्षोहा रक्षसां रावणादीनां हन्ता । अमित्रान् देवशत्रून् अपबाधमानो नाशयन् शत्रुसेनाः प्रकर्षेण मर्दयन् प्रमृणो हिंसकान् युधा संग्रामेण जयन् । 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (पा० सू० ६।१।१५७, वा० १) इति बृहस्पतिशब्दसिद्धिः ।

दयानन्दस्तु—'हे बृहस्पते ! बृहतां धार्मिकाणां वृद्धानां सेनानां वा रक्षक' इत्याह, तन्न, 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च'(पा० सू० ६।१।१५७, वा० १) इति देवतार्थ एव सुट्तलोपाभ्यां बृहस्पतिपदसिद्धेः। रथेनेत्यस्य रथसमूहेनेत्यप्यसङ्गतम्, बहुवचनव्यत्यये हेत्वभावात्। 'युधा युद्धे' इत्यप्यसङ्गतम्, व्यत्यये हेत्वभावादेव ॥३६॥

ब॒ल॒वि॒ज्ञा॒यः स्थवि॑रः॒ प्रवी॑रः॒ सह॑स्वान् वा॒जी सह॑मान उ॒ग्रः।
अ॒भिवी॑रो अ॒भिस॑त्वा स॒हो॒जा जैत्र॑मिन्द्र॒ रथ॒माति॑ष्ठ गो॒वित् ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! तुम दूसरों के बल को जानने वाले, स्वयं अति बलवान्, अत्यन्त पुरातन, सबका अनुशासन करने वाले, अतिशय शूर, महाबलिष्ठ, अन्नवान्, युद्ध में क्रूर, चारों तरफ से वीर योद्धाओं से घिरे हुए और परिचारकों से युक्त हो। तुम स्तुति करने वालों को जानते हो, शत्रुओं के तिरस्कारक हो। तुम अपने जयशील रथ में आरोहण करो ॥ ३७ ॥

हे इन्द्र, त्वं जैत्रं जयनशीलं रथम् आतिष्ठ आरोह। जयति तच्छील इति जैत्रः, 'तृन्' (पा० सू० ३।२।१३५) इति तृन्प्रत्यये 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पा० सू० ५।४।३८) इत्यणि रूपसिद्धिः। कीदृशस्त्वम् ? बलविज्ञायः, बलं परकीयं सामर्थ्यं विशेषेण जानातीति बलविज्ञायः, कर्मण्यणि 'आतो युक् चिण्कृतोः'(पा० सू० ७।३।३३) इति युगागमे रूपम्। यद्वा बलेन कृत्वा विज्ञायत इति बलविज्ञायः, करणे घञ्। स्थविरः पुरातनः सर्वेषामनुशास्ता सर्वमान्यो वा, 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' (पा० सू० ८।३।३६, वा० १) इति विसर्गलोपः। प्रवीरः शूरेष्वतिशूरः। सहस्वान् सहो बलमस्यास्तीति सहस्वान् प्रभूतप्रशस्तबलयुक्तः। वाजी वाजोऽन्नमस्यास्तीति प्रशस्तप्रभूतान्नवान्। सहमानः परेषामभिभविता। उग्रो युद्धेषु क्रूरः। अभिवीरः, अभितो वीराः शूरा यस्य स तथोक्तः। अभिसत्वा अभितः सत्वानः परिचारका यस्य सः। सहोजाः सहसो बलादिव जातः। नह्यन्यस्माज्जात ईदृग्बलः स्यात्। गोविद् गाम् अस्माभिः कृतां स्तुतिरूपां गां वेत्तीति गोवित्, यद्वा गां भूमिं विन्दतीति गोवित्। यद्वा बलविज्ञायो बलमाविष्कुर्वन् विज्ञायसेऽयममिन्द्र इति बलविज्ञायः, वीरं वीरमभीति अभिवीरः, सत्त्वानि सत्त्वान्यभीति अभिसत्वा सर्वान् वीरान् सर्वांश्च प्राणिनोऽभिवर्तमानः, व्यापकत्वाद् लाघवाच्चेति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र, हे श्रीराम, त्वं जैत्रं रथमातिष्ठ आरोह। कीदृशस्त्वम् ? बलविज्ञायो बलमाविष्कुर्वन् विज्ञायसे। स्थविरो युवापि पुरातनः, ईश्वरत्वात्। प्रवीरः प्रकृष्टो वीरः। सहस्वान् प्रभूतबलोपेतः। वाजी प्रभूतभोग्यपदार्थोपेतः, ईश्वरत्वादेव। सहमानो रावणादीनामभिभविता। उग्रो युद्धेषु क्रूरः। अभिवीरो यमभितो बहवो हनुमदादयो वीरा भवन्ति। अभिसत्वा परिचारकाश्च बहवोऽभितो भवन्ति। सहोजा सहसो बलादिव जातः, अन्यजातस्य ईदृक्प्रभावासम्भवात्। गोविद् गां स्तुतिलक्षणां वाचं वेत्तीति गोवित्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, युद्धोत्तमसामग्रीयुक्त सेनापते, यः स्वीयां सेनां बलवतीं कर्तुं जानाति स बलविज्ञायः। वाजी प्रशस्तशास्त्रबोधः। अभिवीरो यस्याभीष्टसाधका वीरा अभितो भवन्ति। अभिसत्वा युद्धविद्याकुशला यस्य सर्वतो भवन्ति। गोः वेदवाण्याः पृथिव्याश्च प्राप्त्या त्वं रथमुदन्वदाकाशमहीधरेष्वव अव्याहतगतिं रथमारोह' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, बलविज्ञायशब्दस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्। इन्द्रपदस्यापि गौण एवार्थोऽत्र स्वीकृतः, न च तद् युक्तम्, मुख्यार्थत्यागे मानाभावात् ॥३७॥

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ।
इमꣳ सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रꣳ सखायो अनु सꣳरभध्वम् ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—हे समान जन्म वाले देवताओं ! असुर कुल के नाशक, वेदवाणी के ज्ञाता, महान् विद्वान्, हाथ में वज्र धारण करने वाले, संग्राम को जीतने वाले, बल से शत्रुओं को मार डालने वाले इस इन्द्र को पराक्रम दिखाने के लिये उत्साह दिलाओ और इसको उत्साहित करके आप लोग स्वयं भी उत्साह से भर जाओ ॥ ३८ ॥

हे सजाताः समानं जातं जन्म येषां ते सजाताः समानजन्मानोऽस्मदीया ज्ञातयः सखायो देवाः । 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' (पा० सू० ६।३।८४) इति सादेशः, समानार्थकेन शब्देन वा समासः । यूयमिन्द्रमनु अनुगम्य वीरयध्वं वीरकर्म कुर्वाणं प्रोत्साहयत । 'वीर विक्रान्तौ' अदन्तश्चुरादिः, लोट् । अनु संरभध्वं संरम्भं वेगं कुर्वाणमनु संरम्भं कुरुत । कीदृशमिन्द्रम् ? गोत्रभिदं गोत्रमसुरकुलं भिनत्तीति गोत्रभित्, तम् । यद्वा 'गोत्र इति मेघनाम' (निघ० १।१०।३), गा अपस्त्रायते धारयतीति गोत्रो मेघः, तस्य भेत्तारं वृष्ट्यर्थम् । गोविदं गां वाचं वेत्तीति गोविद् यजमानादिकृतस्तुतिवेत्ता, तं पण्डितम् । वज्रं बाहौ यस्य तम् । अज्म संग्रामं जयन्तम् । 'अज्मेति संग्रामनामसु' (निघ० २।१७।४३) । ओजसा बलेन प्रमृणन्तं शत्रून् हिंसन्तम् । 'मृण हिंसायाम्' इति तौदादिकस्य रूपम् ।

अध्यात्मपक्षे—तत्रभवान् हनूमान् देवरूपवानरर्क्षभटान् प्रोत्साहयति—हे सजाता अस्मत्सजातीयाः सखायः अङ्गदादयः, यूयमिन्द्रं परमात्मानं रामचन्द्रमनुवीरयध्वम् अनुसंरभध्वम् इत्यादि पूर्ववत् । कीदृशम् ? राक्षसकुलभेत्तारं गोविदं भूपतिं वज्रवेगमिषुं हस्ते धारयन्तं संग्रामं जयन्तम् ओजसा शत्रून् हिंसन्तम् ।

दयानन्दस्तु—'हे सजाता एकदेशोत्पन्नाः सखायो मित्राणि, यूयमोजसा शरीरबुद्धिबलैः सैनिकैश्च शत्रुसमुदायं कर्तयन्तं शत्रुभूमिप्राप्तारं वज्रबाहुम् अज्म संग्रामं जयन्तम् इन्द्रं सेनापतिं प्रोत्साहयत सम्यग् युद्धमारभध्वम्' इति, तदपि न चारु, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । इन्द्रपदस्य सेनापतिरर्थोऽपि निर्मूलः ॥ ३८ ॥

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकꣳ सेना अवतु प्र युत्सु ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—शत्रुओं पर कभी दया न दिखाने वाले, पराक्रम सम्पन्न, क्रोध से भरे हुए, संग्राम से कभी पलायित न होकर शत्रुसेना का संहार करने वाले इन्द्र के साथ युद्ध करने में कोई भी समर्थ नहीं है, अतः इन्द्र संग्राम में असुर-कुलों को एक साथ ही नाश करते हुए हमारी सेना की रक्षा करें ॥ ३९ ॥

इन्द्रः स एवाग्निर्देवराजो वा प्रयुत्सु प्रकृष्टेषु युद्धेषु सेना अस्मदीया अवतु, यद्वा प्रावतु प्रकर्षेण रक्षतु । 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इति प्रोपसर्गस्य क्रियापदात् परप्रयोगः । कथंभूत इन्द्रः ? गोत्राण्यसुर-कुलानि मेघवृन्दानि वाऽभिगाहमानो विलोडयन्, अभि सर्वतोऽवस्थितानि युद्धक्षेत्राणि सहसा गाहमानः प्रविशन् वा । पुनः कथम्भूतः ? अदयो दयारहितः परमनिष्ठुरः । वीरः शूरः शतमन्युर्बहुधा क्रोधयुक्तः शतयज्ञो वा । दुश्च्यवनः अप्रच्याव्यः । पृतनाषाट् पृतनां परकीयसेनां सहतेऽभिभवतीति तथोक्तः । अयुध्यो योद्धुमशक्यः । अथवा युध्यत इति युध्यः, अविद्यमानो युध्यः प्रतियोद्धाऽस्येति तथोक्तः ।

अध्यात्मपक्षे—स इन्द्रः श्रीरामः प्रयुत्सु प्रकृष्टयुद्धेषु गोत्राणि शत्रुकुलानि सहसा गाहमानो विलोडयन् अस्माकं सेनाम् अवतु । अदयः, अन्यदा परमसदयोऽपि संग्रामे परमनिर्दयः । वीरः शतमन्युः । इत्यादिकं पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—हे विद्वांसः, युत्सु यत्र पदार्थानां मिश्रणान्यमिश्रणानि च भवन्ति, तेषु युद्धेषु सहसा शत्रुकुलानि गाहमान इन्द्रोऽस्माकं सेनापतिरिरिति यूयमाज्ञापयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । 'युत्सु' इत्यस्य व्याख्यानमसाम्प्रतम्, 'युध सम्प्रहारे' इति धातोरर्थाननुगमात् ॥ ३९ ॥

इन्द्र॑ आसां ने॒ता बृह॒स्पति॒र्दक्षि॑णा य॒ज्ञः पु॒र ए॑तु॒ सोम॑: ।
दे॒वसे॒नाना॑मभिभ॒ञ्जती॑नां॒ जय॑न्तीनां म॒रुतो॑ य॒न्त्वग्र॑म् ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—बृहस्पति इन्द्र सभी प्रकार की शत्रु सेनाओं का मर्दन करने वाली विजयशील देवसेनाओं के शिक्षक हैं । यज्ञपुरुष विष्णु, सोम और दक्षिणा इसके आगे-आगे चलें । सभी गणदेवता सेना के आगे आगे चलें ॥ ४० ॥

इन्द्र आसां देवसेनानां व्यूहरचनान्नेता नायको भवतु, बृहस्पतिश्च मन्त्रीति शेषः, तेनैव प्रधानकार्याणां सम्पादनात् । यज्ञो यज्ञपुरुषो विष्णुर्दक्षिणा दक्षिणत एतु गच्छतु । 'दक्षिणादाच्' (पा० सू० ५।३।३६) इत्याच्-प्रत्ययः । पुरः पुरस्तात् सोम एतु आगच्छतु । मरुतो देवगणा अग्रं सेनाग्रभागं यन्तु गच्छन्तु । कीदृशीनां सेनानाम् ? अभिभञ्जतीनां शत्रून् मर्दयन्तीनाम् । 'भञ्जो आमर्दने' । तथा जयन्तीनां विजयमानानाम् । यद्वा या देवसेना अस्मदनुग्रहार्थं शत्रुषु गच्छन्ति, आसां सेनानामिन्द्रो नेता भवतु । यो बृहस्पतिर्या च दक्षिणा देवी यश्च यज्ञो यश्च सोमः, एतेषामेकैकः पुरः पुरत एतु गच्छतु । शत्रुबलं भञ्जयन्तीनां मर्दयन्तीनां जयन्तीनां जयमानानामासां सेनानां मरुत एकोनपञ्चाशत्संख्याका वायवः, अग्रं पुरतो यन्तु गच्छन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—अहङ्काररूपस्य रावणस्य सबलस्य विध्वंसनाय गच्छन्तीनां देवसेनानां वानरभल्लूकसेनानामिन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तः श्रीरामो नेता प्रणेतास्तु । बृहस्पतिः बृहस्पतितुल्यो लक्ष्मणः, मन्त्रीति शेषः । यज्ञो विष्णववतारः सुग्रीवो दक्षिणत एतु । सोम उमया सहितो रुद्रो हनूमान् पुरः पुरत एतु गच्छतु । अभिभञ्जतीनां शत्रुबलं मर्दयन्तीनां जयन्तीनां विजयं कुर्वन्तीनामासां सेनानां मरुतो मरुत्तुल्यवेगा अङ्गद-नल-नील-द्विविद-मन्दादयः, अग्रं यन्तु गच्छन्तु ।

दयानन्दस्तु—'देवसेनानां विदुषां सेनानामिन्द्रः परमैश्वर्यः शिक्षकः सेनापतिः पश्चाद् यज्ञः सर्वसङ्गतिकारकः प्रथमो बृहस्पतिः सर्वाधिकारिणामधिपतिर्दक्षिणतः सोम उत्साहदाता वामन एतु मरुत्तुल्यवेगवन्तः शूरा अग्रं यन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदबाह्यत्वात्, पश्चाद्वामादिपदानां मूलेऽभावात्, इन्द्रबृहस्पत्यादिपदानां सम्भवति मुख्यार्थत्वे गौणार्थाश्रयणायोगात् ॥ ४० ॥

इन्द्र॑स्य॒ वृष्णो॒ वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ आदि॒त्याना॑म्म॒रुता॑ᳬ शर्ध॑ उ॒ग्रम् ।
म॒हाम॑नसां भुवनच्य॒वानां॒ घोषो॑ दे॒वानां॒ जय॑तामु॒दस्था॑त् ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—महानुभाव, सारे लोकों को नाश करने की सामर्थ्य वाले, विजय पाने वाले देवताओं की, आदित्य, मरुत्, कामना की वर्षा करने वाले इन्द्र और राजा वरुण की सभा से जयजयकार का शब्द उठ रहा है ॥ ४१ ॥

वृष्णः, वर्षति कामानिति वृषा, 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५५) इति कनिन्-प्रत्यये रूपसिद्धिः। तस्य इन्द्रस्य राज्ञो राज्यं कुर्वतो वरुणस्य तन्नामकस्य देवविशेषस्य, आदित्यानामदितिपुत्राणाम्, मरुतां च उग्रम् उत्कृष्टम् उद्‌गूर्णायुधं वा शर्धो बलं गजतुरगरथपत्त्यात्मकं सैन्यं युद्धेषु अभितः, प्रभवत्विति शेषः। महामनसाम्, महन्मनो येषां ते महामनसो युद्धेषु स्थिरचित्तास्तेषाम्। तथा भुवनच्यवानां भुवनं लोकं च्यावयन्ति ये ते भुवनच्यवास्तेषां भुवनेभ्यः शत्रूंश्च्यावयितुं समर्थानाम्। जयतां विजयमानानां देवानामिन्द्रादीनां घोषो निनादो जय जयेति ध्वनिर्वा उदस्थात् सर्वत उत्थितोऽभूत्।

अध्यात्मपक्षे—वृष्णः अभीष्टवर्षणशीलस्य इन्द्रस्य पूर्वोक्तस्य श्रीरामस्य। कीदृशस्य ? वरुणस्य, व्रियते सर्वैरिति वरुणस्तस्य वरणीयस्य शरण्यस्य, 'कृवृदारिभ्य उनन्' (उ० ४।५३) इत्युनन्प्रत्यये रूपसिद्धिः। राज्ञो राजमानस्य ईदृशस्य श्रीरामस्य आदित्यानां सुग्रीवसम्बन्धिनां वानराणां मरुतां हनुमत्प्रमुखानामुग्रं तीक्ष्ण-मुदायुधं शर्धो बलमुदस्थाद् उत्थितमभूत्, युद्धेषु प्रभविष्णु जातमिति शेषः। तदैव महामनसाम् अत्युत्साहवतां भुवनच्यवानां भुवनं लोकं च्यावयितुं समर्थानां जयतां जयमानानां घोषस्तुमुलो निनाद उदस्थात्।

दयानन्दस्तु—'वृष्णो वीर्यवत इन्द्रस्य सेनापतेर्वरुणस्य सर्वोत्तमस्य राज्ञो न्यायविनयादिगुणै राजमानस्य सर्वाधिपतेः, भुवनच्यवानामुत्तमगृहं प्राप्तवतां महामनसामादित्यानाम् अनुष्ठिताष्टाचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्याणां मरुतां पूर्णविद्याबलयुक्तानां देवानामुग्रमसह्यं शर्धो बलं घोष उत्साहवर्धकस्वरालापो युद्धारम्भे उदस्थात्' इति, तदपि न किञ्चित्, तत्तत्पदानां तेषु तेष्वर्थेषु शक्तत्वात्, भाक्तप्रयोगस्यागतिकगतित्वात्, गत्यर्थस्यापि च्यवतेः पतनरूपायामेव गतौ प्रयोगबाहुल्यात्। अत एवोभयलोकच्युता अर्धनास्तिका एत इत्येतदुक्तेर्नानुकूल्यमनु-भवन्ति ॥ ४१ ॥

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्त्वनां मामकानां मनांसि।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! आप अपने शस्त्रों को भली प्रकार सुसज्जित कीजिये, मेरे वीर सैनिकों के मन को हर्षित कीजिये। हे वृत्रनाशक इन्द्र ! अपने घोड़ों की गति को तेज कीजिये। विजयशील रथों से जयघोष का उच्चारण हो ॥ ४२ ॥

हे मघवन्, मघं धनमस्त्यस्येति मघवान्, 'मघमिति धननामसु' (२।१०।१), तत्सम्बुद्धौ हे इन्द्र, आयुधानि शस्त्रास्त्राणि उद्धर्षय उद्‌गतहर्षाणि कुरु। मामकानामस्मदीयानां सत्त्वनां प्राणिनां मनुष्यादीनां मनांसि उद्धर्षय प्रहृष्टानि कुरु। हे वृत्रहन्, वृत्रं हतवानिति वृत्रहा, तत्सम्बुद्धौ हे वृत्रासुरघातक, वाजिनामश्वानां वाजिनानि वेगवद्‌गमनानि उद्धर्षय उत्कृष्टानि कुरु। किञ्च, जयतां विजयमासादयतां रथानां घोषाः शब्दा उदयन्तु उच्चैः प्रसरन्तु। यद्वा हे मघवन्, आयुधान्यस्मदीयानि, उद्धर्षय परकीयेभ्य उत्कृष्टानि कृत्वा अस्मान् हर्षय। मामकानां सत्त्वनां प्राणिनां मनांस्युत्कृष्टानि कृत्वा हर्षय। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—हे मघवन्, आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकविविधधनवन्, आयुधानि बाह्याभ्यन्तर-शत्रुविनाशसाधनानि उच्चैर्हर्षय, दिव्यशक्तिप्रदानेनेति शेषः। मामकानां प्राणिनां मनांसि उद्धर्षय, महोत्साह-प्रदानेनेति यावत्। वाजिनामिन्द्रियाश्वानां वाजिनानि वेगवद्‌गमनानि उद्धर्षय ऊर्ध्वस्रोतःप्रवर्तनेन प्रहृष्टान् कुरु। रथानां लौकिकानां शरीरात्मकानां वा घोषा निनादा यशांसि वा, उद्यन्तु दिग्दिगन्तव्यापिनो भवन्तु।

दयानन्दस्तु—सेनापुरुषाः स्वामिनमेवं वदेयुरित्युक्त्वा पूर्ववदेव पदार्थान् योजयति—'हे मघवन्, वाजिनां वाजिनानि शीघ्रगमनान्युत्कर्षय' इति, तन्नासङ्गतम्, गतिवर्धनस्य राजानधीनत्वात्। उपर्युक्तवाक्यकल्पनापि निर्मूलैव ॥ ४२ ॥

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ२॥ उ देवा अवता हवेषु ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—शत्रु की पताकाओं से हमारी पताकाओं के मिलने पर इन्द्र हमारी रक्षा करें, हमारे बाण शत्रुओं को नष्ट कर उन पर विजय प्राप्त करें, हमारे वीर सैनिक शत्रुओं के सैनिकों से श्रेष्ठता प्राप्त करें, सभी देवता संग्राम में हमारी रक्षा करें ॥ ४३ ॥

इन्द्रो ध्वजेषु समृतेषु परसैन्यं सम्यक्प्राप्तेषु, 'ऋ गतौ' सत्सु, अस्माकं रक्षितेति शेषः। तदानीमस्माकं या इषवोऽस्मदीयैर्मुक्तास्ता जयन्तु। अस्माकं ये वीरास्ते उत्तरे भवन्तु परकीयेभ्यो भटेभ्य उत्कृष्टा भवन्तु। उ अपि च हे देवाः, आहवेषु युद्धेषु, अस्मान् उ एव यूयमवता रक्षत, 'अन्येषामपि दृश्यते (६।३।१३७) इति दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, अस्माकं तावत् समृतेषु सङ्गतेषु ध्वजेषु शत्रुबलध्वजलोलीभूतेषु रक्षिता भवतु। इन्द्रप्रसादादेवास्माकं या इषवस्ता जयन्तु विजयिन्यो भवन्तु। अस्माकं वीरा उत्तरे संग्रामपारगामिनो भवन्तु, विजयन्तामिति यावत्। हे देवाः, हवेषु आह्वानेषु, अस्मानेव अवत रक्षत। विनिग्रहार्थीय उकारः, स च परेण संयुज्यते।

दयानन्दस्तु—'हे देवा विजिगीषवः, अस्माकं समृतेषु सत्यन्यायप्रकाशकचिह्नयुक्तेषु ध्वजेषु स्वीयान् निश्चेतुं रथादिषु स्थापितेषु तेषामधस्ताद् वर्तमानमिन्द्रं सेनापतिमस्माकं या इषवः प्राप्ताः सेनाश्च हवेषु संग्रामेषु जयन्तु। अस्माकं वीरा उत्तरे विजयानन्तरं जीवनयुक्ता भवन्तु। अस्मानवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ध्वजानामधस्ताद् वर्तमान इन्द्र इत्यसङ्गतेः, अपदार्थत्वात्। उत्तरे युद्धोत्तरजीविन इत्यप्यनर्थः, उत्पूर्वस्य तरतेरुत्तरणार्थत्वात् ॥ ४३ ॥

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—शत्रुओं के प्राणों को कष्ट देने वाली व्याधि इन वैरियों के चित्त को मोहित करती हुई, शरीरों का नाश करती हुई चली जाय, सब ओर से शत्रुओं को पकड़ कर चली जाय, उनके हृदय को शोक से भर दे, हमारे वैरी गाढ़ अन्धकार में डूब जाँय ॥ ४४ ॥

हे अप्वे देवते, अपवाति अपगमयति सुखं प्राणान् वेत्यप्वा, सा च व्याधिर्वा भयं वा। यस्मादेतया देवतया विद्धो व्याप्तोऽपचीयते, अनया भक्ष्यमाणो वाऽपक्षीयते तस्मादप्वा। अन्तर्भूतणिजर्थाद् वातेरपपूर्वकाद् डप्रत्यये उपसर्गस्य अन्त्याकारलोपे टापि च रूपसिद्धिः। 'ऐन्द्रयोऽभिरूपा द्वादश भवन्ति' (श० ९।२।३।६) इति श्रुतिरीत्या इयमपि इन्द्रसेनासम्बन्धिनी। तथा च हे अप्वे, अमीषां रिपूणां चित्तं मनांसि प्रतिलोभयन्ती मोहयन्ती 'लुभ विमोहने' अङ्गानि तेषां गात्राणि गृहाण, गृहीत्वा च शत्रूणामङ्गानि ततः परेहि परागच्छ।

पुनरन्यान् रिपून् ग्रहीतुम् अभि शत्रुसंघं प्रेहि गच्छ। तेषां हृत्सु हृदयानि, विभक्तिव्यत्ययः, शोकैर्धनपुत्रनाशादिनिमित्तैर्निर्दह। किञ्च, अमित्रा रिपवः, अन्धेन तमसा गाढान्धकारेण सचन्तां सङ्गच्छन्ताम्। 'षच् समवाये'।

अध्यात्मपक्षे—हे अप्वे ! विमुखानां नास्तिकानाममीषां सुखस्य प्राणानां चापगमयित्रि भगवति सीते, यद्वा आप्नोति व्याप्नोति सर्वं तच्छीलेति अप्वा, 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवाः' (उ० १।१५४) इति निपातनाद् धातोर्ह्रस्वत्वम्। उज्ज्वलदत्तादय आचार्या 'आप्वा' इत्येव निपातनमाहुः। अन्ये चाचार्याः 'अप्वा' इत्येव निपातनमिच्छन्ति। संहितायास्तूभयथापि तुल्यत्वम्। अमीषां शत्रूणां चित्तं चित्तानि प्रतिलोभयन्ती विमोहयमाना त्वं शत्रूणां हृत्सु हृदयानि शोकैर्निर्दह, तेषामङ्गानि हृदयादीनि गृहाण, गृहीत्वा च परेहि दूरं गच्छ। यथा भगवान् हनूमान् सिंहिकाया हृदयं गृहीत्वा दूरमाकाशं गतस्तद्वत्। तथाहि रामायणे—'ततोऽहं विपुलं रूपं संक्षिप्य निमिषान्तरात्। तस्या हृदयमादाय प्रपतामि नभःस्थलम् ॥' (वा० सु० ५८।४३) इति। पुनश्चान्येषां शत्रूणां हृदयादिग्रहणाय स्वशक्त्या अभिप्रेहि। यद्यपि च सर्वान्तरात्मभूतायाः पराम्बायास्तस्याः सर्वहिताभिलाष एव स्वाभाविकः, तथा च सप्तशत्याम्—'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि' इति, तथापि भक्तानुग्रहाय शिष्टपरिपालनाय तत्परिपन्थिभूतदुर्वृत्तप्रशमनाय तन्निग्रहादिकमुपपद्यत एव, निग्रहानन्तरभाविनोऽनुग्रहस्य सर्वतो बलवत्त्वात्। तथा चाहुः शिष्टाः—'अनुग्रहात् केवलतो बलीयाननुग्रहो निग्रहपूर्वको यः' इति। ये अमित्राः शून्ये मारणाद्युद्देश्येन गच्छन्ति, मिथ्या वा दोषारोपणार्थं सदस्यन्यत्र वा शब्दायन्ते, रचयन्ति वा पराभवार्थं कपटतया जालम्, आमयन्ति वा अभिचारादिनेत्यमित्राः, 'अमेर्द्विषति चित्' (उ० ४।१७५) इति रूपसिद्धिः। 'अम गत्यादिषु' इति भौवादिकस्य, 'अम रोगे' इति चौरादिकस्य वा। गत्यादिष्वित्यत्रादिशब्देन गतेरनन्तरं पठितयोः शब्दसम्भक्त्योर्ग्रहः। सम्भक्ती रचनाविशेष इति गुरुचरणाः। ते अन्धेन तमसा सचन्तां समवयन्तु, अर्थात् तेषां चेतसि तव चरणतामसानुरागनिबिडता समुदेतु, यथा तेऽपि परमानन्दस्वरूपात्मलाभात् स्वस्वरूपेऽवस्थिता भवेयुः। श्रीमद्वल्लभाचार्यमहाराजानां सिद्धान्तेनैषोक्तिः।

दयानन्दस्तु—'हे अप्वे ! शत्रुप्राणापनेत्रि क्षत्रिये, अमीषां परकीयसैनिकानां चित्तं प्रत्यक्षं प्रतिलोभयन्ती या स्वीया सेना, तस्या अङ्गानि त्वं गृहाण। अधर्मात् परेहि स्वसेना अभिप्रेहि स्वाभिप्रायं प्रकटय शत्रून्निर्दह, येन ते अमित्रा हृत्सु शोकैरन्धेनावृता रात्रितमसा सचन्तां संयुक्ता भवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदविरुद्धत्वात्। वेदस्तु निर्ऋतिं प्राणापनेत्रीमाह न क्षत्रियाम्। तथा हि—'सा त इत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु' (वा० सं० १२।६२) इति। सा दुष्टशिक्षा ते तव इत्या गतिश्चर्या। हे निर्ऋते देवि, तुभ्यं नमोऽस्तु। एवमेव विशृङ्खला खल्वस्य महात्मनो व्याख्या, या स्वोक्तिं तन्मूलं च विरुणद्धीति ॥ ४४ ॥

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
गच्छामित्रान् प्रपद्यस्व मामीषां कञ्चनोच्छिषः ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—वेद-मन्त्रों से तीक्ष्ण किये हुए हे बाणरूप ब्रह्मास्त्र ! हमारे छोड़े हुए तुम शत्रु की सेना पर गिरो, शत्रु के पास पहुँचो और उनके शरीर में प्रवेश करो। इनमें से किसी को भी जीवित न छोड़ो ॥ ४५ ॥

इत ऋक्चतुष्टयस्य विनियोगः कात्यायनेनोक्तः। इयमिषुदेवत्याऽनुष्टुप्। हे शरव्ये, शृणाति हिनस्ति येनासौ शरुः, 'शॄस्वृस्निहि' (उ० १।१०) इत्यादिना उप्रत्यये साधुः, तस्मै हिता शरव्या, 'उगवादिभ्यो यत्' (पा० सू० ५।१।२) इति यति साधुः, तत्सम्बुद्धौ। यद्वा शरान् व्ययतीति शरव्या, शरोपपदात् 'व्येञ् संवरणे'

इति धातोः 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० सू० ६।१।४५) इत्यात्वे, 'कविधौ सर्वत्र सम्प्रसारणिभ्यो डः' (पा० सू० ३।२।३, वा० १) इति डप्रत्यये, 'वचिस्वपियजादीनां किति' (पा० सू० ६।१।१५) इति सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' (पा० सू० ६।१।१०८) इति पूर्वरूपे यणि स्त्रीत्वविवक्षायां टापि रूपसिद्धिः। हिंसिका शरमयी हेतिः शरव्या, तत्सम्बुद्धौ। हे ब्रह्मसंशिते ब्रह्मणा मन्त्रेण अभिमन्त्रिता सती या संशिता अत्यन्तं तीक्ष्णीकृता सा ब्रह्मसंशिता, तत्सम्बुद्धौ। त्वमवसृष्टा अस्माभिर्मुक्ता प्रयुक्ता सती परापत परसैन्ये सहसा पतिता भव। पतित्वा च अमित्रान् शत्रून् गच्छ प्राप्नुहि। प्राप्य च शत्रुशरीरेषु प्रविश, प्रविश्य च अमीषां शत्रूणां मध्ये कञ्चनापि पुरुषं मा उच्छिषः अवशिष्टं मा कुरु, सर्वान् जहीत्यर्थः। 'शिष्लृ विशेषणे' माङ्योगे लुङ्, लृदित्वाच्च्लेरङि रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे शरव्ये, शरमयीषीकेव शत्रुघातिके चण्डि, ब्रह्मसंशिते ब्रह्मणा मन्त्रेण तीक्ष्णीकृतेवोग्रे, त्वं शत्रुवधाय अवसृष्टा प्रार्थनादिपूर्वकमस्माभिः प्रेषिता सती परापत शत्रुसैन्ये सहसा पतिता भव। अमित्रान् बाह्यानान्तरांश्च शत्रून् प्रति गच्छ, गत्वा च प्रपद्यस्व, अमीषां शरीरेषु प्रविश, प्रविश्य च मा कञ्चन उच्छिषः।

दयानन्दस्तु—'हे शरव्ये, बाणविद्याकुशले ब्रह्मणा ब्रह्मविदा शंसिते प्रशंसिते सेनापतिपत्नि, त्वमवसृष्टा प्रेरिता परापत दूरं गच्छ अमित्रान् गच्छ तन्मारणेन विजयं प्रपद्यस्व। अमीषामदूरनिवासिनां शत्रूणां मध्ये विघातमन्तरा कञ्चन मोच्छिषः' इति, तदपि न युक्तम्, तादृशसम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, पुरुषेषु वीरेषु जीवत्सु संग्रामे स्त्रियाः प्रेषणानर्हत्वात्, सम्पूर्वकशितेः तीक्ष्णार्थकत्वस्यैव प्रसिद्धत्वात्, अमित्रान् प्रति दूरं च स्त्रियाः प्रेषणस्य आर्यमर्यादाविरुद्धत्वाच्च ॥ ४५ ॥

प्रेता जय॑ता नर॒ इन्द्रो॑ व॒ः शर्म॑ यच्छतु।
उ॒ग्रा व॑ः सन्तु बा॒हवो॑ऽनाधृ॒ष्या यथास॑थ ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—हे हमारे वीरपुरुषो! शत्रु की सेना पर शीघ्र आक्रमण करो और उस पर विजय पाओ। इन्द्र तुम्हारा कल्याण करें, तुम्हारे भुजदण्ड शस्त्र उठाने में समर्थ हों, किसी भी प्रकार तुमको पराजय का तिरस्कार न झेलना पड़े॥ ४६॥

योद्धृदेवत्याऽनुष्टुप्। योद्धॄन् स्तौति—हे नरः, अस्मदीया योद्धारो मनुष्याः, प्रेता प्रकर्षेण शत्रून् प्रति गच्छत। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः। गत्वा च जयता शत्रून् जयत, विजयं प्राप्नुतेत्यर्थः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। इन्द्रो देवराजोऽग्निर्वा, वो युष्मभ्यं शर्म जयोत्थं सुखहितहार्दसन्तोषं यच्छतु ददातु। दाणेः 'पाघ्राध्मा' (पा० सू० ७।३।७८) इत्यादिना यच्छादेशः। किञ्च, यथा यूयमनाधृष्याः केनाप्यतिरस्कार्या असथ भवथ, असेर्लेटोऽडाटावित्यडागमः, तथा वो युष्माकं बाहवो भुजदण्डा उग्रा उद्गूर्णायुधाः सन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे नरः, नेतारो 'नॄ नये' इत्यस्मात् 'नयतेर्डिच्च' (उ० २।१०२) इति ऋन्प्रत्यये साधुः। यूयं शत्रुसैन्यं नास्तिकगणान् कामादिगणांश्च प्रकर्षेण गच्छत। ततस्तान् जयत। अयमिन्द्रः परमेश्वरो वो युष्मभ्यं शर्म जयप्रयुक्तं सुखं शान्तिं वा यच्छतु। यथा यूयं भागवतत्वादनाधृष्या अप्रधृष्याः, केनाप्यतिरस्कार्या भवथ, तथा वो युष्माकं बाहवो भुजदण्डाः क्रियाशक्तयो वा उग्राः शक्तिशालिनो भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे व्यवहारिणो नराः, यथा यूयं शत्रुजनान् प्रेत जयत तथा इन्द्रः सेनापतिर्वो युष्मभ्यं शर्म गृहं प्रयच्छतु। वो बाहव उग्रा दृढाः सन्तु। अनाधृष्याः शत्रुभिरप्रधृष्या यथा स्यात् तथा असथ प्रयत्नं कुरुत'

इति, तदपि यत्किञ्चित्, समभिव्याहृतपदान्वयमुपेक्ष्य दूरस्थपदान्वयस्य शाब्दिकमर्यादाविरुद्धत्वात्, युद्धप्रसङ्गे गृहदानस्य असङ्गतेश्च ॥ ४६ ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना ।
तां गूहत तमसाऽपव्रतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानन् ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—हे मरुत् देवताओं ! शत्रुओं की यह सेना अपने बल पर इठलाती हुई हमारे सामने आ रही है, उसको अकर्मण्यता के अन्धकार में डुबो दो, जिससे कि उस शत्रुसेना के सैनिक एक दूसरे को न पहचान पावें और परस्पर शस्त्र चलाकर नष्ट हो जाँय ॥ ४७ ॥

मरुद्देवत्या त्रिष्टुप् । हे मरुतः, यूयं परेषां शत्रूणां या प्रसिद्धा असौ सेना नः अस्मान् अभ्येति अस्मानभिलक्ष्य आगच्छति । कीदृशी सेना ? ओजसा बलेन स्पर्धमाना प्रस्पर्धां कुर्वाणा । तां सेनाम् अपव्रतेन अपगतं व्रतं कर्म यस्मात् तदपव्रतम्, येन व्याप्तानां कर्माणि नश्यन्ति तादृशम्, तेन तमसा सूचीभेद्येनान्धकारेण गूहतं संवृतामाच्छादितां कुरुत । तथा गूहत यथा अमी सैनिका अन्योन्यं परस्परं न जानीयुः कः किं करोतीति ।

अध्यात्मपक्षे—हे मरुतो मरुद्विकाराः प्राणाः, असौ या प्रसिद्धा शत्रूणां सेना कामक्रोधादिभटसमूहरूपेण ओजसा बलेन सहिता अत एव स्पर्धमाना, नः अस्मान् अभिलक्ष्य, एति आगच्छति, तां सेनां गूहत व्याप्नुत । केन ? अपव्रतेन व्रतलोपकेन अज्ञानेन तथा गूहत यथा अमी अन्योन्यं न जानीयुः । श्रीरामसेनागता वानरा वा मरुत्पुत्रं हनूमन्तं प्रार्थयन्ते । पूजायां बहुवचनम् । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे मरुतः ! ऋतुमृतुं प्रति यजनशीला विद्वांसः, असौ या परेषां सेना स्पर्धमाना ओजसा अस्मानभ्येति सम्मुखे सर्वतो वा एति, ताम् अपव्रतेन छेदनरूपेण कठोरकर्मणा तमसा शतघ्न्यादिसमुत्थितेन धूमेन गूहत । अन्यत् पूर्ववत्' इति, तदप्यमनीषितम्, अपव्रतशब्देन कठोरछेदनकर्मग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, तमःशब्देन धूमग्रहणस्यापि निर्मूलत्वाच्च ॥ ४७ ॥

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ।
तन्न इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—जिस युद्ध में वैरी के चलाये हुए बाण फैली हुई शिखा वाले बालकों की तरह गिरते हैं, उस युद्ध में अदिति, बृहस्पति और इन्द्र हमें विजय दिलावें । ये सब देवता सारे शत्रुओं का नाश कर हमारा कल्याण करें ॥४८॥

इन्द्रबृहस्पत्यदितिदेवत्या पङ्क्तिरष्टाक्षरपञ्चपादा । यत्र युद्धे बाणा नरैर्मुक्ता इषवः सम्पतन्ति इतश्चेतश्चानिर्मर्यादं निपतन्ति । तत्र दृष्टान्तः—कुमारा विशिखा इवेति । कुमाराः शिशवो विशिखा विखण्डिताः शिखा येषां ते तथोक्ताः, फलमबुध्वैव यस्मिन् कस्मिन् कर्मणि प्रवर्तमाना मुण्डितमुण्डा अकृतचूडा इति यावत् । ते यथा चापलेनाविचार्यैव किञ्चिद् इतस्ततो गच्छन्ति, तद्वत् । तत् तत्र युद्धे इन्द्रः, नः अस्मभ्यं शर्म विजयोत्थं सुखं हार्दीं तुष्टिं च यच्छतु । कथम्भूत इन्द्रः ? बृहस्पतिः, बृहतां मन्त्राणां पतिः पालकः । पुनः कथम्भूतः ?

अदितिः, अविद्यमाना दितिः खण्डनं यस्यासौ तथोक्तः, अखण्डनीयशक्तिरिति यावत्। पुनः कथम्भूत इन्द्रः ? विश्वाहा विश्वान् सर्वान् शत्रून् आसमन्ताद् हन्तीति विश्वाहा। नः शर्म यच्छतु। पुनरुक्तिरादरार्था। यद्वा इन्द्रः परमैश्वर्यवान् देवराजः, बृहस्पतिर् इन्द्रगुरुर्विजयोचितमन्त्रज्ञः, अदितिर् इन्द्रमाता च विश्वाहा विश्वानि च तानि अहानि विश्वाहा, विभक्तेराकारः, सर्वदेत्यर्थः। शर्म यच्छतु। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २।३।५) इत्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया।

अध्यात्मपक्षे—यत्र संसारसंग्रामे विशिखा मुण्डितमुण्डा इव बाणा बाणवद् घातका लौकिकालौकिका आघाताः सम्पतन्ति सम्भूय पतन्ति, तत्र इन्द्रः परमैश्वर्यवान् परमात्मा, बृहस्पतिर्बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पतिः पालकः, अदितिर् अच्छेद्यः, विश्वाहा सर्वधर्मप्रतीपघातकः, नोऽस्मभ्यं शर्म शरणमाश्रयं विजयोल्लाससुखं वा यच्छतु।

दयानन्दस्तु—'इन्द्रः सेनापतिर्बृहत्याः सभायाः पतिः, अदितिः नित्यं सभासद्भिः शोभिता सभा' इति, तदपि निर्मूलम्, प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात्॥ ४८॥

मर्माणि ते वर्मणा च्छादयामि सोमस्त्वा राजाऽमृतेनानुवस्ताम्।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु॥ ४९॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान! मैं तुम्हारे मर्मस्थानों को कवच से ढकता हूँ, ब्राह्मणों के राजा सोम तुमको मृत्यु के मुख से बचाने वाले कवच से आच्छादित करें, वरुण तुम्हारे कवच को विस्तृत और मजबूत बनावें, अन्य सभी देवता विजय की ओर अग्रसर हुए तुम्हारा उत्साहवर्धन करें॥ ४९॥

'मर्माणि त इति कवचं प्रयच्छति' (का० श्रौ० १३।३।११)। महाव्रतयागेऽध्वर्युः क्षत्रियाय परिधानार्थं कवचं प्रयच्छेदिति सूत्रार्थः। सोमवरुणदेवत्या त्रिष्टुप्। हे यजमान, ते तव मर्माणि जीवस्थानानि वर्मणा कवचेन अहं छादयामि आवृणोमि। राजा ब्राह्मणादीनां राजा सोमः, 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳪं राजा' (वा० सं० ९।४०) इति मन्त्रवर्णान्तरात्। एतन्नामा देवः। अमृतेन मरणनिवारकेण केनापि कवचविशेषेण त्वा त्वाम् अनुवस्ताम् अन्वाच्छादयतु। 'वस आच्छादने' इत्यादादिकस्य लोटि रूपम्। तथा वरुणस्तन्नामको देवः, ते तुभ्यम् उरोर्वरीयः, ऊर्णोतीति उरु महत्, 'ऊर्णोतेर्णुलोपश्च, महति ह्रस्वश्च' (उ० १।३०-३१) इति महत्यर्थे साधुः। महत् तस्मादपि वरीयो बृहत्तमम् अतिशयेन उरु इति वरीयः। उरुशब्दादीयसुनि 'प्रियस्थिरस्फिरोरु' (पा० सू० ६।४।१५७) इति वरादेशः। उरुतरं परमश्रेष्ठम्। अन्यदीयादधिकादप्युरुतरं परमश्रेष्ठं वर्म कृणोतु करोतु। धातूनामनेकार्थत्वात् करोत्यर्थेऽत्र वृत्तिः। किञ्च, जयन्तं विजयं प्राप्नुवन्तं त्वा त्वां देवा अनु मदन्तु अनुकूला भूत्वा हृष्यन्तु उत्साहयन्तु वा।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, अहमाचार्यस्ते तव मर्माणि मर्मस्थानानि वर्मणा न्यासजालरूपेण कवचेन आच्छादयामि। सोम उमया सहितो रुद्रो देवः सर्वभूतानां राजा सर्वभूतेषु राजमानः परमेश्वरः, अमृतेन अमरणसाधकेन ज्ञानकवचेन त्वामाच्छादयतु। वरुणः सर्वजनवरणीयो भगवान् शिवः, ते तव उरोर्वरीयः पृथोरपि पृथुतरं भक्तिरूपं वर्म कृणोतु सम्पादयतु। एवं सर्वतः संसारं जयन्तं त्वां देवा इन्द्रियाण्यन्ये साधका वा अनुमदन्तु अनुकूलाः सन्तः प्रहृष्यन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे योद्धः, ते मर्माणि वर्मणा च्छादयामि। सोमः शान्त्यादिगुणो विद्या-नय-विनयैः प्रकाशमानो राजा अमृतेन रोगनिवारकेण अमृतरसौषधेन त्वामनु वस्ताम्। वरुणः सर्वोत्तमगुणो राजा उरोर्बहोरपि गुणैश्वर्याद्यत्यन्तैश्वर्यैः कृणोतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थं विहाय गौणार्थाश्रयणस्य निर्मूलत्वात्॥ ४९॥

उदे॑नमुत्त॒रां न॑याग्ने॑ घृ॒तेना॑हुत ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ सᳲसृ॑ज प्र॒जया॑ च ब॒हुं कृ॑धि ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ – **यजमान को होम करते समय अग्नि से प्रार्थना करनी चाहिये कि घृत से तृप्त अग्निदेव इस यजमान को ऐश्वर्य की पराकाष्ठा तक पहुंचावें, इसके मन को अत्यन्त निर्मल कर दें, इसे धन की पुष्टि से युक्त करें और पुत्र-पौत्र आदि सन्तान से इसके कुटुम्ब का विस्तार करें ॥ ५० ॥**

'आर्द्रौदुम्बरीर्घृतोषितास्तिस्र उदेनमित्यादधाति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १८।३।१९)। अशुष्का उदुम्बरतरूत्थाः सकलां रात्रिं घृते कृतनिवासाः प्रादेशमात्रास्तिस्रः समिध ऋक्त्रयेण शालाद्वार्ये जुहोति। ततोऽग्निप्रणयनमिति सूत्रार्थः। तिस्रोऽनुष्टुभः। प्रथमाग्निदेवत्या, द्वितीया इन्द्रदेवत्या, तृतीया लिङ्गोक्तदेवत्या। हे घृतेनाहुत आज्येन सर्वतो हूयमान हे अग्ने, एनं यजमानम् उत्तराम् अतिशयेन उद् उत्तराम्। तरबन्ताद् उत्शब्दात् 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (पा० सू० ५।४।११) इत्यामुप्रत्ययः। अत्युत्कृष्टमैश्वर्यं प्रति उन्नय उत्कर्षेण प्रापय। उत्कृष्टैश्वर्यमेवाह—रायस्पोषेण धनसमृद्ध्या संसृज संयोजय। किञ्च, प्रजया सन्तत्या पुत्रपौत्रादिकया च बहुं कृधि भूयांसं कुरु। बहुकुटुम्बं कुर्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, घृतेन नवनीतेन आहुत नित्यमर्च्यमान परमेश्वर, एनं साधकम् उत्तराम् उत्कृष्टैश्वर्यत्वं प्रापय। ऐश्वर्यमेवोच्यते—रायस्पोषेण ज्ञानविज्ञानरूपधनपुष्ट्या संसृज। प्रजया च बहुं पुत्रपौत्रादिसंकुलं कुरु।

दयानन्दस्तु—'हे घृतेनाप्लुत तृप्तिमापन्न अग्ने सेनापते, एनं विजयिनम् उत्तरां येन उत्तमतया संग्रामं तरन्ति तां सेनाम् उन्नय उत्तमाधिकारं प्रापय। शेषं पूर्ववत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धात्वर्थातिक्रमात्, संग्रामादिपदायोगेन उत्तरामित्यस्य सेनार्थत्वे मानाभावात् ॥ ५० ॥

इन्द्रे॒मं प्र॑त॒रां न॑य सजा॒ताना॑मसद्व॒शी ।
समे॑नं॒ वर्च॑सा सृज दे॒वानां॑ भाग॒दा अ॑सत् ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—**हे इन्द्र ! तुम इस यजमान को पूर्ण ऐश्वर्य प्रदान करो, जिससे कि ज्ञाति वाले सब इसके वश में हो जांय। इसको तेज से संयुक्त करो, जिससे कि यह देवताओं को आहुति रूप उनका भाग देने में समर्थ हो ॥ ५१ ॥**

हे इन्द्र महेन्द्र, इमं यजमानं प्रतरां नय प्रकृष्टैश्वर्यं प्रापय। प्रकर्षवाचकः प्रशब्दः, ततोऽप्यतिशये तरप्। तत्रापि प्रकर्षे आम्। सम्भूय प्रकृष्टैश्वर्यमित्यर्थः। प्रकृष्टत्वमेव प्रपञ्च्यते—सजातानां समानजातीयानां सहोत्पन्नानां ज्ञातीनां वशी वशयतीति तथोक्तो नियमनसमर्थः, असद् भवतु। किञ्च, एनं यजमानं वर्चसा बलेन संसृज, तेजस्विनं कुर्विति यावत्। किञ्च, अयं यजमानो देवानां भागदा भागं ददातीति भागदा यज्ञेषु देवानां भागप्रदाता असद् भवतु।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, इमं साधकं प्रतराम् अतिप्रकर्षं ब्रह्मात्मभावं वा नय प्रापय। सजातानां समानजन्मनां ज्ञातीनां मध्ये वशी कान्त ईश्वरः, नियमनसमर्थो वा अयं साधको भवतु। किञ्चैनं वर्चसा ब्रह्मज्ञानजनितेन तेजसा संसृज संसृष्टं कुरु। वर्चसा स्वेन कर्मणा भजनरूपेण वा संसृष्टं कुरु। वर्णानामुत्कर्षो वर्च

इत्युव्वटाचार्यः। अयं साधको देवानां भागदा असद् भागम् अभीष्टं भजनीयं ददातीति भागदा असद् भवतु। भागदाः प्रथमैकवचनम्। परमेश्वरानुग्रहादेव स्वधर्मनिष्ठा देवयजनं सर्वैश्वर्यं ब्रह्मात्मनावस्थानं च सम्पद्यते।

दयानन्दस्तु—'हे सुखानां धारक सेनापते, सजातानां समानावस्थानां देवानां विदुषां योद्धॄणां मध्ये इमं विजयिनं वीरजनं प्रतरां यया शत्रुबलादपसार्यते तां नीतिं नय। यया वशी जितेन्द्रियोऽसद् भवेत्। एनं वर्चसा विद्याप्रकाशेन संसृज। अयं यथायोग्यं भागदा असत्' इति, तदेतत्सर्वं विश्रृङ्खलमेव, स्वाच्छन्द्यात्। सजातानामित्यस्य समानावस्थानां योद्धॄणामिति व्याख्यानं प्रमाणशून्यमेव, धात्वर्थवैपरीत्यात्। देवानामित्यस्य भागदा इत्यनेन सन्निधानमूलकः सम्बन्धः श्लिष्टतरः॥ ५१॥

यस्य॑ कुर्मो गृहे ह॒विस्तम॑ग्ने वर्धया॒ त्वम्।
तस्मै॑ दे॒वा अधि॑ब्रुवन्न॒यं च॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॥ ५२॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! जिसके घर में पुरोडाश की हवि दी जाती है, उस यजमान को तुम ऐश्वर्य से सम्पन्न करो, जिससे कि देवता उस यजमान की प्रशंसा करें, यह यजमान वैदिक कर्मों का स्वामी हो॥ ५२॥

वयम् ऋत्विजो यस्य यजमानस्य गृहे हविः पुरोडाशप्रधानं कर्म कुर्मः, हे अग्ने, त्वं तं यजमानं प्रजया पशुभिश्च वर्धय। तस्मै देवा अधिब्रुवन् उपरिभावेन यत्प्रशस्तं कल्याणं तद् ब्रुवन्तु। अयं च यजमानो ब्रह्मणस्पतिर्वैदिककर्मणः पालकोऽस्तु। यद्वा देवा अयं ब्रह्मणस्पतिरग्निश्च इमं यजमानम् अधिब्रुवन्तु। अस्मै यजमानाय अधिकं प्रशस्तं कल्याणं ब्रुवन्तु। अत्र चतुर्थ्यर्थे द्वितीया।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, यस्य अर्चकस्य गृहे साधनास्थाने हविर्निवेदनीयचरुपुरोडाशादिकं कुर्मः, तं त्वं ज्ञानविज्ञानवैराग्यादिभिर्वर्धय। देवा ब्रह्मणस्पतिरयमग्निश्च तस्मै अस्मै साधकाय यत्प्रशस्तं कल्याणतमं ब्रह्मतत्त्वं तद् ब्रुवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन् पुरोहित, यस्य राज्ञो गृहे वयं हविर्होमं कुर्मः, तं त्वं वर्धय उत्साहयतु। देवा ऋत्विजस्तमधिब्रुवन्तु अधिकमुपदिशन्तु, ब्रह्मणस्पतिर्वेदपालकोऽयं यजमानस्तं शिक्षयतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'अधिब्रुवन्तु अधिकमुपदेशं कुर्वन्तु' इत्यस्य निर्मूलत्वात्। 'ब्रह्मणस्पतिर्यजमानः शिक्षयतु' इत्यपि निर्मूलम्, तादृशपदस्य मूलेऽभावात्॥ ५२॥

उदु॑ त्वा॒ विश्वे॑ दे॒वा अग्ने॒ भर॑न्तु॒ चित्ति॑भिः।
स नो॑ भव शि॒वस्त्वँ सु॒प्रती॑को वि॒भाव॑सुः॥ ५३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! तुम सम्पूर्ण प्राणरूप देवता हो, उद्यम में प्रवीण बुद्धि की वृत्तियों के द्वारा तुम ऊँची धारणा वाले बनो। उच्च विचार, सुन्दर मुख वाले, दीप्तिरूप धन वाले तुम हमारे लिये कल्याणकारक बनो॥ ५३॥

'त्रिरुक्तायामुद्यम्योदु त्वेति' (का० श्रौ० १८।३।२३)। होत्रा प्रथमायामृचि त्रिःपठितायामध्वर्युः प्रदीप्तमिध्मं शालाद्वार्याद्दूर्ध्वमुत्पादयेदिति सूत्रार्थः। इयं कण्डिका द्वादशी एकत्रिंशी। तत्रैव व्याख्याता॥ ५३॥

पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरपामतिं दुर्मतिं बाधमानाः ।
रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्ती रायस्पोषे अधि यज्ञो अस्थात् ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र, यम, वरुण, सोम और ब्रह्मा से सम्बन्ध रखने वाली पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और मध्य में स्थित पाँच दिशाएँ हमारी बुद्धि की मन्दता का और पापबुद्धि का विनाश करें, धन की पुष्टि में यजमान को भागीदार बनावें और हमारे यज्ञ की रक्षा करें । हमारा यज्ञ धन की वृष्टि से अधिक सम्पन्न हो ॥ ५४ ॥

'चित्यं गच्छन्ति पञ्च दिश इति' (का०श्रौ० १८।३।२४) । ततो ब्रह्महोत्रध्वर्युप्रतिप्रस्थातृयजमानाः पञ्च दिश इत्याद्यृक्पञ्चकेन (अर्थाद् ऋक्पञ्चकं पठन्तः) चित्यं प्रति गच्छन्तीति सूत्रार्थः । तत्र सर्वेषां मन्त्रपाठ इति कर्कः । अध्वर्योरेवेति हरिस्वामिनः । यज्ञाग्निसाधनवादिन्यः पञ्च ऋचः । आद्ये द्वे त्रिष्टुभौ । तृतीया बृहती पङ्क्तिर्वा, अष्टात्रिंशदक्षरत्वात् । चतुर्थी बृहती । पञ्चमी त्रिष्टुप् । प्रथमा दिग्देवत्या । द्वितीयतृतीये आग्नेय्यौ । चतुर्थी हविर्यज्ञदेवत्या । पञ्चमी आग्नेयी । या इमाः पञ्च दिशः प्राची-दक्षिणा-प्रतीच्युदीची-मध्यमारूपास्ताः सर्वा इमं यज्ञमवन्तु । कीदृश्यस्ता दिशः ? देवीर् देव्यः । स्वयं देवीरूपा इत्यर्थः । पुनः कीदृश्यः ? दैवीर् दैव्यः । देवानाम् इन्द्र-यम-वरुण-सोम-ब्रह्मणामिमाः सम्बन्धिन्यो दैव्यः, पुनः कीदृश्यः ? अमतिम् अस्मदीयप्रज्ञामान्द्यम्, अमननमज्ञानं वा दुर्मतिं दुष्टां मतिं पापविषयां बुद्धिम्, अपबाधमाना विनाशयन्त्यः । रायस्पोषे धनपुष्टौ यज्ञपतिं यजमानम् आभजन्तीर् आभजन्त्यः, भागिनं कुर्वन्त्य इत्यर्थः । किञ्चास्मदीयो यज्ञो रायो धनस्य पोषे पुष्टौ अधि अस्थाद् अधिकं तिष्ठतु समृद्धोऽस्तु, यद्वा ताभिर्दिग्भिरेव स्थापितोऽभिहुतो यज्ञः समृद्धोऽस्त्वित्यर्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुद्यच्छति । उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिरिति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।२।३।७) । 'उदु त्वा विश्वेदेवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिः' इत्यादिना मन्त्रेणाग्नेरुद्यमनं विधत्ते—अथैनमिति । एतस्य ज्ञापकं ब्राह्मणं (श० ६।८।१।७) इत्यत्रोक्तम् । तदाह—तस्योक्तो बन्धुरिति । 'अथाभिप्रयन्ति । पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरिति देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या दिक्ष्वस्पर्धन्त ते देवा असुराणां दिशोऽवृञ्जत तथैवैतद्यजमानो द्विषतो भ्रातृव्यस्य दिशो वृङ्क्ते दैवीरिति तदेना दैवीः कुरुते यज्ञमवन्तु देवीरिति यज्ञमिममवन्तु देवीरित्येतदपामतिं दुर्मतिं बाधमाना इत्यशनाया वा अमतिरशनायामपबाधमाना इत्येतद्रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्तीरिति रय्यां च पोषे च यज्ञपतिमाभजन्तीरित्येतद्रायस्पोषे अधि यज्ञोऽस्थादिति रय्यां च पोषे चाधि यज्ञोऽस्थादित्येतत्' (श० ९।२।३।८) उद्यमनानन्तरमध्वर्युप्रभृतीनां चित्यं प्रति गमनं विधत्ते—अथेति । अत्र पञ्च दिशो दैवीरित्यादिभिः पञ्चभिर्ऋग्भिराग्नीध्रपर्यन्तं गच्छन्ति । तथा चाह परमर्षिर्भगवान् कात्यायनः—'चित्यं गच्छन्ति पञ्च दिश इति' (का० श्रौ० १८।३।२४) इति । प्रजापत्यपत्यभूता देवाश्चासुराश्च दिग्विषये स्पर्धां कृतवन्तः । पश्चाद् देवा असुराणां दिश उपगमय्य स्वाधीनीकृतवन्तः । तथैव यजमानोऽपि द्वेषं कुर्वतो भ्रातृव्यस्य दिशः स्वाधीनाः करोति । देवसम्बन्धिन्यः पञ्च दिशोऽमतिमशनेच्छां दुर्मतिमशास्त्रीयां मतिं च अपबाधमाना एनं प्रणीयमानाग्निलक्षणं यज्ञमवन्तु । इति प्रसन्ना कण्डिका ।

अध्यात्मपक्षे—पञ्च दिशस्तत्तद्दिगधिष्ठात्र्यो देव्यो देवानामिन्द्रादीनां सम्बन्धिन्यो यज्ञं परमात्मयजनरूपमाराधनम् अवन्तु । तत्तद्विघ्नापनोदनेन रक्षन्तु । अमतिम् अज्ञानं दुर्मतिं संशयविपर्ययाद्याक्रान्तां मतिम् अपबाधमाना रायस्पोषे ज्ञानविज्ञानधनपुष्टौ यज्ञपतिम् उपासकम् आभजन्तीर्भागिनं कुर्वन्त्यस्तत्तद्विघ्नापनोदनेन रक्षन्तु । किञ्च, यज्ञोऽस्मदीय उपासनालक्षणो रायो धनस्य पूर्वोक्तस्य पोषे पुष्टौ अधि अस्थाद् अधिकं तिष्ठतु, ज्ञानविज्ञाननिमित्तत्वेन अतिप्रशस्तो भवत्वित्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'अमतिमज्ञानं दुर्मतिं दुष्टबुद्धिम् अपबाधमाना देवानां विदुषां सम्बन्धिन्यो दिव्यगुणोपेता वा ब्रह्मचारिण्यः पञ्च दिशः पञ्चदिक्तुल्या विविधकर्मसु कौशलमधिगता धनपुष्टिनिमित्तं यज्ञपतिं गृहकृत्यराज्यादिपालकं स्वस्वस्वामिनम् आभजन्ती सम्यक् सेवमाना, यज्ञं संगतिकरणयोग्यं गृहाश्रमम् अवन्तु कामयन्तु, येन यज्ञो गृहाश्रमो रायस्पोषे अधि अस्थाद् आधिक्येन स्थिरोऽस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यज्ञशब्दस्य गृहाश्रमतार्थतायां नानाभावात्। पञ्चदिक्तुल्या ब्रह्मचारिण्य इत्यपि न श्लिष्टम्, सादृश्यनियामकधर्मानुक्तेः। देवा विद्वांस इत्यपि न युक्तम्, भूमिकायां देवताविचारप्रसङ्गे बहुधा निरस्तत्वात्। न च स्त्रीणां प्रार्थनामात्रेण अमतिदुर्मतिबाधनं सम्भवति, तस्याध्ययनादिसाधनायत्तत्वात्। उद्धृतब्राह्मणसूत्रादिविरोधस्त्वस्य क्षेत्रियो व्याधिः ॥ ५४ ॥

समिद्धे अग्नावधि मामहान उक्थपत्र ईड्यो गृभीतः ।
तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवाः ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा आदि के स्थान में वरण किये गये अध्वर्यु आदि ऋत्विक् गण प्रज्वलित प्रवर्ग्य को ग्रहण करके यज्ञपुरुष का पूजन करते हैं। वे जब हवि रूप अन्न से यजन करते हैं, तब स्तुतियोग्य उक्थ और शस्त्र से यज्ञ सम्पन्नता को प्राप्त होता है। देवताओं का परमपूजक यजमान अग्नि के प्रज्वलित होने पर अतितेजस्वी प्रतीत होने लगता है ॥ ५५ ॥

असम्बद्धानि वाक्यानि यच्छब्दयोगात् तच्छब्दयोगाच्च सम्बद्धानि भवन्ति। अतस्तदध्याहारपूर्वकं व्याख्यायते। यः समिद्धे प्रदीप्तेऽग्नौ प्रणीयमाने अधि मामहान उपरिभावेन देवानामत्यर्थं पूजको यजमानः, 'यजमानो वै मामहानः' (श० ९।२।३।९) इति श्रुतेः। आत्मानं वा कृतकृत्यं मन्यमानो यजमानः प्रणीयमानमग्निमनुगच्छति। यस्य च उक्थपत्रोऽग्निः, उक्थानि शस्त्राणि पत्रं वाहनं यस्य स उक्थपत्रः प्रणीयमानोऽग्निः, अग्निष्टोमे उक्थानि शस्त्राणि पत्राणीवाङ्गानि भवन्ति, तस्मादग्निरुक्थपत्रः। ईड्यो यज्ञियः। गृभीतो धारितोऽध्वर्युणा, 'गृभीत इति धारित इत्येतत्' (श० ९।२।३।९) इति श्रुतेः। यस्य च मामहानस्य यजमानस्य तप्तं रुचितं घर्मं परिगृह्य परीशासाभ्याम् ऋत्विजोऽयजन्त यजन्ते, यस्य च ऊर्जा अन्नेन हविर्लक्षणेन यज्ञं देवा ऋत्विजोऽयजन्त सङ्गतं वा कृतवन्तः, सोऽयमग्निः, कृतकृत्य इति शेषः।

सायणरीत्या तु समिद्धे सम्यक् प्रज्वलितेऽग्नौ प्रणीयमाने सत्यधि मामहानोऽधिकं पुनः पुनः पूज्यमान उक्थपत्र उक्थानि शस्त्राणि पत्रं वाहनं यस्य स उक्थपत्रः। ईड्यः स्तुत्यः। यज्ञ एव गृभीतोऽध्वर्युणा परिगृहीतो भवति। देवा दीव्यन्ति व्यवहरन्ति प्रचरन्ति ब्रह्मत्वहौत्राध्वर्यवादिकर्मभिरिति देवा ऋत्विजः, यद् यदा तप्तं घर्मं ज्वलितं प्रवर्ग्यं परिगृह्य परितः परिशासाभ्यामादाय अयजन्त यजन्ते, यदा चोर्जा हविर्लक्षणेनान्नेन अयजन्त यजन्ते। यदोग्रहणात्तदोऽध्याहारः, नित्यसम्बन्धात्तयोः। तदा समिद्धेऽग्नौ प्रणीयमाने यज्ञोऽध्वर्युणा गृहीतो भवति।

अत्र ब्राह्मणम्—'समिद्धे अग्नावधि मामहान इति। यजमानो वै मामहान उक्थपत्र इत्युक्थानि ह्येतस्य पत्राणीड्य इति यज्ञिय इत्येतद् गृभीत इति धारित इत्येतत्तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तेति तप्तꣳ ह्येतं घर्मं परिगृह्याऽयजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवा इत्यूर्जा ह्येतं यज्ञमयजन्त देवाः' (श० ९।२।३।९)। मामहानशब्दो यजमानपर इत्याह—यजमानो वा इति। अग्नेरुक्थानि स्तोत्रशस्त्राणि पत्राण्यङ्गानि भवन्ति, तदाह—उक्थानि ह्येतस्येति। यद्वा उक्थान्येव पत्रं वाहनं यस्य सः। गृभीत इति पदेनाध्वर्युणा धारित इत्येतदुक्तं भवति, तदाह—गृभीत इति।

तथा च ब्राह्मणानुसारेणायमर्थः—सम्यग्दीप्तेऽग्नौ प्रणीयमाने मामहानोऽत्यर्थं पूजको यजमानोऽधिकारभावेन तमनुगच्छति। उक्थान्येवाङ्गानि यस्य स उक्थपत्रः, ईड्यः स्तुत्यो यज्ञियो वा सोऽग्निरध्वर्युणा धारितः। किञ्च, देवास्तप्तं घर्मात्मकं तमग्निं परिगृह्यायजन्त। तप्तत्वादेव यज्ञरूपं तमाज्यादिहविर्लक्षणेन अन्नेन अशमयन्तेति द्वितीयस्यायजन्तेत्यस्यार्थः।

अध्यात्मपक्षे—देवा ऋत्विजः समिद्धे सन्दीप्तेऽग्नौ तप्तं घर्मं यज्ञशिरोरूपमपवर्ग्यं महावीरं परिशासाभ्यां परिगृह्य अयजन्त यजन्ते। ऊर्जा अन्नादिलक्षणेन हविषा यद् यं यज्ञं यजनीयं परमेश्वरं यजन्ते, सोऽधिमामहानोऽधिकं पुनः पुनः पूज्यमानः, उक्थपत्रः स्तोत्रशस्त्रादिरूपः, छन्दोमयो गरुडः पत्रं वाहनं यस्य सः, ईड्यः स्तुत्यः, गृभीतः सर्वैरप्यास्तिकैराधुनिकैः प्राचीनैश्चर्षिमुन्यादिभिर्गृहीतः स्वात्मत्वेनोपास्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्या देवा विद्वांसः, यथा समिद्धेऽग्नौ यद्यज्ञमग्निहोत्रमयजन्त कुर्वन्ति, तथैव यो मामहानोऽत्यन्तसत्कारयोग्यः, यस्य वक्तुं योग्यं विद्यायुक्तं वेदस्तोत्रं यश्च स्तुत्यः, यः सज्जनैर्गृहीतं तापयुक्तं घर्ममग्निहोत्रमूर्जा बलेन परिगृह्य यूयमयजन्त यजध्वम्' इति, तदपि विसङ्गतमेव, उक्थादिपदानामर्थानवबोधात्, पत्रपदार्थानुक्तेश्च। घर्मपदस्याग्निहोत्रार्थता च निर्मूलैव, यतो हि घर्मपदं महावीरेऽपवर्ग्येऽर्थे प्रसिद्धम्॥ ५५॥

दैव्या॑य ध॒र्त्रे जोष्ट्रे॑ देव॒श्रीः श्रीम॑नाः श॒तप॑याः।
प॒रि॒गृह्य॑ दे॒वा य॒ज्ञमा॑यन् दे॒वा दे॒वेभ्यो॑ अध्व॒र्यन्तो॑ अस्थुः॥ ५६॥

मन्त्रार्थ—हवि प्रदान कर देवताओं की सेवा करने वाला, यजमान में मन रखने वाला, भक्तों को धन देने का मन बनाने वाला, दूध आदि सैकड़ों प्रकार की सामग्री वाला यज्ञ, देवताओं के हितकारी वर्षण आदि के द्वारा अथवा यज्ञ के द्वारा जगत् का रक्षक हमारी दी हुई प्रीतियुक्त हवि को स्वीकार करने वाले अग्नि के निमित्त होता है, ऋत्विक्-गण उस अग्नि को पाकर उस यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। दीप्तिमान् ऋत्विक्गण देवताओं के निमित्त यज्ञ करने का मन बनाते हैं॥ ५६॥

द्व्यधिका बृहती वा द्व्यूना पङ्क्तिर्वा, अष्टात्रिंशदक्षरत्वात्। आग्नेयी। दैव्याय देवानामयं हितो वा दैव्यः, 'देवाद्यञञौ' (पा० सू० ४।१।८५, वा० २) इति रूपसिद्धिः, तस्मै। धर्त्रे धरतीति धर्ता तस्मै, यागद्वारा जगतो धारयित्रे। जोष्ट्रे जुषते अस्मद्दत्तहविः सेवत इति जोष्टा, तस्मै। एवंविधाय अग्नये यज्ञो भवतीति शेषः। कथम्भूतो यज्ञः? देवश्रीः। देवान् श्रयति हविर्दानेनेति देवश्रीः। पुनः कथम्भूतो यज्ञः? श्रीमनाः श्रयते सेवत इन्द्रादीन् देवानिति श्रीर्यजमानः, तस्मिन् मनोऽनुग्रहपरायणं यस्य सः। यद्वा श्रीर्मनसि यस्य स श्रीमनाः। अथवा भक्तेभ्यः श्रियं दातुं मनो यस्य स श्रीमनाः। शतपयाः शतं शतसंख्याकानि पयःप्रभृतीनि हवींषि यस्य सः। एतादृशयज्ञस्याग्निं परिगृह्य देवा ऋत्विजो यज्ञं प्रति आयन् यज्ञं कर्तुमागच्छन्ति। किञ्च, देवा दीप्यमाना ऋत्विजो देवेभ्योऽर्थाय अध्वर्यन्तः, आत्मनोऽध्वरं कर्तुमिच्छति अध्वर्यति, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि नामधातुः, 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इत्यन्तलोपेऽध्वर्यतीति रूपम्, तस्माद् बहुत्वे शतर्यध्वर्यन्तोऽध्वरं कर्तुमिच्छन्तः, अस्थुः परिवार्य स्थिताः। अथवा पूर्वार्धर्चे पयो दानार्थं नीयत इति वाक्यशेषः। तथा च एवंभूतायाग्नये देवा ऋत्विजो यज्ञमायन् यज्ञं कर्तुमागच्छन्ति। सोऽयमीदृशोऽग्निरस्मदभीष्टदो भवत्विति शेषः। कीदृशोऽग्निः? देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः। तादृशमग्निं परिगृह्य देवा ऋत्विग्यजमाना यज्ञमायन् अनुतिष्ठन्ति। किञ्च, देवा ऋत्विगादयो देवेभ्यो हविःस्वीकर्तृभ्योऽध्वर्यन्तोऽध्वरं कर्तुमिच्छन्तः, अस्थुः तिष्ठन्ति।

अध्यात्मपक्षे—देवेभ्यो हिताय हितकारिणे तेषामेवार्थे श्रीरामकृष्णादिरूपेण अवतारधारिणे धर्त्रेऽसुर-राक्षसादिवधद्वारा जगतो धारयित्रे, जोष्ट्रे भक्तसमर्पितपत्रपुष्पफलादिवस्तूनां प्रीत्या सेवित्रे भगवते श्रीरामाय नमः। स भगवान् कीदृशः ? तत्रोच्यते—देवश्रीः मर्यादापुरुषोत्तमत्वाद् यज्ञादिना देवान् इन्द्राग्न्यादीन् श्रयते सेवते स देवश्रीः। श्रीमनाः श्रियि सीतायामनुरक्तं मनो यस्य सः। यद्वा श्रयते भगवन्तमिति श्रीर्भक्तः, तस्मिन् सानुग्रहं मनो यस्य सः। अथवा श्रियमैश्वर्यं मोक्षलक्ष्मीं वा दातुं मनो यस्य सः। शतपयाः शतान्यनन्तानि दधिदुग्धाज्यादिहवींषि यस्य सः शतपयाः। यं फलदानप्रतिभुवं परिगृह्य ऋत्विग्यजमाना इन्द्रादयो वा यज्ञमायन् यज्ञमनुतिष्ठन्ति, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (भ० गी० १८।४६), 'क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फल-योगे क्रतुमतां क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते। अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं श्रुतौ श्रद्धां बध्वा कृतपरिकरः कर्मसु जनः॥' (म० स्त० २०) इत्यादिप्रमाणेभ्यः। देवेभ्यो हविर्भोक्तृभ्योऽध्वर्यन्तोऽध्वरं यज्ञं कर्तुमिच्छन्तो देवास्तमेवादर्शं मत्वा परिवार्य अस्थुस्तिष्ठन्ति, तस्यैव यज्ञाद्याचरणेन धर्मशिक्षकत्वात्, 'मर्त्यावतार-स्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः' (भा० पु० ५।१९।५) इति स्मृतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्र इति। दैवो ह्येष धर्ता जोषयितृतमो देवश्रीः श्रीमनाः शतपया इति देवश्रीर्ह्येष श्रीमनाः शतपयाः परिगृह्य देवा यज्ञमायन्निति परिगृह्य ह्येतं देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्यो अध्वर्यन्तो अस्थुरित्यध्वरो वै यज्ञो देवा देवेभ्यो यज्ञियन्तोऽस्थुरित्येतत्' (श० ९।२।३।१०)। अत्राग्निरेव धारयितृत्वाज्जोष-यितृतमत्वाच्च दैव्यादिशब्देनोच्यत इत्याह—दैव्यायेति। एतद्रीत्या मन्त्रार्थस्तु—देवसम्बन्धिने धारयित्रे जोषयितृ-तमाय अग्नये हविर्दानार्थं तत्प्रणयनं क्रियत इति वाक्यशेषः। किञ्च, यो देवश्रीः श्रयन्ते सेवन्त इति श्रियः, देवाः श्रियः सेवका यस्येति देवश्रीः। श्रीमनाः श्रियं दातुं मनो यस्य स श्रीमनाः। शतपयाश्च तमग्निं परिगृह्य देवा यज्ञं देवयजनप्रदेशमायन् गतवन्तः। गत्वा च देवा ऋत्विगादयो देवेभ्यो हविर्भोक्तृभ्योऽध्वर्यन्तो यज्ञमिच्छन्तः, अस्थुः स्थितवन्तः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा अध्वर्यन्तो यज्ञमिच्छन्तो विद्यादातारो वा विद्वांसो देवेभ्यो विदुषां प्रसन्नतार्थं गृहाश्रममग्निहोत्रादियज्ञं वा अस्थुः, यथा दैव्याय शुभगुणेषु प्रसिद्धाय धर्त्रे जोष्ट्रे होत्रे देवश्रीर्या सेव्यते सा विद्या लक्ष्मीः। श्रीमना यस्य लक्ष्म्यां मनः सः। शतपया यो दुग्धादिवस्तुशतयुक्तः, तं तादृशं यजमानं देवा विद्यादातारो यूयं परिगृह्य यज्ञं प्रति योऽयं गृहाश्रममग्निहोत्रादियज्ञं वा आयन् प्राप्ता भवथ' इति तदपि यत्किञ्चित्, सन्निधानादिनोपस्थितं योग्यपदं परित्यज्यानुपस्थितस्य दूरस्थपदस्य सम्बन्धयोजनस्य असाम्प्रतिकत्वात्। नहि विदुषां मनुष्याणामेव प्रसन्नतार्थं यज्ञानुष्ठानं भवति, तेषां प्रसादस्यान्यथापि सम्भवात्। न वा जगद्धारकत्वादिकं मनुष्येषु सम्भवति, तेषामल्पशक्तिमत्त्वात्। न चात्र यस्य कस्यचिद् धारणं विवक्षितम्, यस्य कस्य धारकत्वस्य सर्वत्रैव सौलभ्यात्॥ ५६॥

वीतꣳ हविः शमितꣳ शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति।
ततो वाका आशिषो नो जुषन्ताम्॥ ५७॥

मन्त्रार्थ—चौथा यज्ञ वह कहलाता है, जिसमें हवि पाने योग्य देवताओं के प्रिय और परम शान्त स्वभाव वाले अध्वर्यु के द्वारा हवन करने के निमित्त संस्कृत हवि प्राप्त होती है। इस यज्ञ में अभीष्ट अर्थ को कहने वाले तीनों वेदों के उच्चरित मन्त्र हमारे लिये फलीभूत हों॥ ५७॥

हविर्यज्ञदेवत्या बृहती। यत्र यस्मिन् काले यज्ञो हव्यं होतुं योग्यं हविरेति प्राप्नोति, ततो यज्ञादुत्थिता वाका वाक्यानि, वचेर्घञि रूपम्, ऋग्यजुःसामलक्षणानि, आशिषोऽभीष्टार्थशंसनानि च नोऽस्मान् जुषन्तां सेवन्ताम्। यज्ञफलान्यस्मानालिङ्गन्त्वित्यर्थः। कीदृशं हविः? वीतं देवानामिष्टम्, 'इष्टꣳ स्विष्टमित्येतत्' (श० ९।२।३।११) इति श्रुतेः। पुनः कीदृशम्? शमिता शमित्रा, तृतीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक्....' (पा० सू० ७।१।३९) इति सु आदेशः। यजध्यै यष्टुम्, 'तुमर्थे सेसेनसे' (पा० सू० ३।४।९) इत्यादिना शध्यैप्रत्ययः। शमितं मन्त्रैः संस्कृतम्। कथंभूतो यज्ञस्तुरीयश्चतुर्थः। कथं चतुर्थस्तत्राह—'अध्वर्युः पुरस्ताद्यजूꣳषि जपति होता पश्चादृचोऽन्वाह ब्रह्मा दक्षिणतोऽप्रतिरथं जपत्येष एव तुरीयो यज्ञः' (श० ९।२।३।११) इति श्रुतेः। यद्वा आदौ अध्वर्युणा 'ओ श्रावय' इत्याश्रावणम्। तत आग्नीध्रेण 'अस्तु श्रौषट्' इति प्रत्याश्रावणम्। ततोऽध्वर्योर्यजेति प्रैषः। ततो होतुर्वषट्कार इति यज्ञश्चतुर्धा कल्प्यते।

अत्र ब्राह्मणं व्याख्यान एवोद्धृतम्। अतः सम्पूर्णा कण्डिका नोद्ध्रियते। एतदनुसारी मन्त्रार्थस्तु—शमित्रा अग्न्यर्थयागीयं हविर्वीतम् इष्टं यत्र यस्मिन् प्रणयनदेशे हव्यं हवनार्हमग्निं तुरीयो यज्ञो गच्छति, तथाविधादस्मादग्नेरध्वर्य्वादीनाम् अप्रतिरथादयो मन्त्रा वाका ऋग्यजुःसामलक्षणानि वाक्यानि, आशिषश्च नः अस्माकं जुषन्तामिति।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, यत्र यन्निमित्तं यज्ञे यजने यजध्यै, तं भवन्तं यष्टुं हव्यं हवनयोग्यं वीतं कामितमभीष्टं शमिता शमित्रा शमनिष्ठेन साधकेन शमितं मन्त्रसंस्कृतं हविः, एति आगच्छति। तत्र पूर्वमध्वर्युर्जपति। पश्चाद्धोता ऋचः पठति। ब्रह्मा अप्रतिरथं जपति। तदपेक्षया तुरीयो यागो भवदीययजनं सम्पद्यते। ततस्तस्माद् यज्ञाद् वाकाः स्तुतिलक्षणानि ऋग्यजुःसामरूपाणि वचनान्याशिषोऽभीष्टशंसनानि, नोऽस्मान् जुषन्तां सेवन्ताम्। भवत्प्रसादात् तादृशा वाका आशिषश्च अस्मान् प्राप्नुवन्त्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः शमिता शान्तो गृहाश्रमी यजध्यै यागं कर्तुं वीतं गमनशीलं शमितं दुर्गुणप्रशमनं होतुं योग्यं हविरग्नौ प्रक्षिपति, यस्तुरीयो यज्ञः प्राप्तुं योग्योऽस्ति, तथा यत्र हव्यं होतुं योग्यं वस्तु एति ततस्तेभ्यः सर्वेभ्यो वाका या उच्यन्ते, ता वाच आशिष इच्छासिद्धयश्च नो जुषन्तामिवीच्छत' इति, तदपि न, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्। शमिता शान्तो गृहाश्रमीत्यपि निर्मूलमेव, अग्नौ प्रक्षिपतीति पदं तु मन्त्रबाह्यमेव। यज्ञस्य तुरीयत्वं कथमित्यनुक्तिश्च बलादारूढा शिरसि ॥ ५७ ॥

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयाँ२॥ अजस्रम्।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान् सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य जिसकी किरणें हैं, वह कनकवर्ण ज्वालारूप केशवाला, प्राणियों को अपने अपने व्यापार में लगाने वाला, ज्योतीरूप सविता देव पूर्व दिशा से प्रकट होता है। धर्मरक्षक विद्वान् उस ब्रह्मज्योति की आज्ञा में रह कर सकल भुवनों को देखता हुआ निरन्तर चलता रहता है ॥ ५८ ॥

आग्नेयी त्रिष्टुप्। हरिकेशः, हरति दारिद्र्यमिति हरिः, हिरण्यम्, 'अच इः' (उ० ४।१४०) इति रूपसिद्धिः, हरयो हिरण्यवर्णाः केशाः केशस्थानीया ज्वाला यस्य स अग्निः। सूर्यरश्मिः सूर्यस्येव रश्मयो यस्य सः। अथवा सूर्यश्चासौ रश्मिश्चेति सूर्यरश्मिः, सूर्यरूपस्तद्रश्मिरूपश्च। सविता सौति तत्तद्व्यापारेषु प्राणिनः प्रेरयतीति सविता। ज्योतिः ज्योतीरूपोऽग्निः, अजस्रं निरन्तरं प्रत्यहमिति यावत्, पुरस्तात् पूर्वस्यां दिश्याहव-

नीयरूपेण होमार्थम् उदयाद् उद्गच्छति। उत्पूर्वस्य यातेर्लङि प्रथमपुरुषबहुवचने शाकटायनभिन्नवैयाकरणमतेन रूपम्। एकवचनस्यापि कर्तुः क्रियायां बहुवचने वचनव्यत्ययः। तस्य अग्नेः प्रसवे प्रेरणे सति पूषा पोषकः सूर्यो याति उदयास्तमयद्वारेणाटति। कथम्भूतः पूषा ? विद्वान् स्वाधिकारम् अहोरात्रवर्तनात्मकं जानानः। पुनः कथम्भूतः ? विश्वा भूतानि सर्वलोकं सम्पश्यन् सम्यग् अवलोकयन्। पुनः कथम्भूतः ? गोपाः गोपायतीति गोपा रक्षकः, धर्मस्येति शेषः।

तथा चाह ब्राह्मणम्—'सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्। सविता ज्योतिरुदयाँ२॥ अजस्रमित्यसौ वा आदित्य एषोऽग्निः स एष सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सवितैतज्ज्योतिरुद्यच्छत्यजस्रं तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वानिति पशवो वै पूषा त एतस्य प्रसवे प्रेरते सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपा इत्येष वा इदꣳ सर्वꣳ सम्पश्यत्येष उ एवास्य सर्वस्य भुवनस्य गोप्ता' (श० ९।२।३।१२)। एतस्य प्रणीयमानस्याग्नेरादित्यात्मकत्वात् स एष प्रणीयमानाग्निलक्षणः सूर्यस्य च रश्मिभिर्युक्तो हरितवर्णकेशस्तेजोरूपः सविता अनवच्छिन्नं पुरस्तादुदयाद् यद् उद्यच्छति, अतो मन्त्र इममेवार्थमाचष्ट इत्याह—सूर्यरश्मिरिति। पूष्णः पशुजनकत्वात् पूषा इति पशव उच्यन्ते। त एतस्याग्नेरनुज्ञायां प्रवर्तन्त इत्ययमर्थो मन्त्रभागेन विवक्षित इत्याह—पशवो वा इति। तथा चायं मन्त्रार्थः—सूर्यस्य रश्मिभिर्युक्तो हरितकेशस्तेजोरूपः प्रणीयमानाग्निः पुरस्तादुद्यच्छति। तस्य प्रसवे विद्वान् पूषा याति। अग्नेः प्रजापत्यात्मकत्वेन विश्वा भुवनानि सम्पश्यन् सर्वस्यापि भुवनस्य द्रष्टृत्वाद् द्रष्टा। गोपाः रक्षितृत्वाद् भुवनस्य गोप्ता गोपायितेति। स तादृशः सविता यस्य प्रसवे जगत् प्रकाशयन् अहोरात्रं व्यवस्थापयन्नटति, सोऽग्निर्महान् प्रशस्त इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यरश्मिः सूर्य एव रश्मिर्यस्य सोऽयं सूर्यरश्मिः, कोटिसूर्यसमप्रभ इत्यर्थः। स च भगवान् श्रीरामचन्द्रः। हरिकेशो हिरण्यकेशो ज्योतिर्मयः सर्वस्य पुरस्तादग्रे दानवदर्पदलनाय उदयान् उद्गच्छति। तस्य भगवतः प्रसवे प्रेरणे पूषा सर्वस्य पोषको विद्वान् तस्य माहात्म्यातिशयं जानन् विश्वा विश्वानि भुवनानि सम्पश्यन् गोपा विश्वस्य भुवनानां धर्मस्य गोब्राह्मणादीनां च गोप्ता रक्षकोऽजस्रं प्रत्यहं दिवारात्रं व्यवस्थापयन् पर्यटति, स धर्मरक्षकः श्रीराम उदयान् उद्यच्छतु मत्समक्षमाविर्भवत्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, पुरस्तात् पूर्वं सविता सूर्यलोको ज्योतिः प्रकाशं ददाति। हरिकेशो हरितरश्मिर्यस्मिन् हरितवर्णाः सूर्यरश्मयो विद्यन्ते, यश्च प्रसवे उत्पन्ने जगत्यजस्रं निरन्तरं पूषा पोषकः, यं विद्वान् विद्यायुक्तः पुरुषः सम्पश्यन् तस्य विद्यां याति प्राप्नोति, तस्य सकाशाद् गोपाः संसाररक्षकाः पृथिव्यादिलोकास्तारागणाश्च समस्तभुवनानि उदयान् प्रकाशयन्ति, तं सूर्यलोकं यूयं जानत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ज्योतिर्ददातीति व्याख्याने ददातिपदस्य मूलेऽभावादसङ्गतेः, केशशब्दार्थानिरूपणाच्च। विद्वान् विद्यां यातीत्यप्यसङ्गतम्, विद्यापदस्य मूलेऽभावात्। गोपा रक्षकाः पृथिव्यादयस्तारागणाश्चेत्यपि निर्मूलम्, स्वाभ्यूहमात्रशरीरत्वात् ॥ ५८॥

विमान एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—जगत् की रचना करने की शक्तिवाला यह सूर्यदेव स्वर्ग के मध्य में स्थित है। यह पृथ्वी, स्वर्ग, अन्तरिक्ष को सब ओर से तेज से परिपूर्ण करता हुआ वेदि और स्रुवा को देखता है। यह सूर्यदेव इस लोक और अन्य लोकों में स्थित मनुष्यों के चित्त को भी जानता है ॥ ६० ॥

'आग्नीध्रदेशाद्दक्षिणं पृष्ठ्या सहितं पृश्न्यश्मानमुपदधाति विमान इति' (का० श्रौ० १८।३।२५)। अध्वर्युराग्नीध्रगृहाद् दक्षिणदिशि पृष्ठ्या संलग्नं पृश्निं तनुं वृत्तं चित्रवर्णं वा अश्मानं पाषाणं विमान इत्यादि द्व्यृचेन उपदध्यादिति सूत्रार्थः। विश्वावसुदृष्टा आदित्यदेवत्या त्रिष्टुप्। आदित्याध्यासेनाश्मा स्तूयते। एषोऽश्मा आदित्यरूपेण दिवोऽन्तरिक्षस्य मध्ये आस्ते तिष्ठति, 'असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निरमुमेवैतदादित्यमुपदधाति' (श० ९।२।३।१४) इति श्रुतेः। आहवनीयो द्युलोकः, गार्हपत्यो भूलोकः, तयोर्मध्ये आग्नीध्रमन्तरिक्षस्थानीयम्। तत्र स्थितत्वाद् दिवो मध्य आस्ते। कीदृश एषोऽश्मा ? विमानः, विविधं मिमीत इति विमानः, जगन्निर्माणसमर्थः। पुनः कीदृशः ? रोदसी द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च आपप्रिवान् तेजसा सर्वतः पूरितवान्। 'प्रा प्रपूरणे' इत्यस्माल्लिटि क्वसौ 'वस्वेकाचाद् घसाम्' (पा० सू० ७।२।६७) इतीडागमे, 'आतो लोप इटि च' (पा० सू० ६।४।६४) इत्याकारलोपे रूपम्। यद्यप्ययमिमे रोदसी जगच्च न किञ्चिदपि निर्मिमीते, नापि लोकं न वा यज्ञमापूर्य तिष्ठति, तथापि परमेश्वरगुणैरस्य स्तूयमानत्वान्न विरोधः। स तथा स्तूयमान आदित्यरूपोऽश्मा विश्वाचीः विश्वव्यापिनीः दिशः, अभिचष्टे सर्वतः प्रकाशयति। यथा घृताचीः घृतप्राप्तिहेतुभूता धेनूश्चाभिचष्टे, तथा अन्तरा ब्रह्माण्डमध्ये पूर्वमपरं च केतुमुदयास्तमयाभ्यां पूर्वापरदिशोऽनवच्छिन्नभूतं सूर्यमभिचष्टे। एष आदित्यो विमानो भूतग्रामस्य निर्माता दिवो मध्य आस्ते। ब्रह्माण्डमध्ये पूर्वमपरं च केतुमुदयास्तमयमध्य आदित्यरूपोऽश्मा तिष्ठति। यद्वा विश्वाचीः यज्ञकर्तननुग्रहीतुं विश्वं हविरञ्चितं स्थापितं यस्यां सा विश्वाची वेदिः। घृतमञ्चितं यस्यामिति घृताची स्रुक्। तथा पूर्वमिमं लोकमपरममुं लोकं च अन्तरा मध्ये स्थितानां जनानां केतुं चित्तं च बोधं च अभिचष्टे, सर्वजनानामभिप्रायज्ञ इत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाश्मानं पृश्निमुपदधाति। असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निरमुमेवैतदादित्यमुपदधाति पृश्निर्भवति रश्मिभिर्हि मण्डलं पृश्नि तमन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं चोपदधात्ययं वै लोको गार्हपत्यो द्यौराहवनीय एतं तदिमौ लोकावन्तरेण दधाति तस्मादेष इमौ लोकावन्तरेण तपति' (श० ९।२।३।१४)। उक्तैर्मन्त्रैराग्नीध्रपर्यन्तं गत्वा तत्रैकस्य पृश्निवर्णस्याश्मन उपधानं विधत्ते—अथेति। पृश्निशब्देन श्वैत्यमुच्यते। पृश्नेरश्मन उपधानेन आदित्यस्यैवोपधानं भवतीत्याह—असौ वा आदित्य इति। आदित्यमण्डलसादृश्यप्रदर्शनेनोक्तमश्मनः पृश्नित्वमुपपादयति—पृश्निर्भवतीति। रश्मिभिर्हि मण्डलं पृश्नि भवति। तस्य चाश्मन उपधानं गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये कर्तव्यमित्याह—तमन्तरेणेति। गार्हपत्याहवनीययोरधस्तनोपरितनलोकद्वयात्मकत्वाल्लोकद्वयस्य च मध्ये सूर्यस्य तपनात् सूर्यात्मकस्याश्मनस्तत्रोपधानमुपपन्नमित्याह—अयं वै लोक इति। 'आग्नीध्रवेलायाम्। अन्तरिक्षं वा आग्नीध्रमेतं तदन्तरिक्षे दधाति तस्मादेषोऽन्तरिक्षायतनो व्यध्वे व्यध्वे ह्येष इतः' (श० ९।२।३।१५)। वेलाशब्दोऽवकाशमाचष्टे। गार्हपत्याहवनीययोरधस्तनोपरितनलोकात्मकयोर्मध्यवर्तित्वेन आग्नीध्रस्य अन्तरिक्षत्वम्। व्यध्वशब्देन अर्धमार्ग उच्यते। तत्रैतस्याश्मन उपधानं क्रियते। तस्मादितः प्रदेशाद् व्यध्वे अर्धमार्गे एष सूर्यस्तपतीत्यर्थः। 'स एष प्राणः। प्राणमेवैतदात्मन् धत्ते तदेतदायुरायुरेवैतदात्मन् धत्ते तदेतदन्नमायुर्ह्येतदन्नमु वा आयुरश्मा भवति स्थिरो वा अश्मा स्थिरं तदायुः कुरुते पृश्निर्भवति पृश्नीव ह्यन्नम्' (श० ९।२।३।१६)। तस्याश्मन आदित्यात्मकत्वादादित्यस्य च प्राणाद्यात्मकत्वात् तदुपधानेनात्मनि प्राणादिधारणं सम्पाद्यत इत्याह—स एष इति। स आदित्यात्मकः, एषोऽश्मा प्राणः, प्राणात्मकादित्यरूपत्वात्। आदित्यस्य च प्राणत्वं तदुदये प्राणिनश्चेष्टन्ते, तदस्तमये तु न चेष्टन्त इति। अत एव श्रूयते—'योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति, असौ योऽस्तमेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायास्तमेति' (तै० आ० १।१४।१) इति। प्राणत्वादेवायूरूपत्वम्, प्राणिनामेव जीवनकालसम्बन्धात्। आयुर्ह्येतदिति। एष अश्मा यतः कारणाद् आयुरेव, एतदिति नपुंसकलिङ्गप्रयोग आयुरित्येतदपेक्षः। तद् आयुरन्नम्, तद्वतामेव भोक्तृत्वात्। यत एतदन्नम्, तस्मात्तदुपधानेन स्वकीय आत्मनि प्राणादीन् धारितवान् भवति। अश्मा यस्मात् स्थिरो भवति, तस्मादेव

तदुपधानेन यजमानस्यायुरपि स्थिरं भवतीति । 'स उपदधाति । विमान एष दिवो मध्य आस्त इति विमानो ह्येष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षमित्युद्यन् वा एष इमाँल्लोकानापूरयति स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरिति स्रुचश्चैतद्वेदीश्चाहान्तरा पूर्वमपरं च केतुमित्यन्तरेमं च लोकममुं चेत्येतदथो यच्चेदमेतर्हि चीयते यच्चाद पूर्वमचीयतेति' (श० ९।२।३।१७) । तस्योपधाने मन्त्रद्वयं प्रदर्शयन् व्याचष्टे—स उपदधातीति । हि यस्मात् कारणात्, एष सूर्यो भूतग्रामस्य निर्माता द्युलोकस्य मध्य आस्ते, अत उक्तं विमान इति । उदयमानः सूर्यः पृथिव्यादीन् स्वप्रकाशेनापूरयतीति तमर्थमाहेति व्याचष्टे—आपप्रिवानिति । 'प्रा प्रपूरणे' इत्यस्माद् वर्तमानार्थक-लिटः क्वसुः । विश्वाचीघृताचीपदाभ्यां विश्वेषां हविषां घृतानां च स्थापनाद् वेदयः स्रुचश्च विवक्ष्यन्त इत्याह—स विश्वाचीरिति । पूर्वमपरमिति शब्दाभ्यां पृथिवीद्युलोकौ विवक्षितौ । पूर्वमिति पूर्वचितो गार्हपत्यः, अपरमिति तदानीं चीयमान आहवनीय उच्यते । भूतग्रामस्य निर्माता द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं चा समन्तात् पूरयन् एष सूर्यो द्युलोकस्य मध्ये तिष्ठति । किञ्च, यः सूर्यः पूर्वमपरं च केतुं लोकमन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये गार्हपत्याहवनीययोर्वा मध्ये सन् विश्वाचीर्वेदीर्घृताचीः स्रुचश्च अभिचष्टे पश्यति ।

अध्यात्मपक्षे—एषोऽपरोक्षचैतन्याभिन्न आदित्य आदित्यमण्डलान्तर्गतः पुरुषः, विमानः सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य निर्माता, दिवो द्युलोकस्य मध्ये सूर्यरूपेणास्ते । रोदसी द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च आपप्रिवान् आपूरितवान् । स च विश्वाचीः सर्वा दिशः, घृताचीः सर्वतः प्रकाशयति । अनुग्रहदृष्ट्या कामधेनूश्चाभिपश्यति । पूर्वमिमं परममुं च अन्तरा मध्ये स्थितानां केतुं चित्तमभिचष्टे ।

दयानन्दस्तु—'विद्वान् य एष सूर्यः, दिवः प्रकाशस्य मध्ये विमानो विमानमिव स्थित आस्ते तिष्ठति, रोदसी प्रकाशभूमो अन्तरिक्षमवकाशमापप्रिवान् स्वतेजसा व्याप्तवान् सन् आस्ते, स विश्वाचीर्या विश्वमञ्चन्ति प्राप्नुवन्ति स्वोदयेन प्रकाशयन्ति, घृताचीर्जलं प्रापयन्ति, ता द्युतीर्विस्तारयति । पूर्वमग्रे, अपरं पश्चात्, अन्तरा तयोर्मध्ये, केतुमभिचष्टे प्रकाशकं तेजोऽभिपश्यति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अभिचष्टेशब्दस्य विस्तारयतोति व्याख्यानस्य धात्वर्थविरुद्धत्वात् । विमानमिव स्थित इत्यप्यशुद्धम्, सवितुर्गमनस्य साधितत्वात्, 'देवो याति भुवनानि पश्यन्' इति मन्त्रवर्णाच्च ।।५९।।

उक्षा समुद्रो अरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश ।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ।। ६० ।।

मन्त्रार्थ—वर्षा से पृथ्वी को सींचने वाले, ओस के कणों से उसको गीली करने वाले, आकाश में व्याप्त श्रेष्ठ गति वाले, द्युलोक में स्थित विचित्र वर्ण, अनेक प्रकार की किरणों से व्याप्त, उदय के समय अरुण वर्ण सूर्य ने पूर्व दिशा रूप स्वर्गस्थान में प्रवेश किया है । वहाँ से विचरण करते हुए सूर्य देव ब्रह्माण्ड की सब ओर से रक्षा करते हैं ।। ६१ ।।

अप्रतिरथदृष्टा आदित्यदेवत्या त्रिष्टुप् । य आदित्यः पूर्वस्य पूर्वदिशि स्थितस्य पितुर्द्युलोकस्य योनिं स्थानमाविवेश आविशति, 'खात्पितोच्चतरस्तथा' (म० भा० ३।३१३।६०) इत्युक्तेः पितुःशब्देन द्युलोक उच्यते । उदयसमये सूर्यो द्युलोकाज्जायमान उपलभ्यते । तस्माद् द्युलोकपूर्वभागः सूर्यस्य पितृभूत उच्यते । कीदृशः सः ? उक्षा वृष्टिद्वारा सेक्ता । पुनः कीदृशः ? समुद्रः समुनत्ति क्लेदयति उदयकालेऽवश्यायपतनेनेति समुद्रः । अरुण उदयकालेऽरुणवर्णः । सुपर्णः सु सुष्ठु पर्णं पतनं गमनं यस्य सः । यश्च दिवो मध्ये निहितोऽवस्थितः । यश्च पृश्निर्विचित्रवर्णो नानारश्मिसङ्कुलः । यश्च अश्मा अश्नुते व्याप्नोति नभ इत्यश्मा । एवंविधः सन् विचक्रमे

विक्रमते नभः। यश्च विक्रममाणो रजसो रञ्जनस्य लोकत्रयस्य अन्तौ अन्तान् पर्यन्तभागान्, वचनव्यत्ययः, पाति रक्षति। यो ह्यन्तान् पाति स मध्यं पात्येवेत्यर्थः। यद्वा अयमश्मा उक्षा सेक्ता। यागद्वारेणाभीष्टफलाभिषेचकः। समुद्रो बहुफलप्रदत्वात् समुद्रसदृशः। अरुणः पूर्वमन्त्रे सर्वप्रकाशकत्वेनोपवरितत्वाद् उदयकालिकारुणसूर्यसदृशः। सुपर्णः स्वर्गं प्रति गमनहेतुत्वाद् गरुडपक्षिसदृशः। तथाविधोऽश्मा पितुः कर्मपालकस्य पूर्वस्य पूर्वदिग्वर्तिनः, आहवनीयस्य योनिं कारणभूतमाग्नीध्रमाविवेश प्रविष्टवान्। 'यदाहवनीयमुद्धपेदाग्नीध्राद्धरेत्' इत्याहवनीययोनित्वमाग्नीध्रस्याम्नातम्। अयं पृश्निः श्वेतवर्णोऽश्मा दिवो मध्ये आग्नीध्रस्थानीयस्य आकाशस्य मध्ये निहितः स्थापितः सन् रजसो रञ्जनीयस्य जगतोऽन्तौ उत्पत्तिप्रलयेतिकोटिद्वयं विचक्रमे गतवान्। तथा गतः सन् पाति परमेश्वररूपेण पालयति।

अत्र ब्राह्मणम्—'उक्षा समुद्रो अरुणः सुपर्ण इति। उक्षा ह्येष समुद्रोऽरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेशेति पूर्वस्य ह्येष एतं योनिं पितुराविशति मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मेति मध्ये ह्येष दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तावितिं विक्रममाणो वा एष एषां लोकानामन्तान् पाति' (श० ९।८।३।१८)। अत्र रजःशब्देनैते लोका विवक्षिताः। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—एष आदित्यमण्डलस्थः परमेश्वरः, उक्षा अभीष्टकामनावर्षुकः, समुद्रवद् दुर्विगाह्यः, अरुणो भक्तानुरागरञ्जितः, सुपर्णः शोभनपर्णः, जीवरूपस्य सुपर्णस्य सखा, पूर्वस्य अनादिसिद्धजीवस्य योनिं स्थानं हृदयप्रदेशमाविवेश प्रविष्टवान्। तत्र दिवो हार्दाकाशस्य मध्ये निहितः पृश्निः स्वभावस्वच्छोऽपि पृश्निर्बुद्ध्यादिभिः किर्मीरितश्चित्रवर्ण इव अश्मा व्यापकः, रजसो जगतोऽन्तौ पर्यन्तान् विचक्रमे विक्रममाणः पाति रक्षति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य ईश्वरेण दिवः प्रकाशस्य मध्ये निहितः स्थापितः, यश्च उक्षा वृष्ट्या सेचकः, समुद्रः सम्यग् द्रवन्त्यापो यस्मात् सः, अरुण आरक्तः, सुपर्णः शोभनानि पर्णानि पालनानि यस्मात् सः, पृश्निः विचित्रवर्णः, सूर्यरूपः प्रकाशः, अश्मा मेघः, रजसो लोकान् अन्तौ बन्धने विचक्रमे विविधतया क्रमते पाति रक्षति। पूर्वस्य पूर्णस्य पितुरुत्पादिकाया विद्युतो योनिं कारणमाविवेश प्रविशति, स सम्यगुपयोक्तव्यः' इति, तदपि शब्दमर्यादामुपेक्ष्य स्वैरित्वमेव व्यनक्ति। 'पूर्वस्य पूर्णस्य पितुरुत्पादिकाया विद्युतः' इत्यादिव्याख्यानस्य तथाविधत्वात्, अत एव निर्मूलत्वाच्च। अन्तिशब्दस्य, अन्तुशब्दस्य वा बन्धनार्थतापि चिन्त्यैव ॥६०॥

इन्द्रं विश्वा॑ अवीवृधन् समु॒द्रव्य॑चसं॒ गिरः॑।
र॒थीत॑मꣳ र॒थीनां॒ वाजा॑नाꣳ सत्प॑तिं॒ पति॑म् ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—ऋक्, यजु और साम रूप सभी स्तुतियाँ समुद्र के समान व्यापक, सभी रथियों के मध्य में अत्यन्त बलवान्, धनधान्य के पति, निज धर्म में रहने वालों के पालक इन्द्र देव का वर्धापन करती हैं ॥ ६१ ॥

'निधायैनमतिक्रामन्तीन्द्रं विश्वा इति' (का० श्रौ० १८।३।२७)। एनं पृश्न्यश्मानं क्वचिद् गुप्ते देशे स्थापयित्वा सर्वे चयनं प्रति गच्छन्ति 'इन्द्रं विश्वा' इत्याद्यृक्चतुष्टयेनेति सूत्रार्थः। व्याख्यातपूर्वेयमृक् (१२।५६) इति स्थाने ॥ ६१ ॥

दे॒व॒हूर्य॒ज्ञ आ च॑ वक्षत् सु॒म्न॒हूर्य॒ज्ञ आ च वक्षत् ।
यक्ष॑द॒ग्निर्दे॒वो दे॒वाँ२॥ आ च॑ वक्षत् ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ— देवताओं को बुलाने वाला यज्ञ के देवताओं को बुलाकर यजन करें। धन-पुत्र आदि सकल सुखों को देनेवाला यज्ञ देवताओं को बुलावे। अग्नि देवता देवताओं का आह्वान करें और यजन करे ॥ ६२ ॥

तिस्रोऽनुष्टुभः, आद्ये द्वे द्व्यधिके उष्णिहौ वेत्युव्वटाचार्यः। विधृतिदृष्टा यज्ञदेवत्या। देवहूः देवान् आह्वयतीति देवहूर्यज्ञो देवान् आवक्षद् आवहतु, चकारात् यजतु। यश्च सुम्नहूः सुम्नं सुखमाह्वयतीति सुम्नहूः, धनपुत्रकलत्राद्युत्थसुखानामाह्वाता यज्ञो देवान् आवक्षद् आवहतु, चकाराद् यजतु च। अग्निर्देवश्च देवान् आवक्षद् यक्षद् आवहतु यजतु च। वहतेर्यजेश्च 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिपि, अनुदात्तत्वादिड-प्रवृत्तौ, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति तिप इकारलोपे वक्षद् यक्षद् इति रूपसिद्धिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'तं निधाय यथा न नश्येत्' (श० ९।२।३।१९)। तस्योपहितस्याश्मनो रक्षां विधाय आवहनीयप्रदेशं प्रति गच्छेयुरिति विधत्ते—तं निधायेति। 'अथोपायन्ति। इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्निति तस्योक्तो बन्धुर्देवहूर्यज्ञ आ च वक्षत् सुम्नहूर्यज्ञ आ च वक्षदिति देवहूश्चैव यज्ञः सुम्नहूश्च यक्षदग्निर्देवो देवाँ२॥ आ च वक्षदिति यक्षच्चैवाग्निर्देवो देवाना च वहत्वित्येतत्' (श० ९।२।३।२०)। तस्योक्तो बन्धुरिति 'इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्नितीन्द्रं हि सर्वाणि भूतानि वर्धयन्ति' इत्यादिना अस्य ब्राह्मणं (श० ८।७।३।७) अष्टमकाण्डेऽभिहितम्। शेषं स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—यतो यज्ञो विष्णुर्देवहूर्देवैराहूयते स्वात्मरक्षार्थमिति देवहूः, देवैर्हूयते इज्यत इति वा देवहूर्विष्णुः। रावणादिभ्यो भीता देवा विष्णुमेवाश्रयन्ति, 'स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः। अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः ॥' (वा० रा० अ० १।७) इति रामायणवचनात्। विष्णुर्यज्ञो भूत्वा देवान् आवक्षद् आवहतु, चकाराद् यजतु च। सुम्नहूः सुम्नाय विविधसुखाय मोक्षसुखाय च यो सर्वैर्हूयते आकार्यत इज्यते च स सुम्नहूः, श्रीरामरूपेण यज्ञे देवानामाह्वाता भूत्वा मर्त्यशिक्षणार्थं देवान् आवक्षद् आवहतु यक्षद् यजतु च। अग्निरग्रणीर्देवानां सोऽग्निर्देवो देवान् आवहतु यजतु च। लोकसंग्रहार्थं मर्त्यशिक्षणार्थं सर्वमेतत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यो देवहूर्यज्ञ ईश्वरोऽस्मान् सत्यमावक्षत्, चादसत्यादुद्धरेत्। यः सुम्नहूर्यज्ञोऽस्मभ्यं सुखान्यावक्षद् दुःखानि च नाशयेत्, योऽग्निर्देवोऽस्मान् देवान् यक्षद् आवक्षच्च तं भवन्तः सततं सेवन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सत्यपदस्य मूलेऽभावात्, अध्याहारस्य पुरुषेच्छाधीनत्वात्, तस्याश्च निरङ्कुशत्वेन नियन्त्रयितुमशक्यत्वात्। तथा चास्य मन्त्रस्यैवमप्यर्थो गदितुं शक्यो यत् सनातनधर्ममावक्षत् सामाजिकस्वीकृतादुच्छृङ्खलान्मार्गादुद्धरेदिति। देवहूः परमेश्वरः कथं किमर्थं विदुष आह्वयति? ईश्वरः सुखं कथमाह्वयति? स तु स्वयं पूर्णकामः सुखरूप इति कथं तस्य सुखापेक्षा सम्भवति। 'देवान्' इत्यस्य 'दिव्यान् गुणान् दिव्यान् भोगान्' इत्यप्यर्थो निर्मूल एव ॥ ६२ ॥

वाज॑स्य मा प्रस॒व उ॑द्ग्रा॒भेणोद॑ग्रभीत् ।
अधा॑ स॒पत्ना॒निन्द्रो॑ मे नि॒ग्रा॒भेणाध॑राँ२॥ अकः ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र देवता अन्न की उत्पत्ति और दान के द्वारा मुझे अनुगृहीत करें और मेरे शत्रुओं को भिक्षा मांगने की तरफ ढकेल कर उन्हें नीचा दिखावें ॥ ६३ ॥

ऐन्द्री। वाजस्य अन्नस्य प्रसवः प्रसूतिः प्रसवभूमिः, अभ्यनुज्ञाता वा इन्द्र उद्ग्राभेण उद्ग्राहेण उद् ऊर्ध्वं विगृह्य दीयत इत्युद्ग्राभ उद्ग्रहणम्, घञ्। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य' (पा० सू० ८।२।३२, वा० १) इति हस्य भः, दानमित्यर्थः। तेन मा माम् उदग्रभीद् उदग्रहीद् उद्गृह्णातु। अधा अथ 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति दीर्घः। समनन्तरमेव इन्द्रः परमेश्वरो निग्राभेण निग्रहणसामर्थ्येन नीचैर्ग्रहणेन नीचैर्हस्तं कृत्वा भिक्षादिः प्रार्थ्यते। याचिष्णुतया अन्नाद्यभावेन भिक्षाटनं वा क्रियतेऽनेनेति निग्रहणम्, तेन मम सपत्नान् शत्रून् अधरान् अधमान् तिरस्कृतान् अकः करोतु। मां दानसामर्थ्योपेतं दातारं सपत्नांश्च निग्रहणसामर्थ्येन भिक्षून् करोत्वित्यर्थः। करोतेर्धात्वर्थसम्बन्धे 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति लङि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लोपे गुणे तिपो लोपे विसर्गे च अक इति रूपम्। यद्वा उद्ग्रहणेनोन्नायकेनानुग्रहण-सामर्थ्येन मामनुगृहीतमुन्नतं करोतु, मम सपत्नांश्च निग्राभेण निग्रहसामर्थ्येन निगृहीतान् करोत्वित्यर्थः।

तथा च ब्राह्मणम्—'वाजस्य मा प्रसवः। उद्ग्राभेणोदग्रभीत्। अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२॥ अकरिति' (श० ९।२।३।२१)। मन्त्रः स्पष्टार्थ इत्याह—वाजस्येति।

अध्यात्मपक्षे—वाजस्य अन्नस्य लौकिकस्य भोग्यस्य ज्ञानवैराग्यलक्षणस्य आध्यात्मिकभोज्यस्य वा प्रसवभूमिरिन्द्रः परमेश्वर उद्ग्राभेण ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपेणानुग्रहेण मामुद्गृह्णातु। अधा अथ मम सपत्नान् बाह्यान् द्वेष्टॄन् आन्तरांश्च अज्ञानाहङ्कारादीन् निग्राभेण निग्रहणसामर्थ्येन अधरान् अधमान् निगृहीतान् बाधितान् अकः करोतु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथेन्द्रः पालको वाजस्य विशेषज्ञानस्य प्रसव उत्पादक ईश्वरो मां उद्ग्राहेण सम्यग्ग्रहणसाधनेन गृह्णाति, तथैव अधा अनन्तरमेव पालकस्य विशेषज्ञानशिक्षयितुर्मम सपत्नान् निग्राभेण परा-जयेन अधरान् अकः अधःपतितान् कुर्यात्, तं सेनापतिं कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दृष्टान्तस्य शास्त्रैक-गम्यस्य लौकिके दार्ष्टान्तिकेऽसङ्गतेः, दार्ष्टान्तस्य सेनापतिपदार्थस्य मन्त्रशब्दैरनवगमाच्च ॥ ६३ ॥

उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवा अवीवृधन्।
अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान् व्यस्यताम् ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—देवता हमें यश की तरफ और हमारे शत्रुओं को निन्दा की तरफ बढ़ावें, हमारे यज्ञसाधक वेदों को समृद्ध बनावें। इन्द्र तथा अग्नि देवता हमारे शत्रुओं को इधर-उधर भटकाकर विनष्ट कर दें ॥ ६४ ॥

इन्द्राग्निदेवत्या। देवा उद्ग्राभं च अस्मद्विषयमुत्कर्षं निग्राभं च शत्रुविषयमपकर्षं च ब्रह्मत्रयीलक्षणं यज्ञविषयं च अवीवृधन् वर्धयन्तु। अधा अथ अनन्तरं मे सपत्नान् विष्वगञ्चनान् नानागतीन् कृत्वा विशेषतो द्वौ देवाविन्द्राग्नी व्यस्यतां विक्षिपताम् अपुनरागमनाय, विनाशयतामिति यावत्। अत्र ब्राह्मणम्—'उद्ग्राभं च निग्राभं च। ब्रह्म देवा अवीवृधन् अधा सपत्नानिद्राग्नी मे विषूचीनान् व्यस्यतामिति' (श० ९।२।३।२२)। प्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—देवाः सर्वेऽपि अस्मद्विषयमुद्ग्राभम् उत्कर्षं सपत्नादिविषयं निग्राभम् अपकर्षं च, ब्रह्म त्रयीलक्षणं च, वेदविषयो यज्ञो ब्रह्म च, तथा च यज्ञविषयं वेदविषयं च ज्ञानमिति यावत्। अवीवृधन् वर्धयन्तु। अत्र विषयेण विषय्युपलक्ष्यते, वेदलक्षणस्य यज्ञस्य ब्रह्मणो वा नित्यत्वेन वर्धनासम्भवात्। इन्द्राग्नी प्रसिद्धौ परमेश्वरांशभूतौ दिव्यौ देवौ, इन्द्रः परमेश्वरः, अग्नी रुद्रश्चोभौ मम सपत्नान् शत्रून् कामादीन् विषूचीनान् नानागतीन्, अर्थाद् विघटितान् कृत्वा व्यस्यतां विनाशयताम्।

दयानन्दस्तु—देवा विद्वांसः, उद्ग्राभम् अत्यन्तोत्साहेन ग्रहणम्, निग्राभं त्यागं च कृत्वा ब्रह्म धनं वर्धयेरन्। अथ अनन्तरं विद्युदग्नी तत्तुल्यौ सेनापती मम सपत्नान् विषूचीनान् विरुद्धमाचरतो व्यस्यताम् उत्क्षिपताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धनवर्धने विदुषामविदुषां च उभयेषामपि रागानुगायाः प्रवृत्तेः सिद्धत्वे तत्रोपदेशानपेक्षणात्। सेनापतीत्यत्र द्विवचनं किंमूलकम्? इन्द्राग्नीति विभिन्नवाच्यत्वे को हेतुः? कथं च सेनापतिवाचकोऽयं शब्दः॥ ६४॥

क्रम॑ध्वम॒ग्निना॒ नाक॒मुख्य॑ꣳ॒ हस्ते॑षु॒ बिभ्र॑तः।
दि॒वस्पृ॒ष्ठꣳ॒ स्व॒र्ग॒त्वा मि॒श्रा दे॒वेभि॑राध्वम्॥ ६५॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों! उखा पात्र में स्थित संस्कारशुद्ध अग्नि को हाथों में धारण करते हुए चित्य अग्नि के साथ स्वर्ग लोक में जाओ। स्वर्गलोक से भी ऊपर ब्रह्मलोक में जाकर देवताओं के साथ मिल कर आनन्द का उपभोग करो॥ ६५॥

'क्रमध्वमग्निनेति चित्यमारोहन्ति' (का० श्रौ० सू० १८।४।१)। ऋत्विजः क्रमध्वमित्यादिभिः पञ्चभिर्ऋग्भिस्तीर्थेन चित्याग्निमारोहन्तीति सूत्रार्थः। आग्नेयी अनुष्टुप्। हे ऋत्विग्यजमानाः, यूयमग्निना चित्येन कृत्वा नाकं स्वर्गलोकं क्रमध्वं लोककालाग्न्यादिवपुषा क्रमत। कीदृशा यूयम्? उख्यम् उखायां संस्कृतम् अग्नि हस्तेषु बिभ्रतो धारयन्तः। यद्वा उख्यमग्नि हस्तेषु बिभ्रतः सन्तो अग्निना अनेन चित्याग्निना सह क्रमध्वम् आक्रमत, चित्युपरि पादान् कुरुत, आरोहध्वमित्यर्थः। ततो दिवोऽन्तरिक्षस्य पृष्ठं स्वः स्वर्गं गत्वा देवेभिर्देवैर्मिश्राः संयुताः सन्त आध्वम् आसनं कुरुत। उपवेशनार्थकस्य आदादिकस्य आसेर्लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने शपो लोपे 'धि च' (पा० सू० ८।२।२५) इति सकारलोपे रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे साधकाः, यूयमग्निना परमात्मना तदीयानुग्रहेणोखायां बुद्धौ समाविर्भूतं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारं हस्तेषु विचाररूपेषु धारयन्तो दिवो द्युलोकस्य पृष्ठम् उपरि नाकं सर्वदुःखविवर्जितं स्वः स्वर्गं देवेभिर्देवैर्मिश्रा विद्वद्भिरेकीभूता आध्वम् उपविशत, परब्रह्मात्मस्वरूपेणावस्थिता भवत।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, यूयमग्निना विद्युता नाकमविद्यमानदुःखम्, उख्यं पात्रे परिपक्वं सूपौदनादिकं हस्तेषु बिभ्रतो धारयन्तः क्रमध्वं पराक्रमध्वम्। देवेभिर्विद्वद्भिर्दिवो न्यायविनयादिप्रकाशजातस्य पृष्ठं ज्ञीप्सितं स्वः सुखं गत्वा प्राप्य आध्वमुपविशत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। अद्यत्वे विद्युता सर्वेऽपि भोजनादिकं पाचयन्ति। दिवःपदस्यापि विनयादिप्रकाशाद्यर्थता चिन्त्यैव॥ ६५॥

प्राची॒मनु॑ प्र॒दिशं॒ प्रेहि॑ वि॒द्वान॒ग्नेर॑ग्ने पु॒रो अ॑ग्निर्भवे॒ह।
विश्वा॒ आशा॒ दीद्या॑नो॒ वि भा॒ह्यूर्जं॑ नो धेहि द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे॥ ६६॥

मन्त्रार्थ—हे उखापात्र में स्थित अग्निदेव ! अपने अधिकारों को जानते हुए आप श्रेष्ठ दिशा की ओर ध्यान देकर जाओ । यहाँ अग्नि के अग्रगामी बनो, सकल दिशाओं को प्रकाशित करते हुए विशेष रूप से प्रदीप्त होकर हमारे पुत्र आदि परिवार और गो आदि पशुओं को अन्न दो ।। ६६ ।।

आग्नेयी त्रिष्टुप् । हे अग्ने, इदानीमानीत उख्याग्ने, प्राचीं प्रदिशं प्रागाख्यां प्रकृष्टां दिशमनुलक्ष्य त्वं प्रेहि प्रकर्षेण गच्छ । यद्वा अनुक्रमेण प्रकर्षो यथा स्यात्तथा गच्छ । कीदृशस्त्वमिति जिज्ञासायामग्निं विशिनष्टि—विद्वानिति, स्वाधिकारं जानन्नित्यर्थः । गत्वा च हे अग्ने प्रणीयमानोख्याग्ने, इह अस्मिन् प्रदेशे, अग्नेरिष्टकानिष्पादितस्य चितिरूपस्याग्नेः पुरो अग्निर्भव, पुरोऽग्रे अङ्गति विविधरूपतया कुटिलं गच्छतीति पुरोऽग्निः पुरो गन्ता, मुख्य इति यावत्, भव । 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति सन्ध्यभावः, प्रकृतिभाव इति यावत् । ततो विश्वाः सर्वा आशा दिशो दीद्यानोऽवभासयन् विभाहि विविधं दीप्यस्व । ततो नोऽस्माकं द्विपदे पुत्रमित्रकलत्रादिकाय, चतुष्पदे गवाश्वादिकाय ऊर्जमन्नं धेहि सम्पादय ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर तत्पदार्थभूतपरमात्मन्, त्वं प्राचीं प्रकर्षेण पूज्यां प्राचीं दिशमिव पूर्णप्रज्ञानप्राकट्यक्षमां विशुद्धां बुद्धिमनुलक्ष्य प्रेहि प्रगच्छ तत्र प्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरमात्मस्वरूपेण आविर्भव । गत्वा चेह बुद्धौ पुरोऽग्निर्भव अपरोक्षापरब्रह्मरूपो भव । प्रत्यक्चैतन्यात्मनाऽभेदाभावे तत्पदार्थस्य परोक्षतैव भवति । अन्यथा परमात्मनि वादिविप्रतिपत्त्यनापत्तिः । एतदेव स्पष्टयति—विश्वाः सर्वा आशा दिशो दीद्यानो विभाहीति । प्रत्यगात्मरूपे परमात्मरूपेण सर्वा दिशस्तत्रत्यानि वस्तूनि च प्रकाशयन् विभाहि, स्वयं च विशेषेण प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपेणाभिव्यक्तो भव, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० २।२।१०) इति श्रुतेः । यः सर्वकर्ता सर्वेश्वरः सर्वान्नप्रदाता, स एव प्रत्यगभिन्नपरमात्मरूपेण मोक्षरूपश्च भवतीति तात्पर्यम् ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने सभेश, त्वं प्राचीं प्रदिशमनुप्रेहि । इह राज्यकर्मण्यग्नेराग्नेयास्त्रादिप्रयोगात् पुरोऽग्निरग्निवत् पुरोगामी भव । विद्वान् कार्यविशेषज्ञः सन् सर्वा दिशो दीद्यानो नो द्विपदे चतुष्पदे ऊर्जमन्नादिकं धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सभेशस्य प्राचीदिग्गमनस्य प्रयोजनासङ्गतेः । सिद्धान्ते तु आहवनीयस्य प्राच्यामेव सत्त्वात् तत्र गमनं सुश्लिष्टमेव । अग्नेरित्यस्य आग्नेयास्त्रादिप्रयोगार्थता गौण्यैव वृत्त्या सम्भवति, न तु शक्त्या । शक्तिभक्त्योर्मध्ये शक्तेरेव प्राधान्यम्, भाक्तस्य प्रयोगस्य त्वप्राधान्यमेव । न च सभापतेरेव सर्वाः प्रजा द्विपाद्भ्यश्चतुष्पाद्भ्यश्च अन्नादिकं कामयन्ते, तथात्वे त्वदभिमतस्य प्रजातन्त्रस्यासङ्गतित्वापत्तेः ।। ६६ ।।

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ।। ६७ ।।

मन्त्रार्थ—मैं यजमान पृथ्वी से ऊपर उठता हुआ अन्तरिक्ष पर चढ़ गया हूँ, अन्तरिक्ष से ऊपर चढ़ कर स्वर्ग लोक में पहुँच गया हूँ । मैं स्वर्ग के दुःखरहित स्थान से ऊपर सूर्यमण्डल को प्राप्त हुआ हूँ ।। ६७ ।।

आग्नेयी पिपीलिकमध्या बृहती । आद्यतृतीयौ त्रयोदशार्णौ द्वितीयोऽष्टको यस्यां सा पिपीलिकमध्या बृहती, 'त्रयोदशिनोर्मध्येऽष्टकः पिपीलिकमध्या' इति वचनात् । अत्राद्यस्त्रयोदशः, द्वितीयो नवकः, तृतीयश्चतुर्दशक इति षट्त्रिंशदक्षरत्वाद् बृहती, 'त्रिपादणिष्ठमध्या पिपीलिकमध्या' इति वचनाच्चेति महीधराचार्यः । यजमान आह—अहं यजमानः पृथिव्या उद् उद्गतः सन् अन्तरिक्षमारुहम् आरूढोऽस्मि । तस्मादन्तरिक्षाद् उद्गतो दिवमारुहम् आरूढोऽस्मि । दिवो द्युलोकस्य यो नाको दुःखरहितः प्रदेशः, तस्य पृष्ठादुपरिभागात् स्वर्ज्योतिः

स्वर्गलोकस्य ज्योतिरादित्यमण्डलमहमगां गतोऽस्मि, प्राप्स्यामीत्यर्थः। इणेर्लुङि 'इणो गा लुङि' (पा० सू० २।४।४५) इति गादेशः, 'गातिस्था' (पा० सू० २।४।७७) इति सिचो लुक्। यद्वा—अहं यजमानः पृथिव्याः सकाशाद् उदन्तरिक्षमूर्ध्वंक्रमेण अन्तरिक्षमारुहमारूढः, अन्तरिक्षाच्च दिवमारुहं द्युलोकमारूढः, दिवः सकाशान्नाकस्य पृष्ठमारूढः, नाकस्य पृष्ठाच्च स्वरादित्याख्यं ज्योतिरहमगां गतः प्राप्तः।

अत्र ब्राह्मणम्—'पृथिव्या अहम्। उदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहमिति गार्हपत्याद्ध्याग्नीध्रीयमागच्छन्त्याग्नीध्रीयादाहवनीयं दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहमिति दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्गं लोकमगामहमित्येतत्' (श० ९।२।३।२६)। गार्हपत्याग्नीध्रीयाहवनीयानां पृथिव्यादिलोकत्रयात्मकत्वात् क्रमेण तत्र गमनात् पृथिव्यादिलोकत्रयं क्रमेणारूढवानस्मीत्यर्थः। नाकस्य सुखहेतुभूतस्य द्युलोकस्य पृष्ठाज्ज्योतिर्विशिष्टं प्रकाशमानं स्वर्गलोकमहमगामित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अहमुपासको भगवतः प्रसादात् पृथिव्याः सकाशात् 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्' (भ० गी० ८।२४) इति क्रमेण पृथिव्याः सकाशादूर्ध्वमन्तरिक्षमारुहम्। अन्तरिक्षादूर्ध्वं दिवमारुहम्, दिवः सकाशान्नाकस्य दुःखरहितप्रदेशस्य पृष्ठमारुहम्, तस्मान्नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरादित्यमध्यगाम्, ततश्च अमानवपुरुषद्वारा साक्षाद् भगवन्तमेवाहं प्राप्स्यामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा कृतयोगाङ्गानुष्ठानसंयमसिद्धोऽहं पृथिव्या अन्तरिक्षमारुहम्, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्, नाकस्य दिवः पृष्ठात् स्वर्ज्योतिश्चाहमगाम्, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्,सशरीरस्य अन्तरिक्षादिलोकारोहणासम्भवात्, अशरीरस्य तथा यूयमाचरतेति वक्तुमशक्यत्वाच्च। किञ्च, सर्वत्रैव प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरसिद्धमेव वेदार्थं वर्णयतोऽस्य व्याख्यातुः कथमात्मनोऽन्तरिक्षारोहणम्? कथं च द्युलोकारोहणम्? किञ्च तत्र विद्यते? किमर्थं तत्रारोहणम्? किञ्च तत्र प्रमाणम्? यदि वेदादिशास्त्रस्याज्ञातज्ञापकत्वमुपेयते, तदा स्वर्गपितृलोकान्तरं कुतो नोपेयते? ॥ ६७ ॥

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्याᳬं रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारᳬं सुविद्वाᳬंसो वितेनिरे ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ—भक्ति-ज्ञान से सम्पन्न जो विद्वद्गण सारे जगत् को धारण करने वाले यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, वे जरा, मृत्यु, शोक आदि से वर्जित स्वर्ग में निवास करते हैं। वे स्वर्ग की तरफ जाते समय कृतकृत्य होने से, सब प्रकार से संतुष्ट होने से पुत्र-पौत्र आदि की अपेक्षा नहीं करते ॥ ६८ ॥

आग्नेयी अनुष्टुप्। अत्र यच्छब्दयोगाद् द्वितीयोऽर्धर्चः प्रथमं व्याख्यायते। ये यजमानाः, सुविद्वांसः सुष्ठु कर्मानुष्ठानप्रकारं विदन्ति जानन्तीति तथोक्ताः, कर्मोपासनासमुच्चयकारिणो विश्वतोधारं सर्वस्य जगतो धारणहेतुं यज्ञं वितेनिरे वितन्वन्ति, विस्तारेण अनुतिष्ठन्ति, ते यजमानाः स्वः स्वर्गं लोकं यन्तो गच्छन्तो नापेक्षन्ते पुत्रपश्वाद्यपेक्षां न कुर्वते, कृतकृत्यत्वात्। द्यां स्वर्गं च आरोहन्ति। यद्वा – रोदसी द्यावापृथिव्यौ आरोहन्ति। ततः स्वर्गनिवासमादित्यमण्डलं प्राप्नुवन्तोऽन्यत् किमपि स्थानं नापेक्षन्ते। कथम्भूतां द्याम्? रोदसी रुणद्धि जरामृत्युशोकरोगादीन् या सा रोदसी ताम्, रोदसी विभक्तेर्लुक्, पूर्वसवर्णदीर्घो वा, रोदसीत्यव्ययं वा। धकारस्य दकारश्छान्दसः। इदं पदं द्यामित्यस्य विशेषणम्। नात्र रोदसीपदेन द्यावापृथिव्योर्ग्रहणम्, द्यामित्यस्य पृथगुपादानात्। अथवा ये सुविद्वांसः कर्मोपासनसमुच्चयकारिणः, हिरण्यगर्भोपासनेन सार्धं

यज्ञं वितेनिरे ते स्वर्यन्तो न किञ्चित् पशुपुत्रादिकमपेक्षन्ते। कीदृशं यज्ञम्? विश्वतोधारं विश्वतो धारा यस्मिन्, आहुतिदक्षिणान्नानि यज्ञस्य धाराः, ताभिर्ह्येष वर्षति। अथवा वैश्वानर-मारुत-पूर्णाहुति-वसोर्धारा-वाजप्रसवीयानि यज्ञस्य धाराः। यद्वा विश्वतोधारं विश्वस्य धारयितारं द्यां स्वर्गं चारोहन्ति।

अत्र ब्राह्मणम्—'स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते। आ द्याᳪ रोहन्ति रोदसी इति न हैव तेऽपेक्षन्ते ये स्वर्गं लोकं यन्ति यज्ञं ये विश्वतोधारᳪ सुविद्वाᳪसो वितेनिर इत्येष एव यज्ञो विश्वतोधार एत उ एव सुविद्वाᳪसो य एतं वितन्वते' (श० ९।२।३।२७)। ये स्वर्गं यन्ति ते फलान्तरं नापेक्षन्ते खलु। एष एव सर्वेण प्रकारेण जगद् धारयति। एष एव यज्ञो विश्वतोधारः। य एतं वितन्वते, एत एव सुविद्वांसः खलु, विदुषामेव यज्ञनिष्पादकत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—ये सुष्ठु विदन्ति—'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥' (भ० गी० २।४६), ये निष्कामा भगवदाराधनबुद्ध्यैवोपासनसमुच्चितं कर्म अनुतिष्ठन्ति, ते स्वः परमसुखस्वरूपं परं ब्रह्म यन्तः प्राप्नुवाना नापेक्षन्ते किञ्चिदपि। ते विश्वतोधारं यज्ञं वितेनिरे विश्वपोषकं यज्ञं विस्तारयन्ति। ते द्यां स्वप्रकाशब्रह्मात्मिकां द्यामारोहन्ति। कीदृशीं द्याम्? रोदसी जरामरणाद्यविच्छेदलक्षणायाः संसृते रोध्रीम्। विभक्तिव्यत्ययः, पूर्वसवर्णादिर्वा, अव्ययपदं वा।

दयानन्दस्तु—'ये सुविद्वांसः स्वः सुखं यन्तो न इव स्वरात्यन्तिकं सुखमपेक्षन्ते, रोदसी द्यावापृथिव्यौ आरोहन्ति, द्यां प्रकाशमयीं योगविद्यां विश्वतोधारं सर्वतः सुशिक्षायुक्तवाणीयुक्तं यज्ञं वितेनिरे, तेऽविनाशिसुखं प्राप्नुवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तेऽविनाशिसुखं प्राप्नुवन्तीत्यंशस्य वेदबाह्यत्वात्। द्यावापृथिव्योर्मध्ये सोपाधिकस्यैव सुखस्य प्राप्तिर्नात्यन्तिकस्य सुखस्य, 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥' (भ० गी० ८।१६) इति भगवदुक्तेः॥ ६८॥

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति॥ ६९॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! आप देवताओं को चाहने वाले यजमानों में मुख्य हो तथा देवता और मनुष्यों के चक्षु रूप हो। इसलिये आप यहाँ आओ, आपकी कृपा से यज्ञ करने की इच्छा वाले और महात्मा ब्राह्मणों के साथ प्रीति करने वाले यजमान कल्याणपूर्वक स्वर्गलोक में जाँय॥ ६९॥

आग्नेयी त्रिष्टुप्। हे अग्ने, त्वं देवयतां देवान् आत्मन इच्छन्तीति देवयन्ति, देवयन्तीति देवयन्तस्तेषां यजमानानामुपकाराय त्वं प्रथमं प्रेहि पुरतो गच्छ। 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि, 'क्यचि च' (पा० सू० ७।४।३३) इतीत्वे प्राप्ते, 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० सू० ७।४।३५) इतीत्वनिषेधे शतरि च रूपम्। कथं मयाऽग्रतो गन्तव्यम्? तत्राह—यतस्त्वं देवानामुतापि मर्त्यानां च चक्षुः चक्षुःस्थानीयः। लोकेऽपि हि गच्छतः पुरुषस्य दृष्टिः पुरतो याति। किञ्च, इयक्षमाणा यष्टुमिच्छन्ति यियक्षन्ते, यियक्षन्त इति इयक्षमाणाः, छान्दसोऽभ्यासयकारलोपः, यजमानाः। भृगुभिः सजोषा भृगुगोत्रनायकैरनुष्ठानपरायणैर्मुनिभिः समानो जोषः प्रीतिरभिप्रायो वा येषां ते तथोक्ताः। स्वस्ति क्षेमो यथा स्यात्तथा स्वः स्वर्गं यन्तु प्राप्नुवन्तु। अत्र मन्त्रे भृगुग्रहणमार्षेयानूचानब्राह्मणोपलक्षणार्थम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतामिति । इममेतदग्निमाह त्वमेषां प्रेहि प्रथमो देवयतामिति चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानामित्युभयेषाᳬं᳭ हैतद्देवमनुष्याणां चक्षुरियक्षमाणा भृगुभिः सजोषा इति यजमानो भृगुभिः सजोषा इत्येतत् स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्तीति स्वर्गं लोकं यन्तु यजमानाः स्वस्तीत्येतत्' (श० ९।२।३।२८) । अग्नेश्चक्षुष्ट्वं च बहूपकारकत्वात् । स्पष्टमन्यत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, देवयतां दीव्यति जगदुत्पत्तिस्थितिलयक्रीडयेति देवः परमात्मा, तमिच्छतां ब्रह्मात्मभावमधिजिगमिषूणां प्रथमः पुरतः प्रेहि प्रगच्छ, तेषां साक्षात्कारगोचरो भव । यतस्त्वमेव देवानां हविर्भुजामन्येषां च कर्मदेवानां मर्त्यानां मनुष्याणां च त्वमेव चक्षुरिव चक्षुर्मार्गदर्शकः, चक्षुरादीनामपि त्वदधीनप्रकाशत्वात् । इयक्षमाणा मनसा वाचा कर्मणा भवन्तमर्चन्तो भृगुभिर्भृगुवंशीयैर्ब्राह्मणैः सजोषाः समानप्रीतिमन्तो यजमानाः स्वस्ति निर्विघ्नं स्वरनन्तसुखात्मस्वरूपं त्वां यन्तु प्राप्नुवन्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, देवयतां कामयमानानां मध्ये प्रथम आदिमः पूर्वं प्रेहि प्राप्नुहि । यतो देवानां विदुषामुत मर्त्यानामविदुषां त्वं च चक्षुरसि दर्शकमसि । यथा इयक्षमाणा यज्ञं चिकीर्षमाणा भृगुभिः परिपक्वविज्ञानैर्विपश्चिद्भिः सह सजोषाः समानप्रीतिसेवना यजमानाः सर्वेभ्य सुखदातारः स्वस्ति कल्याणं स्वः सुखं यन्तु, तथा त्वमपि भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भृगुयजमानादिपदानां प्रसिद्धार्थमपहायाप्रसिद्धार्थकल्पनाया निर्मूलत्वात्, गौरवावहत्वाच्च, रूढिर्योगमपहरतीति न्यायाच्च ॥ ६९ ॥

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकᳬं᳭ समीची । द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाः ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ—हे उखापात्र ! समान मन वाले, कृष्ण-शुक्ल आदि के भेद से विलक्षण रूप वाले, परस्पर मिले हुए रात और दिन इस बालक अग्नि को सायंप्रातः अग्निहोत्र आदि कर्म से तृप्त करते हैं । ऊपर द्युलोक और नीचे भूलोक के मध्य में जो प्रकाशमान अग्नि विशेषरूप से शोभित है, उसे मैं उठाता हूँ । यज्ञों के अनुष्ठान के द्वारा धनरूप फल को देने वाले देवगणों ने अग्नि को धारण किया है ॥ ७० ॥

'स्वयमातृण्णामध्यग्निं धारयन् शुक्लवत्सापयसाऽभिजुहोति कृष्णाया दोहनेन स्वयमातृण्णामवसिञ्च-न्नक्तोषासेति' (का० श्रौ० १८।४।२) । अध्वर्युः स्वयमातृण्णाया उपरि समीपे प्रतिप्रस्थात्रा तमग्निं धारयन् कृष्ण-वर्णायाः शुक्लवत्सायाः गोः पयसा दोहनेन मृण्मयदोहनपात्रेण जुहूस्थानीयेन स्वयमातृण्णामवसिञ्चन् इध्मस्थेऽग्नौ 'नक्तोषासा' इत्यादि ऋग्द्वयेन जुहुयात् । अस्य जुहोतित्वान्मन्त्रवर्जं सान्नाय्यधर्माणां प्रवृत्तिः । दोहनपात्रे दोहन-धर्माः कार्याः, जुहूकार्यापन्नत्वादिति सूत्रार्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमभिजुहोति । एतद्वा एनं देवा ईयिवाᳬं᳭समुपरिष्टादन्नेनाप्रीणन्नेतयाऽऽहुत्या तथैवैनमयमेतदीयिवाᳬं᳭समुपरिष्टादन्नेन प्रीणात्येतयाऽऽहुत्या कृष्णायै शुक्लवत्सायै पयसा रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा तस्या असावादित्यो वत्सः स्वेनैवैनमेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणात्युपरि धार्यमाण उपरि हि स यमेतत्प्रीणाति दोहनेन हि पयः प्रदीयते' (श० ९।२।३।३०) । चित्याग्निसमारोहणानन्तरमस्मिन्नुख्याग्नौ होमं विधत्ते—अथेति । विहिताहुतिश्चित्यं प्राप्तस्याग्नेरुपरिष्टादन्नं सम्पाद्यत इत्याह—एतद्वा इति । विहिते होमे द्रव्यं विधत्ते—कृष्णायै शुक्लवत्सायै पयसेति । एतादृश्या गोः पयस उपादाने कारणमाह—रात्रिर्वा इति । रात्रिः खलु कृष्णा शुक्लवत्सा । अस्या रात्रेरसावादित्यो वत्सः, यथा वत्सो गोसमीपे वर्तते तद्वदस्य रात्रिसमीपे वर्तमानत्वात् । अयमेवार्थ-

स्तैत्तिरीयकेऽपि श्रूयते—'अग्निश्चादित्यश्च रात्रेर्वत्सः'(तै० आ० १।१०।५) इति । एवं चास्याग्नेरादित्यात्मकत्वात् तथाविधाया गोः पयसा होमे स्वकीयभागेन स्वेन रसेनैतत्प्रीणाति । तदेव स्पष्टयति–स्वेन रसेनेति । प्रीणयितव्यस्य आदित्यात्मकस्याग्नेरुपर्येव वर्तमानत्वेन उपरि धार्यमाण एव उख्याग्नौ जुहुयादित्याह—उपरीति । प्रकृतहोमे होमसाधारणं जौहवं प्राप्नोतीति तदपवादेन दोहनं विधत्ते—दोहनेनेति । दोहनेन हि पयः प्रदीयत इति दोहनानन्तरं पात्रान्तरे दोहनेन खलु पयः प्रदीयत इत्यर्थः । 'शिर एतद्यज्ञस्य यदग्निः प्राणः पयः शीर्षंस्तत्प्राणं दधाति यथा स्वयमातृण्णामभिप्रक्षरेदेवमभिजुहुयात् प्राणः स्वयमातृण्णा रस एष शिरश्च तत्प्राणं च रसेन सन्तनोति सन्दधाति नक्तोषासा समनसा विरूपे इति' (श० ९।२।३।३१) । स्वयमातृण्णायाः प्राणत्वादग्नेस्तु शिरस्त्वात् प्राणं च शिरश्चेत्युभे अपि पयोलक्षणेन रसेन सन्तनोति । एतदेव विवृणोति—सन्दधातीति । परस्परसम्बद्धं करोतीत्यर्थः ।

द्वादशे द्वितीयकण्डिकास्थले व्याख्यातपूर्वेयम् ॥ ७० ॥

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः ।
त्वꣳ साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ—हे सहस्र नेत्रों वाले और सहस्र मूर्धा वाले अग्निदेव ! आपके सैकड़ों प्राण हैं, सहस्रों व्यान हैं, आप अनन्त धन के स्वामी हैं, ऐसे यज्ञस्वरूप आपको हम यह हवि देते हैं । यह भली प्रकार गृहीत हो ॥ ७१ ॥

आग्नेयी विराट् पङ्क्तिर्वा दशाक्षरचतुःपादा । हे अग्ने, सहस्राक्ष सहस्रमक्षीणि यस्यासौ सहस्राक्षः, तत्सम्बुद्धौ । शतसहस्रशब्दौ अपरिमिताभिप्रायौ । विश्वतश्चक्षुरित्यादिमन्त्रोक्तमूर्तिरूपत्वेनायमग्निः स्तूयते । अथवा हिरण्यशकलान्येवात्र नेत्राणि । तथा च श्रुतिः—'हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः' (श० ९।२।३।३२) । हे शतमूर्धन्, शतं मूर्धानो यस्यासौ शतमूर्धा, तत्सम्बुद्धौ । यस्य ते शतं प्राणाः सहस्रं व्यानाः, तथा त्वं साहस्रस्य सहस्रपरिमितस्य बहुसहस्रसमूहपरिमितस्य रायो धनस्य ईशिषे प्रभुरसि । तस्मै ते तादृशाय तुभ्यं वाजाय अन्नसिद्ध्यर्थं हविषा विधेम परिचरेम । यतो हि ते शतमनन्ताः प्राणाः । सहस्रमनन्ता व्यानाः । सर्वप्राणिनामक्षिमूर्धप्राणव्यानादय एव विराडग्नेरक्ष्यादयः । तेन सहस्राक्षत्वादिकं नानुपपन्नमिति । परिचरणं चात्र दानमेव । विधृतिरत्र दानकर्मा । तथा च वाजाय वाजं हविः, विभक्तिव्यत्ययः, स्वाहा अस्मद्दत्तं हविः सुहुतमस्त्वित्यर्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्ने सहस्राक्षेति । हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः शतमूर्धन्निति यददः शतशीर्षा रुद्रोऽसृज्यत शतं ते प्राणाः सहस्रं व्याना इति शतꣳ हैव तस्य प्राणाः सहस्रं व्याना यः शतशीर्षा त्वꣳ साहस्रस्य राय ईशिष इति त्वꣳ सर्वस्यै रय्या ईशिष इत्येतत्तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहेत्येष वै वाजस्तमेतत्प्रीणाति' (श० ९।२।३।३२) । एषोऽग्निः प्रोक्षणे विनियुक्तैः सहस्रसंख्याकैर्हिरण्यशकलैः सहस्राक्षः खलु । प्रकाशकत्वसाधारण्येन हिरण्यशकलानामक्षित्वोपचारः । यददः शतशीर्षेति । प्रजापतिरोदनेन उदितेषु अश्रुषु अन्तर्वर्तमाने मन्यौ प्रतिष्ठितेषु स एव शतशीर्षा रुद्रः समभूत् । तथा चाह श्रुतिः—'प्रजापतेर्विस्रस्ताद्देवता उदक्रामंस्तमेक एव देवो नाजहान्मन्युरेव सोऽस्मिन्नन्तर्विततोऽतिष्ठत् सोऽरोदीत्तस्य यान्यश्रूणि प्रास्कन्दंस्तान्यस्मिन् मन्यौ प्रत्यतिष्ठन् स एव शतशीर्षा रुद्रः' (श० ९।१।१।६) इति । अतोऽत्र अदःशब्देन स कालः परामृश्यते । हे सहस्राक्ष शतमूर्धन्नग्ने, ते शतसंख्याकाः प्राणाः सहस्रसंख्याका व्यानाश्च भवन्ति । त्वं सर्वस्य धनस्य ईशिषे ईश्वरो भवति । तस्मै वाजाय अन्नहेतुकत्वेन तदात्मकाय ते वयं विधेम परिचरेम । इदं हविस्ते स्वाहा सुहुतमस्त्विति मन्त्रार्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन् सहस्राक्ष अनन्तनेत्र शतमूर्धन् ! अन्यदपि पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने पावक इव प्रकाशमय सहस्राक्ष, सहस्रेष्वसंख्यातेषु व्यवहारेषु अक्षिविज्ञानं यस्य तत्सम्बुद्धौ । शतेष्वसंख्यातेषु मूर्धा मस्तकं यस्य तत्सम्बुद्धौ । शतमसंख्यातास्ते प्राणा जीवनसाधनाः शतं व्यानाश्चेष्टानिमित्ताः सर्वशरीरस्था वायवः । साहस्रस्य सहस्रम् असंख्यातानामिदमधिकरणं जगद् यस्य तस्य रायो धनस्य त्वमीशिषे ईशोऽसि । ते तुभ्यं वाजाय विज्ञानवते स्वाहा सत्यया वाचा विधेम परिचरेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यमर्थं परित्यज्य गौणार्थग्रहणे मानाभावात् । सहस्रपदस्य असंख्यातार्थत्वेऽपि व्यवहारार्थता कुतस्त्या ? अक्षिपदस्य चक्षुरर्थत्वेऽपि विज्ञानमिति लक्षणामन्तरा कुतोऽर्थः । अन्वयानुपपत्तिमन्तरा तात्पर्यानुपपत्तिमन्तरा वा लक्षणा कुतः ? न चात्र काचिदनुपपत्तिः प्रदर्शितेति । तथैव शतमनन्तसंख्यातेषु मूर्धा मस्तकं यस्येत्यप्यनुपपन्नम् । अन्यप्राणिनां मूर्धानो अन्यस्य कथं सम्भवन्ति । तथैव प्राणव्यानादयोऽपि नान्यसम्बन्धिनोऽन्यस्य सम्भवन्ति । शतपदार्थाधारस्य जगतो जाड्यं चैतन्यं वा ? नाद्यः, तस्य धनाकाङ्क्षाऽसम्भवात् । नान्त्यः, तस्य असङ्गत्वेन पदार्थाधारत्वानुपपत्तेः । न च योगिराजस्यापि सहस्राक्षत्वादिसम्भवः, भोगायतनानां कर्मजन्यत्वेन क्षीणकर्मणो योगिराजस्य तदनुपपत्तेः । अक्षीणकर्मणस्तु क्लेशकर्मविपाकाशयपरामृष्टत्वेन लोकोत्तरसामर्थ्यायोगात् ॥ ७१ ॥

सु॒प॒र्णो॑ऽसि ग॒रुत्मा॑न् पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्याः सी॑द । भा॒सान्तरि॑क्ष॒मापृ॑ण॒ ज्योति॑षा॒ दिव॒मुत्त॑भान॒ तेज॑सा॒ दिश॒ उद्दृ॑ꣳह ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप श्रेष्ठ पंखों वाले पक्षी रूप हैं, आप पृथ्वी पर विराजमान होइये, अपनी कान्ति से अन्तरिक्ष को भर दीजिये, अपनी ज्योति से द्युलोक को ऊँचा उठाइये, अपने तेज से सभी दिशाओं को आलोकित कर दीजिये ॥ ७२ ॥

'तस्यामग्निं निदधाति सुपर्णोऽसीति वषट्कारेण' (का० श्रौ० १८।४।४) । स्वयमातृण्णायां सुपर्णोऽसीति ऋग्द्वयेन वषट्कारान्तेनाग्निं स्थापयेदिति सूत्रार्थः । आग्नेयी पङ्क्तिः । हे अग्ने, त्वं सुपर्णोऽसि सुपर्णपक्ष्याकारो गरुडसमानोऽसि । गरुत्मान्, गरुद् गरणं निगरणं भक्षणमस्यास्तीति गरुत्मान्, अशनायावानसीत्यर्थः । अतः पृथिव्याः पृष्ठे उपरि सीद उपविश । भासा स्वप्रकाशेन अन्तरिक्षमापृण सर्वतः पूरय । ज्योतिषा स्वकीयेन सामर्थ्येन दिवं द्युलोकमुत्तभान ऊर्ध्वं स्तम्भितं कुरु । उत्पूर्वस्य स्तम्भेर्लोटि मध्यमैकवचने 'हलः श्नः शानज्झौ' (पा० सू० ३।१।८३) इति श्नाप्रत्ययस्य शानजादेशे, 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (पा० सू० ८।४।६१) इति पूर्वसवर्णे उत्तभान इति रूपम् । तथा तेजसा स्वकीयेन सामर्थ्येन दिशः प्राच्यादिकाः, उद्दृंह उत्कर्षेण दृढीकुरु दीपय वा ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं निदधाति । सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्येतद्वा एनमदो विकृत्या सुपर्णं गरुत्मन्तं विकरोति तꣳ सुपर्णं गरुत्मन्तं····कृत्वान्ततो निदधाति पृष्ठे पृथिव्याः सीद भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश उद्दृꣳहेत्येवꣳ ह्येष एतत्सर्वं करोति' (श० ९।२।३।३४) । अग्निहोमानन्तरमुख्याग्नेश्चितीनामुपरि निधानं विधत्ते—अथैनमिति । निधानमन्त्रे सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्यस्योपयोगमाह—एतद्वा इत्यादिना । लोके हि योनौ सिक्तं प्रजननसमर्थं रेतो विक्रियतेऽवयवविभागवत्क्रियते, अतोऽत्रापि योनिरूपायामुखायामाहितस्याग्नेरितरस्य अन्नस्यापि विकृत्या भवितव्यमिति पूर्वं विकृत्या विकृतिसाधनभूतेन सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्यादिकेन मन्त्रेण सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वा चितवान् । तथा चयनकालेऽपि सुपर्णं गरुत्मन्तमेव कृत्वा चितवान् । साम्प्रतं सुपर्णोऽसि

गरुत्मानित्यादिकेन सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वा निहितवान् भवति। चीयमानस्याग्नेः सुपर्णश्येनादिपक्ष्याकारेण चयनात् सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्युक्तम्। पर्णशब्देन पतनमुच्यते, शोभनपतनविशिष्ट इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने हे परमात्मन् विष्णो, त्वं सुपर्णो गरुडो गरुत्मान् शोभनपक्षोऽसि, गरुडस्यापि विष्णववतारत्वात्। नहि परमात्मानं विष्णुमन्यो धारयितुं शक्नोति। मूले मूलाभावादमूलं मूलमिति न्यायेन सर्वाधारस्य आधारान्तराभावादनाधारं तत्। तस्माद् भगवान् स्वात्मन्येव प्रतिष्ठितो भवति, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति श्रुतेः। स त्वं पृथिव्याः पृष्ठे उपरि सीद। भासा स्वीयेन प्रकाशेन अन्तरिक्षमापृण। ज्योतिषा स्वीयेन सामर्थ्येन दिवमुत्तभान। तेजसा स्वीयेन दिशो दीपय। नहि सामान्यपक्षिणं विषयीकृत्य एवं वक्तुं युज्यते। अत एव—'अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्' (ऋ०सं० १।१६४।४६)। इति मन्त्रवर्णः। अत्र यथा अग्निः, यथा मित्रः, यथा वरुणः, यथा वा इन्द्रः परमात्मैवास्ति, तथैव गरुत्मान् सुपर्णोऽपि परमात्मैव, 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० १।१।२२) इति न्यायात्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् योगिन्, त्वं भासा प्रकाशेन सुपर्णो गरुत्मानसि। शोभनानि पर्णानि पूर्णानि शुभलक्षणानि यस्य स गरुत्मान् गुर्वात्मा असि। यथा सविता अन्तरिक्षस्य मध्ये वर्तते, तथा पृथिव्याः पृष्ठे सीद। वायुरिव प्रजा आपृण। सविता ज्योतिषा दिवमन्तरिक्षमिव राज्यमुत्तभान। तेजसा तीक्ष्णीकरणेन दिश इव प्रजा उद्दृंह उद्वर्धय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। पर्णशब्दस्य पूर्णार्थतापि चिन्त्यैव। गरुत्मान् गुर्वात्मा इत्यपि प्रमाणापेक्षमेव। मन्त्रे विद्यमानपदैरेव सिद्धान्तरीत्या अन्वयोपपत्तौ प्रक्षेपाध्याहारादिमूलकं व्याख्यानमपव्याख्यानमेव। एवमेव सविता राज्यमित्यादीनामध्याहारोऽपि निर्मूल एव॥ ७२॥

आ॒जुह्वा॑नः सु॒प्रती॑कः पु॒रस्ता॒दग्ने॒ स्वं योनि॒मासी॑द साधु॒या।
अ॒स्मिन् स॒धस्थे॒ अध्युत्त॑रस्मि॒न् विश्वे॑ देवा॒ यज॑मानश्च सीदत॥ ७३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! बुलाये जाने पर आप प्रसन्नचित्त होकर पूर्व दिशा में निश्चित अपने श्रेष्ठ स्थान पर बैठिये। हे विश्वेदेवों, आप लोग और यजमान इस परम श्रेष्ठ अग्नि के साथ उत्तम स्थान यज्ञशाला में पधारिये॥ ७३॥

आग्नेयी त्रिष्टुप्। हे अग्ने! त्वम् आजुह्वानः अभिहूयमानः सन् सुप्रतीकः शोभनं प्रतीकं सुखं यस्य स सुमुखः सन् पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि साधुया साधु समीचीनं यथा स्यात्तथा, विभक्तेर्यादेशः, स्वं योनिं चित्याग्नेः स्थानम्। आसीद अधितिष्ठ। हे विश्वे देवाः, यूयं सम्प्रदानत्वेन यजमानश्चाधिकारित्वेन अस्मिन् पुरोवर्तिनि अध्युत्तरस्मिन् अधिकमुत्कृष्टे यज्ञाख्ये सधस्थे सह स्थातुं योग्ये यज्ञाख्ये स्वर्गे, 'स्वर्गो वै लोकः सधस्थः' इति श्रुतिमुज्जहारोव्वटाचार्यः, सीदत उपविशत, 'द्यौर्वा उत्तरं सधस्थम्' (श० ९।२।३।३५) इति वक्ष्यमाणश्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादिति। आजुह्वानो नः सुप्रतीकः पुरस्तादित्येतदग्ने स्वं योनिमासीद साधुयेत्येष वा अस्य स्वो योनिस्तꣳ साध्वासीदेत्येतदस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्निति द्यौर्वा उत्तरꣳ सधस्थं विश्वे देवा यजमानश्च सीदतेति तद्विश्वैर्देवैः सह यजमानꣳ सादयति द्वाभ्यां निदधाति' (श० ९।२।३।३५)। द्वितीयं मन्त्रं व्याचष्टे—आजुह्वान इति। सुप्रतीकः शोभनावयवः। तत्त्वमितरान् प्रति न, अपि त्वस्मान् प्रतीति व्याचष्टे—आजुह्वानो नः सुप्रतीक इति। अस्य उख्याग्नेः, एष चित्याग्निः, स्वो योनिः

स्वसम्बन्धि स्थानम्। अतोऽग्ने स्वं योनिमित्यादिना चित्याग्निं साध्वधितिष्ठेत्येतदुक्तं भवतीति व्याचष्टे—अग्ने स्वमिति। अस्मिन्निति पृथिव्यन्तरिक्षाभ्यामुपरि वर्तमानत्वेन द्युलोकात्मकत्वादस्मिन् चित्याग्निलक्षणे द्युलोकेऽध्यासीदेत्यर्थः। विश्वे देवा इत्यनेन विश्वैर्देवैः सह त्वं यजमानमत्रासादितवान् भवति। हे अग्ने, त्वं पूर्वस्यां दिश्याहूयमानोऽस्माकं शोभनावयवो भूयाः। अतः स्वं योनिं चित्याग्निं साधुया क्रियया अधितिष्ठ। अस्मिन् चित्याग्निरूपे उत्तरस्मिन् सधस्थे द्युलोकेऽध्यासीद। हे विश्वे देवाः, यूयं यजमानश्च अत्र सीदत, यूयं सम्प्रदानत्वेन यजमानोऽधिकारित्वेन सीदन्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वम् आजुह्वान आहूयमानो भक्तैः प्रेम्णा सुप्रतीकः सुमुखो भूत्वा पुरस्ताद् भक्तैः परिकल्पिते सिंहासने स्वं योनिं स्थानं साधुया समीचीनं यथा स्यात्तथा अधितिष्ठ। हे विश्वे देवाः, भगवतोंऽशभूता यूयं यजमानः साधकश्च, अस्मिन् साधकमनःप्रत्यक्षे, अध्युत्तरस्मिन् लोकोत्तरेऽत्युत्कृष्टे सधःस्थे स्वेष्टदेवेन सह स्थातुं योग्ये सीदत।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, योगाभ्यासेन प्रकाशितात्मन्, पुरस्तात् प्रथमत आजुह्वानः सत्कारेणाहूतः सुप्रतीकः प्राप्तशुभगुणो यजमानस्त्वं साधुया श्रेष्ठैः कर्मभिरस्मिन् सधस्थे सहस्थाने स्वं योनिं परमात्माख्यं गृहमासीद। हे विश्वे देवाः, सर्वे दिव्यात्मानो योगिनो यजमानो योगप्रद आचार्यश्च यूयं साधुयोत्तरस्मिन् सधस्थे सह स्थाने सीदत' इति, तत्सर्वं प्रमत्तप्रलापमात्रम्, अग्निपदस्य योगाभ्यासेन प्रकाशितात्मार्थस्य स्वाभ्यूहितमात्रत्वम्। तथैव सुप्रतीकशब्दस्यापि तत्कल्पित एवार्थः। योनिं परमात्माख्यं गृहमित्यपि काल्पनिकमेव। विश्वे देवा इत्यस्य दिव्यात्मानो योगिन इत्यपि न सम्प्रतिपन्नं व्याख्यानम्। शाब्दनये स्वातन्त्र्यस्याश्रयणेऽराजकतैव स्यात्, तस्याव्याहतप्रसरत्वात्॥ ७३॥

ताᳬं᳭ स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यस्य चि॒त्रामाहं वृ॑णे सुम॒तिं वि॒श्वज॑न्याम्।
याम॑स्य॒ कण्वो॒ अदु॑हत् प्रपी॑नाᳬं᳭ स॒हस्र॑धारां॒ पय॑सा म॒हीं गाम्॥ ७४॥

मन्त्रार्थ—सभी प्राणियों के प्रेरक ईश्वर की प्रार्थनीय, अनेक प्रकार के फल देने में समर्थ, सर्वहितकारिणी श्रेष्ठ बुद्धि का मैं वरण करता हूं। ज्ञानी कण्व ऋषि ने प्रेरक परमात्मा की इस अतिपुष्ट, अनन्त धारा वाली, अमृत द्वारा सबको सींचने वाली, सब प्रकार की सिद्धियों को देने वाली इस बुद्धि का दोहन किया था॥ ७४॥

'समिदाधानᳬं᳭ शामोलीवैकङ्कत्यौदुम्बर्यस्ताᳬं᳭, सवितुरिति प्रत्यृचमुत्तमा सकर्णका' (का० श्रौ० १८।४।६)। चित्याग्नौ उख्याग्निनिधानानन्तरमध्वर्युस्तत्राग्नौ समित्त्रयमादध्यात्। तां सवितुरिति मन्त्रेण शामोलीं शमीमयीं, विधेमेति वैकङ्कतीम्, प्रेद्धो अग्ने दोदहीत्यौदुम्बरीम्। तत्र तृतीया औदुम्बरी समित् सकर्णका आधेया। कर्णको दारुस्फोटो रोगस्तद्वतीति सूत्रार्थः। कण्वदृष्टा सावित्री त्रिष्टुप्। पुरा कदाचित् कण्वाख्यो महर्षिरस्याग्नेर्यां सुमतिमनुग्रहकारिणीं बुद्धिं तद्रूपां वा गां धेनुमदुहत् दुग्धवान्, व्यत्ययेन शः, अन्यथा अधोगिति स्यात्, तामहं वृणे। तत्र दृष्टान्तः—प्रपीनां प्रभूतः पीनः स्तनसङ्घो यस्याः सा प्रपीना ताम्। यद्वा प्रकर्षेण पीनां पयसा पूरिताम्। सहस्रधारां सहस्रं धारा यस्याः सा सहस्रधारा, तां बहुक्षीरधारायुक्ताम्। पयसा महीं क्षीरेण सम्पूर्णाम्। अथवा बहुदुग्धयुक्तां गां धेनुं यथा लौकिका दुहन्ति, तद्वदयमग्निः सुमतिं दुग्ध्वा स्वाभीष्टं फलं प्राप्तवान्। वरेण्यस्य सर्ववरणीयस्य सर्वतः प्रेरकस्याग्नेः सम्बन्धिनी कण्वेन दुग्धां तां सुमतिमहमावृणे सर्वतः प्रार्थये। कीदृशीं सुमतिम्? चित्राम् अपेक्षितबहुविधफलप्रदानसमर्थाम्। पुनः कीदृशीम्? विश्वजन्यां विश्वं

जन्यमुत्पाद्यं यस्याः सा विश्वजन्या, तां जगदुत्पादनसमर्थाम्, अहमावृण इति सम्बन्धः। यद्वा अनया सावित्र्या त्रिष्टुभा कण्वः पुरस्तात् कामदोहनीं धेनुं पयो ययाचे। तां सवितुः सम्बन्धिनीं वरेण्यस्य सर्ववरणीयस्य चित्रां चायनीयां सुमतिं शोभनबुद्धिमहमावृणे वृणोमि स्वीकरोमि। कीदृशीं ताम्? विश्वजन्यां सर्वजनेभ्यो हिताम्। याम् अस्य सवितुः सम्बन्धिनीं यां सुमतिमेव गां धेनुं कण्वोऽदुहद् दुग्धवान्। प्रपीनां पयसा पूरितां सहस्रधारां बहुकुटुम्बस्य धारयित्रीं सर्वसिद्धिदात्रीं वा। तामहं वृण इत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथास्मिन् समिध आदधाति। एतद्वा एनं देवा ईयिवाꣳसमुपरिष्टादन्नेनाप्रीणन् समिद्भिश्चाहुतिभिश्च तथैवैनमयमेतदीयिवाꣳसमुपरिष्टादन्नेन प्रीणाति समिद्भिश्चाहुतिभिश्च' (श० ९।२।३।३६)। उत्तरवाक्यद्वये निधानानन्तरमस्मिन्नग्नौ समिधामाधानं विधाय ताः समिधश्चित्याग्निं प्राप्तस्याग्नेरुपरितनान्नरूपेण स्तौति—अथास्मिन्निति। 'स वै शमीमयीं प्रथमामादधाति। एतद्वा एष एतस्यामाहुत्याꣳ हुतायां प्रादीप्यतोदज्वलत्तस्माद्देवा अबिभयुर्यद्वै नोऽयं न हिꣳस्यादिति त एताꣳ शमीमपश्यंस्तयैनमशमयंस्तद्यदेतꣳ शम्याऽशमयंस्तस्माच्छमी तथैवैनमयमेतच्छम्या शमयति शान्त्या एव न जग्ध्यै' (श० ९।२।३।३७)। तत्र शमीमयीं समिधं प्रथममादध्यादित्याह—स वा इति। शमीमय्याः प्रथमाधाने हेतुमाह—एतद्वा इति। अथैनमभिजुहोतीति विहितायामाहुत्यां हुतायामयमग्निः प्रदीप्तः सन्नुदज्वलत्। पश्चादुद्दीप्तमग्निं दृष्ट्वा येनोपायेन नोऽयं न हिंस्यादिति भीता देवा विचारयामासुः। पश्चादहिंसोपायत्वेन ते एतां शमीमयीं समिधमपश्यन्, दृष्ट्वा च तथा एनमशमयन्। यत्त एतमनयाऽशमयन्, तस्मादसौ शमीनामधेयाऽभूत्। अतः प्रथमं शमीमय्याः समिध आधानेन तथैवायमपि यजमानः शान्त्यै एनं शमयति। न जग्ध्यै, जग्धिर्भक्षणम्, भक्षणाभावाय, अहिंसार्थं इत्यर्थः। 'ताꣳ सवितुर्वरेण्यस्य। चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्यां यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनाꣳ सहस्रधारां पयसा महीं गामिति कण्वो हैनां ददर्श सा हास्मै सहस्रधारा सर्वान् कामान् दुदुहे तथैवैतद्यजमानाय सहस्रधारा सर्वान् कामान् दुहे' (श० ९।२।३।३८)। अथास्याः शमीसमिध आधाने मन्त्रं दर्शयति—तां सवितुरिति। कण्वो महर्षिरेनां शमीरूपां गां ददर्श खलु। अतश्च सा सहस्रधारा भूत्वा अस्मै कण्वाय सर्वान् कामान् दुदुहे। तस्मादाहिता सती शमी तथैव यजमानाय सर्वान् कामान् दुहे, दुग्धे इत्यर्थः। 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तकारलोपः। अस्याग्नेरुत्पादकत्वेन सम्बन्धेन शमीमदुहत्, 'शमीगर्भादग्निं मन्थति' (तै० ब्रा० १।९।१) इति श्रुतेः। प्रपीनां प्रकर्षेण पीवरीम्। महीं महतीम्, टिलोपश्छान्दसः। विश्वजन्यां विश्वं जन्यं जनहितं यस्यां सा विश्वजन्या, ताम्। सर्वस्योत्पादयित्रीं वा तामहमावृण इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—वरेण्यस्य सर्वसंभजनीयस्य सवितुर्जगदुत्पादकस्य परमात्मनः सम्बन्धिनीं तां चित्रां चायनीयां बहुधान्यपश्वादिफलप्रदां वा सुमतिं शोभनबुद्धिरूपामहम् आ आभिमुख्येन वृणे स्वीकरोमि। कीदृशीं सुमतिम्? विश्वजन्यां जगदुत्पादनसमर्थाम्, तत्सङ्कल्पेनैव प्रपञ्चोत्पत्तेः। कण्वो मुनिरस्य सवितुर्यां सुमतिमेव गां धेनुमदुहद् अनुग्रहकारिणीं बुद्धिं दुग्धवान्। कीदृशीं गाम्? प्रपीनां प्रकर्षेण पीवरीम्। पयसा पूरितां सहस्रधारां सहस्रक्षीरधारायुक्ताम्। पयसा दुग्धेन महीं महतीं बहुदुग्धां सर्वसिद्धिदात्रीं तां कण्वेन दुग्धां सवितुर्मतिमहं वृणे।

दयानन्दस्तु—'यथा कण्वोऽस्य वरेण्यस्य सवितुरीश्वरस्य यां चित्रां विश्वजन्यां प्रपीनां सुमतिं पयसा महीं गां च अदुहत्, तथा तामहं वृणे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कण्वपदस्य प्रसिद्धमर्थमपहाय मेधाव्यर्थकत्वार्थग्रहणे मानाभावात्, यथा-तथा-पदयोरपि मूलेऽभावाच्च ॥७४॥

विधेम॑ ते पर॒मे जन्म॑न्नग्ने वि॒धेम॒ स्तोमै॑र॒वरे॑ स॒धस्थे॑ ।
यस्मा॒द्योने॑रु॒दारि॑था॒ यजे॒ तं प्र त्वे ह॒वींषि॑ जुहु॒रे॒ समि॑द्धे ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! उत्तम जन्म वाले पुण्यात्मा स्वर्ग में आपके निमित्त हवि देते हैं, स्वर्ग के नीचे अन्तरिक्ष लोक में विद्युत् रूप में स्थित आपकी स्तुति करते हुए हवि देते हैं। आप इष्टका-चिति रूप स्थान में प्रकट हुए हैं, अतः मैं आपकी पूजा करता हूं और इसीलिये भली प्रकार से प्रज्वलित आपके निमित्त ऋत्विक्गण यज्ञ में आहुतियां देते हैं ॥ ७५ ॥

गृत्समददृष्टा त्रिस्थानाग्निदेवत्या त्रिष्टुप् । हे अग्ने, ते तुभ्यं विधेम हविर्दद्मः । विदधातिर्दानकर्मा परिचरणकर्मा च । कथम्भूताय ते ? परमे उत्कृष्टे जन्मन् जन्मनि, दिवीत्यर्थः, आदित्यात्मना स्थिताय, 'द्यौर्वा अस्य परमं जन्म' (श० ९।२।३।३९) इति श्रुतेः । पुनः कथम्भूताय ? अवरे सधस्थे दिवोऽर्वाचीने सहस्थानेऽन्तरिक्षे स्थिताय विद्युद्रूपाय स्तोमैः स्तोत्रैर्वयं विधेम परिचरेम, 'अन्तरिक्षं वा अवरᳪ सधस्थम्' (श० ९।२।३।३९) इति श्रुतेः । हे अग्ने, यस्माद् योनेरिष्टकाचितिरूपात् स्थानात् त्वम् उदारिथा उद्गतोऽसि । उत्पूर्वकात् 'ऋ गतौ' इत्यस्माल्लिटि मध्यमैकवचने रूपम्, संहितायां छान्दसो दीर्घः, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घो वा, तं योनिमहं यजे पूजयामि । ततः समिद्धे सम्यक् प्रज्वलिते त्वे त्वयि चित्येऽग्नौ हवींषि प्रजुहुविरे प्रजुह्वति, ऋत्विज इति शेषः । 'इरयो रे' (पा० सू० ६।४।७६) इति 'इरे' इत्यस्य 'रे' आदेशः, 'एष वा अस्य स्वो योनिः' (श० ९।२।३।३९) इति श्रुतेः । एष चित्योऽग्निः । यद्वा हे अग्ने, ते त्वदीये, परमे उत्कृष्टे जन्मन्युत्पत्तिस्थाने गार्हपत्ये सवितृमण्डले वा विधेम परिचरेम, समिधेति शेषः । अस्माभिः सह स्थातुं योग्ये सधस्थेऽवरे निकृष्टे भूलोकवर्तिजन्मनि स्तोमैः स्तोत्रैः परिचरेम । यस्माद् योनेश्चितिस्थानादुदारिथ स्वयमुद्गतोऽसि, तं योनिं यजे । समिद्धे त्वे त्वयि जुहुरे, इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वैकङ्कतीमादधाति । तस्या उक्तो बन्धुर्विधेम ते परमे जन्मन्नग्न इति द्यौर्वा अस्य परमं जन्म विधेम स्तोमैरवरे सधस्थ इत्यन्तरिक्षं वा अवरᳪ सधस्थं यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तमित्येष वा अस्य स्वो योनिस्तं यज इत्येतत् प्र त्वे हवीᳪषि जुहुरे समिद्ध इति यदा वा एष समिध्यतेऽथैतस्मिन् हवीᳪषि प्रजुह्वति' (श० ९।२।३।३९) । शमीसमिदाधानानन्तरं वैकङ्कतसमिदाधानं विधाय तत्स्तावकं होमब्राह्मणं प्रागेव (श० ६।६।३।१) षष्ठकाण्डेऽभिहितमित्याह—अथेति । आधानमन्त्रं व्याचष्टे—विधेमेति । प्रथमपादे परमे जन्मन्नित्यनेन द्युलोको विवक्षित इत्याह—द्यौर्वा इति । द्वितीयपादेऽवरे सधस्थ इत्यनेनान्तरिक्षं विवक्षितमित्याह—अन्तरिक्षं वा इति । यस्माद्योनेरित्यत्र योनिशब्देनैष भूलोको विवक्षित इत्याह—एष वा इति । 'प्र त्वे हवीᳪषि' इति तुरीयपादः प्रसिद्धार्थक इत्याह—यदा वा एष इति । हे अग्ने, ते त्वां परमे जन्मन् उत्पत्तिस्थाने द्युलोके विधेम परिचरेम । न केवलं द्युलोक एव, किन्तु स्तोमैः स्तुतिभिरुपलक्षिता वयमवरे सधस्थे द्युलोकादधःस्थानेऽन्तरिक्षेऽपि विधेम । किञ्च, यस्माद्योनेस्त्वम् उदारिथ उद्गतवानसि, तमेतं लोकमनया समिधा यज्ञेषु द्युलोकादीनामग्निकारणत्वेनाग्नेः कारणादेकहोम उक्तः । अथ प्रत्येत्य हवींषीत्यनेन कार्याकारेऽग्नौ होमो विधीयते—समिद्ध इति । समिद्धे त्वे त्वयि हवींषि प्रजुहुरे जुहविरे, विपश्चित इति शेषः । अतो वयमपि समिद्धे त्वय्येतां समिधमादध्मह इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, ते त्वदीये परमे उत्कृष्टे जन्मनि श्रीरामजन्मनि श्रीकृष्णजन्मनि वा प्रादुर्भूतं श्रीरामं श्रीकृष्णं वा विधेम । अवरे तस्मादर्वाचीने काले कल्किरूपेण वां परिचरेम । यस्माद्योने-

मूलकारणात् परब्रह्मस्वरूपाद् उदारिथा आविर्भूतोऽसि, तं योनिं परमकारणं त्वां यजे पूजयामि। त्वे त्वयि त्वन्निमित्तं समिद्धेऽग्नौ पूर्वे महर्षयो हवींषि प्रजुहुरे हवींषि प्रजुह्वति स्म।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने योगिन्, ते तव परमे जन्मनि योगसंस्कारजे जन्मनि, त्वे वर्तमानजन्मनि, अवरे अर्वाचीने सधस्थे वर्तमाना वयं स्तोमैः स्तुतिभिः, विधेम सेवेमहि। त्वमस्मात् यस्माद्योनेः स्थानाद् उदारिथा उत्कृष्टैः साधनैः प्राप्नुहि, तं योनिमहं प्रयजे। यथा होतारः समिद्धेऽग्नौ हवींषि जुहुरे, तथा योगाग्नौ दुःखसमूहस्य होमं विधेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तात्पर्यानुपपत्तिमन्तरा अन्वयानुपपत्तिमन्तरा वा अग्निपदस्य योगिनि लक्षणानुपपत्तेः। तथैव परमजन्मपदस्य 'परमोत्कृष्टे योगसंस्कारजे जन्मनि' इत्यर्थोऽपि न सङ्गतः, निर्मूलत्वात्। 'त्वे' इत्यस्य त्वदीये वर्तमानजन्मनीत्यर्थोऽप्यसङ्गत एव, तस्मिन्नर्थे तस्य शब्दस्य शक्तिग्रहाभावात्। योगाग्नौ लोकस्य दुःखहोमोऽपि निर्युक्तिक एव, 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति परमर्षिः पतञ्जलिराह, एतेन यस्य चित्तनिरोधस्तस्य दुःखादिनाशसम्भवेऽपि तदन्यस्य दुःखनाशे मानाभावात्। चार्वाकप्रायेण त्वया सिद्धयोऽप्यनङ्गीकृता एव। अतः सङ्कल्पसिद्ध्या तत्सर्वं भवतीत्यपि निर्मूलमेव ॥७५॥

प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ। त्वाᳬं शश्वन्त उपयन्ति वाजाः ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अतितरुण अग्निदेव! **निरन्तर उठती हुई लपटों से आप** अत्यन्त **प्रकाशमान हैं। आप हमारे इस यज्ञ में भी अपनी इन लपटों के साथ प्रदीप्त होइये। निरन्तर पैदा होने वाले नये नये अन्नों की हवि देकर हम आपको तर्पित करते हैं ॥ ७६ ॥**

वसिष्ठदृष्टा अग्निदेवत्या विराट्, 'दशाक्षरास्त्रयो विराट्' (ऋ० प्राति० १६।४२) इत्युक्तेः। हे अग्ने, त्वं प्रेद्धः सन् भूयोऽपि नोऽस्माकं पुरोऽग्रतो दीदिहि दीप्यस्व। कीदृशस्त्वम्? एतया अजस्रया अनुपक्षीणया सूर्म्या समित्काष्ठिकया प्रेद्धः प्रदीप्तः। सूर्मीशब्दः काष्ठवचनः, 'सूर्मीं ज्वलन्तीं वा श्लिष्येत्' (म० स्मृ० ११।१०३) इति स्मृतेः। केचित्तु लोहमयीं ज्वलन्तीं स्थूणां सूर्मीमाहुः। तथा सूर्मीसमानया ज्वालया दीदिहि दीप्यस्व। दीव्यतेर्विकरणव्यत्ययेन शपः श्लौ द्वित्वे 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घे रूपम्। अत्र सूर्मीशब्दो ज्वालोपलक्षकः। हे यविष्ठ, अतिशयेन युवा यविष्ठस्तत्सम्बुद्धौ, हे युवतम अग्ने! यतस्त्वामेव शश्वन्तः शाश्वतिका निरन्तरभाविनो वाजा अन्नानि, हवींषीति यावत्, त्वामुपयन्ति प्राप्नुवन्ति, तस्माद् दीदिहि दीप्यस्वेति सम्बन्धः।

अत्र ब्राह्मणम् 'अथौदुम्बरीमादधाति। ऊर्ग्वै रस उदुम्बर ऊर्जैवैनमेतद्रसेन प्रीणाति कर्णकवती भवति पशवो वै कर्णकाः पशुभिरेवैनमेतदन्नेन प्रीणाति यदि कर्णकवतीं न विन्देद् दधिद्रप्समुपहत्यादध्यात्तद्धि द्रप्स उपतिष्ठते तदेव पशुरूपं प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो न इति विराजा दधात्यन्नं विराडन्नेनैवनमेतत्प्रीणाति तिस्रः समिध आदधाति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति' (श० ९।८।३।४०)। वैकङ्कतसमिद्धोमानन्तरमौदुम्बरसमिधो होमं विधत्ते—अथौदुम्बरीमिति। आधातव्याया उदुम्बरसमिधो गुणानाह—कर्णकवती भवतीति। कर्णकशब्देनात्र पत्रशाखादिकं विवक्षितम्, पत्रादीनां पशुपुष्टसाधनत्वेन पशुत्वात् तथाविधायाः समिधो होमेन पशुरूपेणैवान्नेन एनं प्रीणाति। कर्णकशब्देन दारुस्फोटो रागो

विवक्षित इति केचनाचार्या आहुः। तथाविधायाः समिधोऽलाभे किं कुर्यात्तत्राह—यदि कर्णकवतीं समिधं न विन्देत्, तदा दधिद्रप्सं दधिबिन्दुम् उपहृत्य समिधि संश्लिष्य आदध्यात्। तत्र समिधि द्रप्स उपतिष्ठत इति यत् तदेव पशुरूपं भवति। अतस्तथाविधायाः समिध आधान एनमग्निं पशुरूपेणान्नेन प्रीणाति। अन्यत् स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर श्रीराम, प्रेद्धः प्रकर्षेण दीप्तस्त्वं नोऽस्माकं पुरः पुरतो हृदये वा दीदिहि दीप्यस्व। हे यविष्ठ युवतम, यतश्च त्वामेव शश्वन्तो निरन्तरा वाजा योग्यान्यन्नानि, उपयन्ति उपगच्छन्ति, अतो दीदिहि दीप्यस्व। एतया अजस्रया अनुपक्षीणया सूर्म्या सूर्मीतुल्यया ज्वालया प्रेद्धो दुष्टानां दर्पदलने भक्तानां रक्षणे च सन्नद्धो भवेति शेषः। शिवपरत्वेनाप्ययं मन्त्रो व्याख्येयः। तस्य शिवमहिम्नस्तोत्रादौ यविष्ठत्वस्मरणात्।

दयानन्दस्तु—हे यविष्ठ योगिन्, त्वं पुरः प्रथमं प्रेद्धः सन् अजस्रया सूर्म्या ऐश्वर्येण नोऽस्मान् दीदिहि कामयस्व। शश्वन्तो निरन्तरं वर्तमाना वाजा विज्ञानवन्तो जनास्त्वामुपयन्ति' इति, तदपि विसङ्गतमेव, आप्तकामानां योगिनां कामयितृत्वायोगात्। किञ्च, योगिभिन्नानामपि यविष्ठत्वं सम्भवतीति तेन योगिन एव कथं गृह्येरन्? सूर्मिपदस्य ऐश्वर्यमर्थः कुतो लब्धः? एवमेव अग्निवाजादिशब्दानामपि तादृशेऽर्थे सङ्गतिग्रहाभावादेव तादृशार्थासङ्गतेः॥७६॥

अग्ने॒ तम॒द्याश्वं॒ न स्तोमैः॒ क्रतुं॒ न भ॒द्रꣳ हृ॑दि॒स्पृश॑म्। ऋ॒ध्यामा॑ त॒ ओहैः॑॥ ७७॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! आज हम आपके उस यज्ञ को आपके नाम, रूप और कर्मों का बखान करते हुए फल-प्रापक साम मन्त्रों से सब प्रकार से उसी प्रकार समृद्ध करते हैं, जैसे कि अश्वमेध यज्ञ के घोड़ों की ब्राह्मण स्तुति करते हैं और जिस प्रकार यजमान अतिप्रिय चिर काल से मन में स्थित कल्याणकारी यज्ञ के संकल्प को समृद्ध करते हैं॥ ७७॥

'स्रुवाहुती जुहोत्यग्ने तमद्येति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १८।४।८)। समिध आधाय 'अग्ने तम्' इति ऋग्द्वयेन स्रुवेण द्वे घृताहुती तत्राग्नौ जुहुयादित्यर्थः। इयं पञ्चदशे ४४ कण्डिकास्थले व्याख्याता।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाहुतीर्जुहोति। यथा परिविष्यानुपाययेत्तादृक्तत् स्रुवेण पूर्वे स्रुचोत्तरामग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रꣳ हृदिस्पृशम् ऋद्ध्यामा त ओहैरिति यस्ते हृदिस्पृक् स्तोमस्तं त ऋद्ध्यासमित्येतत् पङ्क्त्या जुहोति पञ्चपदा पङ्क्तिः पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति' (श० ९।२।३।४१)। समिद्धोमानन्तरमाज्याहुतीर्विधत्ते—अथाहुतीरिति। लोके भुञ्जानस्य पुरुषस्य यथा शाकसूपौदनादिकं परिविष्य पश्चाज्जलादिकं पेयं पाययेत्, तथा आज्याहुतिकरणं भवति, प्रथमसमिद्धोमस्य परिवेषणवत्कृतत्वात्। तत्र साधारण्येन स्रुचैव सर्वासामेव होमप्राप्तौ आह—स्रुवेणेति। अग्ने तमद्याश्वमित्याहुतिमन्त्रस्य तादृशं तात्पर्यमाह—यस्ते हृदिस्पृगिति। हे अग्ने, ते हृदिस्पृग् यः स्तोमोऽस्ति, ते तं स्तोमम् ऋद्ध्यासं समृद्धं क्रियासमित्युक्तं भवत्यनेन मन्त्रेणेत्यर्थः। अथास्य मन्त्रस्य छन्दः प्रशंसति—पङ्क्त्या जुहोतीति। शेषं सुगमम्॥७७॥

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा इहागमन् वीतिहोत्रा ऋतावृधः ।
पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहादाभ्यꣳ हविः ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ—मैं एकाग्रचित्त से इस चिति में स्थित अग्नि को घृत की आहुति देकर अत्यन्त प्रसन्न हो रहा हूं। मेरी अभिलाषा है कि इस यज्ञ में आहुति के अधिकारी सत्य और यज्ञ के वृद्धिकर्ता देवगण प्रकट हों। महान् जगत्पति स्वयं ही जगत् की उत्पत्ति के निमित्त स्वादयुक्त हवि देते हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ ॥ ७८ ॥

विश्वकर्मदेवत्या जगती अतिजगती वा। यथा येन प्रकारेण देवा हविर्भाजो देवा इह अस्मिन् कर्मणि आगमन् आगच्छेयुः, तथाहं मनसा भक्तियुक्तेन मनसा घृतेन बाह्यद्रव्येण च चित्तिं जुहोमि देवानां चित्तमुपाददे, प्रसादयामीत्यर्थः। कीदृशा देवाः? वीतिहोत्राः, हूयतेऽस्मिन् हविरिति होत्रा यज्ञः, वीतिरभिलाषविषयो होत्रा येषां ते, 'होत्रा इति यज्ञनामसु' (निघ० ३।१७।८), कामितयज्ञाः कमनीययज्ञा वा। पुनः कीदृशाः? ऋतावृधः, ऋतं यज्ञं सत्यं वा वर्धयन्तीति ऋतावृधः, सत्यवर्धयितारो यज्ञवर्धयितारो वा। 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।३।११४) इत्यधिकारे, 'अन्येषामपि दृश्यते'(पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। तत ऊर्ध्वं भूमनो भूम्नो महतो विश्वस्य जगतः पत्ये स्वामिने विश्वकर्मणे प्रजापतये विश्वाहा सर्वेष्वहःसु, अदाभ्यम् अनुपहास्यं स्वादुभूतं हविर्जुहोमि। यद्वा मनसा श्रद्धावता घृतेन च चित्तिम् ऋत्विजां यजमानानां च चित्तं जुहोम्यग्निसम्बद्धं करोमि. अग्नितत्त्वपरिज्ञानार्थं चिन्तनसन्तानं करोमीत्यर्थः। निश्चयात्मकं चित्तं तथा जुहोमि यथेह यज्ञे देवा आगच्छेयुः। आगमन् इति 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।१।५५) इति गमेर्लङि च्लेरङि रूपम्। विश्वाहा विश्वानि च तान्यहानीति विश्वाहा सर्वेष्वहस्सु अदाभ्यमनुपहतं स्वादु हविर्विश्वकर्मणे प्रजापतये जुहोमि। कीदृशाय विश्वकर्मणे? भूमनो भूम्नो महतो विश्वस्य जगतः पत्ये स्वामिने। अत्र अलोपाभाव आर्षः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वैश्वकर्मणीं जुहोति। विश्वकर्माऽयमग्निस्तमेवैतत् प्रीणाति चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेनेति चित्तमेषां जुहोमि मनसा च घृतेन चेत्येतद्यथा देवा इहागमन्निति यथा देवा इहागच्छानित्येतद्वीतिहोत्रा ऋतावृध इति सत्यवृध इत्येतत् पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मण इति योऽस्य सर्वस्य भूतस्य पतिस्तस्मै जुहोमि विश्वकर्मण इत्येतद्विश्वाहादाभ्यꣳ हविरिति सर्वदैवाक्षितꣳ हविरित्येतत्' (श० ९।२।३।४२)। विश्वकर्मा देवता अस्या इति विश्वकर्मणी, तामाहुतिं जुहोति कुर्यादित्यर्थः। नन्वस्य होमस्य अग्न्यर्थत्वादत्र विश्वकर्मदेवताकत्वाच्च वैयधिकरण्ये प्रकृतसमवेतार्थता न स्यादित्यत उक्तम्—विश्वकर्माऽयमग्निरिति। मन्त्रं व्याचष्टे—चित्तिं जुहोमीत्यादिना। अत्र चित्तिशब्दार्थं दर्शयन् तस्य चात्र सम्बन्धिविशेषोपादानाभावेन साधारण्यात् सम्बन्ध्यन्तरप्रसक्तिनिवारणेनोत्तरवाक्योपात्तादेव सम्बन्धित्वं दर्शयति—चित्तमेषां जुहोमीति। यथा देवा इहागमन्नित्यत्रागमन्नित्येतत्पदं व्याचष्टे—यथा देवा इहागच्छानिति। आगच्छेयुरित्यर्थः। गमर्लिङर्थे लेटि 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपः। 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमः। ऋतावृध इत्यत्र ऋतशब्दस्य सत्यमर्थ इत्याह—सत्यवृध इति।

अध्यात्मपक्षे—वीतिहोत्राः कामितयज्ञाः, ऋतावृधः सत्यस्य यज्ञस्य वा वर्धयितारो देवा भगवतोंऽशभूता यथा इह अस्मिन् आराधनलक्षणे ज्ञानलक्षणे वा यज्ञे आगमन् आगच्छेयुः, तथा एषां चित्तिं चित्तं जुहोमि उपाददे प्रसादयामि। केन साधनेन? तत्राह—मनसेति। मनसा श्रद्धालुना चेतसा, बाह्येन घृतेन च।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं मनसा विज्ञानेन घृतेन आज्येन चित्तिं चिन्वन्ति यया सा चित्तिः, तां जुहोमि। यथेह वीतिहोत्राः सर्वतः प्रकाशितयज्ञा ऋतावृधो ये ऋतेन सत्येन वर्धन्ते देवाः कामयमाना विद्वांसो

भूमनो बहुरूपस्य विश्वस्य समग्रस्य जगतो विश्वकर्मणे पत्ये पालकाय जगदीश्वराय अदाभ्यमहिंसनीयं हविर्होतव्यं शुद्धं सुखकरं द्रव्यं विश्वाहा सर्वाणि दिनानि होतुमागमन्नागच्छन्ति, अहं हविर्जुहोमि, यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहाराणां निर्मूलत्वात् । चितिपदेन सञ्चयकारिणी क्रिया जिघृक्षिता, न चित्तमित्यत्र विनिगमनाविरहात् । जुहोमीति क्रियापदमपि होमार्थकं स्वाभाविकम्, आदानार्थता तु प्रकरणवशादेव । का च सञ्चयकारिणी क्रिया ? कथं वा तस्या आदानमित्यादिकं सर्वमपि प्रमाणसापेक्षमेव ॥ ७८ ॥

सप्त ते॑ अग्ने स॒मिधः॑ सप्त जि॒ह्वाः स॒प्त ऋष॑यः स॒प्त धाम॑ प्रि॒याणि॑ ।
स॒प्त होत्राः॑ सप्त॒धा त्वा॑ यजन्ति स॒प्त योनी॒राप्॑णस्वा घृ॒तेन॒ स्वाहा॑ ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपकी शमी आदि सात समिधायें हैं, अर्थात् इनमें से आप प्रकट होते हैं । आपकी सात प्रकार की ज्वालारूप जिह्वायें हैं, सात ऋषि और सात गायत्री आदि छन्द आपको अत्यन्त प्रिय हैं । सात प्रकार के होता आपकी अग्निष्टोम आदि सात प्रकार के यज्ञों में पूजा करते हैं । आप हमारी सात चितियों को घृत से पूर्ण करें, ताकि यह श्रेष्ठ यज्ञ सम्पन्न हो सके ॥ ७९ ॥

'पूर्णाहुतिं च सप्त त इति' (का० श्रौ० १८।४।९) स्रुचा पूर्णाहुतिं जुहोतीति सूत्रार्थः । घृतपूर्णया स्रुचा आहुतिः पूर्णाहुतिरित्यर्थः । सप्तर्षिदृष्टा आग्नेयी द्व्यधिका त्रिष्टुप् । हे अग्ने, ते तव सप्त समिधः समिन्धनाः प्राणाः शीर्षण्याः सन्ति, 'प्राणा वै समिधः प्राणा ह्येतꣳ समिन्धते' (श० ९।२।३।४४) इति वक्ष्यमाणश्रुतेः । किञ्च ते तव सप्त जिह्वाः सन्ति ज्वालारूपा हिरण्याङ्गणाद्या आगमोक्ताः । यद्वा आथर्वणिकोक्ता—'काली कराली च मनोजवा च विलोहिता चापि सधूम्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥' (मुण्डको० १।२) । तथा सप्त ऋषयो मरीच्यादयस्तव द्रष्टारः सन्ति । तथा सप्त प्रियाणि धाम धामानि छन्दांसि गायत्र्यादीनि तव सन्ति, 'छन्दाꣳसि वा अस्य सप्त धाम प्रियाणि' (श० ९।२।३।४४) इति श्रुतेः । यद्वा धामानि स्थानानि आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि-सभ्यावसथ्य-प्राजाहिताग्नीध्रीयाणि सोमयागे वह्निधारकाणि सन्ति । किञ्च, हे अग्ने सप्तहोत्रा होत्रादय ऋत्विजः । होता, प्रशास्ता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, आग्नीध्रः, अच्छावाकश्चेति सप्त होत्राः । सप्तधा सप्तप्रकारैरग्निष्टोमादिभिः सप्तभिः संस्थाभिः । अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः, षोडशी, अतिरात्रः, आप्तोर्यामो वाजपेयश्चेति सप्त संस्थाः सप्त प्रकाराः । त्वा त्वां यजन्ति । हे अग्ने, स त्वं सप्तयोनीश्चितीर्घृतेन आपृणस्व आतृप्यस्व, 'सप्तयोनीरिति चितीरेतदाह सप्तचितिकोऽग्निः' (श० ९।२।३।४४) इति श्रुतेः । स्वाहा सुहुतमस्तु । यद्वा स्वाहा यज्ञरूपस्त्वम्, 'यज्ञो वै स्वाहाकारः' (श० ९।२।३।४४) इति श्रुतेः । सप्तयोनीर्घृतेन आपृणस्व आतृप्यस्वेति काण्वभाष्ये सायणाचार्याः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पूर्णाहुतिं जुहोति । सर्वमेतद्यत्पूर्णꣳ सर्वेणैवैनमेतत्प्रीणाति' (श० ९।२।३।४३) । उक्तहोमानन्तरं पूर्णाहुतिं विधत्ते—अथेति । पूर्णा चासावाहुतिश्चेति पूर्णाहुतिः, आज्यपूर्णया स्रुचा सम्पाद्यमाना आहुतिरित्यर्थः । यत् पूर्णं तत् सर्वम्, अपरिमितत्वात् । अत एनं तेन सर्वेणैवान्नेन प्रीणाति । 'सप्त ते अग्ने समिध इति । प्राणा ह्येतꣳसमिन्धते सप्त जिह्वा इति यानमून् सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वंस्तेषामेतदाह सप्त ऋषय इति सप्त हि त ऋषय आसन् सप्त धाम प्रियाणीति छन्दाꣳस्येतदाह छन्दाꣳसि वा अस्य सप्त धाम प्रियाणि सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्तीति सप्त ह्येतꣳ होत्राः सप्तधा यजन्ति सप्त योनीरिति चितीरेतदाहापृणस्वेत्या प्रजायस्वेत्येतद् घृतेनेति रेतो वै घृतꣳ रेत एवैतदेषु लोकेषु दधाति स्वाहेति यज्ञो वै स्वाहाकारो यज्ञियमेवैतदिदꣳ सकृत् सर्वं करोति' (श० ९।२।३।४४) । मन्त्रं व्याचष्टे—सप्त ते अग्न इत्यादिना । समिध इत्यनेन समिन्धनहेतुत्वात् प्राणा विवक्षिता

इत्याह—प्राणा वै समिध इति। प्रजापतेर्विस्रंसनेन एते निर्मिता ऋषयः पृथगेव यानमून् सप्त देहानसृजन्, ततश्च तान् व्यवहारासमर्थान् दृष्ट्वा पश्चात्तान् एकमेव पुरुषमकुर्वन्, एतत्सर्वं सप्रपञ्चं षष्ठकाण्डस्यादावभिहितम्। तत्र सप्त शीर्षण्याः प्राणा एव ऋषिशब्देनाभिहिताः। स प्रजापतिः प्रणीयमानोऽग्निः। अत्र जिह्वाशब्देन सप्त पुरुषा विवक्षिता इत्याह—यानमूनिति। तेषामेतदाहेति तेषामेतदभिधानं करोति. तान् आहेत्यर्थः। अत्र प्राणशब्देन शरीरस्थानीन्द्रियाण्युच्यन्ते, जिह्वाशब्देन सप्तपुरुषात्मकानीन्द्रियाणि। ऋषिशब्देन निर्गतानि इष्टकास्थानीयानीन्द्रियाण्युच्यन्ते। अतश्चैषां शब्दानामिन्द्रियवाचकत्वेऽपि न साङ्कर्यम्, भिन्नभिन्नार्थकत्वात्। सप्त धाम प्रियाणीत्यनेन छन्दांस्यभिधीयन्त इत्याह—छन्दांसीति। यत एतमग्निं होतृमैत्रावरुणादयः सप्त होत्रा अग्निष्टोमादिभेदेन सप्तधा यजन्ति, तत उच्यतेऽस्यार्थो मन्त्रेणेत्याह—सप्त होत्रा इति। स्थानवाचकत्वाद् योनिशब्देन चितय उच्यन्ते। अत आह—सप्त योनीरिति।

'सप्त सप्तेति। सप्तचितिकोऽग्निः सप्तर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्प्रीणाति तिस्र आहुतीर्जुहोति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति तिस्रः समिध आदधाति तत्षट्' (श० ९।२।३।४५)। मन्त्रे पौनःपुन्येन सप्तशब्दप्रयोगः कृत्स्नस्याग्नेस्तृप्तिहेतुर्भवतीत्याह—सप्त सप्तेति। प्रकृताहुतीनां त्रित्वमपि तथैव प्रशंसति—तिस्र आहुतीरिति। समिधामाहुतीनां च मिलिता षट् संख्या भवतीत्याह—तत् षडिति। 'तिष्ठन् समिध आदधाति। अस्थीनि वै समिधस्तिष्ठन्तीव वा अस्थीन्यासीन आहुतीर्जुहोति माꣳसानि वा आहुतय आसत इव वै माꣳसान्यन्तराः समिधो भवन्ति बाह्या आहुतयोऽन्तराणि ह्यस्थीनि बाह्यानि माꣳसानि' (श० ९।२।३।४६)। अथ समिदाहुतीनामस्थिमांसात्मकत्वात् तत्सन्निवेशानुसारेण तास्तिष्ठन् आसीनो वा जुहुयादित्याह—तिष्ठन्नित्यादिना। कठिनावयवसन्निवेशसाधारण्यात् समिधामस्थित्वम्। तानि ह्युच्छ्रितत्वात् तिष्ठन्तीव भवन्ति। मृद्ववयवसन्निवेशसामान्यादाज्यस्य मांसत्वम्। तानि च मांसान्यासीनानीव सन्ततानि भवन्ति। अस्थिमांसानुसारेण समिधोऽन्तराः, आज्याहुतयस्तु बाह्याः कर्तव्या इत्याह—अन्तरा इति।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मभावविवक्षया परमात्मन एव प्रसिद्धाग्निदेवतारूपेण स्तवनम्। तस्य सप्त समिधः सप्त जिह्वादय उच्यन्ते। उक्तमेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—हे अग्ने विद्वन्, यथाग्नेः सप्त समिधः सप्तजिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त प्रियाणि धाम सप्त होत्राश्च सन्ति, तथा ते तव सन्तु। यथा विद्वांसस्तमग्निं सप्त यजन्ति, तथा त्वा यजन्तु। यथायमग्निर्घृते स्वाहा सप्त योनीरापृणते, तथा त्वमापृणस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्नेः सप्त समिधः का इत्यनुक्तेः। सप्त ऋषयः प्राणापानसमानोदानव्यानदेवदत्तधनञ्जया इत्यप्यसाम्प्रतम्, तेषां सप्तत्वस्याप्रसिद्धेः, अनुल्लेखाच्च, नागकूर्मकृकलादिभिर्दशत्वस्यापि सुवचत्वात्। सप्त धामानि नामानि जन्मानि कानीत्यपि न स्पष्टम्। जन्मनामस्थानानि धर्मार्थकाममोक्षाख्यानि धामानीत्यपि मूर्खजनप्रतारणमेव, तेषां परस्परमसम्बन्धात्, तथात्वे मानाभावाच्च। धामानि स्थानानि नामानि जन्मानीत्यस्य धामपदस्य शिष्टसम्मतार्थत्वेऽपि धर्मार्थादीनां धामार्थत्वे मानाभावात्। सप्त होत्रा सप्त ऋत्विजः के ? इत्यस्यानुक्तेः। कथं सप्तधा यजनम् ? घृतेन उत्तमवाण्या च सप्त चितयः कथं सम्पाद्यन्ते ? योनिशब्देन च सप्त चितयः कथं गृह्यन्ते, इत्येतत्सर्वमव्यक्तमेव ॥ ७९ ॥

शुक्रज्यो॑तिश्च चित्रज्यो॑तिश्च सत्यज्यो॑तिश्च ज्योति॑ष्मांश्च। शुक्रश्च॑ ऋतपा॒श्चात्य॑ꣳहाः ॥ ८० ॥

मन्त्रार्थ—शुद्ध, तेजस्वी, विचित्र प्रकाशवाले सत्य की ज्योति से चमकते हुए, प्रकाशपुंज से दीप्तिमान् सत्य और यज्ञ की रक्षा करने वाले सभी प्रकार के पापों से रहित मरुद्गण हमारे इस यज्ञ में पधारें ॥ ८० ॥

'वैश्वानरेण प्रचर्य सर्वहुतेन हस्तेन मारुतान् जुहोत्युपविश्य वैश्वानरेण वा वैश्वानरं पृथुं कृत्वा शुक्रज्योतिरिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १८।४।२३), 'विमुखेनारण्येऽनूच्यम्' (का० श्रौ० १८।४।२४)। वैश्वानरपुरोडाशेन यागं कृत्वा उपविश्य आहवनीये हस्तेन मारुतान् पुरोडाशान् सर्वहुतान् जुहोति शुक्रज्योतिरित्येकैकमन्त्रेण एकैकम्। अथवा वैश्वानरं पुरोडाशमतिविपुलं कृत्वा वैश्वानरपुरोडाशस्योपर्येव सर्वानपि मारुतान् जुहुयात्। अरण्येऽनूच्यं सप्तमं मारुतं पुरोडाशं विमुखसंज्ञकेन 'उग्रश्च' इति मन्त्रेण जुहुयादध्वर्युरिति सूत्रद्वयार्थः। अरण्येऽनूच्यो वक्तव्यः पठनीयो वा मन्त्रो यस्य सोऽरण्येऽनूच्यः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथातो वैश्वानरं जुहोति। अत्रैष सर्वोऽग्निः सꣳस्कृतः स एषोऽत्र वैश्वानरो देवता तस्मा एतद्धविर्जुहोति तदेनꣳ हविषा देवतां करोति यस्यै वै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यते द्वादशकपालो द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो वैश्वानरः' (श० ९।३।१।१)। वैश्वानरशब्दस्तद्दैवत्यं हविराचष्टे। यतोऽस्मिन्नवसरेऽग्निर्वैश्वानरो देवता भवति, अतस्तत्प्रीणनार्थं तद्दैवत्यं हविर्जुहुयादित्यर्थः। न केवलमनेन अस्यै भागसम्पादनं क्रियते, अपि तु देवतात्वसम्पादनमपीत्याह—तदेनमिति। अत्रैव विस्तरेण वैश्वानरस्वरूपवर्णनम्। तथाहि—'स यः स वैश्वानरः। इमे स लोका इयमेव पृथिवी विश्वमग्निर्नरोऽन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरो द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः' (श० ९।३।१।३)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्।

तदेव अध्यात्ममाह—'इदं तच्छिर इदमेव पृथिव्योषधयः श्मश्रूणि तदेतद्विश्वं वागेवाग्निः स नरः सोपरिष्टादस्य भवत्युपरिष्टाद्ध्यस्याग्निः' (श० ९।३।१।४), 'इदमेवान्तरिक्षम्' (श० ९।३।१।५), 'शिर एव द्यौः' (श० ९।३।१।६), 'अथ मारुतान् जुहोति। प्राणा वै मारुताः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति वैश्वानरꣳ हुत्वा शिरो वै वैश्वानरः शीर्षँस्तत्प्राणान् दधाति' (श० ९।३।१।७)। वैश्वानरयागानन्तरं मारुतानां होमं विधाय तान् प्राणात्मना प्रशंसति—अथेति। तद्धोमस्य वैश्वानरसम्बन्धादित्यर्थः।

एतानि ब्राह्मणानि व्याख्यानपूर्वाङ्गतयोद्धृतानि। अथ मन्त्रो व्याख्यायते। षड् मरुद्दैवत्या ऋचः। आद्या उष्णिक्। एकैकस्यामृचि सप्त सप्त मरुतः शुक्रज्योतिरित्याद्याः। एकोनपञ्चाशन्मरुतो यूयमद्यास्मिन्नोऽस्माकं यज्ञे एतन एत आगच्छतेति पञ्चमर्च्यन्वयः। एतनेति 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति तस्य तनादेशः। अथ मरुतां नामानि व्याख्यायन्ते—शुक्रज्योतिः शुक्रं शुद्धं ज्योतिस्तेजो यस्य सः, शुक्रस्येव वा ज्योतिस्तेजो यस्य सः। चित्रज्योतिः चित्रं कमनीयदर्शनीयं ज्योतिर्यस्य सः। सत्यज्योतिः सत्यमत्यन्ताबाध्यं ब्रह्मरूपं ज्योतिर्यस्य सः। ज्योतिष्मान् ज्योतिस्तेजोऽस्यास्तीति ज्योतिष्मान्। शुक्रः शुच्यते सर्वथा निष्कल्मषो भवतीति शुक्रः शुक्लः, दीप्तो वा। शोचयति वा शत्रून् रोगान् दोषान् वेति शुक्रः। 'ऋज्रेन्द्र'(उ० २।२९) इति निपातितः। ऋतपा ऋतं सत्यं यज्ञं वा पातीति ऋतपाः। अत्यंहा अंहः पापम्, तदतिक्रम्य वर्तत इत्यत्यंहाः, सर्वतो महापुण्यमय इत्यर्थः। चकाराः समुच्चयार्थाः। सर्वे चैते स्वं स्वमंशं पुरोडाशं भक्षयन्तु।

अध्यात्मपक्षे—सर्वाणीमानि नामानि ब्रह्मबोधकानि। चित्रमाश्चर्यं ज्योतिः प्रकाशो यस्य सः। श्रीरामः श्रीकृष्णः श्रीशिवो वा। सत्यं ब्रह्मात्मकं बोधरूपं ज्योतिर्यस्य स सत्यज्योतिः। ज्योतिष्मान् ज्योतिरखण्डबोधात्मकं ज्योतिरस्यास्तीति ज्योतिष्मान्। शुक्रः शुच्यते पूतः सन् सदा स्वभावे तिष्ठतीति। ऋतपा ऋतं यज्ञं विश्वामित्रस्य पातीति ऋतपाः श्रीरामः। युधिष्ठिरस्य यज्ञं पाति राजसूयमिति ऋतपाः श्रीकृष्णः। अथवा ऋतं सुकृतफलं पाययतीति ऋतपाः, तत्रभवान् साम्बसदाशिवः। अत्यंहा अंहः पापं स्वभावतोऽतिक्रान्तवानित्यत्यंहाः, स मामवत्विति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ऋतपाश्च ईश्वरोऽस्ति, तथा यूयमवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अपसिद्धान्तापातात्। त्वद्रीत्या निराकारस्येश्वरस्य ज्योतिष्मत्त्वेन साकारत्वापत्तेः, चित्रमद्भुतं ज्योतिर्यस्येति त्वदुक्तेः, सत्यमविशो ज्योतिः प्रकाशो यस्य स इति त्वदुक्तेश्च ॥ ८० ॥

ई॒दृङ् चा॑न्या॒दृङ् च॑ स॒दृङ् च॒ प्रति॑सदृङ् च। मि॒तश्च॒ सम्मि॑तश्च॒ सभ॑राः ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ—इस पुडोडाश को ग्रहण करने वाले और इस पुरोडाश को देखने वाले, समान दृष्टि, अर्थात् प्रत्येक को समान देखने वाले, सम्यक् एकीभाव से मान को प्राप्त और समान भाव को धारण करने वाले मरुद् देवता हमारे यज्ञ में आवें ॥ ८१ ॥

द्वे गायत्र्यौ। ईदृङ् इमं पुरोडाशं स्वयं गृहीत्वा पश्यतीति ईदृङ्, इममिव वा पश्यतीति ईदृङ्। यद्वा अनेन अनेन समानं पश्यतीति ईदृङ्। अथवा अनेन अनेन समानो दृश्यते स ईदृङ्। अन्यादृङ् अन्यमपि पुरोडाशं पश्यतीत्यन्यादृङ्, अन्यं बाधसाक्षिणमिव वा सर्वं पश्यतीति अन्यादृङ्। सदृङ् समानं पश्यतीति सदृङ्, सर्वमेव वा समानं निर्विशेषं पश्यतीति सदृङ्। प्रतिसदृङ् तं तं प्रत्युच्चावचं प्रति निर्दोषं हि समं ब्रह्म पश्यतीति प्रतिसदृङ्, यद्वा तं तं प्रति समानं पश्यति, 'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥' (भ० गी० ६।९) इति गीतोक्तेः, तथाविधः प्रतिसदृङ्। मित उत्तमाधममध्यमैस्तुल्यो मितः, उत्तमैः सह उत्तमवत्, मध्यमैः सह मध्यमवत्, अधमैः सह अधमवद् व्यवहरतीति यावत्, 'यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः। मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥' (म० भा० उद्योग० ३७।७)। यद्वा मितो मानं प्राप्तः। सम्मितः सम्यक् परितो मानं प्राप्तः, यद्वा एकीभावेन मितः सम्मितः। सभराः सह बिभर्तीति सभराः। एते स्वं स्वमंशं पुरोडाशस्य प्राश्नन्तु।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मत्वात् परमेश्वर ईदृङ्, इममाकाशमिव व्यापकत्वेन पश्यन्ति जना यं स ईदृङ्। अन्यादृङ् अन्यं सूर्यमिव स्वप्रकाशत्वेन पश्यन्ति जना यं सोऽन्यादृङ्। सदृङ् सर्वस्वरूपत्वात् सर्वैः सदृशत्वात्। प्रतिसदृङ् तं तं पदार्थं प्रति समानं पश्यन्ति यं सः। सर्वत्र मानं प्राप्त इति मितः। एकीभावेन मितः सम्मितः। सभराः सहैव सर्वं बिभर्तीति सभराः, सर्वकारणत्वात् सर्वधारकः। स तादृशो भगवान् अस्मानवत्विति शेषः।

दयानन्दस्तु—'ये पुरुषा ईदृङ् अनेन तुल्यम् अन्यादृङ् अन्येन समानं सदृङ् समानं पश्यन्ति तं तं प्रति सदृशं पश्यन्ति प्रतिसदृङ् मितश्च सम्मितश्च सभराश्च वर्तन्ते, ते व्यावहारिकीं कार्यसिद्धिं कर्तुं शक्नुवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, संसारे सर्वत्रैव साधर्म्य-वैधर्म्य-वैचित्र्यदर्शनात् पुरुषा एव किमर्थं गृह्यन्ते ? किञ्च, अकिञ्चित्करा अपि पुरुषाः केनचित्तुल्या भवन्त्येव। न च ते व्यावहारिकीं कार्यसिद्धिं कर्तुं प्रभवन्ति ॥ ८१ ॥

ऋ॒तश्च॑ स॒त्यश्च॑ ध्रु॒वश्च॑ ध॒रुण॑श्च। ध॒र्ता च॑ विध॒र्ता च॑ विधा॒र॒यः ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ—सत्यस्वरूप सद् वस्तु में प्रकट और स्थिर, विशेष रूप से धारण करने वाले, विविध प्रकार से धारण करने वाले मरुद् देवता हमारे यज्ञ में आवें ॥ ८२ ॥

ऋतः सत्यरूपः स्वमंशं पुरोडाशस्य प्राश्नातु। एवमेव सत्यः सति वस्तुनि भवो ध्रुवः स्थिरः, धरुणो धारकः, धर्ता धारयतीति धर्ता, विशेषेण धारयतीति विधर्ता, विविधं धारयतीति विधारयः। एते सर्वे पुरोडाशस्य स्वं स्वमंशं प्राश्नन्तु।

अध्यात्मपक्षे—स भगवान् ऋतोऽत्यन्ताबाध्यः, सत्यः सत्सु सर्वत्राधिष्ठानरूपेण भवतीति सत्यः, ध्रुवः कूटस्थः, धरुण एकैकस्य वस्तुनो धारकः, धर्ता सर्वस्य धारकः, विशेषेण धारको विधर्ता, विधारयः कारणरूपेण कार्यरूपेण शक्तिरूपेण च धारयतीति विधारयः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! य ऋतः सत्यज्ञानः, सत्यः सत्सु साधुः, ध्रुवो दृढनिश्चयः, धरुण आधारः, धर्ता विधर्ता च विधारयः परमात्मास्ति, तमेव सर्वे उपासीरन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धरुण-धर्तृ-विधर्तृषु भेदानुक्तेः, ऋतः सत्यज्ञान इत्यर्थस्य लाक्षणिकत्वाच्च ।। ८२ ।।

ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च । अन्तिमित्रश्च दूरेअमित्रश्च गणः ।।८३।।

मन्त्रार्थ—यज्ञ को जीतने वाले, सत्य को जीतने वाले, शत्रुसेना को जीतने वाले, श्रेष्ठ सेना वाले, मित्रों के समीप रहने वाले, शत्रुओं से दूर रहने वाले और सबको गिनने वाले मरुद् देवता हमारे यज्ञ में आवें ।। ८३ ।।

उष्णिक् । ऋतजिद् ऋतं यज्ञं जयतीति तथोक्तः । सत्यजित् सत्यं याथातथ्यं जयतीति सत्यजित् । सेनजित् सेनां शत्रुसैन्यं जयतीति सेनजित् । 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इति ह्रस्वः । सुषेणः सुष्ठु शोभना सेना यस्य सः । अन्तिमित्रः, अन्ति समीपे मित्राणि यस्य सः । दूरेअमित्रो दूरे अमित्राः शत्रवो यस्य सः । 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावः । 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।९) इति सप्तम्या अलुक् । गणो गणयति सर्वमिति गणः । एते सर्वे मरुतः स्वं स्वमंशं पुरोडाशस्य प्राश्नन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर ऋतजिद् ऋतेन अनृतान् जयतीति तथोक्तः, श्रीरामशिवादिरूपेणेति यावत् । सत्यजित् सत्येन सत्यबलेन सर्वं जयतीति तथोक्तः । यद्वा ऋतेन सूनृता वाचा जयतीति तथोक्तः । सत्येन समदर्शनेन सर्वान् जयतीति तथोक्तः । 'ऋतं च सूनृता वाणी' (भा० पु० ११।१९।३८), 'सत्यं च समदर्शनम्' (भा० पु० ११।१९।३७) इति श्रीमद्भागवतोक्तेः । सेनजिद् रावणादिशत्रुसेनां जयतीति तथोक्तः । सु सुष्ठु शोभना सेना यस्य स तथोक्तः । सुषामादेराकृतिगणत्वात् षत्वम् । अन्तिमित्रो दूरेअमित्रश्च पूर्ववत् व्याख्येयौ । गणो गणयति सर्वं कलयतीति गणः कालः ।

दयानन्दस्तु—'य ऋतचिच्च दूरेअमित्रश्च भवेत्, स गणो गणनीयो जायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उद्देश्यविधेयभावस्य निर्मूलत्वात् ।। ८३ ।।

ईदृक्षास एतादृक्षास ऊषुणः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षास एतन ।
मितासश्च सम्मितासो नो अद्य सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन् ।। ८४ ।।

मन्त्रार्थ—इस तरह के लक्षणों को इस प्रकार देखने वाले, प्रत्येक को देखने वाले, समान रूप से देखने वाले, प्रमाण युक्त इकट्ठा होकर किसी वस्तु को प्रमाणित करने वाले और इस तरह से आदर पाने वाले मरुद् देवता आज हमारे इस यज्ञ में आवें ।। ८४ ।।

हे मरुतः, यूयमेते कीदृशाः ? ईदृक्षास इदंदर्शनाः, एतादृक्षास एतद्दर्शनाः, ऊ षु ण इति पदत्रयं पादपूर्त्यर्थम्, सदृक्षासः समानदर्शनाः, प्रतिसदृक्षासः प्रत्येकं समानदर्शनाः, मितासः प्रमाणतो मिताः,

सम्मितासः सङ्गत्य मिताः, सभरसः समानमलङ्कारादिकं ये बिभ्रति ते, भरसा आदरेण सह वर्तमाना इति वा। मरुतोऽस्मिन् नोऽस्माकं यज्ञे एतन आगच्छत, आगत्य च स्वभागीयपुरोडाशग्रहणेन तृप्ता भवत।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मनो भगवत एव वाचका एते शब्दाः। बहुवचनं तु पूजायामादरातिशयार्थम्। हे भगवन्तो यूयमीदृक्षासः पुरोवर्तिपदार्थसदृशाः, सदृक्षासः समानदर्शनाः सर्वात्मत्वात् सर्वसदृशा वा, प्रतिसदृक्षासः प्रत्येकं समानदर्शनाः, मितासः प्रमाणतः, सम्मितासः सङ्गत्य मिताः, सभरसः समानमलङ्कारादिकं बिभ्रति ते, यूयं नोऽस्माकमस्मिन् यज्ञे आराधनलक्षणे एतन आगच्छत, आगत्य च अनुगृह्णीत।

दयानन्दस्तु—'हे मरुतो विद्वांसः, ईदृक्षा एतैः पूर्वोक्तैः सदृशा नोऽस्मान् सदृक्षासः पक्षपातं विहाय समानदृष्टयः, प्रतिसदृक्षास आप्तसदृशाः समन्तमेव प्राप्नुत। मितासः परिमितविज्ञानाः सम्मितासस्तुलावत्सत्यविवेचका मरुत ऋत्विजो विद्वांसः, यज्ञे सङ्गन्तव्ये व्यवहारे सभरसः स्वसमानपोषका भवत, अद्य नो रक्षत, वयमपि सततं सत्कुर्याम' इति, तदेतत् सर्वथापि निर्मूलम्, वेदाक्षरबाह्यत्वात्। सदृक्षास इत्यस्य पक्षपातं विहाय समानदृष्टय इति कथमर्थः? प्रतिसदृक्षास आप्तसदृशा इत्यर्थोऽपि निर्मूल एव। तथैव मितासः परिमितविज्ञानाः, सम्मितासस्तुलावत्सत्यविवेचका इत्यप्यर्थो शब्दबाह्य एव। सभरसः स्वसमानपोषका इत्यपि निर्मूलम्। अद्य नो रक्षत, वयमपि सततं सत्कुर्यामित्यादिकं सर्वमपि स्वाभ्यूहितमेव ॥ ८४ ॥

स्वतवांश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च। क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ॥८५॥

मन्त्रार्थ—स्वाधीन, बलयुक्त, पुरोडाश को भक्षण करने वाले, शत्रुओं को ताप देने वाले, गृहस्थ धर्म से युक्त, सदा क्रीड़ा करने वाले, सब प्रकार से समर्थ और सदा जयशील मरुद् देवता हमारे यज्ञ में आवें ॥ ८५ ॥

द्व्यधिका गायत्री द्व्यूना उष्णिग् वा। षड्विंशदक्षरत्वाद् विकल्पः। आद्याः पञ्च चातुर्मास्यदेवताः। स्वतवान् स्वं स्वकीयं तवो बलं यस्य स स्वाधीनबलयुक्तः। प्रघासी प्रकर्षेण घसति अत्तीति प्रघासी प्रकर्षेण पुरोडाशभक्षणशीलः। सान्तपनः सम्यक् तपतीति सन्तपनः सूर्यः, 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) इति ल्युः, 'सहितपिदमः संज्ञायाम्' इति हि गणसूत्रम्, तस्यायं सान्तपनः, सूर्यसम्बन्धीति यावत्। गृहमेधी गृहमेधोऽस्यास्तीति गृहिधर्मयुक्तः। क्रीडी क्रीडतीत्येवंशीलः, सदा क्रीडापरायण इत्यर्थः। शाकी शक्नोति सदेति तथोक्तः, सर्वदैव समर्थ इत्यर्थः। उज्जेषो उज्जयतीति तथोक्तः, बाहुलकाद् औणादिकः सप्रत्ययः, सोऽस्यास्तीति तथोक्तः। एते मरुतो यूयमत्र यज्ञे एतनेति पूर्वेण सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वमेतदत्र पक्षे परमात्मपरत्वेन योजनीयम्। परमात्मा निरुपचारेणैव स्वतवान् स्वाधीनबलयुक्तः, सर्वस्याप्यन्यस्य परतन्त्रत्वात्। स एव प्रघासी प्रघसनशीलः। 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥'(कठो० १।२।२४) इति श्रुतेः, 'अत्ता चराचरग्रहणात्' (वे०सू० १।२।९) इति न्यायाच्च। सान्तपनः सन्तपने सूर्ये सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन यो विद्यते सोऽधिष्ठानभूतः परः सान्तपनः। गृहमेधी श्रीरामश्रीकृष्णरूपेण स एव गृहमेधीयधर्मोपेतः। क्रीडी जगदुत्पत्तिस्थितिलयरूपक्रीडापरायणः परमेश्वर एव। स एव सर्वं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वात् शाकी। स एव चोज्जेषी मायातत्कार्यप्रपञ्चोज्जयनशीलः। हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु-मधुकैटभादयः सर्वेऽपि मायिकाः, मायाकार्या इत्यर्थः, तान् जयतीत्येव न, किन्तु मायापि यस्येक्षापक्षे स्थातुं विलज्जते। 'विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया' (२।५।१३) इति श्रीमद्भागवोक्तेः, 'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥' (१५।१२) इति गीतोक्तेश्च।

दयानन्दस्तु—'यः स्वान् तौति वर्धयति स स्वतवान्। बहवः प्रकृष्टा घासा भोज्यानि विद्यन्ते यस्य स प्रघासी। सम्यक् शत्रून् तापयति यस्तस्यायं सान्तपनः। प्रशस्तो गृहे मेधासङ्गमोऽस्यास्तीति सः। क्रीडी अवश्यं क्रीडितुं शीलश्च शाकी भवेद् अवश्यं शक्तुं शीलम्। उज्जेषी उत्कृष्टतया जेतुं शीलः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उद्देश्यविधेयभावे मानाभावात्। घटे कुलालपितुर्यथाऽन्यथासिद्धत्वम्, तथैव सन्तपनस्याप्यन्यथासिद्धत्वमेव। तथैव क्रीडाप्यन्यथासिद्धैव, तद्रहितानामपि विजयित्वदर्शनात्॥ ८५॥

उ॒ग्रश्च॑ भी॒मश्च॒ ध्वा॒न्तश्च॒ धुनि॑श्च। सा॒स॒ह्वाँश्चा॑भियु॒ग्वा च॑ वि॒क्षि॒पः स्वाहा॑॥ इन्द्रं॒ दैवी॒र्विशो॑ म॒रुतो॒ऽनु॑वर्त्मानो॒ऽभव॒न् यथेन्द्रं॒ दैवी॒र्विशो॑ म॒रुतो॒ऽनु॑वर्त्मा॒नो॒ऽभवन्। ए॒वमि॒मं यज॑मानं॒ दैवी॑श्च॒ विशो॑ मानु॒षीश्चानु॑वर्त्मानो भवन्तु॥ ८६॥

मन्त्रार्थ– उत्कृष्ट और भयंकर, शत्रुओं को अन्धकार में डाल देने वाले और उनको कँपा देने वाले, उनको हरा देने वाले, भक्तों को सुख देने वाले और शत्रुओं का नाश करने वाले इन मरुद्गणों को यह श्रेष्ठ आहुति दी जा रही है। देवसम्बन्धी मरुद्रूप प्रजा इन्द्र की सदा अनुगामिनी रहती है। जिस प्रकार देवसम्बन्धी मरुद्रूप प्रजा इन्द्र की अनुगामिनी है, उसी प्रकार देवलोक और मनुष्यलोक की प्रजा इस यजमान की अनुगामिनी बने॥ ८६॥

अयं मन्त्र एकोनचत्वारिंशेऽध्याये सप्तममन्त्रत्वेन पठितः। अत्र तु केवलं मरुतां प्रसङ्गादुद्धृतः। विमुखमन्त्र इति संज्ञास्य। सोऽयं प्रसङ्गाद् व्याख्यायते। उग्र उत्कृष्टः। भीमो बिभेत्यस्मादिति भीमः। 'भीमादयोऽपादाने' (पा० सू० ३।४।७४) इति निपातितः। ध्वान्तो ध्वान्तयत्यन्धीकरोति शत्रूनिति ध्वान्तः। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति गणसूत्राण्णिच्, ततः पचाद्यच्। धुनिः धूनयति कम्पयति शत्रूनिति धुनिः। घृणिपृश्नि' (उ० ४।५३) इति बाहुलकान्निः। सासह्वान् सहतेऽभिभवति शत्रूनिति सासह्वान्, सहेः क्वसुः, अभ्यासदीर्घः। अभियुग्वा अभियुनक्ति सुखेन भक्तानिति तथोक्तः, 'अन्येभ्योऽपि' दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इत्यभिपूर्वाद्युजेः क्वनिप्, भक्तानां सुखाभियोजकः। विक्षिपो विक्षिपति प्रेरयति शत्रूनिति विक्षिपः शत्रुक्षेप्ता। स्वाहा एतेभ्यो मरुद्भ्यः सुकृताः पुरोडाशाः सन्तु। चकाराः समुच्चयार्थाः।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः।

'इन्द्रं दैवीरिति जपति' (का० श्रौ० १८।४।२५)। कर्मापवर्गान्ते इन्द्रं दैवीरिति यजुरध्यायसमाप्ति यावज्जपेदिति सूत्रार्थः। मरुद्दैवत्यं यजुः। शक्वरी, षट्पञ्चाशदक्षरत्वात्। दैवीः दैव्यो देवानामिमा देवसम्बन्धिन्यः, विभक्तेः पूर्वसवर्णः। विशः प्रजाः। मरुतो मरुद्रूपाः। इन्द्रम् अनुवर्त्मानः, अनु पश्चाद् वर्त्म वर्तनं यासां ताः, अनुगामिन्य इति यावत्, अभवन्। स्वरूपाख्यानमेतत्। दैवीर्विशो मरुतो यथा इन्द्रमनुसृत्य वर्तमाना अभवन्। उपमानमेतत्। एवं दैवीर्मानुषीश्च देवसम्बन्धिन्यो मनुष्यसम्बन्धिन्यश्च विश इमं यजमानमनुसृत्य वर्तमाना भवन्त्विति प्रार्थना।

अध्यात्मपक्षे—यथा दैव्यो विशो मरुतो देवराजमिन्द्रमनुवर्त्मानः, तथैवाश्वमेधादियाजिनं भगवन्तं श्रीरामचन्द्रं मानुष्यो दैव्यश्च सर्वा विशोऽनुवर्त्मानो भवन्त्विति भक्तानां तद्विजयमाशंसमानानामाशीः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, त्वं वर्तस्व यथेमा दैवीर्विशो देवानां विदुषामिमाः प्रजा मरुतश्च ऋत्विजो विद्वांसोऽनुवर्त्मानोऽभवन्, अनुकूलो वर्त्मा मार्गो येषां ते। एवं दैवीश्च विशो मानुषीश्च विश इमं यजमानमनु-

वर्त्मानो भवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राज्ञः सम्बोधने मानाभावात्। नहि विदुषां प्रजाः पृथग् मूर्खाणां च प्रजाः पृथग् भवन्ति। अत एवेन्द्रपदमपि न राजसामान्यपरम्, प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात् ॥ ८६ ॥

इम॑ᳪं स्तन॒मूर्ज॑स्वन्तं धया॒पां प्रपी॑नमग्ने सरि॒रस्य॒ मध्ये॑।
उत्सं॑ जुषस्व॒ मधु॑मन्तमर्वन् समु॒द्रिय॒ᳪं सद॑नमा॒वि॑शस्व ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! भूलोक के मध्य में वर्तमान तुम इस श्रेष्ठ रस वाले घृतधाराओं से परिपूर्ण स्रुक् रूप स्तन का पान करो। हे सब ओर गमनशील अग्निदेव ! मधुर स्वाद वाले घृत से युक्त स्रुक्रूप स्तन का तुम सेवन करो, चयन याग वाले घर में प्रवेश करो ॥ ८७ ॥

'इमᳪं स्तनमिति वाचयति वा' (का० श्रौ० १८।४।२६)। इमं स्तनमिति मन्त्रगणमध्यायसमाप्तिपर्यन्तं यजमानेनाध्वर्युर्वाचयति स्वयं जपति वेत्यर्थः। जपवाचनयोर्विकल्पः। त्रयोदशर्चोऽनुवाकस्त्रिष्टुप्छन्दस्क आग्नेयः। यज्ञस्तुतिर्वसोर्धाराभिवादिनी घृतस्तुतिर्वा। हे अग्ने, सरिरस्य सलिलस्य लोकस्य मध्ये वर्तमानस्त्वम् इमं स्रुग्लक्षणं स्तनं स्रुचः पतन्तीं घृतधारां वा धय पिब। 'धेट् पाने' लोटि रूपम्। सरिरशब्देन लोका उच्यन्ते, 'इमे वै लोकाः सरिरम्' (श० २।५।२।३४) इति श्रुतेः। वसोर्धारा औदुम्बर्या स्रुचा हूयते। सा च स्रुगत्र रूपक-कल्पनया स्तन उच्यते। इमं स्रुग्लक्षणं स्तनं तत्पतितां घृतधारां धय पिब। कीदृशं स्तनम् ? ऊर्जस्वन्तम् ऊर्जो रसोऽस्यास्तीत्यूर्जस्वान्, तं विशिष्टरसवन्तम्। तथा अपां प्रपीनम् अद्भिर्घृतैः प्रपीनं पूर्णमन्तःपूरितम्। 'ओप्यायी वृद्धौ' इत्यस्य निष्ठायाम्, 'प्यायः पी' (पा० सू० ६।१।२८) इति प्यादेशे, 'ओदितश्च' (पा० सू० ८।२।४५) इति निष्ठानस्य नत्वे रूपम्। अप्शब्देन लक्षणया घृतमुच्यते। ऊर्जस्वन्तं विशिष्टरसवन्तमिमं स्तनं पिब। किञ्च, हे अर्वन्, इयर्तीत्यर्वा तत्सम्बुद्धौ सर्वयज्ञं प्रति गन्तः ! हे अग्ने, मधुमन्तं मधुरस्वादेन घृतेन युक्तमुत्सम् उत्स्रवण-युक्तं कूपं स्रुग्लक्षणं स्तनं जुषस्व सेवस्व। 'उत्समिति कूपनामसु' (निघ० ३।२३।१०)। किञ्च, समुद्रियं समुद्रसम्बन्धि सदनं चयनयागसम्बन्धि गृहमाविशस्व। एवं तृप्तः सन् स्वसदनं सेवस्वेत्यर्थः। 'त्रयो ह वै समुद्रा अग्निर्यजुषां महाव्रतᳪं साम्नां महदुक्थमृचाम्' (श० ९।५।२।१२) इति श्रुतिप्रसिद्धाभिप्रायकः समुद्रशब्दः। 'समुद्राभ्राद् घः' (पा० सू० ४।४।११८) इति समुद्रियशब्दसिद्धिः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन्, त्वमिमं स्रुग्लक्षणं स्तनं धय पिब। कीदृशं स्तनम् ? ऊर्जस्वन्तं विशिष्टा-भीष्टरसयुक्तम्। पुनः कीदृशम् ? अपाम् अद्भिः पीनं पूरितम्। पुनः कीदृशम् ? उत्सम् उत्स्यन्दतीत्युत्सः, तं रस-स्रोतःस्वरूपं स्वादिष्ठमधुस्वादयुक्तम्। कीदृशस्त्वम् ? सरिरस्य मध्ये लोकानां मध्ये वर्तमानः। हे अर्वन् सर्वतोगत, समुद्रियं यजुषां समुद्ररूपचित्याग्निसम्बन्धि सदनं जुषस्व सेवस्व, अन्तरिक्षसम्बन्धि सदनं वा जुषस्व। सर्वगत-स्यापि लीलाविग्रहधारणेन सदनविशेषेऽवस्थानं न विरुद्ध्यते, शालग्रामे विष्णोरिव।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने पालक, त्वं प्रपीनं दुग्धधारं स्तनमिव इममूर्जस्वन्तमपां रसं धय। सरिरस्य बहूनां मध्ये। सरिरमिति बहुनामसु। मधुमन्तमुत्सम्। उन्दन्ति येन तम् उत्सं कूपम्। उत्समिति कूपनामसु। जुषस्व। हे अर्वन्, त्वं समुद्रियं सदनमाविशस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रयोजनत्वात्। कस्यचित् प्रपीन-स्तनवदपां रसपानेन इतरेषां किं प्रयोजनं तेन सिद्ध्यति ? 'बहूनां मध्ये' इत्यस्यापि फल्ग्वेव प्रयोजनम् ॥ ८७ ॥

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम ।
अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ—मैं घृत को अग्नि के मुख में सींचना चाहता हूँ। घृत इस अग्नि का उत्पत्तिस्थान है, यह घृत पर आश्रित है, घृत ही इसके तेज को बढ़ाने वाला है। हे अध्वर्यु ! हवि का संस्कार करने के अनन्तर अग्नि का आवाहन कर उसे तृप्त करो और कहो कि हे कामनाओं को पूर्ण करने वाले अग्निदेव ! स्वाहा कह कर दी गई आहुति को आप देवताओं तक पहुँचा दो ॥ ८८ ॥

गृत्समददृष्टा। अहमस्य अग्नेर्मुखे घृतमुदकमाहुतिपरिणामभूतम्, मिमिक्षे मेढुं सेक्तुमिच्छति मिमिक्षते, उत्तमपुरुषैकवचने मिमिक्षे, सेक्तुमिच्छामीति यावत्। यतोऽस्याग्नेर्घृतं योनिरुत्पत्तिस्थानम्। घृतेन हि प्रवर्धतेऽग्निः, 'अग्निर्यस्यै योनेरसृज्यत तस्यै घृतमुल्बमासीत्' (श० ६।६।२।१३) इति श्रुतेः। गर्भाधारोदक-मुल्बम्। योऽग्निर्घृते श्रितो घृतमाश्रितः, अस्याग्नेर्घृतमेव धाम स्थानं तेजस्करं वा। उ अवधारणे। अतो हे अध्वर्यो, अनुष्वधं स्वधामन्नमुपलक्ष्य तमग्निमावह पूर्वमन्नमुपकल्प्य पश्चादाह्वय। 'स्वधेत्यन्ननामसु' (निघ० २।७।१७) आहूय च मादयस्व तर्पय। तर्पयित्वा चैवं ब्रूहि—हे वृषभ कामानामभिवर्षक, स्वाहाकृतं स्वाहाकारेण हुतं हव्यं त्वं वक्षि वह देवान् प्रापय। वहतेः शपि तल्लोपे च 'हो ढः' (पा० सू० ८।२।३१) इति ढत्वे, 'षढोः कः सि' (पा० सू० ८।२।४१) इति कत्वे च वक्षीति रूपम्। यद्वा हे अग्ने, अनुष्वधं स्वधोत्पन्नं नाम चरोर्द्विरवधारणाद् अन्नस्योपर्यधश्च घृतं वर्तते, अनुगतान्नं घृतमावह, स्वात्मानं देवत्वं प्रापय। तेन मादयस्व हृष्टो भव। हे वृषभ उत्कृष्टाभिमतफलानां वर्षक अग्ने, स्वाहाकारेण हुतं हव्यं हविर्वक्षि। यं प्रत्यहं मिमिक्षे, यस्य घृतं योनिः, यो घृते श्रितः, यस्य च घृतं धाम, स त्वमनुष्वधं देवानावह मादय हव्यं च वक्षि। देवानामावाहनं हविर्वहनं च कर्मद्वयं वह्नेः प्रसिद्धमेव।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, अहमस्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नत्वेन अपरोक्षस्य तव तर्पणाय घृतं मिमिक्षे मेढुं सेक्तुमिच्छामि। यतो घृतमस्य योनिः स्थानम्, घृतोपलक्षितान्नमयदेहस्य हृदय उपलभ्यमानत्वात्। अत एव घृते श्रितः। तत्रोपलभ्यमानत्वादेव घृतमेवास्य धाम तेजस्करम्। साधकानाह—हे साधक, त्वमनुष्वधं स्वमात्मानं सर्वान्तर्यामिणं भगवन्तं नारायणं धारयतीति स्वधा, तथा च मनुः—'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥' (१।१०)। अथवा स्वं धनं धनधान्यादिकं ददातीति स्वधा, शस्योत्पत्तिहेतुत्वात्, यद्वा स्वेभ्यो दीयते, स्वस्मिन् धीयते वा, स्वेन धनेन धीयते वेति स्वधा। स्वशब्दे उपपदे दधातेः 'गेहे कः' (पा० सू० ३।१।१४४) इति योगविभागाद् बाहुलकाद्वा कप्रत्ययः। तां स्वधामन्नमुप-कल्प्य भगवन्तमावह, आहूय च मादयस्व, भक्तिपरिप्लुतेन हविषा तर्पय, तर्पयित्वा चैवं प्रार्थयस्व—हे वृषभ सर्वाभिमतफलानामभिवर्षक भगवन्, स्वाहाकृतं स्वाहाकारेण सर्वात्मसमर्पणेन पूतं हव्यं हविर्नैवेद्यं वक्षि कृपया धारय स्वीकुरु। तथा चाहुर्याज्ञिकाः—'अग्ने त्वमैश्वरं तेजः पावनं परमं हि तत्। तस्मात् त्वदीयहृत्पद्मे श्रीरुद्रं तर्पयाम्यहम् ॥' इति।

दयानन्दस्तु—'हे समुद्रयायिन्, त्वं घृतं मिमिक्षे उदकं सिञ्चितुमिच्छ। उद् यस्याग्नेर्घृतं योनिर्गृहमस्ति, यो घृते श्रितो घृतमस्य धाम अधिकरणम्, तमग्निमनुष्वधं स्वधान्नस्यानुकूलमावह प्रापय। हे वृषभ, त्वं यतः स्वाहाकृतं वेदवाणीनिष्पादितं हव्यं होतुमादातुमर्हं वक्षि कामयसे प्राप्नोषि वा, तेनास्मान् मादयस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरर्थकत्वादेव। तथाहि—कोऽयं समुद्रयायी सम्बोध्यते ? किञ्च तत्र प्रमाणम् ? जलसिञ्चनेच्छया च को लाभः समाजस्य वेदाध्येतुर्वा ? अभ्युदयनिःश्रेयससाधनक्रियार्थत्वाद् वेदस्य अतदर्थानां नैरर्थक्यमेव,

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१) इति न्यायाच्च। समुद्रयायी कथमग्निमन्नानुकूलतां नयति ? समुद्रयायिनस्तेन कः सम्बन्धः ? न च वेदवाण्याः कश्चन सम्बन्धः ? वेदवाण्या किं निष्पाद्यते ? शब्दस्य ज्ञापकत्वेन कारकत्वायोगात् ॥ ८८ ॥

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ२॥ उदारदुपाꣳशुना सममृतत्वमानट् ।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥ ८९ ॥

मन्त्रार्थ—मधुर रस वाली तरंग घृत के रूप में समुद्र से उठती है, फिर प्राणभूत अग्नि के साथ मिल कर अमृतत्व को प्राप्त करती है। घृत का जो गुप्त नाम वेदों में पढ़ा गया है, वह देवताओं की जिह्वा है, अमृत की नाभि है। इसका अभिप्राय यह है कि घृत का सेवन करने वाला दीर्घायु होता है ॥ ८९ ॥

वामदेवदृष्टा। अत्रान्नाध्यासेन घृतं स्तूयते, प्राणाध्यासेन चाग्निः। समुद्रात्, सम्मोदन्ते यजमाना अस्मादिति समुद्रोऽग्निः पार्थिवः, तस्माद् ऊर्मिर्महाराशिर्घृतकल्लोलो मधुमान् रसवान् उदारत्, उद्गच्छन्त्यापोऽस्मादिति वा समुद्रो दैवो वैद्युतोऽग्निः, तस्मादूर्मिरुपर्युपर्यभूत्, अतो मधुमान् माधुर्योपेतफलसमूहः, उदारद् उद्गच्छति। अथवा वैद्युतादग्नेरूर्म्युत्पादको रससमूह उदारत्। अथवा समुद्रात् समुद्द्रवणसाधनाद् आदित्याद् घर्माद् रसमुदकलक्षणमुदारत्, 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' (म० स्मृ० ३।७६) इति वचनात्। यद्वा समुद्रादन्तरिक्षाद् ऊर्मिरुदकम् उदारत्। अथवा समुद्रादुक्तलक्षणादूधसः सकाशादूर्मिरुज्ज्वलक्षीररसः, उदारद् उद्गच्छति। एतद् घृतपक्षेऽपि समानम्। यद्यपि घृतं क्षीराज्जायते, तथापि तस्य ऊधस उत्पत्तेरयमुपचर्यते। शिष्टं वाक्यमग्न्यादिपञ्चपक्षेष्वपि समानम्। अंशुना दीप्त्यंशेन वा सममृतत्वम् आनट् व्याप्नोति। उपेति पादपूरणार्थः, सामीप्येन वा व्याप्नोति। घृतस्य दीप्तस्य क्षरद्रसस्य रूपस्य गुह्यं नाम गोपनीयं नयनसाधनं यदस्ति तद् ब्रवीमि। तद्देवानां जिह्वास्थानीयो भवति। तदेव अमृतत्वस्य नाभिर्वर्धकं भवति। तदुभयं घृतस्य नाभिरित्यर्थः। एवं सर्वमन्त्रेषु तत्तत्पक्षानुसारेण योजनीयम्।

'उव्वटमहीधररीत्या अन्नाध्यासेन घृतमत्र स्तूयते, प्राणाध्यासेन चाग्निः। समुद्राद् घृतमयाद् मधुमान् रसवानूर्मिर्महाराशिर्घृतकल्लोल उदारद् उदगमत्। 'ऋ गतौ' इत्यस्माल्लुङि च्लौ 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' (पा० सू० ३।१।५६) इति च्लेरङि, 'ऋदृशोऽङि गुणः' (पा० सू० ७।४।१६) इति गुणे, 'आटश्च' (पा० सू० ६।१।९०) इति वृद्धौ च आरदिति रूपम्। अक्षीणत्वाद् घृतस्य समुद्रेणोपमानम्, अन्नदेवताभिप्रायेण वा समुद्रेणोपमानम्, तस्या अप्यनुपक्षीणत्वात्। उद्गत्य च स ऊर्मिरंशुना प्राणेन जगत्प्राणभूतेनाग्निना सं सङ्गत्य एकीभूय अमृतत्वममरणधर्मित्वमुपानड् उपव्याप्नोत्।' 'णश् अदर्शने' इत्यस्याल्लुङि 'मन्त्रे घसह्वरणश' (पा० सू० २।४।८०) इत्यादिना च्लेर्लुकि 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्' (पा० सू० ६।१।६८) इत्यादिना तिपो लोपे रूपम्। वि आङ् इत्युपसर्गयोर्बलाद् व्यावर्तकार्थो णशिः। प्राणश्चान्नं च एकीभूय अमृतत्वं प्राप्नुत इत्यर्थः। तस्य घृतस्य गुह्यं नाम गोपनीयमविज्ञातमविद्भिः श्रुतिमन्त्रपरिपठितं यदस्ति, तदहं ब्रवीमीति शेषः। किं तदित्याह—देवानां जिह्वा अत्यभिलाषाद् देवानां जिह्वोत्थाननिमित्तम्, 'यदा वा एतदग्नौ जुह्वत्यथाग्नेर्जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति तस्मादाहाग्नेर्जिह्वासीति' (श० १।३।१।१९) इति श्रुतेः। अथ यत्सर्वप्रकाशं नाम तदप्यहं ब्रवीमि। किं तदित्याह—अमृतस्य नाभिरमरणधर्मत्वस्य नाभिर्नहनं बन्धनकारणम्, घृताशिनो दीर्घायुष्ट्वदर्शनात्। यद्वा प्रकृतार्धर्चेन मन्त्रः स्तूयते, अर्धर्चेन च घृतम्। समुद्राद् आग्निकाद्यजुःसमुद्राद् य ऊर्मिः शब्दसङ्घातो नामाख्यातोपसर्गनिपातलक्षण उपमोत्प्रेक्षारूपकाद्यलङ्कारोपेतो मधुमान् रसवान् वाक्यगुणैर्युक्तः, उदारद् मुखत उदगात्, स एव आंशुना सवनेन क्रियमाणः

सन्नमृतत्वमाप्नोत्, 'तदेतद्यजुरूपाॐ्ध्वनिरुक्तम्' (श० १०।३।५।१५) इति श्रुतेः। अतोऽग्निचिद्भिः स ऊर्मिः प्रकाशनीयः। घृतस्य गुह्यं नाम यदस्ति, तदपि देवानां जिह्वोत्थाननिमित्तम्। किं पुनर्होमः? 'अथास्य घृतकीर्तावेवाग्निर्वैश्वानरो मुखादुज्जज्वाल' (श० १।४।१।१३) इति श्रुतेः। अमृतस्य नाभिर्नहनं यजमानानाममृतत्वप्रापकं घृतं यजनेनेत्यर्थः। अतोऽग्निचिद्भिर्ह्यते स्तूयते च घृतमिति भावः।

अध्यात्मपक्षे—समुद्रात् सच्चिदानन्दलक्षणात्, मधुमान् मधुरप्रीतियुक्तः, ऊर्मिः सच्चिदानन्दकल्लोलरूपो जीव उदगमत्, उद्गत्य च अंशुना जगत्प्राणभूतेन परमात्मना सङ्गत्य एकीभूय अमृतत्वमुपानट् संव्याप्नोतु। घृतस्य दीप्तस्य स्वप्रकाशस्य तस्य यद् गुह्यं नामास्ति, तद् ब्रवीमि। किं तदित्याह—देवानां जिह्वेति। देवानां प्रसिद्धानां दिविषदां द्योतनात्मकानामिन्द्रियाणां च अत्यभिलाषास्पदत्वात्। जिह्वावद्रसास्वादमूलत्वाद् जिह्वेति गुह्यं नाम। अमृतस्य नाभिरमृतत्वस्य संहननकारणमित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, भवन्तः सत्समुद्रादन्तरिक्षाद् अंशुना किरणसमूहेन मधुमान् मधुररसगुणयुक्त उर्मिस्तरङ्ग उदारद् ऊर्ध्वमारद् आप्नोति। सममृतत्वमानट् समन्ताद् व्याप्नोति। यद् घृतस्य जलस्य गुह्यं रहस्यं नामास्ति, या देवानां विदुषां जिह्वा वाणी अमृतस्य मोक्षस्य नाभिः स्तम्भनं स्थिरीकरणं प्रबन्धनम्, तत्सर्वं सेवन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऊर्ध्वगामिनो मधुमतस्तरङ्गस्यानुपलम्भपराहतत्वात्॥ ८९॥

व॒यं नाम॒ प्र ब्र॑वामा घृ॒तस्या॒स्मिन् य॒ज्ञे धा॑रयामा॒ नमो॑भिः।
उप॑ ब्र॒ह्मा शृ॑णवच्छ॒स्यमा॑नं॒ चतुः॑शृङ्गोऽवमीद् गौ॒र ए॒तत्॥ ९०॥

मन्त्रार्थ—हम इस यज्ञ में घृत का नाम लेकर स्तुति करते हैं, क्योंकि घृत देवताओं को प्यारा है। अन्न के द्वारा यज्ञ को धारण करते हैं। ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् स्तुति किये जाते हुए घृत के नाम को सुने। चार होता वाला गौर वर्ण यह घृत आहुति के परिणाम से यज्ञ-फल को प्रकट करता है॥ ९०॥

यतो घृतनामोच्चारणमपि प्रियं देवानाम्, अतो वयं यजमाना घृतस्य नाम प्रब्रवाम अस्मिन् यज्ञे घृतनाम स्तुमः। नमोभिरन्नैर्धारयाम यज्ञमिति शेषः। किञ्च, ब्रह्मा ऋत्विक् शस्यमानं होत्रा स्तूयमानमेतद् घृतनाम उपश्रृणवत् उपश्रृणोत्। 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमः। यथा गौरो गौरवर्णः शुद्धो यज्ञ एतद् घृतं यज्ञफलरूपम् अवमीत् उद्गिरति। यज्ञपरिणामाभिप्रायमेतत्। कीदृशो गौरः? चतुःश्रृङ्गश्चत्वार ऋत्विजः श्रृङ्गभूता यस्य सः। ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्युरिति चत्वार ऋत्विजः।

अध्यात्मपक्षे—यतो घृतस्य दीप्तस्य प्रकाशस्य घृतवत्स्नेहमयस्य परमात्मनो नामोच्चारणमपि देवानां प्रियमतो वयमस्मिन् यज्ञे तस्य घृतस्य परमात्मनो नाम प्रब्रवाम स्तुमः। नमोभिर्नमस्कारैर्धारयाम, यज्ञं विष्णुमिति शेषः। किञ्च, मन्त्रैः शस्यमानं स्तूयमानमेतन्नाम ब्रह्मा परमेश्वर आसमन्ताद् उपश्रृणवत् उपाश्रृणोत्। कीदृशो ब्रह्मा? गौरः शुद्धः। पुनः कीदृशः? चतुःश्रृङ्गः, चत्वारो विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयरूपा विराड्हिरण्यगर्भाव्याकृततुरीयरूपा वा श्रृङ्गा इव श्रृङ्गा यस्य स परमात्मा एतन्नाम अवमीद् उद्गिरति। अतः शुद्धपरमात्मोद्भूतत्वात् परममाहात्म्योपेतमेतदित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'यश्चतुश्रृङ्गश्चत्वारो वेदाः श्रृङ्गवदुत्तमा यस्य सः। गौरो यो वेदविद्यावाचि रमते स एव। गुरतीति वा गौरः। ब्रह्मा चतुर्वेदवित्, अवमीद् उपदिशेत्, उपश्रृणवद् उपश्रृणुयात्, तद् घृतस्य आज्यस्य

जलस्य वा शस्यमानं प्रशंसितं सद् गुह्यं नामास्त्येतद्वयमन्यान् प्रति प्रब्रवाम। अस्मिन् यज्ञे नमोभिर्धारयाम। मनुष्या मनुष्यदेहं प्राप्य सर्वेषां पदार्थानां नामान्यर्थांश्च अध्यापकेभ्यः श्रुत्वाऽन्येभ्यो ब्रूयुः। एतैः सृष्टिस्थैः पदार्थैः सर्वाणि कार्याणि साधयेयुरिति भावार्थः' इति, तदेतत् सर्वं मन्त्राक्षरबाह्यमेव, अक्षरार्थाननुगमात्। चतुःशब्देन चत्वारो वेदाश्चत्वार ऋत्विजश्चत्वारो नामाख्यातोपसर्गनिपाता इति ग्रहणे विनिगमनाविरहात्। गोरपदस्य कथञ्चित् तादृशार्थत्वेऽपि गौरपदस्य तथार्थत्वायोगात्। गोपदस्याप्यनेकेऽर्थाः सन्ति, गवां पशुविशेषाणां दातुरपि गोरशब्देन ग्रहीतुं शक्यत्वे विनिगमनाविरहाच्च। ब्रह्मपदमपि न चतुर्वेदवित्परम्, किन्तु ब्रह्मनामक ऋत्विक् चतुर्वेदविद् भवतीति प्रणाड्या तथार्थग्रहणेऽपि प्रथमभावित्वाद् ऋत्विगेव प्रथमोपस्थितिको भवति। अवमीद् उपदिशेदित्यप्यसङ्गतम्, धात्वर्थविरोधात्। तत्र घृतस्य कः प्रसङ्गः? गृहाश्रमो यज्ञ इत्यप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्, लक्षणायां बीजाभावात् ॥ ९० ॥

च॒त्वारि॒ शृङ्गा॒ त्रयो॑ अस्य॒ पादा॒ द्वे शी॒र्षे स॒प्त हस्ता॑सो अस्य ।
त्रिधा॑ ब॒द्धो वृ॑ष॒भो रो॑रवीति म॒हो दे॒वो मर्त्याँ॒२॥ आविवेश ॥ ९१ ॥

मन्त्रार्थ—इस यज्ञ देवता के ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु ये चार शृंग हैं। ऋक्, यजुः और साम ये तीन वेद तीन चरण हैं। हविर्धान और प्रवर्ग्य दो सिर हैं। इस यज्ञपुरुष के छन्दोरूप अथवा होतारूप सात हाथ हैं। प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन इन तीन स्थानों में बँधा हुआ कामनाओं की वर्षा करने वाला यह यज्ञरूपी वृषभ मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प के द्वारा अतिशय शब्द करता है। यह अतिपूजनीय देव मनुष्य लोक में व्याप्त होकर स्थित है। मन्त्र का यह अर्थ निरुक्त (१३।७) के अनुसार है।

पतंजलि मुनि ने महाभाष्य (१।१।१) में इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार जिसके सींग हैं, प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुष रूप अथवा भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल रूप तीन चरण हैं। नित्य और कार्य रूप शब्द ही दो सिर हैं। सात विभक्तियां ही सात हाथ हैं। एकवचन, द्विवचन, बहुवचन रूप तीन स्थानों में बँधा हुआ, अनेकों अर्थों की वर्षा करने वाला, ऐसा यह व्याकरण शास्त्र अन्य शास्त्रों को दबा कर गरजता है, यह विशाल परिमाण का दिव्य शास्त्र मनुष्यों में फैला हुआ है।

इस मन्त्र का तीसरा अर्थ इस प्रकार हो सकता है—वेदरूप यज्ञपुरुष के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार शृंग हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान रूप तीन चरण हैं। व्यष्टि और समष्टि रूप दो सिर हैं। स्वर अथवा छन्द रूप सात हाथ हैं। इस प्रकार चार पदार्थों की वर्षा करने वाला वेद बार बार उपदेश कर रहा है कि हे मनुष्यों! जागो, परमात्मा का भजन करने के निमित्त ही शरीर है, इसमें परमात्मा ने जीवात्मा के रूप में प्रवेश किया है॥ ९१ ॥

• यज्ञपुरुषदेवत्य ऋषभो मन्त्रः। चतुःशृङ्गोऽवमीदित्युक्तम्, तत्र कोऽयं चतुःशृङ्ग इति जिज्ञासायां चतुःशृङ्गशब्दो यज्ञवृषभपरत्वेन प्रतिपाद्यते। यस्य यज्ञस्य चत्वारि शृङ्गाणि ब्रह्मोद्गातृहोत्रध्वर्य्वाख्या ऋत्विजः शृङ्गाणीव प्रधानभूताः। त्रय ऋग्यजुःसामलक्षणाः पादाः, तैरेव यज्ञः प्रतितिष्ठति। द्वे शीर्षे शिरसी हविर्धानप्रवर्ग्याख्ये। सप्तहस्तासः सप्तहोतारो हस्तासो हस्ता इव व्याप्रियन्ते। त्रिधा बद्धस्त्रिप्रकारं सम्बद्धः। प्रातःसवनमाध्यन्दिनसवन-सायंसवनाख्यैर्बद्धो वृषभः कामवर्षिता रोरवीति अत्यन्तं शब्दं करोति। सोऽयं महोदेवो महति पूजयति मह्यते वा जनैरिति महो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां प्राणिनामुपजीव्यः, ज्ञानकर्मसमुच्चयाधिकारिणां विदुषां शरीरभूतो मर्त्यान् मनुष्यान् आविवेश आविशति।

यद्वा—चत्वारो वेदाः शृङ्गाणीव, सवनानि त्रीणि पादाः, प्रायणीयोदयनीये इष्टिविशेषौ शीर्षे, सप्त छन्दांसि हस्ताः, त्रिधा मन्त्रब्राह्मणकल्पैर्बद्धो वृषभः कर्मफलानां वर्षणकर्ता रोरवीति, सोऽयं महो महता प्रकाशेन युक्तो देवो दीव्यतीति देवः, समस्तयज्ञाद्युपलक्ष्यो हिरण्यगर्भः, मर्त्यान् मरणधर्माणः प्राणिनः, आविवेश अपेक्षित-पुरुषार्थसाधनप्रकाशनाय आविशति।

यद्वा—व्याकरणशास्त्राभिमानो देवः शब्दग्रामोऽत्राभिधीयते। चत्वारि नामाख्यातोपसर्गनिपाताः शृङ्गाणि। प्रथममध्यमोत्तमपुरुषास्त्रयः पादाः, भूतभविष्यद्वर्तमानाः काला वा त्रयः पादाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त विभक्तयो हस्ताः। त्रिधा बद्ध एकवचनद्विवचनबहुवचनैर्बद्धः, उरसि कण्ठे शिरसि वा व्यज्यमानो वृषभ इवायममर्षादिवान्यानि शास्त्राण्यधःपदीकृत्य रोरवीति, य उक्तगुणः सोऽयं महोदेवो मर्त्यान् आविवेश तत्तदर्थान् प्रतिपादयति, मनुष्याधिकारित्वात् शास्त्रस्य। 'रु शब्दे' इत्यस्य यङ्लुगन्ते रोरवीतीति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—चत्वारि शृङ्गा चत्वारो विश्वतैजसप्राज्ञतुरीया विराड्ढिरण्यगर्भाव्याकृततुरीया वा शृङ्गाणीव यस्य। पादास्त्रयो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या अस्य पादाः। सगुणनिर्गुणब्रह्मरूपे द्वे शीर्षे। सप्त महदहङ्कारपञ्चतन्मात्रा अस्य हस्तासो हस्ताः, हस्ता इव व्यापारशीलाः। त्रिधा बद्धः श्रुतिस्मृतिपुराणैः प्रतिपादितः। महादेवो वृषभो वर्षति कर्मफलानीति वृषः, भाति सर्वोपरीति भः, वृषश्चासौ भश्चेति वृषभः। रोरवीति परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीभिर्बहुधा व्यवहरति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यस्यास्य त्रयस्त्रीणि सवनानि भूतभविष्यद्वर्तमानाः कालाः पादाः, चत्वारि शृङ्गा चत्वारो वेदा नामाख्यातोपसर्गनिपाता वा शृङ्गाणीव। द्वे प्रायणीयोदयनीये शीर्षे नित्यः कार्यश्च शब्दात्मानौ वा। सप्तसंख्याकानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि सप्तविभक्तयो वा हस्तासो हस्तेन्द्रियमिव। त्रिधा त्रिभिः प्रकारैर्मन्त्रब्राह्मणकल्पैरुरसि कण्ठे शिरसि वा बद्धो वृषभः सुखानामाविर्भावको रोरवीति ऋग्वेदादिना सवन-क्रमेण वा शब्दायते, महो महान् देवो गमनीयः प्रकाशको वा मर्त्यान् आविवेश तमनुष्ठायाभ्यस्य वा सुखिनो विद्वांसो भवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्। अध्याहाराणां निर्मूलत्वात्, अपसिद्धान्तापाताच्च। न च त्वया ब्राह्मणकल्पानु-सारेण यज्ञव्याख्यानं क्रियते, मन्त्राणामन्यथान्यथा नयनात्। यदि च ब्राह्मणानां कल्पानां चाश्रयणं कृतं स्यात् तदा सायणादिसम्मतमेव व्याख्यानं कुर्यात्। न च त्वया क्वचित् सवनत्रयोपेता यज्ञा उक्ताः, वायुशुद्ध्यादि-हेतुकत्वेन त्वदीये यज्ञे तदनुपयोगात्। न च क्वचित् प्रायणीयोदयनीयस्वरूपं त्वया निरूपितम्। कात्यायनादिसूत्राणि कल्पास्तु त्वया सर्वथोपेक्षिता एव। अकामेनापि निरुक्ताद्याश्रयेणात्र तथा व्याख्यातुं बाधितोऽभूदयम्।

तथा चाह यास्कः—'चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः। त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि। द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये। सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि। त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः। वृषभो रोरवीति रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिः। यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति। महोदेव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्याँ आविवेशेत्येष हि मनुष्यानाविशति यजनाय' (नि० १३।७)। महाभाष्यकारः पतञ्जलिश्च—'चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयोऽस्य पादास्त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्तहस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्, रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतत्? रौतिः शब्दकर्मा। महोदेवो मर्त्याँ आविवेशेति महान् देवः शब्दो मर्त्यान् मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश' इत्याह॥ ९१॥

त्रिधा॑ हि॒तं प॒णिभि॑र्गु॒ह्यमा॑नं॒ गवि॑ दे॒वासो॑ घृ॒तमन्व॑विन्दन् ।
इन्द्र॒ एक॒ꣳ सूर्य॒ एकं॑ जजान वे॒नादेक॑ꣳ स्व॒धया॒ निष्ट॑तक्षुः ॥ ९२ ॥

मन्त्रार्थ—तीन प्रकार से लोकों में स्थापित, असुरों के द्वारा छिपाये हुये घृत को देवताओं ने क्रम से गायों में जाना। इसके एक भाग को इन्द्र ने प्रकट किया, दूसरे भाग को सूर्य ने प्रकट किया और यज्ञसाधनभूत तीसरे भाग को अग्नि से स्वधा के द्वारा ब्राह्मणों ने पाया ॥ ९२ ॥

यज्ञपरिणामभूतं यथा घृतं तथा त्रिधा निहितं स्थापितमेषु लोकेषु। पणिभिरसुरैर्गुह्यमानं गुप्यमानं सद् देवासो देवा गवि धेनौ अन्वविन्दन् आनुपूर्व्याल्लब्धवन्तः। यत्तस्य घृतस्य एको भागः, इन्द्रस्तमेकं भागं जजान जनयति, 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविशतस्ते' (श० ११।६।२।६) इत्यादिश्रुतिरिन्द्रस्य जनकत्वं दर्शयति। सूर्यं एकं भागं जजान जनयति, 'तत उत्क्रामतः। ते दिवमाविशतः' (श० ११।६।२।६-७) इत्यादिश्रुतिः सूर्यस्य घृतभागजनकत्वं दर्शयति। वेनाद् यज्ञसाधनभूतादग्नेः, एकं भागं स्वधया अन्नेन आहुतिपरिणामभूतेन निष्टतक्षुर्निष्कर्षितवन्तो द्विजातयः। यस्ततः पुत्रो जायते स लोकप्रत्युत्थायीत्येतदुक्तं भवति, 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० उ० ५।३।३) इति श्रुतेः। यथा गवि दुग्धदधिनवनीतक्रमेण घृतमन्वविन्दन्, तथैव पणिभिर्गुह्यमानं यज्ञपरिणामभूतं त्रिधाहितं स्थापितमिन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादग्नेः स्वधयान्नेन एकं भागं निष्टतक्षुर्द्विजातयः।

अध्यात्मपक्षे—देवा यथा गवि त्रिधा हितं स्थापितं घृतमन्वविन्दन्, तथैव लोकेषु त्रिधा स्थलसूक्ष्मकारणरूपेण हितं निहितं स्थितं ब्रह्म पणिभिर्मायामयैर्व्यवहारैर्गुह्यमानं देवासो दिव्याः साधका अनुविन्दन्ति। इन्द्रः कारणाभिमानी ईश्वर एकं भागं जनयति, सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानो हिरण्यगर्भः सूर्य एकं भागं जनयति, वेनादग्नेः स्थूलप्रपञ्चाभिमानिनोऽग्नेः स्वधयान्नेन सार्धमेकं भागं निष्टतक्षुर्विद्वांसः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा देवासः पणिभिर्व्यवहारज्ञैः स्तावकैर्वा त्रिधा त्रिभिः प्रकारैर्हितं स्थितं गवि वाचि गुह्यमानं रहसि स्थितं घृतं प्रदीप्तं विज्ञानमन्वविन्दन् लभन्ते, यदीन्द्रो विद्युद् एकं सूर्यः सविता एकं जजान जनयति, वेनाच्च कमनीयाद् मेधाविनः, 'वेन इति मेधाविनामसु' (नि० ३।१५।५), स्वधया स्वेन धारितया क्रियया एकं विज्ञानं निष्टतक्षुनितरां ततक्षुस्तनूकुर्युः, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, कस्यां वाचिकैस्त्रिभिः प्रकारैः कैः पणिभिर्विज्ञानं घृतमित्यस्याप्यस्पष्टत्वात्। किञ्च, देवा विद्वांसोऽभिप्रेयन्ते त्वया, विज्ञानमपि विद्यैव, तथा च विद्यावन्तो विद्या लभन्त इत्युक्तं भवति। तच्च समुद्रस्य जललाभवन्निरर्थकमेव। विज्ञानं चैतन्यं जडेषु न सम्भवति। त्वद्रीत्या विद्युतोऽग्नेः सूर्यस्य च जडत्वमवात कुतस्तेषां ज्ञानवत्त्वम्? कुतस्तरां विज्ञानजनकत्वम्? यदि विद्युदादिषु मेधावित्वं ततस्तेनैव तेषां चतनत्वम्। मेधावित्वाभावे वा कथं विज्ञानजनकत्वम्? स्वधापदस्य यदि स्वधारिता क्रियार्थः स्यात्, तदा गमिक्रियाकर्तृत्वेन देवदत्तादेरपि स्यादेव गोत्वम् ॥ ९२ ॥

ए॒ता अ॑र्षन्ति॒ हृद्या॑त् समु॒द्राच्छ॒तव्र॑जा रि॒पुणा॒ नाव॒चक्षे॑ ।
घृ॒तस्य॒ धारा॑ अ॒भिचा॑कशीमि हि॒र॒ण्ययो॑ वेत॒सो मध्य॑ आसाम् ॥ ९३ ॥

मन्त्रार्थ—हृदय रूपी समुद्र से, अर्थात् श्रद्धा रूपी जल से अथवा देवताओं के यथावत् चिन्तन रूप समुद्र से अथवा निरुक्त आदि छः अंगों से पवित्र उस वेद रूपी सागर से अनेकों अर्थ वाली ये वाणियाँ निकलती हैं। घृत को

धाराओं के समान अविच्छिन्न रूप से उच्चारित ये वाणियां शत्रुरूप कुतार्किकों से खण्डित नहीं होतीं। इन वाणियों के मध्य में दीप्यमान अग्नियों को मैं सब ओर से देखता हूं ॥ ९३ ॥

या एता ऊर्मयो वाचः, अर्षन्ति उद्गच्छन्ति हृद्याद् हृदयरूपात् समुद्रात् श्रद्धोदकपरिप्लुताद् देवतायाथात्म्यचिन्तनसन्तानगर्भान्निगमनिरुक्तनिघण्टुव्याकरणशिक्षाच्छन्दोभिः पावनैः पूतादेता अर्षन्त्यः शतव्रजाः, व्रजनं व्रजो गतिः, शतं शतधा व्रजो यासां ता बहुगतयः, बह्वर्था इति यावत्। एता अर्षन्त्यः, रिपुणा कुतार्किकशत्रुप्रसङ्गेन नावचक्षे नावचक्ष्यन्ते नापवदितुं खण्डयितुं शक्यन्ते। पुरुषवचनव्यत्ययः। ता घृतस्य धारा इव देवानां तृप्तिकराः। लुप्तोपमा। अहमभिचाकशीमि अहमिमाः पश्यामि अवगच्छामि वा। आसां वाचां मध्ये यो हिरण्ययो हिरण्मयो दीप्यमानो वेतसोऽग्निराहवनीयाख्यः, तं चाभिचाकशीमीति सम्बन्धः। अग्निर्हि वाचामधिष्ठात्री देवता। यद्वा घृतस्य धारा एवोच्यन्ते। या एता अर्षन्ति स्रवन्ति हृद्यात् समुद्राद् हृदयेन हि सङ्कल्प्य पश्चाद्यजन्ते, ता एवमुच्यन्ते शतव्रजा इति, बहुगतय इति यावत्। याश्चैता रिपुणा यज्ञपरिपन्थिना नावचक्षे नावद्रष्टुं शक्यन्ते, ता घृतस्य धाराः पश्यामि, यश्चायं हिरण्ययो वेतसोऽग्निराहवनीय आसां मध्ये स्थितस्तं च पश्यामि। याथात्म्येनाहं द्रव्यं देवतां च पश्यामि।

अध्यात्मपक्षे—एता वेदलक्षणाः स्तुतिलक्षणाश्च वाच ऊर्मय इव अर्षन्ति उद्गच्छन्ति, अग्नौ ब्रह्मण्येव पर्यवस्यन्तीत्यर्थः। कुतोऽर्षन्तीत्याह—हृद्याद् हृदि भवात् श्रद्धोदकसम्प्लुताद् ब्रह्मात्मयाथात्म्यचिन्तनसन्तानगर्भात् समुद्रान्निगमनिघण्टुनिरुक्तव्याकरणशिक्षाच्छन्दोभिरङ्गैः पावनैरुपबृंहितादर्षन्तीति सम्बन्धः। कीदृश्यो वाचः? शतव्रजा अनन्तगतयोऽनन्तार्था इति यावत्। याश्च रिपुणा कुतार्किकवृन्देन नावचक्षे नावचक्ष्यन्ते न खण्डयितुं शक्यन्ते, अपौरुषेयत्वेनापास्तसमस्तपुंदोषशङ्काकलङ्कपङ्कत्वात्। ता घृतस्य धारा इवाहमभिचाकशीमि। आसां वाचां मध्ये प्रतिपाद्यत्वेन स्थितो यो हिरण्ययो हिरण्मयो दीप्यमानो वेतसोऽग्निर्ज्योतिर्मयः स्वप्रकाशप्रत्यक्चैतन्याभिन्नः परमात्मा, तमप्यहं याथातथ्येन अभिचाकशीमि।

दयानन्दस्तु—'या रिपुणा नावचक्षेऽवख्यातव्या शतव्रजा शतं व्रजा मार्गा यासां ताः। एता वाचो हृद्याद् हृदये भवात् समुद्राद् अन्तरिक्षाद् अर्षन्ति निःसरन्ति, आसां वेदधर्मयुक्तवाणीनां मध्ये या अग्नौ घृतस्य धारा इव जनेषु पतिताः प्रकाशन्ते, ता हिरण्ययस्तेजःस्वरूपा वेतसः कमनीयोऽहमभिचाकशीमि सर्वतोऽनुशास्मि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारबाहुल्यात्, अग्नौ घृतस्य धारेव जनेषु पतिताः प्रकाशन्त इत्यस्य निर्मूलत्वाच्च, हिरण्ययः, वेतस इति प्रथमान्तपदयोरनुशासनकर्मत्वेनान्वयानुपपत्तेश्च ॥ ९३ ॥

स॒म्यक् स्र॑वन्ति स॒रितो॒ न धेना॑ अ॒न्तर्हृ॒दा मन॑सा पू॒यमा॑नाः।
ए॒ते अ॑र्षन्त्यू॒र्मयो॑ घृ॒तस्य॑ मृ॒गा इ॑व क्षिप॒णोरीष॑माणाः ॥ ९४ ॥

मन्त्रार्थ—शरीर के भीतर पावन स्थान मन के द्वारा पवित्र हुईं, शब्द दोष रहित ये वाणियाँ नदियों के प्रवाह के समान अविच्छिन्न रूप से भली प्रकार प्रकट होती हैं, ये अग्नि की ही स्तुति करती हैं। घृत की तरगे स्रुक् से निकल कर जाती हुई अग्नि को तृप्त करती हैं, जैसे कि व्याध से डरकर मृग भागते हैं ॥ ९४ ॥

या धेना वाचः, 'धेना इति वाङ्नामसु' (निघ० १।११।३९), सरितो न नद्य इवानवच्छिन्नप्रवाहाः सम्यक् स्रवन्ति प्रसरन्ति। कीदृश्यो धेनाः? अन्तर्हृदा अन्तर्व्यवस्थितेन हृदयेन निगमनिरुक्तादिपावनस्थानीयेन शुद्धान्तःकरणेन च पूयमाना विविच्यमानाः शब्ददोषेभ्यः, ता अग्निमेव स्तुवन्तीति शेषः। ये चैतेऽर्षन्ति

द्रवन्त्यूर्मयो धाराः सञ्जाता घृतस्य स्रुक्परिभ्रष्टा गच्छन्ति, तेऽप्यग्निं तर्पयन्तीति शेषः। तत्र दृष्टान्तः—क्षिपणोः क्षिपति हिनस्तीति क्षिपणुर्व्याधः, तस्माद् ईषमाणाः पलायमाना मृगा इव व्याधाद् भीता मृगा इव ये घृतोर्मयो गच्छन्ति, तेऽग्निं तर्पयन्तीत्यर्थः। श्रुतिर्द्रव्यं च अग्न्यर्थमेवेत्युक्तं भवति।

अध्यात्मपक्षे—या धेना वाचः सरितो न अनवच्छिन्नोदकप्रवाहा नद्य इव सम्यक् स्रवन्ति प्रसरन्ति। कीदृश्यस्ताः ? अन्तर्हृदा शरीरान्तर्व्यवस्थितेन हृदा पावनमानसरोवरादिस्थानीयेन मनसा च पूयमानाः शब्दादिदोषेभ्यस्तितउनेव विविच्यमानास्तास्तमग्निरूपं परमात्मानमेव स्तुवन्तीति शेषः। ये चैते घृतस्य ऊर्मयः कल्लोलाः स्रुक्परिभ्रष्टा घृतस्य धारा अर्षन्ति, तेऽपि तमग्निं परमात्मानं तर्पयन्ति। तत्रैव दृष्टान्तः—क्षिपणोर्व्याधादीषमाणाः पलायमाना मृगा इव ये घृतोर्मयो गच्छन्ति, तेऽपि तमेव तर्पयन्तीत्यर्थः, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥' (कठो० १।२।१५) इति श्रुतेः। अत्र तपःपदं यज्ञादिपरम्। तपांसि यदर्थानीत्येतत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, या अन्तर्हृदा शरीरान्तर्व्यवस्थितेन हृदा विषयहारकेण मनसा शुद्धान्तःकरणेन पूयमाना धेना वाचः सरितो न नद्य इव सम्यक् स्रवन्ति, ये चैते घृतस्योर्मयस्तरङ्गाः क्षिपणोर्हिंसकस्य भयाद् ईषमाणाः पलायमाना मृगा इव अर्षन्ति, तांश्च यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनोपसंहारयोर्निर्मूलत्वात्, हृदेत्यस्य विषयहारकत्वार्थस्य चिन्त्यत्वात्, शुद्धान्तःकरणेनेति सम्बन्धानर्हत्वाच्च। नहि विषयाक्रान्तं मनः शुद्धं भवति। घृतस्य प्रकाशितस्य विज्ञानस्येत्यप्यपव्याख्यानमेव, ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेन प्रकाशितत्वायोगात्॥ ९४॥

सिन्धो॑रिव प्राध्व॒ने शू॑घ॒नासो॒ वात॑प्रमियः पतयन्ति य॒ह्वाः।
घृ॒तस्य॒ धारा॑ अरु॒षो न वा॒जी काष्ठा॑ भि॒न्दन्नू॒र्मिभिः॒ पिन्व॑मानः॥ ९५॥

मन्त्रार्थ—घृत की बड़ी-बड़ी धाराएँ स्रुवे से वैसे ही गिरती हैं, जैसे कि नदी की शीघ्र गमन वाली, पवन से चलायमान तरंगे विषम स्थान में पड़ती हैं, जैसे कि संग्राम की दिशाओं को विदीर्ण करता हुआ, संग्रामभेदन के श्रम से निकले हुए पसीनों से पृथ्वी को सींचता हुआ क्रोधरहित उत्तम घोड़ा गमन करता है॥ ९५॥

या एताः सिन्धोर्नद्या इव प्राध्वने, प्रगतोऽध्वा प्राध्वा महोदकप्रपातः, तस्मिन् शूघनासः क्षिप्रं घनं गमनं येषां ते शूघनासः, निपातनाद् दीर्घः, 'मूर्तौ घनः' (पा० सू० ३।३।७७) इति निपातनाद् हनेर्घन इति रूपम्, 'शु इति क्षिप्रनामसु' (निघ० २।१५।१५), क्षिप्रगमनाः। वातप्रमियो वातेन प्रमीयन्त इति वातप्रमियस्तरङ्गाः, 'मीङ् हिंसायाम्' इति दैवादिकस्य। पतयन्ति स्वार्थे णिच् प्रपतन्ति। यह्वा महत्यः, 'यह्व इति महन्नामसु' (निघ० ३।३।१३)। स्रुङ्मुखात् परिभ्रष्टा घृतस्य धाराः पतन्तीरश्नात्यग्निः। क इवेत्याह—अरुषो न वाजी अक्रोधनो वाजी वेगवान् अश्व इव। पुनरप्यश्वं विशिनष्टि—काष्ठा भिन्दन् आज्यन्तान् संग्रामान्तप्रदेशान् विदारयन्, ऊर्मिभिः पिन्वमानः, आज्यन्ते विभेदनश्रमयोगाच्च स्वेदकोर्मिभिः पिन्वमानो भूमिं प्रसिञ्चन्। यथैतद्गुणविशिष्टोऽश्वोऽश्नाति, एवमग्निरप्यश्नाति। न तु हीनोपमानमग्नेरश्वो ज्यायांश्च। तत्र गुणोऽभिप्रेत इति परिष्कृतं यास्केन। स्रुक्परिभ्रष्टा घृतस्य धारा अग्निरश्नातीति शेषः। कथं घृतस्य धाराः स्रुङ्मुखात्पतन्तीति, तत्र दृष्टान्तः—सिन्धोरिवेत्यादि। यथा सिन्धोर्नद्याः प्राध्वने महोदकप्रपाते शूघनासः क्षिप्रगमनाः, यह्वा महत्यः, वातप्रमियस्तरङ्गाः पतन्ति, तद्वत्। क इवाश्नात्यग्निरित्याह—वाजी न वाजीव, यथा अक्रोधनो विशिष्ट-

गुणो वाजी संग्रामप्रदेशान् विदारयन् श्रमोत्थस्वेदोदकोर्मिभिर्भूमिं सिञ्चन्नन्नान्यश्नाति, तद्वदग्निर्घृतस्य स्रुङ्मुखात् पतन्तीर्धारा अश्नाति।

महीधराचार्यरीत्या तु घृतस्य धाराः पतयन्ति स्रुङ्मुखात् पतन्ति, 'पत ऐश्वर्ये गतौ च' चुरादिरदन्तः। कीदृश्यो धाराः ? यह्वा महत्यः। तत्र दृष्टान्तद्वयम्—प्राध्वने सिन्धोर्वातप्रमिय इव। प्रगतोऽध्वनः प्राध्वनो विषमप्रदेशः। वातेन प्रमीयन्ते उत्थायोत्थाय विनश्यन्तीति वातप्रमियस्तरङ्गा विषमप्रदेशे यथा पतन्ति, तद्वद् घृतस्य धाराः स्रुङ्मुखात् पतन्ति। कीदृशाः ? वातप्रमियः शूघनासः शु क्षिप्रं घनं गमनं येषां ते शूघनासः, 'आज्जसेरसुक्' (पा० सू० ७।१।५०)। पुनः कीदृश्यो धाराः ? वाजी न वाजीव, यथा वाजी वेगवानश्वः पतति, तद्वत्। कीदृशो वाजी ? अरुषः 'रुष क्रोधे' अरुषोऽक्रोधनो जात्यादिभिरुत्कृष्टोऽश्वः काष्ठा आज्यान्तान् संग्रामान्तप्रदेशान् भिन्दन् विदारयन्, ऊर्मिभिः काष्ठाभेदनोत्थश्रमस्वेदोदकैः पिन्वमानो भूमिं सिञ्चन्, 'पिवि सेवने, सेचन इत्येके'। स वाजी यथा पतित्वा अन्नान्यश्नाति, एवं पतन्तीर्घृतधारा अग्निरश्नातीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—भागवतानां यज्ञेऽग्निं भगवन्तमभिलक्ष्य घृतस्य यह्वा महत्यो धाराः स्रुङ्मुखात्पतयन्ति पतन्ति। कीदृश्यो धाराः पतन्ति, तत्राह—सिन्धोरिवेति। यथा सिन्धोर्नद्याः शूघनासः क्षिप्रगमना वातप्रमियस्तरङ्गाः प्राध्वने विषमप्रदेशे महोदकप्रपाते वा पतन्ति, तद्वत्। ताः पतन्तीर्महतीर्घृतस्य धारा अग्निः परमेश्वरोऽश्नाति। क इवेत्याह—वाजी न, न उपमार्थीयः, यथा वाजी अरुषोऽक्रोधनः काष्ठा भिन्दन्, 'काष्ठा इति संग्रामनामसु' (निघ० ११६।५), विदारयन् ऊर्मिभिः श्रमोत्थस्वेदोदकोर्मिभिर्भूमिं पिन्वमानः सिञ्चन् अन्नान्यश्नाति, तद्वत्। सर्वे भोगाः स्वसार्थक्याय भगवन्तमभिगच्छन्तीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, प्राध्वने प्रकृष्टश्चासावध्वा च, तस्मिन् सिन्धोर्यथा शूघनासो वातप्रमियो वातेन प्रमातुं ज्ञातुं योग्या लहर्यः पतन्ति, यथा च काष्ठा भिन्दन् ऊर्मिभिः शत्रुभेदनोत्थश्रमस्वेदोदकैः पिन्वमानः, अरुषो य ऋच्छत्यध्वानं स वेगवानश्वः पतति, तथा यह्वा महत्यो घृतस्य विज्ञानस्य धारा वाचां प्रवाहा उपदेशकमुखात् श्रोतृश्रोत्रेषु पतन्ति वा, यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाते प्रमातुं योग्यमिति व्याख्यानासङ्गतेः, वातस्य प्रमातृत्वप्रमाणत्वानुपपत्तेः। नापि वातस्य लिङ्गत्वं सम्भवति, वाताभावेऽपि समुद्रोर्मिदर्शनात्। किञ्च, नहि प्रत्यक्षे लिङ्गापेक्षा सम्भवति, नहि प्रत्यक्षे करिणि चीत्कारेण हस्तिनमनुमिमतेऽनुमातारः, तथा चोर्मीणां प्रत्यक्षत्वेन तत्रानुमानानुत्थानम्। ऋच्छति यः सोऽरुष इत्यपि व्याख्यानं नोपपद्यते, वेगवानिति शब्देनैव गतिसिद्धेः। अन्यत्तु सायणाद्यनुकरणमेव ॥ ९५ ॥

अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥ ९६ ॥

मन्त्रार्थ—घृत की धाराएँ समान मन वाली रूप यौवन सम्पन्न मुस्कुराती हुई स्त्रियों के समान अग्नि की ओर गमन करती हैं। वे धाराएँ अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये उसको व्याप्त कर लेती हैं। प्रज्ञासम्पन्न अग्निदेव प्रसन्न होकर उन धाराओं को स्वीकार करते हैं ॥ ९६ ॥

घृतस्य धाराः सङ्घाता अग्निं देवम् अभिप्रवन्त अग्निं प्रति आभिमुख्येन गच्छन्ति अभिनयन्ति प्रह्वीभवन्ति, 'प्रुङ् गतौ' इत्यस्माल्लङि अडभाव आर्षः। का इव ? समना समानं मनो यासां ताः, विभक्तेर्डादेशः, समानमनस्का अभिन्नहृदयाः, एकभर्तारं प्रति सङ्गतमनसो वा, कल्याण्यो रूपयौवनसम्पन्नाः स्मयमाना

ईषद्धसन्त्यो योषाः पत्न्यो यथा पतिं प्रति अभिप्रह्वा भवन्ति । ता धारास्तमेवाग्निं नसन्त हरन्ति, 'नस् कौटिल्ये' अत्र हरणे वृत्तिः । लङ् अडभाव आर्षः । यद्वा 'नसतिराप्नोतिकर्ता नमतिकर्मा वा', अग्निं व्याप्नुवन्ति, अभिनमन्ति वा । कथंभूता धाराः ? समिधः समिन्धते दीपयन्त्यग्निमिति तथोक्ताः । ता घृतस्य धारा जुषाणः प्रीत्या सेवमानो जातवेदा जातप्रज्ञानोऽग्निः, हर्यति प्राप्नोति, कामयते वा । 'हर्य गतिकान्त्योः' भौवादिकः । नास्य ग्रहणशक्तिपरिहरणमस्तीति भावः ।

अध्यात्मपक्षे—'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' (भ० गी० ९।२४), 'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्' (भ० गी० ५।२९) इति रीत्या घृतस्य धारा यज्ञियानि सर्वाणि हवींषि सर्वे च भोगास्तथैव भगवन्तमभिनमन्ति, यथा योषाः स्त्रियः समना अभिन्नहृदयाः कल्याण्यः स्मयमानाः पतिमभिनमन्ति, तथैव ता धारा अप्यग्निं परमात्मानं व्याप्नुवन्ति । कीदृश्यस्ताः ? समिधः समिन्धते तं दीपयन्ति शोभयन्ति । जातवेदाः सर्वज्ञः परमेश्वरो जुषाणः प्रीतियुक्तः सन् ता हर्यति कामयते, आप्तसमस्तकामोऽपि भक्तपराधीनत्वाद् भक्त्या समर्पितान् भक्तोपहारान् कामयते, अश्नाति च । 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥' (भ० गी० ९।२६) इति वचनात् ।

दयानन्दस्तु—'स्मयमानासः कल्याण्यः समनेव योषा याः समिधः शब्दार्थसम्बन्धैः सम्यग्दीपिता घृतस्य ज्ञानस्य धारा वाचोऽग्निमभिप्रवन्ते ते तस्विनं विद्वांसं नसन्त च, ता जुषाणो जातवेदा हर्यति कामयते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, घृतस्य ज्ञानस्य धारा वाच इत्यस्यासङ्गतेः ॥ ९६ ॥

कन्या॑ इव वह॒तुमेत॒वा उ॑ अ॒ञ्ज्य॑ञ्जा॒ना अ॒भि चा॑कशीमि ।
यत्र॒ सोमः॑ सू॒यते॒ यत्र॑ य॒ज्ञो घृ॒तस्य॒ धारा॑ अ॒भि तत्प॑वन्ते ॥ ९७ ॥

मन्त्रार्थ—जहाँ सोम का अभिषव होता है, जहाँ सौत्रामणी आदि यज्ञ होते हैं, वहीं घृत की धाराओं को जाते हुए मैं देखता हूं । ये घृत की धाराएँ उसी प्रकार अग्नि की तरफ बढ़ती हैं, जैसे कि सुन्दर रूप वाली ऋतुधर्म को प्रकट करती हुई कन्याएँ पति के समीप जाने को उद्यत होती हैं ॥ ९७ ॥

या एताः कन्या इव नवपरिणीता इव । ता यथा वहतुं वहति परिणयतीति वहतुस्तं वोढारं भर्तारम् एतवै एतुम्, उ इति पादपूरणार्थः, 'इण् गतौ' तुमर्थे तवैप्रत्ययः, अभिपवन्ते अभिगच्छन्ति । कीदृश्यः कन्याः ? अञ्जि भगम् अञ्जाना व्यक्तं कुर्वाणाः । अज्यते व्यक्तीक्रियते स्त्रीपुंसव्यक्तिर्येन तद् अञ्जि । यथा नवपरिणीताः कन्याः पतिं गच्छन्ति, तथा घृतधारास्तत् तत्र गच्छन्ति । कुत्र गच्छन्तीति चेत्, यत्र स्थाने सोमो लताविशेषः सूयते अभिषूयते । यत्र च यज्ञः सौत्रामणिसंज्ञकः क्रियते, तत्रैव सङ्गच्छन्ति । यज्ञसहचरितास्ता घृतस्य धारा अभिचाकशीमि पश्यामीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—घृतस्य धारास्तत् तं भगवन्तमभिपवन्तेऽभिगच्छन्ति, यत्र यत्प्रसादनिमित्तं सोमो लताविशेषः सूयते । यत्र यदर्थं च तत्प्रसादनिमित्तं यज्ञस्तायते । का इव घृतधारास्तत्र गच्छन्ति ? तत्रोच्यते—कन्या इति । यथा कन्या नवपरिणीता वहतुं वोढारं भर्तारम् एतवै प्राप्तुं अञ्जि स्वव्यञ्जनमञ्जाना व्यक्तं कुर्वाणा गच्छन्ति, तद्वत् । अहं च यज्ञसहचरिता भोक्तृसहिता घृतधारा अभिचाकशीमि ।

दयानन्दस्तु—'अञ्जि कमनीयं रूपं अञ्जाना ज्ञापयन्त्यो वहतुं भर्तारम् एतवै प्राप्तुम्, उ वितर्के, कन्या यत्र सोम ऐश्वर्यसमूहः सूयते उत्पद्यते, यत्र च यज्ञस्तद्यथा धारा अभिपवन्ते वा अहं अभिचाकशीमि' इति, तदपि

यत्किञ्चित्, सोमस्य ऐश्वर्यार्थकत्वे मानाभावात् । घृतस्य विज्ञानस्य धारा वाच इत्यपि निर्मूलम्, तथार्थस्याप्रसिद्धेः । अञ्जिपदं कमनीयरूपपरमित्यपि निर्मूलम्, प्रथमार्थत्यागे मानाभावात् ॥ ९७ ॥

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ते ॥ ९८ ॥

मन्त्रार्थ—हे देवताओं ! श्रेष्ठ स्तुतियों से सम्पन्न घृतयुक्त इस यज्ञ में आप लोग आवें । इस यज्ञ में मधुर स्वाद वाली घृत की धाराएँ गिरती हैं । हमारे इस यज्ञ को आप लोग स्वर्ग में पहुंचावें और हमारे यहाँ कल्याण और धन की वर्षा करें ॥ ९८ ॥

हे देवाः, यूयं सुष्टुतिं शोभनां स्तुतिं प्रति, आजिं यज्ञं च प्रति, अज्यते प्राप्यते स्वर्गो येन स आजिर्यज्ञः, अभ्यर्षत अभ्यागच्छत । एतां सुष्टुतिं शोभनां स्तुतिं प्रति आजिं यज्ञं च । अज्यते प्राप्यते स्वर्गोऽनेन स आजिर्यज्ञः । कीदृशमाजिम् ? गव्यं गोविकारैर्घृतैर्जनितम् । यद्वा गव्यं घृतं विद्यते यस्मिन् तं घृतयुतं यज्ञम्, अर्शआद्यच् । अभ्यागत्य च अस्मासु भद्रा भद्राणि द्रविणानि धनानि धत्त स्थापयत, दत्त वा, 'डुधाञ् धारणपोषणयोः, दानेऽप्येके' इति वचनात् । हे देवाः, इमं यज्ञं तत्र नयत यत्रास्माकं देवता देवत्वम्, अर्थाद् अस्माभिर्यो देवलोको जितस्तत्र नयत । यद्वा नोऽस्माकमिमं यज्ञं सौत्रामणिं देवता देवतासु देवलोके नयत प्रापयत । देवताशब्दात् 'सुपां सुलुक्.....' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तिलोपः । याश्चैता घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते मधुररससंयुक्तं पवन्ते, ता अस्मज्जितं स्वर्गलोकं नयत, देवतासु वा प्रापयत । यज्ञे यज्ञद्रव्ये स्वर्गं गते यजमानोऽपि तत्र गमिष्यत्येवेति भावः ।

अध्यात्मपक्षे—हे देवा भगवत्पार्षदाः, यूयम् एतां सुष्टुतिं शोभनां स्तुतिं भगवदाराधनलक्षणं गव्यम्, आजिं गोविकाराज्यनिष्पन्नमाजिं यज्ञमभिलक्ष्य आगच्छत । यद्वा अस्मासु भद्राणि द्रविणानि धनानि भगवदाराधनोपयोगीनि धत्त स्थापयत । इमं यज्ञं देवता परदेवतायां परमात्मनि नयत । याश्च घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते ताश्च देवतायां नयत ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषाः, यूयमुत्तमाचारेण सुष्टुतिं शोभनां प्रशंसामाजिं संग्रामं गव्यं वाचि भवं बोधं धेनौ वा भवं दुग्धादिकं च अभ्यर्षत । देवता अस्मासु भद्राणि कल्याणकराणि द्रविणानि धत्त । इमं यज्ञं सङ्गन्तव्यं गृहाश्रमव्यवहारं नयत । या घृतस्य प्रदीप्तविज्ञानस्य धारा वाचो विदुषो मधुमत्पवन्ते, ता अस्मान्नयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात् । न च संग्रामप्राप्तिरभीष्टा भवति, प्रशंसाद्रविणादीनां रागप्राप्तत्वात्, तदुपदेशस्य निरर्थकत्वाच्च । न चाभिपूर्वस्यापि वर्षतेः प्राप्तिरर्थः सम्भवति, धात्वर्थविरोधात् । न च वेदेऽन्यमनुष्याधीना द्रविणप्राप्तिरुक्ता, तथाभिकाङ्क्षायाः पारतन्त्र्यावहत्वात् । स्वप्रयत्नेनैव धनान्युपार्जनीयानि, न तदर्थं मनुष्यान्तराणि प्रार्थनीयानि ॥ ९८ ॥

धामन्ते विश्वं भुवनमधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि ।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम् ॥ ९९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप समुद्र में, हृदय में तथा आयु में स्थित हैं अर्थात् ब्रह्मा के जीवन पर्यन्त जितने प्राणीसमूह हैं, वे सब तुम्हारी विभूति का आश्रय लेकर स्थित हैं । जो घृत की तरंगे असुरों से युद्ध करके जल

के भीतर से लाई गई हैं, आपकी कृपा से उन रसयुक्त घृत-तरंगों को मैं भक्षण करूँ, अर्थात् हमको देवभाव प्राप्त हो ॥ ९९ ॥

आहुतिपरिणामभूतमिदं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगन्मन्यमानो मन्त्रद्रष्टा आह—हे अग्ने, ते धामन् तव विभूत्यां विश्वं सर्वं भुवनं भूतजातम् अधिश्रितं स्थितम्, यच्च अन्तःसमुद्रे समुद्रस्य मध्ये किञ्चिदस्ति, यच्च हृदि हृदयमध्ये किञ्चिदस्ति, यच्च आयुषि जीवने ब्रह्मणो जीवनपर्यन्तं यद्भूतजातमन्तः किञ्चिदपि धामनि तवाधिश्रितम्, यत एवमतस्त्वां ब्रवीमि मधुमन्तं रसवन्तं तमूर्मिं घृतकल्लोलं ते त्वदीयं वयमश्याम भक्षयामो व्याप्नुयामो वा, अश्नातेरश्नोतेर्वा विकरणव्यत्ययेन श्यनि लोटि रूपम् । तं कम् ? य ऊर्मिरपामनीके मुखे वर्तमान आभृत आहृतः समिथे संग्रामे च पणिभिः सह वर्तमानो य ऊर्मिराहृतः । तदुक्तम्—'त्रिधाहितं पणिभिर्गुह्यमानम्' इति मन्त्रवर्णे । हविःपरिणामिनो रसस्य भोक्तारो वयं भवेमेति भावः । वक्रोक्त्या देवत्वमेव प्रार्थ्यते । यद्वा हे अग्ने, इदं विश्वं भुवनं तव धाम धामनि अधिश्रितम् । तत्तं धाम कुत्र कुत्रेति तदुच्यते—अन्तःसमुद्रे अन्तरिक्षमध्ये सूर्यरूपेण, हृद्यन्तः सर्वप्राणिनां हृदये वैश्वानराग्निरूपेण, आयुषि अन्ने सर्वप्राणिनामाहारत्वेन, अपामनीके उदकानां संघाते वैद्युताग्निरूपेण, समिथे संग्रामे शौर्याग्निरूपेण । एवं सर्वेषु स्थानेषु, आभृतः स्थापितो यस्तव धामरूप ऊर्मिर्घृतरूप उदकरूपो वा, तं तव रसं मधुमन्तं माधुर्योपेतं वयमश्याम सर्वरसभोक्तारः स्यामेति महीधराचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, ते तव धाम्नि स्वरूपभूते तेजसि विश्वं सर्वं भुवनं भूतजातम् अधिश्रितम्, परमात्मन एव सर्वाधारत्वात् । यच्च अन्तःसमुद्रे समुद्रस्य मध्येऽन्तरिक्षे सूर्यरूपेण वा, यच्च हृदि प्रत्यक्चैतन्यरूपेण, यच्च अन्तरायुषि जीवने कृतं शुभाशुभं कर्म तत्सर्वं तव धाम्न्यधिश्रितम् । अपां कर्मणां तत्फलभूतानां लोकानां वा अनीके मुखे वर्तमानो य ऊर्मिरमृतकल्लोलः समिथे देवासुरसंग्रामाय आभृत आहृतः, तं ते त्वदीयं मधुमन्तमूर्मिं वयमश्याम । यद्वा अपां लोकानामनीके मुखे प्रमुखेऽधिष्ठाने समिथे सात्त्विकराजसवृत्तिसंघर्षे य ऊर्मिः परमानन्दरससंघात आभृतो विद्वद्भिरधिगतः, तं मधुमन्तं परमानन्दमयमूर्मिं वयं त्वत्कृपयाऽश्याम आस्वादयामः ।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश, यस्य ते धामन् अन्तः, विश्वं सर्वं भुवनं भवन्ति भूतानि यस्मिन् तत्, अधिश्रितम् । हे सभापते, ते अपां प्राणानाम् अन्तर्मध्ये हृदि हृदये आयुषि जीवहेतौ अपामनीके समिथे संग्रामे यः सम्भार आभृतः, तं मधुमन्तमिव वयमश्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्याप्यर्थस्य अस्पष्टत्वात् । नहि परमात्मनः स्वरूपस्य सर्वाधारत्वं सम्भवति, तस्य सच्चिदानन्दघनत्वेन निरवकाशत्वात् । सिद्धान्ते तु दर्पणे प्रतिबिम्बस्येव प्रपञ्चस्य तत्रैव स्थानम्, 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्' इत्याप्तोक्तेः । नहि सभापतेः प्राणानां मध्ये कश्चित् सम्भारः सम्भृतः, निर्मूलत्वात् ॥ ९९ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदवाजसनेयिसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः ॥

अष्टादशोऽध्यायः

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—सत्रहवें अध्याय में चिति आरोहण आदि के मन्त्र कहे गये हैं। अब अठारहवें अध्याय में वसोर्धारा आदि के मन्त्र कहे जायेंगे। प्रथम कण्डिका से उन्तीसवीं कण्डिका पर्यन्त मन्त्रों को पढ़ता हुआ यजमान बड़े स्रुवे में घृत लेकर निरन्तर धारापात से छोड़ता हुआ हवन करे, इसी को वसोर्धारा कहते हैं।

इस यज्ञ के फल से देवता मेरे निमित्त अन्न प्रदान करें और उसका भोजन बनाने की भी आज्ञा दें, मुझे अन्न-भक्षण की उत्कण्ठा भी प्रदान करें। मुझे श्रेष्ठ संकल्प, सुन्दर शब्द और स्तुति भी दें, मुझे वेद मन्त्रों के श्रवण की और ब्राह्मण भाग के श्रवण की शक्ति दें। मुझे प्रकाश और स्वर्ग भी प्रदान करें। मुझे ये सब वस्तुएँ यज्ञ के फल के रूप में प्राप्त हों ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन् सप्तदशेऽध्याये चित्यारोहणादिमन्त्रा उक्ताः, इदानीमत्राष्टादशेऽध्याये वसोर्धारिकाणि यजूंषि सप्तविंशतिकण्डिकाभिरुच्यन्ते। 'वसोर्धारां जुहोत्यौदुम्बर्या पञ्चगृहीतꣳ सन्ततं यजमानोऽरण्येऽनूच्येऽग्निप्राप्ते वाजश्च म इत्यष्टानुवाकेन' (का० श्रौ० १८।५।१)। ततो यजमान आज्यं संस्कृत्य अर्थपरिमाणया महत्यौदुम्बर्या स्रुचा महता स्रुवेण पञ्चवारं गृहीतमाज्यमरण्येऽनूच्ये पुराडाशेऽधिकरणे तदुपरि सन्ततमविच्छिन्नधारं यथा स्यात्तथा वसोर्धारासंज्ञामाहुतिं जुहोति। घृतेऽग्निं प्राप्ते सति वाजश्चेत्यादिहोममन्त्रारम्भः कार्योऽष्टाभिरनुवाकैर्वाजश्चेत्यादिवेट्स्वाहान्तैरेकोनत्रिंशत्कण्डिकात्मकैरिति सूत्रार्थः। अन्तिमकण्डिकाद्वयेन नामग्राहहोमः। वाजश्चेत्यादिचकाराः समुच्चयार्थाः। यज्ञेनानेन मया कृतेन वाजादयः पदार्थाः कल्पन्तां क्लृप्ताः सम्पन्ना भवन्तु। स यज्ञो वाजादीनां दाताऽस्मभ्यं भवत्वित्यर्थः, 'अथो इदं च मे देहीदं च मे' (श० ९।३।२।५) इति श्रुतेः। यद्वा वाजादयः पदार्था मे मम यज्ञेन कल्पन्ताम्। यज्ञेऽग्निं तर्पयन्तु, अभिषिञ्चन्तु वा, विभक्तिव्यत्ययः, 'अनेन च त्वा प्रीणामि, अनेन च त्वाभिषिञ्चामि' (श० ९।३।३।५) इत्यादिश्रुतेः। द्वौ द्वौ कामावनुपक्षयाय संयुञ्ज्याच्चकारेण कन्याकुमाराविव, तथा च श्रुतिः—'द्वौ द्वौ कामावभिरूपौ संयुनक्त्यव्यवच्छेदाय यथा व्योकसौ संयुञ्ज्यात्' (श० ९।३।२।६) इति। विगतमोको गृहं ययोः कुमारीकुमारयाः, तौ संयुञ्ज्यात् तयोर्विवाहं कारयेत्। एवं चकारेण समुच्चिनोति। यत एते सर्वे वाजादयः काम्यमानत्वात् कामाः, काम्यमानस्यैव वस्तुत्वात् तदेतत्सर्वं वाजादिकं वस्तुशब्देनोच्यते। तस्मात्तत्प्रतिपादकमन्त्रसाध्या एषा धारा वसुमयी भवति। लोके यथा क्षीरस्य सर्पिषो वा धारा क्रियते, तथैव प्रकृतेऽपि बोध्यम्। इदं च म इदं च म इति वाजश्च मे प्रसवश्च म इत्यनेन चानेन चेति वाजादयो निर्दिश्यन्ते। हे अग्ने, त्वामनेन प्रीणामि। त्वां वाजादिना अभिषिञ्चामि। इदं मे देहीदं मे देहीत्यर्थो मन्त्रैर्विवक्षितः।

अथ मन्त्रा व्याख्यायन्ते वाजश्चेत्यादीनां देवा ऋषयः, अग्निर्देवता, छन्दांसि पिङ्गलोक्तान्यक्षरसंख्यया प्रत्येतव्यानि। वाजोऽन्नम्। वक्ष्यमाणद्रव्यापेक्षया समुच्चयार्थाश्चकाराः। अन्नं च मे मह्यं देहि। प्रसवोऽन्नदानादिविषयाभ्यनुज्ञा दीयतां भुज्यतामिति। प्रसवं च मे मह्यं देहीति यजमानोऽग्नेः कामान् याचते। स च वाजो यज्ञेन

कल्पताम्, अनुष्ठीयमानेन यागेन कल्पन्तामिति समुदायापेक्षया बहुवचनम्। स्ववाक्यस्थेन कल्पतामित्यपि केचिद् वदन्ति। प्रयतिः शुद्धिः, प्रसितिः बन्धनम्, अन्नविषयमौत्सुक्यम्। यद्वा प्रयतनं प्रयतिराज्ञा प्रकृष्टगमनं वा। प्रसयनं प्रसितिः, 'षिञ् बन्धने' तन्तुर्जालं वा, तेनात्र बन्धनं स्नेह उच्यते। धीतिश्च मे क्रतुश्च मे। धीतिर्ध्यानम्, 'ध्यै चिन्तायाम्' सम्प्रसारणं छान्दसम्। क्रतुः सङ्कल्पो यज्ञो वा, संस्कारो वा। स्वरश्च मे श्लोकश्च मे। स्वरः साधुशब्दः, श्लोकः पद्यबन्धः, स्तुतिर्वा। श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे। श्रवो वेदमन्त्राः, श्रवणसामर्थ्यं वा। श्रुतिर्ब्राह्मणं श्रवणसामर्थ्यं वा। 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (नि० १०।४२) इति द्विरुक्तिः। ज्योतिश्च मे स्वश्च मे। ज्योतिः प्रकाशः, स्वः स्वर्गः। यद्वा स्वर उदात्तादिलक्षणः, श्लोकः श्लोक्यत इति श्लोकः कीर्तिः, प्रख्यास्यमानस्य आदरेण श्रवणं श्रुतिः, स्वरादित्यात्मकं ज्योतिः। एते मे मम यज्ञेन कल्पन्ताम्। मेपदानामावृत्तिः प्रत्येकं प्राप्त्यर्था।

अत्र एकाधिकानि चतुःशतानि यजूंषि, कामास्तु पञ्चदशोत्तरं शतम्। तद्यथा—'वाजश्च मे' इत्याद्यासु 'ज्यैष्ठ्यं च मे वसु च मे' इति चतुर्थीपञ्चदशीकण्डिकाद्वयवर्जितास्वेकोनविंशतिकण्डिकासु प्रतिकण्डिकं त्रयोदशयजूंषि। 'ज्यैष्ठ्यं च मे' इति चतुर्थ्यां कण्डिकायां पञ्चदश, 'वसु च मे' इति पञ्चदश्यां च नव यजूंषि। 'अग्निश्च मे घर्मश्च मे' इति द्वाविंश्यां कण्डिकायां द्वादश यजूंषि कामास्तु त्रयोदश। 'अङ्गुलयः शक्वरयो दिशश्च मे' इत्येकं यजुः कामाश्चात्र त्रयः। 'व्रतं च मे' इत्यस्यां त्रयोविंश्यां षड् यजूंषि कामास्तु दश। 'अहोरात्रे ऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे' इत्येकं यजुः षट् कामाः। 'एका च' इत्यस्यां चतुर्विंश्यां त्रयस्त्रिंशद्यजूंषि। 'चतस्रश्च मे' इति पञ्चविंश्यां त्रयोविंशतिर्यजूंषि। 'त्र्यविश्च मे' इति षड्विंश्यामेकादश यजूंषि। 'पष्ठवाट् च मे' इति सप्तविंश्यां नव यजूंषि। 'वाजाय स्वाहा' इत्यष्टाविंश्यां चतुर्दश यजूंषि। 'आयुर्यज्ञेन' इत्येकोनत्रिंश्यां द्वाविंशतिर्यजूंषि। अत्र कल्पतामन्तानि १२, स्तोमश्चेति षट् ६, स्वर्देवा अगन्म १, अमृता अभूम १, प्रजापतेः प्रजा अभूम १, वेट् स्वाहा १ इत्यस्यां कण्डिकायां द्वाविंशतिः। सम्भूय एकाधिकानि चतुःशतानि।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, वाजादयो मे यज्ञेन क्लृप्ता भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'मे वाजश्च मे प्रसवश्च अन्नं विज्ञानादिकं प्रसवः ऐश्वर्यम् तत्साधनानि। प्रयतिः प्रयतते येन सः। प्रसितिः प्रबन्धश्च रक्षणम्। धीतिर्धारणा ध्यानम्। क्रतुः प्रज्ञा च उत्साहः। स्वरः स्वयं राजमानं स्वातन्त्र्यम्। श्लोकः प्रशंसिता शिक्षिता वाक् च वक्तृत्वम्। श्रवः श्रवणं च श्रावणं च। शृण्वन्ति सकला विद्या यया सा। सा च वेदाख्या च स्मृतिः। ज्योतिर्विद्याप्रकाशश्च अन्यस्मै विद्याप्रकाशनम्। स्वः सुखं च परमसुखम्। मे यज्ञेन पूजनीयेन परमेश्वरेण समर्था भवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, चकारार्थानां निर्मूलत्वात्। वाजपदेन विज्ञानादिग्रहणमपि निर्मूलमेव, उद्धृतशतपथश्रुतौ यज्ञापेक्षितानां पदार्थानामेव ग्रहणात्॥ १॥

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ २॥

मन्त्रार्थ—देवगण मेरे निमित्त प्राणवायु, अपान वायु और सारे शरीर में विचरण करने वाले मनुष्यों को प्रवृत्त करने वाले वायु और मानस संकल्प को प्रदान करें। बाहरी ज्ञान और वाणी, शुद्ध मन, पवित्र दृष्टि और सुनने की सामर्थ्य प्रदान करें। ज्ञान की स्फूर्ति और बल ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझ प्राप्त हों॥ २॥

प्राण ऊर्ध्वसञ्चारी शरीरवायुः। अपानः अधोवृत्तिर्वायुः। व्यानः सर्वशरीरसञ्चरः। असुः प्रवृत्तिमान् वायुः। चित्तं मानसः सङ्कल्पः। आधीतं बाह्यविषयं ज्ञानम्। वाक् वागिन्द्रियम्। मनः सङ्कल्प-

विकल्पात्मकं प्रसिद्धम् । चक्षुः रूपदर्शनसाधनं करणम् । श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियम् । दक्षो ज्ञानेन्द्रियकौशलम् । बलं कर्मेन्द्रियकौशलम् । एतानि मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । यद्वा प्राणापानौ मम देहस्थितौ कल्पेताम् । असुर्जीवः, प्राणस्य जीवोपाधिकत्वात् । चित्तमन्तःकरणम् ॥ २ ॥

ओजश्च मे सहश्च म आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे परूꣳषि च मे शरीराणि च म आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥३॥

मन्त्रार्थ—बल का कारणभूत ओज धातु और देहबल, आत्मज्ञान, सुन्दर शरीर सुख और कवच, हृष्ट-पुष्ट अंग और मजबूत हड्डियाँ, मजबूत अंगुलियाँ, नीरोग शरीर, सुखमय और वृद्धावस्था पर्यन्त जीवन यह सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ३ ॥

ओजो बलहेतुरष्टमो धातुः । सहः शारीरं बलम्, सपत्नाभिभवितृत्वं वा । आत्मा परमात्मा । सोऽपि प्राप्यतामित्यभिप्रायः । तनू रम्यं वपुः । शर्म सुखं शरणं वा । वर्म कवचम् । अङ्गानि हस्ताद्यवयवाः । अस्थीनि शरीरगतानि । परूंषि अङ्गुल्यादिपर्वाणि । शरीराणि पूर्वानुक्ताः शरीरावयवाः । आयुर्जीवनम् । जरा वार्धकान्तमायुः । एते यज्ञेन सम्पद्यन्ताम् । यद्वा—सहो वैरिविषयकोऽभिलाषः । तनूः सन्ध्यन्तर्गतानि शरीराणि । अस्थीनि शरीरेषु चत्वारि त्रिशतानि च । जरा वलीपलितत्वम् ॥ ३ ॥

ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेऽमश्च मेऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—यश और प्रभुता, दोषों पर कोप और अनुचित अपराध पर क्रोध, गंभीरता और पवित्र विचार, जीतने की शक्ति और प्रतिष्ठा, संतान की वृद्धि के साथ भवनों का विस्तार, दीर्घ जीवन और वंश परम्परा का विस्तार, धनधान्य और विद्या आदि गुणों की वृद्धि यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ४ ॥

ज्येष्ठस्य भावो ज्यैष्ठ्यं प्रशस्तत्वम् । अधिपतेर्भाव आधिपत्यं स्वामित्वम् । मन्युः मानसः कोपः, 'नाराजी' इति लोके । भामः अधिक्षेपादिलिङ्गको बाह्यः कोपः । न मीयते इत्यमः, अपरिमेयत्वम्, अन्यैरियत्तया परिच्छेत्तुमशक्यत्वम् । अम्भः शीतलं मधुरं च जलम् । जेमा जयस्य भावो जयसामर्थ्यम् । महतो भावो महिमा । महत्त्वं च सम्पत्त्यादिना, स्वरूपेण, ऐश्वर्येण वा । उरोर्भावो वरिमा प्रजादिविशालता । पृथोर्भावः प्रथिमा गृहक्षेत्रादिविस्तारः । वृद्धस्य भावो वर्षिमा दीर्घजीवित्वम् । दीर्घस्य भावो द्राघिमा अविच्छिन्नवंशत्वम् । वृद्धं प्रभूतमन्नधनादि । वृद्धिः विद्यादिगुणैरुत्कर्षः । एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । यद्वा मन्युः प्रतापः । अमः अस्मच्छत्रूणां भङ्गो रोगो वा । वरिमा वरणीयत्वम् । द्राघिमा दीर्घकालभोगैश्वर्यं सम्पत्तिर्वा ॥ ४ ॥

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—यथार्थ भाषण और परलोक पर विश्वास, गो आदि पशु तथा सुवर्ण आदि धन, स्थावर सम्पत्ति और कीर्ति, क्रीडा और उसका आनन्द, पुत्र, पौत्र, दौहित्र आदि सन्तान, शुभदायक ऋचाओं का समूह और उनका पाठ करने का सामर्थ्य—यह सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ५ ॥

सत्यं यथार्थभाषित्वम्। श्रद्धा परलोकविश्वासः। जगद् जङ्गमं गवादि। धनं कनकादि। विश्वं स्थावरम्। महो दीप्तिः। क्रीडा अक्षद्यूतादिः। मोदः क्रीडादर्शनजो हर्षः। जातमुत्पन्नमपत्यादि। जनिष्यमाणं भविष्यदपत्यम्। सूक्तमृक्समूहः शोभनवचनं वा। सुकृतमृक्पाठजन्यं शुभादृष्टम्, शास्त्रीयकर्मजन्यमदृष्टं वा। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

अध्यात्मपक्षे—श्रद्धा गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः। धनं ज्ञानविज्ञानादिकम्। मोदः साधुदर्शनजन्यो हर्षः। जातं पूर्वसिद्धभगवद्दर्शनोपयोगि साधनम्। जनिष्यमाणं भविष्यत्तादृशं साधनम्। क्रीडा भगवत्क्रीडानुकरणम्, परस्परसंलापेन तत्समर्थनम्, भक्तजनेषु तत्ख्यापनम्, शास्त्राविरुद्धं मनोरञ्जनं वा।

दयानन्दस्तु—'सत्यधर्मोन्नतिकरणेन उपदेशाख्येन कल्पताम्' इत्याह। तच्च निर्मूलम्, श्रौतसूत्रब्राह्मणादिसमर्थितयज्ञविरुद्धत्वात् ॥ ५ ॥

ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ आदि कर्म और उनका स्वर्ग आदि फल, रोगों का नाश तथा व्याधियों का अभाव, आयु बढ़ाने वाले साधन और दीर्घायु, शत्रुओं का अभाव और निर्भयता, सुख और साज-सज्जा, संध्यावन्दन से युक्त सुप्रभात और यज्ञ-दान आदि से युक्त दिन—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ६ ॥

ऋतं यज्ञादिकर्म। अमृतं तत्फलभूतं स्वर्गादि। यक्ष्मणो रोगराजस्याभावोऽयक्ष्मं धातुक्षयादिरोगाभावः। अनामयद् आमयति पीडयतीत्यामयत्, न आमयद् अनामयत्, सामान्यव्याध्यादिराहित्यम्। जीवयतीति जीवातुः, व्याधिनाशकमौषधम्। दीर्घायुषो भावो दीर्घायुत्वं बहुकालमायुः, पृषोदरादित्वात् सलोपः, आयुरुदन्तो वा। अमित्राणामभावोऽनमित्रं शत्रुराहित्यम्। भयाभावोऽभयं भीतिराहित्यम्। सुखमानन्दः। शयनं संस्कृता शय्या। सूषाः शोभन उषाः स्नानसन्ध्यादियुक्तः प्रातःकालः। सुदिनं यज्ञदानाध्ययनादियुक्तं सर्वं दिनम्। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ६ ॥

यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वं च मे महश्च मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—गुरु आदि नियन्ता और प्रजापालन की शक्ति, वर्तमान धन की रक्षा तथा आपत्ति में चित्त की स्थिरता, सबकी अनुकूलता और पूजासत्कार, वेदशास्त्र आदि का ज्ञान और विज्ञान की शक्ति, आज्ञा देने की एवं पुत्र आदि उत्पन्न करने की सामर्थ्य, हल आदि के द्वारा अन्न की प्राप्ति और खेती के विघ्नों का नाश—यह सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ७ ॥

यन्ताश्वादेर्नियन्ता। धर्ता पोषकः पित्रादिः। क्षेमो विद्यमानधनस्य रक्षणशक्तिः, प्राप्तस्य ज्ञान-भक्त्यादेर्वा रक्षणं क्षेमः। धृतिः धैर्यम्, आपत्स्वपि स्थिरचित्तत्वम्। विश्वं सर्वानुकूल्यम्। महः पूजा, ब्राह्मं तेजो वा। संविद् वेदशास्त्रादिज्ञानम्, ब्रह्मात्मकं ज्ञानं वा। ज्ञातुर्भावो ज्ञात्रं विज्ञानसामर्थ्यम्। सूः पुत्रादिप्रेरणसामर्थ्यम्। प्रसूः पुत्रोत्पत्त्यादिसामर्थ्यं माता वा। सीरं हलादिकृषिकृतधान्यनिष्पत्तिः। लयः कृषिप्रतिबन्धनिवृत्तिः। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

अध्यात्मपक्षे—अत्र पक्षे पूर्वमेव दिक् प्रदर्शिता।

दयानन्दरीत्या चकारेभ्यस्तत्तदभीष्टाः पदार्था गृह्यन्ते। यज्ञपदेनापि तत्तद्व्युत्पत्तिलभ्या अनेके पदार्थाः स्वेच्छया गृह्यन्ते। तत्रेदं वक्तव्यं यदिच्छाया अव्याहतप्रसरत्वाद् वैदिके व्याख्याने तस्यादरो नैव योग्यः, 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति शाबरभाष्यात्। क्वचिदयं महात्मा सुखमिति पदेन लौकिकं सुखं चकारेण च परमानन्दं गृह्णाति। अन्यत्र मय इत्यनेन ऐहिकसुखं गृह्णाति। क्वचिद् यत्र नान्योऽर्थः सम्भाव्यते, तत्र साधनं गृह्णाति। तत्सर्वं तस्य महात्मनोऽतिशाब्दन्यायं सर्वथा स्वातन्त्र्यमेव ॥ ७ ॥

शं च॑ मे॒ मय॑श्च मे प्रि॒यं च॑ मेऽनुका॒मश्च॑ मे॒ काम॑श्च मे सौमन॒सश्च॑ मे॒ भग॑श्च मे द्रवि॑णं च मे भ॒द्रं च॑ मे॒ श्रेय॑श्च मे॒ वसी॑यश्च मे॒ यश॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—शारीरिक सुख तथा परलोक का सुख, प्रीति-उत्पादक वस्तु तथा सहज यत्नसाध्य पदार्थ, विहित विषय भोग का सुख एवं मन को स्वस्थ करने वाले बान्धव, सौभाग्य तथा धन, इस लोक का और पर लोक का कल्याण, धन से भरा निवास योग्य गृह तथा यश—यह सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ८ ॥

शम् ऐहिकं सुखम्। मय आमुष्मिकं सुखम्। अथवा शं मोक्षसुखम्, मयो यथोक्तमेव। लौकिकसुखं तु सुखशब्देनैवोक्तम्। प्रियं च प्रीतिकरं वस्तु। अनुकाम्यत इत्यनुकामः, अनुकूलयत्नसाध्यः पदार्थः। कामो विषयेन्द्रियसंयोगजन्यं सुखम्। सुमनसो भावः सौमनसः, मनःस्वास्थ्यकरो बन्धुवर्गः। भगः सौभाग्यम्। द्रविणं धनम्। भद्रम् ऐहिकं कल्याणम्। श्रेयः पारलौकिकं कल्याणम्। वसीयो वसतीति वस्तृ, अतिशयेन वस्तृ वसीयः, निवासयोग्यो धनधान्योपेतो गृहादिः, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः। यशः कीर्तिः। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। यद्वा अनुकामोऽनुकूलत्वनिमित्तं काम्यमानः पदार्थः। कामः शोभनेच्छा। सौमनसः स्वस्थान्तःकरणम्। भग ऐश्वर्यादि। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ८ ॥

ऊर्क् च॑ मे सू॒नृता॑ च मे॒ पय॑श्च मे॒ रस॑श्च मे घृ॒तं च॑ मे॒ मधु॑ च मे॒ सग्धि॑श्च मे॒ सपी॑तिश्च मे कृ॒षिश्च॑ मे॒ वृष्टि॑श्च मे॒ जैत्रं॑ च म॒ औद्भि॑द्यं च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—अन्न, सच्ची और प्रिय वाणी, दूध तथा दूध का सार, घी और शहद, बान्धवों के साथ खान-पान, धान्य की सिद्धि एवं अन्न उत्पन्न होने के अनुकूल वर्षा, जय की शक्ति तथा आम आदि वृक्षों की उत्पत्ति—यह सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ९ ॥

ऊर्क् अन्नम्, सूनृता प्रिया सत्या वाक्। पयो दुग्धम्, रसस्तत्रत्यः सारः। घृतमाज्यम्, मधु क्षौद्रम्। समाना ग्धिर्भोजनं सग्धिः, अदेः क्तिनि बाहुलकाद् घस्लादेशे 'घसिभसोर्हलि च' (पा० सू० ६।४।१००) इत्युपधा-

लोपे, 'झलो झलि' (पा० सू० ८।२।२६) इति सकारलोपे, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (पा० सू० ८।२।४०) इति तकारस्य धकारे, 'झलां जश् झशि' (पा० सू० ८।४।५३) इति जश्त्वेन घकारस्य गकारे 'ग्धिः' इति रूपम् । सग्धिर्बन्धुभिः सह भोजनम् । सपीतिर्बन्धुभिः सह पानम् । कृषिस्तत्कृतधान्यादिसिद्धिः । वृष्टिर्धान्यनिष्पत्त्यनुकूला सन्तुलिता वृष्टिः, नातिवृष्टिर्न वा खण्डवृष्टिः । जेतुर्भावो जैत्रं जयसामर्थ्यम् । उद्भिदो भाव औद्भिद्यम् आम्रादितरूणामुत्पत्तिः । पृथिवीमुद्भिद्य जातानां भाव औद्भिद्यम् । यद्वा ऊर्क् रसो मधुरादयः षड्रसाः । कृषिर्व्यवसायः । जयसाधनं जैत्रम् । एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ९ ॥

र॒यिश्च॑ मे॒ राय॑श्च मे पु॒ष्टं च॑ मे॒ पुष्टि॑श्च मे वि॒भु च॑ मे प्र॒भु च॑ मे पू॒र्णं च॑ मे पू॒र्णत॑रं च मे॒ कुय॑वं च मेऽक्षि॑तं च मेऽन्नं॑ च मेऽक्षु॑च्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—सुवर्ण तथा मौक्तिक आदि मणियाँ, धन की तथा शरीर की पुष्टि, व्यापकता की शक्ति एवं ऐश्वर्य, धन-पुत्र आदि की तथा हाथी-घोड़ा आदि की अधिकता, धान्य तथा अक्षय अन्न, भात आदि सिद्धान्न तथा भोजन पचाने की शक्ति भी यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हो ॥ १० ॥

रयिः सुवर्णादि । रायो मुक्तादिमणयः । पुष्टं धनपोषः । पुष्टिः शरीरपोषणम् । विभु व्याप्तिसामर्थ्यम् । प्रभु ऐश्वर्यम् । पूर्णं धनपुत्रादिबाहुल्यम् । अत्यन्तं पूर्णं पूर्णतरम्, गजतुरगादिबाहुल्यम् । कुयवं कुत्सितधान्यमपि । अक्षितं क्षयहीनं धान्यादि । अन्नमोदनादि । क्षुद् भुक्तान्नपरिपाक उद्दीप्तबुभुक्षा वा, तस्या अपि काम्यमानत्वात्, तामन्तरा भोजनबाहुल्यस्य नैरर्थक्यापातात् । यद्वा विभु समर्थम् । प्रभु प्रधानम् । पूर्णं सम्पूर्णम् । उत्तरोत्तराकाङ्क्षया पूर्णतरम् । अक्षुदिति पदच्छेदेन क्षुद्राहित्यम् ॥ १० ॥

वि॒त्तं च॑ मे॒ वेद्यं॑ च मे भू॒तं च॑ मे भवि॒ष्यच्च॑ मे सु॒गं च॑ मे सुप॒थ्यं च॑ म ऋ॒द्धं च॑ म ऋ॒द्धिश्च मे क्लृ॒प्तं च॑ मे॒ क्लृप्ति॑श्च मे म॒तिश्च॑ मे सुम॒तिश्च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—पूर्व प्राप्त धन की रक्षा तथा नूतन धन की प्राप्ति, पूर्व प्राप्त क्षेत्र आदि की रक्षा तथा भविष्य में भी क्षेत्र आदि की प्राप्ति, सुखगम्य देश और परम पथ्य पदार्थ, बड़े भारी यज्ञ का फल तथा यज्ञ आदि की समृद्धि, कार्यसाधक अपरिमित धन तथा कार्यसाधन की शक्ति, पदार्थ मात्र का तथा दुर्घट कार्यों का निर्णय करने की बुद्धि यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ११ ॥

वित्तं पूर्वलब्धम्, 'विद्लृ लाभे' । वेद्यं लब्धव्यम् । भूतं पूर्वसिद्धं क्षेत्रादि, ज्ञानविज्ञानादिकं वा । भविष्यत् सम्पत्स्यमानं क्षेत्रादि ज्ञानादि वा । सुखेन गम्यते यत्र तत् सुगम्, सुखगम्यो देशः । 'सुदुरोरधिकरणे' (पा० सू० ३।२।४८, वा० ३) इति गमेर्डः । सुपथ्यं शोभनं हितम् । ऋद्धं समृद्धं यज्ञफलम् । ऋद्धिर्यज्ञादिसमृद्धिः । क्लृप्तं कार्यक्षमं द्रव्यादि । क्लृप्तिः स्वकार्यसामर्थ्यम् । मतिः पदार्थमात्रनिश्चयः । सुमतिर्दुर्घटकार्यादिषु निश्चयः । यद्वा सुपथ्यं जनयुक्तं ग्रामादियुक्तं चौरव्याघ्रकण्टकादिशून्यं मार्गं सुपथ्यम् । आरोग्यानुगुणभोजनादिकं पथ्यम्, सुष्ठु पथ्यं सुपथ्यम्, परमार्थभक्तिज्ञानवैराग्यादिसाधनानुगुणमाचरणं सुपथ्यम् । अनुष्ठितक्रतुफलमृद्धिः । अनुष्ठास्यमानसत्रफलं क्लृप्तम् ॥ ११ ॥

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—उत्कृष्ट कोटि के चावल और यव, उड़द और तिल, मूंग और चने, प्रियंगु और अणुधान्य, श्यामाक तथा नीवार, गेहूं और मसूर—ये सब भी यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ १२ ॥

व्रीहियवमाषतिलमुद्गगोधूममसूराः प्रसिद्धाः। व्रीहयः शाल्यादयः। खल्वाश्चणकाः। प्रियङ्गवः कङ्गवः प्रसिद्धाः। अणवश्चीनकाः। श्यामाकास्तृणधान्यानि ग्राम्याणि कोद्रवत्वेन प्रसिद्धानि। नीवारा आरण्यानि तृणधान्यानि। एते धान्यविशेषा मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १२ ॥

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १३॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर पाषाण और श्रेष्ठ मृत्तिका, गोवर्धन आदि छोटे पर्वत तथा हिमालय आदि विशाल पहाड़, सुन्दर रेती तथा बिना फूल आये फलदायक वृक्ष, सुवर्ण तथा लोहा, तांबा, काँसा तथा फौलाद, शीशा तथा रांगा—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ १३ ॥

अश्मा पाषाणः। मृत्तिका प्रशस्ता मृत्, 'मृदस्तिकन्' (पा० सू० ५।४।३९) इति स्वार्थिकः कन्। गिरयः क्षुद्रपर्वता गोवर्धनार्बुदरैवतकादयः। पर्वता महान्तो विन्ध्य-मन्दर-हिमाचलादयः, सिकताः शर्कराः। वनस्पतयः पुष्पं विना फलवन्तः पनसोदुम्बरादयः। हिरण्यं सुवर्णं रजतं वा, 'स्यात् कोषश्च हिरण्यं च हेमरूप्ये कृताकृते' (अ० को० २।९।९१) इति कोषात्। अयः कार्ष्णायसम्। श्यामं श्याममणिः कान्तिसारादि। लोहं ताम्रं रजतं कनकं वा, 'लोहोऽस्त्री शस्त्रके लौहे जोङ्गके सर्वतैजसे' (मेदिनी० १७।५।८) इति कोषात्। सीसं प्रसिद्धम्। त्रपु रङ्गम्। एते यज्ञेन कार्यविशेषेषु मे कल्पन्ताम् ॥ १३ ॥

अग्निश्च म आपश्च मे वीरुधश्च म ओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्च मे पशव आरण्याश्च मे वित्तं च मे वित्तिश्च मे भूतं च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी पर अग्नि की तथा अन्तरिक्ष में जल की अनुकूलता, छोटे-छोटे तृण तथा पकते ही सूखने वाली औषधियां, हल चलाकर उत्पन्न होने वाले तथा बिना हल जोते उत्पन्न होने वाले अन्न, गाय-भैंस आदि ग्राम्य पशु तथा हाथी आदि जंगली पशु, पूर्व लब्ध तथा भविष्य में प्राप्त होने वाला धन, विद्यमान पुत्र आदि तथा अपना उपार्जित किया हुआ धन यज्ञ के फल के रूप में मेरे पास सुरक्षित रहें ॥ १४ ॥

अग्निः पृथिवीच्छन्नोऽग्निः। आपो वर्षणोदकानि। वीरुधो गुल्माः। ओषधयः फलपाकान्ताः। कृष्टपच्याः हलादिना कृष्टे क्षेत्रे पच्यन्त इति कृष्टपच्याः, 'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः' (पा० सू० ३।१।११४) इति क्यबन्तो निपातितः, भूमिकर्षणबीजवापादिकर्मनिष्पाद्या ओषधयो व्रीहियवाद्याः। तद्विपरीता अकृष्टपच्याः स्वयमेवोत्पद्यमाना नीवारगवेधुकादयः। ग्राम्या ग्रामे भवाः पशवो गोऽश्वमहिषाजाविगर्दभाश्वतरोष्ट्रादयः। आरण्या अरण्ये भवाः पशवो हस्तिसिंहशरभमृगगवयमर्कटादयः। वित्तं पूर्वलब्धम्। वित्तिर् भाविलाभः। भूतं जातपुत्रादिकम्, भूतिरैश्वर्यं स्वार्जितम्। एतानि मे यज्ञेन कल्पन्तां सम्पद्यन्ताम्॥ १४॥

वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मेऽर्थश्च म एमश्च म इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ १५॥

मन्त्रार्थ—गो आदि धन तथा रहने के लिये सुन्दर घर, अग्निहोत्र आदि कर्म तथा उनके अनुष्ठान की शक्ति, इच्छित पदार्थ तथा प्राप्तियोग्य पदार्थ, इष्ट-प्राप्ति का उपाय एवं इष्ट-प्राप्ति—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों॥ १५॥

वसु गवादिकं धनम्, निवाससाधनं वा। वसतिर्वासस्थानं गृहादिकम्। कर्म अग्निहोत्रादि। शक्तिस्तदनुष्ठानसामर्थ्यम्। अर्थोऽभिलषितः पदार्थः, मनुष्यवती भूमिर्वा, सर्वस्याप्यर्थ्यमानस्य व्रीहियवघृतदुग्धवस्त्रस्वर्णहीरकविविधमणिविविधपाषाणलोहेङ्गाल-पेट्रोल-डीजलादेस्तत्रैवान्तर्भावात्। एमः, ईयते इत्येमः प्राप्तव्योऽर्थः, एतेर्मन्प्रत्यय औणादिकः। इत्या अयनम् इष्टप्राप्त्युपायः, भावे क्यप्। गतिरिष्टप्राप्तिः परमा गतिर्वा। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ १५॥

अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे सविता च म इन्द्रश्च मे सरस्वती च म इन्द्रश्च मे पूषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ १६॥

मन्त्रार्थ—अग्नि और इन्द्र, सोम तथा इन्द्र, सविता और इन्द्र, सरस्वती तथा इन्द्र, पूषा तथा इन्द्र, बृहस्पति और इन्द्र—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मेरे ऊपर प्रसन्न रहें॥ १६॥

'अथार्धेन्द्राणि जुहोति' (श० ९।३।२।९)। अर्धस्य इन्द्रदेवत्यत्वादर्धस्य नानादेवत्यत्वादर्धेन्द्राणि यजूंषि। अग्नि-सोम-सवितृ-सरस्वती-पूष-बृहस्पतयः प्रसिद्धा देवताः, तैः समानभागित्वादिन्द्र एकैकया सह पठ्यते। तथा च ब्राह्मणम्—'अथार्धेन्द्राणि जुहोति। सर्वमेतद्यदर्धेन्द्राणि सर्वेणैवैनमेतत्प्रीणात्यथो सर्वेणैवैनमेतदभिषिञ्चति' (श० ९।३।२।९)। 'वाजश्च मे प्रसवश्च मे' (वा० सं० १८।१) इत्यारभ्य अष्टाभिरनुवाकैरेषा वसोर्धारा हूयते। तत्र एकस्मिन्ननुवाके 'अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे' इत्यादयो मन्त्राः समाम्नाताः। तत्र 'द्वौ द्वौ कामौ संयुनक्ति' (श० ९।३।२।६) इति वचनेन द्वयोर्द्वयोरवसानविधानात् प्रतिमन्त्रं 'इन्द्रश्च मे' इत्येतदर्धं भवति। अतस्ते मन्त्रा अर्धेन्द्रशब्देनोच्यन्ते। अतश्च 'अथार्धेन्द्राणि' (श० ९।३।२।९) इत्यनेन तन्मन्त्रसाध्यं होमं स्तोतुमनुवदति—अथार्धेन्द्राणीति। अर्धेन्द्राणीतिशब्दो मन्त्रवाक्यपरः। तद्वैशिष्ट्येन द्रव्यस्य होमादुपचारेणार्धेन्द्राणि जुहोतीत्युक्तम्। एवमुत्तरत्राप्यर्धेन्द्रमन्त्रकरणकान् होमान् कुर्यादित्यर्थः। सर्वाधिपतित्वेन सर्वस्येन्द्रसम्बन्धादर्धेन्द्राणामपि सर्वत्वात् तत्करणकहोमे कृते सर्वेणैवान्नेनैनमग्निं प्रीणात्यभिषिञ्चति चेत्याह—

सर्वमेतदिति। इन्द्रशब्दस्य यास्कोक्ता नानार्थाः कार्याः। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। अथवा अग्निः सर्वज्ञोऽग्निः। इन्द्रः 'इदि परमैश्वर्ये' परमैश्वर्यवान्। सोमश्चन्द्रः, उमया सहितो रुद्रो वा सोमः। सविता प्राणिनां प्रसवकर्ता। सरस्वती वाणी। पुष्णातीति पूषा। बृहतां पतिर्बृहस्पतिर्देवगुरुः। तया तया देवतया युक्त इन्द्रो यज्ञेन कल्पताम्॥ १६॥

मि॒त्रश्च॑ म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ वरु॑णश्च म॒ इन्द्र॑श्च मे धा॒ता च॑ म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ त्वष्टा॑ च म॒ इन्द्र॑श्च मे म॒रुत॑श्च म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ विश्वे॑ च मे दे॒वा इन्द्र॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥ १७॥

मन्त्रार्थ—मित्र एवं इन्द्र देवता, वरुण तथा इन्द्र, धाता और इन्द्र, त्वष्टा तथा इन्द्र, मरुत् और इन्द्र, विश्वेदेव और इन्द्र—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मेरे ऊपर प्रसन्न रहें॥ १७॥

मित्रः सूर्यः। वरुणः प्रचेताः। धाता जगद्धर्ता। त्वष्टा त्वक्षतीति त्वष्टा, 'त्वक्षू तनूकरणे', त्वष्टा नाम सूर्यः, शत्रुबलस्य तनूकरणात्। मरुत एकोनपञ्चाशत्संख्याकाः। विश्वे च मे देवा विश्वे देवगणाः। पूर्वोक्ता देवास्तैः सहिता इन्द्राश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ १७॥

पृ॒थि॒वी च॑ म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ऽन्तरि॑क्षं च म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ द्यौश्च॑ म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ समा॑श्च म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ नक्ष॑त्राणि च म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ दिश॑श्च म॒ इन्द्र॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥ १८॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी और इन्द्र, अन्तरिक्ष एवं इन्द्र, स्वर्ग तथा इन्द्र, वर्ष की अधिष्ठात्री देवता तथा इन्द्र, नक्षत्र और इन्द्र, दिशाएं एवं इन्द्र—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मेरे ऊपर प्रसन्न रहें॥ १८॥

प्रथनात् पृथिवी। अन्तरिक्षं भुवः स्थानम्। द्यौर्द्युलोकः। समाः संवत्सराः। नक्षत्राण्यश्विन्यादिसप्तविंशतिः। दिशः पूर्वादयः। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। अत्र अष्टादशकृत्व इन्द्रशब्दः श्रुतः। इरां दृणातीति वा, इरामन्नं व्रीह्यादि दृणाति विदारयति वर्षक्लेदितमङ्कुरं बीजं भिनत्ति, तदिन्द्रकारितम्। सोऽयमिरादारिः सन् इन्द्र इति परोक्षेणोच्यते। इरां ददातीति वा, यो वर्षद्वारेण इरामन्नं ददाति सोऽयमिराद इन्द्रः। इरां दधातीति वा, रश्मिभिर्जलमाकृष्य मेघेषु धारयति सोऽयमिराध इन्द्रः। इरां दारयत इति वा मेघं विदार्य वर्षति सोऽयमिन्द्रः। इरां धारयत इति वा अवग्रहादिकारितान् दोषान् निरुध्य प्रजाभ्योऽन्नं धारयत इतीन्द्रः। इन्दवे द्रवतीति वा। इन्दुं सोमं पातुमसौ द्रवति झटित्यागच्छतीति इन्दुद्रव इन्द्रः। इन्दौ रमत इति वा, क्रीडत्ययं सोमे इतीन्द्रः। इन्धे भूतानीति वा। भूतानि ह्यसौ अन्नोत्पत्त्याधिदेवस्थोऽध्यात्मस्थो वा अभ्यवहारयन् विभजमानश्च दीपयति द्युतिमन्ति करोति, सोऽयमिन्ध इन्द्रः, 'तद्यदेनं प्राणैः समैन्धन् तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्', समैन्धन् समदीपयन्नित्यर्थः। इन्द्र इदं सर्वमकरोदित्याग्रायणः, इदङ्कर इन्द्र इति यावत्। इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः। इदं सर्वमसावद्राक्षीदित्यौपमन्यवः, इदंदर्शी इन्द्र इति यावत्। इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः। शत्रूणां दारयिता द्रावयिता वा। ईश्वरः सन् शत्रून् द्रावयति दारयति वा स इन्द्रः। आदरयिता वा यज्वनां स इन्द्र इति निरुक्त(१०।८)दिशा अन्येऽप्यर्था यथासम्भवमूहनीयाः॥ १८॥

अᳫंशुश्चं मे रश्मिश्च मेऽदाभ्यश्च मेऽधिपतिश्च म उपाᳫंशुश्चं मेऽन्तर्यामश्चं म ऐन्द्रवायवश्चं मे मैत्रावरुणश्चं म आश्विनश्चं मे प्रतिप्रस्थानंश्च मे शुक्रश्चं मे मन्थी चं मे यज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—अंशु तथा रश्मि नामक ग्रह, अदाभ्य तथा निग्राह्य ग्रह, उपांशु तथा अन्तर्याम ग्रह, ऐन्द्रवायव तथा मैत्रावरुण ग्रह, आश्विन और प्रतिप्रस्थान ग्रह, शुक्र और मन्थि ग्रह—इन सबकी यज्ञ के फल के रूप में मुझे अनुकूलता प्राप्त हो ॥ १९ ॥

'अथ ग्रहान् जुहोति' (श० ९।३।२।१०) इतः कण्डिकात्रये ग्रहहोममन्त्राः। ग्रहाः सोमपात्राणि। अंश्वादयः सोमग्रहविशेषाः सोमप्रकरणे प्रसिद्धाः। अदाभ्यस्यैव गृह्यमाणत्वदशायां पृथक्कृत्य ग्रहणे रश्मिशब्देन निर्देशः, रश्मीनां तद्ग्रहणे साधनत्वात्, 'अह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु' (वा० सं० ८।४८) इति मन्त्रलिङ्गात्। अधिपतिशब्देन निग्राह्यो विवक्षितः। तस्य ज्येष्ठत्वादाधिपत्यम्, 'ज्येष्ठो वा एष ग्रहाणाम्' इति श्रुतेः। प्रतिप्रस्थानशब्देनापि निग्राह्य एव विवक्षितः, द्विदेवत्यैः सह पाठात्। अन्ये प्रसिद्धाः। ऐन्द्रवायवादयो द्विदेवत्या ग्रहाः। शुक्रो मन्थी च। एते सर्वे मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १९ ॥

आग्रयणश्चं मे वैश्वदेवश्च मे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्चं म ऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्चं मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्चं मे सारस्वतश्च मे पात्नीवतश्चं मे हारियोजनश्च मे यज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—आग्रयण और वैश्वदेव, ध्रुव तथा वैश्वानर, ऐन्द्राग्नी तथा महावैश्वदेव, मरुत्वतीय और निष्केवल्य, सावित्र तथा सारस्वत, पात्नीवत एवं हारियोजन नामक ग्रहों की यज्ञ के फल के रूप में मुझे अनुकूलता प्राप्त हो ॥ २० ॥

आग्रयणो वैश्वदेवः प्रातःसवनगतः। महावैश्वदेवस्तु तृतीयसवनगतः। ध्रुवाख्यस्यैव ग्रहस्य श्रवणदशायां वैश्वानरसूक्तपाठात् तद्दशापन्नो ध्रुवो वैश्वानरशब्देनोच्यते। मरुत्वतीया इति बहुवचनं त्रित्वात्। मरुत्वतीयो महामरुत्वतीयः कुण्ठमरुत्वतीयश्चेति। अभिषेचनीये सारस्वतीनामपां ग्रहणमेव सारस्वतो ग्रहः, 'सारस्वतं ग्रहं गृह्णाति' इति तत्राम्नानात्। एते मे यज्ञेन निमित्तेन कल्पन्ताम् ॥ २० ॥

स्रुचंश्च मे चमसाश्चं मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्चं मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्चं म आधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्चं मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्चं मे यज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—जुहू तथा चमस, वायव्य पात्र एवं द्रोणकलश, ग्रावा और काष्ठफलक, सोमपात्र, पूतभृत् एवं आधवनीय, वेदी और कुशा, अवभृथ स्नान और संयुगाक् पात्र—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ २१ ॥

स्रुचो जुह्वादयः। चमसाश्चमसानि ग्रहपात्राणि। वायव्यानि पात्रविशेषाः। अधिषवणे काष्ठफलके। पूतभृदाधवनीयौ सोमपात्रविशेषौ। स्वगाकारः शम्युवाकः, तेन यथास्वं देवतानां हविरङ्गीकारात्। प्रसिद्धमन्यत्। एते मम यज्ञेन निमित्तेन कल्पन्ताम्। अत्र सोमधारका ग्रहास्त्रयस्त्रिंशत्, षट् च यथाकथञ्चनोपचारका इति विभागः। गृह्यते सोमो येषु ते ग्रहाः, गृह्यन्ते वा सोमा एभिरिति ग्रहाः। अत्र ब्राह्मणम्—'अथ ग्रहान् जुहोति। यज्ञो वै ग्रहा यज्ञेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो यज्ञेनैवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति' (श० ९।३।२।१०)। 'अंशुश्च मे रश्मिश्च मे' (वा० सं० १८।१९-२१) इत्यादयो मन्त्रा ग्रहप्रतिपादकत्वाद् ग्रहाः। तत्साध्यमपि होममनूद्य प्रशंसति—अथ ग्रहानिति। यज्ञो वै ग्रहा इति, यज्ञसाधनत्वाद् ग्रहाणां यज्ञत्वम्।

एतत्सर्वमविज्ञायैव स्वामिदयानन्दो यथेच्छं यत्किञ्चिज्जल्पितवान्। तद्यथा—अंशुर्व्याप्तिमान् सूर्यः। अदाभ्य उपक्षयरहितः। अन्तर्यामो योऽन्तर्मध्ये याति स वायुः। इन्द्रो विद्युद्वायुश्च। तयोरयं सम्बन्धी। एवमेव शुक्रो मन्थी। आग्रयणो मार्गशीर्षादिनिष्पन्नो यज्ञविशेषः। वैश्वदेवो विश्वेषां देवानां सम्बन्धी। ऐन्द्राग्न इन्द्रो वायुरग्निश्च विद्युत्, ताभ्यां निर्वृत्तः। मरुतां सम्बन्धिनो व्यवहारा मरुत्वतीयाः। निष्कैवल्यश्च नितरां केवलं सुखं यस्मिन्, तस्मिन् भवः। एवमादयो व्युत्पत्तिलभ्या अर्थास्तथैवोपस्थिता यथा व्याघ्रशब्दस्य केनचिच्छुष्क-वैयाकरणेन विशेषेण आसमन्ताज्जिघ्रतीति व्याघ्र इत्यर्थः कृतः। श्रुत्या स्पष्टमत्र ग्रहप्रतिपादकत्वादेषां मन्त्राणां ग्रहत्वमुक्तम्। ये ज्योतिष्टोमादिक्रतुवृत्तान्तानभिज्ञास्त एव तथाभूतमनर्गलं प्रलपन्ति। किमतोऽधिकं वच्मि॥ २१॥

अ॒ग्निश्च॑ मे घ॒र्मश्च॑ मे॒ऽर्कश्च॑ मे॒ सूर्य॑श्च मे प्रा॒णश्च॑ मेऽश्वमे॒धश्च॑ मे पृथि॒वी च॒ मेऽदि॑तिश्च मे॒ दिति॑श्च मे॒ द्यौश्च॑ मे॒ऽङ्गुल॑यः॒ शक्व॑रयो॒ दिश॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥ २२॥

मन्त्रार्थ—अग्निष्टोम और प्रवर्ग्य, पुरोडाश और सूर्य का चरु, प्राण और अश्वमेध यज्ञ, पृथ्वी के साथ दिति और अदिति देवता, द्युलोक और विराट् पुरुष के अवयव, सब प्रकार की शक्ति और पूर्व आदि दिशाओं की अनुकूलता—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों॥ २२॥

कण्डिकाद्वयेन यज्ञक्रतुहोमः, 'अथैतान् यज्ञक्रतून् जुहोत्यग्निश्च म इति' (श० ९।३।३।१) इति श्रुतेः। अग्निश्चीयमानो वह्निरग्निष्टोमो वा। घर्मः प्रवर्ग्यः। 'इन्द्रायार्कवते पुरोडाशम्' इति विहितो यागोऽर्कः। 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' इति विहितः सूर्यः। प्राणो गवामयनं सत्रयागः। अश्वमेधः प्रसिद्धः। पृथिव्यदितिदितयो दिवो देवताविशेषाः। अङ्गुलयो विराट्पुरुषावयवाः। शकरयः शक्तयः। दिशः प्राच्याद्याः। एते यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ २२॥

व्र॒तं च॑ म ऋ॒तव॑श्च मे॒ तप॑श्च मे संवत्स॒रश्च॑ मेऽहोरा॒त्रे ऊ॑र्वष्ठी॒वे बृ॑हद्रथन्त॒रे च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥ २३॥

मन्त्रार्थ—व्रत तथा ऋतुएँ, तप तथा संवत्सर, दिन और रात, जंघा और जानु, बृहद् तथा रथन्तर साम—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों॥ २३॥

व्रतं नियमः। ऋतवो वसन्तादयः। तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि, अनशनं वा तपः, 'निवृत्त्या वर्तमानस्य तपो नानशनात् परम्' इत्युक्तेः, यद्वा 'मनसश्चेन्द्रियाणां च निग्रहः परमं तपः' इति स्मरणात्, अथवा

'ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धाल्पभोजनम् । अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयम्भुवा ॥' (म० भा० ११।२४४।१) इति भारतवचनात् । संवत्सरः प्रभवादिः । अहोरात्रे अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रे दिवानिशे । ऊर्वष्ठीवे ऊरू च अष्ठीवन्तौ जानुनी च ऊर्वष्ठीवे अवयवविशेषौ, 'अचतुरविचतुरसुचतुर' (पा० सू० ५।४।७७) इत्यादिना निपातितः । बृहद्रथन्तरे एतन्नामके सामनी । एतानि मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैतान् यज्ञक्रतून् जुहोति । अग्निश्च मे घर्मश्च म इत्येतैरेवैनमेतद्यज्ञक्रतुभिः प्रीणात्यथो एतैरेवैनमेतद्यज्ञक्रतुभिरभिषिञ्चति' (श० ९।३।३।१) । पूर्ववद् यज्ञक्रतुमन्त्रसाध्यहोमं प्रशंसति— अथैतानिति । 'अग्निश्च मे घर्मश्च मे' (वा० सं० १८।२२-२३) इत्यादयो मन्त्रा यज्ञक्रतवः, तत्राग्न्यादिपदानां यज्ञक्रतुप्रतिपादकत्वात् ॥ २३ ॥

एका॑ च मे ति॒स्रश्च॑ मे ति॒स्रश्च॑ मे॒ पञ्च॑ च मे॒ पञ्च॑ च मे स॒प्त च॑ मे स॒प्त च॑ मे॒ नव॑ च मे॒ नव॑ च म॒ एका॑दश च म॒ एका॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे स॒प्तद॑श च मे स॒प्तद॑श च मे॒ नव॑दश च मे॒ नव॑दश च म॒ एक॑वि॒ꣳशतिश्च म॒ एक॑वि॒ꣳशतिश्च मे॒ त्रयो॑वि॒ꣳशतिश्च मे॒ त्रयो॑वि॒ꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑वि॒ꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑वि॒ꣳशतिश्च मे स॒प्तवि॑ꣳशतिश्च मे स॒प्तवि॑ꣳशतिश्च मे॒ नव॑वि॒ꣳशतिश्च मे॒ नव॑वि॒ꣳशतिश्च म॒ एक॑त्रि॒ꣳशच्च म॒ एक॑त्रि॒ꣳशच्च मे॒ त्रय॑स्त्रि॒ꣳशच्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—मुझे एक और तीन, तीन तथा पाँच, पाँच एवं सात, सात तथा नौ, नौ और ग्यारह, ग्यारह और तेरह, तेरह और पन्द्रह, पन्द्रह एवं सत्रह, सत्रह तथा उन्नीस, उन्नीस और इक्कीस, इक्कीस तथा तेईस, तेईस एवं पच्चीस, पचीस तथा सत्ताईस, सत्ताईस तथा उन्तीस, उन्तीस और इकतीस, इकतीस एवं तेंतीस और फिर तेंतीस—इन सब संख्याओं से कहे जाने वाले संसार के सकल श्रेष्ठ पदार्थों को मुझे यज्ञ के फल के रूप में देवगण प्रदान करें ॥ २४ ॥

'अथायुजस्तोमान् जुहोति' (श० ९।३।३।२) इति श्रुतेरेकामादाय द्वितीयां विहाय तृतीयामादाय चतुर्थीं विहाय परित्यक्तसमसंख्याकेन आत्तविषमसंख्याकेन मन्त्रेण अयुग्मान् स्तोमान् जुहुयात् । आदरातिशयद्योतनाय सर्वत्र पुनरुक्तिः । अयुग्मस्तोमहोमैः सर्वकामावाप्तिः । 'एतद्वै देवाः सर्वान् कामानाप्त्वायुग्भिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमायंस्तथैवैतद् यजमानः सर्वान् कामानाप्त्वायुग्भिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति' (श० ९।३।३।२), 'तद्वै त्रयस्त्रिꣳशादिति । अन्तो वै त्रयस्त्रिꣳशोऽयुजाꣳस्तोमानामन्तत एव तद्देवाः स्वर्गं लोकमायंस्तथैवैतद्यजमानोऽन्तत एव स्वर्गं लोकमेति' (श० ९।३।३।३) । स्तोमाः सामविधानताण्ड्यादिनिर्दिष्टरीत्या मन्त्रविशेषाणां विन्यासविशेषा एव । ते च द्वेधा अयुजो युग्माश्च । 'स्तोमे डविधिः' (पा० सू० ५।१।५८, वा० १) इति त्रयस्त्रिंशच्छब्दाद् डप्रत्यये टिलोपे त्रयस्त्रिंश इति रूपम् । अयुजां स्तोमानां त्रयस्त्रिंशस्तोम एव अन्तिमो भवति, ततः परस्य अयुजस्तोमस्याभावात् । देवानामिव यजमानस्यापि त्रयस्त्रिंशपर्यन्तस्तोमहोमेन सर्वकामाप्तिपूर्वकमन्ततः स्वर्गलोकप्राप्तिः ।

एतत्सर्वमविज्ञायैव दयानन्दोऽत्र संख्याविज्ञानं प्रतिपादयति । तच्चातीव तुच्छम्, आधुनिके प्रभूतप्रचलिते गणितशास्त्रे भागगुणादिनिरूपणस्य प्रारम्भिकरूपत्वात् । तत्र त्रयस्त्रिंशत्पर्यन्तमेवायुजाम्, अष्टाचत्वारिंशत्पर्यन्तमेव युग्मानां निर्देशे कारणानुक्तेश्च ॥ २४ ॥

चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मेऽष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।। २५ ।।

मन्त्रार्थ—चार तथा आठ, आठ और बारह, बारह एवं सोलह, सोलह और बीस, बीस और चौबीस, चौबीस तथा अठाइस, अठाइस और बत्तीस, बत्तीस एवं छत्तीस, छत्तीस और चालीस, चालीस तथा चौवालीस, चौवालीस तथा अड़तालीस और फिर अड़तालीस—इन सब संख्याओं से कहे जाने वाले पदार्थ यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ।।२५।।

'अथ युग्मतो जुहोति । एतद्वै छन्दाꣳस्यब्रुवन् यातयामा वा अयुजस्तोमा युग्मभिर्वयꣳ स्तोमैः स्वर्गं लोकमयामेति तानि युग्मभिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमायंस्तथैवैतद्यजमानो युग्मभिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति' (श० ९।३।३।४) । 'चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे' इत्यादयो मन्त्रा युग्मतः । तन्मन्त्रसाध्यं होमं प्रशंसति—अथेति । पूर्वं छन्दांसि अयुजः । 'स्तोमाः' इति सर्वत्र प्रयोगाद् यातयामाः, अतश्च युग्मभूतैः स्तोमैः स्वर्गं लोकं गमिष्याम इत्युक्त्वा तथैव अकुर्वन् । ततश्च युग्मतो होमेन तथैव यजमानोऽपि करोति । 'तद्वा अष्टाचत्वारिꣳशादिति' (श० ९।३।३।५) अत्रापि पूर्ववदवधि प्रशंसति—तद्वा अष्टाचत्वारिंशादिति । 'स आह । एका च मे तिस्रश्च मे चतस्रश्च मेऽष्टौ च म इति यथा वृक्षꣳ रोहन्नुत्तरामुत्तराꣳ शाखाꣳ समालम्भꣳ रोहेत्तादृक् तद् यद्वेव स्तोमान् जुहोत्यन्नं वै स्तोमा अन्नेनैवैनमेतदभिषिञ्चति' (श० ९।३।३।६) । उत्तरोत्तरस्तोमपरिग्रहे वृक्षशाखारोहणक्रमेण तानेव द्विविधान् स्तोमान् स्तौति—स आहेति । पुनस्तानेव स्तोमानन्नात्मना प्रशंसति—यद्वेव स्तोमानिति । अन्नसाधनत्वात् स्तोमानामन्नत्वम् । अत्रोक्ताः संख्याः संख्येयस्तोमनिष्ठाः । त एते यज्ञेन कल्पन्तामिति ।।२५।।

त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।। २६ ।।

मन्त्रार्थ—डेढ़ वर्ष का बछड़ा तथा डेढ़ वर्ष की ही बछिया, दो वर्ष का बछड़ा तथा दो वर्ष की ही बछिया, ढाई वर्ष का बैल तथा ढाई वर्ष की ही गाय, तीन वर्ष का बैल तथा तीन वर्ष की ही गाय—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ।।२६।।

कण्डिकाद्वयं वयोहोमे विनियुक्तम् । 'अथ वयाꣳसि जुहोति । पशवो वै वयाꣳसि पशुभिरेवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो पशुभिरेवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति' (श० ९।३।३।७) । 'त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे' इत्यादयो मन्त्रा वयांसि । एकहायनप्रभृत्यापञ्चहायनात् पशवो वयांसीत्युच्यन्ते, तत्र तेषां प्रतिपादनात् । ततस्तन्मन्त्रसाध्यं होमं प्रशंसति—अथ वयांसीति । अविः षण्मासात्मकः कालः, षड्भिर्मासैस्तत्प्रसवात् । त्रयोऽवयवा यस्य स त्र्यविः सार्धसंवत्सरो

वृषः । तादृशी गौस्त्र्यवी । द्विसंवत्सरो वृषो दित्यवाट् । तादृशी गौर्दित्यौही । पञ्च अवयवा यस्य स पञ्चाविः सार्धद्विसंवत्सरो वृषः । तादृशी गौः पञ्चावी । त्रिवत्सः, वत्सो वत्सरः, त्रयो वत्सा यस्य स त्रिवत्सस्त्रिवर्षो वृषः । तादृशी गौस्त्रिवत्सा । तुर्यवाट्, तुर्यं चतुर्थं वर्षं वहतीति तुर्यवाट्, सार्धत्रिवर्षो वृषः । तादृशी गौस्तुर्यौही । एते यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २६ ॥

पष्ठवाट् च मे पष्ठौही च म उक्षा च मे वशा च म ऋषभश्च मे वेहच्च मेऽनड्वांश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—चार वर्ष का बैल तथा चार वर्ष की गाय, सेचन में समर्थ वृषभ तथा वन्ध्या गाय, तरुण वृषभ तथा गर्भघातिनी गाय, बोझा उठाने में समर्थ बैल तथा नई ब्याई हुई गाय यज्ञ के फल के रूप में मुझे देवगण प्रदान करें। अर्थात् मैं सब प्रकार की गायों तथा बैलों का पालन करने वाला बनूँ ॥ २७ ॥

पष्ठवाट्, पष्ठं वर्षचतुष्कं वहतीति पष्ठवाट्, चतुर्वर्षवयस्को वृषः, तादृशी गौः पष्ठौही । उक्षा सेक्ता वृषः । वशा वन्ध्या गौः । अतियुवा वृष ऋषभः । वेहद् गर्भघातिनी गौः । अनड्वान्, अनः शकटं वहतीत्यनड्वान् शकटवहनक्षमो वृषः । अनसि वहेः 'क्विबनसो डश्च' इति प्रक्रियामाह श्रीस्वामी रामाश्रमः । अर्थाद् वहेः क्विपि सम्प्रसारणे उह् इति रूपम्, अनसः सकारस्य डकारः । अनड् उह् अनडुह्शब्दो निष्पन्नः । तस्य प्रथमैकवचनेऽनड्वानिति । धेनुः नवप्रसूता गौः । एते मम यज्ञेन निमित्तेन कल्पन्तां स्वव्यापारसमर्था भवन्तु । यद्वा एते मह्यमुपभोगक्षमा भवन्तु ॥ २७ ॥

वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाऽह्ने मुग्धाय स्वाहाऽमुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिन आन्त्यायनाय स्वाहाऽन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा । इयं ते राण्मित्राय यन्ताऽसि यमन ऊर्जे त्वा वृष्टयै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याय ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—अधिक अन्न उत्पादक चैत्र मास के निमित्त यह श्रेष्ठ आहुति देता हूँ, वैशाख मास के निमित्त, जल क्रीड़ा में सुखदायक ज्येष्ठ मास के निमित्त, यागरूप आषाढ़ मास के निमित्त, चातुर्मास्य की यात्रा के निषेधक श्रावण के निमित्त, भाद्रपद मास के निमित्त, तुषार से मोहकारक आश्विन के निमित्त, थोड़ा घटने से विनाशी कार्तिक के निमित्त, विनाशरहित अन्त में स्थित विष्णुरूप मार्गशीर्ष के निमित्त, स्वरूप में होने वाले लोकों के पोषक पौष मास के निमित्त, सम्पूर्ण प्राणियों के पालक माघ मास के निमित्त, वर्षान्त के कारण अधिक पालक फाल्गुन मास के निमित्त, बारहों मासों के अधिष्ठात्री देवता प्रजापति के निमित्त यह श्रेष्ठ आहुति दी जाती है। हे प्रजापतिस्वरूप अग्निदेव! यह यज्ञस्थान तुम्हारा राज्य है। अग्निष्टोम आदि कर्मों में सबके नियन्ता तुम मित्र के रूप में इस यजमान के प्रेरक हो, अधिक अन्न की प्राप्ति के लिये, वर्षा के लिये और प्रजाओं पर प्रभुता पाने के लिये मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ ॥ २८ ॥

'अथ नामग्राहं जुहोति । एतद्वै देवाः सर्वान् कामानाप्त्वाऽथैतमेव प्रत्यक्षमप्रीणंस्तथैवैतद्यजमानः सर्वान् कामानाप्त्वाऽथैतमेव प्रत्यक्षं प्रीणाति वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहेति नामान्यस्यैतानि नामग्राहमेवैनमेतत्प्रीणाति'

(श० ९।३।३।८) । 'त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे' इत्यादिमन्त्राणामवसाने केचन 'वाजाय स्वाहा' इत्यादयो मन्त्राः समाम्नाताः । तन्मन्त्रसाध्यं होमं प्रशंसति—अथेति । नामग्राहं जुहोति, नाम गृहीत्वा जुहुयादित्यर्थः । 'नाम्न्यादिशिग्रहोः' (पा० सू० ३।४।५८) इति नामशब्दे उपपदे ग्रहेर्णमुल्प्रत्ययः । वाजश्च मे प्रसवश्च म इत्यादिभिर्मन्त्रैः सर्वान् कामानाप्त्वा अथ तमेवाग्निं प्रत्यक्षमप्रीणन्, अतश्चैतेन तथैव यजमानोऽपि करोति । अत्र 'वाजाय स्वाहा' इत्यादिमन्त्रेषु चतुर्थ्या सम्प्रदानत्वप्रतीतेर्द्रव्यदेवतासम्बन्धः प्रत्यक्ष इति प्रत्यक्षमप्रीणन्नित्युक्तम् । न चैवं वाजश्च म इत्यादिषु द्रव्यदेवतासम्बन्धः प्रत्यक्षः, किन्तु प्रथमया निर्देशात् परोक्षः ।

ननु कानि नामानि यानि गृहीत्वा होमः क्रियते ? तत्राह—वाजाय स्वाहेति । वाजोऽन्नं तस्मै स्वाहेति होममन्त्रः । वाजादीनि चैत्रादिमासानां नामानि । तन्नाम गृहीत्वा होतव्यमित्यर्थः । अन्नप्राचुर्याच्चैत्रोऽन्नरूपः । तस्मात् स वाजपदेनोच्यते । प्रसवाय अनुज्ञारूपाय । जलक्रीडादौ स्वच्छन्दमभ्यनुज्ञादानात् प्रसवो वैशाखः । अपिजाय, अप्सु जायत इत्यपिजः, शब्दस्वरूपप्राधान्यादेकवचनम्, छान्दसं वा । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (पा० सू० ६।३।१४) इति सप्तम्या अलुक् । जलक्रीडारतत्वादपिजो ज्येष्ठः । वैशाखे अभ्यनुज्ञामात्रम्, ज्येष्ठे तु तत्र रमणमिति विशेषः । क्रतवे यागरूपाय चातुर्मास्यादियागप्राचुर्यात् क्रतुराषाढः तस्मै । वसवे वासयतीति वसुः । चातुर्मास्ये यात्रानिषेधाद् वसुः श्रावणः, तस्मै । अहर्पतये अह्नां पतिरहर्पतिस्तस्मै दिनस्वामिने । 'रोऽसुपि' (पा० सू० ८।२।६९) इति सूत्रस्थेन 'अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः' इति वार्त्तिकेण रेफादेशः । तापकरत्वाद् भाद्रपदस्य अहर्पतित्वम् । मुग्धाय अह्ने मोहरूपाय दिवसाय । कन्यायां सवितरि हिमप्रादुर्भावाद् मुग्धमह आश्विनः, तस्मै । अमुग्धाय वैनंशिनाय, विनश्यतीति विनंशी, 'मस्जिनशोर्झलि' (पा० सू० ७।१।६०) इति बाहुलकादझल्यपि नशेर्नुमागमः, विनंशी एव वैनंशिनः, स्वार्थेऽण् । अल्पघटिकावत्त्वेन विनाशशीलाय कार्तिकाय अमुग्धाय स्नाननियमादिना पापनाशकत्वान्मोहनिवर्तकाय कार्तिकाय । अविनंशिने आन्त्यायनाय न विनश्यतीत्यविनंशी, तस्मै विनाशरहिताय, अन्ते सर्वेषां नाशे भवमन्त्यम्, अन्त्यं च तदयनं च इत्यन्त्यायनम्, तत्र भव आन्त्यायनः, तस्मै सर्वनाशेऽप्यवशिष्टाय, अत एवाविनंशिने विष्णुरूपाय मार्गशीर्षाय 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' (भ० गी० १०।३५) इति गीतोक्तेः । आन्त्याय भौवनाय । भुवनानामयं भौवनः, अन्ते स्वरूपे भव आन्त्यः, तस्मै । लोकस्वरूपपुष्टिकरत्वात् तत्र भवत्वम् । जाठराग्नेर्दीप्तिकरत्वात् पुष्टिकरत्वं पौषस्य । भुवनस्य पतये भुवनस्य भूतजातस्य पतये पालकाय माघाय स्वाहा । स्नानादिना पुण्यजनकत्वेन पालकत्वाद् माघस्य । अधिपतयेऽधिकपालकाय फाल्गुनाय, वर्षान्तत्वात्—इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणः । तदुक्तिमनुसृत्य परिष्कृत्य च महीधराचार्यो वाजसनेयिसंहिताभाष्ये व्याख्यातवान् ।

'नामान्यस्यैतानि नामग्राहमेवैनमेतत्प्रीणाति' (श० ९।३।३।८) इति श्रुत्या स्पष्टं विज्ञायते यत् संवत्सरात्मकस्याग्नेर्नामान्येव वाजादीनि । 'त्रयोदशैतानि नामानि भवन्ति । त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशाग्नेश्चितिपुरीषाणि.......' (श० ९।३।३।९) इति श्रुतेर्वाजादीनां चैत्रादिपरत्वव्याख्यानं युक्तमेव । प्रजापतये द्वादशमासाधिष्ठात्रे प्रजापतिनामकाय देवाय स्वाहेति होमार्थः सर्वत्र । हे अग्ने, इयं ते तव राड् इदं राज्यम् । यत्र यत्र यागाः क्रियन्ते, तत्र तत्र तवैव राज्यमित्यर्थः । किञ्च, हे अग्ने, त्वं मित्राय मित्रस्य सख्युर्यजमानस्य यन्ता नियामकोऽसि । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । कीदृशस्त्वम् ? यमनः, यमयतीति यमनः, अग्निष्टोमादिकर्मसु सर्वान्नियमयन् । अत ऊर्जे विशिष्टान्नरसाय तथा वृष्ट्यै त्वा त्वामभिषिञ्चामीति शेषः । 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' (म० ३।७६) इति स्मृतेः । ततः प्रजानामाधिपत्याय प्रजास्वामित्वाप्त्यै त्वामभिषिञ्चामि वसोर्धारया ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाह । इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमन ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्यायेत्यन्नं वा ऊर्गन्नं वृष्टिरन्नेनैवैनमेतत्प्रीणाति' (श० ९।३।३।१०) । 'इयं ते राट्' इति मन्त्रस्य प्रयोगं विधत्ते—

अथाहेति। मन्त्रे 'ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा' इति प्रयुज्यते। ऊर्क् इति साक्षादन्नमुच्यते। वृष्टिरन्नहेतुत्वादन्नम्, ऊर्जे वृष्ट्यै इत्यनेनान्नस्य प्रतीतेरन्नेनैव एनमग्निं प्रीणाति। 'यद्वेवाह। इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमन ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्यायेतीदं ते राज्यमभिषिक्तोऽसीत्येतन्मित्रस्य त्वं यन्तासि यमन ऊर्जे च नोऽसि वृष्ट्यै च नोऽसि प्रजानां च न आधिपत्यायासीत्युपब्रुवत एवैनमेतदस्मै नः सर्वस्मा अस्येतस्मै त्वा सर्वस्मा अभ्यषिचामहीति तस्मादु हेदं मानुषꣳ राजानमभिषिक्तमुपब्रुवते' (श० ९।३।३।११)। मन्त्रं व्याख्यातुमनुवदति—यद्वेवेति। यतोऽभिषिक्तोऽसि, अत इदं राज्यं तवैवेत्युक्तं भवति। 'इयं ते' इत्यनेनाभिषिक्तत्वादेव त्वं मित्रस्य यन्तासि। किञ्च? नोऽस्मत्सम्बन्धिनो यजमानस्य ऊर्जे नो यमनो नियन्ता। वृष्ट्यै च प्रजानामाधिपत्याय च नोऽसि, इत्येवप्रकारेण एनमुपब्रुवते स्तुत्या प्रोत्साहयन्ति।

तदयं मन्त्रस्यार्थः—हे अग्ने, त्वमभिषिक्तोऽसि, अतस्तवेदं राज्यं भवति। मित्राय मित्रस्य यजमानस्य यन्ता नियन्तासि। यजमानस्य ऊर्जे त्वामभ्यषिचामहि, वृष्ट्यै च त्वामभ्यषिचामहि, प्रजानामाधिपत्याय च त्वामभ्यषिचामहि। अतस्तस्य सर्वस्य यमनोऽसि। यत एवं देवानां राजानमग्निमुपब्रुवत इति।

एवमेवाध्यात्मपक्षेऽपीश्वरपरत्वेनायं मन्त्रो व्याख्यातव्यः। तस्यैव सर्वाग्रणीत्वेन सर्वपापदाहकत्वेन सर्वप्रकाशकत्वेन अग्नित्वम्। तन्निर्मितत्वात् तदायत्तत्वाच्च सर्वमिदं तस्यैव राज्यम्। स चोपासकं मित्रं सखायं मन्यते, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'यस्मिन् विदुषि वाजाय संग्रामाय स्वाहा सत्क्रियाप्रसवाय सन्तानोत्पत्तये परैश्वर्याय वा स्वाहा पुरुषार्थबलयुक्ता सत्या वाणी, अपिजाय ग्रहणकरणार्थाय स्वाहा उत्तमक्रिया' इत्यादिकं व्याख्यातवान्, तत्सर्वं यत्किञ्चित्प्रलापमात्रम्, श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वात्, निर्मूलत्वाच्च ॥ २८ ॥

आयुर्य॒ज्ञेन॑ कल्पतां प्रा॒णो य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ चक्षु॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳ श्रोत्रं॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ वाग् य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ मनो॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पतामा॒त्मा य॒ज्ञेन॑ कल्पतां ब्र॒ह्मा य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ ज्योति॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पतां॒ स्व॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पतां पृ॒ष्ठं य॒ज्ञेन॑ कल्पतां य॒ज्ञो य॒ज्ञेन॑ कल्पताम्। स्तोम॑श्च॒ यजु॑श्च॒ ऋक् च॒ साम॑ च बृ॒हच्च॑ रथन्त॒रं च॑। स्व॑र्देवा अगन्मा॒ऽमृता॑ अभूम प्र॒जाप॑तेः प्र॒जा अ॑भूम॒ वेट् स्वाहा॑ ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ के फल से मेरी आयु में वृद्धि हो, मेरे प्राण बलिष्ठ हों, नेत्रों की ज्योति बढ़े, श्रवण-शक्ति यथावत् बनी रहे, वाणी में मिठास भरा रहे, मन सदा स्वच्छ रहे, आत्मा बलवान् हो, सभी वेद मेरे ऊपर प्रसन्न रहें, परमात्मा की दिव्य ज्योति प्राप्त हो, स्वर्ग की प्राप्ति हो, संसार का सर्वश्रेष्ठ सुख प्राप्त हो, महायज्ञ करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, बृहत्-पंचदश आदि स्तोम, यजुर्मन्त्र, ऋचाएँ, साम की गीतियाँ, बृहत्साम और रथन्तर साम ये सब यज्ञ के फल से मेरे ऊपर अनुग्रह करें। मैं इस यज्ञ के फल से देवभाव को प्राप्त कर स्वर्ग का लाभ करूँ, अमर हो जाऊँ। हिरण्यगर्भ की प्यारी सन्तान इन सब देवताओं को यह शुभ आहुति दी गई है। यह भली प्रकार गृहीत हो ॥ २९ ॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतामित्यादिभिर्मन्त्रैः कल्पहोमः। तथा च ब्राह्मणम्—'अथ कल्पान् जुहोति। प्राणा वै कल्पाः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधात्यायुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतामित्येतानेवास्मिन्नेतत् क्लृप्तान् प्राणान्

दधाति' (श० ९।३।३।१२)। क्लृपिधातुसाहित्येन मन्त्राणां कल्पशब्देनाभिधानम्। प्राणप्रतिपादकरूपत्वात् कल्पानां प्राणत्वमित्यभिप्रायेणोक्तम्—प्राणा वै कल्पा इति। एतानेवास्मिन्निति। एतानेव आयुरादीनेव कृत्स्नान् प्राणान् अस्मिन्नग्नौ निदधाति। 'द्वादश कल्पान् जुहोति। द्वादशमासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतत् क्लृप्तान् प्राणान् दधाति यद्वेव कल्पान् जुहोति प्राणा वै कल्पा अमृतमु वै प्राणा अमृतेनैवैनमेतदभिषिञ्चति' (श० ९।३।३।१३)। कल्पहोमा द्वादश भवन्ति। अग्निश्च द्वादशमाससंवत्सरात्मकः, अतस्तत्सम्मितेनैवाग्निं प्रीणातीत्याह—द्वादश कल्पानिति। प्राणसम्बन्धे मरणाभावात् प्राणा अमृतं खल्विति प्राणात्मकतायाः प्रशंसान्तरम्। यज्ञेन निमित्तेन आयुर्जीवनकालः कल्पतां साध्यताम्, प्राप्यतामिति यावत्। मम प्राणचक्षुःश्रोत्रवाङ्मनांसि यज्ञेन क्लृप्तानि भवन्तु, आत्मा देहः—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठोप० १।३।४) इति श्रुतेः। ब्रह्मा वेदो यज्ञेन कल्पताम्। ज्योतिः स्वयंप्रकाशः परमात्मा यज्ञेन कल्पतां साध्यताम्, बुद्धिशुद्ध्यादिक्रमेण साक्षात्कृतो भवतु, यज्ञादिशुभकर्मणामनुष्ठानस्य ब्रह्मात्मसाक्षात्कार एव पर्यवसानात्, 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० उ० ४।४।२२) इति श्रुतेः, 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (भ० गी० ३।२०) इति स्मृतेश्च। स्वः स्वर्गो यज्ञेन कल्पताम्। पृष्ठं स्तोत्रं स्वर्गस्थानं वा यज्ञेन कल्पताम्। यज्ञोऽपि यज्ञेनैव कल्पतां यज्ञेनैव क्लृप्तो भवतु। नाहं यज्ञक्लृप्तौ समर्थः। तथा च मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (वा० सं० ३१।१६) इति। स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च यज्ञेन क्लृप्तानि भवन्तु। स्तोमस्त्रिवृत्पञ्चदशादिः। यजुरनियतपादा मन्त्रः। ऋग् नियतपादा। साम गीतिप्रधानम्। बृहद्रथन्तरे सामविशेषौ। सर्वाण्येतानि यज्ञेन क्लृप्तानि सन्तु। वसोर्धारया एवमग्निमभिषिच्य स्वात्मानं यजमानः प्रशंसति—वयं यजमाना देवा भूत्वा स्वः स्वर्गम् अगन्म गतवन्तः, गत्वा च अमृता अभूम अमरधर्माणो जाताः। ततः प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य प्रजा अभूमेति फलसम्पदुक्तिः। अनेन वसोर्धारायाः सर्वकामप्राप्तिहेतुत्वममृतत्वहेतुत्वं चोक्तं भवति। वेट् स्वाहेति वसोर्धाराहोमार्थो मन्त्रः।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथाह। स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं चेति त्रयी हैषा विद्यान्नं वै त्रयी विद्यान्नेनैवैनमेतत्प्रीणात्यथो अन्नेनैवैनमेतदभिषिञ्चति स्वर्देवा अगन्माऽमृता अभूमेति स्वर्हि गच्छत्यमृतो हि भवति प्रजापतेः प्रजा अभूमेति प्रजापतेर्हि प्रजा भवति वेट् स्वाहेति वषट्कारो हैष परोक्षं यद्वेट्कारो वषट्कारेण वा वै स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते तदेनमेताभ्यामुभाभ्यां प्रीणाति वषट्कारेण च स्वाहाकारेण चाथो एताभ्यामेवैनमेतदुभाभ्यामभिषिञ्चत्यत्र ताᳪं स्रुचमनुप्रास्यति यदत्राज्यलिप्तं तन्नेद्बहिर्धाऽग्नेरसदिति (श० ९।३।३।१४)। त्रय्या विद्याया नानाविधफललक्षणस्यान्नस्य हेतोः कर्मणः प्रतिपादकत्वादन्नत्वम्। यतः सर्वा अपि प्रजाः प्रजापतिसम्बन्धिन्य इति व्याचष्टे—प्रजापतेरिति। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन्, मदीयायुरादीनि सर्वाणि यज्ञे आराधने त्वदीयाराधनोपयोगीनि भवन्तु। वयं भवत्प्रसादात् स्वो ब्रह्मात्मकं सुखमगन्म गतवन्तोऽमृताश्चाभूम, यतो वयं प्रजापतेः परमेश्वरस्य प्रजाः पुत्रा अभूम, 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ० सं० १०।१३।१) इति मन्त्रवर्णात्। सिंहशिशोः सिंहत्वमिव परमेश्वरपुत्रस्य परमेश्वरत्वमेव ॥ २९ ॥

वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे।
यस्या॑मि॒दं विश्वं॒ भुव॑नमावि॒वेश॒ तस्यां॑ नो दे॒वः स॑वि॒ता धर्म॑ साविषत् ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—अन्न की अनुज्ञा में वर्तमान हम जगत् का निर्माण करने वाली, अदीन, पूजनीय, प्रसिद्ध जिस माता भूमि को वेदवाक्यों के द्वारा अनुकूल करते हैं, जिसमें यह सम्पूर्ण संसार प्रतिष्ठित है, उस भूमि में सबके प्रेरक प्रकाशात्मक परमात्मा हमारी धारणा को पुष्ट करें ॥ ३० ॥

'वाजप्रसवीयानि वप्रावत् सम्भृत्य चमसवत् स्रुवेण वाजपेयिकानि वाजस्येममिति' (का० श्रौ० १८।५।४), 'आग्निकानि च वाजस्य न्विति' (का० श्रौ० १८।५।५)। वप्रावद् अग्निक्षेत्रवपनवत् सर्वौषधमौदुम्बरे चमसे सम्भृत्य तस्मात् सर्वौषधात् चमसवत् स्रुवेणेत्यौदुम्बरेण चतुष्कोणपुष्करेण स्रुवेण 'वाजस्येमं प्रसव' इति सप्तभिर्मन्त्रैः (९।२३-२९) वाजपेयसम्बन्धीनि वाजप्रसवीयानि हुत्वा 'वाजस्य नु प्रसव' (९।३०-३६) इत्यादिभिः सप्तभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमाग्निकानि तस्मादेव सर्वौषधात् तेनैव स्रुवेण जुहोतीति सूत्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथातो वाजप्रसवीयं जुहोति। अन्नं वै वाजोऽन्नप्रसवीयꣳ ह्यस्यैतदन्नमेवास्मा एतेन प्रसौति' (श० ९।३।४।१)। वाजप्रसवीयहोमं विधाय तत्प्रयोजनकथनद्वारा तस्य पदस्य प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति—अथात इति। वाजप्रसवीयमिति कर्मनामधेयम्। वाजप्रसवीयं जुहोति वाजप्रसवीयाख्यं होमं कुर्यादित्यर्थः। वाजशब्देनान्नस्याभिधानादस्याग्नेरर्थे क्रियमाणमेतत्कर्म अन्नप्रसवीयम्। ततश्चैतेन कर्मणा अस्मा अग्नये सर्वमप्यन्नं प्रसौति, अनुजानाति। सर्वस्याप्यन्नस्य स्वामिनं करोतीत्यर्थः। 'सर्वौषधं भवति। सर्वमेतदन्नं यत्सर्वौषधꣳ सर्वेणैवेनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो सर्वेणैवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति तेषामेकमन्नमुद्धरेत्तस्य नाश्नीयाद्यावज्जीवमौदुम्बरेण चमसेनौदम्बरेण स्रुवेण तयोरुक्तो बन्धुश्चतुःस्रक्ती भवतश्चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्योऽन्नेन प्रीणात्यथो सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्योऽन्नेनाभिषिञ्चति' (श० ९।३।४।४)। अत्र सर्वौषधय इति सप्त ग्राम्याः सप्तारण्याः परिगृह्यन्ते। ताश्चितिस्थले बीजवापावसरेऽभिहिताः। लोके यत्किञ्चिद्वस्तु तद् ग्राममारण्यं वा भवति। अतः सर्वमेतदन्नमित्युक्तम्। एतेन सर्वौषधसम्पादितेन होमेन एनमग्निं सर्वेणैवान्नेन प्रीणात्यभिषिञ्चति च। तेषां चतुर्दशानामन्नानां मध्ये किमप्येकमन्नं परित्यजेत्, तदन्नं यावज्जीवं नाश्नीयात्। तत्र पात्रविशेषं विधत्ते—औदुम्बरेण चमसेन औदुम्बरेण स्रुवेणेति। अत्र स्रुवेणैव वाजप्रसवीयो होमः क्रियते, न तु चमसेन। अथ पुनः सम्पातावनयनार्थमभिषेकार्थं च औदुम्बरचमसप्रयोगः।

नवमेऽध्याये पञ्चमकण्डिकायामियमृग् व्याख्याता। वाजस्य अन्नस्य विराड्रूपस्य प्रसवेऽनुज्ञायां वर्तमाना वयं यां महीं भूमिं नाम प्रसिद्धं यथा स्यात्तथा वचसा वेदवाक्येन एवंविधामनुकूलां करामहे कृतवन्तः। कीदृशीं भूमिम्? मातरं जगन्निर्मात्रीम्। महीं महतीं महनीयाम्। अदितिमखण्डिताम्। इदं विश्वं भुवनं सर्वं भूतजातं यस्यां भूमावाविवेश। सविता देवस्तस्यां भूमौ नोऽस्माकं धर्मधारणमवस्थानं साविषत् प्रसुवतां प्रेरयतु। शेषव्याख्यानं तत्रैव (९।५) स्थलेऽवलोकनीयम्॥ ३०॥

विश्वे॑ अ॒द्य म॒रुतो॒ विश्व॑ ऊ॒ती विश्वे॑ भवन्त्व॒ग्नयः॒ समि॑द्धाः।
विश्वे॑ नो दे॒वा अव॒साग॑मन्तु॒ विश्व॑मस्तु॒ द्रवि॑णं॒ वाजो॑ अ॒स्मे॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—आज इस यज्ञ में सभी मरुद्गण देवता आवें, सम्पूर्ण रुद्र, आदित्य आदि गणदेवता यहां आवें। ये सभी देवता हमारी दी हुई हवि को प्रेमपूर्वक ग्रहण करें। गार्हपत्य आदि सब अग्नियाँ प्रदीप्त हों। गो, भू, सुवर्ण आदि सम्पूर्ण धन और अन्न हमें प्राप्त हों॥ ३१॥

लुशोधानाकदृष्टा वैश्वदेवी त्रिष्टुप्। अद्य अस्मिन् दिवसे विश्वे सर्वे मरुतः सप्तसप्तका आगमन्तु आगच्छन्तु। 'इषुगमियमां छः' (पा० सू० ७।३।७७) इति प्राप्तछत्वस्याभावे रूपम्। विश्वे अन्ये च सर्वे गणदेवा वसवो रुद्रा आदित्याश्च ऊती ऊत्या, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति पूर्वसवर्णः, अनेन तर्पणेन निमित्तभूतेन आगमन्तु। विश्वेदेवा गणदेवताश्च नोऽस्माकमवसा अन्नेन हविषा निमित्तेन हविर्ग्रहणाय आगमन्तु।

तदागमनेन च विश्वे सर्वेऽग्नयो गार्हपत्यादयः समिद्धाः सम्यग् दीप्ता भवन्तु, तदर्थं होमेनेति यावत्। तेषां देवानां तुष्ट्या विश्वं सर्वं द्रविणं धनं गोभूहिरण्यादिकं वाजोऽन्नं च अस्मे अस्माकम् अस्तु। विभक्तेः 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यनेन शे आदेशः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मभूतो भगवानेवात्र मरुदादिरूपेणापि स्तूयते।

दयानन्दस्तु—'अस्यां पृथिव्यामद्य विश्वे मरुतो विश्वे प्राणिनः पदार्थाश्च विश्वे समिद्धा अग्नय इव ऊती ऊत्या रक्षणादिना सह भवन्तु। विश्वे देवा अवसा गमन्तु। यतोऽस्मे विश्वं द्रविणं वाजश्चास्तु' इति, तदेतत्सर्वमसङ्गतमेव, मनुष्येभ्यः प्रार्थनीयाभीष्टसिद्धेरसम्भवात्। नह्यल्पशक्तयो विद्वांसोऽपि मनुष्या सर्वमनुष्याणां वाञ्छाः पूरयितुं समर्थाः। गौणार्थाश्रयणं च निर्मूलमेव ॥ ३१ ॥

वाजो॑ नः स॒प्त प्र॒दिश॒श्चत॑स्रो वा प॑रा॒वतः॑।
वाजो॑ नो॒ विश्वै॑र्दे॒वैर्धन॑साताविहाऽव॑तु ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ में हमारे द्वारा दिया गया अन्न सातों दिशाओं को, अर्थात् भू आदि तीन लोक और पूर्व आदि चार दिशाओं को तथा बहुत दूर स्थित महः आदि चार लोकों को परिपूर्ण कर दे। इस लोक में धन-विभाग का समय आने पर यह अन्न सम्पूर्ण देवताओं के साथ हमारी रक्षा करे॥ ३२ ॥

तिस्रोऽन्नदेवत्याः। तत्र आद्यानुष्टुप्, द्वे त्रिष्टुभौ। नोऽस्माकं वाजोऽन्नं सप्त प्रदिशः—चतस्रो दिशः प्राच्याद्याः प्रकृष्टाश्च त्रयो भूरादयो लोका एते सप्त प्रदिश उक्ताः। चतस्रो वा परावतः। परावच्छब्दो दूरवचनः। महर्जनस्तपः सत्यमित्येते चत्वारो दूरस्था लोकाः। महरादयो हि लोकत्रयमतीत्य वर्तन्ते। तान् सर्वान् वाजः पूरयत्विति। किञ्च, वाजो नोऽस्मान् विश्वैर्देवैः सह धनसातौ धनसम्भजनकाले प्राप्ते। इह यज्ञे इह वा लोके। वाजोऽन्नं नोऽस्मान् विश्वैर्देवैः सह अवतु पालयतु। यद्वा नोऽस्माकं वाजोऽन्नं भूरादिलोकत्रयं प्राच्यादिचतुष्कं चेति सप्त प्रदिशः पूरयतु। परावतो दूरस्थाश्च पूरयतु। अर्थाद् महरादयः सत्यान्ताश्च प्रदिशः पूरयतु, अस्मद्दत्तेनान्नेन सप्त लोका दिक्चतुष्टयं च तृप्यन्त्वित्यर्थः।

किञ्च, धनसातौ धनस्य संभजनकाले प्राप्ते वाजोऽन्नं नोऽस्मान् विश्वैर्देवैः सहावतु। इह अस्मिन् लोके यज्ञे वा यदास्माकं धनेच्छा जायेत, तदा देवतर्पणक्षमं बह्वन्नमस्त्विति सामान्येन स्वकीयशुभकर्मार्जितमन्त्रोपलक्षितं भोग्यभूतमैश्वर्यमेवात्र वाजपदेनाभिधीयते। तच्च हिरण्यगर्भोपासनादिसमुच्चितोत्कृष्टचयनादियागार्जितं सर्वलोकपूरकं सर्वदेवतर्पणसमर्थं सम्भवति।

अध्यात्मपक्षे—भक्तानां भगवानेवान्नं भवति। स एव सर्वं पूरयति सर्वतर्पणक्षमं भवति, तस्यैवानन्तत्वात्, 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादः' (तै० उ० ३।१०।६) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा विश्वैर्देवैः सह वर्तमानो वाजोऽन्नादिः, इह लोके धनसातौ धनानां संविभक्तौ नोऽवतु प्राप्नोतु। यद्वा नो वाजो ज्ञानादिः सप्त प्रदिशः परावतश्चतस्रो दिश उपदेशेन पालयतु। तथैता यूयं सततं रक्षत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाजोऽन्नादिः कर्मणा प्राप्यते, न मनुष्यप्रार्थनयेति व्यर्थ एष प्रलापः। ज्ञानात्मको वाजोऽपि सप्त प्रदिशः पालयितुं समर्थः, तस्योपदेष्टृत्वायोगात्, उपदेशमात्रेण शत्रुकृतप्रहारात् त्राणायोगाच्च ॥ ३२ ॥

वाजो नो अद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ२॥ ऋतुभिः कल्पयाति ।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—आज अन्न की अधिष्ठात्री देवता हमें दान के निमित्त प्रेरणा दे, अन्न ऋतुओं के साथ देवताओं को यथास्थान कल्पना करे, अन्न ही मुझे पुत्र-पौत्र आदि से युक्त करे, अन्न का स्वामी बनकर मैं सब दिशाओं को अपने वश में करने में समर्थ होऊँ ॥ ३३ ॥

अद्य अस्मिन् दिने वाजोऽन्नम्, अन्नाधिष्ठात्री देवतेति यावत्। नोऽस्मान् प्रसुवाति अभ्यनुजानातु, दानार्थमिति शेषः। अन्नदानेच्छास्माकं भवत्वित्यर्थः। वाज ऋतुभिः कालैः सह देवान् कल्पयाति यथास्थानं कल्पयतु, यथाकालं यथायोग्यं देवानां यजने प्रवर्तयतु। हि चकारार्थः। वाजो हि वाजश्च मा मां सर्ववीरं सर्वे वीराः पुत्रपौत्रादयो यस्य तं तादृशं मां जजान जनयतु, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति कालसामान्ये लिट्, पुत्रपौत्रादिसमन्वितं मां करोतु। ततो वाजपतिः समृद्धान्नः सन्नहं विश्वा आशाः सर्वा दिशो जयेयम्। अन्नदानेन यज्ञादिना शक्तिमान् भूत्वा सर्वा दिशो वशीकुर्यामित्यर्थः। अन्ने सत्येव दानं देवयजनं यथाकालं पुत्रपौत्रादिमत्त्वं सर्वदिग्विजयित्वं च सम्पद्यते।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर एवात्र वाजः। स एव दान-याग-पुत्रादि-जयादिपूरको भवति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ययाद्य यद्वाजोऽन्नं नो दानं प्रसुवाति प्रेरयेत्। वाज ऋतुभिर्देवान् कल्पयाति समर्थयेत वसन्तादिभिः। यद्धि वाजः सर्ववीरं मां जजान, तेनाहं वाजपतिर्भूत्वा विश्वा आशा जयेयम्, तथा यूयमपि जयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जडस्य वाजस्य तथा प्रार्थनायोगात्, सम्बोधनस्य च निर्मूलत्वात्। वेगरूपो गुणो वसन्तादिभिर्ऋतुभिर्देवान् समीचीनान् गुणान् समर्थयेतेति केन किं श्लिष्यते? ॥ ३३ ॥

वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्धयाति ।
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—अन्न हमारे आगे और मध्य से स्थित हो, अन्न हवि के रूप में देवताओं को तृप्त करता है, अन्न ने ही मुझे पुत्र-पौत्र आदि से युक्त किया है. अन्न का स्वामी बनकर मैं सब दिशाओं को जीतने में समर्थ होऊँ ॥ ३४ ॥

वाजोऽन्नं नः पुरस्ताद् भवतु। उत अपि च, नोऽस्माकं मध्यतो मध्येगृहं वाजो भवतु। नोऽस्माकं वाजो हविषा देवान् वर्धयाति वर्धयतु पुष्णातु। हि चार्थे। वाजो हि वाजश्च मा मां सर्ववीरं पुत्रपौत्रादियुतं चकार करोतु। ततश्च वाजपतिर्वाजानां पतिः पालकः सन्नहं सर्वा आशा भवेयम्। अत्र दिग्रूपतया आत्मनो व्यापकता प्रार्थ्यते। यद्वा—सर्वा आशा भवेयं प्राप्नुयाम्, वशीकुर्यामित्यर्थः। भूप्राप्तावात्मनेपदीति धातुपाठसूत्रात् णिचा सहैवात्मनेपदं नान्यत्र। अत्र माधवीयायां धातुवृत्तौ बहूक्तम्। अधिकं जिज्ञासुभिस्तत्रैवालोचनीयम्।

अध्यात्मपक्षे—अवश्यमत्र वाजशब्देन वाजाधिष्ठात्री देवता भगवानेव वा विवक्षितौ, केवलस्य भोग्यस्यान्नादेर्भोक्तारं प्रति शेषत्वेन तादृङ्माहात्म्यानुपपत्तेः।

दयानन्दस्तु—'यद्वाजो हविषा पुरस्तादुत मध्यतो नो वर्धयाति, यद्वाजो देवांश्च वर्धयाति, यद्धि वाजो मा सर्ववीरं चकार, तेनाहं वाजपतिर्भवेयं सर्वा आशा जयेयम्' इति, तदपि विसङ्गतम्, मन्त्रे जयेयमिति पदाभावात्। यत्पदमपि मूले नास्ति ॥ ३४ ॥

सं मा॑ सृजामि॒ पय॑सा पृथि॒व्याः सं मा॑ सृजाम्य॒द्भिरोष॑धीभिः ।
सोऽहं वाज॑ᳯं सनेयमग्ने ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, मैं पृथ्वी के रस से अपने को संयुक्त करता हूँ, जल और औषधियों से अपने को संयुक्त करता हूँ । ऐसा करने के बाद मैं अन्न की उपासना करता हूँ । अथवा हे अग्ने ! मैं औषधिजल से हवन द्वारा तुमको संयुक्त करता हूँ और इस प्रकार अन्न की उपासना करता हूँ ॥ ३५ ॥

द्वे विराजौ । 'दशकास्त्रयो विराडेकादशका वा' (ऋक्सर्वानुक्रमणी) इत्युक्तेरेकादशाक्षरत्रिपादा विराट् । द्वितीयस्तु दशकः । तृतीयोऽपि व्यूहेन दशकस्तेनैकोना । अत्र कण्डिकायां तृतीये पादे सोऽहमिति तच्छब्दश्रवणाद् यदोऽध्याहारः । तथा च हे अग्ने, योऽहं पृथिव्याः पयसा भूमिसम्बन्धिरसेन मां स्वात्मानं संसृजामि संयोजयामि, अद्भिरुदकैः, ओषधीभिश्च यवादिभिः, मां संसृजामि, सोऽहं संसृष्टपयःप्रभृतिशरीरः सन् वाजमन्नं सनेयं सम्भजेयम् । यद्वा व्यत्ययेनास्मदः स्थाने युष्मदादेशं कृत्वाग्निरेवोच्यते । हे अग्ने, योऽहं त्वां पृथिव्याः पयसा त्वामद्भिस्त्वामोषधीभिः संसृजामि, होमाभिप्रायोऽयं संसर्गः, सोऽहं वाजं सनेयम् ।

अध्यात्मपक्षे—अत्राप्यग्निः परमात्मैव प्रार्थ्यते, अग्निभावापन्नस्य परमात्मन एवाग्नित्वात् ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, रसविद्याविद् विद्वन्, योऽहं पृथिव्याः पयसा मां संसृजामि, अद्भिरोषधीभिः सह च संसृजामि, सोऽहं वाजं सनेयमेवं त्वमप्याचर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भोक्तुः शुद्धस्यात्मनः पृथिव्याः पयसा अन्नौषधीभिश्च सम्मिश्रणासम्भवात्, मूले सहपदाभावाच्च ॥ ३५ ॥

पयः॑ पृथि॒व्यां पय॒ ओष॑धीषु॒ पयो॑ दि॒व्य॑न्तरि॑क्षे॒ पयो॑ धाः ।
पय॑स्वतीः प्र॒दिशः॑ सन्तु॒ मह्य॑म् ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! पृथ्वी पर हमें देने के लिये रस को धारण करो, औषधियों में रस डालो, द्युलोक में रस को स्थापित करो, आहुति देने से सारी दिशाएँ और विदिशाएँ मेरे लिये रस से भर जांय ॥ ३६ ॥

हे अग्ने, त्वं पृथिव्यां पयो रसं धा धेहि, स्थापय । दधातेर्लुङि मध्यमैकवचने रूपम्, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इत्यडभावः । ओषधीषु च पयो रसं धेहि । दिवि स्वर्गे च पयो धेहि । अन्तरिक्षे च पयो धेहि । किञ्च, मह्यं मदर्थं प्रदिशो दिशो विदिशश्च पयस्वती रसयुक्ताः सन्तु । आहुतिपरिणामेन पृथिव्यादयो ममाभीष्टदा भवन्त्वित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, पृथिव्यां पयो रसं धेहि, तत्र रसाधाने परमेश्वरस्यैव शक्तत्वात् । ओषधीषु च पयो रसं धेहि । तत्र दधिदुग्धघृतादिरूपं च पयो धेहि । किं बहुना, दिवि द्युलोकेऽन्तरिक्षे तत्रत्यतर्पणोपयुक्तं पयो धेहि । तदीयाऽचिन्त्यशक्त्यैव आहुत्यादिपरिणामोऽपि तथाभूतः सम्पद्यते । त्वत्प्रसादाद् मह्यं पूर्वोक्तलोकत्रयं दिक्चतुष्टयं परावतश्चतस्रो महर्जनस्तपःसत्याख्याः प्रदिशः पयस्वत्यो रसवत्यो भवन्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं पृथिव्यां यत्पय ओषधीषु यत्पयो दिव्यन्तरिक्षे यत्पयो धाः, तत्सर्वं पयोऽहमपि धरामि । याः प्रदिशः पयस्वतीस्तुभ्यं सन्तु ता मह्यमपि भवन्तु' इति, तदेतत्सर्वं वह्निना सिञ्चतीतिवद् बाधितार्थमेव, परमेश्वरकार्यस्य मनुष्येष्वसम्भवात् ॥ ३६ ॥

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ।
सर॑स्वत्यै वा॒चो य॒न्तुर्य॒न्त्रेणा॒ग्नेः साम्रा॑ज्येना॒भिषि॑ञ्चामि ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—सविता देवता की आज्ञा में रहता हुआ मैं अश्विनीकुमार की बाहुओं तथा पूषा देवता के हाथों से, सरस्वती की वाणी से, प्रजापति के नियम के अनुसार, अग्नि के चक्रवर्तीपने से, हे यजमान ! मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ ॥ ३७ ॥

'स्रुवं प्रास्य परिश्रित्स्पृक्कृष्णाजिनमास्तीर्य पुच्छादुत्तर ँ॒ शेषेऽपः कृत्वा, अभिषेकसामर्थ्यात्, क्षीरोदके वा वाजपेयिकानीति श्रुतेः (का० श्रौ० १८।५।६-८) । कर्मापवर्गे औदुम्बरं चतुष्कोणं स्रुवमाहवनीये प्रक्षिप्य अग्निपुच्छादुत्तरदिशि परिश्रित्संलग्नं प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम कृष्णाजिनमास्तीर्य तत्र स्थितो ब्रह्मवर्चसकामो यजमानश्चयनं कृत्वान्वारब्धोऽध्वर्युणा सर्वौषधशेषेणाभिषिच्यते । किं कृत्वा ? सर्वौषधशेषेऽपो जलानि कृत्वा, अभिषेकस्यैव द्रवद्रव्यसाध्यत्वादिति पूर्वपक्षः । तत्र सिद्धान्तमाह—क्षीरोदके वेत्यादि । 'वा' इत्यनेन पूर्वपक्ष-निरासः । नैव शेषेऽपामासेकः कार्य इति, यतः शेषमध्ये क्षीरोदके विद्येते एव । कुत एतज्ज्ञायत इति चेत्, 'वाजपेयिकानि' इति श्रुतेः, अत्र वाजपेयिकानि 'वाजप्रसवीयानि जुहोति' (श० ५।२।२।४) इति श्रुतेः । तत्र च नामधेयात् क्षीरोदके स्त एवेति साम्प्रदायिकाः, 'औदुम्बरे पात्रेऽप आसिच्य पयश्च' (का० श्रौ० १४।५।२०) इत्युक्तेः । अतस्तन्मिश्रेणैवाभिषेको न जलसेक इत्यर्थ इति सूत्रत्रयार्थः । देवस्य त्वेति कण्डिकार्धं पूर्वं व्याख्यातम् ।

सरस्वत्यै इति । लिङ्गोक्तदेवत्यं यजुः । सरस्वत्यै षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । सरस्वतीसम्बन्धिन्या वाचो वाण्या यन्तुर्नियन्तुः प्रजापतेर्यन्त्रेण नियमनेन अग्नेश्च साम्राज्येन चक्रवर्तित्वेन हे यजमान, त्वामभिषिञ्चामि । मत्कृता-भिषेकेण वाक्सिद्धिः, ऐश्वर्यम्, साम्राज्यं च तव सम्पद्यतामित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक ! सरस्वत्यै वागधिष्ठात्र्या देव्याः सम्बन्धिन्या वाचो नियन्तुः प्रजापतेः परमेश्वरस्य नियन्त्रणेनाग्नेः साम्राज्येन सम्यक् प्रकाशेन त्वामहमभिषिञ्चामि शोधयामि ।

दयानन्दस्तु—हे विद्वन् राजन्, यथाहं त्वां सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां सरस्वत्यै वाचा यन्तुरग्नेर्यन्त्रेण साम्राज्येनाभिषिञ्चामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अधिकारदानस्य लौकिकत्वे-नाभिषेकस्यालौकिकत्वेन सम्बन्धायोगात् । न च कलाकौशलप्रदर्शनेन राज्यमुत्पाद्यते । अभिषेकेण किञ्चित् पुण्यमदृष्टं वानभ्युपगच्छतो वाक्सिद्धिरैश्वर्यं च कथमुपपद्यते ? ॥ ३७ ॥

ऋ॒ता॒षाडृ॒तधा॑मा॒ग्निर्ग॑न्ध॒र्वस्तस्यौष॑धयोऽप्स॒रसो॒ मुदो॒ नाम॑ । स न॑ इ॒दं ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं पा॑तु॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ वाट् ताभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—सत्यवक्ता अविनाशी धाम वाला, पृथ्वी का धारक गन्धर्व नामक अग्नि हमारी इस ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति की रक्षा करे । हम उसके निमित्त यह आहुति देते हैं, यह भली प्रकार गृहीत हो । प्राणियों को प्रसन्न करनेवाली मुद नामक औषधियाँ गन्धर्व नामक अग्नि की अप्सराएँ हैं, वे भी हमारी रक्षा करें । उन औषधियों के निमित्त दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ३८ ॥

'द्वादशगृहीतं विग्राहं जुहोत्यृताषाडिति प्रतिस्वाहाकार ँ॒ राष्ट्रभृतो वाट्कारान्तः पूर्वः पूर्वो मन्त्रः' (का० श्रौ० १८।५।१६) । ततो द्वादशगृहीतमाज्यं गृहीत्वा तद् विग्राहं विगृह्य, विभज्येति यावत् ।

द्वादशांशान् कृत्वा ऋताषाडिति द्वादशमन्त्रैः प्रतिस्वाहाकारं राष्ट्रभृत्संज्ञा आहुतीर्जुहोति। व्यतिषक्तेषु द्वादशमन्त्रेषु पूर्वो मन्त्रः स्वाहावाडित्यन्तः, उत्तरस्ताभ्यः स्वाहेत्यन्तः। ततो मन्त्रे यानि पुंलिङ्गानि स न इदं ब्रह्मेत्यादीनि, तानि व्यवहितपठितान्यपकृष्य पठित्वा पूर्वो मन्त्रः सम्पाद्यः। यानि च स्त्रीलिङ्गानि तस्यौषधयोऽप्सरस इत्यादीनि तान्युत्कृष्य पठित्वोत्तरो मन्त्रः सम्पाद्यः। तेन 'ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्' इति पूर्वो मन्त्रः। 'तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ताभ्यः स्वाहा' इत्युत्तरो मन्त्रः। पूर्वो गन्धर्वदेवत्यः, उत्तरोऽप्सरोदेवत्यः। एवमग्रे पञ्चस्वपि कण्डिकासु मन्त्रविभागो ज्ञेय इति सूत्रार्थः।

तथा चात्र ब्राह्मणम्—'अथातो राष्ट्रभृतो जुहोति। राजानो वै राष्ट्रभृतस्ते हि राष्ट्राणि बिभ्रत्येता ह देवताः सुता एतेन सवेन येनैतत्सोष्यमाणो भवति ता एवैतत्प्रीणाति ता अस्मा इष्टाः प्रीता एतꣳ सवनमनुमन्यन्ते ताभिरनुमतः सूयते यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न तद्यद्राजानो राष्ट्राणि बिभ्रति राजान उ एते देवास्तस्मादेता राष्ट्रभृतः' (श० ९।४।१।१)। राष्ट्रभृतो जुहोति राष्ट्रभृदाख्यान् होमान् कुर्यात्। राष्ट्रभरणसाधारण्येन एतेषां राष्ट्रभृतां राजत्वमाह—राजानो वा इति। राष्ट्रभृतां होमप्रयोजनमाह—एता ह देवता इति। ननु चात्र सोष्यमाण इति भविष्यत्कालिकः प्रयोगः, अभिषेकश्च पूर्वमेव सम्पादितः, तत्कथमौचिती भविष्यत्प्रयोगस्येति चेत्, उच्यते—अभिषेकात् पूर्वो यः कालस्तदपेक्षायां भविष्यत्प्रयोगः। एवं ता एवैतत्प्रीणाति ताभिरनुमतः सूयत इत्येतन्नोपपद्यते। कुतः ? न खल्वभिषेकात् पूर्वमेतासां प्रीणनार्थं होमः क्रियते। अप्रीणिताश्च नानुमन्यन्त इति। नैष दोषः। अभिषेकात् पूर्वमेतद्देवतानुमत्यभावेऽपीदानीमनेन होमेन प्रीणिताः प्राक्सम्पादितमभिषेकमनुमन्यन्ते। ततः स यजमानस्ताभिरनुमत एवाभिषिक्तो भवति। अन्यथाऽभिषेकेऽप्येतद्देवतानुमतिविरहेणानभिषिक्तप्रायो भवतीत्यर्थः। अथवा 'एष वै स सवः' (श० ९।४।१।१३) इति परस्तादप्यभिषेको वक्ष्यते, तत्कालापेक्षश्चायं लृट्प्रत्ययः। अथैतेषां राष्ट्रभृत्संज्ञाप्राप्तिं दर्शयति—तद्यद्राजान इति। 'राजानो वै राष्ट्रभृतः' इति राजत्वस्योक्तत्वादेते देवा राजानः। राजानश्च राष्ट्राणि बिभ्रति। यत एवं तस्मादेता राष्ट्रभृतः। पूर्वं राष्ट्रभरणेन राजत्वमुक्तम्। इदानीं तु राजत्वमुपजीव्य राष्ट्रभृत्संज्ञकत्वमुच्यते।

अथ पूर्वमभिषेकसम्पादकानि ब्राह्मणानि—'अथैनं कृष्णाजिनेऽभिषिञ्चति' (श० ९।३।४।१०), 'आसीनं भूतमभिषिञ्चेत्' (श० ९।३।४।१४), 'आस्पृष्टं परिश्रितः' (श० ९।३।४।१५)। अत्र कृष्णाजिनस्य परिश्रितां स्पर्शो यजमानसम्बन्धिदैवात्माभिषेकहेतुर्भवति। 'गन्धर्वाप्सरोभ्यो जुहोति। गन्धर्वाप्सरसो हि भूत्वोदक्रामन्नथो गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति तस्माद्यः कश्च मिथुनमुपप्रैति गन्धं चैव स रूपं च कामयते' (श० ९।४।१।४)। 'गन्धेन वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति' इत्यनेन गन्धर्वशब्दस्य अप्सरःशब्दस्य च निरुक्तिः। गन्धेन विशन्तीति गन्धर्वाः। अप्शब्देन रूपमभिधीयते, तेन विशिष्टाः सरन्तीत्यप्सरसः, ते च ताश्च गन्धर्वाप्सरसः। पृषोदरादित्वात् सिद्धिः। मिथुनशब्देन मिथुनभावः स्त्री चाभिधीयते।

'मिथुनानि जुहोति। मिथुनाद्वा अधि प्रजातिर्यो वै प्रजायते स राष्ट्रं भवत्यराष्ट्रं वै स भवति यो न प्रजायते तद्यन्मिथुनानि राष्ट्रं बिभ्रति मिथुना उ एते देवास्तस्मादेता राष्ट्रभृत आज्येन द्वादशगृहीतेन त्म उ द्वादशैवाहुतयो भवन्ति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।५)। प्रकारान्तरेण एतासां राष्ट्रभृत्संज्ञासम्बन्धं दर्शयति—मिथुनानि जुहोतीति। प्रजातिः प्रकर्षेण जननं पुत्रपौत्रादीनामुत्पत्तिः, सा मिथुनादेव भवति खलु। अतश्च यो वै पुरुषः प्रजायते पुत्रपौत्रादिपरम्परया विविधं जायते, स एव राष्ट्रं भवति, तस्य प्रजाबाहुल्येन राष्ट्रसाधनसामर्थ्यात्। यस्तु न प्रजायते, स राष्ट्रं न भवति, तस्य प्रजाभावेन राष्ट्रसाधनसामर्थ्याभावात्। एवं च मिथुनानां राष्ट्रभृत्त्वाद् मिथुनभूतानामेतेषां देवानामपि राष्ट्रभृत्त्वमित्यर्थः। प्रकृतहोमे द्रव्यं तत्परिमाणं च विधत्ते—आज्येन द्वादशगृहीतेनेति। ग्रहणसंख्यानुसारेण ता द्वादशैवाहुतयो भवन्ति। तस्य ब्राह्मणं 'द्वादशमासाः संवत्सरः' इत्यादिना प्रागुक्तम्।

'पुꣳसे पूर्वस्मै जुहोति। अथ स्त्रीभ्यः पुमाꣳसं तद्वीर्येणात्यादधात्येकस्मा इव पुꣳसे जुहोति बह्वीभ्य इव स्त्रीभ्यस्तस्मादप्येकस्य पुꣳसो बह्व्यो जाया भवन्त्युभाभ्यां वषट्कारेण च स्वाहाकारेण च पुꣳसे जुहोति स्वाहाकारेणैव स्त्रीभ्यः पुमाꣳसमेव तद्वीर्येणात्यादधाति' (श० ९।४।१।६)। मन्त्रे तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहेत्याम्नानात् तेनैव क्रमेण होमं प्रशंसति – पुंसे पूर्वस्मा इति। तत्तेन प्रथमं होमेन स्त्रीभ्यः पुमांसं वीर्येण अतिशयितं करोति। तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहेत्युक्तां स्त्रीपुंसयोः संख्यां प्रशंसति—एकस्मा इवेति। वषट्कारस्वाहाकाराभ्यां पुंसे हूयते। स्वाहाकारेणैव स्त्रीभ्यो हूयते। एवं च प्रधानशब्दाधिक्यात् स्त्रीपुंसयोः पुमांसं वीर्याधिकं कृतवान् भवति। वाड् इति परोक्षो वषट्कार इत्युक्तम्। इत्येवं श्रुत्या कात्यायनसूत्रार्थः समर्थितः। तथा च (१) ऋताषाट्, (२) सꣳहितः, (३) सुषुम्णः, (४) इषिरः, (५) भुज्युः, (६) प्रजापतिः— इति षण्णां पूर्वमन्त्राणामृताषाडित्यादिनामका गन्धर्वा देवताः, (१) तस्यौषधयः, (२) तस्य मरीचयः, (३) तस्य नक्षत्राणि, (४) तस्यापः, (५) तस्य दक्षिणाः, (६) तस्य ऋक्सामानीति षण्णामुत्तरमन्त्राणामोषध्यादिनामका अप्सरसो देवताः।

अत्र ब्राह्मणम्—'ऋताषाड् ऋतधामेति। सत्यसाट्सत्यधामेत्येदग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरस इत्यग्निर्ह गन्धर्व ओषधिभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम मुदो नामेत्योषधयो वै मुद ओषधिभिर्हीदꣳ सर्वं मोदते स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहेति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।७)। यतोऽग्निरेव गन्धर्व ओषधिभिरेवाप्सरोभिः सह मिथुनभावेनोच्चक्राम, अत उच्यते मन्त्रे—'अग्निर्ह गन्धर्वः' इति। व्रीह्यादिभिरोषधिभिरिदं सर्वं जगन्मोदत इत्योषधयो मुदः। ततो मन्त्रे यानि पुंलिङ्गानि पदानि, तानि व्यवहितपठितान्यप्यपकृष्य पठित्वा पूर्वो मन्त्रः सम्पादनीयः। एवमेव यानि च स्त्रीलिङ्गानि तस्यौषधय इत्यादीनि, तान्युत्कृष्य उत्तरो मन्त्रः सम्पादनीयः। तथा च—'ऋताषाड् ऋताधामाग्निर्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्यै स्वाहा वाट्' इति पूर्वो मन्त्रः। अत्र स्वाहा वाड् इति शब्दद्वयमपि सम्प्रदाने। 'तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ताभ्यः स्वाहा' इत्युत्तरो मन्त्रः। तस्यौषधय इत्यत्र तस्येति सर्वनाम्नः पूर्वपरामर्शकत्वेन साकाङ्क्षत्वाद् ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्व इत्यनुवर्तते।

अथ मन्त्रार्थः—ऋताषाड् ऋतं सत्यं ब्रह्मलक्षणं महत्तेजो वा सहत इति ऋताषाट्, 'छन्दसि सहः' (पा० सू० ३।२।६३) इति ण्विप्रत्यये तस्य सर्वापहारिलोपे, 'अत उपधायाः, (पा० सू० ७।२।११६) इत्युपधावृद्धौ, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घे, 'सहेः साडः सः' (पा० सू० ८।३।५६) इति मूर्धन्यादेशे रूपम्। साहयतेः क्विप्यपि रूपमेतत् शक्यसमर्थनम्। तदा तु 'नहि वृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (पा० सू० ६।३।११६) इत्यनेन पूर्वपदस्य दीर्घः। सत्यं सहते, असत्ये कुप्यतीति यावत्। ऋतधामा ऋतं सत्यं धाम यस्य सः। सोऽग्निर्गन्धर्वः, नोऽस्माकं ब्रह्म क्षत्रं च पातु रक्षतु। य ईदृशोऽग्निस्तस्मै अग्नये गन्धर्वाय स्वाहा वाट् वषट्कारेण सुहुतमस्तु। तस्याग्नेर्गन्धर्वस्य ओषधयो व्रीह्याद्या नाम नाम्ना अप्सरसः स्त्रीत्वेन भोग्याः। कीदृश्य ओषधयः ? तत्राह—मुदो मोदन्ते जना याभिस्ताः। ताभ्यः स्वाहा।

अध्यात्मपक्षे—अग्निः परमात्मैव ऋताषाट्। ऋतं सत्यं परं ब्रह्म, 'ऋतꣳसत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः॥' (तै० आ० १०।१२।१) इति मन्त्रवर्णात्। स एव ऋतधामा दिव्यशक्तित्वात्। स एवाग्रणीत्वादग्निः। स न इदं ब्रह्म इदं क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाडिति। तस्य तादृशस्य गन्धर्वस्य मुदो नाम अप्सरसः सन्ति। ताभ्यः स्वाहेति। स्वाहाकारवषट्काराभ्यां पुंसे हूयते, स्वाहाकारेणैव स्त्रीभ्य इति। प्रधानशब्दाधिक्यात् स्त्रीपुंसेभ्यः पुमांसं वीर्याधिकं कृतवान् भवति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, य 'ऋताषाड् ऋतधामा गन्धर्वोऽग्निरिवास्ति, तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम सन्ति। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं च पातु तस्मै स्वाहा वाट्, ताभ्यः स्वाहाऽस्तु। यो जनोऽग्निवच्छत्रुदाहक ओषधिवदानन्दकारी, स एव सर्वं राज्यं रक्षितुं शक्नोतीति भावार्थः' इति, तदेतत् सर्वमुद्धृतश्रुतिविरोधादुपेक्ष्यमेव। किमर्थं तस्मै स्वाहा वाड् इति शब्दद्वयप्रयोगः ? किमर्थं ताभ्यः स्वाहेति स्वाहाकारस्यैव प्रयोग इत्यभिप्रायानुक्तेश्च ॥ ३८ ॥

स॒ꣳहि॒तो वि॒श्वसा॑मा॒ सूर्यो॑ गन्ध॒र्वस्तस्य॒ मरी॑चयोऽप्स॒रस॑ आ॒यु॒वो॒ नाम॑ ।
स न॑ इ॒दं ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं पा॑तु॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ वाट् ताभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—जिसकी सारे साम मन्त्र स्तुति करते हैं, जो रात-दिन को मिलाने वाला सूर्यरूप गन्धर्व है, वह हमारी ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति की रक्षा करे। हम उसे आहुति देते हैं, यह भली प्रकार गृहीत हो। परस्पर मिलने के स्वभाव वाली आयुव नामक किरणें उसकी अप्सराएँ हैं, वे हमारी रक्षा करें। हम उनके निमित्त आहुति देते हैं ॥ ३९ ॥

यः सूर्यः संहितः सन्दधाति अहोरात्रे इति तथाभूतः, 'एष ह्यहोरात्रे सन्दधाति' (श० ९।४।१।८) इति श्रुतेः। यश्च विश्वसामा विश्वानि सर्वाणि सामानि प्रतिपादकत्वेन यस्य सः। सामानि सान्त्वप्रयोगा वा, 'एष ह्येव सर्वꣳ साम (श० ९।४।१।८) इति श्रुतेः। स सूर्यो गन्धर्वो नोऽस्माकमिदं ब्रह्म क्षत्रं च पातु। तस्याप्सरसो मरीचयस्त्रसरेणवः। कीदृश्यो मरीचयः ? तत्राह—आयुव इति। आसमन्ताद् युवन्ति मिश्रीभवन्तीत्यायुवः, 'आयुवाना हि मरीचयः प्लवन्ते' (श० ९।४।१।८) इति श्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'सꣳहित इति। असौ वा आदित्यः सꣳहित एष ह्यहोरात्रे सन्दधाति विश्वसामेत्येष ह्येव सर्वꣳ साम सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस इति सूर्यो हि गन्धर्वो मरीचिभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्रामायुवो नामेत्यायुवाना इव हि मरीचयः प्लवन्ते स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।८)। अहोरात्रयोः सम्बन्धाधायकत्वेन संहितशब्दोऽयमादित्यसमवेतार्थक इत्याह—असौ वा आदित्य इति, 'य एष एतस्मिन् मण्डलेऽर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि' (श० १४।८।६।४) इत्यादिश्रुतेः। एष एवादित्यः सर्वं साम खलु। तथा च 'संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्' इति द्वितीयः पूर्वो मन्त्रः, 'तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम ताभ्यः स्वाहा' इति द्वितीय उत्तरो मन्त्रः। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—सर्वान्तरात्मा परमेश्वर एव सूर्यो भूत्वाऽहोरात्रे सन्दधाति। स एव मरीचयोऽप्सरसः, तस्मै स्वाहा वाट्, ताभ्यः स्वाहेति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, भवान् यः संहितः सूर्यो गन्धर्वोऽस्ति, तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम सन्ति, ताभ्यो विश्वसामभ्यः स्वाहा कथं कार्यसिद्धिं करोतु। यस्त्वं तस्मै स्वाहा प्रयुङ्क्षे स भवानिदं ब्रह्म क्षत्रं च वाट् पातु' इति, तदेतत् सर्वं श्रुतिविरुद्धत्वादव्यापारेषु व्यापार एव। नहि कश्चिद्विद्वान् सूर्यो भवति, न वा गां पृथिवीं धारयति। न च स सर्वैर्मिलितः, न च तत्सम्बन्धिन्यो मरीचयो भवन्ति। न च विश्वसामा कश्चित् सम्भवति, साम्प्रतं तदनुपलब्धेः। न च स्वाहाशब्दस्य उत्तमक्रियार्थः। न वा तया ब्रह्मक्षत्रादीनां रक्षणम् ॥ ३९ ॥

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ के द्वारा सुख देने वाली सूर्य की किरणों से प्रकाशित होने वाला चन्द्रमा भी भूमि का धारक होने से गन्धर्व है। वह हमारी इस ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति की रक्षा करे, उनके निमित्त हम आहुति देते हैं। कान्तियुक्त भेकुरी नामक नक्षत्र उसकी अप्सरा है, वह हमारी रक्षा करे, उसकी प्रीति के निमित्त हम आहुति देते हैं ॥ ४० ॥

यः सुषुम्णः, सु सुष्ठु शोभनं सुम्नं सुखं यस्मात् सः। सुयज्ञियः सुखस्य यज्ञसाध्यत्वाद् यज्ञार्हत्वात् 'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ' (पा० सू० ५।१।७१) इति सूत्रेण यज्ञमर्हतीति घप्रत्ययाद् यज्ञिय इति रूपम्, शोभनश्चासौ यज्ञियश्च सुयज्ञियः, अथवा 'असमासे निष्कादिभ्यः' (पा०सू० ५।१।२०) इति ज्ञापकात् तदन्तविधिरिति। यज्ञद्वारा सुखप्रद इत्यर्थः, याज्ञिकानां चन्द्रलोकाप्तेः श्रुतत्वात्। सूर्यरश्मिः सूर्यस्येव रश्मयो यस्य सः। स तादृशश्चन्द्रमा गन्धर्वः, नोऽस्माकमिदं ब्रह्म क्षत्रं च पातु। तस्मै चन्द्रमसे स्वाहा वाट्। तस्य चन्द्रमसो नक्षत्राणि अप्सरसः। तासां भेकुरय इति नाम। भां कान्तिं कुर्वन्तीति भेकुरयः, पृषोदरादित्वात् साधुः। ताभ्यो नक्षत्राप्सरोभ्यः स्वाहा। तथा च—'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्' इति तृतीयः पूर्वो मन्त्रः, 'तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ताभ्यः स्वाहा' इति तृतीय उत्तरो मन्त्रः।

अत्र ब्राह्मणम्—'सुषुम्ण इति। सुयज्ञिय इत्येतत्सूर्यरश्मिरिति सूर्यस्येव हि चन्द्रमसो रश्मयश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरस इति चन्द्रमा ह गन्धर्वो नक्षत्रैरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम भेकुरयो नामेति भाकुरयो ह नामैते माꣳ हि नक्षत्राणि कुर्वन्ति स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।९)। प्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मा भगवान् चन्द्रमा नक्षत्राणि च भूत्वा प्रजापतेर्विस्रस्तात् शरीराच्चन्द्रमा नक्षत्राप्सरोभिः सहोच्चक्राम। तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहेति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः सूर्यरश्मिः सुषुम्णो गन्धर्वश्चन्द्रमा अस्ति, यास्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम सन्ति, स यथा इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु, तथाविधाय तस्मै वाट् स्वाहा ताभ्यः स्वाहा युष्माभिः सम्प्रयोज्या' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'वाट् कार्यनिर्वाहपूर्वकम्, स्वाहा उत्तमक्रिया' इति व्याख्यानस्य वैदिकमर्यादाविरुद्धत्वात्, देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागे तयोः प्रसिद्धत्वात् ॥ ४० ॥

इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—शीघ्रगामी, सर्वत्र व्याप्त, भूमि को धारण करने से वायु का नाम गन्धर्व है। वह हमारी इस ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति की रक्षा करे। उसके निमित्त यह आहुति दी जाती है। प्राणियों को जीवन देने वाला रस नामक जल उसकी अप्सराएं हैं। वे हमारी रक्षा करें। उनके निमित्त दी गई आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४१ ॥

इषिरः, इष्यति गच्छतीति इषिरः, 'इषिमदिमुदि' (उ० १।५१) इति किरच्प्रत्ययः, क्षिप्रः शीघ्रगमनः। विश्वव्यचा विश्वस्मिन् व्यचो गमनं यस्यासौ विश्वव्यचाः, सर्वतो गमनशीलो वातो वायुर्गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। तस्य वातस्य आपोऽप्सरस ऊर्जो नाम, ऊर्जयन्ति जीवयन्ति धान्योत्पादनेनेत्यूर्जः, ऊर्जः 'भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप्' (पा० सू० ३।२।१७७) इति क्विपि 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' इति परिभाषया णिलोपस्य स्थानिवत्त्वनिषेधात् पदान्तत्वेन 'चोः कुः' (पा० सू० ८।२।३०) इति कुत्वे, एकवचने 'ऊर्क्' इति रूपम्, रात्सस्येति नियमान्न संयोगान्तलोपः। ताभ्यः स्वाहा।

अत्र ब्राह्मणम्—'इषिर इति। क्षिप्र इत्येतद्विश्वव्यचा इत्येष हीदꣳ सर्वं व्यचः करोति वातो गन्धर्वस्तस्यापोऽप्सरस इति वातो ह गन्धर्वोऽद्भिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्रामोर्जो नामेत्यापो वा ऊर्जोऽद्भ्यो ह्यूर्जायते स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।१०)। यतश्चैष वायुः सर्वं व्याप्तं करोति, तस्मात् स विश्वव्यचाः। अद्भ्यः सकाशात् सर्वमन्नादिकं जायते, तस्मादाह—ऊर्जो नामेति। 'इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्' इति चतुर्थः पूर्वो मन्त्रः, 'तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम ताभ्यः स्वाहा' इति चतुर्थ उत्तरो मन्त्रः।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यविवक्षया परमेश्वरस्यैव वातादिकत्वमिति।

दयानन्दस्तु—'येन इच्छन्ति स इषिरः' इति, तत्तुच्छम्, श्रुतिविरोधात्, 'इषिरः क्षिप्रः' इति श्रुत्या व्याख्यातत्वात्। न च वायुनेच्छन्ति जनाः, निष्प्रमाणत्वात् ॥ ४१ ॥

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—प्राणियों का पालक, स्वर्ग में गमन करने वाला यज्ञ पृथ्वी को धारण करने से गन्धर्व कहलाता है। वह हमारी इस ब्राह्मण जाति तथा क्षत्रिय जाति की रक्षा करे। उसके निमित्त यह आहुति समर्पित की जाती है। यज्ञ और यजमान की स्तुति करने वाली स्तावा नामक दक्षिणाएं उस यज्ञ की अप्सराएँ हैं। उनके निमित्त यह आहुति दी जाती है ॥ ४२ ॥

भुज्युः, भुनक्ति पालयति सर्वभूतानीति भुज्युः, 'भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ' (उ० ३।२१) इति युक्। सुपर्णः सुष्ठु शोभनं पर्णं पतनं स्वर्गगमनं यस्य सः। यज्ञे स्वर्गं गते यजमानो गच्छति। तथाविधो यज्ञो गन्धर्वः, इदं ब्रह्म क्षत्रं च पातु। तस्मै स्वाहा वाट्, इदं हविः सुहुतमस्तु। तस्य यज्ञस्य दक्षिणा नाम अप्सरसः। कीदृश्यस्ताः ? स्तावा नाम। स्तूयते यज्ञो यजमानश्च याभिस्ताः स्तावाः, स्तावा इति नाम तासां संज्ञा, ताभ्यः स्वाहा। तथा च 'भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्' इति पञ्चमः पूर्वो मन्त्रः, 'तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम ताभ्यः स्वाहा' इति पञ्चम उत्तरो मन्त्रः।

अत्र ब्राह्मणम्—'भुज्युः सुपर्ण इति। यज्ञो वै भुज्युर्यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस इति यज्ञो ह गन्धर्वो दक्षिणाभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम स्तावा नामेति दक्षिणा वै स्तावा दक्षिणाभिर्हि यज्ञः स्तूयतेऽथो यो वै कश्च दक्षिणां ददाति स्तूयत एव स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।११)। यज्ञो हि वृष्ट्यादिसम्पादनेन सर्वाणि भूतानि भुनक्ति रक्षतीति भुज्युशब्दो यज्ञे समवेतार्थ

इत्याह—यज्ञो वा इति। यज्ञः खलु दक्षिणाभिः प्रशस्यते, साधु जातो यज्ञोऽयमिति स्वीकृतदक्षिणैर्ऋत्विग्भिः स्तूयमानत्वात्। किञ्च, यो वै कश्चन दक्षिणां ददाति, सोऽपि प्रग्रहीतृभिः स्तूयते। इत्थं स्तुतिहेतुत्वाद् दक्षिणाः स्तावा उच्यन्ते।

अध्यात्मपक्षे—अत्रापि यज्ञदक्षिणादिरूपेणापि परमेश्वरस्य सार्वात्म्यं प्रशस्यते।

दयानन्दस्तु—'भुज्यन्ते सुखानि यस्मात् स भुज्युः। शोभनानि पर्णानि पालनानि यस्मात् सः सुपर्णः। गन्धर्वो यो गां वाणीं धरति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शास्त्रीयस्य यज्ञदक्षिणादेस्तेनानङ्गीकृतत्वात्॥ ४२॥

प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥ ४३॥

मन्त्रार्थ—प्रजापालक सब कुछ करने वाला मन ही गन्धर्व है। वह हमारी ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति की रक्षा करे। उसको यह आहुति दी जाती है। अभीष्ट देने वाली एष्टी नाम वाली ऋचा और साम उसकी अप्सराएँ हैं। वे हमारी रक्षा करें। उनको हम यह आहुति देते हैं॥ ४३॥

यः प्रजापतिः प्रजानां पालकः, विश्वकर्मा विश्वं सर्वं करोतीति विश्वकर्मा, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा०सू० ३।२।७५) इति करोतेर्मनिन्। मनोरूपो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं च पातु। तस्मै मनसे गन्धर्वाय स्वाहा वाट् हविर्दत्तमस्तु। तस्य मनसो गन्धर्वस्य ऋक्सामान्यप्सरसः। एष्टय इति तासां नाम प्रसिद्धम्। इष्यते काङ्क्ष्यतेऽभीष्टं याभिस्ता एष्टयः, ताभ्योऽप्सरोभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु। तथा च—'प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै वाट् स्वाहा' इति षष्ठः पूर्वो मन्त्रः। 'तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ताभ्यः स्वाहा' इति षष्ठ उत्तरो मन्त्रः।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रजापतिर्विश्वकर्मेति। प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा स हीदꣳ सर्वमकरोन्मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस इति मनो ह गन्धर्व ऋक्सामैरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्रामेष्टयो नामेत्यृक्सामानि वा एष्टय ऋक्सामैर्ह्याशासत इति नोऽस्त्वित्थं नोऽस्त्विति स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।१२)। प्रजापतेर्मनःप्रधानसमष्टिलिङ्गशरीराभिमानित्वादिष्यमाणसाधनात्वादिष्टयः। आ इष्टय एष्टयः। 'ओमाङोश्च' (पा० सू० ६।१।९५) इति पररूपम्।

अध्यात्मपक्षे—भू-बीजाङ्कुर-वृक्षस्थानीया ब्रह्माव्याकृतहिरण्यगर्भविराजः, भूस्थानीये ब्रह्मण्येव सर्वेषामन्तर्भावात्। निस्तरङ्गमहासमुद्रस्य सतरङ्गमहासमुद्रत्ववद् ब्रह्मण एव मनस्त्वम्। तदुक्तं वाशिष्ठरामायणे—
'स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान्। स मनाङ् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते॥' इति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यो विश्वकर्मा प्रजापतिर्मनुष्योऽस्ति, तस्य मनो गन्धर्व ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम सन्ति, तथा स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा, वाणी वाट् धर्मप्रापणं ताभ्यः स्वाहा सत्यया क्रिययोपकारं कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिविरुद्धत्वात्, तत्र तु मनस एव प्रजापतित्वेन व्याख्यातत्वात्, तस्येत्यस्य मनसा सम्बन्धे तस्य ऋक्सामानीति प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धस्य बाधाच्च, पूर्वत्र यथा तस्य तस्य गन्धर्वस्य तास्ता अप्सरस उक्तास्तथैव प्रकृतमन्त्रेऽपि युक्तत्वाच्च॥ ४३॥

स नो॑ भुवनस्य पते प्रजापते॒ यस्य॑ त उ॒परि॑ गृ॒हा यस्य॑ वे॒ह ।
अ॒स्मै ब्रह्म॑णे॒ऽस्मै क्ष॒त्राय॑ महि॒ शर्म॑ यच्छ॒ स्वाहा॑ ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—हे संसार का पालन करने वाले प्रजापति ! जिनका स्वर्गलोक में घर है अथवा इस लोक में घर है, ऐसे आप हमारी इस ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति के निमित्त महान् सुखदाता बनिये । हमारी दी हुई इस आहुति को स्वीकार कीजिये ॥ ४४ ॥

'पञ्चगृहीतं च रथशिरस्यध्याहवनीयं ध्रियमाणे पञ्चकृत्वः स नो भुवनस्येति' (का०श्रौ० १८।५।१७) । राष्ट्रभृद्धोमानन्तरं पूर्वसंस्कृतादेवाज्यात् पञ्चगृहीतमाज्यं गृहीत्वा प्रतिप्रस्थात्रादिना रथशिरस्याहवनीयोपरि समीपे एव ध्रियमाणे तदाज्यं पञ्चधा विभज्य स नो भुवनस्येति मन्त्रावृत्त्या पञ्चकृत्वो जुहुयात् । ईषाग्रयोरुपरि यत्र युगस्य बन्धनं क्रियते, तत्स्थानं रथस्य शिर इति सूत्रार्थः । प्रजापतिदेवत्या प्रस्तारपङ्क्तिः । यत्र आद्यौ पादौ द्वादशकौ, अन्त्यौ चाष्टकौ सा प्रस्तारपङ्क्तिः । सा चैकाधिका । अतस्तृतीयः पादो नवकः, नवाक्षर इति यावत् । हे भुवनस्य पते पालक, हे प्रजापते, यस्य ते तवोपरि स्वर्गे गृहाः सन्ति, वा अथवा यस्य त इह भूलोके गृहाः सन्ति, स त्वं नोऽस्माकमस्मै ब्रह्मणे ब्राह्मणाय अस्मै क्षत्राय क्षत्रियाय च महि महत् शर्म सुखं यच्छ देहि । तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ रथशीर्षे जुहोति । एष वै स सव एतद्वै तत्सूयते यमस्मै तमेता देवताः सवमनुमन्यन्ते याभिरनुमतः सूयते यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै नाज्येन पञ्चगृहीतेन ता उ पञ्चैवाहुतयो हुता भवन्ति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।१३) । राष्ट्रभृद्धोमानन्तरं रथशिरसि होमं विधत्ते—अथेति । प्रकृतहोमं यजमानाय सवात्मना प्रशंसति—एष वै सव इति । अस्मै यजमानाय यं सवं सम्पादयति, स सव एष खलु । शेषं सुगमम् । 'यद्वेव रथशीर्षे जुहोति । असौ वा आदित्य एष रथ एतद्वै तद्रूपं कृत्वा प्रजापतिरेतानि मिथुनानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत तथैवैनान्ययमेतत्परिगत्यात्मन् धत्त आत्मन् कुरुत उपरि धार्यमाण उपरि हि स य एतानि मिथुनानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत समानेन मन्त्रेण समानो हि स य एतानि मिथुनानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत सर्वतः परिहारꣳ सर्वतो हि स य एतानि मिथुनानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत' (श० ९।४।१।१५) । पुनस्तमेव होमं प्रकारान्तरेण प्रशंसति—यद्वेवेति । एष आहवनीयस्योपरि धार्यमाणो रथः, असावाकाशमध्ये वितायमानो य आदित्यस्तदात्मकः । आदित्यवन्मण्डलाकाररथाङ्गवत्त्वात् शीघ्रगामित्वाद्वा रथस्यादित्यात्मकत्वम् । अतः प्रजापतिरादित्यात्मकं रथरूपं कृत्वा एतानि पूर्वोक्तानि मिथुनानि परिगत्य आत्मनि धृत्वा स्वाधीनीकृतवान् । तस्माद्यजमानोऽपि रथशिरसि होमं तद्वदेव कुरुते । स्पष्टमन्यत् । 'स नो भुवनस्य पते प्रजापत इति । भुवनस्य ह्येष पतिः प्रजापतिर्यस्य त उपरि गृहा यस्य वेहेत्युपरि च ह्येतस्य गृहा इह चास्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायेत्ययं वा अग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं च महि शर्म यच्छ स्वाहेति महच्छर्म यच्छ स्वाहेत्येतत्' (श० ९।४।१।१६) । एतस्य प्रजापतेः सर्वाधिपत्येन स्वर्लोके इहलोके च गृहा विद्यन्त इति यस्येत्यादिना स एवार्थोऽभिधीयते । तदेवाह—उपरि च ह्येतस्येति । अयमेव चीयमानोऽग्निः सर्वात्मकत्वेन ब्रह्मक्षत्रशब्दाभ्यामुच्यत इत्याह—अयं वा अग्निरिति । अन्यन्मन्त्रव्याख्यानेन गतार्थमेव ।

अध्यात्मपक्षे—हे भुवनस्य सर्वस्य पते, हे प्रजापालक, यस्य ते तव उपरि अमुष्मिँल्लोके साकेते गोलोके वैकुण्ठलोके कैलासे वा गृहाः, इह अस्मिँल्लोकेऽयोध्यायां वृन्दावने वाराणस्यादौ वा गृहाः, स त्वं नोऽस्माकं ब्रह्मक्षत्रादिभ्यो महि महत् शर्म शरणं यच्छ, तस्मै तुभ्यं स्वाहा सर्वं समर्पितमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे भुवनस्य पते गृहस्य पते, यस्य ते तव उपरि उत्कृष्टे व्यवहारे गृहा गृह्णन्ति ये ते गृहस्थादयः, यस्य वा इह अस्मिन् संसारे सर्वाः शुभाः क्रियाः सन्ति, स त्वं नोऽस्मै ब्रह्मणे क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विप्रतिषिद्धत्वात्। संस्कृते 'उपरि व्यवहारे' इत्युक्तम्, भाषायां तु 'अत्युच्चत्वप्रदे उत्तमव्यवहारे' इत्युक्तम्। तदेतद् द्वयमप्यसङ्गतम्, तस्य तदर्थत्वे मानाभावात्, यथा इह अस्मिन् संसारे इत्यर्थस्तथैवोपरि अमुष्मिँल्लोक इत्यर्थस्यैव सङ्गतत्वम्, अर्थान्तरस्य क्लिष्टकल्पनामूलकत्वात् ॥ ४४ ॥

स॒मु॒द्रो॑ऽसि॒ नभ॑स्वाना॒र्द्रदा॑नुः श॒म्भूर्म॑यो॒भूर॒भि मा॑ वाहि॒ स्वाहा॑। मा॒रु॒तो॑ऽसि म॒रुतां॑ ग॒णः श॒म्भूर्म॑यो॒भूर॒भि मा॑ वाहि॒ स्वाहा॑। अ॒व॒स्यूर॑सि॒ दुव॑स्वाञ्छ॒म्भूर्म॑यो॒भूर॒भि मा॑ वाहि॒ स्वाहा॑ ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—हे वायुदेवता ! आप अगाध जल से आकाश को गीला करने वाली वर्षा से पृथ्वी को गीला कर इस लोक को सुख देने वाले तथा परलोक का कल्याण करने वाले बनिये, सदा मेरे अनुकूल रहिये। हे वायुदेव, आप अन्तरिक्षचारी और शुक्रज्योति आदि मरुद्गण से अभिन्न हैं, इस लोक और पर लोक में सुखदायक बनकर मुझे सही मार्ग दिखलाइये, मेरी दी हुई इस आहुति को स्वीकार कीजिये। हे वायुदेव ! आप जगत् के रक्षक हैं, अन्न के उत्पादक हैं, मेरे सामने अपना वहनरूप प्रकाशित कर इस आहुति को स्वीकार कीजिये ॥ ४५ ॥

'वातहोमान् जुहोत्यञ्जलिनाहृत्य पुरस्ताद्बहिर्वेदेरधो दक्षिणस्यां धुर्युत्तरत उत्तरस्यां दक्षिणतो दक्षिणाप्रष्टेः समुद्रोऽसीति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १८।६।१)। रथशिरसि पञ्चगृहीतहोमानन्तरमध्वर्युस्तमेव रथमग्नेरवतार्य उत्तरतो वेदिमध्ये प्राङ्मुखं युगयोक्त्रादिसहितमवस्थाप्य तस्य स्थानत्रये त्रीन् वायुहोमान् जुहुयात् प्रतिमन्त्रं समुद्रोऽसीत्यादिमन्त्रत्रयेण। रथयुगदक्षिणधुरोऽधः प्रथमम्, उत्तरधुरोऽधो द्वितीयम्, युगमध्याधस्तृतीयम्। किं कृत्वा ? बहिर्वेदेरञ्जलिना वा तमानीयेति सूत्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वातहोमान् जुहोति। इमे वै लोका एषोऽग्निर्वायुर्वातहोमा एषु तल्लोकेषु वायुं दधाति तस्मादयमेषु लोकेषु वायुः' (श० ९।४।२।१)। एतस्य चित्याग्नेः पृथिव्यादिलोकात्मकत्वाद् वातहोमानां वायुत्वात् तैर्होमैः पृथिव्यादिषु लोकेषु वायुं निहितवान् भवतीत्याह—इमे वै लोका इति। 'बाह्येनाग्निमाहरति। आप्तो वा अस्य स वायुर्य एषु लोकेष्वथ य इमाँल्लोकान् परेण वायुस्तस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ९।४।२।२)। होष्यमाणो वायुरग्नेर्बाह्यप्रदेशादाहरणीय इत्याह—बाह्येनाग्निमिति। एवं चाग्नेर्लोकत्रयात्मकत्वेन लोकत्रयावस्थितस्य वायोः प्रागेवाप्तत्वात् ततो बहिरवस्थितस्य वायोर्निधानमस्मिन्नग्नौ सम्पाद्यत इत्याह—आप्तो वा अस्येति। 'बहिर्वेदेरियं वै वेदिः। आप्तो वा अस्य स वायुर्योऽस्यामथ य इमां परेण वायुस्तस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ९।४।२।३)। वेद्याः पृथिव्यात्मकत्वात् तत्रत्यस्यापि वायोः पूर्वमेवाप्तत्वाद् वेदेर्बहिराहरेदित्याह—बहिर्वेदेरिति। 'अञ्जलिना नह्येतस्येतीवाभिपत्तिरस्ति स्वाहाकारेण जुहोति ह्यधोऽधो धुरमसौ वा आदित्य एष रथोऽर्वाचीनं तदादित्याद्वायुं दधाति तस्मादेषोऽर्वाचीनमेवातः पवते' (श० ९।४।२।४)। तच्चाहरणमञ्जलिना कर्तव्यमित्याह—अञ्जलिनेति। ननु वायोर्होमद्रव्यत्वाद् जुह्वादिना कस्मान्नाहरेदित्यत आह—नह्येतस्येति। 'इतीव' इत्यभिनयेन दर्शयति। एतस्य वायोराज्यादिवत् स्कन्दनाद्यभिपत्तिर्नास्ति, तस्मादञ्जलिनाहरेत्। होमेषु सर्वत्र स्वाहाकारप्रयोगादस्यापि होमः स्वाहाकारेण कर्तव्य इत्याह—स्वाहाकारेण जुहोतीति। होमप्रदेशमाह—अधोऽधो धुरमिति। उपरि धार्यमाणस्य रथस्य धुरोऽधोऽधोभागे जुहुयात्। तच्च कात्यायनानुसारं पुरस्ताद्बहिर्वेदेर्वातमञ्जलिनाहृत्य दक्षिणस्यां

धुरि अधो जुहुयात्। अथोत्तरतो बहिर्वेदेरञ्जलिना वातमाहृत्य उत्तरस्यां धुरि अधो जुहुयात्। अथ दक्षिणत आहृत्य दक्षिणाप्रष्टेरधो जुहुयात्। रथस्य आदित्यात्मकत्वात् तस्याधोभागे वातहोमेन वायुमादित्यादर्वाचीनं निहितवान् भवतीत्यर्थः।

समुद्रोऽसीति वायव्यानि त्रीणि यजूंषि। त्रिलोकीस्थानो वायुर्लोकद्वारेण स्तूयते। हे वायो, यस्त्वं समुद्रोऽसि सम्यग् उनत्ति जलैः क्लिन्नो भवतीति समुद्रः। अथवा समुद्द्रवन्ति भूतानि यस्मात् स समुद्रः परमात्मा। तथा च श्रुतिः—'समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः' (श० १०।६।४।१)। इयं च व्युत्पत्तिः समुद्रशब्दस्य भीमादिगणे पाठादुन्नेया। तथा चाह तत्रभगवान् परमर्षिः पाणिनिः 'भीमादयोऽपादाने' (पा० सू० ३।४।७४) इति। अथवा सं समीचीना उद्रा जलचरविशेषा यत्रासौ समुद्रः। अथवा मुदं रातीति मुद्रा मर्यादा, तया सह वर्तत इति समुद्रः। समुद्रोऽसि स्वर्लोकोऽसि। 'उन्दी क्लेदने' इत्यस्मात् 'स्फायि-तञ्चि-वञ्चि' (उ० २।१३) इत्यादिना रक्। 'अनिदितां हल उपधायाः' (पा० सू० ६।४।२४) इति नलोपः। नभस्वान् नभांसीति नक्षत्राण्युच्यन्ते, तानि हि नितरां भान्ति, तानि विद्यन्ते यत्रासौ नभस्वान् वायुः। आर्द्रदानुः, आर्द्रं वृष्ट्यवश्यायादिकं ददातीत्यार्द्रदानुः, 'दाभाभ्यां नुः' (उ० ३।३२) इति नुः, तादृशं त्वां प्रार्थय इति शेषः। शम्भूः शमैहिकं सुखं भावयति प्रापयति सुखार्थिभ्यो भक्तेभ्य इति। मयोभूः, मयः पारलौकिकं सुखं भावयतीति मयोभूः। एवंभूतस्त्वं मा मामभि वाहि मदभिमुखमागच्छ। तस्मै स्वाहा इदं हविः सुहुतमस्तु। मारुतोऽसि मरुतां वातानां पुरोवातप्रभृतीनामयं मारुतोऽन्तरिक्षलोकोऽसि। मरुतां शुक्रज्योतिःप्रभृतीनां गणः, तन्निवासत्वात्। आधाराधेययोरभेदः। अत एवान्तरिक्षलोकोऽसि, तं त्वां ब्रवीमीति शेषः। शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि तुभ्यं स्वाहा। अवस्यूरसि। अवनमवो रक्षणम्, अवं सीव्यतीत्यवस्यूः, 'षिवु तन्तुसन्ताने' इत्यस्मात् क्विपि 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च (पा० सू० ६।४।१९) इति वकारस्य ऊठि यणि च रूपसिद्धिः, भूलोकरूपोऽसि, 'अयं वै लोकोऽवस्यूः' (श० ९।४।२।७) इति श्रुतेः। दुवस्वान् दुवोऽन्नं हविर्लक्षणं विद्यते यस्य स दुवस्वान् असि। तं त्वां याचे, शम्भूर्मयोभूर्भूत्वा मामभि वाहीत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'समुद्रोऽसि नभस्वानिति। असौ वै लोकः समुद्रो नभस्वानार्द्रदानुरित्येष ह्यार्द्रं ददाति तद्योऽमुष्मिँल्लोके वायुस्तमस्मिन्नेतद्दधाति शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहेति शिवः स्योनोऽभि मा वाहीत्येतत्' (श० ९।४।२।५)। अथ प्रथमं मन्त्रं व्याचष्टे—समुद्रोऽसीति। असौ स्वर्लोकः सर्वदा वृष्टिप्रदानेन समुन्दनशीलत्वात् समुद्रः। नभ इति नक्षत्रनाम। नभस्वान् नक्षत्रविशिष्टश्च स एव भवति। एष ह्यार्द्रमिति। एष स्वर्लोक आर्द्रं वृष्टिं ददाति यतस्तस्मादार्द्रदानुः। तेन समुद्रोऽसीति मन्त्रप्रयोगेण अमुष्मिँल्लोके यो वायुर्बहिःप्रदेशादाहृतोऽस्ति, तमेवास्मिन्नग्नौ निदधाति। हे वायो, त्वं समुद्रो नभस्वानार्द्रदानुर्यः स्वर्लोकस्तत्र वर्तमानत्वात्तदात्मकोऽसीति मन्त्रेण प्रतिपादनाद् बाह्यप्रदेशादाहृतं वायुमेवास्मिन्नग्नौ निहितवान् भवति। शम्भूर्मयोभूरित्यनयोरेकार्थताशङ्कां निवारयितुमाह—शिवः स्योन इति। शिवः शोभनः स्योनः सुखकरः। हे वायो, यस्त्वं समुद्रो नभस्वान् आर्द्रदानुरसि, स त्वं शोभनः सुखकरो भूत्वा मामभिगच्छेत्यर्थः। 'मारुतोऽसि मरुतां गण इति। अन्तरिक्षलोको वै मारुतो मरुतां गणस्तद्योऽन्तरिक्षलोके वायुस्तस्मिन्नेतद्दधाति शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहेति शिवः स्योनोऽभि मा वाहीत्येतत्' (श० ९।४।२।६)। द्वितीयं मन्त्रं व्याचष्टे—मारुतोऽसीति। अन्तरिक्षलोको मरुद्भिर्विशिष्टत्वाद् मारुतः, अत एव मरुतां गणः। आधाराधेययोरभेदविवक्षया एषोक्तिः। 'अवस्यूरसि दुवस्वानिति। अयं वै लोकोऽवस्यूर्दुवस्वांस्तद्योऽस्मिँल्लोके वायुस्तमस्मिन्नेतद्दधाति शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहेति शिवः स्योनोऽभि मा वाहीत्येतत्' (श० ९।४।२।७)। तृतीयं मन्त्रं व्याचष्टे—अवस्यूरसीति। अयं लोको भूर्लोकोऽवस्यूः। अवस्यूरित्यन्नमुच्यते। तद्विशिष्टः, अत्रैव सर्वेषामन्नानामुत्पत्तेः। 'त्रिभिर्जुहोति। त्रय इमे लोका अथो त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तदेषु लोकेषु वायुं दधाति' (श० ९।४।२।८)।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर एव हिरण्यगर्भसूत्रात्मना प्रपञ्चं शास्तीति स एव वायुरूपेणात्र प्रशस्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वं नभस्वानार्द्रदानुः समुद्र इवासि, स स्वाहा शम्भूर्मयोभूः सन् मामभि वाहि। यस्त्वं मारुतो मरुतां गण इवासि स स्वाहा शम्भूर्मयोभूः सन् मामभि वाहि। यस्त्वं दुवस्वानवस्यूरिवासि स तस्मात् स्वाहा शम्भूर्मयोभूः सन् मामभि वाहि' इति, तत्सर्वं श्रुतिविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव। यथाकथञ्चिद् गौणार्थकताकल्पनेऽपि निरर्थकमेव, मन्त्राक्षरासम्बद्धं च विभावनीयम् ॥ ४५ ॥

यास्ते॑ अग्ने॒ सूर्ये॒ रुचो॒ दिव॑मात॒न्वन्ति॑ र॒श्मिभिः॑।
ताभि॑र्नो अ॒द्य सर्वा॑भी रु॒चे जना॑य नस्कृधि ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपकी जो दीप्ति सूर्यमण्डल में विद्यमान किरणों के द्वारा द्युलोक को प्रकाशित करती है, इस समय उन सम्पूर्ण कान्तियों से आप हमारी शोभा बढ़ाइये, हमारे पुत्र-पौत्र आदि को जगत् में प्रसिद्ध कीजिये ॥ ४६ ॥

'नव जुहोति या स्त इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १८।६।६)। पूर्वसंस्कृतादाज्यात् सकृत्सकृदादाय नवाहुतीर्जुहोति यास्ते अग्ने (१), या वो देवाः (२), रुचं नः (३), तत्त्वा यामि (४) एताश्चतस्रः, 'स्वर्ण घर्मः' (वा० सं० १८।५०) इति कण्डिकायां पञ्च यजूंषि, सम्भूय नव यजूंषि—इति सूत्रार्थः। तत्रेयं त्रयोदशे द्वाविंश्यां व्याख्याता ॥ ४६ ॥

या वो॑ देवाः सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु॒ या रुचः॑।
इन्द्रा॑ग्नी॒ ताभिः॒ सर्वा॑भी॒ रुचं॑ नो धत्त बृहस्पते ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्राग्नी, हे बृहस्पते, हे देवसमूह ! आप सबकी जो दीप्ति सूर्यमण्डल में वर्तमान है, जो दीप्ति धेनुओं में और अश्वों में स्थित है, उन सम्पूर्ण दीप्तियों से देदीप्यमान आप सब हमारे लिये कान्ति और नीरोगता प्रदान कीजिये ॥ ४७ ॥

इयमपि त्रयोदशे त्रयोविंश्यां व्याख्याता ॥ ४७ ॥

रुचं॑ नो धेहि ब्राह्म॒णेषु॒ रुच॒ꣳ राज॑सु नस्कृधि।
रुचं॒ विश्ये॑षु शू॒द्रेषु॒ मयि॑ धेहि रु॒चा रुच॑म् ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप हम ब्राह्मणों में और क्षत्रियों में कान्ति स्थापित कीजिये। वैश्यों और शूद्रों में भी कान्ति स्थापित कीजिये, साथ ही मुझमें भी कान्ति के साथ अविच्छिन्न कान्ति को स्थापित कीजिये ॥ ४८ ॥

अग्निदेवत्याऽनुष्टुप्। प्रथमः पादो नवाक्षरः। हे अग्ने, नोऽस्माकं ब्राह्मणेषु, अस्मत्सम्बन्धिनो ये ब्राह्मणास्तेषु, रुचं दीप्तिं ब्राह्मं तेजो धेहि। नोऽस्माकं राजसु राजन्येषु क्षत्रियेषु रुचं क्षात्रं तेजः कृधि कुरु,

'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० सू० ६।४।१०२) इति हेर्धित्वे, 'बहुलं छन्दसि (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुकि च रूपम्। विश्येषु वैश्येषु शूद्रेषु चास्माकीनेषु रुचं तदुपयोगिनीं रुचं दीप्तिं कुरु, यथा ते वसिष्ठ-मान्धातृ-नहुष-तुलाधार-विदुरादिवद् धर्मनिष्ठाः शक्तिशालिनः सिद्धा भवेयुः। किञ्च, मयि रुचा दीप्त्या सह रुचिं दीप्तिं धेहि, अविच्छिन्नां रुचं धेहीत्यर्थः। यथा वयं दीप्त्या ब्रह्मवर्चसेन अनुत्सन्नधर्माणो भवेम तथा कुर्वित्यभिप्रायः। यद्वा—ब्रह्मराजन्यप्रभृतिषु या रुक् तामस्माकं धेहि। किं बहुना, मय्येव रुचा ज्ञानेन सङ्गतां रुचं दीप्तिं धेहि।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ रुङ्मतीर्जुहोति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र रुचमैच्छत्तस्मिन् देवा एताभी रुङ्मतीभी रुचमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति' (श० ९।४।२।१२)। वातहोमानन्तरं रुङ्मतीनां होमं विधत्ते—अथेति। रुक्शब्दसम्बन्धाद् होमसाधनभूता ऋचो रुङ्मत्यः। एवं च रुङ्मतीर्जुहोतीत्यस्य तत्साध्यान् होमान् कुर्यादित्यर्थः। पूर्वं देवाः संस्कृतेऽस्मिन्नग्नौ एताभी रुङ्मतीभी रुचमदधुरिति, तथैव यजमानोऽपि करोतीत्याह—अत्रैष इति। 'यास्ते अग्ने सूर्ये रुचः। या वो देवाः सूर्ये रुचो रुचं नो धेहि ब्राह्मणेष्विति रुचॅं रुचमित्यमृतत्वं वै रुगमृतत्वमेवास्मिन्नेतद्दधाति तिस्र आहुतीर्जुहोति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतद्रुचं दधाति' (श० ९।४।२।१४)। ताश्च रुङ्मतीर्ऋचो दर्शयति—यास्ते अग्न इति। मन्त्रेषु पौनःपुन्येन रुक्छब्दप्रयोगादस्मिन्नग्नौ रुचं निदधातीत्याह—रुचं रुचमित्यमृतत्वमिति। आहुतीनां त्रित्वेन कृत्स्न एवाग्नौ रुचं निदधातीत्याह—तिस्र आहुतीरिति।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन्नग्ने परमात्मन्, नोऽस्माकं सम्बन्धिषु ब्राह्मणेषु रुचं वेदादिज्ञानरूपाम्, नो राजसु राजन्येषु रुचं क्षात्रं तेजः कृधि। विश्येषु शूद्रेषु च रुचं धर्मबुद्धिं कृधि। मयि रुचा ब्रह्मात्मज्ञानेन युक्तां रुचं ब्रह्मवर्चसं धेहि।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर, ब्राह्मणादिषु रुचं धेहि रुचा रुचं प्रीत्या प्रीतिं मयि धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ब्राह्मणादिषु रुचं मयि रुचा रुचमिति विशेषानुपपत्तेः ॥ ४८ ॥

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशॅंस मा न आयुः प्रमोषीः ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—हे वरुणदेवता ! हम आपकी स्तुति करते हैं। यजमान हवि प्रदान कर जो कुछ याचना करता है, वह वेद के द्वारा स्तुति करता हुआ आपकी ही शरण में जाता है। मैं भी आपसे याचना करता हूं कि हे परम आराध्य-देव ! आप क्रोध न करते हुए हमारी प्रार्थना को सुनें, हमारी आयु का नाश न होने दें ॥ ४९ ॥

वरुणदेवत्या त्रिष्टुप् शुनःशेपदृष्टा। मन्त्रे वर्तमानयोर्द्वयोस्तच्छब्दयोरेकस्य परिणामो यच्छब्दत्वेन कार्यः। हे वरुण, यजमानो हविर्भिर्दत्तैर्यद्धनपुत्रादिकमाशास्ते कामयते, अर्थाद् यदिच्छया तुभ्यं हविर्ददाति, तद् यजमानेष्टं त्वा त्वामहं यामि याचामि, तत् त्वया यजमानाय दीयतामित्यर्थः। 'यामीति याच्ञाकर्मसु पठितः' (निघ० ३।१९।२)। केचित्तु—'अथापि वर्णलोपो भवति तत्त्वा यामीति' इति यास्कोक्तिमनुरुध्य याचेः प्रयोगमेवात्राहुः, किन्तु नैतत् स्कन्दस्वामिसम्मतम्। स प्राह—'एतदपव्याख्यानम्। याच्ञाकर्मसु यामीति पठ्यते—ईमहे, यामि, मन्महे इति। तस्मान्न याचामीति चकारलोपस्य प्रदर्शनार्थम्। किन्तर्हि ? 'या प्रापणे' इत्यस्यानेकार्थत्वाद् धातूनां याच्ञाकर्मप्रदर्शनार्थम्। ततश्च यामीत्येतन्न याचतेर्वर्णलोपेन रूपम्, किन्तर्हि यातेः। यदि च

स्यात्, द्वयोर्वर्णयोर्लोपोऽयं स्यात्, चकारस्याकारस्य च। ततश्च 'अथापि द्विवर्णलोपः' इत्यत्र उदाह्रियेत, न तु 'अथापि वर्णलोपः' इत्यत्र। लौकिकाश्चात्र शब्दाः प्रत्तमवत्तमित्यादय उदाहर्तुं प्रक्रान्ताः। तत्रैकस्यैवैतस्य वैदिकस्योदाहरणमबुद्धिपूर्वं स्यात्। तत एतदन्यथा व्याख्यायते। तत्वा इत्येतदत्रोदाहरणम्, न यामीति। न चैतत् 'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः' इत्यस्या ऋचः प्रतीकग्रहणम्, किन्तर्हि ? लौकिकमेतदुदाहरणम्, तत्वा यामीति लौकिकं वाक्यम्, तनित्वा गच्छामीत्यर्थः। पुनः 'तत्वा' इत्यत्र वर्णलोप उच्यते। तत्वा इत्येतत् 'तनु विस्तारे' इत्यस्य क्त्वाप्रत्ययेन रूपम्। तत्रैकः 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (पा० सू० ६।४।३७) इत्यनुनासिकलोपः। स तु 'अथाप्यन्तलोपो भवति' इत्येतेन प्रदर्शितः। अपरः 'उदितो वा' (पा० सू० ७।२।५६) इतीटो वैकल्पिकत्वादिकाराभावः। सोऽत्र वर्णलोपः। तत्वा तनित्वेत्यर्थः' इति।

कामं बुद्धिवैशद्यार्थमेतद् भवेत्, किन्तु नास्माकं मनोरमम्। यतो हि व्याकरणशास्त्रेणासम्पाद्यमानस्य कार्यस्य प्रदर्शनार्थमेव नैरुक्ती व्याख्या। भगवतो वेदपुरुषस्य मुखं व्याकरणम्, श्रोत्रं च निरुक्तम्। मुखेनोच्चारितस्य यदार्थावगतिर्न भवेत्, तदर्थप्रतिपत्त्यर्थं प्रायो निरुक्तं प्रवर्तते। व्याकरणशास्त्रेऽपि वर्णागमवर्णविपर्ययाद्यर्थं भगवता पाणिनिना सूत्रितम्—'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० सू० ६।३।१०९)। किन्तु नहि तावतैव कार्यं निर्वहति। अत एवाव्युत्पन्नशब्दा अपि स्वीक्रियन्ते वैयाकरणैः। शाकटायनस्त्वस्यापवादः। यच्चात्रोक्तम्—प्रत्तमवत्तमिति लौकिकोदाहरणे प्रक्रान्ते तत्र तत्त्वा यामीति वैदिकोदाहरणप्रदर्शनमबुद्धिपूर्वं स्यादिति, तत्राप्येवं वक्तव्यम्—'सर्वस्य हैवास्य तत्पशोरवत्तं भवति' (श० ३।८।३।१६), 'सर्वेषामेवाङ्गानामवत्तं भवति' (श० ४।५।२।६), 'अङ्गादङ्गादवत्तानाम्' (तै० ब्रा० ३।६।११।२) इत्यादिषु श्रुतिषु तथाविधानां शब्दानां बहुलमुपलम्भादिति सुधीभिर्विभावनीयम्।

कीदृशोऽहम् ? ब्रह्मणा वन्दमानः, त्रयीलक्षणेन वेदेन त्वां स्तुवानः। किञ्च, हे उरुशंस ! शंसनं शंसः स्तुतिः, उरुर्महान् शंसः स्तुतिर्यस्या सा उरुशंसस्तत्सम्बुद्धौ, हे बहुस्तुते ! इह अस्मिन् स्थानेऽहेडमानोऽक्रुध्यन् सन् बोधि बुद्ध्यस्व, त्वं मदभ्यर्थनां जानीहीत्यर्थः। किञ्च, नोऽस्माकमायुर्जीवनं मा प्रमोषीर्मा चोरय, पूर्णायुश्च देहीत्यर्थः। 'मुष स्तेये' इत्यस्माल्लुङि, 'न माङ्योगे' (पा० सू० ६।४।७४) इत्यडभावः। हे वरुण, यत्प्रयोजनमुद्दिश्य ब्रह्मणा वेदेन वन्दमानो नमस्कुर्वाणोऽहं त्वा त्वां यामि शरणं व्रजामि, यजमानश्चाभ्युद्यतैर्हविर्भिर्यदेव प्रयोजनमाशास्ते, इहास्मिन् कर्मणि यजमानकृतं देवापराधमहेडमानस्तदनादरं कुर्वाणस्तत्प्रयोजनं बोधि बुद्ध्यस्व। हे उरुशंस, न आयुर्मा प्रमोषीः। यजमानमनोरथं पूरयित्वा यज्ञसमाप्तिं कृत्वा मां रक्षेत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान इति। तत्त्वा याचे ब्रह्मणा वन्दमान इत्येतत्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिरिति तदयमाशास्ते यजमानो हविर्भिरित्येतदहेडमानो वरुणेह बोधीत्यक्रुध्यन्नो वरुणेह बोधीत्येतदुरुशꣳस मा न आयुः प्रमोषीरित्यात्मनः परिदां वदते' (श० ९।४।२।१७)। यामीत्यस्य 'याचे' इत्यर्थः। मा प्रमोषीरित्यनेन वरुणादात्मनो रक्षणमुक्तवान् भवतीत्याह—आत्मनः परिदां वदत इति। आयुषोऽवखण्डनवर्जनं परिदा। हे वरुण ! यद् यज्ञसमाप्तिलक्षणं प्रयोजनमस्ति, तत्प्रयोजनं ब्रह्मणा वेदेन वन्दमानः स्तुतिं कुर्वाणस्तत्त्वा याचे। अयं यजमानो हविर्भिस्तदेव प्रयोजनमाशास्ते, तद्भवानस्मभ्यमहेडमानोऽक्रुध्यन् इहास्मद्विषये तत्प्रयोजनं प्रतिपादयितुं बोधि बुद्ध्यस्व, प्रदीयतामित्यर्थः। हे उरुशंस, बहुस्तुतिविशिष्ट ! नोऽस्माकमायुर्मा प्रमोषीर्माऽपहार्षीः।

अध्यात्मपक्षे—'हे वरुण परमेश्वर, 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। ब्रह्मणा वन्दमानस्तत्प्रयोजनं त्वा यामि

याचे। अयं यजमानः साधको हविर्भिरभ्युद्यतैर्यदाशास्ते, अपराधे सत्यपि कृपयाऽहेडमानोऽक्रुध्यन् तत्प्रयोजनं भगवत्प्राप्तिलक्षणं बोधि दीयतामित्यर्थः। हे उरुशंस प्रभूतस्तुते, नोऽस्माकमायुर्मा प्रमोषीः स्वसाक्षात्कारप्राप्त्या सफलय।

दयानन्दस्तु—'हे उरुशंस वरुण श्रेष्ठविद्वन्, ब्रह्मणा वन्दमानो यजमानोऽहेडमानः सत्कृतः पुरुषो हविर्भिर्होमयोग्यैः पदार्थैर्य आशास्ते, तमहं यामि प्राप्नोमि। यदुत्तममायुः शतवर्षमायुस्तत्त्वामाश्रित्य प्राप्स्यामि तत् त्वमपि प्राप्नुहि। इह संसारे तदायुर्बोधि बुद्ध्यस्व न आयुर्मा प्रमोषीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यजमानेन यत् कामितं यजमानो यत् प्राप्नोति वक्ता तत्कथं प्राप्स्यति ? तत्कामनया च उरुशंसोऽपि श्रेष्ठोऽपि मनुष्यः कथमभ्यर्थनीयः ? तस्य अल्पशक्तित्वेनाभीष्टदातृत्वानुपपत्तेः। आयुःप्राप्त्याशंसनं मनुष्यात् सुतरामसङ्गतम्, तत्र तस्यासामर्थ्यात्। यदाश्रित्य वक्ता आयुः प्राप्नोति, स सुतरामायुष्मानेव भवतीति त्वमपि प्राप्नुहीत्युक्तिर्निरर्थिकैव। उरुशंसः कथमन्यस्यायुरपहर्ता स्यादिति सर्वमपि निरर्थकप्रलपनमेव ॥ ४९ ॥

स्व॒र्ण घ॒र्मः स्वाहा॒ स्व॒र्णार्कः स्वाहा॒ स्व॒र्ण शु॒क्रः स्वाहा॒ स्व॒र्ण ज्योतिः॒ स्वाहा॒ स्व॒र्ण सूर्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—दिन के समान आदित्य देवता की प्रीति के लिये हम आहुति देते हैं, यह भली प्रकार गृहीत हो। सूर्य के समान अग्नि को आदित्य में स्थापित करते हैं, उनकी प्रीति के लिये दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। दिन के समान शुक्ल वर्ण आदित्य के लिये दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। मैं स्वर्गदाता अग्नि को अग्नि में स्थापित करता हूँ, उसकी प्रीति के लिये दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। सम्पूर्ण देवताओं के रूप के समान सूर्य को उत्तम करता हूँ, अर्थात् भ्रान्ति से अनेकत्व की प्रतीति होती है, वास्तव में एक ही सूर्य नाना रूपों में भासित होता है ॥ ५० ॥

पञ्च यजूंष्यग्निदेवत्यानि। 'अर्काश्वमेधयोः सन्ततीर्जुहोति' (श० ९।४।२।१८) इति श्रुतिरीत्या अर्काश्वमेधसन्ततिसंज्ञाः पञ्चाहुतयो होतव्याः। अर्कोऽग्निः, अश्वमेधः सूर्यः, तयोः सन्ततयः सन्तन्वन्ति संयोजयन्तीति सन्ततयस्ताः, अग्न्यादित्यैक्यकारिका आहुतय इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'अग्निरर्कोऽसावादित्योऽश्वमेधस्तौ सृष्टौ नानेवास्तां तौ देवा एताभिराहुतिभिः समतन्वन् समदधुः' (श० ९।४।२।१८) इति। सन्दर्भमिममनुसृत्य व्याख्यायते। न इवार्थे। स्वो न स्वरिव। स्वःशब्दोऽहरर्थः। अहरिव यो घर्मः सूर्यः, दिनकरत्वात् सूर्यस्य अहरुपमानम्। तमग्नौ स्वाहा, आदित्यमग्नौ स्थापयामीति यावत्। 'तमग्नौ' इति शब्दद्वयमध्याहृत्य व्याख्येयम्। स्वो न सूर्य इव योऽर्कोऽग्निः, तमादित्ये स्वाहा जुहोमि, प्रतिष्ठापयामीति यावत्। स्वःशब्दः सूर्यार्थः। स्वो न स्वःशब्दो देवार्थकः, नशब्दो निश्चयार्थकः। निश्चप्रचं देवो यः शुक्र आदित्यः, तं स्वाहा तमादित्य एव जुहोमि स्थापयामि। स्वो न स्वःशब्दः स्वर्गार्थकः। स्वर्ग इव ज्योतिरग्निः, स्वर्गप्रदत्वादग्नेः स्वर्गोपमानम्। तं स्वाहा तमिममग्निमग्नावेव जुहोमि स्थापयामि। एवमग्निं सूर्ये सूर्यमग्नौ सूर्ये च सूर्यमग्नावग्निं च सन्धाय किं बहुना, तयोः संयोगं कृत्वा सूर्यमुत्तमं करोति—स्वर्ण सूर्यः स्वाहेति। स्वो न स्वःशब्दः सर्वदेवार्थकः। सर्वदेवरूप इव यः सूर्यः, तं स्वाहा उत्तमं करोमि। अव्ययानामनेकार्थकत्वात् स्वाहाशब्द उत्तमार्थः। सर्वे देवा भ्रान्त्या भिन्ना भासन्ते, वस्तुतः सूर्य एव नानारूपोऽस्तीतीवशब्दार्थः। एवं पञ्चाहुतिभिरग्न्यश्वमेधयोरैक्यं विधाय सर्वदेवेष्वर्कस्योत्तमत्वं कृतमिति भावः।

यद्वा स्वरिवासावादित्यो घर्मोऽतस्तमादित्यमग्नौ स्वाहा जुहोमि प्रतिष्ठापयामि। स्वरिव योऽर्कोऽग्निस्तमादित्ये स्वाहा जुहोमि स्थापयामि। स्वरिवासावादित्यः शुक्रस्तं पुनरत्राग्नौ दधामि। स्वरिव योऽग्निज्योतिः, तमग्निमादित्ये जुहोमि स्थापयामि। स्वरिवासावादित्यः, तमग्नौ जुहोमि। एवं पञ्चचितिकोऽयमग्निः स्तूयते। यद्वा स्वर्ण घर्मः स्वाहेत्येतानि अग्नेरेव पञ्च नामानि, 'अस्यैवैतान्यग्नेर्नामानि' (श० ९।४।२।२५) इति श्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथार्काश्वमेधयोः सन्ततीर्जुहोति। अयं वा अग्निरर्कोऽसावादित्योऽश्वमेधस्तौ सृष्टौ नानेवास्तां तौ देवा एताभिराहुतिभिः समतन्वन् समदधुस्तथैवैनावयमेतदेताभिराहुतिभिः सन्तनोति सन्दधाति' (श० ९।४।२।१८)। अर्काश्वमेधसन्ततिसंज्ञान् होमान् विधत्ते—अथेति। ननु कावर्काश्वमेधौ? किमर्थं वा तयोः सन्धानसम्पादनमित्याह—अयं वा अग्निरिति। अयमिदानीं संचितोऽग्निरेवार्कः। असाविति दूरदेशवर्ती सूर्यो निर्दिश्यते। तस्य चाश्वमेधत्वम्, अश्वमेधसम्बन्धिनोऽश्वस्य तदात्मनाऽनुसन्धातव्यत्वात्। तावर्काश्वमेधौ पूर्वं संसृष्टौ सन्तौ पश्चाद्विभिन्नावभूताम्। अतो देवा एताभिराहुतिभिः पुनरपि तौ संसृष्टावकुर्वन्। तथैव यजमानोऽप्येनौ संसृष्टौ करोतीत्यर्थः। 'स्वर्ण घर्मः स्वाहेति। असौ वा आदित्यो घर्मोऽमुं तदादित्यमस्मिन्नग्नौ प्रतिष्ठापयति' (श० ९।४।२।१९), 'स्वर्णार्कः स्वाहेति। अयमग्निरर्क इमं तदग्निममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति' (श० ९।४।२।२०), 'स्वर्ण शुक्रः स्वाहेति। असौ वा आदित्यः शुक्रस्तं पुनरमुत्र दधाति' (श० ९।४।२।२१), 'स्वर्ण ज्योतिः स्वाहेति। अयमग्निर्ज्योतिस्तं पुनरिह दधाति' (श० ९।४।२।२२), 'स्वर्ण सूर्यः स्वाहेति। असौ वा आदित्यः सूर्योऽमुं तदादित्यमस्य सर्वस्योत्तमं दधाति तस्मादेषोऽस्य सर्वस्योत्तमः' (श० ९।४।२।२३)। होममन्त्रान् व्याचष्टे—स्वर्ण घर्मः स्वाहेति। ततश्चैतन्मन्त्रसाध्येन होमेनामुमादित्यमस्मिन्नग्नौ प्रतिष्ठापयति। स्वरिति स्वर्लोक उच्यते। नशब्द इवार्थे। सुखहेतुत्वेन स्वर्लोक इव यो घर्म आदित्यस्तं स्वाहा अस्मिन्नग्नौ जुहोमि, प्रतिष्ठापयामीति मन्त्रस्यार्थः। एवमुत्तरेष्वपि मन्त्रेषु योजनीयम्। 'तं पुनरमुत्र दधाति, तं पुनरिह दधाति' इति मन्त्रद्वयेनान्योन्यस्मिन्नन्योन्यस्य प्रतिष्ठापनादादित्य एवाग्निर्जातः, अग्निरेवादित्यो जातः। तस्मादग्निरमुत्रेति दूरदेशवर्ती परामृश्यते। आदित्यस्त्विहेति सन्निहितः परामृश्यते। अमुं तदादित्यमिति—स्वर्ण सूर्यः स्वाहेत्यनेनोपर्यादित्यस्य प्रतिष्ठापनादादित्यमस्य सर्वजगत उत्तममुपरि वर्तमानं निहितवान् भवति। यत एवं तस्मादिदानीमेष आदित्योऽस्य सर्वस्योत्तमो वर्तते। 'पञ्चैता आहुतीर्जुहोति। पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनावेतत्सन्तनोति सन्दधाति' (श० ९।४।२।२४)। आहुतीनां पञ्चत्वसंख्यामर्काश्वमेधयोः सन्धानसाकल्यहेतुर्भवतीति प्रशंसति—पञ्चैता आहुतीरिति।

अध्यात्मपक्षे—स्वः सुखं ब्रह्मात्मकं न निश्चप्रचं घर्म आदित्यः, ब्रह्मैवादित्य इत्यर्थः। तस्मै स्वाहा सर्वस्वनिवेदनमस्तु। स्वः सुखात्मकं ब्रह्मैवार्कोऽग्निः, तस्मै स्वाहा। स्वः सुखात्मकं ब्रह्मैव शुक्रः सर्वोऽपि दीप्तिमान् पदार्थः। तस्मै स्वाहा। स्वः सुखात्मकं ब्रह्मैव ज्योतिः, आन्तरं चक्षुरादि बाह्यमादित्यादि च। तस्मै स्वाहा।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा स्वाहा सत्यया क्रियया सुखमिव घर्मस्तापः स्यात्, यथा स्वाहा स्वरिव अर्कोऽग्निः स्यात्, स्वाहा यथा सत्यक्रियया सुखमिव शुक्रो वायुः स्यात्, स्वाहा सत्यक्रियया सुखमिव ज्योतिः स्यात्, स्वाहा सत्यक्रियया सुखमिव सूर्यो भवेत्, तथैव यूयमप्याचरत' इति तदपि यत्किञ्चित्, कस्य सत्यक्रियया कया विधया च घर्मादिः सुखतुल्यो भवतीत्यनुक्तेः। मनुष्याणां सत्यक्रिययेति चेत्, तेष्वसत्क्रियाया अपि सत्त्वेन तया दुःखतुल्यत्वस्याप्युपपत्तेः, तथात्वे च मनुष्यादिभ्यस्तेषु विशेषानुपपत्तेः। भावार्थस्तु सर्वथा मन्त्राक्षरासम्बद्ध एव॥ ५०॥

अ॒ग्निं यु॑नज्मि॒ शव॑सा घृ॒तेन॑ दि॒व्यꣳ सु॑प॒र्णं वय॑सा बृ॒हन्त॑म्।
तेन॑ व॒यं ग॑मेम ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टप॒ꣳ स्वो॒ रुहा॑णा॒ अधि॒ नाक॑मुत्त॒मम् ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—स्वर्ग में वर्तमान सुन्दर गति वाले धुएँ से ढ़के हुए अग्निदेव को मैं बल और घृत से संयुक्त करता हूँ। इनकी सहायता से हम आदित्य लोक में जाकर उसके ऊपर स्वर्ग में जाते हुए उत्तम दुःखरहित लोक को प्राप्त करें ॥ ५१ ॥

'अग्नियोजनं प्रातरनुवाकमुपाकरिष्यन् परिधीनालम्भ्य यथापूर्वमग्निं युनज्मीति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १८।६।१७)। प्रातरनुवाकोपाकरणात् प्राग् यथापूर्वमित्युपधानक्रमेण ऋक्त्रयेण प्रत्येकं परिधीनग्नियोजनं करोतीति सूत्रार्थः। अत्र ब्राह्मणम्—'अथ प्रातः प्रातरनुवाकमुपाकरिष्यन्। अग्निं युनक्ति युक्तेन समश्नवा इति तेन युक्तेन सर्वान् कामान् समश्नुते तं वै पुरस्तात् सर्वस्य कर्मणो युनक्ति तद्यत् किञ्चात ऊर्ध्वं क्रियते युक्ते तत्सर्वꣳ समाधीयते' (श० ९।४।४।१)। औपवसथ्यदिवसप्रयोगमभिधाय सुत्याहप्रयोगं विवक्षुः प्रथममग्नियोगं विधत्ते—अथ प्रातरिति। प्रातर्यावभ्यो देवेभ्योऽनुब्रूहीत्येवं सम्प्रैषः। प्रातरनुवाकस्योपाकरणम्, तत्करिष्यन् प्रातरनुवाकोपाकरणात् प्राग् युक्तेनाग्निना सर्वान् कामान् प्राप्नवानीत्यभिप्रायेणाग्निं युनक्ति। यथा लोके नियुक्ताश्वेन रथेन जिगमिषितप्रदेशान् गच्छति, तद्वन्नियमितेनानेन सर्वान् कामानाप्नवानीति यजमानोऽध्वर्युमुखेनाग्निं नियच्छतीत्यर्थः। येनाभिप्रायेणैनं युनक्ति सोऽभिप्रायस्तथैव फलतीत्याह—युक्तेन सर्वान् कामानिति। तन्नियोजनस्य सर्वस्मादपि कर्मणः पूर्वत्वं प्रशंसति—तं वै पुरस्तादिति। तत् तस्मिन्नहनि। अत ऊर्ध्वं यत् किञ्च कर्म क्रियते, तत्सर्वं युक्त एवाग्नौ सम्यग् आधीयते। लोके हि नियुक्ते रथादौ निहितेन जिगमिषितप्रदेशस्य गमनात्, तद्वदेव युक्तेऽग्नौ समाहितं सर्वकामप्राप्तये समर्थं भवतीति युक्त एवाग्नौ समाहितं भवतीत्यर्थः। 'परिधिषु युनक्ति। अग्नय एते यत्परिधयोऽग्निभिरेव तदग्निं युनक्ति' (श० ९।४।४।२)। विहितोऽयमग्नियोगः कुत्र कर्तव्य इति तत्राह—परिधिष्विति। परिधीनामग्नित्वमग्निभ्रात्रात्मकत्वात्। तथा चाह तित्तिरिः—अग्नेस्त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन्' इत्युपक्रम्य 'अथो खल्वाहुरेते वावैनं ते भ्रातरः परिशेरे यत्पौतुद्रवाः परिधय इति' (तै० सं० ६।२।८।६) इति। 'स मध्यमं परिधिमुपस्पृश्य। एतद्यजुर्जपत्यग्निं युनज्मि शवसा घृतेनेति' (श० ९।४।४।३)। परिधिषु नियोजनमपि कथं कुर्यादिति तत्राह—स मध्यममिति। सोऽध्वर्युर्मध्यमं परिधिमुपस्पृश्याग्निं युनज्मि शवसा घृतेनेति यजुर्जपेत्।

अथ मन्त्रव्याख्यानम्—अग्निदेवत्यास्तिस्र ऋचः। द्वे त्रिष्टुभौ तृतीया पङ्क्तिः। दिव्यं दिवि भवो दिव्यस्तम्। 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' (पा० सू० ४।२।१०१) इति यत्। सुपर्णं सुष्ठु शोभनं पर्णं पतनं गमनं यस्य स सुपर्णस्तम्। वयसा धूमेन बृहन्तं महान्तम्। तमग्निं शवसा बलेन घृतेन युनज्मि युक्तं करोमि। वह्निर्धूमेन महान् भवति, 'अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः' (श० ५।३।५।१७) इति श्रुतेः। किञ्च, तेन युक्तेनाग्निना वयं ब्रध्नस्य आदित्यस्य विष्टपं विगततापं लोकं गमेम गच्छेम। 'लिङ्याशिष्यङ्' (पा० सू० ३।१।८६) इति गमेराशीर्लिङि अङ्प्रत्यये उत्तमपुरुषबहुवचने रूपम्। सर्वद्वन्द्वापहं सर्वतापरहितं सौरं लोकं वयं गच्छेमेत्यर्थः। ततोऽप्यधि अधिकम् उपरि ब्रध्नविष्टपोपरिष्टात् स्वो रुहाणाः स्वर्गं लोकमारोहन्तः सन्त उत्तमं नाकं यत्र गताः कथमपि अकमसुखं दुःखं न लभन्ते तादृशं गमेम गच्छेम।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्निं युनज्मि शवसा घृतेनेति बलं वै शवोऽग्निं युनज्मि बलेन च घृतेन चेत्येतद्दिव्यꣳ सुपर्णं वयसा बृहन्तमिति दिव्यो वा एष सुपर्णो वयसा बृहन्धूमेन तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वो रुहाणा अधिनाकमुत्तममिति स्वर्गो वै लोको नाकस्तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वर्गं लोकꣳ रोहन्तोऽधि-

नाकमुत्तमम्' (श० ९।४।४।३) एतं मन्त्रं व्याचष्टे—बलं वै शव इति। वयसेत्यस्य व्याख्यानं धूमेनेति। तथा च दिवि भवं शोभनपतनं वयसा धूमेन बृहन्तमग्निं बलेन च घृतेन च युनज्मि। तेन युक्तेनाग्निना वयं नाकं सुखहेतुभूतमत एवोत्तमं स्वः स्वर्गं लोकमधिरुह्याणाः सन्तस्तदर्थं ब्रध्नस्य सूर्यस्य विष्टपं गमेम गच्छेमेति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणे। इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्याᳬं रक्षाᳬंस्यपहᳬंस्यग्ने। ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणा इत्यमूनेतदृषीनाह' (श० ९।४।४।४)। परिधानक्रमेण प्रथमपरिधौ प्रथमं युक्त्वा, अथ दक्षिणपरिधौ इमौ ते पक्षा इत्यादिमन्त्रं जपति। मन्त्रे ऋषय इति ऋषिशब्देन षष्ठकाण्डस्य आदावभिहितान् ऋषीनाहेति व्याचष्टे—अमूनेतदिति।

अध्यात्मपक्षे—दिव्यं दिवि स्वप्रकाशस्वरूपे भवं सुपर्णं शोभनपतत्रोपेतसुपर्णोपलक्षितं परमात्मानम्, गरुत्मानपि परमेश्वर एवेति, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। वयसाऽवस्थया बृहन्तं पुराणम्, अनादिमिति भावः। तथाविधमग्निमग्रे नेतारं युनज्मि मनसा चिन्तयामि। तेन चिन्तितेन वयं नाकं स्वर्गं गमेम। ततोऽधिरुह्याणा ब्रध्नस्य सूर्यस्य विष्टपं सर्वदुःखातीतं मोक्षं गमेमेति।

दयानन्दस्तु—'अहं वयसा बृहन्तं दिव्यं सुपर्णमग्निं शवसा घृतेन युनज्मि। तेन स्वो रुहाणा वयं ब्रध्नस्य विष्टपमुत्तमं नाकमधिगमेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कोऽयं नियोक्तेत्यनिरुक्तेः। न स परमेश्वरो भवितुमर्हति, तस्योत्तमलोकप्रेप्सानुपपत्तेः। नापि जीवः, तस्याग्नेर्नियोक्तृत्वानुपपत्तेः। न च घृतादिहोम एव तन्नियोजकः, त्वद्रीत्या तेन स्वर्गादिलोकप्राप्त्यसम्भवात्, वायुशुद्धेरेव त्वया तत्फलत्वाभ्युपगमात्॥ ५१॥

इमौ ते॑ प॒क्षाव॒जरौ॑ पत॒त्रिणौ॒ याभ्याᳬं॒ रक्षाᳬंस्यप॒हᳬंस्य॑ग्ने।
ताभ्यां॑ पतेम सु॒कृता॑मु लो॒कं यत्र॒ ऋष॑यो ज॒ग्मुः प्र॑थम॒जाः पु॑रा॒णाः॥ ५२॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! तुम्हारे ये दोनों दाहिने-बायें पंख जरारहित उड़ने वाले हैं। इनकी सहायता से ही तुम राक्षसों को नष्ट करते हो। हम उनकी सहायता से पुण्यात्माओं के लोकों में जाने में समर्थ हों, जहाँ कि प्रथम उत्पन्न पुरातन ऋषि गये हैं॥ ५२॥

हे अग्ने, यौ ते तव इमौ उत्तरदक्षिणौ पक्षौ अजरौ, नास्ति जरा ययोस्तौ, अजीर्णौ। सदा नवाविति यावत्। पतत्रिणौ पतति गच्छति येन तत् पतत्रम्, 'अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन्' (उ० ३।१०५) इत्यत्रन्प्रत्ययेन साधुः। पतत्रमस्ति ययोस्तौ उत्पतनशीलौ। याभ्यां पक्षाभ्यां त्वं रक्षांसि श्रेयःपरिपन्थिनो राक्षसान् पाप्मनश्च हंसि विनाशयसि। उ एवार्थे। ताभ्यामेव पक्षाभ्यां वयं सुकृतां पुण्यकृतामेव लोकं पतेम उत्पतेम। यत्र प्रथमजाः प्रथमोत्पन्नाः पुराणा ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो जग्मुः। चित्याग्निरेवात्र सम्बोध्यते, सुपर्णचितिरूपेण चयनात्, तस्य पक्षपुच्छात्मादीनां चितत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने गरुत्मन् भगवन्, इमौ ते पक्षौ अभीष्टगमनसाधनौ, अजरौ जरारहितौ। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने अग्निवत्प्रतापशालिन्, ते तव इमौ पतत्रिणौ अजरौ कार्यकारणरूपौ याभ्यां रक्षांसि दुष्टान् दोषान् वा हंसि ताभ्यामु तं सुकृतां लोकं वयं पतेम, यत्र प्रथमजा ऋषयो जग्मुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एतस्यार्थस्य खपुष्पायितत्वात्। मनुष्यस्य कौ पक्षौ? काभ्यां स रक्षांसि हन्तीत्यादेरप्रसिद्धत्वात्। नहि कार्यकारणे पक्षौ भवतः, न च ते उत्पतनसाधने। सिद्धान्ते तु पक्षिरूपेण चयनयागेऽग्नेश्चितत्वात् प्रत्यक्षावेव तस्य पक्षौ, ताभ्यामेव दुष्टानां हननं सुकृतां स्वर्गगमनं च प्रसिद्धमेव॥ ५२॥

इन्दु॑र्दक्षः॑ श्ये॒न ऋ॒तावा॒ हिर॑ण्यपक्षः शकु॒नो भु॑र॒ण्युः ।
म॒हान्त्स॒धस्थे॑ ध्रु॒व आ निष॑त्तो॒ नम॑स्ते अस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव । आप चन्द्रमा के समान आनन्द के दाता, उत्साहयुक्त, आकाश में बाज पक्षी के समान वेग से उड़ने वाले, सत्यसम्पन्न, सुवर्णमय पंख वाले, पक्षी के समान फैले पंखों वाले, जठराग्नि के रूप में सबके पोषक, बड़े प्रभाव वाले, सर्वदा स्थिर ब्रह्म के स्थान में स्थित हैं । आपको हम बारंबार प्रणाम करते हैं । आप हमें बिना किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाए हमारी रक्षा कीजिये ॥ ५३ ॥

हे अग्ने, यस्त्वमिन्दुः, इन्दति ईष्टे इति इन्दुरीश्वरः, चन्द्रवदाह्लादको वा, 'इदि परमैश्वर्ये', दक्ष उत्साहवान् । श्येनः, श्यायत इति श्येनः प्रशस्तगतिः, 'श्यैङ् गतौ' इत्यस्मात् 'श्यास्त्याहृञविभ्य इनच्' (उ० २।४७) इति रूपसिद्धिः । श्येनपक्षिवदाकाशचारित्वाद्वा श्येनः । ऋतावा ऋतावान् ऋतं सत्यं यज्ञ उदकं वा अस्यास्तीति ऋतवान्, 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।३।११४) इत्यधिकारे 'शरादीनां च' (पा० सू० ६।३।१२०) इति दीर्घः, छान्दसत्वात् शरादीनामाकृतिगणत्वम्, ऋतावा । हिरण्यपक्षस्तत्र निहितैर्हिरण्यशकलैर्हिरण्यरूपौ पक्षौ यस्य सः । अथवा अमृतपक्षः । शकुनः पक्ष्याकारः । भुरण्युः बिभर्तीति भुरण्युः । 'कन्युच् क्षिपेश्च'(उ० ३।५१) इति कन्युच्प्रत्ययः, पोषक इत्यर्थः । महान् प्रभावतः श्रेष्ठः, सधस्थे सह तिष्ठन्ति यत्रेति सधस्थम् । 'सध मादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति सहशब्दस्य सधादेशः । ब्रह्मणा सहाविभक्ते स्थाने ध्रुवः स्थिरः । आनिषत्त आसमन्ताद् निषण्णः । 'नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्तानि छन्दसि' (पा० सू० ८।२।६१) इति निपातितः । एवंविधो योऽग्निस्तस्मै ते तुभ्यं नमोऽस्तु । मा माम्, मा हिंसीः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरे । इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युरित्यमृतं वै हिरण्यममृतपक्षः शकुनो भर्तेत्येतन्महान् सधस्थे ध्रुव आनिषत्तो नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳ सीरित्यात्मनः परिदां वदते' (श० ९।४।४।५) । अथोत्तरपरिधौ 'इन्दुर्दक्षः श्येनः' इत्यनेन मन्त्रेण युञ्ज्यादित्याह—अथेति । शेषं स्पष्टम् । परिदा उपयाचना, 'मनौती' इति भाषायाम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, यस्त्वमिन्दुः परमैश्वर्यसम्पन्न ईश्वरो गरुत्मानेवात्रापि स्तूयसे । पूर्ववदेव व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् सभेश, यस्त्वमिन्दुश्चन्द्रवच्छीतलो दक्षश्चतुरः श्येनवत्पराक्रम ऋतावान् सत्यसम्बन्धो हिरण्यपक्षो हिरण्यलाभः शकुनः शक्तिमान् भुरण्युः सर्वभरणशीलः सर्वबृहत् सधस्थे आनिषत्तो ध्रुवो मा हिंसीः, तुभ्यं नमः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निष्प्रमाणकत्वात्, गौणार्थश्रयणात् । लक्षणादिबीजाभावाच्च ॥ ५३ ॥

दि॒वो मू॒र्धासि॑ पृथि॒व्या नाभि॒रूर्ग॒पामोष॑धीनाम् ।
वि॒श्वायुः॒ शर्म॑ स॒प्रथा॒ नम॑स्प॒थे ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप स्वर्ग के मस्तक रूप और पृथ्वी के नाभिरूप हैं, अर्थात् आपके कारण ही सारे जीव जीवित रहते हैं । आप जल तथा औषधियों के सार हैं, विश्व भर के जीवन हैं, सबके शरणदाता तथा सब मार्गों में वर्तमान हैं ! आप प्राणियों को स्वर्ग का मार्ग दिखाते हैं । हम आपको प्रणाम करते हैं ॥ ५४ ॥

'आग्निमारुतस्तोत्रपुरस्ताद्विमोचनं परिधिषन्ध्योर्दिवो मूर्धेति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १८।६।१८)। आग्निमारुतस्तोत्रस्य यज्ञायज्ञियस्य प्राग् दिवो मूर्धेति ऋग्द्वयेन दक्षिणोत्तरयोः परिधिसन्ध्योरुपस्पर्शं कृत्वा अग्निविमोचनं कुर्यादिति सूत्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं विमुञ्चति। आप्त्वा तं कामं यस्मै कामायैनं युङ्क्ते यज्ञायज्ञियᳪ स्तोत्रमुपाकरिष्यन् स्वर्गो वै लोको यज्ञायज्ञियमेतस्य वै गत्या एनं युङ्क्ते तदाप्त्वा तं कामं यस्मै कामायैनं युङ्क्ते' (श० ९।४।४।१०)। अग्नेर्विमोचनं विधत्ते—अथैनमिति। यस्यै कामाय एनं युङ्क्ते तं काममाप्त्वा एनं विमुञ्चेत्। एतस्य विमोचनस्य कालविशेषप्रदर्शनद्वारा तमेव क्रमं दर्शयति—यज्ञायज्ञियमिति। यज्ञायज्ञियं स्तोत्रमुपाकरिष्यन्नेनमग्निं विमुञ्चेत्। कुतः? यज्ञायज्ञियं स्तोत्रं स्वर्गो लोकः खलु। स्वर्गलोकस्य गत्यै एवैनमग्निं युङ्क्ते। अतश्च यज्ञायज्ञियलक्षणस्य स्वर्गस्य प्राप्तेर्यस्मै स्वर्गलोकप्राप्तिलक्षणाय कामाय एनं युङ्क्ते, तस्य कामस्याप्तत्वादस्मिन्नवसरे विमुञ्चेदित्यर्थः। 'तं वै पुरस्तात् स्तोत्रस्य विमुञ्चति। स यदुपरिष्टात् स्तोत्रस्य विमुञ्चेत् पराङ् हैतᳪ स्वर्गं लोकमतिप्रणश्येदथ यत्पुरस्तात् स्तोत्रस्य विमुञ्चति तत्सम्प्रति स्वर्गं लोकमाप्त्वा विमुञ्चति' (श० ९।४।४।११)। यदि स्तोत्रादुपरि विमुञ्चेत्, तदा एनं यज्ञायज्ञियलक्षणं स्वर्गं लोकमतिक्रम्य पराङेव भूत्वा प्रणश्येत्। अथ यदि स्तोत्रात् पूर्वं विमुञ्चेत्, तदा साम्प्रतमनतिक्रमणेन युक्तमेव स्वर्गं लोकमाप्त्वा विमुक्तवान् भवति। 'परिधिषु विमुञ्चति। परिधिषु ह्येनं युनक्ति यत्र वाव योग्यं युञ्जन्ति तदेव तद्विमुञ्चति' (श० ९।४।४।१२)। लोके यत्राश्वं युञ्जन्ति, तत्रैव तं विमुञ्चन्ति, अतोऽत्राप्यग्नेः परिधिषु योजनात् तत्रैवैनं विमुञ्चेदित्याह—परिधिष्विति।

'स सन्ध्योरुपस्पृश्य। एते यजुषी जपति तथा द्वे यजुषी त्रीन् परिधीननु विभवतो दिवो मूर्धासि पृथिव्या नाभिरिति दक्षिणे विश्वस्य मूर्धन्नधि तिष्ठसि श्रित इत्युत्तरे मूर्धवतीभ्यां मूर्धा ह्यस्यैषोऽप्सुमतीभ्यामग्नेरेतद्वैश्वानरस्य स्तोत्रं यद्यज्ञियायज्ञियᳪ शान्तिर्वा आपस्तस्यादप्सुमतीभ्याम्' (श० ९।४।४।१३)। तद्विमोचनप्रकारमाह—स सन्ध्योरिति। सोऽध्वर्युः परिधिसन्ध्योरुपस्पृश्य एते दिवो मूर्धासीत्यादिके यजुषी जपेत्। ननु विमोचनमपि योजनवत्परिधिमध्यमुपस्पृश्यैव कस्मान्न क्रियते? तत्राह—तथा द्वे यजुषी इति। पूर्वं त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रिष्वपि परिधिष्वग्नेर्युक्तत्वात् तथैव विमोचनमपि कर्तव्यम्, तत्त्वत्र न सम्भवति, मन्त्रयोर्द्वित्वेनापर्याप्तत्वात्। ततश्च परिधिसन्ध्योः संस्पर्शे त्रयाणामपि परिधीनां संस्पर्शाद् द्वे एव यजुषी त्रीन् परिधीन् प्रति पर्याप्ते भवतः। कस्मिन् सन्धौ कं मन्त्रं जपेदित्याकाङ्क्षायामाह—दिवो मूर्धासीति। मन्त्रयोर्मूर्धशब्दसम्बन्धं प्रशंसति—मूर्धवतीभ्यामिति। अस्याग्नेरेष विमोचनलक्षणः प्रयोगो मूर्धा, अर्थाद् मूर्धवत् सर्वस्याप्युपरितनः। अतश्च मूर्धशब्दयुक्ताभ्यामृग्भ्यामस्य विमोचनमुपपन्नम्। तथैवाप्सुशब्दसम्बन्धमपि प्रशंसति—अप्सुमतीभ्यामिति। अत्रोत्तरमन्त्रेऽप्सुशब्दप्रयोगादुपचारेण प्रथममन्त्रस्य अप्सुमत्त्वमित्यप्सुमतीभ्यामित्युक्तम्। एतद्यज्ञायज्ञियं स्तोत्रं वैश्वानरस्याग्नेः सम्बन्धि, तद्देवत्यत्वात्। अनेनास्य शान्तत्वमुक्तम्। आपस्तु दहनादीनां शान्तिहेतुत्वात् शान्तिः खलु। तस्माद्यज्ञायज्ञिये स्तोत्रे कर्तव्यं विमोचनमप्सुमतीभ्यामृग्भ्यां क्रियते।

अथ मन्त्रव्याख्यानम्—आग्नेयी परोष्णिक्। आद्यावष्टकौ तृतीयो द्वादशको यस्यां सा त्रिपादा परोष्णिक्। अत्राद्यो दशकः, द्वितीयः सप्तकः, तृतीयो द्वादशकः, तेन एकाधिका। हे अग्ने, त्वं दिवो द्युलोकस्य मूर्धा उत्तमाङ्गस्थानीयः। पृथिव्या नाभिः पृथिवीलोकस्य नाभिर्नहनम्। नह्यति बध्नाति जीवनेनेति नाभिः, 'नहो भश्च' (उ० ४।१२७) इति इञ्प्रत्ययः, भान्तश्चादेशः, उपधावृद्धिः। पृथ्वीलोकगतजीवानामग्निनिबन्धनत्वादिति भावः। अपां जलानामोषधीनां व्रीह्यादीनां च ऊर्ग् रसः, अर्थात् साररूपोऽसि। विश्वायुः, विश्वं सर्वमायुर्यस्य सः, बहुजीवन इत्यर्थः। यद्वा विश्वेषां सर्वेषां प्राणिनामायुर्जीवनम्, तदधीनजीवनत्वात् तेषा-

मिति भावः। शर्म शरणभूतः सर्वेषाम्। सप्रथाः, प्रथनं प्रथः, प्रथसा सह वर्तमानः सप्रथाः, तिर्यगूर्ध्वमधश्चानवच्छिन्नप्रभावः। यस्त्वमीदृशोऽसि, तस्मै ते तुभ्यं पथे स्वर्गमार्गरूपाय नमो नमस्कारोऽस्तु। अग्निप्रमुखत्वाद्धि देवयानमार्गस्य।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरस्य अग्निरूपेण स्तुतिः सर्वात्मकत्वात्। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वं दिवो मूर्धा पृथिव्या नाभिरपामोषधीनामूर्गिति विश्वायुः सप्रथा असि, स त्वं पथे नमः शर्म च प्राप्नुहि। प्रकाशस्य शिर इव वर्तमानः पृथिव्या बन्धनमिव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यैव दूषणत्वात्। न च कश्चन मनुष्यस्तादृशः सम्भवति, चेतनाया विग्रहवत्या देवतायाश्च त्वयाऽनभ्युपगमादित्यव्यवस्था॥ ५४॥

विश्व॑स्य मू॒र्धन्नधि॑तिष्ठसि श्रि॒तः स॑मु॒द्रे ते॒ हृद॑यम॒प्स्वायु॑र॒पो द॑त्तोद॒धिं भि॑न्त।
दि॒वस्प॒र्जन्या॑द॒न्तरि॑क्षात् पृथि॒व्यास्ततो॑ नो॒ वृष्ट्या॑व॥ ५५॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्यरूप अग्निदेव! आप सुषुम्ना में व्याप्त होकर सबके सिर में स्थित हैं, आपका हृदय समुद्र के समान अगाध है, आप जल के जीवनदाता हैं। द्युलोक से, मेघ से, अन्तरिक्ष से, भूमि से, जहाँ भी जल हो, वहाँ से लाकर वर्षा के द्वारा हमारी रक्षा करें, मेघ को विदीर्ण कर हमें जल प्रदान करें॥ ५५॥

आग्नेयी महापङ्क्तिर्जगतो। आद्यः पञ्चाक्षरः, द्वितीयः सप्तकः, तृतीयो दशकः, चतुर्थोऽष्टकः, पञ्चमो नवकः, षष्ठो नवकः—एवमष्टाचत्वारिंशदर्णा महापङ्क्तिः। हे अग्ने, यस्त्वं विश्वस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य मूर्धन् मूर्ध्नि शिरसि, अधितिष्ठसि सर्वेषामुपरि सूर्यरूपेण दीप्यस इत्यर्थः। यस्त्वं श्रित आश्रितो बुद्धिं सुषुम्नां नाडीं वा। यस्य ते हृदयं मध्यभागः, समुद्रे सम्यग् उनत्ति जलैः क्लिन्नो भवतीति समुद्रोऽन्तरिक्षम्, तस्मिन् त्रिलोकव्यापिनीत्यर्थः। यस्य तेऽप्सु जलेषु आयुर्जीवनं जलाधीनं तव जीवनमिति यावत्। जलाद् वृक्षा जायन्ते, ततोऽग्निरित्यग्नेर्जलाधीनजीवनत्वम्। तं त्वा याचे। अपो दत्त देहि। व्यत्ययाद् बहुवचनम्। उदधिं भिन्त, उदकानि धीयन्तेऽस्मिन्नित्युदधिः, उदकानि दधाति वेत्युदधिः, 'पेषंवासवाहनधिषु च' (पा० सू० ६।३।५८) इत्युदकशब्दस्य उदादेशः, मेघः, तं भिन्त भिन्धि विदारय। अत्रापि 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इति वचनव्यत्ययः। हे अग्ने, ततो मेघविदारणनिमित्ताद् दिवः सम्बन्धिनः पर्जन्याद् वृष्ट्यभिमानिनो देवात्, ततोऽन्तरिक्षाद् मेघस्थानविशेषात् पृथिव्याः पृथिव्यै वृष्टिं देहि। तथा वृष्ट्या नोऽस्मानव पालय। यद्वा दिवो द्युलोकात् पर्जन्याद् मेघाद् अन्तरिक्षाद् आकाशात् पृथिव्या वा सकाशाद् अन्यत्र वा यत्र जलं ततः प्रदेशात्तज्जलमादाय वृष्टिं कृत्वा नोऽस्मान् अव पालय।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं सर्वात्मत्वाद् विश्वस्य सर्वस्य मूर्धन् मूर्ध्नि अधितिष्ठसि, उत्तमाङ्गवत् सर्वोपरि वर्तसे। त्वं च श्रितः सर्वस्य बुद्धिमाश्रित्य साक्षिरूपेण स्थितः। यस्य ते तव विराड्रूपस्य समुद्रेऽन्तरिक्षे हृदयम्, अप्सु आयुर्जीवनम्, स त्वमिन्द्ररूपेण उदकं मेघं भिन्धि। दिवः पर्जन्यादन्तरिक्षात् पृथिव्याः पृथिव्यै नोऽस्मभ्यमपो जलानि देहि। तया वृष्ट्या नोऽव पालय।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वं विश्वस्य मूर्धन् सूर्य इव अधितिष्ठसि, यस्य ते समुद्रेऽन्तरिक्षवद् व्याप्ते परमेश्वरे हृदयं मनः, प्राणेषु आयुर्जीवनम्, स त्वमपः प्राणान् दत्त ददासि। उदधिम् उदकधारकं सागरं भिन्त। यतः सूर्यो दिवोऽन्तरिक्षात् पृथिव्या वृष्ट्या सर्वानवति ततो नोऽव' इति, तदपि विशृङ्खलमेव, मनुष्येषु तादृशसामर्थ्यादर्शनात्। उदधिभेदनेन अन्तरिक्षात् को वृष्टिं सम्पादयति? सूर्यवत्सुखवर्षणं तु ततोऽपि दुष्करम्। यो जलनदीमपि न प्रवर्तयितुं शक्नोति, स घृतदुग्धनदीः प्रवर्तयिष्यतीति कः प्रतीयात्॥ ५५॥

इ॒ष्टो य॒ज्ञो भृग॑ुभिराशी॒र्दा वसु॑भिः । तस्य॑ न इ॒ष्टस्य॑ प्री॒तस्य॒ द्रवि॑ण॒ेहाग॑मेः ॥५६॥

मन्त्रार्थ—हे धन के देवता ! तुम हमारे मित्र और प्रेमी इस यजमान के यहाँ आओ । इच्छित वस्तु को देने वाला यह यज्ञ ब्राह्मण और देवताओं के द्वारा पूरा किया गया है ॥ ५६ ॥

'अध्वरसमिष्टयजुरन्त इष्टो यज्ञ इति प्रत्यृचमपरे' (का० श्रौ० १८।६।२०) । 'समिन्द्र णो मनसा' (वा० सं० ८।१५) इति प्रारभ्य 'माहिर्भूर्मा पृदाकुः । उरुꣳ हि राज' (वा० सं० ८।२३) इति यावन्नव अध्वरसमिष्टयजूंषि । समिष्टयजुःसंज्ञकहोमानन्तरमिष्टो यज्ञः, इष्टो अग्निरिति द्वाभ्यामपरे द्वे आग्निके समिष्टयजुषी जुहुयादिति सूत्रार्थः । यज्ञदेवत्या गालवदृष्टा उष्णिक्, अष्टाविंशत्यक्षरत्वात् । अध्वर्युर्यजमानविषयामाशिषं कुर्वन्नाह द्रव्यं प्रति—हे द्रविण द्रव्य, तस्य यजमानस्य इह गृहे त्वमागमेरागच्छेः । आङ्पूर्वाद् गमेर्लिङि मध्यमैकवचने छत्वाभावे रूपम् । कीदृशस्य यजमानस्य ? नोऽस्माकमिष्टस्य प्रियस्य । पुनः कीदृशस्य ? प्रीतस्य अस्मासु स्निग्धस्य । तस्य कस्य ? तत्राह—यस्य यजमानस्य यज्ञो भृगुभिर्भृगुगोत्रैर्ब्राह्मणैः, वसुभिर्वस्वादिदेवैश्च इष्टः सम्पादितः । कीदृशो यज्ञः ? आशीर्दाः, आशिषोऽभिलषितपदार्थान् ददातीत्याशीर्दाः । विप्रैर्देवैर्यस्य यज्ञः कृतः, तस्य गृहे त्वमागत्य सर्वदा तिष्ठेत्यर्थः ।

यद्वा यस्यास्य यजमानस्य भृगुभिर्भृगुप्रमुखैर्वसुभिर्वस्वादिदेवैश्च यज्ञः क्रतुरिष्टः सम्पादितः, कीदृशो यज्ञः ? आशिषामभिलषितपदार्थानां दाता पूरकः, तस्यास्य यजमानस्य नोऽस्माकमिष्टस्य अभिप्रेतस्य प्रियस्य प्रीतस्य अस्मासु स्निग्धस्य । याज्ययाजकयोः परस्परमनेन स्नेहः ख्याप्यते । इदानीं द्रविणमाह—हे द्रविण, इह यजमाने आगमेरागमनं कुथाः । स्थानमिदं धनानामित्यभिप्रायः । यद्वा भृगुभिरार्षेयैर्ब्राह्मणैरिष्टो यज्ञः सम्पादितः । वसुभिराशीर्दाः, विभक्तिव्यत्ययेन वसवो देवा आशिषां प्रदातारः । सोऽस्माकमिष्टः प्रीतश्च सन् द्रविणमिहावर्तयस्व । परोऽर्धर्चो विभक्तिव्यत्ययप्रायः ।

अध्यात्मपक्षे—गुरुराह हे द्रविणस्वरूपभगवन्, 'त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव' इति शिष्टोक्तेः । तस्य यजमानस्य इह अस्मिन् गृहे आगमेरागमनं कुथाः । यस्य यज्ञो भृगुभिरिष्टो वसुभिश्चेष्टः । कीदृशो यज्ञः ? आशीर्दा अभीष्टफलप्रदः । तस्य न इष्टस्य प्रियस्य प्रीतस्य स्निग्धस्य भक्तस्य इह गृहे । यद्वा हे यज्ञ विष्णो, त्वं भृगुभिर्वसुभिश्च इष्टः पूजितः, आशीर्दाः फलप्रदः, स त्वमिष्टः प्रीत इहास्मासु द्रविणम् आगमेरागमयतु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यो वसुभिः प्रथमकक्षास्थैर्विद्वद्भिः, भृगुभिः परिपूर्णविज्ञानैर्विद्वद्भिः, आशीर्दा यज्ञ इष्टः कृतः, तस्येष्टस्य कृतस्य प्रीतस्य मनोहरस्य यज्ञस्य सकाशाद् इह संसारे त्वं नोऽस्माकं द्रविणं समन्ताद् गच्छ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एवं गौणार्थाश्रयणेऽपि विदुषां यज्ञमिष्ट्वा ततो धनाहरणासम्भवात् । धनं तु धनिका एव ददति विद्वद्भ्य इति ॥ ५६ ॥

इ॒ष्टो अ॒ग्निराहु॑तः पिपर्तु न इ॒ष्टꣳ ह॒विः । स्व॒गेदं दे॒वेभ्यो॒ नमः॑ ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ के द्वारा पूजित अग्निदेव हवि के द्वारा तृप्त होकर हमारे मनोरथों को पूरा करें । यह हवि सब देवताओं के निमित्त दिया गया है । वह स्वयं उनके पास पहुँचने वाला है ॥ ५७ ॥

अग्निदेवत्या गायत्री गालवदृष्टा एकोना, अग्निर्नोऽस्माकमिष्टमभिलषितं पिपर्तु पूरयतु, ददात्वित्यर्थः। नोऽस्मान् पालयतु वा। 'पॄ पालनपूरणयोः' अस्य जुहोत्यादित्वात् शपः श्लौ द्वित्वे 'अर्तिपिपर्त्योश्च' (पा० सू० ७।४।७७) इत्यभ्यासस्येत्वे रूपम्। कीदृशोऽग्निः? इष्टः कृतयागः। हविर्हविषा, विभक्तिव्यत्ययः, आहुतः समन्तात् तर्पितः। किञ्च, इदं नमो हविः समिष्टयजुर्लक्षणं देवेभ्योऽर्थायाऽस्तु। कीदृशं हविः? स्वगा स्वयं गमनशीलम्, विभक्तेराकारः।

अध्यात्मपक्षे—अग्निरग्रणीर्मुक्तोपसृप्यो भगवान् अस्माकमभिलषितं भोगं मोक्षमुभयमपि ददातु। भोगमोक्षप्रदानेन पालयतु वा। कीदृशो भगवान्? इष्टः श्रद्धया पूजितः। षोडशोपचारराजोपचारपूजादिषु च तत्तद्वस्तुसमर्पणेन समन्तात् तर्पितः। इदं च हविः समिष्टयजुर्लक्षणं तदङ्गभूतेभ्यो देवेभ्योऽर्थायाऽस्तु।

दयानन्दस्तु—'हविर्हविषा संस्कृतेन द्रव्येण इष्टोऽग्निः सभाध्यक्षो विद्वान् पालको वा न इष्टं पिपर्तु, नः पिपर्तु वा। इदं हविः स्वगा यः स्वान् गच्छति तत्। नमोऽन्नं तत्तद्देवेभ्यो विद्वद्भ्योऽस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यैव दूषणत्वात्। नहि यदन्नं स्वान् गच्छति तद् देवेभ्यो भवति। यदि देवेभ्यो भवेत्, तर्हि तस्य स्वगात्वानुपपत्तिः॥ ५७॥

यदाकू॑तात् स॒मसु॑स्रोद्धृ॒दो वा॒ मन॑सो वा॒ संभृ॑तं॒ चक्षु॑षो॒ वा।
तद॑नु॒ प्रेत॑ सु॒कृता॑मु लो॒कं यत्र॒ ऋष॑यो ज॒ग्मुः प्र॑थम॒जाः पु॑रा॒णाः॥ ५८॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों! आप सब उस प्रजापति के किये हुए कर्म का सम्पादन कर पुण्यात्माओं के लोक को अवश्य प्राप्त करें। जो कर्म पूर्ण सामग्री से युक्त है तथा जो प्रजापति के अभिप्राय, हृदय या मन से अथवा चक्षु आदि इन्द्रियों से ब्रह्मा ने रचा है, उस कर्म को भली-भाँति सम्पादित कर उन पवित्र लोकों को प्राप्त करें, जिनमें प्रथम उत्पन्न पुरातन ऋषि गये हैं॥ ५८॥

'हृदयशूलान्ते स्रुवाहुतीर्जुहोति यदाकूतादिति प्रत्यृचमष्टौ' (का० श्रौ० १८।६।२३)। हृदयशूलान्ते यदाकूतादिति प्रत्यृचमष्टौ स्रुवाहुतीर्जुहोतीति सूत्रार्थः। अष्टौ ऋचोऽग्निदेवत्या विश्वकर्मदृष्टाः। तत्र आद्या जगती। त्रयः पादा एकादशार्णाः, चतुर्थश्चतुर्दशार्णः। हे ऋत्विजः, यत्कर्म प्रजापतेराकूतात्, आकूतो नाम प्राङ्मनःप्रवृत्तेरात्मनो धर्मो मनःप्रवृत्तिहेतुः, तस्मात्, अभिप्रायादिति यावत्। सम्भूतं सम्भारैः पुष्टम्, पूर्णसामग्रीकमित्यर्थः। सुकृतं सूक्ष्मरूपं सञ्चितं कर्म समसुस्रोत् समस्रवत्। स्रवतेर्लङि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति जुहोत्यादित्वात् श्लौ द्वित्वे रूपम्। प्रजापतेर्हृदो बुद्धेश्च प्रजापतेर्मनसश्च सङ्कल्पात्मकाद् हृदयावच्छिन्नान्मनसः सकाशाच्चक्षुषः सौराद्युपासनाबलाद्वा चक्षुरुपलक्षितस्थानाद्वा यत्संभृतं समसुस्रोत् निःसृतं भवति, अर्थात् फलप्रारम्भार्थं यत्सूक्ष्मरूपं कर्म निःसृतम्, तत्प्रजापतिना कृतं कर्म अनुगच्छत। सुकृतां सत्कर्मचारिणां लोकमु लोकमेव स्थानं यत्र ऋषयो जग्मुः, यत्रान्येऽपि प्रथमजाः पुराणा जग्मुस्तं लोकं गच्छतेत्यर्थः।

महीधराचार्यरीत्या तु हे ऋत्विजः, यूयं तदनुप्रेत प्रजापतिकृतं कर्मानुगच्छत अनुसरत। प्रजापतिशरीरादुत्पन्नं यत्कर्म वैदिकं तत्कुरुतेत्यर्थः। तत्र कर्मणि कृते सति सुकृतां शुभकर्मकारिणां लोके, उ एवार्थे, स्वर्गमेव प्रेत गच्छत। प्रथमजाः पूर्वोत्पन्नाः पुरापि नवा अजरामरा ऋषयो यत्र लोके जग्मुस्तत्र गच्छतेति।

किं तत्कर्म ? यत्प्रजापतेराकूताद् अभिप्रायाद् हृदो बुद्धेर्मनसो वा सङ्कल्पकात्मकात्, चक्षुषः, चक्षुरुपलक्षणम्, चक्षुरादीन्द्रियेभ्यश्च समसुस्रोत् संस्रुतं प्रसृतम्, ब्रह्मणा यत्सृष्टं कर्म तत्कृत्वा स्वर्लोकं गच्छतेत्यर्थः। कीदृशं तत्कर्म ? संभृतं सम्भारैः पुष्टम्, पूर्णसामग्रीकमिति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—हे साधकाः, विराड्रूपात् परमात्मन आकूतादभिप्रायात् तदीयाद् हृदो बुद्धेस्तदीयान्मनसस्तदीयाच्चक्षुषः, चक्षुरुपलक्षितेभ्यः सर्वेन्द्रियेभ्यः, यत्कर्म समसुस्रोत् समस्रवत् प्रादुर्भूतम्, तदनुप्रेत तदनुसरत। सुकृतां पुण्यकृतामेव लोकं यत्र प्रथमजाः पुराणा ऋषयो जग्मुस्तं प्रेत गच्छत।

दयानन्दस्तु—'हे सत्यासत्यजिज्ञासवः, यूयं यदाकूतादुत्साहाद् हृद आत्मनो वा प्राणान्मनसः सङ्कल्पविकल्पात्मकात् संभृतं सम्यग् धृतं चक्षुषः प्रत्यक्षादेः, इन्द्रियोत्पन्नाद् वा श्रोत्रादिभ्यः समसुस्रोत् सम्यक् प्राप्नुयात्। अतः प्रथमजा अस्मदादौ जाताः पुराणा अस्मदपेक्षया पुराणा ऋषयो वेदविद्यापुरःसराः परमयोगिनो जग्मुर्गतास्तं सुकृताम् लोकं दर्शनसुखसङ्घातं मोक्षपदं वा अनुप्रेत। यदा मनुष्याः सत्यासत्यनिर्णयं जिज्ञासेयुस्तदा यद्यदीश्वरगुणकर्मस्वभावात् सृष्टिक्रमात् प्रत्यक्षादिप्रमाणेभ्य आप्ताचाराद् आत्ममनोभ्यामनुकूलं स्यात्तत् सत्यमितरदसत्यमिति निश्चिनुयुः। य एवं धर्मं परीक्ष्याचरन्ति, तेऽतिसुखं प्राप्नुवन्तीति भावार्थः' इति, तदसङ्गतमेव, ईश्वरगुणकर्मस्वभावः कः ? कथं केन स ज्ञायत इत्यनुक्तेः। सृष्टिक्रमोऽपि नार्वाचीनैर्ज्ञातुं शक्यते। आकूताद् हृदो मनसश्चक्षुषोऽपि सर्वोऽपि जनः कर्म करोतीति कथं सत्यासत्यनिर्णयः ? तस्मादपौरुषेयत्वेन अपास्तपुंदोषशङ्काकलङ्कपङ्कत्वेन मन्त्रब्राह्मणात्मकानां वेदानामेव प्रामाण्यस्वतस्त्वबलाद् धर्माधर्मनिर्णयः कर्तुं पार्यते, तत्रैव च ब्राह्मणेषु मन्त्रेषु च तत्र तत्र यथा पुरा देवैः कृतं तथैव इदानीन्तनेन यजमानेनापि कर्तव्यमित्युच्यते। प्रजापतिश्च देवानां समष्टिविराडात्मा परमेश्वरः। तस्मात् तदाकूताद् हृदो मनसश्चक्षुषश्च निःसृतं यत्कर्म तद्वैदिकमेव। किञ्च वेदस्य नित्यत्वात् तस्य घटनापूर्वकत्वं लौकिकेतिहाससाधारण्यं च न सम्भवति, घटनास्तत्पूर्विका भवन्त्यो न वार्यन्ते, सृष्टेः शब्दपूर्वकत्वात्, 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० १।३।२८) इति न्यायात्। तस्मात् सुखावबोधार्था आख्यायिका वेदे वर्ण्यन्ते। आख्यायिकाप्रसङ्गेन प्रजापतिदेवतादिबाह्यान्तरव्यापारवर्णनव्याजेन तत्तद्वर्णाश्रमाचारानुगुणानि श्रौतानि कर्माणि वर्ण्यन्ते। आख्यायिकाश्च क्वचिद्विधेः स्तावकार्थवादरूपेण वर्ण्यन्ते, क्वचिच्चार्थवादबलेन विधयः परिकल्प्यन्ते। यथा 'एता वै प्रतिष्ठिता षड्विꣳशती रात्रयः प्रतितिष्ठन्ति य एता उपयन्ति' (ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्, २३।२२।७) इत्यर्थवादेन प्रतिष्ठाकामा एता रात्रीरुपेयुरिति विधिः।

तत्र ब्राह्मणम्—'यदाकूतात्। समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वेत्येतस्माद्ध्येतत्सर्वस्मादग्रे कर्म समभवत् तदनु प्रेत सुकृताम् लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणा इत्यमूनेतदृषीनाह' (श० ९।५।१।४५)। अथ तानष्टौ वैश्वकर्मणहोममन्त्रान् क्रमेण व्याख्यातुमनुवदति—यदाकूतादिति। अग्रे पूर्वमेतस्मात् खल्वाकूतादेः सर्वस्मात् कर्म समभवत्। अत उक्तम्—यदाकूतादिति। सर्वत्र वाशब्दः समुच्चयार्थः। समसुस्रोदिति समभवदित्यर्थः। आकूतमिति निश्चयावस्थं मन उच्यते। हृदिति मनोऽवस्थानप्रदेशः। मनो विमर्शात्मकम्। कृत्स्नमपि कर्म हृदयस्थेन विमर्शात्मना मनसा विचार्य निश्चयात्मना तेनैव निश्चित्य पश्चात् चक्षुषा तत्साधनं दृष्ट्वा क्रियते। अतश्च तस्मात् सम्भृतं 'समसुस्रोत्' इत्युक्तम्। प्रथमजाः पुराणा ऋषय इति शब्दा पुरस्तात् षष्ठेऽभिहितान् ऋषीनभिदधते। तदाह—अमूनेतदिति। हृदो हृदयप्रदेशेऽवस्थितादाकूतान्मनसश्च चक्षुषश्च यत्कर्म सम्भृतं सत् समभवत्, तदनुलक्ष्य तत्कर्म कृत्वा अनन्तरं हे यजमानाः! आदरार्थं बहुवचनम्, शोभनकर्मकारिणां लोकं प्रगच्छत। यत्र यस्मिन् लोके प्रथमजाः पुराणा ऋषयोऽभिहितप्रकारं कर्म कृत्वा जग्मुस्तं लोकं गच्छतेत्यर्थः। अत्र तस्मात् प्रजापतेराकूताद् हृदो मनसो वा चक्षुषो वा यत्कर्म समस्रवत् तदनुसरणमेव विहितम्, न तु प्रातिस्विकादाकूताद् हृदयान्मनसो चक्षुषो वा यदेव कर्तव्यत्वेन निर्णयेत् तदेव कुर्यादिति, तथात्वेऽव्यवस्थापातात्॥ ५८॥

एतꣳ स॑धस्थ॒ परि॑ ते ददामि॒ यमा॒वहा॑च्छेव॒धिं जा॒तवे॑दाः ।
अ॒न्वा॒ग॒न्ता य॒ज्ञप॑तिर्वो॒ अत्र॒ तꣳ स्म॑ जानीत प॒र॒मे व्यो॑मन् ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—हे देवताओं के स्थानभूत स्वर्ग ! सर्वज्ञ अग्निदेव ने सुख के कोषरूप यज्ञ के फल को जिसे सौंपा है, उस यजमान को मैं तुम्हें समर्पित करता हूँ। हे देवताओं ! यज्ञ के समाप्त होने पर यह यजमान तुम्हारे पास आवेगा। उस उत्तम परम विस्तार वाले स्वर्ग में गये हुए इस यजमान को तुम जानो, अर्थात् स्वर्ग में पहुँचने पर उसका सत्कार करो ॥ ५९ ॥

हे सधस्थ ! सह तिष्ठन्ति देवा यत्रासौ सधस्थः स्वर्गः, तत्सम्बुद्धया स प्रार्थ्यते। एतं यजमानं ते तव परिददामि। जातवेदाः सर्वज्ञोऽग्निर्यं शेवधिं देवानां निधिं कोशस्थानीयम् आवहाद् आनयेत्, तं यजमानं तुभ्यं ददामि। यद्वा शेवधिं सुखनिधिमाहुतिपरिणामभूतमावहाद् आवहति प्रापयति, तं यज्ञफलभूतं च सुखनिधिं तव परिददामि, उभयमपि तुभ्यं रक्षणार्थं ददामीत्यर्थः। एवं यजमानं यज्ञं च स्वर्गे समर्प्य तत्रस्थान् देवानभ्यर्थयते—अन्विति। हे देवाः, यज्ञपतिर्यजमानो यज्ञस्वामी यज्ञनिर्वर्तकः, वो युष्मान् अन्वागन्ता प्रारब्धकर्मसमाप्तौ भवतः प्रत्यागमिष्यति। अत्र अस्मिन् परमे उत्कृष्टे व्योमन् व्योम्नि स्वर्गाख्ये आकाशे आगतं तं यज्ञपतिं यूयं जानीत। स्मेति पादपूरणार्थम्। स्वर्गागतो यज्ञपतिर्भवद्भिरादरणीय इत्यर्थः। आवहादित्याङ्पूर्वकाद् वहतेर्लेटि तिपि 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति तिप इकारलोपे 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे रूपम्। 'शेव इति सुखनामसु' (निघ० ३।६।१७), शेवं धीयतेऽस्मिन्निति शेवधिः। यद्वा यज्ञपतिर्यज्ञफलदाता विष्णुः प्रकृतं यजमानमत्र वो युष्मान् अत्रस्थांश्च अन्वागन्ता। तं श्रीभगवन्तमन्वागन्तारं परमे उत्कृष्टे व्योमन् व्योम्नि परिपूर्णस्वरूपे एव स्थितं सर्वान्तर्यामित्वाद् हे देवा यूयं जानीत।

अत्र ब्राह्मणम्—'एतꣳ सधस्थ। परि ते ददामीति स्वर्गो वै लोकः सधस्थस्तदेनꣳ स्वर्गाय लोकाय परिददाति यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः। अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र तꣳ स्म जानीत परमे व्योमन्निति' (श० ९।५।१।४६)। सधस्थशब्देन स्वर्ग उच्यत इत्याह—एतं सधस्थेत्यादिना। शेषं सुगमम्।

अध्यात्मपक्षे—एतं सधस्थं सह स्थितं साधकं यजमानं हे भगवन्, ते तुभ्यं यदि ददामि, तर्हि जातवेदाः सर्वज्ञो भवान् अस्मै शेवधिं कल्याणानामाकरमावहाद् आवहेत् प्रापयेत्। यद्वा यस्मै यजमानाय शेवधिं कल्याणानामाकरं भवान् आवहाद् आवहति प्रापयति, हे देवाः, तं सधस्थं साधकं वो युष्मांश्च यज्ञपतिः श्रीभगवान् विष्णुः कर्मफलदातृत्वेनान्वागन्ता आगमिष्यति। तमन्वागन्तारं यूयं सर्वान्तर्यामिणं जानीतेति।

दयानन्दस्तु—'हे ईश्वर ! जिज्ञासवो मनुष्याः, हे सधस्थ समानस्थान च जातवेदा वेदार्थविद् यज्ञपतिर्यज्ञस्य पालक इव वर्तमानो यं शेवधिं शेवं सुखं धीयते परमात्मानमावहादासमन्तात् प्राप्नुयात्, अत्र परमे व्योमन् प्रकृष्टे आकाशे व्याप्तं परमात्मानमहं ते यथा परिददामि, अन्वागन्ता धर्ममन्वागच्छति, अहं यं वो युष्मभ्यमुपदिशामि स्म, तं यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रमाणविधुराध्याहारबाहुल्यात्, गौणार्थाश्रयणाच्च। अनया रीत्या कस्यापि मन्त्रस्य कीदृशोऽप्यर्थः कर्तुं शक्यते ॥ ५९ ॥

एतं जा॑नीथ प॒र॒मे व्यो॑म॒न् देवाः॒ सध॑स्था वि॒द रू॒पम॑स्य ।
यदा॒गच्छा॑त् प॒थिभि॑र्देव॒यानै॑रिष्टापू॒र्ते कृ॑णवाथा॒विर॑स्मै ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—हे उत्तम स्थान स्वर्ग में रहने वाले देवताओं ! इस यजमान को जानों, इसके रूप को पहचानों। जब यह देवयान मार्ग से स्वर्ग में पहुंचे, तब श्रौत-स्मार्त कर्म के फल इस यजमान के निमित्त प्रकाशित करो ॥ ६० ॥

परमे व्योमन् उत्कृष्टे स्वर्गभूते व्योम्नि सधस्थाः सह स्थिता देवा एतं यजमानं जानाथ जानीत। लेटि मध्यमबहुवचने आडागमे रूपम्। किञ्च, अस्य यजमानस्य यज्ञपते रूपं यज्ञकर्तृत्वादिविशिष्टं रूपं विद वित्त, प्रत्यभिज्ञानायेति शेषः। वेत्तेर्विकरणव्यत्यये शः, वचनव्यत्ययश्च। युष्माभिर्विदितरूपोऽयं यद् यदा देवयानैः, देवा यान्ति येषु ते देवयानाः, 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३।३।११७) इति ल्युट्, उपभोगस्थानभेदाद् बहुत्वम्, पूजार्थं वा, तैः। पथिभिः स्वर्गमार्गैः, आगच्छाद् आगच्छति, गमेर्लेटि इकारलोपाडागमौ, तदा तं प्रत्यभिज्ञाय इष्टापूर्ते श्रौतस्मार्तकर्मफले अस्मै यजमानाय आविः कृणवाथ प्रकटीकुरुत, प्रदत्तेत्यर्थः। इष्टापूर्ते इति पदमजहल्लक्षणया इष्टापूर्वकर्मफलपरम्। 'अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव साधनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥ वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमर्थिभ्यः पूर्तमित्यभिधीयते॥ (मा. पु. १६।१२३-१२४)। इष्टं च पूर्तं चेतीष्टापूर्ते। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा०सू० ६।३।१०९) इति साधु। इष्टं च आपूर्तं चेति नागेशो रामायणतिलके (१।२१।८) इत्यत्र प्राह। कृणवाथ 'डुकृञ् करणे' इत्यस्य व्यत्ययेन श्नुः, आडागमश्च।

अत्र ब्राह्मणम्—'एतं जानाथ। परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद रूपमस्य। यदा गच्छात् पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणवाथाविरस्मा इति' (श० ९।५।१।४७)। प्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—कर्मसमुच्चितोपासनानुष्ठायिनमेतं हे परमे व्योमन् सधस्था देवा यूयं जानाथ जानीत। अत्र पूजायां बहुवचनम्। हे देव परमेश्वर, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० उ० ६।११) इति श्रुतेः। एतमनुग्रहपूर्णदृष्ट्या पश्येत्यर्थः। अस्य कर्मसमुच्चितोपासनानुष्ठायिनो रूपं विशिष्टं रूपं विद जानीहि, परान् प्रत्याययितुमिति शेषः, तव तु निरतिशयसर्वज्ञत्वात्। अयं साधको यद् यदा देवयानैर्मार्गैरागच्छाद् आगच्छेद् भवदीयं ब्रह्मलोकं तदोपासनायुक्ते इष्टापूर्ते श्रौतस्मार्तकर्मणी, लक्षणया तत्फलमाविःकृणवाथ प्रकटीकुरु। परमेश्वरस्यैव कर्मफलदातृत्वात् स एवात्र प्रार्थनीयः। पूजायां बहुवचनम्।

दयानन्दस्तु—'हे सधस्था देवाः, यूयं परमे व्योमन् व्याप्तमेतं परमात्मानं जानाथाऽस्य रूपं विद। यद्देवयानैः पथिभिरागच्छादस्मै परमात्मने इष्टापूर्ते आविः कृणवाथ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परमात्मस्वरूपज्ञाने देवयानमार्गानपेक्षणात्, व्याप्तमित्यध्याहारस्य च निर्मूलत्वात्, नित्यप्राप्तस्य तस्य प्राप्तेरपि निर्युक्तिकत्वात् ॥ ६० ॥

उद्बु॑ध्यस्वाग्ने॒ प्रति॑जागृहि॒ त्वमि॑ष्टापू॒र्ते सꣳसृ॑जेथाम॒यं च॑।
अ॒स्मिन् स॒धस्थे॒ अध्युत्त॑रस्मि॒न् विश्वे॑ देवा॒ यज॑मानश्च सीदत ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! तुम सावधान हो जाओ, श्रौत-स्मार्त कर्म में यजमान को भागी बनाओ। तुम्हारे प्रसाद से यह यजमान इष्टापूर्त कर्म द्वारा निष्पाप होकर देवताओं के साथ स्थितियोग्य होकर सबसे उत्कृष्ट स्वर्गलोक में चिरकाल तक निवास करे ॥ ६१ ॥

त्रिष्टुप्। इयं पञ्चदशेऽध्याये चतुःपञ्चाशीस्थले व्याख्याता ॥ ६१ ॥

येन॒ वह॑सि स॒हस्र॒ꣳ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् ।
तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥६२॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! जिस सामर्थ्य से आप सहस्र दक्षिणा वाले यज्ञ को प्राप्त कराते हैं, सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञ को प्राप्त कराते हैं, उस सामर्थ्य से हमारे इस छोटे से यज्ञ को भी देवताओं के पास स्वर्ग तक पहुँचा दें। इस यज्ञ के स्वर्ग में जाने से हम लोग भी वहाँ पहुँच सकेंगे ॥ ६२ ॥

अनुष्टुप् । इयं पञ्चदशेऽध्याये पञ्चपञ्चाशीस्थले व्याख्याता ॥ ६२ ॥

प्र॒स्त॒रेण॑ परि॒धिना॑ स्रु॒चा वेद्या॑ च ब॒र्हिषा॑ ।
ऋ॒चेमं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! हमारे स्रुक् का आधार, दर्भ का प्रस्तर, बाहुमात्र के तीन काष्ठ, जुहू आदि, वेदी, कुशा, ऋचा आदि से सम्पन्न इस यज्ञ को देवताओं के पास स्वर्ग में ले जाओ ॥ ६३ ॥

तिस्रोऽनुष्टुभः । हे भगवन्नग्ने, प्रस्तरेण स्रुगाधारभूतेन दर्भमुष्टिना परिधिना परिधिभिस्त्रिभिर्बाहुमात्रैः काष्ठैः स्रुचा जुह्वादिकया वेद्या मितया वेदेर्भूम्या वा बर्हिषा च दर्भपूलकेन च ऋचा ऋगादिभिर्मन्त्रैस्तदभिमानिभिर्देवतारूपैश्च उपलक्षितं सह वा नोऽस्माकमिमं यज्ञं स्वः स्वर्गं नय। किमर्थम् ? देवेषु गन्तवे देवान् प्रति गन्तुं गमनाय । यज्ञे हि गते यजमानो गत एव, स हि तस्य शरीरमित्यर्थः । 'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्………' (पा० सू० ३।४।९) इति तवेन्प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रस्तरेण परिधिना । स्रुचा वेद्या च बर्हिषा ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तव इत्येतैर्नो यज्ञस्य रूपैः स्वर्गं लोकं गमयेत्येतत्' (श० ९।५।१।४८) ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् परमात्मन्, प्रस्तरादिभिरुपलक्षितमिमं नो यज्ञं स्वः स्वरति नामरूपाभ्यां सर्वं यस्मिन्नसौ स्वः स्वरूपभूतः परमात्मा, तं नय देवेषु देवं भवन्तं गन्तवे गन्तुं गमनाय ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वंस्त्वं वेद्या स्रुचा प्रस्तरेण परिधिनर्चा चेमं यज्ञं देवेषु गन्तवे स्वर्नय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अर्थानवबोधात् । प्रस्तरेणासनेनेत्यशुद्धं व्याख्यानम्, प्रस्तरशब्दस्य कुशमुष्टौ रूढत्वात्, आसनार्थतायां कोशादिप्रमाणवैधुर्यात् । परितो धीते तेनेत्यप्यशुद्धं व्याख्यानम्, अत्र परिधिपदेन बाहुपरिमितानां त्रयाणां काष्ठानामभिधानात् । बर्हिषोत्तमेन कर्मणा इत्यप्यशुद्धं व्याख्यानम्, शब्देनैतेन कुशपूलस्य विवक्षितत्वात् ॥ ६३ ॥

यद्द॒त्तं यत्प॑रा॒दानं॒ यत्पू॒र्तं याश्च॒ दक्षि॑णाः ।
तद॒ग्निर्वै॑श्वकर्म॒णः स्व॑र्दे॒वेषु॑ नो दधत् ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—विश्वकर्मा नामक अग्नि हमारे उस दान को स्वर्ग लोक में देवताओं के पास ले जाँय, जो कि जामाता आदि को दिया गया है, परोपकार के लिये दुःखियों को दिया गया है, स्मृतियों के अनुसार कूपोत्सर्जन आदि में और यज्ञ की दक्षिणा के रूप में दिया गया है ॥ ६४ ॥

यद् दत्तं भार्या-जामातृ-पुत्र-भगिनी-तत्पत्यादिभ्यो दत्तम्, यत् परादानं परोपकाराय दयादिनाऽन्धकृपणादिभ्यो यद् दत्तम्। यत्पूर्तं स्मृतिविहितं विप्रभोजनकूपारामादि, याश्च दक्षिणा यज्ञसम्बन्धिन्यः तत् सर्वं वैश्वकर्मणो विश्वकर्मा प्रजापतिस्तस्यायं वैश्वकर्मणः, विश्वकर्मा एव वा वैश्वकर्मणः, स्वार्थे तद्धितः, अग्निः। स्वर्देवेषु स्वर्गलोकस्य देवानां मध्ये नोऽस्माकं भोगार्थं दधद् दधातु स्थापयतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्तं याश्च दक्षिणाः। तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधदिति यच्चैव सम्प्रति दध्मो यच्चासम्प्रति तन्नोऽयमग्निर्वैश्वकर्मण स्वर्गे लोके दधात्वित्येतत्' (श० ९।५।१।४९)। यत्कर्म सम्प्रति युक्तमन्यूनानतिरिक्तं दध्मो धारयामः, कुर्म इति यावत्। यच्च कर्म असम्प्रति न्यूनातिरिक्तं न तत्सर्वं कर्ममयं वैश्वकर्म अयं वैश्वकर्मणोऽग्निः स्वर्गे लोके दधात्विति। यद्दत्तं यदुचितं दानं कृतम्, यच्चानुचितं न्यूनमतिरिक्तं वा दानं कृतम्, यत्पूर्तमारामादिकं कृतम्, याश्च यज्ञे दक्षिणाः सम्पादिताः, नोऽस्माकं सम्बन्धि तत्सर्वमग्निः स्वर्गे विद्यमानेषु देवेषु दधात्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—नोऽस्माकमस्माभिर्यद्दत्तं यत्परादानं तदग्निर्भगवान् वैश्वकर्मणः स्वः स्वर्गे लोके देवेषु देवे परमेश्वरे दधद् दधातु।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थ, त्वया यद् दत्तं यत्परादानं यत्पूर्तं याश्च दक्षिणा दीयन्ते, तत् स्वश्च इन्द्रियसुखं वैश्वकर्मणोऽग्निरिव गृहस्थो भवान् देवेषु नो दधद् धार्मिकव्यवहारे स्थापयतु' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, शाब्दन्यायोपप्लवात्। तथाहि—'देवेषु' इत्यनेन धार्मिकव्यवहारग्रहणे मानाभावः। न च दानादिकमैन्द्रियकं सुखम्। पूर्तमित्यस्य पूर्णां सामग्रीमित्यप्यसङ्गतोऽर्थः, अर्थविशेषे रूढत्वात्। धार्मिकेषु व्यवहारेषु यः स्थापनं कामयते, स स्वयं धार्मिकोऽधार्मिको वा ? नाद्यः, तस्य तथा प्रार्थनानुपपत्तेः। न द्वितीयः, अधार्मिकस्यापि तादृशप्रार्थनाया असामञ्जस्यात्॥ ६४॥

यत्र॒ धारा॒ अन॑पेता॒ मधो॑र्घृ॒तस्य॑ च॒ याः।
तद॒ग्निर्वै॑श्वकर्म॒णः स्व॑र्दे॒वेषु॑ नो दधत्॥ ६५॥

मन्त्रार्थ—विश्वकर्मा सम्बन्धी अग्नि स्वर्ग में देवताओं के पास हमें वहाँ ले जाय, जहाँ कि मधु (शहद), घृत, दुग्ध आदि की धाराएँ कभी क्षीण नहीं होतीं॥ ६५॥

यत्र यस्मिन् देशे मधोर्मधुनी घृतस्य च धाराः प्रवाहाः, याश्चान्याः सोमादीनां पयोदध्यादीनां च धाराः प्रवाहा अनपेता अनिशं भुज्यमाना अपि अनुपक्षीणा वर्तन्ते, तत् तत्र वैश्वकर्मणोऽग्निर्विश्वकर्माग्निः स्वः स्वर्गे देवेषु मध्ये नोऽस्मान् दधद् दधातु।

अध्यात्मपक्षे—विश्वकर्मा विश्वं कर्म यस्य स विश्वकर्मा। विश्वकर्मा एव वैश्वकर्मणः परमेश्वरः, यत्र मध्वादिधारा अनपेता अनिशं भुज्यमाना अप्यनुपक्षीणा वर्तन्ते, तत्र स्वर् गोलोकादिषु देवेषु नोऽस्मान् दधद् दधातु।

दयानन्दस्तु—'यत्र मधोर्घृतस्य च या धारा अनपेता विद्वद्भिः क्रियन्ते, तद्वैश्वकर्मणोऽग्निर्नो देवेषु स्वर्दधत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या अग्नेर्जडत्वेन सुधाधायकत्वानुपपत्तेः। न च यज्ञेषु मध्वादिधाराः क्रियन्ते, तथा विध्यदर्शनात्॥ ६५॥

**अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥ ६६ ॥**

मन्त्रार्थ—सब सृष्टि का स्वामी अर्चनीय यज्ञ, त्रिदेव स्वरूप, जल का निर्माता, अविनाशी अग्नि उत्पत्ति से मैं ही हूँ। मेरी आँखे घृत हैं। मैं घृत होमने वाले को देखता हूँ, मेरे मुख में हविरूप अमृत है। घर्मरूप और नाम से पुरोडाश आदि भी मैं ही हूँ ॥ ६६ ॥

अग्न्यद्वैतवादिनी त्रिष्टुब् देवश्रवोदेववातदृष्टा। यज्ञेऽविनियोगादग्निप्रकरणाच्च यजमान आत्मानमग्नित्वेन ध्यायन् ब्रवीति—जन्मना उत्पत्त्यैव अहमग्निरस्मि अग्निरूपोऽस्मि। जातवेदा जातं विन्दत इति जातवेदाः, उत्पन्नस्य सर्वस्य स्वामीत्यर्थः, 'अथ ह वै रेतः सिक्तं प्राणोऽन्ववरोहति तद्विन्दते तद्यज्जातं जातं विन्दते तस्माज्जातवेदाः' (श० ९।५।१।६८) इति श्रुतेः। यतश्चाहमग्निरस्मि, अतो घृतं मे चक्षुर्नेत्रम्, घृतहोमिनमहं पश्यामीति भावः। अमृतं हविः, मम आसन् आस्ये मुखे। 'पद्दन्नोमास्' (पा० सू० ६।१।६३) इत्यास्यशब्दस्य आसन्नादेशः। ततः सप्तम्याश्च लुक्। यो हि मम मुखे हविर्जुहोति तमहममृतं करोमीत्यभिप्रायः। किञ्च, अर्कः अर्चनीयः, यज्ञः अहमेवास्मि। नाम नाम्ना, विभक्तिलोपः, त्रिधातुः, दधति स्वं रूपमिति धातवः, त्रयो धातव ऋग्यजुःसामलक्षणाः स्वरूपनिर्वाहका यस्यासौ त्रिधातुः। रजसो विमानः, रज उदकम्, तस्य विमानो विमिमीत इति विमानो निर्माता। 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) इति कर्तरि ल्युः। किञ्च, अजस्रः, न जस्यतीत्यजस्रः। 'नमिकम्पि....' (पा० सू० ३।२।१६७) इति रः। नञ्पूर्वकस्य जसेः क्रियासातत्ये वृत्तिः, अनुपक्षीण इत्यर्थः। घर्मः, जिघर्ति अनेनेति घर्मः। 'घृ क्षरणदीप्त्योः' इत्यस्मात् 'घर्मग्रीष्मौ' (उ० १।१४९) इति मप्रत्यय औणादिकः। दीप्त आदित्यरूपः, क्षरणो मेघरूपो वा। नह्येतावदेव, किन्तु हविश्चरुपुरोडाशादिकमप्यहमेवास्मि। नामशब्दस्य अस्मिशब्दस्य च सर्वत्रान्वयः। एवमात्मन्यभेदभावनयाऽद्वैतं भावनीयमिति मन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे—प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं परब्रह्मैव अग्निजातवेदोऽर्कादिरूपेण जायत इति तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात् प्रत्यगात्मनोऽप्यग्निरूपत्वमुपपद्यते।

दयानन्दस्तु—'अहं जन्मना जातवेदा अग्निरिवाहमस्मि। यथाग्नेर्घृतं चक्षुरस्ति, तथा मेऽस्तु। यथा पावके संस्कृतं हविर्हुतं सदमृतं जायते, तथा म आसन् मुखेऽस्तु। यथा त्रिधातुः, त्रयो धातवो यस्मिन् सः, रजसा लोकसमूहस्य विमानो यानमिव धर्ता। अजस्रं गमनं यस्य सः, अर्शआदिभ्योऽच्। धर्मः, जिघर्ति येन सः। प्रकाश इव यज्ञः, हविर्होतव्यं द्रव्यमस्मि नाम ख्यातिः' इति, तदप्यव्यापारेषु व्यापारवन्निरर्थकमेव, मनुष्येषु तादृशप्रयोगासम्भवात्। नहि मनुष्यो जन्मना जातवेदा भवति। नह्यग्निर्यथा जातेषु पदार्थेषु भवति, तथा मनुष्योऽपि सर्वत्र सम्भवति, तस्य परिच्छिन्नत्वात्। जीवरूपेणापि न तस्य सर्वव्याप्तिः सम्भवति, त्वया तस्य अणुप्रमाणत्वाङ्गीकारात्। न वाग्नेर्घृतं प्रकाशकं भवति, घृतस्य स्वयं प्रकाशशून्यत्वेन प्रकाशकत्वायोगात्। अग्नौ हुतं द्रव्यं नश्यत्येव, कुतस्तस्यामृतत्वसम्भावनापि? नहि त्रिधातुपदं रजसो विशेषणं सम्भवति, असामानाधिकरण्यात्, भिन्नविभक्तिकत्वादिति यावत्। तेन त्रिगुणस्य लोकसमूहस्येत्यर्थो न सम्भवत्येव। विमानपदमपि न यानपरम्, तदपेक्षया लाघवेन यानशब्दस्यैव प्रयोगौचित्यात्। तत्रापि विमानपदस्य धारणकर्तृत्वे लक्षणा निर्मूलैव। न चात्र लक्षणा युक्ता, अन्वयानुपपत्तितात्पर्यानुपपत्तिप्रभृतिबीजाभावात्। एवं रीत्या दूषणान्तराण्यप्यूहनीयानि ॥ ६६ ॥

ऋचो नामा॑स्मि॒ यजूं॑षि॒ नामा॑स्मि॒ सामा॑नि॒ नामा॑स्मि । ये अ॒ग्नय॒ः पाञ्च॑जन्या अ॒स्यां पृ॑थि॒व्यामधि॑ । तेषा॑मसि॒ त्वमु॑त्त॒मः प्र नो॑ जी॒वात॑वे सुव ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ—मैं ऋग्वेद नाम वाला और यजुर्वेद नाम वाला अग्नि हूँ। सामवेद भी मेरा ही नाम है। इस पृथ्वी पर मनुष्यों की हितकारिणी जो अग्नियाँ हैं, हे यज्ञाग्ने ! तुम उनमें श्रेष्ठ हो। हमारे चिरजीवन के निमित्त आज्ञा दो ॥ ६७ ॥

अत्र कण्डिकायां मन्त्रद्वयम्। तत्र प्रथमो मन्त्र आत्मदेवत्यः सप्तदशाक्षरो यजुः। अस्यापि न यज्ञे विनियोगः। अनेन यजमानः स्वात्मनि वेदत्रयात्मकत्वं सम्पादयति। अत्रापि नामशब्दाद्विभक्तिलोपो द्रष्टव्यः। नाम्नाहमृचोऽस्मि ऋग्वेदरूपोऽस्मि। यद्यपि मन्त्रपर एव ऋक्शब्दस्तथापि लक्षणया ऋग्वेदपरो द्रष्टव्यः। ऋचां प्राधान्यं यस्मिन् वेदे स ऋग्वेद इति व्युत्पत्त्या ऋङ्मन्त्रप्रधानो मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो ग्राह्यः। तथैव यजूंषि सामानीत्यत्रापि द्रष्टव्यम्। यजुर्वेदरूपोऽस्मि। सामानि नामास्मि सामवेदो नाम्नास्मि। 'चित्रोऽसीति चित्यनाम कृत्वोपतिष्ठते येऽग्नय इति' (का० श्रौ० १८।६।२४)। चित्यस्याग्नेश्चित्रोऽसीति नाम विधाय तमुपतिष्ठते। कर्मशेषं समाप्य इदमुपस्थानं कार्यम्, उपस्थानानन्तरं समारोपविधानादिति सूत्रार्थः। द्वितीयो मन्त्र ऋक्। सा च अग्निदेवत्याऽनुष्टुप्। अस्यां पृथिव्यामधि अस्याः पृथिव्या उपरि येऽग्नयः सन्ति, हे चित्याग्ने, तेषां पृथिवीस्थानाममीषां त्वमुत्तमोऽसि उद्गततमोऽसि। अतस्त्वं प्रार्थ्यसेऽस्माभिः। स त्वं नोऽस्माकं जीवातवे जीव्यतेऽनेनेति जीवातुः, 'जीवेरातुः' (उ० १।७८) इत्यातुःप्रत्ययः करणे भावे वा, चिरं जीवनमित्यर्थः, तस्मै। प्रसुव प्रेरय। कीदृशा अग्नयः ? पाञ्चजन्याः पञ्चजना मनुष्यास्तेभ्यो हिताः पाञ्चजन्याः। यद्वा पञ्च जनाः समूहाश्चितिरूपा येषां ते पञ्चजनाः, त एव पाञ्चजन्याः, स्वार्थे तद्धितः।

अत्र ब्राह्मणम्—'वैश्वकर्मणानि हुत्वा नाम करोति' (श० ९।५।१।५२), 'नाम कृत्वाथैनमुपतिष्ठते' (श० ९।५।१।५३), 'ये अग्नयः पाञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि। तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुवेति ये के चाग्नयः पञ्चचितिका अस्यां पृथिव्यामधि तेषामसि त्वꣳ सत्तमः प्रो अस्माञ्जीवनाय सुवेति' (श० ९।५।१।५३)। स्पष्टार्थमेतत्।

अध्यात्मपक्षे—परमात्मनो निःश्वासन्यायेन प्रादुर्भूतत्वात् प्रतीचोऽपि तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमेन ऋगादिरूपता। यूप आदित्यदृष्टिरिव वा प्रतीचि ऋगादिदृष्टिः कार्या। हे चित्याग्ने ज्ञानाग्ने, अस्यां पृथिव्यामधि ये पाञ्चजन्या मनुष्यहितावहा अग्नयः सन्ति, तेषां त्वमुत्तमोऽसि, अविद्यातत्कार्यात्मकप्रपञ्चदाहकत्वेन मोक्षप्रदत्वात्। स त्वं नोऽस्मान् जीवातवे चिरजीवनाय अमृतत्वाय प्रसुव प्रेरय। ब्रह्मात्मभावावस्थानद्वारा मोक्षं प्रापयेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, योऽहमृचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि तस्मान्मत्तो विद्यां गृहाण। येऽग्नय आहवनीयादयः पाञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि तेषां मध्ये त्वमुत्तमोऽसि। स त्वं नो जीवातवे शुभकर्मसु प्रसुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऋचां प्रख्यापकत्वेन ऋग्वेदरूपत्वे मानाभावात्। ऋग्वेदनामापि न तावता सम्भवति, पुस्तकप्रकाशकानामपि तन्नामत्वापत्तेः। यो विद्वान् स कथं विद्याग्रहणाय प्रोत्साह्यते ? निरर्थकत्वात्। यो विद्याग्रहणाय प्रोत्साहितः पूर्वार्धेन, स एवोत्तरार्धे सर्वेषामग्नीनामुत्तमः। स एवाध्यापकस्य जीवातवे सत्कर्मसु प्रेरक इति किं केन श्लिष्यते ? ॥ ६७ ॥

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च। इन्द्र त्वावर्तयामसि ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! आप वृत्रासुर को मारने वाले हैं, शत्रु सेना का तिरस्कार करने में समर्थ हैं। आपके बल को देखने के लिये मैं आपका बार-बार आह्वान करता हूँ ॥ ६८ ॥

'चितिं पुरीषवतीमुपतिष्ठते वार्त्रहत्यायेति सप्तभिः, अष्टाभिरेके, दशभिर्वा' (का० श्रौ० १७।७।१-३)। मृत्पूरणानन्तरमेतां चितिमुपतिष्ठते सप्तभिः, एकेषां मतेऽष्टाभिर्दशभिर्वा ऋग्भिरिति सूत्रार्थः। इदमुपस्थानं पुरीषनिवपनानन्तरं सर्वासु चितिषु कर्तव्यम्। आग्नेय्यः सप्तर्च इन्द्रदृष्टाः। आद्ये द्वे वृत्रहेन्द्रदेवत्ये गायत्रीत्रिष्टुभौ विश्वामित्रेणापि दृष्टे। हे इन्द्र, वयं त्वा त्वाम् आवर्तयामसि आवर्तयामः, उपतिष्ठामहे। 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) इति इगागमे रूपम्। किमर्थम् ? शवसे बलाय, त्वद्बलवृद्धये इत्यर्थः। 'शव इति बलनामसु (निघ० २।९।३)। कीदृशाय शवसे ? वार्त्रहत्याय हननं हत्या वृत्रस्य हत्या वृत्रहत्या, तत्र कुशलं वार्त्रहत्यम्, तस्मै वृत्रघातसमर्थाय। येन शवसा वृत्रो हन्यते तद् वार्त्रहत्यम्, तस्मै। पुनः कीदृशाय ? पृतनाषाह्याय पृतनाः सेनाः, शत्रूषामिति यावत्, सह्यन्तेऽभिभूयन्तेऽनेनेति पृतनाषाह्यम्, 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) इति ण्यति रूपम्, तस्मै शत्रुसेनापराभवसमर्थाय।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमेश्वर, त्वां वयमावर्तयामसि उपतिष्ठामहे। किमर्थम् ? शवसे निरतिशयबलस्यापि तव बलवर्धनाय। कीदृशाय शवसे ? वृत्रमावरकमज्ञानम्, तस्य हनने कुशलाय। पुनः कीदृशाय ? पृतनाषाह्याय मोहचम्वभिभवसमर्थायेति।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सेनेश, यथा वयं वार्त्रहत्याय वार्त्रस्य वर्तमानस्य शत्रोर्हत्या हननं तत्र साधु, तस्मै शवसे बलाय पृतनाषाह्याय ये मनुष्याः पृतनाः सहन्ते ते पृतनासाहस्तेषु साधवे, तेन अन्यान्ययोग्यसाधनेन त्वामावर्तयामसि प्रवर्तयामः, तथा त्वं वर्तस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लोकसिद्धस्य अर्थस्य लोकादेव सिद्धेः, अज्ञातज्ञापकस्य वेदस्य तद्बोधने तात्पर्याभावात्। न च वृत्रपदेन वर्तमानः शत्रुर्गृह्यते, तत्र तच्छब्दशक्तेर्माना-भावात्, वृत्रपदेन आवरकस्य मेघस्य अन्धकारस्य वा विवक्षितत्वात्, 'वृञ् वरणे' इति सौवादिकधातोर्निष्पन्नत्वात्। 'गुधृवीपचि' (उ० ४।१६८) इति बाहुलकात् त्रः ॥ ६८ ॥

सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सम्पिणक्कुणारुम्।
अभि वृत्रं वर्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ—अनेकों बार भक्तों द्वारा आहूत हे इन्द्रदेव ! हमारे आस-पास बसने वाले, दुर्वचन कहने वाले-शत्रु के हाथों को तोड़ कर चूर्ण कर दीजिये। हे इन्द्रदेव, प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रहे, देवताओं को पीड़ा पहुंचाने वाले वृत्रासुर अथवा सभी प्रकार के पापियों को गतिहीन कर नष्ट कर दीजिये ॥ ६९ ॥

हे पुरुहूत, पुरुभिर्बहुभिः पुरुनामभिर्वा हूत आहूतः पुरुहूतः। पुरुपदमावर्तनीयम्। हे इन्द्र! सहदानुं सहसो बलस्य दानुं दातारम्। पृषोदरादित्वात् साधु। 'सह इति बलनामसु' (निघ० २।९।१७)। अयं च वराकस्तुच्छ-बलः, त्वं सम्पूर्णबलः, अतोऽनेन सार्धं त्वं युध्यस्वेति प्रेर्य यः शत्रुमुपस्तोभयते स सहदानुः शत्रुः, 'दाभाभ्यां नुः' (उ० ३।३२) इति दातेर्नुः, तम्। यद्वा शत्रुणा सह एकीभूय यो योद्धुं दुर्मन्त्रं ददाति स सहदानुः शत्रुः, तम्।

क्षियन्तं निकटे निवसन्तमिहैव अहस्तं हस्तरहितं कृत्वा युद्धे निर्जित्य सम्पिणक् सम्पिण्ढि सञ्चूर्णय। 'पिष्लृ सञ्चूर्णने' इति धातोः सम्पूर्वकाल्लोडर्थे 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति लङि मध्यमैकवचने रुधादित्वात् श्नमि रूपम्, षस्य कुत्वमार्षम्, अडभाव आर्षः। कुणारुं क्वणति दुर्वचो वदतीति कुणारुः, तम्। 'पीयुक्वणिभ्यां कालन् ह्रस्वः सम्प्रसारणं च' (उ० ३।७६) इति बाहुलकाद् आरुः, धातोः सम्प्रसारणं च। हे इन्द्र, वर्धमानं सर्वमभिभूय जगद् व्याप्नुवन्तम्। पियारुं पीयतीति पियारुः, पीयुः सौत्रो धातुर्हिंसाकर्मा, देवानां हिंसकः, तम्। अथवा तौदादिकः पियतिर्गत्यर्थकोऽप्यत्र हिंसाकर्मा। वृत्रं प्रावरकं दैत्यम्। अपादं पादहीनं कृत्वा। तवसा बलेन त्वमभिजघन्थ जहि गमनासमर्थं कृत्वा सम्यङ् मारयेत्यर्थः। 'तव इति बलनामसु' (निघ० २।९।४)।

अध्यात्मपक्षे—हे पुरुहूत बहुभिर्भक्तैराहूत हे इन्द्र परमेश्वर, सहदानुं कामक्रोधादिशत्रूणां बलदातारं महाशत्रुं क्षियन्तं सदैव निकटे निवसन्तं कुणारुं दुर्वचनप्रयोगहेतुमज्ञानमहस्तमकर्मण्यं कृत्वा सम्पिणक् सम्पिण्ढि सञ्चूर्णय। अथ योऽयमपरो वृत्रो मोहरूपः, तं सर्वमभिभूय वर्धमानम्, पियारुं शान्तिदान्तिसन्तोषादीनां हिंसितारमपादं गमनासमर्थं कृत्वा तवसा विवेकबलेन, अस्माकं विवेकबलं सम्पाद्येत्यर्थः, जघन्थ सम्यङ् मारय।

दयानन्दस्तु—'हे पुरुहूत, यथा सूर्यः सहदानुं यः सहैव ददाति तम्, क्षियन्तमाकाशे गच्छन्तं कुणारुं शब्दयन्तमहस्तं पियारुं पानकारकमपादं पादेन्द्रियरहितमभिवर्धमानं वृत्रं मेघमिव सम्पिणक् पिनष्टि, तथा हे इन्द्र, शत्रूंस्तवसा जघन्थ जहि' इति, तदपि लौकिकसेनापतिप्रोत्साहनमात्रम्, धर्मब्रह्मसम्बन्धशून्यत्वेन निरर्थकं च। यथा सूर्य इत्यादिकमपि निर्मूलमेव ॥ ६९ ॥

वि न॑ इन्द्र॒ मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः।
यो अ॒स्माँ२॥ अ॑भि॒दास॒त्यध॑रं गमया॒ तमः॑ ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! संग्राम में हमारे शत्रुओं पर विजय प्राप्त कीजिये, संग्राम की इच्छा से सेना का संग्रह करने वाले शत्रुओं को नीचा दिखाइये। जो हमें क्लेश देता है, उसको निकृष्ट अन्धकार रूप नरक में ढ़केल दीजिये ॥ ७० ॥

इयम् ८।४४ इत्यत्र व्याख्याता ॥ ७० ॥

मृ॒गो न भी॒मः कु॑च॒रो गिरि॒ष्ठाः प॑रा॒वत॒ आज॑गन्था॒ पर॑स्याः।
सृ॒कꣳ स॒ꣳशाय॑ प॒विमि॑न्द्र ति॒ग्मं वि शत्रू॑न् ता॒ढि वि मृधो॑ नुदस्व ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! भयानक दिखाई पड़ने वाले, डरावनी चाल वाले, पर्वत की गुफा में सोये सिंह के समान आप हमारी रक्षा के लिये बहुत दूर के स्थान से भी शीघ्र चले आइये। शत्रु के शरीर में प्रवेश करने वाले तीक्ष्ण वज्र को और भी धारदार बनाकर शत्रुओं को विशेष रूप से ताडित कीजिये और संग्राम भूमि से उनको भगा दीजिये ॥ ७१ ॥

जयदृष्टा त्रिष्टुप्। हे इन्द्र, परस्याः पृथिव्या दूरदिशोऽपि वा। परावतो दूरतराद्देशात्, परावच्छब्दो दूरतरवचनः, आहूयमान इव आजगन्थ आगच्छ। लोडर्थे लिट्। आगत्य च पविं वज्रं संशाय तीक्ष्णीकृत्य निशितधारं कृत्वा, 'शो तनूकरणे' इत्यस्य ल्यपि रूपम्। शत्रून् विताढि विशेषेण ताडय। मृधः संग्रामांश्च विनुदस्व विशेषेण प्रेरय दूरीकुरु। प्रधानान् हत्वा शेषान् मृधः संग्रामादपसारय। कीदृशं पविम्? सृकम्, सरति शत्रुशरीरे गच्छतीति सृकस्तम्। पुनः कीदृशम्? तिग्मम् उत्साहवन्तम्, अतितीक्ष्णं वा कृत्वा 'तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः' (निरु० १०।६) इति यास्कः। दूरादागत्य शत्रुविनाशने दृष्टान्तमाह—मृगो न मृगः सिंह इव। यथा सिंहो दूरादेत्य प्राणिनो हन्ति, तद्वत्। कीदृशो मृगः? भीमो भयङ्करः। पुनः कीदृशः? कुचरः कुत्सितं चरतीति कुचरः। पुनः कीदृशः? गिरिष्ठा गिरौ तिष्ठतीति गिरिष्ठाः पर्वताश्रयः। तडिराघातार्थकश्चौरादिको हिंसाकर्मा। तस्य लोटि हौ परे 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इत्यार्धधातुकत्वे णिचो लोपे हेर्धौ ष्टुत्वे ढलोपे दीर्घे च रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, मृगो न यथा व्याघ्रो सिंहो वा भीमो भीषणः कुचरः कुत्सितचारी हिंस्रः प्राणिवधजीवनो गिरिष्ठाः पर्वताश्रयो दूरदेशादागत्य दैत्यप्रायान् प्राणिविशेषान् तैरनभिभूयमानो हन्ति, तथा त्वं परस्या दूरदिशः परावतो दूरदेशाद् आजगन्थ आगच्छ। सर्वत्र व्याप्तस्यापि वैकुण्ठ-गोलोक-साकेतादि-लोकविशेषनिवासित्वात् तव दूरदेशादागमनं युक्तमेव। आगत्य च सृकं शत्रुदेहेषु सरणशीलं तिग्मं पविं तेजनं वज्रं संशाय तीक्ष्णीकृत्य विताढि बाह्यानान्तरांश्च शत्रून् विशेषेण ताडय मारय। अवशिष्टान् मृधो विनुदस्व संग्रामादपुनरागमनाय पलायितुं प्रेरयस्व।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सेनेश, त्वं कुचरो गिरिष्ठा भीमो मृगो न परावत आजगन्थ। परस्यास्तिग्मं पविं सृकं संशाय शत्रून् विताढि मृधो विनुदस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यैव दूषणत्वात्। कुचरपदस्य कुटिलगतित्वं मृगपदस्य सिंहतुल्यार्थत्वं च काल्पनिकमेव ॥ ७१ ॥

वैश्वानरो न ऊतय आ प्रयातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—सब प्राणियों का हितकारी अग्नि देव हमारी सुन्दर स्तुतियों को सुनने के लिये और हमारी रक्षा के लिये दूर देश से भी शीघ्र चले आवें ॥ ७२ ॥

वैश्वानरदेवत्या गायत्री। वैश्वानरोऽग्निर्नोऽस्माकमूतये अवनाय रक्षणाय तर्पणाय वा नोऽस्माकं सुष्टुतीः शोभनाः स्तुतीरुप उपश्रोतुं परावतो दूरदेशाद् आप्रयातु आगच्छतु।

अध्यात्मपक्षे—वैश्वानरः, विश्वे नरा यस्यासौ विश्वानरः, 'नरे संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।१२९) इति दीर्घः, विश्वानरस्यापत्यं वैश्वानरः, 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (पा० सू० ४।१।११४) इत्यण्। अग्निरूपः परमेश्वरः। अथवा विश्वेषां नराणां समष्टिर्विश्वानरः, स एव वैश्वानरः। समष्टिप्रपञ्चाभिमानी परमेश्वरः, नोऽस्माकमूतये रक्षणाय तर्पणाय च नः सुष्टुतीरुपश्रोतुं परावतो गोलोकादिदूरदेशाद् आप्रयातु।

दयानन्दस्तु—'हे सेनेश सभेश, यथा वैश्वानरोऽग्निः सूर्यः परावतः सर्वान् पदार्थान् प्राप्नोति, तथा भवानूतये न आप्रयातु। यथाग्निर्विद्युत्सहितोऽस्ति, तथा त्वं नः सुष्टुतीरुपशृणु' इति, तदपि विसङ्गतमेव, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। वैश्वानरशब्दस्य सूर्यार्थतापि प्रमाणसापेक्षा, परावत्पदमपि दूरदेशबोधकम्, न तु तत्रत्यपदार्थबोधकम्। संहितेत्यस्य व्यापिकापि समीपस्था भवतीत्यर्थ उक्तः, सोऽपि चिन्त्य एव, निर्मूलत्वात्। नहि मनुष्यसुष्टुतिर्युक्ता, परमेश्वरस्यैव सुष्ठु स्तोतव्यत्वात् ॥ ७२ ॥

पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीरा विवेश।
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम् ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ—सब प्राणियों का हितकारी अग्नि देवता द्युलोक में आदित्य रूप से पूछा गया है, अर्थात् यह आदित्य रूप क्या है ? इस प्रकार प्रश्न करके मुमुक्षुओं ने उसके स्वरूप पर विचार किया है। अन्तरिक्ष में जल के अभिलाषियों ने प्रश्न किया है कि जो बिजली के रूप में प्रकाश करता है, वह कौन है ? जो सकल ओषधियों में प्रवेश कर गया, वह कौन है ? जीवन के कारणभूत ताप, पाक, प्रकाश आदि से प्रजाओं का उपकार करने वाला वह कौन है ? बलपूर्वक अध्वर्यु द्वारा मथा गया और अरणि काष्ठ से निकाला गया वह कौन है ? वह अग्नि रात-दिन वध या कष्ट से हमारी रक्षा करे, अर्थात् सर्वत्र अग्नि, सूर्य और विद्युत् के रूप में परमात्मा ही स्थित हैं, वे हमारी रक्षा करें ॥ ७३ ॥

वैश्वानरदेवत्या त्रिष्टुप् कुत्सदृष्टा। वैश्वानरः सर्वनरेभ्यो हितोऽग्निः। विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वा वैश्वानरोऽग्निः। दिवा दिवसे नोऽस्मान् पातु रक्षतु। स च नक्तं रात्रौ नोऽस्मान् रिषो हिंसाव्यापारात् पातु। 'रिष हिंसायाम्' भौवादिकः। स कः? योऽग्निर्वैश्वानरो दिवि द्युलोके पृष्टः कोऽयमिति दिव्यादित्यात्मना व्यवस्थितो मुमुक्षुभिः। तत्र ह्येवं श्रूयते—[1]'यमेतमादित्ये पुरुषं वेदयन्ते स इन्द्रः स प्रजापतिः स ब्रह्म' इति। यश्चाग्निः पृथिव्यामन्तरिक्षे लोके प्रावृषि विद्युदात्मना स्थितो जलार्थिभिः पृष्टः। 'पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु' (निघ० १।३।९)। यश्च विश्वाः सर्वा ओषधीर्व्रीहियवाद्या आविवेश। प्रविष्टः सन् पृष्टः कोऽयं प्रजानां जीवनहेतुस्तापपाकप्रकाशैरुपकरोतीत्यग्निहोत्रिप्रभृतिभिर्म्लेच्छपर्यन्तैः पृष्टः। यश्च सहसा बलेन अध्वर्युणा मथ्यमानः सन् पृष्टो दिदृक्षुभिर्जनैः कोऽयं दृश्यत इति सोऽयमग्निर्दिवानक्तं रिषः पातु, इत्युक्तेनान्वयः। नास्मान्नाशयत्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मा परमेश्वर एवात्र आदित्यविद्युदादिरूपेण स्तूयते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'मनुष्यैर्यो दिवि सूर्ये पृष्टो ज्ञातुं योग्यः, अग्निः प्रसिद्धः पावकः, पृथिव्यां पृष्टो जिज्ञास्यः, अग्निर्जले वायौ च पृष्टोऽग्निः सहसा बलादिगुणैर्युक्तो वैश्वानरः पृष्टोऽग्निर्विश्वा ओषधीराविवेश। स दिवा स च नक्तं यथा पाति, तथा सेनेशो भवान्नोऽस्मान् रिषः सततं पातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, उपमाबोधकपदाभावाच्च ॥ ७३ ॥

अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिꣳ रयिवः सुवीरम्।
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरं ते ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपकी कृपा से हम अपनी अभिलाषा पूरी करें। हे धनवन् ! आपकी कृपा से हम सुन्दर पुत्र और श्रेष्ठ धन पावें, आपका पूजन करते हुए हम धनधान्य से सम्पन्न हो जांय। हे जरारहित ! आपकी कृपा से हम कभी जीर्ण न होने वाला यश पावें, अर्थात् सदा यशस्वी बनें ॥ ७४ ॥

भरद्वाजदृष्टा आग्नेयी कामवती त्रिष्टुप्। हे अग्ने, तव ऊती ऊत्या अवनेन पालनेन तर्पणेन च वयं काममभिलाषमश्याम प्राप्नुयाम, यत्कामा एतत्कर्म कुर्म इति शेषः। 'अशूङ् व्याप्तौ' सौवादिकः, विकरण-

१. नाधुना श्रुतिरियमुपलभ्यते।

व्यत्ययेन श्यन्। हे रयिवः, रयिर्धनमस्यास्तीति रयिवान्, तत्सम्बुद्धौ हे रयिवो धनवन्, सुवीरं शोभना वीराः पुत्रादयो यत्र स सुवीरः, तम्। पुत्रादिसहितं धनं वयं प्राप्नुयामेति यावत्। वाजयन्तो वह्निमर्चयन्तः। अन्यानपि पूजयितव्यान् अभिपूजयन्तः। 'वाजयतिरर्चतिकर्मा' (निघ० ३।१४।३६)। वाजमन्नम्, अभि अभितः समन्ताद् अश्याम प्राप्नुयाम। हे अजर, नास्ति जरा यस्य सोऽजरः, तत्सम्बुद्धौ हे जरारहित, नित्यं नूतनेत्यर्थः। अजरमक्षीणं ते तव द्युम्नं यशो वयमश्याम सर्वदा यशस्विनो भवामेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीभगवन्, वयं यं यं कामयामहे तव ऊत्या अवनेन कृपापीयूषपूर्णेन पोषणेन तं तं काममश्याम प्राप्नुमः। हे रयिवः, शोभनगुणरूपधनयुक्त। त्वत्प्रसादात् सुवीरं महाशक्तिशालिनं रयिं शान्तिदान्त्यादिगुणकदम्बम्, अश्याम प्राप्स्यामः। त्वामन्यांश्च त्वद्भक्तान् अर्चनीयान् वाजयन्तोऽर्चयन्तः, अभिवाजं सर्वप्रकारकान् भोगान् अश्याम प्राप्नुमः। हे अजर, अजरमनुपक्षीणमातङ्करहितं च द्युम्नं यशस्ते तव प्रसादाद् वयमश्याम।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, वयं तवोती रक्षाद्यया क्रियया तं काममश्याम। हे रयिवः, सुवीरं शोभना वीराः प्राप्यन्ते यस्मात्तमश्याम। वाजयन्तः संग्रामयन्तो योधयन्तो वयं वाजं संग्रामविजयमश्याम। हे अजर, तेऽजरं द्युम्नं यशो धनं वा अश्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदेन सेनापतेर्ग्रहणस्य निर्मूलत्वात्। नहि सेनापतिः कामदाता भवति, येन ततः स काम्येत। शोभना वीराः प्राप्यन्ते यस्मादित्यसाम्प्रतम्, व्यावर्त्याभावात्। वाजं संग्रामविजयमित्यप्यपव्याख्यानमेव, निर्मूलत्वात्। न च मनुष्यस्य अजरत्वमुपपद्यते, सर्वस्यैव जनिमतो जरादिविकारस्यानिवार्यत्वात् ॥ ७४ ॥

वयं ते अद्य ररिमा हि काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य।
यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवानस्रेधता मन्मना विप्रो अग्ने ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! दान के लिये खुले हाथ रख कर हम नमनपूर्वक आपके निकट आकर यज्ञ करने में तत्पर हुए हैं। अनन्य गति वाले देवताओं की एकाग्र महिमा और आत्मा के स्वरूप को जानने वाले सावधान मन से इच्छित हवि को आपके निमित्त हमने दिया है। हे बुद्धिमान् अग्निदेव! आप इस हवि से अन्य देवताओं को भी तृप्त करें ॥७५॥

उत्कीलदृष्टा आग्नेयी त्रिष्टुप्। हे अग्ने, हि यस्मात् कारणाद् वयं ते तुभ्यमद्य अस्मिन् दिने कामम्, काम्यत इष्यते देवैरिति कामं हविः, नमसा नमस्कारेण उपसद्य उपसङ्गम्य, निकटमागत्येति यावत्। ररिमा 'रा दाने' इत्यस्य लिटि उत्तमबहुवचने रूपम्। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति संहितायां दीर्घः। कीदृशा वयम्? उत्तानहस्ता अबद्धमुष्टिका असंवृताङ्गुलयः, त्यक्तकृपणस्वभावा इति यावत्। तथाविधेनैव मनसा उपलक्षिताः, सावधाना इत्यर्थः। कीदृशेन मनसा? यजिष्ठेन, अतिशयेन यष्टृ इति यजिष्ठम्, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः, तेन अतिशययजनपरायणेनेति यावत्। तथा अस्रेधता सेधत्यन्यत्र गच्छतीति स्रेधत्, रेफागमश्छान्दसः, न स्रेधदस्रेधत्, तेन। अनन्यगतेन देवताया याथात्म्यचिन्तनसन्तानैकरसेनेति यावत्। पुनः कीदृशेन? मन्मना मन्यते देवमहिमानं जानातीति मन्म, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिन्, तेन। देवतायाथात्म्यज्ञेनेत्यर्थः। एतादृशेन मनसा वयं हवी ररिम। अतो हे अग्ने, विप्रो मेधावी त्वं देवान् यक्षि यज। मद्दत्तेन हविषा देवांस्तर्पयेत्यर्थः। यजतेर्मध्यमैकवचने शपो लोपे षत्वे ष्टुत्वे यक्षीति रूपम्। 'विप्रो अग्ने' इत्यत्र 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, अद्य अस्मिन्नहनि यस्मात्ते तुभ्यं कामं त्वया काम्यमानं त्वदपेक्षितं हविर्वयं ररिम दत्तवन्तः, यद्यपि भगवान् आप्तकामः, तथापि भक्तानुग्रहार्थमेव भक्तार्पितं वस्तु कामयते, उत्तानहस्ता अबद्धमुष्टिकास्त्यक्तकार्पण्याः कृताञ्जलयो वा नमसा प्रणिपातेन उपसद्य उपसङ्गम्य यजिष्ठेन यजननिष्ठेन श्रद्धायुक्तेन मनसा। तथा मन्मना देवतायाथात्मज्ञेन अस्रेधता अनन्यगतेन मनसा तुभ्यं कामं हवी ररिम इति सम्बन्धः। हे अग्ने भगवन्, त्वं विप्रः सन्, विशेषेण प्राति प्रपूरयति भक्तजनमनोरथानिति विप्रः, 'प्रा प्रपूरणे' इति रूपसिद्धिः, इष्टापूर्तकरस्त्वम्, अधिदेवान् यक्षि देवानां स्वं स्वं भागं प्रयच्छ। श्रीरामकृष्णादिस्वरूपेणापि भगवानेव यजमानदत्तं हविस्तेभ्यस्तेभ्यो देवेभ्यः प्रयच्छति।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, उत्तानहस्ता वयं ते नमसोपसद्य अद्य कामं हि ररिम यथा विप्रोऽस्रेधता मन्मना यजिष्ठेन मनसा देवान् यजति सङ्गच्छते, यथा च त्वं यक्षि, तथा वयमपि यजेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नमसोपसन्नस्याभयमुद्रानुपपत्तेः, तथा वयमित्यंशस्य निर्मूलत्वाच्च॥ ७५॥

धाम॒च्छद॒ग्निरिन्द्रो॑ ब्र॒ह्मा दे॒वो बृह॒स्पतिः।
सचे॑तसो॒ विश्वे॑ दे॒वा य॒ज्ञं प्राव॑न्तु नः शु॒भे॥ ७६॥

मन्त्रार्थ—लोकों की न्यूनता को पूर्ण करने वाले, रिक्तता को भरने वाले, परम धाम में विराजमान, दिव्य गुणधारी अग्निदेव, देवराज इन्द्र, चतुर्मुख ब्रह्मा, देवगुरु बृहस्पति तथा परम बुद्धिमान् विश्वेदेव—ये सब देवता हमारे इस यज्ञ को इष्टस्थान स्वर्ग में स्थापित करें॥ ७६॥

विश्वेदेवदेवत्याऽनुष्टुप्। एते देवा नोऽस्माकं यज्ञं प्रावन्तु प्रकर्षेण रक्षन्तु, अन्यूनानतिरिक्तं कुर्वन्त्वित्यर्थः, न्यूनाधिक्ययोर्दोषावहत्वेन तद्राहित्यस्यैव तद्रक्षणात्। शुभे इष्टे स्थाने स्वर्गे च यज्ञं स्थापयन्त्विति शेषः। यद्वा शुभे स्थाने यज्ञं प्रावन्तु। एते के? अग्निर्देव इति, देवशब्दः सर्वत्रानुषज्यते, इन्द्रो देवः, ब्रह्मा देवश्चतुर्मुखः, बृहस्पतिर्देवो देवगुरुः, विश्वेदेवाश्च। धामच्छद् धामानि स्थानानि छादयत्याच्छादयतीति धामच्छद्, छादयतेः क्विपि णिलोपे धातोर्ह्रस्वः। धाम्नां छदनं तावद् न्यूनानां पूरणम्, अतिरिक्तानां समीकरणं च। इदमपि पदं सर्वेषां विशेषणम्। तथा सचेतसश्चेतसा प्रज्ञया सहिताः, समानं चेतः प्रज्ञानं येषां ते सचेतस इति वा। समानप्रज्ञाना धामच्छदोऽग्न्यादयो देवा अन्यूनानतिरिक्तकर्तारो मम यज्ञं रक्षन्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन् परमेश्वर, त्वमेव धामच्छदग्निः, धामानि स्थानानि छादयति न्यूनानि पूरयत्यतिरिक्तानि च समीकरोतीति धामच्छत् सर्वज्ञोऽग्निः, अग्रणीस्त्वमेव धामच्छद् इन्द्रः परमैश्वर्योपेतस्त्वमेव। धामच्छद् ब्रह्मा चतुर्मुखो देवो देवनादिगुणयुक्तः, बृहस्पतिर्देवगुरुः, विश्वेदेवाः सर्वे चैते देवाः सचेतसः समनस्का नोऽस्माकं यज्ञं भूमेः शुभे शोभनात्मके श्रीभगवद्विषये स्थितं यज्ञं प्रावन्तु रक्षन्तु, सफलयन्त्विति यावत्। अन्यूनानतिरिक्तं वा कुर्वन्तु। शुभे स्विष्टे च स्थाने स्थापयन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, देवो विद्यादाता धामच्छदग्निरिन्द्रो यो धामानि छादयति संवृणोति सोऽग्निर्विद्वान् ब्रह्मा चतुर्वेदविद् बृहस्पतिरध्यापकश्चेमे सचेतसो विश्वेदेवा नः शुभे यज्ञं प्रावन्तु। इन्द्रो विद्युत्तुल्योऽमात्यो राजा वा' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रथमतः सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, अग्न्यादिशब्दानामिन्द्राद्यर्थत्वे मानाभावाच्च॥ ७६॥

त्वं यविष्ठ दाशुषो नूँ: पाहि शृणुधी गिरः । रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—हे नित्यतरुण अग्निदेव ! आप हमारी स्तुति-प्रार्थना के वचनों को सुनें और यजमान के वंश एवं सम्बन्धियों की बिना याचना किये ही रक्षा करें ॥ ७७ ॥

इयं त्रयोदशे द्वापञ्चाशयां व्याख्याता ॥ ७७ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदवाजसनेयिसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायाम्
अष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

स्वाद्वीं त्वां स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन मधुमतीं मधुमता सृजामि सꣳ सोमेन । सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे अन्नरस ! अत्यन्त स्वादिष्ट, अमृत के समान मधुर और गुणकारी मीठे रस से भरे हुए तुमको स्वादिष्ट अमृत के समान मधुर रस से भरे सोम के साथ मिलाता हूँ, सोम से मिलकर हे अन्नरस ! तुम भी सोम हो गये हो । दोनों अश्विनीकुमारों के लिये, सरस्वती के लिये और सब को रक्षा करने वाले इन्द्र के लिये तुम तैयार हो जाओ ॥ १ ॥

अथ सौत्रामणीमन्त्रास्त्रिभिरध्यायैः प्रक्रियन्ते । ऋद्धिकामस्याग्निचितो मुखेतरच्छिद्रसोमवामिना मुखेन सोमवामिनो राज्यच्युतनृपस्य पशुकामस्य च सौत्रामणीयागः । 'अन्तः पात्यस्थाने चर्मणि सुरासोमविक्रयिणः सीसेन शष्पक्रयस्तोक्मानामूर्णाभिर्लाजानाꣳ सूत्रैः सुरासोमविक्रयिन् क्रय्यास्ते सुरासोमा ३ इत्यामन्त्र्यामन्त्र्य सर्वेषु' (का० श्रौ० १९।१।१८) । 'सुरासोमविक्रयिन् क्रय्यास्ते सुरासोमाः' इति सुरासोमविक्रयिणं पृष्ट्वा पृष्ट्वा अन्तः पात्यस्थाने गोचर्मणि सुरासोमविक्रयिणः क्लीबस्य वा सकाशात् सीसेन शष्पाणामूर्णाभिर्बदरीभिस्तोक्मानां सूत्रैर्लाजानां केनचिद् द्रव्येण नग्नहोश्च क्रयं कृत्वा एतानि द्रव्याणि स्थापयेदिति सूत्रार्थः । तत्र शष्पाणि विरूढा व्रीहयः, तोक्मा विरूढयवाः, लाजा भृष्टा व्रीहयः । सर्जत्वक्-त्रिफला-शुण्ठी-पुनर्नवा-चतुर्जातकपिप्पली-गजपिप्पली-वंशावका-बृहच्छत्रा-चित्रकेन्द्रवारुण्यश्वगन्धा-धान्यकयवानी-जीरकद्वय-हरिद्राद्वय-वचा-तोक्म-शष्पाण्येकीकृतानि नग्नहुपदवाच्यानि । 'दक्षिणेन हृत्वा नग्नहुचूर्णानि कृत्वा तांश्च व्रीहिश्यामाकौदनयोः पृथगाचामौ निषिच्य चूर्णैः सꣳसृज्य निदधाति तन्मासरम्' (का० श्रौ० १९।१।२०) । क्रयणानन्तरं तानि शष्पादीन्यादाय दक्षिणेन द्वारेण अग्न्यागारं प्रवेश्य पूर्वं नग्नहुचूर्णानि कृत्वा [1]सर्जत्वगाद्योषधीनि तूष्णीं पिष्ट्वा शष्पतोक्मलाजान् चूर्णीकृत्य दर्शपूर्णमासधर्मेण पात्रासादनादिव्रीहिश्यामाकचतुर्मुष्टिकग्रहणपूर्वकं फलीकरणान्तं कृत्वा बहुतरोदकं पृथग् व्रीहिश्यामाकयोश्चरू पक्त्वा तयोरोदनयोराचामौ उष्णोदके पृथक् पात्रद्वये निषिच्य अवस्राव्य तदुदकं नग्नहुप्रभृतिभिश्चूर्णैः संसृज्य निदध्यात् । तस्य चूर्णसंसृष्टस्य आचामस्य मासरमिति संज्ञा । उभयं चूर्णाचामरूपं मासराख्यमिति सूत्रार्थः । 'औदनौ चूर्णमासरैः सꣳसृज्य स्वाद्वीं त्वाꣳशुना त इति, त्रिरात्रं निदधाति' (का० श्रौ० १९।१।२१-२२) । एवमाचामयोश्चूर्णसंसर्गे मासरत्वनिष्पादनानन्तरमोदनौ व्रीहिश्यामाकचरू शष्पतोक्मलाजनग्नहुचूर्णैः संसृज्य स्वाद्वीं त्वेति मन्त्रेण 'अꣳशुना ते अꣳशुः' इति विंशाध्यायपठितया सप्तविंशयर्चा चैकस्मिन् पात्रे चूर्णसंसृष्टावोदनौ मासराभ्यां संसृज्य शालानैर्ऋत्यकोणे गर्तं कृत्वा तत्र त्रिरात्रं स्थापयेदिति सूत्रार्थः ।

---

१. सर्जत्वक् त्रिफला चैव शुण्ठी चैव पुनर्नवा । चतुर्जातकसंयुक्ता पिप्पली गजपिप्पली ॥
वंशावका बृहच्छत्रा चित्रकं चेन्द्रवारुणी । अश्वगन्धां समुत्पाट्य मूलान्येतानि निर्दिशेत् ॥
धान्यकं च यवानी च जीरकं कृष्णजीरकम् । द्वे हरिद्रे वचा चैव विरूढा व्रीहयो यवाः ॥ इति ।

इत्थमत्र प्रक्रिया—चरू उद्वास्य द्वयोः पृथगाचामग्रहणम्। ततः शष्पतोक्मलाजचूर्णानां पृथक् त्रिधा विभक्तानां तृतीयांशं द्वेधा कृत्वा आचामयोः क्षिपेत्। ततो नग्नहुचूर्णं द्वेधा विभज्य प्रथमार्धं पुनर्द्वेधा विभज्य आचामयोः क्षिपेत्। एवं चूर्णसंसृष्टाचामयोर्मासरसंज्ञा। ततः शष्प-तोक्म-लाजचूर्णानां द्वितीयं तृतीयांशं द्विधा कृत्वा एकैकं भागमोदनयोः क्षिपेत्। ततो नग्नहुचूर्णद्वितीयार्धं द्वेधा कृत्वा ओदनयोः क्षिपेत्। तत ओदनौ एकपात्रे कृत्वा तत्राचामौ क्षिपेत्। ततः स्वाद्वीं त्वा—अंशुनेति मन्त्राभ्यां चूर्णमासरैः सहौदनयोः सङ्घट्टनेन संसर्गः कार्यः। ततस्त्रिरात्रं निधानम्। शष्प-तोक्म-लाजचूर्णतृतीयांशानां प्रतिदिनं सुरायां निवापार्थं रक्षणमिति सूत्रार्थोऽवधेयः।

स्वाद्वीं त्वेति सुरासोमदेवत्याऽनुष्टुप्, सुरारूपः सोमो देवतेत्यर्थः। सौत्रामणीमन्त्राणां प्रजापत्यश्वि-सरस्वत्य ऋषयः, 'प्रजापतिर्यज्ञमसृजत। तमाहरत्तेनायजत तेनेष्ट्वा रिरिचान इवामन्यत स एतं यज्ञक्रतुमपश्यत् सौत्रामणीम्' (श० १२।८।२।१) इति श्रुतेः, 'त्वष्टा हतपुत्रः। अभिचरणीयमपेन्द्रꣳ सोममाहरत् तस्येन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत् स विषङ् व्यार्छत्तस्य मुखात् प्राणेभ्यः श्रीयशसान्यूर्ध्वान्युदक्रामन्.......' (श० १२।८।३।१), 'ततोऽस्मा एतमश्विनौ च सरस्वती च। यज्ञꣳ समभरन् सौत्रामणीं भैषज्याय' (श० १२।८।३।२) इति श्रुतिभ्यश्च।

अथ मन्त्रार्थः—हे सुरे, त्वा त्वां सोमेन संसृजामि संयोजयामि। 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इति समुपसर्गस्य क्रियापदात् परं प्रयोगः। कीदृशीं त्वाम्? स्वाद्वीं मिष्टाम्, मिष्टरसामिति यावत्। पुनः कीदृशीम्? तीव्राम्, तीव्रशब्दः कटुवचनः, कट्वीं शीघ्रं मदजनयित्रीम्। पुनः कीदृशीम्? अमृताम् अमृततुल्याम्। पुनः कीदृशीम्? मधुमतीं मधुरस्वादोपेताम्। कीदृशेन सोमेन संयोजयामि? तत्राह—स्वादुना मृष्टेन तीव्रेण कटुरसेन अमृतेन सुधातुल्येन मधुमता मधुरस्वादेन। सोमोऽसीत्यादि चत्वारि यजूंषि सुरादेवत्यानि। पूर्ववद् विनियोगः। सोमोऽसीति दैव्युष्णिक्, अश्विभ्यां पच्यस्वेति यजुर्गायत्री, सरस्वत्यै पच्यस्वेति यजुरुष्णिक्, इन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्वेति यजुर्बृहती। हे सुरे, त्वं सोमसंसर्गात् सोमोऽसि, अतस्त्वां वदामि। अश्विभ्यामर्थाय पच्यस्व विपरिणम। पाकोऽत्र विपरिणामः। सरस्वत्यै सरस्वत्यर्थं पच्यस्व। इन्द्राय च पच्यस्व। कीदृशाय इन्द्राय? सुत्राम्णे, सुष्ठु त्रायते रक्षतीति सुत्रामा, तस्मै। सूपसर्गपूर्वकात् त्रायतेः 'आतो मनिन्क्वनिब्-वनिपश्च' (पा० सू० ३।२।७४) इति मनिन्प्रत्ययः। अत्र ब्राह्मणम्—'स्वाद्वीं त्वा स्वादुनेति सुराꣳ सन्दधाति। स्वदयत्येवैनां तीव्रां तीव्रेणेतीन्द्रियमेवास्मिन् दधात्यमृताममृतेनेत्यायुरेवास्मिन् दधाति मधुमतीं मधुमतेति रसमेवास्यां दधाति सृजामि सꣳसोमेनेति सोमरूपमेवैनां करोति' (श० १२।७।३।५)।

इदमत्र विशेषतो वक्तव्यम्—शातपथश्रुतौ प्रथमं सौत्रामणीयागोत्पत्त्यर्थं विश्वरूपाख्यायिकावर्णनम्, तस्यां च इन्द्रकृतं विश्वरूपहननम्, विश्वरूपपुत्रकृतमिन्द्रोद्देश्यकाभिचारयागं कृत्वा अपेन्द्रसोमापहरणम्, तदीय-यज्ञविनाशं कृत्वा इन्द्रकृतं बलात्सोमपानम्, स सोमः शक्रशरीरं सर्वतो व्याप्य अङ्गादङ्गाद् वीर्यरूपेणास्रवद् इत्याद्यर्थजातस्य संक्षेपेण वर्णनम्, इन्द्रस्य अक्षिनासिकामुखश्रोत्रेन्द्रियेभ्यः क्रमशस्तेजोवीर्यबलयशोरूपेण स्रुतात् सोमाद् अजाविगोऽश्वाश्वतरगर्दभानां पशूनां पक्ष्माश्रुश्लेष्मस्नोहाफेनेभ्यो गोधूमकुवलोपवाकबदरयवकर्कन्धूनां चोत्पत्तेरभिधानम्, स्तनाभ्यां शुक्ररूपेण स्रुतात्सोमात् पयः, उरसस्त्विषिरूपेण स्रुतात्सोमात् श्येनः पक्षी, नाभितः शुषात्मना स्रुतात्सोमात् सीसम्, रेतोरूपात्मना स्रुतात्सोमाद् हिरण्यम्, शिश्नात् रसात्मना स्रुतात् सोमात् परिस्रुत्, स्फिग्भ्यां क्रोधरूपेण स्रुतात् सोमात् सुरा, मूत्रादोजोरूपेण स्रुतात् सोमाद् वृकः पशुः, अवन्ध्या-न्मन्युरूपेण स्रुतात् सोमाद् व्याघ्रः, लोहितात् सहोरूपेण स्रुतात् सोमात् सिंहः, लोमभ्यश्चित्तरूपेण स्रुतात् सोमात् श्यामाकाः, त्वचोऽपचितिरूपेण स्रुतात् सोमाद् अश्वत्थवृक्षः, मांसेभ्य ऊर्ग्रूपेण स्रुतात्सोमाद् उदुम्बरो वृक्षः,

अस्थिभ्यः स्वधारूपेण स्रुतात् सोमाद् न्यग्रोधो वृक्षः, मज्जभ्यः सोमपीथरूपेण स्रुतात् सोमाद् व्रीहयश्चेत्यादि-सौत्रामण्युपकरणजातं समुत्पन्नमिति क्वचित्क्वचिद् विशेषणविशिष्टमभिधानम्। ततः 'कदाचिदिन्द्रो नमुचिनाऽसुरेण सह चचार, तदा नमुचिस्तमिन्द्रं पुनर्भूतं विलोक्य सुरया तस्येन्द्रियं सोमपीथमन्नाद्यं च वीर्यमपाहरत्, इन्द्रश्चार्दितः संशयितवान्' इत्याद्याख्यायिकांशकथनम्, ततः 'देवास्तमुपगम्यायमिन्द्रोऽस्माकं प्रशस्यतम आसीत्, अधुना तु पाप्मानं प्राप्तः, हन्तेमं भिषज्यामेति विचार्य क्रमादश्विनौ सरस्वतीं चाब्रुवन्, यतो युवां भिषजौ त्वं च भैषज्यमतो यूयमिमं भिषज्यत' इत्याख्यायिकांशकथनम्। एवं सुरैः प्रार्थितास्ते तान् सुरानब्रुवन्नस्तु नो भाग इति, तदा देवैरश्विभ्यां धूम्रोऽजः पशुः, सरस्वत्यै च मेषः पशुः, यस्माच्चायमिन्द्रोऽस्माकमृषभस्तस्मात्तस्मा ऋषभः पशुर्भागत्वेन परिकल्पित इत्याद्याख्यायिकांशकथनम्। ततोऽश्विनौ सरस्वती च यथा यथा स्रुतं तत्सर्वं नमुचेः सकाशादाहृत्य तस्मिन्निन्द्रे पुनरदधुरित्याख्यायिकोपसंहरणम्। एवमाख्यायिकया सौत्रामण्यङ्गपशुयाग-त्रयस्य उत्पत्तिमभिधाय प्रसङ्गात् सौत्रामणीशब्दनिर्वचनं तद्वेदितुः फलकथनं च, दक्षिणाधिकारविधिनिरूपणं च, एवं विस्तरेण तत्तदाख्यायिकाव्याजेन सौत्रामणीवर्णनम्। एतत्प्रतिपादकं ब्राह्मणमत्र प्रारम्भ एवोद्धृतम्। 'तावश्विनौ च सरस्वती च। इन्द्रियं वीर्यं नमुचेराहृत्य तस्मिन् पुनरदधुस्तं पाप्मनोऽत्रायन्त सुत्रातं बतैनं पाप्मनोऽत्रास्महीति तद्वाव सौत्रामण्यभवत् तत्सौत्रामण्यै सौत्रामणीत्वं त्रायते मृत्योरात्मानमप पाप्मानꣳ हते य एवमेतत्सौत्रामण्यै सौत्रामणीत्वं वेद त्रयस्त्रिꣳशद्दक्षिणा भवन्ति त्रयस्त्रिꣳशद्धि तं देवता अभिषज्यंस्तस्मादाहुर्भेषजं दक्षिणा इति' (श० १२।७।१।१४) इति ब्राह्मणेनोपसंहृतम्। मन्त्रार्थसमर्थकं ब्राह्मणं तु—'सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व। सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्वेत्येता वा एतं देवता अग्रे यज्ञꣳ समभरंस्ताभिरेवैनꣳ सम्भरत्यथो एता एवैतद्देवता भागधेयेन समर्धयत्यासुनोति सुत्यायै तिस्रो रात्रीर्वसति तिस्रो हि रात्रीः सोमः क्रीतो वसति सोमरूपमेवैनां करोति' (श० १२।७।३।६) इति।

अध्यात्मपक्षे—'अत्र सुरा सुष्ठु शोभने परस्मिन् ब्रह्मणि रमते यया सा, अर्थाद् ब्रह्मविद्या, सोमेन उमया ब्रह्मविद्यया सहितः सोमो विवेकः, तेन सम्बद्ध्यमाना प्रशस्यते। हे सुरे, त्वा त्वां स्वाद्वीमिष्टरसोपेतां स्वादुना मृष्टेन सोमेन संसृजामि संयोजयामि। मधुमयब्रह्मविषयत्वेनैव विवेकब्रह्मविद्ययोर्मिष्टरसत्वम्। तीव्रेण कटुना कटुरसेन सोमेन तीव्रां त्वां संसृजामि। विषयवैरस्यभासकत्वेन कटुत्वमुभयोरुपचर्यते। अमृतत्वप्रापकत्वेन चोभयोरमृतरूपत्वम्। इत्थममृतेन सुधातुल्येन सोमेन अमृताममृततुल्यां मधुमता सोमेन मधुमतीं मधुरस्वादोपेतेन सोमेन मधुरस्वादोपेतां त्वां संसृजामि। हे सुरे ब्रह्मविद्ये, ब्रह्मानन्दमदमादकत्वात्, त्वं सोमोऽसि चितिचैत्य-विवेकोऽसि। त्वमश्विभ्यां जीवात्मपरमात्मभ्यामर्थाय पच्यस्व परिपक्वरूपा भव। सरस्वत्यै प्रज्ञप्तिरूपिण्यै परिपच्यस्व। इन्द्राय परमैश्वर्योपेताय ईश्वराय परिपच्यस्व। विवेकेन संसृष्टा ब्रह्मविद्या समेषां हितावहा सम्पद्यते। किं बहुना, सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सम्पद्यते।

दयानन्दस्तु—'हे वैद्य, यस्त्वं सोमोऽसि, तं त्वामोषधिविद्यायां संसृजामि। यथाहं यां स्वादुना सह स्वाद्वीं तीव्रेण सह तीव्राममृतेन सहामृतां सोमेन सह मधुमतीमोषधिं संसृजामि, तथैतां त्वमश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्व सुत्राम्ण इन्द्राय पच्यस्व' इति, तत्सर्वं शतपथब्राह्मणकात्यायनादिसूत्रविरोधात् सर्वथोपेक्ष्यम्। स्वामिदयानन्दरीत्या आरोग्यप्राप्त्यर्थं वैद्यकशास्त्ररीत्या अनेकमधुरादिप्रशस्तस्वादयुक्तौषधसेवनमत्र वर्णितम्। अस्य विषयस्य सुतरामायुर्वेदविषयत्वाद् धर्मब्रह्मप्रतिपादकवेदेन कथङ्कारं सम्बन्ध इति चिन्त्यमेव ॥१॥

परीतो षिञ्चता सुतꣳ सोमो य उत्तमꣳ हविः।

दधन्वा यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों ! जो सोम श्रेष्ठ हवि है, मनुष्यों का हितकारी होता हुआ यजमान की रक्षा करता है, जल में वर्तमान जिस सोम को अध्वर्यु ने पीस कर निचोड़ा है, उस अभिषुत सोम को गाय के दूध में मिलाओ, जिससे कि देवताओं के लिये श्रेष्ठ हवि तैयार हो ॥ २ ॥

'एकस्याः पयसाऽपाकृतेनाश्विनेन परिषिञ्चति परीतो षिञ्चतेति, शष्पचूर्णानि चावपति, सारस्वतेन द्वयोः प्रातः, तोक्मचूर्णानि च, ऐन्द्रेणोत्तमे तिसृणाम्, लाजचूर्णानि च' (का० श्रौ० १९।१।२३-२७)। सायंहोमान्तेऽश्विभ्यामपाकरोमीत्येकां गां करेण स्पृष्ट्वा तां दुग्ध्वा तत्पयसाध्वर्युः सुरां सिञ्चति परीत इति मन्त्रेण, रक्षितं शष्पचूर्णानां तृतीयांशं सुराभाण्डे क्षिपेत्, द्वितीयेऽह्नि निशान्ते सरस्वत्या अपाकरोमीति द्वे गावौ स्पृष्ट्वा दोहितेन तयोर्दुग्धेन तेनैव मन्त्रेण सुरां सिञ्चति, तोक्मचूर्णतृतीयांशक्षेपश्च। तृतीयेऽह्नि रात्रौ इन्द्राय सुत्राम्णेऽपाकरोमीति तिस्रो गाः स्पृष्ट्वा ता दुग्ध्वा एकीकृततत्पयसा सुरां सिञ्चति तेनैव मन्त्रेण, तत्र लाजचूर्णतृतीयांशक्षेपश्चेति पूर्वोद्धृतसूत्रार्थः।

भरद्वाजदृष्टा सोमदेवत्या बृहती। हे ऋत्विजः, इतो गोसकाशाद् गृहीतेन दुग्धेनेति शेषः। सुतमभिषुतं सोमं परिस्रुद्रूपं परिषिञ्चता, यूयमिति शेषः। परि+इतः+सिञ्चतेति पदेषु सत्सु 'ओकारमितः सिञ्चतौ सोपधः' (वा० प्रा० ३।४६) इति सूत्रेण 'इतःशब्दसम्बन्धो विसर्जनीयः सोपध उपधासहितः सिञ्चतौ परे ओकारमापद्यते' इत्यर्थकेन सविसर्गस्य तकारोत्तरवर्त्यकारस्य ओकार आदेशः, 'ऋचि तुनुघ' (पा० सू० ६।३।१३३) इत्यादिना दीर्घः। यः सोम उत्तमं हविः सर्वेषां हविषां श्रेष्ठम्, यश्च नर्यो नृभ्यो हितो नर्यः सन् दधन्वान् यजमानं धारितवान् धनधान्यादिसम्पन्नं कृतवानिति यावत्, ह्वादिकस्य 'धन धान्ये' इत्यस्य भूतसामान्ये लिटि तस्य 'क्वसुश्च' (पा० सू० ३।२।१०७) इति विधीयमाने क्वस्वादेशे रूपम्। अप्सु जलेषु अन्तर्मध्ये वर्तमानं यं सोममद्रिभिर्ग्रावभिरध्वर्युरासुषाव अभिषुतवान्, तं सोमं सुरारूपतामापन्नं पयसा सिञ्चतेति सम्बन्धः।

अत्र ब्राह्मणम्—'पयश्च सुरा च भवतः। सोमो वै पयोऽन्नꣳ सुरा पयसैव सोमपीथमवरुन्धे सुरयाऽन्नाद्यं क्षत्रं वै पयो विट् सुरा सुरां पूत्वा पयः पुनाति विश एव तत्क्षत्रं जनयति विशो हि क्षत्रं जायते' (श० १२।७।३।८)। अत्र सोमसम्पादनप्रक्रिया उक्ता। स्पष्टार्था कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—अत्र परमात्मनः सार्वात्म्यं प्रतिपाद्यते सौत्रामणीतिकर्तव्यताप्रतिपादनप्रसङ्गेन। यथा मृद्विकारा घटशरावोदञ्चनादयो मृद्रूपा एव, तथैव याग-तदङ्ग-द्रव्यदेवतेतिकर्तव्यतादिप्रतिपादनमपि ब्रह्मप्रतिपादनमेव। यथा भूविकारेषु काष्ठपट्ट-पादुका-रथादिष्वपि निहितानि पदानि भुव्येव निहितानि भवन्ति, तथैव ब्रह्मविकारभूततत्तद्वस्तुप्रतिपादनमपि ब्रह्मप्रतिपादनमेव भवति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य उत्तमं हविः सोमः प्रेरक इतः प्राप्तः स्यात्, यो नर्यो दधन्वान् अप्स्वन्तरा सुषाव साधयेत्, तमद्रिभिर्मेघैः सुतमुत्पन्नं सोमं यूयं परिसिञ्चत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सामान्यभोजनार्हं-वस्तुनो हविःपदव्यपदेश्यत्वाभावात्, किं धारयन् किं वा अप्स्वन्तः सुषावेत्यस्य अस्पष्टत्वात्। मेघैः सोमोत्पत्तिरपि चिन्त्या, मेघैर्वर्षाभिः क्लिन्नायां भूमौ सर्वस्यैव भक्ष्यजातस्योत्पत्तेः सर्वसम्मतत्वात् ॥ २ ॥

वा॒योः पू॒तः प॒वित्रे॑ण प्र॒त्यङ्क्सोमो॒ अति॑द्रुतः। इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑। वा॒योः पू॒तः प॒वित्रे॑ण प्रा॒ङ्क्सोमो॒ अति॑द्रुतः। इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—पश्चिममुख शीघ्रता से निचोड़ा हुआ यह सोम वायु देवता के पवित्रे से शुद्ध हुआ इन्द्र का योग्य सखा है। पूर्वमुख निकाला हुआ सोम वायु के पवित्रे से पवित्र हुआ है, जो कि इन्द्र का योग्य सखा है, अर्थात् हे सोम! तुम शीघ्र ही इस पात्र में से निकल सकते हो, वायु देवता के अनुग्रह से तुम पवित्र हो ॥ ३ ॥

'सते पुनाति गोऽश्ववालवालेन पुनाति ते परिस्रुतमिति, वायोः पूत इति सोमातिपूतस्य, प्राङिति तद्वामिनः' (का० श्रौ० १९।२।७-९)। अस्यां वायोः पूत इति कण्डिकायां द्वे ऋचौ, पुनाति त इति तृतीया ऋक्। तासां व्युत्क्रमेण विनियोगमाह—पूतां सुरामादाय गोऽश्वकेशनिर्मितेन वालेन पवित्रेण सते पालाशे महति पात्रे पुनीयात्। पुनाति त इति मन्त्रेण सतं वारणमिति केचित्। मुखेतरच्छिद्रसोमवामिनो यजमानस्य सौत्रामण्यां वायोः पूत इति मन्त्रेण सते सुरां पुनीयात्। मुखेन सोमवामिनस्तु 'वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ्' इति मन्त्रेण सते सुरां पुनीयादिति सूत्रत्रयार्थः।

ऋक्त्रयमाभूतिदृष्टं सोमदेवत्यं गायत्रम्। प्रत्यङ् प्रतीपमञ्चत्यधो गच्छतीति प्रत्यङ्, अधोमुखोऽतिद्रुतः पायुद्वारा निर्गतः सोमो वायोः पवित्रेण जठरान्तर्वर्तिना पूतः शुद्धः। कीदृशः सोमः? इन्द्रस्य युज्यः, योगमर्हतीति युज्यः, इन्द्रेण सह योगार्हः, अगर्ह्य इति यावत्। सखा सहायः। सोमपानेन प्रोत्साहित इन्द्रः शत्रूनभिभवतीति। प्राङ् प्रकर्षेण अञ्चति ऊर्ध्वं गच्छतीति प्राङ्। मुखतोऽतिद्रुतो निर्गतः सोमः वायोः पवित्रेण हृदयान्तर्वर्तिना पूतः, य इन्द्रस्य युज्यो योग्यः सखा, युजेर्बाहुलकात् क्यप्।

अत्र ब्राह्मणम्—'वायोः पूतः पवित्रेण। प्रत्यङ् सोमो अतिद्रुत इति सोमातिपूतस्य पुनाति यथारूपमेवैनं पुनातीन्द्रस्य युज्यः सखेति यदेवास्य तेनेन्द्रियं वीर्यमतिक्रान्तं भवति तदस्मिन् पुनर्दधाति' (श० १२।७।३।९)। 'वायोः पूतः पवित्रेण। प्राङ् सोमो अतिद्रुत इति सोमवामिनः पुनाति यथारूपमेवैनं पुनातीन्द्रस्य युज्यः सखेति यदेवास्य तेनेन्द्रियं वीर्यमतिक्रान्तं भवति तदस्मिन् पुनर्दधाति' (श० १२।७।३।१०), 'पुनाति ते परिस्रुतमिति। समृद्धिकामस्य पुनाति समृद्ध्यै सोमꣳ सूर्यस्य दुहितेति श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता श्रद्धयैष सोमो भवति श्रद्धयैवैनꣳ सोमं करोति वारेण शश्वता तनेति वालेन ह्येषा पूयते' (श० १२।७।३।११)। मन्त्रसूत्रव्याख्यानेनैव व्याख्याताः स्पष्टार्थाः कण्डिकाः।

अध्यात्मपक्षे—उमया सहितः सोमो महेश्वरो जीवभावं गतः सन् प्रत्यङ्ङतिद्रुतो मनुष्याद्यधोगतिं गतः, वायोः सूत्रात्मनो हिरण्यगर्भस्य पवित्रेण पवित्रकारकेणानुग्रहेण पूतः सन्निन्द्रस्य परमेश्वरस्य युज्यो योगार्हः सखा सम्पद्यते। स एव प्राङ् मनुष्यादूर्ध्वं ब्रह्मात्वभावं गतो वायोः पवित्रेण पूत इन्द्रस्य युज्यः सखा सम्पद्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य सोमः सोमलताद्योषधिगुणः प्राङ्ङतिद्रुतो वायोः पवित्रेण शुद्धिकरेण कर्मणा पूत इन्द्रस्य जीवस्य युज्यः सखेवास्ति, यश्च सोमः प्रत्यङ्ङतिद्रुतो वायोः पवित्रेण पूत इन्द्रस्य युज्यः सखेवास्ति, तं यूयं सततं सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्याप्यस्य आयुर्वेदादिसिद्धस्य अज्ञातज्ञापकत्वाभावेनावेदार्थत्वात्, सोमपदस्य सोमलताद्योषधिगणेऽर्थे इत्यत्र प्रमाणविरहात्। न च सर्वौषधिगणः सर्वसेव्यः, अधिकारानुसारेणैव तत्प्रयोगात् ॥ ३ ॥

पुनाति ते परिस्रुतꣳ सोमꣳ सूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान! सूर्य की पुत्री श्रद्धा अभिषुत सोम को अनादि धन से पवित्र करती है ॥ ४ ॥

यजमानं प्रत्याचष्टेऽध्वर्युः। हे यजमान, सूर्यस्य दुहिता पुत्री श्रद्धा ते तव परिस्रुतं सुरां सोमं च पुनाति शोधयति। यद्वा लुप्तोपमानमेतत्। ते तव परिस्रुतं सोममिव पुनाति पवित्रं करोति सूर्यस्य दुहिता श्रद्धा। अथवा सोमरूपतामापन्नां परिस्रुतं श्रद्धा पुनाति। केन ? वारेण वालेन, रलयोरैक्यात्, गोऽश्ववालेन। पुनः कीदृशेन वारेण ? तत्राह—शश्वता शाश्वतिकेन अनादिना तथा तना, 'तनेति धननाम' (निघ० २।१०।१९), धनरूपेणेत्यर्थः, धनोत्पत्तिनिमित्तभूतेनेति यावत्। गोऽश्ववाला अकृत्रिमा एव गवादिषु भवन्ति, तैर्धनमर्ज्यते। ऊषरभूमौ गवां विश्रमाद् गोरोमतो दूर्वाकाण्डोत्पत्तिर्जायते। अत्रत्यं ब्राह्मणं पूर्वकण्डिकाया-मेवोद्धृतम्।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यस्य सवितुर्देवस्य दुहिता श्रद्धा परिस्रुतं भगवते देवताभ्यश्च समर्पणीयं परिस्रुतं सोमादिकं शश्वता शाश्वतिकेन वारेण वरणीयेन गुणेन पुनाति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, या तना विस्तृतेन प्रकाशेन सूर्यदुहिता पुत्रीवोषा शश्वता सनातनेन गुणेन वारेण वरणीयेन गुणेन ते परिस्रुतं सर्वतः प्राप्तं सोममोषधिरसं पुनाति, तस्यां त्वमोषधिरसं सेवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उक्तश्रुतिविरोधात्। तत्र हि श्रद्धा सूर्यस्य दुहितोक्ता। उषा सोमरसं विस्तृतप्रकाशेन पुनातीत्यस्य निर्मूलत्वात्। पवित्रता च कीदृशी ? नहि पापनिवारिका पुण्याधायिका च सा, त्वया तदनभ्युपगमात्। नापि दोषनिवारिका, सतो दोषस्य चोषसा निवारणे प्रमाणाभावात्, तथात्वे विषलताया अपि शोधनोपपत्तेः। न वाऽनित्ये वस्तुनि सनातनो गुणः सम्भवति। न च वारशब्दस्य वरणीयार्थता, 'वालेन ह्यषा पयते' इति श्रुतिविरोधात् ॥ ४ ॥

ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं प॑वते॒ तेज॑ इन्द्रि॒यꣳ सुर॑या॒ सोम॑ः सु॒त आसु॑तो॒ मदा॑य।
शु॒क्रेण॑ देव दे॒वता॑ः पिपृग्धि॒ रसे॑ना॒न्नं यज॑मानाय धेहि ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम ! तुम शुद्ध वीर्य द्वारा अग्नि आदि देवताओं को प्रसन्न करो, घृत आदि रस से भरे अन्न को यजमान को दो। अभिषुत सोम क्षत्रिय और ब्राह्मण जाति की कान्ति को एवं इन्द्रियों को शक्ति को प्रकट करता है। सुरा के साथ मिला हुआ सोम तीव्र मद का जनक है ॥ ५ ॥

'उत्तरस्यां पयो वैतसेऽजाविलोमपवित्रेण ब्रह्म क्षत्रमिति' (का० श्रौ० १९।२।१०)। उत्तरस्यां वेद्यामजलोमभिर्मेषरोमभिश्च निर्मितेन पवित्रेण वेतसवृक्षनिर्मिते पात्रे ब्रह्म क्षत्रमिति मन्त्रेण पयः पुनीयादिति सूत्रार्थः। सुरासोमदेवत्या त्रिष्टुप्। आद्यो द्वादशकः, द्वितीयस्त्रयोदशार्णः, तृतीयचतुर्थावेकादशार्णौ, तेन त्र्यधिका। हे देव देवादिगुणक सोम, शुक्रेण शुक्लेन शुद्धेन वीर्येण त्वं देवता अग्न्याद्याः प्रकृतयागसम्बन्धिनीः पिपृग्धि प्रीणीहि। पुना रसेन घृतादिना सहितमन्नमदनीयं यजमानाय धेहि देहि। यतः सोमो भवान् सुतोऽभिषुतः सन् ब्रह्म ब्राह्मणं क्षत्रं क्षत्रियं तेजः कान्तिमिन्द्रियं सामर्थ्यं च पवते जनयति। पवतिरत्र जननार्थः, यज्ञादेव सर्वो-त्पत्तेः। सोमे यज्ञ उपचर्यते। आसुतः सुरया तीव्रीकृतो भवान् मदाय च भवति। एवं सामर्थ्योपेतस्त्वं देवान् यजमानं च अभीष्टहविःप्रदानेन अभीष्टफलप्रदानेन च प्रीणाहि। यद्वा यस्मात् कारणात् सोमः सुतः संस्कृतोऽ-भिषुतस्तीव्रीकृतश्च ब्रह्म ब्राह्मणं क्षत्रं क्षत्रियं पतते जनयति, तेज इन्द्रियं कान्तिमिन्द्रियसामर्थ्यं च जनयति। यस्माच्च सुरया आसुतस्तीव्रीकृतो मदाय मदजनको भवसीति शेषः, अतः शुक्रेण शोचिष्मता दीप्तिमता रूपेण मन्त्रजनितेन सामर्थ्येन हे देव, देवताः पिपृग्धि प्रीणीहि। रसेन युक्तं चान्नं यजमानाय धेहि देहि।

अध्यात्मपक्षे—हे सोमात्मना प्रादुर्भूत साम्बसदाशिव, शुक्रेण शुद्धेन वीर्येण त्वं देवताः पिपृग्धि। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'ब्रह्म क्षत्रं पवत इति पयः पुनाति। ब्रह्मण एव तत् क्षत्रं जनयति ब्रह्मणो हि क्षत्रं जायते तेज इन्द्रियमिति तेज एवास्मिन्निन्द्रियं वीर्यं दधाति सुरया सोम इति सुरया हि सोमः सुत आसुत इत्यासुताद्धि सूयते मदायेति मदाय वाव सोमो मदाय सुरोभावेन सोममदं च सुरामदं चावरुन्धे शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धीति शुक्रेण देव देवताः प्रीणीहीत्येवैतदाह रसेनान्नं यजमानाय धेहीति रसमेवान्नं यजमाने दधाति पूर्वे पयोग्रहा गृह्यन्तेऽपरे सुराग्रहा विशं तत्क्षत्रस्यानुवर्त्मानं करोति' (श० १२।७।३।१२)।

दयानन्दस्तु—'हे देव विद्वन्, यः शुक्रेण आशु शुद्धिकरेण मदाय आनन्दाय सुरया या स्नयते सा सुरा, तया चासुतः सम्पादितः सोमः समन्ताद्रोगनिवारणे सेवितस्तेज इन्द्रियं ब्रह्म विद्वत्कुलं क्षत्रं न्यायकारिकुलं च पवते तेन रसेनान्नं यजमानाय धेहि। देवताः पिपृग्धि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथा हि सुखदाता विद्वानत्र सम्बोध्य धर्मात्मने रसयुक्तान्नदानाय विदुषां प्रसादनाय च प्रार्थ्यते। यो विद्वान् स स्वयमेव स्वकर्तव्यं जानातीत्यपार्थमेव तद्वचनम्। या सूयते सा क्रियेत्यप्यपार्थकम्, क्रियावतामपि सवनदर्शनात्, तेषामपि क्रियात्वापत्तेः। मन्त्रे तु सुरासोमपदार्थयोश्चर्चा न त्वन्यौषधीनाम्। ब्रह्म च क्षत्रं च, एतयोर्योगद्वारा सोमस्य पावकत्वं वेदेषु प्रसिद्धम्। अन्यौषधिरसानां तथात्वं चिन्त्यमेव ॥ ५ ॥

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय। इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे। एष ते योनिस्तेजसे त्वा वीर्याय त्वा बलाय त्वा ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! जैसे किसान अकेला भी अपनी जोती हुई भूमि में अधिक उत्पन्न हुए धान्य को क्रम से काटता है, उसी प्रकार क्रम से सभी देवताओं को सोम रस का पान कराने के कारण तुम उनके परम प्रिय हो। यहाँ इन यजमानों के लिये भोज्य पदार्थों का संग्रह करो, जो कि कुशा के आसन पर बैठ कर मन्त्रोच्चारण करते हुए हवि देते हैं। हे सोम! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, अश्विनीकुमारों की प्रीति के निमित्त तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। तेज के निमित्त तुम्हें यहाँ बैठाता हूँ। हे पयोग्रह! तुमको सरस्वती देवता की प्रीति के निमित्त, हे दूसरे पयोग्रह! तुमको वीरता की प्राप्ति के निमित्त, हे तृतीय पयोग्रह! रक्षक इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ, बल के निमित्त तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ६ ॥

'पयोग्रहान् गृह्णाति कुविदङ्गेति, पृथगुपयामयोनी' (का० श्रौ० १९।२।१२-१३)। एवं सुरापयसोः पावनं कृत्वा कुविदङ्गेति मन्त्रेणैव त्रीन् पयोग्रहान् गृह्णाति। मन्त्रपाठे उपयामगृहीतोऽसि, एष ते योनिरिति द्वे यजुषी सकृत्पठिते अपि, त्रिषु ग्रहेषु उपयामेति ग्रहग्रहणमन्त्रः, एष ते योनिरिति ग्रहासादनमन्त्रश्च पृथक् पृथग् भवतः। ततश्चेत्थं मन्त्रस्वरूपम्—प्रथमग्रहग्रहे ॐ कुविदङ्गेति ऋचं पठित्वा उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा गृह्णामि। ॐ एष ते योनिस्तेजसे त्वा सादयामि। ततो द्वितीयग्रहग्रहे ॐ कुविदङ्गेति ऋचं पठित्वा उपयामगृहीतोऽसि सरस्वत्यै त्वा गृह्णामि। ॐ एष ते योनिर्वीर्याय त्वा सादयामि। ततस्तृतीयग्रहग्रहे ॐ कुविदङ्गेति ऋचं पठित्वा उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा सुत्राम्णे गृह्णामि। ॐ एष ते योनिर्बलाय त्वा सादयामि। कुविदङ्गेति ऋग् दशमेऽध्याये

द्वात्रिंश्यां कण्डिकायां व्याख्याता। हे पयोग्रह, त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि। अश्विभ्यामर्थे त्वां गृह्णामि। ततः सादयति—एष ते योनिः स्थानम्। 'योनिर्द्वयोः' (अ० को० २।६।७६) इति कोषाद् योनिशब्द उभयलिङ्गः। तेजसे तेजोऽर्थं त्वां सादयामि। द्वितीयपयोग्रहे सरस्वत्यै त्वां गृह्णामि, वीर्यार्थं त्वां सादयामि। तृतीयपयोग्रहे सुत्राम्णे सुष्ठु त्रायते रक्षतीति सुत्रामा तस्मै रक्षकाय इन्द्राय त्वां गृह्णामि, बलाय बलार्थं त्वां सादयामि। एतेषां क्रमादश्वत्थोदुम्बरन्यग्रोधपात्रैर्ग्रहणम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिदिति। पयोग्रहान् गृह्णाति सोमाᳬंशवो वै यवाः सोमः पयः सोमेनैवैनᳬं सोमं करोत्येकया गृह्णात्येकधैव यजमाने श्रियं दधाति श्रीर्हि पयः' (श० १२।७।३।१३)। 'कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिदिति पयोग्रहान् गृह्णाति' इति पयोग्रहाणामुत्पत्तिवाक्यम्। मान्त्रवर्णिक्य एव सुरासोमादयो देवताः ॥६॥

नाना हि वां देवहितᳬं सदस्कृतं मा सᳬंसृक्षाथां परमे व्योमन्।
सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोम एष मा मा हिᳬंसीः स्वां योनिमाविशन्ती ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे सुरा-सोम! तुम दोनों देवताओं के हितकारी हो, तुम लोगों के लिये यहाँ अलग-अलग स्थान बनाये गये हैं, इसलिये तुम लोग इस विशाल हवन स्थान में ही रहो। आहवनीय अग्नि में दूध और दक्षिणाग्नि में सुरा होमी जाती है, अतः अलग-अलग रहो। हे सुरा रस! तुम बलवान् देवताओं के स्वीकार करने योग्य रस से युक्त हो, यह सोम शान्त है, अतः दक्षिणाग्नि में प्रवेश करते समय तुम सोम को पीड़ा मत दो ॥ ७ ॥

'स्थालीभिः सौरान् नाना हि वामिति व्यत्यासम्' (का० श्रौ० १९।२।२१)। त्रीन् सुराग्रहान् व्यत्यस्य व्यत्यस्य स्थालीभिर्मृण्मयीभिर्गृह्णीयात्। तद्यथा—प्रथममाश्विनं पयोग्रहं गृहीत्वाऽऽसाद्य तत आश्विनं सुराग्रहं गृहीत्वाऽऽसादयेत्। ततः सारस्वतं पयोग्रहं ततः सारस्वतं सुराग्रहम्। तत ऐन्द्रं पयोग्रहं तत ऐन्द्रं सुराग्रहमिति। क्रमेण वा उपयामयोनी। तथा च प्रथमे नाना हीति पठित्वा उपयामगृहीतोऽस्याश्विनं तेज इति ग्रहणम्, एष ते योनिर्मोहाय त्वेति सादनम्। द्वितीये नाना हीति पठित्वा उपयामगृहीतोऽसि सारस्वतं वीर्यमिति ग्रहणम्, एष ते योनिरानन्दाय त्वेति सादनम्। तृतीये नाना हीत्यन्ते उपयामगृहीतोऽस्यैन्द्रबलमिति ग्रहणम्, एष ते योनिर्महसे त्वेति सादनमिति सूत्रार्थः।

सुरा-सोमदेवत्या जगती। हे सुरासोमौ, हि यस्मात् कारणाद् वां युवयोर्नाना पृथक् पृथक् सदः स्थानं कृतम्, सुरापयसोर्द्वे वेदी भवतः। कीदृशं सदः? देवहितं देवेभ्यो हितं पथ्यम्। यद्वा देवैर्हितं स्थापितम्। अतः कारणात् परमे उत्कृष्टे व्योमन् व्योम्नि व्योमवद्विशाले हवनस्थाने युवां मा संसृक्षाथां संसर्गं मा कुरुतम्।—आहवनीये पयो हूयते, दक्षिणाग्नौ च सुरा। अतो न संसर्गः। एवं द्वावुक्त्वा सुरां प्रत्याह—हे सुरे, त्वं सुरा असि। कीदृशी? तत्राह—शुष्मिणी शुष्मं बलमस्यास्तीति बलवती। अतस्त्वां पीत्वा रौद्रमना भवति। एष सोमः प्रख्यातगुणः शान्तः। अतो ब्रवीमि स्वां योनिमाविशन्ती प्रविशन्ती सती सोमं मा हिंसीः। माशब्दोऽनुदात्तोऽनर्थकः पादपूरणार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'नाना हि वां देवहितᳬं सदस्कृतमिति। सुराग्रहान् गृह्णाति नाना हि सोमश्च सुरा च देवहितमिति देवहिते ह्येते नाना सदस्कृतमिति द्वे हि वेदी भवतो मा सᳬंसृक्षाथां परमे व्योमन्निति

पाप्मनैवैनं व्यावर्तयति सुरा त्वमसि शुष्मिणीति सुरामेव सुरां करोति सोम एष इति सोममेव सोमं करोति मा मा हिꣳसीः स्वां योनिमाविशन्तीति यथाऽऽन्यैवैनां व्यावर्तयत्यात्मनोऽहिꣳसाया एकया गृह्णात्येकधैव यजमाने यशो दधाति यशो हि सुरा' (श० १२।७।३।१४)। नाना हि वां देवहितं सदस्कृतमिति सुराग्रहान् गृह्णातीति सुराग्रहाणामुत्पत्तिवाक्यम्। मान्त्रवर्णिकश्च एव सुरासोमादयो देवताः। 'क्षत्रं वै पयोग्रहाः। विट् सुराग्रहा यदव्यतिषिक्तान् गृह्णीयाद् विशं क्षत्राद् व्यवच्छिन्द्यात् क्षत्रं विशः पापवस्यसं कुर्याद्यज्ञस्य व्यृद्धि व्यतिषक्तान् गृह्णाति विशमेव क्षत्रेण सन्दधाति क्षत्रं विशा पापवस्यसस्य व्यावृत्त्यै यज्ञस्य समृद्ध्यै' (श० १२।७।३।१५)। व्यतिषक्ता अन्योऽन्यमतिक्रान्ताः। सक्तांश्च गृह्णाति। पयोग्रहं गृहीत्वा सुराग्रहं गृह्णाति। सुराग्रहं गृहीत्वा पयोग्रहान् गृह्णाति। अव्यतिषक्तग्रहणे हि क्षत्राद्विशो व्यवच्छेदः, विशश्च क्षत्रस्य। तदेतत् पापकं कर्म। तदेव वस्यसं वसुमत्तरं प्रशस्यं वा। यस्मिन् यज्ञे पापवस्यसं तस्य व्यृद्धिः। तस्माद्यज्ञसमृद्ध्यर्थं पापवस्यसं न कर्तव्यमिति। 'प्राणा वै पयोग्रहाः। शरीरꣳ सुराग्रहा यदव्यतिषक्तान् गृह्णीयाच्छरीरं प्राणेभ्यो व्यवच्छिन्द्यात् प्राणान् शरीरात् प्रमायुको यजमानः स्याद्व्यतिषक्तान् गृह्णाति शरीरमेव प्राणैः सन्दधाति प्राणान् शरीरेणाथो आयुरेवास्मिन् दधाति तस्मात् सौत्रामण्येजानः सर्वमायुरेत्यथो य एवमेतद्वेद' (श० १२।७।३।१६)। प्राणाः पयोग्रहाः, शरीरं सुराग्रहाः। अव्यतिषक्तग्रहणे प्राणेभ्यः शरीरस्य व्यवच्छेदः, शरीराच्च प्राणानाम्। तथा च यजमानो म्रियेत। व्यतिषक्तग्रहणे च शरीरं प्राणैः सन्दधाति प्राणांश्च शरीरेण। 'सोमो वै पयोग्रहाः। अन्नꣳ सुराग्रहा यत्पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते सोमपीथं चैवान्नाद्यं चावरुन्धे' (श० १२।७।३।१७)। सोमपीथं सोमपानमन्नाद्यं चावरुन्धे प्राप्नोति, यजमान इति शेषः।

पशवो वै पयोग्रहाः। अन्नꣳ सुराग्रहा यत्पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते पशूंश्चैवान्नाद्यं चावरुन्धे' (श० १२।७।३।१८)। स्पष्टार्था कण्डिका। 'ग्राम्या वै पशवः पयोग्रहाः। आरण्याः सुराग्रहा यत्पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते ग्राम्यांश्चैव पशूनारण्यांश्चावरुन्धे ग्राम्येण चान्नेनारण्येन च पयोग्रहाञ्छ्रीणाति तस्माद् ग्राम्याणां पशूनां ग्राम्यं चैवान्नाद्यमारण्यं चावरुद्धम्' (श० १२।७।३।१९)। 'तदाहुः। एतस्यै वा एतदघलायै देवतायै रूपं यदेते घोरा आरण्याः पशवो यदेतेषां पशूनां लोमभिः पयोग्रहान् श्रीणीयाद् रुद्रस्यास्ये पशूनपिदध्याद-पशुर्यजमानः स्याद्यन्न श्रीणीयादनवरुद्धा अस्य पशवः स्यू रुद्रो हि पशूनामीष्ट इति सुराग्रहानेवैतेषां पशूनां लोमभि श्रीणाति सुरायामेव तद्रौद्रं दधाति तस्मात् सुरां पीत्वा रौद्रमना अथो आरण्येष्वेव पशुषु रुद्रस्य हेतिं दधाति ग्राम्याणां पशूनामहिꣳसाया अवरुद्धा अस्य पशवो भवन्ति न रुद्रस्यास्ये पशूनपि दधाति' (श० १२।७।३।२०)। अघला अघं पापं लाति आदत्त इत्यघला हिंसाकारिणी। देवता रुद्रः। घोरा हर्तारः। आरण्याः पशवः सिंहवृकव्याघ्राः। रुद्रस्य वृकस्य। आस्ये मुखे। पशून् ग्रहान्। उग्ररूपार्थत्वाद् अपिदध्यात् संस्थापयेत्। अपशुर्यजमानः स्यात्। आरण्यानां लोमभिः किञ्चिदपि श्रीणीयात् ततोऽनवरुद्धा अस्वीकृताः, अनादृता इति यावत्। कथं पुना रुद्रे आभक्षायास्ये पशवोऽवरुद्धा भवन्तीत्यर्थः। सुराग्रहानेव एतेषामारण्यानां लोमभिः श्रीणाति सुरायामेवैतद् रौद्रं रूपं दधाति। तस्माद् यज्ञानुकृत्या लोकेऽपि सुरां पीत्वा रौद्रचित्तो जिघांसुः पुरुषो भवति। अथ आरण्येष्वेव पशुमृगवराहमहिषगवयादिषु रुद्रस्य स्वभूतं हेतिमायुधं सिंहव्याघ्रात्मकं दधाति। किमर्थम्? ग्राम्याणां गवादीनां पशूनामहिंसायै। अन्यथा व्याघ्रादयः सामान्यरूपेण आरण्यानिव एतानपि हिंसिष्यन्ति। यत्सुराग्रहान् श्रीणन्ति तदास्येषु रुद्रस्य निदधाति यजमानः, सुराग्रहाणामारण्यपशुवचनात्। एवं हि पशुपतिमाभजतोऽस्य यजमानस्य अवरुद्धाः पशवो भवन्ति। या व्याघ्रमिति द्वाभ्यामृग्भ्यां यजमानं पावतः पाप्मनो व्यावर्तयति वियोजयति।

अध्यात्मपक्षे—भगवदाराधनलक्षणो निवृत्तिमार्गीयो धर्मः शास्त्रसम्मता प्रवृत्तिश्च उभावप्यत्र सम्बोध्येते। वां युवयोः, हि यस्मान्नाना पृथक् पृथग् देवहितं देवानां हितावहम्, देवैर्वा हितं स्थापितं सदः स्थानं

कृतम्, परमे उत्कृष्टे व्योमन् व्योमवद् व्यापके वैदिके धर्मे युवं युवां मा संसृक्षाथां संसृष्टे भवेतम्। हे सुरे, सुष्ठु रमन्ते आस्तिका जना यत्र सा सुरा शास्त्रसम्मता प्रवृत्तिस्तत्सम्बुद्धौ, त्वं शुष्मिणी बलवती। एष सोमः, सोम उमया सहितः साम्बसदाशिवः सोमः, तद्विषयको बोधोऽपि सोमशब्दभागुपचारात्। सर्वोत्तमप्रकृतिपरिणामत्वाद्वा सोमः। अग्निः पुरुषः, सोमः प्रकृतिः, 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' (बृ० जा० २।४) इति श्रुतेः। स्वां योनिं प्रकृतिं विशन्ती प्रविशन्ती त्वमेनं सोमज्ञानं मा हिंसीः। प्रकृत्या निवृत्तिलभ्यस्य नैष्कर्म्यस्य ज्ञानस्य बाधप्रसङ्गेऽपि तं मा हिंसीः।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजनौ, नाना सदस्कृतं देवहितं विदुषां प्रियाचरणं वां प्राप्नोतु, स्वां योनिं प्रविशन्ती शुष्मिणी बलवती सुरा सोमलतास्ति। त्वं परमे उत्कृष्टे व्योम्नि बुद्ध्यवकाशे वर्तमानासि, तां युवां प्राप्नुतम्। मादकद्रव्याणि मा संसृक्षाथाम्, विद्वन् एष सोमोऽस्ति, तं मां च त्वं मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सुरापदस्य सोमार्थकत्वे प्रमाणाभावात्। अत एव सम्बोधनमपि निर्मूलमेव। वामित्यनेन युवयोः सुरासोमयोरेव प्रसङ्गः। मन्त्रे च सुरा त्वमसि शुष्मिणी, सोम एष इति स्पष्टतयोभयोर्निर्देशः। न च सुरा बुद्ध्यवकाशे वर्तते, तस्या बाह्यत्वात्॥ ७॥

उपयामगृहीतोऽस्याश्विनं तेजः सारस्वतं वीर्यमैन्द्रं बलम्।
एष ते योनिर्मोदाय त्वानन्दाय त्वा महसे त्वा॥ ८॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, तेजःस्वरूप तुमको अश्विनीकुमारों की प्रीति के निमित्त ग्रहण करता हूँ। हे प्रथम सुराग्रह! यह तुम्हारा स्थान है, आनन्द के निमित्त तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ। हे द्वितीय सुराग्रह! वीर्य स्वरूप तुमको सरस्वती देवता की प्रीति के लिये उपयाम पात्र में गृहीत करता हूँ, आनन्द की प्राप्ति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ। हे तृतीय सुराग्रह! बल की प्राप्ति और इन्द्र देवता की प्रसन्नता के लिये उपयाम पात्र में तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। महत्त्व की प्राप्ति की कामना से तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ॥ ८॥

'सुरावन्तमिति जुहोति' (का० श्रौ० १९।३।१२)। त्रीनपि पयोग्रहानध्वर्युः सहैव जुहुयादिति सूत्रार्थः। 'पालाशैः सौरान् न मृण्मयमाहुतिमानश इति श्रुतेर्यस्त इति' (का० श्रौ० १९।३।१३)। प्रतिप्रस्थाता दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहं पालाशैरुलूखलैर्जुहुयान्न मृण्मयीभिः स्थालीभिः। कुतः? 'न मृण्मयमाहुतिमानशे' (तै० सं० २।५।४।६) इति श्रुतेः, 'यस्ते रसः सम्भृतः' (वा० सं० १९।३३) इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। उत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान् दक्षिणे सुराग्रहान् हुत्वा भक्षयन्ति। 'प्राणभक्षमेके' (का० श्रौ० १९।३।१९)। एके शाखिनः सौरग्रहाणामवघ्राणमात्रं कुर्वन्ति, न मुखेन भक्षणमिति सूत्रार्थः। 'परिक्रीतो वा वैश्यराजन्ययोरन्यतरः' (का० श्रौ० १९।३।२०)। अथवा वैश्यराजन्ययोरन्यतरो मूल्येन क्रीतः सौरान् ग्रहान् भक्षयेदिति सूत्रार्थः। 'अङ्गारेषु वा बहिष्परिधि दक्षिणतो जुहोत्याश्विनमुत्तरे मध्यमं सारस्वतमैन्द्रं दक्षिणं पितृभ्य इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १९।३।२१)। अथवा दक्षिणस्याहवनीयस्याङ्गारेषु परिधेर्बहिःप्रदेशे दक्षिणस्यां दिशि स्थापितेषु दक्षिणसंस्थेषु पितृभ्य इति होमावशिष्टान् सुराग्रहान् जुहुयात्। तत्राश्विनं सुराग्रहमुत्तरे, मध्यमे सारस्वतम्, दक्षिणे ऐन्द्रं सुराग्रहं जुहुयादिति सूत्रार्थः।

उपयामगृहीतोऽसि। आश्विनं तेजः, अश्विनोरिदमाश्विनम्, अश्विसम्बन्धि तेजः प्रकाशः प्रागल्भ्यं वा, साक्षात् त्वमवासि। सारस्वतं सरस्वत्या इदं सरस्वतीसम्बन्धि वीर्यं सामर्थ्यं च त्वमेवासि। ऐन्द्रम् इन्द्रस्य

इदमिन्द्रसम्बन्धि बलं च त्वमेवासि। एवं प्रशस्य सादयति—एष ते योनिः स्थानम्। मोदाय प्रमोदाय त्वा त्वां सादयामीति शेषः। आनन्दाय हर्षाय त्वा त्वां सादयामि। महसे, महति पूजितो भवति जनोऽनेनेति महः, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१८९) इत्यसुन्, तस्मै महत्त्वाय च त्वा त्वां सादयामि। पूर्वोक्तसूत्रार्थरीत्या प्रत्येकमत्रापि मन्त्रा उन्नेयाः।

अध्यात्मपक्षे— हे सोम साम्बपरमेश्वर विज्ञान, त्वमाश्विनं तेजः, त्वमेव च सारस्वतं वीर्यम्, त्वमेव च ऐन्द्रं परमैश्वर्यं निरुपधिबलम्। एष सोपाधिचिदात्मरूपः साधकस्ते योनिरभिव्यक्तिस्थानम्। मोदाय ब्रह्मोपलब्धिजनितहर्षाय तदुपलब्धिनिष्ठाजनितानन्दाय महसे ब्रह्मात्मभावाय च त्वामत्र सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजन, यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि धर्मसम्बन्धनियमसंयुक्तोऽसि, यस्य ते एष योनिररित, तस्य ते आश्विनं सूर्याचन्द्रमसोरिदं तेजः सारस्वतं वेदवाण्या इदं वीर्यम्, इन्द्रस्येदं बलं चास्तु, तं त्वा मोदाय आनन्दाय महसे सत्काराय च सर्वे स्वीकुर्वन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्, तं त्वा सर्वे स्वीकुर्वन्त्वित्यस्य आर्थिकत्वात्, यश्चार्थिकार्थो न स शब्दार्थ इति सिद्धान्तात्॥ ८॥

तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि वी॒र्य॑मसि वी॒र्यं॑ मयि॑ धेहि॒ बल॑मसि॒ बलं॒ मयि॑ धे॒ह्योजो॒ऽस्योजो॒ मयि॑ धेहि म॒न्युर॑सि म॒न्युं मयि॑ धेहि॒ सहो॑ऽसि॒ सहो॒ मयि॑ धेहि॥ ९॥

मन्त्रार्थ—हे दूध! तुम तेज को बढ़ाने वाले हो, मुझे तेज प्रदान करो। तुम वीर्य स्वरूप हो, मुझे वीर्य प्रदान करो। तुम बलस्वरूप हो, मुझे बल प्रदान करो। हे सुरारस! तुम कान्तिस्वरूप हो, मुझे कान्ति प्रदान करो। तुम क्रोध स्वरूप हो, मुझे मन्यु (अहंकार) प्रदान करो। तुम साहसस्वरूप हो, मुझे साहस प्रदान करो॥९॥

'गोधूम-कुवलचूर्णानि चावपति तेजोऽसीति' (का० श्रौ० १९।२।१६)। आश्विनग्रहग्रहणानन्तरं सादनात् प्राग् द्वे दर्भतृणे प्रागग्रे पात्रोपरि कृत्वा गोधूमकुवलयोश्चूर्णानि सहैव पयसि क्षिपतीति सूत्रार्थः। कुवलं स्थूलं बदरीफलम्। त्रीणि यजूंषि पयोदेवत्यानि। आद्यं यजुर्बृहती। हे पयः, त्वं तेजोऽसि, अतो मयि तेजो धेहि। यो हि यदात्मकः, स तत्र नियोगमर्हतीति न्यायात्। पयोग्रहस्य प्रागल्भ्यहेतुत्वात् तेजस्त्वम्। 'उपवाकबदरचूर्णानि च वीर्यमसीति' (का० श्रौ० १९।२।१८)। सारस्वते ग्रहे उपवाका इन्द्रयवा गोधूमवत्तुपरहिता गोधूमवर्णा यवसदृशाः। बदरं सूक्ष्मबदरीफलम्। तयोश्चूर्णानि प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः। द्वितीयं यजुःपङ्क्तिः। हे ग्रह, त्वं वीर्यमसि सामर्थ्यमसि, अतो मयि वीर्यं सामर्थ्यं धेहि। 'यवकर्कन्धुचूर्णानि च बलमसीति' (का० श्रौ० १९।२।२०)। यवा दीर्घशूकाः प्रसिद्धाः। कर्कन्धुरतिस्थूलं बदरीफलम्। तयोश्चूर्णानि ऐन्द्रे पयोग्रहे क्षिपेद् बलमसीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। तृतीयं यजुःपङ्क्तिः। हे ग्रह, त्वं बलमसि, अतो मयि विषये बलं धेहि। 'सुराग्रहाञ्छ्रीणात्योजोऽसीति वृक-व्याघ्र-सिꣳहलोमभिः प्रतिमन्त्रं मिश्रैः' (का० श्रौ० १९।२।२३)। वृकादीनां मिश्रैः केशैरोजोऽसीति प्रतिमन्त्रं सुराग्रहान् मिश्रयेत्, ओजोऽसीत्याश्विनम्, मन्युरसीति सारस्वतम्, सहोऽसीत्यैन्द्रमिति सूत्रार्थः। 'एके यथासंख्यम्' (का० श्रौ० १९।२।२४)। एके आचार्या वृकादिलोमानि त्रिषु सुराग्रहेषु यथासंख्यं प्रक्षिपेदिति वदन्ति। तथा च वृककेशैराश्विनम्, व्याघ्रकेशैः सारस्वतम्, सिंहकेशैरैन्द्रमिति सूत्रार्थः। त्रीणि यजूंषि सुरादेवत्यानि। हे सुरे, त्वमोजोऽसि, अतो मयि विषये ओजः कान्तिं धेहि स्थापय। त्वं मन्युः कोपः, मानसं प्रज्वलनमिति यावत्, असि। अतो मयि मन्युं धेहि। त्वं सहोऽसि बलमसि, अतो मयि सहो बलं धेहि।

अध्यात्मपक्षे—हे सर्वात्मन्, त्वं तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। त्वं वीर्यमसि सर्वसामर्थ्योद्गमस्थानत्वादतः सामर्थ्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽसि ओजो मयि धेहि। सर्वात्मनः सर्वोत्तमसाररूपत्वात् ततस्तदपेक्षा युक्तैव।

दयानन्दस्तु—'हे शुभगुणकरराजन्, यत्त्वयि तेजोऽस्ति तत्तेजो मयि धेहि। यत्त्वयि वीर्यमस्ति तन्मयि धेहीत्यादि, एतादृशमेव व्याख्यानम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्भवात्। नह्यन्यो मनुष्यः स्वगतं तेजआदिकमन्यत्र स्थापयितुं शक्नुयात् ॥ ९ ॥

या व्याघ्रं विषूचिकोभौ वृकं च रक्षति।
श्येनं पतत्रिणꣳ सिꣳहꣳ सेमं पात्वꣳहसः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—जो सर्वत्र फैलने वाला उदर रोग व्याघ्र और भेड़ियों के समूह की रक्षा करता है, श्येन पक्षी और सिंह की रक्षा करता है, वह इस यजमान की पापमय व्याधि से रक्षा करे, अर्थात् सिंह, भेड़िये आदि को जैसे विसूचिका रोग नहीं होता, वैसे ही हमारे इस यजमान को भी न हो ॥ १० ॥

'दीक्षावत्पावयतोऽन्तःपात्ये श्येनपत्राभ्यां या व्याघ्रमिति' (का० श्रौ० १९।२।२७)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ सहैव अन्तःपात्येऽवस्थितं प्राङ्मुखं यजमानं श्येनपिच्छाभ्यां पावयतः, दीक्षावदित्येकेन नाभेरूर्ध्वं प्रदक्षिणं द्वितीयेन सकृदवाङ्, यद्वोभाभ्यां नाभेरूर्ध्वमधश्च द्विः 'या व्याघ्रम्' इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। हैमवर्चिदृष्टा विषूचिकादेवत्या अनुष्टुप्। व्याध्यधिष्ठात्री विषूचिकानाम्नी देवता अत्र प्रार्थ्यते। 'विषु' निपातो नानावचनः। विषु नानादेशेषु कालेषु च, सर्वत्र सर्वदेत्यर्थः, अञ्चति गच्छतीति विषूची, सैव विषूचिका रोगविशेषः। 'केऽणः' (पा० सू० ७।४।१३) इति ङीपो ह्रस्वः। या विषूचिका व्याघ्रं वृकं च उभौ रक्षति परिपाति, तथा श्येनं पतत्रिणं पक्षिणं सिंहं च उभौ रक्षति, एतेषामजीर्णताजनिताया व्यापत्तेरभावात्, सा विषूचिका इमं यजमानमंहसो व्याधिहेतुभूतात् पापात् पातु रक्षतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अध्वर्युश्च प्रतिप्रस्थाता च। जघनेन वेदिं प्राञ्चमावृत्तं यजमानꣳ श्येनपत्राभ्यामूर्ध्वं चावाञ्चं च पावयतः प्राणोदानयोस्तद्रूपं प्राणोदानावेवावरुन्ध ऊर्ध्वश्च ह्ययमवाङ् च प्राण आत्मानमनुसञ्चरति सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्तेति पयोग्रहान् सम्मृशति श्रियैवैनं यशसा समर्धयति विपृच स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्तेति सुराग्रहान् पाप्मनैवैनं व्यावर्तयति' (श० १२।७।३।२२)।

अध्यात्मपक्षे—या अविद्या विषूचिका विष्वग्गतिः सर्वं बाधते, या व्याघ्रं विशेषेण आ समन्तात् सर्वं जिघ्रतीति व्याघ्रो यथा निर्भयः सन् स्वलक्ष्योन्मुखो भवति, तद्वद्यो निर्भयः सन् परमपुरुषार्थोन्मुखो भवति तं रक्षति न बाधते। वृकं च वृको यथा स्वलक्ष्यप्राप्त्यर्थं स्वात्मानं सङ्कोच्य तिष्ठति, अनुकूले चावसरे उत्पत्य लक्ष्यं स्वायत्तं करोति, तद्वद्यः कूर्मोऽङ्गानीव विषयेभ्यः कार्मकरणसङ्घातं सङ्कोच्य लक्ष्यं परमात्मानं प्राप्नोति तमपि रक्षति। सिंहवृत्तिं श्येनवृत्तिं तीव्रवेगेन लक्ष्यप्राप्त्यर्थं प्रयत्नवन्तं सिंहं सिंहवत्साधनामार्गे विक्रान्तं रक्षति, पुरुषार्थसाधने उदग्रमुन्नतं कुशलं वेगवन्तं विक्रान्तं रक्षति, तद्भिन्नान् सर्वान् बाधते, विषूचिकावदविद्या, सा इयं यजमानं पात्विति।

दयानन्दस्तु—'या विदुषी स्त्री राज्ञी विषूचिका विविधानर्थान् सूचयति, सा व्याघ्रं वृकं श्येनं पतत्रिणं सिंहं च हत्वा प्रजा रक्षति, सा इमं राजानमंहसः पातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असामञ्जस्यात्। लोके हि विषूचीशब्दो रोगविशेषे रूढः। सामान्यस्त्रिया अपि विषूचीनाम्ना व्यवहारे उद्वेगो जायते, किमुत राज्ञ्याः? व्याघ्रादिकं हत्वा प्रजा रक्षतीति स्वातन्त्र्येणाध्याहारोऽस्य व्याख्यातुः स्वातन्त्र्यमुच्छृङ्खलतामेव वा सूचयति ॥ १० ॥

यदा॑ पि॒पेष॑ मा॒तरं॑ पु॒त्रः प्रमु॑दितो॒ धय॑न्। ए॒तत्तद॑ग्ने अनृ॒णो भ॑वा॒म्यह॑तौ पि॒तरौ॒ मया॑। स॒म्पृच॑ स्थ॒ सं मा॑ भ॒द्रेण॑ पृङ्क्त। वि॒पृच॑ स्थ॒ वि मा॑ पा॒प्मना॑ पृङ्क्त ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—माता का दूध पीते समय अति प्रसन्नता से मैंने जो माता को चरणों से ताड़ित किया है, हे अग्निदेव! उससे मैं तुम्हारी साक्षी में तीनों ऋणों के साथ मुक्त हो गया हूँ। मुझसे माता-पिता पीड़ित नहीं हुए, क्योंकि मैं पयोग्रह का अनुष्ठान करता हूँ। हे अग्निदेव! यह पयोग्रह सोम और सुरा से संयुक्त हो हमारा कल्याण करे। हे सुराग्रह! तुम वियोजक हो, अतः मुझे पापों से अलग करो ॥ ११ ॥

'अग्निं प्रेक्षयति यदापिपेषेति' (का० श्रौ० १९।२।२८)। अग्निं प्रेक्षस्वेति प्रैषेण अध्वर्युर्यजमानमग्निं दर्शयति, स प्रैषित औत्तरवेदिकमग्निमीक्षत इति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्या बृहती। पुत्रोऽहं प्रमुदितः प्रहृष्टो धयन् स्तन्यपानं कुर्वन् सन् यन्मातरं जननीमापिपेष आपिष्टवान् पद्भ्यां पीडितवान्। पिषेर्लिटि उत्तमैकवचने रूपम्। हे अग्ने, तदेतत् त्वत्समक्षमेव अहमनृणो भवामि, स्वाध्यायाध्ययनयजनप्रजादिभिस्त्रिभिर्ऋणैर्विनिर्मुक्तः कृतकृत्यो भवामि। अत एव भुजा उत्क्षिप्य ब्रवीमि मया पितरौ माता च पिता च पितरौ मातापितरौ, अहतौ न पीडितौ। यो हि प्रत्युपकर्तुमसमर्थस्तेनैव मातापितरौ हिंसितौ भवत इत्यभिप्रायः। 'पयोग्रहसम्मर्शनꣳ सम्पृच स्थेति' (का० श्रौ० १९।२।२९)। त्रीन् पयोग्रहान् युगपद् यजमानः स्पृशेत् सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्तेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। पयोग्रहदेवत्यं यजुस्त्रिष्टुप्। हे पयोग्रहाः, यूयं सम्पृचः सम्पृञ्चन्ति संयोजयन्तीति सम्पृचः स्वत एव संयोजकाः स्थ भवत। 'सम्पृच स्थ' इत्यत्र 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' (पा० सू० ८।३।३६, वा० १) इति विसर्गलोपः। अतो मा मां भद्रेण कल्याणेन सम्पृङ्क्त संसृजत, कल्याणयुक्तं मां कुरुतेत्यर्थः। सम्पूर्वात् पृचेः क्विपि सम्पृचः, पृचे रौधादिकाल्लोटि मध्यमबहुवचने पृङ्क्तेति। 'विपृच स्थेति सौराणाम्' (का० श्रौ० १९।२।२९-३।१) यजमानः सुराग्रहान् विपृच स्थेति मन्त्रेण स्पृशतीति सूत्रार्थः। हे सुराग्रहाः, यूयं विपृच स्थ विपृञ्चन्तीति विपृचो वियोजकाः स्थ भवत। अतो मा मां पाप्मना विपृङ्क्त. मां निष्कल्मषं कुरुतेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन्, यदा पुत्रः प्रमुदितो मातुः स्तनं पिबन् आपिपेष आपीडितवान्, अहं तदेतत् तवाग्रे समक्षमेव भगवदाराधनबुद्ध्या यज्ञादिकमनुष्ठाय अनृणो भवामि। तेन पितरौ न हिंसितौ, किन्तु त्वदाराधनलक्षणेन यज्ञेन तारितौ तावित्यर्थः। हे भगवन्तः, पूजायां बहुवचनम्। यूयं सम्पृचः शुभसंयोजनशक्तियुक्ताः स्थ, अतो मां भद्रेण कल्याणेन सम्पृङ्क्त संसृजत। हे भगवन्तः, यूयं विपृचोऽशुभवियोजनशक्तिमन्तः, अतो मा मां विपृङ्क्त कलमषेण विगतसंसर्गं मां कुरुतेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यद् यः प्रमुदितः पुत्रो दुग्धं धयन् मातरमापिपेष तेन पुत्रेण अनृणो भवामि, यतो मे पितरावहतौ मया भद्रेण सह वर्तमानौ च स्याताम्। हे मनुष्याः, यूयं सम्पृच स्थ भद्रेण सम्पृक्त।

पाप्मना विपृच स्थ माप्येतेन विपृङ्क्त तदेतत् सुखं प्रापयत' इति, तदेतत्सर्वमज्ञानविजृम्भितम्, सर्वथाऽनुपपत्तेः। पुत्रः प्रमुदितो दुग्धं धयन् मातरमापीडयति, तेन पिता कथमनृणो भवति ? कार्यकारणभावानुपपत्तेः। भावार्थ-भाषायां तु पित्रोर्यथावत् सेवनेन पितृऋणाद्विमुच्यत इत्युक्तम्, मन्त्रे तु तस्य चर्चाऽपि नास्ति। तेन पुत्रेण पितुः पितरौ कथमहृतौ भवेताम् ? कथं च पुत्रस्य पुत्रेण तत्पितरौ भद्रेण युक्तौ स्याताम् ? किञ्च, कोऽयं मनुष्यानभ्य-र्थयते—यूयं सत्यसम्बन्धिनो मां भद्रेण सम्पृङ्क्त यूयं पाप्मना विपृच स्थ, अतो मां पाप्मना विपृङ्क्तेति ? न परमेश्वरः, निरपेक्षस्य तस्य सतस्तादृशप्रार्थनानुपपत्तेः। नापि कश्चिन्मनुष्यः, मनुष्येभ्योऽल्पशक्तिभ्यस्तादृगभीष्ट-सिद्धयसम्भवात्, पुण्यप्राप्तिपापनिवृत्त्योः स्वकर्तृकप्रयत्नसाध्यत्वात्। नह्यन्यगतेन पुण्येनान्यः समवैति। न वाऽन्यपाप्मराहित्येनान्यः संसृज्यते। पूर्वकण्डिकायामुद्धृतब्राह्मणेन विरुद्ध्यते चैतद् व्याख्यानमिति ॥ ११ ॥

देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाऽश्विना।
वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—संस्काररहित रस को पीने से इन्द्र के बलवीर्य को असुरों ने हर लिया, जो रात-दिन त्याज्य मद्य को सुरा कह कर पीते हैं, उनके पतित होने में कुछ भी संदेह नहीं है। इस प्रसंग में श्रुति कहती है कि देवताओं ने इन्द्र के औषध रूप सौत्रामणी यज्ञ को विस्तृत किया। वैद्य अश्विनीकुमार और त्रयीरूप सरस्वती वाणी ने इन्द्र में पुनः सामर्थ्य का आधान किया ॥ १२ ॥

देवा यज्ञमित्यादि कण्डिकाविंशतिर्ब्राह्मणरूपा, अतो विनियोगाभावः। ब्राह्मणानुवाको विंशतिः कण्डिका अनुष्टुभः सौत्रामण्याः सोमसाम्यप्रतिपादिकाः। निदानवतां मन्त्राणां पूर्वं निदानं वक्तव्यम्, येन सुखेनार्थावबोधो जायेत। अत्रेतिहासमाचक्षते—अनुपहूतसोमपानाद् भ्रष्टस्य इन्द्रस्य वीर्यं नमुचिरसुरोऽपिबत्। तत्र देवैरिन्द्रस्य भैषज्यं कृतम्। तत्राश्विनौ सरस्वती च भिषजः, सौत्रामणी त्वौषधम्। तथा च श्रुतिः—'त्वष्टा हतपुत्रः। अभिचरणीयमपेन्द्रꣳ सोममाहरत् तस्येन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत् स विष्वङ् व्याच्छर्त् तस्य मुखात् प्राणेभ्यः श्रीयशसान्यूर्ध्वान्युदक्रामंस्तानि पशून् प्राविशंस्तस्मात् पशवो यशो यशो हि भवति य एवं विद्वान् सौत्रामण्याभिषिच्यते' (श० १२।८।३।१)। 'ततोऽस्मा एतमश्विनौ च सरस्वती च यज्ञꣳ समभरन् सौत्रामणीं भैषज्याय तयैनमभ्यषिञ्चंस्ततो वै देवानाꣳ श्रेष्ठोऽभवच्छ्रेष्ठः स्वानां भवति य एनयाऽभिषिच्यते' (श० १२।८।३।२)।

विश्वरूपवधादमर्षी हतपुत्रस्त्वष्टा इन्द्रायाभिचरन् अपेन्द्रं सोममाहरत्। इन्द्रो यज्ञवेशसं (यज्ञच्छिद्रं) कृत्वा प्रसह्य सोममपिबत्। स विष्वङ् व्याच्छर्त्। तस्य मुखात् प्राणेभ्यश्च श्रीयशसानि श्रेयस्यः सुखनीयाः कायस्य साराः, ता यशांसि च लोकेऽर्गाहितानि यशस्वीनि तेजआदीनि यथोक्तानि, ऊर्ध्वानि सोमेन सहोत्क्रान्तानि। तानि च पशुषु प्रविविशुः। तस्मात्ते पशवो यशस्विनोऽभ्यर्हिताः। कण्डिकाभावार्थस्तु—देवा यज्ञं सौत्रामणीनामकं भेषजमिन्द्रस्यौषधरूपमतन्वत विस्तारितवन्तः, तदा अश्विनौ भिषजौ चिकित्सकावास्ताम्। सरस्वती वाचा वाणी, लक्षणया वेदत्रयी, भिषग् वैद्या आसीत्। कीदृशास्ते सरस्वत्यश्विनाः ? इन्द्राय इन्द्रियाणि वीर्याणि सामर्थ्यानि दधतो ददतः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रो जीवोऽनधिकारचेष्टया सोममभीष्टान् विषयान् अपिबत्। तेनैव असुरशक्त्यावेशात् तस्य सामर्थ्यानि विनेशुः। देवा इन्द्रियाधिष्ठातारस्तस्य पुनः सामर्थ्यलाभाय परमेश्वराराधनलक्षणं यज्ञं चिकित्सा-

रूपमतन्वत । तत्र नियमितौ प्राणापानौ भिषजौ सरस्वती वागधिष्ठात्री च त्रयीलक्षणया वाचा वेद्यासीत् । त एते चिकित्सकाः सामर्थ्यानीन्द्राय ददतः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथेन्द्रियाणि धनं वा दधतो भिषक् सरस्वती भिषजाश्विना च देवा वाचेन्द्राय भेषजं यज्ञमतन्वत, तथैव यूयं कुरुत' इति, तदपि विसङ्गतमेव, अतन्वतेत्यस्य विस्तृतं कुरुतेत्यर्थस्य लकारविरुद्धत्वात् । यथेन्द्रियाणि धनं वा धारयन्तो भिषजो देवाश्च वाचा इन्द्रियाय परमैश्वर्याय भेषजं रोगविनाशकं सुखप्रदं यज्ञं विस्तृतवन्तस्तथा यूयमपि कुरुतेति दृष्टान्तस्यैवास्पष्टत्वात् । न च वाचा रोगनिवारणं भवति, न वा तयैश्वर्यप्राप्तिः सम्भवति, तथा कार्यकारणभावासिद्धेः । न चात्र भिषजां त्रित्वम्, तत्र द्वयोः पुंस्त्वं स्त्रीत्वं चान्यस्येत्यत्र हेतुविशेष उपपद्यते ॥ १२ ॥

दीक्षायै रूपꣳ शष्पाणि प्रायणीयस्य तोक्मानि ।
क्रयस्य रूपꣳ सोमस्य लाजाः सोमाꣳशवो मधु ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—नये उत्पन्न हुए व्रीहि इस यज्ञ की दक्षिणा के लिये आवश्यक होते हैं । नवीन प्ररूढ़ यव प्रायणीय इष्टि का रूप है । खरीदी हुई लाजा सोम का रूप है । स्वादिष्ट लाजा सोम का मधुमय खण्ड है ॥ १३ ॥

अत्र सौत्रामण्याः सोमसम्पत्तिरुच्यते । शष्पाणि नवप्ररूढव्रीहिरूपाणि पूर्वोक्तानि दीक्षायै दीक्षायाः, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, दीक्षणीयेष्टेरिति यावत्, रूपम् । शष्पाणि दीक्षणीयात्वेन ध्येयानीत्यर्थः । तोक्मानि नवोद्गताङ्कुरा यवाः प्रायणीयस्य रूपम्, प्रायणीयेष्टिरूपेण ध्येयानीत्यर्थः । सोमस्य क्रयस्य रूपं लाजा भर्जनप्रफुल्लिताः । सोमे सोमक्रयः । अत्र लाजास्तस्य रूपम् । लाजाः सोमक्रयरूपेण ध्येया इत्यर्थः । सोमक्रयस्येति समासे प्राप्ते पदयोर्व्यत्ययः, रूपशब्देन व्यवधानं च छान्दसम् । मधु सोमांशवः सोमखण्डाः, मधु सोमखण्डरूपेण ध्येयम् । यद्वा लाजा एव मधु मधुरस्वादाः सोमांशवो ध्येया इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मनः सर्वरूपस्य भगवतः सौत्रामणीतदुपकरणादिरूपेणापि वर्णनम् । व्याख्यानमुक्तमेव । यद्वा पत्रपुष्पफलादिभिः सेवमानस्य भक्तस्य भगवति समर्पितानि लौकिकान्यप्युपकरणानि सोमयज्ञस्याङ्गापाङ्गरूपाणि भवन्तीति वर्ण्यते । समर्पितानि शष्पाणि नवोद्गताङ्कुरा व्रीहयो दीक्षाया रूपम्, सोमयागगतदीक्षणीयेष्टिरूपाणि भवन्ति । तोक्मानि नवोद्गताङ्कुरा यवाश्च प्रायणीयस्य रूपम्, प्रायणीयेष्टिरूपाणि भवन्ति । लाजाः भृष्टा व्रीहयो मधु मधुरास्वादाः सोमक्रयस्य रूपम्, सोमक्रयरूपा भवन्ति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यानि प्रायणीयस्य प्रकृष्टं सुखयन्ति येन व्यवहारेण तत्र भवस्य दीक्षायै यज्ञसाधननियमपालनाय रूपम् । तोक्मान्यपत्यानि 'तोक्मेत्यपत्यनाम' (निघ० २।२।४), क्रयस्य द्रव्यविक्रयस्य रूपम् । शष्पाणि आहृत्य संशोध्य ग्राह्याणि धान्यानि । यस्य ओषधिरसस्य लाजाः प्रफुल्लितव्रीहयः सोमांशवः सोमस्यांशा मधु च सन्ति, तानि यूयमतन्वत कुरुत' इति, तत्त्वतोऽत्र मन्दम्, निरर्थकत्वात् । अत्र हिन्दीभाषामयेनाप्यर्थेन न किञ्चिदवगन्तुं शक्यम् । वस्तुतस्तु दीक्षाप्रायणीयादिवैदिकार्थानभिज्ञानमूलकमेवेदमनर्गलं प्रलपितम् ॥ १३ ॥

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः ।
रूपमुपसदामेतत् तिस्रो रात्रीः सुरासुता ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—आतिथ्य के लिये व्रीहि, श्यामाक, लाजा आदि को मिला कर चूर्ण बनाया जाता है। २६ वस्तुओं को मिला कर बनाया हुआ नग्नहु नामक पदार्थ महावीर की तृप्ति के लिये है। तीन रात तक अभिषुत सुरारस उपसद नामक इष्टि का रूप है ॥ १४ ॥

एकोनविंशेऽस्मिन्नध्याये प्रथमकण्डिकाव्याख्यान एव मासरं निरूपितम्। तन्मासरं सौत्रामणीयागगतमातिथ्यरूपं सोमयागगतातिथ्येष्टिरूपेण चिन्तनीयम्। नग्नहुः महावीरस्य रूपम्। सौत्रामणीगतो नग्नहुः महावीररूपेण चिन्तनीयः। महावीरो घर्मः प्रवर्ग्यरूपः। उपसदामेतद् रूपं क्रियते। यस्मिंस्तिस्रो रात्रीः सुरा अभिषुता तिष्ठति, तिस्रो रात्रीरित्यत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया। पूर्वोक्तं सर्वमेकपात्रे कृत्वा स्वाद्वीं त्वेति मन्त्रेण यद् गर्ते त्रिरात्रं स्थापनम्, एतदुपसदामुपसत्संज्ञकानामिष्टीनां रूपम्, तत्रोपसत्त्रयदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अत्रापि भगवतः सार्वात्म्यस्योपवर्णनम्। एभिर्वा सर्वैर्यज्ञैर्भगवानेवार्हणीय इति वार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यानि मासरं येनातिथयो मासेषु रमन्ते तत्। महावीरस्य यो नग्नान् जुहोति आदत्ते रूपं सुरूपकरणमुपसदाम्, य उपसीदन्ति तेषामतिथीनां तिस्रो रात्रीर्निवासनमेतद्रूपम्, सुता सुरा आसुता च समन्तान्निष्पादिता च। सन्ति तानि यूयं गृह्णीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मासर-नग्नहु-महावीरादिशब्दा वैदिकपारिभाषिकाः, तदज्ञानमूलक एवैतस्य स्वामिनोऽर्थः। इदमपरमपि चिन्तनीयम्—मासरपदस्य आतिथ्यबोधकत्वे आतिथ्यपदस्य निरर्थकत्वापातः। न ह्यतिथय एव मासेषु रमन्ते, किन्तु ते तूपलब्धान्नपानादौ रमन्ते। न चैतत्स्वाम्यभिप्रेतस्यापि महावीर-नग्नहुरूपत्वं सम्भवति। न वा नग्नादानं कार्यमेव सम्भवति। न च महावीरो नग्नमाददाति, किन्तु नग्नेभ्यो वस्त्रादिकमेव ददाति। उपसत्पदेनापि यद्यतिथय एव गृह्येरन्, तदा पुनः पौनरुक्त्यम्। न च तेषां रात्रित्रयवासविधानार्थं तदनुवाद इति वाच्यम्, मूले वासबोधकपदस्यालीकत्वात् ॥ १४ ॥

सोमस्य रूपं क्रीतस्य परिस्रुत् परिषिच्यते।
अश्विभ्यां दुग्धं भेषजमिन्द्रायैन्द्रꣳ सरस्वत्या ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र के निमित्त इन्द्रसम्बन्धी औषध, सरस्वती और अश्विनीकुमार के लिये दुहा हुआ दूध, अभिषुत महौषधि रस—इन सबको सुरा के साथ तीन दिन तक सींचा जाता है। यह खरीदे गये सोम का रूप है, अर्थात् सोम के साथ अभिषुत करने के लिये अश्विनीकुमार, सरस्वती और इन्द्र के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के दूध की आवश्यकता पड़ती है ॥ १५ ॥

यदश्विभ्यां सरस्वत्या च ऐन्द्रमिन्द्रदेवत्यमिन्द्राय भेषजमिन्द्रार्थे औषधं दुग्धं पयोऽश्विभ्यामपाकरोमीति दुग्धेन एकयोः पयसा सरस्वत्या अपकरोमीति, दुग्धेन गोद्वयपयसा इन्द्रायापाकरोमीति, दुग्धेन गोत्रयपयसा दिनत्रये परिस्रुत् सुरा यत् परिषिच्यते, तत् क्रीतस्य सोमस्य रूपं ज्ञातव्यमित्यर्थः। 'एकस्याः

पयसाऽपाकृतेनाश्विनेन परिषिञ्चति' (का० श्रौ० १९।१।२३)। अश्विभ्यामपाकरोमीत्येकां गां हस्तेन स्पृष्ट्वा दोहयेत्। एवमपाकृताया एकस्या गोः पयसा सुरां परिषिञ्चेदिति सूत्रार्थः। 'सारस्वतेन द्वयोः प्रातः' (का० श्रौ० १९।१।२५)। प्रातर्द्वितीयेऽहनि सरस्वत्यै अपाकरोमीति द्वे गावौ हस्तेन स्पृष्ट्वा दोहयेत्। एवमपाकृतेन सारस्वतेन द्वयोर्गावोः पयसा सुरां परिषिञ्चेदिति सूत्रार्थः। 'ऐन्द्रेणोत्तमे तिसृणाम्' (का० श्रौ० १९।१।२७)। तृतीयेऽहनि ऐन्द्रेणापाकृतेन तिसृणां गवां पयसा सुरां परिषिञ्चेदिति सूत्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरस्य सार्वात्म्येन यज्ञतदुपकरणात्मकतापि ज्ञेया।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः! यथा सरस्वत्या प्रशस्तविद्याविज्ञानयुक्तया पत्न्या विदुष्या क्रीतस्य सोमस्य सोमाद्योषधिसमूहस्य परिस्रुद् यः परितः स्रुवति स रसो रूपमुत्तमस्वरूपम्, अश्विभ्यां वैदिकविद्याव्यापिभ्यां विद्वद्भ्यां दुग्धं भेषजं, सर्वौषधमिन्द्राय सर्वैश्वर्यैच्छुकाय ऐन्द्रमिन्द्रो विद्युद् देवता यस्य तद् विज्ञानं परिषिच्यते, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि निःसारम्, जलमपि परितः स्रवतीति तस्यापि परिस्रुत्पदव्यपदेश्यत्वापातात्। सोमस्य ओषधिगणस्येत्यपि निर्मूलम्। सरस्वतीपदस्य ज्ञानवतीत्यर्थत्वेऽपि तादृशी पत्नीत्यनर्थकमेव। किञ्च, विद्वत्क्रीतसोमापेक्षया विदुष्या क्रीते सोमे वैलक्षण्याभावाल्लाघवेन ज्ञानवत्क्रीतस्येत्येव तु स्यात्। अश्विभ्यामित्यत्र द्विवचनं किमभिप्रेत्याश्रितम्? इत्यपि विचार्यमेव। सर्वस्यैतस्य लोकसिद्धत्वाच्च तत्प्रतिपादने वेदस्य तात्पर्याभावोऽपि ध्येयः॥ १५॥

आसन्दी रूपꣳ राजासन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुराधानी।
अन्तर उत्तरवेद्या रूपं कारोतरो भिषक्॥ १६॥

मन्त्रार्थ—यजमान के अभिषेक की चौकी सोम के स्थापन के लिये मंचिका रूप है। सुरा रखने की कलशी सोम की वेदिका है। दोनों वेदियों का मध्य भाग उत्तर वेदिका का रूप है। सुरा को छानने की चलनी इन्द्र की औषधि है॥ १६॥

आसन्दी यजमानाभिषेकाय कल्पिता मञ्चिका। राजासन्द्यै, राज्ञः सोमस्यासन्दी राजासन्दी, तस्यै, चतुर्थी षष्ठ्यर्थे, राजासन्द्या रूपम्, अर्थात् सोमराजासन्दीरूपेण ध्येया। सुराधानी सुरा धीयते यस्यां सा। अधिकरणे ल्युट्। टित्वान्ङीप्। कुम्भी घटी वेद्यै वेद्याः सौमिक्या वेदे रूपम्। अन्तरः सौत्रामणीयागवेद्योरन्तरो मध्यभागः सोमयागीयोत्तरवेदे रूपम्, उत्तरवेदीरूपेण ध्येय इत्यर्थः। कारोतरः सुरागलनसमर्थं वंशमयं पात्रं सुरापावनी गालिनी वा, इन्द्रस्य यजमानस्य च भिषग् ज्ञेयः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! युष्माभिर्यज्ञायासन्दीरूपं राजासन्द्यै या समन्तात् सन्यते सेव्यते सा सुक्रिया, राजानः सीदन्ति यस्यां तस्यै, वेद्यै विदन्ति सुखानि यया तस्यै। कुम्भी धान्यादिपदार्थाधारा। सुराधानी सुरा सोमरसो धीयते यस्यां सा गर्गरी। अन्तरो येनानिति प्राणिति स अन्नादिः। उत्तरवेद्या उत्तरायतासौ वेदी तस्या रूपम्। कारोतरः कर्मकारी भिषग् वैद्यः, चैतानि संग्राह्याणि' इति, तदेतदतीव साहसम्, वैदिकप्रसिद्धिविरोधात्। आसन्दीपदस्य सुक्रिया कथमर्थः? शष्कुलीकरपट्टिकादीनामप्यासेव्यमानत्वेन तत्त्वापत्तेः। राजासन्द्यै वेद्यै गर्गरीत्यस्य सम्बन्धासिद्धेश्चेति। अन्तर इत्यस्य अन्नमर्थ इत्यपि निर्मूलम्, अनतेस्तद्रूपासिद्धेः, जलादिना व्यभिचाराच्च। कारोतरः कर्मकारीत्यपि निर्मूलम्, सुक्रियारूपादीनां च कथं संग्रहः? असम्भवदोषग्रस्तोऽयमर्थः। सर्वं चैतद् वैदिकविधानाज्ञानमूलकमेव॥ १६॥

वेद्या वेदिः समाप्यते बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम् ।
यूपेन यूप आप्यते प्रणीतो अग्निरग्निना ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—वर्तमान वेदि के द्वारा सोम की वेदि भली प्रकार प्राप्त होती है। वर्तमान कुशा से सोम सम्बन्धी कुशा तथा बल प्राप्त होते हैं। वर्तमान यूप से सोमसम्बन्धी यूप प्राप्त होता है और वर्तमान अग्नि से प्रणीत नामक अग्नि प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

अत्र सौत्रामणीयागे वर्तमानया वेद्या वेदिः सौमिकी वेदिः समाप्यते सम्यक् प्राप्यते, तद्रूपेण ध्येयेत्यर्थः। बर्हिषा अत्रत्येन दर्भेण बर्हिः समाप्यते। इन्द्रियं वीर्यं सौमिकमत्रत्येन वीर्येण समाप्यत इति शेषः, उभयोः फलदाने सामर्थ्यादिति भावः। यूपेन अत्रत्येन यूपः सौमिकः समाप्यते। अग्निना अत्रत्येन प्रणीतः सौमिकोऽग्निः, आप्यते प्राप्यते।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'यथा विद्वद्भिर्वेद्या यज्ञसामग्र्या वेदिर्यज्ञभूमिः, बर्हिषा महता पुरुषार्थेन बर्हिरिन्द्रियं वृद्धं धनं समाप्यते, यूपेन मिश्रितामिश्रितव्यवहारेण यूपो मिश्रितो व्यवहारः, अग्निना प्रणीतोऽग्निराप्यते, तथैव यूयं साधनानि साधनैः सम्मेल्य सर्वसुखमाप्नुत' इति, तदपि साहसमेव, प्रसिद्धार्थं परित्यज्याप्रसिद्धकाल्पनिक-निरर्थकव्याख्याने व्यापृतेरकिञ्चित्करत्वात्। बर्हिषा महता पुरुषार्थेनेत्यपव्याख्यानम्, निर्मूलत्वात्। यूपो मिश्रितव्यवहारयत्नादय इत्यपि निर्मूलम्, यौतेस्तावत्स्वर्थेषु प्रयोगे मानाभावात् ॥ १७ ॥

हविर्धानं यदश्विनाग्नीध्रं यत् सरस्वती ।
इन्द्रायैन्द्रꣳ सदस्कृतं पत्नीशालं गार्हपत्यः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमार हविर्धान स्वरूप हैं, सरस्वती आग्नीध्र का रूप है, इन्द्र देवता वाला इन्द्र के निमित्त बनाया गया पत्नीशाल नामक स्थान गार्हपत्यस्थानीय है ॥ १८ ॥

अत्र सौत्रामण्यां यद् अश्विना अश्विनौ देवते वर्तेते, तेनाश्विसद्भावेन हविर्धानं सौमिकमाप्यत इति पूर्वेणानुषज्यते। यद्वा—यदश्विदैवतं तेन हविर्धानमाप्यते। यत्सरस्वतीदैवतं तेनाग्नीध्रं सौमिकमाप्यते। सोमे ऐन्द्रमिन्द्रदेवत्यं सदः कृतमस्ति। ऐन्द्रं सदः, पत्नीशालम्। पत्नीनां शाला पत्नीशालम्, 'विभाषा सेनासुराच्छाया-शालानिशानाम्' (पा० सू० २।४।२५) इति वैकल्पिकं क्लीबत्वम्। गार्हपत्यश्चेति। तदेतत् त्रयं सौत्रामण्यामिन्द्राय यद्धविः क्रियते तेनाप्यते। सौत्रामणीयागे यदिन्द्राय हविः क्रियते, तत्सौमिकैन्द्रसदःपत्नीशालगार्हपत्यरूपेण ध्येयमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः। अर्थात् सर्वात्मनो यज्ञात्मप्रदर्शनमेव।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थाः! यथा विद्वांसावश्विना यद्धविर्धानं कृतवन्तः, यच्च सरस्वती आग्नीध्रं कृतवती, इन्द्रायैन्द्रं सदः पत्नीशालं च विद्वद्भिः कृतम्, तदिदं सर्वं गार्हपत्यो धर्म एवास्ति। तथा च तत्सर्वं यूयमपि कुरुत' इति, तदपि निःसारम्, कथञ्चिद् मुख्यार्थं परित्यज्य गौणार्थाङ्गीकारेऽपि निरर्थकत्वात्, विशृङ्खलार्थत्वाच्च। यद्यपि सर्वमेतदीयं व्याख्यानं निरर्थकमेव, तथापि विदुषां विनोदाय कुतूहलाय च तदुपन्यस्तम् ॥ १८ ॥

प्रैषेभिः प्रैषानाप्नोत्याप्रीभिराप्रीर्यज्ञस्य ।
प्रयाजेभिरनुयाजान् वषट्कारेभिराहुतीः ।। १९ ।।

मन्त्रार्थ—प्रैष नामक यज्ञीय कर्मों से यजमान प्रैषों को पाता है। प्रयाज्य याज्यों से यज्ञ को प्रसन्न करने वाली क्रियाओं के रूपों में प्रयाजों को पाता है। प्रयाजों से उत्तम यज्ञ कर्म रूप प्रयाजों को और अनुयाजों से अनुकूल यज्ञ पदार्थ रूप अनुयाजों को पाता है। वषट्कारों से वषट्कारों को और आहुतियों से आहुतियों को पाता है ।। १९ ।।

प्रैषेभिः प्रैषैरत्रत्यैः सौमिकान् प्रैषानाप्नोति। अत्रत्याभिराप्रीभिः प्रियाभिः प्रयाजयाज्याभिर्यज्ञस्य सोमयज्ञस्य आप्रीः प्रियाः प्रयाजयाज्या आप्नोति। अत्रत्यासु प्रयाजयाज्यासु सोमयागीयप्रयाजयाज्याबुद्धिः कर्तव्या। प्रयाजेभिरित्यादिचतुर्णां वाक्यानाम् 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वालोपो वाच्यः' (पा० सू० ५।३।८३, वा० ४) इति वार्त्तिकादर्धलोपः। प्रयाजेभिः प्रयाजैः प्रयाजानाप्नोति। अनुयाजैरनुयाजानाप्नोति। वषट्कारेभिर्वषट्कारैर्वषट्कारानाप्नोति। आहुतिभिराहुतीः प्राप्नोति, प्रैषादीनामुभयत्र सत्त्वादिति भावः। सौत्रामणीप्रैषादयः सौमिकप्रयाजादिरूपेण ध्येया इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'यो विद्वान् प्रैषेभिः कर्मभिः प्रैषान् भृत्यान्, आप्रीभिः सर्वतः प्रसादिनीभिः क्रियाभिः आप्रीः प्रीत्युत्पादिकाः परिचारिकाः, यज्ञस्य प्रयाजेभिः प्रयजन्ति यैस्तैरनुयाजान् अनुकूलान् यज्ञपदार्थान्, वषट्कारेभिः कर्मभिः, आहुतिभिर्या आहूयन्ते प्रदीयन्ते ता आप्नोति, स सुखी भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वात्, प्रैषपदयोः कर्मभृत्यपरत्वे मानाभावात्। आप्रीपदयोरपि क्रियापरिचारिकापरत्वं बलप्रयुक्तमेव। अनुयाजपदस्य अनुकूलपदार्थतापि बलात्कार एव। वषट्कारैश्चाहुतयो दीयन्ते न प्राप्यन्ते। वैदिकप्रसिद्धिविरोधश्च ।। १९ ।।

पशुभिः पशूनाप्नोति पुरोडाशैर्हवीᳬंष्या ।
छन्दोभिः सामिधेनीर्याज्याभिर्वषट्कारान् ।। २० ।।

मन्त्रार्थ—यजमान पशुओं से पशुओं को पाता है, पुरोडाशों से पुरोडाशों को और हवियों से हवियों को पाता है। छन्दों से छन्दों को और सामिधेनियों से सामिधेनियों को पाता है। वह याज्यों से याज्यों को और वषट्कारों से वषट्कारों को प्राप्त करता है ।। २० ।।

अत्रत्यैः पशुभिः सौमिकान् पशूनाप्नोति, पुरोडाशैः पुरोडाशान् हविर्भिर्हवींषि, छन्दोभिश्छन्दांसि, सामिधेनीभिः सामिधेनीः, याज्याभिर्याज्याः, वषट्कारैर्वषट्कारानाप्नोति। अत्रापि पूर्ववद् वाक्यार्धलोपो द्रष्टव्यः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! यथा गृहस्थः पशुभिः पशून्, पुरोडाशैः पचनक्रियासंस्कृतैर्हवींषि होतुमर्हाणि वस्तूनि, छन्दोभिः प्रज्ञापकैर्गायत्र्यादिभिः सामिधेनीः सम्यगिध्यन्ते याभिस्ताः समिधः, याज्याभिर्यज्ञक्रियाभिर्वषट्कारान् धर्मयुक्तक्रियाकर्तॄन् आप्नोति, तथैतान् यूयमाप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पुरोडाशपदस्य पचनक्रियासंस्कृतार्थताया निर्मूलत्वात्, समिधां प्राप्तौ छन्दसां हेतुत्वानुपपत्तेश्च, यज्ञक्रियाणां यज्ञकर्तृप्राप्तौ हेतुत्वायोगाच्च ।। २० ।।

धानाः कर॒म्भः सक्त॑वः परीवा॒पः पयो॒ दधि॑ ।
सोम॑स्य रू॒पꣳ ह॒विष॑ आ॒मिक्षा॑ वा॒जिनं॒ मधु॑ ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—भुने हुए धान, खीलें, उदमन्थ, सत्तू, हविष्पवित, दूध, दही ये सब सोम के रूप हैं। गरम दूध में दही डालने पर होने वाला गाढा भाग आमिक्षा, शहद और अन्न हवि का रूप है, अर्थात् इन सबकी सहायता से सोम की आहुति निष्पन्न होती है ॥ २१ ॥

अत्रत्या धानादयः सोमरूपेण ध्येया इत्यर्थः। धाना भृष्टयवादयः। करम्भः उदकमन्थः, 'करम्भो दधिसक्तवः' (अ० को० २।९।४८) इत्यमरः। सक्तवः प्रसिद्धाः। परीवापः हविष्पक्तिः। पयोदधिनी प्रसिद्धे। एतानि सर्वाणि सोमस्य रूपम्। आमिक्षा पयस्या, मधु मधुरम्, वाजिनं च हविषो रूपम्। उष्णे पयसि दधिक्षेपे परिणामिनः पयसो घनभाग आमिक्षा। शेषजलप्रायभागो वाजिनम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदर्थो योजनीयः।

दयानन्दस्तु—'परीवापः परितः सर्वतो बीजारोपणं यस्मिन् सः। सोमस्य अभिषोतुमर्हस्य हविषो होतुमर्हस्य आमिक्षा दधिदुग्धमिष्टैर्निर्मिता। वाजः प्रशस्तान्नानि विद्यन्ते येषु तेषामिदं सारवस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अभिषोतुमर्हाणामन्यासां वीरुधां सोमत्वायोगात्। होतुमर्हत्वेन हविष्ट्वम्, हविष्टेन होतुमर्हत्व-मित्यन्योन्याश्रयता। 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इति रीत्या घनीभूतो भाग आमिक्षा, द्रवरूपश्च वाजिनमिति ॥२१॥

धा॒नाना॑ꣳ रू॒पं कुव॑लं परीवा॒पस्य॑ गो॒धूमाः॑ ।
सक्तू॑नाꣳ रू॒पं बद॑रमुप॒वाकाः॑ कर॒म्भस्य॑ ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—इस यज्ञ में कोमल बेर के फल धान की खीलों के रूप हैं, गेहूं हविष्पवित के रूप हैं। बदरी फल सत्तुओं के और यव करम्भ के रूप हैं ॥ २२ ॥

ननु पूर्वस्मिन् मन्त्रे धानादीनां सोमरूपत्वमुक्तम्। तेऽत्र कुत्र सन्तीति धानादिसोमहविषां सोमस्य च सम्पत्तिः सौत्रामणीद्रव्येषूच्यते। कुवलं कोमलं बदरीफलं धानानां पूर्वोक्तानां रूपमिति ध्येयम्। गोधूमाः परीवापस्य रूपम्। बदरं सर्वं बदरीफलं सक्तूनां रूपम्। उपवाका यवाः करम्भस्य रूपं ज्ञेयम्।

अध्यात्मपक्षे—उक्ता रीतिराश्रयणीया।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं धानानां कुवलमिव रूपम्, परीवापस्य गोधूमा रूपम्। सक्तूनां बदरीफलवद्रूपम्। करम्भस्य उपवाकाः समीपप्राप्तयवानां रूपम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, समानताज्ञानस्य निष्प्रयोजनत्वात्। समानताप्यनुपपन्नैव, धानाकुवलयोर्वैषम्यात्। परीवापगोधूमयोरपि वैषम्यमेव। सक्तुबदरयोरपि साम्यं न दृश्यते। सिद्धान्ते तु सौत्रामणीगतेषु तत्तत्पदार्थेषु सोमीयतत्तत्पदार्थानां दृष्टिः कर्तव्या, शालग्रामे विष्णुबुद्धिवत्, यूपे आदित्यबुद्धिवच्चेति न कोऽपि दोषः ॥ २२ ॥

पयसो रूपं यद्यवा दध्नो रूपं कर्कन्धूनि ।
सोमस्य रूपं वाजिनᳬ सौम्यस्य रूपमामिक्षा ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—यव दूध के और बड़े बदरीफल दही के रूप हैं। अन्न सोम का रूप है और दही मिला गरम दूध सोम में पके हुए चरु का रूप है ॥ २३ ॥

यद् ये यवास्ते पयसो रूपम्, कर्कन्धूनि स्थूलबदरीफलानि दध्नो रूपम् । वाजिनं सोमस्य रूपम् । आमिक्षा पयस्या सौम्यस्य चरो रूपं ज्ञेयम् ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वाजिनमिति सोमस्य रूपमामिक्षेव सौम्यस्य रूपं सम्पादयत । यद्यवास्ते पयसो रूपम्, कर्कन्धूनि दध्नो रूपम्, वाजिनं बह्वन्नसाररूपम्, सौम्यस्य सोमानामोषधिसाराणां भावस्य रूपमामिक्षा' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात् ॥ २३ ॥

आश्रावयेति स्तोत्रियाः प्रत्याश्रावो अनुरूपः ।
यजेति धाय्यारूपं प्रगाथा येयजामहाः ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—स्तोता आश्रावय शब्द कहता है, प्रत्याश्राव तीन ऋचा वाले अनुवाक का रूप है, यजन करो यह शब्द धाय्या का रूप है, येयजामहे यह प्रगाथ का रूप है ॥ २४ ॥

शस्त्रसम्पत्तिमाह—'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' (बृ० ३।१।९) इत्यानन्त्यगुणेन यथा मनसि विश्वेदेवत्वं कल्प्यते, तथैव प्रकृतेऽपि प्रैषस्तोत्रिययोरभेदो ज्ञेयः । 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३।१८।१), 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१) इत्यध्यासरूपा वा दृष्टिः । तथा च मनआदित्यादिषु ब्रह्मदृष्टयध्यासः । विशिष्टक्रियायोगनिमित्तमप्यभेदव्यवहारो भवति, यथा 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४।३।१), 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४।३।३) इत्यादिकम् । आश्रावयेति, ओश्रावयेति प्रैषशब्दः स्तोत्रियरूपो ज्ञेयः । स्तोत्रे प्रथमस्तृचोऽनुवाकः स्तोत्रियः । प्रत्याश्रावः 'अस्तु श्रौषट्' इति शब्दः । अनुरूप उत्तरस्तृचरूपः । यजेतिशब्दो धाय्याया रूपम् । अर्थाद् निष्कैवल्यशस्त्रे स्तोत्रियानुरूपयोरनन्तरं धाय्या शस्यते, सा यजेतिशब्दो ज्ञेयः । धाय्यारूपेण यजेतिशब्दो ध्येय इति यावत् । येयजामहाः, येयजामह इति शब्दः, प्रगाथाः प्रगाथरूपेण ध्येयः । सौत्रामणीगता ओश्रावयेत्यादयः प्रैषशब्दाः सोमयागीयस्तोत्रियादिरूपेण ध्येया इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं विद्यार्थिन आश्रावय विद्योपदेशान् कुरु । ये स्तोत्रियाः स्तोत्राणि अर्हन्ति तान् प्रत्याश्रावः, यः प्रतिश्राव्यते सः, अनुरूपोऽनुकूलः । यजेति धाय्यारूपं या धेयमर्हा तस्या रूपम् । येयजामहाः प्रगाथा ये प्रकर्षेण गीयन्ते ते । भृशं यजन्ति ते' इति, तदपि वैदिकवृत्तान्तानभिज्ञानमूलम् । काल्पनिकोऽप्यर्थोऽसम्बद्ध एव ॥२४॥

अर्धऋचैरुक्थानां॑ रूपं पदैराप्नोति निविदः ।
प्रणवैः शस्त्राणां॑ रूपं पयसा सोम॑ आप्यते ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—आधी ऋचाओं में उक्थों का रूप पाया जाता है, प्रत्येक पद में न्यूंखों का और प्रणव में शस्त्रों का रूप पाया जाता है । इसी तरह दूध में सोम के रस की प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

अर्धऋचैः, ऋचामर्धान्यर्धऋचाः, 'अर्धर्चाः पुंसि च' (पा० सू० २।४।३१) इति पुंस्त्वम्, 'ऋत्यकः' (पा० सू० ६।१।१२८) इति प्रकृतिभावत्वाद् गुणाभावः, तैः सौत्रामणीयागगतैरर्धर्चैः, उक्थानां शस्त्रविशेषाणां रूपमाप्यते। पदैर्निविदो न्यूङ्खान् आप्नोति। प्रणवैः शस्त्राणां रूपमाप्यते। पयसा क्षीरेण सोम आप्यते। अर्धर्चादिय उक्थरूपेण ध्येया इत्यर्थः। नितरामत्यन्तविषमप्रकारेण ऊङ्खनम् उच्चारणं न्यूङ्खः। गवामयनस्य चतुर्थेऽहनि प्रातरनुवाकं प्रतिपद्यर्धर्चाद्यो न्यूङ्खः. द्वितीयं स्वरमोङ्कारं त्रिमात्रमुदात्तमुच्चार्य त्रिस्तस्योपरिष्टादपरिमितान् पञ्च वार्द्धौकारानुदात्तानुत्तमस्य तु त्रीन् पूर्वमक्षरं निहन्यते, 'न्यूङ्खमाने' (आश्व० श्रौ० ७।११।१-५) इति स्मरणात्। एतदर्थस्तु—चतुर्थेऽहनि प्राप्ते सति प्रातरनुवाकस्य येयमृक् प्रथमास्ति, तस्या यौ द्वावर्धर्चौ तयोर्यावादी तयोराद्ययोर्न्यूङ्खः कर्तव्यः। तद्यथा—

आपो॑ रेवतीः क्षय॑था हि वस्वः॒ क्रतुं॑ च भद्रं बिभृतामृतं॑ च ।
रा॒यश्च॒ स्थ स्वप॑त्यस्य॒ पत्नीः सर॑स्वती तद् गृ॑णते वयो॑ धात् ॥' (ऋ० सं० १०।३०।१२)

इति प्रातरनुवाकस्य प्रतिपत्। तस्याः पूर्वार्धस्यादौ योऽयं द्वितीयः स्वर ओकारः षकारादूर्ध्वभावी, तं त्रिमात्रोपेतमुदात्तस्वरयुक्तं त्रिवारमुच्चारयेत्। त एते त्रय ओङ्काराः सम्पद्यन्ते। तत्रैकैकस्य ओकारस्योपरि पुनरप्योकारा अर्धस्वरूपा ह्रस्वमात्रा अपरिमिता उच्चारणीयाः। ते चार्धौकाराः सर्वेऽप्यनुदात्ताः। उत्तमस्य तु त्रिमात्रस्य ओकारस्योपरि पुनरप्योकारा अर्धस्वरूपा ह्रस्वमात्रा अपरिमिताः पञ्च वोच्चारणीयाः। एवमुदात्तास्त्रिमात्रास्त्रय ओकाराः, अर्धौकारास्त्रयोदश, इत्येवमोकाराः षोडश सम्पद्यन्ते। प्रथमद्वितीययोस्त्रिमात्रयोर्मध्ये पञ्चानुदात्ता अर्धौकाराः, एवं द्वितीयतृतीययोरपि त्रिमात्रयोर्मध्ये पञ्चानुदात्ता अर्धौकाराः, तृतीयस्य त्रिमात्रस्य उपरिष्टाद् अनुदात्ता अर्धौकारास्त्रयः। सोऽयमुच्चारणविशेषो न्यूङ्ख उच्यते। तद्यथा—'आ पो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च। रायो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद् गृणते वयोधो ३ मापो ३ (आश्व० श्रौ० ७।११।७)। 'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु' (पा० सू० १।२।३४) इति स्थले 'न्यूङ्खा ओकाराः षोडश तेषु केचिदुदात्ताः केचिदनुदात्ताः' इति काशिका। 'षोडशेति पाठः ओकारा इति च, न त्वेते मकारान्ताः, तेषु प्रथम-सप्तम-त्रयोदशास्त्रय उदात्तास्त्रिमात्राः, इतरे त्रयोदशानुदात्ता अर्धौकाराः। एतच्च आश्वलायनेन चतुर्थेऽहनीत्यस्मिन् खण्डे लक्षणेनोक्तमुदाहृतं च' इति पदमञ्जर्यां हरदत्तः। 'न्यूङ्खयन्ते शब्दविशेषं कुर्वन्ति' इति ऋग्वेदसंहिताभाष्ये (१०।९४।३) सायणः। 'न्यूङ्खो नाम सोमयागे प्रातरनुवाकसंज्ञकं शस्त्रम्, होत्रा शंसनीयत्वेन विहितम्' इति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'यो विद्वान् अर्ध-ऋचैरुक्थानां स्तोत्रविशेषाणां रूपम्, पदैर्विभक्त्यन्तैः पदैः प्रणवैः शस्त्राणां शंसन्ति यैस्तेषां रूपं निविद् ये निश्चयेन विदन्ति तान् आप्नोति, येन विदुषा पयसा सोम आप्यते स वेदवित् कथ्यते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाच्छन्द्यमूलकत्वात्। अन्यथा कथमर्धर्चैरुक्थानां रूपं विज्ञायते?

तादृशोक्थानां खपुष्पायमाणत्वात्, शस्त्राणामेव किं सर्वेषां स्तोत्राणामपि पदैर्निष्पन्नत्वात्। 'अकारो वै सर्वा वाक्' (ऐ० आ० २।३।६) इत्यादिश्रुत्या सर्वस्यैव वाङ्मयस्य अकारमूलकत्वेन शस्त्राणामेव पदप्रणवमूलकत्वोक्तेरभिप्रायो वर्णनीय आसीत्॥ २५॥

अश्विभ्यां प्रातःसवनमिन्द्रेणैन्द्रं माध्यन्दिनम्।
वैश्वदेवꣳ सरस्वत्या तृतीयमाप्तꣳ सवनम्॥ २६॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमारों के द्वारा प्रातःसवन की, इन्द्र के द्वारा इन्द्र देवता वाले माध्यन्दिन सवन की और सरस्वती के द्वारा विश्वेदेव देवता वाले तृतीय सायंसवन की प्राप्ति होती है, अर्थात् तीनों कालों में इन देवताओं की आराधना करनी चाहिये॥ २६॥

सवनसम्पत्तिमाह—अश्विभ्यां नासत्याभ्यां देवाभ्यामत्रत्याभ्यां प्रातःसवनमाप्तम्। इन्द्रेण देवेन ऐन्द्रमिन्द्रदेवत्यं माध्यन्दिनं सवनमाप्तं प्राप्तम्। सरस्वत्या वाग्देवतया कृत्वा वैश्वदेवं विश्वदेवदेवत्यं तृतीयं सायंसवनं प्राप्तम्।

अध्यात्मपक्षे—तादृशप्रातःसवनादिकं बुद्धिशुद्ध्यादिद्वारा परमात्मावगमहेतुः। अश्वीन्द्रसरस्वत्यो देवताः परमात्मविकारत्वात् परमात्मरूपाः, तत्प्रधानं प्रातरादिसवनमपि परमात्माराधनमेव।

दयानन्दस्तु—'यैरश्विभ्यां प्रथमं प्रातःसवनम्, इन्द्रेण ऐन्द्रं द्वितीयं माध्यन्दिनं सवनम्, सरस्वत्या वैश्वदेवं तृतीयं सवनमाप्तम्, ते जगदुपकारकाः सन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रातरादियज्ञक्रियासामान्यस्य सवनत्वाप्रसिद्धेः, क्रियाविशेषस्य चानिरुक्तेः। न च सूर्यशशिभ्यां प्रातःसवनस्य निष्पत्तिः, न वा विद्युता माध्यन्दिनसवनस्य सम्बन्धः, न वारोग्यकरं कर्म सवनं भवति, तथात्वे साम्प्रतिकचिकित्सकादिचिकित्सासामान्यस्यापि सवनत्वापातात्॥ २६॥

वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोति सतेन द्रोणकलशम्।
कुम्भीभ्यामम्भृणौ सुते स्थालीभिः स्थालीराप्नोति॥ २७॥

मन्त्रार्थ—वायव्य सोम पात्रों से वायव्य पात्रों की प्राप्ति होती है। वेत के पात्र से द्रोणकलश की प्राप्ति होती है। सौ छिद्र वाली झारी और दक्षिणाग्नि पर स्थापित होने वाले सुराधानी पात्र से पूतभृत् और आधवनीय को सोमाभिषव होने पर पाता है। स्थालियों के द्वारा स्थालियों की प्राप्ति होती है॥ २७॥

वायव्यानि सोमपात्राणि। सर्वेषामेव सोमपात्राणां वायव्यानीति संज्ञा। वायव्यैरत्रत्यैर्वायुदेवताकैर्ग्रहैराप्नोति। सतेन वैतसेन पात्रेण, 'वैतसः सतो भवति। अप्सुयोनिर्वै वेतस आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभिरेवैनमेतद्देवताभिरभिषिञ्चति' (श० १२।८।३।१५) इति श्रुतेः। द्रोणकलशं सौमिकमाप्नोति। कुम्भीभ्यां सुराधानीभ्यां शतच्छिद्राभ्यामम्भृणौ पूतभृदाधवनीयौ सुतेऽभिषुते सोमे यौ भवतस्तौ प्राप्नोति। स्थालीभ्यामत्रत्याभ्यां सौमिकीः स्थालीराप्नोति, स्थालीनामुभयत्र सत्त्वात्।

अध्यात्मपक्षे—उक्तैव रीतिः ।

दयानन्दस्तु—'यो विद्वान् वायव्यैर्वायुदेवताकैर्वायुषु भवैर्वा वायव्यानि कर्माणि प्राप्नोति, सतेन विभक्तेन कर्मणा द्रोणकलशं च द्रोणपरिमाणं कलशं चाप्नोति । कुम्भीभ्यां धान्यजलाधाराभ्याम् अम्भृणौ अपो बिभर्ति याभ्यां तौ सते निष्पादिते स्थालीभिः स्थालीः प्राप्नोति, स आढ्यो भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकृतहानाप्रकृतप्रसङ्गापातात् । कार्यकारणभावसिद्धावन्यथासिद्धिविरहोऽपेक्षितः । अत्र तदभाव इति भावः ॥२७॥

यजु॑र्भिराप्यन्ते॒ ग्रहा॒ ग्रहै॒: स्तोमा॑श्च॒ विष्टु॑तीः ।
छन्दो॑भिरुक्थाशस्त्राणि॒ साम्ना॑ऽवभृ॒थ आ॑प्यते ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—यजुर्मन्त्रों के द्वारा ग्रह की प्राप्ति होती है, ग्रहों से स्तोम और अनेकों प्रकार की स्तुतियाँ सम्पन्न होती हैं । छन्दों से उक्थ और कथन करने योग्य स्तुतियाँ सम्पन्न होती हैं । साम से अवभृथ प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

यजुर्भिर्यजंष्याप्यन्ते । ग्रहा ग्रहैराप्यन्ते । स्तोमैः स्तोमा आप्यन्ते । विष्टुतिभिर्विविधाभिः स्तुतिभिर्विष्टुतीर्विष्टुतयः प्राप्यन्ते । छन्दोभिर्गायत्र्यादिभिरुक्था उक्थानि शस्त्राणि च प्राप्यन्ते । साम्ना साम आप्यते । अवभृथेन अवभृथ आप्यते । अत्रत्येषु यजुरादिषु सौमिकानि यजुरादीनि चिन्त्यानीत्यर्थः, उभयत्र तेषां सत्त्वात् ।

अध्यात्मपक्षे—प्रदर्शितपूर्वः पन्थाः ।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यूयं यजुर्भिर्ग्रहा ग्रहैः स्तोमा विष्टुतीश्च छन्दोभिरुक्था शस्त्राणि च प्राप्यन्ते । साम्नावभृथ आप्यते । तेषामुपयोगो यथावत् कर्तव्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वैदिककर्मानभिज्ञत्वात्, उक्तानां परस्परं हेतुहेतुमद्भावासिद्धेः, कीदृशश्च तेषामुपयोग इत्यनुक्तेश्च ॥ २८ ॥

इडा॑भिर्भ॒क्षाना॑प्नोति सू॒क्तवा॒केना॒शिषः॑ ।
शंयुना॑ पत्नीसंया॒जान् स॑मिष्टय॒जुषा॑ सꣳस्थाम् ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान अन्न से भक्ष्य पदार्थों को पाता है । सूक्तवाक से आशीर्वाद पाता है, शंयु होम से शंयु को और पत्नीसंयाज से पत्नीसंयाज को पाता है । यजुःसमूह से उसे संस्था की प्राप्ति होती है ॥ २९ ॥

इडाभिरिडामाप्नोति । भक्षैर्भक्षानाप्नोति । सूक्तवाकेन सूक्तवाकमाप्नोति । आशीर्भिराशिष आप्नोति । शंयुना होमविशेषेण शंयुमाप्नोति । पत्नीसंयाजैः पत्नीसंयाजानाप्नोति । समिष्टयजुषा समिष्टयजुराप्नोति । संस्थया संस्थामाप्नोति । इडादीनामुभयत्र सत्त्वात् । सौत्रामण्या इडादिषु सौमिकेडादिदृष्टयः कर्तव्याः । वाक्योत्तरार्धलोपो ज्ञातव्यः ।

अध्यात्मपक्षे—प्रदर्शिता रीतिः ।

दयानन्दस्तु—'इडाभिः पृथिवीभिर्भक्षयितुमर्हानन्नादीन्, सूक्तवाकेन सुष्ठूच्यते यत् तत् सूक्तवाकन्, तेन आशिष इच्छाः, शंयुना सुखमयेन पत्नीसंयाजान् ये पत्न्या सह समिज्यन्ते तान्, समिष्टयजुषा समीचीनेष्टसाधकैर्याजुषैः कर्मभिः संस्थां सुष्ठु स्थानं प्राप्नोति, स सुखी कथं न स्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्पष्टार्थत्वात्, कार्यकारणासिद्धेश्च । इदं व्याख्यानमेव सूचयति यदस्य इडादिपदार्थानवबोधः ॥ २९ ॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हुतशेषभक्षण रूप चार रात्रि के व्रत से यजमान दीक्षा को पाता है। दीक्षा से दक्षिणा को और दक्षिणा से आस्तिक्य बुद्धि को पाता है। आस्तिक्य बुद्धि रूप श्रद्धा के द्वारा यजमान सत्यस्वरूप परमात्मा को पाता है ॥ ३० ॥

'हुतोच्छिष्टभक्षः, चतूरात्रम्, अग्निहोत्रं जुहोति' (का० श्रौ० १९।१।१३-१५)। हुतोच्छिष्टभक्षो यजमानः, स्यादिति शेषः। तथा च प्रतिदिनं सायं प्रातश्चाग्निहोत्रं हुत्वा स्थालीस्थस्य हुतशेषस्य हविषो भक्षणार्थं स्थापनं कुर्यात्। चतुर्दिनसाध्योऽयं क्रतुरिति। प्रतिषेधाभावात् पुनर्विधानसामर्थ्यात् स्वयमेवाग्निहोत्रं जुहुयादिति नियमः। एवं सूत्राणामर्थः। व्रतेन हुतोच्छिष्टभक्षश्चतूरात्रमग्निहोत्रं जुहोतीति प्रतिपादितव्रतेन दीक्षामाप्नोति। दीक्षया दक्षिणामाप्नोति। दक्षिणा दक्षिणया, विभक्तिलोपो व्यत्ययेन वा प्रथमा, 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) इति। श्रद्धां श्रत् सत्यं धीयतेऽस्यां सा श्रद्धा, ताम् आस्तिक्यबुद्धिम्। पुण्यकृतां मनोवृत्तिविशेषम्, 'श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० उ० १।५।३) इति श्रुतेः। श्रद्धया सत्यं ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१) इति श्रुतेः, आप्यते प्राप्यते, श्रद्धां विना साङ्गश्रवणाद्यभावेन तत्त्वज्ञानानुत्पत्तेः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वप्रदर्शित एव पन्थाः।

दयानन्दस्तु—'यो बालको मनुष्यो वा व्रतेन सत्यभाषणादिनियमेन दीक्षां ब्रह्मचर्यविद्यादिसुशिक्षाम्, दीक्षया दक्षिणां प्रतिष्ठां श्रियं वा प्राप्नोति, तया श्रद्धां श्रत् सत्यं दधाति यया इच्छया तामाप्नोति, श्रद्धया सत्यं सत्सु नित्येषु पदार्थेषु व्यवहारेषु वा साधुस्तं परमेश्वरं धर्मं वा आप्यते प्राप्यते' इति, तदप्यसङ्गतम्, व्रत-दीक्षा-दक्षिणादिशब्दानां तथार्थत्वे मानाभावात्। न वा श्रिया प्रतिष्ठया वा सत्यधारणप्रीतिरुपलभ्यते, विपरीतस्यैव सुवचत्वात्। तं परमेश्वरं धर्मं वा आप्यत इत्यस्य साधुत्वमपि चिन्त्यम् ॥ ३० ॥

एतावद् रूपं यज्ञस्य यद् देवैर्ब्रह्मणा कृतम् ।
तदेतत् सर्वमाप्नोति यज्ञे सौत्रामणी सुते ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं ने और प्रजापति ब्रह्मा ने जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया है, उसका इतना ही रूप है। सौत्रामणी यज्ञ में सुरा-सोम का अभिषवण होने पर यह याग पूर्णता को प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

यज्ञस्य सोमयज्ञस्य एतावदेतत्परिमाणं रूपं देवैर्ब्रह्मणा प्रजापतिना च यद्रूपं कृतं दृष्टम्, सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन प्राक्कल्पीयस्य विद्यमानस्यैव दर्शनम्। बुद्धिपूर्वकमविद्यमानस्य निर्माणं करणम्। सौत्रामणी सौत्रामण्याम्, सप्तम्येकवचनस्य पूर्वसवर्णदीर्घः, यज्ञे सौत्रामण्याख्ये सुते सुरासोमेऽभिषुते सति तदेतत् सोमयागरूपं सर्वमाप्नोति।

अध्यात्मपक्षे—सर्वमेतद् यज्ञस्य विष्णो रूपं यन्मन्त्रेषु प्रतिपादितम्, 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'यो मनुष्यो यद्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्मणा परमेश्वरेण वेदचतुष्टयेन वा यज्ञस्यैतावद्रूपं कृतं निष्पादितं प्रकाशितं वा तत्परोक्षमेतत् प्रत्यक्षम्। सर्वं सौत्रामणीसूत्राणि यज्ञोपवीतादीनि मणिना ग्रन्थिना युक्तानि ध्रियन्ते यस्मिन् तस्मिन् सुते सम्पादिते यज्ञे आप्नोति, स द्विजत्वारम्भं करोति' इति, तदेतदज्ञानविजृम्भितम्, श्रुतिसूत्रप्रसिद्धस्य सौत्रामण्याख्ययागरूपार्थस्य परित्यागेन क्लिष्टकल्पनया यज्ञोपवीतादिग्रन्थियुक्तधारणं यज्ञ इत्यर्थस्य खपुष्पायमाणस्य कल्पनानुपपत्तेः, कोऽयं तादृशो यज्ञो यस्मिन् यज्ञस्य एतत्परिमाणं रूपं प्रत्यक्षमित्यनुक्तेः। प्रत्युत यज्ञस्य एतावद्रूपमित्युक्त्या पूर्वोक्तमन्त्रेषु यज्ञस्य रूपमेव वर्णितम्। यत् त्वया कथञ्चिदन्यत्र नयनाय बलात्कारः कृतः। प्रसिद्धाश्च वैदिकेषु श्रुतिसूत्रादिषु पत्नीसंयाजेष्टयजुःसंस्थादयः पदार्थाः। सर्वमेतद्यज्ञस्य रूपम्। 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुत्यनुसारेण अध्यात्मं सर्वं वैष्णवमेव रूपम् ॥ ३१ ॥

सुरा॑वन्तं बर्हि॒षद॑ꣳ सु॒वीरं॑ य॒ज्ञꣳ हि॑न्वन्ति महि॒षा नमो॑भिः।
दधा॑नाः॒ सोमं॑ दि॒वि दे॒वता॑सु॒ मदे॒मेन्द्रं॒ यज॑मानाः॒ स्व॒र्काः ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं को नमन करते हुए, अन्न के द्वारा स्वर्ग में स्थित देवताओं को आहुति देते हुए, सोमाभिषव करते हुए, महान् ऋत्विक्गण कुशा के आसन पर बैठे हुए देवताओं के निमित्त सौत्रामणी याग का अनुष्ठान करते हैं। इस यज्ञ में शुभ मन्त्र वाले इन्द्र का यजन करते हुए हम हर्ष को प्राप्त हों ॥ ३२ ॥

सुरावन्तमिति जुहोति' (का० श्रौ० १९।३।१२)। अध्वर्युस्त्रीनपि पयोग्रहान् सहैव जुहोतीत्यर्थः। एवं सौत्रामण्याः सोमसम्पत्तिमापाद्य प्रकृतमनुसरति—सुरावन्तमिति। चतस्रस्त्रिष्टुभोऽश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याः। कण्डिकार्थस्तु—महिषा महान्त ऋत्विजः। यद्यपि महिषशब्दो निघण्टौ (३।३।८) महन्नामसु पठितः, तथाप्यत्र ऋत्विग्वाचकः, 'महिषा नमोभिरित्यृत्विजो वै महिषाः' (श० १२।८।१।२) इति श्रुतेः। यज्ञं सौत्रामणीसंज्ञं हिन्वन्ति वर्धयन्ति प्रापयन्ति वा। किंभूतं यज्ञम्? बर्हिषदं बर्हिषि सीदन्ति देवा यत्र स बर्हिषत्, तम्। पुनः कथंभूतम्? सुरावन्तम्, सुरा विधिपूर्वकं निर्मिता विद्यते यत्र स सुरावान् तम्, 'सुरावान् वा एष बर्हिषद्यज्ञो यत्सौत्रामणी' (श० १२।८।१।२) इति श्रुतेः। पुनः कीदृशम्? सुवीरम्, सुष्ठु शोभना वीरा ऋत्विजो यत्र तम्। कीदृशा महिषाः? नमोभिरन्नैर्नमस्कारैर्वा सह दिवि स्वर्गे वर्तमानासु देवतासु सोमं दधाना धारयन्तः। तत्र यज्ञे इन्द्रं यजमाना यजन्तः सन्तो वयं मदेम हृष्येम। किंभूता वयम्? स्वर्काः शोभनोऽर्कोऽर्चनं मन्त्रा वा येषां ते स्वर्काः। यद्वा शोभनोऽर्कोऽन्नं येषां ते स्वर्काः, 'अर्को वै देवानामन्नमन्नं यज्ञो यज्ञेनैवैनमन्नाद्येन समर्धयति' (श० १२।८।१।२) इति श्रुतेः, 'अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति, अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति, अर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतानि, अर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना' (नि० ५।४) इति तत्रभवतो यास्कस्योक्तेश्च।

अत्र ब्राह्मणम्—'स जुहोति। सुरावन्तं बर्हिषदꣳ सुवीरमिति सुरावान् वा एष बर्हिषद्यज्ञो यत्सौत्रामणी बर्हिषैवैनं यज्ञेन समर्द्धयति यज्ञꣳ हिन्वन्ति महिषा नमोभिरिति ऋत्विजो वै महिषा यज्ञो नम ऋत्विग्भिरेव यज्ञꣳ समर्द्धयति यज्ञेन यजमानं दधानाः सोममिति सोमपीथमेवास्मिन् दधति दिवि देवतास्विति दिव्येवैनं देवतासु दधति मदेमेन्द्रमिति मदाय वाव सोमो मदाय सुरोभावेन सोममदं च सुरामदं चावरुन्धे यजमानाः स्वर्का इत्यर्का वै देवानामन्नमन्नं यज्ञो यज्ञेनैवैनमन्नाद्येन समर्द्धयति हुत्वा भक्षयन्ति समृद्धमेवास्य तद्वर्धयन्ति' (श० १२।८।१।२)। स जुहोतीति होमं विधाय मन्त्रं व्याचष्टे—सुरावन्तमिति।

अध्यात्मपक्षे—बर्हिषदं यज्ञं यज्ञरूपधरं विष्णुं महिषा महान्तो वशिष्ठादयो हिन्वन्ति वर्धयन्ति वर्धापनं मङ्गलाशासनं कुर्वन्ति। कीदृशं विष्णुम्? सुरावन्तम्। ये सुष्ठु रमन्ते ते सुराः, तद्वन्तम्। छान्दसो दीर्घः। अथवा सुष्ठु रमते भगवान् यासु ताः सुरा भगवच्छक्तयः, तद्वन्तम्। पुनः कीदृशम्? सुवीरम्। सुष्ठु शोभना वीरा ऋत्विजो हनुमदादयो वा यस्य तं सुवीरम्। कथम्भूता महिषाः? नमोभिरन्नैर्नमस्कारैर्वा सह दिवि स्वप्रकाशे धाम्नि स्वरूपे वर्तमानासु वर्तमानायाम्, पूजायां बहुवचनम्, देवतासु परदेवतायां विष्णौ सोमं समर्पणीयं सोमादिहविः सोमात्मकं मनो वा दधानाः, तैः सार्धं वयमिन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम्, यजमानाः श्रद्धयाऽर्चयन्तो मदेम हृष्येम। कीदृशा वयम्? स्वर्काः शोभनोऽर्चनीयः परमात्मा देवो येषां ते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये महिषा महान्तः स्वर्काः शोभनादिपदार्था यजमाना विद्वांसो नमोभिरन्नैः सुरावन्तं सुराः प्रशस्ताः सोमा यस्मिंस्तं बर्हिषदं बर्हिषि आकाशे सीदति यस्तम्। सुवीरं शोभना वीराः शरीरात्मबलयुक्ता यस्मात्तम्, यज्ञं हिन्वन्ति वर्धयन्ति, ते दिवि शुद्धे व्यवहारे देवतासु विद्वत्सु सोममैश्वर्यं दधाना धरन्तः सन्तो वयं च मदेम हर्षेम' इति, तदपि मन्दम्, त्वद्रीत्या यज्ञस्य वायुशुद्धिहेतुत्वेन वीरप्राप्तिहेतुत्वानुपपत्तेः। न च यज्ञोऽन्तरिक्षे तिष्ठति, तस्येहैव समाप्तत्वात्। न चादृष्टरूपेण तदवस्थितिः, त्वया तदनङ्गीकारात्। सुरापदस्य प्रशस्तसोमार्थतापि चिन्त्या, तथैव सोमपदस्य ऐश्वर्यार्थतापि॥ ३२॥

यस्ते रसः सम्भृत ओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य।
तेन जिन्व यजमानं मदेन सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम्॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—हे सुरारस! ओषधियों में जो तुम्हारा रस इकट्ठा हुआ है, वह सुरा के साथ अभिषुत सोम का बल है। उस आनन्दप्रद रस से यजमान, सरस्वती, दोनों अश्विनीकुमार और अग्नि को तुम तृप्त करो॥ ३३॥

'पालाशैः सौरान्न मृन्मयमाहुतिमानश इति श्रुतेर्यस्त इति' (का० श्रौ० १९।३।१३)। प्रतिप्रस्थाता दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहं पालाशैरुलूखलैर्जुहुयाद् यस्त इति मन्त्रेण न मृन्मयीभिः स्थालीभिः। कुतः? 'नहि मृन्मयमाहुतिमानशे' (तै० सं० २।५।४।६) इति श्रुतौ मृन्मयपात्रेण होमनिषेधादिति सूत्रार्थः। मृन्मयं पात्रमाहुतिं न व्याप्नोतीति श्रुत्यर्थः। हे सुरे, यस्ते तव ओषधीषु वर्तमानो रसः सम्भृत एकीकृतः 'अपां च वा एष ओषधीनां च रसो यत्सुरा' (श० १२।८।१।४) इति श्रुतेः। सुरया सह सुतस्य सोमस्य च यः शुष्मो यद् बलम्, मदेन मदयति हर्षयति ग्लेपयति वेति मदः, तेन मदजनकेन तेन सुरारसेन सोमबलेन च यजमानं सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निं च जिन्व प्रीणीहि।

अत्र ब्राह्मणम्—'स जुहोति। यस्ते रसः सम्भृत ओषधीष्वित्यपां च वा एष ओषधीनां च रसो यत्सुरापां चैवैनमेतदोषधीनां च रसेन समर्धयति सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्येति य एव सोमे शुष्मो यः सुरायां तमेवावरुन्धे तेन जिन्व यजमानं मदेनेति तेन प्रीणीहि यजमानं मदेनेत्येवैतदाह सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निमिति देवताभिरेव यज्ञꣳ समर्धयति देवताभिर्यज्ञेन यजमानꣳ हुत्वा भक्षयन्ति व्यृद्धमेवास्य तत्समर्धयन्ति' (श० १२।८।१।४)। स जुहोति यस्ते रस इति। ते तव सोमस्य सोमात्मिकायाः सुरायाः सुतस्य त्वदात्मना सुतस्य शुष्मो बलवान् रसः सम्भृत ओषधीषु, तेन रसेन त्वमुदकाकारेण तर्पय सरस्वत्यादीन्, तद्द्वारेण यजमानमपि प्रीणीहि। सोमाधारमित्येवं मन्त्रार्थमादरीकृत्य यजमानमेव ओषधीनां च रसेन समर्धयतीत्याद्याह। देवताभिरेवाश्व्यादिभिर्यज्ञं समर्धयति। देवताभिर्यज्ञेन च यजमानम्, तदर्थत्वाद् यज्ञस्य। हुत्वा

सुरां भक्षयन्ति यजमानसप्तमा ऋत्विज एवेति यत् तत्तेन व्यृद्धेनैव लोकदृष्ट्या अस्य यजमानस्य समर्धयति। सोमं राजानमिह भक्षयामीत्यनयोपासनयेत्यभिप्राय इति श्रीमदाचार्यहरिस्वामी।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मन्, यस्ते तव स्वरूपभूतो रस ओषधीषु वर्तमानः सम्भृतः, 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥' (भ० गी० १५।१३) इति हि भगवद्वचनम्। सुरया सह सुतस्य सोमस्य च यः शुष्मो बलं तेन मदेन मदजनकेन सुरावन्मादकेन सोमवद्बलकरेण च रसेन सरस्वतीं वाचमश्विनौ प्राणापानौ इन्द्रं जीवमग्निमीश्वरं च जिन्व प्रीणयसि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्ते रस आनन्द ओषधीषु वर्तमानः सुतस्य सिद्धस्य सोमस्य सुरया उत्तमदानशीलया स्त्रिया सम्भृतः सम्यग्धारितः, शुष्मो बलकरो रसः, तेन मदेन आनन्ददायकेन यजमानं सर्वसुखदायकं सरस्वतीं विद्यायुक्तां स्त्रियम् अश्विनौ विद्याव्याप्तौ अध्यापकोपदेशकौ इन्द्रमैश्वर्ययुक्तं सभापतिम् अग्निं सेनापतिं जिन्व प्रसन्नं कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषो रसस्य आनन्दस्य ओषधीषु वर्तमानत्वासिद्धेः। आनन्दस्त्वद्रीत्या आत्मधर्म इति स नौषधीषु स्थातुमर्हति। नहि रसस्य दानशीलया स्त्रिया पुरुषेण वा धारणे वैशेष्यं सिद्ध्यति। किञ्च, किमर्थं विदुषा एकस्या विदुष्यास्तर्पणं क्रियते? द्वयोरध्यापकोपदेशकयोरेव वा प्रसादनमित्यनुक्तेः॥ ३३॥

यमश्विना नमुचेरासुरादधि सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय।
इमं तꣳ शुक्रं मधुमन्तमिन्दुꣳ सोमꣳ राजानमिह भक्षयामि॥ ३४॥

मन्त्रार्थ— दोनों अश्विनीकुमारों ने असुर के पुत्र नमुचि के पास से जिस सोम का आहरण किया, सरस्वती ने जिसको इन्द्र के बलवीर्य या भैषज्य के लिये संस्कृत किया, उस स्वच्छ, मधुररसयुक्त, परम ऐश्वर्यवान्, सरस्वती से संस्कृत राजा सोम का मैं इस यज्ञ में भक्षण करता हूँ॥ ३४॥

'अध्वर्युः प्रतिप्रस्थाताग्नीध्रमश्विनेत्याश्विनं भक्षयन्ति द्विर्द्विरावर्तम्' (का० श्रौ० १९।३।१४)। अध्वर्युः, प्रतिप्रस्थाता, अग्नीत्—एते त्रय आश्विनं पयोग्रहं हस्ते गृहीत्वा यमश्विनेति मन्त्रेण एकवारं भक्षयित्वा पुनरनेनैव क्रमेण द्वितीयवारं भक्षयेयुः, मन्त्रस्य सकृदेव प्रयोग इति सूत्रार्थः। 'होतृ-ब्रह्म-मैत्रावरुणाः सारस्वतमाश्विनवत्' (का० श्रौ० १९।३।१५)। होत्रादयः सारस्वतं पयोग्रहमाश्विनग्रहवदिति यमश्विनेति मन्त्रेण क्रमेण भक्षयित्वा पुनस्तेनैव क्रमेण भक्षयेयुः, सकृदेव मन्त्रप्रयोग इति सूत्रार्थः। 'ऐन्द्रं यजमानः' (का० श्रौ० १९।३।१७)। ऐन्द्रं पयोग्रहं यजमान एव भक्षयेदिति सूत्रार्थः। नमुचिरसुरः, इन्द्रस्य इन्द्रियं वीर्यमपिबत्। इन्द्रेण तस्य शिरसि च्छिन्ने लोहितमिश्रः सोम उदतिष्ठत्। तदुत्पूय देवा अपिबन्त। तदभिवादिनी एषा ऋक्—यमिति। आसुरात्, असुरस्यापत्यं पुमानासुरः, तस्मात्। नमुचेरेतन्नामकात्। अधि सकाशाद् अश्विना अश्विनौ यं सोममाहरतामिति शेषः, 'अश्विनौ ह्येतं नमुचेरध्याहरताम्' (श० १२।८।१।३) इति श्रुतेः। अश्विभ्यामाहृतं यं सोमं सरस्वती असुनोत्। एतत्सर्वं किमर्थमिति चेत्? इन्द्रियाय वीर्याय, इन्द्रभैषज्याय वा। तमश्विभ्यामाहृतं सरस्वत्यभिषुतमिमं राजानं सोममिह यज्ञेऽहं भक्षयामि। कीदृशं सोमम्? शुक्रं शुद्धं लोहितासंसृष्टं मधुमन्तं मधुररसोपेतमिन्दुं परमैश्वर्यप्रदम्।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन्, यं त्वदीयस्वरूपभूतं रसं तत्त्वज्ञानं विना न मुञ्चतीति नमुचिर्मोहोऽज्ञानम्, तस्माद् आसुरात् सु सुष्ठु शोभनं परं ब्रह्म तत्र ये रमन्ते ते सुराः। न सुरा असुराः, अनात्मरता

इति यावत्, तेषु भवतीत्यासुरस्तस्मात्, नमुचेः सकाशाद् अश्विनौ गुरुशिष्यौ प्रश्नोत्तररूपेण वादेनाध्याहरताम्। यं च अश्विभ्यामाहृतं सरस्वती ब्रह्मविद्यालक्षणा असुनोत्, इममपरोक्षं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं परमात्मरूपं रसं शुक्रं शुक्लमविद्यातज्जनितोपाधिरहितम्, मधुमन्तं परप्रेमास्पदमिन्दुं चन्द्रवदाह्लादकं सोमं साम्बसदाशिवरूपं राजानं राजमानं स्वप्रकाशमिह देहे स्थितः साधकरूपेणाहं भक्षयामि सर्वोपाध्यध्यासापोहेन शुद्धः स्वात्मतयाऽनुभवामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, इहेन्द्रियाय नमुचेर्यो जलं न मुञ्चति स नमुचिः, तस्मात्। आसुराद् असुरस्य मेघस्यायमासुरस्तस्मात्। अधि शुक्रं मधुमन्तमिन्दुं राजानं सोमं पुरुषार्थप्रेरकं सरस्वती असुनोत्, अश्विनौ सभामेनेशौ सुनुताम्, तमिमं भक्षयामि' इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, ओषधिरसस्य विदुषी नार्येव सम्पादयित्रीति हेतुविशेषानुपपत्तेः। तत्र सभापतेः सेनापतेश्च क उपयोगः? कोऽसौ भक्षयिता यदर्थं समासेन ईशाभ्यां सोमरस आह्रियते? उद्धृतश्रुतिविरोधश्च। श्रुतिस्तु आसुरान्नमुचेः सकाशादश्विनावध्याहरतामित्याह॥ ३४॥

यदत्र॑ रि॒प्तꣳ र॒सिनः॑ सु॒तस्य॒ यदिन्द्रो॒ अपि॑बच्छची॑भिः।
अ॒हं तद॑स्य॒ मन॑सा शि॒वेन॒ सोमꣳ राजा॑नमि॒ह भ॑क्षयामि॥ ३५॥

मन्त्रार्थ—रसवान् तथा भली प्रकार से संस्कृत सोम का जो भाग इस रस में मिला हुआ है, जिसको कर्मों के द्वारा शुद्ध करके इन्द्र ने पिया है, उस दीप्तिमान् सुरा रस से निकले हुए सोम को शुद्ध मन से मैं इस यज्ञ में पीता हूँ॥ ३५॥

'स भक्षयति। यमश्विना नमुचेरासुरादधीत्यश्विनौ ह्येतन्नमुचेरध्याहरताꣳ सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियायेति सरस्वती ह्येतमसुनोदिन्द्रियायेमन्तꣳ शुक्रं मधुमन्तमिन्दुमिति शुक्रो वा एष मधुमानिन्दुर्यत्सोमः सोमꣳ राजानमिह भक्षयामीति सोम एवास्य राजा भक्षितो भवति दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहान् जुह्वति पाप्मनैवैनं तद् व्यावर्तयन्ति' (श० १२।८।१।३) इत्युत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान् दक्षिणे सुराग्रहान् हुत्वा भक्षयन्ति। तथा चाह कात्यायनः—'यदत्रेति सौरान् भक्षयन्ति यथाभक्षितं प्राचीनावीतिनो दक्षिणतः' (का० श्रौ० १९।३।१८)। विहारस्य दक्षिणत उपविष्टा कृतापसव्याः पयोग्रहभक्षणेतिकर्तव्यतानतिक्रमेण सौरान् ग्रहान् भक्षयेयुरध्वर्य्वादयः। अध्वर्युः, प्रतिप्रस्थाता, आग्नीध्रः—इत्येते त्रयः सौरमाश्विनं द्विरावर्तं भक्षयन्ति। ततः सारस्वते शेषासेकः। तथा चाह कात्यायनः—'शेषꣳ शेषमासिञ्चत्युत्तरे पूर्वस्य' (का० श्रौ० १९।३।१६)। पूर्वस्य ग्रहस्य भक्षितस्य शेषमुत्तरे ग्रहेऽवनयेत्। आश्विनस्य शेषं सारस्वते तच्छेषमैन्द्रे इति सूत्रार्थः। 'प्राणभक्षमेके' (का० श्रौ० १९।३।१९)। एके शाखिनः सौरग्रहाणामवघ्राणमात्रं कुर्वन्ति, न मुखेन भक्षणमिति सूत्रार्थः। 'परिक्रीतो वा वैश्यराजन्ययोरन्यतरः' (का० श्रौ० १९।३।२०)। अथवा वैश्यराजन्ययोरन्यतरो मूल्येन क्रीतः सौरान् ग्रहान् भक्षयेदिति सूत्रार्थः। रसोऽस्त्यस्मिन्निति रसी, तस्य रसवतः। सुतस्य अभिषुतस्य सोमस्य। यत्, सामान्ये नपुंसकत्वम्, यो भाग इत्यर्थः। अत्र सुरायां रिप्तं लिप्तम्, सोमसम्बन्धि यत्सुरायां लग्नमिति यावत्। यच्च सुरालग्नं सोमांशं शचीभिः कर्मभिः शुद्धं कृत्वा इन्द्रोऽपिबत्। सोमं राजानमिति द्वितीयान्तयोः षष्ठ्यन्तत्वेन विपरिणामः, अस्येति विशेषणानुरोधात्। अस्य सोमस्य राज्ञः, तत् तं सुरानिर्गतं सोमं शिवेन शुद्धेन कल्याणमयेन मनसा इह यज्ञेऽहं सुरासकाशाच्छुद्धं कृत्वा भक्षयामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'स भक्षयति। यदत्र रिप्तᳫं रसिनः सुतस्येति सुतासुतयोरेव रसमवरुन्धे यदिन्द्रो अपिबच्छचीभिरितीन्द्रो ह्येतदपिबच्छचीभिरहं तदस्य मनसा शिवेनेत्यशिव इव वा एष भक्षो यत्सुरा ब्राह्मणस्य शिवमेवैनमेतत् कृत्वात्मन् धत्ते सोमᳫं राजानमिह भक्षयामीति सोम एवास्य राजा भक्षितो भवति' (श० १२।८।१।५)। 'आश्विनं तावदध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता आग्नीध्रः, सारस्वतं होता ब्रह्मा मैत्रावरुणः, ऐन्द्रं यजमानः' इति वचनाद् यो नाम भक्षयति, स अनेन मन्त्रेणेति प्रत्येकं मन्त्रो वर्तत इत्येवैकवचनम्। सुतः सोमः, असुतः सुरा, तयो रसमवरुन्ध इति सुरायाः साक्षात् सोमस्याप्युपासनम्, 'यदत्र रिप्तं रसिनः सुतस्य' इति वचनात्। इन्द्रो ह्येतत् सुरालिप्तं सोमलिप्तं सोममत्रापि पीतवान् शचीभिः कर्मभिर्हेतुभूतैः। पुनरिन्द्रकर्तृकं कर्म करिष्यामीत्येवमर्थः' इत्याचार्यो हरिस्वामी।

अध्यात्मपक्षे—अत्र जगति रसिनो रसवतः परमात्मनः सुतस्य परिष्कृतस्य शोधितस्य यो भागो रिप्तं लिप्तोऽधिश्रानतया संसृष्टस्तत् तमिन्द्रः परमेश्वरः शचीभिर्विचारलक्षणैः कर्मभिः शुद्धं कृत्वा अपिबत् स्वात्मतादात्म्येनानुभूतवान्। अहं जीवोऽपि, अस्य सोमस्य राज्ञः स्वप्रकाशस्य साम्बसदाशिवस्य स्वरूपभूतं तं शिवेन शुद्धेन मनसा शुद्धं कृत्वा भक्षयामि स्वात्मतादात्म्येनानुभवामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, यथाहमिह संसारेऽस्य सुतस्य सिद्धस्य रसिनः प्रशस्तरसयुक्तस्य पदार्थस्य यो भाग इह संसारे रिप्तं लिप्तं प्राप्तम्, इन्द्रः सूर्यः शचीभिराकर्षणादिभिः कर्मभिर्यं भागमपिबत्, तं राजानं प्रकाशमानं सोममोषधिरसं शिवेन मनसाहं भक्षयामि पिबामि, तथैव यूयमपि पिबत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्, निरर्थकत्वाच्च। नहीदं वैद्यकशास्त्रं यदोषधिपानमुपदिशेत्। न वा सर्वे सर्वौषधिरसाधिकारिणः, तत्तदवस्थाविशेषविशिष्टान् प्रत्येव तत्सार्थक्यात्॥ ३५॥

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम्॥ ३६॥

मन्त्रार्थ—आश्विन ग्रह होम और स्वधा के प्रेमी पितरों के अर्थ स्वधा नामक अन्न को आहुति और प्रणाम प्राप्त हो। सारस्वत सुराग्रह होम और स्वधा के प्रेमी पितामहों के लिये स्वधा रूप अन्न को आहुति और प्रणाम प्राप्त हो। ऐन्द्र सुराग्रह होम और स्वधा के प्रेमी प्रपितामहों के लिये स्वधा नामक अन्न और प्रणाम प्राप्त हो। सुराग्रह प्रक्षालन जल को आहवनीय अंगार के उत्तर में छिड़कते हुए कहे कि पितरों ने अपने आहार को ग्रहण किया, पितृगण तृप्त हो आनन्दित हुए, पितृगण अत्यन्त तृप्त हुए। हे पितरों! अब आप लोग आचमन द्वारा शुद्ध होइये॥ ३६॥

'अङ्गारेषु वा बहिष्परिधि दक्षिणतो जुहोत्याश्विनमुत्तरे मध्यमे सारस्वतमैन्द्रं दक्षिणे पितृभ्य इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १९।३।२१)। सुराग्रहाणां भक्षणम्, अवघ्राणम्, मूल्येन राजन्यवैश्यान्यतरकर्तृकं पानमिति पक्षत्रयं पुरस्तान्निरूपितम्। अधुना चतुर्थं पक्षमाह—अङ्गारेषु वेति। वा अथवा दक्षिणस्य आहवनीयस्य अङ्गारेषु परिधेर्बहिःप्रदेशे दक्षिणस्यां दिशि स्थापितेषु दक्षिणसंस्थेषु पितृभ्य इति मन्त्रेण होमावशिष्टान् सुराग्रहान् जुहुयात्। तत्राश्विनं सुराग्रहमुत्तरे, सारस्वतं मध्यमे, ऐन्द्रं सुराग्रहं दक्षिणे जुहुयात्। अपसव्येन एतत्कर्म कर्तव्यम्। 'अक्षन् पितर इति प्रक्षालनेनोपसिञ्चति' (का० श्रौ० १९।३।२२)। होमक्रमेण सौरग्रह-

पात्रप्रक्षालनोदकेन यथास्वमङ्गारानुपसिञ्चेदिति सूत्रार्थः। 'पितरः शुन्धध्वमिति जपति' (का० श्रौ० १९।३।२३) स्पष्टार्थमेतत्।

पितृदेवत्यानि सप्त यजूंषि। पितृभ्यः स्वधा नमः पितृभ्यः स्वधासंज्ञकं नमोऽन्नमस्तु, 'स्वधा वै पितॄणामन्नम्' (श० १३।८।१।४) इति श्रुतेः। यद्वा पितृभ्यः स्वधा अन्नमस्तु, तेभ्यो नमो नमस्कारश्चास्तु। कीदृशेभ्यः पितृभ्यः? स्वधायिभ्यः स्वधामन्नं प्रति यन्ति गच्छन्ति तच्छीला इति स्वधायिनः, स्वधोपपदात् 'इण् गतौ' इति धातोः 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा० सू० ३।२।७८) इति णिनिप्रत्यये, 'अचो ञ्णिति' (पा० सू० ७।२।११५) इति वृद्धौ रूपम्, तेभ्यः। पितृभ्य इति बहुवचनं पितृव्याद्यपेक्षं पूजार्थं वा। पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति द्वितीयं यजुः। प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति तृतीयं यजुः। अक्षन् भक्षितवन्तः। 'घस्लृ अदने' इत्यस्य लङि प्रथमपुरुषबहुवचनेऽडागमे 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (पा० सू० ६।४।९८) इत्युपधालोपे, 'शासिवसिघसीनां च' (पा० सू० ८।३।६०) इति सकारस्य मूर्धन्यादेशे, 'खरि च' (पा० सू० ८।४।५५) इति चर्त्वे रूपम्। पितर इति चतुर्थं यजुः। अमीमदन्त, 'मद तृप्तियोगे' इत्यस्य लुङि प्रथमबहुवचने रूपम्। मादिताः पितर इति पञ्चमं यजुः। अतीतृपन्त पितरः, तर्पिता अस्माभिरिति। यद्वा अस्मानतीतृपन्त तर्पयन्ति तृप्ताः सन्तोऽभीष्टदानेनेति षष्ठं यजुः। हे पितरः, यूयं शुन्धध्वं पाणिप्रक्षालनेन शुद्धा भवतेति सप्तमं यजुः।

अत्र ब्राह्मणम्—'तद्धैतदन्येऽध्वर्यवः। राजन्यं वा वैश्यं वा परिक्रीणन्ति स एतद् भक्षयिष्यतीति तदु तथा न कुर्याद्यो ह वा एतद् भक्षयति तस्य हैवं पितॄन् पितामहानेष सोमपाथोऽन्वेति दक्षिणस्यैवाग्नेस्त्रीनङ्गारान्निर्वर्त्य बहिष्परिधि तदेताभिर्व्याहृतिभिर्जुहुयात्' (श० १२।८।१।६), 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति। पितॄनेव पितृलोके स्वधायां दधाति पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति पितामहानेव पितामहलोके स्वधायां दधाति प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति प्रपितामहानेव प्रपितामहलोके स्वधायां दधाति' (श० १२।८।१।७)। एतत्सुरापाने कर्तव्ये यो ह वै एतद् हुतोच्छिष्टं भक्षयति तस्यैव पितृष्वेष सोमपाथः सामपानं मान्त्रवर्णिकमस्त्येव। न च राजन्यवैश्ययाः सामपाथोऽस्तीत्यभिप्रायः। दक्षिणस्यैवाग्नेरेकदेशभूतानङ्गारान् निर्वर्त्य बहिष्कृत्य पितृवद्दक्षिणोत्तरात् तत् तेषु एताभिर्व्याहृतिभिर्जुहुयात्। 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' इत्याश्विनशेषमुत्तरार्धे जुहोति। एतेन च पितॄनेव यजमानस्य पितृलोके दधाति स्थापयति। पितामहेभ्य इति सारस्वतं मध्यम। प्रपितामहेभ्य इत्यैन्द्रं दक्षिण इत्याचार्यो हरिस्वामी। 'अप आनीय निनयति। अक्षन् पितर इत्यन्नाद्यमेवैषु दधात्यमीमदन्त पितर इति मदयत्येवैनानतीतृपन्त पितर इति तर्पयत्येवैनान् पितरः शुन्धध्वमित्यनुपूर्वमेवैनान् सर्वान् पावयति पवित्रं वै सौत्रामणी' (श० १२।८।१।८)। अप आनीय ग्रहपात्रेषु ततस्तद्धामदेशे च यथाक्रमं निनयति। अन्नाद्यमेवैषु दधातीत्येतदन्नस्यादनविषयत्वादपक्वं नित्यमनेनैवान्नाद्यमुपात्तमित्यभिप्रायः। 'पितरः शुन्धध्वम्' इति जपति, क्रियान्तरस्यानुपदेशादिति भावः। अनुपूर्वमेव एनान् पित्रादीन् पावयति तर्पयतीत्याचार्यो हरिस्वामी।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरस्यैव पितृपितामहप्रपितामहादिरूपेणापि पूज्यत्वम्, तस्यैव सर्वहेतुत्वात्। पृथिव्यादीनां कारणत्वमाकाशे पर्यवस्यति, आकाशस्य जनकत्वमहमि, तस्य महति, तस्याप्यव्यक्ते, अव्यक्तस्यापि कारणं सत्तत्त्वम्, 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' (म० भा० १२।३३४।३१), 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे सम्प्रलीयते' (म० भा० १२।३३९।३१) इत्यादिवचनेभ्यः। तथा चाकाशस्य वृद्धप्रपितामहत्वं परस्मिन् सति ब्रह्मणि पर्यवस्यति। अत एव येषां पितृपितामहादयो ब्रह्मविद्वरिष्ठत्वान्मुक्तास्तेषां मुक्तानामपि पुत्रपौत्रप्रपौत्रशिष्यप्रशिष्यादिभिः पितृरूपजनार्दनाराधनबुद्ध्यैव पित्रादिसमर्थनं क्रियते। सर्वत्र बहुवचनं पितृव्याद्यपेक्षया पूजायां

वा, 'पिताहमस्य जगतः' (भ० गी० ९।१७) इति रीत्या परमेश्वरः सर्वस्य पिता । पितुरपि पितृत्वात् पितामहत्वम्, तस्यापि पितृत्वात् प्रपितामहत्वम्, तस्यापि पितृत्वात् वृद्धप्रपितामहत्वमिति तेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधां प्रति गमनशीलेभ्यः स्वधारूपं नमोऽन्नमस्तु । स्वधास्तु नमस्कारश्चास्तु । सर्वे चैते पितरः, अक्षन् भक्षितवन्तः, अस्मत्समर्पितं हविरिति शेषः । पितरः सर्वेऽमीमदन्त अतीतृपन्त । हे पितरः, यूयं शुन्धध्वम्, पाणिप्रक्षालनं कुरुध्वमित्यर्थः । स्वात्मवदेव देवानां पितृणां चोपासनमर्चनं च क्रियते ।

दयानन्दस्तु—'अस्माभिः पुत्रशिष्यमनुष्यैर्येभ्यः स्वधायिभ्यः पालकेभ्यो जनकाध्यापकादिभ्यो ज्ञानिभ्यो वा स्वधा अन्नजलादिकं नमस्कारश्चास्तु, तथैव पितामहेभ्यो बह्वन्नं नमः सत्कारश्चास्तु, तथैव पितामहपितृभ्योऽपि स्वधान्नं नमोऽस्तु । हे पितरः, यूयं सुनिर्मितं भोजनमक्षन् अदन्तु । हे ज्ञानिनः, अमीमदन्त यूयमतिशयेन हर्षयत । शुन्धध्वं पवित्रीकुरुत' इति, अत्रोच्यते—यदि मृतानां पित्रादीनामेतद्भोजनादिदानम्, तदा अपसिद्धान्तापातः । यदि जीवतामेवैतत्, तदा स्वधादिमन्त्रोच्चारणनैरर्थक्यमेव । शास्त्रेषु मनुष्येभ्यो हन्तकारः, पितृभ्यः स्वधाकारः, देवेभ्यः स्वाहाकारो हविरादिदाने प्रयुज्यते । तादृशे भेदे किं मूलमित्यनुक्तेः । सर्वथापि स्वैरित्वमर्थप्रक्रियायामस्य महात्मनः प्रतिफलति ॥ ३६ ॥

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—सौम्यमूर्ति पितृगण पूर्ण आयु देने वाले पवित्रे से मुझे पवित्र करें, पितामह मुझे पवित्र करें, प्रपितामह मुझे पवित्र करें । पितामह शतायु देने वाले पवित्रे से मुझे पवित्र करें, प्रपितामह अतिपवित्र आनन्दयुक्त सौ वर्ष की आयु प्रदान करें । इस प्रकार मैं सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करूँ ॥ ३७ ॥

'कुम्भीमासज्य कुम्भवच्छतवितृण्णां वालपवित्रहिरण्यान्यन्तर्धाय नवर्चं वाचयति पुनन्तु मेति' (का० श्रौ० १९।३।२४) । चरकसौत्रामणीकुम्भवत् पञ्चदशेऽध्याये दशम्यां कण्डिकायां 'भक्षमाहृत्य' इत्यादिके षोडशे सूत्रे प्रतिपादितपद्धतिवत् शतच्छिद्रां कुम्भीमासज्य दक्षिणस्याहवनीयस्योपरि शिक्ये कृत्वा तत्र वालपवित्रहिरण्यान्यन्तर्धाय तत्र परिस्रुच्छेषमासिञ्चेत् । ततस्तस्यां सुरायामग्नेरुपरि स्रवन्त्यां पुनन्तु मेति नवर्चं वाचयेत् । वालो गोवालनिर्मितः सुरागलनम् । पवित्रमजाविलोमनिर्मितं पयोगलनम् । तथा च दक्षिणाहवनीयपार्श्वयोः स्तम्भद्वयोपरि दक्षिणाग्रं वंशं निधाय कुम्भीतले वालादीनि निधाय तत्र सुराशेषं सिक्त्वाग्नेरुपरि स्रवन्त्यां सुरायां नवर्चं यजमानं वाचयेत् । हिरण्यं शतमानमितम् । प्रत्यृचं वाचनमिति सूत्रार्थः ।

द्वे पितृदेवत्ये अनुष्टुभौ । पितरो मा मां पुनन्तु शोधयन्तु । केन ? पवित्रेण गोऽश्ववालकृतेन पवित्रेण । कीदृशेन पवित्रेण ? शतायुषा शतं शतवर्षमितम् आयुर्जीवनं यस्मात्तत् शतायुः, तेन । येन पूतः पुरुषः शतायुर्भवति तादृशेन पवित्रेण मां पुनन्त्विति सम्बन्धः । पितामहाश्च मां पुनन्तु । प्रपितामहाश्च मां पुनन्तु । कीदृशाः पित्रादयः ? सोम्यासः सोम्याः । सोमं सम्पादयन्तीति सोम्याः । ते परिस्रुतमपि सोमं कुर्वन्ति, तेषामचिन्त्यशक्तित्वम् । आदरार्थं पुनर्वचनम् । पितामहाः प्रपितामहाश्च मां पुनन्तु शतायुषा पवित्रेण । एवं पित्रादिभिः पूतोऽहं विश्वं सर्वमायुर्व्यश्नवै व्याप्नवै, प्राप्नुयामिति यावत् । 'अशूङ् व्याप्तौ सङ्घाते च' लोटि उत्तमैकवचनम् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'त्रिभिः पवित्रैः पावयन्ति। त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैः पुनन्ति (श० १२।८।१।९)। 'पावमानीभिः पावयन्ति। पवित्रं वै पावमान्यः पवित्रेणैवैनं पुनन्ति' (श० १२।८।१।१०), 'तिसृभिस्तिसृभिः पावयन्ति। त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तैरेवैनं पुनन्ति' (श० १२।८।१।११), 'नवभिः पावयन्ति। नव वै प्राणाः प्राणैरेवैनं पुनन्ति प्राणेषु पुनः पूतं प्रतिष्ठापयन्ति' (श० १२।८।१।१२), 'पवित्रेण पावयन्ति। अजाविकस्य वा एतद्रूपं यत्पवित्रमजाविकेनैवैनं पुनन्ति'(श० १२।८।१।१३),'वालेन पावयन्ति। गोऽश्वस्य वा एतद्रूपं यद्वालो गोऽश्वेनैवैनं पुनन्ति'(श० १२।८।१।१४), 'हिरण्येन पावयन्ति। देवानां वा एतद्रूपं यद्धिरण्यं देवानामेवैनꣳ रूपेण पुनन्ति' (श० १२।८।१।१५), 'सुरया पावयन्ति। सुरा हि पूता पूतयैवैनं पुनन्ति। तद्यथा सुरा पूयमाना बल्कसेन विविच्यत एवमेवैतद्यजमानः सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वान् सौत्रामण्या यजते यो वैतदेवं वेद' (श० १२।८।१।१६)। पवित्रेण अजाविलोममयेन वालेन गोऽश्ववालेन हिरण्येन। एतानि त्रीण्यन्तर्धाय सुरां क्षारयन्तो वाचयन्ति। सुरया यजमानस्य प्रकृतपूतया वालपवित्रहिरण्यैः पूयमानया यजमानं वाचयन्ति। बल्कसेन किदिसेन विविच्यते, तस्मात् पृथग्भवतीत्याचार्यो हरिस्वामी।

अध्यात्मपक्षे—अपूजिताः पितरोऽसोम्या भवन्ति। संराधितास्तु सोम्याः सोमवत्प्रियदर्शना भवन्ति। ते मां पुनन्तु। पितामहाः प्रपितामहाश्च पूर्वोक्तरीत्या परमेश्वराः शतायुषा पवित्रेण पुनन्तु। तैः पूतः सर्वमायुर्व्यश्नवै। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'सोम्यासः पितरो ज्ञानप्रदानेन पालकाः पवित्रेण शुद्धाचरणयुक्तेन शतायुषा मां पुनन्तु। सोम्यासः पितामहाः पवित्रेण शतायुषा पुनन्तु। प्रपितामहाः पुनन्तु। यतोऽहं विश्वमायुर्व्यश्नवै प्राप्नुयाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शतायुष्ट्वफलस्य पावनं प्रति करणत्वायोगात्। न च लौकिकमनुष्याणां पावकत्वं सम्भवति, स्वकर्तृकशुद्धाचरणेनैव स्वशुद्धिसम्भवात्। न च शुद्धाचरणोपदेशकत्वेन तेषां पावकत्वम्, कुलालपितुर्घटं प्रति कारणत्ववदन्यथासिद्धत्वात् ॥ ३७ ॥

अग्न॒ आयू॑ꣳषि पवस॒ आ सु॒वोर्ज॒मिषं॑ च नः। आ॒रे बा॑धस्व दु॒च्छुना॑म् ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप ही आयु प्राप्त कराने वाले कर्मों के कर्ता हैं, हमें धन-धान्य और दही आदि रस दीजिये, दूर स्थित दुष्ट कुत्तों के समान दुर्जनों की बाधा से हमारी रक्षा कीजिये, जिससे कि हम उनके आक्रमण से बच सकें ॥ ३८ ॥

प्रजापतेरार्षम्। अग्निदेवत्या गायत्री। हे अग्ने, यतस्त्वमायूंषि आयुःप्रापकाणि कर्माणि पवसे पावयसे, स्वभावत एव चेष्टयसे, अन्तर्भावितण्यर्थः। अत एव त्वां प्रार्थयामहे। नोऽस्माकं कृते इषं व्रीह्यादिकमन्नं यदभीष्टं तद्वा ऊर्जं दध्यादिकमुपसेचनं च आसुव अभ्यनुजानीहि, देहीत्यर्थः, अन्नाद्यन्तरा आयुःप्राप्त्यसम्भवात्। किञ्च, आरे दूरे एव अवस्थितानां दुच्छुनां दुष्टाश्च ते श्वानश्च दुच्छुवानस्तेषाम्। कर्मणि षष्ठी। श्वभिरत्र दुर्जना उपलक्ष्यन्ते। तान् सारमेयप्रायान् दुर्जनान् बाधस्व नाशयसि, तद्राहित्यस्य परमायुःप्राप्तिहेतुत्वात्।

अध्यात्मपक्षे – हे अग्ने परमेश्वर, सर्वान्तर्यामित्वात् त्वमेव आयूंषि दीर्घायुःप्रापककर्माणि चेष्टयसे, अतस्तत्सिद्ध्यर्थमिषमिष्यमाणमभीष्टमन्नमूर्जं रसं च आसुव ज्ञापय, देहीत्यर्थः। आरे स्थितानपि दुर्जनान् बाधस्व, दुर्जनसामीप्यस्य दीर्घायुष्ट्वप्रतिबन्धकत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन् पितः पितामह प्रपितामह, त्वं न आयूंष्यन्नादीनि पवसे पवित्री-कुर्याः। स त्वमूर्जं पराक्रममिषमिच्छासिद्धिं च आसुव आसमन्तात् सुव प्रेष्वं साधय। दुच्छुनां सङ्गं बाधस्व' इति, तदपि विसङ्गतमेव, मनुष्याणामायुःपावकत्वायोगात्, पराक्रमेच्छासिद्धिदानेऽपि तदसामर्थ्याच्च। पारम्पर्येण तद्धेतुत्वे त्वन्यथासिद्धिरेव। सिद्धान्ते तु देवानामिव पित्रादीनामपि विशिष्टसामर्थ्यसम्पन्नत्वेन तथा प्रेरणे दाने च सामर्थ्यसत्त्वेनादोषात् ॥ ३८ ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—देवानुगामी भूतगण हमें पवित्र करें, मन सहित हमारी बुद्धि को पवित्र करें, समस्त प्राणी हमें पवित्र करें। हे अग्निदेव! आप भी हमें पवित्र करें ॥ ३९ ॥

लिङ्गोक्तदेवतात्वाद् देवजनधीविश्वभूतजातवेदोदेवत्या अनुष्टुप्। देवजनाः, देवानां जना देवजनाः, देवानुगामिनो जनाः, मां पुनन्तु। मनसा युक्ता धियो बुद्धयः कर्माणि वा मां पुनन्तु। विश्वा विश्वानि सर्वाणि भूतानि मां पुनन्तु। हे जातवेदः, जातं वेत्तीति जातवेदाः, तत्सम्बुद्धौ, हे सर्वज्ञ अग्ने! अथवा जात आविर्भूतो वेदो यस्मात् स जातवेदास्तत्सम्बुद्धौ, त्वमपि मां पुनीहि।

अध्यात्मपक्षे—देवजना दैवीं सम्पदमुपगता जनाः, मनसा युक्ता धियश्च मां पुनन्तु, मनोबुद्ध्योरन्त-र्मुखताया एव प्राधान्येन शुद्धिहेतुत्वात्। विश्वा सर्वाणि भूतानि परमात्मविकारत्वात् तद्भावनया भावितानि तानि च मां पुनन्तु। जातवेदः, जाताः सर्वे वेदा यस्मात् स जातवेदाः, तत्सम्बुद्धौ, हे जातवेदो भग[illegible], त्वं च मां पुनीहि, 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥' (वा० सं० ३१।७) इति मन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदो विद्वन्, जातेषु जातेषु ज्ञानिन्, यथा देवजना देवा विद्वांसश्च ते जनाः, मनसा मां पुनन्तु, मम धियश्च पुनन्तु, मम विश्वा भूतानि मां पुनन्तु, तथा त्वं पुनीहि' इति, तदपि न युक्तम्, विशेषानुप-पत्तेः, विद्वज्जनानां पावकत्वे जाते पुनः विदुषः पावकत्वाभ्यर्थनानुपपत्तेः, सर्वभूतानां कथं पावकत्व-मित्यनुक्तेश्च ॥ ३९ ॥

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत्। अग्ने क्रत्वा क्रतूँ२॥रनु ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! दीप्ति से सम्पन्न होकर आप शुद्ध पवित्र से, अर्थात् शुद्ध ज्योति के द्वारा हमें पवित्र करें, हमारे यज्ञ का निरीक्षण करते हुए अपने ज्वलन आदि कर्मों से उसे पवित्र करें ॥ ४० ॥

अग्निदेवत्या गायत्री। हे अग्ने देव द्योतमान, शुक्रेण शुक्लेन अशबलेन, शुद्धेनेति यावत्, पवित्रेण मा मां पुनीहि पवित्रय। कथम्भूतस्त्वम्? दीद्यत्, अतिशयं दीव्यतीति दीद्यत्, दिवेर्यङ्लुगन्तस्य रूपम्। अथवा सम्बुद्धिः। किञ्च, हे अग्ने क्रतून् अनु अस्माकं यज्ञाननुलक्ष्य क्रत्वा क्रतुना कर्मणा त्वं यज्ञे मां पुनीहि। यद्वा क्रतून् यज्ञान् पुनीहि, सम्यग् वैगुण्यरहितान् यज्ञान् कारयेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं शुक्रेण अशबलेन पवित्रेण ज्ञानेन मां पुनीहि। दीद्यत् हे स्वप्रकाश, क्रत्वा स्वसत्यसङ्कल्पेन क्रतूनस्माकं त्वत्प्राप्तिविषयान् सङ्कल्पान्, सफलयेति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे दीद्यद् देवाग्ने, त्वं पवित्रेण शुक्रेण वीर्येण पराक्रमेण स्वयं पवित्रो भूत्वा मां च तदनु पुनीहि। स्वस्य क्रत्वा प्रज्ञया कर्मणा वा स्वां प्रज्ञां स्वं कर्म च पवित्रीकृत्य अस्माकं क्रतून् पुनीहि' इति, तदपि न युक्तम्। शिष्यपुत्रादीनां पित्रादीन् प्रति तथोपदेशानुपपत्तेः, मन्त्रपदैस्तथार्थानवगमाच्च, निर्मूलाध्याहारस्य अनादरणीयत्वाच्च ॥ ४० ॥

यत्ते॑ प॒वित्र॑म॒र्चिष्यग्ने॒ वित॑तमन्त॒रा। ब्रह्म॒ तेन॑ पुनातु मा ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपकी ज्वाला के मध्य में जो त्रयीरूप शुद्ध ब्रह्म स्थित है, उसके प्रभाव से आप मुझे पवित्र करें ॥ ४१ ॥

आग्नेयी गायत्री। तृतीयः पादो ब्रह्मदेवत्यः। हे अग्ने, ते तव अर्चिषि ज्वालायामन्तरा मध्ये यद् ब्रह्म त्रयीलक्षणं परब्रह्मरूपं सत्यज्ञानानन्दलक्षणं वा पवित्रं विततं विस्तृतं प्रसारितम्, तेन पवित्रेण अग्न्यनुज्ञातेन मा मां भवान् पुनातु।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, ते तव अर्चिषि नित्यज्ञानरूपे ज्योतिषि यद् ब्रह्म त्रयीलक्षणं पवित्रं विश्वशुद्धिकरं विततं व्याप्तम्, तेन पवित्रेण भवान् मां पुनातु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने जगदीश्वर, तेऽर्चिषि सत्कारयोग्ये तेजःस्वरूपेऽन्तरा सर्वतो भिन्ने यद् विततं व्याप्तं पवित्रं शुद्धस्वरूपं ब्रह्म वेदविद्या, तेन मां भवान् पुनातु' इति, तदपि न समञ्जसम्, शब्दराशिमयस्य वेदस्य ब्रह्मज्योतिषि व्याप्त्यनुपपत्तेः। परस्या वाचो ब्रह्मरूपेण शक्त्यात्मना वा वेदानामेवानन्त्याद्वा विततत्वोक्तिः सङ्गच्छते, 'अनन्ता वै वेदाः' (तै० ब्रा० ३।१०।११।४) इति श्रुतेः ॥ ४१ ॥

पव॑मानः॒ सो अ॒द्य नः॑ प॒वित्रे॑ण॒ विच॑र्षणिः। यः पोता॒ स पु॑नातु मा ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—जो देव मनुष्य के किये और न किये हुए कर्मों को जानता है, स्वयं पवित्र और दूसरों को पवित्र करने वाला है, वह आज मुझे पवित्रे से पवित्र करे ॥ ४२ ॥

सोमदेवत्या गायत्री। तृतीयः पादो वायुदेवत्यः। स पवमानः पवतेऽसौ पवमानः शोधकः सोमः, अद्य अस्मिन् दिवसे, नोऽस्मान् पवित्रेण पुनातु। कीदृशः सोमः ? विचर्षणिः, विविधं चष्टे पश्यतीति तथोक्तः, कृताकृतावेक्षक इति यावत्, पुनातु। यद्वा विविधाश्चर्षणयो मनुष्या ऋत्विजो यस्य सः। ऋत्विग्भिर्यजनीय इत्यर्थः। यश्च स्वभावतः पोता। पुनातीति पोता, पवते वा स पोता वायुः, स मां पुनातु पवित्रयतु।

अध्यात्मपक्षे—स वेदान्तेषु ब्रह्मविद्वरिष्ठेषु च प्रसिद्धः पवमानो ब्रह्माकारवृत्तिविषयत्वेनाभिव्यज्यमानः, नोऽस्मान् पवित्रेण स्वविषयज्ञानेन पुनातु। यो विचर्षणिः सर्वद्रष्टा पोता स्वभावत एव पवित्रयिता, स मां पुनातु।

दयानन्दस्तु—'यो जगदीश्वरः, नो मध्ये पवित्रेण पवमानो विचर्षणिः, सोऽद्यास्माकं पवित्रकर्तोपदेशकश्चास्ति। स पोता मां पुनातु' इति, तदप्यसङ्गतम्, ईश्वरस्य स्वतः शुद्धत्वेन तस्य शुद्धाचरणमूलकशुद्ध्ययोगात् ॥ ४२ ॥

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च । मां पुनीहि विश्वतः ।। ४३ ।।

मन्त्रार्थ—हे सबके प्रेरक सविता देव ! आप शुद्ध करने वाले पवित्रे और सबको पवित्र करने वाली अपनी आज्ञा से मुझे सब ओर से पवित्र करें, क्योंकि आपकी आज्ञा से ही यज्ञ की सिद्धि मिलती है ।। ४३ ।।

सवितृदेवत्या गायत्री । हे देव द्योतमान सवितः ! जगत्कारण, उभाभ्यां पवित्रेण अजाविलोमनिर्मितेन सवेन अभ्यनुज्ञया च यज्ञानुष्ठानप्रेरणया च विश्वतः सर्वतो मां पुनीहि । त्वदनुज्ञया यज्ञसिद्धिरिति भावः ।

अध्यात्मपक्षे—हे देव, प्रमाणानपेक्षतया स्वप्रकाशत्वेन दीप्यमान सवितः जगदुत्पत्त्यादिहेतो ! पवित्रेण ज्ञानेन, 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (भ० गी० ४।३८) इति भगवद्वचनात्, सवेन शुभकर्मप्रेरणया, इत्युभाभ्यां सर्वतो मां पुनीहि ।

दयानन्दस्तु—'हे देव, सवितः, त्वं पवित्रेण शुद्धाचरणेन सर्वनैश्वर्येण उभाभ्यां विद्यापुरुषार्थाभ्यां विश्वतो मां पुनीहि' इति, तदपि न, ऐश्वर्यस्य स्वतः शोधकत्वायोगात् । अन्यथा धनिनां राज्ञां च शुद्धिरेव स्यात् ।। ४३ ।।

वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठाः ।
तया मदन्तः सधमादेषु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ।। ४४ ।।

मन्त्रार्थ—नाना प्रकार के अवतारों के रूप में क्रीड़ा करने वाली महानारायण की शक्ति सबको पवित्र करती हुई, विश्व भर को प्रकाशित करती हुई, हमें प्राप्त हुई है । इस परा नामक शक्ति में अनेक प्रकार के शरीरधारी स्तुति करते हुए दिखायी पड़ते हैं । उस परा शक्ति के प्रसाद से यज्ञ-स्थान में आनन्द मनाते हुए हम नाना प्रकार के धन-धान्य के स्वामी हों ।। ४४ ।।

विश्वेदेवदेवत्या त्रिष्टुप् । प्रवह्लिकेव अनिर्ज्ञाताभिधेयेति महीधरोव्वटौ । तत्र काञ्चिदेव देवतामङ्गीकृत्य व्याचक्ष्महे । दक्षिणाग्नेरुपरिष्टात् शतातृण्णा कुम्भी क्षरति । सा वा स्यात्, सौत्रामणी वा स्यात्, वाग् वा स्यात्, उखा वा स्यात् । वैश्वदेवी विश्वेभ्यो देवेभ्य आगता, सा तथोक्ता, विश्वेभ्यो देवेभ्यो हिता वा । देवी द्योतमाना सुराकुम्भी पुनती पावनं कुर्वती । आगाद् आगता । यस्यां सुराकुम्भ्यामिमाः प्रत्यक्षतो दृश्यमानाः । बह्व्यो बहुसंख्याकाः । तन्वः शरीरप्राया धारा वर्तन्ते । कीदृश्यस्तन्वः ? वीतपृष्ठाः, वीतमिष्टं पृष्ठं स्वरूपं यासां ताः कामितशरीराः । काम्यन्ते हि सुराधाराः सुरैः, तया सुराकुम्भ्या सधमादेषु सह माद्यन्ति देवा येषु ते सधमादाः, 'सध मादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति सहशब्दस्य सधादेशः, यज्ञस्थानानि, तेषु । मदन्तो मोदमानाः सन्तो वयं रयीणां धनानां पतयः स्याम भवेम । एवमेव सौत्रामण्यादियज्ञेऽपि यथायथं व्याख्योन्नेया ।

अध्यात्मपक्षे—वैश्वदेवी विश्वेभ्यो देवेभ्य आगता आविर्भूता भगवती । सप्तशत्या द्वितीयाध्याये चैतज्ज्ञेयम्—

ततोऽतिकोपपूर्णस्य चक्रिणो वदनात्ततः । निश्चक्राम महत्तेजो ब्रह्मणः शङ्करस्य च ।।
अन्येषां चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः । निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत ।।

अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम् । ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम् ॥
अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम् । एकस्थं तदभून्नारी व्याप्य लोकत्रयं त्विषा ॥
यदभूच्छाम्भवं तेजस्तेनाजायत तन्मुखम् । याम्येन चाभवन् केशा बाहवो विष्णुतेजसा ॥
सौम्येन स्तनयोर्युग्मं मध्यं चैन्द्रेण चाभवत् । वारुणेन च जङ्घोरू नितम्बस्तेजसा भुवः ॥
ब्रह्मणस्तेजसा पादौ तदङ्गुल्योऽर्कतेजसा । वसूनां च कराङ्गुल्यः कौबेरेण च नासिका ॥
तस्यास्तु दन्ताः सम्भूताः प्राजापत्येन तेजसा । नयनत्रितयं जज्ञे तथा पावकतेजसा ॥
भ्रवौ च सन्ध्ययोस्तेजः श्रवणावनिलस्य च । अन्येषां चैव देवानां सम्भवस्तेजसां शिवा ॥
ततः समस्तदेवानां तेजोराशिसमुद्भवाम् । तां विलोक्य मुदं प्रापुरमरा महिषार्दिताः ॥

इत्येवंरूपेणोक्ता भगवती राजराजेश्वरी । सा च देवी देवीतिनाम्ना प्रसिद्धा । विश्वोद्भवविभवपराभव-क्रीडापरायणत्वाद् दीव्यति क्रीडते या सा देवी । पुनती विश्वमेव पावनं कुर्वाणा । आगात् श्रौतस्मार्त-लक्षणस्य धर्मस्य भक्तानां च रक्षणार्थमाविरभूत् । यस्यामिमा भक्तैः प्रत्यक्षतो दृश्यमाना बह्व्योऽपरिगणिताः, वीतपृष्ठाः कामितस्वरूपास्तन्वः शरीराणि वर्तन्ते, सर्वदेवशक्तिसारनिर्मितत्वात् । तया भगवत्या हेतुभूतया कर्त्र्या मदन्तस्तदनुग्रहेण प्रमोदमानाः सधमादेषु सह माद्यन्ति येषु तेषु यज्ञेषु ब्रह्मलोकेषु भगवत्याः सुधासिन्धो-र्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते नीपोपवनवति, पूजायां बहुवचनम्, रयीणां ज्ञानवैराग्यादीनां शमदमादीनां मोक्षादि-लक्ष्मीणां स्वाराज्यसाम्राज्यादिलक्ष्म्यादीनां पतयः स्याम ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, या वैश्वदेवी विश्वासां देवीनां महिषीणां मध्ये इयं विदुषी पुनती देवी अध्यापिका ब्रह्मचारिणी कन्या अस्मान् आगात् । यस्यां सत्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठा विविधानि इतानि विदितानि पृष्ठानि प्रच्छन्नानि याभिस्ताः स्युः । तया सुशिक्षिता भार्याः प्राप्य वयं सहस्थानेषु मदन्तो रयीणां पतयः स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कल्पनाबहुलत्वात्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वाच्च । भार्याः प्राप्येत्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव । न च विदितानि प्रच्छन्नानि सम्भवन्तीति । ब्रह्मचारिणो अस्मानागतेत्यपि निर्मूलम् ॥ ४४ ॥

ये स॒मा॒नाः सम॑नसः पि॒तरो॑ यम॒राज्ये॑ ।
तेषाँ॑ लो॒कः स्व॒धा नमो॑ य॒ज्ञो दे॒वेषु॑ कल्पताम् ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—अपसव्य, दक्षिण मुख होकर यजमान जुहू में एक बार घृत लेकर अग्नि में आहुति देता है । जो जातिमर्यादा आदि से समान सपिण्डक पितृगण यमलोक में वर्तमान हैं, उन पितरों के लोक में स्वधा नामक अन्न दृष्टिगोचर हो अथवा स्वधा नामक अन्न और नमस्कार प्राप्त हो । पितृयज्ञ वसु-रुद्र-आदित्य देवताओं को तृप्त करने में समर्थ हो ॥ ४५ ॥

'ये समाना इति यजमानो जुहोति' (का० श्रौ० १९।३।२७) । सकृद्गृहीतमाज्यं दक्षिणेऽग्नौ प्राचीना-वीती दक्षिणमुखो यजमानो जुह्वा जुहोतीति सूत्रार्थः । द्वे अनुष्टुभौ आद्या पितृदेवत्या । यमराज्ये यमस्य धर्मराजस्य राज्यमाधिपत्यं यस्मिन्नसौ यमराज्यस्तस्मिन् । लोके संयमन्याम्, 'धर्मराजः पितृपतिः समवर्ती परेतराट् । कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराड् यमः ॥' (अ० को० १।१।५८) इति कोषात् । ये पितरो वर्तन्ते तेषां पितृणाम्, लोको लोके, विभक्तिव्यत्ययः, स्वधा स्वधाशब्दोपलक्षितं नमोऽन्नमस्तु । अथवा स्वधा अन्नम्, नमो नमस्कारश्चास्तु । कथम्भूताः पितरः ? समाना जातिरूपादिभिस्तुल्याः । पुनः कथम्भूताः ? समनसः समानं मनो येषां ते तथोक्ताः समानमनस्काः । यज्ञस्तु देवेषु कल्पतां देवांस्तर्पयितुं समर्थो भवत्वित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मनो भगवतो यमराज्ये पितृरूपेणावस्थानम्। तेभ्यो नमोऽन्नमस्तु। यमस्य संयमनस्य राज्ये क्षेत्रे ये समानाः समनसः पितरः पालकाः सन्ति, तेभ्यो नमः। पूजायां बहुवचनम्, परमेश्वरस्यैव सर्वकारणत्वेन सर्वपितृत्वात्। देवेषु तदङ्गोपाङ्गभूतेषु यज्ञो यजनमस्तु।

दयानन्दस्तु—'ये समानाः समनसः समानविज्ञानाः पितरः प्रजापालका यमराज्ये सभाधीशस्य राष्ट्रे सन्ति, तेषां लोकः सभा दर्शनं वा स्वधान्नं नमो यज्ञो न्यायश्च देवेषु विद्वत्सु कल्पताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यमराज्यपदेन धर्मराजलोकप्रसिद्धेः, यमपदस्य सभाधीशपरत्वे मानाभावाच्च। पितृपदस्यापि पालकपरत्वमसम्प्रतिपन्नमेव। शातपथश्रुतिविरोधश्च। तथा चात्र ब्राह्मणम्—'पितृलोकं वा एतेऽन्ववयन्ति। ये दक्षिणेऽग्नौ चरन्त्याज्याहुतिं जुहोति यज्ञो वा आज्यं यज्ञादेव यज्ञे प्रतितिष्ठन्ति' (श० १२।८।१।१८) इति। अत्र दक्षिणेऽग्नौ पितॄणां होमविधानेन यमलोकसम्बन्धिनां पितॄणामेवावगमात्। 'ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये। तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पतामिति पितॄनेव यमे परिदधात्यथो पितृलोकमेव जयति सर्वे यज्ञोपवीतानि कृत्वोत्तरमग्निमुपसमायान्त्ययं वै लोक उत्तरोऽग्निरस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठन्त्याज्याहुतिं जुहोति यज्ञो वा आज्यं यज्ञादेव यज्ञे प्रतितिष्ठन्ति' (श० १२।८।१।१९)। अपसव्येन पितृकर्म क्रियते। तत एव देवकार्यार्थं यज्ञोपवीतानि कृत्वेत्युक्तिः॥ ४५॥

ये स॒मा॒नाः सम॑नसो जी॒वा जी॒वेषु॑ माम॒काः।
तेषा॒ᳪ᳭ श्रीर्मयि॑ कल्पताम॒स्मिँल्लो॒के श॒तᳪ᳭ समाः॑॥ ४६॥

मन्त्रार्थ—यजमान उपवीती होकर उत्तर वेदि में आहुति देता है। प्राणियों में समदर्शी मनस्वी हमारे जो सपिण्ड पितृगण हैं, उनकी लक्ष्मी इस भूलोक में सौ वर्ष पर्यन्त हमारे ही पास रहे॥ ४६॥

'उत्तरे च यज्ञोपवीत्युत्तरया' (का० श्रौ० १९।३।२८)। उत्तरे उत्तरवेद्याहवनीये कृतसव्यो यजमान उत्तरया अग्रिमया ऋचा सकृद्गृहीतमाज्यं जुहुयादिति सूत्रार्थः। यजमानाशीः। श्रीदेवत्या। जीवेषु, जीवन्तीति जीवास्तेषु प्राणिषु मध्ये ये समानास्तुल्या रूपगुणैश्वर्यादिभिः। समनसः समानमनस्काः, मामका मदीयाः। 'तवकममकावेकवचने' (पा० सू० ४।३।३) इत्यस्मदो ममकादेशः। जीवा जीवनवन्तः सन्ति, तेषां सम्बन्धिनी या श्रीः सा तान् परित्यज्य अस्मिँल्लोके शतं समाः शतसंवत्सरपर्यन्तं मयि कल्पतां क्लृप्ता भवतु। गोत्रिणां सहजमात्सर्यग्रस्तत्वादेवमभ्यर्थना। तथा च रामायणम्—

जानामि शीलं ज्ञातीनां सर्वलोकेषु राक्षस। हृष्यन्ति व्यसनेष्वेते ज्ञातीनां ज्ञातयः सदा॥
प्रधानं साधकं वैद्यं धर्मशीलं च राक्षस। ज्ञातयोऽप्यवमन्यन्ते शूरं परिभवन्ति च॥
नित्यमन्योऽन्यसंहृष्टा व्यसनेष्वाततायिनः। प्रच्छन्नहृदया घोरा ज्ञातयस्तु भयावहाः॥
श्रूयन्ते हस्तिभिर्गीताः श्लोकाः पद्मवने पुरा। पाशहस्तान्नरान् दृष्ट्वा शृणुष्व गदतो मम॥
नाग्निर्नान्यानि शस्त्राणि न नः पाशा भयावहाः। घोराः स्वार्थप्रयुक्तास्तु ज्ञातयो नो भयावहाः॥
उपायमेते वक्ष्यन्ति ग्रहणे नात्र संशयः। कृत्स्नाद् भयाज्ज्ञातिभयं सुकष्टं विदितं च नः॥

(युद्धकाण्डे, १६।३-८)

अत्र ब्राह्मणम्—'स जुहोति। ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः। तेषाᳪ᳭ श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतᳪ᳭ समा इति स्वानामेव श्रियमवरुन्धेऽथो ज्योग्जीवातुमेवैषु दधाति पयः समन्वारब्धेषु जुहोति प्राणो वा अन्नं पयः प्राण एवान्नाद्येऽन्ततः प्रतितिष्ठन्ति' (श० १२।८।१।२०)।

अध्यात्मपक्षे—ये समानाः समनसश्च जीवा मामकाः सन्ति, तेषां सम्बन्धिनी या श्रीर्धर्मब्रह्मनिष्ठारूपास्ति, सा तादृशी श्रीर्धर्मब्रह्मनिष्ठा मयि शतं समाः कल्पताम् ।

दयानन्दस्तु—'येऽस्मिँल्लोके जीवेषु समानाः समनसो मामका जीवाः सन्ति, तेषां श्रीर्मयि शतं समाः कल्पताम्' इति, तदप्यसमञ्जसम् । प्रार्थनामात्रेण अन्यसम्बन्धिन्याः श्रियोऽन्यत्र सञ्चारायोगात् । सिद्धान्ते तु देवानां पितॄणां च प्रसादात् तन्नासम्भवम् ॥ ४६ ॥

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—मैंने मरणधर्मा प्राणियों के, देवताओं के और पितरों के गमन करने योग्य दो मार्गों को सुना है, जो कि द्युलोक और भूलोक के मध्य में विद्यमान हैं । यह क्रियावान् जगत् उन दोनों मार्गों से प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

'अन्वारब्धेषु पयो जुहोति द्वे सृती इति' (का० श्रौ० १९।३।२९) । सर्वेषु ऋत्विक्षु यजमानमन्वारब्धेष्वध्वर्युः पयो जुहुयादिति सूत्रार्थः । अमुमेवार्थं पूर्वकण्डिकायामुद्धृता श्रुतिरप्याह । देवयानपितृयानमार्गदेवत्या त्रिष्टुप् । अहं मर्त्यानां मरणधर्मणां प्राणिनां द्वे सृती द्वौ मार्गौ ये एते शुक्लकृष्णे सृती देवयानपितृयाणौ पन्थानौ अशृणवं श्रुतवानस्मि, श्रुतित इति शेषः । सा च शातपथी श्रुतिः—'स एष देवयानो वा पितृयाणो वा पन्थाः' (श० १।९।३।२) इति । के द्वे सृती ? अत आह—देवानां मार्ग एकः । उत अपि च पितॄणां मार्गोऽपरः । ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति, तदः स्थाने यदो वृत्तिः, ताभ्यां याभ्यां पथिभ्यामिदं सर्वं जगद् एजत् क्रियावत् समेति सङ्गच्छते । कीदृश्यौ सृती ? पितरं मातरं चान्तरा द्यौः पिता पृथिवी माता, द्यावापृथिव्योर्मध्ये, 'असौ वै पितेयं माता' (श० १२।८।१।२१) इति श्रुतेः । ताभ्यां देवयानपितृयाणमार्गाभ्याम्, सुहुतमस्त्विति शेषः । यद्वा पितरं मातरं चान्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये यदेजत् कम्पमानं क्रियावद् विश्वं सर्वमिदं याभ्यां सृतिभ्यां समेति सङ्गच्छते, ताभ्यां सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—मर्त्यानां मरणधर्मणां द्वे सृती अशृणवम् । ते चाग्न्याद्यधिष्ठातृदेवरूपिण्यौ । तथा चाह भगवान् गीतासु—'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥' (भ० गी० ८।२४-२६) । अग्निधूमादीन् जडानाश्रित्य अल्पज्ञा अल्पशक्तयो मर्त्या न गन्तव्यं स्थानं प्राप्तुं शक्नुवन्ति, अतः परमेश्वरनियुक्ता अग्निधूमाद्यधिष्ठातृदेवा एव तत्तन्मार्गाधिकारिणो जनान् यथायोग्यं ब्रह्मलोकं पितृलोकं वा प्रापयन्तीति ।

'अर्चिरादिना तत्प्रथितेः' (ब्र० सू० ४।३।१) । सर्वो ब्रह्मप्रेप्सुरर्चिरादिनैवाध्वना रंहति । प्रथितो ह्येष मार्गः सर्वेषां विदुषाम् । 'वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्' (ब्र० सू० ४।३।२) इत्यर्चिरादिमार्गे वायोरपि सन्निवेश उक्तः । 'तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्' (छा० ५।१०।१-२) इत्यत्र संवत्सरात् पराञ्चमादित्यादर्वाञ्चं वायुमभिसम्भवन्ति । कुत इति चेत्तत्राह सूत्रकारः—अविशेषविशेषाभ्याम् । तथा हि—'स वायुलोकम्' (कौ० १।३) इत्यत्राविशेषोपदिष्टस्य वायोः श्रुत्यन्तरे विशेषोपदेशो दृश्यते—'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति

तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति' (बृ० ५।१०।१)। एतस्मादादित्याद्वायोः पूर्वत्वदर्शनाद् विशेषादब्दादित्ययोरन्तराले वायुर्निवेशयितव्यः। ननु—'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम्' (कौ० १।३) इत्यग्नेः परत्वदर्शनाद् अर्चिषोऽनन्तरं कथं न वायोर्निवेशः स्यादिति चेदत्रोच्यते—केवलोऽत्र पाठः पौर्वापर्येणावस्थितः, नात्र क्रमवचनः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, पदार्थोपदर्शनमात्रं ह्यत्र क्रियते—एतमेतं चागच्छतीति। इतरत्र च पुनर्वायुप्रत्तेन रथचक्रमात्रेण छिद्रेणोर्ध्वमाक्रम्यादित्यमागच्छतीत्यवगम्यते क्रमः। तस्मात् सूक्तमविशेषविशेषाभ्यामिति।

वाजसनेयिनस्तु 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्' (बृ० ६।२।१५) इति समामनन्ति। तत्रादित्यानन्तर्याय देवलोकाद्वायुमभिसम्भवेयुः। वायुमब्दादिति तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तम्। छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र (छान्दोग्ये) देवलोको न विद्यते, परत्र (वाजसनेयके) संवत्सरो न विद्यते। तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययादुभावप्युभयत्र ग्रथयितव्यौ। तत्रापि माससम्बन्धात् संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोक इति विवेकः। नहि मासो देवलोकेन सम्बद्ध्यते, किन्तु संवत्सरेण, तस्मात्तयोः परस्परं सम्बन्धाद् मासारभ्यत्वाच्च संवत्सरस्य मासानन्तर्यं संवत्सरस्येति संवत्सरात् परस्ताद् देवलोकः। तत्रादित्यानन्तर्याय वायोः संवत्सरस्य आदित्यस्य स्थाने देवलोकाद्वायुमिति पठितव्यमित्यर्थः।

'तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात्' (ब्र० सू० ४।३।३)। 'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्' (छा० ४।१५।५) इत्यस्या विद्युत उपरिष्टात् स वरुणलोकमित्ययं वरुणः सम्बद्ध्यते। अस्ति हि सम्बन्धो विद्युद्वरुणयोः, 'यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति। विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा' (छा० ७।११।१) इति च ब्राह्मणम्। अपां चाधिपतिर्वरुण इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः। 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० ४।३।४)। तेष्वेवार्चिरादिषु संशयः—किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभूमयोऽथवा नेतारो गन्तॄणामिति। तत्र मार्गलक्षणभूता अर्चिरादयः। यथा हि लोके कश्चिद् ग्रामं नगरं वा प्रतिष्ठासमानोऽनुशिष्यते—गच्छ इतस्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा प्राप्स्यसीत्येवमिहाप्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमित्याद्याह। अथवा भोगभूमय इति। तथाहि लोकशब्देनाग्न्यादीननुबध्नाति, 'अग्निलोकमागच्छति' (कौ० १।३) इत्यादि। लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु प्रयुज्यते, 'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' (बृ० उ० १।५।१६) इति च। तथा च ब्राह्मणम्—'अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्ते' इत्यादि। तस्मान्नातिवाहिका अर्चिरादय इत्येवं पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्ते आतिवाहिका अर्चिरादयो गन्तॄणां नेतार इति सिद्धान्तितम्। तल्लिङ्गादिति तत्र हेतुरुक्तः। तथाहि—'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति'(छा० ४।१५।५) इति सिद्धवद् गमयितृत्वं दर्शयति। तद्वचनं तद्विषयमेवोपक्षीणमिति चेन्न, प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वाद्विशेषणस्य। यद्यर्चिरादिषु पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवास्ततो युक्तं तन्निवृत्त्यर्थं पुरुषविशेषणममानव इति।

ननु तल्लिङ्गमात्रगमकं न्यायाभावात्, नैव दोषः—'उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः' (ब्र० सू० ४।३।५)। ये तावदर्चिरादिमार्गास्ते देहवियोगात् सम्पिण्डितकरणग्रामा इत्यस्वतन्त्रा अर्चिरादीनामप्यचेतनत्वादस्वातन्त्र्यमित्यतोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना देवताविशेषा अतियात्रायां नियुक्ता इति गम्यते। लोकेऽपि हि मत्तमूर्च्छितादयः सम्पिण्डितकरणाः परप्रयुक्तवर्त्मानो भवन्ति। अनवस्थितत्वादप्यर्चिरादीनां न मार्गलक्षणत्वोपपत्तिः। नहि रात्रौ मृतस्याहःस्वरूपाभिसम्भव उपपद्यते। न च मरणं दिनं वा रात्रिं वा प्रतीक्षते, तस्य कर्मनियतत्वात्। ध्रुवत्वात्तु देवतात्मनां नायं दोषो भवति। अर्चिरादिशब्दता चैषामर्चिराद्यभिमानादुपपद्यते। 'अर्चिषोऽहः' (छा० ४।१५।५, ५।१०।१) इत्यादिनिर्देशस्त्वातिवाहिकत्वेऽपि न विरुद्ध्यते। अर्चिषा हेतुनाऽहरभिसम्भवति। अह्ना हेतुनाऽऽपूर्यमाणपक्षमिति। लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवंजातीयक उपदेशो दृश्यते—गच्छ त्वमितो बलवर्माणम्, ततो

जयसिंहम्, ततः कृष्णगुप्तमिति। अपि चोपक्रमे—'तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति' (बृ० ६।२।१५) इति सम्बन्धमात्रमुक्तम्, न च सम्बन्धविशेषः कश्चित्। उपसंहारे तु—'स एतान् ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इति सम्बन्धविशेषोऽतिवाह्यातिवाहकत्वलक्षण उक्तः। तेन स एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते। सम्पिण्डितकरणत्वादेव च गन्तॄणां न तत्रोपभोगसम्भवः। लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि गन्तृषु गमयितुं शक्यते, अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमित्वात्। अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनातिवाह्यते, वायुस्वामिकं प्राप्तो वायुनेति योजयितव्यम्।

नन्वातिवाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु कथं तत्सम्भवः? विद्युतो ह्यधि वरुणादय उपक्षिप्ताः। विद्युतस्त्वनन्तरमा ब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य गमयितृत्वं श्रुतमिति शङ्का सूत्रकृतैवोत्तरिता—'वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० ४।३।६)। ततो विद्युदभिसम्भवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनैवामानवेन पुरुषेण वरुणलोकादिष्वतिवाह्यमाना ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम्, 'तान् वैद्युतात् पुरुषोऽमानवः स एत्य ब्रह्मलोकं गमयति' इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः। वरुणादयस्तु तस्यैवाप्रतिबन्धकरणेन साहाय्यानुष्ठानेन वा केनचिदनुग्राहका इत्यवगन्तव्यमिति भगवत्पादाः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स जुहोति। द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहमिति द्वे वाव सृती इत्याहुर्देवानां चैव पितॄणां चेति ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेतीति ताभ्याᳬं᳭ हीदᳬं᳭ सर्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेत्यसौ वै पितेयं माताऽऽभ्यामेव पितॄन् देवलोकमपिनयति' (श० १२।८।१।२१)। स जुहोति। ताभ्यामिदं द्यावापृथिव्योः सकाशात् पितॄन् देवलोकमपिनयत्यनेन देवयानपितृयाणौ तर्पयित्वेति हरिस्वामी।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अहं ये पितॄणां जनकादीनां देवानामाचार्यादीनां विदुषां द्वे सृती गच्छन्त्यागच्छन्ति च जीवा ययोस्ते अशृणवं शृणोमि। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यत् पितरं जनकं मातरं जननीमन्तरा पृथग्भूत्वा शरीरान्तरेणान्यौ मातापितरौ प्राप्नोति, तदेतद् यूयं विजानीत' इति, तदपि विसङ्गतमेव, अनुपपत्तेः। जनकादीनामाचार्याणां च मनुष्यत्वावैशेष्ये तद्भेदान्मार्गभेदासम्भवात्। न च जनकादीनामविद्वत्त्वेन देवाद्भिन्नत्वम्, तेषामपि विद्वत्त्वसम्भवात्। न च विदुषामविदुषां जननमरणभेदोऽपि वक्तुं शक्यः। न च जननमरणे एव द्वे गती, तयोः सर्वसाधारणत्वात्। न च 'पितरं मातरमन्तरा' इति वाक्यस्य पितरं मातरं चान्तरा पृथग्भूय शरीरान्तरेण अन्यौ मातापितरौ प्राप्नोतीत्यर्थः सम्भवति, तत्र तादृशार्थासामर्थ्यात्। न चाध्याहारबलात्तथार्थ इति मन्तव्यम्, अध्याहारे मानाभावात्, श्रुतिस्मृतिसूत्रविरोधश्च। उद्धृतश्रुतौ स्पष्टमेव मातृपितृशब्दाभ्यां द्यावापृथिव्योर्ग्रहणम्। 'सृती' इत्यनेन देवयानपितृयाणयोरेव ग्रहणम्, न जननमरणयोरिति ॥ ४७ ॥

इदᳬं᳭ हविः प्रजननं मे अस्तु दशवीरᳬं᳭ सर्वगणᳬं᳭ स्वस्तये। आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि। अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्त ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—यह प्रजा को उत्पन्न करने वाला हवि दस प्राण और दस इन्द्रियों को उन्नति देने वाला है। सब अंगों को पुष्टि देनेवाला, आत्मा को प्रसन्न करने वाला, प्रजा को उन्नति देने वाला, पशुधन की वृद्धि करने वाला, लोक में प्रतिष्ठा देने वाला, बल प्रदान कर अभय देने वाला यह हवि मेरे लिये कल्याणकारक हो। अग्नि देवता मेरी प्रजा की वृद्धि करें। हमारे लिये अन्न, दूध और वीर्य को धारण करें ॥ ४८ ॥

'शेषं यजमानो भक्षयतीदᳬं᳭ हविरिति' (का० श्रौ० १९।३।३०)। उखास्थितं शेषं पयो यजमानो भक्षयेदिति सूत्रार्थः। अत्र ब्राह्मणम्—'एकाकी हुतोच्छिष्टं भक्षयत्येकधैव श्रियमात्मन् धत्ते श्रीर्हि पयः'

(श० १२।८।१।२१)। एकाकी असहायः हुतोच्छिष्टं भक्षयति न ऋत्विग्भिः सार्धम्। तेन एकधैव श्रियमात्मन् धत्ते। यजमानाशीर्देवत्या [1]त्र्यवसाना [2]अष्टिः, एको[3] व्यूहः। इदं हविः पयोरूपं मे मम स्वस्तये अविनाशायास्तु। कीदृशं हविः ? प्रजननं प्रजनयतीति तथोक्तम्, प्रजोत्पादकम्। पुनः कीदृशम्? दशवीरम्, दश दशसंख्याका वीराः प्राणलक्षणा यत्र यत् तथोक्तम्। यस्मिन् पीते प्राणापानव्यानसमानोदाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्ज-याख्याः स्वास्थ्यं लभन्त इति। तथा सर्वगणं सर्वे गणा अङ्गानि यस्मिस्तत् तथोक्तम्। यस्मिन् पीते सर्वाणि हस्तपादमुखादीन्यङ्गानि स्वस्थानि भवन्तीत्यर्थः। आत्मसनि आत्मानं सनोति ददाति सनति सम्भजते वा तत् सनि। औणादिक इः। 'षणु दाने' तनादिः, 'षण सम्भक्तौ' भ्वादिः। यस्मिन् पीते परमात्मलाभसामर्थ्यं जायते, आत्मसम्भजनं वा जायते, तत्तादृशमिदं हविरित्यर्थः। प्रजासनि प्रजाः सनोति ददाति सनति सम्भजते वा तत् तथोक्तम्। पशुसनि पशून् सनोति ददाति सनति सम्भजते वा तथोक्तम्। अत्र पशुपदं सर्वविधपशुपरम्। लोकसनि लोकमैहिकं सनोति, ऐहिकं सुखं ददातीत्यर्थः, सनति सम्भजते वा तथोक्तम्। अभयसनि अभयं स्वर्गं सनोति ददाति सनति सम्भजते वा तथोक्तम्। तत्तदुक्तगुणविशिष्टमपि मम स्वस्तयेऽस्त्विति सम्बन्धः। एवं हविरभ्यर्थ्य अग्निं प्रार्थयते—अग्निर्देवो मम प्रजां बहुलां प्रवृद्धां करोतु। एवमग्निमुक्त्वा ऋत्विजः प्रत्याह—हे ऋत्विजः, अस्मासु अन्नं व्रीह्यादि पयो दुग्धं रेतः शुक्रं वीर्यवतां वीर्यं वा धत्त स्थापयत।

अत्र ब्राह्मणम्—'स भक्षयति। इदꣳ हविः प्रजननं मे अस्त्विति प्रजननꣳ हि यदि पयो यदि सोमो दशवीरमिति प्राणा वै दश वीराः प्राणानेवात्मन् धत्ते सर्वगणमित्यङ्गानि वै सर्वे गणा अङ्गान्येवात्मन् धत्ते स्वस्तय आत्मसनीत्यात्मानमेव सनोति प्रजासनीति····लोकाय वै यजते तमेव जयत्यभयसनीति स्वर्गो वै लोकोऽभयꣳ स्वर्ग एव लोकेऽन्ततः प्रतितिष्ठत्यग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्तेति तद्य एवैनमेते याजयन्ति तानेतदाहैतन्मयि सर्वं धत्तेति हिरण्येन मार्जयन्तेऽमृतं वै हिरण्यममृत एवान्ततः प्रतितिष्ठन्ति' (श० १२।८।१।२२)। प्रजननं हि हविः, यदि पयो लोकदृष्ट्या। यदि सोम उपासनया। प्राणा वै दश विक्रान्ता वीराः। ते तर्पयितव्या अस्य सन्तीति दशवीरम्। एवं हस्तादीनि सर्वाण्यङ्गान्येव तर्पयितव्यानि विद्यन्तेऽस्येति सर्वगणम्। एवमङ्गान्येवात्मन् धत्ते। स्वस्तये अविनाशाय। आत्म-प्रजा-पशु-लोक-स्वर्गाद्यभीष्ट-प्रदमिदं हविरन्ततः स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठति। पवित्र-वाल-हिरण्यानां मध्ये हिरण्येन मार्जयन्ते, ऋत्विज इति शेषः। हिरण्यं चामृतमग्निदाहेऽप्यनष्टम्। तेन मार्जनेन यजमान आत्मानमेवामृतं करोति।

अध्यात्मपक्षे—इदं हविर्भगवदुपभुक्तं वस्तु भुक्तं सत् प्रजननं ज्ञानवैराग्याद्युत्पादकं भवति। अत्र दशवीराणां प्राणानां सर्वगणानां सर्वाङ्गानां च आप्यायनसामर्थ्यमस्तीति तत्तादृशं हविर्दशवीरं सर्वगणम्। तच्च आत्मसनि आत्मा कार्यकरणसङ्घातः, आत्मा मनः, आत्मा प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, सङ्घातादीनां स्वास्थ्यकरं पावकम्, परमात्मप्रापकं च भवति। अग्निः सर्वपापतापसंहारको भगवान् मे प्रजां पुत्रशिष्यादिरूपां बहुलां बाहुल्योपेतां करोतु। अन्नं पयो रेतः प्रसिद्धानि। अन्नं ज्ञानमशनायादिनिवर्तकत्वात्, पयो वैराग्यं ज्ञानसह-कारित्वात्, रेतो ब्रह्मात्मनिष्ठासामर्थ्यं दार्ढ्यं च। एतानि हे ऋत्विजः! सेव्यमानाः सन्तो वाऽस्मासु धत्त स्थापयत।

---

१. त्रीण्यवसानानि विरामा यस्यां सा तथाभूता।

२. अष्टिछन्दस्का।

३. अष्टौ चतुःषष्ट्यक्षराणि भवन्ति, अत्र कण्डिकायां त्रिषष्ट्यक्षराणि, अतो व्यूहेन (स्वस्तये इत्यत्र सुवस्तये) चतुःषष्ट्यक्षराणि कार्याणि।

दयानन्दस्तु—'अग्निः पतिर्मे बहुलां बहुसुखप्रदां प्रजां करोतु। यदिदं प्रजननमुत्पत्तिनिमित्तं हविर्दातुमादातुं योग्यं दशवीरं दशसन्तानोत्पादकं सर्वगणं सर्वे गणा गण्याः प्रशंसनीयाः पदार्था यस्मिन्, यस्मादात्मसेवनम्, प्रजासेवनम्, पशुसेवनम्, लोकसेवनम्, अभयदानं च सम्पद्यते, तादृशं सन्तानं स्वस्तये सुखायास्तु। हे मातृपितृप्रभृतिजनाः, अस्मासु अन्नं पयो रेतो वीर्यं धत्त' इति, तदसङ्गतम्, सर्वथाप्यनुपपत्तेः। अग्निपदेन पत्युर्ग्रहणे मानाभावः। नहि गच्छतीति व्युत्पत्त्यापि मनुष्यो महिषो वा गौः सम्भवति। हविर्दातुमादातुं योग्यम्, दशसन्तानोत्पादकमिदं प्रजननं किम्? इत्यधुनापि न स्पष्टम्। स्त्रीव्यञ्जनं चेत्, सर्वगणमिति विशेषणानुपपत्तिः, प्रजां बहुलां करोत्वित्युक्त्यैव गतार्थत्वात्। तादृशाश्लीलवर्णनस्य न किमपि प्रयोजनमुत्पश्यामः। किञ्चात्मसन्यादिकं यस्य सन्तानस्य विशेषणम्, तथोक्तस्य तु मन्त्रे चर्चापि नास्ति, कुतस्तदुपपत्तिः? पूर्वोद्धृतब्राह्मणविरोधश्च। न च मातापित्रादयो दुहितृषु प्रजां रेतो वा धारयितुं शक्नुवन्तीति तदर्थनापि व्यर्थैव ॥ ४८ ॥

उदी॑रता॒मव॑र॒ उत्परा॑स॒ उन्म॑ध्य॒माः पि॒तर॑ः सो॒म्यास॑ः ।
असुं॒ य ई॒युर॑वृ॒का ऋ॑त॒ज्ञास्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—इस लोक में स्थित, परलोक में स्थित और मध्यलोक में स्थित सोमपायी पितृगण ऊपर के लोक को प्राप्त हों। जो पितृगण प्राण रूप को प्राप्त हैं, वे शत्रुरहित होने से निरपेक्ष रूप के ज्ञाता स्वाध्यायनिष्ठ पितृगण बुलाने पर हमारी रक्षा के लिये तुरन्त आ जाँय ॥ ४९ ॥

'सोमवतां बर्हिषदामग्निष्वात्तानां च' (का० श्रौ० १९।३।२५)। अस्य सूत्रस्यार्थः परस्ताद्वर्णयिष्यते। अत्रैवं विभावनीयम्—उदीरतामित्यादिकत्रयोदशर्चोऽयमनुवाकः। अस्मिन् उदीरताम् (४९), अङ्गिरसः (५०), ये नः पूर्वे (५१) इति ऋक्त्रयस्य, अग्निष्वात्तानिति त्रयोदश्याश्च ऋचो विनियोगः कल्पकृता प्रोक्तः। अवशिष्टास्तु मध्यपातिन्यो नवर्चः। तत्र त्वꣳ सोम (५२), त्वया हि नः (५३), त्वꣳ सोम पितृभिः (५४) इति तृचं सोमवतां पितॄणाम्; बर्हिषदः पितरः (५५), आहं पितॄन् (५६), उपहूताः पितरः (५७) इति तृचं बर्हिषदां पितॄणाम्; आयन्तु नः (५८), अग्निष्वात्ताः पितरः (५९), ये अग्निष्वात्ताः (६०) इति तृचमग्निष्वात्तानाम्। तत्र 'नवर्चं वाचयति पुनन्तु मेति' (का० श्रौ० १९।३।२४) इति प्रतिपादितनवर्चवाचनानन्तरं सोमवत्पितृदेवत्यं बर्हिषत्पितृदेवत्यमग्निष्वात्तपितृदेवत्यं च तृचत्रयम्, अर्थान्नवर्चम्, त्वं सोम प्रचिकित इत्यारभ्य तन्वं कल्पयातीत्यन्तं प्रत्यृचमध्वर्युर्यजमानेन वाचयतीति सूत्रार्थः। अयमनुवाकः शङ्खदृष्टः पितृदेवत्यः। अस्मिन्ननुवाके 'अग्निष्वात्ताः पितरः' (५९) इत्यृग् जगती, अन्या द्वादश त्रिष्टुभः।

अवरे अपकृष्टे अस्मिँल्लोकेऽवस्थिताः पितरः, उदीरताम् ऊर्ध्वं क्रमन्ताम्, ऊर्ध्वलोकं गच्छन्तु। 'ईर गतौ कम्पने च' इत्यादादिकस्य लोटि रूपम्। परासः पराः परस्मिन् लोके स्थिताः पितर उदीरतां तस्मादपि स्थानात् परं स्थानं गच्छन्तु। मध्यमा मध्ये भवाः पितरः, उदीरताम्। कीदृशाः पितरः? सोम्यासः सोम्याः। सोमं सम्पादयन्ति ये ते सोम्याः, सोममर्हन्ति वा। 'सोममर्हति यः' (पा० सू० ४।४।१३७) इति साधुः। ये च असुं प्राणमीयुर्वातात्मानो वातरूपं प्राप्ताः। अवृकाः, न वृका अवृकाः, वृकवदकुटिलहृदयाः, शत्रुष्वपि माध्यस्थ्यमवलम्बमाना उदासीनाः। अथवा अविद्यमानो वृकः शत्रुर्येषां ते। ऋतज्ञाः सत्यज्ञानाः, यज्ञज्ञाः स्वाध्यायनिष्ठा वा तेऽपि ततोऽपि विशिष्टतरं स्थानमुदीरतां गच्छन्तु। एवं च ये स्वकीयेन कर्मणा अस्मदीयेन श्राद्धतर्पणादिना

वा उन्नतिं प्राप्तास्ते नोऽस्मान् हवेष्वाह्वानेषु अवन्तु रक्षन्तु, यदा वयमाह्वयेम तदा अस्मदीयमाह्वानं श्रुत्वा तत्क्षणमेव तेऽस्मान् रक्षन्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर एव तत्तल्लोकेषु पितृरूपेण रूपान्तरेण च पूज्यते, औपाधिकरूपेण तस्यैव अधस्तात् परस्तादवस्थानं ततस्ततः परतरस्थानगमनं च न विरुध्यते। ये पितृतुल्याः साधका वा उत्कृष्टापकृष्टभूमिषु स्थितास्ते ततस्तत उत्कृष्टभूमिकागमनाय प्रोत्साह्यन्ते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये अवृका ऋतज्ञाः पितरः पालका हवेषु संग्रामादिव्यवहारेषु समुदीयुस्तेन न उदवन्तु, ये सोम्यासोऽवरे परासो मध्यमास्तेऽस्मान् हवेषु उदीरताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वृकशब्दस्य चौर्यार्थत्वासिद्धेः, संग्रामे पितृणां पुत्रादिनियोगाप्रसङ्गाच्च ॥ ४९ ॥

अङ्गि॑रसो नः पि॒तरो॒ नव॑ग्वा॒ अथ॑र्वाणो॒ भृग॑वः सो॒म्यासः॑। तेषां॑ व॒यꣳ स॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑नामपि भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—स्तुति करने योग्य, नवीन गति वाले, सोम रस के सम्पादक, अंगिरावंशी, अथर्ववंशी और भृगुवंशी हमारे पितृगण, जो इस समय पितृलोक में विराजमान हैं, उन यज्ञों के शुभचिन्तक पूजनीय पितरों की सुन्दर बुद्धि में तथा कल्याणकारक मन में हम सदा विद्यमान रहें, अर्थात् पितरों की बुद्धि और मन सदा हमारा कल्याण करने में लगी रहे ॥ ५० ॥

ये नोऽस्माकं पितरस्तेषां पितॄणां सुमतौ शोभनायां बुद्धौ वयं स्याम भवेम, तेऽस्मासु शोभनामनुग्रहपूर्णां दयार्द्रां बुद्धिं कुर्वन्त्वित्यर्थः। तेषां भद्रे कल्याणकरे सौमनसे सुमनसो भावः सौमनसं तस्मिन्। तेऽस्मासु शुभानुसन्धानोपेतं मनः कुर्वन्त्वित्यर्थः। कीदृशानां पितॄणाम्? यज्ञियानाम्, यज्ञे हिता यज्ञियास्तेषाम्, अनुयोगिनि सप्तमी, प्रतियोगिनि तु चतुर्थी, यज्ञसम्पादनेऽनुकूलानाम्। कीदृशाः पितरः? अङ्गिरसः, अङ्गिरसोऽपत्यान्यङ्गिरसः, बहुत्वे 'अत्रिभृगुकुत्सवशिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च' (पा० सू० २।४।६५) इति तद्धितलोपः, अङ्गिरसोऽपत्यरूपाः। नवग्वाः, नवा नूतना ग्वा गतिर्येषां ते, नवा नवनीया स्तोतव्या ग्वा येषामिति वा। अथर्वाणः, अथर्वणो मुनेर्बहून्यपत्यानि। भृगवः भृगोरपत्यानि। सोम्यासः सोममर्हन्तीति सोम्यासः सोम्याः, सोमसम्पादिन इत्यर्थः। 'सोममर्हति यः' (पा० सू० ४।४।१३७) इति साधुः।

अध्यात्मपक्षे—पितरः पितृतुल्या अङ्गिरसोऽङ्गिरःकुलोत्पन्नाः, नवग्वा नवाः स्तोतव्या ग्वा गतयोऽणिमादिसिद्धिरूपाः, मुक्त्यादिप्राप्तिरूपाः, निष्कामभक्तिप्राप्तिरूपा वा येषां ते। अथर्वाणः, अथर्वर्षिकुलोत्पन्ना बहवः। भृगवो भृगोर्बहवोऽपत्यरूपाः। सोम्यासः सोमवदाह्लादकाः। साधका मुक्ता वा ये सन्ति, तेषां सुमतौ वयं स्याम, तेषामनुसन्धानमात्रेण नृणां कल्याणसम्भवात्, 'यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वार्थगोचरा। तद्दृष्टिगोचराः सर्वे पूताः स्युरप्रयत्नतः॥' इत्यभियुक्तोक्तेः। यज्ञियानां ज्ञानयोगनिष्ठानां तेषां भद्रे कल्याणमये सौमनसे शोभनमनोभावे वयं स्याम।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, ये नोऽङ्गिरसः सर्वसिद्धान्तविद्याविदो नवग्वा अथर्वाणोऽहिंसका भृगवः परिपक्वविज्ञानाः सोम्यासः पितरः पालकाः सन्ति, तेषां यज्ञियानां सुमतौ भद्रे सौमनसे स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात्, सुमतौ भद्रे सौमनसे भवनस्यानिरूपणात्। न च तदनुगुणप्रवृत्तिरेव भवनम्, भवतेस्तथार्थत्वे मानाभावात्। त्वत्कृतार्थस्य प्रामाणिकत्वे भृगव इति पदेनैव गतार्थत्वेन अङ्गिरसादिपदानां वैयर्थ्यापातात्, परिपक्वज्ञानेषु सिद्धान्तविद्यादीनामर्थसिद्धत्वात् ॥ ५० ॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः सᳬंरराणो हवीᳬंष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—हमारे जिन सोम-सम्पादक वशिष्ठवंशी पूर्व पितरों ने सोमपान के निमित्त देवताओं का आह्वान किया था, वही इस समय सोमपान के लिये आमन्त्रित हैं। सोम की इच्छा वाले पितृपति उन सब पितरों के साथ प्रसन्न मन से हमारी दी हुई हवियों को यथेच्छ भक्षण करें॥ ५१ ॥

नोऽस्माकं ये पूर्वे वसिष्ठा वसिष्ठस्य बहून्यपत्यानि, सोम्यासः सोमसम्पादिनः पितरः सोमपीथं सोमपानम् अनु ऊहिरे अनुवहन्ति स्म देवान् प्रापितवन्तः, तेभिस्तैः पितृभिः, उशद्भिः कामयमानैः, संरराणः प्रीयमाणः सन् उशन् कामयमानो यमः संयमनीपतिः पितृपतिः प्रतिकामं यथाकामं हवींषि अत्तु। 'ऊहिरे' इति 'वह प्रापणे' इत्यस्य लिटि प्रथमाबहुवचने, संपूर्वस्य 'रा दाने' इत्यस्य शानचि शपः श्लौ संरराण इति, 'वश कान्तौ' इत्यस्य शतरि उशन्निति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—ये पितरो वसिष्ठाः सोम्यासो वसिष्ठोपलक्षिततत्तदृषिकुलोत्पन्नाः, सोमपीथं सोमपानमनूहिरे देवान् पायितवन्तः, तैरुशद्भिर्भगवन्तं कामयमानैः संरराणः प्रीयमाणः तांश्चोशन् कामयमानो यमः सर्वनियन्ता भगवान् हवींषि भक्तैः समर्पितानि नैवेद्यानि अत्तु भक्षयतु।

दयानन्दस्तु—'ये नः सोम्यासो वसिष्ठा अतिशयेन धनिनः पूर्वे पितरो ज्ञानिनः सोमपीथमनूहिरे अनुवहन्ति पुनः पुनः प्राप्नुवन्ति च, तेभिस्तैरुशद्भिः सह हवींष्युशन् संरराणो यमो न्यायी संयमी सन्तानः प्रतिकाममत्तु' इति, तदपि निरर्थकम्, यमशब्दस्य सन्तानार्थकत्वासिद्धेः॥ ५१ ॥

त्वᳬं सोम प्रचिकितो मनीषा त्वᳬं रजिष्ठमनुनेषि पन्थाम्।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम कान्ति और चेतना से युक्त हो, तुम अपनी बुद्धि के द्वारा अतिसरल देवयान मार्ग को प्राप्त कराते हो। हे सोम! हमारे धैर्यवान् पितरों ने तुम्हारे आश्रय से देवताओं में श्रेष्ठ यज्ञफल को पाया है॥५२॥

हे सोम, त्वं प्रचिकितः प्रकर्षेण चेतनावान् विशिष्टज्ञानविज्ञानसम्पन्नः, मनीषा यज्वनां मनसो विशिष्टतरेच्छा असि। यद्वा—हे सोम, त्वं मनीषा मनीषया स्वप्रज्ञया यावज्ज्ञातव्यं तस्य प्रचिकितः प्रकर्षेण ज्ञातासि। 'कित निवासे रोगापनयने च', अत्र ज्ञाने वृत्तिः। त्वं च रजिष्ठम् अतिशयेन ऋजु इति रजिष्ठम् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (पा० सू० ५।३।५५) इति तमपि, 'विभाषर्जोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।४।१६२) इत्यृकारस्य रेफे रूपम्। ऋजुतमं देवयानाख्यं पन्थां पन्थानम्, पथिन्शब्दाद् द्वितीयैकवचने सर्वनामस्थानेऽपि 'अयस्मयादीनि छन्दसि' (पा० सू० १।४।२०) इति यथायोग्यं पदत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (पा० सू० ८।२।७) इति नकारलोपे सवर्णदीर्घे च पन्थामिति रूपम्। अनुनेषि अधिकारिणो जनान् अनुनयसि। नयतेः शपि लुप्ते गुणे लटि रूपम्। किञ्च, हे इन्दो! तव प्रणीती प्रणीत्या प्रणयनेन तवाभ्यनुज्ञया नो धीरा धीमन्तो यज्ञादिज्ञानवन्तः पितरो देवेषु मध्ये रत्नं रमणीयं यज्ञफलम् अभजन्त सिषेविरे, सोमयागेनैवोत्तमफललाभात्। यद्वा हे सोम, त्वं

मनीषा मनीषया स्वप्रज्ञया रजिष्ठं देवयानं पन्थानमनुनयसि प्रापयसीति सम्बन्धः। मनीषेति तृतीयैकवचने पूर्वसवर्णदीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वं प्रचिकितः प्रकृष्टज्ञानः सर्वज्ञोऽसि। हे इन्दो ! सोमवत्प्रियदर्शन चन्द्रशेखर, त्वं मनीषया स्वप्रज्ञयाऽधिकारिजनान् रजिष्ठम् ऋजुतमं त्वत्प्रापकं पन्थां पन्थानम् अनुनेषि अनुनयसि प्रापयसि। तव प्रणीती प्रणीत्या प्रणयनेन धीरा धीमन्तः पितरः पितृतुल्याः साधकाः सिद्धाश्च देवेषु स्वप्रभया भासमानेषु भक्तेषु मध्ये रत्नं रमणीयं फलमभजन्त सिषेविरे प्राप्नुवन्ति च।

दयानन्दस्तु—'हे सोम विविधैश्वर्ययुक्त, प्रचिकितः प्राप्तविज्ञानस्त्वं मनीषा प्रज्ञया यं रजिष्ठम् अतिशयेन ऋजुं कोमलं पन्थां नेषि नयसि तं त्वं मामनुनय। हे इन्दो ! चन्द्र इव वर्तमान, ये तव प्रणीती प्रकृष्टा चासौ नीतिश्च, धीराः पितरो देवेषु रत्नम् अभजन्त तेऽस्माभिर्नित्यं सेवनीयाः सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यम्-तम्-माम्-इत्यादिपदानां मूलेऽभावात्। कोऽयं सम्बोधनीयो यस्य प्रणीत्या सह धीरा वर्तन्ते, ते च किमर्थं विद्वत्सु सम्बोधयित्रर्थे रत्नं भजेरन्, नह्यन्यार्थेऽन्यो रत्नं भजति ॥ ५२ ॥

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः।
वन्वन्नवातः परिधीँ२॥रपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे सबको पवित्र करने वाले सोम! हमारे धीर पितरों ने तुम्हारी सहायता से यज्ञ आदि कर्मों को पूरा किया है। इस कारण हम प्रार्थना करते हैं कि इस कर्म की रक्षा में लगे हुए तुम वात आदि के उपद्रवों को और उपद्रवकारियों को यहाँ से दूर करो। वीर अश्वों के द्वारा हमें सब ओर से धन प्राप्त कराओ ॥ ५३ ॥

हे सोम हे पवमान शोधक, नोऽस्माकं पूर्वे पूर्वजा धीरा धीमन्तः पितरो हि यस्मात् त्वया आश्रयभूतेन कर्माणि सोमसमवेतज्योतिष्टोमादीनि यज्ञादीनि, चक्रुः कृतवन्तः, अतस्त्वां प्रार्थये यत् त्वं परिधीन् परितः सर्वतो दधति उपद्रवाय तिष्ठन्तीति परिधयः, सर्वतो निहिता यज्ञोपद्रवकारिणस्तान्, अपोर्णु अपगमय। कथम्भूतस्त्वम् ? वन्वन् सम्भजमानः। तान्यस्मदीयानि कर्माणि अव रक्ष। यद्वा—अवातो वाताद्युपद्रवरहितः स्वस्थचित्तः परिधीन् अपोर्णु। किञ्च, वीरेभिर्वीरैरश्वैश्च सहितः सन्नोऽस्माकं मघवा धनवान् भव। मघं धनमस्यामस्तीति मघवा। यो यस्मै ददाति स तस्य धनवानिति बुद्धया तथोक्तिः। भवा इति संहितायां दीर्घः। 'परिधीँ अप' इत्यत्र 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० सू० ८।३।९) इति नकारस्य रुः।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, हि यस्मात् त्वया आश्रयभूतेन नोऽस्माकं धीरा धीमन्तः पूर्वे पूर्वजाः पितरः कर्माणि त्वदाराधनलक्षणानि चक्रुः, अतोऽस्मात् कारणाद् हे पवमान, नाम्नैव विश्वपावन वन्वन् अस्मदीयानि कर्माणि अव रक्ष। परिधीन् सर्वतो निहितान् यज्ञोपद्रवकारिणोऽपोर्णु अपगमय। वीरेभिः वीरैरश्वैश्च सहितो नोऽस्माकं मघवा धनवान् भव। अस्माकं धनं धनवांश्च सर्वं त्वमेव भव।

दयानन्दस्तु—'हे पवमान सोम, त्वया विदुषा सह नः पूर्वे धीराः पितरो यानि धर्म्याणि कर्माणि चक्रुस्तानि हि वयमप्यनुतिष्ठेम। अवातो वन्वन् धर्मं सेवमानस्त्वं वीरेभिरश्वैश्च सह नः शत्रून् परिधीन् अपोर्णु मघवा च भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारकल्पनाभूयस्त्वात्। तानि वयमप्यनुतिष्ठेमेत्यस्य मूलेऽनुपलम्भ एव। 'धर्मं वन्वन् सन्तानस्त्वं शत्रूनपोर्णु' इत्यर्थेऽपि धर्मसन्तानादिपदानां मूलेऽभाव एव ॥ ५३ ॥

त्वꣳ सो॑म पि॒तृभि॑: संविदा॒नोऽनु॒ द्यावा॑पृथि॒वी आत॑तन्थ ।
तस्मै॑ त इन्दो ह॒विषा॑ विधेम व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम ! पितरों के साथ संवाद करते हुए तुमने स्वर्ग और पृथ्वी का विस्तार किया है। हे सोम ! तुम्हारे लिये हम हवि का विधान करते हैं। तुम्हारी कृपा से हम धनवान् बनें ॥ ५४ ॥

हे सोम, यस्त्वं पितृभिः संविदानः संवादं कुर्वाणः, 'समो गमृच्छिभ्याम्' (पा० सू० १।३।२९) इति स्थलीयेन 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' इति वार्तिकेनात्मनेपदम्, ततः शानचि रूपसिद्धिः। द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अन्वाततन्थ विस्तारितवान्। 'तनु विस्तारे' इत्यस्माल्लिटि 'बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे' (पा० सू० ७।२।६४) इति निपातितः। हे इन्दो, तस्मै ते तुभ्यं हविषा विधेम हविर्दद्मः, विभक्तिव्यत्ययः। विदधतिर्दानार्थः। वयं च हविःप्रदानानन्तरं रयीणां पतयः स्याम भवेम।

इत्येष सोमवतां पितॄणां षड्चः समाप्तः सम्पूर्णः।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, पूर्वजैः पितृभिः संविदानः संवादं कुर्वाणोऽनायासेन द्यावापृथिव्यौ आततन्थ विस्तारितवान्। हे इन्दो चन्द्रवत्प्रियदर्शन चन्द्रशेखर, तस्मै ते हविर्नैवेद्यं समर्पयामः। वयं त्वत्प्रसादज्ज्ञानवैराग्यादिदैवसम्पदां पतयोऽधिकारिणः स्याम भवेम।

दयानन्दस्तु—'हे सोम सुसन्तान, पितृभिः सह संविदानो यस्त्वं द्यावापृथिवी सुखमाततन्थ, हे इन्दो ! तस्मै ते वयं हविषा सुखं विधेम, यतो रयीणां पतयः स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारगौणार्थाश्रयत्वयोर्निर्मूलत्वात् ॥ ५४ ॥

बर्हि॑षदः पितर ऊ॒त्य॒र्वागि॒मा वो॑ ह॒व्या च॑कृमा जु॒षध्व॑म् ।
त आग॒ताव॑सा॒ शन्त॑मे॒नाथा॑ न॒: शँय्योर॑र॒पो द॑धात ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—इस मन्त्र से बर्हिषद पितरों का उपस्थान करते हैं। हे कुशासन पर विराजमान होने वाले पितरों ! आप सब हमारी रक्षा के लिये कल्याण बुद्धि से यहाँ आइये। आप लोगों के लिये हमने यह हवि तैयार की है। आप इसका सेवन कीजिये। परम सुखदायक इस हवि से तृप्त होकर आप लोग हमें सुख और अभय प्रदान कीजिये, पापों से हमें मुक्त रखिये ॥ ५५ ॥

बर्हिषद इति तिस्र ऋचो बर्हिषदां पितॄणाम्। बर्हिषि दर्भे सीदन्तीति बर्हिषदः, पृषोदरादित्वादन्त्याक्षरलोपः। एते पितरो हविर्यज्ञयाजिनः। हे बर्हिषदः पितरः ! ते यूयमूत्या अवनेन मिमित्तेन अर्वागागत आगच्छत। किमर्थमिति चेत् ? वो युष्माकम् इमा इमानि हव्या हव्यानि हवींषि वयं चकृम कृतवन्तः, तानि जुषध्वं सेवध्वम्। अथ अनन्तरं शन्तमेन सुखयितृतमेन अवसा अन्नेन तर्पिताः सन्तो नोऽस्माकं शंयोः, पदद्वयमेतत्, शं सुखं रोगशमनं योर्भयपृथक्करणम्, अरपः पापाभावं च दधात धत्त स्थापयत। 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः, शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्' (निरु० ४।२१)। दधातेति 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति तकारस्य तबादेशात् पित्त्वेन ङित्वाभावात् 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (पा० सू० ६।४।११२) इत्यालोपाभावः।

अध्यात्मपक्षे—हे पितरः पितृतुल्या बर्हिषदो दर्भासीनास्तपोधनाः, यूयम् ऊती ऊत्या अवनेन हेतुना अर्वाक् परमात्मलोकादधस्ताद् बाह्यं जगद् आगत आगच्छत। वो युष्माकम् इमा इमानि हव्या हव्यानि ज्ञानलक्षणानि हवींषि वयं चकृम कृतवन्तः। वयं युष्मभ्यं सकाशात् सम्पादयिष्यामः। अथ आगमनानन्तरं शन्तमेन ज्ञानलक्षणेन अवसा अन्नेन नोऽस्माकं शंयोः शमनं रोगाणां यावनं च भयानाम्, अन्यदपि अरपं पापाभावं दधात धत्त, 'गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा। पापं तापं च दैन्यं च हन्ति साधुसमागमः॥' इत्यभियुक्तोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे बर्हिषदः, बर्हिषि उत्तमायां सभायां सीदन्तीति तथोक्ताः पितरः पालकाः, वयमर्वाग् येभ्यो वो युष्मभ्यमिमा इमानि हव्या अत्तुमर्हाणि चकृम तानि यूयं जुषध्वम्। शन्तमेनावसा रक्षोघ्नेन सहागत। अथ नः शमरपश्च दधात दुःखं च योः दूरीकुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बर्हिषद इत्यस्य तथार्थत्वे मानाभावात्। अर्वागित्यस्य पश्चादित्यर्थोऽपि निर्मूल एव। संस्कृतानि कुर्म इत्यपि तथाभूत एवार्थः। न च सर्वैः सभासदां कृतेऽन्नानि संस्क्रियन्ते॥ ५५॥

आहं पितॄन् सुविदत्राँ२॥ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ ५६॥

मन्त्रार्थ—मैं कल्याण देने वाले पितरों को अच्छी तरह से जानता हूँ। व्यापक और अच्युत देवयान मार्ग को और अनेक प्रकार के गमन वाले, जहाँ से कि लौट कर आना पड़ता है, पितृयान मार्ग को मैं जानता हूँ। कुशा के आसन पर बैठने वाले पितृगण स्वधा रूपी अन्न के साथ अभिषुत सोम का सेवन करने के लिये यहाँ पधारें॥ ५६॥

अहं पितॄन् आ आभिमुख्येन अवित्सि वेद्मि विदितवान्। विदेर्लुङि आत्मनेपदे उत्तमैकवचने रूपम्। कथंभूतान् पितॄन्? सुविदत्रान्, सुष्ठु विशेषेण ददतीति सुविदत्राः कल्याणदानास्तान्। 'सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वैकोपसर्गाद् दक्षतेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्' (निरु० ७।९) इति तत्रभवान् यास्कः। 'सुविदेः कत्रः' (उ० ३।१०८) इति कत्रप्रत्ययेन साधुः। विष्णोः, वेवेष्टीति विष्णुस्तस्य व्यापनशीलस्य यज्ञस्य, 'यज्ञो वै विष्णुरिति' (श० १।१।३। १) इति श्रुतेः। नपातं विक्रमणं च वेद्मि। नास्ति पातो यत्र स नपातो देवयानः पन्थाः। तत्र गतानां पातो नास्ति। विविधं क्रमणं गमनागमनं यत्र स विक्रमणः पितृयाणः पन्थाः। तत्र हि अरघट्टघटीवद् उत्तराधरं प्राणिनो गच्छन्ति, कर्मफलभोगान्ते पतन्तीति यावत्। यज्ञसम्बन्धिनौ तौ देवयानपितृयाणौ पन्थानौ अवेत्सि, आभिमुख्येन वेद्मीत्यर्थः। कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठायी देवयानेन पथा ब्रह्मलोकमुपगत्य न पुनरावर्तते। केवलकर्मानुष्ठायी पितृयाणेन पथा पितृलोकमुपेत्य कर्मफलभोगान्ते पुनरावर्तते। अतो ब्रवीमि ये बर्हिषदः पितरः स्वधया सवनीयलक्षणेनान्नेन सह सुतस्याभिषुतस्य सोमस्य पित्वः पानं भजन्त भजन्ते सेवन्ते, 'भज सेवायाम्', लङ् अडभावः, त इह पक्षे आगमिष्ठा आगच्छन्तु। लोडर्थे लुङ्, पुरुषवचनव्यत्ययश्च।

अध्यात्मपक्षे—अहं शोभनदानान् पितृतुल्यान् दर्भासीनान् सिद्धान् ब्रह्मविद्वरिष्ठान् गुरून् आभिमुख्येन शुद्धभावनया वेद्मि तदुपास्तिं करोमि। 'मायां न सेवे भद्रं ते न मृषा धर्ममाचरे। शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद्वेद्मि जनार्दनम्॥' (म० भा० उद्यो० ६९।५) इति भगवद्वेदव्यासवचनात्। विष्णोर्भगवतो व्यापकस्य ब्रह्मणो नपातमपुनरावर्तनं पन्थानं विक्रमणं पुनरावर्तनं च पन्थानं वेद्मि। ये पितरस्तादृशाः स्वधयान्नेनोपभोग्येन ब्रह्मणा सह सुतस्य सोमस्य तज्ज्ञानामृतस्य पित्वः पानं भजन्ते, त इह स्थानेऽस्मदन्तःकरणे वा आगमिष्ठा आगच्छन्तु।

दयानन्दस्तु—'ये बर्हिषदः पितरः स्वधया सुतस्य पित्वश्चाभजन्त सेवन्ते, त आगमिष्ठाः। य इह विष्णोर्नपातं विक्रमणं च विदन्ति, तान् सुविदत्रान् पितॄनहमवित्सि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वधया अन्नेन सुतस्य निष्पादितस्य पित्वः सुरभिपानं भजन्त इति विसङ्गतेः। हिन्दीभाष्ये तु स्वधया तृप्तस्येति तद्विरुद्धमुक्तम्। 'अवित्सि विष्णोर्नपातं विक्रमणं च विदन्ति' इत्यपव्याख्यानम्, मन्त्रे विदन्तीति क्रियाया अभावात्। न च 'अवित्सि' इत्यस्य सोऽर्थ इति वाच्यम्, 'वेद्मि' इति त्वद्व्याख्यानविरोधात् ॥ ५६ ॥

उप॑हूताः पि॒तर॑ः सो॒म्यासो॑ ब॒र्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑ ।
त • आग॑मन्तु॒ त इ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ब्रुवन्तु॒ ते॑ऽवन्त्व॒स्मान् ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—हे पितृगण ! आप लोग इस यज्ञ में आवें, प्रिय कुशाओं पर स्थित निधि के समान स्थापित हवियों के भक्षण के निमित्त बुलाये गये सोमपान के योग्य पितृगण हमारे इस आह्वान को सुनें। वे पिताओं को पुत्रों से जो कहना चाहिये, वह हमसे कहें और हमारी रक्षा करें ॥ ५७ ॥

हे पितरः ! भवन्त इह यज्ञे आगमन्तु आगच्छन्तु, व्यत्ययेन शपो लुक्, आगत्य च श्रुवन्तु अस्मद्वचनं शृण्वन्तु। श्रुत्वा च अधिब्रुवन्तु पितृभिः पुत्राणां यद् वक्तव्यं तद् ब्रुवन्तु। सत्यसङ्कल्पद्वारा तत्प्रेरणयोपदिशन्तु। तथा तेऽस्मानवन्तु। कीदृशाः पितरः ? प्रियेष्वभिरुचितेषु हविष्षु निमित्तभूतेषु उपहूताः। पुनः कीदृशाः ? सोम्यासः सोम्याः। कीदृशेषु प्रियेषु ? बर्हिष्येषु बर्हिषि दर्भे भवन्ति बर्हिष्याणि, तेषु बर्हिषि सादितेषु। पुनः कीदृशेषु ? निधिषु निधिवत्स्थापनीयेषु, तादृशप्रियहविर्भागायोपहूता इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे पितरः, उपहूताः सोम्यासो बर्हिष्येषु दर्भवत्पवित्रेषु साधकेषु भवेषु तद्धृदयस्थितेषु प्रियेषु भविषु—'खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥' (भा० पु० ११।२।४१) इत्यादिवचनसमर्थितेषु निधिषु निधिवत्पालनीयेषु निमित्तेषु, आगमन्तु आगच्छन्तु, साधकानां तत्त्वज्ञानदानार्थमागच्छन्तु, आगत्य च अस्मत्प्रश्नवच आशीर्वचो वा शृण्वन्तु। श्रुत्वा च अधिब्रुवन्तु तदुपरि तद्विषये यद्वक्तव्यं तद् ब्रुवन्तु। न केवलं ब्रुवन्तु, किन्तु विशेषानुग्रहेण तत्त्वज्ञानोत्पादनेन अविद्याजन्याज्जननमरणाविच्छेदलक्षणात् संसारादवन्तु।

दयानन्दस्तु—'ये सोम्यासः पितरो बर्हिष्येषु प्रियेषु निधिषु बर्हिषूत्तमेषु साधुषु निधिषु कोशेषु उपहूतास्त इहागमन्तु आगच्छन्तु। त इह श्रुवन्तु अधिब्रुवन्तु अवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदेषु तदुपदेशासम्भवात्, रत्नादिनिमित्ताह्वानस्य लौकिकत्वात्, पितृपुत्रादिव्यवहारस्यापि लोकत एव प्राप्तेः ॥ ५७ ॥

आय॑न्तु नः पि॒तर॑ः सो॒म्यासो॑ऽग्निष्वा॒त्ताः प॒थिभि॑र्देव॒यानैः॑ ।
अ॒स्मिन् य॒ज्ञे स्व॒धया॒ मद॒न्तोऽधि॑ब्रुवन्तु॒ ते॑ऽवन्त्व॒स्मान् ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—अग्निष्वात्त पितरों का अब उपस्थान करते हैं। सोम के योग्य अग्नि द्वारा स्वादित हमारे पितृगण देवयान मार्ग से आवें, इस यज्ञ में स्वधा नामक अन्न से प्रसन्न होते हुए हमें मानसिक उपदेश दें और हमारी रक्षा करें ॥ ५८ ॥

चतस्र ऋचोऽग्निष्वात्तानां पितृणाम् । नः अस्माकम्, सोम्यासः सोम्याः सोमपानार्हाः, अग्निष्वात्ता अग्निना स्वात्ताः सुष्ठु स्वादिताः, अग्निर्यान् दहन् स्वादयति, श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठायिनो देवयानैर्देवैः सह यान्ति पितरो येषु ते देवयाना मार्गाः, तैः पथिभिर्मार्गैः, आयन्तु आगच्छन्तु । येषां पुत्रादिभिरेतत्कर्मानुष्ठीयते, त आगच्छन्त्विति सम्बन्धः । तथा चाह भगवान् मनुः—'पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते । अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥' (म० स्मृ० ९।१३७) । किञ्च, पितर आगत्य अस्मिन् यज्ञे स्वधयान्नेन मदन्तस्तृप्यन्तः, तुष्टाः सन्त्विति यावत् । नः अस्मान्, अधिब्रुवन्तु अधिकान् ब्रुवन्तु । तदीयात् तथाभूताद्वाक्यादेव वयमधिकाः स्यामेत्यर्थः । ते पितरोऽस्मानवन्तु पालयन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—नोऽस्माकं पितरस्ते पितृतुल्यास्ते येऽग्निष्वात्ता अग्निना ज्ञानेन स्वात्ताः स्वादिताः, देवयानैः पथिभिर्दैवीं सम्पदमुपगताः, यैः पथिभिर्मार्गैर्गच्छन्ति तैर्मार्गैरिहायान्तु । आगत्य ते स्वधया ब्रह्मलक्षणेनान्नेन मदन्तस्तृप्यन्तो नोऽस्मभ्यमधि सर्वाधिकं ब्रह्म ब्रुवन्तु । ते तथोपदेशेन अस्मानवन्तु पालयन्तु ।

दयानन्दस्तु—'ये सोम्यासोऽग्निष्वात्ता गृहीताग्निविद्या नः पितरः सन्ति, ते देवयानैः पथिभिरायन्तु । अस्मिन् यज्ञे वर्तमाना भूत्वा स्वधया मदन्तः सन्तोऽस्मानधिब्रुवन्तु, अस्मानवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थश्रयणात्, अग्निष्वात्ता इत्यस्य अग्निविद्यानैपुण्यमर्थः कथमित्यनुक्तेः, धार्मिका धर्ममार्गेणैवायन्तीति पुत्राणां तेभ्यस्तथोपदेशानुपपत्तेः ॥ ५८ ॥

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवीᳬषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिᳬ सर्ववीरं दधातन ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निष्वात्त पितरो ! हमारे इस यज्ञ में आप लोग आवें, सुन्दर नीति-वाक्यों का उपदेश करते हुए इस सभास्थान में विराजमान हों, कुशाओं पर नियम से स्थापित हवियों को पवित्रता पूर्वक भक्षण करें और सकल वीरपुत्र, धन आदि को सब ओर से लाकर हमें दें ॥ ५९ ॥

हे अग्निष्वात्ताः पितरः, इह यज्ञे यूयमागच्छत । आगत्य च सदः सदः प्रतिभक्तपुत्रादिगृहं सदत सीदत उपविशत । वीप्सायाम् 'नित्यवीप्सयोः' (पा० सू० ८।१।४) इति द्वित्वम् । कथंभूता यूयम् ? सुप्रणीतयः शोभना प्रणीतिः प्रणयनं येषां ते तथोक्ताः । ततः सदस्युपविष्टाः सन्तो हवींषि अत्ता अत्त भक्षयत । अत्तेर्लोटि संहितायां दीर्घः । कीदृशानि हवींषि ? बर्हिषि दर्भे प्रयतानि नियमपूर्वकं स्थापितानि प्रकर्षेण यम्यन्ते नियम्यन्त इति प्रयतानि । अथवा व्यपगतरागद्वेषमोहैरभिसंस्कृतानि शुचीनि । अथ अनन्तरं तृप्ताः सन्तः सर्ववीरं सर्वे वीरा यत्र तादृशं रयिं धनं दधातन स्थापयत 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति 'अथा' इति निपातस्य दीर्घः । 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति तकारस्य तनबादेशः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्निष्वात्ता ज्ञानाग्निना स्वादवन्तः सुप्रणीतयः शोभना प्रणीतिर्वेदान्ततात्पर्यनिर्धारणपद्धतिर्येषां ते । पितरः पितृतुल्या ब्रह्मविद्वरिष्ठाः, यूयमिह जिज्ञासूनां सदस्सु आगच्छत, आगत्य च सदः सदः प्रतिसदः सदत उपविशत । उपविष्टाः सन्तो हवींषि अत्त । कीदृशानि ? बर्हिषि दर्भे प्रयतानि नियमपूर्वक-

स्थापितानि । यद्वा दर्भवत्पवित्रे वेदान्ते प्रयतानि स्थापितानि हवींषि ब्रह्मलक्षणानि अत्त अनुभावयत । अन्तर्भावितण्यर्थो द्रष्टव्यः । पूजायां बहुवचनम् ।

दयानन्दस्तु—'हे सुप्रणीतयोऽग्निष्वात्ताः पितरः, यूयमिहागच्छत । सदः सदः सदत । प्रयतानि हवींषि अत्त । बर्हिषि स्थित्वास्मदर्थं सर्ववीरं रयिं दधातन' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बर्हिःपदस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्, विद्याप्रचारायागतानां सकाशात् सर्ववीरधनप्रार्थनानुपपत्तेश्च ॥ ५९ ॥

ये॑ऽअ॒ग्नि॒ष्वा॒त्ता ये अन॑ग्निष्वात्ता मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते ।
तेभ्यः॑ स्व॒राडसु॑नीतिमे॒तां य॑थाव॒शं त॒न्वं॑ कल्पयाति ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—जिन अग्निष्वात्त पितरों का विधिपूर्वक अग्निदाह कर औध्र्वदेहिक कर्म हुआ है और जिनका अग्नि से दाह नहीं हुआ है, जो द्युलोक में अपने द्वारा उपार्जित कर्मों के भोग से प्रसन्न रहते हैं, स्वर्गपति धर्मराज उन पितरों को इच्छानुसार इस मनुष्य सम्बन्ध वाले प्राणयुक्त शरीर को देता है, अर्थात् यम की आज्ञा से उनको स्वकर्मानुसार पवनाश्रित शरीर मिलता है और वे अपने पुत्र आदि के द्वारा किये गये शास्त्रोक्त आह्वान में जाते हैं । उनके निमित्त दिया हुआ अन्न विश्वेदेव देवताओं के द्वारा सूक्ष्म भाव से प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

ये पितरः. अग्निष्वात्ता अग्निना स्वादिताः, अग्निना दग्धाः सन्तो विधिवदौर्ध्वदेहिकं प्राप्ताः, ये च अनग्निष्वात्ता न अग्निना स्वादिताः श्मशानकर्माप्राप्ता अदग्धाः सन्तो दिवः स्वर्गस्य स्वधया अन्नेन, स्वकर्मोपार्जितेनेति यावत्, मादयन्ते तृप्यन्ति सुखं सेवन्ते , तेभ्यः पितृभ्योऽर्थे स्वराट् स्वेनैव अन्यनिरपेक्षतया राजत इति स्वराड् अकृतकैश्वर्यो यमो यथावशं वशमभिलाषमनतिक्रम्य वर्तत इति यथावशं यथाकाममेतां मनुष्यसम्बन्धिनीं तन्वं शरीरं कल्पयाति कल्पयत्, तेभ्यो नरशरीरं यमो ददात्वित्यर्थः । कीदृशीं तन्वम् ? असुनीतिम् असून् प्राणान् नयतीत्यसुनीतिः, महाप्राणयुक्ता इति यावत्, चिरकालजीविनीति तात्पर्यम् । उव्वटाचार्यस्तु—तेभ्य इति स्थाने विभक्तिव्यत्ययेन तेषामिति विपरिणमय्य 'कृते' इत्यध्याहृत्य एतामिति स्थाने लिङ्गव्यत्ययेन एतमिति विपरिणमय्य कण्डिकार्थं विदधति । अत्र पक्षे विपरिणामादिगौरवम् ।

अध्यात्मपक्षे— ये ब्रह्मोपासका ब्रह्माभ्यासपरायणास्तेऽग्निष्वात्ताः कृतौर्ध्वदेहिकाः, अनग्निष्वात्ता अकृतौर्ध्वदेहिका वा ते दिवो द्युलोकस्य मध्ये स्वधया दिव्यभोगेन मादयन्ते तृप्यन्ति, तेभ्यः पितृभ्यः पितृतुल्येभ्यो जगद्धितकारिभ्यो विशेषेण स्वराट् परमेश्वरो यथावशं यथारुचि एतामसुनीतिं चिरजीविनीं तन्वं कल्पयाति कल्पयति, संस्कारनैरपेक्ष्येण तेषां सद्गतिरित्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'येऽग्निष्वात्ता येऽनग्निष्वात्ता ज्ञाननिष्ठाः पितरो दिवो मध्ये स्वधया स्वकीयपदार्थधारणक्रियया मादयन्ते आनन्दयन्ति, तेभ्यः स्वराड् या असून् प्राणान्नयति तां यथावशं तन्वं कल्पयेत् समर्थां कुर्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वधापदस्य तथार्थत्वे मानाभावात् । पदार्थविद्यावतामभीष्टतनुप्राप्तिरपि निर्मूलैव, तथात्वे कर्मोपासनज्ञानशून्यानामाधुनिकानां पदार्थविद्याकुशलानामपि सद्गतिसिद्ध्यापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, वेदतदुक्तार्थनिष्ठानामेव सद्गतिरिति सिद्धान्तव्याकोपात् ॥ ६० ॥

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः ।
ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ।। ६१ ।।

मन्त्रार्थ—ऋतुमान् अग्निष्वात्त नामक पितरों को हम बुलाते हैं। जो पितृगण चमस पात्र में सोमपान करते हैं, वे वेदाध्ययनसम्पन्न हमें सुख-सुविधा से सम्पन्न करें, हमें विपुल धन का स्वामी बनावें ।। ६१ ।।

अग्निष्वात्तान् ऋतुमतः 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इत्यादिविधिप्राप्तर्तुदेवता विद्यन्ते येषु ते ऋतुमन्तस्तान् ऋतुयुक्तान् पितॄन् वयं हवामहे आह्वयामः। ये पितरो नाराशंसे चमसे सोमपीथं सोमपानम् आशुः अश्नन्ति। नाराशंसे चमसे पितॄणां भक्षः श्रूयते। तथाहि श्रुतिः—'अथ यदि नाराशꣳसेषु सन्नः। किञ्चिदापद्येत पितृभ्यो नाराशꣳसेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्'(श० १२।६।१।३३) इति। विप्रासो मेधाविनस्ते पितरो नोऽस्माकं सुहवाः स्वाह्वाना भवन्तु, अस्मदाहूताः शीघ्रमायान्त्वित्यर्थः। एवं पितृष्वाहूतेषु वयं तेषां प्रसादाद् रयीणां पतयः स्याम।

अध्यात्मपक्षे—अग्निष्वात्तान् ऋतुमतः सर्वे प्रशस्ता ऋतवस्ताननुसरन्तीति ऋतुमन्तस्तान् पितॄन्, 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः।।' इति प्रशंसार्थे मतुब्विधानात्। ये च नाराशंसे चमसे सोमपीथं सोमपानमाशुः प्राप्नुयुः, ते चाहूयमाना विप्रासः सुहवाः स्वाह्वाना भवन्तु। सार्वात्म्यविवक्षया वा परमेश्वर एवाग्निष्वात्तादिपितृरूपेण श्राद्धतर्पणादिभिः पूज्यते स्तूयते।

दयानन्दस्तु—'ये सोमपीथमाशुरश्नीयुः, यानृतुमतोऽग्निष्वात्तान् पितॄन् वयं नाराशंसे नराणां प्रशंसामये सत्कारव्यवहारे हवामहे, ते विप्रासो नः सुहवा भवन्तु, वयं च तत्कृपातो रयीणां पतयः स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्राणां त्वदभिमतानां पितॄणां कृपातो रयिपतित्वासम्भवात्, नाराशंसशब्दस्य सोमग्रहविशेषे रूढस्य नराणां प्रशंसामात्रार्थताया व्यवहारार्थतायाश्च निर्मूलत्वात्, कर्मोपासनब्रह्मज्ञानवादिभिरपि नराणां प्रशंसासम्भवेन तत्रातिव्याप्तेः ।। ६१ ।।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे ।
मा हिꣳसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ।। ६२ ।।

मन्त्रार्थ—हे पितृगण ! आप वाम जंघा को झुकाकर, दक्षिण मुख बैठकर इस यज्ञ की प्रशंसा कीजिये। चित्त की चंचलता के कारण किसी प्रकार का अपराध हो जाने पर हमारे ऊपर क्रोध मत कीजिये, क्योंकि मनुष्य स्वभाव वश हमसे भूल हो जाती है, उसे आप लोग क्षमा करें ।। ६२ ।।

दशर्चोऽनुवाकः। तत्र नव पित्र्याः। दशमी ऐन्द्री गायत्री। द्वितीयातृतीये नवमी चानुष्टुभः। शिष्टास्त्रिष्टुभः। यद्यपि कात्यायनेन आच्या जान्वित्यनुवाकस्य विनियोगो नोक्तः, तथापि पूर्वतनस्य उदीरतामिति त्रयोदशर्चस्य अस्य च आच्या जान्विति दशर्चस्य चानुवाकद्वयस्य श्राद्धेऽश्नत्सु द्विजेषु लैङ्गिको जपे विनियोगः कल्पनीयः। अनुवाकेऽस्मिन् नव पितृदेवत्याः। दशमी चैन्द्री। अन्त्या गायत्री, तृतीयाचतुर्थीनवम्योऽनुष्टुभः, शिष्टास्त्रिष्टुभः। हे विश्वे सर्वे पितरः, सोमवन्तो बर्हिषदोऽग्निष्वात्ताश्च। यूयमिमं यज्ञं सौत्रामणीमभिगृणीत अभिष्टुवीत। दक्षिणामन्त्रकालकर्तृहविर्यजमानोत्कर्षसौष्ठवात् साध्वयं यज्ञः सम्पन्न इति यज्ञस्यास्य स्तुतिं

कुरुतेत्यर्थः। किं कृत्वा ? जानु वामजानु आच्य पातयित्वा, तथा दक्षिणतो निषद्य दक्षिणाभिमुखा उपविश्य, तेषां तथाविधस्वभावत्वात्, 'अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदन्' (श० २।४।२।२) इति श्रुतेः। किञ्च, हे पितरः ! केनचिदप्यपराधेन नोऽस्मान् मा हिंसिष्ट अस्माकं वधमपकारं मा कार्ष्ट। पुरुषता पुरुषस्य भावः पुरुषता, तया। विभक्तिलोपः। पुरुषस्वभावेन अनवस्थितचित्तत्वेन वो युष्माकमागोऽपराधं वयं कराम कुर्मो यद् यद्यपि, तथापि मा हिंसिष्ट मा बाधिष्ट। करोतेर्लेङि शपि अडभावे च रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—अत्रापि पितृरूपेण परमेश्वर एव प्रार्थ्यते। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे विश्वे पितरः, यूयं केनचिद्धेतुना नो या पुरुषता, तां मा हिंसिष्ट यतो वयं सुखं कराम। यद्वा आगस्तत्त्याजयेम। यूयमिमं यज्ञमभिगृणीत। वयमाच्य जानु दक्षिणतो निषद्य युष्मान् सततं सत्कुर्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्। तथाहि—पुरुषतापदेन तादृशगौणार्थग्रहणे किं बीजम् ? त्याजयेमेति पदं मन्त्रे क्व विद्यते ? किञ्च, नहि सत्कारार्हाणामपराधं सत्कर्तारस्त्याजयन्तीति श्लिष्यते। न वा तान् स्वप्रशंसाकरणार्थं प्रेरयन्ति। न वा जानु पातयित्वा आराधकस्य पूज्यानां दक्षिणतः स्थानं युक्तमिति शिष्टाचारः। दिवङ्गतपितॄणां तु तादृशशिष्टाचार इत्युदाहृतश्रुत्यैव सिद्धम्, यत् पितर एव वामजान्वाच्य दक्षिणतः सीदन्तीति ॥ ६२ ॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—हे पितृगण ! लाल ऊन के आसनों पर अथवा अरुण वर्ण सूर्य की किरणों पर, सूर्य लोक की गोद में बैठे हुए आप लोग हवि देने वाले यजमान को धन दीजिये, पुत्रस्वरूप इनको धन दीजिये, जिससे कि वे भी इस यजमान के यज्ञ में आनन्दित हों ॥ ६३ ॥

हे पितरः ! दाशुषे हवींषि दत्तवते मर्त्याय यजमानाय रयिमभिलषितं धनं धत्त दत्त। कथम्भूता यूयम् ? अरुणीनाम् अरुणवर्णानामूर्णानामुपस्थे उपरिभागे आसीनास आसीना उपविष्टाः। याभिः कुतपाः क्रियन्ते, ता ऊर्णा अरुणा भवन्ति। 'कुतपं चासने दद्यात्' इति स्मृतेः कुतपप्रियाः पितरः। यद्वा अरुणीनामरुणवर्णानां रश्मीनामुपस्थे उत्सङ्गे आसीना इत्यादित्यलोकजितः पितर उच्यन्ते। अपि च, हे पितरः ! पुत्रेभ्यो यजमानेभ्यः। यजमानवचनोऽत्र पुत्रशब्दः, पितॄणां यज्ञे पुत्राणामेव यजमानत्वात्। पुत्राणां यजमानानां यदभीष्टं तस्य वस्वो वसुनो धनस्य प्रयच्छत दत्त। कर्मणि षष्ठ्यौ। ते यूयमिहास्मदीये यज्ञे ऊर्जं रसं दिव्यफलदानसामर्थ्यं दधात स्थापयत।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरस्यैव पितृरूपेण प्रार्थनम्। व्याख्यानं तथाविधमेव।

दयानन्दस्तु—'हे पितरः, यूयमिहारुणीनामरुणवर्णानां स्त्रीणामुपस्थे आसीनाः सन्तः पुत्रेभ्यो दाशुषे यत्र रयिं धत्त, तस्य वस्वोंऽशान् प्रयच्छत, यतस्त ऊर्जं दधात' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारगौणार्थस्वीकारबाहुल्यात्। नहि सत्कारार्हाः पूज्याः पितरः पुत्राणां समक्षमरुणवर्णानां स्त्रीणामुत्सङ्गे आसीना भवन्ति, शिष्टाचारविरोधात्। न च दाशुषे दत्तवते धनदानं युक्तम्, तस्य स्वत एव धनवत्त्वात्, अन्यथा दातृत्वानुपपत्तेः। वस्तुतोऽत्र दिवङ्गतपितॄणामेव संस्तवनम्, जानु पातयित्वा दक्षिणतोऽवस्थानस्य कुतपादिदानस्य च तेष्वेव सङ्गतेः। मृतपितॄणां श्राद्धतर्पणाद्यनङ्गीकारादेव क्लिष्टकल्पनया मन्त्राणामन्यथा नयनमर्धनास्तिकानाम् ॥ ६३ ॥

यमग्ने कव्यवाहन त्वं चिन्मन्यसे रयिम् ।
तं नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम् ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—हे पितरों को अन्न पहुँचाने वाले अग्निदेव ! आप हविरूप जिस धन को भली भाँति जानते हैं, वषट्कार आदि वाणियों से सुनने योग्य हमारी उस हवि को देवताओं के लिये सब ओर से पहुँचाइये ॥ ६४ ॥

चतसृभिर्ऋग्भिः स्विष्टकृदग्निरुच्यते । हे कव्यवाहन, कव्यं पितृभ्यो देयमन्नं वहतीति कव्यवाहनः, 'कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट्' (पा० सू० ३।२।६५) इति ञ्युटि रूपसिद्धिः, तत्सम्बुद्धौ । हे अग्ने ! त्वं चित् त्वमपि यं रयिं हविर्लक्षणं धनं मन्यसे उत्तममवगच्छसि, साधु शक्यते श्रेयः प्राप्तुमनेनेति नोऽस्माकं तं रयिं देवत्रा देवेषु, 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्' (पा० सू० ५।४।५६) इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः । पनया देहि । संहितायां दीर्घः । अत्र स्तुतेर्दान एव पर्यवसानम् । कीदृशं रयिम् ? गीर्भिः पुरोनुवाक्या-याज्या-वषट्कारलक्षणाभिर्वाग्भिः श्रवाय्यं श्रोतुं योग्यम्, 'श्रु दक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः' (उ० ३।९६) इत्याय्यप्रत्यये रूपसिद्धिः । 'श्रवाय्यः स्याद्यज्ञपशौ श्रवणीयेऽपि कीर्त्यते' इति वेदान्ती महादेवः । युजम्, युज्यत इति युग् योग्यः, 'क्विप् च' (पा० सू० ३।२।७६) इति क्विपि साधुः, तम् । नहि यथाकथञ्चित् सम्पादितं धनं योग्यं भवति, अपि तु धर्मानुबन्धमर्थानुबन्धं च धनं योग्यम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे कव्यवाहन अग्ने, तत्तदुपाधिकपरमात्मन्, त्वं चित् त्वमपि यत् श्रेष्ठं रयिं धनं मन्यसे, गीर्भिः स्तुतिलक्षणाभिर्वाग्भिः श्रवाय्यं श्रवणार्हं युजं योग्यं देवत्रा देवेभ्योऽर्थाय पनया देहि ।

दयानन्दस्तु—'हे कव्यवाहनाग्ने, कविषु साधुनि वस्तुनि वहति यस्तत्सम्बुद्धौ, त्वं गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा देवेषु विद्वत्सु युजं योक्तुमर्हं यं रयिं मन्यसे, तमपि नोऽस्मभ्यं पनया देहि' इति, तदपि न मनोज्ञम्, कव्यशब्दस्य पितृदेयान्नेषु रूढत्वात् । त्वद्व्युत्पत्त्या हव्यकव्ययोर्भेदाभावप्रसङ्गात् । त्वया तु णिजन्तादेव श्रुधातोराय्यो विहितः । तदपि तव कामवादमात्रम्, ततः श्रुप्रकृतेरेव आय्यविधानात् । अन्यथा दक्षिस्पृह्यादिवत् श्रावीति णिजन्तमेव प्रयुञ्जीत । यदि तु धातुनिर्देशं मन्यसे, तर्हि श्रुप्रकृतावेव कथं तद्वैधुर्यम् ? हन्त ! शास्त्रेषु सर्वेष्वस्य कामचारः ॥ ६४ ॥

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः ।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ—जो कव्य पहुँचाने वाला अग्नि सत्य अथवा यज्ञ को बढ़ाने वाले पितरों का यजन करता था, वही अग्नि देवताओं और पितरों के लिये हवियों को सब ओर से ले जाता है ॥ ६५ ॥

यः कव्यवाहनोऽग्निः, ऋतावृध ऋतं सत्यं यज्ञं वा वर्धयन्ति ये ते ऋतावृधः, संहितायां दीर्घः, सत्यवृधो यज्ञवृधो वा, तान् पितॄन् यक्षद् इष्टवान्, यजेर्लेटि 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिप्यनुबन्धलोपे तिपि, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपे, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे, 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः' (पा० सू० ८।२।३६) इति षान्तादेशे, 'षढोः कः सि' (पा० सू० ८।२।४१) इति षकारस्य ककारे, 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) इति सस्य मूर्धन्यादेशे, कषयोः संयोगे

क्षत्वे रूपसिद्धिः। सोऽग्निः, इदानीं देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च हव्यानि हवींषि प्रवोचति प्रब्रवीतु। इमानि देवेभ्यः, इमानि पितृभ्य इति वदत्वित्यर्थः। इत्-उ-निपातौ पादपूरणार्थौ। आकारः समुच्चयार्थः। 'वच परिभाषणे' इत्यस्य 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (पा० सू० २।४।७२) इति प्राप्तशब्लोपस्य व्यत्ययेनाभावे, छन्दसि 'वच उम्' (पा० सू० ७।४।२०) इत्युमागमे गुणे च रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—कव्यवाहनाद्युपाधिकः परमेश्वरः प्रार्थ्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव, निरुपचारेण परमेश्वर एव तादृशसामर्थ्योपपत्तेः।

दयानन्दस्तु—'यः कवीनां प्रशस्तानि कर्माणि प्रापयति, स कव्यवाहनोऽग्निर्विद्वान् ऋतावृधः पितॄन् यक्षत्, इदु देवेभ्यः पितृभ्यो हव्यानि वा वोचति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, देवेभ्यो विद्वद्भ्यः पितृभ्यो ज्ञानिभ्यो वा हव्यानां विज्ञानानां प्रवचनस्य निरर्थकत्वात्, विज्ञानवतामेव विद्वत्त्वाज्ज्ञानित्वाच्च। किञ्च, यः पितॄन् यजति स एव तेभ्यो विज्ञानमुपदिशेदिति विप्रतिषिद्धम्। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धवत्त्वेन व्यावर्त्याभावादेव इदिति न निर्धारणार्थकः॥ ६५॥

त्वम॑ग्न ईडि॒तः क॑व्यवाहनावा॑ड्ढ॒व्यानि॑ सुर॒भीणि॑ कृ॒त्वी।
प्रादाः॑ पि॒तृभ्यः॑ स्व॒धया॑ ते अ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व प्रय॑ता ह॒वीꣳषि॑॥ ६६॥

मन्त्रार्थ—हे कव्यवाहक अग्निदेव! ऋत्विजों की स्तुति से प्रसन्न होकर आप हवियों को मनोहर गन्ध से भरकर देवताओं के पास पहुंचाते हैं। अब आप इसे पितृमन्त्रों से पितरों के पास पहुंचाइये। वे इसका भक्षण करेंगे। हे देव! आप भी इन शुद्ध हवियों को ग्रहण कीजिये॥ ६६॥

हे कव्यवाहन, हे अग्ने! त्वं हव्यानि हवींषि सुरभीणि सुगन्धीनि कृत्वो कृत्वा, 'स्नात्व्यादयश्च' (पा० सू० ७।१।४९) इत्यत्र सूत्रगत आदिशब्दः प्रकारार्थः, आकारस्य ईकारो निपात्यते। अवाट् ऊढवानसि। वहतेर्लुङि मध्यमैकवचने इडागमाभावे सिचो लोपे वृद्धौ च रूपम्। कीदृशस्त्वम्? ईडितः स्तुतः, देवैर्ऋत्विग्भिश्च। किञ्च, हव्यानि ऊढ्वा स्वधया पितृमन्त्रेण पितृभ्यः प्रादाः प्रदत्तवानसि। ते च पितरः, अक्षन् अभक्षयन्। अदो लुङि लुङ्सनोर्घस्लृ' (पा० सू० २।४।३७) इति घस्लादेशे, 'मन्त्रे घसह्वर' (पा० सू० २।४।८०) इत्यादिना च्लेर्लोपे, 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (पा० सू० ६।४।९८) इत्युपधालोपे, 'शासिवसिघसीनां च' (पा० सू० ८।३।६०) इति षत्वे रूपम्। हे देव, त्वमपि अद्धि हवींषि भक्षय। कीदृशानि हवींषि? प्रयता प्रयतानि शुचीनि।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे कव्यवाहनाग्ने पुत्र, ईडितस्त्वं सुरभीणि हव्यानि कृत्वा अवाड् वहसि। तानि पितृभ्यः प्रादाः। ते पितरः स्वधया सहैतान्यक्षन्। हे देव, त्वमप्येतानि हवींष्यद्धि' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, कव्यवाहन-पदेन कवीनां प्रागल्भ्याणि प्रापयति यः स पुत्र एव कथमिति विनिगमनाविरहात्, हव्यस्वधयोर्भेदाभावे साहचर्यानुपपत्तेश्च॥ ६६॥

ये चे॒ह पि॒तरो॒ ये च॒ नेह याँश्च॑ वि॒द्म याँ२॥ उ॑ च॒ न प्र॑वि॒द्म।
त्वं वे॑त्थ॒ यति॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धाभि॑र्य॒ज्ञᳪ᳖ सुकृ॑तं जुषस्व ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ—जो पितृगण इस लोक में हैं और जो इस लोक में नहीं हैं, अर्थात् स्वर्ग में हैं, जिन पितरों को हम जानते हैं और स्मरण न रहने से जिनको नहीं जानते, हे अग्निदेव ! उन सबको आप भली-भाँति जानते हैं। उन सब पितरों के निमित्त यज्ञ के द्वारा श्रेष्ठ अन्न को पहुँचाइये ॥ ६७ ॥

ये पितर इह लोके आसते, ये च इह लोके न सन्ति, यांश्च पितॄन् वयं विद्म जानीमः। उः पादपूरणः। यांश्च पितॄन् वयं न प्रविद्म न प्रकर्षेण जानीमः। हे जातवेदः, ते पितरो यति यावन्तो वर्तन्ते, या संख्या येषां ते यति, 'किमः संख्यापरिमाणे डति च' (पा० सू० ५।२।४१) इति छान्दसो डतिः, 'बहुगणवतुडति संख्या' (पा० सू० १।१।२३) इति संख्यासंज्ञायाम्, 'डति च' (पा० सू० १।१।२५) इति षट्संज्ञायाम्, 'षड्भ्या लुक्' (पा० सू० ७।१।२२) इति जसो लुकि रूपम्। यद्वा यति यतीन् नित्यनैमित्तिकानुष्ठानैर्निष्पापान्, छान्दसो विभक्तिलोपः। ते तान्, व्यत्ययेन जस्। त्वं वेत्थ। हे जातवेदः, अत एवमुच्यसे यत् स्वधाभिः पितॄणामन्नैः, सुकृतं शोभनं कृतं यज्ञं त्वं जुषस्व सेवस्व।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदः, जातवेदोऽनवच्छिन्नचैतन्यस्वरूप परमेश्वर ! शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदः, ये चेह पितरो ये चेह न सन्ति, वयं यांश्च प्रविद्म यांश्च न प्रविद्म, तान् यति या संख्या येषां तान् यावतस्त्वं वेत्थ, उ ते त्वां विदुस्तत्सेवामयं सुकृतं यज्ञं स्वधाभिर्जुषस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जातवेदःपदेन यस्यकस्यचिज्जातप्रज्ञस्य मनुष्यस्य सम्बोधने कथं स प्रार्थितं सम्पादयिष्यति ? सम्बन्धाभावात्। पुत्रस्य सम्बोधनमपि नोपपद्यते, पित्रादिभिरविज्ञातानामसन्निहितानां पितॄणां पुत्रकर्तृकसेवानुपपत्तेः, सेवामयमित्यंशस्य मन्त्रेऽभावाच्च, यावतस्त्वं वेत्थ तावतामेव सेवनोपदेशे ये चेह पितरः सन्ति ये च नेह यांश्च विद्म यान् उ च न प्रविद्म इत्युक्तेरानर्थक्यापत्तेः। तस्मात् सिद्धान्तानुसारं ते पितरो यति यावन्तो विद्यन्ते, तांस्त्वं वेत्थ-इत्येव व्याख्यानं युक्तम् ॥ ६७ ॥

इ॒दं पि॒तृभ्यो॒ नमो॑ अस्त्व॒द्य ये पूर्वा॑सो॒ य उप॑रास ई॒युः।
ये पार्थि॑वे॒ रज॒स्या निष॑त्ता॒ ये वा॑ नू॒नᳪ᳖ सु॑वृ॒जना॑सु वि॒क्षु ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ—आज यह अन्न उन पितरों के निमित्त है, जो पहले स्वर्ग में जा चुके हैं। कृतकृत्य होकर परम ब्रह्म को प्राप्त हुए हैं, जो पृथ्वी पर होने वाली अग्निरूप ज्योति में स्थित हैं या स्वर्ग में स्थित हैं, जो पितृगण धर्मरूप बलयुक्त प्रजाओं में देहधारण कर विद्यमान हैं, उन पितरों के निमित्त भी हम धन देते हैं। जो पितृगण यजमान से पूर्व उत्पन्न ज्येष्ठ भ्राता, पितामह आदि पितृलोक को प्राप्त हुए हैं, जो यजमान का जन्म होने के उपरान्त उत्पन्न हुए भ्राता, पुत्र आदि पितृलोक को प्राप्त हुए हैं और इस पितृ कार्य में हवि को स्वीकार करने के लिये आकर बैठे हैं, उन सबके लिये हम आहुति देते हैं ॥ ६८ ॥

ये पितरः पूर्वासः पूर्वे ईयुः स्वर्गं जग्मुः, ये च उपरास उपराः, उपरमन्ते विरमन्तीति तथोक्ता उपरतव्यापाराः कृतकृत्याः सन्त ईयुः परं ब्रह्म प्रापुः, ये च पार्थिवे रजसि पृथिव्यां भवं पार्थिवं रजो ज्योतिरग्निः,

तस्मिन् आ निषत्ता आभिमुख्येन निषण्णाः, 'नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्तानि च्छन्दसि' (पा० सू० ८।२।६१) इति निष्ठायां नत्वाभावो निपातितः। ये वा, वा समुच्चयार्थः। ये च नूनं निश्चितं विक्षु यजमानलक्षणप्रजासु निषण्णाः। कीदृशीषु विक्षु ? सुवृजनासु शोभनं वृजनं धर्मरूपं वृत्तरूपं वा बलं यासां ताः सुवृजनाः, तासु। तेभ्यश्चतुर्विधेभ्यः स्वर्गब्रह्माग्नियजमानस्थेभ्यः पितृभ्य इदं नमोऽन्नमस्तु। अद्य अस्मिन् दिने नमस्कारो वाऽस्तु।

अध्यात्मपक्षे—ये पूर्वासः पूर्वं स्वर्गमीयुः, ये चोपरासो निवृत्तव्यापाराः, ये च पार्थिवे रजस्यग्निज्योतिषि, आभिमुख्येन निषण्णाः, ये च नूनं शोभनवृत्तासु प्रजासु निषण्णाः, तेभ्यः सर्वेभ्यः पितृभ्यस्तत्तदवच्छिन्नचैतन्येभ्यः, अद्य अद्यतनमिदं नमोऽस्तु।

दयानन्दस्तु—'ये पितरः पूर्वासोऽस्मत्तो वृद्धाः, य उपरासो वानप्रस्थाद्याश्रमं प्राप्ता भोगेभ्य उपरताः, ये पार्थिवे पृथिव्यां विदिते रजसि लोके, आनिषत्ताः कृतनिवासाः, ये च नूनं सुवृजनासु शोभनगतिषु विक्षु प्रजासु प्रयतन्ते, तेभ्यः पितृभ्योऽद्येदं नमोऽन्नमस्तु' इति, तदपि न सङ्गतम्, कोऽयमन्यः पार्थिवो लोक इत्यनुक्तेः। प्रयतन्त इत्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव, त्वद्रीत्या सर्वेषामेव भूलोकनिवासित्वाविशेषात्, तद्विशेषानुपपत्तेश्च। विक्षु कीदृशः प्रयत्न इत्यपि चिन्त्यमेव। वस्तुतस्तु वेदानां चार्वाकसिद्धान्तपर्यवसायित्वापादनाय कलिहृतकानामयं प्रयत्नः॥ ६८॥

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः।
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्॥ ६९॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! हमारे उत्तम पुरातन यज्ञ को पाने वाले पितृगण जैसे देहयात्रा के अनन्तर निर्मल कान्ति वाले सूर्यमण्डल रूप देवयान मार्ग को ही प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार यज्ञों में शस्त्र नामक स्तोत्रों को पढ़ने वाले और पृथ्वी को वेदी के निमित्त खोदने वाले, अर्थात् सम्पूर्ण सामग्री से सम्पन्न यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले हम भी सूर्य सम्बन्धी ज्योतिर्मार्ग को पावें॥ ६९॥

हे अग्ने, नोऽस्माकं पितरः, अध अथ अनन्तरं शरीरत्यागानन्तरम्। यथा येन प्रकारेण शुचि शुचिम्, अविभक्तिको निर्देशः। निर्मलं दीप्तं भास्वरमिति यावत्। इदेवार्थकः। दीधितिम् आदित्यरश्मिं तत आदित्यमण्डलमेव अयन् प्राप्ताः। लङि आडभाव आर्षः। कीदृशाः पितरः ? परासः परा उत्कृष्टाः, प्रत्नासः प्रत्नाः पुराणाः, ऋतं यज्ञमाशुषाणा अश्नुवाना व्याप्नुवन्तः। एतादृशाः पितरो यथा देवयानं पन्थानं प्राप्ताः, तथा वयमप्यरुणीररुणवर्णाः सूर्यदीधितीः सूर्यरश्मीन् अपव्रन् अपवृणुमः, सूर्यरश्मीन् अपवृत्य देवयानमार्गं प्राप्नुम इत्यर्थः। श्नौ लुप्ते लङि रूपम्। अडभावः पुरुषव्यत्ययश्च छान्दसः। कीदृशा वयम् ? उक्थशासः, यज्ञेषु उक्थानि शस्त्राणि शंसन्ति वदन्ति ते उक्थशासः। क्विप् संहितायां दीर्घः। तथा क्षामा क्षामां भूमिं भिन्दन्तो वेदिखातचालयूपावटोपरादिखननैर्विदारयन्तः, सर्वोपकरणैर्यज्ञं कुर्वन्त इत्यर्थः। क्षामेत्यविभक्तिको निर्देशः। यद्वा क्षामाश्रयाणि व्रीहिपशुयूपादीनि यज्ञे भिन्दन्तः, सर्वोपकरणैर्यज्ञमनुतिष्ठन्त इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् परमेश्वर, यथा नः पितरः परासः प्रत्नास ऋतं सत्यं परं ब्रह्म आशुषाणा अश्नुवानाः सेवमानाः शुचि शुचिं परमनिर्मलमेव दीधितिं भास्वरं परमात्मानमेव अयन् प्राप्ताः, तथा वयमपि अरुणीररुणवर्णाः, राजसीर्वृत्तीरिति यावत्, अपवृणुम, अपवृत्य च ता ऋतं ब्रह्मैव प्राप्नुम। कीदृशा वयम् ?

उक्थशासः, यज्ञेषु शस्त्रशंसनेन शुद्धाः। क्षामा भिन्दन्तो वेदिचात्वालादिसाधनैर्यज्ञानुष्ठानेन विशुद्धसत्त्वाः, विश्वतो विरज्य श्रवणादिभिः कृतब्रह्मात्मसाक्षात्काराः। यद्वा—उक्थशासो वेदाभ्यासपराः। क्षामा क्षामामविद्याभूमिं भिन्दन्तः। अरुणी राजसीर्वृत्तीः, राजसवृत्त्युपलक्षिताः सर्वा अपि वृत्तीरपाकृत्य निर्वृत्तिकचिन्तनेन निरावरणं ब्रह्म प्राप्नुम इत्यर्थः। रजसो लोहितत्वेन राजसीनां वृत्तीनामरुणीत्वं श्लिष्यते।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यथा नः परासः प्रत्नास उक्थशासः शुचि पवित्रं ऋतं सत्यम् आशुषाणाः प्राप्नुवन्तः पितरो दीधितिं विद्याप्रकाशमरुणीः सुशीलतया प्रकाशमयीः स्त्रियः क्षामा निवासभूमिं चायन् प्राप्नुवन्ति, अथाथाविद्यां भिन्दन्त इद् एव आवरणान्यपव्रन् दूरीकुर्वन्ति, तांस्त्वं तथा सेवस्व' इति, तदपि निरर्थकम्, अविद्यापदस्य आवरणपदस्य च मूलमन्त्रेऽभावात्, अरुणीपदस्य सुशीलानां स्त्रीणां बोधने मानाभावाच्च ॥६९॥

उ॒श॒न्तस्त्वा॒ नि धी॑मह्यु॒शन्तः॒ समि॑धीमहि ।
उ॒शन्नु॑श॒त आ व॑ह पि॒तॄन् ह॒विषे॒ अत्त॑वे ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपकी इच्छा करते हुए हम आपको यहाँ स्थापित करते हैं, यज्ञ का अनुष्ठान करने की इच्छा से आपको प्रज्वलित करते हैं। आप भी हमें चाहते हुए हवि चाहने वाले पितरों को हवि का भक्षण करने के निमित्त बुलाइये ॥ ७० ॥

हे अग्ने, यतो वयमुशन्तः कामयमानाः, त्वा त्वां निधीमहि स्थापयामहे, यतश्च उशन्तः कामयमाना एव समिधीमहि सन्दीपयामः। यतस्त्वमपि उशन् कामयमान एव उशतः कामयमानानेव पितॄन् हविषे अत्तवे हविषोऽदनाय आवह आनय। कामनात्र प्रेमरूपैव, सौन्दर्यज्ञानजनितेच्छाया एव प्रेम्णो रूपत्वात्। प्रेम्णाग्नेः स्थापने प्रेम्णा तत्सन्दीपनेऽग्निरपि प्रेमयुक्तः प्रेमयुक्तान् पितॄन् हविषो भक्षणायानयति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, उशन्तस्त्वा हृदि स्थापयामः, उशन्त एव त्वां समिधीमहि मानस्यामर्चायां भूषणालङ्कारादिभिरलङ्कुर्मः, त्वं चोशन् प्रेम्णोपेतः सन् पितॄन् पितृतुल्यान् ब्रह्मविद्वरिष्ठान् आवह आनय। किमर्थमिति चेत्, अस्माकं हविषे ब्रह्मसुखस्य अत्तवे भोगाय।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिन् पुत्र वा, त्वामुशन्तो वयं त्वां निधीमहि, उशन्तः सन्तः समिधीमहि दीपये। उशन् कामयमानस्त्वं हविषे हविषोऽत्तवे अत्तुमुशतोऽस्मान् पितॄनावह' इति, तदपि यत्किञ्चित्. विद्यार्थिपुत्रयोः सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। पूर्वस्मान्मन्त्राद् 'अग्ने' इति सम्बोधनस्यानुवृत्तिसम्भवाच्चाग्निप्रार्थनैवात्र युक्ता, न पुत्रादिप्रार्थना, तदपेक्षया देवप्रार्थनाया उत्कर्षेण साफल्योपपत्तेः। स्थापनं सन्दीपनं चाग्नेरेव आञ्जस्येन संगच्छते ॥ ७० ॥

अ॒पां फेने॑न॒ नमु॑चेः॒ शिर॑ इन्द्रोद॑वर्तयः । विश्वा॒ यदज॑यः॒ स्पृधः॑ ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! जब आप संग्रामों में विजय प्राप्त कर रहे थे, उस समय आपने जल के झाग से नमुचि नामक दैत्य का सिर काट लिया था ॥ ७१ ॥

अयमैन्द्रो मन्त्रः सोमो राजेत्यस्याग्रिमस्यानुवाकस्य निदानभूतः पठ्यते। हे इन्द्र, यद् यदा त्वं विश्वाः स्पृधः सर्वान् संग्रामान् अजयः जितवानसि, तदा अपां फेनेन जलीयफेनपुञ्जेन नमुचेरसुरस्य शिर उदवर्तय उच्छिन्नवानसि। उत्पूर्वो वृतिश्छेदार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, यद् यदा त्वं विश्वाः स्पृधः सर्वान् संग्रामान् अजयो जितवानसि, तदा अपां फेनेन फेनवन्निःसारेण आविद्यकेन महावाक्यजन्यब्रह्माकारवृत्त्यात्मकेन ज्ञानेन नमुचेः, न जीवं मुञ्चति तत्त्वज्ञानं विनेति नमुचिरज्ञानम्, तस्य शिर उत्कृष्टभागं ममतापादकमावरणम्, उदवर्तय उच्छिन्नवानसि ।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, यथा सूर्योऽपां फेनेन वर्धनेन नमुचेर्मेघस्य शिरो घनाकारमुपरिभागं छिनत्ति, तथैव त्वं स्वकीयाः सेना उदवर्तय ऊर्ध्वं वर्तयः, यथा विश्वाः स्पृधः, या अस्य धनोपेताः शत्रुसेनाः, ता अजयो जय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अपां वर्धनेन मेघशिरश्छेदादर्शनात् । न च मेघे शिरः सम्भवति, न च घनाकारस्योपरिभागत्वम्, सर्वस्यैव घनाकारत्वात् ॥ ७१ ॥

सोमो॒ राजा॒ऽमृत॑ᳪ सु॒त ऋ॑जी॒षेणा॑जहान्मृ॒त्युम् । ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ᳪ शु॒क्रमन्ध॑स॒ इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—यहाँ पयोग्रह का उपस्थापन किया जाता है कि वनस्पतियों का राजा अभिषुत सोम अमृतरूप होता है । नीरस स्थूल भाग को सोमलता से अलग कर दिया जाता है, तभी यह रस अमृतरूप होता है । इस सत्य के द्वारा सत्यरूप परमात्मा को जाना जाता है । इन्द्र का यह अन्न सोमसम्बन्धी शुद्ध रस वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७२ ॥

'सोमो राजेत्यनुवाकेन ग्रहानुपतिष्ठते युगपत्' (का० श्रौ० १९।२।२५) । अष्टर्चेन सोमो राजेत्यनुवाकेन समानकालमेव पयोग्रहान् सुराग्रहांश्च अध्वर्युर्युगपदुपतिष्ठेदिति सूत्रार्थः । 'चतुर्भिर्वा पयोग्रहान् शेषेण सौरान्' (का० श्रौ० १९।२।२६) । यद्वा चतुर्भिः पयोग्रहान् चतुर्भिः सुराग्रहान् । ग्रहणानन्तरमेवोपस्थानम् । मन्त्रपाठक्रमादत्र लिखितम् । 'सोमो राजाष्टर्चमश्विसरस्वतीन्द्रा अपश्यन्' इत्यनुक्रमणादश्विसरस्वतीन्द्रदृष्टा अष्टौ ऋचः । आद्यास्तिस्रो महाबृहत्यः । यस्याश्चत्वारः पादा अष्टार्णाः पञ्चमो द्वादशार्णः सा महाबृहती । सोमो राजा सुतोऽभिषुतः सन् अमृतं सम्पद्यते, रसरूपो भवतीति यावत् । स्थूलस्य सूक्ष्मतापादनममृतीभावः । यत ऋजीषेण, ऋजीषं नीरसं सोमलताचूर्णम्, तेन ऋजीषरूपेण मृत्युं स्थौल्यं स्थूलभावमजहाद् जहाति । मूर्तत्वाद् ऋजीषभावस्य सत्यमेतत् । अनेन च ऋतेन सत्येन एतत् सत्यं ज्ञातं यद् अन्धसोऽन्नस्य सोमस्य विपानं विविक्तं लोहितात् सोमपानं दोषाद्विविच्य पीयते पानयोग्यं वा क्रियतेऽनेनेति विपानम्, शुक्रं शुक्लं शुद्धमत एवेन्द्रियं वीर्यप्रदं भूयात् । इन्द्रस्य पयश्चेदृशमिन्द्रियं वीर्यवद् अमृतम् अजरामरत्वप्रदम्, मधु मधुरं च स्यात् । अपां फेनेनेत्यस्य मन्त्रस्य अस्याष्टर्चानुवाकस्य च सम्बन्धः श्रुत्यैवोक्तः । तद्यथा—'तस्य शीर्षंच्छिन्ने लोहितमिश्रः सोमोऽतिष्ठत्तस्मादबीभत्सन्त त एतदन्धसोर्विपानमपश्यन् सोमो राजामृतᳪ सुत इति तेनैनᳪ स्वदयित्वाऽऽत्मन्नदधत' (श० १२।७।३।४) । यथा 'एककारणानि वस्तूनि विविच्यमानानि दृश्यन्ते, यथा च पृथग्भूतानि सम्मृष्टानि पुनर्विविच्यन्ते, एवमयमपि लोहितमिश्रः सोमो विविक्तः सोम एवेति सर्वानुवाकतात्पर्यम् ।

अध्यात्मपक्षे—सोमः साम्बसदाशिवः परमेश्वरः, राजा सर्वत्र राजमानः शासकः परमेश्वर एव सार्वात्म्याद् राज्ञः सोमस्य रूपेण स्तूयते । स सोमो राजा सुतोऽभिषुतः संस्कृतः सन् अमृतं सम्पद्यत इत्यादिकं पूर्ववदेव व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'य ऋतेन सत्येन ब्रह्मणा सह अन्धसोऽन्नस्य सुसंस्कृतस्य सम्बन्धि सत्यं विद्यमानं विपानं विविधं पानं यस्मात् तत् शुक्रम् आशुकार्यकरम् इन्द्रियम् इन्द्रस्य जीवस्य लिङ्गम् इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्य इन्द्रियं धनम्, इदं पयोऽमृतमेतत्स्वरूपमानन्दं मधु क्षौद्रं च संगृह्णीयात्, सोऽमृतं ब्रह्म प्राप्तः सन् सुतः सोम ऐश्वर्यवान् प्रेरको राजा देदीप्यमान ऋजीषेण सरलभावेन मृत्युमजहाद् जह्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परस्परविरुद्धत्वात्। तथाहि हिन्दीभाष्ये तु शीघ्रकार्यकरमिन्द्रियं धनमिन्द्रियस्य परमैश्वर्यवतो जीवस्य इन्द्रियं श्रोत्रादिकमित्युक्तम्। संगृह्णीयादित्यादिकं मूलमन्त्रे नास्त्येव, तथाप्यविस्पष्टमेव व्याख्यानम् ॥ ७२ ॥

अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत् क्रुङ्ङाङ्गिरसो धिया। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ—शरीर के अंगों के रस को प्राण ऐसे पीता है, जैसे हंस बुद्धि के द्वारा जल में से दूध को पी जाता है। इस सत्य से सत्य को जाना जाता है। इन्द्र का यह अन्न सोम सम्बन्धी शुद्ध रस, वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७३ ॥

आङ्गिरसः, आङ्गानामयमाङ्गो, आङ्गो चासौ रसश्चेत्याङ्गिरसोऽङ्गानां रसः प्राणः, तदभावेऽङ्गानां नीरसत्वदर्शनात्। स तादृशः प्राणः, यथा क्रुङ् हंसो भूत्वा धिया प्रज्ञया क्षीरोदकयोः संसृष्टयोः, अद्भ्यः सकाशात् क्षीरं दुग्धं वियुत्य अपिबत् पिबतीति तस्य जातिस्वभावः। अनेन सत्येनेदं सत्यं ज्ञायते यद् अन्धसो विपानं शुक्रं भवतु। अथेन्द्रस्य पयो वीर्यममृतं भवतु।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'य आङ्गिरसोऽङ्गिरसा कृतो विद्वान् धिया अद्भ्यः क्षीरं दुग्धं क्रुङ् पक्षी यथाल्पमल्पं व्यपिबत् पिबति, स ऋतेनेन्द्रस्यान्धसः सकाशादिदं सत्यं विपानं शुक्रमिन्द्रियं पयोऽमृतं मध्विन्द्रियं च प्राप्नुयात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणेनापि भावानभिव्यक्तेः ॥ ७३ ॥

सोममद्भ्यो व्यपिबच्छन्दसा हꣳसः शुचिषत्। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ—निर्मल आकाश में विचरण करने वाला आदित्य जल मिले सोम को जल में से अलग कर वेद के द्वारा अथवा अपनी किरणों के द्वारा पी जाता है। इस सत्य से सत्य को जानना चाहिये। इन्द्र का यह अन्न सोम सम्बन्धी शुद्ध रस, वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७४ ॥

हन्ति एक एवाकाशे गच्छतीति हंस आदित्यः, गत्यर्थकस्य हन्ते रूपम्। अद्भ्यः सकाशात् छन्दसा छन्दोनिबद्धेन वेदेन, अथवा वेदरूपैः किरणैः, यथा सोमं व्यपिबत् पिबति, सोमोदकयोः संसृष्टयोर्वियुत्य सोममेव रविः पिबति, अनेन ऋतेन सत्येन इदं सत्यमित्याद्युक्तम्। कीदृशो हंसः? शुचिषत्, शुचौ निर्मले आकाशे सीदतीति तथोक्तः।

अध्यात्मपक्षे—क्षीरनीरविवेकनिपुणहंसवत् सारासारविवेकनिपुणः, अद्भ्यो मृगतृष्णोदकोपमात् संसाराद् वियुत्य सोमं शिवमधिष्ठानतत्त्वमेव पिबति हृदये धत्ते। अनेन ऋतेन सत्येन इदं सत्यमित्यादि पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'यः शुचिषद् हंसो विवेकी जनश्छन्दसा स्वच्छन्दतया अद्भ्यः सोमं सोमलतासारं व्यपिबत्, स ऋतेन अन्धसो दोषनिवर्तकं शुक्रं विपानं सत्यमिन्द्रियमिन्द्रस्य प्रापकमिदं पयोऽमृतं मध्विन्द्रियं प्राप्तुमर्हति, स एवाखिलमानन्दमाप्नोति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वच्छन्दताया अनर्थहेतुत्वात्। नहि वेदशास्त्रानुयायी स्वाच्छन्द्यं भजते। ऋतेन सत्येन वेदविज्ञानेन अन्धसः सुसंस्कृतान्नस्य दोषनिवर्तकं शुक्रं विपानं विविधरक्षायुक्तं सत्यं परमेश्वरादिसत्यपदार्थेषूत्तममिन्द्रियं विज्ञानरूपं य इन्द्रस्य योगविद्योत्पन्नस्य ऐश्वर्यस्य इदं पय उत्तमज्ञानरसोपेतम्, अमृतं मधुविद्यायुक्तमिन्द्रियं जीवैः सेवितं सुखं प्राप्तुमर्हो भवति' इत्यत्र केन किं श्लिष्यते ? इति सुधियो विदाङ्कुर्वन्तु ॥ ७४ ॥

अन्नात् परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने परिस्रुत अन्न से रसमय सोम में मिले हुए दूध को गायत्रीलक्षण ब्रह्मस्वरूप से विचार कर पिया और क्षत्रिय को अपने वश में किया। इस सत्य से सत्य को जानना चाहिये। इन्द्र का यह अन्न सोम सम्बन्धी शुद्ध रस, वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७५ ॥

अतिजगती द्वापञ्चाशदक्षरा। प्रजापतिः प्रथमशरीरी परिस्रुतः सुरारूपादन्नाद् रसं गायत्रीलक्षणेन ब्रह्मणा त्रयीलक्षणेन वा व्यपिबद् विविच्य पीतवान्, गायत्रीमन्त्रेण वा विविच्य पीतवान्। क्षत्रं च व्यपिबद् वशीचकार। क्षत्रियस्य पानं वशीकरणम्। पयः सोमं च व्यपिबत्। अनेन सत्येनेदं सत्यमित्यादि समानम्।

अध्यात्मपक्षे—देवानामसुराणां च राजसतामसवृत्तिविशेषाणां प्रजानां जनयिता पालकश्च जीवो यथा परिस्रुतो मादकादन्नात् संसाराद् ब्रह्मणा वेदेन रसं सारमधिष्ठानं ब्रह्मात्मकं रसं विविच्य गृह्णाति, क्षत्रं वर्धिष्णु जयिष्णु च वशीकरोति। अनेन सत्येनान्धसोऽन्नस्य संसारस्य सम्बन्धि विपानं लोहिताद् मायामयाद् विविच्य पानमिन्द्रियं वीर्यप्रदं शुक्रं शुद्धं शोधकं भूयात्। इन्द्रस्य परमेश्वरस्येदं पयःस्वरूपमिन्द्रियं वीर्यप्रदं शुक्रं शुद्धं मधु मधुरं च भवति।

दयानन्दस्तु—'यो ब्रह्मणा सह प्रजापतिः परिस्रुतोऽन्नान्निःसृतं पयः सोमं रसं क्षत्रं च व्यपिबत्, स ऋतेनान्धसो निर्वर्तकं शुक्रं विपानं सत्यमिन्द्रियमिन्द्रस्य प्रापकमिदं पयोऽमृतं मध्विन्द्रियं च प्राप्नुयात्, स सदा सुखी भवेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्; पक्वान्नरसपानस्य लौकिकत्वेन धर्मब्रह्मबोधके वेदे तदुपदेशस्याकिञ्चित्करत्वात्। अन्धस इत्यस्य अन्धकारार्थता तु शब्दसाम्यजनितभ्रान्तिमूलिका। स्वजन-श्वजनयोः सकृच्छकृतोरिव तयोरन्धान्धसोर्महावैषम्यात्। 'अन्ध दृष्ट्युपघाते' इति चौरादिकस्य 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन्प्रत्ययात्तस्य अन्धार्थकता सुतरां सिद्धेति न शङ्कनीयम्, केनापि कोषकारेण 'अन्धस्'शब्दस्यास्मिन्नर्थे उल्लेखाभावात्। इन्द्रे राजभिर्जुष्टं न्यायस्य चरणमित्यादिकं शब्दन्याये सर्वथा स्वातन्त्र्यमेव ॥ ७५ ॥

रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम् । गर्भो जरायुणावृत उल्बं जहाति जन्मना । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्रिय योनि में प्रवेश कर वीर्य को छोड़ती है तथा अन्यत्र मूत्र को त्यागती है, अर्थात् एक ही मार्ग से कार्यवश भिन्न-भिन्न वस्तु निकलती है । वीर्य से गर्भस्थिति होती है । झिल्ली से ढका हुआ गर्भ जन्म के बाद झिल्ली को त्याग देता है, तब भूमि पर आता है । इस सत्य से सत्य को जानना चाहिये । इन्द्र का यह अन्न सोमसम्बन्धी शुद्ध रस, वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७६ ॥

द्वे अतिशक्वर्यौ । षष्ट्यक्षरातिशकरी । इन्द्रियं पुंप्रजननम् । अन्यत्र ज्ञानक्रियाकरणसामान्यबोधकोऽपीन्द्रियशब्दोऽत्र शिश्नेन्द्रियमेव बोधयति । योनिं स्त्रीप्रजननं प्रविशत् सद् रेतो वीर्यं विजहाति त्यजति । योनिप्रवेशादन्यत्र मूत्रं विजहाति । तुल्यद्वारयोरपि रेतोमूत्रयोर्मूत्रस्थानादन्यत्र रेतोऽवतिष्ठते । जरायुणा गर्भवेष्टनेनावृतो गर्भो जन्मना प्रसवेन कृत्वा उल्बं जरायुं जहाति । भिन्नस्थानानामेकद्वाराणामाद्यमुदाहरणम् । एकस्थानानामनेकद्वाराणां द्वितीयम् । सत्यमेतत् । अनेन सत्येनैतत् सत्यं ज्ञातं यदन्धसो विपानं शुक्रमित्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रियम् इन्द्रस्य परमात्मन इदम्, 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्' (पा० सू० ५।२।९३) इत्यादिना निपातितोऽयं शब्दः प्रत्यक्चैतन्यं योनिं प्रकृतिं प्रविशद् रेतोवत् सारं परात्ममतिं जहाति स्थापयति । मूत्रवद्धेयं निःसारमनात्मजातं जहात्यनात्मत्वेन त्यजति । जरायुणा जरायुवदावरणेन अज्ञानेनावृतो गर्भो गर्भभाग् भवति । जन्मना ब्रह्माकारवृत्तावाविर्भूत्या उल्बं च जहाति । ऋतेनान्नेनान्धसो विपानमित्यादि पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'इन्द्रियं योनिं प्रविशत् सद् रेतो विजहाति, अतोऽन्यत्र मूत्रं विजहाति । तज्जरायुणा वृतो गर्भो जायते । जन्मनोल्बं जहाति । स ऋतेनान्धसो निवर्तकं विपानं शुक्रं सत्यमिन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मध्विन्द्रियं चेति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्पष्टत्वात् । एवमेव— ऋतेन बाह्येन वायुना अन्धस आवरणस्य निवर्तकं विपानं विविधं पानं साधनं शुक्रं पवित्रं सत्यं वर्तमाने साधु । इन्द्रस्य जीवस्येन्द्रियं धनम्, इदं पयोरसवदमृतं मधु येन मन्यते, तद् मध्विन्द्रियं चेति' इति, तदपि तथाविधमेव, अन्धस इत्यस्य कथञ्चिदावरणार्थकत्वेऽपि निवर्तकमिति पदस्याप्रमाणकत्वात् । तथाप्यस्पष्टार्थता सुस्थिरा । भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः ॥ ७६ ॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः । अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने मूर्तिमान् सत् और असत् को पहचान कर विचारपूर्वक दोनों को अलग अलग स्थापित किया । उस परमात्मा ने मिथ्याभाषण रूप अनृतभाषण में नास्तिकता और अश्रद्धा को तथा सत्य में आस्तिक्य बुद्धि और श्रद्धा को स्थापित किया । इस सत्य से सत्य को जानना चाहिये । इन्द्र का यह अन्न सोमसम्बन्धी शुद्ध रस, वीर्यदायक, बलकारक और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७७ ॥

प्रजापतिः सत्यानृतयो रूपे दृष्ट्वा उपलभ्य इदं सत्यमेवंरूपम्, इदमनृतमेवंरूपमिति व्याकरोत् पृथगवस्थापयत्। अश्रद्धां नास्तिक्यमनृतेऽदधाद् अस्थापयत्, अश्रद्धाया अनृतनिमित्तत्वात्। श्रद्धामास्तिक्यं सत्येऽदधात्, सत्यस्य श्रद्धानिमित्तत्वात्। ऋतेनेत्यादि पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिः परमेश्वर एव सत्यानृतव्याकर्ता। तद्वेदेनैव आस्तिक्यनास्तिक्ययोर्व्यवस्थेति पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'ऋतेन स्वकीयेन सत्येन विज्ञानेन सत्यानृते रूपे दृष्ट्वा व्याकरोत्' इत्याह, तन्न, रूपरूपिणोर्धर्मधर्मिभावेन तादात्म्यानुपपत्तेः। अन्धसो निवर्तकमित्यनुपपत्तिरत्रापि तथैव ॥ ७७ ॥

वेदे॑न रू॒पे व्य॑पिबत् सुतासु॒तौ प्र॒जाप॑तिः। ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳ शु॒क्रमन्ध॑स॒ इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने प्रेरित अथवा अप्रेरित धर्म और अधर्म के रूपों को ज्ञान के द्वारा अथवा वेदों की सहायता से पहचाना, अथवा प्रजापति ने सुत और असुत दोनों प्रकार के पदार्थों को अपना भक्ष्य जान कर खा लिया। इस सत्य से सत्य को जानना चाहिये। इन्द्र का यह अन्न सोमसम्बन्धी शुद्ध रस, वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७८ ॥

महाबृहती। प्रजापतिः सुतासुतौ सुतासुतयोः, विभक्तिव्यत्ययः, सुतः सोमः, असुतः पयः। परिस्रुत् सुरा च। रूपे वेदेन परिज्ञानेन त्रय्या विद्यया वा व्यपिबद् विविच्य पीतवान्। ऋतेनेत्यादि पूर्ववत्। प्रजापतिकृतस्यैव अधुनातनैर्यजमानैरनुकरणीयत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिः परमात्मैव तत्तदुपहितः सन् वेदेन सुतासुतौ व्यपिबत्।

दयानन्दस्तु—'यः प्रजापतिर्ऋतेन सुतासुतौ प्रेरिताप्रेरितौ धर्माधर्मौ' इत्याह, तच्चासङ्गतम्, तदभिमते मन्त्रात्मके वेदे विधिनिषेधयोरभावेन धर्माधर्मयोर्बोधकत्वायोगात्, विधिनिषेधबहुलस्य ब्राह्मणस्य तेन वेदत्वानभ्युपगमात् ॥ ७८ ॥

दृ॒ष्ट्वा प॑रि॒स्रुतो॒ रस॑ꣳ शु॒क्रेण॑ शु॒क्रं व्य॑पिब॒त् पयः॒ सोमं॑ प्र॒जाप॑तिः। ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳ शु॒क्रमन्ध॑स॒ इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने परिस्रुत के रस को देखकर शुद्ध मन्त्र से दुग्ध और सोम को पवित्र करके पिया, अथवा प्रजापति रूप सूर्य ने परिस्रुत के रस, दुग्ध और सोम को देखकर इनको किरणों से स्वच्छ करके पिया। इस सत्य से सत्य को जानना चाहिये। इन्द्र का यह अन्न सोम सम्बन्धी शुद्ध रस वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है॥ ७२ से ७९ संख्या के इन मन्त्रों में सोम की शुद्धि और सोमपान की विधि बताई गई है। यद्यपि सोम एक लता का नाम है, किन्तु अन्न, दूध आदि में उसका सार रहता है। उसी को ग्रहण करने की रीति यहाँ बताई गई है ॥ ७९ ॥

अतिजगती। प्रजापतिः परिस्रुतः सुराया रसं दृष्ट्वा शुक्रेण शुद्धेन मन्त्रेण पयः सोमं च शुक्रं शुक्लं शुद्धं कृत्वा व्यपिबद् वियुज्य पीतवान्। ऋतेनेत्यादि पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापत्युपहितः परमात्मा एव पाता, शुद्धे तदयोगात्।

दयानन्दस्तु—'परिस्रुतः सर्वतः प्राप्तः शुक्रेण शुद्धेन भावेन शुक्रं शीघ्रसुखकरं सोममोषधिरसम्' इत्याह। तच्चायुक्तम्, परिस्रुच्छब्दस्य सौत्रामणीयागगतायां विशिष्टौषधिनिर्मितसुरायां प्रसिद्धत्वात्॥ ७९॥

सीसे॑न॒ तन्त्रं॒ मन॑सा मनी॒षिण॑ ऊर्णासू॒त्रेण॑ क॒वयो॑ वयन्ति। अ॒श्विना॑ य॒ज्ञꣳ स॑वि॒ता सर॑स्व॒तीन्द्र॑स्य रू॒पं वरु॑णो भिष॒ज्यन्॥ ८०॥

मन्त्रार्थ– अश्विनीकुमार, सविता देव, सरस्वती, वरुण, मनीषी कविगण इन्द्र के रोगी रूप को देखकर उसको नीरोग करने के विचार से सौत्रामणी यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। वे शीशे से अंगद अलंकार को और उसके धागे से इन्द्र के लिये वस्त्र बुनते हैं॥ ८०॥

'खुरैर्वसाग्रहान् द्वात्रिꣳशतं जुहोति सीसेनेति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १९।४।१२)। 'पञ्चपलो ग्रहः' इति परिशिष्टोक्तेः, ऋषभखुराणां महत्त्वाच्च द्वात्रिंशदृषभखुरानादाय अग्नितप्तान् कृत्वा तन्मध्यान्मांसं निष्कास्य ग्रहयोग्यान् कृत्वा अध्वर्युः सर्वेषां पशूनां वसामेकस्मिन् पात्रे कृत्वा तैः खुरैः पर्यायेण द्वात्रिंशद्वशाग्रहान् जुहुयात्। अत्रैकैकेन मन्त्रेण द्वयोर्होमः। 'द्वौ द्वौ हुत्वा शेषान् सते करोति' (का० श्रौ० १९।४।१३)। एकैकेन मन्त्रेण द्वौ द्वौ वसाग्रहौ हुत्वा तयोर्ग्रहयोः शेषान् सते वैतसे पात्रे प्रतिहोमं नयेदिति सूत्रद्वयार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'शफग्रहा भवन्ति। शफैर्वै पशवः प्रतितिष्ठन्ति प्रतिष्ठामेवैनङ्गमयति त्रयस्त्रिꣳशद्ग्रहा भवन्ति त्रयस्त्रिꣳशद्वै सर्वा देवताः सर्वाभिरेवैनमेतद्देवताभिरभिषिञ्चति जगतीभिर्जुहोति जागता वै पशवो जगत्यैवास्मै पशूनवरुन्धे षोडशभिर्ऋग्भिर्जुहोति षोडशकला वै पशवोऽनुकलमेवास्मिञ्छ्रियं दधाति' (श० १२।८।३।१३)। शफाः खुराः। त्रयस्त्रिंशद् ग्रहा भवन्ति। तैर्वसाग्रहा गृह्यन्ते। प्रत्यर्चं द्वौ द्वौ हुत्वा तच्छेषान् सते वैतसे पात्रे समवनीय तैस्तैः संस्रवैः स संहितो यजमानोऽभिषिच्यत इत्येतत्। यः अभिषेकोत्तरं स्तोत्रशस्त्रो वसाग्रहो गृह्यते स त्रयस्त्रिंशः। 'सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण इति। द्वौ द्वौ समासꣳ हुत्वा सते सꣳस्रवान् समवनयत्यहोरात्राण्येवैतदर्धमासान् मासानृतून् संवत्सरे प्रतिष्ठापयति तानीमान्यहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरे प्रतिष्ठिताः' (श० १२।८।३।१४)। सत्रस्य समस्य समासम्। अहोरात्राण्येवैतदर्धमासान्। अहोरात्राभ्यामहोरात्रं चतुर्विंशत्यर्धमासान्। तेषामेव द्वादशभिर्युगलैर्मासान्। षड्भिर्मासयुगलैः षड्तूनित्यभिप्रायः। 'वैतसः सतो भवति। अप्सुयोनिर्वै वेतस आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभिरेवैनमेतद्देवताभिरभिषिञ्चति' (श० १२।८।३।१५), 'सर्वसुरभ्युन्मर्दनं भवति। परमो वा एष गन्धो यत्सर्वसुरभ्युन्मर्दनं गन्धेनैवैनमेतदभिषिञ्चति'(श० १२।८।३।१६)। सर्वसुरभि चन्दनादि, उन्मर्दनमुद्वर्तनं यजमानस्य भवति। तेनोन्मृदितगात्रोऽभिषेक्तव्य इत्यभिप्रायः।

अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याः षोडश जगत्यः। 'जगतीभिर्जुहोति' (श० १२।८।३।१३) इति श्रुतिबलाद् बह्वक्षरन्यूनानामपि कासाञ्चिदृचां जगतीत्वमेव। तथा चानुक्रान्तम्—'सीसेन तन्त्रमश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याः षोडश जगत्यः' इति। अनेन षोडशर्चेनानुवाकेन अश्व्यादिभिर्यथा इन्द्रस्य भैषज्यं कृतं तत्प्रतिपाद्यते। अश्विना अश्विनौ दस्रौ सविता सरस्वती वरुणश्च मनसा विचार्य यज्ञं सौत्रामणीं वयन्ति निष्पादयन्ति। केन? सीसेन ऊर्णासूत्रेण च।

सीसेन शष्पक्रयणात्, ऊर्णया तोक्मक्रयणाच्च ताभ्यां यज्ञनिष्पादनमित्यर्थः। अत्र प्रथमर्चे यज्ञः पटादिभिरुपमीयते। यथा सूत्रैः पटं वयति तन्तुवायः, तथाश्व्यादयः सीसेन ऊर्णासूत्रेण च तन्त्रमिव पूर्वापरैः सूत्रैर्दक्षिणोत्तरैश्च यज्ञं वयन्ति। यथा कश्चित् सीसेन धातुविशेषेण तन्त्रमङ्गदविशेषं कटकविशेषं वा (चूड़ीति ख्यातम्) वयति, ऊर्णासूत्रेण च तन्त्रं पटं वयति, तद्वत्। 'तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये स्यात् सिद्धान्ते चौषधोत्तमे। प्रधाने तन्तुवाये च शास्त्रभेदे परिच्छदे॥ श्रुतिशाखान्तरे हेतावुभयार्थप्रयोजके। इतिकर्तव्यतायां च' इति मेदिनीकोषात्। अत्र तन्तुवायेत्यत्र तन्तुवानेति पाठभेदः। तस्मात् पट इत्यर्थः। तन्तुवायेति पाठेऽपि पटोऽर्थो भवितुं शक्यः। कीदृशा अश्व्यादयः? मनीषिणो मेधाविनः। कवयः क्रान्तदर्शनाः। इन्द्रस्य रूपं भिषज्यन् भिषज्यन्तः। 'भिषज् चिकित्सायाम्' कण्ड्वादित्वाद् यत्, ततः शता, वचनव्यत्ययः। इन्द्रभैषज्याय यज्ञं वयन्तीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रस्य परमात्मन औपाधिकं विकृतं जैवं रूपमश्विनौ मातापितरौ, सविता प्रकाशको गुरुः, सरस्वती त्रयी, वरुणः पाशाधिष्ठाता, अर्थात् प्रतिबन्धाधिष्ठाता, एते मनीषिणो मेधाविनः कवयः क्रान्तदर्शना मनसा पर्यालोच्य सीसेन ऊर्णातन्तुना च तन्त्रमिव यज्ञं ज्ञानयज्ञं वयन्ति निष्पादयन्ति, यथा कश्चित् सीसेन धातुविशेषेण तन्त्रं कटकमूर्णासूत्रेण च तन्त्रं पटं वयति, तद्वत्। अश्व्यादयो नियन्त्रितदेहेन्द्रियान्तःकरणरूपेण धातुविशेषेण वेदवेदान्तजन्यविचाररूपेण ऊर्णासूत्रेण ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपं यज्ञं निष्पादयन्ति, वरुणः प्रतिबन्धान्निवारयति। मातापितरौ नियन्त्रितं कार्यकरणसंघातं प्रयच्छतः। आचार्यस्त्रयी च वेदान्तविचारानुपस्थापयन्ति। एवं ज्ञानयज्ञेन जैवमौपाधिकं रूपं भिषज्यन्ति, उपाध्यपोहेन प्रत्यगात्मानं ब्रह्मरूपेणावस्थाप्य ऐन्द्रं वास्तवमेव रूपं व्यञ्जयन्ति।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यथा कवयो मनीषिणः सीसेन सीसकधातुपात्रेणेव ऊर्णासूत्रेण ऊर्णाकम्बलेनेव मनसा अन्तःकरणेन तन्त्रं कुटुम्बधारणमिव तन्त्रं कलानिर्माणं वयन्ति, यथा सविता विद्याव्यवहारेषु प्रेरकः, सरस्वती प्रशस्तविज्ञानयुक्तसरस्वती, अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ, यज्ञं सङ्गन्तुमर्हं व्यवहारं कुरुत, यथा भिषज्यन् चिकित्सुर्वरुणः श्रेष्ठ इन्द्रस्य रूपं विदधाति, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मूले इवपदाभावात्, सीससूत्राभ्यां मनसः सादृश्याभावाच्च। अत्र यज्ञं वयन्तीत्येकस्यामेव क्रियायामश्व्यादिकर्तॄणां सम्बन्धसम्भवे विदधातीत्यादिक्रियान्तरकल्पनाया निर्मूलत्वात्। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव॥ ८०॥

तद॑स्य रू॒पम॒मृत॒ꣳ शची॑भिस्ति॒स्रो द॑धुर्दे॒वताः॒ सꣳ र॑रा॒णाः।
लोमा॑नि॒ शष्पै॑र्बहु॒धा न तोक्म॑भि॒स्त्वग॑स्य मा॒ꣳसम॑भव॒न्न ला॒जाः॥ ८१॥

मन्त्रार्थ—दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वती, इन तीनों देवताओं ने भली-भाँति देखभाल कर इन्द्र के उस मरणधर्मरहित रूप को अपनी युक्तियों के द्वारा नीरोग किया था, मिल जुल कर सौत्रामणी यज्ञ का निर्माण किया था, इस इन्द्र के रोमों को जमे हुए धान से और त्वचा को जमे हुए यवों से बनाया था, खीलों से इसके मांस को पुष्ट किया था॥ ८१॥

तिस्रो देवता अश्विसरस्वत्यः सं सम्यक् रराणा रममाणाः सत्यः, अस्येन्द्रस्य तदमृतममरणधर्मि रूपं शचीभिः कर्मभिः सन्दधुः कर्माङ्गैः सन्धानं चक्रुः। कथं सन्दधुरिति चेत्, लोमानि इन्द्रस्य रोमाणि शष्पैर्विरूढव्रीहिभिः सन्दधुः। नकाराः समुच्चयार्था आध्यायसमाप्तेः। अस्येन्द्रस्य त्वग् न त्वचं च बहुधा तोक्मभिर्विरूढैरङ्कुरितैर्यवैः सन्दधुः। विभक्तिव्यत्ययः। लाजा न लाजाश्चास्य मांसं समभवन्, लाजाभिरस्य मांसं सन्दधुरित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अस्येन्द्रस्य तदुपहितस्य परमात्मनस्तदमृतममरणधर्मि रूपं तिस्रो देवताः सम्यग् रममाणाः सन्दधुः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'तिस्रो देवताः पठकाः पाठकाः परीक्षकाश्च देवता विद्वांसः शचीभिः प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा बहुधा यज्ञं शष्पैर्दीर्घलोमभिः सह लोमानि च दधुः। तदस्यामृतं रूपं यूयं विजानीत। अयं तोक्मभिर्बालकैर्नानुष्ठेयः। अस्य मध्ये त्वङ् मांसं लाजा वा हविर्नाऽभवदिति च वित्त' इति, तदपि विनोदमात्रम्, निर्मूलत्वात्। शष्पपदस्य दीर्घलोमार्थतासिद्धेश्च, दीर्घा लोका इति हिन्दीभाष्यविरोधाच्च, दीर्घलोमभिः सह लोमानि सन्दधुरित्यसङ्गतेश्च, यागधारणे लोम्नामुपयोगासिद्धेश्च, 'अनुष्ठेयः, अभवत्' इति पदयोरध्याहारस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ ८१ ॥

तदश्विना भिषजा रुद्रवर्तनी सरस्वती वयति पेशो अन्तरम्।
अस्थि मज्जानं मासरैः कारोतरेण दधतो गवां त्वचि ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी की त्वचा, अर्थात् मिट्टी के पके हुए पात्र में सोम को स्थापित करते हुए, रुद्र के समान पराक्रम वाले वैद्य अश्विनीकुमार और वाग्देवी सरस्वती ने इन्द्र के रूप को निखार दिया था। इन्होंने मासर के चूर्णमय चरु को टपका कर इन्द्र की हड्डियों को और सोमरस को छानने वाले रस से मज्जा को परिपूर्ण किया था ॥ ८२ ॥

रुद्रवर्तनी रुद्रस्येव वर्तनिर्मार्गो ययोस्तौ, रुग्णवर्तनी वा, रोरूयमाणौ वर्तेते इति वा। भिषजा भिषजौ देववैद्यौ अश्विना अश्विनौ, सरस्वती च तदन्तरं शरीरान्तर्वर्ति पेश इन्द्रस्य रूपम्, सकारान्तः, वयति वयन्ति सम्बध्नन्ति, वचनव्यत्ययः। कथं वयन्ति? तदाह—मासरैः शष्पादिचूर्णचरुनिःस्रावैः, अस्थि अस्थीनि सम्बध्नन्ति। कारोतरेण सच्छिद्रेण पात्रेण गालिन्या वा मज्जानं वयन्ति निष्पादयन्ति। किं कुर्वाणास्ते? तदाह—गवां त्वचि चर्मणि दधतः सुरां स्थापयन्तः।

अध्यात्मपक्षे—अश्व्याद्यवच्छिन्नः परमेश्वरः सौत्रामणीगततत्तन्नियतसाधनावच्छिन्नैश्चैतन्यैरिन्द्रस्य आन्तरं रूपं वयति।

दयानन्दस्तु—'यत्सरस्वती वयति तत्पेशोऽस्थिमज्जानमन्तरं मासरैः कारोतरेण गवां त्वचि रुद्रवर्तनी भिषजौ वैद्यौ अश्विनौ दधतौ दध्याताम्' इति, तदपि निःसारम्, निरर्थकत्वात्, व्याख्यानद्वयेनापि भावानवगमात्, भावार्थस्य च मूलसम्बन्धवैधुर्यात् ॥ ८२ ॥

सरस्वती मनसा पेशलं वसु नासत्याभ्यां वयति दर्शतं वपुः।
रसं परिस्रुता न रोहितं नग्नहुर्धीरस्तसरं न वेम ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ—दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वती, ये तीनों परस्पर विचार कर इन्द्र के सुवर्ण और रजतरूप धन को तथा दर्शनीय रूप को उत्पन्न करते हैं। परिस्रुत सुरा रस से इन्द्र के शरीर को रुधिर से पूर्ण करते हैं। इसीलिये इन्द्र को वेदों में रोहित कहा गया है। इन्होंने सर्ज की छाल से रस को पूर्ण किया और टसर बुनने के लिये दण्ड दिया ॥ ८३ ॥

नासत्याभ्यामश्विभ्यां सहिता सरस्वती मनसाऽन्तःकरणेन पर्यालोच्य प्रकृतस्येन्द्रस्य वसु धनं दर्शतं दर्शनीयं वपुः शरीरं च वयति पटमिव सृजति। कीदृशं वपुः? पेशलम्, पेशं लाति गृह्णातीति, हिरण्यवद्रा

रूपवद्वा। पेश इति हिरण्यनाम च रूपनाम च। परिस्रुता परिस्रुतः सुराया रोहितं लोहितं रसं न रसं च वयति, वपुषो रञ्जनार्थमिति शेषः। अत एव वेदेषु रोहित इन्द्रः पठ्यते। अथ तदा नग्नहुः किण्वः सुराकन्दः पूर्वोक्तो धीरो धियमीरयतीति धीरो मादकः, तसरं वमनसाधनं वेम न वेमा च सम्पद्यते। नग्नहोः कर्तृत्वमात्रं विवक्षितम्, विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति वैयाकरणानां प्रसिद्धेः। कुविन्दानां तसरवेमानौ प्रसिद्धावेव।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्तमेव व्याख्यानम्। सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वात् सार्वात्म्यविवक्षया तत्तद्वर्णनम्।

दयानन्दस्तु—'सरस्वती मनसा वेम न यतः पेशलं दर्शतं वपुस्तसरं रोहितं परिस्रुता रसं न वसु वयति। नासत्याभ्यां नग्नहुर्वीरश्चास्ति, तौ द्वौ वयं प्राप्नुयामः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेमपदस्य उत्पत्त्यर्थत्वे मानाभावात्। न विद्यतेऽसत्यं ययोस्ताभ्यां मातापितृभ्यामित्यपि निर्मूलमेव, तथात्वे सत्यवादिनि कस्मिंश्चिदपि नरे नासत्यपदप्रयोगापत्तेः। नियमेन दस्रनासत्याश्विशब्दानां द्विवचनत्वस्य गतिश्चिन्त्या। नग्नं शुद्धं जुहोति गृह्णातीति नग्नहुरित्यपि चिन्त्यम्। उद्धृतश्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्पष्ट एव॥ ८३॥

पयसा शुक्रममृतं जनित्रꣳ सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः।
अपामतिं दुर्मतिं बाधमाना ऊवध्यं वातꣳ सब्वं तदारात्॥ ८४॥

मन्त्रार्थ—तीनों देवताओं ने निर्मल दूध के भाग से अमृतमय जननशील वीर्य को उत्पन्न किया, समीप में स्थित होकर अज्ञान और दुर्मति को दूर करते हुए उसके आमाशय में अन्न को और पक्वाशय में अन्न के सुरा-रस को कल्पित कर मूत्र की कल्पना की॥ ८४॥

अश्विनौ सरस्वती चेत्येता देवता पयसा दुग्धेन कारणेन प्रकृतस्य इन्द्रस्य शुक्रं शुक्लम् अमृतमविनश्वरं जनित्रं जनयतीति जनित्रं जयनशीलं रेतो वीर्यं जनयन्त उदपादयन्त, अडभाव आर्षः। आरात् समीपे स्थित्वा तत्प्रसिद्धमूवध्यमामाशयगतमन्नम्, वातं नाडीगतं वायुं सब्वं पक्वाशयगतमन्नं च, सर्वमशुचिमिति यावत्। सुरया कृत्वा मूत्राद् मूत्रं च अजनयन्त। कीदृशास्ते ? तत्राह—अमतिम् अमननं वध्यभावं दुर्मतिं दुर्बुद्धिं च अपबाधमाना निवर्तयन्तः, सद्बुद्धिं ददत इत्यर्थः। यद्वा अश्विनौ सरस्वती चेति प्रकृता देवताः पयसा शुक्रं च अमृतं जनित्रमाजन्म जनयन्तः, सुरया मूत्राद् मूत्रम्, विभक्तिव्यत्ययः, रेतश्च जनयन्तः, अमतिमज्ञानं दुर्मतिं च अपबाधमानाः, अवध्यमामाशयगतमन्नं वातं गुदद्वारेण बहिर्गमनशीलं सब्वं पक्वाशयगतमन्नं च आरात् सुरया सुरासन्निकर्षाद् जनयन्तः, सन्निकर्षो हि गन्धादिभिः, वयन्ति।

अध्यात्मपक्षे—तत्तदवच्छिन्नचैतन्यरूपा देवताः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'ये विद्वांसोऽमतिं दुर्मतिमपबाधमानाः सन्तो यदूवध्यमूरू वध्ये येन तत्, वर्णलोपः, वातं प्राप्तम्, सब्वं समवेतम्, 'षप् समवाये' इति धातोरौणादिको वप्रत्ययः, पयसा सुरयोत्पन्नं मूत्राद् मूत्राधारेन्द्रियाद् जनित्रम् अमृतं शुक्रं रेतोऽस्ति, तदाधाराज्जनयन्तस्ते प्रजावन्तो भवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारादिमूलकत्वात्। ऊवध्यं वातं सब्वमित्यादिपदानां निराधारे काल्पनिके व्याख्यानेऽपि विश्रृङ्खलतैवार्थस्य। सुरया सोमलतादिरसेनेत्यपि निर्मूलमेव॥ ८४॥

इन्द्रः सुत्रामा हृदयेन सत्यं पुरोडाशेन सविता जजान ।
यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन्मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम् ॥ ८५ ॥

मन्त्रार्थ—सबकी भली प्रकार से रक्षा करने वाला, पुरोडाश का अधिष्ठाता देव इन्द्र हृदय से हृदय को प्रकट करता है। सविता ने पुरोडाश से इन्द्र के सत्य को उत्पन्न किया है, वरुण ने चिकित्सा करते हुए हृदय की बाईं ओर स्थित मांसपिण्ड रूप तिल्ली को और गले की नाड़ी को प्रकट किया है, सोम सम्बन्धी ऊर्ध्व पात्रों से हृदय की दोनों ओर की हड्डियों का और पित्त का निर्माण किया है ॥ ८५ ॥

सुत्रामा सुष्ठु त्रायत इति तथोक्त इन्द्रः पुरोडाशदेवता। हृदयेन हृदयम्, इन्द्रस्येति शेषः, विभक्तिव्यत्ययः, जजान जनयति। सविता च पुरोडाशेन इन्द्रस्य सत्यं जजान। वरुणो भिषज्यन् इन्द्रस्य चिकित्सां कुर्वन् यकृत् कालखण्डं क्लोमानं गलनाडिकां च जजान। 'यकृच्च क्लोमानश्च' (बृ० ३।९।१) इत्यत्र—'यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्ताद् दक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ' इति शङ्करभगवत्पादाः। वायव्यैः सौमिकैरूर्ध्वपात्रैः, मतस्ने हृदयोभयपार्श्वस्थे अस्थिनी पित्तं न पित्तं च मिनाति निर्मिमीते, सृजतीत्यर्थः। सौमिकान्यूर्ध्वपात्राणि वायव्यसंज्ञानि।

अध्यात्मपक्षे—परमात्मैव तत्तद्देवता भूत्वा इन्द्रभावापन्नस्य स्वस्य तत्तत्साधनभूतैः स्वैरेव रूपैर्भिषज्यति।

दयानन्दस्तु—'यथा सुत्रामा सवितेन्द्रो वरुणो विद्वान् भिषज्यन् सन् हृदयेन सत्यं जजान। पुरोडाशेन वायव्यैश्च यकृत्क्लोमानं मतस्ने पित्तं च मिनाति, तदेतत्सर्वं यूयं मा हिंस्त' इति, तदपि साहसमात्रम्। वैदिकार्थानवबोधात्, पुरोडाशवायव्यैर्यकृत्क्लोमादीनां हननाप्राप्तेर्निषेधासम्भवात्। चिकित्स्यस्य चिकित्सा भवति, न चात्मना यथार्थभावः प्रकटति ॥ ८५ ॥

आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः ।
श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिरासन्दी नाभिरुदरं न माता ॥ ८६ ॥

मन्त्रार्थ—मधु से भरी हुई, दूध देने वाली स्थाली आँतों के स्थान पर आदित्य इष्टि और उसके पात्र गुदास्थानापन्न, श्येन का पंख हृदय का वाम भाग और माता स्थान भूत आसन्दी (चौकी) कर्मों के द्वारा नाभिस्थान और उदर रूप हुई ॥ ८६ ॥

स्थाल्य इन्द्रस्य आन्त्राण्यभवन्। कीदृश्यः स्थाल्यः ? मधु पिन्वमानाः क्षौद्रं मधुररसं वा सिञ्चन्त्यः। पात्राण्यन्यानि यज्ञियानि तस्य गुदस्थानान्यभवन्। सुदुघा न धेनुः शोभनं दुग्धे सा सुदुघा दोग्ध्री गौश्च आदित्येष्टेर्दक्षिणारूपा इन्द्रस्य गुदा एवाभवत्, श्येनस्य पत्रं च प्लीहा हृदयवामभागस्थः शिथिलमांसखण्डो गुल्मसंज्ञोऽभवत्। आसन्दी मञ्चिका शचीभिः कर्मभिः सहिता इन्द्रस्य नाभिरुदरं चाभवत्। कीदृशी आसन्दी ? माता जननीस्थानीया, आसन्द्यामभिषिच्यते, ततो जायत एवेति सा मातोच्यते।

अध्यात्मपक्षे—सौत्रामणीयागगतानि स्थाल्यादीनि इन्द्रस्य आन्त्रादीनि संवृत्तानि। सर्वमेतत् परमात्मविलासभूतमेव। स एवेन्द्रः, स एव सौत्रामणी, तद्गतोपकरणानि च स एवेति सार्वात्म्यं तस्य स्पष्टं भवति।

दयानन्दस्तु—'युक्तिमता पुरुषेण शचीभिः प्रज्ञाकर्मभिः स्थालीरग्नेरुपरि निधायौषधिपाकान् विधाय तत्र मधु प्रक्षिप्य भुक्त्वाऽन्त्राणि अन्नपाकाधारा नाडीः पिन्वाना गुदा गुह्येन्द्रियाणि पात्राणि भोजनार्थानि सुदुघा धेनुर्न धेनुरिव प्लीहा श्येनस्य पत्रं न पत्रमिव माता, तेऽभीष्टं सुखं लभन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणालीकार्थस्वीकारेऽपि भावस्यास्पष्टत्वात् ॥ ८६ ॥

कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता शचीभिर्यस्मिन्नग्रे योन्यां गर्भो अन्तः ।
प्लाशिर्व्यक्तः शतधार उत्सो दुहे न कुम्भी स्वधां पितृभ्यः ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ—रस के साधनभूत घड़े स्थूल आंत उत्पन्न करते हैं। जिस कुम्भरूप योनि के भीतर प्रथम सोमरूप गर्भ स्थित हुआ, वह घट स्पष्ट जननेन्द्रिय बना और सुराधानी पात्र ने पितरों के निमित्त स्वधा अन्न को प्रकट किया ॥ ८७ ॥

कुम्भः सुराधानकुम्भः, शचीभिः कर्मभिः, वनिष्ठुः स्थूलान्त्रमिन्द्रस्य जनिता जनयति । यस्मिन् कुम्भे योन्यां कुम्भरूपे योनौ स्थाने, अग्रे प्रथममन्तर्मध्ये गर्भः सुरारूप उषितः । शतधार उत्सः कूपतुल्यः कुम्भो व्यक्तः स्पष्टः प्लाशिः शिश्न इन्द्रस्याभवत् । कुम्भी सुराधानी च पितृभ्यः स्वधामन्नं दुहे दुग्धे पूरयति, 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तकारलोपः ।

अध्यात्मपक्षेऽपि पूर्वोक्तदिशा सार्वात्म्यविवक्षयाऽर्थो ज्ञातव्यः ।

दयानन्दस्तु—'यः कुम्भः कलश इव वीर्यादिधातुभिः पूर्णो वनिष्ठुः सम्भाजी, 'वन सम्भक्तौ' इत्यस्माद् औणादिक इष्टुप्प्रत्ययः, जनितोत्पादकः, यः प्रकृष्टतयाऽश्नुते स व्यक्तः । विविधाभिः प्रसिद्धः । शचीभिः कर्मभिः शतधार उत्सो दुहे न प्रपूर्तिकरे व्यवहार इव पुरुषो या च कुम्भीव स्त्री, तौ पितृभ्यः स्वधां प्रदद्याताम् । यस्मिन्नग्रे योन्यामन्तर्गर्भो धीयेत, तं सततं रक्षेताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणाध्याहारादिमूलकत्वात्, कुम्भकुम्भीशब्दाभ्यां स्त्रीपुंसयोर्ग्रहणे मानाभावाच्च ॥ ८७ ॥

मुखꣳ सदस्य शिर इत्सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन् सरस्वती ।
चप्यं न पायुर्भिषगस्य वालो वस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ—सत नामक पात्र इस इन्द्र का मुख हुआ, उसी पात्र से सिर की चिकित्सा हुई। पवित्र जिह्वा के संपादक अश्विनीकुमार और सरस्वती मुख में स्थित हुए, चप्य पायु इन्द्रिय हुई, रस का छानने का वस्त्र इसकी चिकित्सा हुई, गुदा तथा वेग से वीर्यवान् पुरुष की जननेन्द्रिय बनी ॥ ८८ ॥

अस्येन्द्रस्य सत् सतः, वेतसः पात्रविशेषः, अन्तलोपश्छान्दसः, मुखमभूत् । तथा च श्रुतिः—'मुखꣳ सतं जिह्वा पवित्रं चप्यं पायुर्बस्तिर्वालः' (श० १२।९।१।३) इति । सतेन इत् तेन पात्रेणैव अस्य शिरोऽभूत् । पवित्रं जिह्वा चाभवत् । अश्विना अश्विनौ सरस्वती च आसन् अस्य आस्येऽभवन् । चप्यं न पिष्टपात्रं च, 'चप्यं पिष्टपात्रम्' इति तैत्तिरीयब्राह्मणभाष्ये (२।६।४।४) सायणः, पायुरिन्द्रियमभवत् । वालः सुरागलनवस्त्रम्, अस्येन्द्रस्य भिषग्वैद्यो वस्तिर्गुदं शेफो लिङ्गं चाभूत्, वालेन एतत्त्रयं जातमिति यावत् । कीदृशः ? हरसा वीर्येण तरस्वी वेगवान् ।

अध्यात्मपक्षे—सौत्रामण्युपकरणानि च प्रकृतस्य भिषज्यस्येन्द्रस्य तत्तदङ्गान्यभवन् । ब्रह्मण एवैतद्विलसितमिति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा जिह्वा सरस्वती स्त्री अस्य पत्युः सतेन उत्तमावयवैर्विभक्तेन शिरसा सह शिरः कुर्यात्, आसन् आस्ये पवित्रं मुखं कुर्यात्, एवमश्विनौ गृहाश्रमव्यवहारव्यापिनौ इद् एव वर्तेताम्,

यदस्य पायुर्भिषक् वालो बस्तिः शेपो हरसा बलेन तरस्वी भवति, स चप्यं न सद् भवेत्, सर्वं यथावत् कुर्यात्' इति, तदपि तुच्छम्, विसङ्गतेरस्पष्टार्थत्वाच्च । अश्विनावित्यनेन यदि दम्पत्योर्ग्रहणम्, तदा जिह्वेव सरस्वती स्त्रीति पृथक् स्त्रीग्रहणं निरर्थकमेव स्यात् । तत्र हिन्दीभाष्ये शिरसा सह शिरः कुर्यादित्युक्तम् । मूले च एक एव शिरःशब्दः । तत्र शिरसा इति तृतीयान्तस्याध्याहारे किं बीजम् ? कुर्यादिति पदमपि मूले नास्ति । अश्विनावित्यनेन 'परस्परस्तया संसक्तस्त्रीपुरुषौ' इति त्वद्बुद्धावेव प्रस्फुरति । तरस्वीति प्रशस्तं तरो विद्यते यस्य सः, हिन्दीभाष्ये तु—'करने हारा होता है' इत्युक्तम् । तत्र केन कस्य सम्बन्धः ? चप्यमिति चपेषु सान्त्वनेषु भवं चप्यमिति', हिन्दीभाष्ये च—'करने के समान' इत्याद्यपि सर्वथाऽसम्बद्धमेव ।

शातपथी श्रुतिस्तु—'हृदयमेवास्यैन्द्रः पुरोडाशः । यकृत् सावित्रः क्लोमा वारुणो मतस्ने एवास्याश्वत्थं च पात्रमौदुम्बरं च पित्तं नैयग्रोधमान्त्राणि स्थाल्यो गुदा उपशयानि श्येनपत्रे प्लीहासन्दी नाभिः कुम्भो वनिष्ठुः प्लाशिः शतातृण्णा तद्यत् सा बहुधा वितृण्णा भवति तस्मात् प्लाशिर्बहुधा विकृतो मुखꣳ सतं जिह्वा पवित्रं चप्यं पायुर्बस्तिर्वालः' (श० १२।९।१।३) इति स्पष्टमेवमर्थं ब्रूते ॥ ८८ ॥

अ॒श्विभ्यां॒ चक्षु॑र॒मृतं॒ ग्रहा॑भ्यां॒ छागे॑न॒ तेजो॑ ह॒विषा॑ शृ॒तेन॑ ।
पक्ष्मा॑णि गो॒धू॒मैः कुव॑लैरु॒तानि॒ पेशो॒ न शु॒क्रमसि॑तं वसाते ॥ ८९॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमार देवता वाले ग्रहों से अविनाशी नेत्र कल्पित हुए, बकरी के दूध में पके हुए हवि से चक्षु का तेज कल्पित हुआ । गेहूं से नेत्रों के नीचे के लोम और बेरों से नेत्रों के ऊपर के लोम कल्पित हुए, जो कि नेत्रों को सफेदी और कालिमा को ढकते हैं ॥ ८९ ॥

अश्विभ्यामिन्द्रस्य चक्षुः संस्क्रियते । ग्रहाभ्यामश्विदेवत्याभ्यां सोमपात्राभ्यां चक्षुरेवामृतमनश्वरं क्रियते । शृतेन पक्वेन हविषा छागेन छागरूपेण पक्वेन हविषा तेजश्चक्षुःसम्बन्धि क्रियते । गोधूमैः पक्ष्माणि नेत्रलोमानि क्रियन्ते । कुवलैर्बदरैरुतानि चक्षुर्निविष्टानि लोमानि क्रियन्ते । तैरेव शुक्रं शुक्लम् असितं कृष्णं च पेशो रूपं शुक्लकृष्णे नेत्रगते रूपे वसाते आच्छादयेते, कुर्वाते इत्यर्थः । प्रकृतत्वादश्विनौ कर्तारौ । यथा पूर्वमश्विनौ सरस्वती चास्येन्द्रस्य आसन् आस्येऽभवन्, तैरास्यमिन्द्रस्योत्पन्नमित्यर्थः, तथैव प्रकृतमन्त्रेऽश्विनौ अश्विभ्यां स्वस्वरूपाभ्यामेव इन्द्रस्य चक्षुश्चक्रतुः ।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यं परस्यात्र प्रकाश्यते । अश्विनौ तदवच्छिन्नौ चैतन्यरूपौ अश्विभ्यां तदवच्छिन्नाभ्यां चैतन्याभ्यामेव इन्द्रस्य देवविशेषावच्छिन्नस्य चक्षुस्तदवच्छिन्नं चैतन्यं चक्रतुः । एवमेवान्यदपि ज्ञेयम् ।

दयानन्दस्तु—'यथा ग्रहाभ्यामश्विभ्यां बहुभोजिभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्यां सह कौचिद्विद्वांसौ स्त्रीपुरुषौ उतानि सन्ततानि वस्त्राणि पक्ष्माणि परिगृहीतान्यन्यानि वसाते, यथा वा भवन्तोऽपि छागेनाजादिदुग्धेन शतेन हविषा सह तेजोऽमृतं चक्षुः कुवलैर्गोधूमैः शुक्रमसितं पेशो न स्वीक्रियेरन्, तथान्ये गृहस्था अपि कुर्युः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्राक्षरासम्बद्धत्वात्, गौणार्थग्रहणेऽपि सङ्गतिविरहात् । अश्विभ्यां बहुभोजिभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्यामित्यपि निर्मूलम् । एवमेव पक्ष्माणि परिगृहीतान्यन्यानीत्यपि निर्मूलमेव ॥ ८९ ॥

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम् ।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान ॥ ९० ॥

मन्त्रार्थ—भेड़ और मेढ़ा नासिका में बल के कारण हुए, सरस्वती सम्बन्धी ग्रहों से प्राण वायु का मार्ग अविनाशी हुआ। सरस्वती देवी ने जौ के अंकुरों से व्यान वायु को प्रकट किया, बेरों के साथ मिली कुशा नासिका की लोम हुई, अर्थात् इनकी उपयोगी क्रियाओं से बल प्रकट किया गया और इनसे इन्द्र तेजस्वी हुआ। ॥ ९० ॥

अविः सारस्वतो मेषः, नसि इन्द्रस्य नासिकायां वीर्याय अवस्थितः। ग्रहाभ्यां सरस्वतीदेवत्याभ्यां प्राणस्य प्राणवायोः पन्था मार्गः, अमृतः अनश्वरः क्रियते। सरस्वती उपवाकैर्यवाङ्कुरैर्व्यानं व्यानवायुं जजान जनयति। बर्हिर्दर्भो बदरैः सह मिलित्वा इन्द्रस्य नस्यानि नासाभवानि लोमानि जजान जनयति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदर्थो योजनीयः।

दयानन्दस्तु—'यथा ग्रहाभ्यां सह सरस्वती बदरैरुपवाकैर्जजान, तथा वीर्याय नसि प्राणस्य अमृतः पन्था अविर्न मेषो व्यानं नस्यानि बर्हिश्च उपयुज्यते' इति, तदपि निरर्गलप्रलाप एव, मन्त्राक्षरासम्बद्धत्वात्। भावार्थस्तु ततोऽपि दूरतरः। कौ ग्रहणकर्तारौ याभ्यां प्रशस्तविज्ञानवती स्त्री बदरैः समानं सामीप्यकारकैः कर्मभिः किमुत्पादयतीत्यादिकं सर्वमस्पष्टं निरर्थकं वेदाक्षरासंस्पृष्टं च ॥ ९० ॥

इन्द्रस्य रूपमृषभो बलाय कर्णाभ्याᳬ श्रोत्रममृतं ग्रहाभ्याम् ।
यवा न बर्हिर्भ्रुवि केसराणि कर्कन्धु जज्ञे मधु सारघं मुखात् ॥ ९१ ॥

मन्त्रार्थ—बल के निमित्त ऋषभ से इन्द्र का रूप निखारा गया, श्रोत्र सम्बन्धी ग्रहों के द्वारा त्रिकाल के शब्द को सुनने वाली श्रोत्र इन्द्रिय संपादित हुई, जौ और कुशा भौं के बालों को सम्पन्न करने वाले हुए, मुख से बेर के समान मधुमक्षिका, शहद के समान लार, श्लेष्मा आदि प्रकट हुए ॥ ९१ ॥

ऋषभो बलाय इन्द्रस्य सामर्थ्याय रूपं चक्रे। ऐन्द्राभ्यां ग्रहाभ्याममृतं भूतभाविवर्तमानकालत्रयवर्तिशब्दग्राहकं श्रोत्रमिन्द्रियं कर्णाभ्यामिन्द्रस्य कर्णगोलकयोश्चक्रे, श्रोत्रेन्द्रियं कर्णशष्कुल्योः स्थापितवानित्यर्थः। यवा बर्हिश्च भ्रुवि भ्रुवोः केसराणि लोमान्यभवन्। कर्कन्धु बदरं मुखात् सारघं मधु तत्तुल्यं लालाश्लेष्मादि जज्ञे। सरघा मधुमक्षिका, तद्भवं सारघं यथा मधु नानातरुभ्य आह्रियते, एवं लालादि सर्वाङ्गेभ्यो भवतीति लालादीनां मधुसाम्यम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदर्थः।

दयानन्दस्तु—'यथा ग्रहाभ्यां सहर्षभो बलाय यवा न कर्णाभ्यां श्रोत्रममृतं कर्कन्धु सारघं मधु बर्हि भ्रुवि केसराणि मुखाज्जनयति, तथैतत्सर्वमिन्द्रियं रूपं जज्ञे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्राक्षरासम्बद्धत्वात्। ऋषभो ज्ञानी ग्रहाभ्यां व्यवहारैर्यवसमानं कर्णाभ्यां श्रोत्रं शब्दविषयं धारयतीत्युक्तं हिन्दीभाष्ये। तत्र यवैः कस्य सादृश्यम्? कर्णयोः शब्दस्य वा? न च यवैः केनाप्यंशेन तत्र सादृश्यं लक्ष्यते। येन कर्म दधाति स कर्कन्धुः, कोऽसौ कर्मधारक इति तु नोक्तम्। केसराणि विज्ञानानीति व्याख्यानमपि निर्मूलमेव। सुषुम्णायां प्राणवायुमवरोध्येत्युक्तिस्तु मूर्खजनप्रतारणायैव। ज्ञानं मुखादुत्पादयतीत्यप्यशुद्धमेव, ज्ञानस्य मुखादनुत्पत्तेः ॥९१॥

आ॒त्मन्नु॒पस्थे॒ न वृक॑स्य॒ लोम॒ मुखे॒ श्मश्रू॑णि॒ न व्या॒घ्रलो॑म ।
केशा॒ न शी॒र्षन् यश॑से श्रि॒यै शिखा॑ सि॒ꣳहस्य॒ लोम॒ त्विषि॑रिन्द्रि॒याणि॑ ॥ ९२ ॥

मन्त्रार्थ—अपने शरीर में उपस्थ और अधोभाग के रोम वृक (भेड़िया) के लोम से और मुख पर जो दाढ़ी-मूछों के बाल हैं, वे व्याघ्र के लोम से कल्पित हुए। सिर के बाल यश से कल्पित हैं, जो मनुष्य की शोभा बढ़ाते हैं। शिखा कान्ति है और सारी इन्द्रियाँ सिंह के रोम से कल्पित हैं ॥ ९२ ॥

आत्मन् आत्मनि उपस्थे न गुह्ये च यानि लोमानि तानि वृकस्य लोमानि। लोमेति जातावेकवचनम्। मुखे यानि श्मश्रूणि तानि च व्याघ्रलोम। शीर्षन् शीर्ष्णि शिरसि च यशसे यशोऽर्थं ये केशाः, या च श्रियै शोभायै शिखा, या च त्विषिः कान्तिः, यानि चेन्द्रियाणि, तत्सर्वं सिंहस्य लोम। सौत्रामणीयागे वृक-व्याघ्र-सिंहलोम्नामपि सुराग्रहादिभाजनेषु प्रयोगः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव सार्वात्म्यप्रतिपादकतया व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, यस्यात्मन्नुपस्थे सति वृकस्य लोम न व्याघ्रलोम न मुखे श्मश्रूणि शीर्षन् केशा न शिखा सिंहस्य लोमेव त्विषिरिन्द्रियाणि सन्ति, स यशसे श्रियै प्रभवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मूले यस्य तस्येतिपदयोरभावात्, मनुष्यस्य आत्मादौ वृक-व्याघ्र-सिंहलोम्नामदर्शनात्। इवाध्याहारेऽपि न निर्वाहः, तत्र तत्सादृश्याभावात् ॥ ९२ ॥

अङ्गा॒न्या॒त्मन् भि॒षजा॒ तद॒श्विना॒त्मान॒मङ्गैः॒ सम॑धा॒त् सर॑स्वती ।
इन्द्र॑स्य रू॒पꣳ श॒तमा॑न॒मायु॑श्च॒न्द्रेण॒ ज्योति॑र॒मृतं॒ दधा॑नाः ॥ ९३ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र के रूप को सैकड़ों वर्षों से पूजनीय अथवा सौ वर्ष पूर्ण करने वाली आयु को प्रसन्नतादायक चन्द्र की ज्योति के द्वारा अमृतरूप, कभी न नष्ट होने वाला स्वरूप दिया गया। चिकित्सक अश्विनीकुमारों ने शरीर के सारे अंगों को सुव्यवस्थित किया और सरस्वती ने इस अवयव-संधान में सहायता की, अर्थात् अश्विनीकुमार और सरस्वती ने मिल कर पूर्वोक्त विधि से अंगों का संयोजन कर इस यज्ञशरीर को बनाया। इसके द्वारा इन्द्र यजमान को सुखमय जीवन और अमृतत्व को प्राप्त कराता है ॥ ९३ ॥

भिषजा भिषजौ वैद्यौ अश्विना अश्विनौ दस्रौ आत्मन् आत्मन्यङ्गान्यवयवान् समधात् समधातां समयोजयताम्। सरस्वती आत्मानमङ्गैः समधात् सन्दधे। कीदृशा अश्व्यादयः? इन्द्रस्य रूपं स्वरूपमायुश्च चन्द्रेणाह्लादकेन ज्योतिज्योतिषा सहामृतमनश्वरं दधानाः सम्पादयन्तः। कीदृशं रूपम्? शतमानम्, शतानामनेकेषां मानं पूजा यस्मिन् तज्जगत्पूज्यं रूपमित्यर्थः। अथवा यस्मिन्नात्मनि भिषजौ अश्विना अङ्गानि समधाताम्, तमात्मानमङ्गैः समधात् सरस्वती च। एवमिन्द्रस्य रूपं शतमानं बहुप्रतिमानमायुश्च अश्विनौ सरस्वती च चन्द्रेण ह्लादकेन ज्योतिषाऽमृतमनश्वरं दधाना इन्द्रस्यात्मानमङ्गैः संयोजितवन्तः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, भिषजावश्विनौ सिद्धसाधकौ यथा सरस्वती आत्मन् स्थिरा सती योगाङ्गान्यनुष्ठाय आत्मानं समधात्, तथैवाङ्गैर्यदिन्द्रस्य रूपमस्ति, तत् सन्दध्याताम्। यथा योगं दधानाः शतमानमायुर्धरन्ति,

तथा चन्द्रेणामृतज्योतिर्दध्यात्' इति, तदपि निरर्गलम्, विसङ्गतेः। मूलमन्त्रे इव-यथा-तथादिपदानामभावात्, भिषजा अश्विना इति समानयोरपि पदयोरेकत्र 'इव' इत्यध्याहारः, अन्यत्र 'तदभावः' इत्यत्र बीजानुक्तेः। अङ्गैरित्यनेन योगाङ्गानामेव ग्रहणं न व्याकरणाद्यङ्गानामित्यत्र का विनिगमना ? योगाङ्गान्यनुष्ठाय आत्मन् स्थिरेत्यप्यसङ्गतम्, अनुष्ठाय-स्थिरेतिपदयोर्मूलेऽभावात्। न चात्मनि कस्यचित् स्थितिः सम्भवति, आत्माश्रयदोषात्। नहि पटुरपि नटवटुः स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवति। नह्यात्मनः समाधानं भवति, किन्तु चित्तस्य समाधानं प्रसिद्धम्। तथा चाह पण्डितराजो जगन्नाथो गङ्गालहर्याम्—'समाधानं बुद्धेः' इति।

सिद्धान्तपक्षव्याख्यानं तु श्रुतिसम्मतमेव। तथाहि—'एतस्माद्वै यज्ञात् पुरुषो जायते' (श० १२।९।१।१) इति सौत्रामणीयज्ञात् पुरुषस्योत्पत्तिरुक्ता। ततः प्राक्—'त्वष्टा हतपुत्रः। अभिचरणीयमपेन्द्रꣳ सोममाहरत् तस्येन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत् स विष्वङ् व्यार्च्छत् तस्य मुखात् प्राणेभ्यः श्रीयशसान्यूर्ध्वान्युदक्रामꣳस्तानि पशून् प्राविशꣳस्तस्मात् पशवो यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सौत्रामण्याऽभिषिच्यते' (श० १२।८।३।१), 'ततोऽस्मा एतमश्विनौ सरस्वती च। यज्ञꣳ समभरन् सौत्रामणीं भैषज्याय तयैनमभ्यषिꣳचꣳस्ततो वै स देवानाꣳ श्रेष्ठोऽभवच्छ्रेष्ठः स्वानां भवति य एनयाऽभिषिच्यते' (श० १२।८।३।२) इति श्रुतिमनुसृत्यैव उव्वटमहीधरादिभिस्तत्परत्वेन मन्त्रा व्याख्याताः॥ ९३॥

सर॑स्वती॒ योन्यां॒ गर्भ॑मन्त॒रश्विभ्यां॒ पत्नी॒ सुकृ॑तं बिभर्ति।
अ॒पाꣳ रसे॑न॒ वरु॑णो॒ न साम्नेन्द्रꣳ श्रि॒यै ज॒नय॑न्न॒प्सु राजा॑॥ ९४॥

मन्त्रार्थ—सरस्वती देवी अश्विनीकुमारों की पत्नी बन कर इन्द्र रूप गर्भ को भली-भांति धारण करती है। जल का देवता राजा वरुण जल के सारभूत रस के द्वारा साम के प्रभाव से जगत् की शोभा बढ़ाने वाले अथवा ऐश्वर्य के निमित्तभूत इन्द्र का पिता के समान पोषण करता है॥ अथवा पत्नी सरस्वती इसको धारण करती है और अश्विनीकुमारों की सहायता से वरुण इस इन्द्र का पोषण करता है। यहाँ इन्द्र पद से ऐश्वर्यवान् यज्ञ का वर्णन है। वाणी ही सरस्वती है। जिस वेदवाणी में यह यज्ञ स्थापित होता है, द्युलोक और भूमि के अधिष्ठाता देव इसकी रक्षा करते हैं, अथवा अहोरात्र इसके रक्षक हैं॥ ९४॥

सरस्वती अश्विभ्यां पत्नी अश्विनोः पत्नी भूत्वा योन्यामन्तर्मध्ये गर्भमिन्द्रलक्षणं सुकृतं यथा शोभनं कृतं बिभर्ति। अप्सु राजा अपामीश्वरो वरुणोऽपां रसेन साम्ना उदकरसभूतेन साम्ना इन्द्रं श्रियै जनयन् सन् बिभर्तीत्यनुषज्यते। नश्चार्थः।

अध्यात्मपक्षे—अश्विद्वयमसंयुक्तं सगुणं निर्गुणं ब्रह्मैव। सरस्वती च तन्निष्ठाऽनन्तब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्तिरेव। एवमर्थो ज्ञातव्यः।

दयानन्दस्तु—'हे योगिन्! यथा सरस्वती पत्नी पत्युर्योन्यामन्तः सुकृतं गर्भं बिभर्ति, यथा वा वरुणो राजा अश्विभ्यामपां रसेन अप्सु साम्ना न सुखेनेन्द्रं श्रियै जनयन् विराजते, तथा त्वं भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विभ्यामिति पदेनाध्यापकोपदेशकयोर्ग्रहणे मानाभावः। अध्याहारश्च निर्मूल एव॥ ९४॥

तेज॑: पशू॒नाꣳ ह॒विरि॑न्द्रि॒यावत् परि॒स्रुता॒ पय॑सा सार॒घं मधु॑ ।
अ॒श्विभ्यां॑ दु॒ग्धं भि॒षजा॒ सर॑स्वत्या सु॒तासु॒ताभ्या॑म॒मृत॒: सोम॒ इन्दु॑: ॥ ९५ ॥

ऊनविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥

मन्त्रार्थ—चिकित्सा करने वाले अश्विनीकुमार और सरस्वती ने वीर्यवान् पशुसम्बन्धी दुग्ध, घृत तथा मधुमक्षिकाओं के बनाये हुए शहत की हवि को लेकर परिस्रुत किये हुए दूध से इन्द्र के निमित्त तेज का दोहन किया। सुत और असुत दुग्ध से अमृतरूप ऐश्वर्यदायक सोम को निकाला। इस प्रकार अश्विनीकुमार और सरस्वती आदि ने मिल कर अनेकों द्रव्यों से रस लेकर इन्द्र का उपकार किया, उसको बलशाली बनाया ॥ ९५ ॥

भिषजा भिषग्भ्यामश्विभ्यां सरस्वत्या च इन्द्रियावद् इन्द्रियवद् वीर्यवत् पशूनां सम्बन्धि हविरादाय परिस्रुता पयसा च सह सारघं मधु चादाय इन्द्रार्थे तेजो दुग्धं स्रावितम्। सुतासुताभ्यां परिस्रुत्पयोभ्यां सकाशाद् अमृतोऽमृतरूप इन्दुरैश्वर्यप्रदः सोमश्च दुग्धः। एवं यैः सरस्वत्यश्विभिरिन्द्राय नानाद्रव्येभ्यो नानारसानादाय उपकारः कृतः, तेभ्यः सौत्रामणिद्रष्टृभ्य ऋषिभ्यो नमः।

अध्यात्मपक्षे—सौत्रामणीद्रष्ट्रुपाध्यवच्छिन्नाय परस्मै ब्रह्मणे नमः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, याभ्यां सुतासुताभ्यां निष्पादिताऽनिष्पादिताभ्यां भिषजाश्विभ्यां पशूनां गवादीनां परिस्रुता पयसा तेन इन्द्रियावत् सारघं मधु हविर्दुग्धम्, सरस्वत्यामृतः सोम इन्दुश्चोत्पाद्यते, तौ योगसिद्धिं प्राप्नुतः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विभ्यामिति द्वित्वास्वारस्यात्। ब्राह्मणेषु परिस्रुत्पयसोर्द्विवचनस्वारस्येन 'सुतासुताभ्याम्' इत्यनेनायमेवार्थो युक्तो लभ्यते। अनेन महात्मना कृतस्य व्याख्यानस्य श्रुतिविरोधाद् व्याख्यानापसदत्वमेव।

तानि च ब्राह्मणान्युद्ध्रियन्ते—'अङ्गान्येवास्याश्विनः पशुः। आत्मा सारस्वतो रूपमैन्द्र ऋषभस्तस्मादाहुर्गावः पुरुषस्य रूपमित्यायुर्हिरण्यं तच्छतमानं भवति तस्माच्छतायुः पुरुषः' (श० १२।९।१।४)। एतच्छ्रुत्यनुरोधेनैव 'अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विनात्मानम्' (वा० सं० १९।९३) इत्यादिकण्डिकाव्याख्यानम्। तथाहि—आश्विनः पशुः, अस्येन्द्रस्य अङ्गानि, सारस्वत ऋषभः पशुरस्यात्मा शरीरम्। अश्विनौ सरस्वती चैवमिन्द्रस्य रूपमायुश्च ज्योतिर्हिरण्यमयं शतमानं सम्पादितवन्तः। 'चक्षुषी एवास्याश्विनौ ग्रहौ। पक्ष्माणि गोधूमसक्तवश्च कुवलसक्तवश्च नासिके एवास्य सारस्वतौ ग्रहावथ यानि नासिकयोर्लोमानि तान्युपवाकसक्तवश्च बदरसक्तवश्च श्रोत्रे एवास्यैन्द्रौ ग्रहावथ यानि कर्णयोर्लोमानि यानि च भ्रुवोस्तानि यवसक्तवश्च कर्कन्धुसक्तवश्च' (श० १२।९।१।५)। एतच्छ्रुत्यनुरोधेनैवान्या अपि कण्डिका व्याख्याताः। तथाहि—आश्विनौ अस्येन्द्रस्य चक्षुषी निर्मितवन्तौ, अर्थाद् आश्विनाभ्यां ग्रहाभ्यां चक्षुरमृतमनश्वरं चक्रतुः। गोधूमसक्तवः कुवलसक्तवश्च पक्ष्माणि पक्ष्मनिविष्टानि, पक्ष्मसु निविष्टानि रोमाण्यभवन्। सारस्वतौ ग्रहौ नासिके सञ्जाते। उपवाकसक्तवश्च बदरसक्तवश्च नासिकयोर्लोमानि जातानि। ऐन्द्रौ ग्रहौ श्रोत्रे सम्भूते। यवसक्तवः कर्कन्धुसक्तवश्च कर्णयोर्भ्रुवोश्च लोमानि सम्पन्नानि। 'अथ यान्युपस्थे लोमानि। यानि चाधस्तात् तानि वृकलोमान्यथ यान्युरसि लोमानि यानि च निकक्षयोस्तानि व्याघ्रलोमानि केशाश्च श्मश्रूणि च सिꣳहलोमानि' (श० १२।९।१।६)। एतेन—'वृक-व्याघ्र-सिंहानामिव लोमानि श्मश्रूणि भवन्ति, स श्रिया यशसा वर्धते' इत्यादिकं व्याख्यानमपव्याख्यानमेव वेदितव्यम्।

'त्रयः पशवो भवन्ति। त्रेधा विहितो वा अयं पुरुषस्यात्मात्मानमेवास्य तैः स्पृणोति यदवाङ् नाभेस्तदाश्विनेन यदूर्ध्वं नाभेरवाचीनꣳ शीर्ष्णस्तत्सारस्वतेन शिर ऐन्द्रेण यथारूपमेव यथादेवतमात्मानं मृत्यो

स्पृत्वाऽमृतं कुरुते' (श० १२।९।१।७)। 'त्रयः पुरोडाशा भवन्ति। त्रेधा विहितं वा इदं पुरुषस्य वयो वय एवास्य तैः स्पृणोति पूर्ववयसमेवैन्द्रेण मध्यमवयसꣳ सावित्रेणोत्तमवयसं वारुणेन यथारूपमेव यथादेवतं वयो मृत्यो स्पृत्वाऽमृतं कुरुते' (श० १२।९।१।८)।

श्रुत्यैवाध्यात्मपि व्याख्यानं दर्शितम्। तथाहि—'षड् ग्रहा भवन्ति। षड् वा इमे शीर्षन् प्राणाः प्राणानेवास्य तैः स्पृणोति चक्षुषी एवाश्विनाभ्यां नासिके सारस्वताभ्याꣳ श्रोत्रे ऐन्द्राभ्यां यथारूपमेव यथादेवतं प्राणान् मृत्यो स्पृत्वाऽमृतान् कुरुते' (श० १२।९।१।९)। 'सन्तता याज्या पुरोऽनुवाक्या भवन्ति। समानदेवत्याः प्राणानाꣳ सन्तत्या अव्यवच्छेदाय सर्वाः पुरोऽनुवाक्या भवन्ति सर्वा याज्यास्तस्मात् प्राणाः सर्वे पराञ्चः सर्वे प्रत्यञ्चः सर्वाः प्रथमा भवन्ति सर्वा मध्यमाः सर्वा उत्तमास्तस्मात् प्राणाः सर्वे प्रथमाः सर्वे मध्यमाः सर्वं उत्तमाः सर्वेषां ग्रहाणां द्वे याज्यापुरोऽनुवाक्ये भवतः प्राणोदानयोस्तद्रूपं प्राणोदानावेवावरुन्धे तस्मात् सर्वे प्राणाः प्राणोदानयोरेव प्रतिष्ठिताः' (श० १२।९।१।१०)। 'स वा एष आत्मैव यत् सौत्रामणी। मन एव प्रत्यक्षाद्वाग्यजमानस्तस्यात्मैव वेदिः प्रजोत्तरवेदिः पशवो बर्हिरङ्गान्यृत्विजोऽस्थीनीध्म आज्यं मज्जा मुखमग्निरन्नमाहुतिर्वयः सꣳस्था तस्मात् सौत्रामण्येजानो वय उपगच्छति' (श० १२।९।१।११)। आत्मा शरीरम्, वेदिर्वयः, स्थाविरं संस्था।

'तद्यौ ह वा इमौ पुरुषाविवाक्ष्योः। एतावेवाश्विनावथ यत्कृष्णं तत्सारस्वतं यच्छुक्लं तदैन्द्रं तद्यदाश्विने पशौ सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत् सार्धं कृत्वात्मन् धत्ते' (श० ११।९।१।१२)। मन एवेन्द्रः। वाक् सरस्वती श्रोत्रे अश्विनौ यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्णाभ्याꣳ शृणोति तद्यत्सारस्वते पशौ सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत् सार्धं कृत्वात्मन् धत्ते' (श० १२।९।१।१३)। 'प्राण एवेन्द्रः। जिह्वा सरस्वती नासिके अश्विनौ यद्वै प्राणेनान्नमात्मन प्रणयते तत्प्राणस्य प्राणत्वं जिह्वया वा अन्नस्य रसं विजानाति नासिके उ वे प्राणस्य पन्थास्तद्यदैन्द्रे पशौ सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत्सार्धं कृत्वात्मन् धत्ते' (श० १२।९।१।१४)। 'हृदयमेवेन्द्रः। यकृत् सविता क्लोमा वरुणस्तद्यदैन्द्रे पुरोडाशे सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत् सार्धं कृत्वात्मन् धत्ते' (श० १२।९।१।१५)। 'प्राण एव सविता। व्यानो वरुणः शिश्नमिन्द्रो यद्वै प्राणेनान्नमत्ति तद्व्यानेन व्यनिति शिश्नेन वा अन्नस्य रसꣳ रेतः सिञ्चति तद्यत् सावित्रे पुरोडाशे सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत् सार्धं कृत्वात्मन् धत्ते' (श० १२।९।१।१६)। 'योनिरेव वरुणः। रेत इन्द्रः सवितैव रेतसः प्रजनयिता तद्यद्वारुणे पुरोडाशे सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत् सार्धं कृत्वात्मन् धत्ते स य एवमेतद्वेदैता एव देवता अनुसम्भवत्येता देवता अनु प्रजायत आ प्रजया पशुभिः प्यायते प्रत्यस्मिँल्लोके तिष्ठत्यभि स्वर्गं लोकं जयति य एवं विद्वान् सौत्रामण्या यजते यो वैतदेवं वेद' (श० १२।९।१।१७)।

इत्येवं सर्वथापि ब्राह्मणानुरोधेन पूर्वोक्तं सिद्धान्तसम्मतमेव व्याख्यानं क्षोदक्षमम्, न दयानन्दीयमिति युक्तमुत्पश्यामः ॥ ९५ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां
एकोनविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥

विंशोऽध्यायः

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि ।
मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—इस मन्त्र को पढ़ता हुआ चौकी के दो पाये दक्षिण वेदी पर और दो उत्तर वेदी पर रखे। हे आसन्दी, तुम क्षत्रिय जाति की राजपदवी की उत्पत्तिस्थली हो, तुम क्षत्रिय जाति की नाभि, अर्थात् एकता के बन्धन का कारण हो। तब चौकी पर मृगचर्म बिछावे। हे कृष्णाजिन, आसन्दी तुमको पीड़ा न दे, तुम मुझे पीड़ा मत पहुँचाओ ॥ १ ॥

'सोमासन्दीवदासन्दीं जानुमात्रपादीं वेद्योर्निदधाति क्षत्रस्य योनिरिति' (का० श्रौ० १९।४।७)। मुञ्जरज्ज्वा व्यूतामौदुम्बरीमरत्निप्रमाणां जानुमात्रपादीमासन्दीं वेद्योर्निदध्यात्, आसन्द्याः पादद्वयं दक्षिणवेद्यां पादद्वयं चोत्तरवेद्यां कुर्यादिति सूत्रार्थः। पूर्वं प्रकृतौ नाभिमात्रपादा आसन्दी उक्ता। तद्बाधनार्थमत्र जानुमात्रपादीमित्युच्यते। आसन्दीदेवत्या द्विपदा गायत्री। हे आसन्दि, क्षत्रस्य योनिरुत्पत्तिस्थानमसि। आसन्द्यामभिषिक्तो गुणधर्मानर्हति राजेत्यभिप्रायकं योनित्वम्। क्षत्रस्य नाभिर्नहनं बन्धनं चासि। 'कृष्णाजिनमस्यामास्तृणाति मा त्वेति' (का० श्रौ० १९।४।८)। अस्यामासन्द्यां कृष्णाजिनं स्तृणुयादाच्छादयेदिति सूत्रार्थः। कृष्णाजिनदेवत्यं यजुः। यज्ञाध्यासेन कृष्णाजिनं प्रार्थ्यते। हे कृष्णाजिन, आसन्दी त्वा त्वां मा हिंसीत्। त्वं च मा मां मा हिंसीः, मा जहि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनां कृष्णाजिनेनास्तृणाति। मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीरिति यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञस्य चैवात्मनश्चाहिꣳसायै' (श० १२।८।३।९)। प्रसन्नं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे—हे परमात्मन्, त्वं क्षत्रस्य योनिः कारणमसि, धर्मरूपत्वात्। क्षतात् त्रायत इति क्षत्रम्, पृषोदरादिः, तस्य क्षत्रस्य नाभिरसि बन्धनमसि, 'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रम्' (श० १४।४।२।२६) इति श्रुतेः। धर्मेणैव क्षत्रं नियम्यते। अन्यथाऽङ्कुशमन्तरा गज इव वल्गामन्तराऽश्व इवानियन्त्रितं क्षत्रं जगन्नाशकमेव स्यात्। तादृशं त्वां कोऽपि मा हिंसीत्। त्वं च मां मा हिंसीः, 'धर्म एव हतो हन्ति' (म० स्मृ० ८।१५) इति स्मृतेः।

दयानन्दस्तु—'यतस्त्वं क्षत्रस्य राज्यस्य योनिर्निमित्तं क्षत्रस्य राजकुलस्य नाभिरिव जीवनहेतुरसि, तस्मात् त्वां कोऽपि मा हिंसीत्, त्वं च मां मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लोकसिद्धस्यार्थस्य बोधने वेदाप्रवृत्तेः। क्षत्रियशब्दो जातिविशेषे रूढः। तथा च 'क्षत्राद् घः' (पा० सू० ४।१।१३८) इत्यत्र काशिका—'क्षत्रियः, अयमपि जातिशब्द एव' इति, 'क्षत्रियः, जातावित्येव' इति सिद्धान्तकौमुदी। तथा च महाकविप्रयोगः—'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः' (र० वं० २।५३)। एतेन जातिविशेषे रूढोऽयं शब्दो न राज्यस्य बोधक इति ज्ञायते ॥ १ ॥

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः। मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान उस पर बैठे। हे यजमान, तुम इस पर बैठने के फलस्वरूप दण्ड और पुरस्कार के द्वारा देश के अनिष्ट को दूर करने वाले न्यायपरायण और राजकार्य में चतुर होकर प्रजाओं के सम्राट् बनने में समर्थ हो जाओ। यजमान के वामचरण के नीचे चाँदी का मंडलाकार रुक्म भूषण रखे—हे रुक्म, अकाल मृत्यु से मेरी रक्षा करो। फिर दाहिने चरण के नीचे सुवर्ण का रुक्म रखे—हे रुक्म, बिजली के उत्पात से मेरी रक्षा करो ॥ २ ॥

'तस्मिन्नास्ते यजमानो निषसादेति' (का० श्रौ० १९।४।९)। यजमानः कृष्णाजिन उपविशेद् निषसादेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। व्याख्यातेयं कण्डिका दशमेऽध्याये सप्तविंशे स्थाने। 'पादयो रुक्मा उपास्यति राजतꣳ सव्ये मृत्योरिति' (का० श्रौ० १९।४।१०)। अध्वर्युरासन्द्यामुपविष्टस्य यजमानस्य सव्यपादसमीपे मृत्योः पाहीति मन्त्रेण राजतं दक्षिणपादसमीपे भूमौ विद्योत्पाहीति मन्त्रेण सौवर्णं रुक्मं परिमण्डलमाभरणविशेषं निदध्यादिति सूत्रार्थः। 'सौवर्णꣳ शिरस्येके विद्योदिति' (का० श्रौ० १९।४।११)। सौवर्णं पुनः शिरस्येके आचार्या उपास्यन्ति एके दक्षिणपादे विद्योत्पाहीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। रुक्मदेवत्ये यजुषी। दैव्यौ बृहत्यौ। हे रुक्म मृत्योरकालमरणान्मां पाहि। हे सौवर्ण रुक्म विद्योत्, विद्योतत इति विद्योत्, विच्प्रत्यये सति गुणः, पञ्चम्याश्च लुक्, विद्युत्पातादित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—असौ साधकः पस्त्यासु प्रजास्विन्द्रियादिरूपासु, आ समन्ताद् निषसाद आधिपत्येनोपविवेश। कीदृशः? धृतव्रतः। वरुणो वारयत्यनिष्टमिति वरुणः। साम्राज्याय स्वस्वरूपे सम्यग्राजत इति सम्राट्, तस्य भावः साम्राज्यम्, तस्मै। सुक्रतुः शिवसङ्कल्पवान्। हे परमेश्वर, त्वमेतं मृत्योः संसारलक्षणात् पाहि। विद्योद् विद्युतो वज्रोपमाद् मोहादपि रक्ष।

दयानन्दस्तु—'हे सभेश, भवान् सुक्रतुः धृतव्रतो वरुणः सन् साम्राज्याय पस्त्यासु न्यायगृहेषु आनिषसाद अस्मान् वीरान् मृत्योः पाहि, अपमृत्युना प्राणत्यागात् पाहि। विद्योद् दीप्यमानाग्न्यादेः पाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वीराणां तादृशाभ्यर्थनस्य लज्जास्पदत्वात्, मनुष्यमात्रस्य अपमृत्यो रक्षकत्वासम्भवात्। पस्त्यापदस्य न्यायगृहार्थतापि चिन्त्यैव ॥ २ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभिषिञ्चामीन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—अध्वर्यु यजमान का अभिषेक करे—हे यजमान, सविता देव की आज्ञा से अश्विनीकुमारों की भुजा और पूषा देवता के हाथों से तुम अश्विनीकुमारों की चिकित्सा के द्वारा कान्ति और ब्रह्मतेज को प्राप्त करो, इसके लिये तुम्हारा अभिषेक करता हूँ। सरस्वती के द्वारा प्राप्त की गई औषधि से पराक्रम और अन्नभक्षण की सामर्थ्य के निमित्त तुम्हारा अभिषेक करता हूँ, इन्द्र की इन्द्रिय-वृद्धि की सामर्थ्य से बलसमृद्धि और यश की प्राप्ति के लिये तुम्हारा अभिषेक करता हूँ ॥ ३ ॥

'सर्वसुरभ्युन्मृदितᳲं शेषैरभिषिञ्चत्या मुखादवस्रावयन् प्रतिदिशᳲं सर्वत्र सावित्रमश्विनोः सरस्वत्या इन्द्रस्येति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १९।४।१४)। सर्वसुरभिभिश्चन्दनकर्पूरकस्तूरिकाकेसरादिभिः, उद्वर्तितं आसन्द्यामुपविष्टं यजमानं वेतसपात्रस्थापितैर्वसाग्रहशेषैः प्रतिदिशं स्थितोऽध्वर्युरामुखादवस्रावयन् मन्त्रत्रयेण परिषिञ्चेत्। तत्र मन्त्रत्रयेऽपि सावित्रं देवस्य त्वेति मन्त्रमनुषजेत्। 'सर्वाभिश्चतुर्थम्' (का० श्रौ० १९।४।१५)। चतुर्थमभिषेकं सर्वाभिर्देवताभिः, अश्विनोः सरस्वत्या इन्द्रस्येति त्रिभिर्मन्त्रैः समुच्चितैः, उत्तरे स्थितोऽध्वर्युः कुर्यात्। अत्रापि पूर्वं सावित्रमन्त्रप्रयोगः। 'महाव्याहृतिभिरेके' (का० श्रौ० १९।४।१६)। एके महाव्याहृतिभिश्चतुर्थमभिषेकं कुर्वन्ति। अस्मिन् पक्षे प्रथमाभिषेकोऽश्विनोरित्यादिसमुच्चयेन, द्वितीयश्च महाव्याहृतिभिः कार्यः। 'उत्तमेन वा' (का० श्रौ० १९।४।१७)। अथवा प्रागुक्तानां त्रयाणां मन्त्राणामन्तिमेनेन्द्रस्येन्द्रियेणेत्यनेन चतुर्थमभिषिञ्चेदिति सूत्रार्थः।

देवस्य त्वेति व्याख्यातम्। अश्विनोरित्यादिमन्त्रत्रयं लिङ्गोक्तदेवतम्। आद्या प्राजापत्या बृहती, द्वे ऋग्गायत्र्यौ। हे यजमान, अश्विनोर्भैषज्येन, भिषजः कर्म भैषज्यं तेन भिषक्कर्मणा त्वामभिषिञ्चामि। किमर्थमित्यत आह—तेजसे कान्त्यै ब्रह्मवर्चसाय ब्रह्मणो वर्चो ब्रह्मवर्चसम्, सर्वत्रास्खलितवेदवेदाङ्गाध्ययनतदर्थानुष्ठानजनिता कीर्तिर्ब्रह्मवर्चसम्, तस्मै। सरस्वत्यै भैषज्येन सरस्वत्या भिषक्कर्मणा च वीर्याय सामर्थ्याय अन्नाद्याय अन्नभक्षणसामर्थ्याय च त्वामभिषिञ्चामि। इन्द्रस्य इन्द्रियेण इन्द्रियपाटवेन सामर्थ्येन च त्वामभिषिञ्चामि। किमर्थम्? बलाय सामर्थ्याय श्रियै सर्वसमृद्ध्यै यशसे कीर्त्यै चेति।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, देवस्य सवितुः प्रेरणेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामश्विनोरश्विनोरिव सुन्दरयोर्भवरोगवैद्ययो रामलक्ष्मणयोः, भैषज्येन आध्यात्मिकानुग्रहरूपेण तेजसे ब्रह्मवर्चसाय त्वामभिषिञ्चामि। सरस्वत्या ब्रह्मविद्याया भैषज्येन वीर्याय असत्त्वापादकाभानापादकावरणनिवृत्तिसामर्थ्याय अन्नाद्याय ब्रह्मरसास्वादनसामर्थ्याय च त्वामभिषिञ्चामि। इन्द्रस्य परमेश्वरस्य इन्द्रियेण सामर्थ्यातिशयेन बलाय निष्ठादार्ढ्याय श्रियै दैवीसम्पदे यशसेऽभिषिञ्चामि।

दयानन्दस्तु—'हे शुभलक्षणान्वित पुरुष, सवितुः परमेश्वरस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामश्विनो भैषज्येन तेजसे प्रागल्भ्याय राजप्रजाजनोऽहं त्वामभिषिञ्चामि। सरस्वत्या भैषज्येन वीर्याय पराक्रमाय अन्नाद्याय अत्तुं योग्याय अन्नाय त्वामभिषिञ्चामि। इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्य इन्द्रियेण धनेन बलाय पुष्टत्वाय श्रियै सुशोभितायै राज्यलक्ष्म्यै यशसे कीर्त्यै च त्वामभिषिञ्चामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, सरस्वत्यै वाच इति भैषज्यसम्बन्धानुक्तेः, परमैश्वर्यस्य धनेन कीदृशोऽभिषेक इत्यनुक्तेः, अभिषिञ्चामि स्वीकरोमीत्यस्य निर्मूलत्वात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च ॥ ३ ॥

को॑ऽसि कत॒मो॑ऽसि॒ कस्मै॑ त्वा॒ काय॑ त्वा। सुश्लो॒क॒ सुम॑ङ्गल॒ सत्य॑राजन् ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—अध्वर्यु यजमान का स्पर्श करते हुए कहता है—हे यजमान, तुम कौन से प्रजापति हो, प्रजापति पद की प्राप्ति के निमित्त तुम्हारा अभिषेक करता हूँ। प्रजापति की प्रीति के निमित्त तुम्हारा अभिषेक करता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि तुम कौन प्रधान पुरुष हो, तुमने किस देवता की प्रसन्नता के लिये इस महान् अनुष्ठान का आरम्भ किया है, यजमान उस देवता का नाम स्मरण करे। हे सुन्दर कीर्ति वाले, हे श्रेष्ठ मंगलमय, हे सत्यराज्य के प्रभो, आप यहाँ आवें ॥ ४ ॥

'यजमानमालभते कोऽसीति' (का० श्रौ० १९।४।१९)। अध्वर्युर्यजमानं स्पृशति कोऽसीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। प्राजापत्या गायत्री उष्णिग्गर्भा, 'षडक्षरः सप्ताक्षरस्तत एकादशाक्षर एषोष्णिग्गर्भा गायत्री' (ऋक्-प्रातिशाख्ये १६।२८) इति वचनात्। इयादिपूरणाद् द्वितीयस्य सप्ताक्षरत्वम्। हे यजमान, त्वं कः प्रजापतिरसि। कतमः? अत्यन्तं कः कतमः श्रेष्ठः प्रजापतिरसि, बहूनां प्रजापतीनां मध्ये उत्तमः प्रजापतिरसीति यावत्। कस्मै? प्रजापतिपदप्राप्तये, त्वामहमभिषिक्तवानिति शेषः, काय प्रजापतिभावाय चाभिषिक्तवान्, अस्मीति शेषः। 'सुश्लोकेत्यालब्धो ह्वयति' (का० श्रौ० १९।४।२०)। अध्वर्युणा स्पृष्टो यजमानः सुश्लोकादिसंज्ञान् नराना‍ह्वयतीति सूत्रार्थः। हे सुश्लोक, एहीति शेषः। शोभनः श्लोकः कीर्तिर्यस्य स सुश्लोकस्तत्सम्बुद्धौ। हे सुमङ्गल शोभनं मङ्गलमभ्युदयो यस्य स सुमङ्गलस्तत्सम्बुद्धौ, त्वमेहीति शेषः। हे सत्यराजन्, सत्योऽविनाशी राजा प्रभुर्यस्य स सत्यराजा तत्सम्बुद्धौ, त्वमेहीति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, त्वं कोऽसि हिरण्यगर्भोऽसि कतमोऽसि अतिशयितः प्रजापतिस्तत्साक्षि-रूपोऽसि। कस्मै तत्पदप्राप्तये काय प्रजापतिभावाय, त्वामुपदिशामीति शेषः। तादृशोपास्यनिष्ठः साधक एव निष्ठादार्ढ्याय सम्बोध्यते। हे सुश्लोक हे सुमङ्गल हे सत्यराजन्, त्वं त्वदुपासननिष्ठो भवेति शेषः, तादृशोपासनाया एव सुश्लोकत्वाद्यापादकत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन्, त्वं कोऽसि सुखरूपोऽसि। कतमोऽतिशयेन सुखकारी असि। कस्मै सुखरूपाय परमेश्वराय काय ब्रह्मदेवत्याय वेदमन्त्राय त्वामहमभिषिञ्चामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विपरीतार्थस्यापि सम्भवात्। नहि खलु न्यायकारी सुमङ्गलः सुश्लोकः सुखरूप एव भवति, सुश्लोकानामपि नलादीनां दुःखित्वस्मरणात्। कतमः सुखकारीति व्याख्यानमयुक्तम्, निर्मूलत्वात्। काय ब्रह्मदैवत्यमन्त्रायेति च निर्मूलम्, तस्य तादृशशक्तौ मानाभावात्। किञ्च, सुखवाचिना कशब्देन नपुंसकेन भाव्यम्॥ ४॥

शिरो॑ मे॒ श्रीर्यशो॒ मुखं॒ त्विषिः॒ केशा॑श्च॒ श्मश्रू॑णि।
राजा॑ मे प्रा॒णो अ॒मृत॑ᳪ स॒म्राट् चक्षु॑र्वि॒राट् श्रोत्र॑म्॥ ५॥

मन्त्रार्थ—यजमान अपने शरीर का स्पर्श करे—मेरा सिर ब्रह्मतेज से संयुक्त हो, मुख वेदपाठ से यश-स्वरूप हो, सिर के बाल और दाढ़ी-मूछें हृदय में ब्रह्माग्नि के प्रकाश से कान्तिरूप हों, मेरा तेजस्वी प्राण समाधि-लाभ से अमृतमय हो, चक्षु इन्द्रिय दिव्य दृष्टि से और श्रोत्रेन्द्रिय दूरश्रवण की शक्ति से सम्पन्न हो॥ ५॥

'अङ्गानि चालभते यथालिङ्गᳪ शिरो म इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १९।४।२१)। यजमानो यथालिङ्गमङ्गान्यालभते 'शिरो मे' इत्यादिभिर्मन्त्रैरिति सूत्रार्थः। इन्द्रशरीरावयवदेवताकं पञ्चर्चम्। तत्र तृतीया गायत्री, अन्त्या त्र्यवसाना महापङ्क्तिः, शिष्टा अनुष्टुभः। अभिषिक्तो यजमान इन्द्ररूपः सन्नात्मनः सार्वात्म्यं पश्यन्नाह—मे मम शिरः श्रीः शोभाऽस्तु। मे मुखं यशोऽस्तु। मम केशाः श्मश्रूणि मुखलोमानि त्विषिर्दीप्तिरस्तु। राजा दीप्यमानो मम प्राणो मुखवायुरमृतमस्तु। चक्षुरिन्द्रियं सम्राडस्तु। श्रोत्रमिन्द्रियं विराड् विविधं राजमान-मस्तु। यद्वा श्रीर्मे शिरोऽस्ति। यशो मुखमस्ति। त्विषिः केशादयः। राजा प्राणोऽमृतं वर्तते। सम्राट् सङ्गतं राज्यं यत्र सः, चक्षुर्वर्तते। विराट् श्रोत्रमस्ति। प्रथमशरीरी विराडत्र ग्राह्यः।

अध्यात्मपक्षे—गुरूणोपदिष्टः साधकः स्वाङ्गेषु श्रीयशआदिभावनां कृत्वा चिन्तयति। यद्वा भौतिकशिर-आदीन्यङ्गानि तिरोभाव्य श्रीयशआदीनि शिरआदिरूपेण चिन्तयति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, राज्येऽभिषिक्तस्य मम श्रीः शिरो यशः कथनं मुखं त्विषिर्न्यायप्रदीप्तिरिव केशाः श्मश्रूणि च राजा मे प्राणोऽमृतं मरणरहितं चेतनं ब्रह्म। सम्राट् चक्षुः। विराट् विविधशास्त्रश्रवणयुक्तं श्रोत्रं कस्येति यूयं जानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रस्य राज्ञः शिरआदीनां शोभाधानादिरूपत्वादर्शनात्। नहि न्यायप्रदीप्तिः केशादीनामेव सम्भवति, भिन्नरूपत्वात्। न वा प्राणस्य चेतनब्रह्मरूपत्वं सम्भवति। यशःपदस्य न यशःकथनमर्थः। कथञ्चित्तथात्वेऽपि न मुखकीर्तिकथनयोरभेदः सम्भवति, भिन्नरूपत्वप्रसिद्धेः। सम्राट्पदस्य चक्षुर्विशेषणत्वे प्रकरणविरोधश्च। विराट् श्रोत्रमित्यपि तथाविधमेव ॥ ५ ॥

जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—मेरी जीभ कल्याणरूप हो, वाणी वैदिक सिद्धान्त के प्रचार से पूजित हो, मन 'अहं ब्रह्मास्मि' के उच्चारण से अहंभाव से युक्त हो, क्रोध अपनी मर्यादा में रहे, अंगुलियाँ आनन्दरूप हों, अंग परमानन्दरूप हों, मेरे मित्र शत्रु के नाशक हों ॥ ६ ॥

मे जिह्वा रसनेन्द्रियं भद्रं कल्याणरूपमस्तु। वाग् वागिन्द्रियं महो मह्यते पूज्यत इति महः पूज्यमानास्तु, पूजाकारिणी चास्तु, महेः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन्प्रत्ययः। मनो मन्युः क्रोधरूपमस्तु, क्रोधफलं वा ददातु। भामः क्रोधः स्वराट् स्वेनैव राजमानोऽस्तु, स्वराज्यक्षमोऽस्तु वर्तते वा। न कुतश्चित् प्रतिहन्यताम्। अवन्ध्यकोपत्वं मेऽस्त्वित्यर्थः। अङ्गुलयो मोदा मोदन्त इति मोदा आनन्दरूपाः सन्तु। पचाद्यच्। अङ्गानि प्रमोदाः प्रकृष्टहर्षाः सन्तु। मे मम मित्रं सहोऽस्तु। सहनेऽभिभवति शत्रूनिति सहः, रिपुनाशकमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—भद्रं मे जिह्वा महो वाग् मन्युर्मनः स्वराड् भामो मोदा अङ्गुलयः प्रमोदा अङ्गानि शत्रुपराभवो मित्रमिति चिन्तनीयमिति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, मे जिह्वा भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामो मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं च सहो सहायो मे भवेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अङ्गुल्यङ्गानां मोदप्रमोदरूपत्वासम्भवात्। सिद्धान्ते तु सार्वात्म्यभावनया तथा भाव्यते, शालग्रामे विष्णुबुद्धिवत्, योषायामग्निबुद्धिवच्चेति ध्येयम् ॥ ६ ॥

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—मेरी दोनों भुजाएँ बलिष्ठ हों, मेरे दोनों हाथ देवार्चन करने में समर्थ हों, मेरा अन्तरात्मा हृदय भी संसार से रक्षा करने में समर्थ हो ॥७॥

मे बाहू बलमस्तु, बलवन्तौ स्तामित्यर्थः। इन्द्रियं च बलं स्वकार्यक्षममस्तु। मे हस्तौ कर्म वीर्यं चास्तु, सत्कर्मकुशलौ सामर्थ्यवन्तौ च स्तामित्यर्थः। मम च आत्मा अन्तरात्मा उरो हृदयं च क्षत्रं क्षतात् त्राणकरमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—बलं मे बाहू कर्म वीर्यं च हस्तौ उरः क्षत्रं चात्मा स्यात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, मे बलमिन्द्रियं बाहू मे कर्म वीर्यं हस्तौ ममात्मा उरः क्षत्रं च' इति, तदपि चिन्त्यम्, अन्यत्रान्यबुद्धेर्भ्रान्तित्वात्, सम्पत्प्रतीकोपासनादीनां त्वदनभिमतत्वाच्च ॥ ७ ॥

पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—मेरा पृष्ठदेश सबको धारण करने वाले राष्ट्र के समान हो। पेट, कन्धे, गर्दन, दोनों ऊरु, दोनों हाथ, दोनों ओर का कटिभाग, दोनों जंघाएं और मेरे सभी अंग प्रजा के समान पोषणीय हों, अर्थात् राष्ट्ररूप शरीर में ये सब अंग निरुपद्रव रहें ॥ ८ ॥

मे मम पृष्ठीः पृष्ठप्रदेशो राष्ट्रं देशो देशवत् सर्वसाधारणमस्तु। मे मम उदरमंसौ स्कन्धौ ग्रीवाः कण्ठदेशाः श्रोणी कटिदेशौ ऊरू सक्थिनी अरत्नी हस्तदेशौ जानुनी च सर्वतोऽन्यान्यङ्गानि च विशः प्रजाः सन्तु, प्रजावत् पोष्याः सन्तु।

अध्यात्मपक्षे—राष्ट्रादिषु पृष्ठ्यादिदृष्टयः कर्तव्याः, व्यष्ट्यभिमानस्य मृत्युत्वात्, अमृतत्वाच्च समष्ट्यभिमानस्य।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, मम पृष्ठदेशादयो राष्ट्रादयः' इति, तदपि न सङ्गतम्, उपासनाङ्गीकारमन्तरा अन्यत्रान्यदृष्टेरसङ्गतेः ॥ ८ ॥

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्। आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः। जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—मेरी नाभि भगवान् के ध्यान से ज्ञानमय हो, मेरी पायु इन्द्रिय ज्ञानजनित संस्कार का आधार हो, मेरी स्त्री सन्तान को उत्पन्न करने में समर्थ हो, मेरे अण्डकोश आनन्द से समृद्ध हों, मेरी जननेन्द्रिय यागैश्वर्य और योगसम्पत्ति से सम्पन्न हो, मेरी जंघा और चरण धर्म मार्ग पर चलें, मैं प्रजाओं में प्रतिष्ठित राजा बनूं ॥ ९ ॥

मे नाभिश्चित्तं ज्ञानरूपमस्तु। उव्वटाचार्यरीत्या तु नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं च वर्तते। तत्र विज्ञप्तिर्विज्ञानम्, तज्जन्यः संस्कारश्चित्तम्। पायुर्मे गुदेन्द्रियं विज्ञानं ज्ञानजनितसंस्काराधारमस्तु। भसत् स्त्रीप्रजननमपचितिः प्रजारूपमस्तु सुभगमस्तु। यजमानपत्नीविषयकमेतत्। उव्वटाचार्यास्तु—पायुर्गुदप्रदेशः, अपचितिः पूजा भसच्च वर्तते, भसत्शब्देन स्त्रीप्रजननं गौडा आहुः। न च यजमानस्यैतद् भवति, अतः पत्नीविषयकमेतद् दर्शनम्। 'बभस्तिरत्तिकर्मा' (नि० ५।१२) इति तत्रभवान् यास्कः। बभस्ति भर्त्सयति दीप्यते भक्षयति वा स भसत्। 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' इत्यस्मात् 'शृदृभसोऽदिः' (उ० १।१३०) इति साधुः। मे मम आण्डो वृषणौ आनन्दनन्दौ आनन्देन सम्भोगजनितसुखेन नन्दत इति तथोक्तौ, स्तामिति शेषः, तत्सुखभोक्तारौ भवतामित्यर्थः। पसो लिङ्गम्, 'पसः सपतेः स्पृशतिकर्मणः' (नि० ५।१६) इति तत्रभवान् यास्कः। सपति समवैति स्त्रियेति पसः, पृषोदरादित्वाद् वर्णविपर्ययः। अथवा सपति स्पृशति स्त्रियं स्त्रीयोनिमिति वा पसः। भगः सौभाग्यं चास्तु। भग ऐश्वर्यं सौभाग्यसम्पत्तिर्वा। जङ्घाभ्यां पद्भ्यां चाहं धर्मोऽस्मि। उपलक्षणमेतत्, सर्वाङ्गैर्धर्मरूपोऽस्मीति यावत्। धर्मरूपत्वादेव विशि प्रजायां राजा प्रतिष्ठितोऽस्मि। धर्मप्रतिष्ठितो हि राजा भवति।

अध्यात्मपक्षे—चित्तं विज्ञानं मे नाभिः। अपचितिर्भसच्च पायुः। आनन्दनन्दौ प्रहर्षहर्षावाण्डौ। भगः सौभाग्यं मे पसः। धर्मो मे जङ्घे पादौ च। एतदुपलक्षितानि सर्वाण्यङ्गानि। कीदृशो धर्मः? विशि प्रतिष्ठितो राजा।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, मे चित्तं स्मरणवृत्तिर्नाभिः, विज्ञानं विशेषज्ञानमनेकज्ञानं वा मे पायुः, मूलेन्द्रियं मेऽपचितिः, प्रजाजनकं भसद् भगेन्द्रियम्, आनन्दनन्दौ आण्डौ अण्डाकारौ वृषणौ मे भग ऐश्वर्यं पसः सौभाग्ययुक्तं स्यात्। एवमहं जङ्घाभ्यां पद्भ्यां सह विशि प्रतिष्ठितो धर्मो राजास्मि, तस्माद्यूयं मदनुकूला भवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नाभ्या विज्ञानपाय्वोर्भेदस्य लोकप्रसिद्धत्वादभेदानुपपत्तेः। तथैव सर्वत्र उद्देश्यानां विधेयानां च भेद एव। न च राजापि जङ्घाभ्यां पद्भ्यां विशि प्रतितिष्ठति, किन्तु सर्व इव राजापि भूमावेव पद्भ्यां जङ्घाभ्यां च तिष्ठति। तस्मात् पूर्वोक्तं व्याख्यानमेव युक्तम् ॥ ९ ॥

प्रति॑ क्ष॒त्रे प्रति॑तिष्ठामि रा॒ष्ट्रे प्रत्यश्वे॑षु॒ प्रति॑तिष्ठामि॒ गोषु॑। प्रत्यङ्गे॑षु॒ प्रति॑तिष्ठाम्या॒त्मन् प्रति॑ प्रा॒णेषु॒ प्रति॑तिष्ठामि पु॒ष्टे प्रति॒ द्यावा॑पृथि॒व्योः प्रति॑तिष्ठामि य॒ज्ञे ॥१०॥

मन्त्रार्थ—मैं क्षत्रिय जाति में और राष्ट्र में प्रतिष्ठा चाहता हूँ, मैं घोड़ों का और गायों का स्वामी बनना चाहता हूँ, शरीर के अवयवों में नीरोग प्रतिष्ठित रह कर चित्त की शान्ति चाहता हूँ। मैं प्राणों में, धन-सम्पत्ति में, स्वर्ग और भूलोक में तथा यज्ञ के विषय में प्रतिष्ठा पाना चाहता हूँ ॥ १० ॥

'कृष्णाजिनेऽवरोहति प्रतिक्षत्र इति' (का० श्रौ० १९।४।२३)। यजमान आसन्दीतः कृष्णाजिनेऽवतरति प्रतिक्षत्र इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। विश्वेदेवदेवत्यं यजुः, अतिशक्वरी। अहं यजमानः क्षत्रे क्षत्रियजातौ प्रतितिष्ठामि प्रतिष्ठायुक्तो भवामि। राष्ट्रे देशे, अश्वेषु गोषु, अङ्गेषु करपादाद्यवयवेषु, आत्मन् आत्मनि चित्ते प्राणेषु पञ्चसु पुष्टे पुष्टौ समृद्धौ द्यावापृथिव्योरिहलोकपरलोकयोः प्रतितिष्ठामि, यज्ञे ज्योतिष्टोमादौ च प्रतितिष्ठामि, यज्ञानुष्ठाननिष्ठो भवामीत्यर्थः। प्रतितिष्ठामीति क्रियापदावृत्तिः प्रत्येकफलस्य प्राधान्यद्योतनार्था। क्षत्रराष्ट्रयोः प्रतिष्ठा तयोर्वशीकरणम्। गोऽश्वप्रतिष्ठा तत्प्राप्तिः। प्राणाङ्गप्रतिष्ठा नीरोगत्वम्। आत्मप्रतिष्ठा आधिराहित्यम्। पुष्टप्रतिष्ठा धनसमृद्धिः। द्यावापृथिव्योः प्रतिष्ठा उभयलोककीर्तिः। यज्ञे प्रतिष्ठा तदनुष्ठाननिष्ठा। वश्यविश्वः पशुमान्निराधिव्याधिः श्रीमान् यज्ञकर्ता च भवेयमिति महीधराचार्यः। प्रतिपदं प्रतितिष्ठामीत्यस्य एकदेशो ज्ञातव्यः, सत्यभामा सत्या, भीमसेनो भीम इत्यादिवत्।

अध्यात्मपक्षे—समष्टिभावनया साधकः स्वात्मवैभवं कामयते। क्षत्रे राष्ट्रेऽश्वेषु गोष्वङ्गेष्वात्मनि प्राणेषु पुष्टे द्यावापृथिव्योर्यज्ञे चाहं प्रतितिष्ठामि।

दयानन्दस्तु—'विशि प्रतिष्ठितो राजाहं धर्म्येण क्षत्रे क्षतात्रक्षके क्षत्रियकुले प्रतितिष्ठामि, राष्ट्रे प्रतितिष्ठामि, ... यज्ञे च प्रतितिष्ठामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धर्म्येण व्यवहारेणेत्यंशस्य निर्मूलत्वात्। न च शब्दमात्रे कश्चन प्रतितिष्ठति। सिद्धान्ते तु सौत्रामणीयागानुष्ठानाभिषेकमन्त्रपूर्वकात्ममनोभावनादिबलात् तत्सम्पत्तिरिति ॥ १० ॥

त्र॒या दे॒वा एका॑दश त्रयस्त्रि॒ꣳशाः सु॒राध॑सः। बृह॒स्पति॑पुरोहिता दे॒वस्य॑ सवि॒तुः स॒वे। दे॒वा दे॒वैर॑वन्तु मा ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर धन वाले बृहस्पति पुरोहित के साथ विद्यमान ब्रह्मा, विष्णु, महेश नामक तीन देवता, ग्यारह देवता और तेंतीस देवता—इन सबके प्रेरक सविता देवता की आज्ञा में वर्तमान सभी देवता मेरी रक्षा करें ॥११॥

'त्रया देवा इति शस्त्रान्ते जुहोति' (का० श्रौ० १९।५।८)। शस्त्रसमाप्तौ वषट्कृते त्रया इति कण्डिकाद्वयात्मकेन मन्त्रेण त्रयस्त्रिंशं वसाग्रहं जुहोतीति सूत्रार्थः। त्र्यवसाना विश्वेदेवदेवत्या पङ्क्तिः। एकादश-देवा वक्ष्यमाणैर्देवैः सह मामवन्तु रक्षन्तु। कीदृशा देवाः? त्रयाः, त्रयोऽवयवा येषां ते तथोक्ताः, 'संख्याया अवयवे तयप्' (पा० सू० ५।२।४२) इति त्रिशब्दात्तयपि, 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' (पा० सू० ५।२।४२) इति अयजादेशे, 'यस्येति च' (पा० सू० ६।४।१४८) इतीकारलोपे रूपम्। ते च कति भवन्तीति मन्त्रः स्वयमेवाह— त्रयस्त्रिंशा इति। तिसृभिरधिका त्रिंशत्संख्या येषां ते त्रयस्त्रिंशाः, त्रयस्त्रिंशत्संख्या इत्यर्थः। सुराधसः शोभनं राधो धनं येषां ते। 'राध इति धननाम, राध्नुवन्त्यनेन' (नि० ४।४) इति यास्कोक्तिः। तथा बृहस्पतिपुरोहिता बृहस्पतिः पुरोहितो येषां ते तथोक्ताः। सवितुर्देवस्य सवे आज्ञायां वर्तमानाः। देवा दीप्यमानाः।

अध्यात्मपक्षे—देवैः सह ये एकादश देवा त्रयास्त्रिप्रकाराः, ये चैकीकृतास्त्रयस्त्रिंशत् सम्पद्यन्ते, ये च सुराधसः शोभनधनाः, ये च बृहस्पतिपुरोहिताः, ते सर्वे सवितुः परमेश्वरस्य प्रसवे आज्ञायां प्रवर्तमाना वक्ष्यमाणैर्देवैः सह मामवन्तु ब्रह्मज्ञानप्रतिबन्धापनयनेन ब्रह्मज्ञानसम्पादनेनाविद्यालक्षणसंसारमृत्यो रक्षन्तु।

दयानन्दस्तु—'ये त्रयास्त्रयाणामवयवभूता देवा दिव्यगुणा बृहस्पतिपरोहिता बृहस्पतिः सूर्यः पुरः पूर्वः हितो धृतो येषु ते। सुराधसः सुष्ठु राधसः संसिद्धयोगेभ्य एकादशसंख्याकास्त्रयस्त्रिंशाः सवितुर्देवस्य परमेश्वरस्य सवे परमैश्वर्ययुक्ते प्रेरयितव्ये जगति वर्तन्ते, तैर्देवैः सहितं देवा विद्वांसो मामवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्याणां विदुषां पृथिव्याकाशादीनां पालने सामर्थ्याभावात्। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशद्युचन्द्रनक्षत्राणि अष्टौ वसवः। प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जया एकादशो जीवात्मा द्वादशमासा विद्युद्यज्ञावित्येते त्रयस्त्रिंशद्देवाः। एतेषां पालने रक्षणे मनुष्याणामल्पशक्तिमतां विदुषामपि न सामर्थ्यं दृश्यते। यदि जीवात्मापि त्रयस्त्रिंशदन्तर्गत एव, तर्हि तैः सह मामवन्त्विति मांपदप्रयोगो व्यर्थ एव स्यात्। किञ्चात्र एकादशरुद्रा ये बृहदारण्यकादौ देवत्वेनोक्ताः, त्वयापि भूमिकायामङ्गीकृताः, तानपहायान्येषां ग्रहणे का विनिगमना? ॥ ११ ॥

प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास्तृतीयैस्तृतीयाः सत्येन सत्यं यज्ञेन यज्ञो यजुर्भिर्यजूंषि सामभिः सामान्यृग्भिर्ऋचः पुरोनुवाक्याभिः पुरोनुवाक्या याज्याभिर्याज्या वषट्कारैर्वषट्कारा आहुतिभिराहुतयो मे कामान् समर्धयन्तु भूः स्वाहा ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—पहले कहे हुए वसु देवता, दूसरे रुद्र देवताओं के साथ मिलकर मेरी रक्षा करें, दूसरे देवता तीसरे देवताओं के साथ और तीसरे आदित्य देवता सत्यरूप ब्रह्म के साथ, ब्रह्म यज्ञ के साथ, यज्ञ यजुर्वेद के मन्त्रों के साथ, यजुः साम मन्त्रों के साथ, साम ऋचाओं के साथ, ऋचाएँ पुरोनुवाक्या मन्त्रों के साथ, पुरोनुवाक्या याज्या मन्त्रों के साथ, याज्या हविःसमर्पक वषट्कार मन्त्रों के साथ, वषट्कार आहुतियों के साथ मेरी कामनाओं को पूर्ण करें। भुवन को भली प्रकार दी हुई आहुति स्वीकृत हो॥ १२॥

विश्वेदेवदेवत्यमाशीर्लिङ्गं यजुः। प्रकृतिश्छन्दः, 'तान्यभि-सं-व्या-प्रेभ्यः कृतिः' (पि० सू० ४।३) इति चतुरशीत्यक्षरस्य प्रकृतित्वात्। 'इयादिपूरणः' (पि० सू० ३।२) इति चतुरशीत्यक्षरत्वं ज्ञेयम्। कथमवन्त्विति जिज्ञासायामाह—प्रथमा इति। प्रथमा देवा द्वितीयैः सहिता मामवन्तु, द्वितीया देवास्तृतीयैः सहावन्तु, तृतीयाः सत्येन सह, सत्यं यज्ञेन सह, यज्ञो यजुर्भिः सह, यजूंषि सामभिः सह, सामानि ऋग्भिः सह, ऋचः पुरोनुवा-

क्याभिः सह, पुरोनुवाक्या याज्याभिः सह, याज्या वषट्कारैः सह, वषट्कारा आहुतिभिः सह, एवं त्रिप्रकारैरेकादशसंख्यैर्देवैरुत्तरोत्तरं पालिता आहुतयो मे मम कामानभिलाषान् समर्धयन्तु पूरयन्तु। भूः, भवतीति भूर्भुवनम्, अथवा भवति सम्पद्यत इति भूराहुतिरूपम्, स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—रक्षणप्रकारमेवाहानया कण्डिकयेति। तथाहि—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ४।४।२२), 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इति श्रुतिसूत्राभ्यां ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे सर्वापेक्षा गम्यते। एवं त्रिप्रकारैर्देवैरुत्तरोत्तरं पालिता आहुतयोऽभीष्टकामान् पूरयन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा प्रथमा द्वितीयैः प्राणाद्यै रुद्रैः, द्वितीयास्तृतीयैर्द्वादशादित्यैः, तृतीयाः सत्येन कारणेन, सत्यं यज्ञेन शिल्पक्रियया, यज्ञो यजुर्भिः, यजूंषि सामभिः, सामानि ऋग्भिः, ऋचः पुरोनुवाक्याभिरथर्ववेदप्रकरणैः, पुरोनुवाक्या याज्याभिर्यज्ञसम्बद्धक्रियाभिः, याज्या वषट्कारैरुत्तमकर्मभिः, वषट्कारा आहुतिभिः, आहुतयः स्वाहा एते स्वाहा सत्यक्रियया एते सर्वे भूरस्यां भूमौ मे मम कामान् समर्धयन्तु, तथा मां भवन्तो बोधयन्तु' इति, तदतीवोपहासास्पदम्, वैदिकपदार्थाज्ञानविजृम्भितत्वात्। शस्त्र-स्तोत्र-पुरोनुवाक्या-याज्या-धाय्यानां वैदिकानां शब्दानां मन्त्रविशेषे रूढत्वात्। न च पुरोऽनुवाक्याशब्देनाथर्ववेदप्रकरणानि बोध्यन्ते, मानाभावात्। न च याज्यापदेन यज्ञसम्बन्धिन्यः क्रिया प्रसिद्धाः सन्ति। एवमेव वषट्कारैरुत्तमकर्मभिरित्यपि व्याख्यानं निर्मूलमेव ॥ १२ ॥

लोमा॑नि॒ प्रय॑तिर्म॒म॒ त्वङ्म॒ आन॑ति॒राग॑तिः।
मा॒ᳪ᳭सं म॒ उप॑नति॒र्वस्व॒स्थि म॒ज्जा म॒ आन॑तिः॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—मेरे सारे रोम विशाल हों, मेरी त्वचा ऐसी हो कि उसे देख कर झुक कर सब लोग प्रणाम करें, मेरे पास आवें। मेरा मांस प्राणियों को नमन कराने वाला हो, मेरी हड्डियाँ धनरूप हों, मेरी मज्जा, अर्थात् हड्डी के भीतर का भाग जगत् को नमन कराने वाला हो। तात्पर्य यह है कि मेरे शरीर की सातों धातुएँ जगत् को वश में कर सकें ॥ १३ ॥

'प्रत्यक्षभक्षं यजमानो लोमानि प्रयतिरिति' (का० श्रौ० १९।५।१०)। यजमानो ग्रहशेषं प्रत्यक्षमुपह्वपूर्वकं भक्षयति लोमानीत्यादिमन्त्रेणेति सूत्रार्थः। लोमत्वगादिदेवत्या अनुष्टुप्। मम लोमानि प्रयतिः प्रयतनम्, प्रयत्नो वर्तते तथोद्यमशीलः स्यां यथा लोमस्वपि प्रयत्नः स्यात्। मे त्वग् आनतिरागतिश्च, आनयन्ति भूतानि यस्यां सा आनतिः, आगच्छन्ति भूतानि यां प्रति सा आगतिः। मदीयां त्वचं दृष्ट्वा भूतान्यागच्छन्ति नमन्ति चेति भावः। मे मम मांसमुपनतिः, उपनयन्ति भूतानि यत्र सा। मम अस्थि वसु धनं धनरूपमेव। मे मज्जा आनतिः। उपलक्षणमेतत्। मम सप्तापि धातवो जगद्वशीकरणसमर्था भूयासुरित्यभिप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—प्रयत्यादिषु लोमादिदृष्टयः क्रियन्ते। तेन नाहं भौतिकव्यष्टिकार्यकारणसङ्घातरूपः, किन्तु समष्टिसूक्ष्मप्रयत्नाद्युपलक्षितहिरण्यगर्भरूप इति भावयेत्।

दयानन्दस्तु—'हे अध्यापकोपदेशकाः, यथा मम लोमानि प्रयतिर्मे त्वगानतिर्मांसमागतिर्मे वसूपनतिर्मेऽस्थि मज्जा चानतिः, तथा यूयं प्रयतध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापकोपदेशकादीनां लोमादीनां प्रयत्ना-

दिरूपेण परिणमनसामर्थ्यादर्शनात् । सिद्धान्ते तु सौत्रामणीयागमन्त्रप्रभावेण लोमादिषु तादृशश्चमत्कारो नासम्भवः । अध्यात्मपक्षे तु व्यष्टिसमष्ट्यभेदचिन्तनमुपासनारूपमेव । 'पादा मात्रा मात्राश्च पादाः' (माण्डूक्यो० ८) इतिवत् ॥ १३ ॥

यद् दे॒वा दे॑वहे॒ड॑नं॒ देवा॑सश्चकृ॒मा व॒यम् ।
अ॒ग्निर्मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑द् मुञ्च॒त्वꣳ॑ह॒सः ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे प्रकाशसम्पन्न देवताओं, हमसे जो आप लोगों का कोई अपराध हुआ हो, तो उस पाप से और सकल विघ्नरूप पापों से अग्नि देवता हमें मुक्त कर दें ॥ १४ ॥

'मासरकुम्भं प्लावयति यद्देवा इति' (का० श्रौ० १९।५।१३) । अवभृथेष्टिं कृत्वा यद्देवा इत्यादिना वरुण नो मुञ्चेत्यन्तेन सार्धकण्डिकाचतुष्कात्मकेन मन्त्रेण मासरकुम्भं जले तारयेदिति सूत्रार्थः । अग्नि-वायु-सूर्यदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः कूष्माण्डीसंज्ञाः । देवा दीव्यन्तीति देवा द्योतमानाः, हे देवासो देवाः ! वयं यद्देवहेडनं देवानामनादरम्, देवापराधमिति यावत्, चकृमा कृतवन्तः, करोतेर्लिट्, संहितायां छान्दसो दीर्घः, अग्निस्तस्मादेनसः पापात्, मा मां मुञ्चतु पृथक्करोतु । तथा विश्वाद् विश्वस्मात्, अंहसः विघ्नाच्च मुञ्चतु पृथक्करोतु । विश्वादित्यत्र ङसेः स्मादभाव आर्षः ।

अध्यात्मपक्षे—तथैव व्याख्यानम् । यद्वयं देवहेडनं प्रमादात् कृतवन्तः, हे देवाः ! भवतामनुरोधेन अग्निः परमेश्वरस्तज्जनितात् पापान्मां मोचयतु । न केवलं तस्मादेव, किन्तु विश्वस्मात् सर्वस्मात् पापान्मां मोचयतु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यद्वयं देवाः, अन्ये देवासश्च परस्परं देवहेडनं देवानामनादरं चकृम, तस्माद् विश्वादेनसोऽहसश्च अग्निर्मां मुञ्चतु' इति, तत्रापि विचारणीयम्—हे देवास इति सम्बोधनमपहाय हे विद्वन्निति सम्बोधनकल्पनं मोदकं परित्यज्य करं लेढीत्याभाणकमनुहरति । न चैको विद्वान् बहूनामनादरापराधं क्षन्तुमधिकृतः समर्थो वा, मानाभावात्, देवपदेन योनिविशेष एव गृह्यत इत्यस्य भूमिकायां साधितत्वाच्च ॥१४॥

यदि॒ दिवा॒ यदि॒ नक्त॒मेनाꣳ॑सि चकृ॒मा व॒यम् ।
वा॒युर्मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑द् मुञ्च॒त्वꣳ॑ह॒सः ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हमने दिन में और रात में अज्ञानवश जो भी पाप किये हों, वायु देवता उस पाप से अथवा सभी पापों से हमारी रक्षा करें ॥ १५ ॥

यदि दिवा दिने यदि नक्तं रात्रौ वयमेनांसि पापानि चकृमा, वायुस्तस्मादेनसो विश्वाद् विश्वस्मादेनसश्च मां मुञ्चतु ।

अध्यात्मपक्षे—वायुभावापन्नः परमेश्वरो मां मुञ्चतु । अन्यत् पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यदि दिवा यदि नक्तमेनांसि वयं चकृम, वायुर्मां मुञ्चतु' इति, तदपि तुच्छम्, मनुष्यस्य वायोस्तथा सामर्थ्याभावात् ॥ १५ ॥

यदि जाग्रद् यदि स्वप्न एनांꣳसि चकृमा वयम् ।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वाद् मुञ्चत्वꣳहसः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हमने यदि जागते में या सोते समय कुछ पाप किये हैं, सूर्य देवता उस पाप से और अन्य सभी प्रकार के पापों से हमें मुक्त कर दें ॥ १६ ॥

यदि जाग्रद् जाग्रति जाग्रदवस्थायाम्, सप्तमी लुप्ता। यदि स्वप्ने स्वप्नावस्थायां वयमेनांसि चकृमा कृतवन्तः, सूर्यस्तस्मादेनसो विश्वस्माच्चांहसो मां मुञ्चतु। अत्र ब्राह्मणम्—'यद्देवा देवहेडनमिति। देवकृतादेवैन-मेनसो मुञ्चति यदि दिवा यदि नक्तसिति यदेवाहोरात्राभ्यामेनः करोति तस्मादेवैनं मुञ्चति यदि जाग्रद्यदि स्वप्न इति मनुष्या वै जागरितं पितरः सुप्तं मनुष्यकिल्बिषाच्चैवैनं पितृकिल्बिषाच्च मुञ्चति' (श० १२।९।२।२)। देवहेडनमित्यनेन देवकृतादेनसो मुञ्चति यदि दिवा यदि नक्तमिति यदेवाहोरात्राभ्यामेनः करोति तस्मान्मुञ्चति, यदि जाग्रदित्यनेन मनुष्यकिल्विषान्मुञ्चति, यदि स्वप्न इत्यनेन पितृकिल्बिषान्मुञ्चतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यमण्डलान्तर्गतः पुरुषः परमेश्वरः, 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) इति न्यायात्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यदि जाग्रद् यदि·······सूर्य इव भवान् मां मुञ्चतु' इति, तदपि तुच्छम्, मनुष्यस्य अन्यदीयजाग्रत्स्वप्नगतापराधानां विश्वेषां चापराधानां ज्ञानासम्भवात्, तेभ्यो मोचनस्य दूरतो निरस्तत्वात् ॥ १६ ॥

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये । यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेक-स्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—ग्राम में अथवा वन में वृक्षछेदनरूप, सभा में असत्य भाषणरूप, सकल इन्द्रियों से परदोष कथन, परनारी दर्शन आदि, देवताओं के प्रति, दास वर्ग के प्रति, वैश्यों के प्रति जो हमने अपराध या पाप किये हैं, जो पाप पत्नीसहित यजमान के इस कर्म में किया गया है, उन सब पापों से हे देवताओं, अथवा हे कुम्भ के अधिष्ठात्री देवताओं ! हमें मुक्त कीजिये ॥ १७ ॥

लिङ्गोक्तदेवतं यजुः। यद् ग्रामे यच्चारण्ये यत् सभायां पक्षपातादिरूपमेनः, यदिन्द्रिये इन्द्रियविषये परापवादनारीदर्शनादि, अथवा इन्द्रियविषये देवविषये वा शूद्रेऽर्ये वैश्ये, 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति निपातः, यदेनः पापं वयं चकृमा कृतवन्तः, यच्चैतद्व्यतिरिक्तं पापं वयं कृतवन्तः, आवयोर्दम्पत्योः पत्नीयजमानयोरेकस्य अधिधर्मणि कर्मण्यधिकर्मविषये यदेनो धर्मलोपलक्षणं कृतवन्तस्तस्यैनसः पापस्य अवयजनं नाशनं त्वमसीति मासरकुम्भं प्रति वचनम्। अवपूर्वयजेर्नाशने वृत्तिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'यद् ग्रामे यदरण्य इति। ग्रामे वा ह्यरण्ये वैनः क्रियते तस्मादेवैनं मुञ्चति यत्सभायामिति सभ्यादेवैनमेनसो मुञ्चति यदिन्द्रिय इति दैवादेवैनमेनसो मुञ्चति यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधिधर्मणि तस्यावयजनमसीति सर्वस्मादेवैनमेतस्मादेनसो मुञ्चति' (श० १२।९।२।३)। यदिन्द्रिय इत्यत्रेन्द्रियपदेन देवो गृह्यते। देवविषये यदेनश्चकृमेति तदर्थः।

अध्यात्मपक्षे—मासरकुम्भोपलक्षितः परमात्मैवात्र प्रार्थनीयः, तस्यैव सर्वपापनाशकत्वोपपत्तेः। व्याख्यानं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्! यद् ग्रामे ... सर्वस्य त्वमवयजनं दूरीकरणसाधनमसि, तस्मात् त्वं महाशयोऽसि' इति, तदपि पूर्वोक्तदूषणगणं नातिक्रामयति ॥ १७ ॥

यदापो॑ अघ्न्या इति॒ वरु॒णेति॒ शपा॑महे॒ ततो॑ वरुण नो मुञ्च। अव॑भृथ निचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचु॒म्पुणः। अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑तमेनो॑ऽयक्ष्यव॒ मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतं पु॒रुरा॒व्णो॑ देवरि॒षस्पा॑हि ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—जो जल स्वच्छ रखने योग्य है, अथवा जो सोमलता काटने योग्य नहीं है, उसको हमने जो अभिषुत किया है, हे वरुण देवता! उस पाप से हमें मुक्त कीजिये। घड़े को जल में डुबाकर कहे कि हे मन्दगति जलाशय अवभृथ! यद्यपि तुम अति गमनशील हो, तो भी मन्दगति हो जाओ, क्योंकि मैंने ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जानबूझ कर हवि के स्वामी देवताओं के प्रति जो कुछ अपराध किया है, उसे मैं इस जलाशय में छोड़ रहा हूँ। हमारे सहायक ऋत्विजों ने यज्ञ का दर्शन करने के लिये आये मनुष्यों की अवज्ञा कर जो पाप अर्जित किया है, उसे हमने इस जल में डुबो दिया है। हे यज्ञदेवता, विरुद्ध फल देने वाले पापों से हमारी रक्षा करो ॥ १८ ॥

यदाप इति कण्डिकैकदेशो व्याख्यातपूर्व (६।२२) इत्यत्र। 'पूर्ववन्मज्जनम्' (का० श्रौ० १९।५।१४)। पूर्ववदिति अवभृथेत्यादि ओषधीरुताप इत्यन्तेन मन्त्रेण मासर(सुरा)कुम्भस्य जले मज्जनं कुर्यादिति सूत्रार्थः। अवभृथेति कण्डिकैकदेशो व्याख्यातपूर्वः (३।४८) इत्यत्र। इयान् विशेषः—अवायक्षि नाशितवानसि। यजेर्लुङि तङि उत्तमैकवचने रूपम्। यथात्र 'अयक्षि अव' इति पदं तथा पूर्वत्र 'अयासिषमव' इति पदम्। अवायक्षीतिवद् अवायासिषमिति यावत्।

षष्ठे द्वाविंशी कण्डिका—यदाहुरघ्न्या इति प्रकरणप्राप्तं व्याख्यानं पुनः स्मार्यते। यदाहुरिति वरुणदेवत्या गायत्री अवसानहीना। अघ्न्या इति गोनाम। हे वरुण, वेदस्मृतिलोकवाक्यानि अघ्न्या अहन्तव्या अवध्याः पूज्या गाव इति वदन्ति। इतिकरणेन वाक्यार्थमभिनयेन दर्शयति। हे वरुण, वयं तु शपामहे। इतिकरणं प्रदर्शनार्थम्। इति एवमनेन प्रकारेण अघ्न्याः शपामहे हिंस्मः, शपतिर्हिंसार्थः। अत एव वयं याचामहे हे वरुण, ततस्तस्मादेनसो नो मुञ्च मोचय।

अत्र ब्राह्मणम्—'यदापो अघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्चेति वरुण्यादेवैनमेनसो मुञ्चत्यवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुण इति यो ह वा अयमपामावर्तः स हावभृथः स हैष वरुणस्य पुत्रो वा भ्राता वा तमेवैतत् स्तौत्यव देवैर्देवकृतमेनोऽयक्षीति देवकृतमेवैनोऽवयजतेऽत्र मर्त्यैर्मर्त्यकृतमिति मर्त्यकृतमेवैनोऽवयजते पुरुराव्णो देवरिषस्पाहीति सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह' (श० १२।९।२।४)।

'अवभृथ निचुम्पुण' इति यज्ञदैवतं यजुः। अवाचीनानि पात्राणि जलमध्ये भ्रियन्ते यस्मिन् यज्ञविशेषे सोऽयमवभृथः, तत्सम्बुद्धौ हे अवभृथ यज्ञ, हे निचुम्पुण नितरां चोपति मन्दं गच्छति यः स निचुम्पुणः, तत्सम्बुद्धौ हे निचुम्पुण, यद्यपि त्वं निचेरुः, नितरां चरतीति निचेरुः, नितरां गमनशीलोऽसि, तथाप्यत्र निचुम्पुणो भव मन्दगमनो भव। किमर्थमिति चेत्? तत्राह—देवैर्द्योतनात्मकैः, अस्मदीयैरिन्द्रियैः, देवकृतं

देवेषु हविःस्वामिषु कृतमेनः पापं यदस्ति तदवायासिषं जलेऽहमवनीतवानस्मि। तथा मर्त्यैर्मनुष्यैरस्मत्सहायभूतैर्ऋत्विग्भिर्मर्त्यकृतं मर्त्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञारूपं यदेनोऽस्ति, तदप्यहमवायक्ष्यवायासिषम्। इदमस्मत्कृतं पापं यथा त्वां न व्याप्नोति तथा मन्दं गच्छ। यथा अवभृथाख्ययज्ञः पुरुरावा पुरु बहु रुद्धं फलं राति ददातीति पुरुरावा, तस्माद् रिषो वधात् पाहि पालय।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाधिरोहति। वारुण्यर्चा वरुणो वै देवानाᳬं राजा स्वयैवैनमेतद्देवतयाऽभिषिञ्चति निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा साम्राज्याय सुक्रतुरिति' (श० १२।८।३।१०)। 'अथ सुवर्णरजतौ रुक्मौ व्युपास्यति। मृत्योः पाहि विद्योत्पाहीति वृष्टिर्वै विराट् तस्या एते घोरे तन्वौ विद्युच्च ह्रादुनिश्च ततः सुवर्ण एव रुक्मो विद्युतो रूपᳬं रजतो ह्रादुनेस्ताभ्यामेवास्मै देवताभ्याᳬं शर्म यच्छति तस्मात् सौत्रामण्येजानस्यैताभ्यां देवताभ्यां न शङ्का भवत्यथो य एवमेतद्वेद' (श० १२।८।३।११) ॥ १८ ॥

स॒मु॒द्रे ते॒ हृद॑यम॒प्स्व॒न्तः सं त्वा॑ विश॒न्त्वोष॑धीरु॒ताप॑ः। सु॒मि॒त्रि॒या न॒ आप॒ ओष॑धयः सन्तु दुर्मि॒त्रि॒यास्तस्मै॑ सन्तु॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—अवभृथ स्नान के अनन्तर दो डग चल कर अंजुलि में जल लेकर शत्रु की दिशा में उसे छोड़ा जाता है। हे सोम, तुम्हारा हृदय समुद्र के जल में स्थित है, वहाँ तुमको प्रेषित करता हूँ। वहाँ अन्य औषधियाँ और जल तुम्हारे साथ मिल जाँय, जल और औषधियाँ हमारे मित्र हों। जो काम हमारे प्रतिकूल हैं, जो हमारे शत्रु हैं, उनका नाश करने के लिये यह अंजुलि हम समर्पित करते हैं ॥ १९ ॥

'सुमित्रिया न इत्यपोऽञ्जलिनादाय दुर्मित्रिया न इति द्वेष्यं परिषिञ्चति द्वौ विक्रमा उदङ्गत्वा' (का० श्रौ० १९।५।१५)। यजमानोऽवभृथप्रवेशदेशात् प्रक्रमद्वयमुदीच्यां गत्वा सुमित्रिया इति जलमादाय यस्यां दिशि द्वेष्यो भवेत् तस्यां दिशि ता अपो निषिञ्चेदिति सूत्रार्थः। समुद्रे ते इति द्विपदा विराट् अब्देवत्या। हे वरुण, समुद्रे अप्सु अन्तस्ते हृदयम्, तादृशं त्वा ओषधीरोषधयः, विभक्तिव्यत्ययः, उत आपो विशन्तु संसृज्यन्ताम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तरिति। आपो वै समुद्रो रसो वा आपस्तदेनमेतेन रसेन सᳬंसृजति सन्त्वाविशन्त्वोषधीरुताप इति तदेनमेतेनोभयेन रसेन सᳬंसृजति यश्चौषधिषु यश्चाप्सु द्वौ विक्रमा उदङ्ङुत्क्रामत्येतावतौ मनुष्ये जूतिर्यावान् विक्रमस्तद्यावत्येवास्मिन् जूतिस्तयैव पाप्मानं विजहाति' (श० १२।९।२।५)। 'सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्त्विति। अञ्जलिनाप उपाचति वज्रो वा आपो वज्रेणैवैतन्मित्रधेयं कुरुते दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति यामस्य दिशं द्वेष्यः स्यात् तां दिशं परासिञ्चेत् तेनैव तं पराभावयति' (श० १२।९।२।६)।

अध्यात्मपक्षे—साधकानां हृदयं ब्रह्माकाराकारितवृत्तिमद् ब्रह्मानन्दरसपूर्णं च भूयात्, कामक्रोधादयो द्विषश्च पराभूयन्तामिति तात्पर्यम् ॥ १९ ॥

द्रु॒प॒दादि॑व मुमुचा॒नः स्वि॒न्नः स्ना॒तो मला॑दिव।
पू॒तं प॒वित्रे॑णे॒वाज्य॒माप॑ः शुन्धन्तु॒ मैन॑सः ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—पत्नीसहित यजमान पहिने हुए वस्त्रों को छोड़ दे। हे जल देवता, मुझे आप पाप से पवित्र करें। जैसे पुरुष पादुका को सहज ही छोड़ देता है, अथवा स्नान करने से जैसे शरीर के मैल से मुक्त हो जाता है, अथवा जैसे ऊन के वस्त्र से छाना हुआ घृत निर्मल हो जाता है, वैसे ही आप मुझे पापों से मुक्त कर दें ॥ २० ॥

'अवभृथवत् स्नात्वा वासोऽपासनं द्रुपदादिवेति' (का० श्रौ० १९।५।१६)। जलस्थावेव जायापती सौमिकावभृथवत् स्नात्वा कर्मकाले धृतं वासोऽप्सु क्षिपत इति सूत्रार्थः। अब्देवत्याऽनुष्टुप्। आपो जलानि, एनसः पापात्, मा मां शुन्धन्तु पुनन्तु, पापात् पृथक्कुर्वन्तु। एतस्मिन्नर्थे दृष्टान्तत्रयमुच्यते—द्रुपदादिवेति। द्रुस्तरुः, तन्मयं पदं द्रुपदं पादुका, तस्माद् मुमुचानः पृथग्भवन् यथा पादुकादोषैरसम्बद्धो भवति, मुचेर्विकरणव्यत्ययेन शानचि जुहोत्यादिवाद् द्वित्वे मुमुचान इति रूपम्। यथा च स्विन्नः स्वेदयुक्तः स्नातः सन् मलात् पृथग् भवति। आज्यमिव यथा पवित्रेण कम्बलमयेन पूतं गालितमाज्यं घृतं कीटेभ्यः पृथग् भवति, तथाऽपो मां शुन्धन्तु। 'पलाशी द्रुद्रुमागमाः' (अ० को० २।४।५) इति कोषे द्रुमार्थको द्रुशब्द उक्तः।

अत्र ब्राह्मणम्—'द्रुपदादिव मुमुचानः। स्विन्नः स्नातो मलादिव पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनस इति वासोऽपप्लावयति यथेषीकां मुञ्जाद्विवृहेदेवमेनꣳ सर्वस्मात् पाप्मनो विवृहति स्नाति तम एवापहते' (श० १२।९।२।७)। सूत्रमन्त्रव्याख्यानेन व्याख्यातप्रायं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे—आपः अब्भावापन्नः परमेश्वरः, एनसो मां शुन्धन्तु शोधयतु। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे आपः प्राणवज्जलवत्पूता विद्वांसः, भवन्तो द्रुपदादिव वृक्षात् फलादिवद् मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव पवित्रेणेव यथा शुद्धिकरेणेव पूतं शुद्धमाज्यं घृतं तथा मामेनसः शुद्धन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्याणां सर्वैनसः पावनसामर्थ्यायोगात्॥ २०॥

उद्वयं तम॑स॒स्परि॒ स्वः॒ पश्य॑न्त॒ उत्त॑रम्।
दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम्॥ २१॥

मन्त्रार्थ—अन्धकारमय लोक से परम श्रेष्ठ स्वर्ग लोक को देखते हुए, देवलोक में सूर्य देवता को देखते हुए हम श्रेष्ठ ब्रह्मज्योति को प्राप्त करते हैं॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान जल से बाहर निकले॥ २१॥

'सोमवदुत्क्रमणमागमनं च' (का० श्रौ० १९।५।१७)। सोमवद् उद्वयमिति मन्त्रेण जलान्निष्क्रमणम्, अपाम सोममित्यृचं जपतां त्रिपशुदेशं प्रत्यागमनं भवतीति सूत्रार्थः। सूर्यदेवत्याऽनुष्टुप् प्रस्कण्वदृष्टा। उदः अगन्मेत्याख्यातेन सम्बन्धः। वयं तमसः परि तमोबहुलादस्मान्मृत्युलक्षणात् संसाराद् उदगन्म उद्गता निर्गताः, गमेर्लङि शपि लुप्ते मस्य नः। कथम्भूता वयम्? उत्तरम् उत्कृष्टतरं स्वः स्वर्गं पश्यन्त ईक्षमाणाः। ततोऽपि देवत्रा देवलोके सूर्यं देवं पश्यन्तः। उत्तमं ज्योतिर्ब्रह्मरूपमुदगन्म प्राप्ताः।

अत्र ब्राह्मणम्—'उद्वयं तमसस्परीति। पाप्मा वै तमः पाप्मानमेव तमोऽपहते स्वः पश्यन्त उत्तरमित्ययं वै लोकोऽद्भ्य उत्तरोऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमꣳ स्वर्ग एव लोकेऽन्ततः प्रतितिष्ठत्यनपेक्षमेत्याहवनीयमुपतिष्ठते' (श० १२।९।२।८)। तमःपदेन पाप्मा ग्राह्यः।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मोपासकाः स्वानुभवं प्रकाशयन्तः प्राहुः—वयं तमसोऽज्ञानतत्कार्यात्मकात् प्रपञ्चात् परि उपरि विद्यमानं स्वः ब्रह्मात्मकं स्वर्गम् उदगन्म ब्रह्मभावं प्राप्ताः। कीदृशा इत्याकाङ्क्षायां हेतुगर्भमुत्तरं पठति—उत्तरम् उत्कृष्टतरं सूर्यं देवं द्योतनात्मकं सूर्यमात्मानं पश्यन्तः, ततोऽप्युत्तममुत्कृष्टतमं ज्योतिः

सूर्यमण्डलान्तर्गतं परमात्मज्योतिर्ज्योतिषामपि ज्योतिरगन्म साक्षात्कृतवन्तः, 'हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः' (छा० १।६।६), 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) इति श्रुतिसूत्रयोः प्रसिद्धमिति शेषः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं तमसः परं ज्योतिः सूर्यं सवितारं चराचरात्मानं परमेश्वरं वा परिपश्यन्तः सन्तो देवत्रा दिव्यगुणेषु देवेषुः स्वः सुखरूपं देवं दिव्यसुखप्रदं स्वरुत्तरमुत्तमं ज्योतिः स्वप्रकाशं परमेश्वरमुदगन्म, तथैव यूयमप्येनं प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नीरूपस्य परमात्मनो दृग्गोचरत्वानुपपत्तेः । देवं दिव्यसुखप्रदमित्यपि चिन्त्यम्, निर्मूलत्वात् । सिद्धान्ते तु प्रत्यक्षस्य सूर्यस्य चक्षुषा दर्शनम्, हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टस्य परमात्मनो ध्यानबलेन नीरूपस्य ब्रह्मज्योतिषस्तु प्रत्यगात्मना साक्षात्कारः । न च त्वन्मते तथा सम्भवति, प्रत्यगात्मपरमात्मनोर्वस्तुभेदस्य सत्त्वेनान्यात्मसाक्षात्कारासम्भवात् । मनसा स्वात्मन एव साक्षात्कारः सम्भवति, नान्यात्मनोऽपि ॥ २१ ॥

आपो॑ अ॒द्यान्व॑चारिष॒ꣳ रसे॑न॒ सम॑सृक्ष्महि । पय॑स्वानग्न॒ आग॑मं॒ तं मा॒ सꣳसृ॑ज॒ वर्च॑सा प्र॒जया॑ च॒ धने॑न च ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आज मैं अवभृथ स्नान करते समय जल के भीतर चला हूँ, जल के रस से संपृक्त हुआ हूँ, जल से पवित्र हुआ हूँ । अतः आप मुझे तेज से, पुत्र-पौत्र आदि से तथा सुवर्ण आदि धन से सम्पन्न करें ॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान आहवनीय अग्नि का उपस्थान करता है ॥ २२ ॥

'आहवनीयमुपतिष्ठतेऽपो अद्येति' (का० श्रौ० १९।५।१८) । आपो अद्येति मन्त्रेण यजमान आहवनीयमुपतिष्ठेतेति सूत्रार्थः । अग्निदेवत्या पङ्क्तिः । अद्य अस्मिन्नहनि योऽहमपोऽन्वचारिषम्, अवभृथकर्मणा जलमनुचरितवानस्मि प्राप्तवानस्मि, यश्चाहमब्जेन रसेन समसृक्ष्महि संसृष्टवानस्मि, वचनव्यत्ययः, यश्चाहं पयस्वान् उदकवान् सन् आगमम् आगतवानस्मि, हे अग्ने ! तं मामागतवन्तं सन्तं वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन प्रजया पुत्रपौत्रादिलक्षणया धनेन सुवर्णरत्नादिना च त्वं संसृज संयोजय । आङ्पूर्वकाद् गमेर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङि आगमममिति रूपम् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अपो अद्यान्वचारिषमिति । अपामेव रसमवरुन्धे रसेन समसृक्ष्महीत्यपामेव रसमात्मन् धत्ते पयस्वानग्न आगमं तं मा सꣳसृज वर्चसा प्रजया च धनेन चेत्याशिषमेवैतदाशास्ते' (श० १२।९।२।९) ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, यश्चाहमस्मिन्नवसरेऽपो जलानि तत्समवेतानि कर्माणि तत्फलभूतान् लोकान् अन्वचारिषं प्राप्तवानस्मि, यश्चाहं रसेन तत्फलभोगेन समसृक्ष्महि संसृष्टवान्, यश्चाहं पयस्वान् पयउपलक्षितसर्वभोगसामग्रीसम्पन्नः सन् आगमम् आगतवानस्मि, तं मां वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन प्रजया पुत्रशिष्यादिलक्षणया धनेन ब्रह्मविद्यालक्षणेन संसृज संयोजय ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यः पयस्वान् प्रशस्तजलविद्यायुक्तस्त्वामगमं प्राप्नुयाम्, अद्य अस्मिन् दिने रसेन मधुरादिना सहापो जलानि अन्वचारिषम् आनुकूल्येन पिबामि, तं मां वर्चसा वेदाध्ययनेन प्रजया सुसन्तानैः धनेन च संसृज संयोजय, यत इमेऽहं च सर्वे वयं सुखाय समसृक्ष्महि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रं प्रति तादृशप्रार्थनायोगात् । पयस्वानित्यस्य जलविद्यायुक्त इत्यर्थोऽपि चिन्त्यः, निर्मूलत्वात् । व्यक्तिगतमधुरजलपानवर्णनमपि निःसारमेव ॥ २२ ॥

एधो॑ऽस्येधिषी॒महि॑ स॒मिद॑सि॒ तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि । स॒माव॑वर्ति पृथि॒वी समु॒षाः समु॒ सूर्यः॑ । समु॒ विश्व॑मि॒दं जग॑त् । वै॒श्वा॒न॒रज्यो॑तिर्भूयासं वि॒भून् कामा॒न् व्य॑श्नवै॒ भूः स्वाहा॑ ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—आहुति के निमित्त समिधा उठाते हुए यजमान कहता है कि हे समिधाकाष्ठ ! तुम प्रकाश देने वाले हो, अनुग्रह करके हमारे धन-धान्य की वृद्धि करो। समिधा को आहवनीय में छोड़ने को उद्यत होकर कहे—हे समिधा, तुम पूर्ण प्रकाश करने वाली हो, तुम तेजःस्वरूप हो, मुझमें तेज का आधान करो। समिधा में घी लगावे। पृथ्वी प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, प्रातःकाल निरन्तर आता जाता रहता है, सूर्य भी बार बार उदित और अस्त होता है, यह सारा संसार आवागमनशील है, कुछ भी स्थिर नहीं है। इतना कह कर उस समिधा की अग्नि में आहुति दे। सकल कामनाओं को पाने के लिये मैं सब प्राणियों के हितकारी परमात्मा की ज्योति को, नाना प्रकार के मनोरथों को प्राप्त करूँ, सत्यस्वरूप ब्रह्म को दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २३ ॥

'एधोऽसीति समिधमादायाहवनीयेऽभ्यादधाति समिदसीति' (का० श्रौ० १९।५।१९)। यजमान एधोऽसीति मन्त्रेण समिधं गृहीत्वा समिदसीति मन्त्रेणाग्नौ दधातीति सूत्रार्थः। समिद्देवत्ये यजुषी। हे समित्, त्वमेधोऽसि, एधयति दीपयतीत्येधः, दीपिकाऽसि। वयं त्वत्प्रसादाद् एधिषीमहि धनादिभिर्वृद्धिं प्राप्नुयाम। त्वं समिदसि समिन्धयति दीपयतीति समित्, तेजश्चासि, तत्संयोगेनाग्नेर्ज्वलनात्। अतो मयि विषये तेजो धेहि धारय। 'जुहोति च समाववर्तीति' (का० श्रौ० १९।५।२०)। यजमानः सकृद् गृहीतमाज्यं समाववर्तीति कण्डिकाशेषेण जुहुयादिति सूत्रार्थः। समाववर्तीति आग्नेयी गायत्री। वैश्वानरज्योतिरित्याग्नेयं यजुः। पृथिवी समाववर्ति सम्यगावर्तते, नश्वरत्वाद् विनश्यतीत्यर्थः, विकरणव्यत्ययेन वृतेः शपः श्लुः। उषा दिवसोऽपि समाववर्ति विनश्यति। उ एव विश्वमिदं जगत् सर्वं जनद् विनश्यति। अतोऽहं वैश्वानरज्योतिर्भूयासम्। विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः, 'नरे संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।१२९) इति विश्वशब्दस्य दीर्घः, विश्वानरस्यायं वैश्वानरः परमात्मा, 'तस्येदम्' (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यणि रूपसिद्धिः, तद्रूपं ज्योतिर्ब्रह्मैव भूयासम्। विभून् महतोऽपि कामान् मनोरथान् व्यश्नवै प्राप्नुयाम्। भूः भवनं भूः सत्तामात्रं ब्रह्म, तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु। महाव्याहृतीनामव्ययत्वात् चतुर्थ्यामपि तथैव रूपम्, 'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥' इति तल्लक्षणात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'एधोऽस्येधिषीमहीति समिधमादत्ते। एधो ह वा अग्नेः समित् समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहीत्याहवनीये समिधमभ्यादधात्यग्निमेवैतया समिन्धे स एनꣳ समिद्धस्तेजसा समिन्धे' (श० १२।९।२।१०)।

अध्यात्मपक्षे—हे समित्, समिन्धनात् समित्, सर्वभासिके चिते ! त्वमेधोऽसि सर्वदीपिकासि। त्वत्प्रसादाद् वयम् एधिषीमहि ज्ञानवैराग्यादिभिर्वृद्धिं प्राप्नुयास्म। त्वं तेजोऽसि, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति मन्त्रवर्णात्। तत्तेजो ज्योतिषामपि ज्योतीरूपं तेजो मयि धेहि आविर्भावय। पृथिवी धरित्री समाववर्ति नश्वरत्वाद् विनश्यति, उषा दिवसोऽपि समाववर्ति नश्यति। सूर्यः समाववर्ति उ एव विनश्वरमेवेति। इदं दृश्यं विश्वं सर्वं जगत् समाववर्ति विनश्यति। दृश्यं सर्वमपि बाध्यत्वादसदेव। वैश्वानरो विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितो वा विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वा वैश्वानरः परमात्मा, तद्रूपं ज्योतिर्ब्रह्मरूपं भूयासं सर्वप्रपञ्चातीत-ब्रह्मरूपमेव भवामि, न तद्भिन्नकार्यकारणसङ्घातरूपस्तदुपहितो वा। विभून् महतोऽपि कामान् ब्रह्मात्मभावमन्यान् वा व्यश्नवै प्राप्नुयाम। भूः परब्रह्मणे स्वाहा, सर्वस्वमात्मानं च समर्पयामीति भावः।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर, त्वमेधो वर्धकोऽसि समिदस्यग्नेरिन्धनमिवासि मनुष्याणामात्मनां प्रकाशकोऽसि। तेजोऽसि तीव्रप्रज्ञः, तस्मात्तेजो मयि धेहि। यो भवान् सर्वत्र समावर्वर्ति सम्यग्वर्तेत, येन भवता पृथिवी उषाश्च संसृष्टाः सूर्यः संसृष्ट इदं विश्वं जगत् संसृष्टम्, तदु वैश्वानरज्योतिर्ब्रह्म प्राप्य वयमेधिषीमहि। यथाहं त्वया सत्यक्रियया सत्यवाचा वा भूः सत्तारूपां प्रकृतिं विभून् कामान् व्यश्नवै सुखी भूयासम्, तथैव यूयमपि सिद्धकामाः सुखिनः स्यात' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारबाहुल्यात्, येन भवता, प्राप्य, संसृष्टा इत्यादिशब्दानां मन्त्रेऽभावात्, स्वाहापदस्याऽतादृशार्थत्वाच्च ॥ २३ ॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—अग्न्याधान और ब्राह्मणवरण के बाद यजमान आवहनीय अग्नि में तीन समिधाएँ छोड़े। हे कर्म के पालक अग्निदेव, ये समिधाएँ तुमको समर्पित करता हूँ। यज्ञ में दीक्षित हुआ मैं कर्म और श्रद्धा से सम्पन्न होकर तुम्हें प्रदीप्त करता हूँ ॥ २४ ॥

'अभ्यादधामीति प्रत्यृचमाहवनीये तिस्रः समिधोऽभ्यादधाति' (का० श्रौ० १९।१।१२)। सौत्रामण्यादावादित्येष्टिं समाप्य त्रिपश्वर्थमाहवनीयदक्षिणाग्नी विहृत्याग्न्यन्वाधानं ब्रह्मवरणं च कृत्वा आहवनीये यजमानस्तिस्रः समिधः प्रत्यृचमादधीतेति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभ आश्वतराश्विदृष्टाः। हे अग्ने व्रतपते, व्रतस्य कर्मणः पतिः पालको व्रतपतिस्तत्सम्बुद्धौ, अहं समिधं त्वय्यभ्यादधामि जुहोमि। तेन समिदाधानेन दीक्षितः सन्नहं व्रतं कर्म श्रद्धां विश्वासं चोपैमि उपगच्छामि। त्वा त्वामिन्धे दीपयामि।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, व्रतपते कर्मणां स्वामिन्, अहं त्वयि समिधं चक्षुरादिभिर्दीप्यमानं स्वात्मानं त्वयि समर्पयामि। तेन दीक्षितः सन्नहं व्रतं सङ्कल्पं श्रद्धां विश्वासं चोपैम्युपगच्छामि। त्वामिन्धेऽन्तःकरणे त्वदाकाराकारितया वृत्त्या त्वां पश्यामि।

दयानन्दस्तु—'हे व्रतपते अग्ने, त्वयि स्थिरीभूयाहं समिधमिव ध्यानमभ्यादधामि, यतो व्रतं सत्यभाषणादिकं कर्म श्रद्धां सत्यधारिकां क्रियां च उपैमि प्राप्नोमि, दीक्षितः सन् त्वामिन्धे प्रकाशयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, समिधमिव ध्यानमिति गौणार्थस्वीकारस्य निर्मूलत्वात्। श्रद्धां सत्यधारिकां क्रियामित्यपि निर्मूलम्, श्रदित्यस्य विश्वासाधायकत्वप्रसिद्धेः ॥ २४ ॥

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—जहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति एक साथ एक मन होकर विचरते हैं, जहाँ देवता अग्नि के साथ निवास करते हैं, उस पवित्र स्वर्ग लोक को मैं प्राप्त करूँ ॥ २५ ॥

यत्र लोके ब्रह्म ब्राह्मणजातिः, क्षत्रं क्षत्रियजातिश्च सम्यञ्चौ सहावियोगेन तिष्ठतः, समीची इति प्राप्ते लिङ्गव्यत्ययः, तं पुण्यं पवित्रं लोकं प्रज्ञेषं जानीयाम्। तल्लोकमप्राप्तानां तल्लोकज्ञानं न भवतीति स्वर्लोकगमनं

प्रार्थ्यते। यत्र चाग्निना सह देवाश्चरन्ति, सदा ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्च यत्राविरोधेन तिष्ठन्ति, तं लोकं प्राप्नुयामित्यर्थः। यद्वा यत्र ब्रह्म मूर्तिमद् ब्रह्म भौमब्रह्म ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टं क्षतात्किल त्रायत इति क्षत्रं तच्च मूर्तिमत् क्षत्रियत्वजातिविशिष्टं सदा अवियोगेन सम्यञ्चौ सध्रीचीने चरतस्तिष्ठतः, यत्र चाग्निना सह देवाश्चरन्ति, तं पुण्यलोकं प्रज्ञेषं प्रज्ञानं वा प्राप्ता वयम्।

अध्यात्मपक्षे—यत्र ब्रह्म ब्राह्मं तेजः शमदमाद्युपेतं क्षत्रं शौर्यवीर्याद्युपेतं क्षात्रं तेजो धैर्यं सहिष्णुता च सम्यञ्चौ समीचौ सहाविरोधेन चरतः, यत्राग्निना सर्वकर्मदाहकेनाग्निना ज्ञानरूपेण सह देवा इन्द्रियाणि भवन्ति, तं पुण्यं पवित्रं लोकम्, लोक्यते दृश्यते भुज्यत इति लोकः, फलं देहं प्रज्ञेषं प्रज्ञानं च प्राप्ताः साधका अवश्यं निःश्रेयसाय प्रयतेरन्निति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं यत्र परमात्मनि ब्रह्म च क्षत्रं च, चकाराद् वैश्यकुलं च सम्यगेकीभावेन चरन्तौ सह सार्धं वर्तेते, यत्र देवा विद्वांसः पृथिव्यादयो वा अग्निना विद्युता सह भवन्ति, तं लोके दर्शनार्हं पुण्यं प्रज्ञेषं जानीयाम्, जानातेर्लेटि सिपि रूपम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लोकप्रसिद्धपदार्थत्यागेऽप्रसिद्धार्थकल्पने च मानाभावात्। त्वद्रीत्या च न सर्वं ब्रह्मणि वर्तते, त्वया तस्याधिष्ठानत्वानङ्गीकारात्। वेदान्तरीत्यैव ब्रह्मणः सर्वाधिष्ठानत्वम् ॥ २५ ॥

यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—जहाँ इन्द्र और वायु एक साथ एक मन होकर विचरते हैं, जहाँ अन्न की प्राप्ति के लिये कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता, उस पवित्र लोक को मैं प्राप्त करूँ ॥ २६ ॥

यत्र लोके इन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः, यत्र सेदिः सदनम् अन्नाप्राप्तिजनितं दुःखं न विद्यते, तं पुण्यं पवित्रं लोकं प्रज्ञेषं विजानीयाम्, 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इति धातोः 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' (पा० सू० ३।२।१७१) इति चकारात् किप्रत्यये लिड्वद्भावादेत्वाभ्यासलोपयोः सतोः सेदिरिति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परं ब्रह्म वायुर्हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा यत्र सम्यञ्चौ चरतः, सेदिः संसारदुःखं च न भवति, तं पुण्यं लोकं प्रज्ञेषं जानीयामिति। वेदेषु परब्रह्मापरब्रह्मरूपेणोभयोः प्रसिद्धिरिति तयोः सध्रीचीनत्वम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं यत्रेश्वरे इन्द्रः सर्वत्राभिध्याता विद्युच्च वायुर्धनञ्जयादिरूपः पवनश्च सम्यञ्चौ चरतः, यत्र सेदिर्नाश उत्पत्तिर्वा न विद्यते, तं पुण्यं लोकं प्रज्ञेषम्, तथैव यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे मनुष्याः! यूयं तथैव विजानीतेत्यध्याहारस्य निर्मूलत्वात्, पूर्वोक्तदोषाच्च ॥ २६ ॥

अꣳशुना ते अꣳशुः पृच्यतां परुषा परुः।
गन्धस्ते सोममवतु मदाय रसो अच्युतः ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे महौषधि रस! तुम्हारा भाग सोम के भाग में मिल जाय, तुम्हारा पर्व सोम के पर्व से मिल जाय, तुम्हारी गन्ध अविनाशी हो, तुम रस और उल्लास को देने वाले हो, तुम सोम की रक्षा करो ॥ २७ ॥

सुरादेवत्याऽनुष्टुप् सुरासंसर्जने विनियुक्ता। तत्सूत्रं तु—'स्वाद्वीं त्वा॑ᳪ॑शुना त इति' (का० श्रौ० १९।१।२१)। हे सुरे, ते तव अंशुर्भागः सोमस्यांशुना भागेन सह पृच्यतां संयुज्यताम्। ते तव परुः पर्व सोमस्य परुषा पर्वणा पृच्यताम्। ते तव गन्धः, अच्युतोऽनश्वरो रसश्च सोममवतु आलिङ्गतु। किमर्थम्? मदाय मत्ततायै। सुरायुक्तः सोमः पीतो मदजनको भवति, अत उभयोर्योगोऽस्तु। सौत्रामणीयागाङ्गभूताया यस्याः सुराया वैदिकविधानेन निर्माणम्, तस्या अत्र सोमेन योगो विहितो नान्यस्या लौकिक्याः सुरायाः, तस्या निषेधात्।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वविस्मारिके ब्रह्मानन्दानुभूते, तवांशुर्भागः सोमस्यांशुना भक्तिरसभागेन पृच्यताम्। तव परुः पर्व सोमस्य साम्बसदाशिवस्य परुषा पर्वणा पृच्यताम्। ते तव गन्धोऽच्युतो रसश्च सोमं साम्बसदाशिवमालिङ्गतु। किमर्थम्? मदाय ब्रह्मानन्दोन्मदाय।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, ते तवांशुना भागेनांशुः परुषा मर्मणा परुः मर्म पृच्यताम्। तेऽच्युतो गन्धो रसश्च मदाय सोममैश्वर्यमवतु' इति, तदप्यसङ्गतम्, कस्य भागः कस्य भागेन कस्य मर्म कस्य मर्मणा पृच्यतामित्यनुक्तेः। गन्धो रसश्च कथमच्युतः स्यात्? नह्यात्मनो गन्धो रसश्च, तस्याभौतिकत्वात्। भौतिकयोर्गन्धरसयोर्व्यवहार्ययोश्च विनश्वरत्वमेवेति ॥ २७ ॥

सिञ्च॑न्ति॒ परि॑षिञ्च॒न्त्युत्सि॑ञ्चन्ति पु॒नन्ति॑ च।
सुरा॑यै ब॒भ्र्वै मदे॑ किन्त्वो॒ व॑दति॒ किन्त्वः॑ ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—पवित्र किये रस का ग्रहण करें। बल के धारक कपिल वर्ण महौषधियों के रस को पीकर इन्द्र प्रसन्नता से भर गया है, तुम कौन हो, तुम कौन हो, ऐसे कहता है। इसीलिये ऋत्विकगण पात्र में महौषधि के रस को भरते हैं, उसमें दूध मिलाते हैं, उसे ग्रहों में भरते हैं, पावन सुवर्ण आदि से पवित्र करते हैं ॥ २८ ॥

सुरादेवत्या इन्द्रदेवत्या चानुष्टुप्। पूतसुरादाने विनियोगः। तथा चाह परमर्षिः कात्यायनः—'पूतामादत्ते सिञ्चन्ति परिषिञ्चन्तीति' (का० श्रौ० १९।२।८)। कारोतरेण पूतां सुरां केनचित्पात्रेण गृह्णीयादिति सूत्रार्थः। 'श्वभ्रं खात्वा खरमपरेण चर्मावधाय परिस्रुतमासिच्य कारोतरमवदधाति कारोतराद्वा चर्मणि मन्त्रलिङ्गात्' (का० श्रौ० १९।२।७)। दक्षिणवेदिखरमपरेण बहिर्वेदि श्वभ्रं=गर्तं खात्वा तत्र गर्ते गोचर्मावधाय परिस्रुतं=सुरां तत्रासिच्य सुराया उपरि कारोतरं वंशमयं पात्रं सुरागलनसमर्थं निदध्यात्। एवं कृते मलमधस्तिष्ठति, गलिता सुरा कारोतरस्योपर्यायाति। अथवा पूर्वं चर्मणि कारोतरमवधाय तत्र सुरामासिञ्चति, कारोतराच्चर्मणि सुरा पतति। कुतः? 'कारोतरेण दधतो गवां त्वचि' (वा० सं० १९।८२) इति मन्त्रलिङ्गात्। बभ्र्वै बभ्रुवर्णायै तस्यै सुरायै, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, बभ्रुवर्णायाः सुराया मदे स्थितः, अर्थात् सुरया मत्त इन्द्रः किन्त्वः किं त्वम्? कस्य त्वम्? इत्याद्यन्यतिरस्कारकरं वचो वदति। का सा सुरेति तत्राह—याम् आचामामभावमुपगतां सुरां पात्रे ऋत्विजः सिञ्चन्ति, आचामो भक्तमण्डः। पयआदिभिरुत्सिञ्चन्ति, संश्लेषयन्ति, ग्रहैर्गोबालपवित्रहिरण्यादिभिः पुनन्ति च। तस्याः सुराया मदे स्थित इन्द्रः किं त्वं कस्य त्वं ब्रूहीत्यादि वदतीति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—यां ब्रह्मानन्दानुभूतिरूपां मदजननीं विश्वविस्मारिकां सुरां सिञ्चन्ति तापत्रयशान्तये बुधाः परिषिञ्चन्ति, शमादिलक्षणैः पयोभिः परिषिञ्चन्ति, उत्सिञ्चन्ति, ग्रहैर्मनआदिभिर्ग्रहैः, यां च पुनन्ति मीमांसापरिष्कृतैस्तर्कैः, तस्या मदे स्थित इन्द्रो जीवः साधकः किन्त्वः कस्य त्वम्, कस्त्वमित्यादि वदति। सर्वं ब्रह्मैवेति पश्यतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'ये बभ्रवे बलधारकाय सुरायै सोमाय मदे आनन्दाय महौषधिरसं सिञ्चन्ति परिषिञ्चन्ति उत्सिञ्चन्ति, ते शरीरात्मबलं प्राप्नुवन्ति। यः किन्त्वः किन्त्वः किमन्य इति वदति स किञ्चिदपि नाप्नोति' इति, तत्तुच्छम्, वेदाक्षरविरोधात्, बभ्रुपदस्य बलधारकत्वार्थे प्रमाणाभावात्। सुरापदस्य सोमार्थतापि चिन्त्यैव। महौषधिरसपदाध्याहारोऽपि निर्मूल एव, पर्य्युदिति पदकृत्यमपि न निरूपितम्। किन्त्वो वदतीत्यप्यव्याख्यातप्रायमेव ॥ २८ ॥

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र! प्रातःकाल हमारे खीलों से युक्त दही, सत्तू और मालपुए आदि से युक्त पुरोडाश को हमारी स्तुति के साथ सेवन करो ॥ इस मन्त्र से लाजा-होम किया जाता है ॥ २९ ॥

इन्द्रदेवत्या गायत्री विश्वामित्रदृष्टा स्मार्ते श्रवणाकर्मणि धानाहोमे विनियुक्ता, प्रातःसवने पुरोडाशपुरोनुवाक्यापि। हे इन्द्र, त्वं प्रातःकाले नोऽस्माकं पुरोडाशं जुषस्व सेवस्व। कीदृशं पुरोडाशम्? धानावन्तं धाना विद्यन्ते यत्र तं धानाभिर्युक्तमित्यर्थः। करम्भिणं करम्भेण दधियुक्तेन सक्तुना युक्तम्, अपूपवन्तम् अपूपेन युक्तम्। उक्थिनम् उक्थं शस्त्रमस्ति यत्र तं स्तुतियुक्तम्।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमात्मन्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सुखेच्छो विद्यैश्वर्ययुक्त, त्वं नो धानावन्तं करम्भिणं सुष्ठु क्रियया निष्पन्नमुक्थिनं प्रशस्तोक्थवाक्यजन्यबोधसम्पादितं भक्ष्याद्यन्वितं भोज्यमन्नरसादिकं प्रातर्जुषस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्यार्थस्य लोकसिद्धत्वेन एतदनुवादनैरर्थक्यात्, करम्भपदस्य सुष्ठुक्रियार्थताया निर्मूलत्वात्। इन्द्रपदार्थोऽपि निर्मूल एव ॥ २९ ॥

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विक्गण! इन्द्र के निमित्त अति पापनाशक अथवा वृत्रासुर के नाशक बृहत्साम का गान करो, यज्ञ की वृद्धि करने वाले देवगण अथवा ऋत्विक्गण जिस सामगान से इन्द्र के निमित्त दीप्तिमान् अविनाशी तेज को प्राप्त कराते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सामगान से इन्द्र तेजस्वी होता है ॥ इस मन्त्र से ब्रह्मा सामगान करता है ॥ ३० ॥

'ऐन्द्रयां बृहत्यां गायति' (का० श्रौ० १९।५।१२)। अध्वर्युप्रेषितो ब्रह्मा इन्द्रदेवत्यायां बृहत्यां बृहदिन्द्राय गायतेत्यस्यामृचि साम गायेदिति सूत्रार्थः। इन्द्रदेवत्या बृहती नृमेधपुरुषमेधदृष्टा। हे मरुतः, तद्वत्कर्मशीला ऋत्विजः, इन्द्राय इन्द्रार्थं यूयं बृहत्साम गायत सामगानं कुरुत। कीदृशं साम? बृहद् वृत्रहन्तमम्, वृत्रं पापं प्रत्यतिशयेन हन्ति गच्छतीति वृत्रहन्तमस्तम्। अथवा वृत्रमसुरं नाशयति, तम्। 'नाद् घस्य' (पा० सू० ८।२।१७) इति नुम्। ऋतावृधः, ऋतं यज्ञं वर्धयन्ति ये ते ऋतावृधो देवा ऋत्विजो वा, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। येन सामगानेन देवाय इन्द्राय ज्योतिस्तेजः, अजनयन् उदपादयन्, तं तादृशं बृहत्साम

गायतेति सम्बन्धः। कीदृशं ज्योतिरजनयन्नित्याकाङ्क्षायामाह—देवम्, दीप्यमानम्। जागृवि जागर्तीति जागृवि जागरणशीलम्, अविनश्वरमित्यर्थः। सामगानेनेन्द्रस्तेजस्वी जात इति भावः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्राय परमेश्वराय बृहत्साम गायत हे मरुतो देवाः! कीदृशं साम? वृत्रहन्तमम्, वृत्रं पापमतिशयेन हन्तीति वृत्रहन्तमम्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मरुतो विद्वांसः, ऋतावृधो भवन्तो येन देवाय इन्द्राय परमैश्वर्ययुक्ताय देवं दिव्यसुखप्रदं जागृवि जागरूकं ज्योतिरजनयन्, तद् वृत्रहन्तमं बृहत् तस्मै गायत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मरुत्पदस्य प्रसिद्धमर्थं विहायाप्रामाणिकार्थकल्पने मानाभावात्, साम्नि मेघहन्तृसूर्यसाम्यस्यानिरूपणाच्च। नहि विद्वांसोऽपि मनुष्याः सत्यं वर्धयन्ति, तस्यैकरूपत्वेन वर्धनायोगात्। न च ते परस्मिन् ज्योतिरुत्पादयितुं क्षमाः, परमात्मज्योतिषो नित्यत्वात् ॥ ३० ॥

अध्वर्यो अद्रिभिः सुतᳬं सोमं पवित्र आनय। पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अध्वर्युगण! आप लोग पत्थरों से अभिषुत सोम को पवित्रे में ले जाओ, इसको इन्द्र के पीने के लिये पवित्र करो ॥ इस मन्त्र से दूध को अभिमन्त्रित किया जाता है ॥ ३१ ॥

'ब्रह्मानुमन्त्रणमध्वर्यो अद्रिभिरिति' (का० श्रौ० १९।२।१३)। ब्रह्मा अध्वर्यो अद्रिभिरिति मन्त्रेण पूयमानस्य पयसोऽनुमन्त्रणं कुर्यादिति सूत्रार्थः। ऐन्द्री गायत्री। हे अध्वर्यो, अद्रिभिर्ग्रावभिः पाषाणैः सुतमभिषुतं सोमं पवित्रे कम्बलमये पात्रे आनय आसिञ्च गालय। ततः पुनाहि पुनीहि। पुनीहीति प्रेषितोऽध्वर्युः सोमं पुनाति। किमर्थम्? इन्द्राय पातवे इन्द्रस्य पानार्थम्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्राय परमेश्वरस्य पातवे पानार्थम्। यागादिकमपि परमेश्वरार्थमेव क्रियते।

दयानन्दस्तु—'योऽध्वरं यज्ञं युनक्ति सोऽध्वर्युः, तत्सम्बुद्धौ। त्वमिन्द्राय परमैश्वर्याय पातवे पातुमद्रिभिर्मेघैः सुतं निष्पन्नं सोमं सोमवल्ल्याद्योषधिसारं रसं पवित्रे शुद्धे व्यवहारे आनय पुनाहि पवित्रय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वासामोषधीनां मेघैर्निष्पन्नत्वेन मेघैरिति पदस्य व्यावर्त्याभावात्। परमैश्वर्यवान् कोऽस्ति यस्य पानार्थं मेघैर्निष्पन्नः सोमो व्यवहारे आनीयते। न च स्वकर्तृकं पानमेव व्यवहार इति वाच्यम्, तस्य परमैश्वर्यवदर्थतानुपपत्तेः, तेन पुनीहीत्यस्याः क्रियायाः सकर्मकत्वेन पवित्रा भवेति हिन्दीव्याख्यानानुपपत्तेः ॥ ३१ ॥

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः। य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—जो प्राणियों का पालन करने वाला है, भू आदि लोक जिस परमात्मा के आश्रय से ठहरे हुए हैं, जो सबसे बड़ा और बड़ों का भी नियन्ता है, हे ग्रह! उसी परमात्मा की आज्ञा के अनुसार मैं उस परमात्मा के अनुग्रह से तुमको ग्रहण करता हूँ। मैं तुमको परमात्मभाव को प्राप्त हुए अपने में ग्रहण करता हूँ ॥ ३२ ॥

'त्रयस्त्रिᳬंशं वपाग्रहं गृह्णाति यो भूतानामिति' (का० श्रौ० १९।४।२४)। 'सीसेन तन्त्रम्' (वा० सं० १९।८०) इत्यादिभिः षोडशभिर्ऋग्भिरार्षभैः खुरैर्वसां गृहीत्वा एकेन मन्त्रेण द्वयोर्होमरीत्या द्वात्रिंशत्सं-

ख्याकानां वसाग्रहाणां संस्रवैर्यजमानाभिषेकः कृतः। ततोऽध्वर्युर्यो भूतानामिति सार्धकण्डिकात्मकेन मन्त्रेण त्रयस्त्रिंशं वसाग्रहमार्षभखुरेण गृह्णीयादिति सूत्रार्थः। आत्मवादिनी ग्रहदेवत्या कौण्डिन्यदृष्टा पङ्क्तिः। यः परमात्मा भूतानां जरायुजादिभूतानां चतुर्विधानामधिपतिरधिकं पालयिता, यस्मिन्नात्मनि लोका भूरादयः, अधिश्रिता आश्रिताः, सर्वे लोका यदाधारा इत्यर्थः, यश्च स्वयं महान् सर्वोत्कृष्टः, यश्च महतो महत्तत्त्वप्रमुखस्य तत्त्वगणस्य ईशे ईष्टे नियन्ता वर्तते, 'ईश ऐश्वर्ये' इत्यस्माल्लटि तङि प्रथमपुरुषैकवचने, 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तकारलोपे 'ईशे' इति रूपम्, 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (पा० सू० २।३।५२) इति कर्मणि षष्ठी। हे ग्रह, अहं तेन परमात्मना कृत्वा त्वां गृह्णामि। मयि परमात्मभावमापन्ने मयि विषयेऽहं त्वां गृह्णामि, आदरार्था द्विरुक्तिः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे सर्वहितेच्छो, यो भूतानामधिपतिर्महतो महानस्ति, य ईशे ईष्टे, यस्मिन् सर्वे लोका अधिश्रिताः, तेन त्वामहं गृह्णामि। मयि त्वामहं गृह्णामि' इति, तदप्यसङ्गतम्, अमूर्तस्य तस्य ग्रहणानुपपत्तेः। मयि त्वामहं गृह्णामीत्यप्यसङ्गतम्, पूर्वेणैव गतार्थत्वात्, यः सर्वत्रास्ति तस्य मय्यपि सत्त्वात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, सम्बोध्यस्यैव त्वंपदार्थोपपत्तेश्च। न च सम्बोध्यस्य अहमर्थे सत्त्वसम्भवः, युष्मदस्मदोर्विरोधेनाहमर्थाश्रयत्वानुपपत्तेः॥ ३२॥

उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे। एष ते योनिरश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, तेजस्वी रूप वाले तुमको अश्विनीकुमारों की प्रीति के लिये, सरस्वती, इन्द्र और सुत्रामा की प्रीति के लिये यहाँ स्थापित करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। अश्विनीकुमार, सरस्वती, इन्द्र और सुत्रामा की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ॥ ३३॥

यजुःसाम त्रिष्टुप्। हे वसाग्रह, उपयामगृहीतोऽसि उपयामेन पात्रविशेषेण गृहीतोऽसि। अश्विभ्यां त्वा अश्विनोरर्थाय त्वां गृह्णामि। सरस्वत्यै त्वा, सुत्राम्णे इन्द्राय त्वा गृह्णामि। एष ते यजुः प्राजापत्या बृहती। ग्रहदेवते द्वे यजुषी। सादने विनियोगः। हे वसाग्रह! एष ते योनिः स्थानम्। अश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वा सुत्राम्ण इन्द्राय त्वा सादयामि।

अध्यात्मपक्षे—हे निवेदनीय द्रव्य! उपयामेन श्रद्धात्मकवृत्तिविशेषेण अश्विभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां बलकृष्णाभ्यां वा त्वां गृह्णामि। सरस्वत्यै ज्ञानरूपिण्यै सीतायै, सुत्राम्ण इन्द्राय रक्षितृत्वविशिष्टाय निर्गुणनिराकारपरमात्मने त्वां गृह्णामि। हे ग्रह निवेदनीय द्रव्य, एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्। तत्र अश्विभ्यामर्थे सरस्वत्यै सुत्राम्णे त्वां सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वमश्विभ्यामुपयामगृहीतोऽसि, यस्य त एषोऽश्विभ्यां स योनिरस्ति, तं त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे चाहं गृह्णामि। सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, द्वितीयस्य अश्विभ्यामित्यादिपदस्य वैयर्थ्यापत्तेः, अश्विभ्यामित्यनेनाऽध्यापकोपदेशकयोर्ग्रहणे मानाभावाच्च। नहि कस्यचिद्विदुषो ग्रहणेन उत्तमवागादिकं लभ्यते, न वा इन्द्रपदस्य उत्तमव्यवहारोऽर्थः, न वा सुत्रामपदस्य उत्तमरक्षार्थः सम्भवति, प्रत्ययार्थवैपरीत्यात्॥ ३३॥

प्राणपा मे अपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे ।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे ग्रह ! अथवा हे परमात्मन्, आप मेरे प्राणों के रक्षक हैं । अपान वायु, दोनों नेत्र, दोनों कान और मेरी वाणी के रक्षक हैं । सकल प्रधान औषधियों में आप विद्यमान हैं । मेरे मन को विषयों से हटा कर आत्मस्वरूप में स्थापित कीजिये ॥ इस मन्त्र से बची हुई हवि का प्रसाद लिया जाता है ॥ ३४ ॥

'शेषमृत्विजः प्राणभक्षं भक्षयन्ति प्राणपा म इति (का० श्रौ० १९।५।९) । त्रयस्त्रिंशवसाग्रहहोमानन्तरं शेषमृत्विजः सर्वेऽवजिघ्रेयुः प्राणपा इति कण्डिकाद्वयेनेति सूत्रार्थः । ग्रहदेवत्ये द्वे अनुष्टुबुपरिष्टाद्बृहत्यौ । हे ग्रह, यस्त्वं मे प्राणपा असि, प्राणान् पातीति प्राणपाः । अपानपा अपानं पाति रक्षतीत्यपानपाः । चक्षुष्पाः, चक्षुषी पातीति चक्षुष्पाः । मे मम श्रोत्रपाश्चासि श्रोत्रं पातीति श्रोत्रपाः श्रोत्ररक्षकः । मे वाचो वागिन्द्रियस्य विश्वभेषजो विश्वं सर्वं भेषजमौषधं यस्मात् सः । वाच औषधम् उन्मार्गनिवर्तको जपादौ प्रवर्तकश्चासि । मनसो विलायकश्चासि, विलाययति विषयेभ्यो निवर्त्य आत्मनि स्थापयतीति विलायकः । अथवा मनसो विलायकः, चित्तैकाग्र्यसम्पादकत्वेन ब्रह्मज्ञानप्रदोऽसि । यद्वा 'लीङ् श्लेषणे' इति धात्वर्थानुसारेण मनसः सर्वकरणेषु संश्लेषकश्चासि, सर्वैन्द्रियैः सह मनः संयोजयसीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वं मे प्राणपा इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यतस्त्वं मे प्राणपा मनसो विज्ञानसाधकस्य विलायकोऽसि, येन विविधतया लीयते श्लिष्यते तस्मात्त्वं पितृवत् सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषि मनुष्ये तथाविधप्रार्थनाया नैरर्थक्यात्, अल्पशक्तिमत्त्वेन हितैषित्वेऽपि तथा कर्तुमसमर्थत्वात् ॥ ३४ ॥

अश्विनकृतस्य ते सरस्वतिकृतस्येन्द्रेण सुत्राम्णा कृतस्य । उपहूत उपहूतस्य भक्षयामि ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हे ग्रह ! आपकी आज्ञा में रहता हुआ मैं अश्विनीकुमारों से संस्कृत, सरस्वती के द्वारा प्रस्तुत, रक्षा करने वाले इन्द्र से देखे गये और ऋत्विजों से आवाहित किये हुए तुम्हें भक्षण करता हूँ ॥ ३५ ॥

हे ग्रह, उपहूत आज्ञप्तोऽहं ते तव त्वाम्, कर्मणि षष्ठी, भक्षयामि । कीदृशस्य ते ? अश्विनकृतस्य अश्विनावेव आश्विनौ, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्, वृद्ध्यभाव आर्षः, ताभ्यां कृतो दृष्टोऽश्विनकृतस्तस्य, करोतिरत्र दर्शनार्थः । सरस्वतिकृतस्य सरस्वत्या कृतो दृष्टः सरस्वतिकृतस्तस्य, 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इति ह्रस्वः । सुत्राम्णा इन्द्रेण कृतस्य, सुष्ठु त्रायते रक्षतीति सुत्रामा, 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' (पा० सू० ३।२।७४) इति 'त्रैङ् पालने' इत्यस्माद् मनिन्प्रत्यये, 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० सू० ६।१।४५) इत्यात्वे रूपसिद्धिः, तेन इन्द्रेण कृतस्य दृष्टस्य उपहूतस्य ऋत्विग्भिः कृतोपहवस्य । सर्वत्रात्र कर्मणि षष्ठी ।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन्निवेदित द्रव्य, ते त्वामहं भक्षयामि । कीदृशं त्वाम् ? अश्विनादिभिः कृतं ध्यानेन संस्कृतम् । यद्वा—हे भगवन्, त्वामहं भक्षमामि, परमानन्दरूपं रसयामि । कीदृशं त्वाम् ? अश्विनादिभिः कृतं प्रेम्णा विषयीकृतम्, 'अहमन्नादः' (तै० उ० ३।१०।६) इति श्रुतेः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, उपहूतोऽहं तेऽश्विकृतस्य सरस्वतीकृतस्य सुत्राम्णा इन्द्रेण कृतस्योपहूतस्य अन्नादिकं भक्षयामि' इति, तदपि तुच्छम्, अन्नाद्यध्याहारे मानाभावात्, वैरूप्याच्च। हिन्दीव्याख्याने—अश्विनोः कृते सरस्वत्या कृते सुत्राम्णेन्द्रेण कृतस्य समीप उपहूतस्य अन्नादिकं भक्षयामीत्युक्तम्, तच्च कृतस्य अन्नादिकमित्यसङ्गतिः ॥ ३५ ॥

अत्र सौत्रामण्या आध्वर्यवं समाप्तम्।

समि॑द्ध॒ इन्द्र॑ उ॒षसा॒मनी॑के पुरो॒रुचा॑ पूर्व॒कृद्वा॑वृधा॒नः।
त्रि॒भिर्दे॒वैस्त्रि॒ꣳश॒ता वज्र॑बाहुर्ज॒घान॑ वृ॒त्रं वि दुरो॑ ववार ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—आगे के ग्यारह मन्त्रों से ऐन्द्र पशु के आप्रिय प्रयाज-याज्यों का अनुष्ठान किया जाता है। भली प्रकार से प्रदीप्त उषा काल के मुख, अर्थात् प्रातःकाल के समय आगे चलने वाले प्रकाश से पूर्व दिशा को प्रकाशित करने वाले, तैंतीस देवताओं के साथ वृद्धि पाने वाले वज्रधारी इन्द्र ने वृत्रासुर या मेघ का तारण किया है, मेघों के स्रोतों या दैत्यपुरी के द्वार को सूना किया है, अथवा खोला है ॥ ३६ ॥

'समिद्ध इन्द्र इत्याप्रियः प्रथमस्य' (का० श्रौ० १९।६।१२)। समिद्ध इत्याद्या एकादश ऋचः प्रथमस्य ऐन्द्रस्य पशोः, आप्रियः प्रयाजयाज्याः। इतः सौत्रामण्या हौत्रमुच्यते। आङ्गिरसदृष्टा एकादश आप्रियस्त्रिष्टुभः। तासां क्रमादेता देवताः—(१) इध्मः, (२) तनूनपान्नराशंसः, (३) इडः, (४) बर्हिः, (५) द्वारः, (६) उषासानक्ता, (७) दैव्यौ होतारौ, (८) तिस्रो देव्यः, (९) त्वष्टा, (१०) वनस्पतिः, (११) स्वाहाकृतय इति। एताश्च देवता यथायोगमिन्द्रविशेषणत्वेन व्याख्येयाः, इन्द्रस्यानेनानुवाकेन स्तूयमानत्वात्। इन्द्रो वृत्रं मेघं दैत्यं वा जघान हतवान् दुरो द्वाराणि च मेघस्य, स्रोतांसीति यावत्, विववार विवृतानि कृतवान्। दैत्यपक्षे पिहितानि तत्पुरद्वाराण्युद्घाटितवान्। द्वार्शब्दस्य छान्दसे सम्प्रसारणे दुर इति रूपम्। कीदृश इन्द्रः? समिद्धः सन्दीप्तः। उषसामनीके मुखे प्रातःकाले पुरोरुचा अग्रे प्रसरन्त्या दीप्त्या पूर्वकृत् पूर्वां दिशं करोतीति, आदित्यात्मना पूर्वस्याः कर्ता। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। त्रिभिर्देवैः त्रिंशता च, अर्थात् त्रयस्त्रिंशद्देवैः सह वावृधानो वर्धमानः, वृधेर्विकरणव्यत्ययेन शपः श्लुः, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घः। वज्रबाहुः, वज्रं बाहौ यस्य स तथोक्तः। द्युस्थानोऽन्तरिक्षस्थानश्च द्विस्थान इन्द्रोऽत्र स्तुतः। उषसां यत्र मुखं तत्र द्युस्थानो भगवानादित्यः समिद्धः। पुरोरुचा अग्रगामिन्या दीप्त्या वावृधानः पूर्वकृत् स एव मध्यस्थानः, अर्थादन्तरिक्षस्थानः। त्रिभिस्त्रिंशता देवैः सहितो वज्रपाणिर्वृत्रं हत्वा द्वाराणि विविधानि विवृतान्यकरोत्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरः, उषसामभ्युदयवेलानामनीके मुखे समिद्धो वज्रबाहुस्तमस्तोमं जघान। हत्वा च विविधानि ज्ञानानि प्रवर्तयामास। धर्ममेघसमाधेर्विविधानि स्रोतांसि विववार। पुरोरुचा अग्रे प्रसरन्त्या ज्ञानदीप्त्या वावृधानः पूर्वकृत् पूर्वसिद्धस्य ब्रह्मात्मभावस्य प्रकाशको भवति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, पूर्वकृद्वावृधानो वज्रबाहुः सन्नुषसामनीके यथा पुरोरुचा समिद्ध इन्द्रस्त्रिभिरधिकैः त्रिंशता देवैः सह वर्तमानः सन् वृत्रं जघान, दुरो विववार, तथाऽतिबलैर्योद्धृभिः सह शत्रून् हत्वा विद्याधर्मद्वाराणि प्रकाशितानि कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणकाध्याहारमूलकत्वात्, पूर्वकृदित्यस्यास्पष्टत्वात्, पृथिव्यादीनां मेघनिवारणेऽनुपयोगेन तेषां सहभावस्य वैयर्थ्यात्। किञ्चोषसामनीक इत्यपि निरर्थकमेव, सूर्यस्य मध्याह्नकाले ततोऽप्यधिकमेघनाशकत्वोपपत्तेः ॥ ३६ ॥

नराशंसः प्रति शूरो मिमानस्तनूनपात् प्रति यज्ञस्य धाम ।
गोभिर्वपावान् मधुना समञ्जन् हिरण्यैश्चन्द्री यजति प्रचेताः ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—ऋत्विजों से स्तुति किया हुआ यज्ञ रूप, शूरता आदि गुणयुक्त, यज्ञ के स्थान को जानता हुआ, जाठराग्नि रूप से शरीर का रक्षक या सृष्टि को बढ़ाने वाला, मरीचि का पौत्र अथवा भोग्य पदार्थों को बढ़ाने वाली गौ का पौत्र, घृत रूप वृषभों के द्वारा सुन्दर कृषि वाला, अतिस्वादु मधु के समान घृत से प्रकट हुए हवि को भक्षण करने वाला, सुवर्णादि से परम धनी विशेष ज्ञानी और कर्म का ज्ञाता यजमान प्रति दिन इन्द्र का पूजन करता है ॥ ३७ ॥

अस्यामेकस्यामृचि नराशंसतनूनपातौ स्तूयेते । एतयोः सम्भूयदेवतात्वं वा पृथक् पृथग् वेति विचारणीयम् । यतो हि विशेष्यशब्दो विशेषणशब्दश्च सर्वोऽप्येकवचनान्तः । एते सर्वे हि शब्दा इन्द्रविशेषणतया योज्या इत्युक्तमेव । प्रचेताः प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं यस्यासौ प्रचेताः, कर्मज्ञाता यजमानस्तमिन्द्रं प्रति यजति प्रत्यहं यजति । तं कम् ? इत्याकाङ्क्षायामाह—यो नराशंसो नरैर्ऋत्विग्भिरासमन्तात् शस्यते शस्त्रैः स्तूयते सः । यद्वा—'नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः, नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति । अग्निरिति शाकपूणिः, नरैः प्रशस्यो भवति' (नि० ८।६) इति यास्करीत्या नराशंसो यज्ञस्तद्रूपस्तद्वान् वा, देवेषु हविर्वाहकोऽग्निर्वा, यज्ञस्य धाम स्थानं जानन्निति शेषः । अथवा यज्ञस्थानं प्रतिमिमानः, मिमीत इति मिमानः, प्रतिगणयन् । एकः प्रतिशब्दो मिमान इत्यनेन सम्बद्ध्यते, अपरो यजतीत्यनेन । तथा शूरः शौर्यवान् । तनूनपात् तनोति विस्तारयति सृष्टिमिति तनूः प्रजापतिर्मरीचिः, तस्य नपात् पौत्रः, कश्यपात्मज इत्यर्थः । यद्वा तनूं शरीरं न पातयति, जाठररूपेण धारयतीति तनूनपाद् अग्निस्तद्रूपः । यद्वा तनोति भोगानिति तनूः गौः, तस्या नपात् पौत्रः, घृतमिति यावत् । गोः पयो जायते, पयसो घृतमिति घृतस्वरूपस्तद्वान् वा । गोभिः गोप्रभृतिपशुसम्बन्धिनीभिः, वपावान् वपायुक्तः । मधुना मधुस्वादोपेतेन घृतेन समञ्जन् हवींषि भक्षयन्, हिरण्यैः पश्वदानभूतैः, चन्द्री चन्द्रं सुवर्णमस्यास्तीति चन्द्री, तं तादृशमिन्द्रं प्रति यजतीति सम्बन्धः । व्यवहितपदप्रायोऽयं मन्त्रः ।

अध्यात्मपक्षे—य इन्द्रः परमेश्वरः शूरः शौर्योपेतः श्रीरामः, नराशंसः नरैस्तदुपलक्षितैर्वानरैः पक्षिभिर्भुशुण्डीगरुडादिभिर्देवैश्च सदा शस्यते प्रशस्यते सः । यश्च यज्ञस्य आराधनलक्षणस्य धाम स्थानं प्रतिमिमानो जानानः, यश्च तनूनपाद् अग्निः, दनुजो वनकृशानुः, गोभिर्गोविकारैः पयोभिर्दधिघृतादिभिः, वपावान् चरुपुरोडाशादिनिर्वापवान् यज्ञादिकर्ता मधुना मधुरास्वादवता घृतेन क्षौद्रेण वा हवींषि समञ्जन् हिरण्यैस्तन्मयैर्भूषणैश्चन्द्री हिरण्यवान् तं परमात्मानं श्रीरामं प्रचेताः प्रकृष्टबुद्धिमान् भक्तः प्रतियजति प्रत्यहमाराधयति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यो नराशंसो नरैराशस्यते यज्ञस्य धाम प्रतिमिमान उत्तमान् पदार्थान् मिमीते, शूरस्तनूनपाद् गोभिर्वपावान् वपन्ति यया क्रियया सा प्रशस्ता विद्यते यस्य, मधुना समञ्जन् हिरण्यैश्चन्द्री प्रचेताः प्रतियजति सोऽस्माभिराश्रयितव्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, मनुष्यसामान्यस्य स्तोतव्यत्वाश्रयितव्यत्वानुपपत्तेश्च । त्वद्रीत्या वपा च स्वयमेव क्रियेति यया क्रियया वपन्तीत्युक्तिर्निरर्थिकैव, क्रियायाः क्रियान्तरसापेक्षत्वेऽनवस्थानात् ॥ ३७ ॥

ईडितो देवैर्हरिवाँ२॥ अभिष्टिराजुह्वानो हविषा शर्द्धमानः ।
पुरन्दरो गोत्रभिद् वज्रबाहुरायातु यज्ञमुप नो जुषाणः ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के द्वारा स्तुत हरि नामक घोड़ों वाला, सब यज्ञों में स्तुति पाने वाला, हवि के द्वारा आवाहन किया हुआ, अति बलवान् शत्रुओं के नगरों को विदीर्ण करने वाला, असुर कुल का नाशक, वज्रधारी इन्द्र देवता हमारे यज्ञ की आहुति को ग्रहण करने के लिये यहाँ पधारे ॥ ३८ ॥

यो देवैरीडितः पूजितः स्तुतः । हरिवान् हरी इन्द्रस्याश्वौ स्तोऽस्येति हरिवान् । अभिष्टिः, अभि अभितः समन्तादिष्टिर्यागो यस्यासावभिष्टिः, अभिगमनवान् अभ्येषणवान् वा, स्तौतेरौणादिको डिः प्रत्ययः । हविषा निमित्तेन, हविर्भक्षणार्थमिति यावत् । आजुह्वान आहूयमान ऋत्विग्भिः । शर्द्धमानः अतिबलायमानः । 'शर्ध इति बलनाम (निघ० २।९।७) । पुरन्दरः पुरं रिपुनगरं दारयतीति पुरन्दरः । गोत्रभिद् गां भूमिं त्रायन्ते वृष्ट्येति गोत्रा मेघाः, तान् वृष्ट्यर्थं भिनत्तीति तथोक्तः । अथवा गोत्रान् गिरीन् भिनत्तीति गोत्रभित् । वज्रबाहुः वज्रधरः । एवंभूतो य इन्द्रः, सोऽस्माकं यज्ञं जुषाणः सेवमान आयातु ।

अध्यात्मपक्षे—यो भगवान् इन्द्रो रामो देवैरीडितो लङ्कायां रावणवधान्ते । यः सर्वैरभितः स्तूयते सोऽभिष्टिः । हरिवान् हरयो विशिष्टा वानरा हनुमदादयो सेवकत्वेन सन्ति यस्य सः । यश्च हविषा निमित्तेन आजुह्वानो भक्तैस्तत्र तत्राहूयते । शर्द्धमानः अतिबलायमानः । पुरन्दरो लङ्कादिशत्रुपुरदारकः । गोत्रभिद् गां पृथिवीं त्रायन्ते धर्मस्थापनादिनेति गोत्रा राजकुलानि, तान् बिभर्ति स्थापयति पुष्णाति चेति गोत्रभित्, औणादिको डितप्प्रत्ययः । तथा च रामायणम्—'राजवंशान् शतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः' (१।१।९६) इति । सोऽस्माकं यज्ञमाराधनमुपजुषाण आयातु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा हरिवान् वज्रबाहुः पुरन्दरः सेनेशो गोत्रभित् सूर्यो रसानिव स्वसेनां सेवते, तथा देवैरीडितोऽभिष्टिराजुह्वानो हविषा शर्द्धमानो जुषाणो भवान्नो यज्ञमुपयातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धर्मब्रह्मपरस्य वेदस्य सेनेशादिमनुष्यस्तुतौ तात्पर्याभावात् । हविःपदेन सद्विद्यादानप्रदानबोधनमपि विसङ्गतम्, प्रकरणविरोधात् । न च सेनेशस्य यज्ञे समागमनं प्रार्थ्यते, देवतानामेव तत्राह्वानोपयोगात् ॥ ३८ ॥

जुषाणो बर्हिर्हरिवान्न इन्द्रः प्राचीनꣳ सीदत् प्रदिशा पृथिव्याः ।
उरुप्रथाः प्रथमानꣳ स्योनमादित्यैरक्तं वसुभिः सजोषाः ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—अश्वों से युक्त, महाकीर्तिमान्, प्रीति वाला इन्द्र देवता देवयजन भूमि की प्रदिशा में बनी हुई बर्हिशाला को लक्ष्य करके बारह आदित्य और आठ वसुओं से संयुक्त हो हमारी यज्ञशाला में आकर विशाल सुखदायक कुशा के आसन पर बैठे ॥ ३९ ॥

इन्द्रो नोऽस्माकम्, प्राचीनं प्राग्भवं प्रदेशं सीदत् सीदतु, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपः । कीदृश इन्द्रः ? हरिवान् हरी स्तोऽस्येति । हरयो हरिद्वर्णा वा अश्वाः सन्त्यस्येति । पुनः कथम्भूत इन्द्रः ? पृथिव्याः प्रदिशा पृथिवीं देवयजनभूमिं प्रदिशन् उपदिशन् । पृथिव्या इति द्वितीयार्थे षष्ठी । प्रदिशतीति प्रदिशा, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेर्डादेशः । पुनः कथंभूतः ? उरुप्रथा उरु विस्तीर्णं प्रथः प्रथनं ख्यातिर्यस्य सः, प्रथेरसुन् । पुनः कथम्भूतः ? सजोषाः, जोषणं जोषः प्रीतिः, जोषसा सहितः सजोषाः सन्तुष्टः । बर्हिर्दर्भं जुषाणः, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' इत्यस्मात् शानच्, शपो लुक्, जुषमाणः सेवमानः, इन्द्र आस्तामिति सम्बन्धः । कीदृशं बर्हिः ? प्रथमानम्, प्रथते यत् तत् प्रथमानं विस्तीर्णम्, स्योनं सुखस्वरूपम् ।

पुनः कीदृशम् ? आदित्यैर्वसुभिर्मरुद्भिश्च अक्तं म्रक्षितम्, बर्हिरञ्जनमन्त्रे आदित्यादीनामुक्तत्वात्। स च मन्त्रः—'सं बर्हिरङ्क्ता ँ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सं मरुद्भिः' (वा० सं० २।२२) इति।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर इन्द्ररूपेण प्राचीनं प्राग्भवं प्रदेशं सीदत्। श्रीरामपरो वा—श्रीरामः प्राचीनं नित्यसिद्धमकृत्रिमं हृदयसिंहासनं सीदद् आस्ताम्। कीदृशः श्रीरामः ? हरिवान्, हनुमदादिवानरभटैर्युक्तः, पृथिव्यां सप्तद्वीपायां प्रदिशा प्रशासकः, उरुप्रथा विस्तीर्णयशाः, सजोषाः प्रीत्या युक्तः, सदा प्रसन्न इति यावत्। बर्हिः, बृंहति अहर्निशं वर्धते यत् तत्, 'बृंहेर्नलोपश्च' (उ० २।१११) इति इस्प्रत्ययो नलोपश्च। यज्ञं भक्तकृताराधनरूपं जुषाणः सेवमानः। कीदृशं बर्हिः ? प्रथमानं विस्तीर्णं स्योनं सुखकरम्, आदित्यैर्वसुभिरन्यैश्च देवैः, अक्तं व्यञ्जितम्, अन्तर्भावितणिजर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा बर्हिरन्तरिक्षं जुषाणो हरिवान् हरणशीलः किरणवान् आदित्यैर्वसुभिः सजोषा इन्द्रः पृथिव्याः प्रदिशा प्रथमानं प्राचीनं स्योनं सीदत्, तथा त्वं नोऽस्माकं मध्ये भव' इति, तदपि तुच्छम्, मनुष्यवर्णने वेदानां लौकिकत्वेन पौरुषेयत्वापत्तेः। सूर्यस्य सदैव पृथिव्यादिभिर्मासैश्च सहभावः, तादृशवर्णनस्य कर्तव्यत्वानुपपत्तेः ॥ ३९ ॥

इन्द्रं दुरः कवष्यो धावमाना वृषाणं यन्तु जनयः सुपत्नीः।
द्वारो देवीरभितो विश्रयन्ता ँ सुवीरा वीरं प्रथमाना महोभिः ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—जिनमें वायु के आने-जाने का अवकाश है और जहाँ मनुष्यों का शब्द होता रहता है, ऐसी यज्ञशाला में मनोरथों की वर्षा करने वाला इन्द्र प्राप्त हो। यजमान की दौड़ती हुई साध्वी स्त्रियों तथा सुन्दर वीर ऋत्विजों से युक्त तेज एवं उत्सवों से विस्तार को प्राप्त यज्ञशाला दिव्य गुणों से युक्त सब ओर से विस्तारित हो ॥४०॥

दुरो यज्ञगृहद्वारः, सम्प्रसारणं छान्दसम्, तत्रागतमिन्द्रं यन्तु प्राप्नुवन्तु। कीदृशमिन्द्रम् ? वृषाणं वर्षति कामानिति वृषा, तं वर्षितारम्, 'इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान्' (वा० सं० २३।४८) इति मन्त्रवर्णात्। पुनः कीदृशम् ? वीरं शूरम्। कीदृश्यो दुरः ? कवष्यः, 'कु शब्दे' आदादिकः, कुवन्ति शब्दयन्ति जना यासु ताः कवष्यः सच्छिद्राः, सच्छिद्रे स्थान एव शब्दप्रसरात्, औणादिकोऽषट्प्रत्ययः, स्तावकजनकोलाहलपूर्णा इत्यर्थः। तथा धावमाना धावन्ते स्वागतार्थमिति तथोक्ताः, आदरवत्य इति यावत्। इन्द्रसम्मानानुगुणमाङ्गलिकनारिकेलोपेतपूर्णकलशादिमत्यः। तत्रोपमानम्—जनयो जायाः सुपत्नीः शोभनाः साध्व्यः पत्न्य इव यज्ञैः सहाधिकारिण्यो जायाः स्त्रिय इव, जायतेऽस्यामिति जनिः, 'जनिघसिभ्यामिण्' (उ० ४।१३१), 'जनिवध्योश्च' (पा० सू० ७।३।३५) इति वृद्ध्यभावः, बहुवचने जनय इति। स्त्रियो यथा धावमाना यन्ति, तथा द्वार इन्द्रं यन्तु। किञ्च, इन्द्रसङ्गतिं प्राप्य द्वारो देवीर्देव्यो दीप्यमाना अभितः सर्वत्र विश्रयन्तां विशेषेण श्रयन्ताम्, ऋत्विज इति शेषः, विव्रियन्तामिति यावत्। कीदृश्यो द्वारः ? सुवीराः शोभना वीरा ऋत्विजो यासु ताः, ऋत्विग्युक्ता इत्यर्थः। महोभिस्तेजोभिरुत्सवैर्वा प्रथमाना विस्तृता भवन्त्यः, 'महस्तूत्सवतेजसोः' (अ० को० ३।३।२३१) इति कोषात्।

अध्यात्मपक्षे—द्वारो यज्ञगृहद्वार इन्द्ररूपेण परमात्मानं श्रीरामं वा यन्तु। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा कवष्यः शब्दे साधवो वृषाणं वीरमिन्द्रं धावमाना दुरो द्वाराणि यन्तु। यथा प्रथमानाः सुवीरा महोभिः सुपूजितैर्गुणैर्द्वारो देवीः सुपत्नीरभितो विश्रयन्ताम्, तथा यूयमाचरत' इति, तदपि

यत्किञ्चित्, कवष्यो जनयो वृषाणं प्राप्नुयुरित्यस्य सङ्गतत्वेऽपि दुर इत्यनेन असम्बन्धात्। तथैव सुवीराः प्रथमानाः सुपत्नीरभितो विश्रयन्तामित्यत्रापि द्वार इति पदस्यासङ्गतिः। तथैव यूयमप्याचरतेति निर्मूलमेव। स्त्रीषु द्वारतुल्यताकल्पनापि बलात्कार एव। सूत्रब्राह्मणानुसारेण इन्द्रस्तुतिपरा मन्त्रा न स्वयंवरविधायकाः, मन्त्रेषु विधायकतानुपपत्तेः ॥ ४० ॥

उषासानक्ता बृहती बृहन्तं पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम् ।
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती देवानां देवं यजतः सुरुक्मे ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—विशाल, सुन्दर, जलयुक्त दोहनवाली और विस्तारवान् सूत्र के समान विचित्र रूप से इन्द्र को युक्त करने वाली सूर्य की प्रभा और रात्रि इस महान् पराक्रमी देवताओं के देवता इन्द्र को सुन्दर दीप्ति से युक्त करती है ॥ ४१ ॥

उषासानक्ता उषाः प्रातःकालिकी आदित्यप्रभा, नक्तं रात्रिः, उषाश्च नक्तं चेति उषासानक्ता। 'उषासोषसः' (पा० सू० ६।३।३१) इत्युषस्शब्दस्य उषासादेशः। औ विभक्तिः, विभक्तेर्डादेशे टिलोपे च रूपम्। बृहती बृहत्यौ महत्यौ बृहन्तं महान्तं शूरं विक्रान्तं देवानां देवं सर्वदेवपूज्यमिन्द्रं यजत इन्द्रेण सङ्गमं कुरुतः। यजिरत्र सङ्गतिकरणार्थः। कीदृश्यौ उषासानक्ता ? पयस्वती उदकवत्यौ, अवश्यायवत्याविति यावत्। सुदुघे शोभनं दुग्धः सुदुघे साधुदोहने, 'दुहः कब्घश्च' (पा० सू० ३।२।७०) इति कपि घादेशे च रूपम्। इन्द्रं पेशसा विचित्ररूपेण संवयन्ती संवयन्त्यौ सङ्गमयन्त्यौ, इन्द्रं रूपेण योजयन्त्याविति यावत्। तत्र दृष्टान्तः—ततं तन्तुमिव यथा पटार्थं विस्तीर्णं तन्तुं कश्चित् पटरूपेण वयति तद्वत्। सुरुक्मे सुष्ठु शोभनं रुक्मं रोचनं कान्तिर्ययोस्ते सुरुक्मे।

अध्यात्मपक्षे—उषासानक्ता तूलाविद्या मूलाविद्या च, बुद्धिः प्रकृतिश्चेति यावत्। ते बृहन्तं महान्तमपरिच्छिन्नं शूरमभङ्गुरमिन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं देवानां देवं देवैरपि पूज्यं परमात्मानं ततं पटरूपेण विस्तृतं तन्तुं सूत्रमिव पेशसा विचित्ररूपेण संवयन्ती संवयन्त्यौ, इन्द्रं परमात्मानं विचित्रप्रपञ्चरूपेण योजयन्त्यौ स्तः। कीदृश्यौ ? बृहत्यौ महत्यौ पयस्वती पयस्वत्यौ कर्मसंस्कारवत्यौ। पयःपदेन पयःसमवेतानि कर्माणि। सुदुघे साधु दोहने तत्तदभीष्टं पूरयित्र्यौ सुरुक्मे शोभनदीप्तिमत्यौ, सूर्यादिहेतुत्वात्। कर्मवासनावासिततूलाविद्यामूलाविद्ये बुद्धिप्रकृती वा विशुद्धमिन्द्रं परमात्मानमनेकरूपेण विवर्तयतः। यथा कश्चित् तन्तुमेव पटात्मना परिणमयति, तथा परमात्मानमेव जगदात्मना परिणमयतः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा पेशसा संवयन्ती प्रापयन्त्यौ पयस्वती रात्र्यन्धकारयुक्ते सुदुघे बृहती वर्धमाने सुरुक्मे उषासानक्ता ततं देवानां देवं बृहन्तमिन्द्रं सूर्यं यजतः, तथा तन्तुं विस्तारकं शूरं पुरुषं यूयं सङ्गच्छध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारसापेक्षत्वात्। न चोषस्शब्देन दिवसस्य बोधः, तत्र तस्याशक्तत्वात्। न च पयःशब्दस्यान्धकारोऽर्थः। यथाकथञ्चित् तथात्वेऽपि न दिनस्य अन्धकारयुक्तत्वम्, तद्वैपरीत्योपलम्भात्। न च ते इन्द्रं सूर्यं गच्छतः, सूर्यस्य सत्त्वे रात्रेरपगमात्। न वा ते सूर्यं रूपेण याजयतः, सूर्यरूपेणैव तयो रूपवत्त्वात्। न च मनुष्यैरवश्यं कश्चिच्छूरोऽभिगन्तव्यः, वीतरागाणामन्यपुरुषनिरपेक्षत्वात्। द्वितीयान्तपदानामिन्द्रस्य विशेषणत्वेन सम्भवति योजने शूरम्पदस्य स्वातन्त्र्येणान्वयायोगात ॥ ४१ ॥

दैव्या मिमाना मनुषः पुरुत्रा होताराविन्द्रं प्रथमा सुवाचा ।
मूर्धन् यज्ञस्य मधुना दधाना प्राचीनं ज्योतिर्हविषा वृधातः ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—नाना प्रकार से यज्ञरचना करने वाले, मनुष्य होता के पहले सुन्दर वचन वाले और यज्ञ के प्रधान अंग शिरोभाग में इन्द्र को स्थापित करते हुए देवताओं के होता वायु और अग्नि पूर्व दिशा में वर्तमान आहवनीय अग्नि को मधुर हवि से बढ़ाते हैं ॥ ४२ ॥

अयं चाग्निरसौ च वायुर्मध्यमस्तौ दैव्यौ देवानामिमौ 'देवाद्यञञौ' (पा० सू० ४।१।८५, वा० ३) इति यञ्प्रत्ययः । होतारौ वाय्वग्नी प्राचीनं प्राच्यां दिशि वर्तमानं ज्योतिराहवनीयाख्यं मधुना मधुरेण हविषा कृत्वा वृधातो वर्धयतः, वृधेः 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याट् । कीदृशौ होतारौ ? बहुधा मिमाना मिमानौ यज्ञं निर्मिमाणौ । मनुषः, मनोरपत्यं जातिश्चेत् 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' (पा० सू० ४।१।१६१) इत्यञि षुगागमे छान्दसे वृद्ध्यभावे च रूपम् । अत्र प्रथमा पञ्चम्यर्थे । मानुषाद् होतुः प्रथमा आद्यौ, विभक्तेरा । सुवाचा शोभना वाग् ययास्तौ । यज्ञस्य मूर्धन् मूर्धनि प्रधानेऽङ्गे इन्द्रं दधाना स्थापयन्तौ । सर्वत्र प्रथमाद्विवचनस्य आकारः ।

अध्यात्मपक्षे—सत्त्वं च क्षेत्रज्ञश्चैतौ दैव्यौ देवस्य स्वप्रकाशस्य परमात्मनः सम्बन्धिनौ होतारौ तस्याह्वातारौ प्राचीनं प्राग्भवं ब्रह्मात्मकं ज्योतिर्मधुना हविषा मधुरदृश्यात्मकहविःसमर्पणेन, वृधातो वर्धयतः, चिदग्निमण्डले मनःसंयुक्तेन्द्रियस्रुचा सर्वं दृश्यं हुत्वा तस्यापरिच्छिन्नतां पूर्णतां सम्पादयतः । कीदृशौ ? पुरुत्रा बहुधा यज्ञस्य यज्ञं निदिध्यासनलक्षणं मिमानौ निर्मिमाणौ, कर्मणि षष्ठी । मनुषो मानुषाद्धोतुः प्रथमौ सुवाचा वेदान्तलक्षणया शोभनया वाचा यज्ञस्य मूर्ध्नि प्रधानरूपेणेन्द्रं परमात्मानं दधानौ स्थापयन्तौ ।

दयानन्दस्तु—'यौ दैव्यौ देवेषु भवौ मिमाना निर्मातारौ होतारौ दातारौ सुवाचा सुवाचौ यज्ञस्य मूर्धन् प्रथमा वर्तमानौ पुरुत्रा मनुषो दधाना मधुना हविषा प्राचीनं ज्योतिरिन्द्रं वृधातः, तौ सर्वैर्मनुष्यैः सत्कर्तव्यौ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दैव्याविति द्विवचनस्यातन्त्रत्वात्, मधुना हविषा प्रकाशैश्वर्ययोरनुपपत्तेः ॥ ४२ ॥

तिस्रो देवीर्हविषा वर्धमाना इन्द्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः ।
अच्छिन्नं तन्तुं पयसा सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्तिः ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—दीप्यमान सर्वगामिनी वाणी की अधिष्ठात्री भारती शुभ गुणों के कारण स्तुति के योग्य पुष्टियुक्त साध्वी स्त्रियों के समान इन्द्र या यजमान की सेवा करती हुई तीनों देवियाँ दूध और हवि से यज्ञ को विघ्नरहित करें ॥ ४३ ॥

यास्तिस्रः सरस्वती, इडा, भारती च देवी देव्यो हविषा आज्येन वर्धमाना जनयो न पत्नीः पत्न्यो यज्ञसम्बन्धिन्यो जाया इव इन्द्रं जुषाणाः सेवमानास्ता अच्छिन्नं तन्तुमविस्रस्तं निर्विघ्नं यज्ञं पयसा हविषा, कुर्वन्त्विति शेषः । पुनस्ताः कीदृश्यः ? देवी देव्यो दीप्यमानाः, विश्वतूर्तिः सर्वत्र तूर्णगामिन्यः । इदं विशेषणद्वयं तिसृणामपि ।

अध्यात्मपक्षे—सरस्वती वाग्देवता तत्सम्बन्धिनी नाडी तदुपलक्षिता सुषुम्ना च, इडा प्रसिद्धा चन्द्रनाडी, भारती आदित्यप्रभारूपा सूर्यनाडी, एतास्तिस्रो नाड्यो जनयो न पत्नीः साध्व्यो जाया इव इन्द्रं दीप्तिमन्तं जीवात्मानं जुषाणाः सेवमानाः पयसा आज्यादिलक्षणेन हविषान्नेन वर्धमाना तन्तुं जीवनयज्ञमच्छिन्नमविघ्नं सम्पादयन्तीत्यर्थः। कीदृश्यस्ताः? देवी दीप्यमाना विश्वतूर्तिर्विश्वस्मिन् त्वरते तूर्णं गच्छतीति। एतासां पुष्टौ जीवति क्षीणतायां च क्षीयते जीवात्मा।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, या विश्वतूर्तिर्विश्वस्मिंस्त्वरमाणा देवी सरस्वती प्रशस्तविज्ञानवती इडा स्तुत्या भारती धारणपोषणकर्त्री च तिस्रोदेवीर्देव्यः, पयसा शब्दार्थसम्बन्धेन हविषा दानादानेन प्राणेन वा वर्धमाना जनयो जनयित्र्यः पत्नी न इव छिन्नं तन्तुमिन्द्रं जुषाणाः सन्ति, ता यूयं सेवध्वम्' इति, तदपि न सङ्गतम्, कास्ता इत्यस्पष्टत्वात्। न च शक्तय एव ताः, तासां स्वातन्त्र्येण ज्ञानवत्त्वभरणपोषणकर्तृत्वायोगात्। न वा दानादानसमर्थाः, तयोश्चेतनधर्मत्वात्। न च पयःशब्देन शब्दार्थसम्बन्धरसार्थता, न वा शब्दार्थसम्बन्धानां रसरूपता, प्रमाणशून्यत्वात्। तासां विद्युत्सेवनमपि प्रमाणसापेक्षमेव ॥ ४३ ॥

त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय वृष्णेऽपाकोऽचिष्टुर्यशसे पुरूणि।
वृषा यजन् वृषणं भूरिरेता मूर्धन् यज्ञस्य समनक्तु देवान् ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—अतिप्रशंसनीय, अर्चनशील, सब ओर से गमन करने वाला, मनोरथों की वृष्टि करने वाला, परम वीर्यवान्, सबका उत्पादक त्वष्टा देवता यज्ञ के निमित्त सेचन करने वाले इन्द्र के लिये बहुत बलशाली और धर्मसम्पन्न इन्द्र का पूजन करते हुए यज्ञ के शिरोभाग आहवनीय में देवताओं को तृप्त करे ॥ ४४ ॥

त्वष्टा, त्वक्षति करोति रूपमिति त्वष्टा, 'त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः' (नि० ८।१३), देवो यज्ञस्य मूर्धन् मूर्ध्नि शिरसि तद्रूप आहवनीये देवानाहवनीयात्मना स्थितान् समनक्तु भोजयतु, अन्तर्भावितणिजर्थो द्रष्टव्यः। कीदृशस्त्वष्टा? यशसे यशस्विने वृष्णे सेक्त्रे इन्द्राय पुरूणि भैषज्यान्यकरोत्। वचनव्यत्ययो वा, पुरु बहु शुष्मं बलं दधद् धारयन्। तथा अपाकः, पाक इति प्रशस्यनामसु (निघ० ३।८।८), न विद्यते पाकः प्रशस्यो यस्मात् सः, परमप्रशस्तस्त्वष्टा। 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (पा० सू० २।२।२४, वा० २) इति समासः। अचिष्टुरञ्चनशीलः; सर्वत्र गत इति यावत्। वृषा वर्षिता वृषणं सेक्तारमिन्द्रं यजन् पूजयन्। भूरिरेता भूरि बहु रेतो वीर्यं यस्य स सर्वजनकः।

अध्यात्मपक्षे—त्वष्टा सर्वकर्ता परमेश्वर इन्द्राय दीप्तिमते इन्द्राय उरु बहु शुष्मं बलं दधद् धारयन् यज्ञस्य मूर्धन् मूर्ध्नि यज्ञादिप्रधानकर्मनिमित्तं देवान् इन्द्रियाणि समनक्तु भोजयति। कीदृशस्त्वष्टा? अपाकः सर्वश्रेष्ठः, अचिष्टुः सर्वत्राञ्चनशीलः सर्वगतः, भूरिरेताः सर्वकारणः। कीदृशाय इन्द्राय? वृष्णे सेक्त्रे, यशसे यशस्विने।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा त्वष्टा विद्युदिव वर्तमानो विद्वान् वृषा सेक्ता इन्द्राय परमैश्वर्याय वृष्णे परशक्तिबन्धकाय शुष्मं बलम्, अपाकोऽप्रशस्यः, अचिष्टुः गमनकर्ता, यशसे पुरूणि बहूनि दधद् भूरिरेता वृषणं मेघं यजन् सङ्गच्छमानो यज्ञस्य सङ्गतस्य जगतो मूर्धन् मूर्ध्नि देवान् समनक्तु कामयताम्' इति, तदप्यसङ्गतम्, त्वष्टृपदस्य विद्युत्तुल्यविद्वदर्थे मानाभावात्। इन्द्रशब्दस्य परमैश्वर्यवत्त्वार्थकत्वेऽप्यैश्वर्यमात्रं लक्षणामन्तरा नार्थः।

सा च तात्पर्यानुपपत्तिरूपबीजसापेक्षा। वृष्ण इत्यस्य परमैश्वर्यरोधनार्थतापि चिन्त्यैव। यो यशसे पुरूणि बहूनि धारयति, यश्चात्यन्तबहुवीर्यः, स कथमप्रशस्य इत्यपि चिन्तनीयम्। कश्च स तादृशो यो मेघं सङ्गच्छते, यश्च विदुषः कामयताम्? जगत उत्तमभागः कः? किमर्थं च तत्रैव विद्वांसः काम्याः? इत्यादिप्रश्नपरम्परा अनिराकाङ्क्षैव। अतः सर्वस्याप्येतस्य गौणार्थस्याश्रयणं निर्मूलमेव। काव्यकोषादिषु देवेन्द्रादिशब्दा अर्थविशेषेषु प्रसिद्धाः। कथङ्कारं तेषामपलापः? ॥ ४४ ॥

वन॒स्पति॒रव॑सृष्टो॒ न पाशै॒स्त्मन्या॑ सम॒ञ्जञ्छ॑मि॒ता न दे॒वः।
इन्द्र॑स्य ह॒व्यैर्ज॒ठरं॑ पृणा॒नः स्वदा॑ति य॒ज्ञं मधु॑ना घृ॒तेन॑ ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—यूप देवता यज्ञ के समान, आज्ञा दिये हुए के समान, पाशों से अपने को युक्त करती हवियों के द्वारा इन्द्र के उदर को पूर्ण कर मधुर रस और घृत के द्वारा यज्ञ का आस्वादन करता है ॥ ४५ ॥

वनस्पतिस्तद्विकारो यूपो देवो दीप्यमानो मधुना मधुररसेन घृतेन आज्येन च युक्तं यज्ञं यागं स्वदति स्वदतु आस्वादयतु समनक्तु वा। कीदृशो वनस्पतिः? अवसृष्टो न आज्ञप्त इव पाशैः कृत्वा त्मन्या आत्मनि समञ्जन् पशुं संयोजयन्। आत्मन्शब्दस्य आदेराकारस्य 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा० सू० ६।३।१४१) इति लोपे विभक्तेर्यादेशे च रूपम्। कथमिव? शमिता न देवः, यथा शमिता मृत्युदेवता पाशैः पशुमात्मनि संयोजयति, तद्वद् वनस्पतिरप्यात्मनि पशुं संयोजयति। तथा इन्द्रस्य जठरमुदरं हव्यैः पृणानः पूरयन् वनस्पतिर्यज्ञं स्वदति।

अध्यात्मपक्षे—वनस्पतिर्यूपभावापन्नः परमेश्वरः, अवसृष्ट इव यज्ञं स्वदातीति पूर्ववदेव व्याख्यानम्। यद्वा वनस्पतिर्यमलार्जुनौ वृक्षत्वेन एकत्वविवक्षया एकवचनम्, देवः पाशैर्बद्धं यज्ञं विष्णुं कृष्णमात्मनि समञ्जन् संयोजयन् मधुना घृतेन मधुरेण घृतगन्धिस्नेहेन यज्ञं कृष्णं स्वदाति माधुर्यसौन्दर्यसौरस्यसौगन्ध्यादिविशिष्टस्य माधुर्यादिकमास्वादयति। कथमिव? शमिता न शमं गच्छन्निव। ध्यानादिबलेन शमं गच्छन्नुपासकः परमेश्वरस्य कृष्णस्य जठरं हव्यैर्दध्योदननवनीतादिभिः पृणानः पूरयन् भक्त्या तमात्मनि योजयति, तद्वत्।

दयानन्दस्तु—'यः पाशैर्वनस्पतिर्वनस्य वृक्षसमूहस्य पतिः पालकः, अवसृष्ट आज्ञप्तः पुरुष इव त्मन्या आत्मना समञ्जन् सम्पृचानो देवो दिव्यसुखदाता शमिता यज्ञो न यज्ञ इव इन्द्रस्य ऐश्वर्यस्य जठरं पृणानो हव्यैरत्तुमर्हैः, मधुना क्षौद्रेण घृतेनाज्येन च सह यज्ञं कुर्वन् खादति, स रोगहीनो भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणाध्याहारमूलकत्वात्। वनस्पतिशब्दश्च—'अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः' (१।४७) इति मनुसंहितारीत्या न्यग्रोधाश्वत्थादिविशिष्टवृक्षेषु रूढः। रूढिमपहाय वृक्षसमूहपालके मनुष्ये प्रयुञ्जानस्य शाब्दन्याये सर्वथा निरङ्कुशत्वमेव द्योतयति। दृढबन्धनैश्च कथं वक्षसमूहस्य पालनमित्यपि तन्मनःस्थमेव। आत्मना कस्य सम्पर्को विवक्षितः? शमिता यज्ञः कथम्? इन्द्रस्य जठरमैश्वर्यस्य कोशं पूरयन् हव्यैरत्तुमर्हैर्मधुना घृतेन च यज्ञं कुर्वन् स्वदाति, स रोगहीनो भवतीत्यादिकं सर्वं सापेक्षमेव, पूर्वोक्तदोषदूषितं च ॥ ४५ ॥

स्तो॒काना॒मिन्दुं॒ प्रति॒ शूर॒ इन्द्रो॑ वृषा॒यमा॑णो वृष॒भस्तु॑रा॒षाट्।
घृ॒त॒प्रुषा॒ मन॑सा॒ मोद॑माना॒ः स्वाहा॑ दे॒वा अ॒मृता॑ मादयन्ताम् ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—शूरवीर, शत्रुओं के ऊपर गरजने वाला, वृष्टि का प्रेरक, शत्रुजयी इन्द्र तथा स्वाहाकार घृत के बिन्दु से भी मन में प्रसन्न होते हुए मरणधर्मरहित देवता घृतबिन्दु युक्त सोम से तृप्त हों ॥ ४६ ॥

इन्द्रः स्वाहा, देवाः, नामैकदेशे नामग्रहणम्, स्वाहाकृतयो देवाश्च मादयन्तां तृप्यन्तु, 'मद तृप्तियोगे' चौरादिकः। किमुद्दिश्य ? स्तोकानामिन्दुं प्रति, स्तोका वपासम्बन्धिनो घृतबिन्दवः, तत्सम्बन्धी य इन्दुः सोमस्तं प्रति, तमुद्दिश्येति यावत्। इह वपास्तोकेषु सोमत्वमारोप्यते, वपास्तोकरूपं सोममुद्दिश्य इन्द्रः स्वाहाकृतयश्च तृप्यन्तामित्यर्थः। कीदृश इन्द्रः ? शूरः शौर्यवान्, वृषायमाणो वृषवदाचरति वृषायते, वृषायते यः स वृषायमाणः, शत्रून् प्रति गर्जन्नित्यर्थः। वृषभः, वर्षति कामानिति वृषभः, 'ऋषिवृषिभ्यां कित्' (उ० ३।१२३) इत्यभच्-प्रत्ययेन साधुः, वर्षिता। तुराषाट् तूर्णं सहतेऽभिभवति शत्रूनिति तुराषाट्। कीदृशाः स्वाहाकृतयः ? घृतप्रुषा प्रुष्णाति स्नेहनं करोति पूरयति वेति प्रुट्, सम्पदादिभ्यः क्विप्, घृतस्य प्रुड् घृतप्रुट्, तेन घृतबिन्दुनापि मनसा मोदमानाः, सन्तुष्टा इति यावत्। अमृताः, नास्ति मृतं मरणं येषां ते तथोक्ता अमरणधर्माणः। आचार्योव्वटरीत्या तु वपास्तोकानां सम्बन्धिनमिन्दुं सोमं प्रति गमनाय शूरो विक्रान्तो वृषायमाणस्तुराषाट् स इन्द्रः स्वाहाकृतिभिर्मादयतां तृप्यतु। घृतप्रुषा घृतावयवेन च मनसा मोदमाना हृष्यन्तः स्वाहा स्वाहाकृतिभिर्देवा अमृता अमरणधर्माणो मादयन्तां तृप्यन्तु।

अध्यात्मपक्षे—स्तोकानां रससिन्धुबिन्दूनां सम्बन्धिनमिन्दुं चन्द्रं प्रति गमनाय शूरो विक्रान्तो वृषायमाणस्तुराषाट् स्वाहा सर्वस्वात्मनिवेदनैः सह मादयताम्। घृतप्रुषा घृतबिन्दुभिः, इन्द्रावयवभूता देवा अपि घृतगन्धिस्नेहेन तद्युक्तेन मनसा मोदमाना हृष्यन्तु, स्वाहाकारैः सर्वसमर्पणैः सह अमृताः सन्तो मादयन्ताम्।

दयानन्दस्तु—'यथा वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट् तुरान् सहते यः स शूर इन्द्रः स्तोकानामिन्दुं प्रत्यानन्दति, तथा घृतप्रुषा प्रकाशसेविना मनसा स्वाहा सत्यक्रियमा च मोदमाना अमृता देवा मादयन्ताम्' इति, तदपि तुच्छम्, घृतप्रुषा मनसा प्रकाशसेविना विज्ञानेनेति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्, मनःपदस्य विज्ञानार्थत्वायोगात्। घृतशब्दस्य कथञ्चित् प्रकाशार्थत्वेऽपि प्रुषेत्यस्य सेवार्थता निर्मूलैव। भावार्थस्तु सर्वथा मूलार्थासंस्पर्शीत्यलं परकीयरन्ध्रान्वेषणेन ॥ ४६ ॥

आयात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—जिस इन्द्र के पूर्वकाल में किये हुए वृत्रवध आदि पराक्रमों की स्वर्ग में चर्चा होती रहती है और जो कभी तिरस्कृत न होने वाले हमारे क्षात्र तेज को पुष्ट करता है, वह शूरवीर, स्तुति करने से वृद्धि को प्राप्त हुआ इन्द्रदेव हमारी रक्षा के लिये यहाँ आवे, इस यज्ञ में देवताओं के साथ आकर भोजन करे ॥ ४७ ॥

'याज्यानुवाक्याश्च वपा-पशु-पुरोडाशानामायात्विन्द्र इति' (का० श्रौ० १९।६।१३)। वपा-पशु-पुरोडाशानां याज्यानुवाक्या वर्ण्यन्ते। 'आयात्विन्द्रः' (२०।४७) इति वपायाः पुरोऽनुवाक्या, 'आ न इन्द्रो दूरात्' (२०।४८) इति याज्या, 'आ न इन्द्रो हरिभिः' (२०।४९) इति पशुपुरोडाशस्य पुरोऽनुवाक्या, 'त्रातारमिन्द्रम्' (२०।५०) इति याज्या, 'इन्द्रः सुत्रामा' (२०।५१) इति पशुयागे पुरोऽनुवाक्या, 'तस्य वयम्' (२०।५२) इति याज्येति सूत्रार्थः। सप्त त्रिष्टुभ इन्द्रदेवत्याः। इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवो नोऽस्माकमुप समीपे, अवसे अवितुम्, तर्पणाय रक्षणाय वा आयातु। 'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्' (पा० सू० ३।४।९) इति तुमर्थेऽवतेरसेन्प्रत्ययः। इहायातः सन् अस्माभिः स्तुतः सधमात् सह देवैः सार्धं मादयति तृप्यतीति सधमात् सहभोजनकर्तास्तु,

'सधमादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति सहशब्दस्य सधादेशः। कीदृश इन्द्रः ? शूरः शौर्यगुणोपेतः। स्तुतोऽस्माभिः। स्तुत्या स्वबलैर्वा वावृधानो वर्धमानः। यस्य इन्द्रस्य पूर्वीस्तविषीः पूर्वास्तविष्यः, पूर्वाणि कृतानि बलानि वृत्रवधादयः पराक्रमाः, द्यौर्न स्वर्ग इवोच्चैः कथ्यन्ते, तविषीति बलनाम (निघ० २।९।१०), 'तविषीति बलनाम, तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः' (निरु० ९।२५)। तुधातुः सौत्रः 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' (पा० सू० ७।३।९५) इति सूत्रे पठितो गतिवृद्धिहिंसार्थकः। यद्वा द्यौः स्वर्गो यथा स्तूयते तथेन्द्रस्य पराक्रमाः स्तूयन्ते। यश्चेन्द्रः क्षत्रमस्मदीयमभिभूति अभिभवितृ अभिभवनशीलं क्षतत्राणकरं क्षत्रं पुष्यात् पुष्णाति, स इन्द्र आयात्विति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमात्मा अवसेऽवनाय तर्पणाय वा नोऽस्माकं समीपे आयातु आगच्छतु, श्रीरामादिविग्रहवान् भूत्वेत्यभिप्रायः। इहागत्यास्माभिः स्तुतः सन् सधमात् सह स्वपरिकरैः सार्धं मादयतीति तथोक्तः, सहभोजनोऽस्तु। स च कीदृशः ? शूरो विक्रान्तः। वावृधानः प्रतिक्षणं नवनवायमानबलेन वर्धमानः। यस्य पूर्वीस्तविषीः पूर्वाणि रावणवधादीनि बलानि, द्यौरिवोच्चैर्वसिष्ठवाल्मीक्यादिभिः स्तूयन्ते, यश्च क्षत्रं क्षतात् त्राणकरं क्षात्रं धर्मं पुष्यात् पुष्यति, स आयात्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'य इन्द्र इह स्तुतः शूरः पूर्वीस्तविषीः सेनाः पूर्वीः पूर्वैर्विद्वद्भिः सुशिक्षयोत्तमाः कृता वावृधानोऽत्यन्तं वर्धमानो यस्याभिभूति शत्रूणामभिभवनकर्त्री क्षत्रं राज्यं द्यौर्न द्यौरिव वर्तते, यो नः पुष्यात्, सोऽस्माकमवसे उपायातु, सधमात् समानस्थानाद् अस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथाहि—पूर्वीति-पदस्य पूर्वैर्विद्वद्भिः सुशिक्षयोत्तमाः कृता इति व्याख्यानं कथमिवोपपद्यते ? पूर्वशब्दस्य तादृशेऽर्थेऽशक्तत्वात्। तविषीति पदमपि न सेनापरम्, प्रमाणशून्यत्वात्। क्षत्रं राज्यमित्यपि निर्मूलम्। अभिभूतिपदं शत्रूणामभि-भवकर्त्रीति त्वया व्याख्यातं कस्य विशेषणम् ? न तविषीरित्यस्य, वचनवैषम्यात् ॥ ४७ ॥

आ न इन्द्रो दूरादा न आसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—मनोरथों को पूर्ण करने वाला, उत्कृष्ट गुणों वाला, अतितेजस्वी, बलशाली, मनुष्यों का पालन करने वाला, वज्रधारी, एक अथवा अनेक बड़े-बड़े संग्रामों में शत्रुओं का नाश करने वाला इन्द्र हमारी रक्षा के लिये सुदूर स्वर्ग से यहां आवे, हमारे निकट इस यज्ञस्थल पर विराजमान हो ॥ ४८ ॥

इन्द्रो दूराद् द्युलोकादेः, नोऽस्माकमासाद् अन्तिकाच्च आयासद् आगच्छतु, आ उपसर्गो यासदित्यनेन सम्बद्ध्यते। यदि दूरे द्युलोकादौ यदि वान्तिके यत्रैव भवेत्तत एवागच्छत्वित्यर्थः। आसादित्यन्तिकनामसु (निघ० २।१६।२), यातेर्लेटि 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे, 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिपि च रूपम्। किमर्थमागच्छत्विति चेत्, तत्राह—अवसेऽवितुमस्माकं रक्षणं कर्तुम्। कीदृश इन्द्रः ? अभिष्टिकृद् अभिष्टिमभिलाषं करोति पूरयतीति तथोक्तो मनोऽभिलषितकार्यकारी। उग्र उच्यति समवैति महापुरुषानित्युग्रः, उत्कृष्ट इत्यर्थः। 'उच् समवाये' दैवादिकात्, 'ऋज्रेन्द्र' (उ० २।२९) इत्यादिना रन्प्रत्ययः, चकारस्य गकारश्चादेशः। ओजिष्ठेभिस्तेजस्वितमैर्बलैः, युक्त इति शेषः। ओजोऽस्त्येषां त ओजस्विनः। 'अस्माया-मेधास्रजो विनिः' (पा० सू० ५।२।१२१) इति विनिः, अतिशयेन ओजस्विन ओजिष्ठाः, 'विन्मतोर्लुक्' (पा० सू० ५।३।६५) इति विनो लुक्, तैरतिशयतेजस्विभिः। नृपतिर्नृणां पालकः। वज्रबाहुर्वज्रं बाहौ यस्य सः।

सङ्गे एकस्मिन् संग्रामे समत्सु बहुष्वपि संग्रामेषु युगपदुत्थितेषु। सङ्गे (निघ० २।१७।८), समत्सु (निघ० २।१७।२२) इत्युभे अपि संग्रामनामनी। पृतन्यून् पृतनामिच्छन्ति पृतन्यन्ति, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि, 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इत्यन्त्यलोपे, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्यये पृतन्युरिति रूपम्, शत्रून्। तुर्वणिः, तुर्वतीति तुर्वणिर्हन्ता। एवंभूत इन्द्रः समायात्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरो रामः, नोऽस्माकं दूराद् दूरदेशात् साकेतलोकादेरासाद् निकट-प्रदेशाच्च, आयासद् आगच्छतु। किमर्थम् ? अवसे अवितुं भक्तान् रक्षितुम्। अभिष्टिकृद् भक्ताभिलषितकार्यकारी, उग्रः शत्रूणां दर्पदलनादा ओजिष्ठेभिरोजस्वितमैर्लक्ष्मणहनूमदङ्गदादिभिः सेवितः, नृपती राजा वज्रबाहु-रनिवारणीयबाणबाहुः, सङ्गे द्वन्द्वयुद्धे रावणेन सह समत्सु सामूहिकयुद्धेषु पृतन्यून् शत्रून् तुर्वणिर्हन्ता।

दयानन्दस्तु—'योऽभिष्टिकृद् अभिष्टिं सर्वत इष्टिं सुखं करोति सः, वज्रबाहुर्नृपतिरोजिष्ठैरुग्रस्तुर्वणि-रिन्द्रो नोऽवसे समत्सु सङ्गे दूरादासादायासन्नोऽस्मान् पृतन्यून् सततमारक्षेद् मानयेच्च, सोऽस्माभिरपि सदा माननीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारादिमूलकत्वात्, औपचारिकत्वाच्च। नहि कस्यचिद्बाहू वज्रवद् दृढौ भवतः। न वा अजिष्ठा योद्धारो मनुष्येषूपलभ्यन्ते। सङ्गे प्रसङ्गे इत्यप्यश्लिष्टमेव। न च तुर्वणि-रित्यस्य शीघ्रं शत्रुहन्तेत्यर्थः सम्भवति, 'तुर्व हिंसायाम्' इति धातोर्निष्पन्नत्वात्। आरक्षेन्मानयेच्चेत्यपि निर्मूलमेव॥ ४८॥

आ न॒ इन्द्रो॒ हरि॑भिर्या॒त्वच्छा॑र्वाची॒नोऽव॑से॒ राध॑से च।
तिष्ठा॑ति व॒ज्री म॒घवा॑ विर॒प्शीमं य॒ज्ञमनु॑ नो॒ वाज॑सातौ॥ ४९॥

मन्त्रार्थ—परिपूर्ण धन वाला महान् वज्रधारी इन्द्र हमारी रक्षा के निमित्त और धन देने के निमित हरि नामक अश्वों के साथ भली प्रकार से हमारे सामने आवे। हमारे इस यज्ञ में अन्न का भण्डार बनाकर यहाँ रहे, अर्थात् धन-धान्य से हमारी रक्षा करे॥ ४९॥

इन्द्रोऽर्वाचीनोऽर्वागञ्चनशीलोऽच्छाभिमुखः सन् नोऽस्मान् हरिभिर्हरितवर्णैरश्वैरायातु। किमर्थम्? अवसे, अवनमवः, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन्, तस्मै रक्षणाय। राधसे धनाय अन्नाय च। आगत्य च वज्री इन्द्रो नोऽस्माकमिमं यज्ञमनु प्रति वाजसातौ अन्नसम्भजने निमित्ते तिष्ठाति तिष्ठतु, लेट्। कीदृश इन्द्रः? मघवा मघं धनमस्त्यस्येति। विरप्शी विविधं रपति लपति यः स विरप्शी महान् विरमणशीलो वा। विरप्शीति महन्नामसु (निघ० ३।३।२२)।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरः, अर्वाचीनः सर्वोत्कृष्टोऽपि सन् करुणया भक्तोद्धरणे अर्वागञ्चनशीलो भवति। नोऽस्मानच्छ हरिभिर्हनुमदादिवानरैः सह आयातु। किमर्थम्? अस्मानवसे रक्षितुम्। अन्नाय अभीष्ट-भोग्यप्रापणाय वा। राधसे धनाय ब्रह्मविद्यारूपधनाय। आगत्य चास्माकमिमं यज्ञमाराधनलक्षणमनु प्रति वाजसातौ अन्नसम्भजने निमित्ते तिष्ठाति तिष्ठतु, अन्नविभाजननिमित्तेन तिष्ठतु। कीदृश इन्द्रः? वज्री वज्रोपमास्त्रः, मघवा अनन्तब्रह्माण्डैश्वर्ययुक्तः, विरप्शी महान् स्वरूपतो गुणतश्च निरतिशयमहत्त्वोपेतः।

दयानन्दस्तु—'यो मघवा विरप्शी अर्वाचीनो वज्री इन्द्रो हरिभिर्नोऽवसे राधसे च वाजसातौ तिष्ठाति तिष्ठतु, स इमं यज्ञमच्छान्वयातु' इति, तदप्यसङ्गतम्, अनुपपत्तेः । तथाहि—नहि वज्रीतिपदस्य शस्त्रविद्याकुशल इत्यर्थः, न च सेनापतिरैश्वर्यदाता भवति, राज्ञ एवैश्वर्याधिपतित्वात् । न वा स निरतिशयैश्वर्यवान् भवति, तस्य राजाधीनत्वात् । न वा हरिशब्दस्य सुशिक्षितोऽश्वोऽर्थः, निष्प्रमाणत्वात् ॥ ४९ ॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳ हवे हवे सुहवꣳ शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳ स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—रक्षक इन्द्र को मैं बुलाता हूं, प्रत्येक यज्ञ में यजमान की रक्षा करने वाले सुख से बुलाने योग्य शूरवीर इन्द्र का आह्वान करता हूँ । सम्पन्न आहुतियों के द्वारा पूजित इन्द्र का आह्वान करता हूँ । धनवान् इन्द्र हमारा कल्याण करें ॥ ५० ॥

गर्गदृष्टा । त्रातारं रक्षितारमिन्द्रमवितारं प्रीणयितारमिन्द्रम् । हवे हवे प्रत्याह्वानं प्रतियज्ञं वा सुहवं सुखेन हूयत आहूयत इति सुहवः, तम् । शूरं शौर्योपेतं शक्रम्, शक्नोति कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमिति शक्रः, 'स्फायि ....' (उ० २।१३) इत्यादिना शके रक्प्रत्ययः, तं समर्थम् । पुरुहूतं पुरुभिर्बहुभिर्हूयत इति पुरुहूतस्तं बहुभिराहूतमीदृशमिन्द्रं ह्वयामि आह्वयामि । मघवा धनवानिन्द्र आहूतः सन्नोऽस्मभ्यं स्वस्ति अविनाशं धातु दधातु करोत्वित्यर्थः । विकरणव्यत्ययः ।

अध्यात्मपक्षे—यमिन्द्रं परमेश्वरं वेदास्तज्ज्ञाश्च त्रातारं रक्षितारमवितारं तर्पयितारं कथयन्ति, यं च हवे हवे सुहवं शोभनाह्वानं शूरं विक्रान्तं शक्रं शक्तं समर्थं च वदन्ति, तमीदृशमिन्द्रमहं ह्वयामि । स आहूतः सन्नेत्य नोऽस्मभ्यं स्वस्ति क्षेमं कल्याणं धातु दधातु, करोतीति यावत् ।

दयानन्दस्तु—'हे सभाध्यक्ष, यं हवे हवे त्रातारमवितारमिन्द्रं दुष्टविदारकं सुहवं शूरमिन्द्रमैश्वर्यदातारं शक्रं पुरुहूतं शूरमिन्द्रं राज्यं कारयितारं त्वां ह्वयामि, स मघवेन्द्रो नः स्वस्ति दधातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सभाध्यक्षस्य मनुष्यमात्रस्य तादृग्विशेषणानुपपत्तेः, वेदस्य धर्मब्रह्मपरत्वेन मनुष्यपरत्वायोगात् ॥५०॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ२॥ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—भली-भाँति रक्षा करने वाला धनवान् सर्वज्ञ इन्द्र हमें अन्न प्रदान कर सुखी करें, हमारे दुर्भाग्य को दूर करें, हमें अभय प्रदान करें । हम श्रेष्ठ धन के और पुत्रों के स्वामी हों ॥ ५१ ॥

सुत्रामा सुष्ठु त्रायते रक्षतीति सुत्रामा साधुत्राणः, 'त्रैङ् पालने' इति धातोः 'आतो मनिन्क्वनिप्वनिपश्च' (पा० सू० ३।२।७४) इति मनिन्प्रत्यये सुत्रामा । स्ववान् स्वं धनमस्यास्तीति तथोक्तः, विशिष्टधनोपेतः । 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० सू० ८।३।९) इति नकारस्य रुत्वे, 'आतोऽटि नित्यम्' (पा० सू० ८।३।३) इत्यनुनासिके च रूपम् । विश्वं सर्वं वेदो धनं यस्य स विश्ववेदाः । अवोभिरन्नैः सुमृडीकः शोभनसुखकारी भवतु । अव इत्यन्ननामसु (निघ० २।७।९) । 'मृडः कीकन्कङ्कणौ' (उ० ४।२५) इति 'मृड सुखने' इति

तौदादिकात् कीकन्प्रत्यये मृडीक इति। सुष्ठु शोभनं मृडीकं सुखं यस्मात् सः। किञ्च, स इन्द्रो द्वेषो दौर्भाग्यं बाधतां निवर्तयतु, अभयं च भयाभावं च कृणोतु करोतु। किञ्च, हे इन्द्र! त्वत्प्रसादाद् वयं सुवीर्यस्य शोभनाश्च ते वीराश्च सुवीराः पुत्रादयः, तेभ्यो हितं सुवीर्यम्, तस्य धनस्येति यावत्, पतयः स्वामिनः स्याम भवेम।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरः सुत्रामा, पूर्ववदेव विशेषणानामाञ्जस्येन परमात्मन्येव सङ्गतेः। देवविशेषोऽपि तदनुगृहीत एव सुत्रामा स्ववांश्च भवति।

दयानन्दस्तु—'यः सुत्रामा स्ववान् इन्द्रः, अवोभिर्न्यायपुरःसरै रक्षणादिभिः प्रजा रक्षेत्, स द्वेषो बाधतामभयं कृणोतु, स्वयमपि तादृश एवं विश्ववेदाः समग्रधनो भवतु, यतो वयं सुवीर्यस्य पतयः स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्ये राजनि सभाध्यक्षे वा तदसम्भवात्, समग्रधनत्वासम्भवादिति यावत् ॥ ५१ ॥

तस्य॑ व॒यᳪ स॑म॒तौ य॒ज्ञिय॒स्यापि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म।
स सु॒त्रामा॒ स्वव॑ाँ२॥ इन्द्रो॑ अ॒स्मे आ॒राच्चि॒द् द्वेषः॑ सनु॒तर्यु॑योतु ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ का सम्पादन करने वाले हम लोगों को इन्द्र की सुमति प्राप्त हो, कल्याण रूप श्रेष्ठ मन से हम सम्पन्न हों, अर्थात् हमारे मन को इन्द्रदेव सुमति और कल्याण से युक्त करें। सबकी भली-भाँति देखरेख करने वाला वह धनवान् इन्द्र हमसे दूर रहकर भी हमारे सभी दुर्भाग्यों का नाश कर दे॥ ५२ ॥

तस्य सुत्राम्ण इन्द्रस्य सुमतौ सानुग्रहायां बुद्धौ वयं स्याम भवेम। तथा भद्रे कल्याणरूपे सौमनसे सुमनसो भावे शोभनमनस्कत्वेऽपि वयं स्याम। सोऽस्मासु शोभनां बुद्धिं शोभनं भद्रं मनश्च करोत्वित्यर्थः। कीदृशस्येन्द्रस्य? यज्ञियस्य यज्ञाय हितस्य यज्ञसम्पादिनः। स सुत्रामा सुरक्षकः स्ववान् धनवानिन्द्रः, अस्मे अस्मत्तः, आराच्चिद् दूरादपि वर्तमानं द्वेषो दौर्भाग्यं सनुतरन्तर्हितं कृत्वा युयोतु पृथक्करोतु। सनुत इति निर्णीतान्तर्हितनामसु (निघ० ३।२५।३)। निर्णीतं बहिर्नीतं निर्गतमन्तर्हितं वा। यद्वा दूरे वर्तमानं दौर्भाग्यादिकं प्रकटं कृत्वा युयोतु पृथक्करोतु।

अध्यात्मपक्षे—तस्येन्द्रस्य परमात्मनः सुमतौ शोभनायां मतौ वयं स्याम। तदनुगृहीतबुद्धिगोचराणां पावित्र्यमुक्तम्। 'यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वार्थगोचरा। तद्दृष्टिगोचराः सर्वे पूता एव न संशयः॥' इत्याप्तोक्तेः। किमु वक्तव्यं परमात्मन एव शोभनमतिगोचराणां कृतार्थत्वे? तस्यैव यज्ञियत्वमपि, तन्नामोच्चारणेनैव यज्ञव्यङ्गतानिवारणात्, 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥' इत्युक्तेः। तस्य सौमनसं भद्ररूपं भद्रकरम्। तत्सम्बन्धेनापि जीवानां कृतकृत्यता भवति। स एवानायासेन सर्वरक्षकः, सङ्कल्पमात्रेण सर्वपालकत्वात्। तस्य स्मरणमेव दौर्भाग्यनाशकमभयकरं च। किं पुनस्तस्यैव तत्सम्पादने प्रवृत्तस्य तथात्वे? स एवानन्तैश्वर्यवानिन्द्रोऽस्मत्त आराच्चिद् दूरादपि वर्तमानं द्वेषो दौर्भाग्यमन्तर्हितं प्रविलापितं कृत्वा युयोतु समूलघातं हन्तु।

दयानन्दस्तु—'यः सुत्रामा स्ववानिन्द्रः सभेशः, अस्मै द्वेष आराच्चित् सनुतर्युयोतु, तस्य पूर्वोक्तस्य सभेशस्य राज्ञः सुमतौ भद्रे सौमनसेऽप्यनुकूलाः स्याम। सोऽस्माकं राजा तस्य वयं प्रजाश्च' इत्यादिकम्, तदपि मन्दम्, मनुष्ये सभेशे तदसम्भवात्। नहि तस्य परिच्छिन्नायां मतौ सर्वे जना भवितुं शक्नुवन्ति। इन्द्रः पितृवद्वर्तमान इत्यर्थोऽपि निर्मूलः॥ ५२ ॥

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा केचिन्नियमन् विं न पाशिनोऽतिधन्वेव ताँ२।। इहि ।। ५३ ।।

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! गंभीर हिनहिनाहट वाले और मयूर के समान रोम वाले अपने घोड़ों के साथ आप यहाँ पधारिये । आते समय आपको कोई भी बाधा न पहुँचा सके । जैसे पाशधारी बहेलिये पक्षी को पकड़ते हैं, उसी तरह से आप भी मरुभूमि के सभी विघ्नों को बाँध कर हमारे इस यज्ञ में आइये ।। ५३ ।।

विश्वामित्रदृष्टा बृहती । तृतीयो द्वादशार्णोऽन्ये त्रयः पादा अष्टार्णाः । आमन्द्रैः, एवेत्—इत्यनयोर्ऋचो-र्विनियोगाभावः । लैङ्गिको विनियोगोऽवगन्तव्यः । हे इन्द्र, त्वं मन्द्रैर्गम्भीरह्लेषारवैः, मयूररोमभिर्मयूरस्येव रोमाणि येषां तैः, हरिभिर्हरिद्वर्णैरश्वैरायाहि । किञ्च, ये केचिदस्मद्विरोधिनस्ते आगच्छन्तं त्वा त्वां मा नियमन् नियच्छन्तु मा निबध्नन्तु । कथमिव ? पाशिनः, पाशोऽस्ति येषां ते पाशप्रतिबन्धका आखेटकिनो व्याधा वा, विं शकुनिमिव । यथा व्याधादयः पाशिनः शकुनीन् निबध्नन्ति, तथा त्वां मा केचन निबध्नन्त्वित्यर्थः । अथ ये परिपन्थिनो भवेयुः, तानतिक्रम्य इहि आगच्छ । किमिव ? धन्व इव । धन्व निरुदकदेशः । यथा पान्थो निरुदकदेशमतिक्रम्य गच्छति तथा ।

अध्यात्मपक्षे—भक्ता भगवन्तमाह्वयन्ति । सोत्कण्ठं तदागमनं प्रतीक्षमाणाः प्रतिबन्धकान् कल्पयन्त-स्तदतिक्रमणं कल्पयन्ति । हे इन्द्र परमैश्वर्योपेत भगवन्, त्वं मयूररोमभिर्हरिद्वर्णैरचिन्त्यरूपैरश्वैरायाहि । त्वां केचिद् विघ्नकारका विं शकुनिं पाशिन इव मा नियमन् मा निबध्नन्तु । यथा निरुदकं मरुमतीत्य पान्थः सुदेशमागच्छति, तथा त्वं प्रतिबन्धकानतीत्य अस्मान् इहि आगच्छ ।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सेनेश, एवं मन्द्रैर्मयूररोमभिर्हरिभिस्तान् शत्रून् विजेतुं याहि । त्वां पाशिनो विं न पक्षिणमिव केचिन्मा नियमन् । त्वमतिधन्वेवेहि' इति, तदपि मन्दम्, अध्याहारादिदोषयुक्तत्वात् । शत्रून् विजेतुं याहीत्यंशस्य मन्त्रेऽभावात्, सेनापत्यादिव्यवहारस्य लौकिकत्वेनापौरुषेये वेदे तदयोगात् ।। ५३ ।।

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः ।
स नः स्तुतो वीरवद्धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।। ५४ ।।

मन्त्रार्थ—परब्रह्म के स्वरूप पर विचार करने में लगे हुए महर्षिगण इसी प्रकार मन्त्रों के द्वारा मनोरथ पूर्ण करने वाले वज्रधारी इन्द्र की अर्चना करते हैं । हमारी स्तुति से प्रसन्न हुए इन्द्र पुत्र-पौत्र आदि संतति और पशुधन से हमें सम्पन्न करें । हे ऋत्विजों ! आप लोग अनेक कल्याणों को देने वाली स्तुतियों से निरन्तर हमारी रक्षा करें ।। ५४ ।।

वसिष्ठदृष्टा इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप् । वसिष्ठासो वसिष्ठा वसिष्ठापत्यानि बहूनि, यद्वा वस्तृतमा ऋषयः, अर्कैरर्चनीयैर्मन्त्रैरेव, इत् पादपूरणः, इन्द्रम् अभ्यर्चन्ति । कीदृशमिन्द्रम् ? वृषणं वर्षितारम् । वज्रबाहुं वज्रहस्तम् । स इन्द्रः स्तुतः सन् वीरवद् वीराः पुत्रपौत्रादयो विद्यन्ते यत्र तादृशं गोमद् गोयुक्तं धनं नोऽस्मभ्यं धातु दधातु । विकरणव्यत्ययः । एवं पादत्रयेण इन्द्रं स्तुत्वा ऋत्विज आह—हे ऋत्विजः, यूयं स्वस्तिभि-रविनाशैः सदास्मान् पात रक्षत ।

अध्यात्मपक्षे—वसिष्ठासो वसिष्ठापत्यानि तद्गोत्रपुरुषाः, उपलक्षणमेतत्, अन्येऽपि मुनयः, एव इद् एवमेव अर्कैर्मन्त्रैरिन्द्रं परमात्मानमभ्यर्चन्ति पूजयन्ति। कीदृशम्? वज्रबाहुं वज्रवद् दृढौ बाहू यस्य तं विग्रहवन्तं विष्णुं रामं कृष्णं वा वृषणमभीष्टवर्षितारम्। स एवं स्तुत इन्द्रो वीरवद् गोमद् धनं नोऽस्मभ्यं धातु। 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥' (भा० पु० २।३।१०)। एवं त्रिभिः पादैर्भगवन्तं स्तुत्वा याजयितॄनाह—हे याजका गुरवः, यूयं सदा स्वस्तिभिः क्षेमैः प्राप्तज्ञानवैराग्यादिरक्षाभिर्नः पात रक्षत। 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥'

दयानन्दस्तु—हे वसिष्ठासः, अतिशयेन वसवः ये वृषणं वज्रबाहुमर्कैर्विद्वांसोऽर्चन्ति, तमेव यूयमर्चत। स स्तुतो नो गोमद् वीरवद्राज्यं धातु। यूयं स्वस्तिभिः कल्याणकरैः कर्मभिः सदा पात' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथाहि—वसिष्ठास इत्युपस्थितं कर्तृपदमुपेक्ष्य य इति कर्तृपदकल्पनस्य निर्मूलत्वात्। तमेव यूयमर्चतेति वाक्यकल्पनमपि निर्मूलमेव। वीरवद् गोमद्राज्यं यो धारयति, स एव सभेशो भवतीति धारकस्यैव धारणप्रार्थनमपि निरर्थकमेव। रागास्पदस्य प्रापणोपदेशोऽपि व्यर्थ एव, रागतो नित्यप्राप्तत्वात्॥ ५४॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो घर्मो विराट् सुतः।
दुहे धेनुः सरस्वती सोमꣳ शुक्रमिहेन्द्रियम्॥ ५५॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारो! अग्नि प्रज्वलित हुई, प्रवर्ग्य तप गया, विराजमान सोम अभिषुत हुआ, सभी को तृप्त करने वाली धेनुरूप सरस्वती देवी ने इस यज्ञ में शुद्ध इन्द्रियों के निमित्त बलदायक सोम को दुहा॥ ५५॥

'आप्रियश्च समिद्धो अग्निरश्विनेति' (का० श्रौ० १९।६।१५)। समिद्ध इत्याद्या द्वादशर्चोऽनुष्टुभश्चकारात् त्रिपशोः प्रयाजयाज्या इति सूत्रार्थः। विदर्भिदृष्टाऽश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्या आप्रीसंज्ञा द्वादशानुष्टुभः। अश्विनौ देवानामध्वर्यू। तौ प्रति होता प्राह—हे अश्विना अश्विनौ, समिद्धः सन्दीप्तः, अग्निर्हविःक्षपणसमर्थोऽस्ति। घर्मः प्रवर्ग्यः, तप्तोऽस्ति। विराड् विविधं राजमानः सोमः सुतोऽभिषुतः। धेनुः, धिनोति प्रीणाति तर्पयतीति धेनुः, धिवेरौणादिको नुः, वलोपो गुणश्च, प्रीणयित्री सरस्वती इह यज्ञे सोमं दुहे दुग्धे प्रपूरयति। 'दुह प्रपूरणे' इत्यस्माल्लटि तङि प्रथमैकवचने टेरेत्वे, 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तकारलोपे, 'दुहे' इति रूपम्। कीदृशं सोमम्? शुक्रं शुक्लं शुद्धम्। पुनः कीदृशम्? इन्द्रियम्, इन्द्राय हितम्, बलकरमिति यावत्। एतावता यज्ञसम्पत्तिरस्ति युवामागच्छतमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्विनौ, सीतारामौ वा पार्वतीपरमेश्वरौ वा सम्बोध्य भक्तः प्राह—अग्निः प्रेमाग्निः, विरहाग्निर्वा समिद्धः। घर्मः, जिघर्ति क्षरति नश्यति आमूलचूलं पापं येन स घर्मो ध्यानम्। तप्त ऐश्वर्यस्य परां काष्ठां प्राप्तः। विराड् विविधरूपेण राजमानमन्तःकरणं सुतो द्रुतः। धेनुः सरस्वती सर्वविधपापतापशामकं नामोच्चारणं शुक्रमिन्द्रियं शुद्धमात्महितकारि दुहे दुग्धे। एवं सर्वापि समागमनप्राकट्यसामग्री सम्पन्ना, अतः शीघ्रमागच्छतम्, मा विलम्बं कुरुतम्।

दयानन्दस्तु—'यथेह धेनुः सरस्वती शास्त्रविज्ञानयुक्ता वाक् शुक्रं सोममैश्वर्यमिन्द्रियं च दोग्धि, तथैतमहं दुहे। अश्विनौ शुभगुणव्याप्तौ स्त्रीपुरुषौ। तप्तो विराट् सुतः समिद्धो घर्मोऽग्निर्यथा विश्वं पाति, तथाहमेतत् सर्वं रक्षेयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लुप्तोपमालङ्कारच्छलेन निष्प्रमाणाध्याहारमूलकत्वात्। अश्विनौ स्त्रीपुरुषावित्यपि प्रमाणशून्यमेव। घर्मपदं यज्ञपरमित्यपि चिन्त्यम्। इन्द्रियं धनमित्यादिकमप्यश्लिष्टमेव॥ ५५॥

तनूपा भिषजा सुतेऽश्विनोभा सरस्वती ।
मध्वा रजाᳬसीन्द्रियमिन्द्राय पथिभिर्वहान् ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—शरीर के रक्षक वैद्य दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वती देवी मधु से लोकों को पूर्ण करती हैं । सोम का अभिषव होने पर उसको इन्द्र की इन्द्रियों की वृद्धि के निमित्त ये देवता मार्ग में उस सोम का वहन करते हैं ॥ ५६ ॥

उभा अश्विना उभौ अश्विनौ सरस्वती सुते अभिषुते मध्वा मधुना रजांसि लोकान् दुहते पूरयन्ति । पूर्वर्चो 'दुहे' इत्यस्य 'दुहते' इति वचनव्यत्ययेनेहानुषङ्गः । रजःशब्दोऽत्र लोकवाची । तथा चाह यास्कः—'लोका रजांस्युच्यन्ते' (नि० ४।१९) इति । कीदृशावश्विनौ ? तनूपा तनूः शरीराणि पात इति तनूपौ शरीररक्षितारौ । भिषजा भिषजौ वैद्यौ । किञ्च, अश्विसरस्वत्य इन्द्राय इन्द्रियं वीर्यं पथिभिर्यज्ञमार्गैर्वहान् वहन्ति । 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपे 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागमे च वहानिति रूपम् । यद्वा—तनूपौ भिषजौ उभौ अश्विनौ सरस्वती च सुतेऽभिषुते सोमे मध्वा मधुररसेन इन्द्रोपभोगाय रजांसि लोकान्, पूरयन्त्विति शेषः । इन्द्रियं वीर्यम्, इन्द्राय इन्द्राप्यायनार्थम्, पथिभिर्मार्गैर्यज्ञैर्वहान् वहन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—तौ पूर्वोक्तावश्विनौ अश्विवत् परमसुन्दरौ तनूपौ शरीराणां पातारौ रक्षितारौ भिषजौ भवरोगवैद्यौ सरस्वती च ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री सीतोपनिषदुक्ता सीता मध्वा मधुरेण यशसा कीर्तिसुधया रजांसि लोकान् दुहन्ति पूरयन्ति । इन्द्राय जीवोपलब्धिमते इन्द्रियं वीर्यं पथिभिर्वैदिकैर्मार्गैः श्रोत्रमार्गैर्वा वहान् वहन्ति, 'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् । धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥' (२।८।५), 'शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः । हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ॥'(१।२।१७) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनाभ्याम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा भिषजा तनूपा उभा अश्विना विद्यासु शिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ सरस्वती च सरो बहु ज्ञानं विद्यते ययोस्तौ मध्वा मधुरेण द्रव्येण सुते उत्पन्नेऽस्मिन् जगति स्थित्वा पथिभिरिन्द्राय रजांसि लोकान् इन्द्रियं धनं दध्याताम्, तथैतद्वहान् वहन्तु प्राप्नुवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सरस्वतीतिपदस्य द्विवचनान्तत्वानुपपत्तेः । पूर्वसवर्णात् सिद्धेऽपि द्विवचनान्तत्वेऽश्विनावित्यस्य 'स्त्रीपुरुषौ' इति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात् । अश्विनौ, भिषजौ, नासत्यौ—इतिशब्दानां देवविशेषयोः प्रसिद्धेः । तथा चाहामरसिंहः—'स्वर्वैद्यावश्विनीसुतौ । नासत्यावश्विनौ दस्रावाश्विनेयौ च तावुभौ ॥' (१।१।५१) इति । गौणार्थत्वेऽपि तद्वत् सुन्दरौ पुरुषौ विवक्षितौ, न तु स्त्रीपुरुषौ । न चात्र द्विवचनस्य स्वारस्यं व्यावृत्यं वा दृश्यते । सुते जगतीत्यस्यापि पदकृत्यं न पश्यामः, तदनुक्तावपि तात्स्थ्यात् । न च मनुष्या राज्ञे लोकान् धनं च धारयन्ति ॥ ५६ ॥

इन्द्रायेन्दुᳬ सरस्वती नराशᳬसेन नग्नहुम् ।
अधातामश्विना मधु भेषजं भिषजा सुते ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—सरस्वती ने यज्ञ के साथ इन्द्र के निमित्त सोम नामक महान् औषधि के कन्द को धारण किया और वैद्य अश्विनीकुमारों ने अभिषुत होने पर इस मधुर औषधि को धारण किया ॥ ५७ ॥

सरस्वती नराशंसेन, नरा आशंसन्ति प्रशंसन्ति देवान् यत्र स यज्ञः, यज्ञेन सह इन्द्राय इन्द्रार्थमिन्दुं सोमं नग्नहुं सुराकन्दं पूर्वोक्तमधाद् धृतवती। अधातामित्युत्तरार्धक्रियाया व्यत्ययेनाधादिति पूर्वार्धेऽपि योजनम्। किञ्च, भिषजौ अश्विनौ सुते सोमेऽभिषुते सति मधु मधुरं भेषजमौषधमधातां धारितवन्तौ। यद्वा सरस्वती इन्द्राय इन्द्रार्थमिन्दुं सोममभिषुणोदिति वाक्यपूर्तिः कर्तव्या। कीदृशी सरस्वती? नराशंसेन यज्ञेन सहिता। अश्विनौ च सुते सोमे सुरायां मधुररसरूपं भेषजमधातां धारितवन्तौ। कीदृशौ तौ? भिषजौ वैद्यौ।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्राय परमात्मने इन्दुं सोमं प्रेमामृतरसं सरस्वती विज्ञानजननी भक्तिरधाद् धृतवती। कीदृशी सा? नराशंसेन यज्ञेन कर्मणा युक्ता सती, 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥' (वि० पु० ३।८।९) इत्युक्तेः। कीदृशमिन्दुम्? नग्नहुं नग्ना वीतरागा अपि हूयन्ते बलादाकृष्यन्ते येन तं तादृशम्। अश्विनौ च ज्ञानवैराग्ये सुते सोमे प्रेम्णि मधु भेषजमधातां धारितवन्तौ, ताभ्यां प्रेम्णि माधुर्यातिशयाधानात्।

दयानन्दस्तु—'अश्विना भिषजेन्द्राय दुःखदारणाय सुते मधु भेषजमधाताम्। नराशंसेन नरैः स्तुतेन सरस्वती नग्नहुमिन्दुमैश्वर्यमादधातु। यो नन्दयति स नग्नः, तमाददातीति नग्नहुस्तम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विनाविति द्विवचनस्य निष्प्रयोजनत्वापत्तेः। यो नन्दयति स नन्दनो भवति न नग्नः, कथञ्चित् तत्सम्पादनं श्रुतिषु बलात्कार एव। नराशंसेन नरैः प्रशंसितेन वचनेनेत्यत्रापि किं बीजम्? नरैः प्रशंसिता अन्येऽपि पदार्थाः सन्तीति तेन वचनग्रहणे का विनिगमनेति तव निरूपणाशक्तेः॥ ५७॥

आजुह्वाना सरस्वतीन्द्रायेन्द्रियाणि वीर्यम्।
इडाभिरश्विनाविषꣳ समूर्जꣳ सꣳरयिं दधुः॥ ५८॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र को बुलाती हुई देवी सरस्वती और वैद्य अश्विनीकुमार इन्द्र के निमित्त चक्षु आदि **इन्द्रियों और उनकी सामर्थ्य को स्थापित करते हैं।** गो आदि पशुधन, अन्न, दही आदि रस और धन **को भी ये स्थापित करते हैं॥ ५८॥**

आजुह्वाना आह्वयतीति आजुह्वाना, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति कालसामान्ये धात्वर्थमात्रे लिट्, लिटः कानचि सम्प्रसारणे द्वित्वे च रूपम्। अर्थाद् इन्द्रमाह्वयन्ती सरस्वती अश्विना चेन्द्राय इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि वीर्यं वीरकर्म सामर्थ्यं च सन्दधुः। इडाभिर्यज्ञियाभिर्हेतुभूताभिः पशुभिः सह इषमभीष्टमन्नं सन्दधुः, 'पशवो वा इडा' (श० १।८।१।१२) इति श्रुतेः। ऊर्जं तदुपसेचनं च दध्यादि सन्दधुः, रयिं धनं च सन्दधुः। अश्विनौ सरस्वती च इन्द्रायैतानि चक्षुरादीनि ददुरित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—आजुह्वाना परमात्मानमाह्वयन्ती सरस्वती पूर्वोक्तभक्तिमन्दाकिनी इन्द्राय दीप्तिमते भक्तायेन्द्रियाणि भगवतो दिव्यरूपदर्शनक्षमाणि चक्षुरादीनि वीर्यं सामर्थ्यं च अधात्। अश्विनौ ज्ञानवैराग्यौ भिषजौ सरस्वती च इडाभिर्वेदवेदान्तलक्षणाभिर्वाग्भिः, इषमभिलषितमन्नं भगवन्माधुर्यादिकमूर्जं दाढर्यं रयिं धनं च दैवीं सम्पदं सन्दधुः।

दयानन्दस्तु—'आजुह्वाना सरस्वती प्रशस्तज्ञानवती स्त्रीन्द्रायेन्द्रियाणि वीर्यं चाश्विनाविडाभिरोषधिभिरिषं समूर्जं रयिं सन्दधुः' इति, तदपि न युक्तम्, शब्दानामर्थार्पने निरङ्कुशत्वात्, इन्द्रपदस्य यथेष्टार्थाङ्गीकरणस्य निर्मूलत्वात् 'इन्द्राय पत्ये' इत्यप्यसङ्गतमेव, सर्वस्य पत्युः परमैश्वर्यवत्त्वायोगाच्च। इन्द्रियशब्दः सुवर्णादिपरः, वीर्यं घृतादिपरम्, इडाशब्द ओषधिपर इत्येतत् सर्वमर्थकरणे स्वातन्त्र्यमेव॥ ५८॥

अश्विना नमुचेः सुतᳬ सोमᳬ शुक्रं परिस्रुता ।
सरस्वती तमाभरद् बर्हिषेन्द्राय पातवे ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमारों के द्वारा महान् औषधियों के रस के साथ अभिषुत पवित्र सोम को नमुचि असुर के पास से सरस्वती ने हरण कर लिया, उसको इन्द्र की रक्षा के निमित्त कुशाओं पर स्थापित किया ॥ ५९ ॥

अश्विनौ परिस्रुता सुरया सह सुतमभिषुतं शुक्रं शुद्धममलिनं सोमं नमुचेस्तन्नाम्नोऽसुरात् सकाशाद् आहरताम् । सरस्वती च तमेव सोमं बर्हिषा स्तरणार्थेन दर्भेण सह आभरत् आहरत्, आहृतवती । किमर्थम् ? इन्द्राय पातवे इन्द्रस्य पानार्थम् । तुमर्थे 'तुमर्थे सेसेन·······' (पा० सू० ३।४।९) इति तवेङ्प्रत्ययः ।

अध्यात्मपक्षे—अश्विवत् परममनोहरे सर्वाधिव्याधिविनाशिनी ज्ञानवैराग्ये नमुचेरज्ञानरूपादसुरात् सकाशात् परिस्रुता विश्वविस्मारकेण मादकगुणेन सह सोमं प्रेमामृतं शुक्रमाहरताम् । सरस्वती भक्तिमन्दाकिनी बर्हिषा यज्ञेन तज्जन्येन शुभादृष्टेन सह तमाभरत् पोषणं कृतवती । किमर्थम् ? इन्द्रस्य परमात्मनः पातवे पानाय । प्रेमामृतभोक्ता भगवानेव ।

दयानन्दस्तु—'यौ परिस्रुता परितो गच्छन्तौ अश्विना अश्विनौ सरस्वती च बर्हिषा सुखवर्धकेन कर्मणा इन्द्राय नमुचेरसाध्यरोगस्य निवारणाय च शुक्रं सुतं सोमं सोमाद्योषधिगणं पातवे तमाभरत्, सदा तावेव सुखिनौ' इति, तदपि न, व्यक्तिविशेषस्य घटनावर्णनाय वेदस्याप्रवृत्तेः, अश्विसरस्वत्यादिपदानां त्वदुक्तार्थताया निर्मूलत्वात् ॥ ५९ ॥

कवष्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यां न दुरो दिशः ।
इन्द्रो न रोदसी उभे दुहे कामान् सरस्वती ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमारों के साथ सरस्वती ने और इन्द्र ने भी दोनों द्यावापृथिवी, छिद्रयुक्त, अवकाशयुक्त यज्ञीय द्वार एवं सब दिशाओं से कामनाओं को दुहा ॥ ६० ॥

अस्यामृचि त्रयो नकाराः समुच्चयार्थीयाः । अश्विभ्यां न अश्विभ्यां च सहिता सरस्वती इन्द्रो न इन्द्रश्च उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ कामान् दुहे दुग्धे, दुहेर्द्विकर्मकत्वात् । द्यावापृथिवीभ्यां सकाशादिन्द्रोऽश्विभ्यां सरस्वती च कामान् अभिलषितपदार्थान् प्रपूरयतीत्यर्थः । 'अकथितं च' (पा० सू० १।४।५१) इति द्वारां दिशां रोदसोश्च कर्मत्वम् । तथैव दुरो द्वारः, यज्ञगृहद्वारेभ्यो दिशो दिग्भ्यश्च सकाशात् कामान् दोग्धि । कीदृश्यो द्वारः ? कवष्यः, 'कुष निष्कर्षे', निष्कर्षो बहिर्निःसारणम् । 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन्प्रत्ययः षकारलोपश्च, कुषिताः सच्छिद्राः । तथा व्यचस्वतीः, व्यचनं व्यचोऽवकाशः, तद्वत्यः ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्यां ज्ञानवैराग्याभ्यां सहिता सरस्वती, ज्ञानवैराग्ययुक्ता भक्तिरिति यावत् । इन्द्रो भजनीयो भगवांश्च उभे रोदसी उभाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां सकाशाद् दिशो दिग्भ्यः सकाशाद् दुरो यज्ञगृहद्वार्भ्यश्च सकाशाद् भक्ताय कामान् दोग्धि । सर्वा दिशः सर्वा द्वारो द्यावापृथिव्यात्मकं सर्वं जगत् तेषां कृपया कामपूरकाणि भवन्तीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'सरस्वत्यहमिन्द्रो न इव अश्विभ्यां सूर्यचन्द्रमोभ्यां न इव व्यचस्वतीर्व्याप्तिमत्यः कवष्यः प्रशस्ता दिशो न इव दुरो न उभे रोदसी न वा कामान् दुहे पिपर्मि, यथा विद्युत् सूर्यचन्द्रमोभ्यां प्रशस्ता दिशो

द्वार उभे रोदसी दोग्धि, अन्धकारमपनोद्य प्रकाशेन पूरयति, भूमिप्रकाशौ धरति, तथाहं सरस्वती श्रेष्ठज्ञानवती कामान् पिपर्मीत्यर्थः' इति, तदप्यसङ्गतम्, विद्युतः स्वातन्त्र्यायोगेन सूर्यचन्द्रयोस्तत्करणत्वासम्भवात्, दार्ष्टान्तेऽश्विवत् करणानुपलब्धेश्च । अनुपलम्भपराहतश्च दार्ष्टान्तः ॥ ६० ॥

उषासानक्तमश्विना दिवेन्द्रँ सायमिन्द्रियैः ।
सञ्जानाने सुपेशसा समञ्जाते सरस्वत्या ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—सरस्वती के साथ अश्विनीकुमार एकमत होकर सुन्दर रूप वाले उषाकाल, रात्रि-दिन और सायंकाल के समय इन्द्र को सामर्थ्य से संयुक्त करते हैं ॥ ६१ ॥

हे अश्विनौ, उषासानक्ता उषाश्च आदित्यप्रभा च नक्तं च रात्रिश्चेत्युषासानक्तम् । दिवा दिने सायं सायङ्काले च इन्द्रमिन्द्रियैर्वीर्यैः सह सरस्वत्या च सह समञ्जाते संश्लेषयतः । सातत्याभिप्रायमेतत् । कीदृश्यौ ? सञ्जानाने सञ्जानीत इति सञ्जानाने, एकमतीभूते इत्यर्थः । सुपेशसा शोभनं पेशो रूपं ययोस्ते । शुक्लेन उषाः कृष्णेन रात्रिश्च सुरूपे ।

अध्यात्मपक्षे—अश्विनाविव दिवाहनी विद्याविद्ये इन्द्रं दिवासायं रात्रिन्दिवम् । सततमिन्द्रियैर्वीर्यैरैहिकामुष्मिकाभ्युदयनिःश्रेयससादनसामर्थ्यैरिन्द्रमिन्द्रस्य परमात्मनोंऽशभूतमिन्द्रमुपलब्धिर्दीप्तिमन्तं समञ्जाते संश्लेषयतः । कीदृश्यौ ते ? सञ्जानाने एकमतीभूते सुपेशसा सुरूपे । अविद्या विद्यासाहाय्यमाश्रित्य ऐहिकामुष्मिकाभीष्टं सम्पादयति । विद्या चाविद्यामाश्रित्यापवर्गं सम्पादयति । विद्यांशज्ञानमन्तराऽविद्याऽकिञ्चित्करी, तामन्तरा विद्याप्यकिञ्चित्कर्येव । देहबुद्ध्यादीनां श्रवणमननादीनां च आविद्यकत्वं प्रसिद्धमेव । तच्च ब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्यापि जीवातुभूतम् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा सुपेशसाऽश्विना सरस्वत्योषासानक्तं सायं च दिवा इन्द्रियैरिन्द्रस्य लिङ्गैरिन्द्रं विद्युतं सञ्जानाने समञ्जाते प्रकटयतः, तथा यूयं प्रसिद्धयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भावानभिव्यक्तेः । सुरूपाभ्यां सूर्यचन्द्राभ्यां सुशिक्षितया वाचा प्रमातारौ कथं जीवनलक्षणैर्विद्युतं समञ्जाते प्रकटयत इति न स्पष्टम् । किमिन्द्रे जीवलक्षणानि ज्ञानानि सन्ति ? न च तथात्वं तत्र दृश्यते, विद्युतो जडत्वेन तदसम्भवात् ॥ ६१ ॥

पातं नो अश्विना दिवा पाहि नक्तँ सरस्वति ।
दैव्या होतारा भिषजा पातमिन्द्रँ सचा सुते ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों ! आप लोग दिन में हमारी रक्षा करो । हे सरस्वती देवी ! आप हमारी रात्रि में रक्षा करें । हे देव सम्बन्धी होता एवं वैद्य अश्विनीकुमारों ! सोम के अभिषुत होने पर आप सब इकट्ठे होकर इन्द्र की रक्षा करें ॥ ६२ ॥

हे अश्विना अश्विनौ, दिवा दिवसे नोऽस्मान् युवां पातं रक्षतम् । हे सरस्वति, ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्रि महाशक्ते, हे दैव्या दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ होतारा होतारौ भिषजा भिषजौ देववैद्यौ, सुते सोमेऽभिषुते सति सचा सह एकीभूय युवामिन्द्रं पातं विस्रस्तमिन्द्रियादिसन्धानेन रक्षतम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानवैराग्ये, उषासानक्तं दिवारात्रौ विद्यादशायामविद्यादशायां च नोऽस्मान् पातं रक्षतम्। हे सरस्वति, त्वं च नक्तं पाहि। हे दैव्यौ परमात्मसम्बन्धिनौ होतारौ जीवानां कल्याणाय आह्वातारौ, युवां सुते उत्पन्ने आविर्भूते प्रेम्णि सचा सह एकीभूय यूयमिन्द्रं पातम्।

दयानन्दस्तु—'हे दैव्यौ अश्विनौ, युवां दिवानक्तं नः पातम्। हे सरस्वति, नः पाहि। हे होतारौ, सचा भिषजा सुत इन्द्रं पातम्' इति, तदपि न सङ्गतम्, अश्विनोर्द्वित्वस्य सरस्वत्या एकत्वस्यासामञ्जस्यात्, इन्द्रपदस्य सोमलता कथमर्थं इत्यनुक्तेश्च ॥ ६२ ॥

तिस्रस्त्रेधा सरस्वत्यश्विना भारतीडा।
तीव्रं परिस्रुता सोममिन्द्राय सुषुवुर्मदम् ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—तीन प्रकार से स्थित सरस्वती, अश्विनीकुमार और इड़ा—ये तीन देवता सोम का अभिषवण करते हैं, अर्थात् मध्यस्थान में सरस्वती, द्युलोक में भारती और पृथ्वी पर इड़ा—ये तीनों देवियाँ अश्विनीकुमारों के द्वारा महौषध के रस से युक्त अधिक हर्षित करने वाले सोम का अभिषवण करते हैं ॥ ६३ ॥

तिस्रो देव्यः, अश्विना अश्विनौ च परिस्रुता सुरया सह सोममिन्द्राय सुषुवुरभिषुतवन्तः। कास्तास्तिस्रो देव्यः? इत्यत आह—सरस्वती, भारती, इडा च। कीदृश्यस्ताः? त्रेधा स्थिता इति शेषः। सरस्वती मध्यस्थाना, भारती आदित्यप्रभा द्युस्थाना, इडा पृथिवीस्थाना। कीदृशं सोमं सुषुवुः? तीव्रं पटुतमं बुद्ध्यादिपाटवकरम्, मदं तर्पणं तृप्तिकरम्, मदजनकं वा।

अध्यात्मपक्षे—अश्विनौ, सरस्वती सुषुम्नास्था, इडा चन्द्रनाडीगता, भारती सूर्यनाडीगता तिस्रो देव्यस्त्रेधा स्थिता उद्बोधिताः परिस्रुता विश्वविस्मारकेण मादनगुणेन युक्तं सोमं प्रेमामृतरसं सुषुवुरुत्पादितवत्यः। कीदृशं सोमम्? तीव्रं सर्वेन्द्रियपाटवकरं मदं पूर्णतृप्तिजनकं च।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा सरस्वती भारती इडा तिस्रोऽश्विनौ च इन्द्राय परिस्रुता तीव्रं मदं सोमम्, त्रिधा सुषुवुः, तथा यूयमपि सुषनोत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः, ओषधिरससम्पादने चैतावतामुपयोगनैरर्थक्यात्। न च वाचस्तत्रोपयोगः। सिद्धान्ते तु महाभागस्येन्द्रस्य हविरपि पूष्णो हस्ताभ्यामश्विनोर्बाहुभ्यां सम्पाद्यते। तथैव तस्य सोमाभिषवेऽपि विशिष्टानां देवीनामश्विनोश्चोपयोगः श्लिष्टतरः ॥ ६३ ॥

अश्विना भेषजं मधु भेषजं नः सरस्वती।
इन्द्रे त्वष्टा यशः श्रियꣳ रूपꣳ रूपमधुः सुते ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—सोम का अभिषव होने पर अश्विनीकुमार ने बलवान् इन्द्र में महौषधि रस, सरस्वती ने मधुरूप औषध, त्वष्टा देवता ने कीर्ति, लक्ष्मी और अनेक प्रकार के रूप स्थापित किये ॥ ६४ ॥

अश्विनौ नासत्यौ नोऽस्मत्सम्बन्धिनी सरस्वती त्वष्टा प्रयाजदेवता च इन्द्रे एतानि वस्तूनि अधुरदधुः, स्थापयामासुः। कानीत्यत आह—भेषजमौषधं मधु मधुरूपं भेषजं च यशः कीर्तिं श्रियं लक्ष्मीं रूपं रूपं नानाविधं रूपं च, 'नित्यवीप्सयोः' (पा० सू० ८।१।४) इति रूपशब्दस्य द्वित्वम्। कस्मिन्नवसरे इति चेत्, तत्राह—सुते सोमेऽभिषुते सति।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रे भगवन्मार्गप्रवृत्ते जीवे अश्विनौ शास्त्राचार्यौ भेषजं सरस्वती तज्जनिता उपासना-लक्षणा विद्या भेषजं पाशविककामकर्मज्ञाननिवर्तकं वैदिककामकर्मज्ञानरूपमौषधं मधु भेषजं मधुरं भेषजम् अनुरागरसमदधुः। त्वष्टा च तैरनुकूलितो विश्वविधाता यशः श्रियं रूपं विविधं रूपमदधात् धारितवान्। कदा चैतत्? सुते सोमे भगवत्प्रेमाङ्कुरे जाते सति॥ ६४॥

ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः शशमानः परिस्रुता।
कीलालमश्विभ्यां मधु दुहे धेनुः सरस्वती॥ ६५॥

मन्त्रार्थ—प्रयाज देवता इन्द्र की स्तुति करता हुआ, प्रत्येक ऋतु में महौषध के रस के साथ अन्न के रस को इन्द्र के निमित्त देता है तथा अश्विनीकुमारों सहित सरस्वती धेनुरूप होकर इन्द्र के निमित्त मधु को दुहती है॥ ६५॥

वनस्पतिः प्रयाजदेवः शशमानः संशममानः, स्तुवन्निति यावत्। ऋतुथा ऋतौ ऋतौ काले काले, 'ऋतौ ऋतौ काले काले' (निरु० ८।१७) इति यास्कः। परिस्रुता सुरया सह कीलालमन्नरसमिन्द्र इन्द्राय इन्द्रार्थम्। चतुर्थ्येकवचनस्य 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति सुः। सरस्वती अश्विभ्यां सह धेनुर्भूत्वा मधु दुहे दुग्धे।

अध्यात्मपक्षे—वनस्पतिः, तदुपलक्षितवृक्षसमूहः, स्तुवन् परिस्रुता मादकेन गुणेन युक्तं कीलालं दिव्य-मन्नरसमृतुथा यथाकालं इन्द्राय इन्द्रार्थं श्रीरामार्थं दुहे दुग्धे। अश्विभ्यां सहिता सरस्वती धेनुर्भूत्वा इन्द्राय मधु दुहे दुग्धे। भुशुण्डीरामायणादौ वर्णितं रामचरितमानसेऽपि च यद् ऋतुकालानप्रतीक्ष्यैव सर्वेऽपि तरवस्तदा श्रीरामार्थं फलिनो जाताः, अवस्थाश्चानपेक्ष्यापि।

दयानन्दस्तु—'यथा धेनुः सरस्वती परिस्रुता सहर्तुथा शशमान इन्द्रो वनस्पतिर्मधु कीलालमश्विभ्यां कामान् दोग्धि तथाहं दुहे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। भावार्थस्तु सर्वथापि मूलाक्षरासंस्पर्शी॥६५॥

गोभिर्न सोममश्विना मासरेण परिस्रुता।
समधातꣳ सरस्वत्या स्वाहेन्द्रे सुतं मधु॥ ६६॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों! आप लोग सरस्वती के साथ दूध, घृत आदि के द्वारा महौषधों के रस से अभिषुत मधुर सोम को इन्द्र के निमित्त स्थापित करें, जिससे कि इनकी श्रेष्ठ आहुति दी जाय॥ ६६॥

हे अश्विना अश्विनौ, मासरेण पूर्वोक्तेन परिस्रुता सह गोभिर्न गोप्रभृतिपशुभिश्च सह। नश्चार्थे। सुत-मभिषुतं सोमं मधु च इन्द्रे युवां समधातं समारोपयतम्। न केवलं युवामेव, किन्तु सरस्वत्या सह स्वाहा स्वाहाकृतिभिश्च प्रयाजदेवैश्च सह युवां समधातम्। यद्वा—हे स्वाहाकृतयः प्रयाजदेवाः, यूयं सरस्वत्या सह इन्द्रे सुतं मधु समधात समारोपयतेति वचनव्यत्ययः।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्विनौ सिद्धसाधकौ, युवां गोभिर्न गोविकारैर्दधिदुग्धघृतैः, मासरेण परिस्रुता च सह सोममिन्द्रे समधातम्। न केवलं युवाम्, किन्तु सरस्वत्या स्वाहाकृतिभिः सह सर्वैः सर्वभावैर्भगवानिन्द्रः समाराध्यत इत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विना, परिस्रुता मासरेण प्रमितेन मण्डेन परिस्रुता सर्वतो मधुरादिरसेन सरस्वत्या स्वाहेन्द्रे गोभिर्दुग्धादिभिः, न इव सुतं मधु सोमं युवां समधातम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ओषधिरसधारणे वाण्या सम्बन्धायोगात् । श्रुतिसूत्रविरुद्धं च मासरपदव्याख्यानम् । व्रीहिश्यामाकयोश्चरू पक्त्वा तयोरोदनयोराचामौ (उष्णोदके) 'माँड़' इति भाषायाम्, पृथक् पात्रद्वये निषिच्य अवस्राव्य तदुदकं नग्नहुप्रभृतिभिश्चूर्णैः संसृज्य निदध्यात्, तन्मासरम्, तस्य चूर्णसंसृष्टस्य आचामस्य मासरमिति संज्ञा ॥ ६६ ॥

अ॒श्विना॑ ह॒विरि॑न्द्रि॒यं नमु॑चेर्धि॒या सर॑स्वती ।
आ शु॒क्रमा॑सु॒राद्वसु॑ म॒घमिन्द्रा॑य जभ्रिरे ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमार और सरस्वती ने बुद्धिपूर्वक नमुचि नामक दैत्य के यहाँ से इन्द्र के निमित्त शुद्ध और बलकारक हवि एवं पूजनीय धन का आहरण किया ॥ ६७ ॥

'अश्विना हविरिति तिस्रो वपानां याज्यानुवाक्याः' (का० श्रौ० १९।६।१६) । अश्विना हविरिति प्रभृति तिस्र ऋचस्तिसृणां वपानां याज्यानुवाक्याः क्रमशो भवन्तीति सूत्रार्थः । तत्प्रकारमाह—'प्रथमामनूच्य द्वितीया याज्या द्वितीयामनूच्य तृतीया याज्या तृतीयामनूच्य प्रथमा याज्या' (का० श्रौ० १९।६।१७) इति । तथा च आश्विनवपायागे 'अश्विना हविः' (वा० सं० २०।६७) इत्यनुवाक्या, 'यमश्विना' (वा० सं० २०।६८) इति याज्या, सारस्वतवपायागे 'यमश्विना' (वा० सं० २०।६८) इत्यनुवाक्या, 'तमिन्द्रम्' (वा० सं० २०।६९) इति याज्या, ऐन्द्रवपायागे 'तमिन्द्रम्' (वा० सं० २०।६९) इत्यनुवाक्या, 'अश्विना हविः' (वा० सं० २०।६७) इति याज्येति सूत्रार्थः । श्रुतिरप्येवमेवाह । तथाहि—'सर्वाः पुरोऽनुवाक्या भवन्ति सर्वा याज्याः' (श० १२।८।२।३५), तथा 'सर्वाः प्रथमा भवन्ति सर्वा मध्यमाः सर्वा उत्तमाः' (श० १२।८।२।३५) इति । अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः । अश्विना अश्विनौ सरस्वती च धिया बुद्ध्या नमुचेर्नमुचिसंज्ञकादासुराद् दैत्यादिन्द्राय इन्द्रार्थमेतानि वस्तूनि आजभ्रिरे आजह्रिरे । कानि च तानीत्यत आह—हविः शुक्रं शुद्धममलिनम्, तथाविधमेवेन्द्रियं वीर्यं मघं महनीयं वसु धनं च ।

अध्यात्मपक्षे—अश्विना शास्त्राचार्यौ सरस्वती तत्संस्कृता प्रज्ञा च इन्द्राय परमेश्वरांशाय जीवात्मने धिया बुद्ध्या आसुराद् नमुचेरज्ञानकार्यादहङ्कारात् सकाशात् शुक्रं निर्मलं ब्रह्मात्मस्वरूपं मघं महनीयं ज्ञानरूपं वसु धनं च आजह्रिरे । अहङ्कारेण तादृशं स्वरूपं धनमपहृतमासीत् । शास्त्राचार्यौ तज्जन्या विवेकबुद्धिश्च एतस्याहङ्कारस्य सकाशात् तत्सर्वमाहृत्य इन्द्राय दत्तवन्तः ।

दयानन्दस्तु—'अश्विनौ सुवैद्यौ सरस्वती च सुशिक्षिता स्त्री धिया नमुचेरविनश्वरात् कारणाद् उत्पन्नात् कार्याद् हविरादातुमर्हमिन्द्रियं मन आसुरान्मेघात् शुक्रं वीर्यं मघं पूज्यं वसु इन्द्राय ऐश्वर्याय आजह्रिरे' इति, तदपि निरर्थकमेव, अस्पष्टत्वात्, 'अविनश्वरात् कारणादुत्पन्नात् कार्यात्' इति नमुचेः पदस्य कथङ्कारमर्थ इत्यनुक्तेः । इन्द्रपदस्य ऐश्वर्यमर्थ इत्यपि निर्मूलम् ॥ ६७ ॥

यम॒श्विना॒ सर॑स्वती ह॒विषेन्द्र॒मव॑र्धयन् ।
स बि॑भेद ब॒लं म॒घं नमु॑चावासु॒रे सचा॑ ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमार और सरस्वती ने एक मत होकर जिस इन्द्र को हवि के द्वारा बढ़ाया, उस इन्द्र ने असुर नमुचि के साथ विवाद पैदा करके बल और पूजनीय मेघ को विदीर्ण किया, अर्थात् नमुचि के द्वारा रोके गये मेघों से मनुष्यों के कल्याण के लिये वृष्टि कराई ॥ ६८ ॥

यमिन्द्रमश्विना सरस्वती च हविषा अवर्धयन् स इन्द्रो नमुचौ आसुरे सचा नमुचिना असुरेण सह मघं महनीयं बलं वरणीयं मेघं बलनामानमसुरं बिभेद विदारितवान्। सचेत्यव्ययं सहार्थे। तद्योगाच्च विभक्तिव्यत्ययः। नमुचिं मेघं विदार्य वृष्टिं कारितवानित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—यमिन्द्रं जीवमश्विनौ शास्त्राचार्यौ प्रज्ञा च हविषा ब्रह्माग्नौ समर्पितेन दृश्यरूपेण हविषा अवर्धयन्। उपाध्यपनोदनेन ब्रह्मात्मना प्रादुर्भावितवन्तः, स इन्द्रोऽपोदितनानात्वतादात्म्याध्यासो नमुचिना तत्त्वज्ञानमन्तरा न मुञ्चत्यात्मानमिति नमुचिरहङ्कारः, तेन आसुरेण असुषु अनात्मसु रमन्ते येन तदज्ञानमसुरम्, तद्भवेनाहङ्कारेण सह मघं महनीयं बलं वरं वरणीयं जननमरणाविच्छेदलक्षणं संसारं बिभेद विदारितवान्।

दयानन्दस्तु—'सचाश्विना सरस्वती च नमुचावासुरे हविषा यमिन्द्रमवर्धयन् स मघं बलं बिभेद' इति, तदप्यसङ्गतम्, मेघस्य नाशरहितकारणादुत्पत्त्यसिद्धेः। कोऽयमिन्द्रो यं हविषा अश्व्यादयो वर्धयन्ति, यश्च बलं भिनत्ति। यस्य विभेदनेन नाशः क्रियते स कथं पूज्यः? पूज्यस्य च कथं विनाशः क्रियते? तस्मात् सर्वमेतत् यत्किञ्चित्॥ ६८॥

तमिन्द्रं पशवः सचाश्विनोभा सरस्वती।
दधाना अभ्यनूषत हविषा यज्ञ इन्द्रियैः॥ ६९॥

मन्त्रार्थ—यज्ञीय कर्म में घृत आदि के अङ्गभूत पशुओं की दोनों अश्विनीकुमारों और सरस्वती ने एकमत होकर यज्ञ में उस इन्द्र के निमित्त हवि की कल्पना कर उसके बल और उत्साह को बढ़ाते हुए उसकी स्तुति की॥ ६९॥

तमिन्द्रं पूर्वोक्तगुणं पशवः कर्माङ्गभूता गोमेषाजा उभौ अश्विनौ सरस्वती च सचा सहभूताः सन्तो यज्ञे हविषा इन्द्रियैर्वीर्यैश्च दधानाः पुष्णन्तः सन्तस्तमुक्तगुणमिन्द्रमभ्यनूषत अवर्धयन्। नूषतिर्वृद्ध्यर्थ इत्युव्वटाचार्यः, अस्तुवन्निति महीधराचार्यश्च। 'णू स्तवने' तौदादिकः।

अध्यात्मपक्षे—तं पूर्वोक्तगुणमिन्द्रं पशवस्तदुपकरणभूता देहेन्द्रियादयः, अश्विनौ सरस्वती च पूर्वोक्ता यज्ञे परमेश्वराराधनलक्षणे ब्रह्माग्नौ समर्पितेन हविषा दधानाः पुष्णन्तः, अभ्यनूषत अभिवर्धयन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, सचाश्विनोभा इन्द्रिये यमिन्द्रं दध्यातां तं सरस्वती दध्यात्। ये च पशवो दध्युस्तं हविषा दधानाः सन्तो यज्ञेऽनूषत इन्द्रियैर्धनैरिन्द्रं बलादिगुणानां धारकं सोममश्व्यादयो धारयन्तु' इति। व्याख्यानमेतन्निर्मूलम्, इन्द्रियेन्द्रशब्दयोस्तथार्थत्वे मानाभावात्। पशवश्च कथं तं धारयेयुरित्यप्यस्पष्टम्॥ ६९॥

य इन्द्र इन्द्रियं दधुः सविता वरुणो भगः।
स सुत्रामा हविष्पतिर्यजमानाय सश्चत॥ ७०॥

मन्त्रार्थ—जिन सविता, वरुण और भग नामक देवताओं ने इन्द्र के बल को बढ़ाया, वह हवियों का स्वामी सुरक्षक इन्द्र यजमान को इच्छित पदार्थ देकर सुखी करे॥ ७०॥

'य इन्द्र इति पुरोडाशानां पूर्ववत्' (का० श्रौ० १९।६।१८)। 'य इन्द्र इति तिस्रस्त्रयाणां पशुपुरोडाशानां याज्यानुवाक्याः पूर्ववज्ज्ञेयाः। तथाहि—'य इन्द्रे' (वा० सं० २०।७०), 'सविता' (वा० सं० २०।७१) इत्यैन्द्रस्य पशोरनुवाक्यायाज्ये। 'सविता' (वा० सं० २०।७१), 'वरुणः क्षत्रम्' (वा० सं० २०।७२) इति सावित्रस्य पशोरनुवाक्यायाज्ये। 'वरुणः क्षत्रम्' (वा० सं० २०।७२), 'य इन्द्रे' (वा० सं० २०।७०) इति वारुणस्य पशोरनुवाक्यायाज्ये इति सूत्रार्थः। प्रत्येकमिन्द्र-सवितृ-वरुणदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः। सविता वरुणो भग इति ये त्रयो देवा इन्द्रे इन्द्रियं दधुर्वीर्यं स्थापयामासुः, हविष्पतिर्हविषां स्वामी सुत्रामा शोभनत्राणकर इन्द्रः, यजमानाय यजमानम्, कर्मणि चतुर्थी, सश्चत सेवताम्, इष्टदानेन यजमानं सुखयत्वित्यर्थः। 'षच सेवने' लोडर्थे लङ्, अडभाव आर्षः। सचतेरेव छान्दसः शकार उपजन इति देवराजयज्वा। उव्वटाचार्यरीत्या तु—ये इन्द्रे इन्द्रियं दधुस्ते सर्वे यजमानेऽपीन्द्रियं वीर्यं दधतीति वाक्यपूर्तिः कार्या। भगशब्देनात्रेन्द्रो लक्ष्यते। यजमानाय यजमानम्, पुरुषवचनव्यत्ययः। सश्चत सचतामित्यर्थः। यश्च सुत्रामा इन्द्रो हविष्पतिः, स यजमानं सश्चत सचतां सेवताम्।

अध्यात्मपक्षे—ये सविता वरुणो भग इन्द्रे जीवात्मनि इन्द्रियं वीर्यं दधुस्ते यजमानाय परमेश्वरार्चकाय इन्द्रियं सामर्थ्यं दधतीति शेषः। यो हविषां पतिः स सुत्रामा यजमानाय यजमानं सश्चत सचतामित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, य इन्द्र इन्द्रियं दधुस्ते सुखिनः स्युः। अतो ये भगो वरुणः सविता सुत्रामा हविष्पतिर्जनो यजमानो यजमानायेन्द्रियं सश्चत सेवते, स प्रतिष्ठां प्राप्नुयात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऐश्वर्ये धनं दधुरित्यस्य निरर्थकत्वात्। 'अतो भगो भजनीयः, वरुणः श्रेष्ठः, सविता ऐश्वर्येच्छुः, सुत्रामा होमयोग्यपदार्थानां रक्षको यज्ञकर्तारं सेवेत' इति केन किं श्लिष्यते ॥ ७० ॥

सविता वरुणो दधद्यजमानाय दाशुषे।
आदत्त नमुचेर्वसु सुत्रामा बलमिन्द्रियम् ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ—सुरक्षक इन्द्र ने नमुचि नाम के असुर से धन, बल और इन्द्रियों की सामर्थ्य को जीत लिया, सविता और वरुण देवता हवि देने वाले यजमान के निमित्त धन और बल को धारण करते हैं ॥ ७१ ॥

सुत्रामा इन्द्रो नमुचेरसुरात् सकाशाद् यद्वसु धनं बलमिन्द्रियं वीर्यं च आदत्त जग्राह। सविता वरुणो भगश्च पशुपुरोडाशमन्त्रदेवाः। तन्नमुचेरानीतं वस्वादिकं यजमानाय दधद् दधतु, ददात्वित्यर्थः। कथम्भूताय यजमानाय? दाशुषे हवींषि दत्तवते। दाशति ददातीति दाश्वान्, 'दाशृ दाने' इत्यस्मात् 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२) इति क्वसन्तो निपातः।

अध्यात्मपक्षे—'नमुचेरसुरात् सुत्रामा इन्द्रो जीवो बलमिन्द्रियं सामर्थ्यं चादत्त जग्राह। तत्सर्वं सविता जगदुत्पादको वरुणो वरणीयो दाशुषे दानादिशीलाय यजमानाय भगवदाराधकाय दधद् ददातु। ज्ञानमार्गेण ज्ञानिनो यत्प्राप्नुवन्ति, भक्ता भगवदनुग्रहेण तदेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'वरुणः सविता सुत्रामा दाशुषे यजमानाय वसु दधतः स नमुचेर्बलमिन्द्रियमादत्ते' इति तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। वरुणादयः किमर्थं यजमानाय वसु धारयेयुः? नमुचेर्धर्मममुक्तवतो बलं शिक्षितं मनश्च ते कथं गृह्णीयुः? न चान्यस्य बलं मनश्चान्ये ग्रहीतुं शक्नुवन्ति। सिद्धान्ते तु सवितृवरुणादयो देवा महाभाग्यवन्तः समर्था अभिप्रेयन्ते। त्वया तु देवतापलापायैव वरुण उत्तमः, सविता प्रेरकः, सुत्रामा सुरक्षको जनोऽर्थः क्रियते। न च जननमरणवन्तो जन्तवस्तत्सर्वं कर्तुं प्रभवन्ति ॥ ७१ ॥

वरु॑णः क्ष॒त्रमि॑न्द्रि॒यं भगे॑न सवि॒ता श्रिय॑म् ।
सु॒त्रामा॑ यश॑सा॒ बलं॑ दधा॑ना य॒ज्ञमा॑शत ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—प्रहार से रक्षा करने की शक्ति, बल, ऐश्वर्य सहित लक्ष्मी को और यश के साथ सब प्रकार की सामर्थ्य को यजमान में स्थापित करते हुए सविता और इन्द्र देवता इस सौत्रामणी यज्ञ को व्याप्त करते रहते हैं ॥ ७२॥

वरुणः सविता सुत्रामा इन्द्रश्च यज्ञं सौत्रामण्याख्यमाशत भक्षितवन्तो व्याप्तवन्तो वा, 'अश भोजने', अशूङ् व्याप्तौ' इति धात्वर्थानुरोधात्, उभयत्रापि विकरणव्यत्ययः । किं कुर्वाणाः ? क्षत्रं क्षतात् त्राणसामर्थ्यमिन्द्रियं वीर्यं भगेन भाग्येन सह श्रियं लक्ष्मीं यशसा सह बलं च दधाना यजमाने स्थापयन्तः । तत्र वरुणः क्षत्रमिन्द्रियं च दधाति, सविता भाग्येन सह श्रियं दधाति, सुत्रामा यशो बलं च दधातीति विभागः ।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरः सर्वात्मा । स एव वरुणः सन् क्षत्रं क्षतत्राणकरमिन्द्रियं सामर्थ्यम्, सविता भूत्वा भगेन सौभाग्येन युक्तां श्रियं सम्पत्तिम्, सुत्रामा सन् यशसा सह बलमर्चके दधानोऽर्चनं गृह्णाति । तदेवं समष्टिरूपेणोच्यते—वरुणादयः क्षत्रादिकं दधाना आशत यज्ञमश्नन्ति, यज्ञमाराधनलक्षणमाशत अश्नन्ति, गृह्णन्तीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वरुणः सविता सुत्रामा सूद्योगी सभेशो भगेन सह वर्तमानं क्षत्रमिन्द्रियं श्रियं यज्ञं च प्राप्नोति, तथा यशसा बलं दधानाः सन्तो यूयमाशत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मूले यूयमिति पदाभावात् । यद्यध्याहारलब्धं यूयमिति पदम्, तदापि यशसा सह बलं दधाना इतिवत् क्षत्रमिन्द्रियं भगेन श्रियं दधाना इति कुतो न सम्बद्ध्येत ? प्राप्नोतिपदं चापि मूले नास्ति, तस्माद्वेदबाह्यमेवैतत्सर्वम् ॥ ७२ ॥

अ॒श्विना॒ गोभि॑रिन्द्रि॒यमश्वे॑भिर्वी॒र्यं॑ बल॑म् ।
ह॒विषेन्द्र॑ꣳ सर॑स्वती॒ यज॑मानमवर्धयन् ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ—दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वती गौ आदि पशुओं के द्वारा इन्द्रियों को दक्षिणारूप शक्ति को, तथा हवि के द्वारा इन्द्र और यजमान को सब प्रकार से बढ़ावा देते हैं ॥ ७३ ॥

'अश्विना गोभिरिति च हविषाम्' (का० श्रौ० १९।६।१९) । अश्विना गोभिरिति तिस्रो हविषां याज्यानुवाक्याः । चात् पूर्ववत् । अर्थात् 'अश्विना' (वा० सं० २०।७३), 'ता नासत्या' (वा० सं० २०।७४) इत्याश्विनपशुयागे पुरोऽनुवाक्यायाज्ये । 'ता नासत्या' (वा० सं० २०।७४), 'ता भिषजा' (वा० सं० २०।७५) इति सारस्वतपशुयागे पुरोऽनुवाक्यायाज्ये, 'ता भिषजा' (वा० सं० २०।७५), 'अश्विना गोभि' (वा० सं० २०।७३) इत्यैन्द्रपशुयागे पुरोऽनुवाक्यायाज्ये इति सूत्रार्थः । अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः । अश्विना अश्विनौ सरस्वती च इन्द्रं यजमानं च गोभिर्गवादिभिः पशुभिः, इन्द्रियमिन्द्रियेण, विभक्तिव्यत्ययः, इन्द्रियपाटवेन, अश्वेभिरश्वैर्दक्षिणारूपैः, वीर्यं बलं वीर्येण मनःसामर्थ्येन बलेन शरीरदार्ढ्येन हविषा पशुपुरोडाशेन च अवर्धयन् । इन्द्रस्य वर्धनं तृप्तिः, यजमानस्य वर्धनं धनपुत्रपश्वादिपुष्टिः ।

अध्यात्मपक्षे—अश्विनौ सरस्वती च शास्त्राचार्यौ विद्या च इन्द्रं परमात्मानं यजमानं च गोविकारैर्दुग्धदध्याज्यादिभिः, इन्द्रियेण वीर्येण, अश्वैरश्वादिदक्षिणाभिः, वीर्येण मनःसामर्थ्येन, बलेन शरीरदार्ढ्येन, हविषा

पुरोडाशादिना अवर्धयन् । तत्तत्करणकमाराधनं परमेश्वरस्य तृप्त्यर्थं यजमानस्य गवादिप्राप्त्यर्थम् । तत्तद्रूपापन्नः परमात्मैव वा इन्द्रं देवं यजमानं च वर्धयति ।

दयानन्दस्तु—'अश्विना सरस्वती गोभिरश्वेभिर्हविषेन्द्रियं वीर्यं बलमिन्द्रं यजमानमवर्धयन्' इति, तदपि न, निष्प्रमाणत्वात् । अश्व्यादयोऽश्वादिभिः कथं यजमानं वर्धयिष्यन्ति ? मनुष्ये तादृशसामर्थ्याभावात् । हविषाऽङ्गीकृतेन पुरुषार्थेनेति कथमर्थः ? 'हु दानादनयोः' इति धातुरीत्याऽङ्गीकारार्थताया युक्तत्वेऽपि पुरुषार्थता कथं युक्ता ? इति सर्वत्रैव विप्रतिपत्तयः ॥ ७३ ॥

ता नासत्या सुपेशसा हिरण्यवर्तनी नरा ।
सरस्वती हविष्मतीन्द्र कर्मसु नोऽवत ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ—सुवर्ण मार्ग से विचरण करने वाले, सुन्दर रूप वाले नराकार वे दोनों अश्विनीकुमार, हवि को समृद्ध करने वाली सरस्वती और हे इन्द्र, आप सब इस सौत्रामणी यज्ञरूप कर्म में हमारी रक्षा करें ॥ ७४ ॥

ता नासत्या तौ नासत्यौ न असत्यौ, किन्तु सत्यावेव अश्विनौ, सुपेशसा सुपेशसौ सुष्ठु शोभनं पेशो रूपं ययोस्तौ सुरूपौ, हिरण्यवर्तनी हिरण्यदानोपलक्षितौ वर्तनिर्मार्गौ ययोस्तौ, हिरण्योपलक्षितौ वर्तनिर्मार्गौ ययोस्तौ, यत्र पथि गच्छतस्तत्र तत्र हिरण्यमेव सम्पद्यते, नरा नरौ नृगुणयुक्तौ नराकारौ वा, हविष्मती हविरस्ति यस्याः सा, सरस्वती च कर्मसु सौत्रामण्यादियागेषु, नोऽस्मानवत अवन्तु रक्षन्तु, पुरुषव्यत्ययः । हे इन्द्र, त्वमपि कर्मसु वर्तमानान् नोऽस्मानवत अव, वचनव्यत्ययः । अत्र त्रयः पादाः परोक्षकृताः, चतुर्थस्तु प्रत्यक्षकृतः ।

अध्यात्मपक्षे—तौ रामलक्ष्मणौ नासत्यौ अश्विनाविव सुन्दरौ ध्रुवसत्यौ च । सरस्वती ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री सीता च कर्मसु कर्मफलेषु वर्तमानानस्मानवत अवन्तु । कीदृशौ तौ ? सुपेशसौ दिव्यरूपवन्तौ सुवर्णमरकतावपि यदीयद्युतिद्युतिमन्तौ, हिरण्यवर्तनी हिरण्यादिरत्नोपलक्षितलक्ष्मीलाञ्छितपन्थानौ, नरा नरौ नराकारौ । सरस्वती च कीदृशी ? हविष्मती, हविरुपलक्षितधनधान्याधिष्ठात्री महालक्ष्मीरूपा । एवं परोक्षमुक्त्वा प्रत्यक्षमेव भगवन्तं पश्यन्नृषिराह—हे इन्द्र ! परमैश्वर्ययुक्त श्रीलक्ष्मणान्वित राम, त्वं कर्मसु संसारे वर्तमानान्, उपासनात्मकेषु कर्मसु वर्तमानान् वा नोऽस्मान् अव ।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र विद्वन् ! ता तौ सुपेशसा सुरूपौ हिरण्यवर्तनी हिरण्यं सुवर्णं वर्तयतो नरा सर्वगुणानां नेतारौ अध्यापकोपदेशकौ हविष्मती सरस्वती त्वं च कर्मसु नोऽस्मानवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापकादीनां रक्षायां विनियोगायोगात्, हिन्दीभाष्यविरोधाच्च । तत्र तु सुवर्णवर्तयित्री सरस्वत्यभिप्रेता । प्रसिद्धान् देवविशेषाननुपेक्ष्य मनुष्यपरत्वव्याख्यानं मन्त्राणां लोकायतीकरणमेव ॥ ७४ ॥

ता भिषजा सुकर्मणा सा सुदुघा सरस्वती ।
स वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—वे सुन्दर कर्म वाले वैद्य अश्विनीकुमार, वह कामदुघा सरस्वती और वृत्रासुर का वध करने वाला इन्द्र ऐश्वर्यवान् यजमान की इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ावें ॥ ७५ ॥

ता भिषजा तौ भिषजौ सुरवैद्यौ अश्विनौ, सा च प्रसिद्धा ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री सरस्वती, स प्रसिद्धो वृत्रहा शतक्रतुः, शतं बहूनि कर्माणि वृत्रवधादीनि यस्य स बहुकर्मा, इन्द्राय इन्द्रियं वीर्यं दधुः। ननु वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्राय इन्द्रियं दधुरिति विरुद्धमिति चेन्न, कल्पान्तरीय इन्द्र एतत्कल्पप्रभवाय ददातीत्यदोषः। स एकधा द्विधा बहुधापि भवेत्। यद्वा—देवानामचिन्त्यशक्तित्वेन माहाभाग्याद् दातृरूपेण पात्ररूपेण च बहुभवनं ज्ञेयम्। कीदृशौ भिषजौ ? सुकर्मणा सुकर्माणौ शोभनं चिकित्सालक्षणं कर्म ययोस्तौ। कीदृशी सरस्वती ? सुदुघा या सुष्ठु दुग्धे सा सुदुघा सुदोहना।

अध्यात्मपक्षे—ता भिषजा तौ भिषजौ भवरोगवैद्यौ सुकर्मणा सुकर्माणौ रामलक्ष्मणौ सुदुघा सुदोहना सीता सरस्वती स वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्र इन्द्राय देवराजाय इन्द्रियं वीर्यं दधुः, रावणवधादिभिरिन्द्रस्यैव बलवृद्धेः। इन्द्रस्य रथप्रेषणेन तत्र साहाय्यमस्त्येवेत्यभेदेऽपि परस्परमुपकार्योपकारकभावः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा तौ भिषजौ सुकर्मणा सुकर्माणौ सा सुदुघा सरस्वती स वृत्रहेव शतक्रतुरतुलप्रज्ञश्चेन्द्रायेन्द्रियं दधुः, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भिषजोर्द्वित्वस्य सरस्वत्या एकत्वस्य च निर्निमित्तत्वापत्ते, इन्द्रशब्दस्यैश्वर्यार्थत्वस्य निष्प्रमाणकत्वाच्च ॥ ७५ ॥

यु॒वꣳ सु॒राम॑मश्विना॒ नमु॑चावासु॒रे सचा॑।
वि॒पि॒पा॒नाः स॑रस्वती॒न्द्रं॒ कर्म॑स्वावत ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों और हे सरस्वती देवी ! आप सब एकमत होकर नमुचि असुर के यहाँ विद्यमान महौषधों के रसयुक्त ग्रहों को उसके यहाँ से लाकर स्वयं उसका पान करते हुए इस यज्ञ कर्म में उसकी रक्षा करें ॥७६॥

'ग्रहाणां युवꣳ सुरामं पुत्रमिवेति' (का० श्रौ० १९।६।२०)। त्रयाणां पयोग्रहाणां सुराग्रहाणां च युवꣳ सुराममिति पुरोऽनुवाक्या, 'पुत्रमिव' (मा० सं० २०।७७) इति याज्येति सूत्रार्थः। द्वे अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्ये अनुष्टुप्त्रिष्टुभौ। हे अश्विनौ, हे सरस्वति, युवं यूयम्, वचनव्यत्ययः, नमुचौ आसुरे दैत्ये वर्तमानं सुरामं सुरामयं ग्रहं सचा सह विपिपाना विविधं पिबन्तः सन्तः कर्मसु वर्तमाना इन्द्रमावत आसमन्ताद्रक्षत। पिपाना इत्यत्र विकरणव्यत्ययः।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्विनाविव सुन्दरौ भवरोगवैद्यौ, सरस्वती ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री युवं यूयं नमुचौ सीतां मरणमन्तरा न मुञ्चतीति नमुची रावणः, तस्मिन्। आसुरे वैश्रवणेऽपि आसुरभावाक्रान्ते सुरामं सुष्ठु रमन्ते यस्मिन् तत् सुरामं तत्। विपिपाना विविधं पिबन्तः कर्मसु भवदीयासु वासनासु वर्तमानमिवेन्द्रं देवराजमावृत रक्षत।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विना सचा युवं हे सरस्वति त्वं च यथा नमुचौ प्रवाहेन नित्यस्वरूपे आसुरे मेघे कर्मसु सुरामं सुरम्यमिन्द्रं परमैश्वर्यमावत पालयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ग्रीष्मादिषु विनाशदर्शनेन मेघस्य प्रवाहरूपेणापि नित्यत्वायोगात्। अतिसुन्दरमैश्वर्यं किम् ? कथं च तन्नित्ये मेघे भवतीत्यस्यानिरूपणाच्च ॥ ७६ ॥

पु॒त्रमि॑व पि॒तरा॑वश्विनो॒भेन्द्रा॑वथुः॒ काव्यै॑र्द॒ꣳसना॑भिः।
यत्सु॒रामं॒ व्यपि॑बः॒ शची॑भिः॒ सर॑स्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! असुरों के सहवास से अशुद्ध हुए सोमरस को पीकर जब तुम विपत्ति को प्राप्त हुए थे, उस समय दोनों हितकारी अश्विनीकुमारों ने मन्त्रद्रष्टा महर्षियों के काव्य और कर्मों के प्रयोगों से तुम्हारी उसी

प्रकार रक्षा की थी, जैसे माता-पिता पुत्र की रक्षा करते हैं। हे इन्द्र! तुम नमुचि का वध करके रमणीय सोम रस का पान कर जब प्रसन्न हो जाते हो, तब सरस्वती वाणी तुम्हारी सेवा करती है ॥ ७७ ॥

इयं दशमेऽध्यायेऽन्तिमा कण्डिका तत्रैव व्याख्याता ॥ ७७ ॥

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनये चारुमग्नये ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ—अन्न-रस के पानकर्ता, सोम की आहुति को ग्रहण करने वाले, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अग्निदेव के लिये हे अध्वर्यु, हृदय से बुद्धि को प्रकट करो, अर्थात् मन और बुद्धि का शोधन करो। इस शुद्ध व्यवहार में घोड़े, सेवन में समर्थ वृषभ और वन्ध्या भेड़ को सुशिक्षित कर छोड़ कर पुनः ग्रहण किया जाता है ॥ ७८ ॥

'पशुस्विष्टकृतो यस्मिन्नश्वासोऽहाव्यग्न इति' (का० श्रौ० १९।६।२१)। पशुस्विष्टकृद्यागे 'यस्मिन्नश्वासः' (मा० सं० २०।७८) इति पुरोनुवाक्या, 'अहाव्यग्ने' (मा० सं० २०।७९) इति याज्येति सूत्रार्थः। द्वे अग्निदेवत्ये जगतीत्रिष्टुभौ। हे अध्वर्यो, तस्मै अग्नये हृदा मनसा सह मतिं बुद्धिं चारुं समीचीनां जनय। अग्न्यर्थं मनोबुद्धी शुद्धे संस्कृते कुरु। कथंभूतायाग्नये? कीलालपे कीलालमन्नरसं पिबतीति कीलालपस्तस्मै। यस्मिन्नग्नौ सोमपृष्ठाय सोमः पृष्ठे यस्यासौ सोमपृष्ठस्तस्मै, यस्य पृष्ठे सोमाहुतयो हूयन्त इत्यर्थः। वेधसे विदधाति शुभं करोतीति वेधाः, तस्मै शुभमतिकर्त्रे। यस्मिन्नग्नौ अश्वासः अश्वाः, ऋषभासः ऋषभाः, उक्षण उक्षाणः सेचनसमर्था वृषाः, 'वा षपूर्वस्य निगमे' (पा० सू० ६।४।९) इत्युपधादीर्घाभावः। वशा वन्ध्याः, मेषा अजाः, एते पशवोऽवसृष्टाः, अवदायावदाय चतुरवत्तेन निक्षिप्ताः, तथा आहुता आदायादायाहुताः, तस्मै अग्नये मनोबुद्धी शुद्धे कुरु इति होतुर्वाक्यमध्वर्युं प्रति।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, तस्मै अग्नये परमात्मने हृदा मनसा सह मतिं बुद्धिं जनय। भगवच्चरणार्पण-बुद्ध्या अनुष्ठितेन स्वधर्मेण चारुं संस्कृतां शुद्धां कुरु। कीदृशायाग्नये? कीलालपे भक्तिसमर्पितविविधान्न-रसपानकर्त्रे। सोमपृष्ठाय सोमस्य सोमात्मिकायाः प्रकृतेः पृष्ठे उपरिष्टाद् वर्तमानाय। अग्नीषोमात्मकं जगत्। तत्र सोमः प्रकृत्यात्मकः, अग्निः पुरुषात्मकः। उभयोर्योगेन विश्वमुत्पद्यते। वेधसे सर्वज्ञाय। यस्मिन् अश्वाः, ऋषभाः, उक्षाणो वशा वन्ध्याः, मेषा लोकहितार्थमवसृष्टाः संसारकार्यार्थं निर्मिताः, आहुता आसमन्ताद् गृहीता दत्ताश्च।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, अश्वास ऋषभास उक्षाणो वशा मेषा अवसृष्टासः सुशिक्षिता आहुताः सन्तो यस्मिन् कार्यकराः स्युः, तस्मिन् त्वं हृदा सोमपृष्ठाय कीलालपे वेधसे अग्नये चारुं मतिं कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अवसृष्टशब्दस्य शिक्षितार्थस्य निर्मूलत्वात्। सोमः पृष्ठो येन तस्मै सोमपृष्ठायेत्यपि निरर्थकम्, असङ्गतेः। सोमविद्यापृच्छकायेति हिन्दीभाष्यमपि विसङ्गतमेव, पृच्छतेः पृष्ठशब्दानिष्पत्तेः। अग्नितुल्याय विदुषे तेजस्विने कीदृशीं चारुमतिं प्रकटयेत्? प्रकृते तेन किमायातमित्यस्यास्पष्टत्वात् ॥ ७८ ॥

अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः।
वाजसनिꣳ रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम् ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! सब ओर से आपके मुख में हवियां दी गई हैं, जैसे कि स्रुवे में घृत और अधिषवण में सोम दिया गया है। आप हमें धन-धान्य, वीर-पुत्र, धन-ऐश्वर्य और सभी लोकों में प्रशंसित विशाल यश दीजिये ॥७९॥

हे अग्ने, यस्य ते तव आस्ये मुखे स्रुचि घृतमिव, चम्वि चम्वाम् अधिषवणचर्मणि सोम इव, तत्र यथा सोमः सर्वदा स्थितः, तद्वन्नित्यं मया तवास्ये हविरहावि हुतम्। स त्वम् अस्मे अस्मासु वाजसनिं वाजस्य अन्नस्य सनिं भोगं सुवीरं शोभनवीरोपेतं रयिं धनं प्रशस्तं लोकस्तुतं बृहन्तं महान्तं यशसं यशश्च, पुंस्त्वमार्षम्। सर्वलोकप्रसिद्धं यशः सोमं वा धेहि देहीत्यर्थः, 'यशो वै सोमो राजा' (ऐ० ब्रा० १।१३) इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, स्रुचि घृतं चम्वि सोम इव तवास्येऽग्निरूपे मुखे मया अहावि नित्यं हविर्हुतम्, त्वमस्मे अस्मासु यशआदिकं धेहि। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, येन त्वया सोमो हविस्ते तवास्ये घृतं स्रुचीव चम्वि यज्ञपात्रे सोम ऐश्वर्यसम्पन्ने हविरहावि, स त्वमस्मे सुवीरं प्रशस्तं यशसं वीर्यकरं बृहन्तं महान्तं रयिं धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमल्पशक्तिमन्तमल्पज्ञं जीवं प्रति तादृशप्रार्थनानुपपत्तेः, यशसं रयिमिति विशेष्यविशेषणानुपपत्तेश्च ॥ ७९ ॥

अ॒श्विना॒ तेज॑सा॒ चक्षुः॑ प्रा॒णेन॒ सर॑स्वती वी॒र्य॑म्।

वा॒चेन्द्रो॒ बले॒नेन्द्रा॑य दधुरिन्द्रि॒यम् ॥ ८० ॥

मन्त्रार्थ—दोनों अश्विनीकुमारों ने तेज के साथ नेत्रों को, सरस्वती देवी ने प्राणों के साथ सामर्थ्य को और इन्द्र ने वाणी तथा बल के साथ इन्द्रियों की शक्ति को यजमान के निमित्त स्थापित किया है, अर्थात् हवि और सोम रस को पाकर इन देवताओं ने यजमान को ये सब शक्तियाँ प्रदान की हैं ॥ ८० ॥

'प्रतिगरिष्यत्युपविष्टेऽध्वर्यो शोंऽसावेत्याहूय' (का० श्रौ० १९।६।२६)। त्रयस्त्रिंशवसाग्रहसादनानन्तरमध्वर्योर्होतुः पुरस्तात् प्रतिगरार्थमुपवेशनमुक्तम्। तदाह—प्रतिगरिष्यतीत्यादिना। प्रतिगरिष्यत्यध्वर्यौ पुर उपविष्टे सत्यध्वर्यो शोंऽसावो३म् इत्याहूय 'अश्विना तेजसेत्यनुवाकं शंऽसति' (का० श्रौ० १९।६।२६), आश्विनमनुवाकं 'अश्विना तेजसा चक्षुः' (वा० सं० २०।८०) इत्येकादशर्चं शस्त्रं होता शंसेत्। प्रथमान्त्ये ऋचौ त्रिः शंसनीये मध्यस्थानां त्रयाणां तृचानामादिष्वाहावः कार्य इति सूत्रार्थः। अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याऽनुष्टुप्। आद्यः पादोऽष्टार्णः, द्वितीयो नवार्णः, तृतीयः षडर्णः, चतुर्थोऽष्टार्णः। अश्विना अश्विनौ तेजसा सह चक्षुरिन्द्रियमिन्द्राय दधुर्दधतुः। सरस्वती प्राणेन सह वीर्यमिन्द्राय दधौ ददौ। इन्द्रः कल्पान्तरीयो बलेन सह वाचमिन्द्रियमिन्द्राय एतत्कल्पभवाय ददौ। सर्वापेक्षया दधुरिति बहुवचनम्।

अध्यात्मपक्षे—अश्विसरस्वतीन्द्रभावापन्नः परमेश्वर इन्द्राय रूपादिदीप्तिमते जीवाय चक्षुरादीनि ददौ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा सरस्वती अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ इन्द्रः सभेश इन्द्राय जीवाय प्राणेन जीवनेन वीर्यं पराक्रमं तेजसा चक्षुः प्रत्यक्षमिन्द्रियं वाचा बलेनेन्द्रियं जीवचिह्नं दधुस्तथा धरन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्येषु प्राणनेत्रादिधारणसामर्थ्यायोगात्, उपदेशानर्थक्याच्च। नहि मनुष्याणामायत्तं प्राणादिधारणम्, सति तथा मरणाद्यनुपपत्तिः ॥ ८० ॥

गोम॑दू॒ षु णा॑स॒त्याश्वा॑वद्यातमश्विना। व॒र्ती रु॑द्रा नृ॒पाय्य॑म् ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ—हे सत्यव्यवहारयुक्त अश्विनीकुमारों, हे दुष्टों को रुलाने वालों! आप लोग अवश्य ही गायों और अश्वों से युक्त वर्तमान मार्ग से इस सोम रस का पान करने के लिये इस यज्ञ में आओ, अर्थात् यजमान ने इस यज्ञ में गायों और अश्वों का दान किया है, अतः इनकी सहायता से आप लोग यहाँ पधारें ॥ ८१ ॥

गृत्समदद्दृष्टा अश्विदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्यः। आद्या पादनिचृद् गायत्री, 'त्रयः सप्तकाः पादनिचृत्' (४।४) इति द्वादशकाण्डीपरिभाषायामृग्वेदसर्वानुक्रमण्यां कात्यायनवचनात्। उ, सु, निपातौ पादपूरणार्थौ। ऊषुणा सत्या, 'उ' इति निपातः, तस्य 'इकः सुञि' (पा० सू० ६।३।१३४) इति दीर्घः, 'सुञः' (पा० सू० ८।३।१०७) इति सकारस्य षत्वम्, 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' (पा० सू० ८।४।३) इति नासत्यघटकनकारस्य णत्वम्। हे नासत्या नासत्यौ, हे अश्विना अश्विनौ, हे रुद्रा रुद्रौ शत्रूणां रोदयितारौ, वर्तिः वर्त्या मार्गेण, विभक्तिव्यत्ययः। युवां नृपाय्यम्, नृभिः पीयते सोमो यस्मिन् स नृपाय्यो यज्ञः, तम्। 'क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ' (पा० सू० ३।१।१३०) इत्यत्र कुण्डशब्देन नृशब्दोऽप्युपलक्ष्यते। तथा च नृशब्देऽपि तृतीयान्ते उपपदे पिबतेर्धातोरधिकरणे यत्प्रत्ययो युगागमश्च निपात्यते। यातं गच्छतम्। किं कृत्वा ? गोमद् गावो विद्यन्ते यस्मिन् तत्। अश्वावद् अश्वा विद्यन्ते यत्र तत्, 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' (पा० सू० ६।३।१३१) इति दीर्घः। गोयुक्तमश्वयुक्तं च धनमादाय यज्ञं प्रति गच्छतमित्यर्थः। सदेवा नरो यस्मिन् यज्ञे पिबन्ति स नृपाय्य इत्युव्वटाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—अश्विनौ तद्वत् सुन्दरौ नासत्यौ परमसत्यौ रुद्रौ रावणादिशत्रूणां रोदयितारौ युवां नृपाय्यं यज्ञं प्रति गवाश्वादियुक्तं धनमादाय गच्छतम्।

दयानन्दस्तु—'हे नासत्यौ रुद्रौ अश्विनौ, यथा युवां गोमद् वर्तिर्वर्तमानं मार्गम् अश्वावन्नृपाय्यं नृणां पाय्यं पानं सुयातम्, तथा वयमपि प्राप्नुयाम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, अस्पष्टत्वाच्च। तथाहि वर्तिपदं मार्गपरं चेत्, तर्हि विशेषणेन तदनुरूपेणैव भाव्यम्। तथैव अश्वावदिति पदस्य नृपाय्यविशेषणत्वे तदनुरूपतैव न्याय्या। किञ्च, नृपाय्यपदव्यपदेश्यं किम् ? तदपि न स्पष्टम् ॥ ८१ ॥

न यत्परो नान्तर आदधर्षद् वृषण्वसू। दुःशᳪसो मर्त्यो रिपुः ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ—हे वृष्टि रूप धन देने वाले अश्विनीकुमारों ! जो निन्दा करने वाला शत्रु हमारा सम्बन्धी न हो अथवा हो, वह हमारी और इन्द्र की धर्षणा न कर सके ॥ ८२ ॥

हे वृषण्वसू, वर्षतीति वृषा, 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५६) इति कनिन्-प्रत्ययेन साधुः। वृषा वर्षणं वृष्टिर्वसु धनं ययोस्तौ वृषण्वसू, सम्बोधने हे वृषण्वसू ! यद्वा वृष्णा वृष्ट्या जलान्नादिवर्षणेन वासयतो लोकं स्थापयत इति वृषण्वसू, हे अश्विनौ ! दुःशंसो दुर् दुष्टमपवादं शंसतीति दुःशंसोऽपवदिता, रिपुः शत्रुः, मर्त्यो मनुष्यः, परः असम्बद्धः, अन्तरः सम्बद्धः, स्वकीयोऽपीदृशो मर्त्यो यद् यमिन्द्रं न आदधर्षन्न आधृष्णुयान्न पराभूयात्। स्वकीयः परकीयो वा पिशुनो रिपुर्यमिन्द्रं पराभवितुं न शक्तस्तमिन्द्रं युवां वीर्यवन्तं कुरुतमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे वृषण्वसू, वृष्णा तत्त्वज्ञानवृष्ट्या वासयतः साधकान् ब्रह्मणि प्रतिष्ठापयत इति वृषण्वसू अश्विनौ शास्त्राचार्यौ, तमिन्द्रं परमात्मानं स्वानुग्रहेण प्रकाशयतमिति शेषः। कीदृशमिन्द्रम् ? यद् यमिन्द्रं परः परकीयोऽसम्बद्धो मर्त्योऽन्तरः सम्बद्धः स्वकीयो दुःशंसो निन्दको रिपुर्न आदधर्षत् परिवदितुं न समर्थः, सर्वस्यात्मत्वात् सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात्, तादृशमिन्द्रं प्रकाशयतम्।

दयानन्दस्तु—'हे वृषण्वसू सभासेनेशौ, युवां यद् यस्माद् दुःशंसो दुःखेन शंसितुं योग्यः परो मर्त्यो रिपुर्न स्यात्, नान्तरश्च योऽस्मानादधर्षत्, तं प्रयत्नतो वशं नयतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, रिपोर्मध्यस्थस्य च वशीकरणाप्रसङ्गात्, भावार्थविरोधाच्च, राजपुरुषैर्यः प्रबलो दुष्टतमः शत्रुर्भवेत् स प्रयत्नेन जेतव्य इति विरोधाच्च ॥ ८२ ॥

ता नू आवो॑ढमश्विना र॒यिं पि॒शङ्ग॑संदृशम् । धिष्ण्या॑ वरि॒वोविद॑म् ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ—हे सबको धारण करने वाले अग्निरूप धैर्यशील अश्विनीकुमारों ! आप हमारे लिये पीतवर्ण के सुवर्ण रूप धन को प्राप्त कराने में हेतु बनें ॥ ८३ ॥

यौ युवामुक्तगुणौ ता तौ नोऽस्माकम्, हे अश्विनौ हे धिष्ण्यौ धिष्ण्याग्निरूपौ धातारौ वा, पिशङ्गसन्दृशं पिशङ्गं पीतं सम्यग् दृश्यते तत् पिशङ्गसन्दृशं पीतवर्णम्, सुवर्णमित्यर्थः, अनेकरूपदर्शनं वा रयिं धनमावोढमावहतं प्रापयतम् । वहतेर्लुङि परस्मैपदे मध्यमपुरुषद्विवचनम् । कीदृशं रयिम् ? वरिवोविदम्, वरिवो धनं विन्दति प्राप्नोतीति वरिवोविदः, वरिव इति धननामसु (निघ० २।१०।५), तम् । 'विद्लृ लाभे' इत्यस्मात् 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कः । यद् धनं लब्धं सदन्यस्य धनलाभस्य हेतुभूतं स्यात्, तदर्थानुबन्धरूपं धनं प्रापयतमिति सम्बन्धः ।

अध्यात्मपक्षे—यौ युवां परमात्मानं प्रकाशयतम्, तौ हे अश्विनौ हे धिष्ण्यौ धिष्ण्याग्निसदृशौ ज्ञानरूपौ ज्ञानधातारौ वा, पिशङ्गसदृशं रयिं ज्योतिर्मयं ज्ञानरूपं रयिं धनं यश्च वरिवो धनं विन्दति प्राप्नोति तं ज्ञानान्तरप्राप्तिहेतुं धनमावोढम् आवहतम् ।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ, धिष्ण्यौ धिषणया धिया गृहीतौ तौ युवां नो वरिवोविदं येन वरिवः परिचरणं विन्दति तं पिशङ्गसंदृशं रयिमावोढम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सभासेनेशयोर्दानानधिकारित्वात्, सुवर्णसदृशं किं धनमित्यनुक्तेश्च । न चैश्वर्यं स्वर्णसदृशं भवति, तस्य नीरूपत्वात् ॥ ८३ ॥

पा॒व॒का नः॒ सर॑स्वती॒ वाजे॑भिर्वा॒जिनी॑वती । य॒ज्ञं व॑ष्टु धि॒याव॑सुः ॥ ८४ ॥

मन्त्रार्थ—पवित्र करने वाली, अन्नों द्वारा अन्नयुक्त, बुद्धिकर्म रूप फल को देने वाली सरस्वती देवी हमारी यज्ञ करने की इच्छा को पूरी करे ॥ ८४ ॥

मधुच्छन्दोदृष्टाः सरस्वतीदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्यः । पावका पवनं पावः, 'भावे' (पा० सू० ३।३।१८) इति घञ्, पावं कायति कथयतीति पावका, 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा० सू० ३।२।३) इति कप्रत्ययः, पावयित्री सरस्वती । वाजेभिरन्नैर्वाजिनीवती वाजा अन्नानि विद्यन्ते यस्यां सा वाजिनी यज्ञक्रिया, सा विद्यते यस्यां सा वाजिनीवती यज्ञक्रियाधिष्ठात्री । धियावसुः, धिया कर्मणा वसु धनं यस्याः सा । समासेऽपि तृतीयायाश्छान्दसोऽलुक् । ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री तथाविधा सरस्वती नोऽस्माकं यज्ञं वष्टु कामयताम् । यो हि यदिच्छति तत्प्रतिगच्छति, अतोऽस्मद्यज्ञं प्रत्यागच्छत्वित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—पावका पावयित्री सरस्वती ब्रह्मविद्यारूपा नोऽस्माकं यज्ञं यजनं ब्रह्मनिदिध्यासनरूपं वष्टु कामयताम्, तं च सफलयितुमागच्छेदित्यर्थः । कीदृशी सा ? वाजेभिर्वाजिनीवती वाजं ब्रह्मात्मकमन्नमभिव्यङ्ग्यतयाऽस्ति यस्यां सा वाजिनी ब्रह्माकारा वृत्तिः, तदधिष्ठात्री वाजिनीवती । वाजेभिर्ब्रह्मात्मकैरन्नैर्विषयैर्वाजिनीवती । अनेकाभिर्ब्रह्माकाराभिर्वृत्तिभिर्ब्रह्माकाराऽपरोक्षसाक्षात्काररूपा चरमा वृत्तिरुत्पद्यते । धियावसुः, धिया उक्तया चरमया वृत्त्या या धनवती, तादृशी सा नो यज्ञमागच्छत्वित्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे अध्यापकोपदेशकौ, यथा वाजेभिर्विज्ञानादिगुणैर्वाजिनीवती पावका धियावसुः सरस्वती वाणी नो यज्ञं वष्टु, तथा युवामस्मान् शिक्षेताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाण्या विज्ञानाऽनाश्रयत्वात्, चिदात्मन एव ज्ञानाश्रयत्वात् ॥ ८४ ॥

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् । यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ८५ ॥

मन्त्रार्थ—सत्य और प्रिय वचनों की अथवा वैदिक शब्दों की प्रेरणा करने वाली, सुबुद्धियों की चेतना देने वाली सरस्वती देवी इस यज्ञ की रक्षा करे ॥ ८५ ॥

सूनृतानां सुष्ठु नृत्यन्त्यनेनेति सूनृतानि प्रियसत्यवचनानि, 'घञर्थे कविधानम्' (पा० सू० ३।३।५८, वा० २) इति कप्रत्ययेन साधु, तेषां वेदत्रयीशब्दानां चोदयित्री प्रेरयित्री । 'चुद प्रेरणे' णिजन्तात् तृच्, ततो ङीप् । देवमनुष्यादिषु प्रियसत्यवचनानां प्रेरयित्री वा । सुमतीनां सुष्ठु शोभना मतयो बुद्धयः सुमतयस्तासाम्, चेतन्ती चेतयन्ती प्रकटयन्ती वा, सुमतिदात्रीत्यर्थः । 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति शपोऽप्यार्धधातुकत्वात् णिचो लोपः । तथाविधा सरस्वती यज्ञं दधे धारयति, तदनुग्रहमन्तरा यज्ञाप्रवृत्तेः ।

अध्यात्मपक्षे—या सूनृतानां प्रेरयित्री सुमतीनां च चेतन्ती उत्पादयित्री, तथाविधा सरस्वती ब्रह्मविद्याधिष्ठात्री नो यज्ञं ब्रह्मयज्ञं निदिध्यासनादिलक्षणं धारयतु ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः, यथा सूनृतानां चोदयित्री सुमतीनां चेतन्ती सरस्वती अहं यज्ञं दधे, तथाऽयं युष्माभिरप्यनुष्ठेयः' इति, तदपि तुच्छम्, लौकिक्यां मानुष्यां तदसम्भवात्, यथा तथेत्यध्याहारस्य निष्प्रमाणत्वात् ॥८५॥

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना । धियो विश्वा वि राजति ॥ ८६ ॥

मन्त्रार्थ—सरस्वती देवी कर्म अथवा प्रज्ञा से महान् जल को प्रेरित करती है, अर्थात् सर्वत्र वर्षा कराती है । सकल प्राणियों की बुद्धि को प्रदीप्त करती है, उसकी हम स्तुति करते हैं ॥ ८६ ॥

या सरस्वती केतुना कर्मणा प्रज्ञया वा महो महद् अर्ण उदकं प्रचेतयति प्रज्ञापयति प्रेरयति, सर्वस्यां भूमौ वृष्टिं कारयतीत्यर्थः । किञ्च, विश्वाः सर्वा धियः प्राणिनां बुद्धीर्विराजति विराजयति प्रदीपयति, सर्वजन्तुबुद्धीः प्रकाशयति, तां स्तुम इति शेषः । 'राजृ दीप्तौ' अन्तर्भावितण्यर्थो द्रष्टव्यः ।

अध्यात्मपक्षे—या सरस्वती केतुना कर्मानुष्ठानेन, उपासनाद्वारेत्यर्थः । महो अर्णः, महद् उदकं प्रचेतयति केतुनैव सर्वा बुद्धीर्दीपयति, तथाविधां दिव्यां भगवतीं ज्ञानविज्ञानमूलभूतां स्तुमः ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः, यथा सरस्वती वाणी केतुना प्रज्ञानेन महो महद् अर्णोऽन्तरिक्षस्थं शब्दसमुद्रं प्रचेतयति प्रज्ञापयति, विश्वा धियो विराजति प्रकाशयति, तथा यूयं प्रवृत्ता भवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रीणां सम्बोध्यत्वे मानाभावात् । न च वाणी तत्रोदाहरणमर्हति, चैतन्याचैतन्याभ्यां विग्रहसाहित्यराहित्याभ्यां च वैषम्यात् । न च साऽन्तरिक्षसमुद्रं प्रज्ञापयति, वाणीमतामपि तदज्ञानात् ॥ ८६ ॥

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः । अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अनेकों प्रकार की कान्ति वाले ऐश्वर्यवान् इन्द्रदेव ! आप यहाँ आइये । यह आपको चाहने वाला अंगुलियों और दशापवित्र से शोधित अभिषुत सोम आपके लिये ही यहाँ रखा हुआ है ॥ ८७ ॥

मधुच्छन्दोदृष्टा इन्द्रदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्यः । हे चित्रभानो, चित्रा नानाविधा भानवो दीप्तयो यस्य स चित्रभानुस्तत्सम्बुद्धौ । हे इन्द्र ! त्वमायाहि । किमित्यायामीति चेत्, इमे सोमाः सुता अभिषुताः । त्वायवस्त्वां कामयन्त इति त्वायवः, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा०सू० ३।१।८) इति क्यचि 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (पा०सू० ७।२।९८) इति त्वादेशे, 'आ सर्वनाम्नः' (पा० सू० ६।३।९१) इत्यत्रानुवृत्तस्य 'दृग्दृशवतुषु' (पा० सू० ६।३।८९) इत्यस्य योगविभागाद् दृग्दृशवतुभिन्नेऽपि क्वचिदात्वे, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्यये च रूपम् । तथा अण्वीभिरङ्गुलीभिः, अण्वीत्यङ्गुलिनाम (नि० घ० २।५।२) । तना च धनदानेन च, तनेति धननामसु

(निघ० २।१०।१९)। पूताः शोधिताः पवित्रीकृताः। अथवा तनाशब्दो दशापवित्रवाची। तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णः। सोमास्त्वां कामयन्ते इन्द्रोऽस्मान् पिबत्विति। तदर्थमायाहीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमात्मन्, हे चित्रभानो चित्रदीप्ते, लक्ष्म्यालङ्कृतत्वात् चित्रा नानाविधाः श्यामलाः पीता हरिता व्यस्तनानाविधालङ्कारपीताम्बरादिकृताश्च भानवो दीप्तयो यस्य स चित्रभानुः, तत्सम्बुद्धौ। त्वमायाहि। इमे सुता अभिषुताः सोमा अनेके, अन्ये च भक्तसमर्पितोपहारास्त्वायवस्त्वां कामयन्ते। अन्यत् पूर्ववत्। 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' (तै० ३।१०।६) इत्यादिश्रुतिरीत्या भगवच्छेषा भक्ता एव भोग्यभावापन्ना भगवन्तं भोक्तारं सोऽस्मानङ्गीकरोत्विति कामयन्ते।

दयानन्दस्तु—हे चित्रभानो इन्द्र, त्वया य इमे अण्वीभिः सुता निष्पादिताः, तना विस्तृतगुणेन पूतासस्त्वायवो ये त्वां युवन्ति मिलन्ति, ते पदार्थाः सन्ति तानायाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्। राजस्तुतौ वेदानां तात्पर्याभावेन तथार्थस्य निरर्थकत्वात्। न च राजपूजैव धर्मः, न वा तत्प्रवृत्तये वेदस्य प्रवृत्तिरिति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु। न च विद्याप्रकाशे चित्रा भानवो भवन्ति, तस्या नीरूपत्वात्। अङ्गुलीभिः के पदार्था राजानं मिलन्तीत्यनुक्तेश्च ॥ ८७ ॥

इन्द्रा या॑हि धि॒येषि॒तो विप्र॑जूतः सु॒ताव॑तः। उप॒ ब्रह्मा॑णि वा॒घतः॑ ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! अपनी बुद्धि से प्रेरित हुए आप श्रेष्ठ ब्राह्मणों से सेवित होते हुए यहाँ आइये। सोम का अभिषव करने वाले यजमान को और ऋत्विजों के स्तोत्र को सुनते हुए आप यहाँ हवि के समीप आकर बैठिये ॥८८॥

हे इन्द्र, धिया स्वबुद्ध्या इषितः प्रेषितः सन्नायाहि, अनन्यप्रेषित इति यावत्। कीदृशस्त्वम्? विप्रजूतः, 'जु वेगितायां गतौ' सौत्रस्तस्य 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' (पा० सू० ३।३।९७) इति निपातनाद् जूतिः, ग्रन्थिः प्रीतिर्वा, जूतिरस्त्यस्येति जूतः, विप्रैर्मेधाविभिर्जूतः सम्बन्धविशेषोऽस्त्यस्येति विप्रजूतः। अथवा विप्रैर्मेधाविभिर्जूतोऽनुगतः, सेवित इति यावत्, स तथोक्तः। किमित्यागन्तव्यमिति चेत्? सुतावतः सुतवतः सोममभिषुतवतो यजमानस्य ब्रह्माणि हवींषि उप हविषां समीपे, छान्दसो दीर्घः, वाघत ऋत्विजः, वाघत इति ऋत्विङ्नामसु (निघ० ३।१८।३), वर्तन्त इति शेषः। ऋत्विजो हविरादाय स्थिताः प्रतीक्षन्त इत्यायाहीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, धिया स्निग्धया भक्तानुग्रहार्द्रया इषितः प्रेषितो विप्रजूतो विप्रैर्मेधाविभिर्वा ब्रह्मविद्भिर्वा जूतः सेवितोऽनुगतो वा। तैः प्रीतिमान् वा आयाहि, भक्तानां हृदये यजमानस्थाने वा। किमर्थमागन्तव्यमिति चेत्? सुतावतः सुतवतः, छान्दसो दीर्घः। सोममभिषुतवतो यजमानस्य उपब्रह्माणि वाघतो वर्तन्ते। हविषां समीपे वाघत ऋत्विजस्त्वां प्रतीक्षन्ते तदर्थमागन्तव्यमित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—हे इन्द्र, इषितो विप्रजूतो विप्रैर्जूतः शिक्षितो वाघतो यः शिक्षया वाचा हन्ति जानाति, स त्वं धिया सुतावतो ब्रह्माणि उपायाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शिक्षार्थस्य जुधातोरप्रसिद्धेः। त्वद्रीत्या किं राजार्थं भोजनादिनिर्माणमेव सर्वेषां कर्तव्यम्, राज्ञश्च तद्ग्रहणमेव कार्यम्, नान्यत्किमपि? ब्रह्माण्यन्नानि धनानि वेत्युपहासास्पदमेव। किमन्नधनोपार्जन एव मानवजीवनस्य परिसमाप्तिः? एतत्सर्वमनालोच्यैवायं महात्मा मन्त्रार्थेषु कामचारं करोति। अत एव निघण्टूक्तमप्यर्थं लोकायतिकसरणावानयति ॥ ८८ ॥

इन्द्रा या॑हि तू॒तु॑जा॒न उप॒ ब्रह्मा॑णि हरिवः। सु॒ते द॑धिष्व न॒श्चनः॑ ॥ ८९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व वाले इन्द्रदेव ! शीघ्रतापूर्वक आकर आप इन हवियों के समीप बैठिये। सोम के अभिषुत होने पर हमारे सोमरूप अन्न और हवि को उदरस्थ कीजिये ॥ ८९ ॥

हे हरिवः ! हरी अश्वौ विद्येते यस्यासौ हरिवान्, तत्सम्बुद्धौ 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति नकारस्य रुत्वम् । हे इन्द्र, तूतुजानस्त्वरमाणः सन् त्वं ब्रह्माणि हवींषि उप हवींषि प्रति आयाहि । तूतुजान इति क्षिप्रनामसु (निघ० २।१५।१९) । आगत्य च सुते सोमेऽभिषुते सति नोऽस्माकं चनोऽन्नं सोमरूपं हविः, 'चन इत्यन्ननाम' (निरु० ६।१६) । पच्यते यत् तत् पचनम्, कर्मणि ल्युट् । पकारलोपेन सकारोपजननेन च चन इति, अन्ननामेति यावत् । दधिष्व उदरे धारय । 'धि धारणे' तौदादिकस्य व्यत्ययेन शपः श्लौ द्वित्वम्, अभ्यासस्यात्वं च छान्दसम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, हे हरिवो देवराजेन्द्ररूपधारिन्, यद्वा हरयो हनुमदादयो विद्यन्ते सेवकत्वेन यस्य स हरिवान्, तत्सम्बुद्धौ । तूतुजानस्त्वरमाणः सन् उप ब्रह्माणि हवींषि प्रति आगच्छ । एत्य च सुते सोमेऽभिषुते सति नोऽस्माकं चनः सोमरूपमन्नं दधिष्व स्वोदरे धारय ।

दयानन्दस्तु—'हे हरिव इन्द्र विद्यैश्वर्यादिवर्धक, तूतुजानो नः सुते निष्पन्ने ब्रह्माणि च नो दधिष्व' इति, तदपि न, विदुषो मनुष्यस्यापि तादृशसामर्थ्याभावात् ॥ ८९ ॥

अ॒श्विना॒ पिब॑तां॒ मधु॒ सर॑स्वत्या स॒जोष॑सा ।
इन्द्रः॑ सु॒त्रामा॑ वृत्र॒हा जु॒षन्ता॑ᳪ सो॒म्यं मधु॑ ॥ ९० ॥

मन्त्रार्थ—सरस्वती के साथ प्रीतियुक्त अश्विनीकुमार स्वादिष्ट सोम का पान करें । सुरक्षक वृत्रासुर का वध करने वाले इन्द्रदेव मीठी सोममय हवि का सेवन करें ॥ इस यज्ञ में बुद्धिबल को तीव्र करने वाली औषधियों के रस को मन्त्रों से संस्कृत करके सुरा नामक यौगिक रस तैयार किया जाता है । जो लोग इसको लौकिक मद्यवत् समझते हैं, वे इस कर्म के रहस्य को न जानने से शास्त्र की श्रद्धा से वंचित हो विषयलोलुप बन जाते हैं । इस मन्त्रसिद्ध औषधरस का यह प्रभाव है कि इन्द्र पर्यन्त देवताओं ने इसकी सहायता से इन्द्रिय-बल और बुद्धि को पाया था ॥ ९० ॥

अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याऽनुष्टुप् । अश्विना अश्विनौ मधु मधुरस्वादोपलक्षितं सोमं पिबतां भक्षयताम् । कीदृशौ अश्विनौ ? सरस्वत्या सजोषसा, जोषणं जोषः, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन्प्रत्ययः, प्रीतिः, समानं जोषो ययोस्तौ, सरस्वत्या सह प्रीतिमन्तावित्यर्थः । किञ्च, सुत्रामा सुष्ठु त्रायते रक्षतीति तथोक्तः । वृत्रहा वृत्रं हतवानिति वृत्रहा, ईदृश इन्द्रोऽश्विनौ सरस्वती च मधु मधुरं सोम्यं सोममयं हविर्जुषन्तां सेवन्ताम् । 'मये च' (पा० सू० ४।४।१३८) इति सोमशब्दान्मयडर्थे यप्रत्ययः ।

अध्यात्मपक्षे—अश्विनौ तद्वत्सुन्दरौ श्रीरामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ वा सरस्वत्या सीतया प्रीतिमन्तौ, श्रीरामः पत्नीबुद्ध्या प्रीतिमान्, लक्ष्मणश्च मातृबुद्ध्या प्रीतिमान्, तौ मधु मधुरस्वादोपेतं सोमं पिबताम् । इन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा अश्विनौ सरस्वती चैते सर्वे सोम्यं सोममयं मधु जुषन्ताम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा सजोषसावश्विनौ सरस्वत्या मधु पिबताम्, यथा चेन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा च सोम्यं मधु जुषन्ताम्, तथा युष्माभिरनुष्ठेयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विपदेनाध्यापकोपदेशकयोर्ग्रहणे मानाभावात् । तथैव सुत्रामवृत्रहपदाभ्यामपि कयोश्चिन्मनुष्ययोर्गौण्या वृत्त्यापि ग्रहणं निर्मूलमेव, मुख्यार्थासम्भव एव गौणार्थग्रहणस्यौचित्यात् । न वा सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यो ह्योषधिरसपानमेवोपदेष्टव्यम्, न चाश्व्यादिवत् समेषां कृते तत्सुलभम् ॥ ९० ॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां
विंशोऽध्यायः समाप्तः ॥

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

भाष्यप्रणेतारः
अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

२१-३९ अध्यायात्मको भागः

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता * वृन्दावनम्

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

[२१–३० अध्यायात्मकः, ३१–३९ अध्यायात्मकश्च भागः]

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

सम्पादकः

प० व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये

सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचर आचार्यश्च

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्

कलकत्ता ० वृन्दावन

श्रीवृन्दावनम् प्रथमसंस्करणम् संवत् २०४८

प्रकाशक—
श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थान
कलकत्ता ● वृन्दावन

●

मूल्य : १५०.०० रूप्यकाणि

अस्य ग्रन्थस्य सर्वेऽधिकारा राजकीयनियमानुसारेण सुरक्षिताः

●

पुस्तकप्राप्तिस्थानम् —

१. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन सस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
११३ पार्क स्ट्रीट, पोद्दार पोइन्ट, कलकत्ता—७०००१६

२. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५/१८ नारद घाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

४. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेन्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

५. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
ई० ४ २४, ईस्ट पटेल नगर
दिल्ली—८

मुद्रक—
केशव मुद्रणालय
खजुरी, वाराणसी

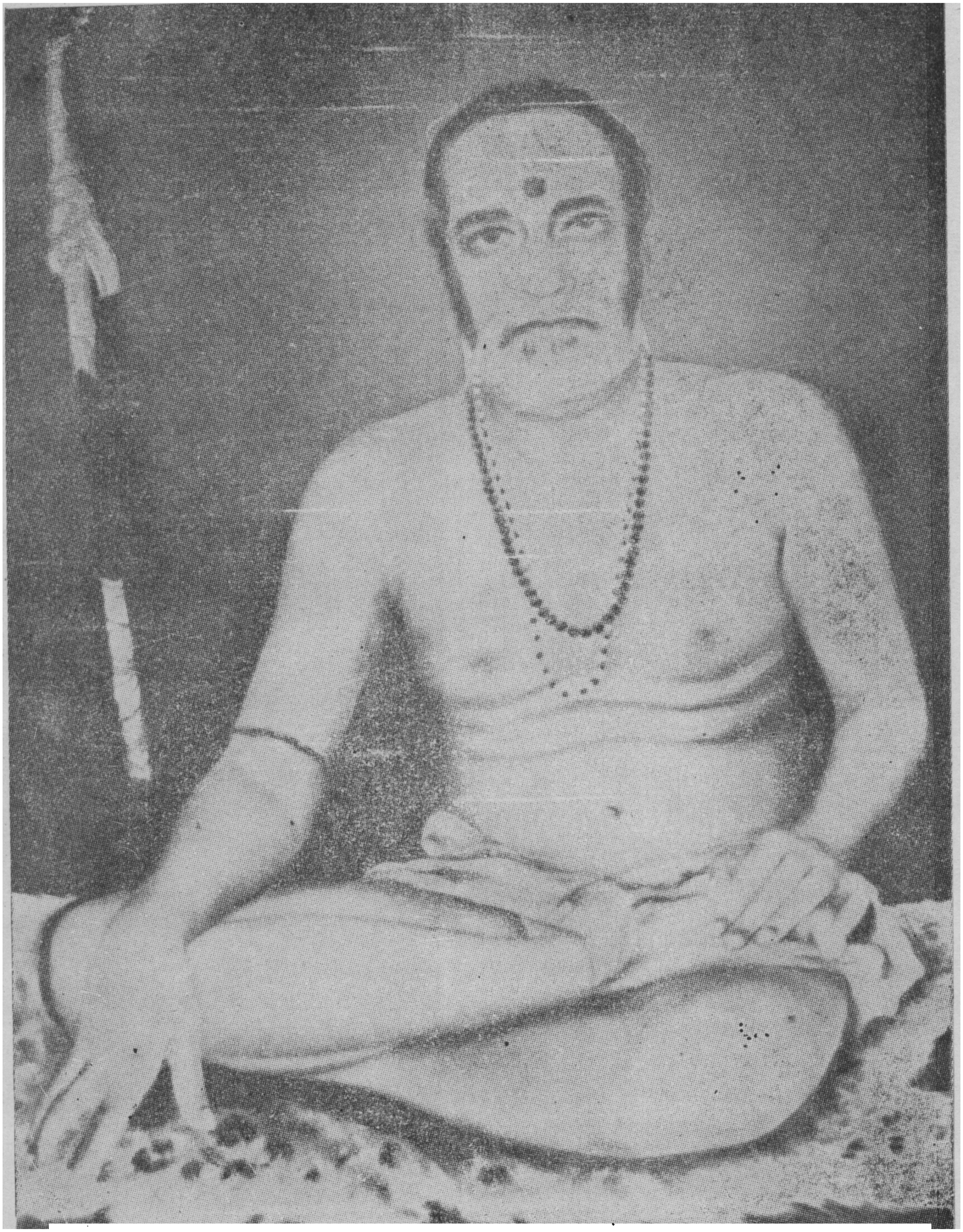

परब्रह्मस्वरूप
धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

॥ श्रीहरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित यजुर्वेदसंहिता के २१-३९ अध्यायों के भाष्य को मन्त्रार्थ और भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित करते हुए हमें बहुत हर्ष का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व प्रथम तीन अध्यायों का और चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) का भाष्य भाषानुवाद के साथ एवं ११ से २० अध्यायों के दो भाग मन्त्रार्थ एवं भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित हो चुके हैं, यह आप लोगों को विदित ही है।

प्रकाशन कार्य विस्तृत है। कई कठिनाइयों के कारण प्रकाशन का कार्य त्वरित गति से नहीं हो पा रहा था। अब चतुर्थ और पञ्चम अध्याय वाला भाग और छठे से दसवें अध्याय तक का भाग अलग-अलग प्रेसों में छप रहा है। प्रगति मन्द है, तथापि हम इस प्रयत्न में हैं कि विक्रम संवत् २०४८ के अन्त तक पूरा भाष्य विज्ञ पाठकों के करकमलों तक पहुँचा दिया जाय।

विदित हो, पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज की अद्वितीय कृति देश के जिन सन्तों, विद्वानों, उच्च शिक्षाविदों और अधिकारियों के पास पहुँचती है, वे अत्यन्त प्रभावित होकर हम लोगों को शेष भाग शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा प्रदान करते हैं।

भाष्यनिष्कर्ष के लेखक, अनुवादक, समय-समय पर उचित परामर्शदाता, प्रूफ पुनरीक्षक, प्रेसकापी साधक, अनुच्छेद (पैराग्राफ) के निर्धारक के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जा को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख प्रस्तुत करने वालों के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, उन सभी परम सम्माननीय, आत्मीय, पूज्य आचार्य, विद्वन्मूर्धन्यों के चरणकमलों में धन्यवाद और अभिनन्दनस्वरूप नतमस्तक होकर हम सदा ही इनकी कृपा की आशा रखते हैं। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं, वे हैं—

(१) अनन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरी पीठाधीश्वर स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराज
(२) स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज
(३) पण्डित श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारीजी
(४) पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदीजी
(५) पण्डित श्री जनार्दन पाण्डेयजी
(६) पण्डित श्री राजवंशी द्विवेदीजी

केशव मुद्रणालय के सुयोग्य प्रबन्धक तथा सहृदय कर्मचारियों के स्नेहपूर्ण सौजन्यभरे मुद्रणादि कार्यों के सम्पादन को स्मरण कर इन्हें बहुत धन्यवाद देते हैं।

वृन्दावन धाम
माघी पूर्णिमा
२०४८ वि० सं०

निवेदक
हनुमानप्रसाद धानुका
अध्यक्ष, श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान

दशाध्यायी(२१-३०)-भाष्यनिष्कर्ष

वेदार्थपारिजातभाष्य और उसकी रचना शैली पर ११–१५ अध्याय के भाष्यनिष्कर्ष के प्रारम्भ में प्रकाश डाला जा चुका है। १६–२० अध्याय के भाष्यनिष्कर्ष में प्रथम तीन अध्यायों में वर्णित अग्निचयन सम्बन्धी शेष विषयों को और १९–२० अध्यायों में वर्णित सौत्रामणी याग की प्रक्रिया को भी निरूपित किया गया है। २१वें अध्याय में भी यही विषय चलता है। इसको और आगे के २२–३० तक के नौ अध्यायों में प्रतिपादित विषयों को अब क्रमशः यहाँ उपस्थापित किया जा रहा है।

एकविंश अध्याय : सौत्रामणी याग

२१वें अध्याय के प्रथम दो मन्त्रों में अवभृथेष्टि से सम्बद्ध वारुण एककपाल पुरोडाश की [1]पुरोनुवाक्या और [2]याज्या प्रदर्शित हैं और आगे के दो मन्त्रों (२१।३–४) में अवभृथेष्टि से ही सम्बद्ध आग्निवारुण याग की पुरोनुवाक्या और याज्या। इसी तरह से कात्यायन श्रौतसूत्र और शतपथ की पद्धति से अगले दो मन्त्रों का विनियोग आदित्य चरु की पुरोनुवाक्या और याज्या में होता है। सातवें मन्त्र में स्वर्गप्रापक यज्ञरूप नौका की स्तुति की गई है। ८–९ मन्त्र अवभृथ से उठने के बाद विहित मैत्रावरुणी पयस्या के पुरोनुवाक्या और याज्या में विनियुक्त हैं। पयस्या से सम्बद्ध वाजिन याग के पुरोनुवाक्या और याज्या का विधान अगले दो मन्त्रों (२१।१०–११) में है। आगे की आप्री देवता वाली ११ ऋचाओं में वायोधस पशु सम्बन्धी [3]प्रयाजयाज्याएँ हैं। तब अगले छः मन्त्र (२१।२३–२८) वायोधस पशु से ही सम्बद्ध वपा और पुरोडाश की याज्या और अनुवाक्या में विनियुक्त हैं। 'होता यक्षत्' (२१।२९–४०) इत्यादि १२ कण्डिकाओं में त्रिपशु सम्बन्धी प्रयाजयाज्याओं के [4]प्रैष मन्त्र हैं। 'होता यक्षत्' (२१।४१) इस कण्डिका के तीन मन्त्रों का विनियोग तीन वपाओं के प्रैषों के रूप में बताया गया है और अगली कण्डिका में ग्रहसम्बन्धी चतुर्थ प्रैष मन्त्र है। आगे की तीन कण्डिकाओं (२१।४३–४५) में आश्विन आदि हविर्यागों के प्रैष मन्त्र हैं। तब दो कण्डिकाओं (२१।४६–४७) में वनस्पति याग और स्विष्टकृद् याग के प्रैष मन्त्रों का विधान है। त्रिपशु सम्बन्धी [5]अनुयाजों से सम्बद्ध

---

१. याग के समय जिस देवता का याग प्रस्तुत होता है, उस देवता के निमित्त मन्त्रपाठ के लिये अध्वर्यु होता को प्रैष देता है। तब होता जो मन्त्रपाठ करता है, वह पुरोनुवाक्या मन्त्र है। ये मन्त्र ऋग्वेदीय होते हैं (कात्या० यज्ञ०, पृ० ४९७)।

२. आगूःपूर्विका वषट्कारान्ता प्रायशोऽर्धर्चावसाना बहुस्थानेषु एकैव ऋक् क्वचिदनृगपि याज्यापदेनोच्यते (श्रौत०, पृ० २८)।

३. प्रकर्षेण इज्यन्ते देवता यैः। याग से पूर्व जो आज्य की नियत आहुति दी जाती है, उसे प्रयाज कहते हैं। विभिन्न यागों में विधान के अनुसार उनकी संख्या पाँच, नौ और ग्यारह होती है (कात्या० यज्ञ०, पृ० ५०१)।

४. यजेत्यादिलोणमध्यमपुरुषान्तपदघटितेन येन वाक्येन अध्वर्य्वादिना होत्रादिः प्रेर्यते, तद्वाक्यं प्रैष इत्युच्यते (श्रौत०, पृ० २७)।

५. प्रधान याग के अनन्तर जो आज्य की आहुतियाँ दी जाती हैं, वह अनुयाज कहलाती हैं। विभिन्न यागों में उनकी संख्या तीन, नौ और ग्यारह होती है (कात्या० यज्ञ०, पृ० ४५९)।

प्रैष और याज्या मन्त्रों की संख्या ग्यारह है (२१।४८–५८)। इस अध्याय के अन्त की तीन कण्डिकाओं वाले सूक्त (२१।५९–६१) में [1]सूक्तवाक प्रैष के मन्त्र हैं।

२२–२५ अध्याय : अश्वमेध याग

तीन अध्यायों (१९–२१) में सौत्रामणी याग का विधान बताने के बाद अगले चार अध्यायों (२२–२५) में अश्वमेध याग की विधि विस्तार से वर्णित है। यहाँ के प्रथम अनुवाक में अश्वमेध के अंगभूत अश्व का संस्कार करने वाले मन्त्र वर्णित हैं। सब कुछ चाहने वाला राजा इसका अनुष्ठान करता है। फाल्गुन शुक्ल अष्टमी अथवा नवमी को इसका आरम्भ होता है। सबसे पहले यहाँ के पहले मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान को [2]निष्क पहनाया जाता है। अभिषिक्त क्षत्रिय को ही यहाँ राजा माना गया है। मीमांसा शास्त्र के अवेष्ट्यधिकरण (२।३।१) में यह निर्णीत है कि राजा के पद पर अभिषिक्त क्षत्रिय के लिये ही इस पद का प्रयोग किया जाता है। सर्वकाम का अर्थ है मुमुक्षु, क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति होने पर ही मनुष्य की सारी कामनाएँ पूरी हो सकती हैं। राजपद का ग्रहण होने से ब्राह्मण और वैश्य इस याग को करने के लिये अधिकृत नहीं हैं। अन्य आचार्यों के मत से इस याग का आरम्भ ज्येष्ठ और आषाढ मास के अन्तराल में शुक्ल अष्टमी अथवा नवमी को करना चाहिये। इस यज्ञ का आरम्भ ब्रह्मौदन पाक से होता है। अध्वर्यु ऋत्विजों के लिये इसे पकाता है और यजमान के कण्ठ में निष्क को पहनाने के बाद अश्व के कण्ठ में अगले तीन मन्त्रों (२१।२–४) से रशना (लगाम) पहनाता है।

इसके बाद अध्वर्यु तालाब आदि के स्थिर जल के पास जाकर पाँचवीं कण्डिका के पाँच मन्त्रों से पाँच बार अश्व का प्रोक्षण करता है। वहाँ से अश्व को अग्नि के पास लाकर 'अग्नये स्वाहा' (२२।६) कण्डिका के प्रत्येक मन्त्र से सकृद् गृहीत आज्य की स्तोकीय संज्ञक दस आहुतियाँ देता है अथवा इस मन्त्र की सौ बार आवृत्ति कर एक हजार आहुतियाँ देता है। अगली दो कण्डिकाओं के मन्त्रों से भी अश्व के निमित्त ही दक्षिणाग्नि में प्रक्रम संज्ञक ४९ आहुतियाँ दी जाती हैं। इन दो कण्डिकाओं में अश्व की ४९ प्रकार की चेष्टाओं का वर्णन किया गया है। इससे आगे की छः ऋचाओं (२२।९–१४) का विनियोग सावित्री नामक इष्टि की याज्यानुवाक्याओं[3] के रूप में किया जाता है। 'अग्नि स्तोमेन' (२२।१५–१७) इत्यादि तीन मन्त्रों में स्विष्टकृद् याग की पुरोनुवाक्यायें हैं। 'अजीजनः' (२२।१८) मन्त्र से पवमान की स्तुति की जाती है। तृतीय सावित्र इष्टि की समाप्ति के बाद अध्वर्यु और यजमान अश्व के दाहिने कान में 'विभूर्मात्रा' (२२।१९) मन्त्र का जप करते हैं। चतुर्थ अध्याय की सातवीं और आठवीं कण्डिकाओं में चार आध्वरिक औद्ग्रभण संज्ञक मन्त्र पढ़े गये हैं। इन मन्त्रों से चार आहुतियाँ देने के बाद यहाँ के 'काय स्वाहा' (२२।२०)

---

१. दर्शपौर्णमास प्रभृति यागों में आहवनीय खर के तीनों ओर परिधि (पालाश समित्) रखी जाती हैं। अध्वर्यु पश्चिम की ओर संस्थापित परिधि को छूकर आश्रावण करता है। आग्नीध्र प्रत्याश्रावण करता है। तब अध्वर्यु होता को जिन "इदं द्यावापृथिवी" इत्यादि मन्त्रों का पाठ करने के लिये जो प्रैष देता है, वह सूक्तवाक प्रैष कहलाता है (कात्या० यज्ञ०, पृ० ५२४)।

२. चतुःसुवर्णनिर्मित आभरणविशेषो निष्कः (भा०, पृ० ४२)।

३. अध्वर्युप्रेषितो होता एकश्रुत्या पुरोनुवाक्यां पठति। सा च प्रायः एकैव ऋग् भवति। तस्याः प्रथमार्धर्चे एकमवसानम्, चतुर्मात्रप्रणवान्तद्वितीयार्धर्चे द्वितीयमवसानम्। यस्मिन् यागे मैत्रावरुणो भवति, तत्र स एव पुरोनुवाक्यां पठति। पुरः पूर्वं यागाद् देवतामनुकूलयितुं या ऋगुच्यत इति व्युत्पत्त्या पुरोनुवाक्यापदमनुयाज्यापदं च ऋग्विशेषबोधकम् (श्रौत०, पृ० २८)।

कण्डिका के मन्त्रों से तीन आश्वमेधिक औद्ग्रभण आहुतियाँ देनी चाहिये। इन औद्ग्रभण आहुतियों को देने के बाद दीक्षणीया [1]इष्टि का शेष कर्म पूरा कर उपवेशनान्त कृष्णाजिन दीक्षा का अनुष्ठान किया जाता है। इसकी विशेष प्रक्रिया भाष्य (पृ० ६०) में ही देखनी चाहिये। सातवीं दीक्षणीया इष्टि की कुछ विशेषता है। प्रतिदिन दी जाने वाली चार आध्वरिक औद्ग्रभण आहुतियों के स्थान पर यहाँ छः आग्निक आहुतियों और तीन आश्वमेधिक आहुतियों के बाद 'विश्वो देवस्य' (२२।२१) मन्त्र से दसवीं औद्ग्रभण आहुति दी जाती है। कृष्णाजिन दीक्षा से प्रारम्भ कर उखा में तेरह समिधाओं के आधान तक की प्रक्रिया पूरी कर अध्वर्यु 'आ ब्रह्मन्' (२२।२२) मन्त्र का जप करता है। शतपथ के अनुसार यह जप उत्सर्ग मन्त्रों से उपहित पशुशिरों के उपस्थान के समय किया जाता है। अन्य आचार्यों का मत है कि अश्व का उत्सर्ग करते समय 'विभूर्मात्रा' (२२।१९) मन्त्र के जप के बाद ही इसका जप करना चाहिये। इसके बाद इस अध्याय की अन्तिम बारह कण्डिकाओं वाले अनुवाक के मन्त्रों से आज्य, सक्तु, धाना और लाजा की पूरी रात रात्रि के प्रत्येक प्रहर में उत्तरवेदि स्थित अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं। इसकी प्रक्रिया भी भाष्य (पृ० ६४-६५) में ही देखनी चाहिये।

इस प्रकार बाईसवें अध्याय में होम के मन्त्र निर्दिष्ट हैं। २३वें अध्याय में बचे हुए कर्मों का निरूपण इस प्रकार किया गया है—दूसरे दिन का कृत्य उक्थसंस्थ कहलाता है। वहाँ महिम नाम के दो ग्रहों का ग्रहण किया जाता है। यह कार्य आग्रयण और उक्थ्य ग्रहों के बीच में किया जाता है। इनमें से प्रथम महिम ग्रह का ग्रहण सौवर्ण उलूखल द्वारा 'हिरण्यगर्भः' (२३।१) मन्त्र से और द्वितीय महिम ग्रह का ग्रहण राजत उलूखल द्वारा 'यः प्राणतः' (२३।३) मन्त्र से किया जाता है। [2]दशापवित्र से ग्रह का परिमार्जन कर 'एष ते योनिः' (२३।२) मन्त्र से उसका सादन किया जाता है। वपा याग के अन्त में द्वितीय महिम ग्रह में गृहीत सोम की आहुति चौथे मन्त्र से दी जाती है। इसके बाद 'युञ्जन्ति' (२३।५) मन्त्र से अश्व को रथ में जोता जाता है। अगले मन्त्र (२३।६) से शेष तीन अश्वों को भी रथ में जोत दिया जाता है। यहाँ प्रत्येक अश्व को जोतते समय मन्त्र की आवृत्ति करनी चाहिये। इन चार अश्वों से युक्त रथ पर बैठकर यजमान जलाशय के पास जाता है। वहाँ अश्वों के जल में प्रवेश करने पर अध्वर्यु यजमान से 'यद्वातः' (२३।७) मन्त्र का पाठ कराता है। इस मन्त्र का पाठ यहाँ प्रायश्चित्त के रूप में किया जाता है, क्योंकि अश्वमेधीय अश्व के लिये जलावगाहन और वडवासंग, ये दोनों ही वर्जित हैं। जलाशय से वापस देवयजन स्थान में आने पर रथ से वियुक्त अश्व के पूर्वकाय, मध्यकाय और अपरकाय पर क्रमशः राजमहिषी, वावाता और परिवृक्ता घृत का लेप करती हैं। बाद में ये तीनों अश्व के शिर, कन्धे और पुच्छ के बालों में एक सौ एक-एक सौ एक मणियाँ बाँधती हैं और रात्रि में दी गई आहुतियों से बचे हुए सक्तु, धाना, लाजा आदि को भक्षण के निमित्त अश्व को देती हैं। यह सारा कार्य यहाँ आठवीं कण्डिका के मन्त्रों से किया जाता है।

अगले चार मन्त्रों (२३।९-१२) में ब्रह्मा और होता का प्रश्नोत्तर रूप संवाद है। तब आगे की चार कण्डिकाओं (२३।१३-१६) से अश्वमेधीय अश्व के अभिषेकार्थ उसका प्रोक्षण किया जाता है। इसके बाद षष्ठ अध्याय के 'अपां पेरुः' (६।१०) इस प्राकृत मन्त्र से और यहाँ के 'अग्निः पशुः' (२३।१७) इति वैकृत मन्त्र से अश्व के मुख में प्रोक्षणी रखी जाती है। श्रौतसूत्र प्रदर्शित दो आहुतियों के बाद अगले मन्त्र (२३।१८) से तीन आहुतियाँ दी जाती

---

१. श्रौतपदार्थनिर्वचन (पृ० १९७-१९८) में दीक्षणीयेष्टि का विस्तार से परिचय दिया गया है।

२. शतपथ ब्राह्मण (३।३।२।९) में तथा श्रौत ग्रन्थों में वस्त्र के किनारे या झालर को दशा कहा गया है। दशापवित्र झालरदार छानने के वस्त्र का नाम है (वैदिक कोश, पृ० १९१)।

हैं। इन आहुतियों से अश्व को प्राणवान् बनाया जाता है। अब नेष्टा [1]पान्नेजन हाथ में ली हुई राजपत्नियों को पशुओं की तरफ ले जाता है और 'नमस्ते आतान' (६।१२) इस प्राकृत मन्त्र का तथा इसी कण्डिका के 'अम्बे अम्बालिके' (२३।१८) इस वैकृत मन्त्र का वाचन कराता है। ये सब राजपत्नियाँ पान्नेजन हाथ में लिये हुए ही अश्व की तीन प्रदक्षिणाएँ करती हैं। इनमें से पहली प्रदक्षिणा के समय 'गणानां त्वा' (२३।१९) मन्त्र का पाठ किया जाता है और दो प्रदक्षिणाएँ तूष्णीं की जाती हैं। दूसरी प्रदक्षिणा पितरों के प्रति की जाने वाली प्रदक्षिणा के समान विपरीत क्रम से होती है। इसका क्रम भाष्य (पृ० ८९–९०) में स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार अश्व के प्राणों का शोधन करने के उपरान्त इसी कण्डिका के शेष भाग का पाठ करते हुए महिषी अश्व के साथ शयन करती है। तब अगले (२३।२०) मन्त्र द्वारा अधीवास (बहुमूल्य कम्बल) से उनको ढक दिया जाता है। 'उत्सक्थ्या' (२२।२१) मन्त्र से यजमान अश्व का प्रोक्षण करता है। इसके बाद अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, होता और क्षत्ता का यजमान की कुमारी पुत्री से और चार पत्नियों से संवाद होता है। प्रत्येक का यह संवाद दो-दो मन्त्रों में, अर्थात् कुल दस मन्त्रों में (२३।२२–३१) वर्णित है। इस अश्लील संवाद के अन्त में वाणी के दोष की शुद्धि के लिये 'दधिक्राव्णः' (२३।३२) मन्त्र का पाठ विहित है।

अब तीन राजपत्नियाँ क्रमशः दो-दो मन्त्रों (२३।३३-३८) से ताम्र, रजत और सुवर्ण निर्मित सूचियों से अश्व का तोदन करती हैं और अगले छः मन्त्रों (२३।३९-४४) से वपा की प्राप्ति के लिये अश्व का विशसन और उसके उदर का विपाटन किया जाता है। आगे की १८ ऋचाएँ ब्रह्मोद्यसंज्ञक हैं। यज्ञीय अवसरों पर ऋत्विजों का जीव, जगत् और ब्रह्म के विषय में जो संवाद होता है, उसे 'ब्रह्मोद्य' कहा जाता है। महाकवि बाण ने भी हर्षचरित नामक अपने गद्यकाव्य के प्रारम्भ में इस शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ प्रथम चार ऋचाओं (२३।४५-४८) में होता और अध्वर्यु का, अन्य चार (२३।४९-५२) में ब्रह्मा और उद्गाता का, तब आगे के चार मन्त्रों (२३।५३-५६) में होता और अध्वर्यु का, बाद की चार ऋचाओं (२३।५७-६०) में उद्गाता और ब्रह्मा का, तब अन्तिम दो मन्त्रों (२३।६१-६२) में यजमान और अध्वर्यु का संवाद है। इस प्रकार कुल १८ मन्त्रों में यह संवाद पूरा होता है। इस ब्रह्मोद्य कथा के उपरान्त महिम ग्रह सम्बन्धी पुरोनुवाक्या, प्रैष और याज्या संज्ञक तीन मन्त्रों (२३।६३-६५) का विधान किया गया है। इसी के साथ यह अध्याय समाप्त हो जाता है।

२४वें अध्याय में अश्वमेधीय पशुओं और उनके देवताओं के पारस्परिक सम्बन्ध को बताया गया है। अश्वमेध में २१ यूप गाड़े जाते हैं। इनमें से मध्यम यूप का नाम अग्निष्ठ है। इसमें १७ पशु बाँधे जाते हैं। यहाँ की प्रथम कण्डिका में वर्णित १५ पशु पर्यंग्य कहलाते हैं। इन २१ यूपों में से प्रथम १३ यूपों में नियोजनीय पंचदशिन् पशुओं का उनके अधिपति देवताओं के साथ वर्णन यहाँ की १३ कण्डिकाओं में किया गया है। आगे की छः कण्डिकाओं (२४।१४-१९) में शेष आठ यूपों में बन्धनीय चातुर्मास्य, वरुणप्रघासीय, साकमेधीय, माहेन्द्रेष्टि, पित्र्येष्टि और शुनासीरीय पशुओं का उनके अधिपति देवताओं के साथ वर्णन किया गया है।

अश्वमेधीय २१ यूपों और उनमें बन्धनीय पशुओं का उनके अधिपति देवताओं के साथ ऊपर वर्णन किया गया है। इन २१ यूपों के बीच २० खाली जगहों की यहाँ अन्तराल संज्ञा है। इनमें बन्धनीय पशुओं और उनके अधिपति देवताओं का वर्णन आगे के मन्त्रों में अध्याय की समाप्ति तक (२४।२०-४०) किया गया है। इनमें आरण्य पशुओं का विधान है। इनका परिचय भाष्यकार ने उव्वट, सायण, महीधर आदि प्राचीन

---

१. पाद-प्रक्षालन के लिये प्रयुक्त एक पात्र का नाम पान्नेजन है (वैदिक कोश, पृ० २८२)।

भाष्यकारों के प्रमाण से दिया है। यहाँ (पृ० १४५) अश्वमेधीय पशुओं की संख्या भी बताई गई है और कुछ आचार्यों के इस पक्ष को भी बताया गया है कि दुर्लभ आरण्य पशुओं का पट पर चित्र बनाकर उनके उपाकरण आदि सारे संस्कार करने चाहिये।

पूर्व अध्याय में यूपों और यूपान्तरों में बन्धनीय पशुओं का निरूपण करने के बाद अब २५वें अध्याय में अश्वमेध यज्ञ की शेष प्रक्रिया इस प्रकार बताई गई है—वनस्पति याग के बाद और स्विष्टकृत् याग से पहले प्रजापति के निमित्त शूल्य मांस की आहुति देकर इस अध्याय के प्रथम नौ मन्त्रों में वर्णित शाद से लेकर पृथिवी पर्यन्त देवताओं को अश्व के दन्त आदि विभिन्न अंगों की आहुति घृत के साथ देकर अन्त में जुम्बकाहुति दी जाती है। जुम्बका गायत्री से दी गई जुम्बकाहुति का विवरण भाष्य (पृ० १५७) में ही देखना चाहिये। इसके आगे की चार कण्डिकाएँ (२५।१०-१३) अश्व आदि प्राजापत्य पशुओं की याज्यानुवाक्या के रूप में विनियुक्त हैं। आगे के दस मन्त्रों (२५।१४-२३) में विश्वेदेव देवता वाले पशुओं की याज्यानुवाक्याएँ हैं। तब 'मा नः' (२५।२४-३९) इत्यादि सोलह मन्त्रों से चतुर्गृहीत आज्य की आहुति दी जाती है। 'यत्ते' (२५।४०-४५) इत्यादि छः मन्त्रों से अश्वमेधीय अश्व की स्तुति के साथ उससे याचना की जाती है। अन्त की दो कण्डिकाओं (२५।४६-४७) में स्थित छः मन्त्रों से अयस्मय और अश्वलोहित के होम के अनन्तर छः आहुतियाँ दी जाती हैं। इस अश्वमेध यज्ञ और उसकी आध्यात्मिक उपासना से व्यक्ति का महान् अभ्युदय होता है। यह यज्ञ क्रममुक्ति तथा बुद्धि की शुद्धि के साथ परम निःश्रेयस को देने वाला है।

यह अश्वमेध यज्ञ एक वर्ष और सत्ताईस दिन में पूरा होता है। इनमें से एक वर्ष पर्यन्त अश्व यथेच्छ भ्रमण करता है। बारह दीक्षा दिन, बारह उपसद् दिन और तीन सुत्या दिनों को मिलाने पर सत्ताईस दिन होते हैं। आगे २९वें अध्याय में अश्वमेधीय हौत्र मन्त्रों का विधान है।

२६ वां अध्याय : खिल मन्त्र

अब तक के २५ अध्यायों में दर्शपौर्णमास, पितृयज्ञ, अग्न्याधान, अग्न्युपस्थान, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अग्निचयन, सौत्रामणी और अश्वमेध याग सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अब प्रस्तुत २६ वें अध्याय में खिल मन्त्रों का विधान दिखाया जा रहा है। यहाँ जिन मन्त्रों का श्रुति द्वारा स्पष्ट विनियोग नहीं बताया गया, उनका लैंगिक विनियोग किया जाता है। शब्द की सामर्थ्य को ही यहाँ लिंग माना गया है। शब्द की उस सामर्थ्य के सहारे इस अध्याय की प्रथम कण्डिका के ७ सन्नति मन्त्रों का विनियोग इन देवताओं के नमन में किया गया है। द्वितीय मन्त्र से यजमान भगवान् से प्रार्थना करता है। 'बृहस्पते' (२६।३) मन्त्र में बृहस्पति-सव के बार्हस्पत्य ग्रह का ग्रहण किया जाता है और अगले दो मन्त्रों (२६।४–५) से गोसव के लिये ऐन्द्र ग्रह का ग्रहण। आगे के तीन मन्त्रों (२६।६–८) में वैश्वानरीय पुरोनुवाक्याएँ हैं। नवां मन्त्र अग्निदेवता की पुरोनुवाक्या और १० वां महेन्द्र देवता की पुरोनुवाक्या से सम्बद्ध है।

'तं वः' (२६।११) इत्यादि मन्त्र जप, स्वाध्याय आदि में विनियुक्त है। आगे के तीन मन्त्रों (२६।१२–१४) से अग्निदेवता की और फिर 'उपह्वरे' (२६।१५–१८) इत्यादि चार मन्त्रों से सोम देवता की भक्तिपूर्वक स्तुति की जाती है। 'अनु वीरैः' (२६।१९) इत्यादि मन्त्र आशीर्वादपरक हैं। आगे की पाँच ऋचाओं (२६।२०–२४) में याज्या-मन्त्र हैं। इनमें से पहली का प्रातःसवनीय चमस याग में, आगे की दो का ऋतुयाग में, चौथी का माध्यन्दिनीय चमस याग में और पाँचवीं का विनियोग तृतीय सवन के चमस याग में याज्या-मन्त्रों के रूप में नेष्टा द्वारा पाठ किया जाता है। इनमें से प्रथम के देवता अग्नि, आगे के दो मन्त्रों का ऋतु और बाकी के दो मन्त्रों के देवता इन्द्र और त्वष्टा

हैं। इस अध्याय के अन्तिम दो (२६।२५–२६) मन्त्रों का भी विनियोग जप, स्वाध्याय आदि में किया गया है। इन दोनों पावमानी ऋचाओं के देवता सोम हैं। [1]पवमान सोम की ही एक विशेष अवस्था है।

२७ वां अध्याय : पंचचितिकाग्नि मन्त्र

२७ वाँ अध्याय पंचचितिक अग्नि से सम्बद्ध है। इसकी प्रारम्भ की नौ ऋचाओं का विनियोग इष्टका पशु सम्बन्धी समिध्यमान और समिद्वती के अन्तराल में अग्नि, बृहस्पति और सविता देवता की स्तुति में किया गया है। 'उद्वयम्' (२८।१०) इत्यादि मन्त्र से सूर्य देवता का उपस्थान किया जाता है। आगे की प्रयाज देवता वाली आप्री संज्ञक बारह ऋचाओं (२७।११–२२) में अग्नि देवता की स्तुति है। 'पीवो अन्ना' (२७।२३–२८) इत्यादि छः हुत-पशु सम्बन्धी याज्यानुवाक्या मन्त्र हैं। तब आगे के छः मन्त्र (२७।२९–३४) वायुदेवता वाले वायव्येष्टका पशुओं के वपा आदि द्रव्यों की याज्यानुवाक्याओं से सम्बद्ध हैं। आगे के कुछ मन्त्र यहाँ ऐसे हैं, जिनका सामगान में उपयोग किया जाता है। प्रथम दो मन्त्रों (२७।३५–३६) से रथन्तर साम का, आगे के दो मन्त्रों से (२७।३७–३८) बृहत्साम का अन्य तीन मन्त्रों से (२७।३९–४१) वामदेव्य साम का और दो मन्त्रों से (२७।४२–४३) यज्ञायज्ञीय साम का गायन किया जाता है। 'ऊर्जो नपातम्' (२७।४४) मन्त्र से यजमान अध्वर्यु की प्रार्थना करता है और इस अध्याय के अन्तिम ४५ वें मन्त्र में पंचसंवत्सरात्मक युगाध्यक्ष प्रजापति के रूप में चित्याग्नि की स्तुति की जाती है।

२८ वां अध्याय : सौत्रामणी शेष

१९–२१ अध्यायों में सौत्रामणी याग का विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। इस अध्याय में सौत्रामणी याग के अंगभूत ऐन्द्र पशु से लेकर वायोधस पर्यन्त पशुओं के याज्यानुयाज्या मन्त्र हैं। आप्री संज्ञक देवता इन्द्र की ही विभूतियाँ हैं। एकादश ऋचाओं के पहले अनुवाक (२८।१–११) में ऐन्द्र पशु सम्बन्धी आप्री देवताओं के समित्, तनूनपात् और आदित्य देवतावाले प्रयाजों के प्रैष मन्त्र हैं। आगे की ११ ऋचाओं (२८।१२–२२) में ऐन्द्र पशु सम्बन्धी अनुयाजों के प्रैष मन्त्र हैं। 'अग्निमद्य' (२८।२३) मन्त्र से यजमान होता अग्नि की प्रार्थना करता है। आगे के ग्यारह (२८।२४–३४) वायोधस पशुसम्बन्धी प्रयाजों के प्रैष मन्त्र हैं और तब फिर आगे के 'होता यक्षत्' (२८।३५–४५) इत्यादि ११ ऋचाओं का विनियोग वायोधस पशुसम्बन्धी अनुयाजों के प्रैष मन्त्रों के रूप में किया जाता है। अन्तिम मन्त्र (२८।४६) से यजमान पुनः अग्नि की होता के रूप में स्तुति करता है।

२९ वां अध्याय : अश्वमेध शेष

यह अध्याय अश्वमेध यज्ञ से सम्बद्ध है। प्रारम्भ की ११ ऋचाएँ आप्री संज्ञक हैं। समित्, तनूनपात्, इडा आदि इनके देवता हैं। इनसे परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से अश्व की स्तुति की जाती है। इस तरह की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष स्तुतियों का सामंजस्य बैठाने की पद्धति आठवें मन्त्र के भाष्य (पृ० २६७) में देखी जा सकती है। इन ग्यारह मन्त्रों से आगे के तेरह मन्त्र (२९।१२–२४) भी अश्व की स्तुति में ही विनियुक्त हैं। यहाँ १३–१५ मन्त्रों में बताया गया है कि वसु देवताओं ने आदित्यमण्डल से इस अश्व को निकाला है। यम द्वारा प्रदत्त इस अश्व को त्रिस्थान वायु रथ में जोतता है और इन्द्र इस रथ पर बैठता है। गन्धर्व विश्वावसु इसकी रशना (लगाम) पकड़ता है। आदित्य लोक में इसके तीन बन्धन ऋक्, यजु और सामलक्षण; अन्तरिक्ष लोक में मेघ, विद्युत् और अशनिलक्षण तथा पृथ्वी

---

१. "रसीभूतो यदा सोमः पवित्रात् क्षरति ग्रहम्। ऋग्भिः स्वादिष्ठयाधाभिः पवमानः स उच्यते ॥" (भा०, पृ० २०१)।

लोक में कृषि, वृष्टि और बीज लक्षण स्थित हैं। इसी प्रकार अन्य मन्त्रों में भी अश्वमेधीय अश्व की भूरिभूरि प्रशंसा की गई है। इस प्रकरण के अन्तिम २४ वें मन्त्र में अश्व-स्तुति से कृतकृत्य हुए यजमान को सम्बोधित कर उसके प्रति शुभाशंसा प्रकट की गई है। आगे के आप्री संज्ञक १२ मन्त्रों में भी समित्, तनूनपात् आदि देवताओं की स्तुति की गई है। इससे आगे के अनेक मन्त्रों (२९।३७–५७) में अश्व के रक्षक योद्धाओं और उनके युद्ध के लिये उपयोगी उपकरणों की स्तुति है। प्रथमतः अग्नि देवता की और योद्धाओं की स्तुति करके तब धनुष, ज्या, धनुष्कोटि, इषुधि, रथ, दुन्दुभि आदि की स्तुति की गई है। रथ को यहाँ रथवाहण और हविर्धान भी कहा गया है। ५३ वें मन्त्र में बताया गया है कि यूप, स्फ्य, रथ और शर ये चारों वज्र के ही प्रकार हैं। ५८ वें मन्त्र में अश्वमेधीय प्रथम एकादश पशुओं और उनके देवताओं का तथा ५९ वें मन्त्र में द्वितीय एकादश पशुओं और उनके देवताओं का वर्णन है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र (२९।६०) में दस आहुति वाली अवेष्टि संज्ञक इष्टि की हवियों और उनके देवताओं का उल्लेख किया गया है।

३० वां अध्याय : पुरुषमेध

३० वें अध्याय से पुरुषमेध का प्रकरण चलता है। [1]अतिष्ठाकाम ब्राह्मण अथवा राजन्य इसका अनुष्ठान करता है। चैत्र शुद्ध द्वादशी को इसका आरम्भ होता है। यहाँ २३ प्रकार की दीक्षा, बारह उपसद् और पाँच सुत्याएँ होती हैं। इस प्रकार यह अनुष्ठान ४० दिन तक चलता है। इसमें यूपों की संख्या ११ और अग्नीषोमीय पशुओं की संख्या भी इतनी ही होती है। इनका प्रत्येक यूप में अथवा केवल मध्य यूप में बन्धन विहित है। सकृत् गृहीत आज्य से प्रथम चार मन्त्रों में से प्रत्येक से आहवनीय अग्नि में तीन-तीन आहुतियाँ दी जाती हैं। इससे आगे अध्याय की समाप्ति पर्यन्त पुरुषमेधीय पशुओं का विवरण है। प्रत्येक यूप में एक-एक [2]एकादशिन को नियुक्त कर 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (३०।५) से लेकर 'प्रकामोद्यायोपसदम्' (३०।९) पर्यन्त मन्त्रों में पठित ब्राह्मण आदि ४८ प्रकार के पुरुषों को यहाँ नियोजित किया जाता है और अन्य यूपों में 'वर्णायानुरुधम्' (३०।९-१९) इत्यादि मन्त्रों में पठित ११–११ पुरुषों को। किस यूप में कितने पुरुषों का किस प्रकार नियोजन होता है, इस विषय का स्पष्ट निरूपण २० वें मन्त्र के भाष्य में कर दिया गया है। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि २०–२१ मन्त्रों में पठित अन्य अवशिष्ट पशुओं का नियोजन द्वितीय उच्छ्रित यूप में करना चाहिये। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र (३०।२२) में आठ विपरीत स्वभाव वाले पशुओं का उल्लेख है। इस मन्त्र में जाति का स्पष्ट उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि पूर्ववर्णित पुरुषों में जाति का नियम लागू नहीं होता। इसकी पूरी प्रक्रिया को भाष्य (पृ० ३१९) में ही देखना चाहिये।

पुरुषमेध की समाप्ति के बाद यजमान को अपनी आत्मा में अग्नियों का समारोप कर वन में चले जाना चाहिये। इसके बाद भी यदि किसी की ग्राम में ही बसने की इच्छा हो, तो इसका विधान भी यहाँ बताया गया है (पृ० ३२०)।

शतपथ ब्राह्मण के अवधेय अंश

इस खण्ड के २१-३० अध्यायों के मन्त्रों के कात्यायन प्रोक्त विनियोगों का समर्थन प्रायः शतपथ ब्राह्मण के १२-१३ काण्डों के वचनों को उद्धृत कर किया गया है। बीच-बीच में अन्य स्थलों के वचन भी व्याख्यान के प्रसंग में दिये गये हैं।

---

१. "सर्वभूतान्यतिक्रम्य स्थानमतिष्ठा" (भा०, पृ० ३०३)।

२. जिस याग में एकादश पशुओं का विनियोग होता है, उसे एकादशिन् कहते हैं। १. अग्नि, २. सरस्वती, ३. सोम, ४. पूषा, ५. बृहस्पति, ६. विश्वेदेव, ७. इन्द्र, ८. मरुत्, ९. इन्द्राग्नी, १०. सविता और ११. वरुण—ये ग्यारह देवता एकादशिनी हैं" (कात्या० यज्ञ०, पृ० ४७५)।

२१वें अध्याय में स्वतन्त्र रूप से शतपथ का कोई वचन उद्धृत नहीं है।

२२वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में ही शतपथ के आधार पर अश्व की अमेध्यता का वर्णन कर उसकी पवित्रता के लिये ब्रह्मौदन का विधान और इस पद की व्याख्या की गई है। साथ ही दर्भमयी रशना के इतिवृत्त को सूचित किया गया है। ३-५ मन्त्रों की व्याख्या में अश्वमेधयाजी किस प्रकार सारी दिशाओं को जीत लेता है, इसके लिये स्वाहाकारों और स्वधाकारों का विधान किया गया है। छठे मन्त्र में शतपथ के आधार पर निष्क्रयणी आहुति, गायत्रीरात्र, अमिता होम, आज्याहुति आदि विषयों की विशद व्याख्या की गई है और आगे की दो कण्डिकाओं (२२।७-८) में वर्णित अश्व की ४९ प्रकार की विभिन्न चेष्टाओं के आधार पर आहुतियों का विधान सप्रयोजन प्रदर्शित है। अश्व की इन चेष्टाओं का इतना सूक्ष्म विवरण शायद अश्व-सम्बन्धी अन्य साहित्य में दुर्लभ है। अश्व पर अनुसन्धान कर्ताओं के लिये यह प्रकरण अत्यन्त महत्त्व का सिद्ध हो सकता है। ये आहुतियाँ कहाँ कब दी जाँय, इनका विवरण १०वें में मन्त्र में है। आगे १९वें मन्त्र में प्रजापति के द्वारा सृष्ट अश्वमेध याग की आख्यायिका को उपस्थापित कर, इसके अनुष्ठान से प्राप्त होने वाली राष्ट्र और जनपद की समृद्धि का वर्णन कर, बताया गया है कि 'शिशु' यह अश्व का प्रिय नाम है। यहाँ यह भी कहा गया है कि सबल व्यक्ति ही इसका अनुष्ठान कर सकता है। २०वें मन्त्र में अश्वमेधीय दीक्षा का प्रतीकात्मक पद्धति से वर्णन कर सात दिन में दी जाने वाली २१ औद्ग्रभण आहुतियों का विधान बताया गया है। यहाँ भाष्यकार ने आचार्य हरिस्वामी द्वारा प्रस्तुत की गई इस प्रकरण की विशेष व्याख्या को भी प्रस्तुत किया है। २२वें मन्त्र में कण्डिका के विभिन्न पदों की व्याख्या के प्रदर्शन में शतपथ के अनेक वचन उद्धृत हैं। २३वें मन्त्र में शतपथ के इस प्रकरण को अन्नहोम ब्राह्मण नाम दिया गया है और आचार्य हरिस्वामी के अनुसार हेयकल्प एवं स्थितिकल्प को प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र (२२।३४) में बताया गया है कि 'प्राणाय स्वाहा' (२२।२३) से लेकर इस अध्याय के अन्त तक की बारह कण्डिकाओं के अनुवाक से कालाग्नि आदि का शरीर धारण करने वाले देवताओं को आज्य आदि की आहुतियों से तृप्त करना चाहिये। ये सारे अवान्तर याग मुख्य अश्वमेध याग के उसी प्रकार अंग हैं, जैसे कि मनुष्य के शरीर (अंगी) के सिर, कान आदि अंग होते हैं। ये सारे देवता और अश्वमेधीय अश्व भी प्रजापति के अवयव हैं और यह सब परमात्मा का ही विलास है। इस प्रकार देखा जाय तो सर्वत्र उस परमात्मा का ही स्तवन और यजन हो रहा है।

२३वें अध्याय के ८वें मन्त्र में शतपथ के वचनों के आधार पर दयानन्दीय व्याख्या का खण्डन किया गया है और बताया गया है कि इन ब्राह्मण-वचनों से कात्यायन श्रौतसूत्र के विनियोगों को तथा सायण आदि के भाष्यों को ही समर्थन मिलता है, दयानन्दीय व्याख्या को नहीं। १२वें मन्त्र में ब्रह्मोद्य की महिमा वर्णित है कि इसकी चर्चा से ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति होती है। प्रस्तुत ब्राह्मण में पूर्वचित्ति, बृहद्वय, पिलिप्पिला, पिशङ्गिला आदि पदों की व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। अगले दो मन्त्रों की व्याख्या में भी यही क्रम दिखाई पड़ता है। प्रसंगवश यहाँ (पृ० ८३) बताया गया है कि चरक शाखा वालों का चमस न्यग्रोध काष्ठ से निर्मित होता है। अमरकोश के टीकाकार रामाश्रम को भी यहाँ उद्धृत किया गया है। आगे कुछ मन्त्रों में मन्त्रार्थ के समर्थन में ही शतपथ स्मृत है। १८वें मन्त्र में उद्धृत वचनों का विशेष महत्त्व है। वहाँ वास, अधिवास, हिरण्य आदि पदों का अर्थ और प्रयोजन दिखा कर शतपथ और कात्यायन के वचनों की हरिस्वामी द्वारा की गई समन्वित व्याख्या का उल्लेख है। भाष्यकार ने यहाँ स्वयं अपना मत भी प्रस्तुत किया है। अश्वमेधीय प्रकरण के इन ब्रह्मोद्य मन्त्रों की दयानन्दीय व्याख्या का खण्डन तथा महीधर आदि के व्याख्यानों को समर्थन देने के लिये यहाँ प्रायः प्रत्येक मन्त्र में शतपथ को उद्धृत किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि महीधर आदि ने स्वामी दयानन्द की तरह बिना आधार का मनमाना अर्थ नहीं किया है। यहाँ (पृ० ९५) बताया गया है कि इन अभिमेथिका मन्त्रों में जो गूढ दर्शन छिपा हुआ है, उसे ब्राह्मण-वचन स्पष्ट करते हैं।

इस पूरे प्रकरण के निष्कर्ष को हम यहाँ (पृ० १०१–१०३) विस्तार से देख सकते हैं। इस अध्याय के 'सुभू' (२३।६३) इत्यादि मन्त्र के भाष्य में पुनः अनेक शतपथ-वचनों को उद्धृत कर बताया गया है कि इन श्रुतियों के आधार पर ही उव्वट, सायण आदि ने अपने-अपने भाष्यों की रचना की है। अतः दयानन्दीय भाष्य की अपेक्षा इनकी श्रेष्ठता निर्विवाद है।

२४ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र के भाष्य में अश्वमेधीय पशुओं का किस किस यूप में कितनी संख्या में नियोजन किया जाता है, इसके प्रमाण के रूप में शतपथ के वचन उद्धृत हैं। आगे १३ वें मन्त्र में वयोहोम में विनियुक्त मन्त्रों के वय शब्द के दयानन्दीय अर्थ के खण्डन के लिये शतपथ का प्रमाण दिया गया है कि यह कालवाचक शब्द है। इसी तरह से चातुर्मास्य पशुओं के प्रसंग में भी शतपथ स्मृत है (पृ० १३१)। तब अन्तिम मन्त्र (२४।४०) में अश्वमेधीय अश्वों की संख्या का परिगणन करते समय प्रमाणस्वरूप ब्राह्मण को उद्धृत किया गया है। साथ ही वहाँ यह मत भी दिखाया गया है कि जो दुर्लभ और दुर्ग्रह पशु हैं, उन सबका पट पर चित्र बनाकर उनको उपाकरण आदि संस्कारों से संस्कृत करना चाहिये। अश्व की उत्पत्ति प्रजापति से हुई है, इस विषय का यहाँ पुनः प्रतिपादन किया गया है। इसीलिये अश्वमेध यज्ञ के इस प्रकरण से ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त का विधान है। अश्व शब्द का निर्वचन भी यहाँ दिया गया है। अश्व की स्तुति यहाँ उसके प्रभू, विभू आदि १२ नामों से की गई है (पृ० १४६) और अन्त में [1]पारिप्ल-वाख्यान का उल्लेख कर बताया गया है कि यहाँ [2]सावन संवत्सर का ग्रहण किया गया है, पार्वण, सौर अथवा नाक्षत्र संवत्सर का नहीं।

२५ वें अध्याय के मन्त्रों का भी अश्वमेध याग में ही विनियोग है। इन मन्त्रों में प्रयुक्त द्वितीया विभक्ति भोक्त्री देवता को और तृतीया अश्व के विभिन्न भोग्य अंगों को सूचित करती है। इस विषय को शतपथ के वचनों से यहाँ समर्थन दिया गया है। २२ वें मन्त्र में उव्वटाचार्य द्वारा अपने व्याख्यान के प्रसंग में उद्धृत शतपथ के द्वितीय काण्ड के वचन का भी स्मरण किया गया है। इस अध्याय में स्वतन्त्र रूप से शतपथ द्वारा प्रतिपादित कोई विशेष विषय नहीं मिलता, किन्तु ४३ वें मन्त्र के भाष्य में शतपथ के ही अन्तिम भाग बृहदारण्यक उपनिषद् के "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः" इस वाक्य में निर्दिष्ट अश्वमेधीय प्रकरण के दार्शनिक दृष्टिकोण की विस्तार से व्याख्या की गई है (पृ० १८१–१८२)। यह अवश्य ही हमारे लिये मननीय अंश है।

---

१. अश्वमेध याग के अनुष्ठान के समय कहे जाने वाले आख्यान का नाम पारिप्लव है, जो यज्ञावकाश के समय वर्ष भर बार-बार किया जाता है। इसमें अन्य शास्त्रों के साथ इतिहास-पुराण आदि का भी वाचन होता है। इसका विशेष वर्णन म० म० पी० वी० काणे महोदय ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास के पुराण विषयक खण्ड में तथा पं० श्री बलदेव उपाध्याय जी ने अपने पुराणविषयक ग्रन्थ में किया है।

२. "वत्सरः पञ्चधा चान्द्रः, सौरः, सावनः, नाक्षत्रः, बार्हस्पत्य इति। शुक्लप्रतिपदादिदर्शान्तैश्चैत्रादिसंज्ञै-र्द्वादशभिर्मासैश्चतुःपञ्चाशदधिकशतत्रयदिनैः सति मलमासे त्रयोदशभिर्मासैश्चान्द्रो वत्सरः। चन्द्रस्यैव प्रभवो विभवः शुक्ल इत्याद्याः षष्टिसंज्ञाः। मेषादिषु द्वादशराशिषु रविभुक्तेषु पञ्चषष्ट्यधिकशतत्रयदिनैः सौरो वत्सरः सम्पद्यते। षष्ट्युत्तरशतत्रयदिनैः सावनः। द्वादशभिर्नाक्षत्रमासैर्नाक्षत्रो वत्सरः। स च चतुर्विंशत्यधिकशतत्रयदिनैः स्यात्। मेषाद्यन्यतमराशौ बृहस्पतिना भुक्ते बार्हस्पत्यः। स च त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयसंख्यार्कदिनैर्भवति" (सुगम ज्योतिष, पृ० ५१)। भाष्ये चान्द्रो वत्सरः पार्वणपदेनोक्त इति विज्ञेयम्।

२६ वें अध्याय में शतपथ का कोई वचन उद्धृत नहीं है, किन्तु अन्तिम (२६।२६) मन्त्र में होतृधिष्ण्य, मैत्रावरुण धिष्ण्य, ब्राह्मणाच्छंसी धिष्ण्य, पोतृ धिष्ण्य और नेष्टृ धिष्ण्य की व्याख्या शतपथ के आधार पर ही की गई प्रतीत होती है। यहाँ इन्हीं नाम वाले खरों का स्थान निर्धारित किया गया है।

२७ वें अध्याय में केवल २५ वें मन्त्र में शतपथ को उद्धृत किया गया है। यहाँ आख्यायिका के सहारे सृष्टि का प्रतिपादन है। इस प्रसंग में बताया गया है कि पहले सब कुछ सलिलमय था। उस जल से हिरण्मय अण्ड, संवत्सर प्रजापति, मनुष्य, देव, असुर आदि की सृष्टि हुई। इस सारी सृष्टिप्रक्रिया का स्मृतियों और पुराणों में हमें विस्तार मिलता है। यहाँ देवताओं की सृष्टि द्युलोक में बताई गई है, किन्तु आर्यसमाजी "विद्वांसो वै देवाः" इस शतपथ श्रुति के आधार पर 'देव' पद का अर्थ सर्वत्र 'विद्वान्' करते हैं। यह कितनी भ्रामक बात है, इस ओर भी भाष्यकार ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

२८वें अध्याय में केवल २१वें मन्त्र में दर्भ की उत्पत्ति को बताने वाली शतपथश्रुति का स्मरण किया गया है।

२९वें अध्याय के १४वें मन्त्र में सूर्यमण्डल की स्तुति में विनियुक्त मण्डल-ब्राह्मण के वचन को उद्धृत किया गया है। ५३वें मन्त्र में शतपथ को उद्धृत कर बताया गया है कि जब इन्द्र ने वज्र का प्रहार किया, तो उसके चार भाग हो गये। इन भागों के क्रमशः यूप, स्फ्य, रथ और शर नाम रखे गये। इनमें यूप और स्फ्य को ब्राह्मणों ने ले लिया और क्षत्रियों ने रथ और शर का ग्रहण किया। ५८वें मन्त्र में दो एकादशिन पशुओं का आलभन निर्दिशित है। इस अध्याय के अन्तिम ६०वें मन्त्र में दशहविष्क अवेष्टिसंज्ञक इष्टि का प्रतिपादन करने वाली शतपथश्रुति स्मृत है।

३०वें अध्याय के केवल अन्तिम २२वें मन्त्र में ही उत्तम पुरुषों का और उनकी प्राजापत्यता का प्रतिपादन करने वाला शतपथवचन मिलता है। उसके प्रमाण से यहाँ बताया गया है कि दक्षिण में स्थित ब्रह्मा पुरुषसूक्त से होता के समान भगवान् नारायण पुरुष की स्तुति करे। यहाँ ब्रह्मा में होता के धर्मों का अतिदेश किया गया है।

मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ

प्रस्तुत खण्ड में भी प्रायः सभी मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ बताया गया है। इस प्रक्रिया में वरुण, अग्नि, प्रजापति, बृहस्पति, वायु, इन्द्र आदि देवताओं के बोधक विशेष पदों की सामान्य रूप से परमात्मपरक व्याख्या की गई है। अनेक मन्त्रों में परमात्मा (ब्रह्म) के सार्वात्म्य को, अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही है, इस बात को अनेक युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया गया है। ऐसे प्रसंगों में प्रायः विवर्तवाद को ही स्थापित किया गया है। ऐसा करते समय उपनिषदों, पुराणों और भगवद्गीता आदि वेदान्त के ग्रन्थों का प्रमाण के रूप में स्मरण किया गया है। भगवान् श्रीराम और उनके पार्षद हनूमान्, सुग्रीव, विभीषण आदि की भी यथाप्रसंग इस आध्यात्मिक अर्थ में चर्चा है। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी यहाँ चर्चित हैं। मित्रावरुण, अश्विनीकुमार आदि युगल देवताओं का जिन मन्त्रों में उल्लेख हुआ है, वहाँ प्रायः इनका अर्थ राम-लक्ष्मण, राम-कृष्ण, कृष्ण-बलदेव, अग्नि-वायु, वाक्-प्राण, जीवात्मा-परमात्मा, शिष्याचार्य, शास्त्राचार्य आदि किया गया है। अनेक मन्त्रों में यहाँ चिदात्मा, जीवात्मा, साधक और भक्त को भी सम्बोधित किया गया है। देव-देवी युगल की जिन मन्त्रों में चर्चा है, वहाँ प्रायः उनसे श्री-लक्ष्मी, सीताराम, रुक्मिणीकृष्ण का ग्रहण किया गया है। संवत्सरात्मक प्रजापति का यहाँ अनेक मन्त्रों में उल्लेख है। इसी तरह अश्वमेधीय अश्व प्रजापति का ही स्वरूप है, इस विषय को अनेक प्रसंगों में स्पष्ट किया गया है। भगवान् शिव को भी यहाँ यथाप्रसंग स्मरण किया गया है और साथ ही भक्तिदेवी, ब्रह्मविद्या, वेदान्तवाणी, कुण्डलिनी (२२।२), भगवती राजराजेश्वरी का भी अनेक मन्त्रों में उल्लेख है। भक्ति की यहाँ विशेष रूप में चर्चा की गई है। एक मन्त्र (२२।२५) में वर्णित नाना प्रकार के जलों की परमात्मा के रूप में ही व्याख्या की गई है।

२१ वें अध्याय के ६–७ मन्त्रों का अर्थ विशेष रूप से अवधेय है। यहाँ ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञानरूपी नौका के सहारे संसार-सागर को उत्तीर्ण करने की बात भगवद्गीता के प्रमाण से स्पष्ट की गई है। २२ वें मन्त्र में बताया गया है कि क्रिया, कारक और द्रव्य सब कुछ ब्रह्मात्मक ही हैं। इस प्रसंग में भी गीता को उद्धृत किया गया है। २९ वें मन्त्र में द्रव्य, देवता, कर्म और कर्ता की ब्रह्मात्मकता वर्णित है और कहा गया है कि अग्नि, इन्द्र आदि के रूप में भगवान् की ही आराधना की जाती है। ३१ वें मन्त्र में मनुस्मृति के प्रमाण से यज्ञीय तनू का उल्लेख है। ३३ वें मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ विशेष रूप से अवधेय है। यहाँ शतपथ को उद्धृत कर बताया गया है कि परमात्मा का अंशभूत जीव भी इन्द्र के ही समान माया से मोहित होकर विशीर्ण हो जाता है। अश्विनी पद से यहाँ रामलक्ष्मण अथवा बलकृष्ण का ग्रहण किया गया है। महशक्ति सीता अथवा राधा सरस्वती है। इनकी आराधना से जीव पुनः अपने ब्रह्मात्मभाव को प्राप्त करता है। ४३ वें मन्त्र में भी प्रायः यही प्रसंग दूसरे रूप में मिलता है। यहाँ बताया गया है कि वेद-पुराण वर्णित श्रवण, मनन आदि और स्मरण, सख्य, आत्मनिवेदन आदि उपायों से अश्विनीकुमारों के प्रतीक रामलक्ष्मण के प्रति स्वात्मार्पण किया जा सकता है। ५६ वें मन्त्र के अर्थ में महाकवि भारवि के प्रमाण से यह सिद्ध किया गया है कि व्यवहार में क्रोध की भी अपेक्षा है और यह भी भगवान् का ही स्वरूप है। ६० वें मन्त्र में भी ब्रह्म की सर्वात्मकता का उल्लेख है और अन्तिम मन्त्र (२१।६१) में "सर्वतः संप्लुतोदके" (२।४५) गीता के इस वचन के भावार्थ को ग्रहण करते हुए बताया गया है कि मधुर रस के समुद्र में वापी, कूप, तडाग आदि सबका जैसे समावेश हो जाता है, उसी तरह सारी उपासनाएँ परमात्मा की प्राप्ति में ही पर्यवसित हो जाती हैं।

२२ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में तैत्तिरीय उपनिषद् के आधार पर सत् और असत् की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। दूसरे मन्त्र में मूलाधार से ब्रह्मबिल पर्यन्त प्राप्त, बिसतन्तु के समान अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप वाली, विद्युत्पुंज के समान पिंगल, तेजोदण्डरूप कुण्डलिनी शक्ति की उपासना वर्णित है। तृतीय मन्त्र में बृहदारण्यक के प्रमाण से बताया गया है कि अश्वमेधीय अश्व की प्रजापति के रूप में उपासना करनी चाहिये। प्रजापति समष्टि जीव का अभिमानी देवता है। चौदहवें मन्त्र में भी बृहदारण्यक के प्रमाण से ही दिखाया गया है कि जो व्यक्ति सर्वत्र भेद का दर्शन करता है, उसे देवगण हेय स्थिति में डाल देते हैं। २० वें मन्त्र में ब्रह्मा, राजराजेश्वरी और विष्णु की स्तुति की गई है। २२ वें मन्त्र में बताया गया है कि अध्यात्मनिष्ठ योगी सबके सुख की कामना करता है। यहाँ "सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु" इस प्रसिद्ध श्लोक को और इसी अभिप्राय के भागवत के वचन को भी उद्धृत किया गया है।

२३ वें अध्याय के पाँचवें मन्त्र में तैत्तिरीय ब्राह्मण, मुण्डकोपनिषद् और गीता के प्रमाण से स्थापित किया गया है कि उस चिदादित्य के प्रकाश से ही चन्द्र, सूर्य, तारका आदि अन्य सभी ज्योतियों को प्रकाश प्राप्त होता है। १२ वें मन्त्र में सूर्य शब्द से चिदादित्य का और चन्द्र शब्द से सोमात्मिका षोडशी महाशक्ति का ग्रहण कर "द्वा सुपर्णा" श्रुति के प्रमाण से जीव की अल्पता और परभाव की व्यापकता प्रतिपादित है। अगले मन्त्र में ब्रह्म के विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुर्य स्वरूपों का उल्लेख है। १४ वें मन्त्र में कठोपनिषद् के प्रमाण से भोक्ता के स्वरूप का प्रतिपादन कर मनोनिग्रह पर जोर दिया गया है। १८ वें मन्त्र में प्रतिपादित है कि बुद्धि परमात्मा को चाहते हुए भी अपनी वृत्तियों की पारस्परिक स्पर्धा के कारण उसको प्राप्त नहीं कर सकती। १९ वें मन्त्र में गीता के प्रमाण से यह स्थापित किया गया है कि त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति ब्रह्मचैतन्य में प्रतिबिम्बित होकर अपने में चैतन्य की प्रतीति कर लेने पर भी विश्व की सृष्टि करने में समर्थ हो सकती है। २० वें मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ में शिष्य और आचार्य से प्रार्थना की गई है कि आप लोग चार पुरुषार्थों अथवा सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य नामक चतुर्विध मोक्ष की स्थिति का प्रचार करें और इस स्वर्गोपम भारतवर्ष के ज्ञानविज्ञान को सारे जगत् में फैला दें।

२१ और २२ वें मन्त्र में स्थापित किया गया है कि सत्त्व, रज और तम नामक तीनों गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति को ही आगमों में त्रिकोणा योनि (त्रिपुरा) नाम दिया गया है। इसी से सारे जगत् की उत्पत्ति होती है। २५ वें मन्त्र में बृहदारण्यक, शाटचायन, मुण्डक आदि श्रुतियों के सहारे यह उपदिष्ट है कि वाणी का व्यर्थ दुरुपयोग न करे। ३१ वें मन्त्र में प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति की महत्ता को दिखाते हुए मनुस्मृति को उद्धृत किया गया है। यहाँ और अगले मन्त्र में भी पुनः अश्वमेधीय अश्व की प्रजापतिरूपता दर्शित है। ३७ वें मन्त्र में जीव को भी अश्व बताया गया है और कहा गया है कि भगवत्स्तुति रूप सूचियों के वेध से उसका भी संस्कार किया जाता है। अगले मन्त्र में पुनः भोक्ता जीव को संबोधित कर गीता के प्रमाण से उसकी असंस्कार्यता प्रतिपादित है। ४० वें मन्त्र में भोक्ता जीव के व्यावहारिक (आध्यासिक) और पारमार्थिक स्वरूप की चर्चा है। ४८ वें मन्त्र में गीता, सूर्योपनिषद् और वाक्यपदीय के प्रमाण से दिखाया गया है कि वेदान्तवेद्य, सत्यज्ञानानन्द लक्षण ब्रह्म ही शब्दतत्त्व है और वही सारे जगत् को प्रकाशित करता है। ५० वें मन्त्र की व्याख्या दो सहपाठियों के संवाद के रूप में की गई है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति एवं विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत अवस्थाएँ उस व्यापक विष्णु के साथ ही ओतप्रोत हैं। केवल भौतिक जगत् ही नहीं, यह सारा आध्यात्मिक और आधिदैविक जगत् भी उसीमें विलीन हो जाता है।

५८ वें मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ में अश्वमेधीय प्रकरण की एक अनोखी व्याख्या देखने को मिलती है कि यज्ञरूपी विष्णु की छः विशिष्ट स्थितियाँ हैं। ये हैं तीन गुण और उनके अभिमानी तीन देवता। यह अनन्त रूपों में सर्वत्र व्याप्त है। इसको ८० आहुतियाँ दी जाती हैं। पाँच शब्द आदि विषय, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और उनके पाँच विषय मिलकर २० होते हैं। इनमें से प्रत्येक के सात्त्विक, राजस, तामस और निर्गुण के रूप में चार-चार भेद होते हैं और सब मिलाकर इनकी संख्या ८० हो जाती है। चिदग्नि को प्रज्वलित करने वाले प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम नामक तीन प्रमाण ही यहाँ तीन समिधाएँ हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सात होता हैं, अथवा चार वर्ण और तीन आश्रम मिलकर सात होता होते हैं। ये परमात्मा की उपासना करते हैं। "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इस छान्दोग्य श्रुति में आश्रमों की संख्या तीन ही मानी गई है। ६२ वें मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ की भी अपनी विशेषता है। तैत्तिरीय, बृहदारण्यक और स्वयं इस संहिता के प्रमाण से यहाँ बताया गया है कि परमात्मस्वरूपा चितिशक्ति ही वेदि है। यहाँ माया का विलास समाप्त हो जाता है। सारा जगत् यहीं से उद्भूत होता है और इसीमें विलीन हो जाता है। यही ब्रह्म है। वेदलक्षण वाणी का यही परम स्थान है। इसी से चारों वेदों का प्रादुर्भाव होता है।

२४ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में ही पुनः परमात्मा के सार्वात्म्य का निरूपण है। यहाँ बताया गया है कि इस अध्याय में वर्णित सारे पशु प्रजापति की सृष्टि हैं और प्रजापति में उसी प्रकार परमात्मा अवस्थित हैं, जैसे कि मिट्टी के सारे विकारों (घट, शराव, उदंचन आदि) में मिट्टी जुड़ी हुई है। इस अध्याय के आगे के अनेक मन्त्रों में भी इसी सिद्धान्त का विस्तार मिलता है। २५ वें मन्त्र में पशुओं के समान पक्षियों और उनके अधिपति देवताओं को भी परमात्मस्वरूप ही बताया गया है। यहाँ कहा गया है कि अधिष्ठान (ब्रह्म) की सत्ता के अतिरिक्त कल्पित सत्ता को वेद-वेदान्त शास्त्रों में अस्वीकार कर दिया गया है। इस प्रकार इस पूरे अध्याय में ब्रह्म की सर्वात्मकता का ही विस्तार से वर्णन मिलता है।

२५ वें अध्याय में अश्वमेधीय अश्व की, उसके विभिन्न अंगों की और उनसे तर्पणीय देवों की ब्रह्मात्मकता प्रतिपादित है, क्योंकि ब्रह्म ही इन रूपों में भासित होता है। देवताओं की इस आराधना से भी साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। यह सब कुछ ब्रह्मात्मक है, इस विषय की पुष्टि के लिये यहाँ दूसरे मन्त्र में और अन्यत्र भी गीता का "ब्रह्मार्पणम्" इत्यादि प्रसिद्ध श्लोक प्रमाण रूप से प्रदर्शित है। अगले मन्त्रों में भी विस्तार से यही विषय वर्णित

है। सातवें मन्त्र में छान्दोग्य का "तज्जलान्" यह वचन इसी प्रसंग में उद्धृत है। ८ वें मन्त्र में बताया गया है कि द्रव्य और देवताओं का वैदिक वाङ्मय में कितना विस्तार है, अश्वमेध याग के अध्ययन से इसको जाना जा सकता है। अनेक मन्त्रों में यहाँ देवताओं की स्तुति भी की गई है। १५ वें मन्त्र में ऋग्वेद के प्रमाण से मनुष्य और देवताओं के सख्यभाव पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार १९ वें मन्त्र में ऋग्वेद के "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" इस प्रसिद्ध मन्त्र के आधार पर ही इन्द्र, मित्र, पूषा आदि देवों में एक ही परमात्मा की स्थिति प्रतिपादित है। २१ वें मन्त्र में भागवत के प्रमाण से भगवान् के अनुग्रह की महिमा गाई गई है। २४ वें मन्त्र में, अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर वर्णित इस सिद्धान्त को पुनः पुष्ट किया गया है कि जैसे शालिग्राम की पूजा करते समय उसमें विष्णु की भावना की जाती है, उसी प्रकार अश्वमेधीय अश्व में भी प्रजापति की भावना करनी चाहिये। ३०वें मन्त्र में भी इसी विषय को दुहराया गया है। २७वें मन्त्र में अश्वमेध आदि यागों के अनुष्ठान से भी देवयान मार्ग की प्राप्ति बताई गई है। ३१वें मन्त्र में वर्णित है कि केवल अश्व की ही नहीं, उसके उपयोग में आने वाले रज्जु, तृण आदि की भी उपासना प्रजापति के साथ अभेद बुद्धि रख कर की जाती है। अगले मन्त्र में यह आशा प्रकट की गई है कि अश्व के समान ही हमारी भी सारी प्रवृत्तियाँ भगवान् की प्रीति के लिये समर्पित हो जाँय। ३४वें मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि यह सब वैदिक विधि के निदेश और मन्त्र के बल से सम्भव हो पाता है। अगले मन्त्रों में भगवद्गीता, ऐतरेय ब्राह्मण आदि के प्रमाण से बताया गया है कि भक्तिभावपूर्वक समर्पित पत्र, पुष्प आदि परमात्मा के तृप्तिकारक होते हैं और सत्संकल्प से सारे विघ्नों का अपसारण अपने आप हो जाता है। ४२वें मन्त्र में व्यष्टि और समष्टि चैतन्य की चर्चा है और अगले मन्त्र में कहा गया है कि अज्ञान और लोभ से वर्जित व्यक्ति कर्मोपासना से भी अविद्या का नाश कर अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है। ४३वें मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय यह है कि व्यक्ति इस क्षणभंगुर शरीर को भी अमृतत्व की प्राप्ति का साधन बना सकता है। इसकी पुष्टि में यहाँ भागवत महापुराण का प्रमाण दिया गया है। ४५वें मन्त्र में यह बताया गया है कि प्रजापतिस्वरूप होने से अश्वमेधीय अश्व भी यजमान की कामनाओं को पूरा कर सकता है।

२६वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में भगवद्गीता में वर्णित आठ प्रकृतियों की चर्चा सात संसद् और आठवीं भूतसाधनी के रूप में की गई है। ५वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि परमेश्वर की पूजा के उपकरण जिन वस्तुओं से बनते हैं, वेद उन सबकी स्तुति करता है। पूजा के उपकरण ही नहीं, वैश्वानर परमात्मा के गरुड आदि वाहन भी छन्दोमय (वेदस्वरूप) माने जाते हैं। २२वें मन्त्र में द्रविण पद से भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार का धन अभिप्रेत है। इनकी प्रवाहनित्यता का प्रतिपादन अगले मन्त्र में है। २४वें मन्त्र में वर्णित है कि भक्त की प्रसन्नता को देख भगवान् भी प्रसन्न होते हैं। जैसे भक्तगण भगवान् को देखकर, उनके सौदर्य रूपी अमृत का पान कर तृप्त हो जाते हैं, उसी तरह से भगवान् भी भक्तों के प्रेमरूपी अमृत का पान कर प्रसन्न होते हैं। अगले मन्त्र में इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि भक्त अन्ततः सबके एकमात्र आश्रयभूत भगवान् के प्रति अपना सर्वस्व ही नहीं, स्वयं अपने को भी समर्पित कर देता है।

२७वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में भगवान् राम की चर्चा की गई है। यहाँ बताया गया है कि वसिष्ठ आदि ऋषियों के समान देवगण भी भगवान् की माधुर्य भाव से उपासना करते हैं। आगे के मन्त्रों में भी भक्त और भगवान् की चर्चा है। ४ थे मन्त्र में क्रममुक्ति और कैवल्यमुक्ति की चर्चा है। १२वें मन्त्र में बताया गया है कि प्रेम के बिना कर्म, ज्ञान और भक्तिमार्ग रूखे रह जाते हैं, इनको प्रेमरस से ही स्निग्ध किया जा सकता है। १४वें मन्त्र में ज्ञान, ध्यान रूपी यज्ञ के अनुष्ठान से, प्रज्ञान अथवा भक्ति के बल से भगवान् की प्राप्ति की बात कही गई है। १६वें मन्त्र में भागवत को उद्धृत कर बताया गया है कि मृषावाद से वाणी की, मृषागति से मन की और असत्पथ से इन्द्रियों की निवृत्ति भगवान् के अनुग्रह से ही हो सकती है। कुत्ते और सियार आदि के भक्ष्य इस शरीर से अहन्ता-ममता की निवृत्ति, देवमाया का

अतितरण आदि सब कार्य विवेक-ज्ञान के रहते हुए भी तब तक पूरे नहीं हो सकते, जब तक कि भगवान् का अनुग्रह नहीं प्राप्त हो जाता। १९ में मन्त्र में इडा को इन्द्रियों की, सरस्वती को ज्ञान-विज्ञान की और भारती को वाणी की अधिष्ठात्री देवी बताया गया है। २०वें मन्त्र में रत्न, सुवर्ण आदि को बाह्य धन तथा ज्ञान, वैराग्य आदि को आन्तर धन कहा है। २३वें मन्त्र में मुण्डक श्रुति के प्रमाण से आत्मज्ञ की महिमा वर्णित है और महिम्नस्तोत्र के प्रमाण से बताया गया है कि यज्ञ आदि कर्मों के अनुष्ठाता को कर्मफल प्राप्त कराने की सारी जिम्मेदारी भगवान् स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं। २५वें मन्त्र में शतपथ की आख्यायिका के आधार पर सृष्टि की प्रक्रिया प्रतिपादित है। यहाँ देवसृष्टि का द्युलोक से सम्बन्ध बताया गया है, अतः पृथ्वीलोक में स्थित विद्वान् मनुष्यों को ही देवता के नाम से सम्बोधित करने वाले आर्यसमाजियों की इस विसंगति पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। यहाँ संवत्सर शब्द की व्युत्पत्ति भी देखने योग्य है। २७वें मन्त्र में बताया गया है कि अर्थशास्त्र में धर्मानुबन्ध और अर्थानुबन्ध की प्रक्रिया से प्राप्त धन को ही आदर दिया गया है, अधर्मानुबन्ध, अनर्थानुबन्ध अथवा अननुबन्ध धन को नहीं। ३१वें मन्त्र में कहा गया है कि आध्यात्मिक अर्थ करते समय मन्त्रों में आये पदों का भगवदर्थ में विनियोजन सरलता से किया जा सकता है। सहस्र पद अनन्त का बोधक है, इस विषय को तो अनेक स्थलों पर बताया गया है। ४२वें मन्त्र में परमात्मस्वरूप अग्नि को [1]षड्विध भावविकार से वर्जित बताया गया है। अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह हमें अविद्या के प्रपंच से मुक्त कर अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराते हुए हमारी रक्षा करे। ४४वें मन्त्र में भी भक्तगण इसी प्रकार की प्रार्थना करते हैं। अन्तिम मन्त्र (२७।४५) में सुपर्णाकार चिति में प्रतिष्ठित परमात्मस्वरूप अग्नि की पंचसंवत्सरात्मक काल के रूप में स्तुति की गई है।

२८वें अध्याय के तीसरे मन्त्र में भक्तों के द्वारा प्रेम से लबालब भरी भक्ति और श्रद्धा से दिये गये पत्र-पुष्प आदि को भी भगवान् ग्रहण करते हैं, इस विषय को पुनः गीता के वचन को उद्धृत कर कहा गया है। ९वें मन्त्र में बताया गया है कि यह भगवान् ही मत्स्य, कूर्म, वराह, ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि का रूप धारण कर रावण जैसे कण्टकों का शोधन करते हैं। कामधेनु, चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कौस्तुभ आदि बाह्य धन और ज्ञान, वैराग्य आदि आन्तर धन से वस्तुतः वही सम्पन्न है। उसी के प्रसाद से व्यक्ति दोनों प्रकार से धन के सम्पन्न होता है। ३१वें मन्त्र की संगति अधिष्ठान ब्रह्म के साथ विद्यमान तीन महाशक्तियों से की गई है और इन तीन शक्तियों का उल्लेख महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती के रूप में ४१वें मन्त्र में किया गया है। ज्ञान और क्रियाशक्ति भोग और अपवर्ग की दात्री है, इस विषय का उल्लेख ३८वें और ४०वें मन्त्र में मिलता है।

२९वें अध्याय के पहले मन्त्र में तैत्तिरीय और ईशावास्य उपनिषदों के प्रमाण से ब्रह्म के सर्वसाक्षी सर्वान्तर्यामी सोपाधिक स्वरूप को चर्चा है। चौथे मन्त्र में अदिति शब्द का अर्थ अखण्डनीय, निर्गुण, निर्विशेष और सविशेष चिति-शक्ति किया गया है और यहाँ ललितासहस्रनाम का प्रमाण दिया गया है। ७वें मन्त्र में दिव्य दम्पती के रूप में सीताराम, रुक्मिणीकृष्ण, सत्त्वक्षेत्रज्ञ, बुद्धि-जीवात्मा अथवा [2]पुरंजन-पुरंजनी का ग्रहण किया गया है। अश्वमेधीय प्रकरण में अश्व की प्रजापति के रूप में अथवा संवत्सरात्मक काल के रूप में उपासना की जाती है, यह विषय तो यहाँ अनेक बार उल्लिखित है, किन्तु २२वें मन्त्र में प्रजापतिरूप अश्व की कूर्म और ब्रह्माण्डपुराण एवं मनुस्मृति के प्रमाण से अग्न्यादिरूपता भी वर्णित है। २३वें मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ में बताया गया है कि अन्य सारे पशु इस अश्वमेधीय

---

१. षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः—जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति" (निरु० १।३)।

२. श्रीमद्भागवत चतुर्थ स्कन्ध के २५–२८ अध्यायों में वर्णित पुरंजनोपाख्यान देखिये।

अश्व के ही अंगभूत हैं। इसकी महिमा अपार है। २४वें मन्त्र में उपासना से समुच्चित कर्म का माहात्म्य दिखाया गया है। २९वें मन्त्र में ईशावास्य श्रुति के प्रमाण पर अध्यारोप और अपवाद न्याय से ब्रह्म के साक्षात्कार की चर्चा है। ३१वें मन्त्र में प्रतिपादित है कि विद्या और अविद्या, कर्म और उपासना का समन्वित रूप ही योनि है। यही सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति है और यही त्रिकोणा भगवती त्रिपुरसुन्दरी है। ३३वें मन्त्र में भारती, इडा और सरस्वती को इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप तीन शक्तियों का प्रतिनिधि माना गया है। ३८वें मन्त्र में प्रतिपादित है कि चण्डीकवच, नारायणकवच और ब्रह्मसाक्षात्कार लक्षण कवच को धारण कर साधक काम, क्रोध, लोभ, दंभ, मोह आदि से अविजित रहता है। ३९-४० मन्त्रों में मुण्डक और कठ श्रुति को उद्धृत कर इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की विधि प्रदर्शित है। ४१वें मन्त्र में उपनिषदों और पुराणों के प्रमाण से काशी में मृत्यु होने पर मुक्ति की बात बताई गई है। इसी प्रकार ४२वें मन्त्र में प्रश्नोपनिषद् के प्रमाण से समष्टि जीवस्वरूप हिरण्यगर्भ की अधिष्ठानभूत ब्रह्म में अध्यस्तता उल्लिखित है। अगले मन्त्र में कठोपनिषद् के "आत्मानं रथिनं विद्धि" इस वचन की व्याख्या की गई है और ४४वें मन्त्र में गीता के प्रमाण से बताया गया है कि विषयविषयक प्राण तो भगवद्विषयक वासना से क्षीण हो जाते हैं, किन्तु भगवद्विषयक प्राण स्वयं कभी नष्ट नहीं होते। वे अपने विपक्षी काम आदि शत्रुओं का ही नाश करते हैं। ४५वें मन्त्र में कहा गया है कि मनुष्य की देह का रथवाहण यह पहला नाम है और दूसरा नाम हविर्धान है। नारायणकवच, शिवकवच, चण्डीकवच और नाना प्रकार के न्यासों से इसकी रक्षा की जाती है। ४८वें मन्त्र में जीवन्मुक्ति की प्राप्ति की प्रक्रिया दिखाई गई है और अगले मन्त्र में प्रत्यक् चिति को ही राजराजेश्वरी भगवती महात्रिपुरसुन्दरी कहा गया है। अन्तिम तीन मन्त्रों (२९।५८-६०) में पुनः परमेश्वर का सार्वात्म्य वर्णित है।

३०वें अध्याय के पहले मन्त्र में अतिष्ठापद का उल्लेख है। इस अध्याय के भी अनेक मन्त्रों में ब्रह्म की सर्वात्मकता प्रतिपादित है। ८वें मन्त्र में कहा गया है कि देवताबोधक विविध पदों के विविध अर्थ अवश्य हो सकते हैं, किन्तु उन सबमें एक ब्रह्म का स्वरूप ही सर्वत्र झलकता है। यहाँ प्रसिद्धि की प्रधानता को दिखाने लिये परमात्मपरक अर्थ की विशेष व्याख्या नहीं की गई है। १०वें मन्त्र में सभी द्रव्यों और देवताओं की आनन्दरसात्मकता निर्दिष्ट है। १३वें मन्त्र में पुरुष-पशुओं की ब्रह्मात्मकना बोधित है। १६वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि आधिदैविक और आधिभौतिक सारे पदार्थ आध्यात्मिक ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। अतः राग और द्वेष से मुक्त होकर साधक को सदा सर्वत्र ब्रह्म का ही अनुसन्धान करना चाहिये। इस अध्याय के अन्तिम २२वें मन्त्र में भगवद्गीता और स्वयं इस संहिता के प्रमाण से पशु, पुरोडाश, ब्रह्मा आदि ऋत्विक्गण और यजन आदि के फल के रूप में भी सर्वत्र ब्रह्मरूपता की भावना करने का विधान है।

स्वामी दयानन्द के भाष्य की समालोचना

वेदार्थपारिजातकार ने यहाँ स्वामी दयानन्द के भाष्य का पूरी तरह से खण्डन किया है। हमने स्वामी दयानन्द के भाष्य की सामान्य त्रुटियों का उल्लेख विस्तार से ११-१५ अध्यायों के भाष्यनिष्कर्ष (पृ० २३-२५) में कर दिया है। प्रसंगवश 'देव' आदि पदों के विषय में यहाँ भी कुछ इंगित है। पहले ही मन्त्र (२१।१) में वरुण पद का अर्थ विद्वान् पुरुष किया है। तीसरे मन्त्र में किये गये 'अव' पद की निषेधार्थकता में कोई प्रमाण नहीं दिया गया। अग्नि, वरुण आदि पदों के मुख्य अर्थ को छोड़ देने में भी कोई प्रमाण नहीं है। ५वें मन्त्र में पृथ्वी की सत्य पत्नी के साथ तुलना असंगत है। पृथिवी तो षड्विध भावविकारों से सम्पृक्त है, अतः उसकी अजरता भी नहीं मानी जा सकती। ७वें मन्त्र का अर्थ किया गया है—हे मनुष्यों! मैं सौ पतवार वाली नाव पर चढ़ता हूँ। यहाँ वक्ता कौन है? यह स्पष्ट निर्दिष्ट नहीं है। जीव के वक्ता होने पर वेद की पौरुषेयता का दोष आवेगा और ईश्वर को नाव पर चढ़ कर नदी,

समुद्र आदि को पार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ८वें मन्त्र में मित्रावरुण पद का प्राण और उदान के समान वर्तमान शिल्पिद्वय अर्थ किया है। शिल्पियों की प्राण और उदान से क्या समानता हो सकती है? इसको स्वामी दयानन्द ही जान सकते हैं। नवें मन्त्र की भी यही स्थिति है। १५वें मन्त्र में त्रिवत्स पद से देह, इन्द्रिय और मन का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं दिया गया। २३वें मन्त्र में रथन्तर और स्तोम पदों की मनमानी व्याख्या इनके वैदिक वाङ्मय के अज्ञान को उजागर करती है, क्योंकि त्रिवृत्, पंचदश आदि स्तोम और रथन्तर आदि साम वैदिक परम्परा में अतिप्रसिद्ध हैं। इस वैदिक प्रसिद्धि के विपरीत अर्थ करना कथमपि उचित नहीं है। इससे समाज में केवल उच्छृङ्खलता पनपती है। आगे के कुछ मन्त्रों में इसी प्रकार के दोषों को दिखाया गया है। इनमें एकविंश, सप्तविंश आदि व्यवहारों का उल्लेख तो किया गया है, किन्तु इनका स्वरूप क्या है? इस विषय में स्वामी दयानन्द मौन हैं। २९वें मन्त्र में वर्णित जीव की धूम्रवर्णता भी पूरी तरह से निराधार है, क्योंकि जीव का तो कोई रूप होता ही नहीं।

३२वें मन्त्र में कर्कन्धु पद का क्रियापरक अर्थ करना अतीव हास्यास्पद है। ३५वें मन्त्र में श्येन (बाज पक्षी) पद का अर्थ विद्वान् मनुष्य ३६वें मन्त्र में सीस पद का धनद और ३९वें मन्त्र में वनस्पति पद का किरणपालक अर्थ किया गया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं कराया गया। अन्य मन्त्रों में भी इस तरह के मनमाने अर्थ किये गये हैं। लोक में किस पद की संगति किसके लिये किस कारण से होती है, यह लोकव्यवहार से भी ज्ञात हो जाता है। इसके लिये वेद के उपदेश की कोई अपेक्षा नहीं है (पृ० २५)। ४२वें मन्त्र की भी यही स्थिति है। ४३वें मन्त्र में 'गृभ' पद का अर्थ स्त्री किया है, किन्तु उसमें भी कोई प्रमाण नहीं दिया गया। ४६वें मन्त्र में भाष्यकार ने स्वामी दयानन्द से अनेक प्रश्न किये हैं, उनका उनके पास कोई उत्तर नहीं है। संस्कृत-हिन्दी भाष्य और भावार्थ की असंबद्धता तो अनेक मन्त्रों में दिखाई पड़ती है। सरस्वती आदि अतिप्रसिद्ध पदों के भी यहाँ मनमाने अनेक अर्थ किये गये हैं। वेद में सर्वत्र सरस्वती पद का एकवचन में तथा उसके साथ अश्विनी पद का द्विवचन में प्रयोग क्यों किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर भी उनके पास नहीं है। ५६वें मन्त्र में 'अश्वि' पद से जलविद्युत् का, वनस्पति पद से सूर्य का और सरस्वती पद से नीति का ग्रहण भी निराधार है। अगले मन्त्र में अध्वर पद की शिल्पार्थता की भी यही स्थिति है। ५८वें मन्त्र में स्विष्टकृत् पद का अर्थ भी इनकी वैदिक परम्परा से अनभिज्ञता को उजागर करता है। यहाँ अन्तिम मन्त्र (२१।६१) में बताया गया है कि इस प्रकार इनका यह पूरा व्याख्यान नाना प्रकार की विसंगतियों का पिटारा है।

२२वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में असंगति यह है कि यहाँ मनुष्य को आयुपा कहा गया है। जो अपनी आयु की रक्षा करने में असमर्थ है, वह भला दूसरे की आयु की रक्षा क्या करेगा? दूसरे मन्त्र में बुद्धि की वक्तृता का उल्लेख है। बुद्धि वक्ता कैसे हो सकती है? यदि कहें कि बुद्धि से विचार कर लेने के बाद ही मनुष्य कुछ बोलता है, तो इसमें दोष यह आवेगा कि हमारे मत में शब्द नित्य हैं, अतः उनकी बुद्धिपूर्वकता नहीं मानी जा सकती। ५वें मन्त्र में श्रेष्ठ पुरुष द्वारा अश्व के ताडन की बात कही गई है, किन्तु यहाँ यह नहीं बताया गया कि श्रेष्ठ पुरुष किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये अश्व का ताडन करता है? मन्त्र में ताडनार्थक और रोधनार्थक कोई पद है भी नहीं। स्वाहा, हिंकार आदि पदों के अर्थ और उनकी उत्तम क्रिया आदि के स्वरूप पर तो अनेक बार प्रश्नचिह्न लगाया जा चुका है। चार्वाकों के समान यज्ञ का केवल इष्ट प्रयोजन मानने वालों के यहाँ अश्व की हिंकार आदि क्रियाओं का क्या विशेष फल हो सकता है? ८वें मन्त्र में 'सब तरह की सुख प्राप्ति करते हैं' इस पूरे वाक्य के बोधक पद मन्त्र में हैं ही नहीं।

१३वें मन्त्र में विद्या की प्राप्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना की गई है। विद्या की प्राप्ति तो गुरु की सेवा से ही हो सकती है, इसके लिये केवल परमात्मा की प्रार्थना से कुछ नहीं मिल सकता। १५वें मन्त्र के दयानन्दीय अर्थ में दोष यह है कि लौह, सुवर्ण, मणि आदि के लिये हव्य पद का प्रयोग अनुचित है, क्योंकि इनकी आहुति कहीं भी नहीं

दी जाती । बुध् धातु का प्रयोग अग्नि को प्रज्वलित करने के अर्थ में कहीं नहीं मिलता । उत् उपसर्ग के साथ इस धातु का प्रयोग उद्बोधन के अर्थ में अवश्य होता है । अग्नि के प्रज्वालन से उसकी किसी प्रकार की संगति नहीं बैठती । १५-१७ मन्त्रों में भौतिक अग्नि को अमृत कहा गया है, यह भी सम्भव नहीं है । परमाणु रूप अग्नि का यहाँ ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें आहुति नहीं दी जाती । परमाणु रूप अग्नि के लिये वेद में कहीं इस पद का प्रयोग किया भी नहीं गया है । फिर भौतिक अग्नि दिव्य भोगों का सम्पादन करने में असमर्थ है । १९वें मन्त्र में आपके मत से वह्नि के सेचन का विधान है, किन्तु ऐसा करने पर तो उसका लोप ही हो जायगा । यहाँ आत्मा की व्यापकता भी नहीं दिखाई जा सकती, क्योंकि आपके मत में आत्मा अणु है । २०वें मन्त्र में स्वाहा पद का जो सत्य क्रिया अर्थ किया गया है, उसके विषय में अनेक स्थलों पर कहा जा चुका है और आगे भी कहा जायगा । आधीत, भूयः आदि शब्दों का अर्थ भी इसी तरह की असंगतियों से भरा हुआ है । २२वें मन्त्र में कर्म से वर्ण-व्यवस्था मानने पर पुनरुक्ति आदि दोषों की उद्भावना की गई है । इस अध्याय के अन्तिम ३४वें मन्त्र में संसर्प और अंहस्पति शब्द के जो अर्थ दयानन्दीय भाष्य में किये गये हैं, उनसे भारतीय ज्योतिःशास्त्र में प्रसिद्ध इन शब्दों के अर्थ की उनको कोई जानकारी नहीं है, यह बात स्पष्ट हो जाती है । वस्तुतः ये दोनों शब्द मलमास के पहले और बाद में पड़ने वाले दोनों अधिक मासों के लिये क्रमशः प्रयुक्त होते हैं । मलिम्लुच शब्द का प्रयोग भी प्रत्येक तीन वर्ष में आने वाले अधिक मास (मलमास) के लिये होता है । सामान्य भारतीय धार्मिक प्रजा भी इन शब्दों से प्रायः परिचित है ।

२३वें अध्याय के तीसरे मन्त्र में निराकार परमेश्वर के प्रति भक्तिविशेष की और उनकी कमनीयता की कल्पना पूरी तरह से निराधार है । पंचम मन्त्र के दयानन्दीय अर्थ का खण्डन विशेष रूप से द्रष्टव्य है । यहाँ अनेक पदों का अर्थ द्रविड़ प्राणायाम की पद्धति से किया गया है । उपासना के लिये हृदय-स्थल का सहारा लिया जाता है, मर्मस्थल का नहीं । यहाँ का भावार्थ मूल मन्त्र के अक्षरों से पूरी तरह से असंबद्ध है । छठे मन्त्र में भी दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक की चर्चा कर बताया गया है कि इस तरह का कोई पद मन्त्र में नहीं है । अन्य भी अनेक असंगतियाँ यहाँ दिखाई गई हैं । सातवें मन्त्र में शिल्पी का अथवा कलायन्त्र का बोधक पद है ही नहीं, तो भी अश्व और वात आदि पदों के ये अर्थ कर दिये गये हैं । ८वें मन्त्र का अर्थ 'अव्यापारेषु व्यापारम्' वाली कहावत को चरितार्थ करता है । वसु, छन्द, लाजा आदि पदों का यहाँ मनमाना अर्थ किया गया है । भूभ्रमण की भी यहाँ बिना प्रसंग के चर्चा कर दी गई है ।

१२वीं कण्डिका का अर्थ ब्रह्महोत्र और ब्रह्मोद्य की बोधक श्रुति के विपरीत है । सूर्य की आकर्षण शक्ति का भी वेद में कहीं उल्लेख नहीं मिलता । अश्व पद का अर्थ अग्नि करने पर वह मार्ग को कैसे व्याप्त करता है, इसका स्वरूप बताना पड़ेगा । प्राणात्मक वायु जड़ है, वट आदि वृक्ष भी जड़ हैं । इन जड़ पदार्थों की प्रार्थना और स्तुति करना उनके अपने सिद्धान्त के ही विपरीत है (पृ० ८४) । १४वें मन्त्र में भी प्राण, सोमपुरोगव आदि पदों का अर्थ निष्प्रमाण है । ब्रह्म पद महायोगी का बोधक कैसे हो जायगा ? अगले मन्त्र में विद्यमान यज् धातु की गत्यर्थकता तो किसी तरह से मानी भी जा सकती है, किन्तु उसकी इच्छार्थता में कोई प्रमाण नहीं है । १६वें मन्त्र में सुख शब्द के मूल में न रहने पर भी उसका निरर्थक अध्याहार किया गया है । १७वें मन्त्र में पशु शब्द के असंगत अर्थ की ओर इंगित करने के लिये घट धातु का उदाहरण दिया गया है । अगले मन्त्र में अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका, अश्व आदि शब्दों के किये गये असंगत अर्थों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है । १९वें मन्त्र में न्यायाधीश अर्थ की असंबद्धता को बताते हुए सिद्धान्त पक्ष को ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों का समर्थन देते हुए उसकी प्रासंगिकता को भी स्पष्ट किया गया है । २०वें मन्त्र में राजा और प्रजा, अध्यापक और उपदेशक की चर्चा को अप्रासंगिक बता कर वृषा और वाजी शब्दों के दयानन्दीय अर्थ की निर्मूलता दिखाई गई है ।

२१वें से ३१वें मन्त्र तक की मनमानी व्याख्या कर स्वामी दयानन्द ने महीधर आदि के व्याख्यान पर अश्लीलता का आरोप लगाया है। प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या में इनका सामान्यतः खण्डन करते हुए वेदार्थपारिजातकार ने अन्त में (पृ० १०१-१०३) इस दोष का परिहार विशेष रूप से किया है। ३२वें मन्त्र में पुनः इसी सिद्धान्त को पुष्ट किया गया है। अगले मन्त्र में स्वयंवर का कोई प्रसंग न होते हुए भी, इसके बोधक पद के अभाव में भी उसकी चर्चा की गई है और त्वक्, रजत, सीस आदि पदों का यथेच्छ अर्थ किया गया है। इसी तरह आगे भी मूल मन्त्र में अविद्यमान पदों का बिना प्रयोजन के अध्याहार कर लिया गया है। ५०वें मन्त्र में वस्तुतः परमात्मा के अस्तित्व की कोई चर्चा न होकर उसके आवेश के विषय में प्रश्न है। आपके मत से परमात्मा निराकार, निरवयव और निरंग है। अतः प्रस्तुत मन्त्र में आपके मत से अंग की कल्पना भी निराधार है। ५८वें मन्त्र में अशीति पद की अनन्तार्थ-बोधकता भी उचित नहीं है, क्योंकि शत, सहस्र आदि पदों की ही अनन्तार्थता मानी गई है। अनेक मन्त्रों में यहाँ स्पष्ट ही महीधर आदि प्राचीन भाष्यकारों से सहायता ली गई है, तथापि वे उन पर अनुचित आक्षेप करने से कभी चूकते नहीं। ६२वें मन्त्र में वेदि, नाभि, सोम आदि पदों का असंगत अर्थ किया गया है। ६३वें मन्त्र की भी निराकार-वाद की दृष्टि से कोई संगति नहीं बैठती, क्योंकि निराकार बीजधारण में समर्थ नहीं हो सकता। इसमें संकल्प की भी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि निराकार पक्ष में आत्मा और मन के संयोग का अभाव है और इसके बिना संकल्प भी नहीं हो सकता। ६४वें मन्त्र में शतपथ के अनुसार महिम नाम के ग्रह का उल्लेख है। महिम पद का महत्त्व अर्थ करना पूरी तरह से अप्रासंगिक है।

२४वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में बताया गया है कि अमरकोश के श्लोकों से जैसे कोई चिकित्सा करने लगे, उसी तरह का यहाँ अर्थ किया गया है। यहाँ अनेक प्रश्न पूँछ कर कहा गया है कि इनका उत्तर देना समाजियों के लिये अत्यन्त कठिन है। चौथे मन्त्र में प्लीहा शब्द के अर्थ की विसंगति को दिखा कर भावार्थ में निर्दिष्ट पशु-पक्षियों में उनके लिये निर्दिष्ट गुणों की अनुपलब्धि दिखाई गई है। छठे मन्त्र के भावार्थ में कहा गया है कि मनुष्यों को अग्नि की आकर्षण क्रिया, पृथिवी की धारण क्रिया और वायु की प्ररोहण क्रिया को जान कर अपने हित में इनका उपयोग करना चाहिये। कैसे करना चाहिये ? इसकी यहाँ कोई विधि नहीं बताई गई है। शब्द की ज्ञापकता और रूढि की योगापहारिता पर इन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया है। ये सारी बातें उसी को उचित लग सकती हैं, जो वैदिक प्रक्रिया से पूरी तरह से अनभिज्ञ हो। १३वें मन्त्र के व्याख्यान में सारा उपक्रम मूर्खों को ठगने जैसा है। बहुत अधिक पदों का अध्याहार करने पर भी अर्थ में स्पष्टता नहीं आ पाई है। १४वें मन्त्र में अन्वय, मन्त्रार्थ और भावार्थ परस्परविरोधी हैं। गाल पर हुए फोड़े के समान यह उनका दोष अनेक स्थलों पर देखने को मिलता है। १८वें मन्त्र में संचर पद का अर्थ मार्ग किया गया है, जिसकी यहाँ कोई प्रासंगिकता नहीं है। इससे भाष्यकार की उच्छृङ्खलता ही प्रकट होती है। १९वें मन्त्र में बताया गया है कि शब्दशास्त्र में की गई स्वेच्छाचारिता का भी यह एक अच्छा उदाहरण है। वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, शुनासीरीय जैसे वेदों में अतिप्रसिद्ध शब्दों के अर्थों से भी ये पूरी तरह से अपरिचित हैं। २०वें मन्त्र में दयानन्दीय मत के खण्डनार्थ किसी अभियुक्त (प्रामाणिक व्यक्ति) का वचन उद्धृत है। २४वें मन्त्र में यह नहीं दिखाया गया है कि विद्वान् मनुष्यों की पत्नियों और बहिनों को दिये जाने वाले पक्षियों का उनके लिये क्या उपयोग है ? २८वें मन्त्र के तथा इस अध्याय के अन्य मन्त्रों के अर्थ की भी स्थिति अस्पष्ट है कि इन पक्षियों का और पुरुषों का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

२५वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में दयानन्दीय पद-पदार्थों का विस्तार से उल्लेख कर उसका खण्डन किया गया है कि मूल में 'अवबोधयामि' पद नहीं है। शुक्ल पद की वीर्यार्थता, कृष्ण पद की कर्षणार्थता, स्वाहा पद की ब्रह्मचर्य-क्रियार्थता अथवा सुन्दरशीलयुक्तक्रियार्थता किसी कोश ग्रन्थ में नहीं मिलती और न व्याकरण आदि से ही इसको

सिद्ध किया जा सकता है। ये सब अर्थ श्रुति एवं सूत्र के विरुद्ध भी हैं। दूसरे मन्त्र में प्राण और अपान पदों का इनका अर्थ देखने लायक है। तीसरे मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि अश्वमेधीय प्रकरण का श्रुतिसूत्रसमर्थित अर्थ सायण, महीधर आदि के द्वारा ही किया गया है, वही उचित भी है। चौथे मन्त्र के व्याख्यान में शांखायन श्रुति का भी विरोध दिखाया गया है। आठवें मन्त्र में दिखाया गया है कि वैदिक द्रव्य और देवताओं से स्वामी दयानन्द पूरी तरह से अपरिचित हैं। इसीलिये क्रोड, पाजस्य, जत्रु, हृदयौपश, पुरीतत्, मतस्ना जैसे शब्दों के इन्होंने बड़े अनोखे अर्थ किये हैं। १२वें मन्त्र में प्रजापति के दो बाहुओं का उल्लेख करना इनके निराकारवाद के विपरीत है। १५वें मन्त्र के अर्थ की निर्मूलता को दिखाकर कहा गया है कि गुरुजनों को आज्ञा नहीं दी जा सकती, आयु की वृद्धि विद्वान् मनुष्य के वश की बात नहीं है और विद्यादाता के प्रति गुरु-बुद्धि रखी जाती है, सख्यभाव नहीं। २०वें मन्त्र में 'पृषत्' पद का अर्थ उनकी अपनी ही उक्ति के विपरीत है।

२२वें मन्त्र में बताया गया है कि विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न देवताओं को आप मानते नहीं और घृत आदि की आहुतियों से आप केवल वायुशुद्धि रूप दृष्ट प्रयोजन मानते हैं। तब इनसे आपके अभीष्ट की सिद्धि कैसे होगी? आप भी तो अनेक मन्त्रों में अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये प्रार्थना और स्तुति का उल्लेख करते हैं। ३४ वें मन्त्र में बताया गया है कि ह्रस्व 'शु' शब्द से दीर्घ शूल शब्द नहीं बन सकता। यहाँ इन्द्रियों की आहंकारिकता और भौतिकता का भी उल्लेख किया गया है। ३८वें मन्त्र में विशेष रूप से यह दिखाया गया है कि अध्याहार का सहारा लेकर तो आपके भाष्य से ही आपके मत का भी खण्डन किया जा सकता है। यहाँ भी अनेक मन्त्रों में पदों के असंगत अर्थ को दिखाकर कहा गया है कि ऐसा करने से श्रुतहानि और अश्रुतकल्पना का दोष आता है। ४६वें मन्त्र में बताया गया है कि सादृश्य के अभाव में दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकभाव नहीं बन सकता। सुख अपने कर्मों के अनुसार अनायास मिल जाता है और भुवन को धारण करने के लिये प्रयत्न की अपेक्षा है। इसको धारण करने में मनुष्य समर्थ भी नहीं हो सकता। फिर 'स दाधार' इस मन्त्र में परमेश्वर को ही भुवनों का धारक बताया गया है, मनुष्य को नहीं। वैद्य पद मूल में है ही नहीं। सत्कार तो लोकतः प्राप्त है। इसके लिये वैदिक विधान की अपेक्षा नहीं है।

२६वें अध्याय के पहले मन्त्र में स्वामी दयानन्द ने सात संसदों और आठवीं भूतसाधनी का उल्लेख तो किया है, किन्तु इनका स्वरूप उन्होंने नहीं बताया। दूसरे मन्त्र में दयानन्दीय मत का खण्डन करते हुए बताया गया है कि पूर्णकाम परमेश्वर की कोई कामना नहीं हो सकती और न वेदवाणी का किसी को उपदेश करते हुए वे देखे गये हैं। तीसरे मन्त्र में यश का बोधक पद नहीं है। द्युमत् और क्रतुमत् शब्दों से मन और बुद्धि का ग्रहण नहीं किया जा सकता और पति शब्द का पालक अर्थ है, पालन में उसकी वृत्ति नहीं मानी जा सकती। पाँचवें मन्त्र में बताया गया है कि मनुष्य कभी भी सूर्य के समान नहीं हो सकता और न वह गर्जनयुक्त किरणों के साथ कहीं जाता ही है। आपके मत में अग्नि जड़ है, अतः तदनुसार छठे मन्त्र में जड़ अग्नि से प्रार्थना नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रार्थना तो चेतन से ही की जा सकती है। जड़पूजा को तो आप निन्दनीय मानते हैं। सातवें मन्त्र में 'साघ्नोति' क्रिया पद नहीं है और आठवें मन्त्र में वैश्वानर और उक्थ पदों के आपके दिये अर्थ असंगत हैं। नवें मन्त्र में पाञ्चजन्य पद से किसी एक मनुष्य का ग्रहण अनुचित है। १०वें मन्त्र में दर्शित लौकिक नृपति की वज्रहस्तता सम्भव नहीं है और न यह नियमित रूप से सोलह कलाओं से सम्पन्न ही हो सकता है। अगले मन्त्र में दिखाया गया है कि लौकिक राजा प्रजा के दुःख को पूरी तरह से दूर नहीं कर सकता। उसके द्वारा रक्षित प्रजा को भी व्याधि, जरा, मरण आदि का दुःख सताता ही रहता है। १२वें मन्त्र में दिखाया गया है कि राजा के द्वारा किये जाने वाले सत्कार की मन्त्र में कोई चर्चा नहीं है। १७वें मन्त्र में दिखाया गया है कि इन्द्र पद से ऐश्वर्यवान् अर्थ का बोध तो किसी तरह से हो सकता है, किन्तु उसका अर्थ 'ऐश्वर्य' किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। 'यज्यु' पद का अर्थ भी सही नहीं है। १८वें मन्त्र में

शस्ति और सुखानि ये दोनों पद नहीं हैं। अगले मन्त्र में धर्म्य और अधर्म्य व्यवहार में देवता की जैसे कोई अपेक्षा नहीं है, उसी तरह से ज्ञान में विद्वान् की अपेक्षा होते हुए भी व्यवहार में इसका कोई प्रयोजन नहीं है। 'त्वष्टृ' पद का अर्थ २०वें मन्त्र में देदीप्यमान पति किया गया है, किन्तु यहाँ बहुवचन में यह पद प्रयुक्त है, क्या यहाँ आप अनेक पतियों की कल्पना करेंगे। अगले दो मन्त्रों में नेष्टृ शब्द की भी ऐसी ही स्थिति है। २३वें मन्त्र में इन्द्र, सोम, शश्वत्तम आदि शब्दों का अर्थ भी निराधार है। इस अध्याय के अन्तिम २६वें मन्त्र में बताया गया है कि स्वामी दयानन्द द्रोणकलश आदि वैदिक शब्दों से पूरी तरह से अपरिचित हैं। सोम के प्रसंग को छोड़ कर विद्वान् मनुष्य की चर्चा करना भी पूरी तरह से असंगत है।

२७वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में बताया गया है कि ऋतुएँ तो जड़ हैं, वे प्रार्थना को सुनने में असमर्थ हैं। फिर आपके मत में जड़ की प्रार्थना भी अनुचित है। तृतीय मन्त्र में दिखाया गया है कि विद्वान् मनुष्य किसी की प्रार्थना को पूरा करने में असमर्थ है। 'अभिमाति' पद यहाँ शत्रु के लिये प्रयुक्त है। इससे अभिमान का बोध नहीं हो सकता। चौथे मन्त्र में क्षत्र पद और चिनोति धातु का अर्थ अशुद्ध दिया गया है। ५वें मन्त्र में भी क्षत्र और अग्नि पदों की यही स्थिति है। छठे मन्त्र से असत्य पद है ही नहीं। ७वें मन्त्र में दिखाया गया है कि धर्म एवं ब्रह्म के प्रतिपादक वेद में राजनीति-परायण मनुष्य के वर्णन की कोई अपेक्षा नहीं है। शिव पद का अर्थ सभ्य करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। नवें मन्त्र में भी इसी तरह की अनेक असंगतियाँ दिखाई गई हैं। ११ वें मन्त्र में सूनु शब्द का अर्थ उणादि-कोश में दिये गये उनके अपने अर्थ के भी विपरीत है। १३ वें मन्त्र में विश्ववार शब्द का प्रयोग उसकी सामर्थ्य के विपरीत है। अगले मन्त्र में यन्त्रचालक की स्तुति की गई है। इसी तरह की अपनी मनमानी कल्पनाएँ उन्होंने वेदों पर थोप दी हैं। १५ वें मन्त्र में 'ईम्' पद का तथा अगले मन्त्र में 'अनुददन्ते' क्रिया का अर्थ असंगत है। १८ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि शिष्ट जन अपने व्यवहार की स्वयं प्रशंसा नहीं करते। पुरुषार्थ के लिये इसका कोई उपयोग भी नहीं है। १९ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि वाणी प्रशस्त ज्ञान की जनक तो है, किन्तु जड़ होने से वह स्वयं ज्ञानस्वरूप नहीं है। सर्वशास्त्रस्वरूप होते हुए भी वह शास्त्रों की धारक नहीं हो सकती। २१ वें मन्त्र में वनस्पति के प्रसिद्ध अर्थ को अकारण छोड़ दिया गया है। २३ वें मन्त्र में वायु पद का वायुविद्या अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। अधिकारसूचक पद भी मन्त्र में नहीं है। २४ वें मन्त्र में धिषणा पद को स्त्री का और देव पद को पति का पर्याय बताया गया है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है। पत्नी यदि धन के लिये पति को चाहेगी, तो वह पण्यवधू कहलावेगी, पत्नी नहीं। २५ वें मन्त्र में गर्भ पद की प्रधानार्थता भी निर्मूल है। असु शब्द प्राण का वाचक है, परमात्मा का नहीं।

२६ वें मन्त्र में परमेश्वर में ज्ञान की उत्पत्ति की चर्चा वहाँ आत्मा और मन के संयोग के अभाव में निरर्थक है। इस जन्य ज्ञान की नित्यता भी नहीं मानी जा सकती। हमारे यहाँ तो परमात्मा ज्ञानस्वरूप ही है। २८ वें मन्त्र में 'यु' धातु के अर्थ की विसंगति दिखाई गई है। २९ वें मन्त्र में बताया गया है कि उत्क्रमण, संक्रमण आदि क्रियाएँ परिच्छिन्न वस्तु में ही संभव हैं, अतः परमात्मा में इनकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। ३० वें मन्त्र में मध्व पद का अर्थ गलत किया गया है। ३२ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि वायु यज्ञ के उद्देश्य से आता है। आपके मत में तो वायु जड़ है, तब उसमें किसी उद्देश्य से प्रेरित होने की कल्पना कैसे की जा सकती है। ३३ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि यह सारा अर्थ इनकी कपोलकल्पना है। अगले मन्त्र में की गई विद्वान् मनुष्य से रक्षा की प्रार्थना बालू से तेल निकालने के समान निरर्थक है। ३५ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि राजा कभी ईश्वर के समान सामर्थ्यशाली नहीं हो सकता और वेद में राजा या सभापति के वर्णन को खोजना निरी मूर्खता है। अगले मन्त्र में राजा के स्थान पर स्वामी दयानन्द ने ईश्वर की स्तुति की है, किन्तु इन दोनों मन्त्रों में से एक में राजा की और दूसरे में ईश्वर की स्तुति है, इसमें प्रमाण क्या है? इसका वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता। फिर ऐसा करके अनजान में ही स्वामी दयानन्द मनुष्य से भिन्न

देवता की सत्ता स्वीकार कर लेते हैं, जो कि उनके अपने मत के विपरीत है। आगे के मन्त्रों में भी अनेक पदों के मनमाने अर्थ किये गये हैं, जो कि पूरी तरह से निराधार हैं। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र में विद्वान् को संवत्सर बता दिया गया है। ऐसा अर्थ करने पर तो मनुष्य को गन्तृत्व, भोक्तृत्व आदि समान क्रियाओं के आधार पर अश्व भी कहा जा सकता है। यहाँ यह भी दिखाया गया है कि "उषसः प्रभाता मङ्गलप्रदाः" इत्यादि पदों के मन्त्र में न रहने पर भी उनका बिना प्रयोजन के अध्याहार कर लिया गया है।

२८ वें अध्याय के पहले मन्त्र में बताया गया है कि योद्धा घृत का पान करे। यह बात तो लोक से ही ज्ञात हो जाती है। इसको वेद में खोजने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह से तृतीय मन्त्र में वर्णित राजा और राजपुरुषों के व्यवहार को वेद से निकालना गलत है, क्योंकि वेद तो केवल धर्म और ब्रह्म का उपदेश करता है। आगे के कुछ मन्त्रों में किये गये आज्य, होता, द्वार, सूर्य आदि पदों का अनोखा अर्थ किया गया है और बिना प्रयोजन के अनेक पदों का अध्याहार किया गया है, जो कि शब्दशास्त्र में अराजकता को ही फैलाने वाला है। आठवें मन्त्र में भी इसी तरह की असंगतियाँ दिखाई गई हैं। नवें मन्त्र में बताया गया है कि वैद्य आदि की चर्चा वेद में नहीं हो सकती। ११ वें मन्त्र में इस बात को पुनः कहा गया है कि पदों का अन्वय संनिकृष्ट (समीप) पदों के साथ ही किया जाता है, विप्रकृष्ट (दूर के) पदों के साथ नहीं। १२ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि निष्ठान्त स्तीर्ण पद का अर्थ आच्छादित होता है, आच्छादनीय नहीं। यहाँ नैरोग्य पद मन्त्र में नहीं है, उसका निष्प्रयोजन अध्याहार किया गया है। इसी तरह से अगले मन्त्र में 'वर्जयित्वा' क्रियापद नहीं है। १४ वें मन्त्र में बताया गया है कि निष्ठान्त सुप्रीत शब्द का अर्थ सुप्रीति का हेतु नहीं हो सकता। १५ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि स्वाप मात्र से यदि सब कोई मुक्त हो जाँय, तो फिर प्रायश्चित्त की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायगी।

१६ वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि नई वस्तु तो समय के बीतने के साथ पुरानी हो सकती है, किन्तु पुरानी वस्तु के नवीन हो जाने में कोई प्रमाण या दृष्टान्त नहीं मिलता। १७ वें मन्त्र में 'अघ' शब्द का अर्थ चोर किया गया है, यह अनुचित है। 'रोगान्' पद भी मन्त्र में नहीं है। १९ वें मन्त्र में 'त्रि' पद का अर्थ त्रिविध सुख का ज्ञाता तथा शत का अर्थ सौ संख्या के कर्म करना पूरी मनमानी है। शितिपृष्ठ, होत्र, स्तोत्र, अध्वर्यु आदि पदों का जो अर्थ किया गया है, उससे श्रौत पदों के अर्थ के प्रति इनकी अनभिज्ञता प्रकट होती है। २२ वें मन्त्र में आये स्विष्टकृत् पद की भी यही स्थिति है। २४ वें मन्त्र में "भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्दों में विभक्ति की समानता होने पर भी सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता" इस शास्त्रीय नियम का उल्लेख कर दयानन्दीय अर्थ का खण्डन किया गया है। इसी तरह से आज्य (घृत) पद का विज्ञानरस अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। २५ वें मन्त्र में गायत्री आदि छन्दों का और 'छन्दस्' पद का भी विचित्र अर्थ किया गया है। वस्तुतः देखा जाय तो अक्षरसंख्या के भेद के आधार पर विभिन्न छन्दों के नाम रखे गये हैं। २८ वें मन्त्र में आज्य पद की जो व्युत्पत्ति दी गई है, उसके अनुसार तो हम घर को भी आज्य कह सकते हैं। ३१ वें मन्त्र में तीन हिरण्यमयी स्त्रियों की चर्चा भी इनका एक अजूबा ही है। ३२ वें मन्त्र के भावार्थ में इनका दुःसाहस पूरी तरह से उजागर हो जाता है। ३७ वें मन्त्र में दो स्त्रियों की चर्चा की गई है, जब कि मन्त्र में स्त्री पद है ही नहीं। इसी तरह से ३९ वें मन्त्र में ऊर्जा पद की संस्कारार्थता में कोई प्रमाण नहीं है। अगले मन्त्र में बताया गया है कि वक्ता की इच्छा के अनुसार मनमाने अर्थ में शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। ४३ वें मन्त्र में वट आदि पदों का अर्थ भी विद्वान् किया गया है। यहाँ देखना यह है कि वट आदि तो जड़ हैं, इनमें दिव्य गुण कहा से आवेंगे ? स्विष्टकृत् एकयाग है और कर्ममीमांसा में इसका स्वरूप प्रदर्शित है, इस विषय की चर्चा ४५ वें मन्त्र में की गई है।

२९ वें अध्याय के पहले ही मन्त्र के अनोखे अर्थ की चर्चा कर यहाँ दिखाया गया है कि घोड़ा मनुष्य को ढोता है, यह तो ठीक है। किन्तु कोई अतिबलशाली मनुष्य भी कभी किसी घोड़े को नहीं ढोता। चौथे मन्त्र में बर्हि पद का

यान, देव पद का दिव्य पदार्थ और अदिति पद का विद्युत् अर्थ करना भी पूरी तरह से निराधार है। छठे मन्त्र में अश्वि पद का अर्थ 'दिव्य शिल्पविद्या के प्रचारक' किया गया है, किन्तु सर्वत्र इनको दो ही क्यों बताया जाता है, इसका कोई उत्तर आपने कहीं भी नहीं दिया है। शिल्पविद्या के प्रचारक तो अनेक व्यक्ति भी हो सकते हैं। अगले मन्त्र में भी द्विवचन की यही समस्या है। ८ वें मन्त्र में पुनः स्मरण कराया गया है कि शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ कर गौण अर्थ करना उचित नहीं है। नवें मन्त्र में त्वष्टा पद के अनेक व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ दिये गये हैं, किन्तु यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि रूढि यौगिक व्युत्पत्ति से बलवान् होती है। १० वें मन्त्र में देवलोक पद की व्युत्पत्ति की असंगति दिखाई गई है। ११ वें मन्त्र में सद्योजात, तप, स्वाहा आदि पदों के अर्थ की विसंगति पर ध्यान आकृष्ट किया गया है। १३ वें मन्त्र में भी प्रथम, रचना, अश्व आदि पदों की यही स्थिति है। यहाँ पुनः जड़ वैयाकरण का दृष्टान्त दिया गया है। १५ वें मन्त्र में प्राण, जल और समुद्र के तीन बन्धनों की तो चर्चा है, किन्तु इनका स्वरूप नहीं बताया गया। १६ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि वेद कोई सेना, अश्व आदि की रक्षा का उपदेशक शास्त्र नहीं है। २० वें मन्त्र में मनुष्य के चरणों को मन के समान वेगयुक्त सिद्ध करने के लिये कहा गया है कि यहाँ विमान ही इनके पाद है, किन्तु मन्त्र के पदों में तो इस बात का उल्लेख नहीं मिलता। २२ वें मन्त्र में व्यर्थ ही पुनः सेना का प्रसंग ला खड़ा किया गया है। २६ वें मन्त्र में तनूनपात् शब्द से विद्वान् का तथा मन्म पद से यान का ग्रहण भी निराधार है। २८ वें मन्त्र में प्रतिपादित है कि स्पर्धा कोई अच्छी बात नहीं मानी गई है और किसी मनुष्य के प्रति पूज्यभाव उत्पन्न होता है, तो उससे उसे किसी पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होती। अगले मन्त्र में बताया गया है कि सबको यदि अनायास मुक्ति मिल जाय, तो फिर इसके लिये प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।

३२ वें मन्त्र में 'प्राचीनं ज्योतिः' का शिल्पविद्या का प्रकाश अर्थ किया है। ज्योतिः पद ज्ञानार्थक हो सकता है, किन्तु उसका अर्थ शिल्पज्ञान कैसे हो जायगा ? फिर यह ज्ञान तो अनित्य होता है, तब उसमें प्राचीनता कहाँ से आवेगी ? ४३ वें मन्त्र में अभीशु शब्द का अर्थ रश्मि और वाजि पद अर्थ का अश्व होता है, किन्तु यहाँ बिना प्रमाण के सद्योगन्ता एवं अग्नि अर्थ किया गया है। ४६ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि यहाँ स्थित विशेषणों की राजपुरुष के साथ कोई संगति नहीं बैठती। अगले मन्त्र में द्यावापृथिवी से कल्याण की आशा की गई है। जड़ पदार्थ से ऐसी आशा रखना व्यर्थ है। ४८ वें मन्त्र में 'धावन्ति' क्रियापद और 'इव' शब्द नहीं हैं। इनका व्यर्थ अध्याहार किया गया है। इसी तरह से दन्त शब्द को दान्त बना दिया गया है। ५२ वें मन्त्र का अर्थ निरुक्तकार यास्क की व्याख्या के भी विपरीत है। अगले मन्त्र में बताया गया है कि पराक्रम का अन्यत्र संचारण मानव शक्ति के बाहर की बात है और अलौकिक शक्तिसम्पन्न देवताओं की सत्ता आप मानते नहीं। ५४ वें मन्त्र में वज्र शब्द का निपात और मरुत् का मनुष्य अर्थ करना पूरी तरह से भ्रमपूर्ण है। यहाँ नाभि का अर्थ दिया गया है—आत्मा के मध्य में स्थित विचार। यहाँ अर्थ की असंगति तो है ही, आत्मा के अणु होने से उसके किसी भाग की स्थिति भी संभव नहीं है। इसी तरह से ५६ वें मन्त्र में आक्रन्दयति और प्रोथति धातुओं के अर्थ सही नहीं हैं। अगले मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि घोड़ों का पालन अश्वशाला में होता है। सेना में तो युद्ध के लिये उनका उपयोग होता है, वहाँ उनका पालन नहीं किया जाता। इसी तरह से ५९ वें मन्त्र में सेनापति के लिये लाल बैल की कोई उपयोगिता नहीं है। कृषि कार्य के लिये उपयोग मानने पर उसका लाल होना कोई जरूरी नहीं है। इस अध्याय के अन्तिम ६० वें मन्त्र में पुनः दिखाया गया है कि त्रिवृत् आदि स्तोमों और रथन्तर आदि सामों का वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है, उनसे स्वामी दयानन्द पूरी तरह से अनभिज्ञ हैं।

३०वें अध्याय के ५वें मन्त्र में अनेक दोष दिखाये गये हैं। ब्रह्म पद का वेद अथवा ईश्वर अर्थ कर सकते हैं, किन्तु इससे 'वेद का प्रचार करना' यह अर्थ किसी भी तरह से नहीं निकल सकता। क्षत्र, मरुत्, वैश्य, तपस्, शूद्र इत्यादि पदों के अर्थ भी मनमाने दिये गये हैं। नरक का अर्थ कारागार किया गया है। यह किसी चार्वाक की ही कल्पना हो सकती है। अगले कुछ मन्त्रों में आये सूत, शैलूष आदि पदों के अर्थ भी देखने लायक हैं। ऐसा अर्थ कर-

केवल मूर्खों को ही बहलाया जा सकता है। पुरुषव्याघ्र पद पर यहाँ विशेष रूप से विचार किया गया है (पृ० ३०७)। यातुधान पद का जो यहाँ अर्थ दिया गया है, तदनुसार तो यातुधन शब्द बनेगा, यातुधान नहीं। फिर इसका कण्टकीकारी से क्या सम्बन्ध है, यह नहीं बताया गया। इसी प्रकार इस पूरे अध्याय के विभिन्न चतुर्थ्यन्त और द्वितीयान्त पदों का बिना प्रमाण का यथेच्छ अर्थ किया गया है। साथ ही निर्मूल अध्याहार आदि दोषों की भी यहाँ भरमार है। १५वें मन्त्र में संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर नामक पाँच प्रकार के वत्सरों का उल्लेख है। इनका सही विवरण वराहमिहिर की बृहत्संहिता और उसकी भट्टोत्पल की टीका में मिलता है। परम्परा से पराङ्मुख स्वामी दयानन्द इनसे पूरी तरह से अपरिचित हैं। १६वें मन्त्र में अनेक पदों और क्रियाओं का मनमाना अर्थ कितना अव्यावहारिक है, इस बात को स्पष्ट किया गया है। १७वें मन्त्र में चरकसंहिता का प्रमाण देकर दयानन्दीय अर्थ की विसंगति दिखाई गई है। १९वें मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि प्रतिज्ञा समीचीन और असमीचीन दोनों ही तरह की होती है। सभी प्रतिज्ञा करने वाले सही बात कहते हों, यह जरूरी नहीं है, जैसे कि आजकल के शासकों की मण्डलायोग की अनुशंसा। २०वें मन्त्र में दिखाया गया है कि बलपूर्वक अध्याहार आदि करके तो कहीं भी कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है। २१वें मन्त्र में स्वामी दयानन्द चण्डाल के शरीर को स्पर्श कर आये दुर्गन्धियुक्त पवन के सेवन का निषेध करते हैं। यह उनके 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' के सिद्धान्त के विपरीत है। इस अध्याय के अन्तिम २२ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि मागध आदि प्राजापत्य हैं और ब्राह्मण आदि नहीं, किन्तु इस विषय को यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया। वेदों को पूरी तरह से चार्वाक जैसे नास्तिकों का ग्रन्थ बना देने के लिये स्वामी दयानन्द ने अनेक क्लिष्ट कल्पनाओं के सहारे जी-तोड़ परिश्रम किया है।

भाष्य के विशेष अवधेय स्थल

अन्त में हम सुबुद्ध पाठकों का ध्यान इस खण्ड के भाष्य के कुछ विशेष अवधेय स्थलों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। यहाँ (पृ० १०) 'यह्व' शब्द पर अच्छा विचार किया गया है। निघण्टु में यह्वा और यह्व दोनों ही शब्द मिलते हैं। निरुक्तकार यास्क यह्व शब्द की व्युत्पत्ति देते हैं, जब कि दशपादी उणादिवृत्ति में स्त्रीलिंग यह्वा शब्द निपातित है। भट्टोजी दीक्षित पुंल्लिग यह्व शब्द को ही स्वीकारते हैं। निघण्टु और निरुक्त के आधार पर यहाँ शिताम, पिष्ट आदि पदों की निरुक्ति देकर उनके अर्थों को स्पष्ट किया गया है। पृ० ३४ पर दिखाया गया है कि मन एक इन्द्रिय है, इस विषय की पुष्टि प्रस्तुत मन्त्र (२१।५३) से भी हो जाती है। पृ० ४६ पर चतुरक्ष शब्द के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। आगम और तन्त्रशास्त्र में यमराज के दो कुत्तों का वर्णन मिलता है। हमारी विज्ञान-भैरव की हिन्दी व्याख्या (पृ० १७०-१७२) में इसका विवरण देखा जा सकता है। हम यहाँ चतुरक्ष शब्द से इनका भी ग्रहण कर सकते हैं। स्वामी दयानन्द ने और कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी 'गणानां त्वा' से लेकर 'यद्धरिणो यवमत्ति' पर्यन्त मन्त्रों की उव्वट, सायण और महीधर द्वारा की गई व्याख्या में अश्लीलता को आरोपित किया है। इस पूरे प्रसंग पर पारिजातकार ने यहाँ (पृ० १०१-१०३) अच्छा विचार किया है। सीस और लोह शब्द से यहाँ (पृ० १०६-१०७) ताम्र धातु का ग्रहण किया गया है। पृ० १०८ पर बताया गया है कि अश्व के शरीर में वपा नहीं मिलती। आरण्य पशुओं के सम्बन्ध में यहाँ (पृ० १३५) मानव श्रौतसूत्र और महीधर को उद्धृत किया गया है। अश्वमेधीय पशुओं की संख्या के विषय में यहाँ (पृ० १४५) किसी ग्रन्थ के एक श्लोक को उद्धृत किया गया है। स्वयंभू शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में भी हमें ऐसा ही श्लोक मिलता है (पृ० १५९)। पृ० १६४ पर 'विदथ' शब्द की व्युत्पत्ति भी अवधानार्ह है। ऐसे प्रसंगों में भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनका गंभीर मनन अपेक्षित है। "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः" इस बृहदारण्यक वचन की दार्शनिक विशद व्याख्या (पृ० १८१-१८२) विशेष रूप से दर्शनीय है।

आगे के प्रकरणों में पाञ्चजन्य पद की व्याख्या पाणिनिसूत्रवार्त्तिक और मैत्रायणीसंहिता के सहारे मीमांसकों की पद्धति से की गई है (पृ० १९२-१९३)। छान्दोग्य के आधार पर पञ्चाहुति शब्द की व्याख्या पृ० १९७ पर मिलती है। पृ० २०८-२०९ पर बृहस्पति पद की नैघण्टुक प्रकरण के आधार पर विवेचना की गई है। तनूनपात् शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए यहाँ (पृ० २१०) मनुस्मृति का वचन प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पृ० २४९ पर त्र्यवि शब्द का अर्थ डेढ वर्ष को गाय किया गया है। इसको स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया है कि अवि (भेड़) छः महीने में बच्चा जनती है, अतः लक्षणा वृत्ति के द्वारा इस शब्द से छः मास का काल लक्षित होता है। छः को तिगुना करने से डेढ वर्ष होगा। आज्य (घृत) की वेद में बड़ी महिमा गाई गई है। इसे आयु और अमृत नाम से भी संबोधित किया जाता है। यहाँ भी (पृ० २६३) बताया गया है कि सभी देवताओं के मन में यह इच्छा रहती है कि सारा यज्ञीय घृत मुझे ही मिल जाय। पाँच संवत्सरों (पृ० ३१३) के विषय में तथा बीभत्स शब्द की व्युत्पत्ति पर भी यहाँ (पृ० ३१५) अच्छा विचार किया गया है। -चरकाचार्यों के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा व्यक्त किये गये विचारों की निष्प्रमाणता को भी यहाँ (पृ० ३१६) स्थापित किया गया है। एक स्थान पर (पृ० ३१७) मण्डल आयोग की भी चर्चा है। आज यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो गई है कि यह निर्णय कितना असमीचीन था।

वाराणसी
महाशिवरात्रि, संवत् २०४८

विद्वद्वशंवद
व्रजवल्लभ द्विवेदी

विषय-सूची

प्रतिपाद्य विषय — पृष्ठसंख्या

प्रकाशकीय वक्तव्य — १-३

दशाध्यायी(२१-३०)-भाष्यनिष्कर्ष — ५-२८

एकविंश अध्याय : सौत्रामणी याग

कण्डिकासंख्या

१-२.	अवभृथेष्टि विषयक वारुण एककपाल पुरोडाश सम्बन्धी याज्यानुवाक्या मन्त्र	१
३-४.	अवभृथेष्टि विषयक आग्निवारुण याग के याज्या और पुरोनुवाक्या मन्त्र	२-३
५-६.	आदित्य चरु के निर्वाप के याज्यानुवाक्या मन्त्र	३-५
७.	स्वर्गप्रापक यज्ञरूप शतारित्र नौका की स्तुति	५
८-९.	मैत्रावरुणी पयस्या के याज्यानुवाक्या मन्त्र	५-६
१०-११.	पयस्या सम्बन्धी वाजिन याग के याज्यानुवाक्या मन्त्र	७
१२-२२.	वायोधस पशुसम्बन्धी याज्यानुवाक्या मन्त्र, आप्रीसंज्ञक ऋचाएँ	७-१२
२३-२८.	वायोधस पशुसम्बन्धी वपा, पुरोडाश आदि के याज्या-पुरोनुवाक्या मन्त्र	१२-१४
२९-४०.	'होता असत्' इत्यादि १२ कण्डिकाओं में त्रिपशुसम्बन्धी प्रयाज-प्रैष मन्त्र	१५-२४
४१.	एक ही कण्डिका में तीन वपाओं के प्रैष मन्त्र	२४-२५
४२.	ग्रहसम्बन्धी चतुर्थ प्रैष मन्त्र	२५-२६
४३-४५.	तीन कण्डिकाओं में आश्विन आदि हविर्यागों के प्रैष मन्त्र	२६-२९
४६-४७.	दो कण्डिकाओं में वनस्पति याग और स्विष्टकृद् याग के प्रैष मन्त्र	२९-३१
४८-५८.	त्रिपशुसम्बन्धी अनुयाजों से सम्बद्ध प्रैष और याज्या मन्त्र	३१-३८
५९-६१	तीन कण्डिकाओं वाले सूक्त में सूक्तवाक के प्रैष मन्त्र	३८-४१

द्वाविंश अध्याय : अश्वमेध याग

१.	अध्वर्यु द्वारा अश्वमेधीय यजमान के कण्ठ में निष्क का बन्धन	४२-४३
२-४.	अश्वमेधीय अश्व के कण्ठ में रशना का बन्धन	४३-४५
५.	कण्डिका के तीन मन्त्रों से तालाब आदि के स्थिर जल से अश्व का प्रोक्षण	४६-४७
६.	अश्व को अग्नि के समीप लाकर स्तोकीयसंज्ञक दस घृताहुतियों का प्रदान	४७-४८
७-८.	दक्षिणाग्नि में प्रक्रमसंज्ञक ४९ आहुतियों के प्रदान के प्रसंग में अश्व की ४९ चेष्टाओं का वर्णन	४९-५०
९-१४.	सावित्री इष्टि के छः याज्यानुवाक्या मन्त्र	५०-५३
१५-१७.	स्विष्टकृत् आहुतियों के तीन पुरोनुवाक्या मन्त्र	५३-५४
१८.	पवमान स्तवन	५४-५५
१९.	तृतीय सावित्र्येष्टि की समाप्ति पर अध्वर्यु और यजमान द्वारा अश्व के दक्षिण कर्ण में मन्त्र का पाठ	५५-५९
२०.	चार आध्वरिक औद्ग्रभण, तीन आश्वमेधिक औद्ग्रभण आहुतियों का प्रदान, कृष्णाजिन दीक्षा	५९-६२
२१.	अग्निसम्बन्धी छः और आश्वमेधिक तीन आहुतियों को देने के बाद दशम औद्ग्रभण आहुति का प्रदान	६२
२२.	कृष्णाजिन दीक्षा से उखा में तेरह समिधाओं के आधान पर्यन्त कृत्य के सम्पादन के बाद अध्वर्यु द्वारा प्रस्तुत मन्त्र का पाठ	६२-६४

कण्डिकासंख्या		पृष्ठसंख्या
२३-३४.	घृत, सक्तु, धाना और लाजा की रात्रि के प्रत्येक प्रहर में बारह कण्डिकाओं द्वारा आहुतियाँ	६४-७१
	त्रयोविंश अध्याय : अश्वमेध याग	
१.	उक्थ्य संस्था के दिन दो महिम ग्रहों का ग्रहण	७२
२.	दशापवित्र से प्रथम ग्रह का परिमार्जन और आसादन	७२-७३
३.	राजत उलूखल से द्वितीय ग्रह का ग्रहण	७३-७४
४.	वपायाग के अन्त में द्वितीय महिम ग्रह में गृहीत सोम की आहुति	७४
५.	रथ में अश्व का योजन	७४-७५
६.	अन्य तीन अश्वों का भी रथ में योजन	७५-७६
७.	इन चार अश्वों से युक्त रथ पर आरूढ अध्वर्यु और यजमान का तालाब आदि जलाशय के लिये प्रस्थान, अश्वों का जलप्रवेश	७६-७७
८.	जलाशय से यजन-स्थान पर वापस आने पर अश्वमेधीय अश्व को रथ से वियुक्त कर महिषी, वावाता और परिवृक्ता नामक राजपत्नियों के द्वारा घृताभ्यंजन और सक्तुप्रदान	७७-७९
९-१०.	ब्रह्मा और होता का परस्पर प्रश्नोत्तर	७९
११-१२.	होता और ब्रह्मा का परस्पर प्रश्नोत्तर	७९-८१
१३-१६.	चार कण्डिकाओं से अश्वमेधीय अश्व का प्रोक्षण	८१-८६
१७.	अश्व के मुख में प्रोक्षणी का निधान	८६-८७
१८.	तीन आहुतियों का प्रदान, राजपत्नियों का संवाद	८७-८९
१९.	राजपत्नियों द्वारा अश्व की तीन प्रदक्षिणा	८९-९१
२०.	महिषी और अश्व का अधीवास द्वारा आच्छादन	९१-९२
२१.	यजमान द्वारा अश्व का अभिमन्त्रण	९२-९३
२२-३१.	अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, होता और क्षत्ता का राजपत्नियों से अभिमेथनसंज्ञक संवाद	९३-१००
	[भाष्य में अभिमेथन-संवाद सम्बन्धी दयानन्दीय मत का खण्डन]	१०१-१०२
३२.	अश्लीलभाषणजनित वाणी के दोष का अपनोदन	१०२-१०४
३३-३८	तीन राजपत्नियों द्वारा सूचियों से अश्व का तोदन	१०४-१०७
३९-४४.	छः ऋचाओं के पाठ के साथ वपा के लिये अश्व के उदर का विपाटन	१०८-१११
४५-४८.	वपाहोम से पहले चार मन्त्रों में होता और अध्वर्यु का संवाद	१११-११२
४९-५२.	चार मन्त्रों में ब्रह्मा और उद्गाता का संवाद	११२-११४
५३-५६.	चार मन्त्रों में होता और अध्वर्यु का संवाद	११५-११६
५७-६०.	चार मन्त्रों में ब्रह्मा और उद्गाता का संवाद	११६-११८
६१-६२.	यजमान और अध्वर्यु का संवाद	११८-११९
६३-६५.	इस ब्रह्मोद्य कथा के उपरान्त महिम ग्रहसम्बन्धी याज्या, अनुवाक्या और प्रैष के तीन मन्त्र	११९-१२१
	चतुर्विंश अध्याय : अश्वमेध याग	
१-१३.	अश्वमेधीय इक्कीस यूपों में नियोजनीय पंचदशिन पशुओं का विभिन्न देवताओं से सम्बन्ध बताने वाले तेरह मन्त्र	१२२-१३१

कण्डिकासंख्या		पृष्ठसंख्या
१४-१९.	चातुर्मास्य, वरुणप्रघासीय, साकमेधीय और शुनासीरीय पशुओं का विभिन्न देवताओं से सम्बन्ध बताने वाले मन्त्र	१३१-१३४
२०-४०.	इक्कीस यूपों के बीच के बीस अन्तरालों में नियोजनीय आरण्य, बिलज आदि पशुओं और उनके देवताओं के द्योतक मन्त्र	१३४-१४६

पंचविंश अध्याय : अश्वमेध याग

१-९.	वनस्पति याग के बाद और स्विष्टकृद् याग से पहले प्रजापति के निमित्त शूल्य मांस की आहुति देकर शाद से लेकर त्वक् पर्यन्त देवताओं को अश्व के विभिन्न अंगों के निमित्त घृताहुति एवं अन्त में जुम्बकाहुति	१४७-१५८
१०-१३.	प्रजापति देवता वाले अश्व आदि पशुओं के चार याज्यानुवाक्या मन्त्र	१५८-१५९
१४-२३.	विश्वेदेव देवता वाले पशुओं की दस याज्यानुवाक्याएँ	१६०-१६७
२४-३९.	'मा नः' इत्यादि सोलह कण्डिकाओं से चतुर्गृहीत आज्य की आहुति	१६७-१७८
४०-४५.	'यत्ते' इत्यादि छः मन्त्रों से अश्वमेधीय अश्व की स्तुति	१७८-१८३
४६-४७.	दो कण्डिकाओं के छः मन्त्रों से छः आहुतियों का समर्पण	१८३-१८५

षड्विंश अध्याय : खिल मन्त्र

१.	प्रथम कण्डिका के सात सन्नति मन्त्रों का लैंगिक विनियोग	१८६-१८७
२.	यजमान की भगवान् के प्रति प्रार्थना	१८७-१८८
३.	बृहस्पतिसव के लिये बार्हस्पत्य ग्रह का ग्रहण	१८८-१८९
४-५.	गोसव के लिये ऐन्द्र ग्रह का ग्रहण	१८९-१९०
६-८.	तीन वैश्वानरीय पुरोनुवाक्या मन्त्र	१९०-१९२
९.	अग्निसम्बन्धी पुरोनुवाक्या	१९२-१९३
१०.	माहेन्द्र देवता की पुरोरुक्	१९३-१९४
११.	जप, स्वाध्याय आदि में विनियुक्त मन्त्र	१९४
१२-१४.	अग्नि देवता की भक्ति के सूचक मन्त्र	१९४-१९६
१५-१८.	सोम देवता की स्तुति के मन्त्र	१९६-१९८
१९.	आशीर्वादपरक मन्त्र	१९८
२०.	अग्नि देवता का मन्त्र	१९९
२१-२२.	ऋतु देवता सम्बन्धी मन्त्र	१९९-२००
२३.	इन्द्र देवता का मन्त्र	२००
२४.	त्वष्टा देवता का मन्त्र	२०१
२५-२६.	जप आदि में विनियुक्त सोम देवता का मन्त्र	२०१-२०२

सप्तविंश पंचचितिकाध्याय

१-९.	इष्टका पशु में समिध्यमान और समिद्धती के अन्तराल में विनियुक्त अग्नि, बृहस्पति और सविता देवता सम्बन्धी नौ ऋचाएँ	२०३-२०९
१०.	सूर्य देवता का उपस्थान	२०९

कण्डिकासंख्या		पृष्ठसंख्या
११-२२.	प्रयाज देवता वाली आप्री संज्ञक बारह ऋचाओं के द्वारा अग्नि देवता की स्तुति	२०९-२१६
२३-२८.	हुत पशु-सम्बन्धी छः याज्यानुवाक्या मन्त्र	२१६-२२१
२९-३४.	वायव्येष्टका पशुसम्बन्धी वपा आदि द्रव्यों के छः याज्यानुवाक्या मन्त्र	२२२-२२४
३५-३६.	रथन्तरयोनि ऐन्द्र प्रगाथ सम्बन्धी दो ऋचाएँ	२२५-२२६
३७-३८.	बृहत्सामयोनि ऐन्द्र प्रगाथ सम्बन्धी दो ऋचाएँ	२२६-२२७
३९-४१.	वामदेव्य सामयोनि इन्द्र देवता के तीन मन्त्र	२२७-२२९
४२-४३.	यज्ञायज्ञिय सामयोनि अग्निदेवता का प्रगाथ	२२९-२३०
४४.	यजमानकृत अध्वर्यु की प्रार्थना	२३०-२३१
४५.	पंचसंवत्सरात्मक युगाध्यक्ष प्रजापति के रूप में चित्याग्नि की स्तुति	२३१-२३२

अष्टाविंशाध्याय : सौत्रामणी याग

१-११.	इन्द्र देवता की विभूतिरूप आप्री देवताओं से सम्बद्ध ऐन्द्र पशुसम्बन्धी समित्, तनूनपात् और आदित्य देवता के प्रयाजों के प्रैष मन्त्र	२३३-२४०
१२-२२.	ऐन्द्र पशु सम्बन्धी अनुयाजों के प्रैष मन्त्र	२४०-२४८
२३.	यजमान द्वारा होता अग्नि की प्रार्थना	२४८-२४९
२४-३४.	वायोधस पशुसम्बन्धी एकादश प्रयाज-प्रैष मन्त्र	२४९-२५६
३५-४५.	वायोधस पशुसम्बन्धी एकादश अनुयाज-प्रैष मन्त्र	२५६-२६१
४६.	यजमान द्वारा होता अग्नि की प्रार्थना	२६१-२६२

एकोनविंशाध्याय : आश्वमेधिक

१-११.	अश्व की स्तुति में विनियुक्त आप्रीसंज्ञक ग्यारह त्रैष्टुभ मन्त्र	२६३-२६९
१२-२४.	अश्व की स्तुति में विनियुक्त तेरह मन्त्र, अन्तिम मन्त्र में यजमान की शुभाशंसा	२६९-२७७
२५-३६.	समित्, तनूनपात् आदि देवताओं से सम्बद्ध आप्रीसंज्ञक बारह त्रैष्टुभ मन्त्र	२७७-२८५
३७-५७.	अश्व के रक्षक योद्धाओं और युद्धोपकरणों की स्तुति के प्रसंग में प्रथमतः अग्नि की तथा बाद में योद्धाओं के साथ धनुष, ज्या, धनुष्कोटि, आदि की स्तुति	२८५-३००
५८.	अश्वमेधीय प्रथम एकादश पशु और उनके देवता	३००-३०१
५९.	अश्वमेधीय द्वितीय एकादश पशु और उनके देवता	३०१
६०.	दश आहुति वाली अवेष्टिसंज्ञक इष्टि की हवि और देवता के प्रतिपादक मन्त्र	३०१-३०२

त्रिंशाध्याय : पुरुषमेध याग

१-४.	सविता देवता के चार मन्त्रों से अतिष्ठाकाम ब्राह्मण और राजन्य के लिये आहवनीयाग्नि में आहुतियाँ	३०३-३०४
५-९.	प्रत्येक यूप में ११-११ पशुओं के नियोजन के उपरान्त मन्त्रपठित ४८ पुरुषों का अग्निष्ठ यूप में नियोजन	३०४-३०८
९-२०.	अन्य यूपों में ४८ पुरुषों का नियोजन	३०८-३१७
२०-२१.	अवशिष्ट पशुओं का द्वितीय उच्छ्रित यूप में नियोजन	३१७-३१८
२२.	आठ विपरीत स्वभाव वाले शूद्रब्राह्मणभिन्न पशुओं का आलभन	३१८-३२०

एकविंशोऽध्यायः

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युराचके ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—अवभृथ में वरुण के पुरोडाश का यह पुरोनुवाक्या मन्त्र है। हे वरुण देव! मेरे आह्वान को आप सुनिये और आज मुझे सभी प्रकार से सुखी कीजिये। मैं अपनी रक्षा के लिये आपको बुला रहा हूँ ॥ १ ॥

श्रीरामं पुण्डरीकाक्षं प्रणमामि सलक्ष्मणम्।
ससीतं शिवहार्दस्थं शिवात्मानं शिवप्रियम् ॥

न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
घोषणा रामभक्तस्य महावीरः स मे गतिः ॥

'इमं मे तत्त्वेत्येककपालस्य' (का० श्रौ० १९।७।७)। अवभृथेष्टौ वारुणस्यैककपालस्य पुरोडाशस्य इमं मे, तत्त्वा यामीति द्वे पुरोऽनुवाक्यायाज्ये इति सूत्रार्थः। वरुणदेवत्ये गायत्रीत्रिष्टुभौ शुनःशेपदृष्टे। हे वरुण, त्वं मे मम इमं हवम् आह्वानं श्रुधी श्रुधि शृणु। 'श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० सू० ६।४।१०२) इति हेर्धिः। संहितायां दीर्घः। च पुनः। अद्य दिने अस्मान् मृडय सुखय, मा कालविलम्बनं कृथा इति यावत्। यतोऽहं त्वाम् आचके कामये। 'आचक इति कान्तिकर्मा' (निघ० २।६।११)। कीदृशोऽहम्? अवस्युः, अवनमवः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यवतेरसुन्, तदिच्छतीत्यवस्यति 'सुप आत्मनः क्यच्', अवस्यतीत्यवस्युः 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्ययः, आत्मनो रक्षणमिच्छन् त्वामिच्छामीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे वरुण सर्ववरणीय परमात्मन्, त्वं मे हवमाह्वानमद्य अस्मिन्नेव दिने कालविलम्बमन्तरेण श्रुधी श्रुधि शृणु, यतोऽहं त्वामाचके कामये। त्वं मां मृडय सुखय। अहं च अवस्युर् आत्मनोऽपारसंसारसमुद्राद् अवनमिच्छन् त्वामिच्छामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे वरुण, योऽवस्युरहमिमं त्वामाचके स त्वं मे हवं श्रुधि, अद्य मां मृडय च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यात् तादृशकामनासिद्धेः। न च वरुणपदाभिधेयो मनुष्यो विद्वानत्राभिप्रेतः, वेदस्य धर्मब्रह्मपरत्वात्। न च विद्यार्थिनस्तत्कालमानन्दनं सम्भवति, अध्ययनसाफल्यस्य कालसाध्यत्वात् ॥ १ ॥

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा न आयुः प्रमोषीः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे वरुण देवता! हम आपकी स्तुति करते हैं। यजमान हवि प्रदान कर जो कुछ याचना करता है, वह वेद के द्वारा स्तुति करता हुआ आपकी ही शरण में जाता है। मैं भी आपसे याचना करता हूँ कि हे परम आराध्य देव! आप क्रोध न करते हुए हमारी प्रार्थना सुनें, हमारी आयु का नाश न होने दें ॥ २ ॥

इयम् १८।४९ स्थले व्याख्यातपूर्वा ॥ २ ॥

त्वं नो॑ अग्ने॒ वरु॑णस्य वि॒द्वान् दे॒वस्य॒ हेडो॒ अव॑यासिसीष्ठाः ।
यजि॑ष्ठो॒ वह्नि॑तमः॒ शोशु॑चानो॒ विश्वा॒ द्वेषा॑ᳪसि॒ प्रमु॑मुग्ध्य॒स्मत् ।। ३ ।।

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप सब-कुछ जानने वाले हैं। यज्ञ में आपकी ही प्रधानता है। आप हवि को भली भाँति पहचानते हैं, कान्ति से सम्पन्न हैं। आप वरुण देवता के क्रोध से हमारी रक्षा कीजिये, सकल द्वेष दुर्भाग्य से हमें छुटकारा दिलाइये ।। ३ ।।

'अग्नीवरुणयोस्त्वं नः स त्वमिति' (का० श्रौ० १९।७।८) अवभृथेष्टावेव आग्निवारुणयागे त्वं नः (१), स त्वं (२) इति पुरोनुवाक्यायाज्ये इति सूत्रार्थः । अग्नीवरुणदेवत्ये त्रिष्टुभौ वामदेवदृष्टे । हे अग्ने, त्वं नोऽस्मान् प्रति वरुणस्य देवस्य हेडः क्रोधम् अवयासिसीष्ठा अवगमय, निवर्तयेत्यर्थः । अवपूर्वस्य 'यसु प्रयत्ने' इति दैवादिकस्य णिजन्तस्य आशीर्लिङि रूपम् । किञ्च, विश्वा विश्वानि सर्वाणि द्वेषांसि दौर्भाग्यानि अस्मद् अस्मत्तः सकाशात् प्रमुमुग्धि प्रमुञ्च दूरीकुरु। मुचेर्व्यत्ययेन शपः श्लुः। कीदृशस्त्वम् ? विद्वान् स्वाधिकारं जानन् । यजिष्ठो यष्टृतमः, अतिशयेन यष्टा । 'तुरिष्ठेमेयःसु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः । वह्नितमो हव्यं वहतीति वह्निः, 'वहिश्रिश्रु' (उ० ४।५२) इत्यादिना नित्प्रत्ययः, अतिशयेन वह्निर्वह्नितमो देवेभ्यो हविषां वोढा, शोशुचानः, अत्यन्तं शोचति दीप्यत इति शोशुचानः, धातूनामनेकार्थत्वात् शोचतेर्यङन्तात् शानचि रूपम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् परमेश्वर, त्वमस्मान् प्रति वरुणस्य वारयति श्रेय इति वरुणः, तस्य श्रेयःप्रतिबन्धकस्य देवस्य हेडः क्रोधम् अपगमय । यतो विद्वान् तदुपायं जानासि, सर्वज्ञत्वात् । भवान् यजिष्ठः श्रीरामादिरूपेण यष्टृतमः। वह्नितमः सर्वेषां प्राणिनां वोढृतमो निर्वाहयितृतमः । शोशुचानः अतिशयेन दीप्यमानः । ईदृगैश्वर्यशाली त्वमस्मत्सकाशाद् विश्वानि द्वेषांसि दौर्भाग्यानि प्रमुमुग्धि दूरीकुरु ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, तद्वत्प्रकाशमान ! यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विद्वांस्त्वं वरुणस्य श्रेष्ठस्य हेडोऽनादरः, तमवयासिसीष्ठा मा कुर्याः । अव निषेधार्थः । हे अग्ने, त्वं नोऽस्माकं हेडो भवेत्तं मा स्वीकुर्याः । हे शिक्षक, त्वमस्मद् विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्धि प्रमोचय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अवेत्यस्य निषेधार्थकतायां प्रमाणस्योपन्यसनीयत्वात् । उपदेशको हि द्वेषादीनां त्यागायोपदेशमेव दातुं प्रभवेत्, न द्वेषादित्याजनं कर्तुं पारयेत्, तत्र तस्य सामर्थ्याभावात् । अग्न्यादिपदानां मनुष्ये गौण्या वृत्त्यैव प्रवृत्तित्वेन तस्य स्वीकारे मानाभावाच्च ।। ३ ।।

स त्वं नो॑ अग्नेऽव॒मो भ॑वो॒ती नेदि॑ष्ठो अ॒स्या उ॒षसो॒ व्यु॑ष्टौ ।
अव॑यक्ष्व नो॒ वरु॑ण॒ᳪ ररा॑णो वी॒हि मृ॑डी॒कᳪ सु॒हवो॑ न एधि ।। ४ ।।

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप इस उषा काल की समृद्धि में अपनी पालन शक्ति के साथ हमारी रक्षा के लिये यहाँ आइये। हवि पहुँचाते समय आप हमारी तरफ से वरुण देवता को तृप्त कीजिये, स्वयं भी सुखदायक हवि का आस्वादन कीजिये और हमारे श्रेष्ठ आह्वान को सुनिये ।। ४ ।।

हे अग्ने, स त्वम् अस्या उषसः प्रभातस्य व्युष्टौ समाप्तिकालेऽस्मिन्नेवाहनि ऊती ऊत्या अवनेन नः अस्माकम् अवमो रक्षकः, अवतीत्यवमः, 'अवद्यावमाधमार्वरेफाः कुत्सिते' (उ० ५।५४) इत्यवतेरमः प्रत्ययः

अत्र कुत्सितग्रहणमतन्त्रम् । कुत्सितार्थे तु अवत्यात्मानमस्मादित्यवम इति विग्रहो ज्ञेयः । नेदिष्ठोऽन्तिकतमश्च भव । अत्यन्तमन्तिके वर्तमानो नेदिष्ठः 'अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ' (पा० सू० ५।३।६३) इतीष्ठनि नेदादेशः । समीपतम इत्यर्थः । यद्वा अवतीत्यवः, पचाद्यच् । अतिशयेनावोऽवतमः, छान्दसः तकारलोपः । किञ्च, रराणो रममाणो हविर्ददद्वा नोऽस्माकं वरुणं वरणीयम् अवयक्ष्व अवगत्य यज । यथा वयं स्वाभिलषितं प्राप्नुयाम तथा देवेषु हविः सङ्गमय । यद्यप्यवपूर्वको यजिर्नाशनार्थकः, तथाप्यत्र धात्वन्तरयोगात् स्वार्थमेव वक्ति । अवपूर्वाद् यजेर्लोटि शपो लुकि रूपम् । ततो मृडीकं सुखकरं हविर्वीहि भक्षय । 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' इत्यस्य रूपम् । किञ्च, नोऽस्माकं सुहवः स्वाह्वानः, एधि भव ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमात्मन् अग्ने, स त्वं नोऽस्माकमूत्यावनेन अवमः अवितृतमो भव । अन्तिकतमश्च सर्वतोऽपि भगवानेव सर्वान्तरतमत्वात् । रराणो रममाणः सर्वेषु प्राणिषु जाग्रदाद्यवस्थासु चान्तर्यामिरूपेण विश्वविराडादिरूपेण च रममाणो देवताभ्यो रामादिरूपेण हविर्वा ददत् वरुणं वरणीयमभीष्टमवयक्ष्व सङ्गमय । ततो मृडीकं सुखकरं हविर्वीहि भक्षय । नोऽस्माकं सुहवः स्वाह्वानो भव । नहि सर्वेषां कृते सर्वस्याह्वानं सुकरम् । भक्तानां भगवानेव स्वाह्वानो भवति ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यथास्या उषसो व्युष्टौ विविधदाहे वह्निर्नेदिष्ठो रक्षकश्च भवति, तथा स त्वमूती ऊत्या प्रीत्या नोऽवमो भव । नो वरुणं गुणं गुणिजनम् अवयक्ष्व । रराणः सन् मृडीकं वीहि । नः सुहवो भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदस्य मुख्यार्थत्यागे मानाभावात्, वरुणपदस्य गुण्यर्थतापि निर्मूला ॥ ४ ॥

म॒हीमू॒ षु मा॒तर॑ᳬ सुव्र॒ताना॑मृ॒तस्य॒ पत्नी॒मव॑से हुवेम ।
तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीᳬ सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिᳬ सु॒प्रणी॑तिम् ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—यह आदित्य चरु का याज्या मन्त्र है । परम महिमा वाली शुभ कर्मों की माता सत्य और यज्ञ की पालिका, अनेकों प्रकार की पीड़ा से रक्षा करने वाली, जरारहित, विस्तीर्ण मार्ग पर चलने वाली सुखरूप सुन्दर प्रेममयी अदिति का हम अपनी रक्षा के लिये आह्वान करते हैं ॥ ५ ॥

'आदित्यस्य सुत्रामाणं महीमूषु मातरमिति' (का० श्रौ० १२।७।९) 'आदित्यं चरुं यक्ष्यमाणो निर्वपत्यादित्यमीजानः' (श० १२।९।२।११) इति श्रुतौ आदावन्ते च आदित्यः (अदितिदेवत्यः) चरुरुक्तः । तस्य 'सुत्रामाणम्' (वा० सं० २१।६) इति पुरोऽनुवाक्या, 'महीमूषु' इति याज्येति सूत्रार्थः । अदितिदेवत्या त्रिष्टुप् । ऊ षु निपातौ पादपूरणार्थौ । संहितायामाद्यस्य दीर्घः, अन्त्यस्य च षत्वम् । महीं महतीं सुव्रतानां शोभनकर्मणां मातरं निर्मात्रीम् । व्रतमिति कर्मनाम (निघ० २।१।७) । ऋतस्य यज्ञस्य पत्नीं पालयित्रीम् । तुविक्षत्रां बहुक्षरणां बहुक्षतात् त्राणशीलां वा । तुवीति बहुनाम (निघ० ३।१।२) । अजरन्तीं न जीर्यतीत्यजरन्ती, तां जरारहिताम्, नित्यनूतनामिति यावत् । उरूचीम् उरु अञ्चतीति उरूची बहुगमनशीला, ताम्, बहुव्यञ्जनां वा । सुशर्माणं शोभनं शर्म आश्रयः सुखं वा यस्याः सा सुशर्मा ताम् । कल्याणाश्रयां साधुसख्यां वा । सुप्रणीतिः सुष्ठु शोभना प्रणीतिः प्रणयनं भजनं यस्यास्ताम् । अदितिम् अदीनां देवमातरम् । 'अदितिरदीना देवमाता' (निरु० ४।२२) इति यास्कः । तादृशीमदितिं वयमवसे अवितुं रक्षितुम्, तुमर्थे असेप्रत्ययः । अवनाय तर्पणाय वा हुवेम आह्वयामः ।

अध्यात्मपक्षे—शोभनानां कर्मणां सङ्कल्पानां मातरं निर्मात्रीम्, ऋतस्य ससत्यस्य यज्ञस्य पत्नीं पालयित्रीम्, ससत्यस्य ब्रह्मणः पत्नीं जायां वा। तुविक्षत्रां बहुक्षतत्राणाम्। अजरन्तीं जरादिविकाररहिताम्। उरूचीं बहुव्यापिनीं सर्वव्यापिकामित्यर्थः। सुप्रणीतिं सुप्रणेत्रीम्, अथवा सुष्ठु शोभना प्रणीतिः प्रणयनम् अन्तः प्रवेशनं हृदये ध्यानं वा यस्याः सा सुप्रणीतिस्ताम्। अदितिम् अखण्डनीयां नित्यां भक्तिदेवीं ध्यानादीनां रक्षणाय वयमाह्वयामः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं मातरमिव सुव्रतानामृतस्य पत्नीं स्त्रीवद्वर्तमानाम् अजरन्तीं वयोहानिरहिताम्, शोभनानि शर्माणि गृहाणि यस्यास्ताम्। शोभनाः प्रकृष्टा नीतयो यस्यास्ताम्, अवसे सुहुवेम तथा यूयम् अपि गृह्णीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पृथ्व्याः सत्यपत्नीतुल्यत्वस्य निराधारत्वात्, कार्यमात्रस्य षड्विकारवत्त्वेन पृथिव्या अजरत्वानुपपत्तेश्च, जडायां तस्यां नीतेरप्यनुपपत्तेश्च ॥ ५ ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसꣳ सुशर्माणमदितिꣳ सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावꣳ स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—विशाल स्वर्ग रूप, क्रोध रहित, रक्षा करने वाली, सबको शरण देने वाली, सुन्दर घर वाली, परम प्रेममयी, निर्दोष, निन्दाशून्य, देवसम्बन्धी यज्ञ के स्वरूप वाली, अच्छी पतवार वाली, अखण्डित अदिति नामक नाव पर कल्याण पाने के निमित्त हम चढ़ते हैं, अर्थात् यथाविधि सम्पादित यज्ञमयी नौका बनाकर हम अनेक प्रकार के सुख भोग के लिये स्वर्ग जाना चाहते हैं ॥ ६ ॥

अदितिदेवत्या त्रिष्टुप्, गयःप्लातदृष्टा। दैवीं देवसम्बन्धिनीं नावं यज्ञमयीमारुहेम, यज्ञं कृत्वा स्वर्गं गच्छेमेत्यर्थः। कीदृशीं नावम्? सुत्रामाणं सुष्ठु त्रायते रक्षतीति सुत्रामा साधुपालयित्री, ताम्। लुप्तोपमा। पृथिवीं पृथिवीमिव विशालाम्। द्यां द्यामिव वाहयित्रीं जीवनहेतुभूताम्। 'अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥' (भ० गी० ३।१०-११) इति भगवद्वचनात्। स्वर्गसाधनत्वात् स्वर्गरूपां वा। अनेहसं नास्ति एहः क्रोधो यत्र सा अनेहाः, ताम्। 'एह इति क्रोधनाम' (निघ० २।१३।६)। सुशर्माणं साधुशरणाम्। अदितिमखण्डिताम्। सुप्रणीतिं सुप्रणेत्रीम्, स्वरित्रां शोभनमरित्रं यस्यां सा स्वरित्रा, ताम्। अरित्रशब्दः केन्दुवालवचनः। 'अरित्रं केनिपातकः' (अ० को० १।१०।१३) इत्यमरः। केन्दुवालशब्दस्य भाषायां पतवार इत्यर्थः। अथवा नौकाया उभयतो वहनसाधनानि काष्ठान्यरित्राणि, तानि चालकप्रेरितानि यथा चालकमनोऽनुसारं नावं गमयन्ति, तथैव यज्ञे प्रयाजानुयाजादयः, तैरेव यज्ञनिर्वहणात्। अनागसम् अनपराधाम्। अस्रवन्तीम् अच्छिद्रां निर्दोषामिति यावत्। ईदृशीं नावमारुहेमा, संहितायां दीर्घः। कस्मै प्रयोजनाय? स्वस्तये कल्याणाय अविनाशाय।

अध्यात्मपक्षे—वयं स्वस्तये परमकल्याणाय मोक्षाय, अनौपचारिकस्याविनाशस्य तत्रैव सत्त्वात्। दैवीं देवः स्वप्रकाशः परमेश्वरः, तत्सम्बन्धिनीं ब्रह्मविद्यारूपां नावमारुहेम, ब्रह्मविद्यया ब्रह्मात्मनावस्थानरूपं मोक्षमारुहेम। कीदृशीं नावम्? सुत्रामाणं साधुपालयित्रीम्, तदतिरिक्तस्य पालकत्वायोगात्, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वा० सं० ३१।१८) इति मन्त्रवर्णात्। पृथिवीं तद्वद्विशालाम्, विषयस्यानन्तत्वेन ब्रह्मविद्याया विशालत्वात्। द्यां द्यामिव प्रकाशरूपाम्। अनेहसं कालवदनतिक्रमणीयाम् क्रोधादिदोषनिबर्हणीं शोभनाश्रयभूताम् अदितिम् अबाधितां बाधकप्रमाणरहिताम्, सुप्रणीतिं ब्रह्मात्मभावप्रणेत्रीम्, स्वरित्रां सुष्ठु

शोभना अरित्रस्थानीयाः शमदमादयो यस्यां सा स्वरित्रा, ताम्। अनागसं सर्वापराधप्रशमनीम्। अस्रवन्तीं निश्छिद्रां तादृशीं ब्रह्मविद्यामारुहेम।

दयानन्दस्तु—'हे शिल्पिनः, यथा वयं स्वस्तये सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीं दैवीं नावमारुहेम, तथा यूयमारोहत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नौकास्वविदुषामपि सम्बन्धाविशेषात्, तस्यां जडायां राज-प्रजाखण्डनीतिसम्बन्धायोगाच्च। शिल्पिन इति सम्बोधनमपि निर्मूलम्। न च तस्यामनौपचारिकं सुखं भवति, बाह्यसाधनसाध्यत्वेनानित्यत्वात्॥ ६॥

सुनावमारुहेयमस्रवन्तीमनागसम्। शतारित्राᳪं स्वस्तये॥ ७॥

मन्त्रार्थ—छिद्ररहित, अपराध रहित होने से सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली, वेद मन्त्ररूप अनेक पतवार वाली इस यज्ञमयी श्रेष्ठ नौका पर हम संसार सागर से पार होने के निमित्त चढ़ते हैं॥ ७॥

स्वर्गसम्बन्धिनी नौ यज्ञदेवत्या गायत्री, 'तद्वै सर्व एव यज्ञो नौः स्वर्ग्या' (श० ४।२।५।१०) इति श्रुतेः। स्वर्ग्या नौर्यज्ञ एव। सुनावं शोभनां नावं यज्ञरूपां स्वस्तयेऽविनाशाय संसारसागरोत्तरणाय अहमारुहेयम्, आरोहेयम्, यज्ञेन यजेयमित्यर्थः। कीदृशीं नावम्? अस्रवन्तीं निश्छिद्राम्, निर्दोषामित्यर्थः। अनागसं निरपराधाम्, अभीष्टार्थसाधनतत्परामित्यर्थः। शतारित्रां शतानि ऋग्यजुःसाममन्त्ररूपाण्यरित्राणि वहनसाधनानि केन्दुवालानि यस्यां सा शतारित्रा, तां तादृशीं सुनावमारोहेयमिति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—ज्ञानयज्ञरूपेयं नौः, तस्या एवानुपचरितं स्वर्गप्राप्तिसाधनत्वात्। तादृशीं नावं स्वस्तये संसारसमुद्रोत्तरणाय विमोक्षाय आरोहेयम्। कीदृशीम्? अस्रवन्तीं निश्छिद्रामनागसमपापाम्, पापनाशिनीमिति यावत्। 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुते ऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥' (भ० गी० ४।३७) इति भगवद्वचनात्। शतारित्रां शतान्यपरिगणितानि वेदमहावाक्यान्यरित्रस्थानीयानि यस्यां सा शतारित्रा ताम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं स्वस्तये अस्रवन्तीमनागसं शतारित्रां नावमारुहेयम्, तथाऽस्यां यूयमारोहत' इति, तदपि तुच्छम्, विकल्पानुपपत्तेः? तथाहि कोऽयमस्य मन्त्रस्य वक्ता? न जीवः, तस्याप्युपदेष्टव्यतुल्यत्वात्, वेदस्य पौरुषेयत्वापाताच्च। नापीश्वरः, तस्य व्यापकत्वेन तरणीयत्वाभावात्, निरस्तसमस्तानर्थस्य तस्य स्वस्तिरूपस्य स्वस्तये तरेरनपेक्षणात्॥ ७॥

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजाᳪंसि सुक्रतू॥ ८॥

मन्त्रार्थ—हे श्रेष्ठ कर्म वाले मित्रावरुण देवताओं, हमारे यज्ञ मार्ग को आप घी से सींचिये और स्वर्ग आदि लोकों के मार्ग को मधु से सींचये॥ ८॥

'आ नः प्र बाहवेति पयस्यायाः' (का० श्रौ० १९।७।१०)। 'अवभृथादुदेत्य मैत्रावरुण्या पयस्यया यजते' (श० १२।९।२।१२) इति विहिता या पयस्या तस्या आ नो मित्रावरुणेति पुरोऽनुवाक्या प्र बाहवेति याज्या इति सूत्रार्थः। मित्रावरुणदेवत्या गायत्री विश्वामित्रदृष्टा। हे मित्रावरुणा, मित्रावरुणौ तन्नामकौ देवौ, युवां नोऽस्माकं गव्यूतिं गव्यूतिपर्यन्तं यज्ञमार्गं घृतैरक्षारोदकैः शुद्धोदकैरा समन्ताद् उक्षतं सिञ्चतम्। यद्वा

गव्यूतिं गवि पृथिव्यामूतिमवनहेतुभूतं क्षेत्रं गोप्रचारं वा आ समन्तात् सिञ्चतम्। किञ्च हे सुक्रतू, सुष्ठु शोभनः क्रतुः कर्म ययोस्तौ सुक्रतू तत्सम्बोधने, मध्वा मधुना मधुस्वादूदकेन रजांसि लोकान् उक्षतम्। मध्वेत्यत्र आगमशास्त्रस्य अनित्यत्वान्नुमभावः।

अध्यात्मपक्षे—हे मित्रावरुणा, तद्वद् बलकृष्णौ घृतैर्घृतदुग्धादिभिर्गव्यूतिं क्षेत्रमुक्षतं सिञ्चतम्। हे सुक्रतू शोभनसङ्कल्पौ, मध्वा मधुना रसेन मधूदकेन रजांसि लोकान् उक्षतं सिञ्चतम्।

दयानन्दस्तु—'हे मित्रावरुणा, प्राणोदानवद्वर्तमानौ सुक्रतू शिल्पिनौ, युवां घृतैर्नो गव्यूतिं क्रोशद्वयं मध्वा जलेन रजांसि उक्षतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, शिल्पिनोः प्राणोदानयोः सारूप्यानिरूपणात्, द्विवचनस्य अतन्त्रत्वाच्च। शिल्पिद्वयस्य हि लोकद्वयरोचने सामर्थ्याभावात्, सर्वलोकरोचनं तु दूरतो निरस्तम्॥ ८॥

प्र बा॒हवा॑ सिसृतं जी॒वसे॑ न॒ आ नो॒ गव्यू॑तिमुक्षतं घृ॒तेन॑।

आ मा॒ जने॑ श्रवयतं यु॒वाना श्रु॒तं मे॑ मित्रावरुणा॒ हवे॒मा॥ ९॥

मन्त्रार्थ—हे तरुण मित्रावरुण देवताओं! आप मेरी इस पुकार को सुनिये, हमारे चिरकाल तक के जीवन के निमित भुजाओं को फैलाइये, हमारे अन्तरिक्ष को शुद्ध जल से सब तरफ से सींचिये और हमारी कीर्ति को सभी लोकों में फैलाइये॥ ९॥

मित्रावरुणदेवत्या त्रिष्टुप् वसिष्ठदृष्टा। हे मित्रावरुणा मित्रावरुणौ, हे युवाना युवानौ तरुणौ उच्छिन्नजरसौ, नोऽस्माकं जीवसे चिरं जीवनाय बाहवा बाहू प्रसिसृतं प्रसारयतम्। अन्तर्भाविण्यर्थः। बाहुप्रसारणमपि जीवनहेतुप्रतिपक्षनिराकरणायेत्यर्थः। किञ्च, नोऽस्माकं गव्यूतिं जीवनहेतुभूतं क्षेत्रं घृतेनाक्षारोदकेन आ आभिमुख्येन उक्षतं सिञ्चतम्। तदर्थं हि वृष्टिः प्रार्थ्यमाना दृष्टार्था भवति। गोजातिविषयभूतां वा ऊतिम् अदनमार्गम्। भक्षणमार्गाभिप्रायमेतत्, अतो गोप्रवाटमिति यावत्, गवां स्थितिस्थानाद् अदूरवर्तिनी गोचरभूमिरिति तात्पर्यम्। एवं भवत्सिक्तक्षेत्रधान्यैः सान्नायादिभिश्च यज्वानं मा मां जने प्रतिजनं जनपदे वा आश्रावयतम्, इत्थं भूरि अदाद् इत्थमयाक्षीद् अहो अस्य यज्ञसम्पत्तिः श्रद्धासम्पत्तिश्चेति लोकेषु कथयतं वर्णयतमित्यर्थः। किञ्च, युवां मे मम हवेमा इमा इमानि हवा हवानि आह्वानानि श्रुतं शृणुतम्, शृणोतेः शपो लुक्, श्रुत्वा च मदभिहितं कुरुतमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे पूर्वोक्तौ मित्रावरुणौ बलकृष्णौ रामलक्ष्मणौ वा, युवानौ छिन्नजरसौ दिव्यत्वात्, नोऽस्माकं जीवसे जीवनसाफल्याय बाहू प्रसिसृतं प्रसारयतम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मित्रावरुणा, बाहवा बाहू इव मिश्रिता युवाना युवां नो जीवसे जीवितुं मां प्रसिसृतं प्राप्नुतम्। घृतेन जलेन नो गव्यूतिं क्रोशयुग्मं ओक्षतं नानाकीर्तिमाश्रावयतम्। मे जन इमा हवा श्रुतं शृणुतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जीवनस्य मनुष्यातन्त्रत्वात्, न च क्रोशद्वयसिञ्चनस्य सार्थक्यम्, अतन्त्रत्वात्। न चाध्यापकोपदेशकयोरायत्तं जीवनं कीर्तिवर्धनं वा निष्पद्यते? न वा वादिप्रतिवादिनोर्वादविवादयोः श्रवणं पुरुषार्थः, लोकसिद्धत्वात्॥ ९॥

शं नो॑ भवन्तु वा॒जिनो॒ हवे॑षु दे॒वता॑ता मि॒तद्र॑वः स्व॒र्काः ।
ज॒म्भय॒न्तोऽहि॒ वृक॒ꣳ रक्षा॒ꣳसि सने॑म्य॒स्मद्यु॑यव॒न्नमी॑वाः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के कार्य के निमित्त यज्ञ में बुलाने पर बड़ी तेजी से दौड़कर आने वाले, श्रेष्ठ प्रकाश वाले साँप, भेड़िये और राक्षसों का नाश करने वाले घोड़े हमारे लिये कल्याणकारी हों, हमारी सब प्रकार की दीर्घकाल की बीमारियों को दूर भगा दें ॥ १० ॥

'वाजिनस्य शं नो वाजे वाज इति' (का० श्रौ० १९।७।११)। पयस्यायां वाजिनयागोऽस्ति, तत्र शं न इति पुरोऽनुवाक्या, वाजे वाजे (वा० सं० २१।११) इति याज्येति सूत्रार्थः । इयं पुरोऽनुवाक्या ९।१६ स्थले व्याख्याता ॥ १० ॥

वाजे॑वाजेऽवत वाजिनो नो॒ धने॑षु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
अ॒स्य मध्वः॑ पिबत मा॒दय॑ध्वं तृ॒प्ता या॑त प॒थिभि॑र्देव॒यानैः॑ ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वों, तुम बुद्धिमान् दीर्घजीवी सत्य को जानने वाले हो, सब प्रकार के धन और अन्न से हमारा पालन करो। यहाँ से जाने के पहले हमारी दी हुई इस मधुर हवि को नौ बार सूंघ कर उसका पान करो और तृप्त हो जाओ। तृप्त होने के उपरान्त देवयान में अधिष्ठित मार्गों से गमन करो ॥ ११ ॥

इयं याज्या ९।१८ स्थले व्याख्याता ॥ ११ ॥

स॒मि॑द्धो अ॒ग्निः स॒मिधा॒ सुस॑मिद्धो॒ वरे॑ण्यः ।
गा॒य॒त्री च्छन्द॑ इन्द्रि॒यं त्र्य॒विर्गौर्वयो॑ दधुः ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—बड़ी-बड़ी समिधाओं के द्वारा भली प्रकार प्रज्वलित की गई, पूर्णतया प्रदीप्त प्रार्थना करने योग्य अग्नि देवता, गायत्री छन्द की शक्ति और डेढ़ वर्ष की गौ—ये सब पूजित होकर यजमान में बल और आयु की स्थापना करें ॥ १२ ॥

'वायोधसाप्रियः समिद्धोऽग्निः समिधेति' (का० श्रौ० १९।७।१३) । 'वायोधसस्य पशोराप्रियः प्रयाजयाज्याः 'समिद्धो अग्निः समिधा' इत्येकादशर्चो भवन्तीति सूत्रार्थः । एकादश आप्रीदेवत्या अनुष्टुभः स्वस्त्यात्रेयदृष्टाः । अग्निः, गायत्रीच्छन्दः, गौश्च एते त्रय इन्द्रे इन्द्रियं वीर्यं वयः सत्त्वमन्नमायुर्वा दधुः दधतु प्रयच्छन्तु । कथम्भूतोऽग्निः ? समिधा प्रयाजदेवतया समिद्धो दीप्तः, सुसमिद्धश्च अतिदीप्तः, प्रयाजघृतेनेति शेषः । वरेण्यो वरणीयः सम्भजनीयः । कीदृशो गौः ? त्र्यविः, त्रयोऽवयोऽनुचरत्वेन यस्य सः । यद्वा षण्मासावधिः कालोऽविः, ततस्त्रयोऽवयो यस्य सः, सार्धवत्सरो गौरित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—समिधा दीप्तिसाधनभूतया बुद्धया समिद्धो दीप्तश्चिदात्मा वेदान्तवाचा सुतरामिद्धोऽत्यन्तं दीप्तः सन् ब्रह्मात्मना दीप्यते, स च वरेण्यो वरणीयः सम्भजनीयो भवति। तादृशोऽग्निः, गायत्रीच्छन्दस्तदधिष्ठाता देवः, त्र्यविर्गौश्च, अर्थात् तदधिष्ठाता देवश्च इन्द्रे चक्षुरादिभिर्विशिष्टदीप्तियुक्तेऽधिकृते जीवे इन्द्रियं वीर्यं वयः सत्त्वमन्नमायुर्वा दधुः दधतु ।

दयानन्दस्तु—'यथा समिद्धोऽग्निर्वह्निः समिधा, सुसमिद्धः सूर्यो वरेण्यो वरणीयो जनः, गायत्रीच्छन्दश्चेन्द्रियं मनः प्राप्नोति, यथा च त्र्यविर्गौर्वयो दधाति, तथा विद्वांसो जीवनं दधुः। त्रयाणां शरीरेन्द्रियात्मनाम्

अविः रक्षणं यस्मात् स गौः स्तोता' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यास्य व्याख्यानस्य प्रमाणसापेक्षत्वेन निर्भ्रमत्वायोगात्, निष्प्रमाणकाध्याहारसापेक्षत्वाच्च। समिधोत्तमप्रकाशेन सूर्यस्य कथं प्रकाशमानत्वम् ? प्रकाशस्य प्रकाशान्तरनिरपेक्षत्वात्, वरेण्यपदस्य श्रुतसमिद्धाग्निविशेषणत्वोपपत्ताश्रुतजनकल्पनाया निर्मूलत्वात् । एवं सर्वोऽपि रागवशादेव शरीरेन्द्रियात्मनो रक्षतीति व्यावर्त्याभावान्निरर्थिकोक्तिः। मनोऽपि कर्मवशात् सर्व एव प्राप्नोतीति कर्तृक्रियान्तराध्याहारश्च निरर्थक एव ॥ १२ ॥

तनूनपाच्छुचिव्रतस्तनूपाश्च सरस्वती ।

उष्णिहा च्छन्द इन्द्रियं दित्यवाड्गौर्वयो दधुः ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—पवित्र कर्म वाले जलदेवता का पौत्र अग्निदेव, शरीर को पुष्ट करने वाला गौ घृत या प्रयाज देवता, सरस्वती देवी, उष्णिक् छन्द और दिव्य हवि को वहन करने वाली दो वर्ष की गाय पूजित होकर यजमान में बल और दीर्घायु की स्थापना करें ॥ १३ ॥

तनूनपात्, न पातयति न पतति वा स नपात्, 'नभ्राण्नपात्' (पा० सू० ६।३।७५) इति निपातनात् साधुः, तनूं न पातयति जाठररूपेण धारयतीति तनूनपादग्निः। अथवा नपात् नप्ता पौत्रः 'नपात् इत्यनन्तरायाः प्रजाया नामधेयम्' (निरु० ८।५), तन्वन्ति तता भवन्त्यन्तरिक्षे इति तन्व आपः। ताभ्य ओषधिवनस्पतयो जायन्ते, ओषधिवनस्पतिभ्योऽग्निर्जायत इति तनूनामपां नपात् पौत्रस्तनूनपाद् अग्निः। यद्वा तन्वन्ति पय आदयो भोगा यस्यां सा तनूः, गोनाम। अस्याः पयो जायते, पयस आज्यमिति तनूनपादाज्यम्। शुचिव्रतः शुचि शुक्लं व्रतं कर्म यस्यासौ तथोक्तः। 'व्रतमिति कर्मनामधेयम्' (निघ० २।१।६) उज्ज्वलकर्मा। तनूपाः तनूं शरीरं (यज्ञस्य) पातीति तनूपाः। सरस्वती प्रयाजदेवता, उष्णिक् छन्दः। स्त्रीत्वविवक्षायाम् उष्णिहा, अजादिगणे पाठात् 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० सू० ४।१।४) इति टाप्। दित्यवाड् दित्यां भवं दित्यम्, दित्यं हविर्वहतीति दित्यवाट् गौश्च, एते चत्वार इन्द्रे इन्द्रियं वीर्यं वयश्च दधुर्दधतु।

अध्यात्मपक्षे—परमात्मैव सर्वात्मत्वात् तनूनपादादिरूपेण इन्द्रे जीवे इन्द्रियं वीर्यं वयः सत्त्वमन्नमायुर्वा दधाति।

दयानन्दस्तु—'यथा शुचिव्रतस्तनूनपात् तनूपाः सरस्वती उष्णिहा च छन्द इन्द्रियं जीवस्य लिङ्गं दधाति, यथा च दित्यवाड् दितये हितं वहति गौर्वयः कामनां वर्धयति, तथैतत्सर्वं विद्वांसो दधुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, छन्दसो जीवलिङ्गधारणे कथमुपयोग इत्यनुक्तेः। गौरित्यस्य स्तोतार्थ इत्यपि प्रमाणसापेक्षम, अध्याहारस्यागतिकगतित्वाच्च ॥ १३ ॥

इडाभिरग्निरीड्यः सोमो देवो अमर्त्यः ।

अनुष्टुप् छन्द इन्द्रियं पञ्चाविर्गौर्वयो दधुः ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—प्रयाज देवताओं के द्वारा जिनकी स्तुति की गई है, ऐसे अग्नि देवता मरण धर्म रहित देवता सोम, अनुष्टुप् छन्द, ढाई वर्ष की गाय के साथ पूजित होकर यजमान में बल और दीर्घायु का आधान करें ॥ १४ ॥

इडाभिः प्रयाजदेवताभिः सह अग्निः, सोमो देवः, अनुष्टुप् छन्दः, गौः—एते पञ्च इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुः। कीदृशोऽग्निः ? ईड्यः स्तुत्यः। कीदृशः सोमः ? अमर्त्यः अमरणधर्मा। कीदृशो गौः ? पञ्चाविः पञ्च अवयोऽनुचराः षण्मासरूपकालविशेषा वा यस्य सः, सार्धद्विवर्ष इति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यद्योतनाय एषा ऋक्। इडादयो भगवद्रूपा एव इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुः। कर्मानुष्ठानकालेऽपि द्रव्यदेवतादिरूपेणापि भगवानेव भावनीय इति भावः।

दयानन्दस्तु—'यथाग्निरमर्त्यः सोम ईड्यो देवः पञ्चाविर्गौर्विद्वानिडाभिरनुष्टुप् छन्द इन्द्रियं वयश्च दध्यात्, तथैव तत् सर्वे दधुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणादसम्बद्धत्वाच्च। पञ्चभिः सर्वोऽपि रक्ष्यते। देवपदमपि योनिविशेषे रूढत्वाद् दिव्यगुणवति लक्षणैव। सा च अन्वयानुपपत्तिमूला तात्पर्यानुपपत्तिमूला वा ग्राह्या। न चात्रानुपपत्तिद्वयी दृश्यते। तस्मान्मुधैव तदाश्रयणम्। न च छन्दस उपयोगो दर्शितः। गोपदं स्तोतव्यपरमित्यपि निर्मूलमेव ॥ १४ ॥

सुबर्हिरग्निः पूषण्वान् स्तीर्णबर्हिरमर्त्यः।

बृहती छन्द इन्द्रियं त्रिवत्सो गौर्वयो दधुः ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर बर्हिवाला पूषा देवता, प्रयाज देवता और अग्नि देवता, विस्तृत कुशा युक्त मरणधर्मरहित बृहती छन्द, तीन वर्ष की गाय—ये सब पूजित होकर यजमान के बल और आयु को बढ़ावें ॥ १५ ॥

सुबर्हिः शोभनबर्हिः प्रयाजदेवता, अग्निः, बृहतीच्छन्दः, गौः—एते चत्वार इन्द्रियं वयश्च इन्द्रे दधुर्दधतु। कीदृशोऽग्निः ? पूषण्वान् पूष्णा संयुक्तः, स्तीर्णबर्हिः स्तीर्णमास्तृतं बर्हिर्दर्भो यस्मै स तथोक्तः, अमर्त्यः अमरणधर्मा। कथंभूतो गौः ? त्रिवत्सः, त्रयो वत्सा अनुचरा वत्सरत्रयरूपः कालविशेषो वा यस्य सः।

अध्यात्मपक्षे—सुबर्हिः प्रयाजदेवता पूषण्वान् पूष्णासहितः स्तीर्णबर्हिरमर्त्यो जरामरणादिरहितः स्तीर्णबर्हिः, बृहतीच्छन्दः, त्रिवत्सश्च गौः सर्वे चैते भगवद्रूपा इन्द्रे इन्द्रियं वीर्यं वयः सत्त्वमायुर्वा दधुः।

दयानन्दस्तु—'यथा पूषण्वान् पूषाणः पुष्टिकरा गुणा विद्यन्ते यस्मिन्, स्तीर्णबर्हिः स्तीर्णं बर्हिरन्तरिक्षं येन सः, अमर्त्यो मृत्युधर्मरहितः। त्रीणि देहेन्द्रियमनांसि वत्सा इवानुचराणि यस्य स सुबर्हिः शोभनं बर्हिरन्तरिक्षं यस्मात् स सुबर्हिरग्निरिव जनो बृहतीच्छन्दश्चेन्द्रियं दध्यात्। त्रिवत्सो गौरिव वयो दध्यात्, तथैतद्दधुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वत्सपदस्यानुगाम्यर्थतायां गौणार्थाश्रयणात्। त्रीत्यनेन देहेन्द्रियमनसां ग्रहणमपि प्रमाणापेक्षमेव ॥ १५ ॥

दुरो देवीर्दिशो महीर्ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः।

पङ्क्तिश्छन्द इहेन्द्रियं तुर्यवाड् गौर्वयो दधुः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—महती दिशाएं, दीप्तिमान् द्वारों की देवियां, बृहस्पति, ब्रह्मदेव, पंक्ति छन्द तथा चार वर्ष की गौ—ये सब पूजित होकर इस यजमान के बल और आयु की वृद्धि करें ॥ १६ ॥

दुरो द्वारो देव्यः प्रयाजदेवताः। छान्दसं सम्प्रसारणम्। महीर्महत्यो दिशो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः पङ्क्तिश्छन्दः तुर्यवाड् गौस्तुर्यं चतुर्थं वर्षं वहतीति तुर्यवाट्। एते षड् देवा इह इन्द्रे (अभिनयनिर्देशः) इन्द्रियं वयश्च दधुः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथेह देवीर्महीर्दुरो दिशो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः पङ्क्तिश्छन्द इन्द्रियं तुर्यवाड् गौर्वयो जीवनं दधुस्तथा यूयमपि धरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य दार्ष्टान्तिकस्य च निर्मूलत्वात्, ब्रह्मपदेन अन्तरिक्षस्य पवनस्य बृहस्पतिपदेन सूर्यस्य च ग्रहणे मानाभावात्, तत्तच्छन्दसस्तत्र तत्र कथमुपयोग इत्यनुक्तेश्च। सिद्धान्ते तु तत्तच्छन्दोऽधिष्ठातृदेवता अभ्युपेयन्ते, तेषां चाप्यन्यदेवानामिव इन्द्रे इन्द्रियाधान उपयोगस्य सूपपादत्वात् ॥ १६ ॥

उषे यह्वी सुपेशसा विश्वेदेवा अमर्त्याः ।
त्रिष्टुप् छन्द इहेन्द्रियं पष्ठवाड् गौर्वयो दधुः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—विशाल सुन्दर रूप वाले दिन-रात, मरणधर्मरहित सम्पूर्ण देवता, त्रिष्टुप् छन्द और पीठ पर भार उठाने वाला बैल—ये सब मिलकर यजमान के बल और आयु की वृद्धि करें ॥ १७ ॥

उषे राज्यहनी, द्विवचननिर्देशात् तयोः सहचरितत्वाच्च, यह्वी यह्वयौ महत्यौ सुपेशसा सुष्ठु शोभनं पेशो रूपं ययोस्ते सुपेशसौ, विभक्तेराकारः, अमर्त्या अमरणधर्माणो विश्वेदेवा, त्रिष्टुप् छन्दः, पष्ठवाड् गौः पष्ठं भारं वहतीति तथोक्तो गौरेते पञ्च इह इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुर्दधतु । 'यह्वा इति महन्नामसु' (निघ० ३।३।१३) । यातं प्राप्तं च विपासितैः, हुतं च यज्ञे देवतात्वादिति द्विधातुजं रूपम् । अस्य द्विप्रकृतिजन्यत्वान्महत्त्वम् ।

यद्वा—'यह्व इति महन्नामसु' (निघ० ३।३।१३) । तथा च भगवान् यास्कः—'यह्व इति महतो नामधेयम्, यातश्च हूतश्च भवति' (निरु० ८।८) । दशपाद्याम् अष्टमे पादे यह्वा इति स्त्रीलिङ्गनिपातनम् । भट्टोजिदीक्षितास्तु 'यह्वः' इति पुंलिङ्गमेव पाठमाहुः ।

अध्यात्मपक्षे—अहोरात्राद्यधिष्ठातारो ब्रह्मरूपास्ते ते देवा इन्द्रियं वयश्च इन्द्रे दधुर्दधतु । तत एव तांस्तानुपकारान् मनस्यनुसन्धाय सौत्रामणीप्रसङ्गे तांस्तान् देवान् यजेदिति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथेह सुपेशसौ अध्यापिकोपदेशिके उषे दहनकर्त्र्याविव यह्वी महत्यौ विश्वे सर्वे देवा देदीप्यमानाः पृथिव्यादयोऽमर्त्याः स्वरूपेण नित्याः, त्रिष्टुप् छन्दः, पष्ठवाड् गौर्वृषभो वयः प्रजननमिन्द्रियं धनं दधुस्तथा यूयमाचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तेष्विन्द्रियधनधारकत्वासिद्धेः । अध्यापिकोपदेशिकयोः सुरूपत्वबृहत्त्वयोस्तात्पर्याप्रकाशनात् । सिद्धान्ते तु स्वभावकीर्तनम्, न च त्वद्रीत्या तत्सम्भवति, तयोर्वैपरीत्यस्यापि सम्भवात् ॥ १७ ॥

दैव्या होतारा भिषजेन्द्रेण सयुजा युजा ।
जगती च्छन्द इन्द्रियमनड्वान् गौर्वयो दधुः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी आहुति देने वाले इन्द्र और मध्यम वायु, इन्द्र सहित दोनों वैद्य, अर्थात् अन्तरिक्ष में स्थित अग्नि और वायु, जगती छन्द, छह वर्ष का युवा वृषभ—ये सब मिलकर यजमान में बल और आयु की स्थापना करें ॥ १८ ॥

दैव्या दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ होतारा होतारौ प्रयाजदेवौ, अयं चाग्निः, असौ मध्यमोऽन्तरिक्षस्थो वायुः, भिषजौ सुरवैद्यौ, इन्द्रेण सयुजा सयुजौ सह युज्येते इति सयुजौ संयुक्तौ, समानकार्यौ वा, युजा युजौ परस्परेण युक्तौ, जगतीच्छन्दः, अनड्वान् अनः शकटं वहतीति अनड्वान् गौः, एते चत्वार इन्द्रे इन्द्रियं वीर्यं वयः सत्त्वमन्नमधुना दधुः ।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मात्मका देवा होत्रादय इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुरिति पूर्ववदेव व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा इन्द्रेण सयुजौ युजौ दैव्यौ होतारौ भिषजौ अनड्वान् गौर्जगतीच्छन्दश्च वय इन्द्रियं दधुस्तथैतद् भवन्तो दधीरन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात् । नहि जगतीच्छन्दसि धनधारकत्वम्, न वा अनड्वान् तद्धर्तुं पारयति । भिषग्गतद्वित्वस्य प्रयोजनं वक्तव्यम् । देवेषु भवौ दैव्यौ नात्र नैपुण्यार्थे प्रत्ययः ॥ १८ ॥

तिस्र इडा सरस्वती भारती मरुतो विशः ।
विराट् छन्द इहेन्द्रियं धेनुर्गौर्न वयो दधुः ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—इडा, भूमि और सरस्वती नामक तीनों देवियाँ, धारणावती बुद्धि, इन्द्र की प्रजा, विराट् छन्द और दूध देने वाली गाय—ये सब मिलकर यजमान में बल और आयु की वृद्धि करें ॥ १९ ॥

तिस्रो देव्य इडा सरस्वती भारती प्रयाजदेव्यः, मरुतो विश इन्द्रप्रजा विराट् छन्दो धेनुर्न दोग्ध्री गौश्च नशब्दश्चार्थे । एते षड् इहेन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुः ।

अध्यात्मपक्षे—परमात्मरूपा इडादयोऽधिकारिणि मनुष्ये इन्द्रे इन्द्रियं वीर्यं वयोऽन्नं सत्त्वमायुश्च दधुः ।

दयानन्दस्तु—'यथेहेडा सरस्वती भारती च तिस्रो मरुतो विशो विराट् छन्द इन्द्रियं धेनुर्गौर्न वयश्च दधुः, तथा सर्वे मनुष्या एतद् धृत्वा वर्तेरन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, पृथिव्यादीनां जडानामिन्द्रियजडादिधारणे प्रवृत्त्यसम्भवात्, गौः कथं किं पिबतीत्यनुक्तेश्च ॥ १९ ॥

त्वष्टा तुरीपो अद्भुत इन्द्राग्नी पुष्टिवर्धना ।
द्विपदा च्छन्द इन्द्रियमुक्षा गौर्न वयो दधुः ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—पूर्णता को प्राप्त सर्वव्यापी अद्भुत कर्म वाला महान् त्वष्टा देवता, पुष्टिवर्धक इन्द्र और अग्नि, द्विपाद छन्द और सेचन में समर्थ वृषभ—ये पाँचों देवता यजमान में बल और आयु की स्थापना करें ॥ २० ॥

त्वष्टा, प्रयाजदेवः, इन्द्राग्नी, द्विपदा च्छन्दः, उक्षा सेक्ता गौश्च पञ्चेन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुः । कीदृशस्त्वष्टा तुरीपस्तूर्णमाप्नोति व्याप्नोतीति तुरीपोऽद्भुतः, अद् कदाचिदेव भवतीति अद्भुतः । अथवा अद् कदाचिदपि न भवतीति अद्भुतो महान् । कीदृशाविन्द्राग्नी ? पुष्टिवर्धना पुष्टिवर्धनौ पुष्टिं धनादिपोषं वर्धयेते इति तथोक्तौ । नश्चार्थः ।

अध्यात्मपक्षे—त्वष्ट्रादयो भगवद्भूता इन्द्रे देवराजे जीवे वा इन्द्रियं वयश्च दधुः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, येऽद्भुतस्तुरीपस्त्वष्टा पुष्टिवर्धनेन्द्राग्नी द्विपदाच्छन्द इन्द्रियमुक्षा गौर्न वयो दधुस्तान् विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च । अनड्वान् गौरेव यथाऽष्टादश्यां कण्डिकायां क्रियान्वयी, तथैव गौर्न इत्यत्रापि गौरित्यस्यान्वयोपपत्त्या इवार्थकल्पनानुपपत्तेः, नकारस्य चार्थत्वेऽपि बाधाभावात् । कश्च सेचनसमर्थ इत्यस्यानुक्तेश्च ॥ २० ॥

शमिता नो वनस्पतिः सविता प्रसुवन् भगम् ।
ककुप् छन्द इहेन्द्रियं वशा वेहद् वयो दधुः ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—सुखदायक वनस्पति और धन को देने वाले सविता, ककुप् छन्द, वन्ध्या और गर्भघातिनी गाय—ये सभी यजमान में बल और आयु का आधान करें ॥ २१ ॥

वनस्पतिः प्रयाजदेवः, सविता सूर्यः, ककुप् छन्दः, वशा वष्टीति वशा, वन्ध्या गौः 'वशिरण्योरुपसंख्यानम्' (पा० सू० ३।३।५८, वा० १) इत्यप् । वेहच्च विहन्ति गर्भमिति वेहद् गर्भघ्नो गौः, एते पञ्च इह इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुः । 'संश्च तृपद्वेहत्' (उ० २।८६) इति साधुः । कीदृशो वनस्पतिः ? नोऽस्माकं शमिता शमयति सुखयतीति शमिता 'शमिता यज्ञे' (पा० सू० ६।४।५४) इति णिचो लोपः । कीदृशः सविता ? भगं प्रसुवन् धनं प्रेरयन्, ददिति यावत् ।

अध्यात्मपक्षे—वनस्पत्यादयो भगवद्रूपा इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः शमिता वनस्पतिः सविता भगं प्रसुवन् ककुप् छन्द इन्द्रियं वशा वेहच्च नो वयो दधुस्तान् यूयं विज्ञाय उपकुरुत' इति, तदपि तुच्छम्, असम्बद्धत्वात् । वशा वेहच्च कथं जगति वयःप्राप्तियोग्यं वसु धास्यत इत्यस्यानिरूपणात् ॥ २१ ॥

स्वाहा यज्ञं वरुणः सुक्षत्रो भेषजं करत् ।
अतिच्छन्दा इन्द्रियं बृहदृषभो गौर्वयो दधुः ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हमारी रक्षा करने वाले वरुण देवता, स्वाहाकृत प्रयाज देवताओं के साथ इन्द्र के लिये हम औषध रूप यज्ञ को समर्पित करते हैं । अतिच्छन्द और श्रेष्ठ वृषभ इन्द्र में बल और आयु की स्थापना करें ॥ २२ ॥

सुक्षत्रः त्राणं त्रः, क्षतात् नाशात् त्रः क्षत्रः । सुष्ठु शोभनः क्षत्रो यस्यासौ सुक्षत्रः शोभनक्षतत्राता वरुणः, स्वाहा स्वाहाकृतिभिः प्रयाजदेवैः सह नामैकदेशे नामग्रहणम्, यज्ञं भेषजं यज्ञलक्षणमौषधमिन्द्राय करत् करोतु । किञ्च, अतिच्छन्दाश्छन्दो बृहद् महान् ऋषभः समर्थो गौर्वरुणश्च स्वाहाकृतय एते चत्वार इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुर्दधतु ।

अध्यात्मपक्षे—क्रियाकारकद्रव्याणि सर्वाण्यपि ब्रह्मभूतान्येव, 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥' (भ० गी० ४।२४) इति गीतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यथा वरुणः सुक्षत्रः स्वाहा यज्ञं भेषजं च करत्, योऽतिच्छन्दा ऋषभो गौर्बृहदिन्द्रियं वयश्च धत्तस्तथैव सर्वे दधुः, एतज्जानीत' इति तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वादेव, यज्ञौषधस्य चानिरूपणात् । सङ्गमः क्रियारूपः, तस्य च द्रव्यात्मकेन औषधेन सामानाधिकरण्यायोगात्, अतिच्छन्दश्छन्दसो गोश्च धनादिधारणोपयोगानिरूपणाच्च ॥ २२ ॥

वसन्तेन ऋतुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुताः ।
रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—त्रिवृत् स्तोम और रथन्तर पृष्ठ द्वारा स्तुति किये गये वसन्त ऋतु सहित आठों वसु देवता इन्द्र में तेज के साथ हवि और आयु की स्थापना करें ॥ २३ ॥

'याज्यानुवाक्याश्च वपापुरोडाशपशूनां वसन्तेन ऋतुनेति' (का० श्रौ० १९।७।१४) । चकाराद्वायोधसे पशावेव षडृचो यथाक्रमं वपापुरोडाशपशूनां याज्याः पुरोनुवाक्याश्च भवन्तीति सूत्रार्थः । तद्यथा वसन्तेनेति (२३) पुरोनुवाक्या, ग्रीष्मेणेति (२४) याज्या वपायागे, वर्षाभिरिति (२५) पुरोऽनुवाक्या, शारदेनेति (२६) याज्या पशुपुरोडाशयागे, हेमन्तेनेति (२७) पुरोऽनुवाक्या, शैशिरेणेति (२८) याज्या हृदयादियागे चेति विभावनीयम् । अनुष्टुभः षड् लिङ्गोक्तदेवताः । वयोधा इन्द्रो देवतेत्यर्थः । वसन्तेन ऋतुना तदधिष्ठात्रा देवेन त्रिवृता स्तोमेन रथन्तरेण पृष्ठेन साम्ना च स्तुताः वसवो देवा इन्द्रे तेजसा सह हविर्वपाख्यं वयः शक्तिं च दधुर्दधतु, स्थापयन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मस्वरूपा वस्वादय इन्द्रे हविर्वयश्च दधुः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये वसवो देवाः स्तुताः, त्रिवृता वसन्तेन वसन्तर्तुना सह वर्तमानाः, रथन्तरेण तेजसा इन्द्रे हविर्वयो दधुस्तान् स्वरूपतो विज्ञाय सङ्गच्छध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, निर्मूलाध्याहारमूलकत्वाच्च, वैदिकवृत्तान्तानभिज्ञानाच्च। त्रिवृत्पञ्चदशादयः स्तोमा भवन्ति, रथन्तरादीनि सामानि भवन्तीति वैदिकप्रसिद्धिः। त्रिवृता त्रिषु कालेषु यो भवति, स कथं कादाचित्कत्वेनानुभूयते ? किमिदं तेजो यद्रथेन तरणीयम् ? न च तत्सौरमेव, तस्य रथेनापि तरणासम्भवात् ॥ २३ ॥

ग्रीष्मेण ऋतुना देवा रुद्राः पञ्चदशे स्तुताः।
बृहता यशसा बलꣳ हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—पंचदश स्तोम और बृहत्पृष्ठ साम द्वारा स्तुति किये गये ग्रीष्म ऋतु सहित रुद्र देवता इन्द्र में यश सहित बल, हवि और आयु की स्थापना करते हैं ॥ २४ ॥

ग्रीष्मेण ऋतुना सह पञ्चदशे पञ्चदशेन स्तोमेन, विभक्तिव्यत्ययः, बृहता पृष्ठेन च स्तुता रुद्रा देवा इन्द्रे यशसा सह हविर्बलं वयश्च दधुः।

अध्यात्मपक्षे – पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु –'हे मनुष्याः, ये स्तुता रुद्राः पञ्चदशे ग्रीष्मेणर्तुना बृहता यशसेन्द्रे हविर्बलं वयश्च दधुः, तान् यूयं जानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्राणानां मध्यमविदुषां वाऽचेतनत्वादल्पज्ञत्वाच्च तेषां जीवे बलाद्याधानेऽसामर्थ्यात् ॥ २४ ॥

वर्षाभिर्ऋतुनादित्याः स्तोमे सप्तदशे स्तुताः।
वैरूपेण विशौजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—सप्तदश स्तोम और विरूपपृष्ठ साम द्वारा स्तुत वर्षा ऋतु सहित आदित्य देवता इन्द्र में प्रजा के द्वारा ओज सहित हवि और आयु की स्थापना करते हैं ॥ २५ ॥

वर्षाभिर्ऋतुना सह सप्तदशे स्तोमे सप्तदशेन स्तोमेन, - तृतीयार्थे सप्तम्यौ, विभक्तिव्यत्ययः, वैरूपेण पृष्ठेन साम्ना च स्तुता आदित्या देवा इन्द्रे विशा प्रजया ओजसा च सह हविर्वयश्च दधुः।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यमत्र द्योत्यते।

दयानन्दस्तु —'हे मनुष्याः, ये वर्षाभिर्ऋतुना वैरूपेणौजसा विशा सह वर्तमाना आदित्याः सप्तदशे स्तोमे स्तुता इन्द्रे हविर्वयो दधुस्तान् यूयं विज्ञायोपकुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पञ्चदश-सप्तदश-स्तोमादिपदेन तावन्तो व्यवहारा उच्यन्त इत्यस्य निर्मूलत्वात्। वैरूपादिपदार्थोऽपि निर्मूल एव ॥ २५ ॥

शारदेन ऋतुना देवा एकविꣳश ऋभवः स्तुताः।
वैराजेन श्रिया श्रियꣳ हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ —एकविंश स्तोम और वैराजपृष्ठ साम के द्वारा स्तुति को प्राप्त हुए लक्ष्मी और शरद् ऋतु सहित ऋभु नामक देवता इन्द्र में लक्ष्मी, हवि और आयु की स्थापना करते हैं ॥ २६ ॥

शारदेन ऋतुना सह एकविंशे एकविंशेन, तृतीयार्थे सप्तमी, स्तोमेन वैराजेन पृष्ठेन विराट्छन्दःसम्बन्धिना साम्ना श्रिया लक्ष्म्या च स्तुताः, ऋभव ऋभुसंज्ञका देवा इन्द्रे श्रियं हविर्वयश्च दधुर्दधतु, 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' (पा० सू० ८।३।३६, वा० १) इति विसर्गलोपः।

अध्यात्मपक्षे—भगवद्रूपा ऋभवस्तैस्तैर्भगवद्रूपैरेव शारदादिभिः स्तुता इन्द्रे देवराजे जीवे वा तत्तत्कर्मानुसारं श्रियं हविर्वयश्च दधुः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य एकविंशे स्तुता ऋभवो देवाः शारदेनर्तुना वैराजेन श्रिया सह वर्तमाना इन्द्रे श्रियं हविर्वयश्च दधुस्तान् यूयं सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एकविंशव्यवहारस्यानिरूपणात्। पूर्वेऽपि देवा विद्वांस एवासन्, एषां तैः को भेद इत्यनुक्तेश्च॥ २६॥

हे॒मन्ते॑न ऋ॒तुना॑ दे॒वास्त्रि॑ण॒वे म॒रुतः॑ स्तु॒ताः।
बले॑न॒ शक्व॑रीः॒ सहो॑ ह॒विरिन्द्रे॒ वयो॑ दधुः॥ २७॥

मन्त्रार्थ—त्रिणव स्तोम और शक्वरीपृष्ठ साम के द्वारा स्तुत हेमन्त ऋतु सहित मरुत् देवता इन्द्र में बल सहित हवि और आयु की स्थापना करते हैं॥ २७॥

हेमन्तेन ऋतुना सह त्रिणवे त्रिणवेन, तृतीयार्थे सप्तमी, स्तोमेन, शक्वरीरिति शाक्वरस्य साम्नो योनिनिर्देशः, शक्वरीछन्दस्कायामृचि, गीतेन शाक्वरेणेति भावः। शाक्वरेण पृष्ठेन साम्ना च स्तुता मरुतो देवा बलेन सह इन्द्रे सह इन्द्रियसामर्थ्यं हविर्वयश्च दधुः।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मविवर्तरूपा मरुतो देवराज इन्द्रे जीवात्मनि वा तत्तत्कर्मानुसारेण बलादिकं दधुः।

दयानन्दस्तु 'हे मनुष्याः, ये त्रिणवे हेमन्तेनर्तुना सह वर्तमानाः स्तुता मरुतो बलेन शक्वरीः सहो हविर्वय इन्द्रे दधुस्तान् सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सप्तविंशव्यवहारस्य निष्प्रमाणत्वात्, मनुष्याणामल्पशक्तीनामन्यत्र जीवेषु बलाद्याधानासामर्थ्यात्। किञ्च, यदि पूर्वोक्तजीवेषु बलसहआदिकं दधति, तदा कथमनेके जीवास्तद्रहिता भवन्ति ?॥ २८॥

शै॒शि॒रेण॑ ऋ॒तुना॑ दे॒वास्त्र॑यस्त्रि॒ꣳशेऽमृताः॑ स्तु॒ताः।
स॒त्येन॑ रे॒वतीः॑ क्ष॒त्रꣳ ह॒विरिन्द्रे॒ वयो॑ दधुः॥ २८॥

मन्त्रार्थ—त्रयस्त्रिंश स्तोम और रैवतपृष्ठ साम के द्वारा स्तुत शिशिर ऋतु सहित अमृत नामक देवताओं ने इन्द्र में सत्यसहित क्षात्र तेज, हवि और आयु की स्थापना की थी॥ २८॥

शैशिरेण ऋतुना सह त्रयस्त्रिंशेन, तृतीयार्थे सप्तमी, स्तोमेन रेवतीरिति रैवतस्य साम्नो योनिनिर्देशः। रैवतेन च पृष्ठेन साम्ना अमृता अमृतसंज्ञका देवाः सत्येन सह क्षत्रं क्षतत्राणं हविर्वयश्च इन्द्रे दधुर्दधतु।

अध्यात्मपक्षे—शैशिराद्यधिष्ठातृदेवताभिः सह अमृता ब्रह्मात्मका देवा इन्द्रे जीवे बलादिकं दधुः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, येऽमृताः स्तुताः शैशिरेणर्तुना देवाः सत्येन सह त्रयस्त्रिंशे विद्वांसो रेवतीरिन्द्रे हविः क्षत्रं वयश्च दधुस्तेभ्यो भूम्यादिविद्याः गृह्णीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशाध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। पूर्वं पञ्चदशादिशब्दैर्व्यवहारा गृहीताः, इह मन्त्रे तमर्थमपहाय वस्वादिदेवानां ग्रहणे बीजानुक्तेः। स्वरूपेण सर्वेऽमृता इति तादृशव्याख्यायास्तात्पर्यं वक्तव्यम्॥ २८॥

होता यक्षत्समिधाग्निमिडस्पदेऽश्विनेन्द्रꣳ सरस्वतीमजो धूम्रो न गोधूमैः कुवलैर्भेषजं मधु शष्पैर्न तेज इन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—यहाँ से बारह मन्त्र प्रैष कहलाते हैं। आहवनीय वेदि में स्थित दिव्य होता समिधा से अग्नि को, अश्विनीकुमार, इन्द्र और सरस्वती को आहुत करते हैं, अर्थात् इनके निमित्त आहवनीय स्थान में आहुति देते हैं। उसमें धूम्र वर्ण का अज, गेहूँ, बदरी फल और अँकुरित व्रीहि सहित मधुर औषधियाँ होती हैं, जो कि तेज और बल को देने वाली हैं। अश्विनीकुमार, सरस्वती और इन्द्र देवताओं से पूजित होकर जल का सारभूत, महौषधियों से निचोड़ा गया सोम रस मधु और घृत का पान करता है। हे हवन करने वाले मनुष्य ! तुम भी इसी प्रकार घृत से हवन कर देवताओं को प्रसन्न करो ॥ २९ ॥

'होता यक्षत्समिधाग्निमिति प्रयाजप्रैषास्त्रिपशोः' (का० श्रौ० १९।६।१४)। होता यक्षत्समिधाग्निमिडस्पद इत्यादयो द्वादश कण्डिकास्त्रिपशोः प्रयाजप्रैषाः स्युरिति सूत्रार्थः। द्वादशाप्रीणां प्रयाजयाज्यानां प्रैषा अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याः। तत्र आद्या अष्टिः। अथ मन्त्रार्थः—दैव्यो देवसम्बन्धी होता समिधा प्रयाजदेवतया सह अग्निमश्विना अश्विनौ इन्द्रं सरस्वतीं च इडःपदे गोपदे आहवनीये यक्षद् यजतु, गोष्पदेऽवस्थितमाहवनीयमग्निमश्व्यादिदेवताश्च यजत्वित्यर्थः। तत्र यागेऽजो धूम्रो न, नकारौ समुच्चयार्थौ, अजो धूम्रो मेषश्च गोधूमैः कुवलैर्बदरैः शष्पैरङ्कुरितव्रीहिभिश्च सहितो भेषजमौषधं भवति, इन्द्रायेति शेषः। कीदृशं भेषजम् ? तत्राह—मधु मधुरं तेजस्तेजःप्रदम्, इन्द्रियम् इन्द्रियसामर्थ्यप्रदम्। किञ्च, तेऽश्विसरस्वतीन्द्रा देवा दैव्येन होत्रेज्यमानाः सन्तः पयःपरिस्रुता सुरया सह सोमः सोमं घृतं मधु च व्यन्तु पिबन्तु। सोम इति विभक्तिव्यत्ययः। हे होतर्मनुष्यहोतः, त्वमप्याज्यस्य यज अश्व्यादिभ्य आज्यं देहि। कर्मणि षष्ठी, यजतिश्च दानार्थः।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होताग्निमिडस्पदे गोपदे आहवनीयरूपेणावस्थितमग्निमश्व्यादिदेवताश्च यक्षद् यजतु। देवता-द्रव्य-कर्म-कर्त्रादिकं सर्वमपि ब्रह्मात्मकमेव, तस्मादग्न्यादिरूपेण भगवानेवेज्यते।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता दाता इडस्पदे पृथिव्यन्नस्थाने समिधेन्धनैरग्निमश्विनौ इन्द्रं सरस्वतीमजो धूम्रो न कश्चिज्जीवो गोधूमैः कुवलैर्भेषजं यक्षत्, तथा शष्पैर्न यानि तेजो मध्विन्द्रियं पयःपरिस्रुता सह सोमो घृतं मधु व्यन्तु, तैः सह वर्तमानमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, पृथिव्यन्नस्थानेऽग्निसूर्यचन्द्रजीववागादीनां सङ्गतिकरणं किमर्थमित्यनुक्तेः। धूम्रवर्णेन मेषेण तुल्यो जीवः कथमत्र कर्ता ? जीवस्य नीरूपत्वात् कथं धूम्रवर्णत्वमुपपद्यते ? ॥ २९ ॥

होता यक्षत्तनूनपात् सरस्वतीमविर्मेषो न भेषजं पथा मधुमता भरन्नश्विनेन्द्राय वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं तोक्मभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने प्रयाज देवता, सरस्वती और अश्विनीकुमारों का यजन किया है। इस यज्ञ में बेर, इन्द्रयव, अंकुरित व्रीहि, अजा और मेष का दुग्ध-घृत, इन्द्र के निमित्त रस वाली यज्ञमार्ग से बल को पुष्ट करने वाली औषधियाँ आहुति के रूप में दी जाती हैं, परिस्रुत दुग्ध, सोम और मधुर घृत का अश्विनीकुमार और सरस्वती आदि देवता पान करते हैं। हे आहुति देने वाले मनुष्य ! तुम भी इसी प्रकार घृत से यजन करो ॥ ३० ॥

एकाधिका अत्यष्टिः । तनूनपादिति प्रथमा द्वितीयार्थे । इन्द्रायेति चतुर्थी द्वितीयार्थे । नकारश्चार्थकः । दैव्यो होता तनूनपात् तनूनपातं प्रयाजदेवं सरस्वतीमश्विना अश्विनौ इन्द्राय न इन्द्रं च यक्षद् यजतु । तत्र यागे अविरजो मेषश्च । नश्चार्थे । मधुमता मधुररसवता पथा यज्ञमार्गेण भरन् आत्मानं हरन् सन् बदरैर्बदरीफलैः, उपवाकाभिरिन्द्रयवैः, तोक्मभिरङ्कुरितव्रीहिभिर्यवैर्वा सहितो वीर्यं वीर्यकरं भेषजं भवति । अश्विसरस्वतीन्द्रा दैव्येन होत्रा इज्यमाना पयआदीनि व्यन्तु । हे होतः, त्वमपि आज्यस्य यज आज्यं देहि ।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणः सार्वात्म्यविवक्षया सौत्रामणीयागे दैव्यो होता ब्रह्मात्मकैर्द्रव्यैर्ब्रह्मात्मकान् अश्विप्रभृतीन् देवान् यथा यजति, तथैव लौकिकोऽपि होताऽऽज्येन तान् यजतीत्याह मन्त्रः ।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा तनूनपाद् होता सरस्वतीमविर्मेषो न मधुमता पथा भेषजं भरन्निन्द्रायाश्विना वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं यक्षत्, तथा यानि तोक्मभिः पयःपरिस्रुता सह सोमो घृतं मधु च व्यन्तु । तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वादेव । तन्वा उनं पाति स तनूनपादिप्यत्यसङ्गतम्, निरर्थकत्वात् । हिन्दीभाष्ये पातीत्यस्य पूरयतीत्यर्थः कृतः, सोऽपि निर्मूल एव । होता आदाता बहुज्ञानवतीं वाचं मधुमता मार्गेण भेषजं भरन्निति केन किं श्लिष्यते ? मेषाजाभ्यां मार्गे कीदृक् साधर्म्यमभिप्रेतम् ? किञ्च, तेन विवक्षितमित्यस्याप्यस्पष्टत्वात् । भावार्थस्तु मन्त्रार्थेभ्यो दूरतो निरस्तः ॥ ३० ॥

होता यक्षन्नराशꣳसं न नग्नहुं पतिꣳ सुरया भेषजं मेषः सरस्वती भिषग्रथो न चन्द्र्यश्विनोर्वपा इन्द्रस्य वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं तोक्मभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के होता ने मनुष्यों के द्वारा स्तुत रक्षक औषधियों की आहुति दी, महौषधि का रस, बेर, इन्द्रयव और व्रीहियों सहित मेष का घृत, अश्विनीकुमार का सुवर्णमय रथ और घृतसार को सरस्वती ने इन्द्र के निमित्त बलकारक औषधि के रूप में कल्पित किया था, उसके रस के साथ दूध, सोम और मधुर औषधि रूप घी को पिलाया था । हे होता ! तुम भी घृत के द्वारा इनका यजन करो ।। ३१ ।।

दैव्यो होता नराशंसं प्रयाजदेवं सरस्वती सरस्वतीं भिषग् भिषजोरश्विनो रथो रथं च यक्षद् यजतु । कीदृशो रथः ? चन्द्रं सुवर्णमस्मिन्नस्तीति चन्द्री सुवर्णमयः । 'स्वर्णेऽपि भूरिचन्द्रौ द्वौ' (अ० को० ३।३।१८२) इति कोषात् । कीदृशं नराशंसम् ? पतिम्, जगतोऽधिपतिम् । यज्ञो हि नराशंसः, स आहुतिपरिणामद्वारा जगद्बिभर्ति । अश्विनो रथस्य यजनं नासमञ्जसमनुसन्धेयम्, रथस्यापि तदात्मकत्वेनादोषात् । तथा चाह बृहद्देवतायाम्—'आयुधं वाहनं वापि स्तुतौ यस्येह दृश्यते । तमेव तु स्तुतं विद्यात् तस्यात्मा बहुधा हि सः ॥' (४।१४३) इति । तथा चाह भगवान् यास्कोऽपि—'आत्मजन्मान आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्वा आत्मायुधमात्मेषवः' (निरु० ७।४) इति । तत्र सुरया सह नग्नहुम्, नग्नहुः पूर्वोक्तः, किण्वो मेषः, वपा बहुत्वात् त्रिपशुसम्बन्धिन्यो वपा बदरैरुपवाकाभिर्यवैस्तोक्मभिश्च व्रीहिभिः सहिता इन्द्रस्य वीर्यकरमौषधं भवतु । अश्व्यादयः पयआदीनि पिबन्तु । हे मनुष्यहोतः, त्वमपि आज्यस्य यज आज्यं देहि । भेषजशब्दाभ्यास आर्षः ।

उव्वटाचार्यरीत्या तु—दैव्यो होता नराशंसं पतिं सुरया सहितं नग्नहुं च यक्षद् यजतु । भेषजं मेष इन्द्रस्य करोत्विति वाक्यशेषः । सरस्वती भिषग् इन्द्रस्य भवतु । रथो न चन्द्री अश्विनोः, रथश्च भिषगिन्द्रस्य

भवतु। कथंभूतो रथः ? चन्द्री। अश्विनोः सम्बन्धी। वपा इन्द्रस्य वीर्यं कुर्वन्त्विति शेषः। बदरैरुपवाकाभिः स्तोक्मभिरिन्द्रस्य भेषजं भवत्विति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव यज्ञगतैस्तैस्तैः संस्कारैरिन्द्रस्य जीवस्य भेषजं भवति, 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' (मनु० २।२८) इति स्मृतेः।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता दाता नराशंसं न यो नरैराशस्यते प्रशस्यते तमिव नग्नहुं यो नग्नान् दुष्टान् जुहोति कारागारे निक्षिपति, तं पतिं स्वामिनं सुरया उदकेन सह वर्तमानं मेषमिन्द्रस्य वीर्यं यक्षत्। मेष उपदेष्टा, सरस्वती विद्यासम्बन्धिनी वाक्, भिषग् वैद्यः, रथो न रथ इव चन्द्रं बहुविधं सुवर्णं विद्यते यस्य स चन्द्री। अश्विनोर्द्यावापृथिव्योर्वपा वपनीयाभिः क्रियाभिर्बदरैरुपवाकाभिः सह भेषजं यक्षत्, तथा यानि तोक्मभिः सह पयः स्तुताः स सोमो घृतं मधु च व्यन्तु। तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यस्य यज' इति, तन्न, वैदिकप्रसिद्धिविरुद्धार्थाङ्गीकारेऽपि विश्रृङ्खलितार्थत्वात्॥ ३१॥

होता॑ यक्षदि॒डेडि॒त आ॒जुह्वा॑नः॒ सर॑स्वती॒मिन्द्रं॒ बले॑न व॒र्धय॑न्नृष॒भेण॒ गवे॑न्द्रि॒यम॒श्विनेन्द्रा॑य भे॒षजं॒ यवैः॑ क॒र्कन्धु॑भि॒र्मधु॑ ला॒जैर्न मास॑रं॒ पयः॒ सोमः॑ परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥ ३२॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के होता ने प्रशंसित वाणी से स्तुत होकर इडा आदि देवियों का आह्वान किया और बलवती गौ के घृत-दुग्ध आदि से बल को बढ़ाते हुए सरस्वती, इन्द्र और अश्विनीकुमारों के निमित्त यज्ञ किया। उस यज्ञ में बेर, इन्द्रजौ आदि बलकारक औषधियों को इन्द्र के निमित्त उन देवताओं ने प्रदान किया है। हे होता ! तुम भी इन द्रव्यों के द्वारा उक्त देवताओं का यजन करो॥ ३२॥

दैव्यो होता ऋषभेण गवा धेन्वा च बलेन वर्धयन् इडादीन् समर्धयन् ईडितः संस्तुत ऋत्विग्भिरिडादीन् आजुह्वान इडा इडां प्रयाजदेवतां सरस्वतीमिन्द्रमश्विनौ च यक्षद् यजतु। तत्र यवैर्लाजैश्च सहितं मधु मासरमोदनं निःस्रावं च इन्द्राय इन्द्रियं वीर्यकरं भेषजं भवति। अश्विसरस्वतीन्द्रा होत्रेज्यमानाः पयआदीनि पिबन्तु। हे होतः, त्वं च तेभ्य आज्यं देहि।

उव्वटाचार्यरीत्या तु होता यक्षद् यजतु। कीदृशः सः ? इडेडित इडया प्रयाजदेवतया ईडितः स्तुतः। किं कुर्वन् ? आजुह्वानः सरस्वतीम् इन्द्रमश्विना सरस्वतीमिन्द्रमश्विनौ च आह्वयन् 'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य तत्। अर्थतो ह्यसमानानामानन्तर्यमकारणम्॥' इत्यभियुक्तोक्तेः। किञ्च, इन्द्रं बलेन वर्धयन् ऋषभेण गवा च इन्द्रस्य इन्द्रियं वर्धयन् मधु मासरं च, उपादायेति शेषः। यवैः कर्कन्धुभिर्लाजैश्च भेषजमिन्द्रस्य वर्धयन् अश्विसरस्वतीन्द्राश्च दैव्येन होत्रेज्यमानाः पयःप्रभृतीनि व्यन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि आज्यस्य यज, तेभ्य आज्यं देहीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—भगवदाराधनबुद्ध्याऽनुष्ठितेन सौत्रामणीयागेन दैव्यो होता ऋत्विगादिभिरीडितः सरस्वत्यादीन् पूर्वोक्तान् देवान् आजुह्वानो बलेन इन्द्रं देवराजं वर्धयन् ऋषभादिभिरिन्द्रस्य इन्द्रियं वर्धयन् यजतु। अश्व्यादय इज्यमानानि पयआदीनि पिबन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वं च तेभ्य आज्यं देहि। अनया रीत्या जीवात्मरूप इन्द्रेऽपि बलं वर्धते।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, य इडेडित आजुह्वानः सत्कारेणाहूतो होता बलेन सरस्वतीं वाचमिन्द्रमृषभेण गन्तुं योग्येन गवा इन्द्रियमश्विना यवैरिन्द्राय भेषजं वर्धयन् कर्कन्धुभिर्मधुर्लाजैर्न मासरं यक्षत्। तथा यानि परिस्रुता सह सोमः पयो घृतं मधु व्यन्तु तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। न च प्रसिद्धेषु श्रौतेषु यागेषु भक्तरसमध्वादिकं हूयते, न वा तथा विधीयते। भावार्थे तु रोगान् हत्वा आरोग्यप्राप्तिसम्पादनमुपदिश्यते, मूलेन तत्सम्बन्ध एव नास्ति। संस्कृतव्याख्यानवदेव हिन्दीव्याख्यानमप्यस्पष्टमेव। आजुह्वान इत्यस्य सत्कारेणाहूत इत्यर्थोऽप्यसङ्गत एव, कर्तृप्रत्ययविरोधात्। होता प्रशंसनीयो मनुष्यो बलेन सरस्वतीं वाणीमिन्द्रमैश्वर्यम्, चलनार्हेण उत्तमेन गवा इन्द्रियं धनमश्विनौ द्यावापृथिव्यौ यवादिभिरन्नैरिन्द्रियैश्वर्याय भेषजं वर्धयन्नित्यपि निःसारमेव, यवादिभिर्द्यावापृथिव्योर्वर्धनादर्शनात्। कर्कन्धुक्रियापि त्वदभ्यूहरूपैव, सर्वथापि दुःसाहसमेव ॥ ३२ ॥

होता॑ यक्षद्ब॒र्हिरूर्ण॑म्रदा भि॒षङ्नास॑त्या भि॒षजा॒श्विनाश्वा॒ शिशु॑मती भि॒षग्धे॒नुः सर॑स्वती भि॒षग् दुह इन्द्रा॑य भेष॒जं पयः॒ सोम॑ः परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य होत॒र्यज॑ ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ– देवताओं के होता ने उनके समान कोमल प्रयाज देवताओं के, सत्यस्वरूप देवताओं के, वैद्य अश्विनीकुमार और सरस्वती के निमित्त यजन किया था। इससे बाल अवस्था वाली घोड़ी और बछड़े वाली गौ चिकित्सक का काम करती है। इन्द्र के निमित अश्व आदि की दक्षिणा के रूप में ये देवता भेषज को पूर्ण करते हैं। हे होता! तुम भी भेषज के द्वारा इनका यजन करो ॥ ३३ ॥

दैव्यो होता ऊर्णम्रदा ऊर्णमिव म्रदीयो बर्हिः प्रयाजदेवं भिषजौ सुवैद्यौ नासत्या नासत्यौ न सत्यौ असत्यौ न असत्यौ नासत्यौ सर्वदा दृढसत्यरूपौ तौ भिषजा भिषजौ सुवैद्यौ अश्विना अश्विनौ सरस्वती सरस्वतीं च यक्षद् यजतु। तत्र शिशुमती स्वशावकोपेता अश्वा वडवा, भिषक् धेनुर्भिषक्, भिषग् च इन्द्राय भेषजमौषधं दुहे दुग्धे प्रपूरयति। अश्वादयोऽत्र दक्षिणारूपेणोपयुज्यन्ते। 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तलोपः। ते सर्वे पयआदीनि पिबन्तु। हे होतः, त्वं च तेभ्य आज्यं देहि। यद्वा—होता यक्षद् यजतु, प्रकृता देवता इति शेषः। बर्हिश्च प्रयाजदेवताम्। सा च ऊर्णम्रदा ऊर्णेव मृदुर्भिषग् भवतु। छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः। भिषग् वैद्यः। नासत्या भिषजाश्विना नासत्यौ नासाप्रभवौ। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० सू० ६।३।१०९) इति साधीयः। अश्विनौ भिषजौ भवतामिन्द्रस्य। अश्वा वडवा शिशुमती धेनुश्च इन्द्रस्य भिषग् भवतु। इत्थम्भूता हि सा दक्षिणा पठ्यते। कस्मात्पुनरेवमाशास्यते ? इत्यत आह—सरस्वतीति। यतः सरस्वती भिषक् स्वयमेव दुहे दोग्धि इन्द्राय भेषजम्, अतो यूयमपि भिषजो भवथेति। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—यथानुपहूतसोमपानाद् भ्रष्टस्य इन्द्रस्य वीर्यं नमुचिरसुरोऽपिबत्। तत्र देवैरिन्द्रस्य भैषज्यं कृतम्। तत्र अश्विनौ सरस्वती च भिषजः, सौत्रामणी त्वौषधम्। तथा च ब्राह्मणम् 'त्वष्टा हतपुत्रः। अभिचरणीयमुपेन्द्रꣳ सोममाहरत् तस्येन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा सोममपिबत् स विष्वङ् व्यार्छत् तस्य मुखात् प्राणेभ्यः श्रीयशसान्यूर्ध्वान्युदक्रामंस्तानि पशून् प्राविशंस्तस्मात् पशवो यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सौत्रामण्याभिषिच्यते। ततोऽस्मा एतमश्विनौ च सरस्वती च यज्ञꣳ समभरन् सौत्रामणीं भैषज्याय तयैनमभ्यषिञ्चंस्ततो वै स देवानाꣳ श्रेष्ठोऽभवच्छ्रेष्ठः स्वानां भवति य एनयाभिषिच्यते' (श० १२।८।३।१-२)। तथैवेन्द्रस्य परमात्मन एवांशभूतो जीवोऽपीन्द्र एव सन् मायामोहितो भूत्वा अदत्तादानाद् विशीर्यते। तस्य

यशआदीनि ततो विनिःसृत्यान्यत्र गतानि भवन्ति । सर्वे देवास्तं भिषज्यन्ति । तत्राश्विनौ सरस्वती च भिषजः सर्वे महात्मानः कारुणिकाः सन्तश्चात्र देवाः । रामलक्ष्मणौ बलकृष्णावश्विनौ, महाशक्तिः श्रीसीता राधा वा सरस्वती । तत्र भगवदाराधनबुद्धया सौत्रामण्युपलक्षितविविधयागानुष्ठानेन संस्कृतोऽभिषिक्तो जीवोऽपि सर्वा आर्तीरीप्सामूला उन्मूल्य अविद्यां तत्परिवारांश्च बाधित्वा तत्त्वज्ञानादिक्रमेण ब्रह्मात्मभावं स्वाराज्यमाप्नोति ।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होतोर्णम्रदा भिषक् शिशुमती अश्वा च दुहे बर्हिर्यक्षत् नासत्यावश्विनौ भिषजा यजेतां भिषग् धेनुः सरस्वती भिषगिन्द्राय यक्षत्, तथा यानि परिस्रुता भेषजं पयः सोमो घृतं व्यन्तु, तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात् । प्रशंसितबाला वडवा कस्य पूर्णतायै अन्तरिक्षं सङ्गता स्यात् ? उत्तमवैद्यौ किमर्थं सङ्गतौ स्याताम् ? रोगनिवारको भिषग् धेनुरुत्तमविज्ञानवती वाणी भिषक् च जीवाय सङ्गच्छेरन्नित्यादिकमपि विशृङ्खलमेव, अल्पज्ञानां जडानां च तादृशाभिप्रायेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः ॥ ३३ ॥

होता॑ यक्ष॒द् दुरो॒ दिशः॑ कव॒ष्यो॑ न व्यच॑स्वतीर॒श्विभ्या॒ं न दुरो॒ दिश॒ इन्द्रो॒ न रोद॑सी दुघे॑ दु॒हे धे॒नुः सर॑स्वत्य॒श्विनेन्द्रा॑य भेष॒जꣳ शु॒क्रं न ज्योति॑रिन्द्रि॒यं पयः॒ सोमः॑ परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्य॒न्त्वाज्य॑स्य होत॒र्यज॑ ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के होता ने दिशाओं के समान अवकाश वाले झरोखों से गमनागमन के योग्य द्वारों की देवियों के, इन्द्र सरस्वती तथा अश्विनीकुमारों के निमित्त यजन किया, जहाँ दिशाओं के समान द्वार, अश्विनीकुमारों के साथ परिपूर्णता को प्रदान करने वाले द्यावापृथिवी तथा इन्द्र के निमित औषध को पूर्ण किया था। सरस्वती ने धेनु बन कर इन्द्र के निमित्त शुद्ध तेज और वीर्य को पूर्ण किया था। हे होता! तुम भी इसी प्रकार देवताओं का यजन करो ॥ ३४ ॥

दैव्यो होता दुरो यज्ञद्वारः प्रयाजदेवी इन्द्र इन्द्रं सरस्वती सरस्वतीं अश्विना अश्विनौ च यक्षद् यजतु । नकाराश्चार्थाः । दुरं इति द्वारशब्दस्य सम्प्रसारणम् । कीदृशीर्द्वारः ? दिशः, दिश इव सावकाशाः । कवष्यः सच्छिद्राः । अत एव व्यचस्वतीः, व्यचो व्यञ्चनं विविधं गमनं विद्यते यासु ताः, अधिकृतजनगमनवत्यः । दिशो दिक्तुल्या दुरो द्वारः । अश्विभ्यामधिष्ठिता यज्ञगृहद्वारो दिश इव बभूवुः । रोदसी द्यावापृथिव्यौ इन्द्राय भेषजं दुहे दुग्धे । कीदृश्यौ रोदसी ? दुघे, दुग्ध इति दुघे, 'दुहः कब्घश्च' (पा० सू० ३।२।७०) इति हकारस्य घकारः, अभीष्टपूरके । सरस्वती च धेनुर्भूत्वा इन्द्राय शुक्रं शुक्लं शुद्धं ज्योतिरिन्द्रियं वीर्यं च दुहे दुग्धे । यद्वा इन्द्रो रोदसी दुघे । इन्द्रश्च या द्वारोऽधिष्ठाय रोदसी द्यावापृथिव्यौ दुघे दुग्धवान् । हकारस्य घकारः । याश्चाधिष्ठाय सरस्वती धेनुर्भूत्वा अश्विनौ च दुहे । कस्मै च दुहे ? किञ्च दुहे ? इत्यत आह— इन्द्राय दुहे । भेषजं शुक्रं शुक्लं ज्योतिश्च इन्द्रियं दुहे तादृशीर्द्वारो यजत्विति सम्बन्धः । अश्विसरस्वतीन्द्राश्च पयःप्रभृतीनि व्यन्तु । हे मनुष्यहोतः, त्वमाज्यस्य यज ।

अध्यात्मपक्षे—तत्तधिष्ठातारो ब्रह्मात्मका देवा इन्द्राय शुक्लं ज्योतिर्दुहत इत्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

होता॑ यक्षत्सु॒पेश॑सो॒षे नक्तं॒ दिवा॑श्विना॒ सम॑ञ्जा॒ते सर॑स्वत्या॒ त्विषि॒मिन्द्रे॒ न भे॑ष॒जꣳ श्ये॒नो न रज॑सा हृ॒दा श्रि॒या न मास॑रं॒ पय॒ः सोम॑ः परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के होता ने सुन्दर रूप वाले दिन-रात, सरस्वती तथा अश्विनीकुमारों के निमित्त यजन किया था, इस यज्ञ में उन्होंने रात-दिन की ज्योति के द्वारा चित्त और लक्ष्मी के साथ औषध-यव आदि को, औषधि के जल, श्येनपत्र तथा कान्ति को इन्द्र में संश्लिष्ट किया था। हे होता ! तुम भी इन्हीं द्रव्यों से उक्त देवताओं का यजन करो ॥ ३५ ॥

दैव्यो होता सुपेशसा सुरूपे उषे द्विवचनाद्रात्रिश्च नक्तोषे प्रयाजदेवौ सरस्वत्या सहितौ अश्विनौ च यक्षद् यजतु, तौ चाश्विनौ नक्तं दिवा दिने च रजसा ज्योतिषा, रजःशब्दो ज्योतिर्वचनः, हृदा चित्तेन, श्रिया च सह मासरं भेषजं मासररूपमौषधं श्येनः श्येनपत्रं त्विषिं कान्तिं च इन्द्रे समञ्जाते संश्लेषयतः। ते पयआदीनि व्यन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमाज्यस्य यज। यद्वा नक्तं दिवा रात्रावहनि च सरस्वत्या सहितौ यावश्विनौ इन्द्रे त्विषिं दीप्तिं भेषजं च संश्लेषयतः, यश्च श्येनो रजसा ज्योतिषा हृदा हृदयेन श्रिया न श्रिया च मासरमुपादाय इन्द्रे समनक्ति, तं च होता यजतु। श्येनः सूर्यः। स हि श्येनपक्षिवत् स्वच्छन्दमन्तरिक्षे चरति। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता सुपेशसा सुपेशसौ सुष्ठु शोभनं पेशो रूपं ययोस्तौ, उषे नक्तोषे तदभिमानिनौ प्रयाजदेवौ यजतु। यौ चाश्विनौ नासाधिष्ठातृदेवौ इन्द्रे देवराजे जीवे च त्विषिं दीप्तिं भेषजमस्वास्थ्यनिवारकं समञ्जाते संश्लेषयतः, यश्च श्येनश्चिदाकाशे स्वच्छन्दविहरणशीलः सूर्यमण्डलाधिष्ठातृदेवो रजसा ज्योतिषा श्रिया च सह मासरमुपादाय इन्द्रे समनक्ति, तं च होता यजतु। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा सुपेशसौ सुखरूपे स्त्रियौ उषे कामं दहन्त्यौ नक्तं दिवा अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ सरस्वत्या विज्ञानवत्या वाचा इन्द्रे त्विषिम् ऐश्वर्यवति प्राणिनि भेषजं जलं समञ्जाते, न च रजसा सह श्येनो न होता श्रिया न हृदा मासरं यक्षत्तथा यानि परिस्रुता पयः सोमो घृतं मधु व्यन्तु, तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वादेव। के ते स्त्रियौ ? कथं च ते कस्मिन्नैश्वर्यवति प्राणिनि दीप्तिं जलं च समञ्जाते ? सूर्याचन्द्रमसोस्तत्र कथमुपयोगः ? कथं च श्येनपदवाच्यो विद्वान् ? लोकैस्तस्य कथं सहभावः ? सर्वथापि निरर्थकोऽयं व्यापारः ॥ ३५ ॥

होता॑ यक्ष॒द्दैव्या॒ होता॑रा भि॒षजा॒श्विनेन्द्रं॒ न जागृ॑वि॒ दिवा॒नक्तं॒ न भे॑ष॒जैः शूषꣳ सर॑स्वती भि॒षक् सीसे॑न दुह इन्द्रि॒यं पय॒ः सोम॑ः परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के होता ने देवसम्बन्धी हवि के वाहक अग्निदेव, मध्यम प्रयाजदेव, वैद्य अश्विनीकुमार और इन्द्र का यजन किया था। दिन-रात जागने वाली, अपने कार्य को सिद्ध करने में सावधान, वैद्य का काम करने वाली सरस्वती ने औषधियों के साथ बल और वीर्य को बढ़ाने वाले शीशे से रसायन का निर्माण किया था। इन्हीं द्रव्यों से वह उक्त देवताओं का यजन करती थी। हे होता ! तुम भी इन्हीं द्रव्यों से अग्नि आदि देवताओं का यजन करो ॥ ३६ ॥

दैव्यो देवानां सम्बन्धी होता ह्वाता दैव्या दैव्यौ होतारा होतारौ अयमग्निरसौ च मध्यमो वायुस्तावेतौ प्रयाजदेवौ भिषजौ सुरवैद्यौ अश्विनौ इन्द्रं च यक्षद् यजतु। नकाराश्चार्थीयाः। भिषग्भूता सरस्वती दिवानक्तं जागृवि जागरणशीला सती स्वकार्यसाधने कदाचनाप्यप्रमत्ता, 'जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन्' (उ० ४।५५), प्रातिपदिकत्वात् सौ, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति सोर्लुकि रूपम्। इन्द्रम् इन्द्रार्थं भेषजैः सह शूषं बलमिन्द्रियं वीर्यं च सीसेन कृत्वा दुहे दोग्धि। तां च दैव्यो होता यजतु। अश्व्यादयः पयआदीनि व्यन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमाज्यस्य यज।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मविवर्तो ब्रह्मरूपो दैव्यो होता ब्रह्मात्मकावेव दैव्यौ होतारौ यक्षद् यजति। भिषक् सर्वरोगनिर्वर्तिका सरस्वती ब्रह्मविद्यारूपा जागृवि स्वकार्यसाधने जागरूका दिवानक्तं भेषजैः शमदमादिभिः सह शूषं बलं निष्ठादार्ढ्यं सीसेन सीसवत् स्वच्छेन विचारेणेन्द्रियं वीर्यं च इन्द्रार्थं जीवार्थं दुग्धे।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता दैव्यौ होतारौ भिषजौ अश्विनौ इन्द्रं न यक्षद् दिवानक्तं जागृवि सरस्वती भिषग् भेषजैः सीसेन शूषं न इन्द्रियं दुहे, तथा यानि परिस्रुता पयः सोमो घृतं मधु व्यन्तु, तैः सह वर्तमानस्त्वम् आज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। दैव्यौ होतारौ भिषजौ कथं सङ्गतौ करणीयौ? तत्र विद्युत उपमानस्य कोऽभिप्रायः? वैद्यकशास्त्रविज्ञात्री स्त्री भिषक् च जलैर्धनुर्व्यवहारेण मूलवद् धनं पूरयतीति त्वदुक्तरीत्याऽर्थाङ्गीकारेऽपि तेन किं सिद्ध्यति? किं सरस्वतीभिषजौ धनुर्व्यापारयिष्यतः? सीसपदस्य कथं धनुरर्थः? एवं प्रकारेणोल्लङ्घ्यापि शब्दमर्यादां सर्वमपि निःसारमेव ॥ ३६ ॥

होता यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपसो रूपमिन्द्रे हिरण्ययमश्विनेडा न भारती वाचा सरस्वती मह इन्द्राय दुह इन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के होता ने इड़ा, भारती और सरस्वती नामक तीन प्रयाज देवियों के तथा इन्द्र और अश्विनीकुमारों के निमित्त यजन किया था। कर्मवान् त्रयीरूप वेदवाणी से ओषधियों को प्रकाशित कर इन्द्रिय-बल को बढ़ाने के लिये इन्द्र के निमित्त सरस्वती ने इस अनुष्ठान को पूर्ण किया था। हे होता। तुम भी इसी प्रकार इड़ा आदि का यजन करो ॥ ३७ ॥

दैव्यो होता इडा भारती सरस्वती चेति तिस्रो देवीः प्रयाजदेवता या इन्द्रे भेषजं कुर्वन्ति, ता इन्द्रे इन्द्रम् अश्विना अश्विनौ च यक्षद् यजतु। नद्वयं समुच्चयार्थीयम्। सरस्वती वाचा वेदत्रयीरूपया त्रयस्त्रिधातवस्त्रिभिः पशुभिश्च इन्द्रार्थमौषधं हिरण्ययं दीप्यमानं रूपं महस्तेज इन्द्रियं च दुहे दुग्धे। त्रयस्त्रिधातव इति तृतीयार्थे प्रथमा। त्रयो धातव इति प्रधानाङ्गोपाङ्गलक्षणाः प्रकारा येषां ते त्रिधातवः पशवः। ते च त्रय आश्विनो धूम्रः, सारस्वतो मेषः, ऐन्द्र ऋषभः। कीदृशाः पशवः? अपसः, 'अप इति कर्मनामसु' (निघ० २।१।१), तद्वन्तोऽपश्विनः कर्मवन्तः। छान्दसम् अपस् इति। तादृशैः क्रमोपयुक्तैस्त्रिभिः पशुभिः, भेषजरूपेन्द्रियमहांसि इन्द्राय दुग्धे प्रपूरयन्ति। अग्नयो वा त्रयस्त्रिधातवः, तैस्त्रिभिरग्निभिर्गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निभिस्तत्सर्वं दुग्धे।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता तिस्रो देवीर्न भेषजं यक्षत्, यथापसस्त्रिधातवस्त्रयो हिरण्ययं रूपमिन्द्रे यजेरन्, अश्विनेडा भारती च। सरस्वती वाचेन्द्राय मह इन्द्रियं दुहे। यथा यानि परिस्रुता पयः सोमो घृतं मधु व्यन्तु, तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, होतृपदस्य

विद्यादानाद्यर्थताया निर्मूलत्वात्। देवीरित्यस्य दीप्त्यर्थतासत्त्वेऽपि नीत्यर्थताऽसम्प्रतिपत्तिः। त्रयस्त्रिधातव-स्त्रयस्तदस्मद्युष्मत्पदवाच्याः, दधति सर्वान् विषयानिति धातवः, त्रयो धातवो येषां ते जीवा इत्यपि यत्किञ्चित्, अजीवानामपि त्रिगुणत्वेन त्रिधातुत्वोपपत्तेः। अन्यदपि नितान्तमसम्बद्धम् ॥ ३७ ॥

होता यक्षत्सुरेतसमृषभं नर्यापसं त्वष्टारमिन्द्रमश्विना भिषजं न सरस्वतीमोजो न जूतिरिन्द्रियं वृको न रभसो भिषग्यशः सुरया भेषजꣳ श्रिया न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने सुन्दर वर्षा के लक्षण वाले वीर्य से युक्त, वृष्टि के प्रवर्तक, मनुष्यों के हितकारी त्वष्टा नामक प्रयाज देवता का इन्द्र, अश्विनीकुमार और सरस्वती रूप चिकित्सकों के निमित्त यजन किया था। इन्होंने उद्यमयुक्त वैद्य, वृक और महौषधि के रस एवं ऐश्वर्य के साथ यजन किया था। इसमें मासर, पक्वान्न आदि औषधियों के रूप में प्रयुक्त हुए। इस यज्ञ के अनुष्ठान से इन्द्र अवश्य ही तेज, वेग, बल और यश के भागी होते हैं। हे होता, तुम भी इन पदार्थों से त्वष्टा आदि देवताओं का यजन करो ॥ ३८ ॥

अत्रापि नकाराः समुच्चयार्थीयाः। होता त्वष्टारं प्रयाजदेवमिन्द्रमश्विना अश्विनौ सरस्वतीं भिषजं च यक्षद् यजतु। त्वष्टारं विशिनष्टि—सुरेतसमिति। सुष्ठु शोभनं रेतो वीर्यं वृष्टिलक्षणं यस्य स सुरेताः, यद्वा सुष्ठु रेतो यस्मात् स सुरेताः, तम्। पुंसो रेतःकारणभूतम्। ऋषभं वर्षितारम्। नर्यापसं नरेभ्यो हितं नर्यम्, नर्यमपः कर्म यस्यासौ नर्यापाः, तम्। तादृशं त्वष्टारं होता यजतु। केन यजत्वित्यपेक्षायामाह—रभसो भिषग् वृक इति। रभसः सोद्यमो दक्षो भिषग् वैद्यभूतो यो वृकस्तेन। तृतीयार्थे प्रथमा। सौत्रामण्यां सुरायां वृकलोमानि प्रक्षिप्यन्ते, अतो वृकेन सुरया च यजतु। तथा भेषजं यन्मासरं तेन च यजतु। एवं सति यागे ओजस्तेजः, जूतिर्वेगः, इन्द्रियं वीर्यम्, श्रिया सह यशश्च इन्द्रे, भवन्त्विति शेषः। शेषं पूर्ववत्। यद्वा ओजो जूतिर्जव इन्द्रियं च वीर्यरूपो यो रभसः सोद्यमो दक्षो भिषग्भूतो वृकः, तेन यजतु। सुरायां वृकलोम्नां प्रक्षेपेण वृकगता ओजआदयो गुणा उद्भवन्ति। तथा मासरमुपादाय सुरया च यजतु। यशो भेषजं श्रिया सह इन्द्रे यजमाने वा भवन्तु। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, त्वं यथा होता सुरेतसमृषभं बलीवर्दं नर्यापसं त्वष्टारं दुःखच्छेत्तारमिन्द्रं परमैश्वर्यवन्तमश्विनौ वायुविद्युतौ भिषजं न वैद्यमिव सरस्वतीं बहुविज्ञानयुक्तां वाचमोजो न बलमिव जूतिर्वेग इन्द्रियं मनो वृको वज्रं रभसो वेगं यशो धनं बलं वा सुरया भेषजं श्रिया न इव मासरं संस्कृतभोजनं यक्षत् प्राप्नुयात्, तथा परिस्रुता सर्वतोऽभिगतेन पुरुषार्थेन पयः पातुं योग्यं सोममैश्वर्यं घृतं मधु च व्यन्तु। तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात् ॥ ३८ ॥

होता यक्षद्वनस्पतिꣳ शमितारꣳ शतक्रतुं भीमं न मन्युꣳ राजानं व्याघ्रं नमसाश्विना भामꣳ सरस्वती भिषगिन्द्राय दुह इन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने क्रोधरूप भयदायक अनेक यज्ञों के सम्पादक, संस्कार करने वाले, वनस्पतिरूप प्रयाज देवता के लिये विशेष कर सूंघने वाले व्याघ्र के समान राजा शतक्रतु इन्द्र के लिये, अश्विनीकुमार और सरस्वती के लिये अन्न के द्वारा यजन किया था। वैद्यरूप सरस्वती ने इन्द्र के निमित्त क्रोध और बल को दुहा था। हे होता! तुम भी उक्त देवताओं के निमित्त इसी प्रकार यजन करो ॥ ३९ ॥

दैव्यो होता वनस्पतिं प्रयाजदेवं शमितारं पशूनां संस्कर्तारं भीमं यूपरूपेण भयङ्करं मन्युं क्रोधात्मानं व्याघ्रं विशेषेण आसमन्ताज्जिघ्रतीति व्याघ्रस्तम्, व्याघ्रमिव राजानमारण्यानां शतक्रतुं बहुकर्माणम् इन्द्रमश्विनौ सरस्वतीं च नमसान्नेन यक्षद् यजतु। भिषग्वैद्यरूपा या सरस्वती इन्द्राय भीमं भयङ्करं मन्युं क्रोधमिन्द्रियं च दुहे दोग्धि, तां च दैव्यो होता यजतु। इज्यमानास्ते वनस्पत्यादयः पयआदीनि पिबन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमप्याज्यस्य यज।

अध्यात्मपक्षे—भौमरथादिरूपेण भूमिरिव तत्तत्क्रियाकारकद्रव्यदेवतादिरूपेण परमात्मैव क्रीडति।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा भिषग् होता इन्द्राय वनस्पतिमिव शमितारं शतक्रतुं भीमं न मन्युं नमसा व्याघ्रं न राजानं यक्षत्। सरस्वती अश्विनौ भीमं दुहे तथा परिस्रुता इन्द्रियं पयः सोमो घृतं मधु व्यन्तु, तैः सह त्वमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः, असङ्गतेः, असम्बद्धत्वाच्च। वनस्पतिपदस्य किरणपालकत्वार्थानुपपत्तिः, भीमं न मन्युं नमसेत्यसङ्गतिश्च ॥ ३९ ॥

होता यक्षदग्निꣳ स्वाहाज्यस्य स्तोकानाꣳ स्वाहा मेदसां पृथक् स्वाहा छागमश्विभ्याꣳ स्वाहा मेषꣳ सरस्वत्यै स्वाहा ऋषभमिन्द्राय सिꣳहाय सहस इन्द्रियꣳ स्वाहाग्निं न भेषजꣳ स्वाहा सोममिन्द्रियꣳ स्वाहेन्द्रꣳ सुत्रामाणꣳ सवितारं वरुणं भिषजां पतिꣳ स्वाहा वनस्पतिं प्रियं पाथो न भेषजꣳ स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणो अग्निर्भेषजं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने घृत के उत्तम बिन्दुओं से अग्नि का यजन किया, मेदावर्धक पदार्थ से अग्नि का यजन किया। अश्विनीकुमारों के निमित्त छाग की, सरस्वती के निमित्त मेष की, सिंह के समान पराक्रमी बलरूप इन्द्र के निमित्त उपयोगी बलसम्पन्न वृषभ की आहुति दी और हितकारी अग्नि की स्तुति की। बलकारी सोम की भी आहुति दी। सुरक्षक इन्द्र, सविता देवता और वैद्यों के पति वरुण के निमित्त आहुति दी। प्रिय अन्नभूत भेषज की वनस्पति के निमित्त आहुति दी। आज्यपा नामक घृत पीने वाले देवता, औषधि सेवन करने वाले अश्विनीकुमार, सरस्वती, इन्द्र आदि देवता सोम का पान करें। हे मनुष्य होता! तुम भी उनकी प्रीति के निमित्त घृत आदि की आहुति दो ॥ ४० ॥

दैव्यो होता अग्निं प्रयाजदेवमाहवनीयं वा यक्षद् यजतु। किञ्च, आज्यस्य घृतस्य स्तोकानां विप्रुषां स्वाहा सुष्ठु शोभनमाह वदतीति स्वाहा। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः, यजमान इति शेषः। यजमानो घृतबिन्दून् शोभनान् वदतीत्यर्थः। स्तोकानामिति कर्मणि षष्ठी। तथैव यजमानो मेदसां पृथक् स्वाहा, वपासम्बद्धानां मेदसां वपासम्बन्धीनि मेदांसि समीचीनानि पृथग् वदति। वपाः श्रप्यमाणा आज्येनाभिघार्यन्ते, तदभिप्रायमेतत्। तथा अश्विभ्यामश्विनोरर्थाय छागं स्वाहा छागं पशुं शोभनमाह। सरस्वत्यै मेषं पशुं स्वाहा। इन्द्राय इन्द्रियं वीर्यप्रदमृषभं स्वाहा शोभनमाह। कीदृशायेन्द्राय? सिंहाय, हिनस्तीति सिंहः, तद्वच्छत्रूणामभिभविता, तस्मै। सहसे बलात्मकाय भेषजं न भेषजवद्धितकारिणमग्निं च स्वाहा शोभनमाह।

इन्द्रियं वीर्यप्रदं सोमं सु आह । एतावग्नीषोमावाज्यभागौ च सु आह । सुत्रामाणं सुष्ठु त्रायते सुत्रामा तमिन्द्रं सवितारं भिषजां वैद्यानां पतिं वरुणं स्वाहा शोभनं वदति । पशुपुरोडाशदेवतां सु आह, प्रियमिष्टं पाथोऽन्नमन्नभूतं भेषजं च पशुदेवतानां वनस्पतिं प्रयाजदेवं सु आह । आज्यपा देवा आज्यपान् देवान् सु आह, 'प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपाः' (श० १।५।३।२३) इति श्रुतेः । स्वाहेति क्रियाया यजमानः कर्ता । 'देवा ह वा ऊचुर्हन्त विजितमेवानु सर्वं यज्ञꣳ सꣳस्थापयामः' (श० १।५।३।२१) इत्युपक्रम्य 'त उत्तमे प्रयाजे स्वाहाकारेणैव सर्वं यज्ञꣳ समस्थापयन् स्वाहाग्निम्' (१।५।३।२२) इति श्रुतेः समाप्तिवचनाः स्वाहाकाराः । जुषाणः प्रीत्या सेवमानोऽग्निरिन्द्राय यजमानाय वा भेषजमौषधं करोतु । भेषजमौषधभूतं जुषाणः सेवमानोऽग्निरश्व्यादयश्च दैव्येन होत्रेज्यमानाः पयःप्रभृतीनि व्यन्तु । हे मनुष्यहोतस्त्वमाज्यं यज ।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्म ब्रह्मविकारभूतो दैव्यो होता ब्रह्मात्मकमग्निं यक्षद् यजति, ब्रह्मभूतश्च यजमानो ब्रह्मभूतान् आज्यस्य बिन्दून् सु आह शोभनं ब्रह्मात्मकमाह । एवमेवोत्तरत्रापि ज्ञेयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होताऽज्यस्य स्वाहा स्तोकानां मेदसां स्वाहाग्निं पृथक् स्वाहाश्विभ्यां छागं सरस्वत्यै स्वाहा भेषजमिन्द्राय स्वाहर्षभं सहसे सिंहाय स्वाहेन्द्रियं स्वाहाग्निं न भेषजं सोममिन्द्रियं स्वाहा सुत्रामाणमिन्द्रं भिषजाम्पतिं सवितारं वरुणं स्वाहा वनस्पतिं स्वाहा प्रियं पाथो न भेषजं यक्षद्यथाज्यपा देवा भेषजं जुषाणोऽग्निश्च यक्षद्यथा यानि परिस्रुता पयः सोमो घृतं मधु व्यन्तु, तैः सहाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आज्यस्य प्राप्तुं योग्यस्य स्तोकानामुत्तमक्रियारूपस्वाहानिरूपणात्, स्निग्धपदार्थाः स्तोकानामिति कस्य विशेषणमित्यनिरूपणाच्च, मेदसां स्निग्धानां स्वाहा सुष्ठुरक्षणक्रियानिरूपणाच्च । किञ्च, घृतस्योत्तमक्रियया स्निग्धानां रक्षणक्रियया च अग्निः स्वाहा भिन्न-भिन्न-रीत्या अश्विभ्यां राज्यस्वामिपशुपालकाभ्यां छागं दुःखं छेत्तुं सरस्वत्यै विज्ञानयुक्तवाण्यै उत्तमक्रियया मेषं सेक्तारं परमैश्वर्यपरमोत्तमक्रियया ऋषभं यक्षत् सङ्गमयेदिति योजनेऽपि प्रयोजनानिष्पत्तेः । किञ्च, वनस्पतिं स्वाहोत्तमविद्यया सङ्गमयेदित्यस्य कोऽभिप्रायः ? सर्वानेव कुतो नोत्तमविद्यया योजयेत् ? तत्तत्पदानां ते तेऽर्था अपि चिन्त्या एव । अश्विपदस्य राज्यस्वामिपशुपालार्थता कथमिति तु नोक्तम् ॥ ४० ॥

होता॑ यक्षद॒श्विनौ॒ छाग॑स्य व॒पाया॒ मेद॑सो जु॒षेता॑ꣳ ह॒विर्होत॒र्यज॑ । होता॑ यक्ष॒त्सर॑स्वतीं मे॒षस्य॑ व॒पाया॒ मेद॑सो जु॒षता॑ꣳ ह॒विर्होत॒र्यज॑ । होता॑ यक्ष॒दिन्द्र॑मृष॒भस्य॑ व॒पाया॒ मेद॑सो जु॒षता॑ꣳ ह॒विर्होत॒र्यज॑ ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने अश्विनीकुमार का यजन किया । छाग की वपा की आहुति दी, अर्थात् यजमानों के छागों के पूर्ण पुष्ट होने पर जाना गया कि हवि स्वीकृत हुई । हे होता ! तुम भी इसी प्रकार यजन करो । दिव्य होता ने सरस्वती का यजन किया, मेष की वपा को मेदा के रूप में स्वीकार कर हवि को स्वीकार किया, अर्थात् यजमान के मेषों के पूर्ण पुष्ट होने पर जाना गया कि हवि पूर्ण पुष्ट हुई । हे होता ! तुम भी इसी प्रकार यजन करो । दिव्य होता ने इन्द्र का यजन किया, वृषभ की वपा को मेदा बनाकर हवि प्रदान की, अर्थात् यजमानों के वृषभों के पूर्ण हृष्ट-पुष्ट होने पर जाना गया कि इन्द्र ने हवि को स्वीकार कर लिया है । हे मनुष्य होता ! तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ४१ ॥

'होता यक्षदश्विनाविति त्रयो वपानां प्रैषा यथालिङ्गम्' (का० श्रौ० १९।६।२२) एकस्यामस्यां 'होता यक्षदश्विनौ' इति कण्डिकायाम् (१) होता यक्षदश्विनौ छागस्य, (२) होता यक्षत्सरस्वतीम्,

(३) होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य इति त्रयो वपात्रयस्य क्रमात् प्रैषा इति सूत्रार्थः। सप्त लिङ्गोक्तदेवताः। तत्राद्यास्त्रयो वपानां प्रैषाः। त्रयाणां प्राजापत्यापङ्क्तिश्छन्दः। द्वितीयस्य द्व्यधिका प्रथमतृतीययोरेकाधिका। दैव्यो होता अश्विनौ यक्षद् यजतु। इज्यमानौ तौ छागस्य वपाया मेदसो हविर्जुषेताम्, वपाया मेदः स्निग्धभागरूपं हविः प्रीत्या सेवेतामित्यर्थः। हे होतर्यज। होता सरस्वतीं यक्षत्। सा चेज्यमाना मेषस्य वपाया मेदसो हविर्जुषताम्। हे होतस्त्वं यज। होता इन्द्रं यक्षत्। स इन्द्र इज्यमान ऋषभस्य वपाया मेदसो हविर्जुषताम्। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणः सार्वात्म्यवर्णनप्रसङ्गेन ब्रह्मभूतो दैव्यो होता अश्विनौ ब्रह्मभूतावेव यक्षद् यजतु। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, त्वं यथा होताऽनेकव्यवहारान् यक्षत् सङ्गमयेत्, अश्विनौ पशुपालकृषीबलौ छागस्य वपाया बीजतन्तुसन्तानिकायाः क्रियाया मेदसो हविर्जुषेताम्, तथा यज। हे होतः, त्वं यथा होता मेषस्य वपाया बीजवर्धिकायाः क्रियाया मेदसो हविः सरस्वतीं च जुषताम्, यक्षत्तथा यज। हे होतः, त्वं यथा होतर्षभस्य वपाया बीजवर्धिकाया रीत्या मेदसो हविरिदं च जुषतां यक्षत्तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विपदेन पशुपालकृषीबलार्थबोधने मानाभावात्। तथैव वपापदस्यानेकेऽर्थाः कल्पनामात्रसारा निर्मूला एव। अपि च, लोके यैर्येषां सङ्गतिर्हितकारिणी, तल्लोकत एव सिद्धेति कृतं तदुपदेशपरेण वेदेनेति ॥ ४१ ॥

होता॑ यक्षद॒श्विनौ॒ सर॑स्वती॒मिन्द्र॑ꣳ सु॒त्रामा॑ण॒मि॒मे सोमाः॑ सु॒रामा॑ण॒श्छागै॒र्न मे॒षैर्ऋ॑ष॒भैः सु॒ताः शष्पै॒र्न तोक्म॑भिर्ला॒जैर्मह॑स्वन्तो॒ मदा॒ मास॑रेण॒ परि॑ष्कृताः शु॒क्राः पय॑स्वन्तो॒ऽमृताः॒ प्रस्थि॑ता वो मधु॒श्चुत॒स्तान॒श्विना॒ सर॑स्व॒तीन्द्रः॑ सु॒त्रामा॑ वृत्र॒हा जु॒षन्ता॑ꣳ सो॒म्यं मधु॒ पिब॑न्तु॒ मद॑न्तु॒ व्यन्तु॒ होत॒र्यज॑ ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने अश्विनीकुमार, सरस्वती और सुरक्षक इन्द्र का यजन किया। यह छाग, मेष और वृषभों के द्वारा मनोहर तथा तृण, अन्न, यवांकुर तथा खीलों के तेज से युक्त प्रसन्न करनेवाला, पक्व तण्डुल आदि से शोभित कान्तिमान्, दुग्धयुक्त अमृत रूप हवि की ओर आता हुआ मधु जैसा मिठास टपकाने वाला यह सोम रस आप लोगों के निमित्त प्रस्तुत है। अश्विनीकुमार, सरस्वती और सुरक्षक वृत्रनाशक इन्द्र इनका सेवन करें। मधु के जैसे मधुर सोम का पान करें, तृप्त होकर इस यज्ञ में विराजमान हों। हे होता! तुम भी इन देवताओं की स्तुति करते हुए इनका यजन करो ॥ ४२ ॥

'ग्रहाणां चतुर्थः' (का० श्रौ० १९।६।२३)। होता यक्षदश्विनौ सरस्वतीमिन्द्रमिति चतुर्थो ग्रहाणां प्रैष इति सूत्रार्थः। होता अश्विनौ सरस्वतीं सुत्रामाणं सुरक्षितारमिन्द्रं च यक्षद् यजतु। एवं होतारमुक्त्वा अथाध्वर्यूनाह—हे अध्वर्यवः, इमे सोमाः सुरामाणः सुरमणीयाः सुरावन्तो सुरामया वा छागैरजैः, मेषैरविभिश्च ऋषभैश्च सुता अभिषुताः समर्थीकृताः, तथा शष्पैस्तोक्मभिर्यवाङ्कुरैर्लाजैश्च महस्वन्तस्तेजस्विनः। मदा मदयन्ति तर्पयन्तीति मदास्तृप्तिकारिणः। मासरेण पूर्वोक्तेन परिष्कृता अलङ्कृताः शुक्राः शोचिष्मन्तः पयस्वन्तो पयसा संयुक्ता अमृता अमृततुल्यास्तद्वद्गुणकरा इति यावत्। प्रस्थिता होमाभिमुखं प्रचलिता इव वो युष्मत्सम्बन्धेन, अध्वर्युविषयमेतत्। मधुश्च्योतन्तीति मधुश्चुतो मधुस्राविणो विद्यन्ते। तानेतान् सोमान् अश्विनौ सरस्वती सुत्रामा साधुत्राण इन्द्रो वृत्रहा वृत्रघातको जुषन्ताम्, जुषित्वा च सोम्यं सोममयं मधु पिबन्तु च मदन्तु व्यन्तु राजन्तां

हविर्भक्षयन्तु वा। त्वमपि हे मनुष्यहोतर्यज। यद्वा हे अध्वर्यवः, इमे सोमा वो युष्माकं युष्माभिः सुता अभिषुताश्छागैर्मेषैर्ऋषभैश्च सुरामाणः सुष्ठु रमयन्ति ये ते सुरमणीया वा सुरावन्तः सुरामया वा। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मभूतो होता तादृशानेव अश्व्यादीन् यजतु।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा दाताश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ सरस्वतीं विज्ञानवतीं वाचं सुत्रामाणमिन्द्रं यक्षद् यजेत्। य इमे सुरामाणः सुदातारः सोमाः सुता ऐश्वर्यवन्त सभासदः, अभिषेक इव क्रियाजाताः। छागैर्न मेषैर्ऋषभैः शष्पैर्हिंसकैर्न तोक्मभिर्लाजैर्महस्वन्तो मदा मासरेण परिष्कृताः शुक्राः पयस्वन्तोऽमृता मधुश्च्युताः प्रस्थिता वो निर्मितास्तान् यक्षत्। यथाश्विना सरस्वती सुत्रामा वृत्रहेन्द्रश्च सोम्यं मधु जुषन्तां पिबन्तु सकलविद्या व्यन्तु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विपदस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्। सोमपदस्य ऐश्वर्यवन्तः सभासदोऽर्थ इत्यपि निर्मूलमेव। न च तेषामभिषेकविधानं श्रूयते। ते च छागैरिव मेषैर्ऋषभैर्हिंसकैरिव तोक्मभिर्लाजैश्च पयस्वन्तः सत्कारवन्त इत्यप्यर्थासिद्धिः। तस्माद्यत्किञ्चित्। सर्वस्य चैतस्यार्थस्य लौकिकत्वाद् वेदैकसमधिगम्यत्वाभावेन वेदविषयत्वायोगात् ॥ ४२ ॥

होता॑ यक्षद॒श्विनौ॑ छाग॑स्य ह॒विष॒ आत्ता॑म॒द्य म॑ध्य॒तो मेद॒ उद्भृ॑तं पु॒रा द्वेषो॑भ्यः पु॒रा पौरु॑षेय्या गृ॒भो घस्तां॑ नू॒नं घा॒से अ॑ज्रा॒णां यव॑सप्रथमानाᳫं सु॒मत्क्ष॑राणाᳫं शतरु॒द्रियाणामग्नि॒ष्वात्ता॑नां पीवो॑पवसनानां पार्श्व॒तः श्रो॑णि॒तः शि॑ताम॒त उ॑त्साद॒तोऽङ्गा॑दङ्गा॒दव॑त्ता॒नां कर॑त ए॒वाश्विना॑ जु॒षेता॒ᳫं ह॒विर्हो॑त॒र्यज॑ ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—होता ने अश्विनीकुमारों का यजन किया, उन्हें छाग की पोषक हवि प्रदान की, मध्य भाग में मेदा से पूर्ण हवि निश्चित रूप से रखी गई। यज्ञ के द्वेषी असुरों के आने से पहले ही, पुरुषार्थ वाली इड़ा के आने से पहले ही वह हवि अश्विनीकुमारों द्वारा स्वीकार कर ली गई। ग्रास में नवीन रुचि करने वाले अन्नों में मुख्य, अपने आप सुरक्षित, अनेकों मन्त्रों से प्रशंसित, पाक के समय प्रथम अग्नि द्वारा आस्वादित, स्थूल अंग के निकट रहने वाले पार्श्व भाग से, कटि भाग से, पाद स्थान से और उत्सादन स्थान से, प्रत्येक अंगों से धर्मानुसार ग्रहण की गई हवि को अश्विनीकुमार तृप्तिपर्यन्त स्वीकार करें। हे मनुष्य होता! तुम भी घृत से हवन करो। इसका अभिप्राय यह है कि रात-दिन रूप अश्विनीकुमार छाग आदि की हवि को क्षणिक परिणाम से लय करते रहते हैं, उनका कुछ भी शेष नहीं रहता। यह दिव्य हवन निरन्तर चलता रहता है। मनुष्यों को चाहिये कि वे प्रतिदिन देवताओं को घृत की आहुति से तृप्त करें ॥ ४३ ॥

'हविषामुत्तरे यथालिङ्गम्' (का० श्रौ० १९।६।२४)। चतुर्थात् प्रैषादग्रे पठ्यमाना 'होता यक्षदश्विनौ छागस्य हविषः' इत्याद्यास्त्रयो यथालिङ्गमाश्विनादिहविर्यागानां प्रैषा इति सूत्रार्थः। दैव्यो होता अश्विनौ यक्षद् यजतु। ताविज्यमानावश्विनौ देवौ छागस्य छागाङ्गस्य हविषश्छागसम्बन्धि हविरात्ताम् अभक्षयताम्। 'अद भक्षणे' इत्यस्य रूपम्। हविष इति कर्मणि षष्ठी। अद्य अस्मिन्नहनि मध्यत उदरमध्याद् उद्भृतमुद्धृतं मेदो वपारूपमात्ताम्। उद्भृतमित्यत्र 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ८।२।३२, वा० १) इति हकारस्य भकारः। द्वेषोभ्यो द्विषन्तीति द्वेषांसि, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन् प्रत्ययः, तेभ्यो यज्ञद्वेष्टृभ्योऽसुररक्षोभ्यः पुरा पूर्वमेवोद्धृतम्। यावदसुररक्षांसि पराभवाय आगच्छन्ति, ततः पूर्वमेवोद्धृतमित्यर्थः। तथा पुरा गृभो गृह्यते भक्ष्यार्थमृत्विग्भिरिति गृप्, तस्या इडायाः पुरा प्रथममुद्भृतम्। वपायागे इडाग्रहणभक्षणाभावात्। कीदृश्याः

गृभः ? पौरुषेय्याः, पुरुषार्थमियं पौरुषेयी, ऋत्विगर्था हि सा, तस्याः। तावश्विनौ नूनं निश्चयेन अङ्गानां सम्बन्धि स्वांशभागं घस्तां भक्षयताम्, अङ्गानि वा भक्षयताम्। कर्मणि षष्ठी। प्रयुक्तैर्विशेषणैर्विशेष्याणामध्याहारः। कीदृशानामङ्गानाम् ? घासे ग्रासे अज्राणां भक्षणे अजराणां नवानां नवनवायमानत्वेन रुचिजनकानाम्। अन्यानि घासेषूत्तरोत्तरं रुचिं जनयन्ति, नेमानि तथेत्यर्थः। तथा यवसप्रथमानां यवसानामन्नानां मध्ये प्रथमानां मुख्यानाम्, मांसत्वात्, 'एतद्वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्' इति श्रुतेः। सुमत्क्षराणां सुमत् स्वयं क्षरन्ति यानि तानि सुमत्क्षराणि, तेषाम्। 'सुमत्' इति स्वयंपर्यायः। शतरुद्रियाणाम्, 'रुद्र इति स्तोतृनामसु' (निघ० ३।१६।१२), रुद्रस्य स्तोतुरिमा रुद्रियाः स्तुतयः, शतमसंख्या रुद्रिया येषां ते शतरुद्रियाणाम्, अर्थाद् बहुभिर्मन्त्रैः स्तुतानाम्। अग्निष्वात्तानाम् अग्निना साधुपाकार्थमासादितानां साधुशृतानाम्, अग्निना वा स्वात्तानाम् आस्वादितानाम्। पाककाले पूर्वमग्निना सुशृतानामित्यर्थः। पीवोपवसनानाम्, पीवस्शब्दोऽसुन्नन्तः स्थूलवाची, पीवसां स्थूलानामङ्गानामुप समीपे वसनं स्थितिर्येषां तानि पीवोपवसनानि, तेषां स्थूलाङ्गसमीपस्थितानाम्, सूक्ष्माणामङ्गानामित्यर्थः। 'उपवसने पीवः' (वा० प्रा० ३।५४) इति सूत्रेणोपवसने परे पीवसो विसर्गलोपः। किञ्च, पार्श्वतः पार्श्वप्रदेशात् श्रोणितः कटिप्रदेशात् शितामतो बाहुप्रदेशात्। शितामशब्देन बाहुयकृद्योनिमेदांस्युच्यन्ते (निरु० ४।३)। प्रकृते बाहुरेव गृह्यते। उत्सादत, उत्सादनमुत्सादश्छेदनप्रदेशः, तस्मात्। एवमङ्गादङ्गात्। अङ्गादिति एकपदम् 'नित्यवीप्सयोः' (पा० सू० ८।१।४) इति द्वित्वम्। प्रसङ्गादवत्तानाम् अवदानधर्मेण गृहीतानामश्विनौ घस्तां तान् भक्षयतामिति सम्बन्धः। सर्वत्र कर्मणि षष्ठी। अथवा अङ्गादङ्गादवत्तानां पार्श्वतोऽवत्तानां पार्श्वं परशुमयमङ्गं भवति। श्रोणितोऽवत्तानाम्। एवमश्विनौ हविर्जुषेतां सेवेताम्। भक्षितावदानौ तौ करतः कुरुतः, तृप्तिमिति शेषः। विकरणव्यत्ययः। आदरायाभ्यासः। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—होता अश्विनौ तद्वत् सुन्दरौ रामलक्ष्मणौ यक्षद् यजतु। तौ चेज्यमानौ छागस्य तनुतां गतस्य स्वात्मानमेव भगवद्भोग्यत्वेनोपस्थापयतः सम्बन्धि हविः प्रेमरसात्मकम् अत्तां भक्षयताम्। अद्य अस्मिन्नवसरे मध्यतो हृदयाद् मेदः स्नेहात्मकं तत्त्वं द्वेषोभ्यो द्वेष्टृभ्योऽसुरराक्षसेभ्यो विघ्नार्थं प्रवृत्तेभ्यः प्रागेवोद्भृतम् उच्चैर्धारितं पुरा च पौरुषेय्या गृभो गृह्णातीति गृप्, कर्तरि क्विप्, तस्या ग्रहातिग्रहलक्षणायाः पुरुषसम्बन्धिया बाधायाः प्रवृत्तेः पुरैव प्रागेव उद्भृतम्। यावेवं उद्भृतं मेदः प्रेमात्मकं हविरात्ताम्, तावेव अद्य घस्ताम् आस्वादयताम्, अङ्गानां प्रेमरसाङ्गानां श्रवणादीनां स्वांशभूतमिति शेषः। अत्र विशेषणे विशेष्यस्य अध्याहारः। कीदृशानामङ्गानाम् ? नूनं निश्चयेन घासे ग्रासे, अज्राणाम् अजराणामित्थं नूत्नानां नवनवायमानानां यवसप्रथमानां यवसानामन्नानां भोग्यानां मध्ये प्रथमानां मुख्यानाम्। सर्वभोग्यापेक्षया प्रेमरसाङ्गानां लोकोत्तरत्वं प्रसिद्धमेव। सुमत्क्षराणां सुमत्स्वयं क्षरन्तीति सुमत्क्षराणि, तेषाम्। रसमयानां श्रवणकीर्तनस्मरणध्यानार्चनादीनां रसक्षरणशीलानाम्। शतरुद्रियाणां रुद्रस्य स्तोतुरिमा रुद्रियाः स्तुतयः, शतं रुद्रिया येषां तेषाम्। वेदपुराणादिषु श्रवणादीनामगणिताः स्तुतयः प्रसिद्धा एव। अग्निष्वात्तानाम् अग्निना विप्रलम्भरूपेण सुशृतानां परिपक्वानां पीवोपवसनानां पीवसां स्थूलानामङ्गानामुप समीपे वसनं स्थितिर्येषां तेषाम्। सूक्ष्माणामङ्गानां स्मरणसख्यात्मनिवेदनादीनां पार्श्वतः प्रेमरसाङ्गिनः पार्श्वप्रदेशात् श्रोणितः कटिप्रदेशात् शितामतो बाहुप्रदेशाद् उत्सादत उद् ऊर्ध्वं सादनं परमात्मने स्वात्मार्पणम्, तस्मात्। एवमङ्गादङ्गादवत्तानाम् अवदानधर्मेण गृहीतानाम् अङ्गानां स्वांशभूतम् अङ्गान्येव वा अश्विनौ आस्वादयताम्। एवं तौ हविर्जुषेताम्। एवं जुषमाणौ तौ करतः कुरुतः, तृप्तिमिति शेषः। तृप्तौ तौ भक्तानां तृप्तिं कुरुतः।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता अश्विनौ यक्षत् तौ चाद्य छागस्य मध्यतो हविषो मेद उद्भृतमात्ताम्, यथा वा पुरा द्वेषोभ्यो गृभो ग्रहीतुं योग्यायाः पौरुषेय्याः पुरुषाणां समूहे साध्व्याः पुरा नूनं घस्ताम्। यथा वा

यवसप्रथमानां घासे, अत्त्राणां भोजनेऽग्रे प्राप्तव्यानां सुमत्क्षराणां सुष्ठु मदा क्षरणं चालनं येषां तेषां शतरुद्रियाणां शतं रुद्रा देवता येषां तेषां पीवोपवसनानाम् अग्निष्वात्तानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः शितास्तीक्ष्णा आपो अपरिपक्वा यस्मिन् तस्मात्, उत्सादतोङ्गादङ्गादवत्तानां नम्रीभूतानामुत्कृष्टानामङ्गानामेवाश्विना करतो हविर्गुणैर्जुषेताम्, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विपदेनाध्यापकोपदेशकग्रहणे मानाभावात्, अन्येषामपि पदानामुक्तार्थताया निर्मूलत्वात्। गृभ इत्यनेन कथं स्त्रिया ग्रहणम्? तदतिरिक्तेऽपि ग्राह्यत्वसम्भवात्। ततः पुरैव कुतो भोक्तव्यमिति सर्वथापि निरर्थकमसम्बद्धं चेदं व्याख्यानम्॥ ४३॥

होता यक्षत्सरस्वतीं मेषस्य हविष आवयदद्य मध्यतो मेद उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घसन्नूनं घासे अज्त्राणां यवसप्रथमानाᳬ सुमत्क्षराणाᳬ शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करदेवᳬ सरस्वती जुषताᳬ हविर्होतर्यज ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने सरस्वती का यजन किया। उसने मेष की पोषक हवि को स्वीकार किया। सकल अंगों का शक्तिदानपूर्वक सेवन किया। ऐसी सरस्वती हवि को स्वीकार करे। प्रास में नवीन रुचि करने वाले, अन्नों में मुख्य, अपने आप सुरक्षित, अनेकों मन्त्रों से प्रशंसित, पाक के समय प्रथम अग्नि द्वारा आस्वादित, स्थूल अंग के निकट रहने वाले, पार्श्व भाग से, कटि भाग से, पाद स्थान से, उत्सादन स्थान से, प्रत्येक अंगों से धर्मानुसार ग्रहण की गई हवि को अश्विनीकुमार तृप्तिपर्यन्त स्वीकार करें। हे मनुष्य होता! तुम भी घृत से हवन करो॥ ४४॥

होता सरस्वतीं यक्षद् यजतु। या सरस्वती मेषस्य हविषो हविर् आवयद् अभक्षयत्, आङ्पूर्वस्य वेतेर्लेङि शपो लुगभावे रूपम्, यद्वा भक्षयतु, लेटि अडागमे वा रूपम्। आवयतेर्भक्षणे वृत्तिः (निघ० २।८।१)। अद्य मध्यतो मेद इत्यादिकं पूर्ववद् व्याख्येयम्। सा अङ्गानि घसत्। एवं सरस्वती हविर्जुषताम्, तृप्तिं च करदिति।

अध्यात्मपक्षे—सरस्वती ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री यक्षत्। मेषस्य मेषवद् युद्धकुशलस्यात्मनः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होताद्य मेषस्य उपदिष्टस्य शितामतस्तीक्ष्णस्वभावाद् हविषो मध्यतो यन्मेद उद्भृतम्, तत्सरस्वती चावयत् प्राप्नोति यक्षत्। द्वेषोभ्यः पुरा गृभो ग्रहीतुं योग्यायाः पौरुषेय्याः पुरा नूनं घसत्। घासेऽज्त्राणां भोजने कमनीयानां यवसप्रथमानां सुमत्क्षराणां श्रेष्ठानन्दवर्षकराणां पीवोपवसनानां स्थूलवस्त्रधारिणामग्निष्वात्तानामग्निविद्यावतां शतरुद्रियाणां पार्श्वतः श्रोणित उत्सादतः, अङ्गादङ्गादवत्तानां सकाशाद्विद्यां करदेवमेषा सरस्वती जुषताम्, तथा त्वं च हविर्यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मेषस्य उपदिष्टस्य शितामतस्तीक्ष्णस्वभावादित्यर्थस्य निर्मूलत्वात्। न च तथात्वे नियमः, उपदिष्टस्य मधुरस्वभावस्यापि दर्शनात्। दातुमर्हस्य पदार्थस्य कः प्रसिद्धव्यवहारः? तस्मात् कः स्निग्धपदार्थ उद्भ्रियते, तं वाचं च कः प्राप्नोति? शत्रुभ्यः पुरा ग्रहणयोग्यायाः पुरुषसम्बन्धिन्याः स्त्रियः पुरा निश्चये घसत् खादेद् इत्यादिकं सर्वमसम्बद्धमेव॥ ४४॥

होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य हविष आवयदद्य मध्यतो मेद उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घसन्नूनं घासे अज्त्राणां यवसप्रथमानाᳬ सुमत्क्षराणाᳬ शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करदेवमिन्द्रो जुषताᳬ हविर्होतर्यज ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने इन्द्र का यजन किया, ऋषभ की पुष्टिकारक और उपकारक हवि को अर्पित किया, उसने मध्य भाग में मेदा को पूर्ण रूप से स्थापित किया। यज्ञ के द्वेषी असुरों के आने से पहले ही उसने हवि का भक्षण कर लिया। ग्रास में नवीन रुचि करने वाले, अन्नों में मुख्य, अपने आप रक्षित, अनेकों मन्त्रों से प्रशंसित, पाक के समय प्रथम अग्नि द्वारा आस्वादित, स्थूल अंग के निकट रहने वाले पार्श्व भाग से, कटि भाग से, पाद स्थान से और उत्सादन स्थान से, प्रत्येक अंगों से धर्मानुसार ग्रहण की हुई हवि को इन्द्रदेव स्वीकार करें। हे मनुष्य होता! तुम भी इसी प्रकार हवन करो॥ ४५॥

होता इन्द्रं यक्षद् यजतु। स इन्द्र ऋषभस्य हविष आवयद् भक्षयतु। एवमिन्द्रो हविर्जुषतामित्यन्तं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—ऋषभस्य श्रेष्ठस्य तत्तुल्यस्य पवित्रस्य साधकस्य। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता घासेऽज्राणां यवसप्रथमानां सुमत्क्षराणामग्निष्वात्तानां शतरुद्रियाणामवत्तानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतोऽङ्गादङ्गाद्धविरिन्द्रं च करदिन्द्रो जुषतां यथाद्यर्षभस्य हविषो मध्यतो मेद उद्भृतं भावयत, द्वेषोभ्यः पुरा गृभः पौरुषेय्याः पुरा घसत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऋषभस्य मध्यतो मेदः किं कथमुद्भ्रियते? इत्यस्यानिरूपणात्। कथञ्चिद् गौण्या वृत्त्या लौकिकसाधारणार्थग्रहणेऽपि पुरुषार्थाभावात्॥ ४५॥

होता यक्षद्वनस्पतिमभि हि पिष्टतमया रभिष्ठया रशनयाधित। यत्राश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामानि यत्र सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्य ऋषभस्य हविषः प्रिया धामानि यत्राग्नेः प्रिया धामानि यत्र सोमस्य प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्य सुत्राम्णः प्रिया धामानि यत्र सवितुः प्रिया धामानि यत्र वरुणस्य प्रिया धामानि यत्र वनस्पतेः प्रिया पाथाᳬंसि यत्र देवानामाज्यपानां प्रिया धामानि यत्राग्नेर्होतुः प्रिया धामानि तत्रैतान् प्रस्तुत्येवोपस्तुत्येवोपावस्रक्षद्रभीयस इव कृत्वी करदेवं देवो वनस्पतिर्जुषताᳬं हविर्होतर्यज॥ ४६॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने वनस्पति यूप का यजन किया, क्योंकि यह रसवान् पशुओं को रोकने वाली रज्जु के द्वारा अपने अपने स्थान पर स्थिर रखता है, जहाँ कि अश्विनीकुमार के छाग की उपकारक हवि का प्रिय स्थान है, सरस्वती के मेष की उपकारक और इन्द्र के वृषभ की उपकारक हवि का प्रिय स्थान है। जहाँ अग्नि का, सोम का, सुरक्षक इन्द्र का, सविता का, वरुण का, वनस्पतियों का, घी पीने वाले देवताओं का और होता अग्नि का प्रिय स्थान है। इन अति वेगयुक्त स्थानों की भली प्रकार प्रशंसा करके ही, समीप में स्तुति करके ही, उक्त स्थानों में स्थित वनस्पति देवता स्वयं हवि का सेवन करते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ ४६॥

'उत्तमौ वनस्पतिस्विष्टकृतोः' (का० श्रौ० १९।६।२५) अन्ते पठ्यमानौ 'होता यक्षद्वनस्पतिमभि' (वा० सं० २१।४६) तथा 'होता यक्षदग्निं स्विष्टकृतम्' (वा० सं० ४७) इति क्रमेणेमौ वनस्पतियागे स्विष्टकृद्यागे च प्रैषौ इति सूत्रार्थः। वनस्पतिप्रकृतिको यूपो देवता। दैव्यो होता वनस्पतिं तत्प्रकृतिकं यूपं यक्षद् यजतु। हि यस्माद्वनस्पती रशनया रज्ज्वा अभ्यधित अभिधारितवान्, पशूनिति शेषः। दधातेर्लुङि 'स्थाघ्वोरिच्च'

(पा० सू० १।२।१७) इतीकारः। यूपे पशून् बध्नातीत्येतदभिप्रायम्। कथम्भूतया रशनया ? पिष्टतमया। पिष्टशब्दोऽत्र रूपवाची (निरु० ८।२०), अत्यन्तं पिष्टा पिष्टतमा सुरूपा, अत्यन्तं दृढा, एवमादिगुणयुक्ता तया, रभिष्टया रभते पशून्नियच्छतीति रब्धी, तृच् ङीप्, अतिशयेन रब्धी रभिष्ठा, 'तुश्छन्दसि' (पा० सू० ५।३।५९) इति इष्ठनि, 'तुरिष्ठेमेयःसु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः, अतिशयेन नियमकारिणी तया, समर्थयेति यावत्।

अथ वनस्पतिः प्रार्थ्यते—यत्र देशेऽश्विनोर्नासत्ययोः सम्बन्धिनश्छागस्य हविषश्छागरूपस्य हविषः प्रिया प्रियाणि इष्टानि धामानि स्थानानि, वर्तन्त इति शेषः। यत्र सरस्वत्या मेषस्य मेषरूपस्य हविषः प्रियाणि धामानि, यत्र इन्द्रस्य ऋषभस्य हविषः प्रियाणि धामानि, एते पशुपुरोडाशदेवाः। यत्र सोमस्य प्रियाणि धामानि, यत्राग्नेः प्रियाणि धामानि, एतावाज्यभागौ। यत्र सुत्राम्ण इन्द्रस्य, यत्र सवितुः प्रियाणि धामानि, यत्र वनस्पतेः प्रियाणि पाथांस्यन्नानि, यत्र देवानामाज्यपानां प्रयाजानुयाजानां प्रियाणि धामानि, यत्र होतुरग्नेः स्विष्टकृतः प्रियाणि धामानि, तत्र तेषु स्थानेषु, एतान् पशून् रभीयस इव च कृत्वी कृत्वा, रभन्ते ये ते रब्धारः, अतिशयेन रब्धारो रभीयांसः, तान् सरभसांश्च कृत्वा। एतान् पशून् प्रस्तुत्येव प्रस्तुत्य च। इवश्चार्थः। उपस्तुत्येव उपस्तुत्य च उप समीपे स्तुत्वा। पुनर्वचनमादरार्थम्। वनस्पतिर्देव उपावस्रक्षत्, उपावसृजतु स्थापयतु। सृजेर्लुङि रूपम्, लेटि वा 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिप्प्रत्ययेऽडागमे च रूपम्। वनस्पतिर्देव एवं करत् करोतु, हविश्च जुषताम्। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मात्मको होता ब्रह्मात्मकैर्हविर्भिर्ब्रह्मात्मकान् देवान् यजतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता पिष्टतमया रभिष्टया रशनया रश्मिना यत्राश्विनोः सूर्याचन्द्रमसोश्छागस्य छेदकस्य हविषः प्रिया धामानि, यत्र सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया कमनीयानि धामानि स्थानानि, यत्रेन्द्रस्यर्षभस्य प्राप्तुं योग्यस्य हविषः प्रिया धामानि, यत्राग्नेः प्रिया धामानि, यत्र सवितुः प्रेरकस्य प्रिया धामानि, यत्र वरुणस्य श्रेष्ठस्य प्रिया धामानि, यत्र वनस्पतेर्वटादेः प्रिया पाथांसि, यत्राज्यानां देवानां पृथिव्यादीनां प्रिया धामानि, यत्र होतुर्दातुरग्नेः प्रिया धामानि सन्ति, तत्रैतान् प्रस्तुत्येव प्रकरणेन संश्लाघ्य उपस्तुत्येव उपावस्रक्षद् रभीयस इव कृत्वी कृत्वा कार्येषूपयुञ्जीतैवं करद् यथा वनस्पतिर्देवो हविर्जुषतां हि वनस्पतिमभिस्रक्षदधित तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथाकथञ्चिद् गौणार्थस्वीकारेण प्रयोजनवदर्थासिद्धेः। अतिशयेन पिष्टाया अत्यन्तशीघ्रवर्धनशीलाया विविधारम्भाया रशना का ? कीदृशी च सा ? कथं च तया सह छागेन सम्बन्धः ? छागस्य च कथं सूर्याचन्द्रमसोः सम्बन्धेन पलितत्वम् ? मनुष्यादीनामपि तत्सम्बन्धेन पलितत्वाविशेषात्। सरस्वत्या नद्या मेषस्य हविषश्च जन्मानि स्थानानि नामानि क्व च कुत्र सन्ति ? तत्र कथमेतेषां पदार्थानां प्रकरणेन संश्लाघनमुपस्तवश्चेत्यादिकं सर्वमप्यसपष्टमेव ॥ ४६ ॥

होता यक्षदग्निꣳ स्विष्टकृतमयाडग्निरश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामान्ययाट् सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया धामान्ययाडिन्द्रस्य ऋषभस्य हविषः प्रिया धामान्ययाडग्नेः प्रिया धामान्ययाट् सोमस्य प्रिया धामान्ययाडिन्द्रस्य सुत्राम्णः प्रिया धामान्ययाट् सवितुः प्रिया धामान्ययाड् वरुणस्य प्रिया धामान्ययाड् वनस्पतेः प्रिया पाथाꣳस्ययाड् देवानामाज्यपानां प्रिया धामानि यक्षदग्नेर्होतुः प्रिया धामानि यक्षत् स्वं महिमानमायजतामेज्या इषः कृणोतु सो अध्वरा जातवेदा जुषताꣳ हविर्होतर्यज ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने स्विष्टकृत् अग्नि का यजन किया। स्विष्टकृत् अग्नि ने अश्विनीकुमारों के छाग की, सरस्वती के मेष की और इन्द्र के ऋषभ की उपकारक हवि से प्यारे धामों का यजन किया, अर्थात् तीनों देवताओं के पशुओं को हवि से पुष्ट किया। हवि के प्यारे धामों का, सोम के प्यारे धामों का, सुरक्षक इन्द्र के प्यारे धामों का, सविता और वरुण के प्यारे धामों का और वनस्पति के प्रिय धामों का यजन किया। घी पीने वाले देवताओं के और होता अग्नि के प्यारे धामों का यजन किया, अपनी महिमा का यजन किया। सब प्रकार से यजनयोग्य सकाम प्रजा इसी प्रकार यजन करे, यह प्रज्ञा वाला अग्नि यज्ञों को सम्पन्न करे, हवि का सेवन करे। इस प्रकार देवनियम का कार्य प्रवृत्त रहता है। हे मनुष्य होता, तुम भी शक्ति के अनुसार घृत से यजन करो॥ ४७॥

होता स्विष्टकृतमग्निं यक्षद् यजतु। योऽग्निः स्विष्टकृद् अश्विनोश्छागस्य हविषः सम्बन्धीनि प्रियाणि धामानि अयाट् अयाक्षीद् इष्टवान्, अवदानानि यजति स्मेत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रियाणि धामान्यवदानानि अयाट्, इन्द्रस्य ऋषभस्य हविषः प्रियाणि धामान्ययाट्, एताः प्रधानदेवताः। अग्नेः प्रियाणि धामान्ययाट्, सोमस्य प्रियाणि धामान्ययाट्। एतावाज्यभागौ। सुत्राम्णः सुष्ठु त्रायत इति सुत्रामा इन्द्रः, तस्य प्रियाणि धामान्ययाट्, सवितुः प्रियाणि धामान्ययाट्, वरुणस्य प्रियाणि धामान्ययाट्, एताः पशुपुरोडाश-देवताः। वनस्पतेः प्रियाणि पाथांस्यन्नानि, एतत् प्रधानाङ्गम्। आज्यपानां देवानां प्रिया प्रियाणि धामानि यक्षद् यजतु। एते प्रयाजानुयाजाः। होतुरग्नेः स्विष्टकृतः स्वस्यैव प्रिया प्रियाणि धामानि यक्षद् इष्टवान्, स्वं महिमानं स्वां विभूतिं यक्षत्। किञ्च, एज्या आ समन्ताद् इज्या यष्टुं योग्या यागार्हा इषः, इच्छन्तीति इषः, सकामाः प्रजाः, आ यजतां सम्यग् यजतु, यागशीला यागयोग्याश्च प्रजा आसमन्ताद् यजन्त्वित्यर्थः, वचनव्यत्ययः, स जातवेदाः स्विष्टकृदग्निरध्वरा अध्वरान् यज्ञान् कृणोतु करोतु, हविश्च जुषताम्। हे मनुष्यहोतः, त्वं यज। यद्वा इषा अन्नेन प्रजानां स्थितिरुत्पत्तिश्चेति इषः प्रजा उक्ताः। एज्या आसमन्ताद् यष्टुं योग्या देवता आयजताम्, यजन्त्वित्यर्थः। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मात्मको होता ब्रह्मात्मकैर्हविर्भिर्ब्रह्मात्मकान् देवान् आयजतामित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता स्विष्टकृतमग्निं यक्षत्, यथाग्निरश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामान्य-याट्, सरस्वत्या मेषस्य प्रिया धामानि ... स्वं महिमानमायजताम्, यथा जातवेदा य एज्या इषः कृणोतु सोऽध्वरा हविश्च जुषताम्, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदबाह्यत्वादसम्बद्धत्वाच्च। स्विष्टकृतमग्निमित्यत्र स्विष्टेन कृतमित्युक्तम्, अत्र किं स्विष्टं केन कृतमित्यादिकं सर्वमस्पष्टं निर्मूलं च। इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य ऋषभस्य उत्कृष्टगुणकर्मस्वभावस्य राज्ञ इन्द्रस्य सेना ईशस्य आज्यपानां ज्ञातव्यरक्षकाणां रसानामित्यादिकं सर्वमपि निर्मूलं निरर्थकं च॥ ४७॥

देवं बर्हिः सरस्वती सुदेवमिन्द्रे अश्विना। तेजो न चक्षुरक्ष्योर्बर्हिषा दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥ ४८॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर देवता वाले अनुयाज देवता बर्हि (कुशा) के साथ सरस्वती, अश्विनीकुमार और इन्द्र में तेज को स्थापित करते हुए, दोनों नेत्रों में चक्षु इन्द्रिय को धारण करते हुए धनलाभ के निमित्त इन्द्र को समृद्ध करने वाली हवि का भक्षण करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो। जैसे इन्होंने इन्द्र को तेज दिया, वैसे ही तुम्हें भी दें॥ ४८॥

'अनुवाचनप्रैषौ समस्याऽनुयाजप्रैषा देवं बर्हिरिति' (का० श्रौ० १९।७।२)। 'याज्याश्च' (का० श्रौ० १९।७।३)। अनुब्रूहीत्यनुवाचनम्, अमुं यजेति प्रैषश्च समस्य कर्तव्यौ, अश्विभ्यां सरस्वत्या इन्द्राय सुत्राम्णेऽनुब्रूहीत्येवम् । देवं बर्हिः सरस्वतीत्याद्या एकादश कण्डिकास्त्रिपशोरनुयाजानां प्रैषा याज्याश्च भवन्तीत्यर्थः। एकादशानुयाजप्रैषा अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याः, चतस्र आर्ष्यस्त्रिष्टुभो व्यवहितपदप्रायाः। सुदेवं शोभना देवा यस्य तत्, यद् बर्हिः, देवम् अनुयाजदेवता, तेन बर्हिषा सरस्वती अश्विना अश्विनौ च इन्द्रे तेजो दधुर्दधतु। अक्ष्योरिन्द्रनेत्रयोश्चक्षुर्गोलकयोश्चक्षुरिन्द्रियमिन्द्रियसामर्थ्यं च दधुः। नकारश्चार्थः। वसुवने वसुवननाय धनलाभाय वसुधेयस्य वसुनो धेयं वसुधेयं तस्य, वसुनिधानाय च अश्विसरस्वतीन्द्रा व्यन्तु हविर्भक्षयन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज। यद्वा यद्देवं बर्हिः सुदेवं शोभनदेवताकं तेन बर्हिषा सरस्वती अश्विनौ चेन्द्रे तेजः, नकारः समुच्चयार्थः, चक्षुश्च इन्द्रियं च अक्ष्योरक्ष्णोर्दधुः, वसुवने वसुवननाय धनलाभाय वसुधेयस्य वसुनिधानार्थम्, उभयत्र विभक्तिव्यत्ययः, अक्षिगोलकं स्थूलम्, तत्र सूक्ष्मं चक्षुरिन्द्रियं चक्षुषीन्द्रिये रूपदर्शनसामर्थ्यं च ततोऽपि सूक्ष्मम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे - यद्देवं दिव्यशक्तिसम्पन्नं बर्हिर्बर्हिरुपलक्षितं यज्ञादि कर्म, तेन बर्हिषा सरस्वती संविद् अश्विनौ परमात्मरूपौ, तद्वत् सुन्दरौ रामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ च इन्द्रे जीवे तेजो दधुर्दधतु। अक्ष्योरक्ष्णोश्चक्षुः, तत्रेन्द्रियं रूपदर्शनसामर्थ्यं च दधुर्दधतु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा सरस्वती स्त्री इन्द्रे देवं दिव्यं सुदेवं शोभनं विद्वांसं बर्हिरन्तरिक्षमश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ चक्षुस्तेजो न यजतः, तथा च विद्वांसो वसुधेयस्य वसुवनेऽक्ष्योर्बर्हिषेन्द्रियं दधुर्व्यन्तु च, तथैतत् त्वं धेहि प्राप्नुहि च' इति, तदपि यत्किञ्चत्, असम्बद्धार्थत्वात्, हिन्दीभाषार्थस्य संस्कृतव्याख्यानासम्बद्धत्वाच्च ॥ ४८ ॥

देवीर्द्वारो॑ अश्विना॑ भिषजेन्द्रे॒ सर॑स्वती । प्राणं न वीर्य॑ नसि द्वारो॑ दधुरिन्द्रियं व॑सुवने॑ वसुधेय॑स्य व्यन्तु यज॑ ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य द्वारदेवियों ने अनुयाज देवताओं के साथ वैद्य अश्विनीकुमार, सरस्वती और इन्द्र में बल और तेज का आधान करते हुए, नासिका में प्राण इन्द्रिय को धारण करते हुए, धनलाभ के निमित्त इन्द्र को समृद्ध करने वाली हवि का भक्षण करते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो। जैसे इन्होंने इन्द्र को तेज दिया, वैसे ही तुम्हें भी दें ॥ ४९ ॥

या देवीर्देव्यो द्वारो यज्ञगृहद्वारो देव्योऽनुयाजदेवा द्वारो द्वार्भिः, तृतीयार्थे प्रथमा, विभक्तिव्यत्ययः। सह भिषजा भिषजौ अश्विना अश्विनौ वैद्यौ सरस्वती च इन्द्रे वीर्यं बलं दधुः, नसि इन्द्रस्य नासिकायां प्राणमिन्द्रियं घ्राणेन्द्रियं च दधुः। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे - या देव्यो यज्ञगृहद्वारो अनुयाजदेवतास्ताभिः सह अश्व्यादय इन्द्रे जीवे वीर्यं दधुः, नसि प्राणं घ्राणमिन्द्रियं च दधुः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथाश्विनौ सरस्वतीभिषजौ इन्द्रे देवीर्द्वारः प्राप्नुवतो नसि प्राणं न वीर्यं द्वारश्च दधुर्वसुवने वसुधेयस्येन्द्रियं विद्वांसो व्यन्तु, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः। वायुसूर्यौ विज्ञानवती स्त्रीवैद्यौ च इन्द्रे ऐश्वर्यनिमित्तं द्वारः प्राप्नुवतो नसि प्राणं दधुः। शरीरस्य न छिद्राणि दधुरित्यादिकं सर्वं निरर्थकं निर्मूलं च। त्वद्रीत्या वायुसूर्ययोर्जडत्वेन स्त्रीवैद्यानां चाल्पशक्तिज्ञानत्वेन तेषां कुत्रापि बलाद्याधाने सामर्थ्याभावात् ॥ ४९ ॥

देवी उषासावश्विना सुत्रामेन्द्रे सरस्वती । बलं न वाचमास्य उषाभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य गुण वाली रात्रि और उषा काल की अधिष्ठात्री देवता, रात्रि और उषाकाल के साथ अश्विनीकुमार और सरस्वती इन्द्र में बल का और मुख में वाणी का बल बढ़ाते हैं । हे मनुष्य होता, तुम भी उसी प्रकार यजन करो । इन्द्र के समान तुम्हारे भी तेज में ये वृद्धि करें ॥ ५० ॥

देवी देव्यौ उषासौ नक्तोषासौ, अत्र छान्दस आदिपदलोपो द्रष्टव्यः, उषासाविति द्विवचनसामर्थ्याद्वा नक्तपदलोपोऽनुमातव्यः । नक्तोषसी अनुयाजदेव्यौ ताभ्यामुभाभ्यां नक्तोषाभ्यां सह अश्विनौ सुत्रामा शोभन-रक्षणकर्त्री सरस्वती च इन्द्रे बलं दधुः । तस्येन्द्रस्य आस्ये मुखे वाचमिन्द्रियं वागिन्द्रियसामर्थ्यं च दधुः । वागिन्द्रियमेव वा दधुः ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवी देदीप्यमाने उषासौ सायंप्रातःसन्धिवेले सुत्रामा सरस्वती अश्विनौ वसुवने वसुधेयस्य इन्द्रे बलमास्ये वाचमुषाभ्यामिन्द्रियं दधुः, सर्वान् व्यन्तु च, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उषासादिभिर्मुखे वागाधानस्य धनाधानस्य चासिद्धेः ॥ ५० ॥

देवी जोष्ट्री सरस्वत्यश्विनेन्द्रमवर्धयन् । श्रोत्रं न कर्णयोर्यशो जोष्ट्रीभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—सुख का सेवन करने वाली देवी द्यावापृथिवी अहोरात्र के द्वारा सरस्वती, अश्विनीकुमार और इन्द्र के बढ़ते हुए यश को बढ़ाते हैं, कान में श्रवणेन्द्रिय की शक्ति को धारण करते हैं । हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो, जिससे तुम्हारे तेज की वृद्धि हो ॥ ५१ ॥

ये जोष्ट्री जोषयित्र्यौ तर्पयित्र्यौ सुखस्य सेवयित्र्यौ वा देवी देव्यौ अनुयाजदेवते द्यावापृथिव्यौ अहोरात्रे वा, 'सस्यं च समा चेति कात्थक्यः' (नि० ९।४१), धान्याद्यधिष्ठात्री देवता संवत्सराधिष्ठात्री देवता चेति तदर्थः । तथा च कालाधिष्ठातृदेवतानुग्रहात् सुवृष्ट्या सुभिक्षं सुक्षेमं लोकप्रसिद्धमेव । सस्यानां पर्यवसानं द्यावापृथिव्योः संवत्सरस्य चाहोरात्रयोरिति कात्थक्यमतम् । ताभ्यां जोष्ट्रीभ्यां सह सरस्वती अश्विना अश्विनौ चेन्द्रमवर्धयन् । कथङ्कारमवर्धयन् ? तत्राह—इन्द्र यशो दधुः, तत्कर्णयोश्च श्रोत्रमिन्द्रियं दधुः । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवी प्रकाशदात्री जोष्ट्री सेवनीया सरस्वत्यश्विनौ इन्द्रं सूर्यमवर्धयन्, मनुष्या वा जोष्ट्रीभ्यां सेविकाभ्यां कालवेलाभ्यां कर्णयोर्यशः श्रोत्रं न दधुः, वसुधेयस्य वसुवन इन्द्रियं व्यन्तु, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोद्धृतनिरुक्तविरोधात्, असम्बद्धत्वाच्च, पूर्वापरविरोधश्च । क्वचिद् विज्ञानवती स्त्री सरस्वती, क्वचित्तादृशी स्त्री । अत्र तु विज्ञाननिमित्तेत्युक्तम् । एतादृशविषमार्थे किं मूलम् । जोष्ट्रीभ्यामिति कण्डिकायां द्विवचनप्रयोगः, तदनुरोधात् जोष्ट्रीति पदमपि कथङ्कारं न द्विवचनान्तम् ? कालवेलयोर्मनुष्यसेविकात्वमपि चिन्त्यमेव ॥ ५१ ॥

देवी ऊर्जाहुती दुघे सुदुघेन्द्रे सरस्वत्यश्विना भिषजावतः। शुक्रं न ज्योतिस्तनयोराहुती धत्त इन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—सभी कामनाओं को भली प्रकार पूरा करने वाली, रसवती, आह्वान रूप दिव्य सरस्वती और वैद्य अश्विनीकुमार सबकी रक्षा करते हैं, इन्द्र में वीर्य और हृदय में तेज का आधान करते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो, जिससे तुम्हारे तेज की वृद्धि हो ॥ ५२ ॥

ये देवी देव्यौ ऊर्जाहुती ऊर्जा रसवती आहुतिराह्वानं होमो वा ययोस्ते ऊर्जाहुती दुघे दुग्धो ये ते दुघे कामपूरयित्र्यौ सुदुघे सुदोहने ताभ्यामाहुतिभ्यां सह सरस्वती भिषजा भिषजौ सुरवैद्यौ अश्विनौ इन्द्रे इन्द्रम्, छान्दस इकारलोपः, अवतोऽवन्ति, वचनव्यत्ययः। कथङ्कारं कृत्वेति तदाह—ज्योतिस्तेज इन्द्रे धत्तो दधति, स्तनयोः शुक्रमिन्द्रियं च धत्तो दधति, वचनव्यत्ययः, नश्चार्थः। उत्तरार्धे आहुतीशब्दस्तृतीयार्थकः। जोष्टचोरेव देवताविकल्पः।

अध्यात्मपक्षे—याभ्यां देवीभ्यामूर्जाहुतिभ्यां सह सरस्वत्यादय इन्द्रे ज्योतिस्तदीयस्तनयोः शुक्रं दधुस्तत्सर्वं लीलया लोककल्याणाय ब्रह्मैव तेन तेन रूपेण विवर्तते।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यूयं यथा देवी कमनीये दुघे प्रपूरके प्रातःसायंवेले इन्द्रे ऊर्जाहुती अन्नरसाहुती सरस्वती सुदुघा भिषजा अश्विना अध्यापकोपदेशकौ च शुक्रं जलं न इव ज्योतिरवतस्तथा स्तनयोराहुती धत्त, वसुधेयस्य वसुवन इन्द्रियं धत्त, येनैतानि सर्वे व्यन्तु। हे गुणग्राहिन्, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रातःसायंवेलयोः कथमुत्तमतापूरकत्वम्? कथं आहुतिसरस्वत्यादीनां प्रकाशरक्षकत्वम्? स्तनयोर्ग्रहणयोग्या कीदृशी क्रिया? कथं च तद्धारणम्? एतत्सर्वमस्पष्टमेव, धर्मब्रह्मपर्यवसायिनि वेदे तदयोगाच्च ॥ ५२ ॥

देवा देवानां भिषजा होताराविन्द्रमश्विना। वषट्कारैः सरस्वती त्विषिं न हृदये मतिꣳ होतृभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के देवता, होता और अनुयाज देव होता के द्वारा वैद्य अश्विनीकुमार और सरस्वती इन्द्र में और हृदय में वषट्कारों की सहायता से कान्ति, बुद्धि और इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो, जिससे तुम्हारे तेज की वृद्धि हो ॥ ५३ ॥

देवा यौ देवौ होतारौ अनुयाजदेवौ देवानां भिषजौ अश्विना अश्विनौ सरस्वती च ताभ्यां होतृभ्यां सह वषट्कारैश्च सह इन्द्रम् इन्द्रे, विभक्तिव्यत्ययः, त्विषिं कान्तिं दधुः। हृदये पुण्डरीकाकारे मांसपिण्डे मतिमिन्द्रियं बुद्धिरूपेन्द्रियं दधुः। 'मनसश्चेन्द्रियत्वेऽयं प्रमाणं मन्त्रवर्णकः'। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव व्याख्या।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, भवन्तो यथा देवानां होतारौ देवा भिषजाश्विना वषट्कारेन्द्रियं दध्यातम्, सरस्वती त्विषिं न हृदये मतिं दध्यात्, तथा होतृभ्यां सहैता वसुधेयस्य वसुवन इन्द्रियं दधुर्व्यन्तु। हे मनुष्य, तथा त्वमपि यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, होताराविति द्विवचनस्यातन्त्रत्वात्, सरस्वत्या एकत्वं वैद्यद्वित्वं च किमभिप्रायकमित्यनुक्तेः ॥ ५३ ॥

दे॒वीस्ति॒स्रस्ति॒स्रो दे॒वीर॒श्विनेडा सर॑स्वती। शूषं॒ न मध्ये॒ नाभ्या॒मिन्द्रा॑य दधुरिन्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—इडा, सरस्वती और भारती नामक तीनों देवियों के साथ अश्विनीकुमार इन्द्र के निमित्त नाभि के मध्य में बल और इद्रिय की स्थापना करते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो, जिससे तुम्हारे तेज की वृद्धि हो ॥ ५४ ॥

यास्तिस्रो देवीर्देव्यो भारती इडा सरस्वती च तिस्रो देवीस्ताभिस्तिसृभिः, विभक्तिव्यत्ययोऽध्याहारश्च वाक्यवशात्, भारतीडासरस्वतीभिः सह अश्विना अश्विनौ इडा च सरस्वती च इन्द्राय इन्द्रे नाभ्यां मध्ये शूषं बलमिन्द्रियं च दधुः, नश्चार्थकः। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिन्, यथा तिस्रो देवीर्वसुधेयस्य मध्ये वसुवन इन्द्राय तिस्रो देवीर्दधुः, यथैत एतानि व्यन्तु तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च, अध्यापिकोपदेष्ट्र्योर्द्वित्वेन त्रित्वायोगात्, संसारे सर्वेऽप्युत्तमधनाकाङ्क्षिण इति तेषां मध्य इत्युक्तेर्निरर्थकत्वाच्च। तिसृणामुत्तम-मध्यम-निकृष्टानां कन्यानां धारकाः के? किमर्थं च ते कन्या धारयेयुरित्यस्याप्यनुक्तेः ॥ ५४ ॥

दे॒व इन्द्रो॒ नरा॒शꣳस॑स्त्रिवरू॒थः सर॑स्वत्या॒श्विभ्या॑मीयते॒ रथः॑। रेतो॒ न रू॒पम॒मृतं॑ ज॒नित्र॒मिन्द्रा॑य॒ त्वष्टा॒ दध॑दिन्द्रि॒याणि॑ व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—ऐश्वर्यवान् सभामण्डप, हविर्धान और आग्नीध्र रूप तीन घर वाला, जगत् का कर्ता, जहाँ बैठकर मनुष्य स्तुति करते हैं, ऐसा देवयाग के योग्य यज्ञरूपी रथ वीर्य, सौन्दर्य, अमृतमय उत्तम जन्म और इन्द्रियों की शक्ति को इन्द्र की आराधना के निमित्त लगावे। यह रथ सरस्वती और अश्विनीकुमार का वहन करता है। अभिप्राय यह है कि मन्त्रोक्त देवता इस यज्ञ के कर्ता यजमान के वीर्यरूप अमृत को बढ़ावें, सब इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ावे, विशेष कर जननेन्द्रिय को निज कार्य के साधन में समर्थ करें ॥ ५५ ॥

नराशंसो देवोऽनुयाजरूपो यज्ञः, 'नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यो नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति' (निरु० ८।६) इति यास्कोक्तेः। रेतो वीर्यं रूपं सौन्दर्यममृतं जनित्रम् उत्तमं जन्म इन्द्राय दधद् दधातु। नश्चार्थकः। कीदृशो नराशंसः? इन्द्रः परमैश्वर्यवान्। पुनः कीदृशः? त्रिवरूथः, त्रीणि त्रिसंख्याकानि वरूथानि गृहाणि सदोहविर्धानाग्नीध्ररूपाणि त्रिलोकीरूपाणि वा यस्य सः। पुनः कीदृशः? त्वष्टा जगतः कर्ता, यज्ञादेव जगदुत्पत्तेः। त्वक्षतेरत्र करोतौ वृत्तिः। तथा च यास्कः—'त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः' (निरु० ८।१३), 'त्वक्षतेर्वा स्यात् क्रियासामान्यमात्रवाचिन उत्सृष्टतनूकरणस्वार्थस्य' इति भगवद्दुर्गः। यस्य नराशंसस्य यज्ञस्य रथः सरस्वत्या अश्विभ्यां च ईयते उह्यते नीयते च। शिष्टव्याख्यानं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा त्रिवरूथ इन्द्रो देवः सरस्वत्या नराशंसोऽश्विभ्यां रथ ईयत इव सन्मार्गे गमयति, यथा वा जनित्रममृतं रेतो न रूपं वसुधेयस्य वसुवन इन्द्रायेन्द्रियाणि त्वष्टादयः। अथैत एतानि व्यन्तु तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यस्य त्रिवरूथत्वासम्भवात्, निरुक्तविरोधाच्च। न च जीवेष्विन्द्रियाणां धारणे मनुष्याः प्रयोजकाः सन्ति, कर्मसहकृतेश्वरसाध्यत्वात् ॥ ५५ ॥

दे॒वो दे॒वैर्वन॒स्पति॒र्हिर॑ण्यपर्णो अ॒श्विभ्या॒ꣳ सर॑स्वत्या सुपिप्प॒ल इन्द्रा॑य पच्यते॒ मधु॑ । ओज॒ न ज॒ूतिर्ऋ॑ष॒भो न भाम॑ वन॒स्पति॑र्नो॒ दध॑दिन्द्रि॒याणि॑ व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ।।५६।।

मन्त्रार्थ—देवताओं से अधिष्ठित होने के कारण सुवर्ण के वर्ण वाले अश्विनीकुमार सरस्वती के द्वारा सुन्दर फल वाले पूज्य वनस्पति देवता इन्द्र के निमित्त मधुर फल देते हैं। वही वनस्पति हममें तेज, वेग, परिमित क्रोध तथा इन्द्रियों के बल का आधान करें, अर्थात् हमारी दोनों फलप्रद भुजाएँ तेजस्विनी हों और चरणों में शीघ्र गमन की शक्ति प्राप्त हो। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो, जिससे तुम्हारे तेज की वृद्धि हो ॥ ५६ ॥

वनस्पतिर्यूपो देवो नोऽस्माकमोजस्तेजो जूतिर्जूतिम्, विभक्तिव्यत्ययः, वेगम्, भामं क्रोधमिन्द्रियाणि दधद् दधातु, यो वनस्पतिर्देव इन्द्राय मधु मधुरं फलं पच्यते पचति, फलतीति यावत्, इन्द्राय मधुरं फलं ददातीति तात्पर्यम्। नकारौ चार्थकौ। कीदृशो वनस्पतिः ? देवैर्हिरण्यपर्णः हिरण्यरूपाणि पर्णानि यस्य सः, देवा यस्य हिरण्यमयानि पर्णानीत्यर्थः। पुनः कीदृशो वनस्पतिः ? अश्विभ्यां सरस्वत्या च सुपिप्पलः, सुष्ठु शोभनं पिप्पलं फलं यस्य सः, अश्विनौ सरस्वती च यस्य वनस्पतेः फलानीत्यर्थः। पुनः कीदृशो वनस्पतिः ? ऋषभः पूज्यः। ऋषभशब्दः पूजावचन इत्युव्वटमहीधरौ। लोकेऽप्युत्तरपदस्थः पूजावचनः, तथा चामरसिंहः—'स्युरुत्तर-पदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः। सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः ॥' (३।१।५९) इति। अत्र रूपकालङ्कारः। तल्लक्षणं च—'रूपको रूपितारोपो विषये निरपह्नवे' इति। अथवा यो वनस्पतिर्देवैर्हिरण्यपर्णः, यस्य देवा एव हिरण्यमयानि पर्णानि, योऽश्विभ्यां सरस्वत्या च सुपिप्पलः, इन्द्रार्थं यो मधुराणि फलानि फलति, स ऋषभः पूज्यो जूतिर्वेगवान् ओजो भाममिन्द्रियाणि च नो दधातु।

अध्यात्मपक्षे—यो देवो वनस्पतिः, वनस्पतिरिव वनस्पतिः परमेश्वरो देवैर्हिरण्यपर्णो देवा एव यस्य ज्योतिर्मयानि पर्णानि, अश्विभ्यां सरस्वत्या च सुपिप्पलः, अश्विनौ सरस्वती च यस्य शोभनानि फलानि, इन्द्राय जीवाय यो विविधानि फलानि पच्यते, विविधानि मधुराणि फलानि ददातीत्यर्थः, स जूतिर्जववान् ऋषभः पूज्यश्च भगवान् नोऽस्माकमोजो बलमान्तरं बाह्यं च भामं क्रोधमिन्द्रियाणि च दधद् दधातु। क्रोधोऽपि व्यवहारेऽपेक्ष्यते। तथा चाह भारविः—'अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः' इति। वसुवने धनलाभाय वसुधेयस्य वसुनिधानाय, विभक्तिव्यत्ययः, तद्विभूतयोऽश्व्यादयो हविर्व्यन्तु गृह्णन्तु। हे होतस्त्वं यज।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथाश्विभ्यां देवैः सह देवो हिरण्यपर्णो वनस्पतिः सरस्वत्या सुपिप्पल इन्द्राय मध्विव पच्यते। जूतिरोजो न भाममृषभो न वनस्पतिर्वसुधेयस्य नो वसुवन इन्द्रियाणि दधद्यथैतानेतानि व्यन्तु त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विपदेन जलविद्युद्ग्रहणे मानाभावात्। वनस्पतिः सूर्य इत्यपि निर्मूलमेव। सरस्वती नीतिरित्यपि चिन्त्यम्, नीत्या सुपिप्पलस्य कः सम्बन्ध इत्यनुक्तेः ॥ ५६ ॥

दे॒वं ब॒र्हिर्वारि॑तीनामध्व॒रे स्ती॒र्णम॒श्विभ्या॒मूर्ण॑म्रदाः॒ सर॑स्वत्या स्यो॒नमि॑न्द्र ते॒ सदः॑ । ई॒शायै॑ म॒न्युꣳ राजा॑नं ब॒र्हिषा॑ दधुरिन्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ।। ५७ ।।

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, जल से उत्पन्न होने वाली औषधियों से दीप्तिमान्, ऊन के समान कोमल सुखरूप तुम्हारी सभा में और यज्ञ में अश्विनीकुमार और सरस्वती के द्वारा फैलाये हुए बर्हि के द्वारा दीप्तिमान् क्रोधरूपी इन्द्रिय को ऐश्वर्य के निमित्त स्थापित करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो, जिससे तुम्हारे तेज की वृद्धि हो ॥ ५७ ॥

वारितीनाम्, वारि जले इतिर्गतिर्यासां ता वारितयः, तासां वारिप्रभवाणामुदकवतीनां वरतराणामोषधीनाम्, वारामुदकानामितिर्निर्यासो वारितिर्दर्भौषधियुता, बहुत्वे वारितयः, तासां वा सम्बन्धि बर्हिः, हे इन्द्र, ते तव सदः सदसि, अध्वरे यज्ञेऽश्विभ्यामध्वर्युभ्यां सरस्वत्या च स्तीर्णमास्तृतम्। कीदृशं बर्हिः ? देवं देदीप्यमानम्, ऊर्णम्रदा ऊर्णेव म्रदीय ऊर्णम्रदाः, अतिशयेन मृदु म्रदीयः, ईयसुनि प्रत्यये टिलोपे, 'र ऋतो हलादेर्लघोः' (पा० सू० ६।४।१६१) इति रेफादेशे ईयभागस्य छान्दसे लोपे रूपसिद्धिः। अत एव स्योनं सुखरूपम्। हे इन्द्र, अश्विसरस्वत्योर्बर्हिषा सह राजानं दीप्यमानं मन्युं क्रोधमिन्द्रियं च त्वयि ईशायै ऐश्वर्याय ईशनमीशा तस्यै, स्त्रीत्वविवक्षायां 'गुरोश्च हलः' (पा० सू० ३।३।१०३) इत्यकारप्रत्यये टाप्, त्वयि दधुः। व्याख्यातमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—देवं देदीप्यमानं बर्हिः, ब्रह्मात्मकत्वाद् वारितीनामुदकवतीनामौषधीनां सम्बन्धि बर्हिः, अश्विभ्यां सरस्वत्या च ते तव सदः स्थानं स्तीर्णमास्तीर्णम्, तच्च स्योनं सुखात्मकम्, तस्मिन् सदसि ईशायै ईशितायै ऐश्वर्याय मन्युं क्रोधं त्वां राजानमिन्द्रिय अश्विनौ सरस्वती च बर्हिषा दधुः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र इन्द्रियस्वामिन्, यस्य ते तव सरस्वत्या सह स्योनं सदोऽस्ति, यथोर्णम्रदा य ऊर्णैराच्छादकैर्मृदन्ते, अश्विभ्यामध्वरे वारितीनां स्तीर्णं देवं बर्हिरीशायै मनुं राजानमिव बर्हिषा वसुधेयस्य वसुवन इन्द्रियं दधुर्व्यन्तु, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्योनस्य सुखस्य सदश्च वाण्याऽसम्बन्धात्। सदो नौयानमित्यपि कल्पनामात्रम्, अश्विपदेन वायुविद्युतोर्ग्रहणमपि निर्मूलमेव। अध्वरस्य शिल्पार्थतापि चिन्त्या। दिव्यमन्तरिक्षमीशायै यया क्रिया ऐश्वर्यं प्राप्यते, तस्यै मन्युं मननं राजानमिव प्रकाशमानमित्यादिकमप्यसम्बद्धमेव ॥ ५७ ॥

दे॒वो अ॒ग्निः स्वि॑ष्ट॒कृद् दे॒वान् य॑क्षद्यथाय॒थꣳ होता॑राविन्द्रम॒श्विना॑ वा॒चा वाच॒ꣳ सर॑स्वतीम॒ग्निꣳ सोम॒ꣳ स्वि॑ष्ट॒कृत्स्वि॑ष्ट॒ इन्द्रः॑ सु॒त्रामा॑ सवि॒ता वरु॑णो भि॒षगि॒ष्टो दे॒वो वन॒स्पतिः॒ स्वि॑ष्टा दे॒वा आ॑ज्य॒पाः स्वि॑ष्टो अ॒ग्निर॒ग्निना॒ होता॑ हो॒त्रे स्वि॑ष्ट॒कृद्यशो॒ न दध॑दिन्द्रि॒यमूर्ज॒मप॑चितिꣳ स्व॒धां व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर याग करने वाले अग्नि देवता ने यथायोग्य होता मित्रावरुण, अश्विनीकुमार, इन्द्र, वाणी सरस्वती, अग्नि और सोम देवताओं का वाणी से यजन किया। सुन्दर यज्ञ करने वाले सुरक्षक इन्द्र का भली प्रकार यजन किया गया। सविता देवता, वरुण, वैद्य देवता और वनस्पति का भी यजन किया गया। घी पीने वाले देवताओं का भी भली प्रकार यजन किया गया। अग्नि के द्वारा भी अग्नि का यजन किया गया। भली प्रकार यजन करने वाले दिव्य होता ने मनुष्य होता के निमित्त यश, इन्द्रिय, बल, अन्न और पितरों के लिये दिव्य स्वधा का आह्वान किया। धनवान् की यज्ञसिद्धि के निमित दी हुई आहुति के अपने अपने भाग को देवता स्वीकार करें। हे मनुष्य होता, तुम भी घृत से यजन करो ॥ ५८ ॥

देवो द्योतमानोऽग्निः स्विष्टकृत् सुष्ठु शोभनमिष्टं यागं करोतीति तथोक्तः, यथायथं यथास्वम्, अर्थाद् यो यथा यष्टव्यस्तथा वक्ष्यमाणान् तान् देवान् यक्षद् इष्टवान्। एवं सामान्यत उक्त्वा विशेषत आह—होतारौ अयं चाग्निरसौ च मध्यमो वायुः, होतृमैत्रावरुणौ वा इन्द्रम् अश्विना अश्विनौ च वाचा मन्त्रेण वाचं च यक्षत् सरस्वतीमग्निं सोमं च यक्षद् यजतु। किञ्च, स्विष्टकृत् शोभनयज्ञकारी सुत्रामा शोभनत्राणकृद् इन्द्रः

स्विष्टः सुष्ठु इष्टः। सविता वरुणो भिषग् इष्टः। वनस्पतिर्देवश्च इष्टः। आज्यपा देवाः प्रयाजानुयाजाः स्विष्टाः। अग्निरधिष्ठाता अग्निना भौमेन सुष्ठु इष्टः, हविर्द्वारेति शेषः। किञ्च, होता दैव्यः स्विष्टकृद् होत्रे मानुषाय यश इन्द्रियं ऊर्जमन्नमपचितिं पूजां स्वधां पित्रर्थमन्नं दधद् दधातु, ददात्वित्यर्थः। नकारश्चार्थकः। वसुवननाय वसुनिधानाय च देवा व्यन्तु हविरदन्तु। हे मनुष्यहोतः, यज।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर एव तत्तद्देवतारूपेण स्विज्यते।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वसुधेयस्य वसुवने स्विष्टकृद्देवोऽग्निर्देवान् यथायथं यक्षत्, यथा होतारौ अश्विनौ इन्द्रं वाचा सरस्वतीं वाचमग्निं सोमं च यथायथं गमयतः, यथा स्विष्टकृत् स्विष्टः सुत्रामेन्द्रः सविता वरुणो भिषगिष्टो देवो वनस्पतिः स्विष्टा आज्यपा देवा अग्निना स्विष्टो होता स्विष्टकृद् अग्निर्होत्रे यशो नेन्द्रियमूर्जमपचितिं स्वधां यथायथं दधत्, यथैतानेतानि व्यन्तु, तथा यथायथं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वैदिकप्रसिद्धस्विष्टकृद्देवताद्यज्ञानविजृम्भितत्वात्। शोभनमिष्टं सुखं करोतीति स्विष्टकृत् को वा भवति? सर्वथापि व्याख्यानमेतदसम्बद्धमेव। अत एव यत्किञ्चिदुच्यते। अश्विपदेन वायुविद्युदादिग्रहणं सर्वथापि निर्मूलमेव ॥ ५८ ॥

अ॒ग्निम॒द्य होता॑रमवृणीता॒यं यज॑मानः॒ पच॒न् पक्तीः॒ पच॑न् पु॒रो॒डाशा॑न् ब॒ध्नन्न॒श्विभ्यां॒ छाग॒ꣳ सर॑स्वत्यै मे॒षमिन्द्रा॑य ऋ॒ष॒भꣳ सु॒न्वन्न॒श्विभ्या॒ꣳ सर॑स्वत्या॒ इन्द्रा॑य सु॒त्राम्णे॑ सुरासो॒मान् ॥५९॥

मन्त्रार्थ— इस यजमान ने आज पकाने योग्य हवियों को पकाते हुए पुरोडाश का पाचन किया। अश्विनीकुमारों से प्रार्थना करने के निमित्त छाग को, सरस्वती के लिये मेष को और इन्द्र के लिये वृषभ को यूप से बाँधते हुए हवि से सन्तुष्ट किया। अश्विनीकुमार, सरस्वती और सबकी रक्षा करने वाले इन्द्र के निमित्त महान् औषधियों के रस और सोम को अभिषुत करके होता ने अग्नि का वरण किया ॥ ५९ ॥

'अग्निमद्येति सूक्तवाकप्रैषः' (का० श्रौ० १९।७।४)। अग्निमद्य होतारमित्यादिर्ब्रूहीत्यन्तः कण्डिकात्रयात्मकः सूक्तः सूक्तवाके प्रैषो भवतीति सूत्रार्थः। लिङ्गोक्तदैवतः प्रैषः। प्रथमा अष्टिः, द्वितीया धृतिः, तृतीया विकृतिः। अद्य अस्मिन् दिवसे, अयं यजमानः, अग्निं होतारम् अवृणीत वृतवान्। वृणातेर्लङि रूपम्। किं कुर्वन्? पक्तीः पक्तव्यानि हवींषि पचन्। सामान्यमेतत्। विशेषत आह—पुरोडाशान् पचन्। अश्विभ्यामश्विनोरर्थे छागं बध्नन्, यूप इति शेषः। सरस्वत्यै मेषं बध्नन्। इन्द्राय ऋषभं च बध्नन्। तथा अश्विभ्यां सरस्वत्यै सुत्राम्णे शोभनत्राणकृते इन्द्राय च सुरासोमान् सुन्वन्।

अध्यात्मपक्षे—अयं यजमानः साधको बहुतिथं कालं संसृतिसरणानन्तरं पुण्यपुञ्जवशादद्य रक्षकत्वेन आश्रयत्वेन च अग्निम् अग्रगण्यं भगवन्तमवृणीत वृतवान्, पक्तीः पक्तव्यानि नैवेद्यादीनि पचन्, पक्तव्यानि कर्माणि वा पचन् क्षपयन्। तदङ्गतया तस्मै पुरोडाशान् अश्विभ्यां छागं यूपे बध्नन् इन्द्राय ऋषभं बध्नन् वृथाजनितमन्नादिलक्षणं हविः प्रयोजयन् सरस्वत्यै मेषमिन्द्राय सुत्राम्णे सुरासोमान् समर्पयन्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथायं पक्तीः पचन् पुरोडाशान् पचन् यजमानो होतारमवृणीत, यथाश्विभ्यां छागं सरस्वत्यै मेषमिन्द्रायर्षभं बध्नन्, अश्विभ्यां सरस्वत्यै सुत्राम्णे इन्द्राय सुरासोमान् सुन्वन्, तथा यूयमद्य कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथा सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, छागं मेषमृषभं बध्नन्नित्यस्य निरर्थकत्वाच्च। नहि त्वद्रीत्या देवतोद्देश्येन पशूनां यूपे बन्धनम्, तथा सत्यपसिद्धान्तापातात् ॥ ५९ ॥

स॒प॒स्था अ॒द्य दे॒वो वन॒स्पति॑रभवद॒श्विभ्या॒ं छागे॑न॒ सर॑स्वत्यै मे॒षेणेन्द्रा॑य ऋष॒भेणा-क्षँ॒स्तान्मे॑द॒स्तः प्रति॑ पच॒ताग्॑भीष॒तावी॑वृधन्त पु॒रो॒डाशै॑र॒पु॒र॒श्विना॒ सर॑स्व॒तीन्द्र॑ः सु॒त्रामा॑ सुरा॒सो॒मान् ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—आज पशुओं के पोषक वनस्पति देवता छागों की वृद्धि का आशीर्वाद देने के लिये आये अश्विनी-कुमारों के निमित्त भली प्रकार उपस्थित हुए। मेषों की वृद्धि का आशीर्वाद देने के निमित्त आई सरस्वती देवी के लिये और वृषभ की वृद्धि का आशीर्वाद देने के लिये आये इन्द्र के निमित्त भली प्रकार से उपस्थित हुए। उन देवताओं ने छाग आदि पशुओं को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिये अपने अधिष्ठातृत्व के आधार से अपने-अपने कर्तव्यों का निर्वाह किया, पक्व हवियों को स्वीकार किया, पुरोडाश प्राप्त कर अपने बल को बढ़ाया। अश्विनीकुमार, सरस्वती और सुरक्षक इन्द्र ने रस और सोम का पान किया ॥ ६० ॥

अद्य अस्मिन् दिने, वनस्पतिर्देवश्छागेन हेतुना अश्विभ्यां सूपस्थाः सुष्ठु उपतिष्ठत इति तथोक्तः, छागेन अश्विनोः पूजां करोतीत्यर्थः। मेषेण सरस्वत्यै सूपस्था अभवत्। ऋषभेण इन्द्राय सूपस्था अभवत्। वनस्पतिना यूपात्मकेन छागमेषर्षभैरश्व्यादीनामुपस्थानं कृतमिति कुतो विज्ञायते ? तत्राह—अश्व्यादयो मेदस्तो वपामारभ्य तान् छागादीनक्षन् अभक्षयन्। पुनः पचता पचतानि, पच्यन्त इति पचतानि पक्वानि, विभक्ते-राकारः, 'भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्येभ्योऽतच्' (उ० ३।११०) इत्यतच्प्रत्ययः पचेः। अवदानानि प्रत्यगृभीषत प्रत्यगृह्णन्। पुनश्च ते पुरोडाशैरवीवृधन्त ऐधन्त। अश्विना अश्विनौ सरस्वती सुत्रामा इन्द्रश्च सुरासोमानपुः पीतवन्तः। सुराश्च सोमाश्च सुरासोमास्तान्, सुरामयान् सोमान् वा। पिबतेर्लङि पिबादेशा-भावश्छान्दसः। अथवा पातेर्लङि रूपम्, अरक्षन्नित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' (भ० गी० ४।२४) इति श्रीमद्भगवद्गीतारीत्या ब्रह्मणः सार्वात्म्य-मत्र प्रतिपाद्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाद्य सूपस्था देवो वनस्पतिरिव येन येनाश्विभ्यां छागेन सरस्वत्यै मेषेणेन्द्राय ऋषभेण अक्षंस्तान् मेदस्तः सुरासोमानपुस्तथा भवानभवद् भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः। सुष्ठु समीपे तिष्ठन्ति ते सूपस्था इति व्याख्यातम्। के च ते कश्च देवेन सार्धं तेषां सम्बन्धः। न च देव इत्यस्य वनस्पतिना सम्बन्धः, हिन्दीव्याख्यानविरोधात्। तत्र दिव्यगुणः पुरुष इत्युक्तम्। वनस्य पतिरिवेत्यपि निर्मूलम्, सादृश्यबोधकपदस्य मूलेऽभावात्। छागस्य दुःखच्छेदकत्वं कथम् ? कश्च प्रकृते छागस्योपयोगः ? एवमेतादृशमन्यदप्यूह्यम् ॥ ६० ॥

त्वाम॒द्य ऋ॑ष आर्षेय ऋषीणां नपादवृणीता॒यं यज॑मानो ब॒हुभ्य॒ आ सङ्ग॑तेभ्य ए॒ष मे॑ दे॒वेषु॒ वसु॒ वार्याय॑क्ष्यत॒ इति॒ ता या दे॒वा दे॑व दाना॒न्यदु॒स्तान्य॑स्मा॒ आ च॒ शास्स्वा च॑ गुरस्वेषि॒तश्च॑ होत॒रसि॑ भद्र॒वाच्या॑य॒ प्रेषि॑तो मानु॑षः सूक्तवा॒काय॑ सू॒क्ता ब्रू॑हि ॥ ६१ ॥

॥ इत्येकविंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—हे मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों के पुत्रों ! अथवा यजमान के द्वारा ऋषियों के निमित्त वरण किये गये ऋषियों के पौत्रों ! आज यह यजमान बहुत से देवताओं के यजन के निमित्त आप सबका वरण करता है। यह अग्नि देवता वरण करने योग्य धन देवताओं को देने के निमित्त वृत है। हे अग्निदेव, आपने यह जो दान देवताओं को

दिया, उसे आप इस यजमान को दीजिये और दान का उद्योग भी कीजिये। हे होता, तुम स्वस्ति कहने के लिये प्रेरित किये गये हो, मनुष्य होता सूक्त पढ़ने के लिये प्रेरित किया गया है। हे मनुष्य होता, तुम सूक्तों को पढ़ो।

उन्तीसवीं कण्डिका से यहाँ तक के मन्त्रों में दो प्रकार के यज्ञों का वर्णन है—एक दैव और दूसरा मानुष। देवताओं का यज्ञ निरन्तर सदा चलता रहता है। अश्विनीकुमाररूप दिन-रात, वाणीरूप सरस्वती इस जगत् की उत्पत्ति-लय की प्रक्रिया को चलाते हुए ज्योतीरूप तेज को बढ़ाते हैं। इस तेजःस्वरूप इन्द्र की प्रतिदिन वृद्धि होती है और इस यज्ञ की समाप्ति कभी नहीं होती। सारा संसार इस यज्ञ की सामग्री है। इस यज्ञ के मुख्य तीन देवता उक्त तीन पशुओं की पुष्टि से प्रसन्न होते हैं। इन पशुओं के साथ देवताओं का आध्यात्मिक सम्बन्ध है। वे इन पशुओं के शरीर में अधिष्ठाता के रूप से रहते हुए संसार-यज्ञ का निर्वाह करते हैं। देवताओं ने जिस समय जिस पदार्थ से इन्द्र की चिकित्सा कर उसकी इन्द्रियों को सशक्त बनाया, उसी प्रकार उसी पदार्थ से यज्ञ करके मनुष्य होता भी यजमान की सकल इन्द्रियों को बलिष्ठ कर सकता है। मनुष्य होता का यज्ञ देवताओं के सदृश नहीं होता, क्योंकि मनुष्य होता का यज्ञ नियत देश-काल में होता है और इसके निमित्त घृत आदि पदार्थों की आवश्यकता रहती है। इन्हीं की वृद्धि के लिये इन पशुओं का सत्कार करते हुए इनके अधिष्ठात्री देवताओं से इनके हृष्ट-पुष्ट रहने की प्रार्थना की जाती है। यही इस पूरे प्रकरण का अभिप्राय है ॥ ६१ ॥

दैव्यो होताग्निरत्रोच्यते। हे ऋषे मन्त्राणां द्रष्टः ! हे आर्षेय यजमानार्षेयैर्व्रियत इत्येवं सम्बोध्यते। अथवा हे आ ऋषेय ऋषिकुलोत्पन्न ! हे ऋषीणां ऋत्विजां नपात् पुत्र ! अयं यजमानो बहुभ्यः सङ्गतेभ्यो मिलितेभ्यो देवेभ्यस्त्वामेवेति हेतोरा अवृणीत सम्यग् वृतवान्। हेतुमेव दर्शयति—एष इति। एषोऽग्निर्मे मह्यं देवेषु वारि वरीतुं योग्यं वरणीयं वसु धनमायक्ष्यतेऽत्यर्थं दास्यतीत्यभिप्रायेणावृणीतेति सम्बन्धः। दानार्थाद् यजतेर्लृट्। किञ्च, हे देव ! अग्ने या यानि ता तानि दानानि देवा अदुर्दत्तवन्तः, तानि दानानि अस्मै यजमानाय आशास्व इच्छ च, तानि यजमानाय दातव्यानीति इच्छेत्यर्थः। आगुरस्व च उद्यच्छ, 'गुरी उद्यमने' दानायोद्यमं कुर्वित्यर्थः। आकारो चकारो च भिन्नक्रमौ। हे होतः, त्वमिषितोऽसि प्रेषितोऽसि, प्रेरितोऽसीति यावत्। कस्मै प्रयोजनायेति चेत्, तदाह—भद्रवाच्याय, वक्तुं योग्यं वाच्यं भद्रं शुभं च तद् वाच्यं भद्रवाच्यम्, तस्मै। भद्रं ब्रूहीति प्रेषितोऽसीत्यर्थः। किञ्च, सूक्ता सूक्तानि वक्तुं सूक्तानि त्वं ब्रूहीति सूक्तवाकः, तस्मै। मानुषो होता च प्रेषितोऽस्तीति महीधराचार्यः।

यद्वा हे ऋषे ! अतीन्द्रियार्थानां द्रष्टः, अयं यजमानो बहुभ्यः सङ्गतेभ्यो देवेभ्यस्त्वामेवावृणीत। किमर्थमेतत् ? एष मे मह्यं देवेषु वारि वरणीयं वसु धनमायक्ष्यते आदास्यते, अयं दातुं समर्थ इति हेतोस्त्वामेवावृणीतेति सम्बन्धः। एवं च या यानि हे देव ! दानानि देवा अदुर्दत्तवन्तः, इमान्यस्मै यजमानाय दातव्यानीति ता तान्यस्मै यजमानाय आ च शास्व इच्छ। आ च गुरस्व उद्यच्छ। दानायेषितः प्रेषितश्चासि। हे होतः, भद्रवाच्या भद्रं च वचनं त्वं ब्रूया इति।

अथेदानीं प्रेषितो मानुषो होता सूक्तवाकाय कथं कृत्वा सूक्ता सूक्तानि साधुवचनानि वदेत्युव्वटाचार्यः। हे ऋषे, हे आर्षेय, हे ऋषीणां नपात् पुत्र, अयं यजमानस्त्वामद्य अवृणीत। बहुभ्यो देवेभ्य उपसङ्गतेभ्योऽपि तानपहाय त्वामेव वृतवान्। तत्कस्य हेतोः ? एष दैव्यो होता अग्निर्मे मह्यं देवेषु यद्वारि वरणीयं वसु धनमस्ति, तत आयक्ष्यते आदास्यते। तादृशं धनं दातुमयं समर्थ इत्यर्थः। हे देव, तानि यानि दानानि देवा अदुर्दत्तवन्तः, इमान्यस्मै यजमानाय दातव्यानीति तान्यस्मै यजमानाय आ च शास्व आ च गुरस्व। दानायोद्यमं कुरु। हे होतः, भद्रवाच्याय भद्रं शुभं च वचनं त्वं ब्रूयाः। अथेदानीं मानुषो होता प्रेषितः। कथं कृत्वा ? सूक्ता सूक्तानि साधुवचनानि ब्रूहि वद इत्याश्वास्येति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—हे ऋषे सर्वद्रष्टः, हे आर्षेय ! ऋषीणामयं ध्येय आर्षेयस्तत्सम्बुद्धौ। ऋषीणां नपात् नपातयति रक्षतीति नपात्, तत्सम्बुद्धौ, रक्षक। अयं यजमानोऽर्चको बहुभ्य आसङ्गतेभ्यो मिलितेभ्यो देवेभ्यो जन्मजन्मान्तरीयपुण्यपरिपाकादद्य त्वामेव अवृणीत वृतवान्। किमर्थमिति चेत्तत्राह—एष भगवान् मे मह्यं देवेष्वपि वारि वरणीयं यत् तद्वसु आयक्ष्यत इति हेतोः। ता तानि या यानि हे देव, देवा दानानि अदुर्दत्तवन्तः, तानि आ चाशास्व इच्छ। आ च गुरस्व, दातुमुद्यमं कुरु। इषितोऽस्मद्भक्त्या प्रेषितः, भद्रवाच्याय भद्रं शुभं च ब्रूयाः। हे मानुषहोतः, सूक्तवाकाय प्रेषितोऽसि यतः, तस्मात् त्वं सूक्तानि ब्रूहि। सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीये मधुररससमुद्रे यथा वापीकूपतडागादिसम्पादनीयं सर्वं कार्यं सम्पद्यते, तद्वत् परमात्मप्राप्तिरूपे महाफले सर्वाण्येव फलान्तराण्यन्तर्भवन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे ऋषे, आर्षेय ऋषीणां नपात्, यजमानोऽयमद्य बहुभ्यः सङ्गतेभ्यस्त्वामवृणीत। एष देवेषु मे वसु वारि चावृणीत। हे देव, यद्याचक्ष्यते देवाय यानि दानान्यदुः, तानि चास्मै आशास्व। प्रेषितः सन्नागुरस्व च। हे होतरिषितो मानुषो भद्रवाच्याय सूक्तावाकाय सूक्ता ब्रूहीति, तान् प्राप्तवांश्चासि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बहुभ्यः सङ्गतेभ्यो योग्यपुरुषेभ्यो मन्त्रद्रष्टुः प्राप्तव्यताऽसिद्धेः। तथैवान्यदपि सर्वं व्याख्यानमसम्बद्धमेव॥ ६१॥

इति सौत्रामणीयागः सम्पूर्णः।

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदस्य वेदार्थपारिजातभाष्ये एकविंशोऽध्यायः ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

तेजो॑ऽसि शु॒क्रम॒मृत॑मायु॒ष्पा आयु॑र्मे पाहि। दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्या॒माद॑दे ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—सब प्रकार की कामना वाले राजा को अश्वमेध यज्ञ करना चाहिये। यह यज्ञ फाल्गुन शुक्ल अष्टमी को आरम्भ किया जाता है। चक्रवर्ती राजा ही इसको करके अपने मनोरथ की सिद्धि पा सकता है। इस अध्याय के प्रथम मन्त्र से अध्वर्यु यजमान के कण्ठ में सुवर्ण का निष्क नामक आभूषण बाँधता है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

हे सुवर्ण, अग्निसम्बन्धी होने से तुम तेजःस्वरूप हो। अग्नि के अक्षय वीर्य हो और आयु के रक्षक हो। तुम मेरी आयु की रक्षा करो। इसके उपरान्त अध्वर्यु रस्सी लेकर ब्रह्मा से कहे कि मैं घोड़े को बाधूंगा—हे रसना, सविता देवता की आज्ञा में वर्तमान मैं अश्विनीकुमारों की भुजाओं और पूषा देवता के हाथों से तुम्हें ग्रहण करता हूँ ॥ १ ॥

उक्ताः सौत्रामण्या मन्त्राः। इत आरभ्य चतुर्ध्वध्यायेष्वाश्वमेधिका मन्त्रा आम्नाताः। ते व्याख्यायन्ते। तत्र प्रथमेऽनुवाकेऽश्वमेधाङ्गस्याश्वस्य संस्कारका मन्त्रा आम्नाताः। 'राज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य' (का० श्रौ० २०।१।१)। 'अष्टम्यां नवम्यां वा फाल्गुनीशुक्लस्य' (का० श्रौ० २०।१।२)। सर्वकामस्य राज्ञोऽश्वमेधः, फाल्गुनशुक्लाष्टम्यां नवम्यां वारम्भ इति सूत्रद्वयार्थः। 'निष्कं प्रतिमुञ्चन् वाचयति तेजोऽसीति' (का० श्रौ० ३०।१।९)। चतुःसुवर्णनिर्मित आभरणविशेषो निष्कः, तं यजमानकण्ठे प्रतिबध्नन्नध्वर्युस्तेजोऽसीति मन्त्रं पाठीत्यन्तं वाचयतीति सूत्रार्थः। तं च निष्कं प्रातर्होमान्ते पूर्णाहुतिं कृत्वाऽध्वर्यवे दद्यात्। राजशब्दोऽत्राभिषिक्तक्षत्रियपरः, 'राजेत्येतानभिषिक्तानाचक्षते' (ऐ० ब्रा० ८।१४) इति श्रुतेः। प्राप्तराज्याभिषेकस्यैव क्षत्रियस्य राजपदवाच्यत्वमित्यवेष्टयधिकरणे निर्णीतम्। तादृशस्य राज्ञः सर्वकामस्याश्वमेधः। सर्वकामोऽत्र मुमुक्षुरिति कर्काचार्यः, मोक्षप्राप्तावेव सर्वकामप्राप्तेः सम्भवात्, उपासनासहितस्याश्वमेधानुष्ठाने ब्रह्मलोकप्राप्तिक्रमेण ब्रह्मात्मसाक्षात्कारक्रमेण मोक्षोपपत्तेः। राजग्रहणाच्च ब्राह्मणवैश्ययोर्नात्राधिकारः, क्षत्रियत्वजातिविशिष्टस्य प्राप्तराज्याभिषेकस्यैव तत्राधिकारोक्तेः। 'ग्रीष्म एके' (का० श्रौ० २०।१।३)। ज्येष्ठाषाढयोरन्तराले शुक्लाष्टम्यां नवम्यां वा तदारम्भ इति सूत्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'ब्रह्मौदनं पचति। रेत एव तद्धत्ते यदाज्यमुच्छिष्यते तेन रशनामभ्यज्यादत्ते तेजो वा आज्यं प्राजापत्योऽश्वः प्रजापतिमेव तेजसा समर्धयत्यपूतो वा एषोऽमेध्यो यदश्वः' (श० १३।१।१।१)। 'प्रजापतिरकामयत। सर्वान् कामान् आप्नुयाम्' (१३।४।१।१)। तदर्थं ब्रह्मौदनपाकः। ब्रह्मभ्य ऋत्विग्भ्यो देय ओदनो ब्रह्मौदनः, तमध्वर्युः पचति। एतेन ब्रह्मौदनेन ऋगादिप्रयोगसामर्थ्यात्मकं कुर्वन्ति। यदाज्यं ब्रह्मौदन ऋत्विग्भिर्भुज्यमाने परिशिष्यते, तेनोत्तरेद्युः पौष्ण्या इष्टेरनन्तरमश्वाभिधानिकां रशनां तेनाज्यशेषेणाभ्यज्य देवस्य त्वेत्यादत्ते। प्राजापत्योऽश्वः। तेन रशनाद्वारेण प्रजापतिमेव तेजसा समर्धयति। अपूतश्चामेध्यश्चाश्वो भवति, प्राग्दर्भरशनासम्पर्कादिति शेषः। 'दर्भमयी रशना भवति। पवित्रं वै दर्भाः पुनात्येवैनं पूतमेवैनं मेध्यमालभते' (श० १३।१।१।२)। 'अश्वस्य वा आलब्धस्य रेत उदक्रामत्। तत्सुवर्णं हिरण्यमभवद्यत्सुवर्णं हिरण्यं ददात्यश्वमेव रेतसा समर्धयति' (श० १३।१।१।३)। प्रसन्नं ब्राह्मणम्।

इतश्चत्वारोऽध्याया अश्वमेधमन्त्राः। तेषां प्रजापतिर्ऋषिः। तेजोऽसीत्यस्य सौवर्णं निष्कं देवता प्राजापत्यानुष्टुप् छन्दः। हे निष्क! त्वं तेजोऽसि, आग्नेयत्वात् सुवर्णस्य। शुक्रमग्नेर्वीर्यं चासि, 'अग्निर्ह वाऽपोऽभिदध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति ताः सम्बभूव तासु रेतः प्रासिञ्चत्तद्धिरण्यमभवत्' (श० २।१।१।५) इति श्रुतेः। अमृतं चासि, वह्नितापेऽनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वात्, दानेन अमृतत्वप्रदानाच्च, [1]'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते' इति श्रुतेः। तथा आयुष्पा असि। आयुः पातीति आयुष्पाः, आयुषो रक्षिता। अतो याचे मे मम आयुः पाहि रक्ष। अत्र यज्ञसमाप्तिपर्यन्तमायुः प्रार्थ्यते। 'देवस्य त्वेति रशनामादाय ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामीत्याह' (का० श्रौ० २०।१।२५)। देवस्य त्वेत्यादिना सरमारपन्तीत्यन्तेन मन्त्रेण त्रयोदशारत्निं दर्भमयीं द्विगुणामश्वबन्धनार्थां रशनां रज्जूमादाय 'ब्रह्मन्नश्वम्' इत्यारभ्य 'तेन राध्यासम्' (वा० सं० २२।४) इत्यन्तं मन्त्रं ब्रह्माणं प्रत्याहाध्वर्युरिति सूत्रार्थः। सवितुर्देवस्य प्रसवेऽनुज्ञायां त्वामश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे।

अध्यात्मपक्षे—ज्योतिर्मयं सुवर्णं तत्त्वतः पश्यन्नाह—तेजोऽसि सर्वभासकं चिज्ज्योतिरात्मकमसि। शुक्रमसि दीप्तिमदसि। अमृतमसि, जन्मादिषड्भावविकारशून्यत्वात्। आयुष्पा असि, सर्वत्र सत्तास्फूर्तिप्रदत्वात्। आयुर्मे पाहि। 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥' (तै० उ० २।६) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वां त्वदर्थं हविराददे।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्नहं सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्धारणाकर्षणाभ्यामिव बाहुभ्यां पूष्णः किरणैरिव हस्ताभ्यां यं त्वाददे, यस्त्वममृतं शुक्रं तेज इत्यायुष्पा असि, स त्वं स्वं दीर्घायुः कृत्वा मे आयुः पाहि' इति, तदपि न मनोज्ञम्, जीवमात्रे विद्युषि तेजस्त्वाद्यनुपपत्तेः। अमृतत्वादिकं स्वरूपेण त्वद्रीत्या नोपपद्यते, कर्तृत्वेन विकारापत्त्या विनाशापत्तेः। न चायुषः पालकत्वमपि सम्भवति। यः स्वस्याप्यायुषो रक्षणेऽसमर्थः सोऽन्येषामायुष्पा भवेदिति कथङ्कारं सम्भवति? तथैव आकर्षणविकर्षणयोर्धारणाकर्षणयोर्वा बाहुत्वारोपः, किरणे हस्तत्वारोपोऽप्यारोप एव, मुख्यार्थासम्भव एव तथात्वात्॥ १॥

इ॒माम॑गृभ्णन् रश॒नामृ॒तस्य॒ पूर्व॒ आयु॑षि वि॒दथे॑षु क॒व्या।
सा नो॑ अ॒स्मिन् सु॒त आ ब॑भूव ऋ॒तस्य॒ साम॑न् स॒रमा॒रप॑न्ती॥ २॥

मन्त्रार्थ—रसना हाथ में लेकर अध्वर्यु कहे कि यज्ञानुष्ठान में कुशल प्रजापति ने यज्ञ के आरम्भ काल में इस रसना को ग्रहण किया था। वह रसना यज्ञारम्भ में यज्ञ के फैलाव को बताती हुई हमारे लिये इस यज्ञ में प्रकट हुई है॥ २॥

यज्ञपुरुषदृष्टा रशनादेवत्या त्रिष्टुप्। नोऽस्माकमस्मिन् सुते यज्ञे, सवनं सुतं यज्ञः, तस्मिन् भावे क्तः। सा रशना आबभूव आविर्बभूव उत्पन्ना। सा केत्याह—विदथेष्वित्यादि। विदथेषु विद्यते लभ्यते स्वर्गो यैस्ते विदथा यज्ञाः, 'रुदिविदिभ्यां ङित्' (उ० ३।११५) इति विदेरथः प्रत्ययः, तेषु। कव्याः कवयः। सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना विभक्तेर्ड्यादेशः। अर्थाद् यज्ञविधौ कुशला विश्वस्रष्टारः प्रजापत्यादय ऋतस्य यज्ञस्य पूर्वे प्रथमे आयुषि प्रारम्भे यामिमां रशनामगृभ्णन् अगृह्णन् गृहीतवन्तः, ते हि सृष्टिं यज्ञादसृजन्त। या पूर्वैर्गृहीता रशना सात्रोद्भूतेत्यर्थः। कीदृशी सा रशना? ऋतस्य यज्ञस्य सामन् साम्नि प्रारम्भे सरं प्रसरं यज्ञप्रसारम् आरपन्ती आलपन्ती, यज्ञप्रसारो भवत्विति वदन्तीवेत्यर्थः।

---

1. इयं श्रुतिरनुपलब्धमूला।

अत्र ब्राह्मणम्—'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते यजुष्कृत्यै यज्ञस्य समृद्ध्यै द्वादशारत्निर्भवति' (श० १३।१।२।१)।

अध्यात्मपक्षे—यामिमां रशनामिव कुण्डलिनीरूपां मूलाधारादाब्रह्मबिलं विलसन्तीं बिसतन्तुतनीयसीं विद्युत्पुञ्जपिञ्जरां तेजोदण्डरूपामृतस्योपसनालक्षणस्य पूर्वे प्रारम्भे कव्याः कुशला अगृभ्णन् गृहीतवन्तो ध्यानेन साक्षात्कृतवन्तः, सा नोऽस्माकं सुते यज्ञे उपासनालक्षणे आबभूव अभिव्यक्तिमुपगता। कीदृशी सा ? ऋतस्य ब्रह्मणः सामन् सम्मनने प्रारम्भे, सम्पूर्वकस्य मन्यतेः प्रारम्भार्थकत्वात्, सरं प्रसरमारपन्ती प्राप्नुवती।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, या ऋतस्य सत्यकारणस्य सरं प्राप्तियोग्यमारपन्ती आबभूव, यामिमामृतस्य रशनां विदथेषु पूर्वे आयुषि कव्या अगृभ्णन्, सा अस्मिन् अन्ने सुते सामन्नाबभूव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बुद्धेर्वक्तृत्वायोगात्। न च शब्दोच्चारणस्य बुद्धिपूर्वकत्वेन तस्या वक्तृत्वमिति वाच्यम्, शब्दानां नित्यत्वेन तत्पूर्वकत्वायोगात्। न च पदवाक्यादीनां पौर्वापर्यमूलकत्वेन तत्त्वमिति वाच्यम्, तथात्वे सर्ववाक्यादीनां तथात्वेन सत्यकारणस्य प्राप्तियोग्यं शब्दं वदन्तीति विशिष्य हेतुत्वानुपपत्तेः। यज्ञादिषु प्राणधारयितृत्वमपि चिन्त्यमेव, कार्यमात्रेऽपि तथात्वे विशेषानुपपत्तेः। एवमन्यदप्यूह्यम्। सामन्नन्ते कर्मणीत्यपि यत्किञ्चित्, कार्यपूर्तिकार्यनाशयोरैक्यायोगात्॥ २॥

अभिधा असि भुवनमसि यन्तासि धर्ता। स त्वमग्निं वैश्वानरꣳ सप्रथसं गच्छ स्वाहाकृतः॥ ३॥

मन्त्रार्थ—अश्व को बाँधते हुए अध्वर्यु कहे कि हे अश्व! तुम स्तुति के योग्य हो, सबके आश्रय-स्थान हो, नियन्ता और जगत् के धर्ता हो, अर्थात् पशुओं में प्रसिद्ध और सवारी देने वाले हो। तुम स्वाहाकार युक्त सबके हितकारी, संसार में सर्वत्र व्याप्त अग्नि के तेज को प्राप्त करो अथवा अग्नि देवता के अधिष्ठातृत्व को प्राप्त करो॥ ३॥

'तं बधानेति ब्रह्मानुज्ञातोऽभिधा असीति बध्नात्यश्वम्' (का० श्रौ० २०।१।२६)। 'तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहि' (वा० सं० २२।४) इति मन्त्रेण ब्रह्मणानुज्ञातोऽध्वर्युः 'अभिधा असि भुवनमसि यन्तासि धर्ता। स त्वमग्निं वैश्वानरꣳ सप्रथसं गच्छ स्वाहाकृतः। स्वगा त्वा देवेभ्यः प्रजापतये' (२२।३-४) इति मन्त्रेण रशनयाश्वं बध्नातीति सूत्रार्थः। लिङ्गोक्तदैवतानि यजूंषि। हे अश्व! यस्त्वम् अभिधा असि। अभिधीयते स्तूयत इत्यभिधाः। भुवनमसि सर्वेषामाश्रयश्चासि, प्रजापतिरूपत्वात्। यन्तासि यच्छतीति यन्ता नियमनकर्ता चासि। धर्ता जगद्धारयिता चासि, प्रजापतिरूपत्वादेवेत्यर्थः। स एवंविधस्त्वं स्वाहाकृतः स्वाहाकारेण कृतो हुतः सन् अग्निं गच्छ प्राप्नुहि। कीदृशमग्निम्? वैश्वानरं विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितम्, सप्रथसं प्रथनं प्रथो विस्तारः, तत्सहितम्। प्रथतेः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन्प्रत्ययः। यद्वा सप्रथाः सर्वतस्तिर्यगूर्ध्वमधश्च प्रथत इति सप्रथाः, तम्। सर्वतःशब्दस्य सादेशः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अभिधा असीति। तस्मादश्वमेधयाजी सर्वा दिशोऽभिजयति भुवनमसीति भुवनं तज्जयति यन्तासि धर्तेति यन्तारमेवैनं धर्तारं करोति स त्वमग्निं वैश्वानरमित्यग्निमेवैनं वैश्वानरं गमयति सप्रथसं गच्छेति प्रजयैवैनं पशुभिः प्रथयति स्वाहाकृत इति वषट्कार एवास्यैष स्वगा त्वा देवेभ्य इति' (श० १३।१।२।३)।

अध्यात्मपक्षे-अश्वमेधे प्रजापतिदेवताकोऽश्वः प्रजापतिरूपेण चिन्त्यः। 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' इति बृहदारण्यके। प्राजापत्यत्वादश्वस्य उषसः शिरःस्थानीयत्वम्। तेन प्रजापतिपरतया सर्वाणीमानि

विशेषणानि सङ्गमनीयानि। हे समष्टिजीवरूपप्रजापते! त्वमभिधाः स्तुत्योऽसि। भुवनमसि भुवनवत् सर्वाधारभूतोऽसि। यन्ता सर्वनियन्ता शासकः परमेश्वरोऽसि। स त्वं हे प्रजापते! स्वाहाकृतः स्वाहाकारेण हुतः सन्, अथवा स्वाहाकृतः सर्वस्वात्मनिवेदनेन समर्पितः सन् अग्निमधिष्ठानभूतं परमात्मानं गच्छ प्राप्नुहि। कीदृशमग्निम्? वैश्वानरं विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितं सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन सर्वहितकरं सप्रथसमनन्तानन्तविस्तारयुक्तम्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वं भुवनमुदकमिवासि, अभिधा योऽभिदधाति सोऽसि। यन्तासि धर्तासि त्वं स्वाहाकृतः सप्रथसं वैश्वानरमग्निं गच्छ जानीहि' इति, तदपि मन्दम्, जीवस्य विदुषो निरपेक्षयन्तृत्वायोगात्। न च सोऽग्निं गच्छति, चेतनस्य जडत्वायोगात्। न चाग्निज्ञानमात्रं विवक्षितम्, अपुरुषार्थत्वात्॥ ३॥

स्वगा त्वा देवेभ्यः प्रजापतये ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासम्। तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहि॥ ४॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व! देवताओं के और प्रजापति के निमित्त तुमको स्वयंगामी बनाता हूँ। अध्वर्यु ब्रह्मा से आज्ञा माँगे कि हे ब्रह्मन्! देवताओं और प्रजापति की प्रसन्नता के लिये घोड़े को बाँधुगा। ब्रह्मा आज्ञा दे कि हे अध्वर्यो, उसको देवताओं को और विशेष कर प्रजापति की प्रसन्नता के लिये बाँधो, इसको बाँध कर तुम सिद्धि प्राप्त करो॥ ४॥

हे अश्व, त्वा त्वां देवेभ्यः प्रजापतये च स्वगा, करोमीति शेषः। स्वेनैव गच्छतीति स्वगा डाजन्तः, विभक्तेर्डादेशो वा, स्वयंगामिनमित्यर्थः। 'ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि' इति यजुषो ब्रह्मा देवता। तथा चाध्वर्युर्ब्रह्माणमामन्त्रयते। हे ब्रह्मन्, अश्वं भन्त्स्यामि, अश्वबन्धनं करिष्यामीति यावत्। बध्नातेर्लृटि स्यप्रत्यये 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' (पा० सू० ८।२।३७) इति भष्भावे रूपम्। किमर्थमिति प्रश्ने उत्तरमाह—देवेभ्यः प्रजापतये च, तेनाश्वबन्धनेनाहं राध्यासम्, 'राध संसिद्धौ', कर्मसमाप्तिरूपां सिद्धिं प्राप्नुयाम्। आशीर्लिङ्। ब्रह्मा प्रसौति—तं बधानेत्यादि। अध्वर्युदेवत्यं यजुः। हे अध्वर्यो, यं बद्धुमिच्छसि तमश्वं बधान। किमर्थम्? देवेभ्यः प्रजापतये च तेनाश्वबन्धनेन कर्मणा राध्नुहि, यज्ञसमाप्तिलक्षणां सिद्धिं प्राप्नुहि। राधेर्लोटि स्वादित्वात् श्नुः प्रत्ययः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स्वगा त्वा देवेभ्य इति देवेभ्य एवैनꣳ स्वगाकरोति प्रजापतय इति प्राजापत्योऽश्वः स्वयैवैनं देवतया समर्धयति' (श० १३।१।२।३)।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मन् ब्रह्मरूप जीवात्मन्, त्वा त्वां स्वगाकरोमि, स्वात्मनिष्ठं करोमीति यावत्। देवेभ्यः प्रजापतये त्वां भन्त्स्यामि श्रौतस्मार्तादिधर्मानुष्ठाननियमेन त्वां बद्धं नियन्त्रितं करोमि। तेन बन्धनेनाहं राध्यासं भगवत्साक्षात्काररूपां सत्त्वशुद्धिलक्षणां वा सिद्धिं प्राप्नुयाम्। गुरुरनुजानाति तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये च तत्तद्भावप्राप्त्यर्थं बन्धनेन राध्नुहि सिद्धिं प्राप्नुहि।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मन्नहं त्वा स्वगाकरोमि देवेभ्यः प्रजापतयेऽर्थाय भन्त्स्यामि तेन देवेभ्यः प्रजापतये च राध्नुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वं प्रति स्वगमनासिद्धेः, कर्मकर्तृविरोधात्, परसमवेतक्रियाफलशालिन एव कर्मत्वात्, अश्वस्य बृहदुत्तमगुणार्थतायास्तद्बन्धनस्य चासिद्धेः। तस्य देवप्रजापत्यर्थतापि चिन्त्यैव॥ ४॥

प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वायवे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि। यो अर्वन्तं जिघांᳬसति तमभ्यमीति वरुणः परो मर्तः परः श्वा ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—कूप आदि के स्थिर जल के समीप जाकर अध्वर्यु अश्व का प्रोक्षण करे। हे अश्व ! प्रजापति के प्रिय पात्र तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। इससे अश्व वीर्यवान् बनता है। इन्द्र और अग्नि देवता के तुम प्रिय हो, तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। इससे अश्व में ओज आता है। तुम वायु के प्रिय हो, वायु की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। इससे अश्व में वेग आता है। विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। इससे अश्व में यश का आधान होता है। सब देवताओं की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। इससे सब देवताओं का अश्व में आवाहन होता है। अध्वर्यु यजमान से कहलावें कि जो शत्रु वेगवान् अश्व को मारना चाहता है, वरुण उसको मारें। कुक्कुर को बेंत की चटाई पर रखकर घोड़े के नीचे तैरावे और कहे कि इससे घोड़े को मारने की इच्छा वाला शत्रु तिरस्कृत हुआ। श्वान के समान तुच्छ ताड़न के अधिकारी शत्रु का तिरस्कार किया गया ॥ ५ ॥

'स्थावरा अपो गत्वा प्रजापतये त्वेति प्रोक्षत्यश्वं प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २०।१।३५)। ततोऽध्वर्युः स्थावराः, तिष्ठन्ति तद्धर्म इति स्थावराः, अवहनशीलास्तडागादिस्थाः, 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' (पा० सू० ३।२।१७५) इति वरचि रूपसिद्धिः, ता अपो गत्वा ताभिरद्भिः पञ्चमन्त्रैः प्रतिमन्त्रमश्वं प्रोक्षतीति सूत्रार्थः। लिङ्गोक्तदेवत्यानि पञ्च यजूंषि। हे अश्व, प्रजापतये जुष्टं प्रीत्या सेवितं त्वा त्वां प्रोक्षामि। अनेन प्रोक्षणेन प्रजापतेरिव अश्वे वीर्यं दधाति, 'स प्रोक्षति। प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति प्रजापतिर्वै देवानां वीर्यवत्तमो वीर्यमेवास्मिन् दधाति तस्मादश्वः पशूनां वीर्यवत्तमः' (श० १३।१।२।५) इति श्रुतेः। इन्द्राग्निभ्यां जुष्टं त्वां प्रोक्षामीत्यनेनेन्द्राग्न्योरिवाश्वे ओजो दधाति, 'इन्द्राग्नी वै देवानामोजस्वितमा ओज एवास्मिन् दधाति तस्मादश्वः पशूनामोजस्वितमः' (श० १३।१।२।६) इति श्रुतेः। 'वायवे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' इत्यनेन वायोरिवाश्वे वेगं दधाति, 'वायुर्वै देवानामाशिष्ठो जवमेवास्मिन् दधाति तस्मादश्वः पशूनामाशिष्ठः' (१३।१।२।७)। आशिष्ठो वेगवत्तरः। अतिशयेन आशुः आशिष्ठः। विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामीत्यनेनाश्वे यशो दधाति, 'तस्मादश्वः पशूनां यशस्वितमः' (श० १३।१।२।८) इति श्रुतेः। सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामीत्यनेन सर्वा देवता अश्वे दधाति, 'सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामीति सर्वा एवास्मिन् देवता अन्वायातयति' (श० १३।१।२।९) इति श्रुतेः। 'यो अर्वन्तमिति वाचयति' (का० श्रौ० २०।२।१)। 'आयोगवमाह श्वानं चतुरक्षमभिमन्यस्वेति' (का० श्रौ० २०।१।३६)। शूद्राद्वैश्यायां जात आयोगवः। तेन पुंसा अध्वर्युप्रेरितेन चतुर्नेत्रे शुनि चतुरक्षस्य शुनोऽभावाद् यस्याक्षिसमीपे पौण्ड्राणि स गुणवृत्त्या चतुरक्ष इति कर्कः। शुनश्चतुरक्षत्वं गर्तचतुष्टययोगेनेति याज्ञिकाः। खादिरमुसलेन हते सति योऽर्वन्तमित्यादि वरुण इत्यन्तं मन्त्रं यजमानं वाचयतीति सूत्रार्थः। गायत्री। पूर्वार्धेऽश्वस्तुतिः, परेऽर्धे लिङ्गोक्तदेवता। योऽर्वन्तमश्वं जिघांसति हन्तुमिच्छति द्रुह्यति, वरुणस्तमश्वं जिघांसन्तमभ्यमीति हिनस्ति, 'अम् हिंसायाम्' एतस्य लटि 'तुरुस्तुशम्यमः' (पा० सू० ७।३।९५) इति ईप्रत्ययः। 'वेतसकटेनाधोऽश्वं प्लावयति परो मर्त इति' (का० श्रौ० २०।२।२)। वेतसनिर्मितेन कटेन मृतं श्वानमश्वाऽधो जले तारयतीति सूत्रार्थः। मर्तोऽश्वं जिघांसुर्मनुष्यः परः पराभूतोऽधस्पदं नीतः। श्वा च परः पराकृतः। श्वरूपेणाश्वहन्तेव पराकृत इत्यर्थः। 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥' (ई० उ० ३) इति मन्त्रवर्णात्।

अत्र ब्राह्मणम् 'ईश्वरो वा एषः । आर्तिमार्तोऽर्यो ब्रह्मणे देवेभ्योऽप्रति प्रोच्याश्वं बध्नाति ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासमिति ब्रह्माणमामन्त्रयते ब्रह्मण एवैनं प्रति प्रोच्य बध्नाति नार्तिमार्छति तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहीति ब्रह्मा प्रसौति स्वयैवैनं देवतया समर्धयति' (श० १३।१।२।४) इत्यादिब्राह्मणवाक्यैः पूर्वोक्तः एवार्थो व्यज्यते ।

अध्यात्मपक्षे– हे गतिशील जीवात्मन्, प्रजापतये त्वां देवेभ्यस्त्वां प्रोक्षामि प्रोक्षणेन संस्करोमि । तेन त्वयि प्रजापतेरिव वीर्यं दधामि इन्द्राग्निभ्यां त्वां प्रोक्षामि । इन्द्राग्निभ्यां प्रोक्षणेन तयोरेवौजो दधामि । अन्यदपि पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु 'हे विद्वन्, यः परो वरुणो मर्तोऽर्वन्तं जिघांसति ताडयति, यः परः श्वेव वर्तते यस्तं निवारयति, तं प्रजापतये जुष्टं त्वां प्रोक्षामि । इन्द्राग्निभ्यां जुष्टं त्वां प्रोक्षामि । वायवे त्वां जुष्टं प्रोक्षामि । विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वां जुष्टं प्रोक्षामि । सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुष्टं त्वां प्रोक्षामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः । यः श्रेष्ठः स किमर्थमश्वं ताडयति ? किमर्थं च तत्ताडनेन सर्वतः प्राप्नोति । किं प्राप्नोतीत्यप्यस्पष्टमेव । श्वेवेति गौणार्थग्रहणमपि निर्मूलमेव । यः परः श्वेव वर्तते कुत्सितकर्मा यस्तं रोधयति तं त्वा जुष्टं प्रोक्षामीत्यपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे रोधनार्थकपदाभावात् । सिञ्चनमपि किमर्थम् ? किं तेन सिद्धयतीत्यनुक्तेः ॥ ५ ॥

अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॒ऽपां मोदा॑य॒ स्वाहा॑ सवि॒त्रे स्वाहा॑ वा॒यवे॒ स्वाहा॒ विष्ण॑वे॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॒ बृह॒स्पत॑ये॒ स्वाहा॑ मि॒त्राय॒ स्वाहा॒ वरु॑णाय॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ – जल के समीप से अश्व को अग्नि के समीप लाकर अध्वर्यु इन मन्त्रों से घृत की आहुति दे—हम सोम को हवि अर्पित करते हैं, जल के आमोदक देवताओं को हवि देते हैं, सविता देवता को आहुति देते हैं, वायु देवता को, विष्णु देवता को, इन्द्र देवता को और बृहस्पति देवता को आहुति देते हैं । मित्र देवता और वरुण देवता के निमित्त यह हवि अर्पित की जाती है । इन सब देवताओं को इस अश्व की रक्षा के निमित्त आहुति दी जाती है ॥ ६ ॥

अग्निसमीपमानीयाग्नये स्वाहेति जुहोत्यनुवाकेन प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २०।२।३) स्थावराद्भ्योऽद्भ्यः सकाशादश्वमग्निसमीपमानीयाग्नये स्वाहेत्येककण्डिकात्मकेनानुवाकेन प्रतिमन्त्रं सकृद् गृहीत्वा जुह्वा स्तोकीयसंज्ञा दशाज्याहुतीर्जुहुयादिति सूत्रार्थः । 'सहस्रं वावर्तम्' (का० श्रौ० २२।२।४) यद्वा शतकृत्योऽनुवाकमावर्त्य सहस्रमाज्याहुतीर्जुहुयादिति सूत्रार्थः । दश यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि । अग्नये स्वाहा, अङ्गतीत्यग्निः, तस्मै सुहुतमस्तु । सोमाय स्वाहा, सूतेऽमृतमिति सोमः, 'अर्तिस्तुसुहुसृधृभिशुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्' (उ० १।१४०) इति साधुः, तस्मै । अपां जलानां मोदाय मोदयति हर्षयतीति मोदः, 'मुद हर्षे' भौवादिकस्य ण्यन्तस्य, तस्मै स्वाहा । सवित्रे स्वाहा, सुवतीति सविता तस्मै । वायवे स्वाहा, वातीति वायुस्तस्मै । विष्णवे स्वाहा, वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुस्तस्मै । इन्द्राय स्वाहा, इन्दतीतीन्द्रस्तस्मै । बृहस्पतये स्वाहा, बृहतां वेदानां पतिर्बृहस्पतिस्तस्मै । मित्राय स्वाहा, मिद्यति स्निह्यतीति मित्रस्तस्मै । वरुणाय स्वाहा, वृणोति भजते भक्तमिति वरुणस्तस्मै । एतेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा हविर्दत्तं भवतु । एताभिराहुतिभिरेतेभ्यो दश देवेभ्योऽश्वं ददाति ।

अत्र ब्राह्मणम्—'यथा वै हविषो हुतस्य स्कन्देत् । एवमेतत्पशोः स्कन्दति यन्निक्तमनालब्धमुत्सृजन्ति यत्स्तोकीया जुहोति सर्वहुतमेवैनं जुहोत्यस्कन्दायास्कन्नꣳ हि तद्यद्धुतस्य स्कन्दति सहस्रं जुहोति सहस्रसम्मितो वै स्वर्गो लोकः स्वर्गस्य लोकस्याभिजित्यै' (श० १३।१।३।१) । अहुतस्य हविषः स्कन्दनेऽवश्यं प्रतिक्रियते,

एवमेतत्। अश्वस्य पशोः स्कन्दति। निक्तं प्रक्षालितमनालब्धं पोषणाय त्वचमुत्सृजन्ति। तत्र कः प्रतीकारः इत्यपेक्षिते आह—यत्स्तोकीया जुहोतीति। स्तोकमानां प्रस्रवणबिन्दूनां निष्क्रयणतया सम्बन्धिनीराहुतीर्जुहोति। सर्वहुतमेव एनमश्वं जुहोत्यस्कन्दाय हविषोऽविप्रणाशाय। अस्कन्नं हि तद्यस्य हुतस्य स्कन्दति। एताभिश्च निष्क्रयणीभिराहुतिभिस्तद्धुतमेव भवतीत्यभिप्रायः। सहस्रं जुहोत्यग्नये स्वाहेत्येता दशाहुतीः शतकृत्व आवृत्ता जुहोति, तथा जुहोति यथा आवृत्त्या सहस्रं भवतीत्यर्थः। सहस्रसम्मितो वै स्वर्गो लोक इति। गायत्रीरात्रे गोसहस्रं प्रकृत्याह—'यावदस्य सहस्रस्योत्तरा गौर्गतिप्रतिष्ठा भवति तावदस्माल्लोकादसौ लोक इत्येवं सहस्र-सम्मितः स्वर्गलोकः' इति। 'तदाहुः। यन्मिता जुहुयात् परिमितमवरुन्धीतेत्यमिता जुहोत्यपरिमितस्यैवावरुद्ध्या उवाच ह प्रजापतिः स्तोकीयासु वा अहमश्वमेधꣳ सꣳस्थापयामि तेन सꣳस्थितेनैवात ऊर्ध्वं चरामीति' (श० १३।१।३।२)। अमिता जुहोतीति कल्पान्तरम्। स्तोकीयासु वा अहमिति। सर्वेभ्योऽश्व आलभ्यत इति तेषां निष्क्रयणीभिराहुतिभिः संस्थापित एवाश्वमेधो भवतीत्यभिप्रायः। अथ सर्वाभ्यो वै देवताभ्योऽश्व आलभ्यते। एतावन्तश्च सर्वे देवा यावन्तोऽग्न्यादयः, तेभ्यो हुतः संस्थापित एव भवतीति। 'अग्नये स्वाहेति। अग्नय एवैनं जुहोति सोमाय स्वाहेति सोमायैवैनं जुहोत्यपां मोदाय स्वाहेत्यद्भ्य एवैनं जुहोति सवित्रे स्वाहेति सवित्र एवैनं जुहोति वायवे स्वाहेति वायव एवैनं जुहोति विष्णवे स्वाहेति विष्णव एवैनं जुहोतीन्द्राय स्वाहेतीन्द्रायैवैनं जुहोति बृहस्पतये स्वाहेति बृहस्पतय एवैनं जुहोति मित्राय स्वाहेति मित्रायैवैनं जुहोति वरुणाय स्वाहेति वरुणायै-वैनं जुहोत्येतावन्तो वै सर्वे देवास्तेभ्य एवैनं जुहोति पराचीर्जुहोति पराङिव वै स्वर्गो लोकः स्वर्गस्य लोकस्याभि-जित्यै' (श० १३।१।३।३)। अग्न्यादिभ्य आज्याहुत्या न केवलमाज्यं जुहोति, किन्त्वेनमश्वमेव जुहोति। आवृत्त्या पराचीः, अनावृत्ता इति यावत्। सकृदेव दशैता आहुतीर्जुहुयादिति कल्पान्तरम्। पराङ् स्वर्गो लोक इति परतः श्रेय इत्यभिप्रायः।

'ईश्वरो वा एषः। पराङ् प्रदघोऽर्यः पराचीराहुतीर्जुहोति पुनरावर्ततेऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठत्येताꣳ ह वाव स यज्ञस्य सꣳस्थितिमुवाचास्कन्दायास्कन्नꣳ हि तद्यद्धुतस्य स्कन्दति' (श० १३।१।३।४) इति चतुर्थ्या कण्डिकया आवृत्तिपक्षस्य निन्दया आवृत्तिमत्तां यज्ञस्य संस्थितिं स्तोकीयास्वाह—ताः पराचीरिति। 'यथा वै हविषो हुतस्य स्कन्देत्। एवमेतत् पशो स्कन्दति यत्प्रोक्षितमनालब्धमुत्सृजन्ति यद्रूपाणि जुहोति सर्वहुतमेवैनं जुहोत्यस्कन्दायास्कन्नꣳ हि तद्यद्धुतस्य स्कन्दति हिङ्काराय स्वाहा हिङ्कृताय स्वाहेत्येतानि वा अश्वस्य रूपाणि तान्येवावरुन्धे' (श० १३।१।३।५)। यथा वै हविष इति चतसृभिरेताभिः कण्डिकाभिरश्वरूपाणां हिङ्कारादीनां निष्क्रमणात्मिका रूपाख्या आहुतय उच्यन्ते, ता एवात्र प्रक्रम्या इति वक्ष्यन्ते। 'तदाहुः। अनाहुतिर्वै रूपाणि नैता होतव्या इत्यथो खल्वाहुरत्र वा अश्वमेधः सन्तिष्ठते यद्रूपाणि जुहोति होतव्या एवेति बहिर्धा वा एतमायतनात् करोति भ्रातृव्यमस्मै जनयति यस्यानायतनेऽ-न्यत्राग्नेराहुतिर्जुहोति' (श० १३।१।३।६)। यस्यानायतने आहुतिर्जुहोतीति। किं पुनस्तदायतनम्? अन्यत्राग्ने-रिति। अन्वाहार्यपचने वा अश्वपदे वा परिलिखिते।

अध्यात्मपक्षे—अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहेत्यादिभिस्तत्तद्भावापन्नाय परमात्मन एव स्वात्म-निवेदनमुच्यते।

दयानन्दस्तु—'यदि मनुष्या अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा····वरुणाय स्वाहा क्रियेरन्, तर्हि किं किं सुखं न प्राप्येत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाहापदस्य तदर्थत्वे मानाभावात्, उत्तमक्रियायाश्चानिरूपणात्, निष्प्रमाणा-ध्याहारमूलकत्वाच्च॥ ६॥

हि॒ङ्काराय॒ स्वाहा॒ हिङ्कृ॑ताय॒ स्वाहा॒ क्रन्द॑ते॒ स्वाहा॑वक्रन्दाय॒ स्वाहा॒ प्रोथ॑ते॒ स्वाहा॑ प्रप्रोथाय॒ स्वाहा॑ गन्धाय॒ स्वाहा॑ घ्राताय॒ स्वाहा॒ निवि॑ष्टाय॒ स्वाहोप॑विष्टाय॒ स्वाहा॒ सन्दिताय॒ स्वाहा॒ वल्ग॑ते॒ स्वाहासी॑नाय॒ स्वाहा॒ शया॑नाय॒ स्वाहा॒ स्वप॑ते॒ स्वाहा॒ जाग्र॑ते॒ स्वाहा॒ कूज॑ते॒ स्वाहा॒ प्रबु॑द्धाय॒ स्वाहा॑ विजृम्भ॑माणाय॒ स्वाहा॒ विचृ॑ताय॒ स्वाहा॒ सꣳहा॑नाय॒ स्वाहोप॑स्थिताय॒ स्वाहाय॑नाय॒ स्वाहा॒ प्राय॑णाय॒ स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ — दक्षिणाग्नि में प्रक्रम नामक ४९ आहुतियाँ देते हुए अध्वर्यु कहता है — इस अश्व का हिंकार हमारे अनुकूल हो, हे अग्निदेव इसके लिये आपको हवि देते हैं। शब्द करते हुए घोड़े की अनुकूलता के लिये, नीचा शब्द करने वाले, मुंह से फूत्कार करने वाले, अपने मुंह को हिलाने वाले, वस्तुओं को सूंघने वाले, बैठने की चेष्टा करने वाले, स्थिर खड़ा रहने वाले, सम्यक् बन्धन वाले, चलते हुए, बैठते हुए, लेटे हुए, सोये हुए, जागते हुए, शब्द करते हुए, ज्ञान युक्त, जम्हाई लेते हुए, विशेष दीप्तिमान्, संगत शरीर वाले, हमारे सामने उपस्थित, विशेष ज्ञान सम्पन्न और अतिगमन करने वाले अश्व के निमित्त हम आपको हवि अर्पित करते हैं ॥ ७ ॥

'दक्षिणाग्नौ जुहोति हिङ्काराय स्वाहेति प्रक्रमान्' (का० श्रौ० २०।३।३)। एतदर्थमेवोद्धृते दक्षिणाग्नौ प्रतिमन्त्रं प्रक्रमसंज्ञान् एकोनपञ्चाशद्धोमान् जुहुयादिति सूत्रार्थः। अश्वस्य एकोनपञ्चाशच्चेष्टितानि (व्यापाराः) कण्डिकाद्वयेन निर्दिश्यन्ते। तत्र हिङ्काराय, हिङ्करणं हिङ्कारः, तस्मै। कृतं यद्धिङ्कृतं तस्मै। क्रन्दते क्रन्दतीति क्रन्दन्, तस्मै। अवक्रन्दाय अव नीचैः क्रन्दतीत्यवक्रन्दः, तस्मै। प्रोथते प्रोथतीति प्रोथन्, तस्मै। 'प्रोथृ पर्याप्तौ' पर्याप्तिगताविति भट्टभास्करमिश्रः। प्रप्रोथाय प्रकृष्टः प्रोथो घोणा यस्य सः प्रप्रोथः, तस्मै। 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' (अ० को० २।८।४९)। गन्धाय गन्धोऽस्यास्तीति गन्धस्तस्मै। घ्राताय घ्रातं घ्राणमस्यास्तीति घ्रातस्तस्मै। निविष्टाय निविशत इति निविष्टः, तस्मै। उपविष्टाय उपविशतीत्युपविष्टः, तस्मै। सन्दिताय सम्यक् दितं खण्डनं यस्य स सन्दितः, तस्मै। वल्गते वल्गतीति वल्गन्, तस्मै। आसीनाय आस्तेऽसावासीनः, तस्मै। 'ईदासः' (पा० सू० ७।२।८३) इति शानच ईकारादेशः। शयानाय शेतेऽसौ शयानः, तस्मै। स्वपते स्वपितीति स्वपन्, तस्मै। जागर्तीति जाग्रत्, तस्मै। कूजते कूजतीति कूजन्, तस्मै। प्रबुद्धाय प्रकर्षेण बुद्धयत इति प्रबुद्धः, तस्मै। विजृम्भमाणाय विशेषेण जृम्भत इति विजृम्भमाणः, तस्मै। विचृताय विशेषेण चृततीति विचृतः, तस्मै। संहानाय संहन्तीति संहानः, तस्मै संहतशरीरायेत्यर्थः। उपस्थिताय उपतिष्ठत इत्युपस्थितः, तस्मै। अयनाय अयत इत्ययनः, ल्युः, तस्मै। प्रकृष्टमयते प्रायणः, तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे — संवत्सरात्मकप्रजापतिदेवताकस्य प्रजापतिरूपस्याश्वस्य हिङ्कारादीनि चेष्टितान्यपि देवतारूपाणि, तस्य सर्वात्मकत्वात्। तेभ्यो रूपेभ्यः स्वाहाकारेण सोपकरणः प्रजापतिरिष्टो भवति।

दयानन्दस्तु — 'यैर्मनुष्यैर्हिङ्काराय स्वाहा उत्तमक्रिया हिङ्कृताय … प्रायणाय स्वाहा क्रियन्ते, तैर्दुःखानि वियोज्य सुखानि लभ्यन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हिङ्कारादयः किंरूपाः ? काश्चोत्तमक्रियाः ? दृष्टार्थवादिनश्चार्वाकप्रायस्य तवान्यस्य वा को लाभस्तेनेत्यनुक्तेः। सिद्धान्ते तु प्रजापतिरूपस्याश्वस्य चेष्टितानि देवतारूपाणि। तेभ्यः स्वाहाकारेण सोपकरणस्य प्रजापतेर्यजनं सम्पद्यते ॥ ७ ॥

यते स्वाहा धावते स्वाहोद्द्रावाय स्वाहोद्द्रुताय स्वाहा शूकाराय स्वाहा शूकृताय स्वाहा निषण्णाय स्वाहोत्थिताय स्वाहा जवाय स्वाहा बलाय स्वाहा विवर्तमानाय स्वाहा विवृत्ताय स्वाहा विधून्वानाय स्वाहा विधूताय स्वाहा शुश्रूषमाणाय स्वाहा शृण्वते स्वाहेक्षमाणाय स्वाहेक्षिताय स्वाहा वीक्षिताय स्वाहा निमेषाय स्वाहा यदत्ति तस्मै स्वाहा यत्पिबति तस्मै स्वाहा यन्मूत्रं करोति तस्मै स्वाहा कुर्वते स्वाहा कृताय स्वाहा ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—जाते हुए, दौड़ते हुए, तीव्र गति वाले, शूँ शब्द करने वाले, बैठे हुए, खड़े हुए, वेगवान्, बलरूप, विशेष चेष्टा करते हुए, तिरछी गति वाले, अपने शरीर को कँपाने वाले, सुनने की चेष्टा करने वाले, देखने की चेष्टा करने वाले, पलक झपकाने वाले, अश्व के निमित्त हम आपको हवि अर्पित करते हैं। वह जो कुछ खाता है, जो पीता है, मूत्र आदि क्रिया करता है, उसकी अनुकूलता के लिये हवि अर्पित करते हैं। वह अश्व जो कुछ कर रहा है या करेगा, वे सब क्रियाएँ अधिष्ठात्री देवताओं के अनुग्रह से सुसम्पन्न हों ॥ ८ ॥

यते एतीति यन्, तस्मै स्वाहा। धावते धावतीति धावन् तस्मै। उद्द्रावाय उद् उत्कृष्टोऽधिको वा द्रावो गतिर्यस्य स उद्द्रावः, तस्मै। उद्द्रुताय उद् अधिकं द्रुतं यस्य स उद्द्रुतः, तस्मै। शू इति करोतीति शूकारः, तस्मै। शूकृताय शू इति कृतमस्यास्तीति शूकृतः, तस्मै। निषण्णाय न्यषीददिति निषण्णः, तस्मै। उत्थिताय उदतिष्ठदित्युत्थितः, तस्मै। जवाय जवतीति जवः, पचाद्यच्, जु इति सौत्रो धातुः, 'प्रजोरिनिः' (पा० सू० ३।२।१५६) इति पठितः, तस्मै। बलाय बलमस्यास्तीति बलः, तस्मै। विवर्तमानाय यो विवर्तते स विवर्तमानः, तस्मै। विवृत्ताय यो विवर्तते स्म स विवृत्तः, तस्मै। विधून्वानाय विशेषेण धूनुते कम्पत इति विधून्वानः, 'धुञ् कम्पने' सौवादिकः, अयं दीर्घान्तोऽपीति स्वामि-शिवस्वामि-काश्यपाः, चान्द्रा अपि उभयं पठन्ति, तस्मै। विधूताय विविधं धूयते स्मेति विधूतः, तस्मै। शुश्रूषमाणाय श्रोतुमिच्छति यः स शुश्रूषते, शुश्रूषतेऽसाविति शुश्रूषमाणः, 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' (पा० सू० १।३।५७) इत्यात्मनेपदम्, ततः शानच्, तस्मै। शृण्वते शृणोतीति शृण्वन्, तस्मै। ईक्षमाणाय ईक्षते यः स ईक्षमाणः, तस्मै। ईक्षिताय ईक्षते स्मेतीक्षितः, तस्मै। वीक्षिताय विशेषेणेक्षितो वीक्षितः, तस्मै। निमेषाय निमिषतीति निमेषः, तस्मै। स्पर्द्धार्थात्मकोऽयम्। उपसर्गबलादर्थान्तरे वृत्तिः। यत्किञ्चिदत्ति तस्मै, भक्षणकर्त्रे। यज्जलादिकं पिबति तस्मै पानकर्त्रे। यन्मूत्रं करोति तस्मै मूत्रयते। कुर्वते करोतीति कुर्वन्, तस्मै कुर्वते। कृताय कृतमस्यास्तीति कृतः, तस्मै। स्वाहा सुहुतमस्तु। इत्येकोनपञ्चाशत् प्रक्रमाः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदर्थः।

दयानन्दस्तु—'ये मनुष्या यते स्वाहा ....कृताय स्वाहा कुर्वन्ति ते सर्वाणि सुखानि लभन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वाणि सुखानि लभन्त इत्यश्रुतफलकल्पनस्य निर्मूलत्वात् ॥ ८ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—इस सर्वप्रकाशक, सबके प्रेरक, आदित्य के अन्तर्गत स्थित पुरुषरूप ब्रह्म का, जो सभी के द्वारा प्रार्थनीय है, जो सम्पूर्ण संसार का प्रकाशक तेज है, हम ध्यान करते हैं। वह सविता देवता हमारी बुद्धि को सत्कर्म के अनुष्ठान के लिये प्रेरित करें ॥ ९ ॥

षड् ऋचः सवितृदेवत्या गायत्र्यः सावित्रीणामिष्टीनां याज्यानुवाक्याः। सवितुः प्रपञ्चोत्पादयितुर्जगदुत्पत्ति-स्थितिलयलीलस्य परमेश्वरस्य तद् वेदान्तेषु ब्रह्मवित्सु च प्रसिद्धं स्वरूपभूतं भर्गस्तेजो धीमहि, यो नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात् सत्कर्मज्ञानादिषु प्रेरयति ॥ ९ ॥

हिर॑ण्यपाणिमू॒तये॑ सवि॒तार॒मुप॑ह्वये। स चेत्ता॑ दे॒वता॑ प॒दम् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—ज्योतिःस्वरूप हाथ वाले परमात्मा को मैं अपनी रक्षा के लिये पुकारता हूँ। वह सर्वज्ञ प्रकाश-स्वरूप परमात्मा सब ज्ञानियों का आश्रय है ॥ १० ॥

मेधातिथिदृष्टा। अहं हिरण्यपाणिं हिरण्यमयौ पाणी यस्य स हिरण्यपाणिः, तम्। सवितारमुपह्वये आह्वयामि। किमर्थम्? ऊतये अवनाय। यतः स सविता चेत्ता चेतयिता, सर्वज्ञ इति यावत्। तथा देवता महती विभूतिः। पदं च पदनीयं गमनीयम्, प्राप्यमिति यावत्, ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनाम्। ज्ञानिनामपि, मुक्तोप-सृप्यमपीति यावत्। तस्मादवनाय स आहूयते।

अत्र ब्राह्मणम्—'सावित्र्या एवेष्टेः। पुरस्तादनुद्रुत्य सकृदेव रूपाण्याहवनीये जुहोत्यायतन एवाहुतीर्जुहोति नास्मै भ्रातृव्यं जनयति यज्ञमुखे यज्ञमुखे जुहोति यज्ञस्य सन्तत्या अव्यवच्छेदाय' (श० १३।१।३।७)। सावित्र्या एवेष्टेः पुरस्तात्, स्तोकीयानन्तरमेवेत्यर्थः। सावित्रीष्टिषु संस्थितासु प्रयुङ्क्तेऽश्वे पारिप्लव आख्याते वीणा-गाथिनः सम्प्रेष्य अध्वर्युः प्रक्रमान् जुहोति, अन्वाहार्यपचनेऽश्वस्य पदं वा परिलिख्येति तस्य वाचनिकस्य क्रमस्य बाधनार्थं पुरस्तादनुद्रुत्येत्याह। अनुद्रुत्य आनुपूर्व्येणोच्चार्य 'हिङ्काराय स्वाहा' इत्यादिकमाज्येनैव जुहुयादित्यभि-प्रायः। सकृदेवेति, न स्तोकीयावदावर्तयेत्। यज्ञमुखे यज्ञमुख इति दीक्षणीया, प्रायणीया, आतिथ्या, प्रवर्ग्यः, उपसदः, अग्नीषोमीयः, सुत्या, अवभृथः, उदयनीया, अनूबन्ध्या, उदवसानीया—इत्येतेषु कर्मस्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे -सवितारं प्रपञ्चोत्पादयितारं परमात्मानमुपह्वये आह्वयामि। कीदृशम्? हिरण्यपाणिं हिरण्योपलक्षितो दिव्यज्योतिर्मयो मोक्षो पाणौ यस्य तम्। किमर्थम्? ऊतये रक्षणाय। स परमात्मा चेत्ता चेतयिता सर्वज्ञाता देवता परदेवता ब्रह्मरूपा, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० ६।११) इति श्रुतेः। पदं पद्यते गम्यते प्राप्यते यत् तत् पदं मुक्तोपसृप्यम्, 'तद्विष्णोः परमं पदम्' (ऋ० सं० १।२२।२०) इति मन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यमहमूतये हिरण्यपाणिं पदं सवितारमुपह्वये, स चेत्ता देवताऽस्तीति यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि पाणौ स्तवने यस्य तमिति व्याख्यानस्यातन्त्र-त्वात्, सूर्यादीनां त्वद्रीत्या स्तवनानुपयोगित्वात् ॥ १० ॥

दे॒वस्य॒ चेत॑तो म॒हीं प्र स॑वि॒तुर्ह॑वामहे। सु॒म॒तिꣳ स॒त्यरा॑धसम् ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—सबको चेतना शक्ति देने वाले, सर्वज्ञ, सबके प्रेरक परमात्मा की हम सत्य की साधना और सुमति के लिये प्रार्थना करते हैं, अर्थात् परमात्मा हमको सत्यमयी बुद्धि प्रदान करें, यह हमारी प्रार्थना है ॥ ११ ॥

देवस्य द्योतमानस्य दानादिगुणयुक्तस्य वा। चेततः, चेततीति चेतन्, तस्य जानतः। सवितुः सम्बन्धिनीं सुमतिं शोभनां बुद्धिं प्रहवामहे प्रकर्षेण प्रार्थयामहे। कीदृशीं सुमतिम्? महीं महतीम्, पूज्यां वा। पुनः कीदृशीम्? सत्यराधसं सत्यमनश्वरं राधो धनं यस्यास्ताम्, यद्वा सत्यं राधयति साधयति या सा सत्यराधास्ताम्।

अध्यात्मपक्षे—सवितुः परमेश्वरस्य देवस्य स्वप्रकाशस्य सम्बन्धिनीं शोभनां मतिं परमात्मस्वरूपविषयिणीं तदवद्योतिकां मतिं प्रहवामहे प्रार्थयामहे। कीदृशस्य सवितुः ? चेततः सर्वज्ञस्य। कीदृशीं सुमतिम् ? महीं महतीं महद्विषयत्वात् सत्यमनश्वरं ब्रह्मरूपं राधो धनं यस्याः प्रभावाल्लभ्यते ताम्, सत्यसाधयित्रीं वा।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं सवितुश्चेततो देवस्येश्वरस्योपासनां कृत्वा महीं सत्यराधसं सुमतिं प्रहवामहे, तथैतमुपास्य तां यूयं प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारादिदोषदुष्टत्वात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च॥ ११॥

सुष्टुतिꣳ सुमतीवृधो रातिꣳ सवितुरीमहे। प्र देवाय मतीविदे॥ १२॥

मन्त्रार्थ—सबके मन को जानने वाले, सर्वान्तर्यामी दिव्य गुण सम्पन्न, सुबुद्धि के दाता, सबके प्रेरक परमात्मा की स्तुति करने की सामर्थ्य रूप धन को हम बहुत चाहते हैं। हमारी इस इच्छा को परमात्मा पूरी करें॥ १२॥

वयं सवितुः सूर्यस्य देवस्य सुष्टुतिं शोभनां स्तुतिं रातिं दानं च प्रकर्षेण ईमहे याचामहे। 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इति धातोः परः प्रशब्दः। कीदृशस्य सवितुः ? सुमतीवृधः शोभनां मतिं वर्धयतीति सुमतीवृत्, तस्य। 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।३।११४) इत्यधिकारे, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। देवाय, मतीविदे इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। देवाय देवस्य। मतीविदे मतीविदः, मतिं वेत्तीति मतीवित्, तस्य। पूर्ववत् पूर्ववर्णस्य दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—सवितुः परमेश्वरस्य सुष्टुतिं शोभनां जन्ममरणादिनिवारिणीं स्तुतिं रातिं तत्सम्बन्धि दानं च प्र प्रकर्षेण ईमहे याचामहे। कीदृशस्य सवितुः ? सुमतीवृधः शोभनबुद्धिवर्धकस्य। देवस्य दानादिगुणकस्य मतीविदो बुद्धिसाक्षिणः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं सुमतीवृधः सवितुरीश्वरस्य सुष्टुतिं कृत्वा एतस्मान्मतीविदे देवाय रातिं ईमहे, तथैतस्माद् यूयमपि याचध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गतौ सत्यामध्याहारस्यासङ्गतत्वात्। किञ्च, यः परमात्मानं स्तुत्वा मतिं विदन्ते, स तस्मादेव रातिमपि प्राप्तुं शक्नोति, तत् कृतं युष्माकं तद्याच्ञया॥ १२॥

रातिꣳ सत्पतिं महे सवितारमुपह्वये। आसवं देववीतये॥ १३॥

मन्त्रार्थ—चारों पदार्थों को देने वाले, सत्पुरुषों के रक्षक, सब कर्मों के प्रेरक सविता देव का हम देवताओं की तृप्ति के निमित्त आह्वान करते हैं और उनका पूजन करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा की प्रार्थना और उपासना से सब देवता तृप्त होते हैं॥ १३॥

अहं सवितारमुपह्वये आह्वयामि, महे पूजयामि च, 'मह पूजायाम्' भौवादिकः। कस्मै प्रयोजनाय ? देववीतये देवानामिन्द्रादीनां वीतिस्तर्पणं देववीतिस्तस्यै। कीदृशं सवितारम् ? रातिम्, रातिं ददातीति रातिस्तं दातारम्। कर्तरि क्तिच्। सत्पतिं सतां पालयितारम्। आसवम् आसमन्तात् सौति कर्माण्यनुजानातीत्यासवस्तम्। ईदृशं सवितारमाह्वय इति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—रातिं कर्मफलदातारं सत्पतिं सतां पालकम्। आसवं सत्कर्मप्रेरकं सवितारमहमुपह्वये आह्वयामि, महे पूजयामि च। किमर्थम् ? देववीतये देवानामिन्द्रियाणां वीतये तर्पणाय, तेषां भगवत्स्वरूपरसास्वादनेन तृप्तिसम्पादनाय, तदुपयोगिपरमानन्दमयश्रीविग्रहधारणाय।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं महे देववीतये रतिमासवं सत्पतिं सवितारमुपह्वये, तथा यूयमप्येनं प्रशंसत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गुरूपचरणादिना लौकिकेनैवोपायेन विद्याप्राप्तिसम्भवे तदर्थं परमात्मप्रार्थनासङ्गतेः ॥ १३ ॥

दे॒वस्य॑ सवि॒तुर्म॒तिमा॑स॒वं वि॒श्वदे॑व्यम् । धि॒या भगं॑ मनामहे ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—बुद्धिरूप सकल ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाले सब देवताओं के कल्याण हेतु यज्ञ आदि करने के लिये हम भक्तिमयी बुद्धि के द्वारा सबके प्रेरक परमात्मा से धन की याचना करते हैं ॥ १४ ॥

सवितुः सूर्यस्य देवस्य द्योतमानस्य मतिं बुद्धिं प्रति धिया स्वकीयया प्रज्ञया भगं भजनीयं धनं मनामहे वयं याचामहे, सवितुर्देवस्य मतिरस्मासु धनदानतत्परा भवत्वित्यर्थः। कीदृशं भगम्? आसवम् आसौति अनुजानाति येन तम् आसवम्, धनप्रभावेणैव सर्वेषां कृते आज्ञा दातुं शक्यत इत्यर्थः। विश्वदेव्यं विश्वेभ्यो देवेभ्यो हितम्, तेनैव यज्ञदानादिभिः सर्वदेवतातर्पणसम्भवात्। मनामह इति याच्ञाकर्मसु (निघ० ३।१९।१६)। धातोरस्य द्विकर्मकत्वान्मतिभगशब्दयोर्द्वितीया।

अध्यात्मपक्षे—देवस्य स्वप्रकाशस्य सवितुर्विश्वोत्पत्त्यादिकारणस्य मतिं सर्वज्ञानलक्षणायाः प्रज्ञायाः सकाशाद् वयं ज्ञानविज्ञानलक्षणं भगं भजनीयं धनं मनामहे याचामहे। कीदृशं भगम्? आसवं येन सर्वोऽपि सूयत आज्ञाप्यते तादृशम्। विश्वदेव्यं विश्वेभ्यो देवेभ्यो हितम्, सर्वेषु देवेषु ब्रह्मात्मबुद्धिहेतुत्वात्, भेददर्शिनां देवकर्तृकपरादानश्रवणात्, 'देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद' (बृ० उ० ४।५।७) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं सवितुर्देवस्य परमात्मनः सकाशान्मतिमासवं सकलैश्वर्यहेतुं च प्राप्य तया धिया सर्वं वैश्वदेव्यं भगमुत्तममैश्वर्यं मनामहे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्राप्यपदाध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। किञ्च, येन प्रयत्नेन परमेश्वरस्य सकाशाद् बुद्धिरैश्वर्यहेतुरुपलभ्यते, तेनैवोत्तमैश्वर्यप्राप्तिरपि सम्भवत्येवेति प्रयत्नद्वयवैयर्थ्यात् ॥ १४ ॥

अ॒ग्निᳬ स्तोमे॑न बोधय समिधा॒नो अम॑र्त्यम् । ह॒व्या दे॒वेषु॑ नो दधत् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अध्वर्यु! तुम मरणधर्मरहित अग्नि को प्रज्वलित करते हुए स्तुति के द्वारा उसे प्रसन्न करो, जिससे कि वह हमारी हवियों को देवताओं तक पहुँचावे ॥ १५ ॥

तिस्रः स्विष्टकृति पुरोऽनुवाक्या अग्निदेवत्या गायत्र्यः क्रमशः सुतम्भर-विश्वामित्र-विश्वरूपदृष्टाः। हे अध्वर्यो, त्वं समिधानः सन्दीपयन् अग्निं देवं स्तोमेन स्तुतिभिर्बोधय अवगतार्थं कुरु। कीदृशमग्निम्? अमर्त्यं मरणधर्मरहितम्। किमर्थं पुरस्कृत्य बोधयामीति चेत्, तत्राह—हव्या हव्यानि हवींषि नोऽस्माकं सम्बन्धीनि देवेषु दधद् धारयतु, तत्र तस्याधिकृतत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—अग्निं परमेश्वरं स्तोमेन स्तुतिभिः हे साधक, बोधय स्वविषयिणीं सानुग्रहां बुद्धिं जनय। किं कुर्वन्? समिधानः, गुणगणार्णवस्मारणेनानुग्रहमुद्दीपयन्। कीदृशमग्निम्? अमर्त्यम्, मरणोपलक्षितषड्विधभावविकारवर्जितम्। किमुद्दिश्योद्बोधनमिति चेत्, तत्राह—देवेषु हव्या नोऽस्मत्सम्बन्धीनि हव्यानि दधद् धारयतु, आहवनीयादिरूपेण तस्यैव हविर्विधारकत्वात्। देवेष्विन्द्रियेषु तदभीष्टस्वकीयदिव्यरूपस्पर्शगन्धादि दधातु धारयतु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यः समिधानोऽग्निर्देवेषु वाय्वादिषु हव्या दातुमादातुं योग्यानि नो दधत्, तममर्त्यमग्निं स्तोमेन बोधय प्रदीपय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दातुमादातुं योग्येषु लौहसुवर्णमण्यादिषु हव्यपदप्रयोगायोगात्। न च बुध्यतेरग्निप्रज्वालनमर्थः, उद्बोधनादिषूपसर्गप्रयोगदर्शनात् ॥ १५ ॥

स ह॒व्य॒वाडम॑र्त्य उ॒शिग्दू॒तश्चनो॑हितः । अ॒ग्निर्धि॒या सम॑ृण्वति ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हवियों को देवताओं तक पहुँचाने वाला, अमरणधर्मा, बुद्धिमान्, देवताओं का दूत और हमें हितकारी अन्न की प्राप्ति कराने वाला अग्नि देवता बुद्धिपूर्वक देवताओं तक हवि पहुँचाने के निमित्त हमारे यज्ञानुष्ठान में आता है ॥ १६ ॥

सोऽग्निर्धिया बुद्धया समृण्वति सङ्गच्छते देवैः सह हविः समर्पणाय। कथम्भूतोऽग्निः ? यो हव्यवाट्, हव्यं वहतीति हव्यवाट्, हविषां वोढा। यश्चामर्त्यो मरणादिविकारशून्यः। उशिग् यो वष्टि उश्यते वा स उशिक् कामयिता, सर्वकामनाविषयश्च, मेधावी वा। दूतो देवानां दूत्यकर्ता। चनोहितः, चनसोऽन्नस्य हविर्भूतस्य भक्षणार्थं हितो निहितः स्थापितः। चन इत्यन्ननाम। (निरु० ६।१६)।

अध्यात्मपक्षे—यो हव्यवाड् देवेभ्यो हविर्वहत्यग्निरूपेण, यश्चामर्त्यो मरणादिरहितः सर्वैरुश्यते, परप्रेमास्पदात्मरूपत्वात्, यश्च भक्तान् वष्टि कामयते, यश्च इतः पाण्डवानां दौत्यकर्मकृत् कृष्णरूपेण, यश्च चनोहितश्चनसो हविर्भूतस्यान्नस्य भक्षणाय आहवनीयादिरूपेण हितो निहितः स्थापितः, सोऽग्निरग्रणीर्भगवान् धिया प्रज्ञया समृण्वति सङ्गच्छते भक्तैरभीष्टदानाय।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, योऽमर्त्यो हव्यवाडुशिग् दूतश्चनोहितोऽग्निरस्ति, स धिया समृण्वति शिल्पादिकारिणा सम्यक् प्राप्यते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भौतिकाग्नावमर्त्यत्वायोगात्। न च परमाणुरूपस्य तस्य तथात्वमिति वाच्यम्, तादृक्षस्याग्नेर्हव्यवाहकत्वानुपपत्तेः, दूतपदस्यास्वारस्याच्च। अन्नप्रापकत्वं च तस्य चिन्त्यम्, उपपत्तिसापेक्षत्वात् ॥ १६ ॥

अ॒ग्निं दू॒तं पु॒रो द॑धे हव्य॒वाह॒मुप॑ ब्रुवे । दे॒वाँ २॥ आसा॑दयादि॒ह ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के दूत, उनके निमित्त हवि को धारण करने वाले अग्निदेव को मैं यहां स्थापित करता हूँ और उनसे ही प्रार्थना करता हूँ कि हे अग्निदेव, इस यज्ञ में आप देवताओं को बुलाकर स्थापित कीजिये ॥ १७ ॥

यमग्निमहं दूतं देवानां दूतं हव्यवाहं हविषो वोढारम् अहं पुरो दधे पुरतोऽग्रतः स्थापयामि, तमुपब्रुवे तमुपगम्य ब्रवीमि। किं ब्रवीमीत्याह श्रुतिः—देवानासादयादिह इह अस्मिन् यज्ञे देवान् आसादयाद् आसादय, स्थापयेति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—यमग्निं दूतं देवानां दूत्यकर्मकारिणं हव्यवाहमहमाहवनीयादिरूपेण पुरो दधे पुरतः स्थापयामि, तं सर्वात्मानमहमुपब्रुवे उपगम्य ब्रवीमि—हे अग्ने, इह अस्मिन् यज्ञे देवान् आसादयाद् आसादय। देवानामावाहनं तेभ्यो हविःप्रापणं सर्वज्ञसर्वशक्तिमत्परमात्मकर्तृकमेवेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य इह देवानासादयात्तं हव्यवाहं दूतमग्निं पुरोदधे। युष्मान् प्रत्युपब्रुवे यूयमप्येवं कुरुत' इति, तदप्ययुक्तम्, भौतिकस्याग्नेर्दिव्यभोगप्रापकत्वासिद्धेः, युष्मानित्याद्यध्याहारापेक्षत्वाच्च ॥ १७ ॥

अजी॑जनो॒ हि प॑वमान॒ सूर्य॑ वि॒धारे॒ शक्म॑ना॒ पयः॑ । गोजी॑रया॒ र꣡ꣳह॑माण॒ पुर॑न्ध्या ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे पवित्रकारी पवमान, आपने अपनी धाराओं के द्वारा वेग से गमन करते हुए सूर्य को प्रकट किया है। गायों की जीविका के लिये अपनी सामर्थ्य से आप अवश्य ही उत्तम जल को धारण करते हैं ॥ १८ ॥

त्र्यरुणत्रसदस्युभ्यां दृष्टा पवमानदेवत्या पिपीलिकमध्याकृतिरनुष्टुप्। यस्या आद्यतृतीयौ पादौ द्वादशार्णौ द्वितीयोऽष्टार्णः सा पिपीलिकमध्याकृतिरनुष्टुप्, 'जागतावष्टकश्च कृतिर्मध्ये चेदष्टकः पिपीलिकमध्या' (सर्वा० सू० ५।४) इति भगवत्कात्यायनवचनात्। पवमानस्तुतिः। हे पवमान, हि यस्मात् त्वं सूर्यमादित्यमजीजन उत्पादितवानसि, जनेर्ण्यन्ताल्लुङि रूपम्, यस्माच्च शक्मना सामर्थ्येन, शक्लृधातोर्मनिन्प्रत्ययः, पयो जलं विधारे विधारयसि, पुरुषव्यत्ययः, धारयतेस्तङि लटि उत्तमैकवचने 'धारये' इति प्राप्ते 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति शितोऽप्यार्धधातुकत्वात् 'णेरनिटि' (पा० सू० ६।४।५१) इति णिलोपे 'धारे' इति रूपम्। तच्च धारणं वृष्टये। अथवा शक्मना चर्मणा, शक्यतेऽनेन कर्तुमिति शक्म, त्वगिन्द्रियाभावे कर्तुमसामर्थ्यात्। चर्मणेव नभोव्यापिना मेघेन पयो विधारे उपरिष्टाद्विधारयसि, तस्मात् त्वां स्तुम इति शेषः। केन हेतुना पयो विधारयसीति चेत्, तत्राह– गोजीरया, जीवनं जीरा, वस्य छान्दसो रेफः, गवां जीरा गोजीरा, तया गोजीविकया हेतुना जलं धारयसि, तासां हविषा यज्ञनिष्पत्तेः, ततः प्राणिनां जीवनाच्च। कथम्भूतस्त्वम्? पुरन्ध्या रंहमाणः पुरं विपुलं दधातीति पुरन्धिर्धारा, तया बहुधारयित्र्या धारया रंहमाणः, रंहत इति रंहमाणो गच्छन्, दशापवित्राद् द्रोणकलशमभिगच्छन्। तादृशस्त्वं हे पवमान, यस्मात् त्वं सूर्यं जनितवान्, गोजीवनार्थं यज्ञनिष्पत्तये प्राणिनां जीवनाय च वृष्टये शक्मना सामर्थ्येन चर्मणेव मेघेन वा पयो जलं धारयसि, तस्मात् त्वां स्तुम इति निष्कर्षः।

अध्यात्मपक्षे– प्रतिक्षणं भक्तान् पवयन् हे पवमान, स्वयं च पावन परमात्मन्, हि यस्मात् त्वं सूर्यमजीजनः, शक्मना स्वसामर्थ्येन पयो जलं गोजीरया गवां जीवनहेतुना, वृष्टिद्वारा यज्ञनिष्पत्तेः, प्राणिनां जीवनाय विधारे विधारयसि, वृष्ट्यै गोजीरया गवां जीविकया यज्ञनिष्पत्तये प्रजननाय जीवनाय जलं धारयसि, स त्वं हे पवमान, पुरन्ध्या बहुधारयित्र्या पद्धत्या रंहमाणो रंहन् गच्छन् आसीस्तस्मात् त्वां स्तुमः।

दयानन्दस्तु—'हे पवमानाग्निवत् पवित्रजन, पुरन्ध्या पुरधारिकया क्रियया रंहमाणः सूर्यमजीजनः,शक्मना कर्मणा गोजीरया गोजीवनक्रियया पयश्चाहं विधारे हि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रस्य सूर्यमण्डलधारकत्वानुपपत्तेः। पशुजीवनक्रियया पयोधारणमपि चिन्त्यम्, न च पुरधारणक्रियया गमनं सम्भवति॥ १८॥

विभूर्मात्रा प्रभूः पित्राश्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि मयोऽस्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि वृषासि नृमणा असि। ययुर्नामासि शिशुर्नामास्यादित्यानां पत्वान्विहि। देवा आशापाला एतं देवेभ्योऽश्वं मेधाय प्रोक्षितꣳ रक्षत। इह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा॥१९॥

मन्त्रार्थ—अध्वर्यु और यजमान घोड़े के दाहिने कान में इस मन्त्र को पढ़ते हैं—हे अश्व, तुम पृथ्वी माता की सहायता से समर्थ होते हो, द्युलोक रूप पिता तुम्हें समर्थ बनाते हैं। तुम मार्ग को व्याप्त करने वाले हो, तीव्र गति के कारण तुम्हारा नाम हय है। तुम निरन्तरगामी हो, सुखरूप हो, शत्रुनाशक हो, सेना से मिलने वाले हो, अनेक प्रकार की गति वाले हो, सेचन में समर्थ हो, यजमान के मन को रखने वाले हो, अश्वमेध में सर्वत्र यथेच्छ विचरण करने के कारण तुम्हारा नाम ययु है। तुम शिशु नाम वाले हो, अदितिपुत्र देवताओं के मार्ग स्वर्ग में गमन कर सकते हो। दूसरा मन्त्र पढ़कर अश्व की वड़वा और जल आदि से एक वर्ष पर्यन्त रक्षा करे। रक्षा करने के निमित्त चौबीस वर्ष की आयु के १०० कवचधारी राजपुत्र, १०० खड्गधारी क्षत्रिय कुमार, १०० तरकशधारी सारथि-पुत्र, १०० लगुडधारी क्षत्रियों के पालितपुत्र साथ चलें। सेना भी साथ में रहे। सौ घोड़ों के बीच में यह घोड़ा चले। तब तक यजमान और उसकी पत्नी भूमि पर ही सोते हैं। सावित्री वीणा गान करती है। पारिप्लव शास्त्रपाठ और घृत होम

होता है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—दिशाओं का पालन करने वाले हे देवस्वरूप राजपुत्रों, देवताओं के निमित्त यज्ञ करने के लिये प्रोक्षित इस अश्व की तुम सब रक्षा करो। घोड़े को छोड़कर एक वर्ष तक प्रतिदिन सायंकाल अग्निहोत्र से पहले, अग्निहोत्र की अग्नि में चार आहुति इन मन्त्रों से दी जाती है—हे अग्निदेव, यहाँ हम अश्व का स्मरण करते हैं, यहाँ अश्व रमण करें, यहाँ अश्व का सन्तोष हो, यहाँ धारण हो, अर्थात् वह यहाँ सुरक्षित लौट आवे। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १९ ॥

'अध्वर्युयजमानौ दक्षिणेऽश्वकर्णे जपतो विभूर्मात्रेति' (का० श्रौ० २०।२।९)। तृतीयायां सावित्र्यामिष्टौ समाप्तायामध्वर्युयजमानौ दक्षिणेऽश्वकर्णे जपतो विभूर्मात्रेति सूत्रार्थः। अश्वदैवतं यजुः, अतिजगतीच्छन्दस्कम्। हे अश्व, त्वं मात्रा मातुः पृथिव्याः सकाशाद् विभूर्विशेषेण भवसीति विभूः समर्थोऽसि। पित्रा पितुर्दिवः सकाशात् प्रभूः प्रकर्षेण भवसीति प्रभूः समर्थोऽसि। पञ्चम्यर्थे तृतीये। अथवा हे अश्व, यस्त्वं मात्रा पृथिव्या विभूरसि विभवसि, पित्रा द्युलोकेन प्रभूरसि प्रभवसि, तथा च श्रुतिः—'इयं वै माताऽसौ पिताऽऽभ्यामेवैनं परिददाति' (श० १३।१।६।१) इति। वृष्टिलक्षणरेतःपरिग्रहादियं माता, उदकासेकादसौ पिता। आभ्यामेवैनमश्वं परित्रातुं निवेदयतीति श्रुत्यर्थः। अथ नामभिरश्वं स्तौति—अश्वोऽसीत्यादिना। अश्वोऽसि, अश्नुषे व्याप्नोसि मार्गमित्यश्वः, 'अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्' (उ० १।१५१) इत्यनेनाशेः क्वन्प्रत्यये रूपम्। अश्नातीति वाश्वः, महाशन इति यावत्। हयोऽसि, हयति गच्छतीति हयः, पचाद्यच्। अत्योऽसि, अतति सततं गच्छतीत्यत्यः, औणादिको यत्प्रत्ययः। मयोऽसि, मयते गच्छतीति मयः, 'मय गतौ' पचाद्यच्। यद्वा मय इति सुखनाम (निघ० ३।६।७), सुखरूपोऽसि। अर्वासि इयर्ति गच्छतीत्यर्वा। 'स्नामदिपद्यर्तिपृशकिभ्यो वनिप्' (उ० ४।११४) इति वनिप्प्रत्यये साधु। यद्वा अर्वति हिनस्ति शत्रूनित्यर्वा, 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५६) इति बाहुलकात् कनिन्प्रत्यये साधु। सप्तिरसि, सपति समवैति सैन्येनेति सप्तिः। 'षप् समवाये' अस्मात् क्तिन्प्रत्यये साधु। वाजी असि, वजति तच्छील इति वाजी, 'वज गतौ' ताच्छीलिको णिनिः। गतिवैविध्यसूचनाय गत्यभ्यासः। अथवा अवश्यं वजतीति वाजी। 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' (पा० सू० ३।३।१७०) इति णिनिः। यद्वा वाजाः पक्षा अभूवन्नस्येति वाजी। वृषासि वर्षति सिञ्चतीति वृषा, औणादिकेन कनिन्प्रत्ययेन साधु। नृमणा असि नृषु यजमानेषु मनो यस्य स नृमणाः, नृणां मनुष्याणां मनो यत्रासौ नृमणाः, नृभिर्विषयभूतैर्विना न भवतीति वा। ययुर्नामासि ययुरित्येवं नामा त्वमसि। अत्यर्थं यातीति ययुः, 'यो द्वे च' (उ० १।२१) इत्युः, 'ययुरश्वोऽश्वमेधीयः' (अ० को० २।८।४५) इति कोषात्। शिशुर्नामासि शिशुरित्येवंनामा त्वमसि शंसनीयो भवतीति वा। श्यति कृशं करोति स्तनमिति शिशुः। 'शः कित् सन्वच्च' (उ० १।२०) इत्युः। सन्वद्भावात् द्वित्वमित्वं च 'सन्यङोः' (पा० सू० ६।१।९), 'सन्यतः' (पा० सू० ७।४।७९) इति सूत्राभ्याम्। यस्त्वमेवंप्रभावस्तं त्वां ब्रवीमि। आदित्यानाम् अदितेरपत्यानां देवानाम्, पत्वा पत्वना पतनमार्गेण, अन्विहि अनुगच्छ। येन मार्गेण आदित्या देवा गच्छन्ति, तेन मार्गेणानुगच्छेत्यर्थः। अथवा पत्वा पत्वानम् अन्विहि अनुगच्छ।

'पशुवदुत्सर्जनं निरष्टेऽश्वशते' (का० श्रौ० २०।२।१०)। 'देवा आशापाला इति रक्षिणोऽस्यादिशत्यनुचरीजातीयांस्तावतस्तावतः कवचिनिषङ्गिकलापिदण्डिनो यथासंख्यम्' (का० श्रौ० २०।२।११)। अश्वशते शतानामश्वानां मध्ये पशुवदीशान्यां दिश्यध्वर्युयजमानौ अश्वमुत्सृजतः। कीदृशेऽश्वशते निरष्टे। अश्वस्य दन्तगतान्यष्टौ वयोव्यञ्जनानि। तेषामेकैकं त्रीणि त्रीणि वर्षाण्यनुवर्तन्ते। तानि निर्गतानि यस्मादिति निरष्टम्, अतीतचतुर्विंशतिवर्षमित्यर्थः। तस्मिन् निरष्टे, गतयौवन इति यावत्। चतुर्विंशतिवार्षिकाश्वशतमध्यस्थस्य ऐशान्यामुत्सृष्टस्य रक्षकान् नरान् अनुचरीजातीयान्, तावतस्तावतोऽनुचरीसंख्यान्, अर्थात् शतं राजपुत्रान्

कवचिनः, शतं क्षत्रियपुत्रान् खड्गधारिणः, शतं सूतग्रामण्याः पुत्रान् (सूता अश्वपोषकाः, तेषां मध्ये ग्रामण्यो मुख्याः, तत्सुतान्), शतं क्षात्रसंग्रहीतॄणां पुत्रान् वंशादिदण्डधारिणः (क्षत्तार आयव्ययाध्यक्षाः, तत्समूहः क्षात्रम्, तत्राधिकृताः क्षात्रसंगृहीतारः, तत्सुतान्) अध्वर्युरादिशतीति सूत्रद्वयार्थः। किमादिशतीति चेत्, आह भगवान् कात्यायनः—'वडवाभ्यो वारणम्, प्रस्नेयाच्चोदकात्' (का० श्रौ० २०।२।१२-१३)। हे रक्षिणो भवद्भिरश्वस्य वडवाभ्यः स्नानार्हादुदकाच्च वारणं कर्तव्यमिति सूत्रद्वयार्थः। यावद् (वर्षपर्यन्तम्) अश्वरक्षणं तावद् यजमानो ब्रह्मचारी सन् वावाताया ऊर्वोः शेते, सावित्रीः कारयति, वीणागानं पारिप्लव-शस्त्रपाठं धृतिहोमादिकं सूत्रकारप्रोक्तं ज्ञातव्यम्। देवदेवत्यं यजुः, ऋगुष्णिक्।

आशापाला देवाः, आशा दिशः पालयन्तीत्याशापालाः, हे देवाः, यूयमेतमश्वं रक्षत। कीदृशमश्वम्? देवेभ्यो मेधाय यागाय प्रोक्षितं प्रोक्षणेन संस्कृतम्। पूर्वोक्ता राजपुत्रादय एव आशापालाः, 'शतं वै तल्प्या राजपुत्रा आशापालास्तेभ्य एवैनं परिददाति' (श० १३।१।६।२) इति श्रुतेः। 'आहवनीयेऽस्तमिते चतस्रो धृतीरिह रन्तिरिति' (का० श्रौ० २०।३।४)। अस्तमितेऽर्केऽग्निहोत्रहोमात् प्रागग्निहोत्राद्धृते आहवनीयेऽग्नौ (१) इह रन्तिः स्वाहा, (२) इह रमताꣳ स्वाहा, (३) इह धृतिः स्वाहा, (४) इह स्वधृतिः स्वाहा—इति चतस्रो धृतिसंज्ञा आहुतीः प्रतिमन्त्रं प्रत्यहं वर्षपर्यन्तं जुहुयादिति सूत्रार्थः। तदेवं सम्भूय आहुतीनां चत्वारिंशदधिका चतुर्दशशती भवति। तथा च श्रुतिः—'संवत्सरमाहुतीर्जुहोति षोडश नवतीरेता वा अश्वस्य बन्धनं ताभिरेवैनं बध्नाति' (श० १३।१।६।२) इति। चत्वारि यजूंष्यग्निदेवत्यानि। चतुर्थमन्त्रान्ते स्वाहाकारश्रवणात् त्रिष्वपि मन्त्रेषु स्वाहाकारप्रयोगः। अश्वं प्रत्युच्यते—हे अश्व, इह रन्तिः रमणं तेऽस्तु। इह भवान् रमताम्। इह ते धृतिरस्तु सन्तोषोऽस्तु। हृदये सन्तुष्यतु भवान्। इह यज्ञे स्वधृतिः स्वा निजा धृतिर्धारणमस्तु। अथवा स्वन्यते प्रशस्यत इति स्वा, स्वा शोभना साध्वी वा धृतिः स्वधृतिः, 'अन्यत्रापि दृश्यत इति वक्तव्यम्' (पा० सू० ३।२।४८, वा० ४) इति डः। स्वाहा सुहुतमस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रजापतिरश्वमेधमसृजत। सोऽस्मात् सृष्टः पराङैत् स दिशोऽनुप्राविशत् तं देवाः प्रैषमैच्छंस्तमिष्टिभिरनुप्रायुञ्जत तमिष्टिभिरन्वैच्छंस्तमिष्टिभिरन्वविन्दन् यदिष्टिभिर्यजतेऽश्वमेव तन्मेध्यं यजमानोऽन्विच्छति' (श० १३।१।४।१) इति। प्रजापतिरश्वमेधमसृजत। सृष्टो भ्रष्टः। अस्मात् प्रजापतेः। पराङ् पराङ्मुखः। ऐत् गतः। स दिशः अनुप्राविशत् प्रविष्टः, अस्तं गत इत्यर्थः। तं देवास्तदीया ऋत्विजः। प्रैषं द्रष्टुम्। अन्वेषणे प्रकर्षेण अन्विष्यान्विष्य ऐच्छन्। तम् इष्टिभिः सावित्रीभिः। अनु पश्चात् प्रकर्षेण अयुञ्जत। ताभिर्न यथा प्रणश्यति तथा अकुर्वन्त। तमिष्टिभिरन्वियेषुः, अन्वविन्दंश्च। 'सावित्र्यो भवन्ति। इयं वै सविता यो वा अस्मान्निलयते योऽन्यत्रैत्यस्यां वाव तमनुविन्दन्ति' (श० १३।१।४।२)। इयं वै सविता अनुज्ञाता। कथं यो वै अस्यां पृथिव्यां निलयते गृहाद्बहिर्भूमिं गच्छति। पश्चादन्तरिक्षं गच्छति। अस्यामेव च तमनुविन्दन्ति लभन्ते। न चेमां कश्चिदपि तिर्यगूर्ध्वं चातिवर्तते। 'तदाहुः। प्र वा एतदश्वो मीयते यत्पराङेति नह्येनं प्रत्यावर्तयन्तीति यत्सायं धृतीर्जुहोति क्षेमो वै धृतिः क्षेमो रात्रिः क्षेमेणैवैनं दाधार तस्मात् सायं मनुष्याश्च पशवश्च क्षेम्या भवन्त्यथ यत्प्रातरिष्टिभिर्यजत इच्छत्येवैनं तत्तस्माद्दिवा नष्टैष एति यद्वेव सायं धृतीर्जुहोति प्रातरिष्टिभिर्यजते योगक्षेममेव तद्यजमानः कल्पयते तस्माद्यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते क्लृप्तः प्रजानां योगक्षेमो भवति' (श० १३।१।४।३)। धृतयो विधीयन्ते। प्रमीयते हिंस्यते। हिंसनेन हि तमश्वं हिंस्रेभ्योऽपि प्रत्यावर्तयन्तीति यत्सायं धृतीः। यद् अवधारणार्थः। सायं धृतिहोमेन तमश्वं हिंस्रेभ्योऽपि प्रत्यावर्तयन्तीति। इह रतिरिह रमताम् इत्येता आहुतीर्जुहोति। तत्क्षणेनैव रात्रिलक्षणेन एनमश्वं दाधार धारयत्यध्वर्युः। तस्मात् सायं मनुष्याश्च पशवश्च क्षेम्याः क्षेमसम्बद्धा भवन्ति। कथमिति चेत्, क्षेमो वै धृतिः। धारणमेव क्षेम इति यावत्। गृहेषु यदिह धृतिरस्तु इत्येवं

प्रार्थ्यते। क्षेमो रात्रिः। तत्र हि गृहे स्थितानां सर्वतो भयं न भवति। ततश्च तस्यां धृतीराहुतीर्जुहोति। जुह्वतः प्रकर्षोऽर्थः। इच्छत्येवैषः। एष नष्टमन्विच्छति, गवेषत इत्यर्थः। दिवा नष्टैष एति गच्छति। नष्टमन्विच्छति गवेषयतीति नष्टैषः। योगक्षेमं योगेन सहितं क्षेमम्। इष्टिभिः सावित्रीभिर्योगम्। धृतिभिः क्षेमं यजमानः प्रजाभ्यः कल्पयते।

'अप वा एतस्मात्। श्री राष्ट्रं क्रामति योऽश्वमेधेन यजते यदा वै पुरुषः श्रियं गच्छति वीणास्मै वाद्यते ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ संवत्सरं गायतः श्रियै वा एतद्रूपं यद्वीणा श्रियमेवास्मिंस्तद्धत्तः' (श० १३।१।५।१)। योऽश्वमेधेन यजते तस्मात् श्रीः समृद्धिः, राष्ट्रं जनपदश्च अपक्रामति। तत्प्रतीकाराय ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ संवत्सरं गायतः। श्रियो ह्येतद्रूपं या वीणा वीणागानेन श्रियमेवास्मिन् धत्तः। 'विभूर्मात्रा प्रभूः पित्रेति। इयं वै माताऽसौ पिताभ्यामेवैनं परिददात्यश्वोऽसि हयोऽसीति शास्त्येवैनं तत्तस्माच्छिष्टाः प्रजा जायन्तेऽत्योऽसि मयोऽसीत्येवैनं नयति तस्मादश्वः पशूनत्येति तस्मादश्वः पशूनाᳬ श्रैष्ठ्यं गच्छत्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसीति यथा यजुरेवैतद् वृषासि नृमणा असीति मिथुनत्वाय ययुर्नामासि शिशुर्नामासीत्येतद्वा अश्वस्य प्रियं नामधेयं प्रियेणैवैनं नाम्नाऽभिवदति तस्मादप्यामित्रौ सङ्गत्य नाम्ना चेदभिवदतोऽन्योन्यᳬ समेव जानाते' (श० १३।१।६।१)। तृतीयायां सावित्र्यामिष्टौ संस्थितायां 'एतस्याᳬ संᳬस्थितायाम्। उपोत्थायाध्वर्युश्च यजमानश्चाश्वस्य दक्षिणे कर्णे आजपतो विभूर्मात्रा प्रभूः पित्रेति' (श० १३।४।२।१५)। शिशुरिति प्रियं नामधेयमश्वस्य। अत्यर्थं विषयान् यातीति ययुः। आमित्रौ अमित्रायाः पुत्रौ ययुः शिशुरिति नामनी सममेव जानाते। शिशुः शंसनीयो भवतीति प्रशंसानिमित्तत्वात् प्रियम्।

'आदित्यानां पत्वान्विहीति। आदित्यानेवैनं गमयति देवा आशापाला एतं देवेभ्योऽश्वमेधाय प्रोक्षितᳬ रक्षतेति शतं वै तल्प्या राजपुत्रा आशापालास्तेभ्य एवैनं परिददातीह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहेति संवत्सरमाहुतीर्जुहोति षोडश नवतीरेता वा अश्वस्य बन्धनं ताभिरेवैनं बध्नाति तस्मादश्वः प्रमुक्तो बन्धनमागच्छति षोडश नवतीरेता वा अश्वस्य बन्धनं ताभिरेवैनं बध्नाति तस्मादश्वः प्रमुक्तो बन्धनं न जहाति' (श० १३।१।६।२)। तल्प्याः तल्पसाधवः। शतं शय्यागताः, तल्पेन समं रात्रौ ये साधु रक्षन्ति राजपुत्राः, तेभ्य एवैनं परिददातीति ब्रुवन् देवशब्दं तेष्टे गौणं दर्शयति। अथैते देवा इत्यत्र देवा आशापाला लक्ष्यन्ते। इह रन्तिः, इह रमतामित्यादयो धृतयः संवत्सरे षोडशनवत्यः सम्पद्यन्ते। 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः। राष्ट्र एते व्यायच्छन्ते येऽश्वᳬ रक्षन्ति तेषां य उदृचं गच्छन्ति राष्ट्रेणैव ते राष्ट्रं भवन्त्यथ ये नोदृचं गच्छन्ति राष्ट्रात्ते व्यवच्छिद्यन्ते तस्माद्राष्ट्र्यश्वमेधेन यजेत परा वा एष सिच्यते योऽबलोऽश्वमेधेन यजते यद्यमित्रा अश्वं विन्देरन् यज्ञोऽस्य विच्छिद्येत पापीयान् स्याच्छतं कवचिनो रक्षन्ति यज्ञस्य सन्तत्या अव्यवच्छेदाय न पापीयान् भवत्यथान्यमानीय प्रोक्षेयुः सैव तत्र प्रायश्चित्तिः' (श० १३।१।६।३)। राष्ट्रं जनपदः, अश्वमेधकारणम्, तस्माद्राष्ट्रमश्वमेधः। यस्मद्राष्ट्रे एते विविधमायच्छन्ते व्याप्रियन्ते। तेषां ये राजपुत्रादयो राजन्यादय उदृचं समाप्तिं गच्छन्ति, ते राष्ट्रेणैव अश्वमेधेन हेतुना राष्ट्रात् स्वं रक्षन्ति राजपुत्रादयो भवन्ति। तयैव सेवया देशा आप्ताश्च प्राप्ताश्च भवन्ति। देशान् प्राप्नुवन्तीति। येनोदृचं गच्छन्ति जीवन्त एव प्रत्यावर्तन्त इति यावत्। ते राष्ट्राद् व्यवच्छिद्यन्ते। तस्माद् राष्ट्री राष्ट्रपतिः, अश्वमेधेन यजेतेति विधिः। परा बहिः। परासिच्यते परासिच्यन्ते क्षीयन्तेऽरातय इति यावत्। यद्यबलो मन्दबलः सामन्तेभ्यो यद्यश्वमेधेन यजेत, तत्र यद्यमित्रा अश्वं विन्देरन्, तदास्य यज्ञो व्यवच्छिद्येत स पापीयान् भवति। तस्मात् सबल एव यजते।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व जीवात्मन्, त्वं मात्रा पृथिव्या हेतुना विभूः समर्थोऽसि, पित्रा द्युलोकेन च प्रभूः, ताभ्यामाप्यायितस्यैव कार्यकारणसङ्घातस्य पुरुषार्थसमत्वात्। त्वमश्वोऽसि महाशनोऽसि, 'तयोरन्यः पिप्पलं

स्वाद्वत्ति' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रवर्णात् । हयोऽसि गमनशीलोऽसि, कर्मपरतन्त्रत्वात् । अत्योऽसि अन्यानतिक्रान्तो भवसि, सततगतिशीलो वासि । मयोऽसि सुखरूपोऽसि, स्वतः शुद्धब्रह्मरूपत्वात् । अर्वासि रिपूणां हन्तासि । सप्तिः सरणशीलोऽसि, संसारित्वात् । वाजी वेजनवानसि, विविधगतित्वात् । गत्यर्थकधात्वभ्यासः । वृषासि सेक्तासि । नृमणासि नृणां मनो यत्र परमात्मनि तद्रूपोऽसि । ययुरसि अत्यर्थं यातीति ययुः । शिशुरसि श्यतीति शिशुः सूक्ष्मरूपोऽसि । एवंविधनामा त्वं देवानां पत्वा मार्गमन्विहि, तेन गमने क्रमेण ब्रह्मप्राप्तिसम्भवात् । देवा आशापाला सर्वासु दिक्षु पालकाः, तेभ्य एतमश्वं गतिशीलं वर्धिष्णुं मेधाय यज्ञाय प्रोक्षितं प्रोक्षणेन संस्कृतं पशुमिव हे देवा, एनं दुर्मार्गप्रवृत्तेः कामक्रोधादिभ्योऽरातिभ्यो रक्षत । हे अश्व, ते तव इह परमात्मप्राप्तिमार्गे रन्तिः रमणमस्तु । इह धृतिर्धारणं मनसोऽस्तु स्वधृतिः स्वस्मिन् स्वरूपभूते परमात्मनि धृतिर्मनसो धारणमस्तु ।

दयानन्दस्तु -'हे आशापाला देवा विद्वांसः, यूयं यो मात्रा पृथिव्या विभूर्व्यापकः, पित्रा वायुना प्रभूः समर्थः, अश्वो योऽश्नुते व्याप्नोति सः, हयोऽसि अत्योऽसि मयोऽसि अर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि वृषासि नृमणासि ययुर्नामासि शिशुर्नामासि आदित्यानां पत्वान्विहि । एतमश्वं स्वाहा । देवेभ्यो मेधाय प्रोक्षितं रक्षत । येनेह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वचनवैरूप्यात् । आशापाला देवा इति बहुवचनम्, यो मात्रा विभूरसि पित्रा प्रभूरसीति विषमः खलूपन्यासः । नाम वागसीति नोपपद्यते, सम्बोध्यस्य मनुष्यस्य वाक्त्वानुपपत्तेः । आदित्यानां मासानां योऽधः पतति स अनु इहि एति इति चानुपपन्नम्, कालस्य व्यापकत्वेन ऊर्ध्वाधोभावानुपपत्तेः । न च द्वादशमासातिक्रमणमेवाधःपतनमिति वाच्यम्, उत्क्रमणातिक्रमणादीनामधःपतनभिन्नत्वानुभावात् । न च वह्निर्व्यापको भवति, परिच्छिन्नत्वात् । न वा वह्निः सिच्यते, सेके तल्लोपप्रसङ्गात् । न चात्र जीवात्मनो व्यापकत्वं विवक्षितम्, त्वद्रीत्या जीवानामणुत्वात् ॥ १९ ॥

काय॒ स्वाहा॒ कस्मै॒ स्वाहा॑ कत॒मस्मै॒ स्वाहा॒ स्वाहा॒धिमाधी॑ताय॒ स्वाहा॒ स्वाहा॒ मनः॑ प्र॒जाप॑तये॒ स्वाहा॑ चि॒त्तं विज्ञा॑ताया॒दित्यै॒ स्वाहा॒दित्यै॑ म॒ह्यै स्वाहा॒दित्यै॑ सुमृडी॒काय॑ै स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै॒ स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै पाव॒काय॑ै स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै बृह॒त्यै स्वाहा॑ पू॒ष्णे स्वाहा॑ पू॒ष्णे प्र॑प॒थ्या॒य॒ स्वाहा॑ पू॒ष्णे नर॒न्धिषा॒य॒ स्वाहा॒ त्वष्ट्रे॒ स्वाहा॒ त्वष्ट्रे॑ तु॒री॒पा॑य॒ स्वाहा॒ त्वष्ट्रे॑ पुरु॒रूपा॑य॒ स्वाहा॒ विष्ण॑वे॒ स्वाहा॒ विष्ण॑वे निभूय॒पाय॒ स्वाहा॒ विष्ण॑वे शिपिवि॒ष्टाय॒ स्वाहा॑ ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति देवता को यह आहुति प्राप्त हो । श्रेष्ठ प्रजापति को, परमेष्ठी प्रजापति को, विद्या-बुद्धि को धारण करने वाले को, मन में वर्तमान प्रजापति को, चित्त के साक्षी आदित्य देवता को, अदिति को, पूजनीय अदिति को, सुखदायक अदिति को, सरस्वती को, शोधक सरस्वती को, महती सरस्वती को, पूषा देवता को, मार्ग में प्राप्त पूषा देवता को, वैदिक मनुष्यों के शिक्षक को, त्वष्टा देवता को, वेग के रक्षक पूषा देवता को, बहुरूप त्वष्टा देवता को, विष्णु देवता को और अनेक अवतारधारी सबके रक्षक विष्णु देवता को हम यह आहुति देते हैं । पशु-प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट विष्णु देवता के निमित्त यह आहुति देते हैं ॥ २० ॥

'काय स्वाहेति चाश्वमेधिकानि त्रीणि, कृष्णाजिनदीक्षातः, अध्वरदीक्षणीयायाश्चत्वारि त्रीणि त्रीणि चाश्वमेधिकानि' (का० श्रौ० २०।४।३-५)। चत्वार्याध्वरिकाण्यौद्ग्रभणानि चतुर्थेऽध्याये सप्तमाष्टमकण्डिकयोराम्नातानि हुत्वा काय स्वाहेत्यादीन्याश्वमेधिकानि त्रीण्यौद्ग्रभणानि जुहुयात् । अत औद्ग्रभणहोमानन्तरं

दीक्षणीयाशेषं समाप्य कृष्णाजिनदीक्षा तत्रोपवेशनान्ता कर्तव्या, 'सप्ताहं प्रचरन्ति' (श० १३।१।७।२) इति श्रुतेः सप्ताहं दीक्षणीया कार्येति सूत्रार्थः। तत्र प्रत्यहं कर्तव्यमाह—'पश्वालम्भनाद्याध्वरदीक्षणीयायाः कृत्वा चत्वार्यौद्ग्रभणानि जुहोत्याध्वरिकाणि' (का० श्रौ० २०।४।२)। अध्वरदीक्षणीयायाश्चत्वारि चत्वार्यौद्ग्रभणानि 'आकूत्यै प्रयुजे (४।७) इत्यादीनि त्रीणि त्रीणि चाश्वमेधिकानि काय स्वाहेत्यादिकण्डिका-पठितानि प्रत्यहमन्यान्यन्यानि पाठक्रमेण, एवं सप्त सप्त प्रत्यहं हूयन्ते। काय स्वाहेति कण्डिकायां सप्तत्रिकाणि पठितानि। तन्मध्ये सप्तस्वहःसु क्रमेणैकैकं त्रिकं हूयते। तत्र द्वितीयत्रिके स्वाहाकाराद्यं मन्त्रत्रयं स्वाहाधिमा-धीतायेत्यादीति सूत्रार्थ इति महीधराचार्यः।

औद्ग्रभणसंज्ञानि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। काय प्रजापतये स्वाहा सुहुतमस्तु। कस्मै प्रजापतये स्वाहा। कतमस्मै प्रजापतिश्रेष्ठाय स्वाहा—इति स्वाहाकारान्तास्तिस्र आहुतयः। अथ स्वाहादय आहुतयः। स्वाधिम् आधिराधानम्, तम्। अत्र चतुर्थी कर्तव्या, आधये। विभक्तिव्यत्ययः। आधीताय आधानं प्राप्ताय स्वाहा। मनो मनसि वर्तमानाय प्रजापतये स्वाहा। चित्तं चित्तस्य विज्ञाताय सर्वेषां चित्तसाक्षिणे स्वाहा। अदित्यै अखण्डितायै स्वाहा। अदित्यै मह्यै पूजितायै स्वाहा। अदित्यै सुमृडीकायै सुखयित्र्यै स्वाहा। सरस्वत्यै वागधिष्ठात्र्यै स्वाहा। सरस्वत्यै पावकायै पावयतीति पावका तस्यै शोधयित्र्यै स्वाहा। सरस्वत्यै बृहत्यै महत्यै स्वाहा। पूष्णे स्वाहा पूष्णे प्रपथ्याय प्रगतः पन्थाः प्रपथः, तत्र भवः प्रपथ्यः, तस्मै स्वाहा। प्रपथादनपेतो वा प्रपथ्यः। 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' (पा० सू० ४।४।९२) इति यत् प्रत्ययः।

पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा। 'धिष शब्दे' जुहोत्यादिश्छान्दसः। नरं दिधेष्टि शब्दयत्युदयेन यः स नरन्धिषः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कः। त्वष्ट्रे स्वाहा, त्वक्षतीति त्वष्टा, तृच्, तस्मै। त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा। तुतोर्तीति तुरीः, 'अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः' (उ० ३।१५८) इति बाहुलकात् ईः, वेगः, तं पाति रक्षतीति तुरीपस्तस्मै। त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा। पुरूणि बहूनि रूपाणि यस्य तस्मै विष्णवे स्वाहा, वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः। 'विषेः किच्च' (उ० ३।३९) इति नुः, तस्मै। विष्णवे निभूयपाय स्वाहा। नितरां भूत्वा मत्स्यादिरूपेणावतीर्य निभूय निभूय पातीति निभूयपः। विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा। शिपिषु पशुषु प्राणिषु विष्टः प्रविष्टोऽन्तर्यामिरूपेणेति शिपिविष्टस्तस्मै।

उव्वटाचार्यरीत्या तु—आधिमाध्यानम्, चतुर्थी चात्र कर्तव्या। आधये स्वाहा आधीताय स्वाहेति। चित्तं विज्ञाताय, चित्तायेति विभक्तिव्यत्ययः। मनो मनसे इति विभक्तिव्यत्ययः। नीचैर्भूत्वा यः पाति स निभूयपः, तस्मै। शिपिं पशुं यज्ञस्य वेष्टयति साधुं करोतीति शिपिविष्टस्तस्मै। शेषं पूर्ववत्। एते औद्ग्रभणमन्त्राः।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रजापतिरकामयत। अश्वमेधेन यजेयेति सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सप्तधात्मनो देवता अपाक्रामन् सा दीक्षाभवत् स एतानि वैश्वदेवान्यपश्यत्तान्यजुहोत्तैर्वै स दीक्षामवारुन्ध यद्वैश्वदेवानि जुहोति दीक्षामेव तैर्यजमानोऽवरुन्धेऽन्वहं जुहोत्यन्वहमेव दीक्षामवरुन्धे सप्त जुहोति सप्त वै ता देवता अपाक्रामंस्ताभिरेवास्मै दीक्षामवरुन्धे' (श० १३।१।७।१)। अश्वमेधेन यियक्षिषोः श्रान्तस्य तप्तस्य य आत्मा शरीरं तस्मात् सप्तभेदात् चक्षुरादिभिश्छिद्रैर्देवता अपक्रान्ताः। सा च दीक्षा आश्वमेधिकी अभवत्। स प्रजापतिस्तस्या दीक्षादेवताया अवरोधार्थं काय स्वाहेत्यादिमन्त्रकाण्यपक्रान्तसप्तदेवताकानि वक्ष्यमाणानि वैश्वदेवानि नामानि हवनान्यपश्यत्। अन्वहमहन्यहनि जुहोति, न तु सर्वाणि, किन्तु वक्ष्यमाणेन विभागेन सप्त जुहोति समानदेवतानि त्रीण्येकीकृत्य, एवं सप्तेति ताभिरेव देवताभिस्तर्पिताभिरस्मै यजमानाय दीक्षामवरुन्धे। 'अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति। ये दीक्षामतिरेचयन्ति सप्ताहं प्रचरन्ति सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः प्राणा दीक्षा प्राणैरेवास्मै प्राणान् दीक्षामव-रुन्धे त्रेधा विभज्य देवता जुहोति त्र्यावृतो वै देवास्त्र्यावृत इमे लोका ऋद्ध्यामेव वीर्य एषु लोकेषु प्रतितिष्ठति'

(श० १३।१।७।२)। ये दीक्षामवरुद्ध्य वैश्वदेवान्यतिरेचयन्ति, एकाहर्दीक्षया सप्ताहर्दीक्षया प्रचरन्ति। सप्त वैश्वदेवानि जुह्वति दीक्षायाः सकाशाद् वैश्वदेवानि व्यतिरेचयन्ति। तेभ्यः प्राणा अपक्रामन्ति। तत्प्रतीकाराय सप्ताहं दीक्षया प्रचरति सप्त ये शीर्षण्याः प्राणास्ते आश्वमेधिकीदीक्षाभूताः। ततश्च प्राणैरेव दीक्षात्मकैः प्राणात्मिकां दीक्षामवरुन्धे। त्रेधा त्रीणि रूपाणि विभज्य देवतां जुहोति। काय स्वाहेत्यादिना। त्र्यावृतो वसुरुद्रादित्यात्मकैरवयवैस्त्रिगुणा देवाः। अग्निः, सोमः, इन्द्र इत्येवमाद्यात्मिकास्त्र्यावृतो वा। एवं लोका अपि त्रिगुणाः समस्ताः। प्रत्येकं चादिमध्यान्तविभागेन त्र्यावृतः। ततश्च त्रिगुणाभिर्देवताभिरिष्टाभिस्त्रिगुणश्च दीर्घवत्सु समृद्धेष्वेषु लोकेषु प्रतितिष्ठति। 'एकवि ँ शतिः सम्पद्यन्ते। द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकवि ँ शस्तद्दैवं क्षत्र ँ सा श्रीस्तदाधिपत्यं तद् ब्रध्नस्यविष्टपं तत्स्वाराज्यमश्नुते' (श० १३।१।७।३)। तानि च सप्त सप्त त्रिकाणि। सप्तत्रिगुणान्येकविंशतिः सङ्गच्छते। यदेव द्वादशमासाः पञ्चर्तवः त्रय इमे लोकाः, असावादित्यः—सम्भूय एकविंशतिः, तद्दैवं देवेषु भवं क्षत्रम् सा श्रीरिति तत्सौभाग्यतामाश्रित्याह—तदेव ब्रध्नस्य आदित्यस्य सम्बन्धि प्रकाश्यम् तदेव च आधिपत्यम् अधिपतिभवम्। तत् स्वाराज्यमेकैश्वर्यमश्नुते।

'त्रि ँ शतमौद्ग्रभणानि जुहोति। त्रि ँ शदक्षरा विराड् विराड् कृत्स्नमन्नं कृत्स्नस्यैवान्नाद्यस्यावरुद्ध्यै चत्वार्यौद्ग्रभणानि जुहोति त्रीणि वैश्वदेवानि सप्त सम्पद्यन्ते सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः प्राणा दीक्षा प्राणैरेवास्मै प्राणान् दीक्षामवरुन्धे पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति प्रत्युत्तब्ध्यै सयुक्त्वाय' (श० १३।१।७।४)। तैरेकविंशत्या वैश्वदेवैस्त्रिशतमौद्ग्रभणानि जुहोति। सप्तभिर्दिवसैः कृते एकविंशतिः सम्पद्यत इति सम्पदधिकारात्, चत्वार्यौद्ग्रभणानि जुहोतीति च एकस्मिन्नहनि चतुर्होमवचनाच्च। चत्वार्यौद्ग्रभणानि प्रत्यहं जुहोति। प्रागल्भ्येन सप्तमे तु षडग्निकानि जुहोति। कुत एवम्? त्रिंशत्सम्पद्वचनात्, तेषां च साग्निचित्येऽवश्यं होम्यत्वात्, अध्वरस्य त्वनग्नेरित्येतेनापि तत्प्राप्तिः। शीर्षण्याः शिरसि भवाः, 'शरीरावयवाद्यत्' (पा० सू० ५।१।६) इति यति, 'ये च तद्धिते' (पा० सू० ६।१।६) इति शीर्षन्नादेशे रूपम्। याः सप्त प्राणदेवता अपाक्रामन्, सा दीक्षा। इत्येवं प्राणदीक्षया प्राणैरेव सप्तभिरधियज्ञियैः प्राणान् दीक्षात्मकान् अधिदैवकान् अवरुन्धे। पूर्णाहुतिमुत्तमां 'विश्वो देवस्य' (वा० सं० २२।२१) इत्येतां जुहोति। किमर्थम्? पूर्वेषामौद्ग्रभणानाम्, उत्तब्ध्यै महत्यै कथं नाम प्रतिष्टम्भः स्यात्, प्रतिस्तब्धानि च सयुञ्जि कथं स्युरिति? प्रतिस्तब्धानि वर्तुलानि हि संहत्यकारीणि भवन्ति।

'विश्वो देवस्य नेतुरिति पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोतीयं वै पूर्णाहुतिरस्यामेवान्ततः प्रतितिष्ठति' (श० १३।१।८।८)। प्रजापतिरश्वमेधं यजुरात्मकं विग्रहवन्तं सृष्टवान्। स सृष्टः सन् यजुषामपूर्वाणां बहुत्वाद् बलवत्त्वाद् बलवत्तर इति कृत्वा ऋग्यजुषी सामयजुषी च प्रावृणोत्, अवष्टभ्य सङ्कोचितवान्। तं यजुरात्मकमश्वमेधमतिगुरुं वैश्वदेवानि होमकर्माण्युत्क्षिप्तवन्ति इत्याचार्यो हरिस्वामी।

'काय स्वाहा। कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहेति प्राजापत्यं मुख्यं करोति प्रजापतिमुखाभिरेवैनं देवताभिरुद्यच्छति' (श० १३।१।८।२)। प्राजापत्यं वैश्वदेवं त्रिप्रभेदं मुख्यं मुखमिव प्रथमं करोति। यदेव पूर्वासां व्याहृतीनां वा प्राजापत्यानां ब्राह्मणं 'प्रजापतिमुखाभिरेवैनं देवताभिरुद्यच्छति' इति ब्रुवत आह। 'स्वाहाधिमाधीताय स्वाहा। मनः प्रजापतये स्वाहा चित्तं विज्ञातायेति यदेव पूर्वासां ब्राह्मणं तदत्र' (श० १३।१।८।३)। 'आधिमाधीताय मनश्चित्तम्' इत्येता द्वितीयाहे पूर्वोक्तेरष्टौ हूयमाना चतुर्थी द्रष्टव्या 'त्वष्ट्रे स्वाहा। त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहेति त्वष्टा वै पशूनां मिथुनाना ँ रूपकृद्रूपैरेवैनमुद्यच्छति' (श० १३।१।८।७)। त्वष्टा वै। आत्मिकं वाश्वात्मकः। पशूनां मिथुनानाम्। आध्यात्मिकं तावद्रूपकृद्

रूपाणि नानाविधानि करोतीति। 'विष्णवे स्वाहा। विष्णवे निभूयपाय स्वाहा विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहेति यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञेनैवैनमुद्यच्छति' (श० १३।१।८।८)।

अध्यात्मपक्षे—तत्तद्रूपापन्नाय ब्रह्मणे तत्तद्रूपापन्नायै राजराजेश्वर्यै भगवत्यै तत्तद्विशेषणविशिष्टाय विष्णवे त्वष्ट्रे तथाभूताय विष्णवे याज्ञिकाहुतिप्रदानेन स्वात्मसमर्पणेन सर्वाधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मण एवार्चनं भवतीति। अक्षरार्थस्तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'यैर्मनुष्यैः काय स्वाहा कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहा आधीताय स्वाहा प्रजापतये मनः स्वाहा विज्ञाताय चित्तमदित्यै स्वाहा मह्यां अदित्यै स्वाहा सुमृडीकायै अदित्यै स्वाहा सरस्वत्यै पावकायै सरस्वत्यै स्वाहा बृहत्यै सरस्वत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा प्रपथ्याय स्वाहा शिपिविष्टाय विष्णवे स्वाहा कृतास्ते कथं न सुखिनः स्युः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाहाशब्दस्य सत्यक्रियार्थत्वे मानाभावात्, अभ्युपगमेऽपि तदनिरूपणात्, कमित्यस्य सुखार्थत्वेऽपि सुखसाधनार्थत्वे मूलाभावात्। कतमस्मै बहूनां मध्ये वर्तमानायेत्यप्यशुद्धम्, तादृशार्थताया निर्मूलत्वात्। आधीतेत्यस्य विद्यावृद्धचर्थतापि चिन्त्यैव। यो नितरां रक्षितो भूत्वाऽन्यान् पाति स निभूयप इत्यपि निर्मूलम्, भूयशब्दस्य तादृशार्थेऽशक्तेः, मनश्चित्तमित्यनयोः पदयोरन्वयानुपपत्तेश्च ॥ २० ॥

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्। विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—सभी मनुष्य कर्मफल को प्रदान करने वाले सविता देव की मित्रता चाहते हैं। सभी कोई धन की, यश अथवा अन्न की प्राप्ति के लिये और अपनी सन्तति की पुष्टि के लिये सविता देव से प्रार्थना करते हैं ॥ २१ ॥

'षडाग्निकानि चतुःस्थाने, दशमं विश्वो देवस्येति' (का० श्रौ० २०।४।९-१०)। सूत्रद्वयेन सप्तम्यां दीक्षणीयायां कियानपि विशेषः प्रतिपाद्यते। प्रत्यहं यानि चत्वार्यौद्ग्रभणान्याध्वरिकाणि हूयन्ते, तेषां चतुर्णां स्थाने षडाग्निकानि 'आकूतिमग्निं प्रयुज॑ᳫं स्वाहा' (वा० सं० ११।६६) इति हुत्वा, आश्वमेधिकानि त्रीणि विष्णवे स्वाहेत्यादीनि हुत्वा, विश्वो देवस्येति दशममौद्ग्रभणं जुहोतीति सूत्रार्थः। सवितृदेवत्यानुष्टुप् स्वस्त्यात्रेयदृष्टा। विश्वो मर्तः सर्वोऽपि मनुष्यो नेतुः कर्मफलप्रापकस्य देवस्य सवितुः सख्यं सखिभावं वुरीत वृणुते प्रार्थयते। 'वृञ् वरणे' अस्माद् लिङि तङि प्रथमपुरुषैकवचने व्यत्ययेन शपो लुकि 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा० सू० ७।१।१०२) इति ऋत उदादेशः। किञ्च, विश्वो जनो राये धनाय इषुध्यति सवितारं प्रार्थयते। इषुध्यति याच्ञाकर्मसु पठितः (निघ० ३।१९।१४)। द्युम्नं यशोऽन्नं वा वृणीत प्रार्थयते। किमर्थम्? पुष्यसे पोषाय स्वप्रजापालनाय। 'तुमर्थे सेसेन ' (पा० सू० ३।४।९) इति रूपसिद्धिः। इयमृग् विशेषतश्चतुर्थेऽध्यायेऽष्टम्यां कण्डिकायां व्याख्याता ॥ २१ ॥

आ ब्र॑ह्म॒न् ब्रा॑ह्म॒णो ब्र॑ह्मवर्च॒सी जा॑यता॒मा रा॒ष्ट्रे रा॑ज॒न्यः शूर॑ इष॒व्यो॑ऽतिव्या॒धी म॑हार॒थो जा॑यतां॒ दोग्ध्री॑ धे॒नुर्वोढा॑ऽन॒ड्वाना॒शुः सप्तिः॒ पुर॑न्धि॒र्योषा॑ जि॒ष्णू र॑थे॒ष्ठाः स॒भेयो॒ युवा॒ऽस्य यज॑मानस्य वी॒रो जा॑यतां॒ निका॒मे नि॑कामे नः प॒र्जन्यो॑ वर्षतु॒ फल॑वत्यो न॒ ओष॑धयः पच्यन्तां योगक्षे॒मो नः॑ कल्पताम् ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—कृष्णाजिन की दीक्षा से लेकर उखा में १३ समिधाओं के रखने तक अध्वर्यु पढ़े—हे ब्रह्मन्, हमारे देश में यज्ञ करने वाले और वेदाध्ययनशील ब्राह्मण सब ओर उत्पन्न हों, शूरवीर बाणविद्या में चतुर, शत्रु को भली प्रकार बेधने वाले, महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों, इस यजमान की गायें खूब दूध दें, बैल बोझा उठाने में समर्थ हों, घोड़ा शीघ्रगामी हो, स्त्री सर्वगुणसम्पन्न हो, रथ में बैठने वाला जयशील हो, पराक्रमी युवा सभा के योग्य पुत्र हो, हमारे यहाँ इच्छानुसार वृष्टि हो, ओषधियाँ फलवती हों और शीघ्र पक जांय। हमें अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की रक्षा प्राप्त हो ॥ २२ ॥

'कृष्णाजिनाद्यासमिदाधानात्कृत्वाऽऽब्रह्मन्निति जपति' (का० श्रौ० २०।४।११)। 'उत्सर्गकाल एके' (का० श्रौ० २०।४।१२) कृष्णाजिनदीक्षात आरभ्य उखायां त्रयोदशसमिदाधानान्तं कर्म कृत्वाऽध्वर्युराब्रह्मन्निति जपेत्। 'उत्सर्गैरुपतिष्ठते' (श० ७।५।२।२८) इत्युत्सर्गमन्त्रैरुपहितानां पशुशिरसामुपस्थानं श्रुतम्। तदानीं जपः, अथवा अश्वोत्सर्गकाल एव विभूमात्रेति जपानन्तरमेव जपं केचिदिच्छन्तीति सूत्रद्वयार्थः। लिङ्गोक्तदेवता। उत्कृतिश्छन्दः। हे ब्रह्मन्, राष्ट्रे अश्वमेधयाजिनो देशे ब्राह्मणो ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टो ब्रह्मवर्चसी यज्ञाध्ययनशीलः, आजायताम् उत्पद्यताम्, जन्मनैव वर्णव्यवस्थोपपत्तेः, वेदाध्ययनाङ्गभूत उपनयने जन्मना ब्राह्मणक्षत्रियविशामधिकारात्। राजन्यः क्षत्रियश्च, शूरः शूरयत इति शूरः पराक्रमी, इषव्य इषुभिर्विध्यतीति इषव्यः, यद्वा इषौ बाणविद्यायां कुशल इषव्यः, 'उगवादिभ्यो यत्' (पा० सू० ५।१।२) इति यति साधुः, अतिव्याधी अत्यन्तं विध्यतीत्यतिव्याधी महारथः, य एकः सहस्रं जयति सः। 'एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स महारथ उच्यते ॥' इति स्मरणात्। तादृशो राजन्योऽस्मिन् राष्ट्रे आजायतामिति सम्बन्धः। दोग्ध्री दुग्धप्रपूरयित्री धेनू राष्ट्रे आजायतामिति सर्वत्र सम्बन्धः। अनड्वान् नवो वृषभो वोढा वहनशीलः। सप्तिः अश्वः आशुः शीघ्रगामी जायताम्। योषा स्त्री पुरन्धिः पुरं शरीरं सर्वगुणसम्पन्नं दधातीति। रथेष्ठा रथे तिष्ठतीति क्विप् सप्तम्या अलुक्। जिष्णुः रथे स्थितो युयुत्सुर्नरो जयनशीलो जिष्णुर्जायताम्। अस्य यजमानस्य युवा समर्थः सभेयः सभायां साधुः योग्यो वीरो पुत्र आजायताम्। 'ढश्छन्दसि' (पा० सू० ४।४।१०६) इति सभाशब्दात् तत्र साधुरित्यर्थे ढप्रत्ययः। किञ्च, नो राष्ट्रे पर्जन्यो मेघो निकामे निकामे कामनायां सत्यां नितरां वर्षतु, वीप्सार्थोऽभ्यासः, यदा यदा प्रार्थना स्यात्तदा तदावश्यं वर्षतु। फलवत्योऽतिशयेन फलयुक्ताः, अतिशायने मतुप्, यवाद्या ओषधयो नो राष्ट्रे पच्यन्तां स्वयमेव पक्वा भवन्तु। नोऽस्माकं योगेनाप्राप्तप्राप्तिरूपेण युक्तः क्षेमः प्राप्तरक्षणरूपः कल्पतां क्लृप्तो भवतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'आ ब्रह्मन्। ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामिति ब्राह्मण एव ब्रह्मवर्चसं दधाति तस्मात्पुरा ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जज्ञे' (श० १३।१।९।१)। आ समिदाधानात् कृत्वा ब्रह्मन्निति (आसमिदाधानादुखायां त्रयोदशसमिदाधानान्तं कर्म कृत्वा) अध्वर्युर्जपति, आशीरूपत्वात्, क्रियान्तरे चाविनियोगात्। एवमाशासानोऽध्वर्युर्ब्राह्मणे ब्रह्मवर्चसं दधाति। 'आ राष्ट्रे राजन्यः। शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतामिति राजन्य एव शौर्यं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे' (श० १४।१।९।२)। तस्माच्च पुरा यदा राजानोऽश्वमेधैरीजिरे तदा ब्रह्मवर्चसी जज्ञे उत्पन्नः। राजन्यश्च महारथो जज्ञे। 'दोग्ध्री धेनुरिति। धेन्वामेव पयो दधाति तस्मात् पुरा धेनुर्दोग्ध्री जज्ञे' (श० १३।१।९।३), 'धेन्वामेव पयो दधाति। वोढानड्वानिति। अनडुह्येव बलं दधाति तस्मात् पुरानड्वात् वोढा जज्ञे' (श० १३।१।९।४)। 'आशुः सप्तिरिति। अश्व एव जवं दधाति तस्मात् पुराऽश्वः सर्ता जज्ञे' (श० १३।१।९।५)। 'पुरन्धिर्योषेति। योषित्येव रूपं दधाति तस्माद्रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका' (श० १३।१।९।६)। 'जिष्णू रथेष्ठा इति। राजन्य एव जैत्रं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यो जिष्णुर्जज्ञे' (श० १३।१।९।७)। 'सभेयो युवेति। एष वै सभेयो युवा यः प्रथमवयसी

स्त्रीणां प्रियो भावुकः' (श० १३।१।९।८)। 'आस्य यजमानस्य वीरो जायतामिति। यजमानस्यैव प्रजायां वीर्यं दधाति तस्मात् पुरेजानस्य वीरो जज्ञे' (श० १३।१।९।९)। अतिव्याधी अतिक्रम्य अन्येषां लक्ष्यं विध्यतीति। दोग्ध्री साधु दुग्धा। प्रथमवयसी प्रथमं वयो यस्य सः। तस्मात् पुरा ईजानस्य अश्वमेधेन इष्टवतो वीरो जायते स्म।

अध्यात्मपक्षे—अध्यात्मनिष्ठा व्यष्टिहितापेक्षया समष्टिहितं कामयन्ते। यथा 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥' 'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया। मनश्च भद्रं भजतादधोक्षज आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥' (भा० म०) तथैवात्र समष्टिशुभाशंसा। हे ब्रह्मन् परमात्मन्, आसमन्तादस्मिन् राष्ट्रे ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, वेदाध्ययनाध्यापनतदर्थानुष्ठानजनितं तेजो ब्रह्मवर्चसम्, तदस्यास्तीति ब्रह्मवर्चसी। तेन शुभवातावरणसंस्कृते राष्ट्रे स्वधर्मानुष्ठानवेदान्तश्रवणादिसौविध्यं सम्पद्यते। तथैव राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्यो भवेत्। पूर्ववदेव व्याख्यानम्। सुभिक्षे सुराष्ट्रे चतुर्थाश्रमधर्मपालनश्रवणादिसौष्ठवं सम्भाव्यते।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मन्, यथा नो राष्ट्रे ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण आजायताम्, इषव्योऽतिव्याधी महारथः शूरो राजन्य आजायताम्, दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा रथेष्ठा जिष्णुः सभेयो युवा जायताम्। अस्य यजमानस्य राष्ट्रे वीरो जायताम्, नो निकामे निकामे पर्जन्यो वर्षतु, ओषधयः फलवत्यो नः पच्यन्ताम्, नो योगक्षेमः कल्पताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथाहि—कर्मणा वर्णव्यवस्थाभ्युपगमे पौनरुक्त्यापत्तिः। यो वेदविद्यादिप्रकाशयुक्तः स एव कर्मणा ब्राह्मणो भवति, ब्रह्मवर्चस्यपि स एव भवतीत्युद्देश्यविधेयभावानुपपत्तिः। तथैव राजन्यो जिष्णुः शूरो जायतामित्यत्रापि सैवापत्तिः। पुरून् व्यवहारान् दधातीति पुरन्धिरित्यप्यसङ्गतम्, बहुव्यवहारधारकत्वस्यान्यत्रापि सत्त्वेन व्यभिचारात् ॥ २२ ॥

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हम प्राण के निमित्त आहुति देते हैं, अपान के निमित्त, व्यान के निमित्त, चक्षु की ज्योति बढ़ाने के निमित्त, श्रवण शक्ति को बढ़ाने के निमित्त, वाक् शक्ति को बढ़ाने के निमित्त और मनोबल को बढ़ाने के निमित्त आहुति देते हैं ॥ २३ ॥

'आज्य-सक्तु-धाना-लाजानामेकैकं जुहोति प्राणाय स्वाहेति प्रतिमन्त्रꣳ सर्वरात्रमावर्तम्' (का० श्रौ० २०।४।३२)। आज्यादीनां प्रतिप्रहरमेकैकं द्रव्यं क्रमेण सर्वस्यां रात्रौ उत्तरवेदिस्थाग्नौ जुहोति प्राणाय स्वाहेत्यादि-द्वादशकण्डिकात्मकैरनुवाकैः। कथङ्कारम्? आवर्तम्, प्राणाय स्वाहेत्यादिकमेकशताय स्वाहेत्यन्तं मन्त्रगणमावर्त्य आवर्त्य। सर्वरात्रमिति द्वितीयाग्रहणात् 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २।३।५) इति सूत्रार्थानुसारं होमक्रियाया रात्रेः कार्त्स्न्येन संयोगः। ततः प्रथमयामे घृतेन यागः, द्वितीये सक्तुभिः, तृतीये धानाभिः, चतुर्थे लाजैः। एकस्मै स्वाहेति द्वादशेऽनुवाके एकस्मै स्वाहा, द्वाभ्याꣳ स्वाहेत्यादौ त्रिभ्यः स्वाहा, चतुर्भ्यः स्वाहा, पञ्चभ्यः स्वाहा, षड्भ्यः स्वाहा, सप्तभ्यः स्वाहा, अष्टाभ्यः स्वाहा, नवभ्यः स्वाहेत्येवमादयो मन्त्रा अपठिता अप्येकैकोच्चयेन शतपर्यन्ताः प्रयोज्याः, 'एकोत्तरा जुहोति' (श० १३।२।१।५), 'नैकशतमत्येति' (श० १३।२।१।६) इत्यादिश्रुतिभ्यः। व्युष्टायां समाप्तायां रात्रौ व्युष्टचै स्वाहेति घृताहुतिमेकाम्, उदिते च सूर्ये स्वर्गाय स्वाहेत्येकामाहुतिं जुहोतीति सूत्रार्थः। इह त्रिभ्यः स्वाहेत्यारभ्य नवनवतिभ्यः स्वाहेत्यन्तः स्वाध्याय

उपसंहृतस्वाध्यायो लुप्तस्वाध्यायो वा उच्यते। स च जपपारायणहवनादिकर्मस्वनुसन्धेयः। लिङ्गोक्तदेवत्यानि यजूंषि। प्राणादय इन्द्रियदेवाः, एवम् अपानाय स्वाहेत्यादिकम्। चक्षुःश्रोत्रमनांस्यपि देवता एव, तेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रजापतिर्देवेभ्यो यज्ञान् व्यादिशत्। स आत्मन्नश्वमेधमधत्त ते देवाः प्रजापतिमब्रुवन्नेष वै यज्ञो यदश्वमेधोऽपि नोऽत्रास्तु भाग इति तेभ्य एतानन्नहोमानकल्पयद्यदन्नहोमान् जुहोति देवानेव तत्प्रीणाति' (श० १३।२।१।१)। 'आज्येन जुहोति। तेजो वा आज्यं तेजसैवास्मिस्तत्तेजो दधात्याज्येन जुहोत्येतद्वै देवानां प्रियं धाम यदाज्यं प्रियेणैवैनान् धाम्ना समर्धयति' (श० १३।२।१।२)।'.....लाजैर्जुहोति। नक्षत्राणां वा एतद्रूपं यल्लाजा नक्षत्राण्येव तत्प्रीणाति प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहेति नामग्राहं जुहोति नामग्राहमेवैनांस्तत्प्रीणात्येकस्मै स्वाहा द्वाभ्याँ स्वाहा शताय स्वाहैकशताय स्वाहेत्यनुपूर्वं जुहोत्यनुपूर्वमेवैनांस्तत्प्रीणात्येकोत्तरा जुहोत्येकवृद्वै स्वर्गो लोक एकधैवैनँ स्वर्गं लोकं गमयति पराचीर्जुहोति पराङिव वै स्वर्गो लोकः स्वर्गस्य लोकस्याभिजित्यै' (श० १३।२।१।५)। 'ईश्वरो वा एष। पराङ्प्रदघोर्यः पराचीराहुतीर्जुहोति नैकशतमत्येति यदेकशतमतीयादायुषा यजमानं व्यर्धयेदेकशतं जुहोति शतायुर्वै पुरुष आत्मैकशत आयुष्येवात्मन् प्रतितिष्ठति व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहेत्युत्तमे आहुती जुहोति रात्रिर्वै व्युष्टिरहः स्वर्गोऽहोरात्रे एव तत्प्रीणाति' (श० १३।२।१।६)। 'तदाहुः। यदुभे दिवा वा नक्तं वा जुहुयादहोरात्रे मोहयेद् व्युष्टयै स्वाहेत्यनुदित आदित्ये जुहोति स्वर्गाय स्वाहेत्युदितेऽहोरात्रयोरव्यतिमोहाय' (श० १३।२।१।७)। अन्नहोमब्राह्मणमेतत्। देवानां सक्तवो रूपम्, सन्ततत्वात्। नक्षत्राणां लाजारूपम्, समर्थत्वात्। प्राणादीनां नाम, गृहीतत्वात् नामग्राहम्। एकैक उत्तरद्रष्टव्यो देवो यास्वाहुतिषु ता एकोत्तरा आहुतीर्जुहोतीति विधिः। पूर्वपूर्वमनूत्तरस्मै इत्येतस्मिन्नर्थेऽनुपूर्वमित्यव्ययीभावः। एषोऽपि विधिरभावः। ततश्च 'त्रिभ्यः स्वाहा, चतुर्भ्यः स्वाहा, पञ्चभ्यः स्वाहा' इत्यादि तावज्जुहुयाद् यावच्छताय स्वाहैकशताय स्वाहेति। पराचीः वृत्ताः। सर्वां रात्रिं जुहोति। द्विशताय चतुःशताय स्वाहेत्यादिका इति हेयः कल्पः। 'ईश्वरो वा एष पराङ्प्रदघोर्यः पराचीराहुतीर्जुहोति नैकशतमतिक्रामति' इति स्थितिकल्प इत्याचार्यहरिस्वामी। तदेवार्थवादेन स्पष्टयति—यदेकशतमतीयादायुषा यजमानं व्यर्द्धयेदित्यादिना। अन्यत् स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—प्राणाय स्वाहा। बहिर्वृत्तिः प्राणः। व्यष्टिप्राणभिन्नाय समष्टिप्राणायेत्यर्थः। अपानाय स्वाहा। अन्तर्वृत्तिरपानः। व्यानाय सर्वशरीरगाय स्वाहा। समष्टिसूत्रात्मान्तर्गताः सर्वे प्राणाः। चक्षुषे तदभिन्नाय सूर्याय। श्रोत्राय श्रोत्राभिन्नाय दिग्देवतात्मने। वाचे सरस्वत्यै। मनसे हिरण्यगर्भाय स्वाहा। समष्टिप्राणादिषु व्यष्टिप्राणादीनामन्तर्भावचिन्तनमेवात्र स्वाहाकारार्थः।

दयानन्दस्तु—'यैर्मनुष्यैः प्राणायामा मनसे स्वाहा च प्रयुज्यन्ते, ते विद्वांसो जायन्ते' इति, तदपि निरर्थकमेव, स्वाहाशब्दस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्॥ २३॥

प्राच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा दक्षिणायै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा प्रतीच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहोदीच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहोर्ध्वायै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा॥ २४॥

मन्त्रार्थ—हम पूर्व दिशा के निमित्त आहुति देते हैं, आग्नेय दिशा के निमित्त, दक्षिण दिशा के निमित्त, नैर्ऋत्य दिशा के निमित्त, पश्चिम दिशा के निमित्त, वायव्य दिशा के निमित्त, उत्तर दिशा के निमित्त, ईशानकोण के निमित्त, ऊर्ध्व दिशा के निमित्त और अधो दिशा के निमित्त, सबसे नीचे की दिशा के निमित्त, पृथ्वी गोलक में स्थित प्रत्येक गोल के नीचे स्थित दिशा के निमित्त आहुति देते हैं। इससे उन दिशाओं के देवता और प्राणी तृप्त हों ॥ २४ ॥

प्राच्यादयो दिग्देवताः। ताभ्यः स्वाहा सुहुतमिदमस्त्विति।

अध्यात्मपक्षे—परमात्मन एव प्राच्यादिदिग्रूपेणापि समर्हणीयत्वम् ॥ २४ ॥

अद्भ्यः स्वाहा॑ वार्भ्यः स्वाहो॑दकाय॒ स्वाहा॒ तिष्ठ॑न्तीभ्यः स्वाहा॒ स्रव॑न्तीभ्यः स्वाहा॒ स्यन्द॑मानाभ्यः स्वाहा॒ कूप्या॑भ्यः स्वाहा॒ सूद्या॑भ्यः स्वाहा॒ धार्या॑भ्यः स्वाहा॑र्ण॒वाय॒ स्वाहा॑ समु॒द्राय॒ स्वाहा॑ सरि॒राय॒ स्वाहा॑ ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हम जल देवता के निमित्त हवि अर्पित करते हैं। वारि जलों को आहुति देते हैं। सूर्य की किरणों के ऊपर जाने वाले जल देवताओं के निमित्त, बहते हुए जल के निमित्त, टपकते हुए जल के निमित्त, कूप के जल के निमित्त, वर्षा के जल के निमित्त, धारण योग्य जल के निमित्त, नदियों में स्थित जल के निमित्त, समुद्र के जल के निमित्त और सबके उपकारक श्रेष्ठ जल के निमित्त आहुति देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सभी प्रकार के जल के अधिष्ठात्री देवता प्रसन्न होकर हमारे इस यज्ञ के अनुकूल रहें ॥ २५ ॥

अत्र कण्डिकायां जलदेवता उक्ताः। तिष्ठन्तीभ्यः स्थिराभ्यः। स्रवन्तीभ्यः प्रवहमानाभ्यः। स्यन्दमानाभ्यः स्रोतोरूपेण प्रादुर्भवन्तीभ्यः। कूप्याभ्यः कूपसमुद्भवाभ्यः। सूद्याभ्यः शोभनोद्गमाभ्यः। धार्याभ्यो मणिकादिषु स्थापिताभ्यः। अर्णवाय अर्णांसि विद्यन्ते यत्र तस्मै। 'अर्णसो लोपश्च' (पा० सू० ५।२।१०९, वा० २) इति वप्रत्यये प्रकृतेः सकारस्य च लोपे रूपम्। समुद्राय समुनत्तीति समुद्रः, 'स्फायितञ्चि' (उ० २।१३) इत्यादिना रक्, अथवा समीचीना उद्रा जलचरविशेषा यस्मिन् तस्मै, आहोस्वित् समुद्रवन्ति आपो यत्रासौ समुद्रः, तस्मै। सरिराय सलिलाय स्वाहा।

अध्यात्मपक्षे—विविधजलरूपेण प्रादुर्भूतस्य परमात्मनः समर्हणम्।

दयानन्दस्तु—'यैर्मनुष्यैर्यज्ञेषु सुगन्ध्यादिद्रव्यं हवनाय अद्भ्यः स्वाहा वार्भ्यः स्वाहा····सरिराय स्वाहा विधीयते, ते सर्वेषां सुखप्रदा जायन्ते' इति, तदपि निर्मूलम्, स्वाहापदार्थस्य स्वाभ्यूहितत्वात्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ २५ ॥

वाता॑य॒ स्वाहा॑ धू॒माय॒ स्वाहा॒भ्राय॒ स्वाहा॑ मे॒घाय॒ स्वाहा॑ वि॒द्योत॑मानाय॒ स्वाहा॑ स्त॒नय॑ते॒ स्वाहा॑ऽवस्फूर्ज॑ते॒ स्वाहा॒ वर्ष॑ते॒ स्वाहा॑ऽव॒वर्ष॑ते॒ स्वाहो॒ग्रं वर्ष॑ते॒ स्वाहा॑ शी॒घ्रं वर्ष॑ते॒ स्वाहो॑द्गृ॒ह्ण॒ते स्वाहो॒द्गृ॑हीताय॒ स्वाहा॑ प्रु॒ष्ण॒ते स्वाहा॑ शीका॒य॒ते स्वाहा॒ प्रुष्वा॑भ्यः स्वाहा॑ ह्रा॒दुनी॑भ्यः स्वाहा॑ नीहा॒राय॒ स्वाहा॑ ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—हम वायु देवता के निमित्त आहुति देते हैं। मेघ के कारण-भूत धूम के लिये भली प्रकार हवन करते हैं। अभ्र के निमित्त, मेघ के निमित्त, चमकती हुई बिजली के निमित्त, गर्जन करते हुए मेघ के निमित्त, वज्रनिर्घोष के निमित्त, वर्षा करते हुए बादलों के निमित्त, थोड़ी वर्षा करने वाले बादलों के लिये, उग्र वर्षा करने वाले बादलों के लिये, शीघ्र वर्षा करने वाले बादलों के लिये, जल को ऊँचा ले जाने वाले बादलों के लिये, जल को ऊपर ग्रहण करने वाले बादलों के लिये, बहुत जल गिराने वाले बादलों के लिये, ठहर-ठहर कर वर्षा करने वाले बादलों के लिये, घोर वर्षा करने वाले बादलों के लिये, बार-बार गर्जन करने वाले बादलों के लिये, कुहरे के समान छा जाने वाले बादलों के लिये हम आहुति देते हैं। सब प्रकार के मेघों के अधिष्ठात्री देवता इन आहुतियों से प्रसन्न होकर हमारे इस यज्ञ के अनुकूल हों॥ २६॥

अत्र मेघोपयोगिदेवताभ्यः स्वाहाकारः। वाताय स्वाहा, वातीति वातः, 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१७४) इति क्तप्रत्यये साधु, तस्मै वर्षानुकूलाय पुरोवाताय। धूमाय धूनोति कम्पयतीति धूमः, 'इषियुधि' (उ० १।१४५) इति मक्प्रत्ययेन सिद्धिः, तस्मै यज्ञधूमाय स्वाहा, 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' (भ० गी० ३।१४) इति गीतोक्तेः। अभ्राय अपो बिभर्तीत्यभ्रम्, मूलविभुजादेराकृतिगणत्वात् कः, तस्मै मेघनिमित्ताय स्वाहा। अथवा न भ्रश्यन्त्यापो यस्मात्तदभ्रम्, 'न भ्रश्यन्ति यतस्तेभ्यो जलान्यभ्राणि तान्यतः' इति पुराण-वचनात्, 'अन्येष्वपि दृश्यते' (पा० सू० ३।२।१०१) इति डप्रत्ययेन रूपसिद्धिः। मेघाय स्वाहा, मेहतीति मेघः, 'मिह सेचने' पचाद्यच्, 'न्यङ्क्वादीनां च' (पा० सू० ७।३।५३) इति कुत्वम्। विद्योतमानाय विशेषेण द्योतते योऽसौ विद्योतमानः, तस्मै स्वाहा। स्तनयते स्वाहा, स्तनयतीति स्तनयन् तस्मै, 'स्तन देवशब्दे' अदन्तो धातुः। अवस्फूर्जते स्वाहा, अवस्फूर्जति यः सोऽवस्फूर्जन् तस्मै, 'टुओस्फूर्जा वज्रनिर्घोषे'। वर्षते स्वाहा, वर्षतीति वर्षन् तस्मै, 'वृषु सेचने'। अववर्षते स्वाहा, अव अवाचीनं वर्षतीति तस्मै। उग्रं वर्षते स्वाहा, उग्रं धारासम्पात-रूपेण वर्षतीति तस्मै। शीघ्रं वर्षते स्वाहा, सार्पे हि नक्षत्रे विना मेघदर्शनमपि वर्षा भवतीति लौकिकी प्रसिद्धिः। उद्गृह्णते स्वाहा, पतद्वस्तु इन्द्रगोपमत्स्यादिकमूर्ध्वमेव गृह्णातीति तस्मै, अथवा सौरैस्तिग्मरश्मिभिः सविता जलमुद्गृह्णाति, तत एव वृष्टिर्भवति। तथा चाह कविकुलगुरुः कालिदासः—'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः' (रघुवंशे १।१८)। उद्गृहीताय स्वाहा, वायुना ऊर्ध्वमेव गृहीत्वा स्थापिताय। प्रुष्णते स्वाहा, प्रुष्णाति स्नेहयति सेचयति पूरयति चेति प्रुष्णन् तस्मै। शीकायते स्वाहा, शीक्यत इति शीका, 'गुरोश्च हलः' (पा० सू० ३।३।१०३) इति अः प्रत्ययः, 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० सू० ४।१।४) इति टापि रूपम्, तामाचष्टे शीकायते, बाहुलकात् शता, 'शीकृ सेचने' शीलकरणमाचष्टे शीकायत इति वा। प्रुष्वाभ्यः स्वाहा प्रुष्णन्तीति प्रुष्वाः, औणादिको वः, ताभ्यः। ह्रादुनीभ्यः स्वाहा, ह्रादन्त इति ह्रादुनयः, स्त्रीत्वविवक्षायां ह्रादुन्यस्ताभ्यः, 'ह्राद अव्यक्ते शब्दे' औणादिक उनिः, निर्ह्रादकर्त्रीभ्यः। नीहाराय स्वाहा निर्ह्रियत इति नीहारः, 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१९) इति घञ्, 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (पा० सू० ६।३।१२२) इत्युपसर्गस्य दीर्घः, तस्मै मिहिकायै॥ २६॥

अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॑ पृथि॒व्यै स्वाहा॒ऽन्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ दि॒वे स्वाहा॑ दि॒ग्भ्यः स्वाहाशा॑भ्यः॒ स्वाहो॒र्व्यै॑ दि॒शे स्वाहा॒र्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहा॑॥ २७॥

मन्त्रार्थ—हम अग्नि के निमित्त हवि अर्पित करते हैं। सोम, इन्द्र, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के अधिष्ठात्री देवताओं को आहुति देते हैं। दिशाओं के अधिष्ठात्री देवताओं को, विदिशाओं (ईशानादि कोणों) के अधिष्ठात्री देवताओं को, पृथिवी की अधिष्ठात्री देवता को और नीचे की दिशा के देवताओं को हम आहुति देते हैं॥ २७॥

अग्न्यादयः प्रसिद्धाः। दिग्भ्यः प्राच्यादिमहादिग्भ्यः। आशाभ्य आशेरते प्राणिन आसु इयाशा दिशः, ताभ्यः। अथवा आ समन्तादश्नुते व्याप्नोतीत्याशा, 'अशूङ् व्याप्तौ सङ्घाते च' इति, पचाद्यच्, चतुर्थी-बहुवचने आशाभ्यः। उर्व्यै दिशे, उर्वी विस्तीर्णा ऊर्ध्वा दिक्, तस्यै। अर्वाच्यै दिशे, अवर इत्यर्वाची अधस्ताद् वर्तमाना अधरा दिक्, तस्यै। पृषोदरादित्वात् साधु। स्पष्टमन्यत् ॥ २७ ॥

नक्षत्रेभ्यः स्वाहा नक्षत्रियेभ्यः स्वाहाहोरात्रेभ्यः स्वाहार्धमासेभ्यः स्वाहा मासेभ्यः स्वाहा ऋतुभ्यः स्वाहार्तवेभ्यः स्वाहा संवत्सराय स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬं स्वाहा चन्द्राय स्वाहा सूर्याय स्वाहा रश्मिभ्यः स्वाहा वसुभ्यः स्वाहा रुद्रेभ्यः स्वाहादित्येभ्यः स्वाहा मरुद्भ्यः स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा मूलेभ्यः स्वाहा शाखाभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा पुष्पेभ्यः स्वाहा फलेभ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हम नक्षत्रों के निमित्त आहुति देते हैं। नक्षत्र सम्बन्धी देवताओं को, दिन-रात के देवताओं को, अर्धमास के देवताओं को, मासों के देवताओं को, ऋतुओं के देवताओं को, ऋतुओं में उत्पन्न हुए पदार्थों को, संवत्सर को, द्यावापृथिवी को, चन्द्रमा को, सूर्य को, सूर्य की किरणों को आहुति देते हैं। हम वसुओं के निमित, रुद्रों के निमित्त, आदित्यों के निमित्त, मरुद्गणों के निमित्त, विश्वेदेव देवताओं के निमित्त आहुति देते हैं। हम मूल (जड़) के निमित्त, शाखाओं के निमित्त, वनस्पतियों के निमित्त, पुष्पों के निमित्त, फलों के निमित्त और ओषधियों के निमित्त आहुति देते हैं। हमारी यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २८ ॥

नक्षत्रेभ्यः स्वाहा न क्षदन्ते हिंसन्तीति नक्षत्राणि, 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' (उ० ४।१६०) इनि ष्ट्रन्, यद्वा नक्षन्तीति नक्षत्राणि, 'अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन्' (उ० ३।१०५) इत्यत्रन्। 'णक्ष गतौ' इत्यस्य रूपम्। यद्वा न क्षण्यन्ति हिंसन्तीति नक्षत्राणि, 'क्षणु हिंसायाम्' ष्ट्रन्। अथवा नाक्षन्ति दिव्याप्नुवन्ति यानि तानि नक्षत्राणि, अत्रन्प्रत्यये प्रकृतेरकारलोपे च सिद्धिः, 'अक्षू व्याप्तौ' तेभ्यः। अथवा न क्षरन्तीति नक्षत्राणि। 'नभ्राण्नपात्' (पा० सू० ६।३।७५) इति रूपसिद्धिः, तेभ्यः। नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा। नक्षत्रमण्डले भवा नक्षत्रियाः, नक्षत्रसम्बन्धिनो वा तेभ्यः, 'नक्षत्राद् घः' (पा० सू० ४।४।१४१) इति रूपसिद्धिः। अर्धमासेभ्यः पक्षेभ्यः। आर्तवेभ्यः, ऋतव एव आर्तवास्तेभ्यः, ऋतुसम्बन्धिभ्य इत्यर्थः। नक्षत्रादयः कालाधिष्ठात्र्यो देवताः। सुगममन्यत् ॥ २८ ॥

पृथिव्यै स्वाहाऽन्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाऽद्भ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा परिप्लवेभ्यः स्वाहा चराचरेभ्यः स्वाहा सरीसृपेभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—हम पृथिवी के निमित्त आहुति देते हैं। अन्तरिक्ष के निमित्त द्युलोक के निमित्त, सूर्य के निमित्त, चन्द्रमा के निमित्त, नक्षत्रों के लिये, जल, ओषधी और वनस्पतियों के लिये, सब ओर भ्रमण करने वाले ग्रहों के निमित्त, चर और अचर प्राणियों के निमित्त और सरकने वाले सर्प आदि जीवों के निमित्त आहुति देते हैं। यह भली प्रकार गृहीत हो। इससे सबका कल्याण हो ॥ २९ ॥

पृथिव्यादयो लोकाधिष्ठात्र्यो देवताः। परिप्लवेभ्यः परितः प्लवन्ते सञ्चरन्तीति परिप्लवाः, तेभ्यः। चराचरेभ्यश्चरन्तीति चराचराः, चरेर्गत्यर्थात् पचाद्यचि, 'चरिचलिपतिवदीनां वा द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्येति वक्तव्यम्' (पा० सू० ३।१।१३४, वा० १) इत्यागमस्य दीर्घत्वसामर्थ्यादभ्यासह्रस्वो हलादिशेषश्च न, तेभ्यः। सरीसृपेभ्यः कुटिलं सर्पन्तीति सरीसृपाः, 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' (पा० सू० ३।१।२३) इति यङि, 'सन्यङोः' (पा० सू० ६।१।९) इति द्वित्वे, 'रीगृदुपधस्य च' (पा० सू० ७।४।९०) इत्यभ्यासस्य रीगागमे पचाद्यचि 'यङोऽचि च' (पा० सू० २।४।७४) इति यङो लुकि रूपम्, तेभ्यः॥ २९॥

असवे स्वाहा वसवे स्वाहा विभुवे स्वाहा विवस्वते स्वाहा गणश्रिये स्वाहा गणपतये स्वाहाऽभिभुवे स्वाहाऽधिपतये स्वाहा शूषाय स्वाहा सꣳसर्पाय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा ज्योतिषे स्वाहा मलिम्लुचाय स्वाहा दिवा पतयते स्वाहा॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—हम प्राणों के निमित्त आहुति देते हैं। वसु और विभु देवताओं के निमित्त, विवस्वान् सूर्य के निमित्त, गणश्री देवताओं के निमित्त, गणपति के निमित्त, हमारे सम्मुख आने वाले प्राणियों के निमित्त, सबके अधिपति के निमित्त, बलवान् के निमित्त, गमनशील देवताओं के निमित्त, चन्द्रमा आदि ज्योतिर्मय देवताओं के निमित्त, मलिम्लुच देवताओं के निमित्त और दिन के पति सूर्य के निमित आहुति देते हैं॥ ३०॥

अस्वादयोऽपि तादृश्य एव देवताः। असवे, अस्यति सर्वमित्यसुः प्राणः, तस्मै इदं हविः स्वाहुतमस्तु। वसवे, वसति देहे आत्माऽनेनेति वसुरपानम्, तस्मै। विभुवे, विभवति व्याप्नोति सर्वं गात्रमिति विभुर्व्यानः, तस्मै। विवस्वते, विवसति परिचरणकर्मविपाके सति परिचरतीति विवस्वानुदानः, तस्मै। गणश्रिये, इत्थं प्राणादिचतुष्टयलक्षणं गणं श्रयतीति गणश्रीः समानः, तस्मै। गणपतये, गणस्य उक्तप्राणादिवायुसङ्घस्य इन्द्रियवर्गस्य पतिः स्वामी आत्मा गणपतिः, तस्मै। अभिभुवे, अभिभवति सर्वं तेजसा इत्यभिभूरग्निः, तस्मै। अधिपतये, अधिकः सर्वाधिक्येन वर्तमानः पतिरधिपतिः, प्रजापतिरिति यावत्, तस्मै। शूषाय 'शूषमिति बलनाम' (निघ० २।९।१६), तस्मै बलयुक्ताय देवाय। संसर्पाय क्षयमासे जायमाने ततः पूर्वोऽधिमासः संसर्पः, तस्मै। उत्तरश्चांहमस्पतिः। ज्योतिषे सूर्यचन्द्रादिसर्वज्योतिष्वनुस्यूताय तेजसे। मलिम्लुचाय मलमासाख्याय। दिवापतयते दिवा अहनि पतयति गच्छतीति दिवापतयन्, तस्मै देवाय स्वाहा सुष्ठु आहुतमस्तु॥ ३०॥

मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा नभसे स्वाहा नभस्याय स्वाहेषाय स्वाहोर्जाय स्वाहा सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहाꣳहसस्पतये स्वाहा॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—हम चैत्र मास के अधिष्ठाता देवता को, वैशाख मास के अधिष्ठाता देवता को, ज्येष्ठ मास के अधिष्ठाता देवता को, आषाढ़ मास के अधिष्ठाता देवता को, श्रावण के अधिष्ठाता देवता को, भाद्रपद मास के अधिष्ठाता देवता को, आश्विन मास के अधिष्ठाता देवता को, कार्तिक मास के अधिष्ठाता देवता को, मार्गशीर्ष मास के अधिष्ठाता देवता को, पौष के अधिष्ठाता देवता को, माघ के अधिष्ठाता देवता को, फाल्गुन मास के अधिष्ठाता देवता को और मलमास के अधिष्ठाता देवता को आहुति देते हैं॥ ३१॥

मध्वादयो मासाधिष्ठातारो देवाः। मधवे मधुरादिगुणसम्बन्धिने चैत्राय, माधवाय वैशाखाय, शुक्राय विशेषदीप्तिमते ज्येष्ठाय, शुचये आषाढाय, नभसे श्रावणाय, नभस्याय भाद्रपदाय, इषाय आश्विनाय, ऊर्जाय कार्तिकाय, सहसे मार्गशीर्षाय, सहस्याय पौषाय, तपसे माघाय, तपस्याय फाल्गुनाय—इति द्वादश मासा उक्ताः। यस्मिन् वर्षे क्षयमासो भवति, तत्र द्वौ अधिमासौ—प्रथमः संसर्पः, द्वितीयः अंहसस्पतिः। तत्रेतः पूर्वस्यां कण्डिकायां संसर्प उक्तः। अत्र अंहसस्पतिरुच्यते। अंहसस्पतये परभाविने अधिकमासाय। स्वाहा सुष्ठु हुतमस्तु ॥ ३१ ॥

वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा स्वः स्वाहा मूर्ध्ने स्वाहा व्यश्नुविने स्वाहान्त्याय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हम अन्न के अधिपति देवताओं को आहुति देते हैं। पदार्थों के उत्पादक देवताओं को, जल से उत्पन्न विविध अन्नों को, यज्ञ के योग्य अन्नों को, स्वर्गीय अन्न को, अन्नों के अधिपति सूर्य को, सर्वत्र व्यापक अन्नों को, महत् स्वरूप अन्नों को, व्यवहार से महान् सांसारिक अन्नों को, संसार के पालक अन्नाधीश देवता को, सब के अधिपति अन्न को और प्रजाओं के पालक अन्न को हवि समर्पित करते हैं ॥ ३२ ॥

वाजोऽन्नं बलं वा, तस्मै तदभिमानिदेवाय। प्रसवः प्रेरणम् उत्पत्तिर्वा, अनुज्ञारूपाय देवायेति यावत्, तस्मै। अपिजाय अपि अप्सु जायत इत्यपिजः, तस्मै। क्रतवे क्रतुः सङ्कल्पो यज्ञो वा, तस्मै। स्वः सुखम्, सुखरूपो देवः, तस्मै। मूर्ध्ने मूर्धवच्छ्रेष्ठाय। व्यश्नुविने विशेषेणाश्नुते व्याप्नोति तच्छील इति व्यश्नुवी, तस्मै व्यापनशीलाय। अन्त्याय अन्ते अवसाने भवोऽन्त्यः, तस्मै, सर्वकारणायेति यावत्। अन्त्याय भौवनाय भुवनानामयं भौवनः, तस्मै। भुवनस्य लोकस्य पतये पालयित्रे। अधिपतये अधिकपालयित्रे। प्रजापतये सर्वलोकपालयित्रे, 'प्रजापतिर्वा भुवनस्य पतिः' (श० ९।४।२।१६) इति श्रुत्यन्तरात्। स्वाहा सुहुतमस्तु ॥३२॥

आयुर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा प्राणो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहाऽपानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा व्यानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहोदानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा समानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा वाग्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा मनो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहात्मा यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा स्वर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा पृष्ठं यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हमारी आयु यज्ञ के अनुष्ठान से बढ़े, इसी इच्छा से हम हवि अर्पित करते हैं। प्राण यज्ञ के द्वारा बलिष्ठ हो, अपान यज्ञ से कल्पित हो, व्यान वायु के द्वारा बलिष्ठ हो, उदान वायु यज्ञ के द्वारा बलशाली हो, समान वायु यज्ञ के द्वारा बलिष्ठ हो, इसके लिये हम हवि अर्पित करते हैं। चक्षु यज्ञ से ज्योति प्राप्त करे, श्रोत्रेन्द्रिय यज्ञ से श्रवण-शक्ति प्राप्त करे, वाणी यज्ञ से वाक्शक्ति प्राप्त करे, मेरा मन यज्ञ से निर्मल हो, मेरी आत्मा यज्ञ से निर्मल हो, वेद यज्ञ के द्वारा मुझे कृतार्थ करें, आत्मज्योति यज्ञ के द्वारा प्रज्वलित हो, स्वर्ग यज्ञ के द्वारा हमें प्राप्त हो, ब्रह्मलोक यज्ञ के द्वारा हमें प्राप्त हो और हम यज्ञ के इस अनुष्ठान से यज्ञ का फल प्राप्त कर सकें, इसके लिये हम हवि अर्पित करते हैं ॥ ३३ ॥

आयुर्जीवनं यज्ञेन अश्वमेधरूपेण साधनेन कल्पतां सम्पद्यताम्। एवमेवोत्तरेष्वपि योजना। प्राणाद्याः पञ्च वायवः प्रसिद्धाः, चक्षुरादीनीन्द्रियाणि च प्रसिद्धानि। एतेषामधिपतिरात्मा जीवः, तदधिष्ठानभूतो देहो वा। पृष्ठं देहस्य पृष्ठभागः। ब्रह्म ब्राह्मणजातिर्वेदो वा। सिद्धमन्यत्॥ ३३॥

एकस्मै स्वाहा द्वाभ्याᳪं स्वाहा शताय स्वाहैकशताय स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहा॥ ३४॥

इति द्वाविंशोऽध्यायः॥

मन्त्रार्थ—हम अद्वितीय परमात्मा को आहुति समर्पित करते हैं। हम प्रकृति-पुरुष, जीव-ईश्वर अथवा कार्यकारण स्वरूप दो पदार्थों को आहुति समर्पित करते हैं। सैकड़ों स्वरूप वाले, बहुरूप होने के कारण एक में और सौ में भी व्याप्त परमात्मा को, रात्रि के देवता को और दिन के स्वामी को हम आहुति देते हैं। यह भली प्रकार गृहीत हो। यहाँ तक दिशाओं के देवताओं को, जल देवताओं को और अन्य प्राण आदि देवताओं को प्रसन्न करने के लिये आहुतियाँ दी गई हैं। इनमें आयु की वृद्धि की प्रार्थना के साथ परमात्मा की महिमा का वर्णन करके अन्त में संसार के माता-पितारूप दिन और रात्रि को आहुति देकर विश्राम लिया गया है॥ ३४॥

अत्र संख्याधीशा देवाः। एकस्मै अद्वितीयब्रह्मणे स्वाहा सुहुतमस्तु। द्वाभ्यां प्रकृतिपुरुषाभ्याम्। शताय अनन्ताय। एकशताय स्वाहा सुहुतमस्तु। 'व्युष्ट्या इति व्युष्टायाम्' (का० श्रौ० २०।४।३३)। 'स्वर्गायेत्युदिते' (का० श्रौ० २०।४।३४)। व्युष्टायां समाप्तायां रात्रौ व्युष्ट्यै स्वाहेत्येकामाहुतिमाज्येन जुहुयात्। उषसि प्रादुर्भूतायामेषाहुतिः। उदिते च सूर्ये स्वर्गाय स्वाहा इत्येकामाहुतिं जुहुयादिति सूत्रद्वयार्थः।

अत्र ब्राह्मणम् –'तदाहुः। यदुभे दिवा वा नक्तं वा जुहुयादहोरात्रे मोहयेद् व्युष्ट्यै स्वाहेत्यनुदित आदित्ये जुहोति स्वर्गाय स्वाहेत्युदितेऽहोरात्रयोरव्यतिमोहाय' (श० १३।२।१।७)। प्राणाय स्वाहेति त्रयोविंशीं कण्डिकामारभ्य द्वादशभिः कण्डिकासम्मितैरनुवाकैरुक्ता देवता लोककालाग्न्यादिवपुषो हविर्भिराज्यादिभिरर्हणीयाः। सर्वे चैते यागा महतोऽश्वमेधस्यावयविनोऽवयवभूताः। यथा मनुष्यस्याऽवयविनोऽवयवभूताः शिरःपाण्यादयः, तद्वत्। प्रजापतेरवयवभूतोऽश्वमेधः सर्वे देवाश्च। सर्वं चैतत्परमात्मन आत्मैव, 'सर्वमिदं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६) इति श्रुतेः। स चात्मैव सर्वत्र स्तूयते, इज्यते च।

अध्यात्मपक्षे—परमात्मनः सार्वात्म्यमिदं निगदव्याख्यातम्।

दयानन्दस्तु—'तेभ्यस्तेभ्यः स्वाहा उत्तमक्रिया' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तत्तदुपयोगिनीनां विशिष्टानामुत्तमक्रियाणामनुक्तेः, अनिरूपणाच्च। संसर्पांहसस्पतीशब्दौ क्षयमासपूर्वोत्तरभाविनोरधिकमासयोः प्रसिद्धौ। मलिम्लुचशब्दश्च प्रतितृतीयवर्षं जायमानेऽसंक्रान्तमासे प्रसिद्धः। तदेतदपहाय महात्मायं यः सम्यक् सर्पति गच्छतीत्यादिव्युत्पत्तिबलेन यौगिकमर्थं विदधाति, अर्थवाच्यं कमप्यर्थं न निरूपयति। सर्वत्रैव एतादृश एवास्य वाग्जालः॥ ३४॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनशाखाया वेदार्थपारिजातभाष्ये द्वाविंशोऽध्यायः॥

•

त्रयोविंशोऽध्यायः

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत् ।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—अश्वमेध यज्ञ करते समय उक्थसंस्था नामक दूसरे दिन प्रातःकाल के समय महिम नामक ग्रह का सुनहले ऊखल में इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए ग्रहण करे— सृष्टि से पहले जो अद्वितीय हिरण्यगर्भ था, सृष्टि होने पर वही सकल विश्व का पालक हुआ, वही अपनी शक्ति से इस पृथ्वी और द्युलोक को थामे हुए है। वह कैसा है ? इसको कोई स्थूल दृष्टि वाला नहीं बता सकता। ऐसे देवता की प्राप्ति के लिये हम आहुति देते हैं ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन् द्वाविंशेऽध्याये होममन्त्रा उक्ताः। अत्र त्रयोविंशेऽध्याये शिष्टं कर्मोच्यते। 'प्रातरुक्थ्यः, महिमानौ गृह्णाति सौवर्णेन पूर्व७ हिरण्यगर्भ इति, द्वितीय७ राजतेन यः प्राणत इति' (का० श्रौ० २०।५।१-२)। प्रातर्द्वितीयेऽहन्युक्थ्यसंस्थमहर्भवति। तत्र महिमसंज्ञौ द्वौ ग्रहौ गृह्णाति। आगन्तुकत्वादाग्रयणोक्थ्ययोर्मध्ये तौ गृह्णाति, 'अन्तराग्रयणोक्थ्यावागन्तुस्थानं ग्रहाणाम्' (का० श्रौ० १२।५।१) इति वचनात्। द्वयोर्मध्ये पूर्वं महिमानं सौवर्णेनोलूखलेन गृह्णाति हिरण्यगर्भ इति मन्त्रेण, द्वितीयं महिमानं ग्रहं राजतेन उलूखलेन यः प्राणत इति मन्त्रेण गृह्णातीति सूत्रद्वयार्थः। हिरण्यपुरुषरूपे ब्रह्माण्डे गर्भरूपेणावस्थितः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः। यद्वा हिरण्यानि हिरण्यमयान्यनन्तब्रह्माण्डानि गर्भे यस्य सः। अनन्तचिद्रूपे ब्रह्मणि कस्मिंश्चित् स्वल्पेंऽशे माया भवति। मायाया एकदेशेऽनन्तानि ब्रह्माण्डानि भवन्ति। भूतस्य प्राणिजातस्योत्पत्तेः पुरा समवर्तत स्वयं शरीरधारी बभूव। स च जात उत्पन्नमात्र एक एव सर्वस्योत्पत्स्यमानस्य पतिरीश्वर आसीत्। स पृथिवीमन्तरिक्षं द्यां द्युलोकम्, उतापि च इमां भूमिं लोकत्रयं दाधार धारयति। कस्मै काय प्रजापतये देवाय वयं हविषा विधेम हविर्दद्मः, विभक्तिव्यत्ययः, अत्रत्यो विशेषस्त्रयोदशेऽध्याये चतुर्थ्यां कण्डिकायां द्रष्टव्यः ॥ १ ॥

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि प्र॒जाप॑तये त्वा॒ जुष्टं॑ गृह्णाम्ये॒ष ते॒ योनिः॒ सूर्य॑स्ते महि॒मा। यस्ते॒ऽह॑न् संवत्स॒रे म॑हि॒मा सम्ब॒भूव॒ यस्ते॑ वा॒याव॒न्तरि॑क्षे महि॒मा सम्ब॒भूव॒ यस्ते॑ दि॒वि सूर्ये॑ महि॒मा सम्ब॒भूव॒ तस्मै॑ ते महि॒म्ने प्र॒जाप॑तये॒ स्वाहा॑ दे॒वेभ्यः॑ ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—ग्रहण के उपरान्त महिम ग्रह को स्थापित कर पुनः इस मन्त्र से आहुति दे—हे ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, प्रजापति के तुम प्रिय हो, मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, सूर्य तुम्हारी महिमा है, तुम्हारी यह महिमा दिन में वर्ष भर प्रकट होती रहती है। तुम्हारी जो महिमा वायु में, अन्तरिक्ष में प्रकट हुई, जो द्युलोक में सूर्यलोक में प्रकट हुई, तुम्हारी उस महिमा वाले प्रजापति को और देवताओं को हम यह आहुति देते हैं ॥ २ ॥

हे ग्रह ! प्रजापतये जुष्टमभिरुचितं त्वा त्वामहं गृह्णामि। 'एष ते योनिरिति ग्रहसादनम्' (का० श्रौ० ९।५।२४)। दशापवित्रेण ग्रहं परिमृज्य 'एष ते योनिः' इति मन्त्रेण ग्रहसादनं कुर्यात्। एष ते योनिः स्थानम्। सूर्यस्ते महिमा महाभाग्यशक्तिः, दीपस्येव प्रभा। 'यस्तेऽहन्निति जुहोति' (का० श्रौ० २०।७।१६)। पूर्वं महिमानं ग्रहं ग्रहगृहीतं सोमं जुहोति वषट्कृत इति सूत्रार्थः। देवदेवत्यं यजुः। द्व्यधिका शक्वरी। हे महिमन् !

महिमाख्यग्रह, यस्ते तव महिमा अहन् अह्नि दिवसे संवत्सरे च निमित्ते सम्बभूव उत्पन्नः, अहनि निमित्तभूते सर्वाण्येव भूतानि सम्पद्यन्ते। निमित्तसप्तम्यश्चैताः, 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्' इतिवत्। वायौ अन्तरिक्षे च निमित्ते यस्ते तव महिमा सम्बभूव, दिवि सूर्ये च निमित्ते यस्ते तव महिमा सम्बभूव, ते तव तस्मै महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यश्च स्वाहा हविरिदं स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रजापते! त्वमुपयामगृहीतोऽसि श्रद्धया गृहीतोऽसि, तस्मै तुभ्यं जुष्टमभिरुचितं नैवेद्यं गृह्णामि। हे नैवेद्य! एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्। हे प्रजापते परमेश्वर, सूर्यस्ते महिमा शक्तिः। अहन् अह्नि दिवसे संवत्सरे वायौ अन्तरिक्षे दिवि सूर्ये च निमित्तभूते महिमा सम्बभूव। तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यश्च स्वाहा नैवेद्यमिदं सुहुतमस्तु। शक्तिमाहाभाग्यं कार्यं वा महिमा भवति, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' (छा० उ० ७।२४।१) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु –'हे भगवन् जगदीश्वर, यस्त्वमुपयामैर्यमसम्बन्धिभिः कर्मभिर्गृहीतोऽसि साक्षात्कृतोऽसि, तं जुष्टं त्वा प्रजापतयेऽहं गृह्णामि। यस्य त एष योनिरस्ति, यस्ते सूर्यो महिमा, यस्तेऽहन् संवत्सरे महिमा सम्बभूव, यस्ते वायावन्तरिक्षे महिमा सम्बभूव, तस्मै महिम्ने प्रजापतये ते देवेभ्यश्च स्वाहा सर्वैः संग्राह्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परमात्मसाक्षात्कारे कृतार्थत्वेन कामनान्तरानुपपत्तेः। किञ्च, प्रजापालनकर्तृ राज्ञः पालनाय कः परमात्मानं गृह्णाति, कथं च गृह्णाति, तद्ग्रहणेन कथं तत्पालनं स्यादित्यनुक्तेः। 'एष ते तव योनिर्जगत्कारणं प्रकृतिः' इत्यप्यसङ्गतम्, योनिशब्दस्य जगत्कारणार्थकत्वे प्रकृतिः कस्य शब्दस्यार्थ इत्यनुक्तेः॥ २॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

मन्त्रार्थ– चाँदी के ऊखल में दूसरे महिम ग्रह को इस मन्त्र से ग्रहण करे– जो प्रजापति श्वास-प्रश्वास लेते समय, पलक झपकते समय जगत् के प्राणियों में अद्वितीय महिमा के साथ विराजमान है, जो मनुष्य, पक्षी आदि दोपायों और गाय, घोड़े आदि चौपायों का शासन करता है, उस प्रजापति देवता को हम हवि समर्पित करते हैं॥ ३॥

यः प्राणत इति मन्त्रेण राजतेनोलूखलेन द्वितीयग्रहग्रहणमिति पूर्वमुक्तम्। मन्त्रोऽधुना व्याख्यायते। हिरण्यगर्भदृष्टा कदेवत्या त्रिष्टुप्। तस्मै कस्मै जगत्सृष्ट्यादिलीलाविनोदिने प्रजापतये देवाय वयं हविषा विधेम हविर्दद्मः। विदधातिरत्र दानार्थः। तृतीया द्वितीयार्थे। यः प्रजापतिः प्राणतः, प्राणितीति प्राणन् तस्य जीवनं धारयतः, निमिषतो निमिषतीति निमिषन्, तस्य निमेषणं कुर्वतः, उपलक्षणमेतत्, प्राणचक्षुःश्रोत्रादि-तत्तदिन्द्रियव्यापारवतः सचेतसो जगतो विश्वस्य महित्वा महित्वेन महनं महिः, 'मह पूजायाम्' इत्यस्मा-दौणादिक इः, बाहुलकात्, महेर्भावो महित्वम्, तेन। विभक्तेः पूर्वसवर्णः। स्वकीयेन माहाभाग्येन एक इदेक एव जगतः समस्तस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य राजा, राजते दीप्यत इति राजा, 'कनिन् युवृषितक्षिराजि·····' इत्यादिना कनिन्प्रत्ययेन साधु। देदीप्यमानः स्वामी शासको वा बभूव संवृत्तः। यश्चास्य द्विपदः, द्वौ पादौ यस्यासौ द्विपात्, 'संख्यासुपूर्वस्य' (पा० सू० ५।४।१४०) इत्यकारस्य लोपः समासान्तः, तस्य द्विपदः, 'पादः पत्' (पा० सू० ६।४।१३०) इति पदादेशे रूपम्। ईशे इष्टे, ऐश्वर्यं करोति। यश्च चतुष्पदः, चत्वारः पादा यस्यासौ चतुष्पात्, तस्य। मनुष्यपक्ष्यादेः, गोहस्त्यादेरित्यर्थः। उपलक्षणमेतत्, समस्तस्य प्राणिजातस्येति तात्पर्यम्। 'ईष्टे' इत्यत्र 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तकारलोपे 'ईशे' इति रूपम्, 'अधी-गर्थदयेशां कर्मणि' (पा० सू० २।३।५२) इति कर्मणि शेषे षष्ठी।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यथा अयमेक इद् महित्वा निमिषतः प्राणतो द्विपदश्चतुष्पदोऽस्य जगतो राजा बभूव । योऽस्येशे, तस्मै कस्मै देवाय हविषा विधेम, तथास्य भक्तिविशेषो भवद्भिर्विधेयः' इति, तदपि न चारु, भक्तिविशेषस्य परमादरणीयत्वेऽपि हविषा भक्तिविशेषेणेति विवरणस्यासङ्गतत्वात्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वाच्च । निराकारस्य कमनीयत्वमपि चिन्तनीयम्, प्रत्यगभिन्नस्य निराकारस्य परोक्षस्य प्रेमास्पदत्वादर्शनात् ॥ ३ ॥

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिश्चन्द्रमास्ते महिमा यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते पृथिव्यामग्नौ महिमा सम्बभूव यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—दूसरे महिम ग्रह को भी पूर्ववत् स्थापित करते हुए इस मन्त्र से आहुति दे—हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, प्रजापति के प्रिय हो, मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ, यह तुम्हारा स्थान है, चन्द्रमा तुम्हारी महिमा है । तुम्हारी यह महिमा प्रत्येक रात्रि में वर्ष भर प्रकट होती रहती है, तुम्हारी जो महिमा पृथ्वी पर अग्नि में प्रकट हुई, तुम्हारी जो महिमा तारागण और चन्द्रमा में प्रकट हुई, उस महिमा से सम्पन्न प्रजापति और देवताओं को हम आहुति देते हैं ॥ ४ ॥

हे ग्रह ! प्रजापतये जुष्टमभिरुचितं त्वामहं गृह्णामि । एष ते योनिरिति ग्रहसादनं कुर्यात् । चन्द्रमास्ते तव महिमा महाभाग्यशक्तिः । 'वपान्ते द्वितीयेन पूर्ववद्यस्ते रात्राविति जुहोति' (का० श्रौ० २०।७।२६) । वपायागान्ते द्वितीयं महिमानं ग्रहं ग्रहगृहीतं सोमं पूर्ववज्जुहोतीति सूत्रार्थः । अष्टिः । हे महिमन्, रात्रौ संवत्सरे च यस्ते तव महिमा सम्बभूव, पृथिव्यामग्नौ च यस्ते महिमा सम्बभूव, नक्षत्रेषु चन्द्रमसि च यस्तव महिमा सम्बभूव, सर्वव्यापकस्तव यो महिमा, तस्मै महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यश्च स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थो ज्ञातव्यः ॥ ४ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—एक वर्ष तक भ्रमण करके वापस आये घोड़े को ऋत्विक्गण इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए रथ में जोतें—कर्म के अनुष्ठान के निमित्त बैठे हुए ऋत्विक्गण क्रोधरहित सर्वत्र विचरण कर आये प्रभावशाली अश्व को रथ में जोतते हैं । जैसे आदित्य की दीप्ति आकाश में प्रकाशित होती है, उसी प्रकार भूमि पर घूमने वाले प्रभावशाली अश्व को हम रथ में जोतते हैं ॥ ५ ॥

'युनक्त्येनं युञ्जन्ति ब्रध्नमिति' (का० श्रौ० २०।५।१०) । युञ्जन्ति ब्रध्नमिति मन्त्रेणाश्वं रथे युञ्ज्यादिति सूत्रार्थः । मधुच्छन्दोदृष्टा आदित्यदेवत्या गायत्री । तस्थुषस्तस्थिवांसः, विभक्तिव्यत्ययः, कर्मार्थं स्थिता ऋत्विज इति यावत् । ब्रध्नं तिमिरं बध्नातीति ब्रध्नः, 'बन्धेर्ब्रधिबुधी च' (उ० ३।५) इति नक्प्रत्ययः, बध्नातेर्ब्रध आदेशश्च, तमादित्यम्, रथे युञ्जन्ति योजयन्ति । अश्वोऽत्रादित्यरूपेण स्तूयते, 'असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्टचै' (श० १३।२।६।१) इति श्रुतेः । अमुमेवास्मा आदित्यं युनक्तीति वाक्यशेषात् शाखान्तरवचनाच्चाश्वं रथेन युनक्तीति गम्यते । कीदृशं ब्रध्नम् ? अरुषम्, रोषति क्रुध्यतीति रुषः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (पा० सू० ३।१।१३१) इति कः, न रुषोऽरुषस्तं क्रोधरहितम् । परिचरन्तं

श्रौतस्मार्तकर्मसिद्ध्यर्थं सर्वत्र गच्छन्तम्। यस्य भासा प्रकाशेन दिवि द्युलोके रोचना रोचनानि दीप्तानि चन्द्रग्रहतारकादीनि रोचन्ते देदीप्यन्ते, तं ब्रध्नमादित्यरूपमश्वमृत्विजो युञ्जन्तीति सम्बन्धः, 'तेजसां गोलकः सूर्यो नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः' इति ज्यौतिषशास्त्रोक्तेः। यद्वा यस्य ब्रध्नस्य रोचना दीप्तयो दिवि आकाशे रोचन्ते, रोचन्त इति रोचनाः, 'ब्रहुलमन्यत्रापि' (उ० २।७८) इति युचि रूपसिद्धिः। 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' (पा० सू० ३।२।१४९) इति युचि तु रोचन इति स्यात्, पुल्लिङ्गतेति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—'तस्थुषस्तस्थिवांसो ब्रह्मणि स्थिता ब्रह्मविदस्तं ब्रध्नं चिदादित्यं परमात्मानं युञ्जन्ति मनसा ध्यायन्ति। कीदृशं ब्रध्नम्? अरुषम्, न रुषो यस्मिन्, यस्मिन् ध्याते कामक्रोधादिदोषा निवर्तन्ते सोऽरुषः, तम्। परिचरन्तं सर्वसाक्षिरूपेण सर्वत्र प्राप्नुवन्तम्। यस्य ब्रध्नस्य चिदादित्यस्य भासा दीप्त्या रोचना आदित्यादयो रोचन्ते प्रकाशन्ते 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७), 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥' (मुण्डको० २।२।१०) इत्यादिश्रुतिभ्यः। 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥' (भ० गी० १३।३३) इति गीतास्मृतेश्च।

दयानन्दस्तु—'ये परितस्थुषश्चरन्तं विद्युतमिव वर्तमानमरुषम् अरुःषु मर्मसु सीदन्तं ब्रध्नं परमात्मानमात्मना सह युञ्जन्ति, ते दिवि सूर्ये रोचनाः किरणा इव रोचन्ते। हे मनुष्याः! प्रतिब्रह्माण्डे यथा सूर्यः प्रकाशते, तथा सर्वस्मिन् जगति परमात्मा प्रकाशते। योगाभ्यासेनान्तर्यामिणं परमात्मानं स्वात्मना ये युञ्जते, ते सर्वतः प्रकाशिता जायन्त इति भावार्थः' इति, तत्सर्वमसङ्गतम्, मन्त्रार्थासम्बन्धात्। अरुषम् अरुःषु सीदन्तमिति द्रविडप्राणायामायितम्, अक्रोधनमित्यर्थस्य सरलत्वात्। किञ्च, निरर्थकमप्येतत्, परमात्मनः सर्वव्यापित्वेन मर्मस्थलव्यापित्वमपि सिद्धमेवेति निरर्थकमेव तद्वचनम्। उपासनार्थं तु हृदयस्थलमेवादीयते, न मर्मस्थलम्। ननु मर्मरक्षार्थं मर्मस्थलत्वोक्तिरिति चेन्न, तस्य सङ्कल्पमात्रेण यत्र कुत्र स्थितस्यापि जन्तो रक्षितुं समर्थत्वात्। न च ज्ञानार्थं तत्रावस्थानम्, व्यापित्वेन सर्वज्ञत्वेन च तदुपपत्तेः। न च साधकस्य पुरुषस्य स्थावरप्राणिनां मर्मस्थलीयपीडानिवारणार्थं मर्मस्थलत्वोक्तिरिति वाच्यम्, अणुपरिमाणपरिमितस्य जीवस्य स्वशरीरेऽपि सर्वत्रासतोऽनेकेषां स्थावराणां मर्मस्थलस्थायित्वस्य दूरतोऽपास्तत्वात्। किञ्च, विद्युतमिवेति कस्य पदस्यार्थः? न खलु चरन्तमिति पदस्य, तस्य प्राप्नुवन्तमित्यर्थस्य विवृतत्वात्। न च ब्रध्नशब्दस्य परमात्मार्थः, तस्य महान्तमिति व्याख्यानात्। न च तेन सह आत्मनो योजनमपेक्षितम्, व्यापकेन सह सर्वस्य नित्ययोगात्। तस्माद् भावार्थोऽयं यत्किञ्चिदेव, मूलाक्षरासम्बन्धात्, तादृशार्थबोधकस्य कस्यापि पदस्य मूलेऽभावात्। अत्र केन कं के योजयन्तीति वक्तव्यम्। ब्रध्नमिति पदेन परमात्मोच्यते चरन्तमित्यनेन जीवात्मोच्यते। ताभ्यामुभाभ्यां भिन्ना योजकाः के? तन्निरूपणमसम्भवदुक्तिकम्। किञ्च, तादृशविवक्षायां ब्रध्नेन चरन्तं युञ्जन्तीति स्यात्। वस्तुतस्तु चरन्तमित्यस्य ब्रध्नविशेषणत्वोपपत्तौ तदतिरिक्तकल्पना निर्मूलैव॥ ५॥

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा॥ ६॥

मन्त्रार्थ—इस अश्व के सहायक, विविध पक्ष वाले, रक्त वर्ण, प्रगल्भ, वहन में समर्थ अन्य दो अश्वों को भी ऋत्विक्गण रथ में जोतते हैं। इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अन्य दो अश्वों को भी रथ में जोतें॥ ६॥

'इतरांश्च युञ्जन्त्यस्येति' (का० श्रौ० २०।५।११)। इतरान् त्रीनश्वान् रथे युञ्ज्यादिति सूत्रार्थः। प्रत्यश्वं मन्त्रावृत्तिः। गायत्री। अश्वस्तुतिः। अस्य आश्वमेधिकस्याश्वस्य काम्या काम्यौ, काम्येते इति काम्यौ लक्षणया कामसम्पादिनौ। न त्वेको रथं वोढुं शक्त इति द्वौ काम्यौ हरी हरितवर्णौ अश्वौ अथवा हरिणौ

वेगवन्तौ। विपक्षसौ पक्षयन्ति शरीरं गृह्णन्तीति पक्षसः, 'पक्ष परिग्रहे' इत्यस्मादसुन्, पक्षाः। विविधाः पक्षसो ययोस्तौ, विविधदेहधारिणौ इत्यर्थः। यद्वा 'विरिति शकुनिनाम, वेतेर्गतिकर्मणः' (निरु० २।६) इति यास्कः। वेः पक्षिण इव पक्षसः पक्षा ययोस्तौ विविधपक्षवन्तौ। शोणा शोणौ रक्तौ। रक्तो वर्णो धूम्राभासः शोण इत्युच्यते। 'शोणः कोकनदच्छविः' (१।५।१५) इत्यमरः, धूम्राभासौ वा। धृष्णू प्रगल्भौ, 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये', 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' (पा० सू० ३।२।१४०) इति क्नुः प्रत्ययः। नृवाहसा नॄन् वहत इति नृवाहसा नृवाहसौ नॄणां वोढारौ रथे ऋत्विजो युञ्जन्ति। अत्र आकारान्तेषु शब्देषु सर्वत्र विभक्तेराकारः।

अध्यात्मपक्षे अस्य परमात्मनः सम्बन्धिनौ हरी विषयाहरणशीलौ बाह्यान्तःकरणग्रामौ वेदज्ञा रथे रमते आत्मनीति रथः परमात्मा, 'हनिकुषिनरिकाशिभ्यः मथन्' (उ० २।२) इति साधुत्वम्, 'आत्मैवैषां रथः' (निरु० ७।४) इति तत्रभवान् यास्कः, तस्मिन् परमात्मनि युञ्जन्ति। कीदृशौ तौ? काम्यौ भगवन्निष्ठौ सन्तावेव कामनास्पदौ, 'के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि तान्येव मित्राणि जितानि यानि' इति प्रश्नोत्तर्यामाचार्यभगवत्पादोक्तेः। पुरुषार्थप्रापकत्वेन प्रेमगोचरौ वा। विपक्षसौ विविधपक्षधरौ। शोणौ शोणपदेन रञ्जनात्मकं रजो गृह्यते, रजो गुणाप्रभावितौ। धृष्णू प्रगल्भौ नृवाहसौ नॄन् जीवान् भोगमोक्षाभ्यां वहत इति तथोक्तौ। रथे रथस्थे शरीररथस्थे वा परमात्मनि वेदज्ञा युञ्जन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! यथा शिक्षकाः काम्या कमनीयौ हरी हरणशीलौ विपक्षसा विविधैः परिगृहीतौ शोणा रक्तगुणविशिष्टौ धृष्णू दृढौ नृवाहसौ नृवाहकौ रथे युञ्जन्ति, तथा योगिनोऽस्य परमेश्वरस्य मध्य इन्द्रियाणि मनः प्राणांश्च युञ्जन्ति' इति, तदपि न किञ्चित्, दार्ष्टान्तिस्य मूलेऽवचनात्, मूले दृष्टान्तसूचकस्येवादिशब्दप्रयोगस्याभावाच्च। न वा दार्ष्टान्तिसङ्गतिः। न च परमात्मा रथस्थानीयः, तस्य प्राप्यत्वेन रथवत् स्थानान्तरप्रापकत्वाभावात्। न च रथेऽश्वयोरिव परमात्मनि मन-इन्द्रिय-प्राणानां संयोजनं सम्भवति, परकीयात्मना मनआदीनां सम्बन्धायोगात्। अन्यथा परकीयात्मनः संयोगेन स्वात्मसाक्षात्कारवत् परकीयात्मसाक्षात्कारोऽपि स्यात्। न चेष्टापत्तिः, चेष्टावत्त्वादिना परकीयात्मानुमानस्यैव प्रसिद्धेः, परकीयसुखादिसाक्षात्कारापत्तेश्च। परमात्मनो व्यापित्वेन सर्वसंयोगवत् सर्वमनःसंयोगोऽपि विद्यत एवेति व्यर्थमेव तद्वचनम् ॥६॥

यद्वातो॒ अपो॒ अग॑नीगन् प्रि॒यामिन्द्र॑स्य त॒न्व॑म्।

ए॒तॐ स्तो॑तर॒नेन॑ प॒था पुन॒रश्व॒माव॑र्तयासि नः ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—अध्वर्यु और यजमान रथ पर चढ़कर सरोवर के निकट जाँय और घोड़ों को जल में उतार कर इस मन्त्र का पाठ करें—हे अध्वर्यु! वायु के समान शीघ्रगामी अश्व ने जल को और इन्द्र के प्रिय शरीर को पाया है। हे अध्वर्यु! हमारे इस घोड़े को इसी मार्ग से फिर वापस ले आओ ॥ ७ ॥

'अपो यात्वावगाढेषु वाचयति यद्वात इति' (का० श्रौ० २०।५।१४)। चतुर्भिरश्वैर्युक्तं रथमारुह्याऽध्वर्युर्यजमानश्च तडागादिकं प्रति गच्छतः। तत्र जलं प्रविष्टेष्वश्वेष्वध्वर्युर्यजमानं यद्वात इति मन्त्रं वाचयेदिति सूत्रार्थः। एतच्च वाचनं प्रायश्चित्तरूपेण जलावगाहनात्, जलावगाहनतो वडवासङ्गतश्च परिवर्जनविधानात्। बृहतीच्छन्दः, अश्वदेवत्या। वातो वातवेगोऽश्वः, सिंहो माणवक इतिवत् प्रयोगः, वातपदमश्वपरम्। अपो जलानि, अगनीगन् अतिशयेन गतवान्। इन्द्रस्य प्रियां तन्वं चात्यर्थं गतवान्, गमेर्लङि श्लौ अभ्यासस्य चुत्वाभावो नीगागमश्च, 'दाधर्तिदर्धर्तिदर्धर्षि' (पा० सू० ७।४।६५) इति निपातनाद् यङ्लुगन्तो वा निपातः। अतो हेतोर्ब्रवीमि हे स्तोतः! अध्वर्यो, एतं नोऽस्माकमश्वमनेन पथा येन मार्गेण गतः पुनस्तेन मार्गेण आवर्तयासि आवर्तय आनय। 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागमः। पुरुषव्यत्ययः।

अध्यात्मपक्षे वातो वातवेगोऽन्तःकरणग्रामः, अपः कर्माणि लोकान् विषयान् इन्द्रस्य परमेश्वरस्य प्रियं तन्वमधिष्ठानाख्यं स्वरूपमत्यर्थं गतः। हे स्तोतः, अनेन पथा नोऽश्वमश्ववद्वेगवन्तमन्तःकरणग्रामम्, आवर्तयासि आवर्तय, येन परमात्मस्वरूपे प्रतिष्ठितो भवेत्।

दयानन्दस्तु—'हे स्तोतः, यथा शिल्पिजना इन्द्रस्य विद्युतः प्रियां तन्वं विस्तृतं शरीरं वात इव प्राप्य यद्यत् कलायन्त्रमयं यमश्वमपो जलानि च, अगनीगन् प्राप्नुवन्ति, तथा एतत्कलायन्त्राश्वमाशुगामिनमनेन पथा विद्युन्मार्गेण त्वं प्राप्नोषि पुनर्नोऽस्मानावर्तयासि वर्तयेस्तं भवन्तं वयं सत्कुर्याम' इति, तदप्यसाम्प्रतम्, मूले शिल्पिबोधकपदाभावात्। कलायन्त्रबोधकपदमपि मूले नास्ति। अश्वपदस्य तथार्थत्वं प्रमाणशून्यमेव। वात इव प्राप्येत्यपि निर्मूलमेव, प्रयोगाभावात्। सिद्धान्ते तु वातरंहस्यश्वे वातपदप्रयोगो निरूढलक्षणया सङ्गच्छते। अनेनेति पदं कथं विद्युद्बोधकमित्यपि चिन्त्यम् ॥ ७ ॥

वसवस्त्वाऽञ्जन्तु गायत्रेण च्छन्दसा रुद्रास्त्वाऽञ्जन्तु त्रैष्टुभेन च्छन्दसाऽऽदित्यास्त्वाऽञ्जन्तु जागतेन च्छन्दसा भूर्भुवः स्वर्लाजी३ञ्छाची३न्यव्ये गव्य एतदन्नमत्त देवा एतदन्नमद्धि प्रजापते ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—लौटने पर रथ से छूटे घोड़ों के शरीर को राजमहिषी आदि घृत से सींचे—वसु देवता गायत्री छन्द से तुमको लिप्त करें, रुद्र देवता त्रिष्टुप् छन्द से, बारह आदित्य देवता जगती छन्द से तुमको लिप्त करें। इतना करके वे एक सौ एक सुवर्ण की मणियों को सिर, कन्धे और पूँछ में बाँधे। उस समय यह मन्त्र पढ़ा जाता है—भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक तुम्हें सुशोभित करें। इसके बाद हवन से बचा हुआ सत्तू, खील आदि घोड़ों को खाने के लिये दे। न खाय तो जल में डाल दे—हे देवताओं! खील, सत्तू, दही, दूध, जौ की लप्सी रूप इस अन्न को आप ग्रहण करें, हे प्रजापते! इस अन्न को आप खाँय ॥ ८ ॥

'आयाय विमुक्तमश्वं महिषी-वावाता-परिवृक्ताज्येनाभ्यञ्जन्ति पूर्वकायमध्यापरकायान् यथादेशं वसवस्त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २०।५।१५)। आयाय जलप्रदेशाद्देवयजनमागत्य रथाद्विमुक्तमश्वं महिष्याद्यास्तिस्रः पत्न्यो यथाक्रममश्वस्य घृतेन पूर्वकायं महिषी वसव इत्यादिमन्त्रेण वावाता देहमध्यं रुद्रा इति मन्त्रेण परिवृक्ता अपरकायम् आदित्या इति मन्त्रेण अभ्यञ्जन्तीति सूत्रार्थः। त्रीणि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। हे अश्व! वसवः, अष्टौ वसवो देवा गायत्रेण छन्दसा त्वा त्वामभ्यञ्जन्तु स्निग्धं कुर्वन्तु, रुद्रा एकादश रुद्रा देवा त्वा त्वां त्रैष्टुभेन छन्दसा अभ्यञ्जन्तु, आदित्या द्वादश आदित्या देवा जागतेन छन्दसा त्वा त्वामभ्यञ्जन्तु। 'अभ्य१७ श्यमानान् मणीन् सौवर्णानेकशतमेकशतं केसरपुच्छेष्वावयन्ति भूर्भुवःस्वरिति प्रतिमहाव्याहृति' (का० श्रौ० २०।५।१६)। महिष्याद्यास्तिस्रः पत्न्य एकाधिकं शतं सुवर्णमयमणीन् यथा न पतन्ति तथा केसरयोः शिरःस्कन्धस्थयोः पुच्छेष्वाबध्नीयुरिति सूत्रार्थः। तत्र महिषी अश्वशिरोरोमसु भूरिति मन्त्रेण एकाधिकशतं मणीन् प्रवयति। वावाता ग्रीवारोमसु भुव इति मन्त्रेण, परिवृक्ता पुच्छरोमसु स्वरिति मन्त्रेण प्रवयतीति विज्ञेयम्। भूर्भुवःस्वरिति महाव्याहृतयः। प्रजापतेरार्षम्। पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोका अभिधेयाः, ब्रह्मक्षत्रविशो वर्णा वा, अन्न-प्रजापशवो वा। भवति सर्वं जगदस्मादिति भूः, भूत्वा वसति च सर्वं यस्मिंस्तद् भुवः, स्वरति लयं गच्छति यस्मिंस्तत् स्वः। विशेषस्तु तृतीये पञ्चमकण्डिकाव्याख्यान उक्तः, तत्रैवानुसन्धेयम्। 'अश्वाय रात्रिहुतशेषं प्रयच्छति लाजीं३ञ्छाची३निति' (का० श्रौ० २०।५।१८)। सक्तु-धाना-लाजादिरूपं रात्रिहुतशेषमश्वाय भक्षयितुं दद्यादिति सूत्रार्थः। 'अप्स्ववहरणमखादति' (का० श्रौ० २०।५।१९)। अश्वो नात्ति चेत् तदा जलमध्ये प्रक्षिपेदिति

सूत्रार्थः। लाजीनित्याद्यश्वदेवत्यं यजुः। लाजीन् लाजानां समूहो लाजीन् इत्युक्तः। शाचीन् सक्तूनां समूहः शाचीन् इत्युक्तः। सक्तवो ह्यतितरां शचीभिः कर्मभिर्निष्पाद्यन्त इति शाचीन् इत्युच्यन्ते। यश्चायं यव्ये यवानां समूहो यव्यः, तस्मिन्। गव्ये, गोविकारसमूहो दध्यादिर्गव्यः, तस्मिन्। हे देवाः! एतदन्नमत्त भक्षयत। हे प्रजापते! एतदन्नमद्धि भक्षय। येभ्योऽश्वः प्रोक्षितस्तद्रूपोऽश्वः सम्बोध्यते।

अत्र ब्राह्मणम् —'तदाहुः। पराङ्वा एतस्माद्यज्ञ एति यस्य पशुरुपाकृतोऽन्यत्र वेदेरेतीत्येतꣳ स्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्तयासि न इति वायुर्वै स्तोता तमेवास्मा एतत्परस्ताद् दधाति तथा नात्येति' (श० १३।२।६।२)। अत्राश्वमेधीयाश्वस्य जलप्रदेशाद् देवयजनं प्रति प्रत्यावर्तनं स्पष्टमुक्तम्। एतेन दयानन्दीयं व्याख्यानमपव्याख्यानमेवेति मन्तव्यम्। 'अप वा एतस्मात्। तेज इन्द्रियं पशवः श्रीः क्रामन्ति योऽश्वमेधेन यजते' (श० १३।२।६।३)। 'वसवस्त्वाञ्जन्तु। गायत्रेण छन्दसेति महिष्यभ्यनक्ति तेजो वा आज्यं तेजो गायत्री तेजसी एवास्मिन् समीची दधाति' (श० १३।२।६।४)। 'रुद्रास्त्वाञ्जन्तु। त्रैष्टुभेन छन्दसेति वावाता तेजो वा आज्यमिन्द्रियं त्रिष्टुप् तेजश्चैवास्मिन्निन्द्रियं च समीची दधाति' (श० १३।२।६।५)। 'आदित्यास्त्वाञ्जन्तु। जागतेन छन्दसेति परिवृक्ता तेजो वा आज्यं पशवो जगती तेजश्चैवास्मिन् पशूंश्च समीचो दधाति' (श० १३।२।६।६)। 'पत्न्योऽभ्यञ्जन्ति। श्रियै वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः श्रियमेवास्मिंस्तद्दधाति नास्मात्तेज इन्द्रियं पशवः श्रीरपक्रामन्ति' (श० १३।२।६।७)। अश्वमेधयाजिनस्तेजः, इन्द्रियम्, पशवः श्रीश्चापक्रामन्ति। मन्त्रपूर्वकपत्नीकर्तृकाभ्यञ्जनेन तानि सर्वाणि नापक्रामन्तीति। महिष्याद्यास्तिस्रः पत्न्यो मन्त्रेण वस्वादिभावनया चाज्येनाश्वं यथाक्रमसभ्यञ्जन्तीत्युक्तमेव। तथा च कात्यायनसायणादिव्याख्यानमेव समर्थ्यते ब्राह्मणवचनैः।

'यथा वै हविषोऽहुतस्य स्कन्देत्। एवमेतत्पशोः स्कन्दति यस्य निक्तस्य लोमानि शीयन्ते यत्काचानावयन्ति लोमान्येवास्य सम्भरन्ति हिरण्मया भवन्ति तस्योक्तं ब्राह्मणमेकशतमेकशतं काचानावयन्ति शतायुर्वै पुरुष आत्मैकशत आयुष्येवात्मन् प्रतितिष्ठति भूर्भुवःस्वरिति प्राजापत्याभिरावयन्ति प्राजापत्योऽश्वः स्वयैवैनं देवतया समर्द्धयन्ति लाजी३ञ्छाची३न्यव्ये गव्य इत्यतिरिक्तमन्नमश्वायोपावहरति प्रजामेवान्नादीं कुरुत एतदन्नमत्त देवा एतदन्नमद्धि प्रजापत इति प्रजामेवान्नाद्येन समर्द्धयति' (श० १३।२।६।८)। पशोर्निक्तस्येति प्रथमास्थाने छान्दसी षष्ठी। यस्य लोमानि शीयन्ते सद्दशानने पतन्ति यस्य काचान् मणीनावयन्ति आबध्नन्ति। लोमान्येवास्य भरन्ति। अत्र काचपदेन मणयो ग्राह्याः। 'हिरण्मयोऽश्वस्य शासो भवति''''ज्योतिर्वै हिरण्यं राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिः' (श० १३।२।२।१६) इत्यादिब्राह्मणवचनात्। मणीनामासञ्जनेन लोमान्येवास्य सम्भरन्ति। एकैका पत्नी एकशतमेकशतं मणीनावयति। केसरपुच्छेषु भूर्भुवःस्वरित्येताभिर्व्याहृतिभिर्यथासंख्यम्। प्रथमया व्याहृत्या महिषी, द्वितीयया वावाता, तृतीयया परिवृक्ता। अनुचरी तु तूष्णीमेव। एकैकशतमणीनां बन्धनेन एकशतवत्सरान् स्वात्मन आयुषि प्रतिष्ठापयति यजमानः। अतिरिक्तमन्नमाज्यसक्तुलाजात्मकं रात्रिहुतशेषमश्वायोपावहरति, अश्वस्य भक्षणार्थं तत्समीपमाहरति। यथा स भक्षयेत् तथा ढौकयति। भक्षणाभावे जलप्रक्षेप उक्त एव। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व गतिशील जीवात्मन्, वसवो देवास्त्वां गायत्रेण छन्दसा अञ्जन्तु स्नेहयन्तु, रुद्रा एकादश त्रैष्टुभेन छन्दसा, आदित्या द्वादश जागतेन छन्दसा त्वा त्वामञ्जन्तु स्नेहयन्तु संस्कुर्वन्तु। भूर्भुवः स्वरिति महाव्याहृतिभिश्च पूर्वोक्ता देवास्त्वां संस्कुर्वन्तु। संस्कृतो जीवो देवान् प्रजापतिं च तर्पयति। देवा लाजीन् लाजानां समूहान्, शाचीन् सक्तूनां समूहांश्च, यव्ये यवमयसमूहान्, गव्ये गोविकारसमूहान् एतदन्नम् एतान् भवतां भक्षणीयान् पदार्थान् अत्त भक्षयत। हे प्रजापते! एतदन्नमद्धि भक्षय।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजापते ! वसवः प्रथमकल्पा विद्वांसो गायत्रेण छन्दसा गायत्रीछन्दोवाच्येनार्थेन यन्त्वाञ्जन्तु कामयन्ताम्, रुद्रा मध्यकल्पा विद्वांसस्त्रैष्टुभेन छन्दसा यन्त्वाञ्जन्तु, आदित्या उत्तमा विद्वांसो जागतेन च्छन्दसा यन्त्वाञ्जन्तु, स त्वमेतदन्नमद्धि । हे देवाः, यूयं यव्ये यवानां क्षेत्रे जातम्, गव्ये गोविकारे एतदन्नमत्त । लाजीन् स्वकक्षायां चलितान्, शाचीन् व्यक्तान् भूर्भुवःस्वर्लोकान् प्राप्नुत च' इति, तदपि निरर्थकमेव, अव्यापारेषु व्यापारत्वात्, वस्वादिपदानां तादृशार्थताया निर्मूलत्वात् । न च छन्दसां कश्चनार्थो भवति, छन्दोविशिष्टानां मन्त्राणामेवार्थसम्भवात् । न च छन्दःशब्दोऽर्थपरः, अर्थानां गायत्र्यादित्वानुपपत्तेः । कामनायां च गायत्र्यादीनां कीदृशः सम्बन्धः ? इत्यस्यापि वक्तव्यत्वात्, कामनायाश्च फलं वक्तव्यम् । यं, स, त्वम् इत्यपि निर्मूलम्, मूले तादृशपदाभावात् । लाजानित्यस्य स्वकक्षायां चलितानिति कथमर्थः ? भूरादीनां चलनं चाप्यसिद्धम्, तस्य खण्डितत्वात् ॥ ८ ॥

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः ।
किꣳ स्विद्धिमस्य भेषजं किं वावपनं महत् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—यूप के दक्षिण में उत्तरमुख होकर ब्रह्मा यूप के उत्तर में दक्षिणमुख होता से पूछे—कहो कौन अकेला विचरता है ? कहो कौन फिर प्रकाश पाता है ? कहो हिम की औषध क्या है और बड़ा क्षेत्र कौन है ? ॥ ९ ॥

'ब्रह्मा पृच्छति होतारं यूपमभितः कः स्विदेकाकीति' (का० श्रौ० २०।५।२०) । यूपस्य दक्षिणत उदङ्मुखो ब्रह्मा यूपस्योत्तरतो दक्षिणामुखं होतारं पृच्छेत् कः स्विदेकाकी चरतीति सूत्रार्थः । ब्रह्मोद्ये कर्मणि होतुर्ब्रह्मणश्च प्रश्नप्रतिप्रश्नभूताश्चतस्रोऽनुष्टुभ इति चतस्रः सहैव व्याख्यायन्ते। स्विदिति वितर्के । एकाकी असहायः कः चरति गच्छति । उ इति पादपूरणः । कः स्वित् विनष्टः सन् पुनर्जायते उत्पद्यते । किं स्विद् हिमस्य शीतस्य भेषजम् औषधम् । किं स्विद् महद् आवपनम् आसमन्ताद् उप्यते यस्मिंस्तद् आवपनस्थानम् ॥ ९ ॥

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार है—सूर्य, ज्योतिस्वरूप ब्रह्म अद्वितीय होकर सर्वत्र व्याप्त है, वह अकेला अपनी धुरी पर घूमता है । चन्द्रमा पुनः पुनः प्रकाश पाता है अथवा मन बार बार नवीन होकर प्रकाशित होता है । अग्नि हिम की औषध है । ज्ञानाग्नि से अज्ञानरूपी हिम दूर होता है और भूलोक कर्मबीज के बोने का बड़ा क्षेत्र है ॥१०॥

'सूर्य इत्याचष्टे' (का० श्रौ० २०।५।२१) । होता ब्रह्माणं प्रति सूर्य इत्याद्यृचमुत्तरयतीति सूत्रार्थः । ब्रह्माणं प्रति होतुरुक्तिः—सूर्यः एकाकी असहायो गच्छति। अनया प्रथमयोक्त्या होतृब्रह्माणौ यजमाने ब्रह्मवर्चसम्, चन्द्रमाः क्षीणः सन् पुनर्जायते वर्धतेऽनया द्वितीययोक्त्या आयुः, अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमनया तृतीययोक्त्या तेजः, भूमिरयं लोको महदावपनमित्यनया चतुर्थोक्त्या प्रतिष्ठां च धत्तः ॥ १० ॥

का स्विदासीत् पूर्वचित्तिः किꣳ स्विदासीद् बृहद्वयः ।
का स्विदासीत् पिलिप्पिला का स्विदासीत् पिशङ्गिला ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—होता पुनः प्रश्न करता है—पूर्व स्मरण का विषय कौन था ? बहुत उड़ने वाला अथवा स्वर्गपर्यन्त पहुँचा हुआ कौन था ? लक्ष्मी कौन थी ? और रूप को निगलने वाली कौन थी ? ॥ ११ ॥

'होता ब्रह्माणं का स्विदासीदिति' (का० श्रौ० २०।५।२२)। होता ब्रह्माणं पृच्छेत् का स्विदासीदिति सूत्रार्थः। होतुर्ब्रह्माणं प्रति प्रश्नः—पूर्वचित्तिः पूर्वं चिन्त्यत इति पूर्वचित्तिः सर्वेषां प्रथमस्मृतिविषया का स्विदासीत्। किं स्विद् बृहद् महद् वयः पक्षी आसीत्। पिलिप्पिला चिक्कणा मृद्वी च का स्विद् आसीत्। पिशङ्गिला पिशं रूपं गिलतीति पिशङ्गिला का स्विद् आसीत्॥ ११ ॥

द्यौरा॑सीत् पू॒र्वचि॑त्ति॒रश्व॑ आसीद् बृ॒हद्वयः॑ ।
अवि॑रासीत् पिलि॒प्पि॒ला रात्रि॑रासीत् पिश॒ङ्गि॒ला ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा का उत्तर—सब प्राणियों को अभीष्ट, वृष्टि का दाता द्युलोक प्रथम स्मरण का विषय था। अश्वमेध यज्ञ स्वर्गपर्यन्त पहुँचाने वाला है। सबकी रक्षा करने वाली पृथ्वी ही लक्ष्मी है। महामोह रूप वाली रात्रि ज्ञानमय रूप को निगल जाती है ॥ १२ ॥

'द्यौरिति प्रत्याह' (का० श्रौ० २०।५।२३)। ब्रह्मा प्रश्नान् व्याकरोति द्यौरासीदित्यादीति सूत्रार्थः। ब्रह्मा होतारं प्रत्युत्तरयति - द्यौरित्यादि। पूर्वचित्तिः पूर्वस्मरणविषया द्यौर्वृष्टिरासीत्। द्योशब्देनात्र वृष्टिर्लक्ष्यते, सर्वप्राणिनामिष्टत्वात्। अश्वो बृहद्वय आसीत्। अश्वशब्देनात्र अश्वमेधो वयसेव स्वर्गं लोकमारोहतीत्यश्वमेधो वयः। अविर् अवतीत्यविः पृथिवी। 'सर्वधातुभ्य इन्' (उ० ४।११८) इति साधुः। पिलिप्पिला चिक्कणा मृद्वी च। वृष्ट्या भूः क्लिद्यमाना पिलिप्पिला भवति। रात्रिः पिशङ्गिला आसीत्। पिशमिति रूपनाम। पिशं रूपं गिलतीति पिशङ्गिला रात्रिः। रात्रिर्हि सर्वाणि रूपाणि गिलति स्वात्मसात्करोति, अदृश्यानि करोतीति यावत्। अथवा पिशति अवयवान् करोतीति पिशङ्गः, तरत्यादेराकृतिगणत्वात् 'तरत्यादिभ्यश्च' (उ० १।१२०) इत्यङ्गच्। पिशङ्गमिलति क्षिपति स्वात्मसात्करोतीति पिशङ्गिला। 'इल स्वप्नक्षेपणयो' इति तौदादिकः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अप वा एतस्मात्। तेजो ब्रह्मवर्चसं क्रामति योऽश्वमेधेन यजते होता च ब्रह्मा च ब्रह्मोद्यं वदत आग्नेयो वै होता बार्हस्पत्यो ब्रह्मा ब्रह्म बृहस्पतिस्तेजश्चैवास्मिन् ब्रह्मवर्चसं च समीची धत्तो यूपमभितो वदतो यजमानो वै यूपो यजमानमेवैतत्तेजसा च ब्रह्मवर्चसेन चोभयतः परिधत्तः' (श० १३।२।६।९)। योऽश्वमेधेन यजते, एतस्मात्तेजो ब्रह्मवर्चसं चापक्रामति। यजमाने पुनस्तेजसो ब्रह्मवर्चसस्य चाधानाय ब्रह्मोद्यं कर्म विहितम्। ब्रह्मणि वेदे वदनं ब्रह्मोद्यं प्रश्नप्रतिवचनात्मकम्। होता च ब्रह्मा च ब्रह्मोद्यं वदतः। आग्नेयः, अग्नेरधिदेवात्मकस्याधिष्ठेयो होता। बार्हस्पत्यो बृहस्पतेरधिदेवभूतस्याधिष्ठेयो ब्रह्मा। ब्रह्म बृहस्पतिः। ततश्च तेजश्च ब्रह्मवर्चसं च समीची धत्तः। यूपो वै यजमानः। तौ चोभयतो यजमानमेव तेजसा ब्रह्म वर्चसेन परिधत्तः समर्धयतः।

'कः स्विदेकाकी चरतीति। असौ वा आदित्य एकाकी चरत्येष ब्रह्मवर्चसं ब्रह्मवर्चसमेवास्मिस्तद्धत्तः' (श० १३।२।६।१०)। ब्रह्मा पृच्छति होतारम् - कः स्विदेकाकी चरतीति। असौ वा आदित्य एकाकी असहायश्चरतीति प्रतिवचनार्थः। प्रश्नप्रतिवचनान् विवृणोति—असौ वा आदित्य एकाकी चरति, तेन सह अन्यस्य कस्यचिददर्शनात्। एष ब्रह्मवर्चसम् एतेन ब्रह्महोतारौ यजमाने ब्रह्मवर्चसमेव धत्तः। 'क उ स्विज्जायते पुनरिति। चन्द्रमा वै जायते पुनरायुरेवास्मिस्तद्धत्तः' (श० १३।२।६।११)। पूर्ववत् प्रश्नोत्तरविवृतिः। चन्द्रमा वै नष्टः कलाभिः क्षीणः सन् पुनर्मासान्तरे कलावृद्ध्या जायते। तादृशप्रश्नप्रतिप्रश्नाभ्यां तौ ब्रह्महोतारौ

अस्मिन् यजमाने आयुरेव धत्तः । 'कि७ँ स्विद्धिमस्य भेषजमिति । अग्निर्वै हिमस्य भेषजं तेज एवास्मिस्तद्धत्तः' (श० १३।२।६।१२)। अग्निर्वै हिमस्य भेषजमिति प्रश्नप्रतिप्रश्नाभ्यामस्मिन् यजमाने तेजो धत्तः । 'किं वावपनं महदिति । अयं वै लोक आवपनं महदस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति' (श० १३।२।६।१३)। अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामाभ्यामिति । 'का स्विदासीत् पूर्वचित्तिरिति । द्यौर्वै वृष्टिः पूर्वचित्तिर्दिवमेव वृष्टिमवरुन्धे' (श० १३।२।६।१४)। 'का स्विदासीत् पूर्वचित्तिरिति होता ब्रह्माणं पृच्छति' इति शाखान्तरात् । द्यौर्वै वृष्टिहेतुः । ततश्च राष्ट्रोपकाराय दिवं वृष्टिमेवावरुन्धे यजमानः, आभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामिति यावत् । 'कि७ँ स्विदासीद् बृहद्वय इति । अश्वो वै बृहद्वय आयुरेवावरुन्धे' (श० १३।२।६।१५)। अश्वो वै बृहद्वयः, महान् पशुरिति ब्रुवद्भ्यां शब्दसामान्याद् महद्वयः शतार्धकमायुर्यजमानोऽवरुन्धे । 'का स्विदासीत्पिलिप्पिलेति । श्रीर्वै पिलिप्पिला श्रियमेवावरुन्धे' (श० १३।२।६।१६)। श्रीर्वै पिलिप्पिला । रूपानुकरणशब्दोऽयं बहुरूपविलासोद्योतनवती श्रीः । मन्त्रे तु अविः पिलिप्पिला उक्ता । सा तु श्रीरेवेति ब्राह्मणे विवृतम् । कथमियं वै अविः पृथिवी । सा च श्रीः, 'श्रीर्वा इयम्' इति शाखान्तरवचनात् । 'का स्विदासीत्पिशङ्गिलेति । अहोरात्रे वै पिशङ्गिले अहोरात्रयोरेव प्रतितिष्ठति' (श० १३।२।६।१७)। अहोरात्रे वै पिशङ्गिले इति मन्त्रे रात्रिग्रहणेनैव अहरपि संगृहीतमिति दर्शयति । ततश्च एताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामहोरात्रयोर्यजमानः प्रतितिष्ठति, उभयोरपि राज्यं करोतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यश्चिदादित्यः, एकाकी चरति सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यः सन् मायया प्रपञ्चात्मना चरति । चन्द्रमाः सोमात्मिका महाशक्तिः षोडशी, पञ्चदशसु कलासु क्षीणासु क्षीयत इव मासान्तरे कलासु वर्धमानासु पुनर्जायत इव, षोडश्या एव नित्यसिद्धत्वात् । हिमस्य शीतस्य जडतया अग्निश्चैतन्यमेव भेषजम्, तेजस उद्रेके शीतस्येव चैतन्यस्योद्रेके जडताया अपाकरणात् । भूमिः प्रकृतिरेव महत् सर्वोत्कृष्टमावपनस्थानम्, तत एव प्राकृतभूम्यादेरपि सम्भवात् । पूर्वचित्तिः सर्वप्राचीना स्मृतिः केति प्रश्नस्योत्तरम्—द्यौरासीत् पूर्वचित्तिरिति । द्योतनात्मिकायाश्चित एव सर्वपूर्वत्वात् सैव सर्वपूर्वस्मृतिविषया । किं स्विदासीद् बृहद्वय इति प्रश्नस्योत्तरम्—अश्व आसीद् बृहद्वय इति । अश्नुत इत्यश्वः परमात्मैव बृहद्वयो महान् पक्षी, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति श्रुतेः, जीवात्मपक्षिणोऽल्पत्वेऽपि परस्य व्यापकत्वेन महत्त्वात् । का स्विदासीत्पिलिप्पिलेति प्रश्नस्य प्रतिवचनम्—अविरासीत्पिलिप्पिलेति । अवतीत्यविः । चितिरेव मायया भक्त्या स्निग्धा सती पिलिप्पिला चिक्कणा मृद्वी जायते । का स्विदासीत्पिशङ्गिलेत्यस्योत्तरम्—रात्रिरासीत्पिशङ्गिलेति । रात्रिः प्रकृतिविशिष्टा चितिः सर्वकारणभूता, सैव सर्वाणि रूपाणि प्रलयकाले स्वात्मनि प्रविलापयन्ती पिशङ्गिला भवति ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः ! कः स्विदेकाकी चरति ? किमु आवपनं महदस्तीति पृच्छामः । हे जिज्ञासवः ! सूर्यः सविता एकाकी स्वकक्षायां चरति । चन्द्रमाः चन्द्रलोकः पुनः प्रकाशितो जायते । अग्निः पावको हिमस्य भेषजम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ब्रह्महोत्रोर्ब्रह्मोद्यवदनबोधकश्रुतिविरोधात्, सूर्याकर्षणासिद्धेश्च । 'हे विद्वांसः ! वयं युष्मान् प्रति का स्वित् पूर्वचित्तिरित्यादि पृच्छामः । हे जिज्ञासवः, पूर्वचित्तिः प्रथमस्मृतिविषया द्यौर्दिव्यगुणप्रदा वृष्टिः । अश्वो योऽश्नुते मार्गान् सोऽग्निः । बृहद्वयो यो वेत्ति गच्छति स वयः, अविः रक्षणादिकर्त्री पृथिवी पिलिप्पिला पिशङ्गिला रात्रिरासीदिति यूयं बुध्यध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्वस्य मार्गव्यापित्वेऽप्यग्नेस्तदनुपपत्तेः, प्रकाशस्यैव रात्रिनाशकत्वेन रात्रेः प्रकाशनिराकरणायोगात् ॥ १२ ॥

वायुष्ट्वा पचतैरवत्वसितग्रीवश्छागैर्न्यग्रोधश्चमसैः शल्मलिर्वृद्ध्या । एष स्य राथ्यो वृषा पड्भिश्चतुर्भिरेदगन् ब्रह्माऽकृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—इस मन्त्र से अश्व का प्रोक्षण किया जाता है—हे अश्व ! वायु पाकक्रिया के द्वारा तुम्हारी रक्षा करे, धूम से श्यामग्रीव अग्नि छागों के साथ, वट वृक्ष चमस रूप से, सेमल वृक्ष अपनी वृद्धि के समान तुम्हारी रक्षा करे, तुम्हें सब प्रकार से श्रेष्ठ बनावें। यह मनोरथदाता अश्वाभिमानी देव हमारे मनोरथों की वर्षा करे। यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार चरणों से हमारे पास आवे। निर्मल ब्रह्मा हमारी रक्षा करें, हम अग्नि का नमन करते हैं ॥ १३ ॥

'अश्वप्रोक्षणमद्भ्यस्त्वा वायुष्ट्वेति' (का० श्रौ० २०।६।७)। 'अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः' (वा० सं० ६।९) इति प्रकृतमन्त्रेण वायुष्ट्वेत्यारभ्य देवः सविता दधात्वित्यन्तेन कण्डिकाचतुष्टयेन अश्वाभिषेकेण चाश्वप्रोक्षणं करोतीति सूत्रार्थः। चत्वारि यजूंषि, अश्वदेवत्यानि। हे अश्व ! वायुर्देवस्त्वा त्वां पचतैः पाकैः, अवतु रक्षतु। वायुसंयोगादग्निः शीघ्रं पचति। असितग्रीवः, असिता ग्रीवा यस्य धूमेनेत्यसितग्रीवोऽग्निश्छागैरजैस्त्वामवतु, 'अग्निर्वा असितग्रीवः' (श० १३। ।७।२) इति श्रुतेः। 'कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे' (वा० सं० २४।१) इति वक्ष्यमाणत्वादश्वाङ्गेषु कृष्णग्रीवादयः पञ्चदश पर्यङ्ग्याः पशवः सन्ति, तैरग्निरवत्वित्यर्थः। अश्वाङ्गेष्वालभ्यमानाः पर्यङ्ग्या अदृष्टद्वारा अश्वायोपकुर्वन्तीत्यर्थः। न्यग्रोधो वटवृक्षश्चमसैः सोमपात्रैस्त्वामवतु। शल्मलिर्वृक्षविशेषः स्वकीयया वृद्धया त्वामवतु, 'शल्मलिर्वनस्पतीनां वर्षिष्ठं वर्धते' (श० १३।२।७।४) इति श्रुतेः। किञ्च, एष स्यः स एष वृषा सेक्ता अश्वो राथ्यो रथे साधुः, चतुर्भिः पड्भिः पद्भिः पादैरेव एदगन् आ इद् अगन् आगतः। ननु सर्वेऽपि चतुष्पादश्चतुर्भिरेव पादैर्गच्छन्तीति निरर्थकं चतुर्ग्रहणमिति चेन्न, अश्वस्त्रिभिः पादैस्तिष्ठति चतुर्भिर्गच्छतीति तत्र विशेषात्। तथा च श्रुतिः—'तस्मादश्वस्त्रिभिस्तिष्ठंस्तिष्ठत्यथ युक्तः सर्वैः पद्भिः सममायुते' (श० १३।२।७।६)। आयुते आगच्छति। पदादेशस्य डान्तत्वं छान्दसम्। किञ्च, अकृष्णोऽविद्यमानं कृष्णं लाञ्छनं यस्मिन् सः, तथाविधो ब्रह्मा चन्द्रो नोऽस्मानवतु नोऽस्माकमश्वमवत्विति वा, 'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णश्चन्द्रमस एवैनं परिददाति' (श० १३।२।७।७) इति श्रुतेः। नमोऽग्नये अग्नये नमस्कारोऽस्तु। विघ्नाभावाय इयमग्नये नतिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'राजा वा एष यज्ञानां यदश्वमेधः। यजमानो वा अश्वमेधो यजमानो यज्ञो यदश्वे पशून्नियुनक्ति यज्ञ एव तद्यज्ञमारभते' (श० १३।२।२।१)। राजेव राजा, अनुचरभूतानां तूपरादीनामग्रे सरस्वत्याः संस्कारातिरेकाच्च एष यज्ञानां यज्ञसाधनानां पशूनां यदश्वमेधः। यज्ञसाधनमश्वमेधः। अश्वः पशूनां राजेव राजत इत्यर्थः। ततश्च 'सेनामुखमेवास्यैतेन सꣳश्यति' इत्यादिभी राजोपकरणैर्योक्ष्यते। यजमानो वा अश्वमेधः पशुर्यज्ञसाधनभूतो यज्ञसाधनत्वाद् यजमान एव। ततश्च यज्ञात्मकाद्यजमानादभिन्नत्वादश्वोऽपि यज्ञः, तूपरादयोऽपि यज्ञ इति कृत्वा यदश्वे पशून् कृष्णग्रीवादीन् नियुनक्ति, तद् यज्ञ एव। कृष्णग्रीवात्मके यज्ञमश्वात्मकमारभते प्राप्नोति। उपकरणभूत उपकार्यभूतम्। 'अश्वं तूपरं गोमृगमिति। तान् मध्यमे यूप आलभते सेनामुखमेवास्यैतेन सꣳश्यति तस्माद्राज्ञः सेनामुखं भीष्मं भावुकम्' (श० १३।२।२।२)। तूपरमश्रृङ्गमजम्। गोमृगं मृगाकारं गामिति। एवमेव यथा निर्दर्शितान् तानिति, एतदः स्थाने तदः प्रयोगः, एतान् मध्यमे यूपे आलभते। सेनामुखमेव अस्य अश्वस्य राजभूतस्य। एतेन रूपेण मध्यमे यूपे आलब्धानेतान् संश्यति संस्करोति, राजभूतमप्यश्वं सेनामुख एव करोतीत्यर्थः। 'कृष्णग्रीवमाग्नेयꣳ रराटे पुरस्तात्। पूर्वाग्निमेव तं कुरुते तस्माद्राज्ञः पूर्वाग्निर्भावुकः' (श० १३।२।२।३)। कृष्णग्रीवमजमग्निदेवत्यम्। रराटे ललाटे अश्वस्य यूपभूते उपायेनालभते नियुनक्ति। पुरस्ताद् अग्रतोऽश्वस्येत्यर्थः। ननु पूर्वस्यां दिशि पशूनां प्रत्यङ्मुखानां सामर्थ्यादेवालम्भे सति पूर्वस्यां दिश्यालम्भानुपपत्तेः पूर्वाग्निमेव तं कुरुत इत्यनुपपन्नमिति चेदत्राह—त्रेताग्नेर्यः पूर्वोऽग्निरावसथ्यरूपस्तमेवाश्वस्य राजभूतस्य पूर्वाग्निं कुरुते। तस्मात्तदनुकारेण राज्ञः

पूर्वाग्निः साधुर्भवति। तत्राहितस्य शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकादीनि बहूनि कर्माणि क्रियन्ते। 'सारस्वतीं मेषीमधस्ताद्धन्वोः। स्त्रीरेव तदनुगाः कुरुते तस्मात् स्त्रियः पु७ँ् सोऽनुवर्त्मानो भावुकाः' (श० १३।२।२।१४)। सारस्वतीं मेषीं हन्वोर्यूपभूतयोरुपायेनालभते। हन्वोर्हि मेष्यालम्भ्या। सा चाधस्तादेव भवति। स्त्रीरेव तत्तेन अनुगा अनुगामिनीः पुंसः कुरुते। तस्मात् स्त्रियः पुरुषस्यानुवर्तमानाः साधु भवन्ति। अनुवर्त्मत्वेन कृतानुकारता। अनुकारकारिणीत्यानुकूल्यं लक्ष्यते। 'आश्विनावधोरामौ बाह्वोः। बाह्वोरेव बलं धत्ते तस्माद्राजा बाहुबली भावुकः' (श० १३।२।२।१५)। बाह्वोर्बलमस्यास्तीति बाहुबली।

'नियुक्तेषु पशुषु। प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्तेऽश्वं प्रोक्षिष्यन्नन्वारब्धे यजमान आध्वरिकं यजुरनुद्रुत्याश्वमेधिकं यजुः प्रतिपद्यते' (श० १३।२।७।१)। नियुक्तेषु पशुषु। अन्वारब्धे यजमाने। आध्वरिकं प्रोक्षणयजुः 'अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः' (वा० सं० ६।९) इत्येतत्। अनुद्रुत्योच्चार्य। 'अश्वप्रोक्षणमद्भ्यस्त्वा वायुष्ट्वेति' (का० श्रौ० २०।६।७) इति सूत्रात्। सूत्रार्थस्तु पूर्वं दर्शितः। यजुरिति चैकवचनाच्चतस्रोऽप्येता मन्त्रकण्डिकाः (वा० सं० २३।१३-१६) एकं वाक्यमिति दर्शयति वायुष्ट्वेति। 'वायुष्ट्वा पचतैरवत्विति। वायुरेवैनं पचत्यसितग्रीवश्छागैरित्यग्निर्वा असितग्रीवोऽग्निरेवैनं छागैः पचति' (श० १३।२।७।२)। वायुरेवैनमश्वं पचति। अग्निमुपोद्बलयतीति ब्रुवन् पाकैर्वायुस्तावन्नित्येतमर्थं दर्शयति—अग्निर्वा असितग्रीव इति। धूममिश्रत्वात् स तथाविधः। स च एनं छागैः सह पचति। 'न्यग्रोधश्चमसैरिति। यत्र वै देवा यज्ञेनायजन्त त एतांश्चमसान् न्यौब्जंस्ते न्यञ्चोऽरोहंस्तस्मान्न्यञ्चो न्यग्रोधा रोहन्ति' (श० १३।२।७।३)। न्यग्रोधः स्वकीयैश्चमसैः सोमाङ्गभूतैश्चावत्विति मन्त्रार्थः प्रसिद्ध एवेति न व्याख्यातः। चरकाणां हि नैयग्रोधाश्चमसाः पच्यन्ते। तेषु च सत्स्वश्वमालभते गात्रस्त्विति। तानुपपादयन् न्यग्रोधाश्वमुपाकरोति। चमसभवत्वं न्यग्रोधस्याह। कथं नाम देवचमसप्रकृतिकन्यग्रोधविकाराश्चमसा मंस्यन्ते? तत्राह न्यौब्जन् इति। 'उब्ज आर्जवे' इति तौदादिकस्य रूपम्। देवा एतांश्चमसान् अधोमुखांश्चक्रुरित्यर्थः। ते न्यञ्चोऽरोहन्। तस्मान्न्यञ्चो न्यग्रोधा रोहन्ति। 'शल्मलिर्वृद्धयेति। शल्मलौ वृद्धिं दधाति तस्माच्छल्मलिर्वनस्पतीनां वर्षिष्ठं वर्धते' (श० १७।२।७।४)। शल्मलिरुपमानम्। वृद्ध्या त्वां चतुः संस्करोति। शल्मलिरिव कायतो वर्द्धस्वेति मन्त्रार्थः। नाप्सुद्रुद्धासु शल्मलिमुपाददानः शल्मलौ वृद्धिं दधातीति गम्यते। तथा च रामाश्रमोऽमरकोषटीकायां वचनमेकमुद्धार— 'षष्टिर्वर्षसहस्राणि वने जीवति शाल्मलिः'। शल्मलिरित्यपि। 'एष स्य राथ्यो वृषेति। अश्वेनैव रथ७ँ् सम्पादयति तस्मादश्वो नान्यद्रथाद्वहति' (श० १३।२।७।५)। राथ्यः, रथे साधुः, रथाय हितो वा। राथ्य इत्युक्तेः श्वेतरथसम्पत्तिर्गम्यते। 'पड्भिश्चतुर्भिरेदगन्निति। तस्मादश्वस्त्रिभिस्तिष्ठंस्तिष्ठत्यथ युक्तः सर्वैः पद्भिः सममायुते' (श० १३।२।७।६)। आयुते आगच्छति। 'ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवत्विति। चन्द्रमा वै ब्रह्माकृष्णश्चन्द्रमस एवैनं परिददाति नमोऽग्नय इत्यग्नय एव नमस्करोति' (श० १३।२।७।७)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व! त्वां वायुः पचतैः पाकरूपैर्निष्ठादार्ढ्यैरवतु। असितग्रीवो नीलकण्ठः शिवश्छागैश्छातैस्तनूकरणसाधनैर्बुद्धैः कुशाग्रतापादनेन अवतु। न्यग्रोधाधिष्ठातृदेवश्चमसैश्चमससम्बन्धिभिः सोमैस्त्वामवतु। शल्मल्यधिष्ठातृदेवो वृद्ध्या त्वामवतु। स एष राथ्यो शरीरलक्षणरथारूढो वृषा धनवर्षणशीलश्चतुर्भिः पद्भिः विश्वतैजसप्राज्ञतुर्यैः, आ इद् अगन् आगतः, संसारक्षेत्रेऽवतीर्ण इति यावत्। ब्रह्मा चन्द्रः परमेश्वरोऽकृष्णो लाञ्छनहीनो नोऽस्मानवतु। अग्नये परमात्मदेवाय नमोऽस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिनः, पचतैः परिपाकपरिणामैर्वायुरादिमः स्थूलकार्यरूपः, छागैश्छेदनैश्चमसैर्मेघैर्न्यग्रोधो वटः, वृद्ध्या वर्धनेन शाल्मलिर्वृक्षविशेषस्त्वामवतु। य एष राथ्यो रथेषु हितस्तासु कुशलो वृषा वर्षकः स्यः स चतुर्भिः पड्भिः पादैरिदेव त्वागन् गच्छति। ब्रह्मा चतुर्वेदविद् अकृष्णोऽविद्यान्धकाररहितो नोऽस्मानवतु

प्रवेशयतु। अग्नये प्रकाशमानाय विदुषे नमोऽन्नं देयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, स्वाभाविके कार्ये प्रार्थनानुपपत्तेः। प्राणात्मको वायुः परिपाकपरिणामैर्यत्करोति तत्करिष्यत्येवेति व्यर्थमेव तद्वचनम्। जडत्वाच्च तस्य तदनुपपन्नम्। क्रियाभिरसितग्रीवोऽग्निः कथमुपकरोतीत्यपि चिन्त्यम्। छेदनक्रियाकर्तृत्वं कथमग्नौ सम्भवति ? वटो मेघैः कथं रक्षति ? वृद्धया च शल्मलिः कथं रक्षिष्यति ? जडानां प्रार्थना स्तुतिश्च तवापसिद्धान्त एव। कोऽयं राथ्यो यश्चतुर्भिः पद्भिर्विद्यार्थिनं प्राप्नोतीत्यस्पष्टमेव। अन्यान्यपि दूषणानि तथैवोह्यानि ॥ १३ ॥

सꣳशितो रश्मिना रथः सꣳशितो रश्मिना हयः।
सꣳशितो अप्स्वप्सुजा ब्रह्मा सोमपुरोगवः ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—रथ रश्मि से प्रशंसित होता है, अश्व लगाम से शोभित होता है, अश्व जल में शोभित होता है, ब्रह्मा सोम को आगे रखकर इसको स्वर्ग में पहुँचाता है ॥ १४ ॥

अश्वदेवत्याऽनुष्टुप्। रथो रश्मिना संशितो दर्शनीयतमः शोभनो भवति। रश्मिरश्वनियामिका लोहरूपा प्रग्रहरूपा रज्जुः (लगाम इति भाषायाम्), सम्पूर्वः श्यतिः शोभनार्थः, 'तस्माद्रथः पर्युतो दर्शनीयतमो भवति' (श० १३।२।७।८) इति श्रुतेः। हयोऽश्वो रश्मिना संशितः शोभितः। अप्सुजा अप्सु जायत इत्यप्सुजा अश्वः, अप्सु अद्भिः, विभक्तिव्यत्ययः, संशितः शोभितः, 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' (श० १३।२।७।९) इति श्रुतेः। पुनः किम्भूतोऽश्वः, ब्रह्मा बिभर्ता परिवृढो वा। पुनः कथम्भूतः ? सोमपुरोगवः सोमः पुरोगवः पुरोगमोऽग्रगामी यस्य सः। सोमं पुरस्कृत्य स्वर्गं लोकं गच्छतीति यावत्, 'सोमपुरोगवमेवैनꣳ स्वर्गं लोकं गमयति' (श० १३।२।७।१०) इति श्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'सꣳशितो रश्मिना रथ इति। रश्मिनैव रथꣳ सम्पादयति तस्माद्रथः पर्युतो दर्शनीयतमो भवति' (श० १३।२।७।८)। पर्युतः परिवेष्टितः, रज्जुभिः परितः प्रतिकृतः। 'सꣳशितो रश्मिना हय इति। रश्मिनैवाश्वꣳ सम्पादयति तस्मादश्वो रश्मिना प्रतिहृतो भूयिष्ठꣳ रोचते' (श० १३।२।७।९)। 'सꣳशितो अप्स्वप्सुजा इति। अप्सुयोनिर्वा अश्वः स्वयैवैनं योन्या समर्धयति ब्रह्मा सोमपुरोगव इति सोमपुरोगवमेवैनꣳ स्वर्गं लोकं गमयति' (श० १३।२।७।१०)। अद्भिः संशितः आपश्चाश्वस्य योनिरित्यद्भिः संश्यति। स्वयैव योन्या संश्यति। पूर्वं सोमः प्रदीयते पश्चादश्व इत्येतदभिप्रायमेतत्।

अध्यात्मपक्षे—शरीररूपो रथो रश्मिना मनःप्रग्रहेण संशितः प्रतिकृतः शोभते। रश्मिना तेनैव मनः-प्रग्रहेण हय इन्द्रियसमूहः संशितो नियन्त्रितः शोभते। संशितोऽप्सु अद्भिः प्राणैः, 'आपोमयः प्राणः' (छा० ६।५।४) इति श्रुतेः। विभक्तिव्यत्ययः। अप्सुजा अश्वः संशितो भवति। कीदृशोऽश्वः ? ब्रह्मा विधाता सोमपुरोगवः सोमस्तदात्मकं मनः पुरोगवः पुरोगामी यस्य सः, मनोऽन्तरेन्द्रियसमूहस्य अकिञ्चित्करत्वात्, 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥' (कठोप० १।३) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'यदि मनुष्येण रश्मिना किरणसमूहेन रथो रमणसाधनः संशितः सम्यक् सूक्ष्मीकृतः, रश्मिना हयोऽश्वः संशितः स्तुतः, अप्सु प्राणेषु जायमानः, सोमपुरोगव ओषधिगणबोध ऐश्वर्ययोगो वा पुरोगामी यस्य सः, ब्रह्मा महायोगी संशितः क्रियेत, तर्हि किं किं सुखं न लभ्येत' इति, तदपि यत्किञ्चित्,

स्वाच्छन्द्यमूलकत्वात्, संशितः स्तुत इत्यस्य निर्मूलत्वात्, धात्वर्थविरोधात्, शिष्टैस्तथा अप्रयुक्तत्वाच्च। किरणैरद्यापि रथो वा यानं वा संश्यति। यानस्य सूक्ष्मत्वापादनमन्यत्, सूक्ष्मया शिल्पविद्यया निर्माणमन्यत्। तथैव प्राणेषु प्राणवायुरूपेण सञ्चारी पवनो बाष्पो वेत्यादिकं तु मूढजनप्रतारणमेव। सोमपुरोगव इत्यस्य ओषधिबोध ऐश्वर्ययोगो वा कथमर्थः ? ब्रह्मेति पदं महायोगिपरमपि कथमिति चिन्त्यम् ॥ १४ ॥

स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व। महिमा तेऽन्येन न संनशे ॥१५॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! तुम अपने शरीर की यथायोग्य यथेच्छ कल्पना करो, स्वयं तुम ही यजन करो, स्वयं तुम ही अपने इष्ट स्थान तक पहुँच जाओ। तुम्हारी महिमा दूसरों की महिमा से नष्ट नहीं हो सकती ॥ १५ ॥

आश्वी विराट्। हे वाजिन्, स्वयं स्वयमेव तन्वं शरीरं कल्पयस्व, 'स्वयं रूपं कुरुष्व यादृशमिच्छसि' (श० १३।२।७।११) इति श्रुतेः। स्वराज्यं तवास्तीत्यर्थः। अतः स्वयमेव यजस्व, न त्वदन्यो यष्टास्तीति। स्वयं जुषस्व स्वयं चाभिरुचितं स्थानं सेवस्व, हविर्वा सेवस्व, तव प्रजापतिरूपत्वात्। यतस्ते तव महिमा अन्येन महिम्ना न सन्नशे न सन्नश्यते, अन्येन महिम्ना न व्याप्यत इति यावत्। 'सन्नश्यते' इत्यत्र यको लोपेन 'सन्नशे' इति रूपं छान्दसम्। नशिरन्यत्रादर्शनार्थोऽप्यत्र व्याप्त्यर्थः। अतो ब्रवीमि स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्वेति।

अत्र ब्राह्मणम्—'स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्वेति। स्वयꣳ रूपं कुरुष्व यादृशमिच्छसीत्येवैनं तदाह स्वयं यजस्वेति स्वाराज्यमेवास्मिन् दधाति स्वयं जुषस्वेति स्वयं लोकꣳ रोचयस्व यावन्तमिच्छसीत्येवैनं तदाह महिमा तेऽन्येन न सन्नश इत्यश्वमेव महिम्ना समर्धयति' (श० १३।२।७।११)। स्वयं वाजिँस्तन्वं यजस्वेत्यत्र यजिर्दानकर्मा। यः स्वयं ददाति स्वशरीरादि चेत्यभिप्रायः। महिमा तेऽन्येन न सन्नश इति ब्रुवन् अश्वमेव केवलं महिम्ना समर्धयति।

अध्यात्मपक्षे—हे वाजिन्, वाजिवत् संसरणशील जीवात्मन् ! स्वयं तन्वं स्वरूपं यथेच्छं कल्पयस्व स्वयं यजस्व यज्ञदानादिकर्म कुरु स्वयं जुषस्व विषयान् सेवस्व। ते महिमा अन्येन महिम्ना न व्याप्यते, ब्रह्मस्वरूपेण तवानन्तत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन्, जिज्ञासो ! स्वयं तन्वं कल्पयस्व समर्थयस्व, स्वयं यजस्व सङ्गच्छस्व स्वयं जुषस्व सेवस्व। यतस्ते महिमा अन्येन सह न सन्नशे सम्यग् नश्येत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः, अस्वारस्याच्च। तथाहि—यजेर्गत्यर्थताया निष्पत्तावपि इच्छार्थत्वानुपपत्तिः, स्वयंपदस्य स्वारस्यानुपपत्तिश्च। महिमा न सन्नश इत्येतावतैवाभीष्टसिद्धा अन्येनेति पदस्य वैयर्थ्यापत्तेश्च ॥ १५ ॥

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! तुम निःसन्देह नहीं मरते हो, कभी नष्ट नहीं होते हो, किन्तु सुगम मार्ग से देवताओं के पास वहाँ पहुँचते हो, जहाँ पुण्यात्मा निवास करते हैं। वे पुण्यात्मा जहाँ गये हैं, सबका प्रेरक सविता देवता तुमको भी वहीं स्थापित करे ॥ १६ ॥

आश्वी त्रिष्टुप्। हे अश्व, यत् त्वमस्माभिः संज्ञप्यसे यज्ञोद्देश्येन, एतत् त्वं न म्रियसे, न च रिष्यसि विनश्यसि विशस्यमानोऽपि, आत्मनो नित्यत्वात्, देवोद्देश्येन संज्ञपनस्य स्वर्गहेतुत्वात्। वै, उ इति निपातौ पादपूरणार्थौ। यत्सुगेभिः सुगैः साधुगमनैः पथिभिर्देवयानमार्गैर्देवान् इद् देवान् प्रति एषि गच्छसि, यत्र यस्मिन्

स्वर्गे सुकृतः साधुकारिणो नरा आसते तिष्ठन्ति, यत्र ते सुकृतो ययुर्गताः, तत्र स्वर्गे सुखसाधनोपेते लोके सविता परमैश्वर्यशाली देवः परमात्मा त्वा त्वां दधातु स्थापयतु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसीति । प्रश्वासयत्येवैनं तद्देवाँ२॥ इदेषि पथिभिः सुगेभिरिति देवयानानेवैनं पथो दर्शयति यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुरिति सुकृद्भिरेवैन७ सलोकङ्करोति तत्र त्वा देवः सविता दधात्विति सवितैवैन७ स्वर्गे लोके दधाति प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीत्युपा७ श्वथोपगृह्णाति' (श० १३।२।७।१२)। ब्राह्मणेनानेनोक्तमेव मन्त्रव्याख्यानं समर्थ्यते। प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीत्येनं देवतादेशमस्मिन् कुरुते। उपांशु ब्रूयात्। क्रमार्थं चेदं वचनम्, अप्राप्तत्वात्। आध्वरिकत्वाद्धि पूर्वमेवायं देवतादेशः प्राप्नुयात्। उपांशुत्वं तु सर्वेषां यजुषां सिद्धमनूच्यते। 'उच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा' इत्यादिश्रुतेः। अथोपगृह्णाति। आध्वरिकं यजुरनुद्रुत्येति वर्तते। प्राकृतं यजुः 'अपां पेरुः' (वा० सं० ६।१०) इत्युच्चार्य 'अग्निः पशुः' इत्याश्वमेधिकैर्यजुर्भिरुपगृह्णात्यभिघारयति ।

अध्यात्मपक्षे—हे जीवात्मन्, न वा उ नैव त्वं म्रियसे, न च रिष्यसि नश्यसि, कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठानेन यज्ञार्थं शास्त्रविधिनोपयुक्तस्त्वं देवानेव एषि गच्छसि, यत्र सुकृतः साधुकर्मकारिण आसते। यत्र ते ययुः, तत्र सविता त्वां दधातु प्रतिष्ठापयतु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिनः, यत्र ते सुकृत आसते, सुखं ययुः, यत्र सुगेभिः पथिभिस्त्वं देवानेषि, यत्रैतद् वर्तते, स्थितस्त्वं न म्रियसे न वै रिष्यसि, तत्रैव सविता देवो दधातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विविधासङ्गतेः। तथाहि—यत्रासते इत्यनेनैवाभीष्टसिद्धौ ययुरित्यस्य वैयर्थ्यापत्तिः। न च सुखं ययुरिति तदन्वयः, मूले सुखशब्दाभावात्। न च दिव्यगुणानां दिव्यगुणवतां वा प्राप्तये सुगमः पन्था अपेक्षितः, तेषां तत्प्राप्तिमार्गस्य च लोकसिद्धत्वात्। न च तदर्थं सवितृकर्तृकं प्रतिष्ठापनमप्यपेक्षितम्। तस्मात्सिद्धान्तानुसारि व्याख्यानमेव युक्तम् ॥ १६ ॥

अग्निः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त स एतँल्लोकमजयद्यस्मिन्नग्निः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अपः। वायुः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त स एतँल्लोकमजयद्यस्मिन् वायुः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अपः। सूर्यः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त स एतँल्लोकमजयद्यस्मिन् सूर्यः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अपः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—प्रोक्षणी को अश्व के मुख पर लगा कर इस मन्त्र का उच्चारण करे—अग्नि ने पशु का रूप धारण किया, उससे देवताओं ने यजन किया, उस अग्नि ने इस लोक को जीत लिया। जिस लोक में अग्नि का निवास है, हे अश्व ! वह लोक तुम्हारा है, तुम उसको जीतोगे, इस जल का पान करो। वायु ने पशु का रूप धारण किया, उसके द्वारा यजन किया गया, उसने इस लोक को जीता। जिस लोक में वायु रहता है, वह लोक तुम्हारा होगा, उस लोक को तुम जीतोगे, इस जल को पियो। एक समय सूर्य ने पशु का रूप धारण किया, देवताओं ने उससे यजन किया, उसने इस लोक को जीत लिया। जिस लोक में सूर्य निवास करता है, वह तुम्हारा है, तुम उसे जीतोगे, इस जल को पियो। अभिप्राय यह है कि यज्ञ के निमित्त पशु बनकर अग्नि, वायु और सूर्य ने अपने अपने लोकों को जीता है, तुम भी इस यज्ञ में पशुत्व स्वीकार करो। इससे तुम भू आदि लोकों को जीतकर देवत्व प्राप्त करोगे ॥ १७ ॥

'उपगृह्णात्यपां पेरुरग्निः पशुरिति' (का० श्रौ० २०।६।८)। अपां पेरुरिति षाष्ठेन प्राकृतेन मन्त्रेणाग्निः पशुरिति वैकृतेन च मन्त्रेणाश्वस्य मुखे प्रोक्षणीर्धारयेदिति सूत्रार्थः। हे पशो, त्वमपां पेरुः पानशीलोऽसि, तत

इदं पिब । आपो देवीर्देव्यः स्वदन्तु आस्वादयन्तु एनं पशुं यतो देवहविर्देवानां हविः पशुलक्षणं स्वात्तम् अद्भिः स्वादितं सत् शोभनं देवयोग्यम्, भूयादिति शेषः । अद्भिः प्रक्षालितस्य हविषो मेध्यत्वादिति भावः । एवंविधोऽर्थः प्राकृतस्य मन्त्रस्य । अग्निरिति प्रकृतकण्डिकायां त्रीणि यजूंष्यश्वदेवत्यानि । सृष्टिदेवानां यज्ञेऽग्निः पशुरासीत् । तेन अग्निरूपेण पशुना देवा अयजन्त । स चाग्निस्तत्र पशुभावमुपगतः सन् एतं पृथ्वीलोकमजयत् । हे अश्व, यस्मिल्लोकेऽग्निर्विराजते, तं लोकं त्वं जेष्यसि, एताः प्रक्षिणीरपः पिब । अनयैव रीत्या द्वे यजुषी व्याख्येये । वायुः पशुरासीत्, सूर्यः पशुरासीदिति । वायुलोकोऽन्तरिक्षम्, सूर्यलोकः स्वर्गः । तवापि ते भविष्यत इत्यर्थः । अग्निवायुसूर्या महान्तोऽपि पशुभावमासाद्यैव महत्त्वमाप्नुवन्तः । तस्मात् प्रशस्तः पशुभाव इति ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्निः पशुरासीत् । तेनायजन्त स एतं लोकमजयद्यस्मिन्नग्निः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अप इति यावानग्नेर्विजयो यावांल्लोको यावदैश्वर्यं तावांस्ते विजयस्तावांल्लोकस्तावदैश्वर्यं भविष्यतीत्येवैनं तदाह' (श० १३।२।७।१३) । 'वायुः पशुरासीत् । तेनायजन्त स एतं लोकमजयद्यस्मिन् वायुः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अप इति यावान् वायोर्विजयो यावांल्लोको यावदैश्वर्यं तावांस्ते विजयस्तावांल्लोकस्तावदैश्वर्यं भविष्यतीत्येवैनं तदाह' (श० १३।२।७।१४) । 'सूर्यः पशुरासीत् । तेनायजन्त स एतं लोकमजयद्यस्मिन् सूर्यः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अप इति यावान् सूर्यस्य विजयो यावांल्लोको यावदैश्वर्यं तावांस्ते विजयस्तावांल्लोकस्तावदैश्वर्यं भविष्यतीत्येवैनं तदाह तर्पयित्वाश्वं पुनः सꣳस्कृत्य प्रोक्षणीरितरान् पशून् प्रोक्षति तस्यातः' (श० १३।२।७।१५) । विजयो विजितः, लोकः स्थानम्, ऐश्वर्यमिच्छानुविधानम् । पुनः संस्कृत्येति वचनमप्राप्तत्वात् तस्य प्रोक्षणीनां पुनः संस्कारस्य । अतः, अतः परं ब्राह्मणं वक्ष्यत इति शेषः । 'अन्यैरेवैनं तत्पशुभिर्व्याकुर्वन्ति' (श० १३।२।८।१) इति, तदत्रापि द्रष्टव्यम् । तर्पयित्वाश्वम्, पुनः संस्कृत्य प्रोक्षणीः, ताभिरितरान् पशून् प्रोक्षति, इति कर्तव्यमित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व जीवात्मन्, अग्निवायुसूर्याः पशव आसन्, तैर्देवा अयजन् । तस्मादेव ते तांस्ताँल्लोकानाप्नुवन् । देवतोद्देश्येन स्वात्मसमर्पणमेव पशुभावः । त्वमपि चेद्देहादिमोहं परित्यज्य देवतोद्देश्येन स्वात्मसमर्पणं करिष्यसि तदा तांस्ताँल्लोकानवाप्स्यसि । एता अपः पिब, एतानि कर्माणि आत्मसात्कुरु ।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, यस्मिन् सोऽग्निः पशुर्दृश्य आसीत्, तेनायजन्त, तेन त्वं यज । यथा स विद्वान् तेनैतं लोकं द्रष्टव्यमजयत्, तथैनं जय । तं चेज्जेष्यसि, तर्हि सोऽग्निस्ते लोको भविष्यति, अतस्त्वमेव यज्ञेन शोधिता अपः पिब । यस्मिन् स वायुः पशुरासीत्···· यस्मिन् स सूर्यः पशुरासीत्····यदि त्वं तं जेष्यसि, तर्हि सूर्यस्ते लोको भविष्यति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पशुशब्दस्य पश्यतेर्निष्पन्नत्वेऽपि द्रष्टव्यार्थे प्रमाणाभावात्, चतुष्पदप्राणिषु पशुशब्दप्रसिद्धेः । नहि 'घट चेष्टायाम्' इति धातोर्निष्पन्नस्यापि घटशब्दस्य चेष्टार्थकता । तथाङ्गीकारे च असम्बद्धता, अस्पष्टार्थता च । यस्मिन्निति पदेन लोकश्चेद् गृह्येत, तर्हि तेन लोकेन कथं यजनमित्यनुक्तेः । नहि व्रीह्यादिवल्लोको यजनसाधनं भवति । सति च तथात्वे लोकस्य जेतव्यत्वानुपपत्तिः, साधनस्यैव फलत्वायोगात् । यज्ञेन शोधिता अपः पिबेत्यपि निर्मूलम्, मूले तादृशपदाभावात् ॥ १७ ॥

प्राणाय स्वाहा अपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा । अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन । ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—प्रस्तुत मन्त्र से तीन आहुतियाँ दी जाती हैं । प्राण के निमित्त, अपान के निमित्त और व्यान के निमित ये श्रेष्ठ आहुतियां दी जा रही हैं । इनसे यज्ञीय पशु में प्राणों का आधान होता है । यह इसलिये किया जाता

है कि जीवित पशु ही यज्ञ का साधन बन सकता है। अश्व का संस्कार करते हुए महाविद्या कहती है कि हे अम्बे, अम्बिके और अम्बालिके ! यह आत्मज्ञान रहित अश्व उस अविद्या का, जो कि कामरूपा स्त्री का भ्रममय रूप बनाकर महामाया से आवृत संसार में बसती है, आश्रय ग्रहण करके शयन करती है। कोई मुझ महाविद्या को उसके पास नहीं जाने देता ॥ १८ ॥

'परिपशव्ये हुत्वा प्राणाय स्वाहेति तिस्रोऽपराः' (का० श्रौ० २०।६।११)। परिपशव्ये स्वाहा, देवेभ्यः स्वाहेति द्वे आहुती हुत्वा प्राणायेत्याद्यास्तिस्र आहुतीर्जुहोति। एकामश्वसंज्ञपनादौ, चतस्रोऽन्त इति सूत्रार्थः। त्रीणि यजूंषि—प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा। आभिराहुतिभिरश्वं प्राणवन्तं करोति। 'वाचयति पत्नीर्नयन्नमस्तेऽम्ब इति' (का० श्रौ० २०।६।१२)। नेष्टा सर्वाः पत्नीः पशुशोधनाय पान्नेजनीहस्ताः पशून् प्रति नयन् नमस्ते आतानेति षाष्ठं प्राकृतं मन्त्रम्, 'अम्बे' इत्याश्वमेधिकं च वाचयतीति सूत्रार्थः। अश्वदेवत्याऽनुष्टुप्। पत्न्यः परस्परं वदन्ति हे अम्बे, हे अम्बिके, हे अम्बालिके, नामान्येतानि। एभिर्नामभिस्ताः सम्बोद्ध्या इत्यर्थः। कश्चन नरो मामश्वं प्रति न नयति न प्रापयति। मदगमने च अश्वकः कुत्सितोऽश्वः, पक्षपातित्वादकुत्सितोऽपीर्ष्यया कुत्स्यते, ससस्ति अन्यां परिगृह्य शेते। 'षस् स्वप्ने' अदादिः। अत्र मन्त्रे ह्वादिः प्रयुक्तः। छन्दसि दृष्टानुविधिः। कामन्यामित्यपेक्षायामाह—सुभद्रिकामिति। कुत्सिता सुभद्रा सुभद्रिका ताम्। ईर्ष्यया अकुत्सितापि कुत्स्यते। काम्पीलवासिनीम्, काम्पीले नगरे वसतीति काम्पीलवासिनी, ताम्। काम्पीलवासिनीमिव सुरूपाम्। काम्पीलनगरे हि सुभगा सुरूपा विदग्धा विनीताश्च कामिन्यो भवन्ति। मदगमनेनाश्वोऽन्यां सुभगामादाय शयिष्यत इति मया गम्यते, न तु मां तत्र कश्चिन्नयतीति भावः। अम्बे अम्बिके इत्यत्र 'आपो जुषाणो वृष्णो वर्षिष्ठेऽम्बेऽम्बालेऽम्बिके पूर्वे' (पा० सू० ६।१।११८) इति प्रकृतिभावः।

अत्र ब्राह्मणम्—'देवा वा उदञ्चः। स्वर्गं लोकं न प्राजानंस्तमश्वः प्राजानाद्यदश्वेनोदञ्चो यन्ति स्वर्गस्य लोकस्य प्रज्ञात्यै वासोऽधिवासꣳ हिरण्यमित्यश्वायोपस्तृणन्ति यथा नान्यस्मै पशवे तस्मिन्नेनमधि संज्ञपयन्त्यन्यै-रेवैनं तत्पशुभिर्व्याकुर्वन्ति' (श० १३।२।८।१)। देवा वा उदञ्चः, यदश्वेनोदञ्चो यन्तीत्यनुवाद एव। देवाः स्वर्गं लोकं न प्राजानान्। तं स्वर्गं लोकमश्वः प्राजानात्। यस्मादश्वेनेष्ट्वा ऊर्ध्वगामिनः सन्तो देवा यन्ति, ततो वासोऽधिवासं हिरण्यमित्येतत् त्रयमश्वायोपस्तृणन्तीत्येतत्सम्बन्धार्थम्। वासो यदन्तर्द्धानायालम्। अधिवासो यदाच्छादनायाप्यलम्। तच्च वास उपर्यास्तरणीयम्। तयोरुपरि हिरण्यम्। तस्मिंस्त्रये एनम् अधि उपरि संज्ञपयन्ति। अन्यैरेव एनमश्वं तत्पशुभिर्विलक्षणं तेभ्योऽधिकं कुर्वन्ति। एतेन च त्रयेण दर्भो न निवर्त्यते, भिन्नार्थत्वात्। एतद्धि तस्मिन्नेनमधि संज्ञपयन्तीति संज्ञपनार्थः, 'तद्यदेवास्य विशस्यमानस्य किञ्चित् स्कन्दति तदेतस्मिन् प्रतितिष्ठति' (श० ३।८।१।१४) इति श्रुतेः। 'पश्चात्तृणमुपास्यति वर्षो वर्षीयसीति' (का० श्रौ० ६।५।१४)। शामित्रस्य पश्चाद् हस्तस्थयोर्वेदितृणयोरन्यतरत् तृणं प्रागग्रं प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः। 'घ्नन्ति वा एतत् पशुम्। यदेनꣳ संज्ञपयन्ति प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहेति संज्ञप्यमान आहुतीर्जुहोति प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति तथा हास्यैतेन जीवतैव पशुनेष्टं भवति' (श० १३।२।८।२)। 'संज्ञप्यमाने' इति वचनात् परिपशव्यान्तराल इति प्राप्नोति। सूत्रकारस्तु—'परिपशव्ये हुत्वा प्राणाय स्वाहेति तिस्रोऽपराः' (का० श्रौ० २०।६।११) इत्याह। तस्याभिप्रायस्तु 'संज्ञप्यमाने' इति 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' (पा० सू० ३।३।१३१) इत्येवं वर्तमानोपदेशोऽयमिति। कुतः ? 'प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति' इति वाक्यशेषात्। उत्क्रान्तानां हि प्राणानां पुनर्विधानं युक्तम्, नानुत्क्रान्तानामिति हरिस्वामिनः। पुरोडाशादिषु यथा मन्त्रेण भावनया वा जीवनदानं क्रियते, तथैवात्राहुत्योत्क्रान्तप्राणस्याऽश्वस्य सप्राणत्वं सम्पाद्यते। तेन संस्कारविशेष एवायम्, न व्यावहारिकदृष्ट्या पशोः पुनर्जीवनं सम्पद्यते, तस्याङ्गानामुत्तरकर्मसु विनियोगदर्शनात्। 'अम्बे

अम्बिकेऽम्बालिके। न मा नयति कश्चनेति पत्नीरुदानयत्यह्वतैवैना एतदथो मेध्या एवैनाः करोति' (श० १३।२।८।३)। उदानयतीति वचनाद् उदानकरण एष मन्त्रः प्रतिभाति। पूर्वोक्तकात्यायनसूत्रस्यायमभिप्रायः— 'नमस्ते' इति प्राकृतम् 'अम्बे अम्बिके' इत्याश्वमेधिकं वाचयन् पत्नीरुदानयत्येष श्रुत्यर्थ इति। अह्वत एव एना एतदिति। 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' इति भौवादिकस्य लुङि 'अह्वत' इति। मेध्यतामुच्चारयतश्चोपपन्नं वाचनमिति। अथो मेध्या मेधार्हा एव एनाः करोति, मन्त्रेण वाचनेनेत्यभिप्रायः। एतदपि वाचने लिङ्गम्।

अध्यात्मपक्षे— प्राणाय प्राणाधिष्ठात्रे भगवते स्वाहा स्वात्मसमर्पणमस्तु। अपानाय स्वाहा अपानाधिष्ठात्रे, व्यानाय स्वाहा व्यानाधिष्ठात्रे देवाय स्वाहा स्वात्मनिवेदनमस्तु। बुद्धिराह—हे अम्बे, हे अम्बिके, हे अम्बालिके, अश्वं प्रजापतिं परमेश्वरं प्रति मा मां कश्चन न नयति। अश्वकः, अश्नुते व्याप्नोतीत्यश्वः परमेश्वरः, कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः। प्रणयकोपेनेर्ष्यावशादेषोक्तिः। बुद्धिः परमात्मानं कामयते। तत्प्राप्तयेऽहमहमिकया प्रवर्तमाना बुद्धयः परस्परं स्पर्धन्ते। स सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीमिव सुरूपां काञ्चिदादाय ससस्ति शेते। सोऽन्यामपहाय मामेव कामयेतेति कामना।

दयानन्दस्तु—'हे अम्बे मातः, हे अम्बिके पितामहि, हे अम्बालिके प्रपितामहि, कश्चनाश्वको यां काम्पीलवासिनीं सुभद्रिकामादाय ससस्ति न मानयति, अतोऽहं प्राणाय प्राणपोषणाय स्वाहा सत्या वाक्, अपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा च करोमि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अम्बिकाऽम्बालिकाशब्दयोस्तादृशार्थत्वे मानाभावात्। अश्वकशब्दस्याप्यश्वसदृशशीघ्रगामीति गौण एवार्थः, असत्यामनुपपत्तौ मुख्यार्थत्यागस्यायुक्तत्वात्। तथैव काम्पीलवासिनीं सुभद्रिकामित्यनयोर्लक्ष्म्यर्थताऽपि चिन्त्यैव। कं सुखं पीलति बध्नातीति कम्पीलः, स एव काम्पीलः, तं वासयितुं शीलं यस्यास्तां लक्ष्मीमिति व्युत्पत्तिरप्यसङ्गतैव, लक्ष्म्याः सुखकामयितृविमुखत्वात्, सुखनिरपेक्षेष्वेव तत्प्रवृत्तेश्च। नयतेर्वशीकरणार्थतापि चिन्त्या। अपानायेत्यस्य हिन्दीव्याख्याने दुःखापाकरणायेत्युक्तम्। व्यानाय सर्वशरीरव्यापिन आत्मने सत्ययुक्तां वाणीं करोतीत्यपि निर्मूलम्, तथार्थत्वे मानाभावात्, प्राणप्रसङ्गेनापानव्यानयोः प्राणविशेषयोरेव ग्रहणौचित्यात्॥ १८॥

गणानां॑ त्वा गणप॑तिꣳ हवामहे प्रि॒याणां॑ त्वा प्रि॒यप॑तिꣳ हवामहे नि॒धीनां॑ त्वा निधि॒प॑तिꣳ हवामहे वसो मम। आह॒मजा॑नि गर्भ॒धमा त्वम॑जासि गर्भ॒धम्॥ १९॥

मन्त्रार्थ—यजमान की पत्नी अश्व की परिक्रमा करके अश्व के पास आकर कहती है कि हे अश्व के अधिष्ठात्री देव! प्रजापति परमात्मन्! मनुष्य आदि गणों (समुदायों) के अधिपति गणपति के रूप में विद्यमान आपका मैं आवाहन करती हूँ। संसार के सकल प्रिय पदार्थों से अधिक प्रिय होने के कारण अथवा सर्वोपरि रक्षक होने के कारण प्रिय पति के रूप में आपका आवाहन करती हूँ। विद्या आदि पोषणकारक सुखनिधियों के पति के रूप में विद्यमान आपका आवाहन करती हूँ। सबके प्राणरूप अथवा जिनमें सब प्राणी बसते हैं, ऐसे हे वसु नामक परमात्मन्! आप मेरे रक्षक बनिये, मैं गर्भधारण कराने वाले वीर्य को अपने पति से प्राप्त करूँ। आप गर्भ को धारण कराने वाले वीर्य को फलोन्मुख रूप से प्रेरित करते हैं, अतः मेरे पति में भी उसे स्थापित कीजिये॥ १९॥

'अश्वं त्रिस्त्रिः परियन्ति पितृवन्मध्ये गणानां प्रियाणां निधीनामिति' (का० श्रौ० २०।६।१३)। सर्वाः पत्न्यः पान्नेजनहस्ता एव प्राणशोधनात् प्राग् अश्वं त्रिस्त्रिः परियन्ति। सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम्। मध्ये पितृवद् अप्रदक्षिणं परियन्ति त्रिः त्रिभिर्मन्त्रैः। वसो ममेति त्रिष्वप्यनुषङ्गः। ततश्चैवं क्रमः—प्रथमं गणानां त्वेति त्रिः प्रदक्षिणम्, ततः प्रियाणां त्वेति त्रिरप्रदक्षिणम्, ततो निधीनां त्वेति त्रिः प्रदक्षिणमिति

पितृवन्मध्य इत्यस्यार्थः। अन्ते सकृदितरथावृत्तिः। वसो ममेत्यस्य त्रिष्वप्यनुषङ्गः। एवं नवकृत्वः परिक्रमणमिति सूत्रार्थः। त्रीणि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। हे अश्व, वयं त्वां हवामहे आह्वयामः। कीदृशं त्वाम्? गणानां स्त्रीगणानां मध्ये त्वां युगपद् गणपतिम्, यद्वा गणानां मध्ये गणपतिं गणरूपेण पालकम्, प्रियाणां वल्लभानां मनुष्याणां मध्ये त्वामेव प्रियपतिं प्रियभर्तारं प्रियस्य वा पालकं हवामहे। निधीनां सुखनिधीनां मध्ये त्वामेव निधिपतिं सुखनिधेर्वा पालकं हवामहे। हे वसो! वसुरूप अश्व, मम पतिस्त्वं भूया इति शेषः। 'प्रक्षालितेषु महिष्यश्वमुपसंविशत्याहमजानीति' (का० श्रौ० २०।६।१४)। संज्ञपनानन्तरं मृतस्य पशोः प्राणेषु पत्नीभिरध्वर्युणा यजमानेन च प्रक्षालितेषु शोधितेषु सत्सु महिषी अश्वसमीपे शयीतेति सूत्रार्थः। अश्वदेवत्यं यजुः। हे अश्व, गर्भधं गर्भं दधातीति तथोक्तं गर्भधारकं रेतोऽहम् आ अजानि निष्कृष्य क्षिपामि, 'अज गतिक्षेपणयोः'। तं च गर्भधं रेत आ अजासि निष्कृष्य क्षिपसीत्युव्वटमहीधरौ, काण्वसंहिताभाष्ये सायणोऽपि।

अत्र ब्राह्मणम्—'गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामह इति। पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतदतो न्वेवास्मै ह्नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं तल्लोकैर्धुवते त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड् वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते' (श० १३।२।८।४)। अत्र हरिस्वामिनः—अनेन मन्त्रेण सकृदेव, अर्थात् सर्वाः पत्न्योऽश्वं परिभ्रमन्ति। अपह्नुवते विस्मरन्त्येवास्मै, एतत्प्रदक्षिणावर्तनेन संज्ञपनमुन्नयन्तीत्यर्थः। अपि वा अविस्मृतमपि निह्नुवति क्षमयन्ति च ऋत्विग्यजमाना एतत्संज्ञपने प्रदक्षिणकरणेन। अथो धुवते, 'धू विधूनने' तौदादिकः परस्मैपदी। धवित्रैरुपवीजयन्त्येनमश्वं राजानमिव व्यजनैरेतत्। त्रिः पुनः परियन्ति पत्न्यः प्रियाणां त्वा प्रियमिति। कुत? मन्त्रक्रमात्। 'अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति। ये यज्ञे धुवनं तन्वते नवकृत्वः परियन्ति नव वै प्राणाः प्राणानेवात्मन् दधते नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधमिति प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन् धत्ते' (श० १३।२।८।५)। ये ऋत्विग्यजमाना यज्ञे धुवनं तन्वते, तेषां प्राणा अपक्रामन्ति। पत्नीप्रयोगद्वारेण तेषामयं दोषोऽपाक्रियते। नवकृत्वः पत्न्यः परियन्ति। पत्नीषु तथा परियतीषु एतेभ्य ऋत्विग्यजमानेभ्यः प्राणा नापक्रामन्ति, आहमजानि गर्भधमिति महिषी अश्वमुपसंविशति, लिङ्गात्।

अध्यात्मपक्षे—हे वसो, वसति सर्वभूतेषु वासयति च सर्वं जगदिति वसुस्तत्सम्बुद्धौ, गणानां महदादिगणानां वसुरुद्रादित्यादिगणानां गणपतिं गणपालकम्, प्रियाणां मित्रपुत्रकलत्रादीनां प्रियपतिं प्रियपालकं प्रियप्रेमास्पदं पतिं वा, निधीनां शङ्खपद्मादिनिधीनामाकराणाम्, निधीयन्ते स्वर्णरत्नमण्यादिधनादि येषु तेषाम्, सुखानि वा निधीयन्ते येषु तेषां निधीनां निधिपालकं हवामहे आह्वयामहे। प्रकृतियोनौ गर्भं प्रतिबिम्बात्मकं चैतन्यं यो दधाति, स गर्भधो बिम्बभूतः परमात्मा, तमहं मम, विभक्तिव्यत्ययः, हृदये त्वमजासि धारयसि। अहं च आसमन्तात् तं गर्भधं प्रतिबिम्बधारकं बिम्बरूपं गर्भधं परमात्मानं हृदयेऽजानि हृदये धारयामि। त्रिगुणात्मिका जडा प्रकृतिर्ब्रह्मचैतन्यप्रतिबिम्बधारणेनैव चैतन्यायिता सती विश्वं सृजति 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥' (भ० गी० १४।३) इति गीतोक्तेः। महद्ब्रह्म प्रकृतिः।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर, वयं गणानां गणपतिं समूहपालकं त्वां हवामहे स्वीकुर्महे। प्रियाणां प्रियपतिं त्वां हवामहे। निधीनां विद्यादिपदार्थपोषकाणां त्वा निधिपतिं हवामहे। हे वसो, मम न्यायाधीशो भूयाः। यं गर्भधं यो गर्भं प्रकृतिं दधाति तं त्वमजासि प्राप्नुयाः। तं गर्भधं प्रकृतिमहमाजानि जानीयाम्' इति, तथा हिन्दीभाष्ये तु—'गर्भवत् संसारधारयित्र्याः प्रकृतेर्धारकस्त्वं जन्मादिदोषरहितः सम्यक् प्राप्नोषि। गर्भधं प्रकृतिधारकं त्वामहं सम्यग् जानीयाम्' इत्युक्तम्, तच्च सर्वमप्यसङ्गतमेव, असम्बद्धत्वात्, न्यायाधीशो भूया

इत्यस्य मन्त्रबाह्यत्वात्। ननु सिद्धान्तव्याख्यानेऽपि —'मम पतिर्भूयादिति शेषः' इत्युक्तम्, तदपि व्याख्यानं तथाविधमेवेति चेन्न, ब्राह्मण-सूत्र-सन्दर्भानुसारं तथा व्याख्यातत्वात्। न च त्वदीये व्याख्याने तादृशं किञ्चिदपि प्रमाणमस्ति। त्वया प्रथम-गर्भधशब्दस्य यो गर्भं दधातीति व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता, सा च त्वदीयहिन्दीभाष्य-विरुद्धा। तत्र तु प्रकृतेर्गर्भधारकतोक्ता, परमात्मनस्तु प्रकृतिधारकतोक्ता। एवमेव 'त्वं जन्मादिदोषरहितः सम्यक् प्राप्नोषि' इति रिक्तं वचः, किं प्राप्नोषीत्यनुक्तेः। पदार्थव्याख्याने प्रकृतिमित्युक्तम्, हिन्द्यां तु प्रकृति-धारकमहं जानीयामित्युक्तम्। तच्चाशुद्धम्, नहि गर्भशब्दस्य प्रकृतिरर्थः। परस्परविरुद्धश्चायमर्थः। भूमिकायां दयानन्देन यन्महीधरभाष्यं दूषितम्, तत्तु भूमिकायामेवास्माभिः खण्डितम् ॥ १९ ॥

ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—पत्नी अपने पति यजमान से कहती है कि मैं और तुम दोनों चार चरणों को भली प्रकार फैलावें अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों का साधन करें। हे अश्व के अधिष्ठाता प्रजापति देव ! आप इस यज्ञशाला को अपने तेज और ऐश्वर्य से आच्छादित कर दें। हे प्रजापते ! सेचन में समर्थ तेजोमय वीर्य को धारण करने वाला मेरा बलवान् पति मुझमें तेजोयुक्त वीर्य को स्थापित करे ॥ २० ॥

अत्र काण्वानां पूर्वमन्त्रशेषः—'ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव' इति। यौ आवां कृतसङ्केतौ तौ उभौ त्वमहं च चतुरः पदः पादान्। द्वौ तव सम्बन्धिनौ द्वौ च मम सम्बन्धिनौ, आवां सम्प्रसारयाव। एवं स्त्रीपुंस-सम्बन्धे संवेशनप्रकारः।

'अधीवासेन प्रच्छादयति स्वर्गे लोक इति' (का० श्रौ० २०।६।१५)। अधीवासः, अध उपरिष्टाच्च आच्छादनक्षमो बहुमूल्यः कम्बलविशेषः। तेन महिषीमश्वं च स्वर्गे लोक इति मन्त्रेण प्रच्छादयेदिति सूत्रार्थः। अश्वदेवत्यं यजुः। अध्वर्युर्वदति—हे अश्वमहिष्यौ, युवां स्वर्गे लोकेऽस्यां यज्ञभूमौ प्रोर्णुवाथां वास आच्छादयतम्, 'ऊर्णुञ् आच्छादने', 'एष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञपयन्ति' (श० १३।२।८।५) इति श्रुतेः। 'अश्व-शिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति' (का० श्रौ० २०।६।१६)। महिषी अश्वशिश्नं स्वयमेवाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति वृषा वाजीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। अश्वदेवत्यं यजुः। वाजी अश्वो रेतो दधातु मयि वीर्यं स्थापयतु। कीदृशोऽश्वः? वृषा सेक्ता, रेतोधा रेतसो वीर्यस्य धारयिता।

अत्र ब्राह्मणम्—'ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुद्ध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञपयन्ति तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुद्ध्यै' (श० १३।२।८।५)। एतावप्यधिवासेन सम्प्रोर्णुवन्ति यस्मादेष स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति, तस्मादेव-माह—स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामिति। वृषा वाजी रेतोधा इति महिषी अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुत इति हरिस्वामिनः।

अध्यात्मपक्षे—तौ शिष्याचार्यौ उभौ चतुरः पदः पुरुषार्थान्, सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य-सायुज्यात्मकान् मोक्षान् वा सम्प्रसारयाव स्वयं प्राप्य प्रचारयाव। वेद आदिशति—हे शिष्याचार्यौ, युवां स्वर्गे स्वर्गोपमे भारते वर्षे ज्ञानविज्ञानाभ्यां सर्वं जगदाच्छादयतम्। वर्षति धर्मान् तत्फलानि च यः स वृषा परमेश्वरः। वाजी, वाजं ज्ञानादिलक्षणमन्नमस्यास्तीति वाजी, रेतोधाः प्रजासु रेतो वीर्यं पराक्रमं दधाति यः स रेतोधा, अस्मासु रेतो बलं पराक्रमं दधातु।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजे, युवामुभौ तौ यथा स्वर्गे लोके चतुरः पदो धर्मार्थकाममोक्षान् प्रोर्णुवाथां प्राप्नुयाथां तथैतानावामध्यापकोपदेशकौ सम्प्रसारयाव, यथा रेतोधा रेतः श्लेषमालिङ्गनं दधाति, स वृषा दुष्टानां शक्तिप्रतिबन्धको वाजी विज्ञानवान् राजा प्रजासु रेतो वीर्यं दध्यात् तथा प्रजापि दधातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'ऊर्णुञ् आच्छादने' इति धात्वर्थविरोधात्। राजप्रजे इति सम्बोधनमपि प्रमाणशून्यम्, क्रियाबलादावामित्यध्याहारस्यौचित्येऽप्यध्यापकोपदेशकयोर्ग्रहणे मानाभावात्, अध्यापकोपदेशकौ किं प्रसारयावेति सम्प्रसरण्यानुक्तेः। रेतः श्लेष इत्यपि निर्मूलम्, वृषा शक्तिप्रतिबन्धकः, वाजी विज्ञानवानित्यपि निर्मूलम् ॥ २० ॥

उत्स॑क्थ्या॒ अव॑ गु॒दं धे॑हि॒ सम॒ञ्जिं चा॑रया वृषन्। यः स्त्री॒णां जी॑व॒भोज॑नः ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान अश्वाभिमानी प्रजापति परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे सकल मनोरथों की वर्षा करने में समर्थ प्रजापते ! जिसकी ऊरु ऊपर को है, ऐसी मेरी पत्नी के प्राणों पर तेज को स्थापित करें, उस तेज को प्रविष्ट करावें, जो कि स्त्रियों के जीवन का साधन है ॥ २१ ॥

'उत्सक्थ्या इत्यश्वं यजमानोऽभिमन्त्रयते' (का० श्रौ० २०।६।१७)। स्पष्टार्थं सूत्रम्। अश्वदेवत्या गायत्री। हे वृषन् सेक्तः अश्व, महिष्या गुदमव गुदोपरि, योन्युपरीति यावत्। रेतो धेहि वीर्यं धारय। कथम्भूताया महिष्यास्तत्राह—उत्सक्थ्याः, उद् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्याः सा उत्सक्थी, 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० सू० ५।४।११३) इति षचि, 'षः प्रत्ययस्य' (पा० सू० १।३।६) इति षकारस्येत्संज्ञायाम्, 'षिद् गौरादिभ्यश्च' (पा० सू० ४।१।४१) इति ङीषि रूपम्, तस्याः। कथं तदाह—अञ्जिम् अनक्ति व्यनक्ति पुंस्त्वमित्यञ्जिः पुंस्प्रजननम्, तं सञ्चारय स्त्रीप्रजनने सन्निवेशय। यः स्त्रीणां जीवभोजनः, जीवयति स जीवः, भोजयति यः स भोजनः, जीवश्चासौ भोजनश्चेति जीवभोजनः। यस्मिन्नुपस्थे सन्निविष्टे ता जीवन्ति भोजनेनेव तृप्यन्ति च।

अध्यात्मपक्षे—हे वृषन्, वर्षति कामानिति वृषा, तत्सम्बुद्धौ। हे परमेश्वर, उत्सक्थ्या उद् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्याः सा उत्सक्थी, तस्या भार्याया इव प्रकृतेः स्वरूपभूतां योनिमव योन्युपरि रेतो वीर्यं प्रपञ्चोत्पादनसामर्थ्यं धेहि धारय। अनक्ति व्यनक्ति प्रकृतौ स्वचैतन्यमित्यञ्जिः प्रतिबिम्बभूतः स्वस्वरूपभूतः, तं प्रकृतिरूपायां योनौ सञ्चारय, 'अश्वरश्मिमतिसुमतिश्वसुतचारय' (वा० प्रा० ३।९७) इत्यादिना वकारे परे दीर्घः। योऽञ्जिः पुरुषप्रतिबिम्बः स्त्रीणां जडानां प्रकृतिमहदहङ्कारादीनां जीवनं भोजनञ्च, तद्वत्तृप्तिकर इति यावत्। स्वातन्त्र्यं पुंस्त्वम्, पारतन्त्र्यं स्त्रीत्वम्। प्रकृत्यादौ स्वतः सत्तास्फूर्त्यभावेन पारतन्त्र्यम्। पुरुषस्य चेतनस्य स्वतः सत्तास्फूर्तिमत्त्वेन स्वातन्त्र्यम्। तेन चेतन एव प्रकृतेर्जीवनम्, तदधीनसत्ताकत्वात्। स एव च तृप्तिकरः, तदपेक्षापूरकत्वात्। उत्सक्थ्या गुदमिति राहोः शिर इतिवद् अभेदे षष्ठी। सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपा प्रकृतिरेव त्रिकोणा योनिरित्यागमिकैराख्यायते।

दयानन्दस्तु—'हे वृषन्, यः स्त्रीणां जीवभोजनो जीवा भोजनं भक्षणं यस्य सः। व्यभिचारी व्यभिचारिणी वा स्त्री वर्तेत, तं तां च निगृह्य उत्सक्थ्या ऊर्ध्वं सक्थिनी यस्यास्तस्याः प्रजायास्ताडय, स्वप्रजायाश्च गुदं क्रीडामवधेहि। अञ्जिं प्रसिद्धं न्याय्यं सञ्चारय' इति, तदप्युपहासास्पदम्, पदार्थासङ्गतेः। जीवा भोजनं भक्षणं यस्य स जीवभोजन इति जीवभोजनशब्दस्यार्थ उक्तः। हिन्दीभाष्ये तस्य मांसभक्षक इति व्याख्यानम्। अन्वये तु व्यभिचारी व्यभिचारिणी वा स्त्रीति तत्पर्यायान्तरमुक्तम्। तदेतत्सर्वं परस्परविरुद्धमेव। नहि मांसभक्ष-व्यभिचारिशब्दौ पर्यायवाचकौ, निरामिषाणामपि व्यभिचारसम्भवात्, सामिषाणामप्यव्यभिचारित्वसम्भवात्। न च जीवा भक्ष्यन्ते, तेषां निराकारत्वात्। न च प्राणिदेहा एव जीवाः, तेषां देहभिन्नत्वात्।

न च स्त्रीणामिति पदस्य सार्थक्यम्, मांसभक्षकत्व-व्यभिचारित्वयोरुभयत्र सम्भवेन व्यावर्तकत्वायोगात्। स्त्रीणां मध्ये पुरुषो व्यभिचारी पुरुषाणां मध्ये स्त्रीणां व्यभिचार इति विवरणमपि निःसारम्, तस्य अर्थात् सिद्धत्वात्, पुरुषः स्त्रीषु व्यभिचरति स्त्री पुरुषेष्वित्यर्थसिद्धमेव । उत्सक्थ्याः प्रजाया इत्यप्यसङ्गतम्, उत्सक्थीत्वस्य व्यष्टिधर्मत्वेन समष्टिप्रजायां तदसम्भवात्, निगृह्य ताडयेदित्यादिपदानां मूलेऽभावेन निर्मूलत्वाच्च। स्वप्रजाया गुदमवधेहीत्यप्यसङ्गतम्, मूले स्वप्रजाया इति पाठाभावात्। न चोत्सक्थ्या इति प्रजाया बोधकः शब्दः, तथाभ्युपगमेऽपि तस्यास्ताडनीयत्वेन क्रीडाधानासम्भवात्। न चाञ्जिशब्दस्य प्रसिद्धोऽप्रसिद्धो वा न्यायोऽर्थः, निर्मूलत्वात्, काव्यकोषादिष्वप्रयोगात्, धात्वर्थविरोधाच्च । यत्तु भावार्थे—हे राजन्, ये विषयसेवायां क्रीडन्तो जना क्रीडन्त्यः स्त्रियो वा व्यभिचारं वर्धयेयुः, ते ताश्च तीव्रेण दण्डेन शासनीया इति, तत्तु पूर्वोक्तविरुद्धमेव। पूर्वं तु राजकर्तृकं प्रजासु क्रीडाया धारणमुक्तम्, इह तु तद्विरुद्धमुच्यते। भावार्थस्य मूलाक्षरसम्बन्धवैधुर्यं त्वतिस्पष्टमेव । तस्मात् सिद्धान्तव्याख्यानमेव मन्त्राक्षरानुगुणम्। तत्राश्लीलता-दोषशङ्कासमाधानं तूपरिष्टाद् वक्ष्यते ॥ २१ ॥

यकाऽसकौ शकुन्तिकाऽऽहलगिति वञ्चति ।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ - अध्वर्यु आदि देवी से संवाद करते हैं - जो यह अपरा प्रकृति है, वह ठगती है, सही मित्र तो आत्मा ही है। यज्ञीय तेज आत्मयजनकारी की ऐश्वर्यमय आत्मा में आगमन करता है। सर्वाधार परा शक्ति उस आत्मयोगी के लिंगशरीर को कवलित कर लेती है ॥ २२ ॥

'अध्वर्युब्रह्मोद्गातृहोतृक्षत्तारः कुमारीपत्नीभिः संवदन्ते यकासकाविति दशर्चस्य द्वाभ्यां द्वाभ्या१७ हये हयेऽसावित्यामन्त्र्यामन्त्र्य' (का० श्रौ० २०।६।१८)। अध्वर्य्वादयः पञ्च यजमानस्य कुमार्या पत्नीभिश्च सह यथाक्रमं हये हयेऽसाविति सम्बुद्धचन्तनामोच्चारणपूर्वकं सम्मुखीकृत्य यकासकाविति दशर्चसम्बन्धिनीभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यामृग्भ्यां सह सोपहासं संवदन्ते । तत्र प्रथममध्वर्युः कुमारीं पृच्छति हये हये कुमारि यकासकौ शकुन्तिकेति सूत्रार्थः। कुमार्यादिदेवत्या दश। तत्र द्वितीयोपरिष्टाद्बृहती। शिष्टा नवानुष्टुभः। यकासकौ या असौ। 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' (पा० सू० ५।३।७१) इति प्रागिवीयार्थेऽकच्। अत्र कुत्सायाम्। शकुन्तिका शकुन्तिः पक्षिणी, अल्पा शकुन्तिः शकुन्तिका, 'अल्पे' (पा० सू० ५।३।८५) इति कन्, अल्पपक्षिणीव। 'आहलक्' इति शब्दानुकरणम्। हले हले इति शब्दयन्ती ब्रुवन्ती वा वञ्चति गच्छति। स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः। अध्वर्युरङ्गुल्या योनिं प्रदर्शयन्नभिमेथयति। गभे भगे योनौ, वर्णविपर्यय आर्षः। शकुनिसदृश्यां यदा पसो लिङ्गमाहन्ति आगच्छति, 'पसः सपतेः स्पृशतिकर्मणः' (निरु० ५।१६) इति यास्कः। अत्र स्कन्दस्वामी—पसः पुनः सपतेः, 'षप् समवाये' इत्यस्य स्पृशत्यर्थस्य विपरीतस्य। स्पर्शश्चात्र सुरतस्य सुखातिशयोऽभिप्रेतः, न त्वगिन्द्रियविषयसंस्पर्शमात्रकम्, सपति स्पर्शयति सुखयतीति। पस इति पुंस्प्रजननस्य नाम। तद् यदा भग आगच्छति तदा धारका, धरति लिङ्गमिति धारका योनिः, निगल्गलीति नितरां गलति वीर्यं क्षरति। यद्वा शब्दानुकरणं गल्गलेति शब्दं करोतीत्यर्थः। हन्तिर्गत्यर्थः। यद्वा तस्या अपि गभे भगे पसः पुंस्प्रजननमाहन्ति आगच्छति, अन्तर्भावितण्यर्थो वा हन्तिः, तस्या भगे पसमागमयति प्रवेशयति, भगे शिश्नमाहन्ति आगच्छति प्रवेशयति वा तत्, शब्दं करोतीत्युक्तमेव ।

अत्र ब्राह्मणम्—'यकासकौ शकुन्तिकेति । विड् वै शकुन्तिका हलगिति वञ्चतीति विशो वै राष्ट्राय वञ्चत्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति विड् वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री

विशं घातुकः' (श० १३।२।९।६)। विड् वै शकुन्तिका। तस्माद्विड् वै हलाहलेति शब्दायमाना वञ्चति व्यवहरति। विशश्च राष्ट्रय राष्ट्रहिताय वञ्चति कृषिवाणिज्यपशुपाल्यादिकं कुर्वन्ति। गभे पसो निगल्गलीतीत्यस्य गूढमर्थमाह श्रुतिः—विड् वै गभः, राष्ट्रमेव पसः। गभे पस आविश्याहन्तीत्यस्यायमेव गूढोऽर्थो यद् राष्ट्रमेव विश्याविश्याहन्ति। तस्माद् राष्ट्री राष्ट्रमस्मास्तीति राष्ट्री राजा विशं घातुको भवति।

अध्यात्मपक्षे—यका या शकुन्तिका अल्पीयसी पक्षिणीव प्रकृतिराहलगिति हले हले शब्दं ब्रुवन्तीव वञ्चति गच्छति, महदादिकार्यनिष्पत्त्यर्थं प्रवर्तते, तदा तस्या गभे भगे त्रिगुणात्मके शरीरे, असकौ असौ पसो वीर्यधारकः प्रतिबिम्ब आहन्ति आगच्छति, तदा धारका विश्वगर्भधारयित्री प्रकृतिर्योनिर्निनितरां गिलति क्षरति। तत एव वीर्यवज्जगज्जायते।

दयानन्दस्तु—'यस्यां गभे प्रजायां राजा स्वीयं पसो राष्ट्रमाहन्ति जानाति प्राप्नोति वा, सा धारका सुखधारयित्री प्रजा निगल्गलीति निरन्तरं भृशं सुखं निगलतीव वर्तते। यतो यका या असकौ असौ प्रजा शकुन्तिका अल्पा पक्षिणीव निर्बला वर्तते, तस्मादिमामहलग् राजा वञ्चतीति, आ समन्ताद् हलं विलेखनमञ्चतीति सः। हलेन कृष्टाया भूमेः करग्रहीता राजा वञ्चति तथा धनं गृह्णाति, यथा प्रजा सुखवती स्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सुखानुगुणग्रहणस्य वञ्चकत्वानुपपत्तेः, राजपदस्य मूलेऽभावाच्च, तादृश्याः प्रजायाः शकुन्तिकाया इव निर्बलत्वासम्भवात्। हलेन विलेखनं भवति, न तु हलशब्दस्य विलेखनमर्थः॥ २२॥

यकोऽसकौ शकुन्तक आहलगिति वञ्चति।
विवक्षत इव ते मुखमध्वर्यो मा नस्त्वमभिभाषथाः॥ २३॥

मन्त्रार्थ—देवी उत्तर देती है कि हे अध्वर्यु! अविद्या में बँधा हुआ जीवरूप पक्षी ही ठगता है वही सब ओर से आसक्त होता है, बोलते हुए तुम्हारे मुँख के समान चंचलता से इधर-उधर चलायमान होता है। तुम व्यर्थ की बकवास मत करो, अर्थात् मौनी होकर आत्मविचार करो, तभी तुम्हारा उद्धार होगा॥ २३॥

अङ्गुल्या शिश्नं प्रदर्शयन्ती कुमारी अध्वर्युं प्रत्याह—यकः यः असकौ असौ शकुन्तक इव आहलगिति वञ्चति, योऽसौ शकुन्तक इव पक्षीव विवक्षतो वक्तुमिच्छतस्ते तव मुखमिव आहलगिति इतस्ततश्चलति। अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते, अतो नोऽस्मान् प्रति मा अभिभाषथाः, मा वद, तुल्यत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—साधिष्ठाना प्रकृतिर्वक्ति—योऽसौ शकुन्तक इव सोपाधिकः सशरीरः पुरुष आहलगिति वञ्चति, इतस्ततश्चलति कर्म करोति, हे अध्वर्यो! कर्मपरायण, वक्तुमिच्छतस्ते तव मुखमिव प्रधानं भवति। त्वमस्मान् प्रति मा वद, प्रकृतेरिव सोपाधिकपुरुषस्यापि तथात्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे अध्वर्यो, त्वं नो माभिभाषथाः, मिथ्याभाषणं विवक्षत इव ते मुखं मा भवतु। यद्येवं यकोऽसकौ करिष्यसि शकुन्तक इव राजा हलगिति न वञ्चति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्वर्योर्यज्ञस्येवाचरणानिरूपणात्, अभिभाषथा इत्यस्य मिथ्याभाषणार्थकत्वायोगात्। विवक्षत इत्यस्य 'निरर्गलं विवक्षतो मनुष्यस्य मुखमिव ते मुखं मास्तु' इति हिन्दीव्याख्यानमपि निर्मूलमेव, मूलाक्षराननुसारित्वात्। निर्बलपक्षिवदुच्छिन्नो भविष्यतीति निर्मूलमेव॥ २३॥

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः।
प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत्॥ २४॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा महिषी से कहता है कि तुम्हारी माता महाशक्ति भूमि और पिता महानारायण की विभूति-स्वरूप द्युलोक भी पंचभूत रूप वृक्ष के श्रेष्ठ ऊर्ध्व भाग को, अर्थात् ऊपर के लोक में वर्तमान पुत्र, पौत्र आदि के रूप में प्रकट करते हैं। तुम्हारा पिता द्युलोक में पर्जन्य रूप जल में मुट्ठी के समान संकुचित हुए जीवसम्बन्धी तेज को छोड़ता है। इस प्रकार के बीजप्रक्षेप से मैं प्रसन्न होता हूँ ॥ २४ ॥

ब्रह्मा महिषीमभिमेथति—हे महिषि, यदा ते तव माता ते तव पिता च मैथुनार्थं वृक्षस्य वार्क्ष्यस्य पर्यङ्कस्य अग्रमुपरितनं भागं रोहतस्तदा प्रतिलामि प्रकर्षेण स्निह्याम्यहमनेन कर्मणा, 'तिल स्नेहने' तौदादिकः, इति वदन् ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्ट्याकारं शिश्नमतंसयदक्षिपत्, एवं तवोत्पत्तिरित्यभिप्रायः। वृक्षस्येत्यत्र तद्धितलोपः। 'तसि अलङ्कारे' चुरादिः। यद्वा मुष्टिं मुष्टितुल्यं शिश्नमुत्थानेन अलङ्करोति, किं कुर्वन् प्रतिलामीति वदन्निति शेषः। तव भोगेन स्निह्यामीति वदन्निति यावत्। एवं तवोत्पत्तिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अप वा एतस्मात्। श्री राष्ट्रं क्रामति योऽश्वमेधेन यजते' (श० १३।२।९।१)। 'तयोः शयानयोरश्वं यजमानोऽभिमेथत्युत्सक्थ्या अवगुदं धेहीति' (श० १३।५।२।३)। 'अथाध्वर्युः कुमारीमभिमेथति' (श० १३।५।२।४) इत्यादि वक्ष्यते। तत्र यास्वभिमेथिकासु किञ्चिद्दर्शनं गूढमस्ति, तदत्र ब्राह्मणेनोच्यते। योऽश्वमेधेन यजते तस्माद् ऋत्विग्भ्यो दीयमाना राष्ट्रात्मिका श्रीरपक्रामति। तत्समाधानार्थं भार्याभिर्मेथिका कर्तव्या। ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयेति। श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियः कारणं भवति। ततश्चाभि-मेथिकाभिस्तस्याः श्रिय उच्छ्रयणं क्रियते। 'माता च ते पिता च त इति। इयं वै माताऽसौ पिताऽऽभ्यामेवैनꣳ स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रꣳ श्रियमेवैनꣳ राष्ट्रस्याग्रं गमयति प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳसयदिति विड् वै गभो राष्ट्रं मुष्टी राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः' (श० १३।२।९।७)। इयं पृथिवी एव माता असौ द्युलोकः पिता। एतदुक्त्या आभ्यामेवैनं यजमानं स्वर्गं लोकं गमयति। श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रं वृक्षस्याग्रं रोहत इति कथनेन एनं यजमानं राष्ट्रस्य श्रियं गमयति। प्रतिलामीति विड् वै गभो राष्ट्रं मुष्टिः। राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः।

अध्यात्मपक्षे—श्राद्धेन सन्तुष्टः परमात्मा साधकं वदति—ते तव माता ते तव पिता च वृक्षस्य संसार-वृक्षस्य अग्रं श्रेष्ठमुत्कृष्टं भागं ब्रह्मलोकं रोहतः। तेनाहं प्रतिलामि त्वां प्रति स्निह्यामि। ते पिता गभे संसारस्य मूलभूते भगे प्रकृतिरूपायां योनौ मुष्टिं ब्रह्मग्रहणलक्षणं मुष्टिमतंसयद् अलङ्कृतवान्।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यदि ते पृथिवीव माता च सूर्य इव पिता च वृक्षस्याग्रं रोहतः, यदि ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत्, तर्हि प्रजाजनोऽहं प्रतिलामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, छेदनार्हस्य संसारस्य राज्यस्य वा अग्रस्यापि तथात्वेन आरोढुमनर्हत्वात्। मुष्टिमित्यस्य मुष्ट्या धनग्राहकं राज्यमित्यप्यपव्याख्यानमेव, तादृश-लक्षितलक्षणायां बीजाभावात् ॥ २४ ॥

माता च॑ ते पि॒ता च॒ तेऽग्रं॑ वृ॒क्षस्य॑ क्रीडतः।
विव॑क्षत इव ते॒ मुख॒ं ब्रह्म॒न् मा त्वं॑ वदो॑ ब॒हु ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—महिषी ब्रह्मा से कहती है कि हे ब्रह्मन्! तुम्हारे द्यावापृथिवी रूप माता-पिता जिस समय वृक्ष के समान विस्तीर्ण पांच भूतों के ऊपर क्रीड़ा करते हैं, अर्थात् पौत्र आदि शरीर में रमण करते हैं, तब कुछ कहने की इच्छा करने वाला तुम्हारा मुख दिखाई पड़ता है। लेकिन तुम कुछ कहो मत, किन्तु द्वैत भ्रम में न पड़कर ब्रह्म के एकत्व का मनन करो ॥ २५ ॥

सानुचरी महिषी ब्रह्माणं प्रत्याह हे ब्रह्मन्, ते तव माता ते तव पिता च यदि वृक्षस्य वृक्षविकारस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रे क्रीडतो रमेते, तदा तवोत्पत्तिरिति तवापि तुल्यम्, ततस्त्वयेदं न वक्तव्यम्, चोद्यस्य परिहारस्य चोभयत्र समत्वात्, 'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तादृशः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥' इति न्यायात्। एवं सत्यपि विवक्षत इव वक्तुमिच्छत इव, असाधु वदितुमिच्छत एव ते तव मुखं लक्ष्यते। हे ब्रह्मन्, त्वं मा बहु वदः।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मन्, ते तव माता प्रकृतिः पिता परमेश्वरो वृक्षस्य संसारवृक्षस्य अग्रे उत्कृष्टभागे हृदये क्रीडतः। यथा विवक्षतस्तव मुखं प्रधानं त्वं बहु मा वद, किन्तु तद्बोधकमोमित्येवं वद, अन्या वाचः परित्यज, 'नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृ० ४।४।२१ तथा शाट्यायन० २३) इति श्रुतेः, 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथाऽमृतस्यैष सेतुः' (मु० २।२।५), तथा 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मु० २।२।६) इति श्रुतेश्च।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मन्, यस्य ते माता च पिता च यस्य ते वृक्षस्याग्रे क्रीडतस्तस्य ते विवक्षत इव यन्मुखं तेन त्वं बहु मा वद' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वृक्षस्याग्रे मध्ये क्रीडत इत्यस्य निःसारत्वात्। अग्रे विद्या राजलक्ष्म्यामित्यपि निर्मूलम्, अर्थशब्दस्य तथार्थत्वे मानाभावात्, विवक्षत इव यन्मुखं तेन त्वं बहु मा वद, इत्यस्यापि निष्प्रयोजनत्वात्, बहु मा वदेत्यनेनैवेष्टसिद्धौ शेषस्य निरुद्देश्यत्वापत्तेः ॥ २५ ॥

ऊर्ध्वामे॑नामुच्छ्रा॑पय गि॒रौ भा॒रꣳ᳚ हर॑न्निव।
अथा॑स्यै॒ मध्य॑मेधताꣳ᳚ शी॒ते वाते॑ पु॒नन्नि॑व ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—उद्गाता वावाता से कहता है कि हे प्रजापते ! इस जीव को ऊर्ध्वलोक प्राप्त कराओ, जैसे कि पर्वत पर भार को चढ़ाने वाला उसको ऊँचा करता है तथा जैसे शीतल पवन के चलने पर धान्य बोने वाला धान्य के पात्र को ऊँचा करता है। अभिप्राय यह है कि यज्ञ करने पर प्रज्ञा द्वारा ऊर्ध्व लोक की प्राप्ति होने से पाप दूर होकर पुण्यवश यज्ञकर्ता को दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है। इसके बाद इसका मध्यलोक प्रतिष्ठा के द्वारा ऐश्वर्यमय हो जाता है ॥ २६ ॥

उद्गाता वावातामभिमेथयन् कश्चित् पुरुषमाह—हे पुरुष, एनां पुरोवर्तिनीं वावातामूर्ध्वामुच्छ्रापय उच्छ्रितां कुरु। कथमिव ? तत्राह—गिरौ भारं हरन्निव यथा कश्चन पर्वतोपरि भारमारोपयन् मध्ये प्रगृह्य तमुच्छ्रयति तथैनामूर्ध्वां कुरु। अथशब्दो यथार्थः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तथाशब्द उन्नेयः। एनां तथा उच्छ्रापय यथा अस्यै अस्याः, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, वावातायाः मध्यं शरीरमध्यप्रदेशः, योनिरिति यावत्, एधतां वर्धताम्। यथा योनिर्विवृता विशाला स्यात्, तथा प्रगृह्य वावातां मध्यमां वैश्यकन्यां राजवल्लभाम् उच्छ्रितां कुरु। दृष्टान्तान्तरमाह—शीते वाते पुनन्निवेति। यथा कृषीवलो धान्यशुद्धिं कुर्वन् धान्यपात्रस्य ग्रहणमोक्षौ झटिति करोति तद्वत्। यद्वा धान्यपवनं कुर्वन् कृषीवलो धान्यपात्रं यथा ऊर्ध्वं करोति, तथैनामुच्छ्रापयेत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयेति। श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति' (श० १३।२।९।२)। अत्र वावाताभिमेथनप्रसङ्गेन यत्तस्या उच्छ्रयणमुक्तम्, तेन यजमानस्य राष्ट्रात्मिकां श्रियमेवोच्छ्रापयति। 'गिरौ भारꣳ हरन्निवेति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः श्रियमेवास्मै राष्ट्रꣳ सन्नह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधि निदधाति' (श० १३।२।९।३)। 'अथास्यै मध्यमेधतामिति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यꣳ श्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति' (श० १३।२।९।४)। 'शीते वाते पुनन्निवेति। क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै

करोति' (श० १३।२।९।५)। उद्धृतस्य ब्राह्मणवाक्यस्यार्थः स्पष्ट एव। आन्तरस्तु श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधश्रियः कारणम्। ततश्च श्रियमेव राष्ट्रमस्मै यजमानाय क्रियते। क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं तेन तदुक्त्या राष्ट्रस्य क्षेममविनाशमविघ्नमभ्युदयं करोति, शास्त्रप्रामाण्यात्। यथा मन्त्रादिजपात् शास्त्रोक्तजपफलं सम्पद्यते, तथाभिमेथिकैस्तैस्तैः प्रकथनैस्तत्रोक्तानि फलानि सम्पद्यन्ते।

अध्यात्मपक्षे साधकमुपदिशत्याचार्यः—हे साधक, एनां बुद्धिमूर्ध्वामूर्ध्वमुखीम्, ऊर्ध्वं च सूक्ष्मत्वाद् व्यापकत्वात् कारणत्वाद् ब्रह्म, तदभिमुखीं तद्विषयिणीमुच्छ्रापय ब्रह्मविषयतया उच्छ्रितां कुरु। कथमिव ? यथा अस्यै अस्या बुद्धेर्मध्यं मुख्यभाग एधताम्, ब्रह्मविषयत्वेन विषयाकाराकारितं सद् वृद्धिं यायात्। यथा कृषीबलः शीतले वायौ धान्यं पुनन् धान्यं पावनं कुर्वन् झटिति ग्रहणमोक्षौ करोति, तद्वद् विषयवैमुख्यब्रह्मसाम्मुख्ये कुरु। यद्वा स शीतले वायौ धान्यपवनं कुर्वन् तृणखण्डेभ्यो गुरुभ्यो धान्यं विविनक्ति, तथाऽनात्मप्रपञ्चाद् ब्रह्मात्मानं विवेचयेति।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्! गिरौ भारं हरन्निवैनां राज्यश्रिया युक्तां प्रजामूर्ध्वामुच्छ्रापय। अथास्यै मध्यं प्राप्य शीते वाते पुनन्निव भवानेधताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राज्यश्रिया युक्तस्य राजत्वोपपत्त्या प्रजाया राजश्रिया युक्तत्वायोगात्, प्रजावत्या भूमेरेव राजश्रीत्वेन प्रजायास्तत्त्वे स्वात्माश्रयदोषापत्तेः। अस्याः प्रजाया मध्यं लक्ष्मीं प्राप्य भवानेधतामित्यपि दुष्टम्, मूले प्राप्येति पदाभावेन तदसङ्गतेः, अध्याहारस्य च निर्मूलत्वात्, शतपथविरोधाच्च। तत्र हि श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेध इत्युक्तम्, न तु प्रजाया मध्यं श्रीरित्युक्तम्। तथा राष्ट्रस्योच्छ्रयणमुक्तम्। उत्तरत्र च श्रीर्वै राष्ट्रसार इत्युक्तम्। भारवहनोक्त्या अस्मै यजमानाय श्रियमेव राष्ट्रं सन्नह्यतीत्युक्तम्। तत उत्तरत्र श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यमुक्तम्, न प्रजाया मध्यस्य श्रीत्वमुक्तम्। ब्राह्मणं तु सिद्धान्तव्याख्यानप्रसङ्गे व्याख्यातमेव॥ २६॥

ऊर्ध्वमेनमुच्छ्रयताद् गिरौ भारꣳ हरन्निव।
अथास्य मध्यमेजतु शीते वाते पुनन्निव॥ २७॥

मन्त्रार्थ—वावाता उद्गाता से कहती है कि हे प्रजापति! इस उद्गाता को यज्ञ कर्म द्वारा ऊँचा उठाओ, जैसे कि पर्वत पर भार को चढ़ाने वाला उसको ऊँचा उठाता है अथवा जैसे शीतल वायु चलने पर कृषक धान्यपात्र को ऊँचा उठाता है। ऐसा होने पर इसका मध्यलोक का तेज प्रदीप्त हो॥ २७॥

वावाता उद्गातारं प्रत्याह—भवतोऽप्येतत् समानमेव। कश्चिन्नर एनमुद्गातारमूर्ध्वमुच्छ्रयताद् उच्छ्रितं कुरुतात्। कथमिव ? गिरौ भारं हरन्निव। अथ यथा अस्य उद्गातुर्मध्यं लिङ्गमेजतु कम्पताम्। 'एजृ कम्पने' शीते वाते यवान् पुनन्निव एनं निगृह्णातु।

अध्यात्मपक्षे—गुरुराह, हे भगवन् परमेश्वर! एनं साधकम्, ऊर्ध्वं ब्रह्म तदभिमुखं भवानुच्छ्रयतात्। कथमिव ? गिरौ भारं हरन्निव। यथा अस्य मध्यमन्तःकरणम् एजतु एजतां दीप्यतु ब्रह्माभिमुखं सत् प्रकाशताम्। यथा शीतले वायौ कृषीबलो धान्यं पुनन् शोधयन् बुसादिभ्यो विवेचयति, तदा धान्यं स्पष्टतरं पृथक् प्रकाश्यते, तथास्यान्तःकरणं स्वात्मानमनात्मभ्यो विविच्य स्पष्टतरं प्रकाशताम्।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजास्थ विद्वन्, भवान् गिरौ भारं वहन्निव एनं राजानमूर्ध्वमुच्छ्रयतात्, यथास्य मध्यं प्राप्य शीते वाते पुनन्निव एजतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वकण्डिकाप्रदर्शितदोषग्रस्तत्वात्। यत्तु हिन्दीव्याख्याने 'शुद्धं भवदन्नमिव एजतु उत्तमकर्मसु चेष्टताम्' इत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतम्, नहि दृष्टान्तेऽन्नं

कम्पते, किन्तु अन्नाधारं पात्रं कम्पते। कम्पयिता तु कृषीबलः। दार्ष्टान्ते तु विद्वान् चेष्टते न कम्पते। न च तस्यान्यः कम्पयिता। किञ्च, सकर्मकोऽयं पुनातिः। तेन अन्नस्य पुनातिकर्मत्वमेव न कर्तृत्वम्। वैरूप्यं च। तथाहि–प्रथममन्त्रे राजानं सम्बोध्य भवानेधतामित्युक्तम्। अत्र तु विद्वांसं सम्बोध्य तस्य उत्तमकर्मसु चेष्टोच्यते। पूर्वत्र प्रजाया मध्यं लक्ष्मीं प्राप्य तस्य वर्धनमुक्तम्, इह तु विदुषो राज्यस्य मध्यं लक्ष्मीं प्राप्य चेष्टनमुच्यते। पूर्वत्र तु राज्यश्रिया युक्तायाः प्रजाया ऊर्ध्वोन्नयनमुक्तम्, इह तु राजोन्नयनमुच्यते। पदानां समानतायामप्यर्थवैषम्ये का विनिगमना ? ॥ २७ ॥

यदस्या अꣳहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्।
मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—होता परिवृक्ता से कहता है कि हे देहाभिमान ! जब इस पापी के निवास-स्थान अपरा प्रकृति का स्थूल और सूक्ष्म शरीर क्षय का प्राप्त होता है, तब इस अपरा प्रकृति के चोर, काम और मोह ही मिथ्या रूप से प्रकाशित होते हैं, जैसे कि जलपूर्ण गोखुर में निश्चेष्ट दो मत्स्य ॥ २८ ॥

होता परिवृक्तामभिमेथयति—यद् यदा अस्या अंहुभेद्या अंहु भगो भेद्यो विदार्यो यस्यास्तस्या अंहुभेद्याः। 'अंहतिश्चांहश्चांहुश्च हन्तेर्निरूढोपधाद्विपरीतात्' (नि० ४।२५) इति भगवान् यास्कः। 'अंहतिश्च, अंहश्च, अंहुश्च इत्येते शब्दा हन्तेर्निरूढोपधाद् विपरीताद् अकारमुपधातोर्निष्कृष्य आदौ कृत्वा ततो हकारनकारौ विपर्ययेण भवतः' इति तत्रभवान् दुर्गः। हन्तव्या च योनिरक्षतयोन्याः कौमारहरणे, अतोऽहुशब्देन योनिर्गृहीता। अथवा अंहु भगो भिद्यते वा यस्यास्तस्या अंहुभेद्याः। यद्वा–अंहुर्हन्तव्यो भेद्यप्रदेशः प्रजननं यस्याः परिवृक्तायाः सा अंहुभेदी, तस्या योनिं प्रति कृधु ह्रस्वं योनिस्पर्शेच्छया च स्थूलं च पुंस्प्रजननमुपातसद् उपगच्छेत्, अथ तदा योनेरल्पत्वाद् मुष्कौ वृषणौ इद् एव, अस्याः प्रजननोपरि एजतः कम्पेते। कथमिव ? गोशफे उदकपूर्णे गोष्पदे शकुलौ मत्स्याविव।

अध्यात्मपक्षे—यद् यदा अंहुभेद्या अंहु हन्तव्यो भेद्यः पापसमूहो यया तस्याः पापसमूहविनाशिन्या बुद्धेः, कृधु स्वल्पं स्थूलं महच्च सर्वं विषयजातम्, उपातसद् बुद्धिमुपालङ्करोति, अपापाया बुद्धेः सर्वस्यैव स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वा विषयस्य ब्रह्मात्मनैव भासमानत्वात्। तदा तादृशा उभावपि विषयौ गोष्पदे शकुलौ मत्स्याविव मुष्कौ मुष्णीतो दुःखानीति मुष्कौ 'सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्' (उ० ३।४१) इति मुषेः कक्प्रत्ययेन साधु, दुःखापहारकावेव भूत्वा एजतः क्रीडतः।

दयानन्दस्तु—'यद् यो राजा राजपुरुषश्च अस्या अंहुभेद्या अपराधभेदिन्याः प्रजायाः कृधु स्वल्पं स्थूलं महत् कर्म उपातसद् उपभूषयेत्, तौ अस्या गोशफे शकुलाविव मुष्कौ मूषकौ इदेव एजतः कम्पयतः। यथा प्रीतिमन्तौ मत्स्यावल्पेऽपि जलाशये निवसतस्तथा राज-राजपुरुषौ अल्पेऽपि करलाभे न्यायेन प्रीत्या वर्तेयाताम्। यदि दुःखार्दितायाः प्रजायाः स्वल्पं महदुत्तमं कर्म प्रशंसेयाताम्, तर्हि तौ प्रजा उपरक्ताः कृत्वा स्वविषये प्रीतिं कारयेताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अंहुपदस्य अपराधार्थत्वे मानाभावात्, राज-राजपुरुषावित्यस्य च मन्त्रबाह्यत्वात्। भावार्थस्तु कल्पनाप्रधान एव, मूलासम्बद्धत्वात् ॥ २८ ॥

यद् देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनमाविषुः।
सक्थना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—परिवृक्ता होता से कहती है कि जब प्राण ज्ञानरसयुक्त ब्रह्मानन्दमय जीव को ब्रह्म में प्रविष्ट कराते हैं, तब परा शक्ति विष्णु महानारायण, ब्रह्मा और शिव के रूप में दिखाई पड़ती है। जैसे कि सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ २९ ॥

परिवृक्ता होतृप्रभृतीन् सर्वानेव ऋत्विजः परिवदति। यद् यदा देवासो दीव्यन्तीति देवास एते देवा होत्रादय ऋत्विजः शिश्नदेवाः शिश्नक्रीडनका ललामगुं ललामं सुखं कर्तुं गच्छतीति ललामगुर्लिङ्गं तं पुंस्प्रजननम्। यद्वा ललामं पुण्ड्रं गच्छतीति ललामगुः, तं लिङ्गं योनिं प्रविशद् उत्थितं सत् पुण्ड्राकारं भवतीति ललामगुं पुंस्प्रजननम्। प्रविष्टीमिनं प्रवेश्य विष्टभ्य च आविषुरालिङ्गनचुम्बनादिभिर्नारीं व्याप्नुवन्ति, अथ तदा नारी सक्थ्ना सक्थिकृतेन कुटिलगमनेन निर्दिश्यते लक्ष्यते, सक्थ्नोऽन्यत्र सर्वाङ्गाणां पुरुषेण व्याप्तत्वात्। कथमिव ? सत्यस्य अक्षिभुवो यथा। द्विप्रकारं हि सत्यम्—अक्षिप्रभवमनक्षिप्रभवं चेति। अक्षिप्रभवमक्षिग्राह्यम्, तत्र हि सर्वं व्याप्तम्। अनक्षिप्रभवं श्रोत्रग्राह्यम्, तत्तु साकाङ्क्षं वक्तुराप्ततामपेक्षते। अतो विशिनष्टि—अक्षिभुव इति। सत्यस्य अक्षिभुवो यथा अवितथवस्तुबोधकत्वम्, तथा ऊरुणा नारी बोध्यते। यद्वा—यदा देवासो ललामगुं लिङ्गमाविषुर्योनौ प्रवेशयन्ति, 'अव रक्षे गतौ कान्तौ तृप्तौ प्रीतौ श्रुतौ श्रुतौ। प्राप्तौ श्लेषेऽर्पणे वेशे भागे वृद्धौ गृहे वधे॥' इत्युक्तेरत्र अवधातुः प्रवेशनार्थः। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति कालसामान्ये लिङ्। 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इति व्यवहितस्यापि प्रोपसर्गस्य प्रयोगः। कीदृशं ललामगुम् ? विष्टीमिनम्, 'ष्टीम आर्द्रीभावे', विशेषेण स्तीमनं क्लेदनं विष्टीमः, घञ्प्रत्ययः, सोऽस्यास्तीति विष्टीमी, 'अत इनिठनौ' (पा० सू० ५।२।११५) इति इनिः। शिश्नस्य योनिप्रवेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः। पुंस्प्रजननस्य स्त्रीप्रजनने प्रवेशे क्लेदनं भवति। तादृशं विष्टीमिनं ललामगुं देवासो आविषुः प्रवेशयन्ति, तदालिङ्गनचुम्बनादिभिर्व्याप्तत्वाद् ऊरुभ्यां देदिश्यते निर्दिश्यतेऽत्यन्तं लक्ष्यते।

अध्यात्मपक्षे दीव्यन्ति संसारं विजिगीषन्तीति देवासः, ललामगुं ललामं ललामवदलङ्कारवद् गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति यं तं विष्टीमिनं विशिष्टस्नेहार्द्रं भक्तानुग्रहकातरं परमात्मानमाविषुः कामयन्ते। यथाक्षिभुवः सत्यस्य अवैतथ्यमक्ष्णा लक्ष्यते तथा, यथा सक्थ्ना ऊरुमार्दवेन नारी देदिश्यते निर्दिश्यते, तथा प्रेम्णा परमात्मा लक्ष्यत इति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यथा सत्यस्याक्षिभुवो मध्ये वर्तमाना देवासः सक्थ्ना नारीव यद्विष्टीमिनं ललामगुं न्यायं प्रविषुः, यथाप्तेन सत्यमेव देदिश्यते, तथा त्वमाचर। न्यायेनेप्सां गच्छन्ति ललामगुं विशिष्टा बहवः ष्टीमा आर्द्रीभूताः पदार्था विद्यन्ते यस्मिन् तम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारेऽपि विस्पष्टताया अभावात्, न्यायस्यामूर्तत्वेन तत्र आर्द्रपदार्थानां विद्यमानत्वायोगात्। 'यथा शरीरावयवैः स्त्रियः पुरुषा वा लक्ष्यन्ते, तथा प्रत्यक्षादिप्रमाणैः सत्यं लक्ष्यते। यथा विद्वांसः प्राप्तव्यमार्द्रीभावं प्राप्नुयुस्तथेतरे राजप्रजास्थाः स्त्रीपुरुषा विद्यया विनयं प्राप्य सुखमन्विच्छन्तु' इत्यादिभावस्तु सर्वथा मन्त्रबाह्य एव, मन्त्रार्थाननुगमात् ॥२९॥

यद्ध॑रि॒णो यव॒मत्ति॒ न पु॒ष्टं प॒शु मन्य॑ते। शू॒द्रा यदर्य॑जारा॒ न पोषा॑य धनायति ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—क्षत्ता पालागली से कहता है कि जब वासनारूप हरिणी विषयरूप जौ को खाती है, तब हृदयाकाश में परमात्मा वासनाओं से भरे हुए संस्कारहीन पशुसमान जीव को सद्गुणों से पुष्ट नहीं मानते। जब द्वैत के उपासक जीव की पत्नीरूप बुद्धि ब्रह्मभाव से रहित हो अन्य देवताओं की भक्त होती है, तब वह मोक्ष-धन की दाता नहीं हो सकती। अतः ब्रह्मभाव को जगाते हुए जीव को अनन्य रूप से एक ही देव की भक्ति करनी चाहिये ॥ ३० ॥

क्षत्ता पालागलीमभिमेथयति— यद् यदा हरिणो मृगो यवं सस्यमत्ति भक्षयति, अथ तदा क्षेत्री पशु पशुं हरिणम्, विभक्तिलोपः, पुष्टं न मन्यते मम क्षेत्रभक्षणेन पशुः पुष्टो जातः सम्यगिति न जानाति, किन्तु मदीयं क्षेत्रं भक्षितमिति दुःखी भवति । एवं शूद्रा शूद्रत्वजातिविशिष्टा स्त्री, 'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः' (पा० सू० ४।१।४, वा० ३) इति शूद्रशब्दात् टाप् । अर्यजारा, अर्यो वैश्यो जारो यस्याः सा तथोक्ता, 'अर्यः स्वामि-वैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति निपातः । अर्येण वैश्येन स्वपत्न्यां शूद्रायां भुक्तायां मद्भार्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति शूद्रो न मन्यते, किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवति । न च तस्यां धनायति धनमिव तां न मन्यते, परोपभोग्यत्वात् ।

अध्यात्मपक्षे यद् यदा हरिणो मनोमृगो यवं विषयजातमत्ति, तेन साधको मनःपशुः पुष्टो जात इति न मन्यते, किन्तु खिद्यत एव, शमदमादिपरिपन्थित्वात् । तथैव शूद्रा शूद्रतुल्या मलिना बुद्धिरर्यमभिगम्यं श्रेष्ठगुणं जरयति या सा अर्यजारा तादृशी बुद्धिः, पोषाय भक्तिज्ञाननिष्ठायै न, कल्पत इति शेषः । न च सा धनायति न च तां धनवन्मन्यते, तस्या ज्ञानवैराग्यादिधननाशनिमित्तत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'यद् यो राजा हरिणो यवमत्तीव पुष्टं पशु न मन्यते, सपद्यर्यजारा शूद्रेव पोषाय न धनायति' इति, तदपि यत्किञ्चित, मूले राजप्रजापदाभावात्, भावार्थवैपरीत्याच्च । तथाहि—यो राजा पशुवद् व्यभिचारे वर्तमानः प्रजापुष्टिं न करोति, स धनाढ्या शूद्रा अर्यजारा दासीव सद्यो रोगी भूत्वा पुष्टिं विनाश्य धनहीनतया दरिद्रः सन् म्रियते । तस्माद्राजा कदाचिदपि ईर्ष्यां व्यभिचारं च नाचरेदिति भावार्थे तद्विपरीतमुक्तवान् । भावार्थोऽपि मूलासंस्पर्श्येव ॥ ३० ॥

यद्ध॑रि॒णो यव॒मत्ति॒ न पु॒ष्टं ब॒हु मन्य॑ते । शू॒द्रो यदर्या॑यै जा॒रो न पोष॒मनु॑मन्यते ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—पालागली क्षत्ता से कहती है कि जब मनरूपी हिरण विषयों का उपभोग करता है, तब हृदयाकाशस्थ परमात्मा उसको बहुत पुष्ट नहीं मानता । जब संस्कारहीन आत्मा भेदोपासना में लग जाता है, पूर्ण ब्रह्म को त्याग कर माया में आसक्त हो जाता है, तब अन्तर्यामी परमात्मा उसकी पुष्टि को नहीं मानता ॥ ३१ ॥

पालागली क्षत्तारमाह—यद् यदा हरिणो यवमत्ति तदा क्षेत्री बहु यथा स्यात्तथा पशुं पुष्टं न मन्यत इति यद् भवानाह, तत्तु भवतोऽपि तुल्यम् । इयांस्तु विशेषः—यद् यदा शूद्रः, अर्यायै अर्याया वैश्यायाः, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते, किन्तु शूद्रेण स्वपत्न्यां भुक्तायां क्लिश्यत एव । इत्यश्लीलभाषणम् ।

अध्यात्मपक्षे—यद् यदा हरिणो मनोमृगो यवं विषयमत्ति, तदा साधको न तद्बहु मन्यते, सर्वत्र विषय-भोगस्य सुलभत्वात्, निवृत्तेरेव महाफलत्वात्, 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला' (म० ५।५६) इति मनुवचनात् । यदा शूद्रोऽर्याया जारो भवति, तत्तु वर्णाश्रमविरुद्धत्वात् क्लेशावहमेव । वर्णाश्रमाचारवत एव भगवदुपासनादिभिः शुद्धस्वान्तस्य सतो बुद्धिशुद्धि-ब्रह्मविविदिषादिक्रमेण ब्रह्मज्ञानसम्भवात्, तद्विपरीतस्य संसारहेतुत्वाच्च ।

दयानन्दस्तु—'यद् यः शूद्रो मूर्खकुलोत्पन्नोऽर्यायै जारो भवति यथा पोषं नानुमन्यते । यद् यो राजा हरिणो यवमत्तीव पुष्टं प्रजाजनं बहु न मन्यते, स सर्वतः क्षीणो जायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बुद्धिमत्कुलो-त्पन्नस्य व्यभिचारानुमत्यापत्तेः, मूले राजपदाभावाच्च । स सर्वतः क्षीणो जायत इत्यपि मन्त्रबाह्यमेव, मूले तदभावात् ।

अत्र किमपि वक्तव्यम्—दयानन्दोऽन्ये च तादृक्षा आधुनिकाः 'गणानां त्वा' इत्यारभ्य 'यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते' इत्यन्तस्य मन्त्रसमूहस्य सायणोव्वटमहीधराणां व्याख्यानमश्लीलं मत्वा निन्दित्वा च तान् मन्त्रानन्यथा व्याचक्षते। तत्तु दयानन्दीयभूमिकादिभिः स्पष्टं भवति। तदीयं व्याख्यानं बलादिव मन्त्रेष्वारोपितमेव स्पष्टं तद्विदामाभाति। वस्तुतः स्पष्टमेव शतपथश्रुत्यापि तेषां मन्त्राणामश्लीलभाषणपरत्वमङ्गीकृतमेव। उव्वटमहीधरव्याख्यानमेव श्रुत्यापि समर्थ्यते। केचित्तु गणानां त्वेति मन्त्रेण महिष्या अश्वेन सह मैथुनवर्णनं मत्वाऽश्लीलतां मन्यन्ते। तत्तु सर्वथा श्रुतिसूत्रविरुद्धमेव, संज्ञप्तेन मृतेन अश्वेन मैथुनासम्भवात्। न केवलमश्वो मृतः, अपि तु सर्वे संज्ञपनीयाः पशवः संज्ञप्ताः, तेषां तत्तदवयवाश्च यथाविध्यवत्ताः। तथा च ब्राह्मणम्—'तस्मिन्नेनमधि संज्ञपयन्त्यन्यैरेवैनं तत्पशुभिर्व्याकुर्वन्ति' (श० १३।२।८।१), 'घ्नन्ति वा एतत्पशुम्। यदेनꣳ संज्ञपयन्ति प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहेति संज्ञप्यमान आहुतीर्जुहोति प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति तथो हास्यैतेन जीवतैव पशुनेष्टं भवति' (श० १३।२।८।२) इति स्पष्टं प्रतीयते यदश्वसंज्ञपनानन्तरं प्राणाय स्वाहेत्यादिभिराहुतिभिरश्वे प्राणादिसन्निधापनेन जीवदानं कृत्वा सजीवेन पुरोडाशादिना यजति, तथैव सजीवेनैवाश्वेन यजति, नानेनाश्वस्य पुनर्जीवनं मन्तव्यम्। प्राणाद्याधानस्य तु पुरोडाशेषु जीवदानवत् संस्कारमात्रत्वमेव। 'निष्ठितेषु पान्नेजनेषु। महिषीमश्वायोपनिपादयन्त्यथैनावधिवासेन सम्प्रोर्णुवन्ति स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञपयन्ति' (श० १३।५।२।२) इत्यनेनापि पशुसंज्ञपनानन्तरं संज्ञपनस्थानस्यैव स्वर्गलोकत्वम्। तस्मिन् स्वर्गे लोक एव अश्वमहिष्योः सह निवासः।

सूत्रकारा अपि तथैवाहुः—'प्रक्षालितेषु महिष्यश्वमुपसंविशत्याहमजानीति' (का० श्रौ० २०।६।१४)। संज्ञपनानन्तरं मृतस्य पशोः प्राणेषु पूर्ववत् प्रक्षालितेषु सत्सु महिषी अश्वसमीपे शयीतेति सूत्रार्थः। 'मुखं नासिके चक्षुषी कर्णौ नाभिं मेढ्रं पायुं पादान् सꣳहृत्य वाचं ते शुन्धामीति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० ६।६।३)। 'शेषेण यजमानश्च शिरःप्रभृत्यनुषिञ्चतो मनस्त इति शिरः' (का० श्रौ० ६।६।४)। पान्नेजनशेषेण यजमानोऽध्वर्युश्च पशोः शिरःप्रभृत्यङ्गान्यनुषिञ्चेताम्। तत्र मनस्त इति मन्त्रेण पशोः शिरोऽनुषिञ्चत इति सूत्रार्थः। 'यत्ते क्रूरमित्यङ्गानि' (का० श्रौ० ६।६।५)। यत्ते क्रूरमिति सर्वाण्यङ्गान्यनुषिञ्चत इति सूत्रार्थः। 'शमहोभ्य इति पश्चात्पशोर्निषिञ्चतः' (का० श्रौ० ६।६।६)। पशोर्जघनप्रदेशे पान्नेजनशेषमुभावपि निनयत इति सूत्रार्थः। 'उत्तानं पशुं कृत्वाऽग्रेण नाभिं तृणं निदधात्योषध इति' (का० श्रौ० ६।६।७)। अध्वर्युः पशुमुत्तानं कृत्वा नाभेरग्रतो (वपायाः स्थाने) चतुरङ्गुलं त्यक्त्वा प्रागग्रं तृणं निदध्यादिति सूत्रार्थः। इत्येवमेभिः सूत्रैर्मृतस्य पशोरङ्गानां च संस्काराः क्रियन्ते। एवं प्रक्षालितेषु महिषी अश्वसमीपे शेते। एवं मृतस्याश्वस्याङ्गेषु यथाविध्यवत्तेषु (छिन्नेषु) प्रक्षालितेषु 'अधीवासेन प्रच्छादयति स्वर्गे लोक इति' (का० श्रौ० २०।६।१५)। अथ आस्तृतेन अधीवासेन अश्वमहिष्यौ प्रच्छादयेत् स्वर्गे लोक इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। 'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति' (का० श्रौ० २०।६।१६)। महिषी अश्वस्य मृतस्य संस्कृतस्य संस्कृतं शिश्नं स्वयमेवादाय स्वयोनिप्रदेशे स्थापयेदिति सूत्रार्थः। नहि मृतेनाश्वेन मैथुनं संभवति, संस्कारमात्रं तु क्रियते।

अश्वमेधीयोऽश्वः 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' (बृ० १।१।१) इत्यादिश्रुत्या बृहदारण्यके प्रजापतिरूपेणोपास्यः श्रुतः। संस्कारार्थमेव तदुपस्थस्य महिष्या स्वयोनिप्रदेशे धारणम्, पत्नीसन्नहनादिवदस्यापि संस्काररूपत्वात्।

न केवलं सूत्रकार एव, किन्तु शातपथी श्रुतिरपि तथैवाह—'निरायत्याश्वस्य शिश्नं महिष्युपस्थे निधत्ते वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैव सर्वत्वाय' (श० १३।५।२।२) इति। पुरोडाशे जीवदानं यथा वा मृते पशौ प्राणापानाद्याधानं संस्कारार्थमेव, तथैव रेतोधा इति मन्त्रेणापि संस्कार एव क्रियते, न रेतोधानम्,

मृते पशौ रेतोधातृत्वायोगात् । 'तयोः शयानयोरश्वं यजमानोऽभिमेथत्युत्सक्थ्या अव गुदं धेहीति तन्न कश्चन प्रत्यभिमेथति नेद्यजमानं प्रतिप्रतिः कश्चिदसदिति' (श० १३।५।२।३)। तथात्वे यजमानः प्रतिद्वन्द्वीकृतः स्यात् । न च तद्युक्तम्, तस्य भाविप्रजापतित्वेनाप्रतिद्वन्द्वित्वात् ।

दयानन्दस्तु गणानां त्वेत्यत्र जगदीश्वरं सम्बोधयति, ता उभौ इत्यत्र प्रजाराजानौ सम्बोधयति, उत्सक्थ्या इत्यत्र वृषा राजा सम्बोधितः। एवं तत्र तत्र यथेष्टं मनुष्या राजानश्च सम्बोधिताः। तच्च सर्वमसङ्गतम्, निर्मूलत्वात् ।

उव्वटमहीधरादयस्तु श्रुत्यनुसारेणैव कः कं प्रति वक्तीति स्पष्टमुक्तवन्तः । तथा च श्रुतयः – यजमानोऽभिमेथति' (श० १३।५।२।३), 'अथाध्वर्युः कुमारीमभिमेथति । कुमारि हये हये कुमारि यकासकौ शकुन्तिकेति तं कुमारी प्रत्यभिमेथत्यध्वर्यो हये हयेऽध्वर्यो यकोऽसकौ शकुन्तक इति' (श० १३।५।२।४)। 'अथ ब्रह्मा महिषीमभिमेथति । महिषि हये हये महिषि माता च ते पिता तेऽग्रं वृक्षस्य रोहत इति तस्यै शतꣳ राजपुत्र्योऽनुचर्यो भवन्ति ता ब्रह्माणं प्रत्यभिमेथन्ति ब्रह्मन् हये हये ब्रह्मन् माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडत इति' (श० १३।५।२।५)। 'अथोद्गाता वावातामभिमेथति । वावाते हये हये वावात ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयेति तस्यै शतꣳ राजन्या अनुचर्यो भवन्ति ता उद्गातारं प्रत्यभिमेथन्त्युद्गातर्हये हय उद्गातरूर्ध्वमेनमुच्छ्रयतादिति' (श० १३।५।२।६)। अथ होता परिवृक्तामभिमेथति । परिवृक्ते हये हये परिवृक्ते यदस्या अꣳहुभेद्या इति तस्यै शतꣳ सूतग्रामण्यां दुहितरोऽनुचर्यो भवन्ति ता होतारं प्रत्यभिमेथन्ति होतर्हये हये होतर्यद्देवासो ललामगुमिति' (श० १३।५।२।७)। एतेन सायणादिव्याख्यानमेव श्रुतिसम्मतम्, न दयानन्दीयमिति निगदव्याख्यातम् ।

'चतस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति । महिषी वावाता परिवृक्ता पालागली सर्वा निष्किण्योऽलङ्कृता मिथुनस्यैव सर्वत्वाय ताभिः सहाग्न्यगारं प्रपद्यते पूर्वया द्वारा यजमानो दक्षिणया पत्न्यः' (श० १३।४।१।८)। प्रथमपरिणीता पत्नी महिषी । वावाता वल्लभा । परिवृक्ता अवल्लभा । पालागली दूतपुत्री । 'मेथतिराक्रोशकर्मा' (नि० ४।२)। अश्लीलभाषणमेवोक्तमन्त्राणां व्याख्यानं युक्तम् । यतः श्रुत्यैव तादृशभाषणेन वाचोऽपूतता वर्ण्यते। तत्पूततायै मन्त्रान्तरेण वाचः शुद्धिर्विधीयते, 'अप वा एतेभ्य आयुर्देवताः क्रामन्ति । ये यज्ञेऽपूतां वाचं वदन्ति वाचमेवैतत्पुनते देवयज्यायै देवतानामनपक्रमाय' (श० १३।५।२।१०) इति श्रुतेः । यज्ञेऽपूताया वाचो वदनेन आयुर्देवानामपक्रमणं भवति, अतस्तासां देवतानामनपक्रमणाय दधिक्राव्ण इति मन्त्रेण वाचमेव पुनते ॥ ३१ ॥

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।

सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूꣳषि तारिषत् ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ – **अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, होता और क्षत्ता महिषी को उठाकर पढ़ते हैं कि सवारी को धारण कर चलते, जयशील, गमनशील, वेगगामी अश्व का हमने संस्कार किया है। मन्त्रपाठ से हमारे मुखों को सुगन्धित किया है। अश्वाभिमानी देव हमारी बाल्य आदि तीनों अवस्थाओं को बढ़ावें ॥ ३२ ॥**

अस्य मन्त्रस्य द्विविधं व्याख्यानं दृश्यते । तद्यथा—

(१)

हे प्रजापतिरूपाश्व ! नोऽस्माकं मुखा मुखानि सुरभि सुरभीणि करत् करोतु, यज्ञ इति शेषः । अश्लीलभाषणेन दुर्गन्धं प्राप्तानि मुखानि यज्ञः सुरभीणि करोत्वित्यर्थः, 'अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति । ये यज्ञेऽ-

पूतां वाचं वदन्ति दधिक्राव्णो अकारिषमिति सुरभिमतीमृचमन्ततोऽन्वाहुर्वाचमेव पुनते नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्ति' (श० १३।२।९।९) इति श्रुतेः। अतः पूर्वमन्त्राणामश्लीलभाषणमेवार्थ इति स्पष्टम्।

ननु यद्यश्लीलभाषणेन वाचोऽपूतता भवति, तर्हि किमर्थं श्रुत्या मन्त्रैरश्लीलभाषणं विहितम्? 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति न्यायेन परिवर्जनस्यैव युक्तत्वात्? इति चेन्न, वाचः सर्वाप्त्यै तादृशभाषणस्याश्वमेधाङ्गत्वेनावश्यकर्तव्यत्वात्। तदुक्तं श्रुत्यैव—'समाप्तिर्वा एषा वाचः। यदभिमेथिकाः सर्वे कामा अश्वमेधे सर्वया वाचा सर्वान् कामान् आप्नवामेति' (श० १३।५।२।९) इति।

अश्वमेधस्य प्रजापतिदेवता सर्वदेवरूपः। अश्वमेधस्य पशुरश्वः सर्वदैवतो भवति। 'सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै तस्यां वरेण वाचं विसृजते वरं ददामि ब्रह्मण इति सर्वं वै वरः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै' (श० १३।४।१।१०)। 'सर्वा वै देवता अश्वमेधे अन्वायत्ताः' (श० १३।१।२।९)। 'तस्मादश्वमेधयाजी सर्वा दिशोऽभिजयति' (श० १३।१।२।३)। 'प्रजापतिर्वै देवानां वीर्यवत्तमो वीर्यमेवास्मिन् दधाति' (श० १३।१।२।५)। 'सर्वभ्यो वै देवताभ्योऽश्व आलभ्यते' (श० १३।३।४।१)। 'प्रजापतिरकामयत। सर्वान् कामानाप्नुयाꣳ सर्वा व्यष्टीर्व्यश्नुवीयेति स एतमश्वमेधं त्रिरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्तमाहरत्तेनायजत तेनेष्ट्वा सर्वान् कामानाप्नोत् सर्वा व्यष्टीर्व्याश्नुत सर्वान् ह वै कामानाप्नोति सर्वा व्यष्टीर्व्यश्नुते योऽश्वमेधेन यजते' (श० १३।४।१।१)। यथाश्वमेधः सर्वदेवात्मकः, यथाश्वः सर्वदैवतः, यथाश्वमेधेन सर्वान् कामानाप्नोति, सर्वा दिशो जयति, तथैव वाचोऽपि सर्वाप्तिरपेक्ष्यते। वैदिकेषु वाङ्मयेष्वश्लीलेतराः सर्वा वाचोऽन्तर्भवन्ति, अश्लीलभाषणेन वाचः सर्वाप्तिर्भवति। पुराणेषु केषाञ्चिद्राक्षसाद्युपद्रवाणां विद्रावणायाश्लीलभाषणं विहितम्। तच्च फाल्गुनमासे होलिकायां परां काष्ठामुपगच्छति। अश्वमेधश्च फाल्गुनशुक्लपक्षे समारभ्यते—'सा याऽसौ फाल्गुनी पौर्णमासी भवति। तस्यै पुरस्तात् षडहे वा सप्ताहे वर्त्विज उपसमायन्त्यध्वर्युश्च होता च ब्रह्मा चोद्गाता चैतान् वा अन्वन्य ऋत्विजः' (श० १३।४।१।४) इति श्रुतेः, 'अष्टम्यां नवम्यां वा फाल्गुनीशुक्लस्य' (का० श्रौ० २०।१।२) इति कात्यायनस्मरणाच्च। अश्वमेधविषयश्च भूमिकायां पर्याप्तं पर्यालोचितः। तत्रैव कणेहत्य बुभुत्सोपशमनीया।

(२)

'महिषीमुत्थाप्य पुरुषा दधिक्राव्ण इत्याहुः' (का० श्रौ० २०।६।२१)। महिषीं यजमानस्य प्रथमपरिणीतां पत्नीमश्वसमीपे सुप्तामुत्थाप्य पुरुषा अध्वर्युब्रह्मोद्गातृहोतृक्षतारः सुरभिमतीमृचं दधिक्राव्ण इति मन्त्रमश्लीलभाषणजनितमुखदौर्गन्ध्यापनोदाय पठेयुरिति सूत्रार्थः। वामदेवात्मजदधिक्रावदृष्टा अश्वदेवत्याऽनुष्टुप्। यद् अश्वस्य मार्गव्यापनशीलस्य संस्कारार्थं वयमश्लीलभाषणमकारिषमकार्षमकार्ष्म कृतवन्तो वयम्, वचनव्यत्ययः, एकवचनस्थाने बहुवचनं द्रष्टव्यम्। अश्लीलभाषणेन हि दुर्गन्धीनि मुखानि भवन्ति, पापहेतुत्वात्। नोऽस्माकं मुखा मुखानि, विभक्तिलोपश्छान्दसः, 'सुपां सुलुक्....' (पा० सू० ७।१।३९) इति लुक्। सुरभि सुरभीणि करत् करोतु, यज्ञ इति शेषः। कीदृशस्य अश्वस्य? दधिक्राव्णः, दधाति धारयति नरमिति दधिः, 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' (पा० सू० ३।२।१७१) इति किः प्रत्ययः। तथा च दधिः सन् क्राम्यतीति दधिक्रावा, तस्य नरान् पृष्ठोपरि धारयित्वा क्रमणशीलस्य अश्वस्य, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति वनिप्, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इति धातोराकारः। पुनः कथम्भूतस्य अश्वस्य? जिष्णोर्जयनशीलस्य। पुनः कीदृशस्य? वाजिनोऽवश्यं वजतीति वाजी तस्य, 'वज गतौ' भौवादिकः, तस्मात् 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' (पा० सू० ३।३।१७०) इति णिनिः। वाजाः पक्षा अस्य सन्तीति वा वाजी। 'अत इनिठनौ' (पा० सू० ५।२।११५) इति रूपसिद्धिः। अथवा विनक्तीति वाजी। 'ओविजी भयचलनयोः'

इकारस्याकारश्छान्दसः, वेजनवान्, वेगवानिति यावत् । तादृशस्य अश्वस्य संस्कारार्थं यदश्लीलभाषणं कृतवन्तो वयम्, तेन नो दुर्गन्धयुक्तानि मुखानि यज्ञः सुरभीणि करोतु । किञ्च, नोऽस्माकमायूंषि जीवनानि, बहुवचनबलाद् बाल्ययौवनवार्धकानि, प्रतारिषत् प्रतारयतु प्रवर्धयतु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'ये यज्ञेऽपूतां वाचं वदन्ति दधिक्राव्णो अकारिषमिति सुरभिमतीमृचमन्ततोऽन्वाहुर्वाचमेव पुनते नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्ति' (श० १३।२।९।९) । प्रसन्नं ब्राह्मणम् ।

अध्यात्मपक्षे—दधिक्राव्णः, सर्वं प्रपञ्चं धारयतीति दधिः, दधिः सन् क्राम्यति लोकत्रयं यः स दधिक्रावा विष्णुस्तस्य, जिष्णो रावणादीनां जेतुरश्वस्य व्यापकस्य वाजिनोऽन्नवतो भगवतोऽकारिषं कृतवन्तो वयम्, स्तवमिति शेषः । तेन भगवत्स्तवेतरवाग्व्याहारजनितदौर्गन्ध्ययुक्तानि मुखानि सुरभि सुरभीणि करत् करोतु, भगवानिति शेषः । स एव नोऽस्माकमायूंषि प्रतारिषत् प्रवर्धयतु, येन भगवत्तत्त्वज्ञानाय निर्विघ्नं श्रवणादिकं सम्पद्येत ।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यथाहं दधिक्राव्णो यो दधीन् पोषकान् धारकान् वा क्राम्यति, तस्य वाजिनो जिष्णोरश्वस्येव वीर्यमकारिषम्, तथा भवान् नः सुरभि मुखे वीर्यं करन्न आयूंषि तारिषत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गवादेरपि दधिक्रावत्वापत्तेः, वीर्यमित्यस्याध्याहारस्य निर्मूलत्वाच्च । सिद्धान्ते तु प्रकृतमश्लील-भाषणमिति तदध्याहारो युक्तः । सुरभि करदिति वचनेनापि दौर्गन्ध्यहेतुभूतस्याश्लीलभाषणस्याध्याहारः श्लिष्यते । किञ्च, कोऽयं वक्ता ? न जीवः, तस्य तथात्वे मानाभावात् । नापीश्वरः, तस्य मुखाभावेन सुरभि-मुखप्रार्थनायोगात् । नापि तस्यायुः प्रतरणाशंसा युक्ता, तस्य नित्यत्वात् ॥ ३२ ॥

गायत्री त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप् पङ्क्त्या सह ।
बृहत्युष्णिहा ककुप् सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—प्रस्तुत और अगले मन्त्र से तीनों रानियाँ तांबा, चाँदी और सोने की सूची से अश्व के शरीर पर रेखा करें । हे अश्व ! गायक की रक्षा करने वाला गायत्री छन्द, तीन संख्या वाले प्रतिकूल पदार्थों का निरोधक त्रिष्टुप् छन्द, जगत् में विस्तीर्ण जगती छन्द, संसार के दुःखों के नाशक अनुष्टुप्, पंक्ति और बृहती छन्द, मंगलमय प्रभात का दाता उष्णिक् छन्द और अच्छे पदार्थों वाला ककुप् छन्द सूचियों के द्वारा तुमको शान्त करे ॥ ३३ ॥

'तिस्रः पत्न्योऽसिपथान् कल्पयन्त्यश्वस्य सूचीभिर्लौहराजतसौवर्णीभिर्मणिसंख्याभिर्गायत्री त्रिष्टुबिति द्वाभ्यां द्वाभ्याम्' (का० श्रौ० २०।७।१) । महिष्याद्यास्तिस्रः पत्न्यस्ताम्ररूप्यस्वर्णमयीभिः सूचीभिः प्रत्येक-मेकाधिकशतसंख्याभिरश्वस्य शरीरेऽसेः सुखेन प्रवेशार्थं वितुद्य वितुद्य त्वचं जर्जरां कुर्युरिति सूत्रार्थः । अश्व-देवत्याः षड्ऋचः । आद्या उष्णिक्, चतस्रोऽनुष्टुभः, परा त्रिष्टुप् । हे अश्व, गायत्री च त्रिष्टुप् च जगती च पङ्क्त्या सह बृहती च उष्णिहा सह ककुप् च, एतानि छन्दांसि सूचीभिरेताभिस्त्वां शम्यन्तु संस्कुर्वन्तु । विकरणव्यत्ययः, असिपथार्थं त्वग्भेदनं संस्कारः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'यदसिपथान् कल्पयन्ति । सेतुमेव तꣳसंक्रमणं यजमानः कुरुते स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै' (श० १३।२।१०।१) । असेः शासस्य पन्थानोऽसिपथाः, तान् सूचीभिर्लौह्यादिभिः कल्पयन्ति । तच्च स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै सव्याप्त्यै प्राप्तिसाधनं सेतुमेव कल्पयन्ति ।

अध्यात्मपक्षे हे अश्व ! व्यापिनो विष्णोर्गायत्र्यादीनि छन्दांसि सूचीभिर्गुणसूचयित्रीभिः स्तुतिभिस्त्वां शम्यन्तु प्रसादयन्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, ये विद्वांसः पङ्क्त्या सह गायत्री त्रिष्टुब् जगत्यनुष्टुबुष्णिहा सह बृहती ककुप् सूचीभिरिव त्वा त्वां शम्यन्तु तास्त्वं सेवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गायत्र्यादीनां छन्दसां गानकर्तृत्वायोगात्, गानकर्तॄणां छन्दस्त्वायोगाच्च। तथैव छन्दोरूपे त्रिष्टुभि तापत्रयस्तम्भकत्वमपि न सम्भवति, जगत्याश्चामूर्ताया विस्तीर्णतापि न सम्भवति। न च विस्तृता क्रिया पङ्क्तिः, अक्षररूपत्वाच्छन्दसाम्। न वा छन्दसोष्णिहोषः स्निह्यति। न च विद्वांसः सीवनसाधिकाभिः सूचीभिर्यथा वस्त्राणि सीव्यन्ति, तथा राजानं सीव्यन्ति। न च सीवनशमनयोः सादृश्यं सम्भवति, परस्परविरुद्धत्वात् ॥ ३३ ॥

द्विप॑दा॒ याश्चतु॑ष्पदा॒स्त्रिप॑दा॒ याश्च॒ षट्प॑दाः ।
विच्छ॑न्दा॒ याश्च॒ सच्छ॑न्दाः सू॒चीभिः॑ शम्यन्तु त्वा ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! दो पाद वाले, चार पाद वाले, तीन पाद वाले, छह पाद वाले, छन्दों के लक्षणों से रहित अथवा छन्दों के लक्षणों से युक्त ये सभी छन्द सूचियों के द्वारा तुम्हें शान्त करें ॥ ३४ ॥

द्विपदाः, द्वे पदे यासां ता द्विपदाः, याश्चतुष्पदाश्चत्वारि पदानि यासां ताश्चतुष्पदाः, यास्त्रिपदास्त्रीणि पदानि यासां ताः, याश्च षट्पदाः षट् पदानि यासां ताः। या विच्छन्दा विगतं छन्दो याभ्यस्ताश्छन्दोलक्षणहीनाः, याः सच्छन्दाः छन्दोलक्षणवत्यः, ताः सर्वाश्छन्दोजातयः, हे अश्व ! त्वां सूचीभिः शम्यन्तु संस्कुर्वन्तु । छन्दोदेवताः सूचीभिस्त्वां संस्कुर्वन्तु ।

अध्यात्मपक्षे हे अश्व प्रजापते ! पूर्वोक्ता विविधाश्छन्दोजातयः सूचीभिर्गुणगणसूचीभिः स्तुतिभिस्त्वां शम्यन्तु प्रसादयन्तु ।

दयानन्दस्तु—'ये विद्वांसः सूचीभिर्या द्विपदा याश्चतुष्पदा यास्त्रिपदा याश्च षट्पदा या विच्छन्दा याश्च सच्छन्दास्त्वां ग्राहयित्वा शम्यन्तु शमं प्रापयन्तु, ता नित्यं सेवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, क्रियासु द्विपदत्वाद्यसम्भवेन तथोक्तेः प्रलापमात्रत्वात्। पदानि वाक्यानि चाक्षरधर्माः, क्रियाश्च द्रव्यधर्मा इति केन किं श्लिष्यते ? ॥ ३४ ॥

म॒हाना॑म्न्यो रे॒वत्यो॒ विश्वा॒ आशाः॑ प्र॒भूव॑रीः ।
मै॒घीर्वि॒द्युतो॒ वाचः॑ सू॒चीभिः॑ शम्यन्तु त्वा ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—महानाम वाली शक्वरी ऋचा, रैवत साम वाली ऋचा, सम्पूर्ण दिशाएं, सकल यज्ञ कर्म, मेघों की बिजलियां और वेदवाणियां तुमको सूचियों से शान्त करें ॥ ३५ ॥

महानाम्न्य ऋचः [१]शक्वर्य इति भण्यन्ते। महन्नाम यासां तास्तथोक्ताः। रेवत्योऽपि ऋचः, यासु गीयमानं साम रैवतं साम सम्पद्यते। विश्वाः सर्वा आशा दिशः। कीदृश्य आशाः ? प्रभूवरीः प्रभवन्ति सर्वभूतानि धारयितुं समर्था भवन्ति यास्ताः प्रभूवर्यः। प्रपूर्वाद् भवतेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति

१. 'विदा मघवन्' इत्याद्यास्तिस्र ऋचः शक्वर्य इति काण्वभाष्ये सायणाचार्यः ।

वनिप् 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (पा० सू० ४।१।५) इति ङीप्, 'वनो र च' (पा० सू० ४।१।७) इति नकारस्य रेफादेशे पूर्वसवर्णदीर्घत्वे च 'प्रभूवरीः' इति रूपम्। मैघीः, मेघे भवा मैघ्यः—अत्रापि पूर्वसवर्णदीर्घः। मेघोत्था विद्युतः। वाचो वेदलक्षणाः। अन्या अपि एताः सर्वाः सूचीभिस्त्वां हे अश्व ! शम्यन्तु संस्कारेण प्रजापतियोग्यं हविः कुर्वन्तु।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्ताः सर्वा अप्येता वाचः सूचीभिः स्तुतिभिस्त्वां शम्यन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, सूचीभिर्या महानाम्न्यो रेवत्यो बहुधनयुक्ताः प्रभूवरीर्विश्वा आशा मैघीर्विद्युत इव च वाचस्त्वां शम्यन्तु तास्त्वं गृहाण' इति, तदपि यत्किञ्चित्, महानाम्न्यः का इत्यनुक्तेः। रेवत्यश्च काः ? धनयुक्ताः प्रभुत्वयुक्ताश्च स्त्रियोऽपि भवन्त्येव। मूले इवशब्दप्रयोगोऽपि नास्ति। विद्युत इवेति वाचो विशेषणत्वकल्पनमपि निर्मूलमेव ॥ ३५ ॥

नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया।
देवानां पत्न्यो दिशः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! पतिव्रता नारियाँ बुद्धिपूर्वक तुम्हारे लोमों को पृथक् करें, देवताओं की पत्नियों के रूप में पालित दिशाएँ सूचियों के द्वारा तुम्हें शान्त करें ॥ ३६ ॥

हे अश्व ! नार्यो नृणामपत्यानि स्त्रियस्ते तव लोम रोमाणि मनीषया मनस इच्छया मनसः पर्यालोचनेन विचिन्वन्तु पृथक्कुर्वन्तु। लोमेति जातावेकवचनम्, विभक्तिलोपो वा। कीदृश्यो नार्यः ? पत्न्यः, यजमानभार्या महिष्याद्याः। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा० सू० ४।१।३३) इतीकारस्य नकारे नान्तत्वाद् ङीप्। देवानामिन्द्रादीनां च पत्न्यो दिशः प्राच्यादयः सूचीभिस्त्वां शम्यन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व व्यापिन् प्रजापते, नार्यो मानुष्यः पत्न्यो यज्ञसम्बन्धिन्यो मनीषया स्नेहवत्या बुद्ध्या ते तव लोम लोमानि लोमतुल्याः शक्तीर्विचिन्वन्तु अन्विच्छन्तु, ते लोम एकमपि लोम अन्विच्छन्ति, एकस्य लोम्नोऽपि कृतार्थताप्रयोजकत्वात्। देवानां पत्न्यो दिशश्च सर्वाः सूचीभिः सौन्दर्यमाधुर्यवर्णयित्रीभिः स्तुतिभिस्त्वा शम्यन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे विदुषि, याः कुमार्यो मनीषया ते लोमानुकूलवचनं विचिन्वन्तु सञ्चितं कुर्वन्तु, ता देवानां नार्यः पत्न्यो भवन्तु। हे कुमारि, या देवानां पत्न्यो भूत्वा सूचीभिरनुसन्धानक्रियाभिर्दिश इव शुद्धा विदुष्यः सन्ति, तास्त्वा शम्यन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लोमपदस्यानुकूलवचनार्थत्वे मानाभावात्। सूचीशब्दस्यानुसन्धानक्रियार्थतापि चिन्त्या, निर्मूलत्वात् ॥ ३६ ॥

रजता हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते कर्मभिः।
अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सिमाः शम्यन्तु शम्यन्तीः ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—चांदी, सुवर्ण और सीसे की सूचियां संयुक्त होकर इस कार्य में लगी हैं। ये अश्व का संस्कार करती हुई वेगवान् अश्व की त्वचा में शान्तिपूर्वक रेखाएँ खींचती हैं ॥ ३७ ॥

रजता रजतमय्यो हरिणीर्हरिण्यः सुवर्णमय्यः सीसाः सीसं ताम्रम्, वक्ष्यमाणश्रुत्यनुरोधात्। सूचीनां दिग्रूपत्वादश्वसंस्कारक्षमत्वम्। ताः सूच्योऽश्वदेहे सीमाकरणलक्षणैः कर्मभिर्युज्यन्ते योगं प्राप्नुवन्ति, सीमाकरण-

योग्या भवन्तीत्यर्थः। कीदृश्यस्ताः ? युजः सहयोजनाः, एकीभूता इत्यर्थः। ताः सूच्यो वाजिनो वेगवतोऽश्वस्य त्वचि सिमाः सीमारेखाः शम्यन्तु सम्यक् कुर्वन्तु। सिमाशब्दः सीमापर्यायः। कीदृश्यस्ताः सूच्यः ? शम्यन्त्यो हविः संस्कुर्वाणाः।

अत्र ब्राह्मणम्—'सूचीभिः कल्पयन्ति। विशो वै सूच्यो राष्ट्रमश्वमेधो विशं चैवास्मिन् राष्ट्रं च समीची दधति हिरण्मय्यो भवन्ति तस्योक्तं ब्राह्मणम्' (श० १३।२।१०।२)। 'त्रय्यः सूच्यो भवन्ति। लोहमय्यो रजता हरिण्यो दिशो वै लोहमय्योऽवान्तरदिशो रजता ऊर्ध्वा हरिण्यस्ताभिरेवैनं कल्पयन्ति तिरश्चीभिश्चोर्ध्वाभिश्च बहुरूपा भवन्ति तस्माद्बहुरूपा दिशो नानारूपा भवन्ति तस्मान्नानारूपा दिशः' (श० १३।२।१०।३)। दिशः सूच्यः, बहुत्वात् क्षुद्रत्वाच्च। ता लोहमय्यस्ताम्रमय्यो रजतमय्यो हिरण्मय्यः। एतदनुरोधादेव मन्त्रस्थसीसशब्दस्य ताम्र एवार्थः। सूच्यश्चैता दिग्रूपाः। तत्र दिशो लोहमय्यः, अवान्तरदिशो रजतमय्यः, ऊर्ध्वा हरिण्यः सुवर्णमय्यः। तिरश्चीभिरूर्ध्वाभिश्च दिशो बहुरूपा भवन्ति।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व ! रजता रजतमय्यो राजस्यः, हरिणीर्हरिण्यः सात्त्विक्यः, सीसास्ताम्रमय्यस्तामस्यो नानाविधाः सूच्यन्ते। गुणसूचिकाः स्तुतयो युजाः पापापनोदनपुण्यार्जनात्मकैः कर्मभिरेकीभूताः। वाजिनो वेगवन्तोऽश्वस्य व्यापिनस्त्वचि स्वरूपे सिमाः मर्यादारूपा युज्यन्ते। शम्यन्तीः शम्यन्त्यः स्तोतॄणां हृदयानि संस्कुर्वाणाः शम्यन्तु भवन्तं प्रसादयन्तु। पूर्वोक्तेषु मन्त्रेष्वश्वपदेनाशनाद् व्यापनाच्च जीवोऽप्यश्व उच्यते। भगवत्स्तुतिरूपाभिः सूचीभिः सोऽपि संस्क्रियते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, तत्र सुशिक्षिताः स्वयंवरा भूत्वा स्त्रीपुरुषाः स्वेच्छया परस्परस्मिन् प्रीता विवाहं कुर्वन्ति, ते भद्रान् लावण्यगुणस्वभावयुक्तान् सन्तानानुत्पाद्य सदा नन्दन्तीति भावार्थः। यथा स्वयंवरा वाजिनोऽश्वस्य त्वचि संयुज्यन्ते, तथा कर्मभी रजता हरिणीः सीसा युजः शम्यन्तीः सिमा हृद्यान् पतीन् प्राप्य शम्यन्तु' इति, तदसङ्गतमेव, मूले स्वयंवराबोधकपदाभावात्। त्वक्पदस्य वस्त्रार्थताप्यसिद्धैव। रजतशब्दस्यानुरागार्थतापि चिन्त्यैव। सीसशब्दस्य प्रेमार्थतापि निर्मूलैव ॥ ३७ ॥

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, जिस प्रकार इस लोक में बहुत यवधान्य से सम्पन्न किसान यव से पूर्ण शस्य को अलग करके शीघ्र काटता है, उसी तरह से अल्प मात्रा में रहने पर भी तुम देवगणों के प्रिय हो, इस यजमान के लिये नाना प्रकार की भोजन सामग्री इकट्ठी कर दो। कुशा के आसन पर बैठे ऋत्विक्गण हवि लक्षण वाले अन्न से याज्या का नाम लेकर याग करते हैं ॥ ३८ ॥

सोमदेवत्या अनिरुक्ता त्रिष्टुप्। हे सोम ! यथा यवमन्तो बहुयवसम्पन्नाः कृषीबलाः कुविद् बहुलं सर्वं यवमयं सस्यं चिद् विचार्य अनुपूर्वम् आनुपूर्व्येण वियूय पृथक्कृत्य अङ्ग क्षिप्रं दान्ति लुनन्ति, तथा एषां यजमानानां सम्बन्धीनि भोजनानि भोज्यानि वस्तूनि, इह अस्मिन्नेव यजमाने कृणुहि कुरु। केषामेषाम् ? ये बर्हिष उपरि स्थिता नमउक्तिं यजन्ति हविर्लक्षणमन्नमादाय याज्यामभिधाय यजन्ति। दशमे द्वात्रिंशत्तमे व्याख्यातेयमृक् ॥ ३८ ॥

कस्त्वाऽऽच्छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति ।
क उ ते शमिता कविः ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—प्रस्तुत मन्त्र से अश्व का विशसन किया जाता है—हे अश्वाभिमानी जीव ! प्रजापति तुम्हें छिन्न, अर्थात् माया से पृथक् करते हैं, प्रजापति तुम्हें आवरण रूप त्वचा से पृथक् करते हैं, प्रजापति तुम्हारे भावी जन्मों के शरीरों को शान्त करते हैं, ज्ञानी प्रजापति तुमको शक्ति प्रदान करते हैं ॥ ३९ ॥

'अश्वं विशास्त्यनुवाकेन कस्त्वा छ्यतीति' (का० श्रौ० २०।७।६)। षड्ऋचेनानुवाकेन अश्वं विशास्ति अश्वोदरं पाटयति मेदस उद्धरणाय। अश्वे वपाया अभावादुदरमध्यस्थानं स्त्यानं घृताभं घनं श्वेतं मांसं मेद इति सूत्रार्थः। अश्वदेवत्याः षड् ऋचः। आद्या गायत्री। शिष्टा अनुष्टुभः। हे अश्व, कः प्रजापतिः, त्वा त्वामाच्छ्यति आच्छिनत्ति। 'छो छेदने' 'ओतः श्यनि' (पा० सू० ७।३।७१) इत्योकारलोपः। हे अश्व ! कः प्रजापतिस्त्वां विशास्ति त्वचा वियोजयति। ते तव गात्राण्यङ्गानि शम्यति शमनेन संस्कारेण हविर्भावमापादयति। क उ कश्च प्रजापतिरेव कविर्मेधावी क्रान्तदर्शनो वा ते तव शमिता शमयिता शामित्रकर्म करोति। स एव सर्वं करोति नाहमित्यर्थः। प्रश्नार्थक आक्षेपार्थको वा किंशब्दः। कोऽयं मनुष्यस्त्वामाच्छ्यति ? न कश्चिदपीत्यर्थः। कस्त्वा विशास्ति ? कश्च ते गात्राणि शम्यति ? कश्च ते शमिता कविः ? न कश्चिदित्यभिप्रायः। उः पादपूरणः।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व व्यापिन् भोक्तः ! कस्त्वा आच्छिनत्ति ? न कोऽपि छेत्तुं समर्थः, अच्छेद्यत्वात्। कस्त्वां विशास्ति त्वगुत्पाटनं करोति, तव शरीराद् भिन्नत्वात्। कस्ते गात्राणि शम्यति संस्करोति, असंस्कार्यत्वात्। कविर्मेधावी ते तव शमिता हन्ता। 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च' (भ० गी० २।२४) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे अध्येतः, त्वा क आच्छ्यति, कस्त्वा विशास्ति, कस्ते गात्राणि शम्यति, क उ ते शमिता कविरध्यापकोऽस्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रश्नार्थत्वे प्रतिवचनस्यापि वक्तव्यत्वापातात्। अन्यत् सर्वं वेदबाह्यमेव, स्वाभ्यूहितत्वात् ॥ ३९ ॥

ऋतवस्त ऋतुथा पर्व शमितारो विशासतु ।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—सत्यमयी योगशक्तियाँ तुम्हें शान्ति देती हैं। वे समय समय पर प्रजापति के तेज से शान्तिप्रद योगक्रियाओं के द्वारा तुम्हारी कर्म-ग्रन्थियों को काटती हैं। सत्यमयी योगशक्तियाँ तुमको शान्त करती हैं ॥ ४० ॥

यस्मिन् पक्षे कस्त्वा प्रजापतिस्त्वाच्छ्यतीति व्याख्यातम्, तस्मिन् पक्षे व्याख्यायते—हे अश्व, ऋतव ऋतुदेवाः शमितार ऋतुथा ऋतौ ऋतौ काले काले ते तव पर्व पर्वाणि अस्थिग्रन्थीन् शमीभिः कर्मभिर्विशासतु विशासनेन भिन्नानि कुर्वन्तु। केनापरेण संवत्सरस्य संवत्सरात्मकस्य कालस्य तेजसा। किञ्च, ऋतवस्त्वा शम्यन्तु पर्वविशसनेन हविः सम्पादयन्तु। प्रजापतिः संवत्सरात्मक ऋतवश्च तदंशभूता ऋतुथा ऋतौ ऋतौ संवत्सरस्य तेजसा तव पर्वाणि अस्थिग्रन्थीन् शमीभिः कर्मभिः शम्यन्तु। हे अश्व, कस्त्वां विशसितुं समर्थ इति प्रश्नार्थकत्वे त्वेवं मन्त्रार्थो ज्ञातव्यः—ऋतवो देवास्ते शमितार इति। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्वभोक्तः, पारमार्थिकदृष्ट्या शरीरादिशून्यस्य तव नास्त्येव छेदनादिकं यद्यपि, तथाप्याध्यासिकसम्बन्धेन व्यावहारिकदृष्ट्या तु ऋतव ऋतुदेवता ऋतुथा यथाकालं शमितारः। ते संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः कर्मभिस्त्वा शम्यन्तु संस्कुर्वन्तु। एवं संस्कृतः सन् ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण कृतार्थतामेष्यति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिनः, यथा ते ऋतवः पर्वेव शमितारोऽध्येतारं विशासतु संवत्सरस्य तेजसा शमीभिस्त्वां शम्यन्तु, तास्त्वं सदैव सेवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापकाध्येतृबोधकपदयोर्मूलेऽभावात् ॥ ४० ॥

अर्धमासाः परूंषि ते मासा आच्छ्यन्तु शम्यन्तः।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं सूदयन्तु ते ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वाभिमानी जीव! तुमको शान्त करते हुए ऋत्विजों की योगसाधना के मास, पक्ष आदि तुम्हारी कर्म-ग्रन्थियों को काटते हैं। दिन-रात और प्राणाभिमानी देवता तुम्हारे शान्तिप्रद कर्मों की न्यूनता को पूर्ण करते हैं ॥ ४१ ॥

हे अश्व! अर्धमासाः पक्षा मासाश्च ते तव परूंषि पर्वाणि, 'ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी' (अ० को० २।४।१६२), आच्छ्यन्तु छिन्दन्तु। किं कुर्वन्तः? शम्यन्तः शमनेन संस्कारेण हविर्भावमापादयन्तः। किञ्च, अहोरात्राणि अहोरात्राभिमानिनो देवा मरुतश्च देवास्ते तव विलिष्टं विशेषेणाल्पमङ्गम्, 'लिश अल्पीभावे', सूदयन्तु सन्दधतु, 'षूद क्षरणे' इति चौरादिकस्य। प्रकृते तु सन्धानार्थः, क्षरणार्थे वैयर्थ्यापत्तेः। अर्धमासाद्यधिष्ठातृदेवा एव ग्राह्याः, स्वतस्तेषां जडत्वे कार्यव्यापृत्ययोगात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व भोक्तः, अर्धमासा मासाश्च पक्षाद्यधिष्ठातृदेवास्ते तव परूंष्युग्राणि कर्माणि शम्यन्तः संस्कुर्वन्त आच्छ्यन्तु छिन्दन्तु नाशयन्तु। अहोरात्राणि मरुतश्च ते तव विलिष्टं विशिष्टां न्यूनतां व्यङ्गतां सूदयन्तु निर्मूलयन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिन्, अहोरात्राणि अर्धमासा मासाश्च परूंषीव ते शम्यन्तो मरुतो दुर्व्यसनान्याच्छ्यन्तु। ते तव मासा विलिष्टं सूदयन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आयुर्दुर्व्यसनशब्दयोर्मूलेऽभावेन स्पष्टमसङ्गतेः ॥ ४१ ॥

दैव्या अध्वर्यवस्त्वाऽऽच्छ्यन्तु वि च शासतु।
गात्राणि पर्वशस्ते सिमाः कृण्वन्तु शम्यन्तीः ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य शक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञानयज्ञ के कर्ता अध्वर्यु तुम्हें देहाभिमान से छुड़ाते हैं और उपदेश देते हैं। संस्कार करती हुई दिव्य शक्तियाँ तुम्हारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को सकल कर्मबन्धनों के साथ विष्णु में लीन कर दें ॥ ४२ ॥

हे अश्व, दैव्या देवानामिमे दैव्याः, दिव्या येऽध्वर्यवोऽश्विप्रभृतयः, 'अश्विनौ वै देवानामध्वर्यू' (श० १२।८।२।२२) इति श्रवणात्। त्वा त्वामाच्छ्यन्तु आच्छिन्दन्तु। वि च शासतु चकारो भिन्नक्रमः। विशासतु हविर्भावमापादयन्तु। किञ्च, ते तव गात्राणि गात्रेषु, विभक्तिव्यत्ययः, शरीरेषु पर्वशः पर्वणि पर्वणि सिमाः सीमा मर्यादाः कृण्वन्तु कुर्वन्तु। कीदृशीः सिमाः? शम्यन्तीः, मर्यादादर्शनेन शमनं कुर्वाणाः संस्कुर्वाणा वा।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व साधक, दैव्या देवसम्बन्धिनोऽध्वर्यवः, त्वा त्वामाच्छ्यन्तु अनात्मतादात्म्याद् वियोजयन्तु पृथक्कुर्वन्तु, विशासतु विशेषेण शासतु ब्रह्मात्मतत्त्वमुपदिशन्तु। गात्राणि मुखपादादीनि तदुपलक्षितं सर्वमनात्मजातं सिमाः कृण्वन्तु शमोत्पादनेन आत्मानात्मनोः सीमाः कुर्वन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिन् विद्यार्थिनि वा, दैव्या अध्वर्यव आत्मनोऽहिंसाख्यं यज्ञमिच्छन्तस्तव दोषान् छिन्दन्तु वि च शासतु उपदिशन्तु च। पर्वशो गात्राणि परीक्षन्ताम्। सिमाः प्रेमबद्धाः शम्यन्तीर्दुष्टस्वभावं वारयन्तीः सत्यो मातरोऽप्येवं शिक्षां कृण्वन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अहिंसाख्यस्य यज्ञस्य श्रौतसूत्रेष्वप्रसिद्धत्वात्। दोषान् परीक्षन्ताम्, मातरः शिक्षामित्यादिपदानां मूलेऽभावेन तादृशार्थस्य बलात्कृतत्वात्॥ ४२॥

द्यौस्ते॑ पृथि॒व्य॒न्तरि॑क्षं वा॒युश्छि॒द्रं पृ॑णातु ते।

सूर्य॑स्ते॒ नक्ष॑त्रैः स॒ह लो॒कं कृ॑णोतु साधु॒या॥ ४३॥

मन्त्रार्थ— स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष तुम्हारे छिद्र को पूर्ण करें, वायु तुम्हारे छिद्र को पूर्ण करे, नक्षत्रों सहित सूर्य देवता तुम्हें श्रेष्ठ लोक प्रदान करें॥ ४३॥

हे अश्व, द्यौर्द्युलोकः पृथिवी अन्तरिक्षं लोकत्रयाभिमानिनो देवा अग्निवायुसूर्या वायुरन्योऽपि शरीरस्थः प्राणादिस्ते तव छिद्रं पृणातु पृणन्तु पूरयन्तु, वचनव्यत्ययः, न्यूनतामपनीय साङ्गतामापादयन्तु। नक्षत्रैरश्विन्यादिनक्षत्रगणैः सह सूर्यः सविता ते तव साधुया साधु समीचीनं लोके कृणोतु करोतु, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेर्यादेशः। नक्षत्रसहितः सूर्यस्तुभ्यमुत्तमं लोकं ददात्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, द्युलोकपृथिव्यन्तरिक्षाधिष्ठातारो देवा वायुः सूत्रात्मा च ते तव च्छिद्रं व्यङ्गतां पृणातु पृणन्तु पूरयन्तु। नक्षत्रैः सह सूर्यस्ते तव साधुया साधुं लोकं कृणोतु करोतु।

दयानन्दस्तु— 'हे शिष्येऽध्यापिके वा, यथा द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं वायुः सूर्यो नक्षत्रैः सह चन्द्रश्च ते छिद्रमिन्द्रियं पृणातु। ते तव व्यवहारं साध्नोतु तथा ते तव साधुया साधुं सत्यं लोकं दर्शनीयं कृणोतु' इति, तदपि न मनोज्ञम्, छिद्रशब्दस्येन्द्रियार्थकत्वे मानाभावात्। न चेन्द्रियस्य पूरणमपेक्षितम्, पूर्णस्यैव परमात्मना निर्मितत्वात्, न च पृणातेर्व्यवहारसाधनार्थता, लोकोऽपि स्वत एव दर्शनीय इति तत्कारणानुपपत्तेः। सिद्धान्ते तूत्तमलोकप्रापणमेव लोककरणम्। न च त्वया लोकान्तरप्राप्तिरभ्युपेयते॥ ४३॥

शं ते॒ परे॑भ्यो॒ गात्रे॑भ्यः॒ शम॒स्त्ववरे॑भ्यः।

शम॒स्थभ्यो॑ म॒ज्जभ्यः॒ शम्व॑स्तु त॒न्वै॒ तव॑॥ ४४॥

मन्त्रार्थ—तुम्हारी ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों से दूर होकर तुम्हें सुख प्रदान करें, तुम्हारी कर, चरण आदि कर्मेन्द्रियां भी सुख प्रदान करें, अस्थियों से और मज्जा से भी तुम्हें सुख मिले, तुम्हारा सारा शरीर शान्ति और कल्याण का सम्पादन करे॥ ४४॥

हे अश्व, ते तव परेभ्य उच्चेभ्यो गात्रेभ्यः शिरआद्यवयवेभ्यः शं सुखमस्तु। अवरेभ्योऽधःस्थेभ्यश्च पादादिभ्यो गात्रेभ्यः शमस्तु। अस्थभ्यस्तव अस्थिभ्यश्च शं सुखमस्तु, 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' (पा० सू० ७।१।७५) इत्यनुवृत्तौ 'छन्दस्यपि दृश्यते' (पा० सू० ७।१।७६) इत्यनेन हलादावप्यस्थिशब्दस्यानङादेशः। मज्जभ्यः पृष्ठधातुभ्यः शं सुखमस्तु। शं चास्तु तव तन्वै किं बहुना तव तन्वै तन्वाः सर्वस्यापि

शरीरस्य शमु सुखमेवास्तु। 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वाच्या' (पा० सू० २।३।६२, वा० १) इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। उ एवार्थे ।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, ते तव परेभ्योऽवरेभ्यश्च गात्रेभ्यः शमस्तु, अस्थिभ्यो मज्जभ्यश्च शमस्तु, तव तन्वाः शमस्तु, येन शुद्धः संस्कृतः सन् पुरुषार्थयोग्यो भवेः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यामिच्छो, यथा पृथिव्यादितत्त्वं तव तन्वै शमस्तु परेभ्यो गात्रेभ्यः शमवरेभ्यो मध्यस्थेभ्यो निकृष्टेभ्यो वा गात्रेभ्यः शमस्तु। अस्थभ्यो मज्जभ्यः शमस्तु। स्वकीयैरुत्तमगुणैः कर्मस्वभावैरध्यापकास्ते शङ्करा भवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अन्तिमभागस्य निर्मूलत्वात् ॥ ४४ ॥

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
कि(ँ) स्विद्धिमस्य भेषजं किं वावपनं महत् ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—कौन अकेला विचरता है ? कौन फिर प्रकाश पाता है ? हिम को औषधि क्या है ? सबसे बड़ा क्षेत्र कौनसा है ? ॥ ४५ ॥

'प्राग्वपाहोमाद्धोताऽध्वर्यू च सदसि संवदेते चतसृभिः कः स्विदेकाकीति' (का० श्रौ० २०।७।१०)। वपाहोमात् प्राक् चतसृभिर्ऋग्भिः पूर्ववदुक्तिप्रत्युक्त्या सदो मध्ये गत्वा होता अध्वर्युश्च संवादं कुरुत इति सूत्रार्थः। अष्टादश ऋचो ब्रह्मोद्यसंज्ञाः। ऋत्विजां परस्परं ब्रह्मणो (वेदस्य) वदनं ब्रह्मोद्यम्। 'वदः सुपि क्यप् च' (पा० सू० ३।१।१०६) इति क्यपि, 'वचिस्वपियजादीनां किति' (पा० सू० ६।१।१५) इति सम्प्रसारणे रूपम्। आद्याश्चतस्रः का स्विदित्याद्याश्चतस्रोऽनुष्टुभः, शिष्टास्त्रिष्टुभः। इयमृगत्रैवाध्याये नवम्यां व्याख्याता, तद्वदत्रापि व्याख्येया ॥ ४५ ॥

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य, ज्योतिस्वरूप ब्रह्म अद्वितीय होकर सर्वत्र व्याप्त है, वह अकेला अपनी धुरी पर घूमता है। चन्द्रमा पुनः पुनः प्रकाश पाता है, अथवा मन बार-बार नवीन होकर प्रकाशित होता है। अग्नि हिम की औषध है। ज्ञानाग्नि से अज्ञानरूपी हिम दूर होता है और भूलोक कर्मबीज को बोने का सबसे बड़ा क्षेत्र है ॥ ४६ ॥

पूर्वस्यामृचि होताऽध्वर्युं पृच्छति। तमुत्तरयन्नाहाध्वर्युः सूर्य एकाकीति। इहैवाध्याये व्याख्याता, तद्वदिहापि व्याख्येया ॥ ४६ ॥

कि(ँ) स्वित् सूर्यसमं ज्योतिः कि(ँ) समुद्रसम(ँ) सरः।
कि(ँ) स्वित् पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य के समान ज्योति क्या है ? समुद्र के समान विस्तृत सरोवर कौन सा है ? पृथ्वी से महान् क्या है ? किसका परिमाण नहीं है ? ॥ ४७ ॥

अध्वर्युर्होतारं पृच्छति—हे होतः, स्विदिति वितर्के। सूर्यसमं सूर्यमण्डलतुल्यज्योतिस्तेजः किं तद् ब्रूहि। समुद्रसमं सरस्तडागः किं स्वित्। पृथिव्यै पृथिव्याः सकाशाद् वर्षीयोऽतिशयेन वृद्धं वर्षीयः, 'प्रियस्थिरस्फिरो....' (पा० सू० ६।४।१५७) इत्यादिना वर्षिरादेशः। तत्र इकार उच्चारणार्थः। कस्य मात्रा परिमाणं न विद्यते ॥ ४७ ॥

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमꣳ सरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ सूर्य के समान ज्योति ब्रह्म है, द्युलोक समुद्र के समान सरोवर है, अणिमा आदि ऐश्वर्यों से युक्त इन्द्र वसुन्धरा से महान् है। यशोमयी गाय और वेदवाणी की कोई मात्रा (परिमाण) नहीं है ॥ ४८ ॥

अध्वर्युं होता प्रत्युत्तरयति— ब्रह्म त्रयीलक्षणं परं च सूर्यसमं ज्योतिः। द्यौः समुद्रसमं सरः। पृथिव्यै पृथिव्याः सकाशात्, विभक्तिव्यत्ययः, इन्द्रः सूर्यो वर्षीयान्, गोर्धेनोर्मात्रा परिमाणमियत्तया परिच्छेदो न विद्यते, यज्ञहेतोः पयोघृतादिहविषो धारकत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्म वेदान्तवेद्यं सत्यज्ञानादिलक्षणं ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः, 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥' (भ० गी० १३।३३) इति गीतोक्तेः। द्यौर्द्युलोकः समुद्रतुल्यं सरो जलाशयः, तस्य विस्तृतत्वात्, जलाधारमेघसूर्याधारत्वाच्च। इन्द्र आदित्यमण्डलान्तर्गतः पुरुषः पृथिव्या वर्षीयान् बृहत्तरः, 'आदित्याद् भूमिर्जायते' इति सूर्योपनिषच्छ्रुतेः। गोः परस्या वाचो मात्रा परिमाणं न विद्यते, सर्वप्रपञ्चजननीत्वात्। 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥' (वा० प० १।१।१), 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥' (वा० प० १।१।१२३) इत्युक्तेः।

दयानन्दस्त्वस्मिन् प्रश्नोत्तरे एवमाह—'हे विद्वन्! किं स्वित् सूर्यसमं ज्योतिः? हे जिज्ञासो! ब्रह्म बृहत् सर्वेभ्यो महद् अनन्तसूर्यसमं ज्योतिः प्रकाशकम्, समुद्रसमं सरो द्यौः, पृथिव्यै वर्षीयानिन्द्रः सूर्यः, गोर्वाचो मात्रा न विद्यते' इति, तदप्ययुक्तम्, उपपत्त्यनुक्तेः, कात्यायनविरोधाच्च ॥ ४८ ॥

पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमाविवेशाँ३॥ ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा प्रश्न करता है कि हे मित्रदेव! ज्ञानप्राप्ति के लिये तुमसे प्रश्न करता हूँ। यदि तुम ठीक से जानते हो तो बताओ कि व्यापक परमात्मा जिन तीन पदों में पूजा गया है, क्या उनमें सम्पूर्ण संसार प्रविष्ट हुआ? ॥ ४९ ॥

'ब्रह्मोद्गातारौ च पृच्छामि त्वेति' (का० श्रौ० २०।७।११)। ब्रह्मोद्गातारं पृच्छति —चकाराच्चतुर्भिरृग्भिर्ब्रह्मोद्गातारौ सदोमण्डपे संवादं कुरुतः पूर्ववदुक्तिप्रत्युक्त्येति सूत्रार्थः। ब्रह्मोद्गातारं पृच्छति— हे देवसख, देवानां सखा देवसखस्तत्सम्बुद्धौ, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (पा० सू० ५।४।९१) इति टचि रूपम्। हे देवानां मित्र उद्गातः, त्वा त्वां चितये ज्ञानाय अहं पृच्छामि, न विजिगीषार्थमिति भावः। अत्र मत्कृते प्रश्ने पृष्टः सन् मनसा प्रश्नविवेचनाय सूक्ष्मानर्थान् जगन्थ ७।८ जानासि, गमेर्लिटि रूपम्। गतिर्ज्ञानम्। किं पृच्छसीत्यत

आह—विष्णुर्व्यापनशीलो यज्ञो येषु त्रिषु पदेषु गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निषु, एष्ट आसमन्ताद् यागेन इष्टस्तर्पितः, यजेर्निष्ठायां रूपम्। तेषु त्रिषु पदेषु विश्वं सर्वं भुवनमाविवेश ? प्रविष्टमुत नेति प्रश्नः। भुवनमाविवेशाँ३ ॥ इति प्रश्नेषु प्लुतः ॥ ४९ ॥

अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमाविवेश।

सद्यः पर्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवो अस्य पृष्ठम् ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—उद्गाता का उत्तर—ईश्वर का उपदेश है कि मैं ही उन तीन पदों में हूँ, जिनमें सकल विश्व प्रकट हुआ है। पृथ्वी को, द्युलोक को तथा इस स्वर्ग के ऊपर के भाग को भी क्षण मात्र में मैं एक ही चरण के द्वारा व्याप्त करता हूँ ॥ ५० ॥

उद्गाता ब्रह्माणं प्रत्याह—येषु त्रिषु पदेषु विश्वं भुवनमाविवेशेति यत् त्वया पृष्टं तेषु त्रिषु पदेषु गार्हपत्यादिष्वहमस्मि, अर्थाद् अहमपि तत्रैव स्थितोऽस्मि। अपिशब्दात् त्वं च तत्रैवासि। न केवलमेतावदेव जानामि, किन्तु पृथिवीमुतापि च द्यां स्वर्गं दिवः स्वर्गस्य पृष्ठमुपरिभागमपि सद्यस्तत्क्षणमेव एकेनाङ्गेन मनसा पर्येमि परिगच्छामि, सर्वं जानामि। किं पुनर्भूतानि प्रविष्टानीति भावः।

अध्यात्मपक्षे—सब्रह्मचारिणौ संवादं कुरुतः। हे देवसख, देवः परमात्मा सखा मित्रं यस्य स देवसखः, तत्सम्बुद्धौ। त्वां चितये ज्ञानाय विद्यावैशद्याय पृच्छामि। अत्र मत्कृते यदि मनसा शास्त्राचार्योपदेशसंस्कार-संस्कृतेन जगन्थ सूक्ष्मानर्थान् जानासि, तदा पृच्छामीत्यर्थः। किं पृच्छसीत्यपेक्षायामाह—येषु त्रिषु पदेषु पदनीयेषु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु विराड्हिरण्यगर्भाव्याकृतेषु विष्णुर्व्यापकश्चिदात्मा प्रविष्टः, एष्ट आसमन्ताद् इष्टः पूजितः, तेषु पदेषु विश्वं सर्वं भुवनं कार्यमाविवेश उत नेति ? येषु त्रिषु पदेषु विश्वं भुवनमाविवेशेति यत् त्वया पृष्टम्, तत्र ब्रूमः—तेषु त्रिषु पदेष्वहमपि सद्य एककालमेव पर्येमि, अपिशब्दात् त्वमपि तत्रैव स्थितोऽसि। नैतावदेव, किन्त्वेकेन अङ्गेन मनसा पृथिवीम् उतापि द्यां स्वर्गमस्य दिवः पृष्ठमुपरिभागमपि सद्यः क्षणेन पर्येमि परिगच्छामि, किमुत विश्वं भुवनम् ? तत्र प्रविष्टं जानाम्येवेति भावः। न केवलं भौतिकं जगत्, किन्त्वाध्यात्मिक-माधिदैविकं च सर्वमेव तत्र प्रविष्टमिति जानामि।

दयानन्दस्तु—'हे देवसख, यदि त्वं मनसा जगन्थ, तर्हि त्वां चितये पृच्छामि—यो विष्णुर्येषु त्रिषु पदेषु आ इष्टोऽस्ति, तेषु व्याप्तः सन् विश्वं भुवनमाविवेश, तं च पृच्छामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तेषु नाम-स्थान-जन्माख्येषु व्याप्त्यैव भुवनव्याप्तिसिद्धया भुवनव्याप्तिवचनस्य नैरर्थक्यापातात्। प्रश्नसूचकप्लुतोच्चारणेन पृच्छामीति निगदव्याख्यानेन च प्रश्नः सूच्यते। तेन न परमात्मनोऽस्तित्वसम्बन्धिप्रश्नः, किन्त्वाविवेशेति प्लुतत्वेन आवेशसम्बन्धिन एव प्रश्नस्य निश्चयात्। न च परमात्मावेशः प्रश्नार्हः, तस्य लोकवेदसिद्धत्वात्। यच्च 'हे मनुष्याः, यो जगत्स्रष्टेश्वरोऽहं येषु त्रिषु पदेषु विश्वं भुवनमाविवेश, तेष्वप्यहं व्याप्तोऽस्मि। अस्य दिवः पृष्ठं पृथिवीमुत द्यां चैकेनाङ्गेन सद्यः पर्येमि। तं मां सर्वे यूयमुपासध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असामञ्जस्यात्। तथाहि—कारणस्य सूक्ष्मस्य व्यापकत्वं कार्यस्य स्थूलस्य च व्याप्यत्वं प्रसिद्धम्। त्वद्रीत्या च निराकारस्य निरवयवस्य निरङ्गस्य अङ्गानुपपत्तिः। न च व्यवहारो देशो वा तस्याङ्गं सम्भवति, तस्य देशकालव्यवहारा-तीतत्वात्, 'अव्यवहार्यम्' (मा० उ० ७) इति श्रुतेः ॥ ५० ॥

केष्वन्तः पुरुष आविवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।

एतद् ब्रह्मन्नुपवल्हामसि त्वा किंस्वित्नः प्रतिवोचास्यत्र ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—उद्गाता प्रश्न करता है—हे ब्रह्मन् ! सकल विश्व में व्यापक परमात्मा किन पदार्थों के भीतर प्रविष्ट हुआ ? पुरुष के भीतर कौन कौन से पदार्थ अर्पित हैं ? ये प्रश्न मैं तुमसे स्पर्धापूर्वक पूछता हूँ । इस विषय में तुम्हारा क्या कहना है ? ॥ ५१ ॥

उद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति—हे ब्रह्मन्, पुरुषः केषु पदार्थेष्वन्तर्मध्ये आविवेश प्रविष्टः, कानि च वस्तूनि पुरुषेऽन्तः पुरुषमध्येऽर्पितानि स्थापितानि, एतत् त्वा त्वाम्, वयमुपवल्हामसि उपवल्हामः, सर्वथा पृच्छामः । 'वल्ह प्राधान्ये', इह तु आह्वानपूर्वे संहर्षे विद्यते । उपसङ्गम्य आहूयोत्क्षिप्य बाहू पृच्छामि भवन्तम् । 'वल्ह प्राधान्ये परिभाषणहिंसादानेषु', लट् 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) इति मस इगागमे रूपम् । यद्वा स्पर्धया पृच्छामः किं स्वित् त्वमत्रास्मिन् प्रश्ने प्रतिवोचासि उत्तरं प्रतिवदसि । 'वच उम्' (पा० सू० ७।४।२०) इति लेटि छान्दस उम्, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागमः ।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेव प्रश्नार्थः ।

दयानन्दस्तु —'हे ब्रह्मन्, केषु पुरुषोऽन्तराविवेश । कानि पुरुषेऽन्तरर्पितानि, येन वयमुपवल्हामसि प्रधाना भवामः । एतत् त्वां पृच्छामः । तत्किं स्विदस्त्यत्र नो प्रतिवोचासि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रश्नस्य प्राधान्याप्रयोजकत्वात्, उत्तरस्यैव च प्राधान्यहेतुत्वात् ॥ ५१ ॥

प॒ञ्चस्व॒न्तः पुरु॑ष॒ आवि॑वेश॒ तान्य॒न्तः पुरु॑षे॒ अर्पि॑तानि ।
ए॒तत् त्वात्र॑ प्रतिमन्वा॒नो अ॑स्मि॒ न मा॒यया॑ भव॒स्युत्त॑रो॒ मत् ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा का उत्तर - परमात्मा पांच प्राण, पांच भूत या पांच तन्मात्राओं के भीतर प्रविष्ट हुआ है । वह पुरुष के भीतर प्रविष्ट है, अर्थात् आत्मा बिना प्राण आदि की और बिना प्राण आदि के आत्मा की स्थिति नहीं हो सकती । तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मैं बहुत समझ-बूझ कर दे रहा हूँ, तुम मुझसे बहुत अधिक बुद्धिमान् नहीं हो ॥५२॥

ब्रह्मा उद्गातारं प्रतिवक्ति पञ्चसु प्राणेष्वन्तः प्राणमध्ये पुरुष आत्मा आविवेश प्रविष्टः, तानि प्रसिद्धानि श्रोत्रादीनि पुरुषेऽन्तः पुरुषमध्येऽर्पितानि, प्राणात्मनामन्योन्यापेक्षासिद्धत्वात् । आत्मानमाश्रित्यैव ते लब्धात्मकाः, 'न[1] प्राणानन्तरेणात्मा' इति बह्वृचश्रुतेः । आत्मापि न प्राणानन्तरेण व्यज्यते । यद्वा पञ्चसु भूतेषु पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेष्वात्मा प्रविष्टः, तानि चात्मनि प्रविष्टानि । आत्मनः कारणत्वात् तेषां च कार्यत्वात् तेष्वात्मा प्रविष्टः, कार्याणां च कारणाश्रिततत्वादात्मनि तेषां प्रवेशः । यथा तन्तुषु पटस्याश्रितत्वात् तन्तुषु पटः प्रविष्टः, तन्तवश्च पटेषूपलभ्यमानत्वात् तत्र तन्तवः प्रविष्टा इत्युच्यन्ते, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' (तै० उ० २।६।१) इति श्रुतेः । हे उद्गातः ! अहमत्र प्रश्ने त्वा त्वां प्रति एतदुत्तरं प्रतिमन्वानः प्रतिजानानोऽस्मि, एवमुत्तरं ददामीत्यर्थः । किञ्च, मायया बुद्धया मद् मत्त उत्तरोऽधिकस्त्वं न भवसि, मत्तोऽधिकबुद्धिमान्नासीरित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—इदमेवोत्तरम् ।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश, तानि पुरुषेऽन्तरर्पितानि । एतदत्र त्वा प्रतिमन्वानोऽहं समाधाताऽस्मि । यदि मायया प्रज्ञया युक्तस्त्वं तर्हि मदुत्तरः समाधाता कश्चिन्नास्तीति विजानीहि' इति, तदपि न युक्तम् । व्याप्तानां भूतानां कार्यत्वात् कारणभूते परमात्मनि प्रवेशानुपपत्तेः । न च त्वया परमात्मन्युपादानत्वमङ्गीक्रियत इति न काचिदनुपपत्तिः ॥ ५२ ॥

१. अनुपलब्धमिदं वचनम् ।

का स्विदासीत् पूर्वचित्तिः किंस्विदासीद् बृहद्वयः ।
का स्विदासीत् पिलिप्पिला का स्विदासीत् पिशङ्गिला ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ – होता प्रश्न करता है – पूर्व स्मरण का विषय कौन था, बहुत उड़ने वाला अथवा स्वर्गपर्यन्त पहुँचा हुआ कौन था ? लक्ष्मी कौन थी ? और रूप को निगलने वाली कौन थी ? ॥ ५३ ॥

'पुनः पूर्वापरेणोत्तरवेदिं का स्विदासीदिति' (का० श्रौ० २०।७।१२)। ततः सदसो निष्क्रम्य हविर्धानस्य पुरस्ताद् उत्तरवेदेः पश्चादुपविश्य पूर्वौ पूर्वोक्तौ होत्रध्वर्यू चतुर्ऋग्भिः संवदेते इति सूत्रार्थः। होताऽध्वर्युं पृच्छति—का स्विदिति । इयमृग् अस्मिन्नेवाध्याये एकादश्यां कण्डिकायां व्याख्याता ॥ ५३ ॥

द्यौरासीत् पूर्वचित्तिरश्व आसीद् बृहद्वयः ।
अविरासीत् पिलिप्पिला रात्रिरासीत् पिशङ्गिला ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ – ब्रह्मा का उत्तर—सब प्राणियों को अभीष्ट वृष्टि का दाता द्युलोक प्रथम स्मरण का विषय था। अश्वमेध यज्ञ स्वर्ग पर्यन्त पहुँचाने वाला है। सबकी रक्षा करने वाली पृथ्वी ही लक्ष्मी है। महामोह रूप वाली रात्रि ज्ञानमय रूप को निगल जाती है ॥ ५४ ॥

होतारं प्रत्याहाध्वर्युः—द्यौरिति । अस्मिन्नेवाध्याये द्वादश्यां कण्डिकायामियमृग् व्याख्याता ॥ ५४ ॥

का ईमरे पिशङ्गिला का ईं कुरुपिशङ्गिला ।
क ईमास्कन्दमर्षति क ईं पन्थां विसर्पति ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ —अध्वर्यु का प्रश्न—हे होता ! रूपों को निगलने वाली कौन है ? शब्दपूर्वक रूपों को निगलने वाली कौन है ? उत्प्लवन गति से चलने वाला कौन है ? कौन मार्ग में नाना प्रकार से चलता है ? ॥ ५५ ॥

अध्वर्युर्होतारं पृच्छति—का ईमरे इति । ईमिति चकारार्थो निपातः । अरे इत्यामन्त्रणविषयो निपातः । अरे होतः, का च पिशङ्गिला का च कुरुपिशङ्गिला । क ईं कश्च आस्कन्दम्, णमुलन्तमेतत् । आस्कन्द्य उत्प्लुत्य अर्षति गच्छति । 'ऋषी गतौ' तुदादिः । व्यत्ययेन शप् । क ईं कश्च पन्थां पन्थानं मार्गं प्रति विसर्पति विविधं गच्छति ॥ ५५ ॥

अजारे पिशङ्गिला श्वावित् कुरुपिशङ्गिला ।
शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां विसर्पति ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—होता का उत्तर —हे अध्वर्यु ! विद्यारूप परा शक्ति रूपों का भक्षण करने वाली है। देहाभिमान से प्राप्त होने वाली अपरा शक्ति कर्मकाण्ड के रूप का लय करती है। शरीर में शयन करने वाला प्राण उत्प्लवन गति से चलता है। मध्यस्थानी जीवात्मा संसार मार्ग में नाना प्रकार से चलता है ॥ ५६ ॥

होता अध्वर्युं प्रति वक्ति—अजेति । अरे अध्वर्यो अजा पिशङ्गिला, अजा नित्या माया वा रात्रिर्वा पिशङ्गिला, पिशं रूपं गिलति भक्षयतीति पिशङ्गिला । माया विश्वं ग्रसते, रात्रावपि रूपाणि न प्रतीयन्ते,

तमसाच्छन्नत्वात्। श्वावित् श्वानं विध्यतीति श्वावित्, 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (पा० सू० ६।३।११६) इति पूर्वपदस्य दीर्घः। सेधा 'शाहीति भाषायां प्रसिद्धा' कुरुपिशङ्गिला कुरु इति शब्दानुकरणम्, 'पिश अवयवे' इति तौदादिकात् 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययेन पिशः। कुरु इति शब्दं कुर्वाणा पिशान् मूलाद्यवयवान् गिलति भक्षयतीति कुरुपिशङ्गिला, मूलानां शतं भक्षयति शतं च कुक्षौ धारयतीति सेधायाः स्वभावः। शशो वन्यो जीवविशेषः, आस्कन्दम् आस्कन्द्य आस्कन्द्य अर्षति, स हि तस्यापि स्वभावः। अहिः सर्पः पन्थां पन्थानं विसर्पति विकुर्वन् गच्छति।

अध्यात्मपक्षे—गुरुराह। हे साधक, अजावद् अजा यथा लोहितशुक्लकृष्णा बर्करी समाना लोहितशुक्लकृष्णा बह्वीः प्रजाः सृजति, तथैव अजा प्रकृती रजःसत्त्वतमोगुणा पिशङ्गिला पिशं सर्वं रूपं गिलति स्वात्मनि प्रविलापयति। श्वावित् श्वावित्तुल्या बुद्धिः कुरु कुरु इति शब्दमनुसन्धाय शतं विषयान् गृह्णाति शतं च वासनारूपेण कुक्षौ स्थापयति। शशवन्मन आस्कन्दम् आस्कन्द्य आस्कन्द्य दूराद् दूरमुत्प्लुत्य अर्षति गच्छति। अहिस्तद्वद्दीर्घमन्युः पुरुषः पन्थां पन्थानं सौहार्दमार्गं विसर्पति विकुर्वन् दूषयन् गच्छति।

दयानन्दस्तु—'अरे स्त्रि, का ईं पिशङ्गिला का वारं वारं रूपावरणकारिणी, का च वारं वारं कुरुपिशङ्गिला यवाद्यन्नावयववान् गिलति, का ईं आस्कन्दमर्षति विलक्षणां गतिं गच्छति, कश्च ईं जलस्य पन्थां मार्गं विसर्पतीति समाधेहीति। तत्रोत्तरम्—अरे मनुष्याः, अजा प्रकृतिः पिशङ्गिला प्रलये प्रविलापयति, श्वावित् पशुविशेषः कुरुपिशङ्गिला कुरोः कृतस्य कृष्यादेः पिशान्यङ्गानि गिलति, शशः पशुविशेष आस्कन्दमर्षति। अहिर्मेघः पन्थां मार्गं विसर्पति विविधं गच्छतीति विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, कुरोः कृतस्येति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वाच्च। सिद्धान्ते तु सूत्रमूलकं सम्बोधनम् ॥ ५६ ॥

कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतार ऋतुशो यजन्ति ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा होता से प्रश्न करता है—इस यज्ञ के कितने अन्न हैं ? वेदवचन कितने हैं ? हवन कितने हैं ? कितने प्रकार की समिधाओं से अग्नि प्रज्वलित होती हैं ? और प्रत्येक ऋतु में कितने होता यजन करते हैं ? यज्ञ की प्रक्रिया को जानने के लिये ये प्रश्न मैंने तुमसे पूछे हैं ॥ ५७ ॥

'उत्तरौ च कत्यस्येति' (का० श्रौ० २०।७।१३)। उत्तरौ पश्चादुक्तौ ब्रह्मोद्गातारौ चतुर्ऋग्भिः संवदेते। ब्रह्मोद्गातारं प्रति पृच्छति—अस्य यज्ञस्य कति विष्ठाः ? विशेषेण तिष्ठति यासु ता विष्ठा अन्नानि, कियन्त्यन्नानीत्यर्थः। अक्षराणि च कति। होमासो होमाश्च कति कियत्संख्याकाः। कतिधा समिद्धः कति प्रकाराः समिधः। धकारस्य द्वित्वमार्षम्। यज्ञस्य विदथा वेत्तीति विदः, विदस्य भावो विदथा, यज्ञवेदितृत्वेन हेतुनाऽत्र सदसि त्वामहमपृच्छं पृच्छामि। पृच्छतेर्लङ्, अडभाव आर्षः। ऋतुश ऋतौ ऋतौ कति होतारो यजन्ति ॥ ५७ ॥

षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः।
यज्ञस्य ते विदथा प्रब्रवीमि सप्त होतार ऋतुशो यजन्ति ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ के सभी अन्न छः रसों से युक्त हैं। वेदवचन सैकड़ों हैं। हवनों की संख्या ८० है। तीन समिधाएँ प्रमुख हैं। सात होता प्रत्येक ऋतु में यजन करते हैं। यज्ञ की प्रक्रिया को जानने के लिये यह मैंने तुम्हें बताया है ॥५८॥

उद्गाता ब्रह्माणमुत्तरयति—षडस्येति । रससंख्ययोपसञ्जिहीर्षुराह—हे ब्रह्मन्, अस्य यज्ञस्य षड् विष्ठा अन्नानि, सर्वेषामन्नानां षड्रसात्मकत्वात् । छन्दसामुद्धारेणोपसञ्जिहीर्षुराह—अस्य यज्ञस्य शतमक्षराणि । छन्दोभिर्यज्ञस्य निष्पाद्यमानत्वात् छन्दांसि च गायत्र्यादीन्यतिधृत्यन्तानि चतुर्दश चतुर्विंशत्यक्षरादीनि चतुर्वर्णान्तराणि । तेषां क्रमोत्क्रमगत्या द्वाभ्यां द्वाभ्यां शतमक्षराणि भवन्ति । तद्यथा—गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा, अतिधृतिः षट्सप्तत्यक्षरा, एवं द्वे मिलित्वा शतमक्षराणि । उष्णिग् अष्टाविंशत्यक्षरा, धृतिर्द्वासप्तत्यक्षरा, सङ्कलय्य शतम् । अनुष्टुब् द्वात्रिंशदक्षरा, अत्यष्टिरष्टषष्ट्यक्षरा, सङ्कलय्य शतम् । अष्टिश्चतुःषष्टचक्षरा, बृहती षट्त्रिंशदक्षरा, सङ्कलय्य शतम् । अतिशक्वरी षष्टचक्षरा पङ्क्तिश्चत्वारिंशदक्षरा, सङ्कलय्य शतम् । शक्वरी षट्पञ्चाशदक्षरा, त्रिष्टुप् चतुश्चत्वारिंशदक्षरा, सङ्कलय्य शतम् । अतिजगती द्वापञ्चाशदक्षरा, जगती अष्टाचत्वारिंशदक्षरा, सङ्कलय्य शतम् । अनेनाभिप्रायेण शतमक्षराणीत्युक्तम् ।

एकविंशतिरश्वमेधे यूपाः । तथा च रामायणे -'एकविंशतियूपास्ते एकविंशत्यरत्नयः । वासोभिरेकविंशद्भिरेकैकं समलङ्कृताः ॥' (वा० रा० १।१४।२५) । तत्राग्निष्ठे मध्यमयूपेऽश्वतूपरगोमृगान् नियुनक्ति । अश्वः प्रसिद्धः । तूपरः शृङ्गहीनश्छागः । गोमृगो गवयः । इतरेषु षोडशपशून्नियुनक्ति । तत्र विंशतियूपेषु चतस्रोऽशीतयः पशवो भवन्ति । तदभिप्रायमेतत् । अशीतिर्होमा इति स्फुटम् । कतिधा समिद्ध इति यदुक्तं तत्रेदमुच्यते । अश्वतूपरगोमृगाः प्राजापत्याः पशवः । तद्रूपाभिः समिद्भिर्यज्ञो दीप्त इति तिस्रः समिध उक्ताः । यज्ञस्य विदथा वेदनेन हेतुना ते तुभ्यं प्रब्रवीमि प्रवदामि । किञ्च, सप्तहोतारो वषट्कर्तार ऋतुश ऋतुयागेषु यजन्ति ।

अध्यात्मपक्षे—अस्य यज्ञस्य कति विष्ठा इत्यादयः प्रश्नाः पूर्ववज्ज्ञेयाः । अस्य यज्ञस्य विष्णोः षड् विष्ठा विशिष्टाः स्थितयः षट् । त्रयो गुणा त्रयश्च तदभिमानिनः । अस्य शतमनन्तान्यक्षराणि व्यापनानि । अस्याऽशीतिर्होमाः । पञ्च विषयाः शब्दादयः, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च तेषां कर्माणि । एतानि सर्वाणि विंशतिः । अत्र प्रत्येकं सात्त्विकराजसतामसनिर्गुणभेदेन चतुर्विधं सम्भूय चाशीतयो भवन्ति । एतानि च सर्वाणि चिदग्नौ हूयन्त इति होमा अशीतयो भवन्ति । तिस्रो ह समिधो हास्य चिदग्नेरभिज्वलनसाधनभूताः प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणानि । पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति सप्त होतारः । यद्वा चत्वारो वर्णास्त्रय आश्रमा इति सप्त होतार ऋतुशो यजन्ति, परमात्मानं स्वकर्मभिर्यजन्ति । 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इति श्रुतिरीत्या त्रय एवाश्रमा भवन्ति । अन्यत् पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—प्रश्नाः पूर्ववदेव व्याख्याताः । उत्तराणि ददाह—'हे जिज्ञासवः, अस्य यज्ञस्य जगतः षड्ऋतवो विष्ठाः स्थितिसाधकाः । शतमसंख्यातानि जलादिवस्तून्यक्षराणि व्यवहारसाधकानि । अशीतिरसंख्याता होमा दानादानयोग्याः पदार्थाः । आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन तिस्रः समिधो ज्ञानादिप्रकाशिका विद्याः । पञ्च प्राणा मन आत्मा च सप्तहोतारो दानादानव्यवहर्तारः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऋतूनां हि परिवर्तनहेतुत्वं प्रसिद्धम्, न तु स्थितिसाधनत्वम् । न चाक्षशब्दस्योत्पत्तिसाधनत्वमर्थः । न चाशीतिशब्दोऽनन्तबोधकः, शतादीनामेव तथात्वात् । एवमन्यदप्यूह्यम् ॥ ५८ ॥

को अस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् ।
कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा पुनः प्रश्न करता है—इस ब्रह्माण्ड के कारण को कौन जानता है ? द्युलोक, भूलोक और अन्तरिक्ष लोक को कौन जानता है ? महान् सूर्य के जन्म को कौन जानता है ? चन्द्रमा को कौन जानता है ? और ये सब जिससे उत्पन्न हुए, उसको भी कौन जानता है ? ॥ ५९ ॥

उद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति—को अस्येति। हे ब्रह्मन्, अस्य भुवनस्य भवनशीलस्य कार्यरूपस्य जगतो नाभि नह्यते बध्यते यत्र तं नाभि बन्धनस्थानम्, कारणमिति यावत्, तत्कारणं को वेद जानाति। 'णह बन्धने' दैवादिकः, अस्मात् 'नहो भश्च' (उ० ४।१२७) इतीञ्प्रत्यये हकारस्य भकारादेशे च रूपम्। द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च को वेद। बृहतो महतः सूर्यस्य जनित्रं जन्मकारणं को वेद, सूर्यस्योत्पत्तिः कस्मादित्यर्थः। जनेरित्रो बाहुलकात्। चन्द्रमसं व्यत्ययेन चन्द्रमसो यतोजा जन्म, जनेर्डासप्रत्ययो बाहुलकात्, इति को वेद। यद्वा यतो जायत उत्पद्यत इति यतोजाः, यत इत्युपपदे 'जनसनखनक्रमगमो विट्' (पा० सू० ३।२।६७) इति जनेर्विट्प्रत्ययः, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इति नकारस्यात्वम्। प्रथमा द्वितीयार्था। यत उत्पन्नं चन्द्रमसमिन्दुं को वेद, यतश्चन्द्रस्योत्पत्तिस्तं को जानातीत्यर्थः॥ ५९॥

वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्।
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥ ६०॥

मन्त्रार्थ - **इस ब्रह्माण्ड के कारण परब्रह्म को मैं जानता हूँ। द्युलोक, भूलोक और अन्तरिक्ष लोक को ब्रह्म की विभूति के रूप में मैं जानता हूँ। महान् सूर्य की उत्पत्ति के कारण ब्रह्म को मैं जानता हूँ और चन्द्रमा को भी मैं जानता हूँ। यह सब प्रपंच जिससे पैदा हुआ है, उस परमात्मा को भी मैं जानता हूँ॥ ६०॥**

ब्रह्मा प्रत्युत्तरमाह वेदेति। अस्य भुवनस्य कार्यजातस्य नाभिं नहनं बन्धनं कारणं परं ब्रह्मेत्यहं जानामि। द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च ब्रह्मविकारत्वेन अहं वेद जानामि। बृहतः सूर्यस्य जनित्रमुत्पत्तिकारणं ब्रह्मैवेत्यहं जानामि। अथो अपि च यतोजाश्चन्द्रमसमहं वेद। परमात्मनो जातं चन्द्रमहं जानामीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'विडन्नस्य भुवनस्य नाभिं मध्यमाङ्गं बन्धनस्थानं को वेद। द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च को वेद। बृहतः सूर्यस्य जनित्रं को वेद। यतोजास्तं चन्द्रमसं च को वेदेति समाधेहि। हे जिज्ञासो, अस्य भुवनस्य नाभिं बन्धनं स्थितिकारणमहं वेद। लोकत्रयस्य कारणं सूर्याचन्द्रमसोश्चोपादाननिमित्ते एतत्सर्वमहं जानामि। ब्रह्मैवास्य सर्वस्य निमित्तं प्रकृतिश्चोपादानम्' इति, तदपि महीधराद्यनुकरणमेव। उपादानं प्रकृतिरिति तु निर्मूलमेव, 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्' (ब्र० सू० १।४।२३) इति ब्रह्मण एव प्रकृतित्वविरोधात् सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च॥ ६०॥

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥ ६१॥

मन्त्रार्थ - **यजमान का प्रश्न—पृथ्वी की अन्तिम अवधि के विषय में मैं तुमसे पूछता हूँ। ब्रह्माण्ड के कारण के विषय में, मनोरथ पूर्ण करने वाले प्रजापति की सामर्थ्य के विषय में और त्रयी वाणी के उत्तम स्थान के विषय में भी मैं तुमसे प्रश्न करता हूँ॥ ६१॥**

'यजमानोऽध्वर्युं पृच्छामि त्वेति' (का० श्रौ० २०।७।१४)। यजमानोऽध्वर्युं पृच्छति पृच्छामि त्वेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। हे अध्वर्यो, पृथिव्याः परम् अन्तमवधिभूतं पर्यन्तं त्वामहं पृच्छामि। द्विकर्मकोऽयं धातुः। यत्र यस्मिन् स्थले भुवनस्य भूतजातस्य नाभिर्नहनं कारणम्, तदपि त्वां पृच्छामि। वृष्णः सेक्तुरश्वस्य रेतो वीर्यं त्वां पृच्छामि। वाचो वाण्यास्त्रयीलक्षणायाः परममुत्कृष्टं व्योम व्यवनं स्थानं त्वां पृच्छामि॥ ६१॥

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।

अयᳪ सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—यह उत्तरवेदी रूप गगनमण्डल देहरूप भूमि की अन्तिम सीमा है। यज्ञपुरुष सारे ब्रह्माण्ड का कारण है। सारे मनोरथों को पूर्ण करने वाली सामर्थ्य प्रजापति का वीर्य है। यह सोम और ब्रह्मा वेदवाणी के उत्तम स्थान हैं ॥ ६२ ॥

'इयं वेदिरित्यध्वर्युः' (का० श्रौ० २०।७।१५)। अध्वर्युर्यजमानमुत्तरयन् इयं वेदिरिति मन्त्रं ब्रूत इति सूत्रार्थः। इयं वेदिरुत्तरवेदिः पृथिव्याः परोऽन्तोऽवधिः, वेदेः सर्वपृथिवीरूपत्वात्। अयं यज्ञोऽश्वमेधो भुवनस्य प्राणिजातस्य नाभिः कारणम्, 'यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' (श० १।९।२।५) इति श्रुतेः। अयं सोमश्चन्द्रः सोमलता वा वृष्णः सेचनसमर्थस्याश्वस्य आदित्यात्मकस्य रेतो वीर्यम्, यस्मात् सूर्यसकाशाच्चन्द्रमसस्तेजः-प्राप्तिस्तत इत्यर्थः। अथवा सोमलताश्वस्य वीर्याज्जातेत्यर्थः। अयं ब्रह्मा ऋत्विग् वाचस्त्रयीरूपायाः परमं व्योम स्थानम्, ब्रह्मणस्त्रिवेदसंयोगादित्यर्थः। समाप्तं ब्रह्मोद्यम्।

अध्यात्मपक्षे—इयं वेदिः परमात्मस्वरूपा चितिः पृथिव्या मायाभूमेः परोऽन्तः, तत्रैव तस्या अध्यस्तत्वात्। अयं यज्ञोऽपरोक्षात्मा भिन्नो विष्णुः परमेश्वरो भुवनस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य कार्यजातस्य वा नाभिर्नहनं बन्धनस्थानं कारणम्, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते⋯तद्ब्रह्म' (तै० उ० ३।१)। अयं सोमश्चन्द्रमा वृष्णोऽभीष्टवर्षणशीलस्याश्वस्य प्रजापतेः परमेश्वरस्य रेतो वीर्यं बलम्, 'चन्द्रमा मनसो जातः' (वा० सं० ३१।१२) इति मन्त्रवर्णात्, तत्सङ्कल्पादेव सर्वोत्पत्तेश्च। अयं ब्रह्मा रजोऽवच्छिन्नश्चेतनो विश्वविधाता वाचो वेदलक्षणायाः परमं व्योम स्थानम्, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' (बृ० उ० २।४।१०) इति श्रुतेः। 'कः स्विदेकाकी चरति' इत्यादिब्रह्मोद्यमन्त्रेषु दयानन्देन यथेच्छं सम्बोधनानि कल्पितानि। उव्वट-सायण-महीधराचार्यैस्तु शतपथानुसारेणैव सम्बोधनमुपात्तम्।

अत्र दयानन्दः—'हे विद्वन्, अहं पृथिव्या अन्तं सीमानं भुवनस्य नाभिं मध्याकर्षणेन बन्धकं वृष्णोऽश्वस्य बलवतो रेतः पृच्छामि। वाचः परमं प्रकृष्टं व्योम आकाशरूपं स्थानं पृच्छामि। तदुत्तरम्—हे जिज्ञासो, इयं वेदिर्मध्यरेखा पृथिव्याः परोऽन्तः। अयं यज्ञः पूज्यो जगदीश्वरो भुवनस्य संसारस्य नाभिः। अयं सोम ओषधिराजो वृष्णो वीर्यकरस्य अश्वस्य बलेन युक्तस्य रेतः पराक्रमः। ब्रह्मा चतुर्वेदविद् वाचः परमं व्योमास्ति' इति, तदप्यसङ्गतम्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। वेदिपदस्य मध्यरेखार्थत्वे मानाभावात्। तथैव नाभिपदस्य मध्याकर्षणार्थतापि निर्मूलैव। सोमः पराक्रम इत्यप्यनर्थः, पराक्रमस्य पुरुषधर्मत्वात्, सोमस्य बाह्यत्वाच्च ॥६२॥

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे । दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—अध्वर्यु सुवर्णमय पात्र में महिम ग्रह को ग्रहण कर कहता है—यह बात प्रसिद्ध है कि सबके आदि-कारण, विश्व के उत्पादक, अपनी इच्छा से प्रकट होने वाले परमात्मा ने महान् विस्तार वाले कल्पान्त काल के सागर में ब्रह्माण्ड रूप गर्भ को स्थापित किया था। इसी से प्रजापति ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई थी ॥ ६३ ॥

सुभूरिति पूर्वस्य प्राजापत्यस्य महिम्नो ग्रहस्य पुरोऽनुवाक्या उत्तरस्य याज्या च, 'उदिते ब्रह्मोद्ये प्रपद्याध्वर्युर्हिरण्मयेन पात्रेण प्राजापत्यं महिमानं ग्रहं गृह्णाति तस्य पुरोरुग्घिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इत्यथास्य पुरोऽनुवाक्या सुभूः स्वयम्भूः प्रथम इति होता यक्षत् प्रजापतिमिति प्रैषः प्रजापते न त्वदेतान्यन्य इति होता

यजति वषट्कृते जुहोति यस्तेऽहन् संवत्सरे महिमा सम्बभूवेति नानुवषट्करोति सर्वहुतꣳ हि जुहोति' (श० १३।५।२।२३) इति श्रुतेः। प्रजापतिदेवत्याऽनुष्टुप्। प्रथमः सर्वस्य आदिरनादिनिधनः सुभूः सुष्ठु भवतीति सुभूः साधुभवनः, अथवा भवनं भूरुत्पत्तिः, सुष्ठु सर्वेषां भूरुत्पत्तिर्यस्मात् स सुभूर्विश्वोत्पादकः। स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः स्वेच्छया धृतविग्रहः, पुरुषो हिरण्यगर्भो महत्यर्णवे कल्पान्तकालिके समुद्रेऽन्तर्मध्ये गर्भं दधे स्थापितवान्। ह इति प्रसिद्धौ। कीदृशं गर्भम्? ऋत्वियम्, ऋतुः प्राप्तो यस्य स ऋत्वियः, तं प्राप्तकालम्। 'छन्दसि घस्' (पा० सू० ५।१।१०६) इति घस्। यतो गर्भात् प्रजापतिर्ब्रह्मा जात उत्पन्नः।

अत्र ब्राह्मणम्—'शृतासु वपासु। स्वाहाकृतिभिश्चरित्वा प्रत्यञ्चः प्रतिपरेत्य सदसि ब्रह्मोद्यं वदन्ति पूर्वया द्वारा प्रपद्य यथाधिष्ण्यं व्युपविशन्ति' (श० १३।५।२।११)। 'स होताध्वर्युं पृच्छति। कः स्विदेकाकी चरतीति तं प्रत्याह सूर्य एकाकी चरतीति' (श० १३।५।२।१२)। 'अथाध्वर्युर्होतारं पृच्छति। किꣳ स्वित् सूर्यसमं ज्योतिरिति तं प्रत्याह ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिरिति' (श० १३।५।२।१३)। 'अथ ब्रह्मोद्गातारं पृच्छति। पृच्छामि त्वा चितये देवसखेति तं प्रत्याहापि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मीति' (श० १३।५।२।१४)। 'अथोद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति। केष्वन्तः पुरुष आविवेशेति तं प्रत्याह पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेशेति' (श० १३।५।२।१५)। 'एतस्यामुक्तायामुत्थाय। सदसोऽधि प्राञ्चो यजमानमभ्यायन्त्यग्रेण हविर्धाने आसीनमेत्य यथायतनं पर्युपविशन्ति' (श० १३।५।२।१६)। 'स होताध्वर्युं पृच्छति। का स्विदासीत् पूर्वचित्तिरिति तं प्रत्याह द्यौरासीत् पूर्वचित्तिरिति' (श० १३।५।२।१७)। 'अथाध्वर्युर्होतारं पृच्छति। का ईमरे पिशङ्गिलेति तं प्रत्याहाऽजारे पिशङ्गिलेति' (श० १३।५।२।१८)। 'अथ ब्रह्मोद्गातारं पृच्छति। कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणीति तं प्रत्याह षडस्य विष्ठाः शतमक्षराणीति' (श० १३।५।२।१९)। 'अथोद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति। को अस्य वेद भुवनस्य नाभिमिति तं प्रत्याह वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिमिति' (श० १३।५।२।२०)। 'अथाध्वर्युं यजमानः पृच्छति। पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्या इति तं प्रत्याहेयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या इति' (श० १३।५।२।२१)। 'सर्वाप्तिर्वा एषा वाचः। यद् ब्रह्मोद्यꣳ सर्वे कामा अश्वमेधे सर्वया वाचा सर्वान् कामानाप्नवामेति' (श० १३।५।२।२२)। एवं श्रुतीराधृत्य उव्वटसायणादिव्याख्यानम्। तस्मात् सायणाद्याचार्यव्याख्यानमेव सर्वतो विजयतेतमाम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, यतः प्रजापतिर्जातः, यश्च सुभूः स्वयभूः प्रथमो जगदीश्वरो महत्यर्णवेऽन्तऋत्वियं गर्भं दधे तं ह सर्वे जना उपासीरन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। सुभूःस्वयम्भूरित्यनयोरन्यतरेणैव गतार्थत्वेनान्यतरस्य वैयर्थ्यापत्तेः। न च निराकारस्य निरवयवस्य बीजधारणं सम्भवति। सिद्धान्ते तु हिरण्यगर्भस्य सङ्कल्पवशात् सर्वं सम्भवति विनश्यति चेति नानुपपत्तिः। न च त्वन्मते सङ्कल्पोऽपि सम्भवति, तद्धेतोरात्ममनःसंयोगस्याभावात्। न च संयोगोऽपि सम्भवति, तद्धेतोरभावात्॥ ६३॥

होता॑ यक्षत् प्र॒जाप॑ति॒ꣳ सोम॑स्य महि॒म्नः। जु॒षतां॒ पिब॑तु॒ सोम॒ꣳ होत॒र्यज॑॥ ६४॥

मन्त्रार्थ—होता ने महान् सोम सम्बन्धी प्रजापति का यजन किया था। पूजित प्रजापति ने सोम का सेवन किया था। हे मनुष्य होता! तुम भी यजन करो और सोम का पान करो॥ ६४॥

महिम्नः प्रैषः, 'होता यक्षत् प्रजापतिमिति प्रैषः' (श० १३।५।२।२३) इति श्रुतेः। आर्षी गायत्री। महिम्नो महिमसंज्ञकस्य सोमग्रहस्य सम्बन्धिनं प्रजापतिं दैव्यो होता यक्षद् यजतु। इज्यमानः स प्रजापतिर्जुषतां सोमं महिमग्रहं च प्रीत्या परिगृह्णातु पिबतु च। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता प्रजापतिं परमात्मानं यक्षद् यजतु। इज्यमानः स देवः सोमपूर्णं महिमग्रहं प्रीत्या सेवतां पिबतु च। हे मनुष्यहोतः, दैवहोतृवत् त्वमपि परमात्मानं प्रजापतिं यज।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता सोमस्य महिम्नः प्रजापतिं यक्षतु जुषतां च सोमं च पिबतु, तथा त्वं यज पिब च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शतपथब्राह्मणविरोधात्। तत्र महिमाख्यो ग्रहो महिमपदार्थो व्याख्यातः, न महत्त्वमिति ॥ ६४ ॥

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॒ परि॒ता ब॑भूव।

यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम् ॥ ६५ ॥

॥ इति त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—हे प्रजापते! प्रजापालन आदि कार्यों में तुमसे अधिक निपुण कोई नहीं है, अतः तुम ही हमारी प्रार्थना पूरी कर सकते हो। हे देव! हम जिस कामना से हवन करें, वह सफल हो। आपकी कृपा से हम अपरिमित धन के स्वामी बनें ॥ ६५ ॥

पूर्वस्य महिम्नो याज्या, 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्य इति होता यजति' (श० १३।५।२।२३) इति श्रुतेः। हे प्रजापते, त्वत् त्वत्तोऽन्यो देवताविशेषः, तान्येतानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि नानाजातीयानि वर्तमान-भूतभविष्यत्कालत्रयविषयाणि न परिबभूव परिभवितुं नाशयितुं समर्थो नाभूत्। परिभवः सृष्टेरप्युपलक्षकम्। त्वदन्यो देव एतानि स्रष्टुं पालयितुं चाप्यसमर्थः, अतो वयं यत्कामास्ते जुहुमस्तत्कामरूपं नोऽस्मासु सुभृशं स्यात्। वयं रयीणां पतयः स्याम। इयमृग् विशेषतो दशमेऽध्याये २० कण्डिकायां व्याख्याता ॥ ६५ ॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनसंहिताया वेदार्थपारिजातभाष्ये त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे पुरस्तात् सारस्वती मेष्यधस्ताद्धन्वोराश्विनावधोरामौ बाह्वोः सौमापौष्णः श्यामो नाभ्याᳬं सौर्ययामौ श्वेतश्च कृष्णश्च पार्श्वयोस्त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योर्वायव्यः श्वेतः पुच्छ इन्द्राय स्वपस्याय वेहद्वैष्णवो वामनः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ – अश्वमेध में २१ यूप (यज्ञस्तम्भ) होते हैं। उनमें मध्यम यूप का नाम अग्निष्ठ है। उसके समीप सत्रह पशुओं को बाँधकर उनके अधिष्ठात्री देवताओं का स्मरण तथा उन देवताओं के गुणों और चिह्नों का वर्णन किया जाता है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है –अश्व, शृंगोत्पत्ति के समय भी शृंगहीन पशु और गवय ये तीनों प्रजापति देवता वाले हैं। इनको प्रजापति की प्रीति के निमित्त बाँधता हूँ। अग्नि देवता वाले काली गर्दन के अज को अश्व के आगे ललाट के पास बाँधे, हनु के नीचे सरस्वती देवता वाली मेषी को बाँधे, अधोभाग में अश्विनीकुमार देवता वाली शुक्ल वर्ण की दो अजाओं को अश्व की बाहुओं के निकट बाँधे, सोम और पूषा देवता वाले शुक्ल और कृष्ण रोम वाले अज को नाभि के समीप बाँधे, सूर्य और यम देवता वाले श्वेत और काले पशुओं को अश्व के दोनों ओर बाँधे, बहुत रोम वाले पूँछ वाले त्वष्टा देवता के पशु को जाँघों के समीप बाँधे, वायु देवता वाले श्वेत वर्ण पशु को पूँछ के पास बाँधे, शु॰ कर्मा इन्द्र के निमित्त गर्भघाती विष्णुसम्बन्धी नाटे पशु को बाँधे ॥ १ ॥

श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां देवतासम्बन्धविधायिनोऽनेनाध्यायेनोच्यन्ते। तत्राश्वमेधे एकविंशतिर्यूपाः। तत्र मध्यमो यूपोऽग्निष्ठनाम्ना प्रसिद्धः। तत्र सप्तदश पशवो नियुज्यन्ते। देवतासम्बन्धकथनपूर्वकं तानाह—अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्या इति। अश्वः प्रसिद्धः, तूपरः शृङ्गोत्पत्तिकालेऽतीतेऽपि शृङ्गहीनो योऽजः स तूपरः, गोमृगो गवयः—त एते प्राजापत्याः प्रजापतिर्देवता येषां ते, अर्थात् प्रजापतिदेवताकाः। ततः प्रजापतये जुष्टं नियुनज्मीति मन्त्रेण ते पशवस्तत्र यूपे बन्धनीयाः। एवमग्रेऽपि यो यद्देवत्यः पशुः स अमुष्मै जुष्टं नियुनज्मीत्यादिमन्त्रैर्बन्धनीयः।

अत्र सर्वत्र पशुविधिषु यत्र यो जातिविशेषबोधकः शब्दस्तत्र तज्जातीय एव पशुः, विशेषश्रवणाभावे तु अज एव पशुः। कृष्णग्रीवः, कृष्णा ग्रीवा यस्यासौ। आग्नेयोऽग्निदेवत्यः, रराटे ललाटे। छान्दसो रेफः। पुरस्ताद् अश्वस्य पुरस्तात्, ललाट इति यावत्। तत्रोपनये बन्धनीयः। सारस्वती सरस्वत्या इयं सारस्वती सरस्वतीदेवत्या मेषी हन्वोरश्वहनुप्रदेशयोरधस्तान्नियोज्या। आश्विनौ अश्विदेवत्यौ, अधोरामौ अधः कायस्य अधोभागः, रामो रमणीयः शुक्लवर्णो ययोस्तौ, एवंभूतावजौ बाह्वोरश्वस्य पूर्वपादयोरेकैको बन्धनीयः। सौमापौष्णः, सोमश्च पूषा च सोमपूषणौ, तौ देवते यस्य स सौमापौष्णः सोमपूषदेवत्यः श्यामः कृष्णरोमाऽजः, अश्वस्य नाभ्यां नाभिप्रदेशस्याधस्तान्नियोक्तव्यः। सौर्ययामौ, सूर्यो देवता यस्यासौ सौर्यः, यमो देवता यस्यासौ यामः, सौर्यश्च यामश्च सौर्ययामौ, श्वेतश्च कृष्णश्च तौ सौर्ययामौ यथाक्रमं श्वेतवर्णः कृष्णवर्णश्च भवतः। तौ कुत्र बन्धनीयावित्याह –पार्श्वयोरिति। अर्थात् श्वेतः सूर्यदेवत्यो दक्षिणपार्श्वे, यमदेवत्यः कृष्णोऽश्वस्य वामपार्श्वे। लोमशसक्थौ लोमानि सन्ति ययोस्ते लोमशे, 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः' (पा॰ सू॰

५।२।१००) इति शः। लोमशे लोमबहुले सक्थिनी ऊरुमूले ययोस्तौ लोमशसक्थौ। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० सू० ५।४।११३) इति षचि साधुः। तौ पशू त्वाष्ट्रौ त्वष्टृदेवत्यौ बहुरोमपुच्छकौ सक्थ्योः अश्वस्य पश्चात्पदयोरेकैको नियोजनीयः। वायव्यो वायुदेवत्यः श्वेतः पशुः पुच्छेऽश्वस्य पुच्छे बन्धनीयः। स्वपस्याय इन्द्राय, 'अप इति कर्मनामसु' (निघ० २।१।१), अपसि कर्मणि साधु अपस्यं धनम्, शोभनमपस्यं यस्य स स्वपस्यः, तस्मै इन्द्राय वेहद् गर्भघातिनी। वामनः, वामयतीति वामनः, नन्दादित्वाल्ल्युः। अथवा वाममतिसुन्दरमस्त्यस्येति वामनः, पामादित्वान्नः। खर्वावयवः पशुर्वैष्णवो विष्णुदेवत्यः, स च पुच्छ एव बन्धनीयः, अङ्गान्तरानुक्तेः।

एवमश्वादयः सङ्कलय्य पञ्चदश पशवो भवन्ति। एते पर्यङ्ग्या उच्यन्ते। परितोऽङ्गेषु भवा पर्यङ्ग्याः, कृष्णग्रीवा इत्यादयः। अत्र अश्वस्य शरीरं तुम्बीफलवद्रज्जुं बद्ध्वा गुम्फनीयम्। ततः कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे इत्यादयोऽश्वस्य शरीरे यथोक्तस्थाने सम्बद्धायां रज्ज्वां बन्धनीयाः। ततोऽग्रिमायां कण्डिकायां श्रुता रोहितः, धूम्ररोहितः, कर्कन्धुरोहित इत्यादयः; शितिबाहुः, अन्यतःशितिबाहुः, समन्तशितिबाहुः, ते बार्हस्पत्या इत्यन्ता द्वादशपशवो मध्यम एव यूपे नियोज्याः। ततः पृषती क्षुद्रपृषतीत्यादीनां श्वेताः सौर्या इत्यन्तानामेकोनविंशीं कण्डिकां यावत्पठितानां शतत्रयसंख्याकानां पशूनां मध्ये पञ्चदश पञ्चदश पशून् नियुञ्ज्यात्। एवं मध्यमं यूपं विहाय इतरेषु यूपेषु पञ्चदश पञ्चदश एते पशवः, एकैकश्च एकादशिन इति षोडश षोडश पशवो भवन्ति। तथा चाह श्रुतिः—'सप्तदशैव पशून् मध्यमे यूप आलभेत। प्रजापतिः सप्तदशः सर्वं सप्तदशः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै षोडश षोडशेतरेषु षोडशकलं वा इदं सर्वम्' (श० १३।५।१।१५)।

अध्यात्मपक्षे अत्र भगवतः सार्वात्म्यबोधनाय तत्तद्देवताकानां पशूनां तत्तद्देवतानां च हिरण्यगर्भ-प्रजापतिसम्बन्धः, प्रजापतेश्च सर्वाधिष्ठानभूतेन परमात्मनाऽभेदबोधनात् तस्य सर्वात्मता व्यज्यते। अश्वस्तूपरो गोमृगश्चैते पशवः प्राजापत्याः। प्रजापतिश्च परमात्मैव, परमात्मकार्यत्वात्। मृद्विकाराणामिव मृत्तिकारूपवदिति। मन्त्रव्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यूयमश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीव आग्नेयस्ते पुरस्ताद् रराटे मेषी सारस्वतोऽधस्ताद् हन्वोर्बाह्वोरधोरामौ आश्विनौ सौमापौष्णः श्यामो नाभ्यां पार्श्वयोः श्वेतश्च कृष्णश्च सौर्ययामौ सक्थ्यौ लोमशसक्थ्यौ त्वाष्ट्रौ पुच्छे श्वेतो वायव्यो वेहद् वैष्णवो वामनश्च स्वपस्यायेन्द्राय संयोजयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रार्थानवगमात्, असङ्गतेश्च। यथा कश्चिदमरकोशश्लोकैश्चिकित्सां साधयेत्, तत्तु बलात्कारितमेवेति, तद्वत्। अश्वादिषु सूर्यदेवतागुणाः कथं सिद्ध्यन्ति ? किञ्च तैः कर्तव्यमित्याद्यनुक्तेः। कृष्णग्रीवस्य कथमग्निदेवताकत्वम् ? कथं च तस्य ललाटनिमित्तत्वमिति ? हन्वोरधस्तात् सरस्वती देवता का ? मेषी कथं किमर्थं च कर्तव्येत्यादिकं सर्वं दुःसमाधेयमेव ॥ १ ॥

रोहि॑तो धू॒म्ररो॑हितः क॒र्कन्धु॑रोहित॒स्ते सौ॒म्या ब॒भ्रुर॑रु॒णब॑भ्रु॒: शुक॑बभ्रु॒स्ते वा॑रु॒णाः शि॑ति॒र॒न्ध्रोऽन्यत॑: शितिर॒न्ध्रः स॒मन्त॑शितिर॒न्ध्रस्ते सा॑वि॒त्राः शि॑ति॒बा॒हुर॒न्यत॑: शितिबा॒हुः स॒मन्त॑शितिबा॒हुस्ते बा॑र्हस्प॒त्याः पृष॑ती क्षु॒द्रपृ॑षती स्थू॒लपृ॑षती॒ ता मै॑त्रावरु॒ण्य॑: ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वरक्त, धूम्र वर्ण से मिला रक्त और बेर के समान रक्त—ये तीनों वर्णों के पशु सोम देवता वाले हैं। नेवले के समान भूरे वर्ण के, लाल भूरे रंग के और तोते के समान हरे और कपिल वर्ण के– ये सब पशु वरुण देवता के हैं। मर्मस्थान में श्वेत वर्ण और अन्य स्थानों में श्वेत रंध्र वाले तथा सब ओर से श्वेत रन्ध्र वाले—ये सब

पशु सविता देवता वाले हैं। श्वेत पूर्व पद वाले, एक स्थान में श्वेत पूर्व पद वाले और सब श्वेत चरण वाले—ये सब पशु बृहस्पति देवता के हैं। विचित्र वर्ण चित्ती के शरीर वाले, सूक्ष्म विचित्र चित्ती वाले और स्थूल विचित्र चित्ती वाले—ये तीनों पशु मित्रावरुण देवता से सम्बन्ध रखने वाले हैं ॥ २ ॥

रोहितः सर्वरक्तः, धूम्ररोहितो धूम्रवर्णमिश्रो रक्तः, कर्कन्धुरोहितो बदरसदृशरक्तः –इत्येते त्रयः सौम्याः सोमदेवत्याः पशवः सोमाय जुष्टं नियुनज्मीत्यादिमन्त्रेण प्रत्येकं सोमदेवतायै मध्यमे यूप एव नियोज्याः। बभ्रुः कपिलवर्णः। अरुणबभ्रुररुणवर्णमिश्रः कपिलः, कैर इति भाषायाम्, शुकबभ्रुः शुकपक्षिसमवर्णः कपिलश्च, ते त्रयो वारुणा वरुणदेवत्या मध्यमयूप एव नियोज्याः। श्वेतबभ्र्वादिगुणवाचिनोऽपि शब्दास्तदभिधानद्वारेण गुणिनि पशौ पर्यवस्यन्ति। शितिरन्ध्रः शिति कृष्णं रन्ध्रं छिद्रं (छिद्रमिव दृश्यते) यस्मिन् पशौ स शितिरन्ध्रः, अन्यतः शितिरन्ध्रोऽन्यत एकपार्श्वे शितिरन्ध्रं यस्य सः, समन्तशितिरन्ध्रः समन्तं सर्वतः शितिरन्ध्रं यस्य स समन्तशितिरन्ध्रः, स्वभावतः शुक्लवर्णे पशौ-सर्वस्मिन् गात्रे रन्ध्रसमाः कृष्णबिन्दवो यस्यासौ समन्तशितिरन्ध्रः। ते त्रयः सावित्राः सवितृदेवत्याः पशवो मध्यमयूप एव नियोज्याः। शितिबाहुः शिती श्वेतौ बाहू पूर्वपादौ यस्य सः शितिबाहुः, अन्यतः शितिबाहुरेकस्मिन्नेव पार्श्वे शितिपादः, समन्तशितिबाहुः सर्वः श्वेतबाहुः 'शिती धवलमेचकौ' (अ० को० ३।३।८३) इति कोषात्, त एते त्रयः पशवो बार्हस्पत्या बृहस्पतिदेवत्याः। एतेऽपि मध्यम एव यूपे नियोज्याः। पृषती पृषन्ति विचित्रवर्णबिन्दवो यस्यां सा, क्षुद्रपृषती क्षुद्राणि सूक्ष्माणि पृषन्ति बिन्दवो यस्यां सा, स्थूलपृषती स्थूलविचित्रबिन्दुयुक्ता, ता एताः स्त्रीपशवो मैत्रावरुण्यो मित्रावरुणदेवत्या द्वितीये यूपे नियोज्याः। एवं पञ्चदशपशुके एको गणो मतः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वे चैते पशवो यस्यै यस्यै देवतायै नियुज्यन्ते, सा सा परमात्मरूपैव।

दयानन्दस्तु –'ये चन्द्रादिगुणयुक्ताः पशवः सन्ति, तैस्तत्तत्कार्यं मनुष्यैः साध्यमिति भावार्थः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्, केन किं कार्यं साध्यमित्यनुक्तेश्च, सौम्याः सावित्रा वारुणा इत्यादिभिर्बोधितदेवता-सम्बन्धाभिप्रायानुक्तेश्च। नहि बृहस्पत्यादयो देवताः पशूनां गुणाः सम्भवन्ति, तथात्वे मानाभावात् ॥ २ ॥

शुद्धवा॑लः स॒र्वशु॑द्धवालो म॒णिवा॑ल॒स्त आ॑श्वि॒नाः श्येतः॑ श्येता॒क्षोऽरु॒णस्ते रु॒द्राय॑ पशु॒पत॑ये क॒र्णा या॒मा अ॑वलि॒प्ता रौ॒द्रा नभो॑रूपा पार्ज॒न्याः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—शुद्ध केश वाले, सर्वशुद्ध केश वाले और मणि के समान स्वच्छ केश वाले—ये तीनों पशु अश्विनी-कुमार देवता वाले हैं। श्वेत, श्वेतनेत्र और लाल वर्ण के पशु पशुसमाज के, कर्मबद्ध जीवों के स्वामी रुद्रदेव की प्रीति के निमित्त नियुक्त किये गये हैं। चन्द्रमा के समान श्वेत कान वाले तीन पशु यम देवता के, गर्वीले तीन पशु रुद्र देवता के और आकाश के समान नील वर्ण वाले तीन पशु पर्जन्य देवता के माने जाते हैं ॥ ३ ॥

गणान्तरमाह—शुद्धवाल इति। शुद्धवालः शुद्धो वालः केशो यस्य स शुभ्रवालः। सर्वशुद्धवालः सर्वतः शुद्धो वालो यस्य सः, मणिवालो मणिभिरलङ्कृत इव वालो यस्य सः। एवंविधा ये पशवस्ते आश्विना अश्वि-देवत्याः। एते द्वितीये यूपे नियोज्याः। श्वेतः श्वेतवर्णः पशुः, श्येताक्षः श्येते शुक्लवर्णे अक्षिणी यस्य सः। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० सू० ५।४।११३) इति साधुः। अरुणो रक्तः, अव्यक्तराग इति सायणाचार्यः। य एवंरूपाः पशवस्ते पशुपतये रुद्राय पशुपालनविशिष्टरुद्रदेवतायै नियोक्तव्याः। एतेऽपि द्वितीये यूपे नियोज्याः। कर्णाश्चन्द्रसदृशश्वेतकर्णास्त्रयः पशवः, 'कर्णश्चन्द्रे च वृक्षे च' इति विश्वकोषोक्तिरीत्यार्थो ज्ञेयः। अत्र यद्यपि त्रित्वसंख्या पशुविशेषणतया नोपात्ता, तथापि 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इति वाक्यं विषयीकृत्य विचारपरे

कपिञ्जलाधिकरणे बहुवचनस्य त्रित्वे पर्यवसानस्य मीमांसायां सिद्धान्तितत्वाद् बहुवचनोपपत्तये त्रित्वसंख्या पशुविशेषणतया योजनीया। त एते पशवो यामा यमदेवत्या द्वितीये यूपे नियोज्याः। अवलिप्ताः सगर्वास्त्रयः पशवो रौद्रा रुद्रदेवत्याः, एते द्वितीये यूपे पञ्चदश पशवः। अथ तृतीये यूपे नभोरूपा आकाशवन्नीलवर्णास्त्रयः पशवः पार्जन्याः पर्जन्यदेवत्यास्तृतीये यूपे नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे - सर्वे चैते पशवस्तैर्यजनीया देवताश्च ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपा ज्ञातव्याः।

दयानन्दस्तु पूर्ववदेवमर्थमाह—'यो यस्य पशोर्देवतास्ति, स तस्य गुणोऽस्तीति वेद्यमिति भावार्थे विशेषः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्, पशुषु यमरुद्रपर्जन्यगुणानामदर्शनाच्च ॥ ३ ॥

पृश्निस्तिरश्चीनपृश्निरूर्ध्वपृश्निस्ते मारुताः फल्गूर्लोहितोर्णी पलक्षी ताः सारस्वत्यः प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णोऽद्ध्यालोहकर्णस्ते त्वाष्ट्राः कृष्णग्रीवः शितिकक्षोऽञ्जिसक्थस्त ऐन्द्राग्नाः कृष्णाञ्जिरल्पाञ्जिर्महाञ्जिस्त उषस्याः ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ - चित्र वर्ण, तिरछी रेखा वाले और ऊपर नीचे लम्बी रेखा वाले तीन पशु मरुद् देवता के, अपुष्ट शरीर, लोहित रोम वाले और श्वेत वर्ण के तीन पशु सरस्वती देवता के, कान पर प्लीहा रोग वाले अथवा लम्बे कान वाले, छोटे-छोटे कान वाले और रक्तवर्ण कान वाले पशु त्वष्टा देवता के, ग्रीवा में कृष्ण वर्ण रोम वाले, बगल में श्वेत वर्ण रोम वाले और जंघा पर रेखाक्रम के रोम वाले त्रिविध पशु इन्द्र और अग्नि देवताओं के, शरीर पर काली रेखा वाले, देह पर दो चार रेखा वाले और पूरे शरीर पर बड़ी-बड़ी रेखा वाले त्रिविध पशु उषा देवता के माने जाते हैं ॥ ४ ॥

पृश्निर्विचित्रवर्णः, तिरश्चीनपृश्निस्तिरश्चीनानि पृश्नीनि बिन्दवो यस्य सः, ऊर्ध्वपृश्निरूर्ध्वानि पृश्नीनि यस्य सः, एवं विविधबिन्दूपेतः, तिरश्चीनबिन्दुः, ऊर्ध्वबिन्दुश्चैते त्रयो मारुता मरुद्देवत्याः। एते तृतीये यूपे नियोज्याः। पृश्निरल्पतनुः, तिरश्चीनपृश्निस्तिर्यक्प्रमाणेनाल्पशरीरः, ऊर्ध्वपृश्निरूर्ध्वप्रमाणेन आयामेन अल्पाकार इति सायणाचार्यः। फल्गूरपुष्टशरीरा, सम्पुष्टशरीरेति सायणः। विश्वकोषे फल्गुशब्दस्योभयार्थकत्वम्। लोहितोर्णी रक्तरोमयुक्ता, पलक्षी श्वेता, पलक्षशब्दो वलक्षार्थः श्वेतपर्यायः। एतास्तिस्रोऽजाः सारस्वत्यः सरस्वतीदेवताकाः। एतेऽपि पशवस्तृतीये यूपे नियोज्याः। प्लीहाकर्णः प्लीहा वामकुक्षिवर्तिमांसपिण्डविशेषः, तथाप्यत्र रोगविशेषः, प्लीहा कर्णे यस्य स प्लीहाकर्णः, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। शुण्ठाकर्णः शुण्ठौ ह्रस्वौ कर्णौ यस्य सः शुण्ठाकर्णः, पूर्ववद्दीर्घः। अद्ध्यालोहकर्णो रक्तवर्णकर्णः। ते त्रयस्त्वाष्ट्रास्त्वष्टृदेवत्यास्तृतीये यूपे नियोज्याः। कृष्णग्रीवः, शितिकक्षः श्वेतकक्षः, अञ्जिसक्थोऽञ्जि पुण्ड्रं सक्थ्नोरूर्वोर्यस्य सः, अभिव्यक्तोरुरिति सायणाचार्यः, ते त्रय ऐन्द्राग्ना इन्द्राग्निदेवत्या इति पञ्चदशसंख्याकाः पशवस्तृतीये यूपे नियोज्याः। अथ चतुर्थे यूपे कृष्णाञ्जिः कृष्णमञ्जि पुण्ड्रं यस्य सः, अल्पाञ्जिरल्पमञ्जि यस्य सः, महाञ्जिर्महद् अञ्जि यस्य सः, कृष्णाञ्जिः कृष्णवर्णाभिव्यक्तिमान्, अल्पाञ्जिरीषदभिव्यक्तिमान्, महाञ्जिर्महापुंस्त्वाभिव्यक्तिमानिति सायणाचार्यः। त एते त्रय उषस्या उषोदेवत्याश्चतुर्थे यूपे नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे—एते पशवस्तैर्यष्टव्या देवताश्च ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपा ज्ञातव्याः।

दयानन्दस्तु—'पृश्निः प्रष्टव्यः, तिरश्चीनः पृश्निः स्पर्शो यस्य सः' इति, एतच्च निर्मूलमेव, प्रमाणशून्यत्वात्। या फलानि गच्छति प्राप्नोति सा फल्गुरिति, तदपि न, रूढ्या योगापहारात्। पलक्षी पले चञ्चले अक्षिणी यस्या सा पलक्षीत्यपि न, वलक्षशब्दस्य श्वेतार्थे रूढत्वात्, 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इत्यमरात्। शुण्ठ

शुष्कौ कर्णौ यस्य स शुण्ठाकर्ण इत्यपि निर्मूलम्, ह्रस्वार्थतायां शुण्ठशब्दप्रसिद्धेः। प्लीहेव कर्णे यस्येत्यपि निर्मूलम्, प्लीहशब्दस्य वामकुक्षिवर्तिमांसपिण्डविशेषे रूढत्वात्। रोगस्तु तत्र विकारः। न च कर्णे प्लीहा भवति, तस्माद् रोगविशेष एव प्लीहेति मन्तव्यम्। 'अधिगतं च तल्लोहं च सुवर्णं च तद्वद्वर्णो यस्य सः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशपश्वप्रसिद्धेः। कृष्णा विलिखिता अञ्जिर्गतिर्यस्येत्यादिकमपि यत्किञ्चित्, गतेर्विलेखनस्याप्रसिद्धत्वात्। 'ये पशवः पक्षिणश्च वायुगुणा ये नदीगुणा ये सूर्यगुणा ये वायुविद्युद्गुणा ये चोषोगुणाः सन्ति, तैस्तदनुकूलानि कार्याणि साधनीयानीति भावार्थः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथाविधानां पशूनां तदनुकूलानां कार्याणां चानिरूपणात्। नहि विद्युत्कार्यं दहनप्रकाशादिकं पशुभिः सम्पादयितुं शक्यम्, तथाऽदर्शनात् ॥ ४ ॥

शिल्पा वैश्वदेव्यो रोहिण्यस्त्र्यवयो वाचेऽविज्ञाता अदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—विचित्र वर्ण के पशु विश्वेदेव देवताओं के, रक्त वर्ण डेढ़ वर्ष की अवस्था वाले पशु वाक् देवता के, उपर्युक्त लक्षणों से न पहचाने जा सकने वाले पशु अदिति देवता के, इकरंगे पशु धाता देवता के और कम उम्र की छागी देवपत्नियों की प्रीति के निमित्त नियुक्त हैं ॥ ५ ॥

शिल्पा विचित्रवर्णाः स्त्रीपशवो वैश्वदेव्यो विश्वेदेवदेवत्या विश्वेदेवा देवता यासां तास्तिस्रश्चतुर्थे यूपे नियोज्याः। रोहिण्यो रक्तवर्णाः, त्र्यवयः सार्धसंवत्सरायुष्मत्यस्तिस्रोऽवयो वाचे वाग्देवतायै चतुर्थे यूपे, नियोक्तव्या इति शेषः। अविज्ञाताः कृष्णग्रीवादिचिह्नविशेषविज्ञानशून्यास्त्रयः पशवोऽदित्यै अदितिदेवतायै चतुर्थे यूपे नियोज्याः। सरूपाः समानरूपास्त्रयः पशवो धात्रे धातृदेवतायै चतुर्थे यूपे नियोज्याः। एवं पञ्चदश पशवः सम्पन्नाः। अथ पञ्चमे यूपे वत्सतर्यो बालछाग्यः, उपरतस्तनपाना इत्यर्थः। तास्तिस्रो देवानां पत्नीभ्यो देवपत्नीदेवत्याः पञ्चमे यूपे नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिर्याः शिल्पा वैश्वदेव्यो वाचे रोहिण्यस्त्र्यवयोऽदित्या अविज्ञाता धात्रे सरूपा देवानां पत्नीभ्यो वत्सतर्यश्च ता विज्ञेयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सुस्पष्टं महीधराद्युक्तमर्थमपहाय सुदृढबद्धद्वेषतया निरर्थकप्रलापमात्रत्वात्। सुरूपाः शिल्पकार्यसाधिका आरोढुमर्हाश्च काः? किञ्च ताभिः कर्तव्यमित्यादेरस्पष्टत्वात् ॥ ५ ॥

कृष्णग्रीवा आग्नेयाः शितिभ्रवो वसूनाᳬं रोहिता रुद्राणाᳬं श्वेता अवरोकिण आदित्यानां नभोरूपाः पार्जन्याः ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—काली ग्रीवा वाले तीन पशुओं का देवता अग्नि है, तीन भौं वाले तीन पशुओं का देवता वसु है, रक्त वर्ण तीन पशुओं का देवता रुद्र है, श्वेत वर्ण के तीन पशुओं का देवता आदित्य है, आकाश के समान वर्ण वाले तीन पशुओं का देवता पर्जन्य है ॥ ६ ॥

कृष्णग्रीवाः कृष्णाः कृष्णवर्णा ग्रीवाः कण्ठा येषां ते, तथाभूतास्त्रयः पशव आग्नेया अग्निदेवत्याः पञ्चमे यूपे नियोज्याः। शितिभ्रवः शितिः श्वेतवर्णा भ्रूर्येषां ते तथाविधास्त्रयः पशवो वसूनां कृते पञ्चमे यूपे नियोज्याः। रोहिता लोहितवर्णास्त्रयः पशवो रुद्राणां कृते पञ्चमे यूपे नियोज्याः। श्वेता अवरोकिणोऽवलो-

किनः। यद्वा अत्र अधस्ताद् रोकं छिद्रमवरोकम्, तदस्ति येषां तेऽवरोकिणः 'छिद्रं निर्व्यथनं रोकम्' (१।८।२) इत्यमरः, ते त्रय आदित्यानां कृते पञ्चमे यूपे नियोज्याः। अथ षष्ठे यूपे नभोरूपा नीलवर्णास्त्रयः पार्जन्याः पर्जन्यदेवत्याः षष्ठे यूपे नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये कृष्णग्रीवाः कृष्णाकर्षिका ग्रीवा निगरणं येषां ते आग्नेयाः, वसूनां पृथिव्यादीनां ये शितभ्रवस्ते वसूनाम्, ये रोहितास्ते रुद्राणाम्, ये श्वेता अवरोकिणोऽवरोधिकास्त आदित्यानाम्, ये नभोरूपास्ते पार्जन्या बोध्याः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पृथिव्यादिभिस्तेषां सम्बन्धविशेषानिरूपणात्। यत्तु भावार्थे—'मनुष्यैरग्नेराकर्षणक्रियाः पृथिव्यादीनां धारणक्रिया वायूनां प्ररोहणक्रिया विदित्वा कार्येषूपयोज्याः' इति, तदतीव मन्दम्, कृष्णग्रीवेति पशूनां बोधकः शब्दः, अनेन अग्नेराकर्षणक्रिया कथं सिद्ध्यति ? न चाग्नेराकर्षणक्रियया कृष्णग्रीवपशूनां सम्बन्धविशेषः सिद्धयति। न चैतद्वचनबलादेव तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, वचनानां ज्ञापकत्वेन कारकत्वायोगात्। तथैव शितभ्रुपशूनां पृथिव्यादिभिरपि सम्बन्धविशेषोऽसिद्ध एव। अवरोकशब्दस्य अवरोधार्थकतापि चिन्त्यैव, प्रमाणविरहात्॥ ६॥

उन्नत ऋषभो वामनस्त ऐन्द्रावैष्णवा उन्नतः शितिबाहुः शितिपृष्ठस्त ऐन्द्राबार्हस्पत्याः शुकरूपा वाजिनाः कल्माषा आग्निमारुताः श्यामाः पौष्णाः॥ ७॥

मन्त्रार्थ—ऊँचे आकार वाला हृष्ट-पुष्ट और नाटे शरीर वाला—ये तीन पशु इन्द्र और विष्णु देवता के हैं। ऊँचा श्वेत वर्ण, श्वेत चरण वाला और श्वेत पीठ वाला - ये तीन पशु इन्द्र और बृहस्पति देवता के हैं। शुक पक्षी के समान वर्ण वाले पशुओं का देवता वाजी है। चितकबरे वर्ण वाले पशुओं के देवता अग्नि और वायु हैं। शुक्ल-कृष्ण वर्ण वाले पशुओं के देवता पूषा हैं॥ ७॥

उन्नत उच्छ्रिताङ्गः, ऋषभ ऋषतीति ऋषभः परिपुष्टाङ्गः, वामनो वामयति मदमिति वामनः, बहुनि वयस्यतिक्रान्तेऽपि वृद्धिरहितः, अर्थाद् ह्रस्वकायः, त एते त्रय ऐन्द्रावैष्णवा इन्द्राविष्णुदेवत्याः षष्ठे यूपे नियोज्याः। उन्नत उच्छ्रितः, शितिबाहुः श्वेतपूर्वपादः, शितिपृष्ठः श्वेतपृष्ठः, ते त्रय ऐन्द्राबार्हस्पत्या इन्द्राबृहस्पतिदेवत्याः षष्ठे यूपे नियोज्याः। शुकरूपाः शुकः रूपं (शुकस्य रूपमिव रूपम्) येषां ते, शुकसमानवर्णास्त्रयः पशवो वाजिना वाजिदेवत्याः षष्ठे यूपे नियोज्याः। कल्माषाः कर्बुरास्त्रयः पशव आग्निमारुताः षष्ठे यूपे नियोज्याः। एवं पञ्चदशपशवः। कल्माषशब्देन कृष्णाः पशवो गृह्यन्त इति सायणाचार्यः। 'कल्माषः कर्बुरे कृष्णे' इति मूर्धन्यान्तेषु रभसः। अथ सप्तमे यूपे श्यामाः कृष्णवर्णाः पौष्णाः पूषदेवत्यास्त्रयः पशवो नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'उन्नत ऋषभो वामनो वक्राङ्गः, ते ऐन्द्रावैष्णवाः, य उन्नतः शितिबाहुः शितिपृष्ठश्च सन्ति ते त्रय ऐन्द्रावैष्णवाः, उन्नतः शितिबाहुः शिती तनूकर्तारौ बाहू इव बलं यस्य सः, शिति तनूकरणं पृष्ठं यस्य सः, त ऐन्द्राबार्हस्पत्याः, वाजिना वेगवन्तः, कल्माषाः श्वेतकृष्णवर्णाः। अन्यत् पूर्ववत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, रुढेर्योगापहारकत्वात्। वाजिना वेगवन्त इत्यप्यसङ्गतम्, वाजिना इति देवतानिर्देशात्, सूत्रब्राह्मणविरोधाच्च। तत्र हि पञ्चदशसंख्यापूर्तिरपि विवक्षिता॥ ७॥

एता ऐन्द्राग्ना द्विरूपा अग्नीषोमीया वामना अनड्वाह आग्नावैष्णवा वशा मैत्रावरुण्योऽन्यत एन्यो मैत्र्यः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—कबरे वर्ण वाले पशुओं के देवता इन्द्र और अग्नि हैं। दो वर्ण वाले पशुओं के देवता अग्नि और सोम हैं। नाटे बैलों के देवता अग्नि और विष्णु हैं। वन्ध्या अजाओं के देवता मित्र और वरुण हैं। एक तरफ चितकबरे वर्ण वाले अजा-पशुओं के देवता मित्र हैं ॥ ८ ॥

एताः कर्बुरवर्णास्त्रयः पशव ऐन्द्राग्ना इन्द्राग्निदेवत्याः सप्तमे यूपे नियोक्तव्याः। एता-एनी-शब्दौ कर्बुरवर्णबोधकौ, 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे' (अ० को० १।५।१७) इति कोषात्। द्विरूपा द्वे रूपे येषां ते, शुक्लकृष्णात्मकवर्णद्वयोपेतास्त्रयोऽग्नीषोमीया अग्नीषोमदेवत्या सप्तमे यूपे नियोक्तव्याः। वामना ह्रस्वाङ्गाः, अनड्वाहो भारोद्वहनदक्षबलीवर्दास्त्रय आग्नावैष्णवा अग्निविष्णुदेवत्याः सप्तमे यूपे नियोज्याः। वशा वन्ध्यास्तिस्रोऽजा मैत्रावरुण्यो मित्रावरुणदेवत्याः सप्तमे यूपे नियोज्याः। अथाष्टमे यूपे—अन्यत एन्य एकपार्श्वे कर्बुरवर्णास्तिस्रोऽजा मैत्र्यो मित्रदेवत्या अष्टमे यूपे नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे—तास्ता देवतास्तत्तद्देवत्याः पशवश्च ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपा एवेति पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'एताः पूर्वोक्ताः····अन्यत एन्या अन्यतो यन्ति ताः' इति, तदेतत्सर्वमविदितवैदिकवृत्तान्तस्यैव शोभते, पूर्वोक्तानां ग्रहणे संख्यापूर्त्यसम्भवात्। अन्यतो यन्तीति व्युत्पत्तौ तादृशरूपसाधनस्य दुर्निरूपत्वाच्च ॥ ८ ॥

कृष्णग्रीवा आग्नेया बभ्रवः सौम्याः श्वेता वायव्या अविज्ञाता अदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—कृष्ण ग्रीवा वाले पशुओं का देवता अग्नि है, कपिल वर्ण वाले पशुओं का सोम, श्वेत वर्ण वालों का वायु, चिह्नविशेष से अज्ञात पशुओं का देवता अदिति, समान रूप वालों का धाता और बाल अजाओं की देवता देवपत्नियाँ हैं ॥ ९ ॥

कृष्णग्रीवाः कण्ठे कालास्त्रयः पशव आग्नेया अग्निदेवत्या अष्टमे यूपे नियोक्तव्याः। बभ्रवः कपिलवर्णास्त्रयः पशवः सौम्याः सोमदेवत्या अष्टमे यूपे नियोक्तव्याः। श्वेताः श्वेतवर्णास्त्रयः पशवो वायव्या वायुदेवत्या अष्टमे यूपे नियोक्तव्याः। अविज्ञाता लक्षणतश्चिह्नविशेषेण वाऽज्ञायमानास्त्रयः पशवोऽदित्यै अदितिदेवतायै अष्टमे यूपे नियोक्तव्याः। अथ नवमे—सरूपाः समानं रूपं येषां ते सरूपा एकरूपास्त्रयः पशवो धात्रे धातृदेवतायै नवमे यूपे नियोक्तव्याः। वत्सतर्यस्तिस्रो देवपत्नीभ्यो नवमे यूपे नियोक्तव्याः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'कृष्णग्रीवाः कृष्णकण्ठा आग्नेयाः, बभ्रवो नकुलवर्णाः सौम्याः श्वेता वायव्या अविज्ञाता अदित्यै अखण्डितायै जनित्वक्रियायै, 'अदितिर्जनित्वम्' इति मन्त्रात्, सरूपा धात्रे धारकाय, अतिशयेन वत्सा वत्सतर्यो देवानां सूर्यादीनां पत्नीभ्यः पालिकाभ्यः क्रियाभ्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्यलोकपालनक्रियासु पत्नीपदप्रयोगस्य निर्मूलत्वात्, ताभ्यश्च पशवः कथं प्रयोक्तव्या इत्यनुक्तेश्च ॥ ९ ॥

कृष्णा भौमा धूम्रा आन्तरिक्षा बृहन्तो दिव्याः शबला वैद्युताः सिध्मास्तारकाः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—कृष्ण वर्ण वाले पशुओं की देवता भूमि है। धूम्र वर्ण वालों का अन्तरिक्ष, बड़े-बड़े पशुओं का स्वर्ग, चितकबरे वर्ण वालों का विद्युत् और सिध्म रोग वालों के देवता नक्षत्र हैं ॥ १० ॥

कृष्णाः कृष्णवर्णास्त्रयः पशवो भौमा भूमिदेवत्या नवमे यूपे नियोज्याः। धूम्रा धूम्रवर्णास्त्रयः पशव आन्तरिक्षा अन्तरिक्षदेवत्या नवमे यूपे नियोज्याः। बृहन्तः स्थूलकायास्त्रयः पशवो दिव्या द्युदेवत्या नवमे यूपे नियोज्याः। अथ दशमे शबलाः कर्बुरास्त्रयः पशवो वैद्युता विद्युद्देवत्या दशमे यूपे नियोक्तव्याः। सिध्माः सिध्मलाः सिध्मरोगवन्तस्त्रयः पशवस्तारका नक्षत्रदेवत्या दशमे यूपे नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'यदि मनुष्याः कर्षणादिकार्यधारकान् पश्वादिपदार्थान् भूम्यादिषु संयोजयेयुस्तर्हि मङ्गलमाप्नुयुः' इति, तदपि व्याख्यानस्वाच्छन्द्यमेव, मन्त्रेषु तादृशार्थबोधकपदाभावात् ॥ १० ॥

धूम्रान् वसन्तायालभते श्वेतान् ग्रीष्माय कृष्णान् वर्षाभ्योऽरुणाञ्छरदे पृषतो हेमन्ताय पिशङ्गाञ्छिशिराय ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—धूम्र वर्ण के पशुओं को वसन्त के निमित्त नियुक्त किया गया है। श्वेत वर्ण वालों को ग्रीष्म के निमित्त, कृष्ण वर्ण वालों को वर्षा के निमित्त, रक्त वर्ण वालों को शरद् के निमित्त, अनेक प्रकार की बिन्दियों वाले पशुओं को हेमन्त के निमित्त और लाली मिले कपिल वर्ण वाले पशुओं को शिशिर के निमित्त नियुक्त किया गया है ॥ ११ ॥

धूम्रान् धूम्रवर्णान् त्रीनजान् वसन्ताय वसन्तर्त्वभिमानिदेवाय आलभते आलम्भनं कुर्यात्। तान् दशमे यूपे नियुञ्ज्यात्। श्वेतान् श्वेतवर्णान् त्रीनजान् ग्रीष्माय ग्रीष्माभिमानिदेवतायै, आलभत इत्यनुषङ्गः। एतान् दशमे नियुञ्ज्यात्। कृष्णान् कृष्णवर्णान् त्रीन् पशून् वर्षाभ्यो वर्षाभिमानिदेवतायै नियुञ्ज्यात्। तान् दशमे यूपे नियुञ्ज्यात्। अथैकादशे यूपेऽरुणानऽरुणवर्णान् त्रीन् पशून् शरदे शरदधिष्ठातृदेवतायै एकादशे यूपे नियुञ्ज्यात्। पृषतो नानावर्णबिन्दुयुक्तान् त्रीन् पशून् हेमन्ताय हेमन्तर्त्वभिमानिदेवतायै एकादशे बध्नीयात्। पिशङ्गान् लोहितमिश्रकपिलवर्णान् त्रीन् पशून् शिशिराय शिशिरर्त्वभिमानिदेवतायै एकादशे बध्नीत।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'यो मनुष्यो वसन्ताय वसन्ततौ सुखाय धूम्रान् धूम्रवर्णान् पदार्थान् ग्रीष्माय श्वेतान् वर्षाभ्यः कृष्णान् शरदेऽरुणान् हेमन्ताय पृषतः शिशिराय पिशङ्गानालभते प्राप्नोति, स सततं सुखी भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पशुप्रसङ्गे पदार्थोपादानस्य निर्मूलत्वात्, रागप्राप्तस्य विधानायोगात्, ग्रीष्मादिष्विष्ट-धूम्रादिवर्णपदार्थप्राप्तावपि सुखानुपलम्भाच्च ॥ ११ ॥

त्र्यवयो गायत्र्यै पञ्चावयस्त्रिष्टुभे दित्यवाहो जगत्यै त्रिवत्सा अनुष्टुभे तुर्यवाह उष्णिहे ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—डेढ़ वर्ष वाले पशुओं को गायत्री के निमित्त, ढाई वर्ष वालों को त्रिष्टुप् छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त, दो वर्ष वालों को जगती छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त, तीन वर्ष वालों को अनुष्टुप् छन्द के अभिमानी देवता और तीन वर्ष वाले पशुओं को उष्णिक् छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त नियुक्त किया गया है ॥ १२ ॥

त्र्यवयः सार्धसंवत्सरास्त्रयः पशवो गायत्र्यै तदभिमानिदेवतायै एकादशे यूपे नियोक्तव्याः। अवीनां षड्भिर्मासैर्गर्भविमोचनादविशब्देन षण्मासात्मकः कालो लक्ष्यते। त्र्यविश्च सार्धसंवत्सरात्मकः काल इति। पञ्चावयः सार्धद्विसंवत्सरास्त्रयः पशवस्त्रिष्टुभे त्रिष्टुबभिमानिदेवतायै तद्देवतोद्देश्येन एकादशे यूपे नियोज्याः। अथ द्वादशे—दित्यवाहो द्विसंवत्सरवयस्कास्त्रयः पशवो जगत्यै जगत्यधिष्ठात्रे देवाय द्वादशे यूपे नियोज्याः। अथवा दित्यै खण्डनार्थं वहन्तीति दित्यवाहः, ईदृगवस्थास्त्रयः पशवः, त्रिवत्सास्त्रिवर्षास्त्रयः पशवोऽनुष्टुभेऽनुष्टुप्छन्दोधिष्ठातृदेवतायै द्वादशे यूपे नियोक्तव्याः। तुर्यवाहः सार्धत्रिवत्सा इति महीधरः, चतुर्वत्सरा इति सायणः, उष्णिहे उष्णिक्छन्दोऽधिष्ठातृदेवतायै द्वादशे यूपे बन्धनीयाः।

मन्त्रद्वयस्य आध्यात्मिकोऽर्थः, दयानन्दीयार्थालोचना च सार्धमेव निरूपयिष्यते ॥ १२ ॥

पृ॒ष्ठ॒वा॒हो॑ वि॒रा॒जे॑ उ॒क्षाणो॑ बृह॒त्या ऋ॑ष॒भाः क॒कुभे॑ऽन॒ड्वाहः॑ प॒ङ्क्त्यै धे॒नवो॑ऽतिच्छन्दसे ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ— चार वर्ष के पशुओं को विराट् छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त, सेचन समर्थ तीन पशुओं (उक्षा) को बृहती छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त, उक्षा (वृषभ) से अधिक अवस्था वाले तीन पशुओं को ककुप् छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त, शकट वहन में समर्थ पशुओं को पंक्ति छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त और नवप्रसूता धेनुओं को अतिच्छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त नियुक्त किया गया है ॥ १३ ॥

पष्ठवाहश्चतुःसंवत्सरवयस्कास्त्रयः पशवो विराट्छन्दोऽधिष्ठातृदेवतायै द्वादशे यूपे बन्धनीयाः। पष्ठवाहः पृष्ठभागेन वोढुं शक्ताः पञ्चवर्षास्त्रयः पशव इति सायणः। उक्षाणः सेचनसमर्था बृहत्यै बृहतीच्छन्दोऽधिष्ठातृदेवतायै द्वादशे यूपे नियोक्तव्याः। अथ त्रयोदशे यूपे—ऋषभा उक्ष्णोऽप्यधिकवयस्कास्त्रयः पशवः, अन्नकर्षणव्यापारास्त्रयः पशव इति सायणः, ककुभे ककुप्छन्दोऽधिष्ठातृदेवतायै त्रयोदशे यूपे बन्धनीयाः। अनड्वाहः शकटवहनसमर्था अजास्त्रयः पङ्क्त्यै पङ्क्तिच्छन्दोदेवतायै त्रयोदशे यूपे बन्धनीयाः। धेनवो नवप्रसूता अजास्तिस्रः, गावस्तिस्र इति सायणः, अतिच्छन्दसे शक्वर्यादिकमतिच्छन्दः, तदभिमानिदेवतायै इति सायणः, त एते त्रयोदशे यूपे बन्धनीयाः। एतावता श्रुतिगणेन 'यत्पञ्चदशिन आलभते अर्धमासानेव तैर्यजमानोऽवरुन्धे' (श० १३।२।५।१) इति ब्राह्मणप्रतिपादिताः पञ्चदशिनः पशवो गताः।

अध्यात्मपक्षे – मन्त्रोक्ताः पशवः तैर्यष्टव्या देवताश्च ब्रह्मात्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपा एव।

दयानन्दस्तु –'यथा विद्वांसोऽधीतैर्गायत्र्यादिच्छन्दोऽर्थैः सुखानि वर्धयन्ते, तथा पशुपालका घृतानि वर्धयेयुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'त्र्यवयः' इत्यादिशब्दानां तिस्रोऽवयो मेष्यः, त्रयोऽवयो मेषा वा भवेयुर्येषां तेषां गायत्र्यादिछन्दोविशेषैः सम्बन्धस्य साधयितुमशक्यत्वात्। मन्त्राश्चेमे वयोहोमे विनियुक्ताः। वयोबोधकमन्त्रैर्होमो वयोहोमः, 'वयांसि जुहोति। पशवो वै वया꣡ꣳसि पशुभिरेवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो पशुभिरेवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति' (श० ९।३।३।७) इति श्रुतेः। अत एव अविः षण्मासात्मकः कालः, त्रयोऽवयो यस्य स त्र्यविः सार्धसंवत्सरवयस्कः पशुरेवात्र ग्राह्यः। वयश्च पश्वादिविशेषणतयैव प्रतीयते। एवमेव पञ्चाव्यादीनामपि त्रिष्टुबादिभिः सम्बन्धविशेषोऽनिरूपणीय एव। तथैव—'यैर्मनुष्यैर्विराजे पष्ठवाहो बृहत्या उक्षाणः ककुभे पङ्क्त्या अनड्वाहोऽतिच्छन्दसे धेनवः स्वीक्रियन्ते, तेऽतिसुखं लभन्ते' इत्यपि मूर्खजनप्रतारणमेव, बह्वध्याहारेऽप्यर्थास्पष्टत्वात्। त्वद्रीत्या पष्ठवाहादिभिर्विराडादीनां सम्बन्धविशेषासिद्धेः। 'यथा विद्वांसो विराडादिछन्दोभ्यो

बहूनि विद्याकार्याणि साध्नुवन्ति, तथोष्ट्रादिपशुभ्यो गृहस्था अखिलानि कार्याणि साध्नुयुः' इति भावार्थोऽप्यसङ्गत एव, तथार्थबोधकशब्दानां मूलेऽभावात्। यथा-तथा-शब्दावपि मूले न स्तः। पशूनामुपयोगनिर्देशस्य विवक्षितत्वे पश्वन्तराणामपि निर्देशापत्त्युदयात् ॥ १३ ॥

कृष्णग्रीवा आग्नेया बभ्रवः सोम्या उपध्वस्ताः सावित्रा वत्सतर्यः सारस्वत्यः श्यामाः पौष्णाः पृश्नयो मारुता बहुरूपा वैश्वदेवा वशा द्यावापृथिवीयाः ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—कृष्णग्रीव पशुओं का देवता अग्नि है। कपिल वर्ण वालों का सोम, अधः पतनशील वर्णान्तर मिश्रित पशुओं का सविता, बछड़ों की सरस्वती, शुक्ल कृष्ण वर्ण वालों का पूषा, विचित्र वर्ण वालों का मरुत्, अनेक रूप वालों के विश्वेदेव और वन्ध्या पशुओं के देवता पृथ्वी और स्वर्ग हैं ॥ १४ ॥

अथ 'चातुर्मास्यान् पशूनालभते' (श० १३।२।५।२) इति श्रुतिविहिताश्चातुर्मास्यदेवत्याः पशव उच्यन्ते, कृष्णग्रीवा इत्यारभ्य श्वेताः सौर्या इत्यन्ताः। तत्र प्रथमं वैश्वदेवपर्वपशवः कृष्णग्रीवास्त्रयः पशव आग्नेया अग्निदेवत्याः कार्याः। बभ्रवः कपिलवर्णास्त्रयः सौम्याः सोमदेवत्याः कार्याः। एते च त्रयोदशे यूपे बन्धनीयाः। अथ चतुर्दशे यूपे -उपध्वस्ता उपध्वंसनगुणविशिष्टाः, उपध्वंसनमधःपतनम्, वर्णान्तरमिश्रिता वा त्रयः पशवः सावित्राः सवितृदेवत्याश्चतुर्दशे यूपे बन्धनीयाः। वत्सतर्यस्तिस्रः सारस्वत्यः सरस्वतीदेवत्याश्चतुर्दशे यूपे बन्धनीयाः। श्यामाः शुक्लकृष्णवर्णाः पौष्णाः पूषदेवत्यास्त्रय पशवश्चतुर्दशे यूपे बन्धनीयाः, पृश्नयो ह्रस्वकाया विचित्रवर्णा वा त्रयः पशवो मारुता मरुद्देवत्याश्चतुर्दशे यूपे नियोजनीयाः। बहुरूपा अनेकरूपाः वैश्वदेवा विश्वदेवदेवत्यास्त्रयः पशवश्चतुर्दशे यूपे बन्धनीयाः। अथ पञ्चदशे यूपे—वशा वन्ध्यास्तिस्रो द्यावा-पृथिवीया द्यावापृथिवीदेवत्याः पञ्चदशे यूपे बन्धनीयाः। इति वैश्वदेवपशवः।

अध्यात्मपक्षे पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिर्ये कृष्णग्रीवास्ते आग्नेयाः, ये बभ्रवस्ते सौम्याः, य उपध्वस्तास्ते सावित्राः, या वत्सतर्यस्ताः सारस्वताः, ये श्यामास्ते पौष्णाः, ये पृश्नयस्ते मारुताः, बहुरूपा वैश्वदेवाः, ये वशास्ते द्यावापृथिवीया विज्ञातव्याः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पशूनां दैवतविधाने तात्पर्यभावात्। सूत्रानुसारेण तत्तद्यूपे तत्तद्देवत्यपशूनां नियोजनस्य विधानम्। 'यथा शिल्पिनोऽग्न्यादिभ्यः पदार्थेभ्योऽनेकानि कार्याणि साध्नुवन्ति, तथा कृषीवलाः पशुभिर्बहूनि कार्याणि साध्नुयुः' इति भावार्थस्तु तादृशाभिप्रायबोधकशब्दानां मूलेऽभावात् शशशृङ्गायित एव। अन्वयोक्तार्थविरोधश्चापरो गण्डस्योपरि स्फोटः। अन्वये हि पशूनां तत्तद्देवतासम्बन्धज्ञानं विधीयते, भावार्थस्तु तं विरुणद्धि। ततः कुतस्त्या भावार्थता ॥ १४ ॥

उक्ताः सञ्चरा एता ऐन्द्राग्नाः कृष्णा वारुणाः पृश्नयो मारुताः कायास्तूपराः ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—कृष्णग्रीव आदि पन्द्रह पशुओं की ऊपर चर्चा हुई है। कर्बुर वर्ण वाले पशुओं के देवता इन्द्राग्नी हैं। कृष्ण वर्ण वालों का वरुण और दुर्बल शरीर वालों का मरुत् देवता है। शृंगहीन पशुओं का देवता प्रजापति है ॥ १५ ॥

अथ वरुणप्रघासाख्ये द्वितीयपर्वणि या देवतास्तद्देवत्यान् पशूनाह—उक्ता इति। अग्नि-सोम-सवितृ-सरस्वती-पूषात्मकं देवतापञ्चकं चातुर्मास्येषु चतुर्ष्वपि पर्वसु सञ्चरति, अनुवर्तत इति यावत्। ततश्च सञ्चरशब्देन कृष्णग्रीवा आग्नेया इत्यादयः पूर्वकण्डिकोक्ताः पञ्चदश पशव उच्यन्ते, पञ्च सञ्चराणि हवींषि भवन्तीतिवत्।

यथा चातुर्मास्येषु चतुर्ष्वपि पर्वस्वाग्नेयादीनि पञ्च हवींषि समानानि, एवमत्रापि चतुर्णां पर्वणां सम्बन्धिनामाद्यानां पञ्चानां देवानामाद्या एते पञ्चदश पशवः समाना एव भवन्ति । तेनैते सञ्चरा उक्ताः । उक्ताः सञ्चराः, आग्नेयादयः पञ्चदश पशव उक्ता इत्यर्थः । आग्नेयाः कृष्णग्रीवास्त्रयः पञ्चदशे, बभ्रवस्त्रयः पञ्चदशे, सावित्रा उपध्वस्तास्त्रयः पञ्चदशे सारस्वत्यो वत्सतर्यस्तिस्रः पञ्चदशे । अथ षोडशे —पौष्णाः श्यामास्त्रयः षोडशे, एते सञ्चरा उक्ताः । एताः कर्बुरा ऐन्द्राग्ना इन्द्राग्निदेवत्यास्त्रयः पशवः षोडशे, कृष्णाः कृष्णवर्णा वारुणा वरुणदेवत्यास्त्रय पशवः षोडशे, पृश्नयो ह्रस्वशरीरास्त्रयो मारुता मरुद्देवत्याः षोडशे, तूपराः शृङ्गविहीनाः कायाः, कः प्रजापतिः, तद्देवत्यास्त्रयः पशवः षोडशे यूपे नियोक्तव्याः ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, एता उक्ताः सञ्चरा ऐन्द्राग्नाः कृष्णा वारुणाः पृश्नयो मारुतास्तूपरा हिंसकाः कायाः सन्तीति बोध्यम्' इति, भावार्थे तु—'ये नानादेशसञ्चारिणः प्राणिनः सन्ति, तैर्मनुष्या यथायोग्यानुपकारान् गृह्णीयुः' इति, तदपि निःसारम्, मूले तेषामुपकारग्रहणविधानानुपलम्भात् । किञ्च, रागवशादेव तेभ्यस्तेभ्य उपकारग्रहणसिद्धेस्तथाविधानकल्पनस्य नैरर्थक्याच्च । न च प्राणिनः पूर्वदेशविदेशसञ्चारिणो विहिताः, सञ्चरशब्दस्य तथार्थत्वे मानाभावात् ॥ १५ ॥

अ॒ग्नयेऽनी॑कवते प्रथम॒जाना॒लभते म॒रुद्भ्यः॑ सान्तप॒नेभ्यः॑ सवा॒त्या॒न् म॒रुद्भ्यो॑ गृहमे॒धिभ्यो॑ ब॒ष्किहान् म॒रुद्भ्यः॑ क्रीडिभ्यः॑ स॒ꣳसृष्टान् म॒रुद्भ्यः॑ स्वत॑वद्भ्योऽनुसृ॒ष्टान् ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—माता के प्रथम गर्भ से उत्पन्न पशुओं को हविर्ग्रहण करने योग्य ख मवाले अग्नि के निमित्त नियुक्त किया गया है । वायुमण्डल में स्थित तीन अजों को सान्तपन मरुद्गणों के निमित्त, चिरकाल से उत्पन्न हुए पशुओं को गृहमेधी मरुतों के निमित्त, एक साथ उत्पन्न हुए पशुओं को क्रीड़ा में तत्पर मरुतों के निमित्त और अनुक्रम से उत्पन्न हुए पशुओं को स्वतवान् मरुद्गणों के निमित्त नियुक्त किया गया है ॥ १६ ॥

अथ साकमेधे पर्वानुष्ठानात् पूर्वदिवसे प्राण्यङ्गतयाऽनुष्ठेयानामिष्टीनामग्निरनीकवान् मरुतः सान्तपना इत्याद्या या देव्यस्तद्देवत्यान् पशूनाह—अग्नय इति । अथ साकमेधपशवः सप्तदशे यूपे नियोक्तव्याः । प्रथमजान् मातुः प्रथमगर्भे जातान् त्रीनजान् अनीकवते स्वसैन्ययुक्तायाग्नये आलभते सप्तदशे यूपे नियुनक्ति । सान्तपनेभ्यः सन्तपनो मध्यन्दिनगतः सूर्यः, तत्सम्बन्धिनः सान्तपनास्तेभ्यो मरुद्भ्यः सवात्यान्, वातानां समूहो वात्या, 'पाशादिभ्यो यः' (पा० सू० ४।२।४९) इति यः प्रत्ययः, तया सह वर्तन्त इति सवात्या वातमण्डलीमध्यस्थाः, तान् त्रीनजान् सप्तदशे यूपे नियुनक्ति । समानगर्भोत्पन्नानिति सायणः । गृहमेधिभ्यो गृहैर्दारैर्मेधन्ते सङ्गच्छन्त इति गृहमेधिनस्तेभ्यः, 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा० सू० ३।२।७८) इति णिनिः, मरुद्भ्यो बष्किहान् चिरप्रसूतान् त्रीन् पशून् आलभते सप्तदशे यूपे नियुनक्ति । क्रीडिभ्यः क्रीडाविशिष्टेभ्यो संसृष्टान् सहोत्पन्नान् त्रीन् पशून् सप्तदशे यूपे नियुनक्ति । अनुसृष्टान् अनुक्रमेण जातान् त्रीन् पशून् स्वतवद्भ्यः स्वावयवकृतबलेभ्यो मरुद्भ्यः सप्तदशे यूपे नियुनक्ति ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'अनीकवते प्रशंसितसेनायाग्नयेऽग्निवद् वर्तमानाय सेनापतये प्रथमजान् प्रथमाद् विस्तीर्णात् कारणाज्जातानालभते । सान्तपनेभ्यो मरुद्भ्यः सवात्यान्, गृहमेधिभ्यो मरुद्भ्यो बष्किहान्, मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः संसृष्टान् स्वतवद्भ्यो स्वतो वासो येषां तेभ्योऽनुसृष्टाननुषङ्गिण आलभते प्राप्नोति, तथैव यूयमेतान्

आलभध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आङ्पूर्वस्य लभतेः प्राप्त्यर्थत्वे मानाभावात्। अन्यच्च अन्यार्थप्राप्तेरपुरुषार्थत्वात्। यथा विद्वद्भिर्विद्यार्थिनः पशवश्च पाल्यन्ते, तथैवेतरैर्मनुष्यैः पालनीया इति भावार्थोऽपि चिन्त्यः, तथा भावार्थबोधकसामग्र्या मूलेऽभावात् ॥ १६ ॥

उ॒क्ताः स॑ञ्च॒रा ए॒ता ऐ॑न्द्रा॒ग्नाः प्रा॑शृ॒ङ्गा मा॑हे॒न्द्रा ब॑हु॒रू॒पा वै॑श्वकर्म॒णाः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—कृष्णग्रीव आदि पन्द्रह पशुओं की चर्चा ऊपर हुई है। इनमें कर्बुर वर्ण वाले पशुओं के देवता इन्द्राग्नी हैं। सुन्दर सींग वालों के महेन्द्र और बहुत रूप वाले पशुओं के देवता विश्वकर्मा हैं ॥ १७ ॥

अथ साकमेधपर्वणि प्रधानभूता या महेन्द्रेष्टिः, तस्या या देवतास्तद्देवत्यान् पशूनाह, महाहविःपशूनिति यावत्। ते च पञ्चसु संघेषु उक्ताः। तद्यथा—कृष्णग्रीवास्त्रयः, बभ्रवस्त्रयः, उपध्वस्तास्त्रयः, वत्सतर्यस्तिस्रः, श्यामास्त्रय इति पञ्चदश पशवः। ते चाष्टादशे यूपे बन्धनीयाः। तदेतत् समाहृत्योक्तम्—उक्ताः सञ्चरा इति। अथैकोनविंशे यूपे—एताः कर्बुरास्त्रय ऐन्द्राग्ना इन्द्राग्निदेवत्या एकोनविंशे यूपे बन्धनीयाः। प्राशृङ्गाः प्रकृष्टः शृङ्गो येषां ते प्राशृङ्गाः, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः, प्रकृष्टशृङ्गयुक्ताः, माहेन्द्रा महेन्द्रदेवत्यास्त्रय एकोनविंशे यूपे बन्धनीयाः। बहुरूपा नानारूपास्त्रयो वैश्वकर्मणा विश्वकर्मदेवत्या एकोनविंशे यूपे नियोज्याः।

अत्र द्वयोः कण्डिकयोः सहैव व्याख्यानम् ॥ १७ ॥

धू॒म्रा ब॒भ्रुनी॑काशाः पि॒तॄणा॒ᳪ सोम॑वतां ब॒भ्रवो॑ धू॒म्रनी॑काशाः पि॒तॄणां ब॑र्हि॒षदां॑ कृ॒ष्णा ब॒भ्रुनी॑काशाः पि॒तॄणाम॑ग्निष्वा॒त्तानां॑ कृ॒ष्णाः पृष॑न्तस्त्रैयम्ब॒काः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—काले और लाल वर्ण के मिलने से बने कपिल वर्ण के पशु सोमवत् पितरों के निमित्त नियोज्य हैं। कपिल और धूम्र वर्ण के मिलने से बने वर्ण वाले पशु बर्हिषद् पितरों की प्रीति के निमित्त, कृष्ण वर्ण और कपिल वर्ण के मेल से बने वर्ण वाले पशु अग्निष्वात्त पितरों को प्रीति के निमित्त और बिन्दुयुक्त पशु त्र्यम्बक देवता के निमित्त नियुक्त हैं ॥ १८ ॥

माहेन्द्रादूर्ध्वं याः साकमेधाङ्गभूतपित्रादिदेवताः, तद्देवत्यान् पशूनाह—धूम्रा इति। धूम्राः कृष्णवर्णमिश्रा लोहितवर्णाः, बभ्रुनीकाशाः कपिलवर्णसदृशास्त्रयः पशवः सोमवतां पितॄणां कृते नियोजनीया एकोनविंशे यूपे नियोजनीयाः। बभ्रवः कपिलवर्णा धूम्रनीकाशा धूम्रसदृशवर्णास्त्रयः पशवो बर्हिषदां पितॄणां कृते एकोनविंशे यूपे नियोजनीयाः। अथ विंशे यूपे—कृष्णाः कृष्णवर्णा बभ्रुनीकाशा कपिलवर्णसदृशास्त्रयः पशवोऽग्निष्वात्तानां पितॄणां कृते विंशे यूपे नियोजनीया इति। पितृयज्ञानन्तरम्—'प्रतिपुरुषमेककपालान्निर्वपति' (तै० ब्रा० २।६।१०।१) इति यजमानसंख्याकाः पुरोडाशा विहिताः। अत्र तत्स्थाने कृष्णाः कृष्णवर्णाः पृषन्तो बिन्दुयुक्तास्त्रयः पशवस्त्रैयम्बकास्त्र्यम्बकदेवत्या विंशे यूपे नियोजनीयाः।

अध्यात्मपक्षे—उभयोरपि कण्डिकयोः पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'उक्ताः सञ्चराः। हे मनुष्याः, य एता ऐन्द्राग्नाः प्राशृङ्गा माहेन्द्रा बहुरूपा वैश्वकर्मणाः सञ्चरा उक्तास्तेषु गन्तव्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। तथाहि—सञ्चरन्ति येषु ते संचरा मार्गा इत्युक्तम्। न चैता ऐन्द्राग्ना अन्ये वा मार्गाः, तेषामिन्द्राग्निदेवत्यपशुत्वात्। न चैता इति पदेन पूर्वोक्ता

गृह्यन्ते, तेषां स्वतवन्मरुद्देवत्यत्वात्। न च पूर्वोक्ताः पुमांसः पशव 'एताः' इति निर्देशार्हाः, 'एते' इति निर्देशार्हत्वात्। 'धूम्राशा हे मनुष्याः, सोमवतां पितॄणां बभ्रुनीकाशा धूम्रा····कृष्णाः पृषन्तस्त्र्यम्बकाश्च सन्तीति विज्ञेयाः। ये जनका विद्याजन्मप्रदातारश्च सन्ति, तेषां घृतादिभिर्गवादिदानैश्च यथायोग्यं सत्कारः कर्तव्यः' इति तत्सर्वमुच्छृङ्खलमेव, पदपदार्थासम्बद्धत्वात् ॥ १८ ॥

उक्ताः सञ्चरा एताः शुनासीरीयाः श्वेता वायव्याः श्वेताः सौर्याः ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—आग्नेय आदि पन्द्रह पशु ऊपर कहे गये हैं। इनमें चितकबरे वर्ण के पशुओं के देवता इन्द्र हैं। श्वेतों के वायु और सूर्य देवता हैं। इस प्रकार अश्व से लेकर सौर्य पर्यन्त ग्राम्य पशुओं को इक्कीस यूपों में देवताओं की प्रीति के लिये बाँधें ॥ १९ ॥

अथ शुनासीरीयपशवः—चतुर्दश्यां कण्डिकायामुक्ताः कृष्णग्रीवा आग्नेया इत्यादयः पञ्चदेवत्याः पञ्चदश पशवोऽत्रापि वेदितव्याः। तेन कृष्णग्रीवा आग्नेयास्त्रयः पशवो विंशे, बभ्रवः सौम्यास्त्रयः पशवो विंशे, उपध्वस्तास्त्रयः पशवो विंशे यूपे नियोक्तव्याः। अथैकविंशे यूपे—तिस्रो वत्सतर्यः सारस्वत्य एकविंशे यूपे बन्धनीयाः। त्रयः श्यामाः पौष्णा एकविंशे यूपे बन्धनीयाः। एताः कर्बुरास्त्रयः पशवः शुनासीरीयाः, 'शु इत्यव्ययं पूजार्थकम्, शु शोभनं नासीरं सेनामुखं यस्य स शुनासीर इन्द्रः। यद्वा शु शोभना नासीरा अग्रेसरा यस्य स शुनासीरः। अथवा शुनति क्षिप्रं गच्छत्यन्तरिक्षमिति शुनो वायुः, 'शुन गतौ तौदादिकः' इगुपधलक्षणः कः। सरति सदा सततं गच्छतीति सीरः सूर्यः। औणादिक ईरन् टिलोपश्च। शुनश्च सीरश्च शुनासीरौ, 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इत्यानङ्, शुनासीरौ स्तोऽस्येति शुनासीर इन्द्रः। अयं शब्दो दन्त्यद्वयस्तालव्यद्वयश्च। शुनासीरस्येमे शुनासीरीयाः। शुनासीरदेवत्या एकविंशे यूपे बन्धनीयाः। श्वेताः श्वेतवर्णाश्च त्रयः पशवो वायव्या वायुदेवत्या एकविंशे यूपे नियोक्तव्याः। श्वेताः श्वेतवर्णाश्च त्रयः पशवः सौर्याः सूर्यदेवत्या एकविंशे यूपे नियोक्तव्याः। एवमग्निष्ठे यूपे सप्तदश, इतरेषु दशसु यूपेषु प्रतियूपं षोडश षोडश, इतरेषु दशसु यूपेषु प्रतियूपं पञ्चदश पञ्चदश १७ + १६० + १५० = ३२७ इति गणनया सप्तविंशत्यधिकशतत्रयं ग्राम्याः पशवः सर्वे उक्ताः।

अध्यात्मपक्षे - सर्वे चैते पशवस्तैर्यष्टव्याश्च देवता ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मात्मका इति ज्ञातव्यम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं य एताः शुनासीरीयाः सञ्चरा वायव्याः श्वेता सौर्याः श्वेताश्चोक्तास्तान् कार्येषु सम्प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि शब्दशास्त्रे स्वैरित्वमेव, निर्मूलत्वात्, श्रुतिसूत्रादिविरोधात्। यदपि 'शुनासीरशब्देन कृषिसाधका देवताः' इति, तदप्यसङ्गतम्, वैश्वदेव-वरुणप्रघास-साममेध(महाहविः)-शुनासीरीयपर्वानभिज्ञानविजृम्भितत्वात् ॥ १९ ॥

वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान् वर्षाभ्यस्तित्तिरीञ्छरदे वर्तिका हेमन्ताय ककराञ्छिशिराय विककरान् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—अब आरण्य पशुओं का विधान करते हैं। इनको इक्कीस यूपों के मध्य के जो बीस अन्तराल हैं, उनमें बाँधा जाता है। तीन कपिंजलों को वसन्त ऋतु के अभिमानी देवता के निमित्त, तीन चटकों को ग्रीष्म ऋतु के अभिमानी देवता के निमित्त, तीन तीतरों को वर्षा ऋतु के अभिमानी, तीन वर्तकों को ग्रीष्म ऋतु के अभिमानी, तीन ककरों को हेमन्त ऋतु के अभिमानी और तीन विककरों को शिशिर ऋतु के अभिमानी देवता के निमित्त नियुक्त किया जाता है ॥ २० ॥

'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इत्यारभ्य 'विश्वेषां देवानां पृषतः' इत्यन्ता अध्यायसमाप्ति यावदारण्याः पशवः प्रोच्यन्ते। अत्र एकविंशतिर्यूपाः। तेषां विंशतिरन्तरालभूमयः। तत्रान्तरालोत्पत्तिक्रमेण कपिञ्जलादयस्त्रयोदश त्रयोदश पशव आलम्भनीयाः। अत्र यूपान्तरालभूमिष्वारण्यपशूनां बन्धनोपाय उक्तो मानवश्रौत्रसूत्रे—'नाडीषु प्लुषिमशकान् करण्डेषु सर्पान् पञ्जरेषु मृगव्याघ्रसिंहान् कुम्भेषु मकरमत्स्यमण्डूकान् जालेषु पक्षिणः कारासु हस्तिनो नौषु चौदकानि यथार्थमितरान्' इति ये पशवो येनोपायेन यूपान्तरालेषु तिष्ठन्ति, ते तेनोपायेन स्थापनीया इति तात्पर्यम्। अत्र येषामारण्यजीववाचिपदानामर्था न ज्ञायन्ते, तानि निगमनिरुक्तनिघण्टुव्याकरणोणादिवृत्त्यभिधानग्रन्थेभ्यो विलोक्यावगन्तव्यानि। केचिज्जीवा आटविकेभ्यश्च लक्षणीया इति महीधराचार्यः।

तत्र प्रथमोत्पन्ने यूपान्तराले कपिञ्जलान् त्रीन् पक्षिविशेषान् पशून् वसन्ताय वसन्तर्त्वभिमानिदेवाय आलभते नियुनक्ति। कलविङ्कान् त्रीन् पशून् चटकान् ग्रीष्माय तदधिष्ठातृदेवाय नियुनक्ति। तित्तिरीन् कररकान् त्रीन् पक्षिविशेषान् पशून् वर्षाभ्यो वर्षर्त्वभिमानिदेवतायै उपाकुर्यात्। वर्तिकाः (पक्षिविशेषान् त्रीन् पशून्, 'वटेर' इति भाषा) तिस्रः शरदे शरदृत्वभिमानिदेवतायै उपाकुर्यात्। हेमन्ताय हेमन्तर्त्वभिमानिदेवतायै ककरान् ककराख्यपक्षिविशेषान् त्रीन् पशून् उपाकुर्यात्। तत्रैकं प्रथमेऽन्तराले द्वौ पशू द्वितीयेऽन्तराल इति विवेकः। शिशिराय शिशिरर्त्वभिमानिदेवाय विककरान् विककराख्यपक्षिविशेषान् त्रीन् पशून् उपाकुर्याद् द्वितीयेऽन्तराल एव।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, पक्षिविज्जनो वसन्ताय यान् कपिञ्जलान् ग्रीष्माय कलविङ्कान् वर्षाभ्यस्तित्तिरीन् शरदे वर्तिका हेमन्ताय ककरान् शिशिराय विककरानालभते, तान् यूयं जानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विज्ञानमात्रस्य अकिञ्चित्करत्वात्, 'सर्वत्रैव हि विज्ञानं परार्थत्वेन गम्यते। पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम्॥' इत्यभियुक्तोक्तेः॥ २०॥

समुद्राय शिशुमारानालभते पर्जन्याय मण्डूकानद्भ्यो मत्स्यान् मित्राय कुलीपयान् वरुणाय नाक्रान्॥ २१॥

मन्त्रार्थ—तीन शिशुमार जलचरों को समुद्राभिमानी देवता के निमित्त, तीन मण्डूकों को पर्जन्य देवता के निमित्त, तीन मत्स्यों को जल देवता के निमित्त, तीन कुलीपयों को मित्र देवता के निमित्त और तीन नाकों को वरुण देवता के निमित्त नियुक्त करे॥ २१॥

समुद्राय तदधिष्ठातृदेवतायै शिशुमारान् त्रीन् जलचरजन्तून् पशून् आलभते उपाकुर्यात्। पर्जन्याय पर्जन्याधिष्ठातृदेवतायै मण्डूकान् भेकान् त्रीन् पशून् उपाकुर्यात्। अद्भ्योऽबधिष्ठातृदेवताभ्यो मत्स्यान् त्रीन् पशूनुपाकुर्यात्। तत्र द्वितीयेऽन्तराले द्वौ ककरौ त्रीन् विककरान् त्रीन् शिशुमारान् त्रीन् मण्डूकान् द्वौ मत्स्यौ इति सम्मेल्य त्रयोदश पशूनुपाकुर्यात्, तृतीये चान्तरालेऽब्देवत्यमेकं मत्स्यमुपाकुर्यादिति विवेकः। मित्राय मित्रदेवतायै कुलीपयान् त्रीन् जलचरप्राणिविशेषान्, वरुणाय वरुणदेवतायै नाक्रान्, नक्रा एव नाक्राः, तान् त्रीन् जलचरविशेषान् पशून् तृतीय एवान्तराले उपाकुर्यात्। नाक्रान् नक्रापत्यभूतान् प्राणिन इति सायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, जलजन्तुपालनविद् यथा समुद्राय शिशुमारान् पर्जन्याय मण्डूकान् अद्भ्यो मत्स्यान् मित्राय कुलीपयान्, नाक्रान् वरुणायालभते, तथैव यूयमपि आलभध्वम्' इति, तदपि बालभाषितम्, सर्वेषां मनुष्याणां तत्प्राप्तेरनभीष्टत्वात् ॥ २१ ॥

सोमा॑य ह॒ꣳसाना॒लँभते वा॒यवे॑ ब॒लाका॑ इन्द्रा॒ग्निभ्यां॒ क्रुञ्चा॑न् मि॒त्राय॑ म॒द्गून्॑ वरु॑णाय चक्र॒वाका॑न् ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—तीन हंसों को सोम देवता के निमित्त, तीन बलाकाओं को वायु के निमित्त, तीन क्रौंचों को इन्द्र और अग्नि देवता के निमित्त, तीन जलकाकों को मित्र देवता के निमित्त और तीन चक्रवाकों को वरुण देवता के निमित्त नियुक्त करे ॥ २२ ॥

सोमाय सोमदेवतायै हंसान् त्रीन् पशून् आलभते। वायवे वायुदेवतायै बलाकास्तिस्रो बकयोषितः। एतान् त्रयोदशपशून् तृतीयेऽन्तराले नियोजयेत्। अथ चतुर्थेऽन्तराले—इन्द्राग्निभ्यामिन्द्राग्निदेवताभ्यां क्रुञ्चान् त्रीन् पक्षिविशेषान् पशून् उपाकुर्यात्। मित्राय मित्रदेवतायै मद्गून् त्रीन् जलकाकान् उपाकुर्यात्। वरुणाय वरुणदेवतायै चक्रवाकान् नियोजयेत्।

अध्यात्मपक्षे पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'यथा पक्षिषु गुणविज्ञानी जनः सोमाय हंसान्····वरुणाय चक्रवाकानालभते, तथा यूयमप्यालभध्वम्' इति, तदपि निरर्थकमेव, अव्यवहार्यत्वात्। सिद्धान्ते तु तत्तद्देवताभ्यस्ते ते पशव उपयुज्यन्ते ॥ २२ ॥

अ॒ग्नये॑ कु॒टरू॑नाल॑भते॒ वन॒स्पति॑भ्य॒ उलू॑काना॒ग्नीषोमा॑भ्यां॒ चाषा॑न॒श्विभ्यां॒ म॒यूरा॑न् मि॒त्रावरु॑णाभ्यां क॒पोता॑न् ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—तीन कुटुरों को अग्नि देवता के निमित्त, तीन उलूकों को वनस्पतियों के निमित्त, तीन चाषों को अग्नीषोम देवताओं के निमित्त, तीन मयूरों को अश्विनीकुमारों के निमित्त और तीन कपोतों को मित्रावरुण देवता के निमित्त नियुक्त करे ॥ २३ ॥

अग्नयेऽग्निदेवतायै कुटरून् कुक्कुटान् त्रीन् आलभते उपाकुर्यात्। वनस्पतिभ्यो वनस्पत्यधिष्ठातृदेवताभ्य उलूकान् काकवैरिणस्त्रीन् उपाकुर्यात्। तन्मध्ये एकमुलूकं चतुर्थेऽन्तराले। इति सम्मेल्य त्रयोदश पशून् चतुर्थेऽन्तराले उपाकुर्यादिति विवेकः। अथ पञ्चमेऽन्तराले शिष्टौ द्वा उलूकौ काकारी उपाकुर्यात्। अग्नीषोमाभ्यां चाषान् त्रीन् उपाकुर्यात्। अश्विभ्यां मयूरान् त्रीनुपाकुर्यात्। मित्रावरुणाभ्यां कपोतान् कपोताभिधान् त्रीन् पक्षिण उपाकुर्यात्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'कुक्कुटादिपक्षिणो न जानन्ति, तान् वर्धयन्ति' इति, तदपि मन्त्रबाह्यमेव, एतस्यार्थस्य अक्षराननुगुणत्वात् ॥ २३ ॥

सोमा॑य ल॒वाना॒लँभते॒ त्वष्ट्रे॑ कौ॒लीका॑न् गोषा॒दीर्दे॒वानां॒ पत्नी॑भ्यः कु॒लीका॑ देवजा॒मिभ्यो॒ऽग्नये॑ गृ॒हप॑तये पारु॒ष्णान्॑ ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—तीन लवों को सोम के निमित्त, तीन कौलीकों को त्वष्टा के निमित्त, तीन गोषादियों को देवपत्नियों के निमित्त, तीन कुलीकाओं को देवबन्धुओं के निमित्त और तीन पारुष्णों को गृहपति अग्निदेवता के निमित्त नियुक्त करे ॥ २४ ॥

सोमाय सोमदेवतायै लवान् लावकान् त्रीन् पक्षिविशेषान् आलभते उपाकुर्यात् । त्रयाणां लावकानां मध्ये द्वौ पञ्चमेऽन्तराले (सम्मेल्य त्रयोदशपशून्) उपाकुर्यात् । अथ षष्ठेऽन्तराले लवमेकं सोमाय उपाकुर्यात् । त्वष्ट्रे त्वष्टृदेवतायै कौलीकान् एतन्नामकान् त्रीन् पक्षिविशेषान् उपाकुर्यात् । गोषादीः, गाः सादयन्तीति गोषाद्यः, ता गोषादीस्तिस्रः पक्षिणीर्देवानां पत्नीभ्य उपाकुर्यात् । कुलीकास्तिस्रः पक्षिणीर्देवजामिभ्यो देववधूभ्यः, 'जामिः स्वसृकुलस्त्रियोः' (अ० को० ३।३।१४२) इति कोषः । गृहपतयेऽग्नये गृहपतिसंज्ञायाग्नये पारुष्णान् त्रीन् (सम्भूय त्रयोदशपशून् षष्ठेऽन्तराले) उपाकुर्यात् ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'यथा पक्षिकर्मविज्जनः सोमाय लवान् त्वष्ट्रे कौलीकान् देवानां पत्नीभ्यो गोषादीर्देवजामिभ्यो विदुषां भगिनीभ्यः पारुष्णान् आलभते, तथैव यूयमालभध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषां पत्नीभ्यो भगिनीभ्यश्च पक्षिणामुपयोगावर्णनात् ॥ २४ ॥

अह्ने॑ पा॒राव॑ताना॒लभ॑ते॒ रात्र्यै॑ सीचा॒पूर॑होरा॒त्रयोः॑ स॒न्धिभ्यो॑ ज॒तूर्मासे॑भ्यो दात्यौ॒हान् संव॑त्स॒राय॑ मह॒तः सु॑प॒र्णान् ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—तीन पारावतों को दिवाभिमानी देवता के निमित्त, तीन सीचापुओं को रात्रि के अभिमानी देवता के निमित्त, तीन जतुओं को अहोरात्र की सन्धियों के निमित्त, तीन नीलकण्ठों को मासाभिमानी देवता के निमित्त और तीन बड़े सुपर्णों को संवत्सर के अभिमानी देवता के निमित्त नियुक्त करे ॥ २५ ॥

अथ सप्तमेऽन्तराले—अह्ने अहरभिमानिदेवतायै पारावतान् त्रीन् कलरवान् आलभते । रात्र्यै रात्र्यभिमानिदेवतायै सीचापूरेतदाख्यास्तिस्रः पक्षिणीः । अहोरात्रयोः सन्धिभ्योऽहोरात्रयोर्मध्ये ये सन्धयस्तदभिमानिदेवताभ्यो जतूः पात्राख्याः पक्षिणीस्तिस्र उपाकुर्यात् । मासेभ्यो मासाभिमानिदेवताभ्यो दात्यौहान् कालकण्ठान् त्रीन् उपाकुर्यात् । संवत्सराय संवत्सराभिमानिने देवाय महतः सुपर्णान् त्रीन् बृहत्पक्षिण उपाकुर्यात् । तत्र एकं बृहत्पक्षिणं सप्तमेऽन्तराले (सम्भूय त्रयोदशपशून् उपाकुर्यात्) । अथाष्टमेऽन्तराले द्वौ महान्तौ सुपर्णौ उपाकुर्यादिति विवेकः ।

अध्यात्मपक्षे—सर्वे चैते पक्षिणस्तच्छेषिणो देवाश्च ब्रह्मण्यध्यस्तत्वात् तद्रूपा एव, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात् ।

दयानन्दस्तु—'ये मनुष्याः स्वस्वसमयानुकूलक्रीडाकराणां पक्षिणां स्वभावं विदित्वा स्वस्वभावं कुर्युः, ते बहुविदः स्युः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रबाह्यत्वात् ॥ २५ ॥

भूम्या॑ आ॒खूना॒लभ॑ते॒ऽन्तरि॑क्षाय पा॒ङ्क्त्रान् दि॒वे काशा॑न् दि॒ग्भ्यो न॑कु॒लान् ब॒भ्रुका॑नवान्तरदि॒शाभ्यः॑ ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—तीन मूषकों को भूमि के निमित्त, दो पांक्त्रों को अन्तरिक्ष के निमित्त, तीन काशों को स्वर्ग के निमित्त, तीन नकुलों को दिशाओं के निमित्त और तीन बभ्रुकों को विदिशाओं के निमित्त नियुक्त करे ॥ २६ ॥

अथ बिलजान् प्राणिनः पशुत्वेनाह—भूम्या इति। भूम्यै भूम्यधिष्ठात्र्यै देवतायै आखून् मूषकान् त्रीनालभते उपाकुर्यात्, अष्टमेऽन्तराल इति शेषः। अन्तरिक्षाय अन्तरिक्षाधिष्ठातृदेवतायै पाङ्क्त्रान् मूषकजातिविशेषान् त्रीन् उपाकुर्यात्। दिवे द्युदेवतायै काशान् मूषकविशेषानेव त्रीनुपाकुर्यात्। दिग्भ्यो दिगधिष्ठातृदेवताभ्यो नकुलान् त्रीन् उपाकुर्यात्। अत्र द्वौ नकुलावष्टमे (सम्भूय त्रयोदशपशून्) उपाकुर्यात्। अथ नवमेऽन्तराले एकं नकुलमुपाकुर्यादिति विवेकः। बभ्रुकान् बिलचरप्राणिविशेषान् त्रीन् अवान्तरदिशाभ्यस्तदधिष्ठातृदेवताभ्य उपाकुर्यात्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'ये भूम्यादिवद् मूषकादिगुणान् विदित्वोपकुर्युस्ते बहुविज्ञाना जायन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदबाह्यत्वात् ॥ २६ ॥

वसुभ्य ऋश्यानालभते रुद्रेभ्यो रुरूनादित्येभ्यो न्यङ्कून् विश्वेभ्यो देवेभ्यः पृषतान् साध्येभ्यः कुलुङ्गान् ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ - तीन ऋश्य मृगों को वसुओं के लिये, तीन रुरु मृगों को रुद्रों के लिये, तीन न्यंकु मृगों को आदित्यों के लिये, तीन पृषत् मृगों को विश्वेदेव देवताओं के लिये और तीन कुलुंगों को साध्यों के लिये नियुक्त करे ॥ २७ ॥

अथारण्यान् पशूनाह—वसुभ्य इति। वसुभ्यो देवेभ्य ऋश्यान् त्रीन् मृगविशेषान् उपाकुर्यात्। रोहितानिति सायणः। नवमेऽन्तराल इति शेषः। रुद्रेभ्यो देवेभ्यो रुरून् त्रीन् महतः कृष्णसारान् उपाकुर्यात्। आदित्येभ्यो देवेभ्यो न्यङ्कून् त्रीन् मृगविशेषान् (सम्भूय त्रयोदशपशून् नवमेऽन्तराले) उपाकुर्यात्। अथ दशमेऽन्तराले - विश्वेभ्यो देवेभ्यः पृषतान् बहुभिर्बिन्दुभिर्युक्तान् त्रीन् पशूनुपाकुर्यात्। साध्येभ्यः, साध्या नाम देवगणास्तेभ्यः, कुलुङ्गान् त्रीन् हरिणानुपाकुर्यात्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु - 'वस्वादिभ्य ऋश्यादीन् यथालभते, तथा यूयमालभध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या तेषामुपयोगाविज्ञानात् ॥ २७ ॥

ईशानाय परस्वत आलभते मित्राय गौरान् वरुणाय महिषान् बृहस्पतये गवयाँस्त्वष्ट्र उष्ट्रान् ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ— तीन परस्वत् मृगों को ईशान के लिये, तीन गौर मृगों को मित्र के लिये, तीन महिषों को वरुण के लिये, तीन गवयों को बृहस्पति के लिये और तीन ऊँटों को त्वष्टा के लिये नियुक्त करे ॥ २८ ॥

ईशानाय देवाय परस्वतस्त्रीन् मृगविशेषान् आलभते उपाकुर्यात्, दशमेऽन्तराल इति शेषः। मित्राय देवाय गौरान् त्रीन् मृगान् उपाकुर्यात्। वरुणाय वरुणदेवाय महिषान् त्रीन् उपाकुर्यात्। तत्रैकं महिषं दशमेऽन्तराले (सम्भूय त्रयोदशपशून्) उपाकुर्यात्। द्वौ च एकादशेऽन्तराले उपाकुर्यादिति विवेकः। बृहस्पतये

बृहस्पतिदेवतायै गवयान् गोसदृशान् आरण्यकपशून् त्रीन् उपाकुर्यात्, एकादशेऽन्तराल इति शेषः। त्वष्ट्रे त्वष्टृदेवतायै उष्ट्रान् त्रीनुपाकुर्यात्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दीयमतमपि पूर्ववन्निराकरणीयम्, तादृशकार्यकारणभावाप्रसिद्धेः। यो राजा मनुष्यो वा समर्थजनाय परस्वतो मृगानालभते, मित्राय गौरान् मृगान्, अतिथिश्रेष्ठाय महिषान्, महद्रक्षकाय गवयान्, त्वष्ट्रे, उष्ट्रानालभते प्राप्नोति, स धनधान्ययुक्तो भवतीति प्रमाणशून्यम्, को वा तेषां तेषां पशूनां तेषु तेषूपयोगः, किञ्च तत्र बीजमित्याद्यनुक्तेः ॥ २८ ॥

प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते वाचे प्लुषीँश्चक्षुषे मशकाञ्छ्रोत्राय भृङ्गाः ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—तीन नर हाथियों को प्रजापति के लिये, तीन वक्रतुण्डों को वाणी के लिये, तीन मशकों को चक्षु के लिये और तीन भ्रमरों को श्रोत्र के लिये नियुक्त करे ॥ २९ ॥

प्रजापतये प्रजापतिसंज्ञकाय देवाय पुरुषान् पुंस्त्वविशिष्टान् हस्तिनस्त्रीन् आलभते उपाकुर्यात्, एकादशेऽन्तराल इति यावत्। वाचे वाग्देवतायै प्लुषीन् वक्रतुण्डान् त्रीनुपाकुर्यात्। तत्र द्वौ प्लुषी एकादशेऽन्तराले (सम्भूय त्रयोदशपशून्) उपाकुर्यात्। अथ द्वादशेऽन्तराले एकं प्लुषिम्। प्लुषिर्वक्रतुण्ड इति महीधरः, पुत्तिका इति द्विवेदगङ्गः, परमाणुतुल्यपुत्तिकादिशरीरमिति ब्रह्मयोगिनः, पुत्तिकाशरीरमिति भगवत्पादाः। चक्षुषे चक्षुरभिमानिदेवतायै मशकान् त्रीनुपाकुर्यात्, द्वादशेऽन्तराल इति यावत्। श्रोत्राय श्रोत्राधिष्ठातृदेवतायै भृङ्गाः, भृङ्गान् भ्रमरान् द्वादशेऽन्तराले नियुञ्जीतेति, विभक्तिव्यत्ययः। यद्वा भृङ्गास्त्रयो नियोज्या इति व्याख्येयम्। एवं त्रयस्त्रय आरण्याः पशवो गताः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वे चैते पशवस्तैर्यष्टव्याः, देवाश्च ब्रह्मोत्पन्नत्वात्, तद्विकारत्वात्, तत्कल्पितत्वाद्वा तद्रूपा एवेति मन्तव्यम्।

दयानन्दस्तु—'यो मनुष्यः प्रजापतये पुरुषान् हस्तिनो वाचे प्लुषीन् चक्षुषे मशकानालभते श्रोत्राय भृङ्गा आलभते, स बलिष्ठो दृढेन्द्रियो जायते' इति, तदपि निरर्थकम्, तदुपयोगानिरूपणात्, भृङ्गा आलभते इत्यसङ्गतेश्च ॥ २९ ॥

प्रजापतये च वायवे च गोमृगो वरुणायारण्यो मेषो यमाय कृष्णो मनुष्यराजाय मर्कटः शार्दूलाय रोहिदृषभाय गवयी क्षिप्रश्येनाय वर्तिका नीलङ्गोः क्रिमिः समुद्राय शिशुमारो हिमवते हस्ती ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति और वायुदेवता के लिये गवय को, वरुण के लिये वन के मेष को, यम के लिये काले मेष को, मनुष्य राजा के लिये मर्कट को, शार्दूल के लिये रोहित को, ऋषभ के लिये गवयी को, शीघ्रगामी श्येन की अधिष्ठात्री देवता के लिये वर्तिका को, नीलंगव के लिये क्षुद्र कीट को, समुद्र के लिये शिशुमार को और हिमालय के लिये हस्ती को नियुक्त करे ॥ ३० ॥

अथैकैकश आलभ्यान् पशूनाह—प्रजेति। प्रजापतये च वायवे च गोमृगो गोसदृशो मृगो गवय एक आलब्धव्यः, एकवचनत्वात्। स च द्वादशेऽन्तराले। वरुणाय वरुणदेवतायै आरण्योऽरण्यजातो मेष एक

आलब्धव्यः। यमाय यमदेवतायै कृष्णः कृष्णवर्ण एको मेष आलब्धव्यः। मनुष्यराजाय मनुष्याणां राजा मनुष्यराजस्तस्मै मनुष्यराजाभिमानिदेवतायै मर्कटः कपिरेक आलब्धव्यः। शार्दूलाय व्याघ्राद्यधिष्ठातृदेवतायै रोहिद् रोहित ऋष्य एको नियोक्तव्यः, छान्दसोऽकारलोपः। ऋषभाय ऋषभाख्यदेवतायै गवयी गवयमृगस्त्री एका (सम्भूय एतान् त्रयोदशपशून् द्वादशेऽन्तराले नियुञ्ज्यात्)। अथ त्रयोदशेऽन्तराले—क्षिप्रश्येनाय क्षिप्रगुणयुक्तश्येनाय वर्तिका एतन्नाम्नी पक्षिणी आलब्धव्या। नीलङ्गोः, नीलङ्गवे, विभक्तिव्यत्ययः, नितरां लङ्गति गच्छतीति नीलङ्गुः, क्रिमिजातिः, तस्मै। 'नीलङ्गुस्तु क्रिमिः' (अ० को० २।५।१३) इत्यमरः, नीलङ्ग्वधिष्ठातृदेवतायै कृमिः, क्राम्यतीति कृमिः, 'क्रमितमिशतिस्तम्भामत इच्च' (उ० ४।१२३) इति इन्-प्रत्ययः, अकारस्येकारादेशश्च। अनया प्रक्रियया क्रिमिशब्दसिद्धिः। अस्मिन् सूत्रे सम्प्रसारणानुवृत्तौ कृमिरिति साधुः। कीट एक आलब्धव्यः। समुद्राय तदधिष्ठातृदेवतायै शिशुमारो जलचरविशेष एक आलब्धव्यः। हिमवते हिमोऽस्त्यत्रेति हिमवान्, तन्नामा पर्वतविशेषः, तस्मै तदधिष्ठातृदेवाय हस्ती एक आलब्धव्यः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिः प्रजापतये वरुणाय च गोमृगः ···· हिमवते हस्ती च प्रयोक्तव्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रयोगस्वरूपानिरूपणात्॥ ३०॥

मयुः प्राजापत्य उलो हलिक्ष्णो वृषदꣳशस्ते धात्रे दिशां कङ्को धुङ्क्षाग्नेयी कलविङ्को लोहिताहिः पुष्करसादस्ते त्वाष्ट्रा वाचे क्रुञ्चः॥ ३१॥

मन्त्रार्थ – तुरंगवदन किन्नर प्रजापति देवता को समर्पित है। उल मृग, हलिक्ष्ण सिंह और विडाल ये धाता के लिये हैं। दिशाओं के निमित्त कंक, धुंक्ष अग्नि देवता के निमित्त, चटक, लाल सर्प और कमलभक्षी पक्षी – ये सब त्वष्टा देवता के निमित्त और क्रुंच वाग्देवता के लिये नियुक्त है॥ ३१॥

मयुस्तुरङ्गवदनः किन्नरः प्राजापत्यः प्रजापतिदेवत्यः, प्रजापतिदेवतार्थमालब्धव्यः। उलो मृगविशेषः। हलिक्ष्णः, महद् हलं हलिः, तद्वाहकानपि महाबलान् वृषभान् क्षिणोति हिनस्तीति हलिक्ष्णः सिंहविशेषः, वृषदंशो वृषान् आखून् दशतीति वृषदंशो मार्जारः, एते ते पशवो धातृशब्दाभिधेयाय प्रजापतये आलब्धव्याः। दिशां दिग्देवतानां कृते कङ्कः, बक इति महीधरः, लोहपृष्ठनामा पक्षिविशेष इति सायणः। धुङ्क्षा पक्षिणी इति महीधरः, धुङ्क्षो ध्वाङ्क्षः काकविशेषः। तज्जातीया स्त्री धुङ्क्षा। एका सा आग्नेयी अग्निदेवत्या, अग्नये आलब्धव्येति यावत्। कलविङ्कश्चटकः, लोहिताही रक्तसर्पः, पुष्करसादी पुष्करे कमले सीदतीति पुष्करसादः कमलभक्षी पक्षिविशेषः, ते त्रयस्त्वाष्ट्रास्त्वष्टृदेवत्यास्त्वष्टृदेवतायै आलब्धव्याः। सम्भूय एते त्रयोदश पशवस्त्रयोदशेऽन्तराल आलब्धव्याः। अथ चतुर्दशे—वाचे वाग्देवतायै क्रुञ्च उच्चैःशब्दकारी क्रौञ्चाख्यः पक्षी सारस एक आलब्धव्यः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—पूर्ववदेवान्वयः। 'ये शृगालसर्पादीन् वशं नयन्ति, ते धुरन्धराः सन्तीति भावार्थः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पदपदार्थासम्बन्धात्॥ ३१॥

सोमाय कुलुङ्ग आरण्योऽजो नकुलः शका ते पौष्णाः क्रोष्टा मायोरिन्द्रस्य गौरमृगः पिद्वो न्यङ्कुः कक्कटस्तेऽनुमत्यै प्रतिश्रुत्कायै चक्रवाकः॥ ३२॥

मन्त्रार्थ—सोम के लिये कुलुंग हरिण, वन का छाग, नकुल और शकुन्ती पूषा देवता के निमित्त, शृगाल मायु देवता के निमित्त, गौर मृग इन्द्र के निमित्त, न्यंकु, पिद्व और कक्कट अनुमती देवी के निमित्त और चक्रवाक प्रतिश्रुत्का देवता के निमित्त नियोजित है ॥ ३२ ॥

सोमाय सोमदेवतायै कुलुङ्गः कुरङ्गो हरिण एकश्चतुर्दशेऽवकाश आलब्धव्यः। आरण्यः अरण्योद्भवः, अजश्छागः, नकुलः सर्पाहिरेकः, शका शकुन्तिका एका, त एते त्रयः पशवः पौष्णाः पूषदेवत्याश्चतुर्दशेऽवकाशे आलब्धव्याः। क्रोष्टा शृगाल एकः, मायोः मिनोति प्रक्षिपति पित्तमिति मायुर्मृत्युः, तस्य। मायवे मृत्युदेवतायै एकस्तत्रैवालब्धव्यः। इन्द्रस्य इन्द्राय देवराजाय गौरमृग आरण्यो मृगविशेष एक आलब्धव्यः। तथा पिद्वो मृगविशेषः, व्याघ्र इति सायणः, एकः। न्यङ्कुः नितरामञ्चतीति न्यङ्कुर्मृगविशेष एकः। कक्कटः मृगविशेषः, कर्कटक इति सायणः, एकः। त एते त्रयः। अनुमत्यै अनुमतिदेवतायै आलब्धव्याः। प्रतिश्रुत्कायै प्रतिध्वनिदेवतायै चक्रवाको रथाङ्गनामा पक्षी एकश्चतुर्दशेऽवकाशे नियोज्यः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यदि युष्माभिः सोमाय कुलुङ्गः, आरण्योऽजः, प्रतिश्रुत्कायै चक्रवाकः सम्प्रयुज्यते, तर्हि बहु कृत्यं कर्तुं शक्येत' इति, तदपि निरर्थकम्, मन्त्राक्षराऽनानुगुण्यात्। एतादृशैर्व्याख्यानैरिदमेव स्पष्टं भवति यत् प्राचीनं परम्पराप्राप्तं सायणादिव्याख्यानमुपेक्ष्य यत्किञ्चित् प्रलपितमेव श्रुतिषु बलादारोप्यत इति ॥ ३२ ॥

सौरी बलाका शार्गः सृजयः शयाण्डकस्ते मैत्राः सरस्वत्यै शारिः पुरुषवाक् श्वाविद् भौमी शार्दूलो वृकः पृदाकुस्ते मन्यवे सरस्वते शुकः पुरुषवाक् ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—बलाका सूर्य के निमित्त, शार्ङ्ग, सृजय और शयाण्डक नामक पक्षी मित्र देवता के लिये, पुरुष के समान बोलने वाली मैना सरस्वती के लिये, साही भूमि देवता के लिये, व्याघ्र, चीता और सर्प मन्यु देवता के लिये और पुरुष के समान बोलने वाला तोता समुद्र के लिये नियोजित है ॥ ३३ ॥

सौरी सूर्यदेवत्या बलाका बिसकण्ठिका बकस्त्री एका चतुर्दशेऽन्तराले नियोज्या। शार्गः पक्षिविशेषः, सृजयो नीलमक्षिका, शुक्लसर्प इत्येके, नीलपक्षिणी इत्यपरे। शयाण्डकः पक्षिविशेष इति महीधरः, कृकलास इति सायणः। ते त्रयो मैत्रा मित्रदेवत्या उपाकर्तव्याः। तत्र शार्गश्चतुर्दशेऽन्तराल उपाकर्तव्यः। अथ पञ्चदशेऽन्तराले—सृजयः शयाण्डकश्च उपाकरणीयौ। सरस्वत्यै सरस्वतीदेवतायै शारिः शारिका शुकस्त्री एका उपाकरणीया। तद्विशेषणं पुरुषवागिति, पुरुषवद्वक्तीति पुरुषवाक्। श्वाविद् श्वानं विध्यतीति श्वावित् शल्यकः सेधा (साही), यस्य लोमानि शल इत्याख्यायन्ते तज्जातीया स्त्री एका भौमी भूमिदेवत्या पञ्चदशेऽन्तराले उपाकरणीया। शार्दूलो व्याघ्रः, वृकश्चित्रक इति महीधरः, बालमारक इति सायणः। पृदाकुः सर्पः। त एते त्रयो मन्यवे मन्युदेवतायै पञ्चदशेऽन्तराले उपाकर्तव्याः। सरस्वते समुद्राय देवाय शुकः पुरुषवाग् एक उपाकर्तव्यः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'ये बलाकादयः पशुपक्षिणस्तेषां मध्यात् केचित् पालनीयाः, केचित्ताडनीयाः सन्तीति वेद्यमिति भावार्थः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्। अक्षराऽननुगुणत्वात् ॥ ३३ ॥

सुपर्णः पार्जन्य आतिर्वाहसो दर्विदा ते वायवे बृहस्पतये वाचस्पतये पैङ्गराजोऽलज आन्तरिक्षः प्लवो मद्गुर्मत्स्यस्ते नदीपतये द्यावापृथिवीयः कूर्मः ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—सुपर्ण पर्जन्य देवता के निमित्त, आति, वाहस और कठकुटा पक्षी वायु देवता के निमित्त, पैंगराज पक्षी वाणी के स्वामी बृहस्पति देवता के निमित्त, अलज अन्तरिक्ष के निमित्त, प्लव, कारण्डव और मत्स्य समुद्र के निमित्त और कच्छप द्यावापृथिवी के निमित्त नियुक्त किया गया है ॥ ३४ ॥

सुपर्णो गरुत्मान् पक्षीन्द्रजातीय एकः पक्षी पार्जन्यः पर्जन्यदेवत्यः पञ्चदशेऽन्तराले उपाकरणीयः। आतिः आडी, कक्कुटी इति सायणः। वाहसः (मात्रावाहकः) शुक्तिकान्तर्गतो जलप्राणिविशेषः। दर्विदा दर्विणा श्येनेन आदीयत इति दर्विदा जलपक्षी, द्रुमकुक्कुट इत्येक इति सायणः, काष्ठकुट्ट इति महीधरः। ते त्रयो वायवे वायुदेवतायै उपाकरणीयाः। बृहस्पतये बृहतां पतिर्बृहस्पतिः, एतन्नामा देवः, तस्मै। वाचस्पतये वाचो वाण्याः पतिर्वाचस्पतिः, एतद्गुणविशिष्टस्तस्मै सुरगुरवे देवाय पैङ्गराजः, पक्षिविशेष इति महीधरः, भरद्वाजाख्यः पक्षी समुद्रतरङ्गेषु संचारी महापक्षी पैङ्गराज इति केचिदिति सायणः। सम्भूय एते त्रयोदश पशवः पञ्चदशेऽवकाशे उपाकरणीयाः। अथ षोडशेऽवकाशे—अलजो भाषाख्यः पत्रिविशेषः, आन्तरिक्षोऽन्तरिक्ष-देवत्य उपाकरणीयः। प्लवो मज्जन् मज्जन् वर्तमानो जलचरः पक्षी, मद्गुर्जलकाक इति सायणः, कारण्डव इति महीधरः। मत्स्यः प्रसिद्धः, त एते त्रयः पशवो नदीपतये समुद्रदेवतायै उपाकरणीयाः। कूर्मः कच्छपो द्यावापृथिवीयो द्यावापृथिवीदेवत्यः षोडशेऽवकाशे उपाकरणीयः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'यः सुपर्णः स पार्जन्यो य आतिर्वाहः सः दर्विदा च ते वायवे पैङ्गराजो बृहस्पतये वाचस्पतये'''यः कूर्मः स द्यावापृथिवीयश्च विज्ञेयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बन्धविशेषस्यानिरूपणात् सम्बन्ध-सामान्यस्यावक्तव्यत्वाच्च ॥ ३४ ॥

पुरुषमृगश्चन्द्रमसो गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनां कृकवाकुः सावित्रो हꣳसो वातस्य नाक्रो मकरः कुलीपयस्तेऽकूपारस्य ह्रियै शल्यकः ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—पुरुष मृग चन्द्रमा के निमित्त, गोधा, कालका और सारस वनस्पति देवता के निमित्त, ताम्रचूड़ सविता देवता के निमित्त, हंस वायु देवता के निमित्त, नाक, मकर और कुलीपय समुद्र के निमित्त तथा साही ह्री देवता के निमित्त नियुक्त किये गये हैं ॥ ३५ ॥

पुरुषमृगः पुम्मृगः, चन्द्रमसश्चन्द्रमसे देवाय आलम्भनीयः। 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इति षष्ठी। पुरुषाकारो मृग इति सायणः। गोधा (गोहशब्देन लोके ख्यातो जन्तुविशेषः), मुसलिकेति सायणः, महागोधेत्येके। कालका पक्षिविशेष इति महीधरः। उपलखण्डिनीति सायणः। दार्वाघाटः सारसः। द्रुमकुक्कुट इति सायणः। त एते त्रयो वनस्पतीनां वनस्पतिदेवताभ्यः षोडशेऽन्तराले प्रोक्षणीयाः। कृकवाकुः कृकेन गलेन वक्तीति कृकवाकुस्ताम्रचूडः सावित्रः सवितृदेवत्यः षोडशेऽन्तराले प्रोक्षणीयः। हंसो वातस्य वाताय वायुदेवतायै षोडशेऽन्तराले प्रोक्षणीयः। नाक्रः, न आक्राम्यतीति नाक्रो दीर्घतुण्डो ग्राहः, दीर्घपुच्छो मत्स्यविशेष इत्येके। मकरः सर्पतुण्डः। कुलीपयो बहुपान्मत्स्यविशेषः, त एते त्रयो जलचरविशेषा अकूपारस्य

अकूपाराय समुद्राय देवाय आलभ्याः । तत्र द्वौ षोडशेऽन्तराले, एकः कुलीपयश्च सप्तदशेऽन्तराले आलभ्यः । ह्रियै लज्जादेवतायै शल्यक एकः सप्तदशेऽन्तराले आलभ्यः ।

अध्यात्मपक्षे— पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः पुरुषमृगः स चन्द्रमसो ये गोधादयस्ते वनस्पतीनां ह्रियै लज्जायै शल्यको विज्ञेयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बन्धविशेषानिरूपणात् ॥ ३५ ॥

एण्यह्नो मण्डूको मूषिका तित्तिरिस्ते सर्पाणां लोपाश आश्विनः कृष्णो रात्र्या ऋक्षो जतूः सुषिलीका त इतरजनानां जहका वैष्णवी ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—मृगी अह्नो देवता के निमित्त, मण्डूक, मूषक और तीतर सर्पों के निमित्त, लोपाश अश्विनोकुमारों के निमित्त, कृष्णमृग रात्रि के निमित्त, भालू, जतू और सुषिलीका इतर जनदेवताओं के निमित्त एवं जहका विष्णु देवता के निमित्त नियुक्त किये गये हैं ॥ ३६ ॥

एणी मृगी, बिन्दुमती हरिणीति सायणः । अह्नः अहर्देवतायै सप्तदशेऽन्तराले नियोज्या । मण्डूको भेकः, मूषिका आखुः, तित्तिरिः कुररः, त एते त्रयः पशवः सर्पाणां सर्पेभ्यः सप्तदशेऽन्तराले नियोज्याः । लोपाशो वनचरविशेषः, क्रोष्टेति सायणः । आश्विनः अश्विदेवत्यः सप्तदशेऽन्तराले नियोज्यः । कृष्णः कृष्णमृगः, रात्र्यै रात्रिदेवतायै नियोज्यः । ऋक्षो भल्लूकः, जतूः जतुका अजिनपत्रा, सुषिलीका प्राणिविशेषः, जतूः सुषिलीका च पक्षिविशेषाविति महीधरः । त एते त्रयः पशव इतरजनानामितरजनाधिष्ठातृदेवेभ्यो नियोज्याः । जहका गात्रसङ्कोचनी वैष्णवी विष्णुदेवत्या । एते सर्वे पशवः सप्तदशेऽन्तराले नियोज्याः ।

अध्यात्मपक्षे पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिर्यैणी साह्नः, ये मण्डूका मूषिका तित्तिरिश्च ते सर्पाणाम्, यो लोपाशः स आश्विनः, यः कृष्णः स रात्र्यै, य ऋक्षो जतुः सुषिलीका च त इतरजनानाम्, या जहका सा वैष्णवी च विज्ञेया' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भावार्थस्यास्पष्टत्वात् । इतरजनाः के ? तेषां लोपाशादिभिः किं प्रयोजनं सिद्ध्यति ? मण्डूकमूषिकातित्तिरीणां सर्पेषु क उपयोग इत्यनुक्तेः ॥ ३६ ॥

अन्यवापोऽर्धमासानामृश्यो मयूरः सुपर्णस्ते गन्धर्वाणामपामुद्रो मासां कश्यपो रोहित्कुण्डृणाची गोलत्तिका तेऽप्सरसां मृत्यवेऽसितः ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ— कोयल शुक्ल और कृष्ण पक्ष के देवताओं के निमित्त, ऋष्य मृग, मोर और सुपर्ण गन्धर्वों के निमित्त, कर्कट जल देवता के निमित्त, कच्छप मास देवता के निमित्त, रोहित, वनचरी और गोलत्तिका अप्सराओं के निमित्त तथा कृष्ण पशु मृत्यु देवता के निमित्त नियुक्त हैं ॥ ३७ ॥

अन्यवापः परभृतः कोकिलः पक्षी अर्धमासनामकानां देवानां पशुः, अन्यवापो मृगविशेष इति सायणः । एते सम्भूय त्रयोदश पशवः सप्तदशेऽवकाशे नियोज्याः । अथाष्टादशेऽवकाशे—ऋश्यो मृगविशेषः, रोहित इति सायणः । मयूरो बर्हो, सुपर्णो गरुत्मान्, श्येन इति सायणः । त एते त्रयो गन्धर्वाणां पशवोऽष्टादशेऽवकाशे नियोज्याः । उद्रो जलचरः कर्कटसंज्ञोऽपां पशुः, उद्र उदनशीलः पक्षिविशेष इति सायणः । मासां मासाधि-

देवतानां कश्यपः कच्छपः। कश्यपः पक्षिविशेष इति सायणः। रोहिद् ऋश्यस्त्री, कुण्डृणाची वनचरीविशेषः। गृहगोधिकेति सायणः। गोलत्तिका सापि वनचरीविशेषः। खञ्जरीटकेति सायणः। पीतशुक्लेति केचित्। त एते त्रयः पशवोऽप्सरसां देवतानाम्। मृत्यवे मृत्युदेवतायै असितः कृष्णः पशुः, कृष्णसर्प इति सायणः।

अध्यात्मपक्षे एते पशवस्तत्सम्बन्धिनो देवाश्च ब्रह्मात्मका एव, तद्विकारत्वात्।

दयानन्दस्तु—अन्वयं पदार्थं च महीधरादिवदेवाह। भावार्थे तु—'ये कालादिगुणाः पशुपक्षिणस्ते उपकारिणः सन्तीति वेद्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथात्वे देवसम्बन्धवर्णनस्य नैरर्थक्यापातः। न च देवानां गुणाः पशुषु विवक्षिता इति वाच्यम्, अर्धमासानां के गुणाः कोकिले विद्यन्त इत्याद्यनिरूपणात्॥ ३७॥

वर्षाहूरृतूनामाखुः कशो मान्थालस्ते पितृणां बलायाजगरो वसूनां कपिञ्जलः कपोत उलूकः शशस्ते निर्ऋत्यै वरुणायारण्यो मेषः॥ ३८॥

मन्त्रार्थ—भेकी ऋतु देवताओं के निमित्त, मूषक, कश और मान्थाल पितरों के निमित्त, अजगर बल के लिये, कपिंजल वसु देवताओं के लिये, कपोत, उलूक और शश निर्ऋति देवता के लिये एवं वन का मेष वरुण देवता के लिये नियुक्त हैं॥ ३८॥

वर्षाहूः वर्षाभूः, वर्षासु भवतीति। भेकीति महीधरः, भेक इति सायणः। स ऋतूनाम् ऋतुदेवानां पशुः। आखुः कशो मान्थाल इति त्रयोऽपि मूषकविशेषाः। त एते त्रयः पितृणां पितृदेवानां पशवः। सम्भूय एते त्रयोदश पशवोऽष्टादशेऽवकाशे नियोज्याः। अथ एकोनविंशेऽवकाशे—बलाय बलदेवतायै अजगरो महासर्पः, एकः पशुरेकोनविंशेऽवकाशे नियोज्यः। वसूनां वसुदेवताभ्यः कपिञ्जल एकः पशुर्नियोज्यः। 'चित्रपक्षः कपिञ्जलः' इति सायणोद्धृतं वचनम्। कपोतः, उलूकः, शशः—त एते त्रयः पशवो निर्ऋत्यै निर्ऋतिदेवतायै नियोक्तव्याः। वरुणाय वरुणदेवतायै आरण्यो मेष एकः पशुर्नियोज्यः।

अध्यात्मपक्षे सर्वे चैते पशवस्तद्देवताश्च ब्रह्मरूपा इति ब्रह्मणः सार्वात्म्यं निगदव्याख्यातम्।

दयानन्दस्तु—'ऋत्वादिगुणाः पशुपक्षिणस्ते तद्गुणा विज्ञेयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आख्वादीनां पितृगुणत्वानुपपत्तेः॥ ३८॥

श्वित्र आदित्यानामुष्ट्रो घृणीवान् वार्ध्रीनसस्ते मत्या अरण्याय सृमरो रुरू रौद्रः क्वयिः कुटरुर्दात्यौहस्ते वाजिनां कामाय पिकः॥ ३९॥

मन्त्रार्थ—चितकबरा मृग आदित्य देवताओं के लिये, ऊँट, चील और कण्ठ में स्तन वाले पशु मति देवता के निमित्त, गवय अरण्य के निमित्त, रुरु रुद्र देवता के लिये, क्वयि, मुर्गा और कालकण्ठ वाजी देवता के लिये तथा कोयल कामदेव के लिये नियुक्त हैं॥ ३९॥

श्वित्रः श्वेतः पशुरिति महीधरः, पशुविशेष इति सायणः, आदित्यानां पशुर्भवति। उष्ट्रो दीर्घग्रीवो घृणीवान् घृणिवान्, संहितायां दीर्घः, तेजस्वी पशुविशेषः, वार्ध्रीनसः कण्ठे स्तनवानजः, त एते त्रयो मत्यै बुद्ध्यभिमानिदेवतायै। अरण्याय देवाय सृमरो गवयः, रुरुर्महाकृष्णसारः, रौद्रो रुद्रदेवत्यः, क्वयिः पक्षिविशेषः। सम्मेल्य एते त्रयोदश पशव एकोनविंशेऽवकाशे नियोज्याः। अथ विंशेऽवकाशे—कुटरुः कुक्कुटः, दात्यौहः कालकण्ठः—त एते त्रयः क्वयि-कुटरु-दात्यौहा वाजिनां देवतानाम्। तत्र क्वयिरेकोनविंशेऽवकाशे नियोज्यः। कुटरुदात्यौहौ च विंशेऽवकाशे नियोज्याविति विवेकः। कामाय देवाय पिको विंशेऽवकाशे नियोज्यः।

अध्यात्मपक्षे — पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु —'ये आदित्यगुणाः पशुपक्षिणस्ते तत्तत्स्वभावाः सन्तीति वेद्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उष्ट्रादीनां मतिगुणत्वादर्शनात् ॥ ३९ ॥

खड्गो वैश्वदेवः श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभस्तरक्षुस्ते रक्षसामिन्द्राय सूकरः सिꣳहो मारुतः कृकलासः पिप्पका शकुनिस्ते शरव्यायै विश्वेषां देवानां पृषतः ॥ ४० ॥

॥ इति चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—गेंडा विश्वेदेव देवताओं के लिये, काला कुत्ता, छिन्न कानों वाला गदहा और व्याघ्र राक्षसों के निमित्त, सूकर इन्द्र के लिये, सिंह मरुद् देवताओं के लिये, गिरगिट, पिप्पका और शकुनि शरव्या देवता के लिये और पृषत् मृग विश्वेदेव देवों के निमित्त नियुक्त किये गये हैं ॥ ४० ॥

खड्गो मृगविशेषो वैश्वदेवो विश्वदेवदेवत्यो विंशेऽवकाशे नियोज्यः। श्वा कृष्ण एकः कृष्णवर्णः सारमेयः, द्वितीयः कर्णः छिन्नकर्णो गर्दभः, तृतीयस्तरक्षुर्मृगादनः—त एते त्रयो रक्षसां पशवः। इन्द्राय सूकर एको नियोज्यः। सिंहो मारुतो मरुद्देवत्यः, कृकलासः सरटः, पिप्पका पक्षिणी, शकुनिः पक्षी—ते त्रयः पशवः शरव्यायै, शरव्यं लक्ष्यम्, तदभिमानिदेवतायै। पिप्पका कुलायिनाम्नी पक्षिणी, शकुनिः काक इति सायणः। एकः पृषतः पृषद्भिर्बिन्दुभिर्युक्तो मृगविशेषो विश्वेषां देवानां पशुर्भवति। विश्वेभ्यो देवेभ्यो जुष्टं नियुनज्मीति नियोज्यः। सम्भूय एते त्रयोदश पशवो विंशेऽवकाशे नियोज्याः। एवं षष्ट्यधिकं शतद्वयमारण्याः पशव उक्ताः।

एतदुक्तं भवति —'अश्वस्तूपरो गोमृगः' (वा सं० २४।१) इति प्रधानभूताः पशवः, 'रोहितो धूम्ररोहितः' (वा० सं० २४।२) इत्याद्याः पञ्चदशिनः, 'कृष्णग्रीवा आग्नेया बभ्रवः सोम्याः' (वा० सं० २४।१४) इत्याद्याश्चातुर्मास्यपशवः, 'वसन्ताय कपिञ्जलान्' (वा० सं० २४।२०) इत्याद्या ऋतुपशवः, 'समुद्राय शिशुमारान्' (वा० सं० २४।२१) इत्याद्याः पञ्चदशिनः, 'प्रजापतये च वायवे च गोमृगः' (वा० सं० २४।३०) इत्याद्या एकादशिनः। अत्र द्वाविंशतिरेकादशिनः, सप्तविंशत्यधिकानि त्रीणि शतान्यश्वादयः सौर्यान्ताः, षष्ट्यधिकं शतद्वयं कपिञ्जलादयः पृषतान्ता आरण्याः पशवः। सर्वे मिलित्वा षट्शतानि नवाधिकानि पशवो भवन्ति। अत्र श्लोकः—'षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिश्चाधिकानि च ॥' इति। तेष्वारण्याः सर्व उत्स्रष्टव्याः, न तु हिंस्याः।

अत्रार्थे ब्राह्मणम्—'तदाहुः। अपशुर्वा एष यदारण्यो नैतस्य होतव्यं यज्जुहुयात्क्षिप्रं यजमानमरण्यं मृतꣳ हरेयुररण्यभागा ह्यारण्याः पशवो यन्न जुहुयाद्यज्ञवेशसꣳ स्यादिति पर्यग्निकृतानेवोत्सृजन्ति तन्नैव हुतं नाहुतं न यजमानमरण्यं मृतꣳ हरन्ति न यज्ञवेशसꣳ भवति' (श० १३।२।४।३)। प्रसन्नं ब्राह्मणम्। अत्र ये दुर्लभा दुर्ग्रहाश्चारण्याः पशवस्तान् सर्वान् पटे चित्ररूपे लिखित्वा तेषामुपाकरणादिसंस्काराः कर्तव्या इति केचित्।

तमिममर्थं कात्यायनोऽप्यसूत्रयत्—'पञ्चदश पञ्चदश रोहितादीन् सौर्यान्तानितरेषु' (का० श्रौ० २०।६।५)। इतरेषु यूपेषु पञ्चदश पञ्चदश पशून्नियुञ्ज्यादिति सूत्रार्थः। तेन सप्तदश मध्यमे, षोडश षोडशेतरेषु यूपेषु बद्धाः। अत्र २२ ऐकादशिनाः, ३२७ अश्वादयः सौर्यान्ताः, २६० कपिञ्जलादयः। एवं सङ्कलय्य ६०९ पशवः। 'कपिञ्जलादीन् पृषतान्तांस्त्रयोदश त्रयोदश यूपान्तरेषु' (का० श्रौ० २०।६।६)। 'वसन्ताय कपिञ्जलान्' (वा० सं० २४।२०) इत्यारभ्य 'विश्वेषां देवानां पृषतः' (वा० सं० २४।४०) इत्यन्तान् त्रयोदश त्रयोदश

संख्याकान् पशून् यूपानामन्तरालेष्ववकाशेषूत्पत्तिक्रमेण नियुञ्ज्यात् । 'कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्' (का० श्रौ० २०।६।९) । अत्र नियोगक्रमेणोत्सर्गः । ततस्ते कपिञ्जलादयः पञ्जरादेर्निष्काश्य मुच्यन्ते । ततो यथेच्छं गच्छन्ति ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु— 'ये सर्वे पशुपक्षिणः सर्वगुणाः सन्ति, तान् विज्ञाय व्यवहारसिद्धये सर्वे मनुष्या नियोजयन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात् ।

'प्रजापतेरक्ष्यश्वयत् । तत्परापतत्ततोऽश्वः समभवद्यदश्वयत्तदश्वस्याश्वत्वं तद्देवा अश्वमेधेनैव प्रत्यदधुरेष ह वै प्रजापतिꣳ सर्वं करोति योऽश्वमेधेन यजते सर्व एव भवति सर्वस्य वा एषा प्रायश्चित्तिः सर्वस्य भेषजꣳ सर्वं वा एतेन पाप्मानं देवा अतरन्नपि वा एतेन ब्रह्महत्यामतरंस्तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' (श० १३।३।१।१) । 'सोऽकामयत । मेध्यं म इदꣳ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति ततोऽश्वः समभवत्' (श० १०।६।५।७) इति सकलप्राजापत्यकार्यात्मताऽश्वस्य दर्शिता । तस्यैव सर्वप्राप्तिफलं वक्ष्यते । इह तु प्रजापत्यक्षिप्रभवत्वं ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं चोच्यते । कथं नामानेनैव दर्शनेन प्रायश्चित्तिं प्रयुञ्जीत । अश्वयत् स्वतन्त्रतया बहिः पतितं गतम् । ततोऽक्ष्णो देवतामाहाभाग्यादश्वः सम्बभूव । तदेतदश्वशब्दनिर्वचनं दर्शनार्थम् । तदक्षि देवा अश्वमेधेन क्रतुना तस्मिन् प्रजापतौ प्रतीपं स्थापितवन्तः । एष एव प्रजापतिं सर्वमविकलमधियज्ञं करोति, योऽश्वमेधेन क्रतुना यजते । स च तदनुकारेणाविकल एव भवति । सर्वस्य च पातकोपपातकादेः पापस्यैषाऽश्वमेधात्मिका प्रायश्चित्तिः, सर्वस्य भेषजम्, सर्वस्य जन्मान्तरकृतपापप्रभवव्याधेरेषोऽश्वमेधः भेषजम् ।

'एष वै प्रभूर्नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव प्रभूतं भवति' (श० १३।३।७।१) । (१) प्रभूः, (२) विभूः, (३) व्यष्टिः, (४) विधृतिः, (५) व्यावृत्तिः, (६) ऊर्जस्वान्, (७) पयस्वान्, (८) ब्रह्मवर्चसी, (९) अतिव्याधी, (१०) दीर्घः, (११) क्लृप्तिः, (१२) प्रतिष्ठा—इति द्वादशनामभिरश्वमेधस्तुतिः ।

'एतत्पारिप्लवम् । सर्वाणि राज्यान्याचष्टे सर्वा विशः सर्वान् वेदान् सर्वाणि भूतानि सर्वेषाꣳ ह वै स एतेषाꣳ राज्यानाꣳ सायुज्यꣳ सलोकतामश्नुते सर्वासां विशामैश्वर्यमाधिपत्यं गच्छति सर्वान् वेदानवरुन्धे सर्वान् देवान् प्रीत्वा सर्वेषु भूतेष्वन्ततः प्रतितिष्ठति यस्यैवंविदेतद्धोता पारिप्लवमाख्यानमाचष्टे यो वैतदेवं वेदैतदेव समानमाख्यानं पुनः पुनः संवत्सरं परिप्लवते तद्यत्पुनः पुनः परिप्लवते तस्मात् पारिप्लवꣳ षट्त्रिꣳशतं दशाहानाचष्टे षट्त्रिꣳशदक्षरा बृहती बार्हताः पशवो बृहत्यैवास्मै पशूनवरुन्धे' (श० १३।४।३।१५) । एष एतत्पारिप्लवाख्यानमित्युपसंहारः । सर्वाणि राज्यान्याचष्टे होता । तत्र पारिप्लवमिति दर्शनार्थानुवादः । एष एव तु आवृत्तिविधिः । तद्यत्पुनः पुनरिति । पारिप्लवमिति सावनसंवत्सरपरिग्रहाय वचनम् । इतरथा पार्वणो वा सौरो वा नाक्षत्रो वा संवत्सरः पक्षे परिगृह्येत । अथवा दर्शनार्थ एवायमनुवादः । ततः श्रुतिवाक्यशेषबलादेव सावनः संवत्सरो नियम्यते, 'सावने संवत्सरे षट्त्रिꣳशतं दशाहानाचष्टे' इति वचनात् । स च अश्वोत्सर्गदिवसादारभ्य गणनीयः, न ब्रह्मौदनदिवसात् । कुतः ? 'संवत्सरꣳ रक्षन्ति' (श० १३।४।२।१६) इति वचनात् ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

शादं दद्भिरवकां दन्तमूलैर्मृदं वर्स्वैस्तेगां दꣳष्ट्राभ्याꣳ सरस्वत्या अग्रजिह्वं जिह्वाया उत्सादमवक्रन्देन तालु वाजꣳ हनुभ्यामप आस्येन वृषणमाण्डाभ्यामादित्याँश्मश्रुभिः पन्थानं भ्रूभ्यां द्यावापृथिवी वर्तोभ्यां विद्युतं कनीनकाभ्याꣳ शुक्लाय स्वाहा कृष्णाय स्वाहा पार्याणि पक्ष्माण्यवार्या इक्षवोऽवार्याणि पक्ष्माणि पार्या इक्षवः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—इस अध्याय के प्रथम नौ मन्त्रों से विभिन्न देवताओं को पशुओं के अंग अर्पित किये जाते हैं और घृत की आहुति दी जाती है। मन्त्रों के अर्थ इस प्रकार हैं—दाँतों से शाद नामक महाकाल को प्रसन्न करता हूँ। दन्तमूलों से अवका नामक महाकाली को, दन्तपीठ से अपरा प्रकृति मिट्टी को, दाढ़ों से परा प्रकृति तेगा को, अथवा हे प्रजापते! तुम्हारी वाणी को प्रसन्न करता हूँ। जिह्वाग्र से सरस्वती को, जिह्वा से प्रलयाग्नि के अधिष्ठाता उत्साद देवता को, तालु से जल देवता अवक्रन्द को, हनुभाग से अन्नाधिष्ठात्री देवता को, मुख से जल देवता को, वृषणों से कामना के दाता देवता को, श्मश्रु से आदित्यों को, दोनों भौंहों से देवयान मार्ग की अधिष्ठात्री देवता को, पलकों से द्यावापृथिवी को, नेत्र की पुतलियों से विद्युत् देवता को प्रसन्न करता हूँ। सत्त्वगुणमय विष्णुदेव के निमित्त और तमोगुणमय रुद्रदेव के निमित्त श्रेष्ठ आहुति देता हूँ। नेत्रों के ऊपर की पलकों के देवता पार हैं, नीचे की पलकों के देवता अवार हैं ॥ १ ॥

'स्विष्टकृद्वनस्पत्यन्तरे शूल्यꣳ हुत्वा देवताऽश्वाङ्गेभ्यो जुहोत्यमुष्मै स्वाहेति प्रतिदेवतꣳ शादप्रभृतित्वगन्तेभ्यः' (का० श्रौ० २०।८।४), 'विमुखाच्च परेभ्यः' (का० श्रौ० २०।८।५)। स्विष्टकृद्वनस्पत्योरन्तरे वनस्पतियागानन्तरं स्विष्टकृद्यागात् पूर्वं शूले संस्कृतं शूल्यं मांसं 'प्राजापत्योऽश्वः' (तै० सं० ३।२।६।३) इति तित्तिरिवचनात् प्रजापतये हुत्वा अमुष्मै स्वाहेति प्रतिदेवतं शादादित्वगन्तेभ्यो देवताश्वाङ्गेभ्यो देवताभ्योऽश्वाङ्गेभ्यश्च घृतं जुहुयात्, अनादेशे घृतस्य उक्तत्वात्। तत्र शादं दद्भिरित्यादि पृथिवी त्वचेत्यन्तः संहिताभागो ब्राह्मणं न मन्त्राः। शादादयो देवताः, दन्तादीन्यङ्गानि। ततश्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा शादाय स्वाहा, दद्भ्यः स्वाहा, अवकाभ्यः स्वाहा, दन्तमूलेभ्यः स्वाहेत्यादि पृथिव्यै स्वाहा त्वचे स्वाहेत्यन्तं जुहुयादित्येकः पक्षः शाखान्तरोदितः। स्वपक्षे तु 'शादं दद्भिः' इत्यादिमन्त्रेषु द्वितीयया विभक्त्या निर्दिष्टाः शादादयोऽश्वमेधाङ्गभूता देवताः। दद्भिरित्यादि तृतीयया विभक्त्या निर्दिष्टानि हवींषि। अत्र शादमित्यादि द्वितीयानिर्दिष्टान् देवविशेषान् दद्भिरित्यादि तृतीयानिर्दिष्टैर्हविर्भिः प्रीणामि, स्वाहेत्यध्याहारेण वाक्यपूर्तिः। ततश्च शादं दद्भिः प्रीणामि स्वाहेत्यादयो होममन्त्राः।

तत्र देवता भोक्त्री द्वितीयया, अश्वाङ्गं भोग्यं च तृतीयया निर्दिश्यते। क्वचित् केवला देवतैव निर्दिश्यते, यथा शुक्लाय स्वाहा, कृष्णाय स्वाहेति। क्वचिद्विभक्त्यन्तरेणैव द्रव्यदेवतयोर्निर्देशः, यथाग्नेः पक्षतिर्वायोर्निपक्षतिरिति। तथा च श्रुतिः—'शादं दद्भिरवकान् दन्तमूलैरित्याज्यमवदाना कृत्वा प्रत्याख्यायन् देवताभ्य आहुतीर्जुहोति या एव देवता अपिभागास्ता भागधेयेन समर्धयति' (श० १३।३।४।१)। शादनामकं शादनशीलं तदभिमानिदेवविशेषं दद्भिरश्वदन्तैः, प्रीणयामीति शेषः। तदर्थमवत्तमिदमाज्यं स्वाहुतमस्त्विति

होमार्थमध्याहृतस्य स्वाहाशब्दस्यार्थः । आज्यमवदानीकृत्वा आज्यमेवाश्वाङ्गत्वेन परिकल्प्य प्रत्याख्याय अवदानमवदानं प्रति शादादिदेवता आख्यायाख्याय आज्याहुतीर्जुहोति । सङ्कल्पिताश्वाङ्गभवा घृताहुतीः शादादिभ्यो ददाति । एवं कुर्वन्नपिभागाः, अपिः कल्पनार्थः, कल्पितभागास्ता देवता भागेन समर्धयति, प्रीणातीत्यर्थः ।

अथ कण्डिकार्थः—दद्भिरश्वदन्तैः शादं देवं प्रीणयामि । दन्तमूलैरवकां देवतां प्रीणामि । मृदं शादावकयोरधस्तात् वर्तमाना घनीभूता या मृत् तां तदभिमानिदेवतां वर्स्वैर्दन्तस्याधस्ताद् ग्रन्थिरूपेण वर्तमानैर्मांसविशेषैर्दन्तपीठाख्यैः प्रीणामि । 'वर्स्वं स्याद्दन्तपीठिका' । शादादयोऽप्रसिद्धाः देवाः, आदित्यादयः प्रसिद्धाः । अश्वस्य दंष्ट्राभ्यां पूतदन्ताभ्यां तेगां देवतां प्रीणामि । तेगा नाम जलचराः प्राणिनः, तदभिमानिनो देवानिति यावत् । सरस्वत्यै अग्रजिह्वम् । अत्र चतुर्थ्या देवतोद्देशः (देवतानामकीर्तनम्) प्रथमया चाङ्गस्य । अतो विभक्तिव्यत्ययः कार्यः । जिह्वाया अग्रम्, अग्रजिह्वम् । 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० सू० २।२।३१) इति जिह्वाशब्दस्य परनिपातः, 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इति ह्रस्वे च रूपम् । जिह्वाग्रेण अग्रजिह्वेन सरस्वतीं प्रीणामि । जिह्वाया उत्सादम्, अत्र षष्ठयाश्वाङ्गोद्देशः, द्वितीयया च देवस्य । विभक्तिव्यत्ययः । जिह्वया उत्सादम् उत्सः कूपः, जलप्रस्रवणं वा, तदत्तीति उत्सादः, तदभिमानिनं देवं प्रीणामि । अथवा उद् ऊर्ध्वं सादयति जनानित्युत्सादः, तम् । यद्वा उत्सीदन्ति नश्यन्ति दोषा यस्मिंस्तमुत्सादम्, अथवा चतुर्थ्या देवतोद्देशो जिह्वायै, उत्सादम् उत्सृजन्तं जिह्वामध्यम्, उत्सादेन जिह्वामध्येन जिह्वां तदभिमानिनीं देवतां प्रीणामि । अवक्रन्देन तालु । तत्र देवे तृतीया, अङ्गे प्रथमा, व्यत्ययः । अव अवाचीनं क्रन्दति आह्वयतीत्यवक्रन्दः । तालुनाऽवक्रन्दं देवं प्रीणामि । अथवाऽवक्रन्दो जिह्वामूलम् । तेन तालु तदभिमानिदेवतां प्रीणामि । यद्वा अवक्रन्दन्ति दुष्टा यस्मात्तम् । वाजम्, 'वाज इति बलनाम' तदभिमानिदेवतां हनुभ्याम्, दन्तपङ्क्तिर्यत्र समाप्यते ते हनू वक्त्रैकदेशौ, ताभ्यां प्रीणामि, अश्वसम्बन्धिभ्यां हनुभ्यामिति यावत् । अपोऽब्देवता आस्येन अश्वसम्बन्धिमुखेन प्रीणामि । वृषणं कामानां वर्षणशीलं देवम् आण्डाभ्यां वृषणाभ्यां प्रीणामि । आदित्यान् अदितिसुतान् देवान् श्मश्रुभिरश्वमुखकेशैः प्रीणामि । पन्थानं मार्गं मार्गरक्षकं देवं भ्रूभ्याम् अश्वस्य ललाटगरोमपङ्क्तिभ्यां प्रीणामि । द्यावापृथिवी देवते वर्तोभ्याम्, वर्ताः पक्ष्मपङ्क्तिः, द्विवचने वर्तसौ, ताभ्यां प्रीणामि । अथवा गमनागमनाभ्यां द्यावापृथिवी सूर्यभूमी प्रीणामि । विद्युतं विद्युद्देवतां कनीनकाभ्यां नेत्रमध्यवर्तिकृष्णगोलाभ्यां प्रीणामि । शुक्लाय स्वाहा, कृष्णाय स्वाहा इति देवोद्देश एव न त्वङ्गम् । शुक्लाय कृष्णाय देवाय स्वाहा सुहुतमस्तु । यद्वोभयत्र चतुर्थ्या अश्वाङ्गमेव निर्दिश्यते । प्राजापत्योऽश्व इति वचनाद् देवोऽध्याहर्तव्यः । शुक्लेन कृष्णेन चाश्वाङ्गेन प्रजापतिं प्रीणामि । एवं लोमभ्यः स्वाहा इत्यादावपि बोध्यम् । पार्याणि नयनस्योपरिभागभवानि पक्ष्माणि अक्षिरोमाणि । अत्र तद्धितेन देवतोद्देशः । पार्याणि पारदेवत्यानि ततः पक्ष्मभिः पारं देवं प्रीणामि । अवार्या इक्षवोऽवारेऽधोभागे वर्तमाना या इक्षव ईक्षणशक्तयः, इक्षवोऽवारदेवत्याः । तत इक्षुभिरवारं प्रीणामि । विपरीतं वा अवारदेवत्यानि पक्ष्माणि । इक्षवः पार्याः पारदेवत्याः । शं कल्याणम् आसमन्ताद् ददातीति शादं परब्रह्म । अवति सर्वमित्यवका परदेवता । औणादिको वुन् । तत्परोक्षमिदन्तया गच्छत्यवगच्छति जानातीति तेगा देवताविशेषः । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टमिति रूपसिद्धिः ।

अध्यात्मपक्षे—अश्वस्तदङ्गानि तैः प्रीणनीया देवताश्च ब्रह्मरूपा एव, तस्यैव सर्वात्मत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, ते दद्भिः शादं शीयते छिनत्ति यस्मिंस्तं व्यवहारं दन्तमूलैर्वर्स्वैदन्तपृष्ठैश्चावकां रक्षिकां मृदं दंष्ट्राभ्यां सरस्वत्यै प्रशस्तविज्ञानवत्यै वाचे गां वाणीं जिह्वाया अग्रजिह्वम् अवक्रन्दे विकलतारहितेनोत्सादम् ऊर्ध्वं सीदन्ति यस्मिंस्तम्, तालु आस्यावयवम्, हनुभ्यां मुखैकदेशाभ्यां वाजमन्नम्, आस्येन आस्यन्दन्ति क्लेदीभवन्ति यस्मिंस्तेनापो जलानि, आण्डाभ्यां वीर्यधाराभ्यां वृषणं वर्षयितारम्, श्मश्रुभिः

आदित्यान् मुख्यान् विदुषो भ्रूभ्यां पन्थानं वर्तोभ्यां गमनागमनाभ्यां द्यावापृथिवी सूर्यभूमी कनीनकाभ्यां कृष्णगोलकताराभ्यां विद्युतमहं बोधयामि, त्वया शुक्राय स्वाहा ब्रह्मचर्यक्रियया कृष्णाय विद्याकर्षणाय स्वाहा सुशीलतायुक्तया क्रियया पार्याणि पूरयितुं योग्यानि पक्ष्माणि परिग्रहीतुं योग्यानि कर्माणि नेत्रोर्ध्वलोमानि अवार्याणि अवारे भवा इक्षवोऽवार्याण्यवारेषु भवानि पक्ष्माणि परिग्रहणानि लोमानि वा, पार्याः पारितुं पालयितुं योग्या इक्षवो गुडादिनिमित्ताः संग्राह्याः' इति, तदपि साहसमात्रम्, निर्मूलत्वात्। मूलेऽवबोधयामीति पदमपि नास्ति। कथञ्चित् तदध्याहारेऽपि दन्तैः शादनव्यवहारं बोधयामीति प्रथमवाक्यस्यार्थः स्यात्, तदपि निरर्थकमेव, पश्वादिभिरपि जन्मनैव दन्तैश्छेदनव्यवहारस्य ज्ञातत्वात्। दन्तमूलैर्वर्स्वैः दन्तपृष्ठैः, अवकां रक्षिकां मृत्तिकामवबोधयामीत्यपि निरर्थकमेव, दन्तानां मूलैः पृष्ठैश्च रक्षिकाया मृत्तिकायाः कथमवबोधनमित्यनुक्तेः। तथैव दंष्ट्राभ्यां वाचे वाणीं बोधयामीत्यस्य को वार्थः? जिह्वाया अग्रजिह्वबोधनमपि कथमिति वक्तव्यम्? अवक्रन्दशब्दस्य विकलतारहितव्यवहारोऽपि नार्थः, निर्मूलत्वात्। कथञ्चित् तदभ्युपगमेऽपि कथं तेन तालुबोधनम्? आस्येन जलबोधनमित्यादिकमपि बालभाषितम्, तद्बोधने तदहेतुत्वात्, लोके सिद्धहेत्वन्तरस्य च सत्त्वात्। आण्डाभ्यां वृषणबोधनं भवति किम्?, तदन्तरापि तज्ज्ञानस्य सिद्धत्वात्। श्मश्रुभिर्विदुषां बोधनमभ्युपेयते चेदहो धाष्टर्च्यम्, अविदुषामपि श्मश्रुसत्त्वात्। भ्रूभ्यां मार्गबोधनम्, गमनागमनाभ्यां सूर्यभूमिबोधनमित्यादिकमपि निर्मूलम्। शुक्लशब्दस्य वीर्यार्थता कृष्णशब्दस्य कर्षणार्थतापि निर्मूलैव। न च स्वाहापदस्य ब्रह्मचर्यक्रियार्थता न वा सुन्दरशीलयुक्तक्रियार्थता, निर्मूलत्वात्। अन्यदपि सर्वमस्पष्टमनुपपन्नं चेत्यलं दोषगवेषणेन। सर्वोऽप्यस्यार्थः श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वादुपेक्षणीय एव ॥ १ ॥

वातं॑ प्राणेना॑पानेन॒ नासि॑के उपया॒मम॑ध॒रेणौष्ठे॑न॒ सदु॑त्त॑रेण प्र॒काशे॒नान्त॑रमनू॒का॒शेन॒ बाह्यं॑ निवे॒ष्यं॑ मू॒र्ध्ना स्त॑नयि॒त्नुं निर्बा॒धेना॒शनिं॑ म॒स्तिष्के॑ण वि॒द्युतं॑ क॒नीन॑काभ्यां कर्णा॑भ्या॒ᳪ श्रोत्र॒ᳪ श्रोत्रा॑भ्यां॒ कर्णौ॑ तेद॒नीम॑धरक॒ण्ठेना॒पः शु॑ष्कक॒ण्ठेन॑ चि॒त्तं मन्या॑भि॒रदि॑ति॒ᳪ शी॒र्ष्णा निर्ऋ॑तिं॒ निर्ज॑र्जल्येन॒ शी॒र्ष्णा सं॑क्रो॒शैः प्रा॒णान् रे॒ष्माण॒ᳪ स्तु॒पेन॑ ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—प्राण से वायु को, अपान से विराट् पुरुष की नासिका को, नीचे के ओठ से उपयाम देवता को, ऊपर के ओठ से सत् देवता को, ऊपर की शारीरिक कान्ति से आन्तर देवता को, नीचे के शरीर की कान्ति से बाह्य देवता को, मस्तक से प्रवेशयोग्य व्यापक परमात्मा को, सिर की अस्थि में लगे मज्जा भाग से स्तनयित्नु को, शिर में स्थित जर्जर मांस भाग से अशनि देवता को, आँखों की पुतलियों से ब्रह्मशक्ति विद्युत् को, कानों से समष्टि श्रोत्र देवता को, श्रोत्रेन्द्रियों से समष्टि कर्ण देवता को, कण्ठ के अधोभाग से तेदनी देवता को, शुष्क कण्ठ से जल देवता को, ग्रीवा की पिछली नाड़ियों से समष्टि चित्त को, शिर से अदिति को, अति जर्जरित शिरो भाग से मृत्यु भार्या को, शब्द युक्त अंगों से प्राणों को और शिखा रूप ऊँचे अंग से अनाहत शब्दमयी ब्रह्मज्योति को तृप्त करता हूँ ॥ २ ॥

अश्वमेधीयस्य हयस्य प्राणेन प्राणवायुना वातं देवं प्रीणामि। तस्यापानेनापानवायुना नासिके नासिकाभिमानिदेवते प्रीणामि। उपयाममुपयामसाधनं देवताविशेषम्, अधरेणौष्ठेन अधोभागवर्तिना ओष्ठेन प्रीणामि। सत् सत्संज्ञं सत्ताभिमानिदेवं वा, उत्तरेण उपरितनेन ओष्ठेन प्रीणामि। प्रकाशेनोपरितनदेहकान्त्या अन्तरं देवम् अश्वदेहान्तर्वर्तमानमन्तरात्मानं वा प्रीणामि। अनूकाशेन अधस्तनदेहकान्त्या 'उपसर्गस्य

घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (पा० सू० ६।३।१२२) इत्यनोर्दीर्घः। बाह्यम् अश्वस्य बाह्याङ्गसम्बन्धिनीं देवतां प्रीणामि। मूर्ध्ना मस्तकेन निवेष्यं निषेकस्य पालकं देवं प्रीणामि। निर्बाधेन निश्चितं बध्यते निर्बाधः, शिरोऽस्थिमध्यसंलग्नो मज्जाभागः शिरःकपालं वा, तेन स्तनयित्नुं मेघगर्जनाभिमानिदेवं प्रीणामि। मस्तिष्केण मस्यत इति मस्ति, तन्मस्कत इति मस्तिष्कम्। पृषोदरादिः। शिरोमध्यस्थजर्जरो मांसभागः। तेन शिरःकपालवर्तिना मांसेन अशनिं देवं प्रीणामि। 'मस्तिष्कं गोर्दम्' (अ० को० २।६।६५), मस्तकमिष्यति गच्छतीति मस्तिष्कम्, 'इष् गतौ', मस्तकमज्जेति क्षीरस्वामी। कनीनकाभ्यां विद्युतं प्रीणामीति। कर्णाभ्यां कर्णशष्कुलीभ्यां श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियाभिमानिदेवं प्रीणामि। श्रोत्राभ्यां श्रोत्रेन्द्रियाभ्यां कर्णौ देवौ प्रीणामि। अधरकण्ठेन कण्ठस्याधरोऽधोभागोऽधरकण्ठः, तेन तेदनीं तीक्ष्णां देवतां प्रीणामि। शुष्ककण्ठेन शुष्को रसविधुरः कण्ठः शुष्ककण्ठः, यद्वा कण्ठस्य यः शुष्को निर्मांसप्रदेशस्तेन अपो देवताः प्रीणामि। मन्याभिः, मन्यत आभिरिति मन्याः, ग्रीवापश्चान्नाड्यः, यद्वा मनोवृत्तयः, ताभिश्चित्तं चित्ताभिमानिदेवतां प्रीणामि। 'पश्चाद्ग्रीवा शिरा मन्या' (अ० को० २।६।६५) इत्यमरः। शीर्ष्णा शिरसा 'शीर्षंछन्दसि' (पा० सू० ६।१।६०) इति शीर्षन्नादेशः, अदितिम् अखण्डनीयां देवतां प्रीणामि। निर्जर्जल्येन नितरां जर्जरीभूतेन शिरोभागेन, जर्जल्याः केसरा इति सायणाचार्यः, तद्रहितेन शीर्ष्णा शिरोभागेन निर्ऋतिं नियता ऋतिर्घृणा जुगुप्सा यस्यां सा निर्ऋतिः पापदेवता, यद्वा निर्गता ऋतेः शुभादिति निर्ऋतिरलक्ष्मीर्देवता, 'स्यादलक्ष्मीस्तु निर्ऋतिः' (अ० को० १।९।२) इत्यमरकोषात्, तां निर्ऋतिं देवतां प्रीणामि। संक्रोशैः सम्यक् क्रोशन्ति शब्दायन्ते यानि तानि संक्रोशानि, गच्छतोऽश्वस्य यान्यङ्गानि शब्दं कुर्वन्ति, तैरङ्गैः प्राणान् प्राणदेवताः प्रीणामि। यद्वा सम्यक् क्रुश्यन्त इति संक्रोशा ह्रेषाशब्दाः, तैः प्राणान् देवान् प्रीणामि। स्तुपेन उच्छ्रितेन शिखाभूतेनाङ्गेन, समुत्सृजेन शिरोभागेनेति सायणः, रेष्माणं रेष्मणशीलां देवतां प्रीणामि। 'स्तूप उच्छ्राये' इति धातोः रूपम्। छान्दसो ह्रस्वः। एष क्षीरस्वाम्यादिसम्मतः पाठः।

अध्यात्मपक्षे—वातं वाताधिष्ठातारम्, नासिके नासिकाधिष्ठातारौ, उपयामम् उपयामग्रहाधिष्ठातारम्, सदिति सत्याधिष्ठातारम्, अन्तरं सर्वान्तरमन्तर्यामिणम्, बाह्यं बाह्यप्रपञ्चाधिष्ठातारम्, निवेष्यं नितरां व्यापकम्, स्तनयित्न्वधिष्ठातारम्, अशन्यधिष्ठातारम्, विद्युतं रेष्माणं प्रलयहेतुं देवं तैस्तैरश्वमेधीयाश्वाङ्गैः संवत्सरकालात्मकप्रजापत्यवयवभिन्नं तर्पयित्वा तदात्मको भूत्वा ब्रह्मात्मभावं प्राप्नोतीति शेषः। 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥' (भ० गी० ४।२४) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, उपदेशग्रहणेन त्वं प्राणेनापानेन वातं वायुं नासिके उपयाममुपगतनियममधरेणौष्ठेन उत्तरेण उपरिस्थेन प्रकाशेन सदन्तरमाभ्यन्तरमनूकाशेन अनुप्रकाशेन बाह्यं मूर्ध्ना निवेष्यं निश्चयेन व्याप्तुं योग्यं निर्बाधेन नितरां बाधेन हेतुना सह स्तनयित्नुं शब्दनिमित्तां विद्युतम् अशनिम् व्यापिकां घोषयुक्तां मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाभ्यां प्रदीप्ताभ्यां कमनीयाभ्यां कर्णाभ्यां श्रोत्रं शृणोति येन तत् श्रोत्राभ्यां च श्रोत्रं तेदनीं श्रवणक्रियाम् अधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिर्विज्ञानक्रियाभिरदितिमनाशिकां क्रियां शीर्ष्णा शिरसा निर्ऋतिं भूमिं निर्जर्जल्येन शीर्ष्णा नितरां जर्जरीभूतेन शीर्ष्णा संक्रोशैः सम्यगाह्वानैः प्राणान् प्राप्नुहि। स्तूपेन हिंसनेन रेष्माणमविद्यादिरोगं हिन्धि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशकार्यकारणभावस्यासिद्धत्वात्। वायुविशेषस्यैव प्राणत्वमिति प्राणेन वातप्राप्तिरात्माश्रयदोषदुष्टा। अपानेन नासिकाप्राप्तिरपि चिन्त्यैव। न चाधरेणौष्ठेन प्राप्तनियमप्राप्तिः सम्भवति, न च निर्बाधेन स्तनयित्नुप्राप्तिरपि। मस्तिष्केण विद्युत्प्राप्तिरपि तथैव। तेदनीशब्दस्य श्रवणक्रियार्थतापि निर्मूलैव। प्राप्नुहि, हिन्धीत्याद्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव ॥ २ ॥

मशकान् केशैरिन्द्रᳪ स्वपसा वहेन बृहस्पतिᳪ शकुनिसादेन कूर्माञ्छफैराक्रमणᳪ स्थूराभ्यामृक्षलाभिः कपिञ्जलान् जवं जङ्घाभ्यामध्वानं बाहुभ्यां जाम्बीलेनारण्यमग्निमतिरुग्भ्यां पूषणं दोर्भ्यामश्विनावᳪसाभ्याᳪ रुद्रᳪ रोराभ्याम् ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—केशों से मशक या गगनस्थित मेघों को, शुभ कर्मों के कर्ता स्कन्ध से इन्द्र को, पक्षी समान गमन करने वाले जीवात्मा से बृहस्पति को, खुरों से कूर्म देवताओं को, गुल्फों से आक्रमण देवता को, गुल्फ के नीचे की नाड़ियों से कपिंजलों को, जंघाओं से वेग के देवता को, भुजाओं से मार्ग के देवता को, जंबीर फलाकार जानु के मध्य भाग से वन देवताओं को, अतिसुन्दर जानुओं से अग्नि देवता को, दोनों बाहुओं से पूषा देवता को, दोनों कन्धों से अश्विनीकुमारों को और कन्धों की गाँठों से रुद्र देवता को तृप्त करता हूँ ॥ ३ ॥

केशैरश्वस्य स्कन्धरोमभिर्मशकान् तदभिमानिदेवान् प्रीणामि। स्वपसा वहेन, अप इति कर्मनाम, सु शोभनम् अपः कर्म (पर्याणधारण-नरवाहनादिकं) यस्य स स्वपाः, तेन। वहतीति वहः स्कन्धः, तेन इन्द्रं देवं प्रीणामि। शकुनिसादेन सादो गमनं वेगवत् कूर्दनम्, शकुनिवत्सादः शकुनिसादस्तेन बृहस्पतिं देवं प्रीणामि। शफैः खुरैः कूर्मान् देवान् प्रीणामि। स्थूराभ्यां स्थूलाभ्याम्, रलयोरभेदः, गुल्फाभ्यामिति शेषः, आक्रमणं देवं प्रीणामि। ऋक्षलाभिर्गुल्फाधःस्थाभिर्नाडीभिः कपिञ्जलान् चित्रपक्षाभिमानिनो देवान् प्रीणामि। जङ्घाभ्यां गुल्फजानुनोर्मध्यभागाभ्यां जवं देवं प्रीणामि। बाहुभ्यामग्रपादयोर्जानूर्ध्वभागाभ्याम् अध्वानं देवं प्रीणामि। जाम्बीलेन जम्बीरस्य तरोः फलं जाम्बीरम्, तदेव जाम्बीलम्, रलयोरभेदात्, लक्षणया तदाकारो जानुमध्य-भागो जाम्बील उच्यते, तेनारण्यं देवं प्रीणामि। अतिरुग्भ्यां अतिरोचेते यौ तावतिरुचौ जानुदेशौ, ताभ्यामग्निं देवं प्रीणामि। दोर्भ्याम् अग्रपादयोर्जान्वधो दोषौ करौ, ताभ्यां पूषणं देवं प्रीणामि। अंसाभ्यां स्कन्धाभ्या-मश्विनौ देवौ प्रीणामि। रोरावंसग्रन्थी, ताभ्यां रुद्रं देवं प्रीणामि।

अध्यात्मपक्षे—सर्वे देवाः परमात्मांशत्वात् तद्रूपा एव। अश्वाङ्गानि च प्राजापत्यवयवत्वात् तद्रूपाण्येव। मशकास्तदधिष्ठातारो देवाः, कूर्मास्तदधिष्ठातारो देवाः। आक्रमणाधिष्ठातृदेव एवाक्रमणपदवाच्यो देवः। जवाध्वारण्यपदान्यपि तत्तदधिष्ठातृदेवतापराण्येव। अन्ये च देवाः प्रसिद्धा एव।

दयानन्दस्तु—'मनुष्यैर्बहुभिरुपायैरुत्तमा गुणाः प्रापणीयाः, विघ्नाश्च निवारणीयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्राक्षरैस्तदसिद्धेः। न च केशैरिन्द्रप्राप्तिर्दृश्यते। न च शकुनिसादेन कूर्मान् मशकांश्च कश्चिदाप्नोति। तत्प्राप्तावपि न किञ्चित् फलम्। न च मनुष्येषु खुराः सम्भवन्ति। तस्मात् श्रुतिसूत्रानुसारि सायणमहीधरादि-सम्मताश्वमेधीयादिसम्बन्धिप्राणादिपरमेव व्याख्यानं युक्तम् ॥ ३ ॥

अग्नेः पक्षतिर्वायोर्निपक्षतिरिन्द्रस्य तृतीया सोमस्य चतुर्थ्यदित्यै पञ्चमीन्द्राण्यै षष्ठी मरुताᳪ सप्तमी बृहस्पतेरष्टम्यर्यम्णो नवमी धातुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यमस्य त्रयोदशी ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ दक्षिण पार्श्व की अस्थि से अग्नि देवता को, दक्षिण पार्श्व की दूसरी अस्थि से वायु देवता को, तीसरी से इन्द्र को, चौथी से सोम को, पाँचवीं से अदिति को, छठी से इन्द्राणी को, सातवीं से मरुद्देवताओं को, आठवीं से बृहस्पति को, नवीं से अर्यमा को, दसवीं से धाता को, ग्यारहवीं से इन्द्र को, बारहवीं से वरुण को और तेरहवीं से यम देवता को तृप्त करता हूँ ॥ ४ ॥

अत्र कण्डिकायां षष्ठ्या देवतोद्बोधनम्, प्रथमया चाङ्गस्य। ततोऽस्त्वित्यध्याहारः। अग्नेर्देवस्य पक्षतिरस्तु। 'पक्षो मासार्धके पार्श्वे ग्रहे साध्यविरोधयोः। केशादेः परतो वृन्दे बले सखिसहाययोः॥ चुल्लीरन्ध्रे पतत्रे च वाजिकुञ्जरपार्श्वयोः।' (मेदिनी० १६६।१८-१९) इत्यभिधानादत्र पक्षशब्दः पार्श्ववाची। पक्षस्य मूलं पक्षतिः। 'पक्षात्तिः' (पा० सू० ५।२।२५) इति मूलार्थे तिप्रत्ययः। ततः पक्षस्य पार्श्वस्य मूलभूतान्यस्थीनि वङ्क्रिशब्द-वाच्यानि पक्षतिशब्देनोच्यन्ते। तानि च प्रतिपार्श्वं त्रयोदश भवन्ति, 'षड्विꣳशतिरस्य वङ्क्रयः' (शां० ब्रा० १०।४) इति श्रुतेः। तेषां क्रमेण देवतासम्बन्धं वक्ति— तत्रादौ दक्षिणपार्श्वास्थ्नां देवता आह—अग्नेः पक्षति-रिति। पक्षतिः प्रथमं दक्षिणपार्श्वास्थि अग्नेरस्तु। विभक्तिव्यत्ययो वा। अश्वमेधीयाश्वस्य पक्षत्याग्निं देवं प्रीणामीति। वायोर्निपक्षतिः। ततो निम्ना पक्षतिर्निपक्षतिः, द्वितीयं दक्षिणपार्श्वास्थि वायोर्देवस्यास्तु। द्वितीयदक्षिणपार्श्वास्थ्ना वायुं देवं प्रीणामीति वा। एवमग्रेऽपि व्याख्येयम्। तृतीया पक्षतिरिन्द्रस्य, चतुर्थी पक्षतिः सोमस्य, पञ्चमी पक्षतिरदित्यै अदितेः। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। इन्द्राण्यै इन्द्राण्याः षष्ठी पक्षतिः। मरुतां सप्तमी पक्षतिः। बृहस्पतेरष्टमी पक्षतिः। अर्यम्णो देवस्य नवमी पक्षतिः। धातुर्देवस्य दशमी पक्षतिः। इन्द्रस्य देवस्य एकादशी पक्षतिः। वरुणस्य देवस्य द्वादशी पक्षतिः। यमस्य देवस्य त्रयोदशी पक्षतिर्दक्षिणपार्श्वास्थि अस्तु। त्रयोदश्या पक्षत्या यमं देवं प्रीणामीति वा।

अध्यात्मपक्षे—तानि तानि मेध्याश्वाङ्गानि ते ते देवाश्च ब्रह्मात्मकान्येव, तद्विवर्तत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिरग्नेः पक्षतिः, वायोर्निपक्षतिः, इन्द्रस्य तृतीया, सोमस्य चतुर्थी, अदितेः पञ्चमी, इन्द्राण्याः षष्ठी, मरुतां सप्तमी, बृहस्पतेरष्टमी, अर्यम्णो नवमी, धातुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी, वरुणस्य द्वादशी, यमस्य त्रयोदशी क्रिया कर्तव्या' इति, तदपि सर्वथा निरर्थकम्, मूले क्रियापदाभावात्। न च पक्षतिपदस्यैव क्रियार्थतेति वाच्यम्, परिग्रहस्य मूलमिति त्वयैवार्थापनात्, षड्विंशतिरस्य वङ्क्रय इति पूर्वोक्त-शाङ्खायनब्राह्मणविरोधाच्च॥ ४॥

इ॒न्द्रा॒ग्न्योः प॑क्ष॒तिः सर॑स्वत्यै॒ निप॑क्षतिर्मि॒त्रस्य॑ तृ॒तीया॒ऽपां च॑तु॒र्थी निर्ऋ॑त्यै पञ्च॒म्य॒ग्नीषो॒मयोः॑ ष॒ष्ठी स॒र्पाणा॑ꣳ सप्त॒मी विष्णो॑रष्ट॒मी पू॒ष्णो न॑व॒मी त्वष्टु॑र्दश॒मीन्द्र॑स्यैकाद॒शी वरु॑णस्य द्वाद॒शी य॒म्यै त्र॑योद॒शी द्यावा॑पृथि॒व्योर्दक्षि॑णं पा॒र्श्वं विश्वे॑षां दे॒वाना॒मुत्त॑रम्॥ ५॥

मन्त्रार्थ—वाम पार्श्व की पहली अस्थि से इन्द्राग्नी देवताओं को, दूसरी से सरस्वती को, तीसरी से मित्र देवता को, चौथी से जल देवताओं को, पाँचवीं से निर्ऋति देवता को, छठी से अग्नि और सोम को, सातवीं से सर्पों को, आठवीं से विष्णु को, नवीं से पूषा को, दसवीं से त्वष्टा को, ग्यारहवीं से इन्द्र को, बारहवीं से वरुण को और तेरहवीं से यम देवता को तृप्त करता हूँ। दक्षिण पार्श्व द्यावापृथिवी के निमित्त और वाम पार्श्व सकल देवताओं के निमित्त अर्पित किये जाते हैं॥ ५॥

अथ वामपार्श्वास्थ्नां देवानाह—इन्द्राग्न्योरिन्द्राग्निदेवयोः पक्षतिः प्रथममुपरिस्थं वामपार्श्वास्थि अस्तु। सरस्वत्यै सरस्वत्याः, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, निपक्षतिस्ततो निम्ना द्वितीया पक्षतिः। मित्रस्य देवस्य तृतीया पक्षतिः। अपां देवतानां चतुर्थी पक्षतिः। निर्ऋत्यै निर्ऋतेर्देवस्य पञ्चमी पक्षतिः। अग्नीषोमयोर्देवयोः षष्ठी पक्षतिः। सर्पाणां देवानां सप्तमी पक्षतिः। विष्णोर्देवस्य अष्टमी पक्षतिः। पूष्णो देवस्य नवमी पक्षतिः। त्वष्टुर्देवस्य दशमी पक्षतिः। इन्द्रस्य देवस्य एकादशी पक्षतिः। वरुणस्य देवस्य द्वादशी पक्षतिः। यम्यै यमस्येयं

यमी, तस्यै प्रथमार्थे चतुर्थी, यमसम्बन्धिनीति यावत् । त्रयोदशी पक्षतिः, अथ समस्तयोः पार्श्वयोर्देवानाह— द्यावापृथिव्योर्देवयोर्दक्षिणं पार्श्वम्, अस्त्विति शेषः । विश्वेषां देवानामुत्तरं वामं पार्श्वमस्त्विति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे— पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयमिन्द्राग्न्योः पक्षतिः, यस्यै त्रयोदशी क्रिया, द्यावापृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वम्, विश्वेषां देवानामुत्तरं पार्श्वं विजानीत' इति, तदपि निरर्थकम् पौर्वापर्यानपेक्षणात्, तासां तासां क्रियाणामतिरूपणाच्च । दक्षिणं पार्श्वमुत्तरं च पार्श्वं कस्य ? ते च कथं द्यावापृथिव्योर्विश्वेषां देवानामित्यनुक्तेः । सर्वथापि श्रुतिसूत्रविरोधादुपेक्षणीय एवायमर्थः ॥ ५ ॥

मरुताᳬं स्कन्धा विश्वेषां देवानां प्रथमा कीकसा रुद्राणां द्वितीयादित्यानां तृतीया वायोः पुच्छमग्नीषोमयोर्भासदौ क्रुञ्चौ श्रोणिभ्यामिन्द्राबृहस्पती ऊरुभ्यां मित्रावरुणावल्गाभ्यामाक्रमणᳬं स्थूराभ्यां बलं कुष्ठाभ्याम् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—कन्धे मरुत् देवताओं के निमित्त, पीठ पर की पहली अस्थि विश्वेदेव देवताओं के लिये, दूसरी रुद्रों के लिये और तीसरी आदित्यों के लिये अर्पित है । पुच्छ वायु को, दोनों नितम्ब अग्नीषोम देवताओं को, कटिप्रदेश क्रुंच देवताओं को, ऊरु इन्द्र और बृहस्पति को, जंघाएँ मित्रावरुण को, स्थूल नितम्बों के अधोभाग आक्रमण देवताओं को और नितम्बों के दोनों आवर्तों को, बल देवताओं को समर्पित कर प्रसन्न किया जाता है ॥ ६ ॥

अथाङ्गान्तराणां देवता आह—मरुतां मरुत्संज्ञकान् देवान् स्कन्धाः स्कन्धैः स्कन्धप्रदेशैः प्रीणामि । विभक्तिव्यत्ययः । अश्वपुच्छोपरि तिस्रोऽस्थिपङ्क्तयः सन्ति, तासां देवता आह—विश्वेषां देवानां विश्वान् देवान् प्रथमा कीकसा प्रथत इति प्रथमम् आद्यम्, 'की' इति कसति ध्वनिं कुर्वच्चलतीति कीकसम् अस्थि, 'कीकसं कुल्यमस्थि च' (अ० को० २।६।६८), प्रथमानि कीकसानि पुच्छोपरिस्थाद्यास्थिपङ्क्तिः, तथा चार्थः— प्रथमकीकसैर्विश्वान् देवान् प्रीणामि । अथवा प्रथमा पुच्छास्थिपङ्क्तिर्विश्वेषां देवानामस्तु । रुद्राणां द्वितीयास्थिपङ्क्तिः, द्वितीयै रुद्रान् प्रीणामि । आदित्यानां तृतीया तृतीयानि कीकसानि, तृतीयैः कीकसैरादित्यान् प्रीणामि । वायोः पुच्छम्, पुच्छेन वायुं प्रीणामि । अग्नीषोमयोर्भासदौ भासेते तौ भासदौ, नितम्बौ पश्चिमसक्थ्नोऽवयवाविति सायणः । भासद्भ्यामग्नीषोमौ प्रीणामि । एतदन्तं षष्ठ्यन्तेन देवतापदेन प्रथमान्तस्य द्रव्यपदस्य सम्बन्धः प्रतिपादितः । अथ पूर्ववद् द्वितीयया विभक्त्या देवता निर्दिश्य तृतीयया द्रव्यसम्बन्धः प्रतिपाद्यते । क्रुञ्चौ पक्षिविशेषौ तदभिमानिनौ देवौ श्रोणिभ्यां दक्षवामाभ्यां कटिप्रदेशाभ्यां प्रीणामि । 'कटिः श्रोणिः ककुद्मती' (अ० को० २।६।७४) इत्यमरः । इन्द्राबृहस्पती देवौ ऊरुभ्यां सक्थिभ्यां प्रीणामि । 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' (अ० को० २।६।७३) इति कोषः । मित्रावरुणौ अल्गाभ्याम् अलमत्यर्थं गच्छत ऊरुभ्यां संयोगं प्राप्नुत इत्यल्गौ वङ्क्षणौ ऊरुसन्धी, ताभ्यां प्रीणामि । आक्रमणं स्थूराभ्यां स्थूलाभ्यां स्फिग्भ्यां प्रीणामीति महीधरः । खुरस्योपरि यौ स्थूलावयवौ ताभ्यामिति सायणः । बलं बलाभिमानिनं देवं कुष्ठाभ्याम्, कुष्येते तौ कुष्ठौ नितम्बस्थौ कूपकौ आवर्तौ ककुन्दरशब्दवाच्यौ, ताभ्यां प्रीणामि ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिर्मरुतां स्कन्धा विश्वेषां देवानां प्रथमा कीकसा भृशं शासनानि रुद्राणां द्वितीया ताडनक्रिया आदित्यानां न्यायाधीशानां तृतीया न्यायक्रिया वायोः पुच्छम् अग्नीषोमयोर्भासदौ यौ प्रकाशं दधातां तौ कुञ्चौ श्रोणिभ्यामिन्द्राबृहस्पती ऊरुभ्यां मित्रावरुणौ अल्गाभ्याम् आक्रमणं कुष्ठाभ्यां स्थूराभ्यां बलं च निष्पादनीयम्' इति, तदपि निरर्थकमेव, असम्बद्धत्वात्, श्रोणिभ्यामिन्द्रबृहस्पत्योर्निर्माणस्य सामाजिकैरपि कर्तुमशक्यत्वात् ॥ ६ ॥

पूषणं॑ वनिष्ठुना॑न्धाहीन् स्थूलगुदया॑ सर्पान् गुदा॑भिर्विह्रुत॑ आन्त्रैर॒पो व॒स्तिना॒ वृषण॑माण्डाभ्यां॒ वाजि॑नꣳ शेपे॑न प्रजाꣳ रेत॑सा चाषान् पि॒त्तेन॑ प्रद॒रान् पा॒युना॑ कूश्मा॑ञ्छकपि॒ण्डैः ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—बड़ी आँत के स्थानीभूत घृत से पूषा देवता को, स्थूल गुदा से अन्धे सर्पों को, गुदा के अन्य भागों से सर्पों को, छोटी आँतों से विह्रुत देवता को, बस्ति से जल देवता को, वृषणों से कामनावर्षी वृषण देवता को, मेढ़्र से वाजी को, वीर्य से प्रजा को, पित्त से चाष को, पायु से प्रदर को और लीद के पिण्डों से कूश्मों को प्रसन्न करता हूँ ॥ ७ ॥

पूषणं देवं वनिष्ठुना, 'वन सम्भक्तौ' वनति सम्भजतीति वनिष्ठुः स्थूलान्त्रम्, तेन प्रीणामि । अन्धाहीन् अन्धाश्च तेऽहयश्च अन्धाहयस्तान् तदभिमानिनो देवान् स्थूलगुदया स्थूला चासौ गुदा चेति स्थूलगुदा, तया गुदस्य स्थूलभागेन प्रीणामि । 'गुदं त्वपानं पायुर्ना' (अ० को० २।६।७३) इति गुदशब्दस्य यद्यपि क्लीबता, तथापि गुदेति स्त्रीत्वं छान्दसम् । सर्पान् देवान् गुदाभिरश्वस्य स्थूलगुदातिरिक्तैर्गुदभागैः प्रीणामि । विह्रुतो विहरन्तीति विह्रुतो देवविशेषास्तान् आन्त्रैः, अमत्यनेनेत्यन्त्रम्, 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' (उ० ४।१५९) इति रूपसिद्धिः । 'अम् गत्यादिषु, गतौ शब्दे सम्भक्तौ च' अमति भजत्यनेनान्नमित्यन्त्रम्, अन्त्रे भवा आन्त्रा अन्त्रसम्बन्धिनो मांसभागाः, तैः प्रीणामि । अपोऽब्देवता वस्तिना वसति मूत्रमत्रेति वस्तिर्मूत्राशयः, 'वस्तिर्नाभेरधो द्वयोः' (अ० को० २।६।७३) इति कोषात् । तेन नाभेरधो वर्तमानेनाश्वस्य मूत्रपुटेन प्रीणामि । अश्वमेधीयस्याश्वस्य प्रजापतिरूपत्वात् तदङ्गान्यपि दिव्यान्येव । वृषणं सेचनसमर्थं देवम् आण्डाभ्याम् अण्डौ लिङ्गोभयपार्श्वस्थौ मांसपिण्डौ, 'मुष्कोऽण्डकोशो वृषणः' (अ० को० २।६।७६) इति कोषात् । अण्डावेव आण्डौ, ताभ्यां प्रीणामि । वाजिनं वेगवन्तं देवं शेपेन लिङ्गेन प्रीणामि । शेते रेतःपात इति शेपः । 'वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुट् च' (उ० ४।१०२) इति रूपसिद्धिः । अयमदन्तः, सान्तोऽपि 'शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः' (पा० सू० ६।३।२१, वा० १) इति वार्त्तिकादिति भावः । प्रजां प्रजाभिमानिदेवतां रेतसा वीर्येण, रिणातीति स्रवतीति रेतः 'स्रुरीभ्यां तुट् च' (उ० ४।२०३) इति रूपसिद्धिः, प्रीणामि, 'शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' (अ० को० २।६।६२) इति कोषः । चाषान् तदभिमानिदेवान् पित्तेन, अपि दीयते पाल्यत इति पित्तम्, 'देङ् पालने' इत्यस्यात् क्तः । 'वष्टि भागुरिः' इत्यकारलोपः । 'पित्तं जामातरमिव' इत्यायुर्वेदप्रसिद्धिः, प्रीणामि । प्रदरान् तदाख्यदेवान् प्रदररोगाधिष्ठातॄन् देवान् वा पायुना पाति मलोत्सर्गमिति पायुर्गुदम्, तेन उक्तातिरिक्तगुदतृतीयभागेन प्रीणामि । कूश्मान् कूश्माण्डाख्यान् देवजातिविशेषान् शकपिण्डैः, 'शको देशे नृपे विशि' इति वचनात् शकस्य (अश्व)-विष्ठायाः पिण्डैः, लेण्डैरिति यावत्, प्रीणामि ।

अध्यात्मपक्षे—अश्वमेधीयाश्वस्य तानि तान्यङ्गानि तैस्तर्पणीया देवाश्च ब्रह्मात्मकान्येव, तज्जलानत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं वनिष्ठुना पूषणं स्थूलगुदया सह वर्तमानानन्धाहीन् गुदाभिः सहितान् विह्रुत आन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां वाजिनं शेपेन रेतसा प्रजां पित्तेन चाषात् प्रदरान् पायुना शकपिण्डैः कूश्मान् निगृह्णीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वनिष्ठुना याचनेन पूषणं पुष्टिकरं निगृह्णीतेत्यस्य निरर्थकत्वात्। न चाङ्गविशेषवाचकेन वनिष्ठुशब्देन याचनमर्थो ग्रहीतुं शक्यते, रूढेर्योगापहारात्। नहि घटमानयेत्यत्र चेष्टानयनं प्रतीयते। न वा गुदाभिः सह अन्धाः सर्पा वर्तन्ते। न च गुदेन्द्रियैः सार्धं कुटिलाः सर्पास्तिष्ठन्ति। न वा तेषां ग्रहणमभीष्टम्, निगृह्णीतेति क्रियापि मन्त्रबाह्यैव। न चाण्डाभ्यां वाजिनग्रहणं सम्भवति। तस्मात् सर्वमप्येतद् बालभाषितमेव ॥ ७ ॥

इन्द्र॑स्य क्रो॒डोऽदि॑त्यै पाज॒स्यं॑ दि॒शां ज॒त्रवोऽदि॑त्यै भ॒सज्जी॒मूता॑न् हृदयौप॒शेना॒न्तरि॑क्षं पु॒रीत॑ता॒ नभ॑ उद॒र्ये॑ण चक्रवा॒कौ मत॑स्नाभ्यां॒ दिवं॑ वृ॒क्काभ्यां॑ गि॒रीन् प्ला॒शिभि॒रुप॑लान् प्ली॒ह्ना व॒ल्मीका॑न् क्लो॒मभि॑ग्लौ॒भिर्गुल्मा॑न् हि॒राभिः॒ स्रव॑न्तीर्ह्र॒दान् कु॒क्षिभ्या॑ᳪं समु॒द्रमु॒दरे॑ण वैश्वान॒रं भस्म॑ना ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—वक्षस्थल का मध्यभाग इन्द्र के निमित्त, बलकारक अन्न अदिति को, कन्धे और कोखों की सन्धियाँ दिग्देवताओं को, मेढ्र का अग्र भाग अदिति को, हृदय का मांस मेघों को, हृदय की नाड़ियों से अन्तरिक्ष को, उदर के माँस से आकाश को, हृदय के दोनों ओर की अस्थियों से चक्रवाकों को, कोंख के माँस से स्वर्ग के देवताओं को, मेढ्र-मूल की नाड़ियों से पर्वत के अधिष्ठाता देवों को, प्लीहा से उपल देवताओं को, कण्ठ की नाड़ियों से वल्मीकों को, हृदय की नाड़ियों से गुल्मों को, जलवाहिनी नाडियों से स्रवन्तियों को, कोखों से ह्रदों को, उदर से समुद्र को और भस्म से वैश्वानर को प्रसन्न करता हूँ ॥ ८ ॥

अत्रापि मन्त्रे देववाचके शब्दे षष्ठी, अङ्गवाचके शब्दे प्रथमा विज्ञेया। इन्द्रस्य क्रोडः, क्रुड्यत इति क्रोडः, 'क्रुड भृड निमज्जन इत्येके' इत्यात्रेयः। 'क्रुड निमज्जने, भृड इत्येके, ध्रुड इत्यपरे' इति मैत्रेयः। 'क्रुड वाल्पेऽदने' इति रामाश्रमः। भुजान्तरम् अस्तु। अथवा क्रोडेन वक्षोमध्यभागेन इन्द्रं प्रीणामि। 'न ना क्रोडो भुजान्तरम्' (अ० को० २।६।७७) इत्यमरसिंहः। अग्रेऽप्युभयथा व्याख्यानम्। अदित्यै अदितेर्देवतायाः पाजस्यं पाजसे बलाय हितं पाजस्यं बलकरमङ्गमस्तु। दिशां दिग्देवतानां जत्रवो जत्रूणि सन्तु। अंसकक्षयोः सन्धिर्जत्रु 'सन्धी तस्यैव जत्रुणी' (अ० को० २।६।७८) इत्यमरः। जायते बाहुरस्मादिति जत्रु, 'जत्र्वादयश्च' (उ० ४।१०३) इति साधु। अंसकक्षयोः सन्धिः। छान्दसं पुंस्त्वम्। अंसकक्षसन्धिरूपैर्जत्रुभिर्दिग्देवताः प्रीणामि, भसद् बभस्ति दीप्यत इति भसद् लिङ्गाग्रम्, तेन अदित्यै अदितिं देवतां प्रीणामि।

अथ पुनर्देवे द्वितीया, अङ्गे तृतीया। जीमूतान्, मूतं बद्धं 'मूङ् बन्धने' कर्मणि क्तः, जीवनं जलं मूतं यैस्ते जीमूताः। अथवा ज्यानं जीः, सम्पदादित्वात् क्विप्, जिया वयोहान्या मूता बद्धा इति जीमूताः। मेघाभिमानिनो देवाः, तान् हृदयौपशेन हृदय उपशेत इति हृदयौपशम्, यद्वा हृदयमुपशेतेऽस्मिन्निति हृदयौपशं हृदयस्थं मांसम्, तेन प्रीणामि। अन्तरिक्षं द्यावापृथिव्योरन्तरीक्ष्यत इत्यन्तरिक्षम्, छान्दसं ह्रस्वत्वम्, अन्तरिक्षाभिमानिनं देवं पुरीतता पुरीं शरीरं तनोतीति पुरीतत्, 'गमादीनामिति वक्तव्यम्' (पा० सू० ६।४।४०, वा० १) इत्यनुनासिकलोपः, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) इति तुकि रूपम्। अथवा पुरिः हृदयाख्यमांसखण्डविशेषः, तं तनोत्याच्छादयतीति विग्रहः। 'पुरीतता हि हृदयमाच्छाद्यते' इति श्रुतिरिति कर्कभाष्यम्।

तनेः क्विपि तकारलोपे तुकि 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (पा० सू० ६।३।११६) इति दीर्घः, हृदयाच्छादकमन्त्रम्, तेन प्रीणामि। नभो नभोऽभिमानिनं देवमुदर्येण, उदरे भवमुदर्यम्, 'शरीरावयवाद्यत्' (पा० सू० ५।१।६) इति यति रूपम्, तेन प्रीणामि। चक्रवाकौ चक्रवाकदम्पतीवन्नित्यसम्बद्धौ देवविशेषौ मतस्नाभ्यां ग्रीवाधस्ताद्भागस्थितहृदयोभयपार्श्वस्थे अस्थिनी मतस्ने, ताभ्यां प्रीणामि। दिवं वृक्काभ्यां वृक्यते स्वादुतया गृह्यत इति वृक्का, 'नान्तः पुंस्ययं शब्दः, स्त्रीत्येके' इति क्षीरस्वामी, वृक्कौ कुक्षिस्थौ मांसगोलकावाम्रफलाकृती इति याज्ञिकाः, ताभ्यां वृक्काभ्यां दिवं देवतां प्रीणामि। गिरीन्द्रान् देवान् प्लाशिभिः प्रकर्षेणाश्नन्ति भुञ्जतेऽन्नानीति प्लाशयः शिश्नमूलनाड्यः, तन्नाडीद्वारैवान्नस्य सञ्चारात्, रलयोरभेदः, ताभिः प्रीणामि। प्लीह्ना, प्लीहा हृदयवामभागे शिथिलो मांसभागः, स एव पुप्पुससंज्ञः। प्लेहत इति प्लीहा। 'श्वन्नुक्षन्...' (उ० १।१५९) इति निपातितो नान्तः शब्दः। तेन प्लीह्ना अश्वस्याङ्गविशेषेणोपलानुपलाधिष्ठातॄन् देवान् प्रीणामि। 'गुल्मस्तु प्लीहा पुंसि' (अ० को० २।६।६६) इत्यमरः। क्लोमभिः क्लवत इति क्लोमा, 'क्लुङ् गतौ' इत्यस्मान्मनिन्प्रत्ययः। यथा हृदयस्य वामभागे प्लीहा, तथा तस्य दक्षिणभागे क्लोमा भवति, स एव यकृदुच्यते। 'हृदयस्य दक्षिणे यकृत् क्लोमा वामे प्लीहा पुप्पुसश्चेति वैद्याः' इति क्षीरस्वामी। क्लोमा गलनाडीति कर्कः। क्लोमभिर्वल्मीकान् देवान् प्रीणामि। ग्लौभिः, ग्लायन्ति श्राम्यन्तीति ग्लावो हृदयनाड्यः, ताभिर्गुल्मान् देवान् प्रीणामि। हिराभिः, हरन्ति अन्नरसमिति हिरा अन्नवाहिन्यो नाड्यः, ताभिः स्रवन्तीर्नद्यधिष्ठात्रीर्देवताः प्रीणामि। कुक्षिभ्यामुदरस्य दक्षवामभागौ कुक्षी, ताभ्यां ह्रदान् ह्रदाधिष्ठातॄन् देवान् प्रीणामि। उदरेण जठरेण समुद्रं देवं प्रीणामि। भस्मनाङ्गोत्थेन वैश्वानरं देवं प्रीणामि।

अध्यात्मपक्षे—द्रव्यं देवता च कर्मणां रूपम्। विहितानि द्रव्याणि देवताश्च ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपा एव। द्रव्याणां देवतानां कियद् बृहत्क्षेत्रमित्यश्वमेधयज्ञाध्ययनेन स्पष्टं भवति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिः प्रयत्नेनेन्द्रस्य क्रोडोऽदित्यै पाजस्यं दिशां जत्रवोऽदित्यै भासच्च विज्ञेयाः। जीमूता हृदयौपशेन पुरीततान्तरिक्षमुदर्येण नभश्चक्रवाकौ मतस्नाभ्यां दिवं वृक्काभ्यां गिरीन्द्रान् प्लाशिभिरुपलान् प्लीह्ना वल्मीकान् क्लोमभिर्ग्लौभिश्च गुल्मान् हिराभिः स्रवन्तीर्ह्रदान् कुक्षिभ्यां समुद्रमुदरे भस्मना च वैश्वानरं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वैदिकद्रव्यदेवतादिवृत्तान्तानभिज्ञानविजृम्भितत्वात्। क्रोड-पाजस्य-जत्रु-हृदयौपश-पुरीतन्मतस्नादिशब्दानां तत्तदङ्गेषु प्रसिद्धत्वादन्यत्र तेषां वृत्तेर्बलात्कारितत्वात्। कथञ्चित्तथार्थाभिगमेऽपि नैरर्थक्यमेव। विद्युतो मज्जनस्य पृथिव्या कः सम्बन्धः? किंप्रयोजना चेयमुक्तिः? इत्यनुक्तेः। मतस्नाभ्यां प्रकाशस्य कः सम्बन्धः? किमुद्दिश्य तद्वर्णनमित्यनुक्तेश्च ॥ ८ ॥

विधृतिं नाभ्या घृतꣳ रसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं वसया प्रुष्वा अश्रुभिर्ह्रादुनीर्दूषीकाभिरस्ना रक्षाꣳसि चित्राण्यङ्गैर्नक्षत्राणि रूपेण पृथिवीं त्वचा जुम्बकाय स्वाहा ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—नाभि से विधृति को, वीर्य से घृत को, पक्वान्न रस से जल को, वसाबिन्दुओं से मरीचियों को, शरीर की ऊष्मा से नीहार को, वसा से शीन को, अश्रुओं से प्रुष्वा देवताओं को, नेत्रमल से ह्लादिनी देवताओं को, रुधिर से राक्षसों को, शेष अंगों से चित्र देवताओं को, रूप से नक्षत्रों को और त्वचा से पृथ्वी को तृप्त करता हूँ।

यहाँ तक के मन्त्रों को चतुर्थ्यन्त बोलकर घृत की आहुति दे, अगले ब्रह्महत्यानाशक मन्त्र को पढ़ कर जल में आहुति दी जाती है कि वरुण देवता को दी हुई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हारीत ऋषि ने कहा है कि

वाजसनेय वेद में यह जुम्बका नाम की गायत्री है। जल के भीतर एक बार भी जपने पर यह ब्रह्महत्या के पाप को दूर करती है। यज्ञीय अश्व के सब अंग देवताओं के भाग हैं। वह दिव्य गुणों से युक्त हो जाता है, अतः सकल देवताओं को प्रसन्न कर सकता है। इसके प्रत्येक अंग का नाम लेकर घृत की आहुति देने से देवता प्रसन्न और तृप्त होते हैं। इस अश्वमेध यज्ञ का अभिप्राय यह है कि अश्व का अधिष्ठाता देवता प्रजापति है, अथवा स्वयं अश्व ही प्रजापति है। उसके विराट् शरीर के ऊपर वर्णित सभी अंग और अवयवों से सभी देवता तृप्त और पुष्ट होते हैं। यह अभिप्राय कल्पित नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रारम्भ में ही अश्वमेध का ऐसा अभिप्राय दिखाया गया है ॥ ९ ॥

विधृतिं विधारणाधिष्ठातृदेवतां नाभ्या अश्वसम्बन्धिनाभिदेशेन प्रीणामि। उदराधःस्थितो ग्रन्थिर्नाभिः। घृतमाज्याभिमानिदेवतां रसेन वीर्येण धातुविशेषेण वा प्रीणामि। 'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः। शृङ्गारादिरसे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ॥' इति विश्वकोषः। यूष्णा, यूषः क्वथितो रसस्तेन, 'पद्दन्नोमास्' (पा० सू० ६।१।६३) इत्यादिना यूषन्नादेशः, अपः अब्देवताः प्रीणामि। विप्रुड्भिर्वसाबिन्दुभिर्मरीचीर्देवताः प्रीणामि। 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियः' (अ० को० १।१०।६) इत्यमरः। ऊष्मणा अश्वशरीरगतेनौष्ण्येन नीहारं देवं प्रीणामि। 'ऊष्माणस्तु निदाघोष्णग्रीष्माः शष्पसहा अपि' इति विश्वः। वसया, वस्ते मांसमिति वसा मांसस्नेहः, 'शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसेति वैद्याः' इति क्षीरस्वामी, 'मेदस्तु वपा वसा' (अ० को० २।६।६४) इत्यमरः, तया शीनं मेदोऽभिमानिनं देवं प्रीणामि। अश्रुभी रोदनजन्यनेत्रजलैः प्रुष्वा देवताः, परुषणशीला इति यावत्, ता देवताः प्रीणामि। दूषीकाभिरश्वनेत्रमलैः 'दूषिका नेत्रयोर्मलम्' (अ० को० २।६।६७) इत्यमरः, ह्रादुनीर्देवताः प्रीणामि। अस्ना अस्यते क्षिप्यत इत्यसृक्, बाहुकाद् ऋज्प्रत्ययः, अथवा न सृज्यत इत्यसृक्, 'ऋत्विग्दधृक्' (पा० सू० ३।२।५९) इत्यादिना सृजेः क्विनि रूपम्, 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' (पा० सू० ८।२।६२) इत्यादिना कुत्वम्, तेन अस्ना रुधिरेण। 'पद्दन्नोमास्....' इत्यादिनाऽसृज्शब्दस्यासन्नादेशः, 'अल्लोपोऽनः' (पा० सू० ६।४।१३४) इत्यकारलोपे रूपम्, रक्षांसि प्रीणामि। अङ्गैः पूर्वानुक्तैरश्वावयवैश्चित्राणि दैवतानि प्रीणामि। रूपेण अश्वसम्बन्धिवर्णेन सौन्दर्यातिशयेन वा, नक्षत्राणि देवताः प्रीणामि। न क्षरते हिनस्तीति नक्षत्रम्, क्षद इति सौत्रो धातुर्हिंसार्थ आत्मनेपदी। (उ० ४।१५९) इति ष्ट्रन्प्रत्ययः, 'नभ्राण्नपान्न' (पा० सू० ६।३।७५) इति नञः प्रकृतिभावः। अथवा 'णक्ष गतौ' नक्षतीति नक्षत्रम्, 'अमिनक्षि....' (उ० ३।१०५) इत्यादिना अत्रन्। अथवा न क्षणोतीति नक्षत्रम्। 'क्षणु हिंसायाम्' ष्ट्रन्, बाहुलकाण्णलोपः। अथवा न क्षत्रं देवत्वात् क्षत्रभिन्नत्वात्। एवं नैकधा व्युत्पत्तिः कल्पयितुं शक्या। त्वचा अश्वचर्मणा पृथिवीं देवीं प्रीणामि। स्वाहेति मन्त्रैराहुतिं जुहोतीत्यर्थः।

अत्र 'अग्निꣳ हृदयेनाशनिꣳ हृदयाग्रेण' इत्यारभ्य 'द्यावापृथिवीभ्याꣳ स्वाहा' (३९।८-१३) इत्यन्ता आहुतीर्जुहुयात्, आश्वमेधिकत्वात्। तथा चानुक्रान्तम्—'अग्निꣳ हृदयेनाश्वमेधिका तत्रत्य एवर्षिर्लोमभ्यः स्वाहेति प्रायश्चित्ताहुतयो द्विचत्वारिंशत्' इति। 'अवभृथेष्टचन्तेऽप्सु मग्नस्य पिङ्गलखलतिविक्लिधशुक्लस्य मूर्धनि जुहोति जुम्बकाय स्वाहेति' (का० श्रौ० २०।८।१६)। अवभृथयागान्तेऽप्सु मग्नस्य पिङ्गलाक्षस्य खल्वाटस्य विक्लिधस्य दन्तुरस्य शुक्लस्य अतिगौरस्य पुंसो मूर्ध्नि जुम्बकाय स्वाहेति मन्त्रेण सकृद्गृहीतमाज्यं जुहुयादिति सूत्रार्थः। वरुणदेवत्या द्विपदा यजुर्गायत्री उदन्यपुत्रमुण्डिभदृष्टा जुम्बकाय वरुणाय स्वाहा सुहुतमस्तु। 'वरुणो वै जुम्बकः साक्षादेव वरुणमवयजते शुक्लस्य खलतेर्विक्लिधस्य पिङ्गाक्षस्य मूर्धनि जुहोत्येतद्वै वरुणस्य रूपꣳ रूपेणैव वरुणमवयजते' (श० १३।३।६।५) इति श्रुतेः। एषा चान्तर्जले जप्ता पापनाशिनी। तदुक्तं हारीतेन—'जुम्बका नाम गायत्री वेदे वाजसनेयके। अन्तर्जले सकृज्जप्ता ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥' इति।

अध्यात्मपक्षे - पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं नाभ्या विधृतिं घृतं रसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं संकुचितं वसया प्रुष्वा अश्रुभिर्ह्रादुनी दूषिकाभिश्चित्राणि रक्षांस्यस्नाङ्गैः रूपेण नक्षत्राणि त्वचा पृथिवीं विदित्वा जुम्बकाय स्वाहा प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि निरर्थकमसम्बद्धत्वात्, नाभ्या विधारणस्य रसेन घृतस्य अपो यूष्णा कथं ज्ञानमित्यनुक्तेः। विप्रुड्भिर्मरीचीनामूष्मणा नीहारस्य ऊष्मणा शीनस्य सम्बन्धविशेषासिद्धेः। दूषिकाभिश्चित्राणि रक्षांस्यस्नाङ्गैः रूपेण नक्षत्राणां कः सम्बन्धः ? त्वचा कथं पृथिवी वेदितव्या ? तद्वेदनस्य चातिवेगवता कः सम्बन्धः ? तत्र सत्यवाण्याः किमर्थं प्रयोग इत्याद्यनुक्तेः ॥ ९ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १० ॥
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—सृष्टि के पहले जो अद्वितीय हिरण्यगर्भ था, सृष्टि होने पर वही सकल विश्व का पालक हुआ, वही अपनी शक्ति से इस पृथ्वी और द्युलोक को थामे हुए है। वह कैसा है ? इसको कोई स्थूलदृष्टि नहीं बता सकता। ऐसे देवता की प्रीति के लिये हम आहुति देते हैं ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—जो प्रजापति श्वास-प्रश्वास लेते समय, पलक झपकते समय जगत् के प्राणियों में अपनी अद्वितीय महिमा के साथ विराजमान है, जो मनुष्य-पक्षी आदि दोपायों और गाय-घोड़े आदि चौपायों पर शासन करता है, उस प्रजापति देवता के निमित्त हम हवि समर्पित करते हैं ॥ ११ ॥

चतस्रः कदेवत्यास्त्रिष्टुभः प्रजापतिसुतहिरण्यगर्भदृष्टाः। प्राजापत्यपशूनामश्वादीनां याज्यानुवाक्याः। तत्र प्रथमा त्रयोदशेऽध्याये चतुर्थकण्डिकास्थले, द्वितीया च त्रयोविंशेऽध्याये तृतीयकण्डिकास्थले व्याख्याता ॥ १०-११ ॥

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳ रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—ये शिखर वाले पर्वत जिसकी महिमा को कहते हैं, पृथ्वी सहित समुद्र जिसकी महिमा है, ये सब दिशाएँ जिसकी महिमा को गाती हैं, जिसकी भुजाएँ जगत् की रक्षा करती हैं, उस अनिर्वचनीय प्रजापति के लिये हम हवि अर्पित करते हैं ॥ १२ ॥

वयं कस्मै देवाय प्रजापतये देवाय हविषा विधेम हविर्दद्मः, विभक्तिव्यत्ययः, कशब्दस्य सर्वनामत्वमार्षम्। अत्र—'एकशब्दः प्रधानार्थकः 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ॥' तथा च छान्दस एकारलोपः। कस्मै एकस्मै प्रधानाय देवाय हविर्दद्मः' इति तत्रभवान् शङ्कराचार्यः। इमे हिमवन्तो हिमयुक्ताः पर्वताः, बहुवचनादन्येऽपि पर्वता ग्राह्याः, प्रथमास्थाने द्वितीया। इमान् हिमवद्विन्ध्यादीन् पर्वतान् यस्य प्रजापतेर्महित्वा महित्वं महिमानमाहुः, बुधा इति शेषः, महित्वेति विभक्तेराकारः। रसया नद्या

सह, 'रसा नदी, रसतेः शब्दकर्मणः' (नि० ११।२५) इति यास्कः। समुद्रं यस्य महित्वमाहुः। रसयेति जातावेकवचनम्। इमाः प्रदिशः पूर्वाद्याः प्रकृष्टा दिशो यस्य महित्वमाहुः। यस्य बाहू भुजौ जगद्रक्षणायोद्यताविति शेषः। हिमवदाद्युपलक्षितं सर्वं जगद् यस्य प्रजापतेर्विलासमात्रम्, तस्मै कस्मै प्रजापतये देवाय हविषा विधेमेति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—इमान् हिमवदादीन् पर्वतान् नदीभिः सह सर्वान् समुद्रान् सर्वा (दिशः) प्रदिशश्च यस्य कार्यत्वाद् वेदान्ता बुधाश्च यस्य महिमानं विलासमात्रमाहुः, यस्य परमेश्वरस्य बाहू सदैव तद्रक्षणायोद्यतौ स्तः, तस्मै कस्मै प्रजापतये परमेश्वराय हविषा विधेम परिचरेम।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यस्य सूर्यस्य महित्वा महत्त्वेनेमे हिमवन्त आकर्षिताः प्रकाशिताः सन्ति, यस्य रसया सह समुद्रमाहुः, यस्येमा दिशो यस्य प्रदिशश्च बाहू इवाहुः, तस्मै कस्मै देवाय हविषा विधेम। एवं यूयमपि विधत्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रार्थस्य मन्त्रबाह्यत्वात्। अध्याहारादिमूलकत्वेनापव्याख्यानत्वाच्च। न चाकर्षणार्थकः कश्चनापि शब्दो मन्त्रे श्रुतः। दिश इति शब्दोऽपि मूले नास्ति, तस्माद् दिक्षु प्रदिक्षु च बाहुत्वारोपोऽपि निराधार एव। तथात्वे दिशां बहुत्वेन बाहूनामपि बहुत्वं स्यात्। इवशब्दोऽपि मूले नास्ति, प्रजापतेर्बाहुद्वयवर्णनान्निराकारत्वकल्पनापि व्याहन्येत ॥ १२ ॥

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्वे॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः।
यस्य॑ छा॒याऽमृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—जो परमात्मा भक्तों को सायुज्य देते हैं, अचेतन शरीर में चेतना का संचार करते हैं, बल देते हैं, सारा विश्व जिनके शासन में है, देवता जिसके अनुग्रह को चाहते हैं, अथवा सूर्य आदि देवता जिसके शासन में कार्य करते हैं, जिसकी छाया अमृत (मुक्ति) को देने वाली है, जिसको न जानने से मृत्यु का, जरामरण का भय सदा बना रहता है, उस प्रजापति देवता के निमित्त हम हवि अर्पित करते हैं ॥ १३ ॥

कस्मै देवाय हविषा विधेमेति व्याख्यातम्। यः स्वतः सिद्धः प्रजापतिः, आत्मदा आत्मानं ददातीत्यात्मदा उपासकानां स्वात्मरूपसायुज्यप्रदः, बलदा बलं सामर्थ्यं ददातीति बलदा भोगमोक्षप्राप्तिसामर्थ्यप्रदः, विश्वे सर्वे मनुष्यादयो यस्य प्रजापतेः प्रशिषं प्रशासनमुपासते, देवाश्च यस्य प्रशिषमुपासते, तदुक्तम्—'यस्य ज्ञेयावधि ज्ञानं शिक्षावधि च शासनम्। कार्यावधि च कर्तृत्वं स स्वयम्भूः पुनातु वः ॥' इति। यस्य छाया छायावदाश्रयणं ज्ञानपूर्वकमुपासनममृतममृतत्वं मुक्तिहेतुः, यद्वा बलदा ये देवास्तेऽपि यस्य प्रशासनमुपासते, यस्य चामृतमभृतत्वं मोक्षसाधनं छायेव स्वाधीनं भवति, यस्य चाज्ञानमिति शेषः, मृत्युः संसारहेतुः, तदुक्तम्—'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति' (श्वे० उ० ३।१०) इति। यद्वा—यथा छाया कायमाश्रयते, तथैव य इममाश्रयते ज्ञानपूर्वकमुपास्ते, स चित्तशुद्धितत्त्वसाक्षात्कारक्रमेण मुच्यते। यस्य अज्ञानं वैमुख्यं वा संसारहेतुः, यद्वा यस्य च मृत्युर्मरणादिधर्मयुक्तः संसारः स्वपतो भवति, तस्मै हविषा विधेमेति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—इदमेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य आत्मदा बलदा, यस्य प्रशिषं विश्वे देवा उपासते, यस्य सकाशात् सर्वे व्यवहारा जायन्ते, यस्य छायामृतम्, यस्याज्ञाभङ्गो मृत्युः, तस्मै कस्मै देवाय वयं हविषा विधेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या आत्मदत्वानुपपत्तेः। नहि सर्वगतः परिच्छिन्नाय जीवायापरिच्छिन्नं स्वात्मानं दातुं शक्नोति। सिद्धान्ते तु सायुज्यप्रदत्वेनात्मप्रदत्वमपि सम्भवत्येव ॥ १३ ॥

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—सब ओर से निर्विघ्न, स्वयं अज्ञात, अन्य यज्ञों को प्रकट करने वाले कल्याणकारी यज्ञ हमें प्राप्त हों। सब प्रकार से आलस्यरहित होकर प्रतिदिन रक्षा करने वाले देवता सदैव हमारी वृद्धि के निमित्त प्रयत्नशील हों ॥ १४ ॥

वैश्वदेवानां पशूनां याज्यानुवाक्या दशर्चो विश्वदेवदेवत्या गोतमदृष्टाः । तत्रादौ पञ्च जगत्यः । क्रतवो यज्ञाः सङ्कल्पा वा नोऽस्मान् प्रति आयन्तु आगच्छन्तु, वयं यष्टारः शुभसङ्कल्पाश्च भवेमेत्यर्थः । कीदृशाः क्रतवः ? भद्रा भन्दनीयाः स्तुत्याः, 'भदि कल्याणे सुखे च' भन्दते कल्याणं सुखं च प्राप्नोत्यनेनेति भद्रम्, अथवा भद्रं प्राप्नोतीति भद्रः, बहुषु भद्राः कल्याणकारिणः कल्याणमयाः । 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्र' (उ० २।२९) इत्यादिना रन्प्रत्ययः, नकारलोपो निपातनात् । भद्रशब्दार्थं सायणाचार्यः स्वीय-ऋक्संहिताभाष्ये (१।१।६) इत्यत्र निरूपयन् शाट्यायनश्रुतिमुज्जहार । तद्यथा—'भद्रशब्दार्थं शाट्यायनिनः समानन्ति—'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद् भद्रम्, गृहा भद्रम्, पशवो भद्रम्' इति । तथा विश्वतः सर्वतोऽनुपहिंसिताः, निर्विघ्ना इति यावत्, अपरीतासो न परीता अपरीता अपरिगताः, अपरिज्ञाताः केनचिदिति भावः, फलानुमेया एवेत्यर्थः । उद्भिद उद्भिन्दन्ति प्रकटयन्तीत्युद्भिदः, यज्ञान्तराणां प्राकट्यकर्तार इत्यर्थः । किञ्च, यथा येन प्रकारेण देवा नोऽस्माकं सदमित् सदैव वृधे वृद्ध्यै असन् भवेयुस्तथा क्रतव आयन्त्वित्यर्थः । सदमित्यव्ययं सदार्थे । कीदृशा देवाः ? अप्रायुवः, प्रकर्षेण आसमन्ताद् युवन्ति प्रमाद्यन्ति ये ते प्रायुवः, यौतेः क्विपि तुगभाव आर्षः, न प्रायुवोऽप्रायुवोऽप्रमत्ताः, अस्मद्वृद्धये भवन्त्वित्यर्थः । तथा दिवे दिवे प्रतिदिनं रक्षितारः पालका भवेयुरित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—देवा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यधिष्ठातारः क्रतवः सङ्कल्पा उपासनरूपा नोऽस्माकं भद्राः कल्याणमया आयन्तु अनुकूला भवन्तु, 'तत्क्रतुर्भवति' (बृ० उ० ४।४।५) इति श्रुतेः । कीदृशास्ते ? विश्वतः सर्वतः, अदब्धासोऽनुपहिंसिताः, अपरीतासोऽपरिज्ञाताः फलानुमेयाः, उद्भिदा विशिष्टफलोत्पादका देवाः पूर्वोक्ता यथा नोऽस्माकं वृधे वृद्ध्यै ब्रह्मप्राप्तिलक्षणायै सदमित् सदैव असन् भवेयुः, तथा क्रतव आयन्तु । कीदृशा देवाः ? अप्रायुवः सदा सावधानाः, तथा दिवे दिवे प्रतिदिनं रक्षितारः पालकाः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा नोऽस्मान् विश्वतो भद्रा अदब्धासोऽपरीतासोऽन्यैरव्याप्ता उद्भिदो दुःखभेदकाः क्रतवो यज्ञा बुद्धयो वा आयन्तु । यथा नः सदं सभां प्राप्ता अप्रायुवोऽनष्टायुषो देवाः पृथिव्यादय इव विद्वांसो दिवे दिवे वृधे रक्षितारोऽसन्, तथानुतिष्ठन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यज्ञानां बुद्धीनां वा स्वप्रयत्नसाध्यत्वेन विद्वत्प्रार्थनानुपयोगात् । त्वद्रीत्या क्रतूनामनुष्ठाने सर्वेषामधिकारादन्यैरव्याप्तिरपि न सम्भवत्येव ॥ १४ ॥

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाᳪं रातिरभि नो निवर्तताम् ।
देवानाᳪं सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान की इच्छा रखने वाले देवताओं की कल्याणकारिणी श्रेष्ठ बुद्धि सदा हमारे सन्मुख रहे, देवताओं का दान हमें प्राप्त हो, हम देवताओं की मित्रता प्राप्त करें, देवता हमारी आयु को जीने के निमित्त बढ़ावें ॥ १५ ॥

भद्रा कल्याणकारिणी देवानां सुमतिः शोभना बुद्धिर्नोऽस्मान् प्रति अभिनिवर्तताम् अभितो नितरां वर्तताम्, अस्मदभिमुखी भवतु । कथम्भूतानां देवानाम् ? ऋजूयताम् ऋजु सरलमवक्रं यन्ति गच्छन्तीति ऋजूयन्तः,

छान्दसो दीर्घः, तेषाम्। यद्वा ऋजु अवक्रं प्रगुणं साधुं वा यजमानं कामयन्ते, ते ऋजूयन्तः, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि शता, 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (पा० सू० ७।४।२५) इति दीर्घः, तेषां साधुं यजमानं कामयमानानां देवानां रातिर्दानं नोऽस्मान् प्रत्यभिनिवर्ततामाभिमुख्येन नितरां वर्तताम्, देवा अस्मभ्यमभीष्टं ददत्वित्यर्थः। तेभ्यो लब्धदाना वयं देवानां सख्यं सखिभावं मैत्रीमुपसेदिमा प्राप्नुयाम, सदेर्लिटि उत्तमबहुत्वे रूपम्, संहितायां दीर्घः। देवा नोऽस्माकं सखीनामायुर्जीवसे प्रतिरन्तु प्रवर्धयन्तु।

अध्यात्मपक्षे—देवानाम्, पूजायां बहुवचनम्, देवस्य स्वप्रकाशस्य परमेश्वरस्य भद्रा भक्तकल्याणकारिणी सुमतिर्नोऽस्मान् प्रत्याभिमुख्येन नितरां वर्तताम्, देवस्य परमेश्वरस्य रातिर्दानं नोऽभिनिवर्तताम्, वयं देवानां परमेश्वरस्य सख्यमुपसेदिम प्राप्नुयाम, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रवर्णात्। देवः परमेश्वरो न आयुः प्रतिरतु प्रवर्धयतु। किमर्थम्? जीवसे, चिररात्राय जीवनाय अमृतत्वाय, मोक्षलाभायेति यावत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा देवानां भद्रा सुमतिरस्मान् ऋजूयताम्, देवानां रातिर्नोऽस्मान् अभिनिवर्तताम्, वयं देवानां सख्यमुपसेदिम, देवा नो जीवसे आयुः प्रतिरन्तु, तथा युष्मान् प्रति वर्तन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य युष्मान् प्रति वर्तन्तामित्यस्य च मन्त्रवर्णबाह्यत्वेन निर्मूलत्वात्, गुरूणां नियोगानर्हत्वाच्च, आयुर्वर्धनकर्तृत्वस्य मनुष्येषु विद्वत्स्वसम्भवाच्च। विद्यादातृषु गुरुत्वबुद्धिर्भवति, न सख्यम्॥ १५॥

तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्।
अर्यमणं वरुणꣳ सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्॥ १६॥

मन्त्रार्थ—हम वेदरूप सनातन वाणी के द्वारा अच्युतरूप भग, मित्र, अदिति, प्रजापति, अर्यमा, वरुण, चन्द्रमा और अश्विनीकुमारों का आह्वान करते हैं। ऐश्वर्यमयी सरस्वती महावाणी हमें सब प्रकार का सुख प्रदान करे॥ १६॥

तान् देवान् पूर्वया अकृत्रिमया स्वयम्भुवा निविदा, निविदिति वाङ्नाम, वाचा वेदरूपया वयं हूमहे आह्वयामः। तान् कानित्याह—भगं मित्रमदितिं देवमातरं दक्षं प्रजापतिमर्यमणं वरुणं सोममश्विना अश्विनौ, अस्रिधमित्येतेषां सर्वेषां विशेषणम्। दक्षमित्यस्य विशेषणमित्युव्वटाचार्यः। न स्रेधति, 'षिध गत्याम्' इत्यत्र षिधेति पाठः, गतिरत्र क्षरणरूपा, न च्योतत इत्यस्रित् तमस्रिधम्, अप्रच्युतसद्भावम्। किञ्च, एतैः सहिता सरस्वती सुभगा सुष्ठु शोभनं भगं भाग्यं यस्याः सा सुभगा भजनीया, नोऽस्माकं मयः करत् सुखं करोतु।

अध्यात्मपक्षे—तान् ब्रह्मरूपान् देवान् पूर्वया स्वयम्भुवा वाचा वेदरूपया हूमहे। देवविशेषानाह—भगं भजनीयं मित्रं स्नेहवन्तमदितिमखण्डनीयां दक्षं कुशलमस्रिधमच्युतमर्यमणमर्यमभिगन्तव्यं मननीयं च वरुणं वरणीयं सोममुमासहितमश्विनौ अश्विद्वयरूपं सुभगा शोभनभाग्यविधात्री ज्ञानविज्ञानलक्षणा सरस्वती तैस्तैर्भगवद्रूपैः सहिता मयः सुखं करत् करोतु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं पूर्वया निविदा दक्षमर्यमणमस्रिधं भगं मित्रमदितिं वरुणं सोममश्विनौ हूमहे, यथा सुभगा सरस्वती नोऽस्मभ्यं मयस्करत्, तथा तान् यूयमाह्वयत कुरुत च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मात्रामात्रस्यापि कल्पने मानाभावात्, मनुष्यातिरिक्तानां देवजातिविशेषाणां साधितत्वात्॥ १६॥

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्॥ १७॥

मन्त्रार्थ—वायु देवता हमें सुखकारी औषधियाँ प्राप्त करावें। माता पृथ्वी और पिता स्वर्ग भी हमें सुखकारी ओषधियाँ प्रदान करें। सोम का अभिषव करने वाले सुखदाता ग्रावा उस औषधरूप अदृष्ट को प्रकट करें। हे अश्विनीकुमारो, आप दोनों सबके आधार हैं, हमारी प्रार्थना सुनिये ॥ १७ ॥

वातः पवनः, नोऽस्माकं भेषजं हितं यथा स्यात्तथा वातु, 'वा गतिगन्धनयोः' प्रवातु, अनुगृह्णात्वित्यर्थः। कीदृशं भेषजम्? मयोभु मयः सुखं भवति यस्मात्तन्मयोभु सुखभावयितृ भेषजं हितं ददात्वित्यर्थः। माता जगन्निर्मात्री पृथिवी तद् हितं वातु। पिता पालको द्यौः स्वर्गस्तद् भेषजं वातु। सोमसुतः सोमं सुन्वन्ति ते तथोक्ताः सोमाभिषवकारिणो ग्रावाणो दृषदो मयोभुवः सुखभावयितारः सुखदातारस्तद् भेषजं वान्तु ददतु। हे अश्विना! हे अश्विनौ, युवं युवां तद् वातादिभ्यो भेषजप्रार्थनं शृणुतम्, युवामपि हितं दत्तमित्यर्थः। कीदृशौ युवाम्? धिष्ण्या धिष्ण्यौ गृहवद्धारयितारौ।

अध्यात्मपक्षे—वातो हिरण्यगर्भः समष्टिसूक्ष्मप्रपञ्चचेतनरूपः परमेश्वरो मयोभु सुखकारिभेषजं हितं वातु ददातु। माता पृथिवी पिता द्यौश्च तद् भेषजं वातु। सोमसुतो मयोभुवो ग्रावाणश्च तत्प्रवान्तु। हे अश्विना अश्विनौ, धिष्ण्यौ धारकौ युवां तद्भेषजं शृणुतं दत्ताम्। सर्वत्र तत्तदवच्छिन्नचेतनरूपा भेषजं हितं सुखं ददत्वित्यर्थः, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ धिष्ण्यौ अध्यापकाध्येतारौ, युवमस्माभिरधीतं शृणुतम्, यथा नो वातस्तन्मयोभु भेषजं वातु तन्माता पृथिवी पिता द्यौस्तत्सोमसुतो मयोभुवो ग्रावाणो मेधा वान्तु तद्युष्मभ्यमस्तु' इति, तदप्यसम्बद्धमेव, अस्माभिरधीतमित्यस्य कर्मत्वे मानाभावात्। अधीतश्रवणेन वातादिकर्तृकभेषजप्राप्त्या कः सम्बन्धः? भेषजं पृथिव्यामेव भवतीति तत्प्राप्तिवचनं निरर्थकमेव। द्युमेधादिप्राप्तिवर्णनमपि न सम्भवति ॥ १७ ॥

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धिय॒ञ्जिन्व॒मव॑से हूमहे व॒यम्।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हम स्थावर-जंगम के स्वामी, बुद्धि को संतोष देने वाले, रुद्रदेवता का रक्षा के निमित्त आह्वान करते हैं। वैदिक ज्ञान व धन की रक्षा करने वाले, पुत्र आदि के पालक, अविनाशी पुष्टिकर्ता देवता हमारी वृद्धि और कल्याण के निमित्त हों ॥ १८ ॥

तं लोकवेदप्रसिद्धम् ईशानं रुद्रं जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च भूतजातस्य पतिं पालकं धियञ्जिन्वं धिया बुद्ध्या, सङ्कल्पमात्रेणेति यावत्, जिन्वति प्रीणातीति धियञ्जिन्वस्तम्, विभक्तिव्यत्ययः, अलुक् च। यद्वा धियं बुद्धिं जिन्वति प्रीणातीति धियञ्जिन्वस्तं बुद्धिसन्तोषकारकम्, तादृशं परमात्मानमवसे अवितुं तर्पयितुं हूमहे आह्वयामः, तुमर्थे असेप्रत्ययः। यथा येन प्रकारेण पूषा पुष्टिकारकः सविता वेदसां धनानां रक्षिता पालकः, पायुः पुत्रादीनां पालकः, ज्ञानानां वा पालकः, अदब्धोऽनुपहिंसितो नोऽस्माकं वृधे वृद्ध्यै स्वस्तये कल्याणाय च असद् भवतु, तथा हूमह इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—तमीशानं परमात्मानं जगतस्तस्थुषश्च सर्वस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य पतिं सङ्कल्पमात्रेण तर्पयितारम्, अवसे अविद्यातत्कार्यात्मकसंसाराद् रक्षणाय हूमहे। यथा वेदसां रक्षिता पूषा पायुरभीष्टानां पालकः, अदब्धः स नोऽस्माकं जीवानां वृधे वृद्ध्यै स्वस्तये च भूयात् तथा तमाह्वयामः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वयमवसे जगतस्तस्थुषः पतिं धियञ्जिन्वं तमीशानं हूमहे, स यथा नो वेदसां वृधे पूषा रक्षिता स्वस्तये पायुरदब्धोऽसत्तथा यूयं कुरुत। स च युष्मभ्यमप्यस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथाध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। सिद्धान्तरीत्या अध्याहारं विनापि तात्पर्योपपत्तेः ॥ १८ ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—महती कीर्ति वाला ऐश्वर्यशाली इन्द्र हमारा कल्याण करे, सर्वज्ञ सबके पोषणकर्ता सूर्य हमारा कल्याण करें। जिनकी चक्रधारा के समान गति को कोई रोक नहीं सकता, वह गरुड़देव हमारा कल्याण करें। वेदवाणी के स्वामी बृहस्पति हमारा कल्याण करें ॥ १९ ॥

षष्ठीयं विराट्स्थाना। आद्यौ पादौ नववर्णौ तृतीयः पादो दशाक्षरः। चतुर्थश्च व्यूहेन एकादशाक्षरः। 'नवकौ वैराजस्त्रिष्टुभश्च द्वौ वा वैराजौ नवकस्त्रैष्टुभश्च विराट्स्थाना' (ऋ० सर्वा० ९) इति दशविधत्रिष्टुभो मध्ये चतुर्थी विराट्स्थाना त्रिष्टुप्। इन्द्रः परमैश्वर्योपेतो देवराजः परमेश्वरो वा नोऽस्मभ्यं स्वस्ति अविनाशं शुभं दधातु ददातु। कथम्भूत इन्द्रः? वृद्धश्रवाः, श्रव इत्यन्नस्य कीर्तेर्वा नामधेयम्, वृद्धं महत् श्रवो यस्य स वृद्धश्रवाः। पूषा देवो नोऽस्मभ्यं स्वस्ति क्षेमं दधातु स्थापयतु। कीदृशः पूषा? विश्ववेदाः, विश्वं सर्वं वेदो धनं यस्य सः, विश्वं वेत्तीति वा विश्ववेदाः। तार्क्ष्यः, तृक्षस्यापत्यं तार्क्ष्यः, 'गर्गादिभ्यो यञ्' (पा० सू० ४।१।१०५) इति रूपसिद्धिः। 'तार्क्ष्यस्तु स्यन्दने वाहे गरुडे गरुडाग्रजे' इति हैमः। स्यन्दनं गरुडो वा नः स्वस्ति दधातु। कीदृशः तार्क्ष्यः? अरिष्टनेमिः, अरिष्टा अनुपहिंसिता नेमिश्चक्रधारा पक्षो वा यस्य सः, नयतीति नेमिः, 'नियो मिः' (उ० ४।४४) चक्रावयवः पक्षो वा। बृहस्पतिः 'तद्बृहतोः करपत्योः' (पा० सू० ६।१।१५७, वा०-?) इति रूपसिद्धिः। देवगुरुर्नः स्वस्ति दधातु ददातु।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरो वृद्धश्रवा महायशा नोऽस्मभ्यं स्वस्ति कल्याणं मोक्षरूपं दधातु धारयतु। विश्ववेदाः सर्वज्ञः पूषा सर्वपोषकत्वगुणविशिष्टो नः स्वस्ति दधातु। तार्क्ष्यो गरुत्मान् अरिष्टनेमिरव्याहतपक्षो नोऽस्मभ्यं स्वस्ति दधातु बृहस्पतिर्बृहतां वेदलक्षणानां वाचां पतिः परमेश्वरः, तादृशगुणविशिष्टः स्वस्ति दधातु। एतैरिन्द्रादिपदैः परमात्मन एव व्यपदेशः, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वृद्धश्रवा इन्द्रो नः स्वस्ति यो विश्ववेदाः पूषा नः स्वस्ति, यस्तार्क्ष्य इवारिष्टनेमिः, स नः स्वस्ति, यो बृहस्पतिर्नः स्वस्ति दधाति, स युष्मभ्यमपि सुखं दधातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहृतपदानां निर्मूलत्वात्। बहुश्रोतुर्वृद्धश्रवस्त्वमपि चिन्त्यम्, यशसि श्रुतौ कर्णे नक्षत्रे च श्रवःशब्दप्रसिद्धेः। तथा च मेदिनी—'श्रवः श्रुतौ च कर्णे च नक्षत्रे न नपुंसकम्' इति ॥ १९ ॥

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः ।

अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—चितकबरे वर्ण के घोड़ों वाले, अदिति माता से उत्पन्न, सबका कल्याण करने वाले, यज्ञशालाओं में जाने वाले, सर्वज्ञ, सूर्यरूप नेत्र वाले मरुद्गण और विश्वेदेव देवता हविरूप अन्न को ग्रहण करने के लिये हमारे इस यज्ञ में आवें ॥ २० ॥

जगती। मरुतो देवाः पृषदश्वाः प्रावृषि सर्वतः पृषत्यो विचित्रा मेघमाला अश्वा येषां ते तथोक्ताः। अथवा पृषत्यः पृषतीसंज्ञा अश्वा वडवा (वाहनं) येषां ते तथोक्ताः, पुंवद्भावः, 'पृषत्यो मरुताम्' (निघ० १।१५।६) इति निघण्टूक्तेः। यद्वा पृषद्भिर्बिन्दुभिर्युक्ताः पृषद्युक्ताः, पृषद्युक्ता अश्वा येषां ते पृषदश्वाः, मध्यमपदलोपः। यद्वा पृषन्तः शबला अश्वा येषां ते पृषदश्वाः। पृश्निमातरः पृश्निर्द्यौर्गौर्दितिर्वा माता जननी येषां ते तथोक्ताः। शुभंयावानः शुभं कल्याणं यान्ति प्राप्नुवन्ति प्रापयन्ति वा ये ते शुभंयावानः, 'या प्रापणे' इत्यस्मात् 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' (पा० सू० ३।२।७४) इति वनिप्, द्वितीयाया अलुक्। विदथेषु यज्ञगृहेषु जग्मयो गमनशीलाः, 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' (पा० सू० ३।२।१७१) इति किः। अग्निजिह्वा अग्निर्जिह्वा भोजनसाधनं येषां ते, 'अग्निमुखा उ वै सर्वे देवाः' (श० १३।७।१।३) इति श्रुतेः, हुताद इत्यर्थः। विदथेषु वेत्ति देवपूजादिकं यत्र तानि विदथानि 'विद् ज्ञाने', विन्दति लभते हि दक्षिणादिकमत्रेति विदथानि 'विदॢ लाभे', विन्ते विचारयति मन्त्राणां छन्दोदेवर्ष्यादिसम्बन्धविशेषरूपं विनियोगमत्रेति विदथानि, विद्यते कर्मणां विविधानां प्रचारो यत्र तानि विदथानि यज्ञस्थानानि, 'सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे। विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्विदं क्रमात्॥' तेषु जग्मयो गमनशीलाः। ईदृशा मरुतो देवा अवसा हविर्लक्षणेनान्नेन निमित्तेन आहूताः सन्त इह यज्ञे आगमन् आगच्छन्तु। मनवो मन्यन्ते जानन्ति ये ते मनवः सर्वज्ञाः, सूरचक्षसः सूरः सूर्यश्चक्षश्चक्षुर्येषां ते, अथवा सूर्यं चक्षते पश्यन्ति ये ते सूरचक्षस आदित्यदर्शनाः, न केवलं मरुतः, किन्तु विश्वे सर्वे देवा नोऽस्माकमवसा हविर्लक्षणेनान्नेन निमित्तेन इहास्माकं यज्ञे, आगच्छन्त्विति भावः।

अध्यात्मपक्षे—तत्तद्विशेषणविशिष्टा मरुतोऽन्ये चाग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे देवाः परमात्मांशभूता इह यज्ञे यजनस्थाने आगच्छन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे पृश्निमातर इव पृषदश्वा मरुतो मनुष्याः, विदथेषु शुभं यावानो जग्मयोऽग्निजिह्वाः सूरचक्षसो विश्वेदेवा मनवोऽवसा सह वर्तन्ते, त इह नोऽस्मानागमन्' इति, तदपि निरर्थकम्, प्रार्थनामात्रेण पृषदश्वानां मनुष्याणां विदुषां चागमनासम्भवात्। यत्तु –'पृषतः पुष्ट्यादिसंसिक्ताङ्गा अश्वा येषां ते पृषदश्वाः' इति, तदपि न, पृषच्छब्दस्य तादृशार्थतायां मानाभावात्, 'पर्षति सिञ्चति हिनस्ति वा तत् पृषद् मृगविशेषो बिन्दुर्वा' इति त्वदुक्तेः। न च विद्वांसोऽन्तरिक्षमातरो भवन्ति, नापि तेऽग्निजिह्वा भवन्ति, न चाग्निशब्देन तद्वद्दीप्तिरर्थः, मुख्यार्थत्यागे मानाभावात्॥ २०॥

भ॒द्रं कर्णे॑भिः शृणुयाम देवा भ॒द्रं प॑श्येमा॒क्षभि॒र्यज॑त्राः।
स्थि॒रैरङ्गै॑स्तुष्टु॒वास्ँस॑स्त॒नूभि॒र्व्य॑शेमहि दे॒वहि॑तं॒ यदायुः॑॥ २१॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान के रक्षक देवताओ! हम दृढ़ अंगों वाले शरीर से पुत्र आदि के साथ मिलकर आपकी स्तुति करते हुए कानों से कल्याण की बातें सुनें, नेत्रों से कल्याणमय वस्तुओं को देखें, देवताओं की उपासना योग्य आयु को पावें॥ २१॥

तिस्रस्त्रिष्टुभः। हे देवाः, कर्णेभिः कर्णैर्भद्रं कल्याणमनुकूलं वयं शृणुयाम। हे यजत्राः, यजन्तं त्रायन्ते रक्षन्तीति यजत्रा यजमानपालकाः, तत्सम्बोधने। अथवा इज्यन्ते ये ते यजत्राः। 'अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन्' (उ० ३।१०५) इत्यत्रन्प्रत्ययेन साधुः, तत्सम्बोधने हे यजत्रा यष्टव्या देवाः। अक्षभिरक्षिभ्याम्, 'छन्दस्यपि दृश्यते' (पा० सू० ७।१।७६) इत्यनङादेशः। भद्रं कल्याणं पश्येम। किञ्च, देवहितं यदायुर्देवैर्हितं निहितं स्थापितं देवेभ्यो हितं वा, देवोपासनयोग्यमिति यावत्, यदायुर्जीवनं तद् वयं व्यशेमहि व्यश्नुवीमहि

प्राप्नुयाम। कीदृशा वयम्? स्थिरैर्दृढैरङ्गैरवयवैर्हस्तपादादिभिस्तनूभिः शरीरैश्च पुत्रादिभिर्वा युतास्तुष्टुवांसो भवतः स्तुवन्तः सन्तः।

अध्यात्मपक्षे—त्रिगुणात्मके संसारे देवानुग्रहादेव भद्रदर्शनं भद्रश्रवणं च सम्पद्यते, अतो भगवदंशा देवा एव प्रार्थ्यन्ते। हे देवाः, वयं कर्णैः श्रोत्रैरिन्द्रियैर्भद्रं मङ्गलमयं भगवच्चरित्रं भगवत्तत्त्वप्रतिपादकं वैदिकमार्षं शिष्टवाक्यं शृणुयाम, नेत्रैश्च भद्रं माङ्गलिकं भगवद्भागवतस्वरूपादिकं पश्येम। उपलक्षणमेतत्। वाचापि मङ्गलं भगवन्नामस्तुत्यादिकं वदेम, मनसापि भगवन्तं सङ्कल्पयेम, तमेवाध्यवस्याम। तदुक्तं परमभागवतेन प्रह्लादेन श्रीमद्भागवते—'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया। मनश्च भद्रं भजतादधोक्षज आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥' (५।१८।९)। ब्रह्मणाप्युक्तं तत्रैव—'न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः। न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥' (२।६।३३) इति। हे यजत्रा यष्टृरक्षका यजनीया वा भगवन्तः, वयं स्थिरैर्दृढैः संस्कृतैश्चाङ्गैः करचरणादिभिस्तनूभिः समष्टिशरीरैश्च भार्यापुत्रप्रपौत्रादिभिर्वा तुष्टुवांसो भवतः स्तुवन्तः सन्तो देवहितं देवैः स्थापितमायुर्जीवनं देवानां हितयजनोपासनाद्यनुकूलं वा जीवनं व्यशेमहि व्यश्नुवीमहि।

दयानन्दस्तु—'हे यजत्रा देवाः, भवत्संगेन वयं कर्णेभिर्भद्रं शृणुयाम, अक्षभिर्भद्रं पश्येम, स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसः सन्तस्तनूभिर्यद्देवहितमायुस्तद्व्यशेमहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्येभ्यो देवेभ्यस्तथाभिलषितासिद्धेः। लिङ्लकारोऽध्येषणाद्यर्थको भवति, अन्यथा कर्तुः श्रवणदर्शनादिक्रियासु स्वातन्त्र्येण तथावचनस्य नैरर्थक्यात्। अङ्गानां तनूनां स्थैर्यं देवहितायुःप्रार्थनं न मनुष्येभ्योऽल्पशक्तिभ्यः प्राप्तुं शक्यमिति विशिष्टशक्तिमन्तो देवाः परमेश्वरश्च प्रार्थनीया इति मन्तव्यम्॥ २१॥

श॒तमिन्नु श॒रदो॒ अन्ति॑ देवा॒ यत्रा॑ नश्च॒क्रा ज॒रसं॑ त॒नूना॑म्।
पु॒त्रासो॒ यत्र॑ पि॒तरो॒ भव॑न्ति॒ मा नो॑ म॒ध्या री॑रिष॒तायु॒र्गन्तोः॥ २२॥

मन्त्रार्थ—हे देवताओं! आप सौ वर्ष की आयु पर्यन्त हमारे समीप रहें, जिस आयु में हमारे शरीर को जरा अवस्था प्राप्त हो, जिस आयु में हमारे पुत्र पिता, अर्थात् पुत्रवान् बन जाँय, हमारी उस गमनशील आयु को आप लोग बीच में खण्डित न होने दें॥ २२॥

हे देवाः, शतमित् शतमपि शरदो वर्षाणि यूयमन्ति अन्तिके, भवतेति शेषः। आकल्पकालं युष्माकं सन्निधानमस्त्वित्यर्थः। यत्रा यत्र यस्मिन् शरच्छते, 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' (पा० सू० ६।३।१३३) इति दीर्घः। नोऽस्माकं तनूनां शरीराणां यूयं जरसं जरां जरानिमित्तां शक्तिं चक्रा चक्र कुरुथ, कृतवन्त इति यावत्, 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः, वार्धकावधि यूयं समीपे भवतेत्यर्थः। यत्रास्माकं जरायां पुत्रासोऽस्मत्पुत्राः पितरो भवन्ति पुत्रवन्तो भवन्ति, यावदस्माकं पौत्रा भवन्तीत्यर्थः, तावन्मध्या मध्ये नोऽस्माकमायुर्मा रीरिषत मा हिंसीष्ट, रिषतेर्हिंसार्थस्य णिजन्तस्य चङि रूपम्। कीदृशमायुः? गन्तोः, गन्तृ गमनशीलम्, 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' (पा० सू० ३।४।१३) इति तोसुन्प्रत्ययः। उक्तं च—'सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य तमुग्रदण्डं मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य। वर्षासु सिक्ता इव चर्मबन्धाः सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति॥' इति। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्तीत्यत्र उव्वटाचार्यः—"पुत्रा अग्नयो यत्र शरदां शते यजमानस्य पितरो जनितारो भवन्ति। तदुक्तम्—'यत्र वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे' (श० २।३।३।१) इत्युपक्रम्य 'तं जनयित्वाबिभः' (श० २।३।३।२) इति। यत्र पितरो भवन्ति। एतदप्युक्तमेव, 'स यत्र म्रियते। यत्रैनमग्नावभ्यादधाति

तदेषोऽग्नेरधिजायते स एष पुत्रः सन् पिता भवति' (श० २।३।३।५)। अथवा पुत्रा एव पितॄणामौर्ध्वदेहिकं कुर्वाणाः पितरो यत्र सम्पद्यन्ते, तदपि शरदां शतमन्तिक एवेति' इति। यजमानोऽग्नीनादधाति त्रेताग्नयोऽस्य पुत्रा भवन्ति मरणानन्तरं यदा यजमानमग्नावभ्यादधाति, तदा तेभ्योऽग्निभ्य एव तस्याभीष्टस्वर्गादिसुखोपभोगयोग्यं जन्म भवति। तदा तेऽग्नयो यजमानस्य पुत्रा भवन्तीति।

अध्यात्मपक्षे—हे देवाः, शतमिन्नु शतमपि शरदो वर्षाणि अन्ति अन्तिके समीपे भवतेति। देवानां सन्निधानेन सद्बुद्धिसदाचरणानि सिद्ध्यन्ति। तावन्मध्ये गन्तोर्गन्तृ गमनशीलमायुर्मा रीरिषित। तावत्कालं निर्विघ्नजीवनप्राप्त्या श्रवणमननादिभिर्ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण जन्मसाफल्यमपि सम्पद्यते। मन्त्रार्थव्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे देवाः, भवदन्तिस्थितानां नोऽस्माकं यत्र तनूनां जरसं शतं शरदः स्युस्तन्नु चक्र यत्र पुत्रास इत्पितरो भवन्ति तन्नो गन्तोरायुर्मध्या मा रीरिषत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मानुषेभ्यो देवेभ्योऽदृष्टद्वारा तत्कार्यसम्पत्तेः। दृष्टो व्यवहारो लौकिको नास्ति सम्प्रतिपन्नो येन तत्सिद्ध्येत। मनुष्येभ्यो भिन्ना विशिष्टशक्तिसम्पन्ना देवास्त्वया नाभ्युपेयन्ते, तत एव तत्सम्बद्धानि कर्माण्यपि नोपेयन्ते। घृताद्याहुतयश्च वाय्वादिशुद्ध्यर्था एवेति कुतोऽभीष्टसिद्धिः स्यात्। गन्तोरित्यस्य गमनमित्यर्थोऽपि चिन्त्यः, तुमर्थे तोसुन्विधानात्॥ २२॥

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑तिर्जनि॑त्वम्॥ २३॥

मन्त्रार्थ—अखण्डित परा शक्ति स्वर्ग है, वही अन्तरिक्ष रूप है, वही परा शक्ति माता, पिता और पुत्र भी है। सकल देवता परा शक्ति के ही स्वरूप हैं, अन्त्यज सहित चारों वर्णों के सकल मनुष्य पराशक्तिमय हैं, जो उत्पन्न हो चुका है और जो उत्पन्न होगा, सब परा शक्ति के ही स्वरूप हैं॥ २३॥

मन्त्रदृक् सर्वात्मभावेनादितिं स्तौति—अदितिर्देवमाता सर्वमाताऽनन्तब्रह्माण्डजननी चिती राजराजेश्वरी, न द्यति खण्डं परिच्छेदं प्राप्नोतीत्यदितिरपरिच्छिन्नाऽखण्डा स्वप्रकाशा चित्। सैव द्यौः स्वर्गः, तदधिष्ठानत्वात् तदधिष्ठातृत्वाच्च। अदितिरन्तरिक्षम्। अदितिरेव माता जननी पुत्रश्च। स साऽदितिः, लिङ्गव्यत्ययः। पिता जनकः स सादितिरेव पुत्रः। विश्वे सर्वे देवा अदितिः पञ्चजनाः पञ्चभिर्भूतैर्जन्यन्त इति पञ्चजनाः, 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१९) इति घञ्, 'जनिवध्योश्च' (पा० सू० ७।३।३५) इति वृद्ध्यभावः। अथवा पञ्चजना उत्पादका यस्य ते पञ्चजना मनुष्याः, 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः' (२।६।१) इत्यमरवचनात्। निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः पञ्चजना आख्यायन्ते, अथवा गन्धर्वाप्सरसो देवा असुरा रक्षांसि—इत्येते सर्वेऽपि पञ्चजना इति सायणः। एते सर्वेऽप्यदितिरेव। किं बहुना, जातमुत्पन्नं प्राणिजातं जनित्वं जनिष्यमाणं च सर्वमदितिरेव। यद्वा—द्यौरन्तरिक्षं माता पिता पुत्रो विश्वे देवाः पञ्चजना जातं जनित्वं च सर्वमदितिरदीना महाभाग्ययुक्तमस्त्वित्यध्येषणा।

अध्यात्मपक्षे—इदमेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिर्द्यौरदितिर्माता च पिता स पुत्रश्चादितिः पञ्चजना अदितिर्जातं जनित्वं चादितिरस्तीति वेदितव्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या कार्यस्य कारणत्वासम्भवात्। परमेश्वरस्तु

निमित्तकारणमेव। न च कार्यस्य निमित्तकारणरूपत्वम्, घटादीनां कुलालरूपत्वापत्तेः। स्वरूपेण नित्यत्वेऽपि न ब्रह्मरूपता सम्भवति, कालाकाशादीनां नित्यत्वेऽपि परमात्मरूपत्वाभावात्। सिद्धान्ते तु—'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (ब्र० सू० १।४।२३) इति न्यायेन परमात्मन एवाभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) इति न्यायेन कार्यस्य कारणानन्यत्वेन ब्रह्मरूपत्वमेव ॥ २३ ॥

मा नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो अ॒र्य॒मा॒युरिन्द्र॑ ऋ॒भु॒क्षा म॒रुतः॒ परि॑ख्यन् ।
यद्वा॒जिनो॑ दे॒वजा॑तस्य॒ सप्तेः॑ प्र॒व॒क्ष्यामो॑ वि॒दथे॑ वी॒र्या॑णि ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ में सूर्य से उत्पन्न देवताओं के अश्वों के चरित्रों का जो हम वर्णन करेंगे, उसके कारण मित्र, वरुण, सूर्य, वायु, इन्द्र, प्रजापति और मरुद् देवता हमारी निन्दा न करें ।। २४ ।।

'मा नो मित्र इति च प्रत्यृचमनुवाकाभ्याम्' (का० श्रौ० २०।८।६)। मा न इत्यादि षोडशकण्डिकात्मकेनानुवाकद्वयेन पूर्ववच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहोतीति सूत्रार्थः। 'मा नो मित्रो यदश्वस्याष्टकौ' इत्यनुवाकसूत्रवचनम्, 'षोडशाश्वस्तोमीया जुहोति' (श० १३।३।६।५) इति श्रुतिश्च। अत आरभ्य द्वाविंशतिर्ऋचोऽश्वस्तुतिपरत्वादश्वदेवत्यास्त्रिष्टुभो दीर्घतमोदृष्टाः, अत्र 'या तेनोच्यते सा देवता' (निरु०) इति नियमात्। अत्र 'एष छागः' इति तृतीया (अध्यायारम्भतः षड्विंशी) 'यूपव्रस्का' इति षष्ठी (अध्यायारम्भत एकोनत्रिंशी) इत्येते द्वे जगत्यौ। ततः षोडशभिर्होमः, षड्भिः स्तुतिः, सर्वाभिर्वा होमः, 'अश्वस्तोमीयꣳ हुत्वा द्विपदा जुहोति' (श० १३।३।६।३) इति श्रुतेः।

मन्त्रार्थस्तु—यद्वयं विदथे यज्ञे वाजिनोऽश्वस्य वीर्याणि चरित्राणि प्रवक्ष्यामो वर्णयिष्यामः, तत्र मित्रादयो देवा नोऽस्मान् मा परिख्यन् मा गर्हन्ताम्। परिख्यानं गर्हणम्, परिपूर्वात् ख्यातेर्लुङि 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा० सू० ३।१।५२) इति च्लेरङ्, 'न माङ्योगे' (पा० सू० ६।४।७४) इत्यडभावः। अस्माभिर्देवाः स्तुत्याः, न त्वश्वप्रभृतयस्तिर्यञ्च इति यद्यपि निन्दा युक्ता, तथाप्यश्वरूपेण देवानामेव स्तुतत्वान्न गर्हणीया वयमित्यर्थः। कथम्भूतस्य अश्वस्य ? देवजातस्य, देवात् सूर्याज्जात उत्पन्नो देवजातस्तस्य देवैर्जनितस्य वा, 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' (वा० सं० २९।१३) इति मन्त्रवर्णात्। सप्तेः, सपति समवैति देवैः सहेति सप्तिः, 'षप् समवाये' इत्यस्मात् 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१७४) इति क्तिच्प्रत्ययः, तस्य। के मा गर्हन्ताम् ? तानाह—मित्रः, अहरभिमानी देवः। वरुणो रात्र्यभिमानी देवः। अर्यमा आदित्यः। आयुरेति सततं गच्छतीत्यायुः, 'एतेर्णिच्च' (उ० २।१२०) इति इसिः, वायुः। इन्द्रो देवराजः। ऋभुक्षा ऋभुशब्दवाच्यः स्वर्गोऽदितिर्वा, स्वरादिपाठादव्ययत्वम्, तत्र भवन्ति ततो वा भवन्तीति ऋभवो देवाः, मित्रद्र्वादित्वाद् डुः, ऋभवः क्षियन्त्यत्रेति ऋभुक्षाः, औणादिक इनिः। 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (पा० सू० ७।१।८५) इति सौ परे आकारोऽन्तादेशः, देवाधारः प्रजापतिरिति यावत्। यद्वा—इर्यति व्याप्नोति सर्वमिति ऋभुक्षाः, अर्तेर्भुक्षिनक्प्रत्ययः। मरुतो देवतान्तराणि। एते सर्वेऽपि मा परिख्यन्। सप्तगुणितसप्तसंख्याका मरुतो वा मा परिख्यन्नित्यनुषङ्गः।

अध्यात्मपक्षे—देवार्थं जातस्य सप्तेर्वाजिनो यद्वयं वीर्याणि प्रवक्ष्यामस्तेन मित्रादयो नोऽस्मान् मा परिख्यन् मा गर्हन्ताम्, प्रजापतिदैवतत्वेन तस्यापि देवरूपत्वात्। यथा शालग्रामो विष्णुबुद्धया स्तूयते, तथैवाश्वोऽपि प्रजापत्यात्मना स्तूयते।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा मित्रो वरुणोऽर्यमेन्द्र ऋभुक्षा मरुतो न आयुर्मा परिख्यन्, येन वयं देवजातस्य वाजिनः सप्तेरिव विदथे यद्वीर्याणि प्रवक्ष्यामस्तानि मा परिख्यन्, तथा यूयमुपदिशत' इति, तदपि

यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागगौणार्थग्रहणयोर्निर्मूलत्वात्, परिख्यन्नित्यस्य नाशार्थत्वायोगाच्च। देवजातस्य दिव्यैर्गुणैः प्रसिद्धस्येत्यपि नार्थः, तथार्थे तस्याशक्तत्वात्। सप्तिपदस्याप्यश्ववाचकस्य तत्तुल्यार्थतापि निर्मूलैव। न च मित्रादिषु कस्यचिदायुर्नाशकत्वं प्रसक्तम्, येन तन्निषेधसार्थक्यं स्यात् ॥ २४ ॥

यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति ।

सुप्राङजो मेम्यद्विश्वरूप इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—जिस समय ब्राह्मण स्नान से और सुवर्ण, मणि आदि से संस्कार को प्राप्त हुए अश्व के मुखाग्र में ग्रहण किये घृत, सत्तू, धाना रूप दान को प्राप्त कराते हैं, तब ललाट के निकट बँधा हुआ शब्दकारी विचित्र वर्ण का छाग इन्द्र और पूषा देवता के प्रिय अन्नभाव को प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

यद् यदा विप्रा निर्णिजा निर्णेजनोदकस्नानेन प्रावृतस्य संस्कृतस्य, आलम्भनकालेऽश्वस्य यत् स्नपनं तदभिप्रायेणैतदुक्तम्। तथा रेक्णसा धनेन मणिसुवर्णादिना प्रावृतस्य केसरपुच्छेषूपचितस्य, 'मणीन् सौवर्णान्'''केसरपुच्छेष्वावयन्ति' (का० श्रौ० २०।५।१६) इत्युक्तेः, अस्य महिषी-वावातादय इति शेषः। रेक्ण इति धननाम (निघ० २।१०।२), निर्णेजनं निर्णिक्, तया। 'णिजिर् शौचपोषणयोः' सम्पदादित्वात् क्विप्। तादृशस्य अश्वस्य मुखतो मुखाग्रे गृभीतां गृहीतां रातिं दानमाज्यसक्तुधानालक्षणं नयन्ति प्रापयन्ति, 'अश्वाय रात्रिहुतशेषं प्रयच्छतीति' इति कात्यायनोक्तेः। तदा अजश्छागोऽप्येति, अश्वाय समर्पिताज्यसक्तुधानादिभक्षणायागच्छति। कीदृशोऽजः ? सुप्राङ् सुष्ठु प्राञ्चतीति सुप्राङ्, ललाटे बद्ध इत्यर्थः, 'कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे पुरस्तात्' (वा० सं० २४।१) इत्युक्तेः। तथा मेम्यत्, शब्दानुकरणमेतत्, मे मे इति शब्दं कुर्वाणः, तथा विश्वरूपो विश्वानि रूपाणि वर्णानि यस्य सः। इन्द्रापूष्णोरिन्द्रश्च पूषा चेति इन्द्रापूषणौ, 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इत्यानङ्, इन्द्रस्य पूष्णश्च प्रियमिष्टं पाथोऽन्नं पशुलक्षणं तदप्येति नाभिबद्धोऽपि भक्षाय आगच्छति, 'सौमापूष्णः श्यामो नाभ्याम्' (वा० सं० २४।१) इत्युक्तेः। हुतशेषमन्नं यदाश्वाय दीयते, तदा ललाटनाभिबद्धावजौ भक्षायागच्छतः।

अध्यात्मपक्षे यथा प्रजापतिसंसृष्टा अग्न्यादयः, तथैव अश्वसंसृष्टा अजादयः पशवः। प्रजापतेरन्नमेवाग्न्यादीनामन्नम्, तथैवाश्वसमर्पितसक्तुधानादिकमजौ भक्षयतः। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'यन्मनुष्या निर्णिजा सुरूपेण रेक्णसाधनेन प्रावृतस्य युक्तस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति, यो मेम्यत् सुप्राङ् यः सुष्ठु पृच्छति स विश्वरूपोऽजः, इन्द्रापूष्णोः प्रियं पाथोऽप्येति, ते स च सुखमाप्नुवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मूले मनुष्यपदाभावात्। न च निर्णिक्पदमपि सुरूपपरम्, धात्वर्थाननुरोधात्। यो गृभीतां रातिं मुखतः सुप्राङ् सुष्ठु पृच्छतीत्यपि यत्किञ्चित्, पृच्छतेस्तादृशरूपत्वायोगात्। न वाऽजस्य जीवस्य विश्वं रूपं सम्भवति, तस्य विश्वविलक्षणत्वात्। न वा तस्य विद्युत्पवनयोगः, तस्यासङ्गत्वात्। सुखं प्राप्नुवन्तीत्यपि मन्त्रबाह्यमेव ॥ २५ ॥

एष छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः ।

अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनꣳ सौश्रवसाय जिन्वति ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—जब यह अग्निदेवता का भाग सब देवताओं का हितकारी अज वेगवान् अश्व के आगे किया जाता है, तब प्रजापति ही वेगवान् अश्व के द्वारा सब प्रकार से देवताओं को तृप्त करने वाले आगे देने योग्य इस अज को श्रेष्ठ कीर्ति के लिये तृप्त करते हैं ॥ २६ ॥

यद् यदा एषोऽग्निदेवत्यश्छागोऽजो वाजिना वेगवताऽश्वेन (व्यापकेन) पुरोऽग्रतो नीयते, ललाटबद्धत्वात् । अश्वस्य पुरोगमनेन तस्य पुरोगमनं सिद्ध्यति, अश्वस्य पर्यङ्ग्यत्वात् । तदा त्वष्टा इत् त्वष्टैव प्रजापतिरेव अर्वताऽश्वेन सह एनं छागं जिन्वति प्रीणाति । कीदृशश्छागः ? पूष्णो भागः, पुष्णाति देवानिति पूषाग्निः, तस्य भागो भजनीयः, 'आग्नेयो रराटे' (वा० सं० २४।१) इत्युक्तत्वात् । तथा विश्वदेव्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यो हितः सर्वदेवार्हः, अग्नेः सर्वदेवात्मकत्वात् । किमर्थमेनं छागमश्वेन सह जिन्वतीत्याह—सौश्रवसाय शोभनं श्रवः कीर्तिर्यस्य स सुश्रवाः, तस्य भावः सौश्रवसम्, तस्मै सुकीर्तये, यज्ञ आलब्धान्तं स्वर्गप्राप्तेरुक्तत्वात् । कीदृशमेनं छागम् ? अभिप्रियमभिप्रेतम्, अभिप्रीणातीत्यभिप्रियस्तं समन्ताद्देवानां प्रीणयितारम् । तथा पुरोडाशम्, पुरो दाश्यते दीयत इति पुरोडाशः, 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१९) इति कर्मणि घञ्, पृषोदरादिः, तं देवेभ्यः पुरस्ताद् दातव्यम् । यद्वा पशुपुरोडाशरूपम् । यच्च पुरोडाशं कर्तुमर्वताऽश्वेन सहितम्, स हि संज्ञपनकाले संज्ञप्यते पशुपुरोडाशः क्रियते, तदेतदुक्तमित्युव्वटाचार्योऽभिप्रैति । सौश्रवसाय शोभनान्तःकरणाय जिन्वति, स हि तस्याधिकार इति च ।

अध्यात्मपक्षे—यः सर्वैर्देवैः सह प्रजापतिं प्रीणयितुमनिच्छयापि स्वात्मानं तत्पुरोडाशत्वेनोपस्थापयति, तं स त्वष्टा प्रीणाति । तदनन्तरं यज्ञं चाभिवर्धयति । व्याख्यानं तु पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'विद्वद्भिर्य एष पुरो विश्वदेव्यो विश्वेषु देवेषु साधुः पूष्णो भागः सेवनीयश्छागश्छेदको वाजिनाऽश्वेन सह नीयते, यदभिप्रियं पुरोडाशमर्वता गन्त्रा सह त्वष्टैनं सौश्रवसायेज्जिन्वति, स सदा पालनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, छेदक क इत्यस्यानुक्तत्वात् । भावार्थेऽजादीन् पशूनित्युक्तत्वादज एव छागो ग्राह्यः । कथं च तस्य छागस्य सर्वेषु देवेषु विद्वत्सु साधुत्वमित्यपि वक्तव्यम् ? कथं किमर्थं व तस्य पूष्णा सेव्यत्वम् ? अश्वेन च सह तस्य कः सम्बन्धः ? पुरोडाशे कीदृशं कमनीयत्वम् ? पुरोडाशप्रापकेनाश्वेन सार्धं तं छागं प्राप्य त्वष्टा सौश्रवसाय कथं जिन्वतीत्यादिप्रश्नानां दुःसमाधेयत्वात् ॥ २६ ॥

यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति ।
अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ - जिस समय ऋत्विक्गण हवि के योग्य यज्ञकाल में देवयान मार्ग से जाने वाले अश्व की तीन परिक्रमा करते हैं, उस समय अग्नि का भागरूप अज अग्रगामी होता हुआ, देवताओं के निमित्त यज्ञ को जताता हुआ प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

यद् यदा हविष्यं हविषे हितं हविर्योग्यम्, ऋतुश ऋतौ ऋता इति ऋतुशः, 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (पा० सू० ५।४।४३) इति शस्प्रत्ययः, यज्ञकाले देवयानं देवानां प्रापणीयम्, देवेषु वा यानं गमनं यस्य तम्, देवयानमार्गगामिनं वा, देववदादित्यवद् यानं गतिर्यस्य तं वा, आदित्यवदनिवारितगतिमित्यर्थः । अश्वं मानुषा मनुष्या ऋत्विजस्त्रिः परिणयन्ति प्रदक्षिणीकुर्वन्ति, वारत्रयं पर्यग्निकुर्वन्ति वा । स्नपनव्यञ्जनसुवर्णमणिकप्रवारैः त्रिः संस्कृतं वा परिणयन्ति परितो नयन्ति । अत्रा अत्र, 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्'

(पा० सू० ६।३।१३३) इति दीर्घः, तत्रेत्यर्थः। तस्मिन् काले, अत्रास्मिन् समये पर्यग्निकरणकाले वा पूष्णः पोषकस्याग्नेः प्रथमो भागोऽजाख्यः, एति आगच्छति, देवेभ्यो यज्ञं प्रतिवेदयन् स्वकीयेन शब्देन। तदभिप्रायेणैव चरकश्रुतौ—'पूष्णो[1] ललाटे' इति पठ्यते। यद्वा अत्रास्मिन् समये पर्यग्निकरणकाले पूष्णः पूषति वर्धत इति पूषाग्निः, 'पूष वृद्धौ' भौवादिकः, तस्य पोषकस्य वृद्धस्याग्नेर्भागोऽजः प्रथमः पुरोगामी सन्नेति आगच्छति। किं कुर्वन् ? देवेभ्यो यज्ञं प्रतिवेदयन् स्वशब्देन ज्ञापयन्।

अध्यात्मपक्षे—अश्वमेधादिभिर्यज्ञैः सोपासनैर्देवयानमार्गः प्राप्यते। तत्र संस्कृतस्याश्वस्य पुरोगामी छागो देवेभ्यः स्वशब्दैर्यज्ञं प्रतिवेदयति। सर्वमेतद् ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपमेव वेदितव्यम्। अक्षरार्थस्तूक्त एव।

दयानन्दस्तु —'मानुषा ऋतुशो ऋत्वहँ हविष्यं देवयानमश्वं त्रिः परियन्ति, योऽत्र पूष्णः प्रथमो भागो देवेभ्यो यज्ञं प्रतिवेदयन्नेति, स सदा रक्षणीयः' इति, तदपि पूर्ववदेव प्रत्याख्येयम्, छागः कथं देवेभ्यः सत्कारं प्रतिवेदयतीत्यस्यानुक्तत्वात्॥ २७॥

होताऽध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शँस्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरङ्कृतेन स्विष्टेन वक्षणा आपृणध्वम्॥ २८॥

मन्त्रार्थ—होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, आग्नीध्र, ग्रावस्तोता, प्रशास्ता और ब्रह्मा ये सब ऋत्विक्गण हवि, दक्षिणा आदि से शोभित, भली प्रकार से अनुष्ठित अश्वमेध यज्ञ के द्वारा घृतकुल्या वाली नदियों को पूर्ण करें॥ २८॥

हे होत्रादय ऋत्विजः, तेन प्रसिद्धेन यज्ञेनाश्वमेधेन वक्षणा वहन्तीति वक्षणास्ता नदीः, औणादिकः सनन् बाहुलकात्, देवानां तुष्टिकरा घृतकुल्याद्या आपृणध्वम्, घृतपयोदधिपयस्यापुरोडाशमांसैरापूरयध्वम्। साङ्गोपाङ्गयज्ञानुष्ठानेन फलं प्रापयत। कीदृशेन यज्ञेन ? स्वरङ्कृतेन रलयोरभेदात् स्वलङ्कृतेन सुष्ठु अलङ्कृतेन विप्रहविर्दक्षिणादिभिः शोभितेन स्विष्टेन सुष्ठु इष्टेन यजनेन। के ऋत्विजः ? तानाह—होता शंस्ता शस्त्राणाम् आह्वाता देवानाम्, होतृनामक ऋत्विग् इति यावत्। अध्वर्युरध्वरमिच्छतीति, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि, 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इति लोपे, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्ययेन साधुः। यद्वा न ध्वरति पुमान् यत्रासावध्वरः। 'ध्वृ कौटिल्ये' पचाद्यच्, अध्वरं याति यौति युनक्ति वेत्यध्वर्युः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति विचि सर्वापहारिलोपे, 'मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्' (पा० सू० ३।२।१८०, वा० १) इति वार्त्तिकेन डुः। आवया अव आभिमुख्येन यजतीत्यावयाः, 'अवे यजः' (पा० सू० ३।२।७२) इति ण्विन्, सौ च पदत्वेन 'श्वेतवहादीनां डस्पदस्येति वक्तव्यम्' (पा० सू० ३।२।७१, वा० १) इति ण्विनोऽपवादो डस्। भागुरिमतेन अकारलोपः, आङ् चोपसर्गः। अथवा आङ् आभिमुख्येन अवयजतीत्यावयाः प्रतिप्रस्थाता। अग्निमिन्धः, अग्निमिन्धे दीपयतीत्यग्निमिन्धः, अग्नीत्। 'भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धे' (पा० सू० ६।३।७०, वा० ५) इति मुमागमः। ग्रावग्राभो ग्राव्णो गृह्णातीति ग्रावग्राभः, कर्मण्यण्, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१।८४, वा० १) इति भः, सोमाभिषवाय ग्रावग्रहणशीलो ग्रावस्तुत्। उतापि शंस्ता 'तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ' (उ० २१९) इति सिद्धिः, प्रशास्ता। सुविप्रः शोभनो विप्रो ब्राह्मणः, 'ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति' (निरु० १।८) इत्युक्तेः। अयमनुक्तर्त्विगुपलक्षकः। सर्वे ऋत्विजो यूयं यज्ञेन वक्षणा आपृणध्वमिति सम्बन्धः।

---

१. अनुपलब्धं वचनमेतत्।

अध्यात्मपक्षे—ये चैत ऋत्विजः स्वलङ्कृतेन स्विष्टेन यज्ञेन वक्षणा आपूरयन्ति, साध्यसाधनात्मकं सर्वमपि तद् ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मैवेति ध्येयम्। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा होता आवया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभः शंस्तोत सुविप्रोऽध्वर्युर्येन स्वरङ्कृतेन स्विष्टेन यज्ञेन वक्षणा अलङ्करोति, तथा तेन यूयमपि आपृणध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, होत्रादिशब्दानामृत्विग्विशेषादिषु प्रसिद्धानां ग्रहीत्राद्यर्थकल्पनस्य निर्मूलत्वात्, नदीनां पूरणस्य यज्ञमन्तरापि दर्शनात्॥ २८॥

यूपव्रस्का उत ये यूपवाहाश्चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति।
ये चार्वते पचनꣳ सम्भरन्त्युतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु॥ २९॥

मन्त्रार्थ—जो ऋत्विक्गण यूप के निमित्त वृक्ष को काटते हैं, जो यूप को उठाने वाले हैं, जो अश्व को बाँधने के लिये यूप के निमित्त चषाल को बनाते हैं, जो अश्व के निमित्त पाकसाधन काष्ठ, भाण्ड आदि को लाते हैं, उन ऋत्विजों का उद्यम हमें तृप्त करे॥ २९॥

तेषामृत्विजामभिगूर्तिरभिगोरणमभिगूर्तिः, उद्यम इति यावत्। नोऽस्मान् इन्वतु प्रीणातु व्याप्नोतु वा, अस्माकं यज्ञं सम्यक् साधयत्वित्यर्थः। 'इवि व्याप्तौ' लोटि शपि 'इदितो नुम् धातोः' (पा० सू० ७।१।५८) इति नुमागमे रूपम्। तेषां केषाम्? ये यूपव्रस्का यूपाय वृश्चन्ति तरूंश्छिन्दन्ति ते यूपव्रस्काः, उतापि ये यूपवाहाः, यूपं वहन्तीति यूपवाहाश्छिन्नस्य यूपस्य वोढारः, ये चाश्वयूपायाश्वबन्धनयूपार्थं चषालं तक्षति तक्षन्ति यूपाग्रभागे स्थाप्यं कटकाकारं काष्ठं तक्षन्ति, 'चषालो यूपकटकः' (अ० को० २।७।१८) इत्यमरकोषः। 'तक्षू तनूकरणे', साधु सम्पादयन्तीत्यर्थः। उतो अपि च ये नरा अर्वतेऽश्वाय पचनं पच्यतेऽनेनेति पचनं पाकसाधनं काष्ठ-भाण्डादिकं सम्भरन्ति संहरन्ति आनयन्ति, तेषां समेषामुद्यमोऽस्मान् प्रीणात्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—येषां प्रयासेन यज्ञः सम्पद्यते, तेषामुद्यमः सङ्कल्पो वास्मान् प्रीणात्वित्यनेन साधनसाध्यो यागः सापेक्षो ब्रह्मात्मपर्यवसायी स्यात्, ब्रह्मात्मभावस्यैव निरपेक्षत्वात्। मन्त्रार्थस्तु पूर्वोक्त एव।

दयानन्दस्तु—ये यूपव्रस्का उतापि ये यूपवाहा अश्वयूपाय चषालं यूपावयवं तक्षन्ति, ये चार्वते पचनं पाकसाधनं सम्भरन्ति, उतो ये प्रयतन्ते, तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अन्योद्यमापेक्षया उक्तोद्यमेषु वैशेष्यानुक्तेः। यद्यश्वमेधयज्ञोपयोगित्वादस्योद्यमस्य वैशेष्यम्, तदा तदनुगुणमेव व्याख्यानं किमिति नाद्रियते? तदन्तरा तु सर्वमुन्मत्तप्रलपितमेव॥ २९॥

उप प्रागात् सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशा उप वीतपृष्ठः।
अन्वेनं विप्रा ऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चकृमा सुबन्धुम्॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—मेरे मन के अभीष्ट फल स्वयं मेरे समीप आवें। मैं उनको धारण करता हूँ। पुष्ट पीठ वाला अश्व देवताओं के मनोरथ को पूर्ण करने के लिये आवे। हमने देवताओं की पुष्टि के लिये सब प्रकार का प्रबन्ध किया है। इसका वेदों को जानने वाले ऋषि अनुमोदन करते हैं॥ ३०॥

मन्म मननीयं फलं सुमत् स्वयम् उपप्रागाद् उपगच्छतु, 'सुमत् स्वयमित्यर्थः' (निरु० ६।२२) इति यास्कोक्तेः। अथवा सुष्ठु मदहेतुरतिहर्षादिकारणं मदफलं सुमत्, मे मम यद् मन्म मननमधायि निहितं तत्

स्वयमुपप्रागात्। किं तदिति चेत्, देवानामाशा आशंसनानि साधु साधु अयं पशुरागच्छेदित्येवमादीनि। तन्मन्म मननीयं फलं मे मया अधायि धृतम्। वीतपृष्ठो वीतं पुष्टं पृष्ठं साधुपोषणेन यस्य सः, यद्वा वीतं कामितं पृष्ठं यस्य सः। अश्वपृष्ठं हि सर्व एवोपारोढुं कामयन्त इत्यश्वो वीतपृष्ठ उच्यते। स देवानामाशाः, पूरयितुमिति शेषः, उप उपैतु। उपोपसर्गेण क्रियावृत्तिः। किञ्च, देवानां पुष्टे, भावे निष्ठानिमित्ते सप्तमी, देवपुष्टिनिमित्तं यमश्वं वयं सुबन्धुं चकृमा कृतवन्तः, छान्दसो दीर्घः, शोभनो बन्धुर्बन्धनं यस्यासौ सुबन्धुस्तं शोभनबन्धनोपेतं कृतवन्त इत्यर्थः। एनमश्वं विप्रा मेधाविन ऋषयो मन्त्रद्रष्टार ऋत्विजोऽनुमदन्ति अनुमोदन्ताम्, तुष्यन्त्वित्यर्थः। यद्वा देवानां पुष्टे पोषणाय सुबन्धुं शोभनबन्धनं शोभनमर्थवादं वा कृतवन्तस्तमेनमृषयो मेधाविनोऽनुमदन्ति।

अध्यात्मपक्षे—अश्वमेधीयाश्वसाध्योऽश्वमेधः, तत्फलं चाश्वहेतुकम्, अश्वश्च प्रजापतिदैवतः संवत्सरात्मकः प्रजापतिरूपेणोपास्यः। यथा शालग्रामे विष्णुबुद्धिस्तथैवाश्वमेधीयाश्वे केनचित् साम्येन प्रजापतिबुद्धिः क्रियते। यथा कालात्मके संवत्सरे उषःकालस्य प्राधान्यम्, अश्वे च शिरसः प्राधान्यम्, तत एव 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' (बृ० १।१।१) इत्यादिकं श्रूयते। मन्त्रार्थस्तु पूर्वोक्त एव।

दयानन्दस्तु—'येन सुमत् स्वयं देवानां वीतपृष्ठो व्याप्तपृष्ठो व्यवहारो यज्ञोऽधायि, येनैतेषां मे च मन्म विज्ञानमाशाश्चोपप्रागात्, यमेनमनु देवानां पुष्टे ऋषयो विप्रा उपमदन्ति, तं सुबन्धुं वयं चकृम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, व्यवहारग्रहणस्यागतिकगतित्वात्, निर्मूलत्वाच्च। केन देवानां वीतपृष्ठ उत्तमव्यवहारः स्वयमेव कार्यते ? केन चैतेषां मे च मन्मात्मं विज्ञानं आशाश्च कः प्राप्नोति ? कश्च प्रत्यक्षं व्यवहारमनुसृत्य देवानां मध्ये पुष्टो जनः ? यमृषयोऽनुमदन्तीत्यादिकं सर्वमसम्बद्धमेव ॥ ३० ॥

यद्वाजिनो दाम सन्दानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य।
यद्वा घास्य प्रभृतमास्ये तृणꣳ सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—इस वेगवान् अश्व की ग्रीवाबन्धन की रज्जु, चरण बन्धन की रज्जु, शिरोबन्धन की रज्जु, कटिबन्धन की रज्जु तथा इसके मुख में स्थित तृण आदि, हे अश्व ! तुम्हारी ये सब वस्तुएँ देवताओं के लिये उपयोगी हों ॥ ३१ ॥

वाजिनो वेगवतोऽर्वतोऽश्वस्य यद् दाम ग्रीवाबद्धा रज्जुः, यच्च सन्दानं सम्यगवच्छेदकं पादबन्धनरज्जुः, या च शीर्षण्या शिरसि भवा शिरसि बद्धा नियोजनीयास्याश्वस्य रज्जुः, शिरःशब्दात् 'भवे च्छन्दसि' (पा० सू० ४।४।११०) इति यत्, 'ये च तद्धिते' (पा० सू० ६।१।६१) इति शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशः। या चास्यान्यापि कटिस्था रज्जुः, यच्च अस्याश्वस्य आस्ये मुखे प्रक्षिप्तं तृणं घ प्रसिद्धम्, हे अश्व ! ते तव सर्वाः सर्वाणि तानि देवेष्वस्तु देवोपयोगीनि भवन्तु, देवत्वं वा प्राप्नुवन्तु। सन्त्विति प्राप्ते वचनव्यत्ययेनैकवचनम्। अत्रोपयुक्तानां सर्वेषां देवत्वमाशास्यते। यद्वा घः पादपूरणे। अस्याश्वस्य प्रभृतं प्रहृतं निक्षिप्तमास्ये मुखे, सर्वाणि तानि हे यजमान, तवापि देवेष्वपि प्रजापतयेऽस्तु।

अध्यात्मपक्षे—अश्वोपयुक्तरज्जुतृणादीनामपि देवत्वादिकं प्रजापत्यभेदोपासनयैव सम्पद्यते। अक्षरार्थस्तु पूर्वोक्त एव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, वाजिनोऽस्यार्वतो यद्दाम सन्दानं या शीर्षण्या रशना रज्जुः, यद्वास्यास्ये तृणं प्रभृतम्, ताः सर्वास्ते सन्तु, एतत्सर्वं देवेष्वप्यस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्वस्य विविधरशनारज्जुतृणानां याजमानत्वेन देवसम्बन्धित्वे किं सिद्ध्यतीत्यनुक्तत्वात् ॥ ३१ ॥

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति ।
यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—इस अश्वाभिमानी जीव के हाथ, हृदय, मन, मुख, नासिका और बुद्धि के जिन अंशों को आवरण डालने वाली विषयवासना रूप मक्षिका ने भक्षण किया है, जो अंश हिंसा के साधन अहंमय शस्त्ररूप मन में लिप्त हैं, जो भूतात्मा के हाथों में और दस इन्द्रियों में लिप्त हैं, हे अश्व ! तुम्हारे ये सब अंश देवताओं को प्राप्त हों ॥ ३२ ॥

यदस्य अश्वस्य क्रविषोऽश्वाङ्गभूतस्य क्रव्यस्य मांसस्य अङ्गम् 'क्रव्यो विकृत्ताज्जायत इति नैरुक्ताः' (निरु० ६।११), मक्षिका आश भक्षितवती । वा अथवा यन्मांसं स्वरौ पश्वञ्जनकाले, '[1]स्वरुणा पशुमनक्ति' इति श्रुतेः । रिप्तं लिप्तमस्ति । यद्वा स्वधितौ शासे छेदनकालेऽवदानकाले च रिप्तं लिप्तमस्ति । यच्च शमितुर्हस्तयोर्लिप्तम्, यच्च शमितुर्नखेषु लिप्तम्, हे अश्व, सर्वा ता सर्वास्ता सर्वाणि तानि देवेष्वस्तु देवभोग्यानि भवन्तु, विभक्तेराकारः । यद्वा मक्षिका अश्वस्य क्रविषः क्रविः क्रव्यं मांसम्, कर्मणि षष्ठी, यदाश भक्षितवती । आशेत्यश्नातेर्लिटि रूपम् । अन्यत् पूर्ववत् ।

अध्यात्मपक्षे अश्वमेधीयाश्वाङ्गादिवद् अस्माकं सर्वाः प्रवृत्तयो मनोवाक्शरीरारम्भा भगवत्प्रीत्यै भूयासुरित्यर्थः । अक्षरार्थस्तु पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, यद् यदा मक्षिका क्रविषोऽश्वस्याश वा यत्स्वरौ स्वधितौ स्तः, शमितुर्हस्तयोर्यद्रिप्तं यच्च नखेषु रिप्तमस्ति, ताः सर्वा ते सन्तु, एतत्सर्वं देवेष्वप्यस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात् । शमितुर्यज्ञकर्तुरित्यपि निर्मूलम्, शामित्रप्रसङ्गाज्ज्ञानादेव मुक्तिसम्भवात् । मक्षिका यदाश यच्च यज्ञकर्तुर्हस्तयोर्नखेषु रिप्तं ताः सर्वास्ते सन्त्वित्यर्थस्यास्पष्टत्वात् । किञ्च तेन सिद्ध्यति ? मनुष्यैरीदृशायामश्वशालायामश्वा बन्धनीयाः, यत्रैषां रुधिरादिकं मक्षिकादयो न पिबेयुः, यथा यज्ञकर्तुर्हस्तयोर्हविःप्रक्षालनादि निवारयन्ति, तथैवाश्वादीनां शरीरे लिप्तानि धूल्यादीनि नित्यं निवारयन्त्विति भावार्थस्तु मूलमन्त्रात् सर्वथाप्युदक्षर एव ॥ ३२ ॥

यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति ।
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधं शृतपाकं पचन्तु ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—जो योगी उदर के वध करने योग्य भोगलेश समाधि से दूर होता है, योग से अपक्व हस्त, हृदय, मन, मुख, नेत्र, नासिका और बुद्धि का जो गन्धमात्र भी है, काम की शामक वृत्तियाँ उन सबको शोभन संस्कारयुक्त करें, देवताओं के योग्य पवित्र करें एवं ब्रह्माग्नि में पकावें ॥ ३३ ॥

उदरस्य ऊवध्यमर्धजीर्णतृणपुरीषं यद् अपवाति अपगच्छति । आमाशयस्थमपक्वमर्धपक्वं भक्षिततृणादिकमूवध्यमुच्यते । आमस्य अपक्वस्य क्रविषो मांसस्य यो गन्धो लेशोऽस्ति, शमितारो विशसितारस्तत्सर्वं सुकृता सुकृतं संस्कृतम्, विभक्तेराकारः, कृण्वन्तु कुर्वन्तु । उतापि च मेधं मेध्यमश्वं शृतपाकं यथा

१. अनुपलब्धा श्रुतिरियम् । मन्येऽत्र श्रुतिशब्देन विनियोजकं प्रमाणं गृहीतं भवेत् । तादृशं वचनं क्वचित् श्रौतसूत्रे स्यादिति ।

भवति, तथा पचन्तु । शृतो देवयोग्यो जातः पाको यस्मिन् कर्मणि तथा पचन्तु । अतिपक्वमीषत्पक्वं च मा कुर्वन्त्वित्यर्थः । उव्वटाचार्यरीत्या यश्च आमस्य अपक्वस्य क्रविषो मांसस्य गन्धोऽस्ति, सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तु सुकृतानि सुसंस्कृतानि दोषरहितानि कुर्वन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापत्यात्मकस्याश्वस्य मेध्यस्य उपासनं शरीरावयवकल्पनया श्रुतौ विहितम् । तथाहि—'ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः । सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य । द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वेऽवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो माꣳसानि । ऊवध्यꣳ सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचन् जघनार्धो तद्विजृम्भते यद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्' (बृ० उ० १।१।१) इति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, उदरस्य यदूवध्यं मलिनमपवाति, य आमस्य क्रविषो गन्धोऽस्ति, तच्छमितारः शान्तिकर्तारः सुकृता सुष्ठु संस्कृतं कृण्वन्तूतापि मेधं शृतपाकं पचन्तु' इति तदपि यत्किञ्चित्, शान्तिकर्तारो मलिनस्य गन्धस्य च किं कुर्युरित्यनुक्तेः ॥ ३३ ॥

यत्ते गात्रा॑दग्निना॑ प॒च्यमा॑नाद॒भिशू॑लं॒ निह॑तस्याव॒धाव॑ति ।

मा तद्भूम्या॒मा श्रि॑ष॒न्मा तृणे॑षु दे॒वेभ्य॒स्तदु॒शद्भ्यो॑ रा॒तम॑स्तु ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वाभिमानी जीव ! जिसके बन्धन नष्ट हुए हैं, ब्रह्माग्नि से पकते ऐसे तुम्हारे शरीर से जो आत्मांशु किसी विषयवासना के कारण रुद्रशूल के सन्मुख दौड़ते हैं, वे पुनर्जन्ममय संसारभूमि का स्पर्श न करें, तृण के समान असार भोगों में आसक्त न हों, हवि चाहने वाले देवताओं के लिये वे समर्पित हों, अर्थात् दिव्य भाव को प्राप्त हों ।। दिव्य शरीर प्राप्त कर देवलोक में जाते हुए अश्व के प्रति यह उक्ति है ।। ३४ ।।

शूले सशेषश्रपणमभिवदत्ययं मन्त्रः । हे अश्व, अग्निना पच्यमानात् तव गात्रात् शरीराद् यद् ऊष्मा रसो वा अवधावति अधस्ताद् गच्छति, तथा निहतस्य निःशेषेण हतस्य तस्य यदङ्गं रसादिकं शूलमभिधावति शूलेन पाके क्रियमाणे यन्निर्गच्छति, तन्निर्गतं भूम्यां मा आश्रिषद् आश्लिषद् आश्लिष्टं माभूत् । श्रिषेः पुषादित्वात् च्लेरङ् । तथा तृणेषु माश्रिषत् विशसनसमये तृणलग्नं मास्तु । किं तर्हि तत्पतितं तृणलग्नं सर्वं देवेभ्यो रातं दत्तमस्तु । कीदृशेभ्यो देवेभ्यः ? उशद्भ्यः, उशन्ति कामयन्ते ये ते उशन्तः, तेभ्यो हविः कामयमानेभ्यो देवेभ्यः, शत्रन्तम् ।

अध्यात्मपक्षे—वैदिकविधानबलाद् मन्त्रबलाच्च प्रजापतिदृष्ट्या दृष्टस्य प्रजापतिदैवतस्याश्वमेधीयस्याश्वस्य सर्वाण्यङ्गानि रसादिकं च देवेभ्यो गच्छति । सर्वाणि च तत्रत्यान्यवध्यादीन्यपि प्रजापत्यात्मकान्येवेति । मन्त्रार्थस्तु पूर्वोक्त एव ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, निहतस्य निश्चयेन कृतश्रमस्य ते तव अग्निना अन्तःकरणरूपेण तेजसा पच्यमानाद् गात्राद् यच्छूलं शु शीघ्रं लाति बोधं गृह्णाति, येन तद्वचनमभ्यधावति, तद् भूम्यां माश्रिषत् तत्तृणेषु माश्रिषत्, किन्तु तच्चोशद्भ्यो देवेभ्यो रातमस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बलात्कारेणार्थान्तराश्रयणात्, ह्रस्वशुशब्देन दीर्घशूलशब्दानिष्पत्तेः, लातेः कर्मानिर्देशात्, विपरीतस्यापि सुवचत्वात् । न चाग्निपदमन्तःकरणपरम्, तस्याहङ्कारिकत्वात्, वेदान्तिरीत्या पाञ्चभौतिकत्वाच्च । न च निहतपदमपि कृतश्रममनुष्यपरम्, धात्वर्थप्रातिकूल्यात् । न च वाक्यस्य भूम्या तृणैर्वा संश्लेषः प्रसक्तः, येन तन्निषिद्धयेत । तस्मादुपेक्षणीयमेव तत् ॥ ३४ ॥

ये वा॒जिनं॑ परि॒पश्य॑न्ति प॒क्वं य ई॑मा॒हुः सु॑र॒भिर्निर्ह॒रेति॑ ।
ये चार्व॑तो मा॒ꣳसभि॒क्षामु॒पास॑त उ॒तो तेषा॑म॒भिगू॑र्तिर्न इन्वतु ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—जो ऋत्विक्‌गण ब्रह्माग्नि में परिपक्व अश्वाभिमानी जीव को देखते हैं, जो परा शक्ति को कहते हैं कि यह पाक श्रेष्ठ हुआ है, इसे आप ग्रहण कीजिये, जो देवता अश्वाभिमानी शुद्ध जीवात्मा की स्वरूप-भिक्षा को चाहते हैं, उनका भी संकल्परूप उद्यम हमें तृप्त करे ॥ ३५ ॥

ये जनाः पक्वं सन्तं वाजिनं वेगवन्तमश्वं परिपश्यन्ति, अयं पक्व इति परितो जानन्ति, ईमित्यव्ययं चार्थे, ये च एनं सुरभिः सुगन्धोऽयं परिपक्वो जातः, अतो निर्हर अग्नेः सकाशाद् उत्तारयेत्येवं य आहुः कथयन्ति, ये च जना अर्वतोऽश्वस्य मांसभिक्षामुपासते हुतशिष्टमांसयाच्ञां कुर्वते, उतो अपि च तेषां पाकनिर्हरणयाच्ञादिकर्तॄणां जनानामभिगूर्तिरुद्यमो नोऽस्मानिन्वतु प्रीणातु। यद्वा ये देवाः पक्वं वाजिनं परिपश्यन्ति कदा होष्यतीति प्रतीक्षन्ते, ये च विलम्बं दृष्ट्वा सुरभिः पाको जातः, अस्मभ्यं निर्हर देहीत्याहुः, ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासते मांसयाच्ञां कुर्वते, तेषामभिगूर्तिस्तादृशः सङ्कल्पोऽस्मान् प्रीणातु साफल्यमासाद्य अस्मान् कृतार्थयत्वित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—देवेभ्यो यन्निवेद्यते शास्त्रविधिना भक्त्या च यत्संस्क्रियते, देवा अपि तत्कामयन्ते। किं बहुना, प्रतीक्षन्ते याचन्ते भिक्षां च लिप्सन्ते। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥' (९।२६) इति गीतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु—'येऽर्वतो मांसभिक्षामुपासते, येऽश्वमीं प्राप्तं हन्तव्यमाहुः, तान्निर्हर दूरे प्रक्षिप। ये वाजिनं पक्वं परिपश्यन्ति, उतोऽपि तेषां सुरभिरभिगूर्तिर्न इन्वतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारसापेक्षत्वात्, उक्तरीत्याऽध्याहारमन्तरापि मन्त्रार्थोपपत्तेः, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च, अश्वमेधे यागेऽश्वस्य हविःप्रकृतित्वेनैवोपयोगस्य तत्र तत्र वर्णितत्वात् ॥ ३५ ॥

यन्नीक्ष॑णं मा॒ꣳस्पच॑न्या उ॒खाया॒ या पात्रा॑णि यू॒ष्ण आ॒सेच॑नानि ।
ऊ॒ष्म॒ण्या॒पि॒धाना॑ च॒रूणा॑म॒ङ्काः सू॒नाः परि॑भूषन्त्यश्व॑म् ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—जीव के कर्मों के परिपक्व होने की पात्रता रखने वाला आत्मा दिव्य दृष्टि से अपने स्वरूप का जो दर्शन करता है, ज्ञानामृत रूप रस को रखने की पात्रता वाली जो इन्द्रियाँ हैं, जीव-शक्ति से परिपूर्ण पात्ररूप कमलों के ऊष्मा-धारक जो प्राणायाम रूप ढक्कन हैं, उन कमलों में देवताओं के जो स्वरूप स्थित हैं, जीवोपाधि के नाशक जो ज्ञान आदि हैं, वे सब अश्वाभिमानी जीव को शोभित करते हैं ॥ ३६ ॥

एतानि वक्ष्यमाणानि सर्वाण्येनमश्वं परिभूषन्ति स्वव्यापारेणाश्वमलङ्कुर्वन्ति। 'भूष अलङ्कारे' भ्वादिः। कानि तानीत्याह—मांस्पचन्या मांसं पच्यते यस्यां सा मांस्पचनी तस्या मांसपाकाधिकरणभूताया उखायाः स्थाल्या यन्नीक्षणं नितरामवलोकनम्। यद्वा—यन्नीक्षणं नितरामीक्ष्यते शृताश्च तव सम्बन्धिनोऽर्था इति येन दध्यादिना तन्नीक्षणम्। मांस्पचन्या इत्यत्र 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३।३।११७) इति ल्युट्। 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुङ्काममनसोरपि। समो वा हिततततयोर्मांसस्य पचि युड्घञोः ॥' इतीष्ट्या मांसशब्दस्याकारलोपे, 'टिड्ढाणञ्' (पा० सू० ४।१।१५) इति ङीप्, प्रातिपदिकत्वेन ङस् विभक्तिः, ततो रूपसिद्धिः।

तथा यूष्णो वसायाः पक्वरसस्य वा आसेचनानि, आसिच्यते येषु तानि, आरोचनसाधनानि या यानि पात्राणि। 'पद्दन्नो' (पा० सू० ६।१।६३) इति यूषशब्दस्य यूषन्नादेशः। यानि च चरूणां मांसपूर्णपात्राणामपिधाना अपिधानान्याच्छादनपात्राणि। कीदृशानि तानि ? ऊष्मण्या ऊष्मण्यानि, ऊष्माणं धारयन्ति यानि तानि। धारणार्थे छान्दसो यः प्रत्ययः। आच्छादनेनोष्मा बहिर्न याति। तथा ये च अङ्काश्चिह्नसाधनानि हृदयाद्यवयवज्ञापकानि वेतसमयानि। शरीरवचनोऽङ्कशब्दः, सूना विशसनकरणभूताः स्वधित्यादयः, एतानि सर्वाणि परिभूषन्त्यश्वमलङ्कुर्वन्ति।

अध्यात्मपक्षे—अश्वमेधयज्ञस्य यानि कानिचिदप्यश्वसम्बन्धीनि कर्माणि, तानि सर्वाण्यपि परिभूषयन्त्यश्वम्, पारम्पर्येणापि भगवत्सम्बन्धिनां भगवदात्मत्वापत्तेः सौलभ्यात्। मन्त्रार्थस्तु पूर्वोक्त एव।

दयानन्दस्तु 'या ऊष्मण्या पिधाना सेचनानि पात्राणि, यन्मांस्पचन्या उखाया नीक्षणं चरूणामङ्काः सूनाः यूष्णोऽश्वं परिभूषन्ति, तानि स्वीकर्तव्यानि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। अपिधानान्यासेचनानि मांस्पचन्या उखाया नीक्षणं चरूणामङ्काः कथमश्वं भूषयन्तीत्यनुक्तेः॥ ३६॥

मा त्वाग्निर्ध्वनयीद् धूमगन्धिर्मोखा भ्राजन्त्यभिविक्त जघ्रिः।
इष्टं वीतमभिगूर्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रतिगृभ्णन्त्यश्वम्॥ ३७॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वाभिमानी जीव! प्राण की गन्ध रखने वाला ब्रह्माग्नि तुमसे अहंकार-ममकार की ध्वनि न करावे, दीप्तिमान् गन्ध का ग्रहण करने वाला आत्माग्नि पाप कर्म से चलित न हो, उस विशेषताप्राप्त निरन्तर संकल्पित प्रिय वषट्कार से संस्कृत अश्वाभिमानी जीव को दिव्य शक्तियाँ प्राप्त हों॥ ३७॥

हे अश्व, त्वा त्वामग्निर्मा ध्वनयीद् मा शब्दं कारयेत्। ध्वनिः शब्दकर्मा। 'नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः' (पा० सू० ३।१।५१) इति ण्यन्ताच्चङ्प्रतिषेधः, 'ह्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्' (पा० सू० ७।२।५) इति वृद्धिनिषेधश्च। कीदृशोऽग्निः? धूमगन्धिः, धूमस्य गन्धो लेशो यत्रासौ धूमगन्धिः, 'अल्पाख्यायाम्' (पा० सू० ५।४।१३६) इति गन्धस्येकारोऽन्तादेशः। 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः, अल्पधूमवानिति यावत्। मांसं हि पचन्नग्निर्दहन्नप्यल्पधूमावरणो भवति। तच्च दह्यमानं सिमसिमाशब्दं करोति, अतस्तथोच्यते। या च उखा स्थाली भ्राजन्ती सन्दीपिता अत्यन्ताग्निसंयोगेन मा अभिविक्त मा चलतु। 'ओविजी भयचलनयोः' इति धातोर्लुङि तङि, 'झलो झलि' (पा० सू० ८।२।२६) इति सिचः सकारलोपे रूपम्, 'न माङ्योगे' (पा० सू० ६।४।७४) इत्यडभावः। अभिविक्त अभिनष्टा विदीर्येत वा। कम्भूता उखा? जघ्रिः, जिघ्रति गन्धं गृह्णातीति जघ्रिः। 'आदृगमहन' (पा० सू० ३।२।१७१) इति किन्प्रत्ययः, लिड्वद्भावश्च, गन्धग्रहणशीला। ननु कथमचेतनोखा गन्धं जिघ्रतीति चेत्, अधिष्ठात्रीणां देवतानामिह विवक्षितत्वात्। इष्टं योगेन सङ्गतीकृतं वीतं कामितमभिगूर्तमभ्युद्यतं वषट्कृतं चादानकाले। यद्वा इष्टं प्रयाजैर्वीतम् आप्रीभिः पर्यग्निकृतम्, अभिगूर्तं ये यजामह इत्यभिगूर्त्योक्तम्, वषट्कृतं वषट्कारेण संस्कृतम्, तं तादृशमश्वं देवासो देवाः प्रतिगृभ्णन्ति प्रतिगृह्णन्ति।

अध्यात्मपक्षे—एवंभावनया मन्त्रैस्तत्संस्कारैश्च संस्कृतमश्वं प्रजापत्यादयो देवाः प्रतिगृह्णन्ति। सर्वं चैतत् साध्यसाधनात्मकमश्वमेधकर्म प्रजापतिरूपमेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा देवासो यमिष्टं वीतमभिगूर्तमभितः कृतोद्यमं वषट्कृतमश्वं प्रतिगृह्णन्ति, तं यूयमभिविक्त। त्वा तं धूमगन्धिरग्निर्मा ध्वनयीत् तं जघ्रिः, जिघ्रति यस्याः सा भ्राजन्त्युखा, मा ध्वनयीत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्पष्टत्वात्। यच्च भावार्थे—हे मनुष्याः, यथा विद्वांसो मांसाहारिणो निवार्याश्वादीनां वृद्धिं रक्षां कुर्वन्ति, तथा यूयमपि कुरुत, अग्न्यादिविघ्नेभ्यः पृथग् रक्षत' इति, तत्तु सर्वथापि मन्त्राक्षरासम्बद्धमेव ॥ ३७ ॥

निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च पड्वीशमर्वतः।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—अश्वाभिमानी जीव की जो पाद-विक्षेपरूप गति है, इन्द्रिय रूपों से रूपान्तरित जो स्थिति है, जो गति-निरोध है, जो कुछ उसने पान किया है, अन्न का भक्षण किया है, वे सब विविध गतियाँ देवताओं के लिये समर्पित हों॥ ३८ ॥

यन्निष्क्रमणं नितरां क्रमते यत्र तन्निष्क्रमणस्थानम्। निषदनं नितरां सीदत्यस्मिन्निति निषदनम् उपवेशनस्थानम्। विवर्तनं विविधं वर्तते यत्र यद् भ्रमणम् इतस्ततो लुण्ठनस्थानम्। अत्र सर्वत्राधिकरणे ल्युट्। यच्चार्वतोऽश्वस्य पड्वीशं पादेषु विशतीति पड्वी, पड्वीशं पादबन्धनम्। निक्रमणादयः शब्दाः क्रियापरा वा। आलम्भसमये यान्यश्वस्य निक्रमणादीनि चेष्टितानि, यच्च पपौ यज्जलं पीतवान्, यच्च घासिमदनीयं तृणादिकं जघास भक्षितवान्, हे अश्व ! ता तानि सर्वाणि ते तव निक्रमणादीनि देवेषु, अस्तु सन्तु। देवार्थस्याश्वस्य कानिचिदपि चेष्टितानि निरर्थकानि मा भूवन्नित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे देवतोद्देश्येन समर्पितानि वस्तूनि सामस्त्येन देवतात्मभावमुपगच्छन्ति। व्याख्यानं तु पूर्वोक्तमेव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यत्तेऽर्वतो निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च पड्वीशं यच्चायं पपौ यच्च घासिं जघास, ताः सर्वा युक्त्या सन्तु, तद्देवेष्वप्यस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारमूलकत्वात्, तत्सर्वं निन्द्यमित्यध्याहारेण त्वद्भाष्यस्य त्वत्खण्डनपरत्वेन योजयितुं शक्यत्वाच्च ॥ ३८ ॥

यदश्वाय वास उपस्तृणन्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै।
सन्दानमर्वन्तं पड्वीशं प्रिया देवेष्वायामयन्ति ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—इस अश्वाभिमानी जीव के निमित्त जो देहाच्छादक रूप त्वगिन्द्रिय है, जो अन्य ज्योतीरूप इन्द्रियाँ हैं, जो सिर में स्थित ज्ञानेन्द्रियों का निरोध है, जो गतियों का निरोध है, उन सबको ऋत्विक्गण देवताओं को अर्पित करते हैं, उन प्रिय इन्द्रियों को और अश्वाभिमानी जीव को हम देवताओं के लिये समर्पित करते हैं ॥ ३९ ॥

यदश्वाय संज्ञप्यमानाय वासो वस्त्रमुपस्तृणन्ति सर्वत आच्छादयन्ति, यच्चाधीवासमुपर्याच्छादनयोग्यं वास उपस्तृणन्ति, या यानि हिरण्यानि सौवर्णशकलान्यस्मै अश्वाय उपस्तृणन्ति, तथा अर्वन्तम् अर्वते, विभक्तिव्यत्ययः, अश्वायेति सामानाधिकरण्यात्। षष्ठ्यर्थे वा द्वितीया। यच्चार्वतोऽर्वते वा सन्दानं सन्दीयतेऽनेनेति सन्दानं शिरोबन्धनम्, पड्वीशं पादबन्धनम्, प्रिया प्रियाण्येतानि सर्वाण्यश्वस्य वस्तूनि ऋत्विजो देवेष्वायामयन्ति आगमयन्ति।

अध्यात्मपक्षे - सर्वात्मकप्रजापतिदेवत्यत्वेन अश्वस्य सर्वाण्यपि प्रियाणि देवेषु गमितानि सर्वात्मभावमुपगच्छन्तीति । अन्यत् पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यावन्तोऽस्मा अश्वाय यद्वासोऽधीवासं सन्दानं या हिरण्यानि उपस्तृणन्ति, यं पड्वीशं पद्भिर्विशन्तमर्वन्तमायामयन्ति, तानि सर्वाणि देवेषु प्रियाः सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वासाधीवासादीनां यस्याश्वस्तस्य प्रीतिकरत्वेऽपि विद्वत्सु प्रीतिकरत्वे हेत्वभावात्, देवपदेन विशिष्टशक्तिमन्तो जातिविशिष्टा देवाः, न मनुष्या इति भूमिकायां साधितत्वाच्च, वासाधीवासादिशब्दानां त्वदुक्तार्थबोधकानामाच्छादकत्वायोगात् ॥ ३९ ॥

यत्ते सादे महसा शूकृतस्य पार्ष्ण्या वा कशया वा तुतोद ।
स्रुचेव ता हविषो अध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वाभिमानी जीव ! तुम जब लक्ष्मी-नारायण के द्वारा रचित विषयों की ओर बढ़ते हो, तब कामदेव अपने बल से, एड़ी (ठोकर) या चाबुक मार कर तुम्हें शिक्षा देता है ! तुम्हारी उस सारी पीड़ा को योगयज्ञ और मधुर वाणी द्वारा मैं उसी प्रकार दूर करता हूँ, जैसे स्रुक् पात्र द्वारा हवन के निमित्त आहुतियाँ दी जाती हैं ॥ ४० ॥

हे अश्व ! यत् ते तव सादे सीदन्त्यस्मिन्नश्वारोहिण इति सादोऽश्वपृष्ठम्, तस्मिन्नवस्थितोऽश्ववारो महसा महत्त्वेनान्वितः सन् शूकृतस्य, शब्दानुकरणमेतत्, शूत्कारं कुर्वतो महसा बलेनान्वितस्य तव । अश्वेन वा सम्बद्ध्यते, पार्ष्ण्या पादमूलाधोभागेन कशया वा तुतोद व्यथयामास पीडितवान्, अध्वरेषु ता सर्वा तानि सर्वाणि ते तव पार्ष्णिकशाघातादीनि ब्रह्मणा मन्त्रेणाहं सूदयामि क्षारयामि, 'षूद क्षरणे' चुरादिः, यज्ञे आहुतित्वेन कल्पयामि । तत्र दृष्टान्तः—हविषः स्रुचेव, हविराज्यादिकं यथा स्रुचा जुह्वा सूदयामि तद्वत्, विभक्तिव्यत्ययः, एकं 'ता' पदं पादपूरणार्थम् ।

अध्यात्मपक्षे पार्ष्णिकशाघातादिकमनिष्टमपि प्राजापत्याश्वसम्बन्धादाहुतित्वेन सङ्कल्पादश्वस्य यजमानस्य देवानां च प्रियकरं भवति, किमुत तेन देवानामिज्यया प्रियसम्पत्तौ वक्तव्यम् ।

दयानन्दस्तु —'हे विद्वन्, ते सादे महसा शूकृतस्य शीघ्रं शिक्षितस्य कशया वा तत् पार्ष्ण्या वा तुतोद, ता तान्यध्वरेषु हविषः स्रुचेव करोषि, ता सर्वा ते ब्रह्मणाहं सूदयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, करोतेः शिक्षणार्थत्वे मानाभावात् । न वा पार्ष्णिपदस्य पर्शुरर्थः, कोषनिरुक्तादेस्तत्रासाक्ष्यात् । 'पुमान् पार्ष्णिस्तयोरधः' (अ० को० २।६।७२) इत्यमरसिंहः, 'पार्ष्णिः स्त्रीपुंसयोः पादमूले स्याद् ध्वजिनीकटौ' इति रन्तिदेवश्च सैद्धान्तिकमेवार्थं ब्रूतः । त्वदीयार्थे पार्ष्ण्येति तृतीयानुपपत्तिः, निर्मूलव्यत्ययापत्तिश्च ॥ ४० ॥

चतुस्त्रिꣳशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति ।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या विशस्त ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—ज्ञान रूपी खड्ग वेगवान् देवताओं के प्रिय इस अश्वाभिमानी जीव की मन सहित ग्यारह इन्द्रियों, दस प्राणों, दस विषयों और जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं—इस प्रकार इन चौंतीस बन्धनों के छेदन के निमित्त प्राप्त होता है । हे ज्ञानचक्षु ! ब्रह्मज्ञान के द्वारा अश्वाभिमानी जीव के अङ्गों को छिद्रहीन करो और प्रत्येक अंग की उपाधियों का अपने मधुर उपदेशों के द्वारा नाश करो ॥ ४१ ॥

वाजिनः, वजति वेगेन गच्छतीति वाजी, तस्य। देवबन्धोः, बध्नाति प्रेम्णेति बन्धुः, देवानां बन्धुः, देवा वा बन्धवो यस्य स देवबन्धुः, तस्य। भाविनीं वा वृत्तिमाश्रित्य देवबन्धुशब्दः प्रयुक्तः। भविष्यत्ययं देवबन्धुर्देवप्रियः, तस्य देवबन्धोरश्वस्य। ईदृशेऽर्थे महाकवेः कालिदासस्य रघुवंशे प्रयोगः—'वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे' (१४।३३) इति। चतुस्त्रिंशद् वङ्क्रीश्चतुस्त्रिंशत्संख्याकान्युभयपार्श्वस्थान्यस्थीनि, स्वधितिः स्वं धियतीति स्वधितिः पशुच्छेदनसाधनोऽसिः, समेत्येकमित्यविभक्तावयवमिति कृत्वा छेदनाय सम्यगागच्छति। अश्वस्य चतुस्त्रिंशद्वङ्क्रयः, अजादीनां षड्विंशतिः। अतो हे शमितारः, वयुना वयुनेन ज्ञानेन अश्वस्य गात्रा गात्राणि अच्छिद्रा अच्छिद्राणि छिद्ररहितानि यूयं कृणोत कुरुत। स्वधितिना छिन्नानि सच्छिद्राणि वर्तन्ते, तान्यच्छिद्राणि कुरुत, ब्रह्मणः सङ्कल्पेन व्यङ्गकर्मप्रतिसन्धानस्मरणात्। तथा च श्रीमद्भागवतम्—'यत्तत्कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत्' (८।२३।१४)। किञ्च, परुष्परुः प्रतिपर्व प्रत्यवयवं हृदयाद्यङ्गमनुघुष्य इदमिदमिति नाम्ना संशब्द्य यूयं विशस्त छेदनं कुरुत। 'ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी' (अ० को० २।४।१६२) इत्यमरः। 'नित्यवीप्सयोः' (पा० सू० ८।१।४) इति द्वित्वम्। 'शसु हिंसायाम्' इत्यस्य छान्दसे शपो लोपे विशस्तेति रूपम्। अनुघुष्या अनुघुष्य घु'षिरविशब्दने' इत्यस्मात् क्त्वो ल्यप्।

अध्यात्मपक्षे—देवतोद्देश्येन विशसनमपि कल्याणकरम्, 'न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ इदेषि' (वा० सं० २५।४४), 'हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकमेष्यतीति' (ऐ० ब्रा० २।३) इत्यादिवचनेभ्यः सत्सङ्कल्पेन स्वधितिना कृतानि छिद्राण्यच्छिद्राणि भवन्तीति। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाश्वशिक्षको देवबन्धोर्वाजिनोऽश्वस्य चतुस्त्रिंशद्वङ्क्रीः समेत्याच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोतु, तस्य परुष्परुरनुघुष्य स्वधितिरिव रोगान् यूयं विशस्त' इति, तदपि छद्मैव, रोगानित्यस्याश्रुतस्याध्याहारात्। चतुस्त्रिंशत् शिक्षणानीत्यपि निर्मूलमेव। श्रुतहान्यश्रुतकल्पने च प्रसज्येयाताम्॥ ४१॥

एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथ ऋतुः।
या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ता ता पिण्डानां प्र जुहोम्यग्नौ॥ ४२॥

मन्त्रार्थ—दीप्तिमान् अश्वाभिमानी जीव को अमर पद का दाता एक तो प्रारब्ध कर्मों का समाप्ति काल है—तथा इसके नियमन कर्ता दो हैं—प्रकृति और पुरुष। तुम्हारी आत्मा में एकत्व को प्राप्त हुए अंगों के जिन आवरणों को मैं काटता हूँ, प्रारब्ध कर्म का समाप्ति काल आने पर उन आवरणों को ज्ञानाग्नि में होम देता हूँ॥ ४२॥

त्वष्टुः, त्विष्यते दीप्यत इति त्वष्टा, 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ' (उ० २।९७) इति निपातनात् साधुः। यद्वा त्विषेस्तृनि 'त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधायाः' (पा० सू० ३।२।१३५, वा० ३) इति वार्त्तिकेनोपधाया अकारे विहिते साधुः, तस्य। आदित्यादुत्पन्नत्वात् तद्रूपस्य, 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' (वा० सं० २९।१३) इति मन्त्रवर्णात्। तादृशस्य अश्वस्या अश्वस्य एक ऋतुः, ऋतूपलक्षितः संवत्सरात्मा प्रजापतिः, विशस्ता विशसनकर्ता, शसेस्तृच्, 'संवत्सरस्य तेजसा' (वा० सं० २३।४०) इति मन्त्रवर्णात्। तथा अस्य अश्वस्य यन्तारा यन्तारौ नियन्तारौ द्वा द्वौ द्यावापृथिव्यधिष्ठातारौ, तयोरेव सर्वनियन्तृत्वात्। तथ ऋतुः 'ऋत्यकः' (पा० सू० ६।१।१२८) इति ह्रस्वप्रकृतिभावौ। एवमश्वस्य विशसितृयन्तॄनुक्त्वाध्वर्युः स्वकर्माह—हे अश्व, ते तव गात्राणां गात्रसम्बन्धिनां पिण्डानां मांसपिण्डानां वा या या यानि यान्यङ्गान्यहं कृणोमि छिनद्मि, ऋतुथा ऋतूपलक्षिते वसन्तादौ यज्ञकाले ता ता तानि तान्यङ्गानि प्रकर्षेण हुतानि करोमि।

अध्यात्मपक्षे—व्यष्टिजीवकर्मणामपि समष्टिजीवात्मकप्रजापतिकर्तृकत्वमेव, मनुष्य-पशु-पक्ष्यादयोऽपि द्यावापृथिवीभ्यामुत्पन्नत्वात् तन्नियन्त्रिता एव। यथा मनुष्यादयो न भौतिका एव, किन्तु चैतन्याधिष्ठिताः, तथैव द्यावापृथिव्योरपि विशिष्टचैतन्याधिष्ठितत्वम्। विशिष्टचैतन्यं चेश्वरकोटिप्रविष्टम्। व्याख्यानं पूर्वोक्तमेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथैक ऋतुस्त्वष्टुरश्वस्य विशस्ता भवति। यौ द्वौ यन्तारौ भवतस्तथा या ते गात्राणां पिण्डानामृतुथा वसून्यहं कृणोमि, तानि तान्यग्नौ प्रजुहोमि' इति, तदप्यसम्बद्धमेव, पदार्थाननुगमात्, ऋतोः कथमेकस्याश्वस्य भेदकत्वमित्यनुक्तेश्च। कौ द्वौ यन्तारा इत्यपि नोक्तम्, मनुष्यगात्राणां पिण्डानां वसूनि कोऽग्नौ किमर्थं जुहोति? इत्यस्य सर्वस्य प्रमत्तप्रलपितत्वमेव। 'यथाश्वशिक्षया प्रत्युत्वश्वान् सुशिक्षयन्ति तथा गुरवो विद्यार्थिनां चेष्टाकरणानि शिक्षयन्ति, यथाग्नौ पिण्डान् हुत्वा वायुं शोधयन्ति, तथा विद्याग्ना अविद्याभ्रमान् हुत्वात्मनः शोधयन्ति' इति भावार्थस्तु दूरतोऽपि मन्त्राक्षराणि न स्पृशति॥ ४२॥

मा त्वा॑ तपत्प्रि॒य आ॒त्मा पि॒यन्तं॒ मा स्वधि॑तिस्त॒न्व॒ आ ति॑ष्ठिप॒त्ते।

मा ते॑ गृ॒ध्नुर॑विश॒स्ताति॒हाय॑ छि॒द्रा गात्रा॑ण्य॒सिना॒ मिथू॑ कः॥ ४३॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वाभिमानी जीव! तुम्हारा प्रिय मन परा शक्ति में जाने वाले तुमको दुःखी न करे, ज्ञानखड्ग तुम्हारे भोगायतन शरीर की स्थिति को काट दे, लोभी मन तुम्हारे हस्त, पाद आदि इन्द्रिय रूप अंगों को त्याग कर ज्ञानखड्ग से मिथ्या छिद्रों को न करे॥ ४३॥

हे अश्व, प्रियोऽभीष्टो भोगायतनत्वात् तव आत्मा देहः प्राणो वा त्वा त्वां विज्ञानात्मानं सुखदुःखयोर्भोक्तारं मा तपत् तप्तं दुःखितं मा कार्षीत्, देहवियोगजनिता व्यथा तव भोक्तुर्मा भूदित्यर्थः। कीदृशं त्वाम्? देवानां पियन्तम्, देवलोकगमनाय प्रवृत्तम्। अथवा अपियन्तम्, अप्येतीत्यपियन् अपिपूर्वादितेः शता तम्, देवभावं प्राप्नुवन्तम्। भागुरिमतेन अवोरुपसर्गयोरल्लोपरीत्या पियन्तमिति रूपम्। किञ्च, स्वधितिः स्वधितिः शस्त्रं ते तव तन्वस्तनूरङ्गानि मा आतिष्ठिपद् मा स्थापयतु, सर्वाण्यङ्गानि छित्वा देवेभ्यो ददात्वित्यर्थः। तिष्ठतेर्ण्यन्तस्य लुङि चङि 'तिष्ठतेरित्' (पा० सू० ७।४।५) इतीकारे कृते द्वित्वादि। किञ्च, शमिता ते तव गात्राण्यङ्गान्यतिहाय त्यक्त्वा शास्त्रोक्तक्रमं त्यक्त्वा असिना शासेन मिथुर्मिथ्या छिद्रा छिद्राणि अथवा छिन्नानि मा कः, मा कार्षीत्। करोतेर्लुङि 'मन्त्रे घसह्वर' इत्यादिना च्लेर्लुकि 'हल्ङ्याभ्यो दीर्घात्·····' (पा० सू० ६।१।६८) इति तिपो लोपे विसर्गः। मिथु इति मिथ्यार्थेऽव्ययम्। संहितायां दीर्घः। कथम्भूतः शमिता? अविशस्ता विशसनेऽकुशलः। पुनः कथंभूतः? गृध्नुः, गृध्यतीति गृध्नुः, 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' (पा० सू० ३।२।१४०) इति क्नुः, गर्धनः केवलं मांसग्रहणेच्छुः। शमिता शास्त्रदृष्टिरगर्धनोऽन्यथा माच्छिदत्, एकादशावदानानि सम्यक् करोत्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अज्ञानलोभविवर्जिताः शास्त्रज्ञाः शास्त्रतत्परा एव यजमानर्त्विज उपासनापूर्वकाणि कर्माण्यनुष्ठायाविद्यया मृत्युं तीर्त्वा उपासनारूपया विद्यया अमृतत्वमश्नुवन्ति। अक्षरार्थस्तु पूर्वोक्त एव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, ते प्रियः, यः प्रीणाति कामयत आनन्दयति वा आत्मा स्वरूपम् अपियन्तं त्वा त्वामतिहाय मा तपत्, स्वधितिस्ते तन्वो मातिष्ठिपत्, ते छिद्राण्यविशस्ता गृध्नुर्मातिष्ठिपत्, असिना मिथुर्मा कः कुर्यात्' इति, तदप्यसङ्गतम्, प्रियस्य आत्मनः स्वरूपत्यागस्याशक्यत्वेनाप्रसक्तत्वात्। स्वधितेरत्यङ्गे स्थितिरप्राप्तैवेति व्यर्थ एव तन्निषेधः। गृध्नुरपि धनं वाञ्छति, न शरीरे स्वधितिस्थितिमिति तदपि निरर्थकमेव।

'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर.' (बृ० उ० १।१।१) इत्यारभ्य बृहदारण्यकेऽश्वमेधीयाश्वविषयं दर्शनमुपासनमुक्तम्। तत्र यज्ञेऽश्वस्य प्राधान्यम्। तच्च तन्नामाङ्कितत्वात्, प्राजापत्यत्वाच्च। तत्र 'उषा' इति ब्राह्मो मुहूर्तः। स च प्रसिद्धः कालः। अश्वस्य शिरः कालात्मके प्रजापतौ ब्राह्ममुहूर्तरूपस्योषसः प्राधान्यम्, शिरसश्च शरीरावयवानां प्राधान्यम्। तस्मान्मेध्यस्य मेधार्हस्याश्वस्योषा शिर इति सम्बन्धः। कर्माङ्गस्य पशोः संस्कर्तव्यत्वात् तस्य शिरआदिषु उषःकालादिदृष्टयः कर्तव्याः। प्रजापतिदृष्ट्यध्यारोपणाच्च तस्य प्राजापत्यत्वम्। काललोकदेवतात्वाध्यारोपणं च पशोरश्वस्य प्रजापतित्वकरणम्। यथा शालग्रामादौ विष्णुत्वादिकरणमिति तद्वत्। यथा शालग्रामादि विष्ण्वादिदृष्ट्योपास्यते, तथैवायमश्वमेधीयोऽश्व कालदृष्टया संवत्सरात्मककालरूपेण, लोकदृष्टया सर्वलोकात्मरूपेण, देवतादृष्टया प्रजापतिरूपेण चोपास्यते। सूर्यश्चक्षुः शिरसोऽनन्तरत्वात् सूर्यदेवत्यत्वाच्चाश्वस्य चक्षुः सूर्यरूपेणोपास्यम्। वातः प्राणः, तस्य प्राणे समष्टिवातदृष्टिः कर्तव्या, उभयोर्वायुस्वाभाव्यात्। अश्वस्य व्यात्तं विवृतं मुखमग्निर्वैश्वानरः, वैश्वानरनामाग्निरश्वस्य विवृतं मुखमिति चिन्तनीयम्, मुखस्य अग्निदैवतत्वात्। संवत्सर आत्मा संवत्सरो द्वादशमासस्त्रयोदशमासो वाऽस्याश्वस्य आत्मा शरीरम्। कालावयवानां क्षण-मुहूर्ताहोरात्र-पक्ष-मासानां संवत्सरः शरीरम्, 'मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा' (ऐ० आ० २।३।५) इति श्रुतेः।

अस्य मेध्यस्याश्वस्य द्यौः पृष्ठम्, ऊर्ध्वत्वसामान्यात्। अन्तरिक्षमुदरम्, सुषिरत्वसाम्यात्। नहि साधारणपृष्ठोदरादिकमस्याश्वस्य, किन्तु द्यौः पृष्ठम्, अन्तरिक्षमुदरम्, पृथिवी पाजस्यम्, वर्णव्यत्ययेन दकारस्य जकारः, पादस्यमिति यावत्, मेध्यस्याश्वस्य पादासनस्थानं खुरम्, तस्य खुरे समष्टिपृथिवीदृष्टिः कर्तव्या। पार्श्वे दिशः, पार्श्वयोश्चतस्रो दिशश्चिन्तनीयाः, पार्श्वेन दिशां सम्बन्धात्। ननु पार्श्वयोर्दिशां च संख्यावैषम्यात् कथं पार्श्वयोर्दिशादृष्टिरिति चेन्न, अश्वस्य सर्वमुखत्वोपपत्त्या पार्श्वाभ्यां चतसृणामपि दिशां सम्बन्धात्।

अवान्तरदिश आग्नेय्याद्याः पर्शवः पार्श्वास्थीनि। अत्राप्यस्य प्राङ्मुखत्वे प्रत्यङ्मुखत्वे च दक्षिणोत्तरयोः, तन्मुखत्वे च प्राच्य-प्रतीच्योर्दिशोस्ताभ्यां सम्बन्धसम्भवात्। तेनैव पार्श्वास्थिष्ववान्तरदिशां सम्बन्धः। ऋतवोऽङ्गानि संवत्सरस्य अङ्गभूता ऋतवोऽस्याङ्गानि हस्तपादादीनि, तस्याङ्गेषु ऋतुदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः, अङ्गसाधर्म्यात्। मासाश्चार्धमासाश्चास्य पर्वाणि सन्धयः। मासादीनां संवत्सरसन्धित्वं सन्धित्वसामान्यात्। अस्याङ्गेषु मासादिदृष्टयः कर्तव्याः। अहोरात्राणि युगसहस्राभ्यामेकं प्राजापत्यमहोरात्रम्। बहुवचनात् प्राजापत्य-दैव-पित्र्य-मानुषाण्यहोरात्राण्यश्वस्य मेध्यस्य प्रतिष्ठाः पादाः, प्रतितिष्ठत्येतैरिति प्रतिष्ठाः, अहोरात्रैः कालात्मा प्रतितिष्ठति पादैश्चाश्व इति पादेष्वहोरात्रदृष्टिः कर्तव्या। नक्षत्राण्यस्थीनि शुक्लत्वसामान्यात्। नभो नभःस्था मेघा मांसान्यस्य, अन्तरिक्षस्योदरत्वोक्तेः। तस्य मांसेषु मेघदृष्टिः कार्या। यथा मेघो जलं सिञ्चति, तथैव मांसं रुधिरं सिञ्चतीति सेककर्तृत्वसामान्यात्। तथा च नाश्वस्य मांसास्थ्यादिष्वपि प्राकृतमांसादिदृष्टिः कर्तव्या, किन्तु मेघनक्षत्रादिदृष्ट्यैव तानि द्रष्टव्यानि। ऊवध्यमुरस्थमर्धजीर्णघासाद्यशनं सिकताः, तत्र सिकतादृष्टिः कार्या, विश्लिष्टावयवत्वसाम्यात्। सिन्धवो नद्यो गुदानाड्यः, स्पन्दनसाम्यात्, बहुवचनाच्च। यकृच्च क्लोमानश्च हृदस्याधस्ताद् दक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ, क्लोमान इति दारशब्दवन्नित्यं बहुवचनान्तः शब्दः, पर्वतास्तत्र पर्वतदृष्टिः कर्तव्या, कठिनादुच्छ्रितत्वाच्च। ओषधयः क्षुद्राः स्थावरा लतागुल्मादयः, वनस्पतयो महान्तो वृक्षा वटाश्वत्थादयोऽस्य लोमानि केशाश्च। उद्यन्नुद्गच्छन् आमध्याह्नाद् अश्वस्य पूर्वार्धो नाभेरूर्ध्वमित्यर्थः। निम्लोचन्नस्तं गच्छन् आमध्याह्नाद् अश्वस्य जघनार्धः परार्धः, पूर्वापरत्वसाधर्म्यात्। यद्विजृम्भते गात्राणि विनामयति विक्षिपति तद्विद्योतते, विद्युद्विद्योतनम्, मुखघनविदारणसाम्यात्। यद्विधूनुते गात्राणि कम्पयति तत्स्तनयति गर्जनशब्दसाम्यात्। यन्मेहति तद्वर्षति तस्य मूत्रणे वर्षणदृष्टिः कार्या, कालात्मकत्वाल्लोकात्मकत्वात्

प्रजापतिरूपत्वाच्च। तस्याश्वस्य मूत्रणादिकमपि न लौकिकदृष्टचा द्रष्टव्यम्। वागेव शब्दः, अश्वस्य वागेव वाक्।

'अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमा न्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमा न्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः सम्बभूवतुः' (बृ० उ० १।१।२) सौवर्णराजतौ महिमाख्यौ ग्रहौ सोमग्रहणसाधनौ, अश्वस्याग्रतः पृष्ठतश्च स्थाप्येते। तद्विषयमिदं दर्शनम्। अहः सौवर्णो ग्रहः, दीप्तिसामान्यात् अश्वस्य प्रजापतिरूपत्वात्। स ह्यादित्यलक्षणोऽह्ना लक्ष्यते। अश्वं लक्षयित्वाऽजायत सौवर्णो महिमा ग्रहः। तस्य ग्रहस्य पूर्वे पूर्वः समुद्रे समुद्रः योनिः, विभक्तिव्यत्ययः, योनिरासादनस्थानम्। तथा रात्री राजतो ग्रहः, वर्णसामान्याज्जघन्यत्वसामान्यात्। एनमश्वं पश्चात् पृष्ठतो महिमा न्वजायत। तस्यापरः समुद्रो योनिरासादनस्थानम्। एवं महिमाख्यौ ग्रहौ अश्वमभितः सम्बभूवतुः। इत्थमसावश्वो महत्त्वयुक्त इत्यर्थः॥ ४३॥

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।

हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद्वाजो धुरि रासभस्य॥ ४४॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वाभिमानी जीव ! तुम ब्रह्म हो, निश्चय ही तुम्हारी कभी मृत्यु नहीं होती, तुम कभी हिंसित नहीं होते। तुम सुगम योगमार्ग को सहायता से ब्रह्म की दिव्य शक्तियों को प्राप्त कर सकते हो। जीव और ईश्वर रूप तुम्हारी ज्योति ब्रह्म से युक्त हो जाय, तुम्हारे मन और बुद्धि आत्मा में विलीन हो जाँय, प्राण की धुरी में आत्म-प्रतिबिम्ब स्थित हो जाय॥ ४४॥

'हे अश्व, त्वं यज्ञे संज्ञप्स्यसे नैवैतन्म्रियसे, इतराश्ववत् मृतो न भवसि। वै एवार्थकः, उ निर्धारणार्थकः, अश्वस्य देवत्वप्राप्तेः शास्त्रसिद्धत्वात्। अत एव न रिष्यसि न हिंस्यसे, व्यर्थहिंसाया अभावात्, अहिंसनीयाननुग्राहकप्राणवियोगानुकूलव्यापारत्वाभावात्। ननु मरणमङ्गनाशश्च प्रत्यक्षमेव दृश्यते, कथमेवमपलाप इति चेत्तत्राह—सुगेभिः पथिभिर्देवान् इदेषीति। सुष्ठु गम्यते यत्र ते सुगाः, तैः सुगेभिः सुगैः साधुगमनैः पथिभिर्मार्गैर्देवयानरूपैर्देवान् इद् देवानेव एषि गच्छसि, अतो युक्तमेव नैतन्म्रियसे न रिष्यसीति कथनमित्यर्थः। रिषतेर्यकि 'भावकर्मणोः' (पा० सू० १।३।१३) इत्यस्य जागरूकत्वात् परस्मैपदमार्षम्। देवत्वप्राप्तिप्रकार एवोच्यते—हरी ते युञ्जा इत्यादिना। हे अश्व हरी इन्द्राश्वौ (निघ० १।१५।१) इत्यादेशेन साहचर्यज्ञानार्थमुपयुज्यन्त इत्यादिष्टोपयोजनानि। युञ्जा युञ्जौ तव रथे योजनार्हौ प्रतिधुरौ वोढारौ अभूतां भविष्यतः। 'आशंसायां भूतवच्च' (पा० सू० ३।३।१३५) इति भविष्यदर्थे भूतकालप्रयोगः। तथा पृषती मरुतां सम्बन्धिन्यौ वाहनभूतौ अश्वौ, 'पृषत्यो मरुताम्' (निघ० १।१५।६), तव युञ्जौ अभूतां भविष्यतः। पर्षतीति सिञ्चतीति पृषत्, 'वर्तमाने पृषद्बृहन्मह०' (उ० २। ५) इति निपातितः। युञ्जा युङ्क्त इति युञ्जौ, 'ऋत्विग्दधृक्' (पा० सू० ३।२।५९) इत्यादिना क्विन्, 'युजेरसमासे' (पा० सू० ७।१।७१) इति सर्वनामस्थाने नुमि, 'नश्चापदान्तस्य झलि' (पा० सू० ८।३।२४) इत्यनुस्वारे परसवर्णे च रूपम्, विभक्तेराकारः। किञ्च, रासभस्याश्विवाहनस्य धुरि स्थाने वाजी कश्चिदश्व उपास्थाद् उपस्थास्यति। त्वामागतमुपश्रुत्य स्वयमेव वाजी त्वां वोढुमुपस्थास्यति। एवं संज्ञपनेन देवभावं प्राप्तस्य तव वहनायेन्द्रादयः स्वस्ववाहनानि प्रेषयिष्यन्तीत्यर्थः। तानि दिव्यानि वाहनानि स्वयमेव त्वां वक्ष्यन्तीति वा।

अध्यात्मपक्षे—'एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्। यत्सत्यमनृतेनेह सत्येनाप्नोति मामृतम्॥' (भा० पु० ११।२९।२२) इति श्रीमद्भागवतपद्यानुसारेण क्षणभङ्गुरस्य शरीरस्य मर्त्यस्यामृतत्वप्राप्तौ साधनत्वं सम्पद्यते। देवार्थं यस्य शरीरमुपयुज्यते, *तस्यैतन्मन्त्रव्याख्यानुसारेण* देवत्वप्राप्तिर्भवति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यद्येतद्विज्ञानं प्राप्नोषि, तर्हि न त्वं म्रियसे, न वै रिष्यसि, सुगेभिः पथिभिर्देवानिदेषि। यदि ते पृषती युञ्जा हरी अभूताम्, तर्हि वाजी रासभस्य धुर्युपस्थात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशयोगस्य मन्त्रेऽनुक्तत्वात्। न कोऽपि योगः पूर्वमुक्तः। त्वद्दृष्ट्या देवा मनुष्यानतिरिक्ता इति तत्प्राप्तावपि न मार्गान्तरमपेक्षितम्। न वा स्थूलशरीरावश्वौ भवेतां तदा वाजी अश्वतरधारणं कुर्यात् ॥ ४४ ॥

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुꣳसः पुत्राँ२॥ उत विश्वापुषꣳ रयिम्। अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो वनताꣳ हविष्मान् ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—यह दिव्य भाव को प्राप्त हुआ अश्वाभिमानी जीव हमें श्रेष्ठ गौ, अश्व, पुरुषार्थ साधक पुत्र और सबके पोषण में समथ धन को प्राप्त कराता है, हमें निष्पाप बनाता है। हवि को प्राप्त करने वाले प्रजापति और परा शक्ति हमारे बल को निरन्तर बढ़ाते रहते हैं ॥ ४५ ॥

अथेदानीं याच्ञा क्रियते। वाजी देवत्वं प्राप्तो हयो नोऽस्माकं सुगव्यं गवां समूहो गव्यम्, 'खलगोरथात्' (पा० सू० ४।२।५०) इति यप्रत्ययः, शोभनं गव्यं सुगव्यं गोसमूहं शोभनं कृणोतु करोतु। तथा स्वश्व्यं शोभनमश्वानां समूहं करोतु। 'केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्' (पा० सू० ४।२।४८) इति वैकल्पिको यञ्। तथा पुंसः पुत्रान् कृणोतु। अत्र पुत्रशब्दोऽपत्यपर्यायः, स च दुहितृपुत्रोभयार्थकः। अतो दुहितृव्यवच्छेदार्थे पुंस इति विशेषणम्। यद्वा पुंसः पुरुषार्थसाधकान् पुत्रान् कृणोतु करोतु। उतापि विश्वापुषम्, पुष्णातीति पुषः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः, विश्वस्य सर्वस्य पुषः सर्वजनपोषणसमर्थः, तं तादृशं रयिं धनं करोतु। संहितायां विश्वशब्दस्य छान्दसो दीर्घः। किञ्च, नोऽस्माकमनागास्त्वम्, ईयते प्राप्यते बाधकत्वेनेत्यागः, 'इण आग अपराधे च' (उ० २।२१३) इत्यसुन्यागादेशे च रूपसिद्धिः, नास्त्यागो यस्यासावनागाः, तस्य भावोऽनागस्त्वम्, अनागास्त्वमिति छान्दसो दीर्घः, निष्पापत्वमित्यर्थः। कृणोतु करोतु अश्वः, निरपराधत्वाभावे तादृशफलप्राप्त्यसम्भवात्। किञ्च, अश्वो नोऽस्माकं क्षतत्राणं पुरालम्भनाद्रक्षणं वा वनतां करोतु। कीदृशोऽश्वः ? अदितिः, अदीनोऽखण्डितो वा। पुनः कीदृशः ? हविष्मान् हविरस्यास्तीति हविष्मान् हविर्भूतावयवः। देवत्वप्राप्त्या वा हविष्मान् भूमप्रशस्तहविर्युक्तः, तादृशोऽश्वो नः क्षत्रं वनतां करोतु। पुनः कथंभूतः? अदितिः, नास्ति दितिर्दैन्यं खण्डनं वा यस्य सः। वनतिः करोत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिदेवत्योऽश्वो देवत्वमुपगतो यजमानस्य कामान् पूरयितुं शक्नोति। सर्वपोषणसमर्थधनपुरुषार्थसाधकपुत्राद्यभीष्टवर्षी भवति, मुख्यदेवप्रजापतित्वप्राप्त्या अनैश्वर्यहान्या परमैश्वर्यवत्त्वात्।

दयानन्दस्तु—'यो नो वाजी सुगव्यं सुष्ठु गोभ्यो हितं स्वगव्यं करोति, यो विद्वान् पुंसः पुत्रानुत विश्वापुषं रयिं च प्राप्नोति। यथादितिः कारणरूपेणाविनाशिनी भूमिर्नोऽनागास्त्वं करोति, तथा भवान् कृणोतु। यथा हविष्मानश्वो नः क्षत्रं वनतां सम्भजतां तथा त्वं सेवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्वस्य सुगव्यत्वादिहेतुत्वादर्शनात्। न चाश्वः पुरुषार्थिपुत्रान् जनयन् दृश्यते, न वा विश्वापुषं रयिं सम्पादयन् दृश्यते, न च भूमिरपि जडत्वादनागास्त्वं कर्तुं समर्था, न च प्राणी त्वद्रीत्या व्याप्तिशीलः, त्वया तस्याणुत्वाभ्युपगमात् ॥ ४५ ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः। आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत्। यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—इन समस्त भुवनों को और त्रिदेव रूपधारी नारायण को हमने प्राप्त कर लिया है। ऐश्वर्यवान् अपने परिवार के साथ इन्द्र, विश्वेदेव, बारह आदित्य और मरुद्गण हमारा कल्याण करें। देवराज इन्द्र द्वादश आदित्यों के साथ हमारे यज्ञ की, शरीर की तथा पुत्र आदि प्रजा की रक्षा करें ॥ ४६ ॥

'इमा नु कमिति च द्विपदाः' (का० श्रौ० २०।८।११)। अयस्मय-अश्वलोहितहोमानन्तरमिमा नु कमित्याद्याः षड् द्विपदा जुहोति। इह कण्डिकाद्वये षडर्धानि सन्ति, तैः षडाहुतीर्जुहोतीत्यर्थः। ताः षड् द्विपदा विराजः। तिस्रो वैश्वदेव्यः, तिस्र आग्नेय्यः, आप्तिपुत्रभुवनदृष्टास्तिस्र ऋचः। इमा इमानि, विभक्तेराकारः, भुवना भुवनानि भूतजातानि, वयं सीषधाम साधयामः, स्वायत्तानि कुर्म इत्यर्थः। साधयतेर्लुङि उत्तमपुरुषबहुवचने रूपम्, अडभाव आर्षः। किञ्च, इन्द्र ऐश्वर्यवान् सगणो निजगणैः परिवारैः सहितो देवराजो द्वादशभिरादित्यैरेकोनपञ्चाशत्संख्याकैर्मरुद्भिः सहिता विश्वेदेवाश्च अस्मभ्यं भेषजा भेषजानि औषधानि हितानि करत् कुर्वन्तु। हितपरमत्र भेषजपदम्, सर्वे देवा अस्माकं हितकारिणो भवन्त्विति यावत्। किञ्च, इन्द्र आदित्यैः सह नोऽस्माकं यज्ञमश्वमेधं तन्वं शरीरं प्रजां पुत्रादिकां च सीषधाति साधयतु वश्यं करोतु, नीरोगाः सपुत्रा वयं यज्ञं सम्यक् कुर्म इत्यभिप्रायः। नु कम् एतौ निपातौ पादपूरणार्थौ।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः सगणः साङ्गोपाङ्गः स्वविभूतिभूतैरादित्यैर्मरुद्भिश्च तदंशभूता विश्वे च देवा अस्मभ्यं भेषजानि हितानि करत् कुर्वन्तु। हे देवाः, भवत्प्रसादाद् वयमिमानि भुवनानि सीषधाम वशीकुर्मः। भवद्विभूतिभूत इन्द्रो देवराज आदित्यैस्तदुपलक्षितैः सर्वैर्देवैः सह नोऽस्माकं त्वदाराधनलक्षणं यज्ञमश्वमेधं तन्वं प्रजां च सीषधाति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथेन्द्रश्च विश्वेदेवाश्चेमा विश्वा भुवनानि धरन्ति, यथा वयं कं सुखं नु सद्यः सीषधाम, यथा सगण इन्द्र आदित्यैः सह सर्वांल्लोकान् प्रकाशयति, तथा मरुद्भिः सह वैद्योऽस्मभ्यं भेषजा करत्, यथादित्यैः सहेन्द्रो नो यज्ञं विद्वत्सत्कारादिकं च तन्वं च प्रजां च सीषधाति, तथा वयं साध्नुयाम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तानुपपत्तेः, यथा राजा सर्वे विद्वांसो भुवनानि धरन्ति तथा वयं शीघ्रं सुखं साधयेमेति सादृश्याभावात्। सुखं तु कर्मवशादनायासप्राप्तम्, भुवनधारणं तु प्रयत्नसाध्यम्। न च भुवनानि मनुष्या धारयितुं शक्नुवन्ति, 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' (वा० सं० २५।१०) इति मन्त्रवर्णविरोधोऽपि। वैद्यपदमपि मूले नास्ति। न च सत्काररूपो यज्ञो वेदे विवक्षितः, तस्य लोकतः प्राप्तत्वात्। न च सभापतिस्तन्वं प्रजां च साधयति, तथात्वे तदर्थं प्रयत्नान्तरानुपपत्तेः ॥ ४६ ॥

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः। वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः। तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—हे गार्हपत्य अग्निदेव! आप सदा हमारे पास रहें, हमारा पालन करें और शान्त होकर हमारे पुत्र आदि का रक्षण करें। आप समस्त लोगों के आश्रय स्थान हो, आहवनीय आदि रूपों से गमन करने वाले हो और धनदाता के रूप में तुम्हारा यश सर्वत्र फैला है। हे अग्निदेव, निर्मल स्वभाव होकर आप हमारे हवन स्थान में आवें, अर्थात् जब-जब हम हवन करें, तब प्रत्येक समय हमारी हवनशाला में उपस्थित रहें और अत्यन्त प्रकाशमय द्रव्य हमें दें। हे ज्वालायुक्त सर्वप्रकाशक अग्निदेव, इन सब गुणों से विशिष्ट आपसे हम अपने मित्रों के कल्याण की कामना करते हैं ॥ ४७ ॥

हे अग्ने, त्वं नो अन्तमः, अमति समीपं प्राप्नोतीत्यम्, अतिशयितः अम् अन्तमः, निकटतमः। उतापि त्राता रक्षकः। शिवः शान्तः। भवा भव, संहितायां दीर्घः। वरूथ्यः, वरूथः पुत्रादिसमूहो गृहं वा, तस्मै हितः। वसुर्जनानां वासयिता। अग्निराहवनीयादिरूपेण गतिशीलः, 'अगि गतौ', अङ्गतीत्यग्निः। वसुश्रवा वसुना धनेन श्रवः कीर्तिर्यस्यासौ वसुश्रवाः। हे अग्ने, त्वमच्छानक्षि अस्मानभिव्याप्नुहि। यद्वा— हे अच्छ, स्वच्छस्वभाव ! त्वं नक्षि यज्ञस्थानमागच्छ, 'नक्ष गतौ'। किञ्च, द्युमत्तममतिदीप्तियुक्तं रयिं धनं दा देहि। हे शोचिष्ठ दीप्तिमत्तम, हे दीदिवः सर्वस्य दीपयितः, तं तादृशं त्वा त्वां सखिभ्यः सुम्नाय, द्वितीयार्थे चतुर्थी, सुम्नं सुखं नूनं निश्चयेन ईमहे याजयामहे। यद्वा सुम्नाय सुखार्थम्, सखिभ्योऽस्मत्सखीनामुपकाराय। इमे ऋचे तृतीयेऽध्याये पञ्चविंश्यां षड्विंश्यां च कण्डिकायां व्याख्याते। एवमश्वमेधाख्यं कर्म तदुपासनं च महतेऽभ्युदयाय क्रममुक्तये पारम्पर्येण बुद्धिशुद्धिक्रमेण निःश्रेयसाय च सम्पद्यते।

इति समाप्तोऽश्वमेधः सप्तविंशत्युत्तरवर्षमात्रसाध्यः। तत्र वर्षमात्रं परिभ्रमणमश्वस्य। द्वादश दीक्षाः, द्वादशोपसदः, तिस्रः सुत्या इति सप्तविंशतिदिनैः। अतः परमेकोनत्रिंशेऽध्याये हौत्रमन्त्रा आम्नाताः, 'आश्वमेधिकोऽध्यायः' इति सर्वानुक्रमवचनात् ॥ ४७ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥

षड्विंशोऽध्यायः

अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते मे सन्नमतामदो वायुश्चान्तरिक्षं च सन्नते ते मे सन्नमतामद आदित्यश्च द्यौश्च सन्नते ते मे सन्नमतामद आपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे सन्नमतामदः । सप्त सꣳसदो अष्टमी भूतसाधनी । सकामाँ२॥ अध्वनस्कुरु संज्ञानमस्तु मेऽमुना ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—अग्नि और भूमि भोग के लिये प्राप्त हैं, ये मेरी अमुक अभिलाषा को पूरी करें । वायु और अन्तरिक्ष भी भोग के लिये प्राप्त हैं, वे मेरे लोभ को नियन्त्रित करें । सूर्य और स्वर्ग भोग के लिये प्राप्त हैं, वे मेरे मोह को वशवर्ती बनावें । जल और वरुण भी भोग के लिये प्राप्त हैं, वे दोनों क्रोध को मेरा वशवर्ती बनावें । हे सात अधिष्ठानों (अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, स्वर्ग, जल और वरुण) और आठवीं प्राणियों की आधारभूत भूमि, आप सब हमारे मार्गों को सफल करें, इन सबसे मेरी संगति हो ॥ १ ॥

मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं गरुडध्वजः ।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलायतनो हरिः ॥

इषे त्वेत्यारभ्य दर्शपौर्णमासपितृयज्ञाग्निहोत्रोपस्थानपशुचातुर्मास्याग्निष्टोमवाजपेयराजसूयाग्निचयनसौत्रामण्यश्वमेधसम्बन्धिनो मन्त्रा व्याख्याताः । इदानीं खिलान्युच्यन्ते, क्वचिद्विनियोगाभावात् । एतेषां मन्त्राणां विवस्वान् ऋषिः, अन्यस्यानुक्तेः । 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' (बृ० उ० ६।५।३) इति श्रुतेर्याज्ञवल्क्यो वा ऋषिः । अग्निश्च पृथिवी चेति सप्त लिङ्गोक्तानि यजूंषि, चतस्र ऋग्गायत्र्यः, सप्त संसदः, आसुर्यनुष्टुप् । सकामानिति प्राजापत्यानुष्टुप् । यथेमां वाचं ब्राह्मी गायत्री । एतेषामविनियुक्तानां मन्त्राणां लैङ्गिको विनियोगः । तद्यथा अग्निश्च पृथिवी चेति सप्त सन्नतिमन्त्राः, ते च लिङ्गबलात् कल्पितश्रुत्या विनियुज्यन्ते । शब्दानामर्थप्रकाशनसामर्थ्यं लिङ्गम्, 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इत्यभियुक्तोक्तेः । अग्निश्च पृथिवी च सन्नते । तत्र सन्नमनं सन्नतिः प्रह्वीभावः, आनुकूल्येन प्रवृत्तिः । तथा च भोगाय सन्नते सङ्गते स्याताम् । ते अग्निपृथिव्यौ मे मम अदोऽमुकं सन्नमताम् । अत्र णिलोपश्छान्दसः । तथा च अग्निश्च पृथिवी च मे मम अदः सन्नमयताम् अमुकं वशवर्तिनं कुरुताम् । अद इति पुरुषादेर्नाम द्वितीयान्तं प्रयोज्यम् । 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति शपोऽप्यार्धधातुकत्वात्, 'णेरनिटि' (पा० सू० ६।४।५१) इति णिलोपे सन्नमतामिति रूपम् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ।

वायुश्चान्तरिक्षं च सन्नते सङ्गते स्याताम् । ते मे ममादोऽमुकं सन्नमयताम् । आदित्यश्च द्यौश्च सन्नते ते मे अदोऽमुकं सन्नमयताम् । आपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे अदः सन्नमयताम् । परमात्मानं प्रत्युच्यते—हे परमेश्वर, यस्य तव सप्त संसदः संसदनान्यधिष्ठानानि प्रकृतान्यग्निवाय्वन्तरिक्षादित्यद्युलोकाम्बुवरुणान्तानि सन्ति, यस्य तव भूतसाधनी पृथिवी त्वदीयशक्तिभूता प्रकृतिर्वा, (पृथिव्याः सप्तसंसत्स्वन्तर्भावात्), तामन्तरेण भूतानामनुत्पत्तेः, स त्वं सर्वाधिष्ठानभूतोऽस्यतः प्रार्थ्यसे । अध्वनो मार्गान् अस्माकं सकामान् कुरु । येषु मार्गेषु

मया गम्यते तत्रास्माकं कामपूर्तिरस्त्वित्यर्थः। किञ्च, ममामुनाऽभीष्टेन देवदत्तादिना संज्ञानं सङ्गतं ज्ञानम्, सौहार्दमिति यावत्, अस्तु। इष्टेन मम प्रीतिरस्तु। विज्ञानात्मा वाऽनेनोच्यते। यस्य तव सप्त, मनोबुद्धी द्वे पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाणीति सङ्कलय्य सप्त संसदः सप्तायतनानि, अष्टमी भूतसाधनी सर्वप्राणिनां वशयित्री वाक् चास्ति, स त्वं नोऽस्माकमध्वनः सकामान् सफलान् कुरु। अमुना सह मे संज्ञानं संगतमस्तु। अस्मिन् पक्षेऽप्यभीष्टसाधको विज्ञानात्मावच्छिन्नोऽन्तर्याम्येव।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, भवत्प्रसादादग्न्यादीनि मे सन्नतानि भवन्ति। तानि च ममाभीष्टानि सन्नमयन्तु प्रापयन्तु। हे परमेश्वर, यस्य ते तव महदादीनि सप्त संसदः सदनानि तेषु सम्यक् सीदति भवान्। अष्टमी प्रकृतिर्भूतसाधनी सर्वोत्पादयित्री, स त्वं ममाध्वनो मार्गान् सकामान् सफलान् कुरु अमुनाभीष्टेन मम संज्ञानं सौहार्दमस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा ये मे अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते अदः सन्नमयताम्। ये मे वायुश्चान्तरिक्षं च सन्नते ते चादः सन्नमयताम्। ये मे आदित्यश्च द्यौश्च सन्नते ते अदः सन्नमयताम्। या ये मे आपश्च वरुणश्च सन्नते स्तस्ते अदः सन्नमयताम्। अष्टमी भूतसाधनी सप्त संसदः सकामानध्वनः कुर्यात् तथा कुरु, अमुना मे संज्ञानमस्तु, तथैतत्सर्वं युष्माकमस्तु' इति, तदप्यसङ्गतम्, नमतेरकर्मकस्य णिचमन्तराऽनुकूलं कुर्यातामित्यर्थासङ्गतेः। किञ्च, जडानां तेषामनुकूलभवनान्यानुकूलभावनानुपपत्तेः, भूतसाधनी केत्यनुक्तेश्च, संसदः सप्त का इत्यनुक्तेश्च। न चाष्टमीति संसदां विशेषणं सम्भवति, संख्यावैषम्यात्॥ १॥

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्म राजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृद्ध्यतामुप मादो नमतु॥ २॥

मन्त्रार्थ—मैं इस कल्याणकारक वाणी को, 'ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिये, शूद्र और वैश्य के लिये, स्वजनों और शत्रुओं के लिये एवं समस्त जनों के कल्याण के लिये दिया जाय, भोजन किया जाय' इस तरह की कल्याणकारक वाणी को सब ओर से बोलता हूँ, अतः मैं इस यज्ञ में देवताओं का और जिनके लिये धन-धान्य आदि दिया जाता है, उन सबका प्यारा बनूं, मेरी पुत्र-धन आदि की प्राप्ति की कामना पूरी हो॥ २॥

यजमानो भगवन्तं प्रार्थयते—हे भगवन्, यथाहं दीयतां भुज्यतामित्येवंरूपां कल्याणीमनुद्वेगकरीं वाचमावदानि आसमन्तात् सर्वेभ्यो जनेभ्यो वच्मि। के ते जना येभ्यः कल्याणी वाक् प्रयोक्तव्येति, तत्राह—ब्रह्मराजन्याभ्यां ब्रह्मणे ब्राह्मणाय राजन्याय क्षत्रियाय शूद्राय च अर्याय वैश्याय। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति निपातनात् साधु। स्वाय आत्मीयाय, अरणाय अरणोऽपगतोदकः कुटुम्बगोत्रादि-बाह्यः। यद्वा नास्ति रणं भाषणमपि येन सह सोऽरणः, शत्रुरिति यावत्। सोऽपीदानीं सत्कर्तव्यः। प्रियो देवानामिति मध्येऽवसानरहितानुष्टुप्, लौगाक्षिदृष्टा। यथेति पूर्वोक्तेरत्र तथाशब्दोऽध्याहार्यः। यथा यतोऽहं ब्राह्मणादिभ्यः कल्याणीं वाचं वदामि, तथा ततोऽहं देवानां प्रियो भूयासम्। इह संसारे दक्षिणायै दक्षिणाया दातुश्च प्रियो भूयासम्। देवा दक्षिणादातारश्च मयि प्रीतिं कुर्वन्तु। ममायं कामः समृद्ध्यतां सफलो भवतु। अयमिति नामनिर्देशः। धनपुत्रादिलाभो मे सम्पद्यतामित्यर्थः। अद इति नामग्रहणम्। मा माम् उपनमतु देवदत्तादिर्मां प्रीणयत्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—यजमानः परिजनाननुशास्ति परमेश्वरं च प्रार्थयते—यथा येन प्रकारेणाहं जनेभ्यः सर्वेभ्यो ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय वैश्याय स्वाय अरणाय शत्रवे च इमामागम्यतामुपविश्यतां भुज्यतां पीयतामित्येवंरूपां कल्याणीमनुद्वेजिनीं वाचमावदानि, तथा तेनैव प्रकारेण यूयमपि तथाभूतां वाणीं संवदध्वम्, समेषां दान-सम्मानादिभिः सत्कारं कुरुध्वम्। हे परमेश्वर, अहं देवानाम्प्रियो भूयासम्। दक्षिणाया दातुश्चाहं प्रियो भूयासम्। ये दक्षिणादिदाने धनादिसाहाय्यं कुर्वन्ति, तेषामहं प्रियः स्याम्। येन यज्ञेषु पुष्कलदक्षिणाया दाता स्याम्। अयममुको धनपुत्रादिलाभरूपः कामो मे समृद्धयतां सम्पद्यताम्, अदोऽभीष्टं ज्ञानविज्ञानादिकं अन्यद्वा अभीष्टं वस्तु मा मामुपनमतु प्राप्नोतु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहमीश्वरो ब्रह्मराजन्याभ्यामार्याय शूद्राय वैश्याय स्वाय स्वकीयाय अरणाय सल्लक्षणाय प्राप्ताय अन्त्यजाय च जनेभ्य इहास्मिन् संसारे इमां प्रत्यक्षीकृतां वाचं वेदचतुष्टयीं वाणीमावदानि, तथा भवन्तोऽप्यावदन्तु। यथाहं दातुर्देवानां विदुषां दक्षिणायै दानाय प्रियो भूयासम्। मेऽयं कामः समृद्धयताम्, मादः परोक्षं सुखमुपनमतु, तथा भवन्तोऽपि भवन्तु' इति, तदप्यशुद्धम्, पूर्णकामस्य परमेश्वरस्य तादृशकामानुपपत्तेः। नहि परमेश्वरस्याहं प्रियो भूयासम्, अयं मे कामः समृद्धयताम्, अदः परोक्षसुखं मामुपनमत्विति प्रार्थना सम्भवति। न च परमेश्वरः सर्वेभ्यो वेदचतुष्टयीं वाणीमुपदिशन्नुपलभ्यते। अध्यापको यस्मै वेदं पाठयति स तमध्यापकं न पश्यति। नहि ब्राह्मणानां विदुषामपि वेदोपदेष्टुः परमेश्वरस्य दर्शनं भवति। नहि सोऽज्ञः सम्भवति, यस्य परमेश्वरोऽध्यापकः। किञ्च, नहि परमेश्वराध्यापितस्यान्याध्यापकापेक्षेति कुतो भवन्तोऽप्यावदन्त्विति परमेश्वरोक्तिः सम्भवति। तस्मात् पूर्वोक्तमेव व्याख्यानं युक्तम्॥ २॥

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद्द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु। यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्। उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतये त्वैष ते योनिर्बृहस्पतये त्वा॥ ३॥

मन्त्रार्थ—हे सत्य से प्रकट होने वाले वेदों के पालक सर्वाधार भगवन्! आप अनेक प्रकार का धन हम यजमानों को प्राप्त कराइये, जो धन ईश्वर के अधिकतर सत्कारयोग्य है, कान्तिमान् है, यज्ञ के योग्य है, प्राणियों में अनेक प्रकार से शोभित होता है, अपने बल से दूसरे धन को लाता है, उस धन को हमें प्राप्त कराइये। हे ग्रह! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, बृहस्पति की तुष्टि के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, बृहस्पति की तुष्टि के निमित्त तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ॥ ३॥

ब्रह्मदेवत्या त्रिष्टुप्, गृत्समदद्दृष्टा। बृहस्पतिसवे बार्हस्पत्यग्रहणेऽस्याः सोपयामाया विनियोगः। हे ऋत-प्रजात ऋतात् सत्याद् ब्रह्मणः सकाशात् प्र प्रकृष्टं जातं जन्म यस्यासौ ऋतप्रजातः, तत्सम्बुद्धौ। हे बृहस्पते बृहतां वेदानां पतिः पालको बृहस्पतिः, 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (पा० सू० ६।१।१५७, वा० १) इति साधुः, तत्सम्बुद्धौ। चित्रं नानाविधं तद् द्रविणमस्मासु यजमानेषु धेहि धारय, देहीत्यर्थः। किं तद् द्रविणमित्याह—अर्यो यद् अर्हात्। अर्यः स्वामी यद्धनम् अर्हाद् अर्हति। 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागमः, ईश्वरयोग्यमतिशयेन धनं प्रयच्छेत्यर्थः। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति निपातनाद् ऋधातोर्यति रूपसिद्धिः। तस्य च 'यतोऽनावः' (पा० सू० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते, 'स्वामिन्यन्तोदात्तत्वं च वक्तव्यम्' (पा० सू० ३।१।१०३, वा० १) इत्यन्तोदात्तत्वम्। वैश्ये चार्थे आद्युदात्तत्वम्। यच्च धनमति अतिशयेन द्युमद् 'द्यु अव्ययं दीप्त्यर्थकम्' दीप्तिमद् इत्यर्थः। अथवा द्योतते येनासौ द्यौर्दीप्तिः, द्यौरस्ति यस्य तद् द्युमद् दीप्तिमत्, 'दिव उत्' (पा० सू० ६।१।१३१) इत्युकारादेशः। क्रतुमज्जनेषु क्रतवो

विद्यन्तेऽनुष्ठेयत्वेन येषां ते क्रतुमन्तो यज्ञानुष्ठातारः, क्रतुमन्तश्च ते जनाश्च क्रतुमज्जनाः, तेषु। विभाति विशेषेण शोभते। यच्च धनं शवसा बलेन दीद्यद् दाययति प्रापयति वा धनान्तरमिति तादृशं धनं देहीत्यर्थः। 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु' इति धातोर्णिजन्ताल्लुङि रूपम्, अडभाव आर्षः। हे बार्हस्पत्य ग्रह, उपयामपात्रेण गृहीतोऽसि, बृहस्पतये देवाय त्वा गृह्णामि। एष ते योनिः स्थानम्, बृहस्पतये त्वां सादयामि। इति स्थापनमन्त्रः।

अध्यात्मपक्षे—हे बृहतां वेदानां महदादीनां वा पालक परमेश्वर, यदतिद्युमद् द्रविणमतिशयेन दीप्तिमद् ब्रह्मज्ञानात्मकम्, तदस्मासु धेहि। यच्चार्य ईश्वरोः, अर्हात् पूजयति, यच्च क्रतुमज्जनेषु, क्रतव उपासनालक्षणाः सङ्कल्पा येषां ते क्रतुमन्तः, ते च ते जनाश्च क्रतुमज्जनास्तेषु विभाति विभासते। हे ऋतप्रजात, ऋतं सत्यं प्रजातं यस्मात् स त्वम् ऋतप्रजातः, तत्सम्बुद्धौ। चित्रं विविधमैहिकामुष्मिकमन्यच्च यद्धनम्, तदपि मयि धेहि। हे समर्पणीय सोमादिद्रव्य, त्वमुपयामगृहीतोऽसि प्रेम्णा गृहीतोऽसि। बृहस्पतये त्वां गृह्णामि तस्मै त्वां सादयामि।

दयानन्दस्तु 'हे बृहस्पते, यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तं त्वा बृहस्पतये यस्यैष ते योनिरस्ति तस्मै त्वा वयं स्वीकुर्मः। हे ऋतप्रजातार्यस्त्वं जनेष्वर्हाद्यद्द्युमत् क्रतुमदति विभाति यच्छवसा दीदयद्यदस्ति तच्चित्रं विज्ञानं द्रविणं चास्मासु धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे यशोबोधकपदाभावात्। न च द्रविणमेव यश इति वाच्यम्, तथात्वे धनं यशश्चेति त्वदुक्तिविरोधात्, द्युमत्क्रतुमदिति पदाभ्यां मनोबुद्ध्योर्ग्रहणे मानाभावात्। बृहस्पतये बृहत्या वाचः पालनायेत्यप्यसङ्गतम्, पतिशब्दस्य पालकार्थत्वेन पालनार्थत्वायोगात् ॥ ३ ॥

इन्द्र गोमन्निहायाहि पिबा सोमꣳ शतक्रतो। विद्यद्भिर्ग्रावभिः सुतम्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे शोभन यज्ञ वाले, अनन्त कर्मों वाले, परम ऐश्वर्य सम्पन्न गोमान् इन्द्र देवता, आप इस यज्ञ में आइये, विशेष प्रकार के पाषाणों से अभिषुत हुए सोम को पीजिये। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, गोमान् इन्द्र की प्रीति के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ, यह तुम्हारा स्थान है, गोमान् इन्द्र की प्रीति के निमित्त तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ४ ॥

इन्द्रदेवत्ये गायत्र्यौ रम्याक्षिदृष्टे। गोसवे यज्ञे इन्द्राय गोमते ग्रहग्रहणे विनियुक्ते। हे शतक्रतो! शतमसंख्यातानि क्रतवः कर्माणि यस्य स शतक्रतुः, क्रियते योऽसौ क्रतुः, 'कृञः कतुः' (उ० १।७६) इति रूपसिद्धिः। शतक्रतोः सम्बोधने हे शतक्रतो शताश्वमेधानुष्ठायिन्! हे गोमन्! गावो धेनवः स्तुतयः किरणा वा विद्यन्ते यस्य स गोमान्, तत्सम्बुद्धौ, हे इन्द्र इह यज्ञे आयाहि आगच्छ। सोमं च पिबा पिब, 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः। कीदृशं सोमम्? ग्रावभिः पाषाणविशेषैः सुतम् अभिषुतम्। कीदृशैर्ग्रावभिः? विद्यद्भिर्विशेषेण द्यन्ति खण्डयन्तीति विद्यन्तः, तैः। 'दोऽवखण्डने' इति धातोः शतरि दिवादित्वात् श्यनि च 'ओतः श्यनि' (पा० सू० ७।३।७१) इत्योकारलोपे च रूपसिद्धिः। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर! शतक्रतो अनन्तसृष्टयादिकर्तः! गोमन् गोपालकृष्णरूपेण बहुगोयुक्त! इह भक्तानां हृदये आयाहि प्राकट्यमुपगच्छ। सोमं पिब। कीदृशं सोमम्? विद्यद्भिर्ग्रावभिः सुतमभिषुतम्। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। इन्द्राय गोमते वा गृह्णामि। एष आराधनप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्। तत्र त्वां तादृशाय इन्द्राय सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे शतक्रतो गोमन्निन्द्र, त्वमिहायाहि विद्यद्भिर्ग्राविभिः सुतं सोमं पिब। यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्माद् गोमत इन्द्राय त्वा यस्यैष ते योनिरस्ति तस्मै गोमत इन्द्राय त्वा च वयं सत्कुर्मः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विद्यद्भिरिति पदस्य वैयर्थ्यापातात्, अविद्यमानस्य हेतुत्वानुपपत्तेः ॥ ४ ॥

इन्द्रायाहि वृत्रहन् पिबा सोमꣳ शतक्रतो। गोमद्भिर्ग्रावभिः सुतम्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ— हे वृत्रनाशक सौ यज्ञों को करने वाले देवराज इन्द्र, आप यहाँ आइये, स्तुतियुक्त पाषाणों से अभिषुत सोम का पान कीजिये। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, इन्द्र की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, इन्द्र की योनिस्वरूप तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ५ ॥

हे वृत्रहन् वृत्रं हतवानिति वृत्रहा, तत्सम्बुद्धौ। हे शतक्रतो हे इन्द्र, त्वमायाहि सोमं च पिब। कीदृशं सोमम्? गोमद्भिः स्तुतिमद्भिः, ग्रावभिरश्मभिः, सुतमभिषुतम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—वर्तते सदैवेति वृत्रोऽज्ञानम्, तं हतवानिति वृत्रहा, तत्सम्बुद्धौ। हे शतक्रतो बहुकर्मन् हे इन्द्र, आयाहि स्तुतिमद्भिर्ग्रावभिः सुतं सोमं पिब, परमेश्वरपूजोपकरणनिष्पादकवस्तूनामपि वेदैः स्तूयमानत्वात्। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि प्रेम्णा गृहीतोऽसि, इन्द्राय गोमते त्वां गृह्णामि।

दयानन्दस्तु—'हे शतक्रतो वृत्रहन्, त्वं गोमद्भिर्ग्रावभिः सदायाहि, सुतं सोमं पिब। यतस्त्वं गोमत इन्द्रायोपयामगृहीतोऽसि, तं त्वा यस्यैष ते गोमत इन्द्राय योनिरस्ति, तं त्वा वयं सत्कुर्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागगौणार्थग्रहणयोर्निर्मूलत्वात्। नहि कस्यचिन्मनुष्यस्य सूर्यतुल्यत्वमपि सम्भवति, न वा गर्जनयुक्तैः किरणैः सहागमनं सम्भवति ॥ ५ ॥

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे। उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—सत्यस्वरूप अविनाशी तेज के पालक अनुपहिंसनीय, दीप्तिकारी, सब प्राणियों के हितकारी, परमात्मस्वरूप अग्निदेव की हम प्रार्थना करते हैं। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, वैश्वानर की प्रीति के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, वैश्वानर की तुष्टि के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ६ ॥

तिस्रो वैश्वानरीयाः पुरोनुवाक्याः। तत्राद्या गायत्री प्रादुराक्षिदृष्टा। वयं वैश्वानरमीमहे याचामः, यज्ञसमाप्तिमिति शेषः। 'ईमह इति याच्ञाकर्मसु पठितः' (निघ० ३।१९।१) कीदृशं वैश्वानरम्? ऋतावानम्, ऋतं सत्यं यज्ञं जलं वास्यास्तीति ऋतवा, 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' (पा० सू० ५।२।१०९, वा० २) इत्यस्त्यर्थे वनिप्प्रत्ययः, संहितायां ऋतस्य छान्दसो दीर्घः, ऋतावा, तं ऋतावानम्। दुह्यादेर्धातोर्द्विकर्मकत्वात् कर्मद्वयम्। ऋतस्य सत्यस्याबाध्यस्य ज्योतिषस्तेजसः पतिं पालकम्, तेजोऽधिष्ठानमित्यर्थः। 'जसु मोक्षणे' दैवादिकः। अयं नञ्पूर्वः स्वभावतः क्रियासातत्ये वर्तते। न जस्यतीत्यजस्रम्, 'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' (पा० सू० ३।२।१६७) इति रः, सन्ततमित्यर्थः। घर्मम्, जिघर्तीति घर्मः, 'घृ क्षरणदीप्त्योः' इत्यस्मात् 'घर्मग्रीष्मौ' (उ० १।१४९) इति मक्प्रत्यये साधु, तं घर्मम्। ईमहे वैश्वानरयज्ञसमाप्तिं याचामहे। उपयामेति पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे -वैश्वानरं विश्वेषां नराणां हितं हितकारिणं परमात्मानम्, ईमहे याचामहे, भक्तिमिति शेषः। कीदृशम् ? ऋतावानम्, सत्यव्रतं यज्ञवन्तं वा, ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य वा पालकम्। ज्योतिषः सूर्यादेः पतिं पालकम्। अजस्रमक्षीणं घर्ममक्षरणं दीप्तं स्वप्रकाशं वा। उपयामगृहीतोऽसीति। हे निवेदनीय द्रव्य, त्वमुपयामेन प्रेम्णा गृहीतोऽसि। वैश्वानराय त्वा गृह्णामि। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु 'हे मनुष्याः, यथा वयं ऋतावानं वैश्वानरं तस्य ज्योतिषस्पतिं घर्ममीमहे, तथा यूयमप्येनं याचत। यतस्त्वं वैश्वानरायोपयामगृहीतोऽसि, तं त्वा यस्यैष ते योनिरस्ति तं त्वा च वैश्वानराय सत्कुर्मः, तथा यूयमपि कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विशेष्यानिर्देशात्। भावार्थे त्वग्निरुक्तः। त्वद्रीत्या तस्य जाड्यमेवेति कुतो याचनीयता, चेतनस्यैव याच्यमानत्वदर्शनात्। सत्करणादिकमपि तस्य न सङ्गतम्, त्वद्रीत्या जडपूजनस्य निन्दितत्वात् ॥ ६ ॥

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः। इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण। उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण जगत् के हितकारी वैश्वानर देव की सुबुद्धि में हम गृहीत हों, क्योंकि वह सम्पूर्ण भुवनों और प्राणियों का आश्रयस्थल वैश्वानर देव इस भूलोक में अथवा ज्ञानाग्नि में प्रकट होकर इस चराचर जगत् को देखता है। सूर्य के साथ स्पर्धा करता है, सब प्रकार से दीप्तिमान् है, अथवा सूर्य रूप से वृष्टि आदि कर्मों में निरत है। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, वैश्वानर देव की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, वैश्वानर की तुष्टि के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ७ ॥

त्रिष्टुप् कुत्सदृष्टा। वैश्वानरस्य देवस्य सुमतौ शोभनायां सानुग्रहायां बुद्धौ वयं स्याम भवेम, तदनुग्रहभाजनानि भवेमेत्यर्थः। कं निपातः पादपूरणः। हि यस्माद्धेतोर्वैश्वानरः, इतोऽरणितो जातोऽरणिमन्थनादुत्पन्नः सन् इदं विश्वं सर्वं विचष्टे कर्मानुरूपं पश्यति, सूर्येण सह यतते स्पर्धते च, स्वकीयदीप्त्या सूर्यसमानतेजस्क इत्यर्थः। कीदृशो वैश्वानरः ? राजा, भुवनानां भूतग्रामाणां लोकानां वा। अभिश्रीः, अभि अभितः समन्तात् श्रीयते सेव्यत इत्यभिश्रीः, सर्वभूतैः सर्वलोकैराश्रयणीय इति यावत्। कर्मणि क्विप्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—विश्वान् नृणाति स विश्वानरः, स एव वैश्वानरः, स्वार्थिकोऽण्। यः सर्वनियामकोऽन्तर्यामी यश्च राजा राजमानः स्वयंप्रकाशः, यश्च भुवनानां सर्वलोकानामभिश्रीः सर्वलोकैः समन्तादाश्रयणीयः, यश्च इतोऽरणितोऽन्यतो वा जात इदं विश्वं सर्वं विचष्टे सौविध्यदानायाविशेषेण पश्यति, यश्च सूर्येण यतते सूर्यद्वारा विश्वपोषणाय प्रयतते, तस्य वैश्वानरस्य भगवतः सुमतौ सानुग्रहायां बुद्धौ वयं स्याम भवेम। शेषोंऽशः पूर्ववद् व्याख्येयः।

दयानन्दस्तु—'वयं यथा राजा भुवनानामभिश्रीः कं हि साध्नोति, इतो जातः सन् विश्वमिदं विचष्टे। यथा सूर्येण सह वैश्वानरो यतते, तथा वयं वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम। हे विद्वन्, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्माद्वैश्वानराय त्वा यस्यैष ते योनिरस्ति तं त्वा च वैश्वानराय सत्करोमि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, साध्नोतीति क्रियापदस्य मूलेऽभावात्। अध्याहारश्च निर्मूल एव। न च त्वद्रीत्या सूर्यः कं सुखं साधयति, तस्य जडत्वेन

कृतिमत्त्वाभावात्। अतश्चेतनस्यैव विचार्यकारित्वेन हेत्वपेक्षणात्, न जडे कारणापेक्षापि। परमेश्वरस्य सुमतौ सर्वेषां विषयत्वेऽपि राज्ञोऽल्पज्ञस्य सुमतौ समेषां सत्त्वासम्भव एव। विद्वान् कथं कैर्नियमैर्गृह्यते, तं च वैश्वानराय किमर्थं गृह्णातीत्यादिकं सर्वं विश्रृङ्खलितमेव ॥ ७ ॥

वैश्वानरो न ऊतय आ प्रयातु परावतः। अग्निरुक्थेन वाहसा। उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—सारे जगत् का हितकारी अग्नि देवता हमारी रक्षा के लिये स्तोमरूप वाहन के द्वारा दूर देश से यहाँ आवे। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, वैश्वानर की प्रीति के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, वैश्वानर की तुष्टि के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ८ ॥

गायत्री। वैश्वानरोऽग्निर्नोऽस्मान् ऊतये अवनाय पालनाय परावतो दूरदेशाद् आप्रयातु आगच्छतु। यो हि पालनाय दूरादागच्छेत्, स समीपादप्यागच्छेदेवेत्यभिप्रायः। केन आप्रयातु? तदुच्यते—उक्थेनेति। उक्थेन स्तोमेन वाहसा वाहनेन वाहनभूतेनोक्थेनाप्रयात्वित्यर्थः, [1]'वाहिष्ठो वाहनानां स्तोमो दूतो हुतं नरा' इति श्रुत्यन्तरे स्तोमस्य वाहनत्वश्रवणात्। उपयामेत्यादिकं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—वैश्वानरः परमेश्वरः, नोऽस्माकं भक्तानामूतये पालनाय कार्यसाधनाय परावतो दूरदेशादपि आप्रयातु। परमेश्वरस्य सर्वव्यापकत्वेऽपि भक्तानुग्रहार्थं धृतविग्रहस्य सुदूरवर्तिनामपि भक्तानां पालनाय दूरं गतस्यापि समागमनं सम्भवति, किमुत समीपवर्तिन इति भावः। स चाग्निरग्निवत्पापनाशकः। उक्थेन स्तोमेन वाहसा वाहनेन यातु, शीघ्रमिति शेषः। भगवतो वाहनस्य गरुडस्य छन्दोमयत्वं प्रसिद्धमेव। हे पूजोपकरण, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। वैश्वानराय त्वां गृह्णामि। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्, वैश्वानराय त्वा सादयामि।

दयानन्दस्तु—'यथा वैश्वानरः परावतो न ऊतये आप्रयातु, तथाग्निरुक्थेन वाहसा सहाप्नोतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यस्य कस्यचित् सर्वेषां रक्षणाय दूरादागमनं न सम्भवति, तदागमनात् प्रागेव रक्षणीय-विनाशसम्भवात्। न वा तस्य उक्थेन वाहनेनागमनं सम्भवति, उक्थपदस्य प्रशस्तार्थतापरत्वे मानाभावात्। तस्माद्देवविशेषः परमेश्वर एव वा वैश्वानरपदार्थ इति मन्तव्यम्, तत्रैव विशेषणानां सामञ्जस्यात् ॥ ८ ॥

अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्। उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चस एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—जो अग्निदेवता प्रकाशक मन्त्रद्रष्टा पवित्रतम सकल मनुष्यों का हितकारी है, यज्ञ में हितकारी होने से हम उसे यहाँ आगे स्थापित करते हैं। उस महती स्तुति वाले की प्रार्थना करते हैं। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, तेजोरूप अग्नि की तुष्टि के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, तेजोयुक्त अग्नि के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ९ ॥

अग्निदेवत्या गायत्री वसिष्ठभरद्वाजदृष्टा पुरोरुक् पुरोऽनुवाक्या। योऽग्निर्ऋषिर्मन्त्राणां द्रष्टा, पवमानः पवत इतस्ततो गच्छतीति पवमानः, 'पूङ् पवने'। यद्वा पवते पवित्रयति शोधयतीति पवमानः, पाञ्चजन्यः

---

१. नेदानीं श्रुतिरियमुपलभ्यते।

चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमाः पञ्चजनाः, तेषां यज्ञाधिकारात्, तेभ्यो हितः पाञ्चजन्यः, 'पञ्चजनादुपसंख्यानम्' (पा० सू० ४।३।५८, वा० १) इति ञ्यः प्रत्ययः। पञ्चजनानामेवाधिकारः शास्त्रबलाद् यज्ञेषु लभ्यते। तथाहि—ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशामुपनयनपूर्वकवेदाधिकाराद् यथायोग्यमधिकारिता। शूद्राणामनुपनीतानां च पाकयज्ञाधिकारः। 'तया निषादस्थपतिं याजयेत्' (मै० सं० २।२।४) इतीष्टिविशेषे निषादस्याप्यधिकारः, शास्त्रदृष्टीनां शास्त्रवचनादेव प्रवृत्तिनिवृत्त्योः सम्भवात्। यश्च पुरोहितः पुरो दधाति यज्ञं कुर्वाणो यं सः, अथवा पुरोऽग्रे हितः स्थापितो वा, तं तादृशं महागयं महान् गयो गातुं योग्या कीर्तिः स्तुतिर्वा यस्य स महागयः, तम्। महान्तं गृहरूपं वा, 'गय इति गृहनाम' (निघ० ३।४।१), महत्त्वं च गृहस्य द्रव्यनिबन्धनम्। अग्निमभीष्टं याचामहे। उपयामेत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—यश्चाग्निरग्रणीर्ऋषिरतीन्द्रियदर्शी पवमानः पवित्रकारकः, यश्च पाञ्चजन्यः सर्वजनहितैषी, पुरोहितः सर्वेषु कार्येषु पुरोहितवत् पूज्यः, तं महागयं महागृहं संसारगृहिणं संसारगृहपतिं परमेश्वरमीमहे याचामहे संसारसागरोत्तरणाय। हे अग्ने, त्वमुपयामेन प्रेम्णा गृहीतोऽसि। अग्नये वर्चसे तेजोरूपाय त्वा त्वां गृह्णामि समाश्रये। एष मे आत्मा ते योनिर्निवासस्थानम्, तत्र त्वा सादयामि स्थापयामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः पाञ्चजन्यः पुरोहितः पवमान ऋषिरग्निरस्ति, तं महागयं यथा वयमीमहे तथा त्वं वर्चसेऽग्नये उपयामगृहीतोऽसि। यस्यैष ते योनिर्वर्चसेऽग्नयेऽस्ति, तं त्वा वयमीमहे, तथैतं यूयमपीहध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एकस्य मनुष्यविशेषस्य पाञ्चजन्यत्वाद्यनुपपत्तेः, गौणार्थकल्पनाया निर्मूलत्वात्। न च तत्राग्नित्वाद्युपपत्तिः, सर्वपञ्चजनसाधुत्वमपि तत्र नोपपद्यते, मनुष्यविशेषतारतम्यसमाप्त्यसम्भवात् ॥ ९ ॥

महाँ२॥ इन्द्रो वज्रहस्तः षोडशी शर्म यच्छतु। हन्तु पाप्मानं योऽस्मान् द्वेष्टि। उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—श्रेष्ठ वज्रधारी पाँच प्राण, दस इन्द्रिय और एक मन—इस प्रकार १६ पदार्थों से युक्त लिंगशरीर वाला, अथवा परिपूर्ण आत्मस्वरूप परम ऐश्वर्यवान् इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें। उस पापी को नष्ट करें, जो हमारे प्रति द्वेष करता है। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। महेन्द्र की प्रीति के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, महेन्द्र की पुष्टि के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ १० ॥

महेन्द्रदेवत्या गायत्री वशिष्ठदृष्टा पुरोरुक्। इन्द्रः शर्म सुखं यच्छतु ददातु। योऽस्मान् द्वेष्टि तं पाप्मानं पापिष्ठं हन्तु विनाशयतु। यद्वा अस्मद्द्वेष्टारं पाप्मानं पापं ब्रह्महत्यादिकं च हन्तु। 'अस्त्री पङ्कं पुमान् पाप्मा' (अ० को० १।४।२३) इत्यमरः। कीदृश इन्द्रः ? महान् सर्वश्रेष्ठः, वज्रहस्तो वज्रं हस्ते यस्य सः, षोडशी पञ्च प्राणा दशेन्द्रियाणि मनश्चेति षोडशपदार्था लिङ्गशरीररूपा यस्य सः। यद्वा षोडशकलादिरूपाणि यस्मिन् स षोडशी, आत्मस्वरूप इत्यर्थः। योऽस्मान् द्वेष्टि तं पाप्मानं हन्तु। उपयामेत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरः शर्म सुखं लौकिकं मोक्षरूपं वा यच्छतु। स महान् ब्रह्मरूपत्वाद् निरतिशयमहत्त्वोपेतः। वज्रहस्तः, वज्रश्चक्रादिरूपो हस्ते यस्य सः। षोडश कला यस्मिन् अध्यस्ता सः। यः संसाररूपः पाप्मा नो द्वेष्टि तं पाप्मानं हन्तु, अज्ञानतत्कार्यरूपं संसारं हन्तु निवर्तयतु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वज्रहस्तः षोडशी महानिन्द्रः शर्म यच्छतु, योऽस्मान् द्वेष्टि तं पाप्मानं हन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लौकिकस्य राज्ञो वज्रहस्तत्वाभावात्। षोडशकलत्वमपि न तत्राव्यभिचारि, सर्वस्यैव जीवस्य तद्वत्त्वात् ॥ १० ॥

तं वो॑ द॒स्मम॑ृती॒षहं॒ वसो॑र्मन्दा॒नमन्ध॑सः ।
अ॒भि व॒त्सं न स्वस॑रेषु धे॒नव॒ इन्द्रं॑ गी॒र्भिर्न॑वामहे ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—अपने बल से शत्रुओं को जीतने वाले, दर्शनीय स्वरूप, स्थिति हेतु अन्न से प्रसन्न होने वाले ऐश्वर्यवान् परमात्मा को स्तुति रूप पवित्र वाणियों से हम सब प्रकार से उसी प्रकार प्रणाम करते हैं, जैसे कि चरने को गई गायें अपने बछड़ों को हुँभारव से बुलाती हैं ॥ ११ ॥

इन्द्रदेवत्या पथ्याबृहती नोधागोतमदृष्टा जपस्वाध्यायादिषु विनियुक्ता। आदित्ययाज्ञवल्क्ययोरार्षम् आ अध्यायपरिसमाप्तेः। हे यजमानाः, तमिन्द्रं गीर्भिः स्तुतिलक्षणाभिर्नवामहे अभिष्टुमः, 'णु स्तुतौ' व्यत्ययेन शपो लुग् न। कीदृशमिन्द्रम्? वो युष्मभ्यं दस्मं दर्शनीयं प्रियदर्शनं कार्यसाधकं च, 'इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्' (उ० १।१४५) इति दसेर्मक्प्रत्ययः। 'दस दर्शने' चुरादिः। पुनः कथम्भूतम्? ऋतीषहम् अरणम्, ऋतिः 'ऋ गतौ' इत्यस्मात् क्तिन्प्रत्यये ऋतिर्गतिः, तया शत्रून् सहतेऽभिभवतीति ऋतिषाट्, संहितायां तु 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (पा० सू० ६।३।११६) इति दीर्घः। ऋतीषहम् 'सहेः पृतनर्ताभ्यां च' (पा० सू० ८।३।१०९) इत्यत्र सहेरिति योगविभागान्मूर्धन्यादेशः। अवग्रहे तु ऋतिसहमित्येव। वसोः वासयितुः सोमस्य स्वकीयेनैकदेशेन मन्दानं माद्यन्तम्, अन्धसोऽन्नस्य स्वकीयेनैवांशेन माद्यन्तम्। यद्वा तृतीयार्थे षष्ठी। वसोरन्धसो वसुना अन्धसा वासयित्रा स्थितिहेतुभूतेनान्धसा अन्नेन मन्दानं मोदमानम्। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' इति धातोः शानचि शपो लुकि रूपम्। कथमिव नवामहे? तत्राह—अभिवत्सं न स्वसरेषु धेनव इति। नकार उपमार्थीयः। स्वसरेषु स्वयमेव सरन्ति किरणा येषु तानि स्वसराण्यहानि, तेषु अभि आभिमुख्येन यथा धेनवो नवप्रसूता गावो अतिहार्दात् स्नेहातिशयाद् वत्सं शब्दैराश्वासयेयुः, एवं वयमप्यतिसौहार्देन इन्द्रं गीर्भिर्नवामह इति।

अध्यात्मपक्षे—तं वेदादिशास्त्रप्रसिद्धमिन्द्रं परमात्मानं वयं गीर्भिर्नवामहे। कीदृशम्? वो युष्माकं दस्मं दर्शनीयम्, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० उ० २।४।५) इति श्रुतेः। ऋतीषहम् ऋत्या ज्ञानेन अज्ञानाहङ्कारादिशत्रून् सहतेऽभिभवतीति तम्। वसोरन्धसा वसुना स्थितिभूतेनान्धसा अन्नेन मन्दानं मोदमानम्, सर्वं मोदयन्तं हर्षयन्तम्, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः। कथमिव नवामह इति तत्राह—अभिवत्सं न स्वसरेषु धेनव इति। स्वसरेषु दिवसेषु धेनवो नवप्रसूता गावो अभिवत्समिव यथा ता आभिमुख्येन स्नेहातिशयेन वत्सं शब्दैराश्वासयन्ति, तथा वयं सौहार्दातिशयेन भगवन्तं गीर्भिर्नवामहे।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वयं स्वसरेषु धेनवो वत्सं न यं दस्मंमृतीषहं वसोरन्धसो मन्दानमिन्द्रं वो गीर्भिरभिनवामहे, तथा तं भवन्तोऽपि सदा प्रीतिभावेन स्तुवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजस्तुतौ ब्रह्मपरस्य वेदस्य पर्यवसानायोगात्। न च राज्ञो दुःखक्षयित्वमपि सम्भवति, तेन रक्ष्यमाणस्यापि मरणादिदुःखदर्शनात्। गतिसहत्वं तु न तदव्यभिचारि, तस्य प्रजास्वपि सम्भवात्। धनेनान्धसा आनन्दवत्त्वमपि तादृशमेव, तस्यान्यत्रापि सत्त्वात्॥ ११ ॥

यद्वाहिष्ठं तद॒ग्नये॑ बृ॒हद॑र्च विभावसो । महि॑षीव॒ त्वद्र॒यिस्त्वद्वाजा॒ उदी॑रते ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—इच्छित पदार्थ को प्राप्त कराने वाले बृहत्साम का गान अग्निदेव की तुष्टि के लिये किया जाता है। सामगान से प्रत्यक्ष हुए अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि हे ज्योतिर्मय अग्निदेव आपसे उसी प्रकार धन प्राप्त होता है, अन्न प्राप्त होता है, जैसे कि पटरानी पति को भोग पदार्थ देती है ॥ १२ ॥

अग्निदेवत्यानुष्टुप्, वसूयोरार्षम्। हे उद्गातः, यद् वाहिष्ठमतिशयेन वाहयितृ इति विग्रहे 'तुच्छन्दसि' (पा० सू० ५।३।५९) इति इष्ठनि, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृशब्दस्य लोपे वाहिष्ठमिति रूपम्, वोढृतमम्। साम अग्नये अग्न्यर्थमर्च गाय, अग्न्यर्थं बृहत्सामगानं कुरु। वाहयति प्रापयत्य-भीष्टमिति वाहयितृ। किञ्च, बृहत्सामगानेन अग्निं प्रत्यक्षीकृत्य ब्रूहि। हे विभावसो, विभा कान्तिरेव वसु धनं यस्यासौ विभावसुस्तत्सम्बुद्धौ, हे अग्ने, महिषीव त्वद्रयिः, महिषी प्रथमपरिणीता धर्मार्थकामात्मिका, सा यथा उदीर्ते उत्तिष्ठते सुखात्मिका भवति, एवं त्वद्रयिः सुखात्मिका उदीर्ते उत्तिष्ठते, वाजाश्च उदीरते उत्तिष्ठन्ते। अथवा महिषी यथा सर्वान् भोगान् उदीर्ते उत्क्षिपति परोपकाराय, एवं त्वत्तो रयिरुदीर्ते त्वत्तश्च वाजा अन्नानि उदीरते उद्गच्छन्ति परोपकाराय। 'ईर गतौ कम्पने च' लट्, आदादित्वात् शपो लुक्, 'अदभ्यस्तात्' (पा० सू० ७।१।४) इति झस्य अदादेशः। यद्वा रयिर्धनम्, वाजा अन्नानि त्वत्तः सकाशादुदीरते उद्गच्छन्ति भक्तेभ्यो हिताय। यथा प्रथमपरिणीता पत्नी भोगार्थं पतिमुदीर्ते उद्गच्छति, तद्वत्। अस्मिन् पक्षे एकं त्वपदं पादपूरणार्थम्।

अध्यात्मपक्षे हे उद्गातः, अग्नये सर्वपापदाहकाय स्वरूपप्रकाशकाय परमात्मने वाहिष्ठं वोढृतमं बृहत्साम अर्च गाय। एवमुद्गातारमुक्त्वा अग्निमाह—हे विभावसो, विभा प्रज्ञानं धनं यस्य तत्सम्बुद्धौ, प्रज्ञानं धनं त्वत् त्वत्तो रयिर्ज्ञानवैराग्यादिधनं उदीर्ते, त्वत् त्वत्तश्च वाजा अन्नानि स्वरूपसुखभोगा वा उदीरते भक्तानां हितायोद्गच्छन्ति। कथमिव ? महिषीव प्रथमपरिणीता पत्नीव। सा यथौत्सुक्येन पतिं प्रति उदीर्ते उद्गच्छति, तद्वत्।

दयानन्दस्तु—'हे विभावसो, अग्नये यद् बृहद् वाहिष्ठमस्ति तदर्च, तद्वयमप्यर्चेम। महिषीव त्वद्रयिस्त्व-द्वाजाश्चोदीरते तं वयं सत्कुर्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दृष्टान्तासिद्धेः। नहि राज्ञ्याः समेषां सुखप्रापकत्वं धनप्रदत्वं वा प्रसिद्धम्, राज्ञा समानयोगक्षेमत्वात्। किं तद्वाहिष्ठं बृहद्यदग्नयेऽर्चनीयमित्यस्यास्पष्टत्वात्। सत्कार-करणस्य चर्चापि मन्त्रे नास्तीति वृथैव तदुपढौकनम् ॥ १२ ॥

एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप भली प्रकार यहाँ आइये। मैं अपनी वाणी से भली प्रकार से आपकी स्तुति करता हूँ। इस सोम रस का पान कर आप वृद्धि को प्राप्त कीजिये ॥ १३ ॥

आग्नेयी गायत्री भरद्वाजदृष्टा। हे अग्ने, त्वमेहि आगच्छ। उः पादपूरणः। 'इकः सुञि' (पा० सू० ६।३।१३४) इति संहितायां दीर्घः। हे भगवन्नग्ने, इत्था इत्थमनेन प्रकारेण त्वदीयैर्नामबन्धकर्मरूपैर्ग्रथिता इतराः स्तुतिलक्षणा गिरस्ते तव सुब्रवाणि साधु ब्रवाणि। यद्वा—इत्थमुद्गातृस्तोत्रजनिता इतरा गिरो या गीयन्ते तास्तु सुब्रवाणीति सुतरां वदानि। किञ्च, एभिरिन्दुभिरध्वर्युणाऽभिषुतैः सोमैस्त्वं वर्धासि वर्धस्व।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन्, एहि आगच्छ। आगमने हेतुमाह—इत्था इत्थं त्वदीयगुणकर्मनामोपबृंहिता इतरा असाधारणीः स्तुतिलक्षणा गिरः सुब्रवाणि साधु ब्रवाणि, तादृशीभिर्गीर्भिरध्वर्युणाऽभिषुतैरिन्दुभिः सोमैश्च त्वं वर्धासि वर्धस्व।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, अहमित्था त इतरा गिरः सुब्रवाणि यतस्त्वमेता एहि। उ एभिरिन्दुभिर्वर्धासि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्याग्निपदार्थत्यागस्य निर्मूलत्वात्। नहि प्रकाशितप्रज्ञस्य अज्ञाता वाचः सम्भवन्ति, न वा तस्योपदेशो युक्तः, प्रकाशितप्रज्ञस्य कृते तन्नैरर्थक्यात् ॥ १३ ॥

ऋतवस्ते यज्ञं वितन्वन्तु मासा रक्षन्तु ते हविः ।
संवत्सरस्ते यज्ञं दधातु नः प्रजां च परिपातु नः ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, सब ऋतुएँ आपके इस यज्ञ को विस्तीर्ण करें, सभी महीने आपके पुरोडाश आदि की रक्षा करें। संवत्सर की अधिष्ठात्री देवताएँ आपके और हमारे लिये यज्ञ को पुष्ट करें एवं हमारी सन्तति की रक्षा करें ॥ १४ ॥

अग्निदेवत्या बृहती एकवर्णाधिकपादा, 'नवकाष्टैकादशाष्टिनो विषमपदा चतुर्नवका बृहत्येव' इति भगवत्कात्यायनवचनात्। हे अग्ने, ऋतव ऋतूपलक्षिताः कालविशेषाः, ते तव यज्ञं वितन्वन्तु विस्तारयन्तु। मासाश्चैत्राद्यधिष्ठातारः, ते तव हविश्चरुपुरोडाशादिकं रक्षन्तु। संवत्सरः संवत्सराधिष्ठाता देवः, ते तुभ्यं त्वदर्थं नोऽस्माकं यज्ञं दधातु पुष्णातु। स एव संवत्सरो नोऽस्माकं प्रजां च पुत्रादिलक्षणां परिपातु।

अध्यात्मपक्षे –हे अग्ने, ऋतव ऋतुदेवतास्ते तव यज्ञं त्वत्कर्मकं यजनं वितन्वन्तु। मासाश्चैत्रादयो हविस्ते तव रक्षन्तु। संवत्सरात्मा हिरण्यगर्भस्ते तव यज्ञं दधातु पुष्णातु प्रजां च परिपातु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वंस्ते यज्ञमृतवो वितन्वन्तु। ते हविर्मासा रक्षन्तु। यज्ञं ते संवत्सरो दधातु, प्रजां च परिपातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऋतूनां मासानां संवत्सरस्य च कथं व्यवहारः? यज्ञस्य च कथं विस्तारः? कथं वा हविषो वर्धनम्? पोषणं च कथमित्याद्यनुक्तेः। कालादीनां कार्यमात्रं प्रति साधारणकारणत्वेन एषोक्तिश्चेत्, तथा सति प्रार्थनानुपपत्तिः ॥ १४ ॥

उपह्वरे गिरीणाᳬं सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—पर्वतों के निकट, अर्थात् ऋषीकेश आदि पवित्र स्थानों के समीप और नदियों के संगम, अर्थात् गंगा-सागर आदि पवित्र स्थानों में अपने अपने साधन और बुद्धि के प्रभाव के अनुसार विप्रत्व अथवा ब्रह्मत्व प्राप्त किया जाता है ॥ १५ ॥

सोमदेवत्या गायत्री वत्सदृष्टा। गिरीणां पर्वतानामुपह्वरे निकटे, नदीनां गङ्गादीनां च सङ्गमे, विप्रो मेधावी सोमः, अजायत उत्पन्नः। केन प्रकारेण अजायत? तत्राह—धिया, विप्रादयो मया यज्ञं करिष्यन्तीति बुद्ध्या, विचार्येति शेषः। अथवा एकाहाहीनसत्राणि मया क्रियन्तामित्यनया धिया विप्रो मेधावी सोमो जगद् धारयितुमिच्छन् अजायतेति। सोमश्चन्द्रोऽपि तद्रूप एवेति तस्य विप्रत्वम्, 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳬं राजा' (वा० सं० १०।१८) इति मन्त्रवर्णात्। लतारूपस्य सोमस्यापि तदधिष्ठातुश्चन्द्रमसश्चेतनत्वेन विप्रत्वं मेधावित्वं वा, जडमात्रे तदसम्भवात्।

अध्यात्मपक्षे—गिरीणामुपह्वरे नदीनां च सङ्गमे धिया ब्रह्मानुसन्दधानो विप्रो मेधावी ब्रह्मसाक्षात्कारवान् जायते।

दयानन्दस्तु—'यो मनुष्यो गिरीणामुपह्वरे नदीनां च सङ्गमे योगेनेश्वरं विचारेण विद्यां चोपासीत, स धिया विप्रोऽजायत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथाध्याहारस्य निर्मूलत्वात् ॥ १५ ॥

उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद् भूम्याददे। उग्रᳬं शर्म महि श्रवः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ हे सोम, तुम्हारे रसरूप अन्न से वेदी रूप उच्च भूमि के द्वारा उत्पन्न हुए स्वर्ग में विद्यमान उत्तम सुख और महान् कीर्तिरूपी धन को मैं ग्रहण करता हूँ ॥ १६ ॥

सोमदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्य आमहीयवदृष्टाः। हे सोम, ते तव अन्धसोऽन्नाद् रसरूपाज्जातमुत्पन्नं यज्ञपरिणामभूतमदृष्टमपूर्वं वा उच्चा उच्चैर्दिविसद् द्युलोके देवादिदेहरूपेण विद्यमानं भूम्या भूमिः, विभक्तेराकारादेशः, छान्दसो वा विसर्गलोपः, ततः सन्धिः, आददे गृहीतवती। किं तद् यद् द्युलोकं प्राप्तं भूमिराददे, तदाह—उग्रम् उद्गूर्णं महाचौरादिभिरप्यनाधृष्यम्, अदृष्टत्वादेव शर्म शरणं गृहं पुण्यादिरूपमदृष्टमेव प्राणिनां शरणम्, महिश्रवो महच्च श्रवणीयं च तद् धनम्, शास्त्रसंस्तुतत्वात्। पञ्चाहुतिपरिणामोद्घाटनमेतत्। यथाऽऽहुतिः प्रथमं दिवि गच्छति, ततोऽन्तरिक्षे जलरूपेण, ततो भूमावन्नरूपेण, ततो नरे रेतोरूपेण, ततो भार्याया योनौ पुरुषरूपेण। 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति छान्दोग्यश्रुतिः।

अध्यात्मपक्षे– अयमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्नहं ते यदुच्चान्धसो जातं दिविसदुग्रं महिश्रवः शर्माददे, तद् भूमीव भवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अन्धसो जातस्य गृहस्याप्रसिद्धत्वात्। 'दिवि प्रकाशे वर्तमानम्' इत्यपि यत्किञ्चित्, दिवसे सामान्यगृहस्यापि विद्यमानत्वात्। महत्त्वं प्रशस्तत्वं च प्रशस्तितुल्यमेव ॥ १६ ॥

स न॒ इन्द्रा॑य॒ यज्य॑वे॒ वरु॑णाय म॒रुद्भ्यः॑। व॒रि॒वो॒वित् परि॑ स्रव ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, आप कीर्तिरूप धन के दाता अथवा प्राप्त कराने वाले हैं। आप यजनयोग्य इन्द्र के निमित्त, वरुण के निमित्त और मरुद्गणों की तृप्ति के लिये रस रूप होकर आहुति भाव को प्राप्त कीजिये ॥ १७ ॥

हे सोम, यस्त्वं वरिवोविद् वरिवो धनं विन्दति वेत्ति वेति वरिवोदाः, 'वरिव इति धननामसु' (निघ० २।१०।५), धनस्य लब्धा वेदिता वा स नः सोऽस्माकम्, यज्ञमिति शेषः। यज्यवे यष्टुं योग्यो यज्युः, 'यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्' (उ० ३।२०) इति रूपसिद्धिः, तस्मै इन्द्राय देवराजाय वरुणाय जलाधिराजाय मरुद्भ्यश्चार्थाय परिस्रव रक्ष। यद्वा विभक्तिव्यत्ययेन वरिवोविदिति इन्द्रादीनां विशेषणम्। वरिवोविद इन्द्राय वरिवोविदे वरुणाय वरिवोविद्भ्यो मरुद्भ्यो यज्ञं परिस्रव रक्ष। क्रियाविशेषणं वा, एतेभ्यो देवेभ्यो यथा वरिवोविद्भवति, तथा परिस्रवेति। यद्वा हे सोम, स त्वं नोऽस्माकं परिस्रव परितः क्षर। रसरूपो भूत्वाऽऽहुतित्वमेहि। किमर्थमिति चेत्, इन्द्राय वरुणाय मरुद्भ्यश्च। कीदृशाय ? यज्यवे, यष्टुं योग्याय इन्द्राय यज्यवे वरुणाय यज्युभ्यो मरुद्भ्यश्चेति त्रयाणां विशेषणम्। कीदृशस्त्वम् ? वरिवोवित्, धनस्य ज्ञाता प्रापकश्चेति।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, उमया सहित शिव ! श्रेयःस्रुतिस्वरूप ! त्वं यष्टुं योग्येभ्य इन्द्रादिभ्यस्तदभीष्टं रसं परिस्रव क्षर। कीदृशस्त्वम् ? वारिवोवित्, लौकिकं मणिरत्नसुवर्णादिकमलौकिकं धर्मब्रह्मज्ञानवैराग्यादिकं धनं वेत्सि जानासि विन्दसि प्राप्नोसि च।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, मरुद्भ्यो न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय वरिवोवित् संस्त्वं परिस्रव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, मरुदिन्द्रादिपदानां मनुष्याद्यर्थकत्वस्य च निर्मूलत्वात्, इन्द्रपदस्य ऐश्वर्यवदर्थकत्वेऽप्यैश्वर्यार्थकत्वायोगात्। तथैव यज्युपदस्याप्यर्थश्चिन्त्यः ॥ १७ ॥

एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् । सिषासन्तो वनामहे ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे देवेश स्वामिन्, आप सभी मनुष्यों को धन और यश का भागी बनाइये। दान करने वाले हम यजमान सोम के दिये हुए धन-धान्य आदि का सम्यक् उपभोग करें ॥ १८ ॥

अर्यः स्वामी, ईश्वरः सोमः, एना एनानि, विश्वानि सर्वाणि, मानुषाणां मनुष्याणां द्युम्नानि धनानि यशांसि वा आ आदाय अस्मभ्यं ददात्विति शेषः। तानि च सोमदत्तानि द्युम्नानि सिषासन्तः सनितुं दातुमिच्छन्तः, सनेः सन्नन्तात् शता, 'जनसनखनां सञ्झलोः' (पा० सू० ६।४।४२) इत्यात्वम्, 'सन्यतः' (पा० सू० ७।४।७९) इत्यभ्यासस्येकारः, वनामहे वयं द्युम्नानि सम्भुज्महे सम्भजामहे वा, दानं कुर्वाणा धनभाजः स्यामेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अयमीश्वरः, एना एनानि, मानुषाणां विश्वानि सर्वाणि द्युम्नानि धनानि आदाय अस्मभ्यं प्रयच्छतु। तानि च सिषासन्तो दातुमिच्छन्तो दानायाभिमुखीभूता वयं यज्ञदानादिभिर्वनामहे भजामहे, परमेश्वरमिति शेषः।

दयानन्दस्तु—'यो यो मानुषाणामेना विश्वानि द्युम्नानि प्रदीप्तानि यशांसि शास्ति, तं सिषासन्तः सेवितुमिच्छन्तः, वयं सुखान्यावनामहे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारमूलत्वात्। 'शास्ति-सुखानि' इति पदे मूले न स्तः। अन्यथा मानुषाणामार्यब्रुवाणां द्युम्नान्यादायास्मभ्यं प्रयच्छत्वित्यपि किं न स्यात् ॥ १८ ॥

अनु वीरैरनु पुष्यास्म गोभिरन्वश्वैरनु सर्वेण पुष्टैः।
अनु द्विपदानु चतुष्पदा वयं देवा नो यज्ञमृतुथा नयन्तु ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हम वीर पुत्रों से, गायों से, अश्वों से, सब कामनाओं से, गृह आदि से, दास आदि से और चौपायों से सब प्रकार से पुष्ट हों। हर समय देवता हमारे यज्ञ को सम्पन्न कराने के लिये तत्पर हों ॥ १९ ॥

आशीरियं देवदेवत्या त्रिष्टुप्, मुद्गलदृष्टा। वयं वीरैः पुत्रैः, अनु पुष्यास्म पुष्टा भूयास्म। पुषेराशीर्लिङि उत्तमबहुवचने रूपम्। गोभिर्धेनुभिरनु पुष्यास्म, अश्वैरनु पुष्यास्म, सर्वेणान्येनापि कामेन अनु पुष्यास्म। उपसर्गावृत्त्या क्रियावृत्तिः। पुष्टैः सर्वैः पदार्थैर्गृहादिभिः पुष्यास्म। यद्वा अनु सर्वेण पुष्टैः, अत्र वचनव्यत्ययः, सर्वैः पुष्टैर्गृहादिभिरनु पुष्यास्म, पुष्टा भूयास्मेत्यर्थः। द्विपदा द्वौ पादौ यस्य स द्विपात्, 'संख्यासुपूर्वस्य' (पा० सू० ५।४।१४०) इत्यकारलोपः। तेन द्विपदा 'पादः पत्' (पा० सू० ६।४।१३०) इति पदादेशे रूपम्। मनुष्येण दासादिना चतुष्पदा गजाश्वादिना चानु पुष्यास्म। किञ्च, देवा नोऽस्माकं यज्ञम् ऋतुथा ऋतौ ऋतौ काले काले नयन्तु प्रापयन्तु प्राप्नुवन्तु।

अध्यात्मपक्षे हे परमेश्वर, भवत्कृपया वयं वीरैर्धर्मनिष्ठैर्भगवद्भक्तैः पुत्रैस्त्वत्सेवोपयोगिभिर्गोभिरश्वैः सर्वैः पुष्टैरनु पुष्यास्म पुष्टा भूयास्म। नोऽस्माकं यज्ञमर्चनं ऋतुथा काले काले देवा नयन्तु प्रापयन्तु, भगवदुपासने देवानामनुग्रहस्योपकारकत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा वयं पुष्टैर्वीरैरनु पुष्यास्म, पुष्टैर्गोभिरनु पुष्यास्म, पुष्टैरश्वैरनु पुष्यास्म, सर्वेणानु पुष्यास्म, द्विपदानु पुष्यास्म, चतुष्पदाऽनु पुष्यास्म, तथा देवा नो यज्ञमृतुथा नयन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असामञ्जस्यात्। तथाहि अत्र यज्ञपदेन धर्म्यव्यवहारो गृहीतः। तस्य विद्वत्कर्तृकं कथं नयनम्? धर्म्यस्य अधर्म्यस्य वा व्यवहारस्य व्यवहर्तृसाध्यत्वेन तत्र देवानपेक्षणात्। ज्ञाने विदुषामपेक्षणेऽपि व्यवहारे तेषामन्यथासिद्धत्वात् ॥ १९ ॥

अग्ने पत्नीरिहावह देवानामुशतीरुप । त्वष्टारꣳ सोमपीतये ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप देवताओं की हवि की इच्छा रखने वाली पत्नियों को और त्वष्टा देवता को सोमपान के निमित्त हमारे इस यज्ञ में बुलाइये ॥ २० ॥

अग्निदेवत्या गायत्री मेधातिथिदृष्टा । इत उत्तरं पञ्च याज्या अग्निष्टोमे नेष्टुः । तत्र आद्या प्रातःसवने नेष्टृचमसयागे प्रयुज्यते । हे अग्ने, देवानां पत्नीः, इह यागे त्वमुपावह आगमय । कथम्भूतास्ताः ? उशतीर्हविः कामयमानाः, वशेः शत्रन्तात् 'उगितश्च' (पा० सू० ४।१।६) इति ङीप् । त्वष्टारं देवं च उपावह । किमर्थम् ? सोमपीतये, पीतिः पानम्, सोमस्य पीतिः सोमपीतिस्तस्यै सोमस्य पानाय ।

अध्यात्मपक्षे हे अग्ने, कृष्ण परमेश्वर ! देवानामिन्द्रादीनां पत्नीः शक्तिरूपा उपावह स्वसमीपमानय । कीदृशीस्ताः ? उशतीः परमेश्वरप्रीतिं कामयमानाः । त्वष्टारं देवं च उपावह । किमर्थम् ? सोमपीतये सोमस्य त्वदीयस्वरूपसौन्दर्यमाधुर्यामृतस्य वा पीतये पानाय । देवा इन्द्रियाधिष्ठातारः, तत्पत्न्यश्चेन्द्रियशक्तयः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वमिह स्वसदृशान् पतीनुशतीः कामयमाना देवानां पत्नीः सोमपीतये त्वष्टारं देदीप्यमानमुपावह' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पत्नीनां पत्यन्तरकामनाया धर्मविरुद्धत्वात्, त्वष्टृपदस्य देदीप्यमानपतिबोधकत्वे बहुवचनस्य प्रयोक्तव्यत्वात्, पत्नीपदस्थाने कन्यापदस्य प्रयोक्तव्यत्वापाताच्च ॥ २० ॥

अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्टः पिब ऋतुना । त्वꣳ हि रत्नधा असि ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे पत्नीयुक्त नेष्टा नामक अग्निदेव, आप हमारे यज्ञ की सराहना कीजिये, ऋतु देवता के साथ सोमपान कीजिये, क्योंकि आप रमणीय धन को धारण करने वाले हैं ॥ २१ ॥

ऋतुदेवत्ये गायत्र्यौ मेधातिथिदृष्टे । ऋतुयागे नेष्टुर्याज्ये । नेष्टा स्वकीयामधिष्ठात्रीं देवतां ब्रवीति । हे ग्नावः, गमयन्ति प्रापयन्ति धर्मं पतिमिति ग्नाः पत्न्यः । गमिधातोरौणादिको नप्रत्ययः, टिलोपः । ग्नाः सन्ति यस्यासौ ग्नावान्, तत्सम्बुद्धौ हे ग्नावः, 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इत्यलोऽन्त्यपरिभाषामहिम्ना नकारस्य रुः, तस्य च विसर्गः । हे नेष्टः, नोऽस्माकं यज्ञमभिगृणीहि स्तुहि । 'गॄ शब्दे' क्र्यादित्वात् श्ना, 'ई हल्यघोः' (पा० सू० ६।४।११३) इत्याकारस्येकारः, 'प्वादीनां ह्रस्वः' (पा० सू० ७।३।८०) इति ह्रस्वः, गृणीहीति रूपम् । ऋतुना देवेन सह पिब, सोममिति शेषः । हि यस्मात् त्वं रत्नधा असि, रत्नानि दधाति धारयति यजमानायेति रत्नधा, रमणीयधनानां दातेति यावत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे ग्नावः, पत्नीवन् पत्नीवन्तो देवाः, व्यत्ययेनैकवचनम्, यज्ञं परमेश्वरं भगवन्तं श्रीकृष्णमभिगृणीहि अभिगृणीत, आभिमुख्येन स्तुतिं कुरुतेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे ग्नावः, नेष्टुः स्वमृतुना सह नो यज्ञमभिगृणीहि । यतस्त्वं हि रत्नधा असि, तस्मात् सदोऽवधिरासीनः पिब' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, ऋत्विग्विशेषे प्रसिद्धस्य नेष्टृशब्दस्य नायकार्थत्वायोगात् । नहि शिष्या उत्तमस्यापि स्वव्यवहारस्यैव प्रशंसाकरणार्थं प्रेरयन्ति । यः स्तोता स एवोत्तमरत्नधारक इत्यप्यसङ्गतम्, निर्धनानामपि स्तोतृत्वदर्शनात् ॥ २१ ॥

द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत । नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—धन के दाता अग्निदेव सोमपान करना चाहते हैं। हम उनकी प्रीति के लिये आहुति देते हैं, अनुष्ठान करते हैं। हे अग्निदेव, आप नेष्टा के धिष्ण्य स्थान से ऋतु देवताओं के साथ सोमपान के लिये जाइये ॥ २२ ॥

हे ऋत्विजः, अयमग्निर्द्रविणोदाः, द्रविणो धनं बलं वा ददातीति द्रविणोदाः, द्रविणस्शब्दो धनस्य बलस्य च वाचकः। पिपीषति पातुमिच्छति, सोममिति शेषः। 'पीङ् पाने' दिवादिः। अतो ब्रवीमि—हे ऋत्विजः, यूयं जुहोत जुहुत। प्र च तिष्ठत कर्मसूद्युक्ता भवतेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अयं परमेश्वरो द्रविणोदाः, द्रविणसो धनस्य भौतिकस्य आध्यात्मिकस्य च दाता। पिपीषति प्रेमामृतं पेतुमिच्छति, नान्यत्, पूर्णकामत्वात्। अतः प्रेम्णा जुहोत स्वसर्वस्वं निवेदयत। प्रतिष्ठत तदुपासनासु स्थिरा भवत। ऋतुभिर्देवैः सह नेष्ट्राद् नेष्टुरधिष्ठानं नेष्ट्रम्, वृद्धचभाव आर्षः, तस्मान्नेष्टुर्धिष्ण्याद् ऋतुभिर्देवैः सह नेष्ट्रुपलक्षितानां युष्माकं धिष्ण्येभ्यः स्वस्थानेभ्यस्तं प्रति इष्यत आश्रयत्वेन निश्चिनुत।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा द्रविणोदा ऋतुभिः सह नेष्ट्राद्विनयाद् रसं पिपीषति, तथा यूयं रसमिष्यत जुहोत प्रतिष्ठत च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। नेष्ट्रशब्दस्य विनयार्थतापि चिन्त्यैव ॥ २२ ॥

तवायꣳ सोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमꣳ सुमना अस्य पाहि।
अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुमिन्द्र ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव, यह सोम आपके लिये है, आप हमारे सम्मुख आइये। प्रसन्न मन से बहुत काल तक इस सोम की आप रक्षा कीजिये इस यज्ञ में स्थित होकर इस सोम को आप उदरस्थ कीजिये ॥ २३ ॥

इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप् विश्वामित्रदृष्टा, माध्यन्दिने सवने नेष्टृचमसयागे याज्या। हे इन्द्र, यतस्तवायं माध्यन्दिनीयः सोमोऽस्ति, अतोऽस्माभिः प्रार्थ्यमानोऽर्वाङ् अस्मदभिमुखः, त्वमेहि आगच्छ। एत्य च शश्वत्तमं शाश्वतिकं सर्वकालं सोमं सोमभागं गृहाण। संगृह्य च सुमनाः प्रसन्नचित्तो भूत्वा अस्य सोमस्य इमं सोमम्, कर्मणि षष्ठी, पाहि रक्ष। अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्यास्तृतदर्भेषु निषद्यावस्थानं कृत्वा उपविश्य इमं पुरोवर्तिनम् इन्दुं सोमं जठरे उदरे दधिष्व धारयस्व। 'धि धारणे' तौदादिकः, व्यत्ययेन शपः श्लुः, तङ्, अभ्यासेकारस्याकारश्च।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, यतोऽयं सोमः सोमोपलक्षितो निवेदनीयः पदार्थोऽस्ति, अतोऽर्वाङ् अस्मदभिमुखः, त्वमेहि आगच्छ। सुमनाः प्रसन्नमनाः शश्वत्तमस्य सोमस्य इमं सोमं रक्ष। अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्यास्तीर्णेषु कुशेषु निषद्य अवस्थाय इममिन्दुं जठरे उदरे दधिष्व धारयस्व, पिब खाद च। परमेश्वरस्य नित्यत्वात् तस्मै देयं भोग्यं सोमादिकमपि प्रवाहरूपेण नित्यमेव।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र विद्वन्, यस्तवायं सोम ऐश्वर्ययोगोऽस्ति, तत्त्वमेहि प्राप्नुहि। सुमना अर्वाङ् सन् अस्य शश्वत्तमं पाहि। अस्मिन् बर्हिषि उत्तमे साधुनि यज्ञे सङ्गन्तव्ये निषद्य जठरे इममिन्दुं चादधिष्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रपदेन गौणार्थग्रहणे बीजाभावात्। सोमपदस्य ऐश्वर्यार्थतापि प्रसिद्धिविरुद्धैव। तस्य च नित्यत्वे प्राप्त्यभिधानं निरर्थकं स्यात्। न च शश्वत्तममिति शब्देन धर्मो गृह्यते, विशेष्यानिर्देशेन विनिगमनाविरहात् ॥ २३ ॥

अमेव नः सुहवा आ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन।
अथा मदस्व जुजुषाणो अन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः॥ २४॥

मन्त्रार्थ—हे देवपत्नियों, आप अपने घर के समान समझ कर हमारे इस यज्ञ में अवश्य आइये। कुशा के आसन पर बैठकर परस्पर वार्तालाप करते हुए प्रसन्नता पूर्वक यहाँ बैठिये। हे त्वष्टादेव, देवपत्नियों के आने पर, हविरूप अन्न का सेवन करने वाले देवता और देवपत्नियों के तृप्त होने पर, आप भी उनके साथ तृप्तिलाभ कीजिये॥ २४॥

त्वष्टृदेवत्या जगती गृत्समदद्दृष्टा, तृतीयसवने नेष्टृचमसयागे याज्या। देवपत्न्यः प्रार्थ्यन्ते। अमाशब्दो गृहवचनः (निघ० ३।४।११)। हे देवपत्न्यः, नोऽस्माकं यज्ञगृहाणि अमेव स्वगृहमिव यूयमागन्तन आगच्छत। गमेर्लोटि मध्यमबहुवचने शपो लुकि रूपम्। हिः पादपूरणः। आगत्य च बर्हिषि दर्भे निषदतन निषीदत उपविशत। निषद्य च रणिष्टन रतिं प्रीतिं कुरुत। अथवा 'रण शब्दे' लुङि रूपम्, अडागमाभावः, परस्परं वार्तां कुरुत। 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति सर्वत्र तनबादेशः। कीदृश्यो देवपत्न्यः ? सुहवाः, सुष्ठु शोभनो हव आह्वानं यासां ताः। अथोपविष्टासु देवपत्नीषु त्वष्टारमाह—हे त्वष्टः, अन्धसः सोमस्य स्वमंशं जुजुषाणः सेवमानः, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' व्यत्ययेन शानचि शपः श्लुः। कथम्भूतस्त्वम् ? देवेभिर्देवैर्जनिभिर्जननहेतुभूताभिर्देवपत्नीभिः सुमद्गणः, सुष्ठु माद्यन्ति हृष्यन्तीति सुमदः। मदेः क्विप्। सुमदः परमसन्तुष्टा देवगणाः स्त्रीगणाश्च यस्य स सुमद्गणः।

अध्यात्मपक्षे—हे देवपत्न्यः, सुहवाः शोभनाह्वाः, अमेव स्वगृहवत्, नोऽस्माकं यज्ञगृहाणि आगन्तन आगच्छत। बर्हिषि निषदतन निषीदत। रणिष्टन प्रीतिं कुरुत। एवं देवैः सह देवपत्न्यो यज्ञे उपासनारूपे परमेश्वरस्य सौन्दर्यामृतास्वादनाय आगच्छन्ति। त्वष्टा विश्वनिर्माता परमेश्वरस्तमाह—अथागतासु सपतिकासु देवपत्नीष्वन्धसः, अन्धः सोमलक्षणमन्नं जुजुषाणो मदस्व तृप्यस्व। कीदृशस्त्वम् ? देवैस्तदीयाभिर्जनिभिश्च सुमद्गणः सुप्रसन्नगणो देवानां जनीनां च यस्य सः। भक्तानां प्रसादे भगवानपि प्रसीदति। यथा भक्ता भगवन्तं दृष्ट्वा तदीयसौन्दर्यामृतपाने माद्यन्ति, तथैव भगवानपि भक्तानां प्रेमामृतमास्वाद्य माद्यतीति॥ २४॥

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः॥ २५॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, अत्यन्त स्वादिष्ट अति हर्ष को प्रदान करने वाली धारा के साथ तुम दशापवित्र से द्रोणकलश में आओ, क्योंकि तुम इन्द्र के पान के निमित्त अभिषुत हुए हो॥ २५॥

सौम्यौ पावमान्यौ गायत्र्यौ मधुच्छन्दोदृष्टे जपादिषु विनियुक्ते। उक्तं च—'रसीभूतो यदा सोमः पवित्रात् क्षरति ग्रहम्। ऋग्भिः स्वादिष्ठयाद्याभिः पवमानः स उच्यते॥' इति। हे सोम, धारया कृत्वा पवस्व दशापवित्राद् द्रोणकलशं प्रति पवस्व गच्छ। कीदृश्या धारया ? स्वादिष्ठया स्वादो विद्यते यस्यां सा स्वादवती, अत्यन्तं स्वादवती स्वादिष्ठा, तया। 'विन्मतोर्लुक्' (पा० सू० ५।३।६५) इति मतुपो लुक्। मदिष्ठया मदयतीति मदयित्री, अतिशयेन मदयित्री मदिष्ठा, तया। 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः। यत इन्द्राय तन्नामकाय देवाय पातवे पातुं त्वं सुतोऽभिषुतोऽस्यस्माभिरतो धारया पवस्व।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, उमया सहित शिव, त्वं सोमरसो भूत्वा इन्द्राय परमैश्वर्यवते भगवते विष्णवे श्रीरामाय श्रीकृष्णाय च स्वादिष्ठया मदिष्ठया धारया पवस्व द्रोणकलशं प्रति गच्छ, यतस्त्वमिन्द्राय भगवते पातवे तस्य पानाय सुतोऽभिषुतोऽस्यस्माभिः। भक्ताः सर्वशेषिणे भगवते स्वात्मानमपि तदुपकरणं कुर्वन्ति, भगवद्भोग्यतां चोपगच्छन्ति। तेन उमया सहितः शिव एव सोमत्वमुपगम्य स्वादिष्ठया मदिष्ठया धारया भगवन्तं तर्पयति। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव॥ २५॥

रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहते । द्रोणे सधस्थमासदत् ।। २६ ।।

॥ इति षड्विंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—राक्षसों का नाश करने वाले, सभी प्राणियों के शुभ-अशुभ कर्मों को देखने वाले अथवा समस्त ऋत्विक् और यजमानों से युक्त त्वष्टा देव के शस्त्र से संस्कृत द्रोणकलश में स्थित होकर हे सोमरस, तुम इस यज्ञ-स्थान में सबके सम्मुख स्थित रहो ।। २६ ।।

अयमेव सोमो रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । विश्वचर्षणिर्विश्वं कृषतीति विश्वचर्षणिः, 'कृषेरादेश्च चः' (उ० २।१०६) इत्यनिप्रत्ययः, धातोरादेश्चकारश्च । अथवा विश्वं सर्वं जगच्चष्टे पश्यतीति विश्वचर्षणिः, बाहुलकादनिः, रमागमश्च । सर्वस्य जगतो द्रष्टा । यद्वा विश्वे सर्वे चर्षणयो मनुष्या ऋत्विग्यजमानलक्षणा कण्डनाहरणादिषु प्रवृत्ता यस्य सः । एतादृशः सोमो योनिं स्थानं द्रोणे द्रोणम्, विभक्तिव्यत्ययः, द्रोणकलशरूपं योनिं स्थानमभि आभिमुख्येन आसदत् सीदति । कीदृशे द्रोणे ? अयोहते अयसा कृष्णलोहेन हते उत्कीर्णे, योनि-मित्यनेन सामानाधिकरण्यात् । अयसा कृत्वा वास्या तक्ष्णा सोमभाजनीकृतं द्रोणं तद्रूपं स्थानम्, तथा सधस्थं सह सार्धं तिष्ठन्ति सोमा यत्र स सधस्थः, 'सुपि स्थः' (पा० सू० ३।२।४) इति कप्रत्ययः, 'आतो लोप इटि च' (पा० सू० ६।४।६४) इत्याकारलोपः, 'सध मादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति सहस्य सधादेशः । असदत् 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति सदेर्लडर्थे लुङ् । 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।१।५५) इति च्लेरङि रूपम् । किञ्च, नेष्ट्राद् नेष्टुरिदं नेष्ट्रम्, वृद्ध्यभाव आर्षः, नेष्टुर्धिष्ण्याद् ऋतुभिर्देवैः सह इष्यते सोमं प्रति गच्छति । 'इष् गतौ' दिवादित्वात् श्यन् ।

अन्तःसदसं प्राक् पदद्वयमवशेष्य पृष्ठ्यायां तथैव होतुः खरं करोति—'वह्निरसि हव्यवाहनो रौद्रेणानीकेन पाहि माग्ने पिपृहि माग्ने गोपाय मा नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः' इति । अयं होतृखरो होतृधिष्ण्यमुच्यते । अग्रेणाहवनीयं पर्याहृत्य होतृधिष्ण्याद् दक्षिणतोऽरत्निमात्रे मैत्रावरुणस्य खरं करोति—'श्वात्रोऽसि प्रचेता रौद्रेणानीकेन पाहि माग्ने पिपृहि माग्ने गोपाय मा नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः' इति । अयं खरो मैत्रावरुणधिष्ण्यम् । तस्य धिष्ण्यस्योत्तरतोऽरत्निमात्रे ब्राह्मणाच्छंसिनः खरं करोति—'ॐ तुथोऽसि विश्ववेदा रौद्रेणानीकेन पाहि माग्ने पिपृहि माग्ने गोपाय मा नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः' इति । अयं खरो ब्राह्मणाच्छंसि-धिष्ण्यम् । तस्योत्तरतोऽरत्निमात्रे पोतुः खरं करोति—'उशिगसि कवी रौद्रेणानीकेन पाहि माग्ने पिपृहि माग्ने गोपाय मा नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः' इति । अयं खरः पोतृधिष्ण्यम् । तदुत्तरतोऽरत्निमात्रे नेष्टुः खरं करोति—'अङ्घारिरसि बम्भारी रौद्रेणानीकेन पाहि माग्ने पिपृहि माग्ने गोपाय मा नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः' इति । अयं खरो नेष्टृधिष्ण्यमुच्यते ।

अध्यात्मपक्षे – स सोमः साम्बसदाशिवः, रक्षोहा रक्षसामपहन्ता विश्वचर्षणिः सर्वस्य द्रष्टा द्रोणमयोहतं द्रोणकलशं सधस्थमभ्यासदत् ।

दयानन्दस्तु—'यो रक्षोहा विश्वचर्षणिर्विद्वानयोहतेऽयसा सुवर्णेन हते द्रोणे सधस्थं योनिमभ्यासदत्, स सर्वं सुखमाप्नुयात्' इति, तदध्यसङ्गतम्, द्रोणकलशादिवैदिकवृत्तान्तानभिज्ञानात्, सोमप्रसङ्गमपहाय विद्वत्प्रसङ्गयोजने प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गाच्च । नहि विद्वानयोहते द्रोणे योनिमासीदति ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां षड्विंशोऽध्यायः ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।

सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आभाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, महीने-महीने, ऋतु-ऋतु और प्रत्येक संवत्सर में ऋषिगण जिन सत्यरूप मन्त्रों से आपकी वृद्धि करते हैं, उनसे दिव्य कान्ति द्वारा आप प्रदीप्त हों। चारों दिशाओं और विदिशाओं को आप प्रकाशित करें ॥ १ ॥

अयमध्यायः पञ्चचितिकस्याग्नेः सम्बन्धी प्रजापतिदृष्टः। नव ऋचोऽग्निदेवत्यास्त्रिष्टुभोऽग्निना दृष्टाः। इष्टकापशौ समिध्यमानसमिद्धयोरन्तराले आसां विनियोगः। अग्निर्ऋषिः कर्माङ्गभूतमग्निं स्तौति—हे अग्ने, समा मासाः, नात्र समाशब्दः संवत्सरवचनः, संवत्सरा इति पृथगुक्तेः। ऋतवो वसन्ताद्याः, संवत्सरास्तदधिष्ठातारो देवाः, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च। यानि सत्या सत्यानि, सत्यरूपा मन्त्रा इत्यर्थः, एते त्वां वर्धयन्तु। त्वमप्येतैर्वर्धमानः सन् दिव्येन दिवि भवो दिव्यस्तेन, 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' (पा० सू० ४।२।१०१) इति यत्। रोचनेन दीप्त्या सन्दीदिहि सन्दीप्यस्व। क्रीडाविजिगीषाद्यर्थकस्य दिवेर्व्यत्ययेन श्लौ 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इति तुजादीनामाकृतिगणत्वादभ्यासदीर्घः। किञ्च, विश्वाः सर्वाः प्रदिशो विदिशश्चतस्रो दिशश्च आभाहि प्रदीपय, अन्तर्भूतो ण्यर्थः, 'भा दीप्तौ'।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, एते मासास्त्वां वर्धयन्तु तव वर्धापनं कुर्वन्ति। तैरेवं वर्धापितस्त्वं दिव्येनालौकिकेनाद्भुतेन रोचनेन दीप्त्या सन्दीदिहि सन्दीप्यस्व। विश्वाः सर्वाः प्रदिशोऽवान्तरदिशश्चतस्रो दिशश्च आभाहि प्रदीपय। माधुर्यभावेन वशिष्ठादय इव ब्रह्मादिदेवा अपि भगवन्तं रामचन्द्रं वर्धापयन्ति। तैर्वर्धापितो भगवान् प्रदीप्यते, सर्वाः प्रदिशः, चतस्रः प्राच्यादिदिशश्च प्रदीपयति।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, समा ऋतवः संवत्सरा ऋषयो यानि सत्यानि सन्ति ते त्वा वर्धयन्तु, यथाग्निर्दिव्येन रोचनेन विश्वाश्चतस्रः प्रदिशः प्रकाशयति, तथा विद्यां सन्दीदिहि, न्याय्यं धर्ममाभाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारमूलकत्वात्। नहि खलु ऋतवो जडाः सन्तः प्रार्थनाः श्रोतुं शक्नुवन्ति, कुतः पूरयितुम्? प्राकृतिकनियमबद्धत्वात्। न वा त्वद्रीत्या जडाः स्तोतुमर्हाः। सिद्धान्ते तु तत्तदवच्छिन्नचैतन्यात्मानो देवा माहाभाग्यात् शृण्वन्ति कर्तुं शक्नुवन्ति च। न च विद्यान्याय्यधर्मादिशब्दा मूले सन्ति, तस्माद् वेदबाह्यमेवैतत् सर्वमिति ॥ १ ॥

सं चेद्धयस्वाग्ने प्र च बोधयैनमुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।

मा च रिषदुपसत्ता ते अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप प्रदीप्त होइये और इस यजमान को प्रबोधित कीजिये। महान् ऐश्वर्य के निमित्त तत्पर होइये। हे अग्निदेव, आपकी उपासना करने वाले भक्त का अनिष्ट न हो, ऋत्विक्गण और यजमान यशस्वी हों। जिनकी आपके प्रति भक्ति नहीं है, वे यशस्वी न हों ॥ २ ॥

हे अग्ने, समिद्धयस्व दीप्यस्व । 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इत्युपसर्गक्रिययोर्व्यवधानेन प्रयोगः । व्यत्ययेन च श्यन् । तथा च प्रबोधय एनं यजमानम्, यथाग्निश्चेतव्य इति यजमानमवगतार्थं कुरु, महते बृहते सौभगाय लोकोत्तरैश्वर्याय उत्तिष्ठ च तथाभूतमैश्वर्यं दातुमुद्यतो भवेत्यर्थः । हे अग्ने, ते तवोपसत्ता उपसीदतीत्युपसत्ता, 'ण्वुल्तृचौ' (पा० सू० ३।१।१३३) इति तृच्, सेवको मा रिषद् मा नश्यतु च । स ह्यग्निमुपसीदति । हे अग्ने, ते तव ब्रह्माणस्तव सम्बन्धिन ऋत्विग्यजमाना यशसो यशस्विनः सन्तु । मत्वर्थीय-प्रत्ययलोपः । मा अन्ये, अन्येऽयज्वानो यशस्विनो मा सन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर श्रीराम, समिद्धयस्व प्रतापतेजोभ्यां प्रज्वल, प्रबोधय चैनं यजमानं भजनपरायणम् । स्वभक्तस्य महते सौभगाय उत्तिष्ठ बद्धकक्षो भव, तीव्रतममुद्योगं कुर्विति यावत् । हे भगवन्, ते तवोपसत्ता उपसदनकर्ता त्वदाराधको मा रिषद् मा नश्यतु, ते तव सम्बन्धिनो ब्रह्माणो ब्राह्मणा यशस्विनः सन्तु । अन्ये तथा मा सन्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं समिद्धयस्व एनं प्रबोधय च । महते सौभगाय चोत्तिष्ठ । उपसत्ता भवान् सौभगं मा रिषत् । हे अग्ने, ते ब्रह्माणोऽन्ये च मा सन्तु । ते यशस उन्नतिर्मा रिषत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विशृङ्खलान्वयात् । अध्याहारमन्तरापि ते तव उपसत्ता सेवको मा रिषद् मा विनश्यत्वित्यन्वयोपपत्तौ सौभग-मित्यध्याहारानौचित्यात् । नहि सेवातः समुपसत्ता भवति, उपसदनस्य सेवकधर्मत्वात् । ब्रह्माणोऽन्ये च मा सन्तु, ते यशस उन्नतिर्मारिषदित्यसङ्गतेः, तथा प्राप्त्यभावेन निषेधायोगात् ॥ २ ॥

त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्म॒णा इ॒मे शि॒वो अ॑ग्ने सं॒वर॑णे भवा नः ।
स॒प॒त्न॒हा नो॑ अभिमाति॒जिच्च॒ स्वे गये॑ जागृ॒ह्यप्र॑युच्छन् ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, ये ब्राह्मण आपकी उपासना करते हैं । ब्राह्मणों के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर आप हमारा कल्याण कीजिये । हमारे शत्रुओं के नाशक, अभिमानियों को जीतने वाले आप हमारे गृह में प्रमादरहित होकर जागिये ॥ ३ ॥

हे अग्ने, इमे ब्राह्मणा ऋत्विजस्त्वां वृणते यागाय सम्भजन्ते । यत एवमतः प्रार्थयामहे । हे अग्ने, संवरणे ब्राह्मणैः सह एकस्मिन् वरणे जाते सति नोऽस्माकं कृते शिवः शान्तो भव । नोऽस्माकं सपत्नहा शत्रुहन्ता भव, अभिमातिजिच्च भव, जयतीति जित्, अभिमातीनां शत्रूणां जिदभिमातिजित्, हतावशिष्टानां शत्रूणां जेता च भव । स्वे स्वकीये गये गृहेऽप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन्, 'युछ् प्रमादे', जागृहि सावधानो भव ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन्, इमे ब्राह्मणा ब्रह्मविदस्त्वां वृणते सम्भजन्ति समाश्रयन्ते । हे अग्ने, एवं संवरणे भक्तकर्तृकसमीचीनवरणे कृते सति शिवो मोक्षप्रदानेन तेषां सुखमयो भव । व्यवहारे च तेषां सपत्नानां हन्ता भव, हतावशिष्टानामभिमातीनां जेता भव । स्वे गये स्वीये भक्तानां गये भवनेऽप्रमाद्यन् जागृहि । कथञ्चिदपि यथा तेषां भक्तानां ब्राह्मणानां मनागपि हानिर्न स्यात्तथा सावधानो भवेति सदाऽवहितस्याप्यवधानं प्रार्थयन्ते भक्ताः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, य इमे ब्राह्मणास्त्वां वृणते, तान् प्रति त्वं च संवरणे शिवो भव । नोऽस्माकं सपत्नहा भव । हे अग्ने, अप्रयुच्छन्नभिमातिजिच्च त्वं स्वे गये जागृहि । नोऽस्मांश्च जागृतान् कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रस्य विदुषः प्रार्थितसम्पादने सामर्थ्याभावात् । न चाविद्वानेवं विद्वांसं प्रति वक्तुमर्हति,

प्रार्थनीयोपदेष्टव्ययोर्भेदात् । न चोभौ उपदेष्टव्या एवेति वाच्यम्, अस्माकं सपत्नहा भवेत्युक्तेः । अभिमातिपदं च शत्रौ प्रसिद्धमिति नाभिमानबोधकम् ॥ ३ ॥

इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा निक्रन् पूर्वचितो निकारिणः ।
क्षत्रमग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप इन यजमानों के धन में वृद्धि कीजिये, अधिक यज्ञ करने वाले ऋत्विक्गण आपकी अवज्ञा न करें । हे अग्निदेव, आपके प्रभाव से क्षत्रिय जाति हमारे लिये सुख से वश में करने योग्य हो, आपका भक्त किसी प्रकार भी दुःखित न होकर धन-पुत्र आदि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करे ॥ ४ ॥

हे अग्ने, इहैव कर्मणि वर्तमानानामस्माकमधि उपरि रयिं धनं धारय । यद्वा--इहैव अस्मास्वेव यजमानेषु रयिं धनं त्वमधि अधिकं धारया देहि, संहितायां दीर्घः । पूर्वचितः पूर्वं येऽग्निं चितवन्तः, अत एव निकारिणो नितरां यज्ञशीला ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनो यज्ञानुष्ठायिनो वा, ते त्वां मा निक्रन् मा नीचैः कुर्वन्तु, माऽवजानन्त्वित्यर्थः । करोतेर्लङि शपि लुप्ते प्रथमपुरुषबहुवचने रूपम् । किञ्च, हे अग्ने ! क्षत्रं क्षत्रियजातिस्तुभ्यं तव प्रसादात् सुयमं साधु नियन्तृ अस्तु । अथवा क्षत्रजातिस्तव सुयमं सुखेन नियन्तुं वशीकर्तुं शक्यमस्तु, 'ईषद्-दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' (पा० सू० ३।३।१२६) इति सुपूर्वाद्यमेः खल्प्रत्यये रूपम् । ते तव उपसत्ता उपसदनकर्ता यजमानः, अनिष्टृतोऽनुपहिंसितः सन् वर्धतां धनपुत्रादिभिः । निपूर्वस्य 'स्तृञ् आच्छादने' इत्यस्य निष्ठायां रूपम् । अत्र हिंसायां वृत्तिः ।

अध्यात्मपक्षे -हे अग्ने ईश्वर, इहैवास्मास्वेव यजनशीलेषूपासकेषु रयिं धनं बाह्यमाध्यात्मिकं च ज्ञानवैराग्यादिलक्षणं धारय स्थापय । निकारिणो नितरां कर्मकारिणः कर्मणा त्वा मा निक्रन् माऽवजानन्तु, 'वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः' (भ० गी० २।४२) इति गीतोक्तेः । हे अग्ने परमेश्वर, क्षत्रं तुभ्यं तव सुयमं सुखेन नियन्तुं शक्यमस्तु । ते तव उपसत्ता उपासकः, अनिष्टृतोऽनुपहिंसितो वर्धताम्, क्रममुक्त्या कैवल्यमुक्त्या वोत्कर्षं प्राप्नुतात् ।

दयानन्दस्तु -'हे अग्ने, त्वमिह रयिं धारय । पूर्वचितो निकारिणस्त्वा मा निक्रन् । हे अग्ने, ते सुयमं क्षत्रमस्तु, येनोपसत्ता सन्निष्टृतो भूत्वा एव भवानधिवर्धताम् । तुभ्यं क्षत्रं सुसुखदातृ भवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पुनरुक्त्यादिदोषदुष्टत्वात् । ते सुयमं क्षत्रमस्तु, तुभ्यं क्षत्रं सुसुखदातृ भवत्विति पुनरुक्ते-र्निर्मूलत्वात् । सुखदात्रित्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव । क्षत्रपदस्य धनराज्यपरत्वमपि निर्मूलमेव । पूर्वचित इत्यस्य पूर्वैः प्राप्तविज्ञानादिभिर्वृद्धैरित्यर्थोऽपि न युक्तः, चिनोतेश्चयतेर्वा तथार्थत्वायोगात् ॥ ४ ॥

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सꣳरभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व ।
सजातानां मध्यमस्था एधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे श्रेष्ठ दशा वाले अग्निदेव, आप क्षत्रिय यजमान के साथ यज्ञ का आरम्भ करें । सूर्य के साथ आप इस यजमान के यज्ञ में प्रयत्नशील हों । यह सजातियों के मध्य में स्थित होकर वृद्धि पावें । हे अग्निदेव, राजाओं के द्वारा आहूत होकर आप इस यज्ञ में प्रदीप्त हों ॥ ५ ॥

हे अग्ने, त्वं क्षत्रेण आत्मानं सम्पाद्य स्वायुः, सुष्ठु शोभन आयुर्जीवितकालो यस्यासौ स्वायुः सन्, यज्ञं वोढुं संरभस्व समारभस्व। मित्रेण सम्पाद्य आत्मानं मित्रधेये यतस्व, यथा मित्राणि धार्यन्ते तथा यतस्व। सजातानां समानजन्मनां मध्यमस्थाः, मध्यमे तिष्ठतीति मध्यमस्थाः, क्विपि रूपम्, मध्यमस्थः सन् एधि। यथा सजाता अपि यज्वानो भवन्तु तथा एधि। हे अग्ने, राज्ञां राजभिः, कर्तरि षष्ठी, विहव्यो विविधं हूयत आहूयत इति तथोक्तः, राजभिर्यज्ञे आह्वातव्यस्त्वमिह यज्ञगृहे दीदिहि दीप्यस्व, दीव्यतेर्व्यत्ययेन शपः श्लौ 'श्लौ' (पा० सू० ६।१।१०) इति धातोर्द्वित्वे, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इति तुजादेराकृतिगणत्वाद् दीर्घे, 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) इति वकारलोपे रूपम्।

यद्वा—हे अग्ने, त्वं क्षत्रेण संरभस्व समारभस्व समारम्भय, यज्ञमिति शेषः। अन्तर्भावितण्यर्थो बोध्यः। क्षत्रियान् यज्ञे प्रवर्तयेत्यर्थः। स्वायुः, एति प्राप्नोति सर्वान् पुरुषार्थानित्यायुः; 'छन्दसीणः' (उ० १।२) इत्येतेरुण्प्रत्ययः, मनुष्यः, सुष्ठु शोभन आयुर्मनुष्यो यजमानो यस्यासौ स्वायुः, अयमुकारान्त आयुशब्दो मनुष्यवाची। मित्रेण सूर्येण सह वर्तमानः सन् मित्रधेये, धातुं योग्यं धेयं कार्यं यागादिलक्षणम्, मित्रस्य यजमानस्य धेयं मित्रधेयम्, तत्र। त्वं यतस्व यजमानेन यज्ञादिकं कारयेत्यर्थः। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे हे अग्ने भगवन् विष्णो, त्वं क्षत्रेण श्रीरामरूपेणात्मानं सम्पाद्य यज्ञं संरभस्व विविधान् यज्ञान् अनुष्ठाय यज्ञमर्यादां स्थापय। हे अग्ने विष्णो, सुग्रीवविभीषणादेर्मित्ररूपेणात्मानं सम्पाद्य मित्रधेये मित्रसम्पादनार्थे कार्ये यतस्व, सुग्रीवविभीषणाद्यभीष्टं कार्यं कुरु। सजातानां समानजन्मनामन्येषां मध्यमस्था एधि, सजाता अपि यथा यज्वानो भवन्ति तथा भव। हे अग्ने, इह यज्ञस्थाने भक्तहृदये च दीदिहि दीप्यस्व। कीदृशस्त्वम् ? राज्ञां विहव्यः, राजभिर्विविधैः प्रकारैर्हूयते यः सः, राजभिरपि य आश्रीयते, आत्मरक्षार्थमाहूयते स राजराजेश्वरोऽग्निरित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वमिह क्षत्रेण सह स्वायुः संरभस्व। हे अग्ने, मित्रेण सह मित्रधेये यतस्व। हे अग्ने, सजातानां राज्ञां मध्ये मध्यमस्था एधि। विहव्यः सन् दीदिहि च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदाक्षर-बाह्यत्वात्, क्षत्रशब्दस्य राज्यधनार्थतासिद्धेः। मध्यमाः पक्षपातरहिता ये तेषां नाधिकरणता, न वाग्नेराधेयता सम्भवति। अग्निपदस्य न्यायप्रकाशतारूपोऽर्थोऽपि गौण एव। न च मुख्यार्थतायां सत्यां गौणार्थता युक्ता। साक्षीत्यर्थस्तु दुर्लभ एव। सत्यां गतौ न व्युत्क्रमेणान्वयः। तेन सजातानां राज्ञामिति नान्वयः॥ ५॥

अति निहो अति स्रिधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यꣳ सहवीराꣳ रयिं दाः॥ ६॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप जीवघातियों का अतिक्रमण कर, दुराचारियों का अतिक्रमण कर, चंचल चित्त वालों का अतिक्रमण कर, कृपणों का अतिक्रमण कर सकल पापों को अवश्य दूर करें। तदनन्तर हे परमात्मन्, हमें वीर पुत्रों और धन से सम्पन्न करें॥ ६॥

हे अग्ने, हि निश्चयेन विश्वा विश्वानि दुरिता दुरितानि पापानि त्वं सहस्व अभिभव, विनाशयेत्यर्थः। किं कृत्वा ? निहः, निहान् निहन्तॄनतिक्रम्य निघ्नन्तीति निहाः, निपूर्वात् हन्तेः 'अमन्ताड्डः' (उ० १।११३) डः, डित्वाट्टिलोपः, तान्, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति शसः सुः, निहान् अतिक्रान्तोऽतिक्रम्य स्थित इति यावत्। अति स्रिधः, स्रेधतिः कुत्सितकर्मा, स्रेधन्तीति स्रिधः कुत्सिताचरणान् अतिक्रम्य। अत्यचित्तिम्

अन्यमनस्कतामतिक्रम्य। अरातिम्, न रातिर्दानं यस्यासावरातिः, तम्, अदातारमतिक्रम्य, हे अग्ने, हि निश्चितं दुष्टान् सर्वानतिक्रम्य पापं नाशयेत्यर्थः। किञ्च, अथ अनन्तरं हे अग्ने, अस्मभ्यं सहवीरां वीरैः पुत्रैः सहितां रयिं दाः देहि।

अध्यात्मपक्षे— सर्वमेतदाञ्जस्येन भगवत्येव सङ्गच्छते। हे भगवन्नग्ने परमेश्वर, विश्वानि सर्वाणि दुरितानि सहस्व अभिभव नाशय। यस्य नाम्नापि पातकानि प्रणश्यन्ति, किमु वक्तव्यं तस्य दुरितनाशकत्वे। हे भगवन्, निहो निहान् निहन्तॄन् अतिक्रम्य स्रिधो दुराचारानतिक्रम्य अचित्तिममनस्कतामन्यमनस्कतां वा अतिक्रम्य अरातिमतिक्रम्य सर्वान् दोषानतिक्रम्य दुरितानि नाशय। अस्मभ्यं सहवीरां रयिं श्रियं च देहि।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वमतिनिहः सन् स्रिधोऽतिसहस्व। अचित्तिमत्यरातिं सहस्व। हे अग्ने, त्वं हि विश्वा दुरितानि सहस्व। अथ अस्मभ्यं सहवीरां रयिं दाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वैरूप्यार्थस्वीकारात्। योऽसत्यं नितरां जहाति स निह इत्यप्यसङ्गतम्, असत्यपदस्य अत्राश्रुतत्वात्। तदपेक्षया निहन्तीति निह इत्यधिकं श्लिष्यते। हिन्दीभाष्ये दुराचारानतिसहस्वेत्युक्तम्, तत्र सहस्वेत्यनेन सहनमुक्तम्। तथात्वेऽचित्तिमज्ञानमतिसहस्वेत्यत्रापि तथार्थः किन्न स्यात् ॥ ६ ॥

अनाधृष्यो जातवेदा अनिष्टृतो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह।
विश्वा आशाः प्रमुञ्चन्मानुषीर्भियः शिवेभिरद्य परि पाहि नो वृधे ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ— हे अग्निदेव, आप तिरस्कार के अयोग्य, सर्वज्ञ, अविनाशी, सर्वत्र राजमान क्षात्र तेज को पुष्ट करने वाले हैं। इस कर्म में सकल आशाओं को परिपूर्ण कीजिये, मनुष्य सम्बन्धी भय को दूर करते हुए शान्त भाव से हमारे ऐश्वर्य में वृद्धि कीजिये, हमारी रक्षा कीजिये ॥ ७ ॥

हे अग्ने, इह कर्मणि विद्यमानस्त्वं सर्वा आशा दिशो दीदिहि दीप्यस्व प्रकाशयस्व। नोऽस्मान् अस्मिन् दिने वृधे वर्धनाय शिवेभिः शिवैः शान्तैरर्चिभिः सर्वतः परिपाहि। वर्धनं वृत्, सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्, तस्यै। कीदृशस्त्वम् ? अनाधृष्यः, अप्रधृष्यः, पराभवितुमशक्य इति यावत्। जात उत्पन्नो वेदो धनं ज्ञानं वा यस्मात् स जातप्रज्ञानः। अनिष्टृतः, निःशेषेण स्तृतो हिंसितो निष्टृतः, न निष्टृतोऽनिष्टृतः। आच्छादनार्थकस्याप्यत्र हिंसार्थे वृत्तिः, निघण्टौ द्वितीयेऽध्याये एकोनविंशेऽनुच्छेदे स्तृणातेर्वधकर्मसु परिगणनात्। विराट्, विविधं राजत इति विराट्। क्षत्रभृत् क्षत्रं बिभर्तीति क्षत्रपोषकः। तथा मानुषीर्मनुष्यस्य इमा मानुष्यः, ता भियो मनुष्यसम्बन्धिनीर्जन्मजरामृतिशोकादिकाः प्रमुञ्चन् निवर्तयन् सर्वतः परिपाहीति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, इहास्मिन् संसारकान्तारेऽज्ञानान्धतमसे विश्वाः सर्वा आशाः शिवैः शान्तैः प्रकाशैर्दीदिहि प्रकाशय, परमेश्वरस्यैव तव तादृशसामर्थ्यसत्त्वात्। अद्यास्मिन् दिने नोऽस्मान् सर्वत आन्तराद् बाह्याच्चोपद्रवान्मानुषीर्मनुष्यसम्बन्धिनीर्भियो जन्मजरामरणशोकदैन्योत्थानि प्रमुञ्चन् अपसारयन् परिपाहि रक्ष। किमर्थम् ? वृधे वर्धनाय उपाधिपरिच्छेदनिवृत्तिपूर्वकभूमपदप्राप्तये। कीदृशो भवान् ? अनाधृष्यः प्रधर्षयितुमशक्यः, जातवेदा जाताः प्रादुर्भूता वेदाः सर्वविद्योद्गमस्थानभूता ऋगादयो यस्मात् सः, अनिष्टृतो नित्यत्वादद्वितीयत्वादसङ्गत्वाच्चानुपहिंसितः। विराड् विशेषेण राजते दीप्यत इति विराट् स्वप्रकाशः। क्षत्रभृत् क्षत्रस्य क्षत्रं धर्मं बिभर्तीति क्षत्रभृद् धर्मरक्षकः, 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥' (भ० गी० ४।७-८) इति गीतास्मरणात्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, योऽद्येहास्मिन् राजव्यवहारे मानुषीर्भियो नाशयन् शिवेभिश्च सभ्यैः सह अनिष्टृतोऽनाधृष्यो जातवेदा जातविद्यो विराड् यः क्षत्रं राज्यं बिभर्ति, स क्षत्रभृद्यदस्ति स त्वं नो दीदिहि कामय। विश्वा आशाः प्रमुञ्चन् त्वं नो वृधे परिपाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'अग्ने' इत्यस्य 'सुसंगृहीतराजनीते' इति विवरणे मानाभावात्, धर्मब्रह्मपरे वेदे राजनीतिपरायणमनुष्यमात्रवर्णने तात्पर्यासम्भवात्, शिवैरित्यस्यानेकार्थसम्भवे विशेष्यानिर्देशात् सभ्यैरित्यर्थविवरणे विनिगमनाविरहात्। न च कामना विधेया, तस्याः कृत्यगोचरत्वात्, जानातीच्छत्यथ करोतीति नियमात्। न चाशा बाध्यन्ते, तासामनन्तत्वात् ॥ ७ ॥

बृह॑स्पते सवितर्बो॒धयै॑न॒ꣳ सꣳशि॑तं चि॒त्सन्त॒राꣳ सꣳशि॑शाधि।
व॒र्धयै॑नं मह॒ते सौभ॑गाय॒ विश्वे॑ एनम॒नु॑मदन्तु दे॒वाः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे बृहस्पति और सविता देव, आप इस यजमान को कर्म का ज्ञाता बनाइये, शिक्षित को भी पुनः शिक्षित कीजिये। महान् ऐश्वर्य की ओर उसे बढ़ाइये, जिससे कि सभी देवता इस यजमान की प्रशंसा करें ॥ ८ ॥

हे बृहस्पते! हे सवितः, एतं यजमानं बोधय त्वदाराधनलक्षणकर्मावबोधवन्तं कुरु। संशितं चित्, चिदप्यर्थे, संशितव्रतमपि शिक्षितमपि वा सन्तरामतितरां संशिक्षय, शासेः शपः श्लौ द्वित्वम्, अभ्यासस्य छान्दसमित्वम्। किञ्च, महते सौभगाय महैश्वर्याय एनं यष्टारं वर्धय। विश्वे सर्वे देवा एनमनुमदन्तु समुत्साहयन्तु प्रहर्षयन्तु वा। अन्तर्भावितणिजर्थो द्रष्टव्यः। अत्र सामिधेन्यङ्गभूतौ बृहस्पतिसवितृशब्दाभ्यामग्निरेवोच्यते। अग्नौ बृहताम्पतित्वेन बृहस्पतित्वं विश्वहेतुत्वेन सवितृत्वं च सम्भवत्येव। वाक्यद्वयं वा मन्तव्यम्। एकेन बृहस्पतिरपरेण सविता च बोध्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे बृहस्पते, बृहतां महदादीनां ब्रह्मादीनां वा पालक, हे सवितः सर्वप्रसवितः परमेश्वर, एवं स्वशरणागतं भक्तं बोधय स्वस्वरूपगुणमाहात्म्यादिज्ञानवन्तं कुरु। संशितं चित् शिक्षितमपि सन्तरामतितरां संशिशाधि शिक्षितं कुरु। महते सौभगाय त्वत्स्वरूपसाक्षात्कारसौभाग्यप्राप्तये, एनं वर्धय उपाध्यध्यासापनोदनेन स्वाभाविकं ब्रह्मात्मभावमाविर्भावय। विश्वे सर्वे देवा एनं भगवद्भावप्राप्तये समुद्यतमनुमदन्तु प्रहर्षयन्तु ॥ ८ ॥

अ॒मु॒त्र॒भूया॑द॒ध यद्य॒मस्य॒ बृह॑स्पते अ॒भिश॑स्ते॒रमु॑ञ्चः।
प्रत्यौ॑हताम॒श्विना॑ मृत्युम॑स्माद्दे॒वाना॑मग्ने भि॒षजा॒ शची॑भिः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे बृहस्पति देव, आप हमें मृत्यु से, यमराज के नरकपात से और सभी प्रकार के शापों से मुक्त कीजिये। हे अग्निदेव, देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार इस यजमान की मृत्यु को अपनी कुशलता से दूर भगा दें ॥ ९ ॥

हे बृहस्पते, अमुत्रभूयाद् अमुत्र परलोके भवनममुत्रभूयम्, 'भुवो भावे' (पा० सू० ३।१।१०७) इति भवतेर्भावे क्यप्, तस्मात् परलोकगमनरूपान्मरणात्, अमुञ्चः, मोक्षय, मरणाद्रक्षेत्यर्थः। अध अथ अनन्तरं यद् यमस्य भयं परलोकभयं नरकपातादि, तस्माच्च रक्ष। यद्वा अमुत्र परलोके यत् शरीरं भूयाद् भवेत्, अध अथ यद् यमस्य सदने च शरीरं भूयात्, तस्य च अमुञ्चो मुक्तं कुरु। अथ अभिशस्तेश्च लोकापवादादपि मुञ्च। देवानां भिषजा भिषजौ अश्विना अश्विनौ अस्माद् यजमानान्मृत्युं प्रत्यौहतां निवर्तयताम्। कैः साधनैः? शचीभिः शुभकर्मभिः। 'शचीति कर्मनामसु' (निघ० २।१।२१)। अत्र बृहस्पतिरग्निरेव, सामिधेनीप्रकरणस्य आग्नेयत्वात्। ननु बृहस्पतिशब्दो नैघण्टुके पञ्चमेऽध्याये पदपाठेष्वेव पठ्यते। तत्कथङ्कार-

मग्निशब्दार्थतास्य युक्तेति चेच्छृणु, 'ता आग्नेय्यः प्राजापत्या यदग्निरपश्यत्तेनाग्नेय्यो यत्प्रजापतिꣳ समैन्ध तेन प्राजापत्याः' (श० ६।२।१।२७) इति श्रुतेः प्रजापतेः सर्वदेवात्मकत्वात्, 'तस्मादेतं प्रजापतिꣳ सन्तमग्निरित्याचक्षते' (श० ६।१।२।१३) इति श्रुत्यन्तराच्च ।

अध्यात्मपक्षे—हे बृहस्पते अग्ने परमेश्वर, एनं त्वच्छरणं भक्तममुत्रभूयात् परलोकगमनरूपान्मरण-भयाद् यमस्य सदने यन्नरकपातादिभयं तस्माच्च अमुञ्चः मोचय, मरणादिभयापनोदनेन संसारादेव मुक्तं कुरु । अभिशस्तेरभिशापात्, अर्थाद् लोकापवादाच्च मुक्तं कृत्वा शोकमोहादिरहितं कुरु । त्वत्कृपया देवानां भिषजौ वैद्यौ अस्माद् भक्ताद् मृत्युं प्रत्यौहताम् अपसारयताम् । शचीभिश्चिकित्सालक्षणैः, प्रज्ञानैर्वा ।

दयानन्दस्तु—'हे बृहस्पते, त्वममुत्रभूयात् परजन्मनि भाविनोऽभिशस्तेः सर्वतोऽपराधाद् एनममुञ्चः । अथ यद्यो यमस्य शासने तिष्ठेत्तस्य मृत्युममुञ्चः । हे अग्ने, त्वं यथाश्विनौ भिषजौ शचीभिः प्रत्यौहताम्, तस्मादस्माद्देवानामारोग्यं सम्पादय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बृहस्पत्यग्न्यादिसम्बोधनानां मनुष्यमात्र-पर्यवसायित्वे वेदानां ब्रह्मपरत्वासिद्धेः । नहि परजन्मभाविनोऽपराधान्मोचने मर्त्यस्य सामर्थ्यमस्ति । हिन्दीभाष्ये मुक्तो भवेत्यर्थः कृतः, सोऽपि न युक्तः, तस्य परोक्षत्वे तत्रापि मर्त्यस्य सामर्थ्याभावात् । तदर्थं तु स्वधर्मानुष्ठान-निषिद्धानुष्ठानवर्जने एव कर्तव्ये । अभिशस्तिपदं तु लोकापवादे रूढम्, न सर्वतोऽपराधपरम् । धर्मात्मनोऽपि मृत्यमोचनं न सामान्यजनेन सम्भवति, मृत्युदण्डातिरिक्तान्मृत्योर्मोचने राज्ञोऽपि सामर्थ्याभावात्, तस्यापि मरणदर्शनात् । 'अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ' इत्यपि निर्मूलमेव । सिद्धान्ते कर्मपक्षेऽग्न्यादिदेवानां परमेश्वरांशत्वेन विशिष्टशक्तिमत्त्वेन आपेक्षिकमरणादिभयनिवर्तकत्वम् । अध्यात्मपक्षे तु परमेश्वरस्य सर्वशक्तिमत्त्वेन मृत्युलक्षणात् संसारादेव मोचकत्वं सम्भवति ॥ ९ ॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—अन्धकारमय लोक से परम श्रेष्ठ स्वर्गलोक की ओर जाते हुए, देवलोक में सूर्यदेवता को देखते हुए, हम श्रेष्ठ ब्रह्मज्योति को प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

वयं तमसस्परि तमसः सकाशात् तमोबहुलादस्माल्लोकाद् उद् ऊर्ध्वमगन्म उद्गता भवेम । कीदृशा वयम् ? उत्तरम् उत्कृष्टतरं स्वः स्वर्गं पश्यन्त ईक्षमाणाः । किञ्च, देवत्रा देवलोके सूर्यं देवं पश्यन्तः, उत्तमं ज्योतिर्ब्रह्माख्यम् उदगन्म प्राप्ताः । अत्र यद् वक्तव्यं तद् विंशेऽध्याय एकविंश्यां कण्डिकायामुक्तम् । तत्रैव व्याख्यातैषा ऋक् ॥ १० ॥

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचीꣳष्यग्नेः । द्युमत्तमा सुप्रतीकस्य सूनोः ॥११॥

मन्त्रार्थ—शोभन मुख वाले, पुत्रवत् अत्यन्त प्रिय इस अग्नि की समिधा ऊर्ध्वगामिनी होती है । इसकी शुद्ध विश्वप्रकाशक किरणें ऊर्ध्वगामिनी होती हैं ॥ ११ ॥

द्वादशाप्रीदेवत्या उष्णिहो विषमपादा आग्नेय्योऽग्निना दृष्टाः । आप्रियः प्रयाजदेवत्याः, 'ता विषया विषमपदाः । विषमाक्षरा विषमाणि हि छन्दाꣳसि' (श० ६।२।१।३४) इति श्रुतेः । अग्निः प्रजापतित्वेन स्तूयते, तेन प्राजापत्या अपि, 'ता आग्नेय्यः प्राजापत्या यदग्निरपश्यत् तेनाग्नेय्यो यत्प्रजापतिमाप्रीणात् तेन प्राजापत्याः' (श० ६।२।१।३३) इति श्रुतेः ।

अस्य प्रजापतिरूपेण स्तूयमानस्याग्नेः समिध ऊर्ध्वाः प्रगुणा देवमार्गेण यायिन्यो भवन्ति। ऊर्ध्वा शुक्रा शुक्राणि शुद्धानि शोचींषि अर्चींषि ऊर्ध्वानि भवन्ति। द्युमत्तमा द्युमत्तमानि। दीव्यत इति द्यौः, भावे औणादिको डिविः, अव्युत्पन्नप्रातिपदिको वा दिवशब्दः। द्यौर्द्योतनं प्रकाशो वा येषां तानि द्युमन्ति, 'दिव उत्' (पा० सू० ६।१।१३१) इत्युकारोऽन्तादेशः। अतिशयेन द्युमन्तीति द्युमत्तमानि दीप्तिमत्तमानि वीर्यवत्तमानि च भवन्ति। कीदृशस्याग्नेः? सुप्रतीकस्य, शोभनं सुष्ठु प्रतीकं मुखं यस्य सुप्रतीकस्तस्य सूनोर्यजमानपुत्रस्य, 'यदेनं जनयति तेनास्यैष सूनुः' (श० ६।२।१।३२) इति श्रुतेः। य ईदृशोऽग्निस्तं स्तुम इति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—अस्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नस्याग्नेः परमेश्वरस्य समिधः समिन्धाना ज्ञापिकास्तदाकारा वृत्तय ऊर्ध्वा उत्कृष्टा उत्कृष्टब्रह्मविषयत्वात् तत्प्राकट्याच्च, अस्य शोचींषि तेजांसि स्वरूपभूताः प्रकाशा ऊर्ध्वा ध्यानमात्रेणोर्ध्वब्रह्मप्रापयित्र्यः। कीदृशानि तानि? शुक्रा शुक्राणि शुद्धानि सर्वोपाधिविवर्जितानि, द्युमत्तमानि दीप्तिमत्तमानि, सूर्यादिज्योतिषामपि ज्योतिष्ट्वात्। कीदृशस्याग्नेः? सुप्रतीकस्य सुमुखस्य सुप्रसन्नस्य सुन्दरमुखस्य वा, श्रीरामादिरूपेणातिसुन्दरमुखस्य, सूनोः दशरथादिसूनुरूपेण प्रादुर्भूतस्य।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यस्यास्य सुप्रतीकस्य शोभनानि प्रतीकानि प्रतीतिकराणि यस्य तस्य सूनोः प्राणिगर्भविमोचकस्याग्नेरूर्ध्वा उत्तमाः समिधः प्रदीपकाः, ऊर्ध्वा ऊर्ध्वाणि द्युमत्तमा शुक्रा शोचींषि भवन्ति, तं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रतीकशब्दस्य प्रतीतिकरकर्मार्थताया निर्मूलत्वात्। सूनुशब्दस्यापि प्राणिगर्भविमोचकतारूपोऽर्थो निर्मूल एव, स्वयं त्वया उणादिकोषे सूनुशब्दार्थस्यान्यथा वर्णनात् ॥ ११ ॥

तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः। पथो अनक्तु मध्वा घृतेन ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—जलदेवता के पौत्र, प्राणवान्, सब प्रकार के धन के स्वामी, देवताओं में श्रेष्ठ अग्निदेव मधुर घृत से यज्ञ-मार्ग को व्याप्त करते हैं ॥ १२ ॥

तनूनपात्, न पातयतीति नपात्, पतेर्ण्यन्तात् क्विपि रूपम्, अपत्यनामसु नपात्शब्दः, तादृशमिदं व्याख्यानम्। तथा च मनुः—'पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते। अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥' (म० स्मृ० ९।१३७) इति। यद्वा नुतशब्दस्य नपाद्भावः, पुत्रापेक्षया नीचैः सुतरां नुतो हि पौत्रः। तन्वन्त्यस्यां पयआदयो भोग्यपदार्था इति तनूर्गौः, 'कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः स्त्रियाम्' (उ० १।८०) इति रूपसिद्धिः। गोः पयो जायते, पयस आज्यम्। तन्वा गोर्नपात् पौत्रस्तनूनपात्, आज्यमिति यावत्। अथवा तता अन्तरिक्ष इति तन्व आपः, तासां नपात् तनूनपादग्निः। अद्भ्यश्च ओषधिवनस्पतयो जायन्ते, तेभ्योऽग्निर्जायते, अरणेः प्रसूतेः। अथवा तनूं न पातयति जठररूपेण धारयतीति तनूनपादग्निः। कीदृशोऽग्निः? असुरः, असुः प्राणो बलं सोऽस्ति यत्रासौ असुरः, मत्वर्थीयो रः। यद्वा वसुरो धनवान्। अस्मिन् पक्षे आदिलोपः। विश्ववेदा विश्वं वेदो धनं यस्य सः, विश्वानि सर्वाणि वेदांसि ज्ञानानि वा यस्य सः, सर्वज्ञ इत्यर्थः। देवो दानादिगुणकः। देवेष्वपि देवो दीप्तिमान्। य ईदृशः स पथो यज्ञमार्गान् मध्वा मधुरस्वादवता घृतेन, अभ्यनक्तु श्लक्ष्णयतु। इत्थं नाम प्रभूतं यज्ञे घृतमस्तु, येन मार्गा अप्यभ्यक्ताः स्युः। मध्वेत्यत्र आगमशास्त्रस्य अनित्यत्वान्नुमभावः। 'पथो अनक्तु' इत्यत्र 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावः। आज्यपक्षेऽप्याज्याधिष्ठातृदेव एव ग्रहीतव्यः, तत्रैव विशेषणानां समन्वयसम्भवात्।

अध्यात्मपक्षे— तनूनपात् परमेश्वरः, तनूनामपां नपात् पौत्रोऽग्निः, तदुपलक्षितोऽसुरो बलवान्, विश्ववेदाः सर्वज्ञः, देवो दानादियुक्तः, देवेषु देवो ब्रह्मादिष्वपि देववत्पूज्यः, पथो मार्गान् मध्वा मधुरेण घृतेन अनक्तु श्लक्ष्णं करोतु, घृतबाहुल्येन मार्गा अपि सिक्ता भवन्तु, मधुरेण घृतस्नेहेन प्रेम्णा सर्वानेव कर्म-ज्ञान-भक्तिमार्गान् श्लक्ष्णान् करोतु, प्रेमान्तरा सर्वस्यैव रूक्षत्वात् ।

दयानन्दस्तु— हे मनुष्याः, यो देवेषु देवोऽसुरः प्रकाशरहितो विश्ववेदास्तनूनपात् शरीरेषु न पतति देवो मध्वा घृतेन सह पथोऽनक्तु, तं यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उत्तमगुणयुक्तेष्वपि पदार्थेष्वपि य उत्तमगुणवान् भवति, तस्यासुरत्वासम्भवात्, असुरपदस्य प्रकाशरहितार्थत्वायोगात् । किञ्च, वायुश्चेदसुरः, स शरीरेषु न पततीत्यपि न युक्तम्, तस्य सर्वगतत्वेन शरीरपातित्वेन तथात्वासम्भवात् । जलेन वायुः श्रोत्रादिमार्गान् प्रकटयतीत्यपि विसङ्गतमेव ॥ १२ ॥

मध्वा यज्ञं नक्षसे प्रीणानो नराशꣳसो अग्ने । सुकृद् देवः सविता विश्ववारः ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ— हे अग्निदेव, आप देवताओं को तृप्त करने वाले हैं । ऋत्विक्‌गणों के द्वारा स्तुति किये जाने पर सभी का शुभ करने वाले, प्रकाशयुक्त विश्व को उत्पन्न करने वाले, सबके वरणीय आप स्वादयुक्त घृत से यज्ञ को व्याप्त करते हैं ॥ १३ ॥

हे अग्ने, त्वं मध्वा स्वादुना घृतेन यज्ञं नक्षसे व्याप्नोषि, 'नक्षति व्याप्तिकर्मा' (निघ० २।१८।२) । कथम्भूतस्त्वम् ? देवान् इन्द्रादीन् प्रीणानः, प्रीणीते यः स प्रीणानो देवान् तर्पयन्, नराशंसो नरैर्ऋत्विग्भिराशंस्यते स्तूयत इति तथोक्तः । सुकृत् साधुकृच्च । देवो दीप्तिमान् । सविता विश्वस्योत्पादकः । विश्ववारो विश्वस्य सर्वस्यैव वरणीयः, विश्वेन वा व्रियते, विश्वं वृणोति अङ्गीकरोति वा, सर्वस्य वरणीयोऽङ्गीकर्ता वा भवसि, तं त्वा स्तुम इति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे— हे अग्ने भगवन्, यस्त्वं यज्ञं मध्वा मधुना मधुरेण घृतगन्धिना स्नेहेन यज्ञं यजनीयं देवं दातव्यं वा सर्वं नक्षसे व्याप्नोषि, प्रीणानो देवांस्तर्पयन् नरैः सर्वैरेव भाग्यशालिभिराशंस्यस इति नराशंसः, सुकृत् शोभनकर्मकारी देवो दानशीलः सविता सर्वोत्पादको विश्ववारः सर्वैर्वरणीयो भवसि, अतस्त्वां स्तुमः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यो नराशंसः सुकृद्विश्ववारः प्रीणानः सविता देवस्त्वं मध्वा यज्ञं नक्षसे, तं वयं प्रसादयेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विशेषानिर्देशात् । मधुरेण वचनेन पूर्वप्रसङ्गानुसारेण घृतेन वेत्यर्थविशेषे विनिगमनाविरहात्, प्रकरणस्य बलीयस्त्वेन घृतेनेत्यस्यैव युक्तत्वात्, मन्त्रस्य देवसामान्यपरत्वापेक्षया देवविशेषपरत्वस्य (परमेश्वरपरत्वस्यैव) युक्तत्वात् । नहि सामान्यजीवो विश्ववारः सम्भवति ॥ १३ ॥

अच्छायमेति शवसा घृतेनेडानो वह्निर्नमसा । अग्निꣳ स्रुचो अध्वरेषु प्रयत्सु ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—अपने ज्ञानबल से देवताओं की स्तुति करने वाला यज्ञ का अनुष्ठाता यह अध्वर्यु यज्ञ के प्रवृत्त होने पर घृत और हविरूप अन्न से भरी हुई जुहू को लेकर अग्नि के समीप आता है ॥ १४ ॥

अयमध्वर्युरध्वरेषु प्रयत्सु वर्तमानेषु सस्त्वग्निं देवम्, अच्छ एति, अभ्येति, 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (नि० ५।२८) इति यास्कोक्तेः । कीदृशोऽध्वर्युः ? शवसा स्वकीयेन प्रज्ञानबलेन युक्तः । पुनः कथंभूतः ? वह्निः, वोढा वहति यज्ञभारमिति वह्निः, स चाध्वर्युः । घृतेन गृहीतेन ईडानः स्तुवन्, 'ईड स्तुतौ' । नमसा

हविर्लक्षणेनान्नेन अभ्युद्यतेन स्रुचो बाहुभ्यां गृहीत्वा अग्निमभ्येतीत्यनुषङ्गः। यद्वा घृतेन नमसान्नेन हविर्लक्षणेनोपलक्षिता जुह्वाद्या गृहीत्वाऽभ्येतीति।

अध्यात्मपक्षे—अयं जीवः साधकः, अध्वरेषु ज्ञानध्यानरूपेष्वध्वरेषु यज्ञेषु प्रयत्सु वर्तमानेषु शवसा प्रज्ञानबलेन भक्तिबलेन वा अग्निं भगवन्तं परमेश्वरमच्छा एति अभ्येति, घृतेन स्नेहलक्षणेन ईडानः स्तुवन् वह्निं भगवन्तं हृदये वहन् नमसा हविर्लक्षणेनान्नेन युक्ताः स्रुचो गृहीत्वा अभ्येतीति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, योऽयमीडानो वह्निः प्रयत्स्वध्वरेषु शवसा घृतेन नमसा सह वर्तमानमग्निं स्रुचश्चाच्छैति, तं यूयं सत्कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यन्त्रचालनार्थमग्निजलादिजनितशवसादिनिर्माणे स्तुतेरनुपयोगात्। स्रुगादियोगोऽपि न तत्रापेक्षितः। वस्तुतस्तु श्रुतिषु बलादारोपितोऽयमर्थः, न मनागपि तादृशोऽर्थोऽतो व्यज्यते॥ १४॥

स यक्षदस्य महिमानमग्नेः स ईं मन्द्रा सुप्रयसः। वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च॥ १५॥

मन्त्रार्थ—यह यज्ञ-कर्म में प्रवृत्त, सबको सावधान करने वाला और अत्यन्त धन-सम्पन्न दानशील यजमान इस शुभ अन्न वाले अग्नि की महिमा को जानकर यज्ञ में प्रवृत्त हो। अध्वर्यु मदजनक हवियों की देवताओं के लिये आहुतियाँ दे॥ १५॥

स पूर्वोक्तोऽध्वर्युरस्याग्नेर्महिमानं महाभाग्यं यक्षद् यजतु। स ईं स एवास्मै मन्द्रा मन्दनीयानि मदजनकानि हविर्लक्षणान्यन्नानि च यक्षद् यजतु ददातु। कथम्भूतस्याग्नेः? सुप्रयसः, सुष्ठु शोभनानि प्रयांस्यन्नानि हविर्लक्षणानि यस्य स सुप्रयास्तस्य। अथ कस्मादन्यदेवताः परित्यज्याग्नेर्महिमानं यजत्वध्वर्युरिति चेत्तत्राह—वसुरिति। योऽसावग्निर्वसुर्वासयिता, स एव जीवनदानेन स्थितिहेतुः। स एव च चेतिष्ठोऽतिशयेन चेतयिता कृत्याकृत्यज्ञापयिता। वसुधातमश्च वसूनां धनानां धातमो दातृतमश्च, अतोऽग्निरेवेज्यते स्तूयते च। सुप्रयसः, सुष्ठु शोभनानि प्रयांसि प्रीतान्यन्नानि यस्मात् स सप्रयाः, तस्य।

अध्यात्मपक्षे—सोऽध्वर्युरध्वरयोजकः, अस्य प्रत्यगभिन्नस्य परमेश्वरस्य महिमानं स्वरूपभूतं महाभाग्यं यजतु पूजयतु। स एवास्मै परमेश्वराय मन्द्राणि स्तुत्यानि हवींषि यजतु समर्पयतु। कुत इति चेत्तत्राह—यतोऽयमग्निर्वसुर्वासयिता चेतिष्ठोऽतिशयेन चेतयिता। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'स मनुष्यः सुप्रयसोऽग्नेर्महिमानं यक्षत्, स वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च, स न ईं जलं मन्द्रा आनन्दप्रदानि हवींषि यक्षद् यजेत संगच्छेत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्याग्नेः प्रीतान्नहेतुत्वासिद्धेः। न वा वैज्ञानिकस्य वासयितृत्वं सिद्ध्यति। 'ईं' इत्यस्य जलार्थतापि चिन्त्या॥ १५॥

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रता ददन्ते अग्नेः। उरुव्यचसो धाम्ना पत्यमानाः॥ १६॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर अवयव वाले, धाम (स्थान) से ऐश्वर्यवान् दिव्य द्वार इस अग्नि के कर्मों को धारण करते हैं। इसके बाद अन्य सब देवता भी अग्नि के व्रत को धारण करते हैं॥ १६॥

अस्याग्नेः प्रथमं द्वारो देवीर्द्वारदेव्यो व्रता व्रतानि कर्माणि ददन्ते दधन्ते धारयन्ति, दानार्थकस्यापि ददेरत्र धारणार्थे वृत्तिः। अनु अनन्तरं विश्वे सर्वे देवा अग्निव्रतानि ददन्ते। अत्र मन्त्रे देवशब्दलोपो द्रष्टव्यः।

व्यवहितपदप्रायोऽर्धर्चः। कथंभूता द्वारः? उरुव्यचसः, उरु विशालं व्यचोऽवकाशो यासां ता विशालान्तराः। तथा धाम्ना स्थानेन ऋत्विक्सम्बन्धिना पत्यमाना ऐश्वर्यं कुर्वाणाः। पत्यन्ते ईशते यास्ताः, 'तप ऐश्वर्ये' दैवादिकः। अत्राक्षरव्यत्यासेन केचित् 'पत ऐश्वर्ये' इति पठन्ति। तथा च यास्कः—'इरज्यति, पत्यते, क्षयति, राजतीति चत्वार ऐश्वर्यकर्माणः' (निघ० २।२१।१-४)। अस्माकं तूभयेऽप्याचार्याः प्रमाणम्।

अध्यात्मपक्षे—अस्याग्नेर्भगवतः परमेश्वरस्य द्वारो देवीर्देव्यो द्वाररक्षित्र्यो देव्यः, तत्सख्यो व्रतानि तत्प्रापककर्मनियमान् ददन्ते, शास्त्रोक्तान्यपि तदनुग्रहेणैव प्राप्यन्ते। यथाह—'न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः। न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥' (भा० पु० २।६।३३)। मृषाभाषणाद्वाचो निवृत्तिः, मनसश्च मृषागतिनिवृत्तिः, इन्द्रियाणामसत्पथान्निवृत्तिश्च देवानामनुग्रहादेव भवति। श्वशृगालादिभक्ष्यशरीरादहन्ता-ममतानिवृत्तिर्देवमायातितरणं विवेके सत्यपि दुर्लभमेव, भगवतोऽनुग्रहादेव तत्सम्भवः। तथा चाह श्रीमद्भागवते व्यासः—'येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः सर्वात्मना श्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्। ते दुस्तरामति तरन्ति च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये॥' (भा० पु० २।७।४२)। कीदृश्यो द्वारदेव्यः? उरुव्यचसः, उरु विशालं व्यचो हृदयावकाशो यासां ता विशालहृदयाः, उरुतरा इति यावत्। अन्येऽपि भक्ता भगवद्रसमास्वादयन्त्विति। तथैव विश्वे सर्वे भगवतः परिकरा अग्निव्रतानि ददन्ते। धाम्ना स्वतेजसा पत्यमाना ईशनं कुर्वाणा विघ्नान् नियच्छमानाः।

दयानन्दस्तु—'ये विश्वे पत्यमाना उरुव्यचसो अस्याग्नेर्धाम्ना देवीर्द्वारो व्रता ददन्ते, ते स्वैश्वर्या जायन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'अग्नेर्द्वारः' इत्यस्य 'अग्निविद्याद्वारः' इत्यर्थासङ्गतेः, अग्नेर्धाम्ना स्थानेन स्वामित्वायोगाच्च। अनुददन्ते उपदिशन्तीत्यप्यसङ्गतम्, धात्वर्थाननुरोधात्॥ १६॥

ते अ॒स्य योष॑णे दि॒व्ये न योना॑ उ॒षासा॒नक्ता॑। इ॒मं य॒ज्ञम॑वताम॒ध्व॒रं नः॥ १७॥

मन्त्रार्थ—इस अग्नि की भार्या स्वर्ग में स्थित है। वह अहोरात्री नामक देवी हमारे इस कुटिलता-रहित शास्त्रोक्त यज्ञ की यज्ञपुरुष बन कर रक्षा करे॥ १७॥

उषासानक्ता उषाश्चाहश्च नक्ता च रात्रिश्चेत्युषासानक्ता। 'उषासोषसः' (पा० सू० ६।३।३१) इत्युषस्-शब्दस्य उषासादेशः। ते प्रसिद्धे उषासानक्ता अहोरात्रिदेव्यौ नोऽस्माकमिमं यज्ञमवताम्, सुगुप्तं कुरुताम्। कीदृश्यौ ते? अस्याऽग्नेर्योषणे भार्ये। तथा दिव्ये दिवि भवे स्वर्गस्थे। कीदृशस्याग्नेः? योना योनौ आहवनीयाख्ये स्थाने स्थितस्य, अथवा योनौ गार्हपत्यस्थाने स्थितस्य। कीदृशं यज्ञम्? अध्वरं न ध्वरतीत्यध्वरः, 'ध्वृ कौटिल्ये' इत्यस्मात् पचाद्यच्। यद्वा—अध्वरं सोमं च नः सम्पादयताम्। नकारः पादपूरणार्थः।

अध्यात्मपक्षे—उषासानक्ता अहोरात्राभिमानिन्यौ तन्नियामके वा देवते नोऽस्माकमिमं यज्ञमुपासना-लक्षणमवतां सुगुप्तं कुरुताम्। ते प्रसिद्धे श्रीलक्ष्म्यौ, अस्याग्नेर्विष्णोर्योषणे पत्न्यौ, 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या' (वा० सं० ३१।२२) इति मन्त्रवर्णात्। दिव्ये दिवि भवे दिव्यलोकनिवासिन्यौ। कीदृशस्याग्नेः? योनौ विश्वयोनौ कारणे आदित्ये स्थितस्य। कीदृशं यज्ञम्? अध्वरमकुटिलम्, शास्त्रोक्तमध्वरं सोमं च सम्पादयताम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ते उषासानक्ता रात्रिन्दिवौ अस्य योषणे भार्ये वर्तमाने अस्य योनौ दिव्ये योषणे न इव यमिममध्वरं यज्ञमवताम्, तं यूयं जानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अहोरात्रयोर्गृहसम्बन्धायोगात्, तत्कर्तृकयज्ञावनस्याप्रसिद्धत्वाच्च॥ १७॥

दैव्या॑ होतारा ऊर्ध्वम॑ध्वरं नो॒ऽग्नेर्जि॒ह्वाम॒भिगृ॑णीतम् । कृ॒णु॒तं नः॒ स्वि॑ष्टिम् ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्नि और वायु नामक दिव्य होताओं, आप हमारे इस शुभ यज्ञ को सम्पादित कीजिये, हमारे यज्ञ और अग्नि की ज्वाला को देवमार्गगामी बनाइये ॥ १८ ॥

अयमग्निः, असौ च मध्यमो वायुः । हे दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ होतारावग्निवायू, युवां नोऽस्माकमध्वरं यज्ञमूर्ध्वं देवयानमार्गयायिनं कुरुतमित्यर्थः । अग्नेर्देवस्य जिह्वां मुखं ज्वालां वा अभिगृणीतं साधु वर्णयतम्, समीचीनं मुखं ज्वाला वेति संस्तुतं कुरुतमिति यावत् । नोऽस्माकं स्विष्टिं साधुयजनं कृणुतं कुरुतम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ होतारौ देवानामाह्वातारौ अग्निवायू वाक्प्राणौ, युवां नोऽध्वर-मुपासनालक्षणं यज्ञमूर्ध्वं ब्रह्मपरत्वाद् व्यापकत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च ब्रह्मपर्यवसितं कुरुतम् । अग्नेः परमेश्वरस्य जिह्वां वेदलक्षणां वाचमभिगृणीतम्, साधु वर्णयतम् । नोऽस्माकं स्विष्टिं साधुयजनं च कृणुतं कुरुतम् ।

दयानन्दस्तु—'यौ दैव्यौ होतारौ जिज्ञास्वध्यापकौ सुखस्य दातारौ नोऽस्माकमूर्ध्वं प्राप्तोन्नतिमध्वरमहिंस-नीयं व्यवहारमभिगृणीतं प्रशंसेताम्, तौ नः स्विष्टिं शोभना इष्टिर्यस्यां तामग्नेः पावकस्य जिह्वां ज्वालां कृणुतम्' इति, भावार्थे तु जिज्ञास्वध्यापकौ तावित्युक्तम्, तत्सर्वमपि असम्बद्धमेव, शिष्टानां स्वव्यवहारप्रशंसने प्रेरणानुपपत्तेः, तस्य पुरुषार्थानुपयोगित्वेन निरर्थकत्वाच्च ॥ १८ ॥

ति॒स्रो दे॒वीर्ब॒र्हिरे॒दᳪ स॑दन्त्विडा सर॑स्वती॒ भार॑ती । म॒ही गृ॒णा॒ना ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वाधाररूप इडा, स्तुति को प्राप्त सरस्वती और भारती नामक तीनों देवियाँ इस कुशा के आसन पर बैठें ॥ १९ ॥

तिस्रस्त्रिसङ्ख्याका देवीर्देव्य इदं बर्हिरासदन्तु आसीदन्तु, विभक्तिव्यत्ययः सीदादेशाभावश्च छान्दसः, 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इत्याङोपसर्गेण क्रियापदव्यवधानम् । कास्ता देव्यः ? इत्यत आह—इडा पृथिवीस्थाना, सरस्वती मध्यस्थाना, भारती द्युस्थाना । मही महती गृणाना स्तुवन्तीति विशेषणद्वयं तिसृणामपि । यद्वा एकमेव वाक्यम्, महत्यो गृणाना इडा-सरस्वती-भारत्यो देव्यो बर्हिरिदमासदन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—मही महत्त्वोपेता गृणाना परमेश्वरं स्तुवन्ती इडा गवामधिष्ठात्री, सरस्वती ज्ञान-विज्ञानाधिष्ठात्री, भारती वाचामधिष्ठात्री—इत्येतास्तिस्रो देव्य इदं बर्हिर्भगवदाराधनरूपं यज्ञमासदन्तु साद्गुण्यायाधितिष्ठन्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं या मही गृणाना इडा सरस्वती भारती च तिस्रो देवीर्देव्य इदं बर्हिरन्तरिक्षमासदन्तु, ताः सम्यग्विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तासामन्तरिक्षे सत्त्वेऽपि पुरुषार्थानुपयोगित्वेन निरर्थकत्वात् । न चैतास्तिस्रो वाच एव, वाचां प्रशस्तज्ञानजनकत्वेऽपि जडत्वेन ज्ञानवत्त्वायोगात्, सर्वशास्त्र-मयत्वेऽपि सर्वशास्त्रधारकत्वायोगात् । तस्मात् पूर्वोक्तमेव व्याख्यानं युक्तम् ॥ १९ ॥

तन्न॑स्तु॒रीप॒मद्भु॑तं पुरु॒क्षु त्वष्टा॑ सु॒वीर्य॑म् । रा॒यस्पोषं॒ विष्य॑तु॒ नाभि॑म॒स्मे ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—त्वष्टा देवता उस अद्भुत, बहुत से प्राणियों अथवा शरीरों में निवास करने वाली, श्रेष्ठ सामर्थ्य वाली, हमको शीघ्र अभीष्ट फल देने वाली, धन की अथवा योग की लक्ष्मी को पुष्टि के लिये हमारी गोद में छोड़ें ॥ २० ॥

तत् प्रसिद्धं रायस्पोषं धनस्य पुष्टिं नोऽस्मभ्यमस्मदर्थं तुरीपं तूर्णं शीघ्रमश्नुते भोजयति, तूर्णमाप्नोतीति वा तुरीपम्, तुरा वेगेन वा प्राप्नोतीति तुरीपं शीघ्रं प्रापकम्। अद्भुतं महदभूतपूर्वमाश्चर्यमयम्, पुरुक्षु पुरुषु बहुषु यत् क्षियति निवसति तत् पुरुक्षु, सुवीर्यं साधुवीर्यमित्येतादृशं रायस्पोषं त्वष्टा देवोऽस्मेऽस्मासु नाभिमध्ये प्रतिविष्यतु विमुञ्चतु। 'स्यतिरुपसृष्टो विमोचने' (निरु० १।१७) इति यास्करीत्या सोपसर्गः स्यतिः 'षोऽन्तकर्मणि' धातुर्विमोचनार्थकः सम्पद्यते।

यद्वा—त्वष्टा देवस्तं प्रसिद्धं रायस्पोषं नोऽस्माकं नाभिं प्रति विष्यतु विमुञ्चतु, नाभौ मुक्तमुत्सङ्गे पततीति रीत्या मदायत्तं करोत्वित्यर्थः। 'पुरुक्षु' इत्यत्र 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेर्लुक्। क्षियतेरौणादिको डुप्रत्ययः। साधु वीर्यं साधु समीचीनं वीर्यं सामर्थ्यमुत्साहो वा येन तादृशं धनं देहीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे त्वष्टा देवः परमेश्वरस्तं रायो बाह्यस्य रत्नसुवर्णादेरान्तरस्य ज्ञानवैराग्यादेश्च धनस्य पोषं पोषकं भगवदनुरागरूपं नोऽस्माकं नाभिं हृदयं प्रति विष्यतु मुञ्चतु वर्षतु। कीदृशं तम्? तुरीपं तूर्णं ब्रह्मानन्दादिसुखप्रापकम्, अद्भुतं महान्तम्, अभूतपूर्वमानन्दमयं वा, पुरुषु शुक-शौनक-सनक-नारदादिषु क्षियति निवसतीति पुरुक्षु। सुवीर्यं शोभनमुत्कृष्टं वीर्यं जायते येन तम्, तादृशं रायस्पोषमस्माकं नाभिं हृदयं प्रति राष्ट्रमध्ये वा प्रतिविष्यतु मुञ्चतु।

दयानन्दस्तु—'त्वष्टाऽस्मे नाभिं प्रति तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु सुवीर्यं तं रायस्पोषं ददातु, नो दुःखाद्विष्यतु च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अचेतने धने सुष्ठुबलाद्ययोगात्। परिच्छिन्नस्यैव वस्तुनः कस्यचिन्नाभिं प्रति विमोचनसम्भवः, नापरिच्छिन्नस्य सर्वत्र व्यापकस्येति ॥ २० ॥

वन॑स्पतेऽव॑सृजा ररा॑णस्त्मना॑ दे॒वेषु॑। अ॒ग्निर्ह॒व्यꣳ श॑मि॒ता सू॑दयाति ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—शान्ति को देने वाले अग्निदेव हव्य का संस्कार करते हैं। इस कारण हे वनस्पति देवता, आप भी अपनी आत्मा के द्वारा देवताओं को हवि देते हुए हव्य को छोड़ें ॥ २१ ॥

यतोऽग्निः शमिता शामित्रोऽग्निर्हव्यं हविर्जातं पशोर्हृदयादिकं सूदयाति सूदयति, 'षूद क्षरणे', अत्र संस्कारार्थे वृत्तिः, संस्करोति, अतो हे वनस्पते, स्रुगुपादानभूतं तत्संस्कृतं हव्यमवसृज स्रुङ्मुखतोऽवाचीनं क्षिप। कीदृशस्त्वम्? त्मना आत्मना, 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा० सू० ६।४।१४१) इत्याकारलोपः। स्वेन हविर्देवेषु रराणः, 'रा दाने' इत्यस्मात् कानच्, ददान इति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—वनस्पतयोऽपि विग्रहवन्तश्चेतनास्तत्तदधिष्ठातारः सम्बोध्यन्ते। स्रुक्स्रुवजुह्वादयस्तत्र तत्र तदुपादानभूतवनस्पतिरूपेण सम्बोध्यन्ते। घृतादिरूपं हविरग्निः संस्करोति, संस्कृतं च हविः स्रुचा देवेषु दीयते। कारणरूपेणान्तर्यामिरूपेण च परमेश्वर एव तत्र तत्र स्तूयते। स एवाग्निरूपेण हविःसंस्कारकः, स एव च स्रुगादिरूपेण देवेभ्यो हविर्दधाति। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे वनस्पते, वनस्य सम्भजनीयस्य शास्त्रस्य पालक, यथा शमिताग्निर्हव्यं सूदयाति सूक्ष्मीकृत्य वायौ प्रसारयति, तथात्मना देवेषु रराणः सन् हव्यमवसृज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वनस्पतिपदस्य प्रसिद्धार्थत्यागे यौगिकार्थग्रहणे च मानाभावात्, वनपदेन 'वन संभक्तौ' इति धातोरर्थानुगमाद् वननीयं संभजनीयं धर्मब्रह्मादिकमपि ग्रहीतुं शक्यत इति तादृशार्थग्रहणे विनिगमनाभावात्। तथैव सूदयातीति क्रियापदस्य सूक्ष्मीकृत्य प्रसारयतीति नार्थः, 'षूद क्षरणे' इति धात्वर्थाननुसरणात्। न च शास्त्रपालको जिज्ञासुर्भवति, तस्य शास्त्रज्ञानेनैव निवृत्तजिज्ञासत्वात् ॥ २१ ॥

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेद इन्द्राय हव्यम् । विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सर्वज्ञ अग्निदेव, आप इन्द्र के लिये स्वाहाकार-पूर्वक घृत आदि की आहुति दें, अन्य सब देवता इस हवि का सेवन करें ॥ २२ ॥

हे जातवेदः ! जातप्रज्ञान अग्ने, इन्द्राय देवाय हव्यं स्वाहा कृणुहि स्वाहाकारेण हव्यं प्रयच्छ । विश्वे सर्वे देवा द्योतमाना इदं हविर्जुषन्तां सेवन्ताम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदः ! सर्वज्ञ हे अग्ने श्रीराम परमेश्वर, इन्द्राय ऐश्वर्याय स्वाहा सत्यां वाचं कृणुहि स्वाहाकारेण प्रयच्छ । विश्वे सर्वे च देवास्त्वद्दत्तं हविर्जुषन्ताम् ।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदोऽग्ने, त्वमिन्द्राय स्वाहा हव्यं कृणुहि । विश्वे देवा इदं हविर्जुषन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रपदस्य ऐश्वर्यार्थत्वायोगात् । स्वाहापदस्य सत्यवागर्थतापि चिन्त्या ॥ २२ ॥

पीवोअन्ना रयिवृधः सुमेधाः श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः ।
ते वायवे समनसो वितस्थुर्विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—शुभ बुद्धि वाले, नियुत नामक घोड़ों के स्वामी वायुदेव पुष्ट अन्न वाले और धन-धान्य की वृद्धि करने वाले घोड़ों का सेवन करते हैं । वे मनस्वी घोड़े वायु के लिये रथ में जुतते हैं । ऋत्विजों ने शुभ सन्तान प्राप्त कराने वाले शुभ कर्मों का अनुष्ठान किया है ॥ २३ ॥

'अथैतं वायवे नियुत्वते शुक्लं तूपरमालभते' (श० ६।२।२।६) इति हुतस्य पशोः 'पीवोअन्ना रयिवृधः' इत्याद्याः षड् याज्यानुवाक्याः । द्वे वायुदेवत्ये त्रिष्टुभौ वशिष्ठदृष्टे । 'शुक्लो हि वायुः' (श० ६।२।२।७) । यान् नियुतोऽश्वान् पीवोअन्ना पीवः पुष्टमन्नं येषां ते पीवोअन्नाः, 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावः, तान् पीवोअन्ना, छान्दसो नकारलोपः । रयिवृधो रयिं धनं वर्धयन्ति ये ते रयिवृधस्तान् । तादृशानश्वान् श्वेतः श्वेतवर्णो वायुः सिषक्ति, 'षच् सेचने', अयं सेवनार्थोऽपि, सिञ्चति सेवते वा । श्लौ रूपम् । ते नियुतोऽश्वाः समनस्काः सममनस्काः सन्तो वायवेऽर्थाय वितस्थुर्विशेषेणावतिष्ठन्ति । कीदृशः श्वेतः ? सुमेधाः सु सुष्ठु शोभना मेधा यस्य सः, कल्याणप्रज्ञान इति यावत् । पुनः कथम्भूतः ? नियुतामश्वानामभिश्रीरभितः श्रयणीयः । एवं वायुना अश्वयोगे कृते नरो मनुष्या ऋत्विजो विश्वा इद् विश्वानि सर्वाण्येव स्वपत्यानि शोभनापत्यप्रापकाणि चक्रुः, कर्माणीति शेषः । वाय्वश्वसंयोगे सति सर्वमिदं यज्ञादिकर्म प्रवर्तत इति भावः ।

अध्यात्मपक्षे—श्वेतः शुक्लः सत्त्वगुणविशिष्टो विष्णुर्वायूपलक्षितश्चेतनः परमात्मा, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।०६) । अग्निर्मित्रो वरुणः सुमेधाः सर्वज्ञः, यान् पीवोअन्नान् रयिवृधो धनवर्धयितॄन् नियुतो वायुसम्बन्धिनोऽश्वान् सिषक्ति सिञ्चति प्रेमामृतप्रदानेन आप्याययति, नितरां यूयन्ते सेवायां सङ्गता भवन्ति ये ते नियुतः, कर्तरि क्विप्, साधकाः, नियुतां तादृशानामनन्योपासकानामभितो मनसा वाचा कर्मणा चाश्रयणीयः । पीवः पुष्टं भगवत्स्वरूपमेवान्नं भोग्यं येषां तान् पीवोअन्नान् रयिवृधः स्वोपासकानां धर्मवर्धयितॄन्, 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः' (मु० उ० ३।१।१०) इति श्रुतेः । सिषक्ति सिञ्चति प्रेमामृतेनाप्याययति सेवते वा । औषधं सेवत इतिवत् प्रयोगः । ते समनसो सानुरागमनस्का वायवे

वायूपलक्षिताय परमात्मने वितस्थुर्विविधच्छत्रसिंहासनपादुकादिरूपेण चिन्मात्रसिद्धहविःसौख्यादिरूपेण च भोज्यरूपेण तिष्ठन्ति। नरो मनुष्या ऋत्विग्यजमाना विश्वा विश्वानि इद् एव सर्वाण्येव स्वपत्यानि शोभनान्यपत्यानि फलानि वा येभ्यः कर्मभ्यस्तानि कर्माणि चक्रुः कुर्वन्ति, कर्मफलदातारं भगवन्तं विना कर्मसु फलदानसामर्थ्यायोगात्, 'क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते। अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा कृतपरिकरः कर्मसु जनः॥' (महिम्नस्तोत्रम्, २०) इत्युक्तेः। अनुष्ठानानन्तरकर्मफलजन्यादृष्टरूपेणान्तःकरणे सुप्ते सति क्रतुमतां फलयोगे कर्मफलप्रापणे त्वमेव जाग्रद् जागरूको भवसि, यतः पुरुषाराधनमन्तरा प्रध्वस्तं कर्म क्व फलदं भवति ? अत एव फलदाने प्रतिभुवं प्रतिभूरूपं त्वां परमात्मानं सम्प्रेक्ष्य श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा कृतपरिकरः सन्नद्धो भवति।

दयानन्दस्तु—'ये समनसो रयिवृधः सुमेधाः पीवोअन्नाः पीवांसि पुष्टिकराण्यन्नानि येषु पीवोअन्ना विश्वा स्वपत्यानि चक्रुः, ते इन्द्रायवे वितस्थुः। नियुतामधिश्रीरभितः श्रीः शोभा यस्य, श्वेतो गन्ता वर्धको वा वायुः सर्वान् सिषक्ति तदा स श्रीमान् जायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वायुपदस्य वायुविद्यार्थकत्वे मानाभावात्। नहि स्वोत्पादनस्य वायुविद्योत्पत्तौ हेतुत्वम्, येन तद्वतां तदधिकारः सिद्ध्येत्। न चाधिकारसूचकपदमस्ति मन्त्रे॥ २३॥

रा॒ये नु यं ज॒ज्ञत॒ रोद॑सी॒मे रा॒ये दे॒वी धि॒षणा॑ धाति दे॒वम्।
अध॑ वा॒युं नि॒युत॑: सश्चत॒: स्वा उ॒त श्वे॒तं वसु॑धितिं नि॒रे॒के॥ २४॥

मन्त्रार्थ—इस पृथ्वी और स्वर्ग ने वायु को जलरूप धन के निमित्त शीघ्र उत्पन्न किया है। ब्रह्मशक्ति दिव्य धन के निमित्त वायु को धारण करती है। श्वेत वर्ण के वायु के घोड़े निश्चय ही धन को धारण करने वाले वायु को बहुजनाकीर्ण स्थान में ले जाते हैं॥ २४॥

यं वायुं राये धनायोदकलक्षणाय, नु क्षिप्रम्, इमे रोदसी द्यावापृथिव्यौ जज्ञतुर्जनयामासतुः, वायुमन्तरेण द्यावापृथिव्योः संयोगेऽपि तेन जगद्धारणानुपपत्तेः। धिषणा धियं बुद्धिं कर्म वा सनोति सम्भजते, धियं बुद्धिं सनोति ददाति वा या सा धिषणा। अत्र ह्रस्व आर्षः। वाक् मध्यस्थाना देवी, दीव्यतीति देवी, देवं दानादिगुणकं वायुं राये धनाय धाति दधाति, शपो लुक्। अध अथोत्पत्तिसमनन्तरमेव तं वायुम् उत निश्रितं स्वा नियुतो निजाश्वाः सश्चतः सरन्तः सचन्ते सेवन्ते। उतापि च श्वेतं वायुं वसुधितिं वसुनो धनस्य उदकलक्षणस्य धारयितारम्, यद्वा वसुनो धनस्य धितिर्धारणं यत्र तम्, निरेके रेको रेचनं शून्यता, निर्गतो रेको यस्मात्तादृशे बहुजनाकीर्णे स्थानेऽवस्थितं वायुं नियुतः स्वाः सश्चत इति सम्बन्धः। अत्र उव्वटाचार्यमतेन सश्चत इति प्रातिपदिकम्। महीधराचार्यश्च सश्चतेति मध्यमपुरुषबहुवचनमाह। अत एव स पुरुषव्यत्ययं मनुते।

अध्यात्मपक्षे—वायुं वाति सर्वं जगद् गच्छति चेष्टते यस्माद् स वायुस्तं परमेश्वरं हिरण्यगर्भं वा, इमे रोदसी द्यावापृथिव्यौ जज्ञतुरुत्पादितवत्यौ प्रकटयाञ्चक्रतुर्वा। किमर्थम् ? राये विश्वस्य अभ्युदयाय देवी दीव्यन्ती धिषणा मध्यमस्थाना वाक् च यं देवं द्योतमानं धाति धारयति। यद्वा धिषणा समष्टिबुद्धिर्यं धाति धारयति अभिव्यञ्जयति वा। अध अथानन्तरमेव श्वेतं स्वच्छं वायुं पूर्वोक्ताः स्वा निजा नियुतः समाराधकाः सश्चतः। कीदृशं वायुम् ? वसुधितिम्, आध्यात्मिकाधिभौतिकादेर्धनस्य धारयितारम्। क्व ? निरेके प्रदेशेऽपि सेवन्ते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, इमे रोदसी राये यं जज्ञतुः, धिषणा प्रज्ञा यं देवं राये नु धाति, अथ निरेके निर्गतशङ्के स्थाने स्वा नियुतो मिश्रणामिश्रणकर्तारः श्वेतं वृद्धमुत वसुधितिं वायुं सश्चतः प्राप्नुवन्ति, तं यूयं

विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या द्यावापृथिव्योर्जडत्वेन प्रेक्षापूर्वकारित्वाभावेन कस्याप्युत्पादकत्वासम्भवात्, धिषणापदस्य स्त्रीवाचकत्वे देवशब्दस्य पतिवाचकत्वे च मानाभावात्। न च पत्नी धनाय पतिं धारयति, तथात्वे पण्यवधूत्वापत्तेः। के जना मिश्रणामिश्रणकर्तारः? कथं च ते वृद्धं वायुं प्राप्नुवन्ति? तदर्थं निःशङ्कस्थानस्य को वोपयोगः? इत्याद्याक्षेपाऽसमाधानात्। शरीरे च वायुवृद्धिरपि रोग एवेति किमर्थं तादृशस्य वायोर्धारणम् ॥ २४ ॥

आपो॑ ह॒ यद् बृ॑ह॒तीर्विश्व॒माय॒न् गर्भं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर॒ग्निम् ।
ततो॑ दे॒वाना॒ᳫं समं॑वर्त॒तासु॒रेकः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ यह बात प्रसिद्ध है कि जब ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले अग्निरूप हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करने की इच्छा से महान् ब्रह्माण्ड रूप जल देवताओं ने विश्व का रूप धारण किया, तब एक वर्ष पर्यन्त गर्भ में स्थित देवताओं का प्राणरूप आत्मा लिंगशरीरमय हिरण्यगर्भ के रूप में उत्पन्न हुआ। उस प्रजापतिरूप देवता के निमित्त हम हवि देते हैं ॥ २५ ॥

द्वे प्रजापतिदेवत्ये त्रिष्टुभौ हिरण्यगर्भदृष्टे प्रथमा द्व्यक्षराधिका 'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास' (श० ११।१।६।१) इति ब्राह्मणमेतत्कण्डिकयोर्निदानम्। पुराकल्पद्योतको ह इति निपातः। यद् यदा पुराकल्पे बृहतीर्बृहत्यो महत्यो बहुला आपो जलानि गर्भं हिरण्यगर्भलक्षणं दधाना धारयन्त्यः, अग्निमग्निरूपं हिरण्यगर्भं जनयन्तीर्जनयन्त्य उत्पादयिष्यन्त्यः, गर्भं हिरण्यमयमण्डं दधाना विश्वं सर्वमात्मत्वेन आयन्, तदा ततो गर्भात् संवत्सरोषिताद् देवानामसुः प्राणरूप एक आत्मा समष्टिलिङ्गशरीररूपो हिरण्यगर्भः समवर्तत समभवत्, उदपद्यत। य इत्थंभूतो हिरण्यगर्भस्तस्मै कस्मै प्रजापतिरूपाय देवाय हिरण्यगर्भाय वयं हविषा विधेम हविर्दद्मः, विभक्तिव्यत्ययः। विधतिर्दानार्थः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मत्वलक्षणवैराजपदप्राप्त्युपोद्घातत्वेन 'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास' (श० ११।१।६।१) इति ब्राह्मणमाख्यायिकया सृष्टिं प्रतिपादयति। आपो हेति। इदं सर्वं सृज्यमानं जगत् सृष्टेः पूर्वमाप एव अबात्मकमेव, तत्कार्यत्वात्। कथमिति चेत्तत्रोच्यते—अग्रे सृष्टेः पूर्वं सर्वात्मकमिदं सर्वं सलिलमेव उदकपरिशेषं बभूव। ता अबभिमानिन्यो देवता अकामयन्त। अत्र ब्राह्मणमेवोद्ध्रियते—

'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेमहीति ता अश्राम्यँस्तास्तपोऽतप्यन्त तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डᳫं सम्बभूवाजातो ह तर्हि संवत्सर आस तदिदᳫं हिरण्मयमाण्डं यावत् संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवत' (श० ११।१।६।१)। कथं नु केन प्रकारेण विविधजगदात्मना प्रकर्षेण जायेमहि। ताः कामयमाना आपोऽश्राम्यन्त खिन्ना अभूवन्। 'श्रमु तपसि खेदे च' इति दैवादिकः। ताः श्रान्ता आपस्तप आलोचनरूपं कृतवत्यः। तद् हिरण्मयं हिरण्यस्य विकारं हिरण्मयं हिरण्यनिर्मितमण्डमप्सु प्रथमं मयूरकुकुटाण्डवत् सम्बभूव। अतः संवत्सराभावाद् यावती संवत्सरस्य वेला प्रान्तः सम्भाव्यते तावत्पर्यप्लवत। 'ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिस्तस्माद् संवत्सर एव स्त्री वा गौर्वा वडवा वा विजायते संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत स इदᳫं हिरण्मयमाण्डं व्यरुजन्नाह तर्हि काचन प्रतिष्ठास तदेनमिदमेव हिरण्मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेलासीत् तावद्बिभ्रत् पर्यप्लवत' (श० ११।१।६।२)। तदण्डं परिप्लुतमपामुपरि स्थितमासीत्। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। ततस्तस्मादण्डात् संवत्सरे काले गते सति पुरुषः शरीरी कश्चन समभवत्। स

पुरुषः प्रजापतिः। लोके शरीरिणामुत्पत्तिः संवत्सरकालसाध्या दृश्यते। यतो हि स्त्र्यादयो गर्भाशयस्थाने आण्डरूपे गर्भं धृत्वा तदवसाने पुत्रादिकं जनयन्ति। स उत्पन्नः प्रजापतिरिदं हिरण्मयमण्डं व्यरुजद् भग्नं कृतवान्, 'रुजो भङ्गे' तौदादिकः। एवमाश्रयभूतस्याण्डस्य विरुग्णत्वात् तस्य प्रजापतेः प्रतिष्ठा आस्पदं काचन किमपि नैवास। स च निराधारत्वात् स्थातुमशक्नुवन् इदमेव भिन्नं हिरण्मयमण्डं पुनः संवत्सरपर्यन्तं बिभ्रद् धारयन् तास्वेवाप्सु परिप्लवत। 'स संवत्सरे व्याजिहीर्षत्। स भूरिति व्याहरत् सेयं पृथिव्यभवत् भुव इति तदिदमन्तरिक्षमभवत् स्वरिति साऽसौ द्यौरभवत् तस्मादु संवत्सर एव कुमारो व्याजिहीर्षति संवत्सरे हि प्रजापतिर्व्याहरत्' (श० ११।१।६।३)। प्रसन्नं ब्राह्मणम्।

'स वा एकाक्षर-द्व्यक्षराण्येव। प्रथमं वदन् प्रजापतिरवदत्तस्मादेकाक्षरद्व्यक्षराण्येव प्रथमं वदन् कुमारो वदति' (श० ११।१।६।४)। 'तानि वा एतानि। पञ्चाक्षराणि तान् पञ्चर्तूनकुरुत त इमे पञ्चर्तवः स एवमिमाँल्लोकान् जातान् संवत्सरे प्रजापतिरभ्युदतिष्ठत् तस्मादु संवत्सर एव कुमार उत्तिष्ठासति संवत्सरे हि प्रजापतिरुदतिष्ठत्' (श० ११।१।६।५)। हेमन्त-शिशिरयोः समासाभिप्रायेण ऋतूनां पञ्चसंख्या। स परिप्लवमानः प्रजापतिरेकस्मिन् संवत्सरे गते सत्याण्डं विहाय इमान् सृष्टान् पृथिव्यादिलोकानवलम्ब्य उदतिष्ठद् ऊर्ध्वं स्थितवान्। यस्मादेवं तस्मादेव कारणाज्जन्मानन्तरं संवत्सरे काले गते एव कुमार उत्तिष्ठासति। 'स सहस्रायुर्जज्ञे। स यथा नद्यै पारं परापश्येदेवꣳ स्वस्यायुषः पारं पराचख्यौ' (श० ११।१।६।६)। 'सोऽर्चञ्छ्राम्यँश्चचार प्रजाकामः। स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त स आस्येनैव देवानसृजत ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय दिवेवास तद्वेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजानाय दिवेवास' (श० ११।१।६।७) स आत्मनि स्वशरीर एव प्रजोत्पत्तिसाधनं योनिमधत्त। तत आस्येन ते देवा दिवं द्युलोकमभिपद्य असृज्यन्त। तस्माद्दिवमभिपन्नास्ते। तस्माद् द्युसम्बन्धात् तेषां देवत्वं देवशब्दाभिधेयता सम्पन्ना। एतावता 'विद्वांसो हि देवा' (श० ३।७।३।१०) इति श्रुतेरशुद्धमर्थं व्याचक्षाणाः सामाजिकाः परास्ताः। अत्र स्पष्टं द्युलोकसम्बन्धित्वेन देवत्वमुक्तम्। दिवेव प्रकाश इव बभूव। 'अथ योऽयमवाङ् प्राणः। तेनासुरानसृजत त इमामेव पृथिवीमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय तम इवास' (श० ११।१।६।८)। 'सोऽवेत्। पाप्मानं वा असृक्षि यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति ताँस्तत एव पाप्मनाविध्यत् ते तत एव पराभवँस्तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इति हासे त्वत्ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्ते तत एव पराभवन्निति' (श० ११।१।६।९)। योऽयमवाङ्मुखः प्राणस्तेन प्रजापतिरसुरान् असृजत। ते पृथिवीमेवाभिपद्यासृज्यन्त। असुरान् सृष्टवते प्रजापतये सासुरसृष्टिरन्धकार इवाभवत्। ततः प्रजापतिः पापमेव खल्वहं सृष्टवानस्मि यत्सृष्टौ तम इवाभूदित्येवं पर्यालोच्य तमोरूपेण पाप्मना अविध्यत्। तस्मात्कारणादभिज्ञा आहुः—यतः प्रजापतिना सृष्टिसमय एवासुरा निराकृताः, तेन देवासुरं देवाश्चासुराश्चेति युद्धादिकं यदस्ति तन्नैवास्ति।

यद् देवैः सार्धमसुरसृष्टिप्रतिपादनम्, तदेकमेवेदम्, तदुभयं नैवास्ति, सृष्टिसमय एव पापवेधेन तेषां पराभूतत्वात्। 'तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्। न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति मायेत्सा यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स इति' (श० ११।१।६।१०)। उक्तार्थदार्ढ्याय मन्त्रमुदाहरति—हे इन्द्र, त्वं न युयुत्से युद्धं न कृतवान्, त्वत्प्रतिभटानामसुराणामभावात्। कतमच्च किमपि शत्रुसैन्यं नाहः नावधीः। हे मघवन्, ते तव प्रकृतसृष्टावमित्रस्तव कश्चन न कोऽपि। 'स ऐक्षत प्रजापतिः। सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति स सर्वत्सरोऽभवत् सर्वत्सरो ह वै नामैतद्यत्संवत्सर इति स यो हैवमेतत्संवत्सरस्य सर्वत्सरत्वं वेद यो हैनं पाप्मा मायया त्सरति न हैनꣳ सोऽभिभवत्यथ यमभिचरत्यभि हैवैनं भवति य

एवमेतत्संवत्सरस्य सर्वत्सरत्वं वेद' (श० ११।१।६।१२)। योऽहमिमा देवता असृक्षि सृष्टवानस्मि, सोऽहं सर्वं स्रष्टव्यं जगद् अत्सारिषम् छद्मगत्या प्राप्तवानस्मि, 'त्सर छद्मगतौ' भौवादिकः। इत्यादिब्राह्मणेन यदुक्तं तदेवास्मिन् मन्त्रद्वये प्रोक्तम्। या बृहत्य आपोऽग्नि जनयिष्यन्त्यो गर्भमाण्डं हिरण्मयं दधाना विश्वं सर्वं स्वात्मत्वेनायन् अवापुः, ततः संवत्सरोषितात् देवानामसुः प्राणभूत एवात्मा हिरण्यगर्भः समवर्तत समभवत्, य ईदृशो देवानामात्मभूतो हिरण्यगर्भस्तस्मै कस्मै हविषा विधेम।

दयानन्दस्तु—'बृहतीर्जनयन्तीर्यद्धविरिव गर्भं दधानाः सत्या आप आयंस्ततोऽग्नि देवानामेकोऽसु समवर्तत। तस्मै ह कस्मै देवाय वयं हविषा विधेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या जडानामपां पृथिव्यादि-स्रष्टृत्वासम्भवात्, गर्भपदस्य प्रधानार्थतापि निर्मूलैव। देवानां पृथिव्यादीनामेकः समवर्तत, अत्र परमात्मा कस्य शब्दस्यार्थः ? न चासुशब्दस्य परमात्मार्थः, तस्य प्राणवाचकत्वात् ॥ २५ ॥

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—जिस अविनाशी ब्रह्म ने अपनी महिमा से प्रजापतिरूप हिरण्यगर्भ को धारण करने वाले, यज्ञवाली प्रजा को भी उत्पन्न करने वाले, निजकिरणरूप जल देवता को सब ओर से देखा। जो देवताओं में प्रमुख रूप से एक होता हुआ भी नाना प्रकार के अवतारों से क्रीड़ाशील हुआ, उस ब्रह्मदेव के निमित्त हम यह आहुति देते हैं ॥ २६ ॥

यश्चिद् योऽपि, चिदप्यर्थकः, देवो अन्तर्यामी महिना महाभाग्येन आपोऽपः, विभक्तिव्यत्ययः, पूर्वोक्ताः पर्यपश्यत् सर्वतो ददर्श। कीदृशीः ? दक्षं कुशलं प्रजापतिं दधानाः। यज्ञं सृष्टिरूपं यज्ञं च जनयन्तीः। यज्ञं यज्ञकर्त्रीः प्रजा वा, लक्षणया यज्ञशब्देन यज्ञकर्त्रीणां प्रजानां वा विवक्षितत्वात्। यश्च देवेषु अधि अधिक उत्कृष्ट एको मुख्यो देव आसीत्, तस्मै देवाय हविषा विधेम हविर्दद्मः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्व एवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'यो महिना दक्षं दधाना यज्ञं जनयन्तीरापः सन्ति, ताः पर्यपश्यत्। यो देवेष्वधिकोऽधिदेव आसीत्। तस्मै चित् कस्मै देवाय वयं हविषा विधेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बलस्य संसारस्य चोत्पादने जलानामपामहेतुत्वात्। देवेषु प्रकृत्यादिजीवेष्वित्यप्यनर्थः, जडानां भोग्यत्वेन भोक्तृत्वायोगात्। न च यज्ञपदेन सङ्गत्या संसारोऽर्थः, तथात्वे संसारमग्नस्य याज्ञिकत्वेन यज्ञफलप्रापकत्वापत्तेः। न च परमेश्वरे ज्ञानोत्पत्तिः सम्भवति, आत्ममनःसंयोगाभावात्। न च संयोगो विद्यते, निर्हेतुकत्वात्, न च निर्हेतुकमेव ज्ञानम्, तथात्वे पर्यपश्यदित्यागन्तुकत्वानापत्तेः। न च नित्यमपि सम्भवति, ज्ञानानामनित्यत्वदर्शनात्। सिद्धान्ते तु परमेश्वरस्य ज्ञानस्वरूपत्वेन नित्यत्वेऽपि भास्यसंसर्गस्यागन्तुकत्वेनागन्तुकत्वोपपत्तिः ॥ २६ ॥

प्र याभिर्यासि दाश्वाᳬसमच्छा नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे ।
नि नो रयिᳬ सुभोजसं युवस्व नि वीरं गव्यमश्व्यं च राधः ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे सर्वव्यापी वायुदेव, आप जिन घोड़ों की सहायता से यज्ञशाला में वर्तमान यज्ञ के अनुष्ठान के निमित्त हवि देते हुए यजमान के सम्मुख जाते हैं, तब आप हमें सुख भोग के साधन धन को दीजिये, वीर पुत्र, गो, अश्व आदि धन को भी दीजिये ॥ २७ ॥

द्वे वायुदेवत्ये त्रिष्टुभौ वशिष्ठदृष्टे। हे वायो, त्वं याभिर्नियुद्भिरश्वाभिरिष्टये यागाय दुरोणे यज्ञगृहे वर्तमानं दाश्वांसं हविर्दत्तवन्तं यजमानम् अच्छा आभिमुख्येन प्रयासि। नियुच्छब्द उभयलिङ्गः स्त्रियां पुंसि च। 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायामच्छेति दीर्घः। 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इति प्रेत्यस्य व्यवहितः प्रयोगः। ताभिर्नियुद्भिरागत्य नोऽस्मभ्यं सुभोजसं सुष्ठु भुज्यत इति सुभोजास्तम्, भुजेरसुन् औणादिकः। किञ्च, वीरं पुत्रं गव्यं गोसम्बन्धि अश्व्यं अश्वसम्बन्धि च रायो धनं नियुवस्व देहि। निपूर्वो यौतिर्दानार्थः, व्यत्ययेन शः। तथा रयिं सुवर्णादिरूपां लक्ष्मीं च नियुवस्व देहि।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो सर्वान्तर्यामिन् वायुरूपधारिन्, त्वं याभिर्नियुद्भिर्वडवाभिरिष्टये यागाय दुरोणे यज्ञगृहे वर्तमानं दाश्वांसं यजमानम्, अच्छाभिमुख्येन प्रयासि, ताभिरागत्य नोऽस्मभ्यं सुभोजसं रयिं धनं नियुवस्व, वीरं पुत्रं गव्यं गोसम्बन्धि अश्व्यं अश्वसम्बन्धि रायो धनं च नियुवस्व देहि। किञ्चिद् धनं सदपि सुभोजो न भवति, दुर्जरत्वात्, रोगादिजनकत्वाद्वा। तत एवार्थशास्त्रेषु धर्मानुबन्धमर्थानुबन्धं च धनमाद्रियते, नाधर्मानुबन्धमनर्थानुबन्धमननुबन्धं चेति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् वायो, वायुरिव त्वं प्रयाभिः कमनीयाभिर्नियुद्भिर्नियतैर्गुणैरिष्टयेऽच्छयासि दुरोणेन सुभोजसं दाश्वांसं रयिं नियुवस्व वीरं गव्यमश्व्यं च राधो नियुवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित् गौणार्थाश्रयणात्, धनमिश्रणासङ्गतेश्च, नियुत्पदस्य नियतगुणार्थत्वे मानाभावाच्च, दुरोण इति पदस्य वैयर्थ्यापाताच्च। दाश्वश्शब्दस्यापि रयिशब्देनासङ्गतिरेव, रये जडत्वेन तत्रानौपचारिकदातृत्वायोगात्। विज्ञानादिगुणप्राप्तिरपि तत्रासङ्गतैव॥ २७॥

आ नो॑ नि॒युद्भिः॑ श॒तिनी॑भिरध्व॒रꣳ स॑ह॒स्रिणी॑भि॒रुप॑याहि य॒ज्ञम्।
वायो॑ अ॒स्मिन् सव॑ने मादयस्व यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः॥ २८॥

मन्त्रार्थ— हे वायुदेव, शत-सहस्र संख्या वाले घोड़ों की सहायता से आप हमारे सत्पथ दाता यज्ञ स्थान पर आइये, इस तीसरे सवन से तृप्त होइये। हे ऋत्विजों, आप सब समस्त कल्याणों के साथ हमारी सदा रक्षा कीजिये॥ २८॥

हे वायो, नियुद्भिरश्वाभिर्वडवाभिर्नोऽस्माकमध्वरं यज्ञमुपयाहि। कीदृशीभिर्नियुद्भिः? शतिनीभिः सहस्रिणीभिः शतं सहस्रं च संख्या यासां ताभिः, सपरिकरोऽस्मद्यज्ञमुपागच्छ। सवाहनस्य सपरिकरस्य तर्पणे वयं सक्षमा इति भावः। एत्य चास्मिन् सवने तृतीये मादयस्व तृप्यस्व। इदानीमृत्विजो मन्त्रपादेनाह—हे ऋत्विजः, यूयं स्वस्तिभिरविनाशैः कल्याणैर्वा नोऽस्मान् सदा पात रक्षत।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो! विश्वचालक परमेश्वर वायुरूपधारिन्, नोऽध्वरमुपयाहि। हे ऋत्विजः, यूयं तादृशस्य वायोर्यजनेन तज्जनितैः स्वस्तिभिः कल्याणैर्नः सदा पात। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे वायो, यथा वायुर्नियुद्भिर्निश्चितैर्गमनागमनैः शतिनीभिः शतानि बहूनि कर्माणि विद्यन्ते यासु, सहस्रिणीभिः सहस्राण्यसंख्या वेगा विद्यन्ते यासु गतिषु, ताभिरस्मिन् सवने नोऽध्वरं यज्ञं संगन्तव्यं व्यवहारमुपगच्छन्ति, तथा त्वमेतमायाहि मादयस्व। हे विद्वांसो यूयमेतद्विद्यया स्वस्तिभिर्नः सदा पात' इति, तदप्युपहासास्पदम्, असङ्गतत्वात्, सम्बोधनार्हाणां निर्मूलत्वाच्च, गतिमिति विशेषणस्य मूलेऽनिर्देशात्। यौतेर्गत्यर्थतायां मिश्रणामिश्रणादेर्निर्मूलता, अन्यथा गत्यर्थतानिर्मूलता, व्यवहारस्यापि गतिविशेषरूपत्वात्, तं प्रति गत्यन्तरानपेक्षणाच्च, दार्ष्टान्ते विदुषस्तादृशगत्यसिद्धेश्च, किञ्चैतस्य पश्वादिसाधारण्येन वेदे तद्वर्णनस्य निरर्थकत्वाच्च॥ २८॥

नियुत्वान् वायवागह्ययंᳪं शुक्रो अयामि ते । गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ— हे वायुदेवता, आप यजमान के गृह में आइये, वहाँ अश्व पर चढ़ कर आइये, यह शुक्र ग्रह आपको समर्पित है ॥ २९ ॥

षडृचो वायव्या वायव्येष्टकापशुपक्षे वपादीनां याज्यानुवाक्यात्वेन विनियुक्ताः । तत्राद्या गायत्री गृत्समदस्यार्षम् । हे वायो ! यतः सुन्वतोऽभिषवं कुर्वतो यजमानस्य गृहं प्रति त्वं गन्ता गमनशीलोऽसि । तृन्नन्तोऽयं शब्दः, आद्युदात्तत्वात् । तच्छीलः, तद्धर्मः, तत्साधुकारी वा—एते हि तृनोऽर्थाः, 'आ क्वेस्तच्छील-तद्धर्मतत्साधुकारिषु' (पा० सू० ३।२।१३४) इति पाणिनिस्मृतेः । अतो ब्रवीमि नियुत्वान् अश्वावान् नियुद्गुणको वा भूत्वा आगहि आगच्छ । शपो लुक् । अयं शुक्रो ग्रहस्ते त्वां प्रति अयामि आगच्छतु प्राप्नोतु । लकारपुरुष-व्यत्ययः । शुक्रादिग्रहाणां त्वमेव पात्रमित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो परमेश्वर, सुन्वतः सोमाभिषवं कुर्वतो यजमानस्य गृहं प्रति गमनशीलोऽसि, अतो नियुत्वान् भूत्वा आगहि । अयं शुक्रो ग्रहोऽपि त्वां प्रत्यागच्छतु, सर्वात्मकस्य भगवत एव वायुरूपेणाप्यव-स्थितत्वात् । अथवा हे भगवन्, अयं त्वद्भक्तोऽहं शुक्रः पवित्रो भूत्वा ते तव धाम स्वरूपं वा अयामि प्राप्नोमि । अपरिच्छिन्नोऽपि भगवान् भक्तानुग्रहकातरो भूत्वा रामकृष्णादिविग्रहेण दिव्याश्वादिवाहनैः सुन्वतो भक्तस्य गृहं प्रति यातीत्यहो भक्तवात्सल्यम् ।

दयानन्दस्तु—'हे वायो, नियुत्वान् ईश्वरस्त्वं यथायं शुक्रो गन्ता वायुः सुन्वतो गृहं गच्छति, तथा मामागहि, यतस्त्वमीश्वरोऽसि तस्मात्ते स्वरूपमहमयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नियच्छते नियुत्वानित्यसिद्धेः । पृषोदरादिसमाश्रयणं त्वसति गत्यन्तरे बोध्यम् । न चेश्वरो गन्ता स्वेन रूपेण भवति, तस्य व्यापकत्वेना-नाप्तस्य गन्तव्यदेशस्याभावात्, परिच्छिन्नस्यैव उत्क्रमणसंक्रमणादिसम्भवात् ॥ २९ ॥

वायो शुक्रो अयामि ते मध्वो अग्रं दिविष्टिषु ।
आयाहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हे वायुदेवता, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में रस के सारभूत इस शुक्र ग्रह को आपके लिये समर्पित करता हूँ । हे वायुदेवता, हमारे यजमान के यहाँ अपने अभीष्ट सोमपान के लिये अश्वयुक्त रथ से आइये ॥ ३० ॥

अनुष्टुप् पुरुमीढाजमीढदृष्टा । हे वायो, शुक्रो ग्रहस्ते त्वां प्रत्ययामि आगच्छतु । कीदृशः शुक्रो ग्रहः ? दिविष्टिषु द्यौः स्वर्ग इष्यते प्रार्थ्यते याभिस्ता दिविष्टयस्तासु, 'ज्योतिष्टोमेन[1] स्वर्गकामो यजेत' इति श्रुतेः । मध्वो मधुनो रसस्य अग्रं सारभूतः, यज्ञरसेषु शुक्रो ग्रहः सारभूत इत्यर्थः । किञ्च, हे देव वायो ! नियुत्वता अश्वावता रथेन सोमपीतये सोमपानाय आयाहि आगच्छ । कीदृशस्त्वम् ? स्पार्हः स्पृहायोग्यः, यजमानादिभिः स्पृहणीय इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो, दिविष्टिषु यज्ञेषु मध्वो मधुनो रसस्य अग्रं सारभूतं त्वां शुक्रः शुद्धो भूत्वा अहमयामि प्राप्नोमि । हे देव, अश्वावता रथेन सोमपीतये सोमोपलक्षितभक्तसमर्पितनैवेद्यग्रहणाय आयासि । त्वं सर्वस्य प्राणिमात्रस्य स्पृहणीयः, सर्वस्यात्मत्वेन सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात् ।

---

१. अनुपलब्धमूलं वचनमिदम् ।

दयानन्दस्तु—'हे वायो, यो वायुरिव शुक्रस्त्वमसि, यो मध्वोऽग्रं दिविष्टिष्वहमायामि। हे देव, स्पार्हस्त्वं नियुत्वता सह सोमपीतय आयाहि' इति, तदपि विशृङ्खलितमेव, मध्व इत्यस्य मधुरवचनबोधकत्वे मानाभावात्, दिविष्टिष्वित्यस्य उत्तमसङ्गत्यर्थकत्वस्य चिन्त्यत्वात्। यः स्पृहयति तस्यायं स्पार्हः। हिन्दीभाष्ये तु उत्तमगुणाभिलाषवतः पुत्र इति व्याख्यानम्, तदपि निर्मूलम्, बाह्यसापेक्षार्थापेक्षया निरपेक्षार्थस्यैव ज्यायस्त्वात् ॥ ३० ॥

वायुरग्रेगा यज्ञप्रीः साकं गन्मनसा यज्ञम्। शिवो नियुद्भिः शिवाभिः ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—अग्रगामी, यज्ञ से तृप्त होने वाला, सबका कल्याण करने वाला वायुदेवता कल्याणरूप घोड़ियों के साथ प्रसन्न मन से हमारे यजमान के इस यज्ञ में आवे ॥ ३१ ॥

द्वे गायत्र्यौ। वायुरग्रेगा अग्रे गमनशीलः, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इत्याकारः। यज्ञप्रीर्यज्ञेन प्रीयते तुष्यतीति यज्ञप्रीः, शिवः कल्याणकरः, शिवाभिः कल्याणरूपाभिर्नियुद्भिरश्वाभिर्मनसा साकं चित्तेन सार्धं सादरं यज्ञं गन् गच्छतु।

अध्यात्मपक्षे—वायुर्वायोरपि शीघ्रगामी मनसो जवीयः, 'तद्धावतोऽन्यानत्येति' (वा० सं० ४०।४) इति मन्त्रवर्णात्। व्यापकस्यापि सतस्तत्र तत्राभिव्यक्त्यपेक्षया तन्त्र्यां विद्युत इव गमनमुपचर्यते। अग्रेगा अग्रे गमनशीलः, यज्ञप्रीर्यज्ञेन प्रीयते तुष्यतीति यज्ञप्रीः, सर्वयज्ञैर्भगवत एव समर्हणीयत्वात्। मनसा सानुरागेण साकं शिवः कल्याणकरः कल्याणरूपः, शिवाभिः कल्याणमयीभिर्नियुद्भिर्वडवाभिरश्वैर्वा यज्ञमिमं गन् आगच्छतु। आञ्जस्येन सर्वाणीमानि विशेषणानि भगवत्येव सङ्गच्छन्ते।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वायुर्नियुद्भिः शिवाभिर्यज्ञं गन्, तथा शिवोऽग्रेगान् यज्ञप्रीः संस्त्वं मनसा साकं यज्ञमायाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वायोर्विदुषश्च क्रियासु साम्याभावेन तदनुपपत्तेः। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव ॥ ३१ ॥

वायो ये ते सहस्रिणो रथासस्तेभिरागहि। नियुत्वान् सोमपीतये ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे वायुदेवता, आपके पास हजारों रथ हैं, उन रथों में अश्वों को जोत कर आप हमारे इस यजमान के यहाँ आइये ॥ ३२ ॥

हे वायो, ये ते तव सहस्रिणः सहस्रसंख्याभिर्युक्ता रथासो रथास्तेभिस्तैरथैरागहि आगच्छ। किमर्थम्? सोमपीतये सोमपानाय। कीदृशस्त्वम्? नियुत्वान्, अश्वायुक्तः, 'नियुतो वायोः' (निघ० १।१५।१०) इति निघण्टूक्तेः।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो! वायुरिव विश्वपावन भगवन्, ते तव सहस्रिणो रथाः, सहस्रपदमनन्तबोधकम्, अनन्तरथाः। तै रथैः साधनभूतैः सोमपीतये सोमपानाय आगहि आगच्छ। त्वं वायुरूपेण नियुत्वानश्वावानसि। यद्वा निपूर्वस्य यौतेर्दानार्थकत्वेनानन्तदानादिगुणकोऽसि। क्विबन्तान्मतुबिति भावः।

दयानन्दस्तु—'हे वायो! वायुरिव वर्तमान विद्वन्, ये ते सहस्रिणो रथाः सन्ति, तेभिः सह नियुत्वान् सन् त्वं सोमपीतय आगहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वायुर्यज्ञमुद्दिश्याऽऽयातीति निश्चेतुमशक्यम्, त्वद्रीत्या तस्य जडत्वेन प्रेक्षापूर्वकारित्वायोगात्। तस्य काः शिवाः काश्चाशिवा नियुत इत्यप्यशक्यनिर्णयम्, जीवानामल्पज्ञत्वात्। विदुषोऽपि क्रियाणामपि तथात्वमशक्यनिर्णयमेव ॥ ३२ ॥

एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विंशती च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च नियुद्भिर्वायविह ता वि मुञ्च ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे आत्मरूप समृद्धि वाले वायुदेव, एक, दो, तीन, दस, बीस और तीस वाहनों से आकर हमारे इस यजमान के यज्ञ की सम्पत्ति के लिये जिन पात्रों को आपने धारण किया था, उनको अब छोड़िये ॥ ३३ ॥

अनयर्चा पात्राणि मुच्यन्ते। हे वायो, स्वभूते, स्वा स्वकीया भूतिः सर्वजगद्रूपा समृद्धिर्यस्य स स्वभूतिस्तत्सम्बुद्धौ, यानि पात्राणि इष्टये देवयज्यायै एकया नियुता, दशभिः, द्वाभ्यां विंशती; विंशत्या पूर्वसवर्णः, तिसृभिः त्रिंशता च नियुद्भिरश्वाभिः कृत्वा वहसे, ता तानि पात्राणि इह यज्ञे विमुञ्च। पञ्चचकाराः समुच्चयार्थाः।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो भगवन्, हे स्वभूते, स्वकीया भूतिर्जगद्रूपा समृद्धिर्यस्यासौ स्वभूतिस्तत्सम्बुद्धौ, ब्रह्मरूपेण सर्वस्य जगतो ब्रह्मविकारत्वात्। हिरण्यगर्भरूपेणापि सूत्रात्मरूपस्य वायोरेव सर्वं जगदुत्पद्यते। स चैकया दशभिर्द्वाभ्यां विंशत्या तिसृभिश्च त्रिंशता नियुद्भिरश्वैरश्वतुल्याभिः शक्तिभिर्योग्यतानुसारेण एकया द्वाभ्यां तदुपलक्षितैरनन्ताभिः शक्तिभिः कल्याणपात्राणि वहति, ताभिश्च जगते कल्याणानि प्रापयतीत्यर्थः। इह यज्ञे। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे स्वभूते वायो, यथा पवन इहेष्टये एकया च गत्या दशभिर्दशविधाभिर्गतिभिर्द्वाभ्यां विद्यापुरुषार्थाभ्यामिष्टये विद्यासङ्गतये विंशती चत्वारिंशत् तिसृभिस्त्रिशता च नियुद्भिः सह यज्ञं वहति, तथा वहसे, स त्वं ता विमुञ्च, अर्थात् ता उपदिश' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैवार्थस्य स्वकपोलकल्पितत्वात्। नियुत्पदेन नियता गतिरित्यर्थः कथङ्कारं ग्रहीतुं शक्यते? लोके वेदे च एकादीनां गतीनामप्रसिद्धेः। 'नियुतो वायोः' (निघ० १।१५।१०) इति च निघण्टुप्रसिद्धिः ॥ ३३ ॥

तव वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत। अवांस्या वृणीमहे ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे सत्यपालक, सूर्य के जामाता, आश्चर्य रूप वाले वायुदेव, हम यजमान के लिये आपसे धन-धान्य की और सभी प्रकार की रक्षा की कामना करते हैं ॥ ३४ ॥

गायत्री व्यश्वदृष्टा। हे वायो, हे ऋतस्पते! ऋतस्य सत्यस्य पतिः पालक इति ऋतस्पतिः, ऋतस्य पतौ परे सुडागमः, तत्सम्बुद्धौ। यज्ञपालक वा, ऋतशब्दस्य यज्ञवचनत्वात्। हे त्वष्टुरादित्यस्य जामातः! आदित्यादपः कन्या आदाय ता वायुर्गर्भिणीः करोति। ततो वृष्टिर्भवति। तस्माद्वायुरादित्यस्य जामाता। हे अद्भुत आश्चर्यरूप, तव अवांसि अन्नानि, 'अव इत्यन्ननामसु' (निघ० २।७।९), आवृणीमहे प्रार्थयामहे।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर एव प्रसिद्धवायुरूपेण ऋतस्पतिरादित्यस्य च जामाता कन्यापतिर्भवति। स एवाश्चर्यरूपः, स एव चान्नानां दाता, अतस्तस्मादन्नानि प्रार्थ्यन्ते। पुराणेषु च आदित्यस्त्वष्टुर्जामाता प्रसिद्धः। आदित्यस्य च तेजः सोढुमसमर्था त्वष्टुः कन्या संज्ञा वडवा भूत्वा तपश्चचार। त्वष्ट्रा च सूर्यस्य सौन्दर्याय तदीयतेजसां बाहुल्यस्य शातनं कृतम्। ततो वडवारूपायां संज्ञायामश्विनोरुत्पत्तिर्जाता।

दयानन्दस्तु—'हे ऋतस्पते जामातरद्भुतवायो, वयं यानि त्वष्टुर्विद्यया दीप्तस्य तवावांसि रक्षणादीन्यावृणीमहे, तानि त्वमपि स्वीकुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकृते कन्यापतिसादृश्यानिरूपणात्, विदुषः सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च। ततोऽवसां प्रार्थनमपि सिकतातस्तैलप्रार्थनाकल्पमेव ॥ ३४ ॥

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हे शौर्यवान् परमेश्वर, आप इस जगत् के स्वामी हैं, सूर्यरूपी नेत्र वाले हैं, इस स्थावर जगत् के स्वामी हैं। हम आपके सम्मुख खड़े हो उसी प्रकार स्तुति करते हैं, जिस प्रकार कि बिना दुही हुई गाय बछड़ों के सम्मुख आती है ॥ ३५ ॥

बृहती सतोबृहती द्वयं प्रगाथं वसिष्ठदृष्टमिन्द्रदेवत्यम्। 'रथन्तरं दक्षिणे पक्षे' (श० ९।१।२।३६) इति श्रुतिः। 'नान्योऽध्वर्योर्गायेत्' (श० ९।१।२।४३) इति श्रुत्याध्वर्योर्गानं विहितम्। अतः साम्नां योनय ऋचः पठ्यन्ते। तत्रैन्द्रः प्रगाथो रथन्तरस्य योनिः। हे शूर! हे इन्द्र, वयं त्वा त्वामभिनोनुमोऽभिष्टुमः। कथमिव ? अदुग्धा धेनव इव। यथा अदुग्धा अकृतकृत्या धेनवो वत्सान् अभिष्टुवन्ति तद्वत्। कीदृशं त्वामभिनोनुमः ? अस्य जगतो जङ्गमस्य ईशानं परमेश्वरम्, तथा स्वर्दृशं स्वः स्वर्गं परलोकं पश्यत्यापरोक्ष्येणेति स्वर्दृक्, तम्। यद्वा स्व आदित्य इव यो दृश्यते स स्वर्दृक्, तम्। अथ च तस्थुषः स्थितवतः स्थावरस्य ईशानं नियन्तारं त्वाभिनोनुमः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमेश्वर, परमैश्वर्यस्य ब्रह्मण्येव सम्भवात्। हे शूर, निरतिशय-शौर्यस्यापि तत्रैव सम्भवात्। वयं त्वामभिनोनुमः। जगतस्तस्थुषश्चेशानत्वमपि परमेश्वर एव पर्यवस्यति। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे शूर इन्द्र, धेनवोऽदुग्धा इव वयमस्य जगतस्तस्थुष ईशानं स्वर्दृशमिवेशानं त्वामभि-नोनुमः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कस्यचिद्राज्ञः सभापतेर्वा वर्णने वेदस्य तात्पर्याभावात्। न चेश्वरतुल्यं सामर्थ्यं राज्ञि सम्भवति, जीवमात्रस्यैवाल्पैश्वर्यवत्त्वात् ॥ ३५ ॥

न त्वावाँ२॥ अन्यो दिव्यो न न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे पूर्ण धनवान् परमेश्वर, आपके समान कोई दूसरा देव नहीं है, मनुष्य भी नहीं है। आपके समान न कोई उत्पन्न हुआ है और न होगा। इस कारण अश्वों को चाहने वाले, गायों की कामना करने वाले हम हवियुक्त होकर आपका आह्वान करते हैं ॥ ३६ ॥

हे मघवन् धनवन् हे इन्द्र, येन त्वावान् त्वमिव दृश्यत इति त्वावान्, त्वत्सदृशः। 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् (पा० सू० ५।२।३९) इत्यत्र वतुबिति योगविभागाद् वतुप्प्रत्ययः। पृषोदरादिः। अन्यो दिव्यो दिवि भवः, पार्थिवः पृथिवीभवः, नास्तीति शेषः। न च पूर्वं जातः, न वा जनिष्यत उत्पत्स्यते। कालत्रयेऽपि त्वत्तुल्यस्यान्यस्याभावाद् वयं त्वा त्वां हवामहे आह्वयामः। कीदृशा वयम् ? वाजिनः, वाजं हविर्लक्षणमन्नमस्ति येषां ते, हविषा युक्ताः। पुनः कीदृशाः ? अश्वायन्तः, आत्मनोऽश्वान् इच्छन्ति कामयन्त इत्यश्वायन्ति, 'अश्वाघस्यात्' (पा० सू० ७।४।३७) इत्यात्वम्, ततः शतरि अश्वायन्तः, अर्थाद् अश्वान् कामयमानाः। पुनः कीदृशाः ? गव्यन्तः, गोकामा वयं त्वा हवामहे। गवाश्वान् देहीति तात्पर्यम्।

अध्यात्मपक्षे—हे मघवन्, ज्ञानविज्ञानादिकं लौकिकं पारलौकिकं च मघं धनमस्ति यस्य स मघवान् तत्सम्बुद्धौ। हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन्, त्वावान् दिव्यः पार्थिवश्चान्यः कश्चन नास्ति, 'न त्वत्समोऽ-

स्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः' (भ० गी० ११।४३) इति भगवद्वचनेनाप्ययमर्थः समर्थितो भवति। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु- 'हे मघवन्निन्द्रेश्वर, वाजिनो गव्यन्तोऽश्वायन्तो वयं त्वां हवामहे, यतः कश्चिदन्यः पदार्थो न त्वावान् दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते, तस्माद् भवानेवास्माकमुपास्यो देवोऽस्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या पूर्वस्मिन् मन्त्रे राज्ञः स्तुतिरित्यकस्मात् कुत ईश्वरप्रसङ्ग इति पर्यनुयोक्तुं शक्यत्वात्। किञ्चात्र मनुष्यातिरिक्तो देवोऽङ्गीकृत इत्यपसिद्धान्तापातश्च ॥ ३६ ॥

त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर, यज्ञ के कर्ता हम ऋत्विक्गण सत्पुरुषों के पालक आपका ही धन-धान्य की प्राप्ति के लिये आह्वान करते हैं, शत्रु अथवा पाप के नाश के लिये भी आपका ही आह्वान करते हैं। हमारा अश्व दिग्विजयी हो, इसके लिये भी हम आपका ही आह्वान करते हैं ॥ ३७ ॥

ऋग्द्वयमैन्द्रः प्रगाथः शम्युदृष्टो बृहत्साम्नो योनिः, अध्वर्योर्गानिस्योक्तेः। आद्या बृहती द्वितीया सतोबृहती, 'बृहदुत्तरे पक्षे' (श० ९।१।२।३७) इति श्रुतेः। हे इन्द्र ! कारवः कर्तारः स्तोमानां यज्ञानां वा नर ऋत्विजो वयं त्वामेव हवामहे आह्वयामः, इद् एवार्थको हि निश्चयार्थकश्च। किन्निमित्तमाह्वानमिति चेत्, तत्राह- वाजसाताविति। वाजस्य अन्नस्य सातिर्लाभो वाजसातिस्तस्याम्, अन्नलाभनिमित्तमित्यर्थः। वृत्रेषु शत्रुषु हन्तव्येषु घातनिमित्तम्। काष्ठासु दिक्षु जेतव्यासु दिग्विजयनिमित्तम्। कीदृशं त्वाम्? सत्पतिं सतां श्रुतिस्मृतिविहितकर्मानुष्ठातॄणां निषिद्धकर्मत्यागिनां पतिं पालयितारम्। तथा अर्वतः, अर्वतामश्वानां प्राप्तिनिमित्तं त्वामाह्वयन्ति। यद्वा विषयसप्तमी—वाजसातौ अन्नलाभविषये शत्रुघातविषये च सत्पतिं त्वां सन्तो नरो मनुष्याः, आह्वयन्तीति शेषः। अर्वतोऽश्ववतो रथिनो वा आह्वयन्ति। त्वदृते मनुष्याणामभीष्टासिद्धेः। आवृत्तिरादरार्था।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, त्वामित् त्वामेव हि निश्चयेन वयं कारवः स्तुतीनां यज्ञानां वा कर्तारो हवामहे। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, वाजस्य ज्ञानविज्ञानजन्यस्य हि कारवो नरो वयं सातौ त्वां वृत्रेषु सूर्यमिव सत्पतिं त्वामर्वत इव सेनायां पश्येम, काष्ठासु त्वामिद्धवामहे गृह्णीमः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाजपदस्य विद्याविज्ञानकार्यार्थत्वे मानाभावात्, सूर्यमिवेति पदस्य मूलेऽभावाच्च। सेनायामिति पदमपि मन्त्रबाह्यमेव। न चार्वत उपमानं राज्ञि युक्तम्, तस्य पशुत्वेनोपकरणत्वेन चापकृष्टत्वात् ॥ ३७ ॥

स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महः स्तवानो अद्रिवः।
गामश्वꣳ रथ्यमिन्द्र सङ्किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अति आश्चर्यकारी, वज्रधारी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूप धारण करने वाले परमेश्वर, हम आपकी अत्यन्त प्रगल्भ और ओजस्वी वाणी से स्तुति करते हैं। आप हमें गायों और रथ में जोतने योग्य अश्वों को दीजिये। इसी तरह से संग्राम में विजय प्राप्त कराने वाले अश्व की रक्षा के निमित्त सुरक्षा और अन्न भी प्रदान कीजिये ॥ ३८ ॥

स लोकवेदप्रसिद्धस्त्वं नोऽस्मभ्यं हे इन्द्र, हे वज्रहस्त वज्रं हस्ते यस्यासौ वज्रहस्तस्तत्सम्बुद्धौ ! हे अद्रिवः, अद्रयोऽजेयत्वेन सन्तीत्यद्रिवान्, वज्रस्य अद्रिसारमयत्वात्, तत्सम्बुद्धौ हे अद्रिवः, 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति रुः। 'छन्दसीरः' (पा० सू० ८।२।१५) इति मस्य वः। हे चित्र चायनीय आश्चर्यकारिन् वा, गामश्वं च संकिर देहि। सम्पूर्वः किरतिर्दानार्थः। कीदृशमश्वम् ? रथ्यं रथे साधुम्, रथवहन-समर्थम्। यतो हि त्वं धृष्णुया प्रागल्भ्येन महो महसा, विभक्तिव्यत्ययः, प्रसहनेन महत्वेन च स्तवानः स्तूयमानोऽसि। धृषेः क्नुः, ततो विभक्तेर्यादेशः। धृष्णुना धृष्णुत्वेन, भावप्रधानो निर्देशः। स्तवान इत्यत्र विकरणव्यत्ययः। कथमिव संकिरेति ? तत्राह—सत्रा वाजं न जिग्युषे। नकार उपमार्थीयः। यथा जिग्युषे जितवतेऽश्वाय हस्तिने वा सत्रा त्राणसहितं वाजं यवसं सस्नेहमपरिमितं संकिरेयुर्दद्युस्तद्वत्, अस्मभ्यमश्वहस्त्यादिकं सस्नेहं प्रभूतं देहीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन्, हे चित्र आश्चर्यस्वरूप, 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' (भ० गी० २।२९) इत्युक्तेः। हे वज्रहस्त वज्रायुधहस्त, हे अद्रिवः ! अद्रयो वशंवदाः सन्ति यस्य तत्सम्बुद्धौ, त्वं धृष्णुया धृष्णुत्वेन महो महत्त्वेन तेजसा वा स्तवानः स्तूयमानः, जिग्युषे विजितवतेऽश्वाय हस्तिने वा सत्रा वाजं न सस्नेह-ममितवाजं यवसमिव नोऽस्मभ्यं गां रथ्यं रथवहनसमर्थमश्वं संकिर देहि।

दयानन्दस्तु—'हे चित्र ! वज्रहस्ताद्रिव इन्द्र, धृष्णुया महः स्तवानः स त्वं जिग्युषे न सत्रा वाजं न गां रथ्यमश्वं संकिर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यं राजानं प्रति तादृशयाच्ञानुपपत्तेः। न च तत्रेन्द्रत्वं वज्रहस्तत्व-मद्रिवत्त्वं चाञ्जस्येन सङ्गच्छते, मनुष्येषु तददर्शनात्। परमेश्वरे देवविशेषे च तदुपपत्तेः॥ ३८॥

कया॑ नश्चि॒त्र आ भु॑वदू॒ती स॒दावृ॑धः॒ सखा॑। कया॒ शचि॑ष्ठया वृ॒ता॥ ३९॥

मन्त्रार्थ—सदा सबकी वृद्धि करने वाला, आश्चर्यरूप परमेश्वर किस तर्पण या प्रीति से, अथवा किस वर्तमान याग-क्रिया से हमारा सहायक होगा ?॥ ३९॥

तिस्रो गायत्र्य इन्द्रदेवत्या वामदेवदृष्टाः। वामदेव्यस्य साम्नो योनिः, 'वामदेव्यमात्मन्' (श० ९।१।२ ३८) इति श्रुतेः। अन्त्या पादनिचृत् सप्ताक्षरत्रिपादा। इन्द्रपदं पूर्वर्चोऽनुवर्तनीयम्। इन्द्रो देवः, कया ऊती ऊत्या अवनेन तर्पणेन प्रीणनेन वा नोऽस्माकं सखा सहाय आभुवद् आभिमुख्येन भवति ? ऊतीत्यत्र तृतीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) इति पूर्वसवर्णः, आभुवदित्यत्र 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति तिप इकारलोपः। शपश्छान्दसे ङित्त्वे गुणाभावेन धातोरुवङादेशः। कीदृश इन्द्रः ? चित्रश्चायनीयो विचित्रः पूज्यो वा, सदावृधः सदा वर्धत इति सदावृधः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः। तथा कया वृता वर्तत इति वृत् तया वृता वर्तमानया शचिष्ठया अतिशयेन शचीति शचिष्ठा तया अतिशयवत्या यागक्रियया नोऽस्माकं सखा भवति, सा ऊती सा क्रिया च अस्माभिः सततं स्पृहणीये प्रापणीये चेत्यर्थः। यद्वा कया ऊती ऊत्या केनावनेन तर्पणेन वा नोऽस्माकं चित्र-श्चायनीय इन्द्रो भुवद् भूयात्। आकारो वृता सह सम्बद्ध्यते। तथा च कया नाम शचिष्ठया अतिशयकर्मवत्या आवृता कर्मणा च सदावृधः सदाकालं वर्धयिता सखा च भूयादिति तदिन्द्रकर्तृकमवनं तच्च कर्म सदा स्पृहणीयम्। आवर्त्यत इत्यावृत् क्रिया कर्म वा, तया। अत्र सायणाचार्यः—सदावृधः सदा वर्धमानः, चित्रश्चायनीयः पूजनीयः, सखा मित्रभूत इन्द्रः कया ऊती ऊत्या तर्पणेन नोऽस्मान् प्रति आभुवद् आभिमुख्येन भवेत्। शचिष्ठया प्रज्ञा-वत्तमया प्रज्ञासहितानुष्ठीयमानेन कर्मणा कया वृता वर्तनेन कर्मणा चाभिमुखो भवेत्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरः कया ऊती ऊत्या केन तर्पणेन वा नोऽस्माकं सखा आभुवद् आभिमुख्येन भवति, कया वृता वर्तमानया शचिष्ठयातिशयवत्या यागक्रियया नोऽस्माकं सखा भवति, तदेव प्रीणनं तर्पणं सैव च क्रिया सर्वतोभावेनास्माभिरावर्तनीयमित्यर्थः। कीदृश इन्द्रः ? चित्र आश्चर्यरूपः। सदावृधो वर्धयिता।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, चित्रः सदावृधः सखा भुवत् कयोती नोऽस्मान् रक्षेः ? कया शचिष्ठया वृताऽस्मान्नियोजयेः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलबह्वध्याहारमूलकत्वेन मन्त्रबाह्यत्वात्। विद्वन्निति सम्बोधनमपि निर्मूलमेव ॥ ३९ ॥

कस्त्वा॑ स॒त्यो मदा॑नां॒ मꣳहि॑ष्ठो मत्स॒दन्ध॑सः। दृ॒ढा चि॑दा॒रुजे॒ वसु॑ ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर, सोमरूप अन्न की मदजनक हवियों में कौन सा श्रेष्ठ अंश आपको प्रसन्न करता है ? जिस प्रसन्नता में कि दृढ़ता से रहने वाले भक्तगणों को आप धन का विभाग करके देते हैं ॥ ४० ॥

हे इन्द्र, अन्धसोऽन्नस्य सोमात्मकस्य कोंऽशस्त्वा त्वां मत्सद् माद्यति मदयुक्तं करोति, 'मदी हर्षे' इत्यस्माल्लेटि 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति धातोः सिबागमे, इकारपकारानुबन्धयोर्लोपे, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इति लेटोऽडागमे सिबादेशे, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपे मत्सदिति रूपम्। कीदृशोऽन्धसोंऽशः ? मदानां मदयन्तीति मदानि मदजनकानि हवींषि, तेषां मध्ये मंहिष्ठः श्रेष्ठः, अत्यन्तमदजनकः। 'महि वृद्धौ' भ्वादिः, मंहते वर्धत इति मंही, अत्यन्तं मंही मंहिष्ठः, येनांशेन मत्तः सन् दृढा चिद् दृढान्यपि वसु वसूनि कनकादीनि त्वमारुजे, 'रुजो भङ्गे' तुदादिः, पुरुषपदव्यत्ययः, आरुजसि दातुं चूर्णयसि भनक्षि, भङ्क्त्वा भङ्क्त्वा ददासीति यावत्। यद्वा कस्त्वा को नाम त्वा त्वां मत्सद् मादयति सोऽन्धसः सोमरूपस्यांशस्य अंशः सत्योऽवितथः। स च मदानां मध्ये मंहिष्ठोऽतिशयेन मदजनकः। येन मत्तः सन् त्वं दृढा चित् सुदृढान्यप्यसुरवृन्दानि, आरुजे आरुजसि चूर्णयसि, वसु च ददासीति शेषः। यद्वा दृढान्यपि वसु वसूनि सुवर्णप्रभृतीनि चिरकालावस्थायीन्यारुजसि चूर्णयसि दानाय।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, अन्धसः सोमलक्षणस्यान्नस्य को मदानां मदजनकानां हविषां मध्ये मंहिष्ठः श्रेष्ठः, अतिशयेन मदजनकस्त्वा त्वां मत्सद् मादयति, येन मत्तः सन् दृढा चिद् दृढान्यप्यसुरवृन्दानि, आरुजे आरुजसि, वसु च ददासि, तमेवांशं भक्तिरसपरिप्लुतं तुभ्यं समर्पयामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, कः सुखप्रदः सत्यः सत्सु साधुर्मंहिष्ठो विद्वांस्त्वान्धसो मदानां मध्ये मत्सद् आनन्दयेत, आरुजे समन्ताद्रोगे औषधानि चिदिव दृढा वसु सञ्चिनुयात्, सोऽस्माभिः पूजनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, क इत्यस्य सुखार्थत्वे सत्यपि सुखप्रदार्थत्वस्य निर्मूलत्वात्। अन्धसो मदानामानन्दानां निराकारत्वेन तन्मध्यत्वापरिच्छेदात्। औषधानि सञ्चिनुयादित्यस्य तु वेदबाह्यत्वमेव, मन्त्रे तदनुपलम्भात् ॥ ४० ॥

अ॒भी षु णः॒ सखी॑नामवि॒ता ज॑रितॄ॒णाम्। श॒तं भ॑वास्यू॒तये॑ ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव, मित्ररूप में आपकी स्तुति करने वाले हम भक्तों के आप रक्षक हैं। हमारी रक्षा के लिये भली प्रकार से अभिमुख होकर आप राम-कृष्ण आदि अनेक रूपों को धारण करते हैं ॥ ४१ ॥

हे इन्द्र, अभी षु णः, नोऽस्माकं सखीनां मित्राणां अभी आभिमुख्येन सुष्ठु शोभनरीत्या अविता पालयिता रक्षकोऽसि। जरितॄणां स्तोतॄणामस्माकम् 'जरितेति स्तोतृनामसु' (निघ० ३।१६।२), ऊतये पालनाय शतं भवासि भवसि, अनन्तरूपेण प्रादुर्भवसीत्यर्थः। अभी षु ण इत्यत्र 'इकः सुञि' (पा० सू० ६।३।१३४) इत्यनेन

अभीत्यस्य दीर्घः, 'सुञः' (पा० सू० ८।३।१०७) इति मूर्धन्यः, 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा० सू० ८।४।२७) इति नस्य णः। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रे परमेश्वरस्य जीवानां च परस्परं सख्यसम्बन्धस्योक्तत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, नोऽस्माकं सखीनां सख्यभावेन भजताम्, अविता पालयितासि। जरितॄणां स्तोतॄणामस्माकमूतये रक्षणाय शतं भवासि अनन्तरूपो भवसि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वं नः सखीनां जरितॄणां चाविता ऊतये शतं सुभवासि सोऽभियुज्यः स्याः' इति, तदप्यसङ्गतम्, विदुषः कस्यचिन्मनुष्यस्य शतं सुभवनासम्भवात्। पूज्यस्य रागास्पदत्वेन विधेयत्वायोगाच्च, 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इति सिद्धान्तात्॥ ४१॥

य॒ज्ञा य॑ज्ञा वो अ॒ग्नये॑ गि॒रा गि॑रा च॒ दक्ष॑से।
प्र प्र॑ व॒यम॒मृतं॑ जा॒तवे॑दसं प्रि॒यं मि॒त्रं न शं॑ᳪसिषम्॥ ४२॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर, हम प्रत्येक यज्ञ में आपकी स्तुति करते हुए आपके निमित्त अतिबली, अविनाशी, सर्वज्ञ, प्रीतिजनक, मित्र के समान अग्नि के रूप में आपका गुणगान करते हैं॥ ४२॥

तृचः प्रगाथः, अग्निदेवत्यः। यज्ञायज्ञियस्य साम्नो योनिः, 'यज्ञायज्ञियं पुच्छम्' (श० ९।१।२।३।९) इति श्रुतेः। शंयोरार्षम्। द्वे बृहत्यौ, तृतीया सतोबृहती। यज्ञा यज्ञा इति वीप्सायां सप्तम्येकवचनस्य आ आदेशः। 'वः' इति द्वितीयाबहुवचनमेकवचनार्थे, यजमानविषयं वा। 'अग्नये' इत्यस्य व्यत्ययेन अग्निमित्यर्थः। गिरा गिरेति वीप्सायां द्वित्वम्। चः पादपूरणः। 'दक्षसे' इति द्वितायार्थे चतुर्थी। 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा० सू० ८।१।६) इति द्वित्वम्। शंसिषमित्याख्यातेन सम्बन्धः। वयमिति बहुवचनमेकवचनार्थे। तथा चैवं मन्त्रार्थः—यज्ञा यज्ञाऽनेकेषु यज्ञेषु गिरा गिरा अनेकया स्तुतिरूपया गिरा वाचा वस्त्वामग्नयेऽग्निं प्रशंसिषं स्तौमि। 'शंसु स्तुतौ' भौवादिकः। लुङि रूपम्। अडभाव आर्षः। यद्वा—वो युष्माकमर्थेऽग्निं प्रशंसिषम्। कीदृशमग्निम्? दक्षसे दक्षसम्, उत्साहवन्तम्। वृद्धयर्थकस्य दक्षतेरत्रोत्साहे वृत्तिः। दक्षतेरसुन्-प्रत्ययः। दक्षते उत्सहत इति दक्षास्तम्। यद्वा—दक्षसं बलवन्तम्। 'दक्ष इति बलनाम' (निघ० २।९।१३)। अन्तर्भावितमत्वर्थं द्रष्टव्यम्। अमृतं मरणरहितं जातवेदसं जातप्रज्ञानं वेदो ज्ञानं धनं वा यस्मात्तम्, प्रियं प्रेमास्पदं प्रीतिजनकं वा मित्रं स्नेहवन्तं न इव। यथा कश्चित् प्रियं मित्रं स्तौति, तद्वदग्निं स्तुम इत्याशास्महे। यद्वा अहं यज्ञे यज्ञे वो युष्माकं यजमानानामर्थेऽग्निमुत्साहवन्तममृतं जातवेदसं तया तया गिरा स्तुतिरूपया वाचा प्रियं मित्रमिव प्रशंसिषमिति।

अध्यात्मपक्षे—यज्ञा यज्ञा प्रतियज्ञं वस्त्वामग्निं परमात्मानममृतं षड्विधभावविकारवर्जितं जातवेदसं ज्ञानधनादिजनकं प्रियं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदं मित्रं स्नेहवन्तं दक्षसमुत्साहवन्तं निरतिशयप्रशस्तबलवन्तं वा गिरा गिरा तया तया स्तुतिरूपया वाचा प्रियं मित्रमिव प्रशंसिषं स्तौमि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहमग्नये गिरा गिरा दक्षसे यज्ञा यज्ञा वो युष्मान् प्रशंसिषम्, वयं जातवेदसममृतं प्रियं मित्रं न वो युष्मान् प्रशंसेम, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, मनुष्याणां प्रशंसनं किमर्थमित्यनुक्तेः। यज्ञे यज्ञे गिरा गिरा नहि मनुष्यस्य प्रशंसा भवति, तादृशविध्यदर्शनात्, 'अग्नये' इति चतुर्थ्यन्तस्य सम्बन्धायोगाच्च। 'दक्षसे' इत्यस्य न बलमर्थः, तस्य तद्वत्त्वबोधकत्वात्। न च मनुष्याणाममृतमित्यादीनि विशेषणानि सङ्गच्छन्ते, तेषां मरणादिधर्मकत्वात्॥ ४२॥

पा॒हि नो॑ अग्न॒ एक॑या पा॒ह्यु॒त द्वि॒तीय॑या ।
पा॒हि गी॒र्भिस्ति॒सृभि॑रूर्जां पते पा॒हि च॑त॒सृभि॑र्वसो ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—हे धनधान्य के स्वामी अग्निदेव, आप सबके आश्रय-स्थान हैं । आप ॐकार का अथवा अद्वय श्रुतियों का उपदेश कर हमारी रक्षा करें, निर्गुण के साथ सगुण स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली वेदवाणी का उपदेश कर हमारी रक्षा करें, ऋक्, यजु और सामरूप त्रयी वेदवाणी का उपदेश कर हमारी रक्षा करें, चारों वेदों के मन्त्रों से हमारी रक्षा करें ॥ ४३ ॥

गर्गदृष्टा । हे अग्ने, हे ऊर्जाम्पते अन्नानां बलानां रसानां वा पालक, हे वसो वासयितः ! अथवा लुप्तमत्वर्थः । हे वसुमन् धनवन्, एकया ऋग्लक्षणया गिरा, गिरेति पदस्य पूर्वतोऽनुषङ्गः । स्तुतः, सन्निति वाक्यशेषः । नोऽस्मान् पाहि रक्ष । उतापि च द्वितीयया यजुर्लक्षणया गिरा स्तुतः सन्नः पाहि । तिसृभिर्गीर्भि-ऋग्यजुःसामलक्षणाभिः स्तुतः सन्नः पाहि । चतसृभिऋर्ग्यजुःसामनिगदलक्षणाभिः स्तुतो नः पाहि । ऋगाद्यास्तिस्रो गद्यपद्यकाव्यादिरूपा चतुर्थी गीर्ज्ञेया, अथर्वाङ्गिरसां तु पद्यरूपत्वेन ऋक्ष्वेवान्तर्भावात् । ब्रह्मर्त्विक्सम्बन्धेन तु तस्य चतुर्थत्वेन परिगणनमिति ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, हे ऊर्जां बलानां रसानां वा पते, हे वसो, सर्वत्र वसति सर्वाणि वा वसन्त्यस्मिन्निति वसुः, तत्सम्बुद्धौ । त्वमेकया ऋग्लक्षणया अग्नेरद्वितीयया द्वाभ्यामृग्यजुर्लक्षणाभ्यां गीर्भ्यां तिसृभिः स्तुतः सन्नोऽस्मान् पाहि । चतसृभिर्ऋगाद्याभिर्गद्यपद्यादिलक्षणया चतुर्थ्या च गिरा स्तुतः सन् नः पाहि, अविद्यातत्कार्यनिवर्तनेन स्वरूपसाक्षात्कारसम्पादनेन च पाहि ।

दयानन्दस्तु—'हे वसो ! सुवासप्रद हे अग्ने, त्वमेकया सुशिक्षया द्वितीयया अध्यापनक्रियया तिसृभिः कर्मोपासनज्ञापिकाभिः, हे ऊर्जाम्पते, चतसृभिर्धर्मार्थकाममोक्षज्ञापिकाभिः क्रियाभिर्नोऽस्मान् पाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यस्याल्पैश्वर्यस्य सतः सर्वसुवासप्रदत्वासम्भवात् । न च कश्चिदेकस्तादृशो विद्वान् सम्भवति, यः सुवासप्रदोऽपि स्यात्, सर्वस्य बलानां रक्षकोऽपि स्यात्, सुशिक्षामध्यापनं च कुर्यात्, कर्मोपासन-ज्ञानधर्मार्थकाममोक्षज्ञापिकाभिः क्रियाभिश्च पालयेत् । न च स तादृशः केनचिन्नियोक्तव्यो भवेत्, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रत्वात् ॥ ४३ ॥

ऊर्जो नपा॑त॒ᳬं स हि॒नाऽयम॑स्म॒युर्दाशे॑म ह॒व्यदा॑तये ।
भुव॒द्वाजे॑ष्ववि॒ता भुव॑द्वृ॒ध उ॒त त्रा॒ता त॒नूना॑म् ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अध्वर्यु, तुम जलदेवता के पौत्र अग्निदेव को तृप्त करो । यह अग्निदेव हमें चाहते हैं, इस कारण हवि देने का हम संकल्प करते हैं और ये अग्निदेव हमारे धन-धान्य की रक्षा करते हैं, हमारी सब प्रकार की समृद्धि के निमित्त हमारे शरीर की भी रक्षा करते हैं ॥ ४४ ॥

यजमानोऽध्वर्युं प्रार्थयते । हे अध्वर्यो, ऊर्जो नपातमपां पौत्रम्, ऊर्जशब्देनात्रापो गृह्यन्ते, ताभ्योऽद्भ्य ओषधिवनस्पतयो जायन्ते, तेभ्यो वनस्पतिभ्योऽरणिरूपेभ्य एवाग्निर्जायत इत्यपां पौत्रोऽग्निर् 'अपांनपात्' उच्यते । अग्नि स त्वं हिन हिनु तर्पय । 'हि गतौ वृद्धौ च' स्वादिः, लोट्, उलोपश्छान्दसः । यतोऽयमग्निरस्मयु-रस्मानिच्छतीत्यस्मयुः, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युः, अतो हव्यदातये हविषो दानाय दाशेम

सङ्कल्पयामः, 'दाशृ दाने' भ्वादिः। अत्र सङ्कल्पार्थे वृत्तिः। यतोऽयं वाजेष्वन्नेषु विषयभूतेष्वविता गोप्ता भुवद् भवति, उतापि तनूनां शरीराणां त्राता रक्षिता भवति, वृधे वृद्धौ च भुवद् भवति। तनूनामिति बहुवचनं भार्यापुत्रादिशरीराणां ग्रहणार्थम्। अग्निरन्नतनुरक्षिता वर्धयिताऽस्मान् कामयते, अतो हविर्दानाय तं सङ्कल्पयामः। यत एवमत ऊर्जो नपातं हिनु इति सम्बन्धः। एवमदूरविप्रकर्षेण विषममन्त्रा व्याख्येया इत्युव्वटाचार्यः। एतेन दूरविप्रकर्षेण व्याख्यातारोऽपास्ता वेदितव्याः।

अध्यात्मपक्षे—ऊर्जो नपातम् ऊर्जः शक्तेर्बलरसस्याष्टमधातोर्नपातम्, न पातयतीति नपातः, तम्। परमेश्वरं हे साधक, हिन हिनु तर्पय। अयमस्मयुः, अस्मानिच्छतीत्यस्मयुः, अकारणकरुणः करुणावरुणालयो भगवान् वत्सला गौर्वत्समिव भक्तान् कामयते। अतो हव्यदातये तस्मै हविषो दानाय दाशेम सङ्कल्पं कुर्याम, यतोऽयं वाजेष्वन्नेषु विषयभूतेष्वविता गोप्ता भुवद् भवति, वृधे अस्माकं वर्धनाय च भवति, उतापि च त्राता तनूनामस्मच्छरीरस्यास्मद्भार्यापुत्रादिशरीराणां च रक्षको भवति। तादृशाय परमोपकारिणेऽस्मान् कामयित्रे परमात्मने हविर्दानाय सङ्कल्पयामः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिन्, स त्वमूर्जः पराक्रमस्य नपातं विद्याबोधनं हिन हिनु वर्धय, यतोऽयं भवानस्मयुर्वाजेष्वविता भुवत्, उतापि तनूनां वृधे त्राता भुवत्, ततस्त्वां हव्यदातये वयं दाशेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, पराक्रमापातयितृणां ब्रह्मचर्यादीनां सत्त्वेन विद्याबोधग्रहणे विनिगमनाविरहात्, विद्याबोधवतामप्यदान्तानां पराक्रमनाशकत्वोपलब्धेः। योऽस्मान् कामयते, तं दातव्यानां दानाय स्वीकुर्यामिति रागसिद्धा प्रवृत्तिरिति धर्मब्रह्मपरे वेदे न तत्स्थानमर्हति ॥ ४४ ॥

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ताᳪं संवत्सरस्ते कल्पताम्। प्रेत्या एत्यै सञ्चाञ्च प्र च सारय। सुपर्णचिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद ॥ ४५ ॥

॥ इति सप्तविंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—ज्योतिष शास्त्र में उक्त योगाध्यक्ष पंचसंवत्सर रूप प्रजापति की स्तुति करते हैं कि हे अग्निदेव, आप संवत्सर हैं, परिवत्सर हैं, इदावत्सर हैं, इद्वत्सर हैं और वत्सर हैं। प्रातःकाल आदि आपके अवयव के रूप में कल्पित हैं। संवत्सररूपी काल दिन-रात्रि, पक्ष, चैत्र आदि मास, वसन्त आदि ऋतुएँ—ये सभी आपके अवयव के रूप में कल्पित हैं। संवत्सररूपी काल भी आपका ही अवयव है। आप गति और आगति के लिये इच्छापूर्वक अपना संकोच-विकास करते हैं। आप सुपर्णाकार चैतन्य-स्वरूप हैं। उस वाग्रूप देवता के साथ अंगिरा ऋषि के समान अचल होकर हमारे यज्ञ में विराजमान होइये ॥ ४५ ॥

अग्निदेवत्यं यजुः। अत्र यजुषि नवनवतिरक्षराणि। एको व्यूहः, ततः शताक्षराभिकृतिश्छन्दः। चित्याग्नेरभिमर्शने विनियोगः। 'पञ्चसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्' इति ज्योतिःशास्त्रे यदुक्तं तदिहोच्यते। हे अग्ने, त्वं संवत्सरोऽसि सर्वस्य सारितासि, न त्वामन्यः सारयति। अत्र सूर्यात्मकोऽग्निरुक्तः, तद्गमनागमनैरेव संवत्सरव्यवहारात्। कालात्मकत्वात् स एव सर्वस्य सारिता परिच्छेदकः, न तस्यान्यः कश्चन परिच्छेदकः, सर्वस्य कालपरिच्छिन्नत्वात्, तस्य च कालातीतत्वात्। यश्च त्वं परिवत्सरोऽसि सर्वतः सारितासि। इदा-

वत्सरोऽसि इदानीं सारितासि। इदा इदानीमिति समानार्थौ (निघ० ३।२८।५-६)। इद्वत्सरोऽसि। इदिति निपातः, स च पादपूरणार्थः। तथा च दुर्गाचार्यः—'क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषवत्। सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः॥' इति। यश्च वत्सरोऽसि निर्विशेषेण वत्सररूपोऽसि। एवं पञ्चवत्सरात्मकयुगरूपोऽसीत्यर्थः, 'युगं भवेद् वत्सरपञ्चकेन' इति ज्यौतिषशास्त्रोक्तेः। तादृशस्य ते उषसः प्रातः-सङ्गव-मध्याह्नादयः कालविशेषा अहोरात्रा अर्धमासाः पक्षा मासाश्चैत्रादय ऋतवो वसन्तादयः कल्पन्तामवयवत्वेन क्लृप्ता भवन्तु। संवत्सरस्ते कल्पतां संवत्सरोपलक्षिताः पञ्चापि वत्सरा अवयवत्वेन क्लृप्ता भवन्तु। कल्पन्तामिति क्रियावृत्तिरादरार्था। किञ्च, प्रेत्यै प्रगमनाय, एत्यै आगमनाय, सञ्चाञ्च प्रसारय, स्वेच्छया सङ्कोचविकासधर्मा भव। यद्वा समञ्च संकुच प्रसारय च। किञ्च, सुपर्णाकारेण चयने चितत्वात् सुपर्णचिदसि, तया देवतया वाचा सहितः सन् अङ्गिरस्वद् अङ्गिरस इव प्राणा इव ध्रुवः स्थिरः सीद अवस्थानं कुरु।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वमेव संवत्सरोऽसि, परिवत्सरोऽसि, इदावत्सरोऽसि इद्वत्सरोऽसि, वत्सरोऽसि। सर्वात्मकत्वाद् देशकालवस्तूनि त्वय्येव कल्पितानि। तानि त्वदन्तर्गतानि, न त्वं तैः परिच्छिद्यसे। उषसः प्रातःकालादयस्ते तवावयवत्वेन कल्पन्ताम्। अर्धमासा मासाश्च तेऽवयवत्वेन कल्पन्ताम्। संवत्सरस्तेऽवयवत्वेन कल्पताम्। उपलक्षणमेतत् पञ्चविधानामपि। पञ्चापि तेऽवयवत्वेन कल्पन्ताम्। प्रेत्यै प्रगमनाय, एत्यै आगमनाय, सञ्चाञ्च प्र च सारय स्वेच्छया सङ्कोचविकासधर्मा भव। प्राणिनां कर्मानुसारेण तत्तद्धर्मवत्त्वेनाविर्भावितयेति यावत्। हे अग्ने, त्वं सुपर्णचिदसि, सुपर्णाकारेण चयने चितत्वात्। तया देवतया वाचा सहितः सन् अङ्गिरस्वतोऽङ्गिरसः प्राणा इव ध्रुवः सन् सीद।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् जिज्ञासो वा, यतस्त्वं संवत्सरोऽसि, परिवत्सरोऽसि, इदावत्सरोऽसि, इद्वत्सरोऽसि, वत्सरोऽसि, तस्मात्ते कल्याणकर्य उषसः कल्पन्ताम्, मङ्गलप्रदा अहोरात्रा अर्धमासाः कल्पन्ताम्, ते मासास्ते ऋतवः कल्पन्ताम्, ते संवत्सराः कल्पन्ताम्, त्वं च प्रेत्यै समञ्च त्वमेत्यै स्वप्रभावं प्रसारय च, यतस्त्वं सुपर्णचिदसि तस्मात्तया देवतया सहाङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषः संवत्सरादित्वायोगात्। संवत्सर इव नियमेन वर्तमानत्वात् संवत्सर इति चेत्, अश्वादिवद् गन्तृत्व-भोक्तृत्वादिना अश्वत्वाद्यापत्तेः। वर्जितव्यो वत्सरे इव दुष्टाचारत्यागित्वात् परिवत्सर इत्यपि निरर्थकम्, संवत्सरे त्यागग्रहणायोगेन दुष्टाचारत्यागेन परिवत्सरत्वायोगात्। न च निश्चयेन समन्ताद् वर्तमानत्वं सम्भवति, परिच्छिन्नत्वात्, वर्णा इवेत्यत्र तद्धर्मानुक्तेः। 'उषसः प्रभाता मङ्गलप्रदाः' इत्यपि निर्मूलम्, मन्त्रे तादृशशब्दाभावात्। 'यः शोभनानि पर्णानि पालनानि चिनोति सोऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, चयनादियागवृत्तान्तानभिज्ञानमूलकत्वात्। 'य आप्ता व्यर्थं कालं न नयन्ति, सुनियमेन वर्तमानाः कर्तव्यानि कुर्वन्ति, त्यक्तव्यानि त्यजन्ति, तेषां सुप्रभाता अहोरात्रादयः' इति, तदपि फल्गु, वेदाक्षरबाह्यत्वात्। त्वं च प्रेत्यै एत्यै स्वप्रभावे विस्तारयेत्यादिकमपि निर्मूलम्, वेदाक्षरबाह्यत्वात्॥ ४५॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां सप्तविंशोऽध्यायः॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

होता यक्षत्समिधेन्द्रमिडस्पदे नाभा पृथिव्या अधि। दिवो वर्ष्मन्त्समिध्यत ओजिष्ठश्चर्षणीसहां वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने समिधा के द्वारा इन्द्र का यजन किया। यह इन्द्र तीन स्थानों में प्रदीप्त होता है। पृथ्वी के यजनीय देश में अग्निरूपी आत्मा से, पृथ्वी की नाभि अन्तरिक्ष में विद्युत् रूपी आत्मा से और तीसरे ऊपर स्वर्ग के श्रेष्ठ स्थान में आदित्य रूप से यह प्रदीप्त होता है। मनुष्य का अभिभव करने वालों में अतितेजस्वी इन्द्र घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ १ ॥

'इन्द्रमिडः सौत्रामणिकोऽध्यायः' (सर्वानुक्रमे तृतीये) इति कात्यायनोक्त्याऽयमध्यायः सौत्रामणियाग-सम्बन्धी सौत्रामण्यङ्गभूतयोरैन्द्रवायोधसयोराद्यन्तपश्वोः प्रयाजानुयाजप्रैषरूपः। आप्रीदेवतास्तु इन्द्रस्यैव विभूतय इति। ततश्च प्रजापत्यश्विसरस्वत्योऽध्यायस्य ऋषयः। आद्येऽनुवाके एकादश ऐन्द्रपशोः सम्बन्धिन आप्रीदेवताः। समित्तनूनपादित्यादिदेवताकाः प्रयाजानां प्रैषाः 'होता यक्षत्समिधेन्द्रम्' इत्यादयो 'होता यक्षदिन्द्रम्' इत्यन्ताः। अथ मन्त्रार्थः—आर्षी त्रिष्टुप्। दैव्यो होता। समिधा समित्काष्ठेन हविर्भूतेन। अथवा समिधाप्री-देवतया सहितमिन्द्रं होता यक्षद् यजतु। कोऽसाविन्द्र इत्यत आह—य इन्द्रस्त्रिषु स्थानेषु समिध्यते सम्यग् दीप्यते। प्रथमम् इडः पृथिव्याः पदे यजनीयप्रदेशे अग्न्यात्मना समिध्यते, द्वितीयं पृथिव्या अन्तरिक्षस्य नाभौ मध्ये अधि उपरि विद्युदात्मना समिध्यते, तृतीयं दिवः स्वर्गस्य वर्ष्मन् वर्ष्मणि वर्षिष्ठे प्रदेशे आदित्यात्मना समिध्यते। कथम्भूत इन्द्रः? चर्षणीसहामोजिष्ठः, 'चर्षणयो मनुष्याः' (निघ० २।३।८), तान् सहन्तेऽभिभवन्तीति चर्षणीसहो देवाः, तेषां मध्ये ओजिष्ठोऽतिशयेन ओजस्वीत्योजिष्ठः, 'विन्मतोर्लुक्' (पा० सू० ५।३।६५) इति विनो लुकि, 'टेः' (पा० सू० ६।४।१५५) इति टिलोपे रूपम्। संहितायां चर्षणिशब्दस्य 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (पा० सू० ६।३।११६) इति दीर्घः। स च इज्यमान इन्द्रो वेतु स्वांशमाज्यस्य पिबतु। हे मनुष्यहोतस्तं यज।

अध्यात्मपक्षे—देवानां सम्बन्धी होता इन्द्रं परमात्मानं समिधा यक्षद् यजतु। स एव लीलया इडः पृथिव्याः पदे यजनीयप्रदेशे अग्न्यात्मना समिद्धयते। पृथिव्या अन्तरिक्षस्य नाभौ मध्ये अधि उपरि विद्युदात्मना समिद्धयते। स एव दिवः स्वर्गस्य वर्ष्मन् वर्ष्मणि वर्षिष्ठे प्रदेशे आदित्यात्मना समिद्धयते। यश्च चर्षणीसहा-मोजिष्ठः, स आज्यस्य स्वांशं वेतु। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि तं यज। परमेश्वर एव लीलया तत्र तत्र दीप्यते, इज्यते च।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथा होता आदाता ज्ञानप्रकाशेन समिधास्पदे वाण्याः पदे प्राप्तव्ये पृथिव्या भूमेर्नाभौ दिवोऽधि वर्ष्मन्निन्द्रं वर्षके मेघे विद्युदाख्यमग्निं यक्षत्, तेनौजिष्ठः सन् चर्षणीसहां मध्ये समिध्यत आज्यस्य वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, योद्धृकर्तृकघृतादिपानस्य लोकसिद्धत्वात्, सर्वत्रैव वाण्या ज्ञानपूर्वकत्वेन तत्राप्यवैशेष्यात्। पृथिव्या मध्ये प्रकाशस्य उपरि वर्षके मेघमण्डले इन्द्रविद्युदाख्यमग्निं सङ्गमयेत्यपि यत्किञ्चित्, मेघमण्डले विद्युतः सङ्गतेः स्वतः सिद्धत्वेन नियोगानर्हत्वात्। वर्ष्मन्नित्यस्य मेघमण्डलार्थतापि चिन्त्यैव, होतुरपि चर्षणित्वेन तस्य चर्षणीसहामोजिष्ठत्वायोगात् ॥ १ ॥

होता यक्षत्तनूनपातमूतिभिर्जेतारमपराजितम् । इन्द्रं देवꣳ स्वर्विदं पथिभिर्मधुमत्तमै-र्नराशꣳसेन तेजसा वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता तेजस्वी मनुष्यों से प्रशंसनीय देव के सहित तनूनपात् को तथा शत्रुओं को जीतने वाले, किसी से न हारने वाले, स्वयं अपने को और स्वर्ग को जानने वाले देव इन्द्र को तृप्त करने वाली रक्षा और यजमान को स्वर्ग में ले जाने वाली अतिमधुर हवियों के द्वारा यजन करें। इस प्रकार दो देवताओं से युक्त इन्द्र घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ २ ॥

अतिजगती। नराशंसेन देवेन युतमिन्द्रं देवं च दैव्यो होता यक्षद् यजतु। केन यजतु ? तत्राह—पथिभिः, पतन्ति द्रुतं गच्छन्ति स्वर्गं लोकं प्रति यजमाना यैस्ते पन्थानो हवींषि, तैः। कथम्भूतैः ? मधुमत्तमैः, अतिशयं मधुमन्त इति मधुमत्तमाः, अतिशयेन रसयुक्तास्तैः। पुनः कथम्भूतैः ? ऊतिभिः, अवन्ति तर्पयन्तीत्यूतयः, 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' (पा० सू० ३।३।९७) इति बाहुलकात् कर्तरि निपातः, तैः। कीदृशमिन्द्रम् ? तनूनपातम्। इदं विशेषणम् आप्रीदेवताभिप्रायमिन्द्राभिप्रायं वा। स हि मरीचेः पौत्रः। पुनः कथम्भूतम् ? जेतारम्, शत्रूणामयज्वनां पराभवितारम्। तथा स्वयमपराजितं केनाप्यपराभूतम्, देवं दानादिगुणयुक्तम्। स्वर्विदं स्वः स्वर्गं वेत्ति स्वामित्वेन स्वीयं जानातीति स्वर्वित्, तम्। यद्वा स्वः स्वर्गे विद्यत इति स्वर्वित्, तम्। 'विद् सत्तायाम्'। पुनः कथंभूतम् ? तेजसा तेजस्विना नराशंसेन नरा आशंस्यन्ते देवरूपेण यत्र स नराशंसो यज्ञः, तेन। अत्र तनूनपान्नराशंसावेकस्मिन् प्रयाजे पठिता इत्युभयवानयं प्रयाजः। स चेज्यमान इन्द्र आज्यस्य स्वमंशं वेतु पिबतु।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता तनूनपातं भक्तानां तनूर्न पातयतीति तनूनपात्, तमिन्द्रमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरं देवं दानादिगुणयुक्तम्। स्वर्गे सुखरूपे स्वरूपे विद्यते यस्तम्। मधुमत्तमैरत्यन्तमधुरैः पथिभिर्हविर्भिर्यक्षद् यजतु। कथम्भूतमिन्द्रम् ? नराशंसेन सर्वजनप्रशंसितेन तेजसा ज्ञानलक्षणेन स्वरूपेण सहितम्। स चेज्यमानो देव आज्यस्य आज्यं वेतु पिबतु।

दयानन्दस्तु—'हे होतर्भवान् यथा होता ऊतिभिर्मधुमत्तमैः पथिभिस्तनूनपातं जेतारमपराजितं स्वर्विदं देवमिन्द्रं यक्षन्नराशंसेन तेजसाज्यस्य वेतु तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, होता सुखदाता ऊतिभी रक्षायुक्तैर्मधुमत्तमैर्मधुरजलयुक्तैः पथिभिर्मार्गैरित्यस्यार्थस्य, शरीराणां रक्षकं जेतारमपराजितं सुखप्रापकं देवं विद्याविनयशोभितं परमैश्वर्यवन्तं राजानं सङ्गच्छेत, तथा नराशंसेन तेजसा आज्यं ज्ञातुं योग्यं विषयं वेतु प्राप्नोतु त्वं सङ्गच्छस्वेत्यस्यासङ्गतेरित्यस्य च निरर्थकत्वात्, त्रयाणामसङ्गतेः। होता यथा राजानं संगच्छेत्, तथा कश्चिद् ज्ञातुं योग्यं विषयं प्राप्नोतु, त्वं च यज संगच्छेति किं केन शिलष्यत इत्यनवगमात्, यजेत्यस्य किं कर्मेत्यनुक्तेश्च ॥ २ ॥

होता यक्षदिडाभिरिन्द्रमीडितमाजुह्वानममर्त्यम्। देवो देवैः सवीर्यो वज्रहस्तः पुरन्दरो वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता प्रयाज देवताओं के साथ वेद मन्त्रों से स्तुत, यजमानों से आहूयमान मरणधर्मरहित इन्द्र का यजन करे। देवताओं के समान धर्म वाले वज्रधारी पुरन्दरदेव घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ ३ ॥

ब्राह्मी उष्णिक् । होता इडाभिः प्रयाजदेवताभिः सह इन्द्रं यजतु । कीदृशमिन्द्रम् ? ईडितम्, ऋत्विग्भिः स्तुतम्, आजुह्वानम् यजमानैराहूयमानम्, यजमानैर्देवान् आह्वयन्तं वा, अमर्त्यममरणधर्माणम् । स चेज्यमानो देवो द्युस्थान इन्द्रो देवैर्द्युस्थानैः सवीर्यः समानं वीर्यं यस्य स सवीर्यः, सर्वदेवेषु यादृशं वीर्यं तदेकस्मिन्निन्द्र इत्यर्थः । वज्रहस्तो वज्रं हस्ते यस्य सः । पुरन्दरः पुरां दारयिता । वेतु आज्यस्य स्वमंशं पिबतु, त्वमपि हे मनुष्य, होतर्यज ।

अध्यात्मपक्षे – होता इन्द्रं परमात्मानं यक्षद् यजतु । कीदृशम् ? ईडितम्, वेदैर्ऋषिभिर्भक्तैश्च संस्तुतम् । आजुह्वानं आर्तैरर्थार्थिभिर्जिज्ञासुभिर्ज्ञानिभिर्यजमानैराहूयमानः, स चेज्यमानो देवो देवानामपि देवः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० ६।११) इति श्रुतेः । देवैर्द्युस्थानैः सवीर्यः समानवीर्यो वज्रहस्तो वज्रादप्युग्रचक्रहस्तः । पुरन्दरो रावणादिशत्रुपुराणां दारयिता आज्यस्य आज्यम्, कर्मणि षष्ठी, घृतगन्धि प्रेमपरिप्लुतभक्तसमर्पितपत्रपुष्पफलजलादिकं वेतु पिबतु । 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥' (भ० गी० ९।२६) इति गीतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु – 'हे होतस्त्वं यथा होतेडाभिरमर्त्यमाजुह्वानमीडितमिन्द्रं यक्षत्, यथायं वज्रहस्तः पुरन्दरः सवीर्यो देवो देवैः सहाज्यस्य विज्ञानेन रक्षितुं योग्यस्यावयवान् वेतु यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, होत्रादिशब्दानामर्थविशेषे प्रसिद्धत्वात्, त्वदुक्तेऽर्थे तेषामसङ्गतेः । त्रयाणां पुरुषाणामप्यसङ्गतिरेव । राज-राजपुरुषसाधारणव्यवहारवर्णनमपि निरर्थकमेव, वेदस्य धर्मब्रह्मणोरेव तात्पर्यात् । तत्प्रसङ्गेनैव व्यवहारादिकं वर्णयितुं योग्यमेव ॥ ३ ॥

होता यक्षद्बर्हिषीन्द्रं निषद्वरं वृषभं नर्यापसम् । वसुभी रुद्रैरादित्यैः सयुग्भिर्बर्हिरासदद् वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ – दैवी होता ने बैठने वालों में श्रेष्ठ, वर्षणकारी, यजमानों के हितकारी इन्द्र की कुशा के आसन पर पूजा की है, समान योग वाले वसु, रुद्र और आदित्यों के साथ कुशा के आसन पर बैठ कर ये घृत का पान करें । हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ ४ ॥

आर्षी त्रिष्टुप् । बर्हिषि प्रयाजदेवतायां स्थितमिन्द्रं दैव्यो होता यक्षद् यजतु । प्रयाजदेवता बर्हिरत्र यज्ञसाधनमेव । कथम्भूतमिन्द्रम् ? निषद्वरम् अनिराकुर्वतां वरमुत्कृष्टम् । निषीदन्तीति निषद उपदेष्टारः, तेषां वरं श्रेष्ठं वृषभं वर्षितारम्, नर्यापसं नरेभ्यो यजमानेभ्यो हितं नर्यम्, नर्यमपः कर्म यस्यासौ नर्यापस्तम् । 'अप इति कर्मनामसु' (निघ० २।१।१), आप्नोति कर्तारं फलरूपेणेत्यपः । 'आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा' (उ० ४।२०९) इत्यसुनि ह्रस्वे नुडभावे च रूपम् । स तादृश इन्द्रो वसुभी रुद्रैरादित्यैश्च सवनत्रयदेवैः सहितो बर्हिरासदत्, आसीदतु, आज्यस्व स्वमंशं वेतु पिबतु च । कीदृशैर्वस्वादिभिः ? सयुग्भिः, सह युञ्जन्ति ये ते सयुजस्तैः समानयोजनैः । हे मनुष्यहोतः, त्वमपि तं यज ।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता बर्हिषि प्रयाजदेवतायां स्थितमिन्द्रं परमात्मानं यक्षद् यजतु । कीदृशम् ? निषद्वरं बर्हिषि निषीदतां सर्वेषां देवानां वरं श्रेष्ठं देवम्, देवत्वाद् वृषभम्, वर्षतीति वृषः, इगुपधलक्षणः कः, वृषो धर्मः, स भाति येनासौ वृषभस्तमभीष्टवर्षितारं वा । नर्यापसं जीवानां हितकर्मकारिणम्, तं तादृश इन्द्रः समानयोगैर्वस्वादिभिर्देवैः सहितो बर्हिरासदद् आसीदतु, आज्यं वेतु । होतस्त्वमपि तं यज ।

दयानन्दस्तु--'हे होतः, होता यथा सयुग्भिर्वसुभी रुद्रैरादित्यैः सह बर्हिषि उत्तमायां विद्वत्सभायां निषद्वरं निषीदन्ति वराः श्रेष्ठा यस्य सविधे तं वृषभं नर्यापसं नृषु साधून्यपांसि यस्य तमिन्द्रं नीत्या शोभमानं यक्षद् आज्यस्य बर्हिरासदत् सुखं वेतु तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धार्थप्रतिपादनात् । तथाहि--बर्हिःपदस्य विद्वत्सभा, आज्यपदस्य कर्तुं योग्यो न्यायः, होतृपदस्य सुखेप्सुरित्यादयोऽर्थास्तथाविधा एव । निषीदन्ति नरा यस्य सविधे स निषद्वर इत्यपि चिन्त्यम्, गौरवावहत्वादपर्यवसानाच्च । एवमेव वस्वादिपदानामप्यर्थाः काल्पनिका निर्मूला एव ॥ ४ ॥

होता॑ यक्ष॒दोजो॒ न वी॒र्य॑ꣳ सहो॒ द्वार॒ इन्द्र॑मवर्धयन् । सु॒प्रा॒य॒णा अ॒स्मिन् य॒ज्ञे विश्र॑यन्तामृता॒वृधो॒ द्वार॒ इन्द्रा॑य मी॒ढुषे॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता ने इन्द्र का यजन किया है । द्वारदेवता ने इन्द्रिय के, शरीर के और मन के बल को बढ़ाया है । सुख से जाने योग्य, यज्ञ के कारण खुले हुए द्वार अमृत का सिंचन करने वाले इन्द्र के निमित्त खुल जाँय । इस यज्ञ में इन्द्र घृत का पान करे । हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ ५ ॥

अतिजगती । नकारः समुच्चयार्थकः । दैव्यो होता ता द्वारः प्रयाजदेवता यक्षद् यजतु, या इन्द्रं इन्द्रे, सप्तम्यर्थे द्वितीया, ओज इन्द्रियबलम्, वीर्यं शारीरं बलम्, सहो मनोबलम्, समुच्चितानीन्द्रियशरीरमनोबलानि, अवर्धयन् वर्धयन्ति । ताश्च द्वार इन्द्राय इन्द्रार्थं विश्रयन्तां विवृता भवन्तु । कथम्भूतायेन्द्राय ? मीढुषे, मेहतीति मीढ्वान्, 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२) इति क्वसन्तो निपातः, तस्मै सेक्त्रे । कीदृश्यो द्वारः ? सुप्रायणाः, सु सुखेन अनायासेन प्रकृष्टमयनं गमनं यासु ताः, विवृतत्वादिति यावत् । ऋतं यज्ञं वर्धयन्तीति ऋतावृधः, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः । ताश्च द्वारदेवता अस्मिन् यज्ञे आज्यस्य स्वं स्वमंशं व्यन्तु पिबन्तु । हे मनुष्यहोतः, त्वमपि ता यज ।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता ता द्वारः प्रयाजदेवता यक्षद् यजतु, या इन्द्रं इन्द्रे जीवे ओजश्च वीर्यं च सहश्चावर्धयन् वर्धयन्ति । ताश्च द्वारो मीढुषे देवाभीष्टहविषां वर्षित्रे इन्द्राय कर्मोपासनानिष्ठाय जीवाय विश्रयन्तां विश्रिता विवृता भवन्तु । कीदृश्यो द्वारः ? सुप्रायणा ऋतावृधः । अस्मिन् यज्ञे ता द्वारः प्रयाजदेवता आज्यस्य व्यन्तु । हे मनुष्यहोतः, त्वमपि ता यज ।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा याः सुप्रायणा द्वार ओजो न च वीर्यं सह इन्द्रं चावर्धयन्, ता ऋतावृधो द्वारो मीढुष इन्द्रस्य अस्मिन् यज्ञे विद्वांसो विश्रयन्ताम् आज्यस्य व्यन्तु । होता च यक्षत् तया यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजाश्रयणस्य रागप्राप्तत्वेन वेदे तद्विधानायोगात्, पदानां तेषु तेषु त्वदुक्तार्थेष्वसङ्गतेश्च । द्वारपदस्य विद्याविनयद्वारा अर्थ इत्यपि चिन्त्यम्, निघण्टुरीत्या ओज इत्युदकनामप्रसिद्धयापि जलवेगार्थस्य कल्पितत्वात् । 'द्वारो जलवेगः समानं वीर्यं बलं सहनमिन्द्रमैश्वर्यं च वर्धयन्ति' इत्यपि यत्किञ्चित्, वीर्ये सहने ऐश्वर्ये च जलवेगतुल्यतानुपपत्तेः । न चेन्द्रपदस्य ऐश्वर्यमर्थः, तस्य ऐश्वर्यवच्चेतनपरत्वात् । 'मीढुषे स्निग्धवीर्यवते इन्द्राय राज्ञे' इत्यपि निर्मूलम्, मीढ्वस्पदस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात् । यज्ञपदस्य सङ्गतियोग्यः संसारोऽर्थ इत्यपि चिन्त्यम् । एवमन्येऽपि दोषा ज्ञातव्याः ॥ ५ ॥

होता॑ यक्षदु॒षे इन्द्र॑स्य धे॒नू सु॒दुघे॒ मात॑रा म॒ही । स॒वा॒त॒रौ न तेज॑सा व॒त्समिन्द्र॑मवर्धतां वी॒ताम॒ज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ — दिव्य होता ने इन्द्र की मातास्वरूप सुन्दर दूध देने वाली दो गायों का रूप धारण करने वाली रात्रि और उषा का यजन किया है, इन्होंने इन्द्र के तेज को बढ़ाया है। जैसे एक ही बछड़े वाली दो गायें बछड़े को पुष्ट करती हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र, तुम पुष्टि के लिये घृत का पान करो। मनुष्य होता भी इसी अभिप्राय से यजन करे॥ ६॥

आर्षी त्रिष्टुप्। दैव्यो होता उषे, अत्र पूर्वपदलोपश्छान्दसः, नक्तोषे इत्यर्थः, नक्तोषाधिष्ठात्र्यौ देवते यजतु। ते च नक्तोषे देवते तेजसा इन्द्रमवर्धतां वर्धयताम्, आज्यस्य आज्यं वीतां पिबतां च। कीदृश्यौ उषे? तत्राह—इन्द्रस्य धेनू धिनुतो ये ते धेनू प्रीणयित्र्यौ। सुदुघे सुष्ठु दुग्धो ये ते सुदुघे सुष्ठु दोहने सुष्ठु दुग्धे पूरयित्र्यौ वा, मातरा मातरौ मातृवत् पालयित्र्यौ, विभक्तेराकारः, मही मह्यौ महत्यौ, विभक्तिलोपः। कथमिव ते इन्द्रं वर्धयताम्? तत्र दृष्टान्तः—सवातरौ न, नकार उपमार्थीयः, वातृशब्दो वत्सवचनः, समानो वाता वत्सो ययोस्ते, एकशिशुके गावौ यथा वत्सं वर्धयेते, तद्वन्नक्तोषे तेजसा इन्द्रं वर्धयतामित्यर्थः। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि ते यज।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रं भगवत्परायणं साधकं जीवं नक्तोषे रात्र्यहनी तेजसा अवर्धतां वर्धयताम्, ते इन्द्रस्य धेनू प्रीणयित्र्यौ। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु— हे होतः, त्वं यथेन्द्रस्य विद्युतः सुदुघे मातरा मही धेनू सवातरौ वायुना सह वर्तमानौ न उषे प्रतापयुक्ते भौतिकसूर्याग्न्योस्तेजसा इन्द्रं परमैश्वर्यं वत्सं वीतां प्राप्नुताम्। होताज्यस्य प्रक्षेप्तुं योग्यस्य यक्षद् वर्धताम्, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'उषे' इति पदेन प्रतापयुक्तयोर्भौतिकसूर्याग्न्योर्ग्रहणे मानाभावात्, उषापदस्य उषसोऽनन्तरभाविनः सूर्यस्य ततस्तद्गतप्रतापस्य ततस्तद्वतोर्भौतिकसूर्याग्न्योर्ग्रहणे विप्रकृष्टलक्षणापत्तेः, तयोश्च विद्युतः पोषकत्वमपि चिन्त्यमेव॥ ६॥

होता॑ यक्ष॒द्दैव्या॒ होता॑रा भि॒षजा॒ सखा॑या ह॒विषेन्द्रं॑ भिषज्यतः। क॒वी दे॒वौ प्रचे॑तसा॒-विन्द्रा॑य धत्त इन्द्रि॒यं वी॒तामाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥ ७॥

दिव्य होता ने वैद्य, मित्र, दीप्तिमान् क्रान्तिदर्शी परमज्ञानी देवताओं के दोनों होताओं का यजन किया है। इन्द्र की चिकित्सा करते हुए इन्द्र को बलवान् बनाते हुए ये दोनों दैवी होता घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो॥७॥

अतिजगती। दैव्यो होता दैव्यौ होतारौ, अयं चाग्निरसौ च मध्यमस्थानो वायुः, तौ यजतु यौ च हविषा इन्द्रं भिषज्यतश्चिकित्सतः, 'भिषज् चिकित्सायाम्' कण्ड्वादिभ्यो यक्, तस्माच्छतरि रूपम्। इन्द्राय इन्द्रे इन्द्रियं वीर्यं धत्तः स्थापयतः। तौ च आज्ये वीतां पिबताम्। कीदृशौ तौ? भिषजा भिषजौ चिकित्साकुशलौ, सखाया सखायौ परस्परं स्नेहवन्तौ समानख्यानौ वा, कवी क्रान्तदर्शनौ, देवौ द्युस्थानौ दीप्यमानौ वा, प्रचेतसौ प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं ययोस्तौ प्रकृष्टज्ञानवन्तौ। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि तौ यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता शास्त्राचार्यरूपौ दैव्यौ होतारौ यजतु। यौ च इन्द्रं भवरोगपीडितं जीवं हविषा भिषज्यतः, धर्मब्रह्मात्मतत्त्वोपदेशेन चिकित्सतः। कीदृशौ तौ भिषजौ? भवरोगवैद्यौ, सखायौ परस्परं स्नेहवन्तौ, कवी अतीतानागतवर्तमानदर्शनौ सर्वज्ञकल्पौ, देवौ दिव्यौ दिव्यात्मभावप्रापकौ प्रकृष्टं ब्रह्मात्मविषयं चेतसा साक्षात्कारात्मकं ज्ञानं याभ्यां तौ, यौ च इन्द्राय साधकाय जीवाय, तस्मिन् जीव इत्यर्थः, इन्द्रियं वीर्यं धत्तः स्थापयतः, तौ चेज्यमानौ वीतां पिबताम् आज्यं घृतगन्धिस्नेहं स्वीकुरुताम्। हे होतः, साधक! त्वमपि तौ यज।

दयानन्दस्तु—'हे होतः सुखप्रदातः, त्वं यथाज्यस्य यक्षद्दैव्यौ विद्वत्सु साधू होतारा रोगमपसार्य सुखदातारौ सखाया कवी प्रचेतसौ देवौ भिषजौ हविषेन्द्रं भिषज्यतः, इन्द्राय इन्द्रियं धत्तः, आयुर्वीताम्, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आयुरादिमन्त्रबाह्यपदाध्याहारादिदोषात्। एवमेव होतृपदस्य युक्ताहारविहारतद्वैद्योऽर्थ इत्यपि स्वातन्त्र्यमेव। आज्यं ज्ञातुं योग्यं निदानं सङ्गमय, होतारौ रोगं निवर्त्य सुखस्य प्रदातारौ हविषा यथायोग्येन ग्रहीतव्येन व्यवहारेणेत्यादिव्याख्यानमपि निर्मूलमेव, तथात्वे शब्दक्षेत्रेऽराजकताप्रसङ्गात् ॥ ७ ॥

होता॑ यक्षत्ति॒स्रो दे॒वीर्न भे॑ष॒जं त्र॒यस्त्रि॒धात॑वो॒ऽपस॒ इडा॒ सर॑स्वती॒ भार॑ती म॒हीः। इन्द्र॑पत्नीर्ह॒विष्म॑ती॒र्व्य॑न्त्वा॒ज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने भेषज रूप तीन लोक और अग्नि, वायु, सूर्य नामक तीन धातुओं को धारण करने वाली, शीत, उष्ण आदि को धारण करने वाली महती इन्द्र की पत्नी और हवि से युक्त इड़ा, सरस्वती, भारती— इन तीन देवियों का यजन किया है। ये सब घृत का पान करें। मनुष्य होता भी उनका यजन करे ॥ ८ ॥

ब्राह्मी अनुष्टुप्। दैव्यो होता भेषजरूपा ये त्रयो लोकास्तान् इडा-सरस्वती-भारतीति तिस्रो देवीश्च यक्षत् यजतु। इज्यमानाश्च ता आज्यं व्यन्तु पिबन्तु। नकारोऽत्रापि समुच्चयार्थकः। कीदृशास्त्रयो लोकाः? त्रिधातवः, त्रयोऽग्निवायुसूर्या धातवो धर्तारो येषां ते तथोक्ताः। अपसः अपस्विनः, मत्वर्थीयलोपः, 'अप इति कर्मनामसु' (निघ० २।१।१) कर्मवन्तः, शीतोष्णवातवर्षादीनि हि तेषां कर्माणि, तैः कर्मवन्तो लोकाः। कीदृश्यस्तिस्रो देव्यः? महीर्मह्यः, महत्य इति यावत्। इन्द्रपत्नीरिन्द्रस्य पालयित्र्यः, हविष्मतीर्हविष्मत्यः, हवींषि विद्यन्ते यासां ताः, हविषा संयुक्ता इत्यर्थः। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—होता देवानामाह्वाता साधकस्तिस्रो देवीरिडा-सरस्वती-भारतीरूपाः, ये च भेषजं भेषजरूपास्त्रयो लोकाः, त्रिधातवस्त्रयोऽग्निवायुसूर्या धातवो धर्तारो येषां ते। अपसोऽपस्विनः शीतोष्णवातवर्षादियुक्ताः, तांश्च यक्षद् यजतु। कीदृश्यो देव्यः? महीर्मह्यो महत्यः, इन्द्रपत्नीरिन्द्रस्य जीवस्य पालयित्र्यः, हविष्मतीर्हविषा युक्ताः। ताश्चेज्यमाना आज्यस्य स्वमंशं व्यन्तु पिबन्तु। होतर्यज। इडा वागधिष्ठात्री, सरस्वती ज्ञानाधिष्ठात्री, भारती प्रतिभाधिष्ठात्रीत्येतास्तिस्रो देव्यो भोगापवर्गसम्पादकत्वेन जीवस्य पालयित्र्यः, मह्यश्च महत्त्वपूर्णाश्च। त्रयो लोका अपि भेषजं भेषजरूपाः क्षुत्पिपासानिद्रातन्द्रालस्याज्ञानप्रमादादिनाशहेतुत्वेनौषधरूपाः। तत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि—त्रिधातवः, अग्निवायुसूर्यैर्धृतत्वात् शीतोष्णादिकर्मवत्त्वाच्च। देहादिकार्यकारणसङ्घातोपबृंहकत्वेनोपकारकत्वेन तेषां तासां च यजनं पूजनं यथा दैव्यो होता करोतु, तथैव मानुषोऽपि होता यजतु।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होताज्यस्य यक्षद् यथा ये धातवो यास्तिस्रो देवीर्न भेषजं मही इडा सरस्वती भारती च हविष्मतीरिन्द्रपत्नीर्व्यन्तु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, व्यक्तिविशेषाभ्यूहस्य वेदार्थत्वायोगात्। प्रयोक्तृ-प्रतिपत्तृ-व्यवहारारूढार्थैरेव शब्दैर्व्यवहरन्ति व्यवहर्तारः। होता विद्याया दाता आदाता वा, देवीः सकलविद्याप्रकाशिकाः, त्रयोऽध्यापकोपदेशकवैद्याः, हविष्मतीर्विविधज्ञानसहिताः—इत्यादिव्याख्यानानि व्यक्तिविशेषाभ्यूहमात्राणि ॥ ८ ॥

होता यक्षत् त्वष्टारमिन्द्रं देवं भिषजꣳ सुयजं घृतश्रियम् । पुरुरूपꣳ सुरेतसं मघोनमिन्द्राय त्वष्टा दधदिन्द्रियाणि वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने परम ऐश्वर्य युक्त, रोगनिवर्तक, सुपूज्य, दिव्य किरण जाल से शोभित, बहुरूप के आदि कारण, सुवीर्यवान्, धनवान् त्वष्टा देव का यजन किया है। त्वष्टा ने इन्द्र के लिये पराक्रम किया है, घृत का आस्वादन किया है। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ९ ॥

अतिजगती। दैव्यो होता त्वष्टारं देवं प्रयाजदेवतां यक्षद् यजतु। कीदृशं त्वष्टारम्? इन्द्रम्, परमैश्वर्यवन्तं प्रभुम्। देवं दानादिगुणकं दातारम्। भिषजं रोगनिवर्तकं सुयजं यः सुष्ठु इज्यते तम्। साधुयष्टव्यमक्लेशयागं घृतश्रियं घृतेन श्रीः शोभा यस्य तम्। आज्यहविष्का हि प्रयाजाः। पुरुरूपं पुरूणि बहूनि रूपाणि यस्य तम्। सुरेतसं शोभनवीर्यम्। स त्वष्टा इन्द्राय इन्द्रे, विभक्तिव्यत्ययः, दधद् धारयतु आज्यं वेतु।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता त्वष्टारं विश्वस्य प्रकाशकं रचयितारं परमात्मानं देवं यक्षद् यजतु। कीदृशं त्वष्टारम्? इन्द्रं परमैश्वर्यवन्तम्, निरतिशयैश्वर्यस्य परमात्मन्येव पर्यवसानात्। देवं स्वप्रकाशं द्योतमानं वा दातारं वा। भिषजं भवरोगवैद्यम्। सुयजं सुखेन अनायासेन पत्रपुष्पफलजलादिना यष्टुं शक्यम्। घृतश्रियं घृतगन्धिना स्नेहेन श्रीः स्वाराज्यलक्ष्मीर्मोक्षलक्ष्मीः साम्राज्यलक्ष्मीर्विजयलक्ष्मीर्वा लभ्यते यस्मात्तम्। पुरुरूपं पुरूणि बहूनि मत्स्य-कूर्म-वराहादीनि ब्रह्मविष्णुशिवादीनि वा रूपाणि यस्य तम्। सुरेतसं शोभनं रावणादिपराभवितृ रेतो वीर्यं पराक्रमो वा यस्य तम्। मघोनं कामधेनुचिन्तामणिकल्पवृक्षकौस्तुभादिबाह्यधनवन्तं तथा ज्ञानवैराग्यादिलक्षणान्तरधनवन्तम्। इज्यमानस्तादृशस्त्वष्टा इन्द्राय इन्द्रे स्वांशे जीवे इन्द्रियाणि वीर्याणि निद्रालस्याज्ञानाद्यपनोदनक्षमाणि दधत् स्थापयतु। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता त्वष्टारं दोषविच्छेदकं सुरेतसं मघोनं पुरुरूपं घृतश्रियमुदकेन शोभमानं भेषजं देवमिन्द्रं यक्षद् आज्यस्येन्द्रायेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि धनानि दधत् सन् त्वष्टा वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्। सामान्यवैद्यादिप्रतिपादेन वेदस्य तात्पर्यायोगात् ॥ ९ ॥

होता यक्षद्वनस्पतिꣳ शमितारꣳ शतक्रतुं धियो जोष्टारमिन्द्रियम्। मध्वा समञ्जन् पथिभिः सुगेभिः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने संस्कारकर्ता बहुकर्मी बुद्धि के सेवक इन्द्र के हितकारी वनस्पति देवता का यजन किया है। स्वादु घृत से सींचते हुए वे वनस्पति देवता सुगम मार्ग से स्वादु घृत के द्वारा यज्ञ को देवताओं को प्राप्त कराते हैं। वे वनस्पति देवता घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ १० ॥

शक्वरी। होता वनस्पतिं प्रयाजदेवतां यजतु। कीदृशं वनस्पतिम्? शमितारम् उलूखलादिरूपेण हविषां संस्कर्तारम्, तण्डुलादिरूपेण निष्पादयितारम्। शतक्रतुं शतं क्रतवः कर्माणि यस्य तं बहुकर्माणम्, धियो जोष्टारं बुद्धेः कर्मणो वा सेवितारम्, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः', इन्द्रियं वीर्यरूपमिन्द्रायात्मने हितं वा। स चेज्यमानो वनस्पतिर्मध्वा समञ्जन् मधुस्वादुना घृतेन यज्ञं संमृष्टीकुर्वन् पथिभिः सुगेभिः शोभनगमनैर्मार्गैर्मधुना स्वादुना घृतेन युक्तं यज्ञम्, स्वदाति देवान् प्रापयतीति। स्वदातिः प्रापणार्थः। वेतु पिबतु चाज्यस्य स्वमंशम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—व्रीहियवादिहविषामुलूखलादिरूपेण संस्कर्तारं दैव्यो होता यजतु। परमात्मनः सर्वात्मभावं निरूपयन् मन्त्रवर्ण आह—होता यक्षदिति। उलूखलादिरूपवनस्पत्यभिमानिविशेषणानीमानि सङ्गच्छन्ते। अन्यथा वनस्पतौ संस्कर्तृत्वशतक्रतुत्वधियोजोष्टृत्वयज्ञसमञ्जनकर्तृत्वादिकं निरालम्बनमेव स्यात्। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता वनस्पतिमिव वनानां किरणानां स्वामिनं सूर्यमिव शमितारं शतक्रतुं धियो जोष्टारं यक्षन् मध्वा सुगेभिः पथिभिराज्यस्येन्द्रियं समञ्जन् स्वदाति मधुना घृतेन यज्ञं वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वनस्पतिपदस्य तथार्थत्वायोगात्। शमितृपदस्य यजमानपरत्वमपि चिन्त्यमेव। मधुना मधुरेण विज्ञानेनेत्यपि निर्मूलम्। प्रकृते किमभिप्रेत्य सूर्यस्योपमानत्वमुक्तमित्यनुक्तेः। आज्यस्य संसारार्थतापि न युक्ता, ज्ञातुं योग्यानां बहुत्वेन विनिगमनाविरहात्। घृतेन जलेन सङ्गतियोग्यव्यवहारस्य कथं प्राप्तिरित्याद्यनुक्तेश्च॥ १०॥

होता यक्षदिन्द्रꣳ स्वाहाज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानाꣳ स्वाहा स्वाहाकृतीनाꣳ स्वाहा हव्यसूक्तीनाम्। स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा इन्द्र आज्यस्य व्यन्तु होतर्यज॥ ११॥

मन्त्रार्थ दिव्य होता ने इन्द्र का स्वाहाकारपूर्वक यजन किया। यह घृत भाग सुगृहीत हो, मेदावर्धक हवि सुगृहीत हो, सोम की बिन्दु सुगृहीत हो। स्वाहाकार से देवताओं के निमित्त प्रयाज देवता का यजन करें, स्वाहाकार से हव्यसम्बन्धी सुवचनों के साथ देवताओं का यजन करें, स्वाहाकार से प्रसन्न हो देवताओं के साथ इन्द्र घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ ११॥

शक्वरी। दैव्यो होता इन्द्रं यक्षद् यजतु। स एव होता स्वाहाकारेण आज्यस्य देवान् यक्षद् यजतु। स्वाहाकारेण मेदसो देवान् यजतु। स्वाहाकारेण स्तोकानां सोमबिन्दूनां देवान् यजतु। स्वाहाकारेण स्वाहाकृतीनां देवानां स्वाहाकृतीः प्रयाजदेवता यजतु। स्वाहाकारेण हव्यसूक्तीनां हव्यसम्बन्धिसुवचनानां देवान् यजतु। स्वाहाकारेणाज्यपा देवाः प्रयाजा जुषाणाः प्रीयमाणा भवन्तः सन्त इन्द्रश्च आज्यं व्यन्तु। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—होता इन्द्रं परमात्मानं यजतु। तद्विभूतिभूतानाज्यस्य शास्त्रस्य देवान् स्वाहाकारेण यजतु। तथैव मेदसो देवान् सोमबिन्दूनां च देवान् यजतु, परमात्मन एव सर्वात्मत्वेन सूर्यरूपेण पूज्यत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथेन्द्रः परमैश्वर्यप्रदो होताज्यस्य स्वाहा सत्यां वाचं मेदसः स्वाहा स्तोकानां स्वाहा स्वाहाकृतीनां स्वाहा हव्यसूक्तीनां स्वाहेन्द्रं यक्षद्यथा स्वाहाज्यस्य जुषाणा आज्यपा देवा इन्द्रं व्यन्तु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सन्निकृष्टान्वयापेक्षया विप्रकृष्टान्वयस्यायुक्तत्वात्, असम्बद्धत्वाच्च। इन्द्रः परमैश्वर्यप्रद इत्यपि निर्मूलम्, प्रदेत्यंशस्य मन्त्रबाह्यत्वात्। स्वाहापदानामपि तत्तदुक्तार्था निर्मूला एव, तत्र तत्रार्थेषु तेषां पदानामशक्तत्वात्॥ ११॥

देवं बर्हिरिन्द्रꣳ सुदेवं देवैर्वीरवत् स्तीर्णं वेद्यामवर्धयत्। वस्तोर्वृतं प्राक्तोर्भृतꣳ राया बर्हिष्मतोऽत्यगाद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥ १२॥

मन्त्रार्थ—श्रेष्ठ देवता वाले, देवताओं में वीर्यवान्, वेदि पर बिछाये गये, दिन में काटकर रात भर रखे गये कुशाओं के देवता इन्द्र को पुष्ट करते हैं, धनसम्पन्न बर्हि वाले अन्य यागों से बढ़कर धन देने की इच्छा करने वाले यजमान के घर में धन-धान्य की वृद्धि करने के लिये घृत का पान करे। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ १२ ॥

एकादश ऐन्द्रपशोः सम्बन्धिन एवानुयाजप्रैषाः। देवता बर्हिरादयः। अतिजगती। मैत्रावरुणो वदति—देवं बर्हिर्बर्हिःसंज्ञानुयाजदेवता इन्द्रमवर्धयत् पुष्णाति। कीदृशं बर्हिः? सुदेवं शोभना देवा मरुदादयो यत्र तत्, तथा देवैर्दातृभिर्ऋत्विग्भिर्वीरवद् वीरयुतम्, वेद्यां स्तीर्णमाच्छादितम्, आहवनीयगार्हपत्यमध्यवर्तिन्यामिति यावत्। वस्तोर्वृतम् अहनि लूनम्, धातोरनेकार्थत्वात्। अक्तोः रात्रौ प्र प्रकर्षेण भृतं धृतम्। वस्तोः, अक्तोः—इत्युभयमव्ययं क्रमशो दिवारात्रिपर्यायम्। यद् बर्हिः, राया हविर्लक्षणेन धनेन, बर्हिष्मतो बर्हिषायुक्तानन्यान् यजमानान् अत्यगाद् अतिक्रम्य गतं संस्कारोत्कर्षात्, तद् बर्हिर्वसुवने वसुवननाय धनदानाय वसुधेयस्य वसुधेयाय वसुनो धानाय निधानाय यजमानगृहे निखननाय वेतु आज्यं पिबतु। वसुवने वसुधेयस्येति सप्तमीषष्ठ्यौ चतुर्थ्यर्थे। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज। यद्वा—यज्ञसाधनभूतं बर्हिरिह देवता विवक्षिता। यद्देवं बर्हिरिन्द्रमवर्धयत्। कथंभूतमिन्द्रम्? सुदेवं शोभना देवा मरुदादयो यस्य परिकरभूतास्तम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्। एवमग्रेऽपि कण्डिकाशेषो व्याख्येयः।

अध्यात्मपक्षे—बर्हिर्देवं बर्हिःसंज्ञानुयाजदेवता इन्द्रं देहेन्द्रियादिदीपयितारं जीवमवर्धयत्। कीदृशं बर्हिः? सुदेवम्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा बर्हिष्मतोऽत्यगाद् वसुधेयस्य वसुवने वेद्यां स्तीर्णं वस्तोर्वृतम् अक्तोर्भृतं हुतं द्रव्यनैरोग्यं प्रावर्धयत् सुखं वेतु, तथा बर्हिरिव राया सह देवं देवैः सह वीरवद्वर्तमानं सुदेवमिन्द्रं यज' इति, तदपि न, असम्बद्धत्वात्, अध्याहारादिमूलकत्वाच्च। बर्हिःपदस्यान्तरिक्षार्थत्वेऽपि तत्तुल्यार्थता त्वसङ्गतैव, निष्ठान्तस्य स्तीर्णशब्दस्य आच्छादितमर्थो न त्वाच्छादनीयमिति। वेद्यामित्यस्य हवनाधारकुण्डार्थता निर्मूला, नहि दिने स्वीकृतस्य रात्रौ धारितस्य द्रव्यस्य हवनाङ्गत्वेन विधानम्, तथाऽदर्शनात्। नैरोग्यमिति तु मन्त्रबाह्यमेव। हुतं द्रव्यं सुखमित्यादिकमपि वेदबाह्यमेव, मन्त्रे तथाऽदर्शनात् ॥ १२ ॥

दे॒वीर्द्वार॒ इन्द्र॑ꣳ संघा॒ते वी॒ड्वीर्याम॑न्नवर्धयन्। आ व॒त्सेन॒ तरु॑णेन कु॒मारे॑ण च मीव॒तापार्वा॑णꣳ रेणु॒क॑काटं नुदन्तां वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—देहली, किवाड़ आदि में दृढ़ द्वार वाली देवी ने अपने कर्मों से इन्द्र को सब तरह से बढ़ाया है, ये मरखने तरुण और कुमार वत्स द्वारा अभिमुख गमन से कुत्सित धूल और वृष्टि को हटावें, धन देने के लिये यजमान के घर में धन की वृद्धि के लिये घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ १३ ॥

एकाधिका शक्वरी। यज्ञगृहद्वारोऽत्र देवताः। यमन्, यच्छन्ति नियता भवन्ति ऋत्विजो यत्र तद् याम कर्म, तस्मिन् यामन्, यमेरनिण्प्रत्ययो वृद्धिश्च, सप्तम्याश्च लुक्। या द्वारो देव्य इन्द्रमवर्धयन्। कीदृश्यो द्वारः? सङ्घाते देहली-कपाट-द्वार-शाखार्गलादिसमूहे सति विड्वीर्वीड्व्यो दृढाः, सङ्घातं विना द्वारां दृढत्वाभावात्। ता द्वारो रेणुककाटमपनुदन्ताम्। काटः कूपः, कुत्सितः काटः ककाटः, रेणुभिर्हेतुना ककाटो रेणुककाटः, तमपनुदन्तां निवर्तयन्तु। उपलक्षणमेतत्, यज्ञभ्रंशकराणि कूपादीनि यज्ञमार्गादपनयन्त्वित्यर्थः।

कीदृशं रेणुककाटम् ? वत्सेन गोपुत्रेण तरुणेन कुमारेण च आ आभिमुख्येन अर्यते गम्यते पत्यते यत्रेत्यर्वा, तम् अर्वाणम्, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति ऋधातोर्वनिप्। कीदृशेन वत्सेन ? मीवता, 'मीञ् हिंसायाम्' भावे क्विपि मीः, मीरस्यास्तीति मीवान्, तेन हिंसाशीलेन। हिंसाशीलाश्चञ्चला उच्चलन्तो वत्साः कुमाराश्च यत्र पतन्ति, तं रेणुककाटमपनुदन्तु, वसुवननाय वसुनिधानाय च ता व्यन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज। यद्वा या देव्यो द्वारो यज्ञगृहद्वारो यामन् यामनि कर्मणि कर्मप्राप्तौ सत्यामिन्द्रमवर्धयन् वर्धयन्ति, याश्च सङ्घाते सति विड्वीर्दृढाः, ता इदानीमाभिमुख्येन स्थित्वा वत्सेन गोवत्सेन तरुणेन कर्मक्षमेण कुमारेण मीवता शत्रूणां हिंसावता अर्वाणं रेणुककाटमपनयन्तु। यस्मिन् कूपे वत्सादीनां पतनं सम्भाव्यते, तदादीनि यज्ञविघ्नकराण्यपनुदन्तु।

अध्यात्मपक्षे—देव्यो दीव्यमाना द्वारो यज्ञगृहद्वारदेवता इन्द्रं यज्ञादिकर्तारं साधकं जीवं वर्धयन्ति। याश्च सङ्घाते सति विड्वीर्वीड्व्यो दृढास्ता बाह्याध्यात्मिकयज्ञविघ्नकराणि चापनुदन्तु। ता द्वारो वसुवननाय स्वर्णरत्नज्ञानवैराग्यादिरूपधनदानाय वसुधानाय तादृशधननिधानाय व्यन्तु। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा विड्वीर्विशेषेण स्तोतुं योग्याः, देवीर्देदीप्यमाना द्वारो रेणुककाटं यामन् वर्जयित्वा तरुणेन मीवता कुमारेण वत्सेन च सह वर्तमानमर्वाणमिन्द्रमवर्धयन्, वसुवने सङ्घाते वसुधेयस्य विघ्नमपनुदन्तु व्यन्तु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वादसम्बद्धत्वाच्च। नहि द्वारः स्तुत्यर्हाः, त्वद्रीत्या जडानामपूज्यत्वात्। रेणुककाटं यामन् मार्गे वर्जयित्वेत्यपि निर्मूलम्, वर्जयित्वेति क्रियापदस्य मूलेऽभावात्। न च मार्गे तादृशः कूपः सम्भाव्यते। नह्यर्वतो हिंसावत्कुमारादिभिः सहभावो युक्तः। न चार्वत ऐश्वर्यस्य च साधर्म्यं युज्यते, येन सामानाधिकरण्यं स्यादिति ॥ १३ ॥

देवी उषासानक्तेन्द्रं यज्ञे प्रयत्यह्वेताम्। दैवीर्विशः प्रायासिष्टाᳬं सुप्रीते सुधिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—पूर्ण प्रीतिमान् परम हितकारी देवी, उषा और रात्रि की देवता यज्ञ के प्रवर्तमान होने पर इन्द्र का आह्वान करें। देवता सम्बन्धी प्रजा वसु, रुद्र आदि को निरन्तर प्रवृत्त करें, धन देने के लिये यजमान के घर में धन की वृद्धि के निमित्त घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ १४ ॥

ब्राह्मी उष्णिक्। उषाश्च नक्ता चेत्युषासानक्ता, 'उषासोषसः' (पा० सू० ६।३।१) इति उषःशब्दस्य उषासादेशः, विभक्तेश्च आकारादेशः। अहोरात्राधिष्ठात्र्यौ देवी देव्यौ यज्ञे प्रयति प्रवर्तमाने सतीन्द्रं देवमह्वेतामाहूतवत्यौ। ये च देव्यौ दैवीर्विशो देवसम्बन्धिनीः प्रजाः प्रायासिष्टां प्रगतवत्यौ, यातेर्लुङि रूपम्, वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्यादयो देवसम्बन्धिन्यः प्रजाः। यद्वा—दैवीर्विशो यज्ञाङ्गभूतान् पशून् प्रति प्रायासिष्टां प्रगतवत्यौ, 'दैव्यो वा एता विशो यत्पशवः' (श० ३।७।३।९) इति श्रुतेः। अनुयाजेषु तयोर्देवतयोर्भाग इत्यभिप्रायः। ये च सुधिते साधुहिते सुतरां हिते वा, ये च सुप्रीते अतितुष्टे, ते वसुवने वसुवननाय वसुधेयस्य वसुधानाय वीतां पिबताम्, आज्यस्य स्वं भागमिति यावत्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—देवी देव्यौ उषासानक्ता अहोरात्राधिष्ठात्र्यौ यज्ञे प्रवर्तमाने इन्द्रं परमात्मानमह्वेतामाहूतवत्यौ, अनादिकालादनन्तकालं यावत् परमात्मानमाह्वयत इत्यर्थः। अहोरात्रयोस्तथाकरणेन तदन्तर्गतसर्वप्रजानां तथाकरणं सिद्ध्यति, तयोश्च सुप्रीतसुधितत्वादिना सर्वप्रजानामपि सुप्रीतत्वादिलाभः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा सुप्रीते सुधिते देवी उषासानक्ता प्रयति यज्ञ इन्द्रमह्वेताम्, वसुधेयस्य वसुवने दैवीर्विशः प्रायासिष्टाम्, सर्वं जगद् वीतां व्याप्नुताम्, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्ठान्तस्य सुप्रीतशब्दस्य सुप्रीतिहेत्वर्थत्वानुपपत्तेः। हितकारित्वमपि तयोर्नोपपद्यते, त्वद्रीत्या तयोर्जडत्वेन हितज्ञानाभावात्। दैवीर्विशो न्यायकारिणां विदुषां प्रजाः प्रति तयोर्गमनमपि नोपपद्यते, विवेकाभावात्। न च तयोः शब्दव्यवहारकारयितृत्वमपि युक्तम्, जडत्वादेव॥ १४॥

देवी जोष्ट्री वसुधिती देवमिन्द्रमवर्धताम्। अयाव्यन्याघाद्वेषांꣳस्यान्यावक्षद्वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥ १५॥

मन्त्रार्थ—प्रीतियुक्त तत्वज्ञाता धन के निधान द्यावापृथिवी ने देव इन्द्र को बढ़ाया। इन दोनों में से एक पाप और दुर्भाग्य को दूर करती है तथा दूसरी वरणीय भोगयोग्य धन यजमान को देती है। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो॥ १५॥

एकाधिकातिजगती। जोष्ट्री जोष्ट्र्यौ जुषेते इति जोष्ट्र्यौ प्रीतियुक्ते, जोषयित्र्यौ वा, देवी देव्यौ, वसुधिती वसुनो धनस्य धारयित्र्यौ, अथवा वसुनो धनस्य धितिर्धारणं याभ्यां ते। के ते? द्यावापृथिव्यौ वा अहोरात्रे वा, 'सस्यं च समा चेति कात्थक्यः' (नि० ९।४१) इति यास्कोक्तेः। सस्यं व्रीह्यादि, समा संवत्सरः। ते इन्द्रं देवमवर्धतां वर्धयेताम्। तयोर्मध्ये अन्या एका अघा अघानि पातकानि द्वेषांसि दौर्भाग्यानि च अयावि दूरीकरोति। 'यु मिश्रणे, अमिश्रणे च'। यौतेश्चिण् लकारव्यत्ययश्च। अन्या द्वितीया वार्याणि वरणीयानि वसु वसूनि धनानि यजमानाय आवक्षद् आवहति। कीदृश्यौ ते? शिक्षिते विनीते ज्ञातज्ञेये प्रबुद्धे। ते च वसुवननाय वसुधानाय च वीतां पिबताम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि ते यज।

अध्यात्मपक्षे—जोष्ट्र्यौ इन्द्रं जीवं वर्धयताम्, भोगमोक्षप्रदानेन पोषयताम्। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वसुधिती जोष्ट्री सेवमाने देवी उषासानक्ता इन्द्रं देवमवर्धताम्, तयोरन्याऽघाद्वेषांस्ययावि, अन्या च वसु वार्याणि च वक्षत्। यजमानाय वसुधेयस्य वसुवने शिक्षिते वीतां तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जडाभ्यामहोरात्राभ्यां सूर्यस्य वर्धनासम्भवात्, तयोस्तज्जन्यत्वाच्च तदनुपपत्तेः। न चान्धकाररूपाया रात्रेः पापद्वेषसां पृथक्कारकत्वं सम्भवति, अन्धकाररूपत्वेन विवेचकत्वाभावात्। नहि स्वापजनकत्वेन तद्वत्त्वं सम्भवति, स्वापेऽपि संस्कारात्मना पापानां सत्त्वात्। अन्यथा स्वापमात्रेण सर्वोऽपि मुक्तः स्यादिति कृतं प्रायश्चित्तादिभिः। न च दिनस्यापि वसुवार्यादिप्रापकत्वम्, जडत्वाविशेषात्। शिक्षितत्वमपि तयोर्दुर्लभमेव। न च तयोर्मनुष्यस्य शिक्षितत्वेन अधिकरणविधया तथात्वम्, तथात्वे भूमिभवनादेरपि शिक्षितत्वापातात्॥ १५॥

देवी ऊर्जाहुती दुघे सुदुघे पयसेन्द्रमवर्धताम्। इषमूर्जमन्या वक्षत्सग्धिꣳ सपीतिमन्या नवेन पूर्वं दयमाने पुराणेन नवमधातामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥ १६॥

मन्त्रार्थ—अन्नजल सहित आह्वान वाली कामदुघा, कामनारूप दूध से परिपूर्ण दोनों देवियाँ दूध से इन्द्र को बढ़ाती हैं। उनमें से एक अन्न और रसरूप जल का वहन करती है तथा दूसरी सहभोजन और सहपान को देती है। कृपामयी ऊर्जायुक्त आह्वान वाली, रस को बढ़ाने वाली, तत्त्व को जानने वाली देवी नवीन अन्न के परिवर्तन में पुरातन और पुरातन के परिवर्तन में नूतन अन्न को धारण करती हैं, यजमान को वरणीय धन देती है। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो॥ १६॥

विकृतिश्छन्दः। अधस्तनमन्त्रोक्त एव देवताविकल्पः। देवी देव्यौ पूर्वप्रैषमन्त्रोक्ते पयसा दुग्धेन इन्द्रमवर्धताम् अवर्धयताम्, 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति शप आर्धधातुकत्वात् णिचो लोपः। कीदृश्यौ? ऊर्जाहुती ऊर्जा बलं तद्युक्ता आहुतिराह्वानं ययोस्ते। दुघे दुग्धः प्रपूरयत इति दुघे दोग्ध्र्यौ, 'दुहः कब्घश्च' (पा० सू० ३।२।७०) इति दुहेः कप्प्रत्ययो हकारस्य घकारादेशश्च, 'अनयोरनुसम्भोगमिमाः सर्वाः प्रजा अनु सम्भुञ्जते' (श० १।७।२।१६) इति श्रुतेः। सुदुघे सुष्ठु साधु दुग्ध इति सुदुघे साधुदोहने, तयोर्मध्ये अन्या एका इषमन्नमूर्जं तदुपसेचनं दध्यादि च वक्षद् वहति यजमानाय। अन्या द्वितीया सग्धिम्, अदनं ग्धिः, समाना ग्धिः सग्धिः, अदेः 'स्त्रियां क्तिन्' (पा० सू० ३।३।९४) इति क्तिनि, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।३९) इति घसादेशे, घस्+ति इत्यवस्थायाम् 'घसिभसोर्हलि च' (पा० सू० ६।४।१००) इत्युपधालोपे घ्सति इत्यवस्थायाम्, 'झलो झलि' (पा० सू० ८।२।२६) इति सकारलोपे घ्+ति इत्यवस्थायाम्, 'झषस्तथोर्धोऽधः (पा० सू० ८।२।४०) इति तकारस्य धकारे घ्+धि इत्यवस्थायाम्, 'झलां जश झशि' (पा० सू० ८।४।५३) इति घकारस्य गकारे 'ग्धिः' इति रूपम्, 'सुपा' (पा० सू० ३।१।४) इति समासे सग्धिरिति, ताम्। सपीतिः समाना पीतिः पानं सपीतिः, ताम्। अर्थात् पुत्रादिभिः सह समान-पानभोजने वक्षद् वहति। ये च देव्यौ नवेन नवीनेनान्नेन पूर्वं पुराणमन्नमधातां धारयन्त्यौ पुराणेनान्नेन नवमन्नमधातां धारयन्त्यौ यजमानाय वार्याणि वरणीयानि वसु वसूनि धनानि च अधातां धारितवत्यौ, अन्नं धनं चाक्षयं कृतवत्यौ। पुराणेन धान्येन वपनादिद्वारा नवीनं धान्यमुत्पाद्य, नवीनेन च धान्येन पुराणं सुरक्षितं धान्यं रक्षयित्वा धारितवत्यौ। नवीनानुत्पत्त्या पुराणस्य भक्षणादिना समाप्त्यापत्तेः। कीदृश्यौ? दयमाने दयामनुग्रहं कुर्वन्त्यौ, उक्षन्त्यौ कृपयन्त्यौ वा, ऊर्जाहुती ऊर्जावती हुतिर्होमो ययोस्ते, ऊर्जं रसं ऊर्जयमाने वर्धयन्त्यौ। शिक्षिते कृतशिक्षे ते वीताम्। हे होतस्त्वमपि इमे यज। यद्वा ये देव्यौ नवेन ऊर्जाधान्येन पूर्वं पुरातनमूर्जं धान्यं दयमाने रक्षितवत्यौ सत्यौ अधाताम्, पुराणेन च ऊर्जाधान्येन नवमूर्जाधान्यमधातां धारितवत्यौ, ये च ऊर्जाहुती ऊर्जयमाने स्वीकुर्वाणे, वरणीयानि वसूनि यजमानाय ऊर्जयमाने स्वीकुर्वाणे। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—ये देवी देव्यौ पयसा इन्द्रं जीवात्मानमवर्धताम्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वसुधेयस्य वसुवने वर्तमाने विद्वद्भिर्वसुवार्याणि शिक्षिते रात्रिदिने यजमानाय व्यवहारं वीताम्, तथोर्जाहुती देवी पयसा दुघे सुदुघे सत्याविन्द्रमवर्धताम्, तयोरन्या इषमूर्जं वक्षद् अन्या सपीतिं सग्धिं वक्षत्। दयमाने सत्यौ नवेन पूर्वं पुराणेन नवमधाताम्, ऊर्जयमाने ऊर्जाहुती ऊर्जमधातां तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, ईश्वरस्य नित्यैश्वर्यवत्त्वेन तत्रैश्वर्यस्य धारणा-सङ्गतेः। ईश्वरस्य धनदानस्थानं जगदित्यपि चिन्त्यमेव, देयसम्प्रदानयोरपि जगदन्तःपातित्वेन जगादित्युक्ते-रपार्थकत्वात्। रात्रिदिनयोः शिक्षितत्वं पूर्वमेवापास्तम्। यजमानायेत्यस्य सङ्गत्यर्थं प्रवर्तमानायेत्यर्थोऽपि यत्किञ्चित्, यज्ञपतौ यज्ञानुष्ठातरि तत्प्रसिद्धेः, रूढ्या योगापहारात्। अहोरात्रयोर्बलप्राणधारणमपि प्रमाण-सापेक्षम्। भोजनपानप्रापकत्वमपि तयोः साध्यमेव, तयोरैश्वर्यवृद्धिकारणत्वे सर्वस्यैश्वर्यवत्त्वापत्तेः, तयोः सर्वान्

प्रति सौलभ्यात्। नवेन पूर्वं पुराणेन नवमधातामित्यप्यपास्तमेव। यत्तु 'दयमाने गमनागमनगुणवत्यौ प्राचीने द्वे निशे प्रवर्तमाने नवपदार्थेन सार्धं पूर्वं पुराणेन सार्धं नवं वस्तु धारयतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नवस्य कालातिक्रमणेन प्राचीनत्वापत्तौ सत्यामपि पुराणस्य नवत्वापत्तौ मानाभावात्। यदपि च—'वर्तमानरूपे रात्रिदिने पूर्वापरस्वरूपज्ञापिके' इति, तदपि न, तथात्वेऽपि प्रकृतमन्त्रेण तदसम्बन्धात्॥ १६॥

दे॒वा दैव्या॒ होता॑रा दे॒वमिन्द्र॑मवर्धताम्। ह॒ताघ॑शꣳसा॒वाभा॑र्ष्टां॒ वसु॒ वार्या॑णि॒ यज॑मानाय शिक्षि॒तौ व॒सुव॑ने व॒सुधेय॑स्य वीतां॒ यज॑॥ १७॥

मन्त्रार्थ—पाप कर्म के प्रशंसकों को दूर करने वाले, ईश्वरीय नियम के अनुसार शुभाशुभ फल देने वाले देवसम्बन्धी दिव्य दो होता इन्द्र को बढ़ाते हुए यजमान के लिये वरणीय धन लाते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो॥ १७॥

अतिजगती। देवा देवौ दैव्या दैव्यौ होतारा होतारौ, विभक्तेराकारः। एकः पार्थिवोऽग्निः, अन्यो मध्यम इन्द्रं देवमवर्धताम् अवर्धयताम्। यजमानाय वार्याणि वरणीयानि वसु वसूनि च आभार्ष्टाम् आहार्ष्टाम्, आहृतवन्तौ। आङ्पूर्वात् हरतेर्लुङ्, हस्य च भः। कथम्भूतौ तौ? हताघशंसौ। अघं पापं शंसन्तीच्छन्तीत्यघशंसाः, हता अघशंसा याभ्यां तौ, पापनिवर्तकौ इति यावत्। तौ वीतां पिबताम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—तौ दैव्यौ देवौ इन्द्रं देवं साधकं परमात्मानं वा ध्येयाकाराकारितवृत्तिमदन्तःकरणादिभिरुत्साहयताम्। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा दैव्या होतारा देवौ वायुवह्नी इन्द्रं देवमवर्धताम्, हताघशंसौ रोगानभार्ष्टाम्, यजमानाय शिक्षितौ सन्तौ वसुधेयस्य वसुवने वसु वीर्याणि च वीताम्, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ताभ्यां सूर्यवर्धनस्यासाध्यत्वात्। अघशब्दस्य चौरेऽशक्तत्वात्, रोगानित्यस्य मन्त्रबाह्यत्वाच्च। यजमानाय कर्मसु प्रवर्तमानाय शिक्षितावित्यपि निर्मूलम्, तयोस्त्वद्रीत्या जडत्वेन विवेकायोगात्। वसुधेयशब्दस्य ईश्वरार्थतापि न युक्ता, समुद्रेषु वृष्टिवत् तत्र वसूनां धानस्य निरर्थकत्वात्॥ १७॥

दे॒वीस्ति॒स्रस्ति॒स्रो दे॒वीः पति॒मिन्द्र॑मवर्धयन्। अस्पृ॑क्ष॒द्भार॑ती दिवꣳ रु॒द्रैर्य॒ज्ञꣳ सर॑स्वती॒डा वसु॑मती गृ॒हान्व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑॥ १८॥

मन्त्रार्थ—तीन देवियों ने मिलकर अपने पति इन्द्र को बढ़ाया। भारती ने द्युलोक को, रुद्रों सहित सरस्वती ने यज्ञ को और धन वाली इड़ा ने गृहों को स्पर्श किया। ये तीनों देवियाँ धन की प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिये घृतपान करती हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी तरह से यजन करो॥ १८॥

अतिजगती। तिस्रो देवीर्देव्यः पतिं पालकमिन्द्रमवर्धयन्, आदरार्थोऽभ्यासः। भरतः, बिभर्ति सर्वमिति भरत आदित्यः, तस्येयं कान्तिर्भारती दिवं द्युलोकमस्पृक्षत् स्पृशति, स्पृशेर्लुङि च्लौ तस्य 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (पा० सू० ३।१।४५) इति क्सादेशे, 'व्रश्चभ्रस्ज' (पा० सू० ८।२।३६) इति शस्य षत्वे, तस्य 'षढोः कः सि' (पा० सू० ८।२।४१) इति ककारे, 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) इति मूर्धन्यादेशे रूपम्। सरस्वती, सरतीति सरो ज्ञानम्, तदस्यास्तीति सरस्वान्, तस्येयं शक्तिः सरस्वती, रुद्रैर्युता यज्ञमस्पृक्षत्

स्पृशति। इडा पृथिवी वसुमती वसुभिः सहिता गृहान् अस्पृक्षत् स्पृशति। अत्र गृहशब्देनायं लोक उच्यते लक्षणया, पृथिवीस्थानत्वादिडायाः। ता वसुदानाय वसुधानाय व्यन्तु पिबन्तु। हे होतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—तिस्रो देव्य इन्द्रं परमेश्वरं पतिं सर्वपालकमवर्धयन् स्तुत्यादिभिः प्रोत्साहितवत्यः। काः ताः? इत्यत आह—भारतीति। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, रुद्रैर्भारती धारिका दिवं सरस्वती यज्ञं वसुमती इडा प्रशस्ता वाणी गृहान् धारयन्त्यो देवीर्दिव्याः क्रियास्तिस्रो देवीः पतिमिन्द्रं सूर्यमिव जीवं चावर्धयन्, वसुधेयस्य वसुवने गृहान् व्यन्तु, यस्त्वं यत्र भवानस्पृक्षत् स्पृहेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलगौणार्थाश्रयणात्। किञ्च, कोऽयं सूर्यतुल्यो जीवः, यमेतास्तिस्रो देव्यो वर्धयन्ति। रुद्रैः प्राणैर्भारती धारिकेत्यपि न युक्तम्, कस्या धारिका, का च सेति विशेषानिर्देशात्। विज्ञानयुक्तापि वाक् प्रशंसनीया भवति। सा कुत इडातो भिद्यत इत्यनुक्तेश्च। गृहान् गृहस्थानित्यपि निर्मूलम्, लक्षणामन्तरा तदयोगात्। न च सा युक्ता, निर्बीजत्वात् ॥ १८ ॥

दे॒व इन्द्रो॒ नरा॒शꣳस॑स्त्रिवरू॒थस्त्रि॑बन्धु॒रो दे॒वमिन्द्र॑मवर्धयत्। श॒तेन॑ शितिपृ॒ष्ठाना॒माहि॑तः स॒हस्रे॑ण॒ प्रव॑र्तते मि॒त्रावरु॑णे॒दस्य हो॒त्रमर्ह॑तो॒ बृह॒स्पति॑ः स्तो॒त्रम॒श्विनाध्व॑र्यवं वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वे॒तु यज॑ ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं की प्रशंसा का स्थान यज्ञ, सदोमण्डप, हविर्धान, आग्नीध्र युक्त ऋक्, यजुः, सामरूप बन्धन वाला यज्ञदेव दिव्यरूप इन्द्र को बढ़ाता है, श्याम पृष्ठ वाली सैकड़ों, हजारों गायों के साथ चलता है। इस यज्ञ के होता मित्रावरुण हैं, स्तोता बृहस्पति हैं और अध्वर्यु के कर्म में अश्विनीकुमार लगे हुए हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ १९ ॥

कृतिः। देवो दानादिगुणक इन्द्र ऐश्वर्यवान्, 'इदि परमैश्वर्ये' इत्यस्मात् 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्र' (उ० २।२९) इत्यादिना रन्नन्तो निपातितः। नराशंसो नरा यस्मिन्नासीनाः शंसन्ति तादृशो यज्ञः, इन्द्रं देवमवर्धयत्। स कीदृशः? त्रिवरूथः, वरूथशब्दो गृहवचनः, त्रीणि वरूथानि गृहाणि सदोहविर्धानाग्नीध्राणि यस्य सः। त्रिबन्धुरः, बन्धुरशब्दः सारथिस्थानवचनः, त्रीणि बन्धुराणि ऋग्यजुःसामलक्षणानि सारथिस्थानानि यस्य स त्रिबन्धुरः। अथवा त्रीणि बन्धुराणि ऋग्यजुःसामलक्षणानि बन्धनानि यस्यासौ। शितिपृष्ठानां शिति श्यामं पृष्ठं यासां ताः शितिपृष्ठाः, तासां शतेन आहितः सन्, अर्थात् शतसंख्याकाभिः शितिपृष्ठाभिर्गोभिराहितः, शतगुणो ह्यग्निराधेय इत्यभिप्रायमेतत्। सहस्रेण गवां प्रवर्तते, सहस्रेण गवां यष्टव्यमित्यभिप्रायमेतत्। यस्य चास्य नराशंसस्य यज्ञस्य मित्रावरुणा इद् मित्रावरुणावेव होत्रमर्हतो होतृकर्मणि योग्यौ भवतः, बृहस्पतिः स्तोत्रम् औद्गात्रं कर्म अर्हति, अश्विना अश्विनौ आध्वर्यवमर्हतः, स वसुवननाय वसुधानाय वेतु। हे होतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—नाराशंसो यज्ञ इन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानं देवं द्योतनवन्तं स्वप्रकाशं वाऽवर्धयत्। कीदृशः स देवः? इन्द्रः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा त्रिवरूथस्त्रिबन्धुरो नराशंसो नरान् शंसो नरान् शंसति स्तौतीति। देवो जीव इन्द्र ऐश्वर्यमिच्छुः शतेन इन्द्रं देवमवर्धयत्, यः शितिपृष्ठानां मध्य आहितः सहस्रेण प्रवर्तते, मित्रावरुणा अस्य होत्रमर्हतः, वसुधेयस्य बृहस्पतिः स्तोत्रमश्विनाध्वर्यवं वसुवने वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरङ्कुश-

त्वात्। देवो जीव इन्द्र ऐश्वर्यमिच्छुरित्यादिकं निर्मूलमेव, तथा प्रमाणानुपन्यासात्। त्रीत्यनेन त्रिविधसुखप्रदानीति कथं ग्रहीतुं शक्यते, तत्र तदशक्तेः। शतेन शतसंख्याकेन कर्मणेत्यपि स्वातन्त्र्यमेव, तथा प्रमाणानुपन्यासात्। शितिपृष्ठानां शतेनेति सरलतयान्वये सम्भवति पदान्तराध्याहरणमुपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पनन्यायमनुसरति। तथैव गोसहस्रेण यष्टव्यमिति श्रौतमध्याहारं परित्यज्य पुरुषार्थपदाहरणमपि। शितिपृष्ठपदव्युत्पत्तिरपि स्वैरित्वमेव तस्य गमयति। नहि पृष्ठे गतयो भवन्ति, तस्य स्थिरत्वात्। होत्र-स्तोत्राध्वर्यवादिपदानां श्रौतार्थानभिज्ञानमूलकमेव यत्किञ्चित् प्रलपनम् 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' इत्याभाणकमनुसरति ॥ १९ ॥

दे॒वो दे॒वैर्वन॒स्पति॒र्हिर॑ण्यपर्णो॒ मधु॑शाखः सुपिप्प॒लो दे॒वमिन्द्र॑मवर्धयत्। दिव॒मग्रे॑णा-स्पृक्ष॒दान्तरि॑क्षं पृथि॒वीम॑दृꣳहीद्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑ ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—सुवर्णमय पत्र वाले, मधुमय शाखाओं से युक्त, अतिस्वादु फल वाले वनस्पति देव ने अन्य देवताओं के साथ मिल कर कान्तिमान् इन्द्र के बल को बढ़ाया। वनस्पति देव ने अग्र भाग से स्वर्ग को, मध्य भाग से अन्तरिक्ष को और मूल भाग से पृथ्वी को स्पर्श करते हुए यह कार्य सम्पन्न किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ २० ॥

अतिशक्वरी। यूपोऽत्र स्तूयते। वनस्पतिर्यूपः, वनस्पतिकार्यत्वात्। देवो द्योतमानः, अभिमान्यभिप्रायेणैतत्। तथा च ब्रह्मसूत्रम्—'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' (२।१।५)। देवैः सह इन्द्रमवर्धयत्। कथम्भूतो वनस्पतिर्देवः? हिरण्यपर्णः। हिरण्यमयानि पर्णानि पत्राणि यस्य सः। कारणभूतवनस्पत्यभिप्रायेणैतत्। मधुशाखः, मधुर्मधुररसवती शाखा यस्य सः। सुपिप्पलः, सु शोभनानि पिप्पलानि फलानि यस्य सः। यो वनस्पतिः, अग्रेणोपरितनेन भागेन दिवं द्युलोकमस्पृक्षत् स्पृशति। अन्तरिक्षं अन्तरिक्षपर्यन्तमाऽस्पृक्षत्, मध्येनेति शेषः, साकाङ्क्षत्वात्, आस्पृशति। पृथिवीमदृंहीद् दृढामकरोत्, अपरेणेति शेषः, अधस्तनेन भागेनेत्यर्थः। स वनस्पतिर्वसुवननाय वसुधानाय च वेतु। त्वमपि हे होतर्यज।

अध्यात्मपक्षे—वनस्पतिर्देवो देवैः सह इन्द्रं परमात्मानं देवमवर्धयत्। कीदृशो देवः? हिरण्यपर्ण इत्यादिकं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवैः सह वर्तमानं हिरण्यपर्णो मधुशाखः सुपिप्पलो देवो वनस्पतिर्देवमिन्द्रमवर्धयत्, अग्रेण दिवमस्पृक्षत्, अन्तरिक्षं तत्स्थान् लोकान्, पृथिवीं चादृंहीत्, वसुवने वसुधेयस्य वेतु तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वनस्पतिमात्रे पूर्वोक्तविशेषणानुपपत्तेः, जडस्य वनस्पतेः स्पृहासम्भवात्। दिवमन्तरिक्षं पृथिवीं च वनस्पतिः कथं द्रढयतीत्यनुक्तेः। सिद्धान्ते तु यूपाभिमानिदेवस्याचिन्त्यैश्वर्यवत्त्वेन नानुपपत्तिः ॥ २० ॥

दे॒वं ब॒र्हिर्वारि॑तीनां दे॒वमिन्द्र॑मवर्धयत्। स्वा॒सस्थ॒मिन्द्रे॒णास॑न्नम॒न्या ब॒र्हीꣳष्य॒भ्य॒भूद् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑ ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—जलाश्रित औषधियों के मध्य में दीप्तिमान्, सुखासन से बैठे हुए इन्द्र के आश्रित अनुयाज देवताओं ने इन्द्र के बल को बढ़ाया और बर्हियों को तिरस्कृत किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ २१ ॥

आर्षी त्रिष्टुप्। देवं बर्हिरनुयाजदेव इन्द्रं देवमवर्धयत्। अन्या अन्यानि बर्हींष्यभ्यभूद् अभिभवति, तिरस्करोति। कालसामान्ये लुङ्। कीदृशं बर्हिः ? वारितीनाम्, वार् उदकम् इतिः स्थानं यासां ता वारितयः, अथवा वारि उदके इतिर्गतिर्यासां ता वारितयः, जलाश्रिता ओषधयः, तासां मध्ये देवं दीप्यमानम्, श्रेष्ठमिति यावत्। यद्वा वारिभवा वार्या इतयो दर्भरूपेणावस्थानं येषां ते वारितयो दर्भाः, 'तद्यदेताभ्यामुत्पुनाति' (श० १।१।३।३) इत्युपक्रम्य 'तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे''''त इमे दर्भाः' (श० १।१।३।५) इति दर्भोत्पत्तिप्रतिपादकशातपथश्रुतेः। यच्च स्वासस्थं सुखेनासनेन आस्थीयते यत्र तत् स्वासस्थम्, यद्वा सुष्ठु साधु आस्थेयं देवमनुष्यैरिति स्वासस्थम्, इन्द्रेणासन्नमाश्रितम्, तद् वसुवननाय वसुधानाय च वेतु पिबतु। हे होतः, त्वमपि यज, याज्यां पठेति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—बर्हिर्देवं बर्हिरनुयाजदेवता इन्द्रं देवं परमात्मानमवर्धयत्, स्तवनैर्जयशब्दैश्च। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवं वारितीनां वरणीयानां पदार्थानां मध्ये वर्तमानं स्वासस्थमिन्द्रेण सहासन्नमिन्द्रं बर्हिर्देवमवर्धयत्, अन्यानि बर्हींष्यभ्यभूत्, वसुवने वसुधेयस्य वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वरणार्थस्य धातोस्तादृशरूपायोगात्। अनायासलब्धस्यान्तरिक्षस्य वरणीयत्वमपि न सम्भवति, कुतस्तेषु श्रेष्ठत्वम् ? न च तस्य विद्युतो वर्धकत्वमपि, तस्य निर्व्यापारत्वात्। ईश्वरेणासन्नतापि दुर्निरूप्यैव। न चान्तरिक्षे सम्भवन्ति, तस्य निरवयवत्वात्॥ २१॥

दे॒वो अ॒ग्निः स्वि॑ष्ट॒कृद् दे॒वमिन्द्र॑मवर्धयत्। स्वि॑ष्टं कु॒र्वन् स्वि॑ष्ट॒कृत्स्वि॑ष्टम॒द्य क॑रोतु नो वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥ २२॥

मन्त्रार्थ—साधक की श्रेष्ठ अभिलाषाओं को पूरा करने वाले दिव्य अग्नि ने इन्द्र के बल में वृद्धि की, स्विष्टकृत् देवता श्रेष्ठ कर्मों का सम्पादन करते हुए हमारी श्रेष्ठ अभिलाषाओं को, शुभ मनोरथों को पूरा करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ २२॥

आर्षी त्रिष्टुप्। स्विष्टकृत्, शोभनमिष्टं कर्तव्यं यस्यायमधिकारः स स्विष्टकृद् देवोऽग्निरिन्द्रं देवमवर्धयत्। यश्च स्विष्टं कुर्वन् स्विष्टकृन्नामभूतो नाम्ना प्रसिद्धः, स नोऽस्माकं स्विष्टं साध्विष्टमद्यास्मिन् कर्मणि करोतु। अपि च, वसुवननाय वसुधानाय च वेतु। हे होतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—स्विष्टकृद्देवो देवं स्वप्रकाशं परमात्मानमवर्धयत्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा स्विष्टकृद्देवोऽग्निरिन्द्रं देवमवर्धयत्, यथा च स्विष्टं कुर्वन् स्विष्टकृत् सन्नग्निः स्विष्टं करोति, तथाद्य नः सुखं करोतु, घृतं वेतु, वसुधेयस्य वसुवने यज' इति, तदपि न सङ्गतम्, श्रौतार्थवृत्तान्तानभिज्ञानात्, इष्टस्य यज्ञस्य स्विष्टत्वं येन सम्पाद्यते, तस्य कर्मविशेषस्य स्विष्टकृन्नाम्ना प्रसिद्धत्वात्। त्वद्रीत्या जडेऽग्नौ वर्धनानुकूलव्यापारवत्त्वासम्भवः। न खलु जडः किमिष्टमिति ज्ञातुं प्रभवति। अद्य नः सुखं करोत्विति तु मन्त्रबाह्यमेव॥ २२॥

अ॒ग्निम॒द्य होता॑रमवृणीता॒यं यज॑मानः॒ पच॒न् पक्तीः॒ पच॑न् पु॒रो॒डाशं॑ ब॒ध्नन्निन्द्रा॑य॒ छाग॑म्। सू॒प॒स्था अ॒द्य दे॒वो वन॒स्पति॑रभवदिन्द्रा॑य॒ छागे॑न। अघ॒त्तं मे॑द॒स्तः प्रति॑ पच॒ताग्र॑भीदवीवृधत् पु॒रो॒डाशे॑न त्वाम॒द्य ऋ॑षे॥ २३॥

मन्त्रार्थ—इस यजमान ने आज पकाने के योग्य हवियों को पकाते हुए पुरोडाशों को पकाया। इसने इन्द्र के लिये छाग को आगे किया। आज पशुपोषक वनस्पति देवता छाग की वृद्धि का आशीर्वाद देने के लिये आये। इसलिये इन्द्र के लिये छाग का पुरोड़ाश बनाया जाता है। इन्द्र को पशुओं की मेदा की वृद्धि के लिये आहुति दी गई। इसी प्रकार हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ।। २३ ।।

इयं कण्डिका एकविंशेऽध्यायेऽन्त्योपान्त्यापोपान्त्यासु व्याख्याता। तत्राग्निमद्य होतारमिति प्रथमा, सूपस्था अद्य देव इति द्वितीया, त्वामद्य ऋषे इति तृतीया। अत्र तृतीयायाः कण्डिकायाः प्रतीकमात्रम्। सा च ऐन्द्रानुवाके वायोधसानुवाके चोभयत्रापि सकला ज्ञेया। अग्निमद्य एकाधिका प्राजापत्या जगती। सूपस्था ब्राह्मी उष्णिक्। त्वामद्य ऋषे एकाधिका विकृतिः। अयं यजमानोऽद्याग्निं होतारमवृणीत वृतवान्। किं कुर्वन्? पक्तीः पक्तव्यानि हवींषि पचन्। इति सामान्येनोक्त्वा विशेषमाह—पुरोडाशान् पचन्, यूपे इन्द्राय छागं बध्नन्। अद्य अस्मिन् दिवसे सूपस्थाः साधु यज्ञमुपतिष्ठतीति सूपस्थाः, वनस्पतिर्देवश्छागेन कृत्वा इन्द्राय सूपस्था अभवत्, छागेन इन्द्रस्य सेवां चकारेत्यर्थः। इन्द्रो मेदस्तो मेदोवपामारभ्य छागमधत्तं धारितवान्। पचता पचतानि, पच्यन्त इति पचतानि पक्वानि, विभक्तेराकारः। पचेः 'मृदशियजी' (उ० ३।१०९) इत्यतचि रूपम्। प्रत्यग्रभीत्, पक्वान्यवदानानि प्रत्यगृह्णात्, अवीवृधच्च पुरोडाशेन। हे ऋषे, त्वामद्यायं होतारमवृणीत वृतवान् ॥ २३ ॥

होता॑ यक्षत् स॒मि॒धा॒नं म॒हद्य॑शः॒ सुस॑मिद्धं॒ वरे॑ण्यम॒ग्निमिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म्। गा॒य॒त्रीं छन्द॑ इन्द्रि॒यं त्र्यविं॒ गां वयो॒ दध॒द् वेत्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ।। २४ ।।

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने गायत्री छन्द, बल, डेढ़ वर्ष की गौ और आयु को स्थापित किया, दीप्यमान महान् यश से पुनः प्रदीप्त वरणीय अग्नि का और आयु को देने वाले इन्द्र का यजन किया। इसी प्रकार हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ।। २४ ।।

एकादश वायोधसे पशौ प्रयाजप्रैषाः। समित्तनूनपादाद्या आप्रीदेवताः। अतिजगती। दैव्यो होता अग्निं वायोधसमिन्द्रं च यक्षद् यजतु। वय आयुर्दधातीति वयोधाः, तमायुषो धातारं धारयितारं वा। कीदृशमग्निम्? समिधानं दीप्यमानम्। महद्यशो महता यशसा, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति तृतीयैकवचनस्य सुरादेशः। समिद्धं दीप्तं वरेण्यं वरणीयम्। किं कुर्वन् यजतु? गायत्रीं छन्द इन्द्रियं वीर्यं त्र्यविं गां वय आयुश्च दधत् स्थापयन्, इन्द्र इति शेषः। षड्भिर्मासैरवयः प्रसुवते, तेनाविशब्देन लक्षणया षण्मासात्मकः कालो लक्ष्यते। त्रयोऽवयो यस्याः सा त्र्यविः सार्धसंवत्सरा गौः, ताम्। इन्द्रयुक्ता प्रयाजदेवता आज्यं वेतु। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता अग्निं वाचामधिष्ठातारमिन्द्रं देहेन्द्रियादिदीपयितारं यक्षद् यजतु। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, त्वं यथा होताग्निमिव समिधानं सुसमिद्धं वरेण्यं महद्यशो वयोधसमिन्द्रं गायत्रीं छन्द इन्द्रियं त्र्यविं गां वयश्च दधत् सन् यक्षद् आज्यस्य वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विद्यादिग्रहीतरि मनुष्ये तदसामर्थ्यात्। नहि कश्चिद् योगोऽग्नितुल्यो भवति, न वा प्रकाशवान् भवति, तस्य नीरूपत्वात्। तत्र कीर्तिमत्ता भवति, न तु कीर्तिरूपता। इन्द्रमित्यपि न योगस्य विशेषणम्, भिन्नप्रवृत्ति-

निमित्तकानां शब्दानां समानविभक्तिकत्वेऽपि सामानाधिकरण्यासम्भवात्। किञ्च, नात्र मन्त्रे योगशब्दः, न चोक्तविशेषणानि योगाव्यभिचारीणि, तदन्यत्रापि तत्सङ्गतेः। आज्यपदस्य विज्ञानरसार्थतापि निर्मूलैव ॥ २४ ॥

होता यक्षत्तनूनपातमुद्भिदं यं गर्भमदितिर्दधे शुचिमिन्द्रं वयोधसम्। उष्णिहं छन्द इन्द्रियं दित्यवाहं गां वयो दधद् वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ— दिव्य होता ने पवित्र यज्ञ-फलों को प्रकट करने वाले अग्नि का और अदिति ने जिसको गर्भ में धारण किया, उस आयु के दाता इन्द्र का यजन किया। शुचि देवता ने उष्णिक् छन्द सहित इन्द्रिय बल, दो वर्ष की गाय और आयु को स्थापित किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ २५ ॥

एकाधिका जगती। दैव्यो होता तनूनपातं प्रयाजदेवं वयोधसम् आयुषो धातारमदितिर्यं गर्भं दधे, तमिन्द्रं च यजतु। कीदृशमिन्द्रम्? उद्भिदम्, उद्भिनत्ति प्रकटयति फलमित्युद्भित्, तं यज्ञफलानामुद्भेत्तारम्। शुचि पवित्रम्। किं कुर्वन् दैव्यो होता यजतु? उष्णिहं छन्द इन्द्रियं वीर्यं दित्यवाहं गां द्विवर्षां गां वय आयुश्च इन्द्रे दधत्। प्रयाजदेवता च इन्द्रसहिता वेतु आज्यस्य स्वमंशं पिबतु। त्वमपि हे मनुष्यहोतर्यज।

अध्यात्मपक्षे दैव्यो होता तनूनपातं तन्वा रक्षकं प्रयाजदेवं वयोधसमायुषो धातारमिन्द्रं जीवं तदन्तर्यामिणं च यक्षद् यजतु। कीदृशम्? अदितिरखण्डनीया चितिरनाद्यविद्योपहिता यं गर्भं दधे धारितवती, मायाविशिष्टायाश्चितेः सकाशादेव सोपाधिकस्य जीवस्य जन्यत्वात्। कीदृशं तनूनपातम्? उद्भिदं कर्मफलदातारम्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्। उष्णिगादिधारणं तु संस्कारार्थम्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता तनूनपातमुद्भिदमदितिं गर्भमिव यं दधे वयोधसं शुचिमिन्द्रं यक्षदाज्यस्योष्णिहं छन्द इन्द्रियं दित्यवाहं गां च वयश्च दधत् सन् वेतु, तथैतान् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। गर्भस्य शरीररक्षकत्वमुद्भिद्य जायमानत्वं च नोपपन्नम्, प्रत्यक्षविरोधात्। यमित्यस्य को वार्थ इत्यनुक्तेश्च। न चेन्द्रस्यैव तद्विशेषणमिति वाच्यम्, तस्य होतृकर्तृकधारणानुपपत्तेः। न चावस्थावर्धकत्वमपि तस्य सम्भवति, जडत्वात्। न च गायत्र्युष्णिगादिच्छन्दसामर्थवैलक्षण्यम्, छन्दसां नामभेदस्याक्षरसंख्यामूलकत्वात्। न च छन्दःशब्दस्य बलकरत्वमर्थः, तथात्वे उष्णिगादीनां छन्दोभिन्नत्वापातात्। हे मनुष्याः, यथा माता गर्भं जातं बालं च रक्षति, तथा शरीरमिन्द्रियाणि च रक्षयित्वा विद्यायुषी वर्धयन्तु' इति भावार्थस्तु मूर्खजनप्रतारणायैव, दूरतोऽपि मन्त्रसम्बन्धाभावात् ॥ २५ ॥

होता यक्षदीडेन्यमीडितं वृत्रहन्तममिडाभिरीड्यꣳ सहः सोममिन्द्रं वयोधसम्। अनुष्टुभं छन्द इन्द्रियं पञ्चाविं गां वयो दधद् वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने स्तुतियोग्य देवताओं से स्तुत, वृत्रनाशक, इड़ा अथवा प्रयाज देवता आदि से स्तुतियोग्य, आयु और बल को देनेवाले, सोम के समान प्रसन्न करने वाले इन्द्र का यजन किया। अनुष्टुप् छन्द के साथ बल, ढ़ाई वर्ष की गाय और पूर्णायु को यजमान अथवा इन्द्र में स्थापित किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ २६ ॥

व्यूहेन शक्वरी। दैव्यो होता इडाभिः प्रयाजदेवताभिः सह वयोधसमिन्द्रं यक्षद् यजतु। कीदृशमिन्द्रम्? ईडेन्यम् ईडितुं योग्यम्, ईडेरेन्य औणादिकः प्रत्ययः। ईडितम् ऋषिभिर्मन्त्रैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्वा स्तुतम्, वृत्रहन्तमम् अतिशयेन वृत्रहन्तारम्, 'नाद् घस्य' (पा० सू० ८।२।१७) इति नुडागमः। ईड्यं सर्वैः स्तुतम्। उव्वटाचार्यरीत्या त्विडाभिः प्रयाजदेवताभिरीड्यम्। पुनः कीदृशम्? सहःसोमम्, सहसा बलेन सोमवदाह्लादकम्, वयोधसं वयस आयुषो धारयितारम्। किं कुर्वन्? इन्द्रेऽनुष्टुभं छन्दः, अनुष्टुप्छन्दसः सामर्थ्यविशेषम् इन्द्रियं वीर्यं पञ्चाविं गां सार्धद्विवर्षां गां वय आयुश्च दधत्। प्रयाजदेवता च इन्द्रसहिता वेतु पिबतु, आज्यस्य स्वमंशम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता देवसम्बन्ध्याह्वाता इन्द्रं परमात्मानं यक्षद् यजतु। कीदृशम्? ईडेन्यं स्तोतुं योग्यम्, ईडितमृषिभिः स्तुतम्, सहःसोमं सहसा बलेन सोमवदाह्लादकम्, वयोधसम् आयुषो धातारम्। किं कुर्वन् यजतु? अनुष्टुभमिन्द्रियं पञ्चाविं गां वयश्च स्वकीयं सर्वमिन्द्रे दधद् इन्द्राय समर्पयन्।

दयानन्दस्तु—हे होतः, यथा होता आदाता वृत्रहन्तममिवेडाभिर्वाग्भिरीडेन्यमीडितं सहो बलमीड्यं सोमं वयोधसमिन्द्रं यक्षत् सङ्गच्छेत, इन्द्रियमनुष्टुभं छन्दः पञ्चाविं गां वयश्च आज्यस्य दधद्वेतु, तथैतान् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः, जीवे सूर्यतुल्यतानिरूपणात्। प्राणधारकत्वं सोमाद्यौषधगणधारकत्वं च न स्वातन्त्र्येण जीवे सम्भवति, तथात्वे स्वच्छन्दमृत्युत्वापातात्। न च होतुरपि जीव इन्द्रियादिधारणे सामर्थ्यम्। न च पृथिवीरूपाया अपि गोः पञ्चप्राणरक्षकत्वेन पञ्चावित्वम्, तस्यां सत्यामपि प्राणापगमदर्शनात्। तस्मात् यत्किञ्चिदेतद् व्याख्यानम् ॥ २६ ॥

होता यक्षत् सुबर्हिषं पूषण्वन्तममर्त्यँ सीदन्तं बर्हिषि प्रियेऽमृतेन्द्रं वयोधसम्। बृहतीं छन्द इन्द्रियं त्रिवत्सं गां वयो दधद् वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने सुबर्हि, पोषण में समर्थ, अमर, रुचिर, अविनाशी कुशाओं पर स्थित आयुदाता इन्द्र का यजन किया। बृहती छन्द के बल के साथ तीन वर्ष की गाय और आयु को स्थापित किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ २७ ॥

शक्वरी। दैव्यो होता सुबर्हिषं शोभनं बर्हिः प्रयाजदेवता यस्य तम्। पूषण्वन्तं पूषास्यास्तीति पूषण्वान् तम्, पूष्णा संयुक्तम्, अमर्त्यममरणधर्माणम्, प्रिये प्रेमास्पदे, अमृता अमृतेऽनश्वरे बर्हिषि सीदन्तं वयोधसम् आयुषो धातारम् इन्द्रं यक्षद् यजतु। किं कुर्वन्? बृहतीं छन्द इन्द्रियं वीर्यं त्रिवत्सं गां वत्सो वत्सरः, त्रयो वत्सा यस्य गोः स त्रिवत्सो वृषः, त्रिवत्सं गां वयश्च दधत् स्थापयन्। वेतु पिबतु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरं होता यक्षद् यजतु। कीदृशमिन्द्रम्? सुबर्हिषम्, शोभनं बर्हिर्दर्भ आस्तरणं यस्य तं सुबर्हिषं समुद्रतटे दर्भशयने स्थितं श्रीरामचन्द्रं पूषण्वन्तं पूष्णा सूर्येण स्वपूर्वपुरुषेण युक्तम्, अमर्त्यं मर्त्यरूपेणावतीर्णमप्यमरणधर्माणम्, प्रियेऽभिरुचितेऽमृता अमृते बर्हिषि सीदन्तं तिष्ठन्तम्। किं कुर्वन्? बृहतीं छन्द इन्द्रियं त्रिवत्सं गां वयो दधत् सन् स वेतु पिबतु आज्यस्य स्वमंशम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा स होता अमृता बर्हिषि प्रिये सीदन्तममर्त्यं पूषण्वन्तं सुबर्हिषं वयोधसमिन्द्रं यक्षत्, स आज्यस्य बृहतीं छन्द इन्द्रियं त्रिवत्सं गां वयश्च दधत् सन् कल्याणं वेतु, तथैतानि यज'

इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'बर्हिषि' इत्यस्य बर्हिस्तुल्यार्थत्वे मानाभावात्। न च सामानाधिकरण्यानुपपत्त्या तुल्यार्थताग्रहणमिति वाच्यम्, सिद्धान्तरीत्यापि तदुपपत्तेः। न च जीवेऽवकाशे जलं वा विद्यते, तस्यासङ्गत्वादमूर्तत्वाच्च ॥ २७ ॥

होता॑ यक्षद् व्यच॑स्वतीः सुप्राय॒णा ऋ॑ताव॒ृधो॒ द्वारो॑ दे॒वीर्हि॑र॒ण्ययी॒र्ब्रह्मा॑ण॒मिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म्। प॒ङ्क्तिं छन्द॑ इ॒हेन्द्रि॒यं तु॑र्य॒वाह॒ं गां वयो॒ दध॑द् व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने बड़े अवकाश वाले, श्रेष्ठ गति के सत्यवर्धक इन्द्र का स्वर्णमयी द्वार देवी के साथ यजन किया। पंक्ति छन्द, इन्द्रिय बल, साढ़े तीन वर्ष की गाय और आयु को इस इन्द्ररूपी यजमान में स्थापित करते हुए प्रयाज देवता घृत पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ २८ ॥

अतिशक्वरी। दैव्यो होता व्यचस्वतीर्व्यञ्जनवतीः, व्यचो व्यञ्जनं गमनावकाशो विद्यते यासु ता व्यचस्वत्यः। सुप्रायणाः शोभनं प्रकर्षेणायनं गमनं यासु ताः सुप्रायणाः। ऋतावृधः सत्यवर्धयित्रीर्यज्ञवर्धयित्रीर्वा। देवीर्यज्ञफलदात्रीः। हिरण्ययीर्हिरण्यमयीरविनाशिनीः, द्वारो यज्ञगृहद्वारः, तथा ब्रह्माणं परिवृढं वयोधसमिन्द्रं च यक्षद् यजतु। किं कुर्वन्? पङ्क्ति छन्द इन्द्रियं तुर्यवाहं गां वयश्च इह इन्द्रे दधद् धारयन्। तुर्यं चतुर्थं वर्षं वहतीति तुर्यवाहं सार्धत्रिवर्षं गां वयश्च दधत्, आज्यस्य स्वमंशं पिबतु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—होता साधकः, देवीर्द्योतनवतीः, द्वारो ब्रह्मप्राप्तिद्वारः, वाङ्निरोधापरिग्रहादीन् ब्रह्माणं ब्राह्मणं गुरुं वयोधसं वयोधर्तारं दीर्घायुषं पुराणं नित्यसिद्धमिन्द्रं परमात्मानं यक्षद् यजतु। द्वारां विशेषणानि—व्यचस्वतीः, सुप्रायणाः, ऋतावृधः, देवीः, हिरण्ययीः। इह इन्द्रे पङ्क्ति छन्दो वीर्यं तुर्यवाहं गां वयश्च दधत् समर्पयन्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, त्वं यथेह होता व्यचस्वतीः सुप्रायणा ऋतावृधो हिरण्ययीर्देवीर्द्वारो वयोधसं ब्रह्माणमिन्द्रं पङ्क्ति छन्द इन्द्रियं तुर्यवाहं गां वयश्च दधदाज्यस्यैतानि यक्षद् यथा च जना व्यन्तु, तथैतानि यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गृहादिद्वास्सु सत्यवर्धकत्वस्यानिरूपणात्। यक्षद्, दधत् इत्युभयक्रियापदयोः सर्वैर्द्वितीयान्तपदैः सम्बन्धे विप्रकृष्टान्वयादिदोषापत्तेः। न च द्वारां ब्राह्मणस्य विद्यैश्वर्यस्य च समानं धारणं सङ्गमनं वा, वैरूप्यात्। न च घृतमेव प्राप्तियोग्यम्, घटादेरपि तत्त्वेन आज्यत्वापत्तेः। किञ्च, केन कस्य सङ्गतिकरणं यजनमित्यपि वक्तव्यम्? नहि पङ्क्त्या गोः सङ्गतिकरणं सम्भवति ॥ २८ ॥

होता॑ यक्षत् सु॒पेश॑सा सु॒शि॒ल्पे बृ॑ह॒ती उ॒भे नक्तो॒षासा॒ न द॑र्श॒ते विश्व॒मिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म्। त्रि॒ष्टुभं॒ छन्द॑ इ॒हेन्द्रि॒यं प॑ष्ठ॒वाह॒ं गां वयो॒ दध॑द् वी॒तामाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता ने सुरूप और सुन्दर परस्पर एक रूप महान् दर्शनीय दोनों नक्त (रात्रि) एवं उषा देवियों को और सर्वात्मक आयुदाता इन्द्र को पूजा। त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्रिय बल के साथ भार उठाने में समर्थ वृष और आयु को इस यजमान इन्द्र में स्थापित करते हुए नक्तोषासा घृत-पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ २९ ॥

अतिशक्वरी। दैव्यो होता उभे नक्तोषासा नक्तोषसौ विश्वं सर्वात्मकं वयोधसमायुषो धर्तारमिन्द्रं च यक्षद् यजतु। नक्ता रात्रिः, उषा रात्रेरपरभागः। नकारः समुच्चयार्थः। कीदृश्यौ नक्तोषसौ? सुपेशसौ, शोभनं पेशो रूपं ययोस्ते सुरूपे। सुशिल्पे सुष्ठु शोभनं शिल्पं निर्माणकौशलं ययोस्ते, अन्योन्यं प्रतिरूपे, 'यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्' (श० ३।२।१।५) इति श्रुतेः। बृहती बृहत्यौ। दर्शते दर्शनीये, 'भृमृदृशियजि' (उ० सू० ३।११०) इत्यादिना दृशेरतच्। किं कुर्वन् यजतु? त्रिष्टुभं छन्द इन्द्रियं पष्ठवाहं भारवहनसमर्थं गां च वयश्च इह इन्द्रे दधद् धारयन्। सेन्द्रे नक्तोषसाविज्यमाने वीतां पिबतामाज्यस्य स्वमंशम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता उभे नक्तोषसौ सुपेशसौ सुरूपे सुशिल्पे विश्वप्रपञ्चनिर्माणकौशलवत्यौ बृहती महत्यौ, महत्प्रपञ्चोत्पादनत्वात्। दर्शते, द्रष्टव्यजगद्धेतुत्वात्। किं कुर्वन्? तस्मिन्निन्द्रे त्रिष्टुबादीन् धारयन्। इन्द्रेण सहिते ते वीताम्। यद्यपि स्वरूपतः प्राधान्यमिन्द्रस्य, तथापि पानकर्तृत्वं विद्याविद्ययोरेवेति पाने तयोरेव प्राधान्यम्।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथेह बृहत्युभे सुशिल्पे दर्शते नक्तोषासा न सुपेशसा विश्वं वयोधसमिन्द्रं त्रिष्टुभं छन्दो वय इन्द्रियं पष्ठवाहं गां वीताम्, यथाज्यस्यैतानि दधत् स न होता यक्षत्, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापकोपदेशकयो रात्रिदिनतुल्यत्वानिरूपणात्। न च तयोः सुपेशस्त्वमावश्यकम्, तयोर्विद्यादिगुणवत्त्वस्यैवादरणीयत्वात्। न च तयोर्जगत्यादिधारकत्वमुपपन्नम्, तयोस्तत्रासामर्थ्यात्, अंशतोऽन्यैरपि तद्धारकत्वोपपत्तेश्च। विप्रकृष्टगौणार्थाश्रयणं तु सर्वत्रैव दोषः॥ २९॥

होता यक्षत् प्रचेतसा देवानामुत्तमं यशो होतारा दैव्या कवी सयुजेन्द्रं वयोधसम्। जगतीच्छन्द इन्द्रियमनड्वाहं गां वयो दधद् वीतामाज्यस्य होतर्यज॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता ने सुचित्त देवताओं में श्रेष्ठ, यशस्वी, क्रान्तदर्शी, परस्पर सखा, दोनों दिव्य होताओं के साथ आयुधारक इन्द्र का यजन किया। दैवी होता जगती छन्द, इन्द्रिय बल, शकटवहनयोग्य वृष और आयु को इस यजमान रूपी इन्द्र में स्थापित करते हुए घृत-पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ ३०॥

एकाधिका शक्वरी। दैव्यो होता दैव्यौ होतारौ वयोधसमिन्द्रं च यजतु। अयं चाग्निरसौ च मध्यमो वायुः, एतावेव दैव्यो होतारौ। कीदृशौ होतारौ? प्रचेतसा प्रचेतसौ प्रकृष्टं चेतो ययोस्तौ प्रकृष्टज्ञानौ। देवानामुत्तमं यशः पुञ्जीकृतदेवयशोरूपौ। कवी क्रान्तदर्शनौ। सयुजा सयुजौ सह युङ्क्त इति सयुजौ तौ समानयोगौ। किं कुर्वन्? जगतीं छन्द इन्द्रियमनड्वाहं गां वयश्च इन्द्रे दधत्। अनः शकटं वहतीत्यनड्वान्, अन उपपदे वहेः क्विपि तस्य डादेशे वकारस्य सम्प्रसारणे च अनडुहः सिद्धिः, तम्। तौ च दैव्यौ होतारौ सेन्द्राविज्यमानौ आज्यस्य स्वमंशं वीतां पिबताम्। त्वमपि हे मनुष्यहोतर्यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता साधकोऽग्निवायुतुल्यौ लक्ष्मणहनूमन्तौ इन्द्रं रामं च यजतु। कीदृशौ तौ? प्रचेतसौ, प्रकृष्टज्ञानौ देवानामुत्तमयशःस्वरूपौ सयुजौ सहयोगिनौ। कीदृशमिन्द्रम्? वयोधसम्, आयुषो धारयितारम्। किं कुर्वन् यजतु? जगत्यादीनि इन्द्रे परमात्मनि दधद् धारयन्, समर्पयन्निति यावत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथा देवानां प्रचेतसौ सयुजौ दैव्यौ होतारौ कवी अध्यापकाध्येतारौ श्रोतृश्रावयितारौ वा वयोधसमिन्द्रं जगतीं छन्द इन्द्रियमनड्वाहं गां च वीताम्, यथाज्यस्य मध्य एतानि दधत्

सन् होता यक्षत्, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तयोर्जगत्यादिविशेषधारकत्वे मानाभावात्, पारम्पर्येण सर्वच्छन्दआदीनामपि धारकत्वेन विशेषानुपपत्तेः ॥ ३० ॥

होता॑ यक्षत् पेश॑स्वतीस्ति॒स्रो दे॒वीर्हि॑र॒ण्ययी॒र्भार॑तीर्बृह॒तीर्म॒हीः पति॒मिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म् । वि॒राजं॒ छन्द॑ इ॒हेन्द्रि॒यं धे॒नुं गां न वयो॒ दध॑द् व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता ने रूपसम्पदा वाली, सुवर्णमयी, विशाल, आदित्य, इन्द्र और अग्नि के तेज से बढ़ी हुई इड़ा, सरस्वती, भारती नामक तीनों देवियों का और आयुदाता सबके पालक इन्द्र का यजन किया। विराट् छन्द, इन्द्रिय बल, दुधारू गाय और आयु को यजमान इन्द्र में स्थापित करते हुए घृत का पान किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३१ ॥

एकाधिका शक्वरी। दैव्यो होता तिस्रो देवीः पतिं पालकं वयोधसमिन्द्रं च यक्षद् यजतु। कीदृशीस्तिस्रो देवीः? पेशस्वतीः, पेशो रूपमस्ति यासां ताः पेशस्वत्यः, रूपसमृद्धास्ताः। हिरण्ययीर्हिरण्यालङ्कारालङ्कृतदेहाः। भारतीर्भरत आदित्यस्तस्येमाः, बहुवचनमिडासरस्वत्योरुपलक्षणार्थम्, इडासरस्वतीभारतीस्तिस्रो देवीरित्यर्थः। बृहतीः प्रभावेण। महीर्महतीस्तेजसा, आदित्येन्द्राग्निसम्बन्धात्। किं कुर्वन्? विराजं छन्द इन्द्रियं धेनुं दोग्ध्रीं गां वयश्च इन्द्रे दधद् धारयन्। नकारः समुच्चयार्थः। सेन्द्रास्तिस्रो देव्यो व्यन्तु पिबन्तु, आज्यस्य स्वमंशम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता तिस्रो देवीः पतिं पालकमिन्द्रं परमेश्वरं च यक्षद् यजतु। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्, अधिष्ठानब्रह्मसहितासु तिसृषु महाशक्तिष्वाञ्जस्येन मन्त्रसङ्गतेः।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यो होता तिस्रो हिरण्ययीः पेशस्वतीर्भारती बृहतीर्महीर्देवीस्त्रिविधा वाचो वयोधसं पतिमिन्द्रं विराजं छन्दो वय इन्द्रियं च यक्षत्, स धेनुं गां न व्यन्तु, तथैतानि दधत् सन्नाज्यस्य फलं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तात्पर्यशून्यत्वात्, तिसृणां हिरण्मयीनां स्त्रीणां महद्भिर्गृहीतानां प्राप्तेः प्रयोजनानुक्तेः, तथैव विराट्छन्दःप्रभृतीनामपि प्राप्तेः कैमर्थ्यानुक्त्या निरर्थकत्वात् ॥ ३१ ॥

होता॑ यक्षत् सु॒रेत॑सं॒ त्वष्टा॑रं पुष्टि॒वर्ध॑नं रू॒पाणि॒ बिभ्र॑तं॒ पृथ॒क् पुष्टि॒मिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म् । द्वि॒पदं॒ छन्द॑ इन्द्रि॒यमु॒क्षाणं॒ गां न वयो॒ दध॑द् वे॒त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता ने जगत् के उत्पादक सुन्दर वीर्य वाले, पुष्टिवर्धक, सबमें पृथक् पृथक् रूपों को और पुष्टि को धारण करने वाले पूषा देवता और आयुवर्धक इन्द्र का यजन किया। द्विपदा छन्द, इन्द्रिय बल, अनड्वान् वृष और आयु को यजमान में स्थापित करते हुए त्वष्टा देव घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३२ ॥

एकाधिका शक्वरी। दैव्यो होता सुरेतसं शोभनं जगदुत्पत्तिबीजत्वाद् रेतो वीर्यं यस्य स सुरेतास्तम्। पुष्टिवर्धनं पुत्रादिपुष्टेर्वर्धयितारं पृथग् नानाजातिषु रूपाणि पुष्टिं पोषणं च बिभ्रतं धारयन्तं त्वष्टारं वयोधसम् आयुषो धारयितारमिन्द्रं च यजतु। किं कुर्वन्? द्विपदं छन्द इन्द्रियमुक्षाणं रेतःसेकक्षमं गां वृषं च वयश्चेन्द्रे दधत्। नश्चार्थः। सेन्द्रस्त्वष्टा वेतु पिबत्वाज्यस्य स्वमंशम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता सुरेतसं त्वष्टारं जगत्स्रष्टारं वयोधसमिन्द्रं परमेश्वरमधिष्ठानभूतं स्वप्रकाशं यजतु। एतदानुगुण्येन विशेषणान्तराण्यपि योज्यानि।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथा होता सुरेतसं त्वष्टारं पुष्टिवर्धनं रूपाणि पृथग् बिभ्रतं वयोधसं द्विपदं छन्द इन्द्रियमुक्षाणं गां न इव वयः सन् आज्यस्य यक्षद्वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित् निरर्थकत्वात्। शुभगुणग्रहीता कथं सुरेतसं त्वष्टारं कथं च सुन्दररूपाणि पृथग् धारयेत्? इन्द्रं द्विपदं च कथं धारयेत्? किञ्च तस्य प्रयोजनम्? यथा वृषभो गर्भिणीः कृत्वा पशून् वर्धयति, तथा गृहस्थाः स्त्रीर्गर्भवतीः कृत्वा प्रजा वर्धयेयुः, सन्तानेच्छया पुष्टिर्वर्धनीया, इत्यादिभाववर्णनं तु सर्वथा दुःसाहसमेव, मन्त्रबाह्यत्वात्॥३२॥

होता यक्षद्वनस्पतिꣳ शमितारꣳ शतक्रतुꣳ हिरण्यपर्णमुक्थिनꣳ रशनां बिभ्रतं वशिं भगमिन्द्रं वयोधसम्। ककुभं छन्द इहेन्द्रियं वशां वेहतं गां वयो दधद् वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता ने संस्कार के कर्ता, बहुकर्मी, सुवर्णमय पत्र वाले, यज्ञयुक्त रज्जुधारी, मनोहर, भजनीय, वनस्पति और आयुवर्धक इन्द्र का यजन किया। वनस्पति देवता ककुप् छन्द, इन्द्रिय बल, वन्ध्या गर्भघातिनी गाय और आयु को इस यजमान में धारण करते हुए घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ ३३॥

अत्यष्टिः। दैव्यो होता वनस्पतिं यूपं वयोधसमिन्द्रं च यक्षद् यजतु। कीदृशं वनस्पतिम्? शमितारम्, हविषां संस्कर्तारम्। शतक्रतुं शतमनन्तं क्रतवः कर्माणि यस्य तम्। हिरण्यपर्णं हिरण्यमयानि पर्णानि यस्य तम्। उक्थिनम् उक्थानि शस्त्राणि सन्ति यस्य तम्। रशनां रज्जुं बिभ्रतं धारयन्तम्। यूपे हि पशुबन्धनाय रज्जुः सम्बद्ध्यते। वशिं कान्तं भगं भजनीयम्। किं कुर्वन्? ककुभं छन्द इन्द्रियं वशां वन्ध्यां गां वेहतं गर्भोपघातिनीं च गां वयश्च इह इन्द्रे दधत् स्थापयन् इन्द्रसहितो वनस्पतिर्वेतु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता वनस्पतिं यूपमिन्द्रं परमेश्वरं वयोधसं यक्षद् यजतु। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथेहाज्यस्य होता शमितारं शान्तिकरं हिरण्यपर्णं वनस्पतिं सूर्यमिव शतक्रतुमुक्थिनं रशनां बिभ्रतं वशिं भगं वयोधसमिन्द्रं ककुभं छन्द इन्द्रियं वशां वेहतं गां वयश्च दधत् सन् यक्षद् वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरर्थकत्वादनुपपत्तेश्च। कथं हि पुरुषः पुरुषान्तरं धारयेत्? स्वाङ्गुलिं सर्वोऽपि धारयति, अङ्गुलिं च किमर्थं कथं धारयेत्? वन्ध्यां गर्भघातिनीं च किमर्थं धारयेत्? इत्याद्यसमाधानात्। यथाकथञ्चिदेवं गौणादिवृत्त्या किञ्चिदर्थलाभेऽपि निरर्थकमेव॥ ३३॥

होता यक्षत् स्वाहाकृतीरग्निं गृहपतिं पृथग् वरुणं भेषजं कविं क्षत्रमिन्द्रं वयोधसम्। अतिच्छन्दसं छन्द इन्द्रियं बृहदृषभं गां वयो दधद् व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥ ३४॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने भिन्न-भिन्न यज्ञों में गृहों के पति, वरणीय, रोगनाशक, क्रान्तदर्शी, रक्षक, आयुदाता, अग्रगामी इन्द्र और स्वाहाकृती प्रयाजदेवता का यजन किया। अतिच्छन्द नामक छन्द, इन्द्रिय-बल, महान् पुष्ट वृषभ और आयु को यजमान में स्थापित करते हुए प्रयाज देवता घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ ३४॥

अतिशक्वरी । दैव्यो होता स्वाहाकृतीः प्रयाजदेवता यक्षद् यजतु, इन्द्रं च पृथग् यज्ञेष्वागमनानन्तरं यजतु । अग्निम्, अङ्गतीत्यग्निस्तम् । गृहपतिं पृथग् यजतु । वरुणम्, व्रियतेऽसौ वरुण ऋत्विग्भिर्वरणीयस्तम् । भेषजं रोगनाशकम् । कविं क्रान्तदर्शिनम् । क्षत्रं क्षतात् प्रहारात् त्रातारम् । वयोधसम् आयुषो धातारम् । किं कुर्वन् ? अतिच्छन्दसं छन्द इन्द्रियं च वीर्यं बृहद् महद् ऋषभं पुष्टं गां वय आयुश्च इन्द्रे दधद् धारयन् । सेन्द्राः स्वाहाकृतय आज्यस्य स्वमंशं व्यन्तु पिबन्तु । हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज ।

अध्यात्मपक्षे दैव्यो होता स्वाहाकृतीः प्रयाजदेवता इन्द्रं परमेश्वरं च यक्षद् यजतु । कीदृशमिन्द्रम् ? अग्निम्, अग्रे गन्तारं पृथक् प्रत्येकं यज्ञेष्वग्निमग्रे गन्तारं यजतु । कथंभूतमग्निम् ? गृहपतिं संसारगृहस्य पालकम्, वरुणं व्रियते सर्वैरिति वरुणः सर्वैर्वरणीयस्तम्, भेषजं भेषजवद्रोगनिवारकम्, कविं सर्वज्ञं क्षत्रं क्षतात् प्रहारात् त्रातारम्, वयोधसमायुषो दातारम् । किं कुर्वन् ? अतिच्छन्दसं छन्दआदिकं दधत् । तस्मिन्निन्द्रे छन्दआदीनामाधानम्, तस्मिन् समर्पणम्, तैरभ्यर्हणं च ।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथा होता स्वाहाकृतीरग्निमिव गृहपतिं वरुणं पृथग्भेषजं कविं वयोधसमिन्द्रं क्षत्रमतिच्छन्दसं छन्दो बृहदिन्द्रियमृषभं गां वयश्च दधत् सन्नाज्यस्याहुतिं यक्षत्, यथा जना एतानि व्यन्तु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाहाकृत्यादीनां धारणासिद्धेः, निष्प्रयोजनत्वाच्च; केषाञ्चिद् रागप्राप्तत्वात्, तद्विधानवैयर्थ्याच्च ॥ ३४ ॥

दे॒वं ब॒र्हिर्व॑यो॒धसं॑ दे॒वमिन्द्र॑मवर्धयत् । गाय॒त्र्या छन्द॑सेन्द्रि॒यं चक्षु॒रिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑ ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—बर्हि ने दिव्य आयु को बढ़ाने वाले इन्द्रदेव को बढ़ाया । गायत्री छन्द के द्वारा नेत्र इन्द्रिय, बल और आयु को यजमान में स्थापित करते हुए प्रयाज देवता धन-प्राप्ति और उसकी स्थिति के निमित्त घृतपान करें । हे मनुष्य होता, तुम भी ऐसा ही करो ॥ ३५ ॥

वयोधसे पशावेव एकादशानुयाजानां प्रैषाः, बर्हिरादिदेवताः । एकाधिके आर्ष्यौ त्रिष्टुभौ । देवं बर्हिर्यद् द्योतनं बर्हिर्वयोधसमिन्द्रं च देवमवर्धयत् । कीदृशं बर्हिः ? गायत्र्या छन्दसा चक्षुरिन्द्रियं वयश्च इन्द्रे दधद् धारयत् । तद् वसुवने वसुवननाय वसुधेयस्य वसुधानाय च वेतु पिबतु, आज्यस्य स्वमंशम् । सप्तमीषष्ठ्यौ चतुर्थ्यर्थे । हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज याज्यां पठ ।

अध्यात्मपक्षे—देवं बर्हिरिन्द्रं जीवात्मानं देवमवर्धयत् प्रोत्साहितवत् । गायत्र्या कृत्वा इन्द्रे चक्षुरिन्द्रियं वयश्च दधत् । शेषं पूर्ववद्व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवं बर्हिर्वयोधसं देवमिन्द्रमवर्धयत्, यथा गायत्र्या च्छन्दसा चक्षुरिन्द्रियं वयश्चेन्द्रे दधत् सद्वसुधेयस्य वसुवने वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बर्हिषोऽन्तरिक्षस्य जडत्वेन वर्धकत्वायोगात् । न च जीवेऽपि गायत्र्या छन्दसा चक्षुरादिकं धार्यते ॥ ३५ ॥

दे॒वीर्द्वारो॑ वयो॒धस॑ꣳ शु॒चिमिन्द्र॑मवर्धयन् । उ॒ष्णिहा॒ छन्द॑सेन्द्रि॒यं प्रा॒णमिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—द्वारदेवियों ने उष्णिक् छन्द के द्वारा प्राण, इन्द्रिय-बल और आयु को यजमान में स्थापित करते हुए आयुदाता पवित्र इन्द्र को बढ़ाया। इन्द्र यजमान की धनप्राप्ति और उसकी स्थिति के निमित्त घृत पान करे। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३६ ॥

देवीर्देव्यो द्वारो वयोधसमायुषो धारकं शुचिं पवित्रमिन्द्रमवर्धयन्। कीदृश्यो द्वारः? उष्णिहा छन्दसा कृत्वा सह वा प्राणमिन्द्रियं वीर्यं वयश्च इन्द्रे दधद् दधत्यः, लिङ्गवचनव्यत्ययः, ता व्यन्तु। हे होतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—देव्यो द्वार इन्द्रं जीवात्मानमवर्धयन्। कीदृशम्? शुचिम्, स्वधर्मानुष्ठानेन विशुद्धान्तःकरणम्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवीर्द्वारो वयोधसं शुचिमिन्द्रमिन्द्रियं प्राणमिन्द्रे वसुधेयस्य वसुवनेऽवर्धयद् व्यन्तु, तथोष्णिहा छन्दसा एतानि वयश्च दधत् सन् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वयःपदस्य जीवनार्थत्वे मानाभावात्। द्वारामपि वर्धनानुगुणव्यापारवत्त्वं न सम्भवति ॥ ३६ ॥

दे॒वी उ॒षासा॒नक्ता॑ दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वी दे॒वम॑वर्धताम्। अनु॒ष्टु॒भा छन्द॑सेन्द्रि॒यं बल॒मिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—प्रकाशवान् उषा और रात्रि नामक देवियों ने अनुष्टुप् छन्द के द्वारा इन्द्रिय-बल और आयु को यजमान में स्थापित करते हुए आयुदाता इन्द्रदेव को बढ़ाया, इन्द्र ने भी यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी स्थिति के निमित्त घृतपान किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३७ ॥

द्वे ब्राह्म्यौ बृहत्यौ। उषासानक्ता उषाश्च नक्तं च उषासानक्ता, 'उषासोषसः' (पा० सू० ६।३।३१) इति देवताद्वन्द्वे उषःशब्दस्य उषासादेशः, विभक्तेराकारः। देवी देव्यौ दीप्यमाने देवं दानादिगुणकं वयोधसमायुषो दातारम् इन्द्रं देवं दीप्यमानमवर्धताम्। किं कुर्वन्त्यौ? अनुष्टुभा छन्दसा बलमिन्द्रियं वयश्च इन्द्रे दधद् दधत्यौ। दधदित्यव्ययम्, लिङ्गवचनव्यत्ययो वा। ते देव्यौ वसुवननाय वसुधानाय च वीतां पिबताम्, आज्यमिति शेषः। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—देवी देव्यौ विद्याविद्ये इन्द्रं देवं वयोधसमवर्धतां भोगापवर्गवन्तं कुरुताम्। वसुवननाय वसुधानाय च वीतां चैतन्यबलं गृह्णीताम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथोषासानक्तेव देवी वयोधसं देवमिन्द्रं देवी देवमिवावर्धताम्, यथा च वसुधेयस्य वसुवने वीताम्, तथा वयो दधत् सन्ननुष्टुभा छन्दसेन्द्रं इन्द्रियं बलं यज सङ्गमय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः, द्वाभ्यां स्त्रीभ्यामेकस्य सम्बन्धानुपपत्तेः। न च स्त्रीपदं मूलेऽस्ति। देवीति तु विशेषणपरम्। न च ताभ्यामिन्द्रस्य जीवस्य वर्धनं सम्भवति, ह्रासस्यैव दर्शनात्। न च ताभ्यां बलवयसोर्वर्धनं दृश्यते, अनुष्टुभस्तत्र कथमुपयोग इत्यनुक्तेश्च ॥ ३७ ॥

दे॒वी जोष्ट्री॒ वसु॑धिती दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वी दे॒वम॑वर्धताम्। बृ॒ह॒त्या छन्द॑सेन्द्रि॒यꣳ श्रोत्र॒मिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—प्रकाशवान्, परस्पर प्रीतियुक्त, धन को धारण करने वाली दोनों देवियाँ कर्णेन्द्रिय और आयु का यजमान में आधान करते हुए दीप्तिमान् आयुदाता इन्द्रदेव को बढ़ाती हैं। इन्द्र भी यजमान में धन-प्राप्ति और उसकी स्थिति के निमित्त घृतपान करते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३८ ॥

ये देवी देव्यौ दीप्यमाने अनूयाजदेवते जोष्ट्री जोष्ट्र्यौ जोषयित्र्यौ वसुधिती वसुनो धनस्य धारयित्र्यौ वयोधसमायुषो धारयितारं देवं दीप्तमिन्द्रं देवमवर्धताम्, ते बृहत्या च्छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं श्रोत्रं च वयश्च इन्द्रे दधद् धारयन्त्यौ सत्यौ वसुवननाय वसुधानाय च आज्यस्य स्वमंशं वीताम्। त्वमपि हे मनुष्यहोतर्यज।

अध्यात्मपक्षे—देव्यौ जोष्ट्र्यौ भोगापवर्गप्रदानेन जोषयित्र्यौ देवं दीप्यमानं वयोधसमिन्द्रं देवं दानादिगुणकमवर्धताम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवी जोष्ट्री वसुधिती स्त्रियौ वयोधसमिन्द्रं देवं देवी देवमिव प्राप्यावर्धताम्, बृहत्या छन्दसेन्द्रे श्रोत्रमिन्द्रियं वीताम्, तथा वसुधेयस्य वसुवने वयो दधत् सन् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात् ॥ ३८ ॥

दे॒वी ऊ॒र्जाहु॑ती दु॒घे सु॒दुघे॒ पय॒सेन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वी दे॒वम॑वर्धताम्। प॒ङ्क्त्या छन्द॑सेन्द्रि॒यꣳ शु॒क्रमिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—कामपूरक, कामना के दूध से परिपूर्ण, दीप्तिमान्, अन्नजल को बुलाने वाली उक्त दोनों देवियाँ पंक्ति छन्द के द्वारा वीर्य, इन्द्रिय और आयु का इन्द्र में आधान कर अपने दूध से आयुदाता इन्द्र को बढ़ाती हैं। इन्द्र देवता यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी स्थिति के निमित्त घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३९ ॥

शक्वरी। ये देवी दात्र्यौ ऊर्जाहुती ऊर्जा बलेन रसेन वा आहुतिराह्वानं ययोस्ते। पयसा वयोधसमिन्द्रमवर्धताम्। कीदृश्यौ? दुघे दोग्ध्र्यौ सुदुघे सुखेन दोग्धुं शक्ये। ते पङ्क्त्या छन्दसा शुक्रं वीर्यमिन्द्रियं वयश्चेन्द्रे दधत्यौ वीतां पिबतामाज्यस्य स्वमंशम्। त्वमपि हे होतर्यज।

अध्यात्मपक्षे—देवी दात्र्यौ ऊर्जाहुती ऊर्जाह्वान्यौ देव्यौ पयसा पयस्तुल्येन स्वपरिणामेन वयोधसं देवमवर्धतां भोगापवर्गवन्तौ कुरुताम्। ते तत्र पङ्क्त्या छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं शुक्रं वयश्च दधत्यौ वीताम्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा दुघे सुदुघे देवी ऊर्जाहुती पयसा वयोधसमिन्द्रं देवी देवमिवावर्धताम्, पङ्क्त्या छन्दसा इन्द्रे शुक्रमिन्द्रियं वीताम्, तथा वसुधेयस्य वसुवने वयो दधत् सन् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऊर्जापदस्य संस्कारार्थत्वे मानाभावात्, इन्द्रस्य प्राणधरार्थकस्य वयोधसपदस्य निरर्थकत्वापत्तेश्च, प्राणहीनस्य वर्धनासम्भवात् ॥ ३९ ॥

दे॒वा दैव्या॒ होता॑रा दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वौ दे॒वम॑वर्धताम्। त्रि॒ष्टुभा॒ छन्द॑सेन्द्रि॒यं त्विषि॒मिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य दीप्तिमान् देवताओं के दोनों होता अश्विनीकुमार त्रिष्टुप् छन्द के द्वारा कान्ति, इन्द्रिय-बल और आयु को यजमान में स्थापित कर आयुदाता दीप्तिमान् इन्द्र को बढ़ाते हैं। इन्द्र यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी रक्षा के निमित्त घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ ४० ॥

अतिजगती। दैव्या दैव्यौ देवा देवौ देवसम्बन्धिनौ होतारा होतारौ, अयमग्निरसौ च वायुः, मध्यमं देवं दातारं वयोधसमायुषो धारयितारमिन्द्रं देवमवर्धताम्। ते त्रिष्टुभा छन्दसा त्विषिं कान्तिमिन्द्रियं त्वगिन्द्रियं वयश्चेन्द्रे दधतौ वसुवननाय वसुधानाय च वीताम्, आज्यस्य स्वमंशम्। हे होतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—देवौ दातारौ दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ होतारावग्निवायुरूपौ विराड्ढिरण्यगर्भौ देवं दानादिगुणकं वयोधसमायुषो धातारं धारयितारं देवं दीप्तं जीवात्मानमवर्धतां ज्ञानक्रियाशक्तिप्रदानेन तद्वन्तं कुरुताम्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतारौ, यथा दैव्यौ देवौ वयोधसमिन्द्रं देवो देवमिवावर्धताम्, तथा वसुधेयस्य वसुवने वीताम्। हे विद्वन्, त्रिष्टुभा छन्दसेन्द्रे त्विषिमिन्द्रियं वयो दधत् सन् त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्। देवादिपदानां वक्तुरिच्छया यथेष्टार्थे प्रयोगे शाब्दनयेऽराजकतापत्तेः। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव। होतृपदेनाध्यापकोपदेशकग्रहणमपि चिन्त्यमेव, निर्मूलत्वात्॥ ४०॥

दे॒वीस्ति॒स्रस्ति॒स्रो दे॒वीर्व॑यो॒धसं॒ पति॒मिन्द्र॑मवर्धयन्। जग॑त्या॒ छन्द॑से॒न्द्रि॒यꣳ शू॒षमिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑॥ ४१॥

मन्त्रार्थ—इड़ा, भारती और सरस्वती नामक तीनों देवियों ने जगती छन्द के द्वारा इन्द्रिय-बल और आयु को यजमान में स्थापित कर आयुदाता पालक इन्द्र के बल को बढ़ाया था। इन्द्र यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिये घृत-पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ ४१॥

एकाधिका ब्राह्मी अनुष्टुप्। यास्तिस्रो देव्यो भारतीडासरस्वत्यः। आदरार्थमभ्यासः। वयोधसमायुषो धारयितारं पतिं पालयितारं पालयितव्यं वा इन्द्रमवर्धयन् वर्धयन्ति, ता जगत्या छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं शूषं बलं वय आयुश्च इन्द्रे दधद् दधत्यो व्यन्तु पिबन्तु स्वमंशमाज्यस्य। हे होतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—तिस्रो देव्यो महाकाली-महालक्ष्मी-महासरस्वत्यो वयोधसमिन्द्रं पतिं पालयितव्यमवर्धयन् वर्धयन्ति, ता जगत्या छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं शूषं बलं वयश्चेन्द्रे जीवे दधत्यो व्यन्तु स्वमंशमाज्यस्य। हे होतः साधक, त्वमपि यज।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा तिस्रो देवीर्वयोधसं पतिमिन्द्रमवर्धयन् वर्धयेयुः, तथा जगत्या छन्दसेन्द्रे शूषमिन्द्रियं वयो दधत् सन् वसुधेयस्य वसुवने यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रे विदुषि जीवे सेनासु वा जगत्या छन्दसा इन्द्रियबलाधानसामर्थ्यायोगात्। न च विदुष्यः स्त्रियोऽपि स्वपतिं चक्रवर्तिनं वा वर्धयितुं शक्नुवन्ति। यथा तथेति सादृश्यमपि तेन विदुषा ताभिर्न दृश्यते, तथाऽनिरूपणात्॥ ४१॥

दे॒वो न॑रा॒शꣳसो॑ दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वो दे॒वम॑वर्धयत्। वि॒राजा॒ छन्द॑से॒न्द्रि॒यꣳ रू॒पमिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥ ४२॥

मन्त्रार्थ—दानशील मनुष्यों के द्वारा स्तुत यज्ञदेवता ने विराट् छन्द के द्वारा रूप, इन्द्रिय-बल और आयु को इन्द्र में स्थापित कर दीप्तिमान् आयुदाता इन्द्र के बल को बढ़ाया था। यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिये इन्द्र देवता घृत-पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो॥ ४२॥

अतिजगती । देवो दाता द्युस्थानो वा नराशंसो देवं द्युस्थानं दीप्तं वा वयोधसमायुषो धारयितारमिन्द्रमवर्धयत् । कीदृशः ? विराजा छन्दसा रूपमिन्द्रियं वयश्चेन्द्रे दधद् धारयन् वसुवननाय वसुधानाय च वेतु । हे होतः, त्वमपि यज ।

अध्यात्मपक्षे—देवो नराशंसो नरैराशंस्यते यः सः, देवं दीप्तमिन्द्रं जीवमवर्धयद् विविधसाधनोपन्यासेन वर्धयति । शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा नराशंसो देवो वयोधसं देवमिन्द्रं देवो देवमिवावर्धयत्, विराजा छन्दसेन्द्रे रूपमिन्द्रियं वेतु, तथा वसुधेयस्य वसुवने वयो दधत् सन् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यकर्तृकमनुष्यकर्मकवर्धने विराट्छन्दस उपयोगादर्शनात् ॥ ४२ ॥

देवो वनस्पतिर्देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्धयत् । द्विपदा छन्दसेन्द्रियं भगमिन्द्रे वयो दधद् वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—दानशील वनस्पति देवता ने द्विपाद छन्द द्वारा सौभाग्य रूप इन्द्रिय और आयु को यजमान में स्थापित कर दीप्तिमान् आयुदाता इन्द्र को बढ़ाया था । यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी रक्षा के निमित्त इन्द्र घृतपान करें । हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ ४३ ॥

अतिजगती । यो देवो वनस्पतिस्तत्कार्यभूतयूपाभिमानी देवं द्युस्थानमिन्द्रं वयोधसमायुषो धातारं धारयितारमवर्धयत्, स इदानीं द्विपदा छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं भगमैश्वर्यं च वय आयुश्च इन्द्रे धारयन् वसुवननाय वसुधानाय च वेतु । त्वमपि हे होतर्यज ।

अध्यात्मपक्षे—यो देवो वनस्पतिः संसारवृक्षस्वामी परमेश्वरो देवं रूपादि द्योतयन्तं देहादिस्वामिनं जीवात्मानमवर्धयत्, स द्विपदा छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं भगमैश्वर्यं वयश्चेन्द्रे दधत् सन् वसुवननाय वसुधानाय च वेतु । हे साधक, त्वमपि तं यज ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वनस्पतिर्देवो वयोधसं देवमिन्द्रं देवो देवमिवावर्धयत्, द्विपदा छन्दसेन्द्रे भगमिन्द्रियं वेतु, तथा वसुधेयस्य वसुवने वयो दधत् सन् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बाधितार्थत्वाद् दृष्टान्तानुपपत्तेः । नहि वटादिस्त्वद्रीत्या देवो विद्वान् सम्भवति, जडत्वात्; न वा दिव्यगुणवान् सम्भवति, भौतिकवटे दिव्यगुणवत्त्वासम्भवात् । न च स दीर्घायुष्ट्वमैश्वर्यं वा वर्धयन् दृश्यत उत्तमगुणको जनोऽपि । न चेन्द्रपदमैश्वर्यपरम्, 'ऋज्रेन्द्राग्र' (उ० २।२९) इति सूत्रे 'इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति इन्द्रः' इति स्वव्याख्यानविरोधात् । न च कश्चिज्जीवो जीवे इन्द्रियं भगमायुश्च धारयितुं शक्नोति । ईश्वरस्तु कर्मानुसारेण देहवदिन्द्रियादिकमपि विदधाति । नापि च द्विपदा च्छन्दसा कश्चिदिन्द्रियादिकं विरचयन् दृश्यते ॥ ४३ ॥

देवं बर्हिर्वारितीनां देवमिन्द्रं वयोधसं देवं देवमवर्धयत् । ककुभा छन्दसेन्द्रियं यश इन्द्रे वयो दधद् वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—जल से उत्पन्न औषधियों में दीप्तिमान् कुशा की अधिष्ठात्री देवता ने ककुप् छन्द के द्वारा कीर्तिरूप इन्द्रिय-बल और आयु को यजमान में स्थापित कर दीप्तिमान् आयुदाता इन्द्र के बल को बढ़ाया था । यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिये इन्द्र घृतपान करें । हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ४४ ॥

ब्राह्मी बृहती। यद् देवं श्रेष्ठं बर्हिर्देवं द्युस्थानमिन्द्रं वयोधसमायुषो धारयितारं देवं दानादिगुणयुक्त-मवर्धयत्। कीदृशं बर्हिः ? वारितीनां देवं वार्भ्योऽद्भ्यः इतीनामुद्गतानामोषधीनां मध्ये देवं श्रेष्ठम्। यद्वा वार्भ्यः सकाशादितिरुत्पत्तिर्यासां तासां वारितीनां मध्ये श्रेष्ठम्। तत्ककुभा छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं यशो वय आयुश्चेन्द्रे दधद् धारयत् वसुवननाय वसुधानाय च वेतु। हे होतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे–देवं दिव्यं बर्हि वारितीनामोषधीनां श्रेष्ठं देवमिन्द्रं जीवमवर्धयत्, प्रोक्षणादिसंस्काराधानेनोपबृंहयत्, तद्वसुवननाय वसुधानाय च इन्द्रे ककुभा च्छन्दसा इन्द्रियादिकं दधद् वेतु पिबतु। हे होतः, त्वमपि यज।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वारितीनां देवं बर्हिर्वयोधसं देवमिन्द्रं देवं देवं चावर्धयत्, ककुभा छन्दसा इन्द्रे यश इन्द्रियं वेतु, तथा वसुधेयस्य वसुवने वयो दधद् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जडजले उक्तानुक्तविवेकाभावेन वर्धनासम्भवात्, अविशेषेणान्तरिक्षनिपतितजलस्य सर्ववर्धकत्वदर्शनाच्च। न च तदिन्द्रियादिकमिन्द्र आधातुं समर्थम्, जडत्वादेव ॥ ४४ ॥

देवो अग्निः स्विष्टकृद् देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्धयत्। अतिच्छन्दसा छन्दसेन्द्रियं क्षत्रमिन्द्रे वयो दधद् वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—दानशील, शुभकर्ता देवता अग्नि ने अतिच्छन्द नामक छन्द के द्वारा क्षत से त्राणरूप इन्द्रिय-बल और आयु को यजमान में स्थापित कर दीप्तिमान् आयुदाता इन्द्र के बल को बढ़ाया था। यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिये इन्द्र घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ४५ ॥

ब्राह्मी बृहती। देवो दाता द्युस्थानो वा अग्निः स्विष्टकृत्, साधु इष्टं कर्तव्यमिति यस्यायमधिकारः स स्विष्टकृत्, देवं द्युस्थानमिन्द्रं वयोधसमायुषो धारयितारं देवो दीप्तो देवं दीप्तमवर्धयत्, अतिच्छन्दसा छन्दसा स इदानीमिन्द्रियं वीर्यं क्षत्रं क्षतात् प्रहारात् त्राणरूपं वय आयुश्च इन्द्रे दधद् वसुवननाय वसुधानाय च वेतु, यज।

अध्यात्मपक्षे–देवोऽग्निः स्विष्टकृद् वयोधसमायुषो धारयितारं देवं दीप्तं जीवात्मानमवर्धयत्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा स्विष्टकृद् देवोऽग्निर्वयोधसमिन्द्रं देवो देवमिवावर्धयत्, अतिच्छन्दसा छन्दसेन्द्रे वसुधेयस्य वसुवने वयः क्षत्रमिन्द्रियं दधत् सन् वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कर्ममीमांसाप्रसिद्धस्विष्टकृद्यागानभिज्ञानमूलत्वात्। अतिच्छन्दसा छन्दसा ह्लादकरेणेत्यपि निर्मूलम्, गौणार्थाश्रयणात् ॥ ४५ ॥

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन् पक्तीः पचन् पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय वयोधसे छागम्। सूपस्था अद्य देवो वनस्पतिरभवदिन्द्राय वयोधसे छागेन। अघत्तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीदवीवृधत् पुरोडाशेन। त्वामद्य ऋषे० ॥ ४६ ॥

इत्यष्टाविंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ –इस यजमान ने आज पकाने के योग्य हवियों को पकाते हुए पुरोडाशों को भी पकाया। इसने इन्द्र के लिये छाग को आगे किया। आज पशुपोषक वनस्पति देवता छाग को वृद्धि का आशीर्वाद देने के लिये आये हैं, इसलिये इन्द्र के निमित्त छाग का पुरोडाश बनाया जाता है, इन्द्र के लिये, पशुओं की मेदा की वृद्धि के लिये आहुति दी गई है। इसी प्रकार हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ ४६ ॥

अग्निमद्येत्येकाधिका ब्राह्मी त्रिष्टुप्। सूपस्था इति ब्राह्मी अनुष्टुप्। एते व्याख्याते त्रयोविंश्यामस्मिन्नेवाध्याये। त्वामद्येति प्रतीकोक्त एकविंशेऽन्तिमकण्डिकायां पठितः सर्वोऽपि मन्त्रोऽत्र पाठ्यः, 'इन्द्राय वयोधसे' इति विशेष इत्युव्वटमहीधरावाचार्यौ।

इति वेदार्थपारिजाताख्यभाष्यमण्डितायां शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायाम्

अष्टाविंशोऽध्यायः ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत्पिन्वमानः ।
वाजी वहन् वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमा सधस्थम् ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे जातप्रज्ञान, वेगवान्, अति-दीप्त अग्निदेव ! आप मनुष्य की बुद्धि के रहस्य को प्रकाशित करते हुए, स्वादु घृत को देवताओं के निमित्त सींचते हुए, हवि को देवताओं तक पहुँचाते हुए उनसे हमें वांछित फल और प्रीति दिलावें ॥ १ ॥

आश्वमेधिकोऽध्यायः । प्रजापतिर्ऋषिः । आद्या आप्रीसंज्ञा एकादश त्रिष्टुभः, अश्वस्तुतयो वामदेवपुत्रेण बृहदुक्थेन समुद्रपुत्रेणाश्वेन वा दृष्टाः, 'बृहदुक्थो वामदेव्यो ददर्शाश्वो वा सामुद्रिः' इति सर्वानुक्रमवचनात्, समित्तनूनपादिडादिदेवताकाः । हे भगवन्नग्ने, हे जातवेदो जातप्रज्ञान ! त्वं देवानां सधस्थं सह तिष्ठन्ति यत्र तत् सधस्थं सहस्थानं प्रति प्रियं प्रीतिमावक्षि आवह, देवान् प्रीणयेत्यर्थः । वहतेः शपो लुकि मध्यमैकवचने रूपम् । कथम्भूतस्त्वम् ? समिद्धः सन्दीप्तः । मतीनां बुद्धीनां कृदरमुदरम्, रहस्यमिति यावत्, अञ्जन् व्यक्तीकुर्वन् । मधुमद् मधुस्वादुयुक्तं घृतं पिन्वमान आत्मानं प्रति सिञ्चन् स्वेच्छया पिबन्, देवेषु वा सिञ्चन् । वाजी वजतीति, 'वज गतौ' भौवादिकः, गतिमान् । वाजिनं हविर्वहन् देवान् प्रापयन् सन् देवानां प्रीतिमावहेति सम्बन्धः । आज्ये हि सर्वासां देवतानां मनांसीदं मे स्यादिदं मे स्यादित्येवंप्रायाणि भवन्ति ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् परमेश्वर, हे जातवेदः सर्वज्ञ, त्वं देवानां सधस्थं सहस्थानं प्रति प्रियं प्रीतिमावक्षि, सर्वेश्वर एव सर्वान् प्रीणयतीति भावः, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७।१) इति श्रुतेः । स एव च मतीनामुदरमनक्ति बुद्धिरहस्यं प्रकाशयति, सर्वसाक्षित्वात् सर्वान्तर्यामित्वाच्च । स एव सोपाधिकः सन् चलति, 'तदेजति' (ईशा० ५) इति श्रुतेः । शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदोऽग्ने विद्वन्, यथा समिद्धो अञ्जन्नग्निर्मतीनां मधुमद् घृतं पिन्वमानो वाजिनं वाजी वहन्निव देवानां सधस्थमावहति, तथा प्रियं वक्षि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, समिद्धोऽग्निर्मतीनां मनुष्याणां कृदरमुदरं मधुमद् घृतं च कथं सेवत इत्यनुक्तेः, वाजिनं वहन् चालयन्नित्यसङ्गतेश्च । वाजी मनुष्यं वहतीति प्रसिद्धम्, नहि वेगवानपि मनुष्यो वाजिनं वहति ॥ १ ॥

घृतेनाञ्जन्त्सम्पथो देवयानान् प्रजानन् वाज्यप्येतु देवान् ।
अनु त्वा सप्ते प्रदिशः सचन्ताᳬं स्वधामस्मै यजमानाय धेहि ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—अश्व घृत की सहायता से देवयान मार्ग को प्रकाशित करता हुआ देवताओं की हवि को पहचान कर उन तक पहुँचाता है । हे अश्व ! दिशाओं में रहने वाले प्राणी तुम्हारी सेवा करें, तुम इस यजमान के निमित्त अन्न प्राप्त कराओ ॥ २ ॥

प्रथमोऽर्धर्चः परोक्षकृतः, उत्तरः प्रत्यक्षकृतः । तयोरेकवाक्यतासिद्ध्यर्थं पुरुषव्यत्ययः । वाजी अश्वो देवानप्येतु अभ्यागच्छतु देवान् । कथम्भूतोऽश्वः ? घृतेन देवयानान् पथः समञ्जन् । देवा यायन्ते यैस्ते देवयानाः

पन्थानो हवींषि, तैर्हि ते जीवन्ति। देवयानान् पथः प्रजानन् देवानां हविरहमिति जानन्। एवं परोक्षमुक्त्वा प्रत्यक्षमाह –हे सप्ते अश्व, प्रदिशो दिगाश्रयाणि भूतानि त्वामनुसचन्ताम् अनुसेवन्ताम्, 'षच् समवाये'। सपति कर्मणा समवैतीति सप्तिः, 'षप् समवाये' तत्सम्बुद्धौ, अस्मै यजमानाय स्वधामन्नं धेहि प्रयच्छ। अत्र घृतशब्द-स्तनूनपाच्छब्दपर्याय इत्युव्वटाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—हे सप्ते, सपति कर्मणा समवैतीति सप्तिस्तत्सम्बुद्धौ, हे अश्व जीवात्मन्, भवान् घृतेन देवयानान् पथो देवानां हविरहमिति प्रजानन् देवानप्येतु अभ्यागच्छतु। हे सप्ते, कर्मणा सम्बद्ध ! प्रदिशो दिगाश्रयाणि भूतानि त्वामनु सचन्ताम्। अस्मै यजमानाय स्वधामन्नं धेहि।

दयानन्दस्तु 'हे सप्ते, अश्व इव वर्तमान विद्वन् ! यथा वाज्यप्यग्निर्घृतेनाञ्जन् देवयानान् पथः समेतु, तं प्रजानन् सन् त्वं देवानेहि, येन त्वानु प्रदिशः सचन्ताम्। त्वमस्मै यजमानाय स्वधां धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यज्ञकर्त्रे स्वधाधारणप्रयत्नस्य निष्फलत्वेनायुक्तत्वात्, त्वद्रीत्या व्याख्याने तु सिद्धसाधनत्वेन यजमानाय स्वधा-दानानुपपत्तेश्च ॥ २ ॥

ईड्यश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्नाशुश्चासि मेध्यश्च सप्ते।
अग्निष्ट्वा देवैर्वसुभिः सजोषाः प्रीतं वह्निं वहतु जातवेदाः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ–हे वेगवान् अश्व ! तुम स्तुतियोग्य और नमनीय हो, शीघ्र हो अश्वमेध यज्ञ के योग्य बनो। वसु देवताओं के साथ प्रीतिमान् सर्वज्ञ अग्नि तुम्हें हवियों के धारक तुष्ट देव के निमित्त अर्पित करें ॥ ३ ॥

हे वाजिन् सप्ते, यस्त्वमीड्य ईडितुं स्तोतुं योग्यो वन्द्यो वन्दनीयश्चासि, आशुश्च शीघ्रश्चासि, मेध्यो मेधार्हो मेधाय अश्वमेधाय योग्यः, यज्ञसम्पादी चासि। चकाराः समुच्चयार्थाः। किञ्च, जातवेदा अग्निस्त्वा त्वां वहतु देवान् प्रापयतु। कीदृशोऽग्निः ? वसुभिर्देवैः सजोषा जोषसा सहितः। कीदृशं त्वाम् ? प्रीतं तुष्टं वह्निं हविषो वोढारम्।

अध्यात्मपक्षे—हे वाजिन् ! गतिशीलजीवात्मन्, स्वधर्मनिष्ठत्वात् त्वमीड्यो वन्द्यश्चासि। आशुः शीघ्र-क्रियाकुशलः, मेधार्हो यज्ञार्हश्चासि। जातवेदाः सर्वज्ञोऽग्निः परमेश्वरस्त्वां वहतु देवान् प्रापयतु। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन् ! सप्ते शिल्पिन् विद्वन्, यतो जातवेदाः सजोषाः सन् भवान् वसुभिर्देवैः सह प्रीतं वह्निं वहतु, यं च त्वामग्निर्वहतु, तस्मात् त्वमीड्यश्चासि वन्द्यश्च, आशुश्चासि मेध्यश्चासि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निकर्तृकजीववहनाप्रसिद्धेः, गौणार्थाश्रयणाच्च ॥ ३ ॥

स्तीर्णं बर्हिः सुष्टरीमा जुषाणोरु पृथु प्रथमानं पृथिव्याम्।
देवेभिर्युक्तमदितिः सजोषाः स्योनं कृण्वाना सुविते दधातु ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हम कुशाओं को भली प्रकार से बिछाते हैं, प्रीतियुक्त सुख देने वाली अदिति देवी अतिविस्तीर्ण इस पृथ्वी पर फैलाई हुई कुशाओं को, जिन पर कि देवता विराजमान हैं, शुभ कर्म के निमित्त यज्ञ-गृह में स्थापित करते हैं ॥ ४ ॥

वयं स्तीर्णं वेद्यामास्तीर्णमपि बर्हिर्दर्भान् सुष्टरीम सु सुष्ठु स्तरीम स्तृणाम। अदितिर्देवी स्तीर्णं तद्बर्हि सुविते सु इते साधु गते स्वर्गलोके दधातु स्थापयतु। कथम्भूता अदितिः? सजोषाः, जोषसा प्रीत्या युक्ता। स्योनं सुखं कृण्वाना कुर्वती, आजुषाणा आप्रीयमाणा। कीदृशं बर्हिः? उरु बहु पृथु विस्तीर्णम्, पृथिव्यां प्रथमानं विस्तार्यमाणम्, देवेभिर्देवैर्युक्तं सहितम्।

अध्यात्मपक्षे—स्तीर्णं बर्हिर्वयं सुष्टरीम साधु स्तरीम स्तृणाम, देवानां यजनायेत्यर्थः। अदितिरखण्डनीया निर्गुणा निर्विशेषा सविशेषा चितिर्देवी दीव्यमाना तद् बर्हिः सुविते साधु गते स्वर्गलोके दधातु स्थापयतु। कीदृशी सा? सजोषाः, जोषसा प्रीत्या युक्ता, स्योनं सुखं कृण्वाना कुर्वती, आजुषाणा सर्वतोभावेन प्रीयमाणा, तस्या एव कर्मविधायकत्वेन विशेषणानां तत्रैव सामञ्जस्यात्, 'निजाज्ञारूपनिगमा पुण्यापुण्यफलप्रदा' इति ललितासहस्रनामोक्तेः। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, वयं यथा पृथिव्यामुरु पृथु प्रथमानं स्तीर्णं बर्हिर्जुषा सजोषा देवेभिर्युक्तं स्योनं कृण्वानाऽदितिर्विद्युत् सर्वसुविते दधातु, तां सुष्टरीम तथा त्वं प्रयतस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तीर्णमिति बर्हिःपदेन यानग्रहणे बीजाभावात्, बर्हिःपदप्रसिद्धार्थस्य दर्भस्य त्यागे मानाभावाच्च। तथैव देवेभिर्दिव्यैः पदार्थैरिति व्याख्यानमपि निर्मूलमेव, न चानाशित्वेन विद्युतोऽदितित्वम्, तस्या नाशदर्शनात्॥ ४॥

एता उ वः सुभगा विश्वरूपा विपक्षोभिः श्रयमाणा उदातैः।
ऋष्वाः सतीः कवषः शुम्भमाना द्वारो देवीः सुप्रायणा भवन्तु॥ ५॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विक्गण और यजमानों, तुम्हारी ये द्वारदेवियाँ सुन्दर शोभा से युक्त, नानारूप चित्र-विचित्र ऊँचे उठे हुए पक्षरूप कपाटों से विस्तारयुक्त, गतियोग्य, श्रेष्ठ, खोलने और बन्द करने के समय शब्द करने वाली शोभायमान और सुगम हों॥ ५॥

हे ऋत्विग्यजमानाः, वो युष्माकम् एता उ द्वारो यज्ञगृहद्वारो देवीर्देव्यः सुभगा शोभनं भगं श्रीर्यासां ताः, विश्वरूपा नानारूपचित्राः पक्षोभिः पक्षैः, सान्तः पक्षस्शब्दः पक्षवाची, पक्षप्रायैः कपाटैर्विश्रयमाणा विस्तार्यमाणा भवन्तु। कीदृशैः पक्षैः? उदातैः, अत्यन्ते विस्तार्यन्त इत्याताः, 'अत सातत्यगमने', उद् ऊर्ध्वम् आता उदाताः, तैरूर्ध्वं प्रसृतैरूर्ध्वं सततमायतैर्वा। कीदृश्यो द्वारः? ऋष्वाः, ऋषन्ति इतस्ततो गच्छन्तीति, 'ऋषी गतौ' तौदादिकः, ऋष्वा महत्यः, 'ऋष्व इति महन्नाम' (निघ० ३।३।३)। सतीः सत्यः समीचीनाः। कवषः कुवन्ति शब्दं कुर्वन्ति कपाटपिधानसमय इति कवषः, असुन्नौणादिकः, षत्वमार्षम्। ससुषिरा वा। शुम्भमानाः शोभमानाः, सुप्रायणाः सु सुखेन अनायासेन प्रकृष्टमयनं गमनं यासु ताः। एवंविधा देव्यो दीव्यमाना यज्ञगृहद्वारो भवन्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे साधकाः, वो युष्माकमीदृश्यो भगवत्पदप्राप्तिकारिण्यो द्वारो भवन्तु। कीदृश्यः? सुभगाः परमसौभाग्यशालिन्यः, परमसौभाग्यमूलभगवत्पदप्राप्तिहेतुत्वात्। विश्वरूपा विविधरूपचित्रिताः, उदातैरूर्ध्वसातत्योपेतगतियुक्तैः, पक्षोभिः पक्षप्रायैः कपाटैः, विश्रयमाणा विस्तार्यमाणाः, ऋष्वा महत्यः, ससुषिराः शुम्भमानाः शोभमानाः सुप्रायणा भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा व एताः सुभगा विश्वरूपा ऋष्वाः कवषाः शुम्भमानाः सतीर्देवीर्द्वार उदातैः पक्षोभिः श्रयमाणाः पक्षिपङ्क्तय इव सुप्रायणा विभवन्तु, तादृशीरु भवन्तो रचयन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विभक्ते रचनार्थकत्वे मानाभावात्॥ ५॥

अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानामभिसंविदाने ।
उषासा वाᳩ सुहिरण्ये सुशिल्पे ऋतस्य योनाविह सादयामि ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे पत्नी और यजमान, तुम दोनों के बीच में इस पृथ्वीलोक और स्वर्गलोक के मध्य में विचरने वाली, अग्निहोत्र के होमकाल को बताने वाली, अच्छी ज्योति से युक्त, परस्पर समान रूप वाली उषा और रात्रि को यज्ञ में स्थापित करता हूँ ॥ ६ ॥

हे दम्पती यजमानौ, वां युवयोर्ऋतस्य यज्ञस्य योनौ गृहे इह उषासा उषसौ नक्तोषसौ, द्विवचनात् सहचरितत्वाच्च द्वितीया रात्रिः, सादयामि स्थापयामि । कीदृश्यौ नक्तोषसौ ? मित्रावरुणा मित्रावरुणौ अन्तरा द्यावापृथिव्योरन्तरे सञ्चरन्ती सञ्चरन्त्यौ, 'अयं वै लोको मित्रोऽसौ वरुणः' (श० १२।९।२।१२) इति श्रुतेः, यज्ञानां मुखमग्निहोत्रहोमकालम् अभिसंविदाने प्रकथयन्त्यौ, उत्तिष्ठताम् । अयमग्निहोत्रहोमकाल इति प्रार्तविप्रा वदन्ति, तदुषस्युपचर्यते । सुहिरण्ये सु साधु हिरण्यं हिरण्मयं ज्योतिर्ययोस्ते । सुशिल्पे अन्योन्यं प्रतिरूपे, 'यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्' (श० ३।२।१।५) इति श्रुतेः ।

अध्यात्मपक्षे—हे दिव्यदम्पती ! सीतारामौ रुक्मिणीकृष्णौ, वां युवयोरिह ऋतस्य यज्ञस्य योनौ गृहे उषासा नक्तोषसौ सादयामि । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे दिव्यशिल्पविद्याप्रचारकौ, यथाहमन्तरा मित्रावरुणौ चरन्ती प्राप्नुवन्त्यौ यज्ञानां सङ्गन्तव्यानां मुखमभिसंविदाने सुहिरण्ये सुशिल्पे उषासा ऋतस्य योनाविह सादयामि, तथा मह्यं स्थापयेतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, द्विवचनान्तत्वस्य स्वारस्यानुपपत्तेश्च । सङ्गमनीयाः के पदार्थाः ? किञ्च तेषां मुखम् ? कश्च तस्य ताभ्यां सम्बन्धः ? कीदृशं च तयोः शिल्पमित्याद्यनुक्तेश्च ॥ ६ ॥

प्रथमा वाᳩ सरथिना सुवर्णा देवौ पश्यन्तौ भुवनानि विश्वा ।
अपिप्रयं चोदना वां मिमाना होतारा ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे पत्नी और यजमान, तुम दोनों के बीच में एक रथ पर आरूढ़ सुन्दर वर्ण वाले दीप्यमान, सब भुवनों के द्रष्टा, तुम दोनों के कर्मों का निर्माण करने वाले और उपदेश द्वारा ब्रह्मज्योति का दर्शन कराने वाले दोनों होताओं को मैंने तृप्त किया है ॥ ७ ॥

हे यजमानौ दम्पती, वां युवयोर्यौ प्रथमौ मुख्यौ होतारौ, अयं चाग्निरसौ च मध्यम इति तौ, अहमपिप्रयं प्रीणितवानस्मि, प्रीणातेर्णिजन्तस्य लुङि उत्तमैकत्वे रूपम् । कीदृशौ होतारौ ? सरथिना सरथिनौ, समानो रथः सरथः, सरथोऽस्ति ययोस्तौ, एकरथारूढौ । सुवर्णा सुवर्णौ सु सुष्ठु वर्णो द्युतिर्ययोस्तौ शोभनवर्णौ । देवौ दीप्यमानौ दानादिगुणयुक्तौ वा । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि पश्यन्तौ साक्षितयाऽवलोकयन्तौ वां युवयोश्चोदना चोदनानि चोदनाप्रमाणकानि कर्माणि मिमाना निर्मिमाणौ प्रदिशा प्रदेशेनाभिनयेन ज्योतिराहवनीयाख्यं यष्टव्यमिति दिशन्तौ दर्शयन्तौ ।

अध्यात्मपक्षे—हे दिव्यदम्पती यजमानौ सीतारामौ रुक्मिणीकृष्णौ, वां युवयोर्होतारौ अग्निवायुतुल्यौ दवानामाह्वातारौ, अहम् अपिप्रयं प्रीणितवानस्मि । कीदृशौ तौ ? प्रथमौ मुख्यौ समानरथारूढौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ बुद्धिजीवात्मानौ, पुरञ्जनपुरञ्जनीरूपौ वा सम्बोधनीयौ । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिनौ ! यौ प्रथमौ सरथिनौ विश्वा भुवनानि पश्यन्तौ वां चोदनानि मिमाना ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता होतारा देवौ विद्वांसौ कुर्याताम्, यथा त्वमहमपिप्रयं तथा वां युवां तौ प्राप्नुतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे द्वौ विद्यार्थिनाविति द्विवचनस्य स्वारस्यानिरूपणात्। 'यौ प्रथमौ' इत्यत्रापि द्विवचनस्य मूलं चिन्त्यम्। न च द्वौ मानुषौ विद्वांसौ विश्वानि भुवनानि पश्यतः, जीवमात्रस्य अल्पज्ञत्वात्। सुतयोः शोभनवर्णत्वमपि क्वोपयुज्यते। भावार्थस्तु सर्वथा मन्त्राक्षरसम्बन्धशून्य एवेत्युपेक्षणीय एव ॥ ७ ॥

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञꣳ सरस्वती सह रुद्रैर्न आवीत्।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—आदित्यों से युक्त भारती देवी हमारे यज्ञ को चाहे। आह्वान की हुई प्रीतियुक्त सरस्वती और इड़ा देवी वसु और रुद्रों के साथ हमारे यज्ञ की रक्षा करें। हे भारती, सरस्वती और इड़ा देवियों! आप सब हमारे इस यज्ञ को देवताओं में स्थापित करें ॥ ८ ॥

अत्र त्रयः पादाः परोक्षकृताः, चतुर्थः पादः प्रत्यक्षकृतः। न चैवं सामञ्जस्यम्, अतश्चतुर्थस्य पादस्य सन्ततिः, प्राधान्यमिति यावत्। प्रथितं हि प्रथमपुरुषापेक्षया युष्मदर्थस्य प्राधान्यम्, 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' (पा० सू० १।२।७२) इति सूत्रे, 'शेषे प्रथमः' (पा० सू० १।४।१०८) इति सूत्रे भाष्ये च। फलतः पुरुषव्यत्ययः। आदित्यैः सहिता भारती नोऽस्माकं यज्ञं वष्टु कामयताम्। रुद्रैः सह सहिता सरस्वती नोऽस्माकं यज्ञमावीद् अवतु। अथवा नोऽस्मान् आवीद् अवतु। इडा चोपहूता कृतोपह्वाना वसुभिर्देवैः सजोषा प्रीतियुता अस्माकं यज्ञमावीत्। एवमनेन प्रकारेण नोऽस्माकं यज्ञं तिस्रो देवीर्देव्यो भारतीसरस्वतीडा अमृतेषु देवेषु धत्त दधतु, पुरुषव्यत्ययः। अथवा परोक्षीकृत्य स्तुतास्ता इदानीं प्रत्यक्षीकृत्य आह—हे तिस्रो देव्यः, नोऽस्माकं यज्ञं यूयममृतेषु देवेषु धत्त स्थापयत।

अध्यात्मपक्षे—आदित्यैः सहिता भारती नोऽस्माकं यज्ञं परमात्मना सङ्गमनं तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं वष्टु कामयताम्। अन्यत् सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, भवान् य आदित्यैरुपदिष्टा उपहूता भारती नो यज्ञं सम्पादयति, तया सह नोऽस्मान् वष्टु। या रुद्रैरुपदिष्टा सरस्वती नोऽस्मानावीत्, या सजोषा इडा वसुभिरुपदिष्टा सती यज्ञं साध्नोति, हे जनास्ता देवीरस्मानमृतेषु दध्युस्ता यूयमस्मभ्यं धत्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रत्यक्षसम्बन्धमुत्सृज्य दूरसम्बन्धकल्पनायाः प्रमाणशून्यत्वात्। उपदिष्टेति पदमपि निर्मूलम्, मन्त्रबाह्यत्वात्। आदित्यादिपदानामपि प्रसिद्धमर्थमपहाय गौणार्थकल्पनं निर्मूलमेव ॥ ८ ॥

त्वष्टा वीरं देवकामं जजान त्वष्टुरर्वा जायत आशुरश्वः।
त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्तारमिह यक्षि होतः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—त्वष्टा देव ने देवताओं के प्रार्थनीय वीर पुत्र को प्रकट किया, त्वष्टा से ही दिशाओं में व्याप्त गतिशील सूर्य प्रकट हुए और परमात्मा त्वष्टा देव ने ही इस भुवन को उत्पन्न किया है। हे मनुष्य होता, सभी कार्यों के कर्ता परमात्मा का इस यज्ञ में यजन करो ॥ ९ ॥

यस्त्वष्टा वीरं पुत्रं देवकामं देवान् कामयत इति देवकामस्तम् ऋणत्रयापाकरणसमर्थम्, जजान जनयति, यस्माच्च त्वष्टुः सकाशाद् अर्वा, ऋच्छतीत्यर्वा अरणः, अथवा इयर्तीत्यर्वा, 'स्नामदिपद्यर्तिपृशकिभ्यो वनिप्' (उ० ४।११४) इति वनिप्। आशुः, अश्नुते दिशो व्याप्नोतीति, अश्नाति भक्षयति वेत्याशुः शीघ्रोऽश्वः, जायत इति शेषः। यश्च त्वष्टा इदं विश्वं भुवनं भूतजातं जजान जनयति, तं त्वष्टारं बहोर्भूतग्रामस्य कर्तारमिह यज्ञे हे होतस्त्वं यक्षि यज।

अध्यात्मपक्षे—यश्च त्वष्टा दीप्तिमान् स्वप्रकाशः परमात्मा जगत्स्रष्टा वीरं पुत्रं हिरण्यगर्भं देवकामम्, देवैः काम्यत इति देवकामस्तम्, जजान जनयति, यस्माच्च त्वष्टुरश्वोऽश्वमेधीयो जायते, स चार्वा आशुश्च। यश्च इदं विश्वं सर्वं भुवनं जजान, तं बहोः कर्तारं हे होतः, त्वं कर्मभूमौ इह यक्षि यज।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, त्वं यथा त्वष्टा विद्वान् देवकामं वीरं जजान, यथा त्वष्टुराशुरर्वाऽश्वो जायते, यथा त्वष्टा देवो विश्वं भुवनं जजान, तं बहोः कर्तारमिह यक्षि, तथा वयमपि कुर्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वष्टा विद्यादिसद्गुणैः प्रकाशमानः, त्वष्टुः प्रदीप्तच्छिक्षमाणम्, त्वष्टा स्वात्मप्रकाशित इत्याद्यर्थानां गौणार्थाश्रयणमूलत्वेनायुक्तत्वात्, रूढेर्योगापहाराच्च ॥ ९ ॥

अश्वो घृतेन त्मन्या समक्त उप देवाँ२॥ ऋतुशः पाथ एतु।

वनस्पतिर्देवलोकं प्रजानन्नग्निना हव्या स्वदितानि वक्षत् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—घृतरूपी देह से पत्नियों के द्वारा सींचा हुआ अन्नरूप हवि यज्ञकाल पर देवताओं को प्राप्त हो। देवलोक को जानने वाला वनस्पति देवता अग्नि से आस्वादित हवियों को देवताओं को प्राप्त करावे ॥ १० ॥

योऽश्वः पत्नीभिर्घृतेन त्मन्या आत्मना, आत्मन्शब्दात् तृतीयाविभक्तेर्यादेशे 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा० सू० ६।४।१४१) इत्याकारलोपे रूपम्। स्वयमेव समक्तः समुक्षितो देवान् प्रति उप एतु उपगच्छतु। ऋतुश ऋतौ ऋतौ काले काले पाथोऽन्नं भूत्वा, पाथ इत्यन्ननामसु (निघ० ४।३।३०)। ननु कथं देवलोकमजानन् देवान् प्रति गच्छत्विति चेत्तत्राह—वनस्पतिर्यूपो देवो देवलोकं प्रजानन् विदन्, अश्वस्य दर्शयत्विति शेषः। यद्वा वनस्पतिर्देवो हव्या हव्यानि वक्षद् वहतु देवान् प्रति। कीदृशानि हव्यानि? अग्निना तन्मित्रेण स्वदितान्यास्वाद्य मिष्टीकृतानि।

अध्यात्मपक्षे—अश्वो व्यष्टिर्जीवः प्रजापतिरूपः पाथोऽन्नं भूत्वा देवान् प्रति एतु। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, देवलोकं प्रजानन् सन् यथा घृतेन संयोजितोऽश्वस्त्मन्या ऋतुशो देवान् समक्तः सन् पाथ उपैतु। अग्निना सह वनस्पतिः स्वदितानि हव्या वक्षत्तथा त्मना वर्तस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या देवानामपि मनुष्यत्वेन देवलोकशब्दार्थासङ्गतेः। यत्तु देवानां विदुषां लोकं दर्शकं व्यवहारं देवलोकमिति, तत्तु शाब्दिकानां व्यवहारविरुद्धत्वादुपेक्ष्यम्। ऋतुशो देवानुत्तमव्यवहारान् समक्तः सम्यक् प्रकटयन्नित्यपि क्लिष्टकल्पनमेव, प्रयोक्तृप्रतिपत्तृषु तादृशार्थे तदप्रसिद्धेः ॥ १० ॥

प्रजापतेस्तपसा वावृधानः सद्यो जातो दधिषे यज्ञमग्ने।

स्वाहाकृतेन हविषा पुरोगा याहि साध्या हविरदन्तु देवाः ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, प्रजापति के तप से वृद्धि को प्राप्त हुए आप अरणि-काष्ठ से सद्यः उत्पन्न होकर यज्ञ को धारण करते हैं। स्वाहाकार कह कर होमी हुई आहुति के साथ अग्रगामी होकर आप देवताओं को प्राप्त करें और आपके जाने से साध्यदेवता हवि को प्राप्त कर उसका भक्षण करें ॥ ११ ॥

हे अग्ने, यस्त्वं प्रजापतेस्तपसा वावृधानो वर्धमानः सद्यो जातोऽरण्योः सकाशादुत्पन्नो यज्ञं दधिषे धारयसि, लडर्थे लिट्, तं त्वां ब्रवीमि। स्वाहाकृतेन स्वाहाकारोपलक्षितेन स्वाहाकारमुक्त्वा हुतेन वा हविषा सह पुरोगाः पुरो गच्छतीति पुरोगाः, अग्रगामी सन् याहि देवान् गच्छ। त्वयि गते सति देवा हविरदन्तु भक्षयन्तु। कीदृशं हविः ? साध्या साधु श्रेष्ठम्। साधुशब्दात् विभक्तेः 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) इति ड्यादेशे टिलोपे रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, अग्रणीत्वात् सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर, त्वमग्निरूपेण सद्यो जातोऽरणिभ्यामुत्पन्नः प्रजापतेस्तपसा वावृधानो वर्धमानो यज्ञं दधिषे धारयसि, तदभावे देवयज्ञादिलोपापत्तेः। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं सद्यो जातः प्रजापतेस्तपसा वावृधानः स्वाहाकृतेन हविषा यज्ञं दधिषे। ये पुरोगाः साध्या देवा हविरदन्तु, तान् पाहि प्राप्नुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सद्योजातशब्दस्य सद्यः प्रसिद्धार्थत्वे मानाभावात्, सर्वस्यैव संसारस्य परमेश्वरप्रतापजन्यत्वेन मनुष्यविशेषस्यैव तथात्वे मानाभावात्। न च तपःशब्दस्य प्रतापार्थता प्रसिद्धा, कृच्छ्रचान्द्रायणादौ मनोनिग्रहादौ च तत्प्रसिद्धेः। न च स्वाहाशब्दस्य संस्कारक्रियार्थता च प्रसिद्धा। न च वायुशुद्ध्यर्थं कृतस्य होमस्य यज्ञत्वम्, तस्याऽन्यथाप्युपपन्नत्वात्। त्वद्रीत्या विद्वांसो मनुष्या एव देवाः। मनुष्याणां च भोजनवदेव तेषां भोजनमपि, तेषां हविर्भोक्तृत्वे विशेषायोगात्॥ ११॥

यदक्र॑न्दः प्रथ॒मं जाय॑मान उ॒द्यन्त्स॑मु॒द्रादु॒त वा॒ पुरी॑षात्।
श्ये॒नस्य॑ प॒क्षा ह॑रि॒णस्य॑ बा॒हू उ॑प॒स्तुत्यं॒ महि॑ जा॒तं ते॑ अर्वन्॥ १२॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, जब तुमने प्रथमतः समुद्र से उच्चैःश्रवा के रूप में उत्पन्न होकर अथवा पशु योनि में उत्पन्न होकर हेषा शब्द किया, तब तुम्हारा माहात्म्य स्तुतियोग्य हुआ, जिस तरह से कि श्येन के पक्ष शौर्य से और हरिण की भुजाएँ वेग से स्तुतियोग्य होती हैं॥ १२॥

त्रयोदश अश्वस्तुतिरूपास्त्रिष्टुभो भार्गवेण जमदग्निना दीर्घतमसा च दृष्टाः, अश्वस्तुतौ विनियुक्ताः। हे अर्वन् अश्व, यद् यदा प्रथमं जायमानस्त्वमक्रन्दः, ह्रेषाशब्दमकार्षीः, तदा ते तव महि माहात्म्यमुपस्तुत्यमुपसङ्गम्य स्तुत्यं स्तवनीयमृषिभिर्जातम्। यच्च समुद्राद् अन्तरिक्षलोकात् पार्थिवाद्वा समुद्रात्, उत वा अपि च पुरीषाद् अन्यस्माद्वा जलसङ्घात् पशोर्वा उद्यन् उद्गच्छन् अक्रन्दः, तदा श्येनस्य पक्षा पक्षौ शीघ्रतया अजैषीः, हरिणस्य बाहू शीघ्रतया, अजैषीरिति शेषः। यद्वा अनेन क्रन्दनेन श्येनस्य पक्षौ शौर्येण हरिणस्य बाहू वेगेन, जिताविति शेषः। कीदृशस्त्वम् ? समुद्राद् अन्तरिक्षलोकाद् उदधेर्वा प्रथमं जायमानः, उत वा अथवा पुरीषात् पशोः सकाशात्, उद्यन् उत्पद्यमानः।

अध्यात्मपक्षे—हे अर्वन्! हे अश्व गतिशीलप्रजापते, यद् यदा त्वमक्रन्दः, प्रथमं जायमानः क्रन्दनं रोदनं कृतवानसि, तदा ते तव महि माहात्म्यमुपस्तुत्यं जातम्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—हे अर्वन् विद्वन्, यत् समुद्राद् अन्तरिक्षाद् उत अपि वा पुरीषात् पालकात् परमात्मनः प्रथमं जायमानो वायुरिव उद्यन् त्वमक्रन्दः शब्दं कुरुषे, तदा ते हरिणस्य बाहू श्येनस्य पक्षिणः पक्षाविव महि जातमुपस्तुत्यं भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथानुपलब्धेः। नहि सर्वो विद्वान् अश्ववेगो भवति, न वा अन्तरिक्षात् परमेश्वराद्वा जायमानो विद्वान् दृश्यते, मातुर्योनेरेव सर्वस्योत्पत्तिदर्शनात्। न च पुरीषशब्दस्य परमात्मनि वृत्तिर्दृश्यते। न च जायमानस्य बाहू श्येनस्य पक्षाविव बलवन्तौ दृश्येते, तद्वैपरीत्यस्यैव दर्शनात्॥१२॥

य॒मेन॑ द॒त्तं त्रि॒त एन॒माऽयु॑नग॒गिन्द्र॑ एणं प्रथ॒मो अध्य॑तिष्ठत्।
ग॒न्ध॒र्वो अ॑स्य र॒श॒नाम॑गृभ्णात् सू॒रा॒दश्वं॑ वसवो॒ निर॑तष्ट ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—आठ वसुओं ने सूर्यमण्डल से अश्व को निकाला, वायु ने यम के दिये हुए इस अश्व को जोता। पहला इन्द्र इस अश्व पर चढ़ा। विश्वावसु गन्धर्व ने इस अश्व की रस्सी को ग्रहण किया ॥ १३ ॥

हे वसवः, यूयं सूराद् आदित्यमण्डलाद् अश्वं निरतष्ट निष्कृष्य कृतवन्तः, तक्षतेः करोतौ वृत्तिः, तं यमेन दत्तमेनमश्वं त्रितस्त्रिस्थानो वायुः, आयुनग् युक्तवान्, युजेर्लङि 'छन्दस्यपि दृश्यते' (पा० सू० ६।४।७३) इत्याडागमे रूपम्। इन्द्रश्च एणमेनमश्वम्, णत्वं छान्दसम्, प्रथमोऽध्यतिष्ठद् आदावधिष्ठितवान्। गन्धर्वो विश्वावसुरस्य रशनामगृभ्णाद् गृहीतवान्।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापत्यात्मनाश्वः स्तूयते। वसवोऽष्टगणदेवाः सूरात् सूर्यमण्डलाद् एनमश्वं निरतष्ट निष्कृष्य कृतवन्तः, स्थूलप्रपञ्चविग्रहस्य विराज उत्पत्तौ पृथिव्यादीनामादित्यमण्डलस्य च हेतुत्वात्। यमेन दत्तमेनं त्रितस्त्रिस्थानो वायुः सूत्रात्मा आयुनग् युक्तवान्, इन्द्रश्चैनमधिष्ठितवान्, गन्धर्वश्चास्य रशनां गृहीतवान्।

दयानन्दस्तु—'हे वसवः, य इन्द्रस्त्रितो यमेन दत्तमेनमायुनक्, एनं प्राप्य प्रथमोऽध्यतिष्ठत्, गन्धर्वः सन्नस्य रशनामगृभ्णात्, अस्मात् सूरादश्वं निरतष्ट, तं यूयं विस्तारयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनेकाध्याहारमूलकत्वात्। न चेन्द्रो विद्युत् त्रितः पृथिवी जलाकाशेभ्यो जायते, तस्या अबिन्धनत्वप्रसिद्धेः। अत एव यमेन नियमकर्त्रा वायुना दत्तं कृतमित्यपि रिक्तं वचः, यमदत्तशब्दयोरर्थाननुगमात्। न च त्वद्रीत्या वायोर्जडस्य नियमकर्तृत्वं सम्भवति, नियमानां प्रेक्षावत्कर्तृकत्वात्। न चाग्निरिह प्रकृतः। न चेन्द्र इत्यनेन दत्तपदवाच्येनार्थेनाभेदसम्बन्धः, वैयधिकरण्यात्। प्रथमेति शब्दस्य विस्तीर्णं प्रख्यातं विद्युदिति व्याख्यानं तु जडवैयाकरणकृतव्याघ्रपदव्याख्यानमनुहरति। गन्धर्वो पृथिवीधारकोऽस्य सूर्यस्य रशनानां किरणानां गतिमगृभ्णादित्यपि यत्किञ्चित्। अस्येति पदस्य सूर्यः कथमर्थः ? तस्याप्रकृतत्वात्। पृथिवीधारकश्च कः ? रशनाशब्दस्य किरणानां गतिरर्थ इत्यपि निर्मूलम्। अश्वशब्दस्य शीघ्रगामी वायुरर्थ इत्यपि स्वाभ्यूहमात्रम्, निर्मूलत्वात् ॥ १३॥

असि॑ य॒मो अस्या॑दि॒त्यो अ॑र्व॒न्नसि॑ त्रि॒तो गुह्ये॑न व्र॒तेन॑।
असि॒ सोमे॑न स॒मया॒ विपृ॑क्त आहु॒स्ते॒ त्रीणि॑ दि॒वि बन्ध॑नानि ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, तुम गोप्य कर्म द्वारा यम हो, सूर्य हो और इन्द्र हो। सोम के साथ तुम एकत्व को प्राप्त हुए हो। आकाश में तीन ऋक्, यजुः और साम रूप मण्डल में रहने वाला पुरुष तुम्हारे बन्धन के रूप में स्थित है ॥ १४ ॥

हे अर्वन् गतिशीलाश्व, त्वं यमोऽसि भवसि, आदित्यश्चासि। तथा गुह्येन गूढेन व्रतेन कर्मणा त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रोऽसि। तथा सोमेन समया मध्यतो विपृक्तः सम्पृक्तः, एकीभूत इति यावत्, असि। एताभिर्देवताभिस्तव सायुज्यं जातमित्यभिप्रायः। किञ्च, ते तव दिवि द्युलोके आदित्यात्मना स्थितस्य त्रीणि ऋग्यजुःसामलक्षणानि मण्डलान्तरपुरुषार्चींषि त्रीणि बन्धनानि स्वरूपाणि बुधा आहुर्वदन्ति। यद्वा—सोमेन समया सह विपृक्तः सम्पृक्त एकीभूतोऽसि। एवं यमादिभिः सायुज्यं गतस्य तव दिवि नभस्यादित्यरूपेण स्थितस्य त्रीणि बन्धनानि बुधा आहुः। बध्यते संश्लिष्यन्त इति बन्धनानि स्वरूपाणि, ऋगात्मकं मण्डलं यजुरात्मकः पुरुषः सामात्मकान्यर्चींषि, 'यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थम्' (श० १०।५।२।१) इत्यादिश्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—नहि सामान्योऽश्वो यमादित्यसोमादिभिरेकीभूतः सम्भवति, तस्मात् संवत्सरकालात्मक-प्रजापतिरूप एवात्राश्वः स्तूयते। स एव यमादित्यादिभिरेकीभूतो भवति। स एव ऋग्यजुःसामात्मको भवति। स एव मण्डलपुरुषार्चीरूपोऽपि भवति।

दयानन्दस्तु—'हे अर्वन्, यतस्त्वं गुह्येन व्रतेन त्रितो यम इवास्यादित्य इवासि विद्वानिवासि सोमेन समया समीपे विपृक्तोऽसि, तस्य ते दिवि त्रीणि बन्धनान्याहुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यैव दोषत्वात्। न च मूले इवशब्दसम्पृक्ताः यमादयः सन्ति, येन यमतुल्य इत्यर्थः स्यात्। सम्पृक्ते(सम्बन्धे)नैव नैकट्यलाभे तदर्थं समयाशब्दप्रयोगस्यापार्थत्वात्। मनुष्ये कथञ्चित् त्रीणि बन्धनानि वक्तुं शक्यन्ते, न मनुष्यप्रकाशे ॥ १४ ॥

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, जहाँ तुम्हारे श्रेष्ठ जनक सूर्यदेव स्थित हैं, वहीं स्वर्ग में तुम्हारे पूर्वोक्त तीन बन्धन भी विद्यमान हैं। जल में तीन बन्धन कृषि, वर्षा और बीज के रूप में हैं। अन्तरिक्ष में तीन बन्धन मेघ, बिजली और गर्जन के रूप में हैं। वरुण और तुम दोनों मेरी प्रशंसा करते हो ॥ १५ ॥

हे अर्वन्, यत्र ते परमं जनित्रं जन्म बुधा आहुरादित्यरूपेण, तत्र ते तव त्रीणि बन्धनानि ऋग्यजुः-सामलक्षणानि। अप्सु उदकेषु त्रीणि बन्धनानि कृषिर्वृष्टिर्बीजमिति। अन्तःसमुद्रे अन्तरिक्षस्य मध्ये त्रीणि बन्धनानि मेघो विद्युद् अशनिरिति बन्धनानि रूपाणि सन्ति। उतेव उतापि च वरुणो वरुणरूपस्त्वं मां छंत्सि प्रशंससि, छन्दतिरर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४।२०), अर्चनं प्रशंसनम्, कर्मणि षष्ठी।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मकत्वात् प्रजापतेरेव दिवि उदके अन्तरिक्षे च त्रीणि त्रीणि रूपाण्युपपद्यन्ते नाश्वमात्रे। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे अर्वन्, यत्र दिवि ते त्रीणि बन्धनानि विद्वांस आहुर्यत्राप्सु त्रीणि यत्रान्तर्मध्ये समुद्रे च त्रीणि बन्धनान्याहुः, ते च परमं जनित्रमाहुः, येन वरुणः सन् विदुषश्छन्त्स्युतेव तानि मे सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकाशे बन्धनासम्भवात्। प्राणे जले समुद्रे च त्रीणि कानि बन्धनानीत्यप्यस्पष्टमेव। भावार्थस्तु दूरादप्यक्षराणि न स्पृशति ॥ १५ ॥

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानाᳪ सनितुर्निधाना।
अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, तुम्हारे अवमार्जन के साधन इन वैतस, कट आदि को मैं देखता हूँ। तुम्हारे खुरों के रखने से बने इन चिह्नों को मैं देखता हूँ। इस यज्ञ की रक्षा करने में तत्पर तुम्हारी इन कल्याणरूप रस्सियों को मैं देखता हूँ। ये ही रस्सियाँ यज्ञ की रक्षा करती हैं ॥ १६ ॥

हे वाजिन्, इमा इमानि ते तवावमार्जनानि, अवमार्ज्यते यैस्तानि नूतनवेतसकटप्रभृतीनि, अहमपश्यं पश्यामि। इमा इमानि शफानां खुराणां सनितुः संविभक्तुर्नियन्तुः पादवाससो निधाना निधानानि स्थानानि,

यत्र पादवासःप्रभृतीनि निधीयन्ते तानि, अपश्यं पश्यामि। अपि च, अत्र यज्ञे ते तव भद्राः स्तुत्या रशना मध्यबन्धनरज्जूरहमपश्यं पश्यामि। कीदृशीः ? गोपाः, गोपायन्तीति गोपास्ता अभिरक्षणकर्त्रीः, ऋतस्य ऋतं यज्ञमभिरक्षन्तीति, कर्मणि षष्ठी। 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति मन्त्रे दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—हे वाजिन्, प्रजापतिरूपाश्व ! इमा इमानि ते तवावमार्जनानि वेतसकटादीन्यपश्यं पश्यामि। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन्, यथाहं ते तवाश्वस्य मार्जनानि इमा शफानां सनितुर्निधानान्यपश्यम्, अत्र ते तवाश्वस्य या भद्रा गोपा रशना ऋतस्याभिरक्षन्ति ता अपश्यम्, तथा त्वं पश्य' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'वाजिन् अश्व इव वेगादिगुणयुक्त सेनाधीश' इति गौणार्थाश्रयणस्य निर्मूलत्वात्। सनितू रक्षणनियमस्येति, निधानानि स्थानानीत्यपि न सङ्गतम्, तथार्थत्वस्य निर्मूलत्वात्। न चेदं सेनाश्वादिरक्षणशास्त्रम्, धर्मब्रह्मपरस्य वेदस्य तादृशार्थबोधनेऽप्रवृत्तेः ॥ १६ ॥

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्।
शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, आकाश मार्ग द्वारा सूर्य में गिरती हुई तुम्हारी आत्मा को बहुत दूर गई हुई मैं जानता हूँ। सुगम, उपद्रवरहित देवयान मार्ग से चलने वाले तुम्हारे गतिशील सिर को मैं सूर्य के रूप में देखता हूँ ॥ १७ ॥

एतैः पुरस्तात् प्रतिपादितैरश्वमभिष्टुत्याथेदानीं भविष्यत्कर्मणा तमभिष्टौति—हे अश्व, पशुसंस्पर्शनोत्तरं ते तव दिव्यमात्मानमहं मनसा आराद् दूरेऽजानां जानामि। जानातेर्लङ्युत्तमैकवचनम्। कीदृशमात्मानम् ? अवोऽधस्तात् प्रदेशाद् दिवा नभोमार्गेण पतङ्गं सूर्यं प्रति पतयन्तमुत्पतन्तम्। 'पत गतौ वा' चुरादिरदन्तः। यद्वा दिवा दिवं प्रति पतयन्तमुत्पतन्तं पतङ्गं सूर्यरूपिणम्। किञ्च, ते शिरः सूर्यरूपमहं पश्यामि। कीदृशं शिरः ? पथिभिर्नभोमार्गैर्जेहमानं गच्छत्। कीदृशैः पथिभिः ? सुगेभिः सु सुखेन गम्यते येषु ते सुगास्तैः सुगमनैः। अरेणुभिः, अविद्यमानो रेणुर्येषु तैः, निरुपद्रवैरित्यर्थः। पुनः कीदृशं शिरः ? पतत्रि उत्पतनशीलम्।

अध्यात्मपक्षे—तस्यैव प्रजापतिभावनया दृष्टस्याश्वमेधीयस्याश्वस्य भविष्यत्कर्मभिरभिष्टवः। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्नहं यथा मनसा दिवो दिवा पतङ्गं प्रति पतयन्तं ते पतत्रि शिरश्चात्मानमजानाम्, अरेणुभिः सुगेभिः पथिभिर्जेहमानं पतत्रि शिरोऽपश्यम्, तथा त्वं पश्य' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पश्येति ज्ञानस्य विधानासम्भवात्। यत्कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं स्यात्, तत्र क्रियायामेव विधानं सम्भवति, न तु ज्ञाने, तस्य वस्तुतन्त्रत्वेन पुरुषतन्त्रत्वायोगात्। विमानेन बहवोऽद्याधस्ताद् दिवा गच्छन्त उपलभ्यन्ते। न च स्वरूपे शिरस्तुल्यतापि सम्भवति, वैलक्षण्यात्। तथा च निरर्थकमेव तत्। सिद्धान्ते संज्ञप्तस्य पशोः कर्ममहिम्ना सूर्यं प्रति गमनं नासम्भवि ॥ १७ ॥

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः।
यदा ते मर्तो अनु भोगमानडादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, जब मनुष्य ने तुम्हें भोग समर्पित किया, उस समय तुमने अत्यन्त भक्षक बन कर औषधियों को खा लिया। इस सूर्यमण्डल में तुम्हारे उत्तम भोगरूप अन्नों को यज्ञीय सामग्री के रूप में सब ओर से देखा॥ १८॥

हे अश्व, अत्रा अत्र द्युलोके ते तव रूपमुत्तममहमापश्यं समन्तात् पश्यामि। कथम्भूतं रूपम्? इषोऽन्नानि हवींषि जिगीषमाणं जेतुमिच्छत्, जयतेः सन्नन्तात् शानच्, 'सन्लिटोर्जेः' (पा० सू० ७।३।५७) इति गः। पुनः कीदृशम्? गोर्गन्तुर्मण्डलस्य पदे द्युलोके आ आस्थितम्। यद्वा 'गौर्नादित्ये बलीवर्दे' इत्यभिधानानुसारेण गौरादित्यस्तस्य पदे मण्डले ते तवोत्तमं रूपमहमापश्यं समन्तात् पश्यामि। एवं द्युलोकावस्थितस्य तवाहं रूपमपश्यम्। अथ पुनः पृथिवीस्थितस्य यदा ते तव मर्तो मनुष्यो भोगं वाहनादिकमनु आनट् अनुव्याप्नोत्, अनुव्याप्नोति, आत् इत् इति पादपूरणार्थौ, तदा ग्रसिष्ठः 'ग्रसु अदने' ग्रसितृतमः, अतिशयेन भक्षयिता, ओषधीरजीगः, गृह्णासि गिरसि वा। अन्यो वाहितश्चलितुमपि न शक्नोति, त्वं त्वतिशयेन भक्षयिता सन् ओषधीघासानश्नासीति वीर्यवत्तरोऽसि सर्वेभ्य इति भावः। यद्वा मर्तो मनुष्यो यदा ते भोगमनु आनट् अनुव्याप्नोति हवीरूपं भोगं समर्पयति, देवेभ्य आत् इद् अनन्तरमेव त्वमोषधीर्हवीरूपाः, अजीगो गिरसि भक्षयसि, 'गॄ निगरणे' तौदादिकः, देवरूपो भूत्वा हवीरूपा ओषधीर्गिरसि। कीदृशस्त्वम्? ग्रसिष्ठः, अत्यन्तं भक्षयिता।

अध्यात्मपक्षे—संवत्सरप्रजापतिभावनया भावितस्य प्रजापतिदेवत्यस्य अश्वमेधीयस्याश्वस्य द्युलोकावस्थितस्य मर्त्यलोकस्थितस्य च रूपमिह वर्णितम्। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे वीर, ते विजिगीषमाणमुत्तमं रूपं गोः पदेऽत्र इषश्चापश्यम्। ते मर्तो यदा भोगमानट् तदादि ग्रसिष्ठः सन् त्वमोषधीरजीगः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। आनन्तर्यं च कार्यकारणभावेन निर्धार्यते। न च मनुष्यस्य भोगव्याप्तिर्वीरस्य ग्रसिष्ठत्वे हेतुत्वमुपगच्छति, अतोऽसम्बद्धत्वाद् हेयोऽयमर्थः, इषो जिगीषमाणमिति प्रत्यक्षं श्रुतं कर्म उत्सृज्य शत्रूनिति कर्मकल्पनस्य निर्मूलत्वाच्च॥ १८॥

अनु॑ त्वा॒ रथो॒ अनु॒ मर्यो॑ अर्व॒न्ननु॒ गावोऽनु॒ भगः॑ क॒नीना॑म्।
अनु॒ व्राता॑सस्तव॑ स॒ख्यमी॑यु॒रनु॑ दे॒वा म॑मिरे वी॒र्यं॑ ते॥ १९॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, रथ तुम्हारे पीछे विद्यमान है, मनुष्य और गायें भी तुम्हारे पीछे चल रही हैं, कन्याओं का सौभाग्य तुम्हारे साथ है, मनुष्यों ने तुमसे मित्रता की है और देवताओं ने भी तुम्हारी सामर्थ्य को समझा है॥ १९॥

हे अर्वन् अश्व, यस्य सुकृतिनो गृहे त्वं चेष्टसे, तस्य गृहे त्वामनु रथो वर्तते, त्वामनु मर्यो मनुष्यो वर्तते, त्वामनु गावो वर्तन्ते, त्वामनु कनीनां कन्यकानां भगः सौभाग्यं वर्तते। तत्रैते सर्वे पदार्था भवन्तीत्यर्थः। किञ्च, व्रातासो व्राता मनुष्यसङ्घा अपि, व्राता इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।१४), तव सख्यं सखिभावं मैत्रीमन्वीयुः प्रापुः। किमन्यद् बहु वदामः, अनु देवा ममिरे वीर्यं ते, ते वीर्यं वीरकर्म देवा अनुममिरे अनुमितवन्तः। अचिन्त्यशक्तिस्त्वमसीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिरूपस्याश्वस्याचिन्त्यशक्तित्वेन संस्तवः। सामान्यरूपेणापि सुलक्षणोऽश्वो यत्र भवति, तत्र रथादयस्तमनुवर्तन्ते, कन्यकानां सौभाग्यं मनुष्यसङ्घानुगमनं च तत्र सम्पद्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे अर्वन् विद्वन्, ते कनीनां मध्ये वर्तमाना देवा व्रातासोऽनुवीर्यमनुममिरे तव सख्यं चान्वीयुः। त्वानु रथो त्वा नु मर्यो त्वानु गावो त्वानु भगश्च भवतु' इति, तदपि न किञ्चित्, मनुष्यस्याश्वतुल्यत्वायोगात्। नहि बलेनाश्वतुल्यमपि मनुष्यं प्रति देवा अनु वीर्यमनुमिन्वन्ति, न च विमानादयोऽपि तदनुगुणा

भवन्ति। कनीनां कमनीयानां जनानामित्यप्यनर्थः, निर्मूलत्वात्, देवपदस्य जातिविशेषपरत्वस्य भूमिकायां साधितत्वाच्च ॥ १९ ॥

हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादा मनोजवा अवर इन्द्र आसीत्।
देवा इदस्य हविरद्यमायन् यो अर्वन्तं प्रथमो अध्यतिष्ठत् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—जो मुखिया स्वर्णमय मुकुट धारण किये हुए है, जो अश्व पर आरूढ़ है, उसका पद इन्द्र से छोटा है। इस अश्व के पैर मन की तरह वेग वाले हैं। देवताओं ने स्वयं इस अश्व के भक्षणयोग्य हवि को प्राप्त किया है ॥ २० ॥

हिरण्यशृङ्गः, हिरण्यं शृङ्गस्थानीयमस्येति हिरण्यशृङ्गः, हिरण्यवत् शृङ्गं दीप्तिर्यस्येति वा हिरण्यशृङ्गः, शृङ्गाणीति ज्वलन्नामसु (निघ० १।१७।११), अयो लोहमस्याश्वस्य पादाः, अय इति सर्वेषां रजतादीनामुपलक्षणम्, पादा इत्यवयवानामुपलक्षणम्। अस्य अश्वस्य रजतादिविशिष्टा अवयवा मनोजवा मनोवेगयुक्ताः, वायुरूपेणाश्वस्यावस्थानादिति भावः। देवा इद् देवा एव देवा अपि वा, अस्याश्वस्य हविरद्यं हविर्लक्षणमदनीयमायन्नगच्छन्। अत्तुं योग्यमद्यम्, हविश्च तदद्यं चेति हविरद्यं हविर्लक्षणं भक्ष्यं प्रति आयन् अगच्छन्। यो यश्चार्वन्तं प्रथमो मुख्योऽध्यतिष्ठद् अधिष्ठितवान्, स इन्द्रो यस्मादवर आसीन्न्यूनोऽभवत्, तं वयं स्तुम इति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—अश्वोऽत्र प्रजापतिः। तत एव सर्वे देवा अस्य भोग्यत्वमुपजग्मुः। इन्द्रोऽपि तस्मादवरः। हिरण्यमस्य शृङ्गस्थानीयम्। अयो रजतादयोऽस्य पादाः पादाद्यवयवाः। पादाश्च वायुवेगाः। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, योऽवरो हिरण्यशृङ्ग इन्द्र आसीद्यः प्रथमोऽर्वन्तमयश्चाध्यतिष्ठत्, अस्य पादा मनोजवाः स्युः, देवा अस्य हविरद्यमिदायन्, तं यूयमधिश्रयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशस्य सभापतेरदर्शनात्, शृङ्गतुल्यं यस्य तेजः स्यात्, लक्षणायां बीजाभावात्। नहि कस्यचिन्मनुष्यस्य पादा मनोजवा भवन्ति। विमानान्येव पादा इत्यपि निर्मूलम्, मन्त्रबाह्यत्वात् ॥ २० ॥

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सꣳशूरणासो दिव्यासो अत्याः।
हꣳसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—जब विशाल जघन और वक्षस्थल वाले, कृशोदर, अति पराक्रमी, दिव्य सूर्य के रथ में जुते हुए घोड़े श्रेणीभूत हंसों के समान तीव्र गति से चलते हैं, तब वे दिव्य गति या संग्राम को प्राप्त कराते हैं ॥ २१ ॥

आदित्यस्य रथे नियुक्तानामश्वानां रूपेणायमश्वः स्तूयते। ईर्मान्तासः, ईर्यत इति ईर्मः, 'इर क्षेपे', 'इषियुधी' (उ० १।१४५) इति बाहुलकान्मक्प्रत्ययः, ईर्मः क्षिप्तोऽन्तः शरीरप्रान्तो येषां ते ईर्मान्ताः, ईर्मान्ता एव ईर्मान्तासः, पृथुजघनोरस्काः। ते हि सम्राप्यश्वाः समीरितान्ता विक्षिप्तप्रान्ताः। सिलिकमध्यमासः, सिलिकः संलग्नो मध्यमो मध्यभागो येषां ते सिलिकमध्यमासः, कृशोदरा इति यावत्। 'षिल उञ्छे' तौदादिकः, अत्र संश्लेषणे वृत्तिः, इककप्रत्ययः। एतेनापि प्रकारेण स्तुतिरुपपद्यते, निरुदरास्तेऽश्वा इत्यर्थः। संशूरणासः, शू शीघ्रं रणो रवो युद्धं वा येषां ते संशूरणासः। यद्वा शृणाति हिनस्ति तमोजातमिति शूरण आदित्यः, शृणातेर्ऊरणस्प्रत्ययः, तेन सहिताः संशूरणाः। दिव्यासो दिवि भवा दिव्यासो दिव्याः। अत्याः सततगमनाः। अतन्ति

सततं गच्छन्तीत्यत्याः। सकृद्युक्ता ब्राह्मं सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यावद् वहन्ति। य इत्थम्भूता अश्वास्ते हंसा इव श्रेणिशो श्रेणीभूताः पङ्क्तिबद्धा रविरथस्था एकया रीत्या यतन्ते गमनाय सम्यक् प्रयत्नं कुर्वन्ति। कदा? यदा यस्मिन् काले दिव्यं दिवि भवम्, अज्मं गमनं संग्रामं वा आक्षिषुर्व्याप्नुवन्ति, 'अक्षू व्याप्तौ' भौवादिकः, लुङि रूपम्। हंसा यथा पङ्क्तिबद्धा गमनाय यतन्ते, तथा अश्वा अपीत्यर्थः। यद्वा यद् यदा अश्वाः सप्त रविरथस्थाः श्रेणीभूता हंसा इव संयतन्ते सम्यक् प्रयत्नं कुर्वन्ति, तदा दिव्यं दिवि भवमज्मं गमनं संग्रामं वा आक्षिषुर्व्याप्नुवन्तीति सम्बन्धः। कीदृशा अश्वाः? ईर्मान्तास इति पूर्ववत्। अश्वत्वात् प्राजापत्योऽश्वमेधीयोऽश्व एव तेनापि स्तूयते।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतेः सर्वात्मत्वात् सूर्यरथस्था दिव्या अश्वा अपि स एवेति स्तूयते। एवं सूर्यरथस्थाश्वदृष्ट्या दृष्टोऽश्वोऽश्वमेधीयः संस्कृतो भवति। आदित्यदृष्ट्या दृष्टयूपवत्, 'आदित्यो यूपः' (तै० ब्रा० २।१।५।२) इति श्रुतेः। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यद् येऽग्न्यादय इव ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः शूरणासो दिव्यासो अत्या अश्वाः श्रेणिशो हंसा इव यतन्ते, दिव्यमज्मं समाक्षिषुस्तान् यूयं प्राप्नुत' इति, तदपि न सङ्गतम्, निर्मूलाध्याहारमूलकत्वात्। अग्न्यादयः पदार्था इवेत्यंशोऽपि निर्मूलः, मन्त्रबाह्यत्वात्। दिव्याः प्राप्तदिव्यशिक्षा इत्यपि निर्मूलम्, मूले शिक्षापदाभावात् ॥ २१ ॥

तव॒ शरी॑रं पतयि॒ष्ण्व॑र्व॒न् तव॑ चि॒त्तं वात॑ इव॒ ध्रजी॑मान् ।
तव॒ शृङ्गा॑णि॒ विष्ठि॑ता पुरु॒त्रार॑ण्येषु॒ जर्भु॑राणा॒ चरन्ति ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, तुम्हारा शरीर पतनशील है, तुम्हारा चित्त वायु के समान गतिमान् है, तुम्हारे साथ सायुज्य को प्राप्त करने वाली नाना प्रकार की विकसित दीप्तियाँ वनों में दावाग्नि के रूप में फैलती हैं ॥ २२ ॥

हे अर्वन् अश्व, तव शरीरं पतयिष्णु उत्पतनशीलम्, तव चित्तं वात इव ध्रजीमान्, 'ध्रज गतौ' भौवादिकः, तस्माद् ईः प्रत्ययो बाहुलकात्। ध्रजीः गतिः, मतुपि ध्रजीमानिति, वायुतुल्यवेगवत्, सूक्ष्मानर्थान् प्रति गच्छतीति यावत्। तव शृङ्गाणि दीप्तयः, शृङ्गाणीति ज्वलन्नामसु (निघ० १।१७।११)। अर्चींषि पुरुत्रा बहुधा विद्युच्चन्द्रार्काग्न्यादिषु विष्ठिता विविधं स्थितानि। अरण्येषु वनेषु जर्भुराणा जर्भुराणानि देदीप्यमानानि, 'जृभी गात्रविनामे', दावाग्निरूपेण प्रसरन्ति।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिरूपोऽश्वोऽग्निरूपोऽपि—'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥' (कू० पु० १।४।३८ तथा ब्रह्मा० पु० १।३।२४-२५), 'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्' (म० स्मृ० १२।१२३) इति वचनाभ्याम्। तत एवाश्वमेधीयोऽपि प्रजापतित्वादेवाग्न्यात्मना स्तूयते। तस्य शरीरं सूत्रात्मकत्वाद् वायुरूपमुत्पतनशीलम्। तस्य सूक्ष्मशरीरात्मकं मनो हिरण्यगर्भरूपसूक्ष्मार्थवेदि भवति। अग्न्यात्मना च तस्य शृङ्गाण्यर्चींषि पुरुत्रा विष्ठितानि। अरण्येषु दावाग्निरूपेण देदीप्यमानानि सन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे अर्वन् वीर, यस्य तव पतयिष्णु शरीरं तव चित्तं वात इव ध्रजीमान् वेगवान् तव पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा विष्ठितानि शृङ्गाणि चरन्ति, स त्वं धर्मं चर' इति, तदप्यसङ्गतम्, वीरस्य पशुनाम्ना सम्बोधनासङ्गतेः। पतयिष्णु पतनशीलं नाशवानिति व्याख्यानमपव्याख्यानम्, युद्धादिप्रसङ्गे नाशवत्त्ववर्णनस्या-

मङ्गलत्वात्। युद्धसमये—'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्' (भ० गी० ११।३२) इति भावनाया एवादरणीयत्वात्। शृङ्गाणीव सेनाङ्गानीत्यपि निर्मूलम्, सेनाप्रसङ्गस्याभावात्॥ २२॥

उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः।
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात् कवयो यन्ति रेभाः॥ २३॥

मन्त्रार्थ—गमनशील देवार्पित होने की इच्छा से दीप्यमान अश्व गमन-स्थान पर प्राप्त हुआ है। इस अश्व के आगे जो नाभि है, उसमें अज को स्थापित किया जाता है। उसके पीछे स्तुति करने वाले ऋत्विक्गण चलते हैं॥ २३॥

अर्वा अश्वः शासनं विशसनस्थानम् उपप्रागाद् आगतः। कीदृशोऽश्वः ? वाजी, वजतीति वाजी, 'वज गतौ' भौवादिकः, गमनशीलः, अन्नवान् वा। देवद्रीचा देवान् प्रत्यश्चतीति देवद्रचङ्, तेन देवद्रीचा 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्रचञ्चतौ वप्रत्यये' (पा० सू० ६।३।९२) इति देवशब्दस्य टेरञ्चतौ परेऽद्रचादेशः। मनसा दीध्यानः, दीधीत इति दीध्यानो ध्यायन्, हिरण्यगर्भपदं चिन्तयन्। 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' आदादिकः, शानच्प्रत्ययः। देवान् प्रति गतेन मनसा दीप्यमानः। किञ्च अस्याश्वस्य पुरोऽग्रेऽजो नीयते स्थाप्यते, 'कृष्णग्रीवमाग्नेयं रराटे पुरस्तात्' (श० १३।२।२।३) इति श्रुतेः। अस्य नाभिः, अजो नाभौ स्थाप्यते, 'सौमापौष्णं श्यामं नाभ्याम्' (श० १३।२।२।६) इति श्रुतेश्च। अस्य पश्चात् कवय ऋत्विजोऽनुयन्त्यनुलग्ना गच्छन्ति। कथम्भूताः कवयः ? रेभाः, रेभन्त इति रेभाः, 'रेभृ शब्दे' भौवादिकः, स्तोतार इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—प्राजापत्योऽश्वः प्रजापतिर्यथा सर्वेषु देवेषु प्रधानभूतः, तथैवाश्वोऽपि सर्वेषु पशुषु प्रधानभूतः। अन्ये सर्वे पशवोऽस्याङ्गभूता एव। तत एवाश्वमेधे आग्नेयोऽजोऽस्य पुरतो नीयते, नाभौ च स्थाप्यते, ऋत्विजश्चानुलग्नास्तं स्तुवन्ति। एवं महामहिमवैभवोऽश्वमेधीयोऽश्व इति। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'यो दीध्यानो वाज्यर्वा मनसा शसनं युद्धमुपप्रागात्, विद्वद्भिरस्य नाभिः पुरो नीयते, तं पश्चाद् रेभाः कवयोऽनुयन्ति' इति, तदप्यसङ्गतम्, युद्धप्रसङ्गस्य निर्मूलत्वात्। युद्धं प्रति गमने कथमश्वस्य मनो देवान् प्रत्यञ्चति ? तस्य पशुत्वेन तादृशज्ञानाभावात्। अजः क्षेपणशील इत्यप्यसङ्गतम्। नाभिपदेन पृष्ठप्रदेशग्रहणमपि बलात्कार एव। नहि मेधाविनोऽश्वमनुगच्छन्ति, निरर्थकत्वात्। सिद्धान्ते तु प्राजापत्यस्याश्वस्य तत्सर्वं सङ्गच्छते॥ २३॥

उप प्रागात् परमं यत्सधस्थमर्वाँ२॥ अच्छा पितरं मातरं च।
अद्या देवान् जुष्टतमो हि गम्या अथाशास्ते दाशुषे वार्याणि॥ २४॥

मन्त्रार्थ—जिस कारण से अश्व पृथ्वी और स्वर्ग के समीप सहस्थान देवलोक में प्राप्त हुआ, हे यजमान! अब परमप्रिय देवताओं को तुम भी उन्हीं कारणों से प्राप्त करो। ऐसा होने के बाद ही देवत्व को प्राप्त हुए हवि के दाता यजमान के निमित्त देवता वरणीय भोग्य वस्तुएँ प्रदान करते हैं॥ २४॥

एवमश्वमभिष्टुत्य यजमानं कृतकृत्यतया सम्बोधयन्नाह—उपेति। यद् यस्मात् परममुत्कृष्टं सधस्थं देवमनुष्याणां सहस्थानमर्वान् अश्व उपप्रागात् प्राप्तवान्, नलोपाभावश्छान्दसः। अच्छा आभिमुख्येन पितरं मातरं च द्यावापृथिव्यौ अभ्यागात्। तस्माद् ब्रवीमि हे यजमान, जुष्टतमः प्रीततमः सन् अद्या अद्य कृतकृत्यः सन् देवान्

गम्या गच्छेः। गमेराशीर्लिङि मध्यमैकवचने रूपम्। अथैवं देवभावं गताय दाशुषे हविर्दत्तवते तुभ्यं वार्याणि वरणीयानि भोग्यवस्तूनि नूनमाशास्ते। अश्वो देवगणो वा।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिदृष्ट्या दृष्टः सन्नर्वा सर्वात्मभावं गच्छति। मातरं पितरं च द्यावापृथिव्या अभिगच्छति। तथैवाश्वमेधयाजी यजमानोऽपि देवभावं गच्छति। एवमुपासनासमुच्चितेन कर्मणा विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यद्योऽर्वान् ज्ञानी जनो जुष्टतमः सन् परमं सधस्थं पितरं मातरं देवांश्च आशास्तेऽथ दाशुषे वार्याण्युपप्रागात्, तं हि त्वमच्छ गम्याः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ज्ञानिजनस्य पूर्णकामत्वेन परमं सधस्थं पितरं मातरं प्रत्याशास्तेऽधिकमिच्छतीत्यसङ्गतेः। कश्च दाशुषे वार्याण्युपप्रागात्, यं त्वमच्छ गम्या इत्यनुक्तेश्च ॥ २४ ॥

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान से पूजित सर्वज्ञ अग्निदेव, दान आदि दीप्त गुणों से युक्त होकर आप यजमान के यज्ञगृह में अन्य देवताओं के साथ आइये, क्योंकि आप ही यजन करने में समर्थ हैं, आप ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप वेदवक्ता प्रकृष्ट चैतन्य चित्त से युक्त हैं ॥ २५ ॥

द्वादश आप्रीसंज्ञास्त्रिष्टुभो जमदग्निदृष्टाः। समित्तनूनपादादयो देवताः। हे जातवेदः, जातप्रज्ञान! यस्त्वमद्य अस्मिन् यजनीयेऽहनि मनुषो मनुष्यस्य यजमानस्य दुरोणे यज्ञगृहे समिद्धः सन्दीप्तो देवो दानादिगुणको देवान् दानादियुक्तान् इन्द्रादीन् यजति, तं त्वां प्रार्थये—हे मित्रमहः, मित्रान् यजमानान् महति फलदानादिनेति मित्रमहाः, तत्सम्बुद्धौ, देवान् आवह यज च। यस्त्वं चिकित्वान् चेतनावान् प्रेक्षापूर्वकारी, दूतः कविः क्रान्तदर्शी, प्रचेतः प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं यस्य सः, अतो ब्रवीमि त्वं देवानावह यज च।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदः, जाताः प्रादुर्भूता वेदा यस्मात् स जातवेदाः, तत्सम्बुद्धौ। मनुषो मनुष्यस्य यजमानस्य दुरोणे यज्ञगृहे आहवनीयादिरूपेण समिद्धो देवः स्वयं प्राज्ञो देवान् इन्द्रादीन् यजसि देवयजनहेतुतामुपगच्छसि। हे मित्रमहो मित्रपूजयितः, त्वं देवान् आवह यज च, देवागमनयजनादीनां त्वदायत्तत्वात्। सौभाग्यमेतद् यत्त्वमस्माकं यज्ञे वर्तेथाः। त्वं देवानां दूतः, कविः क्रान्तदर्शनः, प्रचेताः प्रकृष्टज्ञानश्चासि। अतस्त्वां प्रार्थये देवान् आवह यज च।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदो मित्रमहो विद्वन्, त्वमत्र समिद्धोऽग्निरिव मनुषो देवः सन् यजसि। चिकित्वान् दूतो यो दुनोति दुष्टान् तापयति सः। प्रचेताः कविः, दुरोणेऽसि, स त्वं देवांश्चावह' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सङ्गतिसामान्यस्य संसारे स्वतः प्राप्तत्वात्, सङ्गतिविशेषस्य चानुक्तेः। न च मन्त्रे इवशब्दोऽस्ति। मन्त्रोक्तविशेषणानि दिव्यगुणानामेव बोधकानि। न च तादृशगुणेभ्योऽन्ये विशिष्टा गुणाः सम्भवन्ति, येषां प्राप्तिरिष्येत ॥ २५ ॥

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन् स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—हे जल देवता के पौत्र, श्रेष्ठ जिह्वा वाले अग्निदेव ! ब्रह्मप्राप्ति के साधनस्वरूप मार्गों को मधुर रस से सींचते हुए आप हवियों का भक्षण कीजिये । हमारी बुद्धि और ज्ञान के साथ यज्ञ को समृद्ध करते हुए हमारी आहुतियों को देवताओं तक पहुँचाइये ॥ २६ ॥

तनूनपात्, तन्यन्ते कर्माण्याभिरिति तन्वः, 'कृषिचमितनि' (उ० १।८०) इत्यूः, आपस्तनूनां नपात् पौत्रः, आज्यमग्निर्वा । अद्भ्यो वृक्षा जायन्ते, तेभ्योऽग्निरित्यपां पौत्रत्वमग्नेः । तथैव तनूनां गवां सकाशात् पयो जायते, तत आज्यमिति तनूनपादाज्यम्, हे तनूनपादग्ने आज्य वा । हे सुजिह्व, शोभना कल्याणरूपा जिह्वा यस्यासौ सुजिह्वस्तत्संबुद्धौ, अग्नेर्जिह्वा नानादेवत्यानि हवींष्यभ्यवहरति, न किञ्चनोच्छेषयति, तस्मात् कल्याण-रूपा सा । ऋतस्य यज्ञस्य यानान् गमनान् पथो हवींषि, हविर्भिर्हि यज्ञो याति प्रवर्तते, अतो यज्ञमार्गशब्देन हवींष्युच्यन्ते । यायन्ते यैर्येषु वा ते यानाः, 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३।३।११७) इति ल्युट् । मध्वा मधुररसेन समञ्जन् म्रक्षयन् स्वदया स्वदय । 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' (पा० सू० ६।३।१३३) इति दीर्घः । देवेभ्यो रोचयेत्यर्थः । किञ्च, नोऽस्माकमध्वरं यज्ञं देवत्रा कृणुहि देवान् गमय । करोतिरत्र गत्यर्थः । कथमिति चेत्तत्राह—धीभिर्बुद्धिभिः सहितानि मन्मानि मननानि ज्ञानानि, उतापि च यज्ञमृन्धन् समर्धयन्नस्माकं ज्ञानं वर्धयन्, यज्ञं देवलोकं गमय ।

अध्यात्मपक्षे—हे तनूनपात्, सर्वात्मकत्वात् तनूनपात्, सुजिह्वरूपेणापि परमेश्वर एव सम्बोध्यते । स एव नानादेवत्यानि हवींषि भक्षयन्नपि नोच्छिष्टानि करोति । तादृशस्त्वमृतस्य यानान् पथो हवींषि स्वदय देवेभ्यः । स त्वं मध्वा हवींषि संम्रक्षयति संम्रक्षयसि । यज्ञं ज्ञानं च स एव समर्धयति, विश्वसृष्टिहेतुत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'सुजिह्व तनूनपात्, यस्तनूर्विस्तृतानपि पदार्थान् न पातयति, त्वं ऋतस्य यानान् पथोऽग्नि-रिव मध्वा समञ्जन् स्वदय धीभिर्मन्मानि मानानि उत नोऽध्वरं यज्ञं सङ्गमनीयं व्यवहारं धनं देवत्रा च कृणुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तनूनपाच्छब्देन विदुषः सम्बोधने मानाभावात् । न च तादृशी व्युत्पत्तिरेव तन्मान-मिति वाच्यम्, विस्तृतपदार्थानां धारणे पातनेऽल्पशक्तीनां जीवानामनधिकारात् । नह्यंशं कालं वा जीवः पातयति धारयति वा । न वा सत्यस्य जलस्य मार्गानग्निरपि स्वदयति, कुतस्तद्दृष्टान्तेनान्योऽपि विद्वान् स्वदयितुं प्रभवति । किञ्च, सत्यस्य मार्गः कः ? जलस्य वा को मार्गोऽत्र विवक्षित इत्यनुक्तेश्च । कथं च समञ्जनं तस्य ? मन्मपदेन यानग्रहणमपि निर्मूलमेव, धात्वर्थविरोधात् ॥ २६ ॥

न॒रा॒श॒ꣳसस्य॑ महि॒मान॑मेषा॒मुप॑स्तोषाम यज॒तस्य॑ य॒ज्ञैः ।
ये सु॒क्रत॑वः॒ शुच॑यो धिय॒न्धाः स्वद॑न्ति दे॒वा उ॒भया॑नि ह॒व्या ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—सभी यज्ञों में पूजनीय, भक्तों के द्वारा स्तुतियों से प्रसन्न किये गये अग्निदेव की महिमा को हम इन सभी देवताओं के बीच में गाते हैं । शुभ कर्म के कर्ता, शुद्ध ज्ञान से सम्पन्न ये सब देवता हमारी दी हुई अधिदैव और अध्यात्म दोनों प्रकार की हवियों को ग्रहण करते हैं ॥ २७ ॥

नराशंसस्य नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्तीति नराशंसो यज्ञः, यद्वा नरा आशंसन्ति यं स नराशंसोऽग्निः प्रजापतिर्वा, नरैः प्रशस्यो भवति । तस्य प्रजापतेरग्नेर्यज्ञस्य वा महिमानं महाभाग्यमेषां देवानां मध्ये वयमुप-स्तोषाम उपस्तुमः । स्तौतेर्लेटि उत्तमैकवचने 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिपि रूपम् । कथम्भूतस्य नराशंसस्य ? यज्ञैर्यजतस्य यज्ञैराहुतिभिर्यष्टव्यस्य । यजेरतच्प्रत्ययः 'भृमृदृशियजि' (उ० ३।११०)

इत्यादिनेति ज्ञातव्यम् । केषां देवानां मध्ये उपस्तोषामेति तत्राह—ये देवाः सुक्रतव इति । ये देवाः सुक्रतवः सुष्ठु शोभनः क्रतुः कर्म येषां ते । शुचयः शुद्धा निष्पापा अणिमाद्यैश्वर्ययुक्ताः । धियन्धाः, धियं बुद्धिं कर्म वा दधतीति तथोक्ताः । अलुगार्षः । ये च देवा उभयानि हव्यानि सोममितराणि च भक्षयन्ति ।

अध्यात्मपक्षे—नराशंसस्य सर्वैर्जीवैः संस्तुतस्य परमेश्वरस्य महिमानं महाभाग्यं वयमेषां देवानां मध्ये उपस्तोषाम उपस्तुमः । कथम्भूतस्य ? यज्ञैरग्निष्टोमादिभिर्यजतस्य यष्टव्यस्य । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धरा देवा उभयानि हव्या स्वदन्ति, एषां यज्ञैर्नराशंसस्य यजतस्य व्यवहारस्य महिमानमुपस्तोषाम, तथा यूयमपि कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्पष्टत्वात् । स्वदन्ति यज्ञैः सङ्गादिलक्षणैर्नराशंसस्य नरैः प्रशंसितस्य यजतस्य सङ्गन्तुं योग्यस्य व्यवहारस्य महिमानं प्रशंसेमेत्यप्यसङ्गतम्, असम्बन्धात् ॥ २७ ॥

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चायाह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! देवताओं का आह्वान करने वाले स्तुतियोग्य नमनीय वसु देवताओं के साथ प्रीति करने वाले आप हमारे इस यज्ञ में आइये । हे महान् शक्तिसम्पन्न अग्निदेव, आप देवताओं का आह्वान करते हैं । वह अभीष्ट यजमान आप सब देवताओं को यज्ञ के अनुष्ठान के द्वारा तृप्त करे ॥ २८ ॥

हे अग्ने, यस्त्वमाजुह्वान आहूयमानः सन् ईड्यः स्तुत्यो वन्द्यो नमनीयश्चासि भवसि, स त्वं याहि आयाहि । यद्वा आह्वयते देवानित्याजुह्वानः, ह्वयतेः शपः श्लुः, 'अभ्यस्तस्य च' (पा० सू० ६।१।३३) इति सम्प्रसारणे शानचि रूपम् । यश्च त्वं वसुभिः सजोषाः समानप्रीतिः । किञ्च, हे यह्व हे महन्, 'महागुणविशिष्टो यह्वः' इति भट्टभास्करः, यह्व इति महन्नामसु (निघ० ३।३।१३), यजतीति यह्वः, 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वमीवाः' (उ० १।१५४) इति वन्प्रत्ययः, जकारस्य हकारश्च निपात्यते । 'यसु प्रयत्ने' इत्यस्मात् क्वन् इति भोजदेवः । यस्यति प्रयतते शत्रुजयादाविति यह्वः । 'यह्व इति महतो नामधेयं यातश्च हूतश्च भवति' (निरु० ८।८) इति यास्कः । 'यातश्चासावाहूतश्चार्थिभिः, हूतश्चासौ शरणार्थिभिर्द्विधातुजत्वं दर्शितम्' इति स्कन्दस्वामी । यश्च त्वं देवानां होतासि स एतान् देवानाहूय यक्षि यज । कीदृशस्त्वम् ? इषितः प्रेषितः, सत्कृत्य व्यापारितो वा । यजीयान् यजतीति यष्टा, अतिशयेन यष्टा यजीयान्, ईयसुनि 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं याहि आयाहि आगच्छ । कीदृशस्त्वम् ? आजुह्वानः, भक्तैराहूयमानः, ईड्यः सर्वैः सुरासुरैः स्तुत्यः, वन्द्यो नमनीयश्च । वसुभिर्भीष्माद्यैः सजोषाः सहप्रीतिः । किञ्च, यह्व महन्, यस्त्वं देवानां होता आह्वाता श्रीरामश्रीकृष्णादिरूपेण यजनाय देवानामाह्वानकर्ता, इषितः सर्वैरभीष्टो यजीयान् रामादिरूपेण यष्टृतम आगच्छेति ।

दयानन्दस्तु—'हे यह्वाग्ने, यस्त्वं देवानां होता यजीयानसि, इषितः सन्नेनान् यक्षि, स त्वं वसुभिः सह सजोषा आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चैतानायाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थश्रयणात्, पावकवत् पवित्र विद्वन्निति मुख्यार्थत्यागस्य गौणार्थस्वीकरणस्य च निर्मूलत्वात् । न च स्पर्धा प्रशंसाहेतुः, न चेड्यत्ववन्द्यत्वादिभिर्मनुष्यस्य कश्चित् पुरुषार्थः सिद्ध्यति ॥ २८ ॥

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ।। २९ ।।

मन्त्रार्थ—अतिश्रेष्ठ देवताओं को और अदिति को सब प्रकार का सुख देने वाली कुशाओं को हम प्रातःकाल पूर्व दिशा के अभिमुख बिछाकर वेदी का श्रुतिवाक्यों के उच्चारण द्वारा आच्छादन करते हैं ।। २९ ।।

प्राचीनं बर्हिः प्रागग्रं दर्भसमूहः, अह्नां दिवसानामग्रे पूर्वाह्णे वृज्यत आस्तीर्यते, यागे पूर्वाह्णकालस्य प्रशस्तत्वात् । ननु किमेतत् स्वमनीषयेति चेन्नेत्याह—प्रदिशेति । प्रदिक्शब्देनात्र श्रुतिवाक्यमभिधीयते, 'प्रदिशा प्रागग्रं बर्हि स्तृणाति' इति श्रुतेः[1] । किमर्थम् ? अस्याः पृथिव्या वेदेर्वस्तोर्वसनाय छादनाय । तद्बर्हिर्वृज्यमानं सद् वि उ प्रथते विविधं विस्तीर्णं भवति, विविधं वा आच्छादयति । उकारः पादपूरणः । कीदृशं बर्हिः ? वितरं वरीयः, अत्यन्तं वि विशिष्टमिति वितरम्, अत्यन्तमुरु इति वरीयः, उरुतरम्, 'प्रस्थस्फ' (पा० सू० ६।४।१५७) इत्यादिना उरोर्वरादेशः । देवेभ्योऽदितये च स्योनं सुखकरम् ।

अध्यात्मपक्षे—प्राचीनं पुराणं बर्हिराकाशं परं ब्रह्म प्रदिशः प्रकृष्टया दिशा गुरूपदेशेन पृथिव्याः पृथिव्युपलक्षितस्य सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य वस्तोर्वस्तुमाच्छादयितुमह्नामग्रे प्रातःकाले वृज्यतेऽध्यारोपापवादेन तत्त्वसाक्षात्कारेणातदंशो व्यावर्त्यते, 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' (ई० उ० १), 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयते' इत्याद्युक्तेः । वृज्यमानं बर्हिर्ब्रह्म वि उ प्रथते विविधं प्रथते आच्छादयति, रज्जुसाक्षात्कारेण सर्प इव ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण प्रपञ्चमाच्छादयति, चन्दनागर्वादिभिरिव निघर्षणजेन सौगन्ध्येन मृत्तृणजलादिक्लेदादिजनितदौर्गन्ध्यमिवापनोद्यते । तच्च बर्हिर्वितरमतितरां वरीयो वरतरं देवेभ्य इन्द्रियेभ्योऽदितये तेषां मातृभूतायै शक्त्यै स्योनं सुखकरम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यदस्याः पृथिव्या मध्ये प्राचीनं बर्हिर्वस्तोर्वृज्यतेऽह्नामग्रे देवेभ्य उ अदितये वितरं वरीयः स्योनं विप्रथते, तद् यूयं प्रदिशा विजानीत प्राप्नुत च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ब्रह्मणः सर्वव्यापित्वे पृथिव्या इति विशेषोक्तेरस्वारस्यात्, व्यापकं ब्रह्म दिवसस्य प्रकाशेन वृज्यते व्यज्यत इत्यसङ्गतेश्च । देवेभ्योऽदितये वरीयः स्योनं सुखं यद् ब्रह्म विप्रथते, तद् यूयं प्रदिशा विजानीतेत्यपि यत्किञ्चित्, तथात्वे सर्वस्यानायासेन मुक्तिसिद्धौ प्रयासवैयर्थ्यापत्तेः । वितरं विशेषेण दुःखेभ्यस्तारकमित्यपि यत्किञ्चित्, तादृशेऽर्थे शब्दस्यासङ्गतेः ।। २९ ।।

व्यचस्वतीरुर्विया विश्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ।। ३० ।।

मन्त्रार्थ—अतिविस्तीर्ण अवकाश वाली द्वाराभिमानिनी देवियाँ यहाँ वैसे ही विस्तार से उपस्थित रहें, जैसे कि स्त्रियाँ अपने पति के लिये उपस्थित रहती हैं । विशाल विश्व के गमनस्थान में शोभायमान हे द्वारदेवियों, आप सब यज्ञीय देवताओं के निमित्त सुगमता से यहाँ उपस्थित रहें ।। ३० ।।

द्वारो देवीर्देव्यो व्यचस्वतीर्व्यञ्जनवत्यो गमनवत्यः, उर्विया उरुत्वेन 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्' (पा० सू० ७।१।३९, वा० १) इत्युरुशब्दात् तृतीयैकवचनस्य इया । विश्रयन्तां विवृता भवन्तु । कथमिव ?

१. नेयं श्रुतिः, कस्यचित् सूत्रस्य वचनं सम्भाव्यते ।

पतिभ्यो जनयो न जनय इव । यथा जनयो जाया मैथुन्यधर्मेण शुम्भमानाः शोभमाना आत्मानं शोभयन्त्यः पत्यर्थमूरू विश्रयन्ति विवृतौ कुर्वन्ति । एवं परोक्षेणोक्त्वा प्रत्यक्षमाह – हे द्वारो देवीर्देव्यो यूयं देवेभ्यो देवार्थं सुप्रायणाः सुप्रगमना भवत । कीदृश्यो द्वारः ? बृहतीर्बृहत्यो महत्यः । विश्वमिन्वा विश्वमेति गच्छति यासु ताः । एतेर्न्वक्प्रत्ययः, अलुक्समासः । उर्विया इति द्वारविशेषणं वा । उरवो विशालाः । उक्तेन वार्त्तिकेण विभक्तेर्डियाजादेशः । चित्वादन्तोदात्तः । अत्रैकवाक्यतायै परोक्षकृतोऽर्धर्चस्य विपरिणामः ।

अध्यात्मपक्षे—द्वारो भगवत्प्राप्तिद्वारः सत्सङ्गादयः, देवीर्देव्यो व्यचस्वतीर्व्यचस्वत्यो गमनागमनवत्य उर्विया उरुत्वेन विवृता भवन्तु । कथमिव ? पतिभ्यो जनयो न जाया इव । यथा जाया विश्रयन्ति पतिभ्यः स्वात्मानमुद्घाटयन्ति, तद्वत् । द्वारो देव्यो बृहत्यो विश्वमिन्वा देवेभ्यो देवभावमुपजिगमिषुभ्यः सुप्रायणाः सुगमना भवन्ति ॥ ३० ॥

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियꣳ शुक्रपिशं दधाने ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—परस्पर हँसती हुई, भली प्रकार से शयन करती हुई, परस्पर एक दूसरे के साथ चलती हुई, यजनयोग्य दिव्य स्त्रियों के साथ सुन्दर आभूषण अथवा ज्योति से युक्त, नाना प्रकार की शोभा को धारण करने वाली दिन-रात्रि रूप देवियाँ इस यज्ञगृह में भली प्रकार बैठें ॥ ३१ ॥

उषासानक्ता उषाश्च नक्तं चेति उषासानक्ता, प्रथमाद्विवचनस्य डादेशः, अहोरात्रे देवते योनौ यज्ञगृहे आनिसदतां समन्तात् सम्यगुपविशताम् । कथम्भूते ? सुष्वयन्ती स्मयतेः स्वपतेर्वा सुपूर्वस्य रूपम् । प्रथमपक्षे मकारस्य वकारः, द्वितीयपक्षे पकारस्य यकारश्छान्दसः । परस्परं हसन्त्यौ साधु स्वपन्त्यौ वा यजते यजनीये उपाके उप समीपमकतो गच्छत इत्युपाके परस्परं समीपस्थिते यज्ञगृहे दिव्ये दिवि भवे योषणे योषे प्रीतिमत्यौ वा, बृहती बृहत्यौ महत्यौ सुरुक्मे सुरोचने सु शोभनं रुक्मं ययोस्ते रुक्माभरणयुक्ते वा, शुक्रपिशं शुक्रं शुक्लं च पिशं कपिशं चानयोः समाहारः शुक्रपिशं शुक्लां कपिशां च श्रियं शोभामभिदधाने । शुक्लमहः, कपिशा रात्रिश्च । तादृशीं शोभामधिदधाने अधिकं धारयन्त्यौ, उपविशतामिति ।

अध्यात्मपक्षे—उषासानक्ता अहोरात्ररूपे विद्याविद्ये कर्मोपासनारूपे वा योनौ योनिरूपायां त्रिकोणायां सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायां प्रकृतौ, आनिसदतां सम्यग् उपविशताम् । कीदृश्यौ ते ? सुष्वयन्ती परस्परं हसन्त्यौ साधु स्वपन्त्यौ वा, यजते यजनीये, उपाके परस्परं समीपस्थिते, दिव्ये दिवि भवे, योषणे योषे स्त्रीरूपिण्यौ परस्परं प्रीतिमत्यौ वा, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' जकारस्य यकारश्छान्दसः, बृहती बृहत्यौ, शुक्रपिशौ शुक्लां कपिशां च श्रियं शोभामभिदधाने, 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥' (वा० सं० ४०।१४) इति मन्त्रवर्णात् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यदि दिव्ये योषणे इव सुरुक्मे बृहती अधिश्रियं शुक्रपिशं च दधाने सुष्वयन्ती उपाके उषासानक्ता योनौ न्यासदताम्, ते भवान् यजते, तर्ह्यतुलां श्रियमाप्नुयात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दिनरात्र्योः परस्परविरुद्धत्वेन सङ्गतेरयोगात्, कथञ्चित् सङ्गतेः स्वतः सिद्धत्वात्, पुरुषतन्त्रत्वाभावेन विनियोगायोगात् । तर्ह्यतुलां श्रियमवाप्नुयादित्यादिकं निर्मूलमेव, मन्त्रबाह्यत्वात् ॥ ३१ ॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै ।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—आद्य वेदवक्ता स्वयं कर्ता जो दिव्य दो होता हैं, वे इस यज्ञ में पूर्व दिशा में स्थित आहवनीय अग्नि को श्रुति वाक्यों का श्रवण कराते हुए, मनुष्यों के यज्ञों को परिपूर्ण करते हुए यज्ञीय कर्म के लिये प्रेरणा देते रहते हैं ॥ ३२ ॥

दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ होतारा आह्वातारौ, अयं चाग्निरसौ च मध्यमो वायुः, तौ प्रथमौ आद्यौ सुवाचा सु शोभना वाग् ययोस्ते शोभनवाग्विषयौ वा, आसाते इति शेषः । यद्वा तावस्मदीयमभीष्टम्, प्रसाधयेथामिति शेषः । कीदृशौ तौ ? मनुषो मनुष्यस्य यजध्यै यष्टुं यज्ञं कर्तुं मिमाना यज्ञं निर्मिमाणौ, 'तुमर्थे सेसेन' (पा० सू० ३।४।९) इत्यादिना शध्यैप्रत्ययः । विदथेषु यज्ञेषु, अन्यान् ऋत्विजः प्रचोदयन्ता प्रचोदयन्तौ प्रेरयन्तौ । स्वयं च कारू कुरुतस्तौ कारू स्वयं कर्तारौ, 'उणादयो बहुलम्' इत्युण् । प्राचीनं प्राच्यां पूर्वस्यां दिशि भवं प्राचीनमाहवनीयाख्यं ज्योतिर्यष्टव्यमिति प्रदिशा अभिनयेन श्रुतिवाक्येन वा दिशन्तौ कथयन्तौ । सर्वत्र विभक्तेराकारः ।

अध्यात्मपक्षे—तौ रामलक्ष्मणौ कृष्णबलौ दैव्यौ होतारौ ममाभीष्टं प्रसाधयेताम् । कीदृशौ ? प्रथमौ मुख्यौ, प्रधानभूतौ वा । सुवाचौ शोभनया वाचा युक्तौ, मनुषो मनुष्यस्य यजध्यै यागं कर्तुं मिमानौ यज्ञं निर्मिमाणौ, तयोः पूर्णकामत्वेन मनुष्याणां यजनायैव यागं कुर्वन्तौ, विदथेषु यज्ञेष्वन्यानधिकारिणः प्रचोदयन्तौ प्रेरयन्तौ, कारू स्वयं यज्ञकर्तारौ प्राचीनं सनातनं ब्रह्मज्योतिर्ज्ञातव्यमिति प्रदिशाऽभिनयेन श्रुतिवाक्येन वा दिशन्तौ उपदिशन्तौ प्रसाधयेतामित्यन्वयः ।

दयानन्दस्तु—'यौ दिव्यौ होतारौ प्रथमौ सुवाचौ मिमानौ यज्ञं यजध्यै मनुषो मनुष्यान् विदथेषु प्रचोदयन्तौ प्रदिशा प्राचीनज्योतिर्दिशन्तौ कारू भवेताम्, ताभ्यां शिल्पविज्ञानशास्त्रमध्येयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्राचीनं ज्योतिरित्यस्य शिल्पविद्याप्रकाशोऽर्थो निर्मूलः, ज्योतिःपदस्य ज्ञानार्थत्वेऽपि शिल्पज्ञानमिति कुतस्त्यम्, कुतस्तरां प्राचीनत्वम् ? सविकल्पज्ञानस्यानित्यत्वेन प्राचीनत्वायोगात् । दैव्या इति द्विवचनं तु निःस्वारस्यमेव ॥ ३२ ॥

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदᳬं स्योनᳬं सरस्वती स्वपसः सदन्तु ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ यज्ञ कर्म में मनुष्य को सभी प्रकार की विधियों का ज्ञान कराने वाली भारती, इड़ा और सरस्वती देवी हमारे यज्ञ में शीघ्र आवें । शुभ कर्मों में प्रेरित करने वाली ये तीनों देवियाँ इस सुखरूप कुशा के आसन पर बैठें ॥३३॥

आङुपसर्गः सदन्त्वित्याख्यातेन सम्बद्धयते । भारती भरत आदित्यस्तस्येयं भा भारती, इडा ईड्यते या सा इडा, सरस्वती सरतीति सरो जलम्, तदस्त्युत्पत्तिस्थानत्वेनास्येति सरस्वान् ब्रह्मा, 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्' (म० स्मृ० १।८) इति मनूक्तेः, तस्येयं शक्तिः सरस्वती च नोऽस्माकं यज्ञं तूयं क्षिप्रमा एतु आगच्छतु, तूयमिति क्षिप्रनामसु (निघ० २।१५।११) । कथम्भूताः ? स्वपशः, सु शोभनमपः कर्म यासां ताः स्वपसः, अप इति कर्मनामसु (निघ० २।१।१), शोभनकर्माणः । अग्निहोत्रादिकर्मणामप्समवायित्वादप्शब्दवाच्यत्वम् । पुनः कथम्भूता सरस्वती ? मनुष्वद् मनुष्यवदिह कर्माणि चेतयन्ती ज्ञापयन्ती कर्म ज्ञानं च बोधयन्ती, परिदृष्टपरिकारिणी वा । एतास्तिस्रो देवीर्देव्यः स्योनं सुखरूपमिदं बर्हिरासदन्तु आसीदन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—भारतीडासरस्वतीरिच्छाज्ञानक्रियारूपा एतास्तिस्रो देवीर्देव्यो मनुष्वद् मनुष्यवद् इह चेतयन्ती व्यवहरन्ती, आसदन्तु आसीदन्तु, इदं स्योनं सुखरूपं बर्हिरासीदन्तु। कीदृश्यः ? स्वपसः शुभकर्माणः, नो यज्ञं क्षिप्रमागच्छन्तु, आगत्य उपविशन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, या भारती इडा शिल्पविद्याधारिणी क्रियाशक्तिः सरस्वती विज्ञानवती प्रज्ञा नस्तूयं यज्ञं शिल्पविद्याप्रकाशमयं मनुष्यवच्चेतयन्ती सुशिक्षिता मधुरवाग् अस्मानेतु। इमास्तिस्रो देवीर्देव्य इदं बर्हिः स्योनं स्वपसोऽस्मानासदन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भारत्यादिपदानां तत्तदर्थत्वे मानाभावात्। तथैव यज्ञपदस्य शिल्पविद्याप्रकाशमयोऽर्थ इत्यपि चिन्त्यम्, विपरीतस्यापि सुवचत्वात्, विनिगमनाविरहाच्च ॥ ३३ ॥

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिँशद् भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे होता, अनेक यज्ञ करने वाला यह यष्टा अपने अधिकार के ज्ञाता ईप्सित परमात्मा को, अपनी माया से पृथक् करने वाले देव को इस यज्ञ में पूजे। उस महानारायण को पूजे, जिसने सभी जीवों को; पृथ्वी, स्वर्ग और अन्य सभी भुवनों को देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि से युक्त किया ॥ ३४ ॥

यस्त्वष्टा देव इमे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ जनित्री सर्वभूतानां जनयित्र्यौ जनयतः, ते प्राण्युत्पादिके तादृश्यौ रूपैरपिशदवयवैः सुचित्रिते अकरोद् विचित्रे अकरोद् वा। 'पिश अवयवे' तौदादिकः, 'शे मुचादीनाम्' (पा० सू० ७।१।५९) इति नुम्। विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतानि रूपैरपिशद् विविधरूपाण्यकरोत्। तं त्वष्टारं देवमद्य अस्मिन्नहनि, हे होतः, इषितः प्रेषितोऽधीष्ट इति वा, यजीयान् यष्टृतमः, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः, विद्वान् स्वाधिकारं जानान इह यज्ञे यक्षि यज।

अध्यात्मपक्षे—हे होतः, तं त्वष्टारं विश्वस्रष्टारं परमात्मानमिह यज्ञे यक्षि यज। तद्यजनेनैव त्वं यष्टृतमो विद्वांश्च, स्या इति शेषः। कं तम् ? यस्त्वष्टा इमे द्यावापृथिवी रूपैरपिशत्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतर्यो यजीयानिषितो विद्वान् यथेश्वर इह रूपैरिमे जनित्री द्यावापृथिवी विश्वा भुवनान्यपिशत्, तथा तं त्वष्टारं देवं त्वमद्य यक्षि यज, तस्मात् सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे यथेश्वर इति पाठाभावात्। यजीयानित्यस्यातिशयेन सङ्गन्तेत्यर्थ उक्तः, स च न युक्तः, अतिशयेन स्त्रीगमनस्य निषिद्धत्वात्। द्यावापृथिवीत्यस्य विद्युद्गामीत्यर्थ उक्तः, सोऽप्यसङ्गतः, द्योरित्यनेन विद्युतो ग्रहणे मानाभावात्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तासङ्गतिश्च। यथेश्वरो रूपैरिमे जनित्री द्यावापृथिवी विश्वा भुवनान्यपिशत्, न तथा विद्वान् पिंशति। होता यथा त्वष्टारं यजति, तथा नेश्वरस्तं यजतीति विषम उपन्यासः। गौणार्थाश्रयणं पदानां सम्बन्धविप्रकर्षस्तु सर्वत्रैवास्य व्याख्याने राजेते ॥ ३४ ॥

उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान कहता है कि हे होता, तुम देवताओं के लिये हवि को मधुर रस घृत से सींच कर यज्ञकाल में परमेश्वर के निमित्त हवियों को छोड़ो। यूप, शमिता देवता और अग्नि ये तीनों हवियों को स्वादिष्ट बनावें ॥ ३५ ॥

यजमान आह—हे होतः, त्वं त्मन्या आत्मना, आत्मन्शब्दस्य विभक्तेर्यादेशे 'मन्त्रेष्वाङ्याादेरात्मनः' (पा० सू० ६।४।१४१) इत्याकारलोपे रूपम्। ऋतुथा ऋतौ ऋतौ यज्ञकाले हवींष्युपावसृज देहि। कथमिति चेत्तत्राह—देवानां पाथो हविर्लक्षणमन्नं मधुना मधुररसेन घृतेन समञ्जन् संम्रक्षयन्। के देवा इत्याह—वनस्पतिर्यूपः, शमिता, देवोऽग्निरेते त्रयो देवा हव्यं होत्रा सम्मृज्य दत्तं स्वदन्तु भक्षयन्तु। उव्वटाचार्यरीत्या त्वध्वर्युः सम्बोधनीयः। हे अध्वर्यो, उपावसृज उत्पिष्टं पाशुकमवसृज अवदानं निक्षिप। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, त्मन्या आत्मना हवींषि, ऋतुथा यथाकालम् उपावसृज देहि। किं कुर्वन्? देवानां पाथो हविर्लक्षणमन्नं मधुना मधुररसेन घृतेन प्रेम्णा वा समञ्जन् संम्रक्षयन्। के देवा इत्याह—वनस्पतिर्जगद्वृक्षाधिष्ठाता, शमिता शान्तिदानेन पालकः, देवोऽग्निश्च रुद्रो रविरेते त्रयो देवा हव्यं होत्रा सम्मृज्य दत्तं स्वदन्तु भक्षयन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं देवानां पाथो मधुना घृतेन समञ्जन् त्मन्या आत्मना हवींषि ऋतुथोपावसृज। तेन त्वया दत्तं हव्यं वनस्पतिः शमिता अग्निश्च स्वदन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वेषां विदुषां पाथोऽन्नं तत्तत्कर्मकरैः पत्न्यादिभिः संस्कर्तव्यत्वेन तदर्थं जनसामान्यस्य चोदनानर्हत्वात्। हिन्दीभाष्ये तु—'यथावद् होमं कुरु' इत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतमेव। नहि होमेन विदुषां क्षुन्निवृत्तिपूर्विका तृप्तिः सम्भवति। वनस्पतिः किरणानां स्वामी सूर्यः शमिता शान्तिकर्ता देव उत्तमगुणो मेघोऽग्निः स्वदन्तु, अर्थाद् हुताः पदार्था एतेभ्य उपसर्पन्त्वित्यपि यत्किञ्चित्, होमेन तेषां प्राप्तौ मानाभावात्, जडेषु प्राप्यप्रापकभावासम्भवाच्च ॥ ३५ ॥

स॒द्यो जा॒तो व्य॑मिमीत य॒ज्ञम॒ग्निर्दे॒वाना॑मभवत् पु॒रो॒गाः ।
अ॒स्य होतुः॑ प्र॒दिश्यृ॒तस्य॑ वा॒चि स्वाहा॑कृतꣳ ह॒विर॑दन्तु दे॒वाः ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—तत्काल प्रादुर्भूत हुए अग्निदेव देवताओं के अग्रगामी हैं, यज्ञ का विशेष रूप से विस्तार करते हैं। इन देवताओं का आह्वान करने वाले आहवनीय रूप से स्थित अग्निदेव के पूर्व दिशा में स्थित वागिन्द्रिय उपलक्षित मुख में स्वाहाकारपूर्वक दी गई हवि को अन्य देवता ग्रहण करें ॥ ३६ ॥

योऽग्निः सद्योजातः शीघ्रमुत्पन्नः सन् यज्ञं व्यमिमीत विशेषेण निरमिमीत, यश्च देवानां पुरोगाः, पुरो गच्छतीति पुरःपूर्वात् गमेर्विचि 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इति मकारस्याकारे रूपम्। तस्याग्नेर्होतुर्देवानामाह्वातुः प्रदिशि प्राच्यां दिशि ऋतस्य आहवनीयात्मना स्थितस्य वाचि वागिन्द्रियोपलक्षिते मुखे स्वाहाकृतं स्वाहाकारेण हुतं हविर्देवा अदन्तु भक्षयन्तु। वाग्ग्रहणेन लक्षणया वा मुखग्रहणम्। 'अभिधेयाविनाभावप्रतीतिर्लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥' इति भट्टपादोक्तेः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मा परमेश्वरः, अरण्योर्मन्थनेनाग्निरूपेण सद्योजातो योऽग्निः शीघ्रमुत्पन्नः सन् यज्ञं व्यमिमीत निरमिमीत। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः सद्योजातोऽग्निर्होतुर्ऋतस्य प्रदिशि वाचि यज्ञं व्यमिमीत देवानां पुरोगा अभवदस्य स्वाहाकृतं हविर्देवा अदन्तु, तं सर्वोपरि विराजमानं मन्यध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारमूलकत्वात्, अग्निपदस्य विद्याप्रकाशितो विद्वान् इत्यर्थस्य गौणत्वात्। न चाभिधयाऽर्थसम्भवे गौणार्थता युक्ता, मुख्यार्थबाधस्यान्याय्यत्वात्। न च शीघ्रतया प्रसिद्धिर्भवति, पुरुषस्य क्रमेणैव प्रसिद्धिदर्शनात्। न च प्रदिशीति निर्देशिका वागित्युच्यते, तथार्थकरणे मानाभावात्। न च ज्ञपदस्यापि व्यवहारोऽर्थः, तथा यजेत्युक्ते व्यवहारं

कुर्वित्यर्थः स्यात्। न चायमर्थो युक्तः, व्यवहारस्य स्वतः प्राप्तत्वेन चोदनानर्हत्वात्। एवमन्यान्यपि दूषणान्तराण्यूहनीयानि ॥ ३६ ॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, अज्ञानी मनुष्य के लिये ज्ञान की तथा रूपहीन को रूप की प्राप्ति कराने के लिये आप अग्नि में आहुति देने वाले यजमानों के द्वारा प्रकट किये गये हो ॥ ३७ ॥

'इत उत्तरमश्वरक्षिणो योद्धारो युद्धोपकरणानि च स्तूयन्ते, प्रागाग्नेय इति श्रुतेः' इत्युव्वटाचार्यः। अग्निदेवत्या गायत्री मधुच्छन्दोदृष्टाऽनिरुक्ता। हे अग्ने, त्वमुषद्भिः, उषन्ति दहन्ति हविरित्युषन्तः, शता, अग्निहोत्रकर्तारो यजमानाः, तैः कृत्वा अजायथा उत्पन्नोऽसि। कृतसम्प्रसारणस्य वसतेर्वा रूपम्। तथा उषद्भिः, अग्निं प्रति निवसद्भिर्जायमानः सन् अजायथाः। कीदृशस्त्वम्? अकेतवे, न केतुः प्रज्ञानं यस्य तस्मै, मर्या मर्याय मनुष्याय, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेराकारः, केतुं ज्ञानं कृण्वन् कुर्वन्। अपेशसे नास्ति पेशो हिरण्यरजतादिरूपं धनम्, पेश इति हिरण्यनामसु (निघ० १।२।६), यद्वा पेश इति रूपनामसु (निघ० ३।७।१०), सोऽपेशाः सुवर्णरजतादिधनहीनाय पेशो हिरण्यरजतादिरूपं धनं कुर्वन्, रूपहीनाय सुन्दररूपादि प्रयच्छन्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वमुषद्भिरग्निं परमात्मानं प्रति निवसद्भिर्भगवद्भक्तैरजायथाः, रामकृष्णादिरूपेण बहुधा उत्पद्यसे। कथम्भूतस्त्वम्? अकेतवे ज्ञानरहिताय मर्याय मनुष्याय केतुं ज्ञानं कृण्वन् कुर्वन्, केतुः प्रज्ञानामसु (निघ० ३।९।१) इति। अपेशसे सुवर्णादिधनरहिताय मनुष्याय पेशः सुवर्णादिधनं कुर्वन्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा मर्या अपेशसे पेशोऽकेतवे केतुं कृण्वन् संस्त्वं समजायथाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उषद्भिः सह प्रज्ञां श्रियं च कृण्वन्नित्यसङ्गतेः, मूले तादृशपाठाभावात्, मनुष्ये तादृशसामर्थ्याभावेन तादृशविधेरयोगाच्च ॥ ३७ ॥

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्वꣳ स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—इस प्रकार अग्नि की स्तुति करने के बाद अश्व की रक्षा के लिये योद्धा और युद्धोपकरणों की स्तुति की जाती है—जब कवच को धारण करने वाला योद्धा संग्रामों के बीच में जाता है, तब सेना का मुख मेघ के समान हो जाता है। हे कवचधारी, तुम अक्षत शरीर रह कर विजय प्राप्त करो, कवच की महिमा तुम्हारी रक्षा करे ॥ ३८ ॥

एवमग्निं स्तुत्वाश्वरक्षिणो योद्धारो युद्धोपकरणानि च स्तूयन्ते। भरद्वाजसुतः पायुः संग्रामाङ्गानि प्रत्यृचं स्तौति। अनया त्रिष्टुभा वर्म स्तूयते। यद् यदा वर्मी, वर्म विद्यतेऽस्येति वर्मी, कवचवान् समदां संमाद्यन्ति सह वा माद्यन्ते योद्धारो यासु ताः समदः संग्रामास्तासाम्, उपस्थे उत्सङ्गे याति, तदा प्रतीकं सेनामुखं जीमूतस्य मेघस्येव विद्युत्स्फुरित-स्तनयित्नु-धारानिकरैरसह्यं भवत्यन्तःसरणैः। एवं हस्त्यश्वपदातिमुखं निशितास्त्रगम्भीरतूर्यनिनादशरधाराभिरसह्यं भवति। तमुपलक्ष्य ब्रवीमि—हे वर्मिन्, अनाविद्धया तया अक्षतया अरिष्टया तन्वा शरीरेण त्वं जय। शत्रून् हत्वा विजयं प्राप्नुहि। स वर्मणो महिमा प्रभावस्त्वां पिपर्तु पालयतु।

अध्यात्मपक्षे—यद् यदा वर्मी चण्डीकवच-नारायणकवच-ब्रह्मात्मसाक्षात्कारलक्षणकवचयुक्तो वीरः साधकः समदामुपस्थे देवासुरसंग्रामाणामुपकण्ठे याति, तदा सेनामुखं जीमूतस्य मुखमिवासह्यं भवति। मेघस्य मुखं यथा विद्युत्स्तनयित्नुवारिधाराभिरसह्यं भवति, तथा कामक्रोधलोभदम्भमोहादिकृतशस्त्रास्त्रसङ्घातैरसह्यं भवति। अतो ब्रवीमि हे वर्मिन्, अनाविद्धया तन्वा शत्रून् जय, स वर्मणो महिमा त्वां पिपर्तु।

दयानन्दस्तु—'यद् यो वर्म्यनाविद्धया तन्वा समदामुपस्थे प्रतीकं याति, स जीमूतस्येव विद्युद् भवति। हे विद्वन्, त्वां वर्मणो महिमा पिपर्तु, स त्वं शत्रून् जय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थश्रियणसम्बन्धविप्रकर्षाभ्यामनुपपत्तेः। विद्युत्पदं तु मूले नास्त्येव। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव॥ ३८॥

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥ ३९॥

मन्त्रार्थ—योद्धागण धनुष के प्रताप से गोरूप धन को जीतें, धनुष के द्वारा राजमार्ग को जीतें, धनुष से उग्र शत्रु के संग्रामों को जीतें। यह धनुष शत्रु के मनोरथों को नष्ट कर देता है। इस धनुष से हम सब दिशाओं को जीतें॥३९॥

अनया त्रिष्टुभा धनुः स्तूयते। धन्वना धनुषा कृत्वा वयं गा धेनूर्जयेम। धन्वना धनुषा आजिम्, अजन्ति गच्छन्ति यस्मिन्नसावाजिर्मार्गस्तं जयेम। धन्वना च तीव्रा उग्रा उद्गूर्णायुधाः समदः संग्रामान् जयेम। धनुश्च शत्रोरपकामं कृणोति काममपनयति, कर्तृत्वविवक्षात्र धनुषि, मनोरथाभावमपकामं हतकामं वा करोत्वित्यर्थः। कामस्याभावोऽपकामम्, 'अव्ययं विभक्ति' (पा० सू० २।१।६) इत्यादिनाऽर्थाभावेऽव्ययीभावः। किञ्च, धन्वना धनुषा सर्वाः प्रदिशो जयेम। एवं महत्त्वं धनुष इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥' (मु० उ० २।४)। तादृशेन प्रणवात्मकेन धन्वना धनुषा गा इन्द्रियाणि जयेम। तेनैव धनुषा आजिं दुर्गमं साधनमार्गं जयेम। धन्वना तीव्रा उग्राः समदः कामाद्यरातिसङ्घर्षान् जयेम। धनुः शत्रोरपकामं मनोरथाभावं भग्नमनोरथत्वं करोतु। धन्वना च सर्वाः प्रदिशो जयेम, प्रणवोपासनया सर्वाभीष्टसिद्धेः श्रवणात्, 'एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्' (कठो० १।२।१६) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'देवा यथा वयं यद्धनुः शत्रोरपकामं कृणोति, येन च धन्वना गा धन्वनाजिं च जयेम, धन्वना तीव्राः समदो जयेम, धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम, तथा यूयमप्येतेन जयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तस्य रागास्पदत्वेनोपदेशानर्हत्वात्। तादृशं सम्बोधनं च निर्मूलमेव॥ ३९॥

वक्ष्यन्तीवेदागनीगन्ति कर्णं प्रियꣳ सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताऽधि धन्वन् ज्या इयꣳ समने पारयन्ती॥ ४०॥

मन्त्रार्थ—यह संग्राम में विजय दिलाने वाली प्रत्यंचा बहुत जोरों का शब्द करती है, स्त्री के समान अव्यक्त शब्द करती है, प्रिय बाणरूप सखा का आलिंगन करती है और कुछ कहना चाहती हुई-सी योद्धा के कान तक जाती है॥ ४०॥

ज्या स्तूयते त्रिष्टुभा। इयं ज्या मौर्वी धन्वन् धन्वनि धनुषि अधि उपरि वितता आतता सती शिङ्क्ते अव्यक्तं शब्दं करोति, 'शिजि अव्यक्ते शब्दे' अदादिः, 'इदितो नुम् धातोः' (पा० सू० ७।१।५८) इति नुमि रूपम्। योषेव यथा योषा वचनोत्सुकेव कामिनी कामुकरञ्जनायाव्यक्तं वदति, एवमियमव्यक्तं शब्दं करोति। कीदृशी ज्या? समने संग्रामे पारयन्ती, समनमिति संग्रामनामसु (निघ० २।१७।१६), संग्रामादुत्तारयन्ती विजयं कुर्वन्ती। या च ज्या योद्धुर्दक्षिणं श्रोत्रं प्रति आगनीगन्ति आकृष्टा सती अत्यर्थमागच्छति, गमेर्यङ्लुकि रूपम्। पुनः कीदृशी? वक्ष्यन्तीव वक्तुमिच्छन्तीव। यथा कश्चन गुप्तं मन्त्रं वक्तुं कर्णं प्रत्यागच्छति तद्वत्। प्रियं सखायं बाणरूपं परिषस्वजाना आलिङ्गन्ती, ष्वजेः शानचि शपः श्लौ द्वित्वे रूपम्। इत् पादपूरणार्थः। उव्वटाचार्योऽपि तथैवाह- या ज्या वक्ष्यन्तीव वचनोत्सुकेव योषिद् आगनीगन्ति धानुष्ककर्णमूलं प्रत्यत्यर्थमागच्छति, या च प्रियमिव सखायमिषुं परिषस्वजाना योषेव शिङ्क्ते, अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे - प्रणवो धनुस्तस्यैवाङ्गभूता शरप्रेरिता ज्यावज्जीवप्रेरिका चोदना, सा च ज्यारूपा चोदना धनुषि प्रणवविकारभूतायां विधिवाचि, अधिवितता अध्यारोपिता शिङ्क्ते अव्यक्तं शब्दं करोति प्रवर्तनाव्यापारं करोति। यथा योषित् पतिरञ्जनार्थमव्यक्तं कूजितं करोति, तद्वत्। कर्णं प्रति वचनोत्सुकेव धानुष्ककर्णमूलमिव आगनीगन्ति अत्यर्थमागच्छति। सेयं ज्या समने संग्रामे पारयन्ती स्वाभाविकपाशविकव्यापारान्निवारयन्ती प्रियं सखायमिव शरं जीवं परिषस्वजाना आलिङ्गन्तीव स्तूयते।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, येयं वितता धन्वन्नधि ज्या वक्ष्यन्ती वेदागनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं पतिं परिषस्वजाना योषेव शिङ्क्ते समने पारयन्ती वर्तते, तन्निर्मातुं बद्धुं चालयितुं च विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वात्, योषाशब्दस्य स्त्रीमात्रार्थत्वात्, गमेर्बोधार्थत्वे कर्णपदस्य नैरर्थक्यापाताच्च॥ ४०॥

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे।
अप शत्रून् विध्यताꣳ संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान्॥ ४१॥

मन्त्रार्थ—यह धनुष की कोटि एक पति में मन लगाने वाली स्त्री के समान आचरण करती है, परस्पर संकेत करती है। शत्रुओं पर टंकार करती हुई मानो यह कहती है कि मेरे मध्य भाग में बाण को चढ़ाओ, जैसे कि माता पुत्र को अपनी गोदी में चढ़ाती है। तब इसके बाद इस बाण से शत्रु पर प्रहार करो॥ ४१॥

अनया त्रिष्टुभा धनुषः कोटी स्तूयेते। ते प्रसिद्धे इमे आर्त्नी आर्त्न्यौ धनुःकोटी उपस्थे उत्सङ्गे मध्यभागे समना इव समने समानभर्तृगतमनस्के योषे इव, वचनव्यत्ययः, यथा तादृशे ते पतिमागच्छतः, तथा आचरन्ती आगच्छन्त्यौ धानुष्कं प्रति मातेव पुत्रं बिभृताम्, शरमिति शेषः। यथा माता उत्सङ्गे पुत्रं धारयति, तथा मध्यभागे शरं धारयताम् अप शत्रून् विध्यताम्, 'व्यध ताडने', अपविध्यतां शत्रून् ताडयताम्। संविदाने सुखमनुभवन्त्यौ। अमित्रान् शत्रून् विष्फुरन्ती टङ्कारं कुर्वाणे। संविदाने इति 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (पा० सू० १।३।२९) इत्यात्मनेपदित्वात् शानच्, परस्परं संकेतं कुर्वाणे बिभृतामित्यन्वयः।

अध्यात्मपक्षे अनेकासूपनिषत्सु पुराणेषु काश्यां मरणान्मुक्तिरिति सिद्धान्तो जागर्तितमाम्। तत्र धनुराकारा अनुगङ्गं काशी काशते। तत्रासीवरुणे द्वे नद्यौ धनुषः कोटी इव राजेते। गङ्गा धनुर्ज्येव शोभते। ते प्रसिद्धे इमे आर्त्नी आर्त्न्यौ उपस्थे उत्सङ्गे मध्यभागे बिभृतां धारयताम्, शरं जीवरूपं परमलक्ष्ये ब्रह्मणि वेधाय। तत्रैव दृष्टान्तः—माता पुत्रमिव, यथा जननी पुत्रमुत्सङ्गे बिभर्ति, तथा विध्यतां ताडयतां पापमविद्या-

परिवाररूपान् शत्रून्। कीदृश्यौ कोटी ? आचरन्ती आचरन्त्यौ आगच्छन्त्यौ धानुष्कं शिवं प्रति। तत्र दृष्टान्तः— समना योषेव, वचनव्यत्ययः, समानमेकपतिगतं मनो ययोस्ते तादृश्यौ योषे स्त्रियौ यथा कान्तमागच्छतः। संविदाने सङ्केतं कुर्वाणे अमित्रान् पापादिलक्षणान् प्रति विष्फुरन्ती टङ्कारं कुर्वाणे। एवमेव प्रणवधनुषोऽपि अकारमकारौ कोटी, ते अपि शरवज्जीवमुत्सङ्गे धारयतः, ब्रह्मात्मतादात्म्यसम्पादनाय तदैक्यप्रतिबन्धकानुपाधीन् समष्टिव्यष्टिरूपान् अमित्रान् विध्यताम्। अन्यदपि पूर्ववद्योज्यम्।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, ये योषा समनेव पतिं मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे आचरन्ती शत्रूनपविध्यताम्, इमे संविदाने आर्त्नी अमित्रान् विष्फुरन्ती वर्तेते, ते यथावत् सम्प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव। ते धनुर्ज्ये इत्यप्यसङ्गतम्, धनुष्येकस्मिन् ज्याया एकत्वेन द्वित्वस्यासाम्प्रतिकत्वात्। 'ते' इत्यपि 'आर्त्नी' इत्यनेन पदेन संसृज्यते। 'प्राप्यमाणे' इति तद्व्याख्यानमप्यसङ्गतम्, आर्त्निपदस्य धनुषः कोट्योः प्रसिद्धत्वात्॥ ४१॥

ब॒ह्वी॒नां पि॒ता ब॒हुर॑स्य पु॒त्रश्चि॒श्चा कृ॑णोति॒ सम॑नाऽव॒गत्य॑।
इ॒षु॒धिः सङ्काः॒ पृत॑नाश्च॒ सर्वाः॑ पृ॒ष्ठे निन॑द्धो जयति॒ प्रसू॑तः॥ ४२॥

मन्त्रार्थ—यह तरकस बहुत से बाणों का पालक है, उनको अपने में धारण करता है। इसके पुत्रों की संख्या बहुत है। संग्रामों में जाकर यह ची-ची शब्द करता है। पृष्ठ पर बँधा होने पर भी आज्ञा मिलने पर सब योद्धाओं के गति-स्थान युद्ध में शत्रु सेना पर विजय प्राप्त करता है॥ ४२॥

अनया त्रिष्टुभा इषुधिः स्तूयते। य इषुधिस्तूणो बह्वीनामिषूणां शराणां पिता पालयिता, तेन सहिताः पाल्यन्ते सहिताः सन्निदधति। यस्येषुधेर्बहुरिषुकलापः पुत्रः पुत्रतुल्यः, तेन परिपाल्यमानत्वात्, पुरून् बहून् त्रायत इति पुत्रः, स हि तेनेषुकलापेन त्रायत इति वा पुत्रः, बहु वा तदर्थं हितं करोतीति पुत्रः, स इषुधिः समना संग्रामानवगत्य ज्ञात्वा चिश्चाकृणोति चिश्चिचरिति शब्दं करोति। शब्दानुकरणमेतत्। निषङ्गान्निष्कास्यमाणो बाणश्चिश्चिचरिति शब्दं करोति। च पुनः, स इषुधिर्धानुष्केण पृष्ठे निनद्धो बद्धः प्रसूतोऽनुज्ञातः सन् सर्वाः पृतनाः शत्रुसेना जयति पराभवति। कीदृश्यः पृतनाः ? सङ्काः, सचन्ते सम्बद्ध्यन्ते सङ्कीर्यन्ते वा योधा यासु ताः सङ्काः। 'सङ्काः सचतेः, सम्पूर्वाद्वा किरतेः' (निरु० ९।१४) इति यास्कः। विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति वैयाकरणानां सिद्धान्तेन इषुधेः कर्तृत्वम्। सचन्ते समवयन्त्यास्विति सङ्काः, अथवा सङ्कीर्यन्त आस्वरय इति सङ्काः शत्रुसङ्कटम्। पृतनाश्च सर्वाः, प्रियन्ते सर्वावयवावच्छेदेन जना यत्र सा पृतना, प्रियतेर्बाहुलकात्तनन्, स्पर्धनीयतमाः संग्रामभक्तीः सर्वाः पृष्ठे निनद्धो धानुष्कस्य पृष्ठे बद्धः। प्रसूतो धानुष्केणाभ्यनुज्ञातः सन् जयतीत्याशास्महे—इत्युव्वटाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—यः समष्टिजीवरूपो हिरण्यगर्भः, स इषुधिरिव, जीवघनत्वात्, 'स एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्रश्नोप० ५।५) इति श्रवणात्। स बह्वीनां पृथक्चितीनां पिता पालयिता। बहुरिषुसमूहो जीवसमूहोऽस्य पुत्रस्थानीयः। स एव चिज्जीवसमूहस्य संज्ञानं करोति। समना सचेतनान्, विभक्तेराकारादेशः, अवगत्य ज्ञात्वा, पृष्ठे निनद्धः सर्वाः पृतनाः स्पर्धनीयतमाः कामक्रोधादिशत्रुसेनाः सङ्काः शत्रुसङ्कटं जयति। अधिष्ठानभूते ब्रह्मण्यध्यस्तो हिरण्यगर्भः पृष्ठे निनद्ध उच्यते। स च प्रसूतो ब्रह्मणाभ्यनुज्ञातः सर्वाः कामक्रोधादिपृतनाः सर्वाणि सङ्कटानि च जयति। हिरण्यगर्भस्यापरब्रह्मरूपत्वेन माहाभाग्यात् तदनुग्रहेण कामादिशत्रुसेनापराभवः सङ्कटनाशश्चानायासेन सम्पद्यते।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, यो बह्वीनां पितेवास्य बहुपुत्र इव पृष्ठे निनद्ध इषुधिः प्रसूतः सन् समनावगत्य चिश्चाकृणोति, येन वीरः सर्वाः सङ्काः पृतनाश्च जयति, तं यथावद् रक्षत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बह्वीनामित्यस्य प्रत्यञ्चाबोधकत्वे मानाभावात्, इषुधिशब्दसान्निध्येन बह्वीनामिषूणां बोधकत्वस्यैव न्यायप्राप्तत्वात् ॥ ४२ ॥

रथे॑ तिष्ठ॑न्नयति वा॒जिनः॑ पु॒रो यत्र॑ यत्र का॒मय॑ते सुषा॒रथिः॑ ।
अ॒भीशू॑नां महि॒मानं॑ पनायत॒ मनः॑ प॒श्चादनु॑यच्छन्ति र॒श्मयः॑ ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ— यहाँ आधे मन्त्र में सारथि की और आधे में बागडोर की स्तुति की गई है। रथ में बैठा हुआ अच्छा सारथि जहाँ-जहाँ चाहता है, रथ में जुते हुए घोड़ों को वहाँ पहुँचा देता है। उसके हाथ में विद्यमान बागडोर अश्व को अपने वश में रखती है, अतः हे मनुष्यों! इस बागडोर की महिमा का गान करो ॥ ४३ ॥

अत्र जगतीच्छन्दः। अर्धेन सारथिरर्धेन रश्मयः स्तूयन्ते। सुषारथिः शोभनः सारथिर्यन्ता यत्र यत्र प्रदेशे कामयते इच्छति, मयात्र गन्तव्यमिति तत्र तत्र पुरो वर्तमानान् वाजिनोऽश्वान् नयति प्रापयति। कीदृशः सुषारथिः? रथे तिष्ठन्, तं स्तुम इति शेषः। अथ रश्मयः स्तूयन्ते। हे जनाः, अभीशूनां प्रग्रहाणां महिमानं महाभाग्यं यूयं पनायत पूजयत। हे जनाः, ये रश्मयः प्रग्रहाः पश्चाद्वर्तमानाः सन्तो मनोऽश्वानां चित्तमनुयच्छन्ति, अनुगम्य गृह्णन्ति, वशवर्तिनं कुर्वन्ति।

अध्यात्मपक्षे—सुषारथिः शोभनः सारथिर्बुद्धिरूपो यत्र यत्र विषयेषु कामयते इच्छति, तत्र तत्र पुरोवर्तिनोऽश्वान् इन्द्रियरूपान् नयति प्रापयति। कीदृशः सुषारथिः? रथे शरीररूपे तिष्ठन्, शरीरस्यैव भोगायतनत्वात्। तं बुद्धिरूपं सारथिं स्तुमः। अथ रश्मयः स्तूयन्ते—हे साधकाः, यूयमभीशूनां प्रग्रहाणां महिमानं महाभाग्यं पनायत स्तुत। ये रश्मयः पश्चाद्वर्तमानाः सन्तो मनोऽश्वानां चित्तमनुयच्छन्ति निगृह्णन्ति, वशवर्तिनं कुर्वन्ति, इन्द्रियाणि नियच्छन्ति—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥' (कठोप० १।३-४)। यथा प्रग्रहाधीना हया भवन्ति, तथैव मनोऽधीनानीन्द्रियाणि भवन्ति। प्रग्रहस्तु सारथ्यधीनो भवति, तत एव सारथिस्तुतिवत् प्रग्रहस्तुतिरपि युक्तैव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, सुषारथी रथे तिष्ठन् यत्र यत्र कामयते, तत्र तत्र वाजिनः पुरो नयति। येषां मनः सुशिक्षितं हस्तगता रश्मयः पश्चादश्वाननुयच्छन्ति, तेषामभीशूनां महिमानं यूयं पनायत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, रश्मिषु रूढस्य अभीशुशब्दस्याभितः सद्योगन्तरि प्रवृत्त्यसम्भवात्। वाजिपदमपि अश्व एव रूढम्, अग्न्यादिषु तत्प्रयोगस्तु निर्मूल एव ॥ ४३ ॥

ती॒व्रान् घोषा॑न् कृण्वते॒ वृष॑पाणयोऽश्वा॒ रथे॑भिः स॒ह वा॒जय॑न्तः ।
अ॒व॒क्राम॑न्तः॒ प्रप॑दैर॒मित्रा॑न् क्षि॒णन्ति॒ शत्रूँ१॥रन॑पव्ययन्तः ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ— प्रस्तुत मन्त्र में घोड़ों की स्तुति की गई है। अश्वारार पुरुष जब जयघोष करते हैं, तब रथ में जुते हुए घोड़े खुरों से शत्रुओं पर आक्रमण करते हैं। ये घोड़े शत्रुओं का नाश करने में समर्थ हैं ॥ ४४ ॥

त्रिष्टुभाश्वाः स्तूयन्ते । वृषपाणयो वृषा अश्वाः पाणौ हस्ते येषां ते संग्रहीतृप्रभृतयो योक्तारश्च वाजयन्तो रथे युक्ताः सन्तो गच्छन्तः श्वसन्तश्च तीव्रान् जय जयेत्युग्रान् शब्दान् कृण्वते कुर्वन्ति, अश्वा अपि रथेभी रथैः सह वाजयन्तः पूजयन्तः, रथिन इति शेषः, तीव्रानेव घोषान् ह्रेषितादीन् कृण्वते । वजतेश्चौरादिकस्यात्र स्तुतौ वृत्तिः । 'वज-व्रजौ' चुरादावपीति माधवः । अवक्रामन्तः प्रपदैः पादाग्रैः, खुरैरिति यावत् । अमित्रान् शत्रून् क्षिणन्ति क्षिण्वन्ति हिंसन्ति । अनपव्ययन्तः, 'व्यय वित्तसमुत्सर्गयोः' अदन्तश्चुरादिः । अपपूर्वादस्मात् शता, अपव्ययन्तो नश्यन्तः, अपव्ययस्य नाशप्रायत्वात्, न अपव्ययन्तोऽनपव्ययन्तो न नश्यन्तः, अपरित्यजन्तो वा स्वामिनम् । यद्वा वृषपाणयोऽश्ववारा अश्वारोहिणोऽश्वनियन्तारो वा जय जयेति तीव्रान् शब्दान् कुर्वन्ति । अश्वा अपि रथेभी रथैः सह वाजयन्तो गच्छन्तस्तीव्रान् घोषान् ह्रेषितशब्दान् कुर्वन्ति, शत्रून् क्षिणन्ति नाशयन्ति । कीदृशा अश्वाः ? प्रपदैः पादाग्रैः खुरैरमित्रान् शत्रून् अवक्रामन्त आक्रामन्तोऽनपव्ययन्तोऽनश्यन्तः, समर्था इति यावत् । वाजिनः, स्वार्थे णिच् ।

अध्यात्मपक्षे—वृषपाणयो जितेन्द्रियाश्वास्तीव्रान् पापनाशकान् उग्रान् मन्त्रान् भगवन्नामशब्दान् कुर्वन्ति । अश्वा इन्द्रियाश्वा अपि रथेभी रथैर्देहैर्वाजयन्तो भगवन्तं पूजयन्तः प्रपदैः खुराग्रैः अमित्रान् अवक्रामन्तो भगवद्विषयैः स्वस्वव्यापारैः शत्रून् पापान् कामादीन् अरातींश्च क्षिणन्ति क्षिण्वन्ति नाशयन्ति । कीदृशा अश्वाः ? भगवद्विषयव्यापारैश्चानपव्ययन्तोऽनश्यन्तः, समर्थाः सन्तः, 'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥' (भ० गी० १०।९) इति भगवदुक्तेः । विषयविषयाः प्राणाः क्षीयन्ते, भगवद्विषयाश्च अनुपक्षीणाः सन्तोऽमित्रानवक्रामन्तः शत्रून् क्षिणन्ति हिंसन्ति ।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, ये वृषपाणयः, रथेभिः सह वाजयन्तः प्रपदैरमित्रानवक्रामन्तोऽश्वास्तीव्रान् घोषान् कृण्वते, अनपव्ययन्तः सन्तः शत्रून् क्षिणन्ति, तान् यूयं प्राणवत् प्रतिपालयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात् । वृषशब्दस्य बलिष्ठा वृषभादय इति गौण एवार्थः । पाणिशब्दस्य पाणिवद्रक्षका इत्याद्यर्थस्तथाविध एव, लक्षणादौ बीजाभावात् । यानादयस्तु स्वयं शीघ्रं चलन्तोऽपि न वीरान् चालयन्ति । प्रपदैः प्रकृष्टपारगमनैरित्यपि निर्मूलमेव ॥ ४४ ॥

रथवाहणꣳ हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म ।
तत्रा रथमुप शग्मꣳ सदेम विश्वाहा वयꣳ सुमनस्यमानाः ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—इस रथ का रथवाहन नाम है, शकट इसका हविर्धान है, जिसमें इस योद्धा के कवच और आयुध स्थापित हैं । योद्धाओं को सदा अनुकूल सुविधा देने वाले सुखदाता रथ को हम यहाँ स्थापित करते हैं ॥ ४५ ॥

रथस्तुतिः, त्रिष्टुप् । रथश्च शकटरूपः । अस्यानसो रथवाहणं नाम । रथं वहतीति रथवाहनम्, वाजपेयेऽनसि रथस्यारोप्यमाणत्वात् । तथास्य हविर्हविर्धानमिति द्वितीयं नाम । पृषोदरादित्वादुत्तरार्धलोपः । 'विमुच्य सयन्तृकꣳ रथवाहणे करोति, अनस्तत्कर्म' (का० श्रौ० १५।६।२७–२८) इति परमर्षिः कात्यायनः । 'तस्मादनस एव पौरोडाशिकेषु यजूꣳषि' इति च श्रुतिः । यत्र यस्मिन्ननसि योद्धुर्वर्म कवचमायुधं शस्त्रास्त्रादिकं निहितं स्थापितम्, तत्रानसि वयं रथमुपसदेम उपसादयामः कल्पयामः । कीदृशं रथम् ? शग्मं सुखकरम् । कीदृशा वयम् ? विश्वाहाः, विश्वेष्वहःस्विति विश्वाहा, विभक्तेर्डादेशः । सर्वदा सुमनस्यमानाः सु शोभनं मनो येषां ते सुमनसः, असुमनसः सुमनसो भवन्तीति, 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' (पा० सू० ३।१।१२) इति क्यङि

सलोपे शानचि रूपम्, अनुकूलचित्ता इत्यर्थः। तत्रेत्यत्र संहितायाम् 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—अस्य देहस्य रथवाहणमिति प्रथमं नाम, हविर्धानमिति द्वितीयं नाम। यत्रास्य साधकस्याज्ञानादिकमायुधम्, वर्म शत्रुप्रहारनिरोधकं कवचं नारायणकवच-शिवकवच-चण्डीकवचादिकं न्यासजालादिकं च निहितं स्थापितं भवति, तत्र वयं शर्म्म सुखकरं रथमुपसदेम उपसादयाम उपकल्पयामः, संसारपारगमनसाधनत्वात्। कीदृशा वयम्? विश्वाहाः सुमनस्यमानाः, सर्वदानुकूलचित्ता इत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, अस्य यत्र रथवाहनं हविरायुधमस्य वर्म च नाम निहितम्, तत्र सुमनस्यमाना वयं शर्म्मं रथं विश्वाहा उपसदेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हविःशब्देनाग्नीन्धनादिग्रहणस्य निर्मूलत्वात्। एवमुक्तदिशान्यदपि दूषणमूहनीयम् ॥ ४५ ॥

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ – रथ के रक्षकों की हम स्तुति करते हैं। रथ में आराम से बैठने वाले रक्षक अन्न और आयुध का संग्रह करते हैं। कष्ट को सहन करने की सामर्थ्य वाले अथवा आयुध को धारण करने योग्य गम्भीर बल और बुद्धि वाले, नाना प्रकार की सेना वाले, बाण के बल को धारण करने वाले, कठोर अवयव वाले, उग्र शासन के कर्ता, बल के प्रेरक, विशाल वक्षस्थल वाले ये योद्धा शूरवीरों के समूह को जीतते हैं ॥ ४६ ॥

रथगोपान् स्तौति - स्वादिति। ईदृशा नराः अस्माकं रथगोप्तारो भवन्त्विति शेषः। कीदृशाः? स्वादुषंसदः स्वादु सुखं यथा स्यात्तथा संसीदन्तीति तथोक्ताः। यद्वा स्वादु सुखकरं संसदनं येषां ते। पितरः पान्ति ते पितरः, पातेस्तृचि 'नप्तृनेष्टृ' (उ० २।९७) इति निपातनाद् धातोराकारस्य इकारः, रक्षितारः। वयोधा वयसोऽन्नस्य आयुषो वा धारयितारः। कृच्छ्रे श्रीयन्ते सेव्यन्ते ते कृच्छ्रेश्रितः, कर्मणि क्विप्, सप्तम्या अलुक् दुःखे सति प्राणिभिराश्रयणीयत्वात्, दुःखनाशकत्वात्। यद्वा सप्तमी द्वितीयार्थे, कृच्छ्रं श्रयन्तीति कृच्छ्रेश्रिताः, दुःखं प्राप्यापि स्वामिसेवनतत्पराः। शक्तीवन्तः शक्तिः सामर्थ्यमायुधविशेषो वा अस्ति येषां ते, 'अश्वराशीमति' (प्रा० शा० ३।९८) इत्यादिसूत्रेण वकारे परे शक्तिशब्दस्य दीर्घः। गभीराः, गम्भीरं बलं प्रज्ञानं वा अस्ति येषां ते, 'गभीरगम्भीरौ' (उ० ४।३६) इति निपातनात् साधु, ततोऽच्प्रत्ययः। चित्रसेनाः, चित्रा नानाविधा हस्त्यश्वरथादियुताः सेना येषां ते। इषुबलाः, इषुभिर्बाणैर्बलं येषां ते, विशिष्टबाणबला इत्यर्थः। इषुषु विशेषतो वा बलं येषां ते तथोक्ताः। अमृध्रा अमृदवः, उग्रशासना इत्यर्थः, कठिनाङ्गा वा। सतोवीराः सतः प्रशस्तस्याश्वमेधस्य वीरा अश्वमेधसम्बन्धिवीरा इत्यर्थः। यद्वा सतो विद्यमानस्य बलस्य विविधमीरयितारः, शूरा इत्यर्थः, षष्ठ्या अलुक्। उरवो विशालाः पृथुजघनोरस्का उरुमनस्का वा। व्रातसाहाः, व्रातान् शूरसमूहान् गणान् वा सहन्तेऽभिभवन्ति ये ते तथोक्ताः, 'अभिमातिपृतना' (शु० य० प्रा० ३।६।२७) इत्यादिना सहेरुपधादीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—शमदमादयः परमार्थमार्गसहायका अपेक्ष्यन्ते। तेषामेव विशेषणानि। शमदमादीनां संसदनं स्वादु सुखकरं भवति। ते च पितरः पातारो भवन्ति। ते च वयोधा आयुषो धातारो भवन्ति, अजितेन्द्रियाणामदान्तमनस्कानामल्पायुष्ट्वदर्शनात्। कृच्छ्रे सत्याश्रयणीया भवन्ति, तदानीं तदन्यस्य

दुःखनाशकत्वायोगात् । शक्तीवन्तोऽपारसामर्थ्याः, गभीरा गम्भीरं बलं प्रज्ञानं वा यत्र ते, चित्रसेनाश्चित्रा विविधाः क्रोधकामादिनिवारकाः सेना भटानां समूहा येषां ते, इषुबला इषुभ्योऽप्यधिकबलवन्तः, अमृध्राः कठिनाङ्गाः, सतोवीराः सतो ब्रह्मणः प्रापकाः । उरवो विशालाः । व्रातसाहा व्रातान् कामादिगणान् सहन्ते ये ते तथोक्ताः ।

दयानन्दस्तु—'हे योद्धारो वीराः, यूयं ये स्वादुसंसदो वयोधाः कृच्छ्रेश्रिताः शक्तीवन्तो गम्भीराश्चित्रसेना उरुबला उरवो व्रातसाहाः सतोवीराः पितरः स्युः, तानाश्रित्य युद्धं कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, तानाश्रित्य युद्धं कुरुतेत्यादीनां मन्त्रेऽभावाच्च, विशेषणानां राजपुरुषेष्वसङ्गतेश्च । स्वादुषु भोज्याद्यन्नेषु सम्यक् सीदन्तीति व्याख्यानमपि निर्मूलम्, सर्वेषामेव तथात्वसम्भवात्, स्वाद्वन्नभोजने समेषां रागात् प्रवृत्तेः । अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ४६ ॥

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा ।

पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशंᳪस ईशत ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—ब्राह्मणगण, सोमपान करने वाले पितृगण और सत्य की वृद्धि करने वाले देवगण हमारी रक्षा करें। सबका कल्याण करने वाले, अपराधों से दूर रखने वाले पृथ्वी, स्वर्ग और सूर्य हमारी रक्षा करें, पापों से हमारी रक्षा करें। कोई दुष्ट हमसे बढ़कर ऐश्वर्य को न प्राप्त कर सके ॥ ४७ ॥

जगती, लिङ्गोक्तदेवता । ऋतावृध इत्यादिः प्रत्यक्षकृतः, ब्राह्मणास इत्यादिः परोक्षकृतः । ऋतावृध ऋतं सत्यं यज्ञं वा वर्धयन्ति ये ते ऋतावृधः, संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः । देवा इति सामर्थ्यादध्याहारः । रक्षा रक्षतेति वचनव्यत्ययः । संहितायाम् 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः । माकिः, मा कश्चन अघशंसः पापी नोऽस्माकमीशत ईष्टे ऐश्वर्यं मा करोतु । वयं तद्वशा मा भूमेत्यर्थः । अघं पापं शंसति वक्ति प्रकाशयतीति वा तथोक्तः । दुष्ट ईशतेत्यपि वचनव्यत्ययः । भवत्प्रसादाच्च ब्राह्मणासो ब्राह्मणा नोऽस्मान् पातु पान्तु, वचनव्यत्ययः । पितरश्च पान्तु रक्षन्तु । कीदृशाः पितरः ? सोम्यासः सोमसम्पादिनः सोमपानयोग्याः । द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ नः पाताम् । कीदृश्यौ ? शिवे कल्याणकारिण्यौ । अनेहसा अनेहसौ, ईहते जनः स्वाभाविक्या रागोपहतया बुद्ध्या कर्तुं यत् तद् एह, औणादिकोऽसुन्, बाहुलकाद् ईकारस्य एकारादेशः, पापमपराधो वेत्यर्थः । नास्ति एहो ययोस्ते तथोक्ते, अनुपहिंसिन्यौ, अपराधनिवर्तिके वा । किञ्च, पूषा सूर्यो नोऽस्मान् दुरितात् पातु रक्षतु ।

अध्यात्मपक्षे—ऋतं सत्यं यज्ञं वा वर्धयन्ति ये ते ऋतावृधः परमेश्वराः, पूजायां बहुवचनम् । हे ऋतावृधः परमेश्वराः, रक्षा रक्षत । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्, परमेश्वरस्य सर्वान्तर्यामित्वात्, सर्वेषामभ्यर्थनायास्तत एव पूर्तिसम्भवात् । भगवत्प्रसादाच्च ब्राह्मणादयोऽस्मान् पान्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, हे सोम्यास ऋतावृधः पितरो ब्राह्मणासस्ते विद्वांसो नः कल्याणकरा अनेहसा द्यावापृथिवीं च शिवे भवतः । पूषा परमात्मा नो दुरितात् पातु । यतो नो हिंसितुमघशंसो माकिरीशत तान् रक्ष स्तेनान् जहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नः कल्याणकरा इत्यस्य मन्त्रबाह्यत्वात्, सोम्यास आनन्दकारकगुणयोग्या इति हिन्दीव्याख्यानस्य निर्मूलत्वाच्च, द्यावापृथिव्योस्त्वद्रीत्या जडत्वेन कल्याणकरत्वायोगाच्च । ब्राह्मणासो वेदेश्वरविद इत्यपि निर्मूलम्, 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० सू० ६।४।१७१) इति विरोधात् । स्तेनान् जहीत्यपि मन्त्रबाह्यमेव ॥ ४७ ॥

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता ।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—जो बाण श्रेष्ठ पक्षी के पंख को धारण करता है, उस बाण का फलक शत्रुओं को खोजता है और किरणों से सन्नद्ध धनुषधारी से प्रेरित होकर शत्रुसेना पर गिरता है। जहाँ योद्धागण जाते हैं, नाना प्रकार की गति करते हैं, उस युद्ध में बाण हमारे सहायक हों ॥ ४८ ॥

द्वाभ्यामिषुं स्तौति। आद्या त्रिष्टुबपराऽनुष्टुप्। या इषुः सुपर्णं पक्षिपिच्छं वस्ते आच्छादयति, 'वस आच्छादने' सुष्ठु शोभनं पर्णं पिच्छं यस्य सः, सुपर्णः पक्षी, तस्य विकारोऽपि सुपर्णः, 'कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (निरु० २।५) इति यास्कोक्तेः सुपर्णशब्देन तत्पिच्छं गृह्यते, बाणपुच्छे पिच्छस्य आरोप्यमाणत्वात्। यस्या अस्या इषोर्मृगो मृगयते वेध्यमिति मृगो दन्तः, मृगयतेऽन्विष्यति रिपून् हन्तुमिति मृगः। 'मृग अन्वेषणे' चुरादिरदन्तः, पचाद्यच्, 'मृगमयोऽस्या दन्तो मृगयतेर्वा' (निरु० ९।१९) इति यास्कोक्तेः। दन्तः फलं शल्यम्। तच्च वेध्यस्य मार्गणान्मृग उच्यते। किञ्च, या इषुर्गोभिर्गोविकारैः स्नायुभिः सन्नद्धा बद्धा प्रसूता धनुष्मता प्रेरिता सती पतति, शत्रुबलं प्रति गच्छति। यत्र नरो योद्धृपुरुषाः सं च वि च द्रवन्ति सन्द्रवन्ति सम्यग्गच्छन्ति, विद्रवन्ति विविधं प्रसरन्ति च। चकारौ समुच्चयार्थौ। तत्र रथे इषवो बाणा अस्मभ्यं शर्म सुखं यंसन् यच्छन्तु, सुखं दधत्वित्यर्थः। 'यमु उपरमे' इत्यस्माल्लेटि 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिबागमे, अनुबन्धलोपे तिपि इकारलोपे, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे यंसदिति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे या प्रत्यक्चितिरूपा इषुः सुपर्णं वस्ते सुपर्णपिच्छं परिधत्ते, तेनैव परमेश्वरवज्जीवोऽपि सुपर्ण उच्यते, 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रवर्णात्। अस्या इषोः सोपाधिकस्य जीवस्य फलं वृत्त्यभिव्यक्तः प्रकाशो मृगो लक्ष्यं ब्रह्मभूतं मृगयते। या चेषुर्गोभिरिन्द्रियैर्बद्धा उपहिता प्रसूता प्रणवधनुःसन्धात्रा प्रेरिता पतति लक्ष्यं प्रति गच्छति, यत्र च नरः साधकाः सन्द्रवन्ति सम्यग्गच्छन्ति वि च द्रवन्ति विविधं प्रसरन्ति, तत्र साधनाभ्यासे धनुष्मतेव प्रेषितोऽस्मभ्यं साधकेभ्यः, इषव इषुः यंसत् शर्म ब्रह्मरूपं सुखं प्राप्योपरतो भवति, 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्' (मु० उ० २।२।४) इति श्रुतेः। अत्र पदपाठे 'यंसन्' इत्येव पठ्यते वैदिकैः। अत्र जीव एव साधकरूपेण धानुष्को भवति। स एव शररूपो भवति, लक्ष्यं ब्रह्म प्राप्य तन्मयतायां जातायामपि तत्प्राप्तिसुखानुभवितृत्वेन चिदाभासस्य साधकस्य विद्यमानत्वात्। अतः परोक्षाप[रो]क्षे ज्ञाने जीवन्मुक्तिर्निरङ्कुशा तृप्तिरित्यादिकमपि साधकैः प्राप्येत।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, यत्र सेवायां नरो नायकाः स्युः, या सुपर्णं वस्ते, यत्र गोभिः सह दन्तो मृग इव इषवो धावन्ति, या सन्नद्धा प्रसूता शत्रुषु पतति, इतस्ततश्चास्या वीराः संद्रवन्ति विद्रवन्ति च, तत्रास्मभ्यं भवन्तः शर्म यंसन्' इति, तदप्यसत्, विसङ्गतेः, गृहादिष्वपि तत्सङ्गत्या विनिगमनाविरहाच्च। वस्ते धरतीत्यप्यशुद्धम्, धात्वर्थविरोधात्। यो मार्ष्टि कस्तूर्या स मृग इत्यप्यसङ्गतम्, हरिणादावपि तत्प्रयोगदर्शनात्। सह दान्तो मृग इव इषवो धावन्तीत्यपि निर्मूलमेव, धावन्तीति क्रियापदस्य मन्त्रेऽदर्शनात्, गोभिः सहेत्यस्य स्वारस्यानुक्तेः, मूले इवपदासत्त्वाच्च। 'तत्र सेनायामस्मभ्यं शर्म भवन्तो यच्छन्तु' इत्यप्यसङ्गतम्, इषव इत्यस्य कर्तृत्वेनान्वये सति भवन्त इत्यस्याध्याहारे श्रुतहान्यश्रुतकल्पनादिप्रसङ्गात्। दन्त इत्यस्य स्थाने दान्त इति कल्पनापि निर्मूलैव ॥ ४८ ॥

ऋजी॑ते॒ परि॑वृङ्ग्धि॒ नोऽश्मा॑ भवतु न॒स्त॒नूः ।
सोमो॒ अधि॑ ब्रवीतु॒ नोऽदि॑ति॒ः शर्म॑ यच्छतु ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—हे ऋजुगामी बाण, तुम हमें छोड़ दो, अर्थात् हमारे ऊपर प्रहार मत करो। हमारा शरीर पाषाण के समान दृढ़ हो जाय। ईश्वर हमारी रक्षा करें। भगवती अदिति हमें सुख दें ॥ ४९ ॥

हे ऋजीते ऋजुः सरला ईतिर्गतिर्यस्याः सा ऋजीतिः, टिलोप आर्षः, तत्सम्बुद्धौ । हे इषो, नोऽस्मान् परिवृङ्ग्धि परिवर्जय, अस्मासु मा पतेत्यर्थः । नोऽस्माकं तनूः शरीरम्, अश्मा अश्मवत् पाषाणवत् सुदृढा भवतु । सोमो नोऽस्मानधिब्रवीतु, अधिकान् वदतु । अदितिश्च देवमाता शर्म शरणं सुखं वा यच्छतु ददातु ।

अध्यात्मपक्षे—हे ऋजीते ऋजुगामिनि प्रत्यक्चिते, हे इषो, नोऽस्मान् साधकान् परिवृङ्ग्धि परिवर्जय, रक्ष व्यसनादिभ्य इति यावत् । प्रत्यक्चिते राजराजेश्वरीरूपत्वात् परप्रेमास्पदत्वात् परमानन्दरूपत्वाच्च त्वत्प्रसादान्नोऽस्माकं तनूः शरीरम् अश्मा वज्रोपमा भवतु । त्वत्प्रसादादेव सोमोऽस्मानधिब्रवीतु, अदितिरखण्डनीया परचितिर्नः शर्म शरणं यच्छतु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वमृजीते सरलव्यवहारे नोऽस्माकं शरीराद् रोगान् परिवृङ्ग्धि परिवर्जय । यतो नस्तनूर्नोऽस्माकं शरीरमश्मा भवतु । यः सोमोऽस्ति, तं या चादितिरस्ति, ते भवान्नोऽधिब्रवीतु नः शर्म यच्छतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, रोगानिति पदस्य मूलेऽभावात् । अदितिः सोमश्च कर्तृपदे । अध्याहारेण तयोः कर्तृत्वापादनमपि निर्मूलमेव ॥ ४९ ॥

आ ज॑ङ्घन्ति॒ सान्वे॑षां ज॒घना॑ँ२ । उप॑ जिघ्नते ।
अश्वा॑जनि॒ प्रचे॑त॒सोऽश्वा॑न् स॒मत्सु॑ चोदय ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में चाबुक की स्तुति की गई है। हे कशे, संग्रामों में तुम शूर मन वाले बहादुर घोड़ों को हमारी विजय के लिये प्रेरित करो। इन घोड़ों के सानुतुल्य मांसल अंगों का हम ताड़न करते हैं, कटिभाग का ताड़न करते हैं ॥ ५० ॥

अनुष्टुप् । कशास्तुतिः । हे अश्वाजनि, अश्वा अज्यन्ते क्षिप्यन्ते यया सा अश्वाजनी, तत्सम्बुद्धौ । हे कशे, 'अज गतौ क्षेपणे च', समत्सु संग्रामेषु त्वमश्वान् चोदय प्रेरय, जयायेति शेषः । कीदृशानश्वान् ? प्रचेतसः प्रकृष्टं शूरं चेतो मनो येषां ते प्रचेतसः, तान् परिदृष्टकारिणः, प्रकृष्टज्ञानान् वा । हे कशे, यथा त्वया अश्ववारा अश्वारोहिण एषामश्वानां सानु सानूनि सानुतुल्यानि मांसोपचितान्यङ्गानि, आजङ्घन्ति आघ्नन्ति ताडयन्ति, जघनान् कटिभागान्, उपजिघ्नते निघ्नन्ति, अश्वारोहा यथाश्वान् वशयन्ति, तथा त्वमश्वान् प्रेरयेति भावः ।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रियाश्वा अज्यन्ते क्षिप्यन्ते यया सा कशा श्रद्धारूपा, तत्सम्बुद्धौ हे अश्वाजनि ! समत्सु संसारसङ्गरेष्विन्द्रियाश्वान् चोदय । कीदृशान् ? प्रचेतसः प्रकृष्टज्ञानान् । येषामेषामश्वानामश्वारोहाः सानु सानूनि सानुतुल्यान्युपचिताङ्गान्याघ्नन्ति, येषामेषां जघनान् कटिप्रदेशान् उपजिघ्नते निघ्नन्ति, तानश्वान् प्रेरयेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे अश्वाजनि विदुषि राज्ञि, यथा वीरा एषां सानु आजङ्घन्ति जघनानुपजिघ्नते, तथा त्वं समत्सु प्रचेतसोऽश्वान् प्रचोदय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विरोधात्। 'या अश्वान् जनयति सुशिक्षितान् करोति, तत्सम्बुद्धौ हे अश्वाजनि' इति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्, धात्वर्थविरोधाच्च। नहि जननं शिक्षणमिति प्रसिद्धम्, अश्वाजनीत्यत्र दीर्घस्य स्त्रीलिङ्गस्य च स्वारस्यानुपपत्तिः। जघनान् यून इत्यपि निर्मूलम्, स्वारस्यशून्यं च ॥ ५० ॥

अहि॑रिव भो॒गैः पर्ये॑ति बा॒हुं ज्याया॑ हे॒तिं प॑रि॒बाध॑मानः।
ह॒स्त॒घ्नो विश्वा॑ व॒युना॑नि वि॒द्वान् पुमा॑न् पुमा॑ᳬसं॒ परि॑पातु वि॒श्वतः॑ ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ प्रस्तुत मन्त्र में हस्तघ्न की स्तुति करते हुए कहा गया है कि सब ज्ञानों का ज्ञाता शूर खेटक या प्रकोष्ठ-त्राण मेरी सब ओर से रक्षा करे, जो कि ज्या के प्रहार का निवारण करता है और भुजा को उसी तरह से घेरे रहता है, जैसे सर्प अपने देह से हाथ आदि को ॥ ५१ ॥

हस्तघ्नः स्तूयते। सप्त त्रिष्टुभः। हस्तघ्नो हस्ते स्थित एव हन्तीति हस्तघ्नः खेटकः, अथवा हस्तं हन्ति प्राप्नोतीति हस्तघ्नः प्रकोष्ठत्राणं पुमांसमक्लीबं मां विश्वतः सर्वतः परिपातु रक्षतु। कथम्भूतो हस्तघ्नः? विश्वा विश्वानि सर्वाणि वयुनानि ज्ञानानि विद्वान् जानानः, अर्थात् सर्वज्ञानोपेतः, परिदृष्टकारी वा पुमान् शूरोऽक्लीबो वा। यश्च अहिरिव सर्प इव भोगैः स्वशरीरावयवैः कृत्वा बाहुं पर्येति हस्तादिकं वेष्टयति। यथा सर्पो भोगैः स्वदेहैर्हस्तादिकं परिवेष्टयति, तथा यः स्वशरीरावयवैर्बाहुं परिवेष्टयति। पुनः कीदृशः? ज्यायाः प्रत्यञ्चाया हेतिं बाणं शत्रुप्रेरितं परिबाधमानो निवर्तयन्, यद्वा ज्याया आयुधविशेषाद् हेतिं बाणं परिबाधमानः। प्रकोष्ठत्राणपक्षे तु ज्याया हेतिं घातं प्रहारं निवारयन्, प्रकोष्ठत्राणस्य ज्याघातनिवारकत्वात्। यद्यपि जडभूतो हस्तघ्नो न सर्वज्ञो न वा प्रार्थनां शृणोति, तथापि तदधिष्ठातृभूता देवतैवात्र स्तूयते, माहाभाग्याच्च सा सर्वं कर्तुं प्रभवत्येव।

अध्यात्मपक्षे—यो देवोऽकारणकारुण्यवशाद् हस्तं हन्ति प्राप्नोति, हस्तप्राप्त इव सुलभोऽस्ति, स परमेश्वर एव हस्तघ्न उच्यते। स एवात्र स्तूयते। एतादृशो हस्तघ्नो भगवान् मां पुमांसं पुरुषार्थरतं विश्वतः सर्वतः परिपातु रक्षतु। कीदृशः? विश्वानि वयुनानि विज्ञानानि विद्वान् जानन्। सर्वज्ञः पुमान् शूरः। यश्च अहिरिव सर्प इव भोगैः स्वशरीरावयवैर्बाहुं पर्येति परिवेष्टयति स्वशरीरं कवचं कृत्वा भक्तं पालयति, यथा श्रीरामो रावणेनामोघशक्त्या हन्यमानं विभीषणं पृष्ठतः कृत्वा स्वात्मानमग्रतः कृत्वा तं रक्षितवान्, तथा रक्षति। ज्यायाः प्रत्यञ्चाया हेतिमाघातं परिबाधमानो निवर्तयन्। ज्याया हेतिमित्याभ्यां पदाभ्यां विविधायुधप्रहारो लक्ष्यते। तेन शत्रुकृतविविधायुधप्रहारं परिबाधमानः, निवर्तयन्नित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्य, यो हस्तघ्नो यो हस्ताभ्यां हन्ति स विद्वान् पुमान् पुरुषार्थी भवान् ज्याया हेतिं बाणं प्रक्षिप्य बाहुं बाधकं शत्रुं परिबाधमानः पुमांसं विश्वतः परिपातु। योऽहिरिव मेघ इव भोगैर्विश्वा वयुनानि पर्येति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बाहुपदस्य बाधकशत्रुबोधकत्वे मानाभावात्। हेतिं प्रक्षिप्येत्यध्याहारस्यापि निर्मूलत्वमेव, बीजाभावात्। अहिरिव भोगैरित्यप्यसम्बद्धमेव। यत्तु टीकायां गर्जन्निवेत्युक्तम्, तदपि मन्त्रबाह्यमेव। भोगैर्विश्वा वयुनानि पर्येतीत्यपि निर्मूलम्, भोगानां ज्ञानसाधनत्वाश्रवणात् ॥ ५१ ॥

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
गोभिः सन्नद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ – हे वनस्पति के विकार काष्ठमय रथ, तुम्हारे अंग दृढ़ हों । तुम्हारा सखा संग्राम के पार पहुँचने वाला रथी योद्धा रत्नों की किरणों से सन्नद्ध हो । तुम शत्रुओं को स्तम्भित कर दो, तुम्हारा वीर रथी जेतव्य शत्रु पर विजय प्राप्त करे ॥ ५२ ॥

तिस्र ऋचो रथदेवत्याः । हे वनस्पते ! वानस्पत्यकाष्ठमयरथ, 'ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (निरु० २।५) इति वनस्पतिशब्देन रथ उच्यते। त्वं वीड्वङ्गः, वीडूनि दृढान्यङ्गान्यवयवा यस्य स तथा भूयाः, 'दृढाङ्गो हि भव' (निरु० ९।१२) इति यास्कः । कथम्भूतस्त्वम् ? अस्मत्सखा अस्माकं मित्रभूतः । प्रतरणः प्रतरति संग्रामपारं गच्छतीति तथोक्तः । सुवीरः शोभनो वीरो रथी यस्मिन् सः । किञ्च, हे वनस्पते ! हि यतस्त्वं गोभिर्गोविकारैश्चर्मभिः सन्नद्धो बद्धोऽसि, अतो वीडयस्व आत्मानं संस्तम्भयस्व । आस्थाता ते तव संस्थाता आरोढा रथी जेत्वानि जेतव्यानि शत्रुधनानि जयतु स्वायत्तं करोतु ।

अध्यात्मपक्षे—हे वनस्पते ! संसारवृक्षोपलक्षित तदधिष्ठानभूत परमेश्वर, त्वं वीड्वङ्गो दृढाङ्गो भूयाः । त्वमस्मत्सखा अस्माकं मित्रभूतः प्रतरणः प्रतरति संसारसागरमनेनेति तथोक्तः, अधिष्ठानसाक्षात्कारेणैव संसार-बाधात् । सुवीरः शोभना वीरा यस्मिन् स त्वं गोभिः सन्नद्धः परिवृतोऽसि, श्रीकृष्णरूपेण तवैव गोपालत्वात् । त्वमात्मानं वीडयस्व स्तभान, त्वत्स्थित्यैव त्वदधिष्ठितानां स्थितिसम्भवात् । आस्थाता ते त्वामाश्रित्य स्थितो जेत्वानि जेतव्यानि कामादीनि जयतु ।

दयानन्दस्तु—'हे वनस्पते, त्वमस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरो वीड्वङ्गो हि भूयाः, यतो गोभिः सन्नद्धोऽसी-त्यतोऽस्मान् वीडयस्व । त आस्थाता वीरो जेत्वानि जयतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थश्रयणस्यैव दूषणत्वात्, यास्कादिव्याख्यानविरोधाच्च । पृथिव्यादिभिः सर्व एव सम्बद्ध इति तैः सह सन्नद्धत्वे विशेषाभावात् ॥ ५२ ॥

दिवः पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतꣳ सहः ।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रꣳ हविषा रथं यज ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अध्वर्यु, तुम स्वर्ग और पृथ्वी से उद्धृत, तेजोमय वृक्षों से बने हुए, बलरूप जल के सार, दिव्य किरणों से वेष्टित, वज्र से उत्पन्न रथ का हविप्रदान द्वारा यजन करो ॥ ५३ ॥

हे अध्वर्यो, त्वं हविषा रथं रथाधिष्ठातारं देवं यज । कीदृशं रथम् ? दिवो द्युलोकात् पृथिव्या भूमेः सकाशाच्च यदोजस्तेजः परि सर्वत उद्भृतम् उद्धृतम्, यच्च वनस्पतिभ्यो वृक्षेभ्यः सकाशात् परि सर्वत आभृतमानीतं सहो बलम्, यच्च अपां जलानां सम्बन्धि, तथा ओज्मानमोजःपरिमाणं तेजःसारभूतं वा । ओजःशब्दाद् आचारक्विपि धातुत्वात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिनि ओज्मेति, तम् । द्यावापृथिवीवृक्षजलानां तेजश्चतुष्टयेन निर्मितमित्यर्थः । पुनः कीदृशम् ? रथम्, गोभिः किरणैः पर्यावृतं वेष्टितम्, तेजोनिर्मितत्वात् । यद्वा गोभिर्गोविकारैश्चर्मभिर्वेष्टितम्, तथा इन्द्रस्य वज्रम् इन्द्रवज्रादुत्पन्नम्, 'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार । स प्रहृतश्चतुर्धाऽभवत्तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा यूपस्तृतीयं वा यावद्वा रथस्तृतीयं वा

यावद्वाथ यत्र प्राहरत्तच्छकलोऽशीर्यत स पतित्वा शरोऽभवत्तस्माच्छरो नाम यदशीर्यतैवमु स चतुर्धा वज्रोऽभवत् ॥ ततो द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति द्वाभ्यां राजन्यबन्धवः' (श० १।२।४।१-२) इति श्रुतेः । एतदभिप्रायस्तु — इन्द्रो यदा वृत्राय वज्रं प्रजहार तदा वृत्रशरीरकाठिन्येन प्रतिहृतं वज्रं चतुर्धा जातम्—(१) यूपः, (२) स्फ्यः, (३) रथः, (४) शरश्चेति । तत्र यूपस्फ्यौ विप्रैर्गृहीतौ, रथशरौ राजन्यैरिति । ईदृशं रथं रथाधिष्ठातारं देवं यजेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अध्वर्यो, त्वं वनस्पतिविकारभूतं रथं यज । वनस्पतिः संसारवृक्षाधिष्ठानभूतः संसारमूलमतः परमात्मैव, 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥' (भ० गी० १५।१) इति गीतोक्तेः । ऊर्ध्वमुत्कृष्टं कारणत्वाद् व्यापकत्वात् सूक्ष्मत्वात् प्रकाशकत्वात् परब्रह्म मूलं यस्य तत्, अधःशाखम् अधःपदवाच्यानि महदादीनि शाखास्थानीयानि यस्य तत्, छन्दांसि गायत्र्यादीनि यस्य पर्णानि पत्राणि, तं तादृशं समूलं वृक्षं प्रतिक्षणं कालासिना छिद्यमानं यो वेद स वेदवित् । वेदार्थभूतब्रह्ममूलत्वात् समूलाश्वत्थविज्ञानेन ब्रह्मैव विज्ञातं भवति । कीदृशं रथम् ? दिवः पृथिव्याः परित उद्भृतम् उद्धृतम् । ओजस्तेजोभूतं वनस्पतिभ्यश्च पर्याभृतम् । सहो वनस्पतिसकाशाच्च परित आहृतं सहो बलम् अपामोज्मानं च अपां सम्बन्धि ओजःपरिणामं च, उपलक्षणमेतत् सर्वेषामपि पदार्थानाम्, सारभूतं तं रथं रमणीयं गोभिः परिवृतं श्रीकृष्णरूपेण गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं वज्रवद् दुर्भेद्यं तादृशं रथं रमणीयं भगवन्तं यजेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं दिवः पृथिव्या उद्भृतमोजः परियज । वनस्पतिभ्य आभृतं सह परियज । अपां सकाशादोज्मानं च परियज । इन्द्रस्य गोभिरावृतं वज्रं रथं हविषा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरर्थकत्वात्, कस्यचिन्मनुष्यस्य तादृशसामर्थ्यासम्भवात् । सूर्यात् पृथिव्या ओजस उद्धरणे तस्यान्येभ्यो दानस्य च मनुष्ये सामर्थ्यादृष्टेः । तथैव वटादिवनस्पतिभ्यः सहस आभरणम्, अपां सम्बन्धनम्, पराक्रमस्य सङ्कलनमन्यत्र सञ्चारणं च न मानवशक्तिगम्यम्, अलौकिकशक्तीनां देवानां त्वयाऽनङ्गीकाराच्च ॥ ५३ ॥

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—हे देव रथ, तुम वज्र से उत्पन्न हो, जयदाता मरुद्गण के साधक, सूर्य के गर्भरूप और वरुण के नाभिरूप हो । तुम हमारी दी हुई इन हवियों का सेवन करो, उनका ग्रहण करो ॥ ५४ ॥

हे रथ हे देव, स त्वं हव्या हव्यानि हवींषि प्रतिगृभाय प्रतिगृहाण, गृह्णातेः 'हलः श्नः शानज्झौ' (पा० सू० ३।१।८३) इत्यनुवृत्तौ, 'छन्दसि शायजपि' (पा० सू० ३।१।८४) इति हौ परे श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशे, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ८।२।३२, वा० १) इति हकारस्य भकारे रूपम् । इन्द्रस्य वज्रोऽसि, वज्रोत्पन्नत्वात् । मरुतां देवानामनीकं मुखमसि, देवानां जयप्रापकत्वात् । मित्रस्य देवस्य गर्भोऽसि, गीर्यते स्तूयत इति गर्भः, 'अर्तिगृभ्यां भन्' (उ० ३।१५२) इति गृणाते रूपम् । वरुणस्य नाभिः, नह्यते बध्यतेऽरिरनेनेति नाभिः, 'नहो भश्च' (उ० ४।१२७) इति इञ्प्रत्यये हकारस्य भकारे च रूपम्, वरुणस्य देवस्य बन्धनसाधनम्, नोऽस्माकमिमां हव्यदातिं हविषो दानं जुषाणः सेवमानः । स इमामित्यत्र 'सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्' (पा० सू० ६।१।१३४) इति सन्धिः ।

अध्यात्मपक्षे—हे देव, स्वप्रकाश परमेश्वर, रथवद् रमणकारक ! त्वं हव्या हवींषि प्रतिगृभाय प्रतिगृहाण । कीदृशस्त्वमिन्द्रस्य वज्रोऽसि वज्रवदविदुषां भयदोऽसि, 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठो० ६।२) इति काठकश्रुतेः । मरुतामनीकं सेनेव विजयहेतुरसि । मित्रस्य मित्रेण सूर्येण, विभक्तिव्यत्ययः, गर्भः स्तुत्योऽसि । वरुणस्य नाभिर्बन्धनसाधनशस्त्ररूपोऽसि । स त्वमिमां नो हव्यदातिं हविर्दानं जुषाणः सेवमानो हव्यानि प्रतिगृहाणेति सम्बन्धः ।

दयानन्दस्तु –'हे देव रथ, इमां हव्यदातिं जुषाणः स त्वं य इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिरसि, नोऽस्मान् हव्या च प्रतिगृभाय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रसिद्धिविरोधात् । इन्द्रस्य विद्युतो वज्रनिपात इति प्रसिद्धिविरोध एव, वज्रशब्दस्य निपातार्थत्वाभावात् । मरुतां मनुष्याणामित्यपि न, निर्मूलत्वात् । नाभिरात्मनो मध्यवर्ती विचार इत्यपि निर्मूलम्, आत्मनोऽणुत्वेन तन्मध्यत्वासिद्धेः । आत्मपदमपि निर्मूलम् । विचारोऽपि नार्थः, निर्मूलत्वादेव । हव्या आदातुमर्हाणि वस्तूनीत्यपि यत्किञ्चित्, रूढ्या योगापहारात् ॥ ५४ ॥

उप॑श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ मनुतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त् ।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद् दवी॑यो॒ अप॑सेध॒ शत्रू॑न् ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—हे दुन्दुभि, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को अपने शब्द से भर दो । नाना रूपों में स्थित यह स्थावर-जंगम जगत् तुमसे भली प्रकार परिचित हो जाय । इन्द्र और देवताओं से प्रसाद प्राप्त कर तुम बहुत दूर-दूर के शत्रुओं को भी हटा दो ॥ ५५ ॥

तिस्र ऋचो दुन्दुभिदेवत्याः । हे दुन्दुभे, त्वं पृथिवीं भूमिमुत द्यामन्तरिक्षमपि उपश्वासय स्वनिनादेन निनादवन्तं कुरु । उपपूर्वकस्य शसेरत्र शब्दार्थे वृत्तिः । विष्ठितं विविधं स्थितं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् पुरुत्रा बहुधा ते त्वां मनुतां जानातु । स त्वं दूराद् दवीयोऽतिदूरं शत्रून् अपसेध अपगमय अपसारय । अत्यन्तं दूरं दवीयः, दूरशब्दादीयसुनि 'स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः' (पा० सू० ६।४।१५६) इति रेफस्य लोपे ऊकारस्य गुणे रूपम् । कथम्भूतस्त्वम् ? इन्द्रेण देवैश्च सजूः प्रीतियुक्तः ।

अध्यात्मपक्षे—हे दुन्दुभे, भगवदर्चनकीर्तनाद्युपयुक्त वाद्यविशेष ! त्वं पृथिवीमुत द्यां द्युलोकमपि उपश्वासय उपश्लोकय निनादय, येन दिशाममङ्गलं विहन्येत । विष्ठितं विविधं स्थितं स्थावरं जगच्च सर्वं विश्वं पुरुत्रा बहुधा ते त्वां मनुताम् । स त्वं दवीयोऽत्यन्तं दूरं शत्रून् कामादीनमङ्गलरूपान् अपसेध अपसारय । स त्वमिन्द्रेण परमात्मना देवैरन्यैश्च सजूः प्रीतियुक्तो दवीयोऽत्यन्तं दूरं शत्रून् कामादीनमङ्गलरूपान् अपसेध अपसारय ।

दयानन्दस्तु—'हे दुन्दुभे, स त्वमिन्द्रेण देवैः सजूर्दूरात् शत्रून् दवीयोऽपसेध । पुरुत्रा पृथिवीमुत द्यामुपश्वासय । भवान् ताभ्यां विष्ठितं जगन्मनुताम् । तस्य ते राज्यमनिन्दितं स्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रबाह्यत्वात् । दुन्दुभिपदेन तद्वद् गर्जनशीलस्य वीरस्य ग्रहणमपि गौणार्थाश्रयणमेव, सत्यां शक्तौ भाक्तस्यार्थस्याग्राह्यत्वात्, मनुष्यस्य कस्यापि पृथिव्याकाशयोरुपजीवनासम्भवात् । ताभ्यां विष्ठितं जगन्मनुतामित्यपि यत्किञ्चित्, मन्त्रबाह्यत्वात् ॥ ५५ ॥

आक्रन्दय बलमोजो न आधा निष्टनिहि दुरिता बाधमानः ।
अपप्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना इत इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—हे दुन्दुभि, तुम शत्रु-सेना को रुला दो, हमें उत्साह से भर दो । पापों का निरादर करने वाले शब्द को चारों तरफ गुंजा दो । हमारी सेना के पास फटकने वाले शत्रुओं को कुत्तों के समान भगा दो, क्योंकि तुम इन्द्र की मुष्टि हो, अतः हमें सब तरह से मजबूत बना दो ॥ ५६ ॥

हे दुन्दुभे ! त्वं बलं शत्रुसैन्यम्, आक्रन्दय रोदय, पलायध्वं मदीयाः सर्वे वीरा हता इत्यादिदीनान् शब्दान् कारय । नोऽस्माकमोजस्तेज आधा आधेहि । दुरिता दुरितानि पापानि बाधमानो निराकुर्वन् निष्टनिहि जयाय निश्चितं शब्दं कुरु । 'स्तनगदी देवशब्दे' चुरादिरदन्तः । किञ्चेतोऽस्मत्सेनायाः सकाशाद् दुश्छुना दुष्टाश्च ते श्वानः श्वसदृशाः शत्रवो दुश्छ्वानः, तान् दुष्टान् श्वसदृशान् शत्रून् अपप्रोथय नाशय । 'प्रोथृ पर्याप्तौ' भौवादिकः, अत्र नाशनार्थे वृत्तिः । यतस्त्वमिन्द्रस्य मुष्टिरसि मुष्टिवदङ्गभूतोऽसि, अतो वीडयस्वात्मानम्, अस्मांश्च दृढय । यद्वा दुश्छुना दुष्टशुन इव याः शत्रुसेनास्ता अपप्रोथ अपकृत्य नाशय । सुखवचनो वा शुनाशब्दः, शुनति प्राप्नोति प्राप्तुं प्रयतते सर्वोऽपि यं स शुनः । 'शुन गतौ' तौदादिकः । इगुपधलक्षणः कः । स्त्रियां शुना । दुःखं बहुकष्टसाध्यं यथा स्यात्तथा शुना सुखं यस्याः सा दुश्छुना शत्रुसेना – इत्युव्वटाचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे हे दुन्दुभे, भगवदर्चनकीर्तनादिसम्बन्धिवाद्यविशेष ! त्वं शत्रूणां कामादीनां बलं सैन्यमाक्रन्दय रोदय । नोऽस्माकं साधकानामोजो ध्यानज्ञानादिसामर्थ्यमाधा आधेहि । दुरिता दुरितानि बाधमानो निष्टनिहि निश्चितं भगवद्बोधकान् महावाक्यादीन् भगवन्नामशब्दांश्च कुरु । दुश्छुना दुष्टशुन इव याः शत्रुसेना दुःसुखा वा ता इतोऽस्मज्ज्ञानवैराग्यादिसेनायाः सकाशाद् अपप्रोथ नाशय । त्वमिन्द्रस्य परमात्मनो मुष्टिरसि मुष्टिरिव मुष्टिरसि, तदर्चनकीर्तनादिसाधनत्वात् । अतो वीडयस्वात्मानमस्मान् वा दृढय ।

दयानन्दस्तु -'हे दुन्दुभे, दुरिता बाधमानस्त्वं नो बलमाक्रन्दय, ओज आधाः, सैन्यं निष्टनिहि, ये दुश्छुनास्तानपाक्रन्दय, यतस्त्वं मुष्टिरसि, तस्मादित इन्द्रस्य वीडयस्व सुखानि प्रोथ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्, आक्रन्दयतेः प्रापणार्थे प्रयोगादर्शनाच्च । प्रोथतेः पूरणार्थतापि चिन्त्यैव ॥ ५६ ॥

आमूरज प्रत्यावर्तयेमाः केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीति ।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर, आप हमारी इन शत्रु-सेनाओं को सब ओर से हटा दें । जिस तरह दुन्दुभि जान-बूझ कर जोरों से निनाद करती है, उसी तरह हमारी सेनाएँ भी जयशब्द का घोष करती हुई वापिस आवें । अश्व के समान धीर गति से चलने वाले हमारे योद्धा हर्ष मनावें, हमारे रथी विजय प्राप्त करें ॥ ५७ ॥

ऐन्द्री । हे इन्द्र ! अमूः शत्रुसेनास्त्वमा समन्तादज क्षिप 'अज गतिक्षेपणयोः' । इमा अस्मदीयाः सेनाः प्रत्यावर्तय जयं प्रापय्य प्रत्यानय । केतुमत् प्रज्ञानवद् दुन्दुभिर्वावदीति जितं जितमित्यत्यर्थं वदतु । लोडर्थे लट् । किञ्च, नोऽस्माकं नरो योधा अश्वपर्णा अश्ववत् पर्णं पतनं येषां ते, सञ्चरन्ति सञ्चरन्तु । नोऽस्माकं रथिनो जयन्तु, त्वत्प्रसादादिति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, अमूः कामादिशत्रुसेनास्त्वमासमन्ताद् अज क्षिप। दुन्दुभिस्त्वदर्चन-कीर्तनसम्बद्धो वाद्यविशेषः, केतुमत् प्रज्ञानवान्, लिङ्गव्यत्ययः, जितं जितमिति वावदीति अत्यर्थं वदतु। इमा अस्मज्ज्ञानवैराग्यादिसेनाः प्रत्यावर्तय जयं प्रापय्य प्रत्यानय। किञ्च, नोऽस्माकं नरो योधाः सञ्चरन्तु। कीदृशाः ? अश्वपर्णा अश्वपतनाः। किञ्चास्माकं रथिनो रथस्था इव युद्धे जयन्तु जयं प्राप्नुवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, त्वममूराऽज इमाः केतुमत् प्रत्यावर्तय। यथा दुन्दुभिर्वावदीति, तथा नोऽश्वपर्णाः सञ्चरन्ति। येऽस्माकं रथिनो नरः शत्रून् जयन्तु, ते सत्कृताः स्युः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'केतुमत्' इत्यस्य सेना इति पदेन सम्बन्धविप्रकर्षात्, मूले सेनापदाभावाच्च, दुन्दुभिर्वावदीतीत्यस्य चासम्बद्धत्वात्। अश्वपर्णा अश्वानां पर्णानि पालनानि यासु ता इत्यप्यसङ्गतम्, सेनानामश्वपालनस्थलत्वासिद्धेः। अश्वशालासु पालन-मश्वानां भवति न सेनासु, सेनासु च युद्धार्थमश्वानां स्थितिः॥ ५७॥

आ॒ग्ने॒यः कृ॒ष्णग्री॑वः सारस्व॒ती मे॒षी ब॒भ्रुः सौ॒म्यः पौ॒ष्णः श्या॒मः शि॑तिपृ॒ष्ठो बा॑र्हस्प॒त्यः शि॒ल्पो वै॑श्वदे॒व ऐ॒न्द्रो॒ऽरु॒णो मा॑रु॒तः क॒ल्माष॑ ऐ॒न्द्रा॒ग्नः स॑ꣳहि॒तो॒ऽधोरा॑मः सा॒वि॒त्रो वा॑रु॒णः कृ॒ष्ण एक॑शितिपा॒त् पेत्व॑ः॥ ५८॥

मन्त्रार्थ—कृष्णग्रीव पशु का देवता अग्नि है। मेषी की देवता सरस्वती, पिंगल वर्ण पशु का देवता सोम, कृष्ण-वर्ण पशु का देवता पूषा, श्यामपृष्ठ पशु का देवता बृहस्पति, विचित्र वर्ण पशु के देवता विश्वेदेव, रक्तवर्ण पशु का देवता इन्द्र, कर्बुरवर्ण पशु के देवता मरुद्गण, दृढ़ांग पशु के देवता इन्द्राग्नी, अधोदेश में श्वेत वर्ण के पशु के देवता सविता, एक श्वेत पाद वाले और अन्यत्र कृष्णवर्ण वेगवान् पशु के देवता वरुण हैं॥ ५८॥

आग्नेयः कृष्णग्रीव इति श्रुतिरा अध्यायपरिसमाप्तेः, 'द्वे त्वेवैते एकादशिन्यावालभेत' (श० १३।५।१।१३) इति श्रुतिरश्वमेधे पठिता। तयोरेकादशिन्योः पशवस्तद्देवताश्च कण्डिकाद्वयेनोच्यन्ते। तेनेमानि ब्राह्मणानि द्रव्यदेवताप्रतिपादकानि, न तु मन्त्राः। कृष्णग्रीवः कृष्णा ग्रीवा यस्य सः पशुराग्नेयोऽग्निदेवत्यः। मेषी सारस्वती। बभ्रुः पिङ्गलवर्णः पशुः सोम्यः सोमदेवत्यः। श्यामः पौष्णः कृष्णवर्णः पशुः पूषदेवत्यः। शितिपृष्ठः शिति श्यामं पृष्ठं यस्य सः, बार्हस्पत्यो बृहस्पतिदेवत्यः। शिल्पो विचित्रवर्णो वैश्वदेवः, विश्वेदेव-देवत्यः। अरुणो रक्त ऐन्द्र इन्द्रदेवत्यः कल्माषः कर्बुरो मारुतो मरुद्देवत्यः। संहितो दृढाङ्ग ऐन्द्राग्न इन्द्राग्नि-देवत्यः। अधोरामोऽधोदेशे श्वेतः सावित्र सवितृदेवत्यः। 'रामा योषा हिङ्गुनद्योः क्लीबं वास्तूककुष्ठयोः। ना राघवे च वरुणे रैणुकेये हलायुधे॥ हये च पशुभेदे च त्रिषु चारौ सितेऽसिते॥' (११० २६-२७) इति मान्तवर्गे मेदिनी। एकशितिपाद् एकः शितिः श्वेतः पादो यस्य सः, एकपादे श्वैत्यम्, अन्यत्र कृष्णत्वम्, पेत्वः पतनशीलो वेगवान् पशुः, वारुणो वरुणदेवत्यः। एवमेकादश पशवः।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यप्रदर्शनपराणि वाक्यानि। कृष्णग्रीवः पशुस्तेन समर्हणीया देवता च ब्रह्मैव वेदितव्यम्, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इति श्रुतेः, 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० ४।५।७) इति च। एवमेव सारस्वती मेषीत्यादिकमपि व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं य आग्नेयः स कृष्णग्रीवः, या सारस्वती सा मेषी, यः सौम्यः स बभ्रुः····· य एकशितिपात् पेत्वः कृष्णः स वारुणश्चेत्येतान् विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, व्यभिचारान्निर्मूलत्वाच्च, योऽग्निगुणकः स कृष्णग्रीवो भवतीत्यस्य निर्मूलत्वात्, अग्निगुणयुक्तेषु मनुष्यादिषु कृष्णग्रीवत्वाद्यदर्शनात्।

एवमेकशितिपात् पेत्वो वारुण इत्यपि निर्मूलम्। सिद्धान्ते तु ब्राह्मणवाक्यबलात् कृष्णग्रीवस्याजपशोराग्नेयत्वं सिद्धम्। वचनबलादेव तादृशेन पशुनाग्नेर्यजनम् ॥ ५८ ॥

अ॒ग्नये॒ऽनी॑कवते॒ रोहि॑ताञ्जिरन॒ड्वान॒धोरा॑मौ सावि॒त्रौ पौ॒ष्णौ र॑ज॒तना॑भी वैश्वदे॒वौ पि॒शङ्गौ॑ तूप॒रौ मा॑रु॒तः क॒ल्माष॑ आग्ने॒यः कृ॒ष्णोऽजः सा॒र॒स्व॒ती मे॒षी वा॑रु॒णः पेत्वः॑ ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—रक्ततिलक वाला वृषभ सेना वाले अग्नि के निमित्त है। अधोभाग में श्वेत दो पशु सविता देवता के, रजतवर्ण नाभि वाले दो पशु पूषा देवता के, पीत और बिना सींग के दो पशु विश्वेदेव देवताओं के, कर्बुरवर्ण पशु मरुद्गणों के, श्यामवर्ण मेष अग्नि देवता के, मेषी सरस्वती देवता के और वेगवान् पशु वरुण देवता के निमित्त कल्पित हैं ॥ ५९ ॥

द्वितीयैकादशिनीपशून् देवांश्चाह—रोहिताञ्जिः रोहितो रक्तोऽञ्जिस्तिलको यस्यासौ, अनड्वान् ऋषभोऽनीकवतेऽनीकं मुखं सैन्यं वा यस्यास्ति सोऽनीकवान्, तस्मै अग्नये नियोज्यः। अधोरामौ अधोभागे श्वेतौ द्वौ पशू सावित्रौ सवितृदेवत्यौ। रजतनाभी रजतवद् रजतवर्णा नाभिर्ययोस्तौ पौष्णौ पूषदेवत्यौ। पिशङ्गौ पीतौ तूपरौ निःशृङ्गौ वैश्वदेवौ विश्वदेवदेवत्यौ। कल्माषः कर्बुरो मारुतो मरुद्देवत्यः। कृष्णः श्यामोऽजश्छाग आग्नेयोऽग्निदेवत्यः। सारस्वती सरस्वतीदेवत्या मेषी। पेत्वो वेगवान् वारुणो वरुणदेवत्यः।

अध्यात्मपक्षे—रोहिताञ्जिरनड्वान् तेन यजनीयोऽनीकवानग्निश्च परब्रह्मैव, तद्विकारत्वात्। एवमन्यदप्यूह्यम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अनीकवतेऽग्नये रोहिताञ्जिरनड्वान् सावित्रावधोरामौ····वारुणः पेत्वश्चास्ति, तान् यथागुणं प्रयोजय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वादेव, सेनापतये रक्तानुडुह उपयोगायोगात्। न च कृषिकार्यार्थं तदिति वाच्यम्, रोहितादिविशेषणस्य वैयर्थ्यापातात्, निर्मूलत्वाच्च ॥ ५९ ॥

अ॒ग्नये॑ गाय॒त्राय॑ त्रि॒वृते॒ राथ॑न्तराया॒ष्टाक॑पाल॒ इन्द्रा॑य॒ त्रैष्टु॑भाय पञ्चद॒शाय॒ बार्ह॑ताय॒कादशकपालो॒ विश्वे॑भ्यो दे॒वेभ्यो॒ जाग॑तेभ्यः सप्तद॒शेभ्यो॑ वैरू॒पेभ्यो॒ द्वाद॑शकपालो मि॒त्रा-वरु॑णाभ्यामानु॑ष्टुभाभ्यामेकवि॒ꣳशाभ्यां॑ वैरा॒जाभ्यां॑ पय॒स्या॒ बृह॒स्पत॑ये॒ पाङ्क्ता॑य त्रिण॒वाय॑ शाक्व॒राय॑ च॒रुः स॑वि॒त्र औ॑ष्णिहाय त्रयस्त्रि॒ꣳशाय॑ रैव॒ताय॒ द्वाद॑शकपालः प्राजाप॒त्य-श्च॒रुरदि॑त्यै॒ विष्णु॑पत्न्यै च॒रुर॒ग्नये॑ वैश्वान॒राय॒ द्वाद॑शकपा॒लोऽनु॑मत्या अ॒ष्टाक॑पालः ॥ ६० ॥

ऊनत्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—गायत्री से, त्रिवृत् सोम से और रथन्तर साम से स्तुत अग्नि के लिये अष्टाकपाल में संस्कृत पुरोडाश देना चाहिये। त्रिष्टुप् से, पंचदश स्तोम से और बृहत् साम से स्तुत इन्द्र के लिये एकादशकपाल में संस्कृत पुरोडाश देना चाहिये। जगती छन्द से, सप्तदश स्तोम से और वैरूप साम से स्तुत विश्वेदेव देवताओं को द्वादशकपाल में संस्कृत पुरोडाश देना चाहिये। अनुष्टुप् छन्द से, एकविंश स्तोम से और वैराज साम से स्तुत मित्रावरुण देवताओं को दुग्ध में शृत चरु अर्पित करना चाहिये। पंक्ति छन्द से, त्रिणव स्तोम से और शाक्वर साम से स्तुत बृहस्पति के लिये चरु देना

चाहिये। उष्णिक् छन्द से, त्रयस्त्रिंश स्तोम से और रैवत साम से स्तुत सविता अथवा शिव के निमित्त द्वादशकपाल में संस्कृत पुरोडाश देना चाहिये। प्रजापति देवता और विष्णुपत्नी अदिति के लिये चरु अर्पित करना चाहिये। वैश्वानर अग्नि के लिये द्वादशकपाल में संस्कृत चरु और अनुमति देवी के लिये अष्टाकपाल में संस्कृत पुरोडाश अर्पित करना चाहिये॥ ६०॥

'अथाग्नीषोमीयस्य पशुपुरोडाशमनुदिशामवेष्टीर्निर्वपति' (श० ९।४।३।१०) इत्युपक्रम्य 'तदाहुर्दशहविषमेवैतामिष्टिं निर्वपेत्' (श० ९।४।३।११) इति श्रुतौ दशहविष्कावेष्टिसंज्ञेष्टिः श्रुता। तस्या देवता हवींषि चाह—अग्नय इत्यादि। इमानि ब्राह्मणानि, न मन्त्राः। अग्नयेऽष्टादशकपालः पुरोडाशः कार्यः। अष्टासु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशोऽष्टाकपालः। 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (पा० सू० २।१।५१) इति समासः। 'अष्टनः कपाले हविषि' (पा० सू० ६।३।४६, वा० २) इत्यष्टन आत्वे रूपम्। कथम्भूतायाग्नये? गायत्राय गायत्र्या स्तुताय राथन्तराय रथन्तरसाम्ना स्तुताय। इन्द्राय एकादशकपालः पुरोडाशः कार्यः। समासः पूर्ववत्। कीदृशायेन्द्राय? त्रैष्टुभाय त्रिष्टुभा स्तुताय पञ्चदशाय पञ्चदशस्तोमस्तुताय बार्हताय बृहत्सामस्तुताय। विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्वादशकपालः पुरोडाशः कार्यः। कीदृशेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यः? जागतेभ्यो जगत्या स्तुतेभ्यः सप्तदशेभ्यः सप्तदशस्तोमस्तुतेभ्यो वैरूपेभ्यो वैरूपसामस्तुतेभ्यः। मित्रावरुणाभ्यां पयस्या पयसि श्रितश्चरुः कार्यः। कीदृशाभ्यां मित्रावरुणाभ्याम्? आनुष्टुभाभ्याम् अनुष्टुभा स्तुताभ्याम् एकविंशाभ्याम् एकविंशस्तोमस्तुताभ्यां वैराजाभ्यां वैराजसामस्तुताभ्याम्। बृहस्पतये चरुः कार्यः। कीदृशाय बृहस्पतये? पाङ्क्ताय पङ्क्तिच्छन्दसा स्तुताय त्रिणवाय त्रिणवस्तोमस्तुताय शाक्वराय शाक्वरसामस्तुताय। सवित्रे द्वादशकपालः पुरोडाशः कार्यः। कीदृशाय सवित्रे? औष्णिहाय उष्णिक्छन्दसा स्तुताय त्रयस्त्रिंशाय त्रयस्त्रिंशस्तोमस्तुताय रैवताय रैवतसामस्तुताय। एवं छन्दःस्तोमसहितान् षड्देवानभिधाय चतुरः केवलानाह—प्राजापत्यश्चरुः, प्रजापतिदेवत्यश्चरुः कार्यः। विष्णुपत्न्यै अदित्यै चरुरेव। वैश्वानराय वैश्वानरगुणविशिष्टायाग्नये द्वादशकपालः पुरोडाशः कार्यः। अनुमत्यै देवतायै अष्टाकपालः पुरोडाशः कार्यः। दशहविषावेष्टेर्देवता हवींष्यप्यश्वमेधोपयोगित्वादुक्तानि, 'समिद्धो अञ्जन्' इत्याश्वमेधिकोऽध्याय इत्यनुक्रमण्यां कात्यायनोक्तेः।

अध्यात्मपक्षे—छन्दःस्तोमसामसहिता देवास्तदुपयुक्तानि द्रव्याणि केवला देवा द्रव्याणि च ब्रह्मात्मकान्येव, तद्विवर्तत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिस्त्रिवृते राथन्तराय गायत्रायाग्नयेऽष्टाकपालः पञ्चदशाय त्रैष्टुभाय बार्हतायैन्द्रायैकादशकपालः""अनुमत्या अष्टाकपालश्च निर्मातव्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वैदिकपदार्थज्ञानशून्यत्वात्। यत्तु गायत्र्यादिच्छन्दोविज्ञापिताय, त्रिवृते यस्त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोगुणैर्युक्तस्तस्मै, राथन्तराय यो रथैः समुद्रादींस्तरति तस्मै पावकायाष्टाकपालः पुरोडाश इत्यादिव्याख्यानम्, तदपि बालभाषितं मूर्खजनप्रतारणं वा, त्रिवृदादिस्तोमानां रथन्तरादिसाम्नां ब्राह्मणग्रन्थेषु लक्षितत्वात्। त्रिवृद्गतत्रिशब्दश्रवणेन त्रयाणां गुणानां कल्पनं निर्मूलमेव। यथा घटपदेन चेष्टामात्रार्थग्रहणम्, पङ्कजशब्देन पङ्कजनिकर्तृत्वेन कुमुदादिग्रहणम्, व्याघ्रपदेन विशेषेण आसमन्ताद् घ्राणकर्तृत्वेन प्रसिद्धार्थातिरिक्तग्रहणम्, तद्वत्॥ ६०॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायाम्
ऊनत्रिंशोऽध्यायः॥

त्रिंशोऽध्यायः

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे सबके प्रेरक सविता देव, आप यज्ञ को प्रेरित करें, यजमान को भी सौभाग्य के निमित्त प्रेरित करें। स्वर्ग में स्थित, दूसरे के चित्त में वर्तमान ज्ञान का शोधन करने वाले, वाणी को धारण करने वाले सविता देवता हमारे चित्तवर्ती ज्ञान को ब्रह्मज्ञान से पवित्र करें। वाणी के पति सविता देव हमारी वाणी को मधुरता से भर दें, हमारी वाणी उन्हें भली लगे ॥ १ ॥

अत्राध्याये पञ्चमीं कण्डिकामारभ्य यावदध्यायसमाप्ति ब्राह्मणम्, मन्त्रधर्मेण पठ्यमानम्। हे देव सवितः, यज्ञं प्रसुव प्रकर्षेण प्रेरय, यज्ञपतिं यजमानं च भगाय सौभाग्याय प्रसुव। किञ्च, दिव्यो दिवि भवः स्वर्गस्थः, केतपूः केतं परचित्ते वर्तमानं ज्ञानं पुनाति शोधयतीति तादृशः, गन्धर्वो गां वाचं धारयतीति गन्धर्वः सविता, नोऽस्माकं केतं चित्तवर्ति विज्ञानं पुनातु अनात्मनिराकरणब्रह्माभिव्यञ्जनेन शोधयतु। वाचस्पतिः, वाचो वाण्याः पतिः सविता नोऽस्मदीयां वाचं स्वदतु स्वादयतु, अस्मदुक्ता वाक् तस्मै रोचतामित्यर्थः। अन्यद् यद्वक्तव्यं तदेकादशे सप्तम्यां कण्डिकायामुक्तम्।

'इत उत्तरं पुरुषमेधः। द्वावध्यायौ नारायणः पुरुषोऽपश्यत्। ब्राह्मणराजन्ययोरतिष्ठाकामयोः पुरुषमेधसंज्ञको यज्ञो भवति। सर्वभूतान्यतिक्रम्य स्थानमतिष्ठा। चैत्रशुक्लद्वादश्यामारम्भः। अत्र त्रयोविंशतिर्दीक्षा भवन्ति, द्वादशोपदसः, पञ्च सुत्या इति चत्वारिंशद्दिनैः सिद्ध्यति। अत्र यूपैकादशिनी भवति। एकादशाग्नीषोमीयाः पशवो भवन्ति। तेषां च प्रतियूपं मध्यमे वा यूपे यथेच्छं नियोजनम्। आज्येन सकृद्गृहीतेन देव सवितरिति प्रत्यृचं तिस्र आहुतीराहवनीये जुहोति' इति महीधराचार्यः ॥ १ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—उस सबके प्रकाशक और प्रेरक आदित्यान्तर्गत पुरुषरूप ब्रह्म का जो सभी के द्वारा प्रार्थनीय पापनाशक तेज है, उसका हम ध्यान करते हैं। वह सविता देवता हमारी बुद्धि को सत्कर्मानुष्ठान की प्रेरणा दे ॥ २ ॥

तत् तस्य देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्यादित्यान्तर्गतपुरुषस्य वा ब्रह्मणो वरेण्यं वरणीयं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदं सर्वसम्भजनीयं भर्गः सर्वपापानां सर्वसंसारस्य च भर्जनसमर्थं तेजः स्वरूपभूतं सत्यज्ञानानन्दलक्षणं तेजो वयं धीमहि ध्यायामः। तस्य कस्य? यः सविता नोऽस्माकं धियो बुद्धीः कर्माणि वा प्रचोदयात् प्रकर्षेण प्रेरयति, सत्कर्मानुष्ठानायेति शेषः। अन्यद् यद्वक्तव्यं तत् तृतीये पञ्चत्रिंश्यां कण्डिकायामुक्तम् ॥ २ ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्य भगवन्, अथवा नाना प्रकार के अवतारों से क्रीड़नशील विष्णुदेव, आप सारे पापों को हमसे दूर करें। जो कल्याण है, शुभ है, वह हमें प्राप्त करावें ॥ ३ ॥

हे देव सवितः! विश्वानि सर्वाणि दुरितानि पातकानि परासुव पराञ्चि गमय, दूरे गमय। यच्च भद्रं कल्याणं तन्नोऽस्मान् प्रति आसुव आगमय।

अध्यात्मपक्षे—हे देव! द्योतमान सवितः, सर्वप्रेरकान्तर्यामिन्, विश्वानि सर्वाणि दुरितान्यज्ञानं तत्कार्याणि च परासुव ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसम्पादनेन अपगमय। यच्च भद्रं भन्दनीयं कल्याणं ब्रह्मात्मकं वा वस्तु तन्नोऽस्मान् प्रति आसुव आगमय प्रापय।

दयानन्दस्तु—'हे देव सवितः, त्वमस्मद्विश्वानि दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव जनय' इति, तत्तु नासङ्गतम्, किन्तु यत् 'देव उत्तमगुणकर्मस्वभावसवितः! उत्तमगुणकर्मस्वभावेषु प्रेरक' इत्यादिकम्, तत्तु स्वाभ्यूहितमात्रम्, धात्वर्थाननुरोधात् ॥ ३ ॥

विभ॒क्तार॑ᳩं हवामहे॒ वसो॑श्चि॒त्रस्य॒ राध॑सः। स॒वि॒तार॑ᳪं नृ॒चक्ष॑सम् ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हम भक्तगण नाना प्रकार के धन और योगधन को विभक्त कर देने वाले, अन्तर्यामी, सबके प्रेरक परमात्मा का आह्वान करते हैं ॥ ४ ॥

वयं सवितारं विश्वस्य प्रसवितारं हवामहे आह्वयामः। कथम्भूतं सवितारम्? वसोर्वासयितुः, तथा चित्रस्य नानाविधस्य विलक्षणस्य वा राधसो धनस्य आयुषो वा विभक्तारं विभज्य कर्मानुसारं दातारं नृचक्षसं नृणां प्राणिनां चक्षसं द्रष्टारम्। ये नरो यथा क्रूरया सौम्यया अनुग्राहिकया वा दृष्ट्या बुद्ध्या वा द्रष्टव्यास्तांस्तथा पश्यति।

अध्यात्मपक्षे—चित्रस्य विलक्षणस्य आश्चर्यरूपस्य सर्वातिशायिनो ज्ञानविज्ञानलक्षणस्य वसोरज्ञानाच्छादकस्य राधसो धनस्य आयुषो वा कर्मानुसारं यथायोग्यं विभज्य दातारं नृचक्षसं सर्वप्राणिसाक्षिणं सवितारं सर्वप्रपञ्चस्योत्पादयितारं हवामहे आह्वयामः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यं वसोश्चित्रस्य राधसो विभक्तारं सवितारं नृचक्षसं वयं हवामहे, तं यूयमप्याह्वयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, हवामहे प्रशंसेमेत्यस्यापि निर्मूलत्वात् ॥ ४ ॥

ब्रह्म॑णे ब्राह्म॒णं क्ष॒त्राय॑ राज॒न्यं॒ म॒रुद्भ्यो॒ वैश्यं॒ तप॑से शू॒द्रं तम॑से॒ तस्क॑रं नार॒काय॑ वीर॒हणं॑ पा॒प्मने॑ क्ली॒बमा॑क्र॒याया॑ अयो॒गूं कामा॑य पुँश्च॒लूमति॑क्रु॒ष्टाय मा॒गधम् ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—नारायण पुरुष की स्तुति करने के बाद प्रस्तुत मन्त्र में पुरुषमेध के पशु और देवताओं का उल्लेख है। ये सब पशु यज्ञान्त में छोड़ दिये जाते हैं। इस पुरुषमेध यज्ञ में ब्रह्म के लिये ब्राह्मण को, क्षत्र के लिये राजन्य को, मरुद्गणों के लिये वैश्य को, तप के लिये शूद्र को, तम के लिये स्तेन को, नारक के लिये नष्टाग्नि अथवा शूर को, पाप के लिये नपुंसक को, आक्रया देवता के लिये अयोगू को, काम के लिये व्यभिचारिणी को और अतिक्रुष्ट के लिये मागध को नियुक्त किया गया है ॥ ५ ॥

अतः परं पुरुषमेधीयाः पशव आ अध्यायसमाप्तेरुच्यन्ते। प्रतियूपमेकैकमेकादशिनं नियुज्य ब्राह्मणादीनष्टचत्वारिंशत्संख्याकान् पुरुषान् प्रकामोद्याय सदमित्यन्तानग्निष्ठे यूपे नियुनक्ति। इतरेषु यूपेषु एकादशैकादश पुरुषान् वर्णायानुरुधमित्यादीन्नियुनक्ति। ब्रह्मणे ब्राह्मणम्। तत्र ब्रह्मणे ब्रह्मदेवतायै ब्राह्मणं पुरुषं जुष्टं नियुनज्मीत्यग्निष्टे ब्राह्मणं प्रथमं नियुनक्ति। एवमग्रे सर्वेषां यूप एव बन्धनम्। अत्र चतुर्थ्यन्तं देवतापदं द्वितीयान्तं पुरुषपदं बोद्धव्यम्। क्षत्राय देवाय राजन्यं क्षत्रियत्वजातिविशिष्टं पुरुषं जुष्टम्, मरुद्भ्यो देवेभ्यो वैश्यं वैश्यत्वजातिविशिष्टं पुरुषम्, तपसे देवाय शूद्रत्वजातिविशिष्टं पुरुषम्, तमसे तमोऽधिष्ठातृदेवाय तस्करं स्तेनम्, नारकाय देवाय वीरहणं नष्टाग्निं पुरुषं शूरं वा, पाप्मने देवाय क्लीबं नपुंसकम्, आक्रयायै देवाय अयोगूमयसो गन्तारम्, कामाय देवाय पुंश्चलूं व्यभिचारिणीम्, अतिक्रुष्टाय मागधं मगधदेशजं क्षत्रियायां वैश्यपुंसो जातं वा, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे- ब्रह्मादयो देवास्तेषां यजनसाधनभूता ब्राह्मणादयः पुरुषाश्च ब्रह्मरूपा एव, तज्जलानत्वात्।

दयानन्दस्तु -'हे परमेश्वर राजन् वा, त्वमत्र ब्रह्मणे वेदेश्वरज्ञानप्रचाराय ब्राह्मणं वेदेश्वरविदम्, क्षत्राय राज्याय पालनाय वा राजन्यं राजपुरुषम्, मरुद्भ्यः पश्वादिभ्यः प्रजाभ्यो वैश्यं विक्षु प्रजासु भवम्, तपसे सन्तापजन्याय सेवनाय शूद्रं सेवकं शुद्धिकरं सर्वतो जनय। तमसेऽन्धकाराय तस्करं चोरम्, नारकाय दुःखबन्धने भवाय कारागाराय वा वीरहणं यो वीरान् हन्ति तम्, पाप्मने पापाचरणाय क्लीबम्, आक्रयायै आक्रमन्ति प्राणिनो यस्यां तस्यै हिंसायै प्रवर्तमानमयोगुमयसा शस्त्रविशेषेण सह गन्तारम्, कामाय विषयसेवनाय प्रवृत्तां पुंश्चलूं युवभिः सह चलचित्ताम्, अतिक्रुष्टाय अत्यन्तनिन्दनाय प्रवर्तकं मागधं नृशंसं दूरे गमय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारमूलकत्वात्, ब्रह्मपदस्य वेदेश्वरार्थत्वे सत्यपि तत्प्रचारार्थताया निर्मूलत्वाच्च। वेदेश्वरविदुत्पत्तिप्रार्थनमपि निर्मूलम्, मन्त्रबाह्यत्वात्। क्षत्रपदमपि न राज्यपरम्, प्रमाणशून्यत्वात्। मरुत्पदस्य प्रजार्थता, वैश्यपदस्य विक्षु प्रसिद्धता च निर्मूलैव। 'तपसे' इत्यनेन दुःखोत्पन्नम्, शूद्रपदेन शुद्धिकारक इत्यपि निर्मूलम्। अन्धकाराय प्रवृत्तमित्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव। नरकाय कारागारायेत्यपि निर्मूलम्। पाप्मने क्लीबं पापाचरणाय प्रवृत्तं क्लीबमित्युक्तेर्व्यर्थत्वात्। हिंसायै प्रवृत्तमयसा शस्त्रविशेषेण प्रवृत्तं दूरे गमयेत्यादिकमपि निर्मूलम्, मन्त्रबाह्यत्वात्। एवमन्यदप्यूह्यम् ॥ ५ ॥

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठायै भीमलं नर्माय रेभꣳ हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—नृत्त के लिये सूत को, गीत के लिये नट को, धर्म के लिये शैलूष को, नरिष्ठ देवता के लिये भयंकर पुरुष को, नर्म के लिये वाचाल को, हस के लिये कारी को, आनन्द के लिये स्त्री के सखा को, प्रमद के लिये कानीन को, मेधा के लिये रथकार को और धैर्य के लिये सूत्रधार को नियुक्त किया गया है ॥ ६ ॥

नृत्ताय नृत्याधिष्ठातृदेवाय सूतं ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातं पुरुषं जुष्टं रुचितम्, गीताय गीताधिष्ठात्रे देवाय शैलूषं नटम्। धर्माय देवाय सभाचरं सभायां चरतीति सभाचरस्तम्, नरिष्ठायै देवतायै भीमलं भयङ्करं पुरुषम्, नर्माय देवाय रेभं शब्दकर्तारं वाचाटम्, हसाय देवाय कारिं करोतीत्येवंशीलं कारणविशिष्टम्, हसनाय देवाय हसनकारणविशिष्टम्, आनन्दाय देवाय स्त्रीषखं स्त्रियाः सखायम्, प्रमदे प्रमदाधिष्ठात्रे देवाय कुमारीपुत्रं

कानीनम्. मेधायै रथकारं माहिष्येण करण्यां जातम्, धैर्याय तक्षाणं तक्षणक्रियाकर्तारं सूत्रधारं वर्धकिम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नर्माय रेभं काव्यतायै स्तोतारम् आनन्दाय स्त्रीषखं मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणमासुव। नरिष्ठायै भीमलं हसाय कारिं प्रमदे कुमारीपुत्रं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहाराणां निर्मूलत्वात्। अतिशयिता दुष्टा नरा सन्ति यस्यां तस्यै प्रवृत्तमित्यप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्। न च सूतो नृत्योपयोगी, तस्य वंशगौरवस्तोतृत्वात्। न च शैलूषशब्दस्य गायनमर्थो भवति, निर्मूलत्वात्। न च धर्मशब्दस्य धर्माचरणमर्थः। न वा तत्र सभाचारिणः कोऽप्युपयोगः। न च मेधायै रथकारस्योपयोगः, किन्तु रथकरणाय मेधाया उपयोगो भवति। न वा धैर्याय तक्ष्ण उपयोगः, कथञ्चिद् धैर्यस्यैव तक्षण उपयोगात्, तस्मात् प्रमादे प्रवृत्तं कुमारीपुत्रं परासुवेत्युक्त्याऽन्येषां तत्र प्रवृत्तेरिष्टापत्तेः। एतस्मात् सिद्धान्तसम्मतमेव व्याख्यानं युक्तम् ॥ ६ ॥

तप॑से कौला॑लं मा॒याये॑ क॒र्मार॑ꣳ रू॒पाय॑ मणिका॒रꣳ शु॒भे व॒पꣳ श॑र॒व्याया॑ इषुका॒रꣳ हे॒त्यै ध॑नुष्का॒रं कर्म॑णे ज्याका॒रं दि॒ष्टाय॑ रज्जुस॒र्जं मृ॒त्यवे॑ मृग॒युमन्त॑काय श्व॒निन॑म् ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—तप के लिये कुलालपुत्र को, माया के लिये लोहकार को, रूप के लिये मणिकार को, शुभ के लिये बीजवप्ता (किसान) को, शरव्या के लिये बाणकर्ता को, हेति के लिये धनुष्कर्ता को, कर्म के लिये ज्याकर्ता को, दिष्ट के लिये रज्जुस्रष्टा को, मृत्यु के लिये मृगग्राही को और अन्तक के लिये श्वानपाल को नियुक्त किया गया है ॥ ७ ॥

तपसे तपोदेवतायै कौलालं कुलालापत्यम्, मायायै मायादेवतायै कर्मारं लोहकारम्, रूपाय रूपाभिमानिदेवतायै मणिकारं रत्नपरिष्कर्तारम्, शुभे शुभाय देवाय वपं बीजवप्तारम्, शरव्यायै लक्ष्याधिष्ठातृदेवतायै इषुकारं बाणकर्तारम्, हेत्यै शस्त्राधिष्ठातृदेवतायै धनुष्कारं चापनिर्मातारम्, कर्मणे क्रियाधिष्ठातृदेवतायै ज्याकारं प्रत्यञ्चनकर्तारम्, दिष्टाय भागधेयदेवतायै रज्जुसर्जं रज्जुनिर्मातारम्, मृत्यवे मृत्युदेवतायै मृगयुं मृगग्राहिणम्, अन्तकाय देवाय श्वनिनं शुनो नेतारं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश नरेश वा, त्वं तपसे कौलालं मायायै कर्मारं यः कर्मण्यलङ्करोति तं रूपाय मणिकारं शुभे वपं शरव्यायै इषुकारं हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं दिष्टाय रज्जुसर्जमासुव। मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः। नहि तापाय कुलालपुत्रसृष्टिः, तस्यानुद्देश्यत्वात्। नहि मायायै प्रज्ञायै कर्मारो भवति, प्रज्ञया कर्मारत्वसम्भवात्। न च रूपशब्दस्य रूपनिर्मापकोऽर्थः, प्रमाणशून्यत्वात्। शुभे शुभाचरणमित्यप्यनर्थः, निर्मूलत्वात्। न च तत्र तपस्योपयोगः, कृषीबलानामशुभाचरणत्वस्यापि सम्भवात्। यो वपति क्षेत्राणि कृषीबल इव विद्यादिशुभगुणानित्यपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्। शरव्यायै शरनिर्माणायेत्यपि न सङ्गतम्, निर्मूलत्वात्। न वा वज्रादिनिर्माणाय धनुष्कार उपयुज्यते, न वा क्रियासामान्यसिद्धये ज्याकारोपयोगः, प्रत्यञ्चाकारस्य तन्निर्माण एवोपयोगात् ॥ ७ ॥

नदीभ्यः पौञ्जिष्ठमृक्षीकाभ्यो नैषादं पुरुषव्याघ्राय दुर्मदं गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यं प्रयुग्भ्य उन्मत्तꣳ सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदमयेभ्यः कितवमीर्यताया अकितवं पिशाचेभ्यो विदलकारीं यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम् ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—नदियों के लिये पुल्कश की सन्तान को, ऋक्षीकों के लिये निषादपुत्र को, पुरुषव्याघ्र के लिये उन्मत्त को, गन्धर्व और अप्सराओं के लिये सावित्रीपतित को, प्रयुगों के लिये उन्मत्त को, सर्पदेवजनों के लिये विकल को, अयों के लिये द्यूतकार को, ईर्यता देवी के लिये अकितव को, पिशाचों के लिये वंशपात्रकारिणी को और यातुधानों के लिये कंटकी कर्म करने वाली को नियुक्त किया गया है ॥ ८ ॥

नदीभ्यो देवताभ्यः पौञ्जिष्ठं पुञ्जिष्ठोऽन्त्यजः पुल्कसस्तदपत्यम्, ऋक्षीकाभ्यो नैषादं निषादपुत्रम्, पुरुषव्याघ्राय दुर्मदमुन्मत्तम्, गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यं सावित्रीपतितम्, प्रयुग्भ्य उन्मत्तम्, दीर्घकालादिति शेषः, सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदं प्रतिपद्यते झटिति जानातीति प्रतिपत्, न प्रतिपद् अप्रतिपत्, तं ज्ञानविकलम्, अयेभ्यः शुभावहविधिदेवताभ्यः कितवं द्यूतकारम्, ईर्यतायै ईर्ते कम्पयतीति ईर्यता, धातोर्यगागमोऽतच्प्रत्ययश्च औणादिकः, तस्यै अकितवम् अद्यूतकारम्, पिशाचेभ्यो विदलकारीं वंशविदारिणीं वंशपात्रकारिणीम्, यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीं केषुचिदपि कर्मसु विघ्नकारिणीं जुष्टं नियुनज्मि ।

अध्यात्मपक्षे— नदीभ्यस्तदधिष्ठात्रीभ्यो देवताभ्यः पौञ्जिष्ठमन्त्यजपुत्रम्, ऋक्षी भल्लूकी तदधिष्ठात्रीभ्यो नैषादम्, पुरुषव्याघ्राय पुरुषो व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रस्तस्मै तदधिष्ठातृदेवाय दुर्मदमुन्मत्तम्, सर्पजनदेवेभ्योऽप्रतिपदं ज्ञानविकलम्, अयेभ्यः कितवम्, ईर्यतायै अकितवम्, पिशाचेभ्यो विदलकारीं यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम्—एते देवास्तद्यजनसाधनभूताश्च पुरुषा ब्रह्मरूपा एव, ब्रह्मकारणकत्वात्, देवबोधकपदानां विविधव्याख्यासम्भवेऽपि प्रसिद्धेः प्राधान्यबोधनाय व्याख्यायामनाग्रहः ।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर, नृप वा, नदीभ्यः सरिद्विनाशाय प्रवृत्तं पौञ्जिष्ठं पुक्कसम्, ऋक्षीकाभ्यो या ऋक्षा गतीः कुर्वन्ति ताभ्यः प्रवृत्तं नैषादं निषादस्य पुत्रम्, पुरुषव्याघ्राय व्याघ्र इव पुरुषस्तस्मै हितं दुर्मदं दुष्टाभिमानम्, गन्धर्वाप्सरोभ्यः प्रवृत्तं व्रात्यमसंस्कृतं प्रयुग्भ्यो ये प्रयुञ्जते तेभ्यः प्रवृत्तमुन्मत्तं सर्पदेवजनेभ्यो हितमप्रतिपदमनिश्चितबुद्धिमयेभ्योऽयन्ते प्राप्यन्ते पदार्थास्तेभ्यः प्रवृत्तं कितवम्, ईर्यतायै प्रवृत्तमकितवं पिशिता नष्टा आशा येषां ते पिशाचाः, पिशितं सरक्तं मांसमाचामन्ति ये ते वा पिशाचास्तेभ्यो विदलकारीम्, यातुधानेभ्यो यान्ति येषु ते यातवो मार्गास्तेभ्यो धनं येषां तेभ्यः प्रवृत्तं कण्टकीकारीं या कण्टकीं करोति तां परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादीनां निर्मूलत्वात् । परासुवेत्यध्याहारोऽपि मन्त्रबाह्य एव । नदीभ्य इत्यस्य सरिद्विनाशाय प्रवृत्तमित्यर्थकरणं तु सर्वथैव निर्मूलं मूर्खजनप्रतारणं च । ऋक्षीकाभ्य इत्येतदर्थोऽपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वादेव । पुरुषव्याघ्रपदे समासोऽपि—'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (पा० सू० २।१।५६) इति सूत्रेण भवति, उपमानोपमेयोभयसमभिव्याहारे उपमानस्यैव विशेषणत्वात् पूर्वनिपाते प्राप्ते विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थमस्य सूत्रस्य आवश्यकत्वात् । उत्तरपदे विद्यमानानां व्याघ्रादिपदानां श्रेष्ठार्थवाचकत्वममरसिंहेन प्रोक्तम् । तथाहि—'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः । सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः ॥' (अ० को० ३।१।५९) । तथा च पुरुषव्याघ्राय पुरुषश्रेष्ठाय दुर्मदः कथं हितकारी स्यात् ? गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यः किमर्थं प्रवर्तेत ? अव्रात्यानामपि तत्र प्रवृत्तिदर्शनात् । प्रयोक्तारः के ? कस्य वा ? इत्यस्पष्टमेव । सर्पजनदेवेभ्योऽप्रतिपदस्य कः सम्बन्धः ? अप्रतिपदस्य पदार्थाश्चेदर्थस्तर्हि कितवेन तस्य कः सम्बन्धः ? अकितवानामपि

तत्सम्बन्धस्य सत्त्वात्। एवमेव पिशाचेभ्यो विदलकारी कथं सम्बद्ध्येत? यातुधानपदस्य मार्गेभ्यो धनमायाति यस्य सविधे स यातुधान इति व्युत्पत्तिरपि निर्मूलैव, राक्षसेषु तत्प्रयोगस्य कोषादिषु सिद्धत्वात्, व्युत्पत्त्यनुसारं यातुधनेति रूपापत्तेश्च, तैः कण्टकीकार्याः कः सम्बन्ध इत्यनुक्तेश्च, किमर्थं च तेषां दूरे वासदानमित्यनुक्तेश्च ॥ ८ ॥

सन्धये जारं गेहायोपपतिमार्त्यै परिवित्तं निर्ऋत्यै परिविविदानमराध्या एदिधिषुःपतिं निष्कृत्यै पेशस्कारीᳬं संज्ञानाय स्मरकारीं प्रकामोद्यायोपसदं वर्णायानरुधं बलायोपदाम् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—सन्धि के लिये जार को, गेह के लिये उपपति को, आर्ति के लिये परिवित्ति (छोटे भाई का विवाह हो जाने पर अनब्याहा बड़ा भाई) को, निर्ऋति के लिये परिविदान (बड़े भाई का विवाह न होने पर विवाह किया छोटा भाई) को, आराध्या के लिये बड़ी बहिन का विवाह न होने पर छोटी बहिन के पति को, निष्कृति के लिये पेशस्कारी को, संज्ञान के लिये कामदीप्तिकारी को, प्रकामोद्य के लिये समीप में रहने वाले को, वर्णदेवता के लिये अनुचर को और बल के लिये उपायनदाता को नियुक्त किया गया है ॥ ९ ॥

सन्धये सन्ध्यधिष्ठात्रे देवाय जारं जरयति परलोकं स्वैरचारितया यस्तम्, नियुनज्मीति शेषः। गेहाय गेहाधिष्ठातृदेवाय उपपतिं व्यभिचारिणं पुरुषम्, परस्त्रीषु स्वयं प्रवृत्तो जारः, परस्त्रीभिरौपपत्येनाङ्गीकृत उपपतिरिति तयोर्भेदः कल्पनीयः। आर्तिर्विपत्तिः पीडा वा, तदधिष्ठात्र्यै देवतायै परिवित्तं पुरुषं नियुनज्मि कनिष्ठे ऊढेऽप्यनूढं ज्येष्ठम्, नैर्ऋत्यै तदभिधदेवतायै परिविविदानमनूढे ज्येष्ठे ऊढवन्तं पुरुषम्, आराध्यै देवतायै एदिधिषुःपतिं पुरुषम्, ज्येष्ठायां भगिन्यामनूढायाम् ऊढा कनिष्ठा एदिधिषुस्तत्पतिम्, निष्कृत्यै देवतायै पेशस्कारीं प्रसाधनादिरूपकर्त्रीम्, संज्ञानाय देवाय स्मरकारीं कामोद्दीप्तिकारिणीम्, प्रकामोद्याय तत्संज्ञाय देवाय उपसदम् उपसीदति यस्तं समीपस्थितम् एतानग्निष्टे यूपे नियुनक्ति।

अथ द्वितीये यूपे वर्णायानुरुधमित्यादीन् एकादश नियुनक्ति। वर्णाय देवाय अनुरुधमनुरुणद्ध्यनुसरतीत्यनुरुत् तम्, बलाय बलाधिष्ठात्रे तत्संज्ञाय वा देवाय उपदाम् उपददातीत्युपदा उपायनदाता उत्कोचदाता वा, तं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे— तत्तत्संज्ञान् देवान् तद्यजनसाधनभूतान् पुरुषपशूंश्च ब्रह्मैव विद्यात्।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर सभेश राजन् वा, त्वं सन्धये परस्त्रीसमागमाय प्रवर्तमानं जारं व्यभिचारिणं गेहाय गृहपत्नीसमागमाय प्रवृत्तमुपपतिं पत्युः समीपे वर्तते यस्तं परासुव। आर्त्यै कामपीडायै प्रवृत्तं परिवित्तं निर्ऋत्यै पृथिव्यै प्रवृत्तं परिविविदानं निष्कृत्यै प्रायश्चित्ताय प्रवर्तमानं पेशस्कारीं रूपकर्त्रीं संज्ञानाय कामप्रबोधनाय प्रवर्तमानं स्मरकारीं यः प्रकृष्टैः कामैरुद्यतस्तस्मै उपसदं वर्णाय स्वीकरणाय प्रवृत्तमनुरुधं बलाय बलवृद्धये उपदामुप समीपे दीयत इत्युपदा, तं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनानां निर्मूलत्वात्, सन्धिपदस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्। गेहायेत्यस्य व्याख्यानमपि निर्मूलम्। 'आर्त्यै कामपीडायै' इत्यपि निर्मूलम्, एतैश्च परिवित्त्यादीनां सम्बन्धविशेषानिरूपणाच्च ॥ ९ ॥

उत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनं द्वार्भ्यः स्रामᳪं स्वप्नायान्धमधर्माय बधिरं पवित्राय भिषजं प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शमाशिक्षायै प्रश्निनमुपशिक्षाया अभिप्रश्निनं मर्यादायै प्रश्नविवाकम् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—उत्साद देवताओं के लिये कुबड़े को, प्रमुद के लिये वामन को, द्वार देवताओं के लिये सदा कीचड़-भरी आँखों वाले को, स्वप्न के लिये नेत्रहीन को, अधर्म के लिये बहरे को, पवित्र के लिये वैद्य को, प्रज्ञान के लिये ज्योतिषी को, आशिक्षा के लिये शकुन आदि बताने वाले को, उपशिक्षा के लिये अभिप्रश्न करने वाले को और मर्यादा के लिये प्रश्नवक्ता को नियुक्त किया गया है ॥ १० ॥

उत्सादेभ्यः, उत्सीदन्ति प्राणिनो येभ्यस्ते उत्सादा विनाशास्तत्संज्ञकेभ्यस्तदधिष्ठातृभ्यो वा देवेभ्यः कुब्जं वक्राङ्गं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। प्रमुदे तत्संज्ञकाय देवाय वामनं ह्रस्वाङ्गम्, द्वार्भ्यो द्वारदेवताभ्यः स्रामं सदा जलक्लिन्ननेत्रम्, स्वप्नाय स्वप्नसंज्ञकाय देवायाऽन्धं नेत्रहीनम्, अधर्माय बधिरं कर्णेन्द्रियरहितम्, पवित्राय भिषजं वैद्यम्, प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शं नक्षत्राणि दर्शयतीति नक्षत्रदर्शो गणकस्तम्, आशिक्षायै आ समन्तात् शिक्षा सर्वाङ्गपूर्णशिक्षा तन्नाम्न्यै तदधिष्ठात्र्यै वा देवतायै प्रश्निनं प्रश्नवन्तं शकुनादिद्रष्टारम्, उपशिक्षायै अभिप्रश्निनमभिप्रश्नवन्तम्। एतान् द्वितीये यूपे प्रत्येकं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। अथ तृतीये यूपे—मर्यादायै तन्नामदेवतायै प्रश्नविवाकं यः प्रश्नान् उपस्थितान् विविनक्ति स प्रश्नविवाकस्तम्।

अध्यात्मपक्षे—एता देवतास्तत्तर्पणसाधनभूताः पुरुषपशवः सर्वे आनन्दसिन्धुसमुद्भूता आनन्दरसात्मका एव।

दयानन्दस्तु—'हे परमेश्वर राजन् वा, त्वमुत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनं द्वार्भ्यः स्रामं स्वप्नायान्धमधर्माय बधिरं परासुव। पवित्राय भेषजं प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शमाशिक्षायै प्रश्निनमुपशिक्षाया अभिप्रश्निनं मर्यादायै प्रश्नविवाकमासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नाशकारणेषु कुब्जानामकुब्जानां चोभयेषां प्रवृत्त्यविशेषात्, तथैव प्रमुदेऽपि वामनेतराणामपि प्रवृत्तेः। द्वार्भ्यः सवर्णेभ्य आच्छादनेभ्य इत्यप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्, अधर्मादीनां बधिरादिभिः सम्बन्धविशेषानिरूपणात्। पापनिवारणेन पावित्र्यं भवति न रोगनिवारणेन, तथा सत्यप्यपवित्रतादर्शनात्। नक्षत्राणि सर्वे पश्यन्ति, न च तावतापि ते प्रज्ञानवन्तो भवन्ति। उपशिक्षायै उपवेदादिविद्योपादानमिति व्याख्यानमप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्। न च प्रश्नैर्बहुप्रश्नैर्वा तदधिगतिः, तथात्वे यत्नान्तरस्य वैयर्थ्यापातात् ॥ १० ॥

अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजपालमिरायै कीनाशं कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपᳪं श्रेयसे वित्तधमाध्यक्ष्यायानुक्षत्तारम् ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—अर्म नामक देवताओं के लिये गजपाल को, जव के लिये अश्वपाल को, पुष्टि के लिये धेनुपाल को, वीर्य के लिये अविपाल को, तेज के लिये अजपाल को, इरा के लिये कर्षुक को, कीलाल के लिये सुराकार को, भद्र के लिये गृहपाल को, श्रेय के लिये धनकर्ता को और आध्यक्ष्य के लिये सारथि को नियुक्त किया गया है ॥ ११ ॥

अर्मेभ्यः, अर्मेति नेत्रगोलके श्वेतभागे जायमानः कश्चन रोगविशेषः, 'माँडा' इति प्रसिद्धस्तदधिष्ठातृदेवेभ्यो हस्तिपं महामात्रं 'महावत' इति लोके ख्यातम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। जवाय वेगाधिष्ठातृदेवाय अश्वपम्, 'सईस' इति ख्यातम्, पुष्ट्यै गोपालं धेनुपालकम्, वीर्याय अविपालम्, 'भेडिहार' इति ख्यातम्, तेजसेऽजपालम्, इरायै इराशब्देन भूर्वाक् सुरा आप इति चत्वारोऽर्था उच्यन्ते, 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' (३।३।१७६) इत्यमरः, तदधिष्ठातृदेवतायै कीनाशं कृषीबलम्, कीलालाय कीलालशब्देन रुधिरं जलं चेति द्वावर्थौ गृह्येते, 'शोणितेऽम्भसि कीलालम्' (३।३।२००), इत्यमरः, तदधिष्ठातृदेवतायै सुराकारं मद्यकर्तारम्, भद्राय भद्रो बलीवर्दस्तदधिष्ठातृदेवाय गृहपं गेहपालम्, श्रेयसे अतिशोभनाय देवाय वित्तधं वित्तं दधातीति वित्तधस्तम्, आध्यक्ष्याय अध्यक्षोऽधिकृतः, 'अध्यक्षेऽधिकृतः' (३।३।२१) इत्यमरः, तस्य भाव आध्यक्ष्यम्, अधिकारिपदमिति यावत्, तदभिमानिने देवाय अनुक्षत्तारं सारथ्यनुसारिणम्। एतान् तृतीये यूपे नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे ईश्वर राजन् वा, त्वमर्मेभ्यः प्रापकेभ्यो हस्तिपं जवाय अश्वपं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजपालमिरायै अन्नादिवृद्धये कीनाशं कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपं श्रेयसे धर्मार्थकामप्राप्तये वित्तधमाध्यक्ष्यायानुक्षत्तारमासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अर्मादिभिर्हस्तिपादीनां सम्बन्धविशेषानुक्तेः, नह्यन्नादिकं सुराकारादिभिर्लभ्यते ॥ ११ ॥

भायै॑ दार्वाहा॒रं प्र॒भाया॑ अग्न्ये॒धं ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टपा॑याभिषे॒क्तारं॒ वर्षि॑ष्ठाय॒ नाका॑य परिवे॒ष्टारं॑ देवलो॒काय॑ पेशि॒तारं॑ मनुष्यलो॒काय॑ प्रकरि॒तारꣳ॒ सर्वे॑भ्यो लो॒केभ्य॑ उपसे॒क्तार॒मव॑र्त्यै व॒धायो॑पमन्थि॒तारं॒ मेधा॑य वासःपल्पू॒लीं प्र॑का॒माय॑ रजयि॒त्रीम् ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ— भा के लिये लकड़हारे को, प्रभा के लिये अग्निवर्धक को, सूर्यलोक के लिये अभिषेक्ता को, उत्कृष्ट स्वर्ग के लिये परिवेषणकर्ता को, देवलोक के लिये प्रतिमा आदि बनाने वाले शिल्पी को, मनुष्य लोक के लिये विक्षेप्ता को, सब लोकों के लिये उपसेचनकर्ता को, अवऋति वध के लिये उपमन्थन कर्ता को, मेधा के लिये वस्त्र धोने वाली धोबिन को और प्रकाम के लिये वस्त्र रंगने वाली स्त्री को नियुक्त किया गया है ॥ १२ ॥

अथ चतुर्थे यूपे जुष्टं नियुनज्मीति भायै देवतायै दार्वाहारं काष्ठानामाहर्तारम्, प्रभायै देवतायै अग्न्येधमग्निमेधयतीत्यग्न्येधोऽग्नेर्वर्धकस्तम्, ब्रध्नस्य बध्नाति तिमिरमिति ब्रध्नः सूर्यः, 'बन्धेर्ब्रधिबुधी च' (उ० ३।५) इति नक्प्रत्ययः, तस्य विष्टपं विशन्ति यत्र तत्, 'विटपविष्टप' (उ० ३।१४५) इति निपातितो मध्योदात्तस्तस्मै सूर्यलोकाय अभिषेक्तारं रुद्राद्यभिषेककर्तारम्, वर्षिष्ठायातिशयेन वृद्ध इति वर्षिष्ठस्तस्मै नाकाय कं सुखम्, न कम् अकं दुःखम्, न अकं नाकं सुखमयं स्वर्गमिति यावत्, तस्मै उत्कृष्टस्वर्गाय परिवेष्टारं परिवेषणकर्तारम्, देवलोकाय तदधिष्ठात्रे देवाय पेशितारं पिंशतीति पेशिता तम्, 'पिश अवयवे' प्रतिमाद्यवयवकर्तारम्, मनुष्यलोकाय तदधिष्ठात्रे देवाय प्रकरितारम्, 'कॄ विक्षेपे' विक्षेप्तारम्, सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारमुपसेचनकर्तारम्, अवऋत्यै अवनीता दूरं गता ऋतिर्घृणा यस्याः सा अवऋतिस्तस्यै वधाय हन्यत इति वधः, भावे 'हनश्च वधः' (पा० सू० ३।३।७६) इत्यप्प्रत्ययो वधादेशश्च, तस्मै संज्ञपनाधिष्ठात्रे देवाय उपमन्थितारमुपमन्थनकर्तारम्, मेधाय मेधते सङ्गच्छत इति मेधस्तस्मै देवाय वासःपल्पूलीं वाससां शोधनकर्तारम्, 'पल्पूल लवनपवनयोः' चौरादिकः, अयं शोधनद्रव्येऽपि, तथा च श्रुतिः—'नास्य पल्पूलनेन वासः पल्पूलयेयुः'

(तै० सं० ३।४।५।६), अत्र भाष्यम् –'पल्पूलनं वस्त्रशुद्धिसाधनमूषादि, तेनास्य वासो न शोधयेयुः' इति, प्रकामाय देवाय रजयित्रीं वस्त्राणां रञ्जनकर्त्रीं नारीं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे - पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु–'हे जगदीश्वर राजन् वा, त्वं भायै दीप्त्यै दार्वाहारं प्रभायै अग्न्येधं ब्रध्नस्याश्वस्य विशन्ति यत्र तस्मै मार्गायाभिषेककर्तारं वर्षिष्ठायातिवृद्धाय श्रेष्ठाय नाकायाविद्यमानदुःखाय परिवेष्टारं देवानां लोकाय दर्शनाय वेशितारं मनुष्यलोकाय मनुष्यत्वदर्शनाय प्रकरितारं सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारं मेधाय सङ्गमाय वासःपल्पूलीं प्रकामाय रजयित्रीमासुव, अवऋत्यै विरुद्धप्राप्तये वधाय हननाय उपमन्थितारं समीपे विलोडितारं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादीनां निर्मूलत्वात्, भादिभिर्दार्वाहारादीनां सम्बन्धविशेषासिद्धेः॥ १२॥

ऋ॒तये॑ स्ते॒नहृ॑दयं वै॒रह॑त्याय॒ पिशु॑नं॒ विवि॑क्त्यै क्ष॒त्तार॒मौप॑द्रष्ट्र्याया॒नुक्ष॒त्तारं॒ बला॑यानुच॒रं भू॒म्ने प॑रिष्क॒न्दं प्रि॒याय॑ प्रियवा॒दिन॒मरि॑ष्ट्या अश्वसा॒दꣳ स्व॒र्गाय॑ लो॒काय॑ भाग॒दुघं॒ वर्षि॑ष्ठाय॒ नाका॑य परिवे॒ष्टार॑म्॥ १३॥

मन्त्रार्थ—ऋति के लिये स्तेनहृदय को, वैरहत्या के लिये चुगलखोर को, विविक्ति के लिये प्रतीहार को, औपद्रष्ट्य के लिये प्रतीहार के सेवक को, बल के लिये अनुचर को, भूमा के लिये परिष्कन्द को, प्रिय के लिये मधुरभाषी को, अरिष्टि के लिये अश्वारोह को, स्वर्गलोक के लिये विभागदाता को और उत्कृष्ट स्वर्ग के लिये परिवेष्टा को नियुक्त किया गया है॥ १३॥

ऋतये देवतायै स्तेनहृदयं स्तेनस्येव हृदयं यस्य स स्तेनहृदयस्तं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। अथ पञ्चमे यूपे—वैरहत्याय हननं हत्या 'हनस्त च' (पा० सू० ३।१।१०८) इति क्यपि तकारान्तादेशे च रूपम्, वीरस्य कर्म वैरम्, 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' (पा० सू० ५।१।१३०) इत्यण्, वैरस्य हत्या यत्र स वैरहत्यः परमहिंसकस्तस्मै पिशुनं परवृत्तसूचकम्, विविक्त्यै देवतायै क्षत्तारं प्रतीहारम्, औपद्रष्ट्र्याय देवाय अनुक्षत्तारं प्रतीहारसेवकम्, बलायानुचरं सेवकम्, भूम्ने देवाय परिष्कन्दं परितः स्कन्दति रेतः सिञ्चति यः स परिष्कन्दस्तम्, प्रियाय प्रियवादिनं मधुरभाषिणम्, अरिष्टयै अश्वसादमश्वारोहम्, स्वर्गाय लोकाय भागदुघं भागं दोग्धीति भागधुक् तं विभागप्रदम्, वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे ब्रह्मणः सार्वात्म्यप्रद्योतनाय विविधानां देवतानां तद्यजनसाधनभूतानां विविधानां पुरुषपशूनां च ब्रह्मात्मकता बोध्यते।

दयानन्दस्तु—'ऋतये हिंसायै प्रवृत्तं स्तेनहृदयं वैरहत्यायै वैरं हत्या च यस्मिन् तस्मै प्रवर्तमानं पिशुनं परासुव। विविक्त्यै विवेकाय क्षत्तारं क्षतात्तारकम्, औपद्रष्ट्र्याय उपद्रष्टृत्वायानुक्षत्तारं बलायानुचरं भूम्ने बहुत्वाय परिष्कन्दं प्रियाय प्रीत्यै प्रियवादिनमरिष्टयै कुशलप्राप्तयेऽश्वसादं स्वर्गाय लोकाय दर्शनाय सङ्घाताय भागदुघं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारमासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहाराणां निर्मूलत्वात्॥ १३॥

मन्यवेऽयस्तापं क्रोधाय निसरं योगाय योक्तारꣳ शोकायाभिसर्तारं क्षेमाय विमोक्तारमुत्कूलनिकूलेभ्यस्त्रिष्ठिनं वपुषे मानस्कृतꣳ शीलायाञ्जनीकारीं निर्ऋत्यै कोशकारीं यमायासूम् ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—मन्यु के लिये लोहतापक को, क्रोध के लिये निःसरणकर्ता को, योग के लिये योगकर्ता को, शोक के लिये अभिसर्ता को, क्षेम के लिये विमोचनकर्ता को, उत्कूल-निकूलों के लिये विद्या आदि में स्थित शीलवान् को, वपु के लिये अभिमानी को, शील के लिये अंजनविद्या जानने वाले को, निर्ऋति के लिये कोशकारी स्त्री को और यम के लिये वन्ध्या को नियुक्त किया गया है ॥ १४ ॥

मन्यवे देवायाऽयस्तापं लोहतापकम्, क्रोधाय देवाय निसरं नितरां सर्तारम्, मन्युः शोकः, शोकजन्यश्चित्तक्षोभश्च, दैन्यमिति यावत्, क्रोधस्त्वपमानाद्यसहिष्णुतेति मन्युक्रोधयोर्भेदः। अथ षष्ठे यूपे—योगाय, अलब्धलाभो योगस्तस्मै योक्तारं योगकर्तारम्, शोकायाभिसर्तारं सम्मुखमागच्छन्तम्, शोक-मन्युशब्दयोः पर्यायत्वेऽपि शब्दभेदादान्तरबाह्यरूपो भेदो ग्राह्यः। अथवा यथा सिद्धान्ते 'सौर्यं चरुम्, आदित्यं चरुम्' इत्यत्र सूर्यादित्ययोरैक्येऽपि शब्दभेदाद् देवताभेदः, देवताभेदात् कर्मभेद आस्थीयते, तथैवात्र ज्ञेयम्। क्षेमाय प्राप्तरक्षणाय विमोक्तारं विमोचनकरम्, उत्कूलनिकूलेभ्य ऊर्ध्वाधःकूलेभ्यस्त्रिष्ठिनं त्रिषु विद्यातपोयोनिषु तिष्ठतीति त्रिष्ठी तम्, शीलवन्तमिति यावत्। वपुषे हृष्ट-पुष्ट-सुन्दरालङ्कृतदेहाधिष्ठात्रे देवाय मानस्कृतं पूजाया अभिमानस्य वा कर्तारम्, सक् छान्दसः, शीलाय देवाय आञ्जनीकारीमञ्जनविद्याकर्त्रीम्, निर्ऋत्यै निर्ऋतिदेवतायै कोशकारीम्, कोशः खड्गाद्यावरणम्, तत्करोतीति कोशकारी तां कोशकारिणीं स्त्रियम्, यमाय देवायासूं न सूत इत्यसूस्तां वन्ध्याम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—अनुकूलं प्रतिकूलं प्रशस्तमप्रशस्तं वा सर्वं वस्तु सर्वत्र तत्तदन्तर्यामितत्त्वं देवता शास्त्रप्रामाण्येन विहिताः। तत्तत्पुरुषास्तत्तद्यजनसाधनं सर्वं च ब्रह्मेति ब्रह्मणः सार्वात्म्यं सिद्ध्यति।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर राजन् वा, त्वं मन्यवे आन्तर्यकोपाय प्रवृत्तमयस्तापं लोहसुवर्णादितापकम्, क्रोधाय बाह्यकोपाय प्रवृत्तं निसरं यो निश्चितं सरति गच्छति तम्, योगाय योक्तारं शोकायाऽभिसर्तारं क्षेमाय रक्षणाय विमोक्तारं दुःखाद्विमोक्तारम्, यमाय असूं परासुव। उत्कूलनिकूलेभ्य ऊर्ध्वनीचतटेभ्यस्त्रिष्ठिनं ये त्रिषु जलस्थलान्तरिक्षेषु तिष्ठन्ति ते त्रिष्ठाः, बहवस्त्रिष्ठा विद्यन्ते यस्य तम्, वपुषे शरीरहिताय मानस्कृतं मनस्कृतेषु विचारेषु कुशलम्, शीलां जितेन्द्रियत्वादिशालिनीम् आञ्जनीकारिणीमाञ्जनीः प्रसिद्धाः क्रियाः कर्तुं शीलं यस्यास्ताम्, निर्ऋत्यै भूम्यै कोशकारीं कोशसञ्चयकारीम्, या स्यति प्रक्षिपति तामासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारादिमूलकत्वात्, त्रिष्ठिनमित्यत्र त्रिपदेन शीलायेत्यत्र शीलपदेन च विपरीतस्यापि ग्रहीतुं शक्यत्वात्, विनिगमनाविरहात्। आञ्जनीः प्रसिद्धाः क्रिया इत्यपि निर्मूलम्। कोशपदस्य कोशसञ्चये लक्षणापि निर्मूलैव, तैस्तेषां सम्बन्धानिरूपणाच्च ॥ १४ ॥

यमाय यमसूमथर्वभ्योऽवतोकाꣳ संवत्सराय पर्य्यायिणीं परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरीं वत्सराय विजर्जराꣳ संवत्सराय पलिक्नीमृभुभ्योऽजिनसन्धꣳ साध्येभ्यश्चर्मम्नम् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—यम के लिये जुड़वा बच्चा जनने वाली को, अथर्वों के लिये निरपत्य स्त्री को, संवत्सर के लिये अनुक्रम जानने वाली स्त्री को, परिवत्सर के लिये अप्रसूता स्त्री को, इदावत्सर के लिये अत्यन्त कुलटा स्त्री को, इद्वत्सर के लिये अतिष्कद्वरी स्त्री को, वत्सर के लिये शिथिल शरीर वाली स्त्री को, संवत्सर के लिये श्वेतकेशा को, ऋभु देवताओं के लिये चर्मकार को और साध्य देवताओं के लिये चर्माभ्यासकर्ता को नियुक्त किया गया है ॥ १५ ॥

यमाय देवाय यमसूं युग्मप्रसवित्रीम्, अथर्वभ्यस्तत्संज्ञेभ्यो देवेभ्योऽवतोकामवगलितं तोकमपत्यं यस्याः सा अवतोका स्रवद्गर्भा, निरपत्येति यावत्, ताम्, संवत्सराय देवाय पर्यायिणीं पर्यायोऽनुक्रमस्तद्वतीमनुक्रमप्रज्ञावतीम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। अथ सप्तमे यूपे—परिवत्सराय देवायाविजातामप्रसूताम्, इदावत्सराय देवाय अतीत्वरीमत्यन्तं कुलटाम्, 'असती कुलटेत्वरी' (अ० को० २।६।१०) इत्यमरकोषः, इद्वत्सराय देवायातिष्कद्वरीमतिस्कन्दति स्रवतीत्यतिष्कद्वरी, 'स्कन्दिर गतिशोषणयोः' इत्यस्माद् वनिपि स्त्रीत्वविवक्षायां 'वनोर च' (पा० सू० ४।१।७) इति ङीपि रादेशे च रूपम्, ताम्, वत्सराय देवाय विजर्जरां विशेषेण जर्जरा विजर्जरा शिथिलशरीरा ताम्, संवत्सराय देवाय पलिक्नीं श्वेतकेशाम्, ऋभुभ्यो देवेभ्योऽजिनसन्धं चर्मसन्धातारम्, साध्येभ्यो देवेभ्यश्चर्मम्नं चर्माणि मनतीति चर्मम्नश्चर्माभ्यासकरस्तम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर राजन् वा, त्वं यमाय यमसूं नियन्त्रे या यमान् सूते ताम्, अथर्वभ्योऽहिंसकेभ्योऽवतोकां निरपत्याम्, संवत्सराय पर्यायिणीं परितः कालक्रमज्ञाम्, परिवत्सराय द्वितीयवर्षनिर्णयायाविजातामप्रसूतां ब्रह्मचारिणीम्, इदावत्सराय तृतीयवर्षकार्यसम्पादनायाऽतीत्वरीमतिगमनशीलाम्, इद्वत्सराय पञ्चमाय वर्षायातिष्कद्वरीम्, वत्सराय सामान्याय विजर्जराम्, संवत्सराय चतुर्थायानुवत्सराय पलिक्नीम्, ऋभुभ्यो मेधाविभ्योऽजिनसन्धं जेतुमयोग्यान् सन्दधाति यः सोऽजिनसन्धः, जिधातोः कर्मणि नक्। साध्येभ्यः, ये साद्धुं योग्यास्तेभ्यश्चर्मम्नं यश्चर्मविज्ञानं म्नात्यभ्यस्यति तया सुव' इति, तदपि न, निर्मूलाध्याहारादिमूलकत्वात्, चतुर्थ्यन्तैर्द्वितीयान्तानां सम्बन्धविशेषासिद्धेः। अहिंसकेभ्यो निरपत्यामासुवेति कोऽर्थः सिद्ध्यति ? संवत्सरादिभिः पर्यायिण्यादीनामपि सम्बन्धविशेषासिद्धिश्च। इत्वरीपदं कुलटापरमित्यमरकोषसिद्धम्। चर्मपदं चर्मविज्ञानपरमित्यपि निर्मूलम्। सर्वथापि पारम्पर्यविहीनो निरर्थकोऽसम्बद्धश्चेत्युपेक्ष्योऽयमर्थः। प्रभवादिषष्टिसंवत्सराणां मध्ये द्वादश युगानि, प्रतियुगं च पञ्च वत्सराः। यथाह वराहमिहिरो बृहत्संहितायाम्—'संवत्सरोऽग्निः परिवत्सरोऽर्क इदादिकः शीतमयूखमाली। प्रजापतिश्चाप्यनुवत्सरः स्यादिद्वत्सरः शैलसुतापतिश्च ॥' (८।२४)। अत्र भट्टोत्पलः—संवत्सरः प्रथमोऽब्दोऽग्निदेवत्यः, परिवत्सरो द्वितीयोऽर्कदेवत्यः, इदावत्सरस्तृतीयश्चन्द्रदेवत्यः, अनुवत्सरश्चतुर्थः प्रजापतिदेवत्यः, पञ्चमश्चेद्वत्सरो रुद्रदेवत्य इति। एतदज्ञानमूलकमेव दयानन्दीयं व्याख्यानमिति बोध्यम् ॥ १५ ॥

सरोभ्यो धैवरमुपस्थावराभ्यो दाशं वैशन्ताभ्यो बैन्दं नड्वलाभ्यः शौष्कलं पाराय मार्गारमवाराय कैवर्तं तीर्थेभ्य आन्दं विषमेभ्यो मैनालꣳ स्वनेभ्यः पर्णकं गुहाभ्यः किरातꣳ सानुभ्यो जम्भकं पर्वतेभ्यः किम्पूरुषम् ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—सरोवरों के लिये धीवर के पुत्र को, उपस्थावर जल के लिये धीवर को, वैशन्त नामक जल के लिये निषाद के अपत्य को, नड्वलाओं के लिये मत्स्यजीवी को, पार के लिये मृगारि की सन्तान को, अवार के लिये कैवर्त

को, तीर्थों के लिये बन्धनकर्ता को, विषमों के लिये मानग्राही की सन्तान को, स्वनों के लिये भीलों को, गुहाओं के लिये किरात को, सानुओं के लिये हिंसक को और पर्वतों के लिये कुत्सित नर को नियुक्त किया गया है ।। १६ ।।

सरोभ्यस्तडागाधिष्ठातृदेवेभ्यो धैवरं कैवर्तापत्यम्, उपस्थावराभ्यः स्थावराणां समीपे या जलदेवताः सन्ति ता उपस्थावराः, ताभ्यो दाशम्, 'दाशृ दाने' दातारम्, दाशो धीवरो वा, वैशन्ताभ्योऽल्पसरोऽधिष्ठात्रीभ्यो वैन्दं विन्दो निषादस्तदपत्यम्, नड्वलाभ्यो नडाः सन्ति यत्र सा भूमिर्नड्वला, 'नडशादाद् ड्वलच्' (पा० सू० ४।२।८८) इति ड्वलचि रूपसिद्धिः, तदधिष्ठात्रीभ्यो देवताभ्यः शौष्कलं शुष्कलैर्मत्स्यैर्जीवतीति शौष्कलस्तम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति । अथाष्टमे यूपे -पाराय परतटाभिमानिदेवाय मार्गारं मृगारेर्व्याधस्यापत्यम्, अवाराय अवरतटवर्तिदेवाय कैवर्तं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति । तीर्थेभ्य ऋषिजुष्टजलदेवताभ्य आन्दम् अन्दति बध्नातीत्यान्दस्तं बन्धनकर्तारम्, विषमेभ्य उच्चावचं स्थलं विषमम्, तदधिष्ठातृदेवेभ्यो मैनालं मीनान् अलति वारयति जालैरिति मीनालस्तदपत्यं मैनालस्तम्, स्वनेभ्यः शब्दविशेषाधिष्ठातृदेवेभ्यः पर्णकं भिल्लम्, गुहाभ्यो गुहाधिष्ठातृदेवेभ्यः किरातम्, सानुभ्यः पर्वतसमभूभागाधिष्ठातृदेवेभ्यो जम्भकं जम्भयति हिनस्तीति जम्भकस्तम्, पर्वतेभ्यः पर्वाणि सन्ति यत्र ते पर्वतास्तेभ्यः पर्वताधिष्ठातृदेवेभ्यः किम्पूरुषं कुत्सितनरम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति ।

अध्यात्मपक्षे — आधिदैविकान्याधिभौतिकानि च पृथक् पृथग् वस्तूनि सर्वाणि ब्रह्मात्मकान्येवेति सर्वथा रागद्वेषवियुक्तैः सद्भिर्ब्रह्मैवानुसन्धेयमिति ।

दयानन्दस्तु —'सरोभ्यस्तारणाय धैवरम्, उपस्थावराभ्य उपस्थिताभ्योऽवराभ्यो निकृष्टक्रियाभ्यो दाशं दाशत्यस्मै तम्, वैशन्ताभ्यो वैन्दं निषादापत्यम्, नड्वलाभ्यो नडा विद्यन्ते यासु भूमिषु ताभ्यः शौष्कलम्, पाराय मृगकर्मसमाप्त्यर्थं प्रवृत्तं मार्गारं व्याधापत्यम्, अवाराय अर्वाचीनगमनाय कैवर्तमासुव । तीर्थेभ्यस्तरन्ति यैस्तेभ्य आन्दमासुव । विषमेभ्यो विकटदेशेभ्यो मैनालं मैनं कामदेवमलति वारयतीति तं जितेन्द्रियम्, स्वनेभ्यः शब्देभ्यो यः पर्णेषु पालनेषु कुत्सितस्तम्, गुहाभ्यः किरातम्, सानुभ्यो जम्भकम्, पर्वतेभ्यः किम्पूरुषं जाङ्गलं कुत्सितं पुरुषं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उपस्थावरशब्दस्य समीपस्थनिकृष्टक्रियार्थत्वे मानाभावात् । एवमेव मीनालपदस्य जितेन्द्रियार्थत्वमपि न युक्तम्, मैनपदस्य कामार्थकत्वे मानाभावात् । न च 'मदनो मन्मथो मारः प्रद्युम्नो मीनकेतनः' (१।१।२५) इत्यमरकोषप्रामाण्यान्मीनः केतनं ध्वजो यस्येति व्युत्पत्त्या मीनोऽस्ति ध्वजत्वेन यस्य स मैनः काम इत्यर्थः स्यादिति सर्वं सुशकसमाधानमिति चेन्न, मीनशब्दस्य जलचरजन्तौ लक्षणा, लक्षणया च मीनशब्दस्य मकरोऽर्थः । न च सामाजिकैः कामो देवस्तस्य ध्वजश्च स्वीक्रियते । आसुव-परासुव-इति क्रियापदे मन्त्रबाह्ये एव । सम्बन्धविशेषासिद्धिस्तु स्पष्टैव ॥ १६ ॥

बीभत्सायै पौल्कसं वर्णाय हिरण्यकारं तुलायै वाणिजं पश्चादोषाय ग्लाविनं विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलं भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनमार्त्यै जनवादिनं व्यृद्ध्या अपगल्भꣳ सꣳशराय प्रच्छिदम् ।। १७ ।।

मन्त्रार्थ— बीभत्सा के लिये पुल्कसापत्य को, वर्ण के लिये सुनार को, तुला के लिये बनिये को, पश्चादोष के लिये असन्तुष्ट व्यक्ति को, सभी भूतों के लिये सिध्म रोग वाले को, भूति के लिये जागरण को, अभूति के लिये स्वप्नशील को, आर्ति के लिये जनवादी को, व्यृद्धि के लिये अप्रगल्भ को और संशर के लिये प्रच्छेदन कर्ता को नियुक्त किया गया है ।। १७ ।।

बीभत्सायै बीभत्सं वस्तु तादृशरसाधिष्ठातृदेवतायै पौल्कसं पुल्कसापत्यम्, वर्णाय नीलपीतादिवर्णाधिष्ठात्रे हिरण्यकारं स्वर्णनिष्पादकम्, तुलायै तुलाधिष्ठातृदेवाय वाणिजं वणिगपत्यम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। अथ नवमे यूपे -पश्चादोषाय पश्चादोषति परिणामस्मरणेन ज्वलयतीति पश्चादोषः पश्चात्तापम्, तदधिष्ठात्रे देवाय ग्लाविनम्, 'ग्लै हर्षक्षये' हर्षरहितम्, विश्वेभ्यो भूतेभ्य एतन्नामदेवेभ्यः सिध्मलं सिध्मरोगवन्तम्, भूत्यै ऐश्वर्याधिष्ठातृदेवतायै जागरणं जागरूकम्, अभूत्यै अनैश्वर्यदेवतायै स्वपनं शयालुम्, आर्त्यै देवतायै जनवादिनं जनान् वदति परिवदतीति जनवादी आक्रोशकस्तम्, व्यृद्धयै विगता ऋद्धिर्व्यृद्धिस्तदधिष्ठातृदेवतायै अप्रगल्भं प्रागल्भ्यरहितम्, संशराय सम्यक् शृणाति हिनस्तीति संशरस्तदधिष्ठात्रे देवाय प्रच्छिदं प्रच्छेदनकर्तारम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—बीभत्सायै भर्त्सनाय प्रवृत्तं पौल्कसम्, वर्णाय सुरूपसम्पादनाय हिरण्यकारम्, तुलायै वणिजम्, पश्चादोषाय पश्चाद्दोषदानाय प्रवृत्तं ग्लाविनम्, विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलं सिध्माः सुखसाधका विद्यन्ते यस्य तम्, भूत्यै जागरणम्, अभूत्यै अनैश्वर्याय स्वपनम्, आर्त्यै पीडानिवृत्त्यै जनवादिनं प्रशस्ता जनवादा यस्य तम्, व्यृद्धयै विगतर्द्धयै अप्रगल्भम्, संशराय सम्यग्घिसनाय प्रवृत्तं प्रच्छिदमर्थाद् बीभत्सायै पौल्कसम्, पश्चादोषाय ग्लाविनमभूत्यै स्वपनम्, व्यृद्धया अप्रगल्भम्, संशराय प्रच्छिदं परासुव। वर्णाय हिरण्यकारम्, तुलायै वणिजम्, विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलम्, भूत्यै जागरणम्, आर्त्यै जनवादिनमासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः। तथाहि—एवंविधं बीभत्सशब्दस्य भर्त्सनार्थकत्वं सिध्मशब्दस्य सुखसाधकार्थकत्वं कथं ज्ञेयम्। 'बध बन्धने' इति धातोः 'बधेश्चित्तविकारे' (पा० सू० ३।१।६, वा० ५) इति वार्त्तिकाच्चित्तविक्रियायां सनि बीभत्सशब्दः सिद्धयति। स च द्विविधो भवति -'विष्ठा कामज उद्वेगी क्षोभणो रुधिरादिजः' इति। सिध्मशब्दो-रोगविशेषपर इत्यायुर्वेदशास्त्रम्। तथाहि चरकः—'श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति। अलाबुपुष्पवर्णं तत् सिध्मं प्रायेण चोरसि॥' इति। आर्तिपदमपि पीडापरम्, न पीडानिवृत्तिपरम्, तथैव कोषादिषु प्रसिद्धेः। विपरीतार्थे लक्षणापि न सुशका। पश्चादोषशब्दस्यापि पश्चाद्दोषदानं कथमर्थः? सैद्धान्तिकोऽर्थस्तूक्त एव॥ १७॥

अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुं मृत्यवे गोव्यच्छमन्तकाय गोघातं क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति दुष्कृताय चरकाचार्यं पाप्मने सैलगम्॥ १८॥

मन्त्रार्थ—अक्षराज के लिये धूर्त को, कृत के लिये आदीनव दोष के द्रष्टा को, त्रेता के लिये कल्पक को, द्वापर के लिये अधिकल्पक को, आस्कन्द देवता के लिये सभास्थाणु को, मृत्यु के लिये गो के प्रति गमनशील को, अन्तक के लिये गोहन्ता को, क्षुधा देवी के लिये भीख माँगने वाले को, दुष्कृत के लिये चरकों के आचार्य को और पाप के लिये दुष्ट की सन्तान को नियुक्त किया गया है॥ १८॥

अक्षराजाय अक्षाणां कृतादीनां राजा स्वामी अक्षराजः, तदधिष्ठात्रे कितवं द्यूतकारं धूर्तं वा, कृताय चतुरङ्ककृतसंज्ञकाक्षाधिष्ठात्रे देवाय आदिनवदर्शम् आ समन्ताद् दीयते 'दीङ् क्षये' इत्यादीनम्, 'नपुंसके भावे क्तः' (पा० सू० ३।३।११४) इति क्तः, 'ओदितश्च' (पा० सू० ८।२।४५) इति निष्ठातस्य नत्वे रूपम्।

आदीनस्य वानम् आदीनवम्, 'घञर्थे कविधानम्' (पा० सू० ३।३।५८, वा० २) इति वातेः कप्रत्यये, 'आतो लोप इटि च' (पा० सू० ६।४।६४) इत्यालोपे रूपम्, आदीनवो दोषस्तं पश्यतीत्यादिनवदर्शस्तम्, आर्षो ह्रस्वः, 'आदीनवास्रवौ क्लेशे' (अ० को० ३।२।२९) इत्यमरः, त्रेतायै त्र्यङ्कद्यूताधिष्ठात्रे देवाय कल्पिनं कल्पकं कल्पनाकुशलम्, द्वापराय द्व्यङ्कद्यूताधिष्ठात्रे देवायाधिकल्पिनमधिककल्पनाकर्तारम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। अथ दशमे यूपे—आस्कन्दाय आसमन्तात् स्कन्दतीत्यास्कन्द एकाङ्कद्यूतकल्यधिष्ठाता, तस्मै सभास्थाणुं सभायां स्थिरम्, मृत्यवे देवाय गोव्यच्छं गाः प्रति गमनशीलम्, अन्तकाय तदभिमानिने देवाय गोघातं गवां हन्तारम्, क्षुधे क्षुदभिमानिने यो गां विकृन्तन्तं यः पुमान् गां छिन्दन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति तं याचितारं क्षुधे देव्यै आलभेत। दुष्कृताय दुष्कृताभिमानिने देवाय चरकाचार्यं चरकाणां गुरुम्, पाप्मने पाप्माभिमानिने देवाय सैलगं सीलगो दुष्टस्तदपत्यम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे ईश्वर राजन् वा, अक्षराजाय येऽक्षैः क्रीडन्ति तेषां राजा अक्षराजः, तस्मै हितं कितवम्, मृत्यवे मारणाय गोव्यच्छं गोषु विचेष्टितारम्, अन्तकाय नाशाय गोघातं गवां घातकम्, क्षुधे यो गां छिनत्ति तं विकृन्तन्तं यो भिक्षमाण उपतिष्ठति तम्, दुष्कृताय दुष्टाचाराय चरकाचार्यं चरकाणां भक्षकाणामाचार्यम्, पाप्मने सैलगं सीलाङ्गस्य दुष्टस्यापत्यं परासुव, कृताय यद्यादीनवान् पश्यति तं त्रेतायै त्रयाणां भावाय कल्पिनं कल्पः प्रशस्तं सामर्थ्यं विद्यते यस्य तम्, द्वापराय द्वावपरौ यस्मिन् तस्मै अधिकल्पिनम् अधिगतसामर्थ्ययुक्तम्, आस्कन्दाय समन्तात् शोषणाय सभास्थाणुमासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अक्षपदस्याक्षक्रीडार्थत्वे मानाभावात्। चतुर्थ्यन्तानां पदानां द्वितीयान्तपदैः सम्बन्धविशेषासिद्धेश्च।

पाश्चात्यास्तु दुष्कृताय चरकाचार्यमिति श्रुत्वा वेदानां पौरुषेयत्वसाधनाय प्रयतन्ते, शुक्लयजुर्वेदिनश्चरकशाखिद्वेषवशाच्चरकाचार्याणां बलिदानमादिशन्तीति, तदपि निर्मूलम्, पुरुषमेधे पुरुषाणामुत्सर्गविधानादालम्भासिद्ध्या द्वेषासिद्धेः, ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत क्षत्राय राजन्यमालभेतेत्यादिभिर्ब्राह्मणराजन्यादीनामपि पुरुषपशुत्वोक्त्या तददोषात्॥ १८॥

प्रतिश्रुत्काया अर्तनं घोषाय भषमन्ताय बहुवादिनमनन्ताय मूकꣳ शब्दायाडम्बराघातं महसे वीणावादं क्रोशाय तूणवध्ममवरस्पराय शङ्खध्मं वनाय वनपमन्यतोऽरण्याय दावपम्॥ १९॥

मन्त्रार्थ—प्रतिश्रुत्का के लिये दुःखी प्राणी को, घोष के लिये जल्पक को, अन्त के लिये बहुवादी को, अनन्त के लिये मूक को, शब्द के लिये आडम्बर फैलाने वाले को, महस् के लिये वीणावादक को, क्रोश के लिये तूणव बजाने वाले को, अवरस्पर के लिये शंख बजाने वाले को, वन के लिये वनपाल को और अन्यतोरण्य के लिये दावाग्नि के पालक को नियुक्त किया गया है॥ १९॥

प्रतिश्रुत्कायै, प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञातं कायति वारं वारमुच्चारयति, मया भक्तायेदं देयमिदं देयमिति वारं वारं ध्वनति या सा प्रतिश्रुत्का, तस्यै देवतायै अर्तनं दुःखिनम्, घोषाय बहुशब्दकारकाय देवाय भषं श्वरवकारिणम्, अन्ताय समाप्त्यधिष्ठात्रे देवाय ससीमाय वा बहुवादिनं बहुजल्पकम्, अनन्ताय देवाय मूकं वाग्विकलम्,

शब्दाय शपति आह्वयत्यनेनेति शब्दः, 'शाशपिभ्यां ददनौ' (उ० ४।९८) इति साधुः, तस्मै तदधिष्ठात्रे देवाय आडम्बराघातम् आडम्बरं वाद्यविशेषमाहन्तीत्याडम्बराघातः कोलाहलकर्ता तम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति ।

अथैकादशे यूपे—महसे तेजोऽधिष्ठात्रे देवाय वीणावादं वीणावादकम्, क्रोशाय क्रोशनं क्रोशस्तदधिष्ठात्रे देवाय तूणवध्मं तूणवं वाद्यविशेषं धमति यस्तम्, अवरस्पराय अवरेषु निकृष्टेषु यः परः सर्वोत्कृष्टः, सर्वेभ्योऽप्यधम इति यावत्, सोऽवरस्परस्तस्मै तदधिष्ठात्रे देवाय शङ्खध्मं शङ्खवादकम्, वनाय देवाय वनपालकम्, अन्यतोऽरण्याय दावपं वनवह्निपम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'प्रतिश्रुत्कायै प्रतिज्ञाव्यै अर्तनमर्तनप्रापकम्, घोषाय भषं परिभाषकम्, अन्ताय समीपाय ससीमाय वा बहुवादिनम्, अनन्ताय मूकम्, शब्दाय प्रनृतमाडम्बराघातं कोलाहलकर्तारम्, महसे महते वीणावादम्, अवरस्पराय शङ्खध्मम्, वनाय वनपमासुव । शब्दायाडम्बराघातम्, क्रोशाय तूणवध्मम्, अन्यतोऽरण्याय अन्यतोऽरण्यं यस्मिन् तस्मै दावं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बन्धविशेषानुक्तेः, निर्मूलाध्याहाराच्च । प्रतिज्ञा समीचीनाऽसमीचीना च भवति । न च सर्वोऽपि प्रतिज्ञाता सदेव प्रतिजानीते । आधुनिकानां शासनपदे स्थितानां मण्डलायोगवत् । न च शिष्टैरसत्प्रतिज्ञायाः पूर्तिः समर्थ्यते । अन्तानन्तशब्दाभ्यां बहुवादिमूकयोरपि सम्बन्धस्यास्पष्टत्वात् ॥ १९ ॥

नर्माय पुँश्चलूँ हसाय कारिं यादसे शाबल्यां ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकं तान्महसे वीणावादं पाणिघ्नं तूणवध्मं तान्नृत्तायानन्दाय तलवम् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—नर्म देवता के लिये कुलटा नारी को, हस के लिये करणशील को, यादस् के लिये कर्बुर वर्ण नारी की पुत्री को, महस् देवता के लिये ग्रामणी, ज्योतिर्विद् और निन्दक को, नृत्य देवता के लिये वीणावादक, खडतालवादक और तूणव बजाने वाले को और आनन्द के लिये वाद्यवादक को नियुक्त किया गया है ॥ २० ॥

नर्मोपहासः, तदधिष्ठात्रे पुंश्चलूं व्यभिचारिणीं नारीम्, हसाय हासाधिष्ठात्रे कारिं हासकरणशीलम्, यादसे 'यादांसि जलजन्तवः' (अ० को० १।१०।२०) तदधिष्ठात्रे शाबल्यां शपतीति शबलः, 'शपेर्बश्च' (उ० १।१०५) इति रूपसिद्धिः, कर्बुर इति यावत्, शबलापत्यभूतां नारीम् । ग्रामण्यं ग्रामनेतारम्, गणकं ज्योतिर्विदम्, अभिक्रोशकं निन्दकम्, तान् एतान् त्रीन् महसे जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति । एवं प्रतियूपम् एकादशसु एकादशसु नियुक्तेषु येऽधिका अवशिष्टास्तान् समाप्तिपर्यन्तान् द्वितीयोच्छ्रिते यूपे नियुनक्ति । तांश्च वीणावादम्, पाणिघ्नम्, तूणवध्ममित्यादीन् रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षमित्यन्तान् चतुर्दश, ततोऽथैतानष्टौ मागधादींश्च चतुर इत्येवं सम्भूय (सङ्कलय्य) षड्विंशतिम्, द्वितीये यूपे पूर्वोक्ता एकादश, इमे च षड्विंशतिः, सङ्कलय्य सप्तत्रिंशत्, तानालभते । तदेवाह—वीणावादं पाणिघ्नं (हस्ततालवादकम्) तूणवध्मम्, तान् एतान् त्रीन् नृत्ताय देवायालभते । आनन्दाय आनन्दाधिष्ठात्रे देवाय तलवं तलं हस्तादितलं तेन वाति वाद्यमुखं हन्तीति तलवः, 'वा गतिगन्धनयोः', गन्धनं हिंसनं तम्, वाद्यवादकमालभते ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः ।

दयानन्दस्तु 'नर्माय पुंश्चलूं हसाय कारिं विक्षेपकाय यादसे शाबल्यां परासुव। ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकम्, तान् महसे पूजनाय, वीणावादं पाणिघ्नं तूणवध्मं तान् नृत्ताय, आनन्दाय तलवं सुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यादसे प्रवृत्तायाः शाबल्यायाः किमर्थं दूरीकरणमित्यनुक्तेः। जलजन्तवे किमर्था च तस्याः प्रवृत्तिः? वस्तुतो न चतुर्थ्यन्तद्वितीयान्तपदार्थानां लोकसिद्ध उपकार्योपकारकभावः, न वा अपकार्यापकारकभावश्च सिद्ध्यति। बलादेवाध्याहारादिभिः सम्बन्धस्तु यत्र क्वचिदपि योजयितुं शक्यः॥ २०॥

अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणं वायवे चाण्डालमन्तरिक्षाय वꣳशनर्तिनं दिवे खलतिꣳ सूर्याय हर्यक्षं नक्षत्रेभ्यः किर्मिरं चन्द्रमसे किलासमह्ने शुक्लं पिङ्गाक्षꣳ रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षम्॥ २१॥

मन्त्रार्थ—अग्नि के लिये स्थूल को, पृथ्वी के लिये पीठसर्पी को, वायु के लिये चाण्डाल को, अन्तरिक्ष के लिये बाँस पर नाचने वाले नट को, स्वर्ग के लिये गंजे को, सूर्य के लिये हरित नेत्र वाले को, नक्षत्रों के लिये कर्बुर वर्ण के मनुष्य को, चन्द्रमा के लिये सिध्म रोग वाले को, दिवस के लिये शुक्ल वर्ण वाले पिंगाक्ष को और रात्रि के लिये कृष्ण वर्ण वाले पिंगाक्ष को नियुक्त किया गया है॥ २१॥

अग्नये देवाय पीवानं स्थूलं नरम्, पृथिव्यै देवतायै पीठसर्पिणं पीठेन आसनेन सर्पति गच्छति यः स पीठसर्पी, तं पङ्गुम्, वायवे देवाय चाण्डालं चाण्डालकर्माणम्, अन्तरिक्षाय देवाय वंशनर्तिनं वंशेन नर्तनशीलम्, दिवे द्युलोकाधिष्ठात्रे खलतिमलोमशिरस्कम्, खल्वाटमित्यर्थः, सूर्याय देवाय हर्यक्षं हरितनेत्रम्, नक्षत्रेभ्यो देवेभ्यः किर्मिरं कर्बुरवर्णम्, चन्द्रमसे किलासं सिध्मलम्, अह्ने दिनदेवतायै शुक्लं शुक्लवर्णं पिङ्गाक्षम्, रात्र्यै रात्रिदेवतायै कृष्णं कृष्णवर्णं पिङ्गाक्षमालभते।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणमन्तरिक्षाय वंशनर्तिनं सूर्याय हर्यक्षं चन्द्रमसे किलासमह्ने शुक्लं पिङ्गाक्षमासुव, वायवे चाण्डालं दिवे खलतिं नक्षत्रेभ्यः किर्मीरं रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अप्रकृतप्रक्रियात्वात्। तथाहि—ब्रह्मणे ब्राह्मणमिति (पञ्चमीं) कण्डिकामारभ्य मनुष्याणामेव पशुत्वेन वर्णनं दृश्यते। अस्यां कण्डिकायां पीठसर्पिणं सर्पादिकमित्युक्तम्, स्थूलमिति स्थूलपदार्थ इत्युक्तम्, अन्तरिक्षायेत्यस्य सूर्यपृथिव्योर्मध्यस्थानाय आकाशायेत्युक्तम्। एषु कस्य केन कथङ्कारं सम्बन्धः? सूर्येण हर्यक्षस्य च। चण्डालशरीरागतो वायुर्दुर्गन्धत्वान्न सेवनीय इति भावार्थस्तु तवापसिद्धान्त एव, कर्मणा वर्णाङ्गीकारात्॥ २१॥

अथैतानष्टौ विरूपानालभतेऽतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चातिकुल्वं चातिलोमशं च। अशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः। मागधः पुंश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः॥ २२॥

॥ इति त्रिंशोऽध्यायः॥

मन्त्रार्थ - अब अतिदीर्घ और अतिह्रस्व, अतिस्थूल और अतिकृश, अतिशुक्ल और अतिकृष्ण, रोमरहित और सर्वाङ्गव्यापी रोम वाला – इन आठ परस्पर विरोधी स्वभाव वाले पशुओं को नियुक्त किया गया है। ये शूद्र और ब्राह्मण से अतिरिक्त पशु होते हैं। ये आठों प्रजापति देवता वाले हैं। इसी तरह से मागध, पुंश्चली, कितव और क्लीब ये चारों भी शूद्र-ब्राह्मण से व्यतिरिक्त हैं और प्रजापति देवता वाले हैं। इन नियुक्त पुरुषों की 'सहस्रशीर्षा' नामक ऋचा से दक्षिण की ओर बैठा हुआ ब्रह्मा स्तुति करता है और आलम्भन क्रम से प्रोक्षण आदि करता है। फिर उन ब्राह्मण आदि को पर्यग्निकरण से संस्कृत कर देवता के निमित्त अर्पित करता है और उन सबको यूपों से अलग कर छोड़ देता है। अध्वर्यु घृत को संस्कृत करके 'ॐ पुरुषदेवेभ्यो ब्रह्मादिभ्यः' इत्यादि मन्त्रों से एक आहुति देता है। तब ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा, मरुद्भ्यः, तपसे, तमसे इत्यादि का उच्चारण कर इन देवताओं के निमित्त घृत की आहुति देकर स्विष्टकृत् आदि उदवसानीय पर्यन्त कर्म करके फिर यजमान 'अयं ते योनिः' इस मन्त्र से अग्नियों को अपनी आत्मा में समारोपित कर 'अद्भ्यः सम्भृतम्' इत्यादि ऋचाओं के अनुवाक से सूर्य का उपस्थान कर फिर बिना पीछे देखे वन में जाकर निवास करता है। यदि पुरुषमेध का अनुष्ठान करने के बाद ग्राम में बसने की इच्छा हो, तो उदवसानीय के अन्त में सायंकालीन आहुतियों से होम कर, अरणि में अग्नियों को समारोपित कर, महानारायण रूप में सूर्य का उपस्थान कर तब घर में आवे और पुनः अग्नि की स्थापना करे। यथेच्छ यज्ञों का भी अनुष्ठान करे। इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यों से यज्ञ करने वाले के लिये गृहवास और अध्यात्म यज्ञ करने वाले के लिये सन्यास का विधान है॥ २२॥

तत एतान् वक्ष्यमाणानष्टौ विरूपान् परस्परं विरुद्धरूपान् पशूनालभते। तानाह—अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, अतिस्थूलम्, अतिकृशम्, अतिशुक्लम्, अतिकृष्णम्, अतिकुल्वं रोमरहितम्, अतिलोमशं सर्वाङ्गव्यापिरोमाणम्। तेऽष्टावशूद्रा अब्राह्मणाः शूद्रब्राह्मणव्यतिरिक्ताः पशवो भवन्ति। तेऽष्टावपि प्राजापत्याः प्रजापतिदेवत्याः, 'अष्टावुत्तमानालभते' (श० १३।६।२।७) इत्युपक्रम्य 'ते वै प्राजापत्या भवन्ति' (श० १३।६।२।८) इति श्रुतेः।

अत्र जातिनियमात् पूर्वेषु जातेरनियमः। वीणावादादयश्चतुर्दश, अतिदीर्घादयोऽष्टौ, तथा मागधः पुंश्चली कितवः क्लीबः एते चत्वारोऽपि शूद्रब्राह्मणव्यतिरिक्ताः प्रजापतिदेवत्याः सर्वे सम्भूय षड्विंशतिः पशवो द्वितीययूपे नियोज्याः। सर्वेषां नियोगानन्तरं तान्नियुक्तान् पुरुषान् 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (वा० सं० ३१।१-१६) इति षोडशर्चेनानुवाकेन ब्रह्मा दक्षिणत उपविष्टो होतृवदभिष्टौति, 'ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणेनाभिष्टौति सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादित्येतेन षोडशर्चेन' (श० १३।६।२।१२) इति श्रुतेः। अत्र ब्रह्मणि होतृधर्मातिदेशेन प्रथमोत्तमयोर्ऋचोस्त्रिर्वचनम्, ऋगन्तानां प्रणवेन सन्धानं च। तद्यथा सहस्रशीर्षा पुरुषः ०ङ्गुलोम् पुरुष एवेद७ं० रोहतोम् इत्येवं रीत्याभिष्टौति। तत आलम्भनक्रमेण यथादेवतं प्रोक्षणादि। ब्राह्मणादीनां पर्यग्निकरणानन्तरमिदं ब्रह्मणे इदं क्षत्रायेत्येवं सर्वेषां यथास्वं स्वदेवतामुद्दिश्य त्यागः। ततः सर्वान् ब्राह्मणादीन् यूपेभ्यो विमुच्य उत्सृजति। तत एकादशिनैः पशुभिः संज्ञपनादिप्रधानयागान्तं वनस्पतियागं कृत्वा प्राक्स्विष्टकृतोऽध्वर्युराज्यं संस्कृत्य सकृद्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा ओमित्यादिना पुरुषदेवताभ्यो ब्रह्मादिभ्य आहवनीये जुहोति। तद्यथा—ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा, तपसे स्वाहा, तमसे स्वाहा—इति आ अध्यायान्तं सर्वदेवताभ्यश्चतुरशीत्युत्तरशतसंख्याकाभ्यस्तावतीर्घृताहुतीर्हुत्वा स्विष्टकृदाद्युदवसानीयान्तं कर्म कृत्वा, अन्ते यजमानः—अयं ते योनिर्ऋत्वियः' (वा० सं० ३।१४, १२।५२, १५।५६) इति मन्त्रेण आत्मन्यग्नीन् समारोप्य, 'अद्भ्यः सम्भृतः' (वा० सं० ३१।१७) इति षडृचेनानुवाकेन सूर्यमुपस्थाय पश्चादनवलोकयन् अरण्यं गत्वा संन्यसेत्, 'गार्हपत्येऽधरारणिमनुप्रहृत्य आहवनीय उत्तरारणिमात्मन्यग्नीन् समारोप्य अरण्यं प्रव्रजेत्' (शा० श्रौ० १६।१६।१) इति शाङ्खायनोक्तेः। अरण्यं प्रव्रजेदिति सूत्रान्तः। गार्हपत्येऽनावधरारणि-

मनुप्रहृत्य प्रक्षिप्य, आहवनीयेऽग्नौ उत्तरारणिं प्रक्षिप्य, आत्मन्यग्नीन् समारोप्य, गार्हपत्याग्निमाहवनीयाग्निम्, बहुवचनाद् दक्षिणाग्निमपि, श्रौतत्वात् सभ्याग्निरपि ज्ञेयः । अरण्यं प्रव्रजेत्, न ग्रामं प्रविशेदित्यर्थः ।

यदि पुरुषमेधानन्तरमपि ग्रामे वासेच्छा जागृयात्, तर्ह्युदवसानीयान्ते सायमाहुतीर्हुत्वा अरण्योरग्नीः समारोप्य उत्तरनारायणेनार्कमुपस्थाय देवयजनमादीप्य गृहं व्रजेत् । गृहे आगत्य निर्मथ्याग्निं स्थापयेत् । यथेच्छं यज्ञानपि कुर्यात् । अयमपि पक्षोऽस्ति । तत् पुरुषमेधानन्तरं संन्यास एवेति मुख्यः पक्ष इति श्रीमहीधराचार्याः ।

अध्यात्मपक्षे—उपलक्षणमेतत् । पुरुषमेधादिसर्वयज्ञैः समर्हणीयानां देवानां यजनसाधनपशूनां चरुपुरोडाशादीनां च ब्रह्मात्मकत्वं विभाव्याग्नीनां ब्रह्मादीनामृत्विजां यजनादीनां तत्फलानां च ब्रह्मरूपतैव विभावनीया । 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।' (भ० गी० ४।२४) इति गीतोक्तेः, 'पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' (वा० सं० ३१।२) इति मन्त्रवर्णाच्च ।

दयानन्दस्तु—'हे राजानः, यथा विद्वानतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चातिकुल्वं चातिलोमशं चैतान् विरूपानष्टावालभते, तथा यूयमप्यालभध्वम् । अथ येऽशूद्रा अब्राह्मणाः प्राजापत्याः सन्ति, तेऽप्यालभेरन् । यो मागधो या च पुंश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्रोऽब्राह्मणस्ते दूरे वासनीयाः । ये प्राजापत्यास्ते समीपे निवासनीयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अतिदीर्घातिह्रस्वादीनां प्राप्तेः प्रयोजनविशेषानुक्तेः । नहि लौकिको लाभः शक्यसमर्थनः । अशूद्रोऽब्राह्मण इत्यंशस्यापि प्रयोजनानुक्तेः । प्रजापतिदेवताकत्वं तेषां किं मूलकमित्यनुक्तेश्च । किमर्थं मागधादयः प्राजापत्याः, ब्राह्मणादयः कुतो न प्राजापत्या इत्यप्यस्पष्टमेव । सर्वथापि वेदानां लोकायतिकत्वापादनायैव क्लिष्टकल्पनाश्रयणम् ॥ २२ ॥

इति वेदार्थपारिजाताख्यभाष्यमण्डितायां शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां

त्रिंशोऽध्यायः ॥

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

[३१–३९ अध्यायात्मको भागः]

नवाध्यायी(३१-३९)-भाष्यनिष्कर्ष

इसी खण्ड के पूर्व भाग में २१ से ३० अध्यायों के भाष्य का निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा चुका है। अब यहाँ ३१ से ३९ अध्यायों के भाष्य का निष्कर्ष पूर्वपद्धति से ही प्रस्तुत किया जा रहा है। इस संहिता का ४०वां अध्याय ईशावास्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है और उस पर संस्कृत, हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं में अनेकों पुस्तकें और अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। अतः उस पर यहाँ अलग से विवेचना करने की आवश्यकता नहीं है। यह इस लिये भी आवश्यक नहीं है कि इस अध्याय का वेदार्थपारिजातभाष्य अलग से प्रकाशित हो चुका है।

३१वाँ अध्याय : पुरुष-सूक्त

इस अध्याय की प्रथम १६ ऋचाएँ पुरुष-सूक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं और आगे की छः कण्डिकाएँ उत्तरनारायण के नाम से जानी जाती हैं। ३०वें अध्याय के 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (३०।५) इत्यादि मन्त्रों से पुरुषमेधरूप परमात्मा के अवयवों का वर्णन किया गया है। अब इस अध्याय में अवयवी पुरुष की स्तुति की जा रही है। कात्यायन के विनियोग के अनुसार ब्रह्मा यूप में नियुक्त ब्राह्मण आदि पशुओं की १६ ऋचाओं वाले पुरुष-सूक्त से स्तुति करता है और [1]उदवसानीयेष्टि के अन्त में छः ऋचाओं वाले उत्तरनारायणीय अनुवाक से सूर्य का उपस्थान करता है। इसके बाद वह वन में रह कर वानप्रस्थ आश्रम को स्वीकार कर ले, अथवा पुनः ग्राम में आकर यज्ञ आदि का अनुष्ठान करता रहे। इस विषय की चर्चा ३०वें अध्याय के अन्तिम मन्त्र (पृ० ३२०) में की जा चुकी है। वहाँ यह भी दिखाया गया है कि आचार्य महीधर के अनुसार पुरुषमेध के अनुष्ठान के बाद व्यक्ति को संन्यास ले लेना चाहिये। आचार्य उव्वट ने इस अध्याय के शौनक भाष्य को उद्धृत किया है। उसका भी वेदार्थपारिजातभाष्य में समावेश कर लिया गया है।

७वें मन्त्र में यहाँ ऋग्वेद की २१, सामवेद की एक हजार और यजुर्वेद की १०१ शाखाओं की प्रसंगवश चर्चा की गई है और उत्पत्ति, सृष्टि, प्रवाहानादित्व, प्रवाहनित्यता, साजात्य आदि पदों का विवरण दिया गया है। ८वें मन्त्र में विष्णुपुराण के प्रमाण से संक्षेप में छन्द, स्तोम, साम आदि की सृष्टि का वर्णन किया गया है। नवें मन्त्र में प्रोक्षण, उपस्तरण, अवदान, अभिघारण आदि संस्कारों का उल्लेख है। पुरुष-सूक्त के व्याख्यानभूत शाबल्य ब्राह्मण को भी यहाँ उद्धृत किया गया है। ब्राह्मण आदि की सृष्टि के प्रसंग में ११वें मन्त्र में कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता और वाल्मीकि-रामायण को भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है और अगले मन्त्र में मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति की पुष्टि में भागवत का वचन स्मृत है। १५वें मन्त्र में बताया गया है कि यज्ञ-याग आदि का अनुष्ठान केवल भारतवर्ष में ही प्रवृत्त है। यहाँ सात परिधियों और २१ समिधाओं की त्रिविध व्याख्या दी गई है और तृतीय अर्थ के समर्थन में तैत्तिरीय संहिता को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। १६वें मन्त्र में आत्मसमर्पण की यागरूपता प्रतिपादित है।

उत्तरनारायण सूक्त की छः कण्डिकाओं में पूर्व काल में आदित्य रूप को प्राप्त पुरुषमेधयाजी की स्तुति की गई है। यहाँ कर्मदेवों और आजानदेवों की भी चर्चा है। इस प्रकरण में तम शब्द का अर्थ अविद्या किया गया है। यह भी बताया गया है कि जीव रूप से और अन्तर्यामी रूप से भी वह सर्वात्मा प्रजापति ही सर्वत्र विचरण करता है। २०वें मन्त्र में बताया गया है कि रात्रि काल में असुर और दिन में देवता प्रबल रहते हैं। यहाँ पुराणों का उल्लेख कर कहा गया है कि विष्णु ही राम, कृष्ण, वामन आदि अवतार धारण करते हैं। २२वें मन्त्र में भविष्यपुराणस्थित आदित्य-हृदय स्तोत्र को उद्धृत किया गया है और ज्योतिषशास्त्र के प्रमाण से सूर्य को तेज का गोलक और नक्षत्रों को जल का

---

१. अग्निष्टोम याग में अनुवन्ध्या याग के अनन्तर इस इष्टि का अनुष्ठान होता है (कात्या०, पृ० ४७१)।

गोलक माना गया है। यहाँ अन्त में भगवान् की अपेक्षा भक्त की महिमा अधिक है, इस बात को छान्दोग्यश्रुति, भगवद्गीता और महाभारत में वर्णित भीष्मप्रतिज्ञा के दृष्टान्त से स्थापित किया गया है।

३२वाँ अध्याय : सर्वमेध याग

पुरुषमेध के प्रसंग में पुरुष-सूक्त की चर्चा ३१वें अध्याय में की गई। अब इस अध्याय में सर्वमेध याग का प्रकरण प्रारम्भ होता है। इस अध्याय के मन्त्रों का विनियोग सर्वमेध के [1]अप्तोर्याम नामक सातवें दिन सर्वहोम में किया जाता है। इसके लिये यहाँ सर्वानुक्रमणी और शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण दिया गया है। तीसरे मन्त्र में हिरण्यगर्भ इत्यादि पदों से किन-किन अनुवाकों और मन्त्रों का ग्रहण किया जाता है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि इनका विनियोग ब्रह्मयज्ञ और जप के निमित्त किया जाता है। इस अध्याय के मन्त्रों में अन्यत्र भी मन्त्रों के प्रतीक दिये गये हैं। उनका भी विनियोग जप और स्वाध्याय में ही बताया गया है। चतुर्थ मन्त्र में कहा गया है कि विश्व, तैजस, विराट् और हिरण्यगर्भ; प्राज्ञ, अव्याकृत, समष्टि और व्यष्टि—ये सब उस सर्वात्मक भगवान् के ही रूप हैं। ५वें मन्त्र में षोडश पद का अर्थ षोडश अवयव वाले लिंगशरीर को धारण करने वाला प्रजापति बताया गया है और मुण्डक श्रुति के प्रमाण से कहा गया है कि यह सर्वात्मक प्रजापति हो अपनी ज्योति से सबको प्रकाशित करता है। ८वें मन्त्र में ओत-प्रोत शब्द की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि वह परमेश्वर शरीरभाव से ओत और जीवभाव से प्रोत है। नवें मन्त्र में 'त्रीणि पदानि' की व्याख्या के प्रसंग में सृष्टि, स्थिति और प्रलय, तीन वेद, तीन काल और परब्रह्म, अन्तर्यामी एवं अव्याकृत स्वरूपों की चर्चा की गई है। १०वें मन्त्र में दिखाया गया है कि ब्रह्मज्ञान से कैवल्य की और अग्निहोत्र आदि से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ११-१२ मन्त्रों में शतपथ, बृहदारण्यक, मनुस्मृति आदि के प्रमाण से बताया गया है कि सर्वमेधयाजी गृहस्थ की भी मुक्ति हो सकती है। आगे की तीन (३२।१३-१५) ऋचाओं से मेधा की और चौथी (३२।१६) से श्री की याचना की जाती है। ये चार मन्त्र वैदिक सम्प्रदाय में श्रीसूक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं।

३३ वाँ अध्याय : सर्वमेध याग

सर्वमेध के [2]अग्निष्टोमसंस्थ अग्निष्टुत् संज्ञक प्रथम दिन में इस अध्याय की प्रथम १७ ऋचाएँ पुरोनुवाक्या के रूप में प्रयुक्त होती हैं। यहाँ शतपथ के प्रमाण से ऋग्रूप मन्त्रों का ही ग्रहण किया जाता है, यजुःस्वरूप मन्त्रों का नहीं। उक्थ्य, महावैश्वदेव, पात्नीवत, हारियोजन यागों में यजुःस्वरूप मन्त्रों का विधान भी शतपथ में ही मिलता है। प्रस्तुत मन्त्र के भाष्य में विभिन्न सार्वमेधिक यागों के प्रथम चार दिनों में प्रयुक्त होने वाली पुरोनुवाक्याओं का तथा ग्रहों का विवरण सर्वानुक्रमणी के तथा उव्वट और महीधर द्वारा की गई उसकी व्याख्या के आधार पर दिया गया है। आगे के मन्त्रों में किस-किस ग्रह के ग्रहण में किस-किस पुरोनुवाक्या का प्रयोग होता है, इस विषय का उल्लेख भाष्य के प्रारम्भ में ही कर दिया गया है। १३ वें मन्त्र में बताया गया है कि व्याकरण शास्त्र में निर्दिष्ट स्थान, करण, प्रयत्न आदि के द्वारा उच्चरित, गुरुपरम्परा से प्राप्त मन्त्रों की सहायता से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से सम्पन्न व्यक्ति वित्त (धन) की सहायता से यज्ञ-याग आदि का अनुष्ठान कर देवताओं को, सन्तान की उत्पत्ति से पितरों को और सत्कार द्वारा अतिथियों को सन्तुष्ट करता है। ऐसे वैदिक विद्वानों के द्वारा पढ़े गये मन्त्र सूर्य के समान तेजस्वी हो जाते हैं, उनका प्रभाव कभी क्षीण नहीं होता।

---

१. समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिये सर्वमेध याग किया जाता है। सर्वमेध में बारह दीक्षा, बारह उपसद् और दस सुत्याएँ होती हैं। सातवें दिन सम्पन्न होने वाली सुत्या का नाम अप्तोर्याम है (कात्या०, पृ० ३७८)।

२. सोम याग की सात संस्थाओं में अग्निष्टोम याग का पहला स्थान है। अन्य सोम संस्थाओं की यह प्रकृति है। सर्वमेध याग को भी इस अग्निष्टोम संस्था का ही अंग माना गया है। इसके प्रथम सुत्या दिवस का नाम अग्निष्टुत् है। इस याग की प्रधान देवता अग्नि है। अतः सभी सवनीय पदार्थ आग्नेय कहलाते हैं।

सर्वमेध का द्वितीय दिन [1]इन्द्रस्तुत् कहलाता है। इसमें प्रस्तुत अध्याय में पठित बारह (३३।१८-२९) तथा प्रतीकोक्त पाँच, इस प्रकार कुल १७ मन्त्रों का विनियोग ऐन्द्रवारुण आदि सावित्रान्त ग्रहों के ग्रहण में किया जाता है। [2]निग्राम्या रूप जल का भी यहाँ (पृ० ४३) ग्रहण किया जाता है। १९ वें मन्त्र की व्याख्या में सायण और महीधर को उद्धृत किया गया है। २२ वें मन्त्र में इन्द्र के वृष्टिरूप कर्म का वर्णन है। २४ वें मन्त्र में [3]स्वरु पद का अर्थ बताया गया है। २७ वें मन्त्र में इन्द्र और मरुत् का संवाद दिया गया है। २८ वाँ मन्त्र आदित्य ग्रह के दधिश्रपण में विनियुक्त है।

सर्वमेध का तृतीय दिन सूर्यस्तुत् कहलाता है। यहाँ इस अध्याय की चौदह (३३।३०-४३) ऋचाओं को और प्रतीकोक्त तीन मन्त्रों को मिलाकर कुल १७ पुरोनुवाक्याएँ विहित हैं। इनका सर्वमेध के उक्थ्यसंस्थ सूर्यस्तुत् संज्ञक तीसरे दिन ऐन्द्रवायवादि सावित्रान्त ग्रहों के ग्रहण में विनियोग विहित है। यहाँ प्रथम मन्त्र (३३।३०) में बताया गया है कि पवन से प्रेरित रविमण्डल आकाश में भ्रमण करता है। इसके लिये महाकवि कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक का एक वचन प्रमाण के रूप में दिया गया है। ३२ वें मन्त्र में बताया गया है कि सर्वमेध याग में भुरण्यु पक्षी के आकार में अग्नि का चयन किया जाता है। यजमान उस अग्नि के स्वरूप में अपनी भावना करता है, अर्थात् स्वयं को अग्निस्वरूप समझने लगता है, तो वह अवश्य ही मुक्ति-लाभ कर लेता है। इस मन्त्र में सूर्य को ही वरुण बताया गया है। ३७ वें मन्त्र में सिम शब्द को सर्व का पर्याय माना गया है। ३९ वें मन्त्र में प्रगाथ तथा ग्रथन पदों का स्वरूप संक्षेप में बताकर कहा गया है कि गुरुजनों के चरणों की परिश्रमपूर्वक सेवा करने से ही इनको विस्तार से समझा जा सकता है।

सर्वमेध का चतुर्थ दिवस वैश्वदेवस्तुत् है। यहाँ इस अध्याय के ग्यारह (३३।४४-५४) और प्रतीकोक्त छः कुल १७ मन्त्रों का विनियोग किया जाता है। ४४वें मन्त्र में बीरिट शब्द की व्युत्पत्ति देकर उसके अर्थ को विस्तार से समझाया गया है। इसी प्रसंग में बताया गया है कि 'वी' धातु में कुछ आचार्य 'ई' धातु का भी प्रश्लेष मानते हैं। उव्वटाचार्य की व्याख्या का भी यहाँ अलग से उल्लेख है। ५२वें मन्त्र में ४९ मरुद्गणों की सूचना है। ५३वाँ मन्त्र आदित्यग्रह के दधिश्रपण में विनियुक्त है। ५४वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि अग्निहोत्र अमृतत्व को प्रदान करने वाला कर्म है, अतः अभेदोपचार से कर्म में भी अमृतत्व का आरोप कर लिया जाता है। यहाँ दामन् पद की द्विविध व्युत्पत्ति बताकर कहा गया है कि आधुनिक विद्युत् आदि पदार्थों में भी सूर्य का ही अंश विद्यमान है। इसी प्रकार सविता देव सभी लौकिक और वैदिक व्यवहारों में प्राणियों के प्रवर्तक के रूप में स्तुत हैं।

इसके आगे ५५ से ९७ संख्या तक के इस अध्याय के मन्त्रों में पन्द्रह, पन्द्रह और तेरह संख्या के मन्त्रों वाले तीन अनुवाक हैं। ये सभी मन्त्र अनारभ्याधीत हैं। इनका विनियोग किसी श्रौत कर्म में न होकर ब्रह्मयज्ञ में किया गया है। 'प्र वायुम्' (३३।५५-६९) इत्यादि मन्त्रों के प्रथम अनुवाक में पन्द्रह पुरोरुक् मन्त्र और दो प्रतीक मन्त्र मिलकर सत्रह पुरोनुवाक्याएँ हैं। यहाँ ५८वें मन्त्र में भागवत के प्रमाण से बताया गया है कि दो अश्विनीकुमारों में से एक का नाम दस्र और दूसरे का नासत्य है। ५९वें मन्त्र में तीन सम्पात सूक्तों की चर्चा के बाद बृहद्देवता के आधार पर देवशुनी सरमा का उपाख्यान वर्णित है। ६३वें मन्त्र में इन्द्र और शम्बर के युद्ध का उल्लेख है। द्वितीय अनुवाक में पठित मन्त्रों (३३।७०-८४) को और दो प्रतीक मन्त्रों को मिलाकर कुल १७ पुरोनुवाक्याएँ होती हैं। यहाँ (पृ० ७०) भी

---

१. सर्वमेध याग के द्वितीय सुत्या दिवस का नाम इन्द्रस्तुत् है। इस याग की प्रधान देवता इन्द्र है।

२. वसतीवरी जल को होता के चमस में छोड़ कर यजमान को दिया जाता है। यहाँ होता का जो चमस यजमान को दिया गया, उसे निग्राम्या कहते हैं। इसमें स्थापित जल ही निग्राम्या जल है।

३. "स्वरुः खड्गः, यूपाय काष्ठछेदने प्रथमोत्पन्नः शकलो वा स्वरुः" (भाष्य, पृ० ४७)। श्रौत०, पृ० १२६; कात्या०, पृ० ५२९; वैदिक कोश, पृ० ५८६ भी देखिये।

उदक पद से निग्राभ्या जल ही गृहीत है। ७२वें मन्त्र में कर्म और उपासना के समुच्चय की चर्चा है। ७४वें मन्त्र में भाववृत्त परमात्मा की स्तुति की गई है। अगले मन्त्र में वैश्वानर परमात्मा भोक्ता के रूप में स्तुत हैं। ७६वें मन्त्र में उक्थ और आंगूष पदों की व्याख्या कर सप्तशती के परिशिष्ट रहस्यत्रय के वचन को उद्धृत किया गया है। दो मन्त्रों (३३।७८-७९) में इन्द्र और मरुत् का संवाद है। ८३वें मन्त्र में बताया गया है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के द्वारा उच्चरित मन्त्रों के प्रभाव से देवताओं के बल में वृद्धि होती है। साथ ही यह भी दिखाया गया है कि आचार्य उव्वट के मत से यहाँ इन्द्र के रूप में आदित्य की स्तुति की गई है। ८४वें मन्त्र में इस अध्याय का छठा पुरोरुक्गण पूरा होता है।

तब 'आ नो यज्ञम्' (३३।८५) से सातवाँ १३ ऋचाओं वाला अनुवाक प्रारम्भ होता है। यहाँ इन तेरह ऋचाओं के साथ चार प्रतीकोक्त मन्त्रों को मिलाने से १७ ऋचाओं का यह पुरोरुक्गण ऐन्द्रवायव आदि सावित्रान्त ग्रहों के ग्रहण में विनियुक्त है। ८७वें मन्त्र में वट्, श्रत्, सत्रा, अद्धा, इत्था आदि निपातों को सत्य का पर्याय बताया गया है। ८९वें मन्त्र में हविष्पंक्ति, नाराशंसपंक्ति और सवनपंक्तियों का परिगणन किया गया है। ९०वें मन्त्र में बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि उपनिषदों में वर्णित द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और योषा स्वरूप पंचाग्निविद्या की व्याख्या कर [1]वसतीवरी और निग्राभ्या जल से अभिषेक का विधान है। ९३वें मन्त्र में पहेली बुझाई गई है। उव्वट और महीधर की पद्धति से मन्त्र की व्याख्या कर वाणी का मूलाधार से मुख पर्यन्त त्रिंशदंगुल पर्यन्त क्रमण वर्णित है। यहाँ अनेक मन्त्रों में आचार्य उव्वट के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का अलग से उल्लेख किया गया है। ९४वें मन्त्र में हि और स्म इन दोनों निपातों का अर्थ अतिप्रसिद्ध बताया गया है और ९७वें मन्त्र में उव्वट के मत से इत् निपात की पादपूरकता निर्दिष्ट है।

३४ वाँ अनारभ्याधीताध्याय

इस अध्याय में भी सारे मन्त्र अनारभ्याधीत हैं। इनका लैंगिक विनियोग किया जाता है। यहाँ एक प्रसिद्ध श्लोक के प्रमाण से बताया गया है कि शब्द की सामर्थ्य, अर्थात् अभिधा शक्ति को ही लिंग कहा जाता है। तदनुसार इस अध्याय के प्रारम्भ के छः मन्त्रों का विनियोग शिव संकल्प में है। धर्मब्रह्मविषयक संकल्प ही शिव संकल्प कहलाता है। इन मन्त्रों से प्रार्थना की जाती है कि मेरा मन सदा शुभ संकल्प में लगा रहे। ७वें मन्त्र में अन्न की, ८-९ में अनुमति की, १०वें में सिनीवाली की, ११वें में सरस्वती नदी की और अगली चार ऋचाओं में अग्नि देवता की स्तुति की गई है। आगे के चार (३४।१६-१९) मन्त्रों में इन्द्र की, अन्य चार (३४।२०-२३) में सोम की, आगे के चार (३४।२४-२७) में सावित्री की और अन्य तीन (३४।२८-३०) में अश्विनीकुमारों की स्तुति की गई है। तब एक-एक मन्त्र में सविता, रात्रि और उषा देवता की स्तुति है। ३४वें मन्त्र में अनेक देवताओं की एक साथ स्तुति की गई है। तब आगे के पाँच मन्त्र (३४।३५-३९) भग देवता की स्तुति में विनियुक्त हैं और ४०वें मन्त्र की देवता उषा है। आगे के दो मन्त्रों में पूषा देवता की, तब ४३-४४ संख्या के मन्त्रों में विष्णु देवता की और ४५वें मन्त्र में द्यावापृथिवी की स्तुति है। ४६वें मन्त्र के लिंगोक्त देवता हैं। तब ४७वें मन्त्र में अश्विनीकुमारों की और ४८वें में मरुद्गणों की स्तुति है। ४९ वें मन्त्र में भरद्वाज आदि सात ऋषियों की सृष्टि वर्णित है। अगले तीन मन्त्रों (३४।५०-५२) में हिरण्य (सुवर्ण) की स्तुति की गई है। ५३वीं ऋक् बहुदेवत्या, ५४वीं आदित्यदेवत्या और ५५वीं ऋचा अध्यात्मवादिनी है। यहाँ त्वक्, चक्षु, श्रवण, रसन, घ्राण, मन और बुद्धि लक्षण सात प्राणों को भी ऋषि माना गया है। हृदयाकाश में प्रतिष्ठित विज्ञानात्मा को ही लोक शब्द से अभिज्ञात किया गया है। इस अध्याय की अन्तिम तीन ऋचाओं (३४।५६-५८) में ब्रह्मणस्पति की स्तुति की गई है। ५७वें मन्त्र में उक्थ्य पद का अर्थ दिया गया है। ५८वें मन्त्र में चार प्रतीकोक्त मन्त्र हैं। इनका विनियोग ब्रह्मयज्ञ में किया जाता है।

---

१. यज्ञ के कार्य के लिये उपयोग में आने वाले आवश्यक जल को वसतीवरी कहते हैं। यह जल विधिपूर्वक नदी से घड़ों में लाया जाता है। इसी जल से सोमाभिषव आदि कार्य किये जाते हैं (कात्या०, पृ० ५१४)।

३५वां अध्याय : पितृमेध

मृत पूर्वपुरुष के कल्याण के निमित्त पितृमेध याग किया जाता है। मृत्यु का वर्ष ज्ञात न हो तो यह कभी भी किया जा सकता है। यदि वर्ष ज्ञात है, तब अयुग्म वर्षों में किया जाता है। हस्त, स्वाति, पुष्य आदि नक्षत्रों में, अमावास्या तिथि में, ग्रीष्म, शरद् ऋतु अथवा माघ मास में इसका अनुष्ठान किया जाता है। परिवार में अस्थिकलश की सेवा करने वाले जितने व्यक्ति हों, उतनी संख्या के घट और छत्र लेकर ये सब परिजन ग्राम की दक्षिण दिशा में जाते हैं। वहाँ अस्थिकलश को रख नूतन वस्त्र से उसको लपेट कर बाजे-गाजे के साथ उस अस्थिकलश पर पंखा झलते हुए परिजन उसकी तीन प्रदक्षिणा विपरीत क्रम से करते हैं। रात्रि के पूर्वभाग, मध्यभाग और अपरभाग में भी यह प्रदक्षिणा इसी तरह से की जाती है। पितृमेध का आरम्भ करते समय ढेर सारा अन्न दान में देना चाहिये और सारी रात नृत्य आदि का आयोजन होना चाहिये। यह सारा कार्यक्रम तब तक चलते रहना चाहिये, जब तक कि सूर्योदय न हो जाय। वन में जाकर न्यग्रोध, अश्वत्थ आदि पवित्र वृक्षों से दूर, अन्य वृक्ष, गुल्म आदि से आवृत ऊषर भूमि में, जो कि जलाशय के पूर्व अथवा उत्तर भाग में हो, श्मशान के लिये पुरुष के शरीर के बराबर परिमाण वाली भूमि का चयन करना चाहिये। इस समचतुरस्र भूमि का परिमाण और आकार शुल्बसूत्रप्रदर्शित पद्धति से निश्चित करना चाहिये। वेदार्थ-पारिजातकार ने यहाँ सरला वृत्ति में दी गई टिप्पणी को भी उद्धृत किया है। तदुपरान्त महीधर के मत को उद्धृत कर कात्यायन श्रौतसूत्र और शतपथ के आधार पर पूरे पितृमेध याग की पद्धति को स्पष्ट किया है। तदनुसार सबसे पहले इस पूरे क्षेत्र को अप्रदक्षिण (प्रदक्षिणा से विपरीत) क्रम से रस्सी से घेर कर पलाश की शाखा से बुहार दिया जाता है।

पत्र, पर्ण आदि का व्युदूहन (सफाई) करते समय इस अध्याय के प्रथम मन्त्र का पाठ किया जाता है और सर्वविध शान्ति के लिये यमराज से प्रार्थना की जाती है। इसके बाद उस पलाश की शाखा को दक्षिण दिशा में फेंक दिया जाता है। तब रस्सी से वेष्टित उस क्षेत्र के दक्षिण अथवा उत्तर भाग को छः बैल वाले हल से जोता जाता है। इस समय द्वितीय मन्त्र का पाठ करना चाहिये। 'वायुः पुनातु' (३५।३) मन्त्र से घेरी गई रज्जु के सहारे हल से चार रेखाएँ खींची जाती हैं। तदुपरान्त हल को दक्षिण दिशा में छोड़ कर कृष्ट क्षेत्र में 'अश्वत्थे' (३५।४) मन्त्र से सर्वौषध का वपन किया जाता है। 'सविता ते' (३५।५) मन्त्र से उस क्षेत्र के बीच में मृत व्यक्ति की अस्थियाँ रखी जाती हैं। यह अस्थिसंचय सूर्योदय के समय किया जाता है। छठे मन्त्र का विनियोग भी अस्थिनिवाप में ही किया जाता है। 'परं मृत्यो' (३५।७) मन्त्र का पाठ तब किया जाता है, जब कि कुम्भ के प्रक्षेप के लिये नियुक्त व्यक्ति दक्षिण दिशा में घट को फेंक कर वापस आता है। तब 'शं वातः' (३५।८-९) इत्यादि दो मन्त्रों से श्मशान-स्थान के बीच में अस्थियों को इस प्रकार रखा जाता है कि मृत व्यक्ति का पूरा स्वरूप साकार हो सके। तदुपरान्त बीच में पादमात्री इष्टका स्थापित की जाती है। अब गर्त से अथवा पूर्व दिशा को छोड़कर अन्य किसी दिशा से मिट्टी लेकर विप्र, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र आदि के लिये विभिन्न परिमाण के अथवा सबके लिये जानु-परिमाण के श्मशान की रचना कर कुश आदि से उसको आच्छादित कर उसकी दक्षिण दिशा में दो गढ़े खोद कर उनको दूध और जल से भर दिया जाता है और श्मशान की उत्तर दिशा में सात गड्ढे खोदकर उनको भी जल से भर दिया जाता है। तब अध्वर्यु, यजमान और अमात्य के निमित्त तीन पाषाण-खण्डों को फेंक कर 'अश्मन्वती' (३५।१०) मन्त्र से उन गर्तों पर चला जाता है।

इसके बाद अमात्यजन उपवीती (सव्य) होकर जल से आचमन कर हाथ में अपामार्ग लेकर उससे अपने शरीर पर जल छिड़कते हैं। कुछ आचार्यों का कहना है कि अपामार्ग के बीजों से उन्हें उबटन करनी चाहिये। 'अपाघम्' (३५।११) मन्त्र से इस विधि को किया जाता है। तब 'सुमित्रियाः' (३५।१२) मन्त्र से स्नान और नूतन वस्त्र का

परिधान कर 'अनड्वाहम्' (३५।१३) मन्त्र से बैल की पूँछ पकड़ कर 'उद्वयम्' (३५।१४) मन्त्र का पाठ करते हुए ये सब ग्राम में वापस आ जाते हैं। यहाँ 'सुमित्रियाः' मन्त्र से यद्यपि स्नान का ही विधान है, तथापि इसी मन्त्र के उत्तर भाग 'दुर्मित्रियाः' से शत्रुओं के अपसारण के निमित्त जलांजलि का प्रक्षेप भी किया जाता है। आते समय श्मशान और ग्राम की सीमा को निर्धारित करने के लिये अध्वर्यु बीच में एक मर्यादा-लोष्ट को रखते हुये 'इमं जीवेभ्यः' (३५।१५) मन्त्र का पाठ करता है। घर आकर आंखों में काजल और पैर में उबटन आदि लगाकर आवसथ्य अग्नि पर दर्भ से परिवेष्टित वारण वृक्ष की चार परिधियों को रख कर वारण स्रुव से 'अग्न आयूंषि' (३५।१६-१७) इत्यादि दो ऋचाओं का पाठ करते हुए एक आहुति दी जाती है। इसके बाद अध्वर्यु, यजमान और अमात्यों के प्रति 'परीमे' (३५।१८) मन्त्र से रक्षा की याचना की जाती है। तब पितृमेध याग के अन्तिम मन्त्र 'क्रव्यादमग्निम्' (३५।१९) से आहुति से तृप्त औपासन अग्नि के एक भाग को हटा दिया जाता है। इस प्रसंग में यहाँ भाष्यकार ने हरिस्वामी, कर्काचार्य आदि के मत को भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह पितृमेध की पद्धति पूरी होती है।

पितृमेध की समाप्ति के बाद 'वह वपाम्' (३५।२०) मन्त्र से जातवेदा अग्नि की स्तुति की जाती है। 'स्योना' (३५।२१) मन्त्र का कोई श्रौत विनियोग नहीं बताया गया है, तो भी स्मार्त स्रस्तरारोहण और शयन में इसका विनियोग किया जाता है। इसी कण्डिका के 'अप नः' इस यजुर्मन्त्र का विनियोग गृह्यसूत्र के अनुसार सम्बन्धी जन के मरणनिमित्तक स्नान में और अनामिका से जल के अपनोदन में किया जाता है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र 'अस्मात्' (३५।२२) का वाचन उस समय किया जाता है, जब कि मृत व्यक्ति अग्निहोत्री हो। उस समय पहले अग्निहोत्र के उपयोग में आने वाले सभी पात्रों को उसकी चिता में विभिन्न अंगों पर रख देने के बाद दाह के पहले उसके पुत्र आदि के द्वारा तन्निमित्तक घृत की आहुति दी जाती है। इस प्रकरण में अमात्य पद से पुत्र-पौत्र आदि का ग्रहण किया जाता है।

३६वां अध्याय : प्रवर्ग्याग्निकाश्वमेधिक

अगले चार अध्यायों में प्रवर्ग्य सम्बन्धी, आग्निक तथा अश्वमेध सम्बन्धी अवशिष्ट कर्मों का विधान है। इनके प्रारम्भ और अन्त में सर्वविध शान्ति के लिये प्रार्थना की जाती है। 'ऋचम्' (३६।१-१७) इत्यादि मन्त्रों से सप्तदशावयव प्रजापति के समष्टि लिंगशरीर की तथा बृहस्पति, सविता, इन्द्र, मित्रावरुण, वात, रात्रिदिन, जल आदि देवों की प्रार्थना की जाती है। इस अध्याय के अन्तिम सात मन्त्रों (३६।१८-२४) में सर्वविध शान्ति के लिये प्रधानतः महावीर की प्रार्थना की गई है।

३७वां अध्याय : महावीर संभरण

इस अध्याय के मन्त्रों से महावीर का संभरण किया जाता है। उखा संभरण के समय की जाने वाली मृत्पिण्ड आहरण की प्रक्रिया के समान यहाँ भी उदुम्बर अथवा विकंकत वृक्ष की हस्तप्रमाण अभ्रि का 'देवस्य त्वा' (३७।१) मन्त्र से ग्रहण किया जाता है। उसे बायें हाथ में लेकर दाहिने हाथ से 'युञ्जते' (३७।२) मन्त्र का पाठ करते हुए उसका स्पर्श किया जाता है। इसकी सहायता से मृत्पिण्ड, वल्मीकवपा आदि संभारों का संग्रह किया जाता है, जिससे महावीर आदि का निर्माण किया जा सके। महावीर का लक्षण यहाँ (पृ० १६०) कात्यायन श्रौतसूत्र के आधार पर बताया गया है। वहाँ यह भी निरूपित है कि पास में रहते हुए भी यजमानपत्नी प्रवर्ग्य महावीर को न देखे। वेदाध्ययन न करने वाला व्यक्ति भी उसे न देखे। श्रपण की विधि, आवाप और उद्धरण का काल, तीन महावीरों के उद्वपन में तीन मन्त्रों का विनियोग, पिन्वन पात्रों और रौहिण कपालों का तूष्णीं उद्वपन, आवाप से उद्धृत प्रथम महावीर का अजाक्षीर से समन्त्रक तथा अन्य दो का तूष्णीं सेचन इत्यादि सारी विधियाँ यहाँ कात्यायन श्रौतसूत्र और शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से बताई गई हैं।

उखा संभरण में जैसे मृत्पिण्ड का ग्रहण किया जाता है, उसी तरह से यहां भी 'देवी' इत्यादि तृतीय मन्त्र से अध्वर्यु साभ्रि दक्षिण और खाली बायें हाथ से मृत्पिण्ड का ग्रहण करता है। तब उत्तर दिशा में स्थापित पूर्व की तरफ मुख और उत्तर की तरफ लोम वाले कृष्णाजिन पर उस मृत्पिण्ड को तूष्णीं रख देता है। मृत्पिण्ड की उत्तर दिशा में कृष्णाजिन पर ही 'देव्यो वम्रयः' (३७।४) मन्त्र से वल्मीकवपा का ग्रहण कर उसको भी तूष्णीं रख दिया जाता है। उपदीका, उपजिह्विका, वम्री—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। इनके द्वारा किया गया मृत्संचय वल्मीक कहलाता है। इस वल्मीकवपा के उत्तर में कृष्णाजिन पर ही 'इयत्यग्रे' (३७।५) मन्त्र से वराह के द्वारा खोदी गई मिट्टी रखी जाती है। इसके उपरान्त छठी कण्डिका के मन्त्रों से पूतीक (रौहिण तृण)-रस और दुग्ध को लेकर उसी क्रम से कृष्णाजिन के उत्तर में रखा जाता है और इस पूरी सामग्री का अध्वर्यु अपने हाथ से स्पर्श करता है।

अब 'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः' (३७।७) मन्त्र से अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता कृष्णाजिन के चारों कोनों को पकड़ कर पूरी सामग्री के साथ उसे उठाकर अन्तःपात्य की उत्तर दिशा में पहले से निर्मित परिवृत स्थान में ले जाते हैं। पंचारत्निपरिमित, समचतुरस्र, प्राग्द्वार, सिकतोपकीर्ण, पहले से ही सात भू संस्कारों से संस्कृत एवं आच्छादित प्रदेश को [1]परिवृत कहा जाता है। वहाँ संभारों के साथ कृष्णाजिन को रख दिया जाता है। इस परिवृत स्थान में पाँच [2]भूसंस्कारों के अतिरिक्त उद्धत और अवेक्षित नामक दो संस्कार अधिक किये जाते हैं। उल्लेखन विधि को उद्धत और जलसेचन को अवेक्षित कहा जाता है। इसके उपरान्त अध्वर्यु वल्मीकवपा, वराहविहत मृत्तिका और पूतीक रस को आपस में मिला देता है। तब उसमें से महावीर का निर्माण करने लायक मृत्पिण्ड को तूष्णीं अलग करके 'मखाय त्वा' (३७।७) मन्त्र से महावीर का निर्माण करता है। महावीर का आकार कात्यायन श्रौतसूत्र (२६।१।१६) में वर्णित है। महावीर का निर्माण पूरा हो जाने पर उसे बायें हाथ में लेकर 'मखस्य' (३७।८) मन्त्र का उच्चारण करते हुए दाहिने हाथ से स्पर्श करता है। अन्य आचार्यों के मत से इस मन्त्र से मृदादान किया जाता है। स्पर्श के लिये मन्त्रोच्चारण नहीं किया जाता। उसे तूष्णीं किया जाता है। इसी तरह अन्य दो महावीरों का भी निर्माण और अभिमर्शन सम्पन्न होता है। तदनन्तर गवेधुका के जल से महावीर पात्रों को चिकना किया जाता है। तब 'अश्वस्य त्वा' (३७।९) इत्यादि कण्डिका के तीन मन्त्रों से घोड़े की सात लीदों को दक्षिणाग्नि में डालकर उससे महावीर पात्रों को धूपित किया जाता है और तब उखाश्रपण की पद्धति से महावीर का भी श्रपण किया जाता है। यहाँ तीनों महावीरों के साथ दो-दो पिन्वन पात्रों और रौहिण कपालों को भी तपाया जाता है। इन सबके पक जाने पर 'ऋजवे' (३७।१०) इत्यादि कण्डिका के तीन मन्त्रों से उन्हें बाहर निकाला जाता है। इस प्रकार महावीर सम्भरण की यह विधि पूरी होती है।

अब ब्रह्मा से अनुमति लेकर अध्वर्यु 'यमाय त्वा' (३७।११) इस कण्डिका में स्थित तीन मन्त्रों से प्रचरणीय महावीर का तीन बार प्रोक्षण करता है और अगली कण्डिका के पाँच मन्त्रों से महावीर के ऊपर अपना हाथ रखे हुए यजमान से पंचवाक्यात्मक इस कण्डिका का पाठ एक साथ कराता है। यजमान महावीर की दक्षिण दिशा की भूमि पर 'विश्वाभ्यः' (३७।१२) मन्त्र का पाठ करता हुआ अपने उत्तान हाथ को और महावीर की उत्तर

---

१. "पञ्चारत्निपरिमितः समचतुरस्रः प्राग्द्वारः सिकतोपकीर्णः पूर्वमेव कृतः सप्तभूसंस्कारसंस्कृतश्छादितप्रदेशः परिवृत उच्यते" (भा०, पृ० १६६)।

२. अग्निस्थापन करने के स्थान पर संमार्जन, लेपन, उल्लेखन, उद्धरण और प्रोक्षण करना पंचभूसंस्कार है (कात्या०, पृ० ४९१)।

दिशा में [1]प्रादेश को रखता है। उसके उपरान्त अध्वर्यु 'स्वाहा मरुद्भिः' (३७।१३) मन्त्र से [2]धृष्टियों के द्वारा गार्हपत्य अग्नि के अंगारों को महावीरों की चारों दिशाओं में रख कर प्रागग्र और उदगग्र १३ विकंकत काष्ठ के टुकड़ों से महावीर का परिश्रयण कर अंगारों के ऊपर उनको रख देता है। धवित्र (पंखा) से अग्नि का प्रज्वालन करते समय पहले यदि प्रदक्षिणा नहीं की गई है, तो यहाँ उसकी तीन प्रदक्षिणा की जाती है। यदि पहले प्रदक्षिणा कर ली गई है, तो यहाँ अब एक ही प्रदक्षिणा करके ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, अग्नीत्, प्रतिप्रस्थाता, प्रयोक्ता और यजमान—ये सब मिलकर 'गर्भो देवानाम्' (३७।१४) इत्यादि 'नमस्ते अस्तु' (३७।२०) पर्यन्त अवकाश नाम वाले मन्त्रों से घर्म का उपस्थान करते हैं। इसके बाद शिर से अपना वस्त्र हटा कर महावीर को देख रही यजमान पत्नी को अध्वर्यु 'त्वष्टृमन्तः' (३७।२०) मन्त्र का वाचन कराता है। तदुपरान्त 'अहः केतुना' (३७।२१) इत्यादि इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र के पूर्वार्ध से रौहिणहवनी स्रुचा से रौहिण पुरोडाश की प्रातःकाल तथा इसी मन्त्र के उत्तरार्ध से द्वितीय रौहिण पुरोडाश की आहुति दी जाती है।

३८वाँ अध्याय : महावीर संभरण

घर्मदुघा गाय के पिछले पैरों को बाँधने की रज्जु को हाथ में लेकर अध्वर्यु 'देवस्य त्वा' (३८।१) मन्त्र का उच्चारण करते हुए गार्हपत्य अग्नि के पीछे जाकर 'इड एहि' (३८।२) इत्यादि तीन मन्त्रों से गाय को पुकारता है। फिर तीन बार उसका नाम लेकर पुकारता है। गाय के आ जाने पर 'अदित्यै' (३८।३) इत्यादि मन्त्र से उसे खंभे से बाँध कर 'पूषाऽसि' (३८।३) मन्त्र से बछड़े को दूध पिन्हाने के लिये छोड़ता है। तब 'अश्विभ्याम्' (३८।४) मन्त्र से गाय को पिन्वन पात्र में दुहता है और दुहते समय पिन्वन पात्र के बाहर गिरे दूध के कणों को 'स्वाहेन्द्रवत्' (३८।४) इत्यादि मन्त्रगत तीन वाक्यों से अभिमन्त्रित करता है। 'यस्ते स्तनः' (३८।५) से गाय के स्तन का स्पर्श कर इसी मन्त्र के 'उर्वन्तरिक्षम्' इत्यादि भाग का पाठ करते हुए गार्हपत्य अग्नि के पास पहुँचता है। फिर 'गायत्रम्' (३८।६) इत्यादि कण्डिका के दो मन्त्रों से दो परीशासों का ग्रहण करता है। इसके बाद महावीर का बकरी के दूध से तूष्णीं सेचन कर अग्नि की ज्वाला के शान्त होने पर 'इन्द्राश्विना' (३८।६) मन्त्र से उस पर गाय के दूध का सेचन करता है। 'प्रैतु ब्रह्मणस्पति' होता के ऐसा कहने पर अध्वर्यु आहवनीय अग्नि की तरफ बढता हुआ 'समुद्राय त्वा' (३८।७-८) इत्यादि कण्डिकाओं में पठित वात के बारह नामों का सस्वर उच्चारण करता है। अन्त में अध्वर्यु अपसव्य होकर दक्षिण दिशा में मुँह करके 'स्वाहा घर्मः पित्रे' (३७।९) मन्त्र का जप करे और सव्य होकर जल का स्पर्श करे। तब घर्म को हाथ में लेकर उसके निमित्त आहुति देने के लिये आश्रावण करे। वषट्कार का उच्चारण करने के बाद 'विश्वा आशाः' (३८।१०) मन्त्र से घर्म की आहुति दे। तब 'दिवि धाः' (३८।११) मन्त्र से महावीर को ऊपर उठा कर तीन बार हिलावे। पहला उत्कम्पन समन्त्रक तथा बाकी दो तूष्णीं किये जाते हैं। 'स्वाहाग्नये' (३८।११) मन्त्र के बाद 'वषट् स्वाहा' कह कर घर्म की आहुति दी जाती है।

अब ब्रह्मा 'अश्विना' (३८।१२) मन्त्र से और यजमान 'अपाताम्' (३८।१३) मन्त्र से घर्म को अनुमन्त्रित करते हैं। 'इषे पिन्वस्व' (३८।१४) मन्त्र से आहवनीय अग्नि में सिच्यमान घर्म का भी यजमान ही अनुमन्त्रण करता है। फिर इसी कण्डिका के 'घर्मासि' इत्यादि मन्त्र से ईशान दिशा की तरफ उत्क्रमण करता है और 'अमेन्यस्मे' मन्त्र से महावीर को खर पर रखता है। अब घर्म में घृत लगा कर विकंकत काष्ठ के सात टुकड़ों के साथ इस घर्माज्य की

---

१. विस्तृत किये हुए अंगुष्ठ और तर्जनी के मध्य भाग को प्रादेश कहते हैं (वहीं, पृ० ५०३)।

२. ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों में धृष्टि शब्द गार्हपत्याग्नि से अंगारे उठाने के लिये प्रयुक्त चिमटे के अर्थ में आया है (वैदिक कोश, पृ० २२१)। प्रस्तुत स्थल पर यह शब्द द्विवचन में प्रयुक्त है।

'स्वाहा पूष्णे' (३८।१५-१६) इत्यादि दो कण्डिकाओं के सात मन्त्रों से आहुति दी जाती है। चतुर्थ काष्ठशकल की आहुति न देकर उत्तर दिशा को देखते हुए वेदि के दक्षिण भाग में वेदि पर आस्तीर्ण बर्हि के दक्षिण भाग में उसे छिपा दिया जाता है। पूरे घर्म को घृताभ्यक्त कर उसके साथ सातवें काष्ठशकल को दक्षिण दिशा की तरफ देखता हुआ अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता को दे देता है। प्रतिप्रस्थाता उसे शाला के उत्तर भाग में फेंक देता है। बाकी के पाँच काष्ठखण्डों की घृत के साथ आहुति दी जाती है। यहाँ दो रौहिण पुरोडाशों की भी आहुति दी जाती है और अन्त में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, प्रस्तोता, प्रतिप्रस्थाता, अग्नीत् और यजमान मिल कर उपयमनी पात्र में आनीत घर्माज्य की अग्निहोत्र प्रकरण के क्रम से समन्त्रक आहुति देकर वाजिन याग के समान [1]उपहव प्रार्थना के साथ उसका भक्षण करते हैं। अब 'अभीमम्' (३८।१७) मन्त्र से प्रचरणीय घर्म को आसन्दी पर रखा जाता है। अन्य दो घर्मों को तूष्णीं रखा जाता है। तब अध्वर्यु चतुर्गृहीत संस्कृत घृत से 'या ते घर्म' (३८।१८) मन्त्र से आहुति देता है।

इसके बाद अध्वर्यु यजमानपत्नी को आगे करके 'क्षत्रस्य त्वा' (३८।१९) मन्त्र का पाठ करता हुआ शाला से बाहर निकल जाता है। तब 'चतुःस्रक्तिः' (३८।२०) मन्त्र से नाभि के सामने महावीर का आसादन कर जलयुक्त द्वीप में घर्म का उद्वासन कर देता है। इसके उपरान्त सात उत्सादन स्थानों को, अर्थात् तीन महावीर स्थानों, दो पिन्वन स्थानों, उपयमन स्थान और स्रुवा को 'घर्मैतत्' (३८।२१) मन्त्र से दूध से भर देता है। इसके बाद साम का गान किया जाता है और उत्सादन देश को दूध से सींच कर 'अचिक्रदत्' (३८।२२) मन्त्र से घर्म की सूर्य के रूप में स्तुति की जाती है। अब सपत्नीक ऋत्विक् और यजमान 'सुमित्रियाः' (३८।२३) मन्त्र से चात्वाल का मार्जन करते हैं। तब 'उद्वयम्' (३८।२४) मन्त्र का उच्चारण करता हुआ यजमान ईशान कोण की तरफ जाता है। वहाँ से आते समय बिना पीछे देखे 'एधोऽसि' (३८।२५) मन्त्र से एक समिधा हाथ में लेकर 'समिदसि' (३८।२५) मन्त्र से उसे आहवनीय स्थान में रख देता है। अब 'यावती' (३८।२६) मन्त्र से सपवित्र अग्निहोत्रहवणी में दधिघर्म का ग्रहण कर उसकी आहुति दी जाती है। अवशिष्ट दधिघर्म का यजमान और ऋत्विक् 'मयि त्यत्' (३८।२७) मन्त्र से सोपहव भक्षण करते हैं। इस अध्याय की अन्तिम २८वीं कण्डिका स्थित गायत्री मन्त्र से भी दधिघर्म का भक्षण किया जाता है। इस कण्डिका के शेष भाग से महाव्रतीय दिन में हुतशेष दधिघर्म का भक्षण किया जाता है।

३९वां अध्याय : घर्मभेदप्रायश्चित्त

प्रवर्ग्य का अनुष्ठान करते समय घर्म यदि टूट जाय, तो इसके निमित्त प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसकी प्रक्रिया यों है—अध्वर्यु 'भूमिर्भूमिम्' और 'य ऋते चित्' इन दो मन्त्रों से टूटे हुए घर्म का स्पर्श कर परमेष्ठी आदि के लिये ३४ आहुतियाँ देकर 'स्वाहा प्राणेभ्यः' (३९।१) मन्त्र से एक पूर्णाहुति देकर 'पृथिव्यै स्वाहा' (३९।२–३) इत्यादि मन्त्रों से २० आहुतियाँ सकृत् गृहीत आज्य की दे तथा अन्त में 'मनसः कामम्' (३९।४) इत्यादि मन्त्र से पुनः पूर्णाहुति दे। इस प्रकार यहाँ प्रारम्भ और अन्त में दो पूर्णाहुतियाँ दी जाती हैं। इनके मन्त्रों का स्वरूप भाष्य में दिया गया है (पृ० २१३,२१५)। महावीर की संभ्रियमाण आदि अवस्थाओं का उल्लेख पाँचवें मन्त्र में है। उन-उन अवस्थाओं में महावीर का भेद होने पर 'प्रजापतये स्वाहा' (३९।५) इत्यादि मन्त्रों से आहुतियाँ दी जाती हैं। इसी तरह से प्रथम, द्वितीय आदि दिनों में घर्मभेद होने पर तत्तद् देवताओं के लिये आहुतियों का विधान 'सविता प्रथमेऽहन्' (३९।६) इत्यादि मन्त्रों द्वारा किया गया है। इन प्रायश्चित्ताहुतियों के पश्चात् चयन स्थान में छः मारुत पुरोडाशों की 'शुक्रज्योतिः' (१७।८०–८५) इत्यादि छः मन्त्रों से आहुतियाँ देने के बाद अरण्यानूच्य संज्ञक सप्तम पुरोडाश की आहुति 'उग्रश्च' (३९।७) मन्त्र से देते हैं। इस मन्त्र की विमुख संज्ञा है।

---

१. ऋत्विजों द्वारा किसी प्रकार की प्रार्थनीय अनुमति को उपहव कहते हैं (कात्या०, पृ० ४७३)।

विमुख संज्ञक इस मन्त्र से आगे की 'अग्नि हृदयेन' (३९।८–९) इत्यादि दो कण्डिकाओं से उन-उन देवताओं को उन-उन अश्वांगों के साथ चतुर्गृहीत आज्य की आहुतियाँ दी जाती हैं। आचार्य हरिस्वामी के मत से प्रयोग का स्वरूप कैसा होगा, यह भी भाष्य में बता दिया गया है (पृ० २१९)। इस आठवें मन्त्र से अध्याय की समाप्ति तक यहाँ अश्वमेध सम्बन्धी अवशिष्ट मन्त्र पठित हैं। इनका पाठ भी अरण्य (वन) में ही किया जाता है, अतः अरण्यानूच्य 'उग्रश्च' मन्त्र के साथ इनका भी पाठ यहाँ किया गया है। देवताओं का और उनके अवयवों का इन मन्त्रों में विधान है। आगे के 'लोमभ्यः स्वाहा' (३९।१०) इत्यादि मन्त्रों में केवल अश्व के अवयवों का तथा 'आयासाय स्वाहा' (३९।११–१३) इत्यादि मन्त्रों में केवल देवताओं का विधान है। 'लोमभ्यः स्वाहा' (३९।१०) से लेकर अध्याय समाप्ति पर्यन्त मन्त्रों से ४२ प्रायश्चित्त-निमित्तक आहुतियाँ दी जाती हैं। कुछ आचार्यों के मत से यहाँ इन अंगों की आहुतियाँ दी जाती हैं। अन्य आचार्य मानते हैं कि अश्वांगों के अभिमानी उन-उन देवताओं की इन मन्त्रों से स्तुति की जाती है। यहाँ 'द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा' (३९।१३) मन्त्र से अन्तिम आहुति दी जाती है।

शतपथ ब्राह्मण के अवधेय अंश

मन्त्रों का यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र के प्रधानतः २१ और २५–२६ अध्यायों के अनुसार बताया गया है। भाष्यकार ने कात्यायन के उक्त विनियोगों का समर्थन शतपथ ब्राह्मण के प्रायः १३–१४ काण्डों के वचनों को विस्तार अथवा संक्षेप में उद्धृत कर किया है। साथ ही मन्त्रों की विशिष्ट शब्दावली की व्याख्या भी शतपथ के प्रमाण से की है।

३१वें अध्याय में शतपथ के वचन बहुत ही कम उद्धृत हैं। प्रथम मन्त्र में शतपथ के प्रमाण से पुरुष पद की व्युत्पत्ति दी गई है। बृहदारण्यकोपनिषद् भी उद्धृत है, जो कि शतपथ का ही अन्तिम भाग है। तैत्तिरीय संहिता आदि के प्रमाण से भी कहीं-कहीं कात्यायन के विनियोगों को समर्थन दिया गया है। १७वें मन्त्र में कर्मदेवों और आजानदेवों के समर्थन में शतपथश्रुति उद्धृत है। इन वचनों का भी समावेश बृहदारण्यक में ही माना जाता है।

३२वें अध्याय में सर्वमेध सम्बन्धी मन्त्र उपदिष्ट हैं। सर्वमेध के अप्तोर्याम संज्ञक सातवें दिन किये जाने वाले सर्वहोम में इनका विनियोग विहित है, इस बात की पुष्टि शतपथ के प्रमाण से यहाँ पहले ही मन्त्र में की गई है। द्वितीय मन्त्र में बृहदारण्यकश्रुति उद्धृत है। ११वें मन्त्र में भी शतपथ के षष्ठ काण्ड के और बृहदारण्यक के वचन मन्त्र के व्याख्यान की पुष्टि करते हैं। अन्यत्र शतपथ-वचन उद्धृत नहीं हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस अध्याय के भाष्य में शतपथ-वचनों का उपयोग बहुत कम किया गया है।

३३वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में शतपथ के चतुर्थ काण्ड के वचनों के प्रमाण से पुरोरुक् पद के अर्थ को समर्थन दिया गया है। आठवें मन्त्र में प्रथम काण्ड के वचन से चमस का अर्थ और प्रयोजन प्रदर्शित है। १८वें मन्त्र में शतपथ के आधार पर ही मन्त्रों का विनियोग दिखाया गया है। ३०वें और ४४वें मन्त्र का विनियोग भी शतपथ के आधार पर ही दिया गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सर्वमेध सम्बन्धी इस अध्याय के प्रारम्भ के ५४ मन्त्रों का विनियोग यहाँ शतपथ के आधार पर दिखाया गया है। यहाँ कात्यायन श्रौतसूत्र का कोई भी वचन उद्धृत नहीं है। इस अध्याय के आगे के मन्त्र अनारभ्याधीत हैं। उनका विनियोग किसी कर्म के अनुष्ठान में न होकर ब्रह्मयज्ञ में निर्दिष्ट है। अतः यहाँ अध्याय समाप्ति पर्यन्त किसी भी मन्त्र में कात्यायन श्रौतसूत्र अथवा शतपथ के वचन उपलब्ध नहीं होते। प्रसंगवश ७०वें और ७४वें मन्त्र में कात्यायन के नवें अध्याय के वचन अवश्य मिलते हैं। ९०–९१ संख्या के मन्त्रों में भी बृहदारण्यक के एक-दो वचन दिखाई पड़ते हैं।

३४वें अध्याय में भी स्पष्टतः शतपथ का कोई वचन उपलब्ध नहीं है। कुछ स्थलों पर बृहदारण्यक के साथ कुछ अन्य उपनिषदों के वचन भी अवश्य उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ३१-३४ अध्यायों में शतपथ के वचन बहुत ही कम मिलते हैं।

३५वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में शतपथ के पितृमेध-सम्बन्धी वचन विस्तार से उद्धृत हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र के आधार पर महीधर द्वारा प्रदर्शित सारे पितृमेध-सम्बन्धी विधि-विधानों का इसमें विस्तार से उल्लेख है। प्रारम्भ में शव और श्मशान पदों की व्युत्पत्ति बताई गई है। पालाश शाखा से तृण, पर्ण आदि के व्युदूहन (बुहारना) का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए यहाँ संक्षेप में मन्त्र की व्याख्या भी की गई है। द्वितीय मन्त्र में पितृमेध के लिये निश्चित स्थान को रस्सी से घेर कर भूमि-कर्षण के विधान को भी यहाँ शतपथ श्रुति से पुष्ट किया गया है। यहाँ हल में छः बैल ही क्यों जोते जाते हैं और हल से चार ही रेखाएँ क्यों खींची जाती हैं, इसका समाधान तृतीय मन्त्र में उद्धृत वचनों से मिलता है। इसी प्रकार चौथे मन्त्र में सर्वौषधि-वपन का प्रयोजन बताया गया है। अस्थिसंचय सूर्योदय के बाद करना चाहिये, इसकी पुष्टि में भी पाँचवें मन्त्र में शतपथ के वचन प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ मन्त्र के पदों की व्याख्या भी की गई है। शतपथ ब्राह्मण की यह पद्धति ही है कि मन्त्रों का विनियोग बताने के साथ ही यहाँ अनेक स्थानों पर मन्त्र-पदों की व्याख्या भी की गई है। इसीलिये शतपथ को तथा अन्य ब्राह्मण साहित्य को भी मन्त्रों का पहला भाष्य माना जाता है। इसी पद्धति से यहाँ ७-८ और १०-१२ मन्त्रों की व्याख्या के साथ उनके विनियोग भी प्रदर्शित हैं। श्मशान और ग्राम के मध्य में मर्यादालोष्ट के रखने के विधान को भी १५वें मन्त्र में निर्दिष्ट शतपथ का समर्थन मिलता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इस प्रकार की अनेक वैदिक विधियाँ लोकव्यवहार में रीति-रिवाजों के रूप में निरन्तर चली आ रही हैं। १६वें मन्त्र में व्याख्यात नेत्रांजन, पादाभ्यंजन जैसी विधियाँ शतपथश्रुति से तो समर्थित हैं ही, लोकव्यवहार में आज भी वे किसी-न-किसी रूप में प्रचलित हैं।

३६वें अध्याय के पहले मन्त्र में ही शतपथ के वचन को उद्धृत कर बताया गया है कि इस संहिता के अन्तिम पाँच अध्यायों के विषय सर्वप्रथम आथर्वण दध्यङ् ऋषि को ज्ञात हुए थे। इनमें आग्निक और आश्वमेधिक मन्त्रों के साथ प्रवर्ग्य का प्रकरण विशेष महत्त्व का है। त्रयीविद्यासम्पन्न व्यक्ति को प्रवर्ग्य किसी प्रकार की हानि न पहुँचावे, इसके लिये यहाँ ३६वें अध्याय में सर्वविध शान्ति के सम्पादक मन्त्रों का पाठ किया जाता है। इन सत्रह शान्ति-मन्त्रों की तथा आगे महावीर की स्तुति में विनियुक्त अन्तिम सात मन्त्रों (३६।१८-२४) की व्याख्या में भी कोई शतपथ वचन उद्धृत नहीं किया गया है।

३७वें अध्याय में पहले ही मन्त्र में महावीर-संभरण का विधान अतिविस्तार से शतपथ के अनेक वचनों के आधार पर दिया गया है। शतपथ के १४वें काण्ड के प्रथम तीन अध्यायों को प्रवर्ग्य काण्ड कहा जाता है। इस प्रवर्ग्य काण्ड में निर्दिष्ट विधि से यज्ञरूपी विष्णु के सिर का सन्धान किया जाता है। आदित्य ही इस यज्ञरूपी विष्णु का सिर है। शतपथ में यहाँ एक आख्यायिका दी गई है कि किसी समय कुरुक्षेत्र में अश्विनीकुमारों को छोड़ कर बाकी अनेक देवगण यज्ञ (सत्र) कर रहे थे। इसके लिये एकत्र सभी देवताओं में विष्णु को श्रेष्ठ माना गया। वह यज्ञरूपी विष्णु अहंकारवश अपने सिरहाने धनुष को रख सो गया। इसी बीच दीमकों ने धनुष की प्रत्यंचा (डोरी) को काट डाला। प्रत्यंचा के टूटने के साथ ही विष्णु का सिर धड़ से अलग हो गया। देवगण संताप करने लगे कि आज हमारे बीच में से एक महावीर उठ गया। शतपथ में यहाँ घर्म,[1] प्रवर्ग्य, महावीर, सम्राट् आदि पदों की व्युत्पत्ति बताई गई है (पृ० १५६)।

---

१. कात्यायनयज्ञपद्धतिविमर्श में प्रवर्ग्य और घर्म को पर्यायवाची शब्द माना गया है। वहाँ कहा गया है कि अग्निष्टोम याग में प्रवर्ग्य विधान विहित है। महावीर संबन्धी समस्त कर्म प्रवर्ग्य है (पृ० ५०१)। घर्म-याग का परिचय पृ० ४८०-४८१ पर तथा महावीर पात्र का परिचय इन्होंने पृ० ५०८ पर दिया है। यहाँ पुनः कहा गया है कि प्रवर्ग्य और घर्म महावीर का पर्याय है। इन तीनों स्थलों को और भाष्य के इस विषय से संबद्ध स्थलों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवर्ग्य याग का नाम है। इस विधि को सम्पन्न करने के लिये महावीर नामक पात्र का संभरण किया जाता है और इस तप्त महावीर पात्र में तप्त घृत में

आख्यायिका में आगे बताया गया है कि दीमक फिर इस प्रकार का उपद्रव न करें, इसके लिये उनके निमित्त देवताओं ने अन्नाद्य[1] (अन्न और आद्य) का विधान किया। तीन सवनों की भी यहाँ व्याख्या की गई है। आगे यज्ञरूपी विष्णु के सिर के पुनः सन्धान की कथा इस प्रकार वर्णित है कि देवगण को यह मालूम था कि अथर्ववेदी दध्यङ् ऋषि उस प्रवर्ग्य की विधि को जानते हैं, जिससे कि यज्ञ में आने वाले विघ्नों को दूर किया जाता है। इस विद्या को सीखने के लिये इन्द्र उनके पास गया। दध्यङ् ऋषि ने इस शपथ पर इन्द्र को विद्या का उपदेश दिया कि वह किसी अन्य को यह विद्या नहीं सिखावेगा। इन्द्र ने भी दध्यङ् ऋषि से कहा कि यदि आप इस विद्या का उपदेश दूसरे को करेंगे तो आपका सिर धड़ से अलग हो जायगा। अश्विनीकुमार भी दध्यङ् ऋषि के पास यह विद्या है, इस बात को जानते थे। अश्विनीकुमार जब बालक थे, तभी उन्होंने दध्यङ् ऋषि की चिकित्सा की थी और उसके बदले में वे इस विद्या को प्राप्त करना चाहते थे। उस समय अश्विनीकुमार बालक थे, अतः दध्यङ् ऋषि ने बाद में इस विद्या का उपदेश करने के लिये उनसे कहा था। बाद में इन्द्र के साथ घटी इस घटना से दध्यङ् ऋषि उस समय धर्मसंकट में पड़ गये, जब कि देवताओं की प्रार्थना पर अश्विनीकुमार इस विद्या को सीखने उनके पास पहुँचे। दध्यङ् ऋषि को अपने दिये वचन का पालन अवश्य करना था और वचन का पालन करने पर इन्द्र के साथ हुई प्रतिश्रुति के कारण शिरच्छेद का भय था। अश्विनीकुमारों ने इसका रास्ता खोज निकाला। उन्होंने दध्यङ् ऋषि के सिर को हटाकर उसकी जगह अश्व का सिर लगा दिया। इस अश्व के सिर (हयशीर्ष) से उन्होंने दध्यङ् ऋषि से विद्या प्राप्त कर ली और इन्द्र की प्रतिश्रुति के अनुसार इस अश्व के सिर के छिन्न हो जाने पर अश्विनीकुमारों ने दध्यङ् ऋषि के अपने मनुष्य-सिर को पुनः अपने स्थान पर बैठा दिया। इसी प्रवर्ग्य विद्या की सहायता से अश्विनीकुमारों ने देवताओं के यज्ञरूपी विष्णु के सिर का भी पुनः इसी तरह से सन्धान कर दिया।

इस आख्यायिका को समाप्त करते हुए शतपथ में बताया गया है कि कक्षीवान् नामक ऋषि ने भी ऋग्वेदीय मन्त्र (१।११६।१२) में इस विद्या की चर्चा की है। अन्त में यहाँ बताया गया है कि इस प्रवर्ग्य विद्या का उपदेश सर्वसाधारण को नहीं करना चाहिये। इस विद्या की प्राप्ति के लिये किन-किन नियमों का पालन करना चाहिये, इस विषय की भी शतपथ में विस्तार से चर्चा है (पृ० १५८)। प्रवर्ग्य के लिये महावीर आदि मिट्टी के पात्रों को बनाने के लिये मृत्पिण्ड, वल्मीक-वपा आदि संभारों के संचय की विधि भी यहाँ विस्तार से बताई गई है (पृ० १५९-१६१)। इस पूरे विधान की प्रक्रिया ऊपर बता दी गई है। सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट महावीर का लक्षण और उसकी व्याख्या भी यहाँ (पृ० १६०-१६२) निर्दिष्ट है।

आगे इस अध्याय के प्रायः सभी मन्त्रों में कात्यायन के विनियोगों का शतपथ के वचनों के आधार पर विस्तार से समर्थन किया गया है। तीसरे मन्त्र में मृत्पिण्ड, चौथे में वल्मीक-वपा, पाँचवें में वराहविहत मृत्तिका और छठे में पूतीकरस के संभरण का विधान देखा जा सकता है। इसी तरह से ८वें मन्त्र में अजाक्षीर के संभरण का विधान है।

दूध मिला कर तैयार की गई घर्म नामक हवि की अग्नि में आहुति दी जाती है। अवशिष्ट घर्म का यजमान आदि प्राशन करते हैं। शतपथ ब्राह्मण के १४ वें काण्ड के प्रथम तीन अध्यायों में प्रवर्ग्य याग का विस्तार से निरूपण किया गया है। महावीर का लक्षण भाष्य में इस तरह से दिया गया है—"प्रादेशमात्रोन्नतानि पर्वत्रयवन्ति घुण्टिकाकाराणि घर्महविःसन्तापनार्थानि त्रीणि मृन्मयानि पात्राणि महावीरा उच्यन्ते" (पृ० १६२)। इस पात्र की आकृति उक्त ग्रन्थ (पृ० ५४०) में ही देखी जा सकती है। स्पष्ट है कि यह एक विशेष आकार का पात्र है और इसमें घर्म नामक हवि को तप्त दिया जाता है। वैदिक कोश में भी इन शब्दों का अर्थ सही नहीं दिया गया है।

१. अत्तुं योग्यमन्नम्, दन्तव्यापारनिरपेक्षम्। आद्यं दन्तव्यापारसव्यपेक्षम्" (भा०, पृ० १५७)।

नवें मन्त्र में इन पाँच संभारों के संभरण का कारण और महत्त्व प्रदर्शित है। पंक्ति शब्द से यहाँ पाँच संख्या गृहीत है। इन पाँच संख्या वाले अन्य अनेक पदार्थों का उल्लेख भाष्य (पृ० १६६,१६९) में किया गया है। यह विषय वैदिक विद्वानों के लिये विशेष रूप से अवलोकनीय है। १०वें मन्त्र में पक्व महावीरों के उद्वाप के साथ महावीर-संभरण की यह विधि पूरी होती है।

११वें मन्त्र में महावीर के प्रोक्षण आदि संस्कार विहित हैं। शतमान रजत के उपगूहन के प्रसंग में एक श्रौत कथा दी गई है (पृ० १७२)। यहाँ श्रौतसूत्र-प्रदर्शित मुंजप्रलव के आदीपन को भी समर्थन दिया गया है। १२वें मन्त्र में महावीर के ऊपर हाथ रखकर यजमान द्वारा पाँच वाक्यों वाले इस मन्त्र के पाठ के विधान को अलग-अलग वाक्यों की व्याख्या करते हुए स्वीकृति दी गई है (पृ० १७३–१७४)। १३वें मन्त्र में तेरह विकंकत शकलों (काष्ठ-खण्ड) से महावीर का परिश्रयण क्यों किया जाता है, इस प्रश्न का त्रयोदश मासात्मक संवत्सर ही प्रवर्ग्य है, यह कह कर उत्तर दिया गया है (पृ० १७५–१७६)। १४वें मन्त्र में प्रसलवि (सव्य) और अप्रसलवि (अपसव्य) क्रम से प्रदक्षिणा करते समय ब्रह्मा आदि ऋत्विग् घर्म पर पंखा झलते रहते हैं। ऐसा क्यों किया जाता है, इसका भी उत्तर शतपथ के प्रमाण से यहाँ (पृ० १७७–१७८) दिया गया है। १६वें मन्त्र में यज्ञ की वाक्स्वरूपता प्रदर्शित है और १७वें मन्त्र में सूर्य को सब प्राणियों का रक्षक बताया गया है। १८वें मन्त्र में प्रवर्ग्य-प्रकरण को मधु-ब्राह्मण नाम दिया गया है और उसका महत्त्व प्रदर्शित है। ब्रह्मा आदि के द्वारा महावीर की स्तुति कर लेने के उपरान्त यजमान-पत्नी महावीर का ईक्षण करती है। यहाँ प्रवर्ग्य को वृषा और यजमान-पत्नी को योषा बताया गया है। इस अध्याय की अन्तिम ऋचा (३७।२१) में रौहिण पुरोडाशों को चक्षुस्थानीय कहा गया है। यहाँ बताया गया है कि विष्णुरूपी यज्ञ का प्रवर्ग्य सिर है और रौहिण पुरोडाश चक्षु है। यह रौहिण पुरोडाश क्या है, इसको भी यहाँ दिखाया गया है (पृ० १८३)। इस प्रकार इस अध्याय में अतिविस्तार से प्रायः प्रत्येक मन्त्र में शतपथ के वचन उद्धृत हैं और उनके द्वारा कात्यायन के विनियोगों को समर्थन तो मिला ही है, साथ में प्रसंगवश उठने वाले अनेक प्रश्नों का समाधान भी हमें मिलता है।

३८वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में शतपथ के प्रमाण से गाय के आह्वान की प्रक्रिया बताई गई है। वहाँ कहा गया है कि इडा, अदिति और सरस्वती ये सब गाय के ही नाम हैं। इन सामान्य नामों से गाय का आह्वान करने के बाद ऊँची आवाज में गाय को उसके अपने नाम से पुकारना चाहिये। तीसरे मन्त्र में गाय के पिछले पैरों को बाँधने और वत्स को दूध पीने के लिये छोड़ने और फिर गाय के सामने उसको बाँधने की विधि के समर्थक वचन दिये गये हैं। चौथे मन्त्र में भी कात्यायन वर्णित विनियोगों को शतपथ की अनेक कण्डिकाओं का समर्थन मिला है। पाँचवें मन्त्र में भी शतपथ की ऐसी ही कण्डिकाएँ उद्धृत हैं। यहाँ यज्ञ को ही वाक् बताया गया है। छठे मन्त्र में उद्धृत शतपथ से स्पष्ट हो जाता है कि परीशास और शफ पर्यायवाची शब्द हैं। प्रवर्ग्य महावीर आदित्य का ही स्वरूप है। यहाँ विस्तार से शतपथ के वचनों को उद्धृत कर महावीर का उपयमनी पात्र में गृहीत अजाक्षीर से सेचन आदि का विधान बताया गया है। यहाँ यह भी कहा गया है कि वाट् पद वषट्कार का ही निर्देशक है। ७वें मन्त्र में वात के नामों को जपते हुए आहवनीय अग्नि के पास जाने का विधान है। यहाँ शतपथ में एक आख्यायिका दी गई है कि ऐसा क्यों किया जाता है। ८वें और ९वें मन्त्रों में भी बताया गया है कि इन्द्र, सविता, बृहस्पति, यम आदि सभी नामों से यहाँ वात का ही ग्रहण क्यों किया जाता है। नवीं कण्डिका में 'स्वाहा घर्माय' मन्त्र से आहुति देने का प्रकार भी बताया गया है। १०वें मन्त्र में उद्धृत शतपथ में मन्त्र का अर्थ भी प्रदर्शित है।

११वें मन्त्र के शतपथ में भी महावीर का तीन बार उत्कम्पन और वषट्कार के साथ होम का विधान प्रदर्शित है। ब्रह्मा द्वारा घर्म का अनुमन्त्रण और स्तवन १२ वें मन्त्र में मिलता है। इसी प्रकार इस अध्याय के आगे के प्रायः सभी मन्त्रों में शतपथ को उद्धृत कर संक्षेप अथवा विस्तार से पूर्व प्रदर्शित कात्यायन श्रौतसूत्र के विनियोगों का समर्थन

करते हुए इन विधियों को स्पष्ट रूप से समझाया गया है। साथ ही यत्र-तत्र मन्त्र के पदों की व्याख्या भी की गई है। १५वें मन्त्र में [1]पाषाण और प्रतिरव की प्राणात्मकता वर्णित है। इसी मन्त्र में पितरों का स्वभाव भी वर्णित है। २२वें मन्त्र के द्वारा गाये जाने वाले साम का नाम वार्षाहर बताया गया है। २६वें मन्त्र में निष्कैवल्य पद का अर्थ प्रदर्शित है। २७वें मन्त्र में सूर्यतापनीयोपनिषद् को उद्धृत कर कहा गया है कि प्रातःकाल ऋग्वेद के मन्त्रों से, मध्याह्न में यजुर्वेद के मन्त्रों से और सायंकाल सामवेद के मन्त्रों से सूर्यस्वरूप धर्म की स्तुति की जाती है। इस प्रकार भगवान् सूर्य कभी भी वेदों से अलग नहीं होते।

३९वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में शतपथ के वचनों को विस्तार से उद्धृत किया गया है। यहाँ कात्यायन प्रदर्शित विनियोगों को समर्थन देकर यह स्पष्ट किया गया है कि इस अध्याय के मन्त्रों का विनियोग घर्मभेद निमित्तक प्रायश्चित्त-होम में किया जाता है। स्वामी दयानन्द ने इन मन्त्रों से शवदाह प्रक्रिया को निकाला है। वह सर्वथा अप्रामाणिक है। आगे के कुछ मन्त्रों में भी शतपथ के वचन उद्धृत हैं। इस ब्राह्मण के व्याख्याकार हरिस्वामी के मत के अनुसार बनने वाले प्रयोग का स्वरूप भी यहाँ प्रदर्शित है।

मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ

३१वें अध्याय के प्रथम १६ मन्त्रों के पुरुष-सूक्त की व्याख्या के प्रसंग में यहां बताया गया है कि इन मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ सामान्य मन्त्रार्थ से ही गतार्थ हो जाता है, अतः अलग से इनका आध्यात्मिक अर्थ बताने की आवश्यकता नहीं है। मन्त्रार्थ की व्याख्या में ही यहाँ अनेक विशेष विषयों का प्रतिपादन दिखता है, जिनका विनियोग प्रधानतः चतुर्व्यूह (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) की उपासना में किया गया है। यहाँ कुछ विशेष स्थलों की चर्चा करना उचित होगा। तीसरे मन्त्र की व्याख्या में किसी विशेष आचार्य की व्याख्या को दिखाने के बाद सम्प्रदाय के वेत्ता आचार्यों का मन्तव्य प्रकट किया गया है (पृ० ३–४)। ऐसा लगता है कि प्रथम व्याख्या पांचरात्र वैष्णव सम्प्रदाय के किसी विद्वान् द्वारा की गई है। आगे के मन्त्रों में भी वैष्णव चतुर्व्यूहवाद के अतिरिक्त पांचरात्र आगम के नित्यमुक्त, विराट्, प्रकृति, अव्याकृत, परम व्योम जैसे पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, जिनका कि उपयोग प्राचीन पांचरात्र मत में किया जाता रहा है। बृहज्जाबालोपनिषद्, वैकुण्ठसंहिता, महाभारत शान्तिपर्व, नृसिंहोत्तरतापनीय, विष्णुपुराण, शाबल्य-ब्राह्मण, श्रीमद्भागवत इत्यादि ग्रन्थों को यहाँ प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है। इससे भी उक्त बात की पुष्टि होती है। यहाँ चतुर्थ अनिरुद्ध स्वरूप को ही सृष्टि का संकल्पक बताया गया है (पृ० ४)। अद्वारक और सद्वारक सृष्टि की प्रक्रिया भी यहाँ (पृ० ५) बताई गई है। जीवात्मा को यहाँ कौस्तुभ मणि माना गया है और विष्णुपुराण के प्रमाण से सृष्टि-प्रक्रिया को विस्तारित किया गया है (पृ० ६)। आत्मसमर्पण की यागरूपता और मोक्ष, परमपद, अक्षरपद, परधाम, नाक, वैकुण्ठ, परमव्योम आदि की पर्यायता भी यहाँ (पृ० १४) वर्णित है। अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन आदि को यहाँ नित्यमुक्त माना गया है।

इस अध्याय की अन्तिम छः कण्डिकाएँ (३१।१७–२२) उत्तरनारायण के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन मन्त्रों की यहाँ अलग से आध्यात्मिक व्याख्या दी गई है। १७वें मन्त्र की व्याख्या में पृथिवी पद को सूक्ष्म और स्थूल पंचमहाभूतों का प्रतीक माना गया है। १९वें मन्त्र में प्रजापति के जीवरूप से और अन्तर्यामी रूप से गर्भ में प्रविष्ट होने की चर्चा है। वस्तुतः देखा जाय तो इन उत्तरनारायण मन्त्रों की भी योजना प्रधानतः आध्यात्मिक अर्थ में ही ठीक से बैठती है।

३२वें अध्याय के सर्वमेध प्रकरण का भी आध्यात्मिक अर्थ ही प्रधान है। यों कहा जा सकता है कि पुरुष-सूक्त के मन्त्रों के समान ही सर्वमेधीय प्रकरण के मन्त्रों का भी दार्शनिक महत्त्व है। यहाँ तृतीय मन्त्र में सजातीय, विजातीय,

---

१. "प्राणा वै ग्रावाणः··· प्राणा वै प्रतिरवाः" (भा०, पृ० २००)।

स्वगत—तीनों प्रकार के भेद से शून्य अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व प्रतिपादित है। अन्य मन्त्रों की व्याख्या का स्वरूप पहले बता दिया गया है। उसको देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इन मन्त्रों में आध्यात्मिक अर्थ की ही प्रधानता है। १३वें मन्त्र में शम, दम आदि छः प्रकार की साधन-सम्पत्ति के उल्लेख से भी यही बात स्पष्ट होती है। १५वें मन्त्र में वरुण पद की भी ब्रह्मपरक व्याख्या की गई है। १६वें मन्त्र में भी श्रीपद की कामार्थपरक तथा धर्मार्थकाममोक्षपरक व्याख्या देखने को मिलती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन दोनों ही अध्यायों में मन्त्रों के सामान्य और आध्यात्मिक अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

३३ वें अध्याय से पुनः पृथक् रूप से मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या मिलती है। प्रथम मन्त्र में अग्नि पद से व्यष्टि-समष्टि रूप आत्मा के विश्व, तैजस, प्राज्ञ, अव्याकृत, विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और तुरीय नामक स्वरूपों का ग्रहण किया गया है। तृतीय मन्त्र में अग्निपद से जीवात्मा को और चौथे मन्त्र में विद्या और अविद्या से ज्ञान और कर्म को संकेतित किया गया है। ७ वें मन्त्र में अग्नि पद से ईश्वर का ग्रहण कर उसके निवास के लिये हृदयाकाश के परिष्कार की चर्चा है। ९ वें मन्त्र में अग्नि पद का अग्रणी परमेश्वर अर्थ कर नारदीय महापुराण से तथा अन्य एक श्लोक से भी भगवान् की भक्तवत्सलता प्रतिपादित है। १० वें मन्त्र में भी अग्निपद से परमेश्वर का ही ग्रहण कर सभी गोपालों को विश्वेदेव, अर्जुन को इन्द्र, भीम को वायु कह कर पुनः भगवान् की स्तुति की गई है। ११ वें मन्त्र में भक्ति का पंचम पुरुषार्थ के रूप में ग्रहण है। १२ वें मन्त्र में भी बताया गया है कि इस सारे जगत् की स्थिति अग्निरूप परमेश्वर के ही अधीन है। आगे के भक्तिपरक अनेक मन्त्रों में अग्नि पद से परमेश्वर का ही ग्रहण किया गया है। १७ वें मन्त्र में भगवद्गीता को उद्धृत कर बताया गया है कि शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये। १८ वें मन्त्र से आगे के अनेक मन्त्रों में इन्द्र पद से परमेश्वर गृहीत हैं। १९ वें मन्त्र में गोपद को वेदवाणी अथवा इन्द्रियों का वाचक माना है। २० वें मन्त्र में ज्ञानरूप सूर्य का उदय दर्शित है। २१ वें मन्त्र में रसा पद से गंगा नदी का ग्रहण किया गया है। २७ वें मन्त्र में श्रीमद्भागवत के प्रमाण से बताया गया है कि भगवान् गरुड़ आदि वाहनों को भी छोड़कर छन्दोमय गरुड़ पर बैठ कर गजेन्द्र जैसे भक्तों की रक्षा के लिये दौड़ पड़ते हैं। एक अन्य अभियुक्त-वचन में गजेन्द्र की और द्रौपदी की रक्षा के लिये की गई भगवान् की त्वरा का उल्लेख है।

३२ वें मन्त्र में सगुण और निर्गुण ब्रह्म की उपासना से ब्रह्मलोक-प्राप्ति की तथा ब्रह्मभावापन्न व्यक्ति की चर्चा है। ३६ वें तथा आगे के भी मन्त्रों में सूर्योपाधिक अन्तर्यामी संबोधित हैं। यहाँ तरणि पद का अर्थ बता कर भगवद्गीता और मुण्डक श्रुति के आधार पर बताया गया है कि यही सबका तारक और प्रकाशक है। अगले मन्त्र में कहा गया है कि इस परमात्मा के सिवाय कोई अन्य देवता इस जगत् में ज्ञान का प्रसार नहीं कर सकता। ३८ वें मन्त्र में भविष्यपुराण स्थित आदित्यहृदय का प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत है और वाल्मीकिरामायण के वचन के अनुसार भगवान् की सर्वात्मकता प्रतिपादित है। ४१ वें मन्त्र में सूर्य पद से अन्तर्यामी परमेश्वर का ग्रहण कर बताया गया है कि कर्म और उपासना के समुच्चय के बल से साधक सब कुछ प्राप्त कर लेता है। इस प्रसंग में महाभारत के शान्तिपर्व का नारदप्रोक्त वचन भी उद्धृत है और कहा गया है कि परमेश्वर के धन में साधक का उसी प्रकार अधिकार है, जैसे पिता के धन में पुत्र का होता है। ४४ वें मन्त्र के विभिन्न पदों से हनुमान् और श्रीराम का ग्रहण कर ज्ञानसूर्य के उदय का विषय प्रस्तावित है। ४६ वें मन्त्र में राम और लक्ष्मण की चर्चा है। ४८ वें मन्त्र में प्रतिपादित है कि आधिदैविक जगत् के अनुग्रह से ही आध्यात्मिक जगत् संचालित होता है, अर्थात् देवताओं के अनुग्रह से ही मनुष्य में सद्गुणों की अभिव्यक्ति होती है। ५४ वें मन्त्र में सविता पद से सूर्यावच्छिन्न अन्तर्यामी का ग्रहण कर भगवद्गीता के प्रमाण से परमेश्वर की सर्वप्रवर्तकता प्रतिपादित है। ५५ वें मन्त्र में ऋग्वेद के प्रमाण से बताया गया है कि एक ही ईश्वर को भक्तगण अनेक नामों से पुकारते हैं। ५८ वें मन्त्र में रामलक्ष्मण को संबोधित कर कहा गया है कि भक्ति-

सम्प्रदाय में भोग्य पदार्थ प्राकृत पदार्थों की तरह जड़ न होकर चेतन के समान महारसिक हैं, परमानन्द से भरपूर हैं। ५९ वें मन्त्र में सरमा पद से सीता अथवा भक्ति का ग्रहण किया गया है।

६१ वें मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र परमात्मा राम हैं और अग्नि लक्ष्मण। लक्ष्मण अग्निस्वरूप इसलिये हैं कि ये संकर्षण के अवतार माने जाते हैं। ६२वें मन्त्र में नानाविध वैदिक और तान्त्रिक स्तोत्रों से भगवान् की स्तुति का विधान कर बताया गया है कि पुराणों में हरिहर की अभिन्नता के प्रतिपादन के साथ इनको परस्पर एक दूसरे की की गई उपासना का भी वर्णन है। ६३वें मन्त्र में अंगद आदि वानर योद्धाओं का महावीर मेघनाद के साथ हुआ युद्ध वर्णित है। अगले मन्त्र में भी श्रीराम, हनुमान्, कौशल्या आदि की चर्चा है। ६५वें मन्त्र में वृत्र पद से ब्रह्मात्मतत्त्व के प्रावरक अज्ञान का ग्रहण किया गया है। अगले मन्त्र में जीवन्मुक्ति की चर्चा है। ६९वें मन्त्र में परमेश्वर की प्रपंच के उत्पादक के रूप में स्तुति की गई है। ७०वें मन्त्र में भगवान् का सार्वात्म्य प्रतिपादित है और ७२वें मन्त्र में पुनः भक्त द्वारा आराधित भगवान् रामलक्ष्मण की चर्चा है। ७४वें मन्त्र के विषय में बताया गया है कि यह मन्त्र ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी उपलब्ध है। यहाँ अविद्या, काम और कर्म का स्वरूप समझाया गया है। इनसे अनभिभूत व्यक्ति ही ब्रह्मत्व को प्राप्त कर सकता है। ७६वें मन्त्र में इन्द्राग्नी पद से रामलक्ष्मण का ग्रहण है। ७८वें मन्त्र में वर्णित हैं कि यहाँ राम का हनुमान् और अंगद के साथ संवाद है। यह संवाद अगले मन्त्र में भी चलता है। ८०वें मन्त्र में श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण का ग्रहण किया जाता है। मारीच, सुबाहु, पूतना, तृणावर्त आदि का ये नाश करते हैं। ८६वें मन्त्र में इन्द्रवायू पद से श्रीराम और हनुमान् गृहीत हैं। ८७वें मन्त्र में नरनारायण, बलकृष्ण और रामलक्ष्मण की चर्चा है। रामलक्ष्मण अगले मन्त्र में भी चर्चित हैं। ९०वें मन्त्र में बताया गया है कि यह सारा जगत् अग्नि और सोम के संयोग से बना है। अग्नीषोम पद से यहाँ शिव और शक्ति, सूर्य और चन्द्र अथवा सोम और अग्नि का ग्रहण किया जाता है। ९१वें मन्त्र में बृहदारण्यक श्रुति के प्रमाण से बताया गया है कि देवगण उस व्यक्ति की कोई सहायता नहीं करते, जो कि अपनी आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में देवताओं की स्थिति मानते हैं। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र (३४।९७) में इन्द्र पद से महेश्वर का ग्रहण कर कहा गया है कि वह अपने भक्त के बल को बढ़ाते हैं।

३४वें अध्याय के प्रथम मन्त्र के भाष्य में प्रतिपादित विषयों की चर्चा हम आगे भाष्य के विशेष अवधेय अंशों के प्रसंग में करेंगे। प्रथम छः शिवसंकल्प मन्त्रों की व्याख्या प्रधानतः अध्यात्मपरक की गई है। ७वें मन्त्र में तैत्तिरीय श्रुति और भगवद्गीता के प्रमाण से ब्रह्म की अन्नरूपता और सर्वात्मकता प्रतिपादित है। ८वें मन्त्र में अखण्ड चिद्रूपा परा संवित् को ही अनुमति माना गया है और इसके लिये भगवद्गीता का प्रमाण दिया गया है। अगले मन्त्र में अनुमति पद से हव्यवाहक अग्नि का ग्रहण है। १० वें मन्त्र में सिनीवाली पद से कृष्ण की भगिनी भगवती विन्ध्यवासिनी बोधित हैं और इसमें दुर्गासप्तशती का प्रमाण दिया गया है। सरस्वती पद से जिह्वानुगत नाडी का ग्रहण कर अन्य नाडियों की और कुण्डलिनी शक्ति की चर्चा ११वें मन्त्र में है। १४वें मन्त्र में अग्निपद से श्रीराम का ग्रहण कर बताया गया है कि यह कौशल्या का पुत्र भक्तों की प्रज्ञा को निर्मल करता है। ब्रह्माकार वृत्ति की भी यहाँ चर्चा है और इन विषयों की पुष्टि के लिये दो अलग-अलग भागवत के वचन प्रमाण के रूप में प्रस्तुत हैं। १६वें मन्त्र में दशरथ के पुत्र श्रीराम की और रावण की चर्चा है और बताया गया है कि भक्तों का यह माहात्म्य है कि यह श्रीराम स्वयं उनकी स्तुति करते हैं। अगले तीन मन्त्रों (३४।१७-१९) में भी श्रीराम की चर्चा है। २०वें मन्त्र में साम्ब परमेश्वर का ग्रहण है और यहाँ सृष्टि-प्रक्रिया बताई गई है। २१-२३ मन्त्रों में भी सोमपद से साम्ब सदाशिव सम्बोधित हैं। अगले चार मन्त्रों (३४।२४-२७) में वेदान्तवेद्य सविता देव स्तुत हैं। २८-३० मन्त्रों में 'अश्विनौ' पद से रामलक्ष्मण अथवा बलकृष्ण गृहीत हैं।

३२वें मन्त्र में रात्रि पद से महामाया का ग्रहण किया गया है। ३४वें मन्त्र में मित्रावरुण पद से रामलक्ष्मण अथवा बलकृष्ण तथा सोम पद से साम्ब सदाशिव गृहीत हैं। ४०वें मन्त्र में उषा पद से भक्तिरूपी देवता बोधित है।

४१वें मन्त्र में पूषा पद परमेश्वर का बोधक है और बताया गया है कि अमृतत्व लक्षण मोक्ष भी निरावरण ब्रह्मरूप ही है। ४३वें मन्त्र में गोपरूप विष्णु की चर्चा है और यहाँ महाकवि कालिदास के मेघदूत का वचन उद्धृत है। ४५वें मन्त्र में द्यावापृथिवी पद से पुरुष और प्रकृति का ग्रहण किया गया है और बताया गया है कि जीव स्वरूपतः निर्विकार है और प्रकृति की प्रवाहनित्यता मानी जाती है। ४७वें मन्त्र में नासत्य पद से रामलक्ष्मण अथवा बलकृष्ण गृहीत हैं। ४८वें मन्त्र में भी ऋग्वेद का वह प्रसिद्ध मन्त्र उद्धृत है, जिसमें एक ही परमात्मा के विविध रूपों का वर्णन है। ४९वें मन्त्र में प्राणाभिमानी ऋषियों की सृष्टियज्ञ में प्रवृत्ति बताई गई है। ५१वें मन्त्र में मुण्डक श्रुति के प्रमाण से भूतिकाम के लिये आत्मज्ञ की ही पूजा का विधान है। अगले मन्त्र में ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मसाक्षात्कार का उल्लेख है। ५४-५५ मन्त्रों में ब्रह्म की सर्वात्मकता प्रतिपादित है। इस अध्याय के अन्तिम तीन मन्त्रों (३४।५६-५८) में ब्रह्मणस्पति के रूप में वेद-पालक परमात्मा स्तुत हैं, जो कि हमें धर्म और ब्रह्म का उपदेश करते हैं।

३५वें अध्याय के पहले मन्त्र में यमपद की परमेश्वरपरक व्याख्या की गई है। द्वितीय मन्त्र का सविता पद जगत् के उत्पादक, सृष्टि-स्थिति-संहार की लीला करने वाले परमात्मा का बोधक है। तृतीय मन्त्र में साधक की पवित्रता के लिये परमेश्वर से प्रार्थना की गई है। चौथे मन्त्र में बताया गया है कि इन्द्रियों का और पांचभौतिक देह का दास हो जाने पर जीवात्मा को अश्वत्थ, अर्थात् संसाररूपी वृक्ष पर निवास करना पड़ता है। अगले दो मन्त्रों में साधक (जीवात्मा) को संबोधित कर कहा गया है कि कर्म और उपासना के समुच्चित अनुष्ठान से प्रसन्न हो परमेश्वर हमारे पापों को धो डालता है। ७वें मन्त्र में कैवल्य और बृहदारण्यक उपनिषदों के वचनों के अनुसार देवयान और पितृयान मार्गों का स्वरूप प्रदर्शित है। ९वें मन्त्र में छान्दोग्य के प्रमाण से बताया गया है कि ब्रह्मदृष्टिसम्पन्न साधक के लिये सब कुछ सुखमय हो जाता है। १०वें मन्त्र में साधकों को मित्र मानकर कहा गया है कि ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के बल से हम संसार नदी को पार कर मोक्ष पद को प्राप्त कर सकते हैं। ११वें मन्त्र में बताया गया है कि मानस, कायिक और वाचिक पापों का परिमार्जन कर, दूसरों के द्वारा प्रेरित कृत्या, दुःस्वप्नजनित उपद्रव इत्यादि को दूर कर स्वस्थ हुए चित्त से ही ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है। इसके लिये बाह्य द्रव्यों और मन्त्रों से मार्जन, सेचन आदि की भी आवश्यकता पड़ सकती है। १७वें मन्त्र में अग्नि पद का अर्थ पापदाहक परमेश्वर किया गया है। २१वें मन्त्र में कहा गया है कि भगवत्परायण बुद्धि संशय, विपर्यय आदि सारे कंटकों के साथ सारे पापों को भी जला डालती है। इस अध्याय के अन्तिम २२वें मन्त्र में श्रीमद्भागवत के प्रमाण से भगवान् से प्रार्थना की गई है कि यह साधक आपके अनुग्रह से सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य नामक मुक्ति के योग्य शरीर को प्राप्त कर सके।

३६ वें अध्याय के प्रथम १-१७ मन्त्रों में परमेश्वर से सर्वविध शान्ति के लिये प्रार्थना की गई है। यहाँ नवें मन्त्र में मित्र पद का अर्थ भक्त पर स्नेह करने वाला भगवान् किया गया है तथा १७ वें मन्त्र में बताया गया है कि सभी तरह के उपद्रवों से रहित शान्ति का पर्यवसान अन्ततः परब्रह्म में ही होता है, अर्थात् आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर सारे उपद्रव अपने आप शान्त हो जाते हैं और सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य फैल जाता है। १८ वें मन्त्र में दृति पद का अर्थ सर्वलयाधिष्ठान परमेश्वर किया है और भागवत के एक श्लोक को उद्धृत कर भागवतोत्तम का लक्षण बताया है। २१ वें मन्त्र में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी रूप एवं आन्तर नाद रूप शब्दब्रह्म का नमन कर बताया गया है कि यह ब्रह्म ही जीव के सोपाधिक स्वरूप को विलीन कर उसे चिदादित्य स्वरूप में प्रतिष्ठित करता है। २२ वें मन्त्र में भी परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि आप ही राम, कृष्ण आदि का रूप धारण कर नाना प्रकार की लीलाएँ करते हैं। २३ वें मन्त्र में बताया गया है कि मन्त्र और भावना के प्रभाव से सारी ओषधियाँ, सारी वस्तुएँ भक्त की भावना के अनुसार फल देने लगती हैं। इस अध्याय के अन्तिम २४ वें मन्त्र में वेदान्तवेद्य ब्रह्म को ही सबका चक्षु बता कर उससे शतायु स्वस्थ जीवन की कामना की गई है।

२७ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में अग्नि पद की बुद्धिपरक व्याख्या कर बताया गया है कि शास्त्र के रहस्य को जानने के लिये उसकी सहायता अपेक्षित है। चौथे मन्त्र में वम्री पद का अर्थ ज्ञानवमनशील इन्द्रियाँ किया गया है और कठोपनिषद् के प्रमाण से कहा गया है कि इनकी सहायता से साधक परम पद को प्राप्त कर सकता है। ७-८ मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ एक साथ किया गया है। यहाँ ब्रह्मणस्पति, अर्थात् वेदों के उपदेष्टा परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि आप ही सबको प्रिय लगने वाली त्रयीरूप वाणी प्रदान कर हमें ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न कर दें। ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति किसी के भी प्रति द्वेषभाव नहीं रखता और सदा सब प्राणियों के हित में लगा रहता है। यहाँ महावीर-संभरण के प्रकरण में घर्म अथवा महावीर को सर्वत्र ज्ञानयज्ञ के रूप में संबोधित किया गया है। १३ वें मन्त्र में मरुत् पद का अर्थ हनुमान् जैसे ज्ञानी जन बताकर कहा गया है कि इनका सहारा लेने से साधक सर्वविध आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक मधु को प्राप्त कर सकता है। २० वें मन्त्र में ज्ञानयज्ञ के अधिष्ठाता परमेश्वर की तथा ब्रह्मज्ञानसम्पन्न बुद्धि की प्रार्थना की गई है।

३८ वें अध्याय के पहले मन्त्र में प्रेमरज्जु को भगवती त्रिपुरसुन्दरी की मेखला माना गया है। दूसरे मन्त्र में बताया गया है कि ब्रह्मयज्ञ में वैदिक और लौकिक सभी प्रकार की वाणियों का उपयोग किया जाता है। आगे के मन्त्रों में यहाँ प्रेमरज्जुपाश, विचारपीयूष, ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री सरस्वती, ज्ञानयज्ञ आदि को संबोधित किया गया है। छठे मन्त्र में किसी वचन को उद्धृत कर बताया गया है कि ज्ञानयज्ञ के लिये शास्त्रकुशल व्यक्ति को छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं से उसी प्रकार उपदेश ग्रहण करना चाहिये, जैसे कि भ्रमर पुष्पों से उनके सारभाग को ग्रहण कर लेता है। इस अध्याय में भी महावीर अथवा घर्म को ज्ञानयज्ञ के रूप में संबोधित किया गया है। नवें मन्त्र में यम पद की परमेश्वरपरक व्याख्या की गई है। १० वें और १२-१३ मन्त्रों में 'अश्विनौ' पद से रामलक्ष्मण अथवा बलकृष्ण का ग्रहण किया गया है। १४ वें मन्त्र में ज्ञानयज्ञ को संबोधित कर एक [1]श्लोकार्ध की सहायता से कहा गया है कि मनुष्य का श्रेष्ठ धर्म यही है कि वह योग की सहायता से आत्मदर्शन का प्रयत्न करे। २० वें मन्त्र में ज्ञानयज्ञ को 'चतुःस्रक्ति' इसलिये बताया गया है कि इस ज्ञान का प्रकाश चारों तरफ फैल जाता है और उसकी सहायता से हमें ऋत और सत्य ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। अगले मन्त्र में कहा गया है कि वेदान्त का अध्ययन और अध्यापन इस कार्य में हमारा सहायक बन सकता है। २२ वें मन्त्र में हरिपद की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा गया है कि संसार के दुःख का हरण करने के कारण घर्मरूप परमात्मा हरि कहलाते हैं। २७ वें मन्त्र में कर्म, उपासना और ज्ञान के अनुष्ठान से ज्योतिर्मय ज्ञानयज्ञ को अपने हृदय में प्रदीप्त कर साधक को सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों को अपने प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न रूप से अनुभव करने का उपदेश किया गया है। इस अध्याय के अन्तिम २८ वें मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय यह है कि इस संहिता में वर्णित प्रवर्ग्य पर्यन्त सभी अनुष्ठान परमेश्वर की आराधना के लिये ही वर्णित हैं।

३९ अध्याय के पहले मन्त्र में बताया गया है कि समष्टि लिंगशरीर का अभिमानी परमात्मा ही प्राण की प्रधानता से सूत्रात्मा और बुद्धि की प्रधानता पर हिरण्यगर्भ कहलाता है। अन्य सारे देवगण इस ब्रह्म की ही विभूतियाँ हैं। तृतीय मन्त्र में इसी की सर्वात्मकता प्रतिपादित है। चतुर्थ मन्त्र में साधक स्वयं अपने लिये आशीर्वादात्मक प्रार्थना करता है कि मैं अपनी मनोकामना पूरी कर सकूँ। ५ वें मन्त्र में बताया गया है कि ज्योतिष्टोम आदि यागों में प्रवर्ग्य का अनुष्ठान करते समय महावीर-संभरण आदि जो कर्म किये जाते हैं, वहाँ सर्वत्र घर्मान्तर्यामी परमेश्वर की ही उन उन अवस्थाओं में अभिव्यक्त हुए स्वरूपों की उन उन नामों से स्तुति की जाती है, क्योंकि यहाँ सब कुछ ब्रह्ममय है।

---

१. "इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्। अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ॥" (१।८) यह वचन याज्ञवल्क्यस्मृति का है।

९ वें मन्त्र में भगवान् शिव को ही उग्र आदि शब्दों से संबोधित किया गया है। अगले मन्त्र में कहा गया है कि सारे द्रव्य और देवताओं में सर्वत्र सदा ब्रह्म की ही भावना करनी चाहिये। ११वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि आयास, प्रयास आदि देवगण भगवान् की प्राप्ति में सहायक होते हैं, अतः ये भी पूज्य हैं। १२ वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि परम पुरुषार्थरूप भगवत्पद की प्राप्ति के कारणभूत तप आदि भी देवस्वरूप ही हैं। इस अध्याय के अन्तिम तेरहवें मन्त्र में [1]यम, अन्तक, मृत्यु, ब्रह्महत्या आदि पदों के आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत कर त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषत् के प्रमाण से सबके अन्तर्यामी परमात्मा को सर्वस्व समर्पित कर देने का उपदेश किया गया है। यहाँ उपनिषद् का कहना है कि मैं स्वयं अपनी अपने में ही आहुति दे देता हूँ, अर्थात् मैं अपने स्वरूप को उस सर्वाश्रयभूत ब्रह्म में प्रतिष्ठित कर देता हूँ।

स्वामी दयानन्द के भाष्य की समालोचना

वेदार्थपारिजात के भूमिकाभाग में प्रसंगवश पूरा ३१वां अध्याय उद्धृत है और वहीं स्वामी दयानन्द के द्वारा की गई इन मन्त्रों की व्याख्या का खण्डन भी किया गया है। उसकी पुनरावृत्ति न हो, इस अभिप्राय से यहाँ प्रत्येक मन्त्र में केवल स्थलनिर्देश कर दिया गया है। यह पूरा प्रसंग वहाँ द्वितीय भाग, पृ० १२३३ से १२८२ तक देखा जा सकता है।

३२वें अध्याय के पहले मन्त्र में सामानाधिकरण्य का तार्किक लक्षण प्रस्तुत कर बताया गया है कि दयानन्दीय अर्थ में यह सामानाधिकरण्य घटित नहीं होने पाता और किसी एक गुण के आधार पर अग्नि इत्यादि पदों का गौण प्रयोग मानने पर तो कहीं भी इनकी प्रवृत्ति माननी पड़ जायगी। दूसरे मन्त्र में बताया गया है कि निमेष-उन्मेष आदि तो नेत्र के धर्म हैं, इनके लिये किसी विद्युत्पुरुष की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'न तस्य प्रतिमा' (३२।३) मन्त्र से स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा का खण्डन बड़े संभार से करते हैं, किन्तु यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि यह प्रतिमा शब्द मूर्ति का वाचक न होकर सादृश्य का सूचक है। इस मन्त्र के उत्तरार्ध में कुछ मन्त्रों के प्रतीक दिये गये हैं। आगे भी अनेक मन्त्रों में इसी पद्धति से प्रतीक मन्त्रों की सूचना दी जाती है। इस बात को बिना समझे इनका मनमाना अर्थ कर स्वामी दयानन्द ने अपने को हास्यास्पद स्थिति में डाल दिया है। चौथे मन्त्र में बताया गया है कि अन्तः पद का अन्तःकरण अर्थ नहीं हो सकता। फिर आपके मत में तो ईश्वर निराकार है। वहाँ अन्तःकरण का कोई प्रसंग उठ ही नहीं सकता। यह अनेक बार बताया जा चुका है कि मुख्यार्थ जब हो सकता है, उस स्थिति में गौण अर्थ करना पूरी तरह से अनुचित है। सातवें मन्त्र में लिखा गया है कि योगाभ्यास की अपेक्षा उसका फल ही हमें अभीष्ट हो सकता है। ८वें मन्त्र का स्वामी दयानन्द ने अर्थ किया है कि यह जगत् परमात्मा में स्थित है। यहाँ प्रश्न उठता है कि परमात्मा में यह किस रूप में स्थित है। इनका समवाय सम्बन्ध आपको अभीष्ट नहीं है। आप जगत् को मिथ्या नहीं मानते, अतः रज्जु में सर्प की तरह परमात्मा में जगत् का अध्यास भी नहीं माना जा सकता। आधाराधेयभाव भी इनका नहीं माना जायगा, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमेश्वर की निरवयवता के कारण यह बन ही नहीं सकता। नवें मन्त्र में गुहा पद से बुद्धि गृहीत है। यह बुद्धि ईश्वर की नहीं हो सकती, क्योंकि मुण्डक श्रुति इसका निषेध करती है। जीव की बुद्धि में आप नित्यमुक्ति की स्थिति मानते ही नहीं। १०वें मन्त्र में बताया गया है कि जीव और प्रकृति की धाम के रूप में प्रसिद्धि नहीं है। इसके अभाव में ईश्वर को तृतीय धाम नहीं माना जा सकता। ११वें मन्त्र के अर्थ में अनुपपत्ति यह है कि सत्य सबका अधिष्ठान है, अतः उसका कोई दूसरा अधिष्ठाता नहीं हो सकता। १२वें मन्त्र में कहा गया है कि ईश्वर तो आप्त-

---

१. इस प्रसंग में नित्याषोडशिकार्णव की टीका ऋजुविमर्शिनी में उद्धृत ये दो श्लोक अवधेय हैं—"कालो मृत्युर्यमो व्याधिस्तत्त्वतस्त्वेक एव तु। वृत्त्यन्तरविशेषेण पर्यायेणाभिधीयते ॥ सर्वावच्छेदकः कालो मृत्युर्मारयिता च सः। यमनाद्यम एवायं व्याधिश्चिन्ताप्रदो हि सः ॥" (पृ० २७३)।

काम है, अतः उसको किसी वस्तु की प्राप्ति की कोई अपेक्षा ही नहीं है। सुख और विज्ञान पदों के अर्थ और सम्बन्ध को इन्होंने स्पष्ट नहीं किया और सुखरूप की सद्यः सुख की प्राप्ति की बात भी पूरी तरह से निराधार है। १३वें मन्त्र में निराकार परमात्मा को सदसस्पति (सभापति) बताया गया है। भला यह कैसे संभव हो सकता है ? अगले मन्त्र में देवगण और पितृगण का अलग-अलग उल्लेख है। यहाँ पुनरुक्ति दोष उपस्थित होगा, क्योंकि आपके मत से ये दोनों शब्द मनुष्य के ही वाचक हैं।

तैंतीसवें अध्याय के पहले मन्त्र के स्वामी दयानन्द के भाष्य में दोष यह है कि अग्नि, विद्युत् आदि उत्पाद-विनाशशील पदार्थ हैं, इनकी अजरता कभी सिद्ध नहीं हो सकती। फिर विद्युत् में धूम की उपलब्धि भी नहीं होती। अतः 'अर्चद्धूमासः' यह विशेषण वहाँ उपपन्न नहीं होगा। द्वितीय मन्त्र में दोष यह है कि मन्त्र में वर्णित यत्नशीलता जड़ पदार्थों में नहीं हो सकती। सातवें मन्त्र में 'सहस्राणि' पद का अर्थ 'हजार कोस का मार्ग' किया गया है। यह कथमपि संभव नहीं हो सकता। ऐसा अर्थ मानने पर-दूसरा दोष यह आवेगा कि तब इस मन्त्र के 'त्रीणि शता त्रिशच्च नव च' ये पद व्यर्थ हो जायेंगे। अग्नि, सूर्य, वायु आदि देववाचक पदों का इन्होंने मनमाना अर्थ किया है और इनके मत में ये सब जड़ पदार्थ हैं। ऐसी स्थिति में इनमें संबोध्यत्व अथवा पानकर्तृत्व आदि विशेषणों की कोई संगति नहीं बैठ सकती। यही दोष यहाँ दसवें मन्त्र में तथा अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर दिखाया गया है। १२वें मन्त्र में अग्नि पद से राजा का ग्रहण किया है, किन्तु राजा सारी मानव जाति को ऐसा उपदेश अथवा परामर्श देने में पूरी तरह से असमर्थ है। १३वें तथा आगे के मन्त्रों में भी अग्नि पद से मनुष्य को सम्बोधित किया गया है। १५वें मन्त्र में इन सबका उत्तर देते हुए कहा गया है कि वेद तो धर्म और ब्रह्म का प्रतिपादक है। कोई चार्वाक दर्शन का अनुयायी ही ऐसी बातें कर सकता है। १६वें मन्त्र में बताया गया है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से जो ज्ञात हो सकते हैं, ऐसे विषयों का उल्लेख वेद में मानने पर उसकी अज्ञातज्ञापकता नष्ट हो जायगी। ये मन्त्रों के पदों का प्रायः गौण अर्थ ग्रहण करते हैं। इस विषय पर अनेक बार लिखा जा चुका है कि मुख्यार्थ का बाध होने पर ही ऐसा अर्थ किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। १८-१९ मन्त्रों में इन्होंने निष्प्रयोजन 'इव' पद का अध्याहार किया है। २२वें मन्त्र में 'महत्' पद से विद्युत् का ग्रहण करने में भी कोई प्रमाण नहीं दिया गया। अगले मन्त्र में द्यावापृथिवी-कृत सेवा का वर्णन है, किन्तु जड़ पदार्थ किसी की भी सेवा करने में असमर्थ है। परमात्मा तो सभी अवस्थाओं से अतीत हैं, अतः २४वें मन्त्र में उनकी युवावस्था का उल्लेख सर्वथा असंगत है। अल्प शक्ति वाला जीव कभी इन्द्र नहीं हो सकता, इतना कह कर १५वें मन्त्र में बताया गया है कि मनुष्य की तृप्ति के लिये सोम की कोई उपयोगिता नहीं है और न आर्यसमाजी किसी राजा अथवा विद्वान् का सोमपर्व से यजन ही करते हैं।

२७वें मन्त्र में 'हरिव' पद के दयानन्दीय अर्थ की यहाँ सयुक्तिक समालोचना की गई है और इस प्रसंग में अमर-कोश के साथ वाल्मीकिरामायण के एक प्रसंग का भी उल्लेख किया गया है। २८वें मन्त्र में भी इन्द्र और ऊर्व पद पर इसी पद्धति से विचार किया गया है। ३० और ३१ संख्या के मन्त्रों में राजपरक अथवा विद्वत्परक गौण अर्थ करने में अनेक दोष दिखाये गये हैं। ३४वें मन्त्र में युवानः, विश्वानर, सविता आदि पदों के अर्थों की असंगति दिखाई गई है। ३७वें मन्त्र में कहा गया है कि परमेश्वर तो नित्य समाहित है, उसके लिये समाधि की कोई आवश्यकता नहीं है। ३८वें मन्त्र में कहा गया है कि आप सूर्य पद से कहीं राजा, कहीं विद्वान् और कहीं ईश्वर का ग्रहण करते हैं। यहाँ सूर्य पद के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ने का आपका प्रयोजन क्या है ? फिर ईश्वर का शुद्ध और अशुद्ध दो तरह का रूप तो होता नहीं, क्योंकि वह तो सर्वतः शुद्ध है। हमारे मत में तो पुण्यात्मा पर अनुग्रह और पापात्मा का निग्रह करने से सूर्य के निग्रहानुग्रहात्मक दोनों रूप उपपन्न हो जाते हैं। आगे भी अनेक मन्त्रों में सूर्य की गौणमुख्यार्थता पर विचार किया गया है। ४३वें मन्त्र में बताया गया है कि सविता आपके मत में अचेतन है। वह मन्त्रोक्त किसी भी कार्य को

करने में असमर्थ है। सूर्य की गति भी आपको स्वीकार नहीं है। ४४वें मन्त्र में यही दोष वायु और सूर्य को लेकर दिया गया है। ४८वें मन्त्र में दोष यह है कि आप आत्मा को अणु परिमाण का मानते हैं, अतः मन्त्रोक्त आत्मा की व्यापकता आपके मत से संभव नहीं हो सकती। 'नासत्यौ' पद की आपकी व्युत्पत्ति भी असंभव है। ४९वें मन्त्र में बताया गया है कि एक तरफ जड़ पूजा का आप विरोध करते हैं और दूसरी तरफ इन्द्र, अग्नि, मेघ, पर्वत आदि की स्तुति करते हैं। स्तुति भी तो पूजा का ही एक रूप है। ५४वें मन्त्र में कहा गया है कि मोक्ष की प्राप्ति में तत्त्वज्ञान की ही कारणता हो सकती है, कर्म की नहीं। इसके समर्थन में यहाँ इसी संहिता का वचन उद्धृत है। ५५वें मन्त्र में दिखाया गया है कि निघण्टु में वायु के अश्व के लिये नियुत शब्द प्रयुक्त हैं, अतः उसका पुरुषपरक अर्थ प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ५७वें मन्त्र में 'हुवे' क्रियापद की स्वीकारार्थता कथमपि संभव नहीं है। अगले मन्त्र में अभिषुत पद का अर्थ वैदिक प्रक्रिया के विपरीत है। ६०वें मन्त्र में आपके मत से जड़ अग्नि में चालन क्रिया संभव नहीं है। उसमें हित और अहित का ज्ञान भी इसी लिये असंभव है। हमारे मत में तो देवता दिव्यशक्ति से सम्पन्न होते हैं।

६१ वें मन्त्र में 'इन्द्राग्नी' पद से सभापति और सेनापति का ग्रहण किया गया है। इस तरह के अर्थों की समालोचना यहाँ अनेक स्थानों पर हो चुकी है। ६२ वें मन्त्र में उपगान पद का अर्थ भी अनोखा है। ६३ वें मन्त्र के मघवन्, हरिव इत्यादि पद इन्द्र के बोधक हैं, इन पदों का स्वयं असहाय मनुष्य के लिये प्रयोग सर्वथा अनुचित है। यथा-तथा पद मन्त्र में हैं हो नहीं। यही स्थिति ६४ वें मन्त्र की है। वहाँ यथा-तथा के साथ 'इव' पद भी मन्त्र में नहीं है। ६७ वें मन्त्र की आपकी व्याख्या में दोष यह है कि यहाँ 'अन्वीयतुः' क्रियापद के अनुगुण कर्तृपद नहीं दिया गया। ७२ वें मन्त्र में व्युत्पत्ति के बल से 'रिशादशौ' पद का अर्थ अध्यापक और उपदेशक किया है, किन्तु इसी पद्धति से इसके अन्य भी अनेक अर्थ किये जा सकते हैं। ७४ वें मन्त्र में रश्मि पद पर विचार किया गया है कि यहाँ यह शब्द एकवचन में प्रयुक्त है। आपके किये अर्थ के अनुसार एक ही रश्मि अनेक विपरीत दिशाओं में नहीं जा सकती। ७५ वें मन्त्र में दोष यह दिखाया गया है कि विद्युत् रूप अग्नि को व्यापक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः यहाँ वेद का तात्पर्य ब्रह्मरूप और देवतारूप अग्नि के वर्णन में है। ७६ वें मन्त्र में इन्द्राग्नी पद से सभाध्यक्ष-सेनाध्यक्ष का अथवा अध्यापक-उपदेशक का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है। ७८ वें मन्त्र में इसी पद से अध्यापक और अध्येता का ग्रहण करने में भी वही दोष है। उक्थ, स्तोत्र आदि वैदिक पदों के अर्थ से इनका कोई परिचय हो, ऐसा तो लगता ही नहीं। ८१ वें मन्त्र के अर्थ में दोष यह है कि निरतिशय ब्रह्म की स्तुति से उसमें वृद्धि की कल्पना असंगत है। पदार्थ विद्या की प्रशंसा से परमेश्वर की प्रशंसा मानने पर तो भौतिक विषयों की प्रशंसा भी परमात्मा की उपासना मानी जाने लगेगी। ८२ वें मन्त्र में बताया गया है कि यह सारा विश्व राजा का दास नहीं हो सकता। परमेश्वर पद से क्षुद्र नृपति का ग्रहण वैदिक मर्यादा के विपरीत है। ८५ वें मन्त्र में वायु पद के मुख्यार्थों का निरूपण करके बताया गया है कि यहाँ इस पद से राजा के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है। यही स्थिति ८६ वें मन्त्र के इन्द्र और वायु पदों की भी है। ८९ वें मन्त्र में यथा-तथा पद नहीं हैं। प्रत्यक्ष यज्ञ को छोड़ कर कर्मान्तर की कल्पना भी निराधार है। ९० वें मन्त्र में बताया गया है कि यहाँ हरि पद निघण्टु के प्रमाण से इन्द्र के अश्व के लिये प्रयुक्त है, अतः आपका किया अर्थ असंगत है। 'कनिक्रदत्' क्रिया का स्वारस्य भी आपने नहीं बताया। ९१ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि विद्वान् मनुष्य की भी क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति इतनी समर्थ नहीं होती कि वह सबकी प्रार्थना पूरी कर सके। यहाँ प्रायः सभी मन्त्रों में विद्वान् मनुष्य अथवा अध्यापक-उपदेशक की चर्चा की गई है, जो कि सर्वथा निराधार है। ९६ वें मन्त्र में शतक्रतु शब्द की चर्चा है। सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाले इन्द्र के लिये यह शब्द प्रयुक्त है। उसका असंख्य बुद्धि अर्थ करना सर्वथा असंगत है। इसी तरह से शतपर्व शब्द से वज्र का ग्रहण किया जाता है, अन्य किसी अस्त्र का नहीं। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र में बताया गया है कि इन्द्र आदि देवताओं का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि अमरसिंह आदि सभी कोशकारों ने देववर्ग और मनुष्यवर्ग का अपने-अपने कोशों में पूरी तरह से पृथक् रूप से वर्णन किया है।

ऊपर बताया जा चुका है कि ३४वें अध्याय के प्रथम छः मन्त्र शिवसंकल्प में विनियुक्त हैं। अपनी आदत के अनुसार स्वामी दयानन्द ने इनका भी मनमाना अर्थ किया है। जाग्रत् अवस्था में मनुष्य का मन बाह्य इन्द्रियों के अधीन रह कर ही कार्य कर सकता है, अतः तब उसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं मानी जा सकती। इस विषय की चर्चा भाष्य के विशेष अवधेय अंशों की प्रस्तुति के समय की जायगी। जिस किसी का मन सर्वोत्तम गुण, कर्म और स्वभाव से युक्त होता भी नहीं। श्रुति में मन की उत्पत्ति वर्णित है, अतः उसमें स्वरूपतः अमृतता भी नहीं मानी जा सकती। अतीत और अनागत वस्तु का ग्रहण कभी प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसी तरह से चित्त और मन तो एक ही हैं, अतः किसी एक मन में सभी प्राणियों के चित्त के समावेश की बात भी निराधार है। सिद्धान्त पक्ष के अनुसार तो यहाँ समष्टि मन का ग्रहण करना पड़ेगा, जो कि आपको अभिप्रेत नहीं है। इसी तरह से मन इन्द्रिय होने के कारण करण है। वह कर्ता का नियामक कभी नहीं हो सकता।

शिवसंकल्प मन्त्रों के अर्थ की इस अनुपपत्ति को दिखाने के बाद अन्य मन्त्रों के विषय में बताया गया है कि स्वामी दयानन्द ने मन्त्रों के देववाचक पदों से कहीं राजसामान्य, कहीं विद्वान् सभापति आदि अर्थ किये हैं। वे सब असंगत हैं। ९वें मन्त्र में दिखाया गया है कि मुख्यार्थ त्याग और गौणार्थ के ग्रहण के कारण इनके अर्थ में सर्वत्र असंगति ही दृष्टिगोचर होती है। अनुमति, सिनीवाली और सरस्वती (३४।९-११) पदों का अर्थ भी बड़ा विचित्र है। १४वें मन्त्र में वृषण पद की यज्ञार्थता में भी कोई प्रमाण नहीं है। आपके मत में यज्ञ का फल केवल वायु-शुद्धि है। इडा पद का प्रशंसित स्त्री अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं दिया गया। १५वें मन्त्र में इडा पद का अर्थ वाणी किया गया है। यह सब उनकी मनमानी ही तो है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने के लिये न तो यहाँ कोई व्युत्पत्ति दी गई है और न कोश आदि का प्रमाण ही। १६वें मन्त्र में आंगूष पद की विद्याशास्त्र-बोधकता में भी कोई प्रमाण नहीं है। १८वें मन्त्र में अभिषव पद की निष्पादनार्थता भी अप्रामाणिक है। 'ग्रावाणः' पद का अर्थ पाषाण है, उसका अर्थ 'गर्जना करने वाली' करना पूरी तरह से उपहासास्पद है। २०वें मन्त्र में अषाढ, सुक्षिति आदि पदों की भी यही स्थिति है। कोई राजा सोम ओषधि के समान रोग का नाश नहीं कर सकता, पृथ्वी और जल को पैदा भी नहीं कर सकता और न सूर्य के समान अन्धकार को दूर करने में ही समर्थ है, २२वें मन्त्र की ये ही सब असंगतियाँ हैं। यहाँ अनेक मन्त्रों का मनुष्यपरक अर्थ दिया गया है। उन सबमें इसी तरह के दोष यहाँ चर्चित हैं। २७वें मन्त्र में असंगति यह है कि भूमि पर कोई भी मार्ग धूल से रहित नहीं मिल सकता और अन्तरिक्ष में किसी को ले जाने की सामर्थ्य विद्वान् मनुष्य में नहीं है।

अगले अनेक मन्त्रों में अश्विनौ अथवा दस्रौ पदों के किये गये अध्यापक-उपदेशक, सभा-सेनेश आदि अर्थ पूरी तरह से निराधार हैं। ३४वें मन्त्र में मित्रावरुण पद का प्राण और अपान अर्थ भी इसी प्रकार का है। ३६वें और आगे के भी मन्त्रों में भग पद की भी यही स्थिति है। ३९वें मन्त्र में अध्वर पद का अर्थ अहिंसक व्यवहार किया गया है। ऐसा करने पर तो क्रय-विक्रय व्यवहार में भी अध्वर पद प्रयुक्त होने लगेगा। वस्तुतः वैदिक यज्ञ को ही अध्वर कहा जाता है और इस अर्थ को बताने वाली व्युत्पत्ति भी भाष्य में बताई गई है। ४२वें मन्त्र में 'स्तुयाम' पद है ही नहीं, इसका यहाँ निरर्थक अध्याहार किया गया है। अगले मन्त्र में विक्रमण और घर्म शब्दों का अर्थ गलत किया गया है। ४६वें मन्त्र में निर्दिष्ट इन्द्र, अग्नि, वसु आदि पदों की आपने जड़परक व्याख्या की है। फिर उनमें किसी सामर्थ्य की कल्पना नहीं की जा सकती। ४८वें मन्त्र में स्तोम, मरुत् आदि पदों की भी यही स्थिति है। ४९वें मन्त्र में सहस्तोम शब्द की विचित्र व्याख्या की गई है। ५२वें मन्त्र में दाक्षायण पद का अर्थ पूरी तरह से असंगत है। मन्त्र में 'आयुष्मान्' पद है, किन्तु पदच्छेद का ठीक ज्ञान न होने से 'युष्मान्' पद की कल्पना कर ली गई है। ५५वें मन्त्र के सात ऋषियों में ये कभी जीव की गणना करते हैं, तो कभी बुद्धि की। त्वक् इन्द्रिय के सिवाय अन्य इन्द्रियाँ सारे शरीर को व्याप्त कर रहती भी नहीं। ५७वें मन्त्र में बताया गया है कि परमात्मा वेद का उपदेश करते हैं, किन्तु आपके मत से तो वे निराकार हैं

और कण्ठ, तालु आदि अंगों के बिना वेद का उच्चारण असंभव है। परमेश्वर आकाश के समान सावकाश भी नहीं हो सकते, क्योंकि निराकार ईश्वर निरवयव होने से निरवकाश ही रहेंगे। इस अध्याय के अन्तिम ५८वें मन्त्र के ब्रह्म पद से ब्रह्माण्ड के ग्रहण में भी कोई प्रमाण नहीं है। 'अवन्ति' क्रिया का 'उपदिशन्ति' अर्थ करना भी निर्मूल है।

३५वें अध्याय के पहले मन्त्र में 'सुषाव' क्रिया की सुतकर्मपरक व्युत्पत्ति दी गई है, जिसमें कि गौरव दोष है। यम पद का भी प्रसिद्ध अर्थ न ग्रहण कर यन्ता अर्थ किया गया है। द्वितीय मन्त्र में जीव को सम्बोधित कर उस्रिया पद का अर्थ किरण किया है। वस्तुतः यहाँ यजमान सम्बोधित है और 'उस्रियाः' का अर्थ बैल है। तीसरे मन्त्र का भावार्थ पूरी तरह से निर्मूल है। चौथे मन्त्रार्थ के खण्डन में पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्तों का स्मरण कराया गया है कि रूढि योग की अपेक्षा प्रबल मानी जाती है। गौणार्थ और मुख्यार्थ में मुख्यार्थ का ही प्रायः ग्रहण किया जाता है। कुछ विशेष परिस्थितियों में गौणार्थ अवश्य स्वीकार किया जाता है, जैसे कि बादरायण सूत्रों में आकाश और प्राण शब्दों के विषय में निर्णय दिया गया है। इस तरह का कोई बाधक प्रमाण प्रस्तुत मन्त्र के विषय में नहीं है कि गौणार्थ का ग्रहण किया जाय। ५वें मन्त्र में सविता पद के मुख्यार्थ को छोड़ कर बिना प्रसंग के उसका पिता अर्थ किया गया है। छठे मन्त्र में जीव और ईश्वर विषयक विकल्प प्रस्तुत कर स्वामी दयानन्द के प्रतिपाद्य अर्थ को असंगत बताया गया है। इस तरह के विकल्प पहले भी अनेक स्थलों पर प्रदर्शित हैं। नवें मन्त्र में इस तरह के विकल्प के आधार पर पुनः उनके अर्थ में असंगति दिखाई गई है, जिसका कि उनके पास कोई उत्तर नहीं है। ११वें मन्त्र में अपामार्ग पद के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ दिया गया है। जड़ अपामार्ग और सज्जन पुरुष में भी दूसरों के पापों का, दुःस्वप्नों का नाश कर देने की सामर्थ्य नहीं है। हमारे मत में तो इस ओषधि की अधिष्ठात्री देवता में यह सामर्थ्य विद्यमान है। १२वें मन्त्र की भी यही स्थिति है। आपके मत से जल जड़ है और हम उसमें सामर्थ्यसम्पन्न देवता का आवाहन करते हैं। १३वें मन्त्र में आपके द्वारा चर्चित यान-निर्माण की वहाँ कोई विधि नहीं दिखाई पड़ती। १५वें मन्त्र में पर्वत पद से ब्रह्मचर्य के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है। 'अन्यस्य' पद भी मन्त्र में नहीं है, इसका व्यर्थ अध्याहार किया गया है। १७वें मन्त्र में अग्नि पद को राजार्थक मान कर मुख्यार्थ को बिना प्रमाण के छोड़ दिया गया है। मनुष्य के लिये घृतप्रतीक, घृतयोनि जैसे विशेषण भी अनावश्यक हैं। १८वें मन्त्र में पर्यनेषत और पर्यहृष्यत इन दोनों क्रियापदों का अर्थ गलत किया गया है। १९वें मन्त्र में क्रव्याद और यमराज शब्दों का अर्थ प्रमाण-विरुद्ध है। २०वें मन्त्र में भी जातवेदा, पितृभ्यः इत्यादि पदों के प्रसिद्ध अर्थ को अकारण छोड़ दिया गया है। २१वें मन्त्र में पृथिवी शब्द का अर्थ पृथिवी के समान वर्तमान स्त्री किया है और इस अध्याय के अन्तिम २२वें मन्त्र में विद्वान् मनुष्य को अकारण सम्बोधित कर जो कुछ कहा गया है, वह पूरी तरह से निराधार है।

३६वें अध्याय के पहले मन्त्र में भी मनुष्य को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण नहीं है। ऋग्वेद के समान यजुर्वेद और सामवेद में भी वाक्तत्त्व की समान स्थिति है और यजुर्वेद का मन से सादृश्य कहीं वर्णित नहीं है। दूसरे मन्त्र में बृहस्पति पद के प्रसिद्ध अर्थ को अकारण छोड़ दिया गया है। परमेश्वर की विद्युत् से समानता आपके जैसे निराकारवादी के मत में कैसे सम्भव होगी, ८वें मन्त्र में यही प्रतिपादित है। नवें मन्त्र में स्वामी दयानन्द प्राणप्रिय मित्र की चर्चा कर बैठे हैं। १०वें मन्त्र में विकल्प उपस्थित किया गया है कि वर्षा कराने की शिक्षा निराकार ईश्वर दे नहीं सकता और विद्वान् मनुष्य में ऐसी सामर्थ्य नहीं है। ११वें और १२वें मन्त्र में भी यही विषय कुछ विस्तार से प्रतिपादित है। १७वें मन्त्र का मनुष्य को सम्बोधित कर जो अर्थ किया है, वह पूरी तरह से निराधार है। १८वें मन्त्र में बताया गया है कि परमेश्वर सर्वान्तर्यामी है। उससे भिन्न किसी विद्वान् मनुष्य में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अन्य व्यक्तियों में अलौकिक सामर्थ्य भर सके। यही दोष १९वें मन्त्र में भी है। २१वें मन्त्र का जो अर्थ आपने किया है, उससे तो परमेश्वर साकार सिद्ध हो जाता है, जो कि आपको अभिप्रेत नहीं है। २३वें मन्त्र में वर्णित जल और

ओषधियाँ आपके मत में जड़ हैं। इनमें पक्षपात अथवा द्वेष की भावना मानना निरर्थक है, क्योंकि ये सब तो चेतन के धर्म हैं। भगवान् तो भक्त का अनुरोध स्वीकार करते हैं, अत: उनसे सब तरह की प्रार्थना की जा सकती है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र में प्रतिपादित है कि इस मन्त्र का देवता सूर्य है। इस बात को स्वीकार कर के भी आपने मन्त्रार्थ करते समय इसमें परमेश्वर से प्रार्थना की है। परमेश्वर केवल देवताओं का ही हितकर नहीं है, वह तो सबका कल्याण करता है। चक्षु पद का चक्षुतुल्य अर्थ करने पर भी चेतन ब्रह्म की निराकारता के कारण उसका दर्शन होना असंभव है।

३७ वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में अध्यापक और उपदेशक के हाथों से विद्वान् व्यक्ति के ग्रहण की बात कही गई है। यहाँ ग्रहण करने वाला कौन है ? यह नहीं बताया गया। दूसरे के हाथों और बाहुओं से कोई अन्य व्यक्ति किसी वस्तु को कैसे ग्रहण करेगा ? इसकी पद्धति यहाँ नहीं बताई गई। तीसरे मन्त्र में भी अध्यापक और उपदेशक की निष्प्रमाण चर्चा है। यज्ञ का सिर क्या है, इस विषय को भी यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया। चतुर्थ मन्त्र में पूछा गया है कि अल्पवयस्क तेजस्विनी स्त्री के द्वारा देवयजन किस उद्देश्य से किया जाय ? देवयजन शब्द का यहाँ पूजन अर्थ किया गया है और आगे छठे मन्त्र में देवयजन स्थान अर्थ करते हैं। इस प्रकार शब्दों से खिलवाड़ कर ये मूर्खों को ही ठग सकते हैं। ८ वें मन्त्र में इन्होंने मख शब्द की जो व्युत्पत्ति दी है, तदनुसार तो क्रय-विक्रय आदि लौकिक व्यवहारों में भी इस शब्द का प्रयोग होने लगेगा। नवें मन्त्र में मख शब्द का अर्थ वायुशुद्धि किया है। क्या कोई व्यक्ति सभ्य पुरुष के आने पर उसका स्वागत धूप से करता है। फिर इस शब्द का अर्थ धूपदान न होकर केवल धूप है, जिसका कि सही अर्थ अगुरु, चन्दन, गुग्गुल आदि का धूप होता है। ११ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि कोई भी विद्वान् स्पर्शमात्र से किसी की रक्षा करने में असमर्थ है। अर्चि पद का 'अर्चि के समान' यह गौण अर्थ भी निष्प्रमाण है। १२ वें मन्त्र में बताया गया है कि विद्वान् मनुष्य किसी दूसरे को आयु आदि देने में असमर्थ है। दूसरे की पत्नी पर अन्य व्यक्ति का अधिकार आर्यमर्यादा के विपरीत है। १३ वें मन्त्र में मधु पद की कर्मार्थता में कोई प्रमाण नहीं है। संस्पृश पद का विद्युत् अर्थ भी कहीं देखने को नहीं मिलता। १४ वें मन्त्र में मति शब्द का अर्थ मननशील मेधावी करना भी पूरी तरह से निराधार है। १६ वें मन्त्र में बताया गया है कि तप से परमेश्वर की उत्पत्ति आपके मत में भी स्वीकृत नहीं है। उत्पत्ति का अर्थ प्राकट्य हो सकता है, किन्तु आपने इस पक्ष को माना ही नहीं है। १७ वें मन्त्र में भी इस प्रकार का दोष है कि निराकार ईश्वर का आप दर्शन कैसे करेंगे। दूसरे की आत्मा को देखने में मन की भी सामर्थ्य नहीं है। निराकार परमेश्वर के किसी प्रकार के आचरण की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि साकार में ही यह सम्भव है। उसकी आच्छादकता भी इसीलिये नहीं मानी जा सकती। १८ वें मन्त्र का अर्थ पूरी तरह से शतपथश्रुति के विपरीत है। १९ वें मन्त्र में बताया गया है कि ईश्वर किसी प्रकार का प्रचार करते हुए देखा नहीं गया और देवपद का विद्वान् अर्थ करने पर उसके लिये विद्या के प्रचार की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि वह तो स्वयं ही विद्वान् हैं। परस्परविरोधी और श्रुतिविरोधी अर्थ करने में ही स्वामी दयानन्द अपनी सारी बुद्धि लगा देते हैं। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र में केतु पद का अर्थ जागरूक ज्ञान, जागृतावस्था किया है, किन्तु उसमें कोई प्रमाण नहीं दिया गया।

अड़तीसवें अध्याय के अनेक मन्त्रों में स्वामी दयानन्द ने विदुषी स्त्री, मानवी, कन्या, विद्वान् पुरुष, स्त्री-पुरुष, राजा-रानी आदि को संबोधित किया है। हम पहले ही बता चुके हैं कि ऐसे संबोधन पूरी तरह से निराधार हैं। यहाँ प्रथम मन्त्र के अदिति पद का अर्थ नाशरहित नीति किया है। इसमें तथा स्त्री-पुरुष का वर्णन करने में भी कोई प्रमाण नहीं दिया गया। तीसरे मन्त्र में अदिति पद का नित्यविज्ञान, इन्द्राणी पद का परमैश्वर्यवती नीति और उष्णीष शब्द का उष्णीषतुल्य अर्थ भी निष्प्रमाण है। चौथे मन्त्र में उपनिषत्, पातंजल महाभाष्य, ब्रह्मसूत्र आदि के प्रमाण से अथ शब्द का दृष्टान्त देकर सयुक्तिक समझाया गया है कि प्रसिद्ध रूढ अर्थ का बाध होने पर ही यौगिक अर्थ का ग्रहण

किया जा सकता है, अपने मनमाने तरीके से नहीं। छठे मन्त्र के भाष्य में मूल में अविद्यमान स्त्रीपद का अध्याहार किया गया है। चौथे मन्त्र की तरह यहाँ भी बताया गया है कि कभी-कभी वाक्यशेष के बल से भी अर्थान्तर (गौण अर्थ) का ग्रहण किया जाता है और इसके लिये छान्दोग्य उपनिषद् को उद्धृत कर उसकी पुष्टि ब्रह्मसूत्र, बृहदारण्यक के वचनों से की गई है। ऐसा कोई प्रसंग न रहते हुए भी स्वामी दयानन्द व्यर्थ ही श्रुतहानि और अश्रुतकल्पना का सहारा लेते रहते हैं। सातवें मन्त्र में पुनः इसी प्रसंग में ब्रह्म पद पर भी विचार किया गया है और वात अथवा वायु पद की गौणार्थकता को असंगत बताया गया है। आठवें मन्त्र में स्वाहा, विभु इत्यादि पदों के अर्थ के प्रसंग में सांख्यदर्शन तथा उपनिषद् के वचनों को उद्धृत करते हुए भाक्त प्रयोग की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी करपात्री जी महाराज ने इन मन्त्रों के दयानन्दीय अर्थ का खण्डन करते समय मुख्यार्थ और गौणार्थ की समस्या पर बड़ा गम्भीर दार्शनिक विचार प्रस्तुत किया है।

यम पद से न्यायाधीश का ग्रहण इन्होंने अनेक स्थलों पर किया है। विद्युत् आदि की असमय चर्चा ये करते रहते हैं। यहाँ के नवें मन्त्र में भी इन्होंने यही किया है। १० वें मन्त्र में और आगे भी अग्नि और घर्म पद का इनका अर्थ निर्मूल है। ११ वें मन्त्र में आकाश शब्द के दृष्टान्त से इनके यज्ञ पद के व्याख्यान का खण्डन कर इसके वास्तविक अभिधेय को स्पष्ट किया गया है। यही स्थिति १४ वें मन्त्र के घर्म, सुधर्म, ब्राह्मण आदि पदों की भी है। १६ वें मन्त्र में बताया गया है कि जीव, प्राण आदि की स्तुति से किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। १७ वें मन्त्र में दिव पद का इन्होंने अविद्या आदि गुणों का प्रकाशक अर्थ किया है, वह इसलिये निराधार है कि अविद्या गुणस्वरूप न होकर अन्धकार-स्वरूप होती है। उसका प्रकाश के वाचक दिव शब्द से ग्रहण नहीं किया जा सकता। २० वें मन्त्र में नाभि की चतुःस्रक्तता (चतुरस्रता) पर विचार किया गया है। २६ वें मन्त्र में ग्रह का अर्थ सामर्थ्य किया है। इसी तरह से २७ वें मन्त्र में घर्म शब्द का प्रताप और त्रिशुक् पद का मृदु, मध्य और तीव्र दीप्ति अर्थ किया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र में रेतस् पद का पराक्रम अर्थ दिया है। उसकी यहाँ पूरी समीक्षा की गई है और अन्त में बताया गया है कि यह सब मत्तप्रलपित मात्र है।

३९वें अध्याय के पहले मन्त्र में बताया गया है कि आपके मत से पृथिवी आदि जड़ पदार्थ हैं। इनके लिये स्वाहा (सत्य वाणी) के प्रयोग की कोई उपयोगिता नहीं हो सकती। यहाँ दिये भावार्थ का तो मूल से कोई सम्बन्ध ही नहीं है और न अपने कथन के समर्थन में कोई प्रमाण ही दिया है। स्वामी दयानन्द ने प्रस्तुत अध्याय के मन्त्रों का विनियोग मृत व्यक्ति के शरीरदाह के लिये बताया है, किन्तु इसमें इन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। श्रुति, सूत्र इत्यादि में तो इनका विनियोग घर्मपात्र के टूट जाने पर प्रायश्चित्त के लिये विहित है। इस विषय को विस्तार से दिखा कर यहाँ स्वामी दयानन्द के मत का खण्डन किया गया है। तीसरे मन्त्र में दिखाया गया है कि मृत शरीर में वाणी आदि की स्थिति नहीं रहती, तब उनके लिये स्वाहाकार करने की क्या आवश्यकता है। यही दोष चौथे मन्त्र के अर्थ में भी दिखाया गया है। ५वें मन्त्र में सम्राट्, सरस् आदि पदों के इनके दिये अर्थों की निर्मूलता प्रदर्शित है। देहत्याग के बाद जीव उन-उन देवताओं को प्राप्त करता है, छठे मन्त्र के इस अर्थ में दोष यह दिखाया गया है कि एक तो इसके समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया गया, दूसरे मन्त्र में ये पद हैं ही नहीं। ये विश्वदेव जीव द्वारा क्यों प्राप्त किये जाते हैं, इसका आपने कोई समाधान नहीं दिया और न विश्वेदेव पद का अर्थ ही बताया। देव नाम की कोई विशेषयोनि आपको मान्य नहीं है। आगे के मन्त्रों में भी इस तरह के निरर्थक अध्याहार किये गये हैं। स्वाहा पद का आपका अर्थ भी बड़ा विचित्र है। १०वें मन्त्र का आपका अर्थ जड़ पदार्थ की पूजा में पर्यवसित होता है और मूर्तिपूजा का आप खण्डन करते हैं। ये दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं? ऐसा करके तो आप अपने मान्य सिद्धान्त से ही च्युत हो जाते हैं। ११वें मन्त्र में मनुष्य के लिये स्वाहाकार के प्रयोग की आवश्यकता क्या है, यह नहीं दिखाया गया। १२वें मन्त्र में

वेदार्थपारिजातभाष्यकार ने बताया है कि बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्ति पागल की ही हो सकती है। इस अध्याय के अन्तिम १३वें मन्त्र में स्वाहाकार के प्रयोग पर फिर प्रश्नचिह्न लगाया गया है। 'स्वाहाकार' शब्द के बोलने मात्र से भूमि का शोधन नहीं हो सकता। थोड़े से घृत और चन्दन की आहुति देने से भी यह संभव नहीं है। चन्दन की एक बूंद से समुद्र में सुगन्ध फैलने से रही। इसीलिये इस तरह की बातें उन्माद की अवस्था में दिया गया प्रलापमात्र हैं। सिद्धान्त पक्ष में तो आहुति देते समय मन्त्र का उच्चारण किया जाता है और उससे अदृष्ट की उत्पत्ति मानी जाती है। उस अदृष्ट की सामर्थ्य से सब कुछ संभव हो जाता है। आप अदृष्ट को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि आपने उसका खण्डन कर दिया है।

भाष्य के विशेष अवधेय अंश

यहाँ पृ० ३–४ पर किसी आचार्य के मत का उल्लेख करने के बाद 'सम्प्रदायविदस्तु' कह कर सिद्धान्त पक्ष को स्थापित किया गया है। इसी तरह पृ० ८ पर विष्णुपुराण के प्रमाण से वैदिक वाङ्मय की सृष्टि प्रतिपादित है, जो कि अन्य अनेक पुराणों में भी इसी रूप में वर्णित मिलती है। पृ० १३ पर सात परिधियों[1] और २१ समिधाओं[2] का वर्णन दर्शनार्ह है। पृ० १९–२० पर 'न मे भक्तः प्रणश्यति' भगवद्गीता के इस वाक्य की हृदयाभिराम व्याख्या की गई है। पृ० २५ पर हम "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" इस प्रसिद्ध वेदवचन को देखते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र की विश्वभारती का यही वेदवचन आदर्शवाक्य है। इससे संहिता भाग की दार्शनिक गंभीरता का भी पता चलता है। ऐसे ही वाक्यों से प्रेरणा प्राप्त कर हम द्वेष और कलह से परे आधुनिक विश्व को मानव जाति का सुहृद्गृह बना सकते हैं। पृ० ४९–५० पर मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ करते समय तथा दयानन्दीय अर्थ की समालोचना करते समय कुछ ग्रन्थों के आधार पर भगवान् की भक्तवत्सलता प्रदर्शित है। इन्द्र के अश्व का वर्ण हरित् है, निरुक्त की इस उक्ति का समर्थन रामायण के प्रमाण से किया गया है। ५९वें पृष्ठ पर भक्त पूरे आत्मविश्वास के साथ कहता है कि मैं भगवान् के दर्शन करने में अपनी योग्यता के आधार पर अवश्य समर्थ हूँ।

पृ० ७८ पर नासदीय सूक्त के प्रसिद्ध मन्त्र 'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्' की अधियज्ञ व्याख्या देखने योग्य है। वहाँ कहा गया है कि अध्वर्यु उत्तर हविर्धान के नीड पर एक अम्भ्रण की स्थापना करता है। उसे आधवनीय कहा जाता है। प्रउग स्थान पर द्वितीय अम्भ्रण की स्थापना की जाती है। इसे पूतभृत् कहते हैं। हविर्धान शकट को कहते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। बड़े मुह वाले मिट्टी के घड़े को अम्भ्रण कहा जाता है। शकट पर बैठने की जगह नीड कहलाती है। इस नीड के बाहर के भाग को प्रउग कहते हैं। मन्त्र से संस्कृत प्रादेश-प्रमाण नीचे से ऊपर तक बिना टूटे हुए दो दर्भों को मिलाकर प्रोक्षण के निमित्त पवित्र बनाया जाता है। उद्गाता (सामगान करने वाला) आदि के द्वारा सोम के ऋजीष, कल्क आदि को छानने के उपयोग में आने वाला वस्त्र दशापवित्र कहलाता है। ग्रह, चमस, आधवनीय आदि पात्रों में छने हुए सोमरस को स्थापित किया जाता है। पृ० ८८ पर 'पंक्तिराधसम्' पद की व्याख्या

---

१. "आहवनीयादीनां त्रिषु पार्श्वेषु प्रथममेखलाया उपरि विधीयमानानि मेखलापरिमितायामानि काष्ठानि परिधय उच्यन्ते।···उत्तरवेदिपरिधयस्त्रयः, आहवनीपरिधयस्त्रयः, सप्तमश्च आदित्यः परिधिरिति सप्त परिधयो भवन्ति" (भा०, पृ० १३)। आहवनीय खर के पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में जो पलाश की समित् रखी जाती है, वह परिधि है। यह बाहुमात्र लम्बी होती है (कात्या०, पृ० ४९२)।

२. "समिधोऽग्नेर्दीप्तिसाधनाभूतानि काष्ठानि" (भा०, पृ० १३)। हवन के निमित्त पलाश या अन्य विहित यज्ञकाष्ठ को समित् कहते हैं। यह अंगुली की मोटाई से अधिक मोटी न होनी चाहिये। सड़ी और घुनी भी नहीं होनी चाहिये (कात्या०, पृ० ५२२)।

विस्तार से की गई है। इस शब्द की व्याख्या अन्यत्र (पृ० १९९) भी मिलती है, किन्तु यहाँ हविष्पंक्ति, नाराशंस-पंक्ति और सवनपंक्ति को अधिक स्पष्ट रूप से समझाया गया है। इस विषय को पृ० १६६ पर भी देखा जा सकता है। यहाँ टिप्पणी में बताया गया है कि इनका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। ऊपर इस बात की चर्चा हो चुकी है कि यह विषय वैदिक विद्वानों के लिये विशेष रूप से अवलोकनीय है। पृ० ८९ पर बृहदारण्यक के एक वचन के आधार पर यह स्पष्ट किया गया है कि भगवान् आराधक की आत्मा में छिपा रहता है। हमें लगता है कि 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्' जैसे वाक्य अपने भीतर छिपे हुए भगवद्भाव की ओर ही इंगित करते हैं। पृ० ९१ पर बताया गया है कि मूलाधार से उठकर वाणी तीस अंगुल का मार्ग तय करके मुख तक आती है।

३४वें अध्याय के छः शिवसंकल्प मन्त्रों की व्याख्या करते समय पृ० ९५ पर प्रथम मन्त्र में मन के अतीत, अनागत, वर्तमान, संनिकृष्ट, विप्रकृष्ट, व्यवहित पदार्थों को भी देख सकने की शक्ति की औपचारिकता का उपनिषद् के प्रमाण से वर्णन किया गया है। यहाँ बताया गया है कि गान्धर्व शास्त्र के अभ्यास से उत्पन्न षड्ज आदि स्वरों की पहचान की तरह प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप का महावाक्यजन्य प्रमात्मक मानस साक्षात्कार हो सकता है। महावाक्यजन्य प्रमा का और सांख्य, वेदान्त, न्यायशास्त्र आदि दर्शनों और विभिन्न ग्रन्थों के प्रमाण से मन की शक्ति एवं जागरण, स्वप्न, प्रस्वाप आदि दशाओं का यहाँ सप्रमाण विवरण दिया गया है। दार्शनिकों को इस प्रसंग का अवलोकन अवश्य करना चाहिये। पृ० ९८–९९ पर इस मत का उल्लेख किया गया है कि मस्तक में मस्तिष्क का जो स्थान है, वहीं मन का भी निवास है। बाद में इस मत का यहाँ खण्डन कर दिया गया है और हृदय-पुण्डरीक में ही मन की स्थिति मानी गई है।

पितृमेध की प्रक्रिया का भी यहाँ (पृ० १३०–१३१) विस्तार से वर्णन है, जिसका कि स्वरूप ऊपर बता दिया गया है। मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ का ग्रहण किन-किन स्थितियों में किया जा सकता है, इस विषय का वर्णन यहाँ अनेक स्थलों (पृ० १३४, १८७–१८८, १९१-१९२, १९३) पर किया गया है। इसीलिये हमने ऊपर लिखा है कि दयानन्दीय अर्थ का खण्डन करते समय मुख्यार्थ और गौणार्थ की समस्या पर बड़ा गंभीर दार्शनिक विचार प्रस्तुत किया गया है। पितृमेध के समान ही महावीर के संभरण की प्रक्रिया का भी यहाँ विस्तार से वर्णन है (पृ० १५६–१६१)। इसके स्वरूप को भी ऊपर यथास्थान देखा जा सकता है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ के विभिन्न खण्डों में उपस्थापित ११-३९ अध्यायों का भाष्यनिष्कर्ष पूरा होता है। यह विधि का विधान ही है कि ४-१० अध्यायों के मुद्रण कार्य में अत्यधिक विलम्ब हो जाने के कारण प्रथम दस अध्यायों का भाष्यनिष्कर्ष अभी तक नहीं लिखा जा सका। यह कार्य भी शीघ्र सम्पन्न हो जाय, इसके लिये हम भगवान् से प्रार्थना करते हैं।

विद्वद्वशंवद
व्रजवल्लभ द्विवेदी

वाराणसी
फाल्गुनपूर्णिमा, संवत् १९४८

विषय-सूची

प्रतिपाद्य विषय	पृष्ठसंख्या
प्रकाशकीय वक्तव्य	१-३
नवाध्यायी(३१-३९)-भाष्यनिष्कर्ष	५-२९

एकत्रिंश अध्याय : पुरुष सूक्त

कण्डिकासंख्या		
१-१६.	पुरुष सूक्त के सोलह मन्त्रों से परम पुरुष महानारायण की विभूति का आख्यान एवं पूर्वाध्याय में नियुक्त पशुओं का दक्षिण में उपविष्ट ब्रह्मा द्वारा स्तवन	१-१५
१७-२२.	उत्तरनारायण संज्ञक छः मन्त्रों द्वारा सूर्योपस्थान	१५-२०

द्वात्रिंश अध्याय : सर्वमेध याग

१-१०.	सर्वमेध याग के अप्तोर्यामसंज्ञक सातवें दिन सर्वहोम के विनियोजक मन्त्र	२१-२७
११-१२.	सर्वमेधयाजी गृहस्थ की मुक्ति का निरूपण	२७-२९
१३-१६.	तीन मन्त्रों से मेधा की और चौथे से श्री की याचना	२९-३१

त्रयस्त्रिंश अध्याय : सर्वमेधीय पुरोनुवाक्या

१-१७.	सर्वमेध के अग्निष्टोमसंस्थ अग्निस्तुत्संज्ञक प्रथम दिन के विभिन्न ग्रहों के ग्रहण में विनियुक्त पुरोनुवाक्या मन्त्र	३२-४३
१८-२९.	सर्वमेध के उक्थसंस्थ इन्द्रस्तुत्संज्ञक द्वितीय दिन के विभिन्न ग्रहों के ग्रहण में विनियुक्त पुरोनुवाक्या मन्त्र	४३-५१
३०-४३.	सर्वमेध के सूर्यस्तुत् नामक तृतीय दिन के विभिन्न ग्रहों के ग्रहण में विनियुक्त पुरोनुवाक्या मन्त्र	५१-६०
४४-५४.	सर्वमेध के वैश्वदेवस्तुत् चतुर्थ दिन के विभिन्न ग्रहों के पुरोनुवाक्या मन्त्रों का ब्रह्मयज्ञ में विनियोग	६०-६६
५५-६९.	अनारम्याधीत प्रथम अनुवाक के पुरोनुवाक्या मन्त्रों का ब्रह्मयज्ञ में विनियोग	६७-७६
७०-८४.	अनारम्याधीत द्वितीय अनुवाक के पुरोवाक्या मन्त्रों का ब्रह्मयज्ञ में विनियोग	७६-८६
८५-९७.	अनारम्याधीत तृतीय अनुवाक के पुरोनुवाक्या मन्त्रों का ब्रह्मयज्ञ में विनियोग	८६-९४

चतुस्त्रिंश अध्याय : शिवसंकल्प मन्त्र

१-६.	इस अनारम्याधीत अध्याय के प्रथम छः मन्त्रों से मन्त्रद्रष्टा द्वारा शिवसंकल्प की कामना	९५-९९
७-५४.	अन्न, अनुमति, सिनीवाली, अहिर्बुध्न्य आदि देवताओं की स्तुति, अनुमति देवता की स्तुति, सिनीवाली देवता की स्तुति, सरस्वती नदी की स्तुति, अग्नि देवता की स्तुति, इन्द्र देवता की स्तुति, सोम देवता की स्तुति, सावित्री की स्तुति, अश्विनीकुमारों की स्तुति, सविता देवता की स्तुति, रात्रि देवता की स्तुति, उषा देवता की स्तुति, अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं की स्तुति, भग देवता की स्तुति, उषा देवता की स्तुति, पूषा देवता की स्तुति, विष्णु देवता की स्तुति, द्यावापृथिवी देवताओं की स्तुति, अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं की स्तुति, अश्विनीकुमारों की स्तुति, मरुत् देवताओं की स्तुति, ऋषि-सृष्टि के प्रतिपादक मन्त्र, हिरण्य की स्तुति, आदित्य देवता की स्तुति,	९९-१२७
५५.	अध्यात्मवादिनी ऋक्	१२७
५६-५८.	ब्रह्मणस्पति देवता की स्तुति	१२८-१२९

पञ्चत्रिंश अध्याय : पितृमेध याग

१-१९. पितृमेध सम्बन्धी मन्त्र १३०-१४३

२०. जातवेदा (अग्नि) देवता की स्तुति १४४

२१. पृथिवी देवता की स्तुति १४४-१४५

२२ पुत्र आदि के द्वारा आज्याहुति का विधान १४५

षट्त्रिंश अध्याय : प्रवर्ग्य

१-२४. वाणी आदि की पवित्रता, मन-प्राण आदि की शान्ति और शतायु की कामना के लिये प्रवर्ग्य, बृहस्पति, सविता, इन्द्र आदि की प्रार्थना १४६-१५५

सप्तत्रिंश अध्याय : महावीर संभरण

१-२. उखासंभरण की पद्धति से प्रथम मन्त्र में उदुम्बर अथवा विकंकत काष्ठ से बनी हस्तप्रमाण अभ्रि का आदान और तदुपरान्त 'युञ्जते' मन्त्र का पाठ १५६-१६१

३. तृतीय कण्डिका का पाठ करते हुए उखासंभरण की पद्धति से मृत्पिण्ड का साभ्रि दक्षिण और वाम हस्त से उपादान (उठाना) १६१-१६३

४. उत्तरदिशा में स्थापित प्राग्ग्रीव उत्तरलोम वाले कृष्णाजिन पर मृत्पिण्ड का तूष्णीं निधान, प्रस्तुत मन्त्र के उच्चारण के साथ वल्मीकवपा का आदान और उसका भी तूष्णीं निधान १६३

५. 'इयत्यग्रे' मन्त्र से वराहोत्खात मिट्टी का ग्रहण और उसका वल्मीकवपा की उत्तर दिशा में निधान १६४

६. 'इन्द्रस्यौजः' मन्त्र से पूतीक तृणों का ग्रहण और उनको वराहोत्खात मृत्तिका की उत्तर दिशा में कृष्णाजिन पर रखना, 'मखाय' से दुग्ध का ग्रहण, उसका भी पूतीक तृण के उत्तर में निधान १६४-१६६

७. अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उद्गाता द्वारा ससंभार कृष्णाजिन को चारों तरफ से पकड़ कर अन्तःपात्य की उत्तर दिशा में स्थापन और वहाँ महावीर का निर्माण १६६-१६७

८. निष्पन्न महावीर का मन्त्रोच्चार के साथ वाम कर से स्पर्श तथा अन्य दो महावीरों का भी इसी पद्धति से निर्माण और स्पर्श १६७-१६८

९. दक्षिणाग्नि से प्रदीप्त अश्व की लीद से तीनों महावीरों का प्रस्तुत कण्डिका के तीन मन्त्रों से धूपन और उनका उखावत् श्रपण १६८-१६९

१०. श्रपण-संस्कार द्वारा परिपक्व महावीरों का तीन कण्डिकाओं के द्वारा एक-एक कर उद्धार १६९-१७०

११. ब्रह्मा द्वारा अनुज्ञात अध्वर्यु का 'यमाय' कण्डिका के तीन मन्त्रों से प्रचरणीय महावीरों का तीन बार प्रोक्षण १७०-१७३

१२. महावीरों के ऊपर यजमान का अपने हाथ को रखना और अध्वर्यु द्वारा पाँच वाक्यों के इस पूरे मन्त्र का एक साथ वाचन १७३-१७५

१३. अध्वर्यु द्वारा महावीरों की चारों तरफ भस्म और अंगारों का प्रक्षेप, उनके ऊपर तेरह वैकंकत काष्ठशकलों का परिश्रयण और धवित्र (पंखा) से अग्नि का प्रज्वालन १७५-१७७

१४-२०. तीन परिक्रमा के बाद ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, अग्नीत्, प्रतिप्रस्थाता और यजमान द्वारा अवकाश संज्ञक इन मन्त्रों के द्वारा महावीर का उपस्थान १७७-१८२

२०. शिरोवस्त्र को हटा कर महावीर को देखती हुई यजमानपत्नी का अध्वर्यु द्वारा उच्चरित इस कण्डिका के 'त्वष्टृमतः' इत्यादि मन्त्र को दोहराना १८२-१८३

२१. दिन और रात्रि में प्रस्तुत कण्डिका के दो मन्त्रों से दो-दो रौहिण आहुतियों का देना १८३-१८४

अष्टात्रिंश अध्याय : घर्मधुक् दोहन

१-२. 'देवस्य त्वा' मन्त्र के अध्वर्यु का गाय को बाँधने के लिये रज्जु का आदान और द्वितीय मन्त्र से गाय का उसके नाम से तीन बार आह्वान १८५-१८६
३. गाय के आ जाने पर उसे खम्भे से बाँधना और वत्स को दूध पीने के लिये छोड़ना १८६
४. दूध दुहने के पात्र (पिन्वन) में गाय को दुहना और स्तन-स्पर्श १८७-१८९
६. कण्डिका स्थित दो मन्त्रों से परीशासों का आदान और उनसे महावीर का ग्रहण १८९-१९२
७-९. होता के प्रैष के अनुसार आहवनीय अग्नि की तरफ जाते हुए अध्वर्यु द्वारा तीन कण्डिकाओं में स्थित वात के समुद्र आदि बारह नामों का उच्चारण १९२-१९५
१०. वषट्कार के उच्चारण के साथ घर्माहुति प्रदान १९६
११. महावीर का तीन बार उत्कम्पन १९६-१९७
१२-१३ ब्रह्मा और यजमान द्वारा घर्म का अनुमन्त्रण १९७-१९८
१४. पिन्वमान घर्म का अनुमन्त्रण, ईशान दिशा में गमन और खर पर महावीर का आसादन १९९-२००
१५. विकंकत काष्ठ के टुकड़ों को घर्म में डुबो कर उनकी आहुति देना, चतुर्थ टुकड़े की आहुति न देकर वेदि के दक्षिण भाग में उसका उपगूहन २००-२०१
१६. सातवें टुकड़े को घृतसिक्त कर दक्षिण दिशा को देखते हुए प्रतिप्रस्थाता को देना २०१-२०३
१७. प्रचरणीय घर्म का मन्त्रोच्चार के साथ आसन्दी पर आसादन २०३-२०४
१८. चतुर्गृहीत संस्कृत आज्य की तीन आहुतियाँ देना २०४-२०५
१९. आहुति देने के बाद अध्वर्यु का यजमान-पत्नी को आगे कर यज्ञशाला से निष्क्रमण २०५-२०६
२०. नाभिस्पृष्ट घर्म का जलयुक्त द्वीप में उद्वासन २०६-२०७
२१. सात पात्रों को दूध से भरना २०७
२२. सामगान के साथ उत्सादन-देश को सींचना और प्रस्तुत मन्त्र के द्वारा घर्म की सूर्यरूप में स्तुति २०८
२३. ऋत्विक् और सपत्नीक यजमान के द्वारा चात्वाल का मार्जन २०८
२४. 'उद्वयम्' मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान का ईशान दिशा की ओर गमन २०८-२०९
२५. ईशान दिशा से लौटते समय बिना पीछे देखे यजमान द्वारा समिधाग्रहण और आहुतिप्रदान २०९
२६. अग्निहोत्रहवणी में दधिघर्म का ग्रहण २०९-२१०
२७-२८. हुतशेष दधिघर्म का यजमान और ऋत्विग्गण द्वारा सोपहव भक्षण २१०-२१२

ऊनचत्वारिंश अध्याय : घर्मभेद प्रायश्चित्त

१-४. अध्वर्यु द्वारा भग्न घर्म का अभिमर्शन, परमेष्ठी आदि के लिये २४ आहुतियाँ, 'स्वाहा प्राणेभ्यः' से पूर्णाहुति, पृथिवी आदि के लिये २१ आहुतियाँ और 'मनसः' मन्त्र से पूर्णाहुति देना २१३-२१६
५. संभ्रियमाण आदि अवस्थाओं में घर्म का भेद होने पर प्रायश्चित्त-स्वरूप उस-उस अवस्था के प्रजापति आदि देवताओं के लिये आहुतियाँ देना २१६-२१७
६. दिनभेद से घर्मभेद होने पर उस-उस दिन के अधिपति देवताओं के निमित्त आहुति प्रदान २१७-२१८
७. 'शुक्रज्योतिश्च' इत्यादि छः मारुत मन्त्रों से छः मारुत पुराडाशों के अर्पण के बाद अरण्य में अनूच्य सप्तम पुरोडाश की विमुखसंज्ञक 'उग्रश्च' मन्त्र से आहुति २१८-२१९
१-९. दो कण्डिकाओं में पठित मन्त्रों से चतुर्गृहीत आज्य से चार तथा अन्य आहुतियाँ देना २१९-२२१
१०-१३. 'लोमभ्यः स्वाहा' आदि चार कण्डिकाओं से ४२ आहुतियों का प्रदान २२१-२२३

एकत्रिंशोऽध्यायः

स॒ह॒स्र॑शीर्षा॒ पु॑रुषः स॒ह॒स्रा॒क्षः स॒ह॒स्र॑पात् ।
स भूमि॑ᳪ स॒र्वत॑ स्पृ॒त्वाऽत्य॑तिष्ठद्दशाङ्गु॒लम् ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—सभी लोकों में व्याप्त महानारायण सर्वात्मक होने से अनन्त शिर वाले, अनन्त नेत्र वाले और अनन्त चरण (पैर) वाले हैं । ये पाँच तत्त्वों से बने इस गोलकरूप समस्त व्यष्टि और समष्टि ब्रह्माण्ड को तिरछा, ऊपर, नीचे सब तरफ से व्याप्त कर नाभि से दस अंगुल परिमित देश, हृदय का अतिक्रमण कर अन्तर्यामी रूप में स्थित हुए थे ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षेति षोडशर्चं सूक्तम् । नारायणो नाम ऋषिः । अन्त्या त्रिष्टुप्, शिष्टा अनुष्टुभः । अव्यक्त-महदादिविलक्षणो यश्चेतनः पुरुषः, 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' (कठोप० ३।११) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः, स देवता । तथा चानुक्रान्तम्—'सहस्रशीर्षा षोडशर्चमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्त्यं पुरुषो जगद्बीजं मन्त्रदेवता' इति । वेदवेद्यः परमेश्वरः सर्वान्तरात्मत्वात् समष्टिप्राणिदेहैरपि देहवानिति सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डात्मको विराड्रूपेण सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दोऽनन्तवचनः । अनन्तैः शिरोभिर्युक्तः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात् तदीयान्येव । एवमेव सहस्राक्षत्वं सहस्रपात्त्वं च । स परमात्मरूपः पुरुषः, भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां प्रकृतिरूपां वा स्पृत्वा परिवेष्ट्य कारणत्वादज्ञानं तत्कार्यात्मकं प्रपञ्चमाध्यासिकतादात्म्य-सम्बन्धेनैव व्याप्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितं देशमत्यतिष्ठद् अतिक्रम्य व्यवस्थितः । दशाङ्गुलं दशगुणं महापरिमाणं वा देशमत्यतिष्ठत्, ब्रह्माण्डमण्डलाद् बहिरपि व्याप्य स्थितः, प्रकृतितद्विकाराणां तदेकदेशस्थितत्वात् ।

अस्य भाष्यं शौनको नाम ऋषिरकरोत् । प्रथमं विच्छेदः क्रियाकारकसम्बन्धः समासः प्रमेयार्थव्याख्येति सर्वमेतज्जनकाय मोक्षार्थं कथयामासेत्युव्वटाचार्यः । 'नियुक्तान् ब्रह्माऽभिष्टौति होतृवदनुवाकेन सहस्रशीर्षेति' (का० श्रौ० २१।१।११) । ब्रह्मा यूपे नियुक्तान् ब्राह्मणमित्यादिपशून् षोडशर्चेन सहस्रशीर्षेत्यनुवाकेन उपविष्टः सन् होतृवत् 'त्रिः प्रथमान्त्ये' (का० श्रौ० १९।६।२७) अनुवाकस्य प्रथमान्त्ये द्वे ऋचौ त्रिः पठनीये, 'ओङ्कार ऋगन्ते' (का० श्रौ० १९।६।२९–३०) निविदवसाने ओङ्कारः पठनीय इति होतृधर्मेण, शस्त्रशंसनधर्मेणेति यावत्, अभिष्टुवीतेति सूत्रार्थः । 'त्रैधातव्यन्ते समारोह्यात्मन्नग्नी सूर्यमुपस्थायाद्भ्य इत्यनुवाकेनानपेक्षमाणोऽरण्यं गत्वा न प्रत्येयात्, ग्रामे वा विवत्सन्नरण्योः' (का० श्रौ० २१।१।१७–१८) । त्रैधातवी उदवसानीयेष्टिः । तदन्ते 'अयं ते योनिः' इत्यग्नीनात्मनि समारोप्य सूर्यमुपस्थाय 'अद्भ्यः सम्भृतः' इत्यनुवाकेन षडृचेन सूर्यमुपस्थाय पश्चादपश्यन् वनं गत्वा न प्रत्येयात्, वानप्रस्थो भवेदिति यावत् । ग्रामं नागच्छेत् । यद्वा ग्रामे वस्तुमिच्छन् अरण्योरग्नीन् समारोप्य अर्कोपस्थानानन्तरं ग्रामे गत्वा यज्ञान् कुर्यादिति सूत्रद्वयार्थः । त्रैधातवी उदवसानीयेति परमर्षिः कात्यायनः । तथाहि स आह—'त्रैधातव्युदवसानीया' (का० श्रौ० १३।३।३३) इति ।

नारायणपुरुषदृष्टा जगद्बीजपुरुषदेवत्याः षोडश ऋचः । पञ्चदशानुष्टुभः षोडशी त्रिष्टुप् । ब्रह्मणे ब्राह्मणमित्याद्याः पुरुषमेधरूपस्य परमात्मनोऽवयवाः पूर्वाध्यायान्ते प्रोक्ताः । तदवयवी पुरुषोऽत्र स्तूयते । सहस्रशब्दोऽनन्तवचन इत्युक्तमुपरिष्टात्, संख्यावाचकत्वे सहस्राक्ष इति विरोधः स्यात्, नेत्रसहस्रद्वयस्योचित-

त्वात् । 'शीर्षंश्छन्दसि' (पा० सू० ६।१।६०) इति छन्दसि शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशः । शिरोग्रहणं सर्वावयवोपलक्षणम् । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात् तस्यैवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवमग्रेऽप्यूह्यम् । सहस्राक्षः सहस्रमक्षीणि यस्य स तथोक्तः । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० सू० ५।४।११३) इति षचि रूपसिद्धिः । अक्षिग्रहणं सर्वज्ञानेन्द्रियोपलक्षकम् । सहस्रपात् सहस्रं पादा यस्य स तथोक्तः । 'संख्यासुपूर्वस्य' (पा० सू० ५।४।१४०) इति पादशब्दान्त्यलोपे रूपसिद्धिः । पादशब्दः कर्मेन्द्रियार्थोपलक्षकः । स पुरुषो भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां सर्वतस्तिर्यगूर्ध्वमधश्च स्पृत्वा व्याप्य, 'स्पृ प्रीतिसेवनयोः' स्वादिः । अत्र व्याप्त्यर्थे वृत्तिः । यद्वा भूमिशब्दो भूतोपलक्षकः । पञ्च महाभूतानि व्याप्य दशाङ्गुलपरिमितं देशमध्यतिष्ठद् अतिक्रम्यावस्थितः । दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम्, ब्रह्माण्डाद्बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः । यद्वा नाभेः सकाशाद् दशाङ्गुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः, 'कतम आत्मा' (बृ० ४।३।७) इत्युपक्रम्य 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः' (बृ० ४।३।७) इति श्रुतेर्नाभिपदार्थलाभः । विज्ञानात्मनो हृद्यवस्थानं कर्मफलोपभोगाय, अन्तर्यामिणो नियन्तृत्वेन । तदुक्तम्—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥' (मु० ३।१।१) इति । स पुरुषोऽत्र देवता । 'इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः' (श० १३।६।२।१) इति श्रुतेः ।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः ।

दयानन्दीयोऽर्थोऽत्र वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये भागे १२३३ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२३६ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् द्रष्टव्यः ॥ १ ॥

पुरु॑ष ए॒वेद५ँ सर्वं॒ यद् भू॒तं यच्च॒ भाव्य॑म् ।
उ॒ताऽमृ॑त॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—यह जो अतीत ब्रह्मसंकल्पमय जगत् है और जो भविष्य में होने वाला ब्रह्मसंकल्पमय जगत् है, जो जगत् का बीज अथवा अन्न के परिणामभूत वीर्य से वृक्ष, नर, पशु आदि के रूप में प्रकट होता है, वह सब कुछ अमृतत्व (मोक्ष) के स्वामी महानारायण पुरुष का ही विस्तार है ॥ २ ॥

पुरुष एव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् । उत अमृतत्वस्य ईशानो यद् अन्नेन अतिरोहति ॥ स एव पुरुषः पूर्वपर्यायविशेषित एवशब्दो नान्यः । इदं वर्तमानकं सर्वं यच्च भूतमतीतं यच्च भाव्यं भविष्यत् तस्य कालत्रयस्य ईशानः । न केवलं कालत्रयस्येशानः, उत अमृतत्वस्यापि मोक्षस्यापि । उतशब्दोऽपिशब्दार्थे । कस्मात् कारणात् ? यद् अन्नेन अमृतेन अतिरोहति अतिरोधं करोति, सर्वस्येश्वर इति ।

यद् इदं वर्तमानं जगत् तत्सर्वं पुरुष एव । यद् भूतमतीतं जगत्, यच्च भाव्यं भविष्यं जगत्, तदपि पुरुष एव । यथास्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः, तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यम् । उतापि च अमृतत्वस्य देवस्य ईशानः स्वामी स पुरुषः, यद् यस्माद् अन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन फलेन निमित्तभूतेन, अतिरोहति स्वीयां कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति, तस्मात् पुरुष एव । प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः । यद्वा—सर्वं पुरुषश्चेत्तर्हि परिणामी स्यादित्याशङ्क्याह—अमृतत्वस्येशान इति । अमृतत्वस्य अमरणधर्मस्य ईशानो मुक्तेरीशो मोक्षेश्वरो न म्रियत इति यावत् । किञ्च, यज्जीवजातमन्नेनातिरोहति उत्पद्यते, तस्य सर्वस्येशानः । अनेन ब्रह्मादि-

स्तम्बपर्यन्तो भूतग्राम उक्तः, तस्यान्नेनैव स्थितेः। तथा च श्रुतिः—'इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति' (श० १।८।१।२४) इति।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दीयार्थस्तु वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये भागे १२३७ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२३८ पृष्ठीयं तृतीयमनुच्छेदं यावद् द्रष्टव्यः॥ २॥

एतावा॑नस्य महि॒माऽतो॒ ज्याया॑ँश्च॒ पूरु॑षः।
पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि॥ ३॥

मन्त्रार्थ इस महानारायण पुरुष की इतनी सब विभूतियाँ हैं, अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान में विद्यमान सब कुछ उसी की महिमा का एक अंश है। वह महानारायण पुरुष तो इस संसार से भी अतिशय अधिक है। इसीलिये यह सारा ब्रह्माण्ड इसका पादमात्र (चतुर्थांश) है। इसके बाकी बचे तीन पाद उस दिव्य लोक में विद्यमान हैं, जहाँ ब्रह्म-स्वरूप यह महानारायण अपनी दिव्य ज्योति के साथ निवास करते हैं॥ ३॥

एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादः अस्य विश्वा भूतानि त्रिपात् अस्य अमृतं दिवि॥ अस्य पुरुषस्य पूर्वोक्तविशेषणविशेषितस्य, एतावान् महिमा एतदेव महत्त्वमस्य। अतः कारणाद् ज्यायांश्च पूरुषः, महानित्यर्थः। कस्मान्महत्त्वमायातम्? यस्मात् पाद एकोंऽशोऽस्य पुरुषस्य विश्वा भूतानि विश्वानि चतुर्दशभुवन-समूहे यानि चतुर्धा भूतानि तान्येकोंऽशः। त्रिपात् पुनस्त्रयोंऽशा अस्य पुरुषस्य अमृतमृग्यजुःसामलक्षण-मादित्यलक्षणं वा दिवि द्योतत इति।

अत्र केचित्—भूतान्यचित्संसृष्टा जीवाः, तस्य पुरुषस्य पादस्तुरीयांशः। दिवि परमव्योमपदवाच्ये समस्तसमष्टितत्त्वबहिर्भूताप्राकृतस्थानविशेषरूपे परमपदेऽमृतं जरामरणादिरहितं नित्यवस्तुजातमस्य त्रिपात् पादत्रयम्। भोग्य-भोगोपकरण-भोगस्थानरूपस्य त्रिविधस्य वस्तुनः सत्त्वात् तेषां पादत्रयत्वव्यपदेशः। यद्वा जगदन्तर्गतवस्त्वभिमानिनामस्त्रभूषणादिरूपाणां नित्यानां भगवदनुभवमात्रपराणां नित्यानां मुक्तानां च परमपदे सत्त्वात् तेषां त्रिपात्त्वव्यपदेशः। अथवा पादो भगवदाश्रयायाः सृष्ट्यादिशक्तेरेकदेशः, परमपुरुषशक्तिलेश-विजृम्भितमिदं जगदित्यर्थः। तथा चाह पराशरः—'यस्यायुतायुतांशांशे विश्वसृष्टिरियं स्थिता' इति। अस्य त्रिपादधिकांशस्त्वमृतममरणधर्मकं नित्यमुक्तरूपं दिवि परमव्योम्नि, भासत इति शेषः, 'जागृवांसः समिन्धते' (बृहज्जाबालोपनिषद् ८।६) इति श्रुतेः। अथवा त्रिशब्दो बहुपरः, पादशब्दश्च गुणपरः। तथा चानन्तज्ञाना-नन्दादिगुणविशिष्टमित्यर्थः। अथवा वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धात्मकस्य भगवतस्तुरीयोंऽशः (अनिरुद्धः) सर्वाणि भूतानि, अवशिष्टं च त्रिपाद्रूपं दिवि नाकपृष्ठे, निवसतीति शेष इत्यर्थमाहुः।

एतावानस्य महिमा, सर्वं पूर्वोक्तमस्य महिमा वैभवम्। यद्यपि तद्वैभवेयत्ता तु नास्त्येव, तथाप्यपरिच्छिन्नस्य एतत्परिच्छेदे बाधाभावात्। अतोऽपरिच्छिन्नज्ञानशक्त्यादिमत्त्वसर्वान्तर्यामित्वरूपाद्धेतोः पुरुषो ज्यायान्। अथवा अस्य प्रपञ्चस्य एतावान् महिमा, पुरुषश्चातो ज्यायानेव। अथवा सर्वमपि पूर्वोक्तमस्य पुरुषस्य महिमा सामर्थ्यमात्रम्। अतः सर्वस्मादस्मात् पुरुषो ज्यायान्। ज्यायस्त्वमेव प्रपञ्चयति—पादोऽस्य विश्वा भूतानीति। अस्य पुरुषस्येति भावः।

सम्प्रदायविदस्त्वित्थं वर्णयन्ति -अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद् यावदस्ति, एतावान् सर्वोऽप्यस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः, न तु तस्य वास्तवं स्वरूपम्। वस्तुतस्तु पुरुषोऽतो महिम्नोऽपि ज्यायान् अतिशयेनाधिकः। तदेव प्रपञ्च्यते - अस्य पुरुषस्य विश्वा भूतानि कालत्रयवर्तीनि सर्वाणि भूतानि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांशः। अस्य पुरुषस्य अवशिष्टं त्रिपात्स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं सद् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे, व्यवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१) इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावाच्चतुष्पात्त्वमपि निरूपयितुमशक्यम्, तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाऽल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः। अथवा 'अयमात्मा चतुष्पात्' (माण्डूक्य० २) इति भगवत्पादव्याख्यातदिशोन्नेयम्।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये भागे १२३९ तमपृष्ठीयं तृतीयमनुच्छेदमारभ्य १२४१ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—यह महानारायण अपने तीन पादों के साथ ब्रह्माण्ड से ऊपर उस दिव्य लोक में अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप में निवास करते हैं और अपने एक चरण (चतुर्थांश) से इस संसार को व्याप्त करते हैं। अपने इसी चरण को माया में प्रविष्ट करा कर ये महानारायण देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के नानारूप धारण कर समस्त चराचर जगत् में व्याप्त हो जाते हैं ॥ ४ ॥

त्रिपात् ऊर्ध्वः उत् ऐत् पुरुषः पादः अस्य इह अभवत् पुनः। ततः विष्वङ् वि अक्रामत् साशनानशने अभि ॥ यस्मादयं पुरुषस्त्रिपात् त्र्यंशभूतः, ऊर्ध्व उपरिष्टात्, उदैद् देदीप्यमानस्तिष्ठति। अस्य च पुरुषस्य पाद एकोंऽशः, इह त्रैलोक्ये बीजभूतं चतुर्षु भूतेषु, अभवद् भूतम्, ततस्तस्मात् कारणात्, विष्वङ् भुवनकोशं व्यक्रामद् उत्पन्नमित्यर्थः। तस्मादेव पुरुषात् साशनानशने अभि साशनं स्वर्गम्, अनशनं मोक्षं प्रति च, तस्मादेवोत्पन्नमित्यर्थः।

त्रिपाद् अपरिच्छिन्नज्ञानशक्त्यादिमान् वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्नरूपो नित्यमुक्तादिभिः परिचर्यमाण ऊर्ध्वे प्रकृतिमण्डलादुपरि परमव्योम्नि वैकुण्ठे उदैद् उदगच्छत्। तस्यैवंभूतस्य जगत्स्रष्टृत्वादिकं न स्वप्रयोजनाय भवति, न वाऽन्यनियमाधीनम्, केवलं कृपामूलकमेव। पादोऽस्य इह लीलाविभूतौ अभवद् अवातरत्। तस्माज्जगत् स्रष्टुं ब्रह्माऽभवत्। तदुक्तं वैकुण्ठसंहितायाम्—'सर्वव्यापी विष्णुः स्वाच्छरीराज्जगत् त्रातुं सङ्कर्षणमभावयत्, स प्रद्युम्नं सोऽप्यनिरुद्धमभावयत्। तस्माज्जगत् स्रष्टुं ब्रह्माभवत्। 'एवं चतुर्धा संव्यूह्य स्वात्मानं पुरुषोत्तमः। अण्डेभ्यः परतो नित्यं त्रिपादेन विराजते ॥' इति। अनिरुद्धात्मा स भगवान् सृष्ट्यनुकूलं सङ्कल्पं करोति। ततो योगनिद्रावसाने स एव विष्वक् समन्ताद् व्यक्रामत् स्वसङ्कल्पेन समाक्रान्तवान्, 'बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।३) इति श्रुतेः। साशनं जङ्गमं देवमनुष्यादिरूपम्, अनशनं स्थावरं वृक्षगुल्मलतादि-रूपम्, ते उभे अभि उद्दिश्य स्थावरजङ्गमात्मककृत्स्नजगद्रूपेण बहुभवनसङ्कल्पमकरोत्। त्रिपात् पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः। ऊर्ध्व उदैत्। अस्माद् अज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतः, अत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्। अस्य पादश्चतुर्थोऽशो लेशो वा इह मायायां पुनरभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति। सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताऽप्युक्तम्—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ० गी०

१०।४२)। ततो मायायामागत्य अनन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामद् व्याप्तवान्। किं कृत्वा ? साशनानशने अभिलक्ष्य साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतनम्, अनशनं तद्रहितं गिरिनद्यादिकम्। तदुभयं यथा स्यात्तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयभागे १२४२ तमपृष्ठीयं चतुर्थमनुच्छेदं प्रारभ्य १२४४ पृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् वर्तते ॥ ४ ॥

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः।
स जा॒तो अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद् भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—उस महानारायण पुरुष से सृष्टि के प्रारम्भ में विराट्स्वरूप ब्रह्माण्ड देह तथा उस देह का अभिमानी पुरुष (हिरण्यगर्भ) प्रकट हुआ। उस विराट् पुरुष ने उत्पन्न होने के साथ ही अपनी श्रेष्ठता स्थापित की। बाद में उसने भूमि का तथा तदनन्तर देव, मनुष्य आदि के पुरों (शरीरों) का निर्माण किया ॥ ५ ॥

ततो विराट् अजायत विराजः अधिपूरुषः। सः जातः अति अरिच्यत पश्चात् भूमिम् अथो पुरः ॥ तस्मादेव पुरुषाद्विश्वोत्पत्तिः। तत्र पूर्वं विराड् अजायत। विराजोऽधि पूरुषः प्रधानं तेजः। स क्षेत्रज्ञो ब्रह्मा सृष्टिकृज्जातः सन् अतिरिच्यते। सोऽभितः पश्चाद् अस्मात् क्षेत्रज्ञाद् ब्रह्मणो भूमिः पृथिवी आदौ जाता उत्पन्ना इति। अथो अनन्तरं पुरः शरीराणि पुराणि चतुर्विधानि भूतान्यजायन्त, पुत्रादीनि तेनैवोत्पादितानि। स एवमेकोऽशः, तेनैव सर्वं विश्वमुत्पादितमिति।

ततः सङ्कल्पाद्धेतोर्विराड् महदादिरूपेण विविधं राजत इति विराट् प्रकृतिः, अजायत महदाद्यण्डपर्यन्तरूपेणाजायत। अद्वारका सृष्टिरेषा। अथ सद्वारकां सृष्टिं वक्तुं चतुर्मुखसृष्टिरुच्यते—विराजोऽण्डपर्यन्तप्रकृतिमण्डलस्य अधि अनन्तरं पूरुषश्चतुर्मुखोऽजायत। अथवा ततः परमपुरुषाद् विराड् विशेषेण राजत इति विराड् अनिरुद्धः, अजायत परमपुरुषोऽनिरुद्धरूपेणावतीर्ण इत्यर्थः। तदुक्तं मोक्षधर्मे—'तपो यज्ञश्च यष्टा च पुराणः पुरुषो विराट्। अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकानां प्रभवाप्ययः॥' (म० भा० शान्ति० ३४१।१५-१६)। विराजो विराट्पुरुषाद् अनिरुद्धात्, अधि पूरुषोऽधिकारिपुरुषश्चतुर्मुखोऽजायत। स चतुर्मुखो भगवत्कृपया प्रवृद्धकायोऽभवत्, येन अतिमहदपि वस्तु कर्तुं शक्नुयात्। तद्वृद्धिमेव दर्शयति—पश्चाद् भूमिं भूमेः पश्चादित्यर्थः, भूमेरधः। अथो भूमिं पुरो भूमेरूर्ध्वं च अत्यरिच्यत। भूमिशब्दो ब्रह्माण्डपर्यन्तस्योपलक्षणम्, ब्रह्माण्डस्य बहिरन्तश्च व्यापकोऽभूत्। अथवा 'विष्वङ् व्यक्रामत' इति पूर्वोक्तांशस्यैवात्र प्रपञ्चः। तस्मादादिपुरुषाद् विराड् ब्रह्माण्डदेहोऽजायत। विविधानि वस्तूनि राजन्तेऽत्रेति विराट्। विराजो अधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषस्तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमानजायत। सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डाख्यं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत्। तदुक्तमाथर्वणे नृसिंहोत्तरतापनीये—'स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोषांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव' (नृ० उ० ९।८) इति। स जातो विराट् पुरुषः, अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत्, विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत्। पश्चाद् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः। अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं पुरस्तेषां जीवानां शरीराणि, सप्त धातुभिः पूर्यन्त इति पुरः, ससर्ज।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजातस्य (भूमिकाभागस्य) द्वितीयभागे १२४५ पृष्ठीयं चतुर्थमनुच्छेदं प्रारभ्य १२४६ पृष्ठपर्यन्तं विद्यते ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ— उस सर्वात्मा महानारायण ने, सर्वात्मा पुरुष का जिसमें यजन किया जाता है, ऐसे यज्ञ से पृषदाज्य (दधि से मिश्रित घृत) को सम्पादित किया। उस महानारायण ने उन वायुदेवता वाले पशुओं को भी उत्पन्न किया, जो हरिण आदि वनवासी तथा अश्व आदि ग्रामवासी थे ॥ ६ ॥

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् । पशून् तान् चक्रे वायव्यान् आरण्याः ग्राम्याः च ये ॥ यथा अग्निष्टोमाख्यात् तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्, तेन वायव्यान् पशून् आरण्या ग्राम्याश्च ये तान् कृतवन्तः । एवमात्मयज्ञात् सर्वहुतात् पूरितादुत्पन्नेन योगिनः सर्वान् पशून् सर्वाणि भूतजातानि करतलवत् पश्यन्ति, पश्यन्ति किल ज्ञानतेजसा भूतजातानि ।

तस्मादात्मसमर्पणरूपेण यज्ञेन आराधितात् पुरुषाल्लब्धसृष्ट्यनुकूलज्ञानशक्त्यादिकश्चतुर्मुखो यथापूर्वं जगत् ससर्ज । सर्वहुतः सर्वं जुहोतीति सर्वहुत्, तस्मात् । सर्वं स्वीयसर्वभरं भगवते समर्पितवतः । अथवा कौस्तुभस्थानीयस्य जीवात्मनोऽत्युत्तमतया तमेवानर्घतमं स्वात्मानं समर्पितवताऽनेन सर्वं समर्पितप्रायमिति सर्वहुत्, तस्मात् । यद्वा सर्वशब्दवाच्यो भगवान् तस्मै जुहोतीति सर्वहुत्, भगवदुद्देश्यकात्मसमर्पणरूपयज्ञकृत्, तस्मात् । यज्ञाद् यजनीयात् । तस्माच्चतुर्मुखात् । पृषदाज्यं दधिमिश्राज्यस्थानीयतत्तद्विचित्ररूपं सृज्यवस्तुजननहेतुशुक्ल-नीलादि सम्भृतम् उत्पन्नम् ।

यदा त्विदं वाक्यद्वयं न जगत्सृष्टिपरम्, तदा सर्वहुतः सर्वहोमाधिष्ठानभूतात् पृषदाज्यं सम्भृतम् । यद्वा सर्वं हूयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या सर्वहुन्नारायण एव, सर्वाय हूयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या तु तादृशयज्ञपरः । तस्मात् तादृशाद् यज्ञाद् यज्ञार्थम्, प्रयोजनस्य हेतुत्वविवक्षया पञ्चमी, अध्ययनाद् वसतीतिवत् । पृषदाज्यं दधिमिश्राज्यं सम्भृतं कल्पितम् । वायव्यान् वायुमार्गचरणशीलान् पक्षिरूपान् पशून् चक्रे । आरण्यान् अरण्ये भवान्, ये ग्राम्या ग्रामे भवाः, तांश्च चक्रे । तथा च विष्णुपुराणे प्रथमांशे पञ्चमाध्याये—'गौरजः पुरुषो मेषश्चाश्वाश्वतरगर्दभाः । एतान् ग्राम्यान् पशूनाहुरारण्यांश्च निबोध मे ॥ श्वापदा द्विखुरा हस्तिवानराः पक्षि-पञ्चमाः । औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमाश्च सरीसृपाः ॥' इति । सर्वहुतः सर्वः सर्वात्मकः पुरुषो यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्, तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तान्मानसाद् यज्ञात् पृषदाज्यं सम्भृतं सम्पादितम् । तथा वायव्यान् वायुदेवताकान् लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान् । आरण्या हरिणादयः, तथा ये च ग्राम्या गवाश्वादयस्तानपि चक्रे । पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते—'वायवः स्थेत्याह । वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षोऽन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवो वायव एवैनान् परिददाति' (तै० ब्रा० ३।२।१।३) इति ।

आध्यात्मिकपक्षेऽप्ययमेवार्थः ।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजातस्य (भूमिकाभागस्य) द्वितीयभागे १२४८ तमपृष्ठीये प्रारम्भतोऽनुच्छेदद्वये विद्यते ॥ ६ ॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—उस सर्वहुत यज्ञपुरुष से ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न हुए, उसी से सर्वविध छन्द उत्पन्न हुए। यजुर्वेद को भी उसी यज्ञपुरुष ने प्रकट किया ॥ ७ ॥

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुः तस्मात् अजायत ॥ तस्मादेव यज्ञात् सर्वहुतः प्रज्वालिताद् यथा ऋचः सामानि यजूंषि च देवा उत्पादयन्ति छन्दांसि च, एवमात्मयज्ञे प्रणवेन दीपिते स्वयमेव ज्ञानादधिष्ठितानि भवन्ति । एवं येन परमात्मनि ज्ञायते, तेन सर्वे जग्धाः, सर्वं वाङ्मयं ज्ञातं भवतीति भावः ।

तस्माच्चतुर्मुखाद् ऋच एकविंशतिः शाखाः, सामानि सामवेदाः सहस्रशाखाः, जज्ञिरे तत्सर्गीयप्रथमोच्चारणविषयत्वरूपामुत्पत्तिं प्रापुः । तस्मादेव छन्दांसि गायत्र्यादीनि । यजुर्नवाधिकशतशाखो यजुर्वेदोऽजायत । इतरसापेक्षोच्चारणेषु प्राथमिकत्वस्य विवक्षितत्वादेव तत्सर्गीयप्रथमोच्चारणविषयत्वैवोत्पत्तिः । तत्सर्गीयप्रथमोच्चारणविषयत्वरूपोत्पत्तिरेव सृष्टिः । तेन वेदानां तत्सर्गीयचतुर्मुखकर्तृकप्राथमिकोच्चारणविषयत्वरूपं चतुर्मुखजन्यत्वमपि यद्यपि न सम्भवति, तथापीतरसापेक्षोच्चारणेषु प्राथमिकत्वस्य विवक्षितत्वान्न दोषः । तस्मात् परमपुरुषाद्वा वेदानां तादृशोत्पत्तिः, तस्यैव चतुर्मुखं प्रत्युपदेष्टृत्वात् । प्रवाहानादित्वं च स्वसमानजातीयशब्दासमानकालीनप्रागभावाप्रतियोगित्वम् । तादृशध्वंसाप्रतियोगित्वं च प्रवाहनित्यत्वम् । स्वसमानजातीयत्वं च स्ववृत्त्यानुपूर्वीवत्त्वरूपम् । तत्तदुच्चारणभेदेनानुपूर्वीभेदे तु स्ववृत्त्यानुपूर्वीसजातीयानुपूर्वीसत्त्वमेव साजात्यम् । सर्वहुतस्तस्मात् पूर्वोक्ताद् यज्ञाद् ऋचः सामानि जज्ञिरे उत्पन्नाः । तस्मात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे । तस्माद् यजुरप्यजायत ।

अध्यात्मपक्षे—उक्तेऽर्थे आध्यात्मिकोऽप्यर्थो गतार्थः ।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य प्रथमभागे ४८४ तमं पृष्ठमारभ्य ४८६ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ ७ ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ उसी यज्ञपुरुष से अश्व उत्पन्न हुए और वे सब प्राणी उत्पन्न हुए जिनके ऊपर-नीचे दोनों तरफ दाँत हैं। उसी से गाय-बैल उत्पन्न हुए और उसी से भेड़-बकरियाँ पैदा हुईं ॥ ८ ॥

तस्मात् अश्वाः अजायन्त ये के च उभयादतः । गावः ह जज्ञिरे तस्मात् तस्मात् जाताः अजावयः ॥ तस्माद् यज्ञाद् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः । तथा ये के च अश्वातिरिक्ता गर्दभादयोऽश्वतराश्च उभयादत उभयोर्भागयोर्दन्ता येषां ते उभयादतः, छान्दसं दीर्घत्वम्, ऊर्ध्वाधोभागयोर्दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त । तथा ह स्फुटं तस्माद् यज्ञाद् गावो ह जज्ञिरे । किञ्च तस्माद्यज्ञाद् अजावयोऽजा अवयश्च जाताः । नहि पशुभिर्विना यज्ञः सिद्ध्येत् ।

वेदाविर्भावविवर्णनात् तत्प्रतिपाद्यस्य यज्ञस्यापि सृष्टिरुक्ता भवति। तदर्थं यज्ञोपयोगिपदार्थसृष्टिरप्युच्यते। तस्माद् ब्रह्मणः, अत्र तस्मादिति पदस्य जनिधातोश्च पुनः पुनरुपादानं स्थानावान्तरभेदप्रदर्शनार्थम्। तदुक्तं विष्णुपुराणे प्रथमांशे पञ्चमाध्याये—

गायत्रं च ऋचश्चैव त्रिवृत्स्तोमं रथन्तरम्। अग्निष्टोमं च यज्ञानां निर्ममे प्रथमान्मुखात्॥
यजूंषि त्रैष्टुभं छन्दः स्तोमं पञ्चदशं तथा। बृहत्साम तथोक्थं च दक्षिणादसृजन्मुखात्॥
सामानि जगतीच्छन्दः स्तोमं सप्तदशं तथा। वैरूपमतिरात्रं च पश्चिमादसृजन्मुखात्॥
एकविंशमथर्वाणमाप्तोर्यामाणमेव च। अनुष्टुभं च वैराजमुत्तरादसृजन्मुखात्॥ इति,
(१।५।५४-५७)

तथा—
'अवयो वक्षसश्चक्रे मुखतोऽजाः स सृष्टवान्। सृष्टवानुदराद् गाश्च पार्श्वाभ्यां च प्रजापतिः॥
पद्भ्यां चाश्वान् समातङ्गान् रासभान् गवयान् मृगान्। उष्ट्रानश्वतरांश्चैव न्यङ्कूनन्याश्च जातयः॥ इति च।
(१।५।४८-५०)

तस्मात् पूर्वोक्ताद् यज्ञाद् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः। तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादत ऊर्ध्वाधोभागयोर्दन्तयुक्ताः सन्ति, तेऽप्यजायन्त। तथा तस्माद् यज्ञाद् गावश्च जज्ञिरे। किञ्च, तस्माद् अजावयश्च जाताः।

अध्यात्मपक्षे अध्यात्मपक्षोऽप्यस्मिन्नेवार्थे गतार्थः।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपरिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयभागे १२५० पृष्ठे द्वितीयतृतीयानुच्छेदयोर्द्रष्टव्यम्॥ ८॥

तं य॒ज्ञं ब॒र्हिषि॒ प्रौक्ष॒न् पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒तः।
तेन॑ दे॒वा अय॑जन्त सा॒ध्या ऋष॑यश्च॒ ये॥ ९॥

मन्त्रार्थ—साध्य देवता और सनक आदि ऋषियों ने सृष्टि के पूर्व उत्पन्न उस यज्ञसाधनभूत विराट् पुरुष का मानस याग की सम्पन्नता के लिये प्रोक्षण किया और उस विराट् पुरुष के अवयवों से ही इस यज्ञ को सम्पादित किया॥ ९॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातम् अग्रतः। ते देवाः अयजन्त साध्याः ऋषयः च ये॥ यथेन्द्रेण तत्र यज्ञेऽग्निष्टोमाख्ये बर्हिषा प्रोक्षितः पुरुषो जातः। ज्ञानमुत्पद्यते दिव्यम्। अग्रतः प्रथमतः। तेन देवा इन्द्रादयः साध्याश्च ऋषयश्च यथा अयजन्त, तथा देवा योगिनः कपिलादयश्च साध्याश्चापरे ऋषयः। ऋषयश्चाप्येतेनैव प्रणवाधिष्ठितेन पुरुषेण आत्मयज्ञं कृतवन्त इति।

तदेत्यध्याहार्यम्। तदा तं ब्रह्माख्यं यज्ञम्, यजन्त्यनेनेति यज्ञः, यजनीयहविरिति यावत्, तम्। बर्हिषि प्रकृतौ, निधायेत्यध्याहार्यम्। प्रौक्षन् प्रोक्षणसंस्कारमकुर्वन् द्रव्यत्यागयोग्यतापादकान् प्रोक्षणोपस्तरणावदानाभिघारणादिसंस्कारानकुर्वन्नित्यर्थः। अग्रतः स्थिरतरसृष्टेरग्रतो जातमुत्पन्नम्। तेन पश्वादिसृष्टेः प्रागेवायं यज्ञः प्रवृत्तः, ततो मानसमेव सर्वमक्रियत। तेन ब्रह्मरूपेण हविषा देवा इन्द्रियाण्ययजन्त यागमकुर्वन्। अनिरुद्धाग्नौ ब्रह्मरूपं हविः प्रक्षिप्तवन्तः, आत्मसमर्पणं कृतवन्तः। साध्याः कर्मसाधनानि वागादीनि। ऋषयो ज्ञानसाधनानि चक्षुरादीनि।

एतस्मिन्नर्थे पुरुषसूक्तव्याख्यानभूतं शाबल्यब्राह्मणं चोदाहरन्ति—'तस्मात् पादनारायणान्मूलप्रकृतिरजायत। सा प्रकृतिः पादनारायणशासनान्महदहङ्कारादीन् सूक्ष्मान् पदार्थान् अजनयत्। एवं सूक्ष्मायां सृष्टौ कृतायां स पादनारायणः स्थूलसृष्ट्यर्थं चतुर्मुखं पुरुषमभिदध्यौ। तद्ध्यानात् पश्चात् पुरुषश्चतुर्मुखाख्योऽजायत। स जातो भूमेः पश्चात् पुरतश्चातिरिच्यत। सर्वकार्यक्षमो वृद्धकायः सन् पुरुषस्तूष्णीमास। तमनिरुद्धनारायणोऽप्राक्षीत्—ब्रह्मंस्तूष्णीं भवसीति ? अज्ञानादिति होवाच। ब्रह्मंस्तवेन्द्रियाणि देवानृत्विजः कृत्वा त्वदीयं च कलेवरं हविः कृत्वा मां हविर्भुजं ध्यात्वा मय्यग्नौ निवेदय। मदङ्गस्पर्शमात्रेण जगत्कोशभूतस्त्वत्कायो बृंहिष्यते। तस्मादुद्भूतानि प्राणिजातानि यथापुरं निर्माय स्रष्टा भविष्यसि। य एवं सृष्टियज्ञं जानाति स जन्मनीह मुक्तो भवति' इति।

यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। कीदृशम् ? अग्रतः सर्वसृष्टेः प्राग् जातम्, पुरुषत्वेन उत्पन्नम्, 'ततो विराडजायत विराजोऽधि पूरुषः' इत्युक्तत्वात्। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त मानसं यागं सम्पादितवन्तः। के ते देवाः ? साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः, तदनुकूला ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च ये सन्ति ते सर्वेऽप्ययजन्त।

आध्यात्मिकपक्षे—अयमेवार्थः।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयभागे १२५१ पृष्ठे द्वितीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२५३ पृष्ठे प्रथममनुच्छेदं यावदवलोकनीयम् ॥ ९ ॥

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन् ।
मुखं॒ किम॑स्यासी॒त्किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ उच्येते ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—यहाँ प्रश्न उठता है कि जब यज्ञसाधनभूत इस विराट् पुरुष की महानारायण से प्रेरित महत्, अहंकार आदि की प्रक्रिया से उत्पत्ति हुई, तब उसके कितने प्रकारों की परिकल्पना की गई ? उस विराट् के मुंह, भुजा, जंघा और चरणों का निर्माण किन-किन उपादानों से किया गया ॥ १० ॥

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किम् अस्य आसीत् किं बाहू किम् ऊरू पादौ उच्येते ॥ यत्पुरुषं देवा इन्द्रादयस्तस्मिन् यज्ञे व्यदधुः कृतवन्तो यथा, तद्वद् योगिन आत्मयज्ञे पुरुषं ज्ञानं यद् ज्ञानान्तं तत्कृतवन्तः कतिप्रकारं विकल्पितवन्तः। तस्यैवंविधस्य किं मुखं कौ बाहू कौ ऊरू पादौ उच्येते, उच्यन्तामित्यर्थः। ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः स्थिता इत्यर्थः।

यज्ञानुष्ठायिनां ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिरुच्यते। यद् यदा पुरुषं ब्रह्माख्यं व्यदधुः, पशुमित्यध्याहार्यम्, पशुत्वेन अकल्पयन्, तत् तदा कतिधा कतिप्रकारविशिष्टं व्यकल्पयन्। बहुवचनं छान्दसम्। अथवा यद् यदा पुरुषं मनुष्यं व्यदधुरकल्पयन्, असृजतेत्यर्थः। तत् तदा, कस्मात् कस्मात् स्थानात् कीदृशकीदृशप्रकारविशिष्टमकल्पयन्। यद्वा पुरुषं मनुष्यं यद् यदा व्यदधुः, तत् तदा कतिधा व्यकल्पयन्। मनुष्याद्युपादानभूतं चतुर्मुखशरीरं कतिभागविशिष्टमकल्पयन्। अस्य मुखं किंरूपमासीत्, कार्यकारणभावमूलकं सामानाधिकरण्यमत्र। मुखादुत्पन्नं किमित्यर्थः। एवं किं बाहू, किमूरू, किं पादौ उच्येते। प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवा यद् यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः सङ्कल्पेनोत्पादितवन्तः, तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैर्व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किमासीत् ? कौ बाहू

अभूताम् ? कौ ऊरू ? कौ च पादा उच्येते ? प्रथमं सामान्यः प्रश्नः। पश्चान्मुखं किमित्यादिना विशेष-विषयाः प्रश्नाः।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽर्थोऽत्रैव समाविष्टः।

दयानन्दीयोऽर्थो वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयभागे १२५३ तमपृष्ठे द्वितीयेऽनुच्छेदे द्रष्टव्यः, तदालोचनमपि तत्रैव विमृश्यम्॥ १०॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬं शूद्रो अजायत॥ ११॥

मन्त्रार्थ—इस प्रश्न का उत्तर श्रुति देती है कि ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुखस्थानीय हुआ, क्षत्रिय बाहु से निष्पादित हुआ, वैश्य से ऊरु का आकार बना और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुआ॥ ११॥

ब्राह्मणः अस्य मुखम् आसीत् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तत् अस्य यत् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रः अजायत॥ अस्य यज्ञोत्पन्नस्य पुरुषस्य ये केचिद् ब्राह्मणास्ते मुखमासीत्। ये क्षत्रियास्ते बाहू कृताः। ये वैश्यास्ते तस्य ऊरू कृताः। ये शूद्रास्ते पद्भ्यामजायन्तेति कल्प्यन्ते, तदस्योत्पन्नत्वादिति। एवमेतेऽवयवाः शिरःप्रभृतयः पुरुषस्य विद्यन्ते, नान्य इति।

अथैषां प्रश्नानामुत्तराण्याह—ब्राह्मण इति। ब्राह्मणोऽस्य चतुर्मुखस्य मुखमाननमासीत्, मुखादुत्पन्नो ब्राह्मण इत्यर्थः। ब्राह्मणस्य वक्ष्यमाणसर्वावयवेषूत्तमान्मुखादुत्पन्नत्वोक्त्या तस्यान्यवर्णापेक्षया स्वत एवोत्तमत्वं सूचितम्। मुखव्यापारभूतवेदाध्ययनादिप्रधानत्वं मुखवीर्यत्वं च व्यञ्जितम्। बाहू राजन्यः क्षत्रियः कृत, क्षत्रियो बाहोरजायतेत्यर्थः। बाहुजत्वाद् ब्राह्मणापेक्षया न्यूनत्वं बाहुव्यापारभूतयुद्धादिप्रधानत्वं बाहुवीर्यत्वं च प्रतीयते। वैश्य इति यत् तद् अस्य ऊरू, अस्योरुभ्यां वैश्योऽजायतेत्यर्थः। ऊरुजत्वाद् वैश्यस्य क्षत्रियापेक्षया न्यूनत्वमवगतम्। पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रोऽजायत। शूद्रस्य पज्जातत्वात् सर्ववर्णापेक्षयापि निकृष्टत्वं लब्धम्। पादकार्यभूतगमनागमनादिव्यापारश्च सूचितो भवति।

इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति—ब्राह्मण इति। अस्य प्रजापतेर्ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषो मुखमासीत्, मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः, स बाहू कृतः, बाहुत्वेन निष्पादितः, बाहुभ्यामुत्पादितः। तत् तदानीमस्य प्रजापतेर्यद् यौ ऊरू तद्रूपो वैश्यः, ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः। तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत। इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिः कृष्णयजुःसंहितायां सप्तमकाण्डे—'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' (तै० सं० ७।१।१।४) इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता। वाल्मीकीये रामायणेऽपि—'मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा। ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः॥' (अ० का० १४।३०)। अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतयैव योजनीये।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽर्थोऽत्रैव गतार्थः।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२५४ तमपृष्ठीयं तृतीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२५५ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावदवलोकनीयम्॥ ११॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ, कान से वायु और प्राण उत्पन्न हुए तथा मुँह से अग्नि की उत्पत्ति हुई ॥ १२ ॥

चन्द्रमाः मनसः जातः चक्षोः सूर्यः अजायत । श्रोत्रात् वायुः च प्राणः च मुखात् अग्निः अजायत ॥ तस्य एवंविधस्य यज्ञोत्पन्नस्य पुरुषस्य चन्द्रमा मनसश्चेतसो जातः, अजायतेति कल्पना । मन एव चन्द्रमाः । तथा च श्रीमद्भागवते—'मनश्च स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः' (२।१।३४) इति । चक्षोर्नेत्राभ्यां सूर्यः, नेत्रे एव सूर्यः । यः प्राणो जीवः स एव वायुः श्रोत्राद् अजायतेति कल्प्यते, श्रोत्रमेव वायुः । योऽयमग्निः स मुखादजायतेति कल्प्यते, मुखमेवाग्निः, अंशोत्पन्नत्वादिति ।

एवं यज्ञकर्तॄणामुत्पत्तिमुक्त्वा यष्टव्यदेवतोत्पत्तिमाह—अस्य चतुर्मुखस्य मनसश्चन्द्रमाः शीतांशुर्जात उत्पन्नः । चक्षोश्चक्षुषः सूर्यः सर्वार्थप्रकाशकरो भानुरजायत । इन्द्रश्च परमैश्वर्यवान् देवता सार्वभौमः शचीपतिः, अग्निश्च देवानां मुखस्थानीयोऽनलः, अजायतामिति विपरिणतस्यानुषङ्गः । प्राणात् सर्वप्राणनहेतोश्चतुर्मुखरूपधरस्य भगवतः प्राणाद् वायुः सर्वप्राणनहेतुभूतोऽजायत । यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि, गवादयः पशवः, ऋगादयो वेदाः, ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्नाः, एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्नाः । प्रजापतेर्मनसः सकाशाच्चन्द्रमा जातः, चक्षोः सूर्यो (चक्षुषः सूर्योऽपि) अजायत । अस्य मुखादिन्द्रश्च अग्निश्च देवौ उत्पन्नौ । अस्य प्राणाद्वायुरजायत ।

अध्यात्मपक्षे आध्यात्मिकोऽर्थोऽत्रैव गतार्थः ।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२५६ तमपृष्ठीयं तृतीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२५७ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२॥ अकल्पयन् ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—नाभि से अन्तरिक्ष की उत्पत्ति हुई, शिर से स्वर्ग और चरणों से भूमि उत्पन्न हुई । इसी तरह से कानों से दिशाओं और भूमि आदि की उत्पत्ति उस विराट् पुरुष ने अपने देह के इन अवयवों से ही की ॥ १३ ॥

नाभ्याः आसीत् अन्तरिक्षम् शीर्ष्णः द्यौः सम् अवर्तत । पद्भ्यां भूमिः दिशः श्रोत्रात् तथा लोकान् अकल्पयन् ॥ तस्यैवंविधस्य पुरुषस्य या नाभिस्तदेव अन्तरिक्षं नभः । या द्यौस्तत् शीर्षं शिरः । समवर्ततेति कल्पितम् । पादौ भूमिरेव । श्रोत्रे श्रवणौ दिशः । श्रोत्रावयवा यस्माद्दिशो ब्रह्मणो जातास्तथैव सर्वान् लोकान् पुरुषस्यावयवभूतान् अकल्पयदिति ।

एतावता प्रबन्धेन उपास्यदेवतामुक्त्वा उपासीनानां भोगस्थानभूतस्यान्तरिक्षादिलोकस्य सृष्टिमाह नाभ्या इति । अन्तरिक्षं सूर्याण्डगोलयोर्मध्यदेशरूपोऽन्तरिक्षलोक आसीत् । शीर्ष्णः शिरसः, द्यौर्द्युलोकः समवर्तत । इदमुपरितनानां सर्वेषां लोकानामुपलक्षणम् । पद्भ्यां चरणाभ्यां भूमिः पृथ्वीमण्डलम् । इदं च सर्वेषामधोलोकाना-

मुपलक्षणम् । श्रोत्रात् कर्णाद् दिश आशाः, इदं च सप्तद्वीपोपलक्षणम् । तथा यथा पूर्वस्मिन् कल्पे आसन् तथा लोकान् अन्तरिक्षादीन् पृथिव्यादींश्च चतुर्दशलोकान् अकल्पयन् अकल्पयत् चकार । बहुवचनं कतिधा व्यकल्पयन्निति प्रश्नानुरूपमत्र विवक्षितम् । यथा चन्द्रादीन् प्रजापतेर्मनःप्रभृतिभ्योऽकल्पयन् , तथाऽन्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापतेर्नाभ्यादिभ्यो देवा अकल्पयन् उत्पादितवन्तः । एतदेव दर्शयति—नाभ्याः प्रजापतेर्नाभेरन्तरिक्षमासीत् । शीर्ष्णः शिरसो द्यौः समवर्तत उत्पन्ना । अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिरुत्पन्ना । अस्य श्रोत्राद्दिश उत्पन्नाः ।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽप्यर्थोऽत्रैव गतार्थः ।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२५७ तमपृष्ठीयं चतुर्थमनुच्छेदमारभ्य १२५८ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् वर्तते ॥ १३ ॥

यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत ।
व॒सन्तो॑ऽस्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्म इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—जब विद्वानों ने इस विराट् पुरुष के देह के अवयवों को ही हवि बना कर इस ज्ञानयज्ञ की रचना की, तब वसन्त ऋतु ने घृत का, ग्रीष्म ऋतु ने समिधा का स्थान संभाला और शरद् ऋतु हविस्थानीय बनी ॥ १४ ॥

यत् पुरुषेण हविषा देवाः यज्ञम् अतन्वत । वसन्तः अस्य आसीत् आज्यम् ग्रीष्मः इध्मः शरत् हविः ॥ कथमन्नेनाधिरोहति ? तदाह—यद् यस्मात् कारणात् पुरुषेण हविषा हविर्भूतेन देवा इन्द्रादयो यथा यज्ञमतन्वत विस्तारितवन्तः, तथा योगिनोऽपि पुरुषेणैवामृतभूतेन दीपितेनात्मना आत्मयज्ञं समधिकृतवन्तः । अत्र यज्ञे वसन्त आज्यमासीत्, ग्रीष्म इध्मः, शरद्धविरिति । इतरयागे वसन्तशब्देन सात्त्विको गुण उच्यते, ग्रीष्मशब्देन राजसः, शरच्छब्देन तामसः । त्रयो हि गुणास्तत्रात्मयज्ञे योगिनो जुह्वतीति ।

स जातश्चतुर्मुखः स्वयं जगत्सृष्टिमजानानो भगवदुपदिष्टमार्गेण भगवन्तमात्मसमर्पणरूपेण मानसयागेन आराध्य तत्प्रसादाल्लब्धविज्ञानो जगत्सृष्टिमकरोदिति वक्तुं भगवदाराधनात्मकं यागमाह—यत् यदा, पुरुषेण चतुर्मुखात्मकेन, हविषा देवास्तदिन्द्रियाणि, यज्ञं मानसं ध्यानरूपमतन्वत, तदेत्यध्याहारः । अस्य यज्ञस्य वसन्त आज्यम्, वसन्तकालस्य आज्यप्रचुरत्वेन अत्राज्यकल्पनम् । ग्रीष्म इध्मः, तदानीं पलाशादीनां बाहुल्योपलम्भात् । शरद् हविः, तत्कालस्य सस्यप्रचुरत्वात् । एवं वसन्तादीनां मानसयज्ञे आज्यादित्वेन ध्यानम् । यद् यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु, देवा उत्तरसृष्टिसिद्ध्यर्थं बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तराऽसम्भवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन संकल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा, मानसं यज्ञम्, अतन्वत अन्वतिष्ठन् । तदानीमस्य यज्ञस्य वसन्तो वसन्तर्तुरेव, आज्यम् आसीद् अभूत्, तमेवाज्यत्वेन संकल्पितवन्तः । ग्रीष्मो ग्रीष्मर्तुः, इध्म आसीत्, तमेव इध्मत्वेन भावितवन्तः । तथा शरद्धविः पुरोडाशादिहविष्ट्वेन शरदं भावितवन्तः । पूर्वं पुरुषस्य हविःसामान्यरूपत्वेन संकल्पः, अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन संकल्पः ।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽर्थ उक्तार्थ एव समाविष्टः ।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२६० तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदमारभ्य १२६२ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदं यावद् वर्तते। तत् तत्रैव जिज्ञासुभिरवलोकनीयम् ॥ १४ ॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—जब इस मानस याग का अनुष्ठान देवताओं ने प्रारम्भ किया, तो सर्वप्रथम इस विराट् पुरुष की ही पशु के रूप में भावना की गई। उस समय गायत्री आदि सात छन्दों ने सात परिधियों का स्वरूप स्वीकार किया। बारह मास, पाँच ऋतु, तीन लोक और सूर्यदेव को मिलाकर इक्कीस अथवा गायत्री आदि सात, अतिजगती आदि सात और कृति आदि सात छन्दों को मिलाकर इक्कीस समिधाएँ बनीं ॥ १५ ॥

सप्त अस्य आसन् परिधयः त्रिःसप्त समिधः कृताः । देवाः यत् यज्ञम् तन्वानाः अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ देवा इन्द्रादयः, यथा यज्ञं पुरुषमेधाख्यं विस्तारयन्तः पुरुषं पशुम् अबध्नन् हतवन्तः, अस्य पुरुषमेधयज्ञस्य सप्त समुद्राः परिधय आसन् । भारते हि वर्षे यागः प्रवर्तते । त्रिःसप्त छन्दांसि गायत्र्यादीनि समिधः कृताः । आत्मयागे परिधिशब्देन पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं मनो बुद्धिरित्येते परिधयः कल्प्यन्ते । त्रिःसप्त समिधः पञ्च महाभूतानि पृथिव्यादीनि, पञ्च तन्मात्राणि रूपादीनि, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पाण्यादीनि, मनश्च । एतास्त्रिःसप्त समिधः कल्पयन्ति । तथा देवा दीव्यमाना ज्ञानेन योगिनः समाध्याख्यं यज्ञं तन्वाना विस्तारयन्तः, पुरुषं ज्ञानं पुरुषमेध पशुरूपेणावस्थितमबध्नन् अगृह्णन् ।

अस्य यज्ञस्य परिधयः परितो धीयन्त इति तथोक्ताः, आहवनीयादीनां त्रिषु पार्श्वेषु प्रथममेखलाया उपरि निधीयमानानि मेखलापरिमितायामानि काष्ठानि परिधय उच्यन्ते । सप्त आसन् न त्रय एव । उत्तरवेदि-परिधयस्त्रयः, आहवनीयपरिधयस्त्रयः, सप्तमश्च आदित्यः परिधिरिति सप्त परिधय भवन्ति । यद्यप्यत्र वसन्तादीनामाज्यादित्वमिव न परिधित्वेन कस्यचिद् ध्यानमुक्तम्, तथापि पूर्वसृष्टिषु सप्तसंख्याकानां पदार्थानामेव परिधित्वेन भावनं कर्तव्यम् । ते च महदहङ्कारौ पञ्च तन्मात्राश्च सप्त पदार्थाः परिधित्वेन ध्याताः । अस्य यज्ञस्य त्रिःसप्त त्रिरावृत्ताः सप्तसंख्याः, एकविंशतिसंख्याका इत्यर्थः, समिधोऽग्नेर्दीप्तिसाधनीभूतानि काष्ठानि दशेन्द्रियाणि, मनः, पञ्चतन्मात्राः, पञ्चमहाभूतानि च मिलित्वा एकविंशतिसंख्याकाः समिद्रूपेण भाव्यन्ते । देवा इन्द्रियरूपाः साध्याश्च, यद् यदा, यज्ञं देवता उद्दिश्य द्रव्यत्यागरूपं तन्वानाः पुरुषं चतुर्मुखाख्यं पशुं पशुस्थानीयमबध्नन् हृदयाख्ये यूपेऽध्यवसायरूपया रशनयाऽनन्यगतिं चक्रुः, मूलप्रकृतिरूपे वा यूपे भगवदाज्ञा-रूपया रशनया न्ययुञ्जन् ।

अस्य साङ्कल्पिकस्य यज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि परिधय आसन् । ऐष्टिकस्य आहवनीयस्य त्रयः परिधयः, उत्तरवेदिकास्त्रयः, आदित्यश्च सप्तमः परिधिः परिधिप्रतिनिधिरूपः । अत एवाम्नायते—'न पुरस्तान् प्रतिदधाति, आदित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्ति' (तै० सं० २।६।६।३) इति । तदेते आदित्यसहिताः सप्त परिधयोऽत्र सप्तच्छन्दोरूपाः । तथा समिधस्त्रिःसप्त त्रिगुणीकृतसप्तसंख्याका एकविंशतिः कृता । 'द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः' (तै० सं० ५।१।१०।३) इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिर्दारु-युक्तेध्मत्वेन भाविताः । यद् यः पुरुषो वैराजोऽस्ति, तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञं तन्वाना मानसं यज्ञं तन्वानाः कुर्वाणाः, पशुमबध्नन्, विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः । एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र—'यत्पुरुषेण हविषा' इत्युक्तम् ।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽप्यर्थ उक्तार्थ एव समाविष्टः ।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये खण्डे १२६३ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदमारभ्य १२६५ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् द्रष्टव्यम् ॥ १५ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—सिद्ध संकल्प वाले देवताओं ने विराट् पुरुष के अवयवों की हवि के रूप में कल्पना कर प्रस्तुत मानस यज्ञ में यज्ञपुरुष महानारायण की आराधना की। बाद में ये ही महानारायण की उपासना के प्रथम (मुख्य) उपादान बने। जिस स्वर्ग में पुरातन साध्य देवता रहते हैं, उस दुःख से रहित लोक को ही महानारायण यज्ञपुरुष की उपासना करने वाले भक्तगण प्राप्त करते हैं ॥ १६ ॥

यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्। ते ह नाकम् महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ यथा इन्द्रादयो देवा यज्ञेन ज्योतिष्टोमाख्येन यज्ञपुरुषं वासुदेवं विधिना अयजन्त। यतस्तानि यजनरूपाणि धर्माणि प्रथमान्यासन्, ते ह महाभाग्ययुक्ता नाकं सचन्त स्वर्गं सेवन्ते, यत्र पूर्वे साध्याः प्रथमे सुराः सन्ति विद्यन्ते देवास्तेजसा देदीप्यमानाः। एवं योगिनोऽपि दीपनाद्देवा यज्ञेन समाधिना नारायणाख्यं ज्ञानरूपमयजन्त। यतस्तानि समाधिरूपाणि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते तु नाकं सनकादीनां स्थानं गच्छन्ति। ये तु योगिनो महिमानो जन्मान्तरैर्निर्धूतगुणाः शुद्धास्ते नारायणाख्यं पुरुषमाविशन्ति, मुक्तिं गच्छन्तीत्यर्थः।

यजनीयदेवतोद्देश्यकद्रव्यत्यागरूपेण कर्मणा परमपुरुषोद्देश्यक-प्रणवकरणकात्मसमर्पणरूप-मानसयज्ञेन मुमुक्षूणामात्मसमर्पणस्यैवावश्यकर्तव्ययज्ञरूपत्वात्, 'अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा', 'इदमहं माममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि', 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' इत्यादिभिरात्मसमर्पणस्य यागरूपता विज्ञायते। यज्ञं यजनीय-देवतारूपं भगवन्तं परमपुरुषम्, 'यज्ञो वै विष्णुः' (श० १।१।२।१३) इति श्रुतेः, अयजन्त भगवन्तमुद्दिश्य आत्मसमर्पणरूपं यज्ञमकुर्वन्। तान्येव धर्माणि स धर्म एव, प्रथमानि प्रधानः, आसन् आसीत्। लिङ्गवचन-व्यत्ययश्छान्दसः। तेषां फलमुच्यते—ते यज्ञानुष्ठातारो नाकं निरतिशयानन्दैकतानं मोक्ष-परमपदाक्षर-पर-धामादिशब्दितं नाकाख्यं वैकुण्ठलोकम्। कं सुखम्, अकं दुःखम्, तन्न विद्यते यत्र तन्नाकमिति व्युत्पत्त्या दुःख-शून्यत्ववाचकस्य नाकशब्दस्य योगरूढ्या तादृशपरमव्योमबोधकत्वात्, 'नाकोऽम्बरे रवौ स्वर्गे परमव्योम्नि च स्मृतः' इति निघण्टुवचनात्। महिमानः परमसाम्यापत्तिरूपमहिमवन्तः, 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' (नारायणोप० ८०) इति श्रुतेः।

अथवा भगवन्महिमभूता भगवद्विभूतिभूताः। परब्रह्मोपसम्पत्त्या निवृत्ताविद्यातिरोधानस्य सुविदितात्म-याथात्म्यस्य परमात्मात्मक-स्वात्मानुसन्धानेन 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) इत्येव ह्यनुभवस्तद्युक्तस्य। अथवा महिमानो भगवन्तमर्चयन्तः, 'मह पूजायाम्' इति धातोस्तद्रूपनिष्पत्तेः। अथवा महिमानः पूज्यमानो-ऽर्चिरादिभिरातिवाहिकैः प्राप्येत्यध्याहार्यम्। सचन्ते समवेता भवन्ति नित्यसूरिपरिषदा सह एकीभवन्ति। हेति प्रसिद्धौ। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१), 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८।१२।३)। कैः समवेता भवन्ति ? यत्र ह वैकुण्ठे लोके पूर्वे लोके पुरातनाः, 'यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजा पुराणाः' (वा० सं० १८।५८) इति मन्त्रवर्णात्। सर्वदा भगवन्नित्यसङ्कल्पेनास्खलितज्ञानाः साध्याः प्राप्यभूताः। चेतनस्वरूपस्य तदीयशेषत्वपर्यन्तत्वेन प्राप्यस्यापि तदीयैकपर्यन्तत्वेन नित्यसूरिपरिषदामपि परमप्राप्यत्वात्

ते साध्या उच्यन्ते। यद्वा साध्याः साध्याख्या देवा भगवत्स्तुतिपरायणा अनन्तगरुडविष्वक्सेनप्रभृतयो नित्या दीव्यन्ति क्रीडन्ति भगवत इति देवाः सन्ति समिन्धते। तं नाकं ते महिमानः सचन्तेऽनन्तादिभिः सह भगवदनुभवं कुर्वन्ति, 'तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥' (वा० सं० ६।५) इति मन्त्रवर्णात्।

पूर्वं प्रपञ्चितमर्थमत्र संक्षिप्य दर्शयति—देवाः प्रजापतिप्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सङ्कल्पेन। यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिमयजन्त पूजितवन्तः। तस्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यान्यासन्। एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः। अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते—यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके साध्याः पुरातना विराडुपास्तिसाधका देवाः सन्ति तिष्ठन्ति, तन्नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानस्तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति।

अध्यात्मपक्षे आध्यात्मिकोऽप्यर्थोऽत्रैव ज्ञातव्यः।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये खण्डे १२६६ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदमारभ्य १२६७ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ १६ ॥

अ॒द्भ्यः सम्भृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑।
तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य दे॒वत्वमा॒जान॒मग्रे॑ ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ— उस महानारायण की उपासना के और भी प्रकार हैं—पृथिवी और जल के रस से, अर्थात् पाँच महाभूतों के रस से पुष्ट, सारे विश्व का निर्माण करने वाले, उस विराट् स्वरूप से भी पहले जिसकी स्थिति थी, उस रस के रूप को धारण करने वाला वह महानारायण पुरुष पहले आदित्य के रूप में उदित होता है। प्रथम मनुष्यरूप उस पुरुषमेधयाजी का यह आदित्य रूप में अवतरित ब्रह्म ही मुख्य आराध्य देवता बनता है ॥ १७ ॥

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसात् च विश्वकर्मणः समवर्तत अग्रे। तस्य त्वष्टा विदधत् रूपम् एति तत् मर्त्यस्य देवत्वम् आजानम् अग्रे ॥ त्वष्टा प्रजापतिर्ब्रह्मा यद्रूपमेकांशभूतं विदधत् कृतवान्, तदेव मर्त्यस्य मर्त्ये भूलोके देवत्वं प्रभुत्वम् आजानम् आप्तमित्यर्थः। किम्भूतोऽसौ ? अद्भ्यः सकाशात् सम्भृतः पिण्डीभूतः पृथिव्या रसाच्च। विश्वकर्मणोऽग्रे प्रथमतः समवर्तत संयोगरूपेण कृतः। तस्यैव नान्यस्य तदेव कारणान्मर्त्ये प्राप्तवान् स तु पालनीयदानवादिविनाशनायेति।

'अद्भ्यः सम्भृतः' इति षट्कण्डिका उत्तरनारायणशब्देनोच्यन्ते। तथा च सर्वानुक्रमः—'अद्भ्यः षड्च उत्तरनारायणो मन्त्र आद्यास्तिस्रस्त्रिष्टुभो द्वे अनुष्टुभौ अन्त्या त्रिष्टुप्' इति। आदित्यदेवत्याः। पूर्वकल्पे पुरुषमेधयाजी आदित्यरूपं प्राप्तः स्तूयते। अद्भ्यो जलात् पृथिव्याः सकाशाच्च। पृथिव्यपां ग्रहणं भूतपञ्चकोपलक्षकम्। भूतपञ्चकाद् यो रसः सम्भूतः पुष्टः, तथा विश्वकर्मणो विश्वं कर्म यस्यासौ विश्वकर्मा कालः, तस्य। रसात् प्रीतेर्यो रसोऽग्रे प्रथमं समवर्तत समभवत्। भूतपञ्चकस्य कालस्य च सर्वं प्रति कारणत्वात् पुरुषमेधयाजिनो लिङ्गशरीरे कालः पञ्चभूतानि च तुष्टानि। ततस्तुष्टेभ्यः कश्चिद् रसविशेषफलरूप उत्तमजन्मप्रद उत्पन्न इत्यर्थः। तस्य रसस्य रूपं विदधद् धारयन् त्वष्टा आदित्य एति प्रत्यहमुदयं करोति। अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य पुरुषमेधयाजिन आजानदेवत्वं मुख्यं देवत्वं सूर्यरूपेण द्योतते। द्विविधाः खलु देवाः—कर्म-

देवाः, आजानदेवाश्च। कर्मणा उत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्ताः कर्मदेवाः। सृष्ट्यादावुत्पन्नाः आजानदेवाः। ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः, 'अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः' (श० १४।७।१।३५) इति श्रुतेः। सूर्यादय आजानदेवाः।

अध्यात्मपक्षे—अद्भ्यः कर्मसमवायिन्य आपः संस्काररूपास्ताभ्यः। तथा पृथिव्यै पृथिवीशब्देन सूक्ष्माणि स्थूलानि च पञ्चमहाभूतान्युच्यन्ते, तेभ्यः, विभक्तेर्विपरिणामः, तेषां रसाच्च सम्भृतः पिण्डीभूतो रसो विश्वकर्मणो विश्वनिर्मातुः प्रजापतेः सर्वकर्मणामग्रे समवर्तत। अन्तःकरणे संस्कार-वासनादिरूपेण दृढं निहितानां कर्मणां परिपाके फलरूपेणोपनतानां भोगाय प्रथमं जागरितवदिति ध्वनिः। तस्य भोगस्य रूपं विदधद् भोगं साकारं कुर्वन्, भोगं प्रयच्छन्निति यावत्, त्वेषतीति त्वष्टा, त्विषेः तृनि 'त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधायाः' (पा० सू० ३।२।१३५, वा० ४) इति वार्त्तिकेन रूपसिद्धिः। आदित्य एति प्रत्यहमुदयं करोति। अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य पुरुषमेधयाजिन आजानं देवत्वम्, सूर्यरूपेण मुख्यं देवत्वमित्यर्थः।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२७१ तमपृष्ठीयं चतुर्थमनुच्छेदमारभ्य १२७३ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ १७ ॥

वेदा॒हमे॒तं पुरु॑षं म॒हान्त॑मादि॒त्यव॑र्णं॒ तम॑सः प॒रस्ता॑त्।
तमे॒व वि॑दि॒त्वाऽति॑मृ॒त्युमे॑ति॒ नान्यः पन्था॑ विद्य॒तेऽय॑नाय ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—मैं इस आदित्यस्वरूप अविद्या के लवलेश से भी रहित ज्ञानस्वरूप परम पुरुष उस महानारायण को जानता हूँ। कोई भी प्राणी उस महानारायण पुरुष को जान लेने के उपरान्त ही मृत्यु का अतिक्रमण कर अमृतत्व को प्राप्त करता है। अमृतत्व की प्राप्ति का इससे भिन्न कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥ १८ ॥

वेद अहम् एतम् पुरुषम् महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तम् एव विदित्वा अतिमृत्युम् एति न अन्यः पन्थाः विद्यते अयनाय ॥ ऋषेः प्रतिवचनम्। अहमेतं पुरुषं वेद। महान्तं देशकालाद्यवच्छेदरहितम्। आदित्यवर्णं स्वप्रकाशम्। तमसः परस्ताद् अविद्याया भेददर्शनम्। तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति अतिक्रम्य मृत्युं तं पुरुषमनुप्रविशति। न अन्यः पन्था मार्गस्तस्य अयनाय गमनाय विद्यते।

एतं महान्तं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं सूर्यमण्डलस्थमहं वेद जानामीति ऋषेर्वचनम्। कीदृशम्? आदित्यवर्णम्, आदित्यस्य वर्ण इव वर्णो यस्य स आदित्यवर्णस्तम्, उपमान्तराभावात् स्वोपमम्। तथा तमसः परस्ताद् दूरतरम्, तमोरहितमित्यर्थः। तमःशब्देन अविद्योच्यते। तमेवादित्यं विदित्वा ज्ञात्वा मृत्युमत्येति अतिक्राम्यति परं ब्रह्म गच्छति। अयनाय आश्रयाय अन्यः पन्था मार्गो न विद्यते। सूर्यमण्डलान्तःपुरुषमात्मरूपं ज्ञात्वैव मुक्तिः।

अध्यात्मपक्षे—एतं स्वशरीरान्तर्वर्तिनमित्यङ्गुल्या निर्देशः। महान्तमवेद्यत्वे सत्यपरोक्षम्। पुरुषं शरीरशायिनमहं सर्वसाक्षित्वेन वेद इति ज्ञानिनः साधकस्यर्षेर्वचनम्। आदित्यवर्णं निरपेक्षप्रकाशम्। तमसः परस्ताद् अविद्यातत्कार्यादिसर्वोपाधिशून्यम्। तमेव एतमेव प्रत्यक्चैतन्यं परब्रह्माभिन्नतया विदित्वा ज्ञात्वा मृत्युं जननमरणाविच्छेदलक्षणम्, अत्येति अतिक्रम्य स्वस्वरूपेऽवतिष्ठते। अयनाय जननमरणप्रवाहविच्छेदाय मोक्षाय, अन्यः पन्था मार्गो न विद्यते।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२७४ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदमारभ्य १२७६ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ १८ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते ।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वात्मा प्रजापति अन्तर्यामी रूप से गर्भ के मध्य में प्रकट होता है। जन्म न लेता हुआ भी वह देवता, तिर्यक्, मनुष्य आदि योनियों में नाना रूपों में प्रकट होता है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मा के उत्पत्ति स्थान उस महानारायण पुरुष को सब ओर से देखते हैं, जिसमें कि यह सारा ब्रह्माण्ड स्थित है ॥ १९ ॥

प्रजापतिः चरति गर्भे अन्तः अजायमानः बहुधा विजायते । तस्य योनिम् परिपश्यन्ति धीराः तस्मिन् ह तस्थुः भुवनानि विश्वा ॥ स एव पुरुष एकांशभूतः प्रजापतिरस्य गर्भस्य अन्तरजायमानश्चरति चतुर्विधेषु भूतेषु । स एव जायमानो बहुधा अनेकप्रकारं विजायते । ये धीरा योगिनस्ते तस्य योनिं परिपश्यन्ति सर्वत्यागेन परिहरन्ति । विश्वे त्रैलोक्ये भुवनानि तस्मिन् आतस्थुः ।

यः सर्वात्मा प्रजापतिः, अन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति, जीवरूपेण अन्तर्यामिरूपेण च । यश्च अजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्यः सन् बहुधा कार्यकारणरूपेण विजायते मायया प्रपञ्चरूपेण उत्पद्यते । धीरा ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेर्योनिं स्थानं स्वरूपं परिपश्यन्ति, अहं ब्रह्मास्मीति जानन्ति । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थुः स्थितानि । सर्वं तदात्मकमेवेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽप्यर्थोऽत्रैव गतार्थः ।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये खण्डे १२७६ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२७७ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ १९ ॥

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः ।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—जो परम पुरुष महानारायण सूर्य, चन्द्रमा आदि देवताओं को शक्ति प्रदान करने के लिये अपने प्रकाश से उनको आलोकित करता है, जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं का बहुत पूर्व काल से हित करता आया है, इन सबका पूज्य है, जो इन सब देवताओं से पहले प्रादुर्भूत हुआ है, उस ब्रह्मज्योतिस्वरूप परम पुरुष को हम प्रणाम करते हैं ॥ २० ॥

यः देवेभ्यः आतपति यः देवानाम् पुरः हितः । पूर्वः यः देवेभ्यः जातः नमः रुचाय ब्राह्मये ॥ अग्रे यो देवेभ्यः । योगिनस्तं नमन्ति ध्यायन्ति । यो देवेभ्यः सर्वेभ्य आतपति अतिशयेन तेजसा तपति, आदित्यरूपेणेत्यर्थः । यश्च देवानां पुरोऽग्रे इन्द्रत्वेन स्थितः, यश्च पूर्वोऽग्रे ब्रह्मरूपेण देवेभ्यो जातः, तस्मै रुचाय तेजसे ब्राह्मये ब्रह्मपुरुषापत्याय नमः ।

यः प्रजापतिः, आदित्यरूपो देवेभ्योऽर्थाय आतपति द्योतते, आदित्योदयस्य दैव्यकर्मयज्ञयागादिप्रवृत्तिहेतुत्वात्, रात्रावसुराणां प्राधान्यं दिने देवानां प्राधान्यमिति श्रवणात्। यश्च देवानामग्नीन्द्रादिपुरोगमानां पुरोहितः सर्वकार्येषु पुरोऽग्रे हितः स्थितः, नीत इत्यर्थः। आदित्यस्य देवानामिन्द्ररूपेण पुरोहितत्वं ब्रह्मरूपेण पूर्वजातत्वं च। यद्वादित्यस्य विष्णुप्रधानत्वेन विष्णोश्चेन्द्रादीनां सर्वकार्येष्वग्रेहितत्वमिति पुराणादिषु स्फुटमेव, देवानां कार्यार्थमेव रामकृष्णवामनादिरूपेण विष्णोरवतारप्रसिद्धेः। यश्चादित्यरूपेण देवेभ्यः सकाशात् पूर्वं जातः प्रथममुत्पन्नः, तस्मै आदित्याय परमात्मपुरुषाय नमः प्रह्वीभावोऽस्तु, स्वात्मसमर्पणमस्त्विति यावत्। कीदृशाय ? रुचाय रोचतेऽसौ रुचः, तस्मै दीप्यमानाय, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययेन रूपसिद्धिः। पुनः कीदृशाय ? ब्राह्मये ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्यापत्यं पुमान् ब्राह्मिः, तस्मै। संस्काररूपास्वप्सु कारणभूतासु हिरण्यगर्भतेजोनिक्षेपेण ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डाच्चादित्यस्याविर्भावश्रवणात्।

अध्यात्मपक्षे—व्याख्यानोक्तदेवाय आत्मरूपेण परिभाविताय सर्वप्राणिहृत्सरोजे स्थिताय भूयो भूयो नमोऽस्तु।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२७९ तमपृष्ठीयद्वितीयतृतीययोरनुच्छेदयोर्विद्यते ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं ने शोभन ब्रह्मज्योतीरूप आदित्य देव को प्रकट करते हुए सर्वप्रथम यह कहा कि हे आदित्य ! जो ब्राह्मण आपके इस अजर-अमर स्वरूप को जानता है, हम सब देवता उस उपासक के वश में रहते हैं ॥ २१ ॥

रुचं ब्राह्मम् जनयन्तः देवाः अग्रे तत् अब्रुवन्। यः त्वा एवं ब्राह्मणः विद्यात् तस्य देवाः असन् वशे ॥ रुचं देदीप्यमानं ब्राह्मं ब्रह्मण उत्पन्नं जनयन्तः सृष्टयर्थं देवा योगिनस्तेजसा दीप्यमाना यद् अब्रुवन् यद् ब्रूयुः, अग्रे प्रथमतः। किमूचुः ? अपरोऽपि यो ब्राह्मणो ब्रह्म विद्याद् विजानीयात् तस्य देवा असन् वशे, सोऽपि सनकादीनां स्थानं गच्छतीत्यर्थः।

देवा दीप्यमानाः प्राणा रुचं शोभनं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमादित्यं जनयन्त उत्पादयन्तः, अग्रे प्रथमं तद् वचोऽब्रुवन् ऊचुः। 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० सू० ६।४।१७१) इति निपातनाद् ब्राह्मं सिद्धम्। तत् किमत आह—हे आदित्य, यो ब्राह्मणस्त्वामेवमुक्तविधिनोत्पन्नं विद्याद् जानीयात्, तस्य ब्राह्मणस्य देवा वशे असन्, अर्थात् सर्वे इन्द्रादयो देवा इन्द्रियाणि च वश्या भवन्ति। आदित्योपासको देवानामपि वश्यतामापादयतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽप्यर्थोऽत्रैवार्थे निहितः।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये खण्डे १२८० तमे पृष्ठे द्वितीयेऽनुच्छेदे विद्यते ॥ २१ ॥

श्रीश्च॑ ते ल॒क्ष्मीश्च॒ पत्न्या॑वहोरा॒त्रे पा॒र्श्वे नक्ष॑त्राणि रू॒पम॒श्विनौ॒ व्यात्त॑म्। इ॒ष्णन्नि॑षाणा॒मुं म॑ इषाण सर्वलो॒कं म॑ इषाण ॥ २२ ॥

॥ इत्येकत्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ— हे महानारायण परम पुरुष ! श्री और लक्ष्मी आपकी पत्नियाँ हैं, ब्रह्मा के दिन-रात पार्श्व-स्वरूप हैं, आकाश में स्थित नक्षत्र आपके स्वरूपभूत हैं। द्यावापृथिवी विकसित मुख है। स्वयं चाहते हुए आप सदा मेरे कल्याण की इच्छा करें। मुझे आप अपना कल्याणमय लोक प्राप्त करावें। सारे योगैश्वर्य मुझे प्रदान करें॥ २२ ॥

श्रीः च ते लक्ष्मीः च पत्न्यौ अहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपम् अश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन् इषाण अमुम् मे इषाण सर्वलोकम् मे इषाण॥ अस्य पुरुषस्यैतेऽवयवाः। श्रीश्च लक्ष्मीश्च पत्न्यौ भार्ये। अहश्च रात्रिश्च ते पार्श्वे। नक्षत्राणि रूपम्। अश्विनौ व्यात्तं मुखम्। इष्णन् इषाण स्वर्गस्य लोकस्य ईशानः। एतद्गुणविशिष्टो नाम मोक्षस्य ईशानः, सर्वलोकस्य च स एव देवानामीशान इति।

इति शौनकप्रणीतं पुरुषसूक्तभाष्यं समाप्तम्।

हे आदित्य ! आदित्यान्तःपुरुष परमेश्वर विष्णो ! 'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः। केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥' इति भविष्यपुराणीयादित्यहृदये वर्णित ! श्रीश्च लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ भार्ये त्वद्वश्ये। यया जनः सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः। श्रीयते यया सा श्रीः सम्पदित्यर्थः। यया लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मीः सौन्दर्यमित्यर्थः। अत्र तत्तदधिष्ठात्र्यौ देव्यौ विष्णोः पत्न्यौ प्रसिद्धे स्तः। यद्वा सर्वनैरपेक्ष्येण श्रयते हरिं या सा श्रीः क्षीरसमुद्रमन्थनादाविर्भूता भगवती श्रीः। सर्वानभिलाषिणोऽपि देवान् दैत्यान् ऋषींश्चोपेक्ष्य निरपेक्षमपि हरिमेव वव्रे, तेन सा श्रयणाच्छ्रीरुच्यते। तदाश्रयणादेव श्रीयते सर्वैर्गुणैः सौन्दर्यमाधुर्यादिभिः या सा श्रीः। यद्वा श्रीयते श्रीहरिणापि या सा श्रीः, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इति भगवद्वचनात्। लक्ष्यते दृश्यते सर्वैर्या सा लक्ष्मीः शोभा। अथवा लष्यतेऽभिलष्यते सर्वैर्या सा लक्ष्मीः। यद्वा लष्यते हरिणापि या सा लक्ष्मीः। श्रीर्लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ भार्ये। निराकारस्य भगवतो द्वे भार्ये भार्यावद्वश्ये। अहोरात्रे तवादित्यरूपस्य पार्श्वे पार्श्वस्थानीये। नक्षत्राणि गगनस्थास्तारास्तव रूपम्, तवैव तेजसा भासमानत्वात्, 'तेजसो गोलकः सूर्यो नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः' इति ज्यौतिषशास्त्राच्च। अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तव व्यात्तं विकसितं मुखं विकसितमुखस्थानीयौ। अश्नुवाते व्याप्नुतस्तावश्विनौ द्यावापृथिव्यौ, 'इमे[1] हीदꣳ सर्वमश्नुवाताम्' इति श्रुतेः। एवं कर्मफलमिष्णन् इच्छन् सन् महामहिमवैभवं भगवन्तं त्वामहं याचे। इषाण इच्छ। किमेषणीयं तत्राह—अमुं मे मम परलोकः समीचीनोऽस्त्वित्यमुं भावमिच्छ। ननु त्वयैवेष्यतां किं मदीयेच्छयेति चेन्न, तव परमेश्वरस्यामोघेच्छत्वात्। मम तु जीवत्वान्मोघेच्छत्वमपि सम्भवति। अतो याचेऽस्य परलोकः समीचीनोऽस्त्विति त्वमेवेच्छ। सर्वलोकं मे मम इषाण सर्वलोकात्मकोऽहं भवेयमितीच्छ, मुक्तो भवेयमित्यभिप्रायः, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इति श्रुतेः। 'कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' (भ० गी० ९।३१) इति भगवानर्जुनं भक्तं प्रेरयति—हे कौन्तेय ! त्वमेतत्प्रतिजानीहि मम वासुदेवस्य भक्तो न प्रणश्यति, इत्येतां प्रतिज्ञां

१. अनुपलब्धमूलेयं श्रुतिः।

कुरु। ननु त्वयैव शक्तिमता प्रतिज्ञायतामिति चेन्न, तव भक्तस्यामोघप्रतिज्ञत्वात् त्वं प्रतिज्ञां कुरु। मम तु प्रतिज्ञा भीष्मस्य भक्तस्य समक्षे भज्यते। तेन त्वमेव प्रतिजानीहि येन न कदाचिदप्यनाश्वासाशङ्का स्यात्। यथा भक्तप्रतिज्ञाऽमोघा भवति, तथैव भगवत इच्छा सर्वथैवामोघा भवति।

अध्यात्मपक्षे—सर्वलोकावयवस्य भगवतोऽमोघयेच्छया भक्तोऽपि सर्वलोकमयत्वं स्वात्मनोऽश्नुते, ब्रह्मरूपो भवतीत्यर्थः।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२८१ तमपृष्ठीयं द्वितीय-मनुच्छेदं प्रारभ्य १२८२ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते॥ २२॥

इति शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायाम्
एकत्रिंशोऽध्यायः॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—वह ब्रह्म ही अग्नि है। वही सूर्य और वही वायु भी है। चन्द्रमा भी वही है। वही सारे संसार का बीज (कारण) है। जल और प्रजापति भी उस ब्रह्म के ही स्वरूप हैं ॥ १ ॥

ब्रह्मजत्वादिदं सर्वं ब्रह्मैवेति सुनिश्चितम् ।
ब्रह्माधीनस्थितिलयं सर्वं ब्रह्मेति सूच्यते ॥

अतीतेऽध्याये पुरुषमेधमन्त्रा उक्ताः। अथात्र सर्वमेधमन्त्रा उच्यन्ते। 'प्रवायुमच्छा बृहती' (३३।५५) इति मन्त्रात् प्राक् सर्वमेधमन्त्राः स्वयम्भूब्रह्मदृष्टा आत्मदेवत्याः सप्तमेऽहन्यप्तोर्यामसंज्ञके सर्वहोमे विनियुक्ताः। तथा चानुक्रान्तम् —'तदेवं सर्वमेधोऽध्याय आत्मदैवतः सप्तमेऽहनि सर्वहोमे विनियुक्तः' (सर्वा० ३।१५) इति। तथा च श्रुतिः—'अप्तोर्यामः सप्तममहर्भवति' (श० १३।७।१।९) इत्युपक्रम्य 'सर्वं जुहोति सर्वस्मै जुहोति सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्धचै' (श० १३।७।१।९) इति। द्वे अनुष्टुभौ। विज्ञानात्मा परेणात्मना विशिष्टोऽग्न्यादिष्वोतप्रोतत्वेनोपास्योऽभिधीयते। अग्निस्तदेव, वेदान्तेषु ब्रह्मविद्वरिष्ठगोष्ठीषु प्रसिद्धं कारणं ब्रह्मैवाग्निः। तदेव चादित्यः सूर्यः। तदेव च वायुः। चन्द्रमाश्च तदेव। उ एवार्थकः। शुक्रं शुक्लं तत् प्रसिद्धं ब्रह्म ब्रह्माधिगमहेतुभूतं त्रयीलक्षणं ब्रह्म तदेव। ताः प्रसिद्धा आपो जलानि, स प्रसिद्धः प्रजापतिरपि तदेव ब्रह्म।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तच्चन्द्रमास्तदेव शुक्रं च तद् ब्रह्म स उ प्रजापतिरस्त्येवं यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ज्ञानस्वरूपत्वात् स्वप्रकाशितत्वाच्च सोऽग्निरत्यनुपपत्तेः। न वा प्रलये सर्वस्यादातृत्वात् परमेश्वरस्य आदित्यत्वमिति युक्तम्, तथात्वे गौणप्रयोगापत्तेः, देवदत्तस्य शौर्यक्रौर्यादिभिः सिंहपदप्रयोगवत्। तथात्वे च मुख्यं सामानाधिकरण्यं नोपपद्यते, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति समानविभक्तिकत्वे सत्येकार्थनिष्ठत्वस्यैव सामानाधिकरण्यप्रयोजकत्वात्। अनन्तबलवत्त्व-सर्वधर्तृत्वादिना वायुत्वम्, आनन्दस्वरूपत्वाद् आह्लादकत्वाच्च चन्द्रत्वम्, सर्वेभ्यो महत्त्वाच्च ब्रह्मत्वम्, सर्वत्र व्यापकत्वादप्त्वम्, सर्वप्रजायाः स्वामित्वात् प्रजापतित्वमित्यादिकमपि यत्किञ्चित्, तथात्वे केनचिद् गुणेनाग्न्यादिप्रयोगसम्भवेन साधारण्यापातात्। सिद्धान्ते तु—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इतिवद् बाधसामानाधिकरण्येन सर्पो रज्जुरितिवत्, मृद् घट इतिवच्च कार्यकारणभावाच्च 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) इति न्यायेन तदनन्यत्वेन तच्छब्दप्रयोगः ॥ १ ॥

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ विशेष रूप से द्योतमान महानारायण पुरुष से ही निमेष आदि काल के विविध रूप प्रकट होते हैं। कोई भी प्राणी इसके ऊपरी भाग को, तिर्यक् भागों (चारों दिशाओं) को और मध्य को भी ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदि का विषय नहीं है ।। २ ।।

सर्वे निमेषाः कालविशेषास्त्रुटिकाष्ठाघट्यादयः पुरुषाद् बृहत्तमरूपात् सकाशाज्जज्ञिरे उत्पन्नाः। कथम्भूतात् पुरुषात् ? विद्युतः, विशेषेण द्योतते प्रकाशते स्वात्मतयेति विद्युत्, तस्मात् प्रत्यक्चैतन्याभिन्नप्रकाशात्। किञ्च, एनं पूर्वोक्तं पुरुषम्, ऊर्ध्वमुपरिभागे कश्चिदपि न परिजग्रभन्न परिगृह्णाति। एनं तिर्यञ्चं चतुर्दिक्षु न परिगृह्णाति। मध्ये मध्यदेशेऽपि नैनं कश्चित् परिगृह्णाति, प्रत्यक्षादीनामविषयत्वात्, 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ३।९।२६) इति श्रुतेः। यो हि प्रत्यक्षादीनां विषयस्तस्य ऊर्ध्वाधस्तिर्यङ्मध्यादिसम्भवः, तस्यैव च ग्रहणं सम्भवति, नापरिच्छिन्नस्य सत्यज्ञानानन्दलक्षणस्य ब्रह्मणः।

अध्यात्मपक्षे—उक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यस्माद्विद्युतः पुरुषात् सर्वे निमेषा अधिजज्ञिरे तमेनं कोऽपि नोर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्, तं यूयं सेवध्वम्' इति, तदपि न, आकाशादिषु व्यभिचारात्। नेत्रोन्मीलनादयः कलाकाष्ठादिकालावयवास्तु नेत्रादिभ्यो जायमानाः स्पष्टमुपलभ्यन्ते, कथं तेषामीश्वरहेतुकत्वं सम्भवति ? सिद्धान्ते तु नेत्रादीनामपि सूर्यदैवतत्वात् तत्रापि तत्कारणकत्वं न विरुध्यते, सोपाधिकाद् आदित्यात् परमेश्वरात् तेषामुत्पत्तिसम्भवात् ॥ २ ॥

न तस्य॑ प्रति॒मा अ॑स्ति॒ यस्य॑ नाम॑ म॒हद्यशः॑।
हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ इत्ये॒ष मा मा॑ हि॒ꣳसीदित्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒त इत्ये॒षः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ— उस महानारायण पुरुष का कोई उपमान नहीं है, अर्थात् उसकी बराबरी करने वाला कोई नहीं है। उसका नाम महान् यश को देने वाला है, इसमें वेद ही प्रमाण है। जैसे कि 'हिरण्यगर्भः' (२५।१०), 'मा मा हिꣳसीत्' (२१।१०२), 'यस्मान्न जातः' (८।३६) इत्यादि श्रुतियाँ इसके महान् यश को वर्णित करती हैं ॥ ३ ॥

द्विपदा गायत्री। अपरिच्छेदमेवाह—न तस्येति। तस्य विज्ञानात्माभिन्नस्य परमात्मनः प्रतिमा प्रतिमानमुपमानं न किञ्चिदप्यस्ति, सर्वस्य परिच्छिन्नत्वात् तस्य चापरिच्छिन्नत्वात्, सर्वस्य दृश्यत्वात् तस्य च दृक्त्वात्। अत एव यस्य नाम प्रसिद्धं महत् सर्वातिशायि यशः कीर्तिः। हिरण्यगर्भ इत्येषोऽनुवाकश्चतुर्ऋचः—(१) हिरण्यगर्भः (२५।१०), (२) यः प्राणतः (२५।११), (३) यस्येमे हिमवन्तः (२५।१२), (४) य आत्मदा (२५।१३); मा मा हिꣳसीत् (१२।१०२) इत्येका एषा ऋक्, यस्मान्न जात इत्येषोऽनुवाकः। एष चानुवाको द्विकण्डिकः—(१) यस्मान्न जातः (८।३६), (२) इन्द्रश्च सम्राट्। एताः प्रतीकचोदिताः पूर्वपठितत्वादादिमात्रेणोक्ता ब्रह्मयज्ञे जपे च सर्वा अध्येयाः। एवं सर्वत्र।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणः सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यत्वाद् अद्वितीयत्वादनुपमत्वान्निरतिशयैश्वर्यत्वान्निरस्तसाम्यातिशयत्वाच्च तस्योपमानं किञ्चिदपि क्वापि न सम्भवतीति तत एव यस्य महदनन्तं यशः कीर्तिवैभवः।

दयानन्दस्तु—'तस्य परमेश्वरस्य प्रतिमा प्रतिमीयते यया तत्प्रतिमापकं सदृशं तोलनसाधनं प्रतिकृतिराकृतिर्वा नास्ति। यस्य नाम स्मरणं महत् पूज्यं यशः कीर्तिकरं धर्म्यकर्मचरणं हिरण्यगर्भसूर्यविद्युदादिपदाधि-

करण एवान्तर्यामितया प्रत्यक्षो मा मां हिंसीत यस्मान्न जात उत्पन्न एषः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रतिमाशब्दस्य प्रतिकृत्यर्थताया अनुपदं निराकरणात्। न चान्तर्यामितया परमेश्वरः प्रत्यक्षः, तथात्वे तद्विषये विवादानुपपत्तेः। वस्तुतस्तु हिरण्यगर्भ इत्यादीनि पदानि मन्त्रप्रतीकरूपाण्येव। न चात्र प्रतिमानिषेधः सम्भवति, पूर्वाध्यायेऽन्त्यायां कण्डिकायां 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' (३१।२२) इति गदितम्। कथङ्कारं निराकारस्य पत्नीद्वयम्? स एव आदित्यादिरूपेण पूज्यते। सर्वे निमेषा यतो जायन्ते, अभिन्ननिमित्तोपादानत्वाद् यस्यैव सर्वभवनम्, न तस्य प्रतिमाऽस्तीति कथं तस्य मूर्तिनिषेधः सम्भवति? तस्मात् प्रतिमाननिषेधपर एव मन्त्रः। अत्रैव हिरण्यगर्भ इति प्रतीक उक्तः। तस्य च हिरण्यगर्भत्वं ज्योतिर्मयत्वं च मूर्तिमत्त्वमेव। तस्यैव च हविषा विधेमेति पूजनं ज्ञायते। 'उत्तानं प्राञ्चꣳ हिरण्यपुरुषं तस्मिन् हिरण्यगर्भ इति' (का० श्रौ० १७।४।३) इति भगवता परमर्षिणा कात्यायनेन हिरण्यगर्भ इति मन्त्रेण मूर्तिस्थापनादिकमुक्तम्।

मा मा हिꣳसीदित्येतदपि मन्त्रान्तरस्य प्रतीकरूपम्। तस्यायमर्थः—यः सत्यधर्मा भगवान् पृथिव्या दिवश्च जनयिता, यश्च जगदाह्लादजनयित्रीरपः सृजति, यश्च प्रथमः सृष्टेभ्यः पूर्वमेव जजान अभिव्यक्तः, स मां मा हिंसीत्। यस्येति प्रतीकसूचिताभ्यां मन्त्राभ्यां मूर्तिमतः पूजनं स्पष्टं विज्ञायते, तेन मन्त्रेण मूर्तिनिषेध-कल्पनं विप्रतिषिद्धमेव। तत्रैव 'यस्मान्न जातः' इति तृतीयः प्रतीकोऽपि। स चायं मन्त्रः—'यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥' (वा० सं० ८।३६)। एतदर्थस्तु—यस्मादन्यः परो नास्ति, यो भुवनानि प्रविष्टोऽन्तर्यामी स षोडशी प्रजया रममाणः प्रीयमाणः, तत्पालनार्थमग्निवायुसूर्याख्यानि त्रीणि ज्योतींषि सचते। स्पष्टमत्रापि भगवतो ज्योतिष्मत्त्वं ज्ञायते। किञ्च, नात्र प्रतिमाशब्दो मूर्तिपरः, अनुपयोगात्। लोके वेदे वा स एवार्थो युक्तो यश्च स्वरूपतो भावतो वा वाच्यार्थतयोपयुज्यते। यश्च वाक्यार्थे नोपयुज्यते, स कृतोऽप्यर्थो व्यर्थो भवति। यथा पाकोपक्रमे सैन्धवशब्दो नाश्वपरः सम्भवति। अत्र तु यस्य भगवतो महद्यशो नामास्ति, तस्य प्रतिमा प्रतिकृतिर्नास्तीति तथा नोपयुज्यते। नहि मूर्त्यभावो यशोमहत्त्वे कारणत्वमापद्यते। महायशस्विनां महोदयानां मूर्त्यभावो केनानुभूयते? प्रत्युतानु-भूयन्ते यशस्विनां सहस्रशः प्रतिकृतयः। तस्मान्न प्रतिमाशब्दो मूर्तिपरः, किन्तूपमानपर एवेत्यलमनल्प-जल्पनेन॥ ३॥

एषो ह॑ दे॒वः प्र॒दिशोऽनु॒ सर्वाः॒ पूर्वो॑ ह जा॒तः स उ॒ गर्भे॑ अ॒न्तः।
स ए॒व जा॒तः स ज॑नि॒ष्यमा॑णः प्र॒त्यङ् जना॑स्तिष्ठति स॒र्वतो॑मुखः॥ ४॥

मन्त्रार्थ—यही पुरुष सब दिशाओं में व्याप्त होकर स्थित है। हे भक्तजनों! शास्त्रों में यह प्रसिद्ध है कि भगवान् नारायण ही सबसे पहले प्रकट हुए, अर्थात् ब्रह्मभाव से महानारायण ने पुरुषभाव को प्राप्त किया। ब्रह्माण्डरूप गर्भ के मध्य में ये ही स्थित रहते हैं। जो कुछ अब तक उत्पन्न हुआ है, अथवा आगे उत्पन्न होगा, वह सब इनका ही स्वरूप है। ये नारायण सर्वव्यापी और सब ओर मुख वाले हैं॥ ४॥

चतस्रस्त्रिष्टुभः। एष प्रत्यक्चैतन्याभिन्नोऽपरोक्षो ह प्रसिद्धो देवो द्योतनात्मकत्वात् स्वप्रकाशः सर्वा निखिलाः प्रदिशः प्राच्याद्या अनुतिष्ठति व्याप्य तिर्यगूर्ध्वमधश्च वर्तते। हे जनाः, एष पूर्वः प्रथमो जात उत्पन्नो ह इति प्रसिद्धमेव। गर्भे अन्तर्गर्भमध्ये स उ स एव तिष्ठति। जातोऽपि स एव। जनिष्यमाण उत्पत्स्यमानोऽपि स एव। प्रत्यङ् प्रतिपदार्थमञ्चतीति प्रत्यङ् सर्वतोमुखः, सर्वतो मुखं मुखाद्यवयवा यस्य सः। मुखमित्यन्येषा-मप्यवयवानामुपलक्षणम्। सर्वात्मत्वादेव विश्वविराट्तैजसहिरण्यगर्भप्राज्ञाव्याकृतादिव्यष्टिसमष्टिरूपेण सर्वत्र

स एव वर्तते। स एव च केनचिद्रूपेण मध्येऽस्ति, केनचिद्रूपेण जातः केनचिद्रूपेण जनिष्यमाणः। स एव च प्रतिपदार्थमञ्चति। स एव विराट्स्वरूपेण सर्वतोमुखः सर्वतः पाणिपादः सर्वतोऽक्षिशिरोमुख इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अत्रापि स एवार्थः।

दयानन्दस्तु —'हे जनाः, एषो ह देवः सर्वाः प्रदिशोऽन्तः पूर्वो ह जातः स जनिष्यमाणः सर्वतोमुखः प्रत्यङ् तिष्ठति, स युष्माभिरुपासनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अन्तःपदस्य अन्तःकरणार्थत्वे मानाभावात्। जनिष्यमाणः प्रसिद्धिं प्राप्स्यमान इत्यप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्। निराकारस्य च कथं सर्वतोमुखाद्यवयवत्वं सम्भवति? न च तेन मुखादीन्द्रियकार्यकरत्वं विवक्षितमिति वाच्यम्, लाक्षणिकार्थापेक्षया मुख्यार्थस्यैव प्राशस्त्यात्॥ ४॥

यस्माज्जातं न पुरा किञ्च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥ ५॥

मन्त्रार्थ— जिससे पहले दूसरा कुछ भी प्रकट नहीं हुआ, जो सारे ब्रह्माण्ड और प्राणियों में व्याप्त है, वह षोडश कलाओं से सम्पन्न प्रजापालक प्रजापति नाना स्वरूप धारण कर प्रजाओं में अपने आप ही क्रीड़ा करता हुआ सूर्य, चन्द्र और अग्नि रूप ज्योतियों का सेवन करता है, अर्थात् सूर्य आदि के रूप में प्रकट होता है॥ ५॥

यस्मात् पुरुषात् पुरा पूर्वं किञ्चन किमपि न जातमेव, यश्च विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि आबभूव समन्ताद् भावयामास, अन्तर्भावितणिजर्थः। स षोडशी षोडशावयवलिङ्गशरीरी प्रजापतिः सन् प्रजया संरराणो रममाणस्त्रीणि ज्योतींषि सूर्यचन्द्राग्निरूपाणि सचते सेवते, स्वज्योतिषा ज्योतिष्मन्ति करोति। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥' (मु० २।२।१०) इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु —'हे मनुष्याः, यस्मात् पुरा किञ्चन न जातम्, यः सर्वत आबभूव, यस्मिन् विश्वा भुवनानि वर्तन्ते, स एव षोडशी प्रजया सह संरराण सम्यग् रममाणः प्रजापतिस्त्रीणि विद्युत्सूर्यचन्द्ररूपाणि ज्योतींषि सचते समवैति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वास्याभावे सर्वतो भवनासम्भवात्॥ ५॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ६॥

मन्त्रार्थ—जिस पुरुष ने स्वर्ग को वर्षा करने के लिये उद्यत किया और पृथ्वी को दृढ़ किया, अर्थात् प्रजा के लिये प्राणधारण, वृष्टिकरण और अन्ननिष्पादन आदि कार्य किये, जिसने स्वर्ग को एक जगह स्तम्भित कर दिया, जिसकी कृपा से दुःखरहित गोलोक भक्तों को दृष्टिगोचर होता है, जो आकाश में जल का निर्माता है, उस महानारायण पुरुष के निमित्त हम आहुति देते हैं॥ ६॥

येन पुरुषेण द्यौरुग्रा उद्गूर्णा वृष्टिदायिनी कृता, पृथिवी भूमिश्च येन पुरुषेण प्राणिधारणाय वृष्टिग्रहणायान्ननिष्पादनाय च दृढा स्थिरीकृता। येन स्वर् आदित्यमण्डलं स्तभितं स्तम्भितम्, येन नाकः स्वर्गः स्तम्भितः,

यश्च अन्तरिक्षे नभसि रजसो वृष्टिलक्षणस्योदकस्य विमानो विमिमीते योऽसौ विमानो निर्माता, तं परमात्मानमचिन्त्यैश्वर्यमाहात्म्यमपहाय कस्मै देवाय हविषा विधेम हविर्दद्मः ? न कस्मैचिदित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे अस्मिन् पक्षेऽप्युक्त एवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'येनोग्रा द्यौः पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितम्, योऽन्तरिक्षे वर्तमानस्य रजसो विमानोऽस्ति, तस्मै कस्मै देवाय हविषा विधेम, एवं यूयमपि सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सुखस्य मोक्षस्य च जीवैरपि धारणसम्भवेन स्वर्नाकयोर्धारणस्य परमेश्वरस्यासाधारणधर्मत्वानुपपत्तेः । लोकानां मातारोऽप्यनेके सिद्धाः सन्त्येवेति योगवाशिष्ठादौ स्फुटम् । सर्वलोकस्रष्टृत्वमेव परमेश्वरस्यासाधारणो धर्मः । न चात्र तथात्वबोधकः कश्चन शब्दोऽस्ति ॥ ६ ॥

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने । यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ आपो ह यद् बृहतीर्यश्चिदापः ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ वृष्टिजनक हविरूप अन्न से प्राणियों को तृप्त करने वाली, सब तरफ से शोभायमान पृथ्वी ने और स्वर्ग के देवताओं ने मन से जिस पुरुष को शोभन सृष्टि करते हुए देखा, जिस पृथ्वी और स्वर्ग के मध्य सूर्य का उदय होता है, वह अधिक प्रकाशित होता है, उस प्रजापति के निमित्त हम आहुति देते हैं ॥ ७ ॥

यं पुरुषं क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ मनसा अभ्यैक्षेतां साधुकृतमित्येतत् पश्यताम् । कीदृश्यौ क्रन्दसी ? अवसा हविर्लक्षणेनान्नेन वृष्टिजनकेन तस्तभाने प्राणिजातं स्तम्भयन्त्यौ धारयन्त्यौ । व्यत्यये स्तम्भतेर्जुहोत्यादित्वम् । रेजमाने देदीप्यमाने शोभमाने वा । सूरः सूर्यो यत्र द्यावापृथिव्योरुदितः सन् अधि अधिको विभाति विशेषेण दीप्यते, यद्वा अधिकं शोभते वित्रासयति, यद्वा यत्र अधि उपरि स्थितो यदाधार उदित आविर्भूतः सूर्यो विभाति, तं विहाय कस्मै देवाय हविर्दद्मः । 'आपो ह यद् बृहतीः' (वा० सं० २७।२५), 'यश्चिदापः' (वा० सं० २७।२६) इति द्वे प्रतीकोक्ते जपादावध्येये । व्याख्यानं तु प्रतीकोक्तानां पूर्वमेव कृतम् ।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यं परमात्मानं प्राप्ते तस्तभाने धारिके क्रन्दसी गुणैः प्रशंसनीये द्यावापृथिव्यौ स्तः, सर्वं धरतो यत्र सूरोऽध्युदितो यद् या बृहतीरापो ह यांश्चिदापः सन्ति, ताश्चिदपि विभाति, तं तौ चाध्यापकोपदेशकौ एनसा अभ्यैक्षेताम् । तस्मै कस्मै····' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हविषा आदातव्येन योगाभ्यासेनेति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात् । नहि योगाभ्यास एवादातव्यो भवति, तत्फलस्य सर्वाधिकादातव्यत्वोपपत्तेः । विभाति विशेषेण प्रकाशयन्नित्यपि निर्मूलम्, धातोरकर्मकत्वात् । क्रन्दसी प्रशंसनीये इत्यपि निर्मूलम्, धात्वर्थविरोधात् ॥ ७ ॥

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—वेदान्त के रहस्यों के ज्ञाता विद्वद्गण बुद्धि अथवा हृदय में स्थित जिस नित्य ब्रह्म को देखते हैं, जिस ब्रह्म में सारा विश्व अद्वैत महानारायण का वासस्थान होकर स्थित है, जिस ब्रह्म में यह सारा भूत-सर्ग संहार काल में, प्रलय में एकीभूत हो जाता है और उत्पत्ति काल में प्रकट होता है, वह महानारायण सारी प्रजा में ओतप्रोत भाव से व्याप्त है ॥ ८ ॥

वेनः, अजति जानाति वेदितव्यानि सर्वाणीति वेनः, 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ० ३।६) इति न-प्रत्यये 'अजेर्व्यघञपोः' (पा० सू० २।४।५६) इति वीभावे गुणे च रूपम्, विदितवेदितव्यो वेदवेदान्तरहस्यज्ञस्तद् ब्रह्म पश्यति जानाति। अथवा –'वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः' (निरु० १०।३८) इति यास्कः। सर्वजनकमनीयः सर्वेच्छाविषयः परब्रह्म, सर्वात्मत्वात्। तज्ज्ञाता पश्यत् पश्यति जानातीत्यर्थः। कीदृशं तद् ब्रह्म ? गुहा गुहायां रहःस्थाने बुद्धौ वा निहितं स्थापितम्, दुर्ज्ञेयमित्यर्थः, गुहायामिव स्थितम्। पुनः कथम्भूतं तत् ? सत्, नित्यम्, यत्र ब्रह्मणि विश्वं सर्वं विकारजातमेकनीडम् एकं ब्रह्मैव नीडमाश्रयो यस्य तदेकनिलयं भवति, अविभक्तमविशेषकारणरूपं भवतीत्यर्थः, 'सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० ६।८।४) इति श्रुतेः। तस्मिन् ब्रह्मणीदं सर्वं भूतजातं समेति स इच्छते एकीभवति संहारकाले, व्येति निर्गच्छति च ततः सर्गकाले। स परमात्मा प्रजासु ओतः प्रोतश्च ऊर्ध्वतन्तुषु पट इव शरीरभावेन ओतः, तिर्यक्तन्तुषु पट इव शरीरिभावेन प्रोतश्च। पुनः कीदृशः ? विभुः कार्यकारणरूपेण विविधं भवतीति विभुः। तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं सर्वमिदं विकारजातं समेति संहृतिकाले समेत्य च व्येति सृष्टिकाले वैविध्योपेतं भवति। स च परमेश्वरः शरीरभावेन ओतो जीवभावेन प्रोतश्च। इतरथा वा विभुः कार्यकारणभावेन प्रजासु विभवति च। सर्वं स एवेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अत्राप्येष एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यत्र विश्वमेकनीडमेकस्थानं भवति, तद् गुहा निहितं सद्वेनः पण्डितः पश्यति। तस्मिन्निदं सर्वं समेति च व्येति च। स विभुः प्रजास्वोतः प्रोतश्च। स एवोपासनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परमात्मनि विश्वं केन सम्बन्धेन तिष्ठतीत्यनुक्तेः। न च तन्तौ पट इव, तन्तूनामिव त्वया परमात्मनः समवायिकारणत्वानुपगमात्। नापि रज्ज्वां सर्प इव, त्वया जगतो मिथ्यात्वानुपगमात्। नाप्याकाशे पटादय इव, ब्रह्मणः सच्चिदानन्दघनत्वेन सावकाशत्वायोगात् ॥ ८ ॥

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—वेदवचनों का धारक विद्वान् जिस महानारायण के उस अविनाशी हृदय अथवा बुद्धि में विद्यमान तेजस्वरूप नानारूप विराट् ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि के रूपों में एक पद से विभक्त होकर स्थित है, उसी महानारायण के तीन पद गुफा में छिपे हुए हैं। जो इस स्वरूप को जान लेता है, वह ब्रह्मा का भी पिता बन जाता है, अर्थात् विष्णु-भाव को प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

विद्वान् वेत्तीति विद्वान्, विदेः शता, तस्य 'विदेः शतुर्वसुः' (पा० सू० ७।१।३६) इति वस्वादेशेन रूपसिद्धिः, पण्डितः। गन्धर्वः, गन्धर्वलोके ब्रह्मविद्यायाः सुप्रचाराद् गन्धर्वः। अथवा गां वेदवेदान्तवाचं धारयति विचारयति यः स गन्धर्वः, वेदान्तवेत्ता। नु क्षिप्रं तद् ब्रह्म प्रवोचेत् प्रब्रूयात्। कीदृशं ब्रह्म ? अमृतम्, षड्विधभावविकारवर्जितत्वात् शाश्वतम्। पुनः कीदृशम् ? गुहा गुहायां सत् साक्षित्वेन सदा विद्यमानम्, अथवा गुहायामिव निगूढ(अविवृत)वेदान्तरहस्यसद्भावम्, धाम धर्मस्थानं स्वरूपं वा विभृतं विहृतं सृष्टिस्थितिप्रलयैर्विभक्तं नानाभूतं वा। किञ्चास्याममृतस्य ब्रह्मणस्त्रीणि पदानि स्वरूपाणि गुहा गुहायां निहिता निहितानि। अथवा अस्य त्रीणि पदानि सृष्टिस्थितिप्रलयाः, त्रयो वेदाः, त्रयः काला वा। भूयस्त्वोपलक्षणार्थं वा, भूयांसो हि तत्र गुणाः श्रूयन्ते श्रुतिषु विज्ञानघनानन्दघनसत्यसङ्कल्पादयः, परब्रह्मान्तर्याम्यव्याकृतानि वा त्रयः पादाः, यश्च तानि पदानि वेद जानाति, स पितुरपि ब्रह्मणोऽपि पिता परमात्मा असद् भवति, परब्रह्मस्वरूपो भवतीत्यर्थः। तद्धि ब्रह्मरूपं श्रेष्ठम्, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यो गन्धर्वो विद्वान् गुहा विभृतममृतं धाम तत् सन्नु प्रवोचेत्, यान्यस्य गुहा निहितानि पदानि त्रीणि सन्ति, तानि च वेद, स पितुः पिताऽसत्' इति, तदप्यसत्, त्वद्रीत्या प्रवोचेदित्यनेनैव पितुः पितेति वाक्यस्य गतार्थत्वात् । 'गुहा बुद्धौ विभृतं विशेषेण धृतममृतं धाम तन्नित्यं प्रवोचेत्' इत्यप्यसङ्गतम्, विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि—गुहापदेन कस्य बुद्धिरिष्यते ? परमेश्वरस्येति चेन्न, तस्य मनोबुद्ध्याद्यभावात्, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २।१।२) इति श्रुतेः । नापि जीवस्य, त्वद्रीत्या नित्यमुक्तिस्थानस्य बुद्धावसम्भवात् ॥ ९ ॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ वह परमात्मा हमारा बन्धु है, हमें उत्पन्न करता है, हमारा विधाता है । वह सब प्राणियों और भुवनों को एवं तेजस्वी धामों को जानता है । देवता जिस मोक्षदायक ज्ञान को प्राप्त कर स्वर्ग में स्वेच्छानुसार विचरण करते हैं, आनन्द का उपभोग करते हैं, वह उसी की कृपा का फल है ॥ १० ॥

स परमेश्वरो नोऽस्माकं बन्धुः, बध्यते स्नेहपाशेनेति बन्धुः, बन्धुवन्मान्यो वा । जनिता जनयिता, तृचि 'जनिता मन्त्रे' (पा० सू० ६।४।५३) इति णिलोपः । स च नो विधाता धारयिता, प्राणस्यापि प्राणत्वात् । स विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि धामानि स्थानानि च वेद जानाति । यद्वा स नो विधाता धारयिता । यो धामानि ब्रह्मणः स्थानानि वेद भुवनानि भूतजातानि च विश्वा विश्वानि सर्वाणि वेद । यत्र देवा अग्न्यादयोऽमृतं परब्रह्मस्वरूपमानशाना व्याप्नुवन्तस्तृतीये धामन् धामनि स्वर्गरूपे स्थाने, अधि उपरि स्थिता ऐरयन्त स्वेच्छया प्रवर्तन्ते, तच्च यो वेद, स नो बन्धुरित्याद्यनुवर्तते । यद्वा अमृतं मोक्षप्रापकं ज्ञानं यत्र ब्रह्मणि, आनशाना व्याप्नुवानाः, अश्नुवते इत्यानशानाः, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इत्यशेर्ह्वादित्वेन द्वित्वे शानच्यभ्यासस्य नुमागमे रूपम् । ब्रह्मनिष्ठं ज्ञानं प्राप्ताः सन्तः स्वर्गे देवा मोदन्ते । यद्यपि ब्रह्मज्ञानफलं कैवल्यम्, स्वर्गस्त्वग्निहोत्रादिकर्मफलम्, तथापि स्वर्गप्राप्त्यनन्तरभाविब्रह्मज्ञानं नासम्भवि, तत्फलं तु स्वर्गप्रापकप्रारब्धकर्मसमाप्तावेव भविष्यति, प्रारब्धस्य बलवत्त्वात् । ब्रह्मज्ञानप्राप्ताः सिद्धा अपि स्वेच्छया लोकलोकान्तरस्थितिं द्रष्टुं गन्तुं शक्नुवन्त्येव । अत एव ऐरयन्त स्वेच्छया प्रवर्तन्त इत्युव्वटाचार्याः । अध्यैरयन्त स्वेच्छया प्रवर्तन्त इति महीधराचार्याः ।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'यत्र तृतीये धामन्नमृतमानशाना देवा अध्यैरयन्त यो विश्वा भुवनानि धामानि वेद स नो बन्धुर्जनिता विधाता' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जीवप्रकृत्योर्धामत्वाप्रसिद्ध्या परमेश्वरस्य तृतीयधामत्वासिद्धेः । न च शुद्धस्य मोक्षसुखभोक्तॄणामाधारत्वं सम्भवति, चेतनानां चेतनान्तराश्रयत्वासिद्धेः । न च मुक्तानां स्वेच्छापि सम्भवति, तथात्वे मुक्तत्वानुपपत्तेः ॥ १० ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ अनन्य भक्तजन ज्ञाननिष्ठ सर्वमेधयाजी की मुक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सभी प्राणियों को ब्रह्मरूप जान कर, भू आदि लोकों को ब्रह्मरूप जान कर, सब दिशाओं और विदिशाओं को ब्रह्मरूप जान कर, प्रथमोत्पन्न वेदत्रयीरूप वचनों को भलीभाँति समझ कर, अर्थात् तदनुसार यज्ञ और उपासना करके सर्वमेधयाजी जीवरूप से ब्रह्मस्वरूप यज्ञ के अधिष्ठाता परमात्मा में प्रवेश कर जाता है, अर्थात् परमात्मा के साथ सायुज्य को प्राप्त कर लेता है ।। ११ ।।

अथ सर्वेषु भूतेष्वहमस्मि सर्वाणि भूतानि मयि सन्तीति विज्ञानावगुण्ठितस्य सर्वमेधयाजिनो मुक्तिरुच्यते द्वाभ्यां कण्डिकाभ्याम् । न चात्र सर्वमेधग्रहोऽपि, दर्शनस्यैव प्राधान्यात् । एवंविदो यजमानस्य अग्निहोत्रादयः सर्वेऽपि यज्ञाः सर्वमेधा एव । आलम्बनमात्रं हि तत्र यज्ञः । भूतानि सर्वाणि परीत्य सर्वाधिष्ठानभूतब्रह्मत्वेनावधार्य लोकान् भूरादींश्च परीत्य परिज्ञाय ब्रह्मरूपान्निश्चित्य सर्वाः प्रदिशः प्राच्याद्या दिश आग्नेय्यादयोऽवान्तरदिशश्च परीत्य ब्रह्मरूपा ज्ञात्वा प्रथमजां प्रथमोत्पन्नां प्रथममाविर्भूतां वाचं त्रयीलक्षणाम्, 'अपि हि तस्मात् पुरुषाद् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत' (श० ६।१।१।१०) इति श्रुतेर्ब्रह्मपदेनात्र वेद एव गृह्यते । यद्यप्यनाद्येव तादृशं ब्रह्म, तथापि महाप्रलयकाले ब्रह्मशक्त्यात्मनावस्थितं तदेव पुरुषादपि पूर्वमाविर्भवति निःश्वासन्यायेन, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः' (बृ० २।४।१०) इति श्रुतेः । उपस्थाय संसेव्य कर्मोपासनादि कृत्वा, उपक्रमोपसंहारादिभिः षड्भिर्लिङ्गैः प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि महातात्पर्यमवधार्य, तदनुगुणैः स्तत्रैर्मननेन श्रुतमर्थं व्यवस्थाप्य, दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारपूर्वकं निदिध्यास्य, आत्मना पुरुषरूपेण ऋतस्य यज्ञस्यात्मानं यज्ञाधिष्ठातारं परमात्मानमभिसंविवेश ब्रह्मात्मभावेनावतिष्ठते, 'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥' (म० स्मृ० १२।९१), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० उ० ३।२।९) इत्यादिवचनेभ्यः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं यो भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च परीत्य ऋतस्यात्मानमभिसंविवेश प्रथमजां वेदचतुष्टयीमुपस्थाय पठित्वात्मना तं प्राप्नुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सत्यात्मकस्य परमात्मनः सत्यात्मप्रवेशानुपपत्तेः । अत एव 'ऋतस्य सत्यस्य स्वरूपमधिष्ठानं वा आत्मना स्वरूपेण अन्तःकरणेन चाभिमुख्येन सम्यक् प्रविशति' इति व्याख्यानमपि निर्मूलम्, सर्वाधिष्ठानसत्यस्याधिष्ठानान्तरानुपपत्तेः । न च प्रवेष्टुः परमेश्वरस्यान्तःकरणमस्ति, तस्य शरीरत्रयसम्बन्धानुपपत्तेः ॥ ११ ॥

परि॒ द्यावा॑पृथि॒वी स॒द्य इ॒त्वा परि॑ लो॒कान् परि॒ दिशः॒ परि॒ स्वः॑ ।
ऋ॒तस्य॒ तन्तुं॒ वित॑तं वि॒चृत्य॒ तद॑पश्य॒त् तद॑भव॒त् तदा॑सीत् ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—ज्ञानी पुरुष पृथ्वी और स्वर्ग को सद्यः ब्रह्मरूप जान कर, लोकों को ब्रह्मरूप जान कर, दिशाओं को और सूर्य को ब्रह्मरूप जान कर, यज्ञ की इतिकर्तव्यता को विस्तार से समझ कर जो ब्रह्म का दर्शन करता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है, वह पहले भी ब्रह्म ही था । वस्तुतः अज्ञान की निवृत्ति को ही ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मभाव कहा जाता है ।। १२ ।।

परीत्युपसर्ग इत्वेत्यनेन सम्बद्ध्यते । अश्वमेधयाजी द्यावापृथिव्यौ सद्यः परि इत्वा परीत्य ब्रह्मरूपेण ज्ञात्वा लोकान् परीत्य दिशः परीत्य स्वरादित्यं च परीत्य, सर्वं ब्रह्मैव न ब्रह्मव्यतिरिक्तं किमपीति ज्ञात्वा । तत्त्वस्य गूढत्वेन पुनरुक्तिर्न दोषाय, पौनःपुन्येन श्रवणादेव चित्तारोहणसम्भवात् । ऋतस्य यज्ञस्य तन्तुमितिकर्तव्यतां विततं प्रसारितं यथा स्यात्तथा विचृत्य समाप्य यज्ञं कृत्वा ब्रह्म अपश्यत् पश्यति, तदभवद् ब्रह्मैव भवति । वस्तुगत्या तदेवास्ति । अज्ञाननिवृत्तिरेव दर्शनं ब्रह्मभवनं च, विस्मृतकण्ठमणिप्राप्तिवत् । दशमस्त्वमसीत्याप्त-

वाक्येन दशपुरुषाज्ञाननिवृत्त्या तद्दर्शनप्राप्तिवच्च, 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति श्रुतेः, 'तदेव[1] सन्तस्तदु तद् भवामः' इति श्रुतेश्च। यथा ह्येकस्याग्नेः प्रदीपसहस्राणि तुल्यशक्तीनि निर्गच्छन्ति, एवं परमात्मन इमे जीवा अपि व्युच्चरन्ति।

आभ्यां कण्डिकाभ्यां गृहस्थानामेव मुक्तिर्दर्शिता। तेषां हि भूयांस उपाया यज्ञादयः सन्तीत्युव्वटाचार्याः। इदं च सगुणब्रह्म सालोक्य-सामीप्य-सार्ष्टि-सायुज्याद्यभिप्रायेण प्रत्येतव्यम्, कर्मोपासनसमुच्चयेन हिरण्यगर्भ-पदप्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्, 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥' (वा० सं० ४०।१४) इति मन्त्रवर्णात्। कैवल्यमुक्तिस्तु साध्यसाधनैषणात्यागपूर्वकात् केवलादेव ज्ञानाद् भवति, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वा० सं० ३१।१८) इति मन्त्रवर्णात्, 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' (मु० १।२।१२), 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ० ३।५।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः परमेश्वरो द्यावापृथिवी सद्य इत्वा पर्यभवत्, यो दिशः सद्य इत्वा पर्यासीत्, यः स्वः सद्य इत्वा पर्यपश्यत्, य ऋतस्य विततं तन्तुं विचृत्य तत्सुखमपश्यत्, येन तत्सुखमभवत्, यतस्तद्विज्ञानमासीत्, तं यथावद्विज्ञायोपासीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथाहि सर्वप्राप्तस्य विभोः प्राप्त्यन्तरयोगः कथङ्कारं घटते? ऋतस्य विततं तन्तुं कारणं विचित्य विविधतया ग्रन्थयित्वा बद्ध्वा तत्सुखमपश्य-दित्यादिकमप्यसङ्गतमेव, सत्यकारणग्रन्थिबन्धनासिद्धेः। तेन बन्धनेन सुखं विज्ञानं च कीदृशमित्यपि वक्तव्य-मासीत्। सुखरूपस्य सद्यः सुखाप्तिरपि निर्मूलैव, विरोधात्॥ १२॥

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषँ स्वाहा॥ १३॥

मन्त्रार्थ—यज्ञगृह के पालक, अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न, परमेश्वर की प्रिय कमनीय शक्ति अग्निदेव से मैं धन-ऐश्वर्य की तथा धारणावती मेधा की याचना करता हूँ। उसके निमित्त यह श्रेष्ठ आहुति गृहीत हो॥ १३॥

इतः प्रारभ्य तिसृभिर्ऋग्भिर्मेधा याच्यते श्रीश्च चतुर्थ्या। प्रथमा गायत्री सदसस्पतिर्देवता। सदो यज्ञगृहम्, तस्य पतिः सदसस्पतिरग्निस्तमद्भुतं महान्तमचिन्त्यशक्तिमिन्द्रस्य प्रियं मित्रं काम्यं कमनीयं काम्यसम्पत्करं सनिं धनं मेधामयासिषं याचे, द्विकर्मको याचिः, सदसस्पतेरचिन्त्यशक्तेरिन्द्रस्य प्रियाद् धनमेधार्थिभिः कामनीयाद् देवात् सकाशादहं सनिं धनं मेधां च याचे। तस्मै देवाय स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—सदसः संसारलक्षणस्य गृहस्य पतिं परमेश्वरम्, इन्द्रस्य जीवात्मनः प्रियं प्रेमास्पदम्, सर्वैः काम्यं सर्वान्तरात्मत्वात् सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वाच्च सनिं शमदमादिषट्सम्पत्तिरूपं धनं मेधां ब्रह्मात्म-साक्षात्कारलक्षणां मेधां चायासिषमयाचिषम्। तादृशात् परमेश्वरात् तादृशं सनिं तादृशीं च मेधां याचे इत्यर्थः। तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अहं स्वाहा सत्यया क्रियया वाचा वा यं सदसस्पतिमद्भुतमिन्द्रं काम्यं प्रियं परमात्मानमुपास्य सनिं मेधामयासिषम्, तं परिचर्यैतां यूयमपि प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाहापदस्य तथार्थत्वे मानाभावात्। निराकारस्य परमात्मनः सदसस्पतित्वमपि निर्मूलमेव। सदःस्थैरदृष्टस्य सदसस्पतित्वस्य लोकेऽदृष्टत्वात्। पालकत्वेन तत्त्वं तु निर्मूलमेव, पालकत्वसर्वसाधारण्येन वैशेष्यानुपपत्तेः॥ १३॥

---

१. अनुपलब्धमूलेयं श्रुतिः।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१४॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप मुझे आज उस मेधा के द्वारा मेधावी बनाइये, जिस मेधा को देवसमूह और पितृगण सेवन करते हैं । आपके लिये यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित है ॥ १४ ॥

मन्त्रोक्तदेवत्याऽनुष्टुप् । हे अग्ने, यां मेधां धारणावतीं धियम्, 'धीर्धारणावती मेधा' (अ० को० १।५।२) इति कोषः, लोकोत्तरप्रज्ञेति यावत्, ताम् । देवगणा इन्द्रादयः पितरश्चाग्निष्वात्तादय उपासते पूजयन्ति, तया मेधया मां मेधार्थिनमद्य अद्यैव मेधाविनं कुरु, देवपितृपूज्या बुद्धिरस्माकमस्त्वित्यर्थः । स्वाहा तस्मै देवाय सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे यां ब्रह्मात्मसाक्षात्कारलक्षणां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते पूजयन्ति, तया मामद्य शीघ्रं मेधाविनं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारवन्तं कुरु, तस्मै देवाय स्वाहा सर्वस्वमर्पितमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन् अध्यापक जगदीश्वर वा, देवगणाः पितरश्च यां मेधामुपासते, तया मामद्य मेधाविनं कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वदुक्तरीत्या देवपितृगणयोरभेदेन पौनरुक्त्यापत्तेः । न च रक्षका ज्ञानिनो भवन्ति, सैनिकानां रक्षकत्वेऽपि ज्ञानित्वायोगात् ॥ १४ ॥

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—वरुणदेव मुझे तत्त्वज्ञान को समझने में समर्थ मेधा (बुद्धि) प्रदान करें, अग्नि और प्रजापति मुझे मेधा प्रदान करें, इन्द्र और वायु मुझे मेधा प्रदान करें । हे दाता ! मुझे आप मेधा प्रदान कीजिये । आप सब देवताओं के लिये मेरी यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित है ॥ १५ ॥

लिङ्गोक्तदेवत्याऽनुष्टुप् । वरुणो देवो मे मह्यं मेधां ददातु । अग्निः प्रजापतिश्च मे मह्यं मेधां ददातु । धाता मे मह्यं मेधां ददातु । स्वाहा तस्मै सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे – वरुणः सर्ववरणीयो देवो ब्रह्मात्मा मे मह्यं मेधां ब्रह्मात्मभावावद्योतिकां प्रज्ञां ददातु । तस्या अतिदुर्लभत्वात् तदर्थं सर्वे देवा याच्यन्ते ।

दयानन्दस्तु—'यथा वरुणः परमेश्वरो विद्वान् वा स्वाहा मे मेधां बुद्धिधनं वा ददातु, अग्निः प्रजापतिर्मेधां ददातु, इन्द्रो मेधां ददातु, वायुश्च धाता मे मेधां ददातु, हे मनुष्याः ! तथा तुभ्यमपि ददातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वरुणाग्निप्रजापतीन्द्रादिशब्दानां तथार्थत्वस्य प्रसिद्धिविरोधात् । स्वाहापदस्य धर्मयुक्तक्रियार्थत्वमर्थो निर्मूल एव, शिष्टैस्तथा प्रयोगादर्शनात् ॥ १५ ॥

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥ १६ ॥

इति द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—यह ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति, दोनों मिल कर मेरी लक्ष्मी का उपभोग करें । देवगण मुझे उत्तम लक्ष्मी प्रदान करें । लक्ष्मी के निमित्त मेरे द्वारा दी गई यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित हो ॥ १६ ॥

मन्त्रोक्तदेवताऽनुष्टुप् । श्रीकामोऽनया श्रियं याचते । सदसस्पतीत्यारभ्य इमाश्चतस्र ऋचो वैदिकसम्प्रदाये श्रीसूक्तशब्देन प्रोच्यन्ते । सर्वोऽपि विधिः श्रीसूक्तवदेव कार्यः । इदं ब्रह्म ब्राह्मणजातिः, क्षत्रं क्षत्रियजातिः, उभे ब्रह्मक्षत्रे मे श्रियं मदीयां श्रियमुपजीवताम् । मयि च देवा उत्तमामुत्कृष्टां धर्मार्थकाममोक्षप्रापिकां श्रियं दधतु स्थापयन्तु, यथाहं सर्वजनभोग्यो भवामि । तस्यै ते नमः । या त्वमेव सर्वैर्जनैरभिलष्यसे, तस्यै श्रिये ते तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु । श्रियं मेधां चाप्राप्य यज्ञादिकं कर्तुं न कोऽपि प्रभवतीति ।

अध्यात्मपक्षे—इदं ब्रह्म इदं क्षत्रं च उभे ब्रह्मक्षत्रे श्रियमश्नुताम्, धर्मार्थकाममोक्षप्रापिकायां तयोः प्राधान्येनाधिकारात् । अन्येषां तु श्रीः प्रायशः कामार्थप्रापिकैव भवति । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे परमेश्वर, भवत्कृपया हे विद्वन्, तव पुरुषार्थेन स्वाहा मे ममेदं ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् । यथा देवा मयि उत्तमां श्रियं दधतु, तथाऽन्येष्वपि । हे जिज्ञासो, ते तुभ्यं तस्यैव प्रयतेमहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदेश्वरविज्ञानराज्यादेर्वा श्रीभोक्तृत्वानुपपत्तेः ॥ १६ ॥

इति शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां
द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

अस्याजरा॑सो द॒माम॒रित्रा॑ अ॒र्चद्धू॑मासो अ॒ग्नयः॑ पाव॒काः ।
श्वि॒ती॒चयः॑ श्वा॒त्रासो॑ भुर॒ण्यवो॑ वन॒र्षदो॑ वा॒यवो॒ न सोमाः॑ ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ— इस यजमान की अग्नियाँ जरा-रहित हैं, शत्रुओं से लोकों की रक्षा करती हैं, देवयान और पितृयान मार्ग से सम्बन्ध रखने वाली हैं। ये पवित्र अग्नियाँ यजमान के सुख, कल्याण, तुष्टि, शक्ति और पुष्टिरूप उज्ज्वलता को बढ़ाने वाली, शीघ्र फल देने वाली, भरण-पोषण करने वाली और वन के काष्ठों में विद्यमान वायु की तरह यजमान के मनोरथों को पूर्ण करने वाली हैं ॥ १ ॥

सर्वमेधेऽग्निष्टोमसंस्थेऽग्निष्टुत्संज्ञे प्रथमेऽहनि 'अस्याजरासः' इत्याद्याः 'महो अग्ने' इत्यन्ताः सप्तदश ऋचोऽग्निदेवत्याः पुरोरुचो भवन्ति। पुरोरुचः पुरोऽनुवाक्याः। पुरोरुक्शब्देन ऋग्रूपा ग्रहणमन्त्रा उच्यन्ते। न यजूरूपाः, 'ऋग्घि पुरोरुक्' (श० ४।२।३।७) इति श्रुतेः। उक्थ-महावैश्वदेव-पात्नीवत-हारियोजनेषु यजूरूपे ग्रहणमन्त्रे सत्यपि 'तं वा अपुरोरुक्कं गृह्णाति' (श० ४।२।३।७) इति श्रुतेस्तत्र न दोषः। अत एवाग्नेयीभिर्ऋच एव निवर्त्यन्ते, नोपयामादीनि। तत्र सार्वमेधिकानां चतुर्णामह्नां चत्वार आद्याः पुरोरुचः। यथास्याग्निष्टुदग्निष्टोमः प्रथममहर्भवति, तस्याग्नेया ग्रहा भवन्त्याग्नेय्यः पुरोरुचः। एवमिन्द्रस्तदुक्थ्यो द्वितीयमहर्भवति। तस्य ऐन्द्रा ग्रहा भवन्त्यैन्द्र्यः पुरोरुचः। सूर्यस्तदुक्थ्यस्तृतीयमहर्भवति, तस्य सौर्या ग्रहा भवन्ति सौर्यः पुरोरुचः। वैश्वदेवश्चतुर्थमहर्भवति, तस्य वैश्वदेवा ग्रहा भवन्ति वैश्वदेव्यः पुरोरुचः। त्रयोऽनुवाका अनारभ्याधीताः। एताश्च पुरोरुचो यच्छन्दस्काः प्रकृतिदृष्टास्तच्छन्दस्का इहापि प्रायो दृश्यन्तेऽन्त्यमनुवाकं वर्जयित्वा – इति सर्वानुक्रमानुसारी उव्वटमहीधराचार्ययोरभिप्रायः। आद्ये द्वे ऐन्द्रवायवग्रहस्य पुरोरुचौ। वत्सप्रीदृष्टा आग्नेयी त्रिष्टुप्।

अस्य यजमानस्याग्नयोऽजरासः, नास्ति जरा वार्धकं येषां तेऽजरासो वार्धकविहीनाः, दमां दमानाम्, दाम्यते शीतादिर्यत्रासौ दमः, बहुत्वे दमाः, तेषां दमानाम्, घञ्। 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' (पा० सू० ७।३।३४) इति वृद्धिप्रतिषेधः, 'दमे' इति गृहनामसु (निघ० ३।४।१२), गृहाणामरित्रा रक्षकाः। नावामिव केनिपाताः (डाँड़ा इति भाषा), अरिभ्यस्त्रायन्त इत्यरित्राः, 'अरित्रं केनिपातकः' (अ० को० १।१०।१३) इत्यमरः। यद्वा दमां दमनीयानां रक्षसामरित्रास्तारकाः, आर्षत्वाद् विभक्तेर्नुडभावात् सवर्णदीर्घः, भवन्त्विति शेषः। पुनः कीदृशाः ? अर्चद्धूमासः, अर्चन् पूजनीयो धूमो धूमोपलक्षिता ज्वाला येषां ते तथोक्ताः पावकाः पावयितारः शोधकाः, श्वितीचयः श्वेतत्वप्रचयकारिणः, श्वितिं श्वेतवर्णं चिन्वन्तीति श्वितिचयः, आगमशास्त्रमनित्यमिति 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) इति प्राप्ततुगभावः, श्वितिशब्दस्य छान्दसो दीर्घः, यजमानस्य श्वेतत्वं स्वच्छत्वमुज्ज्वलत्वं वर्धयन्तः। श्वात्रासः, श्वात्रशब्दो धनवाचकः (निघ० २।१०।६), क्षिप्रधनप्रदा इत्यर्थः। भुरण्यवः क्षिप्रं भरणतारः। भुरण्युशब्दः क्षिप्रवाचकः (निघ० २।१५।१४)। वनर्षदो वने काष्ठे सीदन्तीति वनर्षदः, 'वनसदोऽवेटो रेफेण' (प्रा० सू० ३।३।११) इति प्रातिशाख्यसूत्रेण रेफागमः। वायवो न वायव इव दीपयितारः। सोमाः सोमा इव यजमानेष्टदाः। यद्वा वायव इव श्वात्रासः क्षिप्रगमनाः, वनर्षदो वनमुदकम्, तत्र सन्ना उदकाभिषुताः। 'श्वात्रमिति क्षिप्रनाम, आशु अतनं भवति' (५।३) इति यास्कः।

अध्यात्मपक्षे—अस्य यजमानस्याग्नयो व्यष्टिसमष्टिरूपा आत्मानो विश्वतैजसप्राज्ञा विराड्ढिरण्यगर्भाव्याकृतेश्वरास्तुरीयश्च, अजरासो जरामरणरहिताः, जराशब्देन मरणमपि लक्ष्यते, दमां गृहाणां स्थूलसूक्ष्मरूपाणामरित्रा रक्षकाः, नावामरित्राः केनिपाता इव । अर्चद्धूमासः, अर्चन् अर्चनीयो धूमो धूमोपलक्षितो ज्ञानरूपः प्रकाशो येषां ते तथोक्ताः । श्वितीचयः श्विति श्वेतवर्णमुज्ज्वलं ज्ञानात्मकं प्रकाशं चिन्वन्ति ये ते श्वितीचयः, छान्दसो दीर्घः । वायवो न वायव इव श्वात्रासः क्षिप्रफलप्रदाः, भुरण्यवः क्षिप्रं भरणकर्तारः, तदभावे जगदान्ध्यापत्त्या सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः । वनर्षदो वने संसाराख्ये सीदन्तीति वनर्षदः । सोमाः सोमा इवेष्टफलदातारः, भवन्त्विति शेषः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, येऽस्य जगदीश्वरस्य सृष्टौ अजरासोऽरित्रा अर्चद्धूमासः पावकाः श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवः सोमा अग्नयो वनर्षदो वायवो न दमां धारकाः सन्ति, तान् यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निविद्युदादीनामुत्पादविनाशशालित्वेनाजरत्वानुपपत्तेः, विद्युति धूमानुपलब्धेश्च । न च तेषां जडानामैश्वर्यवत्त्वमपि सम्भवति । पवनानां गृहरक्षकत्वमपि विप्रतिपन्नमेव । सुतरां दार्ष्टान्तिकेऽपि तदनुपपन्नम् । सिद्धान्ते त्वग्न्यधिष्ठातृदेवानामजरत्वं निर्वाणाभिप्रायेणैव । तेनैव चाभिप्रायेण आहवनीयादीनामजरत्वम् । किञ्च, ब्राह्मणसूत्रादिरीत्याऽग्निपुरोऽनुवाक्यत्वेन तथार्थत्वेऽपि सामान्याग्निविद्युदादिपरत्वं तु निर्मूलमेव ॥ १ ॥

हर॑यो धू॒मके॑तवो॒ वात॑जूता॒ उप॒ द्यवि॑ । यत॑न्ते॒ वृथ॑ग॒ग्नयः॑ ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ – हरित वर्ण वायु से, गतिमान् धूम से ज्ञात होने वाली ये यज्ञीय अग्नियाँ नाना रूप से स्वर्ग में गमन करने के लिये यत्नशील रहती हैं ॥ २ ॥

गायत्री विश्वरूपदृष्टा । 'इन्द्रवायू इमे' (वा० सं० ७।८) इत्यस्याः स्थाने 'हरयो धूम' इति ऋक् । अग्नयो वृथक् पृथक् पृथक्, वर्णव्यत्ययोऽत्र द्रष्टव्यः, नानाप्रकारेण द्यवि स्वर्गे उपयतन्ते स्वर्गं गन्तुं यत्नं कुर्वन्ति । यद्वा द्यवि द्युलोकं प्रति यतन्ते यत्नमाचरन्ति, यजमानं स्वर्गं प्रापयितुं यत्नमाचरन्तीत्यर्थः । कीदृशास्ते हरयः ? हरितवर्णा धूमकेतवः, धूम एव केतुः केतुवद्विज्ञापको येषां ते तथोक्ताः, यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति व्याप्तेः । वातजूता वातेन जूतं गमनं प्रसारो येषां ते तथोक्ताः । इमे द्वे ऋचौ सप्तमीययोः सप्तम्यष्टम्योर् ऋचोः स्थाने वेदितव्ये ।

अध्यात्मपक्षे—ते अग्नयो द्यवि स्वप्रकाशे ब्रह्मणि पृथक् पृथग् नानाप्रकारेण यतन्ते स्वप्रकाशब्रह्मभावं गमयितुं यत्नमाचरन्ति, साक्षात् पारम्पर्येण ब्रह्मात्मभावप्राप्तौ पर्यवसानात् । ते कीदृशा हरयः ? उपासिताः सन्तो दुःखहर्तारः, धूमकेतवो धूमोपलक्षितज्ञानात्मकप्रकाशलिङ्गेन गम्याः, वातजूता मनआद्युपाधिभिर्मनोजवाः । स्वतोऽचला एव, अधिष्ठानरूपेण व्यापकत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये धूमकेतवो वातजूता हरयोऽग्नयः पृथग् द्यवि उपयतन्ते, तान् कार्यसिद्धये प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या जडानां तेषां यत्नवत्त्वानुपपत्तेः, यत्नवत्त्वस्य चेतनधर्मत्वात् ॥ २ ॥

यजा॑ नो मि॒त्रावरु॑णा॒ यजा॑ दे॒वाँ२॥ ऋ॒तं बृ॒हत् । अग्ने॒ यक्षि॒ स्वं दम॑म् ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! हमारे मित्रावरुण देवताओं का यजन करो, देवताओं का यजन करो, महान् यज्ञस्वरूप अपने गृह का पूजन करो ॥ ३ ॥

मैत्रावारुणी गायत्री गोतमस्यार्षम्। मैत्रावरुणस्य पुरोरुक्। 'अयं वां मित्रावरुणा' (वा० सं० ७।९) इत्यस्याः स्थाने 'यजा नो मित्रा' इति ऋक्। हे अग्ने, नोऽस्माकं मित्रावरुणा मित्रश्च वरुणश्चेति मित्रावरुणौ, 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इत्यानङि, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेराकारादेशे मित्रावरुणा इति रूपम्। यज देवान् यज। ऋतं यज्ञं विष्णुं बृहन्महान्तं यज। स्वं दमं स्वकीयं गृहं यक्षि यज। यजेत्यत्र 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने आत्मन्, मित्रावरुणौ देवौ यज। ऋतं यज्ञं विष्णुं बृहन्महान्तं यज। स्वं दमं गृहमाश्रयं परमात्मानं यज, तस्यैव सर्वतोभावेन समर्हणीयत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं नो मित्रावरुणा देवांश्च यज, बृहदृतं यज, येन स्वं दमं यक्षि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदस्य विद्वदर्थत्वे मानाभावात्। न च लक्षणया सोऽर्थ इति वाच्यम्, तत्र बीजाभावात्। सर्वोऽपि मित्राणि श्रेष्ठान् विदुषश्च स्वयमेव सत्करोति, नान्यमुखेनेति। ऋतमपि स्वयमेव यजनीयं भवति, नान्यमुखेन। तथा सत्यन्यद्वारा पूजनेन स्वकल्याणासम्भवात्॥ ३॥

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२॥ अश्वाँ अग्ने रथीरिव। नि होता पूर्व्यः सदः॥ ४॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! आप देवताओं को बुलाने वाले घोड़ों को रथी के समान उत्साहपूर्वक अवश्य ही रथ में शीघ्र जोतिये। कारण यह है कि पुरातन काल से देवताओं का आह्वान करने वाले आप आज इस यज्ञकर्म में अपना स्थान ग्रहण कर रहे हैं॥ ४॥

आश्विनस्य ग्रहस्य पुरोरुक्। 'या वां कशा' (वा० सं० ७।११) इत्यस्याः स्थाने 'युक्ष्वा हि' इति ऋक्। हे अग्ने, त्वमश्वान् युक्ष्वा युक्ष्व योजय। हि प्रसिद्धौ। कीदृशानश्वान्? देवहूतमान् देवान् ह्वयन्तीति देवहुवः, अतिशयिता देवहुवो देवहूतमाः, तानतिशयेन देवानामाह्वातॄन्। तत्र दृष्टान्तमाह—रथी रथस्वामी यथाश्वान् योजयति तद्वत्। रथोऽस्यास्तीति रथीः, 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' (पा० सू० ५।२।१२२, वा० २) इति ईप्रत्ययो मत्वर्थीयः। किञ्च, त्वं पूर्व्यः पुरातनः पूर्वभवः, मानुषाद् होतुः प्रथमोऽग्र्यो भूत्वा नि सदः, अस्मिन् यज्ञे होतृसदने निषीद। अन्यत् त्रयोदशेऽध्याये सप्तत्रिंश्यां कण्डिकायामुक्तम्॥ ४॥

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः॥ ५॥

मन्त्रार्थ—परस्पर पृथक् पृथक् रूप वाले, मोक्ष और दिव्य विषय वाले, दोनों रात और दिन अथवा पितृयान और देवयान रूप दो मार्ग जीवात्मा को क्षीरपान कराते हैं और निरन्तर घूमते रहते हैं। रात्रि में अग्नि स्वधावान् होता है और दिन में सूर्य दीप्तिमान् दिखता है॥ ५॥

शुक्रग्रहपुरोरुक् कुत्सदृष्टा, त्रिष्टुप्। 'तं प्रत्नथा' (वा० सं० ७।१२) इत्यस्याः स्थाने 'द्वे विरूपे' इति ऋक्। द्वे रात्र्यहनी विरूपे नानारूपे, कृष्णा रात्रिः, शुक्लमहः। स्वर्थे सु शोभनोऽर्थो ययोस्ते तथोक्ते कल्याणप्रयोजने। अन्या च अन्या च वत्समुपधापयेते क्षीरं पाययतः। अन्या एका रात्रिरग्निरूपं वत्समुपधापयते, रात्रौ अग्निदेवत्यस्य अग्निहोत्रस्य विधानात्। अन्या अहोरूपा वत्समादित्यरूपमुपधापयते, अह्नि सूर्यदेवत्यस्याग्निहोत्रस्य विधानात्। तदेवाह—अन्यस्यां रात्रौ हरिर्हरितवर्णोऽग्निः, स्वधावान् अन्नवान् भवति।

अन्यस्यामहनि शुक्रः शुक्ल आदित्यः, सुवर्चाः शोभनप्रकाशः, ददृशे दृश्यते। ते द्वे चरतो निरन्तरं प्रवर्तेते। यद्वा द्वे द्यावापृथिव्यौ, अग्निर्भूमौ स्वधावान्, सूर्यो दिवि सुवर्चा दृश्यते।

अध्यात्मपक्षे—द्वे विद्याविद्ये ज्ञानकर्मरूपे वा, विरूपे नानारूपे चरतो निरन्तरं प्रवर्तेते। कीदृशे ? स्वर्थे सुष्ठु शोभनौ प्राणिनां स्वर्गापवर्गौ अर्थः प्रयोजनं ययोस्तौ। अन्यान्या वत्समुपधापयेते, अन्या एका अविद्यारूपा कर्मरूपा वा अन्यं चन्द्रमसं चन्द्रोपलक्षितं स्वर्गं वत्समुपधापयति क्षीरं पाययति। अन्या देवता ज्ञानरूपा विद्यारूपा वा सूर्यं वत्समुपधापयति सूर्योपलक्षितं ब्रह्मलोकमुपधापयति। अन्यस्यां कर्मरूपायां हरिर्हरिद्वर्णः स्वर्गः स्वधावान् भवति। अन्यस्यां विद्यारूपायां ज्ञाने वा देवता सूर्यः सुवर्चाः शोभनप्रकाशो ददृशे। सूर्योपलक्षितो ब्रह्मलोको ब्रह्मात्मस्वरूपो वा दृश्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा स्वर्थे सुष्ठु अर्थः प्रयोजनं वा ययोस्ते द्वे विरूपे विरुद्धस्वरूपे स्त्रियौ चरतोऽन्या अन्या च वत्समुपधापयेते। तयोरन्यस्यां स्वधा स्वाहा हरिर्भवति। शुक्लः सुवर्चा अन्यस्यां ददृशे, तथा द्वे रात्र्यहनी वर्तेते इति जानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विप्रतिषिद्धत्वात्। द्वे विरूपे स्त्रियौ कालभेदेन एकं वत्सं यद्युपधापयेते, तदैकस्यैव बालस्य हरित्वशुक्रत्वभेदेन कथं भेदः स्यात् ? वसन्ति भूतान्यस्मिन्निति वत्सः, तमिति व्युत्पत्त्या वत्सपदस्य संसारार्थत्वेऽप्येक एवोभाभ्यामुपधापनीयः, नह्येकस्यैव चन्द्रत्वं सूर्यत्वं चोभयं सम्भवति। सिद्धान्ते तु वत्सभेदेन तदुपपत्तिः। नह्युपधापनकर्तृभेदेन बालभेदः सम्भवति, असति बालभेदे॥ ५॥

अ॒यमि॒ह प्र॑थ॒मो धा॑यि धा॒तृभि॒र्होता॒ यजि॑ष्ठो अध्व॒रेष्वीड्य॑ः।
यमप्न॑वानो॒ भृग॑वो विरुरु॒चुर्वने॑षु चि॒त्रं वि॒भ्वं॑ वि॒शेवि॑शे॥ ६॥

मन्त्रार्थ—यह आहवनीय अग्नि इस स्थान में मुख्य है और आधान करने वाले यजमान के द्वारा उसका स्थापन किया गया है। यह अग्नि देवताओं का आह्वान करने वाला (बुलाने वाला) और उत्कृष्ट प्रकार से याग करने वाला है। यज्ञ में ऋत्विक्गण उसकी स्तुति करते हैं। भृगुकुलोत्पन्न पुत्रवान् मुनियों ने प्रत्येक यजमान के लिये अरण्य में इस अग्नि को प्रदीप्त किया था। इस अग्नि का भिन्न-भिन्न कर्मों में उपयोग होता है, अतः वह महान् आश्चर्यकारक और व्यापक है॥ ६॥

मन्थिग्रहपुरोरुक्। त्रिष्टुप्। 'अयं वेनश्चोदयत्' (वा० सं० ७।१६) इत्यस्याः स्थाने 'अयमिह' इति ऋक्। अयमाहवनीयः, इह कर्मानुष्ठाने प्रथमो मुख्यः। धातृभिराधानकर्तृभिराहितः। दक्षिणाग्न्यपेक्षया प्राथम्यम्। कीदृशः ? होता देवानामाह्वाता। यजिष्ठः, अतिशयेन यष्टा, अध्वरेषु यागादिषु, ईड्य ऋत्विग्भिः स्तुत्यः। विशे विशे यजमानरूपाय तस्मै तस्मै मनुष्याय। विश इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।५)। अप्नवानो भृगवो यं वनेषु विरुरुचुर्विविधां दीप्तिं प्राप्तवन्तः। यद्वा—वनेषु ग्रामाद्बहिर्यजनाख्येष्वरण्यप्रदेशेषु यमग्निं विरुरुचुः। कीदृशम् ? चित्रम्, विविधकर्मोपयोगित्वेनाश्चर्यकारिणम्, विभ्वं विभुत्वशक्तियुक्तम्।

यद्वा—यमग्निमाधाय पूर्वेऽपि ऋषयोऽप्नवानप्रभृतयो भृगवश्च भृगोरपत्यानि पुमांसः, विरुरुचुः क्वावस्थितं सन्तमाधाय विरुरुचुः ? वनेष्वित्यरण्योराधानाभिप्रायम्। चित्रं चयनीयम्, विभ्वं विशे विशे। यं चेदानीमप्यादधति विभूतिशक्तियुक्तं विशे मनुष्याय। द्विवचनमादरार्थम्। तृतीये पञ्चदश्यां व्याख्यातम्, तत्रापि द्रष्टव्यम्।

दयानन्दीयं व्याख्यानमपि तत्रैव समालोचितम्॥ ६॥

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिᳪंशच्च देवा नव चाऽसपर्यन् ।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—तीन हजार तीन सौ उनतालीस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं। उन्होंने घृत से अग्नि को सींचा है और इस अग्नि के लिये कुशाओं को बिछाया है। तदनन्तर ही होता को हवन कर्म में नियुक्त किया जाता है ॥ ७ ॥

विश्वामित्रदृष्टा त्रिष्टुप्। विश्वेदेवदेवत्यस्य आग्रयणग्रहस्य पुरोरुक्। 'ये देवासः' (वा० सं० ७।१९) इत्यस्याः स्थाने 'त्रीणि शता' इति ऋक्। त्रीणि शता शतानि, त्री त्रीणि सहस्राणि त्रिंशन्नव च देवाः, सङ्कलय्य ३३३९ भवन्ति। एते वस्वादिगणा देवा अग्निमसपर्यन् परिचरन्ति। सपर्यतिः परिचरणकर्मा (निघ० ३।५।३)। कथं परिचरन्तीति तत्राह—औक्षन्निति। ते घृतैरग्निमौक्षन् अग्निं देवमाज्यैरसिञ्चन्। 'उक्ष सेचने' इति भौवादिकस्य लुङि रूपम्। अस्मै अग्नये बर्हिरस्तृणन् आच्छादयन् आद् इद् अनन्तरमेव होतारं वृत्वा होतृवरणं कृत्वा हौत्रे कर्मणि न्यसादयन्त विनियुक्तवन्तः। घृतसेचनबर्हिस्तरणहोतृवरणैरग्निं परिचरन्तीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—त्रीणि शतानि त्रीणि सहस्राणि त्रिंशन्नव च देवा अग्निं परमात्मानमसपर्यन् परिचरितवन्त उपासितवन्तः, घृतैः स्नेहपरिप्लुतनैवेद्यैश्च अग्निमभिषिक्तवन्तस्तर्पितवन्तः। अस्मै प्रसिद्धाय परमात्मने बर्हिरेतदुपलक्षितमाकाशं हृदयाकाशमास्तृणन् परिष्कृतवन्तः। अनन्तरमेव होतारं वृत्वा आह्वातारमाचार्यं वृत्वा न्यसादयन्त नितरां विनियुक्तवन्तः, आत्मानमिति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा त्रिंशच्च नव च देवास्त्रीणि शता त्री च सहस्राण्यग्निमसपर्यन् घृतैरौक्षन् बर्हिरास्तृणन्, अस्यै होतारं न्यसादयन्त स्थापयन्तु, तथा यूयमपि कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सहस्राणीतिपदेन सहस्रक्रोशमार्गमिति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्। किञ्च, मन्त्रे देवा इति त्रीणि शता त्री सहस्राणि त्रिंशच्च नव चेत्येतत्संख्याका देवा उक्ताः। न च त्वद्रीत्या तेषां देवत्वं सम्भवति, जडत्वे विद्वत्त्वायोगात्। सहस्रक्रोशमितमार्गविवक्षणे त्रीणि शता त्रिंशच्च नव चेत्यादिपदानां वैयर्थ्यमेव स्यात्। न च पृथिव्यादीनां त्वद्रीत्याऽग्निसपर्याकर्तृत्वं सम्भवति, जडत्वेन चोदनानर्हत्वात् ॥ ७ ॥

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
कविᳪं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं ने द्युलोक के मस्तकस्वरूप सूर्यदेव से प्रकाशित पृथिवी की सीमाभूत जाठराग्नि के रूप में समस्त नरलोक के हितकारी यज्ञ में अरणीद्वय से उत्पन्न, अविचल और दीप्तिमान्, क्रान्तदर्शी, भक्तों के सम्मुख होने वाली, नक्षत्रमण्डली में सम्राट्, यजमान आदि समस्त जनों के अतिथिभूत हवि से आदरणीय इस ब्रह्माग्नि को मुख्य पात्र चमस से प्रकट किया है ॥ ८ ॥

प्रकृतिवदेव ध्रुवग्रहपुरोरुक्। इयं च सप्तमे चतुर्विंशी कण्डिका। तत्रैव व्याख्यातापि। तत्र प्रकृतौ यथा ध्रुवग्रहणे विनियुक्ता, तथैवात्रापि। यतो हि नास्याः स्थानेऽत्र ऋगन्तरं प्रयुक्तम्। वैश्वानरः सर्वात्मतया स्तूयते। देवा ईदृशमग्निं जनयन्त उत्पादितवन्तः। कीदृशम्? दिवो मूर्धानम्, द्युलोकस्य सूर्यात्मनावस्थितं मूर्धानं शिरोवदुन्नतप्रदेशेऽवस्थाय भासकमाहुर्ब्रह्मविदः। पृथिव्या उपरि अरतिम् अनुपरतम्। तत्र कदाचिदप्यग्नेरुपरमोऽभावो नास्ति, दाह-पाक-प्रकाशैः सर्वानुग्रहरतत्वात्। यद्वा पृथिव्या अन्तरिक्षनामसु पाठेन पृथिव्या

अन्तरिक्षस्य अरतिमलम्मतिं पर्याप्तमतिम्, पूरकमित्यर्थः। तत्र स्थितोऽसौ यथाकालं वृष्टया भूतानि पुष्णाति। रलयोः सावर्ण्यम्। मकारलोपश्छान्दसः। तथा च अरतिमित्यस्य अलम्मतिमित्यर्थः। तथा वैश्वानरं विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो नरेभ्यो हितो वैश्वानरः, 'नरे संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।१२९) इति दीर्घः, जाठराग्निरूपेणान्नपाचकत्वात्। तथा ऋते यज्ञे आजातं यज्ञनिमित्तमरणिद्वयान्मन्थनेन जातम्। कविं क्रान्तदर्शिनम्। सम्राजं सम्यग्दीप्यमानम्। जनानां यजमानानाम्, अतिथिम् अतिथिवत् पूज्यं हविर्भिः सत्कारयोग्यम्। विज्ञायते ह्यतिथिरूपेणाग्नेः प्रवेशो गृहेषु, तस्मात् तस्योदकमाहरन्ति। आसन् आपात्रम्, आस्यशब्दस्य सप्तम्येकवचने 'पद्दन्नोमास्' (पा० सू० ६।१।६३) इति सूत्रेण आसन्नादेशः, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति सप्तमीविभक्तिलोपे 'आसन्' इति रूपम्, आस्ये इत्यर्थः। आभिमुख्येन पीयतेऽनेनेत्यापात्रम्। एतादृशमग्निं देवा इन्द्रादयोऽजनयन्त, 'चमसो देवपान इति चमसेन ह वा एतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति' (श० १।४।२।१४) इति श्रुतेः। शेषं व्याख्यानं सप्तम एव द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया। समिद्धः शुक्र आहुतः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—दीप्त, मन्त्रशुद्ध, निमन्त्रित होकर यहाँ प्राप्त हुआ अग्नि हविरूप धन को चाहता हुआ नाना प्रकार की पूजा के द्वारा हमारे पापों को नष्ट करता है ॥ ९ ॥

भरद्वाजदृष्टा गायत्री, ऐन्द्राग्नग्रहपुरोरुक्। 'इन्द्राग्नी आगतम्' (वा० सं० ७।३१) इत्यस्याः स्थाने 'अग्निर्वृत्राणि' इति ऋक्। अग्निस्तन्नामकः प्रसिद्धो देवः, वृत्राणि प्रावरकाणि वृजिनानि पापानि जङ्घनद् अत्यर्थं हन्ति। यङ्लुगन्तरूपमेतत्। केन हेतुना जङ्घनत्? तत्राह—विपन्यया, विपनिरर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४।१६), विविधया पूजया पापं हन्ति निमित्तभूतया। कीदृशोऽग्निः? द्रविणस्युः, द्रविणो धनमिच्छति द्रविणस्यति, द्रविणस्यतीति द्रविणस्युः, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्यये रूपम्। 'द्रविणस्' इति सान्तः शब्दः। हविर्लक्षणं धनमिच्छन्। पुनः कीदृशः? समिद्धो दीप्तः, शुक्रः शुक्लो दीप्तिमान् वा, आहुतोऽभिहुतः सन्निति।

अध्यात्मपक्षे– अग्निरग्रणीः परमेश्वरो वृत्राणि पातकान्यतिशयेन हन्ति, 'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः। अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥' (बृ० ना० पु० ११।१००) इत्यादिवचनेभ्यः। कीदृशोऽग्निः? द्रविणस्युः, द्रविणं पत्रपुष्पादिलक्षणं द्रव्यमिच्छतीति द्रविणस्युः, 'तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च। विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥' इत्युक्तेः। केन हेतुना हन्ति? तत्राह—विपन्यया भक्तकृतया पत्रपुष्पसमर्पणरूपया पूजया। पुनः कीदृशोऽग्निः? समिद्धः सम्यग् दीप्तः स्वप्रकाशोऽखण्डबोधरूपः, शुक्रः सर्वोपाधिविवर्जितः शुद्धः, आहुतो भक्तैरासमन्तात् सर्वस्वात्मसमर्पणेनाराधितः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा समिद्धः शुक्रोऽग्निः शीघ्रकर्ता वृत्राणि मेघावयवान् जङ्घनद् भृशं हन्ति, द्रविणस्युरात्मनो द्रविणमिच्छुराहुतः कृताह्वानो भवान् विपन्यया विशेषव्यवहारयुक्त्या दुष्टान् भृशं हन्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। किञ्च, न विशेषव्यवहारयुक्त्या दुष्टानां हननं सम्भवति, शौर्येण वीर्येण शस्त्रेण उद्यमेन च तद्धननसम्भवात् ॥ ९ ॥

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना। पिबा मित्रस्य धामभिः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपके साथ मित्र के तेज से तेजस्वी सभी देवता इन्द्र और वायु के साथ सोममय मधु का पान करें ॥ १० ॥

मेधातिथिदृष्टा गायत्री। वैश्वदेवग्रहपुरोरुक्। 'ओमासश्चर्षणी' (वा० सं० ७।३३) इत्यस्याः स्थाने 'विश्वेभिः सोम्यम्' इति ऋक्। हे अग्ने, विश्वेभिः सर्वैर्देवैरिन्द्रेण वायुना च सह सोम्यं सोममयं मधु मधुररसं पिबा पिब। 'शृणुत त्विषिध्रजी' (शु० य० प्रा० ३।११७) इत्यनेन मकारे परे दीर्घः। कीदृशस्त्वम्? मित्रस्य प्रियस्य धामभिर्नामभिः स्तुतः सन्, 'त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः' (ऋ० सं० ५।३।१) इति मन्त्रवर्णात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं विश्वेभिः सर्वैर्देवैः सह इन्द्रेण वायुना च सह सोम्यं सोमसम्बन्धि मधु मादकं मधुरं दधिदुग्धादिकं पिब गोपालरूपेण सर्वे गोपाला विश्वे देवाः, इन्द्रोऽर्जुनः, वायुर्भीमः। कीदृशस्त्वम्? मित्रस्य प्रियस्यार्जुनादेर्धामभिर्नामभिः स्तुतः। भक्तवत्सलो भगवान् भक्तनामगुणकथाभिरनुरज्यते प्रसीदति च।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, त्वं यथा सूर्यो विश्वेभिर्धामभिः सोम्यं मधु पिबति, तथा मित्रस्य विश्वेभिर्धामभिः सोम्यं मधु रसं त्वं पिब' इति, तन्न, अग्निपदस्य मुख्यार्थत्यागेन गौणार्थग्रहस्य निर्मूलत्वात्। न च त्वद्रीत्या जडस्याग्नेः सम्बोध्यत्वं पानकर्तृत्वं च सम्भवति, दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तस्य सूर्यस्य वायोश्चापि न पानकर्तृत्वं सम्भवति, त्वद्रीत्या तयोर्जडत्वात्। धामभिरित्यस्योभयत्रापि स्वारस्यं नोक्तम्, स्थानानां पाने कारणत्वायोगात्॥ १०॥

आ यदिषे नृपतिं तेज आनट् शुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।
अग्निः शर्धमनवद्यं युवानᳬ स्वाध्यं जनयत् सूदयच्च॥ ११॥

मन्त्रार्थ—जब अन्न और जल के लिये देवताओं के निमित्त अग्नि में आहुति के रूप में दिया गया मन्त्रों से संस्कृत घृत यजमान के रक्षक अग्नि को तृप्त करता है, तब अग्नि बलवान् निर्दोष सबके अभिलषणीय जगत् के बीजरूप जल को स्वर्ग के समीप अन्तरिक्ष में प्रकट करता है और उसे वृष्टि के रूप में छोड़ता है॥ ११॥

पराशरदृष्टा त्रिष्टुप्। मरुत्वतीयग्रहपुरोरुक्। 'इन्द्र मरुत्वः' (वा० सं० ७।३५) इत्यस्याः स्थाने 'आ यदिषे' इति ऋक्। 'आ' इत्युपसर्गमानड् इति क्रियापदेन संयोज्य व्याख्येयेयमृक्। यद् यदा तेजस्तेजसो हेतुभूतं हविर्नृपतिं नुर्यजमानस्य पालकमग्निमानड् अश्नुते व्याप्नोति, यदाग्नौ हविर्हूयत इति यावत्, तदाऽग्नी रेतो जगद्बीजभूतं जलं द्यौर्दिवः, षष्ठ्यर्थे प्रथमा, अभीके समीपेऽन्तरिक्षे जनयज्जनयति, मेघरूपेण च पुरः सूदयत् सूदयति क्षरति वृष्टिद्वारेण, 'षूद क्षरणे' चौरादिकः। कीदृशं तेजः? इषे वृष्ट्यै निषिक्तं देवतोद्देश्येनाग्नौ सिक्तं क्षिप्तम्, हुतमिति यावत्। शुचि मन्त्रसंस्कृतम्। शर्धं बलहेतुभूतम्, शर्धो बलनामसु (निघ० २।९।७)। अनवद्यं निर्दोषम्, 'अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु' (पा० सू० ३।१।१०१) इति गर्ह्यार्थकोऽवद्यशब्दो निपातितः। न अवद्यं गर्ह्यम् अनवद्यं प्रशस्तम्। युवानं परिपक्वरसम्, दृढमित्यर्थः। स्वाध्यं सु सुष्ठु आसमन्ताद् ध्यायते चिन्त्यत इति स्वाध्यं चिन्तनीयम्। सर्वो वृष्टिं कामयते। हविषा तर्पितोऽग्निरष्टमासैर्जलं निष्पाद्य वर्षासु वर्षतीति महीधराचार्यः।

उव्वटाचार्यस्तु—यद् यदा इषे अन्नाय निषिक्तं नितरां सिक्तं देवतोद्देश्येन क्षिप्तं शुचि मन्त्रैः क्षिप्तं तेजो जगदुत्पत्तिबीजं हविर्नृपतिं सर्वेषां जीवानां पतिं पालकमग्निमानड् आसमन्ताद् व्याप्नोति, ततोऽपि रेतो मध्यस्थानं व्याप्नोति विद्युल्लक्षणं तेजः, द्यौरपि तस्याहुतिपरिणामभूतस्य रसस्याभीके निकट एव वर्तते।

अग्निस्तत् शर्धं बलं तस्य हेतुभूतमनवद्यं प्रशस्यं युवानं परिपक्वं रसं स्वाध्यं सुष्ठु ध्यानीयम्, वृष्टेः सर्वाभिलाषास्पदत्वात्, जनयद् अष्टाभिर्मासैर्जनयदुत्पादयति, सूदयच्च निष्पन्नमुदकं चतुर्भिर्मासैः क्षरति वृष्टिद्वारेणेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे - यद् यदा इषे इष्यमाणाय चतुर्वर्गाय धर्मार्थकाममोक्षाय, तत्प्राप्तय इति यावत् । पञ्चमपुरुषार्थरूपायै भक्त्यै वा नृणां नराणां जीवानां पतिं सत्तास्फूर्तिप्रदानेन पालकमग्निं परमात्मानं निषिक्तं नितरां सिक्तं समर्पितं शुचिमन्त्रैः संस्कृतं तेजः प्रकाशप्रायं मन आनड् आ समन्ताद् व्याप्नोति, तदा अग्निः परमात्मा रेतो जगद्बीजभूतमदृष्टरूपेण परिणतं कर्मसमवेतं जलं द्यौरभीके दिवः समीपे जनयद् जनयति, मेघरूपेण सूदति क्षरति च । कीदृशं रेतः ? शर्धं बलस्य हेतुभूतम्, अनवद्यं प्रशस्यम् । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यदिषे वृष्ट्यै निषिक्तं शुचि तेजो यज्ञोत्थं नृपतिं सूर्यं राजानमिव आनट्, तदाग्निः शर्धमनवद्यं युवानं युवत्वसम्पादकं स्वाध्यं रेतो द्यौरभीके जनयत् सूदयच्च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नृपतिं राजानमिवेत्यस्यासङ्गतेः, मुख्यार्थत्यागे मानाभावात् । युवानमित्यस्य युवत्वसम्पादकमित्यनर्थः, गौणार्थाश्रयणात् । एवमन्यदप्यूहनीयम् ॥ ११ ॥

अग्ने॒ शर्धं॑ मह॒ते सौभ॑गाय॒ तव॑ द्यु॒म्नान्यु॑त्त॒मानि॑ सन्तु ।
सं जा॑स्प॒त्यꣳ सु॒यम॒मा कृ॑णुष्व शत्रूय॒ताम॒भि ति॑ष्ठा॒ महा॑ꣳसि ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप हमें सबसे बड़ा सौभाग्यशाली बनाने के लिये अपने बल को प्रकट कीजिये । आपके लिये हवि के रूप में दिया हुआ अन्न अथवा हमारा यश सब तरफ फैले । आप पत्नी सहित यजमान को जितेन्द्रिय एवं परस्पर प्रीतियुक्त बनावें । हमारे साथ शत्रुता करने वालों के तेज को आप नष्ट कर दें ॥ १२ ॥

अत्रिदुहित्रा विश्ववारया दृष्टा त्रिष्टुप् । द्वितीयमरुत्वतीयपुरोरुक् । 'मरुत्वन्तं वृषभम्' (वा० सं० ७।३६) इत्यस्याः स्थाने 'अग्ने शर्ध' इति ऋक् । हे भगवन्नग्ने, त्वं महते सौभगाय महत्सौभाग्याय लोकस्थितये शर्ध उत्सहस्व बलमाविष्कुरु । एवमुद्यच्छतस्तव द्युम्नानि यशांस्यन्नानि हविर्लक्षणानि वा उत्तमान्युत्कृष्टानि सन्तु । 'द्युम्नं द्योततेर्यशो वा अन्नं वा' (नि० ५।५) इति यास्कः । किञ्च, जास्पत्यं जाया च पतिश्च जायापती, तयोर्भावो जास्पत्यम्, जायापत्यमिति प्राप्ते आकारयकारयोर्लोपः सुगागमश्चेत्युव्वटाचार्यः । 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' (पा० सू० ५।१।१२८) इति यक् । पत्नीयजमानरूपं सुयमं सुनियमं जितेन्द्रियमन्योन्यमाबद्धरागं समाकृणुष्व । सुष्ठु यम्यत इति सुयमम्, 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' (पा० सू० ३।३।१२६) इति खल् । किञ्च, शत्रूयतां शत्रुत्वमिच्छतां जनानां महांसि तेजांसि महत्त्वान्यभितिष्ठ पद्भ्यामाक्रमस्व अभिभव ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं महते सौभगाय लोकस्थितये शर्ध उत्सहस्व बलमाविष्कुरु । परमेश्वराधीनैव लोकस्थितिरिति प्रसिद्धमेव । एवं कुर्वतस्तव द्युम्नानि यशांस्युत्तमानि लोकोत्तराणि सन्तु भवन्तु । किञ्च, लोके जास्पत्यं जायापत्यं पत्नीयजमानरूपं सुयमं सुनियममन्योन्याबद्धरागं समाकृणुष्व । शत्रूयतां रावणादीनां महांसि तेजांसि, अभितिष्ठ पद्भ्यामभिभव ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन् राजन् वा, त्वं महते सौभगाय शर्ध कृणुष्व, यतस्तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु, त्वं जास्पत्यं सुयमं समाकृणुष्व शत्रूयतां महांस्यभितिष्ठ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदेन विदुषो राज्ञो वा ग्रहणे मानाभावात् । सिद्धान्ते त्वग्न्यधिष्ठातरि देवेऽग्निशब्दप्रयोगः, तत्रैव च सर्वाणि पदानि सङ्गतानि । नहि मनुष्यमात्रस्य तथोपदेशे परामर्शदानेऽपि विद्वान् राजा वा समर्थः ॥ १२ ॥

त्वाᳪं हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने ।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! हमने पूरी गम्भीरता के साथ सूर्य के समान प्रकाशमान आपको ही वैदिक मन्त्रों के द्वारा वरण किया है। हमारे स्तोत्रों को आप सुनते हैं। श्रेष्ठ मनुष्य उत्तम देवता से बल प्राप्त कर इन्द्र और वायु के समान हविरूप अन्न से आपको तृप्त करते हैं ॥ १३ ॥

भरद्वाजदृष्टा त्रिष्टुप् । माहेन्द्रग्रहपुरोरुक् । 'इन्द्रो नृवत्' (वा० सं ७।३९) इत्यस्याः स्थाने 'त्वां हि मन्द्रतमम्' इति ऋक् । हे अग्ने, वयं मन्द्रतमं मन्दनीयतममतिगम्भीरं मृदुहृदयं वा त्वामर्कशोकैरर्कवत् शोचन्ते दीप्यन्त इत्यर्कशोकास्तैः, यथोक्तस्थानकरणानुप्रदानवद्भिर्देवताद्यात्मवित्तसन्तानगर्भगुरुशुश्रूषाधिगताविप्लावित-ब्रह्मचर्यैरधीता मन्त्रा अर्कवद्दीप्ता भवन्ति, अयातयामैरिति यावत् । ववृमहे वृतवन्तः । त्वं च वृतः सन् महि महन्नोऽस्माकं महत्त्वपूर्णं स्तोत्रं श्रोषि शृणोषि, विकरणव्यत्ययः । किञ्च, इत्थं नाम त्वं महती देवता येन नृतमाः श्रेष्ठमनुष्याः शवसा बलेन इन्द्रं न इन्द्रमिव त्वा पृणन्ति पूरयन्ति । वायुमिव च राधसा हविर्लक्षणेन धनेनान्नेन च पृणन्ति पूरयन्ति । अथवा 'देवता' इति इन्द्रस्य वायोश्च विशेषणमेव । तथा सति देवताशब्दात् सुपो लुक् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, मन्द्रतमं गम्भीरं मृदुलहृदयं त्वां वयमर्कशोकैः सूर्यवद्दीप्तैरयातयामैरमोघैर्मन्त्रैर्ववृमहे वृतवन्तः । त्वं च नोऽस्माकं महि महत् स्तोत्रं श्रोषि शृणोषि, सर्वज्ञत्वात् सर्वगतत्वाच्च । शवसा बलेन इन्द्रं न इन्द्रमिव वायुं न वायुमिव च स्थितं त्वां वयं राधसा भक्तिरसपरिप्लुतेन हविर्लक्षणेनान्नेन नृतमा मनुष्यश्रेष्ठाः पृणन्ति पूरयन्ति ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, हि यतो नो महि श्रोषि तस्मान्मन्द्रतमं त्वामर्कशोकैर्वयं ववृमहे । नृतमाः शवसा इन्द्रं न वायुमिव च देवतास्त्वा राधसा पृणन्ति' इति, तदप्यसङ्गतम्, मनुष्यमात्रस्याग्निपदार्थत्वे महत्त्वपूर्णवचन-श्रवणेन पुरुषार्थासिद्धेः । नहि मनुष्यमात्रस्यातिशयेन प्रशंसादिसत्कृतत्वमपि सम्भवति, न वा सूर्यवत् प्रकाशवद् राजापि सम्भवति, कुतस्तदीयास्तादृशा भवेयुः । न च नृतमा मनुष्यमात्रमग्निं पृणन्ति ॥ १३ ॥

त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान् दयन्त गोनाम् ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ हे अग्निदेव ! हमने आपको विधिपूर्वक आहुतियाँ दी हैं, मनुष्यों के मध्य में इन्द्रियों का निग्रह कर जो धनवान् विद्वान् गो-दुग्ध और दधिसहित विशिष्ट अन्नों को आपको अर्पित करते हैं, वे आपकी प्रीति के पात्र हों ॥१४॥

द्वे बृहत्यौ आदित्यग्रहपुरोरुचौ । आद्या वसिष्ठदृष्टा । 'कदाचन स्तरीरसि' (वा० सं० ८।२) इत्यस्याः स्थाने 'त्वे अग्ने' इति ऋक् । अन्त्या प्रस्कण्वदृष्टा 'श्रुधि श्रुत्कर्ण' इति ऋक् । सा च 'कदाचन प्रयुच्छसि' (वा० सं० ८।३) इति ऋचः स्थाने । हे स्वाहुत अग्ने, सुष्ठु आहूयत इति स्वाहुतः, तत्सम्बुद्धौ । हे अग्ने, त्वे तव ते प्रियासः प्रियाः सन्तु । के ते ? ये सूरयो विदितवेदितव्याः पण्डिताः, ये च यन्तारो निगृहीतेन्द्रिया मघवानो धनवन्तो हविष्मन्तः, ये च जनानां मध्ये गोनाम्, गवामिति प्राप्ते 'गोः पादान्ते' (पा० सू० ७।१।५७) इति ऋचि पादान्ते विद्यमानस्य गोशब्दस्य नुटि रूपम्, गवां सम्बन्धिभिरुपसेचनैर्दुग्धदध्यादिसहितान् ऊर्वान् अन्नविशेषान् पुरोडाशादीन् दयन्त ददति । 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु' इत्यस्य लङि रूपम्, अडभाव आर्षः, ते प्रिया भवन्तीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे स्वाहुत ! सु शोभनैः सच्चरित्रैरा समन्ताद् हूयत इति स्वाहुतः, तत्सम्बुद्धौ। हे अग्ने परमेश्वर ! अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्वाहुताग्ने, ये जनानां मध्ये वीरा यन्तारो मघवानो गोनां पृथिवीधेन्वादीनां हिंसकान् ऊर्वान् दयन्त घ्नन्ति, ते सूरयस्ते तव प्रियासः सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रस्य राज्ञोऽप्यग्निपदेन ग्रहणे मानाभावात्, लक्षणायाश्च निर्मूलत्वात् ॥ १४॥

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः।
आसीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे शोभन श्रवणशक्ति युक्त अग्निदेव ! अपने साथ चलने वाले यजमान द्वारा दी हुई आहुतियों को ग्रहण करने वाले देवताओं के साथ इस यज्ञ को आप सुनिये, अर्थात् चारों तरफ से उसका निरीक्षण कीजिये। मित्र और अर्यमा देवता प्रातःसवन में हवि को प्राप्त कर कुशा के आसन पर विराजमान हों ॥ १५ ॥

हे अग्ने, त्वमध्वरं यज्ञमाग्नेयं श्रुधि शृणु। 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० सू ६।४।१०२) इति हेर्धिः। श्रुत्कर्ण शृणुत इति श्रुतौ श्रुधातोः क्विपि, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) इति तुकि द्विवचने रूपम्। अर्थिवचसां श्रोतारौ कर्णौ यस्य स श्रुत्कर्णः, तत्सम्बुद्धौ हे श्रुत्कर्ण, त्वयि श्रुतवति वह्निभिः, वहन्ति हवींषीति वह्नयः, 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्' (उ० ४।५२) इति वहेर्निप्रत्यये रूपम्। तैर्वोढृभिर्देवैः सयावभिः सह यान्तीति सयावानः, यातेर्वनिप्, तैः सहिता मित्रोऽर्यमा प्रातर्यावाणश्च, प्रातर्यान्ति हविः प्राप्नुवन्तीति तथोक्ताः। प्रातःसवने येषां हविःप्राप्तिर्भवति, ते देवा बर्हिष्यासीदन्तु उपविशन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, हे श्रुत्कर्ण ! त्वमध्वरं श्रुधि शृणु। त्वयि श्रुतवति वह्निभिर्वोढृभिर्देवैः सयावभिः सह गमनैः सह मित्रोऽर्यमा प्रातर्यावाणश्च देवा बर्हिषि आसीदन्तु उपविशन्तु, परमेश्वरस्यैव यज्ञाधिष्ठातृत्वात्, तच्छ्रवणेनैव कर्मणां याथातथ्येन सम्भवात्।

दयानन्दस्तु—'हे श्रुत्कर्णाग्ने, सयावभिर्वह्निभिर्देवैः सह अध्वरं श्रुधि। प्रातर्यावाणो मित्रो अर्यमा च बर्हिष्यासीदन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धर्मब्रह्मपरे वेदेऽग्न्यादिपदेन मनुष्यविशेषराजादीनां ग्रहणे मानाभावात्। सयावभिरित्यनेनापि पदेन ये सह यान्ति ते वह्निभिः कार्यनिर्वाहकैरित्यादिव्युत्पत्तिभिः कार्यनिर्वाहकाः सहगामिन उक्ताः। योऽर्यान् वैश्यान् स्वामिनो मन्यते तम्, ये प्रातर्यान्ति ते प्रातर्यावाण उच्यन्ते, एवं रीत्या वेदार्थस्य लोकायतीकरणं कृतमिति स्वरूपनिरूपणमेव तन्निराकरणं वेदितव्यम् ॥ १५ ॥

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामव आवृणानः सुमृडीको भवतु जातवेदाः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वज्ञ, सभी यज्ञों में देवताओं के साथ उपस्थित रहने वाले, अदीन स्वभाव, सब मनुष्यों के अतिथि के समान पूज्य जो अग्निदेव देवताओं के निमित्त हविरूप अन्न को समर्पित करते हैं, वे हमारे लिये सब प्रकार से सुखदाता हों ॥ १६ ॥

वामदेवगोतमदृष्टा त्रिष्टुप्। आदित्यग्रहदधिश्रपणे विनियुक्ता। 'यज्ञो देवानाम्' (वा० सं० ८।४) इत्यस्या ऋचः स्थाने 'विश्वेषामदितिः' इति ऋक्। योऽग्निर्विश्वेषां सर्वेषां यज्ञियानां यज्ञार्हाणां यज्ञसम्पादकानां

वा मध्ये, अदितिर्नास्ति दितिः खण्डनं यस्य स तथोक्तः, 'दोऽवखण्डने' इति धातोः 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१७४) इति क्तिचि, 'द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति' (पा० सू० ७।४।४०) इति धातोरिकारान्तादेशे दितिरिति रूपम्, अदीन इति यावत् । तथा विश्वेषां मानुषाणां नराणामग्निहोत्रिणामतिथिः, अतिथिवत् पूज्यो जातवेदा जातप्रज्ञानः, देवानामवो हविर्लक्षणमन्नम्, अव इत्यन्ननाम (निघ० २।७।९), आवृणानः समर्पयन्, सुमृडीकः सु शोभनं मृडीकं सुखं यस्यात् स तथोक्तः, शोभनसुखकारीति यावत्, भवतु ।

अध्यात्मपक्षे - योऽग्निः परमेश्वरो विश्वेषां यज्ञियानां देवानामदितिरखण्डनीयो विश्वेषां मानुषाणामतिथिरतिथिवत् सत्करणीयः, यश्च जातवेदा वेदानामाविर्भावकः, स देवानामवो हविर्लक्षणमन्नम्, आवृणानः समर्पयन्, सुमृडीकः शोभनसुखकारी भवतु ।

दयानन्दस्तु—'हे सभापते, भवान् विश्वेषां यज्ञियानां देवानां मध्येऽदितिर्विश्वेषां मानुषाणामतिथिरिव आवृणानः सुमृडीको जातवेदा अग्निर्भवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्राणां मनुष्यपरत्वेनैव योजनात् । अत्र देवपदेन विद्वांसो मनुष्याः, यज्ञिया इत्यनेन सत्कारार्हाः, अदितिपदेनाखण्डितबुद्धिर्मनुष्यो ग्राह्यः । जातवेदा अपि आविर्भूतविद्यायोगप्रज्ञो मनुष्यः । अग्निपदेनाप्यग्निवत्तेजस्वी पुरुष एव ग्राह्यः । तदेतत्सर्वं लोकसिद्धमेवेति प्रत्यक्षानुमानाभ्यामज्ञातार्थज्ञापकत्वेन वेदानां प्रामाण्यं व्याहन्यते । न चात्र मुख्यार्थे सम्भवति शब्दानां गौणार्थता ग्राह्या । तस्मादुपेक्ष्य एवैतादृशोऽर्थः ॥ १६ ॥

महो अग्नेः समिधानस्य शर्मण्यनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये ।
श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य की श्रेष्ठ आज्ञा होने पर देवताओं के निमित्त समर्पित अन्नरूप हवि का अब हम संस्कार करते हैं । पूज्य दीप्यमान अग्नि के आश्रय में मित्र और वरुण की दृष्टि में निरपराध सिद्ध होकर हम सर्वविध कल्याण से सम्पन्न हों ॥ १७ ॥

लुशोधानाकदृष्टा त्रिष्टुप् । सावित्रग्रहस्य पुरोरुक् । 'वाममद्य सवितः' (वा० सं० ८।६) इत्यस्याः स्थाने 'महो अग्नेः' इति ऋक् । देवानां सम्बन्धि तदवो हविर्लक्षणमन्नम्, अद्य वयं वृणीमहे संस्कुर्मः । कस्मिन् सति ? सवितुः सूर्यस्य सवीमनि सत्यनुज्ञायां सत्याम्, 'सवीमा प्रसवोऽनुज्ञा' इति कोशः । कीदृशे सवीमनि ? श्रेष्ठे, अन्यदेवानुज्ञापेक्षया सूर्यानुज्ञायाः श्रेष्ठत्वात् । किमर्थम् ? येनान्नेन वयं स्वस्तये स्वस्तिमन्तो भवेम । कीदृशा वयम् ? अग्ने शर्मणि शरणे आश्रये विद्यमानाः, मित्रे वरुणे च अनागा अनागसो मित्रवरुणाद्यपराधरहिताः । कीदृशस्याग्नेः ? महः, मह्यत इति मट् पूज्यः, 'मह पूजायाम्', क्विप्, तस्य समिधानस्य दीप्यमानस्य तादृशस्याग्नेः शरणे सन्तः, मित्रवरुणादिषु चापराधरहिता वयमद्य देवानां हविर्लक्षणमवोऽन्नं वृणीमहे संस्कुर्मह इति सम्बन्धः ।

अध्यात्मपक्षे—सवितुर्जगदुत्पादयितुः कारणस्य परमेश्वरस्य श्रेष्ठे सर्वोत्कृष्टे सवीमन्याज्ञायां सत्यां येनान्नेन वयं स्वस्तये स्वस्तिमन्तः स्याम भवेम, देवानां सम्बन्धि तदवो हविर्लक्षणमन्नं वयमद्य वृणीमहे संस्कुर्मः । कीदृशा वयम् ? महः पूज्यस्य समिधानस्य दीप्यमानस्य स्वप्रकाशस्याग्नेः परमेश्वरस्य शर्मणि शरणे सन्तः । मित्रे वरुणे च अनागा अनागसोऽपराधरहिताः । एतावता परमेश्वराश्रितैरपि कारणान्तर्यामिप्रेरणया देवतान्तरापराधशून्यैर्देवानां कृते चरुपुरोडाशादिसंस्कारः कर्तव्य एव । 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (भ० गी० १८।४६) इति गीतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु 'वयं राजपुरुषाः, महः समिधानस्याग्नेः शर्मणि श्रेष्ठे मित्रे वरुणे चानागाः स्याम। अद्य सवितुः सूर्यस्य सवीमनि सत्याज्ञायां सत्यां प्रसवे वृणीमहे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'वयं राजपुरुषाः' इत्यंशस्य वेदबाह्यत्वात्। अग्नेः समिधानस्येत्यादिपदैरपि गौणार्थग्रहणं निर्मूलमेव। अग्निपदेन राजादिग्रहणं सर्वथा निर्मूलम्। मित्रवरुणादिपदानामपि गौणार्थस्वीकरणं सर्वथा निर्मूलमेव ॥ १७ ॥

आपश्चित्पिप्युस्तर्यो न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वᳪ हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! वेदवाणियों के द्वारा आपकी स्तुति करने वाले ऋत्विक्गण आपके निमित्त किये जा रहे यज्ञ को व्याप्त कर रहे हैं और निग्राभ्या रूप जल को भी संस्कृत कर रहे हैं। आप उसी प्रकार हमारे सामने आइये, जैसे वायु अपने नियुत नामक अश्वों के सम्मुख आता है। आप ही सारी प्रजा को बुद्धि के साथ अन्न को देने वाले हैं ॥ १८ ॥

सर्वमेधे इन्द्रस्तुत्संज्ञमुक्थ्यसंस्थं द्वितीयमहर्भवति, 'इन्द्रस्तदुक्थ्यो द्वितीयमहर्भवति।....तस्यैन्द्रा ग्रहा भवन्त्यैन्द्रयः पुरोरुचः सर्वमैन्द्रमसदिति' (श० १३।७।१।४) इति श्रुतेः। तत्र आपश्चिदित्यादय इमां त इत्यन्ता द्वादशर्चः। 'तं प्रत्नथा (१), अयं वेनः (२), महाँ इन्द्रः (३), कदाचन स्तरीरसि (४), कदाचन प्रयुच्छसि (५) इति पञ्च प्रतीकोक्ताः सम्भूय सप्तदश इन्द्रदेवत्या ऐन्द्रवायवादिसावित्रान्तानां ग्रहाणां ग्रहणमन्त्रा वसिष्ठदृष्टाः। त्रिष्टुप्। ऐन्द्रवायवस्य पुरोरुक् 'आ वायो' (वा० सं० ७।७) इत्यस्याः स्थाने 'आपश्चित्' इति ऋक्। हे इन्द्र, जरितारः स्तोतार ऋत्विजस्ते तव ऋतं यज्ञं नक्षन् नक्षन्ति व्याप्नुवन्ति, नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा (निघ० २।१८।२), लङि अडभाव आर्षः। आपश्चिद् आपोऽपि निग्राभ्यारूपाः, पिप्युराप्याययन्ति सोमं वर्धयन्ति, 'ओप्यायी वृद्धौ' इत्यस्माल्लिटि 'लिड्यङोश्च' (पा० सू० ६।१।२९) इति पीभावे रूपम्। तत्र दृष्टान्तः—स्तर्यो गावो न, स्तृणन्ति सुन्वन्ति याभिस्ताः स्तर्यः, याभिः सोमः सूयते ता गावो वेदरूपा वाच इव। ता यथा सोममाप्याययन्ति, तथा आपोऽपि। अत एव त्वं नोऽस्मानच्छ अभिमुखमागच्छ। वायुर्न वायुरिव यथा वायुर्नियुतः स्वानश्वानभियाति, तथा त्वमस्मानभिमुखमागच्छेत्यर्थः। हि यतस्त्वं धीभिर्बुद्धिभिः कर्मभिर्वा वाजान् अन्नानि विदयसे विविधं ददासि, 'दय दान-गति-रक्षण-हिंसा-दानेषु', अत एवागच्छ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, जरितारः स्तोतारस्ते तव ऋतं यज्ञं नक्षन् नक्षन्ति व्याप्नुवन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, ते तव जरितार आप इव पिप्युः, स्तर्यो गावो न ऋतं नक्षन्, तथा वाजान्नो नियुतश्च वायुर्न त्वमच्छ याहि, हि यतो धीभिर्विदयसे दयसे, तस्माच्चिदपि सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यत इन्द्रपदस्य विद्वान् वा राजा वा गौण एवार्थः। ईश्वरो देवराजो वा परमैश्वर्यवत्त्वात् तथा सम्बोधनार्हः। ते तव जरितारः स्तोतार आप इव पिप्युरित्यप्यसङ्गतम्, मूलमन्त्रे इवपदप्रयोगाभावात्। न च मनुष्यस्तोतॄणां तथा वृद्धिर्दृश्यते, तथानुपलब्धेः। न वा नृस्तोतारः किरणा इव सत्यं व्याप्नुवन्तो दृश्यन्ते। वाजान् विज्ञानवत इत्यपि निर्मूलम् ॥ १८ ॥

गाव उपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा। उभा कर्णा हिरण्यया ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे गोमाताओं, अथवा वृष्टिधाराओं ! ये महान् द्यावापृथिवी नामक युगल देवता सर्वविध यज्ञफल को देने वाले हैं। इन दोनों को सुवर्ण-मय कर्ण के आभूषण प्रदान कर चत्वाल रूप कूप के प्रति आप गमन करें ॥ १९ ॥

तिस्रो गायत्र्यः। इयं 'गावः' इति पुरुमीढाजमीढदृष्टा ऐन्द्रवायवस्य द्वितीया पुरोरुक्। 'इन्द्रवायू' (वा० सं० ७।८) इत्यस्याः स्थाने 'गाव उपा' इति ऋक्। दक्षिणारूपा गाव उच्यन्ते। हे गावः, अवतं कूपं चात्वालरूपं प्रति, अवत इति कूपनाम (निघ० ३।२३।७), उपावत उपागच्छत। ननु को हेतुरुपागमने ? इति तत्राह—मही महत्यौ द्यावापृथिव्यौ यज्ञस्य रप्सुदा रप्सुदे, 'सुपां सुलुक्·····' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेराकारः। 'धर्मयज्ञस्य साधनभूते' इति सायणः, आरिप्सोः फलप्रदे इति यावत्। यद्वा रपणं शब्दनं रप् मन्त्रः, तेन सुष्ठु दातव्ये मन्त्रप्रयोगपूर्वकं दानमिति यावत्। अथवा 'षूद क्षरणे', रपा मन्त्रेण क्षारणीयें। 'रप्सु' इति रूपनामेति महीधराचार्यः। रप्सु रूपं दत्त इति रप्सुदे। द्यावाभूमी यज्ञस्य शोभां कुरुत इति यूयमुपगच्छत। किञ्च, भवतीनाम् उभा उभौ कर्णा कर्णौ हिरण्यया हिरण्ययौ हिरण्यमयौ। अत एव श्रुत्वा दानार्थमागच्छतेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे गावो वेदवाच इन्द्रियाणि वा, अवतं कूपं संसाररूपं वा उपावत उपागच्छत। मही मह्यौ द्यावापृथिव्यौ यज्ञस्य रप्सुदे यज्ञस्य फलप्रदे शोभाधायिन्यौ वा, तस्माद्यूयमुपागच्छत। किञ्च, युष्माकं हिरण्यमयौ ज्योतिर्मयौ ज्ञानमयौ कर्णौ तस्माज्जीवानां कल्याणार्थमागच्छत।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा गाव उभा रप्सुदा मही रक्षन्ति, तथा यूयं हिरण्यया कर्णा यज्ञस्यावतमुपावत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे मनुष्या इति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। अत्र गाव इति सम्बोधनमपहाय मनुष्या इति सम्बोधनकल्पने श्रुतहान्यश्रुतकल्पने प्रसज्येयाताम्। न चात्र इवशब्दप्रयोगोऽस्ति। न चावतशब्दस्य वेद्यादिगर्तोऽर्थः, निर्मूलत्वात्। अवतंपदं कूपपरं तु युक्तम्, निघण्टुप्रामाण्यात्। तच्च चात्वालरूपमेव, न वेद्यादिपरम्। सर्वथापि सिद्धान्तानुसारी पूर्वोक्त एवार्थो न्याय्यः॥ १९॥

यद॒द्य सूर॒ उदि॑ते॒ऽना॑गा मि॒त्रो अ॑र्य॒मा। सु॒वाति॑ सवि॒ता भगः॑॥ २०॥

मन्त्रार्थ—अब सूर्य का उदय होने वाला है। इस समय निरपराध व्यक्तियों को मित्र, अर्यमा, सविता और भग नामक देवता शुभ कार्यों के निमित्त प्रेरित करते हैं, उनको भले कामों में लगाते हैं॥ २०॥

वसिष्ठदृष्टा मैत्रावरुणपुरोरुक्। 'अयं वाम्' (वा० सं० ७।९) इत्यस्याः स्थाने 'यदद्य सूर' इति ऋक्। यत् कर्म अद्यास्मिन् द्यवि सूरे सूर्य उदिते उद्गते सत्यनागा अनपराधो मित्रोऽनागा अर्यमा तथाभूतः सविता भगश्च सुवाति प्रसौति प्रेरयति वा, तत्कर्म कुर्यादिति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—अद्य सूर्ये ज्ञानरूपे उदिते सत्यनपराधो मित्रः, तथाभूतोऽर्यमा सविता भगश्च यथा प्रेरयति तथा कुर्यात्, स्वतः कर्तृत्वाभावात्। सर्वे च देवाः परमात्मभावापन्ना अनपराधा भवन्ति। तेषां प्रेरणयैव यावज्जीवनं व्यवहारो भवति। तेन ते यथा प्रेरयन्ति, तथैव ज्ञानी व्यवहरति। ते च प्रारब्धानुसारमेव प्रेरयन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यद्योऽद्य उदिते सूरेऽनागा मित्रः सविता भगोऽर्यमा स्वास्थ्यं सुवाति, स राज्यं कर्तुमर्हति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असामञ्जस्यात्। तथाहि—यद्यद्य सूर्योदयेऽनागा अपि कामं पूर्वदिनेषु परदिनेषु रात्रौ च पापकृत् स्यात्, तर्हि किं स्यादित्यनुक्तेः। सवितृशब्दस्य मुख्यमर्थमुपेक्ष्य राज्यनियमेन प्रेरयितेत्यर्थोऽपि काल्पनिक एव। अर्यमादिपदानामपि तथोक्तोऽर्थो निर्मूल एव। स्वास्थ्यपदमपि मन्त्रबाह्यमेव॥ २०॥

आ सुते सिञ्चत श्रियँ रोदस्योरभिश्रियम् ।
रसा दधीत वृषभम् । तं प्रत्नथाऽयं वेनः ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—आत्मा रूप नदी पृथ्वी और स्वर्ग के चारों तरफ शोभित धर्म को धारण करती है। सोम के अभिषुत होने पर ऋत्विक्गण उसको सीचें ॥ २१ ॥

सुनीतिदृष्टा आश्विनग्रहपुरोरुक्। 'या वां कशा' (वा० सं० ७।११) इत्यस्याः स्थाने 'आ सुते' इति ऋक्। यं वृषभं वर्षितारं सोमम्, रसा नदी 'रसतेः शब्दकर्मणः' (नि० ११।२५) इति यास्कः। दधीत धारयति पुष्णाति वा। रसति नदतीति रसा, नद्युपकण्ठे सोमस्य जायमानत्वात्। तादृशे सोमे सुतेऽभिषुते आसिञ्चत ग्रहपात्रेषु चमसेषु। कथंभूतं वृषभम्? सोमं रोदस्योर्द्यावापृथिव्योरभिश्रियमधिगतश्रियम्, सोमश्रियो ब्रह्माण्डव्यापिनीत्वात्। पुनः कथंभूतं श्रियम्? श्रीयत इति श्रीः, तं रोदस्योरभिश्रियम्, तस्य सर्वजगदाधारत्वात्। अथवा श्रियं श्रियो हेतुभूतम्। अभि सर्वतः श्रीः शोभा यस्य स अभिश्रीः, तम्। 'तं प्रत्नथा' (वा० सं० ७।१२), 'अयं वेनः' (वा० सं० ७।१६) इति द्वे प्रतीकोक्ते शुक्रमन्थिनोः प्राकृते सप्तमस्य द्वादशीषोडश्यौ कण्डिके।

अध्यात्मपक्षे—रसा नदी गङ्गा यं वृषभमभीष्टानां वर्षितारं भगवन्तं सोममुमया सह वर्तमानं शिवं दधीत धारयति, सोमे सुतेऽभिषुते सति हे ऋत्विजः साधका वा तमासिञ्चत गङ्गाजलेनाभिषेकं कुरुत। कीदृशं वृषभम्? रोदस्योरभिश्रियं सर्वब्रह्माण्डाधारं श्रियं शोभारूपं वा।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, रसा यूयं सुते वृषभं रोदस्योरभिश्रियं श्रियं सभापतिमासिञ्चत, स च युष्मान् दधीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे राज्ञः सभापतेर्वा अचर्चितत्वात्। रसा इत्यस्य आनन्ददातार इत्यप्यनर्थः, निर्मूलत्वात्। मनुष्या इति सम्बोधनमपि निर्मूलमेव। सुते जगतीत्यपि स्वारस्यहीनम्। न च मनुष्येण राज्ञा द्यावापृथिव्योः शोभावृद्धिर्दृश्यते, तस्य देवाद्यपेक्षया नगण्यत्वात् ॥ २१ ॥

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषन् श्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत्तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण देवताओं ने चिरकाल से स्थित इन्द्र देवता को शोभित किया है। देवताओं की दीप्ति को आच्छादित करता हुआ वह अपने प्रकाश से विचरण करता है। विश्व का निरूपक वह इन्द्र वृष्टि के निमित्त मेघों को प्रेरित करता है। सावधान बुद्धि वाले फलवर्षी इन्द्र का यही नाम प्रसिद्ध है ॥ २२ ॥

विश्वामित्रदृष्टाग्रयणपुरोरुक्। त्रिष्टुप्। 'ये देवासः' (वा० सं० ७।१९) इत्यस्याः स्थाने 'आतिष्ठन्तम्' इति ऋक्। इन्द्रस्यात्र वृष्टिकर्म वर्ण्यते। विश्वे देवाः सर्वे देवा मध्यमका देवगणा ग्रीष्मान्ते मध्यमस्थानेऽन्तरिक्ष आतिष्ठन्तं समन्तात् तिष्ठन्तमिन्द्रं पर्यभूषन् परिरक्षणेनालङ्कृतवन्तः। स इन्द्रश्चरति सर्वत्र गच्छति। कीदृश इन्द्रः? श्रियो वसानः, देवानां दीप्तीराच्छादयन्, स्वरोचिः स्वं रोचिः प्रकाशो यस्य स तथोक्तः, अनन्याधीनप्रकाशत्वात् स्वयंप्रकाशः। विश्वरूपं विश्वं रूपयति शोभयति निरूपयतीति विश्वरूपः, स तादृश इन्द्रः, यतोऽमृतानि जलान्यातस्थौ वृष्ट्यै आस्थितवान्, अधिष्ठितवान्, वृष्णो वर्षणशीलस्येन्द्रस्य तन्महत् प्रसिद्धं नाम वासवो वृत्रहेत्यादि। कीदृशस्य वृष्णः? असुरस्य असवः प्राणा बलानि विद्यन्ते यस्य स असुरः, मत्वर्थीयो र आर्षः। महाप्राणो महाबलः, सावधानः प्रज्ञावान् वा तस्य, असुपदेन प्रज्ञादीनामपि संग्रहात्। यद्वा विश्वरूप इन्द्रः,

यतोऽमृतान्युदकान्यातस्थौ, उदकेषु पातयितव्येषु वृष्णोर्वर्षितुरसुरस्य प्रज्ञावतस्तन्नाम नमनं प्रह्वीभावः, महामहिम्नो महाबलस्य महाप्रज्ञावतो वृष्टिकार्ये प्रवृत्तिः प्रह्वीभाव एव ।

अध्यात्मपक्षे – आसमन्तात् तिष्ठन्तमिन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरं विश्वे सर्वे देवाः पर्यभूषन् परिवार्य अलङ्कृतवन्तः । स च स्वरोचिरनन्याधीनदीप्तित्वेन स्वप्रकाशः स्वदीप्त्या देवानां श्रिय आच्छादयन् स्वेच्छया चरति । स च विश्वरूपः सर्वात्मत्वात् सर्वरूपः, अमृतानि मोक्षम्, पूजायां बहुवचनम्, यत आतस्थौ अधिष्ठितवान्, तत् तस्य असुरस्य महाप्राणस्य महन्नाम नमनम् ।

दयानन्दस्तु –'हे विद्वांसः, विश्वे भवन्तो यथा श्रियो वसानः स्वरोचिर्विश्वरूपोऽग्निश्चरति अमृतानि तस्थौ तथैवमातिष्ठन्तं पर्यभूषन् । यद् वृष्णोऽसुरस्यास्य महत्तन्नामास्ति, तेन सर्वाणि कार्याण्यलङ्कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विद्युतो महन्नामासिद्धेः । न च विद्युदग्निरभौतिकमात्मानं व्याप्नोति, तस्य भौतिकत्वात् । यत्तु भावार्थे 'असुर' इति नामेति, तदपि निर्मूलम् । न चाग्नेरसुरेति नाम प्रसिद्धम्, तस्य विशेषणत्वात् । वृष्णोर्वर्षणशीलस्य असुरस्य असवः प्राणा बलानि वा विद्यन्ते यस्य तस्येति सङ्गतेः । 'तेन सर्वाणि कार्याण्यलङ्कुरुत' इत्यपि निर्मूलमेव, मूलासंस्पर्शित्वात् ॥ २२ ॥

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑मानायान्ध॒सोऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय वि॒श्वा॒भुवे॑ ।

इन्द्र॑स्य॒ यस्य॒ सुम॑ख॒ꣳ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सप॒र्यतः॑ ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विक्गण ! आप लोगों के हविरूप अन्न से मोदमान सर्वव्यापी महनीय इन्द्र के सभी मनुष्य यजमान हैं, अतः सबको इन्द्र का पूजन करना चाहिये । पृथ्वी और स्वर्ग इस इन्द्ररूप यजमान के शोभन यज्ञ, बल, महान् यश और धन की समृद्धि की स्तुति करते हैं ॥ २३ ॥

सुचीकदृष्टा त्रिष्टुप् । ध्रुवग्रहपुरोरुक् । 'मूर्धानं दिवः' (वा० सं० ७।२४) इत्यस्याः स्थाने 'प्र वो' इति ऋक् । प्रेत्युपसर्गस्य अर्चेति क्रियापदेन सम्बन्धः । हे ऋत्विजः, यूयं विश्वानराय विश्वे सर्वे नरा यष्टारो यस्य स विश्वानरः, 'नरे संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।१२९) इति दीर्घः, इन्द्रः, तस्मै प्रार्चा प्रार्चत, तादृशमिन्द्रं पूजयतेत्यर्थः, वचनव्यत्ययः । अर्चेत्यत्र 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः । कीदृशाय विश्वानराय ? महे महते, वो युष्माकमन्धसोऽन्धसा अन्नेन हवीरूपेण मोदमानाय, 'मदी हर्षे' । विश्वाभुवे विश्वम् आसमन्ताद् व्याप्नोतीति विश्वाभूः सर्वव्यापी, तस्मै । विश्वाभूर्वा यस्य तस्मै । विश्वं भवति प्रभवति यस्मादिति वा विश्वाभूः, संहितायां छान्दसो दीर्घः । किञ्च, रोदसी द्यावापृथिव्यौ यस्येन्द्रस्य सुमखं शोभनं यज्ञं सहो बलं महि महत्त्वं श्रवो यशो नृम्णं धनं च सपर्यतः पूजयतः, द्यावाभूमी यस्य सुमखादीन् पूजयतः, हे ऋत्विजो यूयमपि तं पूजयतेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे– हे ऋत्विजः साधका वा, यूयं विश्वानराय विश्वानरं परमात्मानं प्रार्च प्रार्चत पूजयत । विश्वं सर्वमासमन्तान्नृणाति नयति पुरुषार्थं प्रापयति यस्तस्मै सर्वप्राणिपुरुषार्थप्रापकाय तादृशेन्द्राय परमात्मने प्रार्चत पूजयतेत्यर्थः, विभक्तिव्यत्ययः । शेषोंऽशः पूर्ववद् व्याख्येयः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, त्वं रोदसी यस्येन्द्रस्य सुमखं नृम्णं सहो महि श्रवश्च सपर्यतः, तस्मै विश्वानराय महे मन्दमानाय विश्वाभुवे प्रार्च । स वोऽन्धसः सुखं ददातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, रोदस्योर्द्यावापृथिव्योस्त्वद्रीत्या जडयोः सपर्याकर्तृत्वायोगात् । सुखं ददात्विति मन्त्रबाह्यमेव, तथानुल्लेखात् ॥ २३ ॥

बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः । येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—जिन ऋत्विजों का मित्र जराहीन इन्द्र है, उनका प्राण महान् होता है, उनका ज्ञानखड्ग विशाल और शरीर महान् बलशाली होता है ॥ २४ ॥

त्रिशोकदृष्टा गायत्री। ऐन्द्राग्नपुरोरुक्। 'इन्द्राग्नी' (वा० सं० ७।३१) इत्यस्याः स्थाने 'बृहन्' इति ऋक्। येषां यजमानानां युवा सपर्य इन्द्रः सर्वकर्मसु दक्षः कुशलः सखा सहायः, एषामिन्द्रो बृहन् इद् महानेव इध्मो भवति, इन्धे येन स इध्मः, 'इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्' (उ० १।१४५) इति साधुः। यद्वा तेषामेषां यजमानानां बृहन् इद् महानेव इध्मो भूरि बहु शस्तं शस्त्रं होतृषदनासीनेन होत्रा पठितं शस्त्रं बहु महत्त्वोपेतं स्वरुः खड्गः, यूपाय काष्ठछेदने प्रथमोत्पन्नः शकलो वा स्वरुः। यः स्वरुर्होम उपयुज्यते, सोऽपि पृथुर्विशालो भवति। महत्त्वं च साधनानां साध्योत्कर्षं कुर्वतां भवति। एतत्कथनेन यज्ञानां वा भूयोभूयः करणमेवाभिप्रेतं स्यात्।

अध्यात्मपक्षे—युवा तरुणः समर्थ इन्द्रः परमात्मा येषां जनानां दक्षः कुशलः सखा सहायः, तेषामेषां बृहन् इद् महानेव इध्मः शस्त्रमृक्समूहविशेषो बहु भूरि स्वरुः काष्ठशकलविशेषः पृथुर्विशालो भवति, सर्वाणि यज्ञसाधनानि गुणसम्पन्नानि महाफलनिष्पादकानि भवन्ति।

दयानन्दस्तु—'येषामिध्मः पृथुः स्वरुर्युवा बृहन्निन्द्रः सखास्ति, एषामिव एषामेव भूरि शस्तं स्तुतियोग्यं कर्म भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वावस्थातीते परमात्मनि युवत्वानुपपत्तेः। न च स प्रदीप्तोऽपि, नीरूपत्वात्। विस्तीर्णतापि तस्य न समञ्जसा, नित्यव्यापकस्य संकुचितत्वाभावेन विस्तीर्णताया अप्यसङ्गतेः। शस्तं स्तुत्यं कर्म इत्यपि निर्मूलम्, मन्त्रे कर्मपदाभावात्। तदपेक्षया शस्त्रमेवाधिकं सङ्गतम्, धात्वर्थानुरोधात् ॥ २४ ॥

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः । महाँ२॥ अभिष्टिरोजसा ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! आप यहाँ आइये, तेज से श्रेष्ठ पूजनीय सोमरस से संयुक्त हमारे दिये हुए अन्न से आप तृप्त होइये ॥ २५ ॥

मधुच्छन्दोदृष्टा गायत्री वैश्वदेवपुरोरुक्। 'ओमासः' (वा० सं० ७।३६) इत्यस्याः स्थाने 'इन्द्रेहि' इति ऋक्। हे इन्द्र आ इहि, इह आगच्छ, 'ओमाङोश्च' (पा० सू० ६।१।९५) इति पररूपम्। आगत्य च अन्धसोऽध्यानीयस्य सोमलक्षणस्यान्नस्य स्वांशेन, अथवा अन्धसा, विभक्तिव्यत्ययः, हविर्लक्षणेनान्नेन त्वं मत्सि तृप्यस्व, 'मदी हर्षे' श्यनो लुक्। ततोऽपि विश्वेभिः सर्वैः सोमपर्वभिः सोमयागकालैर्निमित्तभूतैः सोमैः सोमांशुभिर्वा त्वं मत्सि। कस्मात् त्वमेवमस्माभिः प्रार्थ्यसे ? इत्याह—यत ओजसा स्वकीयेन बलेन महानसि श्रेष्ठोऽसि, अभिष्टिरभ्येषणशीलश्च शत्रूणामभियष्टव्यो वासि। पृषोदरादित्वात् सिद्धिः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र, परमैश्वर्यवन् ईश्वर, त्वमेहि आभिमुख्येनागच्छ। अन्धसा सोमपर्वभिः सोमांशुभिश्च त्वमोजसा बलेन महानसि। अभिष्टिश्च सर्वैरभियष्टव्यः पूजनीयश्च।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र विद्वन्, यतस्त्वमोजसा सह महानभिष्टिरभियष्टव्यो विश्वेभिः सोमपर्वभिरन्धसो मत्सि, तस्मादस्मानेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अल्पशक्तिमतो जीवस्येन्द्रशब्दार्थत्वायोगात्। सुरराजस्यापि परमेश्वरांशत्वेनैवेन्द्रत्वम्, अन्यापेक्षया परमैश्वर्यवत्त्वात्। परमेश्वर एव चाभियष्टव्यः, अभियजनफलस्य दातुं शक्तत्वात्। न च मनुष्याणां तृप्तौ सोमस्य सोमपर्वणो वा उपयोगो दृश्यते। न च सामाजिका राजानं विद्वांसं वा मनुष्यं सोमपर्वभिर्यजन्ति ॥ २५ ॥

इन्द्रो॑ वृ॒त्रम॑वृणो॒च्छर्ध॑नीतिः॒ प्र मा॒यिना॑ममिना॒द्वर्प॑णीतिः ।
अह॒न् व्यꣳस॑मु॒शध॒ग्वने॑ष्वा॒विर्धेना॑ अकृणोद् रा॒म्याणा॑म् ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—बलवान् नानारूपधारी चोरों के दाहक इन्द्र ने मायावी असुरों को युद्ध के लिये ललकारा और उन्हें मार डाला । वन में खोज-खोज कर उसने दुष्टों का नाश किया और ऋत्विजों की पवित्र वाणियों को प्रकट किया ॥ २६ ॥

विश्वामित्रदृष्टा त्रिष्टुप् । प्रथममरुत्वतीयपुरोरुक् । 'इन्द्र मरुत्व' (वा० सं० ७।३५) इत्यस्याः स्थाने 'इन्द्रो वृत्रम्' इति ऋक् । य इन्द्रो वृत्रं दैत्यमवृणोद् युद्धाय वृणोति स्म, यश्च मायिनां मायिनो दैत्यान्, विभक्तिव्यत्ययः, प्रामिणाद् हिनस्ति, 'मीञ् हिंसायाम्' क्र्यादिः, प्वादित्वात् 'प्वादीनां ह्रस्वः' (पा० सू० ७।३।८०) इति ह्रस्वत्वम् । मायिनामिति सम्बन्धसामान्यविवक्षायां कर्मणि षष्ठी । यश्च व्यंसम् 'अंस समाघाते' चुरादिरदन्तः, विशेषेणांसयति समाहत्य गृह्णाति सर्वस्वमिति व्यंसः साहसिको धूर्तो वा, तम् । अहन् हन्ति । क्व ? वनेषु । वनस्थानपि दुष्टान् हन्तीत्यर्थः । यश्च इन्द्रः शर्धनीतिः शर्धे चतुरङ्गे बले नीतिर्यस्य सः, शर्ध इति बलनामसु (निघ० २।९।७), चतुरङ्गबलनीतियुक्तः, यश्च वर्पणीतिः वर्पं नानारूपं नयति प्राप्नोतीति वर्पणीतिः, वर्प इति रूपनामसु (निघ० ३।७।३), स्वेच्छया नानारूपविजृम्भकः, यश्च उशधग् उशन्ति कामयन्ते परस्वमित्युशाः, पचाद्यच्, आर्षं सम्प्रसारणम्, चौरास्तान् दहतीत्युशधक्, वनेष्वपि विद्यमानान् उशान् शत्रुत्वं कामयमानान् दहतीत्युशधक्, स इन्द्रः, राम्याणाम्, रमयन्ति देवान् क्रताविति राम्यास्तेषां यायजूकानां धेनाः स्तुतिरूपा वाचः, धेना इति वाङ्नामसु (निघ० १।११।३९), आविरकृणोत् प्रकटयति, यजमानाः स्तुवन्तीति प्रादुष्करोतीत्यर्थः । यद्वा अवश्यं रमयितव्यानां राम्याणां यजमानानां धेनाः स्तुतिरूपा वाच इत्थं शत्रून् हन्ति, इत्थमपरिमितं धनं ददातीत्येवंरूपाः, प्रकटयतीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—य इन्द्रः परमेश्वरः, वृत्रं प्रावारकमज्ञानम्, अवृणोत् युद्धाय वृणोति, यश्च शर्धनीतिरज्ञानादिभिः शत्रुभिः सार्धं सामादिनीतिमपहाय बलनीतिं दण्डनीतिमङ्गीकरोति, यश्च मायिनां मायिनः प्रामिणाद् हिनस्ति, यश्च वर्पणीतिः पुरुरूप ईयते, यश्च व्यंसं धीसम्बन्धिनं मायिनम्, अहन् हन्ति, यश्च वनेषु उशधग् उशान् शत्रुत्वं कामयमानान् वनेष्वपि वर्तमानान् दहति, स इन्द्र राम्याणामवश्यं रमयितव्यानां भक्तानां धेनाः स्तुतीराविरकृणोत् प्रकटयति ।

दयानन्दस्तु—'शर्धनीतिर्वर्पणीतिरुशधग् इन्द्रो वृत्रमवृणोत् । मायिनां प्रामिणाद् वनेषु व्यंसमहन् राम्याणां धेना आविरकृणोत्, स एव राजा भवितुमर्हति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रपदस्य गौणार्थग्रहणे मानाभावात् । अन्यत्तु सायणमहीधरार्थमोषणमेव ॥ २६ ॥

कु॒तस्त्वमि॑न्द्र॒ माहि॑नः॒ सन्नेको॑ यासि सत्पते॒ किं त॑ इ॒त्था । सम्पृ॑च्छसे समरा॒णः शु॑भा॒नैर्वो॒चेस्तन्नो॑ हरिवो॒ यत्ते॑ अ॒स्मे । म॒हाँ२॥ इन्द्रो॒ य ओज॑सा क॒दा च॒न स्त॒रीर॑सि क॒दा च॒न प्रयु॑च्छसि ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे सत्पुरुषों के पालक इन्द्रदेव ! आप बिना सहायक के कहाँ जाते है ? आपके जाने का क्या कारण है ? आपकी इस शुभ यात्रा के विषय में हम विनम्र भाव से पूछते हैं कि हे हरित वर्ण के अश्वों वाले इन्द्रदेव ! हमें आप इस एकाकी गमन का कारण बतावें, क्योंकि हम आपके ही हैं । 'महान् इन्द्रो य ओजसा' (७।४०), 'कदा चन स्तरीरसि' (८।२), 'कदा चन प्रयुच्छसि' (८।३) ये तीन मन्त्रों के प्रतीक हैं । इन मन्त्रों से भी इन्द्र की स्तुति की जाती है ॥२७॥

अगस्त्यदृष्टा त्रिष्टुप्। सशस्त्रमरुत्वतीयपुरोरुक् 'मरुत्वन्तम्' (वा० सं० ७।३६) इत्यस्याः स्थाने 'कुतस्त्वम्' इति ऋक्। इन्द्रमरुत्संवादे मरुतां वाक्यमेतदिन्द्रं प्रति। हे इन्द्र ! हे सत्पते, सतां श्रुतिस्मृत्युक्ताचारनिष्ठानां पतिः पालकः सत्पतिः, तत्सम्बुद्धौ, त्वमेकः सन् असहायः सन् कुतो यासि क्व गच्छसि। ते तव इत्था इत्थमनेन प्रकारेणेति विग्रहे इदमः 'इदमस्थमुः' (पा० सू० ५।३।२४) इति स्थमुप्रत्यये, मान्तत्वात् 'कृन्मेजन्तः' (पा० सू० १।१।३९) इत्यव्ययत्वात्, 'अव्ययादाप्सुपः' (पा० सू० २।४।८२) इति विभक्तेर्लुकि प्राप्ते, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेर्डादेशः। कीदृशस्त्वम् ? माहिनो महितः पूज्यः, निष्ठातस्य नत्वं धातोर्वृद्धिश्च छान्दसी। यद्वा मह उत्सवोऽस्यास्तीति मही, स एव माहिनः, 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पा० सू० ५।४।३८) इति प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थेऽण्, 'इनण्यनपत्ये' (पा० सू० ६।४।१६४) इति टिलोपाभावः। किञ्च, समराणः सम्यग् गच्छन् सन् शुभानैः शोभनैर्वचनैस्त्वं सम्पृच्छसे कतमः पन्था इति लोकान् पृच्छसि, एकाकित्वात्। शोभन्त इति शुभानानि, शानचि शपि लुप्ते रूपम्। सम्पूर्वस्यर्तेः शानचि शपि लुप्ते समराण इति। हे हरिवः, हरयोऽश्वा अस्य सन्तीति हरिवान्, 'छन्दसीरः' (पा० सू० ८।२।१५) इति मतुपो मस्य वः, तत्सम्बुद्धौ 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इत्यलोऽन्त्यपरिभाषया नकारस्य रुः, हरितवर्णाश्वयुक्त हे इन्द्र, नोऽस्माकं तद् एकाकिगमनकारणं वोचेर्ब्रूहि। यद् यतो हेतोरस्मे वयं ते तव त्वदीया इति हेतोर्वक्तव्यमित्यर्थः। यद्वा हे सत्पते, त्वं कुतः कस्माद्धेतोर्माहिनो महनीयः सर्वस्य पूज्यः सन् असहायः सन् शत्रून् यासि। किं ते तव इत्थंभूतं प्रयोजनमस्ति, येन एकाकी यासि। समराणः सङ्गच्छमानः शुभानैः शोभनैर्वचनैः कतमः पन्था इति सम्पृच्छसे लोकान्, हे हरिहो हरिवन्, तत्कारणं नोऽस्माकं वोचेर्ब्रूहि। अथवा यत्ते व्यावृत्तिकारणं तत् तदस्मेऽस्मासु वोचेरिति सम्बन्धः। 'अस्मदः' इति सप्तमीबहुवचने 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेः शे आदेशे, 'लशक्वतद्धिते' (पा० सू० १।३।८) इति शकारस्य इत्संज्ञायाम्, 'शेषे लोपः' (पा० सू० ७।२।९०) इति मपर्यन्तात् परस्य लोपे 'अस्मे' इति रूपम्। तिस्रः प्रतीकोक्ताः। तत्र (१) 'महाँ इन्द्रो य ओजसा' (वा० सं० ७।४०) इत्यस्या माहेन्द्रग्रहणे विनियोगः। 'महाँ इन्द्रो नृवत्' (वा० सं० ७।३९) इत्यस्याः स्थाने 'कदाचन स्तरीरसि' (वा० सं० ८।२), 'कदाचन प्रयुच्छसि' (वा० ८।३) इति द्वयोरादित्यग्रहणे विनियोगः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्र ऐश्वर्यवान् भक्तानां रक्षार्थं भक्तविरोधिनां शत्रूणां निराकरणार्थं त्वरया गरुडादीनपि परित्यज्य गच्छति। यथा गजेन्द्रोद्धारे—

पर्यङ्कं विसृजन् गणानगणयन् भूषामणिं विस्मरन्
उत्तानोक्ति गजा गजेति निगदन् पद्भ्यामनालोकयन्।
निर्गच्छन्नपरिच्छदः खगपतिं चारोढुमीक्षन् द्रुतं
ग्राहग्रस्तगजेन्द्रपुङ्गवसमुद्धाराय नारायणः॥

ततोऽपि त्वरायाम्—'छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानश्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः' (भा० पु० ८।३।३१)। गरुडो महता वेगेन धावन्नपि—'चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्माद्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार' (भा० पु० २।७।१६) इति गजेन्द्रोद्धरणानन्तरं विश्रमणकाले तत्राजगाम। तदुक्तमभियुक्तैः—'या त्वरा द्रौपदीत्राणे या त्वरा गजमोक्षणे। मय्यार्ते करुणामूर्ते सा त्वरा क्व गता हरे॥' इति। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव ज्ञेयम्।

दयानन्दस्तु—'हे सत्पते इन्द्र, माहिनस्त्वमेकः सन् कुतो यासि, किं त इत्था ? हे हरिवो यदस्मे ते तस्मात् समराणस्त्वं नः सम्पृच्छसे शुभानैस्तद्वोचेश्च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रं राजानं परिकल्प्य राजपुरुषैस्तथा प्रश्नकल्पनस्य निर्मूलत्वात्, तादृशलक्षणायां बीजाभावाच्च। न च 'हरिवः' इति सम्बोधनं

राजसु प्रयुज्यते, तथा शिष्टाप्रयोगात्। न च सर्वेऽश्वा हरिशब्देन विवक्ष्यन्ते, हरयो हरिद्वर्णा इन्द्रस्य देवराजस्यैवाश्वाः, तथा भगवतो भास्करस्यापि। तथा चामरसिंहः –'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः' (अ० को० १।३।२९)। रामायणेऽरण्यकाण्डे पञ्चमे सर्गे महर्षिशरभङ्गसमीपे भगवता रामभद्रेण कृतमिन्द्रदर्शनं वर्णितम्—

समीपे शरभङ्गस्य ददर्श महदद्भुतम् ॥ ४ ॥
विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरप्रभम्। रथप्रवरमारूढमाकाशे विबुधानुगम् ॥ ५ ॥
असंस्पृशन्तं वसुधां ददर्श विबुधेश्वरम्। सम्प्रभाभरणं देवं विरजोऽम्बरधारिणम् ॥ ६ ॥
तद्विधैरेव बहुभिः पूज्यमानं महात्मभिः। हरितैर्वाजिभिर्युक्तमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ ७ ॥ इति।

श्रीरामश्चाद्भुतं तद् दृष्ट्वा लक्ष्मणमब्रवीत्। यद्यथा—

रामोऽथ रथमुद्दिश्य भ्रातुर्दर्शयताद्भुतम् ॥ १२ ॥
अर्चिष्मन्तं श्रिया जुष्टमद्भुतं पश्य लक्ष्मण। प्रतपन्तमिवादित्यमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ १३ ॥
ये हयाः पुरुहूतस्य पुरा शक्रस्य नः श्रुताः। अन्तरिक्षगता दिव्यास्त इमे हरयो ध्रुवम् ॥ १४ ॥ इति।

न वा राजा एकाकी युद्धार्थं गच्छति, सहायानपेक्षस्य इन्द्रस्यैव तथात्वोपपत्तेः। न च सम्पृच्छस इति वर्तमानप्रयोगस्य पृच्छेति कल्पनं युक्तम्, यथाश्रुतार्थत्यागे कारणाभावात् ॥ २७ ॥

आ तत्त इन्द्रायवः पनन्ताभि य ऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान्।
सकृत्स्वं ये पुरुपुत्रां महीᳬ सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन् ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! जो मनुष्य जल से युक्त सोमरूप अन्न को अभिषुत करना चाहते हैं, जो एक ही बार धन देने वाली, अनेक पुत्रों वाली, अनन्त धारा वाली इस विशाल भूमि को दुहना चाहते हैं, वे इस शुभ कर्म के लिये आपको पूजते हैं ॥ २८ ॥

गौरीवीतिदृष्टा त्रिष्टुप्। आदित्यग्रहस्य दधिश्रपणे विनियुक्ता। 'यज्ञो देवानाम्' (वा० सं० ८।४) इत्यस्याः स्थाने 'आ तत्त' इति ऋक्। आङुपसर्गः पनन्तेत्याख्यातेन संसृज्यते। हे इन्द्र, ते तव कर्म वृत्रवधादिकम्, आयवो मनुष्या यजमानाः, आयव इति मनुष्यनामसु (निघ० २।३।१७), आपनन्त पूजयन्ति, पनतिः पूजाकर्मा (निघ० ३।१४।३१), लङ् अडभाव आर्षः। कथम्भूता आयवः ? ये आयव ऊर्वमन्नं सोमरूपं अभितितृत्सान् अभितितृत्सन्ति तर्दितुं हिंसितुमिच्छन्ति, 'उतृदिर् हिंसानादरयोः' सन्नन्तः। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० ३।४।९७) इत्यन्ते रिकारलोपः संयोगान्तलोपश्च, ये सोमं सोतुमिच्छन्तीत्यर्थः। गोमन्तं गौरुदकमस्ति यस्मिन् स गोमान् निग्राभ्यालक्षणोदकयुतः, तम्। ताभिरेव सोमः सूयते। पुनः कीदृशा आयवः ? ये मनुष्या महीं भूमिं दुदुक्षन् दुधुक्षन्ति दोग्धुमिच्छन्ति, दुहेः सन्नन्ताल्लट्, पूर्ववदिकारलोपः, तेऽपि तव कर्म पनन्ति स्तुवन्ति। कीदृशीं महीम् ? सकृत्स्वं सकृदेकवारमेव प्रभूतं सूते बहु हिरण्यधान्यादि ददातीति सकृत्सूः, ताम्। पुरुपुत्रां बहुपुत्राम्, सर्वेषां पृथिवीत एवोत्पत्तेः। सहस्रधारां सहस्रं धारा अविच्छिन्नवेगेन पतनं हिरण्यादीनां यस्यां सा, बहुभोगदेति यावत्, ताम्। यद्वा सहस्रमसंख्यं प्राणिजातं धरतीति सहस्रधारा ताम्, बृहतीं महतीं ये विप्राः सोममभिषुण्वन्ति, ये च क्षत्रिया भूमिं दुहन्ति पालयन्ति ददते वा, ते इन्द्रस्य वृत्रवधादि कर्म स्तुवन्ति, नान्ये दुर्मेधस इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, आयवो मनुष्यास्तव कर्म दुष्टनिग्रह-शिष्टपरिपालन-प्रपञ्चसृष्टिस्थिति-पालनादि आपनन्त पूजयन्ति। के मनुष्याः ? ये गोमन्तम् ऊर्वम् अभि तितृत्सान् निग्राभ्यायुक्तं सोमम् अभिषुण्वन्ति, ये च विविधविशेषां भूमिं पालयन्ति ददते च, ते मनुष्यास्तव कर्म पूजयन्ति, न सामान्यजनाः।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, य आयवो मनुष्याः सकृत्स्वं या सकृद् एकवारं सूते सा सकृत्सूः, तां पुरुपुत्रां सहस्रधारां बृहतीं महीं महतीं भूमिं दुदुक्षन् दोग्धुमिच्छेयुः, ये गोमन्तं दुष्टा गाव इन्द्रियाणि यस्य तमूर्वं हिंसकं तितृत्सान् तर्दितुमिच्छेयुः, ये च ते तदा पनन्तः प्रशंसेयुः, तान् त्वं सततमुन्नय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अत्रापीन्द्रपदेन राज्ञो ग्रहणस्य निर्मूलत्वात्। गोमन्तमित्यनेन दुष्टा गावो यस्येति ग्रहीतुं न शक्यते, मन्त्रे दुष्टपदाभावात्। ऊर्वपदस्य न हिंसकोऽप्यर्थः, अत्रोर्वपदेन सोमलक्षणस्यान्नस्यैव जिघृक्षितत्वात्। अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव॥ २८॥

इ॒मां ते॒ धियं॒ प्रभ॑रे म॒हो म॒हीम॒स्य स्तो॒त्रे धि॒षणा॒ यत्त॑ आन॒जे।
तमु॑त्स॒वे च॑ प्रस॒वे च॑ सास॒हिमिन्द्रं॑ दे॒वासः॒ शव॑साऽमद॒न्ननु॑॥ २९॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! आप हमारे पूज्य हैं, इस महान् स्तुति को हम आपको समर्पित करते हैं। इस यजमान की बुद्धि आपके स्तोत्रगान से स्थिर हुई है। देवगण सब प्रकार के अभ्युदय में पुत्रोत्सव आदि के अवसर पर बलवान् शत्रुओं के जेता इन्द्र का अनुमोदन करते हैं॥ २९॥

कुत्सदृष्टा जगती। सावित्रपुरोरुक्। 'वाममद्य' (वा० सं० ८।६) इत्यस्याः स्थाने 'इमां ते' इति ऋक्। हे इन्द्र, इमां मामकीं धियं बुद्धिं स्तुतिं वा कर्म वा ते तुभ्यं प्रभरे प्रहरामि समर्पयामि। कीदृशस्य ते ? महो महतः पूज्यस्य वा धियम्। कीदृशीम् ? महीं महतीम्। यद् यस्मात्, अस्य यजमानस्य धिषणा बुद्धिर्वाग् वा स्तोत्रे क्रियमाणे ते तव, कर्मणि षष्ठी, त्वाम् आनजे अभिव्यनक्ति, अञ्जेर्लिटि नकारलोपश्छान्दसः। यद्वा अस्य यज्ञस्य स्तोत्रे धिषणा वाग् यद् यस्मात् तव स्वभूतान् गुणान्, आनजे अभिव्यनक्ति, ऐन्द्रमेव यज्ञं प्रकाशयति। किञ्च, तमेवेन्द्रं देवासो देवा अपि, अन्वमदन् अनुमदन्ति, अभिष्टुवन्ति, 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इत्यनोः परः प्रयोगः। क्व स्तुवन्ति ? उत्सवे अभ्युदये प्रसवे गुर्वनुज्ञायां सत्याम्। यद्वा प्रसवे पुत्राद्युत्पत्तिरूपे उत्सवे इन्द्रं स्तुवन्ति। कीदृशमिन्द्रम् ? शवसा बलेन, सासहिं सहत इति सासहिस्तम्, शत्रूणामभिभवितारम्। चकारौ समुच्चयार्थौ।

अध्यात्मपक्षे—'हे इन्द्र परमेश्वर, इमां महीं महतीं मामकीं धियं स्तुतिं बुद्धिं वा ते तुभ्यं प्रभरे प्रहरे समर्पयामि। कीदृशस्य ते ? महः, महतो ब्रह्मरूपस्य। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु 'हे इन्द्र, अहं महीमिमां ते धियं प्रभरे धरे स्तोत्रेऽस्य धिषणा यत्ते आनजे व्यनक्ति तं शवसा बलेन सासहिं भृशं सोढारमिन्द्रमहमुत्सवे प्रसवे च देवासोऽन्वमदन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सामान्यराजपरत्वे लौकिकार्थबोधकत्वेनानुवादकत्वात्, अनधिगतगन्तृत्वाभावेन वेदानामप्रामाण्यापत्तेः। बहुभिरंशैर्महीधरार्थानुकरणमेव॥ २९॥

वि॒भ्राड् बृ॒हत्पि॑बतु सो॒म्यं मध्वायु॒र्दध॑द्य॒ज्ञप॑ता॒वविं॑हुतम्।
वात॑जूतो॒ यो अ॑भि॒रक्ष॑ति॒ त्मना॑ प्र॒जाः पु॑पोष पु॒रु॒धा वि रा॑जति॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्यदेव ! यजमान में अखण्डित आयु को स्थापित करते हुए आप इस अत्यन्त स्वादु सोमरूप हवि का पान कीजिये। सूर्यदेव वायु से प्रेरित आत्मा द्वारा प्रजा का पालन और पोषण करते हैं, अनेक रूपों में शोभित होते हैं ॥ ३० ॥

अथ तृतीयमहः सूर्यस्तुत्, 'सूर्यस्तदुक्थ्यस्तृतीयमहर्भवति। सूर्यो वै सर्वे देवाः सर्वेषां देवानामाप्त्यै सौर्या ग्रहा भवन्ति सौर्यैः पुरोरुचः सर्वꣳ सौर्यमसदिति' (श० १३।७।१।५) इति श्रुतेः। चतुर्दश सौर्यः पुरोरुचः, तिस्रः प्रतीकोक्ताः। एवं सम्भूय सप्तदश ऋचः सूर्यस्तुत्संज्ञे उक्थ्यसंस्थे सर्वमेधस्य तृतीयेऽहनि। ऐन्द्रवायवादि-सावित्रान्तानां ग्रहाणां पूर्वोक्तक्रमेण ग्रहणमन्त्रा बोध्याः। विभ्राड्दृष्टा जगती। ऐन्द्रवायवपुरोरुक्। विभ्राट् विविधं भ्राजत इति विभ्राट् सूर्यः, सोम्यं सोमसम्बन्धि सोमरूपं वा हविः पिबतु। कीदृशं सोम्यम् ? बृहन्महद् मधु मधुरस्वादोपेतम्। यः सूर्यो वातजूतो वातेन प्रेरितः सन्, वातेन प्रेरितं रविमण्डलं भ्रमतीति ज्योतिः-शास्त्रे प्रसिद्धिः। तथा चाह कालिदासोऽभिज्ञानशाकुन्तले—'त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां ज्योतींषि चारयति च प्रविभक्तरश्मिः। तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम्॥' इति। त्मना आत्मना 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा० सू० ६।४।१४१) इत्याकारलोपः। प्रजा अभिरक्षति पालयति, पुपोष पुष्णाति च शीतोष्णवातवर्षैः। पुरुधा बहुरूपेण विराजति शोभते च, अग्निविद्युन्नक्षत्ररूपैर्दीप्यते वा। किं कुर्वन् ? यज्ञपतौ यजमानेऽविह्रुतमखण्डितम्, 'ह्रु ह्वरेश्छन्दसि' (पा० सू० ७।२।३१) इति धातोर्निष्ठायां ह्रु-आदेशः। आयुर्दधत् स्थापयन्।

दयानन्दस्तु—'यो वातजूतः सूर्य इव विभ्राड् अविह्रुतमायुर्यज्ञपतौ दधत् त्मना प्रजा अभिरक्षति पुपोष पुरुधा विराजति च, स भवान् बृहत् सोम्यं मधु पिबतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। किञ्च, गौणार्थ-स्वीकरणमेव सर्वत्र। नहि मनुष्यो राजा वा वायुजूतो वा भवति, सूर्यतुल्यप्रकाशो वा भवति। न च भोजनादि-व्यवहारे यज्ञः, न वा तत्पालको यज्ञपतिर्भवति। न राजा पुरुधा विराजति। तस्यौषधिरसपानविधानमपि व्यर्थमेव, रागप्राप्तत्वेन विधातुमनर्हत्वात् ॥ ३० ॥

उदु॒ त्यं जा॒तवे॑दसं दे॒वं व॑हन्ति के॒तवः॑। दृ॒शे विश्वा॑य॒ सूर्य॒ꣳ स्वाहा॑ ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—सब पदार्थों को जानने वाले, प्रकाशात्मक सूर्यदेव की किरणें उनको इस समस्त विश्व को प्रकाशित करने के निमित्त वितर्क के साथ प्रतिदिन ऊर्ध्व वहन करती हैं, अर्थात् स्वर्ग में पहुँचाती हैं। इन्हीं के निमित्त प्रदत्त यह हवि भली प्रकार गृहीत हो ॥ ३१ ॥

तिस्रः प्रस्कण्वकुत्सागस्त्यदृष्टाः, सौरी गायत्री। ऐन्द्रवायवस्य द्वितीया पुरोरुक्। केतवो रश्मयः, त्यं तं प्रसिद्धं सूर्यं देवमुद्वहन्ति। कीदृशं देवम् ? जातवेदसम्, जातं वेदो ज्ञानं धनं वा यस्मात् तम्। किमर्थमुद्वहन्ति ? विश्वाय विश्वस्य दृशे दर्शनाय, जगद् द्रष्टुमित्यर्थः। तस्मै सूर्याय स्वाहा सुहुतमस्तु। अन्यत् सप्तमेऽध्याये एकचत्वारिंश्याः कण्डिकाया व्याख्याने उक्तम् ॥ ३१ ॥

येना॑ पावक॒ चक्ष॑सा भु॒र॒ण्यन्तं॒ जना॑ꣳ२॥ अनु॑। त्वं व॑रुण॒ पश्य॑सि ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे शोधक वरुणदेव ! आप जिस अनुग्रह दृष्टि से उस सुपर्ण स्वरूप को देखते हैं, उसी चक्षु से आप हम ऋत्विजों को भी देखिये ॥ ३२ ॥

सौरी गायत्री। मैत्रावरुणपुरोरुक्। सर्वमेधे पक्ष्याकारेणाग्निश्चीयते। तद्रूपमात्मानं सम्पाद्य मुक्तिमाप्नोति। तदत्र प्रतिपाद्यते—हे पावक पावयितः शुद्धिकारक, येन चक्षसा दर्शनेन त्वं भुरण्यन्तमनुपश्यसि, क्षिप्रपाती पक्षी भुरण्युः, भुरण्युमात्मानं करोतीति भुरण्यति, भुरण्यतीति भुरण्यन्, तम्, शतृप्रत्ययान्तः। सर्वमेधयाजिनं भुरण्युपक्षिरूपमात्मानं कृत्वा स्वर्गच्छन्तं येन चक्षसा ज्ञानेनानुपश्यसि, तेन चक्षसा जनानस्मानपि भुरण्यतो हे वरुण, अत्र वरणीयत्वात् सूर्य एव वरुण उच्यते, हे सूर्य ! त्वं पश्य। तदोऽध्याहारेण वाक्यपूर्तिः।

अध्यात्मपक्षे—हे पावक, पावयतीति पावकः, तत्सम्बुद्धौ हे परमेश्वर ! तस्यैव पावनहेतुनामगुणकर्मस्वरूपत्वात्। येन दर्शनेन त्वद्विषयकज्ञानेन भुरण्यपक्षिवदात्मानं त्वल्लोकं गच्छन्तमनुपश्यसि, तेनैव चक्षसा ज्ञानेन जनानस्मानपि भुरण्यतः पश्य। अत्र सगुणब्रह्मप्राप्तिदृष्ट्या शीघ्रगामिपक्षिवदात्मानं कृत्वा भगवल्लोकं साधको गच्छति। निर्गुणब्रह्मदृष्ट्या तु शीघ्रतया देहाद्युपाधिबाधेन नित्यप्राप्तब्रह्माभिव्यक्तिरेव विवक्षिता। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते' (बृ० उ० ४।४।६) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे पावक वरुण विद्वन्, त्वं येन चक्षसा भुरण्यन्तमनुपश्यसि, तेन जनान् पश्य। तवानुकूलाश्च वयं वर्तेमहि' इत्यादिकं व्याख्याति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यस्य विदुषो राज्ञो वा दर्शनमात्रकर्मणि वैशेष्यानुपपत्तेः। देवाः सत्यसङ्कल्पाः सङ्कल्पमात्रेणानुग्रहवत्या बुद्ध्या वा दर्शनगोचरस्य कल्याणं कर्तुं शक्नुवन्ति, दिव्यशक्तित्वात्। न मनुष्यास्तथा कर्तुं पारयन्ति, अल्पशक्तित्वात्। पावकवरुणादिपदानां देवताविशेषपरत्वमेव, न श्रेष्ठमनुष्यपरत्वम्। नहि धात्वर्थानुरोधमात्रेण प्रयोगा भवन्ति। नहि लोके चेष्टावति गवादौ घटशब्दः प्रयुज्यते, अतिप्रसङ्गात्। भुरण्यपदमपि शकुनिविशेषे प्रसिद्धमिति तां प्रसिद्धिमतिक्रम्य पालकमात्रपरत्वे यदि प्रयुज्येत, तर्हि शाब्दन्याये महान् दुर्नयः समुदियात् ॥ ३२ ॥

दैव्यावध्वर्यू आगतꣳ रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे। तं प्रत्नथायं वेनश्चित्रं देवानाम् ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे दिव्य अश्विनीकुमारों ! आप लोग सूर्य के समान कान्तिमान् रथ से हमारे यहाँ आइये। पुरोडाश, दधि आदि से यज्ञ को सींच कर बहुत हवि वाला बनाइये ॥ ३३ ॥

गायत्री आश्विनपुरोरुक्। हे दैव्यौ देवानामिमौ दैव्यौ, 'देवाद्यञञौ' (पा० सू० ४।१।८५, वा० ३) इति यञि रूपम्, तत्सम्बोधने। अध्वर्यू अध्वरमिच्छतोऽध्वरीयतः, अध्वरीयत इत्यध्वर्यू, अध्वरशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि, धातुसंज्ञायाम्, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्यये, 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० सू० ७।४।३५) इति निषेधादीत्वनिवृत्तौ, 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इत्यन्त्यलोपे रूपम्। अथवा अध्वरं याति यौति वेत्यध्वर्युः, 'मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्' (पा० सू० ३।२।१८०, वा० १) इति डुः। हे अश्विनौ, युवां रथेन आगतमागच्छतम्, आगमनं कुरुतम्, शपो लुक्। कीदृशेन रथेन ? सूर्यत्वचा सूर्यस्येव त्वक् कान्तिर्यस्य स सूर्यत्वक्, तेन। एत्य च मध्वा मधुरस्वादुना हविषा युवां यज्ञं समञ्जाथे चरुपुरोडाशदध्यादिना च यज्ञं संम्रक्षयतम्, प्रभूतानि हवींषि कुरुतमित्यर्थः। समाप्तमिति साधुरूपं समञ्जयतमित्यर्थः। 'तं प्रत्नथा' (७।१२), 'अयं वेनः (७।१६), 'चित्रं देवानाम्' (७।४२) इति तिस्रः प्रतीकोक्ताः। आद्ये द्वे शुक्रमन्थिपुरोरुचौ, तृतीयाऽऽग्रयणस्य पुरोरुक्।

दयानन्दस्तु—'हे दैव्यावध्वर्यू, सूर्यत्वचा रथेनागतं मध्वा यज्ञं च समञ्जाथे' इति, यत्किञ्चित्, द्विवचनस्य अतन्त्रत्वात्, देवेषु दिव्येषु विद्वत्सु च कुशलौ अध्वरमहिंसायज्ञं गच्छन्ताविति द्विवचनस्य निर्मूलत्वात्, अन्येषामपि तथात्वसम्भवात्। सूर्यवद्दीप्तरथोऽपि लोके क्वोपलभ्यते ? ॥ ३३ ॥

आ न इडाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानरः सविता देव एतु ।
अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्वं जगदभिपित्वे मनीषा ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—सब जीवों का हितकारी अन्तर्यामी ईश्वर हमारी सुन्दर आहुतियों के कारण प्रशंसायोग्य यज्ञशाला में प्रकट हो। हे जरारहित देवताओं ! आगमन काल पर जिस प्रकार आप सब तृप्त होते हैं, उसी प्रकार इस सारे जगत् को भी हमारी प्रज्ञा से तृप्त करें ॥ ३४ ॥

अगस्त्यदृष्टा त्रिष्टुप्। ध्रुवपुरोरुक्। द्वितीयोऽर्धर्चः प्रथमं व्याख्यायते, यच्छब्दयोगादित्युक्तटाचार्यः। हे देवाः, युवानः सर्वकर्मक्षमा जरारहिताः, षड्विधभावविकाररहिता अविपरिणामिनो वा अपि निश्चितम्, अभिपित्वेऽभिपतने आगमनकाले विश्वं जगदुद्धराम इति कृत्वा यथा येन प्रकारेण यूयं मत्सथ तृप्यथ, 'मद तृप्तौ' तथा तेन प्रकारेण विश्वानरो विश्वनरहितकारी सविता देवो नोऽस्माकं यज्ञगृहे आ एतु आगच्छतु। कथमागच्छतु ? इत्यत आह—इडाभिः सुशस्ति यथा स्यात् तथा इडाभक्षणेन शोभना शस्तिः प्रशंसा यस्यां क्रियायां तथा, यथा सर्वे इडां भक्षयन्ति तथा, एत्वित्यर्थः।

यद्वा - इडाभिः करणभूतैः सुशस्तिभिश्च शोभनैः शंसनैः शस्त्ररूपैः करणैः सहिते विदथे आगच्छत्वित्यर्थः। यद्वा पूर्वार्धेन विश्वानरं सूर्यमुत्तरार्धेन च देवानाह—विश्वानरः सर्वहितकारी सविता देवो नोऽस्माकमिडाभिः सुशस्तिभिर्युक्ते विदथे यज्ञगृहे आगच्छतु। अथ देवानाह—हे देवाः, युवानो जरादिविकाररहिता अपि निश्चितमभिपित्वेऽभिपतने आगमनकाले यथा येन प्रकारेण यूयं मत्सथ तृप्यथ, तथा नोऽस्माकं विश्वं जगद् गन्तृपुत्रगवादिकं मनीषया मनस इच्छया मत्सथ तर्पयत, अन्तर्भावितण्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे युवानः, यथा विश्वानरो देवः सविता इडाभिः शिक्षिताभिर्वाग्भिर्विदथे विज्ञापनीये व्यवहारे सुशस्ति नो विश्वं जगत्, तथाभिपित्वे यूयं मत्सथ, या नो मनीषा तामपि शोधयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, युवानो ब्रह्मचर्येणाधीतविद्या इत्यस्यार्थस्य निर्मूलत्वात्। विश्वानरसवित्रादिपदान्यपि न विश्वनायकसूर्यतुल्यमनुष्यादिपराणि, तथार्थत्वे मानाभावात्, असम्भवाच्च। तादृशोऽपि न विश्वं जङ्गमं च प्राप्तुं शक्नोति ॥ ३४ ॥

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य । सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अन्धकार के नाशक ऐश्वर्ययुक्त सूर्यदेव ! जहाँ कहीं भी आप उदित होते हैं, वह सब स्थान आपके ही वश में हो जाता है ॥ ३५ ॥

श्रुतकक्ष-सुतकक्षदृष्टा गायत्री। ऐन्द्राग्नग्रहपुरोरुक्। हे वृत्रहन्, वृत्रमन्धकारं शार्वरं तमो हन्तीति वृत्रहा, 'ध्वान्तारिदानवा वृत्राः' (अ० को० ३।३।१६४), तथा 'वृत्रो रिपौ घने ध्वान्ते शैलभेदे च दानवे' (मेदिनी १३८।८५) इत्यादिकोशेभ्यः। तत्सम्बुद्धौ हे वृत्रहन् सूर्य, हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त, अद्य यत् कच्च यत्र कुत्रचित् त्वमभि उदगा अभ्युदेषि, तत्सर्वं ते तव, वशेऽस्तीति शेषः। यद्वा उदगा इत्यत्र पुरुषव्यत्ययः, यत्किञ्चित् प्राणिजातमुदेति, तत्सर्वं तव वशे। त्वमेव सर्वस्येशिता इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे - हे वृत्रहन्, वृत्रमज्ञानान्धकारं हन्तीति वृत्रहा, तत्सम्बुद्धौ हे परमेश्वर, शार्वरतमोहन्तृसूर्योपाधिकः परमेश्वरो वृत्रहा। हे इन्द्र परमैश्वर्योपेत, त्वमद्यास्मिन् दिनेऽस्मानभि उदगाः, अस्मान् प्रति प्रादुर्भव। यत् कच्च यत्किञ्चिदस्ति तत्सर्वं ते तव वशे।

दयानन्दस्तु—'हे वृत्रहन् सूर्येन्द्र, ते यदद्य सर्वं वशेऽस्ति, तत् कच्चाभ्युदगाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नहि कस्यचिन्मनुष्यस्य सर्वं जगद्वशे भवति। तस्मात् सूर्येन्द्रादिपदेन कस्यचित् तेजस्विनोऽपि ग्रहणमसङ्गतमेव ॥ ३५ ॥

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमाभासि रोचनम् ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्यदेव ! आप संसार-सागर में नौका के समान हैं, सबके दर्शन-योग्य हैं, सबको तेज प्रदान करने वाले हैं। यह सारा संसार आपके प्रकाश से प्रकाशित है, आप ही सारे संसार को प्रकाशित करते हैं ॥ ३६ ॥

प्रस्कण्वदृष्टा गायत्री, वैश्वदेवपुरोरुक्। हे सूर्य, यस्त्वं तरणिः, तरत्यतिक्रामति नभोवर्त्मेति तरणिः, 'अर्तिसृधृधम्यश्यवितृभ्योऽनिः' (उ० २।१०४) इति तरतेरनिः प्रत्ययः। विश्वदर्शतः सर्वस्य दर्शनीयः 'भृमृदृशि……' (उ० ३।११०) इत्यादिना दृशेरतच्प्रत्ययः। ज्योतिष्कृद् ज्योतिषस्तेजसः कर्तासि, स त्वं विश्वं सर्वं संसारमाभासि समन्तात् प्रकाशयसि। कीदृशं विश्वम् ? रोचनं दीप्यमानम्। अग्निविद्युन्नक्षत्रचन्द्रग्रहतारकादिषु त्वदीयमेव ज्योतिर्ज्वलतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे सूर्योपाधिक अन्तर्यामिन्, त्वं ज्योतिष्कृद् ज्योतिषां सूर्यचन्द्रादीनां कर्तासि, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति श्रुतेः, 'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥' (भ० गी० १५।१२) इति गीतोक्तेश्च। त्वं तरणिरसि जलतरणोपायरूपा तरणिर्नौका, 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' (अ० को० १।१०।१०), तथा 'तरणिर्द्युमणौ पुंसि कुमारीनौकयोः स्त्रियाम्' (मे० ४८।५०), तथा—'तरणिस्तरणेऽर्केऽशौ कुमार्योषधिनौकयोः। यष्टावब्धौ' (हैमे ३।२१५) इति कोषकदम्बकेभ्यः। विश्वदर्शतः, विश्वं दर्शतं दर्शनीयं यस्मात् सः, त्वत्सत्तास्फूर्तिभ्यामेव जगत् सत्तास्फूर्तिमद् भूत्वा दर्शनयोग्यो भवति। त्वमेव विश्वमाभासि प्रकाशयसि। कीदृशं विश्वम् ? रोचनम्, सूर्यचन्द्रादिभिर्दीप्यमानम्, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' (मु० २।२।१०) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे सूर्य, त्वं यथा तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृत् सविता रोचनं विश्वं प्रकाशयति, तथा त्वमपि, यतो न्यायविनयेन राज्यमाभासि, तस्मात् सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्यशब्दस्य मनुष्यपरत्वे शब्दान्तरागामसङ्गत्यापत्तेः। नहि सूर्यवन्मनुष्यो ज्योतिष्कृद् भवति, सूर्यशब्दस्य गौणार्थस्वीकारे मानाभावाच्च ॥ ३६ ॥

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततꣳ सञ्जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य का जो यह देवत्व है, यह जो ऐश्वर्य है, वह विराट्रूप देह के मध्य में सब ओर से विस्तारित ग्रहमण्डल को अपनी आकर्षण शक्ति से नियमित रखता है। जब यह अपनी हरित वर्ण की किरणों को आकाश-मण्डल में अपनी आत्मा से युक्त करता है, तदनन्तर ही रात्रि सबके लिये वस्त्राच्छादन करती है, अर्थात् अपने अन्धकार रूपी वस्त्र से सबको ढक देती है ॥ ३७ ॥

कुत्सदृष्टे द्वे त्रिष्टुभौ। मरुत्वतीययोर्ग्रहयोः पुरोरुचौ। सूर्यस्य भगवतस्तदेव देवत्वममानुषत्वं दिव्यत्वं महित्वं महाभाग्यमैश्वर्यम्, तत्किमित्यत आह—यत् कर्तोः कार्यश्रेष्ठस्य जगद्रूपस्य 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' (पा० सू० ३।४।१३) इति तोसुन्प्रत्ययान्तस्य रूपम्, मध्या मध्ये विततं विस्तारितमंशुजालं संजभार संजहार संहरते। नह्यन्यो विश्ववितितमंशुजालं प्रसारयितुं संहर्तुं वा शक्नोति। किञ्च, यदा इद् यदैव हरितो हरिद्वर्णान् रश्मीन् अयुक्त युङ्क्ते, आत्मन्यारोपयति। सधस्थात् सह तिष्ठन्त्यंशवो यत्र तत् सधस्थं व्योममण्डलम्, तस्मात् सन्ध्याकाले यदैव सूर्यः पीतवर्णान् रश्मीन् स्वात्मन् स्वात्मनि योजयति, आद् अनन्तरमेव रात्री रात्रिर्निशा सिमस्मै सर्वस्मै वासस्तनुते, सर्वं वस्तु तमसाच्छादयतीत्यर्थः, व्योममण्डलाद् रश्मिजालस्य सूर्यात्मन्युपसंहारे रात्रिसद्भावदर्शनात्। सिमशब्दः सर्वपर्यायः।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यस्य परमात्मनस्तदेव देवत्वम्, अलौकिकं महित्वं महाभाग्यम्, तत्किमित्याह—यत् कर्तोः कार्यश्रेष्ठस्य जगतो मध्ये विततं ज्ञानजालं संजभार निद्राकाले प्रत्ययकाले च संहरते। नहि परमात्मानमन्तरा कश्चिदन्यो जगति ज्ञानजालं प्रसारयितुं संहर्तुं वा शक्नोति। यदैव हरितो ज्ञानरश्मीन् सधस्थात् सह तिष्ठन्ति ज्ञानानि यत्र तस्मात् संसाराद् अयुक्त स्वात्मन्युपसंहरति, तदैव रात्रिरविद्या अज्ञानं वा सिमस्मै सर्वस्मै वासः प्रावरणं तनुते, अज्ञानेनाच्छादयति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, जगदीश्वरोऽन्तरिक्षस्य मध्या मध्ये हरितो दिशो यदा विततं विस्तृतं कार्यं जगत् संजभार हरति, सिमस्मै सर्वस्मै रात्री रात्रिवद् वास आच्छादनं तनुते, आद् अनन्तरं सधस्थात् समानस्थानादितः साक्षित्वादनिवृत्तः सन्नेकाग्र एव अयुक्त समाहितो भवति, तत्कर्तोः कर्तुं समर्थस्य सूर्यस्य देवस्य देवत्वं तन्महित्वं यूयं जानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नित्यं समाहितस्य परमेश्वरस्य समाधिनिरपेक्षत्वात्। दिशां पदार्थहारित्वमप्यसिद्धमेव। न चात्र जगत्संहारो विवक्षितः, न च प्रलयदशायां केचन प्रावरणीया भवन्ति, येषामन्धकारेण प्रावरणं स्यादिति ॥ ३७ ॥

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सम्भरन्ति ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्यदेव स्वर्गलोक के उत्संग में पुण्यात्माओं के अनुग्राहक मित्र और पापियों के निग्राहक वरुण के रूप को धारण करते हैं। उसको सर्वात्मरूप देव देखता है, इस सूर्य का अन्य स्वरूप अनन्त, अर्थात् देश-काल के परिच्छेद से रहित, मायोपाधि का नाशक ब्रह्म ही है। इसके साकार रूप को इन्द्रियों की वृत्तियाँ अथवा किरणें धारण करती हैं, अर्थात् सूर्य ही सगुण और निर्गुण ब्रह्म है ॥ ३८ ॥

सूर्यो द्योर्द्युलोकस्य उपस्थे उत्सङ्गे मित्रस्य वरुणस्य च रूपं कृणुते कुरुते। येन रूपेण जनान् सुकृतिनो दुष्कृतिनो वा अभिचक्षे अभिचष्टे पश्यति। मित्ररूपेण सुकृतिनो दृष्ट्वाऽनुगृह्णाति, वरुणरूपेण दुष्कृतिनो दृष्ट्वा निगृह्णाति चेत्यर्थः। अस्य सूर्यस्यान्यद् एवं पाजो रूपम्, पाज इति बलनामसु (निघ० २।९।२), इह रूपे वृत्तिः, अनन्तं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं प्रागभावप्रध्वंसाभावात्यन्ताभावान्योन्याभावचतुष्टयाप्रतियोगि रुशत् शुक्लं दीप्यमानम्। रोचत इति रुशत्, रोचेरौणादिकेऽतिप्रत्यये चकारस्य शकारो गुणाभावश्च निपात्यते। स्वप्रकाशं सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव। 'रुश् हिंसायाम्' तौदादिकः, अत्र रुच्यर्थे वृत्तिः, अतो लटि शतरि रूपं रुशदिति। अन्यत् कृष्णं द्वैतलक्षणं रूपं हरितो दिश इन्द्रियवृत्तयः सम्भरन्ति धारयन्ति। इन्द्रियग्राह्यं द्वैतरूपमेकम्, अन्यत् शुद्धचैतन्यमद्वैतम्, इति द्वे रूपे सूर्यस्य। तेन सूर्य एव सगुणं निर्गुणं च ब्रह्म।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यो देवो द्योर्द्युलोकस्य उपस्थे उत्सङ्गे मित्रस्य वरुणस्यानुग्राहकं निग्राहकं च रूपं कुरुते, सुकृतिदुष्कृतिनोरनुग्रहनिग्रहार्थम्। सूर्यस्यान्यदेकं पाजो रूपमनन्तं देशकालादिपरिच्छेदशून्यं रुशद् दीप्यमानं शुक्लं विज्ञानानन्दं ब्रह्मैव। अन्यत् कृष्णं हरितो दिश इन्द्रियवृत्तयो वा सम्भरन्ति। समष्टिब्रह्मरूप एव सूर्यः। सगुणं निर्गुणं च तस्यैव रूपम्। आदित्ये दक्षिणेऽक्षिणि च विद्यमानो हिरण्मयः पुरुषस्तस्य सगुणं रूपम्। पुराणेषु च पठ्यते—'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः। केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥' इति भविष्यपुराणीये आदित्यहृदये। 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' (वा० सं० ४०।१७) इति मन्त्रवर्णे प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मरूपतापि तस्य विज्ञायते। 'एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः। महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपांपतिः॥ पितरो वसवः साध्या अश्विनौ मरुतो मनुः।' इत्यादिबाल्मीकीयरामायणवचनैः सर्वात्मत्वमपि प्रपञ्चितमेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, द्योरुपस्थे वर्तमानः सूर्यो मित्रस्य वरुणस्य च तद्रूपं कृणुते, येन जनोऽभिचक्षे। अस्य रुशत् शुक्लं पाजः शुद्धस्वरूपमनन्तमन्यदस्ति, अन्यत्कृष्णं हरितः सम्भरन्तीति विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या सूर्यस्य जडत्वेन चराचरात्मत्वायोगात्। क्वचित् सूर्यपदेन राजा, क्वचिद् विद्वान्, क्वचिदीश्वरो ग्राह्यश्चेत् प्रसिद्धः सूर्यः कथङ्कारं न गृह्येत। नहीश्वरस्य शुद्धं रूपमन्यदशुद्धं च रूपं भवति, तस्य सर्वतः शुद्धरूपत्वात्। सिद्धान्ते तु सुकृतिनामनुग्रहार्थं निग्रहार्थं च सूर्यस्य रूपद्वयं नानुपपन्नम्॥ ३८॥

बण्महाँ२॥ असि सूर्य बडादित्य महाँ२॥ असि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ२॥ असि॥ ३९॥

मन्त्रार्थ—हे जगत् के प्रेरक सत्यस्वरूप सूर्यदेव, आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं। हे परा शक्ति के पुत्र, आप ही महान् हैं। आपकी महान् और अविनश्वर महिमा का गान वेद भी करते हैं। हे दीप्यमान सत्यस्वरूप, आप महान् हैं॥ ३९॥

अथ द्वाभ्यां प्रगाथः। यत्र द्वे ऋचौ प्रग्रथनेन तिस्रः क्रियन्ते, स प्रग्रथनात् प्रकर्षगानाद्वा प्रगाथ इत्युच्यते। चतुर्थषष्ठौ पादौ प्रगाथे पुनरभ्यस्योत्तरयोरवस्येदित्येवमादिना प्रकारेण प्रगाथः क्रियते। एवं च यदा प्रगाथशब्दोऽयं प्रग्रथ्यतेऽसौ प्रगाथ इति विगृह्य 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१९) इति कर्मणि घञन्तो व्युत्पाद्यते, पृषोदरादित्वाद् रेफानुनासिकयोर्लोपश्च भवति, तदा प्रग्रन्थनक्रियानिमित्तकः, यदा 'कै शब्दे' इत्यस्माद् औणादिकेन थनप्रत्ययेन व्युत्पाद्यते, तदा गायनक्रियानिमित्तो भवति। इति द्विधा व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता। माध्यन्दिनसवने सोमातिरेके एकं शस्त्रमुपजायते। तत्र 'बण्महाँ असि' इति प्रगाथः स्तोत्रियः। सूत्रितं च—'बण्महाँ असि सूर्योदु त्यद्दर्शतं वपुरिति प्रगाथौ स्तोत्रियानुरूपौ' (आश्व० श्रौ० ६।७।६) इति। तद्यथा—'बण्महाँ असि सूर्य'''अद्धा देव महाँ असोमद्धा देव महाँ असि बट् सूर्य श्रवसा' इति। तत्र योऽयमुच्चारणप्रकारस्तद् ग्रथनम्। अन्यद् गुरुचरणेषु भृशं परिश्रम्य कर्णेहत्योहनीयमिति।

जमदग्निदृष्टे द्वे बृहतीसतोबृहत्यौ। आद्या माहेन्द्रग्रहपुरोरुक्। हे सूर्य, त्वं बट् सत्यं निश्चप्रचं वा महान् परब्रह्मासि। सुवति प्रेरयति कार्येषु जगदिति सूर्यः, 'षू प्रेरणे' तौदादिकः, अस्मात् क्यपि 'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः' इति निपातनात् क्यपो रुट्। अथवा सरत्याकाश इति सूर्यः, निपातनात् कर्तरि क्यप्, निपातनादुत्वम्, 'उरण् रपरः' (पा० सू० १।१।५१) इति तस्य रपरत्वम्, 'हलि च' (पा० सू० ८।२।७७) इत्युपधादीर्घः, तत्सम्बुद्धौ, हे आदित्य, आदत्तेंऽशुजालमित्यादित्यः। बट् सत्यं निश्चप्रचं वा त्वं

महान् सर्वश्रेष्ठोऽसि । किञ्च, महो महतस्ते तव सतोऽत्यन्ताबोध्यस्य नित्यस्य महिमा महाभाग्यं सर्वेषु देवेष्ववस्थितं पनस्यते पूज्यते सर्वैः प्राणिभिः । अद्धा सत्यं हे देव दानादिगुणोपेत, त्वं महानसि निरतिशयबृहद्ब्रह्मरूपोऽसि । अभ्यासोऽतिशयादरसूचनार्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे सूर्य, सुवतीति सूर्यः सर्वान्तर्यामी, तत्सम्बुद्धौ । बट् सत्यं त्वं महान् निरतिशयबृहद्ब्रह्मरूपोऽसि । हे तेजसां दात आदित्य, बड् महानसि स्वरूपेण गुणेन च महानसि । सतोऽत्यन्ताबाध्यस्य महो महतस्ते तव महिमा महाभाग्यं सर्वत्र पनस्यते पूज्यते, स्तूयते च । अद्धा सत्यं सर्वतोभावेन त्वं महानसीति ।

दयानन्दस्तु—'हे सूर्य, यतस्त्वं बट् सत्यं महानसि । हे आदित्य, यतस्त्वं बण्महानसि, सतो महो यतस्ते महिमा पनस्यते । हे देव, यतस्त्वमद्धा महानसि, तस्मादस्माभिरुपास्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बड् अनन्तज्ञानमित्यस्य निर्मूलत्वात्, सूर्यादित्यादिशब्दानामविशेषेण परमेश्वरपरत्वे पर्यायत्वापत्तेः ॥ ३९ ॥

बट्सूर्य श्रवसा महाँ२॥ असि सत्रा देव महाँ२॥ असि ।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—हे सत्यस्वरूप सूर्यदेव ! आप धन और यश से सम्पन्न हैं । हे नाना रूपों में क्रीड़नशील, सभी प्राणियों और देवताओं के हितकारी, व्यापक, अनुपहिंस्य ज्योतिस्वरूप सूर्यदेव ! आप अमृत शक्तिरूप लक्ष्मी के दाता हैं । आप महान् से भी महान् हैं ॥ ४० ॥

अनया पुरोरुचा आदित्यग्रहस्य प्रथमग्रहणम् । हे सूर्य, बट् सत्यं श्रवसा श्रवणीयेन धनेन यशसा वा त्वं महानसि । हे देव, सत्रा सत्यं देवानां मध्ये मह्ना स्वकीयेन महत्त्वेन त्वं महान् उत्कृष्टोऽसि । कीदृशस्त्वम् ? असुर्यः, असवः प्राणाः सन्ति येषां तेऽसुराः प्राणिनः, तेभ्यो हितोऽसुर्यः प्राणिहितः, पुरोहितः सर्वकार्येषु पुरोऽग्रे स्थापितः, सूर्यार्घ्यदानानन्तरमेव सर्वदेवानां पूजाधिकारात् । किञ्च, विभु व्यापि, ज्योतिरखण्डबोधब्रह्मरूपम्, अदाभ्यमप्रधृष्यमनुपहिंसनीयमनुपहिंसितं नित्यनिरुपप्लवं ज्योतिर्विज्ञानरूपमित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे सूर्य अन्तर्यामिन्, सत्यं श्रवसा यशसा धनेन च महानसि । अन्यत् पूर्ववदेव व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—' हे बट् सूर्य, यतस्त्वं श्रवसा महानसि, हे देवसत्रा, महानसि यतस्त्वं देवानां पुरोहितो मह्ना असुर्यः सन् अदाभ्यं विभु ज्योतिःस्वरूपोऽसि, तस्मात् सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्यपदस्य सूर्यतुल्यार्थत्वे मानाभावात् । न च पृथिव्यादीनां विद्वत्त्वं सम्भवति, त्वद्रीत्या तेषां जडत्वात् ॥ ४० ॥

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ– सूर्य की उपासना करने वाले इन्द्र आदि की उपासना से प्राप्त होने वाले धन-धान्य, ऐश्वर्य आदि भोगों को स्वतः प्राप्त कर लेते हैं, अतः हमको चाहिये कि प्रकाश की किरणों के साथ जब सूर्य भगवान् उदित होते हैं, तब हम उनके निमित्त यज्ञ में देवभाग अर्पित करें ॥ ४१ ॥

नृमेधसा दृष्टा बृहती । आदित्यग्रहस्य पुनर्ग्रहणे पुरोरुक् । यथा श्रायन्त आश्रिता इव । सूर्यमादित्यं रश्मयः, इन्द्रस्य सूर्यस्य विश्वा विश्वानि सर्वाणि इद् एव वसूनि धनानि वृष्टिधान्यनिष्पत्त्यादीनि भक्षत

अभक्षत, भजन्ते विभजन्ते, प्राणिभ्यो विभज्य ददतीत्यर्थः । सूर्यरश्मयः सूर्यप्रत्तानि वसूनि विभजन्ते, तथा वयं तान्येव वसूनि जाते पुत्रे जनमाने उत्पद्यमाने च ओजसा तेजसा सह प्रति दीधिम धारयाम, स्थापयामेत्यर्थः । कथमिव ? भागं न भागमिव । यथा स्वभागं पुत्रादिषु धारयाम तथेत्यर्थः । श्रायन्त इति शतरि शपि व्यत्ययेन वृद्धिः । भक्षत 'भज सेवायाम्' इति लुङि तङि प्रथमबहुवचने 'आत्मनेपदेष्वनतः' (पा० सू० ७।१।५) इति झस्य अदादेशे रूपम् । अडभाव आर्षः । 'धि धारणे' तौदादिकस्यास्य व्यत्ययेन शपः श्लौ लङि द्वित्वे, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इति दीर्घः । दधातेर्वा एतद्रूपम्, न तु ध्यायतेः, अर्थपौष्कल्यात् ।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यमन्तर्यामिणं परमात्मानमाश्रयन्त इव एव जीवात्मान इन्द्रस्य परमैश्वर्यवतस्तस्य विश्वा इत् सर्वाण्येव वसूनि धनानि भोग्यजातान्यभक्षत परस्परं व्यभजन्त, यथा पितुर्धनानि पुत्रा विभजन्ति तद्वत् । जाते जनमाने जनिष्यमाणे च पुत्रे यथा भागं न भागमिव, वयमपि ओजसा कर्मोपासनसमुच्चयबलेन तान्येव वसूनि निधीमहि स्थापयाम । यथा जन्मना स्वत्ववादे पुत्रादीनां दाये जन्मना स्वत्वं भवति, पित्रादयः स्वेच्छया पितृपितामहादिधनस्य दानविक्रयादिकं न कर्तुं शक्नुवन्ति, मातृगर्भस्थपुत्रादिनाम्नापि तत्राधिकार-सत्त्वशालिन्यायालयेन दानविक्रयादिपत्रादीनां निरसनं कर्तुं शक्यत्वात् । अत ओजसा बलेनापि पैतृकधनमधिगन्तुं शक्यते । यथैवैतत्, तथैव कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठानेन ओजसापि परमेश्वरधनयोः प्राप्तुं शक्यत्वात् । यथाह नारदः—

पूजां गुरूणां सततं करोमि परस्य मर्मापि न भिन्नपूर्वम् ।
वेदाः स्वधीता यम लोकनाथ तप्तं तपो नानृतमुक्तपूर्वम् ॥
गुप्तानि चत्वारि यथागमं मे शत्रौ च मित्रे च समोऽस्मि नित्यम् ।
तं चादिदेवं शरणं प्रपन्न एकान्तभावेन वृणोम्यजस्रम् ॥
एभिर्विशेषैः परिशुद्धसत्त्वः कस्मान्न पश्येयमनन्तमीशम् ।
(म० भा० शा० ३३५।३-५)

तथा च पुत्रस्य भाग इव पारमेश्वरधने साधकानामधिकारः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयमोजसा जाते जायमाने च जगति सूर्यं श्रायन्त इव विश्वानि वस्तूनि प्रतिदीधिम भागं न सेवेमहि, तथेन्द्रस्येमं यूयं भक्षत सेवध्वम्' इति, तदपि न, गौणार्थस्वीकारात्, सूर्यपदस्य प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात् । न च सर्वाणि वसूनि वस्तूनि वा जीवाः प्रकाशयितुं शक्नुवन्ति ॥ ४१ ॥

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरꣳहसः पिपृता निरवद्यात् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्यरश्मिरूप देवताओं ! अब आज सूर्य का उदय होने पर आप लोग हमें पाप और दुर्यश से मुक्त करें । मित्र, वरुण, अदिति, समुद्र, पृथ्वी और स्वर्ग—ये सब हमारे वचन को अंगीकार करें ॥ ४२ ॥

कुत्सदृष्टा त्रिष्टुप्, दध्नादित्यग्रहश्रपणे विनियुक्ता । देवाः, दीव्यन्ति दीप्यन्त इति देवा रश्मयः, तत्सम्बोधने हे देवाः, अद्या अद्य अस्मिन् दिवसे सूर्यस्य उदिता उदये अद्य सूर्योदये, अस्मानंहसः पापान्निःपिपृता निःपिपृत निर्मुञ्चत, शुद्धान् कुरुत । 'अद्या' इत्यत्र 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति दीर्घः । 'पिपृता' इत्यत्र 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः । अवद्याद् दुर्यशसोऽपि निःपिपृत पृथक्कुरुत । अस्माकं पातकानि दुर्यशांसि च नाशयतेत्यर्थः । तन्नोऽस्माकं वचनं मित्रो वरुणोऽदितिः सिन्धुः पृथिवी उत अपि द्यौः—इत्येता देवता मामहन्तां पूजयन्तु, अङ्गीकुर्वन्त्वित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे देवाः, सूर्यस्य परमात्मनः सम्बन्धिन उदिताः संसारादूर्ध्वं गता मुक्ता देवा देवस्य परमानोंऽशत्वाद् देवा अद्य अस्मिन्नेव जन्मनि नोऽस्मानंहसः पापात् संसारान्निःपिपृत। अवद्याद् दुर्यशसोऽपि निःपिपृत निस्तारयत। मित्रादयः सर्वेऽपि देवा नस्तद्वचो मामहन्तां पूजयन्तु, स्वीकुर्वन्त्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे देवा विद्वांसः, यूयं यतः सूर्यस्य उदिता उदिते अद्याहंसो नो निष्पिपृता अवद्याच्च निष्पिपृत, तन्मित्रो वरुणोऽदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौरस्मान् मामहन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यान् विदुषः प्रति तादृशाभ्यर्थनाया निरर्थकत्वात्। न च तेऽपराधान्निन्दिताद् दुःखाच्च पातुं शक्नुवन्ति। तथैव सिन्धुपृथिवीप्रकाशादयोऽपि जडा एव, न तेऽपि सत्कर्तुमसत्कर्तुं वा प्रभवन्ति ॥ ४२ ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य देवता अपने ज्योतिर्मय मण्डलरूप रथ के द्वारा सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते रहते हैं। अन्धकार और प्रकाश के देवताओं को तथा मनुष्य आदि प्राणियों को अपने अपने व्यापार में स्थापित करते रहते हैं। सारे भुवनों को देखते हुए, अर्थात् प्राणियों के भले-बुरे कर्मों पर विचार करते हुए विचरण करते हैं ॥ ४३ ॥

हिरण्यस्तूपदृष्टा त्रिष्टुप्। सावित्रग्रहपुरोरुक। कृष्णेन रजसा रात्रिलक्षणेन सह आवर्तमानः पुनः पुनर्भ्रमणं कुर्वन्, अमृतं देवादिकं मर्त्यं मनुष्यादिकं च निवेशयन् स्वस्वप्रदेशेषु व्यवस्थापयन्, भुवनानि भूतजातानि कानि साधु कुर्वन्ति कान्यसाध्विति पश्यन्, सविता देवो हिरण्ययेन हिरण्यमयेन रथेन आयाति आगच्छति।

अध्यात्मपक्षे—सविता सर्वोत्पादकः परमेश्वरः कृष्णेन तमसा रजसा रजोगुणेन ताभ्यामुपलक्षितेन सत्त्वेन च वर्तमानोऽमृतं मोक्षप्राप्त्यर्हं मर्त्यं संसारजीवसमूहं निवेशयन् यथायोग्यं व्यवस्थापयन् हिरण्ययेन हिरण्यमयेन ज्ञानमयेन रथेनेव भुवनानि भुवनजातानि पश्यन् याति सर्वत्र प्राप्नोति। तृतीयं सूर्यस्तदुक्थमहः सम्पूर्णम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यो हिरण्ययेन रथेन कृष्णेन रजसा वर्तमानो भुवनानि पश्यन् देवः सविता अमृतं तं मर्त्यं च निवेशयन्नायाति, स ईश्वरनिर्मितः सूर्यो लोकोऽस्ति.....' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। यतो हि त्वद्रीत्या सविता अचेतन एव। स दर्शयितुं न शक्नोत्येव, दर्शनस्य चेतनधर्मत्वात्। कर्षणेन परस्परसम्बद्धेन लोकसमूहेनेत्यपि निरर्थकम्, भूमिकायां निरस्तत्वात्। सूर्यगमनागमनादिकमपि त्वन्मतेऽसिद्धमेव, पृथिव्या एव गतिमत्त्वाभ्युपगमात् ॥ ४३ ॥

प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान् ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—यजमानों के कल्याण के लिये अश्ववान् वायु और पूषा देवता दिन-रात के पूर्व आह्वान काल पर, अर्थात् अग्निहोत्र के समय अन्तरिक्ष से राजाओं के समान यहाँ आवें, उनके लिये विधिपूर्वक यहाँ कुशाओं को फैला कर आसन बिछाया गया है ॥ ४४ ॥

चतुर्थमहो वैश्वदेवस्तुत्, 'वैश्वदेवश्चतुर्थमहर्भवति। विश्वे वै सर्वे देवाः सर्वेषां देवानामाप्त्यै वैश्वदेवा ग्रहा भवन्ति वैश्वदेव्यः पुरोरुचः सर्वं वैश्वदेवमसदिति' (श० १३।७।१।६) इति श्रुतेः। वैश्वदेवस्तुच्चतुर्थेऽह-

न्येकादश पुरोरुचः, षट् प्रतीकोक्ता इति सप्तदश ऐन्द्रवायवादिसावित्रान्तग्रहाणां पुरोरुचो ग्रहणमन्त्राः। वसिष्ठ-दृष्टा त्रिष्टुप्, ऐन्द्रवायवपुरोरुक्। एषां यजमानानां स्वस्तये कल्याणाय बीरिटेऽन्तरिक्षे, 'बीरिटं तैटीकिरन्त-रिक्षमेवाह' (नि० ५।२७), वर्तमानौ वायुः पूषा च आ इयाते आगच्छतः। 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसन-खादनेषु' इत्यादादिकः। अत्र प्रश्लिष्टनिर्देशात् 'ई' इत्यपि धातुमाहुः। अस्य परस्मैपदित्वाद् व्यत्ययेन तङ्। कथम्भूतो वायुः? नियुत्वान्, नियुतो नियुत्संज्ञका अश्वाः सन्त्यस्येति नियुत्वान्, 'नियुतो वायोः' (निघ० १।१५।१०) इत्युक्तेः। कदायाति वायुरिति चेत्तत्राह—अक्तोः रात्रेरपगमे सति, अक्तुरिति रात्रिनामसु (निघ० १।७।४), उषसो दिनस्य आगमनकाले, पूर्वहूतौ पूर्वा चासौ हूतिश्च पूर्वहूतिः प्रथमाह्वानकालः, अग्निहोत्रहोम-काल इत्यर्थः। उषसः पूर्वाह्वाने पूषा रविरायाति। अक्तोः पूर्वाह्वाने वायुः। अत्र वायुना वायुसखत्वादग्नि-र्लक्ष्यते, रात्रिहोमस्य अग्निदेवत्यत्वात्। तत्र दृष्टान्तः—विश्पतीवेति। यथा विशां पती द्वौ राजानौ विशां वीरिटे मनुष्याणां गणे आगच्छतः, तद्वत्। तावपि तेषां स्वस्तये आ इयाते। केषाम्? येषां बर्हिः प्रवावृजे प्रवृज्यते प्रस्तीर्यते, तुजादित्वादभ्यासदीर्घः। कीदृशं बर्हिः? सुप्रयाः शोभनं प्रयः प्रगमनं प्रस्तरणं यस्य तत् सुप्रयः, छान्दसो दीर्घः, सुप्रयाः सम्यग्विधिना प्रस्तीर्णमित्यर्थः। बीरिटशब्दो गणवाचकः। तथा चाह यास्कः—'प्रवृज्यते सुप्रायणं बर्हिरेषामेयाते सर्वस्य पातारौ वा पालयितारौ वा, बीरिटमन्तरिक्षं भियो वा भासो वा ततिरपि वोपमार्थे स्यात्, सर्वपती इव राजानौ बीरिटे गणे मनुष्याणाम्' (नि० ५।२८) इति। भीरस्मिन् तन्यत इति भीतननमन्तरिक्षम्। निरालम्बनत्वात् सर्व एव बिभ्यति। तदेव भीतननं सद् बीरिटमित्युच्यते। अथवा भासोऽत्र नक्षत्रादीनां तन्यन्ते। तदेतद् भास्तननं सद् बीरिटमुच्यते। अन्तरिक्षेणैव देवता आगच्छन्तीति बीरिटमन्तरिक्षमुपपद्यते। गणार्थकेऽपि बीरिटशब्दे विश्पती राजानौ सर्वदा गणमध्यगतावेव आगच्छत इति गणोऽप्यर्थ उपपद्यत एव। तस्माद् धातुद्वयेन बीरिटशब्दनिष्पत्तिः। भियो बी आदेशः, तनोतेश्च रिटः।

यद्वा—'एषामिति व्यत्ययेन येषां यजमानानां सुप्रयाः सुप्रयाणं सुगमनं बर्हिः प्रवावृजे प्रच्छिद्यते, तेषां स्वस्तये कल्याणायाविनाशाय तं बर्हिःप्रच्छेदप्रदेशमश्विनौ आ इयाते। काविव? बीरिटे मनुष्याणां गणे विश्पती इव विशां प्रजानां राजानाविव। यथा मनुष्याणां गणे तेषां स्वस्तये विशां मनुष्याणां पती राजाना-ववस्थितौ, तद्वदश्विनौ तथा यजमानानां स्वस्तये बर्हिःप्रस्तरणस्थानेऽश्विनावागच्छतः। कस्मिन् काले? अक्तोः रात्रेरवसाने उषस आगमनकाले पूर्वहूतौ पूर्वस्मिन् आह्वानकाले। किञ्च, वायुर्नियुत्वान् अश्ववान् पूषा च यजमानानां स्वस्तये आ इयाते' इत्युव्वटाचार्यरीत्या व्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे—येषां बर्हिर्दर्भसमूहः प्रवावृजे प्रस्तीर्यते देवानामासादनाय, एषां याज्ञिकानां स्वस्तयेऽवि-नाशाय नियुत्वान् अश्वनाविव वायुर्वायुपुत्रो हनुमान् पूषा सूर्यः सूर्यवंशभूषणः श्रीरामश्च आ इयाते। काविव? बीरिटे मनुष्याणां गणे विश्पती इव। कदा आ इयाते? अक्तो रात्र्या अविद्याया अवसाने उषसो दिवसस्य प्रभातस्य ज्ञानसूर्योदयस्य आगमनकाले।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा पूर्वहूतौ सुप्रया नियुत्वान् वायुश्चैषां स्वस्तये प्रवावृजे व्रजति, विशां विश्पती इव बीरिटे बर्हिरा इयाते, तथाक्तोरुषसश्च बर्हिः प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्याऽचेतनयो-र्वायुसूर्ययोः कल्याणानुसन्धानासम्भवेन तदर्थं गमनानुपपत्तेः॥ ४४॥

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम्। आदित्यान्मारुतं गणम्॥ ४५॥

मन्त्रार्थ—मैं इस यज्ञ में इन्द्र, वायु, बृहस्पति, मित्र, अग्नि, पूषा, भग, बारह आदित्य और मरुद्गणों का आह्वान करता हूँ॥ ४५॥

मेधातिथिदृष्टे द्वे गायत्र्यौ। आद्या ऐन्द्रवायवस्य पुनर्ग्रहणे पुरोरुक्। द्वितीया मैत्रावरुणग्रहग्रहणे पुरोरुक्। इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्रा मित्रम्, विभक्तेराकारः, अग्निं पूषणं भगमादित्यान् मारुतं मरुत्सम्बन्धिनं गणम्, एतानाह्वयामीति शेषः।

अध्यात्मपक्षे - सर्वदेवात्मको भगवानेवेन्द्रादिरूपेण व्यज्यते। तस्मात् तत्तद्देवताभावापन्नं भगवन्तमेव तत्त्वविदाह्वयति। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयमिन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगमादित्यान् मारुतं गणं विज्ञायोपयुञ्जीमहि, तथा यूयमप्युपयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रवाय्वादीनामुपयोगस्य लोकसिद्धत्वेनोपदेशानपेक्षत्वात् ॥ ४५ ॥

वरु॑णः प्रावि॒ता भु॑व॒न्मि॒त्रो विश्वा॑भिरू॒तिभिः॑। कर॑तां नः सु॒राध॑सः ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—वरुण और मित्र सभी रक्षा-साधनों से हमारी भली-भाँति रक्षा करें। हमें शुभ धन से सम्पन्न करें ॥ ४६ ॥

वरुणो देवो मित्रश्च विश्वाभिः सर्वाभिरूतिभिरवनैः पालनै रक्षणप्रकारैर्वा प्राविता प्रकर्षेण पालकः, भुवद् भवतु, भवतेर्लेटि व्यत्ययेन तुदादित्वात् शे, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति तिङ इकारलोपे उवङि 'भुवत्' इति रूपम्। किञ्च, मित्रावरुणौ नोऽस्मान् सुराधसः सु शोभनं राधो धनं येषां तान् शोभनधनान् करतां कुरुताम्।

अध्यात्मपक्षे—वरुणो वरणीयो भगवान् श्रीरामः, मित्रस्तत्स्नेहवान् सौमित्रिश्च विश्वाभिरूतिभिर्लीलाभिः प्राविता पालको भुवद् भवतु। नोऽस्मान् सुराधसो ज्ञानवैराग्यादिशोभनधनोपेतान् करतां कुरुताम्।

दयानन्दस्तु—'हे अध्यापकोपदेशकौ विद्वांसौ, यथा वरुणो मित्रश्च विश्वाभिरूतिभिः प्राविता भुवत्, तथा भगवन्तौ नः सुराधसः करतां कुर्याताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। वरुणमित्रादिशब्दानां प्रसिद्धार्थमुल्लङ्घ्यार्थान्तरकल्पनमपि निर्मूलमेव ॥ ४६ ॥

अधि॑ न इन्द्रै॑षां॒ विष्णो॑ सजा॒त्या॑नाम्। इ॒ता मरु॑तो॒ अश्वि॑ना। तं प्र॒त्नथा॒यं वे॒नो ये दे॒वास॒ आ न॒ इडा॑भि॒र्विश्वे॑भिः सो॒म्यं मध्वोमा॑सश्चर्षणीधृतः ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, हे विष्णुदेव, हे मरुद्गण और हे अश्विनीकुमारो! आप सब हमारे इन समान जाति वालों के बीच में आइये। मन्त्र में स्थित 'तं प्रत्नथा' (७।१२) प्रतीक से शुक्रग्रह का, 'अयं वेनः' (७।१६) से मन्थिग्रह का, 'ये देवासः' (७।१९) से आग्रयण ग्रह का, 'आ न इडाभिः' (३३।३४) से ध्रुवग्रह का, 'विश्वेभिः सोम्यं मधु' (३३।१०) से ऐन्द्राग्न ग्रह का और 'ओमासश्चर्षणीधृतः' (७।३३) से वैश्वदेव ग्रह का ग्रहण किया जाता है ॥ ४७ ॥

कुसीदिकाण्वदृष्टा गायत्री आश्विनग्रहपुरोरुक्। हे इन्द्र, हे विष्णो, हे मरुतः, हे अश्विनौ! नोऽस्माकमेषां च सजात्यानामृत्विजां समानजातीयानां वा अधि साजात्यमध्ये यूयमित आगच्छत। अत्र कण्डिकायां प्रतीकोक्ता यथा—(१) 'तं प्रत्नथा' (वा० सं० ७।१२) शुक्रग्रहे, (२) 'अयं वेनः' (वा० सं० ७।१६) मन्थिग्रहे, (३) 'ये देवासः' (वा० सं० ७।१९) आग्रयणस्य, (४) 'आ न इडाभिः' (वा० सं० ३३।३४) ध्रुवस्य, (५) विश्वेभिः

सोम्यं मधु' (वा० सं० ३३।१०) ऐन्द्राग्नस्य, (६) 'ओमासश्चर्षणीधृतः' (वा० सं० ७।३३) वैश्वदेवस्य ग्रहणे विनियुक्ताः, पुरोरुच इति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—अत्रापि सर्वात्मभावापन्नस्य इन्द्रादिरूपेण सम्बोधनम्। तेषां च तत्तद्रूपेण आत्मनः सजातीयानां च मध्ये आगमनं प्रार्थ्यते।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, हे विष्णो, हे मरुतः, हे अश्विनौ ! एषां नो मध्येऽधिस्वामित्वमित प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वत्र प्रसिद्धार्थत्यागेनार्थान्तरकल्पनस्य प्रमाणशून्यत्वात्, मनुष्ये परमैश्वर्यदातृत्वासिद्धेश्च। 'अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ' इत्यपि निर्मूलम्, अर्थान्तरादिना विनिगमनाविरहात्॥ ४७॥

अग्न॒ इन्द्र॒ वरु॑ण॒ मित्र॒ देवाः॒ शर्धः॒ प्रय॑न्त॒ मारु॑तो॒त विष्णो।
उ॒भा नास॑त्या रु॒द्रो अध॒ ग्नाः पू॒षा भगः॒ सर॑स्वती जुषन्त॥ ४८॥

मन्त्रार्थ—हे अग्नि, इन्द्र, वरुण और मित्र देवताओं, हे मरुद्गणों, हे विष्णुदेव ! आप सब मुझे बल प्रदान कीजिये। दोनों अश्विनीकुमार, रुद्रदेव, देवपत्नियाँ, पूषा, भग और सरस्वती—ये सब हवियों का सेवन करें॥ ४८॥

प्रतिक्षत्रदृष्टा त्रिष्टुप्। मरुत्वतीयपुरोरुक्। हे अग्ने, हे इन्द्र, हे मित्र, हे देवाः, हे मारुत ! मरुतां समूहो मारुतः, तत्सम्बुद्धौ मरुद्गण ! उतापि हे विष्णो ! यूयं शर्धो बलम्, शर्ध इति बलनामसु (निघ० २।९।७), प्रयन्त प्रयच्छत, यमेः शपो लुक्। एवं प्रत्यक्षमुक्त्वा परोक्षमाह—उभा उभौ नासत्या नासत्यौ अश्विनौ, 'नभ्राण्नपात्…' (पा० सू० ६।३।७५) इति निपातितः। रुद्रः, अध अथ ग्ना देवपत्न्यः, 'ग्ना गमनादापो देवपत्न्यो वा' (निरु० १०।४७) इति यास्कः। पूषा भगः सरस्वती जुषन्त जुषन्तां सेवन्ताम्, हवींषीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—आधिदैविकजगदनुग्रहेणैवाध्यात्मिकं जगत् संचाल्यते। इन्द्रादयो देवाः प्रसिद्धा इति तेभ्यो बलं याच्यते। मनुष्येभ्यो हविर्भिः सन्तुष्टा एव देवा अभीष्टं प्रयच्छन्तीति हविर्भिस्तेषामर्चनमुक्तम्। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्याप्रकाशक इन्द्र वरुण मित्र मारुतदेवाः ! यूयमस्मभ्यं शर्धः प्रयन्त प्रयच्छत। उभौ नासत्यौ रुद्रो ग्नाः पूषा भगः, अध सरस्वती चास्मान् जुषन्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्न्यादिशब्दानां मुख्यार्थत्यागे गौणार्थग्रहणे च कारणाभावात्। न च त्वद्रीत्या आत्मानो व्यापकाः सन्ति, त्वया अणुपरिमाणाङ्गीकारात्। तथा च विष्णोर्व्यापनशीलेति सम्बोधनं निरालम्बनमेव स्यात्। 'नासत्यौ अविद्यमानासत्यस्वरूपौ' इत्यपि निर्मूलम्, अन्येषामपि तथात्वेन तेष्वपि तथा प्रयोगापत्तेः॥ ४८॥

इ॒न्द्रा॒ग्नी मि॒त्रावरु॑णा॒दिति॑ꣳ॒ स्वः॑ पृथि॒वीं द्यां म॒रुतः॒ पर्व॑ताँ२॥ अ॒पः।
हु॒वे विष्णुं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॒ भगं॒ नु शꣳस॑ꣳ सवि॒तार॑मू॒तये॑॥ ४९॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र और अग्नि, मित्र और वरुण, अदिति, स्वर्ग, आदित्य, पृथ्वी, द्युलोक, मरुद्गण, पर्वत, जल, विष्णु, पूषा, ब्रह्मणस्पति, भग, स्तुति योग्य सविता—इन सब देवताओं का मैं अपनी रक्षा के लिये आह्वान करता हूँ॥ ४९॥

काश्यपावत्सारदृष्टा जगती। सशस्त्रमरुत्वतीयपुरोरुक्। इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ अदितिं स्वर् आदित्यं पृथिवीं द्यां द्युलोकं मरुतः पर्वतान् अपो विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं च नु क्षिप्रं शंसं शंसितव्यं स्तुत्यं सवितार-मूतये अवनाय हुवे आह्वयामि।

अध्यात्मपक्षे—भगवद्रूपान् एतान् देवान् अहं हुवे आह्वयामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाऽहमूतये इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ अदितिं पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वतान् अपो विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं शंसं सवितारं स्वर्नु हुवे, तथैतान् यूयमपि प्रशंसत' इति, तदपि तुच्छम्, त्वया जडपूजायास्तत्र तत्र निन्दितत्वात्। इन्द्राग्न्यादयोऽपि जडा एव। स्तुतिरपि पूजैव। न च मेघाः पर्वता वा त्वद्रीत्या पूज्याः॥ ४९॥

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः।
यः शꣳसते स्तुवते धायि पज्र इन्द्रज्येष्ठा अस्माँ२॥ अवन्तु देवाः॥ ५०॥

मन्त्रार्थ—जो यजमान शस्त्र और स्तोत्र का जप करता है, अर्थात् पारायण करता है, भली प्रकार सम्पादित धन से यज्ञ में देवताओं के निमित्त आहुतियाँ देता है, उसकी हम रक्षा करते हैं। हमे धन आदि प्रदान करने वाले, सब प्रकार से संतुष्ट करने वाले, शत्रुओं को रुलाने वाले, हमारे घर में उत्सव लाने वाले, पापियों के वध के लिये संग्राम में सदा तत्पर रहने वाले, इन्द्र को अपना नेता मानने वाले, एक मति वाले देवता हमारी रक्षा करें॥ ५०॥

पञ्च त्रिष्टुभः। आद्या प्रगाथदृष्टा माहेन्द्रग्रहपुरोरुक्। य अधिकृतो मनुष्यः शंसते शस्त्राणि शंसति, स्तुवते स्तोत्राणि स्तौति पज्रः प्राजितधनः, प्राजितधनस्थाने पृषोदरादित्वात् पज्रादेशः, सन् धायि हवींषि दधाति, तान् अस्मांश्च यजमानान् देवा अवन्तु पान्तु। कीदृशा देवाः? अस्मे अस्मासु, विभक्तेः 'शे' आदेशः, मेहना मेहन्ति सिञ्चन्ति धनादिकमिति मेहनाः। रुद्रा रोदयन्ति शत्रूनिति रुद्राः। पर्वतासः पर्वाणि उत्सवा विद्यन्ते येषां ते पर्वतासः। 'तप् पर्वमरुद्भ्याम्' (पा० सू० ५।२।१२१, वा० ९) इति तप्प्रत्ययः। वृत्रहत्ये वृत्रो हन्यते यत्र तद् वृत्रहत्यम्, तस्मिन्। भरहूतौ भरे संग्रामे हूतिराह्वानं भरहूतिः, तत्र। सजोषाः समानो जोषः प्रीतिर्येषां ते तथोक्ताः समानप्रीतिमन्त एकाभिप्राया एकमतय इन्द्रज्येष्ठाः, इन्द्रो ज्येष्ठो येषां ते तथोक्ताः, तादृशा देवा नोऽवन्तु।

अध्यात्मपक्षे भगवतः सर्वात्मनः स्वरूपभूता इन्द्रादयो देवा अवन्त्विति प्रार्थ्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः पज्रो यान् शंसते स्तुवते, येन च धनं धायि तमस्मांश्च ये अस्मे मेहना रुद्राः पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषा इन्द्रज्येष्ठा देवा अवन्तु, ते युष्मानप्यवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागस्य निर्मूलत्वात्। इन्द्रज्येष्ठा देवा इत्यस्य सभापतिज्येष्ठा विद्वांस इत्यर्थोऽपि निर्मूल एव। रुद्रपदमपि न तथार्थबोधकम्, देवविशेषेषु प्रसिद्धत्वात्। अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव॥ ५०॥

अर्वाञ्चो अद्या भवता यजत्रा आ वो हार्दि भयमानो व्ययेयम्।
त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्तादवपदो यजत्राः॥ ५१॥

मन्त्रार्थ—हे यजन करने वालों के रक्षक देवताओं! आप लोग हमारे सन्मुख आइये। संसार से भयभीत मेरा मन आपकी सन्निधि प्राप्त करे। हे देवताओं! मन में आने वाले बुरे विचारों से आप सब हमारी रक्षा करें। प्रति पद आने वाले सांसारिक विघ्नों से अथवा लोकापवाद से हमारी रक्षा करें॥ ५१॥

कूर्मगार्त्समदद्दष्टा, आदित्यग्रहस्य प्रथमा पुरोरुक् । हे यजत्राः, यजन्तं त्रायन्त इति यजत्राः, तत्सम्बोधने, यष्टृपालका यष्टव्या वा देवाः, अद्य यूयम् अर्वाञ्चोऽस्मदभिमुखा भवत । अद्या, भवता, इत्यत्र संहितायां 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६), 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति च दीर्घः—भयमानो बिभ्यद् अहं वो युष्माकं हार्दि हृदिभवं मन आव्ययेयम् आगमयेयम्, अभिमुखं सम्पादयेयमित्यर्थः । बिभेतेर्विकरणव्यत्ययेन शपि शानचि च रूपम् । यत एवमतो ब्रवीमि हे यजत्राः ! नोऽस्मान् वृकस्य वृकात्, विभक्तिव्यत्ययः, त्राध्वं पालयत । कीदृशाद् वृकात् ? निजुरः, नितरां जूर्यते हिनस्तीति निजूः, 'जूरी हिंसावयोहान्योः' इति क्विप्, तस्मान्निजुरो हिंसकात् । यद्वा भक्षितं नितरां जीर्यतीति निजूः, 'जॄष वयोहानौ' तस्माद् निजुरः, अतिबुभुक्षितात् कर्तात् कूपात् । कर्त इति कूपनामसु (निघ० ३।२३।३) । कथंभूतात् कर्तात् ? अवपदः, अव अवाचीनाः पादाः पादन्यासा यत्र स अवपात्, सोपानैर्यत्रोत्तरीतुं न शक्यत इत्यर्थः, तस्माद् अवपदः । 'पादः पत्' (पा० सू० ६।४।१३०) इति पदादेशः ।

अध्यात्मपक्षे—संसारादुद्विग्नः साधको भगवद्रूपान् देवान् प्रार्थयते—हे यजत्रा देवाः, अद्य यूयमर्वाञ्चोऽस्मदभिमुखा भवत । यतो भयमानो संसारभयादुद्विग्नोऽहं वो युष्माकं हार्दि हृदयपुण्डरीकस्थं मनो व्ययेयं स्वाभिमुखं सम्पादयेयम् । हे यजत्रा देवाः, नोऽस्मान् निजुरो वृकस्य हिंसकाद् बुभुक्षिताद्वा मृत्युरूपाद् वृकाद् आरण्यकश्वविशेषात् त्राध्वम् । अवपदो यत्रोत्तरणमशक्यं तस्मादवपदः कर्तात् कूपाद् भवकूपाच्च त्राध्वम् ।

दयानन्दस्तु—'हे यजत्रा देवाः, यूयमर्वाञ्चो भवत । भयमानोऽहं वो युष्माकं हार्दि आव्ययेयम्, निजुरो वृकस्य सकाशात् त्राध्वम् । हे यजत्राः ! यूयमवपदः कर्तादस्मान् त्राध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सङ्गतिकारकाणां विदुषां मनुष्याणां युगपदाभिमुख्यप्रार्थनानुपपत्तेः, यजनीयानां योनिविशेषाणां देवानां भूमिकायां साधितत्वाच्च, तेषामल्पशक्तित्वेन हिंसकस्य मृत्योः सकाशात् त्रातृत्वासम्भवात् ॥ ५१ ॥

विश्वे अद्य मरुतो विश्व ऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः ।
विश्वे नो देवा अवसागमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—रुद्र, आदित्य आदि समस्त गणदेवता इस निमित्त हमारे यहाँ आवें, समस्त देवता हमारी दी हुई हवि को ग्रहण करने के लिये यहाँ आवें । गार्हपत्य आदि सारी अग्नियाँ प्रदीप्त हों । गौ, भूमि, सुवर्ण आदि सर्वविध धन-ऐश्वर्य और अन्न हमें प्राप्त हों ॥ ५२ ॥

लुशधानाकदृष्टा आदित्यपुनर्ग्रहणे पुरोरुक् । अद्य विश्वे सर्वे मरुत एकोनपञ्चाशत्संख्याका आगमन्तु आगच्छन्तु । विश्वे अन्ये च सर्वे गणदेवता वसवो रुद्रा आदित्याश्च ऊती ऊत्या, पूर्वसवर्णः, अनेन तर्पणेन निमित्तेन तृप्त्यर्थमागच्छन्त्वित्यर्थः । विश्वे देवाश्च गणदेवाश्चागच्छन्तु । सर्वे गार्हपत्यादयोऽग्नयश्च समिद्धाः सम्यग् दीप्ता भवन्तु । तेषां देवानां तुष्टयर्थं विश्वं सर्वं द्रविणं गोभूहिरण्यादिकं वाजोऽन्नम् अस्मे अस्मास्वस्तु । इयं पूर्वमष्टादशे एकत्रिंशी कण्डिका, तत्रैव व्याख्याताऽपि ॥ ५२ ॥

विश्वे देवाः शृणुतेमꣳ हवं मे ये अन्तरिक्षे य उप द्यवि ष्ठ ।
ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रा आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे विश्वेदेव देवताओं ! आप सब जो अन्तरिक्ष में हों, स्वर्ग में और अग्निरूप मुख वाले यजन-योग्य हों, वे सब मेरे इस आह्वान को सुनें ! इस कुशा के आसन पर बैठ कर हमारी दी हुई हवि का ग्रहण कर तृप्त हों ॥ ५३ ॥

९

सुहोत्रदृष्टा आदित्यग्रहस्य दध्ना श्रपणे विनियुक्ता। हे विश्वे देवाः, ये यूयमन्तरिक्षे भवथ, ये च द्यवि उप द्युलोकसमीपे स्थ, ये चाग्निजिह्वा वह्निमुखाः, उत वा अपि च, यजत्रा यजनीयाः, ते सर्वे यूयमिमं मत्कृतं हवमाह्वानं शृणुत। श्रुत्वा चास्माकं बर्हिषि यज्ञे आसद्य उपविश्य च मादयध्वं तृप्यध्वम्।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वे देवा ब्रह्मात्मकाः, मम इमं हवमाह्वानं शृणुतेत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे राजादयो मनुष्याः, अद्य यथा विश्वे भवन्तो विश्वे मरुतो विश्वे समिद्धा अग्नय ऊती नो रक्षका भवन्तु, विश्वे देवा अवसा सह नोऽस्मानागमन्तु, तथा विश्वं द्रविणं वाजश्च मनुष्यायास्तु' इति, तदपि न, मनुष्येभ्यो याच्ञापूर्त्यसम्भवेन निरर्थकत्वात्, मनुष्ये याच्ञाप्रवृत्त्या पुरुषार्थप्रवृत्तिनिरोधाच्च। देवा ईश्वरश्च विशिष्टशक्तिमन्त एव वैदिकैरभ्यर्थनीया इति॥ ५३॥

दे॒वेभ्यो॒ हि प्र॑थ॒मं य॒ज्ञिये॑भ्यो॒ऽमृ॑त॒त्वꣳ सु॒वसि॒ भा॒गमु॑त्त॒मम्।
आदिद्दा॒मान॑ꣳ सवित॒र्व्यू॑र्णुषेऽनू॒ची॒ना जी॑वि॒ता मानु॑षेभ्यः॥ ५४॥

मन्त्रार्थ—हे सबके प्रेरक सविता देव! आप ही सर्वप्रथम यज्ञयोग्य देवताओं के लिये उनके उत्तम भाग, अमृतमय अग्नि में दी हुई आहुति को देते हैं, तदनन्तर ही प्रकाशरूप किरणों का विस्तार करते हैं और मनुष्यों के निमित्त अपनी किरणों की सहायता से प्राणियों के जीवन का विस्तार करते हैं॥ ५४॥

वामदेवदृष्टा जगती सावित्रग्रहस्य पुरोरुक्। हे सवितः, हि यस्मात्, प्रथममुदयकाले यज्ञियेभ्यो यज्ञार्हेभ्यो देवेभ्यो यज्ञानुष्ठानयोग्येभ्यो द्विजातिभ्यो देवेभ्यो दानादिशीलेभ्यस्त्वमुत्तमं भागमग्निहोत्रहोमममृतत्वममृतत्वप्रापकं सुवसि अभ्यनुजानासि प्रेरयसि वा। 'षू प्रेरणे' तौदादिकः। अग्निहोत्रहोमस्यामृतत्वप्रदातृत्वेन कार्यकारणयोरभेदोपचारेण कर्मण्यप्यमृतशब्दप्रयोगः। आद् इद् अनन्तरमेव उदयानन्तरमेव दामानं ददाति प्रकाशमिति दामा रश्मिसमूहस्तम्, व्यूर्णुषे विवृणोषि, विस्तारयसि। यद्वा ददात्युत्पत्तिस्थितिलयानिति दामा, तं रश्मिजालसमूहं व्यूर्णुषे विस्तारयसि। रश्मीनामुद्गमे हि विप्रोऽकम्पितमनसाऽग्निहोत्रादीनि कर्माणि करोति। ततो मानुषेभ्यो जीविता जीवितानि जीवनहेतुभूतानि कर्माणि व्यूर्णुषे। कीदृशानि कर्माणि? अनूचीना अनूचीनानि अन्वञ्चन्ति यानि तानि, तानि रश्मिसमूहानुगतानि, रश्मीनामभावे तमसि तदभावात्। एतेन सवितुर्देवस्यैव लौकिकवैदिकसर्वविधव्यवहारप्रवर्तकत्वं सिद्धयतीत्यर्थः। आधुनिकानां विद्युदादीनामपि पदार्थानां सूर्यांशत्वेन तन्मूलके व्यवहारेऽपि तत्प्रवर्तकत्वानपायात्। तस्मात् त्वामेव स्तुम इति वाक्यशेषः। वैश्वदेवस्तुच्चतुर्थमहः सर्वमेधश्च सम्पूर्णः।

अध्यात्मपक्षे—हे सवितः, सूर्यावच्छिन्नान्तर्यामिन्! प्रथममभ्युदयकाल एव यज्ञियेभ्यो यज्ञानुष्ठानार्हेभ्यो देवेभ्यो दानादिशीलेभ्यो द्विजातिभ्योऽमृतत्वप्रापकं भागं भजनीयं सेवनीयमग्निहोत्रहोमादि वैदिकं कर्म कर्तुं सुवसि प्रेरयसि। आद् इत् सूर्योदयानन्तरमेव दामानं सृष्टिस्थितिलयानां प्रकाशानां वा दातारं रश्मिसमूहं व्यूर्णुषे विस्तारयसि। ततो मानुषेभ्योऽनुचीनानि रश्मिसमूहानुगतानि जीवितानि जीविकोपार्जनसाधनानि कर्माणि विस्तारयसि, परमेश्वरस्यैव सर्वप्रवर्तकत्वात्। 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥' (भ० गी० १८।४६) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे सवितर्जगदीश्वर, हि यज्ञियेभ्यो देवेभ्य उत्तमं प्रथमममृतत्वं भागं सुवसि। मानुषेभ्य आदिद्दामानमनूचीना जीविता च व्यूर्णुषे, तस्मादुपासनीयोऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मोक्षप्राप्तौ तत्त्वज्ञानस्य हेतुत्वेन कर्मणां हेतुत्वायोगात्, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वा० सं० ३१।१८) इति मन्त्रवर्णात्॥ ५४॥

प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारꣳ रथप्राम् ।
द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—हे ईश्वर के कार्य में नियुक्त अध्वर्यु ! नियुत नामक अश्वों के साथ विचरण करने वाले, ज्ञानी, प्रकाशमान, शरीरपातपर्यन्त क्रियाशील, सर्वव्यापक, धन से रथ को भर देने वाले, क्रान्तदर्शी वायु का अब तुम यजन करो ॥ ५५ ॥

इदानीं पञ्चदश-पञ्चदश-त्रयोदशर्चा अनारभ्याधीतास्त्रयोऽनुवाकाः पुरोरुचः श्रौतकर्मण्यविनियुक्ता ब्रह्मयज्ञार्हा आदित्य-याज्ञवल्क्यदृष्टाः पितृमेधपर्यन्तं व्याख्येया अवशिष्यन्ते । प्र वायुमिति पञ्चदशर्चः पुरोरुग्गणो द्वे च प्रतीकोक्ते । तत्राद्या ऋजिश्वदृष्टा त्रिष्टुप्, वायुदेवत्या । हे प्रयज्यो प्रकर्षेण यजतीति प्रयज्युः, 'यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्' (उ० ३।२०) इति साधुः, बाहुलकादनादेशाभावः, तत्सम्बुद्धौ प्रकर्षेण यजनशील, अध्वर्यो ! बृहती बृहत्या पूर्वसवर्णदीर्घः । मनीषा मनीषया, विभक्तेराकारः । महत्या बुद्ध्या । अच्छ आभिमुख्येन त्वं वायुं प्र इ यक्षसि प्रकर्षेण यष्टुमिच्छसि । यजते रूपम् । कीदृशस्त्वम् ? कविः क्रान्तदर्शनो ज्ञानी । कीदृशं वायुम् ? बृहद्रयिं बृहदतिशयं रयिं धनं यस्यासौ बृहद्रयिर्महाधनस्तम् । पुनः कथम्भूतम् ? विश्ववारम्, विश्वेन सर्वेण व्रियत इति विश्ववारः सर्वस्य वरणीयः । अथवा विश्वं वृणोतीति वा विश्ववारः सर्वव्यापकस्तम् । रथप्रां रथं प्राति यजमानाय दातुं धनै रथं पूरयतीति रथप्राः, 'प्रा प्रपूरणे' आदादिकः, अस्मात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति विचि सर्वापहारिलोपे रूपम्, तम् । द्युतद्यामा द्युतद् द्योतमानं याम यमनं नियमनं यस्य स द्युतद्यामा, तं द्युतद्यामा, विभक्तिव्यत्ययः । नियुतः पत्यमानो नियुद्भिः स्वकीयैर्नियुन्नामकैरश्वैर्गच्छन्तम् । उभयत्र विभक्तिव्यत्ययः । कविं क्रान्तदर्शनम् । एतादृशं वायुं यजेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रयज्यो प्रकर्षेण पूजक, बृहत्या मनीषया अच्छाभिमुख्येन त्वं वायुं परमात्मानम्, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात् । कविस्त्वं प्र इ यक्षसि प्रकर्षेण यष्टुमिच्छसि । कीदृशम् ? बृहद्रयिं परमैश्वर्यरूपधनयुक्तम्, विश्ववारं साक्षात्कृतेनाधिष्ठानस्वरूपेण सर्वाच्छादकं सर्वबाधकम्, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात् । विश्ववरणीयं वा, सर्वप्रेमास्पदत्वात् । रथप्रां भक्तेभ्यो दानाय धनै रथं प्रतिपूरयतीति तम् । द्युतद्यामा द्युतद्यामानं दीप्यमानशासनम्, विभक्तिव्यत्ययः । नियुतो नियुद्भिरश्वैरिव शीघ्रतया पत्यमानः । भक्तकार्यसिद्ध्यर्थं गच्छन्तमेतादृशं भगवन्तं यजेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे प्रयज्यो हे विद्वन्, नियुतः प्रत्यमानः कविः संस्त्वं या ते बृहती मनीषा तया बृहद्रयिं विश्ववारं रथप्रां द्युतद्यामा वायुं कविं चाच्छ प्रेयक्षसि, तस्मात् सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि न, लोकसिद्धत्वे श्रुतिविषयत्वायोगात् । निघण्टौ नियुच्छब्दो वायोरश्वेषु प्रसिद्धः । तस्य निश्चयात्मपुरुषपरत्वं च निर्मूलमेव ॥ ५५ ॥

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम् । इन्दवो वामुशन्ति हि । उपयामगृहीतोऽसि वायव इन्द्रवायुभ्यां त्वैष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वा ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र और वायु देवता ! आपके लिये यह सोम प्रस्तुत किया गया है । इस सोमरस रूप अन्न के पान के लिये आप लोग हमारे यहाँ आइये । यह सोमरस आपका प्रिय बनने की इच्छा रखता है । हे तृतीय ग्रह के सोम-

रस, तुम वायु देवता के उद्देश्य से उपयाम पात्र में गृहीत हो। एक साथ चलने वाले इन्द्र और वायु देवता के सन्तोष के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। इन्द्रवायुग्रह तुम्हारा स्थान है। युगचर इन्द्रवायु देवताद्वय की प्रीति के निमित्त तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ५६ ॥

ऐन्द्रवायवी गायत्री मधुच्छन्दोदृष्टा। हे इन्द्रवायू, युष्मदर्थमिमे सोमाः सुताः, युष्मदर्थमिमे सोमा अभिषुताः। प्रयोभिरेतैः सोमरसरूपैरन्नैर्निमित्तैरुप समीपे युवामागतम् आगच्छतम्, प्रयोभिः प्रयद्भिरश्वैर्वा आगच्छतम्। हि यस्मात्, इन्दवः सोमाः, वां युवाम्, उशन्ति कामयन्ते। सोममाह—हे सोम, त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि। वायवे इन्द्रवायुभ्यां च त्वा गृह्णामि। दशापवित्रेण गृहीतं ग्रहं पात्राद्बहिर्गतं सोमं मार्जयित्वा एष ते योनिरिति मन्त्रेण ग्रहस्य सादनं कार्यम्। एष खरस्य एकदेशे ते तव योनिः स्थानम्। अतोऽत्र सजोषोभ्यां समानप्रीतिभ्यामिन्द्रवायुभ्यां त्वां सादयामि। सेयं कण्डिका सप्तमेऽध्यायेऽष्टमीकण्डिकास्थाने पठिता, तत्रैव व्याख्याता च ॥ ५६ ॥

मि॒त्रँ हु॑वे पू॒तद॑क्षं॒ वरु॑णं च रि॒शाद॑सम्। धियं॑ घृ॒ताचीँ॒ साध॑न्ता ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—पवित्र विचारों वाले, सदाचार की वृद्धि करने वाले मित्र देवता और हिंसक काम आदि के नाशक वरुण देवता का मैं आह्वान करता हूँ। ये देवता प्रसन्न होकर घृत द्वारा देवताओं का यजन करने की बुद्धि मुझे प्रदान करें ॥ ५७ ॥

द्वे मधुच्छन्दोदृष्टे गायत्र्यौ। आद्या लिङ्गोक्तदेवत्या। मित्रं वरुणं चाहं हुवे आह्वयामि। कीदृशम्? पूतदक्षं पूतं पवित्रं सदाचारं दक्षयति धनपुत्रादिभिर्वर्धयतीति पूतदक्षः, 'दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च' इति धातोर्ण्यन्तात् कर्मण्यण्, तम्। कथंभूतम्? रिशादसम्। रिशन्ति हिंसन्तीति रिशा दुष्टाः, 'रिश हिंसायाम्' अस्मात् पचाद्यच्, तान् आ समन्ताद् दस्यत्युपक्षपयतीति रिशादसः, 'दसु उपक्षये' दैवादिकः, तम्। रिशादस-मुभयोः प्रत्येकं विशेषणम्। कीदृशावुभौ? धियं कर्म यज्ञरूपं साधन्ता साधयन्तौ। नहि देवतामन्तरेण कर्मसिद्धिः। धीरिति कर्मनामसु (निघ० २।१।२१)। कीदृशीं धियम्? घृताचीम्, घृतमच्यते हूयते यत्र सा घृताची, ताम्।

अध्यात्मपक्षे—मित्रं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदं परमात्मानं वरुणं सर्ववरणीयं च प्रत्यञ्चमात्मानं हुवे आह्वयामि। कीदृशम्? पूतं पवित्रं साधकं ज्ञानवैराग्यादिभिर्दक्षयति वर्धयतीति पूतदक्षस्तम्। रिशादसं दुष्टानां नाशकम्। तावुभौ घृताचीं घृतस्निग्धां भक्तिमतीं धियं बुद्धिं साधन्ता साधयन्तौ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं धियं घृताचीं च साधन्ता साधन्तौ पूतदक्षं मित्रं रिशादसं वरुणं च हुवे, तथैव यूयमपि स्वीकुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। 'हुवे' इति क्रियापदस्य स्वीकारार्थतापि धात्वर्थविरुद्धैव ॥ ५७ ॥

दस्रा॑ यु॒वाक॑वः सु॒ता नास॑त्या वृ॒क्तब॑र्हिषः।
आ या॑तँ रुद्रवर्तनी। तं प्र॒त्नथाऽयं वे॒नः ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमसुन्दर, रुद्र के समान गमनशील, सत्यस्वभाव अश्विनीकुमारो! आप लोग यहाँ आइये। अग्नि में जहाँ आहुति दी जा रही है, जहाँ कुशा बिछी हुई है, वहाँ आपके निमित्त यह सोम अभिषुत हो रहा है ॥ ५८ ॥

आश्विनी। द्वावश्विनौ—तत्रैकस्य दस्र इति नाम, अपरस्य नासत्य इति। तथा च श्रीमद्भागवतम्—'नासत्यदस्रौ परमस्य नासे' (२।१।२९) इति। दस्रा दस्रौ दर्शनीयौ, नासत्या नासत्यौ न असत्यौ, सत्यवादिनौ इत्यर्थः। उभयमपि सम्बोधनम्। युवामायातमागच्छतम्। यतः सुता अभिषुताः सोमाः, युष्मदर्थमिति शेषः। कीदृशाः सोमाः ? युवाकवः, युवां कामयन्ते ते युवाकवः, मां पिबतमितीच्छन्तः। यद्वा—युवन्ति अग्नौ मिश्रीभवन्तीति युवाकवः, बाहुलकात् काकुः प्रत्ययः। वृक्तबर्हिषः, वृक्तं छिन्नं बर्हिर्दर्भो यत्र तादृशाः सोमाः। कीदृशौ युवाम् ? रुद्रवर्तनी, वर्तते यस्मिन् स वर्तनिर्मार्गः, 'वृतेश्च' (उ० २।१०८) इति वृतेरनिः प्रत्ययः, रुद्रस्येव वर्तनिर्ययोस्तौ रुद्रवद् गमनशीलौ। 'तं प्रत्नथा' (वा० सं० ७।१२), 'अयं वेनः' (वा० सं ७।१६) इति द्वे ऋचौ प्रतीकोक्ते।

अध्यात्मपक्षे—हे दस्राविव दर्शनीयौ नासत्याविव सत्यवादिनौ श्रीरामलक्ष्मणौ, युवां पातम्। यतो युष्मदर्थं सोमा विविधा भोज्यभक्ष्यपेयपदार्थाः, सुता अभिषुताः परिष्कृताः। कीदृशाः ? युवाकवः, युवां कामयन्त इति तथोक्ताः। लोके भोक्तारो भोग्यपदार्थान् कामयन्ते, इह तु भोक्त्रोर्वैशिष्ट्याद् भोग्यपदार्था एव भोक्तारौ युवां कामयन्ते, नात्र भोग्यपदार्थाः प्राकृता इव जडाः, किन्तु महारसिका एव परमानन्दमय-रससारसर्वस्वा भोग्यपदार्था भूत्वा युवां कामयन्ते। मां पिबतं पिबतं येन वयं धन्या भवेमेत्यहमहमिकया कामयन्ते। अत एव युवन्ति प्रेमाग्नौ मिश्रीभवन्ति तेनापि युवाकवः। पुनः कीदृशाः ? वृक्तबर्हिषः, वृक्तानि बर्हींषि दर्भा येभ्यस्ते परिस्तीर्णबर्हिषः, पावकत्वात् पवित्रतार्थं रक्षोहणत्वाद् विघ्नापसारणार्थम्। कीदृशौ युवाम् ? रुद्रवर्तनी रुद्रवज्जटामुकुटधारिणौ।

दयानन्दस्तु—'हे नासत्यौ, रुद्रवर्तनी ये वृक्तबर्हिषो युवाकवः सुताः सन्ति, तान् युवामायातम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृक्साधारणमानवकथाया वेदेऽनवकाशात्। सुता इत्यस्य वेदेषु वैदिकप्रक्रियासु वा सोमाभिषवसम्बन्धेनैवाभिषुता इत्यर्थे प्रसिद्धेः। न च पदार्था जडा भोक्तारं कामयन्ते, कामनायाश्चेतनधर्मत्वात्। पुरोडाशसोमादयोऽपि देवा एव, तेषां मन्त्रैः स्तुतत्वात्, सम्बोध्यत्वाच्च। साधका एव स्वात्मानं भोग्यत्व-मापादयन्ति, 'अहमन्नम्' (तै० उ० ३।१०।६) इति श्रुतेः ॥ ५८ ॥

विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यꣳ सध्र्यक्कः।
अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर पदों वाली, अक्षरों की ध्वनि को समझने वाली, आद्या त्रयीलक्षणा वाणी हमारे सम्मुख आई है। यदि उसे अध्वर्यु न पहचाने तो प्रस्तर से अभिषुत एक साथ हवन के निमित्त गृहीत महान् सोमलक्षण अन्न को कौन प्राप्त करता ॥ ५९ ॥

कुशिकदृष्टा ऐन्द्री त्रिष्टुप्। सरमा सह रमन्ते विद्वांसो विप्रा देवा वा यस्यां सा सरमा वाक्। सा हि अभिषवे समानं रमते। प्रथमा आद्या त्रयीलक्षणा अच्छ यज्ञाभिमुखं गाद् आगच्छति, यज्ञं प्रतिपादयतीत्यर्थः। कीदृशी सरमा ? सुपदी, शोभनानि पदानि यस्यां सा। अक्षराणामकारादीनां रवं शब्दं जानती ज्ञापयन्ती, अन्तर्भूतणिजर्थः। तां सरमां यदि चेद्, विनद् जानीयादध्वर्युः, तर्हि पाथः सोमलक्षणमन्नं कः कुर्यात्, पाथ इति पदेषु (निघ० ४।३।३०), पाधातोः 'उदके थुट् च' (उ० ४।२०५) तथा 'अन्ने च' (उ० ४।२०६) इति सूत्राभ्यामुदकेऽन्ने चार्थे पाथःशब्दनिष्पत्तिः, वेदानभिज्ञस्य सोमकण्डनानधिकारात्। कीदृशं पाथः ? अद्रेः, अद्रिणा, विभक्तिव्यत्ययः। सोमाभिषवणग्राव्णा रुग्णं चूर्णितमभिषुतम्, महि महत्, पूर्व्यम् उपांश्वन्तर्यामैन्द्र-

वायवादिपात्रेषु पूर्वं गृहीतम्। सध्र्यक् सह अञ्चतीति सध्र्यक्, 'सहस्य सध्रिः' (पा० सू० ६।३।९५) इति सहशब्दस्य सध्र्यादेशः। सहैव हवनाय गच्छति। अग्रं नयद् यजमानस्य मुख्यत्वं प्रापयत्। यज्ञेन हि यजमानो मुख्यो भवति।

यद्वा—त्रयीलक्षणा सरमा वाक् प्रकटीभवति, सोच्यते। सा ह्यभिषवे समानं रमते, तस्मात् सरमेत्युच्यते। अद्रेः रुग्णमित्यद्रिभिः सोमोऽभिषूयत इत्युच्यते। महि महत् पाथः सोमलक्षणमन्नं पूर्व्यमित्युपांश्वन्तर्यामैन्द्रवाय-वादिषु पूर्वं गृहीतमित्युच्यते। एवमधियज्ञं व्याख्यानम्। बह्वृचानां तु पृष्ठ्याभिप्लव-षडहयोः प्रथमेऽहनि माध्यन्दिनसवनेऽच्छावाकशस्त्रेऽहीनसूक्तस्थाने त्रीणि सम्पातसूक्तानि। तत्रेदं तृतीयं सम्पातसूक्तम्। तत्र पणिभिरसुरैर्देवगोधनेऽपहृते इन्द्रेण देवशुनी तल्लब्ध्यै प्रेरिता गा अलभत। तथा च बृहद्देवतायाम्—'असुराः पणयो नाम रसापारनिवासिनः। गास्तेऽपजहुरिन्द्रस्य न्यगूहंश्च प्रयत्नतः॥ बृहस्पतिस्तथापश्यद् दृष्ट्वेन्द्राय शशंस च। प्राहिणोत्तत्र दूत्येऽथ सरमां पाकशासनः॥' (८।२४-२५) इति। एतदभिप्रायेण व्याख्यायते—सरमा देवशुनी इन्द्रेण गवामन्वेषणाय प्रहिता सती यदाद्रेर्गिरेः रुग्णं भग्नं द्वारं विदद् अलभत, तदानीमिन्द्रः पाथोऽन्नं हविरन्नं कः अकार्षीत्, तस्यै दत्तवान्। कथम्भूतं पाथः? महि महत्। पूर्व्यं पूर्वं प्रेषणकालेऽन्नादिनीं ते प्रजां करिष्यामीति प्रतिज्ञातम्, सध्र्यग् इतरैरपि भोज्यैः सध्रीचीनम्। ततः सुपदी शोभनपादयुक्ता सा सरमा अक्षराणां क्षरणेन नाशेन रहितानामनुपद्रुतानां गवामग्रं प्रान्तम्, नयद् अनयत् प्राप्नोत्। प्रथमा प्रथमं रवं गवां हम्भारवं जानती सती, अच्छ गवामभिमुखं गाद् अगात्, जगामेत्यर्थः। यद्वा सरमा देवशुनी यदि रुग्णं गवां सम्बन्धिभिः खुरैर्भग्नमद्रेः पर्वतस्य द्वारं विदद् अलभत, अथ अनन्तरं गोलक्षणं पाथः पूर्व्यं पूर्वकालेष्वपहृतं देवान् प्रति कः करिष्यति, अग्रं गवामवस्थापनाय नयद् नेष्यति, सुपदी शोभनपादयुक्ता या नष्टं गोधनमन्वेषयामास सैवोच्यते। कीदृशी सा? अक्षराणामस्मदीयवाक्यसम्बन्धिनाम्, अच्छमभिमुखमुच्चारणं जानती, अगाद् आगमिष्यति।

अध्यात्मपक्षे—सरमा भक्तैः सह रामे रमत इति सरमा सीता भक्तिर्वा, यदि अद्रेरिवाभेद्यस्य कूटस्थस्य भक्तस्य जीवस्य रुग्णं भग्नं मनो विदद् अलभत, तदा महि महत्त्वपूर्णं पाथः स्वानुग्रहलक्षणमन्नं संबलं पूर्व्यं पूर्वैः सेवितं सध्र्यक् सहाञ्चनं कः करिष्यति। कीदृशी सरमा? सुपदी शोभनौ ध्येयौ पादौ यस्याः सा, प्रथमा मुख्या, सा चाक्षराणां प्रार्थनाक्षराणां रवं शब्दं ध्वनिं जानती, अच्छा साधकानामभिमुखं गाद् आगच्छति, वात्सल्याद् अग्रं फलोत्कर्षं च नयत् प्रापयति।

दयानन्दस्तु—'यदि सरमा प्रथमा सुपदी अक्षराणां रवं जानती रुग्णं विददग्रं नयत्, सम्यक् पूर्व्यं महि अद्रेरुत्पन्नं पाथः कः कुर्यात्, पतिमच्छा गात्तर्हि सा सर्वं सुखमाप्नुयात्' इति, तदपि निरर्थकम्, विश्रृङ्खलत्वाद-सम्बद्धत्वाच्च। भावार्थस्तु सर्वथा मन्त्रबाह्य एव॥ ५९॥

नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद् वैश्वानरात् पुर एतारमग्नेः।
एमेनमवृधन्नमृता अमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः॥ ६०॥

मन्त्रार्थ—देवताओं ने इस विश्व के हितकारी, अग्नि से भिन्न, सब कार्यों में अग्रगामी दूत को नहीं पाया। इसीलिये देवताओं ने इस अमरणधर्मा अग्नि को यजमान की रक्षा के लिये आगे बढ़ाया है॥ ६०॥

विश्वामित्रदृष्टा त्रिष्टुप्, वैश्वानरी। अमृता अमरणधर्माणो देवा अस्माद् वैश्वानरात्, विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितो वैश्वानरोऽग्निस्तस्मादग्नेरन्यं स्पशं प्रणिधिं दूतं पुर एतारं देवानां सर्वकार्येषु पुरःसरं नह्यविदन् नालभन्त। पुर

एति गच्छतीति पुरएता, तम्। नहिशब्दो निषेधवचनः। आ ईं निपातौ अथार्थौ। अनन्तरमेनममर्त्यममरणधर्माणं वैश्वानरं देवम्, अवृधन् अवर्धयन्। किमर्थमिति चेत्, क्षैत्रजित्याय। क्षेत्रमेव क्षैत्रं तस्य जित्यं जयस्तस्मै देवयजन-क्षेत्रजयार्थं यजमानाभीष्टलोकप्राप्त्यर्थं च तमवर्धयन्निति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—वैश्वानरादग्नेः परमेश्वरादन्यं स्पशं गुप्तचरं कार्यकरमन्यं देवं नह्यविदन्। एम् अथ अनन्तर-मेव अमृता देवा एनं वैश्वानरं सर्वहितकारिणममर्त्यममरणधर्माणं नित्यं परमात्मानमवृधन् स्तुतिभिराहुतिभि-श्चावर्धयन्।

दयानन्दस्तु—'ये अमृता देवा अमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्यायै नामावृधन् ईम् अस्माद्वैश्वानरादग्नेः पुर-एतारमन्यं स्पशं नह्यविदन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विशृङ्खलत्वात्। नहि जडमात्रस्याग्नेश्चालनकर्तृत्वं सम्भवति, न चाग्नेर्हिताहितज्ञानं सम्भवति, त्वद्रीत्या जडत्वात्। सिद्धान्ते तु तस्य दिव्यशक्तिसम्पन्नत्वेन माहात्म्यात् सर्वमुपपद्यते॥ ६०॥

उग्रा विघनिना मृध इन्द्राग्नी हवामहे। ता नो मृडात ईदृशे॥ ६१॥

मन्त्रार्थ—तीक्ष्ण बल वाले, असुरों के विशेष रूप से हन्ता, इन्द्र और अग्नि देव का हम आह्वान करते हैं। वे दोनों भयानक युद्धों में भी हमारी सहायता करें॥ ६१॥

भरद्वाजदृष्टा ऐन्द्राग्नी गायत्री। वयमिन्द्राग्नी इन्द्रश्च अग्निश्च इन्द्राग्नी, तौ देवौ हवामहे आह्वयामः। कीदृशाविन्द्राग्नी? उग्रौ उद्गूर्णबलौ। मृधो हिंसकान् शत्रून् विघनिनौ विशेषेण हतो नाशयत इति विघनिनौ तौ। यद्वा मृधः संग्रामस्य कारिणां विहन्तारौ ता तौ आहूतौ सन्तौ इन्द्राग्नी नोऽस्मान् ईदृशे भयानके संग्रामे मृडातो मृडयतः सुखयतः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमात्मा रामः, अग्निर्लक्ष्मणः, सङ्कर्षणाग्न्यवतारत्वात्। तौ हवामहे। कीदृशौ? उग्रौ उदग्रबलौ, मृधः संग्रामस्य विघनिनौ विहन्तारौ, शत्रूणामुन्मूलनेनेति शेषः। ता तौ इन्द्राग्नी ईदृशे दुःखोपद्रवोपप्लुते संसारे नोऽस्मान् मृडातो मृडयतः।

दयानन्दस्तु –'हे मनुष्य, वयं यावुग्रमृधो विघनिनेन्द्राग्नी हवामहे, ता ईदृशे नोऽस्मान् मृडातः' इति, तदपि न, 'इन्द्राग्नी' इत्यनेन सभापतिसेनापत्योर्ग्रहणे मानाभावात्, प्रसिद्धार्थत्यागस्य निर्मूलत्वाच्च, लोकसिद्धार्थ-बोधने मन्त्रतात्पर्यानुपपत्तेश्च॥ ६१॥

उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे। अभि देवाँ२॥ इयक्षते॥ ६२॥

मन्त्रार्थ—हे यज्ञ के नेता ऋत्विजों! इस गतिमान् देवता को परम सत्कार के साथ पूजना चाहिये, सोम के लिये स्तोत्रों का गान करना चाहिये॥ ६२॥

देवलदृष्टा सोमदेवत्या गायत्री। हे नर ऋत्विजः, यज्ञस्य नेतृत्वात्। 'णीञ् प्रापणे' भौवादिकः। अस्मात् 'नयतेर्डिच्च' (उ० २।१०२) इति। नयन्ति पूर्वपुरुषान् उत्तमां गतिमिति विग्रहे ऋप्रत्यये तस्य डित्वाद् धातो-ष्टिलोपे बहुत्वविवक्षायां जसि नर इति रूपम्। अत्र सम्बोधनम्। अस्मै इन्दवे सोमाय उपगायत औद्गात्र-धर्मानुसारमुपशब्दयत, स्तोत्रशस्त्रादिभिः स्तुतिं कुरुत। कीदृशायेन्दवे? पवमानाय दशापवित्राद् द्रोणकलशं गच्छते, 'पूङ् पवने' भौवादिकः। अत्र गतौ वृत्तिः। पवत इति पवमानः, पूङ्धातोः 'पूङ्यजोः शानन्' (पा० सू०

३।२।१२८) इति शानचि, 'आने मुक्' (पा० सू० ७।२।८२) इति मुगागमे रूपम्, तस्मै। पुनः कथम्भूताय ? देवान् अभि इयक्षते देवान् यजनीयान् अभि आभिमुख्येन इयक्षते यष्टुमिच्छते। यजेः सनि छान्दसोऽभ्यासयकारलोपः।

अध्यात्मपक्षे—हे नरः, देहादिनेतारो जीवाः! अस्मै इन्दवे इन्दुभूषणाय उपगायत नानाविधैर्वैदिकैस्तान्त्रिकैः स्तवैः स्तुतिं कुरुत। कीदृशाय ? पवमानाय, भक्तान् पावयितुं गच्छते। देवान् अभि आभिमुख्येन इयक्षते यियक्षते सर्वदेवमयं विष्णुं पूजयितुमिच्छते, पुराणेष्वेकात्मनोरपि हरिहरयोः परस्परं पूजकत्वदर्शनात्।

दयानन्दस्तु—'हे नरः, यूयं देवानभीयक्षते पवमानायेन्दवे उपगायत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उपगानशब्दस्याध्यापनार्थत्वे मानाभावात्, न च सत्कारकर्तृणां स्तवनरूपमुपगानं सम्भवति, क्षुद्रयाचकादीनां तादृशव्यवहारदर्शनात्॥ ६२॥

ये त्वाऽहिहत्ये मघवन्नवर्धन् ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ।
ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमꣳ सगणो मरुद्भिः॥ ६३॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव! जिन मेधावी मरुद्गणों ने वृत्रासुर के वध के समय आपकी सहायता की, हे हरि नामक अश्वों वाले इन्द्रदेव! जिन मरुद्गणों ने शम्बर के साथ हुए युद्ध में आपकी सहायता की, जिन्होंने यज्ञ में असुरों से छीन कर गायों को लाने की आपकी इच्छा की पूर्ति में आपकी सहायता की, जो आपको सन्तुष्ट करने में सदा लगे रहते हैं, हे इन्द्र! उन मरुद्गणों के साथ आप सोम रस का पान करें॥ ६३॥

विश्वामित्रदृष्टा त्रिष्टुप्, इन्द्रदेवत्या। हे मघवन्, धनयुक्त! ये मरुतो गणदेवाः, त्वा त्वाम्, अहिहत्ये अहिर्दैत्यो वृत्ररूपस्तस्य हत्ये हनने, अवर्धन् स्तुत्यादिभिर्वर्धितवन्तः प्रोत्साहितवन्तः, हे हरिवो हरिवन् हरितवर्णाश्वयुक्त, शाम्बरे शम्बरदैत्यसंबन्धिनि च युद्धे ये त्वामवर्धन्, ये च मरुतो गविष्टौ पण्यसुरहृतानां गवामिष्टौ प्रत्याहरणेच्छायां गवामपायेषणयोपस्थितं सन्तं वा त्वामवर्धन्, ये च विप्रा मेधाविनो मरुतो नूनं निश्चितं त्वामनुवदन्ति त्वामुत्कर्षयन्ति तर्पयन्ति वा, हे इन्द्र! तैर्मरुद्भिः सगणो गणसहितः सन् सोमं पिब, मरुत्वतीयादिग्रहस्थं सोमं पिब। अहिहत्ये, हन्तेर्भावे 'हनस्त च' (पा० सू० ३।१।१०८) इति क्यप्, कृदुत्तरपदसमासः। अवर्धन्, ञेः सार्वधातुकत्वेऽपि 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इत्यार्धधातुकत्वे णिलोपः। यद्वृत्तयोगान्निपाताभावः (पा० सू० ८।१।६६)। गवामिष्टिरन्वेषणं यस्मिन् रणे 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० सू० ६।२।१) इतिपूर्वपदस्वरः, अनुमदन्ति स्मेत्यसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः, 'तिङि चोदात्तवति' (पा० सू० ८।१।७१) इति गतेर्निघातः।

अध्यात्मपक्षे—'हे मघवन्, षडैश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर, ये मरुता मरुतो मरुत्पुत्रादयो वा, त्वाम् अहिहत्ये दैत्यराक्षसादिहननेऽवर्धन् वर्धितवन्तः, हे हरिवो वानरभटैरङ्गदादिभिर्युक्त! ये च शाम्बरे युद्धे मायाविमेघनादादियुद्धे त्वामवर्धन्, ये गविष्टौ गवां वेदवाचामिष्टौ रक्षणेषणयोपस्थितं त्वामवर्धन्, ये च त्वां नूनमनुमदन्ति प्रहर्षयन्ति, तैः सह हे इन्द्र, सोमं पिब प्रेम्णा समर्पितं भक्ष्यपेयादिकं पिब खाद च। इन्द्रोऽपि भगवद्बलेनोपबृंहित एव युद्ध्यति।

दयानन्दस्तु—'हे मघवन्, ये विप्रा अहिहत्ये गविष्टौ सूर्यमिव त्वाऽवर्धन् वर्धयेयुः, हे हरिवाँ! ये शाम्बरे विद्युतमिव त्वाऽवर्धन्, ते नूनं त्वामनुमदन्ति। ये च त्वां रक्षन्ति, हे इन्द्र! तैर्मरुद्भिः सगणः सूर्यो रसमिव मनुष्यैः

सह सोमं पिब' इति, तदपि न, लोकसिद्धेऽर्थे वेदतात्पर्याभावात्, मघवन्-हरिव-इत्यादिसम्बोधनानां देवराज इन्द्रे प्रसिद्धानां वराके मनुष्यसेनापतावसङ्गतेः, यथातथादिपदानां मन्त्रेऽभावात्, दृष्टान्तरूपेण सूर्याद्वियोजनमप्यसङ्गतमेव । न च तानि तानि पदान्याञ्जस्येन सेनापतौ संगच्छन्ते ॥ ६३ ॥

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः ।
अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! आप उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न, स्तुतियोग्य और अत्यन्त तेजस्वी हैं । यह सारा जगत् आपकी विभूति है । स्वाभिमान की रक्षा के लिये अतितीव्र गति से आप अपने बल को प्रकट करते हैं । मरुद्गणों ने भी स्तुतियों के द्वारा आपके उत्साह को बढ़ाया है । अतिशय धनवती माता अदिति ने इन्द्र को गर्भ में धारण किया है ॥ ६४ ॥

गौरवीतिदृष्टा त्रिष्टुप्, इन्द्रदेवत्या । हे इन्द्र ! त्वं सहसे बलाय जनिष्ठा अजनिष्ठा जातोऽसि, अडभाव आर्षः । कथम्भूताय सहसे ? तुराय त्वरायुक्ताय वेगवते, यद्वा सहसे बलाय तुराय त्वरणाय, जातोऽसि । कीदृशस्त्वम् ? उग्र उदग्रबलो मन्द्रः स्तुत्य ओजिष्ठोऽत्यन्तमोजस्वी, 'विन्मतोर्लुक्' (पा० सू० ५।३।६५) इति विनो लुक्, बहुलाभिमानः समष्टिविराडभिमानः । अत्र वृत्रवधे ईदृशमिन्द्रं मरुतश्चिद् मरुतोऽपि, अवर्धन् स्तुतिसहायाभ्यां वर्धितवन्तः । सर्वमिदमिन्द्रसौभाग्यमौत्पत्तिकं गर्भकालिकमेवेत्याह—माता अदितिः, धनिष्ठा अतिशयेन धन्या, यद् यस्माद् वीरमिन्द्रं दधनद् गर्भे धारितवती, नकारश्छान्दसः ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर श्रीराम, त्वं सहसे बलकार्यकरणाय त्वरणाय च, जनिष्ठा जातः, कीदृशस्त्वम् ? उग्र उदग्रबलः, मन्द्रः स्तुत्यः, ओजिष्ठोऽत्यन्तमोजस्वी, बहुलाभिमानः समष्टिव्यष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणसर्वप्रपञ्चाभिमानः, सर्वात्मत्वात् । अत्र रावणादिवधरूपे कार्ये मरुतश्चिद् हनुमानादयोऽपि स्तुतिबलबुद्ध्यादिभिस्त्वामवर्धन् प्रोत्साहितवन्तः । माता कौशल्या धनिष्ठा अतिशयेन धन्या, यद् यस्माद् वीरं दधनद् गर्भे धारितवती, तस्मात् तथाविधस्त्वमजनिष्ठाः ।

दयानन्दस्तु—हे राजन् ! धनिष्ठा माता यद्वीरं दधनदिन्द्रं मरुतश्चिदिव सभ्या यं त्वामवर्धयन् स त्वमत्र सहसे तुराय उग्रो मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः सन् सुखं जनिष्ठाः' इति, तदप्ययुक्तम्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, मूलमन्त्रे यथा-तथा-इवादिशब्दानामभावात्, लुप्तोपमानच्छलेन त्वद्विरुद्धानामनेकार्थानां कल्पनासंभवाच्च । तदुपेक्ष्यमेव । अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ६४ ॥

आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि । महान् महीभिरूतिभिः ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ—हे पापनाशक इन्द्रदेव ! हमारी सुरक्षा की पूरी तैयारी के साथ आप हमारे पास शीघ्र आइये, आप हमारे अतिसमीप आ जाइये ॥ ६५ ॥

वामदेवदृष्टा गायत्री, इन्द्रदेवत्या । तुनिपातः क्षिप्रवचनः, 'ऋचि तुनुघ' (पा० सू० ६।३।१३३) इत्यादिना तस्य संहितायां दीर्घः । हे वृत्रहन्, वृत्राणां सद्बुद्धिप्रावरकाणां पाप्मनां हन्तः ! हे इन्द्र, त्वं नोऽस्मान् प्रति तु क्षिप्रम् आ आगहि आभिमुख्येनागच्छ, एत्य चास्माकमर्धमस्मन्निवासदेशमायाहि, देवयजनदेशं प्राप्नुहीत्यर्थः । यद्वा अस्माकमर्धमस्मदीयं देवयजनमागहि एत्य चास्मान् महीभिर्महतीभिः, ऊतिभी रक्षाभिः, पालयेति शेषः । कीदृशस्त्वम् ? महान्, योऽन्यान् पालयति स महानेव भवति ।

अध्यात्मपक्षे—वृत्रं प्रावरकं ब्रह्मात्मतत्त्वस्याज्ञानम्, तस्य हन्ता परमेश्वरो वृत्रहा। हे वृत्रहन्! त्वमस्माकमर्धं हृदयस्थानप्रदेशमागहि आभिमुख्येनागहि आगच्छ, आगत्य च महीभिर्महतीभिरूतिभी रक्षाभिर्ज्ञानदानेनाज्ञाननिवर्तनेन चास्मान् पालय, त्वं महानसि स्वरूपेण गुणैश्च महनीयोऽसि।

दयानन्दस्तु—'हे वृत्रहन् इन्द्र! त्वमस्माकमर्धं वर्धनमागहि महानसन् महीभिरूतिभिर्नोऽस्मान् त्वादधनत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजस्तोतॄणां संवादस्यापौरुषेये वेदेऽनवसरग्रस्तत्वात्। न च वृत्रहन्निन्द्रादिपदानामाञ्जस्येन प्रकृते मनुष्ये राजनि संगतिः॥ ६५॥

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः॥ ६६॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव! आप संग्रामों में सभी प्रकार के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं, आप सब शत्रुओं का नाश कर देते हैं। इस कारण हे दुष्टों के हन्ता! अपने पक्ष की प्रशंसा करने वाले सभी शत्रुओं का आप पूरी तरह से नाश कर दीजिये॥ ६६॥

नृमेधदृष्टे ऐन्द्र्यचौ पथ्याबृहतीसतोबृहत्यौ। हे इन्द्र, प्रतूर्तिषु संग्रामेषु, प्रकृष्टा तूर्तिर्हिंसा यत्र येषु तेषु, त्वं विश्वाः सर्वाः स्पृधः स्पर्धमानाः शत्रुसेनाः, अभि असि भवसि अभिभवसि। किञ्च, यतस्त्वं विश्वतूः, विश्वान् सर्वान् रिपून् तूर्यते हिनस्ति यः स विश्वतूरसि भवसि, विश्वशत्रुनिहन्तासि, ततस्तरुष्यतो हनिष्यतः शत्रून् तूर्य जहि मारय। कीदृशस्त्वम्? अशस्तिहा, नास्ति शस्तिः प्रशस्तिर्येषां तेऽशस्तयस्ते दुष्टास्तान् हन्तीति तथोक्तः। जनिता जनयिता स्वीयानां प्रशंसोत्पादकः। यद्वा हे इन्द्र, प्रतूर्तिषु प्रतरणीयेषु शत्रुषु निमित्तभूतेषु विश्वाः सर्वाः स्पृधः संग्रामान् अभि असि अभिभवसि। किञ्च, अशस्तिहा अभेरादिशेषे, अभिशस्तिर्निन्दा कलङ्को वा, तं हन्तीत्यशस्तिहा, जनयिता च सुखानाम्। विश्वतूः सर्वशत्रुतूरणस्त्वमसि, तस्माद् ब्रवीमि त्वमेव तरुष्यतो हनिष्यतः शत्रून् तूर्य मारय।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, प्रतूर्तिषु कामक्रोधादिसंग्रामेषु तैः संघर्षेषु, स्पृधः स्पर्धमानाः कामादिशत्रुसेनाः, अभ्यसि अभिभवसि, तवानुकूल्येन तासां पराभवानुभवात्। त्वमेव अभिशस्तिहा आत्मज्ञानदानेन आत्महननरूपाया अभिशस्तेर्हन्तासि, जनिता च जीवन्मुक्तिसुखस्य, त्वमेव विश्वतूरणोऽसि, अतो तरुष्यतो हनिष्यतः कामादिशत्रून् तूर्य नाशय।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, यतस्त्वं प्रतूर्तिषु विश्वा स्पृधोऽभ्यसि, अशस्तिहा जनिता विश्वतूः संस्त्वं विजयवानसि, तस्मात् तरुष्यतस्तूर्य' इति, तदपि पूर्ववदेवोपेक्षणीयम्, इन्द्रपदस्य सामान्यराजार्थेऽप्रसिद्धेः। अक्षरार्थस्तु महीधराद्यनुकरणमात्रम्॥ ६६॥

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि॥ ६७॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव! पृथ्वी और स्वर्ग में स्थित सभी जीव शत्रुओं पर तीव्र गति से आक्रमण करने वाले आपके बल की उसी प्रकार प्रशंसा करते हैं, जैसे कि माता-पिता अपने बालक की। सारी शत्रुसेना आपके क्रोध से घबरा जाती है, सभी देवताओं के द्वारा मिल करके भी जो असुर मारे नहीं जा सकते, उन सबको आप अकेले मार डालते हैं॥ ६७॥

हे इन्द्र, क्षोणी क्षोण्यौ द्यावापृथिव्यौ, ते तव शुष्मं बलं तुरयन्तं शत्रुषु त्वरामाविष्कुर्वन्तं तूर्णं गच्छन्तं वा अन्वीयतुरनुजग्मतुः, त्वामेवानुगतवत्यौ। अनुगमने दृष्टान्तः—मातरौ मातापितरौ शिशुं न शिशुमिव, यथा मातापितरौ शिशुमनुगच्छतस्तद्वदित्यर्थः। विश्वाः सर्वाः स्पृधः स्पर्धमानाः शत्रुसेनाः संग्रामा वा, ते तव मन्यवे मन्योः, पञ्चम्यर्थे चतुर्थी, तव क्रोधात् श्नथयन्त अश्रथयन्त श्रथिताः खिन्ना भवन्ति, उद्विग्ना भवन्तीत्यर्थः। यद्यस्माद् हे इन्द्र, त्वं युद्धे वृत्रं देवासुरावध्यं तुर्वसि हंसि, 'यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीताम्' (निरु. १०।१०) इति यास्कोक्तेर्द्यावापृथिव्यौ तत्स्था लोकाश्च यद्बलं बत्र मन्यन्ते, येन च युद्धे वृत्रो निपातितस्तस्य क्रोधदर्शनात् स्पर्धमानाः शत्रुसेनाः संग्रामा वा उद्विजेरन्निति युक्तमेव, तूर्वतिर्हिंसार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर! ते तुरयन्तं शत्रुषु त्वरामाविष्कुर्वन्तं शुष्मं बलं द्यावापृथिव्यौ मातरौ मातापितरौ शिशुमिवान्वीयतुरनुजग्मतुः, पारमेश्वरेण तेजसा तयोर्विधृतत्वात्। हे इन्द्र, त्वं वृत्रं दैत्यमज्ञानं वा तुर्वसि नाशयसि, तस्माद्विश्वा सर्वाः स्पृधः शत्रुसेनास्ते तव मन्योः श्नथयन्त खिन्नाः सन्त उद्विजन्ते।

दयानन्दस्तु—हे इन्द्र, यस्य ते तुरयन्तं शुष्मं शिशुं मातरा मातापितरौ इव क्षोणी अन्वीयतुस्तस्य ते मन्यवे विश्वा स्पृधः श्नथयन्त। यद्यं वृत्रं शत्रुं त्वं तूर्वसि स पराजितो भवति' इति, तदप्यसङ्गतम्, अन्वीयतुरिति द्विवचनक्रियानुगुणकर्तृपदायोगात्। न च क्षोणीति स्वपरभूमीति व्याख्यातमेवेति, तदपि निर्मूलम्, निघण्टुवचनेन क्षोणीपदस्य भूम्यर्थत्वेऽपि स्वपरेति विशेषणस्य निर्मूलत्वात्। तस्मात् क्षोणी क्षोण्यौ द्यावापृथिव्यावित्येवार्थो युक्तः। न च तत्र मातरौ मातापितरा इति दृष्टान्तो घटते॥ ६७॥

य॒ज्ञो दे॒वानां॒ प्रत्ये॑ति सु॒म्नमादि॑त्यासो॒ भव॑ता मृड॒यन्तः॑।
आ वो॒ऽर्वाची॑ सुम॒तिर्व॑वृत्याद॒ꣳहोश्चि॒द्या व॑रिवो॒वित्त॒रास॑त्॥ ६८॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ आदित्य आदि देवताओं के सुख के निमित्त आगमन करता है। इस कारण हे आदित्यगणों! आप सब हमारे लिये अवश्य ही सुखकारी हों। आप लोगों की जो स्वभाव-सिद्ध अनुग्रह बुद्धि है, वह हमारे प्रति प्रवृत्त हो। पापकारी की भी जो बुद्धि सुमतिरूप धन का उपार्जन करनेवाली है, यह हमारे सन्मुख हो। हे सोम, आदित्य ग्रह की प्रीति के निमित्त मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ॥ ६८॥

यज्ञो देवानामादित्यानां सुम्नं सुखं कर्तुं प्रत्येति। अतो हे आदित्यासः, मृडयन्तो यूयमस्माकं सुखकर्तारो भवत। वो युस्माकं सुमतिर्भक्तानुग्रहतत्परा बुद्धिः, अर्वाची अस्मदभिमुखी आवृत्याद् आवर्तताम्। अंहोश्चिद् हननशीलस्य पापिनोऽपि वरिवोवित्तरा अत्यन्तं धनलब्ध्री असद् भवेत्, सा सुमतिरस्मदभिमुखी आवर्ततामिति सम्बन्धः। हे सोम, आदित्येभ्यो देवेभ्यस्त्वो दध्ना, मिश्रयामीति शेषः। (८।४) इत्यत्र व्याख्याता। कुत्सदृष्टा त्रिष्टुप् समाप्ता॥ ६८॥

अद॑ब्धेभिः सवितः पा॒युभि॒ष्ट्वꣳ शि॒वेभि॑र॒द्य परि॑ पाहि नो॒ गय॑म्।
हिर॑ण्यजिह्वः सुवि॒ताय॒ नव्य॑से॒ रक्षा॒ माकि॑र्नो अ॒घश॑ꣳस ईशत॥ ६९॥

मन्त्रार्थ—हे सबके प्रेरक ज्योतिरूप जिह्वा वाले सवितादेव! आप अब कभी नष्ट न होने वाली आनन्दस्वरूप अपनी रक्षा के घेरे में हमें ले लें, हमारी अनन्य भक्ति को देख कर आप हमारे देहरूप गृह की रक्षा करें, हमें नित्य नूतन सुख प्रदान करें, कोई पापेच्छु हमारे ऐश्वर्य को न प्राप्त कर सके॥ ६९॥

भरद्वाजदृष्टा जगती, सवितृदेवत्या। हे सवितः, सर्वस्योत्पादयितः प्रेरयितो वा, त्वं गयं नोऽस्माकं गयं गृहं धनं वा अदब्देभिरनुपहिंसितैः शिवेभिः शान्तैः पायुभिः पालनैः परिपाहि परिरक्ष। कीदृशस्त्वम्? हिरण्यजिह्वः, हिरण्यवदविचला तेजस्विनी च जिह्वा ज्वाला यस्य सः, सत्यवाग् भूत्वा, यद्वा हिरण्या हिता रमणीया च जिह्वा ज्वाला यस्य सः, 'हिरण्यं कस्मात्? ··· हितं रमणं भवतीति वा' (निरु० २।१०) इति यास्कोक्तेः। नव्यसे नवीयसे नवतराय सुहवाय सुखाय नोऽस्मान् रक्ष। यद्वा सुविताय सुप्रसूताय नव्यसे नवतराय कर्मणे, भवेति शेषः, रक्ष च सर्वथा। माकिः मा कश्चन नोऽस्माकमघशंसः, अघं पापं यः शंसति स ईशत ईशितः समर्थो भवत्वघकरणाय। 'रक्षा' इत्यत्र संहितायां दीर्घः। 'ईशत' इत्यत्र लङ्, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुगभावः।

अध्यात्मपक्षे—हे सवितः, प्रपञ्चोत्पादक परमेश्वर! अदब्धेभिर्हिंसारहितैः शिवेभिः सुखकरैः पायुभिः पालनैस्त्वं नोऽस्माकं गयं गृहं धनं वा, गृहधनयोर्नामसु पाठात्, परिपाहि परिपालय। कीदृशस्त्वम्? हिरण्यजिह्वः, हिरण्यं ज्योतिर्मयी जिह्वा वेदलक्षणा वाग् यस्य सः, नव्यसे नवतराय सुविताय सुप्रसूताय सुखाय भव रक्ष च। माकिः मा कश्चन अघशंसमघमाशंसमानो नोऽस्माकमीशत कश्चिदघशंसोऽस्माकमीशिता भवतु।

दयानन्दस्तु—हे सवितः, त्वमदब्धेभिः शिवेभिः पायुभिरद्य नो गयं परिपाहि, हिरण्यजिह्वः सन् नव्यसे सुविताय नो रक्ष, यतोऽघशंसो नो माविरीशत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजप्रजाव्यवहारस्य लोकसिद्धत्वात्। सवितृपदस्य कतिचिद्वस्तूत्पादकत्वे राजन्यप्रवृत्तेः, जनानां गृहधनापत्यादिरक्षणं राज्ञां स्वाभाविकं कृत्यमिति तदर्थमज्ञातज्ञापकस्य वेदस्य न प्रवृत्तिः॥ ६९॥

प्र वी॑र॒या शुच॑यो दद्रिरे वामध्व॒र्यु॒भि॒र्मधु॑मन्तः सु॒तास॑ः।
वह॑ वायो नि॒युतो॑ या॒ह्यच्छा॒ पिबा॑ सु॒तस्यान्ध॑सो॒ मदा॑य॥ ७०॥

मन्त्रार्थ—हे पत्नी और यजमान! तुम दोनों के प्रकृष्टवीर निर्मल ऋत्विजों के द्वारा अभिषुत निग्राभ्य नामक जल और सोम एकरस कर दिये गये हैं। हे वायुदेव, आप अपने नियुत नामक अश्वों के साथ देवयजन स्थान में आवें, सोम के सन्मुख उपस्थित हो तृप्ति के लिये अभिषुत सोम का पान करें॥ ७०॥

वशिष्ठदृष्टा त्रिष्टुप्, वायुदेवत्या। पञ्चदश ऋचः, द्वे प्रतीकोक्ते। एवं सप्तदशकः पुरोरुचां समूहः। हे पत्नीयजमानौ जायापती। वां युवयोः स्वभूताः सोमाः, दद्रिरे विदीर्णाश्चूर्णीभूताः, 'दृ विदारणे' कर्मकर्तरि लिट्। कीदृशाः सोमाः? प्रवीरया 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति जसोर्याजादेशः, प्रकृष्टा वीरा ज्ञानवन्त ऋत्विजो येषां ते, शुचयः शुद्धाः, अध्वर्युभिरध्वरनेतृभिर्ऋत्विग्विशेषैर्वा सुतासोऽभिषवधर्मेणाभिषुता ग्रावभिर्द्रवीभावमापादिताः, 'अभिषुण्वन्ति चत्वारः पर्युपवेशनसामर्थ्यात्' (का० श्रौ० ९।५।१) इति कात्यायनवचनादध्वर्युभिरिति बहुवचनम्। मधुमन्तौ मधु निग्राभ्यारूपमुदकमस्ति येषां ते तद्वन्तः। एवमर्धर्चेन पत्नीयजमानौ संबोध्याथेदानीं वायुमाह—वाति सर्वत्र गच्छतीति वायुः, तत्संबोधने हे वायो! नियुतो नियुन्नामकानश्वान् त्वं वह अस्मद्देवयजनप्रदेशं प्रापय, अच्छ याहि सोमाभिमुखं सोमं प्राप्तुं वा याहि, अच्छाभेरर्थे आप्तुमिति वा, यात्वा च मदाय तृप्तये मदनाय वा सुतस्याभिषुतस्यान्धसः सोमस्य स्वमंशं पिब।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यभावेन पत्नीयजमानौ वायुश्च परमात्मरूपा एव। तानेव सम्बोध्य पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजनौ, ये वां मधुमन्तः सुतासः शुचयो जना अध्वर्युभिर्वीरया सेनया शत्रून् प्रदद्रिरे, तैः सह हे वायो, त्वं नियुतो वह अच्छ याहि मदाय सुतस्यान्धसो रसं पिब' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, वायुपदेन राजग्रहणे हेत्वभावात्, नियुतो वायोरश्वा इति प्रसिद्धार्थत्यागे नितरां मिश्रितामिश्रितगुणग्रहणस्याप्रयुक्तत्वात् ॥ ७० ॥

गाव॒ उपा॑वतावतं म॒ही य॒ज्ञस्य॑ र॒प्सुदा॑ । उ॒भा कर्णा॑ हिर॒ण्यया॑ ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ—हे गोमाताओं अथवा वृष्टिधाराओं ! ये महान् द्यावापृथिवी नामक युगल देवता सब कुछ जानते हैं, तदनुरूप ही यज्ञ-फल को देते हैं । इन दोनों को सुवर्णमय कर्णाभूषण प्रदान कर चत्वालरूप कूप के प्रति आप सब गमन करें ॥ ७१ ॥

गाव उपावतावतमिति मन्त्रः (३३।१९) इत्यत्र व्याख्यातः ॥ ७१ ॥

काव्य॑योरा॒जाने॑षु॒ क्रत्वा॒ दक्ष॑स्य दु॒रो॒णे । रि॒शाद॑सा स॒धस्थ॒ आ ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—हे शत्रुपक्ष के विनाशक मित्रावरुण देवताओं ! उत्साही यजमान के यजनीय देवताओं और यजन में सहायक मनुष्यों को एक साथ सोमपान कराने के लिये कवियों के हितकारी आप दोनों देवयजन भूमियों में यज्ञकर्म की समृद्धि के लिये यहाँ आवें ॥ ७२ ॥

दक्षदृष्टा गायत्री मैत्रावरुणी । रिशादसा रिशन्ति हिंसन्ति ते रिशा हिंसकास्तानासमन्ताद्दस्यतो नाशयतस्तौ रिशादसौ, द्विवचनम्, मित्रावरुणविषयं पदम्, हे रिशादसौ शत्रुपक्षक्षपयितारौ मित्रावरुणौ यजमानस्य सधस्थे देवमनुष्याणां सहसोमपानस्थाने युवाम् आ आगच्छतम् । कीदृशस्य यजमानस्य ? काव्ययोः कवीनां क्रान्तदर्शिनां कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठायिनां हितयोर्युवयोः, आजानेषु आसमन्ताज्जन्मसु सोमपानार्थमाविर्भूतभूमिषु देवयजनादिषु दुरोणे यज्ञगृहे च, क्रत्वा यज्ञकर्मणा दक्षस्य उत्साहवतो यज्ञं समर्धयत । दक्षस्येति विशेषणबलेन यजमानस्येति विशेष्यपदमध्याहर्तव्यम् । आ इत्युपसर्गेण गच्छतमिति क्रियापदाध्याहारोऽपि । संक्षेपेण काव्ययोः कवीनां हितयोर्युवयोराजानेषु आजन्मभूमिषु उत्पत्तिस्थानेषु क्रत्वा कर्मणाऽग्निष्टोमादिकया क्रियया दक्षस्योत्साहवतो यजमानस्य दुरोणे यज्ञगृहे हे रिशादसा रेशितव्यस्य हिंसनीयस्योपक्षयितारौ मित्रावरुणौ सहस्थे सहस्थाने आगच्छतम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे रिशादसौ हिंसकासुरराक्षसादिक्षपयितारौ श्रीरामलक्ष्मणौ ! काव्ययोः कवीनां तत्त्वदर्शिनां हितयोर्युवयोराजानेषूत्पत्तिस्थानेषु क्रत्वा अग्निष्टोमादिरूपाराधनकर्मणा दक्षस्योत्साहवतो भक्तस्य दुरोणे यज्ञगृहे सधस्थे सहस्थाने आ आगच्छतम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यावध्यापकोपदेशकौ राजप्रजाजनान् प्राज्ञान् बलयुक्तानरोगान् परस्पर-प्रीतिमनोधर्मात्मना संपश्येताम्, तौ पितृवत् सत्कर्तव्यौ' इति, तन्न, मूलास्पर्शित्वात् । यच्च 'हे रिशादसौ काव्ययो-राजानेषु क्रत्वा दक्षस्य सधस्थे दुरोणे युवामागच्छतम्' इति, तदपि न, अध्यापकोपदेशकातिरिक्तानामपि रिशा-दशत्वोपपत्तेः ॥ ७२ ॥

दैव्या॑वध्वर्यू॒ आ ग॑त॒ᳪ᳭ रथे॑न॒ सूर्य॑त्वचा । मध्वा॑ य॒ज्ञᳪ᳭ सम॑ञ्जाथे ॥
तं प्र॒त्नथा॒ऽयं वे॒नः ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ—हे दिव्य अश्विनीकुमारों ! आप लोग सूर्य के समान कान्तिमान् रथ से हमारे यहाँ आइये । पुरोडाश, दधि आदि से यज्ञ को सींच कर बहुत हवि वाला बनाइये । इस मन्त्र में 'तं प्रत्नथा' (७।१२) और 'अयं वेनः' (७।१६) इन दो मन्त्रों के प्रतीक भी इसी प्रसंग के दिये गये हैं ॥ ७३ ॥

'दैव्यावध्वर्यू' इति व्याख्याता (३३।३३)। 'तं प्रत्नथा' (७।१२), 'अयं वेनः' (७।१६) इति द्वे प्रतीकोक्ते ॥ ७३ ॥

ति॒र॒श्चीनो॒ वित॑तो र॒श्मिरे॑षाम॒धः स्वि॑दा॒सी३॥दु॒परि॑ स्विदासी३॥त् ।
रे॒तो॒धा आ॑सन् महि॒मान॑ आसन्त्स्व॒धा अ॒वस्ता॑त् प्रय॑तिः प॒रस्ता॑त् ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्यदेव की व्यष्टि और समष्टि रश्मियाँ तिरछी होकर द्युलोक से नीचे फैल रही हैं । स्वर्ग में विद्यमान सूर्य की ये दोनों प्रकार की किरणें वर्षा के लिये जल को धारण करती हैं । इसीलिये इनकी महिमा गाई जाती है । अन्न के निष्पादक ये सूर्यदेव जब भूमि के सन्मुख आते हैं, तब प्रयत्न से ऊर्ध्वमुख होती हुई इसकी किरणें दर्शन मात्र से देवताओं को अत्यन्त तृप्त करती हैं ॥ ७४ ॥

प्रजापतिदृष्टा त्रिष्टुप्, भाववृत्तदेवत्या, भावेषु पदार्थेषु वृत्तः स्थितो भाववृत्तः परमात्मा, सोऽस्यास्त्रिष्टुभो देवता, आग्रयणग्रहग्रहणे विनियोगः क्रमपाठाल्लभ्यते । तस्मादादावधियज्ञं व्याख्यायते—'आधवनीयादुन्नेता निग्राभ्यास्वासिञ्चति ताः पवित्रे यजमानस्ततो ग्रहग्रहणमाध्रुवादिति' (का० श्रौ० ९।५।१६-१७) इति कात्यायनेनोक्तम् । अध्वर्युरुत्तरस्य हविर्धानस्य नीडे एकमम्भ्रणं स्थापयति, स आधवनीय उच्यते । तस्यै प्रउगे द्वितीयमम्भ्रणं स्थापयति, स पूतभृत्पदवाच्यः, बृहन्मुखा मार्तिकघटा अम्भ्रणपदवाच्याः, शकटे उपवेशनस्थानं नीडपदवाच्यम्, नीडस्य बहिर्भाग प्रउगपदवाच्यः, अनवच्छिन्नसाग्रप्रादेशमात्रमन्त्रे संस्कारयुक्तं समपरिणाहं प्रोक्षणाद्यर्थं दर्भद्वयं पवित्रम् । तद्रीत्या एषां पूयमानसोमानां रश्मिः, यमनाद् ऋजीषादिकल्कनियामको दशापवित्रलक्षणस्तिरश्चीनस्तिर्यग्वितितो विस्तारित उद्गातृभिः, तस्मिन् दशापवित्रे सोमः प्रक्षिप्तः सन् दशापवित्रादधश्च आसीत्, स्विच्छब्दौ चकारार्थौ, उपरिस्विदासीदितीकारः प्लुतः । किञ्च, तत्रैके पदार्था ग्रहचमसाधवनीयद्रोणकलशादयो रेतोधा रेतो जगदुत्पत्तिबीजभूतं सोमं दधति धारयन्तीति रेतोधाः सोमाधारभूता आसन्, 'यज्ञाद्वै प्रजा प्रजायन्ते' इति श्रुतेर्जगद्बीजत्वं यज्ञस्य । तत्र च सोमस्यैव प्राधान्येन जगद्बीजत्वम् । तथान्ये पदार्थाः सोमरसरूपास्तत्राधेयाः सन्तो महिमानो महान्त उत्कृष्टा आसन् । आधाराधेयभावेन सर्वोऽयं यज्ञात्मैव स्थितः, 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' (भ० गी० ४।२४) इति गीतोक्तेः । किञ्च, स्वधाऽन्नं तद्रूपः, अवस्ताद् अवरो होमात् प्राग् नीच आसीत्, प्रयतिः प्रयतते यः स प्रयतिः प्रयत्नवान् होमानन्तरं लब्धफलकः सन् परस्तात् पर उत्कृष्ट आसीदिति महीधराचार्यः । 'एषां सोमानामन्तरा दशापवित्रलक्षणाद् रश्मिस्तिरश्चीनो विततः प्रसारितः, उद्गातृभिस्तस्मिन् दशापवित्रे सोमः प्रक्षिप्तो दशापवित्रादधःस्विद् अधश्च आसीत्, उपरि च आसीत् । आसीदित्युभयत्र विचारे प्लुतिः । किञ्च, रेतोधा रेतः सोमः, स हि जगदुत्पत्तिबीजम्, तस्य धारयितार आसन्, ग्रहचमसाधवनीयद्रोणकलशादयो महिमानश्च आसन्, सोमैकादशाः सोमस्य महिमानः । स्वधाऽन्नम् अवस्तात् शुक्रो द्रोणकलश इत्येतदुक्तं भवति । प्रयतिः प्रयतनं परस्तादुपरिष्टाद् आधवनीयादुन्नेता निग्राभ्यास्वासिञ्चति, ताः पवित्रे यजमानोऽवनयतीत्येतदुक्तं भवति' इत्युव्वटाचार्याः ।

अथाधिदैवतम् - एषां प्रसिद्धानां सूर्यरश्मीनां मध्ये एक सुषुम्णाख्यो रश्मिस्तिरश्चीनो विततो विस्तृतः सन् किं द्युलोकादधःस्विद् आसीत्, उतोपरिस्विदासीत्। स्विदिति वितर्के, 'विचार्यमाणानाम्' (पा० सू० ८।२।९७) इति प्लुतः। किञ्च, स रश्मी रेतोधा रेतसो विश्वबीजस्योदकस्य धारयिता, व्यत्ययेनैकवचनम्। 'सूर्यस्य ह वा एको रश्मिर्वृष्टिवनिर्नाम येनेमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति' इति। अन्ये रश्मयो महिमानो माहात्म्याधायका आसन्, विश्वप्रकाशकत्वेन। किञ्च, स्वधान्ननिष्पादकः प्रयतिः प्रयत्नात् स ऊर्ध्वमुखः सन् परस्तात् पर उत्कृष्टो दर्शनमात्रेण देवानां तृप्तिदः। यथोक्तं छान्दोग्ये—'असौ वा आदित्यो देवमधु' इत्युपक्रम्य 'न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छा० ५।१।६) इति।

अध्यात्मपक्षे—नासदासीदिति सप्तर्चेऽध्यात्मप्रतिपादके सूक्ते (ऋ० १०।१२९) बह्वृच इमामृचं पठन्ति। तत्र नासदासीदिति निरस्तसमस्तप्रपञ्चां प्रलयावस्थामनूद्य विश्वबीजमविद्योक्ता, कामस्तदग्रे समवर्ततेति पादेन च काम उक्तः, मनसो रेतः प्रथमं यदासीदिति पादेन पुण्यापुण्यात्मकं कर्मोक्तम्। एवमविद्याकामकर्माणि सृष्टि-हेतून्युक्त्वा तेषां स्वकार्यजनने शैघ्र्यमाह—तिरश्चीन इति। एषामविद्याकामकर्मणां रश्मिरिव रश्मिः कार्य-वर्गो वियदादिर्विततो विस्तृतः सन् तिरश्चीनस्तिर्यगवस्थितो मध्ये स्थितः, अधश्चासीदुपरि चासीत्, सूर्यरश्मि-वद्युगपत् सर्वं व्याप्येत्यर्थः। तदेव विभजते—रेतोधा इति। सृष्टे कार्यवर्गे केचन रेतोधा रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः कर्तारो भोक्तारश्च जीवा आसन्, अन्ये महिमानो महान्तो विपुला वियदादयो भोग्या आसन्, महिमान इति स्वार्थे इमनिच्। एवं मायया परमेश्वरः सर्वं जगत्सृष्ट्वा स्वयं चानुप्रविश्य भोक्तृभोग्यरूपेण विभागं कृतवानित्यर्थः। तयोर्भोक्तृभोग्ययोर्मध्ये स्वधाऽन्नं भोग्यप्रपञ्चोऽवस्तादवरो निकृष्ट आसीत्, प्रयतिः प्रयतिता भोक्ता परस्तात् पर उत्कृष्टो भोक्तृप्रपञ्चाधीनं भोग्यप्रपञ्चं कृतवानित्यर्थः, 'विभाषा परावराभ्याम्' (पा० सू० ५।३।२९) इति प्रथमार्थेऽस्तातिप्रत्ययः, 'अस्ताति च' (पा० सू० ५।३।४०) इत्यवरशब्दस्य वादेशः, 'एतद्वा इदं सर्वमन्नं चैवान्नादश्च' इति श्रुतेरिति महीधराचार्याः। एषां प्रकृतिपुरुषपरमेश्वराणां रश्मिरिव तिरश्चीनो विततः सूर्य आकाशो वा। स अधःस्विदासीद् उपरिश्चासीत्। तत्र रेतोधाः कर्मरूपस्य बीजस्य धातारः कर्तार आसन्। महिमानो महान्तो विराड्ढिरण्यगर्भेश्वराश्च आसन्। स्वधा अन्नरूपो भोक्तृभोग्यादिप्रपञ्चः, अवस्ताद् अवरोऽस्ति, प्रयतिर्जीवकर्मानुसारं प्रतिसर्गं सृष्टये प्रयतमानः परमेश्वरः परस्तात् पर उत्कृष्टः, अविद्या-कामकर्मानभिभूतत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, एषां तिरश्चीनो विततो रश्मिरधःस्विदासीदुपरिस्विदासीद् अवस्तात् परस्ताच्च प्रयतिरस्ति, तद्विज्ञानेन रेतोधा आसन् महिमानः स्वधा सन्तो भवन्त उपकारकाद्यासन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रयत्नस्य चेतनधर्मत्वेनाचेतनेषु रश्मिषु तदयोगात्, तद्विज्ञानेनेति व्याख्यानस्य मन्त्रबाह्यत्वात्। रश्मिशब्दस्य किरणोऽर्थश्चेदेकत्वानुपपत्तिः, नह्येकस्यैव विरुद्धदिग्गमनमुपपन्नम्, दीप्त्यर्थताऽपि चिन्त्या, निर्मूलत्वात् ॥ ७४ ॥

आ रोद॑सी अपृणदा स्व॑र्म॒हज्जा॒तं यदे॑नम॒पसो॒ अधा॑रयन् ।
सो अ॑ध्व॒राय॒ परि॑ णीयते क॒विरत्यो॒ न वाज॑सातये॒ चनो॑हितः ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—जब क्रियाशील ऋत्विजों ने इस प्रादुर्भूत अग्नि को धारण किया, तब उस अग्नि से द्यावापृथिवी और गगनमण्डल को सब ओर से भर दिया। वह सर्वज्ञ और हमारा हितकारी अग्निदेव यज्ञ के लिये प्राप्त किया जाता है, जैसे कि सूर्य अन्न-लाभ के लिये ॥ ७५ ॥

परमात्मानं वैश्वानररूपेण भोक्तारं स्तौति। वैश्वानरदेवत्या विश्वामित्रदृष्टा जगती। यद् यदा जातमरणिमन्थनेनोत्पन्नमात्रमेनं वैश्वानरमग्निम्, अपसो अपस्विनः, आपः कर्माण्यग्निहोत्रादीनि, अप्समवेतत्वात्, ताभिस्ताः सन्ति येषु तेऽपस्विनः कर्मवन्तो यजमाना लक्ष्यन्ते। ते च अधारयन् अग्निहोत्रादिकर्मसु स्थापितवन्तः, कर्मणामग्निसाध्यत्वात्, तदा स वैश्वानरो रोदसी द्यावाभूमी आ सर्वतः, अपृणत् पूरयति स्म, स्थावरादिष्वपि तदुपलब्धेः। न केवलं रोदसी पूरितवान्, किन्तु महत् प्रभूतं स्वर् अन्तरिक्षं चापृणत् सूर्य्यरूपेण पूरितवान्, त्रैलोक्यं च जाठराग्निरूपेण पूरितवान्। गार्हपत्यादीनां च लोकत्वमुक्तं श्रुत्या—'अयं वै लोको गार्हपत्यो द्यौराहवनीयः' इति। तदेवात्र विव्रियते—सोऽग्निरध्वराय यागाय परिणीयते सर्वतोऽतिप्रणीताग्नीध्रीयादिधिष्ण्यादिषु प्रकर्षेण प्राप्यते। नयने दृष्टान्त उच्यते—अत्यो न। उपमार्थीयो नकारः। यथाऽश्वो वाजसातये अन्नलाभाय सर्वतो नीयते तद्वत्। यथा अश्ववान् राजा तत्र तत्र भोगजातं लभते, तद्वद् विप्रोऽग्निं सेवमानो ब्रह्मलोकान्तान् भोगान् लभते। कीदृशोऽग्निः? कविः क्रान्तदर्शनः सर्वज्ञः, चनोहितः चनसेऽन्नाय भोग्याय हितः सर्वभोगसंपादकः, 'चन इत्यन्ननाम' (निरु० ६।१६) इति यास्कोक्तेः। यद्वा स वैश्वानरो रोदसी आ अपृणद् आ स्वर् आदित्यं महद् महान्तमपृणत् पूरयति। कदा अपृणत्? यद् यदा जातं जातमात्रमेनं वैश्वानरमपसोऽपस्विनः, अधारयन् कर्मणि स्थापितवन्तः। सोऽध्वराय स एवाग्निर्यज्ञाय परिणीयते आहवनीयादिरूपेण। स च कविः क्रान्तदर्शनः सर्वज्ञः, न भूताग्निमात्रः। कथमिव सोऽध्वराय नीयते? तत्राह—अत्यो न अश्व इव वाजसातये अन्नसंभजनाय चनोहितश्चनसि अन्ने स्थापितः। अश्वो हि घृतादिभिरभिघारितेनान्नेन पोष्यते, तथैवाग्निरपि घृतादिभिः पूज्यते पोष्यते चेति तेनोपमीयते।

अध्यात्मपक्षे—वैश्वानरः परमेश्वरः, आसमन्ताद् रोदसी द्यावापृथिव्यौ स्वीयेन ज्ञानमयेन महसाऽऽग्नेयेन च अपृणत् पूरितवान् महत् स्वरन्तरिक्षं महान्तमादित्यं वा अपृणत्। कदाऽपृणत्? यद् यदा जातबुद्धौ मायायां च चिद्रूपेण जीवेश्वरादिरूपेणाविर्भूतमरणीभ्यां चोत्पन्नमेनमपसः स्वधर्मनिष्ठाकर्मणि, अधारयन् प्रतिष्ठापितवन्तः। सः कविः क्रान्तदर्शनः सर्वज्ञः, अध्वराय यज्ञाय हविरग्न्यध्वर्य्वादिरूपेण परिणीयते, 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' (४।२४) इति गीतोक्तेः। कथमिव परिणीयते? अत्यो न अश्व इव। यथाऽश्वो वाजसातये अन्नसंविभागाय चनोहितः, चनसेऽन्नाय हितोऽश्ववान् राजा नीयते, तथाग्निरपि विविधफलप्राप्तये तत्र तत्र यज्ञेषु नीयते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यद् यो विद्युद्रूपोऽग्नी रोदसी महज्जातं स्वश्चापृणत्, एनमपसोऽधारयन्, यं च कविरध्वराय वाजसातये चात्यो न विद्वद्भिः परिणीयते, स चनोहितोऽस्तीति यूयं विजानीत' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, विद्युद्रूपस्याग्नेश्च प्रकृतिभूतस्याग्नेरेव व्यापकत्वप्रसिद्धेः। वस्तुतस्तु ब्रह्मरूपेण देवतारूपेणाग्नेरेव वर्णने वेदस्य तात्पर्यम् ॥ ७५ ॥

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा। आङ्गूषैराविवासतः ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ—अत्यन्त पापनाशक और सबको प्रसन्नता से भर देने वाले जो इन्द्र और अग्नि देवता हैं, वे मन्त्रों के घोष और वेदवचन से ब्रह्माग्नि का सेवन करते हैं ॥ ७६ ॥

इन्द्राग्निदेवत्या गायत्री, वसिष्ठस्यार्षम्। या यौ इन्द्राग्नी आङ्गूषैर् आघोषैश्चिद् लौकिकवाक्स्तोमैरपि स्तुतौ आ आगच्छतः, 'आङ्गूषः स्तोम आघोषः' (निरु० ५।११) इति यास्कोक्तेः। तौ उक्थेभिर् उक्थैः, गिरा स्तोत्रात्मिकया स्तुत्या आ विवासत आविवस्येते याज्ञिकैः परिचार्येते, व्यत्ययेन कर्तरि लट्। 'विवासतिः परिचर्यायाम्' (निरु० ११।२३)। कीदृशौ तौ? वृत्रहन्तमा वृत्राणामावरकाणां पाप्मनां हन्तृतमौ, 'नाद्धस्य' (पा० सू० ८।२।१७) इति नुम्। मन्दाना मन्दानौ मोदमानौ स्वभावतः, विभक्तेर्डादेशः सर्वत्र। यद्वा—यौ

उक्थेभिर् उक्थैः स्तुतौ सन्तौ वृत्रहन्तमा अतिशयेन वृत्रस्य पापस्य हन्तारौ स्तो भवतः, या चिद् यौ च गिरा वाचा लौकिक्यां स्तुतौ आमन्दाना मोदमानौ स्तः, यौ च आङ्गूषैः स्तोमैः स्तुतौ, आविवसतः स्तोतॄन् परिचरतः, 'तं सा परिचरेद्देवी पतिं प्रियमिवाङ्गना' (रहस्यत्रये) इतिवद् भक्तपारवश्येन, तौ उक्थैर्गिरा आङ्गूषैश्च सर्वकामाप्त्यर्थं स्तुमः ।

अध्यात्मपक्षे—यौ इन्द्राग्नी श्रीरामलक्ष्मणौ । अन्यत् पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'या मन्दाना वृत्रहन्तमा सभासेनाध्यक्षौ चिदिव गिरा आङ्गूषैरुक्थेभिश्च शिल्पविज्ञानमाविवासतस्तावध्यापकोपदेशकौ मनुष्यैरासेवनीयौ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्राग्निपदयोर्देवताविशेषे रूढत्वादध्यापकोपदेशकयोर्ग्रहणे मानाभावात् । अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ७६ ॥

उप॑ नः सू॒नवो॒ गिरः॑ शृ॒ण्वन्त्व॒मृत॑स्य॒ ये । सु॒मृ॒डी॒का भ॑वन्तु नः ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति के पुत्र विश्वेदेव देवता हम यजमानों की वाणी को सुनें, वे हमारे लिये सुखकारी हों ॥ ७७ ॥

सुहोत्रदृष्टा वैश्वदेवी गायत्री । नोऽस्माकं गिरो वाच उपशृण्वन्तु समीपमागत्यावधारयन्तु श्रुत्वा च नोऽस्माकं सुमृडीकाः सुखकरा भवन्तु, शोभनं मृडीकं सुखं येषां ते सुमृडीकाः । के शृण्वन्तु ? ये अमृतस्य अमरणधर्मकस्य प्रजापतेः सूनवः पुत्रा विश्वेदेवाः, ते उपशृण्वन्तु ।

अध्यात्मपक्षे – ये अमृतस्य मरणादिरहितस्य परमात्मनः सूनवः पुत्राः, ते विश्वे सर्वे देवा दीव्यमाना देवाः, देवं भजन्तो देवभावमुपगताः, नो गिरः स्तुतिरूपा उपशृण्वन्तु श्रुत्वा च सुमृडीका भवन्तु सुखयितारो भवन्तु ।

दयानन्दस्तु—'ये नः सूनवोऽमृतस्य गिर उपशृण्वन्तु, ते नः सुमृडीका भवन्तु' इति, तदपि न, वेदे व्यष्ट्यर्थापेक्षया समष्ट्यर्थस्यैव प्राधान्यात् । किञ्च, विश्वे देवा देवता अस्य मन्त्रस्येति तस्मादमृतस्य परमात्मनः सूनवो विश्वे देवा ये ते नोऽस्माकं सुमृडीका गिरः शृण्वन्त्वित्यर्थ इति त्वया विश्वे देवा देवतेत्यङ्गीक्रियते ॥ ७७ ॥

ब्रह्मा॑णि मे म॒तय॒ः शᳪ सु॒तास॒ः शुष्म॑ इयर्ति॒ प्रभृ॑तो मे॒ अद्रिः॑ ।
आ शा॑सते॒ प्रति॑ हर्यन्त्यु॒क्थेमा हरी॑ वहत॒स्ता नो॒ अच्छ॑ ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ—मेरे मन्त्र-वाक्यरूप स्तुति-वचन, बुद्धि की वृत्तियाँ और ऋत्विक्गण परमानन्द के उत्पादक हैं । मेरे द्वारा धारण किया हुआ बलरूप वज्र लक्ष्य को अवश्य ही प्राप्त करता है । मेरे द्वारा गाये गये उक्थ आदि स्तोत्र प्रार्थना में प्रयुक्त हैं । वे स्तोत्र और शस्त्र मुझे चाहते हैं । हमारे ये अश्व यज्ञ के अभिमुख आते हुए हमें प्राप्त होते हैं ॥ ७८ ॥

तिस्रस्त्रिष्टुभः, द्वे इन्द्रमरुत्संवादे इन्द्रमरुद्देवत्ये, आद्ये अगस्त्यदृष्टे । इन्द्रो मरुतः सहचरानाह—हे मरुतः, ब्रह्माणि मन्त्रवाक्यात्मकानि स्तुतिवचांसि, सोमाज्यादीनि हवींषि वा, मे मम स्वभूतानि । विधिवाक्येऽग्न्यादिदेवतान्तरसम्बन्धेन प्रतीयमानान्यपि सर्वदेवताप्राणात्मनो ममेन्द्रस्यैव तान्यपि । मतयो मननयुक्ताः स्तुतयोऽपि शं मम सुखोत्पादिकाः, अतो यज्ञे गन्तव्यमिति भावः । किञ्च, मे मया प्रभृतः प्रकर्षेण धृतोऽद्रिर्वज्रः, इयर्ति गच्छत्येव लक्ष्यं प्रति, न प्रतिहन्यते न मोघो भवति । कीदृशोऽद्रिः ? शुष्मः, शोषयति शत्रुप्राणान्

शत्रूनेव वा यः, अतो यज्ञे गमने असुराद्युपद्रवाशङ्कापि नास्ति ? न केवलं हविरादीनां मदीयत्वेनैव गन्तव्यम्, अपि त्वाशासते प्रार्थयन्ते यजमाना यानि उक्था उक्थानि ता तानि स्तोत्रशस्त्राणि मां प्रतिहर्यन्ति कामयन्ते। 'हर्यतिः प्रेप्साकर्मा' (निरु० ७।१८) इति यास्कः। किञ्च, नोऽस्माकं इमा इमौ हरी अश्वौ अच्छ यज्ञाभिमुखं वहतो मां प्रापयतः, अत एवास्माभिर्यज्ञं प्रति गन्तव्यमेवेति भावः। यद्वा ब्रह्माणि मन्त्रवाक्यात्मकानि स्तुतिवचांसि मतयो मननयुक्ताः स्तुतयः सुता अभिषुताः सोमाः, प्रभृतः प्रहृतः, अद्रिः सोमाभिषवग्रावा शुष्मः सुखरूपः। एतत्सर्वं मम शं सुखमियर्ति अर्पयति उद्गमयति, णिजन्तर्भावः। अन्यत् पूर्ववत्। 'अविसिविसिशुषिभ्यः कित्' (उ० १।१४२) इति मन्प्रत्यये शुष्म इति। अत्ति भक्षयति शत्रूनित्यद्रिः, 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्' (उ० ३।१६६) इति क्रिन्प्रत्यय आद्युदात्तः।

यद्वा ब्रह्माणि स्तुतिरूपाणि वैदिकवाक्यानि मन्त्रसंस्कृतानि हवींषि वा, मे मम मतयः सानुग्रहा मतीः, इयर्ति उद्गमयति, सुतासोऽभिषुताः सोमा मम शं सुखमुद्गमयन्ति, लोपश्छान्दसः, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१८४, वा०) इति हस्य भकारः। प्रहृतश्च सोमाभिषवनिमित्तं मे मम अद्रिर्ग्रावा शुष्मो बलमियर्ति अर्पयति, विभक्तिव्यत्ययः। यत्र च यजमाना आशासते मदागमनमिच्छन्ति, यत्र च उक्थानि प्रतिहर्यन्ति इमानि शृणोत्विति कामयन्ते, इमा इमौ हरी अश्वौ ता तानि स्थानानि अच्छ आभिमुख्येन नोऽस्मान् वहतः प्रापयतः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रस्य रामस्य मरुद्भिर्हनुमदादिभिः संवादः। ब्रह्माणि वैदिकलौकिकस्तुतिवचांसि मे मतयो मतीः सानुग्रहा बुद्धीः, इयर्ति उद्गमयन्ति, वचनव्यत्ययः। सुतासः सोमाः सोमादयो भोग्या मदर्थमुपकल्पिताः शं सुखं समर्पयन्ति। अद्रिः सोमाभिषवनिमित्तं सोमाभिषवग्रावा शुष्मः शुष्मं बलमर्पयति, यत्र च भक्ता आशासते मदीयमागमनमिच्छन्ति, यत्र चोक्था उक्थानि स्तोत्रशस्त्राणि प्रतिहर्यन्ति, इमानि शृणोत्विन्द्र इति कामयन्ते, इमौ हरी अङ्गदहनुमन्तौ, ता तानि स्थानानि अच्छ आभिमुख्येनास्मान् वहतः, तत्रैव गन्तव्यं मयेति।

दयानन्दस्तु—'सुतासो मतयो मे यानि ब्रह्माणि प्रतिहर्यन्ति, इमोक्थाऽऽशासते शुष्मः प्रभृतोऽद्रिर्मे यतः शमियर्ति वा, तानि नोऽस्मभ्यं हर्यच्छ वहतः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हरीत्यस्याध्यापकाध्येताराविति विवरणस्य निर्मूलत्वात्। सुतासो विद्यासुशिक्षाभ्यां निष्पन्ना इत्यपि निर्मूलम्, उक्था प्रशंसनीयानीत्यपि बालभाषितम्, उक्थस्तोत्रापरिज्ञानमूलकत्वात्। वस्तुतस्तु पूर्वोक्तव्याख्यानानुसारेण सुतासोऽभिषुतास इत्यादय एवार्थाः ॥ ७८ ॥

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ२।। अस्ति देवता विदानः ।

न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ—हे धनवान् इन्द्र ! आपसे बढ़कर श्रेष्ठ कोई भी नहीं है, इस बात को हम सदा याद रखते हैं। निश्चित ही आपके समान विद्वान् दूसरा कोई देवता नहीं है। हे पुराणपुरुष ! जिन कर्मों को आप करते हैं, उनको पूर्व काल में और वर्तमान काल में देव-मनुष्यों में से किसी ने भी नहीं किया और न आगे कोई करेगा ॥ ७९ ॥

एवमिन्द्रेणोक्ता मरुतः प्रत्याहुः- हे मघवन् धनवन् इन्द्र, आ इति स्मरणे, स्मृतवन्तो वयं ते तव अनुत्तं न केनापि नुत्तं नाशितम्, माहाभाग्यमिति शेषः, 'नुद प्रेरणे' इत्यस्य धातोर्निष्ठायां 'नसत्तनिषत्ता' (पा० सू० ८।२।६१) इत्यादिना अनुत्तमिति निपातः। नु निश्चयेन, नकिर्न कोऽपि, त्वन्माहाभाग्यनाशक इति शेषः। न केवलं तवैश्वर्यमात्रं कश्चिन्न हन्ति, किन्तु ते सर्वज्ञत्वमपि न कश्चिद् हन्ति। त्वावान् त्वत्सदृशः, वतुरत्र

सादृश्ये, विदानो विद्वान् सर्वज्ञः, देवता देवो नास्ति। 'देवता' इत्यत्र स्वार्थे तल्प्रत्ययः, विदान इति विदेः शानन्, नित्वादाद्युदात्तः। किञ्च, हे प्रवृद्ध प्रकर्षेण पुराणपुरुष, यानि कर्माणि वृत्रवधादीनि त्वं कृणुहि करोषि, 'व्यत्ययेन लोट्', तानि कर्माणि जायमानो वर्तमानो जातो भूतपूर्वश्च देवमनुष्येषु कश्चिन्न नशते न व्याप्नोति, न करोति, नशतिर्व्याप्तिकर्मा। न करिष्या न च करिष्यति, उत्पत्स्यमान इति शेषः, तिलोपो दीर्घश्च छान्दसः। कालत्रयेऽपि त्वत्सदृशः कश्चिन्नास्ति, तस्मात्त्वमेव यज्ञेश इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे हनुमदादयो वदन्ति—हे मघवन्, ऐश्वर्यवन् परमेश्वर! आ स्मृतवन्तो वयमनुत्तमप्रच्युतस्वभावं ते तव महाभाग्यम्, आ आस्ते वा, नकिर्नु न वा कश्चित् प्रच्यावको महाभाग्यस्य, नित्यत्वात्। किञ्च, न त्वावान् त्वत्सदृशः, अस्ति देवता देवः, विदानो विद्वान्, सर्वज्ञ इत्यर्थः। किञ्च, न जायमानो वर्तमानस्तानि कर्माणि नशते व्याप्नोति, न च जातः करिष्याः करिष्यति। तानि कर्माणि जगत्सृष्ट्यादीनि रावणवधादीनि च तानि यानि यानि त्वं कृणुहि करोषि, लकारव्यत्ययः।

दयानन्दस्तु—'हे प्रवृद्ध मघवन्नीश्वर, यस्य तेऽनुत्तं स्वरूपमस्ति, न कोऽपि त्वावान् देवता विदानो न्वस्ति, भवान् न जायमानोऽस्ति न वा जातोऽस्ति। यानि करिष्या कृणुहि च तानि कश्चिन्नकिरानशते, स त्वं सर्वोपास्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जातत्वजायमानत्वनिषेधस्य जीवसाधारण्येन परमेश्वरस्तुतिप्रसङ्गे तदवचनीयत्वात्, त्वदीयकर्मादीनि ज्ञातुं समर्थो न कश्चिज्जातो न वा जायमानोऽस्तीत्येव श्लिष्यते॥ ७९॥

तदिदा॑स॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञ उ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः।

स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒नन॑ यं विश्वे॒ मद॒न्त्यूमाः॑॥ ८०॥

मन्त्रार्थ—भुवनों में वही ब्रह्म श्रेष्ठ था, जिससे तपोधन उत्कृष्ट इन्द्र प्रकट हुआ, जो प्रकट होने के साथ ही शीघ्र यजमान के शत्रुओं को नष्ट करता है और जिसको सब देवता तृप्त करते हैं॥ ८०॥

बृहद्दिवदृष्टा माहेन्द्री त्रिष्टुप्। भुवनेषु भूतजातेषु तदित् तदेव ज्येष्ठं श्रेष्ठमास बभूव, न सर्वोत्कृष्टं ब्रह्मैवासीत्, प्राशस्त्याभिप्रायेण, 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति लिटः सार्वधातुकत्वादस्तेर्भूभावः, यतो ज्येष्ठाद् उग्र उदग्रबलः, इन्द्रो जज्ञे जातः। कीदृशः इन्द्रः? त्वेषनृम्णः, त्वेषः कान्तिर्नृम्णं धनं यस्य स तेजोधनः, कार्यमहत्त्वदर्शनेन कारणमहत्त्वसिद्धेः। किञ्च, य इन्द्रो जज्ञानो जायमान एव सद्यस्तत्क्षणं शत्रून् निरिणाति नितरां हन्ति, 'री वधे' क्र्यादिः, प्वादित्वाद् ह्रस्वः। किञ्च, विश्वे सर्वे देवा यमिन्द्रमनुमदन्ति अनुतृप्यन्ति, 'अनुर्लक्षणे' (पा० सू० १।४।८४) इति द्वितीया, 'यद्वृतान्नित्यम्' (पा० सू० ८।१।६६) इति मदन्तीत्यत्र निघाताभावः। कीदृशा विश्वे? ऊमाः, अवन्ति रक्षन्तीत्यूमाः, अवतेर्मन्प्रत्ययः, 'छ्वोः शूठ्' (पा० सू० ६।४।१९) इत्यूठ्।

अध्यात्मपक्षे—भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य कृष्णस्य वा माहात्म्यं वर्णयन् तस्य महत्त्वेन तत्पितुरपि माहात्म्यमाह—तदित् तदेव भुवनेषु भूतजातेषु ज्येष्ठम्, यतो ज्येष्ठाद् उग्र उत्कृष्ट इन्द्रो रामः कृष्णो वा जज्ञे। कीदृश इन्द्रः? त्वेषनृम्णः, तेजोधनः, कार्यमाहात्म्येन कारणमाहात्म्यप्रसिद्धेः। य इन्द्रो जज्ञानो जायमानः सद्यः शीघ्रमेव शत्रून् मारीचसुबाहुपूतनातृणावर्तादीन् निरिणाति निहन्ति, विश्वे देवा यमिन्द्रमनुमदन्ति अनुतृप्यन्ति। कीदृशा विश्वाः? ऊमा रक्षकाः प्रजापतयो देवगणाश्च भगवत्तृप्तिमन्वेव तृप्यन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यत उग्रस्त्वेषनृम्णो यज्ञे यो जज्ञानः शत्रून् सद्यो निरिणाति, विश्वा ऊमा यमनुमदन्ति, तदिदेव ब्रह्म भुवनेषु ज्येष्ठमासेति विजानीत' इति, तदपि न, तादृशस्य पुरुषस्यानिरूपणात्, तदसिद्धया तत्कारणासिद्धेश्च॥ ८०॥

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ।। ८१ ।।

मन्त्रार्थ—हे महाधनवान् आदित्यदेव ! जो मेरे शस्त्ररूप वचन हैं, वे आपकी स्तुति करें। आपके वर्चस्व को बढ़ावें, अग्नितुल्य तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी शुद्ध विद्वानों ने स्तोत्रों के द्वारा आपका ही गुणगान किया है ।। ८१ ।।

मेधातिथिदृष्टे आदित्यदेवत्ये हे बृहत्यौ । हे पुरूवसो पुरु बहु वसु धनं यस्य तत्सम्बुद्धौ हे पुरूवसो बहुधनादित्य ! संहितायां छान्दसो दीर्घः, या मम गिरः स्तोत्रशस्त्ररूपा वाच इमाः, त्वा त्वां वर्धन्तु वर्धयन्तु । किञ्च, विपश्चितस्त्वत्स्वरूपाभिज्ञा उद्गातारश्च, स्तोमैः स्तोत्रैः, बहिष्पवमानादिभिस्त्वाऽभ्यनूषत अस्तुवत, 'नु स्तुतौ' लुङ्, कुटादित्वाद् गुणाभावः । कीदृशा विपश्चितः ? पावकवर्णाः, अग्नितुल्यतेजसो ब्रह्मवर्चस्विनः, अत एव शुचयः शुद्धागमाः ।

अध्यात्मपक्षे—हे पुरूवसो अनन्तैश्वर्य भगवन्नादित्य परमेश्वर ! यं त्वां पावकवर्णा अग्निवर्णा ऋषयः शुचयो यमनियमादिपरा विपश्चितस्त्रिकालदर्शिनः स्तोमैः स्तोत्रैरभ्यनूषत अभिष्टुवन्तः, तं त्वामिमा या मम गिरः स्तोत्रशस्त्रलक्षणा वाचः, ता वर्धन्तु वर्धयन्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे पुरूवसो परमात्मन्, या इमा मम गिरस्त्वा उ वर्धन्तु, ताः प्राप्य पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितः स्तोमैरभ्यनूषत' इति, तदपि न, पुरुवसुत्वोक्त्या क्वचित्तदभावसिद्ध्यापत्तेः । न च निरतिशयं ब्रह्म स्तुतिभिर्वर्धनार्हम्, न च पदार्थविद्याप्रशंसनैः परमेश्वरप्रशंसनं सम्भवति, तथा सति विषयादिप्रशंसकानामपि परमात्मोपासकत्वापत्तेः ॥ ८१ ॥

यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः ।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत् सो अज्यते रयिः ।। ८२ ।।

मन्त्रार्थ—यह सब वर्णाश्रमविहित कर्मों के अनुष्ठाताओं का समूह जिस परमात्मा का सेवक है, निधियों का रक्षक कृपण पुरुष उनका शत्रु है । आयुधधारी धन के निमित्त दूसरों की हिंसा करने वाले धनस्वामी या वैश्य आदि के पास भूमि खोद कर छिपाया गया जो धन है, वह धनसमूह भी आपकी ही कृपा से प्रकट होता है, अर्थात् दूसरा पुरुष उस धन को लेकर अच्छे कार्यों में लगा देता है ।। ८२ ।।

हे आदित्य, यस्य तवायं विश्वः सर्वः, आर्यो वर्णाश्रमविहितकर्मानुष्ठायी दासो दासवत् सर्वदा रक्षणीयः, शेवधिपा निधिरक्षकः कृपणो यस्य तवारिः शत्रुः, 'निधिः शेवधिः' (निरु० २।४) इति यास्कः । किञ्च, एवंविधे कृपणेऽर्ये धनस्वामिनि वैश्ये वा तिरश्चित्, तिरोऽन्तर्धौ, चिदप्यर्थे, अन्तर्निहितोऽपि तिरश्चित्, भूमिगर्तादौ निक्षिप्तोऽपि तस्य रयिर्धननिचयस्तुभ्येत् तुभ्यमेव त्वदर्थमेवाज्यते व्यक्तो भवति 'तुभ्यम् इत्' इति स्थितौ मकारलोपेन छान्दसेन तुभ्येदिति रूपम्, कर्मकर्तरि यक्, कृपणस्य धनं त्वदर्थमेव पक्षहरणादिना न कृपणभोगाय भवति । कीदृशेऽर्ये ? रुशमे, हिंसाकर्मणो रुशतेरौणादिके भप्रत्यये रूपम् । रुशति हिनस्तीति रुशमः, तस्मिन् धनापहर्तॄणां हिंसके, आतिथ्यादितिरस्कारेणात्मनोऽपि हन्तरि । पवीरवि पविः शल्यमस्यास्तीति पवीरमायुधम्, रो मत्वर्थीयः, पवीरं वाति गच्छतीति पवीरवास्तस्मिन् पवीरवि धनरक्षार्थमायुधधारके, 'पविः शल्यो भवति, यद्विपुनाति कायम्, तद्वत् पवीरमायुधम्, तद्वान् पवीरवान्' (निरु० १२।३०) इति यास्कोक्तेः । धनिनातियत्नेन गुप्तमपि धनं तत आच्छिद्य धर्मिष्ठाय ददातीति भाव इति महीधराचार्याः ।

अध्यात्मपक्षे—हे आदित्य परमेश्वर ! यस्य तव सर्व आर्योऽभिगन्तव्यः श्रेष्ठो वेदप्रमाणकधर्मनिष्ठो दास इव पोष्यः, यस्य च तव शेवधिपाः कृपणोऽरिः शत्रुवद्धन्तव्यः, शेवधिं निधिं प्राणपणेन यज्ञदानभोगादिबाधेनापि यः पाति स निधिपाः कृपणः, स आदित्यः परमेश्वरो यज्ञादिना समर्हणीयः। अन्यत् पूर्ववत्। यद्वा तिरश्चित् तिरोभूतेऽपि, नानाविधैरुपायैः सुगुप्तेऽपि, अर्ये धनस्वामिनि रुशमे हिंस्रे पवीरवि आयुधवति युद्धादिकर्मसंलग्ने य आदित्यः, अरिः घातकः, हे यजमान तुभ्यमेव स रयिः रयिम्, विभक्तिव्यत्ययः, अज्यते अनक्ति ददाति, धातूनामनेकार्थत्वादञ्जिर्दानार्थः, विकरणव्यत्ययश्च।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यस्य तवायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः पवीरवि रुशमेऽर्ये तिरश्चित्तुभ्येत्, स त्वं रयिरज्यते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजन्निति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, नहि राज्ञो विश्वो दासः सम्भवति, राजराजे राज्ञामेव दासत्वोपपत्तेः। किञ्च, राजपक्षे परमेश्वरपराणां देवपराणां मनुष्यपरत्वानुपपत्तेः। कथञ्चित् परमेश्वरपदस्यापि क्षुद्रराजादिमनुष्यपरत्वयोजनं वैदिकमर्यादातिक्रमणमेव ॥ ८२ ॥

अ॒यꣳ स॒हस्र॑मृषि॑भि॒ः सह॑स्कृतः समु॒द्र इ॑व पप्रथे ।

स॒त्यः सो अ॑स्य महि॒मा गृ॑णे॒ शवो॑ य॒ज्ञेषु॑ विप्र॒राज्ये॑ ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ—वेद के मन्त्रों से बलयुक्त किया गया सत्यधर्मा सूर्यदेव समुद्र के समान व्यापक है। इसके बल, महिमा और ज्योति के दाता महानारायण स्वरूप की यज्ञों में और समाधि में मैं वेदवाणी द्वारा स्तुति करता हूँ ॥ ८३ ॥

मेधातिथिदृष्टाऽऽदित्यदेवत्या सतोबृहती। अयमादित्यः सूर्यः समुद्र इव अर्णव इव पप्रथे प्रथितो विस्तीर्णो व्यापकोऽभूत्। कीदृशोऽयम् ? सहस्रम्, ऋषिभिर्मन्त्रादिसूक्ष्मवस्तुद्रष्टृभिः सहस्रकृत्वः, सहस्कृतः सहसा बलेन युक्तः कृतः, मन्त्रद्रष्टृणां मन्त्रबलेन देवताबलं वर्धते। अस्यादित्यस्य महिमा सत्यः, महत्त्वं माहात्म्यमवितथमेव, शवो बलं चास्य सत्यम्। यज्ञेषु विप्रराज्ये विप्राणां राज्ये स्तोत्रशस्त्रसन्दोहैः, गृणे तं महिमानं स्तौमि। यज्ञे हि ब्राह्मणाः स्वतन्त्रा राजान इव, राज्ञामपि तदानीं तद्वशवर्तित्वात्। उव्वटाचार्येणात्रादित्य एवेन्द्रत्वेन व्याख्यायते।

अध्यात्मपक्षे आदित्योऽत्रान्तर्यामी परमेश्वरः, 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) इति न्यायात्। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यद्ययं सभेशो राजा राजर्षिभिः सह सहस्रमसंख्यं ज्ञानं प्राप्तः सहस्कृतः सत्योऽस्त्यस्य महिमा समुद्र इव पप्रथे, तर्हि स प्रजाजनोऽहमस्य यज्ञेषु विप्रराज्ये च शवो गृणे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, अयमिति पदेन सभेशस्य राज्ञो ग्रहणे मानाभावात्। न च प्राकृतो ऋषिभिर्मन्त्रदृग्भिर्मन्त्रैर्वा सहस्कृतो भवति, न च तस्य महिमा समुद्रवदन्तरिक्षवद्वा भवति, परिच्छिन्नत्वात्। न वा यज्ञेषु तस्य संस्तवः संभवति, न च यज्ञपदस्य संभाव्यमर्थमपहाय संगतेऽर्थे प्रयोगः प्रसिद्ध्यति, अक्रमे मानाभावात् ॥ ८३ ॥

अद॑ब्धेभिः सवितः पा॒युभि॒ष्ट्वꣳ शि॒वेभि॑र॒द्य परि॑ पाहि नो॒ गय॑म् ।

हिर॑ण्यजिह्वः सुवि॒ताय॒ नव्य॑से॒ रक्षा॒ माकि॑र्नो अ॒घश॑ꣳस ईशत ॥ ८४ ॥

मन्त्रार्थ—हे सबके प्रेरक ज्योतीरूप जिह्वा वाले सवितादेव ! आप अपने अनुपहिंसित आनन्दस्वरूप रक्षा कर्म से हमारी अनन्य भक्ति से प्रेरित होकर हमारे देहरूप गृह की रक्षा करें, नवीन नवीन सुख के लिये हमारा पालन करें, कोई पापी पुरुष हमारे ऐश्वर्य को न छीन सके ॥ ८४ ॥

अयं मन्त्रः (३३।६९) इत्यत्र व्याख्यातः। षष्ठः पुरोरुग्गणः सम्पूर्णः ॥ ८४ ॥

आ नो॑ य॒ज्ञं दि॑वि॒स्पृशं॒ वायो॑ या॒हि सु॒मन्म॑भिः।
अ॒न्तः प॒वित्र॑ उ॒परि॑ श्री॒णा॒नो॑ऽयᳪ शु॒क्रो अ॑यामि ते ॥ ८५ ॥

मन्त्रार्थ—हे वायुदेव ! हमारे स्वर्गलोकव्यापी यज्ञ को आप प्राप्त करें, पात्र के मध्य में स्थापित दशापवित्र के ऊपर सींचा हुआ यह सोम स्तोत्रों के साथ आपको समर्पित है ॥ ८५ ॥

इतोऽध्यायसमाप्त्यन्तं त्रयोदश ऋचः, प्रतीकोक्ताश्चतस्रश्चेति ऐन्द्रवायववादिसावित्रान्तानां ग्रहाणां ग्रहणमन्त्राः शोभनसङ्कल्पाः पूर्ववत्। जमदग्निदृष्टा वायुदेवत्या बृहत्य आद्या नव द्वादशी च। दशम्येकादशीत्रयोदश्यः सतोबृहत्यः। हे वायो, नोऽस्माकं यज्ञं सुमन्मभिरायाहि आगच्छ। कीदृशं यज्ञम्? दिविस्पृशं द्युलोकयायिनम्, ऋत्विग्यजमानैर्विद्वद्भिरारब्धो दक्षिणादिभिः सम्पन्नो यज्ञो दिवं स्पृशत्येव, तादृशस्य यज्ञस्य स्वर्गप्रापकत्वश्रवणात्, स्वर्गेऽपि श्रूयमाणत्वाद्वा। नन्वागमनेन किं फलमित्याह—अन्तः पात्रमध्यस्थः पवित्रे दशापवित्रे, उपरि तस्योपरि श्रीणानः श्रयमाणः। होतृचमसेन निषिच्यमानोऽयं शुक्रः शुद्ध ऋजीषकल्कादिरहितः सोमो रसात्मा ते तुभ्यं त्वदर्थमयामि नियतस्त्वदीयभागत्वेन मया संस्कृत इति तदर्थमागन्तव्यमित्यर्थः। 'यमु उपरमे' कर्मणि चिण्।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो दिविस्पृशं द्युलोकगामिनम्, आयाहि सुमन्मभिः शोभनैः सङ्कल्पैः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे वायो राजन्, यथाहमन्तः पवित्र उपरि श्रीणानोऽयं शुक्रः सन् सुमन्मभिस्ते दिविस्पृशं यज्ञमयामि, तथा त्वं नो दिविस्पृशं यज्ञमायाहि' इति, तदपि न, वायुपदस्य भौतिकः पृथग् वस्त्वात्मा मातरिश्वा तदभिमानिदेवो वा मुख्योऽर्थः, परमात्मा वा। तानपहाय गौण्या वृत्त्या राजग्रहणस्य निर्मूलत्वात्। दिविस्पृग् यज्ञोऽपि यज्ञ एव। न च विद्याप्रकाशयुक्तो व्यवहारः, तस्य निर्मूलत्वात्, शिष्टैस्तादृशेऽर्थे तादृशशब्दस्य प्रयोगादर्शनात् ॥ ८५ ॥

इ॒न्द्र॒वा॒यू सु॒स॒न्दृशा॑ सु॒ह॒वेह ह॑वामहे।
यथा॑ नः॒ सर्व॒ इज्जनो॑ऽनमी॒वः स॒ङ्गमे॑ सु॒मना॒ अस॑त् ॥ ८६ ॥

मन्त्रार्थ—इस यज्ञ में सम्यक् द्रष्टा शोभन आह्वान वाले इन्द्र और वायु देवताओं का हम आह्वान करते हैं। उनकी कृपा से हमारे यजमान के सभी पुत्र-पौत्र आदि व्याधिरहित हों और धन-प्राप्ति में उदार हों ॥ ८६ ॥

तापसदृष्टैन्द्रवायवी। सुसंदृशा सुतरां सम्यग्दर्शनीयौ, सुतरां सम्यक् पश्यतस्तौ, सुहवा सुहवौ शोभनाह्वानौ इन्द्रवायू इह यज्ञे वयं हवामहे आह्वयामः। तथा चाह्वयामो यथा येन प्रकारेण नोऽस्माकं सर्व इत् सर्व एव जनः, अनमीवः, अमीवा व्याधिस्तद्रहितः, सङ्गमे धनप्राप्तौ बहूनां सङ्गमे वा, सुमनाः शोभनचित्तः, उदारो वक्ता चेत्यर्थः, पुत्रपौत्रादिरीदृशः, असद् भवेत्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रवायू श्रीरामहनुमन्तौ हवामहे। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'वयं यौ सुसन्दृशौ सुहवा इन्द्रवायू इह हवामहे। यथा सङ्गमे नोऽनमीवः सुमना सर्वो जनोऽसद् भवेत्, तथा तौ कुर्याताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रवायुपदाभ्यां राजप्रजाजनग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, सुसन्दृशौ सुहवाविति विशेषणयोः स्वारस्यानिरूपणात् ॥ ८६ ॥

ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये ।
यो नूनं मित्रावरुणावभिष्टय आचक्रे हव्यदातये ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ—जो मनुष्य अभिमत लाभ के निमित्त मित्रावरुण देवताओं को हवि प्रदान कर उनकी सेवा करता है, वह निश्चय ही यज्ञ के लिये समृद्धमान होकर इस सेवा के प्रसाद से शान्तिलाभ करता है ॥ ८७ ॥

जमदग्निदृष्टा मैत्रावरुणी । यो मर्त्यः, नूनं निश्चयेन मित्रावरुणौ अभिष्टये स्वाभीष्टप्राप्तये, हव्यदातये हविषो दानाय च, देवतातये देवानां कर्म देवतातिस्तस्मै यज्ञाय, आचक्रे आकुरुते सेवते, स नर ऋधक् समृद्धियुक्तः, ऋध्नोतीति ऋधक्, इत्था अनेन हेतुना सेवनरूपेण शशमे शाम्यति, यमनियमशमदमादियुक्तो भवतीत्यर्थः । 'गन्धनावक्षेपणसेवन' (पा० सू० १।३।३२) इत्यादिना करोतेः सेवनार्थे आत्मनेपदम् । वट् श्रत् सत्रा अद्धा इत्थेति निपाताः सत्यवचनाः । इत्था शशमे सत्यं शाम्यतीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे यो मर्त्यः, मित्रावरुणौ मित्रः परमेश्वरः कृष्णः, सर्वमित्रत्वात्, 'सयुजा सखाया' इति मन्त्रावर्तनात्, वरुणो वृणोति भगवन्तमसावर्जुनः, नरनारायणौ बलकृष्णौ रामलक्ष्मणौ वा नूनं निश्चयेन आचक्रे सेवते, स मर्त्य इत्था सत्यं देवतातये यज्ञाय, अभिष्टये स्वाभीष्टसिद्धये, हव्यदातये हविर्दानाय ऋधक् समृद्धिमान् भवति । अन्ते शशमे शान्तो दान्तो मुमुक्षुर्भूत्वा, मुच्यत इति शेषः ।

दयानन्दस्तु—'यो देवतातये ऋधग् मर्त्योऽभिष्टये हव्यदातये च मित्रावरुणौ नूनमाचक्रे सेवते, स नर इत्था शशमे' इति, तदपि न, राजाप्रजाजनव्यतिरिक्तस्य वक्तुरसिद्धेः । न च राजप्रजाजनाभ्यामभीष्टसिद्धिर्भवति । हविरर्थे प्रसिद्धस्य हव्यशब्दस्याप्यादातव्यमात्रार्थत्वं निर्मूलमेव ॥ ८७ ॥

आ यातमुप भूषतं मध्वः पिबतमश्विना ।
दुग्धं पयो वृषणा जेन्यावसू मा नो मर्धिष्टमा गतम् ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों, आप लोग हमारे इस यज्ञ में आवें, यज्ञ को अलंकृत करें, सोम का पान करें। हे यज्ञफल के दाता अश्विनीकुमारों ! आप लोग गगनमण्डल से जल की वर्षा करावें, आपकी शरण में आये हुए हमारी रक्षा करें ॥ ८८ ॥

वसिष्ठदृष्टाऽश्विदेवत्या । हे अश्विना अश्विनौ, युवामायातं यज्ञं प्रत्यागच्छतम्, आगत्य च उपभूषतम् अलङ्कुरुतं यज्ञम् । मध्वो मधुरं सोमं पिबतम्, मध्व इत्यत्र कर्मणि षष्ठी, नुमभावश्छान्दसः । किञ्च, हे वृषणा वृषणौ सेक्तारौ यज्ञफलवर्षकौ वा, हे जेन्यावसू जेन्यं जेतव्यं जितं वा स्वीकृतं वा वसु धनं याभ्यां तौ युवाम्, पयो वृष्ट्युदकं दुग्धमन्तरिक्षात् प्रसारयतम्, दुहेर्लोण्मध्यमद्विवचने दुग्धमिति । मा नो मर्धिष्टं मा प्रहारं कुरुतम्, आगतम् अवश्यं च आगच्छतम् ।

अध्यात्मपक्षे - हे अश्विनाविव रामलक्ष्मणौ, युवामायातम् । अन्यत् पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—हे वृषणौ जेन्यावसू अश्विना ! युवां सुखमायातम्, प्रजा उपभूषतम्, मध्वः पिबतं पयो दुग्धम्, नोऽस्मान् मा मर्धिष्टं धर्मेण विजयमागतम्' इति, तदपि न, असम्बद्धत्वात्, अश्विपदेन राजप्रजाजनग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, कर्मकर्तृविरोधाच्च । राजप्रजाजनौ प्रजा उपभूषतमिति कर्मकर्तृविरोध एव । राजप्रजाजनौ उपभूषतमिति किन्न स्यात् । किञ्च, कोऽयं प्रार्थयिता, य आत्महननाभावं प्रार्थयते ? यौ प्रजा उपभूषयतं ताभ्यां हननसंभावनानुपपत्तेः ॥ ८८ ॥

प्रेत ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ ८९ ॥

मन्त्रार्थ—वेद के रक्षक हिरण्यगर्भ हमारे इस यज्ञ में आवें, सत्यस्वरूप परा शक्ति हमारी ज्ञानदृष्टि को तीव्र करे, देवता हमारे शत्रुओं का उन्मूलन करें और परमेश्वर के निमित्त दी गई हवियों से समृद्ध द्रव्ययज्ञ को परमेश्वर तक पहुचावें ॥ ८९ ॥

कण्वदृष्टा वैश्वदेवी। ब्रह्मणस्पतिर्बृहस्पतिः, ब्रह्मणो वेदस्य पतिर्हिरण्यगर्भः, नोऽस्मान् यज्ञम् अच्छ यज्ञाभिमुखं प्रैतु प्रकर्षेणागच्छतु, 'ब्रह्मणः पाता पालयिता वा' (निरु० १०।१२) इति यास्कोक्तेः। तथा देवी देवतात्मा सूनृता प्रियसत्यस्वरूपा तस्यैव वाक् त्रयीरूपा च यज्ञं प्रैतु शोभना सत्यवती। किञ्च, देवा यष्टव्या नोऽस्मान् यज्ञं नयन्तु प्रापयन्तु, यज्ञं कारयन्त्वित्यर्थः। कीदृशं यज्ञम्? वीरं विशेषेणेरयति यस्तं शत्रूणां विशेषेणोन्मूलयितारम्, 'वीरो वीरयत्यमित्रान्' (निरु० १।७) इति यास्कवचनात्। पुनः कीदृशं यज्ञम्? नर्यं नृभ्यो हिततमम्, 'उगवादिभ्यो यत्' (पा० सू० ५।१।२) इति यत्। पङ्क्तिराधसम् इन्द्रस्य पुरोडाशः, हर्योर्धानाः, पूष्णः करम्भः, सरस्वत्यै दधि, मित्रावरुणयोः पयस्या – एषा हविष्पङ्क्तिः। द्विनाराशंसं प्रातःसवनम् द्विनाराशंसं माध्यन्दिनं सवनम्, सकृन्नाराशंसं तृतीयं सवनम्, एषा नाराशंसपङ्क्तिः। त्रीणि सवनानि, पशुरुपवसथ्यः, पशुरनुबन्ध्यः –एषा सवनपङ्क्तिः। एताभिः पङ्क्तिभिः, राधः समृद्धिर्यस्य, पङ्क्तयो राध्यन्ते साध्यन्ते यत्रेति वा पङ्क्तिराधास्तम्। ब्रह्मणस्पत्यादय ईदृशं यज्ञं कारयन्त्वित्यर्थः। उव्वटाचार्यस्तु – वीरं पुत्रं महावीरं वा अच्छाभिमुख्येन प्रैतु पङ्क्तिराधसं ब्रह्मपङ्क्तिसाधकम्, पङ्क्तिपावनमित्यर्थः, तादृशं यज्ञं देवा देवान् नयन्त्विति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणस्पतिः परमेश्वरः, तस्यैव वेदमहातात्पर्यविषयत्वेन ब्रह्मणस्पतित्वात् त्रयीलक्षणः, दीव्यमाना देवी च तस्यैव वाक्। तत्सम्बन्धी यज्ञ एव विविधाभिः पङ्क्तिभिः साध्यते पङ्क्तिपावनश्च, देवानामनुग्रहेणैव च तादृशा यज्ञाः संपद्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यथा नोऽस्मान् ब्रह्मणस्पतिः प्रैतु, सूनृता देवी प्रैतु, नर्यं पङ्क्तिराधसं यज्ञं वीरं देवा अच्छ नयन्तु, तथाऽस्मान् प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथातथादिपदानां मन्त्रेऽभावात्, प्रत्यक्षं यज्ञं कर्मोत्सृज्य कर्मान्तरकल्पनस्य निर्मूलत्वात् ॥ ८९ ॥

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहꣳ हरिरेति कनिक्रदत् ॥ ९० ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के आह्लादक सोमरस को अभिषुत कर अग्नि में दी हुई उसकी आहुति गरुड के समान तीव्र गति से द्युलोक में दौड़ती है। हे हरितवर्ण सोम! यज्ञ करने वाला यजमान हरितवर्ण सोम की जब आहुति देता है, तब वह पर्जन्य रूप से ध्वनि करता हुआ पके हुए यव आदि धान्य के रूप में अन्न और धन की इच्छा रखने वाले यजमान को पर्याप्त रूप से प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

त्रितदृष्टाऽऽहुतिपरिणामवादिन्यैन्द्री। बृहदारण्यकछान्दोग्योपनिषदाद्युक्तपञ्चाग्निविद्यानुसारेण द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषात्मकपञ्चाग्निक्रमेण होमद्रव्यस्य परिपाकरूपाहुतिपरिणाममेषा ऋग् वदति। 'पञ्चम्यामाहुतावापः

पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० उ० ५।९।१) इति श्रुतेः। अधियज्ञं व्याख्यानम्। योऽसौ चन्द्रमा चन्द्रं देवानामाह्लादं मिमीते यः सः, तथा सोमलतारूपापन्नो वसतीवरीनिग्राभ्यादिजलेष्वन्तरभिषुतो मध्ये रस-रूपेण स्थितोऽग्नौ हुतः, स च सुपर्णः सुपतनः सन् दिवि धावति, 'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्' इति श्रुतेः। तस्मात् पर्जन्यरूपमास्थाय उदकदानरूपेण, 'हरिः सोमो हरितवर्ण इति' (निरु० ४।१९) इति यास्कोक्तेः। रयिं धनं पिशङ्गं पीतवर्णं व्रीहियवादिकं पीतवर्णं भवति, बहुलमसंख्यातमेति व्रीहियवाद्यन्नरूपो भवति। कीदृशम् ? पुरुस्पृहम्, बह्वो यत्र स्पृहयन्ति तानेति। कीदृशो हरिः ? कनिक्रदत् पर्जन्यरूपेणात्यर्थ-स्तनितं कुर्वन्।

अध्यात्मपक्षे—अग्नीषोमात्मकं जगदिति रीत्या यथा शीतोष्णतन्त्र्यौ मिलित्वैव प्रकाशं शक्तिं वोत्पादयतः, तथैव शिवशक्ती सर्वं प्रपञ्चमुत्पादयतः, सूर्यचन्द्ररूपेण सोमाग्निरूपेण च तयोरेवाविर्भावः। चन्द्रमा देवानामाह्लादको दर्शनेन सोमलतारूपेणापि देवानामाह्लादहेतुर्भवति। स एव सोमोऽग्नौ हुतश्चान्द्रदेहपर्जन्य-वृष्ट्यन्नशुक्रपुरुषरूपेण निष्पद्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यथा सुपर्णश्चन्द्रमा कनिक्रदद्धरिरिव दिवि अप्सु अन्तरा धावते, पुरुस्पृहं बहुलं पिशङ्गं रयिं चैति, तथा पुरुषार्थिनः सन्तो वेगेन श्रियं प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे मनुष्या इति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, हरिपदमपि न सामान्याश्वपरम्, इन्द्राश्वेषु प्रसिद्धत्वात्, प्रकृते कनिक्रददित्यस्य स्वारस्यानिरूपणाच्च। नहि चन्द्रमसि शब्दो भवति, येन दृष्टान्तस्य सार्थक्यं स्यात्। तस्मात् सिद्धान्तव्याख्यानमेव युक्तम् ॥ ९० ॥

दे॒वं-दे॑वं॒ वोऽव॑से दे॒वं-दे॑वम॒भिष्ट॑ये।
दे॒वं-दे॑वꣳ हुवेम॒ वाज॑सातये गृ॒णन्तो॑ दे॒व्या धि॒या ॥ ९१ ॥

मन्त्रार्थ—हे देवताओं, देवताओं के वास्तविक स्वरूप के अनुसन्धान में तत्पर बुद्धि के द्वारा आप लोगों की स्तुति करते हुए हम ऋत्विक्गण अपनी रक्षा के लिये नाना प्रकार के अवतारों को ग्रहण कर क्रीड़ा करने वाले भगवान् का आह्वान करते हैं, अपने अभीष्ट फल को प्राप्त करने की इच्छा से उन देवताओं के भी देवता का आह्वान करते हैं, धन-धान्य की प्राप्ति के लिये हम उसका आह्वान करते हैं ॥ ९१ ॥

मनोरार्षी वैश्वदेवी। देवं देवमिति वीप्सार्थोऽभ्यासः। यावन्तो देवास्तान् वो युष्मानवसे रक्षणाय वयं हुवेम आह्वयामः। किमर्थम् ? अभिष्टये, अभीष्टफलप्राप्तये। देवं देवं सर्वान् वाजसातये अन्नलाभाय देवानाह्वयामः, अभ्यासो भूयस्त्वाय। कथं हुवेमेति चेत्, देव्या धिया गृणन्तो देवतायाथात्म्यचिन्तनपरया बुद्ध्या, स्वरादि-सौष्ठवेन दीप्यमानया धिया स्तुत्या गृणन्तः स्तुवन्तः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वेऽपि देवाः परमैश्वर्यवतः परमेश्वरस्यैवांशभूता इति तद्रूपेणैव तेषामाह्वानम्। परमेश्वर एव तेषां याथात्म्यम्, 'देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद' (बृ० उ० २।४।६) इति श्रुतेः। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, देव्या धिया गृणन्तो वयं यथा वोऽवसे देवं देवं हुवेम, वोऽभीष्टये देवं देवं हुवेम, वो वाजसातये च देवं देवं हुवेम, तथा यूयमप्यस्मभ्यं तथा कुरुत' इति, तदपि न, मनुष्याणां विदुषामल्प-क्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वेन तत्प्रार्थनयाऽभीष्टासिद्धेः। न वाह्वानेनोत्तमोत्तमाः पदार्था आयान्ति, न वा केषाञ्चिद्वेग-सिद्धये विदुषामाह्वानस्योपयोगः। किञ्च, योऽन्येषामभीष्टसिद्धये विदुषामाह्वानं करोति, स स्वात्मसिद्धयेऽपि तथा कर्तुं शक्नोतीति कुतस्तदर्थं मनुष्यान् सम्बोधयतीति। तस्मादव्यापारेषु व्यापारयितमेवैतत् ॥ ९१ ॥

दिवि पृष्टो अरोचताऽग्निर्वैश्वानरो बृहन् ।
क्ष्मया वृधान ओजसा चनोहितो ज्योतिषा बाधते तमः ।। ९२ ।।

मन्त्रार्थ—सब मनुष्यों का हितकारी महान् अग्निदेव आदित्य रूप में स्थित होकर स्वर्ग में प्रकाशित होता है । भूलोकवासी मनुष्यों की दी हुई हवि के द्वारा वर्धमान, तेजस्वी, हमारा हितकारी यह अग्नि अपने प्रकाश से अन्धकार को दूर करता है ।। ९२ ।।

मेधदृष्टा वैश्वानरी । योऽग्निर्वैश्वानरो दिवि पृष्टो द्युलोके स्थित आदित्यात्मना अरोचत देदीप्यते, 'पृषु सेके' निष्ठान्तः सेकः स्थितिरेव । कथम्भूतोऽग्निः ? बृहन् महान् सोऽग्निः स्वीयेन प्रकाशेन तमः शार्वरमन्धकारं बाधते लोकानुग्रहाय निवर्तयति । कीदृशः ? क्ष्मया पृथिव्या तत्स्थैर्मनुष्यैश्च वर्णाश्रमिभिर्नरैर्दत्तैर्हविर्भिर्वर्धमानः, मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् क्ष्मापदेन क्ष्मास्थाः पुरुषा उच्यन्ते । अत एव च ओजसा चनोहित ओषधिपाकक्षमेण तेजसा चनसेऽन्नाय हितः, 'चन इत्यन्ननाम' (निरु० ६।१६) इति निरुक्तोक्तेः, अन्ननिष्पादकः । यद्वा क्ष्मया कारणभूतया पृथिव्या अरोचत देदीप्यते, ओजसा बलेन वृधानो वर्धमानः, चनसि अन्ने हविर्लक्षणे हितः स्थापितो ज्योतिषा तमो बाधते ।

अध्यात्मपक्षे—योऽग्निः परमात्मा सर्वात्मत्वात् सूर्यरूपेण द्युलोके पृष्टः सिक्तः सन् स्थितो बृहन् महान् अरोचत देदीप्यते, सोऽय देवः क्ष्मया क्षमाया मायालक्षणाया अपि महान् अधिक ओजसा स्वीयेन ब्राह्मेण बलेन वृधानो वर्धमानः सर्वापेक्षयोत्कृष्टः, चनोहितः चनसेऽन्नाय हितो ज्योतिषा ज्ञानेन तमोऽज्ञानान्धकारलक्षणं बाधते जगद्व्यवहाराय ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसो मनुष्याः, यथा दिवि पृष्टो वैश्वानरो क्ष्मया वृधान ओजसा बृहन् चनोहितोऽग्निर्ज्योतिषा तमो बाधतेऽरोचत च, तथा श्रेष्ठगुणैरविद्यान्धकारं निवर्त्य यूयमपि प्रकाशितकीर्तयो भवत' इति, तदपि मन्त्रबाह्यमेव । अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ।। ९२ ।।

इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात् पद्वतीभ्यः ।
हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत् त्रिꣳशत्पदा न्यक्रमीत् ।। ९३ ।।

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र और अग्निदेव ! यह उषा बिना पैरों की होते हुए भी पैरों वाली प्रजाओं से पहले ही प्रति दिन आ जाती है, उन प्रजाओं को निद्रा-त्याग की प्रेरणा देती हुई यह उषा वाणी के द्वारा शब्द करती हुई चारों तरफ फैल जाती है । यह एक ही दिन में तीस मुहूर्तों का अतिक्रमण करती है ।। ९३ ।।

सुहोत्रदृष्टा इन्द्राग्निदेवत्या प्रवह्लिकेयमृक् । प्रहेलिका यथाऽज्ञेया भवति, तथैवेयमपि मानुषी वागनयोच्यते । उक्तं च—'यन्मानुष्या वाचाह इतीदं कुरुतेतीदं कुरुतेति तदुह तया चीयते' इति । हे इन्द्राग्नी, अपात् पादरहिता गद्यात्मिकेयं वाक् पद्वतीभ्यः पादवतीभ्यः पद्यरूपाभ्यः, विशिष्टसंस्कारानपेक्षणात्, सकाशात् पूर्वा आ अगाद् आगता, शिरो हित्वी हित्वा परित्यज्य प्रथमं पदमन्यत्करोति । नहि लौकिक्या वाचः कश्चित् पदनियमोऽस्ति, जिह्वया विदुषा वावदद् वदन्ती चरत् चरति, कियन्ति पदानि चरतीत्यपेक्षायामाह—त्रिंशत्पदानि, त्रिंशत्संख्याकानि पदानि, अक्रमीद् अतिक्रामति, नहि परतस्त्राणविषय इत्युव्वटाचार्यरीतिः ।

तथैवाह महीधरोऽपि—इन्द्रः प्राणः, अग्निः पुरुषः, हे इन्द्राग्नी, युवयोरेवैतत्कर्म यद् अपात् पादरहिता गद्यात्मिका त्रयीलक्षणेयं वाक् पूर्वा प्रथमभाविनी सती पद्वतीभ्यः पादयुक्ताभ्यो रामायणमहाभारतादिश्लोकात्मकवाल्मीकिव्यासादिवाणीभ्यः सकाशादगात्। वेदवाचः प्राथम्यं श्रुत्योक्तम्—'ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत' इति। एवं प्रथमजाया वाचोऽविकृतत्वं निर्णीय मानुष्या वाचो विकृतत्वमाह—हित्वी शिर इति। शिर आख्यातम्, पदवाक्येषु प्राधान्यात्, 'अभ्याज गां दण्डेन शुक्लां गां दण्डेनाभ्याज' इत्येवं लौकिक्या वाचः पदप्रयोगनियमाभावात् शिरःस्थानमाख्यातं हित्वा त्यक्त्वा विदुषो जिह्वया वागिन्द्रियेण वावदद् अतिवदन्ती सती चरत् चरति प्रकाशीभवति। एवं चरन्ती सा त्रिंशत्पदान्यक्रमीत् क्रमति। पदशब्दोऽत्राङ्गुलवचनः। मूलाधारादारभ्य मुखपर्यन्तं त्रिंशदङ्गुलानि क्रामति। यद्यपि त्रय्यामृक्षु पादनियमोऽस्ति, तथाप्यध्वरेषु यजुषः प्राधान्येनापादित्युक्तिः। यद्वा हे इन्द्राग्नी, अपात् स्वयं पादरहितापि, इयमुषा, पद्वतीभ्यः पादयुक्ताभ्यः सुप्ताभ्यः प्रजाभ्यः पूर्वा प्रथमभाविनी सती आ अगात् आगच्छति। सा च तासां प्रजानां शिरो हित्वी निद्रात्याजनेन प्रेरयित्री, यद्वा शिरो हित्वी हित्वा त्यक्त्वा स्वयमशिरस्का सती जिह्वया प्राणिनां वागिन्द्रियेण वावदत्, यङ्लुगन्तम्, भृशं शब्दं कुर्वती सती चरत् चरति प्रसरति, अडभावः। एवं चरन्ती उषा एकदिनेन त्रिंशत्संख्याकानि पदा पदानि गमनसाधनभूतान् मुहूर्तान् नि अक्रमीत् नितरां क्रमते, अहोरात्रेण त्रिंशन्मुहूर्तान् क्रामतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे--अखण्डा ब्रह्मसंविद् अपात् पादरहिता, चतुष्पात्त्वस्य मायासापेक्षत्वात्, स्वयं त्वपादेव। सा च पद्वतीभ्यः पादयुक्ताभ्यः प्रजाभ्यः पूर्वा पूर्वमगात्, 'तद्धावतोऽन्यानत्येति' (४०।४) इति मन्त्रवर्णात्, मनसोऽपि जवीयस्त्वोक्तेः। स्वतो व्यापकस्यापि मनआद्युपाधिषु जववत्तरेषु गच्छत्स्वपि ततः पूर्वमेव तदुपाध्यधिष्ठानत्वप्रकाशकत्वाभ्यां तत्र विद्यमानत्वात् शिरः प्राधान्यं हित्वी हित्वा परित्यज्य उपाधिप्राधान्यमनुसृत्य प्राणिनां जिह्वया वावदद् भृशं वदन्ती शब्दब्रह्मभावं प्राप्नुवती चरत् चरति व्यवहारयति, णिजन्तर्भावः। स्वतस्तु त्रिंशत्पदानि त्रिंशन्मुहूर्तोपलक्षितान् खण्डकालान् सर्वानप्यक्रमीद् अतिक्रान्ता, कालापरिच्छिन्नत्वात्।

दयानन्दस्तु – 'हे इन्द्राग्नी अध्यापकोपदेशकौ, येयमपात् पद्वतीभ्यः पूर्वा अगात्, शिरो हित्वी हित्वा प्राणिनो जिह्वया वावदच्चरत् त्रिंशत्पदान्यक्रमीत्, सोषा युवाभ्यां विज्ञेया' इति, तदपि न, इन्द्राग्नीति मुख्यपदार्थत्यागपूर्वकं गौणाध्यापकोपदेशकार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात्। सोषा युवाभ्यां विज्ञेयेत्यपि वेदबाह्यमेव। अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ९३ ॥

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकꣳ सरातयः।
ते नो अद्य ते अपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः ॥ ९४ ॥

मन्त्रार्थ—सबके मन को एक मति में स्थिर कर सबके अभीष्टदाता वे प्रसिद्ध विश्वेदेव कब हमारे साथ सभी प्राणियों को धन प्राप्त करावेंगे। अपनी उपासना करने वालों को जो अवश्य ही धन प्राप्त कराते हैं, वे विश्वेदेव भविष्य काल में भी हमारे पुत्र-पौत्र आदि को धन सम्पन्न करें ॥ ९४ ॥

मनुदृष्टा वैश्वदेवी। हि स्म एतौ निपातौ प्रसिद्ध्यतिशयार्थौ। छान्दसौ षत्वदीर्घौ। ते प्रसिद्धा विश्वे देवासः, अद्यास्मिन् काले नोऽस्माकं साकं सहैव वरिवोविदो भवन्तु, वरिवो धनं वेदयन्ति लम्भयन्ति ये ते, एकीभूय धनप्रापका भवन्तु। तु पुनः, अपरं भविष्यति काले नोऽस्माकं तुचे अपत्याय पुत्रपौत्रादिकाय ते वरिवोविदो भवन्तु, तुगित्यपत्यनाम। कीदृशास्ते विश्वेदेवासः? मनवे समन्यवो मनुनामकाय मुनये मन्त्र-

दर्शिने मह्यं समानो मन्युर्दीप्तिर्येषां ते, 'मन्युर्मनतेर्दीप्तिकर्मणः' (निरु० १०।२९) इति यास्कोक्तेः। मदर्थमैकमत्यं प्राप्ताः, यद्वा मन्युना कोपेन सह वर्तमाना अस्मच्छत्रुहननाय क्रोधयुक्ताः, मनुना समानदीप्तयः समानक्रोधा वा, तथा सरातयः, रातिर्दानं तत्सहिताः, दातार इत्यर्थः, समानदाना वा।

अध्यात्मपक्षे—ते प्रसिद्धाः, विश्वे सर्वे देवासो देवा ब्रह्मात्मका देवभावमापन्ना अद्येदानीम्, वरिवोविदः साकं सहैव वरिवो ज्ञानरूपं धनं वेदयन्ति ये ते वरिवोविदो भवन्तु। कीदृशाः ? मनवे मनुना, व्यत्ययः, समानदीप्तयः समानज्ञानाः सरातयः समानाभयदानयुक्ताः, अपरम् आगामिनि काले तुचे अपत्याय वरिवोविदो भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये सरातयः समन्यवो विश्वे देवासः साकमद्य नो मनवे ष्मा वरिवोविदो भवन्तु, ते त्वपरं नस्तुचे अस्मभ्यं च वरिवोविदो भवन्तु, ते हि युष्मभ्यं वरिवोविदो भवन्तु' इति, तदपि न, मनुष्याणां विदुषां सरातित्वाद्यसंभवात्। न च ते धनप्रदातारः संभवन्ति, न च तेषां स्थायित्वमस्ति। पुत्रपौत्रादीनामपि कृते त एव धनदातारो भविष्यन्ति। सत्कारं त्वन्येऽपि जानन्त्येवेति न च तेषां तद्वैशेष्यम्॥ ९४॥

अपाधमदभिशस्तीरशस्तिहाथेन्द्रो द्युम्न्याऽभवत्।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे बृहद्भानो मरुद्गण॥ ९५॥

मन्त्रार्थ—हे महादीप्तिसम्पन्न मरुद्गण! इन्द्र और अन्य देवताओं ने आपकी मित्रता पाने के लिये अपने को संयत किया था, असुरों के नाशक इन्द्र ने शत्रुकृत अपवादों को दूर किया था। इस प्रकार यशस्वी हुआ यजमान सब ओर से धन सम्पन्न होता है॥ ९५॥

नृमेधदृष्टे द्वे मरुत्वद्गुणविशिष्टेन्द्रदेवत्ये। हे बृहद्भानो बृहन्तो महान्तो भानवो दीप्तयो यस्य तस्य सम्बोधने, मरुतां गणो यस्य तत्सम्बुद्धौ हे मरुद्गण हे इन्द्र! देवा वसुरुद्रादित्याः, ते तव सख्याय मैत्र्यै येमिरे कथं नु नामेन्द्रोऽस्मान् सखिभावाय वृणीत इत्यभिप्राया आत्मानं संयतं कृतवन्तः। स भवान् अभिशस्तीरभिशापान् शत्रुप्रयुक्तानपवादान् अपाधमद् अपगमयति, 'धमतिर्गतिकर्मा' (निरु० ६।२) इति यास्कः। अथानन्तरम्, द्युम्नी, द्युम्नं यशोऽन्नमस्यास्तीति यशस्वी अन्नवान् वा, आ अभवत् सर्वतो धनवान् यशोवान् वा भवति। कीदृशो भवान्? अशस्तिहा शंसनं शस्तिः प्रशंसा, सा नास्ति येषां तेऽशस्तयोऽसुरा निन्द्याः, तान् हन्तीत्यशस्तिहा, अभेरादिशेषेण अभिशस्तिहा, मिथ्यापवादापहन्ता वा। इन्द्र ऐश्वर्यवान् यो दुष्टहन्ता अभिशापनाशको यशस्वी तेजस्वी बहुभृत्यसेव्यस्तस्य सख्यायान्ये यतन्त इति युक्तमिति भावः। उव्वटाचार्यदृष्ट्या—यदा इन्द्रोऽभिशस्तीरभिशापान् अपाधमद् अपगमयति, अभिशस्तीश्च हन्ति, अथानन्तरमिन्द्र ऐश्वर्यवान् द्युम्नी अन्नवान् यशस्वी आभवत् भवति। एवं परोक्षेण स्तुतः प्रत्यक्षीभूतः। इत उत्तरोऽर्धर्चः प्रत्यक्षकृतः। हे इन्द्र, हे बृहद्भानो महादीप्ते मरुद्गण, ते सख्याय सखिभावाय, अन्ये देवा येमिरे आत्मानं संयतं कृतवन्तः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र! परमैश्वर्यवन् परमेश्वर! हे बृहद्भानो महादीप्ते अनन्तानन्तसूर्यसमप्रभ, हे मरुद्गण मरुदादिगणैः सेव्यमान भगवन्, ते तव सख्याय सखिभावाय देवा वसुरुद्रेन्द्रादयो येमिरे आत्मानं संयतं कृतवन्तः। स भवान् अभिशस्तीः शत्रुकृतानपवादान् अपाधमद् अपगमयति अशस्तीर्निन्द्यानसुरांश्च हन्ति। अथ पश्चाद् इन्द्रः परमैश्वर्यवान् द्युम्नी यशोवान् आभवद् आसमन्ताद् भवति।

दयानन्दस्तु—'हे बृहद्भानो मरुद्गण इन्द्र ! देवास्ते सख्याय येमिरे द्युम्नीन्द्रो भवानभिशस्तीरपाध-मदशस्तिहाऽभवद् भवतु' इति, तदपि न, इन्द्रपदस्य प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात्। नहि मनुष्यदेवानां सख्याय यमापेक्षा भवति, न च वायुगणैर्मनुष्या विद्वांसः कार्याणि साधयन्ति, न वा ते प्रार्थनासापेक्षा भवन्ति ॥ ९५ ॥

प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत ।

वृत्रꣳ हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥ ९६ ॥

मन्त्रार्थ—हे मरुद्गणों ! अपने स्वामी महान् इन्द्र के लिये आप सब सामरूप स्तोत्र का पाठ करें। पाप का नाशक अनन्त यज्ञों वाला यह इन्द्रदेव अनन्त तीक्ष्ण धार वाले वज्र से पापों को नष्ट कर देता है ॥ ९६ ॥

हे मरुतः, वो युष्माकं स्वामिने इन्द्राय यूयं ब्रह्म वेदं सामरूपस्तोत्रं प्रार्चत प्रोच्चारयत। कीदृशायेन्द्राय ? बृहते महते। ततो वृत्रहा वृत्रस्यासुरविशेषस्य पाप्मनो वा हन्ता, इन्द्रो वृत्रं हनति हन्तु, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुगभावः। केन हन्ति ? वज्रेण स्वकीयेन प्रसिद्धेनायुधेन। कीदृशेन ? शतपर्वणा, शतं शतसंख्यानि पर्वाणि धारा ग्रन्थयो वा यस्मिन् तेन। वृत्रहा कीदृशः ? शतक्रतुः शतसंख्याका क्रतवो अश्वमेधा यस्य सः, बहुकर्मा बहुप्रज्ञो वा। उव्वटाचार्यरीत्या तु प्रथमाबहुवचनस्य व आदेशः, हे मरुतो वो यूयं ब्रह्म प्रार्चत त्रयीलक्षणाः स्तुतीः प्रोच्चारयत, इन्द्राय बृहते। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—हे मरुतः, वो यूयं बृहते ब्रह्मण इन्द्राय परमेश्वराय ब्रह्म प्रार्चत त्रयीरूपाः स्तुतीः प्रोच्चारयत। ततो वृत्रस्यावरकस्याज्ञानस्य हन्ता ब्रह्माकारवृत्तावभिव्यक्तः सन् निवारकं वृत्रमज्ञानं हन्ति। केन ? ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणेन वज्रेण शतपर्वणा शतं पर्वाणि वृत्तयः सन्ति यस्मिन् तेन, मनननिदिध्यासनादि-साहाय्येनोत्पन्नत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मरुतो मनुष्याः, यः शतक्रतुः सेनापतिः शतपर्वणा वज्रेण वृत्रहा सूर्यो वृत्रमिव बृहते इन्द्राय शत्रून् हन्ति वो ब्रह्म प्रापयति, तं यूयं प्रार्चत' इति, तदपि न, शतक्रतुरिन्द्रः शताश्वमेध-याजित्वेन भवति, असंख्यबुद्धित्वेन तु बहूनां शतक्रतुत्वापत्तेः। तथैव वज्रस्य शतपर्वाणि भवन्ति। न च शस्त्रसामान्यस्य वज्रसंज्ञा भवति, वैशेष्यानुपपत्तेः ॥ ९६ ॥

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यꣳ शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।

अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ।

इमा उ त्वा यस्यायमयꣳ सहस्रमूर्ध्व ऊ षु णः ॥ ९७ ॥

॥ इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र यज्ञ में अभिषुत सोम के पान से मदमत्त हो उस यजमान के वीर्य और बल को बढ़ाता है। इसीलिये आजकल के मनुष्य भी पूर्व ऋषियों के समान इस इन्द्र की महान् महिमा का गान करते हैं ॥ ९७ ॥

मेधातिथिदृष्टा माहेन्द्री सतोबृहती। इन्द्रोऽस्य इद् अस्यैव यष्टुर्वृष्ण्यं वीर्यं शवो बलं च वावृधे वर्धयति, णिजन्तत्वं बोध्यम्। वर्षति सिञ्चतीति वृषा, तस्येदं वीर्यं वृष्ण्यम्, यप्रत्यये उपधालोपे च रूपम्। कदा

वीर्यं बलं वर्धयतीति चेत्तत्राह सुतस्याभिषुतस्य सोमस्य विष्णवि, वेवेष्टीति विष्णुस्तस्मिन् सर्वशरीरव्यापके मदे सति। विष्णवि, सप्तम्येकवचने 'घेर्ङिति' (पा० सू० ७।३।१११) इति गुणेऽवादेशे रूपम्। यद्वा विष्णवि विष्णौ यज्ञेऽभिषुतस्य सोमस्य मदे जात इति, 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः, यज्ञे सोमपानेन मत्त इन्द्रो यजमानस्य बलं माहात्म्यं च वर्धयतीत्यर्थः। किञ्च, अस्येन्द्रस्य तमुक्तं यजमानवीर्यादिवर्धनरूपं महिमानमद्यास्मिन् कालेऽपि आवयो मनुष्या अनुष्टुवन्ति आनुपूर्व्येण स्तुवन्ति। तत्र दृष्टान्तः—पूर्वथा पूर्वमिव, यथा पूर्वमृषयोऽस्तुवन्नेवमिदानीमपि नराः स्तुवन्ति, 'प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि' (पा० सू० ५।३।१११) इति पूर्वशब्दादिवार्थे थाल्प्रत्ययः। 'इमा उ त्वा, यस्यायम्, अयꣳ सहस्रम्' (३३।८१-८३), 'ऊर्ध्व ऊ षु णः' (११।४२) एताः प्रतीकोक्ताः। उव्वटरीत्या तु—इदिति निपातः पादपूरणः। मदे सुतस्य विष्णवि, विष्णुर्यज्ञः, यज्ञे सुतस्याभिषुतस्य सोमस्य मदे संजाते य इन्द्रो वावृधे बलवीर्योपबृंहितो भवति, वृद्धश्च वृष्ण्यं सेक्तृत्वं शवो बलं चाविष्करोतीति तस्यास्येन्द्रस्य अद्य अद्यापि तं महिमानमावयो मनुष्या अनुष्टुवन्ति। पूर्वथा पूर्ववद् यथा पूर्वमृषिभिः स्तुतः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरः सुतस्याभिषुतस्य सोमस्य तदुपलक्षितस्य विविधनैवेद्यस्य भक्तिभावपुरस्कृतस्य समर्पणेन विष्णवि व्यापके मदे हर्षे जाते, अस्य भक्तस्य वृष्ण्यं वीर्यं शवो बलं च वावृधे वर्धयति, तं तादृशं तस्य महिमानमद्यापि आयवो मनुष्या अनुष्टुवन्ति आनुपूर्व्येण स्तुवन्ति पूर्वथा पूर्वमिवेति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य इन्द्रो जीवो विष्णवि सुतस्यास्य मदे वृष्ण्यं शवोऽद्य वावृधेऽस्य परमात्मन इन्महिमानं पूर्वथाऽऽयवोऽनुष्टुवन्ति, तं यूयमपि स्तुवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रपदस्य लौकिकराजार्थत्वे मानाभावात्। न च देवा इन्द्रो वा अपलापमर्हन्ति, अमरादिभिः कोषकारैस्तदङ्गीकारात्। 'विष्णवि व्यापके परमेश्वरे सुतस्योत्पन्नस्य संसारस्य मदे आनन्दमये' इत्यपि निरर्थकम्, सुतस्येति पदस्य कृत्याभावात्। नहि राजा संसारस्य मदाय बलं वा वर्धयितुं शक्नोति। तस्मात् पूर्वोक्तमेव व्याख्यानं युक्तमिति ॥ ९७ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ— जो मन जागते समय चक्षु आदि की अपेक्षा बहुत दूर तक चला जाता है, वही द्युतिमान् मन सोते समय सुषुप्ति में बहुत नजदीक आकर लीन हो जाता है । तीनों कालों के पदार्थों को ग्रहण करने वाला और प्रकाशक, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को ज्योति देने वाला वह मेरा मन सबके कल्याणकारी संकल्प से संयुक्त हो, धर्म के आचरण में सदा लगा रहे ॥ १ ॥

अनारभ्याधीतोऽध्याय आ पितृमेधात् । आदित्ययाज्ञवल्क्यदृष्टा मन्त्राः पाठे विनियुक्ताः । लैङ्गिको वा विनियोगः । लिङ्गं च सामर्थ्यम् अभिधानशक्तिः, 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इत्युक्तेः । षड्चस्त्रिष्टुभो मनोदेवत्याः शिवसंकल्पदृष्टाः । मन्त्रद्रष्टा वदति—तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु । शिवो मङ्गलमयो धर्मब्रह्मविषयः संकल्पो यस्य तत्, मन्मनसि सदा धर्मो ब्रह्म वा स्फुरतु, न पापमित्यर्थः । किं तन्मनः ? इत्यत आह—यन्मनो जाग्रतः प्रबुद्धस्य तत्तद्देवतानुगृहीतैर्बाह्येन्द्रियैर्विषयोपलब्धिमतो दूरमुदैति दूरमुद्गच्छति, चक्षुराद्यपेक्षया मनो दूरगामीत्यर्थः । यद्यपि मनसो बहिरस्वातन्त्र्याच्चक्षुरादि विना मनो बहिर्गमनेऽस्वतन्त्रमेवेति दूरगामित्वमसंगतमेव, तथापि तत्तत्प्रमाणैरतीतानागतवर्तमानसन्निकृष्टविप्रकृष्टव्यवहितपदार्थानां ग्राहकत्वाद् दूरं गच्छतीवेति तस्य दूरगामित्वमौपचारिकमेव, 'तद्धावतोऽन्यानत्येति' (४०।४) इति मन्त्रवर्णात् । यच्च दैवं दीव्यति प्रकाशते देवो विज्ञानात्मा पुरुषः, तत्र भवं दैवम्, आत्मग्राहकमित्यर्थः । रूपादिरहितत्वेन चक्षुराद्यविषयस्यात्मनो मनसैव ग्रहणसम्भवात्, 'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्' इति श्रुतेः । शुद्धस्यापि प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपस्य महावाक्यवेदान्तमहावाक्याभ्यासजन्यसंस्कारसंस्कृतेन मनसा प्रमात्मकः साक्षात्कारो भवति । यथा श्रोत्र-ग्राह्यस्य शब्दसामान्यस्य षड्जत्वादिसाक्षात्कारोऽपि गान्धर्वशास्त्राभ्यासजन्यसंस्कारसंस्कृतमनःसव्यपेक्षश्रोत्रेण संपद्यते तद्वत् ।

केषाञ्चिद्रीत्या तु प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपा प्रमा महावाक्यप्रमाणजन्या, एकाग्रं मनस्तु तत्र सहकारितां भजते । तद् उ, यदः स्थाने तच्छब्दः, उकारः समुच्चयार्थीयः । यच्च मनः सुप्तस्य पुरुषस्य तथैवैति यथा गतं तथैव पुनरागच्छति, सुषुप्तावस्थायां पुनरागच्छति । प्रतीत्यभिप्रायेण गमनागमनादिकमुक्तम् ।

सांख्यरीत्या सात्त्विकाहङ्कारान्मनो जायते । वेदान्तरीत्या त्वपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतस्य समष्टिसत्त्वांशात् सञ्जायते मनः, 'तन्मनोऽसृजत' इति श्रुतेः । भूतेष्वन्नस्य प्राधान्यात्तेनोपबृंहणाच्च 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' (छा० उ० ६।५।४) इति श्रुतिः संगच्छते । सत्त्वं च सर्वार्थविभासनशालि यथा यथा रजस्तमोभ्यामभिभूयते तथा तथा ज्ञानाल्पत्वम्, यथा यथा तदनभिभवे तु ज्ञानभूयस्त्वम् । सर्वथा रजस्तमोऽननुविद्धत्वे तु तादृशः प्रकाशो जायते, येन ज्ञानापेक्षया ज्ञेयस्यैवाल्पत्वं भवति ।

यद्वा बाह्यगमनागमनाद्यभावेऽपि चक्षुरादिप्रदेशसम्बन्धेन विषयदेशगमनं जागरणम्, कण्ठदेशसम्बन्धेन स्वप्नदर्शनम्, पुरीततप्रदेशगमनेन प्रस्वापः, 'नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं विनिर्दिशेत् । सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥' (ब्रह्मो० २१) इति श्रुतेः । यच्च मनो ज्योतिषां प्रकाशकानां श्रोत्रादीन्द्रियाणा-

मेकमेव ज्योतिः प्रकाशकं प्रवर्तकम्, मनःसंयुक्तानि मनसा प्रवर्तितान्येवेन्द्रियाणि स्वविषये प्रवर्तन्ते, 'आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेन' (न्या० भा० १।१।४) इति न्यायात् ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्तमेव व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु 'हे जगदीश्वर विद्वन् वा, भवदनुग्रहेण यद्दैवं दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं जाग्रतो दूरमुदैति, तदु सुप्तस्य तथैवान्तरेति, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इति, तदपि न, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यान्नेन्द्रियाण्यनाश्रित्य दूरङ्गमत्वं तत्र संभवति ॥ १ ॥

येन॒ कर्मा॑ण्य॒पसो॑ मनी॒षिणो॑ य॒ज्ञे कृ॒ण्वन्ति॑ वि॒दथे॑षु॒ धीराः॑ ।
यद॑पू॒र्वं य॒क्षम॒न्तः प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—कर्मनिष्ठ होने से कर्मरूप बुद्धिमान् मेधावी पुरुष यज्ञ में मन के जिस शुभ संकल्प से प्रवृत्त होता है, प्रजाओं के शरीर में और यज्ञीय पदार्थों के ज्ञान में जो मन अद्भुत पूज्य भाव से स्थित है, वह मेरा मन सबका कल्याणकारी और धर्मविषयक शान्त संकल्प वाला हो ॥ २ ॥

मनीषिणो विद्वांसः, येन मनसा सता विदथेषु, विद्यन्ते ज्ञायन्ते तानि विदथानि वेदनानि, यज्ञविधिविधानेषु यज्ञसम्बन्धिनां हविरादिपदार्थानां ज्ञानेषु सत्सु यज्ञे कर्माणि कृण्वन्ति कुर्वन्ति, वेत्तेरौणादिकोऽथप्रत्ययः, प्रत्ययोदात्तत्वेन मध्योदात्तं पदम्, 'प्रत्ययः, परश्च, आद्युदात्तश्च' (पा० सू० ३।१।१-३) इति पाणिन्युक्तेः, मनःस्वास्थ्ययोगाभ्यामन्तरा सम्यक्कर्मानुपपत्तेः । कीदृशा मनीषिणः ? अपसः, अप इति कर्मनाम (निघ० २।१।१), तदस्ति येषां तेऽपस्विनः कर्मवन्तः, तद्धितलोपः । धीरा धीमन्तः, धीरन्तर्धीर्येषां ते, मत्वर्थीयो रः । कीदृशं तन्मनः ? अपूर्वम्, न विद्यते पूर्वमपरमिन्द्रियं यस्मात्तदपूर्वम्, इन्द्रियेभ्यः पूर्वं मनसः सृष्टेः । यद्वा 'अपूर्वमनपरमबाह्यम्, (बृ० उ० २।५।१९) इत्युक्तेरात्मरूपं चित्तं चिद्विजानीयात्तकाररहितम् । यद्वा तकारो विषयाध्यासः, 'तच्छून्यं ब्रह्म चोच्यते' इत्युक्तेः । सर्वोपाधिशून्यं ब्रह्मैव मनाङ् मननीं शक्तिमाश्रित्य मनस्तामापन्नं मन उच्यते, 'स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान् । स मनाङ् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥' इति वाशिष्ठोक्तेः । यक्षं पूज्यं यष्टुं शक्तं यज्ञम्, यजतेरौणादिकः सन्प्रत्ययः, 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० सू० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तं पदम् । यच्च प्रजायन्त इति प्रजास्तासां मनः शरीरमध्ये आस्ते, तन्मे मनस्तादृशं मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे – पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे परमेश्वर विद्वन् वा, भवत्सङ्गेन येनापसो मनीषिणो धीरा यज्ञे विदथेषु च कृण्वन्ति, यदपूर्वं प्रजानामन्तर्यक्षं वर्तते, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु' इति, तदपि न, भवत्सङ्गेनेत्यस्य मन्त्रबाह्यत्वात् । नहि कस्यचिन्मनः सर्वोत्तमगुणकर्मस्वभावं भवति, न वा प्राणिमात्रस्य हृदये पूजनीयं भवति ॥ २ ॥

यत्प्र॒ज्ञान॑मु॒त चेतो॒ धृति॑श्च॒ यज्ज्योति॑र॒न्तर॒मृतं॑ प्र॒जासु॑ ।
यस्मा॒न्न ऋ॒ते किञ्च॒न कर्म॑ क्रि॒यते॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजाओं में जो मन प्रकर्ष ज्ञानस्वरूप, चित्तस्वरूप और धैर्यरूप है, जो मन अविनाशी ज्योति है, जिसकी सहायता के बिना कोई कर्म नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन कल्याणकारी, धर्मविषयक शिवसंकल्प वाला हो ॥ ३ ॥

यन्मनः प्रज्ञानं प्रकर्षेण ज्ञायते येन तत्प्रज्ञानं विशेषेण ज्ञानजनकम्, 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३।३।११७) इति करणे ल्युट्प्रत्ययः। उत अपि यन्मनश्चेतश्चेतयति सम्यग् ज्ञापयति तच्चेतः सामान्य-विशेषज्ञानजनकम्, 'चिती संज्ञाने' इत्यस्मात् णिजन्तादसुन्प्रत्ययः। यच्च मनो धृतिश्च धैर्यरूपम्, धृतेरपि मनोधर्मत्वात्, कार्यकारणयोरभेदोपचारेण मनो धृतिरुच्यते। यच्च मनः प्रजासु प्राणिषु अन्तर्मध्ये वर्तमानं सद् ज्योतिः सर्वेन्द्रियाणां प्रकाशकं प्रवर्तकम्। पूर्वमुक्तमप्यादरार्थं पुनरुच्यते, 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' इति निरुक्तवचनात्। यथामृतममरणधर्मकम्, चिदात्मरूपत्वात्। यस्मान्मनस ऋते येन मनसा विना किञ्चन किमपि कर्म न क्रियते प्राणिभिः, मनोयोगं विना कर्मानुपपत्तेः। 'अन्याराादितरर्ते' (पा० सू० २।३।२९) इत्यादिना यस्मादित्यत्र ऋतेयोगे पञ्चमी।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर परमयोगिन् वा, भव्यज्ञापनेन यत्प्रज्ञानं च ते उत धृतिर्यच्च प्रजास्वन्तरमृतं ज्योतिर्यस्मादृते किञ्चन कर्म न क्रियते, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इति, तदपि न, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्। मनश्च न स्वरूपेणामृतम्, 'तन्मनोऽसृजत' इत्युत्पत्तिश्रवणात्, न चोत्पन्नस्यामृतत्वं संभवति, कृतकत्वेनानित्यत्व-ध्रौव्यात्। चिदात्मरूपत्वादमृतत्वं तस्य संभवति, नान्यथेति ॥ ३ ॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ जिस मन के द्वारा भूत काल, वर्तमान काल और भविष्य काल की सारी वस्तुएँ सब ओर से ज्ञात होती हैं, जिस मन के द्वारा सात होता वाला यज्ञ विस्तारित किया जाता है, वह मेरा मन कल्याणकारी, धर्मविषयक शुभ संकल्प वाला हो ॥ ४ ॥

येन मनसा, इदं भूतं भूतकालसंबधि वस्तु, भुवनं भवतीति भुवनं वर्तमानकालम्, भवतेर्क्युप्रत्ययः, वर्तमानकालसंबन्धि वस्तु, भविष्यद् भविष्यत्कालसंबन्धि वस्तु, 'लृटः सद्वा' (पा० सू० ३।३।१४) इति शतृप्रत्ययः, परिगृहीतं परितः सर्वतः गृहीतम्, कालत्रयसंबन्धिवस्तुषु मनसः प्रवृत्तेः। चक्षुरादिकं तु वर्तमान-मात्रग्राहि, मनसा त्वतीतानागतयोरपि परोक्षज्ञानसंभवात्। कीदृशेन ? येन मनसा अमृतेन शाश्वतेन, नैयायि-कादीनां रीत्या नित्येन, वेदान्तिनां रीत्या प्रत्ययपर्यन्तस्थायिना 'तन्मनोऽसृजत' इत्युत्पत्तिश्रवणान्नित्यत्वासंभवात्, 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इत्युक्तेः, चिदात्मरूपेण वाऽमृतत्वम्, येन च मनसा यज्ञोऽग्निष्टोमादि-स्तायते तन्यते विस्तार्यते, 'तनोतेर्यकि' (पा० सू० ६।४।४४) इत्याकारः। कीदृशो यज्ञः ? सप्तहोता, सप्त होतारो देवानामाह्वातारो भवन्ति यत्र। तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्तमेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, येनामृतेन भूतं भुवनं भविष्यत् सर्वमिदं परिगृहीतं भवति, येन सप्तहोता यज्ञस्तायते, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इति, तदपि न, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्, अतीतानागतवस्तुग्रहणं तु पारोक्ष्येणैव संभवति, योगेनाप्यतीतानागतानामपारोक्ष्ये मानाभावात्, प्रमातृचैतन्यसंबन्धासंभवेन तदनुपपत्तेः ॥ ४ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—जिस मन में ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के मन्त्र उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं, जैसे कि रथचक्र की नाभि में अरा (तीलियाँ) जुड़ी हुई रहती हैं; प्रजाओं का सारा ज्ञान जिस मन में ओतप्रोत है, वह मेरा मन कल्याणकारी, धर्मविषयक शिव संकल्प वाला हो ॥ ५ ॥

यस्मिन् मनसि, ऋचो नियताक्षरावसानाः पादबद्धा मन्त्राः प्रतिष्ठिताः, साम गीतिविशिष्टानि सामानि च प्रतिष्ठितानि, यस्मिन् यजूंष्यनियताक्षरावसाना गद्यरूपा मन्त्राः प्रतिष्ठिताः, मनसः स्वास्थ्ये वेदत्रयीस्फूर्तेः, शब्दमात्रस्य मनसि प्रतिष्ठितत्वम्, 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (६।५।४) इति छान्दोग्ये मनसोऽन्नेन शक्तिशालित्वे वेदत्रयीस्फूर्तेः प्रतिपादनात्, 'तस्य यजुरेव शिर ऋग्दक्षिणः पक्षः साम उत्तरः पक्ष आदेश आत्मा अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० उ० २।३) इति तैत्तिरीयोपनिषदि मनोमयस्य कोशस्य ऋगादीनामेव यज्ञपुच्छशिरस्त्वाद्यभिधानाच्च। तत्र दृष्टान्तः—रथनाभौ अरा इव, यथा अरा रथचक्रनाभौ प्रतिष्ठितास्तद्वल्लौकिकवैदिकसर्वशब्दजालं मनसि प्रतिष्ठितम्। किञ्च, यस्मिन् मनसि प्रजानां सर्वं चित्तं संज्ञानं सर्ववस्तुविषयिप्रज्ञानम्, ओतं च प्रोतं च निक्षिप्तम्, तन्तुसन्ततिः पट इव सर्वं ज्ञानं मनसि निहितम्, मनःस्वास्थ्ये ज्ञानोत्पत्तेर्वैयग्र्ये च तदनुत्पत्तेः समष्टिमनोऽभिप्रायेणैतद् द्रष्टव्यम्, रजस्तमोऽननुविद्धत्वेन चित्तसत्त्वस्य सर्वार्थभासनशालित्वस्य योगिभिरङ्गीकाराच्च। तत्तादृशं मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्तमेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—रथनाभाविवारा यस्मिन् मनसि ऋचः साम यजूंषि प्रतिष्ठिताः, यस्मिन्नथर्वाणः प्रतिष्ठिता भवन्ति, यस्मिन् प्रजानां सर्वं चित्तमोतमस्ति, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इति, तदपि न, चित्तमनसोरैक्येनैकस्मिन् मनसि सर्वप्राणिचित्तानामोतत्वासंभवात्। तेन समष्टिमन एवात्र ग्राह्यम्, तत्रैव व्यष्टिमनसामोतत्वसंभवात्। ऋगादीनामपि तत्रैव प्रतिष्ठितत्वं संभवति ॥ ५ ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—जो मन जीवों को अपनी इच्छा के अनुसार उसी प्रकार घुमाता रहता है, जैसे कि कोई अच्छा सारथि बागडोर के सहारे वेगवान् घोड़ों को अपनी इच्छा के अनुसार नियन्त्रित करता है। जो मन बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि से रहित हो अतिवेगवान् हृदय में स्थित है, वह मेरा मन धर्मविषयक शुभ संकल्प वाला हो ॥ ६ ॥

यच्च मनो मनुष्यान् प्राणिनश्च नेनीयतेऽतिशयेनेतस्ततो नीयते, मनःप्रेरितानामेव प्राणिनां प्रवृत्तेः। अत एव मनुष्यग्रहणं प्राणिमात्रोपलक्षकम्। कथमिव ? सुषारथिः शोभनः कल्याणकारी सारथिर्यन्ता यथा कशयाऽश्वान् नेनीयते तद्वत्। अभीशुभिः प्रग्रहैर्वाजिन इव शोभनः सारथिर्यथा अभीशुभिर्वल्गाभिर्वाजिनोऽश्वान् नेनीयत इत्यपरो दृष्टान्तः। प्रथमे नयनम्, द्वितीये नियमनम्, तथैव मनो मनुष्यान् प्रवर्तयति नियच्छति च। यच्च मनो हृत्प्रतिष्ठम्, हृदि पुण्डरीकाकारे मांसपिण्डे प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तत्, तत्रैव तदुपलब्धेः। तत्स्थानं तु नाभेर्दशाङ्गुलोर्ध्वोपरि ज्ञातव्यम्, 'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (वा० सं० ३१।१) इति श्रुतेः। केचित्तु मस्तके

मस्तिष्कस्थानमेव मनःस्थानं कल्पयन्ति, तत्रैव विचारानुभवात्। तत्तु न, मस्तके श्रोत्रचक्षुर्घ्राणजिह्वासु बाहुल्येन ज्ञानकार्यदर्शनात् तथात्वानुभवस्यान्यथोपपत्तेः, यथा विद्युतः प्रकाशस्थानापेक्षया नियन्त्रणस्थानं पृथग्भवति तथैवात्रोपपत्तेः। यच्च मनः, अजिरं जरारहितम्, बाल्ययौवनस्थविरेषु मनस्तावदवस्थ्यदर्शनात्। यच्च मनो जविष्ठमतिशयेन जववद् वेगवद् जविष्ठम्, 'न वै वातात्किञ्चनाशीयोऽस्ति न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति' इति श्रुतेः। तत्तादृशं मे मनः शिवसंकल्पं धर्मब्रह्मसंबन्धिसंकल्पयुक्तमस्तु, तथा सत्येव पुरुषार्थसिद्धेः।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'यत्सुषारथिरश्वानिव मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव नियच्छति च, बलात् सारथिरश्वानिव प्राणिनो नयति, यद्धृत्प्रतिष्ठमजिरं जविष्ठमस्ति, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इति, तदपि न, मनसः करणत्वेन कर्तृनियामकत्वानुपपत्तेः। नहि कुठारेण छेत्ता नियम्यते, किन्तु छेत्त्रैव कुठारस्य नियमनदर्शनात्। तस्मात् प्रतीत्यभिप्रायेणैतद् द्रष्टव्यम्, गमनजन्यवेगेन गन्तुः पारतन्त्र्यदर्शनात् ॥ ६ ॥

पि॒तुं नु स्तो॑षं म॒हो ध॒र्माणं॒ तवि॑षीम्।
यस्य॑ त्रि॒तो व्योज॑सा वृ॒त्रं विप॑र्वम॒र्दय॑त् ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—मैं महान् बलशाली, सबमें बल का आधान करने वाले अन्न की स्तुति करता हूँ। इस अन्न के बल से ही तीनों स्थानों के स्वामी इन्द्र ने विविध रूपों वाले पाप पुरुष को सदा अवश्य ही प्रताड़ित किया है ॥ ७ ॥

अन्नस्तुतिरूपा उष्णिक्। यस्य पितोरन्नस्य ओजसा बलेन त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं दैत्यं विपर्वं विगतसन्धिबन्धनं कृत्वा वि अर्दयद् विविधमर्दितवान्, अन्नबलेनैवेन्द्रो वृत्रं हतवानित्यर्थः, तं पितुमन्नं स्तोषमहं स्तौमि। कीदृशं पितुम्? महो महतस्तविषीं तविष्या बलस्य धर्माणं धारयितारम्, तविषीति बलनाम (निघ० २।९।१०), तवतेर्बलकर्मणो विभक्तिव्यत्ययः। स्तोषं स्तौतेर्मिपि 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपे, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागमे, 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिप्प्रत्यये गुणे च रूपम्। महः, महच्छब्दस्य ङसि छान्दसष्टिलोपः। धर्माणम्, धरतेर्मन्। विपर्वं विगतानि पर्वाणि यस्य तम्, उप्रत्यये टिलोपः। अर्दयत् 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इत्यडभावः, 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इति वेरुपसर्गस्याख्यातव्यवधानमिति महीधराचार्याः।

अध्यात्मपक्षे—यस्य पितोरन्नस्य ओजसा त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं व्यमर्दयत्, महतो तविष्या बलस्य धारयितारं तं पितुमन्नं ब्रह्मरूपमहं स्तौमि, 'अहमन्नमहमन्नम्' (तै० उ० ३।१०।६) इत्यादौ ब्रह्मणोऽन्नरूपत्वोक्तेः, 'यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥' (भ० गी० १०।४१) इति भगवदुक्तेश्च।

दयानन्दस्तु—'अहं यस्य पितुं महो धर्माणं तविषीं न स्तोषं स राजपुरुषस्त्रितः सूर्य ओजसा सह वर्तमानं विपर्वं वृत्रं व्यर्दयदिव शत्रून् जेतुं शक्नोति' इति, तदपि न, असंबद्धत्वात्। न च राजसामान्यस्य स्तुतिरिह विवक्षिता, अकिञ्चित्करत्वात्। त्रित इति तु त्रिस्थानस्येन्द्रस्य बोधकम्। पितुं नु स्तोषमिति मूलेन स्पष्टं पितोरन्नस्यैव स्तुतिः प्रतीयते। पितोर्विशेषणत्वेन तु महआदीनां वर्णनम्। यथा चैतत्तथोपरि वर्णितमेव ॥ ७ ॥

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि ।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र ण आयूंᳪषि तारिषः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे शुक्ल चतुर्दशी युक्त पूर्णिमा तिथि की अभिमानिनी अनुमति देवी, आप हमारे अभिप्राय को समझें, हमारा कल्याण करें, हमारे शुभ संकल्प की सिद्धि में आप सहायक हों, हमारी आयु को बढ़ावें ॥ ८ ॥

चतस्रोऽनुष्टुभः । तत्र द्वयोरनुमतिर्देवता । हे अनुमते, त्वमनुमन्यासै अनुमन्यस्वास्मदुक्तमवधारयस्व । किं तदित्याह—नोऽस्माकं शं च शमेव, कृधि कुरु, च पुनः, नोऽस्माकं क्रतवे संकल्पाय दक्षाय तत्समृद्धये नोऽस्मान् हिनु गमय, नोऽस्माकमायूंषि प्रतारिषः प्रवर्धय च । इदिति निपातः पादपूरणः । मन्यासै, 'वैतोऽन्यत्र' (पा० सू० ३।४।९६) इत्यैकारः । क्रत्वे, गुणाभावे यणादेशः । तारिषः, 'सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः' (पा० सू० ३।४।३४, वा० १) इति वृद्धिः । प्रपूर्वस्तरतिर्वृद्ध्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—मनआदीनि बाह्यान्यान्तराणि च करणानि प्रवर्तमानान्यनुमन्यत इव या सानुमतिः, अखण्डचिद्रूपा परा संविदेव, 'उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः' (भ० गी० १३।२२) इति गीतोक्तेः । हे अनुमते, त्वमिदमनुमन्यासै अवबुद्ध्य । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे अनुमते सभापते विद्वन्, त्वं यच्छमनुमन्यासै तेन युक्तान् नस्कृधि । क्रत्वे दक्षाय नो हिनु न आयूंषि च प्रतारिषः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राज्ञो बुद्ध्यनुसारेण विदुषामप्रवृत्तेः, 'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः' इत्युक्तिविरोधात् । न चायुषः पूरकत्वं तस्य संभवति । प्रकृतेऽनुमतिशब्देन देवताविशेषस्यैव सम्बोधनीयत्वात् ॥ ८ ॥

अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् ।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतं दाशुषे मयः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—यह अनुमति देवी और हवि को देवताओं तक पहुँचाने वाले अग्निदेव ! अब हमारे यज्ञ को देवताओं में प्रतिष्ठित होने की अनुमति दें, हविदाता यजमान के लिये सुखरूप हों ॥ ९ ॥

अद्यास्मिन् दिवसे, अनुमतिर्नोऽस्माकं यज्ञं देवेषु यज्ञियेष्वनुमन्यताम्, अग्निश्च यज्ञं देवेषु । कीदृशोऽग्निः ? हव्यवाहनः, हविषां वोढा । किञ्च, दाशुषे हवींषि दत्तवते यजमानाय, मयः सुखरूपौ अनुमत्यग्नी भवतम्, भवतामिति पुरुषव्यत्ययः । हव्यं वहतीति हव्यवाहनः, 'हव्येऽनन्तःपादम्' (पा० सू० ३।२।६६) इति वहेर्ण्युट् । दाशुषे, 'दाश्वान्साह्वान्' (पा० सू० ६।१।१२) इति साधुः ।

अध्यात्मपक्षे—अनुमतिः पूर्वोक्तोऽग्निर्हव्यवाहनो दाशुषे मये मयौ सुखकरौ भवताम्, उपाधिभेदेन परमात्मनोऽपि भेदवत्त्वात् ।

दयानन्दस्तु—'योऽनुमतिरद्य देवेषु नो यज्ञमनुमन्यताम्, स हव्यवाहनोऽग्निश्च युवां दाशुषे मयः सुखानां कारिणौ भवतम्' इति, तदपि न, सर्वत्र मुख्यार्थत्यागगौणार्थस्वीकरणाभ्याम् । यज्ञः सुखानुगुणो व्यवहारः, अग्निः पावकस्तेजस्वी तज्ज्ञो वेति स्पष्टमेव गौणार्थाङ्गीकारः ॥ ९ ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ - हे सारी कामनाओं को पूरा करने वाली चतुर्दशीयुक्त अमावास्या की अभिमानिनी सिनीवाली देवी, आप देवताओं की भगिनी हो। हमारी दी हुई आहुति को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करो। हे देवी, आप हमें संतान-प्राप्ति का सुख प्रदान करें ॥ १० ॥

सिनीवाली देवता। हे सिनीवालि, हे पृथुष्टुके, स्तुकं केशभारः स्तुतिः कामो वा। हे पृथुसंयमितकेशभारे महास्तुते पृथुकामे, त्वं देवानां स्वसा भगिनी असि, सा त्वमाहुतं हव्यं जुषस्व प्रीत्या सेवस्व। हे देवि, नोऽस्मभ्यं प्रजां च दिदिड्ढि दिश अतिसृज देहि।

अध्यात्मपक्षे—हे सिनीवालि देवि, त्वं देवानां स्वसा भवसि, सर्वदेवात्मकस्य कृष्णस्य विन्ध्यवासिनी भगिनीरूपेणाविर्भूता, 'नन्दगोपगृहे जाता यशोदागर्भसंभवा। ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी ॥' (दु० स० ११।४२) इत्युक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे सिनीवालि पृथुष्टुके देवि विदुषि कुमारि, या त्वं देवानां स्वसासि, सा हव्यमाहुतं पतिं जुषस्व, नः प्रजां दिदिड्ढि दिश देहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, के कति च देवाः कुत्रत्यास्तेषां च का कीदृशी भगिनीत्यनुक्तेः, सा च कथं प्रेमबद्धा, कथं च बलकरी? आहुतं पतिमित्यादि सर्वमपि कल्पनाजालं निर्मूलमेव ॥ १० ॥

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित् ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—समान प्रवाह वाली पाँच नदियाँ सरस्वती को ही प्राप्त होती हैं। वह सरस्वती ब्रह्मर्षि देश में पाँच प्रवाहों में प्रकट हुई है ॥ ११ ॥

सरस्वतीनदीदेवत्या। या दृषद्वतीशतद्रुचन्द्रभागाविपाशेरावत्याख्याः पञ्च नद्यः सरस्वतीमपियन्ति सरस्वतीं लयं गच्छन्ति। कीदृश्यस्ताः? सस्रोतसः समानो स्रोतो यासां ताः, तुरवधारणे। सा उ सैव सरस्वत्येव पञ्चधा देशे सरितः सस्रोतसः पञ्चापि स्वनामानि त्यक्त्वा सरस्वत्येवाभवत्। तस्यां सारस्वतानि सत्राणि भवन्ति। इदानीं तु शतद्रवादयः स्वेन स्वेन रूपेणोपलभ्यन्ते।

अध्यात्मपक्षे—सरस्वती जिह्वानुगता नाडी सरस्वती। सरस्वत्याश्चालनेन स्वयं चलति कुण्डली, अन्याश्च सस्रोतस इडापिङ्गलाद्यास्तत्रैवापियन्ति। सैव तु पञ्चधाऽभवत्।

दयानन्दस्तु—'मनुष्यैः सस्रोतसः पञ्च नद्यो यां सरस्वतीमपियन्ति, सा उ सरित् सरस्वती देशे पञ्चधा त्वभवदिति विज्ञेयम्' इति, तदपि न, स्रोतःशब्दस्य मनोऽर्थत्वे पञ्च पञ्च ज्ञानेन्द्रियवृत्तय इत्यादिव्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्। न च सरस्वती वाग्रूपा स्वस्थाने पञ्चधा भवति। शब्दादिपञ्चविषयप्रतिपादकत्वेन तत्त्वे तु षड्विंशतितत्त्वप्रतिपादकत्वे षड्विंशतिधा भवेत् ॥ ११ ॥

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मो अङ्गि॑रा ऋषि॑र्दे॒वो दे॒वाना॑मभवः शि॒वः सखा॑ ।
तव॑ व्र॒ते क॒वयो॑ विद्म॒नाप॑सोऽजायन्त म॒रुतो॒ भ्राज॑दृष्टयः ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप यजमानों के सुखदाता, द्योतमान कल्याणरूप देवताओं के मुख्य सखा हैं। आपको सर्वप्रथम अंगिरा ऋषि ने देखा है। आपकी ही कृपा से कर्म के प्रवृत्त होने पर क्रान्तदर्शी विदितकर्मा मरुद्गण आयुधों से शोभायमान हुए हैं ॥ १२ ॥

चतस्र आग्नेय्यः, द्वे जगत्यौ, अन्ये त्रिष्टुबनुष्टुभौ। हे अग्ने, त्वं प्रथम आद्योऽङ्गिरा ऋषिरभवः, त्वं प्रथमो देवो देवानामभवः। शिवः कल्याणः सखा मित्रभूतोऽसि। यद्वा - हे अग्ने, त्वं देवानां प्रथमः सखा अभवः, भूतोऽसि। किंभूतोऽसि ? अङ्गिराः, अङ्गिरा ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा, अङ्गानां रसो वा अङ्गिराः, अथवा अङ्गिभ्य आत्मभ्यो यजमानेभ्यो राति सुखमित्यङ्गिराः। देवो द्योतमानः शिवः कल्याणरूपः। किञ्च, तव व्रते कर्मणि वर्तमाने मरुतो अजायन्त। कीदृशा मरुतः ? कवयः क्रान्तदर्शनाः, विद्मनापसः, अप इति कर्मनाम (निघ० २।१।१), विद्मना विदितानि अपांसि कर्माणि यैस्ते विद्मनापसः, विदितकर्माण इत्यर्थः। पुनः कीदृशाः ? भ्राजदृष्टयः, भ्राजन्त्यः शोभमाना ऋष्टय आयुधानि येषां ते तथोक्ताः, शत्रुघातकत्वात्। वेत्तेः कर्मणि मनिन्-प्रत्यये ततो विभक्तेराकारः, तस्य चालुक्, विद्मनापसः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं देवानां प्रथमो मुख्यः सखा अभवः, देवानां शत्रुघातकत्वाद् हितकारित्वाच्च। त्वं कीदृशः ? अङ्गिरा अङ्गिभ्यो देहधारिभ्यो राता सुखानाम् ऋषिः, अतीन्द्रियाणां द्रष्टा, देवो द्योतमानः स्वप्रकाशः शिवः कल्याणरूपः, तव व्रते कर्मणि सृष्टौ कवयः क्रान्तदर्शिनः, विद्मनापसो विदितकर्माणः, भ्राजदृष्टयः शोभनायुधाः, मरुतोऽजायन्त संजाताः। कार्यमाहात्म्येनापि कारणमाहात्म्यं व्यज्यते।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यतस्त्वं प्रथमोऽङ्गिराः, देवानां देवः शिवः सखा ऋषिरभवस्तस्मात्तव व्रते विद्मनापसो विद्मनानि विदितानि रपांसि कर्माणि येषां ते भ्राजदृष्टयः कवयो मरुतो अजायन्त' इति, तदपि न, अवयवानां भौतिकत्वेन परमेश्वरस्य तत्साररूपत्वापत्तेः। न च तत्सम्भवति, परमेश्वरस्याभौतिकत्वात् ॥ १२ ॥

त्वं नो॑ अग्ने॒ तव॑ देव पा॒युभि॑र्म॒घोनो॑ रक्ष त॒न्व॑श्च वन्द्य ।
त्रा॒ता तो॒कस्य॒ तन॑ये॒ गवा॑मस्यनिमेषꣳ रक्ष॑माणस्तव॑ व्र॒ते ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे द्योतमान स्तुतियोग्य अग्निदेव, आपके लिये यज्ञ कर्म में प्रवर्तमान धनवान् यजमानों के और हम ऋत्विजों के शरीरों को अपनी रक्षाशक्ति से रक्षित कीजिये। सावधानी से रक्षा कार्य में संलग्न आप अपने पुत्र यजमान के पुत्रों की इन्द्रियों की रक्षा कीजिये ॥ १३ ॥

रक्षणार्थे मन्त्रः। हे अग्ने, हे देव द्योतमान, हे वन्द्य स्तुत्य, तव व्रते ते कर्मणि वर्तमानान् मघोनो धनवतो यजमानान् तव पायुभिः पालनसाधनै रक्ष। नोऽस्माकं तन्वः शरीराणि च रक्ष। यतस्त्वमनिमेषं सावधानं रक्षमाणः पालयन् तोकस्य पुत्रस्य तनये तनयस्य पौत्रस्य, विभक्तिव्यत्ययः, गवां च त्राता रक्षकोऽसि भवसि—इति महीधराचार्यव्याख्याप्रकारः। उव्वटाचार्यस्तु—विषमोऽयं मन्त्र इति साध्याहारो व्याख्यायते। हे अग्ने, त्वं नोऽस्माकम्, आश्रय इति शेषः। अथैवं सति हे देव पायुभिः पालनैर्धैर्यावलम्बिभिः पालिताः सन्त आस्महे। किञ्च, मघोनो धनानि रक्ष तन्वः शरीराणि रक्ष, हे वन्द्य वन्दनीय। कस्मात्

पुनस्त्वमेवमुच्यसे ? यतः स्वभावत एव तोकस्य पुत्रस्य तनये तनयस्य पौत्रस्य गवां च त्रातासि । कथम् ? अनिमेषं प्रमादमकुर्वन् रक्षमाणः । एवं चेद् मृदुहृदयतमोऽसि । तव व्रते तव कर्मणि वयं स्याम, अन्या देवताः परित्यज्य त्वामेव परिचराम इत्यभिप्रायः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, हे देव स्वप्रकाशपरमेश्वर, हे वन्द्य सुरासुरसर्वप्राणिवन्दनीय, तव व्रते त्वदाराधनलक्षणे कर्मणि वर्तमानान् मघोनो ज्ञानवैराग्यादिधनयुक्तान् भक्तान् रक्ष पालय । नोऽस्माकं तन्वः शरीराणि त्वदुपासनसाधनत्वाद्रक्ष । हे भगवन्, त्वमनिमेषं निमेषोन्मेषावपि परित्यज्य निर्निमेषं सावधानः सन् पायुभिः पालनसाधनै रक्षमाणः सन् तोकस्य पुत्रस्य तनये तत्तनयस्य पौत्रस्य गवां च त्राता रक्षकोऽसि । स्वभावतस्तस्मात् त्वामेव भजाम इत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने देव, तव व्रते वर्तमानान् मघोनोऽस्मान् तव पायुभिस्त्वं रक्ष नस्तन्वश्च रक्ष । हे वन्द्य, यतस्त्वमनिमेषं रक्षमाणः स्तोकस्य तनये गवां च त्रातासि, तस्मात् सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजपक्षेऽसंगतेः, राज्ञो रक्षकत्वेऽस्य निःसीमत्वायोगात् । अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ १३ ॥

उ॒त्ता॒नाया॒मव॑ भरा चिकि॒त्वान्त्स॒द्यः प्रवी॑ता॒ वृष॑णं जजान ।
अ॒रु॒षस्तू॑पो॒ रुश॑दस्य॒ पाज॒ इडा॑यास्पु॒त्रो व॒युने॑ऽजनिष्ट ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी का पुत्र, हिंसारहित, ऊँची ज्वालाओं वाला अग्निदेव प्रज्ञान के निमित्त प्रकट हुआ है । इसके चेतनावान् प्रदीप्त बल को उत्तान अरणि में भरना चाहिये । यह अरणि कामनाओं को पूरा करने में समर्थ अग्नि को शीघ्र प्रकट करती है ॥ १४ ॥

योऽयमग्निः, अरुषस्तूपः, रोषतीति रुषो हिंसकस्तद्भिन्नोऽरुषोऽहिंसकः स्तूपो ज्वालोच्छ्रायो ज्वालामूर्तिर्वा यस्य स अरुषस्तूपः 'ष्टुु उच्छ्राये', यश्चाग्निः, इडायाः पृथिव्याः पुत्रः, यश्च वयुने प्रज्ञाने कर्तव्ये, अजनिष्ट जातः । यस्याग्नेः, रुशत् पाजो दीप्तबलं तमग्निमुत्तानायामरण्यां जातमवभरा, यद्वा अस्याग्ने रुशद् दीप्तं पाजो बलमरण्यामवाचीनं हर । चिकित्वान् अरण्या वीर्यं जानानः । किं तद्वीर्यमिति चेत्, तत्राह—सद्यः प्रवीता वृषणं जजान सद्य एव प्रवीता कामिता सती वृषणं कर्मफलवर्षितारं युवानं सर्वकर्मक्षममग्निं जजान जनयति, 'छन्दसि लुङ्लिङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) । 'अवभरा' इत्यत्र 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः ।

अध्यात्मपक्षे—योऽयमग्निरग्नेरग्निः श्रीरामः, 'सूर्यस्यापि भवेत् सूर्य अग्नेरग्निः' इति वचनात् । अरुषस्तूपोऽहिंसकचिन्मयप्रदीप्तिसंघातमूर्तिः, यस्यास्य रुशत् पाजो दीप्तं बलम्, यश्च इडाया ईड्यायाः, पृषोदरादित्वाद् ह्रस्वादिकम्, कौशल्यायाः पुत्रः, यश्च वयुने भक्तानां प्रज्ञाननिमित्तमजनिष्ट, 'सत्त्वं न चेद्धातरिदं वपुर्भवेद्विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्' (१०।२।३५) इति भागवतोक्तेः । यदि विशुद्धसत्त्वमयं भगवत्स्वरूपं नाविर्भवेत्तदा अज्ञानभिद्विज्ञानं संसारान्मार्जनं नाशमेव आप आप्नुयात्, भगवद्विग्रहध्यानेनैव तादृशविज्ञानस्य सम्भवात् । तमग्निं परमात्मानम्, उत्तानायाम् उदुत्कृष्टं ब्रह्मव्याप्तायां स्निग्धायां ब्रह्माकारवृत्तौ आभर समन्ताद्धारय । चिकित्वान् जानन् तदुत्तानाया ब्रह्माकाराया वृत्तेर्वीर्यं प्रभावं जानन् । किं तद्वीर्यमिति चेत्तत्राह—सद्यः प्रवीता वृषणं जजान । या च प्रवीता कामिता सेविता सती सद्यस्तत्क्षणमेव वृषणं स्वर्गापवर्गवर्षिणमग्निं भगवन्तं जजान जनयति प्रादुर्भावयति, 'त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोजे आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्' (३।९।१०) इति भागवतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु—हे विद्वन्, यथा चिकित्वान् प्रवीता विद्वानुत्तानायां वृषणं जजान अरुषस्तूप इडायाः पुत्रो वयुनेऽजनिष्टास्य रुशत्पाजश्चाजनिष्ट, तथा सद्योऽवभर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, वृषणस्य यज्ञार्थताऽपि निर्मूलैव, अभीष्टफलवर्षित्वस्येश्वरादावपि सम्भवात्। त्वद्रीत्या तु यज्ञस्य न फलदातृत्वम्, किन्तु केवलवायुशोधकत्वमेव। न चेडापदस्य प्रशंसितायां स्त्रियां शक्तिः, प्रमाणाभावात्॥ १४॥

इडा॑यास्त्वा प॒दे व॒यं नाभा॑ पृथि॒व्या अधि॑।
जात॑वेदो॒ निधी॑मह्य॒ग्ने॑ ह॒व्याय॒ वोढ॑वे॥ १५॥

मन्त्रार्थ—हे सर्वज्ञ अग्निदेव, पृथ्वी की देवयजन नामक नाभि में, पृथ्वी के उत्तरवेदी स्थित स्थान में हम आपको हव्य धारण के करने लिये स्थापित करते हैं॥ १५॥

हे जातवेदः! जातप्रज्ञान अग्ने, इडायाः पृथिव्याः, पदे स्थाने देवयजनाख्ये, पृथिव्या नाभौ अधि उपरि उत्तरवेद्या मध्ये उपरि वयं त्वा त्वां निधीमहि स्थापयामः, उत्तरवेद्यां नाभिका भवतीति श्रवणात्। किमर्थम्? हव्याय वोढवे हविषो वहनाय प्रापणाय, विभक्तिव्यत्ययः। 'तुमर्थे सेसेनसे' (पा० सू० ३।४।९) इति तवैप्रत्ययः 'सहिवहोः' (पा० सू० ६।३।११२) इत्योकारः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर जातमात्रस्य वेदिन्, इडायाः पृथिव्याः पदे स्थाने देवयजनाख्ये पृथिव्या नाभौ उत्तरवेद्यां मध्ये त्वामाहवनीये रूपे स्थापयामः। किमर्थम्? हव्याय हव्यस्य प्रापणाय। परमेश्वरस्यैव हि यज्ञियाग्निरूपेणापि प्रादुर्भावः। स एव हविषां वोढा भवति, सर्वशक्तिमत्त्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदोऽग्ने, वयमिडायाः पदे पृथिव्या अधि नाभौ त्वां हव्याय वोढवे निधीमहि' इति, तदपि न, अत्रापि मुख्यार्थत्यागे गौणार्थग्रहणे च बीजाभावात्। इडायाः प्रशंसितवाण्याः पदे प्रतिष्ठायामित्यप्यपव्याख्यानं पूर्वापरविरुद्धं च, क्वचित् प्रशंसिता स्त्री, क्वचित्तादृशी वाणीति स्वातन्त्र्यमूलकमेव सर्वम्॥ १५॥

प्र मन्म॑हे शवसा॒नाय॑ शू॒षमा॑ङ्गू॒षं गिर्व॑णसे अङ्गि॒रस्व॑त्।
सु॒वृ॒क्तिभिः॑ स्तुव॒त ऋ॑ग्मि॒याया॒र्चा॑मा॒र्कं नरे॒ विश्रु॑ताय॥ १६॥

मन्त्रार्थ—हम ऋत्विक्‌गण इन्द्र के बल को बढ़ाने के लिये त्रिवृत् आदि स्तोमों का पाठ करते हैं। बल की अभिलाषा वाले वेदवचन से स्तुति के इच्छुक, शोभन स्तुतियों का गान करने वाले, ऋचाओं का व्यवहार करने वाले, भक्ति-ज्ञान के अनुष्ठान से अथवा शूरता आदि से विख्यात यजमान के निमित्त हम अंगिरा वंश के ऋषियों के समान वेद-मन्त्रों का पाठ करते हैं॥ १६॥

चतस्र ऐन्द्र्यस्त्रिष्टुभः। इन्द्राय शवसानाय शवो बलमात्मन इच्छति शवस्यति यः स शवसानस्तस्मै बलमभिलषमाणाय गिर्वणसे गिरा स्तुत्या वनयति संभजयत्यात्मानमभिलषितदानात् स्तोतृभ्यः। सुवृक्तिभिः स्तुवते शोभनाभिः स्तुतिभिर्यजमानान् स्तौति यस्तस्मै। यथा—'त्वमङ्ग प्रशꣳसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्' (वा० सं० ६।३७)। ऋङ्मियाय ऋग्मयाय वेदमयाय, 'ऋच् स्तुतौ' ऋग्मः स्तुतिस्तमर्हति यस्तस्मै स्तुतियोग्याय नरे नररूपाय विश्रुताय शौर्यवीर्यदानादिभिर्लब्धख्यातये वयं शूषं बलं बलहेतुम् आङ्गूषं स्तोम आघोषं स्तोमं त्रिवृदादिकं प्रमन्महे प्रजानीमः। अर्कं मन्त्रं च अर्चाम उच्चारयाम, धातूनामनेकार्थत्वेनार्चतिरत्रोच्चारणार्थः।

अङ्गिरस्वद् अङ्गिरस इव, अङ्गिरोभिर्यथा स्तोमो ज्ञातो मन्त्रश्च पठितस्तद्वत्। शवसानः 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यच्, तदन्ताच्छानच् शप्, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।३९) इति तस्य लुक्, 'छन्दस्युभयथा' (३।४।११७) इति शानचोऽप्यार्द्धधातुकत्वात् 'क्यस्य विभाषा' (पा० सू० ६।४।५०) इति क्यचो लोपः। गिर्वणसे गीःशब्दोपपदाद् वनतेर्ण्यन्तादसुनि वनेर्घटादित्वेन मित्संज्ञत्वाद् ह्रस्वत्वं णिचो लोपः, दीर्घाभावश्छान्दसः। यद्वा स्वार्थे णिच्। गीर्भिरेनं देवा भजन्तीति गिर्वणास्तस्मै। ऋग्मियाय, मयडर्थे छान्दसो मियट्प्रत्ययः, यद्वा 'ऋच् स्तुतौ' इत्यस्माद् भावे औणादिके मकि कुत्वे जश्त्वे च ऋग्मस्तमर्हतीति ऋग्मियः, अर्हार्थे घच्। नरे नृशब्दस्य ङे परे छान्दसो गुण इति महीधराचार्याः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्राय परमेश्वराय श्रीरामाय शूषं बलहेतुम् आङ्गूषं त्रिवृदादिस्तोमं प्रमन्महे प्रजानीमः, अर्कं मन्त्रं च अर्चाम उच्चारयामः। कथमिव ? अङ्गिरस्वद् अङ्गिरस इव। कीदृशाय ? शवसानाय रावणादीनां समक्षं बलं लोकोत्तरमाविष्कुर्वते, गिर्वणसे देवगिरा स्तुत्या वनयति संभाजयति स्वात्मानमभिलषितदानात् स्तोतृभ्यो यस्तस्मै गीर्भिर्यं देवं वनन्ति तस्मै वा अङ्गिरस्वते सुवृक्तिभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः स्तौति यः स स्तुवन् तस्मै। श्रीरामो यज्ञे देवान् ब्राह्मणान् स्तौति, भक्तांश्च शोभनाभिः स्तुतिभिः स्तौत्येव। ऋग्मियाय ऋगादिवेदमयाय, वेदवेदार्थस्वरूपत्वात्। स्तुतिमयाय अर्चनीयाय वा नरे नृरूपाय दशरथापत्यरूपेण जाताय विश्रुताय शौर्यवीर्यदानयज्ञसेतुबन्धरामेश्वरस्थापनाभिः समुपलब्धख्यातये ते आङ्गूषं स्तोमं प्रमन्महे, अर्कं मन्त्रमर्चाम।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यथा वयं सुवृक्तिभिः शवसानाय गिर्वणस ऋग्मियाय विश्रुताय स्तुवते नरेऽङ्गिरस्वदाङ्गूषं शूषं प्रमन्महे, एतमर्कमर्चाम, तथैव तं प्रति यूयं वर्तध्वम्' इति, तदपि न, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्। आङ्गूषपदमपि न विद्याशास्त्रबोधकम्, निर्मूलत्वात्। न च निघण्टुवचनं मूलम्, तस्य पदनामत्वेऽपि विद्याशास्त्रपरत्वानुपपत्तेः॥ १६॥

प्र वो॑ म॒हे महि॒ नमो॑ भरध्वमाङ्गू॒ष्य॑ꣳ शवसाना॒य साम॑।
येना॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑ पद॒ज्ञा अर्च॑न्तो॒ अङ्गि॑रसो॒ गा अवि॑न्दन्॥ १७॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों, आप लोग अपने महान् देवता इन्द्र के निमित्त उस महान् हवि को और स्तोम के हितकारी साम को समर्पित करें, जिस अन्न या साम के द्वारा हमारे पूर्व पितृगणों ने, ब्रह्मज्ञानियों ने स्तुति करते हुए वृष्टि, पृथ्वी, ज्योति, गौ और सूर्य की किरणों को पाया था॥ १७॥

येनान्नेन हविर्लक्षणेन साम्ना चार्चन्तः स्तुवन्तः सन्तः, नोऽस्माकं पूर्वे पितरः, पदज्ञाः पद्यते गम्यते तत्त्वदर्शिभिस्तत्पदं ये जानन्ति ते पदज्ञा आत्मयाथात्म्यवेदिनः, गाः सूर्यकिरणान्, अविन्दन् लब्धवन्तः। स हि साम्नां लोकः, तत्साम प्रभरध्वम्, वो यूयं हे पुत्रपौत्रप्रपौत्राः, महे महते शवसानाय बलमभिलषमाणाय इन्द्राय महि महद् नमोऽन्नम् आङ्गूष्यं आङ्गूषाय हितं साम प्रभरध्वमुच्चारयत, प्रभरध्वं प्रहरतम्, समर्पयताम्। यूयमित्यर्थे व इत्यव्ययम्।

अध्यात्मपक्षे—ये महे महते शवसानाय बलमाविष्कुर्वते इन्द्राय श्रीरामाय महि महद् नमोऽन्नं वो यूयं हे पुत्रादयः प्रभरध्वम्, आङ्गूष्यं साम चोच्चारयतम्। किं तत् ? महद् अन्नं आङ्गूष्यं नोऽस्माकं पूर्वे पितरः पदज्ञा आत्मयाथात्म्यज्ञा आङ्गिरसो येनान्नेन साम्ना चार्चन्तो गा आदित्यरश्मीन् अविन्दन् लेभिरे, स हि साम्नां लोकः, तत् साम प्रहरध्वमित्यर्थः।

दयानन्दस्तु – हे मनुष्याः, यथा पदज्ञा नोऽस्मानर्चन्तोऽङ्गिरसः पूर्वे नः पितरो येन महे शवसानाय वश्चाङ्गूष्यं साम गाश्चाविन्दन्, तेन तेभ्यो यूयं महि नमः प्रभरध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, संशोधनस्य निर्मूलत्वात्, पितरः पालका ज्ञानिनोऽङ्गिरसः सर्वस्याः सृष्टेर्विद्याङ्गविद इत्यस्य व्याख्यानस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ १७ ॥

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांᳬसि ।
तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ – हे इन्द्रदेव ! कोई भी श्रेष्ठ और विशिष्ट ज्ञान आप से ही प्राप्त होता है । सोम के सम्पादक ऋत्विक्-गण आपको ही चाहते हैं, सोम को अभिषुत करते हैं अथवा आत्मप्रतिबिम्ब को देहाभिमान से पृथक् करते हैं, विविध अन्नों को धारण करते हैं और मनुष्यों के दुर्वचनों को सहते हैं ॥ १८ ॥

हे इन्द्र, सोम्यासः सोमसंपादिनः, त्वा त्वामिच्छन्ति । के ते ? सखायः समानख्याता मित्रभूता ब्राह्मणाः । देवानां विप्राणां च सखित्वं श्रुतिषु प्रसिद्धम्, 'द्वया वै देवा अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाᳬसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवा.' इत्युक्तेः । केन प्रकारेण इच्छन्ति ? सुन्वन्ति सोमम् अभिषुण्वन्ति सोमलताम्, दधति च प्रयांसि, प्रयांसि अन्नानि हविर्लक्षणानि धारयन्ति । किञ्च, तितिक्षन्ते अभिशस्तिं दुर्जनानां दुर्वचनानि सहन्ते मनोवाक्कायसंयताः क्षान्तिपरायणा भवन्तीत्यर्थः । अथैवमिच्छतां हे इन्द्र, त्वत् त्वत्तः सकाशात्, कश्चन कोऽपि लोकोत्तरः, चनशब्दोऽप्यर्थः, प्रकेतः प्रज्ञानविशेषः, हि यतः, आसमन्ताद्भावेनात्यर्थं भवति, तस्मात् सखायो विप्राः सोम्यासः सोमं सुन्वन्तः प्रयांसि समर्पयन्तस्त्वामिच्छन्तीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र श्रीराम ! त्वत् त्वत्तः सकाशात् कश्चन कोऽपि प्रकेतो ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपः, हि यत आ अत्यर्थं भवति, तस्मात् सोम्यासः सोमसम्पादिनः सखायो विप्रास्त्वामिच्छन्ति, सोमं सुन्वन्ति प्रयांसि दधति, अभिशस्तिं तितिक्षन्ते, त्वत्साक्षात्कारप्रेप्सया सोमादियागं कुर्वन्तः मनोवाक्कायैः संयता भवन्ति ।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, ये सोम्यासः सखायः सोमं सुन्वन्ति प्रयांसि दधति जनानामभिशस्तिमातितिक्षन्ते च, नस्त्वं सततं सत्कुरु । हि यतः प्रकेतः कश्चन नास्ति । तस्मात् त्वामिच्छन्ति' इति, तदपि न, इन्द्रपदस्य सभाध्यक्षार्थत्वे मानाभावात् । अभिषवार्थस्य सुनोतेर्निष्पादनार्थत्वायोगात् । 'प्रयांसि कमनीयानि विज्ञानादीनि' इत्यपि च निर्मूलम्, धात्वर्थाननुरोधात् ॥ १८ ॥

न ते दूरे परमा चिद्रजाᳬस्या तु प्र याहि हरिवो हरिभ्याम् ।
स्थिराय वृष्णे सवना कृतेमा युक्ता ग्रावाणः समिधाने अग्नौ ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्ववान् इन्द्र, अग्नि के प्रज्वलित होने पर आपके जैसे अचल सेक्ता के निमित्त हमने यह प्रातःसवन आदि कृत्य सविधि पूरे किये हैं । हम आपके लिये प्रस्तर पर सोम का अभिषव करने में लगे हैं । इस कारण अश्व पर आरूढ़ हो शीघ्र यहाँ आइये । इन अश्वों के कारण बहुत दूर का स्थान भी आपके लिये दूर नहीं है ॥ १९ ॥

हे हरिवः ! हरी हरितवर्णावश्वौ यस्य तत्सम्बुद्धौ, आ प्रयाहि तु तूर्णम् । ननु स्वर्गात् कथमतिदूरे मयाऽऽगन्तव्यमिति चेत्तत्राह—नहि ते दूरे परमा ते तव परमा परमाणि विप्रकृष्टान्यपि रजांसि स्थानानि दूरे न चित् सन्ति, चिच्छब्दोऽप्यर्थः, अतिदूरमपि ते निकटमेवात आ प्रयाहीत्यर्थः । ननु किमर्थमागन्तव्यमिति चेत्,

स्थिराय दृढसौहृदाय वृष्णे सेक्त्रे फलवर्षित्रे तुभ्यम् इमा इमानि सवना प्रातःसवनादीनि कृता कृतानि, ग्रावाणः पाषाणविशेषाः, युक्ता योजिता अभिषवकर्मणि, समिधाने समिध्यमानेऽग्नौ आहवनीयाख्ये आहुतयो होष्यन्ते । तु-शब्दो हेत्वर्थः । तस्माद् हरिभ्यामश्वाभ्यामागन्तव्यम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे हरिवः, विविधैर्हरिभिर्वानरभटैर्युक्त ! हरिभ्यां हनुमदङ्गदाभ्यां सहेहागन्तव्यम् । नहि विप्रकृष्टान्यपि रजांसि स्थानानि तव दूरे चिद् भवन्ति, दूरस्थमपि स्थानं तव निकटमेवेत्यर्थः । स्थिराय दृढसौहृदाय वृष्णे फलवर्षित्रे इमानि सवना प्रातःसवनादीनि कृता कृतानि । अन्यत् सर्वं पूर्ववत् । दृढसौहार्द-मभिलषिताधिकदातृत्वं रामायणादौ श्रीरामस्य स्पष्टमेव वर्णितम् ।

दयानन्दस्तु—'हे हरिवो राजन् ! यथा समिधानेऽग्नौ इमा सवना कृतास्तु ग्रावाणो युक्ता भूत्वा गच्छन्ति, तथा स्थिराय वृष्णे हरिभ्यामाप्रयाहि । एवं कृते परमाचिद्रजांसि दूरे न भवन्ति' इति, तदपि न, हरिद्वर्णाश्वेषु हरिपदप्रयोगेण हरिव इत्यस्य राजार्थकत्वायोगात् । ग्रावाणो गर्जनाकर्तार इत्यप्युपहासास्पदम्, सवनप्रसङ्गेऽभि-षवसाधनभूतानां ग्राव्णां स्थाने मेघग्रहणासङ्गतेः ॥ १९ ॥

अषा॑ढं यु॒त्सु पृत॑नासु॒ पप्रि॑ꣳ स्व॒र्षाम॒प्सां वृ॒जन॑स्य गो॒पाम् ।
भ॒रे॒षु॒जाꣳ सु॑क्षि॒तिꣳ सु॒श्रव॑सं॒ जय॑न्तं॒ त्वामनु॑ मदेम सोम ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, युद्धों में अनभिभूत, अत्यन्त उत्कृष्ट सेनाओं के पालक, द्युलोक से भी जल की वर्षा करने वाले, बलों के रक्षक, संग्रामों में जयशील, श्रेष्ठ निवास वाले, श्रेष्ठ कीर्तिमान् आपका हम अनुमोदन करते हैं ॥ २० ॥

चतस्रः सोमदेवत्यास्त्रिष्टुभः । हे सोम ! जयन्तं परसैन्यानि जयन्तं त्वां दृष्ट्वा उत्साद्यन्त इति दृष्ट्वा त्वा त्वामनु वयं मदेम हृष्टाः स्याम । कीदृशं त्वाम् ? युत्सु युद्धेषु, अषाढमषोढमसहनमनभिभूतम्, सहतेऽसौ साढः, न साढोऽषाढस्तं वा । पृतनासु सेनासु पप्रितारं पालयितारम् । 'पॄ पालनपूरणयोः' इत्यस्यैवैतद्रूपम्, न तु 'प्रा पूरणे' इत्यस्येत्युव्वटाचार्याः । स्वर्षाम्, स्वर्दिवं सनोति संभजते वा स स्वर्षास्तम्, अप्साम् अपो जलानि सनोतीति सम्भजते वा स अप्सास्तं वृजनस्य बलस्य गोपां रक्षकम् । भरेषुजां संग्रामेषु जेतारम्, जयतेरेतद्रूपं न जानातेः । सुक्षितिं सुनिवासम् । सुश्रवसं कल्याणकर्मकर्तृत्वेन प्रसिद्धम्, शोभनं श्रवः कीर्तिर्यस्य स सुश्रवास्तम् । अषाढमित्यत्र सहेः क्तः, ढत्वम् (पा० सू० ६।३।१११), धत्वम् (पा० सू० ९।२।४०), ष्टुत्वम् (पा० सू० ८।४।४१), 'ढो ढे लोपः' (पा० सू० ८।३।१३), 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (पा० सू० ६।३।१११), बाहुलकात् 'सहिवहोरोदवर्णस्य' (६।३।११२) इत्यस्याप्रवृत्तिः । षत्वं छान्दसम् । पप्रिमित्यत्र 'प्रीङ् पालनपूरणयोः', 'आदृगमहन' (पा० सू० ३।२।१७१) इति किः, द्वित्वादिः । स्वर्षामित्यत्र स्वःपूर्वात् सनोते विट्, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१), एवमप्सामित्यत्र । गोपायतीति गोपाः क्विप्, अतो लोपः, यलोपः । भरेषुजामित्यत्र भरेषु संग्रामेषु जयति शत्रूनिति 'हलदन्तात् सप्तम्याः' इत्यलुक्, जयतेरौणादिको डाप्रत्ययः । मदेमेत्यत्र 'मदी हर्षे' लिङ्, व्यत्ययेन शप्—इति महीधराचार्याः ।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम ! उमया सहितो देवः सोमः साम्बसदाशिवः । जयन्तं त्रिपुरादिकं जयन्तं त्वां दृष्ट्वा वयं मदेम हृष्टाः स्म । कीदृशं त्वाम् ? युत्सु अषाढमनभिभूतम् । साम्बशिवस्य परमेश्वरत्वादष्टमूर्तित्वात् स्वर्षात्वमप्सात्वं चोपपद्यते—'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहस्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च' (महिम्नस्तवे, २६) इत्युक्तेः । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे सोम राजन् सेनापते वा, वयं यं युत्स्वषाढं पृतनासु पप्रिं स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपां भरेषुजां सुक्षितिं सुश्रवसं जयन्तं त्वामनुमदेम' इति, तदपि न, शाब्दन्यायातिक्रमणात्। बीजमन्तरा गौणार्थश्रयणेन शाब्दक्षेत्रेऽराजकतैवोत्पाद्यते। पदार्थनिरूपणेऽषाढं सोढुमर्हमित्युक्तम्, भाषाव्याख्यानेऽसह्यमित्युक्तम्। सुक्षितिः शोभना क्षितिर्यस्येति समासे राज्यं कुतो गृहीतमित्यनुक्तेः ॥ २० ॥

सोमो धेनुᳯं सोमो अर्वन्तमाशुᳯं सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति ।
सादन्यं विदथ्यᳯं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ – जो यजमान सोम के लिये हवि देता है, उसको सोम रूप ईश्वर धन देते हैं। सोम शीघ्रगामी घोड़ों के जैसा है। सोम कर्म में कुशल, गृह कार्य में कुशल, यज्ञ में कुशल, सभा के योग्य और पिता के आज्ञाकारी वीर पुत्र को देता है ॥ २१ ॥

सोमो देवस्तस्मै शीघ्रं धेनुं ददाति, सोम एवाशु शीघ्रमर्वन्तमश्वम्, सोमश्च तस्मै वीरं पुत्रं ददाति। कीदृशं वीरम्? कर्मण्यं कर्मणि साधुं लौकिकश्रौतस्मार्तकर्मदक्षम्, सादन्यं सदने गृहे च साधुम्, विदथ्यं विदथे यज्ञे साधुम्, सभेयं सभामर्हतीति सभेयस्तम्, पितृश्रवणं पितरं शृणोति यः स तम्, पितुरनुशासने स्थितम्, विनीतमित्यर्थः। कस्मै सर्वमेतद्ददाति? यो यजमानः, अस्मै सोमाय हविर्ददाशद् ददाति। कर्मण्यण्, 'तत्र साधुः' (पा० सू० ४।४।९८) इति यत्। सभेयम्, 'ढश्छन्दसि' (पा० सू० ४।४।१०६) इति सभायाः साध्वर्थे ढप्रत्ययः, तस्येयादेशः (पा० सू० ७।१।२)। ददाशत्, दाशृ दाने, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति शपः श्लुर्द्वित्वम्। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति यलोपः 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागम इति महीधराचार्यः।

अध्यात्मपक्षे उमया सहितः सोमः साम्बसदाशिवः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'यो मनुष्योऽस्मै सोमायोचितं ददाशत्तस्मै सोमो धेनुं ददाति। सोमोऽर्वन्तमाशु ददाति। सोमः कर्मण्यं सादन्यं विदथ्यं पितृश्रवणं सभेयं वीरं च ददाति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजादियाच्ञादिवर्णनस्य निष्फलत्वेन वेदार्थत्वाभावात्। न च राजा सर्वेभ्यो याजकेभ्यो धेनुमर्वन्तं च दातुं शक्नोति, पितृश्रवणवीरादिदाने तु राज्ञोऽल्पशक्तेर्जीवस्य सामर्थ्यमेव न भवति ॥ २१ ॥

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुमने इन सब औषधियों को उत्पन्न किया, तुमने जल को उत्पन्न किया, तुमने गायों को उत्पन्न किया, तुमने विस्तीर्ण अन्तरिक्ष का चारों तरफ विस्तार किया। तुम ही अपने तेज से अन्धकार को दूर करते हो ॥ २२ ॥

हे सोम, त्वमिमा विश्वाः सर्वा ओषधीरपो जलानि, गा धेनूः, अजनय उत्पादितवानसि। त्वमुरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमाततन्थ आततवानसि। त्वं च ज्योतिस्तेजसा तमोऽन्धकारं विववर्थ विवृणोषि, आदित्यरूपेण तमोऽपनयसि। सर्वात्मत्वेन स्तुतिः।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बशिव ! परमेश्वरस्यैव सर्वजनकत्वात् तत्रैव निरुपचरितानि सर्वाणि विशेषणानि । व्याख्यानं तु पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'हे सोम राजन्, यस्त्वमिमा ओषधीस्त्वं सूर्य इवापस्त्वं गाश्चाजनयः, त्वं सूर्य इवोर्वन्तरिक्षमाततन्थ, सविता ज्योतिषा तम इव न्यायेनान्यायं विववर्थ, स त्वमस्माभिर्माननीयोऽसि' इति, तदपि न, मनुष्ये राजनि सोमवद्रोगनाशकत्वाभावात् । न च स सर्वा ओषधीर्व्याप्नोति । न च पृथिवीमपश्च जनयति । न च सूर्यवत्तमोऽपसारयति ॥ २२ ॥

दे॒वेन॑ नो॒ मन॑सा देव सोम रा॒यो भा॒गꣳ स॑हसावन्न॒भि यु॑ध्य ।
मा त्वा त॑न॒दी शषे वी॒र्य॑स्यो॒भये॑भ्य॒ः प्रचि॑कित्सा॒ गवि॑ष्टौ ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हे बलवान्, दीप्तिमान् सोम देवता ! उदार मन के साथ हमें धन का भागी बनाओ । तुम्हारे सामने कोई भी प्रतिबन्ध खड़ा न करे । तुम बल के स्वामी हो । स्वर्ग की कामना वाले व्यक्तियों के लिये दोनों लोकों की चिकित्सा करो, अर्थात् दोनों लोकों की प्रतिबन्धक पाप रूप व्याधियों को दूर करो ॥ २३ ॥

हे सोम हे सहसावन् हे सहस्वन् बलवन् ! सहःशब्दो बलवचनः सान्तः, तत्र अकारागमश्छान्दसः । यद्वा सहसावन् प्रथमार्थे तृतीया, सहसा सहो बलमस्यास्तीति सहसावन्, अलुक् । देवेन दैवेन देवसम्बन्धिना मनसा सह रायो धनस्य भागं नोऽस्मभ्यमभियुध्य अभिगमय, देहीत्यर्थः । दैवेनेति प्राप्ते तद्धितलोपश्छान्दसः । युध्यतिर्गत्यर्थोऽन्तर्भावितण्यर्थश्च गृह्यते । एवं दानप्रवृत्तं त्वां कश्चन मा आतनत् आतनोतु, मा प्रतिबध्नीयात् । तनोतिः प्रतिबन्धार्थः । कुत इति चेत्तत्राह—यतस्त्वं वीर्यस्य ईशिषे स्वकीयस्य वीरकर्मण ईश्वरो भवसि । 'अधीगर्थदयेशाम्' (पा० सू० २।३।५२) इति कर्मणि षष्ठी । उभयेभ्यः प्रचिकित्सा उभयलोकप्राप्त्यर्थम्, गविष्टौ, गोशब्देनात्र द्युलोकोऽभिप्रेतः, स्वर्गैषणायां विषयभूतायां सत्यां चिकित्सां कुरु व्याध्यपगमं कुरु । उभयलोकप्रतिबन्धकं विघ्नं निवर्तय । दैवं मनः प्राप्य लब्धधना अरोगाश्च यथा स्वर्गं यास्यामस्तथा कुरु । 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः ।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बशिव ! देवेन दैवेन देवसम्बन्धिना मनसा सह रायो धनस्य भागं नोस्मभ्यम् अभियुध्य प्रदेहि । देवसम्बन्धि दिव्यम् इष्टदेवोपासनापरायणं मनः, तदुपासनोपयोगि धनस्य भागं च देहि । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे सहसावन् सोम राजन्, यस्त्वं देवेन मनसा रायो भागं नोऽभियुध्य, यतस्त्वं वीर्यस्येशिषे, कश्चिन्मा आतनत्, स त्वं गविष्टावुभयेभ्यः प्रचिकित्सा' इति, तदपि न, जीवेऽखिलैश्वर्यप्रापकत्वासम्भवात् । न च राजा सर्वेभ्यस्तत्सम्पादयितुं शक्नोति ॥ २३ ॥

अ॒ष्टौ व्य॑ख्यत् क॒कुभ॑ः पृथि॒व्यास्त्री धन्व॒ योज॑ना स॒प्त सिन्धू॑न् ।
हि॒र॒ण्या॒क्षः स॑वि॒ता दे॒व आगा॒द् दध॒द्रत्ना॑ दा॒शुषे॒ वार्या॑णि ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—ज्योतिःस्वरूप नेत्र वाला, सबका प्रेरक सविता देवता हवियों के दाता यजमान के लिये वरणीय रत्नों को देता हुआ प्रकट होवे । इस सविता देव ने भूमि की आठ दिशाओं के और तीनों लोकों के योजन आदि परिमाणों को और समुद्रों को भी प्रकाशित किया है ॥ २४ ॥

चतस्रः साविश्यः, द्वितीया जगती, त्रिष्टुभोऽन्याः। हिरण्यस्तूपस्यार्षम्। यः सविता पृथिव्याः सम्बन्धिनीः, अष्टौ अष्टसंख्याकाः ककुभो दिशः, चतस्रो दिशश्चतस्रश्चावान्तरदिशः, सर्वाः दिशः, व्यख्यत् प्रकाशितवान्, यश्च त्रीणि धन्व धन्वानि लोकान् पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकान्, व्यख्यत् प्रकाशितवान्, धन्वेत्यन्तरिक्षनाम, तेनैव तदुपलक्षितौ इतरावपि लोकौ लक्ष्येते, छत्रिणो यान्तीतिवत्। यश्च योजना योजनानि योजनगव्यूति-क्रोशादीन् अध्वपरिमाणविशेषान् व्यख्यत्, यश्च सप्त सिन्धून् क्षीरोदाद्यान् व्यख्यत्, उपलक्षणमेतत् सर्वलोकस्य। सर्वजगत्प्रकाशकः सोऽयं सविता हिरण्याक्षः, हिरण्यमिव कान्तियुक्ते अक्षिणी यस्य स हिरण्याक्षः, हिरण्य-सदृशाक्षः, अमृतदृष्टिर्वा सविता देवः, वार्याणि वरणीयानि रत्ना रत्नानि रत्नमयानि धनानि दाशुषे हवींषि दत्तवते यजमानाय दधद् धारयन् आगाद् आगच्छति। अख्यत्, 'ख्या प्रकथने', 'अस्यतिवक्ति' (पा० सू० ३।१।५२) इति च्लेरङ् आलोपश्च। धातूनामनेकार्थत्वादत्र प्रकाशनार्थो ग्राह्यः। त्री योजना, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९)। इत्यादिना पूर्वसवर्णदीर्घो विभक्तेः। धन्व, सुपो लुक्। रत्ना, सुप आकारः। दाशुषे 'दाश्वान्साह्वान्' (पा० सू० ६।१।१२) इति निपातः। वार्याणि, 'ऋहलोर्ण्यत्' (पा० सू० ३।१।१२४) इति वृणोतेर्ण्यत्।

अध्यात्मपक्षे—स वेदान्तेषु प्रसिद्धः सविता सर्वोत्पादकः। 'षूङ् प्राणिप्रसवे' उत्पत्तिरुपलक्षणं स्थितिप्रलययोः, जगदुत्पत्तिस्थितिलयशीलः सर्वेश्वरः, आगाद् आगच्छतु। किं कुर्वन्? दाशुषे हवींषि दत्तवते यजमानाय वार्याणि वरणीयानि रत्ना रत्नानि दधद् ददत् स्थापयन् वा। कीदृशः सविता? हिरण्याक्षः अमृत-दृष्टिः। स कः? यः पृथिव्याः सम्बन्धिनीरष्टौ ककुभो व्यख्यत् प्रकाशितवान्। हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशादिरूपेण वर्णितः परमेश्वर एवादित्यरूपेण सर्वा दिशो विदिशश्च प्रकाशयति। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः! यथा हिरण्याक्षो देवः सविता दाशुषे वार्याणि रत्ना दधत् त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् पृथिव्या अष्टौ ककुभो व्यख्यद् आगाच्च, तथैव यूयं भवत' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूल-त्वात्। सूर्यस्येव मनुष्याणां सर्वासां दिशां पृथिव्याः सिन्धूनां च प्रकाशकत्वासम्भवात्। रत्नधारकत्वमपि चिन्त्यमेव ॥ २४ ॥

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—ज्योतिःस्वरूप हाथ वाला, कृत और अकृत का साक्षी यह सविता देवता दोनों द्यावाभूमियों के बीच में सूर्य के रूप में विचरण करता है, रोगों को दूर करता है और जब छिप जाता है, तब अन्धकार रूप रज से आकाश को ढक देता है ॥ २५ ॥

हिरण्यपाणिः सुवर्णपाणिः, विचर्षणिर्विविधं द्रष्टा कृताकृतप्रत्यवेक्षकः, सूर्यं सूर्यः, विभक्तिव्यत्ययः, उभे उभयोः, द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्योः, षष्ठ्यर्थे द्वितीया, अन्तर्मध्ये, ईयते आगच्छति, ईङ् गतौ, यदा तदा अमीवां व्याधिमपबाधते, अन्धकारमयं रोगमपसारयति। अथ यथा वेति अस्तमयसमये गच्छति, तदा कृष्णेन रजसा अन्धकारलक्षणेन द्यां द्युलोकमभि ऋणोति अभिव्याप्नोति। वेतिर्विगतिकर्मा। यद्वा वेति सूर्यं सूर्यरूप-मवस्थाय गच्छति।

आध्यात्मिकोऽर्थः—सविता विश्वस्य प्रसविता, सूर्यं सूर्यः, विचर्षणिर्विश्वस्य कृताकृतावेक्षकः, उभयो-र्द्यावापृथिव्योर्मध्ये, ईयते आगच्छति, परमेश्वर एव सूर्यरूपेण सर्वस्य प्रकाशकः कृताकृतावेक्षको भवति, तस्यैव गृहीतलीलाविग्रहस्य हिरण्यपाणित्वादिकमपि सङ्गच्छते। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यो हिरण्यपाणिर्विचर्षणिः सविता सूर्यो यदोभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते तदाऽमीवामपबाधते' इति, तन्न, हिरण्यपाणिपदस्य गौणार्थग्रहणे हेत्वभावात्, सिद्धान्ते तु सूर्याधिष्ठातुर्विग्रहवतो देवस्य हिरण्यपाणित्वाभ्युपगमात् । यो हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः, स हिरण्यपाणिरपि स्यादेव ॥ २५ ॥

हिर॑ण्यहस्तो असु॑रः सुनी॒थः सु॑मृडी॒कः स्ववाँ॑ यात्व॒र्वाङ् ।
अ॒प॒सेध॑न् र॒क्षसो॑ यातु॒धाना॒नस्था॑द् दे॒वः प्र॑तिदो॒षं गृ॑णा॒नः ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ— ज्योतिःस्वरूप हाथ वाला, प्राणदाता, कल्याणरूप स्तुति वाला, सुखदाता, धनवान्, छः ऐश्वर्यों से सम्पन्न अन्तर्यामी सविता देव भले आदमियों की बुद्धि को सुशिक्षित करता हुआ और राक्षस रूप दुःखदाताओं को दण्ड देता हुआ लौट कर हमारे सामने आवे ।। २६ ।।

यो रक्षसो राक्षसान् यातुधानांश्च असुखकरान् अपसेधन् अपगमयन् अस्थाद् उदस्थात्, स देवः, अर्वाग् अर्वागञ्चनः, अस्मदभिमुखो यातु आयातु । कथंभूतो देवः ? हिरण्यहस्तः, हिरण्यं स्वर्णं दानार्थं हस्ते यस्य सः, हिरण्मयौ हस्तौ वा यस्य स तथोक्तः । असुरः, असून् प्राणान् राति ददाति यः सः । सुनीथः, शोभना नीथा स्तुतिर्यस्य । सुमृडीकः सुखयिता स्वबान्धवानाम्, देवः प्रतिदोषं गृणानः श्रुतिस्मृतिविहितधर्मपराङ्मुखानां यावन्तो दोषास्तावन्तो गृणानः स्तुवन् उच्चारयन् गणयन् उपभोगार्थम् । यद्वा प्रतिजनं यो दोषः प्रतिदोषस्तं गृणानः । स्ववान् आत्मीयज्ञातिधनयुक्तः । स तादृशः सविता आयात्विति सम्बन्धः । स्ववानित्यत्र 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० सू० ८।३।९) इति नस्य रुत्वे, 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (पा० सू० ८।३।१७) इति रोयदिशे, 'हलि सर्वेषाम्' (पा० सू० ८।३।२२) इति तस्य लोपः । रक्षसो व्यत्ययेनाक्लीबत्वम् ।

अध्यात्मपक्षे—धृतलीलाविग्रहो देवः सविता हिरण्यहस्तो राक्षसान् यातुधानान् अपसेधन् अपगमयन् । शेषं पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यो हिरण्यहस्तः सुनीथो सूरः सुमृडीकः स्ववान् देवो रक्षसो यातुधानान् अपसेधन् प्रतिदोषं गृणानोऽस्थात्, सोऽर्वाङस्येत् सुखाय यातु, तद्वद्यूयं भवत' इत्यन्वयः । भावार्थस्तु—'हिरण्यहस्तो हिरण्यं दत्त्वा याज्यमानेभ्यो दुष्टाचारान् तिरस्कृत्य धार्मिकेभ्यः सुखं प्रदाय हे मनुष्याः सूर्यवत् प्रशंसिताः भवत' इति, तदपि न, मन्त्रबाह्यत्वात् । न च हस्ततुल्यः सवितुर्हस्तो भवति । न च मनुष्याणां दोषान् सविता प्रकटयति । प्रतीत्यस्य किं स्वारस्यमित्यनुक्तेश्च ॥ २६ ॥

ये ते॒ पन्थाः॑ सवितः पू॒र्व्यासो॑ऽरे॒णवः॑ सुकृ॑ता अ॒न्तरि॑क्षे ।
तेभि॑र्नो अ॒द्य प॒थिभिः॑ सु॒गेभि॒ रक्षा॑ च नो॒ अधि॑ च ब्रूहि देव ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ हे सबके प्रेरक सविता देव ! ज्योतिःस्वरूप अन्तरिक्ष में जो पूर्वकाल जनित धूल-धक्कड़ से रहित मार्ग कर्म-फल के उपभोक्ता के लिये है, वह आपका ही रचा हुआ है । उस सुगम मार्ग में आप हमारी रक्षा करें, आप सदा हमें अनुशासन का उपदेश देते रहें ।। २७ ।।

हे देव, ये ते तव पन्थाः पन्थानः, वचनव्यत्ययः, हे सवितः, पूर्व्यासः पूर्वेष्वपि कालेषु भवाः, अरेणवः अपांसुला निर्दुष्टाः, अन्तरिक्षे सुकृताः साधुकृता धात्रा तेभिस्तैः पथिभिर्मार्गैर्नोऽस्मान् अद्य, नयेति शेषः । कीदृशैः

पथिभिः ? सुगेभिः साधुगमनैः, अन्नपानादिप्रभूतैः सुगेभिः पथिभिर्गच्छतो नोऽस्मान् रक्षा रक्ष। अधि च ब्रूहि। अधि अङ्गीकृत्य एते मदीया इति ब्रूहि। यद्वा यदस्माकं हितं पथ्यं तद् अधि ब्रूहि उपदिश। यद्वा एते महायाज्ञिका दातार इति अधि अधिकान् वद।

अध्यात्मपक्षे—यः सविता देवः परमेश्वरो राक्षसान् यातुधानान् असुखकरांश्च अपगमयन् अस्थात्, स देवोऽर्वाङ् अस्मदभिमुखः, यातु आयातु। सर्वाणि विशेषणानि भगवत्येव सङ्गच्छन्ते। व्याख्यानं पूर्ववत्। ये ते पन्थाः पन्थानः, हे सवितः पूर्व्यासः पूर्वकाले भवाः पूर्व्याः, अरेणवो निर्दुष्टाः, अन्तरिक्षे धात्रा सुकृताः, तेभिः पथिभिः, नोऽस्मानद्य नयेत्यादि पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे सवितर्देव आप्त विद्वन्! यस्य ते सूर्यस्यान्तरिक्षे इव ये पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृताः पन्थाः सन्ति, तेभिः सुगेभिः पथिभिरद्य नो नय, तत्र गच्छतो नो रक्ष च, नोऽस्मांश्चाधिब्रूहि सर्वान् प्रतिबोधय' इति, तदपि न, विदुषो राज्ञो वा सूर्यतुल्यत्वाभावेन सवितरिति सम्बोधनानर्हत्वात्। न च भूमिगताः पन्थानो धूलिरहिता भवन्ति, न चान्तरिक्षस्थेषु मार्गेषु विदुषो नयने स्वातन्त्र्यम् ॥ २७ ॥

उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्मं यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभिः ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों! आप दोनों यहाँ आकर सोम का पान करो, आप दोनों चारों तरफ से हमारा पालन करते हुए हमें कल्याण का मार्ग दिखाओ ॥ २८ ॥

आश्विन्यस्तिस्रः, एका गायत्री द्वे अनुष्टुभौ। हे अश्विना अश्विनौ, उभा उभावपि द्वावपि युवां पिबतम्, सोममिति शेषः। उभौ द्वावपि नोऽस्मभ्यं शर्म सुखं शरणं वा यच्छतं दत्तम्। अविद्रियाभिः, 'दॄ विदारणे', अनवखण्डिताभिः, ऊतिभिः पालनैः, रक्षतमिति शेषः। उभा अश्विना इत्यत्र विभक्तेराकारः। विदीर्यन्तीति विद्रिया इत्यत्र औणादिक इयक्प्रत्ययः।

अध्यात्मपक्षे—अश्विना अश्विनाविव सुन्दरौ रामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ वा, युवां सोमं पिबतम्। युवां नोऽस्मभ्यं शर्म शरणं प्रयच्छतम्। अविदीर्णाभिरूतिभिः पालनैः सुखं दत्तम्।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ, युवां यथोत्तमं रसं पिबतम्, तच्छर्म आयुर्वाऽद्रियाभिरूतिभी रक्षितं गृहं नो यच्छतम्' इति, तदपि न, अध्यापकोपदेशकयोः प्रार्थयितृभ्योऽभीष्टगृहदाने सामर्थ्याभावात्। न च तावश्विपदार्थौ, तत्राशक्तत्वात्। बीजाभावाच्च नापि लक्षणया तथात्वम् ॥ २८ ॥

अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम्।
अद्यूत्येऽवसे नि ह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—हे दर्शनीय सेक्ता अश्विनीकुमारों! आप लोग हमारी वाणी को और हमारे मन की इच्छा को सदा क्रियाशील रखें। मैं सन्मार्ग से प्राप्त होने वाले अन्न के निमित्त आप दोनों का आह्वान करता हूँ। इस यज्ञ में हमारी समृद्धि के लिये आप लोग सदा तत्पर रहें ॥ २९ ॥

हे अश्विनौ व्यापनशीलौ, हे दस्रौ दर्शनीयौ, हे वृषणौ वर्षितारौ सेक्तारौ युवानौ, अप्नस्वतीम्, अप्न इति कर्मनाम (निघ० २।१।२) कर्मवतीं वाचं युवां कृतं कुरुतम्। तथा नोऽस्माकं मनीषां मनसः सम्बन्धिनी-

मिच्छामप्नस्वतीमेव कुरुतम्। यथा मनसा वाचा च यज्ञं कुर्मस्तथा कुरुतमित्यर्थः। अद्यूत्ये अवसे। द्यूतादागतमन्नं कर्मण्यं न भवतीत्यत एवमुच्यते—अद्यूत्ये सन्मार्गागते न्याय्ये, अवसे अन्ननिमित्तभूते तद्दानार्थं निह्वये आह्वयामि। युवामागत्य नोऽस्माकं च वृधे वर्धनाय भवतम्। वाजसातौ वाजसंभजननिमित्तभूते संग्रामे, वाजानां सातिः संभजनं यस्मिन् तस्मिन् यज्ञे वां वृधे वर्धनाय भवतम्। अस्मे, विभक्तेः शे आदेशः। कृतम्, करोतेः 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपि लुप्ते लोण्मध्यमद्विवचने रूपम्। वृषणा वृषणौ, 'वा षपूर्वस्य निगमे' (पा० सू० ६।४।९) इत्युपधादीर्घाभावः। वृधे, सम्पदादित्वात् क्विप्।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्विनौ, हे दस्रौ दर्शनीयौ पूर्वोक्तौ श्रीरामलक्ष्मणौ, वृषणौ अभीष्टानां वर्षितारौ! अस्मे अस्माकं वाचं मनीषां मनसः सम्बन्धिनीमिच्छामप्नस्वतीं कर्मवतीं कृतं कुरुतम्। अद्यूत्ये, द्यूताद्यसत्कार्येणागतं द्यूत्यम्, तद्भिन्नसन्मार्गागतं न्याय्यमन्नमद्यूत्यम्, तस्मिन् तादृशान्ने निमित्तभूते तद्दानार्थं युवां निह्वये आह्वयामि। वाजसातौ यज्ञे संग्रामे नो वृधे वर्धनाय भवतम्।

दयानन्दस्तु—'हे दस्रौ वृषणौ अश्विनौ, युवामस्मे अस्माकं वाचं मनीषां प्रशस्तान्यप्नांसि कर्माणि विद्यन्ते यस्यास्तां वाचं कृतं कुरुतम्। नोऽद्यूत्येऽवसे स्थापयतम्। वाजसातौ नो वृधे च भवतम्। यौ वामहं निह्वये तौ मामुन्नयतम्' इति, तदपि न, अध्यापकोपदेशकयोस्तादृशकार्यसाधने सामर्थ्याभावात्। न च तयोः स्तुतिरपेक्षिता, स्तुत्यपेक्षया धनदानस्य महत्त्वपूर्णत्वात्॥ २९॥

द्युभि॑र॒क्तुभिः॒ परि॑ पातम॒स्मानरि॑ष्टेभिरश्विना॒ सौभ॑गेभिः।
तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑तिः॒ सिन्धुः॑ पृथि॒वी उ॒त द्यौः॥ ३०॥

मन्त्रार्थ - हे अश्विनीकुमारों! आप लोग दिन में और रात्रि में अखण्डित सुन्दर धन द्वारा हमारी सब ओर से रक्षा करें। मित्र, वरुण, देवमाता अदिति, समुद्र, पृथ्वी तथा स्वर्ग—ये सब हमारे रक्षक उन अश्विनीकुमारों की प्रशंसा करें॥ ३०॥

हे अश्विनौ! द्युभिर्दिनैः, अक्तुभी रात्रिभिः कारणभूताभिः, सप्तम्यर्थे तृतीया वा, दिनेषु रात्रिषु च अहोरात्रमस्मान् सर्वतः परिपातं परिपालयतम्। युवामस्मान् न केवलं द्युभिरक्तुभिः परिपातम्, किं तर्हि? अरिष्टेभिरनुपहिंसितैः, सौभगेभिरखण्डितैः शोभनैर्धनैश्च, योजयतमिति शेषः। किञ्च, मित्रो वरुणोऽदितिः सिन्धुः समुद्रः पृथिवी उतापि च द्यौः, एते नोऽस्माकं तद् भवत्कृतं परिपालनं मामहन्तां पूजयन्ताम्, 'मह पूजायाम्' 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति शपः श्लुः, 'श्लौ' (पा० सू० ६।१।१०) इति द्वित्वम्। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्विनौ तद्वत् सुन्दरावभिन्नहृदयौ रामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ वा! द्युभिरक्तुभिः कारणैरहोरात्रं वा अस्मान् परिपातम्। अरिष्टेभिः सौभगेभिरखण्डितैः शोभनैर्धनैः परिपातं परिपालयतम्। मित्रादयो देवा नोऽस्माकं तत्परिपालनं मामहन्तां पूजयन्ताम्।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ, यथादितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः, तन्नो मामहन्ताम्। तथा मित्रो वरुणश्च युवां द्युभिरक्तुभिररिष्टेभिरस्मान् परिपातम्' इति, तदपि न, सभासेनेशयोर्मनुष्ययोः प्रार्थनेऽपि पृथिव्याकाशादिकर्तृकसत्कारप्राप्त्यसम्भवात्। जडानां तेषां सत्कर्तृत्वमपि कुतस्त्यम्, चेतनधर्मत्वात्॥ ३०॥

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य देवता अपने ज्योतिर्मय मण्डल रूप रथ के द्वारा सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते रहते हैं। अन्धकार और प्रकाश के देवताओं को और मनुष्य आदि प्राणियों को अपने अपने व्यापारों में प्रवृत्त करते हैं। सारे भुवनों को देखते हुए, अर्थात् प्राणियों के भले-बुरे कर्मों पर विचार करते हुए विचरण करते हैं ॥ ३१ ॥

सविता देवो हिरण्ययेन हिरण्मयेन रथेन आयाति। रजसा रात्रिलक्षणेन सह आवर्तमानः पुनः पुनर्भ्रमणं कुर्वन्, अमृतं देवादिकं मर्त्यं मनुष्यादिकं च निवेशयन् स्वस्वप्रदेशेषु स्थापयन्। भुवनानि पश्यन् कानि साधु कर्म कुर्वन्ति, कान्यसाध्विति विचारयन्। (३३।४३) इत्यत्र व्याख्याता ॥ ३१ ॥

आ रात्रि पार्थिवꣳ रजः पितुरप्रायि धामभिः ।
दिवः सदाꣳसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे रात्रि देवता ! तुमसे अन्तरिक्ष सम्बन्धी लोक और पितृ सम्बन्धी स्थान सब ओर से पूरित हैं। महान् महिमाशालिनी तुम स्वर्ग लोक के स्थानों को भी व्याप्त करती हो, तुम्हारा दीप्त अन्धकार चारों तरफ वर्तमान है ॥ ३२ ॥

रात्रिदेवत्या पथ्याबृहती। हे रात्रि ! या त्वं पार्थिवं रजः पृथिवीसम्बन्धि लोकं पितुर्मध्यमस्य लोकस्य धामभिः स्थानैः सह आ अप्रायि आ अपूपुर आपूरयसि, या च त्वं दिवो द्युलोकस्य सदांसि स्थानानि बृहती महती सती वितिष्ठसे आक्रमसे व्याप्नोसि, तस्यास्तव तम आवर्तते तथापि प्रवर्तते। कीदृशं तमः ? त्वेषं प्रदीप्तं महाप्राग्भारमित्यर्थः, सर्वान् लोकान् व्याप्यापि दीप्तं महाप्राग्भारं वा, तमः पुनः पुनरावर्तत इत्यर्थः। रजः-शब्दो लोकवचनः (निरु० ४।१९)। अप्रायि, 'प्रा पूरणे' लुङि चिणि रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे रात्रि रात्र्यधिष्ठातृमहामाये, यया त्वया पार्थिवं रजः पृथिवीसम्बन्धिलोकः पितुर्मध्य-लोकस्यान्तरिक्षस्य धामभिः स्थानैः स आ अप्रायि समन्तात् पूर्यते, या च त्वं दिवो द्युलोकस्य सदांसि स्थानानि वितिष्ठसे आक्रामसि, तस्यास्तव तमस्त्वेषं वर्तते दीप्तं वर्तते। महाप्राग्भारं वा तम आवर्तते, महाभयं तमः सर्वं व्याप्य महामोहप्राग्भारं पुरतो भरणीयं प्रवर्तते ॥ ३२ ॥

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति। येन तोकं च तनयं च धामहे ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अन्न की स्वामिनी देवी ! आप हमारे लिये अद्भुत धन दीजिये, जिससे कि हम अपने पुत्र-पौत्र तथा अन्य सम्बन्धी जनों का भरण-पोषण कर सकें ॥ ३३ ॥

उषोदेवत्या परोष्णिक्। हे उषः, तत्प्रसिद्धं चित्रं चायनीयमाश्चर्यकारि महनीयं धनमस्मभ्यमाभर आहर देहि। हे वाजिनीवति अन्नवति ! येन धनेन लोकं पुत्रं तनयं पुत्रस्य पुत्रं पौत्रं च सर्वं सन्तानवर्गं धामहे दध्महे पुष्णीमः। धामहे, दधातेः शपो लुकि रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे उषः, अभ्युदयोन्मुखवेले ! हे वाजिनीवति ! वाजमन्नं नयतीति वाजिनी लक्ष्मीस्तद्वति, तच्चित्रमाश्चर्यकारि शमदमादिरूपं महनीयं धर्मार्थानुबन्धि भौतिकं वा धनम् आभर आहर, येन ज्ञानरूपं पुत्रम् अपरोक्षानुभवात्मकं विज्ञानरूपं पौत्रं धार्मिकपुत्रपौत्रादिकं वा धामहे पुष्णीमः।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिनीवति उषः, उषोवद्वर्तमाने स्त्रि ! यथा वाजिनीवती उषा यादृशं चित्रं स्वरूपं भरति, तत् तादृशमस्मभ्यं त्वमाभर, येन वयं लोकं च तनयं धामहे धरेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रीप्रार्थनामात्रे लोकतनयोत्पत्त्यसम्भवात्, उषःपदस्य तद्वद् वर्तमाने स्त्रीत्यर्थग्रहणस्य निर्मूलत्वाच्च। तस्मादुषोदेवत्यस्य मन्त्रस्य उषा एवार्थः, न तु स्त्री। तथात्वे स्त्रीदैवतत्वप्रसङ्गात् ॥ ३३ ॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रँ हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रँ हुवेम ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हम प्रातःकाल में ही अग्नि का आह्वान करते हैं। इन्द्र का, मित्रावरुण का, अश्विनीकुमारों का, भग, पूषा और ब्रह्मणस्पति का, सोम एवं रुद्र का भी इसी समय आह्वान करते हैं॥ ३४॥

जगती बहुदेवत्या। प्रातरिति पदं वीप्सापरम्। प्रातः प्रातः पुनः पुनः, एतान् देवान् आह्वयामः। कान् देवानिति तानाह—प्रातः पुनः पुनरिन्द्रम्, प्रातः पुनः पुनर्मित्रावरुणौ अश्विनौ च हवामहे। प्रातः भगं पूषणं च ब्रह्मणस्पतिं च। प्रातः सोमम् उत अपि रुद्रं हुवेम आह्वयामः। ह्वयतेः सम्प्रसारणे रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—प्रातः पुनः पुनरग्निं पापदाहकुशलम्, प्रातरिन्द्रमैश्वर्यदानकुशलम्, प्रातर्मित्रावरुणौ स्नेहवन्तौ वरणीयौ च रामलक्ष्मणौ, बलकृष्णौ च, भगं भजनीयं पूषणं पोषकं च ब्रह्मणस्पतिं वेदादिशास्त्रस्य रक्षकम्, सोमं साम्बसदाशिवम्, रुद्रं विघ्नानां रोदयितारं तत्तच्छक्त्यवच्छिन्नं परमात्मानं हवामहे, तत्तद्रूपेण परमात्मन एव हूयमानत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं प्रातर्मित्रावरुणौ प्रातरश्विनौ हवामहे, प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं सोममुत रुद्रं हुवेम, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, अग्न्यादिपदानां मुख्यार्थत्यागे बीजाभावात्। 'मित्रावरुणौ प्राणोदानौ अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ भगं भजनीयं पूषणं पुष्टिकरं भोगम्' इत्यादिव्याख्यानस्य गौणार्थमूलकत्वेनाग्राह्यत्वात्। तथैवान्यदप्युपेक्ष्यम् ॥ ३४ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रँ हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हम इस प्रातःकाल में जयशील उत्कृष्ट अदितिपुत्र सूर्य का आह्वान करते हैं, जो कि सारे जगत् को धारण करने वाले हैं, जिसको दरिद्र भी, राजा भी और रोगी भी चाहते हैं, जिस सूर्य के लिये सभी प्राणी कहते है कि अब भगवान् सूर्य देव का उदय होना चाहिये॥ ३५॥

भगदेवत्याः पञ्च त्रिष्टुभः। यो भगः सर्वभजनीय आदित्यः, यश्च विधर्ता सर्वस्य जगतो विधारयिता, यश्च आध्रश्चित्, चिच्छब्दोऽप्यर्थः, 'ध्रै तृप्तौ', न ध्रायति न तृप्यति यः स अध्रः, नञो दैर्घ्यं छान्दसम्। यद्वा ध्रियते रूपम्। आसमन्ताद् ध्रियते यः स आध्रो दरिद्रः, अध्र एव आध्रः, स्वार्थे तद्धितम्। आध्रोऽतृप्तो बुभुक्षितो

दरिद्रो वापि जनो यं भगं सूर्यं मन्यमानः, मन्यत इत्यर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४।३८), पूजयन् स्वार्थसिद्धये। भक्षि उदयं भजस्वेत्याह। तुरश्चित्, अत्राङोऽध्याहारः, आतुरोऽपि यं भगं मन्यमानः पूजयन् भक्षीत्याह। यद्वा तुरशब्देन यमोऽभिधीयते। स हि तूर्णं प्राणिनो हन्ति। यमोऽपि यं भगं मन्यमानो भक्षीत्याह। अतृप्तो बुभुक्षितो दरिद्रः सूर्योदये भिक्षादिना किञ्चिदर्जयति भोजनायेति सूर्योदयं वाञ्छति। आतुरोऽपि सूर्योदयं वाञ्छति, दिवसे सुखोदयात्, रात्रेः कष्टेनातियापनात्। यमोऽपि प्राणिनां प्राणहरणाय दिनानि गणयति। राजा चिद् राजापि यं भगं सूर्यं मन्यमानः पूजयन् उदयं भजस्वेत्याह, तदुदये हि व्यवहारदर्शनादिना तेषां सर्वेष्टसिद्धेः। तं भगमादित्यं हुवेम वयमाह्वयामः। कीदृशं तम्? प्रातर्जयन्तम्, प्रातर्जयतीति प्रातर्जित् तं प्रातर्जयनशीलम्, उग्रमुत्कृष्टम् उद्गूर्णदानं वा, अदितेर्देवमातुः पुत्रं तनयं तादृशं भगं सूर्यं मन्यमानः पूजयन्। आध्रादयः सर्वेऽपि हे भगवन् त्वमुदयं भजस्वेति कथयन्तस्त्वदुदयं वाञ्छन्ति। तमाह्वयाम इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—वयं तं भगं सर्वभजनीयं परमात्मानमादित्यरूपमाह्वयामः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः! यथा वयं प्रातर्यो विधर्ता आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजास्ति, यं भगं चिद् भक्षीत्याह, तमदितेः पुत्रं जितमुग्रं भगं हुवेम। तथा यूयमपि स्वीकुरुत' इति, तदपि न, असम्बद्धत्वात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च, 'अपुत्रस्य पुत्रः' इत्यस्य निरर्थकत्वाच्च॥ ३५॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥ ३६॥

मन्त्रार्थ—हे ऐश्वर्य को देने वाले, ऐश्वर्यरूप सत्य धन वाले सूर्यदेव! आप हमें धन देकर हमारी प्रज्ञा को बढ़ाइये। हे सूर्यदेव! हमें गायों और अश्वों के द्वारा भी बढ़ाइये। हे सूर्य, हम पुत्र आदि प्रजा से भी सम्पन्न हों॥ ३६॥

हे भग हे प्रणेतः, प्रकर्षेण नयप्रापक हे भग, हे सत्यराधः! सत्यमनश्वरं राधो धनं यस्य स सत्यराधाः, तत्सम्बुद्धौ। त्वं ददन् धनं प्रयच्छन् सन्, इमां धियं प्रज्ञां कर्म वा उद् अव उद्गमय। यया येन वा सूक्ष्मानर्थान् पश्यामः, तथा कुर्वित्यभिप्रायः। किञ्च, हे भग! नोऽस्मान् गोभिरश्वैः प्रजनय प्रवर्धय, गा अश्वांश्च बहून् देहीत्यर्थः। हे भग! वयं नृभिः पुत्रादिभिर्नृवन्तो मनुष्यवन्तः स्याम।

अध्यात्मपक्षे—हे भग भजनीय, प्रणेतः प्रकर्षेण नयनकर्तः! सर्वान्तरात्मत्वेन तस्यैव सर्वप्रेरकत्वात्। तस्यैवाविनश्वरं मोक्षाख्यं धनं भवति। सूर्यरूपेणान्नरत्नादिकमप्यक्षयरूपेण तस्मिन्नेव भवति। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भग! त्वं नोऽस्माकमिमां धियं ददन् समुदय। हे भग, त्वं गोभिरश्वैर्नृभिः सह नोऽस्मान् प्रजनय। हे भग, येन वयं नृवन्तः प्र स्याम तथा विधेहि' इति, तदपि न, भग ऐश्वर्ययुक्त, भग ऐश्वर्यदातः, भग सेवितुं योग्येत्यादिव्युत्पत्तिभिर्मनुष्यसम्बोधनस्य निरर्थकत्वात्, धर्मब्रह्मपरे वेदे मनुष्यप्रार्थनाऽसम्भवात्, मुख्यार्थत्यागस्य च निर्मूलत्वात्॥ ३६॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानाᳬं सुमतौ स्याम॥ ३७॥

मन्त्रार्थ—हे धन को देने वाले भगनामक सूर्यदेव ! अब भी हम प्रातःकाल, सायंकाल और मध्याह्न में आपकी उपासना कर भग, अर्थात् छः प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न हों। हम देवताओं की कल्याणमयी अनुग्रह बुद्धि में सदा विद्यमान रहें ॥ ३७ ॥

हे मघवन् धनवन् आदित्य, उतापि च, इदानीमादित्यप्रसादाद् वयं भगवन्त ऐश्वर्यादिषड्भगोपेताः स्याम भवेम। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥' (वि० पु० ६।५।७४) इति षड्विधा भगाः। यद्वा—'स्तम्भनं मोहनं रूपं बलं वैदग्ध्यमेव च। अभिलाषोपपन्नत्वं षण्णां भग इतीङ्गना ॥' इति। निरतिशयाः सर्वे भगाः परमेश्वरे तिष्ठन्ति। सातिशयास्तु तत्प्रसादादन्यत्रापि। उत अपि च, प्रपित्वे प्राप्ते सूर्यस्य प्रपतनेऽस्तमये भगवन्तः स्याम। उतापि च, अह्नां मध्ये मध्यंदिने भगवन्तः स्याम। उतापि च, उदिता उदयकाले सूर्यस्य हे मघवन् धनवन्, वयं देवानां सुमतौ कल्याण्यामनुग्रहवत्यां बुद्धौ स्याम, देवा अस्मासु अनुग्रहवतीं बुद्धिं कुर्वन्तु।

अध्यात्मपक्षे – हे मघवन् ज्ञानवैराग्याद्यैश्वर्यवन् आदित्यरूप परमेश्वर ! भवदनुग्रहाद् वयं भगवन्तौ ज्ञान-वैराग्यादिभगोपेता भवेम। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मघवन्, वयमिदानीमुत प्रपित्वे उत भविष्यति उताह्नां मध्ये भगवन्तः स्याम, उत सूर्यस्योदिता देवानां सुमतौ भगवन्तः स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धनवतः प्रार्थनयापि जन्मकोटिभिरपि भगवत्त्वासम्भवात्, देवानां देवदेवस्य भगवत एव प्रार्थनया भगवत्त्वोपपत्तेः ॥ ३७ ॥

भग॑ एव भग॑वाँ२॥ अस्तु देवास्तेन॑ वयं भग॑वन्तः स्याम।
तं त्वा॑ भग॒ सर्व॒ इज्जो॑हवीति॒ स नो॑ भग पुर एता भ॑वेह ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—सारे देवताओं में भगवान् भग ही सभी ऐश्वर्यों से सम्पन्न हैं। उनकी कृपा से हमें धन प्राप्त हो। हे भगदेवता, ऐश्वर्य चाहने वाले सभी मनुष्य आपका आह्वान करते हैं। आप हमारे इस यज्ञ में सबसे पहले आइये ॥ ३८ ॥

हे देवाः, भगः सूर्य एव भगवान् धनवान् अस्तु, किमन्यैर्देवताविशेषैर्धनवद्भिरदातृभिः। तेन भगप्रदत्तेन धनेन वयं धनवन्तः स्याम। एवं देवानुक्त्वा भगमेवाह—सर्व इत् सर्व एव जनस्तं प्रसिद्धं त्वां जोहवीति स्वाभीष्टसिद्धयेऽत्यन्तमाह्वयति। हे भग, स त्वं नोऽस्माकमिह कर्मणि पुर एता सर्वकार्येष्वग्रयायी भव, सर्वाणि कार्याणि साधयेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे देवाः, भगः सर्वभजनीयो भगः, सूर्यावच्छिन्नश्चेतन एव भगवान् सर्वैश्वर्योपेतोऽस्तु। तेन वयं भगवन्तः स्याम। तं प्रसिद्धं लोकवेदप्रसिद्धं त्वां सर्व इत् सर्व एव जोहवीति अत्यन्तमाह्वयति। स त्वं हे भग ! नोऽस्माकम् इह ऐहिके आमुष्मिके परमनिःश्रेयसे च पुर एता अग्रेसरो भव, सर्वाभीष्टान् सम्पादयेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे देवाः, यो भग एव भगवानस्तु, तेन वयं भगवन्तः स्याम। हे भग, तं त्वा सर्व इज्जोहवीति। हे भग ! स त्वमिह नः पुर एता भव' इति, तदपि न, विदुषां मनुष्याणां सम्बोधनस्याकिञ्चित्करत्वात् ॥ ३८ ॥

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ उषाकाल के अधिष्ठाता भगदेवता यज्ञ के लिये यहाँ आकर स्थिर भाव से बैठे हैं, जैसे कि सामुद्रिक अश्व अपने पवित्र पदक्षेप के द्वारा उपस्थित होता है। भगदेवता धन के दाता हैं। वे हमें सभी प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करें, जैसे कि वेगवान् अश्व रथ को प्राप्त कराते हैं ॥ ३९ ॥

या उषसः सुप्रभाताधिष्ठातारो देवाः, अध्वराय अग्निहोत्रादिलक्षणाय यज्ञाय संनमन्त संनमन्ते प्रह्वीभवन्ति। कथमिव ? दधिक्रावेव। दधाति धारयति नरमिति दधिः, दधिः सन् क्रामतीति दधिक्रावा, स दधिक्रावा अश्वो यथा शुचये पदाय, शुचि पदमग्न्याधानार्थं कर्तव्यमिति संनमते, एवं ता उषसो भगमादित्यं नोऽस्माकमर्वाचीनमस्मदभिमुखमावहन्तु आगमयन्तु। कीदृशं भगम् ? वसुविदम्। वसु धनं विन्दतीति वसुवित्, तं वसुविदम्, 'इगुपध' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कः। कथमिवोषसो भगमस्मान् प्रति आवहन्तु ? रथमिवाश्वा वाजिनः, यथा वाजिनोऽन्नवन्तो वेगवन्तो वा अश्वा रथमावहन्ति तद्वत्। तथा उषसोऽस्मान् प्रति भगमावहन्तु।

अध्यात्मपक्षे— उषसः सुप्रभाता भगं भगवन्तमर्वाचीनमस्मदभिमुखमावहन्तु आगमयन्तु। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु— 'हे मनुष्याः, उषसो दधिक्रावेव शुचये पदाय अध्वराय संनमन्त वाजिनोऽश्वा रथमिव नोऽर्वाचीनं वसुविदं भगं प्रापयन्ति, तथैतौ भवन्त आवहन्तु' इति, तदपि न, अहिंसामयव्यवहारस्याध्वरपदवाच्यत्वे क्रयविक्रयादिव्यवहाराणामप्यध्वरत्वापत्तेः। वस्तुतोऽध्वरो वैदिको यज्ञः। पशुवधेऽपि यत्र ध्वरो हिंसा न भवति, तस्य ज्योतिष्टोमादेरेवाध्वरत्वम्, 'अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ' (म० स्मृ० ५।४४) इति मनूक्तेः। उषस इति कर्तृपदम्। तेन सुप्रभाताधिष्ठातॄणां देवानामेवात्र संनमनमुक्तम्, तत्कर्तृकमेव वसुविद्भगप्रापणम्। नात्रैश्वर्ययुक्तमनुष्यप्राप्तिरभीष्टा, तादृशमनुष्यस्य सुलभत्वात् न च प्रातःसमय एव तत्प्रापयति ॥ ३९ ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—अश्व वाली, गायों वाली, वीर सन्तान वाली कल्याण रूप, नीहार (ओसकण) की वर्षा करती हुई, सब ओर से धर्म, अर्थ और काम से तृप्त प्रातःसन्ध्या की अभिमानिनी देवियाँ हमारे अज्ञानरूपी पाश को सदा दूर करें। हे देवियों ! आप सब सभी प्रकार के कल्याणों से सदा हमारी रक्षा करें ॥ ४० ॥

उषोदेवत्या त्रिष्टुप्। उषास उषसः प्रभातकालाधिष्ठतारो देवाः सदं सदाकालं नोऽस्मानुच्छन्तु विवासयन्तु, अज्ञानलक्षणं पाशं मोचयन्तु। 'उच्छी विवासे'। कीदृश्य उषसः ? अश्वावतीः, अश्ववत्यः। गोमतीः, गोमत्यः। वीरवतीः, वीरवत्यः पुत्रवत्यः। भद्रा भद्रवत्यो भन्दनीयाः कल्याणरूपाः। घृतमवश्यायजलं दुहानाः क्षरन्त्यः। विश्वतः सर्वतः प्रपीता धर्मार्थकामैराप्यायिताः। प्यायः 'पी' आदेशः। एवं परोक्षं प्रार्थ्य प्रत्यक्षमाह—हे उषसः, यूयं स्वस्तिभिरविनाशैः सदा नोऽस्मान् पात पालयत।

अध्यात्मपक्षे—उषासः सुप्रभाताधिष्ठात्र्यो भक्तिरूपा देवताः, अश्वावत्यो दिव्यादिव्याश्ववत्यो गोमत्यः, अश्वगवादिरथेनेव शीघ्रमागच्छन्त्यः। वीरवत्यः प्रबोधलक्षणपुत्रवत्यः। सदं सदा उच्छन्तु अज्ञानं तमो विवासयन्तु अपसारयन्तु। कीदृश्यस्ताः ? घृतं दुहानाः, घृतं स्नेहमयमनुरागं क्षरन्त्यः, विश्वतः सर्वतः प्रतीता आप्यायिताः। हे उषासः, यूयं नोऽस्मान् सदा स्वस्तिभिर्मोक्षादिरूपैः कल्याणैः पात पालयत।

दयानन्दस्तु—'हे विदुष्यः ! यथा अश्वावतीर्गोमतीर्वीरवतीर्भद्रा घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता उषासोऽस्माकं सदं प्राप्नुवन्ति, तथाऽस्माकं सदं भवत्य उच्छन्तु। नो यूयं स्वस्तिभिः सदा पात' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, मूले यथापदाभावाच्च। उच्छन्तु – 'उच्छी विवासे' इत्यस्य न सभासमापनमित्यर्थः, किन्त्वज्ञानपाशमोचनमेवार्थः। अज्ञानस्य विवासनमपसारणमेव। उषास एव स्वस्तिभिः पान्ति, न तु स्त्रियः, तासामल्पसामर्थ्यात् ॥ ४० ॥

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन। स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—हे पूषादेव ! आपकी उपासना में हुए हम कभी विनाश को न पावें। इस यज्ञ में हम आपकी स्तुति करते हैं ॥ ४१ ॥

द्वे पौष्ण्यौ गायत्रीत्रिष्टुभौ। हे पूषन् ! तव व्रते कर्मणि वर्तमाना वयं कदाचन कदाचिदपि न रिष्येम न विनश्येम। किञ्च, इह कर्मणि ते तव स्तोतारः स्मसि भवाम। 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) इतीकार उपजनः।

अध्यात्मपक्षे—हे पूषन् ! पुष्णाति सर्वमिति पूषा परमेश्वरः, 'येन जातानि जीवन्ति' (तै० उ० ३।१) इति श्रुतेः। ते तव व्रते त्वदाराधनलक्षणे कर्मणि वर्तमाना वयं कदाचिदपि न रिष्येम न विनश्येम, त्वदाराधनस्य त्वत्प्राप्तिफलकत्वात्, अमृतत्वलक्षणस्य मोक्षस्यापि निरावरणब्रह्मरूपत्वाच्च। ते तव इह कर्मणि स्तोतारः स्मसि भवामः।

दयानन्दस्तु—'हे पूषन् परमेश्वर आप्तविद्वन् वा, वयं तव व्रते तस्माद् वर्तेमहि यतो न कदाचिद्रिष्येम। इह ते स्तोतारः सन्तो वयं सुखिनः स्मसि स्मः' इति, तदपि न, मनुष्यस्य विदुषस्तादृशाभिप्रायपूरकत्वे मानाभावात्। न च मनुष्यस्तोतारः सुखिनो भवन्ति ॥ ४१ ॥

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानडर्कम्।
स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियं-धियꣳ सीषधाति प्र पूषा ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—वांछित वेदवाणी से अभिमुख किये गये पूषा देवता देवयान और पितृयान मार्ग के स्वामी सूर्य को व्याप्त कर लेते हैं। वे सूर्यदेव हमें आह्लाददायक उपायों में अग्रणी, सभी प्रकार के दुःखों का नाश करने वाले साधनों को दें और अधिदैव एवं अध्यात्म सम्बन्धी साधनों से हमारी वृद्धि को भली प्रकार निर्मल करें ॥ ४२ ॥

यः पूषा कामेन, काम्यत इति कामम्, तेन वाञ्छितेन इच्छया, वचस्या वचसा वेदोक्तेन, कृतः अभिमुखीकृतः, अर्कं देवम् अभ्यानट्, आनशिर्व्याप्तिकर्मा (निघ० २।१८।४), अभिव्याप्नोति। कीदृशमर्कम् ? पथस्पथः, मार्गस्य मार्गस्य सर्वेषां मार्गाणां परिपतिमधिपतिं स्वामिनम्। सः पूषा नोऽस्मभ्यं शुरुधः शुचं सन्तापं साधनाभावकृतम्, यानि साधनानि रुन्धन्ति तानि शुरुधानि, लिङ्गव्यत्ययः। यद्वा शुचं शोकं रुन्धन्ति

शुरुधः शोकनाशकराणि साधनानि रासद् ददातु। वर्णनाशात् पृषोदरादित्वात् शुरुध इति रूपम्। कीदृशः शुरुधः? चन्द्राग्राः, चन्द्रमाह्लादकमग्रं यासां ताः, साधनानुष्ठानसम्पत्तावाह्लादस्य दर्शनात्। पुनश्च स पूषा धियं धियं सर्वाणि कर्माणि प्रसाधनानि प्रकर्षेण साधयतु। पथस्पथः, धियं धियमिति 'नित्यवीप्सयोः (पा० सू० ८।१।४) इति द्वित्वम्। वचस्या विभक्तेर्यादेशः। सीषधाति, 'साध संसिद्धौ,' शपः श्लुश्छान्दसः, द्वित्वम्। 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४), 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७), उपधाह्रस्वश्छान्दसः।

अध्यात्मपक्षे—पूषा सर्वपोषकः परमेश्वरः, अर्कं देवमभ्यानट् अभिव्याप्नोति। आदित्यमण्डलस्थ-हिरण्मयपुरुषरूपेण तस्यैवोपलभ्यमानत्वादर्कः सर्वेषां मार्गाणां स्वामी भवति, तदभावे सर्वमार्गावरोधात्। स एव पूषा कामेनेच्छया वचस्या वेदोक्तेन वचसा वा अभिमुखीकृत आह्लादाग्राणि सर्वाणि शोकनाशकानि साधनानि ददाति, सर्वाणि पुरुषार्थसाधकानि कर्माणि च प्रकर्षेण साधयति। व्याख्यानं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! यो वचस्या कामेन कृतः पूषा जगदीश्वर आप्तो वा शुरुधश्चन्द्राग्राः साधनानि नो रासद् धियं धियं प्रसीषधाति, स शुभगुणकर्मस्वभावावभ्यानट्। तमर्कं पथस्पथः परिपतिं वयं स्तुयाम' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य 'स्तुयाम' इति क्रियापदस्य च मन्त्रबाह्यत्वात्। कृतः सिद्ध इत्यपि निर्मूलम्। अन्यत्तु पूर्वानुकरणमेव ॥ ४२ ॥

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन् ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—जगत् के रक्षक अविनाशी विष्णु ने अपने तीन डगों से सारे संसार को व्याप्त कर लिया था। इन तीन चरणों की सहायता से ही धर्म सुरक्षित है ॥ ४३ ॥

वैष्णव्यौ गायत्र्यौ। द्वयोर्ऋचोरेकवाक्यता। यो विष्णुर्यज्ञस्त्रीणि पदा पदानि विचक्रमे विक्रान्तवान्, अग्निवाय्वादित्याख्यानि पदानि व्याप्तवान्। कीदृशो विष्णुः? गोपाः, गोपायिता समस्तस्य जगतः पालयिता, अदाभ्योऽनुपहिंस्यः, अप्रधृष्यत्वात्। किं कुर्वन्? अतोऽस्मादेव पदत्रयात्, धर्माणि पुण्यानि कर्माणि धारयन्। 'धर्ममस्त्रियाम्' (अ० को० १।४।२४) इति धर्मशब्द उभयलिङ्गः।

अध्यात्मपक्षे—यो विष्णुः, वेवेष्टीति विष्णुर्व्यापनशीलः परमात्मा नारायणः, बलिं छलयन् त्रीणि पदा पदानि विचक्रमे क्रान्तवान्, त्रिभिः पद्भिः सर्वं लोकत्रयं विक्रम्य स्वायत्तीकृत्येन्द्राय प्रत्तवान्। कीदृशो विष्णुः? गोपाः, जगतो रक्षकः, विशेषेण गवां पालकः 'गोपरूपस्य विष्णोः' (मे० दू० १।१५) इति महाकविनोपश्लोकितत्वात्। अदाभ्योऽसुरराक्षसादिभिरनुपहिंस्य, सर्वैरप्रधृष्यत्वात्। किं कुर्वन्? अतोऽस्मादेव विक्रमणाद् धर्माणि धर्मान् कर्माणि वा धारयन्। तदभावे लोकत्रयस्यासुरायत्तत्वेन धर्मकर्मलोपसम्भवात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! योऽदाभ्यो गोपा विष्णुर्धर्माणि धारयन्नतस्त्रीणि पदा विचक्रमे, स एव पूजनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विक्रमणस्य व्यापकमात्रेऽनुपपत्तेः। अदाभ्योऽनुपहिंस्य एव, नाहिंसकत्वम्, दुष्टानां नाशकत्वात्। धर्माणीति पुण्यान्येव न पृथिव्यादीनि, तद्धारणस्य विक्रमणे हेतुत्वाभावात्, शतुर्हेत्वर्थकत्वात् ॥ ४३ ॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवाᳬंसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—साकार ब्रह्मस्वरूप विष्णु का जो ब्रह्मरूप परम पद है, निष्काम जागरणशील विद्वान् पुरुष सदा उस परम पद की उपासना करते हैं ॥ ४४ ॥

तत् तस्य विष्णोर्यज्ञस्य यत्परमं पदं ब्रह्मलोकलक्षणम्, तद्विप्रासो मेधाविनो ब्राह्मणाः समिन्धते समिन्धयन्ति दीपयन्ति अभिव्यञ्जयन्ति तपःसमाधिभिः। कीदृशा विप्राः ? विपन्यवः, विगतः पन्युः संसार-व्यवहारो येभ्यस्ते निष्कामा विगतव्यवहाराः, जागृवांसोऽसुप्ता अप्रमत्ताः, ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन यज्ञरूपस्य विष्णोः परमं पदं प्राप्यं फलं ब्रह्मलोकं संदीपयन्ति प्रकाशयन्ति, प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। 'समिन्धते' इत्यत्र णिचो लोपो द्रष्टव्यः।

अध्यात्मपक्षे—तस्य विष्णोः परमेश्वरस्य यत्परमं सर्वोत्कृष्टं पदम्, पद्यते गम्यते प्राप्यते मुक्तैर्यत्तन्मुक्तो-पसृप्यं स्वरूपं विप्रासो मेधाविनो विपन्यवो विगतप्रपञ्चव्यवहारा जागृवांसो मोहनिद्रातः प्रबुद्धाः, समिन्धते प्रकाशयन्ति साक्षात्कारयन्त्यधिकारिजनान्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये जागृवांसो विपन्यवो विप्रासो विष्णोर्यत् परमं पदमस्ति, तत्समिन्धते। तत्संगमेन यूयमपि तादृशा भवत' इति, तदपि न, स्वप्रकाशस्य प्रकाशनासम्भवात्। विपन्यवः स्तोतार इत्यप्यसाम्प्रतम्, स्तुतिकाले समाधानाभावेन निर्वृत्तिकत्वाभावेन तदेकलभ्यस्योपलम्भासम्भवात्। तस्माद्विगत-व्यवहारा इत्येवार्थः॥ ४४॥

घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा॥ ४५॥

मन्त्रार्थ—घृतरूपी जल से परिपूर्ण, सारे भुवनों की आश्रयस्वरूप, विस्तीर्ण, मधुदोहन में समर्थ, सुरूप जरा-रहित, सब प्राणियों में वीर्य का संचालन करने वाली पृथ्वी और अन्तरिक्ष वरुण की धारणा शक्ति से स्तंभित हैं॥ ४५॥

द्यावापृथिवीदेवत्या जगती। द्यावापृथिवी द्यावाभूमी, घृतवत्यौ घृतमुदकं तद्वत्यौ, भुवनानामभिश्रिया भुवनानां भूतजातानामभिश्रिया अभिश्रियौ आश्रयणीये। कर्मणि क्विप्, विभक्तेराकारः। उर्वी उर्व्यौ विस्तीर्णे, पृथिवी पृथिव्यौ पृथुले, उर्वी-पृथ्वीतिविशेषणद्वयेनायामविस्ताराभ्यां महत्त्वमुक्तम्। मधुदुघे, मधु उदकं तस्य दोग्ध्र्यौ प्रपूरयित्र्यौ, सुपेशसा सुरूपे, अजरे जरारहिते, भूरिरेतसा भूरि बहु रेतो वीर्यं ययोस्ते बहुरेतस्के, सर्वभूतरेतसां तत एवोत्पत्तेः। तादृश्यौ द्यावापृथिव्यौ वरुणस्यादित्यस्य धर्मणा धारणेन धारणशक्त्या विष्कभिते स्तम्भिते, स्कभ्नोतिरत्र दृढीकरणार्थः। वरुणेन स्वशक्त्या दृढीकृते इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—द्यावापृथिवी, द्यौः प्रकाशः पुरुषः, पृथ्वी प्रकृतिः। ते प्रकृतिपुरुषरूपे वरुणस्य सर्ववरणी-यस्य परमात्मनो धर्मणा धारणेन धारणशक्त्या विष्कभिते विधृते तिष्ठतः। कीदृश्यौ ते ? घृतवत्यौ। घृतपदेन लक्षितलक्षणया अप्समवेतानि कर्माणि प्रोच्यन्ते। भुवनानां भूतानामभिश्रियौ अभिश्रयणीयौ उर्वी विस्तीर्णे पृथ्वी पृथुले मधुदुघे अभीष्टसुखस्य प्रपूरयित्र्यौ सुपेशसा सुरूपे अजरे जरारहिते जीवस्य स्वरूपेण निर्विकार-त्वात्, प्रकृतेश्च प्रवाहरूपेण नित्यत्वात्। भूरिरेतसा, सर्वभूतानां कारणत्वात्। 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (भ० गी० १३।१९) इति भगवदुक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यस्य वरुणस्य परमेश्वरस्य धर्मणा मधुदुघे सुपेशसा पृथिवी उर्वी घृतवती अजरे भूरितेजसा भुवनानामधिश्रिया द्यावापृथिवी विष्कम्भिते, तमेवोपास्यं विजानीत' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव॥ ४५॥

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान् ।
वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन् ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—हमारे सभी शत्रु निर्वीर्य निरुद्यम हो जायँ। उन शत्रुओं को हम इन्द्र और अग्निदेव की सहायता से नष्ट कर दें। वसु, रुद्र और आदित्य देवता मुझे उच्च स्थान के उत्कृष्ट ज्ञाता के रूप में प्रतिष्ठित करें ॥ ४६ ॥

लिङ्गोक्तदेवत्या जगती। ये नोऽस्माकं सपत्नाः शत्रवस्तेऽपभवन्तु, अपगतवीर्या निरुद्यमा भवन्तु, पराभूता भवन्त्वित्यर्थः। यतो वयं तान् सपत्नान् इन्द्राग्निभ्यां इन्द्राग्निबलेन अवबाधामहे अवनाशयामस्तान्। किञ्च, वसवोऽष्टौ, रुद्रा एकादश, आदित्याश्च द्वादश, एते मामेतादृशमक्रन् कुर्वन्तु। कीदृशम्? उपरिस्पृशम्, उपरि स्पृशतीत्युपरिस्पृक्, तमुपरिस्पृशम् उच्चस्थानस्थितम्। उपरि स्थितः स्पृशतीत्युपरिस्पृक्, आधिपत्येऽवस्थितः पादेन स्पृशतीति वा। तादृशं मां कुरु। उग्रमुत्कृष्टं चेत्तारं ज्ञातारम्, 'चितो संज्ञाने' सर्वस्य ज्ञातव्यस्य अधिराजम्, अधिकश्चासौ राजा च अधिराजस्तमधिपतिमीश्वरं कुर्वन्तु।

अध्यात्मपक्षे—ये नः सपत्नाः कामक्रोधादयस्तेऽपभवन्तु, अपगतवीर्या निरुद्यमा निष्फला भवन्तु। इन्द्राग्निभ्यां परमेश्वरस्यैश्वर्यतेजोभ्यां तदनुसन्धानबलेन तान् सपत्नान् बाधामहे। वस्वादयो देवा माम् उपरिस्पृशं कामादीनामाधिपत्ये स्थितम् ईश्वरम् उग्रं चेत्तारं ज्ञेयस्य ज्ञातारम्, अक्रन् कुर्वन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये नः सपत्नाः स्युस्तेऽपभवन्तु। यथा तान् वयमिन्द्राग्निभ्यामवबाधामहे, यथा च वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशमुग्रं चेत्तारं मा मामधिराजमक्रन्, तथा तान् यूयमपि निवारयत, मां च सत्कुरुत' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वादेव। इन्द्राग्निभ्यां विद्युदस्त्राभ्यामप्रत्यक्षसपत्नानां बाधासम्भवात्। इन्द्राग्न्योर्देवयोस्त्वचिन्त्यशक्तित्वेन तत्सम्भवात्। न च त्वद्रीत्या जडा वस्वादयः कञ्चिदुपरिस्पृशं चेत्तारं कर्तुं प्रभवन्ति, जडत्वादेव ॥ ४६ ॥

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपाᳬसि मृक्षतᳬ सेधतं द्वेषो भवतᳬ सचाभुवा ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अविनाशी अश्विनीकुमारों! त्रिगुणित किये गये ग्यारह, अर्थात् तैंतीस संख्या वाले देवताओं के साथ आप इस यज्ञ में सोमपान के लिये आवें, हमारी आयु को बढ़ावें, हमारे पापों को दूर करें, हमारे दुर्भाग्य को नष्ट करें और हमें भले कामों में लगावें ॥ ४७ ॥

अश्विदेवत्या जगती। आयातमागच्छतम्, हे नासत्यौ हे अश्विनौ, त्रिभिरेकादशैस्त्रिगुणैरेकादशभिस्त्रयस्त्रिंशत्संख्याकैर्देवेभिर्देवैरिह स्थाने मधुपेयं मधुः सोमस्तस्य पेयं पानं सोमपानं प्रति, आयातमिति सम्बन्धः। किञ्च, आयुर्जीवनं प्रतारिष्टम्, तरतिर्वृद्ध्यर्थः, प्रवर्धयतम्, रपांसि पापानि, निर्मृक्षतं निःशेषेण शोधयतम्, नाशयतमित्यर्थः। द्वेषो दौर्भाग्यं सेधतम्, 'षिधु गत्याम्', गमयतं नाशयतम्। सचाभुवा भवतम्। 'सचा' इति सहार्थेऽव्ययम्। सचा सह भवतस्तौ सचाभुवा, कार्येषु संयुक्तौ भवतम्। हे अश्विनौ! तारिष्टम्, तरतेर्लुङि मध्यमद्विवचनम्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इत्यडभावः। मृक्षतम्, 'मृजू शुद्धौ' 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४), 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिप्। 'तस्थस्थमिपाम्' (पा० सू० ३।४।१०१) इति व्यत्ययेन थसस्तमादेश इति महीधरः।

अध्यात्मपक्षे—हे नासत्याविव रामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ वा। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे नासत्यौ अश्विनौ राजप्रजाजनौ, यथा युवामिह त्रिभिरेकादशैर्देवेभिः सह मधुपेयमायातम्, रपांसि मृक्षतं द्वेषो निषेधतम्, सचाभुवा भवतमायुः प्रतारिष्टम्, तथा वयमपि भवेम' इति, तदपि न, प्रार्थयितुरपि राजप्रजाजनान्तर्गतत्वेन यथा तथेत्यनुपपत्तेः, नासत्यावित्यस्य राजप्रजाजनयोर्बोधे मानाभावात्। न च तौ त्रिभिरेकादशैर्देवैः सह पेयमागन्तुं शक्नुतः, तेषां जडत्वेनागमनासम्भवात्। न च रपांसि शुद्धानि भवन्ति, पाप्मनां नाशेन पापिनामेव शुद्धिसम्भवात्॥ ४७॥

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ४८॥

मन्त्रार्थ—हे मरुद्गणों! वीतराग, मानार्ह यजमान का यह स्तोम, यह सत्य वाणी आपके निमित्त है, अर्थात् यजमान इनसे आपकी स्तुति करता है। आप इसके परिवार में बाल्य आदि अवस्था से सम्बन्ध रखने वाले शरीर की रक्षा के लिये, इसे धन-धान्य से परिपूर्ण करने के लिये यहाँ आवें। जीवन को देने वाले बल के साधक धन-धान्य से हम परिपूर्ण हों॥ ४८॥

मारुती त्रिष्टुप्। हे मरुतः, एष स्तोमः, इयं च गीः सत्या प्रिया च वाक्, वो युष्माकमस्तु, युष्मदर्थं वर्तत इत्यभिप्रायः। कारोः कर्तुर्यजमानस्य मम तं स्तोमं तां च गिरमुपश्रुत्य एषाऽयासीष्ट इषा अन्नेन निमित्तेन आ अयासीष्ट, अयासीरन्निति वचनव्यत्ययः। अन्नेन निमित्तेनाहूयमाना आगच्छत। कीदृशस्य कारोः? मान्दार्यस्य मामिति लक्षणया स्वस्वामिसम्बन्धं लक्षयति, स्वस्वामिसम्बन्धं दारयतीति मान्दार्यस्तस्य वीतरागस्य। यद्वा मां द्यति मां दारयतीति शत्रूणां यः प्रत्ययमादधाति स तथोक्तस्तस्य। यद्वा मन्दारः कल्पवृक्षः, तत्तुल्यो मान्दार्यः, तस्य कामपूरकस्य मान्यस्य मानार्हस्य। किमर्थमागन्तव्यमिति चेत्तत्राह—तन्वे वयां वयसां शरीरस्थित्यर्थं वयो दृढं कर्तुम्। वयसामित्यत्रामि टिलोप आर्षः। यद्वा वयसां बाल्ययौवनस्थविराणाम्, वयसां सम्बन्धिन्यै तन्वे शरीराय, अस्मच्छरीरं दृढीकर्तुमित्यभिप्रायः। किञ्च, इषमन्नं बलं च वयं विद्याम लभेमहि। कीदृशमिषं वृजनं च? जीरदानुं जीवयतीति जीरदानुस्तम्। जीवेरौणादिको रदानुप्रत्ययः। 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) इति वलोपः। जीवितदातृ बलमन्नं च वयं प्राप्नुयामेति।

अध्यात्मपक्षे—हे मरुतः! मरुद् वायुः। वायुरपि परमेश्वर एव, 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' (ऋ० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। पूजायां बहुवचनम्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मरुतो मनुष्याः, मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोरेष स्तोम इयं च गीर्वोऽस्तु। यूयमिषा वयां तन्वे। आजीरदानुं मित्रं वृजनं च विद्यां लभेमहि' इति, तदपि न, स्तोमशब्दस्य त्रिवृत्स्तोमादिप्रसिद्धमर्थमपहाय प्रशंसार्थग्रहणे मानाभावात्। मरुतो मनुष्या इत्यप्ययुक्तम्, त्वयापि मन्त्रस्यास्य मरुतां देवतात्वाङ्गीकारात्। न च मनुष्याणां प्रशंसा गीर्वोपयोगिन्यौ, न च मनुष्याणामागमनेन प्राणिनां विज्ञानबलादिप्राप्तिः सम्भवति, तेषां तद्दाने सामर्थ्याभावात्॥ ४८॥

सहस्तोमाः सहच्छन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥ ४९॥

मन्त्रार्थ—स्तोमों के साथ, छन्दों के साथ, भले कर्मों के साथ, श्रुति-प्रमाणों के साथ बुद्धिमान् प्रजापति सम्बन्धी सात ऋषियों ने वेदप्रदर्शित मार्ग का अवलोकन कर सृष्टियज्ञ को उसी प्रकार सम्पन्न किया था, जैसे कि बागडोर की सहायता से रथी अश्व को अपने अभीष्ट स्थान की ओर ले जाता है ॥ ४९ ॥

ऋषिसृष्टिप्रतिपादिका त्रिष्टुप् । दैव्या सप्त ऋषयः, देवस्य प्रजापतेरिमे दैव्याः प्रजापतिप्राणाभिमानिनः सप्त ऋषयो भरद्वाजकश्यपगोतमात्रिवशिष्ठविश्वामित्रजमदग्निसंज्ञाः । सप्त ऋषय इति प्राप्ते व्यत्ययेन ऋषयः सप्त इति । एते पूर्वेषामधस्तनकल्पोत्पन्नानामवसिताधिकाराणां पन्थां पन्थानमनुदृश्य अवलोक्य अन्वालेभिरे अन्वालब्धवन्तः सृष्टवन्तः सृष्टियज्ञम् । पूर्वकल्पीया ऋषयो यथा सृष्टिं कृतवन्तस्तथैव सृष्टवन्त इत्यर्थः, 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० १०।१९०।३) इति श्रुतेः । कथम्भूता ऋषयः सृष्टवन्तः ? सहस्तोमाः, त्रिवृदादिस्तोमसहिताः, सहच्छन्दसश्छन्दोभिर्गायत्र्यादिभिः सहिताः, आवृतः, आवृच्छब्देन कर्मोच्यते, सहेत्यध्याहारः, सहावृतः कर्मसहिताः श्रद्धासत्यप्रधानानां कर्मणामनुष्ठातारः । सहप्रमाः, प्रमा प्रमाणं तत्सहिताः सहप्रमाः शब्दप्रमाणपरीक्षणतत्पराः, सहप्रमास्तत्तद्विषयकयथार्थज्ञानवन्तो वा, 'इमावेव गौतमभरद्वाजौ ...... इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी ... इमावेव वसिष्ठकश्यपौ वागेवात्रिः' (बृ० उ० ३।२।४) इति दिशा । धीरा धीमन्तः । कथमिव सृष्टवन्तः ? रथ्यो न रश्मीन् । नकार उपमापर्यायः । रथे साधू रथ्यः, रथी यथा इष्टदेश-प्राप्त्यर्थं प्रथमं रश्मीन् प्रग्रहान् आलभते स्पृशति सृजति वा, तथा तेऽपि सृष्टियज्ञं कृतवन्तः ।

अध्यात्मपक्षे—ऋषयः सप्त दैव्याः प्रजापतेः प्राणाभिमानिनो ब्रह्मपरिणामभूता ब्रह्मात्मका एवावान्तर-सृष्टिकारणभूताः सृष्टियज्ञं कृतवन्तः । व्याख्यानं पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा सहस्तोमाः सहच्छन्दस आवृतः सहप्रमाः सप्त दैव्या धीरा ऋषयो रथ्यो रश्मीनिव पूर्वेषां पन्थामनुदृश्यान्वालेभिरे, तथा भूत्वा यूयमप्याप्तमार्गमन्वालभध्वम्' इति, तदपि न, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात् । न च पञ्चज्ञानेन्द्रियाणामन्तःकरणस्य च सहस्तोमत्वादिकं सम्भवति । न च वेदाध्ययनं ब्रह्मचर्यं गुरुकुलान्निवृत्तिर्गृहागमनं सहप्रज्ञानत्वं वेदार्थशास्त्रवित्त्वं च सम्भवति, तेषां करणत्वेन कर्तृत्वासम्भवात् ॥ ४९ ॥

आयुष्यं वर्चस्यꣳ रायस्पोषमौद्भिदम् ।
इदꣳ हिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम् ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—यह पूर्ण आयु का और तेज का दाता, पुष्टि को बढ़ाने वाला, स्वर्ग का प्रकाशक, धन-धान्य से परिपूर्ण सुवर्ण हमारी सब प्रकार की विजय के लिये हमारी पवित्र आत्मा में प्रवेश करे ॥ ५० ॥

तिस्र उष्णिक्शक्वरीत्रिष्टुभो दक्षदृष्टाः । हिरण्यस्तुतिः । यदिदं हिरण्यं सुवर्णम्, आयुष्यम् आयुषे हितम्, वर्चस्यं वर्चसे तेजसे हितम्, रायो धनस्य पोषं पोषणकर्तृ वर्धकम्, औद्भिदमुद्भिनत्तीत्युद्भित्, तदेवौद्भिदम्, स्वार्थे तद्धितम्, उद्भेतृ, धनस्य स्वर्गस्य वा प्रकाशकम्, वर्चस्वद् अग्निसंयुक्तम्, तद् जैत्राय विजयाय आविशताद् आविशतु । उः पादपूरणः । मय्यवस्थानं करोत्वित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—यदिदं हिरण्यं ज्योतिर्मयं तद्विज्ञानं च तदायुष्यम्, तच्चिन्तनस्यामृतत्वहेतुत्वात् । वर्चस्यम्, तत्प्रतिपादकवेदाध्ययनस्य तदुपयोगिनो ब्रह्मचर्यस्य ब्रह्मवर्चोहेतुत्वात् । रायस्पोषम्, लौकिकस्य हिरण्यादे-राध्यात्मिकस्य ज्ञानवैराग्यादेश्च पोषकं वर्धयितृ । औद्भिदं सर्वपुरुषार्थप्रकाशकम् । वर्चस्वद् अन्नोपलक्षितसर्व-

भोग्यप्रापकम्, सर्वस्य तत्रैवाध्यस्तत्वात्। तद् जैत्राय कामादिसपत्नविजयाय मामु मामेव विशतात्, मयि प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपेणावस्थानं करोतु।

दयानन्दस्तु –हे मनुष्याः, यदौद्भिदमायुष्यं वर्चस्यं रायस्पोषं वर्चस्वद्धिरण्यं जैत्राय मामाविशतात्, तदु युष्मानप्याविशतात्' इति, तदपि न, वर्चसेऽध्ययनाय हितं वर्चस्यमित्यसङ्गतेः, अध्ययनप्रतिबन्धकत्वस्यैव प्रायेण तत्र दर्शनात्, वर्चःशब्दस्य तेजसि प्रसिद्धत्वाच्च ॥ ५० ॥

न तद्रक्षाᳬसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजᳬ ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणᳬ हिरण्यᳬ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—उस सुवर्ण को न तो राक्षस नष्ट कर सकते हैं और न पिशाच ही, क्योंकि यह सुवर्ण देवताओं का सबसे पहले उत्पन्न हुआ तेज है। जो पुरुष अलंकार के रूप में सुवर्ण को धारण करता है, वह देवलोकों में लम्बे समय तक निवास करता है, वह मनुष्य लोक में भी दीर्घायु होता है ॥ ५१ ॥

तद् हिरण्यं न रक्षांसि राक्षसा स्तरन्ति, न च पिशाचास्तरन्ति। हि यस्मात्। एतद् हिरण्यं देवानां प्रथमजम् ओजः प्रथमोत्पन्नं देवानां तेज एवैतत्। अत एव यो हिरण्यं दाक्षायणमलङ्कारत्वेन बिभर्ति, दाक्षायणशब्दोऽलङ्कारवचन इत्युव्वटमहीधरौ, स देवेषु देवलोकेषु दीर्घमायुः स्वस्य कुरुते, देवलोके चिरं वसतीत्यर्थः। मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः, मानुष्यमायुरतिक्रम्य बहुकालं जीवतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे –तद् हिरण्यं ब्रह्म तज्ज्ञानं वा। न च रक्षांसि न वा पिशाचास्तरन्ति हिंसन्ति, ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च सर्वोपद्रवनाशकत्वात्। तच्च देवानां प्रथमजं प्रथमभावि, ओजो वर्चः, सर्वकारणकारणत्वात्। यो हिरण्यं तादृग् ब्रह्म तज्ज्ञानं वा दाक्षायणमलङ्कारवदादरेण बिभर्ति हृदये धारयति, स देवेषु दीर्घमायुः कृणुते, मनुष्येषु च दीर्घमायुः कृणुते। देवेषु मनुष्येषु यस्तद्भक्तो भवति, तस्मै दीर्घमायुः प्रयच्छतीत्यर्थः। 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः (मुण्डको० ३।१।१०) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यद्देवानां प्रथमजमोजोऽस्ति, न तद्रक्षांसि न च पिशाचास्तरन्ति। यो ह्येतद् दाक्षायणं हिरण्यं बिभर्ति, स देवेषु दीर्घमायुः कृणुते, स मनुष्येषु दीर्घमायुः कृणुते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तद् अध्ययनं विद्याप्रापणं रक्षांसि पिशाचाश्च न तरन्तीत्यनुपपत्तेः, हिरण्यस्यैव तत्पदेन ग्रहीतुं योग्यत्वात्, हिरण्यं तेजो देवतेति त्वयाऽप्यङ्गीकारात् ॥ ५१ ॥

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यᳬ शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तन्म आ बध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासम् ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—ईश्वर का मन में ध्यान करते-करते प्रजापति के पुत्रों ने जिस सुवर्ण को अनन्त सेना वाले नृपतिस्वरूप ब्रह्म में बाँधा, उस सुवर्ण को पूर्णायु की प्राप्ति के लिये मैं शरीर पर धारण करता हूँ, जिससे कि मैं दीर्घजीवन के निमित्त जीर्ण-शीर्ण शरीर में भी बना रहूँ ॥ ५२ ॥

दक्षस्यापत्यानि पुमांसो दक्षवंशोत्पन्ना ब्राह्मणाः सुमनस्यमानाः, शोभनं मनः कुर्वते सुमनस्यन्ते, सुमनस्यन्त इति सुमनस्यमानाः, नडादित्वात् फक्। यद् हिरण्यं शतानीकाय राज्ञे, अबध्नन् बबन्धुः, शतं बहून्यनीकानि

यस्य तस्मै, तद् हिरण्यं शतशारदाय शतं शरदो जीवनायाहमपि बध्नामि। यथा येन प्रकारेण हिरण्यबन्धनाख्येन कर्मणा अहमायुष्मान् दीर्घजीवी जरदष्टिश्च जरां प्राप्तो जरच्छरीरो वा, आसं भूयासम्, तथा आबध्नामि। जरामश्नुते व्याप्नोतीति जरदष्टिः। यद्वा जरन्ती जरां प्राप्ता अष्टिः शरीरं यस्य स जरदष्टिः।

अध्यात्मपक्षे—सुमनस्यमाना दाक्षायणा ब्राह्मणा यथा शतानीकाय राज्ञे तद् ब्रह्मरूपं ब्रह्मज्ञानरूपं वा हिरण्यं अबध्नन्, ब्रह्मणा ज्ञानेन वा संयोजितवन्तः, तथा तद् हिरण्यं मयि बध्नामि ब्रह्मणाऽऽत्मतादात्म्यमध्यवस्यामि, प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण वाऽऽत्मानं योजयामि। किमर्थम्? शतशारदाय शतमनन्तशरदो जीवनाय यथा येन प्रकारेणायुष्मान् दीर्घजीवी जरदष्टिश्च भूयासम्। ब्रह्मात्मतादात्म्यापत्तिरेवानन्तं जीवनम्। ब्रह्मचिन्तनशीलः शोकमोहातीतस्तपःसमाधिसम्पन्नः शरीरेणापि बहुकालं जीवतीत्याशयः।

दयानन्दस्तु—ये दाक्षायणाः सुमनस्यमानाः शतानीकाय मे यद्धिरण्यमाबध्नन्, तदहं शतशारदाया-बध्नामि। हे विद्वांसः, यथाहं युष्मान् प्राप्य जरदष्टिरासम्, तथा यूयं मां प्रत्युपदिशत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे विद्वांस इति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। दाक्षायणा इत्यस्य चातुर्यविज्ञानयुक्ता इत्यसंगतोऽर्थः, अपत्यार्थप्रत्यय-विरोधात्। 'यथाऽहं युष्मान् प्राप्य जरदष्टिरासम्, तथा यूयं मामुपदिशत' इति यदुक्तम्, तदपि न, मन्त्र-बाह्यत्वात्। न च युष्मानिति पदं मूलेऽस्ति, आयुष्मानिति पदच्छेदाज्ञानात्॥ ५२॥

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात् पृथिवी समुद्रः।
विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु॥ ५३॥

मन्त्रार्थ—हे अहिर्बुध्न्य और अज एकपाद नामक रुद्रों, पृथ्वी देवी और समुद्रों! आप सब देवता हमारी यह बात सुनें कि आप सब यज्ञ की समृद्धि को देने वाले इस यज्ञ में आहूत हैं। मन्त्रों के द्वारा स्तुत मेधावियों के द्वारा पूजित देवता हमारी सब ओर से रक्षा करें॥ ५३॥

बहुदेवत्या त्रिष्टुप्। उत अपि च, अहिर्बुध्न्य एकादशरुद्रेषु रुद्रविशेषः, नोऽस्माकं शृणोतु, वचांसीति शेषः। अज एकपाद् रुद्रः प्राणो वा शृणोतु, पृथिवी च शृणोतु, समुद्रश्च शृणोतु, विश्वे देवाश्च शृण्वन्तु। श्रुत्वा च ते सर्वेऽवन्तु पालयन्त्वस्मान्। कीदृशास्ते? ऋतावृधः सत्यवृधः, हुवाना आहूयमाना मन्त्राः, व्यत्ययेन मन्त्रैः स्तुताः, कविशस्ताः कविभिः क्रान्तदर्शनैः शस्ताः प्रशस्ताः।

आध्यात्मिकोऽर्थः—अहिर्बुध्न्यादयो ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्मात्मका देवाः सत्यवृध आहूयमाना मन्त्रैः स्तुता अविशस्ताः शृण्वन्तु, श्रुत्वा च नोऽवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, बुध्न्योऽहिरिव पृथिवी संमुद्रश्चैवैकपादजो नः शृणोतु, ऋतावृधो हुवाना विश्वे देवा उतापि च कविशस्ताः स्तुता नोऽस्मानवन्तु' इति, तदपि न, मुख्यार्थत्यागगौणार्थग्रहणयोरेव दोषत्वात्। अहिर्मेघो भवतु, अहिरिवेत्यर्थस्तु कुतस्त्यः? तथैव पृथिवीतुल्यः समुद्रतुल्य इत्यप्यनर्थ एव। न च ऋतावृधो विद्वांसः स्पर्धन्ते। स्तुताः स्तुतिप्रकाशका मन्त्रार्थविचारसाधका इत्यादिकमप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्॥ ५३॥

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अꣳशः॥ ५४॥

मन्त्रार्थ—हे घृत छोड़ने वाले वेदवचन ! बुद्धिरूप जुहू के द्वारा सदैव दीप्यमान आदित्यों के लिये मैं यह हवि समर्पित करता हूँ। मित्र, अर्यमा, भग, त्वष्टा, वायु, वरुण, दक्ष और अंशु देवता हमारी वाणी को सुनें ॥ ५४ ॥

आदित्यदेवत्या त्रिष्टुप्। इमा गिरः स्तुतिवाचो जुह्वा स्रुचा आदित्येभ्यो जुहोमि, बुद्धिरूपया स्रुचा स्तुतिलक्षणा वाच आदित्येभ्यः समर्पयामि। कथम्भूता गिरः ? घृतस्नूः, घृतं स्नुवन्ति स्रवन्ति ता घृतस्नवः, ता घृतप्रस्रविणीर्घृतप्रसारिणीर्वा घृतहोमसहचरिता वा, तुगभाव आर्षः। कीदृशेभ्य आदित्येभ्यः ? सनात् चिरकालं राजभ्यो दीप्यमानेभ्यस्ता बुद्धिरूपया स्रुचा हूयमाना नोऽस्माकं गिरो मित्रोऽर्यमा भगश्च, तुविजातो बहुजातस्त्वष्टा वातो वा, स हि बहुशः प्रजायते। वरुणो दक्षोंऽशश्च शृणोतु। सर्वे चैते सूर्यविशेषाः।

आध्यात्मिकोऽर्थः—ब्रह्मणः सार्वात्म्यद्योतनाय चिराद् राजमानानेकादित्यरूपेण ब्रह्मणः प्रार्थनम्। व्याख्यानं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'अहमादित्येभ्यो राजभ्यो या इमा गिरो जुह्वा सनाज्जुहोमि, स घृतस्नुर्नो गिरोऽमित्रोऽर्यमा भगस्तुविजातो दक्षोंऽशो वरुणश्च शृणोतु' इति, तदपि न, आदित्यशब्दस्य स्वार्थत्यागे मानाभावात्। घृतमुदकमिव प्रदीप्तं व्यवहारं स्नान्ति शोधयन्ति, ता घृतस्नूरित्यप्यसाम्प्रतम्। घृतमुदकमिति स्वीकारे घृतमिवेत्यस्य निर्मूलत्वात्। अन्यदपि तादृशमेव ॥ ५४ ॥

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।

सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—प्राण, त्वचा, चक्षु, श्रवण, रसन, घ्राण और मन ये सात ऋषि हमारे शरीर में व्यवस्थित हैं। ये सातों सदा सावधानी से हमारे शरीर की रक्षा करते हैं। सोते समय ये सातों ऋषि सारे देह में व्याप्त होकर हृदयाकाश में स्थित विज्ञानात्मक ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाते हैं। उस अवस्था में भी जागरणशील सबके जीवन-स्रोत के प्रवर्तक प्राण और अपान सदा जागते रहते हैं ॥ ५५ ॥

अध्यात्मवादिनी जगती। सप्त ऋषयः प्राणास्त्वक्चक्षुःश्रवणरसनघ्राणमनोबुद्धिलक्षणाः शरीरे प्रतिहिता व्यवस्थिताः। ते सप्त सदं सदाकालमप्रमादं सावधानं यथा तथा शरीरं रक्षन्ति। ते सप्त स्वपतो नरस्य लोकमात्मानमीयुः। हृदयाकाशप्रतिष्ठितो विज्ञानात्माऽत्र लोकशब्दार्थः। कीदृशाः सप्त ? आपः, देहव्यापनाः। आप्नुवन्ति व्याप्नुवन्ति देहमित्यापः। तत्र च संवित्स्थाने, तस्यामवस्थायाम्, तस्यामृषीणां लोकगमनावस्थायाम्, देवौ दीप्यमानौ प्राणापानौ जागृतो जागरणं कुर्वाते। कीदृशौ देवौ ? अस्वप्नजौ, न स्वप्नो निद्रा जायते ययोस्तौ। 'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्' (बृ० उ० ४।३।१२) इति श्रुतेः सुप्तिदशायां प्राण एव कुलायं शरीरं रक्षति। तदभावे मृतानामिव शरीरं श्वापदगृध्रादयो भक्षयेरन्। सत्रसदौ, सतां जीवानां त्राणं रक्षणं सत्रम्, तदर्थं सीदत इति सत्रसदौ प्राणिनां जीवनरक्षितारौ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदर्थः।

दयानन्दस्तु—'ये सप्त ऋषयः शरीरे प्रतिहितास्त एव सप्ताप्रमादं यथा स्यात्तथा सदं रक्षन्ति, ते स्वपतः सप्तापो लोकमीयुस्तत्रास्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ जागृतः' इति, तदपि न, पूर्वापरविरोधात्। पूर्वं सप्तमो जीवो गृहीतः, अत्र तु बुद्धिरिति। ऋषयो विषयप्रापका इत्यप्यसङ्गतम्, 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' इति वचनविरोधात्। प्रतिहिताः प्रतीत्या धृता इत्यप्यसङ्गतम्, प्रतिशब्दस्य तथार्थत्वे मानाभावात्। न चेन्द्रियाणि देहं व्याप्नुवन्ति, त्वगव्यतिरिक्तानां शरीरैकदेशस्थत्वात्। अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ५५ ॥

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे ।
उप प्र यन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—हे वेद के रक्षक अन्तर्यामी ब्रह्मणस्पति देव ! हमारे इस यज्ञ-कार्य की प्रवृत्ति के लिये आप उठ खड़े होइये । अन्य देवताओं को चाहते हुए भी हम आपसे ही विशेष रूप से याचना करते हैं । सबको धन-धान्य देकर समृद्ध कर देने वाले मरुद्गण आपके समीप उपस्थित हों । हे यजमान ! तुम भी इनके साथ निकल पड़ो, तीव्र गति से चलो, जिससे कि इनका साथ न छूटने पावे ॥ ५६ ॥

तिस्रो ब्राह्मणस्पत्यः, द्वे बृहत्यौ तृतीया त्रिष्टुप् । हे ब्रह्मणस्पते, ब्रह्मणो वेदस्य पते ! उत्तिष्ठ ऊर्ध्वो भव, आरब्धकार्यो भव । यस्माद् देवयन्तो देवान् कामयन्तो वयं यजमानास्त्वां भवन्तम्, ईमहे आगच्छेति याच्ञामहे । भवन्तमागच्छन्तं शोभनं ददति ते सुदानवः कल्याणदानाः शोभनदानशीला मरुतो देवा उप समीपे प्रयन्तु उपागच्छन्तु । हे इन्द्र ! त्वमपि सचा सहागमनाय प्राशूः प्रकर्षेण त्वरावान् भव । ईमहे याचतिकर्मसु पठितः (निघ० ३।१९।१), 'ई गतौ' दिवादित्वादागतस्य श्यनश्छान्दसो लोपः । सुदानवः 'दामाभ्यां नुः' (उ० ३।३२) । प्राशूः, आशुशब्दे दीर्घश्छान्दसः । संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६।३।१३५) इति दीर्घः ।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणस्पतिः परमेश्वर एव, तस्यैव वेदजनकत्वात्, सर्वस्वामित्वाच्च । यद्यपि परमेश्वरस्य व्यापकत्वादागमनप्रार्थना नोपयुज्यते, तथाप्युपाधिमाश्रित्य तदागमनमपि सम्भवत्येव । व्याख्यानं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मणस्पते इन्द्र, देवयन्तो वयं त्वेमहे यं त्वा सुदानवो मरुत उपप्रयन्तु, स त्वमुत्तिष्ठ । सचा प्राशूर्भव' इति, तदपि न, यः प्राश्नाति सः प्राशुरिति रीत्या सर्वस्यैव प्राशुत्वसम्भवात् । मरुतो मनुष्या इत्यपि निर्मूलम्, मुख्यार्थत्यागे मानाभावात् । सचा सत्यसमवायेनेत्यपि निर्मूलमेव, निष्प्रमाणत्वात् ॥ ५६ ॥

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांꣳसि चक्रिरे ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—हे ब्रह्मणस्पति देव ! आप निश्चय ही हम से शस्त्र योग्य मन्त्रों का उच्चारण कराते हैं । जिस मन्त्र में इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि देवता निवास करते हैं, उस मन्त्र का आप उच्चारण कराते हैं ॥ ५७ ॥

ब्रह्मणस्पतिर्देवो नूनं निश्चितमुक्थ्यं शंसनयोग्यं मन्त्रं प्रवदति प्रकर्षेणोच्चारयति । उक्थं शस्त्रमुच्यते, तत्र सन्नमन् मन्त्र उक्थ्यः । कथम्भूतोऽसौ मन्त्रः ? यस्मिन् मन्त्रे इन्द्रश्च, वरुणश्च, अर्यमा च, अन्ये देवाश्च ओकांसि निवासान् निवासस्थानानि कृतवन्तः । 'ओक इति निवासनाम' (निरु० ३।३) । सर्वदेवानामाधारभूतं शस्त्रसमवेतं मन्त्रं पठति ब्रह्मणस्पतिरिति तादृशं देवं स्तुम इति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणस्पतिः परमेश्वर एव । ब्रह्मणस्पतिरूपादविशेषो वा भूत्वा तादृशमुक्थ्यं प्रवदति, यस्मिन् इन्द्रादयः सर्वे देवा वसन्ति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रोऽर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे, स ब्रह्मणस्पतिः परमात्मोक्थ्यं मन्त्रं वेदाख्यं नूनं प्रवदतीति विजानीत' इति, तदपि न, कण्ठताल्वाद्यन्तरा परमेश्वरकर्तृक-वेदोच्चारणासम्भवात्, विद्युदादीनां जडत्वेनोकःकर्तृत्वासम्भवाच्च । न चाकाशवत् परमेश्वरस्य सावकाशत्वम्, येन तत्रान्यानि तत्त्वानि वसेयुः, तस्य निरवयवत्वेन निरवकाशत्वात् ॥ ५७ ॥

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व ।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥
य इमा विश्वा विश्वकर्मा यो नः पिता अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि ॥ ५८ ॥

॥ इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—हे ब्रह्मणस्पति देव ! आप ही इस सूक्त के नियन्ता हैं, अतः सावधान होकर इसे सुनें और धन-धान्य से हमारी सन्तति को तृप्त करें । देवता जिस सकल कल्याण की रक्षा करते हैं, वह कल्याण आप हमें दें । हम पुत्र-पौत्र आदि से सम्पन्न होकर इस यज्ञ में बार-बार आपकी स्तुति करते हैं ॥ ५८ ।

हे ब्रह्मणस्पते, त्वमस्य जगतो यन्ता नियन्ता, अतो विज्ञापयामि—सूक्तस्यास्मदुक्तस्य साधुवचनस्य, अवगतार्थो भव, कर्मणि षष्ठी, अस्मदुक्तं सूक्तं बोधि बुद्धयस्व । तनयं चास्मदपत्यानि जिन्व प्रीणीहि । तद्विश्वं भद्रमस्माकमस्तु, देवा यद् भद्रं कल्याणमवन्ति पालयन्ति । किञ्च, सुवीराः शोभनपुत्राः सन्तो वयं बिदथे यज्ञे बृहद् महद् वदेम, दीयतां भुज्यतामिति महाभाग्यपूर्णं वाक्यमुच्चारयेम । अथ चतस्रः कण्डिकाः प्रतीकोक्ताः—'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्' (१७।१७), 'विश्वकर्मा विमनाः' (१७।२६), 'यो नः पिता' (१७।२७), 'अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि' (११।८३) । ता ब्रह्मयज्ञेऽध्येतव्याः ।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मणस्पते वेदपालक परमेश्वर ! त्वमस्य सर्वस्य प्रपञ्चस्य यन्ता नियामकोऽसि । सूक्तस्य, सूक्तमस्मदुक्तसाधुवचनं बुद्धयस्वावगच्छस्व । तनयं च पुत्रान् तत्तुल्यान् शिष्यान् वा जिन्व प्रीणीहि । धर्मब्रह्मज्ञानादिप्रदानेन विश्वं सर्वं तद् भद्रं नोऽस्तु, यद् भद्रं देवा अवन्ति पालयन्ति । सुवीराः कल्याणपुत्राः सन्तो वयं विदथे यज्ञे बृहद्वदेम दीयतां भुज्यतामिति कल्याणवचनमुच्चारयेम ।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मणस्पते ! देवा विदथे यदवन्ति, यत् सुवीरा वयं बृहद्वदेम, तस्यास्य सूक्तस्य त्वं यन्ता भव, तनयं च बोधि । तद् भद्रं विश्वं जिन्व' इति, तदपि न, 'ब्रह्मणस्पते ब्रह्माण्डस्य पते' इति विवरणस्य निर्मूलत्वात्, ब्रह्मपदेन ब्रह्माण्डस्य ग्रहणे मानाभावात् । सूक्तस्य सुष्ठु वक्तुमर्हस्येत्यपि तथाविधमेव । अवन्ति उपदिशन्तीत्यपि निर्मूलमेव । तनयं विद्यापुत्रमित्यपि गौणार्थग्रहणमेव । 'विदथे विज्ञापनीये व्यवहारे' इत्यपि निर्मूलमेव, तादृशेऽर्थे शिष्टैरप्रयुक्तत्वात् ॥ ५८ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः । अस्य लोकः सुतावतः । द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं से द्वेष करने वाले दुःखदाता असुर इस स्थान से हट जाँय । यह सोमाभिषव के कर्ता यजमान का स्थान है । यमराज ऋतु, दिवस और रात्रि द्वारा स्पष्टीकृत इस स्थान को यजमान के लिये छोड़ दे ॥ १ ॥

पित्र्योऽध्यायः । आदित्यस्यार्षम् । स च पितृमेधो मृतस्य वर्षास्मरणे भवति, वर्षस्मृतौ तु विषमवर्षेषु भवति । 'पितृमेधः संवत्सरास्मृतौ, अयुग्मेषु वा' (का० श्रौ० २१।३।१-२) । संवत्सरस्मृत्यभावेऽयुग्मेषु संवत्सरेषु, स्मृतौ तु युग्मेष्विति व्यवस्थितो विकल्पः । एकनक्षत्रे, यदैकैव तारकाकाशे दृश्यते तदेकनक्षत्रम्, तस्मिन् हस्तस्वातिपुष्यादौ, दर्शे ग्रीष्मे शरदि माघे वा पितृमेधं कुर्यात्, 'एकनक्षत्रे, अमावास्यायाम्, निदाघशरन्माघेषु' (का० श्रौ० २१।३।३-५) इति कात्यायनवचनेभ्यः । 'यावन्तो ध्रुविष्यन्तः स्युस्तावतः कुम्भानादाय छत्राणि चापरिमितानि' (का० श्रौ० २१।३।६) । पुत्रपौत्रादिभिरुत्तरीयैर्वस्त्रैर्व्यजनैर्वा अस्थिकुम्भस्योपवीजनं धवनम् । अतो यावन्तो ध्रुविष्यन्तः स्युस्तावतः कुम्भान् कुम्भसंख्यातोऽधिकसंख्यानि छत्राणि चादाय सशरीरा दक्षिणा गच्छन्तीति सम्बन्धः । तेन पितृमेधं करिष्यता 'श्मशानं चिकीर्षतः कुम्भे सञ्चयनम्' (का० श्रौ० २५।८।७) इति रीत्या कुम्भ एवास्थ्नां चयनं कृत्वाऽरण्ये भूमिमध्ये तानि स्थापनीयानि । ततः कुम्भस्थानि तानि शारीराण्यस्थीनि ग्रामसमीपमाहृत्य कुम्भस्थान्येतानि तल्पे खट्वायां निधायाहतवस्त्रस्यैकदेशेनास्थिकुम्भं सर्वतो वेष्टयित्वा लोहमयेषु वादित्रेषु पटहादिषु वाद्यमानेषु, उद्धतायां वीणायां च वाद्यमानायाममात्या मृतस्य पुत्रपौत्राद्या उत्तरीयैर्वस्त्रैरुपवाजनैर्वा व्यजनैर्वा तमस्थिकुम्भरुपवाजयन्तस्त्रिस्त्रिरप्रदक्षिणं परीयुः स्त्रियो वा परीयुः (का० श्रौ० २१।३।७-८) । 'पूर्वरात्रमध्यापररात्रेषु च' (का० श्रौ० २१।३।९) । रात्रेः पूर्वभागे मध्यभागे पाश्चात्यभागे च परिक्रमणं कुर्युः । 'विफल्फान्नमहरेतत्' (का० श्रौ० २१।३।१०) 'फल्फ वृद्धौ' विफल्यं बहु अन्नं यत्र तदेतस्मिन्न् पितृमेधारम्भदिने बह्वन्नावदानं कर्तव्यमित्यर्थः । 'नृत्यगीतवादित्रवच्च' (का० श्रौ० २१।३।११) अस्मिन्नहनि नृत्यादिकमनवरतं कारयेत् । 'अन्नमस्मा उपसंहरन्त्येके' (का० श्रौ० २१।३।१२), 'उपव्युषसꣳ सशरीरा दक्षिणा यन्ति' (का० श्रौ० २१।३।१३) । उषसि विगच्छन्त्यां सह शरीरेणास्थिकुम्भेन सहिता यजमानाध्वर्व्यमात्या दक्षिणस्यां गच्छेयुः । श्मशानान्तं कर्म कुर्वतो यथा रविरुदियात् तथा रात्रावारब्धव्यम् ।

तत्र वने गत्वा ग्रामान्मार्गान्न्यग्रोधाश्वत्थतिल्वकहरिद्रुस्फूर्जकविभीतकश्लेष्मान्तककोविदारादिभ्यश्च दूरेऽन्यवृक्षगुल्मादिवृते ऊषरे वोदक्प्रवणे दक्षिणप्रवणे समे वा सुखकारिणि रम्ये वनादुदकाद्वा पूर्वभागे उत्तरभागे वा वर्तमाने गर्तवति वीरणतृणवति प्रदेशे श्मशानार्थं दिक्कोणं पुरुषप्रमाणं क्षेत्रं मिमीते । पैत्रिक्यां द्विपुरुषं समचतुरस्रं कृत्वा करणीमध्येषु शङ्कवः स समाधिरिति यजुःपरिशिष्ट(७।२)शुल्बोक्तविधिना । तच्चतुरस्रमुत्तरतः पश्चाच्च पृथु भवति, तत्पुरुषमात्रं क्षेत्रमुत्तरपार्श्वे पश्चाच्च पृथु कार्यम् । तद्यथा पुरुषस्य प्रमाणे विंशतिशताङ्गुलानि । तानि त्रयोदशधा विभज्यन्ते । नव नवैकस्मिन् भागेऽङ्गुलानि । एवं सप्तदशाधिकं शतमङ्गुलानि विभक्तानि भवन्ति । त्रीण्यङ्गुलान्यवशिष्यन्ते । तान्यपि त्रयोदशधा विभज्यन्ते । एकैकस्मिन् भागेऽङ्गुलस्य

चतुर्थो भागस्त्रयोदशांशोनो भवति। एवं त्रयोदशधा विभक्तेऽर्धसहिताः षड्भागा भवन्ति। अर्धभागे नवाङ्गुलानि स्वत्रयोदशांशोनाङ्गुलचतुर्थभागसहितानि भवन्ति। अतः पुरुषस्य चतुरस्रस्य दिक्स्थले प्राणभृदुपधानवत् पूर्वदक्षिणोत्तरपार्श्वयोर्नवाङ्गुलानि दशांशेनाङ्गुलचतुर्थभागसहितानि पुरुषप्रमाणमध्ये न्यूनानि कार्याणि। पश्चिमोत्तरपार्श्वयोस्तावन्ति पुरुषप्रमाणादधिकानि कार्याणीति सरलावृत्तौ टिप्पणी।

महीधराचार्यरीत्या पुरुषमात्रक्षेत्रस्याक्षणया प्राचीं कृत्वा तत्प्रान्तयोः शङ्कू निखाय सार्धाष्टादशाङ्गुलहीनां पुरुषद्वयप्रमाणामुभयतःपाशां रज्जुं मध्यमदेशे सलक्षणां कृत्वा पूर्वापरयोः शङ्क्वोस्तस्याः पाशौ प्रतिमुच्य मध्यलक्षणेन दक्षिणत आयम्य दक्षिणः कोणः साधनीयः। ततः सार्धाष्टाङ्गुलाधिकां पुरुषद्वयप्रमाणां रज्जुमुभयतः-पाशां मध्यलक्षणयुतां कृत्वा शङ्क्वोः पाशौ प्रतिमुच्य मध्यलक्षणेनोत्तरत आयम्योत्तरकोणः साध्यः। ततः पूर्वादिकोणेषु पालाशशमीवारणाश्ममयाश्चत्वारः शङ्कवो निखेयाः। एतत्कुर्वतां निकटे कश्चन यजमानपुरुष-स्तृणपूलकमुच्छ्रित्य धारयेत्। कर्मसमाप्तौ गृहमागत्य तं गृहेषूच्छ्रयेत प्रजावृद्ध्यै। अत्र कात्यायनः— 'अपसलविसृष्टया रज्ज्वा परितत्याऽपेतो यन्त्विति पलाशशाखया व्युदूहति' (का० श्रौ० २१।३।३२) इति। अपसलवि अप्रादक्षिण्येन निष्पादितया रज्ज्वा तत्क्षेत्रं समन्तादप्रदक्षिणं संवेष्ट्य 'अपेतो यन्तु' (३५।१) इति मन्त्रेण क्षेत्रमध्यपतिकं तृणपर्णादिकं पलाशशाखया क्षेत्राद् बहिर्निष्कासयेत्। अत्र कात्यायनेन शतपथब्राह्मणा-नुसारेणैव पितृमेधकर्म सूत्रितमिति ज्ञेयम्। तथा हि—

'अथास्मै श्मशानं कुर्वन्ति। गृहान् वा प्रज्ञानं यो वै कश्च म्रियते स शवस्तस्मा एतदन्नं करोति तस्माच्छ-वान्नꣳ शवान्नꣳ ह वै तच्छ्मशानमित्याचक्षते परोक्षम्' (श० १३।८।१।१) 'यो वै कश्च म्रियते स शवः' इत्यविशेषवचनादनग्निचितोऽपि श्मशानदर्शनात्। किमात्मकं तत्कुर्वन्ति? इत्यत आह—प्रेतस्य ग्रहान् वै तत्कुर्वन्ति। यथैवेह तेनास्थीनि रक्ष्यन्ते, एवममुत्र तदपूर्वेण प्रेतो रक्ष्यते गृहैरिवेत्यभिप्रायः। अमुष्य देवदत्ता-देरत्रास्थीनि गुप्तानीत्येतत्प्रज्ञायते येन तत्प्रज्ञानं च कीर्तिवर्धनं करणीयमित्यभिप्रायः। वर्णलोपागमादिना शवान्नं च श्मशानमित्याचक्षते परोक्षम्। पितॄणां दण्डपाशिस्वरूपा अत्तारः, तेऽकृतश्मशानस्यामुष्मिन् लोके पुण्यकृत्यामुपहिंसन्ति। 'तद्वै न क्षिप्रं कुर्यात्।····यत्र समा नानु चन स्मरेयुरश्रुतिमेव तदघं गमयति यद्यनु-स्मरेयुः' (श० १३।८।१।२)। 'अयुङ्क्षेषु संवत्सरेषु कुर्यात्। अयुङ्गꣳ हि पितॄणामेकनक्षत्रं एकनक्षत्रꣳ हि पितॄणाममावस्यायाममावास्या वा·····' (श० १३।८।१।३)। 'शरदि कुर्यात्' (श० १३।८।१।४)। चतुःस्रक्तिः। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या दिक्ष्वस्पर्धन्त ते देवा असुरान् सपत्नान् भ्रातृव्यान् दिग्भ्योऽनुदन्त तेऽदिक्काः पराभवन् तस्माद्या दैव्यः प्रजाश्चतुःस्रक्तीनि ताः श्मशानानि कुर्वतेऽथ या आसुर्यः प्राच्यास्त्वद्ये त्वत्परि-मण्डलानि' (श० १३।८।१।५)। 'उदीचीनप्रवणे करोति' (श० १३।८।१।८) 'कम्वति (करीषवति) कुर्यात्···· शम्वति (सुखवति) वा' (श० १३।८।१।१०)। 'गुहा सदवतापि स्यात्' (श० १३।८।१।११)। गुहाप्रवृक्ष-गुल्मादिसंवृतम्। अवतापि अधौतापि। 'यस्येत्थादनूकाशः' (श० १३।८।१।१२)। 'चित्रं पश्चात् स्यात्' (श० १३।८।१।१३)। चित्रं दर्शनीयं वनगिरिदेवगृहादि स्यात्। 'ऊषरे करोति' (श० १३।८।१।१४) 'समूले समूलꣳ हि पितॄणां वीरिणमिश्र' (श० १३।८।१।१५)। 'न भूमिपाशमभिविदध्यात्। न शरन्नाश्मगन्धान्ना-ध्याण्डान्न पृश्निपर्णीन्नाश्वत्थस्यान्तिकं कुर्यान्न विभीतकस्य न तिल्वकस्य न स्फूर्जकस्य न हरिद्रोर्न न्यग्रोधस्य ये चान्ये पापनामानो मङ्गलेप्सया नाम्नामेव परिहाराय' (श० १३।८।१।१६)। 'तद्वै न महत् कुर्यात्' (श० १३।८।१।१८) 'पुरुषमात्रं त्वेव कुर्यात्' (श० १३।८।१।१९)।

आद्या गायत्री। पणयोऽसुराः पणन्ति परद्रव्यैर्व्यवहरन्ति ये ते पणयः, असुम्ना नास्ति सुम्नं येषां तेऽसुखकराः, देवपीयवो देवानां हिंसितारो देवद्विषो देवान् पीडयन्ति हिंसन्ति ये ते तादृशास्ते इतोऽपयन्तु

अपगच्छन्तु। 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इत्युपसर्गस्य यन्त्विति क्रियापदेन व्यवधानम्। किमित्यसुराणामपगमोऽभ्यर्थ्यते ? तत्राह—अस्य यजमानस्यास्थिभूतस्यायं लोकः स्थानम्। कीदृशस्य यजमानस्य ? सुतवतः सोमाभिषवं कृतवतः, सुषावेति सुतवान् तस्य, 'षूञ् अभिषवे', क्तवतुप्रत्ययान्तः। 'अश्वरश्मिमति सुमति' (३।६।२) इत्यादिना प्रातिशाख्यसूत्रेण संहितायां सुतशब्दस्याकारदीर्घः। इतो यजुः। द्युभिः क्रतुभिः, अहोभिर्दिवसैः, अक्तुभी रात्रिभिश्च व्यक्तं प्रचारितमवसानं स्थानं यमो देवोऽस्मै यजमानाय ददातु। अवस्यन्त्यस्मिन्नित्यवसानं स्थानम्। द्युशब्देन श्रुतौ ऋतव उक्ताः, 'तदेनमृतुभिश्चाहोरात्रैश्च सलोकं करोति' (श० १३।८।२।३) इति श्रुतेः। क्रत्वाद्यधिष्ठातृदेवताभिः प्रकटितं सलोकमस्मै यमो ददात्वित्यर्थः।

'अथैनत्पलाशशाखया व्युदूहति। यदेवादो व्युदूहन् तदेतदपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयव इति पणीनेवैतदसुम्नान् देवपीयूनसुररक्षसान्यस्माल्लोकादपहन्त्यस्य लोकः सुतावत इति सुतवान् हि य ईजानो द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तमिति तदेनमृतुभिश्चाहोरात्रैश्च सलोकं करोति' (श० ३।८।२।३)। यदेवादो यत्प्रयोजनं वाग्निं व्यदूहन्, तत्प्रयोजनमेवैतत् पणयो व्यवहारप्रधाना देवपीयवः, पीयतिर्हिंसतिकर्मा। 'यमो ददात्ववसानमस्मा इति। यमो ह वा अस्यामवसानस्येष्टे तमेवास्मा अस्यामवसानं याचति। तान् दक्षिणोदस्यत्युदगितरान् दैवं चैव तत् पित्र्यं च व्याकरोति' (श० ३।८।२।४)।

अध्यात्मपक्षे—यमः, यच्छति नियमयति सर्वानिति यमः परमेश्वरः। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'ये देवपीयवः पणयो सुम्नान्यन्येभ्यो ददति, त इतोऽपयन्तु। लोको यमो द्युभिरहोभिरक्तुभिरस्य सुतावतो जनस्य सम्बन्धिनेऽस्मै व्यक्तमवसानं ददातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सुषावेति सुतवानिति सरलार्थोपपत्तौ प्रशस्तानि सुतानि वेदवित्प्रेरितानि कर्माणि यस्येति व्युत्पत्तेर्गौरवावहत्वात्, सुतानि कर्माणीत्यस्य प्रमाणसापेक्षत्वात्। यमोऽपि प्रसिद्ध एव ग्राह्यः, न तु यन्तेति। अन्यत्तु महीधराद्यनुसरणमेव ॥ १ ॥

सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्याँल्लोकमिच्छतु। तस्मै युज्यन्तामुस्रियाः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान ! सूर्यदेव तुम्हारे अस्थिरूप शरीर के लिये पृथ्वी से स्थान को चाहें, अर्थात् तुम्हारे लिये प्रतिष्ठाप्रद स्थान का संकल्प करें। तुम्हारा वह सूर्यदत्त स्थान बैल आदि से सुसंस्कृत हो, सुसज्जित हो ॥ २ ॥

'औदुम्बरसीर उत्तरतो वा षड्गवे युज्यमाने युङ्क्तेति सम्प्रेष्य सविता त इति जपति' (का० श्रौ० २१।३।३४) इति। ततोऽध्वर्युस्तां पलाशशाखां दक्षिणस्यां निरस्य परिश्रिद्भिर्वेष्टयित्वा तत्क्षेत्रस्य दक्षिणत उत्तरतो वा षड्भिरनड्डुद्भिः सीरं हलं युनक्ति। तस्मिन् युज्यमाने युङ्क्तेति सम्प्रेष्य सवितेति मन्त्रं जपति, 'अथैनत् परिश्रिद्भिः परिश्रयति। या एवामूः परिश्रितस्ता एता यजुषा ताः परिश्रयति तूष्णीमिमा दैवं चैव तत्पित्र्यं च व्याकरोत्यपरिमिताभिरपरिमितो ह्यसौ लोकः' (श० १३।८।२।२) इति श्रुतेः।

गायत्री। हे यजमान ! सविता सूर्यस्ते तव शरीरेभ्यः, विभक्तिव्यत्ययः, शरीराणाम्, पृथिव्यां लोकं स्थानमिच्छतु। नहि सविताऽननुज्ञातेन केनापि स्थातुं शक्यते। द्वितीयं वाक्यम्। सविता दत्ताय तस्मै क्षेत्राय शरीराय संस्कारार्थम् उस्रिया अनड्वाहो युज्यन्तां युक्ता भवन्तु।

अध्यात्मपक्षे—सविता जगदुत्पादको जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलः परमेश्वरः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे जीव ! सविता यस्य ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु, तस्मै तुभ्यमुस्रिया युज्यन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'हे जीव' इति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। सिद्धान्ते तु सूत्रानुसारि यजमान-

सम्बोधनम्। 'उस्रियाः किरणाः' इत्यपि निर्मूलम्। सिद्धान्ते तु सूत्रानुसारेणानड्वाहो युज्यन्ते। सूत्रं च मन्त्र-व्याख्यानेऽत्रैव निर्दिष्टम्॥ २॥

वायुः पुनातु सविता पुनात्वग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा। वि मुच्यन्तामुस्रियाः॥ ३॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्य द्वारा यजमान को प्रदत्त पृथिवि! वायु तुम्हें पवित्र करें, सूर्य तुम्हें पवित्र करें, अग्नि की दीप्ति और सूर्य के तेज से तुम शुद्ध हो। बैलों को हल से अलग कर दिया जाय॥ ३॥

'अनुरज्जु चतस्रः सीताः कृषति वायुः पुनात्विति प्रतिमन्त्रमुत्तरतः प्रतीचीं प्रथमामिति' (का० श्रौ० २१।४।१-२)। अध्वर्युः परितो वेष्टितां रज्जुमनुलक्ष्यीकृत्य वायुः पुनात्विति प्रतिमन्त्रं पादेन पादेन चतस्रः सीता अप्रदक्षिणं कृषति। तत्र प्रथमां सीतामुत्तरपार्श्वे प्रतीचीं कृषति। दक्षिणतः सीरयोजनपक्षेऽपि तत्सीर-मप्रदक्षिणमुत्तरत आनीय प्रथममुत्तरत एव कृषति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणतः सीरं युनक्ति। उत्तरत इत्यु हैक आहुः स यथा कामयेत तथा कुर्याद् युङ्क्तेति सम्प्रेष्याभिमन्त्रयते सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छत्विति सवितैवास्यैतच्छरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छति तस्मै युज्यन्तामुस्रिया इत्येतस्मा उ हि कर्मण उस्रिया युज्यन्ते॥ षड्गवं भवति। षड् ऋतवः संवत्सर ऋतुष्वेवैनमेतत् संवत्सरे प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयन्ति तदपसलवि पर्याहृत्योत्तरतः प्रतीचीं प्रथमाᳮ सीतां कृषति वायुः पुनात्विति सविता पुनात्विति जघनार्धेन दक्षिणामग्नेर्भ्राजसेति दक्षिणार्धेन प्राचीᳮ सूर्यस्य वर्चसेत्यग्रेणोदीचीम्॥ चतस्रः सीता यजुषा कृषति। तद्यच्चतसृषु दिक्ष्वन्नं तस्मिन्नेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति तद्वै यजुषाऽद्धा वै तद्यद्यजुरद्धो तद्यदिमा दिशः॥ अथात्मानं विकृषति। तद् यदेव संवत्सरेऽन्नं तस्मिन्नेवैनमेतत्प्रतिष्ठा-पयति तूष्णीमपरिमिताभिरपरिमितो ह्यसौ लोक॥ अथैनद्विमुञ्चति। कृत्वा तत्कर्म यस्मै कर्मण एनद्युङ्क्ते विमुच्यन्तामुस्रिया····युज्यन्ते तद्दक्षिणोदस्यत्युदगितरद् दैवं चैव तत् पित्र्यं च व्याकरोति' (१३।८।२।५-९)।

चत्वारि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। 'हे पृथिवि! वायुस्त्वां पुनातु विदारयतु। सविता सूर्यस्त्वां पुनातु विदारयतु। अग्नेर्वर्चसा भ्राजसा दीप्त्या विदारयतु, सूर्यस्य वर्चसा तेजसा भ्राजिष्णुतया च त्वां विदारयतु। 'अनुडुहो विमुच्य विमुच्यन्तामिति' (का० श्रौ० २१।४।४)। एवं पूर्वोक्तचतुर्मन्त्रैः पार्श्वचतुष्के कर्षणं कृत्वा मध्येऽपि सर्वं क्षेत्रं यथा कृष्टं स्यात् तथा परिमिताः सीताः कृत्वा वृषभान् सीराद्विमुञ्चति। वृषदैवतं यजुः। उस्रियाः, उस्रा धेनुस्तदपत्यान्युस्रिया अनड्वाहो विमुच्यन्तां सीराद्वियुज्यन्ताम्।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक! वायुर्गतिगन्धनविशिष्टः परमेश्वरः, त्वां पुनातु पवित्रयतु। सविता सर्वकारणत्वविशिष्टः परमेश्वरस्त्वां पुनातु। स एव परमेश्वरोऽग्नेर्भ्राजसा दीप्त्या सूर्यस्य वर्चसा तेजसा त्वां पुनातु। हे उस्रियाः, अनड्वाह इव संसारशकटधुरिनियुक्ता जीवाः, वाय्वादीनामनुग्रहेण विमुच्यन्तां मुक्ता भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! वायुरग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा यानस्मान् पुनातु, सविता पुनातु, उस्रिया विमुच्यन्ताम्' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, त्वद्रीत्या वायोर्जडस्य केन कः पावनीय इति विवेकाभावात्पावकत्वानुपपत्तेः। उस्रियाः किरणाः क्व विमोक्तव्याः? कश्चास्य कर्तेत्यनुक्तेः। यच्च 'जीवा यदा शरीराणि त्यक्त्वा गर्भं प्रविशन्ति, तदा किरणास्तान् त्यजन्तीति भावार्थः' इत्युक्तम्, तदपि न, निर्मूलत्वात्॥ ३॥

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता । गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥४॥

मन्त्रार्थ—पीपल की लकड़ी से निर्मित उपभृत् और स्रुक् पात्र तुम्हारा स्थान है, पलाश-पत्र से निर्मित जुहू में तुम्हारा स्थान है । इस पात्र में हम हवि रखते हैं, होम के निमित्त जुहू में रखते हैं । हे हविर्भूत औषधियों, निश्चय ही तुम सब आदित्य की उपासना करने वाली हो, क्योंकि अग्नि में दी हुई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है । अतः तुम सब अन्न आदि से यजमान को पुष्ट करो ॥ ४ ॥

'दक्षिणा सीरं निरस्याश्वत्थे व इति सर्वौषधं वपतीति' (का० श्रौ० २१।४।४) । हलं दक्षिणदिशि तूष्णीं प्रक्षिप्य कृष्टक्षेत्रमध्ये सर्वौषधं वपति । 'अथ सर्वौषधं वपति । यदेवादः सर्वौषधं तदेतद् बह्वीभिस्तद्वपत्येकयेदं दैवं चैव तत्पित्र्यं च व्याकरोत्यश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृतेति ज्योग् जीवातुमेवैभ्य एतदाशास्ते तथो हैषामेकैकोऽपरो जरसानुप्रैति ॥ अथैतन्निवपति । इयं वै पृथिवी प्रतिष्ठाऽस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति पुरादित्यस्योदयात्तिर इव वै पितरस्तिर इव रात्रिस्तिर एव तत्करोति यथा कुर्वतोऽभ्युदियात् तदेनमुभयोरहोरात्रयोः प्रतिष्ठापयति ॥' (श० १३।८।३।१-२) । यद्वपति तदेकया 'अश्वत्थे' इत्यनया वपति । ज्योक् चिरम्, जीवातु-र्जीवनम्, एभ्यो जीवेभ्यस्तदाशास्ते यदद ओषधीरेवाह —चन्द्रमसि युष्माकं धामानि । एषामेकैकं जरसा जीर्णः क्रमेणानुप्रैति । न च बहवो युगपत्, न वा अस्थविराः, न वा अक्रमेण । एनं प्रेतं निर्वपति नीचैर्वपति ।

अनुष्टुप् । वो युष्माकमश्वत्थे आश्वत्थ्यामुपभृति निषदनं स्यात्, हविषां तत्र स्थापनात् । वो युष्माकं पर्णे पर्णमय्यां जुह्वां वसतिः स्थितिः कृता, अध्वर्युणा होमार्थं जुह्वां स्थापनात् । हे हविर्भूताः सर्वौषधयः । यूयमग्नौ हुताः सत्यो गोभाजोऽसथ भवथ । गामादित्यं भजन्तीति गोभाजः । किलेति विद्याप्रकर्षे । इत् एवार्थः । यद्वा अश्वत्थे फलिते सर्वौषधीनां फलवत्त्वेनाश्वत्थे निषदनम् । पलाशे च फलिते व्रीह्यादीनां फलितत्वेन पर्णे वसतिः । यद् यस्मात् कारणात् पुरुषं यजमानं यूयं सनवथ सेवध्वमन्नदानेन पोषयथ । देवाधिष्ठानादश्वत्थो लोके नतिप्रदक्षिणादिभिः पूज्यते, पलाशश्चेध्मादिरूपेण । एवं यूयं गोभाज एव भूभाज एव स्थ । १२।७९ इत्यत्र व्याख्यातपूर्वोऽयं मन्त्रः ।

अध्यात्मपक्षे—हे जीवात्मानः साधकाः, न श्वोऽपि स्थातेत्यश्वत्थः, अश्वत्थे संसारवृक्षे, 'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' (भ० गी० १५।१) इत्युक्तेः । ते निषदनम्, पर्णे पत्रे, अवश्यायकण इव ते वसतिः स्थितिः । ननु नित्यनिरतिशयब्रह्मरूपस्य मम कथमेवं स्थितिरिति तत्राह—किल प्रसिद्धम्, यूयं गोभाज एव गाव इन्द्रियाणि तानि भजन्तीति गोभाजः, यद्वा गौरिति पृथिव्यादिभूतपञ्चकस्योपलक्षणम्, इन्द्रियभाक्त्वात् पाञ्चभौतिकदेहभाक्त्वाच्च तत्रैवं स्थितिरित्यर्थः । तस्मात् सर्वोपद्रवशान्तये यूयं पूरुषं परमात्मानं सनवथ सेवध्वम् ।

दयानन्दस्तु—'हे जीवाः ! ईश्वरेणाश्वत्थे वो निषदनं कृतं पर्णे वो वसतिः कृता । यत्पुरुषं किल सनवथ तेन सह गोभाज इह यूयं प्रयत्ने धर्मेऽसथ' इति, तदपि न, रूढेर्योगापहारेण प्रसिद्धाश्वत्थपर्णाद्यर्थमपहाय लाक्षणिकार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, गौणमुख्यग्रहणसंशये मुख्यग्रहणस्यौत्सर्गिकत्वात् । बलवद्बाधकोपनिपातादेवाकाशप्राणशब्दौ मुख्यार्थात् प्रच्याव्यान्यत्र प्रतिष्ठापितौ । न च बलवद् बाधकं किञ्चिद् दृश्यते । तस्मान्मुख्यार्थत्यागे प्रमाद एव ॥ ४ ॥

सविता ते शरीराणि मातुरुपस्थ आ वपतु । तस्मै पृथिवि शं भव ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान, सूर्य तुम्हारे शरीर को पृथ्वी की गोदी में स्थापित करें । हे पृथिवि, तुम उस यजमान के अस्थिरूप शरीर को सुख प्रदान करो ॥ ५ ॥

'सविता त इति शरीराणि निवपति मध्ये' (का० श्रौ० २१।४।५)। तस्य पुरुषमात्रस्य क्षेत्रस्य मध्ये मृतस्यास्थीनि राशीकरोति। एतच्च सूर्योदयकाले कर्तव्यम्, 'यथा कुर्वतोऽभ्युदियात्' (श० १३।८।३।२) इति श्रुतेः, 'सविता ते शरीराणि। मातुरुपस्थ आवपत्विति सवितैवास्यैतच्छरीराण्यस्यै पृथिव्यै मातुरुपस्थ आवपति तस्यै पृथिवि शम्भवेति यथैवास्मा इय᳖ँ श᳖ँ स्यादेवमेतदाह प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसाविति नाम गृह्णात्ययं वै लोक उपोदकस्तदेनं प्रजापतौ देवतायामुपोदके लोके निदधाति' (श० १३।८।३।३) इति च। गायत्री सवितृदेवत्या। हे यजमान ! सविता सूर्यस्ते तव शारीराणि अस्थीनि मातुः पृथिव्या उपस्थे उत्सङ्गे आवपतु स्थापयतु। हे पृथिवि भूमे, तस्मै सवित्रोप्तायास्थिरूपाय यजमानाय शं सुखरूपा भव।

अध्यात्मपक्षे—हे जीवात्मन्, सविता परमेश्वरः। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे पृथिवि कन्ये, त्वं यस्यास्ते शरीराणि मातुरुपस्थे स पिता आवपतु, सा त्वं तस्मै पित्रे शं भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पृथिवीशब्दस्य मुख्यार्थत्यागे मानाभावात्। सवितृपदेनापि प्रसिद्धं सवितारमपहायोत्पादकस्य पितुर्ग्रहणमपि निर्मूलमेव ॥ ५ ॥

प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके नि दधाम्यसौ। अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि, मैं जल के समीपवर्ती स्थान में, प्रजापति देवता की स्मृति में, तुम्हें स्थापित करता हूँ। वह प्रजापति हमारे पापों को दूर करें ॥ ६ ॥

प्रजापतिदेवत्या उष्णिक्, अस्थिनिवापे विनियुक्ता। असाविति नामग्रहणम्, अनुदात्तत्वादामन्त्रितम्। तद्यथा—हे देवदत्त ! उपोदके उदकसमीपवर्तिनि लोके स्थाने प्रजापतौ देवतायां त्वां निदधामि। स प्रजापतिर्नोऽस्माकमघं पापमपशोशुचत्। 'शुच शोके' यङ्लुगन्तम्, अत्यर्थं दहतु।

अध्यात्मपक्षे—हे जीवात्मन् ! उपादके, उदकमिति कर्मनाम, उदकसमवायित्वात् कर्मफलदातृत्वेन कर्मसमीपवर्तिनि लोके कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठानफलभूते प्रजापतौ हिरण्यगर्भे त्वां निदधामि। असौ प्रजापतिः। नोऽस्माकमघमपशोशुचत्।

दयानन्दस्तु—'हे जीव, योऽसौ नोऽघमपशोशुचत्, तस्यां प्रजापतिदेवतायामुपोदके लोके च त्वां निदधामि' इति, तदपि न, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि—कोऽसौ वक्ता ? जीव ईश्वरो वा ? नाद्यः, तस्य जीवान्तरधारणे सामर्थ्याभावात्। न च जीवो जीवान्तरं परमात्मन्युपोदके वा धारयितुं शक्नोति, अमूर्तस्य तस्य ज्ञाने धारणे वा सामर्थ्याभावात्। नान्त्यः, तस्याघाभावेन यो नोऽघमपशोशुचदित्युक्तेरयोगात्, परमेश्वरधारणेनैवाभीष्टसिद्धावुपोदकधारणस्य निरर्थकत्वाच्च ॥ ६ ॥

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजा᳖ँ रीरिषो मोत वीरान् ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे मृत्यो, तुम यहाँ से पराङ्मुख होकर दूसरे मार्ग से जाओ। तुम्हारा मार्ग देवयान मार्ग से तुच्छ है। ज्ञानियों से सुनकर कहता हूँ कि तुम पितृयान मार्ग के अधिकारी हो। हमारी सन्तान, वंश-परम्परा का तुम नाश मत करो, हमारे वीर पुत्रों की भी रक्षा करो ॥ ७ ॥

'प्रत्यागते परं मृत्यविति जपतीति' (का० श्रौ० २१।४।७)। दक्षिणां दिशं गत्वाऽनुच्छ्वशन् कुम्भं प्रक्षिप्यैहीति कश्चिद्विप्रः प्रेषितोऽस्ति, तस्मिन् कुम्भं क्षिप्त्वा प्रत्यागते सति यजमानोऽध्वर्युर्वा जपति। 'अथ कश्चिदाह। एतां दिशमनवानन् सृत्वा कुम्भं प्रक्षीयानपेक्षमाण एहीति तत्र जपति परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳ रीरिषो मोत वीरानिति ज्योग्जीवातुमेवैभ्य एतदाशास्ते तथो हैषामेकैकोऽपरो जरसाऽनुप्रैति' (१३।८।३।४)। एतां दक्षिणां दिशम्। कश्चित् प्रकृतं पुरुषमाह—अनवानन् अनुच्छ्वसन् सृत्वा अस्थिकुम्भं प्रक्षिप्य, 'क्षि हिंसायाम्', प्रपूर्वः प्रक्षेपे वर्तते, प्रक्षिप्यानवेक्षमाण एहीति स वै यथा प्रेषितं करोति, तत्र च प्रत्यागते जपति परं मृत्यो इति। मृत्युदेवत्या त्रिष्टुप् संकसुकदृष्टा। हे मृत्यो परा पराङ्मुखो भूत्वा परमन्यं पन्थां पन्थानं मार्गमन्विहि अनुगच्छ। यस्ते त्वदीयः पन्था देवयानात् पथ इतरः, देवयानानि यस्मिन् स देवयानः, तस्मादितरस्तुच्छोऽन्यः पितृयानाख्यस्त-मन्विहीति सम्बन्धः। किञ्च, चक्षुष्मते ज्ञानिने शृण्वते च ते तुभ्यं मृत्योः! किञ्चिद् ब्रमीमि। आदरार्थं वचनम्। नहि मृत्योः किञ्चिदप्यदृष्टमश्रुतं वा अस्ति। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। चक्षुष्मतः शृण्वतस्तव वदामि। किमिति चेत्तत्राह—हे मृत्यो, नोऽस्माकं प्रजां सन्ततिं वंशपरम्परां मा रीरिषः, उतापि च वीरान् पुत्रान् मा हिंसीः।

अध्यात्मपक्षे—देवयानात् पथोऽन्यः पितृयानाख्यः पन्था एव मृत्योर्विषयः, तत्रैव बाहुल्येन मृत्युप्रवृत्तेः। देवयानाख्ये पथि तु क्वचिदेव सकामे पुरुष एव प्रवृत्तिः, अन्येषां परान्तकाल एव मृत्योः प्रवृत्तिः, ततः सर्वेषां मुक्तेः, 'ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' (कैव० उ० ४) इति श्रुतेः। स्वतस्तु मृत्योर्न कस्मिन्नपि मार्गे प्रवृत्तिः, ब्रह्मविद्वरिष्ठत्वेन देवयानपितृयानमार्गातीतत्वात्, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते' (बृ० उ० ४।४।६) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य! यस्ते देवयानादितरो मार्गोऽस्ति, तं पन्थानं मृत्यो परेहि मृत्युः परैतु। यतस्त्वं परं देवयानमन्विहि। अत एव चक्षुष्मते शृण्वतेऽहं ते ब्रवीमि यथा मृत्युर्नः प्रजां न हिंस्यात्। उतापि वीरान्न हन्यात्, तथा त्वं नः प्रजां मा रीरिषः' इति, तन्न, विरुद्धत्वाद्विशृङ्खलत्वाच्च, व्यत्ययेन मृत्युः परैत्वित्यङ्गीकारेऽपि विसङ्गतेः। हिन्दीभाष्ये दूरं गच्छत्वित्युक्तम्, तादृशेऽर्थे मृत्युपदं व्यर्थं स्यात्। को मृत्युं नियच्छेत ? न जीवः, तस्य सामर्थ्यायोगात्। नेश्वरः, तस्य मृत्युर्नः प्रजां न हन्यादिति प्रार्थनासम्भवात्। विचित्रमिदम्, यमुपदिशति तमेव प्रार्थयते प्रजाया अहिंसनायेति केन किं श्लिष्यते ॥ ७ ॥

शं वातः शꣳ हि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः।

शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाऽभि शूशुचन् ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान! वायु और सूर्यदेव तुम्हें सुख प्रदान करें। मध्य में और दिशाओं में स्थापित इष्टकाएँ तुम्हारे लिये सुखरूप हों। पृथ्वी की अग्नि तुम्हें सुख प्रदान करे, तुम्हें तापित न करे ॥ ८ ॥

'शं वात इति यथाङ्गं कल्पयित्वेष्टकां निदधाति मध्ये तूष्णीमिति' (का० श्रौ० २१।४।८)। शं वात इति मन्त्रद्वयेन तानि मध्ये न्युप्तान्यस्थीनि यथाङ्गं कल्पयित्वा यदस्थि यस्याङ्गस्य तेनास्थ्ना तदङ्गकल्पनया प्राक्शिरसं पुरुषाकृतिं कृत्वा तन्मध्ये पादमात्रामिष्टकां तूष्णीं निदधाति। 'अथैनं यथाङ्गं कल्पयति। शं वातः''''ते दिशः सर्वा इत्येतदेवास्मै सर्वं कल्पयत्येतदस्मै शिवं करोति' (श० १३।८।३।५)। एवमस्थ्यात्मकं प्रेतं यथाङ्गं येष्वङ्गेषु यथा अङ्गं बभूव, तेषु तथैवेत्यस्मिन्नर्थेऽव्ययीभावः समासः। एतदस्मै प्रेताय सर्वं कल्पयति शिवं करोति।

द्वे ऋचावनुष्टुब्बृहत्यौ विश्वदेवदेवते। हे यजमान ! वातो वायुस्ते तव शं सुखरूपोऽस्तु। शं हि ते घृणिः सूर्यकिरणस्ते तव सुखरूपोऽस्तु। इष्टका मध्ये प्रतिदिशं च तिस्रस्तिस्रः प्रक्षिप्तास्ते तव शं सुखरूपा भवन्तु। अग्नयश्च ते तव शं सुखरूपा भवन्तु। पार्थिवासः पृथिव्यां भवाः पार्थिवाश्चाग्नयस्त्वा त्वां माऽभिशूशुचन् मा शोचयन्तु माऽभितापयन्तु।

'अथ त्रयोदश पादमात्र्य इष्टका अलक्षणाः कृता भवन्ति''''॥ त्रयोदश भवन्ति त्रयोदश मासाः''''॥ पादमात्र्यो भवन्ति प्रतिष्ठा वै पादः''''॥ तासामेकां मध्ये प्राचीमुपदधाति। स आत्मा तिस्रः पुरस्तान्मूर्धसꣳहितास्तच्छिरस्तिस्रो दक्षिणतः स दक्षिणः पक्षस्तिस्र उत्तरतः स उत्तरः पक्षस्तिस्रः पश्चात् तत्पुच्छꣳ सोऽस्यैष पक्षपुच्छवानात्मा यथैवाग्नेस्तथा॥ अथ प्रदरात् पुरीषमाहृत्वा आह। एतद्धास्याः पित्र्यमनतिरिक्तमथो अघमेव तद्वद्ध करोत्यस्मिन्नु हैकेऽवान्तरदेशे कर्षूं खात्वा ततोऽभ्याहारं कुर्वन्ति''''स यथा कामयेत तथा कुर्यात्॥' (श० १३।८।३।६-१०) इति च शतपथब्राह्मणवचनान्यत्र स्मर्तव्यानि।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक ! वातस्ते शं सुखकरोऽस्तु। घृणिः सूर्यो हि निश्चयं सुखरूपोऽस्तु। इष्टका ब्रह्मदृष्ट्या दृष्टा इष्टकाश्चितिगता इष्टकास्ते शं भवन्तु, पार्थिवा अग्नयश्च ते शं भवन्तु, सर्वस्यैव ब्रह्मजत्वेन ब्रह्मरूपत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे जीव, ते वातः शं भवतु, घृणिः शं हि भवतु, इष्टकास्ते शं भवन्तु, पार्थिवासोऽग्नयस्ते शं भवन्तु, एते त्वां माभिशूशुचन्' इति, तदपि न, त्वद्रीत्या तादृशोक्तेरप्रासङ्गिकत्वात्। न च धर्मयुक्तव्यवहारोपदेशेन तत्प्रसक्तिः, मन्त्रे व्यवहारोपदेशस्यादर्शनात्। अक्षरार्थस्तु महीधरानुसार्येव॥ ८॥

कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः।

अन्तरिक्षꣳ शिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः॥ ९॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान ! पूर्व आदि दिशाएँ तुम्हारे लिये शुभ संकल्प वाली हों, जल देवता तुम्हारे लिये कल्याणकारी हो, समुद्र और अन्तरिक्ष तुम्हारे लिये कल्याणकारी हो, सारी विदिशाएँ तुम्हारे लिये शुभ संकल्प करें॥ ९॥

ते तुभ्यं त्वदर्थं दिशः कल्पन्तां क्लृप्ताः समर्था भवन्तु। आपो जलानि तुभ्यं शिवतमा अत्यन्तं कल्याणरूपाः सन्तु। सिन्धवः समुद्राश्च शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु। अन्तरिक्षं शिवं कल्याणकारि, सर्वाः दिशस्ते तुभ्यं कल्पन्ताम्। आदरार्थं कात्स्न्यार्थं वा सर्वा इति पुनर्वचनम्।

अध्यात्मपक्षे—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० उ० ३।१४।१)। ब्रह्मदृष्ट्या दृष्टानि सर्वाणि वस्तूनि सुखरूपाणि भवन्तु। व्याख्यानं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे जीव, ते दिशः शिवतमाः कल्पन्ताम्। तुभ्यमापः शिवतमा भवन्तु। तुभ्यं सिन्धवः शिवतमा भवन्तु। तुभ्यं शिवमन्तरिक्षं भवतु। ते सर्वा दिशः शिवतमाः कल्पन्ताम्' इति, तन्न, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि—जीवः परमेश्वरो वा वक्ता ? न जीवः, दिगादीनां तद्वशवर्तित्वाभावात्। नान्त्यः, तस्य तथाज्ञायां सत्यां जीवानां कृते दिगादीनां प्रातिकूल्यानापत्तेः। धार्मिकाणां कृते तदाज्ञेति चेन्न, मन्त्रे तथाऽनिर्देशात्॥ ९॥

अश्मन्वती रीयते सꣳरभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।

अत्रा जहीमोऽशिवा ये असञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥ १०॥

मन्त्रार्थ – हे मित्रों ! बालू से भरी हुई नदी बहती है, इसमें उतरने का प्रयत्न करो, इसके पार पहुँचो। इस प्रदेश में जो अशान्त दुष्ट राक्षस आदि हों, उनका हम परित्याग करें। कल्याणप्रद अन्न हमें प्राप्त हो ॥ १० ॥

'अध्यधिगच्छन्त्यश्मन्वतीरिति' (का० श्रौ० २१।४।२३)। गर्तान्मृदमानीय पूर्ववर्जदिग्भ्यः कृष्ट्वा वा मृदमानीय तत् श्मशानं विप्रस्य मुखमितं क्षत्रस्योरोमितं वैश्यस्योरुमितं स्त्रिया भगमितं शूद्रस्य जानुमितं सर्वेषां वा जानुमितं मृदा कृत्वा शैवलैः कुशैश्च प्रच्छाद्य तद्दक्षिणतो गर्तौ खात्वा क्षीरोदकाभ्यां सम्पूर्य श्मशानोत्तरे सप्त गर्तान् खात्वा दक्षिणोत्तरान् जलेन सम्पूर्योत्तरगर्तेऽध्वर्युयजमानामात्यांस्त्रीन् पाषाणान् प्रक्षिप्याश्मन्वतीरिति मन्त्रेण तद्गर्तोपरि गच्छन्ति।

अत्र ब्राह्मणम्—"तद्वै न महत् कुर्यात्। नेन्महदघं करवाणीति यावानुद्बाहुः पुरुषस्तावत् क्षत्रियस्य कुर्यान्मुखदघ्नं ब्राह्मणस्योपस्त्यदघ्नꣳ स्त्रिया ऊरुदघ्नं वैश्यस्याष्ठीवद्घ्नꣳ शूद्रस्यैवं वीर्या ह्येत इति ॥ अधोजानु त्वेव कुर्यात्। तथापरस्मा अवकाशं न करोति तस्य क्रियमाणस्य तेजनीमुत्तरतो धारयन्ति प्रजा ह सा प्रजामेव तदुत्तरतो धारयन्ति तान् न न्यस्येद् धृत्वा वैनामूढ्वा वा गृहेषूच्छ्रयेत् प्रजामेव तद् गृहेषूच्छ्रयति ॥' (श० १३।८।३।११-१२)। तेजनीं वीरणमूलम्। अत्रत्यं पक्षान्तरम्—'सर्वेषां वाऽधोजानु' (२१।४।१८) इति कात्यायनेनापि प्रदर्श्यते। 'अथैनं शङ्कुभिः परिणिहन्ति' (श० १३।८।४।१) इत्यादिनाप्ययमर्थो वितानितः।

विश्वेदेवदेवत्या त्रिष्टुप् सुचीकदृष्टा। एषा अश्मन्वती पाषाणवती नदी रीयते गच्छति, 'री गतौ' दिवादिरात्मनेपदी। अतो हे सखायः, यूयमुत्तरणाय संरभध्वं प्रयतध्वम्। संरम्भश्चोत्तरणाय प्रयत्नकरणमेव। उत्तिष्ठत अभिमुखा भवत। प्रतरत प्रकर्षेण तां नदीं तरत। किमिति ? यतोऽत्र प्रदेशे ये अशिवा अकल्याणरूपा दुष्टा राक्षसादयः, असन् स्युः, तान् वयं जहीमः परित्यजामः। तेषु त्यक्तेषु शिवान् सुखकरान् वाजान् अन्नविशेषान् वयमुत्तरेम प्राप्नुयाम।

अध्यात्मपक्षे—हे सखायो मित्राणि साधकाः, एषा संसारनदी अश्मन्वती पाषाणवती विषमा रागद्वेषादिमती रीयते, अतो यूयं संरभध्वमुत्तरणाय तत्त्वज्ञानेन तदतिक्रमणाय प्रयतध्वम्, उत्तिष्ठत निद्रां विहाय जाग्रत, प्रबुद्धा भवत, प्रकर्षेण तां नदीं तरत। किमर्थं तदतिक्रमणं कर्तव्यम् ? यतो ह्यत्र प्रदेशेऽशिवा अशान्ताः कामक्रोधादिराक्षसाः, असन् सन्ति, तस्मात् तस्यास्तरणेन तान् जहीमः परित्यजामः। ततो वयं शिवान् सुखमयान् वाजान् मोक्षरूपान् भोगान् उत्तरेम प्राप्नुयाम, ज्ञानवैराग्यभक्तिबलेन संसारनदीतरणान्मोक्षसुखभोगान् प्राप्नुयाम।

दयानन्दस्तु—'हे सखायः, याऽश्मन्वती रीयते, तया वयं येऽत्राऽशिवा असंस्तान् जहीमः, शिवान् वाजानभ्युत्तरेम, तथा यूयं संभरध्वमुत्तिष्ठत प्रतरत च' इति, तदपि न, पूर्वोक्तदोषानतिक्रमणात् ॥ १० ॥

अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः।
अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यꣳ सुव ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे अपामार्ग ! तुम हमारे मानस पाप को दूर करो, कीर्ति के नाशक शारीरिक पाप को दूर करो। दूसरों के द्वारा हमारे विरुद्ध प्रयुक्त किये गये अभिचार कर्मों को दूर करो। हमारी वाणी के पापों को दूर करो और बुरे स्वप्नों से पैदा होने वाले दुःखरूप फल को भी दूर करो ॥ ११ ॥

'अपाघमित्यपामार्गैरपमृजत इति' (का० श्रौ २१।४।२४)। तेऽमात्या यज्ञोपवीतिनो भूत्वाऽप उपस्पृश्य हस्तगृहीतैरपामार्गैः स्वशरीरं शोधयन्ते, अपामार्गबीजैरुद्वर्तयन्तीति केचित्। लिङ्गोक्ता देवता, अनुष्टुप् शुनः-

शेपदृष्टा दुःस्वप्ननाशिनी। अत्र ब्राह्मणम् —'पालाशं पुरस्तात्···शमीमयमुत्तरतः···वारणं पश्चात्···वृत्रशङ्कुं दक्षिणतः' (श० १३।८।४।१)। 'अथ दक्षिणतः परिवक्रे खनन्ति। ते क्षीरेण चोदकेन च पूरयन्ति ते हैनममुष्मिंल्लोके कुल्ये उपधावतः सप्तोत्तरतस्ता उदकेन पूरयन्ति ' (श० १३।८।४।२)। 'अश्मनस्त्रींस्त्रीन् प्रकिरन्ति। ता अभ्युत्तरन्त्यश्मन्वती रीयते···' (श० १३।८।४।३)। 'अपामार्गैरपमृजते। अघमेव तदपमृजतेऽपाघमप किल्बिष··· (श० १३।८।४।४) इति।

हे अपामार्ग, त्वमस्मद् अस्मत्तः सकाशादघं मानसं पापमपसुव अपगमय, 'सू प्रेरणे', अपगमय च किल्बिषं कीर्तिभेदकं कीर्तिनाशकमकीर्तिकरं कायिकं च पापमपगमय। कृत्यां परकृतमभिचारमपसुव। अप उ रपः, 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' (निरु० ४।२१) इति यास्करीत्या रपः पापं वाचिकं च अपसुव। उ चार्थः। दुःस्वप्न्यम्, दुष्टः स्वप्नो दुःस्वप्नः, तत्र भवं दुस्वप्न्यम्, दुःस्वप्नोत्थमसुखरूपं फलं चास्मत्तोऽपसुव।

अध्यात्मपक्षे—मानसकायिकवाचनिकपापापनोदने परकृत्यादुःस्वप्नादिजनितोपद्रवादिकापगमे सति स्वस्थे चेतसि ब्रह्मात्मसाक्षात्कारादिकं सम्पद्यते। तत्र च बाह्यैर्द्रव्यैर्मन्त्रैश्च मार्जनसेचनादिकमुपयुज्यते। तदेवात्रोच्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे अपामार्ग सज्जनपुरुष, त्वमस्मदघमपसुव, किल्बिषमपसुव, कृत्यामपसुव, रपोऽपसुव, दुःस्वप्न्यमपसुव प्रेरय' इति, तदपि न, अपामार्गशब्दस्य प्रसिद्धार्थत्यागस्य निर्मूलत्वात्। न च जडस्यापामार्गस्य तादृशप्रार्थनानुपपत्त्या गौणार्थाश्रयणमिति वाच्यम्, सज्जनपुरुषस्यापि परकीयकिल्बिषदुःस्वप्न्यादिकापनयनेऽसामर्थ्यस्य तुल्यत्वात्। सिद्धान्ते त्वपामार्गाधिष्ठातृदेवताया ऐश्वर्यवत्त्वेन तादृशप्रार्थनाया युक्तत्वात्॥ ११॥

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥ १२॥

मन्त्रार्थ—जलदेवता और ओषधियाँ हमारे लिये कल्याणकारी हों और उस हमारे शत्रु के लिये वे अमंगलमय हों, जो हमारे प्रति द्वेषभाव रखते हैं अथवा हम जिनके प्रति द्वेषबुद्धि रखते हैं, इस आशंका से कि यह हमारा अनिष्ट करेगा॥ १२॥

'सुमित्रिया न इति स्नात्वाऽहतवाससोऽनडुत्पुच्छमन्वारभ्यानड्वाहमित्युद्वयमित्यागच्छन्तीति' (का० श्रौ० २१।४।२५)। 'सुमित्रिया' इति मन्त्रेण स्नात्वा नूतनवस्त्राणि परिहितवन्तोऽनड्वाहमिति मन्त्रेण वृषपुच्छमन्वारभ्य उद्वयमिति मन्त्रेण यजमानामात्या ग्रामानागच्छन्ति। यद्यप्यत्र 'सुमित्रिया' इति मन्त्रेण स्नानमुक्तम्, तथापि 'सुमित्रिया न इत्यपोऽञ्जलिनादाय दुर्मित्रिया इति द्वेष्यं परिषिञ्चतीति' (का० श्रौ १९।५।१५) इति कात्यायनवचनानुरोधाद् द्वयं विधेयम्। सुमित्रिया आप ओषधयश्च नोऽस्माकं साधुमित्रत्वेनोपस्थिताः सन्तु। यः शत्रुरस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः, तस्मै उभयात्मकाय शत्रवे आप ओषधयश्च दुर्मित्रिया अमित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु। ८।५२ इत्यत्र व्याख्यातोऽयं मन्त्रः। आध्यात्मिकोऽर्थस्तत्रैव द्रष्टव्यः।

अत्र ब्राह्मणम्—'यत्रोदकं भवति तत् स्नान्ति। सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्त्वित्यञ्जलिनाऽप उपाचति वज्रो वा आपो वज्रेणैवैतममित्रधेयं कुरुते दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति यामस्य दिशं द्वेष्यः स्यात्तां दिशं परिषिञ्चेत् तेनैव तत्पराभावयति' (१३।८।४।५)। 'स यदि स्थावरा आपो भवन्ति। स्थापयन्त्येषां पाप्मानमथ यदि वहन्ति वहन्त्येवैषां पाप्मानँ स्नात्वाऽहतानि वासाँसि परिधायानडुहः पुच्छमन्वारभ्यायन्त्याग्नेयो वाऽनड्वानग्निमुखा एव तत्पितृलोकाज्जीवलोकमभ्यायन्त्यथो अग्निर्वै पथोऽतिवोढा

स एनानतिवहति' (श० १३।८।४।६) । 'उद्वयं तमसस्परीति । एतामृचं जपन्तो यन्ति तत्तमसः पितृलोकादादित्यं ज्योतिरभ्यायन्ति तेभ्य आगतेभ्य आञ्जनाभ्यञ्जने प्रयच्छन्त्येष ह मानुषोऽलङ्कारस्तेनैव तं मृत्युमन्तर्दधते' (श० १३।८।४।७)

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! या आप ओषधयो नोऽस्मभ्यं सुमित्रियाः सन्तु, ता युष्मभ्यमपि तादृश्यो भवन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मा एता दुर्मित्रियाः सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, त्वद्रीत्याऽनीश्वराणामपां तादृशप्रार्थनाया निरर्थकत्वात् । सिद्धान्ते त्वापो देवता ऐश्वर्योपेताः सन्तीति श्रद्धया विधिना विशिष्टशक्तिमता मन्त्रेण प्रार्थिताः पूरयन्त्येवाभिलषितम् ॥ १२ ॥

अनड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयꣳ स्वस्तये ।

स न इन्द्र इव देवेभ्यो वह्निः सन्तारणो भव ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—गाय के पुत्र वृषभ का हम अपने कल्याण के लिये स्पर्श करते हैं । हे वृषभ ! तुम हमारे तारक बनो, क्योंकि तुम ज्ञानियों की उसी तरह से रक्षा करते हो, जैसे इन्द्र देवताओं की रक्षा करते हैं ॥ १३ ॥

अनुष्टुप्, अनडुद्देवत्या । उत्तरोऽर्धर्चः प्रत्यक्षकृतः, अतो यच्छब्दाध्याहारेण व्याख्येयः । वयं यमनड्वाहमन्वारभामहे आलभामहे स्पृशामः । कीदृशम् ? सौरभेयम्, सुरभ्या अपत्यम्, 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा० सू० ४।१।१२०) इति ढक् । किमर्थम् ? स्वस्तये अविनाशाय । हे अनड्वान्, स त्वं नोऽस्माकं देवेभ्य इन्द्र इव संतारणस्तारको दुःखनाशकश्च भव । किञ्च, त्वं वह्निर्देवानां वोढा । तत्रैव दृष्टान्तः—देवेभ्य इन्द्र इव । इन्द्रो यथा देवार्थं तारकस्तथाऽस्माकं तारको भवेति ।

अध्यात्मपक्षे—वयं स्वस्तये कल्याणाय सौरभेयं सुरभेरपत्यमनड्वाहमिव धर्ममन्वारभामहे स्पृशामः । हे अनड्वन् धर्मप्रतीक ! स त्वं नोऽस्माकं वह्निर्वोढा निर्वोढा, संतारणो दुःखेभ्यस्तारकश्च भव ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यो वह्निर्नो देवेभ्यः संतारणो भवति, तं सौरभेयमनड्वाहमिव वर्तमानमग्निं वयं स्वस्तयेऽन्वारभामहे । स तुभ्यमिन्द्र इव मम भवतु' इति, तदपि न, मन्त्रे याननिर्माणस्याचर्चितत्वात् । न च तादृशे वह्नौ सौरभेयो दृष्टान्तमर्हति, तुलनाऽदर्शनात् । न च जनौ सादृश्यम्, वैषम्यात् ॥ १३ ॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—अन्धकारमय लोक से परम श्रेष्ठ स्वर्ग लोक को देखते हुए हम देवलोक में सूर्य देवता को देखते हुए श्रेष्ठ ब्रह्म ज्योति को प्राप्त करते हैं ॥ १४ ॥

उद्वयं तमस इति ग्राममागच्छति । वयं तमसस्परि तमसः सकाशात् तमोबहुलादस्माल्लोकाद् उदगन्म उद्गताः । कीदृशा वयम् ? उत्तरमुत्कृष्टतरं स्वः स्वर्गं पश्यन्त ईक्षमाणाः । किञ्च, देवत्रा देवलोके सूर्यं देवं पश्यन्तः सन्त उत्तमं ब्रह्मस्वरूपं ज्योतिरगन्म प्राप्ताः । २०।२१ इत्यत्र व्याख्याता ॥ १४ ॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।

शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—मैं विद्यमान जीवों के लिये मर्यादा की स्थापना करता हूँ कि इन जीवों के बीच में कोई भी शीघ्र, अर्थात् प्रारब्ध कर्म की समाप्ति के पहले पितृलोक जाने का संकल्प न करे। दान, अध्ययन, याग के अनुकूल पूर्ण आयु पर्यन्त जीये और ब्रह्माण्डस्तम्भ रूप मर्यादा, अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान के द्वारा मृत्यु को अपने से दूर रखे ॥ १५ ॥

'ग्रामश्मशानान्तरे मर्यादालोष्टं निदधातीमं जीवेभ्य इति मन्त्रेण' (का० श्रौ० २१।४।२६)। स्वनिवास-ग्रामस्य श्मशानस्य च मध्ये मर्यादालोष्टं महत्तरं मृत्खण्डमध्वर्युरेव निदधाति। अत्र ब्राह्मणम्—'मर्यादाया एव लोष्टमाहृत्य। अन्तरेण निदधातीमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषान्नु गादपरो अर्थमेतम्। शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेनेति जीवेभ्यश्चैवैतां पितृभ्यश्च मर्यादां करोत्यसम्भेदाय तस्मादु हैतज्जीवाश्च पितरश्च न सन्दृश्यन्ते' (श० १३।८।४।१२)।

मनुष्यदेवत्या त्रिष्टुप् संकसुकदृष्टा। जीवेभ्यो जीवितप्राणिभ्योऽर्थाय इमं परिधिं मर्यादाम्, परिधीयत इति परिधिस्तम्, दधामि स्थापयामि। किमर्थमिति चेत्, एषां जीवानां मध्येऽपरः कश्चित्, नु क्षिप्रम्, वेदोक्तादायुषोऽर्वाक्, एतं पितृलोकगमनलक्षणमर्थं कार्यमुद्दिश्य मा गाद् मा गच्छतु। एते जीवाः शतं शरदो जीवन्तु, शतवर्षायुषो भवन्तु। कथम्भूताः शरदः ? पुरूची पुरु बहु अञ्चन्तीति पुरूच्यो दानाध्ययनयागानुकूलाः। किञ्च, पर्वतेन लोष्टरूपेण, पर्वतेनेव लोष्टेन वा मृत्युमन्तर्दधतां मृत्युमन्तर्हितं कुर्वन्तु, एते जीवाः।

अध्यात्मपक्षे—जीवेभ्यः प्राणधारिभ्यो वेदमिमं परिधिं मर्यादां दधामि स्थापयाम्यहं परमेश्वरः। एषां जीवानां मध्येऽपरः कश्चिदपि, एतमर्थम्, नु वितर्के, मा गाद् मा अतिक्रामतु, धातूनामनेकार्थत्वाद् गमेरतिक्रमणमर्थः। तथा मर्यादां पालयन्त एते पुरूची यागदानादिकर्मानुकूलाः शतं शरदो जीवन्तु, पर्वतेनेव ते मृत्युमन्तर्दधतां मृत्युमन्तर्हितं कुर्वन्तु, वचनव्यत्ययः।

दयानन्दस्तु—'अहं परमेश्वरः, एषां जीवानामपि प्रेतार्थमपरो मा नु गादितीमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि, एवमाचरन्तो भवन्तः पुरूचीः शतं शरदो जीवन्तु, पर्वतेन मृत्युमन्तर्दधताम्' इति, तदपि न, पर्वतपदेन ब्रह्मचर्यग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, 'अन्यस्यार्थमन्यो न गृह्णातु' इत्यर्थस्य च निर्मूलत्वात्, मन्त्रे 'अन्यस्य' इति पदाभावाच्च ॥ १५ ॥

अग्न आयूᳬंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप ही आयु प्राप्त कराने वाले कर्मों के कर्ता हैं, हमें धन-धान्य और दही-दूध आदि रस दीजिये, दूर स्थित दुष्ट श्वानों के समान दुर्जनों की बाधा से हमारी रक्षा कीजिये, जिससे कि हम उनके आक्रमण से बच सकें ॥ १६ ॥

'अञ्जनाभ्यञ्जने कृत्वौपासनं परिस्तीर्य वारणान् परिधीन् परिधाय वारणेन स्रुवेणैकामाहुतिं जुहोत्यग्न आयूᳬंष्यायुष्मानग्न इति' (का० श्रौ० २१।४।२७)। कज्जलादिना नेत्राञ्जनमञ्जनम्, तैलेन पादाद्यञ्जन-मभ्यञ्जनम्, तद् द्वयं कृत्वा औपासनं कर्तुरावसथ्याग्निं दर्भैः परिस्तीर्य वारणवृक्षावयवांश्चतुरः परिधींश्चतुर्दिक्षु तूष्णीमेव परिधाय वारणेन स्रुवेणैकामाहुतिं जुहुयाद् ऋग्द्वयेन। औपासनाग्निः प्रेतस्यैव, तस्यैवाद्वारेण निरसनीय-त्वादिति हरिस्वामिनः। कर्तुरेवौपासने होमस्तस्यैकदेशनिरसनमिति कर्कादयः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ गृहेष्वग्निᳬं समाधाय। वारणान् परिधीन् परिधाय वारणेन स्रुवेणाग्नय आयुष्मत आहुतिं जुहोत्यग्निर्वा आयुष्मानायुषा ईष्टे तमेवैभ्य आयुर्याचत्यग्न आयूᳬंषि पवस इति पुरोऽनुवाक्याभाजनम् ॥

अथ जुहोति । आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो "यथैवैनानभिरक्षेद्यथाभिगोपायेदेवमेतदाह ॥ तस्य पुराणोऽनड्वान् दक्षिणा । पुराणा यवाः पुराण्यासन्दी सोपबर्हणैषा न्वादिष्टा दक्षिणा कामं यथाश्रद्धं भूयसीर्दद्यात्' (श० १३।८।४।८-१०) ।

हे अग्ने ! त्वमायूंषि पवसे, स्वत एव आयुःप्रापकाणि पावयसे चेष्टयसे । अन्तर्भूतण्यर्थो द्रष्टव्यः । अत एव नोऽस्मदर्थमिषं व्रीह्यादिकमन्नमूर्जं दध्यादिरसं च आसुव ज्ञापय, देहीत्यर्थः, जीवनहेतुत्वात् । किञ्च, आरे दूरेऽपि स्थितानां दुच्छुनाम्, दुष्टाश्च ते श्वानश्च तेषाम्, कर्मणि षष्ठी । दुष्टान् शुनः सारमेयप्रायान् दुर्जनान् बाधकान् बाधस्व नाशयसि । १९।३८ इत्यत्र व्याख्याता ॥ १६ ॥

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप चिरायु हों । आप हवि से बढ़ते हैं, घृतयुक्त मुख वाले हैं । घृतरूप उत्पत्तिस्थान वाले आप वृद्धि को प्राप्त हों । गाय के मधुर सुगन्धित घृत का पान कर आप इन जीवों की रक्षा करें, जैसे कि पिता पुत्र की रक्षा करता है । आपके लिये यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित है ॥ १७ ॥

अग्निदेवत्या त्रिष्टुप्, वैखानसदृष्टा । हे अग्ने, त्वमेवंभूतो निम्नोक्तविशेषणविशिष्टः, एधि भव । कीदृशः ? आयुष्मान् चिरञ्जीवी । तथा हविषा वृधानः, वर्धसेऽसौ वृधानः, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शानचि शपो लुक् । तथा घृतप्रतीको घृतं प्रतीकं मुखं यस्य सः । घृतयोनिः, घृतं योनिरुत्पत्तिस्थानं यस्य सः । उत्तरवेद्यां धारणाभिप्रायमेतत् । स त्वं गव्यं घृतं च पीत्वा इमान् जीवान् अभिरक्षतात् । 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' (पा० सू० ७।१।३५) इति हेस्तातङादेशः । तत्र दृष्टान्तः—पिता पुत्रमिव, यथा पिता पुत्रं रक्षति, तद्वत् । कीदृशं घृतम् ? मधु मधुरं चारु सुगन्धि । स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, पापदाहक अग्न्यवच्छिन्न परमेश्वर ! त्वमायुष्मान् चिरञ्जीवी एधि भव, तथा हविषा वृधानो वर्धमानः, घृतप्रतीको घृतमुखो घृतयोनिः । हे अग्ने, स त्वं गव्यं मधु मधुरं घृतं पीत्वा पितेव पुत्रं यष्टारं मामभिरक्षतात् । तुभ्यमिदं सुहुतमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यथा हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरग्निर्वर्धते, तथाऽऽयुष्मांस्त्वमेधि, मधुचारु गव्यं घृतं पीत्वा त्वं पुत्रं पितेव स्वाहेमानभिरक्षतात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदस्य मुख्यार्थत्यागेन राजार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात् । घृतप्रतीकत्वघृतयोनित्वादिकमपि मनुष्यस्य निर्मूलमेव ॥ १७ ॥

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत । देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ२॥ आ दधर्षति ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—इन जीवों ने वृषभ का स्पर्श किया है, अग्नि को तृप्त किया है, ऋत्विजों में धन और दक्षिणा का वितरण किया है । इस प्रकार के जीवों को कौन दबा सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥ १८ ॥

'अथैषां परिदां वदति परीमे गामनेषतेति' (का० श्रौ० २१।४।२८) । अध्वर्युयजमानामात्यानां परिदाम्, परिदा रक्षणम्, तत्संज्ञं मन्त्रं वदति । 'दाङ् पालने' परिदीयते समन्ताद् रक्ष्यतेऽनेनेति परिदा रक्षणम्, तम् । इन्द्रदेवत्याऽनुष्टुप् । भरद्वाजात्मजशिरिम्बिष्ठदृष्टा । परितः सर्वतः, गामनड्वाहं पर्यनेषत परिणीतवन्तः, इमे जीवाः । अनडुत्पुच्छालभनाभिप्रायमेतत् । नयतेर्लुङि तङि सिचि प्रथमपुरुषबहुवचने रूपम् । 'व्यवहिताश्च'

(पा० सू० १।४।८२) इति परेर्व्यवधानमाख्यातेन। इमे जीवा पर्यग्निमहृषत, अग्निं पर्यहृष्यत, अग्निं परिहृतवन्तः, यस्मिन्नग्नावेतत्कर्म क्रियते, तमग्निं परिजह्रुः। अद्वारेणौपासनं निरस्यति—इमे देवाः, दीव्यन्ति दीप्यन्ते ये ते देवा ऋत्विजः, तेषु श्रवो धनं दक्षिणालक्षणमक्रत कृतवन्तो दत्तवन्तः। अकृषतेति प्राप्ते सिचो लोपेऽक्रतेति रूपम्। अथेदानीं कृतकृत्यान् इमान् कः को नाम आदधर्षति आधर्षयितुं पराभवितुं शक्नुयात्, अशक्यप्रतिक्रिया ह्येते वर्तन्त इति भावः।

अध्यात्मपक्षे—इमे साधका गामिन्द्रियाणि पर्यनेषत परिणीतवन्तः, स्वाधीनानि कृतवन्तः। अग्निं पर्यहृषत संन्यासं कृतवन्तः। देवेषु ऋत्विक्षु श्रवो धनं दत्तवन्तः। एवं कृतकृत्यान् वीतरागानेनान् क आदधर्षति आधर्षयितुं शक्नोति।

दयानन्दस्तु—हे राजजनाः ! य इमे यूयं गां पर्यनेषताग्निं पर्यहृषत, एषु देवेषु श्रवोऽक्रत, एवंभूतानिमान् भवतः क आदधर्षति' इति, तन्न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। 'पर्यनेषत' इत्यस्य परिणीतवन्त इत्यर्थः, न स्वीकृतवन्त इति, धात्वर्थानुरोधात्। तथैव पर्यहृषतेत्यस्य परिहृतवन्त इत्येवार्थः, न तु कार्येषु नियोजनमर्थः, धात्वर्थविरोधात्॥ १८॥

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥ १९॥

मन्त्रार्थ—मैं क्रव्याद (शवदाहक) अग्नि को पुनः न आने देने के लिये दूर भेज रहा हूँ, वह पापनाशक अग्नि यम के राज्य में जाय। यह दूसरा कल्याणकारक सर्वज्ञ अग्नि अपने अधिकार को जानता हुआ इसी गृह में रह कर देवताओं के लिये हवि का वहन करे॥ १९॥

'अद्वारेणौपासनं निरस्यति क्रव्यादमिति' (का० श्रौ० २१।४।२९)। आहुतिहोमानन्तरं यत्र हुतं तस्यौपासनस्यैकशेषं निरस्यति। प्रेतस्यैवौपासने होम इति हरिस्वामिपक्षे सर्वमपि निरस्यति। अग्निदेवत्या त्रिष्टुप्, दमनस्यार्षम्। मृतो येन दह्यते स क्रव्यात्, तं क्रव्यादमग्निमहं दूरं प्रहिणोमि प्रेषयाम्यपुनरागमनाय। स दूरं प्रेषितः क्रव्यादग्निर्यमराज्यं प्रति गच्छतु। कीदृशः ? रिप्रवाहः, रिप्रं पापं वहति नाशयतीति पापनाशकः, 'रिप्रमिति पापनाम' (निरु० ४।२१)। 'इहैवायमिति जपति' (का० श्रौ० २१।४।३०)। यजमानो जपति। इह गृह एवायं इतरः क्रव्यादग्नेरितरोऽन्यो जातवेदा जातप्रज्ञानः संस्कृतोऽग्निर्देवेभ्योऽर्थाय हव्यं हविर्वहतु प्रजानन् स्वाधिकारम्। पुराणवृषभादिदक्षिणा पूर्वोक्तरीत्या दातव्या।

अध्यात्मपक्षे—क्रव्यादमवैधमांसादिभक्षयितारं जीवमहं परमेश्वरो दूरं प्रहिणोमि। स च यमराज्यं गच्छतु। किमर्थं यमराज्यं गच्छतु ? रिप्रवाहः पापनाशकः, पापनाशाय तत्र गच्छतु, फलभोगपापक्षयात्। इतरस्तद्भिन्नो जातवेदा वेदादिशास्त्राभ्यसनशीलो जीव इहैव धार्मिकाणां व्यवहारभूमौ देवेभ्यो हव्यं वहतु। प्रजानन् स्वकर्तव्यं जानन्।

दयानन्दस्तु—प्रजानन्नहं क्रव्यादमग्निमिव वर्तमानं यं दूरं प्रहिणोमि, याश्च रिप्रवाहश्च दूरं प्रहिणोमि, स यमराज्यं गच्छतु। इहेतरोऽयं जातवेदा देवेभ्यो हव्यमेव वहतु' इति, तन्न, क्रव्यादमग्निमिवेति गौणार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात्। यमराज्यपदेन यमस्य न्यायाधीशस्य स्थानमित्यपि निर्मूलम्, यमराज्येत्युक्तेरपि तथार्थत्वे मानाभावात्॥ १९॥

॥ पितृमेधः समाप्तः॥

वह॑ व॒पां जा॑तवेदः पि॒तृभ्यो॒ यत्रै॑नान् वेत्थ॒ निहि॑तान् परा॒के ।
मेद॑सः कु॒ल्या उप॒ तान् स्र॑वन्तु स॒त्या ए॑षामा॒शिषः सं न॑मन्ताꣳ स्वाहा॑ ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे ज्ञानसम्पन्न अग्निदेव ! आप पितरों के निमित्त सार भाग को पहुँचाइये । दूर देश में स्थित इन पितरों को आप भलीभाँति जानते हैं । मेदा को बढ़ाने वाली घृत की नदियाँ सदा उनकी तरफ बहें, उनकी सारी शुभ कामनाएँ पूरी हों, उनके निमित्त दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २० ॥

जातवेदोदेवत्या त्रिष्टुप् । हे जातवेदः, जातं वेदो धनं यस्मात् स जातवेदाः, तत्सम्बोधने । पितृभ्योऽर्थाय वपां वह प्रापय । यत्र पराके पराक्रान्ते दूरेऽपि यस्मिन् प्रदेशे, एनान् पितॄन् वेत्थ जानासि, निहितान् स्थापितानेतान् पितॄन् आ तत्र प्रापयेत्यर्थः । तस्या वपायाः सकाशान्मेदसः कुल्या नद्यो निःसृत्य उपस्रवन्तु तान् पितॄन् प्रति । किञ्च, एषां दातॄणामाशिषो मनोरथाः सत्या अवितथाः सफलाः सन्नमन्तां प्रह्वीभवन्तु । स्वाहा तेभ्यः सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदः परमेश्वर ! पितृभ्यः फलादिगतां सारभूतां वपां वह प्रापय, यत्रैनान् वेत्थ निहितान् पराके, तत्र तान् पितॄन् प्रति मेदसः कुल्याः फलरसनद्यो वहन्तु । एषामाशिषः सत्याः सन्नमन्तां स्वाहा ।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदः, त्वं यत्रैनान् पराके निहितान् वेत्थ, तत्र पितृभ्यो वपां वह । यथा मेदसः कुल्यास्तानुपस्रवन्तु, तथा स्वाहैषामाशिषः सत्याः सन्नमन्ताम्' इति, तन्न, जातवेदःशब्दस्याग्नौ प्रसिद्धस्य मनुष्यार्थत्वे मानाभावात् । पितृभ्यो विद्याशिक्षादातृभ्य इत्यपि निर्मूलम्, न च जीवितपितरः पुत्रेभ्यो दूरे वसन्ति, येन तदर्थमन्यनियोगः स्यात् । न च तेषामर्थे पृथक् कृषियोग्यभूम्यादिकमपेक्षितं स्यात् ॥ २० ॥

स्यो॒ना पृ॑थिवि नो भवानृक्ष॒रा नि॒वेश॑नी । यच्छा॑ नः॒ शर्म॑ स॒प्रथाः॑ । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! निष्कण्टक सुख में स्थित रहने वाली अतिविस्तार युक्त आप हमारे लिये सुखकारी बनें, हमें शरण दें । जल देवता हमारे पापों को दूर करें ॥ २१ ॥

पार्थिवी गायत्री, मेधातिथेरार्षम् । अस्याः श्रौतविनियोगाभावेऽपि 'स्योना पृथिवि नो भवेति दक्षिणपार्श्वे प्राक्शिरसः संविशन्ति' (पा० गृ० ३।३) इति स्मार्ते स्रस्तरारोहणे शयने विनियोगः । हे पृथिवि ! त्वं नोऽस्माकं स्योना सुखरूपा भव । कथम्भूता त्वम् ? अनृक्षरा, ऋक्षरः कण्टकः, न सन्ति ऋक्षराः कण्टका दुःखदायिनो यस्यां सा अनृक्षरा, 'कण्टक ऋच्छतेः, कण्टकः कन्तपो वा, कन्ततेर्वा कुण्टतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः' (निरु० ९।३२) इति यास्कोक्तेः । निविशन्ति जना यस्यां सा निवेशनी साधुप्रतिष्ठाना, 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३।३।११७) इति ल्युट् । तथा सप्रथा, प्रथनं प्रथो विस्तारः, प्रथसा सह वर्तमाना सप्रथाः सर्वतः पृथुः । नोऽस्मभ्यं शर्म शरणमाश्रयं सुखं यच्छ देहि । अतः परं यजुः । तद्विनियोगो गृह्यसूत्रे सम्बन्धिमरणनिमित्ते स्नाने जलापनोदने । तथाहि—'सव्यस्यानामिकया अपनोद्याप नः शोशुचदघमिति' (पा० गृ० ३।१०) । इदं जलं नोऽस्माकमघं पापमपशोशुचद् अपशोचयतु दहतु ।

अध्यात्मपक्षे—हे पृथिवि धरित्रि प्रथनशीले बुद्धे, त्वं स्योना नोऽस्माकं सुखकरी भव । कीदृशी त्वम् ? अनृक्षरा निष्कण्टकी संशयविपर्ययादिकण्टकरहिता । सप्रथाः सविस्तारा, विषयानुरूप्येण प्रथनशीलत्वात् । नः शर्म सुखं यच्छ नोऽघमपशोशुचत् । भगवत्परायणा बुद्धिरघं दहत्येव ।

दयानन्दस्तु—'हे पृथिवि, भूरिव वर्तमाने स्त्रि ! त्वं यथाऽनृक्षरा निवेशिनी भूमिः स्योना भवति, तथा नो भव, सप्रथा सती नः शर्म यच्छ। यथा न्यायेशो नोऽघमपशोशुचत्, तथापराधं दूरं गमय' इति, तन्न, गौणार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात् ॥ २१ ॥

अस्मात् त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ २२ ॥

इति पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपको इस यजमान ने आधान काल में प्रकट किया है। इस कारण यह यजमान फिर आप से उत्पन्न हो, अर्थात् आप इसे संस्कृत बनावें, जिससे कि यह यजमान स्वर्ग की योग्यता प्राप्त कर सके ॥ २२ ॥

'आहुतिं जुहोति पुत्रो भ्राताऽन्यो वा ब्राह्मणोऽस्मात् त्वमधिजातोऽसीति' (का० श्रौ० २५।७।३८)। साग्निकस्य पात्रप्रतिपत्त्यन्ते दाहात् पूर्वमाज्याहुतिं पुत्रादिर्जुहोति। अग्निदेवत्या गायत्री, अनिरुक्ता। हे अग्ने ! त्वमस्माद् यजमानादाधानकाले, अधिजातोऽसि उत्पन्नोऽसि, अतो ब्रवीमि। अयं यजमानः पुनस्त्वत् त्वत्तो जायतामुत्पद्यताम्। असाविति विशेषनामग्रहणम्—असौ देवदत्तः स्वर्गाय लोकाय स्वर्गलोकप्राप्त्यर्थं त्वत्तो जायताम्, त्वद्वंश्य एव भवत्वित्यभिप्रायः। स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे **अग्ने परमेश्वर** ! त्वमस्मात् साधकाद् भावनाबलात् तत्तद्रूपेण जातोऽसि, 'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय' इति श्रीमद्भागवतोक्तेः। अयं साधकस्त्वत्तः पुनर्जायताम्। असौ साधकः स्वर्गाय लोकाय स्वर्गं लोकं प्राप्तुं त्वत्तस्त्वदनुग्रहाद् दिव्यं त्वत्सालोक्यसामीप्यसारूप्यसायुज्यादियोग्यं देहादिमान् जायतामिति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यतस्त्वमस्माल्लोकादधिजातोऽसि, हि तस्मादयं त्वत् पुनरसौ स्वाहा स्वर्गाय लोकाय जायताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, तव सकाशात् पुत्रो जायतामित्यस्यार्थस्य निरर्थकत्वात्। न चेदं वरप्रदानम्, निष्प्रमाणत्वात्। न चाज्ञापनम्, मनुष्याज्ञापनस्य फलाश्रयत्वे मानाभावात्। तस्मात् सिद्धान्तानुसारी व्याख्यात एव मन्त्रार्थः ॥ २२ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ— मैं ऋचारूप वाणी की शरण लेता हूँ, यजुःस्वरूप मन की शरण लेता हूँ, प्राणरूप साम की शरण लेता हूँ। चक्षु और श्रोत्र रूप इन्द्रिय की शरण लेता हूँ। वाग्बल, देहबल और प्राण-अपान का बल मुझमें स्थिर हो ॥१॥

पञ्चाध्यायी आथर्वणेन दधीचा दृष्टा, 'दध्यङ् ह वा आथर्वण एतᳬ शुक्रमेतं यज्ञं विदाञ्चकार' (श० १४।१।१।२०) इत्यादिश्रुतेः। 'उग्रश्च' (१७।८६, ३९।७) इत्याग्निको मन्त्रः। अग्निं हृदयेनेत्याद्यध्याय-समाप्तिपर्यन्तमाश्वमेधिकम् (३९।८-१३)। तद् द्वयं वर्जयित्वा कात्यायनस्यानुक्रमण्याम्। शान्तिकरणमाद्यन्तयोः। ऋचं वाचमित्यध्यायेन शान्तिकरणं कार्यम्, स्वाध्याये मन्त्रपाठे प्रवर्ग्यमन्त्रादावस्याध्यायस्य दर्शनात्। पञ्च यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। ऋचमृग्रूपां वाचं प्रपद्ये प्रविशामि, शरणं व्रजामीत्यर्थः। यजुः यजूरूपं मनः प्रविशामि। प्राणं प्राणरूपं साम प्रपद्ये शरणमाश्रये, रक्षितारं वा निश्चिनोमि। चक्षुरिन्द्रियं श्रोत्रमिन्द्रियं च प्रपद्ये। वागादिग्रहणं सप्तदशावयवोपलक्षणार्थम्। सप्तदशावयवं प्रजापतेर्लिङ्गं समष्टिसूक्ष्मशरीरं प्रपद्ये। नहि त्रयीविद्यां प्रपन्नस्यायुषो विनाशं प्रवर्ग्यः कुर्यात्। तथैव वाङ्मनःप्राणचक्षुःश्रोत्रोपलक्षितं प्रजापतेर्लिङ्गं प्रपद्ये प्रविशामि। तथा वागिन्द्रियमोजो मानसं बलं च, प्राणापानौ वायू च, एते सह एकीभूता मयि वर्तन्ते। अतोऽपि प्रवर्ग्योऽस्मान्न हन्तीति। पुनरोजोग्रहणमादरार्थम्।

अध्यात्मपक्षे— ऋचं वाचं वाङ्मनःप्राणरूपां त्रयीम् ऋगादिरूपां महाशक्तिं प्रपद्ये शरणं व्रजामि। चक्षुःश्रोत्रादिरूपां च तां प्रपद्ये। वागिन्द्रियम् ओजो मानसं बलं धाष्टर्यं पुनरोजोग्रहणाच्छारीरं च बलं श्वासोच्छ्वासरूपौ, तद्रूपां च सर्वात्मरूपां तां प्रपद्ये।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा मयि प्राणापानौ दृढौ भवेताम्, मम वागोजः प्राप्नुयात् तया ताभ्यां च सहाहमोजः प्राप्नुयामृचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये, तथा यूयमेतानि प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्, ऋचामिव यजुःसाम्नोरपि वाक्त्वाविशेषात्, यजुषो मनस्तुल्यतानिरूपणाच्च ॥ १ ॥

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—मेरी चक्षु इन्द्रिय की न्यूनता को, हृदय और मन की न्यूनता को परमात्मा दूर करें। ये सब हमारे लिये सुखरूप हों, क्योंकि परमात्मा ही इन सारे भुवनों के स्वामी हैं ॥ २ ॥

बृहस्पतिदेवत्या पङ्क्तिः। मे मम चक्षुषश्चक्षुरिन्द्रियस्य यत् छिद्रं प्रवर्ग्याचरणेनावखण्डनं जातम्, हृदयस्य बुद्धेर्वा यत् छिद्रं जातम्, मनसो वा अतितृण्णमतिर्हिंसितं प्रवर्ग्यसम्भरणेन यच्चक्षुर्बुद्धिमनसां

व्याकुलत्वं जातम्, बृहस्पतिर्देवानां गुरुः, मे मम तच्छिद्रमतितृण्णं च दधातु सन्दधातु, त्रुटिं निवर्तयतु। भुवनस्य भूतजातस्य यः पतिः पालकः प्रवर्ग्यरूपो यज्ञः, स नोऽस्माकं शं सुखरूपो भवतु। बृहस्पतिना छिद्रापाकरणात् प्रवर्ग्यस्य कल्याणमयत्वमेव सम्पद्यते।

अध्यात्मपक्षे—बृहतां पतिर्महदादीनां पालकः परमेश्वरश्चक्षुरादीनां छिद्रं सन्दधातु त्रुटिं निवर्तयतु, भुवनस्य भूतजातस्य यः पतिः स परमेश्वरः शं सुखरूपोऽस्तु।

दयानन्दस्तु—'यन्मे चक्षुषो हृदयस्य छिद्रं मनसो वाऽतितृण्णमस्ति, तद् बृहस्पतिर्मे दधातु। यो भुवनस्य पतिरस्ति, स नः शं भवतु' इति, तन्न, बृहस्पतिशब्दस्य देवगुरौ प्रसिद्धस्य स्वार्थत्यागे मानाभावात्, भुवनस्य बृहस्पतिरित्यनेन पौनरुक्त्यापाताच्च। अन्यत्तु महीधरानुसरणमेव॥ २॥

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ३॥

मन्त्रार्थ—भूः, भुवः, स्वः—इन तीन व्याहृतियों से संयुक्त उस सर्वप्रकाशक, सबके प्रेरक सविता देवरूपी आदित्यमण्डल के अन्तर्गत विद्यमान पुरुषरूप ब्रह्म का, सभी के द्वारा प्रार्थनीय, सम्पूर्ण संसार के अन्धकार का नाशक जो तेज है, उसका हम ध्यान करते हैं। वह सविता देव हमारी बुद्धि को सदा सत्कर्म के अनुष्ठान में प्रेरित करे॥ ३॥

भूर्भुवः स्वरिति त्रीणि यजूंषि। तदिति षष्ठ्यर्थे। तस्य देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः प्रेरकस्य परमात्मनो वरेण्यं सर्वैः संभजनीयं भर्गः सर्वपापभर्जनसमर्थं तेजः सच्चिदानन्दलक्षणं तेजो धीमहि ध्यायामः। तस्य कस्य? यः सविता नोऽस्माकं धियो बुद्धीः कर्माणि वा प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति। ३।३५ इत्यत्र व्याख्याता॥ ३॥

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥ ४॥

मन्त्रार्थ—सदा सबको समृद्ध करने वाला आश्चर्यरूप परमेश्वर किस तर्पण या प्रीति से किस वर्तमान याग क्रिया से हमारा सहायक होता है?॥ ४॥

इन्द्रदेवत्या गायत्री वामदेवदृष्टा। इन्द्रः कया ऊती ऊत्या अवनेन प्रीणनेन तर्पणेन वा, नोऽस्माकं सखा सहाय आभुवद् आभिमुख्येन जातः, तया वृता वर्तत इति वृत्, तया वर्तमानया शचिष्ठया अतिशयवत्या यागादिक्रिययाऽस्माकं सखा भवति। चित्रो विचित्रः पूज्यो वा। सदावृधः सदा वर्धमानः। २७।३९ इत्यत्र व्याख्याता॥ ४॥

कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु॥ ५॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर! मदजनक हवियों में श्रेष्ठ सोमरूप अन्न का कौन सा अंश आपको पसन्द है? आपकी इस प्रसन्नता में दृढ़ता से रहने वाले हम भक्तजन अपने धन आदि के साथ उसे आपको समर्पित करते हैं॥ ५॥

ऐन्द्री गायत्री। हे इन्द्र! अन्धसोऽन्नस्य सोमरूपस्य कोंऽशस्त्वा त्वां मत्सद् मादयति मत्तं करोति। मदयन्तीति मदाना मदजनकानि हवींषि, तेषां मध्ये मंहिष्ठः श्रेष्ठोऽत्यन्तमदजनकः। येनांशेन मत्तः सन् दृढा चिद् दृढान्यपि वसु वसूनि कनकादीनि त्वमारुजे आरुजसि चूर्णयसि दातुं भनक्षि भङ्क्त्वा ददासीति। २७।४० इत्यत्र व्याख्याता॥ ५॥

अभी षु णः सखीनामविता जरितृणाम् । शतं भवास्यूतिभिः ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! मित्रवत् आपकी स्तुति करने वाले हम भक्तों की रक्षा के लिये तत्पर होकर ही आप राम-कृष्ण आदि अनन्त रूपों को धारण करते हैं ॥ ६ ॥

ऐन्द्री गायत्री। हे इन्द्र ! त्वमूतयेऽवनाय सु सुष्ठु, आभिमुख्येन भवासि भवसि, बहुरूपो भवसीत्यर्थः। कीदृशः ? सखीनां मित्राणां जरितृणां स्तोतृणां नोऽस्माकमृत्विजामविता पालयिता। २७।४१ इत्यत्र व्याख्याता ॥ ६ ॥

कया त्वं न ऊत्याभि प्रमन्दसे वृषन् । कया स्तोतृभ्य आ भर ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर ! आप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश कर किस तृप्ति के साथ आनन्द की ओर हमें बढ़ाते हैं ? किस दिव्य रूप को धारण कर स्तुति करने वाले हम उपासकों की सारी अभिलाषाओं को पूरा करते हैं ? ॥ ७ ॥

इन्द्रदेवत्या गायत्री, अनिरुक्तेन्द्रपदहीना। हे इन्द्र ! कया ऊत्या केन तर्पणेन हविर्दानेन नोऽस्मानभिप्रमन्दसे अभिमोदयसि, 'मदिस्तु स्वपने जाड्ये मदे मोदे स्तुतौ गतौ' इत्युक्तेः। हे वृषन् सेक्तः ! कया च ऊत्या तृप्त्या स्तोतृभ्य आभर आहर आहरसि, धनं दातुमिति शेषः। तद्द्वयेन तथा वयमपि त्वा त्वां प्रसादयामः। आभर, लडर्थे लोट्।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमेश्वर ! शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे वृषन्नीश्वर ! त्वं कयोत्या नोऽभिप्रमन्दसे, कया स्तोतृभ्यः सुखमाभर' इति, तदपि न, वाक्यस्य प्रश्नार्थत्वे प्रतिवचनराहित्येन न्यूनत्वापातात्। यत्तु युक्तिमस्मानवबोधयेति भावार्थवचनम्, तदपि नातीव मनोज्ञम्, ऊतिशब्दस्य युक्त्यर्थत्वाभावात् ॥ ७ ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—सबके स्वामी परमेश्वर चारों तरफ प्रकाशमान हैं। वे हमारे पुत्र आदि के लिये कल्याणरूप हों, वे हमारे चौपायों के लिये सुखदायक हों। अथवा कर्म, उपासना, ज्ञान और विज्ञान से प्राप्त होने वाले निर्वाण, अर्थात् मुक्ति के लिये कल्याणमय हों ॥ ८ ॥

इन्द्रदेवत्या द्विपदा विराट्। विंशत्यक्षरा द्विपदा विराट् कथ्यते। योऽयं महावीर इन्द्रः परमेश्वरो आदित्यो वा स कस्याधिष्ठात्री देवता ? विश्वस्य जगतः। राजति देदीप्यते ईष्टे वा। स नोऽस्माकं द्विपदे, द्विपदां पुत्रादीनाम्, विभक्तिव्यत्ययः, शं सुखरूपोऽस्तु, चतुष्पदे गवादीनां च शं सुखरूपोऽस्तु।

अध्यात्मपक्षे—योऽयं भगवान्निन्द्रो विश्वस्य सर्वस्यैवानन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकस्य राजति ईष्टे, स पुत्रपश्वादीनां सुखकरो भवतु।

दयानन्दस्तु—हे जगदीश्वर ! यो भवानिन्द्र इव विश्वस्य राजति, तस्य भवतः कृपया नो द्विपदे शमस्तु, नश्चतुष्पदे शमस्तु' इति, तदपि न, परमेश्वरस्य त्वद्रीत्या निराकारस्यैव सत्त्वेन विद्युत्तुल्यत्वानुपपत्तेः, रूपवत्त्वारूपवत्त्वाभ्यां वैषम्यात् ॥ ८ ॥

शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः शं नो॑ भवत्वर्य॒मा ।
शं न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒ः शं नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—मित्र देवता हमारे लिये कल्याणमय हों । वरुण देवता, अर्यमा और इन्द्र देवता हमारे लिये कल्याणमय हों । बृहस्पति तथा विस्तीर्ण पदन्यास वाले विष्णु हमारे लिये कल्याणमय हों ॥ ९ ॥

द्वे अनुष्टुभौ, मित्रावरुणादयो देवताः । मित्रो देवोऽस्माकं शं सुखरूपो भवतु, महावीरप्रसादात् । मेद्यति भक्तेषु स्निह्यतीति मित्रः । वरुणः सुखरूपोऽस्तु, वृणोत्यङ्गीकरोति भक्तानिति वरुणः । अर्यमा देवो नः शं सुखरूपो भवतु, इयर्ति गच्छति भक्तं प्रतीत्यर्यमा । इन्द्रो देवराजो नः शं भवतु । बृहस्पतिर्देवगुरुः शं भवतु, बृहतां वेदानां पतिः पालकः । उरुक्रमः, उरुर्विस्तीर्णः क्रमः पादन्यासो यस्य स विष्णुः, नोऽस्माकं शं भवतु । वेवेष्टीति व्यापको विष्णुः परमेश्वरो यज्ञो वा ।

अध्यात्मपक्षे—शं कल्याणरूपः परमात्मैव मित्रः, भक्तस्नेहवान् मित्रनामको देवः परमात्मरूप एव । वरुणो भक्तं यो वृणोति सोऽपि शं परमात्मा एव । अर्यमा भक्तान् प्रति य इयर्ति परमैश्वर्यवान् देवराजः, बृहस्पतिर्वेदपालकः, उरुक्रमो विष्णुश्च सर्व एवैते शं सुखात्मकब्रह्मरूपा भूत्वा, मामवन्त्विति शेषः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा नो मित्रः शं भवतु, वरुणः शं भवतु, अर्यमा नः शं भवतु, इन्द्रो बृहस्पतिर्नः शं भवतु, उरुक्रमो विष्णुः शं भवतु, तथा युष्मभ्यमपि शं भवतु' इति, तदपि न, मुख्यार्थत्यागेन प्राणप्रियमित्रादिमनुष्यग्रहणस्य निर्मूलत्वात् ॥ ९ ॥

शं नो॒ वात॑ः पवता॒ᳪं शं न॑स्तपतु॒ सूर्य॑ः ।
शं न॒ः कनि॑क्रदद्दे॒वः प॒र्जन्यो॑ अ॒भि व॑र्षतु ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—वायु हमारे लिये सुखकारी होकर बहे, सूर्य हमारे निमित्त सुखरूप होकर तपे, शब्द करता हुआ पर्जन्य देवता हमारे निमित्त सुखदायक वर्षा करे ॥ १० ॥

शं सुखरूपो वातो वायुर्नोऽस्माकं अपरुषोऽव्याधिजनकश्च पवतां वातु, 'पव गतौ' लोट् । सुवति प्रेरयति जनान् स्वस्वकार्येष्विति सूर्यः, शं सुखरूपोऽतापको भेषजरूपश्चास्माकं तपतु रश्मिजालं प्रकिरतु । पर्जन्यः, पिपर्ति पूरयति जनानिति पर्जन्यः, परोऽम्भःपूरो वा जन्यतेऽनेनेति पर्जन्यः, 'पर्जन्यौ रसदब्देन्द्रौ' (अ० को० ३।३।१४६) इति कोशात् । पर्जन्यः, पर्जन्येशो देवः कनिक्रदत् स्तनयित्नुशब्दं कुर्वन्, अत्यन्तं क्रन्दतीति कनिक्रदत्, 'दाधर्तिदर्धर्ति' (पा० सू० ७।४।६५) इत्यादिना यङ्लुगन्तो निपातः । अस्मान् शं सुखकरः क्षारादिरहितं पवित्रमुदकं भेषजरूपमभिवर्षतु, सन्तुलितवृष्टिं करोतु ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वत्प्रसादात् शं नो वातः पवताम्, शं नस्तपतु सूर्यः । कनिक्रदत् पर्जन्यो देवोऽभिवर्षतु सिञ्चतु, परमेश्वरानुग्रहादेव सर्वानुकूल्योपपत्तेः ।

दयानन्दस्तु—'हे परमेश्वर विद्वन् वा, यथा वातो नः शं पवताम्, सूर्यो नस्तपतु, कनिक्रदद्देवो नः शं भवतु, पर्जन्यो नोऽभिवर्षतु, तथाऽस्मान् शिक्षय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परमेश्वरकर्तृकशिक्षणादर्शनात् प्रार्थनाया नैरर्थक्यात्, मनुष्यस्य विदुषस्तादृशसामर्थ्याभावाच्च तद्वैयर्थ्यात् ॥ १० ॥

अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु नः॒ शꣳ रात्री॒: प्रति॑ धीयताम् ।
शं न॑ इन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भि॒: शं न॒ इन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या ।
शं न॑ इन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑सातौ॒ शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शं योः ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—दिन हमारे लिये सुखरूप हो, रात्रि सुखरूप हो, इन्द्र और अग्नि देवता हमारी रक्षा करते हुए सुखरूप हों, हवि से तृप्त इन्द्र और वरुण देवता हमारे लिये सुखरूप हों, अन्नदान में इन्द्र और पूषा देवता हमारे लिये सुखकारी हों। इन्द्र और सोम देवता यजमान के यज्ञ के निमित्त सुखकारी हों, रोगभय से मुक्त कर वे हमें सुख पंहुचावें ॥ ११ ॥

द्विपदा गायत्री, अहानि रात्रयश्च देवताः । अहानि दिनानि नोऽस्माकं शं सुखकराणि भवन्तु । रात्रीः शं सुखरूपा अस्मासु प्रतिधीयतां प्रतिदधातु, महावीर इति शेषः । कर्तरि यक् छान्दसः । शं न इन्द्राग्नी त्रिष्टुप् । इन्द्राग्नी इन्द्रावरुणौ इन्द्रापूषणौ इन्द्रासोमौ देवताः । इन्द्राग्नी अवोभिः पालनैः, नोऽस्माकं शं सुखरूपौ भवताम् । इन्द्रावरुणौ रातहव्या रातं दत्तं हव्यं हविर्ययोस्तौ हविस्तृप्तौ नः शं सुखकरौ भवताम् । वाजसातौ वाजस्यान्नस्य सातौ दाने निमित्तभूते इन्द्रापूषणा इन्द्रपूषसंज्ञौ देवौ नोऽस्माकं सुखरूपौ भवताम् । इन्द्रासोमा इन्द्रसोमौ देवौ शं सुखरूपौ भवताम् । किमर्थम् ? सुविताय सुष्ठु इतं सुवितम्, साधुगमनाय साधुप्रसवाय वा । शंयोः, शं रोगाणां शमनाय, योः यवनाय पृथक्करणाय भयानाम्, रोगं भयं च निवर्त्य सुखरूपौ भवतामित्यर्थः । 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इति सर्वत्र पूर्वपदस्य दीर्घः ।

अध्यात्मपक्षे—भगवतः प्रसादादेव अहोरात्राणि, इन्द्राग्न्यादयो देवाश्च सुखरूपा भवन्ति, तेनैव रोगाणां शमनं भयानां यावनं च संपद्यते । व्याख्यानं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे परमेश्वर विद्वन् वा, यथाऽवोभिः सह शंयोः सुविताय नोऽहानि शं भवन्तु, रात्रीः शं प्रतिधीयतामिन्द्राग्नी नः शं भवताम्, रातहव्या इन्द्रावरुणा नः शं भवताम्, वाजसाताविन्द्रापूषणा नः शं भवतामिन्द्रासोमा च शं भवताम्, तथाऽस्माननुशिक्षेताम्' इति, तदपि न, पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः, परमेश्वरस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वाभ्यां तत्प्रार्थनायाः सार्थक्येऽपि तत्कर्तृकप्रेरणैव युक्ता, न तु शिक्षणप्रार्थना। शिक्षणादर्शनादेव मनुष्योपदेशवाक्यं शास्त्रवाक्यं चानधिगतगन्तृ भवति, न त्वकृतकर्तृ, अग्निवाय्वादयो जडत्वाद् यथास्वभावमेव वर्तन्ते, मनुष्यास्तु तैस्तैः साधनैस्तेषामानुकूल्यं सम्पादयन्ति ॥ ११ ॥

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ । शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ–दीप्तिमान् जल देवता हमारे अभीष्ट पान के लिये सुखरूप हों तथा रोग के शमन और भय को दूर करने के लिये निरन्तर प्रवाहित होते रहें ॥ १२ ॥

अब्देवत्या गायत्री । देवीर्देव्यो दीप्यमाना आपो नोऽस्माकमभिष्टये अभिषेकायाभीष्टाय वा पीतये पानाय च शं सुखरूपा भवन्तु, अस्माकं स्नाने पाने चापः सुखयित्र्यो भवन्तु । आपः शंयोः रोगाणां शमनं भयानां यावनं पृथक्करणं च अभिस्रवन्तु, नोऽस्माकं भयरोगनाशं कुर्वन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—देव्यो दीप्यमाना आपो व्यापिका भगवत्यः, नोऽस्माकमभीष्टाय शं सुखरूपा भवन्तु । ताश्च शं रोगाणां शमनं भयानां यावनमभिस्रवन्तु ।

दयानन्दस्तु—हे जगदीश्वर विद्वन् वा, यथाभिष्टये पीतये देवीरापो नः शं भवतु, नः शंयोर्वृष्टिमभिस्रवन्तु, तथोपदिशतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुष उपदेष्टृत्वस्य दर्शनेऽपीश्वरस्योपदेष्टृत्वादर्शनेन प्रार्थनावैयर्थ्यात् । न च वेद एव तदुपदेश इति वाच्यम्, उपदेशस्य जातत्वेनोपदिशतमिति लोट्प्रयोगानुपपत्तेः ॥ १२ ॥

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छा नः शर्म सप्रथाः ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! निष्कण्टक सुख में स्थित रहने वाली अतिविस्तार युक्त आप हमारे लिये सुखकारी बनें, हमें शरण दें । जल देवता हमारे पापों को दूर करें ॥ १३ ॥

स्योना पृथिवि न इति मन्त्रः ३५।२१ इत्यत्र व्याख्यातः ॥ १३ ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे जल देवता ! आप जल को देने वाले हैं, सुख की भावना करने वाले व्यक्ति के लिये स्नान-पान आदि के द्वारा सुख के उत्पादक हैं । हमारे रमणीय दर्शन के निमित्त और रसानुभव के निमित्त यहाँ स्थापित हो जाइये ॥ १४ ॥

अब्देवत्या गायत्र्यः । हे आपः, यूयं हि एव मयोभुवः सुखस्य भावयित्र्यः स्थ भवथ, स्नानपानहेतुत्वेनापां सुखोत्पादकत्वप्रसिद्धेः । तादृश्यो यूयं नोऽस्मान् ऊर्जे रसाय भवदीयरसानुभवार्थं दधातन स्थापयत । किञ्च, महे महते पूज्याय वा रणाय रमणीयाय चक्षसे ज्ञानाय ब्रह्मज्ञानाय दधातन । (११।५०) इत्यत्र व्याख्याता ॥ १४ ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे जल देवता ! आपका शान्तरूप सुख का एकमात्र कारण रस इस कर्म में स्थित है । हमको उस रस का भागी उसी तरह से बनावें, जैसे कि प्रीतियुक्त माता अपने बच्चे को दूध पिलाती है ॥ १५ ॥

हे आपः, वो युष्माकं यः शिवतमो रसः शान्ततमो रसोऽस्ति, तस्य भाजयत भागिनः कुरुत । तत्र दृष्टान्तः—उशतीरिव मातरः । उशन्ति ता उशत्यः कामयमानाः प्रीतियुक्ता मातरो यथा स्वकीयस्तन्यरसं बालं पाययन्ति, तथाऽस्मान् शिवतमं रसं पाययत । (११।५१) इत्यत्र व्याख्याता ॥ १५ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे जल देवता ! आपके उस रस की प्राप्ति के लिये हम शीघ्र चलना चाहते हैं, जिससे कि आप सारे जगत् को तृप्त करते हैं और हमें भी उत्पन्न करते हैं ॥ १६ ॥

हे आपः, वो युष्मत्संबन्धिनस्तस्य रसस्य विषये, अरं अलं पर्याप्तिं गमाम गच्छेम, रसविषये वैतृष्ण्यं सदा तृप्तिर्वा स्यात् । 'तस्मै' इति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे । यस्य क्षयाय क्षयस्य जगतामाधारभूतस्य यस्याहुतिपरिणामभूतस्य रसस्यैकदेशेन यूयं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगद् जिन्वथ तर्पयथ । जिन्वतिः प्रीतिकर्मा । हे आपः, नोऽस्मान् भोक्तृत्वेन जनयथ उत्पादयत । आशिषि लोट् । तद्रसभोक्तॄनस्मान् कुरुतेत्याजानदेवत्वमाशास्यते । (११।५२) इत्यत्र व्याख्याता ॥ १६ ॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ— द्युलोक हमारे लिये शान्ति दे, अन्तरिक्ष लोक, पृथ्वी लोक, जल, औषधियाँ, विश्वेदेव देवता, वेदरूप ब्रह्म और यह सारा जगत् ही हमारे लिये शान्ति प्रदान करे। शान्ति भी हमारे लिये शान्तिप्रद हो, यह शान्ति हमारे लिये पूरे वातावरण में वृद्धि को प्राप्त होती रहे ॥ १७ ॥

यजूंषि सन्दृशि जीव्यासमित्यन्तानि। एकाधिका शक्वरी। द्यौर्द्युलोकरूपा या शान्तिः, अन्तरिक्षरूपा च या शान्तिः, पृथिवी भूलोकरूपा या शान्तिः, आपो जलरूपा या शान्तिः, ओषधय ओषधिरूपा या शान्तिः, वनस्पतयो वनस्पतिरूपा या शान्तिः, विश्वे देवाः सर्वदेवरूपा या शान्तिः, ब्रह्म त्रयीलक्षणं परंब्रह्मरूपं वा, तद्रूपा या शान्तिः, या सर्वं सर्वजगद्रूपा शान्तिः, शान्तिरेव शान्तिर्या स्वरूपतः शान्तिः, सा शान्तिर्मा प्रति, एधि अस्तु। पुरुषव्यत्ययः। महावीरप्रसादात् सर्वं शान्तिरूपं मां प्रत्यस्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वोपद्रवराहित्यरूपा शान्तिर्ब्रह्मण्येव पर्यवस्यति, तस्यैव सर्वोपद्रवाभावाधिकरणत्वात्। अभावश्चाधिकरणरूप एव। तेन द्युलोकादयः शान्त्यन्ताः सर्वे पदार्था ब्रह्मात्मकाः सन्तो मां प्रत्युपस्थिता भवन्तु। व्याख्यानं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, या द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्ति""शान्तिरेव शान्तिरेधि, सा शान्तिर्युष्माकमस्तु' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, सा शान्तिर्युष्माकमपि प्राप्नोत्वित्यर्थस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ १७ ॥

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर! आप मुझे सब तरफ से मजबूत बनावें, सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, मैं भी सब प्राणियों को मित्र के रूप में ही देखूँ, हम चारों तरफ मित्रता का ही वातावरण देखना चाहते हैं ॥ १८ ॥

दृते, 'दृ विदारणे', विदीर्णे जराजर्जरितेऽपि शरीरे, हे महावीर! मां त्वं दृंह दृढीकुरु। यद्वा दृते विदीर्णे कर्मणि मां दृंह अच्छिद्रं कर्म कुरु। यद्वा ससुषिरत्वात् सेक्तृत्वाच्च दृतिशब्देन महावीरो बोध्यते। हे दृते, हे महावीर! मां दृंह। कथं दार्ढ्यं तदाह—सर्वाणि भूतानि प्राणिनो मा मां मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्तां सम्यक् पश्यन्तु, मित्रदृष्ट्या मां सर्वे प्राणिनः पश्यन्तु, न शत्रुदृष्ट्या। सर्वेषां प्रियो भूयासमित्यर्थः। किञ्च, अहमपि सर्वाणि भूतानि प्राणिनो मित्रस्य चक्षुषा समीक्षे पश्यामि, मेऽपि सर्वे प्रिया भवन्तु। मित्रचक्षुः शान्तं भवति। न मित्रं स्नेहवान् कश्चन स्नेहवन्तं मित्रं हन्ति, मित्रं च न कश्चिद् हन्ति। एवमहिंस्यमाना अहिंसन्तश्च परस्परमद्रोहेण सर्वथा मित्रस्य चक्षुषा वयं समीक्षामहे पश्यामः। अयमेव स्वस्य सर्वेषां च दृढीकरणमार्गः।

अध्यात्मपक्षे—हे दृते, सर्वलयाधिष्ठान परमेश्वर! मा मां दृंह। कथमिति चेत्तत्र पूर्ववद्व्याख्यानं विधेयम्। परमप्रेमास्पदस्य परमात्मन एव सर्वाधिष्ठानत्वात् सर्वरूपेण स्थितत्वाद् बाध्यबाधकभावोऽविद्याकृत एवेति विद्यया तद्बाधितत्वाद् ब्रह्मबुद्ध्या सर्वस्य दर्शनेन सर्वा दिशः सुखमय्यः सम्पद्यन्ते, 'सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥' (भा० पु० ११।२।४५) इति वचनात्।

दयानन्दस्तु—'हे दृते, अविद्यानिवारक परमेश्वर विद्वन् वा! येन सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा मां समीक्षन्तामहं मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। एवं वयं सर्वे परस्परं मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। तथाऽस्मान् दृंह' इति, तदपि न, परमेश्वरस्यैव सर्वान्तर्यामित्वेन तदतिरिक्तस्य विद्वदादेस्तथा सामर्थ्यायोगात् ॥ १८ ॥

दृते दृ꣡ꣳह मा । ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासं ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम् ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे भगवन् ! आप हमें सब तरफ से मजबूत बनावें । आपकी देखरेख में मैं दीर्घकाल तक जीवित रहूँ, आपकी देखरेख में हम सब दीर्घकाल तक जीवित रहें ॥ १९ ॥

हे दृते महावीर ! मां दृंह, अतिशयार्थं पुनर्वचनम्, अत्यन्तं दृढं कुरु । ते तव संदृशि सन्दर्शने, अहं ज्योक् चिरं जीव्यासं जीवेयम् । जीवेराशीर्लिङि रूपम् । ज्योगिति निपातश्चिरार्थः । पुनरुक्तिरादरार्था । ते सन्दृशि सन्दर्शने चिरं जीव्यासम् ।

अध्यात्मपक्षे—दृणोति सर्वं विदारयति यः स परमेश्वरः, तत्सम्बोधने हे दृते ! ते सन्दृशि सन्दर्शने त्वदनुग्रहवत्या बुद्धेर्विषयीभूतोऽहं ज्योक् चिरं जीव्यासम् ।

दयानन्दस्तु—'हे दृते ! येनाहं ते सन्दृशि ज्योग् जीव्यासम्, ते सन्दृशि ज्योग् जीव्यासम्, तत्र मां दृंह' इति, तदपि न, उपदेशकस्य विदुषो मनुष्यस्य सर्वदृढीकरणे ज्योग्जीवनदाने च सामर्थ्यायोगात् ॥ १९ ॥

नम꣡स्ते हर꣡से शोचिषे नम꣡स्ते अस्त्वर्चिषे ।
अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्य꣡ꣳ शिवो भव ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपकी सब रसों का आकर्षण करने वाली तेजस्विनी ज्वाला को हम प्रणाम करते हैं, आपके पदार्थ-प्रकाशक तेज को हम प्रणाम करते हैं । आपकी यह ज्वाला हमें छोड़ कर दूसरों के लिये तापदायक हो, हमारे लिये तो चित्त-शोधक और कल्याण-कारक हो ॥ २० ॥

हे अग्ने, ते तव शोचिषे शोचनहेतवे तेजसे नमोऽस्तु । कीदृशाय शोचिषे ? हरसे, हरति सर्वरसानिति हरस्तस्मै । ते तव अर्चिषे पदार्थप्रकाशकाय तेजसे नमोऽस्तु । ते तव हेतयो वज्राणि, अस्मद् अस्मत्तोऽन्यान् तपन्तु, नास्मानित्यर्थः । त्वं च पावकः सन्नस्मभ्यं शिवो भव । १७।११ इत्यत्र व्याख्याता ॥ २० ॥

नम꣡स्ते अस्तु विद्युते नम꣡स्ते स्तनयित्नवे ।
नम꣡स्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर ! आपके विद्युत् रूप के लिये, गर्जना करने वाले रूप के लिये हम प्रणाम करते हैं । आप सभी प्राणियों को स्वर्ग का सुख देने की चेष्टा करते हैं । इसलिये भी हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ २१ ॥

द्वे अनुष्टुभौ, विद्युत्स्तनयित्नुरूपभगवद्देवते । हे भगवन् महावीर ! विद्युते विद्युद्रूपाय ते तुभ्यं नमोऽस्तु । स्तनयित्नवे गर्जितरूपाय ते नमोऽस्तु । यतः कारणात् स्वः स्वर्गं गन्तुं त्वं समीहसे चेष्टसे, अतस्ते तुभ्यं नमोऽस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर ! विद्युते विद्युदुपलक्षितसर्वशक्तिरूपाय तुभ्यं नमः । स्तनयित्नवे गर्जितरूपाय शब्दब्रह्मरूपाय परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपाय आन्तरनादरूपाय च तुभ्यं नमः । यतः स्वः सूर्यं चिदादित्यं गन्तुं समीहसे चेष्टसे सोपाधिकं रूपमपहाय, तस्मात् तुभ्यं नमः प्रह्वीभावोऽस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे भगवन् ! यतस्त्वं स्वः समीहसे, तस्माद्विद्युते ते नमोऽस्तु, स्तनयित्नवे ते नमोऽस्तु, सर्वाभिरक्षकाय ते नमश्च सततं कुर्याम' इति, तदपि न, विद्युत्पदस्य मुख्यार्थत्यागस्य तत्तुल्यार्थग्रहणस्य निर्हेतुकत्वात्, यथाश्रुतार्थत्वे परमेश्वरस्य साकारत्वापत्त्या तवापसिद्धान्तापातात् । तथैव स्तनयित्नुशब्दस्यापि गौणार्थग्रहणं निर्मूलमेव । सिद्धान्ते तु सर्वात्मविवक्षया ब्रह्मणः सर्वरूपत्वे नानुपपत्तिः ॥ २१ ॥

यतो॑ यतः स॒मीह॑से॒ ततो॑ नो॒ अभ॑यं कुरु ।
शं नः॑ कुरु प्र॒जाभ्यो॒ऽभ॑यं नः प॒शुभ्यः॑ ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर ! आप जिस किसी रूप से हमारे कल्याण की चेष्टा करते हैं, उसी रूप से हमें अभयदान कीजिये, हमारी सन्तानों के लिये सुखरूप होइये । आपकी कृपा से हमारे पशुओं को भी किसी प्रकार का भय न हो ॥ २२ ॥

हे महावीर, यतो यतो यस्माद् यस्माद् दुश्चरितात् त्वम् अस्मासु उपकर्तुं समीहसे चेष्टसे, ततस्ततो नोऽस्माकमभयं कुरु । नोऽस्माकं प्रजाभ्यः शं सुखं कुरु । नः पशुभ्योऽभयं भीत्यभावं कुरु ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, यतो यतः समीहसे, यत्र यत्र रामकृष्णादिरूपेण विविधं चरित्रं कुरुषे, ततस्ततो मेऽभयं कुरु । अन्यत् पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे भगवन् ईश्वर, त्वं कृपाकटाक्षेण यतो यतः समीहसे सम्यक् चेष्टसे, ततो नोऽभयं कुरु । नः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च शमभयं कुरु' इति, तदपि न, भयप्राप्तावेवाभयप्रार्थनोपपत्तेः । न च भयं दुश्चरित्रमन्तरा सम्भवति, तस्माद्यतो यतो दुश्चरित्रादस्मास्वपकर्तुं चेष्टसे, ततो नः प्रार्थनया क्षमादानेनाभयं कुर्वित्येवार्थो युक्तः ॥ २२ ॥

सु॒मि॒त्रि॒या न॒ आप॒ ओष॑धयः सन्तु दु॒र्मि॒त्रि॒यास्तस्मै॑ सन्तु॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—जल देवता और ओषधियाँ हमारे लिये कल्याणकारी हों और उस हमारे शत्रु के लिये वे अमंगलमय हों, जो हमारे प्रति द्वेषभाव रखते हैं, अथवा हम जिनके प्रति द्वेष-बुद्धि रखते हैं, इस आशंका से कि यह हमारा अनिष्ट करेगा ॥ २३ ॥

आप ओषधयश्च नोऽस्माकं शोभनमित्रभावेनावस्थिताः सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तत्कृते आप ओषधयश्च दुर्मित्रियाः सन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—सर्वा आप ओषधयश्च मन्त्रप्रभावाद् भावनाप्रभावाच्च भक्तभावनानुविधायिन्यो भवन्ति । तत एव संकल्पबलेन ताः सुमित्रिया दुर्मित्रियाश्च भवन्ति । व्याख्यानं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! या इमा आप ओषधयो नः सुमित्रियाः सन्तु, ता योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मै दुर्मित्रियाः सन्तु' इति, तदपि न, अपामोषधीनां च जडत्वाद् व्यक्तिविशेषं प्रति सुमित्रियात्वस्य तद्विरुद्धान् प्रति दुर्मित्रियात्वस्यासम्भवात्, पक्षपातस्यापि चेतनधर्मत्वात् । परमेश्वरप्रसादेन तु तथात्वं सम्भवत्येव, भगवतो भक्तानुविधायित्वात् ॥ २३ ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ २४ ॥

॥ इति षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं का हितकारी, परमेश्वर का चक्षुरूप सूर्यशरीर ब्रह्मदेव पूर्व दिशा में उदित होता है, उसे हम अपनी पूरी आयु तक देखते रहें। हम सौ वर्ष तक जीयें, सौ वर्ष तक सुनते रहें, सौ वर्ष तक स्पष्ट वाणी बोलते रहें, अपनी पूरी आयु तक किसी के सामने दीनभाव न दिखावें, सौ वर्ष के ऊपर भी हम योगशक्ति के प्रभाव से बहुत काल तक जीवित रहें ॥ २४ ॥

सूर्यदेवत्या ब्राह्मी त्रिष्टुप् । एतैर्मन्त्रैर्यो महावीरोऽस्माभिः स्तुतस्तदादित्यरूपं जगच्चक्षुर्जगतां नेत्रभूतमादित्यरूपं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि, उच्चरद् उदेति, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपः । कीदृशं तत् ? देवहितं देवैः स्थापितम्, यद्वा देवानां हितं प्रियम् । शुक्रं शुक्लं पाप्माऽसंस्पृष्टं शोचिष्मद्वा । तस्य प्रसादात् शतं शरदो वर्षाणि वयं पश्येम, शतवर्षपर्यन्तं वयमव्याहतचक्षुरिन्द्रिया भवेम । प्रार्थनायां लिङ् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । शतं शरदो जीवेम, अपराधीनजीवना भवेम । शतं शरदः शृणुयाम समर्थश्रोत्रेन्द्रिया भवेम । शतं शरदः प्रब्रवाम, अस्खलितवागिन्द्रिया भवेम । शतं शरदोऽदीनाः स्याम, न कस्यापि समक्षे दैन्यं कुर्याम । शरदः शताद् भूयश्च बहुतरं कालं पश्येम जीवेम शृणुयाम प्रब्रवाम ।

अध्यात्मपक्षे तद् वेदान्तवेद्यं ब्रह्म चक्षुः सर्वम्, सर्वस्यैव सर्वविबोधमूलत्वात् । तच्च देवहितं देवानामपि परप्रेमास्पदम् । तदेव सर्वेषां पुरस्तात् पुरतः शुक्रं दीप्तिमद्बोधरूपेण उच्चरद् उदेति, सर्वस्यापि व्यवहारस्य बोधमूलकत्वात् । तत्प्रसादादेव वयं शतं शरदः शतं वर्षाणि शरदः शताद् भूयश्च बहुतरं कालं पश्येम जीवेम शृणुयाम अदीनाः प्रब्रवाम ।

दयानन्दस्तु 'हे परमात्मन् ! भवान् यद्देवहितं शुक्रं चक्षुरिव वर्तमानं ब्रह्म पुरस्तादुच्चरत्, त्वां शतं शरदो जीवेम, शतं शरदः शृणुयाम, शतं शरदः प्रब्रवाम, शतं शरदोऽदीनाः स्याम, शताच्छरदो भूयश्च पश्येम जीवेम शृणुयाम प्रब्रवाम अदीनाश्च स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्योऽस्य मन्त्रस्य देवतेति त्वयाऽप्यभ्युपगतत्वेन तदपहाय परमेशपरत्वानुपपत्तेः, चरतेर्ज्ञानार्थत्वे उदित्यस्य नैरर्थक्यापाताच्च । न च परमेश्वरो देवानामेव हितकरः, सर्वेश्वरत्वे सर्वहितकारित्वात् । चक्षुरित्यस्य चक्षुस्तुल्यमित्यर्थत्वे गौणार्थत्वापत्तिश्च । न च चेतनब्रह्मणो दर्शनं संभवति, तस्यागोचरत्वात् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आ ददे नारिरसि ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे अभ्रि ! सविता देवता की आज्ञा में वर्तमान मैं अश्विनीकुमारों की भुजाओं से और पूषा देवता के हाथों से तुम्हें ग्रहण करता हूँ । तुम नारी हो ॥ १ ॥

'देवस्य त्वेत्यभ्रिमादायौदुम्बरीं वैकङ्कतीं वाऽरत्निमात्रीᳬ सव्ये कृत्वा दक्षिणेनालभ्य जपति युञ्जत इति' (का० श्रौ० २६।१।४) । महावीरसम्भरणं प्रारभ्यते । उखासम्भरणमृत्पिण्डवद् उदुम्बरतरूत्थां विकङ्कततरूत्थां वा हस्तप्रमाणामभ्रिं 'देवस्य त्वा……नारिरसि' इति मन्त्रेणादाय वामहस्ते तां कृत्वा दक्षिणहस्तेन स्पृष्ट्वा युञ्जते मन इति मन्त्रं जपतीति सूत्रार्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'देवा ह वै सत्रं निषेदुः । अग्निरिन्द्रः सोमो मखो विष्णुर्विश्वे देवा अन्यत्रैवाश्विभ्याम्' (श० १४।१।१।१) । इतः प्रारभ्य अध्यायत्रयात्मकं प्रवर्ग्यकाण्डम् । एतेन प्रवर्ग्यकाण्डेन यज्ञस्य विष्णोः शिरःसन्धानमुक्तम् । यज्ञरूपस्य विष्णोः शिर एवादित्यः । तदर्थमेषाख्यायिका प्रवर्तते । 'तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास । (तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनमिति) तस्माद्यत्र क्व च कुरुक्षेत्रस्य निगच्छति तदेव मन्यत इदं देवयजनमिति तद्धि देवानां देवयजनम्' (श० १४।१।१।२) । पूर्वं कदाचित् श्रीर्यशोऽन्नाद्यकामा अश्विभ्यां वर्जिता अग्नीन्द्रसोममुखविष्णुविश्वेदेवाः कुरुक्षेत्रे देवयजने कञ्चन सत्रं निषेदुः । तत्रास्माकं मध्ये श्रमेण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाहुतिभिर्यः पूर्वं यज्ञस्य उदृचम् ऋच उद् उत्कर्षं रहस्यं फलमिति यावत्, अवगच्छति स एव श्रेष्ठ इत्यभिधानमूचुः । तादृशो विष्णुः स एव देवानां मध्ये श्रेष्ठ आसीत् । अत्र विष्णुयज्ञादित्यानां साम्यत्वोपपादनम् । प्रसङ्गाद् यशः संयन्तुं केनापि न शक्यत इति लोकस्वभाववर्णनम् ।

'स यः स विष्णुर्यज्ञः सः । स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यस्तद्धेदं यशो विष्णुर्न शशाक संयन्तुं तदिदमप्येतर्हि नैव सर्व इव यशः शक्नोति संयन्तुम्' (श० १४।१।१।६) । 'स तिसृधन्वमादायापचक्राम । स धनुरार्त्न्या शिर उपस्तभ्य तस्थौ तं देवा अनभिधृष्णुवन्तः समन्तं परिण्यविशन्त' (श० १४।१।१।७) । तिसृभिरिषुभिर्युक्तं धन्व धनुस्तिसृधन्वम् । धनुरार्त्न्या धनुष्कोट्या । अनभिधृष्णुवन्तोऽप्रागल्भ्यात् तूष्णींभूताः समन्तात् परिवार्य तस्थुः । श्रुत्यन्तरात् सशस्त्रत्वात् प्रबलत्वाच्चेन्द्रो देवान् पराभूतवान् । पराभूता देवा विष्णुमशिश्रियन् । स च चिबुकेन धनुरालम्ब्य निद्राण इव तस्थौ । 'ता ह वम्र्य ऊचुः । इमा वै वम्र्यो यदुपदीका योऽस्य ज्यामप्यद्यात्किमस्मै प्रयच्छेतेत्यन्नाद्यमस्मै प्रयच्छेमापि धन्वन्नपोऽधिगच्छेत्तथास्मै सर्वमन्नाद्यं प्रयच्छेमेति तथेति' (श० १४।१।१।८) । 'तस्योपपरासृत्य । ज्यामपि जक्षुस्तस्यां छिन्नायां धनुरार्त्न्यौ विस्फुरन्त्यौ विष्णोः शिरः प्रचिच्छिदतुः' (श० १४।१।१।९) । 'तद्घृङ्ङिति पपात । तत्पतित्वासावादित्योऽभवदथेतरः प्राङेव प्रावृज्यत तद्यद्घृङ्ङित्यपतत् तस्माद् घर्मोऽथ यत्प्रावृज्यत तस्मात् प्रवर्ग्यः' (१४।१।१।१०) । 'ते देवा अब्रुवन् । महान् बत नो वीरोऽपादीति तस्मान्महावीरस्तस्य यो रसो व्यक्षरत्तं पणिभिः सम्ममृजुस्तस्मात् सम्राट्' (श० १४।१।१।११) इत्येवं ब्राह्मणेन प्रवर्ग्य-महावीर-सम्राडादिशब्दानामुपपत्तिः प्रदर्शिता ।

'तं देवा अभ्यसृज्यन्त । यथा वित्तिं वेत्स्यमाना एवं तमिन्द्रः प्रथमः प्राप तमन्वङ्गमनु न्यपद्यत तं पर्यगृह्णात् तं परिगृह्येदं यशोऽभवद्यदिदमिन्द्रो यशो यशो ह भवति य एवं वेद' (श० १४।१।१।१२) । 'स उ एव मखः स विष्णुः । तत इन्द्रो मखवानभवद् मखवान् ह वै तं मघवानित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः'

(श० १४।१।१।१३)। 'ताभ्यो वम्रीभ्योऽन्नाद्यं प्रायच्छन्। आपो वै सर्वमन्नं ताभिर्हीदमभिक्नूयमिवादन्ति यदिदं किं चादन्ति' (श० १४।१।१।१४)। 'अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त। वसवः प्रातःसवनꣳ रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनमादित्यास्तृतीयसवनम्' (श० १४।१।१।१५)। 'अग्निः प्रातःसवनम्। इन्द्रो माध्यन्दिनꣳ सवनं विश्वे देवास्तृतीयसवनम्' (श० १४।१।१।१६)। 'गायत्री प्रातःसवनम्। त्रिष्टुब् माध्यन्दिनꣳ सवनं जगती तृतीयसवनं तेनापशीर्ष्णा यज्ञेन देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः' (श० १४।१।१।१७)। वम्रीभ्यो वमनशीलाभ्य उपदीकाभ्योऽन्नाद्यम् अत्तुं योग्यमन्नं दन्तव्यापारनिरपेक्षम्, आद्यम् दन्तव्यापारसव्यपेक्षं पूर्वं प्रतिज्ञातं प्रायच्छन्। किं तत्? आप इति, सर्वेषामन्नानामब्विकारत्वात् कारणभूतास्वप्सु सर्वान्नावस्थितेः। तथा च अब्रूपमेवान्नाद्यं प्रायच्छन्निति तात्पर्यम्। पृथक् पृथग् व्रीहियवानामेकैकस्य प्रदाने तस्यान्नस्य कार्त्स्न्यं न स्यात्। तथा च अपगतशिरस्कं यज्ञं फलप्राप्त्यक्षमं विभज्यातिष्ठन्।

ननु च्छिन्नशिरसो यज्ञस्य फलसाधकाभावात् तदनुष्ठानमेव सर्वत्रोत्सीदेदित्याशङ्क्याह—'दध्यङ् ह वा आथर्वणः। एतꣳ शुक्रमेतं यज्ञं विदाञ्चकार यथा यथैतद्यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते यथैष कृत्स्नो यज्ञो भवति' (श० १४।१।१।१८)। दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः पुरा शुक्रं निर्मलं सूर्यात्मना दीप्यमानमेतं प्रवर्ग्याख्यं यज्ञस्य मूर्धानम्, तथा एतं सवनत्रयात्मकं प्रागुक्तमपगतशिरस्कं यज्ञं च विदाञ्चकार सम्यग् अजानात्। यथा यथा येन येनोपायेन एष यज्ञः कृत्स्नः शिरश्छेदात् प्रागिव सम्पूर्णावयवः सम्यक् फलजनकः स्यात्, तथैतदुभयं पुरा ज्ञातवान्। 'स हेन्द्रेणोक्त आस। एतं चेदन्यस्मा अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति' (श० १४।१।१।१९)। स च पुरा आदित्यात्मना यज्ञशिरःसन्धानविद्यामिन्द्रायोपदिदेश। स चेन्द्र एनमजानात्। यद्ययमिमां विद्यामन्यस्मा उपदिशेत्तर्हि सोऽपि मद्विधः स्यादिति। एवं विचार्य नान्यस्मा इयं विद्योपदेष्टव्येत्याज्ञापितवान्।

'तदु हाश्विनोरनुश्रुतमास। दध्यङ्ङु ह वा आथर्वण एतꣳ शुक्रमेतं यज्ञं वेद यथा यथैतद्यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते यथैष कृत्स्नो यज्ञो भवति' (श० १४।१।१।२०)। स दध्यङ्नामा ऋषिरेतं शुक्रं प्रवर्ग्यम्, तथा एतं यज्ञं सवनत्रयात्मकं जानातीत्यनेन प्रकारेण सस्मरतुरश्विनौ ऋषिम्। तत् तस्माद् इन्द्रोपदेशात् पुरैव खलु तद्विद्यादानं प्रतिश्रुतमासीत्। अश्विनौ हि पुरा बाल्यावस्थायां दधीचश्चिकित्सां कृत्वा युवाभ्यां किं दातव्यमित्येवमन्वब्रूताम्—हे महर्षे! त्वयि नानाविधा विद्याः सन्ति। तासां मध्ये सारतः सारा विद्योपदेष्टव्येति। तर्हि सारतः सारभूते द्वे मधुविद्ये मयि स्त इति ते युवाभ्यां यथाकालमुपदेक्ष्यामीति। नास्तीदानीमवसरः, युवयोर्बाल्यत्वादिति। अतः कालान्तरे समागन्तव्यमित्यश्विनोः कृते दधीचा विद्यादानमिन्द्रोपदेशात् प्रागेव प्रतिश्रुतमासीत्। एवं स्थिते फलप्राप्तिरहितेन यज्ञानुष्ठानेन श्राम्यन्तो देवा अश्विनावाहूय एवमब्रुवन्। युवां हि अस्माकं भिषजौ। अस्मदीयो यज्ञश्छिन्नशिरस्कः सन् फलजननाशक्तः, तस्य शिरसः सन्धानं भवद्भ्यां कार्यमिति। तदुक्तं तित्तिरिणा 'ते देवा अश्विनावब्रुवन्। भिषजौ वै स्थः। इदं यज्ञस्य शिरः प्रतिधत्तमिति' (तै० आ० ५।१।६) इति। एवमुक्तौ अश्विनौ कथमेतस्य सन्धानमित्यालोचयन्तौ दधीचोक्तमस्मरतामिति वर्णयद् ब्राह्मणमाह—दध्यङ्ङ् हेति। तौ खलु अश्विनौ पुरा विद्यादानं प्रतिश्रुतवन्तं दध्यञ्चमेता ऊचतुः—उपगतवन्तौ त्वां विद्यार्थमिति। ततः स ऋषिरब्रवीत् किं मया शिक्षणीयौ? तावब्रूताम्—यद्भवता विज्ञातं प्रवर्ग्याख्यं यज्ञशिरः, यश्च तत्सम्बद्धो यज्ञः, एतदुभयं त्वत्तोऽध्येष्यमाणौ आवाम् आगतौ।

'स होवाच। इन्द्रेण वा उक्तोऽस्म्येतं चेदन्यस्मा अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति तस्माद्वै बिभेमि यद्वै मे स शिरो न छिन्द्यान्न वामुपनेष्य इति' (श० १४।१।१।२२)। 'तौ होचतुः। आवां त्वा तस्मात् त्रास्यावहे इति। कथं मा त्रास्येथे इति यदा ना उपनेष्यसेऽथ ते शिरश्छित्वान्यत्रापनिधास्यावोऽथाश्वस्य शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्यावस्तेन नावनुवक्ष्यसि स यदा नावनुवक्षस्यथ ते तदिन्द्रः शिरश्छेत्स्यथ ते स्वꣳ शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्याव इति' (श० १४।१।१।२३)। सुप्रसन्ने कण्डिके।

'तौ होपनिन्ये । तौ यदोपनिन्येऽथास्य शिरश्छित्वाऽन्यत्रापनिदधतुरथाश्वस्य शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुस्तेन हाभ्यामनूवाच स यदाभ्यामनूवाचाथास्य तदिन्द्रः शिरश्चिच्छेदाथास्य स्वꣳ शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुः' (श० १४।१।१।२४)। अश्विभ्यां च यथा प्रतिज्ञातं तथैव कृतम्। तौ दधीचो मानुषं शिरश्छित्वान्यत्र स्थापितवन्तौ। ऋषिश्च तेनाश्वशिरसाऽश्विभ्यां प्रवर्ग्याख्यां मधुविद्यामुपदिदेश। अनन्तरमिन्द्र ऋषेस्तच्छिरश्चिच्छेद। आश्वे शिरसि छिन्ने सत्यश्विनौ दधीचः स्वं मानुषं शिरोऽन्यत्र स्थापितमाहृत्य प्रतिदधतुः पूर्ववदविकलमव्रणं च यथा स्यात्तथा संयुक्तं चक्रतुः।

उक्तेऽर्थे मन्त्रं संवादयति—'तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्। दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेत्ययतं तदुवाचेति हैव तदुक्तम्' (श० १४।१।१।२५)। यस्मादेवं पुरा वृत्तान्तो जातः, तस्मादेव कारणाद् ऋषिणा कक्षीवन्नाम्ना अतीन्द्रियदर्शिनाप्येतदुक्तमर्थजातमभिलक्ष्य 'अनूक्तम्' अनुवचनमध्ययनं कृतम्। यद्वाऽलौकिकस्यार्थस्य प्रकाशनादृषिरिति वेद एवोच्यते। कथमनूक्तम्? तदाह—दध्यङ् हेति। अयमुत्तरोऽर्धर्चः। अस्य पूर्वार्धस्तु—'तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्' (ऋ० सं० १।११६।१२) इति। अस्यार्थस्तु—हे नरौ नेतारौ अश्विनौ! वां युवयोस्तदुग्रं क्रूरं दंसः कर्म (निघ० २।१।३) सनये धनानां लाभार्थम् आविष्कृणोमि प्रकटीकरोमि। तन्यतुर्न मेघो यथा (नेत्युपमार्थे) पिहितां वृष्टिमाविष्करोति। सर्वत्र लोके बिन्दुशो विस्तारयति तद्वत्। किं तदुग्रमित्युच्यते आथर्वणोऽथर्वणः पुत्रो दध्यङ् नामा ऋषिः पुरा खलु वां युवाभ्यां यत् प्रवर्ग्याख्यं मधु अश्वस्य शीर्ष्णा प्रतिहितेन शिरसा प्रोवाच प्रोक्तवान् यत् कर्म तदिति। अस्य मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—अयतं तदुवाचेति। इन्द्रप्रतिषिद्धमपि तन्मधु अयतम् अनियमितं मन्वानः, उ एव, दध्यङ् ताभ्यामुवाच उपदिष्टवान्।

तदिदं प्रवर्ग्याख्यं मधु साधारण्येन (सर्वसाधारणपुरुषेभ्यः) नोपदेष्टव्यम्, इन्द्रेण गोपितत्वात्। किन्तु ये विशिष्टमातापितृजन्या आचारवन्तस्तेभ्य एवोपदेष्टव्यम्। तदुक्तम्—'तन्न सर्वस्मा अनुब्रूयात्। एनस्यꣳ हि तदथो नेन्म इन्द्रः शिरश्छिनददिति यो न्वेव ज्ञातस्तस्मै ब्रूयादथ योऽनूचानोऽथ योऽस्य प्रियः स्यान्न त्वेव सर्वस्मा इव' (श० १४।१।१।२६)। सर्वसाधारणोपदेश एनस्यम् एनसे हितं पापकारि स्यात्, अतो न सर्वस्मै ब्रूयात्। 'नेदिति परिभये' (निरु० १।१०)। यद्यहमविशेषेण सर्वस्मै उपदेक्ष्यामि, तर्हि इन्द्रो मदीयं शिरो न छिन्द्यादिति भयेनापि न सर्वस्मै उपदिशेत्, योऽनूचानो यश्चास्य प्रियस्तस्मा एवोपदिशेत्। 'संवत्सरवासिनेऽनुब्रूयात्। एष वै संवत्सरो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मात् संवत्सरवासिनेऽनुब्रूयात्' (श० १४।१।१।२७)। 'तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरति। त्रयो वा ऋतवः संवत्सरस्य संवत्सर एष य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मात् तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरति' (श० १४।१।१।२८)। 'तप्तमाचामति। तपस्व्यनुब्रवा इत्यमाꣳसाश्यनुब्रूते तपस्यनुब्रवा इति' (श० १४।१।१।२९)। 'अमृन्मयपायी। अस्ति वा अस्याꣳ सꣳसृष्टमिव यदस्यामनृतं वदति तस्मादमृन्मयपायी' (श० १४।१।१।३०)। 'अशूद्रोच्छिष्टी। एष वै घर्मो य एष तपति सैषा श्रीः सत्यं ज्योतिरनृतꣳ स्त्री शूद्रः श्वा कृष्णः शकुनिस्तानि न प्रेक्षेत नेच्छ्रियं च पाप्मानं च नेज्ज्योतिश्च तमश्च नेत् सत्यानृते सꣳसृजानीति' (श० १४।१।१।३१) इत्यादिभिः प्रवर्ग्यविद्याप्राप्तये बहवो नियमा उक्ताः।

'अथैष वाव यशः। य एष तपति तद्यत्तदादित्यो यशो यज्ञो हैव तद्यशस्तद्यत्तद्यज्ञो यशो यजमानो हैव तद्यशस्तद्यत्तद्यजमानो यश ऋत्विजो हैव तद्यशस्तद्यत्तदृत्विजो यशो दक्षिणा हैव तद्यशस्तस्माद्यामस्मै दक्षिणामानयेयुर्न ताꣳ सद्योऽन्यस्मा अतिदिशेन्नेद्यन्मेदं यश आगंस्ततसद्योऽन्यस्मा अतिदिशानीति श्वो वैव भूते द्व्यहे वा तदात्मन्येवैतद्यशः कृत्वा यदेव तद्भवति तत् स ददाति हिरण्यं गां वासोऽश्वं वा' (श० १४।१।१।३२) इति

श्रुत्या प्रवर्ग्याध्ययनानुष्ठानेष्वपि विविधानि व्रतानि पालनीयानि। 'तस्य व्रतचर्या नातपति प्रच्छादयेत नेदेतस्मात्तिरोऽसानीति नातपति निष्ठीवेन्नेदेतमभिनिष्ठीवानीति नातपति प्रस्रावयेत्' (श० १४।१।१।३३)। अस्यां कण्डिकायां तस्य व्रतचर्या निरूप्यते। न प्रस्रावयेन्न मूत्रयेत्। इत्थमाख्यायिकया प्रवर्ग्यस्य विधित्सितस्य यज्ञशिरस्त्वं तद्रहितस्याग्निष्टोमादेः फलजननासामर्थ्यमुक्त्वा तस्यावश्यानुष्ठेयस्य प्रतिपादकं काण्डाध्यायिनस्तदनुष्ठायिनो व्रतानि दर्शितानि।

अथ निर्वर्तकानां मृद्दारुमयानां पात्राणां निष्पत्तिरुच्यते। महावीरादीनि मृन्मयानि पात्राणि निर्मातुं मृद्वल्मीकवपादयः सम्भारा विधास्यन्ते। प्रथमं सम्भारसंज्ञां निर्वक्ति —'स यद्वा एनानित्था चेत्था च सम्भरति तत्सम्भाराणाꣳ सम्भारत्वम्' (श० १४।१।२।१) इति। आध्वर्यवसमाख्यावशेनेतः परं वक्ष्यमाणासु क्रियासु कर्तृत्वेनाध्वर्युरेव सम्बद्ध्यते। नानादिगवस्थितान् यज्ञशिरःसारान् मृदादिरूपान् विहितपदार्थानेकत्रानीय तेषां समूहीकरणमेव सम्भरणम्। 'कृष्णाजिने सम्भरति। यज्ञो वै कृष्णाजिनम्। यज्ञ एवैनमेतत् सम्भरति' (श० १४।१।२।२)। यज्ञस्य कस्माच्चिन्निमित्तात् पलायमानस्य कृष्णमृगरूपेणावस्थानात् तच्चर्मणो यज्ञत्वम्। तथा च तैत्तिरीयकम्—'यज्ञो देवेभ्यो निलायत। कृष्णं रूपं कृत्वा यत्कृष्णाजिने हविरभ्यवहरन्ति' (तै० ब्रा० ३।२।५।६)। 'लोमतश्छन्दाꣳसि वै लोमानि छन्दःस्वेवैनमेतत्सम्भरत्युत्तरत उदीची हि मनुष्याणां दिक् प्राचीनग्रीवे तद्धि देवत्रा' (श० १४।१।२।२)। सम्भरणं च लोमवद्भागे कार्यमित्यनुषङ्गः। कुत एतत् ? अलोमके विशसनप्रदेशे वा कस्मान्न सम्भरणम् ? इति चेदुच्यते—छन्दांसि वै लोमानि, अर्थाच्छन्दोयुक्ता ऋचः सामानि च कृष्णाजिनस्य लोमानि। तथा च तैत्तिरीयसंहितायाम्—'एष वा ऋचो वर्णो यच्छुक्लं कृष्णाजिनस्यैष साम्नो यत्कृष्णम्' (६।३।१।१)। एवं च गायत्र्यादिछन्दःस्वेव सम्भरति। उत्तरत उदीच्यां दिशि गत्वा सम्भारान् सम्भरति प्राचीनग्रीवे, प्राचीना प्राच्यां दिश्यवस्थिता ग्रीवा यस्य तस्मिन् कृष्णाजिने आस्तीर्णे सम्भरति। तद्धि प्राग्दिक्सम्बन्धो हि देवत्रा देवेषु प्रसिद्धः।

'अभ्र्या। वज्रो वा अभ्रिर्वीर्यं वै वज्रो वीर्येणैवैनमेतत् समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श० १४।१।२।३)। अभ्रिः खननसाधनं काष्ठम्, तया सम्भारान् सम्भरति। वज्रवत्तीक्ष्णाग्रत्वादभ्रिर्वज्रः। वज्रश्च इन्द्रायुधत्वाद् वीर्यरूपः। एवमाभ्रियसम्भरणेनैनं प्रवर्ग्यं वीर्येण फलजननसामर्थ्येन समृद्धं करोति। तत्समृद्धौ प्रवर्ग्यशिरस्कं यज्ञमपि कृत्स्नं सम्पूर्णावयवं करोति। 'औदुम्बरी भवति' (श० १४।१।२।४), 'अथो वैकङ्कती' (श० १४।१।२।५)। अभ्रेः प्रकृतिरूपमौदुम्बरं विकल्पेन विकङ्कतरूपं वृक्षान्तरं च विधाय तया अभ्र्या खातां 'युञ्जते मनः' इति मन्त्रेण जलेनासिक्तां मृदं समन्त्रकमाहृत्य उत्तरत आस्तृते कृष्णाजिने निधाय ततो वल्मीकवपाया वराहेण खातस्य मृत्पिण्डस्य समन्त्रकं सम्भरणम्, पूतीकरसस्य अजाक्षीरस्य सम्भरणम्, एकस्मिन् कृष्णाजिने संभृतानां मृदादीनां प्रशंसनम्, अभिमर्शनविधानम्, महावीरादिनिर्माणाय देवयजनस्योत्तरतः परिश्रितं विधाय तत्र सम्भृतसम्भारानादाय गच्छन्तः 'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः' (वा० सं० ३७।७) इतीमं मन्त्रं जपन्ति। संसृष्टमृत्तिकया महावीरकरणस्य विधानं लक्षणसम्पन्नं महावीरं कृत्वा तस्य समन्त्रकमभिमर्शनम्। वल्मीकवपा-वराहविहत-पूतिकाऽजाक्षीरलक्षणान् आहृतान् सम्भारान् परस्परसम्मेलनेन यथा श्लक्ष्णं भवति, तथा मखाय त्वा मखस्य त्वेति मन्त्रेण संसृज्य संसृष्टं मृत्पिण्डमुपादाय मखाय त्वेति मन्त्रेण महावीर-घर्म-हविःसन्तपनपात्रं करोति।

'मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे इत्यसावेव बन्धुः प्रादेशमात्रं प्रादेशमात्रमिव हि शिरो मध्ये संगृहीतं मध्ये संगृहीतमिव हि शिरोऽथास्योपरिष्टात् त्र्यङ्गुलं मुखमुन्नयति नासिकामेवास्मिन्नेतद्दधाति तन्निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिरोऽसीति मखस्य ह्येतत् सौम्यस्य शिर एवमितरौ तूष्णीं पिन्वने तूष्णीꣳ रौहिणकपाले'

(श० १४।१।२।१७)। तं महावीरं प्रादेशमात्रमूर्ध्वप्रमाणेन प्रादेशपरिमितं कुर्यात्। हि यस्मात् शिरो मूर्धा लोके प्रादेशमात्रपरिमितमिव दृश्यते। तच्च मध्ये संगृहीतमिव सन्नतमिव दृश्यते। अथो अनन्तरं महावीरस्य उपरिष्टाद् उपरि भागेऽङ्गुलत्रयपरिमितं मुखमास्यमुन्नयति, ऊर्ध्वं प्रापयति। एतेन मुखोन्नयनेनास्मिन् महावीरे यज्ञशिरसि नासिकामेव दधाति।

महावीरलक्षणं सूत्रकारेण स्पष्टीकृतम्—'प्रादेशमात्रमूर्ध्वमासेचनवन्तं मेखलावन्तं मध्यसंगृहीतमूर्ध्वं मेखलायास्त्र्यङ्गुलम्' (का० श्रौ० २६।१।१६)। आसेचनवन्तम्, आसिच्यतेऽस्मिन्नित्यासेचनं गर्तः, तद्वन्तं मेखलावन्तं रास्नावन्तं मध्यसंगृहीतं मध्यप्रदेशं संकुचितमुलूखलमिव मुष्टिग्रहणयोग्यं मेखलाया ऊर्ध्वं त्र्यङ्गुलं प्रादेशमात्रस्योपरिभागे त्र्यङ्गुलं परिशिष्य ततोऽधस्तान्मेखला कार्या। 'निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिर इति' (का० श्रौ० २६।१।१७)। निष्ठितं निष्पन्नं सव्यहस्तस्थं दक्षिणेनाभिमृशेत्। अनयैव मृदा प्रवर्ग्योपयुक्तमन्यदपि मृन्मयजातं करोति—तूष्णीं पिन्वने तूष्णीं रौहिणकपाले इति। पिन्वति सिञ्चत्यनयोरिति पिन्वने गोपयोऽजापयोदोहनपात्रे। रौहिणपुरोडाशयोरधिश्रयणार्थं द्वे कपाले कर्तव्ये। एतयोः पिन्वनकपालयोर्लक्षणं सूत्रकारेणोक्तम्—'स्रुक्पुष्कराकृती पिन्वने रौहिणकपाले परिमण्डले' (का० श्रौ० २६।१।२०)। तथैव द्वावन्यावपि महावीरौ कर्तव्यौ।

समन्त्रकस्य महावीरनिर्माणस्य, अमन्त्रकस्य पिन्वनादिनिर्माणस्य च संहत्य प्रशंसनम् प्रजापतिर्वेत्यादिना। 'प्रजापतिर्वा एष यज्ञो भवति। उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्यद्यजुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितꣳ रूपं तदस्य तेन सꣳस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितꣳ रूपं तदस्य तेन सꣳस्करोति स ह वा एतꣳ सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिꣳ सꣳस्करोति य एवं विद्वान् एतदेवं करोत्यथोपशयायै पिण्डं परिशिनष्टि प्रायश्चित्तिभ्यः' (श० १४।१।२।१८)। यदि पात्रं भग्नं स्यात्, तर्हि तन्निर्माणार्थमुपशयाभिधां पात्रनिर्माणादवशिष्टां मृदं क्वचिदेकान्ते स्थापयेत्।

'पत्न्यदर्शनम्, अननूक्तिभिश्च' (का० श्रौ० २६।२।३-४)। सन्निधाने सत्यपि पत्नी प्रवर्ग्यस्य महावीरस्य दर्शनं न कुर्यात्। अनूक्तिरनुवचनं वेदाध्ययनं येषां न विद्यते तैरपि महावीरस्य दर्शनं न कार्यमिति सूत्रार्थः। श्रपणविधानम्, एतेषामावापोद्धरणयोः कालविशेषनिरूपणम्, महावीरत्रयस्योद्वपने मन्त्रत्रयं च विनियुज्य पिन्वनयो रौहिणकपालयोश्च तूष्णीमुद्वपनविधानम्, प्रथममहावीरस्यावापादुद्धृतस्याजाक्षीरेणासेचनस्य समन्त्रकं विधानम्, अन्येषां तूष्णीमजाक्षीरेणासेचनम्। 'स यदैतदातिथ्येन प्रचरति। अथ प्रवर्ग्येण चरिष्यन् पुरोपसदोऽग्रेण गार्हपत्यं प्राचः कुशान् सꣳस्तीर्य द्वन्द्वं पात्राण्युपसादयत्युपयमनीं महावीरं परीशासौ पिन्वने रौहिणकपाले रौहिणहवन्यौ स्रुचौ यदु चान्यद् भवति' (श० १४।१।३।१)। अध्वर्युर्यदाऽतिथिभूतस्य सोमराजस्य प्रीत्यर्थं नवकपालेन पुरोडाशेन चरति, तदा उपसदः पुरा आतिथ्येष्ट्यनन्तरं तानूनप्त्रस्पर्शनादिकमपि कृत्वा प्रवर्ग्येण चरिष्यन् प्रवर्ग्यमनुष्ठास्यन् पात्रासादनं कुर्यात्। असंस्कृतानां पात्राणां यागानर्हत्वात् तत्संस्काराय पात्रासादनमिति। उपयमनम् अधश्चाद् धारणम्। तप्तस्य महावीरस्य अधो धारणार्था औदुम्बरी द्राघीयसी स्रुग् उपयमनी। परीशासौ अप्रचरणीयौ महावीरौ रौहिणहवन्यौ औदुम्बर्यौ अविले स्रुचौ। यदन्यदपि पात्रजातमपेक्षितं तदप्यासादयेत्। तच्च कात्यायनेन प्रोक्तम्—'स्थूणामयूखम्' (का० श्रौ० २६।२।१०) इत्यादिना।

'अथाध्वर्युः। प्रोक्षणीरादायोपोत्तिष्ठन्नाह ब्रह्मन् प्रचरिष्यामो होतरभिष्टुहीति ब्रह्मा वै यज्ञस्य दक्षिणत आस्तेऽभिगोप्ता तमेवैतदाहाप्रमत्त आस्व यज्ञस्य शिरः प्रतिधास्याम इति होतारमभिष्टुहीति' (श० १४।१।३।२)। गार्हपत्याहवनीया उत्तरेण द्वौ चतुरस्रौ खरौ हस्तमात्रौ एकाङ्गुलोत्सेधौ दक्षिणतस्तृतीयं तावन्मात्रं सिकताभिः कृत्वा सम्राडासन्दीमाहवनीयपूर्वेण संस्थाप्य तत्र द्वौ महावीरावासादयेत्। ततो मुञ्जनिर्मितानिण्डवानादीप्य

तान् खरे संस्थाप्य तत्राज्यपूर्णं महावीरं निधाय होत्रा मन्त्रगणे पठ्यमाने प्रतिप्रणवं स्रौवाज्यमासिञ्चेत्। ततो रौहिणपुरोडाशयोः प्रचारः। तत्रादौ दक्षिणं पुरोडाशं हुत्वा गां दुग्ध्वा परीशासाभ्यां महावीरमादाय तत्राजापयः प्रक्षिप्य शान्ते पयसि गोपयः प्रक्षिपेत्। अयं घर्म इत्युच्यते। तत उत्तरं रौहिणं जुहुयात्। एवमपराह्णेऽपि प्रवर्ग्यानुष्ठानम्। 'एष वै मखो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह मखाय त्वेति' (श० १४।१।३।५)।

अथ मन्त्रार्थः—अभ्रिदेवत्यं यजुः। हे अभ्रे, सवितुर्देवस्याज्ञया स्थितोऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे। त्वं च नारिरसि स्त्रीनाम्नी भवसि। तां सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनाभिमृश्य जपति युञ्जते मन उत युञ्जते धिय इति, 'ताᳬं सव्ये पाणौ कृत्वा। दक्षिणेनाभिमृश्य जपति युञ्जते मन उत युञ्जते धियः' (श० १४।१।२।८) इति श्रुतिः।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धिरूपे अभ्रे, शास्त्ररहस्यप्राप्त्यर्थं त्वामाददे। अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। त्वं नारिरसि, नयत्यवगमयति श्रुतेरर्थानिति नारिः, 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इति तद्धिताभावेऽपि छान्दसत्वाद् ह्रस्वः, असि। अतः श्रुतिरहस्यमवगन्तुं शक्नोषि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यतस्त्वं नारिरसि, तस्मात् सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वाददे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापकोपदेशकयोर्बाहुभ्यां पुष्टिकर्तुर्हस्ताभ्यां कस्यचिद्विदुषो ग्रहणादर्शनात्, निष्प्रयोजनत्वाच्च, कश्चायं ग्रहीतेत्यनिरूपणाच्च। कथमन्योऽन्ययोर्बाहुभ्यामन्यस्य हस्ताभ्यां कञ्चन गृह्णीयात्॥ १॥

युञ्जते मन॑ उ॒त यु॑ञ्जते॒ धियो॒ विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चितः॑।
वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ इन्म॒ही दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुतिः॥ २॥

मन्त्रार्थ—वेदपाठ से महत्त्व को प्राप्त, सर्वज्ञ यजमान के वेदवेत्ता होम करने वाले ऋत्विक्गण यज्ञानुष्ठान में मन और इन्द्रियों को लगाते हैं, क्योंकि सब प्राणियों के मन की वृत्ति को जानने वाले सृष्टिकर्ता ने ही इन ब्राह्मणों को मनोवशीकार की सामर्थ्य के साथ रचा है। प्रेरक अन्तर्यामी परमात्मा की सच्ची स्तुति मनोवशीकार ही है। उस परमात्मा के निमित्त हम यह श्रेष्ठ आहुति देते हैं॥ २॥

इयं पञ्चमे चतुर्दश्यां व्याख्यातापि पुनर्व्याख्यायते। विप्रस्य यजमानस्य ऋत्विजो मनो युञ्जते, लौकिकचिन्ताभ्यो निवर्त्य यज्ञचिन्तया नियमयन्ति। उतापि धिय इन्द्रियाणि च यज्ञार्थेषु नियमयन्ति। कीदृशस्य विप्रस्य? बृहतो महतः, तथा विपश्चितो ज्ञातज्ञेयस्य। अधीतवेदत्वात् बृहत्त्वम्, अर्थाभिज्ञत्वाद् विपश्चित्त्वमिति। कीदृशा विप्राः? होत्रा होमकर्तारः। तदिदं विप्राणां मनोनियमनादिसामर्थ्यम्, एक इद् एक एव विदधे ससर्ज। किंभूत एकः? वयुनावित् सर्वभूतानां मनोवृत्तिवेत्ता। ननु कथमेकस्य सर्वसृष्टौ सामर्थ्यमिति चेत्, तत्राह—यतः सवितुरन्तर्यामिणो देवस्य, परिष्टुतिः सर्वरीत्या स्तुतिः, मही महती, 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः' (मु० १।१।९) इति श्रुतेः॥ २॥

देवी॑ द्यावापृथिवी म॒खस्य॑ वाम॒द्य शिरो॑ राध्यासं देव॒यज॑ने पृथि॒व्याः। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे॥ ३॥

मन्त्रार्थ—हे दीप्यमान द्यावापृथिवी (पृथ्वी और स्वर्ग) ! अब मैं देवयजन-स्थान में मृत्तिका और जल को लेकर यज्ञ का प्रमुख कार्य सिद्ध करता हूँ। इस प्रकार पृथ्वी और स्वर्ग से प्रार्थना कर मृत्तिका से प्रार्थना की जाती है कि हे मृत्तिके ! यज्ञकार्य के सम्पादन के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यज्ञ के शिरस्थानीय महावीर के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ ॥ ३ ॥

द्यावापृथिवीदैवतं यजुः, ब्राह्मी गायत्री। 'मृदमादत्ते पिण्डवद् देवी द्यावापृथिवी इति' (का० श्रौ० २६।१।५)। अध्वर्युर्देवीति मन्त्रेणोखासम्भरणमृत्पिण्डवद् दक्षिणेन साभ्रिणा सव्येन केवलेनेत्युभाभ्यां पाणिभ्यां मृत्पिण्डमादत्त इति सूत्रार्थः ।

अत्र ब्राह्मणम् -'अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति। अभ्रचा च दक्षिणतो हस्तेन च हस्तेनैवोत्तरतो देवी द्यावापृथिवी इति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत् स इमे द्यावापृथिवी अगच्छद्यन्मृदियं तद्यदापोऽसौ तन्मृदश्चापां च महावीराः कृता भवन्ति तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादाह देवी द्यावापृथिवी इति मखस्य वामद्य शिरो राध्यासमिति यज्ञो वै मखो यज्ञस्य वामद्य शिरो राध्यासमित्येवैतदाह देवयजने पृथिव्या इति देवयजने हि पृथिव्यै सम्भरति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे इति यज्ञो वै मखो यज्ञाय त्वा यज्ञस्य त्वा शीर्ष्णे इत्येवैतदाह' (श० १४।१।२।९)। अथ तया अभ्रचा खातां जलेनासिक्तां मृदमाहरेदिति विधत्ते—अथ मृत्पिण्डमिति। अभ्रिस्पर्शनानन्तरं तया चाभ्रचा दक्षिणहस्तेन च दक्षिणभागेन गृह्णन् सव्यहस्तेनैव केवलेनोत्तरत उत्तरभागे गृह्णन् देवी द्यावापृथिवीति मन्त्रेण मृत्पिण्डं जलेन मिश्रीकृतं मृत्तिकाघनं गृह्णाति। महावीराख्यमृन्मयपात्रपर्याप्तं स्वीकुर्यात्। परिगृह्य च उत्तरत आस्तीर्णे कृष्णाजिने निदधाति।

मन्त्रं चतुर्धा विभज्य प्रथमभागं तात्पर्यतो व्याचष्टे—यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शीर्षं शिरश्छिन्नं यस्यासौ शीर्षच्छिन्नः, तस्य तथाविधस्य यज्ञस्य छेदनप्रदेशाद् यो रसो लोहितरूपो विविधं च्युतः, स रस इमे द्यावापृथिवी सर्वप्राणिसन्निहिते प्राप्नोत्। आह्रियमाणा मृदिति यत् तदेवेयं यज्ञरसयुक्ता पृथिवी। मृदा संसृष्टा आप इति यत् तदेवासौ द्युलोकः। द्युलोकजनितया हि वृष्टया आपो जायन्ते। यस्मादेवं महावीरा मृदामपां च सम्मेलनात् कृतास्तस्मात् तेनैव द्यावापृथिव्यौ प्राप्तेनैव पुरातनेन रसेन एनं प्रवर्ग्यं समर्धयति। तत्समृद्धया यज्ञमपि कृत्स्नं सम्पूर्णावयवं करोति। प्रादेशमात्रोन्नतानि पर्वत्रयवन्ति घुण्टिकाकाराणि घर्मंहविःसन्तापार्थानि त्रीणि मृन्मयानि पात्राणि महावीरा उच्यन्ते। 'महान् बत नो वीरोऽपादीति' (श० १४।१।१।११) इत्यादिना प्रवर्ग्यस्य महावीरशब्दाभिधेयत्वम्। तत्साधनेषु पात्रेषूपचारात्तच्छब्दप्रवृत्तिः। द्वितीयभागमनूद्य व्याचष्टे—मखस्य वामिति। हे देवी देव्यौ देवनशीले द्यावापृथिव्यौ ! वां युवयोः सकाशाद् अद्य मखस्य यज्ञस्य शिरः प्रवर्ग्यं राध्यासं कर्तुं शक्तो भूयासम्। कुत्रेति चेत् ? तृतीयभागं व्याचष्टे—पृथिव्यै देवयजन इति। पृथिवीसम्बन्धिनि, षष्ठयर्थे चतुर्थी, देवयजने यागाधिकरणीभूते देशे। तत्र हि संभरति मृदादिसम्भारानाहरति। अथ चतुर्थभागमनूद्य व्याख्यानसापेक्षस्य पदस्यार्थमुक्त्वा निष्पन्नं वाक्यार्थमाह—मखाय त्वेति। अत्रापि मखशब्दस्य यज्ञ एवार्थः। तथा च हे मृत्पिण्ड, त्वां मखाय यज्ञार्थमाददे। तथा मखस्य शीर्ष्णे शिरसे त्वां परिगृह्णामीति।

समग्रो मन्त्रार्थस्तु—हे देवी देव्यौ दीप्यमाने द्यावापृथिव्यौ ! अद्य अस्मिन् दिने पृथिव्या देवयजने देवयजनस्थाने, देवा इज्यन्ते यत्र तद् देवयजनम्, तस्मिन् मखस्य यज्ञस्य शिरो राध्यासं साधयेयम्। महावीर एव यज्ञशिरः। किं कृत्वा ? वां युवां द्यावापृथिव्यौ आदाय, दिवोंऽशं जलं पृथिव्यंशं मृदं चादायेत्यर्थः। एवं द्यावापृथिव्यौ प्राथ्यं मृदमाह—हे मृत् ! यज्ञाय त्वां गृह्णामि। विशेषमाह—मखस्य यज्ञस्य शीर्ष्णे शिरसे महावीराय त्वां शीर्ष्णे गृह्णामीति शेषः। तं मृत्पिण्डमुत्तरे स्थापिते कृष्णाजिने निदध्यात्।

अध्यात्मपक्षे—हे देव्यौ चितिप्रकृतिरूपे, अद्य वां युवामादाय यज्ञस्य शिरो ब्रह्मात्मज्ञानं पृथिव्या देवयजने राध्यासम्। हे प्रकृते, मखाय त्वां परिगृह्णामि मखस्य शीर्ष्णे त्वां परिगृह्णामि। यज्ञार्थस्य पूर्वकाण्डस्य शीर्षस्थानीयं वेदशीर्षरूपोपनिषज्ज्ञानं यज्ञस्य शिरःस्थानीयम्।

दयानन्दस्तु—'देवी द्यावापृथिव्यावध्यापिकोपदेशिके स्त्रियावद्य पृथिव्या देवयजने वां मखस्य शिरो राध्यासम्। मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा राध्यासम्' इति, तदप्यसङ्गतम्, असम्बन्धात्। किमिदं यज्ञशिरः ? कथं च तयोर्मखाय साधनमिति विशृङ्खलत्वात्॥ ३॥

देव्यो॑ वम्र्यो भू॒तस्य॑ प्रथम॒जा म॒खस्य॑ वो॒ऽद्य शिरो॑ राध्यासं दे॒व॒यज॑ने पृथि॒व्याः। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे॥ ४॥

मन्त्रार्थ प्राणियों से प्रथम उत्पन्न दीप्यमान हे उपजिह्विकाओं! तुम्हें लेकर मैं देवयजन-स्थान में यज्ञ के सिर, अर्थात् महावीर का निर्माण करूँ, अतः तुम्हें ग्रहण करता हूँ, यज्ञ के सिर महावीर की रचना के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूं॥ ४॥

'कृष्णाजिने निदधात्युत्तरतः, देव्यो वम्र्य इति वल्मीकवपाम्' (का० श्रौ० २६।१।६-७)। उत्तरतः स्थापिते प्राग्ग्रीवे उत्तरलोम्नि कृष्णाजिने मृत्पिण्डं तूष्णीं निदध्यात्, मृत्पिण्डस्योत्तरतः कृष्णाजिन एव देव्यो वम्र्य इति मन्त्रेण वल्मीकवपामादाय तूष्णीं निदध्यादिति सूत्रार्थः। उपदीकक्कृतो मृत्सञ्चयो वल्मीकः, तस्य वपेव वपा ताम्, मध्यस्थलोष्ठमिति यावत्। वल्मीकवपा देवता आर्षी पङ्क्तिः। हे देव्यो दीप्यमाना वम्र्य उपजिह्विकाः! वो युष्मानादाय पृथिव्या देवयजने मखस्य शिरो महावीरमद्य राध्यासं सम्पादयेयम्। मखाय त्वामाददे। मखस्य शीर्ष्णे त्वामाददे। किंभूता वम्र्यः ? भूतस्य प्राणिजातस्य प्रथमजाः प्रथमोत्पन्नाः। पृथिवी जन्तूनां प्रथमजा, तत्सम्बन्धाद् वम्र्योऽपि प्रथमजा उच्यन्ते।

अत्र ब्राह्मणम् 'अथ वल्मीकवपाम्। देव्यो वम्र्य इत्येता वा एतदकुर्वत यथा यथैतद्यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत ताभिरेवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति भूतस्य प्रथमजा····तदनयैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्या मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे····' (श० १४।१।२।१०)। देव्यो वम्र्यो या वमनशीला उपदीकाः प्रतिपाद्यन्ते, एताः खलु पुरा एतत्कर्म अकुर्वत। यथा यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत छिन्नमभवत्, एवमेतत्कर्म विष्णुधनुषो ज्याभक्षणरूपं कृतवत्यः, अतस्ताभिरेव एनं प्रवर्ग्यम्, एतत्समर्धयति। इयं वै पृथिवी सर्वकार्यस्य प्राणिजातस्य प्रथमजा कारणत्वेन प्रथमं पुरस्ताज्जाता। तत्सम्बन्धाद् वम्र्योऽपि मन्त्रे प्रथमजा इत्युच्यन्ते। तथा चानयैव पृथिव्या एनं प्रवर्ग्यं समर्धयति। अन्यत् सर्वं गतार्थम्।

अध्यात्मपक्षे—हे देव्यो दीप्यमाना वम्र्यो ज्ञानवमनशीला इन्द्रियवृत्तयः! वो युष्मानादाय यज्ञस्य पृथिव्या देवयजनेऽस्मिन् शरीरे शिरो ब्रह्मात्मज्ञानं राध्यासं साधयेयम्। इन्द्रियाणां वृत्तिभिर्ज्ञानोपकारः, तन्निरोधैश्च महानुपकारो जायते, 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥' (कठो० २।३।१०) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे प्रथमजा वम्र्यो देव्यो विदुष्यः! भूतस्य मखस्य पृथिव्या देवयजनेऽद्य वः शिरोवदहं राध्यासम्, मखस्य त्वा मखाय शीर्ष्णे त्वा राध्यासम्' इति, तदपि न, अल्पवयस्कानां तेजस्विनीनां स्त्रीणां देवयजने क उपयोग इत्यनुक्तेः, भूतस्य मखस्येत्यस्य किं स्वारस्यमित्यनुक्तेश्च। यज्ञस्य शीर्ष्णे कथं तासां सिद्धिरित्यादिकं सर्वमसम्बद्धमेव॥ ४॥

इयत्यग्र आसीन्मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—भगवान् वराह ने जिस समय इस पृथ्वी को उठाया, तब इसका परिमाण प्रादेशमात्र था। हे पृथिवि ! अब तुम्हारे ऊपर देवयजन-स्थान में मैं यज्ञ के शिरस्थानीय महावीर का निर्माण करता हूँ, यज्ञ के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यज्ञ के सिर महावीर के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ ॥ ५ ॥

'इयत्यग्र इति वराहविहतम्' (का० श्रौ० २६।१।८)। वराहोत्खातमृदमादाय तूष्णीं कृष्णाजिने वल्मीकवपोत्तरे निदध्यादिति सूत्रार्थः। वराहविहतमृद्देवत्यं यजुः। ब्राह्मी गायत्री। हे पृथिवि, या त्वमियती प्रादेशमात्री (अभिनयेन निर्दिश्यते) अग्रे वराहस्योद्धरत आसीद् आसीरभूः। 'ते' इति द्वितीयार्थे षष्ठी। तां त्वामादाय पृथिव्या देवयजने मखस्य शिरो राध्यासम्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वराहविहतम्। इयत्यग्र आसीदितीयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिस्तेनैवैनमेतन्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्धयति कृत्स्नं करोति मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्या मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्ण इत्यसावेव बन्धुः' (श० १४।१।२।११)। अथ सम्भारान्तरस्याहरणं विधत्ते—अथेति। अथ वल्मीकवपासंभरणानन्तरं वराहविहतं वराहेण खातं पिण्डमियत्यग्र आसीदिति मन्त्रेण आहृत्य उत्तरतः कृष्णाजिने निदध्यात्। इयतीशब्दसूचितमर्थं प्रदर्शयन् मन्त्रभागस्यास्य प्रकृते सङ्गतिमाह—इयती ह वा कृत्स्नं करोतीति। इयतीति प्रादेशमात्रस्याभिनयेन प्रदर्शनम्। इदं परिमाणमस्या इयती। तस्य व्याख्यानं प्रादेशमात्रीति। अग्रे सृष्टेः प्राक्काले या उदकमध्ये कृत्स्ना पृथिवी निमग्ना आसीत्, तां प्रजापतिर्वराहो भूत्वा दंष्ट्राभ्यामुद्धृतवान्, इत्याख्याता। अतस्तस्यामवस्थायामियं दृश्यमाना सर्वा पृथिवी तद्दंष्ट्राग्रप्रोता इयती ह वै प्रादेशमात्रपरिमितैव आसीत्। तां तथावस्थितां पृथिवीं वराहरूपः प्रजापतिरुज्जघान जलमध्यात् समुद्धृतां कृतवान्। एमूष इतीति। ए अरे पृथिवि ! अमूष अमुष्याः स्तेयकादिवत् त्वमदृश्या भवसीति वदन्। स च वराहरूपः प्रजापतिरस्याः पृथिव्याः पतिर्भर्ता। अतस्तेन महोवराहरूपेण मिथुनेनैव एतद् एतर्हि एनं प्रवर्ग्यं प्रियेण धाम्ना इष्टतमेन तेजसा समर्धयति। ततश्च यज्ञमपि सर्वावयवं कृतवान् भवति। हे पृथिवि, त्वमग्रे वराहेणोद्धरणसमये इयती एतत्परिमाणा प्रादेशमात्रपरिमितैवासीरित्येवंविधस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वादयं मन्त्रो वराहविहतमृत्सम्भरणे संगत इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—बुद्धेरपि ब्रह्मात्मज्ञानरूपस्य शिरसः साधने उपयोगः। यतो हि सापि प्रकृतिसमुद्रे निमग्ना आसीत्। भगवतैव वराहरूपेणोद्धारः कृतः। उद्धृतां तामाश्रित्य मखस्य शिरो राध्यासमिति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, अहमग्रे मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा राध्यासम्, यस्य ते मखस्य शिर आसीत्, तं त्वामद्य पृथिव्या इयति देवयजने राध्यासम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैवासम्बद्धत्वात्। मखस्य शीर्ष्णे सङ्गतिकरणस्योत्तमतायै विदुषां पूजने कथं सिद्धिरित्यादिकं निरर्थकमेव, श्रुतिसूत्रादिविरुद्धमेव। इयतीत्यस्यापि विसङ्गतिरेव ॥ ५ ॥

इन्द्रस्यौज स्थ मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे पूतिकाओं ! तुम इन्द्र की तेजोरूप हो, तुम्हें लेकर आज मैं देवयजन-स्थान में यज्ञ के शिरस्थानीय महावीर का सम्पादन करता हूँ। यज्ञ के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ, यज्ञ के सिर महावीर के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे दुग्ध ! यज्ञ के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ, यज्ञ के सिर महावीर के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे यज्ञसामग्रियों ! यज्ञ की सम्पन्नता के लिये तुम्हारा स्पर्श करता हूँ, यज्ञ के सिर महावीर के लिये तुम्हारा स्पर्श करता हूँ ॥ ६ ॥

'इन्द्रस्यौज: स्थेति पूतीकान्' (का० श्रौ० २६।१।९), 'मखायेति पयः' (का० श्रौ० २६।१।१०)। पूतीकान् रोहिषतृणान्यादाय तूष्णीं कृष्णाजिने वराहविहतोत्तरे निदध्यात्, पय आदाय तूष्णीं कृष्णाजिने पूतीकोत्तरे निदध्यादिति सूत्रद्वयार्थः। आदारदेवत्या ऋक् त्रिष्टुप्। हे पूतीकाः, ये यूयमिन्द्रस्य ओजः स्थ तेजोरूपा भवथ, तान् वो युष्मानादाय पृथिव्या देवयजने मखस्य शिरो राध्यासम्। मखाय वो गृह्णामि। मखायेति पयोदेवत्यम्। हे पयः, मखाय मखशीर्ष्णे त्वां गृह्णामि। तूष्णीं गवेधुका अपि ग्राह्याः, 'तूष्णीं गवेधुकाः' (का० श्रौ० २६।१।११), 'संभृतानभिमृशति मखायेति' (का० श्रौ० २६।१।१२)। इति हि कात्यायनो महर्षिः। संभृतान् सम्भारान् स्वकरेणामृशेदध्वर्युरिति सूत्रार्थः। संभारदेवत्यं यजुः। हे संभाराः, मखाय तच्छीर्ष्णे च वः स्पृशामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथादारान्। इन्द्रस्यौज स्थेति यत्र वा एनमिन्द्र ओजसा पर्यगृह्णात् तदस्य परिगृहीतस्य रसो व्यक्षरत् स पूयन्निवाशेत सोऽब्रवीदादीर्येव बत म एष रसोऽस्रौषीदिति तस्मादादारा अथ यत्पूयन्निवाशेत तस्मात् पूतीकास्तस्मादग्नावाहुतिरिवाभ्याहिता ज्वलन्ति तस्मादु सुरभयो यज्ञस्य हि रसात् सम्भूता अथ यदेनं तदिन्द्र ओजसा पर्यगृह्णात् तस्मादाहेन्द्रस्यौज स्थेति मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्या मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे इत्यसावेव बन्धुः' (श० १४।१।२।१२)। पूतीकरससम्भाराहरणं विधत्ते—अथादारानिन्द्रस्यौज स्थेति। आदारान् आदीर्यावस्थितान् पूतीकाशब्दाभिधेयान् सोमप्रतिनिधित्वेन चोदितान् लताविशेषान् इन्द्रस्यौज स्थेति मन्त्रेण सम्भृत्य कृष्णाजिने निदधाति। हे पूतीकाः, यूयमिन्द्रस्य ओजो बलं स्थ भवथेति। तदेवोपपाद्यते—तत् तदानीं यत्र यस्मिन् देशे एनं पलायमानं विष्ण्वात्मकं यज्ञं इन्द्र ओजसा बलेन पर्यगृह्णात् परिगृहीतवान्, तत् तत्र परिगृहीतस्य स्वीकृतस्य अस्य यज्ञस्य रसः सारो व्यक्षरद् विविधक्षरणेन भूमिं प्राप्नोत्। स च रसस्तत्र पूयन्निव रसान्तरं प्राप्तं पर्युषितमोदनादिकमिव विरसो भवन्निव अशेत अतिष्ठत्। एवं स्थिते स इन्द्रोऽब्रवीत्। बत इति खेदे। मे मदीय एष यज्ञरस आदीर्येव विभिद्येवास्रौषीत् स्रुतोऽभूत्। यथा उदकपूर्णं पात्रं विभिन्नं सत् स्रवति, एवमेष यज्ञरसोऽपि स्रुत इति खेदं प्राप्तवान्। इति हेतौ। यस्मादेवमुक्तवान्, तस्मादेते लताविशेषा आदारा इत्युच्यन्ते। अथ स्रवणानन्तरं यद् यस्मात् पूयन्निव अशेत तस्मात् पूतीकाः पूतीकशब्दाभिधेया जाताः। यस्मादेते यज्ञरसाज्जातास्तस्मादेवाग्नौ प्रक्षिप्ता एता आहुतिवद् आज्यादिद्रव्यमिव ज्वलन्ति, सुरभयः सुगन्धियुक्ताश्च भवन्ति। हि यतो यज्ञस्य रसात् सम्भूता उत्पन्नाः, अतः पूतीकाहरणेऽयमेव मन्त्रः प्रयोक्तव्यः। अथ एवं सति यदेनं तदिन्द्र ओजसा पर्यगृह्णात्, तत् तस्मात् तत्परिणामभूतानां पूतीकानां सम्भरणे इन्द्रस्यौज स्थेति मन्त्रमध्वर्युराह ब्रूयात्। अन्यत् स्पष्टं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रस्य सात्त्विकमोजोऽपि तत्र शिरःसन्धाने उपयुज्यते। न सर्वसाधारणस्य बलं तत्रोपयुज्यते, दिव्यत्वादिति इन्द्रस्य ओज स्थेत्युच्यते। यथाश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामित्युक्तिस्तद्वत्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहमिन्द्रस्यौजो राध्यासम्, तथाद्य पृथिव्या देवयजने शिरोवद्वो राध्यासम्। शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य त्वा राध्यासम्। तथा यूयमोजस्विनः स्थ' इति, तदपि वागाडम्बरेण मूर्खजनप्रतारणमेव, परस्परविरोधात्। पूर्वत्र मन्त्रे देवयजने देवपूजन इत्यर्थः कृतः, इह तु देवयजनस्थानं गृहीतम्।

कश्चायं कथं केन प्रकारेण पराक्रमते, शिरोवन्मनुष्यान् साधयति। मखाय धार्मिकाणां सत्कारनिमित्ताय मखस्य प्रियचरणव्यवहारस्य मखाय शिल्पयज्ञविधानाय शीर्ष्णे उत्तमगुणप्रचारकायेत्यादिकं सर्वमपि निर्मूलमसम्बद्धं च॥ ६॥

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता। अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥ ७॥

मन्त्रार्थ—वेद के रक्षक हिरण्यगर्भ हमारे यज्ञ में उपस्थित हों। सत्यस्वरूपा परा शक्ति दृष्टिगोचर हो, देवता हमारे शत्रुओं का उन्मूलन करने वाले परमेश्वर के लिये हविःपाक से समृद्ध द्रव्य-यज्ञ को प्राप्त करावें। हे सम्भारसमूह! यज्ञ के लिये मैं तुम्हें स्थापित करता हूँ, यज्ञ के सिर महावीर के लिये तुम्हें स्थापित करता हूँ। हे सम्भारसमूह! यज्ञ के लिये तुम्हें मृत्पिण्ड में मिलाता हूँ, यज्ञ के सिर महावीर के लिये तुम्हें मृत्पिण्ड में मिलाता हूँ। हे महावीर! यज्ञ के लिये तुम्हें बुलाता हूँ, यज्ञ के सिर सूर्य के लिये तुम्हें बुलाता हूँ॥ ७॥

'कृष्णाजिनं परिगृह्योत्तरतः परिवृतं गच्छन्ति प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति' (का० श्रौ० २६।१।१३)। अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थातृ-नेष्टून्नेतारः कृष्णाजिनं ससम्भारं समन्ताद्धस्तेनादायान्तःपात्यादुत्तरस्यां दिशि पूर्वनिर्मितं परिवृतं प्रैत्विति मन्त्रं जपन्तो गच्छन्ति। पञ्चारत्निपरिमितः समचतुरस्रः प्राग्द्वारः सिकतोपकीर्णः पूर्वमेव कृतः सप्तभूसंस्कारसंस्कृतश्छादितप्रदेशः परिवृत उच्यते। 'परिवृते निदधाति सम्भारानुद्धतावोक्षिते सिकतोपकीर्णे प्राग्द्वारे मखायेति' (का० श्रौ० २६।१।१४)। अध्वर्य्वादयः कृष्णाजिनस्थानेव सम्भारान् परिवृते निदधति। कीदृशे? उद्धतावोक्षिते। उद्धतमुल्लिखितमवोक्षितं जलसिक्तम्। एतत्संस्कारद्वयं पञ्चभूसंस्काराधिकम्। हे संभाराः, मखाय युष्मान्निदधामि। 'संभारैः सꣳसृजति मखायेति' (का० श्रौ० २६।१।१५)। अध्वर्युर्वल्मीकवपा-वराहविहत-पूतीकैर्मृत्पिण्डं संयोजयेत्। अर्थाद् गवेधुकाजापयसी पृथक्कृत्य शिष्टसम्भारैर्मृत्पिण्डं मिश्रयेत्। हे सम्भाराः, युष्मान् मखाय मखस्य शीर्ष्णे च संसृजामि। 'मृदमादाय मखायेति महावीरं करोति' (का० श्रौ० २६।१।१६)। महावीरपर्याप्तं तूष्णीं मृत्पिण्डमादाय मन्त्रेण महावीरं करोति। कीदृशं महावीरम्? तत्राह—'प्रादेशमात्रमूर्ध्वमासेचनवन्तं मेखलावन्तं मध्यसंगृहीतमूर्ध्वं मेखलायास्त्र्यङ्गुलम्' (का० श्रौ० २६।१।१६)। हे महावीर! मखाय मखस्य शीर्ष्णे च त्वां करोमि।

बृहती। ब्रह्मणो वेदस्य पतिर्हिरण्यगर्भः, अस्माकं यज्ञमच्छ आभिमुख्येन प्रैतु आगच्छतु। तथा देवी देवतात्मा सूनृता प्रियसत्यस्वरूपा तस्यैव प्रजापतेस्त्रयीरूपा वाग् यज्ञं प्रैतु। किञ्च, देवा यष्टव्या नोऽस्मान् यज्ञं नयन्तु कारयन्तु। कीदृशं यज्ञम्? वीरं शत्रूणामुन्मूलयितारम्, 'वीरयत्यमित्रान्' (निरु० १।७) इति यास्कः। नानाप्रकारेण मारयतीत्यर्थः। नर्यं नृभ्यो हितम्, 'उगवादिभ्यो यत्' (पा० सू० ५।१।२) इति यति रूपम्। [1]पङ्क्तिराधसम्—(१) इन्द्रस्य पुरोडाशः, (२) हर्योर्धानाः, (३) पूष्णः करम्भः, (४) सरस्वत्या दधि, (५) मित्रावरुणयोः पयस्या इति हविःपङ्क्तिः, (१) द्विनाराशंसं प्रातःसवनम्, (२) द्विनाराशंसं माध्यन्दिनं सवनम्, (३) सकृन्नाराशंसं तृतीयसवनमिति नाराशंसपङ्क्तिः। (१) प्रातःसवनम्, (२) माध्यन्दिनं सवनम्, (३) तृतीयसवनम्, (४) उपवसथ्यः पशुः, (५) अनूबन्ध्यः पशुरिति सवनपङ्क्तिः। एताभि पङ्क्तिभी राधः समृद्धिर्यस्य स पङ्क्तिराधास्तम्,

१. पङ्क्तयश्च ऐतरेयब्राह्मणे द्वितीयपञ्जिकायां चतुर्विंशे खण्डे पठिताः।

पङ्क्तयो राध्यन्ते समृद्धयन्ते यत्रासौ पङ्क्तिराधास्तम्। ईदृशं यज्ञं पङ्क्तिपावनं वा यज्ञं ब्रह्मणस्पत्यादय आगच्छन्तु, ईदृशं च यज्ञमस्माभिः कारयन्तु वा। सेयमृक् त्रयस्त्रिंशे एकोननवतितमायां व्याख्याता ॥ ७ ॥

मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे महावीर ! तुम यज्ञपुरुष के शरीर, अर्थात् सूर्यरूप तेज हो, यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हें ईश्वर का रूप देता हूँ. यज्ञपुरुष विष्णु के सिर समष्टिसूर्य के लिये तुम्हें निष्पादित कर स्पर्श करता हूँ। हे महावीर ! तुम यज्ञ पुरुष के सिर, अर्थात् सूर्यरूप तेज हो, यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हे अन्तर्यामी का रूप देता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के सिर समष्टिसूर्य के लिये उत्पन्न हुए तुम्हारा स्पर्श करता हूँ। हे महावीर ! तुम यज्ञपुरुष विष्णु के तेज हो, यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हारा सूर्यरूप में मानस ध्यान करता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के सिर तेजोरूप में उत्पन्न हुए तुम्हारा स्पर्श करता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हारा ईश्वररूप में ध्यान करता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के सिर समष्टिसूर्य के लिये तुम्हारे इस ईश रूप को गवेधुका से चिकना बनाता हूँ। यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हारे अन्तर्यामी रूप का ध्यान करता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के सिर समष्टिसूर्य के लिये तुम्हारे अन्तर्यामी रूप को गवेधुका से चिकना बनाता हूँ। यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हारे सूर्यरूप का मानस ध्यान करता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के सिर समष्टिसूर्य के लिये तुम्हे गवेधुका से चिकना करता हूँ ॥ ८ ॥

'निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिर इति' (का० श्रौ० २६।१।१७)। निष्पन्नं वामकरस्थं महावीरं दक्षिणेनाभिमृशेत्। हे महावीर ! त्वं मखस्य शिरो मूर्धासि भवसि। 'आदानमेके' (का० श्रौ० २६।१।१८)। एके केचन महावीरकरणार्थं मृदादानं मखस्य शिर इति मन्त्रेण कुर्वन्ति, फलतः स्पर्शं तूष्णीमिति लभ्यते। 'एवमितरौ प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।१।१९)। इतरौ द्वौ महावीरौ प्रतिमन्त्रमेवमेव करोति, अभिमृशति चेति सूत्रार्थः। मखाय द्वितीयं महावीरं करोमि। मखस्य निष्पन्नं स्पृशामि। मखाय तृतीयं महावीरं करोमि। मखाय निष्पन्नं स्पृशामि। मखस्य शिरोऽसि मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वामभिमृशामि। 'गवेधुकाभिः श्लक्ष्णयति मखायेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।१।२१)। गवेधुकाभिर्महावीरान् घर्षणेन मृदून् करोति मखायेति प्रतिमन्त्रमेकैकम्। मखाय मखस्य शीर्ष्णे च त्वां गवेधुकाभिः श्लक्ष्णयामि। एवमेवाग्रिमौ मन्त्रौ व्याख्येयौ।

अत्र ब्राह्मणम् - 'अथाजाक्षीरम्। यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शुगुदक्रामत् ततोऽजा समभवत् तयैवैनमेतच्छुचा समर्धयति कृत्स्नं करोति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्ण इत्यसावेव बन्धुः' (श० १४।१।२।१३)। यदुक्तं कात्यायनेन -'मखायेति पयः, तूष्णीं गवेधुकाः' (का० श्रौ० २६।१।१०-११)। तदेतद्विदधाति—अथाजाक्षीरमिति। अथ पूतीकसम्भरणानन्तरं अजायाश्छाग्याः क्षीरं मखाय त्वेति मन्त्रेण सम्भृत्य कृष्णाजिनस्थे मृत्पिण्डेऽवनयेत्। अथास्य प्रवर्ग्यसम्बन्धार्थतामाह—यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्येत्यादिना। शीर्षच्छिन्नस्य छिन्नशिरस्कस्य यज्ञस्य शुक् शोक उदक्रामत् तस्माच्छरीरान्निरगात्। ततस्तस्याः शुचः सकाशाद् अजा समभवत्। तत्पयसोऽवनयने सति, एतद् एतर्हि, यथा प्रागुक्तं तथैव शुचा एनं प्रवर्ग्यं समर्धयति। ततो यज्ञमपि सम्पूर्णावयवं कृतवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मणो वेदस्य पतिः प्रजापतिः, यज्ञमच्छा यज्ञाभिमुखं प्रैतु। तदनुग्रहेणैव वेदमहातात्पर्यविषयस्य ब्रह्मणो ज्ञानं सम्पद्यते। देवी तदीया प्रिया सूनृता वाग्रूपा त्रयी प्रैतु, तदनुग्रहायत्तत्वाद् ब्रह्मविद्योत्पत्तेः। देवाः सर्वे नोऽस्मभ्यं यज्ञं ज्ञानयज्ञं नयन्तु प्रापयन्तु। कीदृशं यज्ञम् ? वीरम्, जननमरणाविच्छेदरूपसंसारव्यापादकत्वात्। पुनः कीदृशम् ? नर्यं मनुष्येभ्यो हितम्। ब्रह्मज्ञानसम्पन्नो न कस्मैचिद् द्रुह्यति सर्वभूतहिते रतश्च भवति। मखाय ज्ञानयज्ञाय मखस्याग्निष्टोमादेः शिरसे तानि तानि साधनानि सम्भरामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु 'हे विद्वन्, त्वं मखस्य शिरोऽसि, तस्मान्मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा····मखस्य शीर्ष्णे त्वा वयं सेवेमहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मखशब्दस्य मुख्यार्थमपहाय यथेच्छार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, क्रयविक्रयादिलौकिकव्यवहाराणामपि मखशब्दार्थत्वापत्तेश्च ॥ ८ ॥

अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे महावीर ! देवयजन-स्थान में यज्ञपुरुष विष्णु के लिये यज्ञ-कार्य के निमित्त तुमको सेक्ता अश्व की लीद से धूप देता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के लिये यज्ञकार्य के लिये तुमको धूप देता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हारे अन्तर्यामी रूप को धूप देता हूँ। यज्ञपुरुष विष्णु के लिये यज्ञ कार्य के लिये तुम्हारे अन्तर्यामी रूप को धूप देता हूँ। यज्ञपुरुष विष्णु के लिये घर्मरूपधारी तुमको पकाता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के निमित्त यज्ञ-कार्य के लिये घर्म को पकाता हूँ ॥ ९ ॥

'अश्वशकृता धूपयत्यश्वस्य त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।१।२२)। दक्षिणाग्निदीप्तेनाश्वपुरीषेण त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रीन् महावीरान् धूपयेत्। हे महावीर, पृथिव्या देवयजने मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा वृष्णः सेक्तुरश्वस्य शक्ना शकृता पुरीषेण धूपयामि। 'पद्दन्नोमास·····' (पा० सू० ६।१।६३) इति शकृत्-शब्दस्य वैकल्पिकः शकन्नादेशः। एवमितरमन्त्राभ्यामितरौ महावीरौ धूपयेत्। 'उखावदग्निः' (का० श्रौ० २६।१।२३)। अत्र धूपनेऽग्निरुखावद् भवेत्। तत्र ह्युक्तम्—'सप्तभिरश्वशकृद्भिरुखां धूपयति दक्षिणाग्न्यादीप्तैरेकैकेन' (का० श्रौ० १६।२।८)। अत एकैकधूपने सप्त सप्ताश्वशकृन्ति गृह्णाति। 'प्रदहनं च मखायेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।१।२३)। मखायेति त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रीन् महावीरानुखावत् श्रपयेत्। चशब्दादुखावत् करोति। परिवृते हस्तमात्रं चतुरस्रमवटं खात्वा तत्र श्रपणमास्तीर्य तत्र महावीरान् न्युब्जान्निधाय पिन्वने रौहिणकपाले च न्युब्जे निधाय श्रपणेनाच्छाद्य दक्षिणाग्निनोद्दीप्य प्रदहेदिति सूत्रार्थः। मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा निर्दहामि पिन्वनरौहिणैः सह। एवमितरौ।

अत्र ब्राह्मणम्—'तान् वा एतान् पञ्च सम्भारान् सम्भरति। पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चर्तवः संवत्सरस्य संवत्सर एष य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तान् संभृतानभिमृशति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्ण इत्यसावेव बन्धुः' (श० १४।१।२।१४)। एतान् मृदादिसम्भारान् विहितान् स्तौति—तान् वा एतानित्यादिना। तान् पूर्वोक्तान् मृद्वल्मीकवपादीन् पञ्चसम्भारान् सम्भरति। यतो हि यज्ञः पाङ्क्तः।

पङ्क्तिशब्देन छन्दोवाचिना पञ्च संख्या लक्ष्यते। पञ्चसंख्यासम्बद्धः खलु देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। यद्वा धाना, करम्भः, परिवापः, पुरोडाशः, पयस्या चेति। इष्टि-पशु-दर्वीहोमेकाहा-हीनभेदेन यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम्। तथा गवादिपशवश्च पाङ्क्ताः पञ्चसंख्यासम्बद्धाः पादचतुष्टयमध्यदेशभेदेन। तस्मात् सम्भारगता पञ्चसंख्या यज्ञार्हपशुप्राप्तिहेतुरित्यर्थः। अपि च, संवत्सरस्य द्वादशमासात्मकस्य वसन्ताद्याः पञ्चर्तवः, हेमन्तशिशिरयोः समासेन। स च संवत्सर एष सूर्यः, य एष दिवि तपति सर्वं जगत् प्रकाशयत्येष प्रवर्ग्यः। एवं पारम्पर्येणैतमेव प्रवर्ग्यं पञ्चसंख्यया प्रीणाति।

'अथोत्तरतः परिश्रितं भवति। तदभिप्रयन्तो जपन्ति प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरित्येष वै ब्रह्मणस्पतिर्य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तद्देतमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति प्र देव्येतु सूनृतेति देवी ह्येषा सूनृताच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसमित्युपस्तौत्येवैनमेतन्महयत्येव देवा यज्ञं नयन्तु न इति सर्वानेवास्मा एतद्देवानभिगोप्तॄन् करोति' (श० १४।१।२।१५)। महावीरादिनिर्माणाय देवयजनस्योत्तरतः परिश्रितं भवतीत्याह - अथोत्तरत इत्यादिना। कटादिभिः सर्वतो वेष्टितं स्थानं स्यात्। तदेव पूर्वं परिवृतशब्देनोक्तम्। तत्र देशे सम्भाराणां समन्त्रकमानयनं विधत्ते—तदभिप्रयन्त इति। तत्राभिप्रयन्तोऽभिगच्छन्तः प्रवर्ग्यकर्तारः प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति मन्त्रं जपन्ति। 'परिश्रितं भवति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा एतां पुरं पर्यश्रयन् तथैवास्मा अयमेतां पुरं परिश्रयति' (श० १४।१।२।१६)।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य ! यथाहं पृथिव्यां देवयजने वृष्णोऽश्वस्य शक्ना त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा धूपयामि ...' इति, तदपि निरर्थकम्, 'अश्वस्य शक्ना' इत्यस्य अग्नेर्धूमेनेत्यर्थस्य निर्मूलत्वात्। मखशब्दस्य वायुशुद्धिरर्थ इत्यपि निर्मूलमेव। न च लोके कश्चन कञ्चन शिष्टं धूमेन धूपयति। धूपशब्दश्च न धूमदाने प्रसिद्धः, अगुरुचन्दनगुग्गुलादिधूमस्यैव धूपशब्दार्थत्वात्। शक्ना धूमेनेति सर्वथा निर्मूलमेव ॥ ९ ॥

ऋ॒जवे॑ त्वा सा॒धवे॑ त्वा सुक्षि॒त्यै त्वा॑। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हे महावीर ! ऋजु देवता की प्रीति के लिये तुम्हारा उद्वपन करता हूँ, अन्तरिक्षस्थानीय वायु देवता के लिये तुम्हें अग्नि में पका कर निकालता हूँ। पृथ्वीलोक के लिये तुम्हारा उद्वपन करता हूँ। यज्ञ के लिये तुमको अजा-दुग्ध से सींचता हूँ, यज्ञ के सिर स्वरूप प्रधान कार्य के लिये तुमको अजा-दुग्ध से सींचता हूँ। यज्ञ के लिये तुमको अजा-दुग्ध से सीचता हूँ, यज्ञ के प्रधान कार्य के लिये तुमको अजा-दुग्ध से सींचता हूँ। यज्ञ के लिये तुमको अजा-दुग्ध से सींचता हूँ, यज्ञ के प्रधान कार्य के लिये तुमको अजा-दुग्ध से सींचता हूँ ॥ १० ॥

पक्वानुद्धरत्यृजवे त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।१।२४)। पक्वान् महावीरान् आपाकादिवोद्धरति त्रिभिर्मन्त्रैरिति सूत्रार्थः। ऋजवे सत्याय आदित्याय हे महावीर ! त्वामुद्धरामि। असौ लोक ऋजुः। तत्र सत्यमेव, न तु कौटिल्यम्। सत्यमादित्यः।

तथा चात्र ब्राह्मणम्—'स उद्वपति। ऋजवे त्वेत्यसौ वै लोक ऋजुः सत्यꣳ ह्यृजुः सत्यमेष य एष तपत्येष उ प्रथमः प्रवर्ग्यस्तद्देतमेवैतत्प्रीणाति' (श० १४।१।२।२२)। एष एव प्रथमः प्रवर्ग्यः। साधवे त्वा वायवे त्वा वायुप्रीत्यै त्वामुद्वपामि। एष उ द्वितीयः प्रवर्ग्यः। सुक्षित्यै त्वा अयं वै सर्वेषामाधारभूतो भूलोकः सुक्षितिः। अस्मिन् खलु लोके सर्वाणि भूतजातानि पशुपक्षिमृगादीनि क्षियन्ति निवसन्ति। एतदात्मक एव

तृतीयः प्रवर्ग्यः। 'अजापयसाऽवसिञ्चति मखायेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।१।२५)। अजादुग्धेन त्रीन् महावीरान् त्रिभिस्तुल्यमन्त्रैः सिञ्चति मखाय मखशीर्ष्णे चाजापयसा त्वां सिञ्चामीति। 'अयं वै साधुर्योऽयं पवत एष हीमान् लोकान् सिद्धोऽनुपवत एष उ द्वितीयः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।१।२।२३)।

एष खलु सिद्धो निष्पन्नरूपो वायुरिमान् परिदृश्यमानान् पृथिव्यादीन् सर्वान् लोकाननुपवतेऽनुप्रविश्य व्याप्य वर्तते। एवं वर्तमानो योऽन्तरिक्षगतो वायुः, एष एव द्वितीयः प्रवर्ग्यो महावीरः। स महावीरादीनां पालकोऽध्वर्युः प्रथमकृतं महावीरमृजवे त्वेति मन्त्रेणोद्वपति, अवटात् पाकस्थानादुद्धरति। असौ वै दूरे वर्तमानो द्युलोक ऋजुः, आर्जवयुक्तत्वात्। आर्जवगुणयुक्तं च सत्यं यथार्थभाषणम्, आर्जवरहितस्य कुटिलस्यानृतवादित्वदर्शनात्। तच्च सत्यमेष आदित्यः, अबाधितस्वभावत्वात्। य एष आदित्यो दिवि तपति, एष एव प्रथमो महावीरः। अत ऋजुशब्दयुक्तमन्त्रेणैतमेव प्रथमं प्रवर्ग्यं सूर्यात्मकं प्रीणाति।

'सुक्षित्यै त्वेति। अयं वै लोकः सुक्षितिरस्मिन् हि लोके सर्वाणि भूतानि क्षियन्त्यथो अग्निर्वै सुक्षितिरग्निर्ह्येवास्मिल्लोके सर्वाणि भूतानि क्षियत्येष उ तृतीयः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह सुक्षित्यै त्वेति तूष्णीं पिन्वने तूष्णीᳬ रौहिणकपाले' (श० १४।१।२।२४)। सुक्षित्यै त्वेति मन्त्रेण तृतीयं महावीरमुद्वपति। अयं खलु सर्वेषां भूतानामाधारभूतो लोकः सुक्षितिः। यतोऽस्मिन् खलु लोके सर्वाणि भूतानि पशुपक्षिमृगादीनि क्षियन्ति निवसन्ति। अथ पक्षान्तरे। अग्निः खलु सुक्षितिः। कुतः ? अग्निमेव खल्वस्मिल्लोके वर्तमानानि सर्वाणि भूतानि क्षियन्ति, जाठराग्निरूपेणाश्रित्य वर्तन्ते। एष उ एतदात्मकः। एष तृतीयः प्रवर्ग्यः। एवमेव पिन्वनयोः कपालयोश्चामन्त्रक उद्वापः कार्यः। 'अथैनानाच्छृणत्ति। अजायै पयसा मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्ण इत्यसावेव बन्धुरेवमितरौ तूष्णीं पिन्वने तूष्णीᳬ रौहिणकपाले' (श० १४।१।२।२५)। अथ तेषामावापादुद्धृतानामजाक्षीरेणासेचनं विधत्ते—अथेति। तान् महावीरादीन् पात्रविशेषान् अजायाः पयसा मखाय त्वेति मन्त्रेण आच्छृणत्ति आसिक्तान् करोति। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे महावीर ! संसारदुःखनाशकत्वाद् ब्रह्मात्मविज्ञानयज्ञं ऋजवेऽकौटिल्याय सत्याय त्वा गृह्णामि। साधवे साधुत्वाय त्वामुद्गृह्णामि। सुक्षित्यै सर्वभूताश्रयदानाय त्वामुद्गृह्णामि। मखाय ब्रह्मात्मयज्ञाय मखस्य शीर्ष्णे त्वां गृह्णामि।

दयानन्दस्तु—हे विद्वन् ! ऋजवे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा सुक्षित्यै वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा वयं स्थापयामः' इति, तदपि प्रवञ्चनामात्रम्, संबोधनादेर्निर्मूलत्वात्॥ १०॥

इति महावीरसम्भरणं समाप्तम्।

यमाय॑ त्वा म॒खाय॑ त्वा॒ सूर्य॑स्य त्वा॒ तप॑से। दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता मध्वा॑नक्तु। पृ॒थि॒व्याः सᳬस्पृश॑स्पाहि। अ॒र्चिर॑सि शो॒चिर॑सि तपो॑ऽसि॥ ११॥

मन्त्रार्थ—हे महावीर ! सबके नियामक सूर्य के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ, यज्ञरूप सूर्य के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ, सूर्य के तेज प्रवर्ग्य के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। सविता देवता मधु से तुम्हें लिप्त करें। हे रजत ! तुम महावीर की पृथ्वी सम्बन्धी राक्षस से रक्षा करो। हे महावीर ! तुम चन्द्रमा के कान्तिरूप हो, अग्नि के तेजोरूप हो और सूर्य के तापरूप हो॥ ११॥

'ब्रह्मानुज्ञातो यमाय त्वेति महावीरं प्रोक्षति' (का० श्रौ० २६।२।१२)। प्रचरेति ब्रह्मणानुज्ञातोऽध्वर्युरुपविश्य यमाय त्वेति मन्त्रत्रयेण प्रचरणीयं महावीरं वारत्रयं प्रोक्षति। त्रीणि यजूंषि। यमाय यमयति नियच्छति सर्वमिति यम आदित्यः, तत्प्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि। मखो यज्ञः प्रवर्ग्यः सूर्यः, तस्मै तत्प्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि। सूर्यस्य त्वा तपसे, तपनं तपः, तस्मै सूर्यतेजोरूपाय प्रवर्ग्याय त्वां प्रोक्षामि।

अत्र ब्राह्मणम् 'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति। असौ वा आदित्यो ब्रह्माऽहरहः पुरस्ताज्जायत एष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति' (श० १४।१।३।३)। 'स प्रोक्षति। यमाय त्वेत्येष वै यमो य एष तपत्येष हीद७ँ सर्वं यमयत्येतेनेद७ँ सर्वं यतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह यमाय त्वेति' (श० १४।१।३।४)। असौ द्युलोकस्थः खल्वादित्यो ब्रह्म अस्यामृचि ब्रह्मशब्देन प्रतिपाद्यते। स आदित्यः, अहरहः प्रतिदिनम्, पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि जायते उदेति। एष उद्यन्नादित्यः प्रवर्ग्यः, 'तत्पतित्वाऽसावादित्योऽभवत्' (श० १४।१।१।१०) इति यज्ञस्य विष्णोः शिरःपतित्वादित्योऽभवदित्याम्नानात्। एतमेव ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादित्यनयाऽभिष्टोतुं प्रवर्तते। प्रोक्षितानां यागार्हत्वसम्पादनेन प्रोक्षणसंस्कारो यज्ञशिरःसन्धानहेतुः। तत्र मन्त्रो यमाय त्वेत्यादिकः। य एष सूर्यस्तपति एष खलु यमः। कुतोऽस्य यमशब्दाभिधेयता ? इति चेत्—हि यस्मात्, एष इदं सर्वं भूतजातं यमयति स्वस्वव्यापारेषु प्रवर्तयति, यस्माच्च एतेन सूर्येण इदं सर्वं जगद् यतम्, सृष्ट्वा आदावपि परस्परसाङ्कर्याभावेन व्यवस्थितमिदं कृतम्, तस्मादसौ मन्त्रे यमशब्देनोच्यते। एष उ एव प्रवर्ग्यः। द्वितीयमहावीरस्य प्रोक्षणमन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—मखाय त्वेति। एष वै सूर्यो मखः, मखशब्दाभिधेयस्य यज्ञात्मकस्य विष्णोः शिरस एव सूर्यत्वात्।

'सूर्यस्य त्वा तपस इति। एष वै सूर्यो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।१।३।६)। अथ तृतीयमहावीरप्रोक्षणमन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—सूर्यस्य त्वेति। तपनं तपस्तेजः, सूर्यतेजोरूपाय प्रवर्ग्याय त्वां प्रोक्षामि। 'अञ्जन्तीत्युच्यमाने देवस्त्वेत्यनक्ति महावीरमाज्य७ँ संस्कृत्य' (का० श्रौ० २६।२।१९)। 'अञ्जन्ति यं प्रथयन्तो न विप्राः' (ऋ० सं० ५।४३।७) इति मन्त्रे होत्रा पठ्यमानेऽध्वर्युराज्यं विधिना संस्कृत्य तेनाज्येन प्रचरणीयं महावीरं देवस्य त्वेति मन्त्रेणानक्ति। सविता देवो मध्वा मधुना मधुरेण सर्वजगद्रूपेणाज्येन हे महावीर ! त्वामनक्तु लिम्पतु। मध्वेति नुमभावः, आगमशास्त्रस्यानित्यत्वात्, 'सर्वं वा इदं मधु यदिदं किञ्च' (श० १४।१।३।१३) इति श्रुतेः। लोके यत्किमपि दृश्यमानं मध्वस्ति, इदं मन्त्रे समञ्जनकरत्वेनोच्यमानमाज्यलक्षणं मधु, सर्वं तल्लोके विद्यमानं सर्वं मध्वात्मकम्। तस्मात् 'देवस्त्वा सविता मध्वाऽनक्तु' इत्यनेन मन्त्रवर्णेन एनं महावीरं सर्वेण निरवशेषेणानेन कृत्स्नजगद्वर्तिना मधुना समनक्ति, समक्तवान् भवतीति श्रुत्यर्थः।

'रजतशतमानं खर उपगूहति पृथिव्याः स७ँस्पृश इति' (का० श्रौ० २६।२।२०) इति रजतशतमानं शतरक्तिकापरिमितं रजतं खरे सिकतान्तरुपगूहतीत्यर्थः। रजतदेवतया प्राजापत्या गायत्री। संस्पृशत्युपद्रवार्थं स्पर्शं करोतीति संस्पृग् राक्षसादिः। क्विबन्तं पदम्। पृथिव्याः सम्बन्धिनः संस्पृशो राक्षसाद् हे रजत ! महावीरं पाहि रक्ष। 'अथोत्तरतः सिकता उपकीर्णा भवन्ति। तद्रजत७ँ हिरण्यमधस्तादुपास्यति पृथिव्याः स७ँस्पृशस्पाहीत्येतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममधस्ताद्रक्षा७ँसि नाष्ट्रा न हन्युरित्यग्नेर्वा एतद्रेतो यद्धिरण्यं नाष्ट्राणा७ँ रक्षसामपहत्या अथो पृथिव्यु ह वा एतस्माद् बिभयाञ्चकार यद्वै माऽयं तप्तः शुशुचानो न हि७ँस्यादिति तदेवास्या एतदन्तर्दधाति रजतं भवति रजतैव हीयं पृथिवी' (श० १४।१।३।१४) इति श्रुत्या खरे रजतशतमानरुक्मस्य प्रक्षेपो विहितः। सिकता उपकीर्णा उपक्षिप्ता भवन्ति। सिकताभिश्चतुरस्रं खरं कुर्यात्। तत्र सिकतोपकीर्णे देशे रजतं हिरण्यम्, हिरण्यशब्दस्य रूप्यसुवर्णयोः समानत्वात् तद् व्यावृत्त्यर्थं रजतविशेषणम्, रजतशतमाननिर्मितं रुक्मं स्थाप्यमानस्य महावीरस्याधस्तादधोभागे, उपास्यति उपक्षिपति पृथिव्या इति मन्त्रेण।

अत्र श्रौती कथा—देवा अबिभयुर्भीता जाताः। यदि खलु नोऽस्माकमिमं महावीरमधस्ताद् रक्षांसि यज्ञहन्तॄणि नाष्ट्रा नाशकारिण्यस्तत्सेना न हन्युः, हननं मा कार्षुः, तर्हि यज्ञः सम्पूर्येत। ते च राक्षसादयोऽवश्यमिमं यज्ञं हनिष्यन्तीत्यनेन कारणेन भीतवन्तः। भीताश्च ते रजतशतमानं तद्रक्षणाय महावीरस्याधस्तान्निहितवन्तः। कुतस्तेन तद्भयनिवृत्तिरित्याह—यदग्नेः खलु एतद् रेतो वीर्यम्, 'आपो वरुणस्य पत्नय आसन्। ता अग्निमभ्यध्यायन्। ताः समभवन्। तस्य रेतः परापतत्। तद्धिरण्यमभवत्' (तै० ब्रा० १।१।३।८) इति श्रुतेः। तस्मादग्नेर्वीर्यत्वाद् हिरण्यं नाष्ट्राणां रक्षसामपहननाय समर्थम्। तस्मादधस्तस्योपासनं कार्यम्। एतस्मात् तप्तात् प्रवर्ग्यात् पृथिवी खलु बिभयाञ्चकार मा मामयं प्रवर्ग्यः सन्तप्तः शुशुचानो दीप्यमानो न हिंस्यात्। तदा मया धारयितुं सह्यते। अयं तु सर्वथा मां हिंस्यादिति भीता बभूव। तस्मादस्या हिंसाभावार्थमेतद् हिरण्यमन्तर्दधाति, 'पृथिवीं तपसस्त्रायस्वेति हिरण्यमुपास्यत्यस्या अनतिदाहाय' (तै० आ० ५।४।५) इति तैत्तिरीयश्रुतेः।

'सꣳसीदस्वेत्युच्यमाने मुञ्जप्रलवान् द्विगुणानादीप्य प्रतिदिशं खरे करोति' (का० श्रौ० २६।३।३), 'तेषु महावीरमाज्यवन्तमर्चिरसीति' (का० श्रौ० २६।३।४)। होत्रा 'संसीदस्व' (वा० सं० ११।३७) इति पठ्यमानेऽध्वर्युर्मुञ्जप्रलवान् शरतृणानि द्विगुणान् मध्यमोटनेन द्विगुणीकृतान् गार्हपत्ये प्रदीप्य खरे चतुर्दिक्षु कृत्वा संस्कृताज्यपूर्णं प्रचरणीयं महावीरं स्थापयेदिति सूत्रद्वयार्थः। यजुस्त्रिष्टुप्, घर्मदेवत्या। हे महावीर! त्वमर्चिश्चन्द्रकान्तिरूपोऽसि। शोचिरग्नितेजोरूपोऽसि। तपः सूर्यतापरूपोऽसि। 'स यत्रैताꣳ होताऽन्वाह। सꣳसीदस्य महाँ २।। असीति तदुभयत आदीप्ता मौञ्जाः प्रलवा भवन्ति तानुपास्य तेषु प्रवृणक्ति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत् तत एता ओषधयो जज्ञिरे तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श० १४।१।३।१५)। 'अथ यदुभयत आदीप्ता भवन्ति। सर्वाभ्य एवैतद्दिग्भ्यो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति तस्मिन् प्रवृज्यमाने पत्नी शिरः प्रोर्णुते तप्तो वा एष शुशुचानो भवति नेन्मेऽयं तप्तः शुशुचानश्चक्षुः प्रमुष्णादिति' (श० १४।१।३।१६)। 'स प्रवृणक्ति। अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसीत्येष वै घर्मो य एष तपति सर्वं वा एतदेष तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाहार्चिरसि शोचिरसि तपोऽसीति' (१४।१।३।१७)।

एषु ब्राह्मणेषु यदुक्तं सूत्रकारेण मुञ्जप्रलवानित्यादिना तद्विधानम्। तथाहि—यस्मिन् काले मौञ्जा मुञ्जविकाराः प्रलवाः शरतृणानि प्रकर्षेणलूना भवन्ति, तान् प्रलवान् खरे उपास्य तेषु महावीरमासाद्य प्रवृणक्ति प्रवृञ्जनं करोति। मुञ्जतृणानां मुष्टिद्वयमानीयाग्रमूलयोः प्रदीप्य चतुर्दिक्षु यथा ज्वाला भवेत्, तथा व्यत्यस्य खरस्थे रजतशतमाने निधाय तत्र महावीरं स्थापयेदित्यर्थः। छिन्नस्य यज्ञशिरसो यद्रसो व्यक्षरत् तदुपादानत्वेन मुञ्जस्य समर्थनं क्रियते। तेन सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रक्षांसि ज्वालया विनाशयति। तस्मिन् महावीरे सन्तप्ते प्रवृज्यमाने पयआसेचनेन विक्रियमाणे पत्नी स्वकीयं शिरः प्रोर्णुते वस्त्रादिनाच्छादयति, अन्यथा अत्यर्थं दीप्यमानो मदीयं चक्षुर्नेत् प्रमुष्णाद् इत्यभिप्रायेण स्वकीयं मुखं वेष्टयेदित्यर्थः। तत्र अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसीति मन्त्रेण उभयतो दीप्ते खरे महावीरमाज्यपूर्णं स्थापयति। य एष दिवि तपति सूर्यः, एष खलु घर्मः प्रवर्ग्यः। एष च सूर्यः सर्वमेतद्दृश्यमानजगदात्मकः। तस्माद् घर्मरूपिणमेतं सूर्यमेव, एतद् एतेन अर्चिरसीत्यादिना नानारूपत्वप्रतिपादनेन प्रीणाति तर्पयति।

अध्यात्मपक्षे—ज्ञानयज्ञात्मकं महावीरं यमाय आदित्यप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि, संशयविपर्ययादिराहित्येन त्वां संस्करोमि। मखाय यज्ञरूपसूर्यप्रीत्यै त्वां तपसे तेजोरूपसूर्यप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि संस्करोमि। सविता परमेश्वरो देवस्त्वा त्वां मध्वा मधुना ब्रह्मरूपेण विषयेण त्वामनक्तु त्वामुपरक्तं करोतु। पृथिव्या मायाभूमिसम्बन्धिनो मोहमयाद् दुःखप्रदाद् राक्षसाद् हे परमेश्वर! महावीरं ज्ञानयज्ञरूपं रक्ष यज्ञशिरः पाहि। हे परमेश्वर! त्वमर्चि-

रसि चान्द्रमसं तेजोऽसि, त्वं शोचिरस्याग्नेयं तेजोऽसि, त्वं तपोऽसि सूर्यतापरूपोऽसि, 'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥' (१५।१२) इति गीतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् ! सविता देवो मखाय यमाय त्वा सूर्यस्य तपसे गृह्णातु । पृथिव्यास्त्वा मध्वानक्तु । स त्वं संस्पृशः पाहि । यतस्त्वमर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि, तस्मात् त्वां सत्कुर्याम' इति । तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । सिद्धान्ते तु श्रुतिसूत्रानुरोधेन महावीरादिसम्बोधनमुक्तम् । न च विद्वान् स्पर्शमात्रेण पातुं शक्नोति । अर्चिरसीत्यादिष्वप्यर्चिरिवेत्यादिरीत्या गौणार्थाश्रयणमपि निर्मूलमेव ॥ ११ ॥

अनाधृष्टा पुरस्तादग्नेराधिपत्य आयुर्मे दाः । पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे दाः । सुषदा पश्चाद्देवस्य सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाः । आश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषं मे दाः । विधृतिरुपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्य ओजो मे दाः । विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि मनोरश्वासि ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! तुम पूर्व दिशा में राक्षसों से पूरी तरह सुरक्षित हो, अग्नि के अधिकार में मुझे आयु प्रदान करो । तुम दक्षिण दिशा में इन्द्र के अधिकार में पुत्रवती हो, तुम मुझे सन्तान दो । तुम पश्चिम दिशा में सूर्य देवता के अधिकार में सुख से स्थित हो, मुझे तुम चक्षु प्रदान करो । तुम उत्तर दिशा में ब्रह्मा के आधिपत्य में यज्ञयोग्य हो, तुम मुझे धन से पुष्ट करो । ऊर्ध्व दिशा में तुम बृहस्पति के आधिपत्य में धारण की सामर्थ्य से युक्त हो, तुम मुझे बल प्रदान करो । हे महावीर की दक्षिणभूमि ! हिंसक पिशाच आदि से हमारी रक्षा करो । हे महावीर की उत्तर भूमि ! तुम मनु की वड़वा हो ॥ १२ ॥

'अनाधृष्टेति वाचयति प्रादेशमध्यधि धारयन्तम्' (का० श्रौ० २६।३।५) । महावीरस्योपरि प्रादेशम् अङ्गुष्ठाङ्गुलिदेशं धारयन्तं यजमानं पञ्चवाक्यात्मकमपि मन्त्रं सकृदेव वाचयेदध्वर्युः । सप्त यजूंषि पृथिवीदेवत्यानि यजमानस्याशीः । हे पृथिवि ! या त्वं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि अनाधृष्टा रक्षोभिरनाधर्षितासि, सा त्वमग्नेराधिपत्ये स्वामित्वे सति मह्यमायुर्जीवनं दाः देहि । ददातेर्लुङि मध्यमैकवचने, अडभाव आर्षः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अनाधृष्टा ह्येषा पुरस्ताद् रक्षोभिर्नाष्ट्राभिरग्नेराधिपत्य इत्यग्निमेवास्या अधिपतिं करोति नाष्ट्राणाᳪ रक्षसामपहत्या आयुर्मे दा इत्यायुरेवात्मन् धत्ते तथो ह सर्वमायुरेति' (श० १४।१।३।१९) । एषा पृथिवी पुरस्ताद् महावीरस्य प्राच्यां दिशि रक्षोभी राक्षसैर्नाष्ट्राभिर्नाशकारिणीभिस्तत्सेनाभिश्च, अनाधृष्टा अबाधिता, अतोऽनाधृष्टा पुरस्तादिति मन्त्रभागः संगतः । अतो रक्षसामपहननार्थमग्निमेवास्या दिशोऽधिपतिं करोति, 'अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता' (श० १।१।५।९) इति श्रुतेः । 'आयुर्मे दाः' इति तृतीयेन मन्त्रभागेन आत्मन् आत्मनि स्वस्मिन् आयुर्जीवनमेव धत्ते । तथा च स यजमानः सर्वमायुः, एति प्राप्नोति । 'पुत्रवती दक्षिणत इति । नात्र तिरोहितमिवास्तीन्द्रस्याधिपत्य इतीन्द्रमेवास्या अधिपतिं करोति नाष्ट्राणाᳪ रक्षसामपहत्यै प्रजां मे दा इति प्रजामेव पशूनात्मन् धत्ते तथो ह पुत्री पशुमान् भवति' (श० १४।१।३।२०) । अस्यां कण्डिकायां तिरोहितमस्पष्टं व्याख्यानसापेक्षं नास्ति, स्पष्टार्था कण्डिकेति यावत् । महावीरस्य दक्षिणभागे एषा पृथिवी पुत्रवती, इन्द्रमेवास्यामधिपतिं करोति, रक्षसामपहत्यै ।

'सुषदा पश्चादिति । नात्र तिरोहितमिवास्ति देवस्य सवितुराधिपत्य इति देवमेवास्यै सवितारमधिपतिं करोति नाष्ट्राणाᳪ रक्षसामपहत्यै चक्षुर्मे दा इति चक्षुरेवात्मन् धत्ते तथो ह चक्षुष्मान् भवति' (श०

१४।१।३।२१)। प्रतीच्यां दिशि पृथिवी सुषदा सुष्ठु सुखेन आसाद्या। शेषं सुगमम्। 'आश्रुतिरुत्तरत इति। आश्रावयन्नुत्तरत इत्येवैतदाह धातुराधिपत्य इति धातारमेवास्या अधिपतिं करोति नाष्ट्राणाᳪ᳭ रक्षसामपहत्यै रायस्पोषं मे दा इति रयिमेव पुष्टिमात्मन् धत्ते तथो ह रयिमान् पुष्टिमान् भवति' (श० १४।१।३।२२)। आश्रुतिरुत्तरतो यन्मन्त्रवाक्यमेतद् वेद्या उत्तरभागे स्थित्वाऽध्वर्युः प्रवर्ग्यार्थमाश्रावयन् आश्रावणं कुर्वन् भवति। शेषं सिद्धम्। रयिं धनम्, पुष्टिं तत्कृतां विभूतिम्। 'विधृतिरुपरिष्टादिति। विधारयन्नुपरिष्टादित्येवैतदाह बृहस्पतेराधिपत्य इति बृहस्पतिमेवास्या अधिपतिं करोति। नाष्ट्राणाᳪ᳭ रक्षसामपहत्या ओजो मे दा इत्योज एवात्मन् धत्ते तथौजस्वी बलवान् भवति' (श० १४।१।३।२३)। ओजो बलम्। शेषं सिद्धम्।

'विश्वाभ्यो मेति दक्षिणत उत्तानं पाणिं निदधाति' (का० श्रौ० २६।३।७)। यजमानो महावीराद्दक्षिणभूमौ विश्वाभ्यो मेति मन्त्रं पठन् स्वकरमुत्तानं निदधातीति सूत्रार्थः। अथ संहत्यावशिष्टयजुरर्थो लिख्यते—हे पृथिवि ! या त्वं दक्षिणस्यां दिशि इन्द्रस्याधिपत्ये सति पुत्रवती, सा मह्यं प्रजां पुत्रादिकां दाः देहि। या त्वं पश्चिमायां दिशि सुषदा सुखेन सीदन्ति जना यस्यां तादृशी, सवितुर्देवस्याधिपत्ये सति सा त्वं मे चक्षुर्दाः नेत्रेन्द्रियं देहि। या त्वमुत्तरस्यां दिशि धातुर्ब्रह्मण आधिपत्ये सति आश्रुतिरसि, सा त्वं मे रायो धनस्य पोषं पुष्टिं देहि। या त्वमुपरि प्रदेशे बृहस्पतेराधिपत्ये सति विधृतिरसि, विशेषेण धारयतीति विधृतिः, उपरिष्टाज्जुह्वादिकं ध्रियते, सा त्वं मे मह्यमोजो बलं देहि। विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि इति मन्त्रं पठन् यजमानः करं निदधातीति सव्याख्यानं सूत्रं पुरस्तादुद्धृतम्। यजुर्बृहती। हे महावीरदक्षिणभूमे ! सर्वाभ्य आर्तिभ्यो हिंसाभ्यो मां गोपाय रक्ष, रक्ष इत्यमुमर्थं विश्वाभ्यो मा इत्येतन्मन्त्रवाक्यमाह प्रतिपादयति। न तु पूर्ववन्नाष्ट्राशब्देन नाशकारिण्यो राक्षस्यः सेना उच्यन्ते। इति सर्वाभ्यो मार्ऽतिभ्यो गोपायेत्येवैतदाहेत्यर्थः।

अत्रापि ब्राह्मणम् 'अथ दक्षिणत उत्तानेन पाणिना निह्नुते। विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहीति सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत् स पितॄनगच्छत् त्रया वै पितरस्तैरेवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श० १४।१।३।२४)। अथ दक्षिणत उत्तानेन पाणिना विश्वाभ्य इति मन्त्रेण निह्नुते, महावीररक्षणप्रार्थनमपलपति। तात्पर्यगम्यस्त्वर्थ उक्तः सर्वाभ्यो हिंसाभ्यः सर्वाभ्य आर्तिभ्य इत्यादि। दक्षिणस्या दिशः पितॄणां सम्बन्धाद् दक्षिणतो हस्तनिधानेन पितृभिरप्येनं समृद्धं कृतवान् भवति। छिन्नशिरस्कस्य यज्ञस्य रसः पुरा पितृदेवताः प्राप्नोत्। ते पितरस्त्रया वै पितृ-पितामह-प्रपितामहभेदेन त्रिविधाः खलु। तत् त्रैविध्यं सवनत्रयात्मकयज्ञरससम्बन्धाज्जातमित्यवगन्तव्यम्। अत एतद् एतेन विश्वाभ्य इति मन्त्रेण दक्षिणतः क्रियमाणेन उत्तानपाणिनिधानेन दक्षिणदिक्सम्बद्धैस्तैरेव पितृभिरेनं प्रवर्ग्यं समर्धयति समृद्धं करोति। तथा च यज्ञं कृत्स्नं सम्पूर्णावयवं कृतवान् भवति।

'मनोरश्वेति प्रादेशमुत्तरतः' (का० श्रौ० २६।३।८) महावीरादुत्तरतो यजमानो निजं प्रादेशं निदधाति। दैवी पङ्क्तिः। हे घर्मोत्तरभूमे ! त्वं मनो राज्ञोऽश्वा वडवासि। वहनाय अश्वा, 'अथेमामभिमृश्य जपति। मनोरश्वाऽसीत्यश्वा ह वा इयं भूत्वा मनुमुवाह सोऽस्याः पतिः प्रजापतिस्तेनैवैनमेतन्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श० १४।१।३।२५) इति श्रुतेः। अथ निह्नवानन्तरं महावीरस्योत्तरत इमां भूमिं प्रादेशेनाभिमृश्य मनोरश्वाऽसीति मन्त्रं जपति। हे पृथिवि ! त्वं मनोः प्रजापतेरश्वाऽसीतीममर्थमाख्यायिकयोपपादयन् मन्त्रस्य समृद्धिहेतुत्वमाह—अश्वा हेति। पुरा खलु इयं पृथिवी अश्वा भूत्वा मनुं प्रजापतिमुवाह ऊढवती। स प्रजापतिरस्याः पतिर्भर्ता। एतेन मनोरश्वाऽसीति मन्त्रेण पृथिव्या अभिमर्शनेन तेनैव मिथुनेन स्त्रीपुंसात्मकेन प्रियेण धाम्ना धारकेण तेजसा एनं प्रवर्ग्यं समर्धयति ।

अध्यात्मपक्षे—हे देवपीठभूमे ! या त्वं देवस्य पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि, अनाधृष्टा रक्षोभिरनाधृष्टा अग्नेराधिपत्ये स्वामित्वे मे मह्यमायुर्दाः जीवनं देहि, येन देवं प्रसादयामि। हे भूमे ! या त्वं पुत्रवती पुत्रादिदान-समर्था, सा त्वं देवस्य दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे मह्यं दाः देहि। हे भूमे ! या त्वं सुषदा सुखं सीदन्ति यस्यां तादृशी सा त्वं देवस्य पश्चात् सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाः देहि। हे पृथिवि ! या त्वं देवस्योत्तरत आश्रुतिरसि यस्यामृत्विज आश्रावयन्ति मन्त्रान् सा त्वं धातुराधिपत्ये मे मह्यं रायस्पोषं दाः देहि। हे पृथिवि ! या त्वं विधृतिरसि विधारयित्री असि सा त्वं देवस्योपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्ये ओजो मे देहि। हे पृथिवि ! त्वं देवस्य दक्षिणभागे नाष्ट्राभ्यो मा मां पाहि। त्वं मनोरश्वा वडवा, असि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाग्निर्जीवनं यथा विद्युत् प्रजा यथा सविता दर्शनं धाता श्रियं महाशयो बलं च ददाति, तथैव सुलक्षणा पत्नी सर्वाणि सुखानि प्रयच्छति, तां रक्षत' इति भावार्थः। अन्वयश्च—हे स्त्रि, त्वमनाधृष्टा सती पुरस्तादग्नेराधिपत्ये मे आयुर्दाः पुत्रवती सती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये मे प्रजां देहि, सुषदा सती पश्चात् सवितुर्देवस्याधिपत्ये चक्षुर्दाः, आश्रुतिः, आसमन्तात् श्रवणं यस्याः सा। उत्तरतो धातुर्धर्तुर्वायो-राधिपत्ये रायो धनस्य पोषं मे दाः। विधृतिः, उपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्ये ओजो देहि विश्वाभ्यः सर्वाभ्यो नाष्ट्राभ्यो व्यभिचारिणीभ्यो मां प्राप्तं त्वं मनोरन्तःकरणस्य अश्वा व्यापिका असि' इति, तदुभयमपि यत्किञ्चित्, आयुरादिदाने तस्याः सामर्थ्यादर्शनात्। नह्यन्यस्य पत्न्यामन्येषामाधिपत्यं सम्भवति, मर्यादाविरोधात्, श्रुति-विरोधाच्च। श्रुतयस्तु सिद्धान्तव्याख्याने दर्शिता एव ॥ १२ ॥

स्वाहा मरुद्भिः परि श्रीयस्व दिवः सꣳस्पृशस्पाहि। मधु मधु मधु ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! तुम स्वाहा रूप हो, मरुतों के द्वारा तुम परिपक्व हो जाओ। हे शतमान सुवर्ण ! स्वर्गवासी देवताओं की रक्षा करो। हे प्राण, हे उदान, हे व्यान ! तुम सबके लिये कल्याणकारी बनो ॥ १३ ॥

'धृष्टिभ्यां भस्मना परिकीर्याङ्गारैश्च विकङ्कतशकलैः परिश्रयति त्रयोदशभिः प्रागुदग्भिः स्वाहा मरुद्भि-रिति, अधिकं दक्षिणतो द्वौ मन्त्रेण' (का० श्रौ० २६।३।९-१०)। अध्वर्युरुपवेषाभ्यां गार्हपत्यस्य भस्मना महावीरं परितो भस्मविक्षेपं कृत्वा धृष्टिभ्यामेव गार्हपत्याङ्गारैश्च परिकीर्य महावीरस्य सर्वतोऽङ्गारान्निधाय प्रागग्रै-रुदगग्रैश्च त्रयोदशभिर्विकङ्कतशकलैर्महावीरं परिश्रयति, अङ्गाराणामुपरि निदधातीति सूत्रार्थः। तत्र प्रथमौ द्वौ प्रागग्रौ मन्त्रेण, इतरानेकादश तूष्णीमुपर्युपरि निदधाति। तत्र तृतीयचतुर्थौ उदगग्रौ, पञ्चमषष्ठौ प्रागग्रौ, सप्तमाष्टमौ उदगग्रौ, नवमदशमौ प्रागग्रौ, एकादशद्वादशौ उदगग्रौ। अधिकं त्रयोदशमवशिष्टं दक्षिणत इति। मासानां त्रयोदशत्वात् त्रयोदशशकलैराच्छादनम्, 'त्रयोदश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सर एष य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।१।३।२८) इति श्रुतेः।

यजुःपङ्क्तिर्घर्मदेवत्या। हे घर्म ! यस्त्वं स्वाहाकारोऽसि हविराधारत्वात् सूर्यरूपोऽसि, तं त्वां ब्रवीमि। मरुद्भी रश्मिभिः परिश्रीयस्व, कर्मणि यक्, मरुतस्त्वामाश्रयन्त्वित्यर्थः। 'सुवर्णशतमानेनापि दधाति दिवः सꣳ-स्पृश इति' (का० श्रौ० २६।३।१०)। शतरक्तिकामितेन सुवर्णपिधानेन महावीरमाच्छादयतीति सूत्रार्थः। दैवी जगती सुवर्णदेवत्या। हे शतमान, दिवो द्युलोकसम्बन्धिनः संस्पृशः स्पर्शकर्तॄन् देवान् पाहि। 'कृष्णा-जिनावकृत्तैर्धवित्रैरुपवीजयति त्रिभिर्दण्डवद्भिर्मधु मध्विति' (का० श्रौ० २६।४।२)। कृष्णाजिनकृतैर्दण्डयुक्तै-स्त्रिभिर्व्यजनैरग्निं वीजयति दीपनायेति सूत्रार्थः। त्रीणि यजूंषि प्राणदेवत्यानि। दैवी उष्णिक्। मधुररससाम्यात् प्राणो मधु उच्यते। प्राणोदानव्यानत्रयं महावीरे स्थापयामीत्यर्थः।

तदेतत्सर्वं शतपथे स्पष्टम् । तथाहि—'अथ वैकङ्कतौ शकलौ परिश्रयति प्राञ्चौ । स्वाहा मरुद्भिः परिश्रीयस्वेत्यवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवतामेष वै स्वाहाकारो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवताम्' (श० १४।१।३।२६)। त्रयोदशभिर्वैकङ्कतशकलैः समिद्भिर्महावीरस्य परिश्रयणं विधित्सुस्तासु द्वाभ्यां समिद्भ्यां समन्त्रकाभ्यां प्रथमं परिश्रयणं कर्तव्यमित्याह—अथ वैकङ्कताविति । तौ प्रागग्रौ महावीरस्य दक्षिणत उत्तरतश्च परिश्रयति निदधाति । 'स्वाहा मरुद्भिः' इत्यस्य मन्त्रः । तत्र स्वाहाशब्दस्यार्थं प्रदर्शयन् तत्कृतं प्रवर्ग्यस्य अतिशयं दर्शयति—अवरमित्यादि । अवरमधस्ताद्वर्तमानं स्वाहाकारं स्वाहेत्युच्चारणं करोति, परां परस्ताद् वर्तमानामस्माभिर्दुरधिगमां देवतां स्मर्तुमिति शेषः । तस्मादुत्कृष्टदेवतात्मकं स्वाहाकारं करोति । कथं स्वाहाकारस्य परदेवतात्मकता ? इत्याह—एष वा इति । य एष सूर्यस्तपति एष खलु स्वाहाकारः स्वाहाशब्दप्रतिपाद्यः स्वाहाकारात्मको वा । यथा अग्नये स्वाहेत्यादौ प्रथमं देवतापदं पश्चात् स्वाहाकारः प्रयुज्यते, तद्वैपरीत्येनात्र तु प्रथमं स्वाहाकारः पश्चाद् देवतापदम् । 'मरुद्भिः परिश्रीयस्वेति । विशो वै मरुतो विशैवैतत् क्षत्रं परिवृꣳहति तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिवृढं तूष्णीमुदञ्चौ तूष्णीं प्राञ्चौ तूष्णीमुदञ्चौ तूष्णीं प्राञ्चौ' (श० १४।१।३।२७)। देवानां मध्ये मरुतो वैश्याः, 'मरुतो वै देवानां विशः' (तै० सं० २।२।५) इति श्रुतेः । महावीरश्च सम्राट्शब्दाभिधेयत्वात् क्षत्रियजातिस्थानीयः । अतो मरुद्भिः परिश्रीयस्वेत्यनेन विशैव क्षत्रं परिवृंहति वर्धयति । यथा लौकिकं क्षत्रं विशा वैश्यजात्या परिवृढम्, तथाऽवशिष्टैः शकलैः परिश्रयणं विधत्ते—तूष्णीमुदञ्चावित्यादिना । पूर्वं मन्त्रेण द्वौ वैकङ्कतशकलौ महावीरस्य दक्षिणोत्तरभागयोः प्रागग्रौ निहितौ । अथ तस्य पश्चात् पुरस्ताच्च द्वौ शकलौ उदगग्रौ तूष्णीं निधातव्यौ । ततस्तूष्णीमेव द्वौ प्राञ्चौ पूर्ववन्निधेयौ । एवं व्यत्यासेन त्रयोदशशकलान् सम्पादयति । प्रागग्राः षड् उदगग्राः षट्, अवशिष्टमेकं दक्षिणतः प्रागग्रं निदध्यादिति सायणाचार्यः ।

'अथ सुवर्णꣳ हिरण्यमुपरिष्टान्निदधाति । दिवः सꣳस्पृशस्पाहीत्येतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममुपरिष्टाद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरित्यग्नेर्वा एतद्रेतो यद्धिरण्यं नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहत्या अथो द्यौर्हं वा एतस्माद्बिभयाञ्चकार यद्वै माऽयं तप्तः शुशुचानो न हिꣳस्यादिति तदेवास्या एतदन्तर्दधाति हरितं भवति हरिणीव हि द्यौः' (श० १४।१।३।२९)। महावीरस्योपरि सुवर्णशतमानस्य रुक्मस्य स्थापनं विधत्ते—अथ सुवर्णमित्यादिना । शोभनवर्णयुक्तं हिरण्यनिर्मितं काञ्चनमयं रुक्मं 'दिवः सꣳस्पृश' इति मन्त्रेण महावीरस्योपरिष्टाद् रक्षोभिरबाधनार्थं तप्तेन घर्मेण द्युलोकस्य तापाभावार्थं च निदधाति । तेनैव तेजसा हरिणीव हरिद्वर्णेव द्यौः । 'अथ धवित्रैराधूनोति । मधु मध्विति त्रिः प्राणो वै मधु प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति त्रीणि भवन्ति त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिन्नेतद् दधाति' (श० १४।१।३।३०)। कृष्णाजिननिर्मितानि व्यजनानि दण्डवन्ति धवित्राणीत्युच्यन्ते । अध्वर्युस्तैस्त्रिभिर्मधु मधु मध्विति मन्त्रेण त्रिराधूनोति महावीरस्य वीजनं करोति । यथाग्नेर्ज्वाला भवति तथा समिन्धीतेत्यर्थः । तन्मन्त्रं प्रशंसति—प्राणो वा इत्यादिना । प्राणापानादिपञ्चवृत्तिः प्राणवायुर्मधुमन्त्रे मधुशब्दाभिधेयः, मधुवत्प्रियतमत्वात् । तथा चैतदेतेन मधु मधु मध्विति कथनेनास्मिन् प्रवर्ग्ये प्राणमेव दधाति । अपानस्य प्राणावान्तरव्यापारत्वात् प्राणेऽन्तर्भावात्, समानस्य च व्यानेऽन्तर्भावात्, प्राण उदानो व्यान इति प्राणानां त्रित्वमेव ।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानयज्ञ ! त्वं स्वाहा ब्रह्मणि सर्वस्वात्मसमर्पणरूपोऽसि । मरुद्भिः पावनैर्हनुमदादिभिर्ज्ञानिभिः परिश्रीयस्व सेव्यस्व । सर्वे ज्ञानिनस्त्वां परिश्रयन्तु । दिवः संस्पृशः, दिवो द्योतनात्मकस्य ब्रह्मणः संस्पृशः । अनुभवितॄन् ज्ञानिनः पाहि, अविद्यातत्कार्यापनोदनेन रक्ष । त्वत्प्रसादात् सर्वमाध्यात्मिकं मधु मधुविद्यावेद्यब्रह्मात्मकमस्तु । आधिदैविकं च मधु ब्रह्मरूपमस्तु । आधिभौतिकं च सर्वं मधु परमामोदजनकं ब्रह्मरूपमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं मरुद्भिः स्वाहा मधु मधु मधु श्रीयस्व संस्पृशो दिवोऽस्मान् परिपाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मधुपदस्य कर्माद्यर्थत्वे मानाभावात्, कर्मप्रत्ययविरोधाच्च। संस्पृशो विद्युदर्थतापि चिन्त्यैव ॥ १३ ॥

गर्भो॑ दे॒वानां॑ पि॒ता म॑ती॒नां पति॑ः प्र॒जाना॑म् ।
सं दे॒वो दे॒वेन॑ सवि॒ता ग॑त॒ सꣳ सूर्ये॑ण रोचते ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—दीप्यमान महावीर सूर्य देवता के साथ योग को पाता है। दीप्त किरणों का ग्रहीता, बुद्धियों का पालक, प्रजाओं का स्वामी महावीर सूर्य के साथ एकत्व को प्राप्त कर भली प्रकार प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

'परिक्रम्योपतिष्ठन्तेऽकृतं चेद् गर्भो देवानामिति' (का० श्रौ० २६।४।११)। धवित्रैर्वीजनसमये पूर्वं देववत् परिक्रमणं न कृतं चेदिह त्रिः परिक्रमणं कृत्वा इतरथाऽऽवृत्ति सकृत् कृत्वा ब्रह्महोत्रध्वर्य्वग्नीत्प्रतिप्रस्थातृप्रस्तोतारः सयजमाना गर्भो देवानामित्यादिना नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीरित्यन्तेन मन्त्रेण घर्ममुपतिष्ठन्त इति सूत्रार्थः। एतेषां मन्त्राणामवकाश इति संज्ञा। घर्मदेवत्या एते। तत्र आद्येयमृचां पङ्क्तिः। देवो दीप्यमानो महावीरः सवित्रा आदित्येन देवेन सह सङ्गत सङ्गच्छते। समो गमेर्लुङि 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (पा० सू० १।३।२९) इत्यात्मनेपदत्वात् तङि, च्लौ सिचि, तस्य 'वा गमः' (पा० सू० १।२।१३) इति विकल्पेन कित्वे, 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (पा० सू० ६।४।३७) इति मकारलोपे, 'ह्रस्वादङ्गात्' (पा० सू० ८।२।२७) इति सिचो लोपे, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इत्यडागमाभावे सङ्गतेति रूपम्। यश्च घर्मः सूर्येण सह एकीभूतः सन् संरोचते तं वयमुपतिष्ठामहे। कीदृशो घर्मः? देवानां दीप्तानां दृश्यमानानां रश्मीनां सर्वेषां वा गर्भः। गृह्णातीति गर्भो ग्रहीता। तथा मतीनां आगामिगोचराणां बुद्धीनां पिता पालको बुद्धिप्रवर्तकः। प्रजानां पतिः पालकः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथापसलवि त्रिर्धुन्वन्ति। यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत् स पितॄनगच्छत् त्रया वै पितरस्तैरेवैनमेतत् समीरयति' (श० १४।१।३।३१)। अध्वर्युस्त्रिभिर्धवित्रैर्मधु मधु मध्विति मन्त्रेण त्रिराधूय अथैकं धवित्रं प्रतिप्रस्थात्रे प्रयच्छति, एकमाग्नीध्राय। ततस्ते त्रयो गृहीतधवित्रा अपसलवि अपसलवेदनम् अपसव्यं त्रिः परिक्रामन्ते धुन्वन्ति। अप्रदक्षिणकरणं हि पैतृको धर्मः। अतस्तैः पितृभिरेनं महावीरं समीरयन्ति संगमयन्ति। 'अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति। ये यज्ञे धुवनं तन्वते पुनः प्रसलवि त्रिर्धुन्वन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड् वा इमे शीर्षन् प्राणास्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति श्रपयन्ति रौहिणौ स यदार्चिर्जायतेऽथ हिरण्यमादत्ते' (श० १४।१।३।३२)। ये खलु यज्ञेऽध्वर्युप्रभृतयो धुवनं कम्पनं वीजनं कुर्वन्ति, एतेभ्यः सकाशात् प्राणा अपक्रामन्ति वै। वेगेन आधूनने क्रियमाणे शरीरान्तर्वर्तिनः प्राणा अपि श्रमातिशयेन शरीराद् बहिर्निर्गच्छन्तीत्यर्थः। अतस्तत्परिहाराय पुनः प्रसलवि प्रदक्षिणं त्रिः परिक्रामन्तो धुन्वन्ति चालयन्ति। उक्तदोषपरिहारमाह—षट् सम्पद्यन्त इति। द्वे चक्षुषी द्वे श्रोत्रे द्वे नासिके इति षडिन्द्रियाधिष्ठानानि शिरसि समवेतानि। तान्येवात्मनि धारयित्वा अस्मिन् प्रवर्ग्येऽप्येतद्दधातीत्यर्थः।

'स यदैतदध्वर्युः। उपोत्तिष्ठन्नाह रुचितो घर्म इति तदुपोत्थायावकाशैरुपतिष्ठन्ते प्राणा वा अवकाशाः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० १४।१।४।१)। अवकाशाख्यैर्मन्त्रैरुपतिष्ठन्ते पूर्वोक्ता अध्वर्य्वादयः। 'गर्भो देवानामिति। एष वै गर्भो देवानां य एष तपत्येष हीदꣳ सर्वं गृभ्णात्येतेनेदꣳ सर्वं गृभीतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।१।४।२)। य एष सूर्यस्तपति एष खलु देवानां मध्ये गर्भः। कुतः? इत्यत आह—हि

यस्माद् इदं सर्वमेष सूर्यो गृह्णाति, जगति विद्यमानं सर्वं स्वकिरणैरुपादत्ते सर्वमनुगृह्णाति वा। एतेन सर्वं जगदनुगृहीतम्। 'पिता ह्येष मतीनां पतिः प्रजानाम्' (श० १४।१।४।३)। एष मतीनामागामिगोचराणां बुद्धीनां पिता उत्पादयिता। सूर्योदये सति सुप्तानां समेषां प्रबोधेन सर्वाणि ज्ञानान्युत्पद्यन्ते, तेनास्य पितृत्वम्। 'एष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्' इति प्रकृतो वाक्यशेषोऽतः परं सर्वत्रानुषञ्जनीयः। एष सूर्यः प्रजानां प्रजायमानानां प्राणिनां वृष्ट्यादिप्रदानेन पालयिता। 'सꣳ हि देवो देवेन सवित्रा गत सꣳ सूर्येण रोचते' (श० १४।१।४।४)। हि यस्मात्, देवनशीलो घर्मो देवयजनेन वर्तमानो देवेन देवनशीलेन सवित्रा सर्वस्य प्रेरकेण दिवि वर्तमानेन सूर्येण सङ्गत समगच्छत। तस्मात् सन् देवो देवेन इति मन्त्रवाक्यं सङ्गतमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानयज्ञ ! यस्त्वं गर्भो ग्रहीता सर्वेषाम्, सर्वोपसंहारकत्वात्। मतीनां तत्त्वबुद्धीनां पिता जनकः, ज्ञानयज्ञेनैव ब्रह्मबुद्ध्युत्पत्तेः। यः प्रजानां पतिः पालकः, शोकमोहनिवारकत्वेन स्वास्थ्यप्रदत्वात्। देवोऽज्ञानादिविजिगीषया द्योतमानः, देवेन द्योतमानेन सवित्रा परमात्मना संगत सङ्गच्छते सं सूर्येण स्वप्रकाशेन ब्रह्मणा विषयेण रोचते, तं त्वां वयं स्तुम इति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यो देवानां गर्भो मतीनां पिता प्रजानां पतिः परमात्मा सवित्रा देवेन सूर्येण सह संरोचते, तं यूयं सङ्गत' इति, तदपि न, मतीनामित्यस्य मननशीलानां मेधाविनामित्यर्थताया निर्मूलत्वात् ॥ १४ ॥

सम॒ग्निर॒ग्निना॑ गत॒ सं दै॒वेन॑ सवि॒त्रा सꣳ सूर्ये॑णारोचिष्ट।
स्वाहा॒ सम॒ग्निस्तप॑सा गत॒ सं दै॒व्ये॑न सवि॒त्रा सꣳ सूर्ये॑णारूरुचत ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—घर्म अग्नि के साथ संयुक्त होता है, सविता देवता के साथ संयुक्त होता है, सूर्य के साथ प्रकाशित होता है। स्वाहा सहित घर्म सूर्य के तेज के साथ संयुक्त होता है, सविता देवता के साथ संयुक्त होता है और सूर्य के साथ एकत्व को प्राप्त कर सबको प्रकाशित करता है ॥ १५ ॥

ब्राह्मी अनुष्टुप्। यश्चाग्निर्घर्मोऽग्निना सह सङ्गत सङ्गच्छते एकीभवति। दैवेन देव एव दैवः, 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पा० सू० ५।४।३८) इति प्रज्ञादेराकृतिगणत्वादण्। तेन सवित्रा देवेन सह सङ्गच्छते। यश्च सूर्येण सह समरोचिष्ट संरोचते सूर्येण सह स्पर्धमानः सूर्येण दीप्यते, तं वयं स्तुम इति शेषः। स्वाहा अग्निः स्वाहासहितोऽग्निर्घर्मस्तपसा सूर्यतेजसा सङ्गत सङ्गच्छते, दैव्येन देवेन सवित्रा च सङ्गच्छते। सूर्येण समरूरुचत सर्वं सम्यग् रोचयति प्रकाशयति, रोचतेर्णिजन्ताल्लुङ्, तं स्तुम इति शेषः। 'अवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः' (१४।१।४।६) इति हि श्रुतिः। स्वाहाशब्दप्रतिपाद्यं स्मर्तुमसावेव खलु देवता बन्धुश्छिन्नस्य यज्ञशिरसो बन्धनहेतुः। तथा दैव्येन देवतासम्बन्धिना सवित्रा प्रेरकेण सूर्येण दिवि प्रकाशमानेन सार्धमयं तप्तो घर्मो ज्वालाद्वारेण समरूरुचत सम्यगदीप्यत। तस्मात् 'सꣳ सूर्येणारूरुचत' इति मन्त्रभागः समवेतार्थः।

अध्यात्मपक्षे - योऽग्निर्ज्ञानाग्निरूपो ज्ञानयज्ञोऽग्निना सङ्गत सङ्गच्छते एकीभवति, देवेन सवित्रा सङ्गच्छते कर्माज्ञानादिनाशकतया अग्निना एकीभवति, तत्त्वप्रकाशकत्वेन सवित्रा सूर्येण ऐक्यं गच्छति। स्वाहा सर्वस्वात्मसमर्पणरूपेण युक्तो ज्ञानाग्निस्तत्त्वप्रकाशकत्वेन रूपेण सूर्येण ऐक्यमुपगच्छति, सूर्येण तपसा समरूरुचत सम्यगदीप्यतेति तं स्तुमः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! योऽग्निना अग्निर्देवेन सवित्रा सूर्येण सह समरोचिष्ट, तं परमात्मानं यूयं स्वाहा सत्यक्रियया संगत। योऽग्निर्दैव्येन सवित्रा सूर्येण तपसा समरूरुचत तं यूयं संगत विजानीत' इति, तदपि

यत्किञ्चित्, विशृङ्खलत्वात्, मुख्यार्थत्यागाद् गौणार्थस्वीकाराच्च, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च, सूर्ये प्रेरकत्वासम्प्रतिपत्तेश्च ॥ १५ ॥

धर्ता दिवो वि भाति तपसस्पृथिव्यां धर्ता देवो देवानाममर्त्यस्तपोजाः। वाचमस्मे नियच्छ देवायुवम् ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—स्वर्गलोक के तथा रश्मिजाल के धारक, सभी देवताओं के धारक अजर-अमर महानारायण की ज्योति से उत्पन्न सूर्यदेव ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करते हैं। हे सूर्यदेव ! आप हमें देवताओं को प्राप्त कराने वाली वाणी दीजिये ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वबृहती। यत्र जगत्यास्त्रयः पादास्तदूर्ध्वबृहतीशब्देनाख्यायते। अत्र आद्यौ त्रयोदशार्णौ, तृतीय एकादशार्णः। तेन एकाधिका ऊर्ध्वबृहती ज्ञातव्या। घर्मस्तुतिः। योऽयं दिवो द्युलोकस्य धर्ता धारयिता, तपसो रश्मिजालस्य च धर्ता, देवानां स्वव्यतिरिक्तानामिन्द्रादीनां च धर्ता, सूर्यगत्यधीनत्वाद् हविर्दानस्य सूर्यस्य हविर्भुजां धारकत्वम्। यश्चामर्त्यो मनुष्यधर्मरहितोऽजरामरः। तपोजाः, तप आदित्यस्तस्माज्जातः सूर्योत्पन्नः, तपसस्तप्यमानाद् ब्रह्मणो वा जातस्तपोजाः। यश्च देवः पृथिव्यां विभाति प्रवर्ग्यरूपेण शोभते, स देवो घर्मः, अस्मे अस्मासु वाचं नियच्छ नियच्छतु निगृह्णातु। पुरुषव्यत्ययः। कीदृशीं वाचम् ? देवायुवम्, या देवान् यौति मिश्रयत्यागमयति सा देवायुः, संहितायां छान्दसो दीर्घः, ताम्। क्विपि 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) इति प्राप्तस्तुगभाव आर्षः। अत्र वागिति यज्ञो गृह्यते, स्तोत्रशस्त्रादिरूपया वाचा निर्वर्त्यत्वात्।

तथा च ब्राह्मणम्—'यज्ञो वै वाग् यज्ञमस्मभ्यं प्रयच्छ येन देवान् प्रीणामेत्येवैतदाह' (श० १४।१।४।८)। इति वाचं यज्ञम्, अस्मे अस्मभ्यम्, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेः शे, हे घर्म ! देहि येन देवान् प्रीणाम तर्पयामेत्यमुमेवार्थमेतन्मन्त्रवाक्यं प्रतिपादयतीति निर्गलितोऽर्थः। तथा च देवानाह्वयन्तं यज्ञं समापयतु।

अध्यात्मपक्षे—स ज्ञानयज्ञो दिवः प्रकाशरूपस्य ज्ञानस्य धारकः, आलोचनात्मकस्य तपसः, सन्तापार्थस्य तपोरालोचने वृत्तिः, धारकः। यश्च देवानां धर्ता, यश्च पृथिव्यां विभाति, यश्चामर्त्यः, सो अस्मे अस्मासु देवायुवं वाचं देवतानामाह्वानकर्त्रीं वाचं नियच्छ नियच्छतु, ब्रह्मात्मपर्यवसायिनीं करोतु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यः पृथिव्यां तपसो दिवे धर्ता यस्तपोजा अमर्त्यो देवो देवानां धर्ता जगदीश्वरो विभाति, तद्विज्ञानेनास्मे देवायुवं वाचं नियच्छ देहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्, दिवः सूर्यादेरित्यस्य च निर्मूलत्वात्। न च त्वद्रीत्या तपसापि परमेश्वरो जायते, तस्याजायमानत्वात्। न च तपसा तस्य प्राकट्यमेवेति, प्राकट्यस्याप्यनिरूपणात् ॥ १६ ॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ दिशा और किरणों को धारण करता हुआ सूर्य भुवनों के मध्य में बार बार घूमता है। अन्तरिक्ष में घूमते हुए कभी नीचे न गिरने वाले, देवमार्ग से आने और जाने वाले उस रश्मिपालक सूर्य को मैं देखता हूँ ॥ १७ ॥

त्रिष्टुप्, दीर्घतमोदृष्टा। आदित्यात्मना घर्मस्तुतिः। स घर्मो भुवनेषु त्रिलोकेषु, अन्तर्मध्ये व्यवस्थितः, आवरीवर्ति पुनः पुनरावर्तते। वृतेर्यङ्लुकि रूपम्। स कीदृशः ? सध्रीचीः, सह अञ्चन्तीति सध्रीच्यः, 'सहस्य सध्रिः' (पा० सू० ६।३।९५) इति सध्रिरादेशः। सहगमना दिशो रश्मयो वा, ता वसान आच्छादयन्। वस्ते इति वसानः, 'वस् आच्छादने' आदादिकः, तस्मात् शानच्। विषूचीः, विषुनिपातो नानार्थः, विषु नाना अञ्चन्तीति विषूच्यस्ताः। नानागमना दिशो रश्मीन् वा वसानः, विषूपपदादञ्चतेः 'ऋत्विग्दधृक्' (पा० सू० ३।२।५९) इत्यादिना क्विनि सर्वापहारिलोपे, 'अनिदिताम्' (पा० सू० ६।४।२४) इति नकारलोपे, 'उगितश्च' (पा० सू० ४।१।६) इति ङीपि, 'अचः' (पा० सू० ६।४।१३८) इत्यकारलोपे, 'चौ' (पा० सू० ६।३।१३८) इति दीर्घे 'विषूची' इति रूपम्। एकः सशब्दः पादपूरणार्थः। स कः ? यमादित्यरूपमहमपश्यं पश्यामि। कीदृशम् ?, गोपाम्, गोपायतीति गोपा गोप्ता, तम्। क्विपि यकारलोपः। अनिपद्यमानम्, न निपद्यत इत्यनिपद्यमानः, तम् अनालम्बनमन्तरिक्षे गच्छन्तमपि नाधः पतन्तम्। च पुनः, पथिभिर्देवमार्गैराचरन्तमागच्छन्तम्, पराचरन्तं परागच्छन्तम्, गमनागमने कुर्वन्तम्।

तथा च ब्राह्मणम्—'एष वै गोपा य एष तपत्येष हीदꣳ सर्वं गोपायत्यथो न निपद्यते तस्मादाहाऽपश्यं गोपामनिपद्यमानमिति' (श० १४।१।४।९)। 'आ च परा च पथिभिश्चरन्तमिति। आ च ह्येष परा च देवैः पथिभिश्चरति स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान इति सध्रीचीश्च ह्येष विषूचीश्च दिशो वस्तेऽथो रश्मीनावरीवर्ति भुवनेष्वन्तरिति पुनः पुनर्ह्येष एषु लोकेषु वरीवर्त्यमानश्चरति' (श० १४।१।४।१०)। एष सूर्यो देवानां मध्ये गोपा गोपायिता, हि यस्मात्, एष सर्वमिदं जगत् प्रकर्षेण प्रकाशादिना रक्षति, अथो अपि च, न निपद्यते न पतति, किन्तूच्चैः सर्वदा दिवि वर्तते। तस्मादनिपद्यमानं गोपां सूर्यमपश्यमिति कृतसाक्षात्कार ऋषिराह। यद्वा प्रवर्ग्यं स्तोतुमध्वर्युराह। एष हि सूर्यो देवसम्बन्धिभिः पथिभिर्मार्गैर्मध्याह्नात् पूर्वमाचरति आभिमुख्येन गच्छति। ततः परस्तात् पराचरति पराङ्मुखः सन् चरति। अपि च, सध्रीचीः सहाञ्चतीः, विषूचीर्विष्वगञ्चतीः, सर्वा दिशः प्राच्याद्याः, एष सूर्यः स्वतेजसा वस्ते आच्छादयति। अथो अपि च, रश्मीन् स्वकिरणान् वस्ते सर्वत्र प्रसारयति। तस्मादेष मन्त्रः सूर्ये सङ्गतः, तदात्मकत्वाच्च प्रवर्ग्ये सङ्गतः। एष खलु सूर्यः, एषु लोकेषु पृथिव्यादिषु, वरीवर्त्यमानोऽत्यन्तं वर्तमानः पुनः पुनश्चरतीति ब्राह्मणार्थः।

अध्यात्मपक्षे—अहं गोपां सूर्यं सूर्यमण्डलान्तर्गतं परमेश्वरं हिरण्यश्मश्रुं हिरण्यकेशमाप्रणखाग्रात् सर्वं हिरण्मयं पुरुषमपश्यम्। कीदृशम् ? अनिपद्यमानमप्रच्युतस्वभावम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अहं यं पथिभिराचरन्तं पराचरन्तमनिपद्यमानं गोपां जगदीश्वरमपश्यम्, स च सध्रीचीः स च विषूचीर्वसानः सन् भुवनेष्वन्तरा वरीवर्ति, तं यूयमपि पश्यत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नीरूपस्य परमेश्वरस्य दर्शनक्रियाऽविषयत्वात्। न च चाक्षुषदर्शनाभावेऽपि मानसदर्शने न काप्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, परात्मदर्शने मनसोऽस्वातन्त्र्यात्। न च तस्य सर्वथाप्याचरणं पराचरणं वा सम्भवति, परिच्छिन्नस्यैव तथात्वोपपत्तेः। न चाच्छादकत्वमपि सम्भवति, तथात्वे आच्छादितस्यादर्शनापत्तेः, आच्छादकस्य दर्शनापत्तेश्च। न चेष्टापत्तिः, विपरीतस्यैवोपलम्भात्॥ १७॥

विश्वा॑सां भुवां पते॒ विश्व॑स्य मनसस्पते॒ विश्व॑स्य वचसस्पते॒ सर्व॑स्य वचसस्पते। दे॒व॒श्रुत् त्वं दे॑व घर्म दे॒वो दे॒वान् पा॑ह्यत्र॒ प्रावी॒रनु॑ वां दे॒ववी॑तये। मधु॒ माध्वी॑भ्यां॒ मधु॒ माधू॑चीभ्याम्॥ १८॥

मन्त्रार्थ—सब भुवनों के स्वामी, समष्टि मन के अधिपति, विश्वसम्बन्धी वाणी के रक्षक, ब्रह्मरूप महावाक् के स्वामी, देवताओं में प्रसिद्ध, दीप्यमान हे घर्म देवता ! तुम देवताओं की रक्षा करो। इस यज्ञ में देवताओं को विशेष आग्रह पूर्वक लाने के लिये अश्विदेवताओं को तृप्त करो। हे अश्विदेवों ! आपके लिये यह मधु समर्पित है, यह मधु आपको समर्पित है, क्योंकि आप मधुब्राह्मण की प्रशंसा करने वाले हैं ॥ १८ ॥

अत्यष्टिः। हे विश्वासां सर्वासां भुवां पृथिवीनां पते पालक प्रवर्ग्य ! हे विश्वस्य मनसस्पते ! सर्वप्राण्याश्रयस्य मनसः पते ! विश्वस्य वचसः सर्वस्य त्रयीलक्षणस्य वचसः पते प्रवर्तक ! सर्वस्य वा लौकिकस्य वचसः प्रवर्तक ! हे देवश्रुत्, देवेषु श्रूयत इति देवश्रुत्, तत्सम्बुद्धौ, देवप्रसिद्ध ! हे देव दीप्यमान, हे घर्म प्रवर्ग्य ! त्वं देवः सन् देवान् पाहि रक्ष। एवं घर्मं सम्प्रार्थ्य अश्विनावाह—हे अश्विनौ ! अत्र यज्ञेऽस्मिन्नवसरे वा देववीतये देवतर्पणाय अनु अनन्तरं घर्मोऽयं प्रवर्ग्यो वां प्रावीः प्रावतु तर्पयतु। लोडर्थे लुङ्, पुरुषव्यत्ययश्च। युवयोस्तृप्त्यैव सर्वदेवानां तर्पणोपपत्तिः।

यद्वा—अनु देववीतये ततोऽनन्तरं देवतर्पणाय वां युवां नमस्करोत्विति वाक्यशेषः। याभ्यां युवाभ्यां दध्यङ्ङाथर्वणो महर्षिर्मधुसंज्ञकं ब्राह्मणमुवाच। तथा च ब्राह्मणम्—'दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधु नाम ब्राह्मणमुवाच' (श० १४।१।४।१३) इति। कीदृशाभ्यां युवाभ्याम् ? माध्वीभ्यां मधुब्राह्मणमीयाते इति माध्व्यौ, ताभ्याम् 'ई गतौ' इत्यस्य क्विपि रूपम्। तथा माधूचीभ्यां मधुब्राह्मणमञ्चतः पूजयत इति मध्वञ्चौ, ताभ्यां माधूचीभ्यामिति। अत्र मध्वभ्यामिति प्राप्ते छान्दसो ङीप्, अलोप आदिदीर्घो लिङ्गव्यत्ययश्च। 'अत्र प्रावीरनु वां देववीतय इति। अश्विनावेवैतदाहाश्विनौ वा एतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।१।४।१२)। अश्विनौ किल पुरा यज्ञस्य प्रवर्ग्याख्यं शिरः प्रत्यधत्तां प्रतिहितवन्तौ, छिन्नस्य पुनः सन्धानं कृतवन्तौ। एतत्प्रतिपादकं ब्राह्मणमत्रैवोद्धृतम्।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वासां सर्वासां भुवां भूमीनां पते परमेश्वर ! हे विश्वस्य सर्वस्य प्राण्याश्रयस्य मनसस्पते पालक ! विश्वस्य वचसस्त्रयीलक्षणस्य पते ! तथा सर्वस्य वचसो लौकिकस्य पते ! हे देवेषु विश्रुत ! हे घर्म प्रवर्ग्य ! यज्ञशिरःयज्ञाराध्य ! त्वं देवः स्वयंप्रकाशः सन् अविद्याविजिगीषून् पाहि ब्रह्मात्मज्ञानप्रदानेन रक्ष। हे अश्विनौ, अत्र यज्ञे देववीयते देवानां तर्पणाय, अनु अनन्तरमेव, घर्मो ज्ञानयज्ञः, वां प्रावीस्तर्पयतु, युवयोस्तृप्त्या सर्वेषां तर्पणात्। याभ्यां युवाभ्यां दध्यङ्ङाथर्वणो मधुसंज्ञकं ब्राह्मणमुवाच। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विश्वासां भुवां पते धर्मप्रदीपक देव जगदीश्वर देवश्रुद् देव ! त्वमत्र देवान् पाहि। माध्वीभ्यां सह मधु प्रावीः। माधूचीभ्यां देववीतये देवाननु पाहि। हे अध्यापकोपदेशकौ ! वां युवाभ्यामहमिदमुपदिशेयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उपदिशेयमित्याद्यंशस्य मन्त्रबाह्यत्वात्, मधु मधुरादियुक्तं घर्म माध्वीभ्यां विद्यासुशिक्षाभ्यामित्यस्य निर्मूलत्वात्। शतपथश्रुतिविरोधोऽत्र सुस्पष्ट एव। अन्यत्तु महीधराद्यनुसरणमेव ॥१८॥

हृदे त्वा मन॑से त्वा दि॒वे त्वा॒ सूर्या॑य त्वा। ऊ॒र्ध्वो अ॑ध्व॒रं दि॒वि दे॒वेषु॑ धेहि ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे देव ! मैं अपने हृदय की स्वस्थता के लिये आपकी स्तुति करता हूँ, मन की शुद्धि के लिये आपकी स्तुति करता हूँ, स्वर्ग की प्राप्ति के निमित्त आपकी स्तुति करता हूँ, सूर्य की तृप्ति के निमित्त आपकी स्तुति करता हूँ। आप सावधान होकर इस यज्ञ में आहूत देवताओं को यथास्थान स्थापित करें ॥ १९ ॥

परोष्णिक्। आद्यावष्टार्णौ तृतीयो द्वादशार्णः सा परोष्णिक्, 'परोष्णिक् परः' (छन्दःशास्त्रम्, ३।२१) इत्युक्तेः। आद्ययोः पादयोर्व्यूहेनाष्टाक्षरः पादः कार्यः। हे प्रवर्ग्य ! हृदे हृदयस्वास्थ्याय त्वा त्वाम्, स्तुम इति शेषः। मनसे मनःशुद्ध्यर्थं त्वा त्वां स्तुमः। दिवे स्वर्गप्राप्त्यै त्वा त्वां स्तुमः। सूर्याय सूर्यतृप्त्यै त्वा त्वां स्तुमः। हृदयस्वास्थ्यं विधाय मनः संशोध्य दिवमस्मान्नीत्वा सूर्यं तर्पय। किञ्च, ऊर्ध्वः सावधानः सन् अध्वरमस्मदीयं यज्ञं दिवि द्युलोके वर्तमानेषु देवेषु धेहि। यज्ञे दिवं गते यजमानोऽपि तत्र गच्छत्येवेति भावः। यद्वा द्युलोके देवेषु, ऊर्ध्वं उत्कृष्टः सन्, अस्मदीयमध्वरं धेहि स्थापयेति।

अध्यात्मपक्षे - हे घर्म प्रदीप्यमान ज्ञानयज्ञ ! हृदयाद्यर्थं त्वां स्तुमः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर ! यं हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय ध्यायेम, स ऊर्ध्वस्त्वं दिवि देवेष्वध्वरं धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ईश्वरस्य प्रचारकत्वादर्शनात्, देवेषु विद्वत्सु विद्वत्त्वादेव प्रचारनैरर्थक्याच्च ॥ १९ ॥

पिता नोऽसि पिता नो बोधि नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः। त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान् पशून् मयि धेहि प्रजामस्मासु धेह्यरिष्टाऽहꣳ सह पत्या भूयासम् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे महावीर ! आप हमारे पिता हो, पिता के समान हमें ज्ञान का उपदेश दो। हम आपको प्रणाम करते हैं। आप हमें कोई हानि मत पहुँचाओ। यजमान-पत्नी कहती है कि हे घर्म ! त्वष्टा देवता के आधिपत्य में स्थित हम आपका स्पर्श करते हैं। हमें आप पुत्र, पौत्र, पशु आदि से समृद्ध बनाओ। हमारी प्रजा की वृद्धि करो। मैं अपने पति के साथ निर्विघ्न जीवन यापन करूँ ॥ २० ॥

ऋग्गायत्री। हे महावीर ! त्वं नोऽस्माकं पितासि पालको भवसि। स पितेव नोऽस्मान् बोधि बोधय। नमस्ते ते तुभ्यं नमोऽस्तु। मा मां हिंसीर्मा जहि। **महावीरोपस्थानं समाप्तम्, अवकाशमन्त्राश्चावसिताः।** 'त्वष्टृमन्त इत्येनां वाचयति महावीरमीक्षमाणाम्' (का० श्रौ० २६।४।१३)। महावीरमीक्षमाणामपनीतशिरोवस्त्रां घर्मं पश्यन्तीं पत्नीमध्वर्युर्वाचयतीति सूत्रार्थः। त्रिष्टुप्, घर्मदेवत्या, पत्न्याशीः। हे घर्म ! वयं त्वा त्वां सपेम, 'सपतेः स्पृशतिकर्मणः' (नि० ५।१६) इति यास्कः। मैथुनाय त्वामुपस्पृशामः। यतो वयं त्वष्टृमन्तः। त्वष्टा हि चेतसां विकर्ता। त्वष्टा विद्यते येषां ते तथोक्ताः। त्वष्टृयुक्ता वयं त्वामुपस्पृशामः। अतो मय्यस्मासु पुत्रान् पशूंश्च धेहि स्थापय। प्रजामुत्तरोत्तरं वंशवृद्धिमस्मासु धेहि। किञ्च, पत्या भर्त्रा सहारिष्टाऽनुपहिंसिता अहं भूयासम्। भर्तृमती चिरं जीवेयमित्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पत्न्यै शिरोऽपावृत्य। महावीरमीक्षमाणां वाचयति त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेमेति वृषा वै प्रवर्ग्यो योषा पत्नी मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते' (श० १४।१।४।१६) इति। वृषा वर्षणसमर्थः प्रवर्ग्यः, पत्नी योषा स्त्री। तथा चैतदेतेन मिथुनेन प्रजोत्पत्तिसाधनेन, एनं प्रवर्ग्यं समर्धयति। ततो यज्ञमपि कृत्स्नं करोति।

अध्यात्मपक्षे—हे घर्म ! ज्ञानयज्ञाधिष्ठातः परमेश्वर ! त्वं नः पितासि, अज्ञानमयसंसारात् पालकत्वात्। तेन पितेव नोऽस्मान् बोधि बोधय। ते तुभ्यं नमोऽस्तु। मा मां हिंसीर्ब्रह्मात्मज्ञानान्मा प्रच्यावय। पत्न्यो बुद्धयो वा प्रार्थयन्ते –हे घर्म ! त्वष्टृमन्तो वयम्, त्वष्टा चेतसां विकर्ता, तद्वन्तो वयम्, त्वां सपेम स्पृशामः। तेन मयि पुत्रान् पशून् मयि धेहि। अस्मासु प्रजामुत्तरोत्तरं वंशवृद्धिं धेहि। अरिष्टाऽहं सह पत्या भूयासम्।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर ! त्वं नः पितासि, पिता सन्नो बोधि, ते नमोऽस्तु, मां मा हिंसीः। त्वष्टृमन्तो वयं त्वां सपेम। त्वं पुत्रान् पशून् मयि धेहि। अस्मासु प्रजां धेहि। यतोऽहमरिष्टा सती सह पत्या भूयासम्' इति, तदपि न, जगदीश्वरेण सम्बन्धानिरूपणात्। अन्वये—'अहमरिष्टा सह पत्या' इत्युक्तम्, भावार्थे तु—हे स्त्रियः, यूयं परमात्मन एवोपासनां नित्यं कुरुत' इति, तदपि परस्परं विरुद्धमेव, श्रुतिविरोधश्च। सोऽपि सिद्धान्तव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ २० ॥

अहः केतुना जुषताᳬं सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा।

रात्रिः केतुना जुषताᳬं सज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ॥ २१ ॥

॥ इति सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—दिन कर्म के साथ तृप्त हो, अर्थात् मनुष्य निरन्तर क्रियाशील बना रहे। अच्छी ज्योति अपने तेज के साथ तृप्त हो। हमारी दी हुई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। पितृयान मार्ग अथवा रात्रि कर्म के साथ तृप्त हो, अच्छी ज्योति अपने तेज के साथ तृप्त हो, हमारी दी हुई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २१ ॥

'अहः केतुनेति दक्षिणᳬं रोहिणं जुहोति' (का० श्रौ० २६।४।१४)। उपस्थानगानयोः समाप्तौ रौहिणहवन्या स्रुचा दक्षिणं रौहिणं पुरोडाशं सर्वहुतं जुहोतीति सूत्रार्थः। घर्मदेवत्ये यजुषी सामानुष्टुभौ। केतुना प्रज्ञया कर्मणा वा सहितमहर्दिनं जुषतां रौहिणहोमेन प्रीयताम्। कीदृशमहः ? ज्योतिषा स्वकीयेनैव तेजसा सुज्योतिः सुष्ठु शोभनं ज्योतिः प्रकाशो यस्य तत्, शोभनतेजस्कम्। स्वाहा एतद्धविः सुहुतमस्तु। रोहत्यारोहति स्वर्गं यजमानो याभ्यां तौ रौहिणौ, अग्न्यादित्यौ अहोरात्रे वा। 'रात्रिरिति सायम्' (का० श्रौ० २६।४।१४)। अपराह्णकालीने प्रवर्ग्यचरणे रात्रिः केतुनेति द्वावपि रौहिणौ यथाकालं जुहुयात्। स्वाहा रुद्राय इत्येतत्कर्मणोऽनन्तरं चायं होमः। तत्रापि रात्रिरिति मन्त्रस्य पुनः पाठोऽस्तीति सूत्रार्थः। केतुना प्रज्ञया कर्मणा वा सहिता रात्रिः, जुषतां प्रीयताम्। ज्योतिषा कृत्वा सुज्योतिः शोभनज्योतिष्का।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथातो रौहिणौ जुहोति। अहः केतुना जुषताᳬं सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहेत्युभावेतेन यजुषा प्राता रात्रिः केतुना जुषताᳬं सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहेत्युभावेतेन यजुषा सायम्' (श० १४।२।१।१)। आज्यपूर्णे महावीरे गवाजयोः पयसोरासेचनविधित्सया तयोर्दोहनात् पूर्वं तदासेचनोत्तरकालं च होतव्ययोः रौहिणपुरोडाशयोर्होमं विधत्ते—अथातौ रौहिणौ जुहोतीति। पत्नीवाचनानन्तरं यत एतौ रौहिणहोमौ प्रवर्ग्यस्य आज्यभागवच्चक्षुष्ट्वेन वक्ष्यमाणप्रकारेण संस्तुतौ, अतः प्रवृञ्जनात् पूर्वं रौहिणौ जुहोति। तत्र प्रातःकालीने प्रवर्ग्ये 'अहः केतुना' इत्येतेन यजुषा, सायंकालीने प्रवर्ग्ये 'रात्रिः केतुना' इति यजुषा उभौ रौहिणौ जुहोति। 'अग्निश्च ह वा आदित्यश्च रौहिणावेताभ्याᳬं हि देवताभ्यां यजमानाः स्वर्गं लोकᳬं रोहन्ति' (श० १४।२।१।२)। पुरोडाशावेता अग्न्यादित्यात्मना स्तौति—एताभ्यां हीति। सायंप्रातःकालीनाग्निहोत्रदेवताभ्यामग्निहोत्रानुष्ठायिनो यजमानास्तत्फलभूतं स्वर्गं लोकमारोहन्ति। तस्माद् रोहणसाधनत्वादग्न्यादित्यावेव रौहिणौ। अतस्तदात्मक-रौहिणहोमाद् यजमानोऽपि स्वर्गं लोकं प्राप्नोतीत्यर्थः। 'आदित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमहोरात्राभ्यां परिगृह्णाति तस्मादेषोऽहोरात्राभ्यां परिगृहीतः' (श० १४।२।१।३)। 'अथो इमौ वै लोकौ रौहिणौ। आदित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमाभ्यां लोकाभ्यां परिगृह्णाति' (श० १४।२।१।४)। 'अथो चक्षुषी वै रौहिणौ। शिरः प्रवर्ग्यः शीर्षंस्तच्चक्षुर्दधाति' (श० १४।२।१।५)। एतौ रौहिणपुरोडाशौ यज्ञस्य चक्षुःस्थानीयौ। तस्य शिरः प्रवर्ग्यः, तत्तथा शीर्षन् शिरसि चक्षुर्दधाति धारितवान् भवतीति।

अध्यात्मपक्षे—केतुना प्रज्ञया सहितं सनाथितमहर्दिनं जुषतां प्रीयताम् । कीदृशमहः ? ज्योतिषा स्वकीयेन तेजसा सुज्योतिः शोभनेन ज्ञानात्मकेन ज्योतिषा सुज्योतिर्विशिष्टतेजस्कम् । स्वाहा तादृशेन ज्ञानयज्ञेन स्वाहा सर्वमिदं ब्रह्मणि सुहुतमस्तु । केतुना ब्रह्मात्मज्ञानात्मकेन केतुना सहिता रात्रिर्जुषताम् । कीदृशी रात्रिः ? ज्योतिषा ज्ञानात्मकेन ज्योतिषा शोभनज्योतिष्का । स्वाहा सर्वमिदं ब्रह्मणि सुहुतमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् वा विदुषि स्त्रि वा ! भवती स्वाहा । केतुना ज्योतिषा चाहः सुज्योतिर्जुषतां स्वाहा केतुना ज्योतिषा सह सुज्योती रात्रिरस्मान् जुषताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । स्वाहा सत्क्रिययेत्यपि निर्मूलम् । केतुना जागरूकेण ज्ञानेन जागृतावस्थयेत्यपि निर्मूलमेव । स्वाहा सत्यया वाचेत्यपि निर्मूलम्, पूर्वोक्तव्याख्यानोद्धृतश्रुतिविरोधाच्च । रौहिणहोमशेषत्वात् तदनुगुणमेव व्याख्यानं युक्तम् ॥ २१ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आ ददेऽदित्यै रास्नाऽसि ।।१।।

मन्त्रार्थ—हे रज्जु के अधिष्ठात्री देव ! सविता देवता की आज्ञा में वर्तमान मैं अश्विनीकुमारों की भुजाओं से, पूषा देवता के हाथों से तुम्हें ग्रहण करता हूँ । तुम अदिति रूप गौ की मेखला हो ।। १ ।।

'देवस्य त्वेति रज्जुसन्दानमादायेड एहीति गामाह्वयति नाम्ना च त्रिरुच्चैरपरेण गार्हपत्यं गच्छन्' (का० श्रौ० २६।५।१)। घर्मदुघा गोर्बन्धनार्था पाशवती रज्जुः। अध्वर्युर्देवस्य त्वेति मन्त्रेण तस्या एव पश्चात्पादनियोजनार्थं सन्दानमादाय गार्हपत्यस्य पश्चाद् गच्छति। 'इड एहि' इत्यादिवाक्यत्रयेण घर्मदुघां गामाह्वयति। ततो गोर्नाम्ना च उच्चैस्त्रिवारमाह्वयति। नाम चात्र व्यावहारिकम्। रज्जुदेवत्यं यजुः। प्राजापत्या गायत्री। हे रज्जो ! सवितुर्देवस्य प्रसवे आज्ञायां वर्तमानोऽहमश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे। यतस्त्वमदित्यै अदित्या देवमातुः, रास्ना रसना मेखला, असि।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रेमरज्जो ! त्वां सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे। त्वं च अदित्याः श्रीत्रिपुरसुन्दर्याः, रास्नासि मेखलासि, अलङ्कारभूतत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे विदुषि ! यस्त्वमदित्यै रास्नासि, तस्मात् सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे' इति, तदपि न, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, स्त्रीग्रहणस्य लौकिकत्वेन तत्र मन्त्रविनियोगाभावेन च मन्त्रवैयर्थ्यात्। किञ्च, आदित्यो देवताऽस्य मन्त्रस्योक्ता। न चात्र तस्याः प्राधान्यम्। सिद्धान्ते तु शतपथब्राह्मणाधारेण रज्ज्वाः सम्बोधनम्। अदितिपदस्य नाशरहिता नीतिरपि नार्थः, निर्मूलत्वात्। गौणार्थाश्रयणाच्चासङ्गतमिदं व्याख्यानम्। श्रुतौ तु—'अथ रज्जुमादत्ते। देवस्य त्वा' (श० १४।२।१।६) इति गोदोहनार्थं समन्त्रकं रज्ज्वादानं विहितम्, न तु स्त्रिया आदानम् ॥ १ ॥

इड एह्यदित एहि सरस्वत्येहि । असावेह्यसावेह्यसावेहि ।। २ ।।

मन्त्रार्थ—हे इड़ा नामक गौ ! यहाँ आओ । हे अदिति नामक गौ ! यहाँ आओ । हे सरस्वती नामक गौ ! यहाँ आओ । हे धवल वर्ण की गौ ! यहाँ आओ । हे श्याम वर्ण की गौ ! यहाँ आओ । हे रक्त वर्ण की गौ ! यहाँ आओ ।।२।।

हे इडे मानवि ! एहि आगच्छ। हे अदिते देवमातः ! एहि। हे सरस्वति वाक् ! एहि। अतस्मिंस्तच्छब्दस्तत्सादृश्यार्थः। नाम्ना त्रिरुच्चैराह्वयति—असौ धवलि, असौ स्वस्तिमति एहि। एवं त्रिः, 'अथ गामाह्वयति। जघनेन गार्हपत्यं यन्निड एह्यदित एहि सरस्वत्येहीतीडा हि गौरदितिर्हि गौः सरस्वती हि गौरथोच्चैराह्वयति नाम्नाऽसावेह्यसावेहीति त्रिः' (श० १४।२।१।७) इति श्रुतेः। दैवीभिः संज्ञाभिर्घर्मदुहो गोराह्वानम्। अथ रज्ज्वादानानन्तरं जघनेन गार्हपत्यं यन् गार्हपत्यस्यादूरेण पश्चिमदेशेन गच्छन्नध्वर्युरिड एहीत्यादिभिस्त्रिभिर्वाक्यैरुपांशु गामाह्वयति। इडाऽदितिसरस्वतीशब्दा गोर्वैदिक्यः संज्ञाः। तद् ब्राह्मणं व्याचष्टे—इडा हि गौरदितिर्हि गौरित्यादि। अथ लौकिकेन नाम्ना तस्या आह्वानम्। अथोच्चैराह्वयति

देवनामभिर्मनुष्यनामभिश्च । तस्या आह्वानं तैत्तिरीयारण्यके आम्नातम्—'इड एह्यदिते एहि सरस्वत्येहि । एतानि वै ह्यस्य देवनामानि····असावेह्यसावेह्यसावेहीत्याह । एतानि वै अस्यै मनुष्यनामानि' (तै० आ० ५।७।१) ।

अध्यात्मपक्षे— ब्रह्मयज्ञे हे इडे, हे अदिते, हे सरस्वति, एहीति वैदिकीनां गवां वाचां लौकिकीनां च वाचामुपयोगार्थमाह्वानम्, तत्रोभयविधानां वाचामुपयोगदर्शनात् ।

दयानन्दस्तु—'हे इडे, त्वं मामेहि योऽसौ त्वां प्राप्नुयात् तमेहि । हे अदिते, त्वमखण्डितानन्दमेहि । योऽसौ त्वामखण्डानन्दं दद्यात् तमेहि । हे सरस्वति ! त्वं विद्वांसमेहि । योऽसौ सुशिक्षकः स्यात् तमेहि' इति, तदपि तुच्छम्, अत्र स्त्रीपुरुषसम्बन्धविधाने प्रमाणाभावात् । श्रुतयश्च तद्विरुद्धा दर्शिता एव ॥ २ ॥

अदि॑त्यै॒ रास्ना॑ऽसीन्द्रा॒ण्या उ॒ष्णीषः॑ । पू॒षाऽसि घ॒र्माय॑ दीष्व ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे रज्जुपाश ! तुम गाय की रसना हो, गाय के लिये शिरोवेष्टन हो । हे वत्स ! तुम वायुरूप हो, इस लिये घर्म के लिये थोड़ा दूध छोड़ दो ॥ ३ ॥

'अदित्यै रास्नेति गां पाशेन प्रतिमुच्य स्थूणायां बध्वा पूषाऽसीति वत्समुत्सृजति' (का० श्रौ० २६।५।४) आगतां गामदित्या इति मन्त्रेण पाशेन स्थूणायां बद्ध्वा पूषाऽसीति वत्सं मुञ्चति । हे रज्जुपाश, त्वमदित्यै रास्नासि इन्द्राण्यै इन्द्रपत्न्या उष्णीषः शिरोवेष्टनमसि । एतेन पाशमिन्द्राण्युष्णीषं करोति, 'तामागतामभिदधाति । अदित्यै रास्नासीन्द्राण्या उष्णीष इतीन्द्राणी ह वा इन्द्रस्य प्रिया पत्नी तस्या उष्णीषो विश्वरूपतमः नोऽसीति तदाह तमेवैतमेतत्करोति' (श० १४।२।१।८) इति श्रुतेः । उभयविधैर्नामभिराहूतायास्तस्या बन्धनं विधत्ते । नात्र दयानन्दीयरीत्या आगतायाः स्त्रिया बन्धनं सम्भवति । इन्द्रस्य प्रिया पत्नी इन्द्राणी, तस्या उष्णीषः शिरोवेष्टनम् । विश्वरूपतमोऽतिशयेन सर्वरूपयुक्तः । शुक्लकृष्णपीतादिनानावर्णयुक्तत्वेन चित्रभूत इत्यर्थः । हे रज्जुपाश ! स त्वमसीति । वत्सं मुञ्चति पूषासीति । देव्यनुष्टुप्, वत्सो देवता । त्वं पूषा वायुरसि । वायुर्यथा वृष्टिमाप्याययति, तथा त्वं प्रस्रावणेन जगदुत्पत्तिबीजं पय आप्याययसि, 'अथ वत्समुपार्जति । पूषासीत्ययं वै पूषा योऽयं पवत एष हीद७ँ सर्वं पुष्यत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।२।१।९) इति श्रुतेः । 'सन्दाय घर्माय दीष्वेति वत्समुन्नयति' (का० श्रौ० २६।५।४) । धेनुं रज्ज्वा पश्चिमपादयोर्बद्ध्वा वत्समपाकरोतीत्यर्थः । दैवी पङ्क्तिः, वत्सो देवता । हे वत्स, घर्माय घर्मार्थं दीष्व देहि पयः, पयः शेषय, मा सर्वं पासीरित्यर्थः । 'दो दाने', 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुक् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोन्नयति । घर्माय दीष्वेत्येष वा अत्र घर्मो रसो भवति यमेषा पिन्वते तस्मै दयस्वेत्येवैतदाह' (श० १४।२।१।१०) । वत्समुत्सृज्य प्रस्तुतायां गवि, अथानन्तरं 'घर्माय दीष्व' इति मन्त्रेणोन्नयति, अधःप्रदेशादुत्कृष्यान्यत्र नयति, पुरतो बध्नातीत्यर्थः । तद्व्याचष्टे—यं पयोरूपं रसं एषा गौः पिन्वते सिञ्चति दुग्धे, एष एव रसोऽत्र मन्त्रे घर्मो घर्मशब्दाभिधेयो भवति । तस्मै रसाय घर्मोपयुक्तं पयः, दयस्व देहि । 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु' ।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रेमरज्जुपाश ! त्वमदित्यै रास्ना मेखलासि । इन्द्राण्या उष्णीषोऽसि । हे ज्ञानयज्ञ, त्वं पूषासि पोषकोऽसि । घर्माय ब्रह्मप्रकाशाय दीष्व देहि, सामर्थ्यमिति शेषः ।

दयानन्दस्तु—'हे कन्ये ! या त्वमदित्यै रास्नासि उष्णीष इवेन्द्राण्यै पूषासि, सा त्वं घर्माय दीष्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात् । अदित्यै नित्यविज्ञानमित्यपि निर्मूलम्, धात्वर्थविरोधात् । इन्द्राणीपदस्य परमैश्वर्यवती नीतिरिति, तथैवोष्णीषपदस्योष्णीषतुल्यत्वमर्थ इत्यादि च निर्मूलमेव ॥ ३ ॥

अश्विभ्यां पिन्वस्व सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय पिन्वस्व। स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे दूध ! अश्वि-देवताओं के लिये तुम निकलो, वाणी की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी के लिये निकलो, इन्द्र के लिये निकलो। दुहते समय जो दुग्धकण पृथ्वी पर गिरें, उनका होम में विनियोग हो, वे इन्द्र देवता से युक्त हों ॥ ४ ॥

'अश्विभ्यां पिन्वस्वेति पिन्वने दोग्धि' (का० श्रौ० २६।५।६)। पिन्वने पात्रे प्रतिमन्त्रं गां दोग्धीत्यर्थः। अश्विभ्यां पिन्वस्व, इन्द्राय पिन्वस्व यजुर्गायत्र्यौ। सरस्वत्यै पिन्वस्व यजुरनुष्टुप्। लिङ्गोक्ता देवताः। हे पयः ! अश्विभ्यामर्थाय त्वं पिन्वस्व संप्लवस्व, सरस्वत्यै च पिन्वस्व। 'अथ पिन्वने पिन्वयति।''' अश्विनौ वा एतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत्प्रीणाति' (श० १४।२।१।११)। यज्ञस्य एतत् शिरश्छिन्नं शिरः, अश्विनौ खलु देवौ पुरो प्रत्यधत्तां सन्धानं कृतवन्तौ। सरस्वत्या वाचा कृत्वा इन्द्राय यज्ञशिरोऽश्विभ्यां संहितमिति तयोरर्थे क्षरस्वेति भावः। 'स्वाहेन्द्रवदिति विप्रुषोऽभिमन्त्रयते' (का० श्रौ० २६।५।७)। पिन्वन-पतितान् पयःकणान् अभिमन्त्रयते। यजुर्जगती, विप्रुषो देवताः। यद् दुह्यमाने स्कन्नं तत् स्वाहा सुहुतमस्तु, इन्द्रवद् इन्द्रसम्पृक्तं चास्तु। 'सरस्वत्यै पिन्वस्वेति। वाग् वै सरस्वती वाचा वा एतदश्विनौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत्प्रीणाति' (श० १४।२।१।१२)। सरस्वतीशब्देनात्र वागुच्यते। अश्विनौ हि वाचा मन्त्ररूपया खलु पुरो यज्ञस्यैतच्छिरः प्रत्यधत्ताम्। अतो यज्ञशिरःसन्धानसाधनभूतां वाचमेतेन मन्त्रेण प्रीणाति। 'इन्द्राय पिन्वस्वेति। इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सा यैव यज्ञस्य देवता तयैवैतदश्विनौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्' (श० १४।२।१।१३)। इन्द्रः खलु यज्ञस्य सोमयागस्य प्रधानभूता देवता, कार्त्स्न्येन माध्यन्दिनसवनभाक्त्वात्। तद्धि यज्ञस्य शरीरम्, गृहस्य पृष्ठवंशस्थानीयैः पृष्ठस्तोत्रैरुपेतत्वात्। सा तादृशी यैव यज्ञस्य देवता, तयैव साधनभूतया अश्विनौ यज्ञस्यैतच्छिरः प्रत्यधताम्। 'अथ विप्रुषोऽभिमन्त्रयते।''''स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवदितीन्द्रो'''' त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञोऽवरार्ध्य॑ स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः' (श० १४।२।१।१४)। विप्रुषो दोहनसमयोत्पन्नान् बिन्दूनभिमन्त्रयते। सवनत्रयवत्त्वेन गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निभिर्यज्ञस्य त्रिवृत्त्वमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे विचारपीयूष ! त्वमश्विभ्यां तद्वद् गुरुशिष्याभ्यां पिन्वस्व प्लावयस्व। सरस्वत्यै वाचे वेदान्तरूपायै पिन्वस्व। इन्द्राय परमेश्वराय च पिन्वस्व। यद् दुह्यमानं पतितं विचारामृतम्, तदिन्द्राय स्वाहा सुहुतमस्तु, सर्वस्वं समर्पितमस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे विदुषि स्त्रि ! त्वमिन्द्रवत् स्वाहा सत्यया क्रिययाऽश्विभ्यां चन्द्रसूर्याभ्यां पिन्वस्व तृप्नुहि। इन्द्रवत् स्वाहा सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय स्वाहेन्द्राय पिन्वस्य' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्। पिन्वस्वेत्यस्य तृप्नुहि सन्तुष्यतु, सन्तुष्टा भवेत्यर्थस्य चिन्त्यत्वात्। इन्द्रपदस्य ऐश्वर्यवद्वस्तुचेतनात्मगुणसंयुक्तं शरीरं प्राप्येत्यादिकं च निर्मूलमेव। श्रुतिषु प्रसिद्धरूढार्थस्य बाध एव यौगिकार्थो गृह्यते। यौगिकार्थस्याऽपि बाधे लाक्षणिको गौणोऽर्थो गृह्यते। शब्दस्यानेकार्थत्वे तूपपन्नोऽर्थो गृह्यते, यथा 'अथ'शब्दस्य 'अथैष ज्योतिः', 'अथ शब्दानुशासनम्' (महाभाष्यारम्भे पतञ्जलिः) इत्यादावधिकारार्थत्वेऽपि, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इत्यत्रानन्तर्यार्थ एव गृह्यते, जिज्ञासायाः कृत्यविषयत्वेनानधिकार्यत्वात्, अप्रस्तूयमानत्वाच्च। न चेह मङ्गलमथशब्दस्य वाच्यं लक्ष्यं वा, किन्तु मृदङ्गादिध्वनिवदथशब्दश्रवणमात्रं कार्यम्। न च कार्यज्ञाप्ययोर्वाक्यार्थे समन्वयः, न च प्रकृतापेक्षोऽथशब्दार्थः।

यथा किमयमथशब्द आनन्तयर्थिः, अथाधिकार इति विमर्शवाक्ये पूर्वप्रकृतस्य प्रथमपक्षोपन्यासपूर्वकं पक्षान्तरोपन्यासो भवति। न चास्यानन्तर्यमर्थः, पूर्वप्रकृतस्य प्रथमपक्षोपन्यासेन व्यवधानात्। न च पूर्वप्रकृतानपेक्षा, तदनपेक्षस्य तद्विषयत्वाभावेनाऽसमानविषयतया विकल्पानुपपत्तेरिति। यद्यप्यानन्तर्यं विनापि पूर्वप्रकृतापेक्षोऽथशब्दो भवति, तथापि ब्रह्मजिज्ञासाहेतुभूतस्य पूर्वप्रकृतस्य ग्रहणे आनन्तर्याव्यतिरिक्तार्थतयैव, अहेतुभूतस्य यस्य कस्यचित्प्रकृतस्य ग्रहणे तु नैरर्थक्यमेवास्य। अत एवानन्तर्यमपि न यस्य कस्यचित्, तस्याभिधानमन्तरेणापि प्राप्तत्वात्। अवश्यं हि जनः किञ्चित् कृत्वा किञ्चित् करोति। तस्माद्यद्विना ब्रह्मजिज्ञासा नोपपद्यते, यस्मिन् सति भवन्ती भवत्येतस्य साधनचतुष्टयस्यैवानन्तर्यं विवक्षितं भवति। न चैवमत्र पिन्वस्वेत्यस्यानेकार्थता, नापि मुख्यार्थबाधो दृश्यते, नापि लाक्षणिकोऽर्थः, बीजाभावात्। तस्मात् सर्वमेतद् यत्किञ्चिदेव ॥ ४ ॥

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे गाय ! जो तुम्हारा स्तन सुख से शयन कराने वाला है, सुखदायक है, जो स्तन घृत आदि का धारक होने से धनवान् है, जो स्तन श्रेष्ठ दाता है, जिस स्तनसमूह से सब वरणयोग्य वस्तुओं को तुम पुष्ट करती हो, उस स्तनसमूह को इस यज्ञ में पान के अर्थ दान करो। मैं विशाल अन्तरिक्ष में विचरण करता हूँ ॥ ५ ॥

'यस्ते स्तन इति स्तनमालभते' (का० श्रौ० २६।५।८)। यस्ते स्तन इति मन्त्रेण गोस्तनमालभते। जातावेकवचनम्। वाग्देवत्या त्रिष्टुप्, दीर्घतमस आर्षम्। हे सरस्वति ! तं स्तनमिह स्थाने धातवे पातुं पानार्थमकः कुरु। 'धेट् पाने', तुमर्थे तवेप्रत्ययः। मम पानाय प्रयच्छेत्यर्थः। लोडर्थे लङ्, शपि लुप्ते गुणः। तं कम् ? यस्ते तव स्तनः स्तन इव स्तनः, यश्च शशयः 'शीङ् स्वप्ने', शेत इति शशयः, अच्प्रत्यये द्वित्वं पूर्वस्यात्वं च छान्दसम्, सुप्त इवास्ते, अन्यैरनुपभुक्त इत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथास्मै स्तनमभिपद्यते।....यस्ते स्तनो निहितो गुहायामित्येवैतदाह' (श० १४।२।१।१५)। हे घर्म ! धुक् धेनो, ते तव स्तनं गुहायामस्माभिरदृश्ये दिव्येऽवस्थाने निहितो निक्षिप्तो बभूवेति, यश्च मयोभूः, मयः सुखं भावयति प्रापयति सर्वभूतानामिति मयोभूः, यश्च रत्नधाः, रमणीयानां धनानां धारयिता, यश्च वसुवित्, वसूनि धनानि विन्दति वेत्ति वा वसुवित्, यश्च सुदत्रः सुष्ठु ददातीति कल्याणदानः, धनवानपि सन् कश्चिन्नोत्सहते दातुम्, त्वं तु धनवान् दाता चेत्यन्येभ्य आधिक्यम्। किञ्च, येन स्तनेन विश्वा विश्वानि सर्वाणि वार्याणि वरणीयानि वस्तूनि त्वं पुष्यसि पुष्णासि। हे सरस्वति ! तं स्तनमिह धातवेऽस्माकं पानाय, अकः कुरु। 'उपद्रव पयसेत्युच्यमाने गच्छत्युर्वन्तरिक्षमिति' (का० श्रौ० २६।५।१२)। उपद्रवेति मन्त्रे प्रोच्यमाने उर्विति मन्त्रेणाध्वर्युर्गोसमीपं गार्हपत्यं प्रति गच्छति। प्राजापत्या गायत्री। उरु विशालमन्तरिक्षमनु एमि गच्छामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्र इति यो धनानां दाता....येन सर्वान् देवान् सर्वाणि भूतानि बिभर्षीत्येवैतदाह....वाग्वै सरस्वती सैषा घर्मदुघा यज्ञो वै वाग् यज्ञमस्मभ्यं प्रयच्छ येन देवान् प्रीणामेत्येवैतदाहाथ गार्हपत्यस्यार्धमैत्युर्वन्तरिक्षमन्वेमीति' (श० १४।२।१।१५)। हे घर्मधुग् धेनो ! तव स्तनोऽस्माभिरदृश्ये दिव्ये स्थाने निहितो बभूव। यश्च रत्नधा रमणीयानां धनानां धारयिता। वसुविद् वसूनां कनकरजतादीनां

वेदिता लम्भयिता, यः सुदत्रः शोभनो दाता, अत एव पणाय्यः स्तुत्यः। एवंगुणविशिष्ट एव लोके स्तूयते। येन खलु स्तनेन सर्वान् देवान् हविर्भागार्हान्, सर्वाणि च भूतानि पशुपक्षिमृगमनुष्यादीनि बिभर्षि पोषयसि। सरस्वती वागात्मिका, न तु नदीरूपा। सैव सरस्वती एषा कामदुघा घर्मदुघा घर्मार्थस्य पयसो दोग्ध्री धेनुः। सरस्वत्येहीत्याह्वानम्, मन्त्रे तस्यास्तादात्म्यप्रतिपादनात्। सा च वाक् यज्ञः, 'यज्ञो वै वाक्' इत्यत्रैवोक्तेः। यज्ञ एव स्तुतिशस्त्रादिरूपया तयैव निष्पाद्यत्वात्। अतो यज्ञमस्मभ्यं प्रयच्छ, येन खलु वयं देवान् हविर्भुजः प्रीणाम तर्पयाम। यद्यपि हे सरस्वति ! तथाविधं स्तनम्, इहास्मिँल्लोके धातवे पातुम्, अकः कुर्विति मन्त्रार्थः प्रतीयते, तथापि सरस्वतीशब्दसूचितोऽर्थो ब्राह्मणेन व्याख्यायत इति मन्तव्यम्।

अध्यात्मपक्षे—हे सरस्वति ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्रि ! चित्सदानन्दमयि मातः ! यस्ते स्तनः शशयः सुप्तो दिव्ये धाम्नि विराजितत्वाद् दुर्ज्ञेयोऽन्यैरपीत्यभिप्रायः। यो मयोभूः सुखानां प्रापकः, यश्च रत्नधा रमणीयानां धनानां धारयिता, वसुवित् कनकरत्नादीनां लम्भयिता, यश्च सुदत्रः शोभनो दाता। येन विश्वा विश्वानि सर्वाणि वार्याणि वरणीयानि पशुपक्षिमृगमनुष्यदेवादीनि पुष्यसि पुष्णासि, तमिह धातवे पातुमकः कुरु। तत्र विघ्नो मा भूदित्यहं उरु विशालं त्वत्कृपापूर्णमन्तरिक्षमनुगच्छामि।

दयानन्दस्तु—'हे सरस्वति स्त्रि ! यस्ते शशयः स्तनः, यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रो येन विश्वा वार्याणि पुष्यसि, तमिह धातवेऽकः, तेनाहमुर्वन्तरिक्षमन्वेमि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शेते यस्मिन् यः स इत्यनुपपत्तेः, स्तनस्य शयनाधारत्वासिद्धेः, श्रुतिविरोधाच्च। श्रुतौ हि स्पष्टं गुहाहितत्वेन शशयत्वमुक्तम्। न च तत्सामान्ययोषिति सम्भवति, न च सामान्यस्त्रीजनस्य स्तनो रत्नानि धारयति, न वा वसूनि लम्भयति, न च तेन कश्चिद् विश्वानि वार्याणि पुष्यति ॥ ५ ॥

गा॒य॒त्रं छन्दो॑ऽसि॒ त्रैष्टु॑भं॒ छन्दो॑ऽसि॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्यां॑ त्वा॒ परि॑ गृह्णाम्य॒न्तरि॑क्षे॒णोप॑ यच्छामि। इन्द्रा॑श्विना॒ मधु॑नः सार॒घस्य॑ घ॒र्मं पा॑त॒ वस॑वो॒ यज॑त॒ वाट्। स्वाहा॒ सूर्य॑स्य र॒श्मये॑ वृष्टि॒वन॑ये ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे परीशास ! तुम गायत्री छन्द के रूप हो, त्रिष्टुप् छन्द के रूप हो। हे महावीर ! पृथ्वी और स्वर्ग की प्रीति के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे घर्म ! आकाश में तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे इन्द्र, हे अश्विनीकुमारों, हे वसुदेवताओं ! मधु-मक्षिकाओं के द्वारा सम्पादित मधु के समान मधुर रस वाले दूध के रस का पान करो। वषट्कार द्वारा श्रेष्ठ होम हो, सूर्य की वर्षा कराने वाली किरणों के लिये यजन करो ॥ ६ ॥

'परीशासावादत्ते गायत्रं छन्दोऽसीति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।५।१३)। गायत्रमित्यादिमन्त्राभ्यां परीशासौ गृह्णातीत्यर्थः। यजुर्गायत्र्यौ परीशासौ देवते। हे परीशास ! त्वं गायत्रं छन्दोऽसि। गायत्र्येव गायत्रम्, स्वार्थेऽण्, गायत्रीच्छन्दरूपोऽसि। हे द्वितीय परीशास। त्वं त्रैष्टुभम्, त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभम्, त्रिष्टुप्छन्दोरूपोऽसि। 'ताभ्यां महावीरं परिगृह्णाति द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिगृह्णामीति' (का० २६।५।१५)। ताभ्यां परीशासाभ्यां महावीरमादत्त इत्यर्थः। यजुर्जगती महावीरो देवता। हे महावीर ! द्यावापृथिवीभ्यां द्युलोकभूलोकाभ्यां त्वा त्वां परिगृह्णामि। परीशासयोर्द्यौश्च पृथिवी चाध्यस्ते, महावीरे चादित्योऽध्यस्तः।

अत्र ब्राह्मणम्—अथ शफावादत्ते। गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं छन्दोऽसीति गायत्रेण चैवैनावेतत् त्रैष्टुभेन च च्छन्दसाऽऽदत्ते द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिगृह्णामीतीमे वै द्यावापृथिवी परीशासावादित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति' (श० १४।२।१।१६)। अथैतस्य महावीरस्य ग्रहणसाधनयोः शफयोः

(परीशासयोः) उपादानविधानम् । गायत्रेण छन्दसा चतुर्विंशाक्षरेण, त्रैष्टुभेन छन्दसा चतुश्चत्वारिंशदक्षरेण, आभ्यां छन्दोभ्यामादानं कृतवान् भवति । परीशासौ परितः शासकौ शफौ । इमे खलु द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ । प्रवर्ग्यो महावीरः खल्वादित्यः । तस्मात् शफाभ्यां महावीरस्य ग्रहणेन अमुमादित्यमाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति । तस्मादनेन मन्त्रेण शफाभ्यां महावीरं गृह्णीयादिति विधिरुन्नेयः । 'उद्यम्य मुञ्जवेदेनोपमृज्योपयमन्योपगृह्णात्यन्तरिक्षेणोपयच्छामीति' (का० श्रौ० २६।५।१६) । परीशासगृहीतं महावीरं भूमेरुत्थाप्योपमृज्य मुञ्जकृतेन वेदेन संमार्ज्य 'मौञ्जेन वेदेनोपमार्ष्टि' (शत० १४।२।१।१६) इति श्रुतेः, उपयमनीं स्रुचं घर्मस्याधस्ताद् धारयति मन्त्रेण । हे घर्म ! अन्तरिक्षेणाकाशेनोदरेण वा त्वामुपयच्छामि निगृह्णामि । अत्रोपयमन्यन्तरिक्षत्वेनोदरत्वेन च स्तूयते ।

'अथोपयमन्योपगृह्णाति । अन्तरिक्षेणोपयच्छामीत्यन्तरिक्षं वा उपयमन्यन्तरिक्षेण हीदꣳ सर्वमन्नाद्यमुपयतं तस्मादाहान्तरिक्षेणोपयच्छामीति' (श० १४।२।१।१७) । अथोपयमन्या स्रुचा महावीराधोभागस्य परिग्रहणं विधत्ते । उपयमनसाधनभूतया औदुम्बर्या स्रुचा उपगृह्णात्यधस्ताद्धारयति । अन्तरिक्षं द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्ती लोकः । तद्रूपा खल्वेषा उपयमनी । इदं सर्वमन्तरिक्षेणाकाशेनैवोपयतं सर्वतो धृतम् । तेनान्तरिक्षोपयमन्योः परस्परात्मता । अथो अपि च, उदरात्मिका खलु उपयमनी, हि यस्माद् उदरेण इदं सर्वं भुक्तं सर्वमन्नाद्यमन्नपानादिकमुपयतं धृतम्, तस्मादन्तरिक्षोदरात्मिकयोपयमन्या महावीरमधस्ताद्धारयेत् ।

'अजापयसाऽवसिच्य शान्ते गोः पयोऽवनयतीन्द्राश्विनेति' (का० श्रौ० २६।५।१७) । अजादुग्धेन महावीरं तूष्णीं सिक्त्वा शान्ते क्षीणज्वाले तत्र गोपयः सिञ्चेत् । ब्राह्मी गायत्री विश्वेदेवा देवताः । हे इन्द्र, हे अश्विनौ, हे वसवो वासयितारः ! यूयं मधुनो मधुरस्य पयसो घर्मं रसं पात पिबत । पिबादेशाभावश्छान्दसः । कथम्भूतस्य मधुनः ? सारघस्य । 'सरघा मधुमक्षिका' (अ० को० २।५।६) । अत्र सरघा मधुकृतो भ्रमरा इव ऋत्विजः, तैः कृतं सारघम्, तस्य तादृशस्य घर्मस्य रसं पिबतेति । 'अथाऽजाक्षीरमानयति । तप्तो वा एष शुशुचानो भवति तमेवैतच्छमयति तस्मिञ्छान्ते गोक्षीरमानयति' (श० १४।२।१।१८) । एवं स्थिते प्रवर्ग्येऽजापयसः सेचनं विधत्ते । दोहनकाले तूष्णीं दुग्धमजायाः क्षीरं तूष्णीमानयति प्रतिप्रस्थाता । किमर्थमिति चेत्तत्राह—एष प्रवर्ग्योऽग्निना सन्तप्तः, शुशुचानोऽत्यर्थं दीप्यमानो दुरासदो भवति, अतस्तमेतेनाजापयसा शमयति । अथ गोपयसः समन्त्रकमासेचनं विधत्ते—'इन्द्राश्विना' इति मन्त्रेण गोक्षीरमानयति, सिञ्चतीत्यर्थः । 'मधुनः सारघस्येति । एतद्वै मधु सारघं घर्मं पातेति' (श० १४।२।१।२०) । 'घृ क्षरणदीप्त्योः' इति धातुसिद्धस्य घर्मशब्दस्यावयवप्रसिद्ध्या रसोऽर्थः, 'रसं पातेत्येवैतदाह वसव इत्येते वै वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते' (श० १४।२।१।२०) इति श्रुतेः ।

किञ्च, हे इन्द्रादयः ! वाट् वषट्कारेण स्वाहा सुष्ठु हुतं सारघं मधु सूर्यस्य रश्मये किरणाय यूयं यजत दत्त । यजतिरत्र दानार्थः । कीदृशाय रश्मये ? वृष्टिवनये, वृष्टिं वनति ददातीति वृष्टिवनिस्तस्मै, 'वाडिति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद् भवति' (श० १४।२।१।२०) इति श्रुतेः । हि यस्मात्, इदं सर्वं जगद् इन्द्रश्च अश्विनौ च एते देवा वासयन्ते प्रवर्षणप्रकारादिना स्वे स्वे कर्मणि निवेशयन्ति, तस्मादेते वसवः खलु । यद्वा वसवो गणशो विद्यमाना अन्ये देवाः । हे ऋत्विजः, यूयं देवान् यजत । तत्र च साक्षाद् वषट्कारेण दत्तं हविर्यथा हुतं भवति, एवं वाडिति परोक्षवषट्कारेणापि दत्तं हविर्हुतमेव भवतीत्यर्थः । ततो वाट्शब्देन पारोक्ष्येण वषट्कारो निर्दिश्यते । तथा तैत्तिरीयकेऽस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे—'यदि वषट् कुर्याद् यातयामस्य' इत्यादिप्रत्यक्षवषट्कारं पूर्वपक्षीकृत्य 'वाडित्याह परोक्षमेव वषट्करोति' (तै० आ० ५।६) इति सिद्धान्तितमिति सायणाचार्याः ।

'स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनय इति। सूर्यस्य ह वा एको रश्मिर्वृष्टिवनिर्नाम येनेमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति तमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये' (श० १४।२।१।२१) इति श्रुत्यनुसारं सूर्यस्य खलु रश्मीनां मध्ये एको रश्मिर्वृष्टिवनिः, वृष्टेर्वर्षस्य वनिता संभक्ता दाता। नामशब्दः प्रसिद्धार्थकः। येन वृष्टिप्रदानसमर्थेन रश्मिना इमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति पोषयति, तमेव रश्मिमेतेन स्वाहा सूर्यस्येति मन्त्रशेषेण प्रीणाति तर्पयति।

अध्यात्मपक्षे—हे महावीर ज्ञानयज्ञ! द्यावापृथिवीरूपाभ्यां पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां गायत्रीत्रिष्टुप्छन्दोभ्यां त्वां परिगृह्णामि। अन्तरिक्षेण हृदयाकाशेन त्वामुपयच्छामि। इन्द्र अश्विनौ वसवश्च सारघस्य, सरघारूपा विद्वांसस्तैः शास्त्रपुष्पेभ्यो गृहीतं मधु सारघं भवति, 'अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः। सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥' इत्युक्तेः, तस्य घर्मं रसं ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपं पात पिबत। वाट् परोक्ष-वषट्कारेण स्वाहा सुष्ठु हुतं सारघं मधु सूर्यस्य परमात्मनो रश्मये पोषकशक्तये यजत दत्त। कीदृशाय रश्मये? वृष्टिवनये रसवृष्टेः सम्भक्त्रे दात्रे। ऐश्वर्यवान् ज्ञानयज्ञस्य योजक इन्द्रः, आरोग्यस्वास्थ्यरक्षका-अश्विनौ, वासयितारो वसवः।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र! यथा त्वं गायत्रं छन्द इव हृद्यां स्त्रियं प्राप्तवानसि, त्रैष्टुभं छन्द इव प्रशंसितां लब्धवानसि।....तथाहि—त्वां दृष्ट्वा द्यावापृथिवीभ्यां प्रियां स्त्रियं परिगृह्णामि, अन्तरिक्षेणोपयच्छामि। हे अश्विनौ स्त्रीपुरुषौ, युवां तथैव वर्तेयाथाम्। हे वसवः, यूयं स्वाहा मधुनः सारघस्य घर्मं यज्ञं पात। सूर्यस्य वृष्टिवनये रश्मये वाट् यजत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाश्रयणात्। नहि मूले स्त्रीपदमपि श्रूयते। घर्मं यज्ञं पातेत्यप्यसंगतम्, रसं पातेति श्रुतिव्याख्यानविरोधात्।

वाक्यशेषबलादपि क्वचिदर्थान्तरमाश्रीयते। यथा 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ८।१।१) इत्यादिवाक्यं समाम्नायते। तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहराकाशः श्रुतः, स किं भूताकाशः? अथवा विज्ञानात्मा, अथवा परमात्मेति संशय्यते। संशयश्चाकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम्। आकाशशब्दो भूताकाशे प्रसिद्धः, क्वचिच्च 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० १।१।२२) इति न्यायेन ब्रह्मण्यपि प्रयुक्तः। ब्रह्मपुरमित्यत्र ब्रह्मपदं यद्यपि ब्रह्मण्येव मुख्यम्, तथापि 'असाधारण्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायेन यथा क्षितिजलपवनबीजादिसामग्री-समवधानजन्याङ्कुरः शालिबीजत्वेन व्यपदिश्यते शाल्यङ्कुर इति, न तु क्षित्यादिभिः, तेषां कार्यान्तरेष्व-साधारण्यात्, तथैव शरीरं ब्रह्मविकारोऽपि न ब्रह्मणा व्यपदेष्टव्यम्, ब्रह्मणः सर्वविकारकारणत्वेनाति-साधारण्याद् जीवभेदधर्माधर्मोपार्जितं तदित्यसाधारणकारणत्वाज्जीवेन व्यपदिश्यत इति युक्तमिति बहुधा पूर्वपक्षय्य, उत्तरेभ्यो वाक्यशेषेभ्यो ब्रह्मैव दहराकाश इति निर्धारितम्। तथाहि—भूताकाशस्य न तावद्दहरत्वम्, 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (छा० उ० ८।१।३) इत्युपमानविरोधात्। नहि तेन तस्योपमेयत्वम्। रामरावणयुद्धे त्वगत्या भेदमारोप्याभेदेऽप्युपमेयत्वमुक्तम्। दहराकाशस्य ब्रह्मत्वे तु भूताकाशाद् भेदेनोपमानस्य गतिः। न चानवच्छिन्नपरिमाणमवच्छिन्नं भवति, तथा सत्यनवच्छेदानुपपत्तेः। न च भूताकाशमानत्वमपि ब्रह्मणः, 'ज्यायानाकाशात्' (श० १०।६।३।२) इति श्रुतिविरोधात्। भूताकाशोपमानेन तु पुण्डरीकोपाधिप्राप्तं दहरत्वं निवर्तते।

नापि दहराकाशो जीवः। ननु ब्रह्मपुरमिति शरीरस्य जीवपुरत्वमेव सम्भवति, न परमेश्वरपुरत्वमित्य-साधारण्यस्योक्तत्वादिति चेन्न, ब्रह्मोपलब्धेरधिष्ठानत्वेन देहस्य ब्रह्मपुरत्वसम्भवात्। न तु ब्रह्मविकारतया ब्रह्मपुरमिति व्यपदिश्यते, येनाकाशादिभिः साधारण्यं स्यात्। देह एव ब्रह्मण उपलब्धेरसाधारण्येन शरीरस्य

ब्रह्मणा व्यपदेशसम्भवात् । कथञ्चिद्देहस्य जीवपुरत्वेऽपि यथा वत्सराजस्य पुरे उज्जयिन्यां मैत्रस्य वेश्म सम्भवति, तथैव जीवस्य पुरे हृत्पुण्डरीकं ब्रह्मसदनं सम्भवति, उत्तरेभ्यो ब्रह्मलिङ्गेभ्यो ब्रह्मणोऽवधारणात् । ब्रह्मणो हि बाधके प्रमाणे बलीयसि जीवस्य च साधके प्रमाणे सत्येव ब्रह्मलिङ्गानि कथञ्चिदभेदविवक्षया जीवे व्याख्यातुं शक्यन्ते, नान्यथा । 'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० उ० ८।१।५) इत्यादयो वाक्यशेषा न भूताकाशे न वा जीवे उपपद्यन्ते । 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्, तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति (छा० उ० ७।२५।२) । आचार्येण हि 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' (छा० उ० ८।१।१) इत्युपदिष्टेऽन्तेवासिनाऽऽक्षिप्यते—किं तद् यदन्वेष्टव्यमित्याकाशोपमानेन तस्य परिच्छेदं परिहृत्य उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी समाहिते (छा० उ० ८।१।३) । नन्वेवमपि द्यावापृथिव्यावेवान्वेष्टव्ये स्याताम्, नाकाश इति चेन्न, दहराकाशात्मवेदनस्य फलवत्त्वेन द्यावापृथिव्योर्ज्ञानस्याफलत्वात्, 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायात् ताभ्यामप्यात्मन एव लिलक्षयिषितत्वात् । अत एव 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० उ० ८।१।५) इत्यत्र 'एष' इत्यनेन द्यावापृथिव्यादिसमाधानाधारमाकाशं द्यावापृथिव्यभिधानव्यवहितमप्याकृष्य तस्यैवापहतपाप्मत्वादिकमुक्तम् । एष इत्येकवचनान्तं न द्वे द्यावापृथिव्यौ परामृष्टुमर्हतीति दहराकाश एव परामृष्टव्यः । तदनेन क्रमेण 'तस्मिन् यदन्तः' (छा० उ० ८।१।१) इत्यत्रापि तच्छब्देनानन्तरमप्याकाशमतिलङ्घ्य हृत्पुण्डरीकं परामृशति । तेन तस्मिन् हृदयपुण्डरीके यदन्तराकाशं तदन्वेष्टव्यमित्यर्थः प्रतिफलति । न चैवं प्रकृतमन्त्रे कश्चन हेतुर्विद्यते, येन प्रकृतातिरिक्तायाः स्त्रिया उपादानं स्यात् । तस्माद् व्यर्थमेव श्रुतहान्यश्रुतकल्पनमिति ॥ ६ ॥

समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा सरिराय त्वा वाताय स्वाहा । अनाधृष्याय त्वा वाताय स्वाहाऽप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा । अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहाऽशिमिदाय त्वा वाताय स्वाहा ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! प्राणियों के गतिदाता वायु के निमित्त तुम्हारी आहुति देता हूँ । सिद्धार्थ प्राणी जिसकी सहायता से चेष्टा करते हैं, उस वायु के निमित्त तुम्हारी आहुति देता हूँ । अधृष्य वायु के लिये, अजेय वायु के लिये, रक्षणशील वायु के लिये और क्लेश के निवारक वायु के लिये तुम्हारी आहुति देता हूँ ॥ ७ ॥

'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरित्युच्यमाने समुद्राय त्वेति वातनामानि जपति गच्छन्नाहवनीयम्' (का० श्रौ० २६।६।१) । प्रैत्विति होत्रोच्यमाने आहवनीयं प्रति गच्छन्नध्वर्युः समुद्रायेत्यादीनि द्वादश वातनामानि स्वरेण जपतीत्यर्थः । द्वादश यजूंषि वातनामदेवत्यानि । हे घर्म, त्वा त्वाम्, वाताय देवाय स्वाहा जुहोमि । कीदृशाय वाताय ? समुद्राय । समुद्रवन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मात् स समुद्रस्तस्मै, 'स यत्रैतार्ँ होताऽन्वाह । प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृतेति तदध्वर्युः प्राङुदायन् वातनामानि जुहोत्येतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममन्तरा रक्षार्ँसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तमेतत्पुरैवाहवनीयात् स्वाहाकारेणाजुहवुस्तर्ँ हुतमेव सन्तमग्नावजुहवुस्तथो एवैनमेष एतत्पुरैवाहवनीयात् स्वाहाकारेण जुहोति…' (श० १४।२।२।१) इत्येवं हि शातपथश्रुतौ साज्ये महावीरे पयोऽवनयनेन प्रवृञ्जनमुक्तम् । अथ तेन हविषां प्रचार उच्यते । तत्रादौ वातमन्त्राणां जपं विधत्ते—स यत्रैतानिति । यस्मिन् काले स होता 'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः' इत्येतामृचमन्वाह, तत्र तस्मिन् समयेऽध्वर्युः शफाभ्यां महावीरं धृत्वा प्राङुदायन् आहवनीयं प्रति प्राङ्मुखो गच्छन् 'समुद्राय त्वा' इत्यादीनि वातनामानि यजूंषि जुहोति ।

तदेतदाख्यायिकयोपपादितम्—'समुद्राय त्वा वाताय स्वाहेति। अयं वै समुद्रो योऽयं पवत एतस्माद् वै समुद्रात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद्द्रवन्ति तस्मा एवैनं जुहोति तस्मादाह समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा' (श० १४।२।२।२)। ननु कथमेतेषां वातनामत्वम्, समुद्रादिशब्दानां रूढ्याऽर्थान्तराभिधायकत्वादित्याशङ्क्य सर्वेषां वातपरत्वं दर्शयति—योऽयं पवते सततं गच्छति, अयं वै समुद्रः। कस्मादसौ समुद्र इति चेदुच्यते—एतस्मात् समुद्रशब्दवाच्याद् वायोः सकाशात् सर्वे देवाः सर्वाणि चेमानि भूतानि समुद्द्रवन्ति सम्यगुद्गच्छन्ति, समष्टिलिङ्गशरीरभूतप्राणवाय्वधीनत्वात् सर्वदेवानाम्, 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्, वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि' (श० १४।६।७।६) इति श्रुतेः। अतः समुद्रवत् सर्वाश्रयः समुद्रशब्देन वायुरेवोच्यते।

सरिराय, सह ईरते यच्छन्ति सर्वभूतानि सिद्धार्थानि यस्मात्, तस्मै सरिराय वाताय त्वां जुहोमि, 'अयं वै सरिरो योऽयं पवत एतस्माद् वै सरिरात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि....' (श० १४।२।२।३) इति श्रुतेः। मन्त्रे सरणशीलत्वात्, श्रुतिस्तु सहेरणात् सरिर इति वातस्य संज्ञां निर्वक्ति। अग्न्यादीनि सर्वाणि भूतजातानि सहितानि चेष्टन्ते यस्मात् स सरिरो वायुरित्यर्थः। आधर्षितुमशक्याय अप्रतिधृष्याय पराभवितुमशक्याय वाताय त्वां हे घर्म, जुहोमि। अवस्यवे, अवो रक्षणमिच्छत्यवश्यति, अवश्यतीत्यवस्युः, अवनशीलाय वाताय त्वां हे घर्म ! जुहोमि। अशिमिदाय, क्लेशात्मकं कर्म शिमि, तन्न ददातीत्यशिमिदस्तस्मै क्लेशनिवर्तकाय अनाधृष्याय वाताय स्वाहा। 'अयं वा अनाधृष्योऽप्रतिधृष्यो योऽयं पवते तस्मा एवैनं जुहोति' (श० १४।२।२।४)। आधर्षितुं स्प्रष्टुमशक्यः। प्रतिधर्षणं प्रतिकूलाचरणम्। कश्चिद् वायुमाधर्षितुं प्रतिधर्षितुं न शक्नोतीत्यनाधृष्याय वाताय त्वां हे घर्म जुहोमीति। 'अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहा। अयं वा अवस्युरशिमिदो योऽयं पवते' (श० १४।२।२।५)। अवस्युरवनेच्छुः, प्राणभावमापन्नस्य वायोस्तदिच्छोरन्नाद्यं तत्राम्नायते—'अथात्मनेऽन्नाद्यमागायत्' (श० १४।४।१।१८)। तथाऽयमेवाऽशिमिदोऽशनं न प्राप्तः, सदाचरणशील इत्यर्थः। यद्वा शिमीति क्लेशात्मकं कर्म, तद् ददातीति शिमिदः, तद्भिन्नोऽशिमिदः। तस्मादेतौ शब्दौ व्युत्पत्त्या वायोर्नामनी इति।

अध्यात्मपक्षे—समुद्राय सर्वाणि भूतान्युपद्रवन्ति यस्मात्तस्मै परमात्मने, वाताय वान्ति गच्छन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मात्तस्मै परमात्मने, हे घर्म ! ज्ञानयज्ञ, त्वा जुहोमि समर्पयामि। सरिराय सरन्ति चलन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मात्, चेतनानधिष्ठितानां रथादीनां सरणादर्शनात्। अनाधृष्याय अप्रधृष्याय परमात्मने वाताय, अवस्यवे अवोऽवनम् इच्छतीति तस्मै अवनशीलाय। अशिमिदाय अक्लेशदाय सुखदाय परमात्मने वाताय हे घर्म, त्वां जुहोमि।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि पुरुष वा ! अहं स्वाहा समुद्राय वाताय त्वा स्वाहा, सरिराय वाताय त्वा स्वाहा, अनाधृष्याय वाताय त्वा स्वाहा, अप्रतिधृष्याय वाताय त्वा स्वाहा, अवस्यवे वाताय त्वा स्वाहा, अशिमिदाय वाताय त्वोपयच्छामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शतपथश्रुतिविरोधात्। श्रुतयस्तु सिद्धान्तव्याख्याने प्रदर्शिता एव। 'स्वाहा सत्यश्रिये' इत्यपि निर्मूलमेव। वाताय, वातशब्दस्य वातविद्यायां लक्षणा, तस्या अपि लक्षणा वायुशोधने। हिन्द्यां तु वायुविद्याया वायोर्वा शोधनायेति व्याख्यातम्, तत्सर्वमसङ्गतमेव, लक्षणायां बीजाभावात्। यथा ब्रह्मशब्दो ब्रह्महत्यादौ विप्रत्वजातौ प्रसिद्धः, ब्रह्मोद्यमिति वेदे परमात्मनि च प्रसिद्धः, यथा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति, तर्हि—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इत्यत्र कीदृशं ब्रह्म ग्राह्यमिति शङ्कायां 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इति लक्षणविधानाद् जगदुत्पत्त्यादिकारणमेवेह ब्रह्म ग्राह्यमितिवत्, नात्र किमपि प्रमाणमस्ति वायुपदस्य वायुविद्यार्थत्व इति। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव ॥ ७ ॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते स्वाहेन्द्राय त्वाऽऽदित्यवते स्वाहेन्द्राय त्वाऽभिमातिघ्ने स्वाहा । सवित्रे त्वा ऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहा बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते स्वाहा ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! वसु-रुद्रवान् इन्द्र देवता के लिये, आदित्यवान् वायु के लिये, शत्रुनाशक वायु के लिये तुम्हारी आहुति देता हूँ । ऋभु देवता वाले, विष्णु देवता वाले, अन्नवान् वायु के लिये तुम्हें होमता हूँ । विश्वेदेव देवता वाले वायु के निमित्त तुम्हारी आहुति देता हूँ ॥ ८ ॥

वसवो विद्यन्ते यस्य स वसुमान्, रुद्रा विद्यन्ते यस्य स रुद्रवान्, तस्मै वसुसहिताय रुद्रसहिताय इन्द्राय वाताय हे घर्म ! त्वां स्वाहा जुहोमि, 'अयं वा इन्द्रो योऽयं पवते' (श० १४।२।२।६) इति श्रुतेः । आदित्या विद्यन्ते यस्य तस्मै आदित्यवते इन्द्राय वाताय त्वां जुहोमि स्वाहा । अभिमातीन् (अभिमानिनः) सपत्नान् हन्तीत्यभिमातिहा, तस्मै अभिमातिघ्ने इन्द्राय वाताय हे घर्म त्वां स्वाहा, 'सपत्नो वा अभिमातिः' (श० १४।२।२।८) इति श्रुतेः । सूते यः सः सविता, तस्मै सवित्रे चेष्टयित्रे वाताय त्वां स्वाहा जुहोमि, 'अयं वै सविता योऽयं पवते' (श० १४।२।२।९) इति श्रुतेः । ऋभुरस्यास्तीति ऋभुमान्, विभुरस्यास्तीति विभुमान्, वाजोऽस्यास्तीति वाजवान् । आङ्गिरसस्य सुधन्वनस्त्रयः पुत्रा ऋभुविभुवाजास्तैर्युक्ताय वाताय त्वां जुहोमि । बृहस्पतये बृहतां पतये वाताय त्वां जुहोमि, 'अयं वै बृहस्पतिर्यो वै पवते' (स० १४।२।२।१०) इति श्रुतेः । कीदृशाय बृहस्पतये ? विश्वदेव्यावते । विश्वेषां देवानां समूहो विश्वदेव्यम्, तदस्यास्तीति विश्वदेव्यवान्, तस्मै सर्वदेवसहिताय वाताय त्वां जुहोमि, 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' (पा० ६।३।१३१) इति दीर्घः ।

'अयं वा इन्द्रो योऽयं पवते····तदिन्द्रमेवानु वसूंश्च रुद्रांश्चानुभजत्यथो प्रातःसवनस्य चैवैतन्माध्यन्दिनस्य च सवनस्य रूपं क्रियते' (श० १४।२।२।६) इति श्रुत्या वायुरेवेन्द्रशब्देन ग्राह्यः । यो ज्योतिश्चक्रप्रवहणरूपेण वर्तते, तस्मै इन्द्राय वायवे घर्मं जुहोतीत्यर्थः । यथा मघवतो वस्वाख्या अनुयायिनः सन्ति, तथा वायोरपिताननुचरान् करोतीत्यर्थः । यद्वा इन्द्रस्य घर्मप्राप्तेः पश्चाद् वस्वादीनपि घर्ममाभजति भागयुक्तान् करोति । अथो अपि देवगणद्वयकीर्तनेनास्मिन् प्रवर्ग्ये प्रातःसवनस्य माध्यन्दिनस्य च रूपं क्रियते, 'वसवः प्रातःसवनꣳ रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनम्' (श० १४।१।१।१५) इत्याद्याम्नातत्वात् । तदिन्द्रमेवान्वादित्यानाभजत्यथो तृतीयसवनस्येदं रूपं क्रियते । 'इन्द्राय त्वा सपत्नघ्नम्' (श० १४।२।२।८) इत्यभिमातिशब्दस्य सपत्नोऽर्थः । 'सवित्रे त्वा च ऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहेति' (श० १४।२।-।९) सवितृपदेनापि वात एवाभिहितः । ऋभुर्विभुर्वाज इत्यङ्गिरसः पुत्रास्तपसा देवत्वं प्राप्ताः ।

अध्यात्मपक्षे हे घर्म ज्ञानयज्ञ ! इन्द्राय परमेश्वराय वसुमते रुद्रवते वसुरुद्रसहिताय त्वां स्वाहा समर्पयामि । आदित्यवते त्वां स्वाहा, सपत्नघ्नत्वविशिष्टाय वाताय त्वां सवित्रे प्रेरयित्रे परमात्मने ऋभुविभुवाजसेविताय सर्वदेवसमूहयुक्ताय बृहतां महदादीनां पतये परमेश्वराय हे घर्म ! त्वां स्वाहा जुहोमि ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि पुरुष वा ! अहं स्वाहा वसुमत इन्द्राय स्वाहाऽऽदित्यवते रुद्रवते इन्द्राय त्वां स्वाहाऽभिमातिघ्ने इन्द्राय त्वां स्वाहा, सवित्रे ऋभुमते विभुमते वाजवते त्वां स्वाहा बृहस्पतये विश्वदेव्यावते त्वोपयच्छामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । स्वाहापदव्याख्यानमपि निर्मूलम्, शिष्टैस्तादृशेऽर्थेऽप्रयोगात् । 'विभुमते बहवो विभवाः पदार्था विदिता येन तस्मै इति भाक्तप्रयोगोऽपि निर्मूल एव । सांख्याः 'तदैक्षत' (छा० उ० ६।२।३) इत्याद्याः श्रुतयोऽचेतनेऽपि चेतनावदुपचारात् प्रधानेऽपि 'नद्याः कूलं पिपतिषति' इतिवत् कार्योन्मुखत्वमादर्शयन्ति । यथाऽग्रचप्राये लिखितं दृष्ट्वाऽग्रचत्वं निर्णयन्ति तथेदमपि । 'ता आप ऐक्षन्त'

(छा० उ० ६।२।४), 'तत्तेज ऐक्षत' (छा० उ० ६।२।३) इत्युपचारप्राये श्रुतं 'तदैक्षत' इत्यौपचारिकमेव विज्ञेयम्। 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० उ० ६।३।२) इति च प्रधानस्य जीवात्मत्वं जीवार्थकारितया, भद्रसेनोऽयं ममात्मेतिवत्। 'स्वमपीतो भवति' इति जीवस्य प्रधाने स्वकीयेऽप्ययं सुषुप्तावस्थायां ब्रूते, अपरिणामिनो ब्रह्मणो न च ज्ञानक्रियावत्त्वं सम्भवति। त्रिगुणे परिणामिनि प्रधाने तु सम्भवत्येव, सत्त्वप्रधाने सार्वज्ञादौ बाधाभावादिति पूर्वपक्षं कृत्वा समाहितम्। तेजःप्रभृतीनां मुख्यासम्भवेनोपचाराश्रयणं युक्तम्। संशये च तत्प्रायपाठस्य निर्णायकत्वमपि सम्भवति। इह तु मुख्यौत्सर्गिकत्वे निश्चिते सति संशयाभावात्, अन्यथा विततशरसंकीर्णदेशनिवासिनो ब्राह्मणस्यापि किरातत्वापत्तेः। तस्माद् ब्रह्मण्येवेक्षित्रनिर्वचनीयानाद्यविद्यासचिवं जगदुपादानम्। शुक्तिरिव समारोपितस्य रजतस्य, मरीचय इव जलस्य। न त्वचेतनं प्रधानपरमाण्वादि, तस्याशब्दत्वात्। तथैवात्र गौणार्थग्रहणं निर्मूलमेव ॥ ८ ॥

यमा॑य॒ त्वाऽङ्गि॑रस्वते पितृम॒ते स्वाहा॑। स्वाहा॑ घ॒र्माय॒ स्वाहा॑ घ॒र्मः पि॒त्रे ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! अंगिरा और पितरों से युक्त यमरूप वायु के लिये तुम्हारी आहुति देता हूँ। घर्म के लिये दी गई घृत की यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो, पितरों के लिये दी गई घर्म की आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ९ ॥

यमाय वायवे हे घर्म ! त्वां स्वाहा। यमोऽप्यत्र वायुरेव, 'अयं वै यमो योऽयं पवते' (श० १४।२।२।११) इति श्रुतेः। कीदृशाय यमाय ? अङ्गिरस्वते, अङ्गिरसो मुनयोऽस्य सन्तीत्यङ्गिरस्वान्, तस्मै, 'अयस्मयादीनि छन्दसि' (पा० सू० १।४।२०) इति भसंज्ञायां सस्य विसर्गाभावः। पितृमते, पितरोऽस्य सन्तीति पितृमान्, तस्मै अङ्गिरःपितृयुक्ताय वाताय त्वां जुहोमीत्यर्थः। वातनामानि समाप्तानि। 'स्वाहा घर्मायेत्युपयमन्या सिञ्चति घर्मे' (का० श्रौ० २६।६।२)। उपयमन्या स्रुचा स्रुक्स्थं घृतं घर्मे सिञ्चतीत्यर्थः। घर्माय स्वाहा एतदाज्यं सुहुतमस्तु। घर्माय स्वाहा एतदाज्यं सुहुतमस्त्वित्यर्थः। 'स्वाहा घर्मः पित्र इति जपित्वाऽतिक्रम्याश्राव्याह घर्मस्य यजेति' (का० श्रौ० २६।६।३)। अपसव्यवान् दक्षिणास्यः स्वाहेति मन्त्रं स्वरेण जपित्वा सव्येन जलं स्पृष्ट्वा घर्महस्तोऽतिक्रम्याश्राव्य घर्मस्य यजेत्याहेत्यर्थः। स्वाहा घर्मः पित्रे पित्रर्थायास्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोपयमन्या महावीर आनयति। स्वाहा घर्मायेत्येष वै घर्मो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यः' (श० १४।२।२।१३)। अथ वातनामजपानन्तरमुपयमन्या स्रुचा महावीरे प्रत्यानयति, पुनरासिञ्चति। पयआसेचनसमये महावीरान्निष्यन्दनेन निर्गतं यद्धविर्घृतमासीत्, तदिदानीं 'स्वाहा घर्माय' इति मन्त्रेण महावीरे पुनरासिञ्चेत्। अन्यत् स्पष्टम्। 'आनीते जपति। स्वाहा घर्मः पित्र इति ' (श० १४।२।२।१४)। उपयमन्या महावीरे प्रत्यानीते सति 'स्वाहा घर्मः पित्रः' इति मन्त्रं जपति। अस्य मन्त्रस्य पितृसम्बन्धं पुरस्तात् स्वाहाकारं च प्रशंसति—'यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत् स पितॄनगच्छत्....अवरँ स्वाहाकारं करोति परां देवतामिति' (श० १४।२।२।१४)।

अध्यात्मपक्षे—यमाय, यच्छति नियमयति सर्वमिति यमः परमेश्वरस्तस्मै, अङ्गिरस उपासकाः सन्त्यस्येत्यङ्गिरस्वान् तस्मै, पितर उपासका सन्त्यस्येति पितृमान् तस्मै, स्वाहा सुहुतमस्तु। घर्माय ज्ञानयज्ञाधिष्ठात्रे परमात्मने स्वाहा। पित्रे, सर्वस्येति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि पुरुष वा ! घर्मोऽहं स्वाहाङ्गिरस्वते यमाय पितृमते स्वाहा पित्रे त्वोपयच्छामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यमपदस्य न्यायाधीशार्थत्वस्य निर्मूलत्वात्। कथं च विद्युदादिविद्यावतस्तद्विशेषणत्वमिति। श्रुतिविरोधस्तु सिद्धान्तव्याख्यानेन निगदव्याख्यातः ॥ ९ ॥

विश्वा आशा दक्षिणसद्विश्वान् देवानयाडिह ।
स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—इस यज्ञ में दक्षिण दिशा में स्थित अध्वर्यु ने सभी दिशाओं का और सभी देवताओं का पूजन किया है। हे अश्विनीकुमारों! वषट्कार के साथ होमे गये मधुर स्वाद वाले घर्म का पान करो ॥ १० ॥

'वषट्कृते जुहोति विश्वा आशा इति' (का० श्रौ० २६।६।१४)। वषट्कृते सति घर्मं जुहोति, विश्वा आशा इति मन्त्रेणेत्यर्थः। अश्विदेवत्याऽनुष्टुप्। इह यज्ञे दक्षिणसद् दक्षिणस्यां दिशि सीदति तिष्ठतीति दक्षिणसत्। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। दक्षिणतः स्थितोऽध्वर्युर्विश्वाः सर्वा आशा दिशो विश्वान् सर्वान् देवान् च अयाट् अयाक्षीत्, इष्टवान्। यजेर्लुङि च्लेर्लोपे रूपम्। दक्षिणतः स्थितो ह्यध्वर्युर्जुहोति। यत एवमतो ब्रवीमि। वषट्कारानन्तरं स्वाहाकृतस्य हुतस्य मधोः मधुरास्वादस्य घर्मस्य स्वाहाकृतं हुतं मधुरास्वादं घर्मरसं युवां पिबतम्। कर्मणि षष्ठी।

अत्र ब्राह्मणम्—'नानुवाक्यामन्वाह। सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मान्नानुवाक्यामन्वाह··· ॥ विश्वा आशा दक्षिणसदिति। सर्वा आशा दक्षिणसदित्येवैतदाह विश्वान् देवानयाडिहेति सर्वान् देवानयाक्षीदिहेत्येवैतदाह····' (श० १४।२।२।१५-१६)।

अध्यात्मपक्षे—दक्षिणसद् दक्षिणामत्यन्तमानुकूल्यमुपगतः सन् साधकः, भगवन्तमिष्ट्वेति शेषः, विश्वाः सर्वा दिशः, विश्वान् सर्वान् देवांश्चायाडिष्टवान् भवति। हे अश्विनौ! रामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ! वषट्कारानन्तरं हुतं मधुरास्वादं घर्मरसं युवां पिबतम्।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ! यथा युवामिह स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोरवशिष्टं भागं पिबतम्, तथायं दक्षिणसज्जनो विश्वा आशा विश्वान् देवानयाट् संगच्छेदिति' तदप्यसत्, अध्यापकोपदेशकार्थेऽश्विशब्दप्रयोगस्य शिष्टैरकृतत्वात्। घर्मशब्दस्य अवशिष्टं यज्ञभागमिति व्याख्यानमपि निर्मूलमेव, निष्प्रमाणत्वाच्छतपथश्रुतिविरुद्धत्वात् सिद्धान्तव्याख्याने घर्मशब्दस्य प्रवर्ग्यरसपरत्वस्योक्तत्वाच्च ॥ १० ॥

दिवि धा इमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धाः। स्वाहाऽग्नये यज्ञियाय शं यजुर्भ्यः ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे महावीर! मेरे इस यज्ञ को स्वर्ग में स्थापित करो, मैं यज्ञीय अग्नि के लिये यह आहुति समर्पित करता हूँ। यजुर्वेद के मन्त्रों के उच्चारण से हमारा कल्याण हो ॥ ११ ॥

'दिवि धा इति त्रिरुत्कम्पयति' (का० श्रौ० २६।६।१५)। महावीरं त्रिरूर्ध्वं कम्पयति, सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीमिति सूत्रार्थः। यजुर्घर्मदेवत्यं सामोष्णिक्। हे महावीर! इमं मदीयं यज्ञं त्वं दिवि द्युलोके धा धेहि, स्थापय। पुनरुक्तिरादरार्था। 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु० १०।४२) इति यास्कोक्तेः। 'स्वाहाग्नय इत्यनुवषट्कृते' (का० श्रौ० २६।६।१६)। अनुवषट् स्वाहेति मन्त्रेण घर्मं जुहोतीत्यर्थः। यज्ञियाय यज्ञहितायाग्नये स्वाहा सुहुतमस्तु, शं सुखं च यजुर्भ्यः सकाशादस्माकमस्त्विति शेषः। यद्वा शं यजुर्भ्यो देहि।

शतपथेऽपि—'अथ हुत्वोर्ध्वमुत्कम्पयति।····असौ वा आदित्यो घर्मो यज्ञो दिवि वा एष हितो दिवि प्रतिष्ठितस्तमेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।२।२।१७)। असावादित्यः खलु घर्मात्मको यज्ञो दिवि अन्तरिक्षे

खलु हितो निहितः प्रतिष्ठितः। इमं प्रवर्ग्यात्मकं यज्ञं दिवि धाः स्थापय। 'स्वाहाग्नये यज्ञियायेति। तत् स्विष्टकृद्भाजनमग्निर्हि स्विष्टकृच्छं यजुर्भ्यः इति यजुर्भिर्ह्येषोऽस्मिल्लोके प्रतिष्ठितस्तान्येवैतत्प्रीणात्यवरं स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः' (श० १४।२।२।१८)। अथानुवषट्कारहोमं विधत्ते — अनुवषट्कृते जुहोतीति। अनुवषट्कृते 'घर्मस्याग्नेर्वीहि३ वौ३षट्' इति होत्रा अनुवषट्कृते 'स्वाहा अग्नये' इति मन्त्रेण जुहोति। तद् अनुवषट्कारेण हवनं स्विष्टकृद्भाजनं स्विष्टकृद्यागस्थानीयम्। अग्निः खलु स्विष्टकृत् स्विष्टकृद्यागदेवता। स चाग्निरस्मिन् मन्त्रे दृश्यत इति यागमन्त्रयोः संगतिः। शं यजुर्भ्य इति व्याख्यानार्थमुपादानम्। शं सुखं यजुर्मन्त्रेभ्योऽस्त्वित्यर्थः। एष प्रवर्ग्यो यजुर्मन्त्रैर्हि अस्मिल्लोके प्रतिष्ठितो यजमानेषु लब्धास्पदो वर्तते। अतः प्रतिष्ठाहेतूनि तानि यजूंष्येवानेन मन्त्रभागेन प्रीणाति।

अध्यात्मपक्षे हे घर्म ज्ञानयज्ञाधिष्ठातः! इमं यज्ञं दिवि स्वप्रकाशे ब्रह्मणि, धाः धेहि, ब्रह्मण्येव तात्पर्यावसानात्। अग्नये परमेश्वराय यज्ञियाय यज्ञार्हाय स्वाहा सुहुतमस्तु। येभ्यो यजुःप्रधानेभ्यो मन्त्र-ब्राह्मणात्मकेभ्योऽयं ज्ञानयज्ञः सम्पद्यते, तेभ्यः शं सुखमस्तु, तत्सम्प्रदायपारम्पर्यमविच्छिन्नमस्त्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु —'हे स्त्रि पुरुष वा! त्वं यजुर्भ्यः स्वाहाग्नये यज्ञियाय दिवीमं यज्ञं शं धाः·····' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। यज्ञपदस्य संगन्तुमर्हमिति व्याख्यानमपि विसंगतम्, यज्ञस्वरूप-विधायकश्रुतिसूत्रादिविरुद्धत्वात्। श्रुतिसूत्रेषु चाग्न्याधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यज्योतिष्टोमादिषु यज्ञशब्दः प्रयुक्तो दृश्यते। संगन्तुमर्हे व्यवहारादौ दर्शितमेव समाधानम्। तद्यथा—आकाशशब्दस्य भूताकाशार्थत्वेऽप्यु-त्तरेभ्यो वाक्यशेषेभ्यो दहराकाशशब्दस्य ब्रह्मपरत्वमेवेति ॥ ११ ॥

अश्विना घर्मं पातꣳ हार्द्वानमहर्दिवाभिरूतिभिः। तन्त्रायिणे नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों, आपको यह घर्म हृदय से अत्यन्त प्रिय है, अतः प्रातःकाल और सायंकाल पूरी सुरक्षा के साथ इसका पान करो। हम पृथ्वी और स्वर्ग के लिये एवं सूर्य देवता के लिये नमस्कार करते हैं ॥ १२ ॥

'अश्विना घर्ममिति ब्रह्माऽनुमन्त्रयते' (का० श्रौ० २६।६।७)। 'अश्विना' इति मन्त्रेण ब्रह्मा घर्ममनु-मन्त्रयते, 'अथ ब्रह्मानुमन्त्रयते। ब्रह्मा वा ऋत्विजां भिषक्तमस्तद्य एवर्त्विजां भिषक्तमस्तेनैवैनमेतद्यज्ञं भिषज्यति' (श० १४।२।२।१९) इति श्रुतेः। ऋत्विजां मध्ये ब्रह्मा खलु भिषक्तमोऽतिशयेन भैषज्यकरः, छेदनभेदनविस्मरणादिना यज्ञस्य यदङ्गं दूषितम्, तस्य सर्वस्य करणेन समाधातृत्वात्। तस्मादेव यज्ञच्छिन्नशिरस्कं भिषज्यति चिकित्सति। स्वराडुष्णिक्, अश्विनावादित्यो द्यावापृथिव्यौ च देवताः। हे अश्विना अश्विनौ! युवां घर्मंमूतिभिरवननिमित्तैः पातं घर्मरसमवनं कृत्वा पिबतमित्यर्थः। कीदृशीभिरूतिभिः? अहर्दिवाभिः, अहःशब्दः पूर्वाह्णवचनः, दिवाशब्दस्तु सायाह्नवचनः। स हि प्रवर्ग्ययोग्यः कालः। सायंप्रातःकालोपलक्षिताभि-रूतिभिर्घर्मं पिबतमिति यावत्। कीदृशं घर्मम्? हृदि हृदये वानं गमनं यस्य स हृद्वानः, स एव हार्द्वानस्तम्, हृदयप्रियमित्यर्थः, 'वा गतिगन्धनयोः' स्वार्थेऽण्। एवं घर्मपानायाश्विनावभ्यर्थ्य तत्साहाय्याय सूर्यादीन् नमति—तन्त्रायिणे नमः, तन्यत इति तन्त्रम्, पटनिर्माणाय तुरीशलाकाप्रोताः प्रसारितास्तन्तवस्तन्त्रमुच्यते, तद्वदेव नभसि कालचक्रमपि तन्त्रमुच्यते, 'तन्त्रं राष्ट्रे परच्छन्दाप्रधानयोः। अगदे कुटुम्बकृत्ये तन्तुवाने परिच्छदे ॥ श्रुतिशाखान्तरे शास्त्रे करणे द्व्यर्थसाधके। इतिकर्तव्यतातन्त्वोः' इति महीधराचार्योद्धृताभिधान-वचनात्। तथा च तन्त्रे कालचक्रे एति निरन्तरं गच्छति यः स तन्त्रायी, तस्मै तन्त्रायिणे आदित्याय नमोऽस्तु।

यद्वा तन्यतेऽनेनेति तन्त्रं तन्तुपूर्णा तुरी, सा यथा निर्माणसमये प्रतिसूत्रं दक्षिणोत्तरभागावभिलक्ष्य पुनः पुनरावर्तते, तन्त्रवद् अयते सर्वान् लोकान् गच्छतीति तन्त्रायी सूर्यस्तस्मै नमोऽस्तु, 'एष वै तन्त्रायी य एष तपत्येष ह्रीमांल्लोकांस्तन्त्रमिवानुसञ्चरत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति' (श० १४।१।२।२२) इति श्रुतेः। एष खलु इमान् पृथिव्यादीन् लोकान् तन्त्रमिव तन्तुसाधनभूता तुरीवानुसञ्चरति क्रमेणावर्तते। द्यावापृथिवीभ्या-मुभाभ्यां तदधिष्ठात्रीभ्यां देवताभ्यां नमोऽस्तु।

अध्यात्मपक्षे— हे अश्विनौ रामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ वा! घर्मं दीप्यमानं रसं श्रद्धाभक्तिज्ञानध्यानादिभी रसं पिबतम्। कीदृशं तम्? हार्द्वानं हृदयप्रियम्। काभिः? अर्हदिवाभिरूतिभिः पूर्वाह्णसायाह्णोपलक्षिताभि-रूतिभिरवनैर्निमित्तभूतैः। यतो भवद्भ्यां पूर्वाह्णसायाह्णोपलक्षितेषु कालेष्वसुरादिनिबर्हणेन त्रैलोक्यमेव रक्षितम्, अतो युवां दीप्यमानं रसं पिबतम्। तन्त्रायिणे सूर्याय द्यावापृथिवीभ्यां च त्वत्सहकारिभ्योऽन्येभ्योऽपि देवेभ्यो नमोऽस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ स्त्रीपुरुषौ! युवामहर्दिवाभिरूतिभिस्तन्त्रायिणे हार्द्वानं घर्मं पिबतम्, द्यावापृथिव्यां तन्त्रायिणे नमो दत्तम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विपदेन स्त्रीपुरुषयोर्ग्रहणे मानाभावात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, हृदं वनति येन तत् किमित्यनुक्तेः, अहरित्यस्य प्रतिदिनं कथमर्थ इत्यनुक्तेश्च। तन्त्रायिणे तन्त्राणि कलाशास्त्राणि अयितुं ज्ञातुं प्राप्तुं शीलं यस्य तस्मै नमोऽन्नं दत्तमित्यादिकमुपहासास्पदमेव, गुणिनां तन्निरपेक्षत्वात्, श्रुतिविरुद्धत्वाच्च। श्रुत्या तु योऽसौ तपति स सूर्यस्तन्त्रायिपदेनोच्यते ॥ १२ ॥

अपा॑ताम॒श्विना॑ घ॒र्मम॑नु॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॑मꣳसाताम्। इ॒हैव रा॒तयः॑ सन्तु ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारो, इस घर्म का पान करो। पृथ्वी और स्वर्ग तुम्हारे इस कार्य का अनुमोदन करें। इस विधि के अनुष्ठान से हमें इसी स्थान में धन की प्राप्ति हो ॥ १३ ॥

'अपातामिति यजमानः' (का० श्रौ० २६।६।८) यजमानो घर्ममभिमन्त्रयते—अपातामिति मन्त्रेणेति। ककुबुष्णिक्, अश्विदेवत्या। मध्यमः पादो द्वादशार्णः, आद्यन्तावष्टार्णौ सा ककुप्, मध्यमश्चेत् ककुबित्युक्तेः। अश्विना अश्विनौ देवौ, घर्ममपातामपिबताम्, लुङ्। तच्चाश्विनोर्घर्मपानं साध्वभूदिति द्यावापृथिवी अन्वमं-सातामनुमतवत्यौ। अत एवाश्व्यादिप्रसादादिहैवास्मद्गृहे स्थितानामस्माकं रातयो धनानि सन्तु, 'तदिमे द्यावापृथिवी आह ययोरिदꣳ सर्वमधीहैव रातयः सन्त्वितीहैव धनानि सन्त्वित्येवैतदाह' (श० १४।२।२।२६) इति श्रुतेः। रायन्ते दीयन्त इति रातयो धनानि, 'रा दाने', इहैवास्मिल्लोकेऽस्मद्गृहे वा नोऽस्माकं धनानि सन्तु, इतीममेवार्थमाह मन्त्र इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे अश्विनौ पूर्वोक्तौ रामलक्ष्मणौ घर्ममपाताम्। तच्च तयोः पानं द्यावापृथिव्यौ अन्वमं-सातामनुमेनाते। अत एवैषां देवानामनुग्रहादिहैव जीवने रातयो ज्ञानवैराग्यादिरूपाणि धनानि सन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ स्त्रीपुरुषौ! युवां वायुविद्युताविव घर्ममपाताम्, घर्मं गृहाश्रमव्यवहारानुष्ठानं मन्येताम्, द्यावापृथिवी इव घर्ममन्वमंसाताम्। यत इह रातय एव सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, घर्मपदस्य गृहाश्रमव्यवहारानुष्ठानार्थत्वे मानाभावात्, सूर्यभूमी इव मन्येतामित्यप्यसंगतम्, मूलमन्त्र इवप्रयोगादर्शनात्, तयोर्जडत्वेन दृष्टान्तानुपपत्तेश्च ॥ १३ ॥

इ॒षे पि॑न्वस्वो॒र्जे पि॑न्वस्व॒ ब्रह्म॑णे पिन्वस्व क्ष॒त्राय॑ पिन्वस्व॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्यां॑ पिन्वस्व । धर्मा॑सि सु॒धर्माऽमे॑न्य॒स्मे नृ॒म्णानि॑ धारय॒ ब्रह्म॑ धारय क्ष॒त्रं धा॑रय॒ विशं॑ धारय ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! तुम वृष्टि के लिये, अन्न के लिये, ब्राह्मणों के लिये, क्षत्रियों के लिये, पृथ्वी और स्वर्ग के लिये पुष्टिकारक बनो । हे साधु धारणशील ! तुम आहुतियों के परिणाम के द्वारा सारे जगत् के धारक हो । क्रोध किये बिना हमें धन-धान्य से सम्पन्न करो । ब्राह्मण जाति को, क्षत्रिय जाति को और वैश्य जाति को सब प्रकार से पुष्ट करो ॥ १४ ॥

'इषे पिन्वस्वेति पिन्वमानमनुमन्त्रयते' (का० श्रौ० २६।६।९) पिन्वमानमाहवनीसिच्यमानं घर्ममभिमन्त्रयते, 'अथ पिन्वमानमनुमन्त्रयते' (श० १४।२।२।२७) इति श्रुतेः । वषट्कारानुवषट्कारयोर्महावीरस्थं हविर्हुत्वा यत्तत्रावशिष्टं तेन प्रतिदिशं पिन्वनं कार्यम् । तस्मिन् समये यजमानस्य पिन्वमानानुमन्त्रणं विधत्ते—अथेति । अथ होमानन्तरं पिन्वमानम्, 'पिवि सेचने', आहवनीये सिच्यमानं घर्मम्, 'इषे पिन्वस्व' इति मन्त्रेणानुमन्त्रयते ।

ऋचां पङ्क्तिः, घर्मदेवत्या । हे पिन्वमान घर्म ! इषे वृष्ट्यै पिन्वस्व, विप्रुषो मुञ्च । ऊर्जे अन्नाय पिन्वस्व सिञ्चस्व । ब्रह्मणे ब्राह्मणेभ्यः, क्षत्राय क्षत्रियेभ्यः, द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व, 'वृष्ट्यै तदाह····यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह' (श० १४।२।२।२७) इत्यादिश्रुतेः । इष्यते सर्वप्राणिभिरितीट्, तस्मै इषे वृष्ट्यै वर्षणार्थम् । मेघैर्वृष्टात् सिक्ताद् उदकाद् य ऊर्ग् रसोऽन्नरसो जायते, तस्मै रसाय पिन्वस्व । अन्यत् स्पष्टम् ।

'धर्मासीत्युत्क्रामत्युत्तरपूर्वार्धम्' (का० श्रौ० २६।६।१०) । ऐशानीं दिशमुत्क्रामतीत्यर्थः । यजुर्गायत्री घर्मदेवत्या । हे घर्म हे सुधर्म, सुष्ठु धारयतीति, हे साधु धारणशील ! त्वं धर्मः सर्वजगतो धारणमसि, आहुतिपरिणामद्वारेण सर्वं धरसीत्यर्थः । 'अमेन्यस्मे इति खरे करोति' (का० श्रौ० २६।६।११) । 'अमेन्यस्मे' इति मन्त्रेण महावीरं खरे करोति, आसादयतीत्यर्थः । ऋग्बृहती घर्मदेवत्या । हे घर्म ! अमेनि मिनोति हिनस्तीति मेनिः, 'मिञ् हिंसायाम्' 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति सुलोपः । न मेनिरमेनिः, अमेनिरहिंसन् अक्रुध्यन् सन् अस्मे अस्मासु नृम्णानि धनानि धारय स्थापय । नॄन् नमयतीति नृम्णम् । 'अक्रुध्यन्नो धनानि धारय' (श० १४।२।२।३०) इति श्रुतेः । क्षत्रं विशं च धारय, विप्रादीनस्मदनुकूलान् कुरु । 'स यदूर्ध्वं पिन्वते तद्यजमानाय पिन्वते' (श० १४।२।२।२८) इति श्रुतिः प्रागादिदिक्षु मध्ये च पिन्वनमर्थवादेनोन्नयति, सपदि ऊर्ध्व ऊर्ध्वाभिमुखो मध्ये पिन्वते तत्तदा यजमानाय यजमानस्य श्रेयोऽर्थमेव पिन्वते । प्राङ्मुखो देवेभ्यः, दक्षिणतः पितृभ्यः, प्रत्यङ्मुखः पशुभ्यः, उदङ्मुखः प्रजायै । एवं क्रमेण पिन्वते यजमानस्य अनपराद्धमेव, अन्यथाकरणेऽपराध एव । ऊर्ध्वः स्वर्गाभिमुखो यजमानस्तस्मात्तदर्थमूर्ध्वाभिमुखः प्रथमं पिन्वित्वा प्राच्यादिषु घर्मं सिञ्चेत् ।

'अथ प्राङिवोदङ्ङुत्क्रामति । धर्मासि सुधर्मेत्येष वै धर्मो य एष तपत्येष हीदꣳ सर्वं धारयत्येतेनेदꣳ सर्वं धृतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति' (१४।२।२।२९) । अथ प्राङ्मुख इव भूत्वा उदङ्मुख उत्क्रामति, आहवनीयदक्षिणदेशाद् वेदिमतिक्रम्य वेदेरुत्तरतो गच्छेद् धर्मासीति मन्त्रेणेति । मन्त्रस्य तात्पर्यगम्यमर्थमाह—य एष सूर्यस्तपति एष खलु धर्मो धर्मशब्दाभिधेयः । कुत इति चेदुच्यते—हि यस्मात्, इदं सर्वं जगद् एष धारयति प्रवर्षप्रकाशादिना पोषयति । सर्वमेतेनैव धृतं पोषितं दृश्यते । धारकत्वाद्धर्मः । 'अथ खरे सादयति ।

अमेन्यस्मे नृम्णानि धारयेत्यक्रुद्धन्नो धनानि धारयेत्येवैतदाह ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारयेत्येतत् सर्वं धारयेत्येवैतदाह' (श० १४।२।२।३०) इति हि श्रुतिः। एवमुत्तरतोऽतिक्रम्य आहवनीयमुत्तरेण सिकताभिः कृते धिष्ण्ये सादयति महावीरं निदधाति।

अध्यात्मपक्षे—हे घर्म ! त्वम् इषे इष्यमाणाय मोक्षाय निरावरणब्रह्मपदाय पिन्वस्व ज्ञानविप्रुषो मुञ्च। ब्रह्मणे ब्राह्मतेजसे, क्षत्राय क्षात्रतेजसे सिञ्चस्व। द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। हे ज्ञानयज्ञ ! त्वं धर्मासि धर्मरूपोऽसि, सर्वधारकत्वात्, 'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' इत्युक्तेः। सुधर्मासि सुष्ठु सर्वं धारयसि, परमधर्मत्वात्। अस्मे अस्मभ्यम्, नृम्णानि धनानि ज्ञानवैराग्यलक्षणानि धारय, ब्रह्म ब्राह्मं तेजः, क्षत्रं क्षात्रं तेजः, विशः पोषकं तेजश्च धारय।

दयानन्दस्तु—'हे धर्म सुधर्म पुरुष स्त्रि वा ! त्वमनेन्यसि येनास्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय। तेनेषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धर्मसुधर्मपदाभ्यां स्त्रीपुरुषयोर्ग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, लौकिकत्वेन वेदार्थत्वायोगाच्च, अनधिगन्तृत्वेनैव प्रमाणानां प्रामाण्यात्, ब्राह्मणादिपदानां वेदविज्ञानाद्यर्थतापि चिन्त्यैव ॥ १४ ॥

स्वाहा॑ पू॒ष्णे श॒रसे॒ स्वाहा॒ ग्राव॑भ्य॒ः स्वाहा॑ प्रतिर॒वेभ्य॑ः। स्वाहा॑ पि॒तृभ्य॑ ऊ॒र्ध्वब॑र्हिभ्यो घर्म॒पाव॑भ्य॒ः स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ᳪ᳭ स्वाहा॒ विश्वे॑भ्यो दे॒वेभ्य॑ः ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—रससहित पुष्टिकारक प्राण के लिये, विषयों को ग्रहण करने वाले प्राणों के लिये, प्रतिशब्द करने वाले प्राणों के लिये, प्रागग्र आसन पर बैठ कर घर्मपान करने वाले पितरों के लिये, पृथ्वी और आकाश के लिये, विश्वेदेव देवताओं के लिये हम यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित करते हैं ॥ १५ ॥

'विकङ्कतशकलैर्जुहोति घर्मे न्यज्य स्वाहा पूष्णे शरस इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।६।१२)। घर्मे नितरामक्त्वा विकङ्कतशकलैर्घर्माज्यं जुहोति स्वाहा पूष्ण इति प्रतिमन्त्रमित्यर्थः। सप्त लिङ्गोक्तदेवत्यानि यजूंषि। अन्यत्र शरस्शब्दो दध्युपरिस्थस्नेहवाचकः, अत्र तु स्नेहमात्रवाची। शरसे स्नेहकर्त्रे पूष्णे वाताय प्राणरूपाय स्वाहा सुहुतमस्तु, 'अवरᳪ᳭ स्वाहाकारं करोति परां देवताम्' (श० १४।२।२।३२) इति श्रुतेरादौ स्वाहाकारस्ततो देवतापदानि। 'अयं वै पूषा। योऽयं पवत एष हीदं सर्वं पुष्यति' (श० १४।२।२।३२)। खरे सादनानन्तरं शाकलैः शकलसाधनहोममन्त्रैः स्वाहा पूष्णे शरसे स्वाहा इति सप्तभिः शकलैर्जुहोति। ग्रावभ्यः, गृह्णन्ति ये ते ग्रावाणः प्राणा विषयग्रहणशीलास्तेभ्यः स्वाहा, 'प्राणा वै ग्रावाणः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० १४।२।२।३३) इति श्रुतेः। प्रतिरवेभ्यः प्रतिरुवन्ति शब्दं कुर्वन्ति प्रतिरमन्ते वा यान् प्राप्येति प्रतिरवास्तेभ्यः स्वाहा, 'प्राणा वै प्रतिरवाः प्राणान् हीदᳪ᳭ सर्वं प्रति रतम्' (श० १४।२।२।३४) इति श्रुतेः। प्रतिरवशब्देन प्राणा एवोच्यन्ते, हि यस्मात्, इदं सर्वं जगत् प्राणान् प्रति रतं प्राणे रममाणं सद् दृश्यते, तस्मात् प्राणा एव प्रतिरवाः। 'चतुर्थमहुतमुदङ्ङीक्षमाणो दक्षिणतो बर्हिष्युपगूहति' (का० श्रौ० २६।७।१४)। चतुर्थं शकलमहुतमेवोदीचीं पश्यन् वेदेर्दक्षिणभागे वेद्यामास्तीर्णे बर्हिषि दक्षिणभागे स्वयमुदीचीं दिशमीक्षमाण उपगूहति संवृणोति, यथा शकलो न दृश्येत तथा बर्हिषोऽधस्तान्निदध्यादित्यर्थः। 'यन्न प्रेक्षते सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः' (श० १४।२।२।३५) इति शकलस्य प्रेक्षणं न कुर्यात्। तत्र हेतुः—पराञ्चः स्वतः पराङ्मुखा लोकाः, अभिमुखं पितरः। सकृदु हि एकवारकरणमेव तेषां प्रियम्, तच्छकलस्य पुनः पुनः प्रेक्षणे क्रियमाणे तद्

व्याहन्येतेति। आदानसमये प्रेक्षित्वा पश्चाद् उद्वहनसमये न प्रेक्षेत। पितृभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु। कीदृशेभ्यः? ऊर्ध्वबर्हिभ्यः, ऊर्ध्वं प्रागग्रं बर्हिर्येषां तेभ्यः, सोमपाभ्य इत्यर्थः। घर्मपावभ्यः, घर्मं पिबन्ति ये ते घर्मपावानस्तेभ्यः स्वाहा। द्यावापृथिवीभ्यां प्राणोदानाभ्यां स्वाहा सुहुतमस्तु, द्यावापृथिवीशब्देन तयोरेवाभिधानात्, 'प्राणोदानौ वै द्यावापृथिवी प्राणोदानावेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० १४।२।२।३६) इति श्रुतेः। विश्वेभ्यो देवेभ्यः प्राणेभ्यः स्वाहा, 'प्राणा वै विश्वे देवाः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० १४।२।२।७) इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—पुष्यति सर्वं यस्तस्मै शरसे स्नेहात्मने परमेश्वराय स्वाहा सर्वमर्पितमस्तु। ग्रावभ्यः, तस्मै सर्वात्मत्वविवक्षया ग्रावभ्यः प्राणेभ्यः प्राणरूपाय तस्मै स्वाहा। प्रतिरवेभ्यः, यान् प्राप्य सर्वे रमन्ते तेभ्यः पितृभ्यः सर्वपालकेभ्य ऊर्ध्वबर्हिभ्यः सोमपाभ्यः स्वाहा। घर्मपावभ्यो द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा। तत्तद्रूपापन्नाय सर्वात्मने परमेश्वराय सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—स्त्रीपुरुषैः पूष्णे शरसे स्वाहा प्रतिरवेभ्यः स्वाहोर्ध्वबर्हिभ्यो घर्मपावभ्यः पितृभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा सदा प्रयोज्या' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, स्वाहाशब्दस्य तत्तदर्थकत्वे मानाभावाच्च। न च द्यावापृथिवीभ्यां न वा पृथिव्यादिभ्यः सत्यवाचः सार्थक्यम्, त्वद्रीत्या तेषां जडत्वात्॥ १५॥

स्वाहा॑ रु॒द्राय॑ रु॒द्रहू॑तये॒ स्वाहा॒ सं ज्योति॑षा॒ ज्योतिः॑। अहः॑ के॒तुना॑ जुषता॒ᳪ सु॒ज्योति॒र्ज्योति॑षा॒ स्वाहा॑। रात्रिः॑ के॒तुना॑ जुषता॒ᳪ सु॒ज्योति॒र्ज्योति॑षा॒ स्वाहा॑। मधु॑ हु॒तमिन्द्र॑तमे अ॒ग्नाव॒श्याम॑ ते देव घर्म॒ नम॑स्ते अस्तु॒ मा मा॑ हिᳪसीः॥ १६॥

मन्त्रार्थ—स्तोता के द्वारा स्तुत रुद्र के लिये हम यह श्रेष्ठ आहुति देते हैं। हे घर्म में स्थित घृत! तुम उपयमनी में स्थित घृत से मिल जाओ, हम तुम्हारे लिये यह आहुति देते हैं। कर्म द्वारा ज्योतियुक्त हुआ तेज दिन के तेज से मिल जाय, इसके लिये यह आहुति दी जाती है। रात्रि कर्म द्वारा संगत होकर ज्योतियुक्त तेज अपने तेज से मिल जाय, इसके लिये यह आहुति समर्पित है। हे घर्मदेव! अति बलशाली अग्नि में होमे गये तुम्हारे घर्माज्य अंश का हम भक्षण करते हैं, आपके प्रति हम विनम्र भाव से नमस्कार करते हैं। आप हमें किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचावें॥ १६॥

'सप्तमं च सर्वलेपाक्तं दक्षिणेक्षमाणः प्रतिप्रस्थात्रे प्रयच्छति' (का० श्रौ० २६।६।१५)। मूलाग्रावधि घर्मं घृताभ्यक्तं कृत्वा सप्तमं शकलं दक्षिणं पश्यन् प्रतिप्रस्थात्रे ददातीत्यर्थः। 'अहुत्वैव दक्षिणेक्षमाणः प्रतिप्रस्थात्रे प्रयच्छति तᳪ स उत्तरतः शालाया उदङ्ङ्निरस्यत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक् स्वायामेवैनमेतद्दिशि प्रीणात्यथ यन्न प्रेक्षते नेन्मा रुद्रो हिनसीदिति' (श० १४।२।२।३८) इति श्रुतेः सप्तमस्य शकलस्य होमं निषिद्धच निरसनं विधित्सुराह—'स्वाहा रुद्राय' इति मन्त्रं पठन् सर्वेषु लेपेष्वन्त्यं सप्तमं शकलमहुत्वैव दक्षिणां दिशमीक्षमाणः स्वयं शकलमपश्यन् अध्वर्युः प्रतिप्रस्थात्रे प्रयच्छति। स च प्रतिप्रस्थाता तं शकलं शालाया उत्तरतः प्राग्वंशं गृहस्योत्तरभागे उदङ्ङम् उदगग्रं निरस्यति क्षिपेत्। कुत उदीच्यामेव तन्निरसनम्? कस्माच्च शकलस्य न प्रेक्षणमिति? तदुभयमुपपादयति—एषा खलु उदीची, एतस्य रुद्रस्य देवस्य दिक्, उत्तरपूर्वार्द्धाया दिशो रुद्रेण पाल्यमानत्वाद् उत्तरापि तत्संबन्धिनी, तेन तत्रैव निरसनम्। तद् मामध्वर्युं नेद् नैव हिनसद् हिंस्यात्, इत्यनेनाभिप्रायेण न प्रेक्षेत।

रुद्र इति स्तोतृनामसु पठितम् (निघ० ३।१६।१२)। रुद्रैः स्तोतृभिर्हूयत आहूयत इति रुद्रहूतिस्तस्मै स्तोस्तृस्तुताय रुद्राय देवाय स्वाहा सुहुतमस्तु। एवं सप्तयजुषां मध्ये चतुर्थसप्तमयोर्विनियोग उक्तः। शेषैः पञ्चशकलैराज्यहोमः। 'स्वाहा सं ज्योतिषेत्युपयमन्यामासिञ्चति घर्म्यम्' (का० श्रौ० २६।६।१७)। परीशासाभ्यां घर्ममुत्पाट्य उपयमनीस्रुक्पुष्करस्योपर्यधोमुखं कुर्यात्। अर्थाद् घर्म्यं घर्मसंबन्धि घृतमुपयमन्यामासिञ्चति। पूर्वं स्रुक्स्थं घर्मे नीतम्, इदानीं घर्मस्थं स्रुचि नयतीत्यर्थः।

पयोदेवत्यं यजुरनुष्टुप्। ज्योतिर्घर्मस्थं घृतं ज्योतिषोपयमनीस्थेन घृतेन सङ्गच्छताम्। स्वाहा सुहुतमस्तु, 'अथ महावीरादुपयमन्यां प्रत्यानयति। स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिरिति ज्योतिर्वा इतरस्मिन् पयो भवति ज्योतिरितरस्यां ते ह्येतदुभे ज्योतिषी संगच्छेते' (श० १४।२।२।४०) इति श्रुतेः। महावीरे वर्तमानस्य शिष्टस्य हविष उपयमन्यामासेचनं विधत्ते—'स्वाहा सं ज्योतिषा' इत्यनेन मन्त्रेण। महावीरसकाशाद्धुतशिष्टं घर्मरसमुपयमन्यां स्रुचि प्रत्यानयति, तदेतन्मन्त्राभिप्रायकथनेन स्तौति—ज्योतिर्वेति। इतरस्मिन् अन्यतरस्मिन् महावीरे ज्योतिस्तेजोरूपं पयो भवति, इतरस्यामुपयमन्यामाज्यलक्षणं ज्योतिर्भवति। एतद् एतेनासेचनेन ते एव ज्योतिषी संगच्छेते परस्परं संयुज्येते। तथा च ज्योतिषा उक्तलक्षणेन महावीरस्थेन ज्योतिरुपयमनीस्थं संगच्छते।

'मन्त्रक्रमेणोत्तरँ रौहिणं जुहोति' (का० श्रौ० २६।६।१८)। उत्तरं रौहिणं मन्त्रक्रमेण सं ज्योतिषा ज्योतिरिति मन्त्रकर्मणोऽनन्तरं जुहोतीत्यर्थः। अहः केतुना, केतुना प्रज्ञया कर्मणा वा सहितमहर्दिनं जुषतां रौहिणहोमेन प्रीयताम्। कीदृशमहः ? ज्योतिषा स्ववीर्येण तेजसा सुज्योतिः शोभनतेजस्कम्। स्वाहा एतद्धविः सुहुतमस्तु। तथैव केतुना रात्रिर्जुषतां रौहिणहोमेन प्रीयताम्। 'अथ रौहिणौ जुहोति। अहः केतुना…' (श० १४।२।२।४१)। सायम्प्रातःकालयोः प्रवृञ्जनोपरिष्टात्काले होतव्यत्वेन विहितौ रौहिणपुरोडाशौ। तावस्मिन् काले होतव्यौ। प्रत्यानयनान्तरं सायम्प्रातःकालीनयोः प्रवर्ग्ययोरुत्तरौ रौहिणपुरोडाशौ। तयोरेको घर्मदुहो दोहनात् प्राक्काले हुतः, अपरस्त्वस्मिन् काले होतव्यः। 'अग्निहोत्रावृता हुत्वा वाजिनवद् भक्षयन्ति मधु हुतमिति' (का० श्रौ० २६।६।२०)। उपयमन्यामानीतं घर्माज्यमग्निहोत्रहोमप्रकारेण समन्त्रकं हुत्वा वाजिनवदुपहवप्रार्थनपूर्वकं भक्षयन्ति होत्रध्वर्युब्रह्मप्रस्तोतृप्रतिप्रस्थात्रग्नीध्रयजमानाः।

धर्मदेवत्यम् ऋग्बृहती। अग्नौ मधु मधुरं घर्माज्यं हुतमस्माभिः। कीदृशेऽग्नौ ? इन्द्रतमे इन्द्रं वीर्यमस्यास्तीति इन्द्रवान् सोऽतिशयित इन्द्रतमः, वत्प्रत्ययलोपः, तस्मिन् इन्द्रतमे वीर्यवत्तमेऽग्नौ मधु हुतमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'अथ यजमानाय घर्मोच्छिष्टं प्रयच्छति। स उपहवमिष्ट्वा भक्षयति मधु हुतमिन्द्रतमेऽग्ना… वित्येवैतदाह' (श० १४।२।२।४२)। इन्द्रतमे इन्द्रवत्तमे, अग्नौ तदीये जाठरे तेजसि मधुरं हुतं शिष्टं हविर्हुतमस्तु। अन्यत् स्पष्टम्। हे घर्म, हे देव ! ते तव हुतशेषमंशं वयमश्याम भक्षयाम। अश्नोतेर्विकरणव्यत्ययेन 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुकि लिङि उत्तमपुरुषबहुवचने रूपम्। ते तुभ्यं नमोऽस्तु। मा मां हिंसीरित्यात्मनः परित्राणमर्थ्यते, 'अश्याम ते देव घर्म नमस्ते अस्तु मा मा हिँसीरित्याशिषमेवैतदाशास्ते' (श० १४।२।२।४२) इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—रुद्रहूतये स्तोतृभिराहूयमानाय रुद्राय रोगद्रावणाय परमात्मने स्वाहा सुहुतमस्तु। ज्योतिः प्रत्यक्चैतन्यं ज्योतिषा ब्रह्मचैतन्येन संगच्छताम्, केतुना प्रज्ञया वर्तमानं महदिदं दिनं जुषतां प्रीयताम्। तच्च ज्योतिषा स्वकीयेन तेजसा सुज्योतिः शोभनतेजस्कमस्तु। तथैव रात्रिरपि केतुना प्रज्ञया ज्योतिषा सुज्योतिरस्तु। तादृशाय दिनाय तादृश्यै रात्र्यै च स्वाहा सुहुतमस्तु। इन्द्रतमे वीर्यवत्तमेऽग्नौ परमेश्वरे

मधु मधुरं परप्रेमास्पदं प्रत्यक्चैतन्यं हुतं समर्पितम्। हे देव घर्म ज्ञानयज्ञ! त्वत्प्रसादाद् वयम् अश्याम आस्वादयाम ब्रह्मसुखम्। ते तुभ्यं नमोऽस्तु। मा मां हिंसीः प्रमादजनितेऽपराधेऽपि मा हिंसीः, अपराधापमार्जनेन सर्वथा रक्ष।

दयानन्दस्तु—हे स्त्रि पुरुष वा! भवति भवन् वा! केतुना रुद्राय रुद्रहूतये स्वाहा ज्योतिषा ज्योतिः स्वाहा ज्योतिषा सुज्योतिरहः स्वाहा संजुषताम्। केतुना ज्योतिषा सुज्योती रात्री रात्रि स्वाहा। हे देव घर्म! येन त इन्द्रतमेऽग्नौ मधु हुतमश्याम ते नमोऽस्तु। त्वं मां मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागेऽपि विशृङ्खलत्वात्। 'रुद्रा जीवाः प्राणा वा हूयन्ते स्तूयन्ते येन तस्मै' इत्यप्यसंगतम्, जीवप्राणादीनां स्तुतेरपुरुषार्थत्वात्, संबोधनस्यापि निर्मूलत्वात्, श्रुतिविरुद्धत्वाच्च। श्रुत्या च रुद्रस्य देवस्य हविरर्पणेऽयं मन्त्रो विनियुक्तः ॥ १६ ॥

अभीमं महिमा दिवं विप्रो बभूव सप्रथाः। उत श्रवसा पृथिवीᳪं सᳪंसीदस्व महाँ२॥

असि रोचस्व देववीतमः। वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त द[र्श]तम् ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आपकी सबको पूर्ण करने वाली विस्तारमयी कीर्ति यशरूपी धन से इस द्युलोक और पृथ्वी को व्याप्त करती है। आप सम्पूर्ण देवताओं को तृप्त करते हैं, इसीलिये महान् हैं। इस पुष्करपर्ण पर आप भली प्रकार बैठिये और अपना प्रकाश फैलाइये। हे यज्ञयोग्य उत्कृष्ट अग्निदेव! आप दर्शनीय और रोषहीन होकर अपने धूम को चारों तरफ फैलाइये ॥ १७ ॥

'अभीममिति महावीरम्' (का० श्रौ० २६।६।२५)। प्रचरणीयं घर्ममासन्द्यां करोति मन्त्रेणेतराणि तूष्णीम्। ततः शान्तिपाठ इत्यर्थः। गायत्रीबृहत्यौ मध्येऽवसानहीने। अभीमं गायत्री, संसीदस्व बृहती। यद्वाऽवसानत्रयोपेताऽतिशक्वरी षष्ट्यक्षराग्निदेवत्या। एकैव ऋक्, ऋग्द्वयं वेत्यर्थः। हे अग्ने! तव महिमा इमं दिवमभिबभूव अभिभवति, 'छन्दसि लुङ्लिङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६)। दिवशब्दः पुल्लिङ्गः, अर्धर्चादित्वात्। कीदृशो महिमा? विप्रः, विशेषेण प्राति पूरयति सर्वमिति विप्रो मेधावी। सप्रथाः, प्रथनं प्रथो विस्तारस्तेन सहितः सप्रथाः। उतापि च, श्रवसा धनेन यशसा वा पृथिवीमभिभवतीत्यनुषङ्गः। हे अग्ने, संसीदस्व त्वं सम्यग् उपविश, यतस्त्वं महान् असि, अनेकक्रतुहेतुत्वात्। स त्वं रोचस्व दीप्यस्व। कीदृशस्त्वम्? देववीतमः, देवान् वेति तर्पयतीति देववीः, 'वी कान्त्यादौ', सोऽतिशयितो देववीतमः। हे मियेध्य हे मेध्य, हे प्रशस्त उत्कृष्ट! मेध्यशब्दस्य छान्दसो विप्रकर्षः। दर्शनं दर्शनीयमरुषमरोचनं धूमं विसृज विमुञ्च। विधूमेत्यत्रत्यो वीत्युपसर्गः सृजेत्यनेन संबद्ध्यते। अत्र श्रुतिः—'इतो वा अयमूर्ध्वᳪं रेतः सिञ्चति धूमᳪं सामुत्र वृष्टिर्भवति' इति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर! ते तव महिमा इमं दिवं द्युलोकमभिबभूव अभिभवति। कीदृशो महिमा? विप्रः सर्वपूरकः सविस्तारः, उतापि श्रवसा धनेन यशसा वा पृथिवीमभिभवति। संसीदस्व भक्तानां हृदयपुष्करे सम्यगुपविश। महान् असि, सर्वकारणत्वात्। रोचस्व दीप्यस्व देववीतमो देवानां तर्पयितृतमः। दर्शतं दर्शनीयं धूमं धूमतुल्यं जीवानामज्ञानं कामादिदोषं वा विसृज विमुञ्च विमोचय, णिजर्थो द्रष्टव्यः। हे प्रशस्त सर्वोत्तम! दर्शतं दर्शनीयं दिवं वा अभिबभूवेति।

दयानन्दस्तु—'हे प्रशस्त मियेध्याग्ने! महिमा सप्रथाः विप्रस्त्वमिमं दिवमभिबभूव, उतापि श्रवसा पृथिवीं संसीदस्व। यतो देववीतमो महानसि, तस्माद्रोचस्वारुषं धूमं विसृज' इति, तदपि यत्किञ्चित्,

अग्निपदस्य मुख्यार्थत्यागेन तेजस्विविदुषो ग्रहणे मानाभावात्। दिवमविद्यादिगुणप्रकाशमित्यपि निर्मूलम्, तिमिरात्मिकाया अविद्याया दिवमित्यनेन ग्रहीतुमशक्यत्वात्। न च धूमपदस्य यज्ञियधूम एवार्थः, प्रमाणमन्तरा सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वायोगात्, विपूर्वस्य सृजतेर्मोचनार्थत्वेन सृष्ट्यर्थत्वायोगाच्च। यज्ञस्य चिकारयिषितत्वे यज्ञं सृजेत्येव स्यात् ॥ १७ ॥

या ते॑ घर्म दि॒व्या शुग्या गा॑य॒त्र्याᳪं ह॑वि॒र्धाने॑। सा त॒ आ प्या॑यतां निष्ट्या॑यतां॒ तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑। या ते॑ घर्मा॒न्तरि॑क्षे॒ शुग्या त्रि॒ष्टुभ्या॒ग्नीध्रे॑। सा त॒ आ प्या॑यतां निष्ट्या॑यतां॒ तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑। या ते॑ घर्म पृथि॒व्याᳪं शुग्या जग॑त्याᳪं सद॒स्या। सा त॒ आ प्या॑यतां निष्ट्या॑यतां॒ तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑ ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! तुम्हारी जो दीप्ति द्युलोक में है, गायत्री और यज्ञगृह में है, तुम्हारी वह दीप्ति बढ़े और दृढ़ता से स्थित हो जाय। तुम्हारी उस दीप्ति के लिये हम यह आहुति देते हैं हे घर्म ! तुम्हारी जो दीप्ति अन्तरिक्ष में है, त्रिष्टुप् छन्द में है, आग्नीध्र स्थान में है, तुम्हारी वह दीप्ति बढ़े और दृढ़ हो। तुम्हारी उस दीप्ति के लिये हम यह आहुति देते हैं। हे घर्म ! तुम्हारी जो दीप्ति यज्ञस्थान और पृथ्वी में है, जगती छन्द में है, तुम्हारी वह दीप्ति बढ़े और दृढ़ हो। उस दीप्ति के लिये हम यह आहुति देते हैं ॥ १८ ॥

'चतुर्गृहीतेनाभिजुहोति या ते घर्म दिव्या शुगिति' (का० श्रौ० २६।७।३)। अध्वर्युराज्यं संस्कृत्य चतुर्गृहीतं कृत्वा तेन जुहोति, अग्नीधा ध्रियमाणेषु त्रिषु शलाकात्रिकेषु त्रिभिर्मन्त्रैस्तृतीयेनोपविश्येत्यर्थः। त्रीणि यजूंषि घर्मदेवत्यानि, ऋक्पङ्क्तयः। हे घर्म, या ते तव दिव्या दिवि भवा दिव्या द्युलोकप्रविष्टा शुग् दीप्तिः, या गायत्र्यां छन्दसि प्रविष्टा, या च हविर्धाने यज्ञगृहे प्रविष्टा, सा ते तव शुग् दीप्तिराप्यायतां वर्धताम्। निष्ट्यायतां निष्ट्याना संहता सुदृढा भवतु, 'स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः'। तस्यै ते शुचे ते तुभ्यं च स्वाहा सुहुतमस्तु। हे घर्म, या ते तवान्तरिक्षे त्रिष्टुभि छन्दसि अग्नीध्रे अग्नीध्रसदने च प्रविष्टा, सा ते तव शुग् आप्यायतां निष्ट्यायताम्, तस्यै ते तुभ्यं च स्वाहा। हे घर्म ! या ते शुक् पृथिव्यां प्रविष्टा, या च जगत्यां छन्दसि, या सदस्या सदसि सदोमण्डपे प्रविष्टा, सा ते तव शुग् आप्यायतां निष्ट्यायताम्। तस्यै तुभ्यं च स्वाहा।

अत्र ब्राह्मणम् अथाग्नीध्रः। आहवनीये त्रीञ्छलाकानुपकल्पयते तेषामेकमुज्ज्वलय्य मुखदघ्ने धारयमाणो जुहोति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शुगुदक्रामत् सेमाँल्लोकानाविशत्तयैवैनमेतच्छुचा समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श० १४।३।१।२) इति। अथ घर्मोद्वासनाङ्गत्वेनाहुतित्रयं विधित्सुस्तदर्थं दर्भमुष्टित्रयस्योपकल्पनमाह— सर्वेषां समागमनानन्तरमाग्नीध्र आहवनीयदेशे गत्वा तत्र त्रीन् शलाकान् दर्भशलाकामुष्टीन् संपाद्य धारयेत्। अथ तेषामेकमुज्ज्वलय्य आहवनीये आदीप्य तं मुखदघ्ने मुखप्रमाणे उन्नतदेशे मुखसमं धारयमाणस्तद्गतेऽग्नौ 'या ते घर्म दिव्या शुक्' इति मन्त्रेण प्रथमाहुतिं जुहोति। अस्य होमस्य प्रयोजनमाह—छिन्नशिरस्कस्य यज्ञस्य सकाशात् शुक् शोक उदक्रामत्। सा उत्क्रान्ता सती इमान् पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकान् आविशत्। एतद् एतैर्होमैस्तयैव लोकत्रयगतया शुचा एनं यज्ञं समर्धयति, अनेन होमेन लोकत्रयसकाशात् शुचमाकृष्य पुनर्यज्ञे स्थापितवान् भवति। तथा च तं यज्ञं कृत्स्नं संपूर्णं करोति।

'अथ यन्मुखदघ्ने । उपरीव वै तद्यन्मुखदघ्नमुपरीव तद्यदसौ लोकस्तद्याऽमुं लोकꣳ शुगाविशत्तयैवैन-मेतच्छुचा समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श० १४।३।१।१३)। यन्मुखदघ्नं मुखप्रमाणं तद् उपरीव उन्नतमिव खलु। असौ द्युलोक इति यत्, तदपि उपरीव उपरिष्टात् स्थितः खलु। तत्तथा मुखदघ्नधारणविशिष्टस्य प्रथमहोमस्य द्युलोकस्योन्नतत्वसाम्याद् या शुग् द्युलोकं प्रविष्टा, तथैव शुचाऽनेन खलु होमेन समर्धयति, यज्ञं च कृत्स्नं करोति या ते घर्म दिव्या शुगिति। हे घर्म ! या ते त्वदीया द्युप्रभृतिष्वाश्रिता शुक्, सा आप्यायतां नितरां स्त्यायताम्, संघीभूता सुदृढा भवतु। तस्यै शुचे ते तुभ्यं स्वाहा। 'अथ द्वितीय-मुज्ज्वलय्य । नाभिदघ्ने धारयमाणो जुहोति ॥ या ते घर्मान्तरिक्षे ॥ अथ तृतीयमभ्याधाय । तस्मिन्नासीनो जुहोत्यथ इव वै तद्यदासीनोऽध इव तद्यदयं लोकस्तद्येमं लोकꣳ शुगाविशत्तयैवैनमेतच्छुचा समर्धयति ॥ या ते घर्म पृथिव्याꣳ शुगिति' (श० १४।३।१।१५-८)। नाभिदघ्नं मध्यमिव देहस्य मध्यदेशः खलु। अन्तरिक्ष-लोकस्याऽपि भूलोकस्वर्लोकयोर्मध्ये वर्तमानत्वात् साम्यमुभयोः। तेन द्वितीयाहुत्या या शुग् अन्तरिक्षलोकं पूर्वं प्रविष्टा, तया यज्ञं समर्धयति। तृतीयं दर्भशलाकामुष्टिमस्याधाय अग्नौ प्रक्षिप्य स्वयमासीनस्तस्मिन्नग्नौ 'या ते घर्म पृथिव्याम्' इति मन्त्रेण तृतीयामाहुतिं जुहोति। अनेन मन्त्रहोमेन भूलोकगतया शुचा यज्ञं समर्धयति।

अध्यात्मपक्षे—हे घर्म हे ज्ञानयज्ञ ! या ते दिव्या शुग् दीप्तिः प्रकाशः, दिवि द्युलोके गता, या च गायत्र्यां प्रविष्टा, या हविर्धाने प्रविष्टा, सा ते तव शुग् दीप्तिराप्यायतां वर्धताम्, निष्ट्यायतां संघीभूता भवतु। हे घर्म ! या ते शुग् अन्तरिक्षे, या च त्रिष्टुभि, या चाग्नीध्रे, सा आप्यायतां निष्ट्यायताम्। या च घर्म ! पृथिव्यां प्रविष्टा या जगत्यां या च सदस्या सदोमण्डपे प्रविष्टा, सा आप्यायतां निष्ट्यायताम्। तस्यै तुभ्यं च स्वाहा अत्यन्तं सम्मानं समर्पयामः।

दयानन्दस्तु—हे घर्म विद्वन् विदुषि वा ! या ते गायत्र्यां हविर्धाने शुग् या च दिव्या वर्तते, सा ते आप्यायताम् तस्यै ते स्वाहा भवतु' इति, तदप्यसत्, घर्मशब्देन विदुषो विदुष्या वा ग्रहणे मानाभावात्। गायत्र्यां गायतो दक्षिकायां विद्यायामित्यपि निर्मूलम्, तादृश्या विद्याया निर्मूलत्वात्। विदुषो शुक् कथं वर्धते ? कथं च संघीभूता सा गायत्र्यां कथं गच्छति ? कथं चान्तरिक्षे त्रिष्टुभि कथं चाग्नीध्रे गच्छति ? इति सर्वमेतद् दुःसमाधेयमेव ॥ १८ ॥

क्षत्रस्य॑ त्वा प॒रस्पा॑य॒ ब्रह्म॑ण॒स्त॒न्वं॑ पाहि। वि॒शस्त्वा॒ धर्म॑णा व॒यमनु॑ क्रामाम सुवि॒ताय॒ नव्य॑से ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! हम क्षत्रिय जाति के सूर्यदेव के पूरी तरह से पालन के लिये तुम्हारे पीछे चलते हैं, तुम ब्राह्मण के शरीर की रक्षा करो। यज्ञ के धारण के लिये नूतन सभी सामग्रियों से सम्पन्न यज्ञसामग्री के लिये, वैश्य वर्ग की रक्षा के लिये हम तुम्हारे पीछे चलते हैं ॥ १९ ॥

'क्षत्रस्य त्वेति निष्क्रमणं पुरस्तात् पत्नीमन्तर्धाय' (का० श्रौ० २६।७।५)। होमानन्तरमध्वर्युः पत्नीमग्रे कृत्वा शालाया निष्क्रामति क्षत्रस्य त्वेति मन्त्रेणेत्यर्थः। उपरिष्टाद्बृहती घर्मदेवत्या। हे घर्म ! वयं क्षत्रस्य क्षत्रियस्य परस्पाय परमपालनाय त्वामनुक्रामाम अनुगच्छाम। परःशब्दोऽव्ययम्। पर उत्कृष्टं पायते रक्ष्यत इति परस्पम्, तस्मै तदर्थं त्वामनुक्रामाम इत्यर्थः। 'अथोपनिष्क्रामति। "एतद्वै दैवं क्षत्रं य एष तपत्यस्य त्वा मानुषस्य क्षत्रस्य परस्पत्वायेत्येवैतदाह' (श० १४।३।१।१९) इति श्रुतिवचनं घर्मोद्वासनदेशं प्रति गमकम्। घर्ममेकीकृत्य निधाय आहवनीय आहुतित्रयं हुत्वा क्षत्रस्य त्वेति मन्त्रेणोपनिष्क्रामति। य एव सूर्यस्तपति, एतद्वै खलु दैवं

देवसम्बन्धि क्षत्रं क्षत्रियजातिः । स एव सूर्यो घर्मः । तथा च घर्मस्य क्षत्रियजात्यभिमानित्वाद् अस्य मानुषस्य मनुष्यसम्बन्धिनः क्षत्रस्य क्षत्रियजातेः परस्पाय अतिशयेन रक्षणाय हे घर्म ! त्वामनुक्रामाम इति । किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेस्तन्वं शरीरं पाहि, 'ब्रह्मण आत्मानं गोपायेत्येवैतदाह' (श० १४।३।१।१९) इति श्रुतेः । किञ्च, विशो यज्ञस्य धर्मणा धारणेन निमित्तेन वयं त्वामनुक्रामाम 'यज्ञो वै विड् यज्ञस्य त्वारिष्टचै' (श० १४।३।१।१९) इति श्रुतेः । यज्ञात्मिका खलु विड् वैश्यजातिः, तत्साधनाज्यक्षीरहविःसम्पादकत्वात् । ततश्च विशस्त्वा धर्मणा यज्ञात्मिकाया वैश्यजातेररिष्टचै अहिंसायै वयं त्वामनुक्रामामेति । सर्वमेतत्किमर्थम् ? नव्यसे नूतनाय सुविताय सुगताय सुप्रसूताय कर्मणे कर्मसिद्धचर्थं त्वामनुगच्छामेत्यर्थः । सुष्ठु इतं सुवितम्, 'इण् गतौ', क्तप्रत्यये उपसर्गस्योवङादेशः । यद्वा सूयते प्रेर्यत इति सुवितम्, 'षू प्रेरणे' इडागमे धातोरुवङ् ।

अध्यात्मपक्षे — हे घर्म ! क्षत्रस्य परस्पायं त्वामनुक्रामाम अनुगच्छाम, ज्ञानयज्ञेन क्षत्रियो ब्रह्मात्मज्ञानं प्राप्य शोकमोहराहित्ये जनानां क्षतात्त्राणे प्रवर्तते । हे घर्म ! ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेस्तन्वं स्वरूपं पाहि रक्ष, ब्रह्मज्ञानेनैव ब्राह्मणस्य मुख्यं ब्राह्मण्यं रक्ष्यते । हे घर्म ! विशो वैश्यजातेर्धर्मणा धारणनिमित्तेन त्वामनुक्रामाम । वैश्यजातिरपि ब्रह्मज्ञानेन शोकमोहराहित्ये यज्ञीयाज्यक्षीरहविःसंपादने प्रवर्तते । हे घर्म ! वयं नवीयसे नूतनाय सुविताय सुप्रसूताय ज्ञानाय त्वामनुक्रामामेति ।

दयानन्दस्तु — 'हे राजन् राज्ञि वा ! त्वं परस्पाय क्षत्रस्य ब्रह्मणस्त्वा तन्वं पाहि, यथा वयं नव्यसे सुविताय धर्मणानुक्रामाम, तथैव धर्मणि वर्तमानं त्वां विशोऽनुगच्छन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित् घर्मपदस्य राजार्थकत्वे मानाभावात् । परस्पायेत्यस्य 'येन परानन्यान् तपति तस्मै' इति व्याख्यानमपि निर्मूलम्, परःशब्दस्यान्यार्थत्वे मानाभावात् । 'विशोऽनुगच्छन्तु' इत्यप्यसंगतम्, मूले 'अनुगच्छन्तु' इति पाठाभावात् ॥ १९ ॥

चतुःस्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः । अप द्वेषो अप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—वह दिशारूप चार कोनों वाला तथा सत्य-यज्ञ का बन्धन-स्थान अपने पूरे विस्तार के साथ पूर्ण आयु का दाता है । वह हमें पूर्ण आयु दे, वह हमारे यश को बढ़ावे । उसके अनुग्रह से हमारा सारा द्वेष दूर हो जाय । जन्ममरण लक्षण वाला संसरण दूर हो जाय । हम परमात्मा की सेवा में लग जाँय, अर्थात् हमें सायुज्य मोक्ष की प्राप्ति हो ॥ २० ॥

'नाभिस्पृशं प्रवृञ्जनीयं निदधाति चतुःस्रक्तिरिति' (का० श्रौ० २६।७।११)। उत्तरवेदेर्मध्यभागः प्रादेशविस्तृत एकाङ्गुलोच्चो नाभिः, नाभेः पुरस्तान्नाभिपृष्टमेव महावीरमासादयेत् परिस्पन्दे उत्सादयेत्, जलयुक्ते द्वीपे घर्मोद्वासनं कुर्यात् । पक्षान्तरमाह—'उत्तरवेदौ त्वेवोत्सादयेत् । यज्ञो वा उत्तरवेदिः शिरः प्रवर्ग्यो यज्ञ एवैतच्छिरः प्रतिदधाति' (श० १४।३।१।१५) इति हि श्रुतिः । 'उत्तरनाभ्या सꣳस्पृष्टं प्रथमं प्रवर्ग्यमुत्सादयति वाग्वा उत्तरनाभिः शिरः प्रवर्ग्यः शीर्षंस्तद्वाचं दधाति' (श० १४।३।१।१६) ।

महाबृहती घर्मदेवत्या । स घर्मो नोऽस्माकं विश्वायुः, विश्वं सर्वं पूर्णमायुर्यस्मात् स विश्वायुः, पूर्णायुःप्रदोऽस्त्वित्यर्थः । पुनरुक्तिरादरार्था । कीदृशः सः ? चतुस्रक्तिः, चतस्रः स्रक्तयः कोणा दिग्रूपा यस्य सः, 'एष वै चतुःस्रक्तिर्य एष तपति दिशो ह्येतस्य स्रक्तयः' (श० १४।३।१।१७) । एतस्यादित्यात्मकस्य महावीरस्य प्राच्याद्याश्चतस्रो महादिशः खलु स्रक्तयः कोणाः । तथा ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य वा नाभिः, नहनं बन्धनस्थानम् । सप्रथाः सर्वतः पृथुः सर्वतः प्रख्यातो वा, 'सत्यं वा ऋतꣳ सत्यस्य नाभिः सप्रथा इत्येवैतदाह' (श० १४।३।१।१८) इति श्रुतेः ।

हे घर्म ! त्वत्प्रसादाच्च अप द्वेषः, अपगच्छतु द्वेषोऽस्मत्तः, येन वीतरागा स्यामेति । अप ह्वरोऽपगच्छतु ह्वरश्चलनं जन्ममरणं चलनं सरणमस्मत्तोऽपगच्छतु, 'ह्वर चलने' । जनित्वा मरणं मृत्वा पुनर्जननमेव चलनम् । अन्यव्रतस्य सश्चिम। अन्यद् मनुष्यकर्मणो भिन्नं व्रतं कर्म जगदनुग्रहरूपं यस्य सोऽन्यव्रतः परमेश्वरस्तस्य, कर्मणि षष्ठी, तमन्यव्रतं परमेश्वरं सेवामहे 'सश्च सेवने', परमात्मभावं प्राप्नुम इत्यर्थः, 'अन्यद्वा एतस्य व्रतमन्यन्मनुष्याणां तस्मादाहान्यव्रतस्य सश्चिमेति' (श० १४।३।१।१९) इति श्रुतेः ।

अध्यात्मपक्षे स घर्मः प्रकाशात्मा यज्ञानां शीर्षभूतो ज्ञानयज्ञश्चतुस्त्रक्तिः, चतुर्दिग्व्यापृतत्वेन चतुरस्रः समग्रः, ऋतस्य सत्यस्य ब्रह्मणो नाभिर्बन्धनं नियमेन प्रापकः, सप्रथाः सर्वतः प्रख्यातः, विश्वायुः पूर्णायुःप्रदः, पुनरुक्तिरादरार्था । तत्प्रसादाच्च अपद्वेषोऽस्मत्तो द्वेषादिर्दोषोऽपगच्छन्तु, अपह्वरो जननमरणलक्षणं चलनं चापगच्छतु । अन्यव्रतस्य, लोकानुग्रहव्रतं परमात्मानं सश्चिम सेवामहे, सायुज्यं च प्राप्नुम ।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः ! यथा चतुःसक्तिर्नाभिरिव सप्रथा अन्वव्रतस्यर्तस्य परमात्मनः सेवां करोति, स सप्रथा विश्वायुर्नोऽस्मान् बोधयतु, स सप्रथा सर्वायुर्नः परमेश्वरो विद्यां ग्राहयतु, येन वयं द्वेषोऽपसश्चिम, तथा यूयमपि कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, संबोधनस्य निर्मूलत्वात् । न च प्रसिद्धनाभेश्चतुरस्रत्वम्, नाभेर्वृत्ताकारत्वात्, नाभिरिवेति मुख्यार्थत्यागे गौणार्थग्रहणे मानाभावाच्च । अन्येषां पालने व्रतं शीलं यस्य तस्येत्यपि विसंगतम्, पालनपदस्य मूलेऽभावात् । लोककल्पनाऽपि निर्मूलैव । अन्यदपि गौणार्थाश्रयणमूलकत्वेन मन्त्रबाह्यमेव ॥ २० ॥

घर्मैतत्ते पुरीषं तेन वर्धस्व चा च प्यायस्व ।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! यह दूध तुम्हारा अन्न है । इस दूध के द्वारा तुम बढ़ो और पुष्ट हो जाओ । तुम्हारे साथ ही हम भी वृद्धि को प्राप्त करें और पुष्ट हो जाँय ॥ २१ ॥

'आसेचनवन्ति पयसः पूरयति घर्मैतत्त इति' (का० श्रौ० २६।७।२३) । आसेचनं गर्तः, तद्युतानि पात्राणि दुग्धेन पूरयति । तानि च सप्त महावीरत्रयं द्वे पिन्वने उपयमनः स्रुवश्चेति । पयस इति षष्ठी तृतीयार्थे । घर्मदेवत्या अनुष्टुप् । हे घर्म, एतत् पयः, ते तव पुरीषम्, पृणाति पूरयतीति पुरीषम्, पूरयितृ अन्नम्, 'अन्नं वै पुरीषमन्नमेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० १४।३।१।२३) इति श्रुतेः । तेन पयसा वर्धस्व आप्यायस्व च । भवत्प्रसादाद् वयं च वर्धिषीमहि आप्यासिषीमहीति वृद्धिं प्राप्नुयाम पुत्रपश्वादीन् वृद्धान् करवाम ।

अध्यात्मपक्षे—हे घर्म ! एतद् वेदान्ताध्ययनाध्यापनादिकं ते पुरीषं पूरकमन्नम्, तेन वर्धस्व आप्यायस्व च । त्वत्प्रसादान्निर्विघ्नश्रवणादिना वयं वर्धिषीमहि अन्यानधिकारिणः शिष्यादींश्च वृद्धान् कृतात्मसाक्षात्कारान् सम्पादयाम ।

दयानन्दस्तु—हे घर्म जगदीश्वर विद्वन् वा ! यदेतत्ते पुरीषमस्ति, तेन त्वं वर्धस्व चान्यान् वर्धयस्व, आप्यायस्व अन्यांश्च पोषय । तव कृपया शिक्षया च वयं वर्धिषीमहि अन्यांश्च वर्धयेम, तथा यूयमपि कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नित्यपूर्णस्य पुष्टस्य च परमात्मनो वृद्धिपूरणाद्यसम्भवात्, 'अन्नं पुरीषम्' इति पूर्वोद्धृतश्रुतिविरोधाच्च ॥ २१ ॥

अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः । सᳯं सूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—प्रभासम्पन्न, मित्र के समान दर्शनीय, निज किरणों की वर्षा करने वाला सूर्यदेव विशेष रूप से प्रकाशित होता है । जल का धर्ता, निधियों का स्वामी समुद्र सूर्य रूप से प्रकाशित होता है ॥ २२ ॥

त्रिः परिषिच्याचिक्रददिति' (का० श्रौ० २६।७।१९) । सामगानानन्तरमुत्सादनदेशे परिषिच्य अचिक्रददिति मन्त्रेण घर्मं सूर्यात्मना स्तौति । परोष्णिक्, घर्मदेवत्या । घर्मः सूर्यात्मना स्तूयते वर्षतीति वृषा, आहुतिद्वारेण वृष्टिकर्ता घर्मः प्रवृज्यमानः सन् अचिक्रदत्, 'क्रदि शब्दे' पुनः पुनः शब्दं करोति । कीदृशो घर्मः ? हरिः, हरितवर्णो रसानां हर्ता वा हरिः, 'अथाह वार्षाहरᳯं साम गायेति । एष वै वृषा हरिर्य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति' (श० १४।३।१।२६) इति श्रुतेः । परिषेचने क्रियमाणे प्रस्तोतारं प्रति सामगानार्थं हे प्रस्तोतः ! गायेति प्रैषः । तदेतत् स्तौति—एष खलु सूर्यो वृषाहरिः, वर्षणाद् रसहरणाच्च । एष एव प्रवर्ग्यः । महान् प्रभावान् । मित्रो न दर्शतः, न उपमार्थकः, मित्र इव दर्शनीयः । अत एव सूर्येण सह संदिद्युतत् सूर्यतुल्यो द्योतते, द्युतेर्लुङि णिजन्तस्य रूपमडभावश्च, सूर्यवत् सर्वं द्योतयति । उदकं धीयते यस्मिन् स उदधिः, जलस्य धर्ता, निधिः सुखानामिति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे—एष वृषा ज्ञानामृतं वर्षति, हरति दुःखमयं संसारमिति हरिः । तादृशो घर्मः, अचिक्रदद् अतिशयेन शब्दं करोति, वेदवेदान्तादिशास्त्रमूलकत्वाद् ज्ञानयज्ञस्य । स च महान् महद्ब्रह्मविषयत्वात् । मित्रो दर्शनीयः, उदधिर्ज्ञानामृतं जलनिधिश्च सुखानाम् ।

दयानन्दस्तु 'हे मनुष्याः ! यो वृषा हरिर्महानचिक्रदत्, मित्रो न दर्शतः सूर्येण सह उदधिर्निधिरिव संदिद्युतत्, स एव विद्युद्रूपोऽग्निः सर्वैः संप्रयोज्यः' इति, तदपि न, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्, निर्मूलाध्याहाराच्च । उदधिनिधिरित्यनयोः समुद्राकाशार्थत्वे वृषादिभिः सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च ॥ २२ ॥

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—जलदेवता और औषधियाँ हमारे श्रेष्ठ मित्र हों । जो काम हमारे प्रतिकूल होता है और जिस कार्य को हम शत्रुदृष्टि से देखते हैं, उसके लिये ये शत्रुरूप हों ॥ २३ ॥

'चात्वाले मार्जयन्ते सपत्नीकाः सुमित्रिया न इति' (का० श्रौ० २६।७।२८) । सपत्नीका ऋत्विग्यजमाना चात्वाले मार्जनं कुर्वते सुमित्रिया न इति मन्त्रेणेत्यर्थः । नोऽस्मदर्थम्, आप ओषधयश्च सुमित्रियाः साधुमित्रत्वेन स्थिताः सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः, तस्मै उभयात्मकाय शत्रवे ता दुर्मित्रिया अमित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु । (६।२२) इत्यत्र व्याख्याता ।

'अथ चात्वाले मार्जयन्ते । सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्त्वित्यञ्जलिनाऽऽप उपाचति वज्रो वा आपो वज्रेणैवैतन्मित्रधेयं कुरुते····योऽस्मान् द्वेष्टि····यामस्य दिशं द्वेष्यः स्यात् तां दिशं परासिञ्चेत्तेनैव तं पराभावयति' (श० १४।३।१।२७) इति श्रुतिरस्मिन्नर्थे प्रमाणम् ॥ २३ ॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—अन्धकारमय लोक से परे परम श्रेष्ठ स्वर्ग लोक को देखते हुए, देवलोक में सूर्यदेवता को देखते हुए हम श्रेष्ठ ब्रह्मज्योति को प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥

'उद्वयमित्युत्क्रामत्युत्तरपूर्वार्द्धम्' (का० श्रौ० २६।७।२८) ऐशानीं दिशं प्रति यजमानो गच्छतीत्यर्थः। वयं तमसः परि तमसः सकाशात् तमोबहुलादस्माल्लोकात्, उदगन्म उद्गता निर्गताः। कीदृशा वयम्? उत्तरम् उत्कृष्टतरं स्वः स्वर्गं लोकं पश्यन्तः, देवत्रा देवलोके सूर्यं देवं पश्यन्तः, उत्तमं ज्योतिर्ब्रह्मरूपम्, उदगन्म प्राप्ताः। (२०।२१) इत्यत्र व्याख्याता।

अत्र ब्राह्मणम्—'उद्वयं तमसस्परीति पाप्मा वै तमः पाप्मानमेव तमोऽपहते स्वः पश्यन्त उत्तरमित्ययं वै लोकोऽद्भ्य उत्तरोऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति' (श० १४।३।१।२८) इति ॥ २४ ॥

एधो॑ऽस्येधिषी॒महि॑ स॒मिद॑सि॒ तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ – आहुति के निमित्त समिधा उठाते हुए यजमान कहता है कि हे समित्काष्ठ! तुम प्रकाश देने वाले हो, अनुग्रह करके हमारे धन-धान्य की वृद्धि करो। समिधा को आहवनीय में छोड़ने को उद्यत होकर कहे कि हे समित्काष्ठ, तुम पूर्ण प्रकाश करने वाले हो, तुम तेजःस्वरूप हो। मुझमें तेज का आधान करो ॥ २५ ॥

'अनपेक्षमेत्यैधोऽसीति समिधमादायाहवनीयेऽभ्यादधाति समिदसीति' (का० श्रौ० २६।७।२८)। यजमानः पश्चादनवलोकयन्नीशानदेशादेत्यैधोऽसीति मन्त्रेणैकां समिधं गृहीत्वा समिदसीति मन्त्रेणाहवनीये दधातीत्यर्थः। हे समित्! त्वमेधः, एधयति दीपयत्यग्निमिति समिद्दीपिकाऽसि। वयं त्वत्प्रसादाद् एधिषीमहि धनधान्यादिभिर्वृद्धिं व्याप्नुयाम। तेजश्चासि, अतो मयि विषये तेजो धेहि धारय। २०।२३ इत्यत्र व्याख्याता ॥ २५ ॥

याव॑ती॒ द्यावा॑पृथि॒वी याव॑च्च स॒प्त सिन्ध॑वो वितस्थि॒रे।
ताव॑न्तमिन्द्र ते॒ ग्रह॑मू॒र्जा गृ॑ह्णा॒म्यक्षि॑तं॒ मयि॑ गृह्णा॒म्यक्षि॑तम् ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव! पृथ्वी और स्वर्ग का जितना विस्तार है, जिस परिमाण वाले देश में सात समुद्र स्थित हैं, उस परिमाण वाले आपके कभी क्षीण न होने वाले ग्रह को अन्न के साथ मैं ग्रहण करता हूँ। ऐसा करने से वह मुझसे कभी क्षीण नहीं होगा, इसलिये मैं उसका ग्रहण करता हूँ ॥ २६ ॥

'यावती द्यावापृथिवी इति दधिघर्मग्रहणम्' (का० श्रौ० २६।७।३८)। सपवित्रायामग्निहोत्रहवण्यां दधिघर्मं गृह्णातीत्यर्थः। ब्राह्मी उष्णिक्, दधिघर्मदेवत्या, इन्द्रदेवत्या च। हे इन्द्र! ऊर्जा अन्नेन सह अक्षितमनुपक्षीणं ते तव ग्रहं तावन्तं तत्परिमाणमहं गृह्णामि, मयि च अक्षितं यथा स्यात्तथा गृह्णामि। तव ग्रहग्रहणेन मयि यज्ञक्षयो माऽस्त्वित्यर्थः। तावन्तं कियन्तम्? द्यावापृथिवी यावती द्यावाभूमी यावत्परिमाणे। च पुनः। सप्त सिन्धवः क्षीरोदाद्याः सप्त समुद्रायावत्परिमाणे देशे वितस्थिरे विशेषेण स्थिताः, तावन्तमतिमहत्तरं दधिघर्मं गृह्णामीत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ प्रसुते दधिघर्मेण चरन्ति····' (श० १४।३।१।२९)। अथ सौत्येऽहनि कर्तव्यं दधिघर्माख्यं यागं विधत्ते—तत्तदधिद्रव्यकेण दधिघर्माख्येन यागेनाध्वर्युप्रभृतयश्चरन्ति····। एतत् खलु सवन-

मिन्द्रस्य निष्कैवलम्, केवलमिन्द्रस्यैव निष्कृष्य स्वभूतं माध्यन्दिनं सवनम्। अतस्तेन स्वकीय एव भागभूते सवने एनमिन्द्रं प्रीणाति।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमेश्वर! यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे व्याप्नुवन्ति, तावन्तं तावत्परिमाणं ते तव ग्रहमूर्जाऽन्नेन सदाऽहं गृह्णामि। अक्षितमक्षीणं यथा स्यात्तथा मयि गृह्णामि।

दयानन्दस्तु—हे इन्द्र! ते यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे, तावन्तमक्षितग्रहमूर्जाऽहं गृह्णामि, तावन्तमक्षितमहं मयि गृह्णामि' इति, तदप्यसत्, ग्रहपदस्य सामर्थ्यार्थत्वे मानाभावात्। न च सामर्थ्यमेव ग्रहणसाधनम्, सोमग्रहाणामपि ग्रहणसाधनत्वप्रसिद्धेः। न च यावदीश्वरसामर्थ्यमस्ति तदनीश्वरे जीवे स्थापयितुं शक्यम्, घटे समुद्रधारणसामर्थ्याभावात्॥ २६॥

मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः।

घर्मस्त्रिशुग् वि राजति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह॥ २७॥

मन्त्रार्थ—तीन प्रकार की दीप्ति वाला घर्म विराट् ज्योति के साथ मुझमें विराजमान है। वह समष्टि प्राण, महान् बल मुझमें विराजमान है। सब प्रकार की संकल्प-सिद्धि मुझमें विराजमान है॥ २७॥

'मयि त्यदिति भक्षणम्' (का० श्रौ० २६।७।३८) हुतशेषं दधिघर्मं यजमानर्त्विजः सोपहवं भक्षयन्तीत्यर्थः। पङ्क्तिः, अष्टाक्षरपञ्चपादा, दधिघर्मदेवत्या। यजमानाशीर्देवतेति केचित्। त्यत् तद् बृहद् महद् इन्द्रियं वीर्यं मयि विराजति विराजतु, लकारव्यत्ययः। दक्षः सकल्पसंपत्तिः, अस्तु। क्रतुः सत्संकल्पो मयि विराजतु। विराजा विशेषेण राजते यस्तेन जगत्प्रसिद्धेन ज्योतिषा आदित्याख्येन सह ब्रह्मणा त्रयीलक्षणेन ज्योतिषा च सह घर्मो महावीरो मयि विराजतु। कीदृशो घर्मः? त्रिशुक्, तिस्रः शुचो दीप्तयो यस्य सः। ताश्च 'या ते घर्म दिव्या शुक्' (३८।१८) इत्यत्र दर्शिताः, 'स उपहवमिष्ट्वा भक्षयति। मयि त्यदिन्द्रियं··· मयि दक्षो मयि क्रतुरिति क्रतूदक्षावेवात्मन् धत्ते···घर्मो ह्येष त्रिशुग्विराजति···विराजा ह्येष य एष तपति ज्योतिषा···' (श० १४।३।१।३१) इति श्रुतेः। य एष खलु सूर्यस्तपति, एतत्खलु बृहत्परिवृढम् इन्द्रियं वीर्यात्मकम्, अत ईदृग्विधमिन्द्रियं मयि भवतु। क्रतुदक्षौ प्राणापानौ तावेवात्मनि धारयति, 'प्राणो वै यज्ञोऽपानः क्रतुः' (तै० सं० २।५।२) इति श्रुतेः। एष खलु घर्मश्त्रिशुग् त्रिविधं शोचमानो वैद्युतपार्थिवसूर्यात्मना त्रेधा दीप्यमानो विराजति, छन्दसां मध्ये विराट् खलु ज्योतिस्तेजोरूपा, 'अग्निर्देवानां ज्योतिर्विराट् छन्दसां ज्योतिः' (तै० सं० ७।१।१) इति श्रुतेः। अतो यथा विराजा ज्योतिषा सह एष घर्मो विराजते, तथा ब्रह्मणा ब्रह्मजात्या त्रयीरूपेण तेजसा सह एष सूर्यात्मको घर्मो विराजति, 'ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः॥' (सू० ता० उ० १।५) इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर! त्यत् तत्, बृहद् महत्, इन्द्रियं वीर्यं मयि विराजतु। मयि दक्षो दाक्ष्यम्, क्रतुः शुभसंकल्पश्च भवतु। त्रिशुग् घर्मश्च कर्मोपासनज्ञानदीप्तियुक्तो ज्ञानयज्ञो मयि विराजतु। स च विराजा विशेषेण राजमानेन सगुणेन ज्योतिषा ब्रह्मणा प्रत्यक्चैतन्याभिन्नेन परमात्मना तेजसा निर्गुणेन च सह विराजते।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यथा विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह त्रिशुग् घर्मो विराजति, तथा मयि बृहत् त्यदिन्द्रियं मयि दक्षो मयि क्रतुर्विराजति, तथा युष्मासु स्वयं विराजताम्' इति, तदपि न, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्, घर्मशब्दस्य प्रताप इत्यर्थस्तु निर्मूल एव। यज्ञोऽपि न साधारणः, प्रवर्ग्याख्यस्यैव विवक्षितत्वात्। तथैव त्रिशुग् मृदुमध्यतीव्रा दीप्तय इत्यादि व्याख्यानं साहसमात्रम्, श्रुतिविरुद्धत्वात् ॥ २७ ॥

पय॑सो॒ रेत॒ आभृ॑तं॒ तस्य॒ दोह॑मशीम॒ह्युत्त॑रामुत्त॒राᳪं᳭ समा॑म्। त्विषः॑ सं॒वृक् क्रत्वे॒ दक्ष॑स्य ते सुषु॒म्णस्य॑ ते सुषुम्णाग्निहु॒तः। इन्द्र॑पीतस्य प्र॒जाप॑तिभक्षितस्य॒ मधु॑मत॒ उप॑हूत॒ उप॑हूतस्य भक्षयामि ॥ २८ ॥

इत्यष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—जल के सार की मैं अग्नि में आहुति देता हूँ, उसकी पूर्णता के लिये मैं उत्तरोत्तर वर्ष को व्याप्त करता रहूँ। हे क्रान्ति के कर्ता सुखदाता घर्म ! अग्नि में आहुति देने के साथ आपका आह्वान किया जाता है। संकल्प की सिद्धि के दाता सुखरूप इन्द्र तुम्हारा पान करते हैं, प्रजापति तुम्हारा भक्षण करते हैं। हे मधुर स्वाद वाले घर्म ! देवताओं के निमित्त अर्पित तुम्हारे बने हुए अंश का मैं प्रसाद ग्रहण करता हूँ ॥ २८ ॥

गायत्र्यवसानहीना दधिघर्मभक्षण एव विनियुक्ता। पयसो रेतो वीर्यं सारं जगदुत्पत्तिबीजं यद् आभृतमाहृतं दधिघर्मरूपम्, तस्य दोहं प्रपूरणं वयमुत्तरामुत्तरां समामुत्तरोत्तरस्मिन् वर्षे, अशीमहि व्याप्नुयाम, 'कालाध्वनो' (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया, वयं सर्वदा यायजूकाः स्यामेत्यर्थः। 'त्विषः संवृगिति महाव्रतीये' (का० श्रौ० २६।७।३९)। महाव्रतीयेऽहनि त्विष इति मन्त्रेण हुतशेषदधिघर्मभक्षणं कार्यमित्यर्थः। अतिजगती दधिघर्मदेवत्या। संवृणक्ति स्वीकरोतीति संवृक् स्वीकर्ता, सम्पूर्वको वृजिः स्वीकरणार्थः। हे त्विषः संवृक् कान्तेः स्वीकर्तः ! हे सुषुम्ण शोभनं सुम्नं सुखं यस्मात् तत्संबोधने हे सुखप्रद, हे दधिघर्म ! अहमुपहूतः कृतोपहवः सन् ते तवांशं भक्षयामि कर्मणि षष्ठी वा, त्वां भक्षयामि। एकस्तेशब्दः पादपूरणः। कीदृशस्य ते ? क्रत्वे दक्षस्य, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, क्रतोः संकल्पस्य दक्षः सिद्धिदाता, तस्य संकल्पसिद्धिदातुः। क्रतुशब्दस्य चतुर्थ्येकवचने गुणाभाव आर्षः। तथा सुषुम्णस्य शोभनसुखभूतस्य। अग्निहुतः, अग्नौ हूयत इति अग्निहुत् तस्य अग्नौ हुतस्य। इन्द्रपीतस्य, इन्द्रेण पीतस्य भक्षितस्य। प्रजापतिभक्षितस्य प्रजापतिना भक्षितस्य। मधुमतो मधुरस्वादोपेतस्य। उपहूतस्य कृतोपहवस्य। एवंविधस्य तवांशं हे दधिघर्म ! अहं भक्षयामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'पयसो रेत आभृतमिति पयसो ह्येतद्रेत आभृतं तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराᳪं᳭ समामित्याशिषमेवैतदाशास्ते' (श० १४।३।१।३१) इति। पयसः क्षीरसकाशात् खल्वेतद्रेतो वीर्यहेतुभूतं दधिघर्माख्यं हविः, आभृतं सम्पादितम्। दोहं दोहनीयं भोगमशीमहि प्राप्नुयाम। उत्तरामुत्तरां समाम् एतस्मिन् संवत्सर इव आगामिन्यपि सर्वस्मिन् संवत्सरे तत्प्राप्नुयामेति। आशिषमेव एतन्मन्त्रेण यजमान आशास्ते आशंसते।

अध्यात्मपक्षे—प्रवर्ग्यान्तिकर्मणां परमेश्वराराधनरूपत्वाद् यष्टारः प्रार्थयन्ते—हे दधिघर्माधिष्ठातृ देव ! पयसः क्षीरस्य सकाशाद् दधिघर्माख्यं रेतो वीर्यं विश्वोत्पत्तिहेतुभूतं यद् आभृतमाहृतम्, तस्य दोहं प्रपूरणं वयमुत्तरामुत्तरां समामुत्तरोत्तरस्मिन् वर्षे, अशीमहि व्याप्नुयाम। वयं सर्वदा यायजूकाः स्याम। हे त्विषः कान्तेः सर्वस्य प्रकाशस्य स्वीकर्त्तः ! ज्योतिषामपि ज्योतिः परमेश्वर ! हे सुषुम्ण शोभनसुखप्रापक दधिघर्मान्तर्यामिन् ! अहमुपहूतः कृतोपहवः सन् ते त्वदधिष्ठितमंशं भक्षयामि। कीदृशस्य ते ? क्रत्वे दक्षस्य क्रतोः

संकल्पस्य दक्षः सिद्धिदाता यस्तस्य संकल्पसिद्धिसम्पादकस्य। पुनः कीदृशस्य सुषुम्णस्य शोभनसुखदातुः। अग्निहुतोऽग्नौ हुतस्य, इन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्य, मधुमतो मधुरास्वादस्य, उपहूतस्य कृतोपहवस्य, तवांशं भक्षयामीत्यनुषङ्गः।

दयानन्दस्तु—हे सुषुम्ण! यथा त्वया यस्य पयसो रेत आभृतम्, तस्य दोहमुत्तरामुत्तरां समां वयमशीमहि। तस्य त्वे क्रत्वे त्विषो दक्षस्य त आभृतमशीमहि, सुषुम्णस्येन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्योपहूतस्य मधुमतः पयसो दोषान् संवृक् सन्नुपहूतोऽग्निहुतोऽहं भक्षयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विशृङ्खलत्वात्। रेतःपदस्य पराक्रमार्थत्वं च निर्मूलमेव, तस्य बीजार्थत्वेन प्रसिद्धेः। न च पयसि जले पराक्रमो भवति, पराक्रमस्य चेतनधर्मत्वात्। न चान्यस्य पराक्रमोऽन्येन धारयितुं शक्यते। नह्यन्येन पुष्टं धृतं वा वीर्यं पराक्रमं वा वयमशीमहि प्राप्नुयाम, तथा सामर्थ्यादर्शनात्। नहि रामेण संभृतं पुष्टं धृतं वा वीर्यं पराक्रमं वा तदन्यः कोऽपि प्राप्तुं शक्नोति। किं बहुना, हिन्दीभाषामयेन व्याख्यानेनापि न कश्चन स्पष्टोऽर्थो विज्ञातुं शक्यः। सुन्दरसुखोपेतस्य क्रत्वे प्रज्ञायै प्रदीप्तस्य बलस्य किमित्यसंबद्धमेव। दक्षस्येति पदस्य आभृतमित्यनेन कथं सम्बन्धः। सुषुम्णस्य इन्द्रपीतस्य उपहूतस्य जलस्य दुग्धस्य मधुमतः के दोषाः? प्रजापतिना कथं दोषवत् तत्पीतम्? कथं च साधारणजनो दोषान् संवृङ्क्ते? सर्वथापि मत्तप्रलपितमेवैतत्॥ २८॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायाम्
अष्टात्रिंशोऽध्यायः॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः। पृथिव्यै स्वाहाऽग्नये स्वाहाऽन्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहा। दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वान्तर्यामी प्राणों के लिये अथवा सब प्राणियों के लिये यह आहुति समर्पित है। पृथ्वी के निमित्त, अग्नि के निमित्त, अन्तरिक्ष के निमित्त, वायु के निमित्त, स्वर्ग के निमित्त और सूर्य के निमित्त यह आहुति समर्पित है ॥ १ ॥

प्रवर्ग्ये घर्मभेदे प्रायश्चित्तम्। तत्र—'स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्य इति पूर्णाहुतिमाद्यामुत्तमां च मनसः काममाकूतिमिति' (का० श्रौ० २६।७।३३)। अस्यायमर्थः—अध्वर्युः 'भूमिर्भूमिम्, य ऋते चित्' इति मन्त्राभ्यां भग्नं घर्ममभिमृश्य परमेष्ठ्यादिचतुस्त्रिंशदाहुतीर्हुत्वा, स्वाहा प्राणेभ्य इत्याद्यां पूर्णाहुतिं हुत्वा, पृथिव्यै स्वाहेत्याहुतिर्विंशतिं सकृद्गृहीतेन हुत्वा, मनस इत्यन्त्यां पूर्णाहुतिं करोतीति। मन्त्रार्थस्तु—अधिपतिना हिरण्यगर्भेण सह वर्तमानेभ्यः साधिपतिकेभ्यः प्राणेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु—इति पूर्णाहुतिमन्त्रः। ततो विंशतिः स्पष्टार्था मन्त्राः। पृथिव्यै स्वाहा पृथिव्यै सुहुतमस्तु। अग्नये अन्तरिक्षाय वायवे दिवे सूर्याय स्वाहेत्यादि स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हिरण्यगर्भः समष्टिलिङ्गशरीराभिमानी, प्राणप्राधान्येन स सूत्रात्मा, बुद्धिप्राधान्येन हिरण्यगर्भः। तद्विभूतिभूता अन्ये देवा हिरण्यगर्भश्च परमेश्वरस्यैवावस्थाविशेषः। तेनाधिपतिना सह वर्तमानाः प्राणास्तद्विभूतिभूताः, तेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु। पृथिव्यादयोऽपि कारणब्रह्मविकारभूतत्वात् तद्रूपा एवातस्तेभ्यः सुहुतेन परमात्मा प्रसीदति। सर्वत्र तत्तदभिमानिनो देवा अन्तर्याम्येव वा समर्हणीयाः।

दयानन्दस्तु 'हे मनुष्याः! युष्माभिः साधिपतिकेभ्यः प्राणेभ्यः स्वाहा सत्यक्रिया, पृथिव्यै स्वाहा.... सूर्याय स्वाहा च यथावत् प्रयोज्या' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या पृथिव्यादिभ्यो जडेभ्यः स्वाहा सत्या वाक् किमर्थं प्रयोज्येत्यनुक्तेः। भावार्थस्तु सर्वथा मूलासंस्पर्शी प्रमाणविधुरत्वादुपेक्ष्य एव ॥ १ ॥

दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाऽद्भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा। नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—दिशाओं के लिये, चन्द्रमा के लिये, नक्षत्रों के लिये, जल के अधिपति देवताओं के लिये, वरुण के लिये, विष्णु की नाभि के लिये और प्रजापति के लिये यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित है ॥ २ ॥

दिग्भ्यः स्वाहा, चन्द्राय नक्षत्रेभ्यः स्वाहा, अद्भ्यो वरुणाय नाभ्यै देवतायै, पूताय, पुनातीति पूतः, पावित्र्यसम्पादयित्रे देवाय स्वाहा।

अध्यात्मपक्षे—दिगादयो देवाः परमात्मविकाररूपाः । तद्द्वारा परमात्मन एव आहुत्या समर्हणम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यूयं शरीरस्य दाहे दिग्भ्यः स्वाहा, चन्द्राय स्वाहा....पूताय स्वाहा सत्यां क्रियां सम्प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्, मन्त्राणां मृतानां शरीरदाहे विनियोगस्य श्रुतिसूत्रादिभिर्दर्शनीयत्वात् । सूत्राणि तु घर्मभेदे प्रायश्चित्तशेषत्वमेषां मन्त्राणां प्रतिपादयन्ति । श्रुत्यारूढत्वात्तु तदेव युक्तम्, 'सर्वेषां वा एष भूतानाम् । सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञस्तस्य समृद्धिमनु यजमानः प्रजया पशुभिर्ऋद्ध्यते वि वा एष प्रजया पशुभिर्ऋद्ध्यते यस्य घर्मो विदीर्यते तत्र प्रायश्चित्तिः' (श० १४।३।२।१) इति श्रुतेः । अयं यज्ञः सर्वेषां भूतानां मनुष्यपश्वादीनां सर्वेषामिन्द्रादीनां च आत्मा स्वरूपम्, यज्ञक्रियापरिणामत्वात् तेषाम्, 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' (म० स्मृ० ३।७६) इति स्मृतेः । तथाविधस्य यज्ञस्य समृद्धिमनु यजमानस्तत्फलभूतैः प्रजादिभिर्ऋध्नोति । यस्य यजमानस्य यज्ञे घर्मो महावीरो विदीर्यते भिद्यते, स एष यजमानो यज्ञाङ्गवैकल्येन समृद्ध्यभावात् स्वयमपि वृद्ध्यते ऋद्धिहीनो भवति । तेन तत्प्रायश्चित्तं कुर्यात् ।

कात्यायनेनापि तथैवोक्तम्—'घर्मभेदे यथोक्तम्, उखावच्चान्यं कुर्यात्, अभिन्नेन चरेत्, स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्य इति पूर्णाहुतिमाद्यामुत्तमां च मनसः काममाकूतिमिति' (का० श्रौ० २६।७।३०-३३) । अस्यायमर्थः—प्रचरणीयस्य महावीरस्य भेदे सति तं संपिष्य अन्यया मृदा संसृज्य अन्यं महावीरं पूर्ववत् कुर्यादिति । 'अथ तं चोपशयां च पिष्ट्वा । मार्त्स्नया मृदा सꣳसृज्यावृता करोत्यावृता पचत्युत्सादनार्थम्....' (श० १४।३।२।२१) । महावीरनिर्माणकाले या मृत् तदर्थत्वेन स्थापिता, तामुपशयां च पिष्ट्वा महावीरं निर्मायाभिन्नेन द्वितीयेन तृतीयेन वा महावीरेण तु प्रवृञ्जनं कुर्यात् । भेदनप्रायश्चित्त्यर्थं स्वाहा प्राणेभ्य इत्यादिभिर्द्वादशसंख्याका आहुतीर्जुहोति । तासामाद्यामुत्तमां च 'मनसः काममाकूतिम्' इति मन्त्राभ्यामाज्यपूर्णया स्रुचा पूर्णाहुतिं कुर्यात् । 'पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वेणैवैतद्भिषज्यति यत्किञ्च विवृढं यज्ञस्य' (श० १४।३।२।१८) । तत्राद्यां पूर्णाहुतिं विधाय स्तौति—पूर्णाहुतिमिति । पूर्णं यत्तत्त्वं तत्सर्वं वै जगदात्मकम् । अतः पूर्णत्वगुणविशिष्ट्या आहुत्या प्रायश्चित्तं कुर्वन् यज्ञसम्बन्धि यत्किञ्चिदङ्गजातं विवृढं विकलं भग्नमासीत्, एतत् सर्वेणैव वस्तुजातेन भिषज्यति चिकित्सति । 'स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्य इति । मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठितास्तन्मनसैवैतद् भिषज्यति यत्किञ्च विवृढं यज्ञस्य' (श० १४।३।२।३) । सुखाद्यपरोक्षज्ञानसाधनमान्तरमिन्द्रियं खलु मनः प्राणानां चक्षुरादीनामधिपतिः, तेषामन्वयव्यतिरेकाभ्यां मनःसाहित्येनैव विषयप्रकाशनसामर्थ्यदर्शनात् । 'पृथिव्यै स्वाहेति । पृथिवी वै सर्वेषां देवानामायतनं तत् सर्वाभिरेवैतद्देवताभिर्भिषज्यति यत्किञ्च विवृढं यज्ञस्य' (श० १४।३।२।४), 'अग्नये स्वाहेति । अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा तत्सर्वाभिरेवैतद्देवताभिर्भिषज्यति' (श० १४।३।२।५), 'ते देवा बिभ्यतोऽग्निं प्राविशन् तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवताः' (तै० सं० ६।२।२) । 'अन्तरिक्षाय स्वाहेति । अन्तरिक्षं वै सर्वेषां देवानामायतनं तत्सर्वाभि....॥ वायवे स्वाहेति । वायुर्वै सर्वेषां देवानामात्मा....॥ दिवे स्वाहेति । द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्....॥ सूर्याय स्वाहेति । सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा....॥ दिग्भ्यः स्वाहेति । दिशो वै सर्वेषां देवानामायतनम्....॥ चन्द्राय स्वाहेति । चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा ॥ नक्षत्रेभ्यः स्वाहेति । नक्षत्राणि वै सर्वेषां देवानामायतनम् ॥ अद्भ्यः स्वाहेति । आपो वै सर्वेषां देवानामायतनम्....॥ वरुणाय स्वाहेति....॥' (श० १४।३।२।६-१४) इति ब्राह्मणवचनैर्घर्मभेदनिमित्तकप्रायश्चित्तहोमे मन्त्राणां विनियोगः स्पष्ट एवेति दयानन्दस्य व्याख्यानमेतैश्च मन्त्रैः शवदाहविधानं सर्वथा विरुद्धमेव ॥ २ ॥

वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा। चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ— वाणी की प्राप्ति के लिये, वाम और दक्षिण नासिका में संचरण करने वाले प्राण के लिये, वाम और दक्षिण गोलक में विराजमान नेत्रों के लिये, वाम और दक्षिण कर्णकुहर में विद्यमान श्रवणेन्द्रिय के लिये मैं यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित करता हूँ ॥ ३ ॥

वाचे वागधिष्ठात्रे स्वाहा। प्राणाय स्वाहा प्राणेन्द्रियाधिष्ठात्रे, प्राणादीनां द्वित्वान्मन्त्रावृत्तिः। चक्षुषे तदधिष्ठात्रे, श्रोत्राय तदधिष्ठात्रे स्वाहा। तत्र शतपथश्रुतिः—'वाचे स्वाहेति। मुखमेवास्मिन्नेतद्दधाति प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहेति नासिके एवास्मिन्नेतद्दधाति चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहेत्यक्षिणी एवास्मिन्नेतद्दधाति श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहेति कर्णावेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० १४।३।२।१७)। मन्त्रे वाक्शब्देन वागिन्द्रियस्याभिधानान्महावीरेऽनेन मन्त्रेण वागिन्द्रियविशिष्टं मुखमेव दधाति। प्राणेन प्राणनव्यापारेण सह वर्तमानं प्राणेन्द्रियं तत्र नासिकयोर्वर्तते। अधिष्ठानद्वयविशिष्टस्य प्राणस्य मन्त्राभ्यां प्रतिपादनात् प्राणेन्द्रियाधिष्ठिते नासिके एवास्मिन् महावीरे स्थापितवान् भवति। तथैवान्यदपि व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—वागादीनामपि ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपतैव। सार्वात्म्यप्रतिपिपादयिषया तेभ्यस्तेभ्यः स्वाहाकारेण परमात्मानमेव प्रीणाति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! यूयं मृतशरीरस्य वाचे स्वाहा, प्राणाय स्वाहा····श्रोत्राय स्वाहेत्याद्या घृताहुतीश्चितायां प्रक्षिपत' इति, तदपि निर्मूलमेव, तथा विधानानुपलम्भात्। न च मृतशरीरे वागादयः सन्ति, तेन तेभ्यः स्वाहाकारस्य त्वद्रीत्या कः संबन्धः ? ॥ ३ ॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय। पशूनाᳬ रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—मैं मन की अभिलाषा और प्रयत्न को प्राप्त करूँ, वाणी की सत्यता को प्राप्त करूँ। पशुओं की शोभा, विविध अन्नों का रस, कीर्ति और लक्ष्मी मेरे पास सदा स्थिर होकर रहें ॥ ४ ॥

द्वितीयः पूर्णाहुतिमन्त्रः। अहं मनसः काममभिलाषम्, आकवनमाकुञ्चनं वा आकूतिः प्रयत्नस्तं चाशीय प्राप्नुयाम्। वाचः सत्यं चाशीय, मद्वाक् सत्यं वदतु। पशूनां रूपं पशूपकारः पशुसंबधिनी शोभा वा, अन्नस्य रसः स्वादुत्वम्, यशः कीर्तिः श्रीर्लक्ष्मीश्च सर्वमेतन्मयि तिष्ठतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'मनसा वा इदᳬ सर्वमाप्तं तन्मनसैवैतद्भिषज्यति यत्किञ्च विवृढं यज्ञस्य॥··· वाचा वा इदᳬ सर्वमाप्तं ···· पशूनाᳬ रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहेत्याशिषमेवैतदाशास्ते' (श १४।३।२।१९-२०)। नह्यविषयं मनसः किञ्चित्। तत्तथा सर्वव्यापकेन मनसैवैतद्विकलं कर्म भिषज्यति। वाचा वागिन्द्रियेणाभिवदनव्यापारेण इदं सर्वं जगद् व्याप्तम्। प्रायश्चित्तहोमानन्तरं गवादिपशूनां सम्बन्धि रूपम्, अन्नस्य यो रसः, यच्च यशः, या च कीर्तिः, तत्सर्वं मयि श्रयतामित्याशिषमेवाशास्ते।

अध्यात्मपक्षे—अहं साधको मनसः कामं ब्रह्मप्राप्तिसम्बन्ध्यभिलाषम्, आकूतिं तद्विषयं प्रयत्नं च अशीय प्राप्नुयाम्। वाचः सत्यं तदनुगुणं सत्यं ब्रह्मप्राप्त्यनुगुणदानयागाद्यर्थम्, पशूनां रूपम्, तदनुगुण एवान्नस्य रसः, यशः, श्रीश्च मयि श्रयताम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! यथाहं स्वाहा एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मृतानि शरीराणि दग्ध्वा मनसो वाचश्च सत्यं काममाकूतिं पशूनां रूपमशीय, यथा मय्यन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयताम्, तथैव कृत्वा यूयमेनं प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वस्योक्तत्वात्। न च मृतशरीरदाहस्य मनसो वाचश्च सत्यकामपूर्तिहेतुत्वं श्रुतम्, न च पशुरूपयशःश्रीप्राप्तिहेतुत्वं श्रुतम्। तेन निर्मूलमेव तदपि ॥ ४ ॥

प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः सम्राट् सम्भृतो वैश्वदेवः सँसन्नो घर्मः प्रवृक्तस्तेज उद्यत आश्विनः पयस्यानीयमाने पौष्णो विष्यन्दमाने मारुतः क्लथन्। मैत्रः शरसि सन्ताय्यमाने वायव्यो ह्रियमाण आग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ– निश्चित अभिमर्शन से लेकर अजादुग्ध के सेचन तक संभ्रियमाण नाम वाले महावीर देवता का नाम प्रजापति है। इस अवस्था में महावीर का भेद होने पर प्रायश्चित्त की आहुति का मन्त्र 'प्रजापतये स्वाहा' है। दुग्ध-सेचन के बाद और कुशासादन से पूर्व संभ्रान्त नामक महावीर का देवता सम्राट् है, इसका भेद होने पर प्रायश्चित्त की आहुति का मन्त्र 'सम्राजे स्वाहा' है। आसादन से लेकर मुंजप्रलव पर अधिश्रयण से पूर्व संसन्न नामक महावीर के देवता विश्वेदेव हैं। इस बीच भेद होने पर प्रायश्चित्त की आहुति का मन्त्र 'विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा' है। अधिश्रयण से लेकर परिशास के ग्रहण के पूर्व महावीर घर्म का नाम प्रवृक्त है, वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्त का मन्त्र 'घर्माय स्वाहा' है। उद्यमन से लेकर अजापय-सेचन से पूर्व तक उद्यत नामक महावीर तेजोरूप है। वहाँ भेदन होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'तेजसे स्वाहा' है। अजादुग्ध के सींचने पर महावीर के देवता अश्विनीकुमार हैं, वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'अश्विभ्यां स्वाहा' है। विशेष रूप से स्यन्दमान होने पर महावीर का देवता पूषा है। वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'पूष्णे स्वाहा' है। घृत के मध्य रहते समय महावीर के देवता मरुत् हैं। वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'मरुद्भ्यः स्वाहा' है। शर में इध्यमान महावीर का देवता मित्र है, वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'मित्राय स्वाहा' है। होम से पूर्व आहवनीय के निकट ले जाये जा रहे महावीर का देवता वायु है, वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'वायवे स्वाहा' है। हूयमान महावीर का देवता अग्नि है, वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'अग्नये स्वाहा' है। हुत होम के बाद और उत्तर कर्मारम्भ के पूर्व महावीर का देवता वाक् है, वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'वाचे स्वाहा' है। ये सब आहुतियाँ एक बार लिये हुए घृत से होती हैं ॥ ५ ॥

'प्रजापतिः सम्भ्रियमाण इति च यथाकालम्' (का० श्रौ० २६।७।३४)। सम्भ्रियमाणाद्यवस्थाविशेषेषु महावीरभेदे तत्तदवस्थाप्रतिपादकैर्मन्त्रैः प्रजापतये स्वाहेत्यादिभिर्यथाकालमाहुतयो होतव्याः। सम्भ्रियमाणो

मृद्वल्मीकवराहविहतादिसंभारैर्निष्पाद्यमानो यदि भिद्येत, तदा प्रायश्चित्तहोमे प्रजापतिर्देवता, तदा प्रजापतये स्वाहेति मन्त्रेण प्रायश्चित्ताहुतिर्होतव्या, प्रजापतिः सम्भ्रियमाणो यथाकालं प्रायश्चित्तदेवतेत्युक्तत्वात् (अनु० ४।८)। निष्ठिताभिमर्शनादारभ्याऽजापयोऽवसेचनान्तं सम्भ्रियमाणो महावीरः प्रजापत्यात्मको भवति। पयोऽवसेकानन्तरं कुशासादनात् प्राक् सम्भृत इत्युच्यते। संभारैर्निष्पन्नः स महावीरः सम्यग् भ्राजमानत्वात् सम्राड् भवति। तदानीं भेदे सम्राट् प्रायश्चित्तदेवता। तदा सम्राजे स्वाहेति मन्त्रेण प्रायश्चित्ताहुतिर्होतव्या। वैश्वदेवः संसन्नः, आसादनादारभ्य मुञ्जप्रलवेष्वधिश्रयणात् प्राक् संसन्नो भवति। स च वैश्वदेवात्मको भवति। तदानीं महावीरे भिन्ने विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्। घर्मः प्रवृक्तः, अधिश्रयणादारभ्य परीशासाभ्यां ग्रहणात् प्राक् प्रवृक्तः, गार्हपत्यस्योत्तरतः प्रवृञ्जनेन संस्कृतो महावीरो घर्मो घर्मशब्दाभिधेयः सूर्यो भवति। तदा भेदे घर्माय स्वाहेत्याहुतिः। तेज उद्यतः, उद्यम्यत इत्युद्यतः। उद्यमनादारभ्य शफाभ्यामूर्ध्वमाधृतः प्रागजापयसोऽवसेकात् तेजस्तेजोरूपो भवति। तत्र भेदे तेजसे स्वाहेति जुहुयात्। आश्विनः पयस्यानीयमाने, अजापयस्यासिच्यमाने महावीरभेदे आश्विनोऽश्विदेवत्यो भवति। तदानीमश्विभ्यामिति जुहोति। पौष्णो विष्यन्दमाने विशेषेण स्यन्दमाने, 'स्यन्दू प्रस्रवणे', घृते बहिर्निःसृते सति भेदे महावीरः पौष्णः पूषदेवत्यो भवति। पूष्णे स्वाहेति जुहोति। मारुतः क्लथन्। क्लथनं मध्ये घृतस्यावर्तनम्। तदा भेदे मरुद्देवत्यो भवति। मरुद्भ्यः स्वाहेत्याहुतिः। मैत्रः शरसि। संताय्यमाने पयोऽवसेके या उपरि तरिका जायते, सा शरःशब्देनोच्यते। तस्मिन् ताय्यमाने मथ्यमाने घर्मो मैत्रो मित्रदेवत्यो भवति, 'तायृ पालन-सन्तत्योः'। शरआदिहरणात् प्राग्भेदे मैत्राय स्वाहेति मन्त्रेण जुहुयात्। वायव्यो ह्रियमाणः। आहवनीयं प्रति ह्रियमाणो होमात् प्राग् वायुदेवत्यः। तत्र वायवे स्वाहेति जुहोति। आग्नेयो हूयमानः। हूयमानो घर्मोऽग्नि-दैवतो भवति। तत्र भेदेऽग्नये स्वाहेति जुहुयात्। वाग्घुतः। होमादूर्ध्वं प्रागुत्तरघर्मारम्भाद् वाग् वाग्देवत्यो भवति। तत्र भेदे वाचे स्वाहेति जुहोति। सकृद्गृहीतैराज्यैरेता आहुतयः।

अध्यात्मपक्षे—ज्योतिष्टोमादौ प्रवर्ग्ये महावीरसंभरणादिहोमान्तं कर्म भवति। तस्य तस्यां तस्यामवस्थायां महावीरस्य तदनुगुणानि गुणनामानि च भिद्यन्ते। तत्र सर्वत्र घर्मान्तर्यामी परमेश्वर एव तत्तद्भावापन्नः स्वाहाकारादिना सम्मानं प्राप्नोति, तस्यैव सर्वकर्मसमर्हणीयत्वात्। यदा घर्मः सम्भ्रियमाणो भवति, तदा तदवस्थापन्नः प्रजापतिर्भवति। संभृतः सम्राट्पदव्यपदेश्यो भवति। संसन्न आसादितो घर्मः सूर्यो भवति। प्रवृक्तस्तेजः, उद्यत आश्विनः, पयस्यानीयमानः पौष्णः। विस्यन्दमानो मारुतः। भ्रियमाण आग्नेयः। हुतो वाग् भवति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, येनेश्वरेण सम्भ्रियमाणः सम्राड् वैश्वदेवः संसन्नो घर्मस्तेजः प्रवृक्त उद्यत आश्विनो विस्यन्दमानो मारुतः क्लथन्, मैत्रः संताय्यमाने शरसि, वायव्यो भ्रियमाणः, आग्नेयो हूयमानः, वाग हुतः, प्रजापतिः सम्भृतोऽस्ति, तमेव परमात्मानं भूय उपासध्वम्' इति, तदपि निरर्थकम्, परमेश्वरेण सम्भ्रियमाणः सम्राड् वैश्वदेवः संसन्नो घर्मादिरूपो भवतीत्यस्य निष्प्रमाणत्वात्। 'सरसि तडागे' इति च निर्मूलम्, निष्प्रमाणत्वादेव, उन्मत्तप्रलपितत्वाच्च ॥ ५ ॥

स॒वि॒ता प्र॑थ॒मेऽह॑न्न॒ग्निर्द्वि॒तीये॑ वा॒युस्तृ॒तीय॑ आदि॒त्यश्च॑तु॒र्थे च॒न्द्रमाः॑ पञ्च॒म ऋ॒तुः ष॒ष्ठे म॒रुतः॑ स॒प्त॒मे बृह॒स्पति॑रष्ट॒मे। मि॒त्रो न॑व॒मे वरु॑णो दश॒म इन्द्र॑ एकाद॒शे विश्वे॑ दे॒वा द्वा॑द॒शे ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—प्रथम दिन का देवता सविता है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'सवित्रे स्वाहा' है। दूसरे दिन का देवता अग्नि है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'अग्नये स्वाहा' है। तीसरे दिन का देवता वायु है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'वायवे स्वाहा' है। चौथे दिन का देवता आदित्य है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'आदित्याय स्वाहा' है। पाँचवें दिन का देवता चन्द्रमा है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'चन्द्रमसे स्वाहा' है। छठे दिन का देवता ऋतु है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'ऋतवे स्वाहा' है। सातवें दिन का देवता मरुत् है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'मरुद्भ्यः स्वाहा' है। आठवें दिन का देवता बृहस्पति है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'बृहस्पतये स्वाहा' है। नवें दिन के देवता मित्र हैं, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'मित्राय स्वाहा' है। दसवें दिन के देवता वरुण हैं, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'वरुणाय स्वाहा' है। ग्यारहवें दिन के देवता इन्द्र हैं, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'इन्द्राय स्वाहा' है। बारहवें दिन के देवता विश्वेदेव हैं, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा' है॥ ६॥

'सविता प्रथमेऽहन्निति च प्रत्यहम्' (का० श्रौ० २६।७।३५)। प्रथमेऽहन् दिने घर्मभेदे सविता देवता सवितृदेवतात्मको महावीरो भवति। तत्र सवित्रे स्वाहेति होमः। एवमग्रेऽपि। अग्निर्द्वितीये दिवसेऽग्निरग्न्यात्मको भवति तदानीम्। तृतीये वायुश्चतुर्थे आदित्यात्मकः, पञ्चमेऽह्नि चन्द्रमाः, षष्ठे दिवसे ऋतुः, मरुतः सप्तमेऽह्नि, बृहस्पतिरष्टमे, नवमेऽह्नि मित्रात्मकः, दशमे दिने वरुणः, एकादशेऽह्नि इन्द्रः, द्वादशे विश्वे देवाः। तत्र भेदे विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेत्याहुतिः। एकाहे सूपसदां हुतत्वात् प्रवर्ग्यस्यापि दिवसत्रय एवानुष्ठानम्। साग्निचित्येषु षड्दिवसेष्वहीनाहर्गणेषु सर्वत्र द्वादशोपसद इति द्वादशदिवसेषु उपसत्प्रवृद्धौ एता एवाहुतयः पुनरादित आवर्त्यन्ते।

अध्यात्मपक्षे—प्रथमादिदिवसेषु घर्मभेदे दिवसभेदेन देवताभेदोऽपि ब्रह्मविस्तारत्वाद् ब्रह्मात्मक एव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अनेन जीवेन प्रथमेऽहन् सविता द्वितीयेऽग्नि ˙˙ द्वादशेऽहनि विश्वे देवाश्च प्राप्यन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्य निर्मूलत्वात्, देहत्यागानन्तरं जीवः प्रथमादिदिनेषु तांस्तान् देवान् प्राप्नोतीत्यत्र मानाभावात्। न चायं मन्त्र एव प्रमाणमिति, जीवेन देहत्यागानन्तरं प्राप्यन्त इत्यंशस्य मन्त्रेऽभावात्। किमर्थं चैते प्राप्यन्ते जीवेन विश्वे देवाः ? सर्वे उत्तमगुणा इत्यपि निर्मूलम्, तथात्वे सर्वेषां तद्वत्त्वोपलम्भापातात्॥ ६॥

॥ महावीरप्रायश्चित्तानि समाप्तानि॥

उ॒ग्रश्च॑ भी॒मश्च॒ ध्वा॒न्तश्च॒ धुनि॑श्च। सा॒स॒ह्वाँश्चा॑ऽभियु॒ग्वा च॑ वि॒क्षिपः॒ स्वाहा॑॥ ७॥

मन्त्रार्थ—उग्र, भीम, ध्वान्त, धुनि, सासह्वान्, अभियुग्वा और विक्षिप नाम वाले मरुतों के लिये मैं यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित करता हूँ॥ ७॥

'हस्तेन मारुतान् जुहोति....शुक्रज्योतिरिति प्रतिमन्त्रम्, विमुखेनारण्येऽनूच्यमिति' (का० श्रौ० १८।४।२३-२४) इति कात्यायनरीत्या चयने मारुतान् षट् पुरोडाशान् शुक्रज्योतिश्चेत्यादिषण्मारुतमन्त्रैः (मा० सं० १७।८०-८५) हुत्वाऽरण्येऽनूच्यसंज्ञं सप्तमं पुरोडाशं विमुखसंज्ञेन 'उग्रश्च' इति मन्त्रेण जुहुयात्। उग्रश्च मारुती गायत्री। विमुखाख्यो मन्त्रोऽग्नौ विनियुक्तस्तस्मादाग्निक एवास्यर्षिः, 'परमेष्ठी प्राजापत्यो वा' (४।८) इत्यनुक्रमणीवचनादाग्निकः प्रजापतिर्ऋषिः। अस्य मन्त्रस्यात्र पाठोऽरण्येऽध्येयत्वसामान्यात्। य एते उग्रादिनामकाः सप्त मरुतस्तेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु। उग्र उत्कृष्टः। भीमः, बिभेत्यस्मादिति भीमो भयङ्करः। ध्वान्तः, अन्धकारसदृशः, ध्वनति शब्दं करोतीति वा ध्वान्तः। धुनिः, धूनयति कम्पयति यः सः। सासह्वान् असत्यार्थानामभिभविता, सहते शत्रूनभिभवति यः स सासह्वान्, क्वसुप्रत्ययः, संहितायां दीर्घः। अभियुनक्तीत्यभियुग्वा, अस्मत्संमुखं योगं प्राप्नोतीत्यभियुग्वा, अभिपूर्वस्य युजेः क्वनिप्प्रत्ययः। विक्षिपो विक्षेपणकारी, विविधं क्षिपति रिपून् वेति, 'इगुपध' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः। परस्परसमुच्चयार्थाश्चकाराः।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरः शिव एव तत्तद्गुणविशिष्ट उग्रादिशब्दैर्बोध्यः। उद्गूर्णत्वात् स उग्रः। विमुखानां भयङ्करत्वाद्भीमः। प्रकाशरूपोऽपि तेषामन्धकारवद्भासमानत्वाद् ध्वान्तः। धुनिः खलानां कम्पयितृत्वात्। असतामभिभवितृत्वात् सासह्वान्। अभियोक्तृत्वादभियुग्वा। रिपूणां विक्षेपकत्वाद्विक्षिपः। एवंगुणविशिष्टभेदभिन्नेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! मरणं प्राप्तो जीवः स्वाहोग्रश्च....विक्षिपो जायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्, मरणं प्राप्तो जीव उग्रो भवतीत्यादेर्निष्प्रमाणत्वात्। स्वाहा स्वकीया क्रियेत्यपि चिन्त्यम् ॥ ७ ॥

अ॒ग्निᳪं हृद॑येना॒शनिᳪं हृदया॒ग्रेण॑ पशु॒पतिं॑ कृ॒त्स्नहृ॑दयेन भ॒वं य॒क्ना। श॒र्वं मत॑स्नाभ्या॒मीशा॑नं म॒न्युना॑ महादे॒वम॑न्तःपर्श॒व्ये॑नो॒ग्रं दे॒वं व॑नि॒ष्ठुना॑ वसिष्ठह॒नुः शि॒ङ्गीनि॑ को॒श्या॒भ्या॑म् ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—अग्नि को मैं हृदय के द्वारा प्रसन्न करता हूँ। अशनि देव को हृदयाग्र से, पशुपति को सारे हृदय से, भव को कालखण्ड से, शर्व को मतस्ना नामक हृदयस्थल से, ईशान देवता को क्रोध से, महादेव को पसलियों के मांस से, उग्र देवता को बड़ी आँत से और शिंगी नामक देवताओं को हृदयकोषस्थित मांसपिण्ड से प्रसन्न करता हूँ ॥ ८ ॥

'विमुखाच्च परेभ्यः, मा नो मित्र इति च प्रत्यृचमनुवाकाभ्याम्, अन्त्यां द्यावापृथिवीयामिति' (का० श्रौ० २०।८।५-७)। तदर्थस्तु—विमुखसंज्ञकादुग्रश्चेत्यस्मात् परेभ्य उत्तरकालपठितेभ्यो देवताभ्याङ्गेभ्योऽग्निं हृदयेनेत्यादिभ्यश्चतुर्गृहीतेनाज्येनाग्नये स्वाहा, हृदयाय स्वाहा, अशनये स्वाहा, हृदयाग्राय स्वाहेति चतुर्गृहीतं जुहुयात्। हरिस्वामिरीत्या अग्निं हृदयेन प्रीणामि स्वाहेत्यादिप्रयोगः। ततश्चाग्निं हृदयेनेत्यादीन् विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेत्यन्तान् होमान् कृत्वा मा न इत्यनुवाकाभ्यां (मा० सं० २५।२४-३९) षोडशाहुतीर्हुत्वा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहेति चरमामाहुतिं जुहुयात्, 'अरण्येऽनूच्यान् हुत्वा द्यावापृथिव्यामुत्तमामाहुतिं जुहोति' इति श्रुतेः। अरण्येऽनूच्यानरण्ये पठितानग्निं हृदयेनेत्यादीन् विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेत्यन्तान् होमान् कृत्वा द्यावापृथिवीयामुत्तमामाहुतिं जुहोतीति श्रुत्यर्थः। 'अग्निᳪं हृदयेनाश्वमेधिकानि

तत्रत्य एर्वाषर्लोमभ्यः स्वाहेति प्रायश्चित्ताहुतयो द्विचत्वारिंशत्' (४।८) इत्यनुक्रमणी। आ अध्यायपरिसमाप्ते-राश्वमेधिका मन्त्राः। अरण्येऽध्येयत्वसामान्यादिहाम्नाताः। तत्रापि—'अग्निꣳ हृदयेन, उग्रं लोहितेन' इति द्वे कण्डिके ब्राह्मणरूपे। देवताश्वावयवसम्बन्धविधानाल्लोमादीन्यङ्गान्येव, आयासादयो देवता एव।

मन्त्रार्थस्तु—अग्निं देवं हृदयेन अश्वसम्बन्धिना हृदयाख्येनावयवेन प्रीणामि तोषयामि। अशनिम् अशनिरूपां देवतां हृदयाग्रेण हृदयस्याग्रदेशेन प्रीणामि तोषयामि। पशूनां पतिं पालकं देवं कृत्स्नहृदयेन सकलेन हृदयेन प्रीणामि। यक्ना यकृन्नाम पशोर्हृदयसमीपवर्ति कालखण्डाख्यं मांसम्, तेन भवं देवं प्रीणामि, 'पद्दन्नो' (पा० सू० ६।१।६३) इति यकृच्छब्दस्य यकन्नादेशः। मतस्ने हृदयास्थिविशेषौ, ताभ्यां शर्वं देवं प्रीणामि। मन्युनाऽश्वक्रोधेन ईशानं देवं प्रीणामि। अन्तःपर्शव्येन, पर्शवः पार्श्वास्थीनि, तेष्वन्तर्वर्तमानेन पार्श्वास्थिसम्बन्धिना मांसेन महादेवं प्रीणामि। वनिष्ठुः स्थूलान्त्रम्, तेनोग्रं देवं प्रीणामि। वसिष्ठहनुर्वसिष्ठस्य देवस्य हनुः कपोलाधोदेशः, यद्वा वसिष्ठो यो हनुः कपोलाधोदेशः, 'तत्परो हनुः' (२।६।९०) इत्यमरवचनात्, तत्परः कपोलाधोभागस्थो हन्त्याहारमिति हनुः, लिङ्गव्यत्ययः, अतिशयेन वासयिता वसिष्ठ आहारस्तद्धननशीलो वा, तेन। कोश्याभ्यां च कोशो हृदयकोशः, तत्स्थाभ्यां मांसपिण्डाभ्यां च शिङ्गीनि दैवतानि प्रीणामि।

अध्यात्मपक्षे—द्रव्यं देवताश्च सर्वं ब्रह्मैवेति भावनया तत्तद्द्रव्यैस्तेषां देवानां प्रीणनं महते श्रेयसेऽवकल्प्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये ते मृता जीवास्ते हृदयेनाग्निं हृदयाग्रेणाशनिं…कोश्याभ्यां शिङ्गीनि प्राप्नुवन्तीति विजानीत' इति, तदपि न, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्, मृतानां हृदयादिसहितस्य देहस्य दग्धत्वात् कथं ते तैरग्न्यादिकं प्राप्नुवन्ति। किञ्च, मृतानां कृत्स्नहृदयेनैव परमेश्वरप्राप्तिः स्यात्, तदा कृतमुपासनादिभिः। तस्मात् सर्वं निरर्थकमेव ॥ ८ ॥

उग्रं लो॑हि॒तेन॑ मि॒त्रꣳ सौव्र॑त्येन रु॒द्रं दौव्र्र॑त्ये॒नेन्द्रं॑ प्रक्री॒डेन॑ म॒रुतो॒ बले॑न सा॒ध्यान् प्र॒मुदा॑। भ॒वस्य॑ कण्ठ्यꣳ रु॒द्रस्या॑न्तःपा॒र्श्व्यं म॑हादे॒वस्य॑ यकृच्छ॒र्वस्य॑ वनि॒ष्ठुः प॑शु॒पतेः॑ पुरी॒तत् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—उग्र देवता को लोहित से, मित्र देवता को शुभ कर्मों के अनुष्ठान से, रुद्र देवता को शिष्यताड़न आदि अशोभन कार्यों से, इन्द्र देवता को क्रीड़ाओं से, मरुत् देवताओं को बल से, साध्य देवताओं को हर्ष से, भव देवता को कण्ठ के मांस से, रुद्र देवता को पसलियों के मांस से, महादेव को कालखण्ड से, शर्व देवता को बड़ी आँत से और पशुपति देवता को पुरीतत् स्थित मांसखण्ड से सन्तुष्ट करता हूँ ॥ ९ ॥

उग्रम् उग्राख्यं देवं लोहितेन अप्संबन्धिना रुधिरेण, मित्रं मित्राख्यं सर्वस्यानुकूलं देवं शोभनं व्रतं गत्यादिकर्म यस्य स सुव्रतः, सुव्रतस्य भावः सौव्रत्यम्, तेन शोभनगत्यादिकर्तृत्वेन प्रीणामि। रुद्रं देवं दौर्व्रत्येन दुष्टं स्खलनोच्छलनादि व्रतं यस्य स दुर्व्रतस्तस्य भावो दौर्व्रत्यम्, तेन प्रीणामि। इन्द्रं देवं प्रक्रीडेन प्रक्रीडनमश्वस्य विहारस्तेन प्रीणामि। मरुतो मरुत्संज्ञान् देवान् बलेनाश्वसंबन्धिना सामर्थ्येन प्रीणामि। साध्यान् देवान् प्रमुदा प्रकृष्टा मुत् प्रमुत्, तया प्रीणामि। भवस्य कण्ठ्यम्, अत्र षष्ठ्यन्तो देवः प्रथमान्तमङ्गम्, कण्ठे भवं कण्ठ्यं पिशितं भवस्य सम्बन्धि, तेन भवं प्रीणामीत्यर्थः। पार्श्वस्यान्तर्मध्ये भवं पिशितमन्तःपार्श्व्यम्,

तद्रुद्रस्यास्तु, तेन रुद्रं प्रीणामि। यकृत् कालखण्डं महादेवस्य महादेवसम्बन्धि। वनिष्ठुः स्थूलान्त्रं शर्वस्यास्तु। पुरीतद् हृदयाच्छादकमन्त्रं पशुपतेरस्तु, हृदयपुण्डरीकमेव वा पुरीतत्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः! गर्भाशयस्था जीवा बाह्या वा लोहितेनोग्रं सौव्रत्येन मित्रं दौर्व्रत्येन रुद्रं प्रक्रीडिनमिन्द्रं बलेन मरुतः""शर्वस्य वनिष्ठुं पशुपतेः प्राप्नुवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, व्यभिचारात्, लोहिते सत्यपि केषाञ्चिदुग्रत्वादर्शनात्, पार्श्व्येन महादेवस्य यकृता सर्वस्य पशुरक्षकस्य पुरीतता कः सम्बन्ध इत्यनिरूपणात् ॥ ९ ॥

लोम॑भ्यः॒ स्वाहा॒ लोम॑भ्यः॒ स्वाहा॑ त्व॒चे स्वाहा॑ त्व॒चे स्वाहा॒ लोहि॑ताय॒ स्वाहा॒ लोहि॑ताय॒ स्वाहा॒ मेदो॑भ्यः॒ स्वाहा॒ मेदो॑भ्यः॒ स्वाहा॑। मा॒ꣳसेभ्यः॒ स्वाहा॑ मा॒ꣳसेभ्यः॒ स्वाहा॒ स्नाव॑भ्यः॒ स्वाहा॒ स्नाव॑भ्यः॒ स्वाहा॒ऽस्थभ्यः॒ स्वाहा॒ऽस्थभ्यः॒ स्वाहा॑ म॒ज्जभ्यः॒ स्वाहा॑ म॒ज्जभ्यः॒ स्वाहा॑। रेत॑से॒ स्वाहा॑ पा॒यवे॒ स्वाहा॑ ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—मैं समष्टि लोमों के लिये श्रेष्ठ आहुति देता हूँ, व्यष्टि लोमों के लिये, समष्टि त्वचा के लिये, व्यष्टि त्वचा के लिये, समष्टि रुधिर के लिये, व्यष्टि रुधिर के लिये, समष्टि मेदा के लिये, व्यष्टि मेदा के लिये, समष्टि मांस के लिये, व्यष्टि मांस के लिये, समष्टि नसों के लिये, व्यष्टि नसों के लिये, समष्टि अस्थियों के लिये, व्यष्टि अस्थियों के लिये, समष्टि मज्जा के लिये, व्यष्टि मज्जा के लिये, वीर्य के लिये और पायु इन्द्रिय के लिये मैं यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित करता हूँ ॥ १० ॥

लोमभ्यः स्वाहेति प्रायश्चित्ताहुतयो द्विचत्वारिंशत्। लोमभ्यो रोमभ्योऽश्वसम्बन्धिभ्यस्तदभिमानिदेवतायै स्वाहा सुहुतमस्तु। सर्वेषां सकलावयवव्यापिनां रोम्णां परिग्रहार्थं द्विरुक्तिः। लोमान्यङ्गान्येवेति रीत्या तु लोमानि जुहोमीत्येवार्थः। त्वचे, लोहिताय, मेदोभ्यो रुधिरान्तर्वर्तिमांसच्छादको धातुर्मेदस्तस्मै, मांसेभ्यो मेदसोऽन्तर्वर्तीनि मांसानि तेभ्यः, स्नावभ्यो मांसान्तर्वर्तिनः शिराविशेषाः स्नायवस्तेभ्यः, अस्थभ्यः स्नाय्वन्तर्वर्तीनि अस्थीनि, 'छन्दस्यपि दृश्यते' (पा० सू० ७।१।७६) इत्यस्थिशब्दस्य हलादिविभक्तावप्यनङादेशः। मज्जभ्यः, अस्थ्नामन्तर्गता मज्जानस्तेभ्यः। एतदन्तं द्विरुक्तिः। रेतसे रेतो वीर्यम्। ततोऽप्यान्तरं पायवे अश्वसम्बन्धि गुदं पायुस्तस्मै। एवं केषाञ्चिद्रीत्या एषामङ्गानां होमः। केषाञ्चिद्रीत्या अश्वाङ्गाभिमानिनां देवानां होममन्त्राः।

अध्यात्मपक्षे—अश्वाङ्गानां तदभिमानिनां देवानां वा पारम्पर्येण ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्मरूपत्वमनुसन्धेयम्। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—मनुष्यैः प्रेतक्रियायां घृतादेर्लोमभ्यः स्वाहा""पायवे स्वाहा सततं प्रयोज्या' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मृतानां देहावयवेभ्यः किं प्रयोजनमित्यनुक्तेः। किमिदं जडाभ्यर्चनं मूर्तिपूजनमिव त्वद्दृष्ट्या नापसिद्धान्तानुसरणम्? ॥ १० ॥

आयासाय स्वाहा प्रायासाय स्वाहा संयासाय स्वाहा वियासाय स्वाहोद्यासाय स्वाहा । शुचे स्वाहा शोचते स्वाहा शोचमानाय स्वाहा शोकाय स्वाहा ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—आयास देवता के लिये, प्रायास के लिये, संयास के लिये, वियास और उद्यास के लिये, शुचि के लिये, शोचत् के लिये, शोचमान और शोक के लिये मैं यह श्रेष्ठ आहुति देता हूँ ॥ ११ ॥

आयासादयो देवविशेषाः । आयासाय स्वाहा, प्रायासाय स्वाहा, संयासाय स्वाहा, वियासाय स्वाहा, उद्यासाय स्वाहा, शुचे शोचते शोच्यमानाय शोकाय स्वाहा । यद्वा आयासः श्रमस्तस्मै अश्वसम्बन्धिने, प्रकृष्ट आयासः प्रायासः, संयासः प्रयत्नः, 'यसु प्रयत्ने' इत्यस्माद् घञि रूपम् । विविधं यसनं प्रयत्नो वियासः, उत्कटं संयसनं सम्यक् प्रयत्नः । शुचे शोचनाय, शोचते शोचनं कुर्वते, शोचमानाय शोकाय संज्ञपनजन्याय अन्तस्तापाय स्वाहा ।

अध्यात्मपक्षे—आयासप्रयासादयो भगवत्प्राप्तिसम्बन्धिनः पूज्या भवन्तीति तेभ्योऽपि स्वाहाकारेण सम्मानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यूयमायासाय स्वाहा""शोकाय स्वाहा प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, किमर्थं स्वाहाकारः प्रयोक्तव्य इत्यनुक्तेः ॥ ११ ॥

तपसे स्वाहा तप्यते स्वाहा तप्यमानाय स्वाहा तप्ताय स्वाहा घर्माय स्वाहा । निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्त्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—तप के लिये, तपकर्ता के लिये, तप्यमान और तप्त के लिये, घर्म के लिये, निष्कृति के लिये, प्रायश्चित्ति के लिये और औषध के लिये मैं यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित करता हूँ ॥ १२ ॥

तपसे, तप्यते, तप्यमानाय, तप्ताय घर्माय । निष्कृत्यै, प्रायश्चित्त्यै, भेषजाय । तपसे तापेन विषयीक्रियमाणाय, तप्यमानाय सन्तप्यमानाय, तप्ताय संतापेन विषयीक्रियमाणाय, निष्कृत्यै निःशेषेण करणं समापनं निष्कृतिस्तस्यै, प्रायश्चित्त्यै प्रायो वैकल्यम्, तस्य चित्तिः समाधानम्, तस्यै । भेषजाय अयथावदनुष्ठान-रूपदोषस्य चिकित्सा भेषजम्, तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे --परमपुरुषार्थभगवत्पदप्राप्तिमूलानां तपआदीनां देवतारूपत्वात् तेभ्यः सुहुतं शुभावहमेव ।

दयानन्दस्तु --'मनुष्यैस्तपसे स्वाहा""भेषजाय स्वाहा निरन्तरं प्रयोक्तव्या' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रयोजनन्तरा तत्प्रयोज्यस्योन्मत्तचेष्टितत्वात् ॥ १२ ॥

यमाय स्वाहाऽन्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा । ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा । विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳪं स्वाहा ॥ १३ ॥

॥ इत्येकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ - यम के लिये, अन्तक के लिये, मृत्यु के लिये, ब्रह्म के लिये, ब्रह्महत्या के लिये, विश्वेदेव देवताओं के लिये और द्यावापृथिवी देवताओं के लिये मैं यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित करता हूँ ॥ १३ ॥

यमाय, अन्तकाय, मृत्यवे, ब्रह्मणे, ब्रह्महत्यायै, विश्वेभ्यो देवेभ्यः—एतेभ्यो देवेभ्यः सुहुतमस्तु। एता आहुतीर्हुत्वा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहेत्यन्तामाहुतिं जुहुयात्। यच्छतीति यमो वैवस्वतस्तस्मै, अन्तकाय विनाशकाय, मृत्यवे मारयित्रे, ब्रह्महत्यायै ब्रह्महननरूपायै क्रियायै, विश्वेभ्यो देवेभ्यः। किमनया देवानां परिगणनया सर्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा सुहुतमिदमस्तु, सर्वेषां देवानामावासभूताभ्यां स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—यमाय नियन्त्रे परमेश्वराय स्वाहा, अन्तकाय संहारकर्त्रे परमेश्वराय, मृत्यवे मृत्युरूपाय मृत्य्वन्तर्यामिणे परमात्मने। ब्रह्महत्यायै तदन्तर्यामिरूपाय। विश्वेभ्योऽखिलेभ्यो देवेभ्यः सर्वदेवान्तर्यामिणे परमात्मने। द्यावापृथिवीभ्यां तदन्तर्यामिणे परमात्मने स्वाहा सुहुतं सर्वमिदमहं च सुहुतमस्तु, 'अहमेवाहं मां जुहोमि' (त्रि० म० ना० ८।३) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'यमाय नियन्त्रे न्यायाधीशाय,''''द्यावापृथिवीभ्यां सूर्यभूमिशोधनाय स्वाहा प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तेभ्यस्तेभ्यो जडेभ्योऽजडेभ्यः स्वाहाकारप्रयोगस्य प्रयोजनानुक्तेः। न च सूर्यभूमिशोधनाय स्वाहाकारप्रयोग इति वाच्यम्, स्वाहाकारशब्दप्रयोगेण तदसम्भवात्। न च घृतचन्दनाहुत्यापि तच्छोधनं सम्भवति, चन्दनबिन्दुना समुद्रशोधनादर्शनात्। तस्मादुन्मादविलसितमेव तत्। सिद्धान्ते तु मन्त्रैराहुतिविधानेऽदृष्टातिशयाभ्युपगमान्नानुपपन्नं किञ्चित्। न च तवापि तदभ्युपगमः, अपसिद्धान्तापातात्॥ १३॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायाम्
ऊनचत्वारिंशोऽध्यायः॥

वाजसनेयि-माध्यन्दिन
शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता

वेदार्थ पारिजाताख्य विभूषिता

चत्वारिंशोऽध्यायः

ईशा वास्योपनिषत्

करपात्र-भाष्यम्

प्रणेतारः

अनन्त श्रीविभूषिताः स्वामि करपात्र महाराजाः

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्

कलकत्ता • वृन्दावनम्

❀ श्रीहरिः ❀

श्रीमद्वाजसनेयि-माध्यन्दिन
शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता

वेदार्थपारिजाताख्यभाष्य विभूषिता
चत्वारिंशोऽध्यायः

ईशा वास्योपनिषत्

करपात्र-भाष्यम्

प्रणेतारः

अनन्त श्री विभूषिताः स्वामिकरपात्र महाराजाः

भाषानुवादकः

परमहंस श्री स्वामिवामदेव महाराजाः

प्रकाशक:

श्रीराधाकृष्णधानुका प्रकाशन संस्थानम्

कलकत्ता ★ वृन्दावनम्

श्रीवृन्दावनम् प्रथम संस्करणम् श्रीसंवत् २०४४

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता ❀ वृन्दावनम्

मूल्यं तीस रुपये

अस्य ग्रन्थस्य सर्वेऽधिकाराः
राजकीय नियमानुसारेण
सुरक्षिताः

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्

१. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o. मैसूर पेट्रो कैमिकल्स लिमिटेड
११३, पार्कस्ट्रीट, सात तल्ला Podder Point
कलकत्ता -700016

२. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५.१८ नारदघाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसङ्घ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन,
मथुरा (उ० प्र०)

४. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o. मैसूर पेट्रो केमिकल लिमिटेड
४०१. ४०४ राहेजा सेण्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

मुद्रक
श्रीहरिनाम प्रेस
श्रीहरिनामपथ, वृन्दावन
२८११२१
दूरभाष ४१५

VĀJASANEYI-MĀDHYANDIN
SHUKLA-YAJURVEDA-SAṂHITĀ
WITH THE VEDĀRTHA-PĀRIJĀTA-
'KARAPĀTRA-BHĀSYA

40

ĪSĀ VĀSYOPANIṢAD

BY
ANANTA SHRI SWĀMI KARAPĀTRI JI MAHĀRĀJA

Hindi Translation By
PARAMHANS SHRI VĀMADEVA SWĀMI JI

Publisher
SHRI RADHAKRISHNA DHANUKA PRAKASHAN
SAṂSTHĀNA
Calcutta ★ Vrindavan

All Rights reserved by the Publisher
FIRST EDITION
Shri Vrindāvan Chaitra Navaratri 2044
March 1987

श्रीहरिः

भूमिका

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु-शङ्कराचार्य–पूर्वाम्नाय गोवर्द्धनमठ पुरी पीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थ महाराज

अत्यद्भुतमिदं भाष्यं करपात्रविनिर्मितम् ।
ईशा वास्योपनिषदः श्रुतीनां हृदयं स्फुटम् ॥१॥

यथा प्रकाशितन्त्वत्र न तथान्यत्र दृश्यते ।
भगवत्पादभाष्येऽपि केवलं ज्ञाननिष्ठता ॥२॥

इति भ्रमो भवेन्नूनं केषाञ्चिद्‌विदुषां हृदि ।
परमत्र तथा नैव भ्रमस्यावसरो भवेत् ॥३॥

यतः कर्मपरामन्त्राः कर्मार्था एव सूचिताः ।
उपासना पराणाञ्च मन्त्राणामपि तत्पराः ॥४॥

अर्थाः स्पष्टं विनिर्दिष्टा युक्तिप्रौढिश्च दर्शिता ।
एवं ज्ञानपरामन्त्रा ज्ञानार्था एव दर्शिताः ॥५॥

भक्तिवादिषु भाष्येषु कर्मज्ञानपरा अपि ।
भक्ति भक्त्याग्रहेणैव भक्तिनिष्ठाः प्रदर्शिताः ॥६॥

परमस्मत्स्वामिपादैस्तथा नैवाग्रहः कृतः ।
अर्थो मन्त्रस्य यः किन्तु हार्दः स्वारसिकोऽपि च ॥७॥

स एव युक्तितर्काभ्यां प्रमाणैश्च प्रकाशितः ।
यथा मन्त्राः स्वरसतो भगवत्पादपारिताः ॥८॥

स्वामिपादैरपि तथा व्याख्याता मन्त्रवर्णकाः ।
आद्य शङ्करपादेभ्यः पश्चादेतादृशो न हि ॥९॥

विद्वान् कश्चित्समायातो येनैतादृशमीरितम् ।
भाष्यं स्पष्टार्थसंयुक्तं हृदयग्राहि सुन्दरम् ॥१०॥

मर्मस्पृक् युक्तितर्काणां सन्निवेशोऽत्र यादृशः ।
तादृशो नैव कुत्रापि मिलेदिति मतम्मम ॥११॥

सायणाचार्यवर्याणामुव्वटस्य च यन्मतम् ।
महीधरस्य यच्चापि तदप्यत्र समर्थितम् ॥१२॥

संन्यासस्योररीकारे ब्राह्मणस्यैव सर्वथा ।
अधिकारो न चान्येषामिति यत् प्रौढयुक्तिभिः ॥१३॥

सुसाधितं स्वामिपादैस्तदत्यन्तं हि दुर्लभम् ।
अतो भाष्यमिदं प्राज्ञैर्ज्ञेयं ध्येयञ्च यत्नतः ॥१४॥

निवेदनमिदं नम्रं सर्वेषां विदुषां पुरः ।
नासूया चात्रकर्तव्या ह्यध्येतव्यन्तु भक्तितः ॥१५॥

फाल्गुन शु० ३,२०४३ श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थः
बहादुरगढ़
(हरियाणा)

श्रीहरिः

भूमिका

पूज्य स्वामी श्रीकरपात्री जी द्वारा विरचित यह भाष्य बड़ा विलक्षण है। **'ईशा वास्योपनिषद्'** की श्रुतियों का हृदय जैसा स्पष्ट इसमें प्रकाशित किया गया है, वैसा और कहीं दृष्टि में नहीं आता। भगवत्पाद (श्रीशङ्कराचार्य) के भाष्य में भी कुछ लोगों के मन में यह भ्रम हो सकता है कि इसमें केवल ज्ञान का ही निरूपण है; किन्तु इस भाष्य में किसी ऐसे भ्रम के अंश का भी अवकाश नहीं है, क्योंकि इसमें कर्म-परक-मन्त्रों को कर्मार्थक ही बतलाया गया है और उपासना-परक तथा ज्ञानपरक मन्त्रो के अर्थ स्पष्टरूप से उपासना परक तथा ज्ञानपरक ही दिखलाया गया है। इस **'वेदार्थ पारिजात'** नामक भाष्य में युक्ति की उत्कृष्टता भी दिखलायी गयी है। भक्तिवादी भाष्यों में

आग्रह केवल भक्ति पर ही रहा तथा लक्षणावृत्ति का आश्रय लेकर भी कर्म और ज्ञानपरक मंत्रों की निष्ठा भक्ति में ही दिखलायी गयी; किन्तु हमारे पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज ने ऐसा कोई आग्रह नहीं किया है। मन्त्रों के जो हार्दिक स्वारसिक अर्थ हैं, उन्हीं को युक्ति, तर्क और प्रमाणों के द्वारा प्रदर्शित किया है।

भगवान् शंकराचार्य ने मन्त्रों का जिस तरह स्वारसिक व्याख्यान किया है, पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज ने भी मन्त्राक्षरों की उसी प्रकार व्याख्या की है। भगवत्पाद शंकराचार्य जी के अनन्तर ऐसा कोई विद्वान् नहीं आया, जिसने इस प्रकार की व्याख्या की हो। यह भाष्य स्पष्ट, हृदयग्राही और सुन्दर है। युक्ति और तर्कों का जैसा इसमें मर्मस्पर्शी प्रयोग किया गया है, ऐसा और कहीं मिलना सुलभ नहीं—यह मेरा मत है। श्रीसायणाचार्य महोदय का, उव्वट का और महीधर का जो मत है, उसका भी इसमें समर्थन सहित दिग्दर्शन कराया गया है।

'सन्यासाश्रम को स्वीकार करने में केवल ब्राह्मण का ही अधिकार है, दूसरों का नहीं' श्रीस्वामीजी महाराज ने प्रौढ़-युक्तियों द्वारा भलीभाँति इस तथ्य को जिस प्रकार सिद्ध किया है, वैसा दूसरी जगह सुगमता से नहीं मिल सकता है।

विद्वानों से मेरा नम्र निवेदन है कि इस भाष्य का यत्नपूर्वक अवगाहन और अनुशीलन करना चाहिए। इसमें असूया (गुणों में दोष खोजना) न करके भक्तिपूर्वक इसका अध्ययन करना चाहिये।

—श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थ

Abstract of Bhumika, Written by Jagadguru Shankaracharyapad Goverdhan Matha Puri Peethadhishwar Swami Shri Niranjan Devji Tirtha Maharaj.

PREFACE

This thoughtful critical study of Ishavasyopanishada by Swami Karpatri ji is unique. The clear view of the thought of Ishavasyopanishada as presented here is not found elsewhere. The critical study by God-gifted Shaṉkarácharya may breed a suspicion in the heart of some people that it comprises only the interpretations of the knowledge (jnan). But there is no scope for even the slightest kind of such a doubt about this critical study because here those verses which aim at the Actions (leading to the fulfilment of desires) have been shown worthy of such Actions while the verses which aim at the worship (of the Lord) have been interpretted as worthy of such a worship and the supremacy of these devices has also been laid bear. In a similar manner those verses which aim at the knowledge(of the Lord)have been shown worthy of knowledge. In the various other interpretations of these verses by scholars having faith in the Bhakti cult, there has always been emphasis on Bhakti and so with the help of theories of Associationism even the verses aiming at the actions and the kmowledge have been interpretted as having faith in the Bhakti cult. But our Respected Swamiji, has not laid any such emphasis anywhere. Only the real unbiased meanings of the various verses

have been shown here with the help of logical approach and convincing proofs.

The way as adopted by Bhagwan Shankaracharya in the interpretations of various verses, has also been followed here by our Respected Swamiji Maharaj in the critical interpretations and elucidation of verses. After the God-gifted Adi Shankaracharya, no eminent scholar who has attempted such a kind of critical study, has appeared so for on the scene. This study is full of unprecedented clarity and beauty and is heart searching. The use of logical and rational approach as found here, will not be easily found elsewhere. —This is my opinion. The view points of Saynacharya, Uvvata and Mahidhar have also been elaborately discussed here.

The fact that only Brahmins exclusively have the right to adopt 'Sanyas Ashram', has been substantiated with an unparalleled logical force and manner. The scholars, therefore, are advised to go through this treatise thoughtfully and meditatively. It is my humble request to all the learned people and readers that they should study this work not with an eye to find fault but with devotion and love.

★

श्रीहरिः

श्रीकरपात्राष्टकम्

(डा० श्रीशशिधर शर्मा महामहोपाध्यायः, सप्तविषयाचार्यः)

केचिद् भजन्ति विबुधा हरिमीशितार—
ञ्चाऽन्ये हरं भवनिदाघहरं श्रयन्ति ।
धर्माऽऽर्तिखिन्नमनसां समुपासनीयं
प्रत्यक्षितं हरिहराद्वयमद्वयन्नः ॥१॥

सद्राजनीतिनिपुणः किमु विष्णुगुप्तो
वाचस्पतिर्निखिलशास्त्रविचक्षणो वा ।
आहो शुको नु भगवद्‌गुणगानधन्यो
यस्मिन्नितीव समशायि यतिः स वन्द्यः ॥२॥

यस्याऽवसन्नवरसा रसने सरस्व –
त्याभान्ति लेखतनवोऽतनुकीर्तिलेखाः ।
चेतस्य भूत्सरसिजोदरसौकुमार्यं
स्मार्यो न कस्य स वशी शयभाजनार्यः ॥३॥

वन्द्यः स योऽकृतकृती सुकृतार्थसंस्थाः
रामायणे श्रुतिषु चाऽतत वाक्प्रवाहान् ।
नैष्कर्म्यमूर्ध्वमधिताधिधरं तथापि
कर्मेतराऽकृततरं व्यधिताऽऽप्रयाणम् ॥४॥

यः सत्कविर्गुरुगुरुर्बुधमङ्गलात्मा
तीव्रप्रतापतपनश्च सतां च सोमः ।
धर्मद्विषां शनिरथो मदिनाञ्च राहुः
केतुः कलेर्जयति दण्डिवरः स कोऽपि ॥५॥

कारागमैः शिरसि दण्डनिपातघातै—
रप्येजनं न जनितं किल यस्य जातु ।
दीपः सनातनसृतेरपि गीष्पतेर्यो
वार्येतरो हृदि विभाति स नः सदाऽऽर्यः ॥६॥

तिष्ठेत् प्रणष्टकुहकः सुपथे नरौघः
पारेऽम्बुधि जनगिरा प्रसरं प्रयातु ।
गावश्चरन्तु परितोऽस्तभया घटोध्न्यः
स्वप्नस्तवेति यतिराट् ! फलिता कदा नु ! ॥७॥

यो दण्डिवर्योऽतियतीन्द्रचर्यः
श्रौताऽध्वनोऽभूद्भुवनेषु धुर्यः ।
श्रेयो भृतां शश्वदपीह चार्यो
धार्यः स चित्ते करपात्र आर्यः ॥८॥

★

श्रीहरिः

करपात्राष्टकम्

कुछ बुद्धिमान् जन भगवान् **हरि (विष्णु)** का भजन करते हैं और कुछ दूसरे संसार तापाहारी **हर (शङ्कर)** की सेवा करते हैं। (किन्तु) धर्म की ग्लानि से खिन्न मनवाले हम लोगों की उपासना का पात्र तो हरि और हर का वह अनुपम अद्वैत है, जिसे हमने अपनी आँखों से देखा है।(श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज के संन्यास का नाम **श्रीहरिहरानन्द** सरस्वती है; फलतः वे श्रीहरिहरात्मक हैं।) ॥१॥

"क्या उदात्त—लोककल्याणकारिणी—राजनीति में प्रवीण **विष्णुगुप्त**—आचार्य चाणक्य हैं, या समस्त शास्त्रों में दक्ष देवगुरु **बृहस्पति** (किम्वा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र **वाचस्पति** मिश्र) हैं, या फिर श्रीप्रभु का गुणगान करने से धन्य हुए **शुकदेव** ही हैं ?" जिनके सम्बन्ध में लोग इस प्रकार से (विविध) सन्देह किया करते थे—वे स्वामी करपात्री जी वन्दना के पात्र हैं ॥२॥

"जिनकी जिह्वा पर नवरसमयी सरस्वती निवास करती थी, लेखों के रूप में जिनकी महान् यशोराशि की लेखाएँ आज भी शोभा पा रही हैं, (और) जिनके हृदय में कमल के मध्यभाग–सरीखी मृदुलता थी, वे सर्वभूतहृदय संयमी (वशी) स्वामी करपात्रीजी किसके स्मरणीय नहीं हैं ? ॥३॥

वन्दनीय हैं वे स्वामी करपात्रीजी महाराज जिन मनीषी ने अनेकानेक धर्मसंस्थाओं की स्थापना की, जिन्होंने रामायण पर एवं वेदों पर सरस्वती धाराएँ प्रवाहित कीं, जिन्होंने भूमण्डल पर नैष्कर्म्य अर्थात् ज्ञानमार्ग की सर्वोच्च सिद्धान्तरूप में प्रतिष्ठापना की, किन्तु जो प्रयाणकाल तक दूसरों द्वारा सुतरां न किये गये कर्म का सम्पादन करते रहे ।।४।।

जो अनवद्य विद्यावान् (**शुक्र**) थे, जो गुरुओं के भी **गुरु** (बृहस्पति) थे, जो विद्वानों के कल्याणरूप (**मंगलमय**) थे, प्रचण्ड प्रताप में जो **सूर्य** थे और सज्जनों के लिये **सोम** (चन्द्रमा) थे, धर्मद्वेषियों के लिये जो **शनि** थे; अहङ्कारियों के लिये **राहु** और कलियुग के लिये **केतु** (विजय-वैजयन्ती) थे, वे विलक्षण यतिराज स्वामी करपात्री जी जयशील हैं ।।५।।

गोरक्षार्थ जेल यात्राओं से यहाँ तक कि सिर पर लाठी पड़ने से लगी चोटों से भी जो अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए, जो सनातन धर्ममार्ग के दीपक थे और जिनको जीतना देवगुरु बृहस्पति के लिए भी कठिन था, वे स्वामी (करपात्री) जी महाराज हमारे हृदय में सदा विराजमान हैं ।।६।।

"लोग छल-पाप छोड़कर सन्मार्ग पर आरूढ़ रहें, हिन्दी का प्रसार समुद्रपार विदेशों में भी हो, घड़ों के सदृश थनोंवाली गाएँ (हत्या के) भय से मुक्त होकर चारों ओर विचरण करें"—यतिराज ! आपका यह सपना भला कब फलीभूत होगा ? ।।७।।

जो दण्डि सन्यासियों के शिरोमणि थे। बड़े-बड़े यतिराज भी जिनकी जीवनचर्या को जीवन में चरितार्थ (उतार कर जिनकी तुलना या समानता) नहीं कर सकते, जो देश-विदेश में श्रुतिमार्ग के एकमात्र रक्षक थे और जो यहाँ श्रेयभाजन और श्रेयप्राप्त सुजनों के स्वामी थे—वे श्लाध्य श्रीकरपात्री जी महाराज हमारे हृदय (सिंहासन) में धारणीय हैं ।।८।।

★

परब्रह्मस्वरूप

धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

SHREE

KARAPĀTRĀSTAKAM

(1)

Some wise men worship Hari (Vishnu) while others pray to Hara (Shiva) who relieves the sufferings that comprise the world. However, for us, aggrieved on account of the decline of Dharma, the peerless pair of Hari and Hara, that we visualise as One, has always been worthy of our devotion.

(2)

Worthy of worship was this Sage about whom doubts, such as these used to arise : 'Is he Vishnu Gupta (Chanakya) adept in the science of polity, or is he the Jupiter (Vachaspati) well versed in all the scriptures, or is he Shukdeva, the blessed singer of the glory of thc Almighty.

(3)

Who would not venerate Self-Controlled Swami Karpatriji whose tongue was the seat of Sarswati, the personified goddess of Nine Rasas & Learning, whose writings full of novel thoughts still shine as the symbols of his vast fame and whose heart was as tender as the petals of the lotus flowers.

(4)

Worthy of adoration is learned Karpatri ji who founded

a number of religious institutions and who propounded numerous schools of philosophical thoughts relating to the Ramayana and the Vedas and established the supremacy of the Monastic philosophy having faith in the knowledge (jnan) and not the Actions (Karma) as the key to salvation and who upto the last breath of his life kept busy in producing unique works.

(5)

Victory to the great Dandi Swami Karpatri ji who was a versatile scholar (Venus), godly teacher of teachers Jupiter, holy guardian of the learned (Mars), Sun among tha brilliants, solace giving Moon for the gentle, terrible saturn for the enemies of righteousness, horrible Rahu for the haughty and fearful ketu for the disruptive forces.

(6)

Frequent imprisonments (on account of participation in the movements for Saving the cow) and even painful head injuries caused by the blows of the lathi-charge could not deviate this Sage from his path of Righteousness (Dharma) That Sage, Swami Karpatriji, who could not be overpowered even by the god Jupiter, is always alive in our hearts.

(7)

'People may follow the course of Righteousness, giving up the path of vices, Hindi may spread beyond the limits of Oceans and Cow may roam about here and there freely without the fear of slaughter', O Kingly Ascetics, who knows when your this cherished wish be realised.

(8)

In our hearts is always enshrined that Respected Swami Karpatri ji who as the Pole star of the Dandi Sanyasis and whose life could not be emulated even by the great sages and who alone on the surface of this earth was the Saviour of the path of holy Vedas and who was the fountain head of all those who attained the spiritual prosperity.

श्रीहरि:

दिग्दर्शन

सम्पादकीय

श्री स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती

१. अवतरण —

'ईशा वास्योपनिषत्' शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन तथा काण्व-संहिता का अन्तिम-चालीसवाँ अध्याय है। इसका प्रारम्भ **'ईशा वास्यम्'** इस मन्त्र से होता है। जिस अद्वितीय प्रत्यगात्मतत्त्व के बोध से कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं, उसीके प्रतिपादक होने से **'ईशा वास्यं'** आदि मन्त्र वेद के शिरोभागरूप **'वेदान्त'** या **'उपनिषत्'** कहे जाते हैं।

२. उद्बोधन —

काण्वशाखा की उपनिषत् पर भगवत्पाद शङ्कर और श्रीसायणाचार्य का भाष्य है, जबकि माध्यन्दिन पर श्रीउव्वट और श्रीमहीधर का। श्री श्रीसायण, उव्वट आदि आचार्यों ने और श्री आनन्दगिरि तथा श्रीशङ्करानन्दादि मनीषियों ने भगवत्पाद शङ्कर के दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्त किया है। भजनीय तत्त्व श्रीभगवान् के लोकोत्तर स्वभाव, प्रभाव, रूप और स्वरूप के उत्कर्ष ख्यापन, भगवदर्थ कर्मानुष्ठान और भगवद्भजन के पोषण में भक्तिप्रधान आचार्यों ने ईशादि मन्त्रों को विनियुक्त माना है।

माध्यन्दिनशाखीय प्रस्तुत भाष्य **'वेदार्थ पारिजात'** परम प्रसन्न और गम्भीर है। इसके रचयिता हैं सर्वभूतहृदय धर्मसम्राट् पूज्यपाद

श्रीस्वामी करपात्री जी महाराज। इसमें उन्होंने कर्म, उपासना और योगादि की यथास्थान उपयोगिता और अनुपम महत्ताका उदारता पूर्वक समर्थन तथा प्रतिपादन जहाँ दक्षता और सरसता पूर्वक किया है, वहाँ उपनिषदादि समस्त शास्त्रों का चरम तात्पर्य निर्विशेष प्रत्यगात्मस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्मात्मतत्त्व में ही सन्निहित सिद्ध किया है।

प्रथम मन्त्र 'ईशा वास्यं' के भाष्य में उन्होंने यह भाव दर्शाया है कि सर्व शास्ता परमेश्वर सर्वप्राणियों का अन्तरात्मा है, वही सबका नियन्ता है। वह नियम्य से बाहर स्थित सामान्य राजा और कार्तवीर्यार्जुन तुल्य योगसिद्ध शासक सदृश तटस्थ नहीं है। वह सम्पूर्ण जगत् का विवर्ती उपादान है। मायाभूमि में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध दृष्टादृष्ट नाम-रूप-क्रियात्मक जगत् मिथ्या है; अतः आत्मसत्य के अनुबोध से ज्ञातरस्सी से कल्पित सर्पादि के समान आच्छादनीय-बाधनीय है। आत्मा क्योंकि ब्रह्मस्वरूप ही है; अतः सर्वैषणा के त्याग से अध्यास का निराकरणरूप आत्मपालन ही कर्तव्य है, न कि मिथ्या धन की अभिलाषा।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस **द्वितीय मन्त्र** की व्याख्या के सन्दर्भ में ग्रन्थकार के द्वारा यह दर्शाया गया है कि जीवन की इच्छा विधेय नहीं है; वह तो रागतः प्राप्त है। रागी कर्म का और विरागी ज्ञानका अधिकारी है। आत्मा नरत्वादि सकल संसारधर्मों से रहित है। सौ वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा वाले अनात्मज्ञ के कल्याण का एकमात्र यही उपाय है कि वह पाप से अलिप्त रहने के लिए यावज्जीवन स्ववर्णाश्रमोचित अग्निहोत्रादि कर्मों को करता रहे।

'असुर्या नाम ते लोकाः' इस **तृतीय मन्त्र** की व्याख्या में यह दर्शाया गया है कि देहेन्द्रियादि अशोभन अनात्मप्रपञ्च में रमण करने वाले भले ही देवादि देहों को ही प्राप्त क्यों न हों, पर आत्मतिरस्कारकर्ता होने से वे आत्महत्यारे ही मान्य हैं। देवादिदेहरूप लोक भी आत्मरति, आत्मतृप्त, आत्मसंतुष्टों को प्राप्त स्वप्रकाश आत्मलोक की अपेक्षा 'आसुर' ही हैं।

'अनेजदेकं' इस **चतुर्थ मन्त्र** के भाष्य में यह दर्शाया गया है कि 'आत्मा' सदा एकरस अद्वितीयतत्त्व है। व्यापक और स्वप्रकाश आत्मा की महिमा से महिमान्वित होकर ही मन में सुदूर अवस्थित ब्रह्मादि

लोकों का स्फुरण होता है। सोपाधिक आत्मतत्त्व मन की गतिका भी अतिक्रमण करनेवाला है। स्वप्रकाश होने से आत्मा अधिदेव सहित इन्द्रियों का भी भास्य नहीं है। ज्ञान और कर्मका आधार, कार्य-करणात्मक स्थूल-सूक्ष्म देहद्वय का उद्दीपक और रक्षक, हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मक 'वायुतत्त्व' निज उद्‌गम और विहरण-स्थान प्रकृति और अन्तरिक्ष सहित स्वतः सिद्ध आत्मा से ही सत्ता लाभ करने में समर्थ है।

'तदेजति' इस **पाँचवें मन्त्र** के भाष्यानुसार यह तथ्य प्राप्त है कि आत्मतत्त्व अचल, निर्विकार है। अज्ञों की दृष्टि में वह चलता-सा है। अज्ञों की पहुँच उस तक नहीं, अतः वह दूर-सा है। विज्ञों की दृष्टि में तो वह सर्वथा प्रत्यगात्मस्वरूप होकर स्फुरित होता है, अतः समीप ही है। इस नाम-रूप-क्रियात्मक जगत् में उसकी अनुगति है, वह इनका परमाश्रय (अधिष्ठान) होकर विद्यमान है, इसलिये भी समीप ही है। सम्पूर्ण जगत् के रूप में उसीकी स्फूर्ति है। जङ्गमरूप से चल और स्थावर-रूप से वह अचल है। नक्षत्रादिरूप से दूर और पृथ्वी आदि रूप से समीप है। अथवा ब्रह्मादि देवशिरोमणियों के रूप से वह चलता है—लीला से व्यवहार करता है और स्वरूप से अचल है। अन्तर्यामी और प्रत्यगात्मरूप से सबके अन्दर और विषयरूप से बाहर है।

'यस्तु सर्वाणि भूतानि' इस **छठे मन्त्र** के माध्यम से इस रहस्य को चित्रित किया गया है कि जो मुमुक्षु—संन्यासी ब्रह्म से अभिन्न आत्मा में अव्यक्त से लेकर स्थावरपर्यन्त (शास्त्रगम्य और प्रत्यक्ष) भूतों को अनुभव करता है—आत्मा से अतिरिक्त नहीं जानता तथा उन सर्वभूतों में कारणरूप से या आत्मरूप से स्वयं को अनुगत (अनुस्यूत-प्रोत) जानता है, वह तत्त्वदर्शी उस आत्मदर्शन के फलस्वरूप **'न विचिकित्सति'**—संशय नहीं करता, **'न विजुगुप्सते'**-घृणा नहीं करता।

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि' इस **सप्तम मन्त्र** में यह भाव अङ्कित किया गया है कि जिस कालविशेष अथवा आत्मा में ब्रह्मात्मतत्त्व की सर्वरूपता को जाननेवाले के लिये सर्वभूत अपने कल्पित-स्वरूप को

त्यागकर अकल्पित चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही हो जाता है; उस काल अथवा आत्मा में असङ्ग अद्वितीय आत्मा के एकत्वदर्शी को कारण सहित संसारका निवारण हो जाने से शोक और मोह नहीं होता।

'स पर्यगात्' इस **अष्टम मन्त्र में** यह तथ्य दर्शाया गया है कि **'ब्रह्म'** चिदानन्दस्वरूप निर्गुण-निर्विशेष-कर्तृत्वशून्य-कर्तव्यविधायक–सर्वद्रष्टा-सर्वज्ञ-सर्वरूप-सर्वात्मा-सर्वशक्ति और सर्वव्यापक है। एकत्व-विज्ञान से उसकी उपलब्धि होती है। वह **स्वानुरूप दिव्यविग्रहयुक्त होने पर भी जीवोचित और भगवत्समसत्ताक स्थूल-सूक्ष्म-कारणदेह रहित है।**

'अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते' इस **नवम (काण्व०१२) मन्त्र** के भाष्य में इस रहस्य का प्रकाश किया गया है कि इसमें नैरात्मवादी लोकायतिकों और विज्ञानवादियों के देह और विज्ञानरूप आत्मा का निराकरण किया गया है। अथवा **'असंभूति'**–अक्षर, अव्याकृत, कारणब्रह्मरूप अव्यक्त के उपासकों की निन्दा और उसकी अपेक्षा भी **'संभूति'**–व्यक्तोपासक की अधिक निन्दा दोनों की समुच्चित–उपासना के अभिप्राय से की गयी है।

'अन्यदेवाहुः संभवात्' इस **दशम (का० १३) मन्त्र में** इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि **'संभव'**–कार्यब्रह्म की उपासना का फल अणिमादि–ऐश्वर्योपलब्धिरूप अन्य ही है और **'असंभव'**–कारण-ब्रह्मरूप अव्याकृत की उपासना से प्राप्त होनेवाला प्रकृतिलयरूप फल अन्य ही है।

'सम्भूतिञ्च विनाशञ्च' इस **ग्यारहवें (का० १४) मन्त्र** के भाष्य में इस सिद्धान्त का निरूपण किया गया है कि सम्पूर्ण जगत् के **'संभव'** (अभिव्यक्ति) का जो परमकारण है, वह परब्रह्म है। वही विविध शरीरों में शरीरी (क्षेत्रज्ञ, क्षेत्री) रूप से विद्यमान है। विनाशशील शरीर **'विनाश'** है। योगी (आरुरुक्षु–योगारुढ होने की इच्छावाला) दोनों तादात्म्यापन्न को विभागपूर्वक जानता है, अर्थात् देहभिन्न होने पर भी कर्मवशात् स्वयं को देह में अवस्थित जानता है। जो योगी ज्ञानोत्पत्ति की भावना से कर्मासक्ति, फलासक्ति और अहङ्कृति को तनु (शिथिल) कर धृत्युत्साहपूर्वक भगवदर्थ कर्मों (निष्कामकर्मों) को करता है, वह शुद्धिसम्पादन के योग से **'विनाश'**

से—विनाशी शरीर से अन्तःकरण की अशुद्धिरूप मृत्यु को तर जाता है और '**सम्भूति**' अर्थात् आत्मज्ञान से अमृत (मुक्ति) लाभ करता है। अथवा छान्दसवर्णलोप के योग से '**संभूति**'–'**असंभूति**' मान्य है। जिसका अर्थ है अव्याकृत (कारणब्रह्म) की उपासना। '**विनाश**' का अर्थ है, विनाशधर्मयुक्त कार्यब्रह्मोपासना। जो दोनों की सहोपासना करता है, वह कार्यब्रह्म (हिरण्यगर्भ) की उपासना से उपलब्ध ऐश्वर्य और धर्मादि के अमोघ प्रभाव से अनैश्वर्य–अधर्मादिरूप मृत्यु को पारकर कारणोपासना से प्रकृतिलयरूप अमृतफल को प्राप्त करता है।

'**अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते**' इस **बारहवें** (काण्व० ९) **मन्त्र** के भाष्य में इस तथ्य का प्रकाश किया गया है कि '**कर्म**' वेद विहित होने से 'विद्या-सदृश' कहा जाता है। विद्या भिन्न-अन्य 'अविद्या' यहाँ 'कर्म' है। ब्राह्मण-अन्य क्षत्रियादि को अब्राह्मण कहने की प्रथा इस प्रसङ्ग में हृदयङ्गम करने योग्य है। 'विद्या' यहाँ देवोपासना है। वे अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं, जो अविद्या पदवाच्य कर्म की उपासना करते हैं। वे उनसे भी अधिक अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं, जो विद्या अर्थात् हिरण्यगर्भोपासना में निरत हैं।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि '**न हि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात्**', '**फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्**'='शास्त्र-विहित कुछ भी अकर्तव्य नहीं होता', 'फलसहित की सन्निधि में पठित —सन्निहित फलरहित उसका (फलयुक्त का) अङ्ग होता है।'; क्योंकि विद्या (देवोपासना) और अविद्या (कर्मानुष्ठान) दोनों शास्त्रसिद्ध हैं; अतः ये अकर्तव्य नहीं हो सकते, साथ ही विद्या और अविद्या के देव और पितृ-लोक की प्राप्तिरूप अवान्तर फलभेद दोनों के समुच्चय (सहानुष्ठान) में हेतु है, न कि अङ्गाङ्गिभाव की सिद्धि में। समुच्चय-प्रशंसा के अभिप्राय से दोनों की निन्दा की गयी है। महानुभावों ने कहा भी है—'**न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु विधेयं स्तोतुम्**'='निन्दा निन्दनीय की निन्दा के लिये प्रवृत्त न होकर, विहित (विधित्सित, विधेय) की स्तुति के लिये होती है।'

ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा ये दो वेदोक्तमार्ग हैं। '**ईशा वास्यं**' और '**कुर्वन्नेवेहकर्माणि**' (ईशा० १,२) इन दो मन्त्रों में क्रमशः दोनों मार्गों के अधिकारियों का निरूपण किया गया है। सर्वैषणा (सम्पूर्ण-

कामना)—विमुक्तज्ञाननिष्ठों में कर्मसंन्यास की सहज प्रतिष्ठा होती है। **कर्मासक्ति-फलासक्ति-अहंकृति–नानात्वबुद्धि और अभिनिवेशशून्य तत्त्वज्ञों में कदाचित् कर्म प्रतिष्ठित भी हो तो भी मोक्ष के प्रति अन्यथासिद्ध उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार अग्नि में अवस्थित पिङ्गलता दाह के प्रति।** ऐसे तत्त्वज्ञ वसिष्ठ, व्यासादि के कर्म **'लीलाकर्म'** या 'कर्माभास' ही मान्य हैं। **'नैव किञ्चित्करोमीति'** (भगवद्गीता ५.८,६) उनका यह निश्चय कि 'मैं कुछ नहीं करता' उनमें अन्यारोपित कर्म को अकर्म बनाये रखता है। 'करते हुए भी न करने की उनकी मान्यता' विक्षिप्त और अज्ञों-जैसी नहीं मानी जा सकती; क्योंकि **'युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता० ५.८) वे **'युक्त'** हैं, असमाहित या विक्षिप्त नहीं; **'तत्त्ववित्'** हैं, बालवत् अज्ञ नहीं।

जो ज्ञाननिष्ठा के अधिकार से अभी विभूषित नहीं, न उसके करीब (निकट) ही हैं; बल्कि जीवन और जीवनोपयोगी वस्तुओं में रागान्वित हैं, वे योग्यता विरहवशात् शुद्ध ब्रह्मात्मतत्त्व के एकत्वबोध के अभी अनुपयुक्त हैं। शास्त्रोक्त विधि-निषेधानुसार अनुष्ठित कर्म कालान्तर फलप्रद हैं। ज्ञान तत्काल फलप्रद है। अज्ञानावरणवारण-पूर्वक निरावरण ब्रह्मात्मभाव के अभिव्यञ्जनरूप फल को प्रदान करने के लिये ज्ञानको कर्मादि के योग की अपेक्षा नहीं। ऐसी स्थिति में मन्त्र में प्रयुक्त 'अविद्या' स्वर्गादि अभीष्टफलप्रद कर्म का और **'विद्या'** देवतोपासना का वाचक है। दोनों का विवक्षित योग ऐसा अर्थ स्वीकार करने पर ही संभव है। कर्म और विद्या का क्रमश: पितृलोक और देवलोकरूप पृथक् फल श्रुत होने पर भी कर्म की अपेक्षा न कर केवल देवताराधन, कर्माधिकारी द्वारा अविचलभाव से सध पाना कठिन है। साथ ही देवतोपासना से विमुख रहकर केवल कर्मानुष्ठान से अन्तर्यामी और अधिदैवमण्डल के प्रति महत्त्वबुद्धि की न्यूनता के कारण अभीष्टवस्तु की उपलब्धि में प्रतिबन्ध की द्रुतनिवृत्ति और निष्कामभाव से कर्मानुष्ठानपूर्वक मोक्ष के प्रति अभिरुचि तथा मनोवृत्ति असम्भव है। इसीलिये यहाँ केवल कर्म और केवल ज्ञानकी निन्दा दोनों के समुच्चय की भावना से प्रयुक्त है।

'अन्य देवाहुर्विद्याया' इस **तेरहवें** (का० १०) **मन्त्र** में सत्परम्पराप्राप्त फलभेद का वर्णन किया गया है।

'विद्याञ्चाविद्याञ्च' इस **चौदहवें** (का० ११) **मन्त्र** के भाष्य में इस रहस्य का विवेचन किया गया है कि अविद्या शब्द से अग्निहोत्रादिकर्म कहे गये हैं। उनके अनुष्ठान से स्वाभाविक काम-कर्म और ज्ञान जो 'मृत्यु' शब्द के वाच्य हैं, उनको पार करके देवताज्ञान (उपासना) से देवभावरूप अमृत को प्राप्त हो जाता है। यह **'सम-समुच्चय'** की दृष्टि से अर्थ है। जब विद्या का अर्थ ब्रह्मात्मज्ञान मान्य हो तब **'सम-समुच्चय'** की दृष्टि से पहले कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण की शुद्धि और फिर ब्रह्मात्मज्ञान से मोक्षोपलब्धि फल मान्य है।

'क्रम-समुच्चय' की दृष्टि से अविद्या का अर्थ 'कर्म' और विद्या का अर्थ 'आत्मज्ञान' मान्य है। कर्मयोग अन्तःकरण को संस्कृतकर आत्मा के अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व के बोध की सहिष्णुता अभिव्यक्त करता है। जिससे स्वाभाविक काम (विषयेच्छा), कर्म (कर्तृत्वपूर्वक प्रवृत्ति) और ज्ञान–(साध्य-साधनानुसन्धानपूर्वक द्वैतस्फुरण) रूप मृत्यु का अतिक्रमण हो जाता है और ब्रह्मात्मज्ञान के अमोघ प्रभाव से कर्तृत्व भोक्तृत्वादि शून्य आत्मा ('त्वं' पद लक्ष्यार्थरूप शोधित अहमर्थ) की ब्रह्मरूपता के बोध से अमृत (ब्रह्मात्मरूप से अवस्थितिरूपा मुक्ति) की उपलब्धि होती है। साध्य-साधन की कामना मृत्यु है। इस मृत्यु से पार हुए व्यक्ति ब्रह्मविद्या का अधिकारी है। पहले नित्यकर्मरूप अविद्या का आलम्बन लेने से व्यक्ति का अन्तःकरण शुद्ध होता है। कामचार, कामवाद, कामभक्षण आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति ही अशुद्धि है। भगवदर्थ निष्कामभाव से स्वकर्मानुष्ठान से अन्तःकरण संस्कृत होता है, फिर ब्रह्मविद्या की उपलब्धि से जीव का परमकल्याण होता है। यह क्रम-समुच्चय है। ज्ञानोत्तर कर्म अकर्म हो जाता है, अतः कर्मोत्तर ज्ञान का अधिकार प्राप्त है।

'सम-समुच्चय' की दृष्टि से विद्या (ज्ञान) का अर्थ देवतोपासना है और कर्म का अर्थ स्व-अधिकारानुसार प्राप्त अग्निहोत्रादिकर्म है। दोनों के सहानुष्ठान से अविद्यारूप कर्म द्वारा स्वाभाविक कर्म-ज्ञानरूप मृत्यु की निवृत्ति और विद्यारूप देवलोक से ब्रह्मलोकपर्यन्त दिव्यलोकों की प्राप्ति होती है। लोकलय से भूतलय तक दिव्यलोकों की प्राप्ति आपेक्षिक अमृतत्व है।

इस प्रकार उपनिषत् शब्द में प्रयुक्त सद्‌धातु का विशरण (हिंसन, निवारण) और गतिरूप अर्थद्वय उक्त क्रम-समुच्चय में अविद्या

की निवृत्ति और उससे उपलक्षित तत्त्वोपलब्धि के कारण चरितार्थ होता है। सम-समुच्चय में पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिरूप क्लेश का अवसादन-अर्थ चरितार्थ हो जाता है।

इस सम्बन्ध में यह हृदयङ्गम करना आवश्यक है कि कर्मकाण्ड परक श्रुतियाँ मुक्त स्वर से आत्मा को कर्ता-भोक्ता मानती हैं। देह को अनित्य और आत्मा को नित्य मानकर ही ऐसा मानना सम्भव है। देहातिरिक्त नित्य आत्मा को न मानने पर अकृताभ्यागम और कृत विप्रणाशरूप दोषद्वय अनिवार्य है। इसके वारण के लिये आत्मा को नित्य मानना ही चाहिये। कर्ता-भोक्ता जीव का अनुवादकर उसकी अद्वितीय परब्रह्मरूपता के प्रतिपादन में सभी उपनिषदें चरितार्थ होती हैं। फिर भी पूर्वमीमांसा की रीति से **'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'** (बृ० उ० २.४.५) आत्मा की परं प्रेमास्पदता अनुभवसिद्ध है। श्रुति इस संसारी आत्मा का अनुवाद करती है, **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'** (बृ० उ० २.४.५)यह श्रुति उसी को द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और ध्यातव्य बताती है। **'य आत्माऽपहत पाप्मा'** (छा० ८.७.१) इन वाक्यों के द्वारा यद्यपि ऐसा ध्वनित होता है कि आत्मा अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी है; पर वस्तुस्थिति यह है कि कर्ता-भोक्ता संसारी आत्मा की स्तुति ही इन वाक्यों से की गयी है, उसमें उपनिषदों का तात्पर्य कदापि नहीं, अतः आत्मज्ञान कर्तृसंस्कार के द्वारा क्रतु का ही अङ्ग है, स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं। औपनिषद् आत्मज्ञानरूप संस्कार से संस्कृत कर्ता पारलौकिक कर्मोपभोग के योग्य होकर वैसे ही क्रतु का अङ्ग हो जाता है, जैसे प्रोक्षणरूप संस्कार से संस्कृत व्रीहि। परमाचार्य ने कहा भी है—**'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः'** (जै० सू० ४.३.१)="पर्ण आदि द्रव्य, अञ्जनादिरूप संस्कार और प्रयाजादिरूप अङ्ग—कर्म—ये सभी परार्थ (याग के अंग) हैं, स्वतन्त्र फलाकाङ्क्षा से रहित हैं, अतः इनके फलों का निर्देश करनेवाले **'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति'** (तै० सं० ३.५.७.२), **'यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते'** (तै० सं० ६.१.१.५), **'वर्म वैतद् यज्ञस्य क्रियते यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते'** (तै० सं० २.६.१.५) वाक्य अर्थवादमात्र हैं।"

केवल उक्त वाक्य-प्रमाण के द्वारा ही नहीं, अपि तु **'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा-तदेव वीर्यवत्तरं भवति'** (छा० १.१.१०)

इस तृतीया श्रुति से भी आत्मज्ञान में क्रत्वङ्गत्व सिद्ध है। **'यत्', 'तत्'** रूप सर्वनाम और **'एव'** रूप अवधारण के द्वारा यह श्रुति उद्गीथ विद्या के अतिरिक्त अन्यत्र भी **'यदेव कर्म विद्यया सहितं करोति, तदेव कर्म वीर्यवत्तरं भवति'** ऐसी सामान्य व्याप्ति द्वारा **'य एव धूमवान् देशः, स एव वह्निमान् भवति'** इस न्याय से चरितार्थ है। **'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते'** (बृ० उ० ४.४.२), **'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्'** (मुण्डक ३.१.४) आदि वचन भी ज्ञान और कर्म के **'सम-समुच्चय'** के प्रतिपादक हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अङ्ग और अङ्गीरूप से ये चरितार्थ हो लेंगे; क्योंकि **दर्श-पूर्णमासगत आग्नेयद्वय, उपांशु, अग्नीषोमीय और ऐन्द्रद्वय-रूप छः** कर्मों के समान ये **'सम-प्रधान'** भी हो सकते हैं। औपनिषद आत्मज्ञान इसलिये भी कर्माङ्ग हो सकता है, क्योंकि वेदार्थ ज्ञानवाले पुरुष के प्रति ही कर्म का विधान है और औपनिषद आत्मा भी वेदार्थ है। फिर **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** (वा० सं० ४०.२) इस प्रकार कर्मानुष्ठान के नियम से भी आत्मज्ञान में कर्माङ्गत्व प्रतिष्ठित होता है।

उक्त कथन आपात रमणीय होने पर भी **सिद्धान्तसहिष्णु** नहीं है। शब्द प्रमाणका यह स्वभाव है कि अनधिगतार्थ का वह प्रतिपादन (विधान) करता है; अतः उपनिषत्प्रमाण से प्रतिपादित नित्य शुद्ध, असङ्गस्वरूप आत्मा का ज्ञान कर्मानुष्ठान का विरोधी होने के कारण कर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखता, फिर वह अव्यभिचरित क्रतु सम्बन्धी होकर क्रतु का अङ्ग क्यों होगा? **'योऽयं सर्पः सा रज्जुः'** की उक्ति जिस प्रकार रज्जु से सर्पभ्रमवारण के लिये है, उसी प्रकार **'य आत्माऽपहतपाप्मा'** (छा० ८.७.१) आदि उक्ति **'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'** (बृ० उ० ४.५.६)आदि वचनों से निरूपित आत्मा के संसारित्व के वारण के लिये हैं, अनधिगत ब्रह्मत्व की ही प्रतिपादिका हैं। याज्ञवल्क्यादि के संन्यास का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ आत्मविद्या को कर्माङ्ग नहीं सिद्ध करतीं। **'सत्येन'** आदि श्रुतियाँ अपक्व विद्या की स्थिति में ही कर्म की स्वीकृति देती हैं। **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** आदि कर्माधिकारपरक वचन **'क्रम-समुच्चय'** विधा को या सकामी के लिये आत्मज्ञान के अनधिकार को द्योतित करते हैं। **'यदेव विद्यया करोति'** (छा० १.१.१०) यह व्याप्ति प्रदर्शन भी केवल प्रक्रान्त उद्गीथ विद्या को उसी प्रकार सिद्ध करता है, जिस प्रकार

'सर्वे ब्राह्मणा भोज्यताम्' यह वचन केवल निमन्त्रित ब्राह्मणको ही विषय करता है। जनकादि तत्त्वज्ञों के जीवन में कर्मयोग कृतार्थता का हेतु न होकर अग्नि में पिङ्गलता की विद्यमानता दाह के प्रति अन्यथासिद्धतुल्य है। **'तं विद्याकर्मणी'** (बृ० ४.४.२) यह उत्क्रमण-श्रुति उत्क्रमण का प्रतिपादक होने के कारण ही 'विद्या' को निरङ्कुश-बोधरूप ब्रह्मविद्या नहीं सिद्ध होने देती।

'वायुरनिलममृतमथेदं' इस पन्द्रहवें (का० १७) मन्त्र के भाष्य में इस तथ्य को द्योतित किया गया है कि उपासना के योग से ही उपास्यस्मृति लब्धयोगी · प्रार्थना करता है। देवतोपासना और कर्मानुष्ठान से संस्कृत वायु अर्थात् प्राणवायु से उपलक्षित कर्तृ-करणात्मक सूक्ष्मशरीररूप अध्यात्म अब सूत्र और हिरण्यगर्भरूप अधिदैव-सायुज्य को प्राप्त हो! प्राणविरहित स्थूल शरीर अन्त्येष्टि संस्कार से सम्पन्न होकर भस्मरूपता को प्राप्त हो! 'ॐ' यह ब्रह्म-नाम है। योगिवृन्द ब्रह्मबुद्धि से इसकी भावना करते हैं। हे ओम्! हे संकल्पात्मक देव! हमने ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में आप ब्रह्मात्मक अग्नि की उपासना की है। आदरपूर्वक आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमारी उपासना का स्मरण कर अपना सायुज्य प्रदान करें—हिरण्यगर्भ और वैश्वानररूप कार्यब्रह्म की प्राप्ति का बानक बना दें!

'अग्ने नय सुपथा राये' इस **सोलहवें** (काण्व० १८) मन्त्र की व्याख्या का अभिप्राय यह है—'हे अग्ने! आप सम्पूर्ण कार्यात्मक जगत् को व्याप्त करनेवाले दिव्यदर्शी अभयप्रद हिरण्यगर्भस्वरूप देव हैं। देवयान मार्ग सुपथ है। हम मुक्तिरूप धन के इच्छुक हैं। हमें सुपथ से ले जाकर समुच्चयानुष्ठान से प्राप्य अभीष्ट मुक्तिरूप फल को आप प्राप्त करा दें! दक्षिण पितृयानमार्ग से हम उपराम हो चुके हैं। हमें नहीं चाहिये पुनर्जन्म पर्यवसायी वह धूममार्ग। आप सम्पूर्ण ज्ञान (उपासना) और कर्मों को जाननेवाले हैं। कल्याणमार्ग के प्रतिबन्धक दुरितों को दूर कर दें! जिसके फलस्वरूप हम अभीष्ट लोक को प्राप्त कर सकें। हम इस समय आपकी किसी अन्य रीति से सेवा नहीं कर सकते, केवल बार-बार नमस्कार ही निवेदित करते हैं।

'हिरण्मयेन पात्रेण' इस अन्तिम (माध्यन्दिनीय)–**सत्रहवें** (का० १५) मन्त्र की व्याख्या में सर्वभूतहृदय स्वामिपादने यह रहस्य प्रकाशित किया है कि ज्योतिर्मयमण्डलरूप पात्रसे आदित्यान्तर्गत

अविनाशी पुरुषरूप सत्य का मुख—शरीर—स्वरूप आच्छादित है। वह प्राण और प्रज्ञाशक्ति से जगत् को व्याप्त कर शरीर में प्रतिष्ठित रहनेवाला और पुरुषाकार होने से 'पुरुष' कहा जाता है। अन्त में पूर्ववत् ध्यान करे कि 'ऐसा पुरुष मैं हूँ'। आकाशवत्—व्यापक ब्रह्म 'ॐ' है।

३. परिशिष्टप्रणयन —

"पयोव्रतं ब्राह्मणस्य यवागू राजन्यस्यामिक्षा वैश्यस्य", **"ब्राह्मणो यजेत"**, **"अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत, एकादशवर्षं राजन्यं द्वादशवर्षं वैश्यम्'**, **'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत'** (तै०ब्रा० १.१.२.६) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार जन्मनियन्त्रित वर्ण और वर्णनियन्त्रित आश्रम की शास्त्रीय प्रथा है। तदनुसार ही **'ईशा वास्यं'** इस प्रथम मन्त्र के **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः'** इस अंश की व्याख्या के सन्दर्भ में श्रीस्वामिपाद ने ब्राह्मण का ही सलिङ्ग संन्यास में अधिकार सिद्ध किया है। इस अंश को परिशिष्ट के प्रारम्भ में ग्रथित किया गया है। श्रीवार्तिककार सुरेश्वर के मत को त्रैवर्णिक सलिङ्ग-संन्यासपरक जो महानुभाव मानते हैं, उनके मत में छह दोषों की प्राप्ति होती है, जिनका दिग्दर्शन टिप्पणी ११८, पृ० १६३, १६४ में कराया गया है।

'परिशिष्ट' के अन्त में श्रीपूज्यचरणों द्वारा विरचित **'शाङ्कर सिद्धान्त पर किये गये आक्षेपों का समाधान'** नामक ग्रन्थ (श्रीसंवत् १६६४ वि०) से **'विद्याऽविद्यादि तत्त्वमीमांसा'** द्वितीय निबन्ध भी गुम्फित किया गया (द्रष्टव्य पृ० २२२–२३४), जोकि सहृदय और सत्यसहिष्णु प्रामाणिक विचारकों के लिये परमोपयोगी है।

'परिशिष्ट' के मध्यमें (१) 'पूषन्नेकर्षे यम !' इस काण्वशाखीय अतिरिक्त सोलहवें मन्त्र का भाष्य श्रीभगवत्पाद शङ्कर, श्रीसायण और श्रीशङ्करानन्द के अनुसार चित्रित किया गया है (पृ० २०१-२०३)। **'मुक्तिकोपनिषत्'**के अनुसार**'ऋग्वेदादि विभाग से शांतिपाठ'**को यथाक्रम सङ्कलित किया गया है (पृ० २०४)। **'ईशा वास्योपनिषत्'** से सम्बन्धित शांतिमंत्र**'पूर्णमदः'** का भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य के अनुसार (बृ० उ० ५.१.१) भाष्य भी सानुवाद सङ्कलित किया गया है (पृ० २०५-२१६)।

काण्वशाखीय सस्वर पाठ भी यथाक्रम दिया गया है (पृ० २१६-२२१)।

उद्धृत वचनों के अर्थ और स्थल तथा १२३ मार्मिक टिप्पणियों से समलङ्कृत सानुवाद यह **'वेदार्थ पारिजात'** नामक **उपनिषद्भाष्य** जिज्ञासुओं, भगवद्भक्तों विरक्तों, धर्मशीलों, सन्तों, सद्गृहस्थों और तत्त्वदर्शियों तथा विद्वानों के लिये अनुशीलन करने योग्य है।

इस भाष्य में **ईशादि** मन्त्रों पर श्रीस्वामी दयानन्दजी के अर्थों का अद्भुत दक्षता और प्रामाणिकता से निराकरण किया गया है। बारहवें, तेरहवें और चौदहवें मन्त्रों पर स्वामी श्रीदयानन्द जी के अर्थों को १४ वें मन्त्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में पृष्ठ ११३ और ११४ पर एक साथ उद्धृत कर उनकी निःसरता सिद्ध की गयी है।

४. अभिनन्दन —

पूज्य चरणों के हस्तलेख को समझने, समझकर उतारने, भाष्यगत भावों को हृदयङ्गम कर अनुवाद करने और स्थल-स्थल पर परमोपयोगी टिप्पणी गुम्फित करने, स्थलनिर्देश देने और पुनरीक्षणादि में अधिकृत महानुभावों ने पूर्ण सतर्कता का परिचय दिया है। फिर भी ज्ञात-अज्ञात में जो भी त्रुटि रह गयी है, उसका आरोप ग्रन्थकार-स्वामिपाद पर न करें, यह सहृदय विज्ञ पाठकों से अनुरोध है। श्रीहरि-गुरु-करुणा के अमोघ प्रभाव से ही इस प्रकार का दायित्वपूर्ण और दुरूहकार्य सम्पन्न हो सका है।

पूज्यचरण अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु **शङ्कराचार्य स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थ जी** महाराज (पुरी) ने अद्भुत आह्लाद के साथ अनुरोध के अनन्तर ही श्लोकबद्ध **'भूमिका'** रच कर हमें प्रोत्साहित और प्रमुदित किया है। पूज्यवर विरक्तशिरोमणि विद्वद्वर्य परमहंस **स्वामी श्रीवामदेवजी** महाराज ने **'भाष्यानुवाद'** सम्पन्न कर हमें आह्लादित किया है। श्रद्धेय **स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वती जी** महाराज ने 'परिशिष्ट' के अन्तिम चरण की 'प्रेस कापी' सुघटित कर और 'प्रूफ-रीडिंग' में सोत्साह सहयोग समर्पित कर हमें स्निग्ध किया है। श्री **पं० सच्चिदानन्द द्विवेदी जी** ने मूल भाष्य की 'प्रेस कापी'

प्रस्तुत कर हमें प्रसन्न किया है। **श्री डा० शशिधर शर्मा** सप्ताचार्य (चण्डीगढ़) ने 'भूमिका' का हिन्दी अनुवाद और 'श्रीकरपात्राष्टकम्' रचकर हमें प्रफुल्लित किया है। **श्री डा० नरेन्द्र शर्मा** (मुजफ्फर नगर) ने 'भूमिका' और 'श्रीकरपात्राष्टकम्' का 'आंग्ल-अनुवाद' प्रस्तुत कर हमें आह्लादित किया है। **श्रीगिरिराज जी** ने जिस धृत्युत्साह के साथ सुन्दर और यथा संभव शुद्ध मुद्रण प्रस्तुत किया है, वह सराहनीय है। **श्रीहनुमान्प्रसाद धानुका जी** इसी भगवत्प्रदत्त श्रद्धा और उदारता के साथ स्वामिपाद के साहित्य सदा प्रकाशित करते रहें, यह भावना है।

आनन्द वेदविद्याकेन्द्र वृन्दावन
होली, २०४३

निश्चलानन्द सरस्वती

श्रीहरिः

प्रकाशकीय

अनन्त श्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय स्वामी श्री करपात्री जी महाराज द्वारा लिखित यजुर्वेद संहिता के प्रथम अध्याय का भाष्य विजयदशमी को प्रकाशित हुआ था। उसके बाद अब चालीसवें अध्याय का भाष्य प्रकाशित हो रहा है। यह अन्तिम अध्याय वेदान्त होने से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह **'ईशा वास्योपनिषत्'** से प्रसिद्ध है। इसकी प्रसिद्धि के कारण ही इसे पहले प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रथम अध्याय जिन-जिन सन्तों-विद्वानों तथा देश के उच्च शिक्षाविदों अधिकारियों के करकमलों में पहुँचा है, उनको अपार हर्ष हुआ है। इससे अत्यन्त प्रभावित होकर पूज्य श्रीस्वामी जी महाराज के अवशिष्ट भाष्य को शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा प्राप्त होती रहती है। यह इतना महत्त्वपूर्ण कार्य है जो होना आवश्यक है, परन्तु साथ में यह इतना बड़ा काम है कि भगवान् और पूज्य श्रीस्वामी जी महाराज की कृपा से ही सम्भव है।

ईशावास्योपनिषत् भाष्य का हिन्दी अनुवाद विरक्त शिरोमणि विद्वद्वर्य पूज्य श्रीस्वामी वामदेवजी महाराज की अहैतुकी कृपा से सम्पन्न हुआ है। पूज्य श्रीस्वामी निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज ने सभी तरह से बहुत तत्पर रहकर इस प्रकाशन कार्य को पूर्ण किया है।

इस भाष्य की भूमिका लेखक के रूप में, हिन्दी अनुवाद के रूप में, समय-समय पर उचित परामर्श दाता के रूप में, प्रूफ पुनरीक्षण कर्ता के रूप में, प्रेस कापी तैयार करने वाले के रूप में. अनुच्छेद साधक (पैरा ग्राफ निर्धारक) के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जाओं को तैयारकर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख

प्रस्तुत करनेवाले के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, वे सभी हमारे परम सम्माननीय पूज्य आचार्य विद्वन्मूर्धन्य आत्मीय हैं।

इन सभी के चरणों में धन्यवाद और अभिनन्दन के स्वरूप नत मस्तक होकर हम सदा ही कृपा की आशा रखते हैं। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं वे हैं—

(१) अनन्त श्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य गोवर्धन पीठाधीश्वर श्रीस्वामी निरञ्जनदेवतीर्थ जी महाराज (पुरी)

(२) विरक्त शिरोमणि पूज्य परमहंस श्रीस्वामी वामदेव जी महाराज (वृन्दावन)

(३) श्रीस्वामी निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज (वृन्दाबन)

(४) श्री पं. राजवंशी द्विवेदी जी महाराज (वृन्दावन)

(५) श्री पं० मार्कण्डेय जी ब्रह्मचारी (वाराणसी)

(६) श्री पं० सच्चिदानन्द द्विवेदी जी (वृन्दावन)

(७) श्री डा० गिरीश शर्मा जी (वाराणसी)

श्री हरिनाम प्रेस के सुयोग्य विद्वान् प्रबन्धक तथा सहृदय कर्मचारियों के स्नेहपूर्ण सौजन्य भरे मुद्रणादि कार्य के सहयोग सम्पादन को स्मरण कर इन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद देते हैं।

निवेदक —

हनुमानप्रसाद धानुका

अध्यक्ष

श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान।

श्रीहरिः

वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्ल यजुर्वेदसंहिता चत्वारिंशोऽध्यायः

ईशा वास्योपनिषत्

विषयानुक्रमणिका

❀ भूमिका............पूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्त श्रीविभूषित श्रीस्वामी निरञ्जनदेव तीर्थ जी (पुरी)

❀ श्रीकरपात्राष्टकम्....महामहोपाध्याय डा० श्रीशशिधर शर्मा र्ज (चण्डीगढ़)

❀ दिग्दर्शन.........स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वती जी

❀ प्रकाशकीय........श्रीहनुमान् प्रसाद धानुका जी

मन्त्र सं० मन्त्र प्रतीकानि	विषयाः	पृष्ठ सं०
१. ईशा वास्यमिदं सर्वं	आत्मज्ञाननिष्ठतया आत्मरक्षणोपदेशः	१-२१
२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि	असंस्कृत चित्तं कर्मठं प्रति उपदेशः	२१-३३
३. असुर्या नाम ते लोकाः	कर्ममार्ग एव श्रेयः साधनमिति विपर्यासमतीनां निन्दा	३३-३६
४. अनेजदेकं मनसो जवीयः	आत्मतत्त्वं, यस्य हननादविदुषां	३७-४६
५. तदेजति तन्नेजति	बन्धनं विदुषाञ्च मुक्तिः	४६-५०
६. यस्तु सर्वाणि भूतान्या०	आत्मतत्त्वे रतिः कथं जायते ?	५०-५३
७. यस्मिन्सर्वाणि भूतान्या०	,, ,,	५४-५६
८. स पर्यगाच्छुक्रमकाय०	आत्मा स्वेन रूपेण किं लक्षणम् ?	५७-६७
९. अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसं०	व्याकृताव्याकृतोपासनयोः पृथगुपादाने निन्दा समुच्चिचीषया	६७-७२

१०. अन्यदेवाहुः संभवाद०	अनयोः उपासनयोः पृथगनुष्ठाने फलभेदः	७३-७४
११. सम्भूतिञ्च विनाशञ्च	अनयोः समुच्चयानुष्ठाने फलातिशयः	७४-८१
१२. अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्या०	ज्ञानकर्मणोः पृथगनुष्ठानस्य निन्दा समुच्चिचीषया	८२-९१
१३. अन्यदेवाहुर्विद्यायाः	विद्याऽविद्ययोः पृथक् फल-प्रसक्तिप्रदर्शनम्	९२-९३
१४. विद्याञ्चाविद्याञ्च	तयोः विद्याऽविद्ययोः समुच्चयानुष्ठानम्	९३-११९
१५. वायुरनिलममृतमथेदं	उपासकस्य स्वमरणावस्था-प्रार्थनम्	११९-१२२
१६. अग्ने नय सुपथा राये	उपासकस्य पुनः मार्ग-प्रार्थनम्	१२२-१२४
१७. हिरण्मयेन पात्रेण	विद्याविद्यादिदेवताज्ञानकर्मणोः समुच्चयानुष्ठाने अमृतमार्ग प्राप्तिः	१२५-१२८

परिशिष्टानि

❀ संन्यासाश्रमः	१२९-२०१
❀ पूषन्नेकर्षे यम ! (काण्व १६) उपास्य तेजः पुञ्जेन प्रतिहता अस्मदीया दृष्टिः, अतः तत्तेजसः अपनयने प्रार्थना	२०१-२०३
❀ ऋग्वेदादि विभागेन शान्तिपाठः	२०४
❀ पूर्णमदः पूर्णमिदं	२०५-२१६
❀ काण्वशाखानुसारमुपनिषन्मत्राणां पाठः	२१६-२२१
❀ विद्याऽविद्यादितत्त्वमीमांसा	२२२-२३४

★

ॐ

श्रीहरि:

वाजसनेय - माध्यन्दिन
शुक्ल-यजुर्वेद - संहिता
वेदार्थपारिजाताख्यभाष्य–विभूषिता
चत्वारिंशोऽध्यायः

ईशावास्योपनिषत्
करपात्र–भाष्यम्

इत्थं दर्शपौर्णमासादि प्रवर्ग्यान्तेषु विविधेषु कर्मसु विनियुक्ताः 'इषे त्वा' इत्यादयो 'द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहे'त्यन्ता मन्त्राः कर्मकाण्ड-परत्वेन व्याख्याताः। यद्यपि तत्र तत्रानेके मन्त्रा ब्रह्मप्रतिपादका अपि सन्ति तथापि तत्तद्विनियोगवशात् तेषामन्यशेषत्वेन न ब्रह्मपरत्वम्, तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसीतिन्यायेन तेषामतत्प्रधानत्वेन द्वैतपराणां प्रत्यक्षानुमानागमानाम्बाधने सामर्थ्याभावात्। ईशा वास्य-मित्यादयस्तु मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः, श्रुतिलिङ्गादिविनियोजकप्रमा-

---

वाजसनेयसंहिता अध्याय 40

विनियोजक प्रमाणानुसार दर्शपूर्णमास से लेकर प्रवर्ग्यान्त अनेक-विधकर्मों में विनियोगवाले **"इषे त्वा"** इत्यादि तथा **"द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा"** पर्यन्त मन्त्र कर्मकाण्ड के बोधकरूप से भाष्य के द्वारा व्याख्यात कर दिये हैं। यद्यपि उन-उन कर्मों के प्रकरण में भी अनेक मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, तथापि उन-उन मन्त्रों के विनियोजक प्रमाण के बल से कर्म का अङ्ग होने से उन मन्त्रों को मुख्य (प्रधान)

णासत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा इषे त्वादयः । न च मन्त्रत्वादिषे त्वादिवत्तेषामपि कर्मशेषत्वमनुमातव्य[1]मिति वाच्यम्, तत्र विनियोजकप्रमाणसत्त्वस्योपाधित्वात् । इषे त्वादौ "इषे त्वेति शाखां छिनत्ति" **इति विनियोजकप्रमाणसत्त्वे साध्यव्यापकत्वम्, ईशा वास्यादौ[2] मन्त्रत्वे सत्यपि विनियोजक प्रमाणासत्त्वेनोपाधेः साधनाव्यापकत्वात् । ननु श्रौत**

रूप से ब्रह्मबोधकता नहीं । क्योंकि "तत्प्रधान प्रमाण, अतत्प्रधान प्रमाणों से बलवान होते हैं", इस न्याय के अनुसार कर्मप्रकरण में पठित ब्रह्मबोधकमन्त्रों को अतत्प्रधानता होने से द्वैतबोधक प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम के बाध करने में सामर्थ्य नहीं है । **"ईशा वास्यं"** इत्यादिक मन्त्र तो कर्म में विनियुक्त हैं नहीं, क्योंकि उनका कर्म में विनियोग करनेवाला कोई प्रमाण ही नहीं । जो कर्म में विनियोजक प्रमाण से शून्य नहीं, वह कर्म में अविनियुक्त भी नहीं, जैसे **"इषे त्वा"** इत्यादि मन्त्र । मन्त्रत्वरूप हेतु से 'इषे त्वा' इत्यादिक मन्त्रों के समान ईशावास्यादि मन्त्रों में भी कर्मशेषता अनुमान कर लेनी चाहिये, यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि उक्त अनुमान में 'विनियोजक प्रमाण की विद्यमानता' उपाधि है । इस अनुमान में साध्य कर्मशेषत्व है, **'इषे त्वा'** इत्यादिक मन्त्रों में **'इषे त्वा शाखां छिनत्ति'** इस विनियोजक प्रमाण की विद्यमानता होने से उक्त उपाधि में साध्य-व्यापकता है तथा ईशावास्यादि मन्त्रों में मन्त्रत्व विद्यमान होने पर भी विनियोजक प्रमाण की अविद्यमानता होने से साधनाव्यापकत्व भी है ।

---

१. ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मशेषा मन्त्रत्वाविशेषादिषे त्वादिमन्त्रवत् ।

२. इषे त्वेति शाखां छिनत्तीत्यादिवद्विनियोजकप्रमाणादर्शनात्प्रकरणान्तरत्वाच्चेत्यर्थः ।

विनियोगाभावेऽपि 'बर्हिर्देवसदनं[३]दामी' **त्यस्य (मै.सं.१.१.३)बर्हिर्लवन-प्रकाशनसामर्थ्यरूपेणलिङ्गेन बर्हिर्लवने विनियोगः तथा कर्मशेषात्म-प्रकाशनसामर्थ्येन कर्मस्वेषां विनियोग इति चेन्न,तेषामकर्मशेषस्यात्मनो-शुद्धबुद्धमुक्तैकत्वाकर्तृत्वादियाथात्म्यप्रतिपादकत्वेन तदसंभवात् । ननु एवं कर्मणः कर्तृभोक्तृसाकांक्षत्वेन तदपेक्षितात्मप्रतिपादनेन तेषामप्यस्तु कर्मशेषत्वमित्यपि न वाच्यम्, तेषां शुद्धत्वैकत्वापापविद्धत्वाशरीरत्वा-कर्तृत्वाभोक्तृत्वसर्वगतत्वादियाथात्म्यप्रतिपादकत्वेन कर्मविरुद्ध-त्वात् । यदि ह्याप्यः संस्कार्यः उत्पाद्यो विकार्यः कर्ताभोक्तोपासनोप-योगी प्रत्यग्भिन्नो देवतारूपोवात्मेह प्रतिपिपादयिषितः स्यात्तदाभवेदपि कर्मशेषता । न च तथेह, तस्मान्नकर्मशेषत्वमिति । न खलु नित्ये कूटस्थे नित्यप्राप्तेऽनाधेयातिशये स्वप्रकाशे चिदात्मनिकर्मकाण्डफलं चतुर्विधमुत्पत्तिविकारप्राप्तिसंस्कारलक्षणं सम्भवति ।**

शंका—'श्रौतविनियोग का अभाव होने पर भी जैसे बर्हिर्लवन प्रकाशन की सामर्थ्य रूप लिङ्ग से **'बर्हिर्देवसदनंदामि'** (मै. सं. १. १.३) इस मन्त्र का बर्हि (कुशा) छेदन में विनियोग है, उसी प्रकार कर्म का शेष (अङ्ग)—भूत आत्मा के स्वरूप के प्रकाशनसामर्थ्यरूप लिंगप्रमाण से ईशावास्यादि मन्त्रों का कर्म में विनियोग है,' यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि ईशावास्यादि मन्त्र कर्मों का अनङ्ग शुद्ध-आत्मा की शुद्धता-ज्ञानस्वरूपता-मुक्तता-एकता-अकर्तृत्वादि यथार्थ-स्वरूपता के प्रतिपादक हैं, अतः इनकी कर्मशेषता असंभव है । 'कर्म को कर्ता-भोक्ता आत्मा की अपेक्षा होने से कर्मसिद्धि के लिये अपेक्षित कर्ता-भोक्ता आत्मा का प्रतिपादन करने से ईशावास्यादिक मन्त्रों को भी कर्मशेषता हो', यह भी कहने योग्य नहीं; क्योंकि शुद्धता, एकता, पाप-पुण्यशून्यता, अशरीरता, अकर्तृता-अभोक्तृता, सर्वगततादिरूप आत्मा की यथार्थस्वरूपता का प्रतिपादन करने से ईशावास्यादि मन्त्रों का कर्म के साथ विरोध है। यदि प्राप्ति, संस्कार, उत्पत्ति तथा

---

३. बर्हिर्दर्भमुष्टिः । एकत्र संघीभूता मुष्टिपरिमिता अनेके दर्भा इति यावत् । दर्भाश्च कुशकाशादयो दशविधाः । न त्वन्ये तृणविशेषा उलपादयः । **सदनं** स्थानम् । **दामीत्यत्र** दाप लवन इति धातुः । **लवनं** छेदनम् । **पुरोडाशस्थानभूतं बर्हिश्छिनद्मीत्यर्थः ।**

ननु स्वाध्यायाध्ययन विधिगृहीतवेदराशेः कर्मपरत्वेनैव सार्थक्याज्ज्ञानकाण्डस्यैव बाधोयुक्तः, तदन्यथाऽनुपपत्त्या कर्तृभोक्तृनानात्मबोधनपरा एव इमे मन्त्रा इति चेन्न, अविद्याकृतमात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाशुद्धत्वपापविद्धत्वादीनि लोकसिद्धान्यैवादायकर्मणां विधानसंभवे नान्यथोपपत्तेः ज्ञानकाण्डविरुद्धकर्तृत्वादिप्रतिपादने कर्मकाण्डबोधक वाक्यानामपि तात्पर्याभावात्। अत एव न सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्परव्याघातेनोभयाप्रामाण्यप्रसंगः, ब्रह्मात्मसाक्षात्कारात्प्राक्कर्मकाण्डस्य लब्धावकाशत्वेनोभयोः सामञ्जस्यात्। ब्रह्मात्मसाक्षात्कारात् प्राक्यो हि दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना कर्मफलेनार्थी सन्नहं द्विजाति कर्ताभोक्ताकर्माधिकारवानित्यात्मानं मन्यते तस्यैव कर्माधिकारान् न हि अपेत ब्रह्मक्षत्रादिभेदस्य नभोवन्निष्क्रियस्य दुःखासंसर्गिणः परमानंदस्वभावस्य सुखं मे स्याद् दुःखं च माभूदित्यर्थित्वं संभवति।

विकार के योग्य कर्ता-भोक्ता अथवा उपासना में उपयोगी प्रत्यक् आत्मा से भिन्न देवतारूप आत्मा इन मन्त्रों में प्रतिपादन करने को इष्ट होता तो मन्त्रों को कर्मशेषता भी हो जाती; परन्तु ईशावास्यादि मन्त्रों में तो आप्य, संस्कार्यादिरूप आत्मा का प्रतिपादन है नहीं, अतः कर्मशेषता भी नहीं। नित्य कूटस्थ, नित्यप्राप्त, अनाधेयातिशय, स्वप्रकाश चिदात्मा में उत्पत्ति-विकार-प्राप्ति तथा संस्काररूप चार प्रकार का कर्मकाण्ड-का फल संभव नहीं है।

शंका—**'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** (श० ११.५.६.३) इस वेदाध्ययनविधि से गृहीतवेदसमुदाय का कर्म में तात्पर्य होने से ही उसकी सार्थकता होने से ज्ञानकाण्डका ही बाध उचित है, वेदसमुदायका कर्मबोधक रूप से सार्थक्य और प्रकार से असिद्ध होने से ईशावास्यादिक मन्त्र कर्ता-भोक्ता नाना आत्मा के बोधन में ही तात्पर्यवाले हैं यह सिद्ध होता है; यह शंका भी उचित नहीं, अविद्याकृत आत्मा के अनेकत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्व, अशुद्धत्व, पापयुक्तत्व आदि धर्म, 'अहं कर्ताभोक्ता पापी' इत्यादि लौकिक अनुभव से सिद्ध हैं,इनलोकसिद्ध धर्मों को लेकर कर्मों का विधान संभव हो जाने से ज्ञानकाण्ड से विरुद्ध आत्मा में कर्तृत्वादि के प्रतिपादन करने में कर्मकाण्डबोधक वेदवाक्यों

ननूपनिषदां जपोपयोगित्वादन्यस्य प्रमाणस्य तादृशात्मन्यसत्त्वान्नास्त्येव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तप्रत्यक्चैतन्याभिन्नाकर्त्रभोक्तृ ब्रह्मात्मतत्त्वमितिचेन्न, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' **इतिमीमांसाप्रसिद्धन्यायविरोधेनोपनिषदां तात्पर्यनिर्णायकोपक्रमादिषड्विधलिंगैर्ब्रह्मात्मैक्ये-तात्पर्यावधारणेन जपोपयोगित्वमात्रस्य वर्णयितुमशक्यत्वात् । तथाहि** 'ईशावास्यमि'**त्युपक्रम्य**'स पर्यगाच्छुक्रमकायमि'**त्युपसंहारात्,**'अनेजदेकं', 'तदेजति तन्नैजति','तदन्तरस्य सर्वस्ये'**त्यभ्यासदर्शनात्** 'नैनद्देवाआप्नुवन् पूर्वमर्षत्' **इत्यपूर्वता संकीर्तनात्,** 'को मोहः कः शोक एकत्वमनु पश्यतः' **इति फलवत्तासंकीर्तनात्,** 'कुर्वन्नेवेहकर्माणि' **इतिजिजीविषोर्भेददर्शिनः कर्मकरणानुवादेन** 'असुर्या नाम ते लोका' **इति निन्दयैकात्म्यदर्शनस्य संस्तुतत्वात्,**'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाती' तियुक्त्या **सर्वद्रष्टुरधिष्ठानभूतस्य परमात्मनः प्रतिपादनादस्या उपनिषदस्ता-**

का भी तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वेद के बोधन बिना ही कर्ता-भोक्ता आत्मा लोक से ही सिद्ध है। वेद के किसी भाग का भी कर्ता-भोक्ता आत्मा के प्रतिपादन में तात्पर्य न होने से 'सुन्दोपसुन्दन्याय' से परस्पर विरोध होने से दोनों काण्डों के अप्रामाण्य की भी आपत्ति नहीं है; क्योंकि ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के साक्षात्कार से पूर्व कर्मकाण्ड को अवकाश प्राप्त होने से दोनों ही काण्डों का सामञ्जस्य (अविरोध) है। ब्रह्मसाक्षात्कार से पूर्व जो पुरुष दृष्ट ब्रह्मवर्चसादि, अदृष्ट स्वर्गादि कर्मफल का इच्छुक हुआ 'मैं द्विजाति कर्ता-भोक्ता कर्म का अधिकार वाला हूँ,' ऐसा अपने को मानता है, उसी का कर्म में अधिकार होता है; अतः जिसका ब्राह्मणक्षत्रियादिक भेद समाप्त हो गया है, जो आकाश के समान निष्क्रिय परमानन्द स्वरूप है, उसको 'मुझे सुख हो, दुःख न हो' यह इच्छा ही संभव नहीं तो उसका कर्म में अधिकार कैसे ?

अन्य प्रमाण शुद्ध आत्मा में है नहीं, जप में उपयोगी होने से उपनिषदों को प्रमाण माना जा सकता नहीं, तब तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अकर्ता-अभोक्ता ब्रह्म आत्मतत्त्व ही नहीं, यदि ऐसा कहा जाय तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि 'जिसमें शब्द का तात्पर्य होता है वही शब्द का अर्थ होता है' इस मीमांसाप्रसिद्धन्याय से उक्त कथन का विरोध है। तात्पर्य के निर्णायक उपक्रमादिषड्लिगों

त्पर्येण प्रतिपादनं सिद्धमेव। एवमेवान्यासामप्युपनिषदामुपक्रपोपसंहारैकरूप्याभ्यासापूर्वताफलवत्तार्थवादयुक्त्युपपादनानि षट्तात्पर्यलिङ्गानि तत्र तत्र द्रष्टुं शक्यानि। तानिलिङ्गानि च

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये। इति प्रसिद्धानि।

प्रत्ययान्तर[4]संवादोऽपि बलवत्वे[5]कारणंभवति, सर्वासामुपनिषदां गीतानां मोक्षधर्माणाञ्चैवं विधे ब्रह्मणि समन्वयादप्युपनिषदां बलवत्वेन स्वविरुद्धप्रत्यक्षानुमानागमानां बाधकत्वमेवोपचरितत्वं तु दूरोत्सारितम् प्रमाणान्तरानुपलम्भेऽपि नोपनिषदर्थः प्रत्याख्यातुं शक्यः,

---

के द्वारा उपनिषदों का ब्रह्मात्मा की एकता में तात्पर्य निर्णय हो जाने पर जपमात्र में उपयोग कैसे वर्णन किया जा सकता है ?

षड्लिङ्ग दिखाते हैं, **'ईशावास्यं'** इस से उपक्रम, **'स पर्यगात्'** इस वाक्य से उपसंहार, **'अनेजदेकं'** इत्यादि से अभ्यास, **नैनद्देवा आप्नुवन्'** इससे अपूर्वता, **'को मोहः कः शोकः'** इससे फलवत्ता, **'असुर्या नाम'** इत्यादि से भेददर्शीकी निन्दा से एकात्म्यदर्शन की स्तुतिरूप अर्थवाद **'तस्मिन्नपो मातरिश्वा'** इस वाक्य से युक्ति प्रदर्शन कर देने से एक अद्वितीय सर्वाधिष्ठान सर्वद्रष्टा परमात्मा का ही इस उपनिषद् ने तात्पर्य से प्रतिपादन किया है, यह सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अन्य उपनिषदों के उपक्रम तथा उपसंहार की एकरूपता, अभ्यास, अपूर्वता, फलवत्ता, अर्थवाद तथा युक्ति का उपपादन रूप षट् तात्पर्य के निर्णायकलिङ्ग उन-उन स्थलों में देखे जा सकते हैं। वे लिङ्ग **'उपक्रमोपसंहारौ'** इस श्लोकवार्त्तिक में प्रसिद्ध हैं। प्रत्ययान्तरसंवाद भी बलवत्ता में कारण होता है। सर्व उपनिषद्, गीता तथा महाभारत के

---

४. प्रमाणतौल्यं तुल्यप्रमाणमिति यावत्

५. तव तावत्प्रत्ययो मन्त्राः कर्मशेषा इति, ममत्वशेषा इति, तत्र मदीयप्रत्ययस्य बलवत्त्वे इत्यर्थः।

इन्द्रियान्तरेणानुपलभ्यमानत्वेऽपि चक्षुषोपलभ्यमानस्य रूपस्य नापलापो यथा तथा प्रमाणान्तरैरनुपलभ्यमानत्वेऽपि वेदान्तैरुपलभ्यमान आत्मा नापलापमर्हति —

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।

(भगवद्गीता १३.२७)

एक[६] एव हि भूतात्मा भूतेभूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधाचैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।।

इति गीतायां मोक्षधर्मे च वचनात् ।

किंच यथा 'न हिंस्यात्सर्वाभूतानि' **(महा०शान्ति० २७८.५, वन० २१२।३२) इतिनिषेधशास्त्रार्थनिश्चयवतः श्येनादिविधेरप्रामाण्यमेव, यथा च तीव्रक्रोधाक्रान्तस्वान्तं प्रत्येव श्येनादिविधेः प्रामाण्यम्, तथैवौ-**

मोक्षधर्म का भी एक अद्वितीय सर्वद्रष्टा सर्वाधिष्ठान ब्रह्म में समन्वय[७] है । अतः उपनिषदों को ही बलवान् प्रमाण होने से, अपने से विरुद्ध भेदप्रतिपादक (बोधक) प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम को बाध करने का सामर्थ्य है । उपनिषदों का उपचरितत्व तो दूर से त्यक्त है । उपनिषदों से अतिरिक्त अद्वैत का बोधक प्रमाणान्तर न उपलब्ध होने पर भी उपनिषदों का यह अर्थ किसी प्रकार नहीं त्यागा जा सकता । जैसे चक्षु से अतिरिक्त इन्द्रिय से अप्रतीयमान भी चक्षुइन्द्रिय से प्रतीयमानरूप का अपलाप नहीं होता उसी प्रकार प्रमाणान्तरों से अप्रतीयमान होने पर भी वेदान्तों से प्रतीयमान आत्मा अपलाप के योग्य नहीं **'समं सर्वेषु'**– 'जो समस्त प्राणियों में समभाव से स्थित (व्याप्त) परमात्मा को

---

६. ब्रह्मविन्दूपनिषत् १२, त्रिपुरातापिन्युपनिषत् ५.१२, पञ्चदशी १५.७

७. उपक्रमोपसंहारादि षड्विधलिङ्गों के द्वारा केनादि उपनिषत्, भगवद्गीता, मोक्षधर्म और विष्णुपुराणादिका परमतात्पर्य सर्वाधिष्ठान परमतत्त्व में ही परिलक्षित होता है; अतः 'ईशादि' मंत्रों का जो तात्पर्य्य यहाँ व्यक्त किया गया है; वह परम पुष्ट है ।

पनिषदात्मनिश्चयवत इष्यत एव कर्मकाण्डाप्रामाण्यम्, मिथ्यात्मदर्शनम्प्रत्येव तत्प्रामाण्यात् । न केवलं उपनिषद एव ब्रह्मणि पर्यवसिताः, सर्वेषामपि वेदानां कर्मोपासनाभिश्चित्तशुद्धिविक्षेपनिराकरणपारम्पर्येण ब्रह्मण्येव पर्यवसानात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति', 'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्य' **(कठोपानिषद् १–२–१५, गीता १५–१५) इति श्रुतिस्मृतिभ्याम् ।**

आत्मदेवत्यो अनुष्टुप्छन्दस्कोऽयमध्यायः दधीचाथर्वणेन दृष्टः ।

गर्भाधानादिभिः संस्कारैः संस्कृतमधीतवेदं समुत्पादितपुत्रं यथा शक्त्यनुष्ठितयज्ञं निष्पापं निःस्पृहं यमनियमोपेतं जन्मान्तरीयैः कर्मभिः सत्संस्कारैर्वा नित्यानित्यविवेकेनेहामुत्रफलभोगवैराग्यवन्तं शान्तं दान्तं

देखता है और सबभूतों का विनाश होते हुए भी परमेश्वर को अविनाशी देखता है, वही यथार्थ देखता है।' और '**एक एवहि भूतात्मा**' —'एक ही सब प्राणियों की आत्मा प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है, स्वरूप से एक होता हुआ भी, अनेक उपाधि के कारण प्रतिबिम्ब रूपसे अनेक प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान देखने में आता है ' इस भगवद्गीता और मोक्षशास्त्र में प्राप्त वचन से भी अद्वैत ही सिद्ध होता है ।

"जैसे किसीभूत की हिंसा मत करो" इस निषेधशास्त्र के अर्थ के निश्चयवाले पुरुष के लिये श्येनादियाग की विधि का अप्रामाण्य और जैसे तीव्र क्रोध से व्याप्त अन्तःकरणपुरुष के प्रति ही श्येनादि-विधि का प्रामाण्य है, उसी प्रकार औपनिषद् आत्मा के निश्चयवाले पुरुष के लिये कर्मकाण्ड का अप्रामाण्य स्वीकार किया ही जाता है, क्योंकि मिथ्यात्मा के दर्शनवाले के लिये ही उसका प्रामाण्य है । केवल उपनिषदें ही ब्रह्म में तात्पर्यवाली नहीं हैं, अपितु सम्पूर्ण वेदों का भी कर्म तथा उपासना से चित्तशुद्धि व विपेक्ष की निवृत्ति द्वारा ब्रह्म में ही तात्पर्य है । अतएव सर्ववेदों का वेद्य ही ब्रह्म को '**सर्वे वेदाः**' इस श्रुति तथा '**वेदैश्च सर्वैः**' इस स्मृति में कहा है ।

इस ४०वें अध्याय के आत्मा देवता, अनुष्टुप् छन्द तथा दधीच आथर्वण ऋषि हैं ।

उपरतंतितिक्षुं श्रद्धासमाधानवन्तं मुमुक्षुं साधनचतुष्टयसम्पन्नं पुत्रं-शिष्यं वा ऋषिरुपदिशन्नाह—

ईशा वास्यमिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

सर्व शास्ता परमेश्वर सर्वप्राणियों का अन्तरात्मा है, वही सब का नियन्ता है। नियम्य से बाहर स्थित राजा के समान वह तटस्थ नहीं है। मायाभूमि-ब्रह्माण्डभूमि में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीयमान दृष्ट और अदृष्ट नाम-रूप-क्रियात्मक जगत् वस्तुत: मिथ्या ही है। सत्य आत्मस्वरूप परमात्मा से यह स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् ज्ञातरस्सी से कल्पित सर्पादिवत् आच्छादनीय (बाधनीय) है। ईश्वर से अभिन्न आत्मा की भावनावाला तू सर्वैषणा के त्याग से आत्मा का पालनकर अर्थात् अध्यासका निराकरण कर। अपने तथा दूसरे के धन की अभिलाषा मत कर। भला यह धन किसका है ? किसीका नहीं, मिथ्या ही तो है।

'ईष्ट इति ईट्, ईश ऐश्वर्ये' ईशिता सर्वशास्ता परमेश्वरः। स हि सर्वप्राणिनामन्तरात्मा सन् सर्वमीष्टे न बहिरंगराजादिवत् तटस्थ ईश्वरः। तेन स्वात्मभूतेन सत्येनात्मनेशा परमात्मना इदं **प्रत्यक्षादिभिर्दृश्यमानमनृतं दृष्टादृष्टं सर्वं नामरूपात्मकं जगद्**वास्यमा**च्छादनीयं ज्ञातया रज्ज्वा कल्पितं सर्पादिवद्बाधनीयम्। वस आच्छादने, 'ऋहलोर्ण्यत्' पा० ३।१।१२४ इति ण्यत् प्रत्ययः। न चात्रावारकेण**

गर्भाधानादि संस्कारों से युक्त, कृतवेदाध्ययन, पुत्रवान, यज्ञो के अनुष्ठान से युक्त, निष्पाप, नि:स्पृह यम-नियम से युक्त अथवा जन्मान्तरीय संस्कारों से नित्यानित्यवस्तु विवेक, इसलोक तथा परलोक के भोग से वैराग्ययुक्त, शम-दम-उपराम-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधानादि साधनवान् मुमुक्षु अर्थात् साधन-चतुष्टय से सम्पन्न पुत्र अथवा शिष्य को उपदेश करता ऋषि कहता है—**'ईशावास्यमिद ँ सर्वं'**

वस्त्रादिना फलादिकमिवाच्छादनीयम् । दु:खात्मकस्य प्रपंचस्य सम्बरणमात्रेणानर्थनिवृत्या पुरुषार्थासिद्धे: । तस्मात् सर्वमिदंकारास्पदं दृश्यं मिथ्याभूतमनात्मजातं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नेनाधिष्ठानभूतेन परमार्थसत्येन परमात्मना 'स्वात्मभूतपरमात्मैवेदं सर्वमिति' परमार्थदर्शनेनानात्मतिरस्करणमेवाच्छादनम् । इदम्पद**निर्दिष्टं किमित्यत आह**-जगत्यां **मायाभूमौ** यत् किंच **किञ्चित्** जगत् **जङ्गमादिकम् तत्सर्वमप्याच्छादनीयम् ।**

यद्वा किञ्चेति भिन्नक्रम: । किञ्च **यत्** जगत्यां **पृथिव्यां** जगत् **जङ्गमादि स्वस्वामिभावसम्बन्धोपलक्षितं** तेन **सर्वेण** त्यक्तेन **त्यक्तस्वस्वामिसम्बन्धेन** भुञ्जीथा: **भोगाननुभवे: ।** जगत्यां **पृथिव्यां ब्रह्माण्ड-**

ईष्ट इति ईट्, ईश ऐश्वर्ये ईशिता सर्व शास्ता परमेश्वर, वही सर्व प्राणियों का अन्तरात्मा हुआ सर्व का नियन्ता है। नियम्य से बाहर स्थित राजा के समान ईश्वर तटस्थ नहीं है। उस स्वात्मभूत सत्यस्वरूप ईश्वर=परमात्मा से, यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीयमान, मिथ्या दृष्ट व अदृष्ट सर्व नाम-रूपात्मकजगत् आच्छादनीय(बाधयोग्य) है, जैसे ज्ञातरज्जु से कल्पित सर्पादिक बाधयोग्य होता है। आच्छादनार्थक वस धातु से ण्यत् प्रत्यय होकर 'वास्य' शब्द सिद्ध हुआ है। यहाँ आवरकवस्त्रादि से फलादि के समान जगत् आच्छादनीय नहीं है, क्योंकि दु:खात्मक प्रपञ्च के आच्छादनमात्र से अनर्थ की निवृत्ति से होनेवाली पुरुषार्थ की सिद्धि असंभव है। अत: इदंकारास्पद, मिथ्याभूत अनात्मसमुदायरूप सर्व दृश्य, प्रत्यक्चैतन्य से अभिन्न, अधिष्ठानभूत परमसत्य परमात्मा से आच्छादनीय अर्थात् बाधनीय है। यहाँ "आत्मभूत परमात्मा ही यह सर्व है" इस परमार्थ (वास्तविक) ज्ञान से अनात्मा का तिरस्कार ही आच्छादन (बाध) है। श्रुति में 'इदं' पद से कहा हुआ कौन है ? इस आकांक्षा का श्रुति स्वयं उत्तर कहती है कि— **"जगत्यां"**=मायाभूमि में जो कुछ स्थावर-जंगम जगत् है, वह सर्व आच्छादनीय है।

अथवा 'किञ्च' से भिन्नक्रम है। पृथिवी में स्वस्वामिभावसम्बन्ध से उपलक्षित चराचर जगत् है, उस त्यक्तस्वस्वामिभाव सम्बन्धवाले सर्व चराचर जगत् से भोग कर। अथवा जगत्यां पृथिवी अर्थात्

कटाहभूमौ वा, जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात्। सर्वत्र यत्रक्वापि नामरूपकर्माख्यं विकारजातं तत्सर्वमपि परमार्थसत्यात्मभावनया वास्यं त्यक्तव्यमेव। तत्त्वमसीत्यादि **छन्दोग्योक्त्यापि सदहं न देहादिरित्येव प्रतिपत्तव्यम्,**

"ब्रह्मैवसर्वमात्मैव सत्प्रकाशविशेषतः।
हेयोपादेयभावोऽयं न सन् स्वप्नवदीर्यते॥"

"न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति न विकल्पोऽस्ति तत्त्वतः।
नित्य प्रकाश एवास्ति विश्वाकारो महेश्वरः॥"

इत्युक्तेः। यद्वा बाह्यवासनया भावनया विजातीयप्रत्ययानन्तरित सजातीयप्रत्ययप्रवाहेण सर्वं तिरस्करणीयम्। औपदेशिकज्ञानमात्रेणानृतदृष्टिबाधाभावेऽपि यथा चन्दनागर्वादेरुदकतृणमृदादिसम्बन्धादार्द्रीभावादिना जातस्यौपाधिकदौर्गन्ध्यस्य तत्स्वरूपनिघर्षणाभिव्यक्तेन स्वाभाविकगन्धेन तिरस्करणं तद्वद्विचारादिना स्वाभाविकपरमार्थात्म-

---

ब्रह्माण्डकटाहभूमि में ऐसा अर्थ करना, क्योंकि यहाँ जगती शब्द सर्व ब्रह्माण्ड के उपलक्षण के लिये है। जहाँ कहीं भी सर्वत्र नाम-रूप-कर्म-संज्ञक विकार समुदाय है, वह सर्व भी परमार्थसत्आत्मा की भावना से त्याग के योग्य है। 'समस्तनामरूपात्मकविकारसमुदाय सच्चिदानन्दब्रह्म है, अतिरिक्त नहीं,' ऐसा निश्चय ही त्याग है। **'तत्त्वमसि'** इस छान्दोग्य के कथनसे भी यही जानने योग्य है कि 'मैं सत्य ब्रह्म हूँ, न कि देहादिक'। इस अर्थ के पोषक **'ब्रह्मैवसर्वं', 'न बन्धोस्ति'** इत्यादि अन्य प्रमाण भी हैं। अथवा ब्रह्मवासना-भावना से उत्पन्न विजातीय प्रत्ययों के व्यवधान से रहित सजातीयप्रत्यय के प्रवाह से सर्व जगत् तिरस्कार के योग्य है। 'सर्व परमात्मा ही है, उससे अतिरिक्त जगत् कुछ नहीं,' यही जगत् का तिरस्कार है। जैसे तृण,जल, मृत्तिका आदि के सम्बन्ध से चन्दन, अगरु आदि पदार्थों में गीलापन, मलिनता आदि से औपाधिक दुर्गन्ध हो जाती है, परन्तु चन्दनादि के घर्षणादि से अभिव्यक्त सुगन्ध से उस दुर्गन्ध का तिरस्कार हो जाता है, उसी प्रकार उपदेश-प्राप्तपरोक्षज्ञानमात्र से मिथ्यादृष्टि के बाध न होने पर भी विचारादि से स्वाभाविक परमार्थ आत्मा के स्वरूप के आविर्भाव से औपाधिक सर्व मिथ्याप्रपंच का तिरस्कार हो जाता है। प्रपंच का तिरस्कार ही

सत्यात्मस्वरूपाविर्भावेनौपाधिकस्य सर्वस्यानृतस्य प्रपञ्चस्य तिरस्करणमेवाच्छादनम् । एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मस्विति तदाह तेन त्यक्तेनेति ।

तेन हेतुना त्यक्तेन त्यागेन भुञ्जीथा **आत्मानं पालयेथा:, भावेनिष्ठा प्रत्यय: । न च कर्मण्येव कुतो न निष्ठा प्रत्यय इति वाच्यम् त्यक्तस्य मृतस्य पुत्रभृत्यादेरात्मसम्बन्धित्वाभावेन पालकत्वासंभवात् । न च भुजोऽनवने इत्यस्यानवन एवेदृशं रूपमिति कथं पालनमर्थ इतिवाच्यम्, पालनेऽपि छांदसप्रयोग संभवात् । न च भोगार्थत्वेऽपि का हानिरिति वाच्यम्, भोगस्य रागप्राप्तत्वेन विधानानर्हत्वात्, तत्त्वज्ञानेन भोक्तृभोग्यभोगादेर्निवर्तयितव्यत्वात् । पालनमपि अनात्मतादात्म्याभिमाननिराकरणमेव, तदपि चाधिष्ठानसत्ताऽतिरिक्ताया: कल्पित-**

आच्छादन है । एवं ईश्वर से अभिन्न आत्मा की भावना से युक्त पुरुषका पुत्र-वित्त तथा लोकैषणा के संन्यास में ही अधिकार है, कर्मों में नहीं, इसलिए यह कहा कि—**तेन त्यक्तेन**[८] ।

मन्त्र में त्यक्त शब्द त्याग का वाचक है, न कि त्यागे हुए का । त्यागा हुआ मृत पुत्र, सेवकादि का आत्मा के साथ सम्बन्ध न होने से पालकपना ही असंभव है । अत: एषणाओं से रहित पुरुषका संन्यास में ही अधिकार होने से त्याग से आत्मा का पालन कर । "भुजधातु अपालनार्थक है । उसका ही भुञ्जीथा: यह रूप है, अत: इस शब्द का पालन अर्थ कैसे संभव है ?" यह कहना उचित नहीं, इसका पालन अर्थ छांदस है । 'इस शब्द का भोग अर्थ स्वीकार करने में क्या हानि है ?' यह कहना भी उचित नहीं । क्योंकि भोग तो राग से ही प्राप्त है, उसके लिये विधान की आवश्यकता ही नहीं तथा तत्त्वज्ञान से भोक्ता-भोग्य-भोगादिरूप त्रिपुटी ही निवृत्त हो जाती है, तब तत्त्वज्ञ के लिये भोग का विधान कैसे सम्भव है ? देहादि अनात्मा का आत्मा के साथ तादात्म्य-अध्यास हो रहा है, उसका निराकरण ही पालन है । यह

---

८. परिशिष्ट में संन्याससम्बन्धी विवेचन का अवलोकन और अनुशीलन करें ।

सत्ताया अनङ्गीकारेणैव सुसंम्पादनम् । तथा च योऽयं नामरूपक्रियात्मकोऽध्यस्तः प्रपञ्चः स अधिष्ठानभूतस्य परमात्मनो याथात्म्यावगमेन मिथ्याभूतत्वेन त्यक्तव्यः । तेनानात्मप्रपञ्चविषयेण त्यागेन हे मुमुक्षो आत्मानं पालयेथाः सर्वैषणा त्यागेन संकल्पितात् संसारात् आत्मरक्षां कुरु ।

मा गृधः कस्यस्विद्धनम् । **गृधु अभिकांक्षायाम् ।** कस्यस्वित् **कस्यचित् स्वस्य परस्य वा धनं मा कांक्षीः । स्विदित्यनर्थको निपातः । आक्षेपार्थको वा किं शब्दः ।** मा गृधः, **कस्मात्** कस्यस्विद्धन**मस्ति यद् गृध्येत न कस्यचिदित्यर्थः,** आत्मैवेदं सर्व**मित्यात्मभावनया सर्वस्य बाधितत्वेन त्यक्तत्वात् । आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृद्धिं मा कार्षीः । जडस्य सर्वस्यात्मशेषत्वात् अस्ति चेदात्मन एवेति प्राप्तत्वादेवाकांक्षानुपपत्तिः । बाधितत्वाच्चाकांक्षा विषयस्यैवा-**

अध्यास का निराकरणरूप पालन भी सम्पादन करना सुलभ है; क्योंकि अधिष्ठानभूत आत्मसत्ता से अतिरिक्त, कल्पितदेहादिक की सत्ता अङ्गीकार ही नहीं । जो यह नाम-रूपात्मक अध्यस्त प्रपंच है, वह अधिष्ठानभूतपरमात्मा के यथार्थबोध से मिथ्यात्वरूप से त्याग के योग्य है । अर्थात् अधिष्ठानभूत परमात्मा के यथार्थ अद्वैतबोध से मिथ्या जान लेना ही जगत् का त्याग है । हे मुमुक्षो ! अनात्मरूप प्रपञ्चविषयकत्याग से आत्मा की रक्षा कर, अर्थात् सर्वैषणा के त्याग से कल्पितसंसार से आत्मरक्षा कर ।

किसी के अर्थात् अपने तथा दूसरे के धन की अभिलाषा मत कर; अथवा धन की अभिलाषा मत कर; क्योंकि धन किसका है; जो इसकी इच्छा की जाय अर्थात् किसी का भी नहीं । क्योंकि "यह सर्व जगत् आत्मा ही है" इस प्रकार की आत्मभावना (आत्मविषयक दृढ़ निश्चय) से सर्व जगत् को बाधित होने से त्याग दिया है । यह सर्व-जगत् आत्मा से ही उत्पन्न तथा आत्मा ही है, अतः मिथ्या की इच्छा मत कर । यदि यह जगत् है भी तब भी इस सर्व जड़-जगत् को आत्मा की शेषता (भोगसाधनता) होने से यह आत्मा का ही है । व्यापक आत्मा सदा प्राप्त है, इससे भी इसकी आकांक्षा संभव नहीं । बाधित

भावादाकांक्षां मा कृथाः ।

अन्ये तु ईशा **परमात्मना** वास्यं **वासनीयम्** सर्वमिदं **परमात्मन एवेति भावनीयम्** । जगत्यां **पृथिव्यां** यज्जगत् **जङ्गमादिकं स्वस्वामिसम्बन्धालिङ्गितं स्यात् । तेनानेन सर्वेण त्यक्तेन त्यक्तस्वस्वामिसम्बन्धेन भोगान् भुञ्जीथाः अनुभवेः । धनविषयामाकाङ्क्षां मा कृथाः । किं कारणम् ? कस्यस्विद्धनम् ? न कस्यचिदित्यर्थः । स्त्रियं पतिरन्यथा भुंक्ते पुत्रोऽन्यथा भुंक्ते प्राघूर्णिकोऽन्यथा । कटकाद्यलङ्करणान्यन्यञ्चान्यञ्चोपतिष्ठमानानि दृश्यन्ते । अतः सर्वार्थस्य यः स्वस्वामिसम्बन्धो ममेदमिति बुद्धिः सात्वविद्या तामपनीय योगे प्रवर्तितव्यमित्यर्थः । अस्मिन्पक्षेऽप्यविद्यात्यागो विवक्षितः ।**

केचित्तु—'ईशा वास्यं' **परमेश्वरे वसितं सर्वं सचराचरं जगत्,**

(मिथ्या) होने से आकांक्षा का विषय ही नहीं, अतः आकांक्षा मत कर।

अन्य तो यह अर्थ करते हैं कि—परमात्मा से वास्य=वासनीय है, अर्थात् 'यह सर्व जगत् परमात्मा का ही है'इस चिन्तन के योग्य है। पृथिवी में जो भी स्थावर-जङ्गम जगत् है, वह स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध से युक्त है। भाव यह कि सर्वजगत् में जीव ने ऐसा सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, "मेरा यह भोगसाधन है, मैं इसका स्वामी हूँ" इस सम्बन्ध को दूर करने के लिये "यह सर्व जगत् परमात्मा का है", ऐसा चिन्तन करना चाहिये। पूर्वोक्त सम्बन्ध से रहित इस सर्व जगत् से भोगों को अनुभव कर। धनविषयक आकांक्षा मत कर। क्योंकि धन किस का है, न किसी का। एक स्त्रीको पति, पुत्र तथा आघूर्णक (घूरने वाला) भिन्न-भिन्न प्रकार से भोगते हैं। अतः वह किसी की नहीं। यदि किसी की होती तो एक प्रकार से ही भोगी जाती। कटक, कुण्डलादि भूषण भी अन्य-अन्य मनुष्यों को प्राप्त होते देखे जाते हैं। अतः पदार्थ किसी एक का नहीं। एक का न होने से सर्व का है, जो सर्व का है उसमें "यह मेरा है" ऐसी बुद्धि करना ही अविद्या है। इस अविद्या को निवृत्त कर योग में प्रवृत्त होना चाहिये। इस पक्ष में भी अविद्या का त्याग ही विवक्षित (तात्पर्य का विषय) है।

संव्याप्तम् । संव्याप्तिश्च मृदेव घटस्य कार्यस्यकारणेनैव सम्भवति । कार्यञ्च कारणानतिरिक्तमेव । तस्मात् सर्वंजगद् ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्मव्याप्यत्वाद् ब्रह्मात्मकमेवेति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति' **(छान्दोग्यो० ३.१४.१) श्रुतेः । यथा तज्जत्वात् तल्लत्वात् तदनत्वात् तरङ्गफेनबुदबुदादयः समुद्रात्मका एव तथैवाभिन्ननिमित्तोपादानकत्वेन सर्वस्य जगतस्तज्जत्वादिना ब्रह्मात्मकत्वमेव । यस्मात् ब्रह्मात्मकं सर्वं तस्मात्त्यक्तेनात्मानं पालयेथाः ।**

यद्वा 'ईशावास्यं सर्वमिदमी'श्वर एवेति बुद्धिसम्पादनमेव जगतः परमेश्वरेण वासनमाच्छादनं वा ।

यद्वा सर्वमिदमीशावास्यं वासयोग्यं । वस निवासे इत्यस्मात् बाहुलकात् अधिकरणे ण्यत् परमेश्वरस्य वासार्हम् ।

कोई ऐसा अर्थ करते हैं—यह समस्त जगत् परमेश्वर में वसित अर्थात् संव्याप्त है । और संव्याप्ति तो मिट्टी से घट की तरह, कारण से कार्य की ही संभव है । कार्य कारण से अतिरिक्त होता नहीं । इसलिए सर्वजगत् ब्रह्म का कार्य तथा व्याप्य होने से ब्रह्मात्मक (ब्रह्मरूप) ही है । क्योंकि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छा०३.१४.१) यह श्रुति जगत् को ब्रह्मरूप ही कह रही है । जैसे समुद्र से उत्पन्न उसी में लीन तथा उसी से जीवन को प्राप्त तरङ्ग, फेन, बुदबुदादिक समुद्र ही हैं; उसी प्रकार ब्रह्म ही सर्व जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान होने से ब्रह्म से उत्पन्न, ब्रह्म में ही लीन होनेवाला तथा ब्रह्म से ही जीवन प्राप्त जगत् ब्रह्म ही है । क्योंकि सर्व जगत् ब्रह्मात्मक है, अतः त्याग से आत्मा की रक्षा कर ।

अथवा 'यह सर्व जगत् ईश्वर ही है' इस प्रकार की बुद्धि की प्राप्ति करना ही जगत् का परमेश्वर से वासन तथा आच्छादन है । अथवा यह सर्व जगत् ईश्वर के वासयोग्य है ।

अथवा 'सर्वमीशावास्यं'='यह सर्वजगत् कारणभूत ज्ञात परमात्मा से परमात्मा में ही निवास के योग्य है । अर्थात् परमात्मा का अपरोक्षज्ञान होने पर परमात्मा से अतिरिक्त जगत् अन्यत्र नहीं, अपि तु परमात्मा में ही परमात्मारूप से स्थित है' ऐसा जानने योग्य है ।

यद्वा सर्वमीशावास्यं सर्वमिदं जगत् ईशा कारणेन परमात्मना विज्ञातेन तस्मिन्नेव निवास्यम् ।

यद्वा परमेश्वरेण वासितमुत्पादितं स्थापितं नियमितञ्च 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' **(तैत्ति० ३.१) इति श्रुतेः । न केवलं प्रत्यक्षगम्यमीशा वास्यमपि तु सावरणं ब्रह्माण्डमित्याह**-यदिति । **यत् किञ्चित् श्रुतिप्रमाणसिद्धं स्थापितं** जगत्यां जगत् **स्थावरजङ्गमात्मकं शेषं विश्वमीशेनोत्पादितं नियमितञ्चेत्यर्थः । (यत्किञ्च श्रुत्यादि प्रतिपाद्यं दिव्यमलौकिकं देवादिस्वर्गादि च ब्रह्मलोकपर्यन्तमनन्तकोटि ब्रह्माण्डव्याप्तं सर्वमेवेश्वरेणाच्छादनीयम् ।) कारणस्यैवानुगतरूपेणकार्येषूपलभ्यमानत्वेन च निवासार्हता पटेषु तन्तूनां कटकमुकुटादिषु सुवर्णस्येव प्रपंचे परमात्मनः उपलभ्यमानत्वात्** सर्वभूतेषु चात्मान**मिति वक्ष्यमाणत्वात् । तेन त्यक्तेन भूतजातेन न ममेति त्यक्तस्वीयसम्बन्धेन संन्यासेन नामरूपत्यागेन भुञ्जीथाः पूर्वोक्तमात्मानमनुभवेः । भोगस्यानुभवानतिरिक्तत्वात् यदृच्छाप्राप्तभोगान्वाऽनुभवेः ।**

अथवा परमेश्वर से वासित=उत्पन्न किया, स्थापित तथा नियमित यह जगत् है, क्योंकि **'यतो वा इमानि भूतानि'** (तै०३.१) यह श्रुति जगत् को ब्रह्म से उत्पन्न, स्थित तथा नियमित कह रही है। केवल प्रत्यक्ष से गम्य जगत् ही ईश्वर से आच्छादनीय नहीं, अपि तु जो कुछ श्रुति आदि से गम्य स्वर्गादि भी ब्रह्म से आच्छादनीय है । कार्यों में कारण की अनुगत प्रतीति होती है, अतः कार्यों में कारण की ही निवासयोग्यता है । जैसे कार्यभूत पट, कटक-मुकुट आदिकों में कारणभूत तन्तु तथा सुवर्ण की निवासयोग्यता है। प्रपंच में परमात्मा की अस्ति-भाति-प्रियरूप से प्रतीति होने से निवासयोग्यता है । भूतों में आत्मा (परमात्मा) का निवास आगे **'सर्वभूतेषु चात्मानं'** यह श्रुति भी कह रही है । 'यह मेरा नहीं है' इस प्रकार, जिससे अपनेपने का सम्बन्ध त्याग दिया है ऐसे भूतसमुदाय से अर्थात् नाम-रूप के त्यागात्मक संन्यास से पूर्वोक्त आत्मा को अनुभव कर । भोग अनुभव से अतिरिक्त नहीं होता, अतः 'भोग कर' के स्थान में 'अनुभव कर' यह अर्थ भी विरुद्ध नहीं है । अथवा 'अदृष्ट (प्रारब्ध) से प्राप्त भोगों का अनुभव कर' यह भी अर्थ है ।

यद्वा सर्वं जगत् परमेश्वरेण वास्यमुत्पादितं स्थापितं नियमितमतः कारणात् तेनेशा परमेश्वरेण त्यक्तेन विसृष्टेन दत्तेन स्वादृष्टानुसारिणा विषयेण भुञ्जीथाः भोगाननुभवेः । इतोऽधिकं मा गृधः, परमेश्वराधीनत्वेन त्वदिच्छाया व्याहतत्वात् । यद्यपीदमपि व्यावहारिक दृष्टया न विरुद्धम्, तथापि साधारणं तत् कर्मप्रकरणेष्वपि तथैव ज्ञातत्वात् परमेश्वरस्यैव कर्मफलदातृत्वाङ्गीकारेण परमेश्वरेण दत्तेनैव सर्वोऽपि भोगान् भुंक्ते । अत्र तु ज्ञानकाण्डे ज्ञाननिष्ठाङ्गतया पुत्राद्येषणात्रयत्याग विधित्सयैव "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" **इत्युक्तिः समञ्जसा । भोगा अपि लोकत एव प्राप्ताः । सर्वैषणात्यागेनात्मपालनमेव तु ज्ञानकाण्डोपयोगि, तत एव शङ्करभगवत्पादैस्तथैव व्याख्यातम् ।**

'ईश ऐश्वर्ये' इत्यस्य धातोः कर्तरिक्विब् विधानात् क्विपि लुप्ते कृदन्तरूपमीट् इति निष्पद्यते तस्य तृतीयैकवचनमीशेति । ननु

अथवा "यह सर्वजगत् परमेश्वर से उत्पन्न, स्थापित तथा नियमित है, इसलिये उस परमात्मा से त्यक्त (प्रदत्त) अपने अदृष्टानुसारिविषय से भोग का अनुभव कर। इससे अधिक की इच्छा मत कर। क्योंकि परमेश्वर के अधीन होने से आपकी इच्छा का व्याघात संभव है।' यद्यपि यह अर्थ भी व्यावहारिक दृष्टि से विरुद्ध नहीं, तथापि यह अर्थ कर्मप्रकरण साधारण है, क्योंकि कर्मप्रकरण में भी ऐसा ही जाना जाता है कि परमेश्वर को ही कर्मफलदाता स्वीकार करने से परमेश्वर के द्वारा दिये पदार्थ से ही सर्व प्राणी-समुदाय भोगों को भोगता है। यहाँ ज्ञानकाण्ड में तो ज्ञाननिष्ठा के साधनरूप से पुत्रादि तीनों एषणाओं के त्याग का विधान करने के तात्पर्य से ही "त्याग से पालन कर" यह कथन उचित है। भोग भी लोक (राग) से प्राप्त हैं; अतः उनका विधान आवश्यक भी नहीं। सर्व एषणाओं के त्याग से आत्मा का पालन ही ज्ञानकाण्डोपयोगी है। अत एव भगवत्पादशंकराचार्यजी ने ऐसा ही व्याख्यान किया है।

नियमनकर्ता का वाचक 'ईट्' शब्द है। आत्मा को षट्-भावविकारों से रहित तथा कूटस्थ होने से 'ईट्' शब्द की वाच्यता कैसे ? क्योंकि 'नियमन करना तो विकार है।' यह शंका भी उचित नहीं; क्योंकि मायारूप उपाधि के बल से परमेश्वर का ईशन(नियमन)कर्तृत्व

कर्त्तरि क्विब्विधानात्; परमात्मनश्च षड्भावविकारवर्जितत्वेन कूटस्थत्वेन च कथं क्विबन्तेट्शब्दवाच्यतेति चेत् न, मायोपाधिवशात् परमेश्वरस्येशनकर्तृत्वोपपत्त्या क्विबन्तपदवाच्यत्वे विरोधाभावात्। न चैवमीशित्रीशितव्यभावेन भेदः प्रसज्येतेतिवाच्यम्, अधिष्ठानारोप्यभावे कल्पितभेदेन तदुपपत्त्या पारमार्थिक कल्पनाऽनुपपत्तेः। यथादर्शादिषु प्रतिबिम्बानामात्मा सन् बिम्बभूतो देवदत्त ईशिता भवति तद्वदेव सर्वभूतानामात्मा सन् परमेश्वरः सर्वं नियच्छति। वस्तुतस्तु तदधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वमेव तन्नियम्यत्वन्तच्चाधिष्ठानारोप्ययोः बिम्बप्रतिबिम्बयोः जलतरङ्गादिष्वेवोपपद्यते। अधिष्ठानसत्तास्फूर्तिभ्यामेवारोप्यसत्तास्फूर्तिमत्त्वं भवति अधिष्ठानसत्तास्फूर्त्यतिरिक्तयोरारोप्यसत्तास्फूर्त्योरनङ्गीकारात्। बिम्बस्थितिगतिभ्यामेव प्रतिबिम्बानां स्थितिगतयः प्रत्यक्षमनुभूयन्ते। तदनुविधानदर्शनात् तेषां जलाधीनैव तरङ्गाणां स्थित्यादयः, जलाभावे तेषां

संभव हो जाने से क्विबन्त पदवाच्यता में कोई विरोध नहीं। 'नियम्य-नियामकभाव से तो भेद प्राप्त हो जायगा' यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि अधिष्ठान तथा आरोप्यपने में कल्पितभेद रहने से नियम्य-नियामकभाव की सिद्धि संभव है, अतः पारमार्थिकभेद की कल्पना संभव नहीं। जैसे दर्पणादिगत प्रतिबिम्बों का आत्मा (स्वरूप) हुआ बिम्बभूत देवदत्त नियन्ता होता है, वैसे ही सर्वभूतों का आत्मभूत हुआ परमेश्वर सर्व का नियमन करता है। वस्तुतः नियन्ता के अधीन स्थिति तथा प्रवृत्ति वाला ही नियम्य होता है। ऐसा नियम्य-नियामकभाव, बिम्ब-प्रतिबिम्ब, अधिष्ठान-आरोप्य तथा जलतरङ्गादिकों में ही बन सकता है। अधिष्ठान की सत्ता-स्फूर्ति से ही आरोप्य (अध्यस्त) की सत्ता-स्फूर्ति होती है। क्योंकि अधिष्ठान की सत्ता-स्फूर्ति से अतिरिक्त अध्यस्त की सत्ता-स्फूर्ति का अङ्गीकार ही नहीं। बिम्ब की गति–स्थिति आदि से ही प्रतिबिम्ब की गति-स्थिति प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। तरंगों में जल का अनुसरण देखा जाने से जल के अधीन ही तरङ्गों की स्थिति आदिक होती हैं। क्योंकि जल के अभाव में तरङ्गों के स्वरूप की ही सिद्धि नहीं होती। तटस्थ शासक के सिपाही, न्यायालयादि से सीमित ही शासन होता है। क्योंकि नियन्ता की आँखों में धूल डालकर अपराधियों की भी अपराध से मुक्ति देखी

स्वरूपानुपलम्भात् । तटस्थस्यशास्तुस्त्वरक्षिन्यायालयादिभिः सीमित-मेवशासनम्, नियन्तृनेत्रधूलिप्रक्षेपादिभिरपराधिनामपि मोक्षदर्शनात् । तदुक्तम्—

गुरुरात्मवतां शास्ता राजा शास्ता दुरात्मनाम् ।
इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥

(नारदीय मनुस्मृतिः १८.१०८, महा० उद्योग० ३५.७१)

यद्यपि योगसिद्धः कश्चित्तटस्थोऽपिशासकः सर्वज्ञसर्वशक्ति-कल्पः सन् प्रच्छन्नपापानपिदण्डयित्वाऽन्तः शरीरेष्वपि शासको भवति, यथोक्तं कविना कालिदासेन कार्तवीर्यार्जुनस्यलोकोत्तरं प्रभावं वर्णयता—

अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात् ।
अन्तः शरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विजेता ॥

(रघु० स० ६ श्लो० ३९)

तथापि तदधीनगतिस्थितिमत्त्वं तटस्थे शासने सर्वथैव न

जाती है । ऐसा "गुरुरात्मवतां"[९] (महा० उ० ३५.७१) इस श्लोक से कहा भी है ।

यद्यपि योगसिद्ध सर्वज्ञसर्वशक्तिमान् के सदृश हुआ तटस्थ शासक, छिपे पाप करनेवालों को भी दण्ड देकर मनुष्यों के अन्तःकरणों का भी शासक होता है, जैसाकि कार्तवीर्य अर्जुन के अलौकिक प्रभाव का वर्णनकर्ता कविकालिदास ने "अकार्यचिन्ता"[१०] (रघु० ६.३९) इस श्लोक से कहा है ।

---

९. संयमशाली पुरुषों का शासक गुरु, दुष्टात्माओं का शासक राजा तथा छिपकर पापकर्ताओं का शासक सूर्यपुत्र यमराज होता है ।

१०. शासक कार्तवीर्यार्जुन पाप के विचार समकाल ही धनुष-बाण धारण किये पाप के विचारकों के सामने प्रकट हो, प्रजा के मानस अपराधों को भी निवृत्तकर देता था ।

संभवति । तस्मादारोप्यस्याधिष्ठानमिव प्रतिबिम्बानां बिम्बमिव तरङ्गाणां जलमिव सर्वेषां चेतनाचेतनानामात्मा सन्नेव परमेश्वरो नियच्छति । 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः पृथिवी यं न वेद पृथिवी यस्य शरीरम्, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृत' (**बृहदा० ३-७-३**) **इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणवचनसहस्रेभ्यः ।**

दयानन्दः—"हे मनुष्य ? त्वं यदिदं प्रकृत्यादि पृथिव्यन्तं सर्वं जगत्यां गम्यमानायां सृष्टौ जगत् यद्गच्छति तत् ईशा ईश्वरेण सकलैश्वर्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना वास्यमाच्छादयितुं योग्यं सर्वतोऽभिव्याप्यमस्ति । तेन त्यक्तेन वर्जितेन तच्चित्तरहितेन भुञ्जीथाः भोगाननुभवेः । किञ्च कस्यस्वित् कस्यापि स्विदिति प्रश्ने वा, धनं वस्तुमात्रं मा गृधः माभिकांक्षीः" इति तदपि यत्किञ्चित्,

---

तथापि शासक के अधीनगति-स्थितिरूपशासन तटस्थ शासक में सर्वथा संभव नहीं । इसलिये यथा आरोप्य का अधिष्ठान, प्रतिबिम्बों का बिम्ब तथा तरङ्गों का जल नियमन करता है, वैसे ही चेतन-अचेतन सर्व पदार्थों का आत्मा हुआ ही परमेश्वर नियमन करता है । ऐसा ही **"यः पृथिव्यां"** (बृ० ३.७.३) इत्यादि श्रुति-स्मृति तथा पुराणों के हजारों वचनों से सिद्ध है ।

दयानन्दभाष्य- हे मनुष्य ! तुम इस ज्ञायमानसृष्टि में जो यह परिवर्तनशीलजगत् है, वह सकल ऐश्वर्यसम्पन्न सर्वशक्तिमान् परमात्मा से आच्छादन करने योग्य अर्थात् सर्व ओर से व्याप्य है । उस त्यागे हुए जगत् अर्थात् संसार में संलग्नचित्त से रहित जगत् से भोगों को अनुभव कर । किसी के भी धन(वस्तुमात्र)की अभिलाषा मत कर । अथवा स्वित् शब्द प्रश्नार्थक है । भाव यह है कि धन किसका है ? यह पूर्वोक्त स्वामिदयानन्दकृत अर्थ उचित नहीं । क्योंकि व्याप्तिमात्र से आच्छादन संभव नहीं, आकाश की व्यापकता (व्याप्ति) होने पर भी आकाश से घटादि का आच्छादन नहीं देखा जाता । आच्छादनशब्द आवरणार्थक है । मंत्र में 'तेन' यह पद पूर्वका परामर्शक है । इससे पूर्वमें जगत्का त्याग प्रकरणमें प्राप्त है नहीं, अतः तेन शब्दका जगत् का त्याग अर्थ नहीं किया जा सकता तथा त्यागे जगत् से भोगों का अनुभव संभव भी नहीं, क्योंकि त्यागी वस्तु का आत्मा

व्याप्तिमात्रेणाच्छादनानुपपत्तेः । आकाशस्य व्यापकत्वेऽपि तेन घटाद्याच्छादनादर्शनात्, आच्छादनस्य प्रावरणार्थकत्वात् । तेनेति पूर्वपरामर्शिपदं न च पूर्वं जगत्त्यागः प्रकृतः । कथं च त्यक्तेन जगता भोगानुभवः संभवति त्यक्तस्यात्मसम्बन्धित्वाभावेन भोगसाधनत्वानुपपत्तेः । किञ्च संस्कृतहिन्दीव्याख्यानयोर्विरोधः, त्यक्तेन वर्जितेन तच्चित्तरहितेनेति कस्य शब्दस्यार्थः ? न च चित्तपदं वर्जितत्वविशिष्टवृत्तिपरम्, लोके वेदेऽपि तादृशव्यवहारादर्शनात् ॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

इस लोक में जो सौ वर्ष जीने की इच्छा करे, वह अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए ही जीने की इच्छा करे; मनुष्यत्वादि सकल संसारधर्मों से हीन अद्वितीय आत्मतत्त्व है। उसे न जाननेवाले नरत्वाभिमानी तुझ मनुष्य के लिये इससे अतिरिक्त और कोई प्रकार नहीं है, जिससे तुझमें पाप का स्पर्श (लेप) न हो ॥२॥

पूर्वोक्तार्थग्रहणेऽशक्तस्यासंस्कृतचित्तस्येदमुपदिशति । कर्माणि अग्निहोत्रादीनि निष्कामानि मुक्तिहेतूनि कुर्वन्नेव निर्वर्तयन्नेवेहलोके शतं समाः शतसंख्याकान् वत्सरान्, एतावदेव मनुष्याणां विधात्रा

से सम्बन्ध न होने से उसमें भोग साधनता ही असंभव है। यह दोष और भी है कि इनके हिन्दी तथा संस्कृत के व्याख्यानों में विरोध है। यदि कहा जाय 'त्यक्तपद का अर्थ वर्जित अर्थात् तच्चित्तरहित है' तो यह प्रश्न होगा कि ऐसा अर्थ किस मूल के शब्द का है ? 'चित्तपद वर्जितत्व विशिष्टवृत्ति का बोधक है,' यह भी उचित नहीं, क्योंकि लोक तथा वेद में कहीं भी तादृश अर्थ में चित्तपद का प्रयोग नहीं देखा गया है ॥१॥

पूर्वोक्त मन्त्र के अर्थग्रहण में असमर्थ अनिर्मल चित्त पुरुष के

औचित्येन कल्पितमायुः, तावत्पर्यन्तं जिजीविषेत् जीवितुमिच्छेत्।[११] पुरुषव्यत्ययेन जीवितुमिच्छेः[१२] पथ्यहितमित भक्षणेन। शतं समा इत्युपलक्षणम् यावदायुः पर्यवसानमित्यर्थः। नात्र जिजीविषा विधेया तस्या रागप्राप्तत्वादप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात्, किन्तु यथा प्राप्तानुवादेन यच्छतं वर्षाणि जीवितुमिच्छेः तत्कर्माणि कुर्वन्नेव जिजीविषेरित्यर्थः। एवमनेन प्रकारेण जिजीविषति नरे नरमात्राभिमानिनि मनुष्यत्वादिसकलसंसारधर्महीनमद्वयमात्मतत्त्वमजानाने त्वयि इतः एतस्मात् अग्निहोत्रादिनिर्वर्तनात् अन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारान्तरेण कर्म पापं न लिप्यते पापस्पर्शः त्वयि न भवेत्, तत्प्रकारान्तरं नास्तीत्यर्थः। यस्मादेवं तस्मात् शास्त्रविहितानि अग्निहोत्रादीनि कर्माणि सदा कुर्वन्नेव जिजीविषेः। यथा स्वर्गप्राप्तौ नाना

लिये आगे कहे मन्त्र का उपदेश दिया जाता है। निष्काम, मुक्ति के कारण अग्निहोत्रादि कर्मोंको कर्ता हुआ ही इस लोक में सौ वर्षपर्यन्त जीवन की इच्छा करे। "शतं समाः" यह वाक्य यावज्जीवन (आयु की समाप्ति) का उपलक्षण है। यहाँ जीवन की इच्छा का विधान नहीं है, क्योंकि जीवन की इच्छा तो राग से ही प्राप्त है। अन्य से अप्राप्त अर्थ का बोधक शास्त्र अर्थवाला होता है। किन्तु यथा प्राप्त (राग से प्राप्त) का अनुवाद होने से, जो सौ वर्ष जीने की इच्छा करे वह कर्मकर्ता हुआ ही जीने की इच्छा करे। मनुष्यत्वादि सकल संसार के धर्मों से हीन अद्वितीय आत्मतत्त्व को न जाननेवाले जीने के इच्छुक

---

११. मन्त्र में **"जिजीविषेत्"** यह प्रथम पुरुष का प्रयोग है। भाष्य में 'जीवितुमिच्छेः' यह मध्यम पुरुष के रूप में जो अर्थ किया है वह प्रथम पुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष का परिवर्तन कर किया है। क्योंकि शंकराचार्यादि भाष्यकारों ने भी इसी प्रकार से अर्थ किया है।

१२. पथ्य, हित, मित भक्षणपूर्वक जीवन की इच्छा कर। आयुर्वेद के अनुसार पथ्य, धर्मशास्त्र के अनुसार हित तथा योगशास्त्र के अनुसार मित भोजन कर शतवर्ष जीवन की इच्छा करे। इस औचित्य से ही यहाँ शतवर्ष जीवन कहा गया है।

प्रकाराः सन्ति, तथा कर्मालेपाय नाना प्रकाराः न भवन्ति। स्वधर्मानुष्ठानलक्षण एक एव प्रकारोऽस्ति येन कर्मलेपो न भवति। उव्वटाचार्यरीत्या तु यथा स्वर्गप्राप्तौ नानाभूताः प्रकाराः सन्ति न तथा मुक्तिप्राप्तौ।

ननुकर्मणां फलेन भवितव्यम्, अथ कथं मुक्तिप्राप्तिरित्याशंक्याह —'न कर्म लिप्यते नरे' **नहि मुक्त्यर्थं क्रियमाणं कर्म नरे मनुष्ये लिप्यते सम्बध्यते, मुक्तिप्रदानेनोपक्षीणशक्तिकत्वात्, तथा च बृहदारण्यकम्**– 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' **(बृहदा० उ० ४.४.२२)इति। विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्ति इति। अनेन एतद्दर्शयति यावदिच्छाप्रवृत्तिस्तावत्कर्मस्वधिकार इति। यद्यप्युव्वटाचार्यस्येदं भाष्यं सिद्धान्तविरुद्धमिव प्रतीयते, कर्मणां मुक्तिहेतुत्ववर्णनात्, यावज्जीवनकर्मानुष्ठानवर्णनेन संन्यासबाधनादिति, तथापि**

पुरुषत्व के अभिमानी तुझ मनुष्य के लिये इस अग्निहोत्रादिकर्म के अनुष्ठान से अतिरिक्त और कोई प्रकार नहीं है, जिस प्रकारान्तर से तुममें पाप का स्पर्श न हो, वह प्रकारान्तर नहीं है। प्रकारान्तर नहीं है, अत एव शास्त्र से विहित अग्निहोत्रादिककर्मों को सदा करता हुआ ही जीने की इच्छा कर। जैसे स्वर्ग की प्राप्ति में अग्निहोत्रादिक अनेक प्रकार हैं, उसप्रकार कर्म से असम्बन्ध के लिये नाना प्रकार नहीं हैं। किन्तु स्वधर्म का अनुष्ठानरूप एक ही प्रकार है, जिससे कि कर्म का लेप नहीं होता। उव्वटाचार्य की रीति से तो जैसे स्वर्ग की प्राप्ति में नाना प्रकार है, उस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति में अनेक प्रकार नहीं, यह अर्थ है।

कर्म का तो कोई फल होना चाहिये, कर्म से मुक्तिप्राप्ति कैसी ? ऐसी आशंका कर श्रुति कहती है **"न कर्म लिप्यते नरे"** मुक्ति के लिये किया कर्म मनुष्य को नहीं लगता अर्थात् स्वर्गादिफल नहीं देता। क्योंकि मुक्ति प्रदान कर देने से फल देने की शक्ति क्षीण हो जाती है। इसी अर्थ का बोधक **"तमेतं"** यह बृहदारण्यकवाक्य है। इस वाक्य से यह बोधन होता है कि जब तक फल की इच्छा से प्रवृत्ति होती है, तब तक ही पुरुष का कर्मों में अधिकार है। यद्यपि उव्वटाचार्य का यह भाष्य सिद्धान्त से विरुद्ध–जैसा प्रतीत होता है; क्योंकि इसमें कर्मों को

यावदिच्छाप्रवृत्तिस्तावत्कर्मस्वधिकार इत्युक्त्या यावद्रागस्तावत्कर्मस्वधिकार इति सिद्धान्तं प्रतिपादयति । यद्यपि "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" **(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.८) इति श्रुत्या ज्ञानैकसाध्यत्वं मोक्षस्योक्तम्, ज्ञानातिरिक्तस्य मोक्षसाधनत्वं प्रतिषिद्धमेव, तथापि चित्तशुद्धिद्वारा कर्मणाम्पारम्पर्येण सिद्धान्तेऽपि मुक्तिहेतुत्वाङ्गीकारेणाविरोध एव । 'मुक्तिप्रदानेनोपक्षीणशक्तिकत्वादि'त्यस्य मुक्तिहेतुतत्त्वज्ञानोपयोग्यन्तःकरणशुद्ध्यापादनेनोपक्षीणशक्तिकत्वादित्यर्थो बोद्धव्यः ।**

ननु पूर्वमन्त्रेण ब्रह्मात्मज्ञानप्रतिपादनं कुर्वन्नेवेहेति **मन्त्रेण कर्मप्रतिपादनमिति समुच्चितयोरेव ज्ञानकर्मणोर्मुक्तिसाधनत्वप्रतीतौ सत्यामधिकारव्यवस्थाऽनुपपन्नेति चेन्न ज्ञानकर्मणोर्विरोधात् ।**

मुक्ति का कारण कहा है तथा जीवनपर्यन्त कर्मों के अनुष्ठान का वर्णन होने से शास्त्रसिद्धसंन्यास का बाध भी होता है। तथापि 'जबतक राग है, तब तक कर्मों में अधिकार है' यह उव्वटभाष्य का वर्णन सिद्धान्त को ही प्रतिपादन करता है, अतः सिद्धान्तविरुद्ध नहीं। यद्यपि **"तमेव विदित्वा"** इस श्रुति के द्वारा मोक्ष को ज्ञान से साध्य कहा है। ज्ञान से अतिरिक्त मोक्ष के साधन का निषेध भी किया है। तथापि चित्तशुद्धि द्वारा कर्मों का परम्परा से मुक्तिहेतुत्व सिद्धान्त में भी मान्य होने से अविरोध ही है। 'मुक्ति प्रदान से उपक्षीणशक्तिक होने से' इसका तात्पर्य 'मुक्तिहेतु जो तत्त्वज्ञान है, उसके उपयोगी अन्तःकरणशुद्धिसम्पादन से उपक्षीणशक्तिक होने से' ऐसा समझने योग्य है।

"ईशावास्य" इस पूर्व मन्त्र ने ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया है, **"कुर्वन्नेवेह"** इस मन्त्र ने कर्म का प्रतिपादन किया है, अतः यह सिद्ध होता है कि समुच्चय को प्राप्त (मिले हुए ही) ज्ञान तथा कर्म मुक्ति के साधन हैं। ऐसी प्रतीति होने पर अधिकार-व्यवस्था अनुपपन्न (असिद्ध) है" ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि ज्ञान तथा कर्म का विरोध है। विरोध इस प्रकार है कि कर्म आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्वादिक धर्मों की अपेक्षा करके प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् 'मैं कर्ता-भोक्ता तथा नाना हूँ' ऐसा अभिमान होने पर ही कर्म में प्रवृत्ति होती है। ज्ञान तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्व से शून्य (रहित) अद्वितीय,

तथाहि कर्माणि तावदात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वादिकमपेक्ष्य प्रवर्तन्ते ज्ञानं तु कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वशून्यमद्वयमपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदं ब्रह्माणं प्रकाशयति। तेन त्यक्तेनेत्यादिना कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वप्रमुख-स्यत्यागानुवादेन सच्चिदानन्दात्मकमद्वितीयब्रह्मात्मज्ञाननिष्ठादार्ढ्य-नात्मनः पालनीयत्वमुपदिश्यते। तादृशं ज्ञानं न कर्मणा समुच्चयार्हम्, कर्तृत्वादिप्रविलापनेन तन्निरोधात्।

ननु ज्ञानकर्मणोर्वेदविहितत्वेन शुद्धिसाम्याद् विरोधोऽसिद्ध इति तदप्यसत्, ऋतुगमनत्रिदण्डिधर्मयोरप्यविरोधप्रसंगात्। तदुभयं नैकस्य विहितमितिचेत्, प्रकृतेऽपि तत्तुल्यत्वात्। न च तत्रप्रतिषेधात् नैककर्तृत्वमितिवाच्यम्, "न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेऽमृ-तत्वमानशुः, (**तै०आ० १०.१०, नारायणो० १२.३**),"नानुध्याद्बहूञ्छ-ब्दान्" (**बृहदा० ४.४.२१**) **इत्यादि प्रतिषेधस्य प्रकृतेऽपि तुल्यत्वात्।**

ब्राह्मण-क्षत्रियादिक भेद से रहित, ब्रह्मस्वरूप आत्मा को जनाता है। "**तेनेत्यक्तेन**" इत्यादिमन्त्रभाग से कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्व जिसमें प्रमुख हैं, उस सारे ही संसारके त्यागपूर्वक सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के ज्ञान की दृढ़ निष्ठा से आत्मा की रक्षा का उपदेश किया गया है। अतः सिद्ध होता है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व से शून्य ब्रह्मात्मा का ज्ञान, कर्तृत्व-भोक्तृत्व की अपेक्षा रखनेवाले कर्म के साथ समुच्चय (मेल) के योग्य नहीं है। समुच्चय तो तभी संभव है, जब ज्ञान के समय कर्म रहे; परन्तु ज्ञान के समय तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व के विलय होने से कर्म का ही बाध हो जाता है।

'ज्ञान तथा कर्म दोनों को ही वेद से विहित होने के कारण शुद्धि (प्रामाणिकता) समान होने से विरोध सिद्ध नहीं होता', यह शंका भी अर्थहीन है। क्योंकि इस तरह तो स्त्री का ऋतुकाल में गमन तथा त्रिदण्डिसंन्यासी के धर्म (स्त्री का अस्पर्श) का भी विरोध न रहेगा। यदि कहा जाय कि 'वह दोनों धर्म एक के लिये विहित नहीं। ऋतुगमन गृहस्थ के लिये तथा स्त्री का अस्पर्श त्रिदण्डि-संन्यासी के लिये है।', यह तो प्रकृत में भी समान है। यदि कहा जाय कि 'त्रिदण्डसंन्यास में स्त्री प्रसंग का निषेध है, अतः उन

न च 'न कर्मणेति' निषेधस्य **केवलकर्मविषयत्वेन चरितार्थत्वेन न समुच्चयविषयत्वं, केवलपदव्यवच्छेद्यस्य समुच्चयस्याद्याप्यसिद्ध-त्वात्। ज्ञानाज्ञानाद्यवस्थाभेदेन ज्ञानकर्मणोः क्रमेणैकपुरुषानुष्ठेयत्वे ज्ञानोत्तरसमुच्चयानुपपत्तेः। वशिष्ठरामकृष्णादीनान्तु कर्मानुष्ठानानि न कर्माणि, तत्रकर्तृत्वादि[1] [3]बुद्ध्यभावात्, किन्तु कर्माभासानि लोक-संग्रहैकप्रयोजनानि, मुक्तिं प्रति तेषामहेतुत्वात्। यथा दाहादव्यवहित-पूर्वक्षणवर्तित्वेऽपि नाग्नेः पिङ्गलताया दाहहेतुत्वमन्यथासिद्धत्वात् तथा कर्मणामप्रयोजकत्वान्न मोक्षहेतुत्वम्,** 'नान्यः पन्था विद्यतेऽय-

---

दोनों का एक कर्ता नहीं हो सकता' यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि **'न कर्मणा'** इत्यादि श्रुतियों से कर्म से मोक्ष का प्रतिषेध समान ही है।

"न कर्मणा" इस श्रुति में किये निषेध को केवल कर्मविषयक होने से गतार्थता है, वह निषेध कर्मसमुच्चय का नहीं है। अर्थात् श्रुति में किये निषेध का अभिप्राय यह है कि केवल कर्म मुक्ति का हेतु नहीं, वह निषेध कर्मसमुच्चय का नहीं है," यह कहना उचित नहीं, क्योंकि यदि समुच्चय सिद्ध हो जाता तब तो 'केवल' पद उसकी व्यावृत्ति करता, किन्तु समुच्चय तो अभी तक सिद्ध ही नहीं हुआ, अतः केवल कर्म का निषेध नहीं कहा जा सकता। ज्ञान तथा अज्ञान अवस्था के भेद से एक पुरुष के द्वारा ज्ञान तथा कर्म का क्रम से अनुष्ठान सिद्ध हो जाने पर ज्ञान के पश्चात् समुच्चय के सिद्ध न होने से केवल कर्म का निषेध नहीं। ज्ञान समकाल किया वसिष्ठ-राम-कृष्णादि का कर्मानुष्ठान कर्म नहीं है, क्योंकि उनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमान का अभाव है। अतः उनका कर्मानुष्ठान कर्माभास ही है। उनके कर्माभास का प्रयोजन लोक-संग्रहमात्र है; क्योंकि कर्मों को मुक्ति के प्रति कारणता है ही नहीं। जैसे दाह से पूर्वक्षणवृत्ति, अग्नि की पिङ्गलता दाह के प्रति हेतु नहीं, क्योंकि अन्यथा सिद्ध है, इसी प्रकार कर्म मोक्ष के प्रति हेतु नहीं, क्योंकि मोक्ष के प्रति अप्रयो-जक (असाधक) है। **'नान्यः पन्था"** यह श्रुति भी ज्ञान से अतिरिक्त

---

१३. कर्तृत्व-भोक्तृत्व-अहङ्कार-नानात्वबुद्धि और अभिनिवेश।

नाय' (शुक्ल० ३१.१८, श्वेता० ६.१५, त्रिपाद विभूति० ४) इति निषेधात्। अज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ ज्ञानहेतुत्वस्य क्लृप्तत्वात्। कर्तृत्वाद्यध्यासाश्रयं कर्म शुद्धत्वाकर्तृत्वादिज्ञानेनोपमृद्यत एव। मन्त्रलिङ्गादपि तयोर्भिन्नाधिकारित्वमेव प्रतीयते। जिजीविषो रागिणः कर्मविहितम्। सर्वमीश्वर एवेति ज्ञानवतस्त्याग एव विहितः।

किञ्च धनसम्पन्नस्य कर्माधिकारः सिद्धयति। प्रथम मन्त्रार्थाधिकारिणस्तु धनाकांक्षानिषेधेन कर्माधिकारनिषेधस्यार्थसिद्धत्वात्। जिजीविषाऽपि कर्माधिकारिण एव न ज्ञानाधिकारिणः, तस्य 'न जीविते मरणे वा गृद्धिं कुर्वीत' (तैत्तिरीयशाखीय नारायणो०) इति जिजीविषा निषेधात्। 'अरण्यमियात्' (नारायणो०) इति च पदं ततो न पुनरियादित्यर्थपरम्। जीविताकांक्षायाः पूर्वमेवनिषेधात्, तस्य स्त्रीजनासंकीर्णाश्रमविधानाच्च। न दम्पत्योः सहाधिकार प्रयुक्तानि कर्माणि तस्य सम्भवन्ति, प्रत्यावृत्तिनिषेधात्। 'तत्र को मोहः कः

कर्मादि का मोक्ष के प्रति निषेध करती है। अज्ञान तथा उसके कार्य की निवृत्ति में ज्ञान हेतु है, यह रज्जुसर्पादि स्थल में प्रसिद्ध भी है। कर्तृत्वादि अध्यास के अधीन होने वाला कर्म आत्मा के शुद्धत्वाकर्तृत्वादि के ज्ञान से बाधित हो ही जाता है। मन्त्र में अर्थ प्रकाशन सामर्थ्यरूपलिंग से भी ज्ञान तथा कर्म के भिन्न अधिकारी हैं, यही प्रतीत होता है। जीवन की इच्छावाले रागी पुरुष के लिये कर्म विहित है तथा 'सर्व ईश्वर है' इस प्रकार के ज्ञानवाले पुरुष को तो त्याग ही विहित है। भाव यह है कि रागी कर्म का अधिकारी है। विरागी ज्ञान का अधिकारी है। 'सर्व परमेश्वर है' इस प्रकार ज्ञानवाले पुरुष के लिये त्याग ही विहित है।

धन सम्पन्न पुरुष का ही कर्म में अधिकार सिद्ध होता है। प्रथम मन्त्र के अधिकारी के लिये धन की आकांक्षा का निषेध होने से कर्म में अधिकार का निषेध अर्थ से ही सिद्ध हो जाता है। जीवन की इच्छा भी कर्माधिकारी के लिये ही है न कि ज्ञानाधिकारी के लिये। क्योंकि ज्ञानाधिकारी के लिये तो श्रुति ने जीवन तथा मरण की इच्छा का निषेध किया है। श्रुति के **"अरण्यमियात्"** इस पद का भी 'संन्यास से लौटकर न आवे' इसी में तात्पर्य

शोक एकत्वमनुपश्यत' (ईशा० ७) **इति सनिदानानर्थप्रहाणं ज्ञाननिष्ठाफलम्। देशान्तरस्वर्गादिगमनं हिरण्यगर्भपदप्राप्त्यादिलक्षणं तु कर्मफलम्।** 'अग्ने नय सुपथा राये'(**ईशा० १६**) **इति मार्गयाचनं, ज्ञाने तु** 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीहैव समवनीयन्ते' (**बृहदा० ४.४.६**) **इति तदनपेक्षमेव स्वात्मनावस्थानलक्षणं फलम्।** 'इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चपुरस्तात् संन्यासश्चोत्तरेण तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति' (**तैत्ति०नारायणो०**) **इति श्रुत्यापि भिन्नाधिकारित्वं तयोः प्रतिपाद्यते।**

पुरस्तात् सृष्टिकाले अनुनिष्क्रान्ततरौ भूतसृष्टिमनुप्रवृत्तौ भिन्नाधिकारित्वादुभयोः संन्यास एवातिरिक्तः श्रेष्ठोभवति। परमपुरुषार्थाव्यवधानात्। तैत्तिरीयकेऽपि—"कर्माणि प्रयुतानि वा एता-

---

है। क्योंकि जीवन की इच्छा का तो पहिले ही निषेध कर दिया है। ज्ञान के अधिकारी को स्त्री से असम्बन्धित आश्रम का विधान है। अतः पति-पत्नी दोनों के साथ अधिकार से होने वाले कर्म ज्ञानाधिकारी संन्यासी को सम्भव नहीं है। संन्यासाश्रम से लौटने का तो निषेध है ही। **"तत्र को मोहः"** इस श्रुति से कारण के सहित सर्व अनर्थ की निवृत्ति ज्ञाननिष्ठा का फल है। देशान्तरस्वर्गादिगमन तथा हिरण्यगर्भ पद की प्राप्ति आदि कर्म का फल है। **"अग्ने नय"** इस श्रुति के अनुसार कर्म तथा उपासना का अधिकारी श्रेष्ठमार्ग से गमन की याचना करता है। **"न तस्य प्राणाः"** इस श्रुति के अनुसार ज्ञान होने पर तो मार्ग की अपेक्षा के बिना अपने स्वरूप से स्थिति ही फल है। **"इमौ द्वावेव"** इस श्रुति से भी ज्ञान तथा कर्म के अधिकारी भिन्न ही प्रतिपादन किये गये हैं।

भिन्नाधिकारी वाले होने से ज्ञान-कर्म दोनों में संन्यास श्रेष्ठ है। भाव यह है कि यदि समुच्चयवादी के अनुसार ज्ञान-कर्म का एक ही अधिकारी होता तथा दोनों मिलकर मोक्ष प्रदान करते तो दोनों की समता होने से किसी को श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता था। भिन्न अधिकारी होने से तथा मोक्ष का साक्षात् साधन होने से ही संन्यास श्रेष्ठ कहा गया है। तैत्तिरीयक ब्राह्मण में भी कहा है, 'कर्मों का विप्रकृष्ट फल है। अर्थात् सातिशय फल है। ज्ञानमार्ग का अतिशय (सर्वश्रेष्ठ)

न्यवराणि संन्यास एवातिरेचयति" **इति कर्मणां विप्रकृष्टफलत्वम्, ज्ञानमार्गस्यातिशयितफलत्वञ्चाम्नातम् । भगवता व्यासेनापि तथैव स्मृतम्**—'द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः । प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः निवृत्तिश्च विभावितः' **(महा० शान्ति० २४१.६) इति ।**

उव्वटाचार्यास्तु त्वयीति तवेति व्यत्ययेन मुक्तिरिति शेषमभ्युपगच्छन्ति । एवं कर्मानुष्ठानात्तव मुक्तिरस्ति अन्यथा इतः प्रकारादन्यथा मुक्तिर्नास्तीति, तदपि पूर्वोक्तरीत्या समाधेयम् ।

ननु कर्मानुष्ठानेन 'कर्म न लिप्यते' **इति विपरीतमेतत्, तत्त्वज्ञानेनात्मनोऽसंगत्वज्ञानेन कर्मालेपवादस्यैव संगतत्वात् ।** 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यते । एवं विदि कर्म न श्लिष्यते' (**छान्दो०** ४.१४.३) **इति श्रुत्यभिप्रायात् ।** 'असंगो न हि सज्जते'(**बृह०** ४.२.४) **इति श्रुत्यनुसारेण यद्यप्यात्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः कर्तृत्वादि विकारहीन एव तथापि जपाकुसुमसान्निध्येन लौहित्यमिव स्फटिके देहेन्द्रियादि**

फल है ।', भगवान् व्यासजी ने भी कहा है कि—'जिनमें सम्पूर्ण वेद प्रतिष्ठित हैं वे दो ही मार्ग हैं । एक प्रवृत्तिरूप धर्म (कर्ममार्ग), दूसरा निवृत्तिरूप धर्म अर्थात् संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा ।'

उव्वटाचार्य तो कहते हैं—'कर्मानुष्ठान से तेरी मुक्ति होगी । इससे और प्रकार से मुक्ति नहीं है ।' इसका समाधान भी यह है कि अन्तःकरण की शुद्धि तथा ज्ञान द्वारा ही कर्म मुक्ति का साधन है ।

शङ्का—"कर्म के अनुष्ठान से कर्मलेप नहीं होता, यह तो विपरीत कथन है । क्योंकि तत्त्वज्ञान से आत्मा की असङ्गता का निश्चय हो जाने से कर्म के लेप न होने का कथन (प्रवाद) ही संगत है । यथा **'पुष्करपलाश'** इस श्रुति का भी यही अभिप्राय है कि ज्ञानी में ही कर्मलेप नहीं होता । "असंग आत्मा किसी से लिप्त (सम्बन्धि) नहीं होता" इस श्रुति के अनुसार यद्यपि आत्मा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव कर्तृत्वादि विकारहीन ही है, तथापि जपाकुसुम की समीपता से स्फटिक में लालिमा के समान देहेन्द्रियादि के सान्निध्य (तादात्म्याध्यास) से असंग आत्मामें व्यापार भासता है । भले ही लालिमा की प्रतीतिकाल में भी स्फटिक स्वच्छ ही है । उसी प्रकार देहेन्द्रियादि की समीपता से आत्मा में प्रतीयमान व्यापार

सान्निध्यवशात् असंगेऽप्यात्मनि मिथ्याव्यापारवत्त्वं भासते । लौहित्य-भानदशायामपि यद्यपि स्फटिकः स्वच्छ एव, तथैव व्यापारवद्देहादिसान्निध्यवशादवभासमानमपि व्यापारवत्त्वमात्मनि मिथ्यैव । तच्च यद्यपि स्वरूपतो ज्ञानाज्ञानवत्सु साधारणमेव तथापि ज्ञानी ज्ञानवशान्निर्लेपत्वमात्मनः प्रत्येति, तदितरस्त्वज्ञानाल्लिप्यते । तस्मात् कर्मानुष्ठानात्कर्मनिर्लेपत्वमसंभवमेवेतिचेन्न, तत्र कर्मपदेन पापकर्मण एव विवक्षितत्वात् । कंटकेन कंटकोद्धारो यथा भवति तथा वैदिकैः कर्मभिः पाशविकानि कर्माणि विरुद्धयन्ते,'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' **(ईशा० ११) इति श्रुतेः । कर्माकरणेन विपरीतकरणप्रसक्तेन** 'अकुर्वन् विहितं कर्म' **(मनु० ११.४४) इति विहिताकरणेन विपरीतकरणप्रसक्तेः** 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातुतिष्ठत्यकर्मकृत्' **(गीता० ३.५) इति गीतोक्तेः ।**

मिथ्या ही है । यद्यपि व्यापार ज्ञानी तथा अज्ञानी सर्व में प्रतीत होता है, तथापि ज्ञानी ज्ञान के बल से आत्मा की निर्लेपता ही अनुभव करता है । ज्ञानी से अतिरिक्त अज्ञानी पुरुष तो अज्ञान की महिमा से असंग आत्मा को कर्मादि से लिप्त अनुभव करता है । इसलिये अज्ञानी पुरुष को कर्मानुष्ठान से कर्मलेप का अभाव असंभव है," यदि ऐसा कहा जाय तो वह भी उचित नहीं । क्योंकि श्रुति में कर्मपद से पापकर्म ही कहा गया है, अतः शास्त्रीय पुण्यकर्म से पाप का लेप न होना(निवृत्ति)स्वाभाविक है । जैसे कंटकसे कंटक का उद्धार हो जाता है, उसी प्रकार वैदिक कर्मों से पाशविक (पाप)कर्मविरुद्ध हैं ही अर्थात् निवृत्त हो जाते हैं । वैदिक कर्मों से पापरूप मृत्यु से पार होना स्वयं श्रुति भी कह ही रही है । अज्ञानी पुरुष के लिये कर्म न करने से भी अलेप संभव नहीं है । विहित कर्म न करनेसे विपरीत कर्मकी प्राप्ति हो जाती है । क्योंकि स्वयं गीता का कथन है कि कोई भी अज्ञ पुरुष एक क्षण भी कर्म करने से अछूता नहीं रहता । कर्तृत्वाभिमान बना ही रहता है । ऐसी दशा में कर्म न करने से भी कर्मका अलेप संभव नहीं ।

और जो यह कहा कि "भगवदर्पण बुद्धि से किये जानेवाले कर्म से कर्मलेप नहीं होता है, क्योंकि ऐसा स्वयं **'यज्ञार्थात्'** यह गीता-वाक्य कह रहा है," यह कथन भी बुद्धि की शुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति से ही संभव है, अर्थात् भगवदर्पण बुद्धि से किये कर्म से बुद्धि-

यत्तु भगवदर्पणबुद्धयानुष्ठीयमानकर्मणा कर्मलेपो न भवतीति 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्रलोकोऽयं कर्मबन्धनः' **(गीता ३.९) इत्युक्ते-रिति तदपि बुद्धिशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पादनद्वारेणैवोपपद्यते, असंगात्मानुभवमन्तराऽहंकर्ता मयाऽनुष्ठितानि कर्माणीतिभ्रमानिवृत्तेः । तस्माद् वैदिककर्मानुष्ठानेन पापं कर्म न लिप्यत इत्येवार्थः ।**

निःस्पृहस्यापि ज्ञाननिमित्ते कर्मण्यधिकार इति उव्वटाचार्यः । अन्येषां रीत्या तु मा गृधः कस्यस्विद्धनमितिरीत्या येषां धनाकांक्षात्यागपूर्वके ज्ञाननिष्ठात्मये संन्यासेऽधिकारो नास्ति तेषामेव कर्मस्वधिकारः । निःस्पृहस्यापि भगवदाराधनबुद्धया क्रियमाणे कर्मण्यधिक्रियमाणेऽपि न सिद्धान्तहानिः । तादृशैः कर्मभिर्वैराग्यतत्तद्दाढर्योत्पत्तिसम्भवाच्च । अत एव तादृशैषणात्रयतद्धेतुवैराग्यसाधनविवक्षया भगवदाराधननिष्कामभावेन कर्मणां विधानं युक्तम्—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥"

(गी० ६.३) इति गीतोक्तेः ।

शुद्धि, उससे तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञान से कर्मों का अलेप होता है, यह अभिप्राय है । क्योंकि असङ्ग आत्मा के अनुभव के बिना "मैं कर्ता हूँ", "मेरे द्वारा कर्म किये गये हैं" यह भ्रम निवृत्त नहीं होता । इसलिये 'वैदिक कर्मानुष्ठान से पापकर्म लेप नहीं करता', यही श्रुति का अर्थ है ।

'निःस्पृह पुरुष का भी ज्ञान के निमित्त कर्म में अधिकार है,' ऐसा उव्वटाचार्य का अभिप्राय है । अन्याचार्यों की रीति से जिनका धन की आकांक्षा के त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठामय संन्यास में अधिकार नहीं है, उनका ही कर्म में अधिकार है । निःस्पृहपुरुष का भगवदाराधन बुद्धि से किये जाने वाले कर्म में अधिकार मानने पर भी सिद्धान्त की हानि नहीं है; क्योंकि फल की इच्छा से रहित भगवदाराधन बुद्धि से किये कर्मों से वैराग्यादिक उन-उन साधनों को दृढ़ता की उत्पत्ति भी संभव है । इसलिये ही तीनों एषणा तथा उसके साधन स्त्री आदिकों से वैराग्य के साधनों को कहने के तात्पर्य से भगवद्-

न च फलाकांक्षाभावे कर्मणि प्रवृत्त्यनुपपत्तिरितिवाच्यम्, 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' **(गी० ३.१९) इति गीतोक्त्या भगवदाज्ञावशंवदस्य कर्मणि प्रवृत्त्युपपत्तेः, कर्माकरणे प्रत्यवायभयेन** च **कर्मणि प्रवृत्त्युपपत्तेः । न च** 'कर्मणा बद्धयते जन्तुः' **(शान्तिपर्व २४१.७, संन्यासो० ९८) इति बन्धनत्वं स्यात् कर्मणाम्** 'असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोतिपूरुषः' **(गीता ३.१९) इति निष्कामकर्मणां परमात्मप्राप्तिहेतुत्वोक्तेः,**

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥"

(गी० ५.१०) इति भगवदुक्तेः ।

दयानन्दः "मनुष्य इह संसारे कर्माणि धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्कामकृत्यानि कुर्वन्नेव शतं समाः जिजीविषेत् । एवं धर्म्ये कर्मणि प्रवर्तमाने त्वयि नरे न कर्मलिप्यते, इतोऽन्यथा नास्ति लेपाभाव" इति ।

तदप्यसत्, जिजीविषाया राग प्राप्तत्वेन विधानानर्हत्वात्, वैदिकानि कानि कर्माणीत्यद्याप्यनुक्तेः । न चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यज्योतिष्टोमराजसूयवाजपेयाश्वमेधाख्यानि कर्माणि सत्राणि

आराधनपूर्वक निष्कामकर्मों का विधान उचित ही है। क्योंकि **"आरुरुक्षोः"** यह गीतावाक्य भी इसी अर्थ को कह रहा है।

'फल की आकांक्षा न होने पर कर्म में प्रवृत्ति ही असंभव है,' ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि-**'तस्मादसक्तः'** इस गीता के कथन से भगवान् की आज्ञा में रहनेवाले की निष्कामकर्म में प्रवृत्ति संभव है। फल की आकांक्षा से रहित पुरुष की कर्म न करने पर पाप के भय से भी कर्म में प्रवृत्ति बन सकती है। यदि कहा जाय कि **"कर्मणा"** इस शास्त्र के वाक्यानुसार तो निष्कामकर्म भी बन्धनरूप ही होगा, तो यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि **"असक्तो ह्याचरन्"** और **"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि'** यह भगवद्वचन निष्कामकर्मयोग को परमात्मप्राप्ति में और पाप से अलिप्त रहने में हेतु बता रहा है, अतः निष्कामकर्म बन्धनरूप नहीं।

वा त्वयाभिप्रेयन्ते, तत्पराणामन्यथाऽन्यथा त्वया व्याख्यातत्वात् । ब्राह्मणानि त्वद्रीत्या व्याख्यानमात्राणीति न तानि स्वातन्त्र्येण कर्म-बोधकानि । सूत्राणि तु न स्पृश्यन्ते त्वया ॥२॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

(४०.३)

अद्वितीय परमानन्द—परमात्मतत्त्व के अनभिज्ञ अनात्मप्रपञ्च—बाह्य जगत् और देहेन्द्रियादि में रमण करनेवाले उस ब्रह्मात्मतत्त्व की अपेक्षा निश्चय ही 'असुर' कहे जाते हैं। भोगायतनरूप देवादिदेह इस दृष्टि से 'असुर-सम्बन्धी-लोक' हैं। ये अज्ञानान्धकार से आच्छादित हैं। परमानन्दस्वरूप अजर-अमर ब्रह्मात्मतत्त्व को देहेन्द्रियादि के अनुरूप जानकर जगत् में रमण करनेवाले आत्मतिरस्कार के कारण आत्महत्यारे हैं। ऐसे बहिर्मुख पुण्य-पाप के अर्जन में ही रमे रहते हैं। देहत्याग के बाद कर्मानुरूप देव, मनुष्यादि लोकों को प्राप्त होते हैं ॥३॥

स्वामी दयानन्द कहते हैं कि—'मनुष्य इस संसार में धर्म से प्राप्त वेदोक्त निष्कामकर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार धर्मयुक्त कर्म में प्रवृत्त होनेवाले पुरुष में कर्मलेप नहीं होता। इससे अन्य किसी प्रकार से कर्मलेपाभाव नहीं हो सकता।'

यह उनका कहना असत् (अनुचित) है; क्योंकि जीने की इच्छा तो राग से प्राप्त है, उसका विधान संभव नहीं-विधान के योग्य नहीं। जिन वैदिककर्मों के अनुष्ठान से लेपाभाव कहा,उन वैदिककर्मों का अब तक अपने भाष्य में वर्णन ही नहीं किया कि वे वैदिककर्म हैं कौन ? यदि कहें कि अग्निहोत्र-दर्श-पूर्णमास-चातुर्मास्य-ज्योतिष्टोम-राजसूय-वाजपेय-अश्वमेध नामवाले ही वे कर्म हैं तथा अन्य सत्ररूप वे कर्म हैं तो आपने

ब्रह्मात्मज्ञानप्रशंसार्थमविद्वन्निदाऽनेनमन्त्रेणोच्यते । असुर्याः— **अद्वयं परमात्मभावमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुराः, अशोभनेऽनात्मप्रपञ्चे रमणात् । असुषु प्राणोपलक्षितेषु देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रभृतिषु जगत्सु रमणाद्वा असुराः । तेषां स्वभूता लोका असुर्याः ।** नाम शब्दः **प्रसिद्धौ । ते ये यत्तदोर्व्यत्ययः । लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्तेविषया एषु इतिलोकाः देवादि जन्मानि । एवम्विधाः प्रसिद्धाः असुर्याः लोकाः । ये च** अन्धेन **ब्रह्मात्मतत्त्वादर्शनात्मकेन** तमसा अज्ञानेनावृता आच्छादिताः । तान् **तादृशान् लोकान्** ते **मूढाः**प्रेत्य **वर्तमानदेहं त्यक्त्वा** अभिगच्छन्ति **प्राप्नुवन्ति स्वस्वपुण्यापुण्यपरिपाकवशात् देवमनुष्यादिरूपां विविधां योनिं प्रपद्यन्त इत्यर्थः । के ते इति तानाह** 'ये के चात्महनो जनाः' **आत्मानं घ्नन्ति ये ते आत्महनो जनाः ।**

यजुर्वेद-संहिता में उन कर्मों को स्वीकार ही नहीं किया । रही ब्राह्मण-ग्रन्थों की बात, सो आपकी रीति के अनुसार वे तो वेदों के व्याख्यान-मात्र हैं, वे स्वतन्त्ररूप से कर्म के बोधक आपके मत में हैं ही नहीं । सूत्रों को तो आपने छूआ तक नहीं ।।२।।

ब्रह्मात्मज्ञान की प्रशंसा के लिये अविद्वान् (अज्ञानी) की निन्दा इस तृतीय मंत्र से कही जा रही है । अद्वितीय परमात्मरूपता की अपेक्षा से देवादि भी असुर हैं । क्योंकि देवादि भी तुच्छ प्रपञ्च में रमण करते (आनन्दमनाते) हैं । अथवा 'असु' अर्थात् प्राण से उपलक्षित देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि आदिक जगत् के पदार्थों में रमण करने से देवादि भी असुर कहे जाते हैं । उनके भोगसाधनरूप लोक, असुर्य अर्थात् असुरसम्बन्धी लोक कहे जाते हैं । मंत्र में नामशब्द प्रसिद्धि का वाचक है । जिन स्थानों में शब्द-स्पर्शादि विषयों का अनुभव किया जाता है, उनको लोक कहते हैं । वे लोक कौन हैं ? वे हैं—देवादि के शरीर, क्योंकि शरीर में स्थित होकर ही सर्व जीव विषयों का अनुभव करते हैं । ऐसे प्रसिद्ध जो देवादिक शरीर हैं, वे ही असुर सम्बन्धी लोक हैं । ये लोक अर्थात् ये शरीर ब्रह्माभिन्न आत्मतत्त्व के अज्ञानरूप अन्धकारसे आवृत (आच्छादित) हैं । अज्ञानरूप अंधकार से आच्छादित इन लोकों को मूढ़ (अज्ञानी)पुरुष वर्तमानदेह को त्यागकर प्राप्त होते हैं । अर्थात् अपने पुण्य-पाप के कारण देव-मनुष्यादिरूप अनेक योनियों को प्राप्त

नन्वात्मनो नित्यत्वात् कथमात्महननं संभवति इतिचेन्न, आत्मतिरस्कारस्य बधापेक्षयापि भयंकरत्वात्। 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' **(गीता २.३४) इत्युक्तेः। अपास्ताशेषानर्थव्राते निरतिशयानन्दस्वप्रकाशचिदात्मके आत्मतत्त्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसकलानर्थपरिप्लुतत्वस्यारोप एव तद्धननम्। ये के च जनाः आत्मयाथात्म्याज्ञानेन देहाद्यनात्मतादात्म्याभिमानेन कर्माणि कुर्वाणा आत्मत्वेनाभिमतान् देहादीनुत्पादयन्ति नाशयन्ति च ते आत्मानं घ्नन्ति तानसुर्यान् लोकान् प्राप्नुवन्ति। अजरामरस्याप्यात्मनोऽविद्यादोषेण तिरस्करणात् तेषामात्महन्तृत्वम्। विद्यमानस्याप्यात्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदनं तद्धतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृताविद्वांसोऽपि जना आत्महन उच्यन्ते। यथा कस्यचिच्छुद्धस्य मिथ्याभिशापोऽशस्त्रवध उच्यते, तद्वदात्मनि स्वभावशुद्धे कर्तृत्वभोक्तृत्वाशुद्धत्वाद्यध्यासोऽपि हिंसैव भवति। तेन ह्यात्महननदोषेण ते संसरन्ति।**

होते हैं। कौन हैं वे ? जो आत्मा का हनन करते हैं वे ही मूढ़ हैं।

'आत्मा नित्य है, उसका तो हनन ही संभव नहीं,' यह कहना उचित नहीं। क्योंकि आत्माका न जानना ही आत्मा का तिरस्कार है, हनन की अपेक्षा तिरस्कार अधिक कष्टप्रद होता है; अत: आत्मा का तिरस्कार ही यहाँ हनन है। अतएव स्वयं भगवान् ने भी गीता में कहा है कि—'प्रतिष्ठित पुरुष का तिरस्कार मरण से भी अधिक कष्टप्रद होता है।', सर्व अनर्थसमुदाय से रहित निरतिशय आनन्दस्वरूप स्वप्रकाश चेतन आत्मतत्त्व में कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिक सकल अनर्थ का आरोप ही आत्मा का हनन है। जो मनुष्य आत्मा के यथार्थस्वरूप के अज्ञान से देहादिक अनात्मपदार्थों में तादात्म्य अभिमान ('मैं मनुष्य हूँ', 'ब्राह्मण हूँ' इस अहङ्कार) से कर्म करते हैं, वे देहादिकों को उत्पन्न तथा नाश करते हैं; क्योंकि अहङ्कार से किये कर्मों से ही देहादिकों की उत्पत्ति तथा विनाश होता है। वे ही मनुष्य आत्मा का नाश करते हैं। वे ही पूर्वोक्त असुरसम्बन्धी लोकों को प्राप्त होते हैं। वे ही पुरुष अजर-अमर-आत्मा का अविद्यादोष से तिरस्कार करने से आत्मघाती हैं। विद्यमान अजर-अमर आत्मा की अमरतादि का ज्ञान मुख्य फल है। परन्तु नष्ट हुए में जैसे अमरतादि का ज्ञान

अन्ये तु—'मा गृधः' इत्यादेः व्याख्यानमनेन मन्त्रेण क्रियते। धनाभिलाषवतां कष्टसंसारप्राप्तिवर्णनात्। ये श्वसूकरादिदेहाः कर्मफलरूपा अन्धेन तमसा क्लेशचतुष्टयानुविद्धेन पञ्चमेनान्धतामिस्रेणाहंममाभिनिवेशरूपेणावृताः। धनाभिलाषेणेश्वरज्ञानशून्याः आत्महनः पूर्वोक्ता एव प्रेत्य तानभिगच्छन्तीति ॥३॥

नहीं होता, उसी प्रकार विद्यमान भी अजर-अमर आत्मा की अमरतादिका ज्ञान तिरोभूत रहता है, अत एव अद्वैतवेदान्त के श्रवणादि से शून्य, लौकिकज्ञान से सम्पन्न भी पुरुष (मनुष्य) आत्मघाती कहे जाते हैं। जैसे अत्यन्त शुद्ध पुरुष को मिथ्या दोष का लग जाना, बिना शस्त्र के बध कहा जाता है, उसी प्रकार स्वभाव से शुद्ध आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अशुद्धि का आरोप भी आत्मा की हिंसा (बध) ही है। इस आत्मा की हिंसारूप दोष से ही अज्ञानी जन जन्म-मरणरूप संसार को प्राप्त होते रहते हैं।

अन्य कोई विद्वान् तो ऐसा कहते हैं कि—**"मा गृधः"** इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान ही इस तृतीय मन्त्र से किया जा रहा है। क्योंकि इस तृतीय मन्त्र में धनादि अनात्मपदार्थों की अभिलाषावालों के लिये कष्टदायी संसार की प्राप्ति का वर्णन है। जो श्व-सूकरादिक कर्म के फलस्वरूप देह हैं, वे अविद्या-अस्मिता-राग तथा द्वेष इन चार क्लेशोंसे युक्त पंचम अहंता-ममता में अभिनिवेश रूप जो अन्ध(गाढ़)तम 'अन्धतामिस्र' है, उससे आवृत हैं। धन की अभिलाषा के कारण ईश्वर के ज्ञान से शून्य पूर्वोक्त आत्मघाती पुरुष इस देह को त्यागकर उन देहों को ही प्राप्त होते हैं ॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैन-
द्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्त-
स्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४०.४॥

जो अपने स्वरूप से च्युत (चलायमान) नहीं होता, सदा एक-रस–अद्वितीय रहता है, जो व्यापक और स्वप्रकाश होने से संकल्प-विकल्पात्मक मनकी गतिका भी अतिक्रमण करनेवाला है—सुदूर अवस्थित ब्रह्मलोकादि का जिसकी विद्यमानता के बिना मन में स्फुरण होना असंभव है, मन की अपेक्षा भी अपने सोपाधिक रूप से अधिक वेगवाला मान्य होने के कारण और अनादि–अनन्त–सर्वाधिष्ठान सर्वसाक्षी होने के कारण जिसे रूपादि विषयों के प्रकाशन में समर्थ इन्द्रियाँ और उनके अनुग्राहक देवगण भी ग्रहण करनेमें –प्रकाश्य बनाने में असमर्थ ही हैं। महत्तत्त्व, प्राण और वायुरूप से प्रकृति और अन्तरिक्ष में विचरण करनेवाला 'हिरण्यगर्भ' और 'सूत्रात्मा' कहलानेवाला वायुतत्त्व प्राणियों के कार्य–कारणात्मक स्थूल-सूक्ष्म शरीर का उद्दीपक और रक्षक है, ज्ञान-क्रिया उसके अधीन है। वह सर्वकर्मों की प्रतिष्ठा है। पर, कर्म सहित स्वयं की और अपने आश्रय अन्तरिक्ष तथा प्रकृति की सत्ताको जिससे अधिष्ठित होकर ही लाभ करने में समर्थ है; वही है वह सर्वभेदशून्य आत्मतत्त्व, जिसकी आराधना के बिना देवगण भी आसुरभाव से मुक्त नहीं हो सकते ॥४॥

ईशावास्यमिति**मन्त्रस्थस्य ईट् शब्दस्यैव विवरणमेभिर्मन्त्रैः क्रियते। यद्वा किं तदात्मतत्त्वं यस्यहननादविद्वांस आसुरीं योनिमापद्यन्ते तद्विपर्ययेण विद्वांसो मुच्यन्ते इति तदाह—**अनेजदेकम्। **त्रिष्टुप्। न**

एजत् अनेजत्। एजृकम्पने **स्वावस्थाप्रच्युतिः कम्पनम्, तद्वर्जितं सदैकरूपम्।** तच्चैकमद्वितीयं **सर्वभूतेषु** "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेताश्वतर उप. ६।११) **इति श्रुतेः।** मनसः **संकल्पविकल्पलक्षणा**-ज्जवीयः **वेगवत्तरम्। जवोऽस्यास्तीति जववत्, अतिशयितं तज्ज-वीयः। ईयसुनि कृते** "विन्मतोर्लुक्" **(पा० ५।३।६५)इति मतुपो लुक्।**

ननु विरुद्धमिदमनेजत् मनसो जवीय इति चेत् नैष दोषः, निरुपाध्युपाधिमत्त्वेन तदुपपत्तेः। तत्र निरुपाधिकेन स्वेनरूपेणोच्यते-ऽनेजदेकम्। संकल्पविकल्पलक्षणस्य मनसोऽन्तःकरणस्यानुवर्तनमपेक्ष्य च मनसो जवीय उच्यते। यद्यपि मनसो बहिरस्वातन्त्र्याच्चक्षुराद्यन्तरा मनसो बहिर्गमनं न भवत्येव तथापि ब्रह्मलोकादिदूरस्थसंकल्पनं

"ईशावास्यम्" इस मन्त्र में स्थित ईट् (ईश) शब्द का ही विवरण आगे के मन्त्रों से किया जाता है। अथवा यह जिज्ञासा होती है कि वह आत्मतत्त्व कौन है, जिसके हनन करने से अज्ञानी देवता भी आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं, इसके विपरीत ज्ञानी जन जिसका आत्मनिष्ठा के द्वारा पालन करने से मुक्त हो जाते हैं? अतः उस आत्मतत्त्व का मन्त्र वर्णन करता है। जो चलता नहीं, चलना यहाँ पर अपने स्वरूप से प्रच्युति है, अर्थात् अपने स्वरूप से जो कभी चलायमान नहीं होता, सदा एकरूप ही रहता है, ऐसा वह आत्म-तत्त्व सर्वभूतों में एक-अद्वितीयरूप से स्थित है। क्योंकि ऐसा **"एको-देवः"** यह श्वेताश्वतर श्रुति भी कहती है। संकल्प-विकल्परूप मन से भी जो अधिक वेगवाला है। वेगवाले को **"जववत्"** कहते हैं तथा जो अत्यन्त वेगवाला होता है, उसे **"जवीय"** कहते हैं।

"यह कथन तो अत्यन्त विरुद्ध है कि चलता नहीं तथा मन से अधिक वेगवाला भी है, क्योंकि जो चलता ही नहीं वह वेगवाला कैसे हो सकता है?", परन्तु आत्मतत्त्व में यह विरुद्धता का कोई दोष नहीं। क्योंकि आत्मा स्वरूप से निरुपाधिक होते हुए सोपाधिक भी है, अतः न चलना तथा अधिकवेग होना दोनों ही बन सकते हैं। वह आत्मतत्त्व निरुपाधिक अवस्था में अपने स्वरूप से न चलता हुआ एक कहा जाता है। संकल्प-विकल्परूप मन (अन्तःकरण) के अनुसरण की

क्षणमात्रेण करोतीति मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम् । तस्मिन् मनसि द्रुतं ब्रह्मलोकादीन् गच्छति सति प्रथमप्राप्त इवाऽऽत्मचैतन्यावभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीयः ।

ननु जवीयस्त्वेनाश्वादिवत् कुतो न चक्षुरादिग्राह्यत्वं स्यादात्मन इति चेत्तत्राह "नैनद्देवा आप्नुवन्", **एतत् एतदात्मतत्त्वं** देवाः **द्योतनशीलाः चक्षुरादीन्द्रियाणि** नाप्नुवन् **न प्राप्नुवन्तः न प्राप्तवन्तः —न प्राप्नुवन्ति । तेभ्यो देवेभ्यो जवीयो मनः ततोऽप्यात्मतत्त्वस्य जवीयस्त्वात् । चक्षुरादिप्रवृत्तेर्मनो व्यापारपूर्वकत्वात्तदविषयत्वे चक्षुरादिविषयत्वमप्यात्मनो न सम्भवत्येव ।**

ननु मनोऽविषयत्वमेव कुत इति चेत्तत्राह— पूर्वमर्शत्**—यस्मात् जविष्ठान्मनसोऽपि पूर्वमर्शत् पूर्वमेव गतम् । ऋश गतौ । यथा मनसः परिमाणं मनसो न विषयो भवति, अत्यन्ताव्यवधानात्, तथाऽऽत्माप्यत्यन्ताव्यवधानान्मनसो विषयो न भवति, व्योमवद् व्यापित्वात् ।**

अपेक्षा से मन से वेगवान् कहा जाता है । यद्यपि मन की बाह्यपदार्थों तक गमन करने में स्वतन्त्रता नहीं; अतः चक्षुरादि इन्द्रियों के बिना मन का बहिर्गमन नहीं होता, तथापि अत्यन्त दूर में स्थित ब्रह्मलोकादि का संकल्प क्षणमात्र में करलेता है, अत एव मन की अत्यन्त वेगशालिता लोक में प्रसिद्ध है । ब्रह्मलोकादि के प्रति शीघ्र ही मन के चले जाने पर भी वहाँ पहिले से ही प्राप्त (विद्यमान) के समान चैतन्यात्मतत्त्व का प्रकाश अनुभव किया जाता है; अतः मन से भी अधिक वेगवाला आत्मतत्त्व है । यदि मन से पूर्व चैतन्य आत्मतत्त्व का स्वरूपभूत अवभास (प्रकाश) न होता तो 'मन ब्रह्मलोक को गया', इसका अनुभव कैसे होता ? अतः सिद्ध है कि मन से पूर्व ही वहाँ आत्मतत्त्व विद्यमान है, जहाँ मन जाता है । 'यदि आत्मतत्त्व वेगवान है तो अश्व आदि के समान चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य भी होना चाहिए', ऐसी शंका होने पर मन्त्र कहता है कि **"नैनाद्देवा आप्नुवन्"** इस आत्मतत्त्व को प्रकाश करने के स्वभाववाले देव (चक्षु आदिक इन्द्रियाँ) प्राप्त नहीं होते, अर्थात् वह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं, क्योंकि इन्द्रियों से वेगवान् मन है, मन से भी वेगवान् आत्मतत्त्व है । चक्षु आदि इन्द्रियों की प्रवृत्ति मन के व्यापाराधीन है, अतः जब मन

रूपादिहीनत्वाच्च चक्षुराद्यविषयत्वं प्रत्येतव्यम् । यथा प्रकाश्येन रूपादिनाऽऽलोकादिना च प्रकाशकं चक्षुराद्यतीन्द्रियं न प्रकाश्यते, तथैव चक्षुरादिना तत्प्रकाशकं मनो न प्रकाश्यते, तद्वदेव सर्वप्रकाशकमात्मतत्त्वमपि स्वप्रकाश्यैः मनोबुद्ध्यादिभिरिन्द्रियैश्च न प्रकाश्यते ।

"रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक्च मानसम् ।
दृश्या धी वृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते ॥"

(वाक्यसुधा १) इत्युक्तेः ।

यद्वा देवा अपि नैनत् प्राप्तुं शक्ताः, सूक्ष्मत्वात् । पूर्वमर्शत् **अविनश्यदास्ते, अनादिनिधनमित्यर्थः ।** 'रिश हिंसायाम्', **रिशति नश्यति इति रिशत् न रिशदरिशत्** अर्शत् । **धातोरिकारलोपश्छान्दसः । सर्वसंसार धर्मवर्जितमात्मतत्त्वं स्वेन निरुपाधिकेन रूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीवाविवेकिनाम्मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासते ।** तद्धावतः **तदः स्थाने यदो वृत्तिरुद्देश्यत्वात् । यदात्मतत्त्वं धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यानात्मविलक्षणवागिन्द्रियप्रभृतीन् अत्येति अतीत्यगच्छतीव ।**

उसको विषय नहीं कर पाता, तब चक्षु आदि इन्द्रियाँ आत्मतत्त्व को कैसे विषय कर सकती हैं ?

शंका—'आत्मा मन का विषय क्यों नहीं ?' उत्तर–"**पूर्वमर्शत्**" क्योंकि अत्यन्त वेगशाली मन से भी वह पूर्व ही प्राप्त है । जैसे मन का परिमाण मन का विषय नहीं; क्योंकि मन के अत्यन्त समीप है, उसी प्रकार मन का भी स्वरूप होने से आत्मा मन के अत्यन्त समीप है, अतः मन का विषय नहीं । आकाश के समान व्यापक होने से तथा रूपादिहीन होने से भी आत्मतत्त्व, चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं, ऐसा जानलेना चाहिये । जैसे प्रकाश्य (प्रकाश के विषय) रूपादि तथा आलोकादि से प्रकाशक चक्षु आदिक अतीन्द्रिय पदार्थ प्रकाशित नहीं होते,उसी प्रकार चक्षु आदि से उनका प्रकाशक मन भी प्रकाशित होता नहीं । उसी प्रकार सर्वका प्रकाशक आत्मतत्त्व भी अपने प्रकाश्य मन, बुद्धि तथा इन्द्रियादि से प्रकाशित होता नहीं । इसी अर्थ का

ननु मूलमन्त्र इव शब्दो नास्तीति कथमत्येतीवेत्युच्यत इतिचेन्न, तिष्ठत् **गतिमकुर्वत्, अविक्रियमेव सत्, इतीवार्थस्य श्रुत्यैव दर्शितत्वात् ।**

तस्मिन् **अत्रापि तदः स्थाने यदोवृत्तिः, यस्मिन् तथाविधे नित्यचैतन्यस्वभावे स्वात्मचैतन्ये,** मातरिश्वा **मातर्यन्तरिक्षेऽव्याकृते वा**

बोधक **'रूपं दृश्यं'**[१४] यह अभियुक्तवचन भी है ।

अथवा सर्वज्ञदेवता भी इसको प्राप्त नहीं कर सकते । क्योंकि आत्मतत्त्व अति सूक्ष्म है.। **'पूर्वमर्शत्'** इस वाक्य का अनादिनिधन भी अर्थ है । यद्यपि सर्व संसारधर्मों से रहित आत्मतत्त्व, अपने निरुपाधिकरूप से अविक्रिय एक ही है, तथापि आत्मा के यथार्थ स्वरूप को न जाननेवाले मूढ़ पुरुषों को आत्मतत्त्व अपनी उपाधि से की गईं सर्व संसार की विक्रियाओं (विकारों) को अनुभव करनेवाला–जैसा तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न अत एव अनेक–जैसा प्रतीत होता है । वह आत्मतत्त्व शीघ्रगतिशील वाग् आदिक सर्व पदार्थों का अतिक्रमण करता–जैसा है अर्थात् इनमें से किसी का भी विषय नहीं ।

'मूलमन्त्र में इव (जैसा) अर्थवाला शब्द है ही नहीं,तब आपने अतिक्रमण करता–जैसा है, यह अर्थ कैसे कर दिया', यदि ऐसा कहा जाय तो इसका उत्तर यह है कि–श्रुति कहती है कि **"तिष्ठत्"** गति न करता हुआ ही, अतिक्रमण करता है; परन्तु जिसमें गति नहीं वह मुख्य अतिक्रमण कैसे करेगा ? अतः इन दोनों पदों के अर्थ पर विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि गत्यभाव उसमें मुख्य तथा अतिक्रमण मुख्य नहीं, अतिक्रमण–जैसा है । क्योंकि अतिक्रमण औपाधिक है ।

जिस नित्यचैतन्य स्वभाव आत्मचैतन्य के रहते ही मातरि

---

१४. नील-पीतादिक रूप दृश्य हैं(रूप यहाँ इतर विषयों का तथा नेत्र इतर इन्द्रियों का उपलक्षण है),उसका द्रष्टा नेत्र है। नेत्र चरम-द्रष्टा न होने से दृश्य है,उसका द्रष्टा अन्तःकरणरूप मन अर्थात् बुद्धि सहित मन है । बुद्धिवृत्ति भी चरम द्रष्टा नहीं है, दृश्य ही है । बुद्धि का द्रष्टा-साक्षी 'द्रष्टा' ही है, न कि दृष्टिगोचर होने-वाला दृश्य ।

श्वयति श्वसिति गच्छति वर्धते सत्तां प्राप्नोति वा मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत् बुद्धिक्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च स बुद्धिप्रधानत्वात् हिरण्यगर्भः प्राणप्रधानत्वात् सूत्रात्मा, अप: **कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि, अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनाञ्च ज्वलनदहनप्रकाशनाभिवर्षणादीनि** दधाति **विदधाति विभजति धारयति वा,** "वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोक: परश्च लोक: सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति[१५]" **(बृ० उ० ३.७.२) इति श्रुतेः हिरण्यगर्भसृष्टं सकलं जगत्**

अर्थात् अन्तरिक्ष अथवा प्रकृति में जो गमन करता अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होता है, अथवा सत्ता को प्राप्त होता है, उसे कहते हैं मातरिश्वा (वायु) जो सर्वप्राणियों की पोषक है, ज्ञान तथा क्रियात्मक है। जिसके आश्रित प्राणियों के कार्य (शरीर) और करण (इन्द्रिय) का समुदाय है। जिसमें सर्वकरणसमुदाय ओतप्रोत है। वह (मातरिश्वा ही) बुद्धि की प्रधानता से हिरण्यगर्भ, प्राण (क्रिया) की प्रधानता से सूत्रात्मा कहलाता है। वही सर्वप्राणियों की चेष्टारूप तथा अग्नि, आदित्य, पर्जन्य आदिकों के ज्वलन-दहन, प्रकाशन तथा वर्षा आदि सर्वकर्मों का विभाग तथा धारण करता है। इसी विषय को **"वायुर्वा गौतम"** यह बृहदारण्यक श्रुति (३.७.२) भी कहती है। हिरण्यगर्भ से रचित सर्वजगत् सर्वाधिष्ठान सर्वाधिकरणभूत उस आत्मतत्त्व के रहते ही जाना जाता है। अन्यथा चैतन्य के अभाव में जड़ जगत् का प्रकाश ही असम्भव हो जायगा। अग्न्यादि पदार्थों के धर्म तथा क्रिया नियत हैं, नियतधर्म तथा क्रिया विना नियामक के असंभव है। नियमन से नियन्ता परमेश्वर की सिद्धि होती है। इस अनुमान तथा अर्थापत्ति से ही नियन्ता परमेश्वर की सिद्धि नहीं, अपितु **"भीषाऽस्मात्"** इस तैत्तिरीय-आरण्यकश्रुति से भी उसकी सिद्धि है। कार्य के पूर्व कारण होता है, कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है, हिरण्यगर्भ से लेकर चींटीपर्यन्त

---

१५. हे गौतम ! जिस सूत्र से यह लोक, परलोक तथा सम्पूर्णभूत जुड़े हुए (ग्रथित) हैं, वह वायु है। अर्थात् सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ है।

सर्वाधिष्ठाने तस्मिन्नात्मतत्त्वेऽधिकरणभूते सत्येव प्रजायते, नियमनस्य नियन्तृपूर्वकत्वात् "भीषाऽस्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः"[१६] **(तै० आ० ८.८, तै० उ० २.८.१) इति श्रुतेश्च । कार्यस्य कारणपूर्वकत्वादध्यस्तस्याधिष्ठानपूर्वकत्वाच्च, ईश्वरस्यापि हिरण्यगर्भस्य नियतप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्यापि परमेश्वरोऽधिष्ठाता संभाव्यते । मातरिश्वाग्रहणमुपलक्षणम्, सर्वा हि कार्यकारणादिविक्रियाः नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे सर्वास्पदभूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः ।**

यद्वा—यस्मिन् मातरिश्वा अपः **कर्माणि दधाति, आप्यायन्ते प्राप्यन्ते सुखदुःखानि याभिः ता आपः कर्माणि,** 'आप्नोतेर्ह्रस्वश्च' **(उणादि—२.५९) इति क्विप् धातोर्ह्रस्वश्च श्रौतानि कर्माणि सोमाज्यपयः प्रभृतिभिरद्भिस्सम्पाद्यन्त इति सम्बन्धाल्लाक्षणिको वा**

सर्व संसाररूप कार्यके कारणरूप से भी सर्वकारण परमेश्वर की सिद्धि होती है । अध्यस्त अधिष्ठानपूर्वक होता है, अतः अध्यस्त सर्वजगत् के अधिष्ठान के रूप में भी परमेश्वर की सिद्धि होती है । 'कार्यब्रह्मरूप हिरण्यगर्भ की नियतप्रवृत्ति, अन्य प्रकार से अनुपपन्न (असिद्ध) होती हुई हिरण्यगर्भ के नियन्ता परमेश्वर का निश्चय कराती है,' इस अर्थापत्ति से भी परमेश्वररूप अधिष्ठाता निश्चित किया जाता है । **"मातरिश्वा"** शब्द यहाँ सर्वकार्य-कारणभूत विकारों का उपलक्षण है, अतः सर्वाधिष्ठान चैतन्यात्मस्वरूप के रहते ही सर्वकार्य-कारणभूत विकार होते हैं, यह वाक्यार्थ निष्पन्न होता है ।

अथवा—जिसके द्वारा सुख-दुःख प्राप्त किये जाते हैं उसे 'आप' कहते हैं । इस व्युत्पत्ति के अनुसार सुख-दुःख को प्राप्त करानेवाले कर्म ही 'अप्' शब्द के वाच्य हैं । श्रुति से प्रतिपादित अग्निहोत्रादि कर्मों का सोम, आज्य (घृत), दुग्धादि जलबहुलपदार्थों से सम्पादन

---

१६. इस ब्रह्म से हुए भय से वायु पवित्र करता है, सूर्य उदय होता है । अर्थात् वायु, सूर्य आदि सर्वदेवता अपना-अपना कार्य करते हैं । भाव यह है कि वायु आदि का नियमन परमात्मारूप नियन्तापूर्वक ही है ।

कर्मस्वप्शब्दप्रयोग: । [१७]प्राणचेष्टायाश्चाप् निमित्तत्वाद्वा कारण-वाचक: शब्द: कार्ये लक्षणया प्रयुक्त: । सर्वाणि कर्माणि यज्ञदानहोमादीनि समिष्टयजूंषि वायौ स्थाप्यन्ते ।'स्वाहा वाते धा:'[१८]**(यजुर्वेद अ० २. म० २१।अ० ८ म० २१) इति वायो: प्रतिष्ठात्वाभिधानात् । समष्टि-व्यष्टिरूपो ह्यसाविति वायुरपि यस्मिन् कर्माणि स्थापयति । याग-होमादीनां परमं निधानमित्यर्थ: । तदात्मतत्त्वमित्यर्थ: । यागहोमादि-कर्मणाम्परमास्पदत्वस्यापि ब्रह्मलक्षणत्वात् ।**

अनेजदित्य**नेनाचलं सर्वविक्रियावर्जितं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं**

होता है । अत: निमित्त-नैमित्तिकभाव सम्बन्ध से जलवाचक 'अप्' शब्द का कर्मों में लक्षणा से प्रयोग हुआ है । प्राणचेष्टारूपकर्म का कारण अप् (जल) है, अत: कर्म के कारण जल के वाचक अप् शब्द का लक्षणा से कर्मों में प्रयोग हुआ है । सम्पूर्ण यज्ञ, दान, होमादिक कर्म तथा 'समिष्टयजु:' नाम के होम वायु में स्थापन किये जाते हैं । क्योंकि **"स्वाहा वातेधा:"**—इस मन्त्र में वायु को सर्वकर्मों की प्रतिष्ठा कहा गया है । समष्टि तथा व्यष्टिरूप वायु भी सर्वकर्मों को जिसमें स्थापित करता है, ऐसा याग, होमादि सर्वकर्मों का परम निधान वह आत्म-तत्त्व है । याग, होमादि सर्वकर्मों का परम आस्पद (अधिष्ठान) होना भी परब्रह्म का लक्षण है ।

"अनेजत्" इस पद से अचल सर्वविकार से शून्य नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव, निर्विकार सत्य–ज्ञान–आनन्द स्वरूपब्रह्म विवक्षित

---

१७. पाठा०–'प्राणिचेष्टाया:' । 'आपोमय: प्राण:' (छा० ६.६.५) इति श्रुते: प्राणस्यापोमयत्वात् प्राणचेष्टाया आपोमयत्वसिद्धे: प्राण-चेष्टाप्रयुक्तप्राणिचेष्टाया अपि अब्निमित्तकत्वं सिद्धम् ।

१८. 'हे मनस्पते ! हे देव ! इस यज्ञको मैं आपके हाथ में देता हूँ । आप वायु में स्थापित कर दीजिये ।' इस मन्त्र के अनुसार यज्ञादिककर्मों की प्रतिष्ठा वायु है । उपर्युक्त अ० ४०–४ इस मन्त्र के अनुसार वायु सर्वकर्मों को परमात्मतत्त्व में धारण करता है, अत: परमात्मतत्त्व सर्वकर्मों का अधिष्ठान है ।

निर्विकारं सत्यज्ञानानंदलक्षणं ब्रह्म विवक्षितं भवति। तच्चैकं सजातीय-विजातीयस्वगतभेदशून्यं सर्वकारणं चक्षुरादीन्द्रियैर्मनसा चाप्रकाश्यं तत्प्रकाशकत्वादधिष्ठानत्वाच्च प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मस्वरूपम् ।

दयानन्दः–"हे विद्वांसः, यदेकमनेजन्मनसो जवीयः पूर्वमर्शत् ब्रह्मास्ति, एनद्देवा नाप्नुवन् तत् स्वयंतिष्ठत् स्वानन्तव्याप्त्या धावतोऽन्यानत्येति तस्मिन् सिद्धे स्थिरे सर्वत्राभिव्याप्ते मातरिश्वा वायुरिव-जीवोऽपो दधातीति विजानीतेति।"

तदपि यत्किंचित्; वायुरिवेत्यस्य निर्मूलत्वात्। स्थिरस्य कथमन्यान् धावतोऽतिक्रम्योल्लंघनमित्यस्यासमाहितत्वात् । न च

है। वह आत्मतत्त्व एक है, अर्थात् सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद से शून्य सर्वका कारण चक्षु आदि इन्द्रियों तथा मनसे अप्रकाश्य (अज्ञेय) है; क्योंकि वह इन्द्रिय तथा मन आदिकों का भी प्रकाशक है। जैसे सूर्य से प्रकाश्य घट सूर्य का प्रकाशक नहीं, क्योंकि सूर्य घट का प्रकाशक है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व अपनेसे प्रकाश्य मन, इन्द्रियादिकों का प्रकाश्य नहीं; क्योंकि वह इनका प्रकाशक है तथा सर्व का अधिष्ठान होने से प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न ब्रह्मस्वरूप है।

श्रीस्वामी दयानन्द कहते हैं—"हे विद्वानो! जो एक अचल मन से भी वेगशील सर्व से पूर्व प्राप्त ब्रह्म है, इसको देवता प्राप्त नहीं होते, वह आत्मतत्त्व स्वयं स्थित रहता हुआ ही अपनी अनन्त-व्याप्ति से वेग से धावन करने (दौड़ने) वालों अन्य सभी का अतिक्रमण करता है। उस स्थिर सर्वव्यापक परमेश्वर के रहते ही वायु के समान जीव कर्मों का धारण करता है—ऐसा जानो।"

यह उनका कहना कुछ नहीं, क्योंकि जो "वायु के समान" ऐसा अपने भाष्य में कहा है, उसका कोई मूल नहीं, अर्थात् मूलमन्त्र में समान अर्थ का वाचक कोई शब्द नहीं। उनके भाष्य में स्थिर परमेश्वर का अन्य दौड़नेवालों का अतिक्रम करना कैसे संभव है? इस शङ्का का कोई समाधान भी नहीं। यदि कहा जाय कि 'व्यापक होने से वेगवान् भी मन आदिकों का परमेश्वर अतिक्रमण करता है,' तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि व्यापक होने से तो आकाशादिकों

व्याप्तिमात्रेणेन्द्रियबुद्ध्युल्लंघ्यातिक्रमणं संभवति, तथात्वे महदाकाशादीनामपि तथात्वापातात् ।।४।।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्यसर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।

वह आत्मतत्त्व अचल, निर्विकार है। अज्ञों की दृष्टि में वह चलता-सा है। अज्ञों की पहुँच उस तक नहीं, अतः वह दूर-सा है। विज्ञों की दृष्टि में तो वह सर्वथा प्रत्यगात्मस्वरूप होकर स्फुरित होता है, अतः समीप ही है। इस नाम–रूप–क्रियात्मक जगत् में उसकी अनुगति है, वह इनका परमाश्रय (अधिष्ठान) होकर विद्यमान है, इसलिये भी समीप ही है। सम्पूर्ण जगत् के रूप में उसी की स्फूर्ति है। जङ्गमरूप से चल और स्थावर रूप से वह अचल है। नक्षत्रादिरूप से दूर और पृथ्वी आदि रूप से समीप है। अथवा ब्रह्मादि देवशिरोमणियों के रूप से वह चलता है—लीला से व्यवहार करता है और स्वरूप से अचल है। अन्तर्यामी और प्रत्यगात्मरूप से सबके अन्दर और विषयरूप से बाहर है ।।५।।

को भी मन आदिकों का, अतिक्रमण करने वाला कहा जा सकता है। यदि कहा जाय कि 'व्यापक आकाश भी ऐसा है ही' तो यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि यहाँ धावनकर्ताओं का अतिक्रमण परमेश्वर की ही विशेषता के रूप में कहा गया है। यदि उस विशेषता को आकाश में स्वीकार किया जायगा तो वह परमात्मामात्र की विशेषता न रहेगी परमात्मा से भिन्न सर्व जगत् मूर्त तथा अमूर्त इन दो भागों में विभक्त है। जिनमें से कुछ पदार्थ चल हैं, कुछ अचल हैं। उन सर्व की व्यावृत्ति 'न चल है न अचल' इन विशेषणों से करके सर्व शीघ्रगतिशीलपदार्थों का अतिक्रमणमात्र परमात्मा की विशेषता कही गयी है ।।४।।

न मन्त्राणां जामिताऽस्तीति सकृदुक्तं रहस्यं न चित्तमधिरोहतीति पूर्वोक्तमेवार्थं पुनर्वदति । मातापितृश.तादपि हितैषिणी श्रुतिः । तत् **प्रकृतात्मतत्त्वमे**जति **चलति**, तदेव **च** न एजति **स्वतो नैव चलति, स्वरूपे सर्वदा कूटस्थमचलं स देवो मूढदृष्टया चलतीवेत्यर्थः ।** तद्दूरे– **देशतः कालतश्च विप्रकृष्टदेशे वर्तते, वर्षकोटया कालेन महाप्रस्थानेन च अविद्वद्भिर्मनागपि प्राप्तुमशक्यत्वात्** तत् उ **तदेव** अन्तिके **समीपे, विदुषां प्रत्यगभिन्नत्वेन भासमानत्वात्** । **तथा अस्य सर्वस्य जगतः नामरूपक्रियात्मकस्य** अन्तः—**अन्तरेवात्मतत्त्वं**, 'आत्मा सर्वान्तर[१९]' **(बृहदारण्यकोपनिषत् ३–४–१) इति श्रुतेः । सर्वभूताभ्यन्तरभूतः** । तदु **तदेव** अस्य सर्वस्य **जगतः** बाह्यतः **बहिर्भूतमपि बाह्याभ्यन्तरसकलवस्तूनामधिष्ठानत्वेनाकाशवत्सर्वव्यापित्वात् ।**

मन्त्रों में आलस्य नहीं है, एक बार उपदेश किया रहस्यभूत (दुर्विज्ञेय)—वस्तु चित्त में नहीं स्थिर होती, अतः पूर्वोक्त अर्थ को ही यह मन्त्र पुनः कथन करता है । क्योंकि श्रुति(वेद) सैकड़ों माता-पिता से भी अधिक हितैषिणी है । वह प्रकरणप्राप्त आत्मतत्त्व चलता है तथा वही आत्मतत्त्व स्वयं नहीं चलता; क्योंकि वह अपने स्वरूप में सदा निर्विकार तथा अचल है । वह देव मूढ़पुरुषों की दृष्टि से चलते के समान है, यह अर्थ है । वह आत्मतत्त्व दूर है अर्थात् देश-काल से व्यवहित देश में वर्तमान है; क्योंकि करोड़ों वर्ष तथा महाप्रस्थान से भी अविद्वानों (अज्ञानियों) द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता । वही आत्मदेव समीप भी है; क्योंकि वह विद्वानों को अपने अन्तरात्मा से अभिन्न प्रतीत होता है तथा इस नाम–रूप–क्रियात्मक सर्वजगत् के अन्तः (अन्दर) वह आत्मतत्त्व है । क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद् उसे सर्वान्तर कहती है । सर्वान्तरभूत वह देव ही इस सर्व जगत् के बाहर भी है । (क्योंकि) सर्वबाह्याभ्यन्तर वस्तुओं का अधिष्ठान होने से वह आकाश के समान व्यापक है । व्यापक होने से ही वह सर्व के बाहर भी है ।

---

१९. आत्मा सर्व के अन्तर है, अर्थात् सर्वभूतों के अतिशय (अत्यन्त) अन्दर है ।

यद्वा—कारणरूपं कार्यकारणातीतं वाऽऽत्मतत्त्व**मुक्तम् अथेदानीं कार्यरूपेणोच्यते । तिस्रोऽनुष्टुभः** । तदेव **सर्वप्राणिरूपेणावस्थितं सत्** एजति **चलति सक्रियं भवति** तन्नैजति **तदेव च न चलति, स्थावर-रूपेणावस्थितमचलम् ।** तदेव दूरे **नक्षत्रादिरूपेण दूरेऽवस्थितम् ।** तदु **तदेव च उः समुच्चये,** अन्तिके **पृथिव्यादिरूपेणात्यन्तं सन्निकृष्टम्,**"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[२०] **(छान्दो० उप० ३-१४-१) इति श्रुतेः ।** तदेवास्य सर्वस्य **प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मरूपेणान्तर्यामिरूपेण** चान्त**र्मध्यत आस्ते ।** तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः—**सर्वं प्राणिजातस्य विषयादिरूपेणावस्थितं चेतनाचेतनरूपमनन्तं सर्वगं ब्रह्मे**त्य**र्थः ।**

अनयोपासनया फलप्राप्त्यर्थमर्चिरादिचिंतनमपि नोपयुज्यते–'न

अथवा—कारणरूप अथवा कार्य-कारण से अतीत ब्रह्मात्मतत्त्व का वर्णन पूर्वमंत्र में कर दिया, इसके अनन्तर इस मंत्र में कार्यरूप ब्रह्म का वर्णन किया जाता है। सर्वप्राणियों के रूप में स्थित हुआ वह ब्रह्म (आत्मतत्त्व) चलता है अर्थात् सक्रिय है। स्थावरवस्तु के रूप में स्थित अचल है। वही नक्षत्रादिरूप से दूर स्थित है और वही पृथिवी आदि के रूप में स्थित हुआ अत्यन्त समीप है। क्योंकि "सर्वं" यह श्रुति इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म ही कह रही है। वह आत्मतत्त्व (ब्रह्म) ही इस सर्वप्राणिसमुदाय के अन्तः (मध्य) में प्रत्यक् (अन्तर)–आत्मा तथा अन्तर्यामीरूप से स्थित है। वही इस सर्वप्राणिसमुदाय के विषय (भोग्यवस्तु) आदि के रूप से स्थित है। भाव यह है कि वह चेतन-अचेतन जगत्रूप, अनन्त सर्वव्यापक ब्रह्म है।

'सर्व चेतन-अचेतन ब्रह्म ही है' इस उपासना से फल की प्राप्ति के लिये अर्चिरादिमार्ग का चिन्तन भी उपयोगी नहीं है। क्योंकि श्रुति ऐसे उपासक के प्राणों का अन्यत्र-गमन-निषेध तथा यहाँ ही विलय कहती है।

---

२०. यह सर्व जगत् ब्रह्म ही है।

तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'[२१] (बृह० उप० ४।४।६) इति श्रुतेः ।

यद्वा–तदेव ब्रह्म शिवविष्ण्वादिरूपेण एजति चलति व्यवहरति, तदपि मायया लीलया वा व्यवहरति स्वरूपेण तु कूटस्थं निर्विकारत्वान्नचलति ।

दयानन्दः—"हे मनुष्याः तद्ब्रह्मैजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके तदस्य सर्वस्य बाह्यतो वर्तत इति निश्चिनुत" इति ।

तदप्यसत् । वस्तुतः कारणत्वेनाभिमतस्य निष्क्रियत्वानुपपत्तेः,

अथवा—वही ब्रह्म, शिव, विष्णु आदिरूप से चलता अर्थात् माया अथवा लीलासे व्यवहार करता है। स्वरूप से कूटस्थ है; अतः निर्विकार होने से चलता नहीं, अर्थात् सर्वविकाररहित है ।

दयानन्दभाष्य—"हे मनुष्यो ! वह ब्रह्म चलता है तथा नहीं भी चलता है । वही दूर तथा वही समीप भी है । वह इस सारे संसार के बाहर भी विद्यमान है, ऐसा निश्चय करो ।"

यह भाष्य उचित नहीं, क्योंकि दयानन्दजी को परमेश्वर संसार का कारणरूप से अभिमत है । जैसे घट का कारण कुम्भकार होता है, वैसे ही संसार का निमित्तकारण वे परमेश्वर को मानते हैं; परन्तु जैसे कुलाल निष्क्रिय नहीं है, उसी प्रकार संसार का निमित्तकारणरूप परमेश्वर भी निष्क्रिय नहीं हो सकता । ऐसी दशा में 'वह परमेश्वर नहीं चलता अर्थात् निष्क्रिय है' यह कथन कैसे संभव हो सकता है ? अतः यह भाष्य अनुचित है। यदि कहा जाय कि—सिद्धान्त में परमेश्वर चेष्टा से रहित निष्क्रिय है, तब उसके द्वारा संसार की

---

२१. आप्तकाम, पूर्णकाम उस ब्रह्मवेत्ता के प्राण इस देह से दूसरे देह की प्राप्ति के लिये ऊर्ध्वगमन नहीं करते, अपितु यहाँ ही लीन हो जाते हैं। ब्रह्मवेत्तापुरुष ब्रह्मरूप हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त करता है ।

अनीहादविक्रियात् कार्यानुत्पत्तेः। सिद्धान्ते विवर्तवादाश्रयणान्न दोषः। जगदाकारेण परिणममानाया मायाया अधिष्ठानत्वेनैव ब्रह्मणो कर्तृत्वाभ्युपगमात् ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥६॥

जो मुमुक्षु-संन्यासी ब्रह्म से अभिन्न आत्मा में अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त (शास्त्रगम्य और प्रत्यक्ष) भूतों को अनुभव करता है —आत्मा से अतिरिक्त नहीं जानता तथा उन सर्वभूतों में कारणरूप से या आत्मरूप से स्वयं को अनुगत (अनुस्यूत—प्रोत) जानता है, वह तत्त्वदर्शी उस आत्मदर्शन के फलस्वरूप **'न विचिकित्सति'**—संशय नहीं करता, **'न विजुगुप्सते'**—घृणा नहीं करता ॥६॥

ननु तथाभूत आत्मतत्त्वे सकलविषयत्यागेन कथं सुदृढा स्थितिः स्यादिति तत्राह–यस्तु **ब्रह्मक्षत्रलक्षणः मुमुक्षुः परिव्राट्** सर्वाणिभूतानि **अव्यक्तादीनिभूतानि,** आत्मन् **आत्मनि, सप्तम्या अलुक्, स्वरूप** एवानुपश्यति **आत्मव्यतिरिक्ततया न जानाति, तेषु चात्मानं कारणत्वेनात्मत्वेन वा अनुस्यूतं पश्यति, यथा अस्य कार्यकारणसंघातस्या-**

सृष्टिरूप कार्य कैसे होता है? हमारे सिद्धान्त में तो विवर्तवाद स्वीकार होने से कोई दोष नहीं; क्योंकि परमेश्वर से अधिष्ठित माया जगत् के आकार में परिणत होती है। उसका अधिष्ठान होने से ही परमात्मा को कारण (कर्ता) कहा जाता है ॥५॥

पूर्वोक्तपरमात्मा से अभिन्न आत्मतत्त्व में सकलविषय त्याग से दृढ़स्थिति किस प्रकार हो, ऐसी आशंका होने पर मन्त्र कहता है 'जो ब्राह्मण-क्षत्रियरूप मुमुक्षु संन्यासी अव्यक्त से लेकर सर्वभूतों को अपने स्वरूप में ही अनुभव करता है, आत्मा से अतिरिक्त नहीं जानता है

त्माहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेता (चेतयिता) केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं **निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति स आत्मवित्** ततः **तस्मादेवात्मदर्शनान्न** विचिकित्सति **न संशेते,** 'कित रोगापनयने संशये च' **इति—धातोः** 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' **(पा० ३.१.५) इति स्वार्थे सन् प्रत्ययः। सर्वः संदेहोऽन्यदात्मनः पश्यतो भवत्यात्मानमेवात्यन्तं शुद्धं निरन्तरं पश्यतो न संदेहावकाशः। उभय कोटिक ज्ञानरूपः संशयो द्वैतं पश्यतो भवति न त्वात्मैक्यज्ञस्य।**

'न विजुगुप्सत' **इति शाखान्तरीयः पाठः तत्रायमर्थः—जुगुप्सां घृणां न प्राप्नोति। आत्मानमेवत्वत्यन्तविशुद्धं सांसारिकदोषविनिर्मुक्तं निरतिशयानन्दरूपमद्वयं पश्यतः किं निमित्ता घृणा जायेत। तस्मादात्मनः सार्वात्म्यानुसंदधानस्य जुगुप्सा न जायते इति युक्ततरम्** 'घृणा दया जुगुप्सा वा जायते भेददर्शिनः।'

तथा उन सर्वभूतों में कारणरूप से या आत्मरूप से स्वयं को अनुस्यूत (प्रोत) जानता है अर्थात् जैसे 'इस कार्य-करण-संघात (शरीर) का आत्मा मैं सर्वघट-पट-ज्ञानों का साक्षी–चेतन तथा केवल (द्वितीय से रहित) निर्गुण हूँ, इसी रूप से (वैसे ही) अव्यक्त से लेकर स्थावर-पर्यन्त सर्वभूतों का भी आत्मा मैं ही हूँ', इस प्रकार सर्वभूतों में जो निर्विशेष आत्मा को जानता है, वह आत्मवेत्ता उस आत्मज्ञान के बल से किसी प्रकार का संशय नहीं करता। क्योंकि सर्वसंशय आत्मा से अतिरिक्त वस्तु को जाननेवाले को ही होते हैं। भेदरहित अत्यन्त शुद्ध आत्मा को जाननेवाले को तो जब संशय का अवकाश ही नहीं, तब संशय कैसे हों? दो कोटि(प्रकार या धर्म)वाला संशयरूप ज्ञान द्वैतदर्शी पुरुष को ही होता है, न कि एक-अद्वितीय आत्मा के ज्ञाता को।

"न विचिकित्सति" के स्थान में दूसरी शाखा में **'न विजुगुप्सते'** यह पाठ है। इसका यह अर्थ है—विद्वान् 'जुगुप्सा'—घृणा को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि अत्यन्त शुद्ध सांसारिक दोषों से रहित निरतिशय आनन्दस्वरूप अद्वय (द्वैतवर्जित) आत्मतत्त्व को जाननेवाले को घृणा किस निमित्त से होगी! जबकि आत्मा से अतिरिक्त का उसकी दृष्टि

यद्वा—यस्तु **मुमुक्षुः** सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवा**स्मिन्नीशस्वरूप आनन्दात्मनि स्वयञ्ज्योतिष्येव, प्रत्यक्परात्मनोर्भेद वारणार्थ एवकारः, मयिप्रत्यक्चैतन्याभिन्ने परमात्मन्येव सर्वाणि भूतान्यध्यस्तानीति साक्षात्करोति ।** सर्वभूतेषु चात्मानम्—**वस्तुतोऽहमेव सर्वभूतेष्ववस्थितो न मदतिरिक्तान्येतानि । एवं विज्ञानवतः फलमुच्यते प्रत्यक्चैतन्याभिन्नश्चिदेकरसोऽस्मीति विज्ञानवान् न विचिकित्सति, ऐकात्म्यज्ञानात् संशयविपर्ययादिरहितो भवति ।** 'न विजुगुप्सते' **वा निन्दास्तुतिरहितो भवतीत्यर्थः ।**

दयानन्दः—**"हे मनुष्याः यः आत्मन्येव सर्वाणि भूतान्यनुपश्यति यस्तु सर्वभूतेष्वात्मानं च समीक्षते स ततो न विचिकित्सतीति यूयं विजानीतेति ।"**

में अस्तित्व ही नहीं, जिससे कि घृणा हो । अतः यह कहना अत्यन्त युक्तिसंगत है कि आत्मा की सर्वरूपता का अनुसंधान (अपरोक्षज्ञान पूर्वक चिन्तन) करनेवाले को घृणा नहीं होती । अत एव अभियुक्त-वचन है कि "घृणा अथवा दया आदिक मनोवृत्तियाँ भेददर्शी को ही होती हैं ।"

अथवा—मन्त्र में 'एव' शब्द आत्मा तथा परमात्मा के भेद के निवारण के लिये प्रयोग किया गया है । जो मुमुक्षु 'प्रत्यक्चैतन्य स्वयंज्योति आत्मा से अभिन्न परमात्मा में सर्वभूत अध्यस्त (रज्जुसर्प के समान कल्पित) है,' ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करता है । वस्तुतः 'मैं ही सर्वभूतों में स्थित हूँ, मेरे से अतिरिक्त भूत नहीं हैं ।' इस प्रकार का ज्ञान जिस पुरुष को है, उसको जो फल मिलता है वह कहा जाता है । 'प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न चिदेकरस मैं हूँ' ऐसा ज्ञानवाला पुरुष, संशय-विपर्यय से रहित होता है, क्योंकि उसे केवल आत्मा का ही ज्ञान है, अन्य का नहीं । अथवा **"न विजुगुप्सते"** इसका अर्थ है कि वैसा आत्मज्ञानी निन्दा-स्तुति से रहित होता है ।

श्रीदयानन्दभाष्य—"हे मनुष्यो ! जो आत्मा में सर्वभूतों को देखता है तथा सर्वभूतों में आत्मा को देखता है, वह उस ज्ञान से संशय को प्राप्त नहीं होता है ।"

तन्न, त्वद्रीत्या प्रकृति महति आकाशेऽपि सर्वभूतानां सत्त्वेन ब्रह्मणस्तदविशेषापत्तेः । न चोपादानोपादेयभावेन जगतः परमेश्वराश्रयत्वात् त्वया प्रकृतेरेवोपादानत्वाभ्युपगमात् । न चात्मशब्दश्च प्रत्यगात्मपर एव मुख्यः 'आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रियं भवती'ति **श्रुतेः (बृहदा० उ० २.४.५)न च परमात्मानं जीवो द्रष्टुं शक्नोति, परमात्मविज्ञाने साधनानुपपत्तेः । न चक्षुरादि तत्र कारणं रूपाद्यभावात्, न च मानसं तत्र कारणं तस्य बहिरस्वातन्त्र्यात् । अन्तर्यामिणोऽबाह्यत्वेऽपि धर्माधर्मादिवदन्यात्मवच्चायोग्यत्वेनापि तदनुपपत्तेः ॥६॥**

यह आपका भाप्य उचित नहीं; क्योंकि आपकी रीतिसे प्रकृति, महत्तत्त्व और आकाश में भी सर्वभूतों की विद्यमानता होने से ब्रह्म की आकाशादि से विशेषता न रहेगी अर्थात् ब्रह्म भी आकाशादि के समान हो जायगा। परन्तु मन्त्र में ब्रह्म में भूतों की तथा भूतों में ब्रह्म की असाधारणस्थिति का वर्णन है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है तथा जगत् उपादेय (कार्य) है; अतः ब्रह्म में जगत् की तथा जगत् (भूतों) में ब्रह्म की विशेषस्थिति है। उस प्रकार की स्थिति जगत् (भूतों) की आकाश में तथा भूतों में आकाश की नहीं है" क्योंकि आपने भूतों का उपादानकारण ब्रह्म नहीं माना, अपि तु प्रकृति को ही माना है। मन्त्र में आत्मशब्द प्रत्यक्-आत्मा का ही मुख्यरूप से वाचक है; क्योंकि "आत्मनः" इस बृहदारण्यक श्रुति में आत्मशब्द का प्रयोग प्रत्यक्-आत्मा के लिये ही किया गया है। आत्मशब्द का अर्थ परमात्मा मान भी लिया जाय तो इस मान्यता में दोष यह है कि परमात्मा को जीव देख नहीं सकता तथा मंत्र में आत्मशब्द के वाच्य का प्रत्यक्ष अनुभव कहा गया है; अतः मन्त्र में आत्मशब्द, परमेश्वर का वाचक नहीं। परमात्मा के प्रत्यक्ष जानने के साधन भी असिद्ध हैं। चक्षु तो रूप तथा रूपवाली वस्तु के जानने में समर्थ है, परमात्मा रूपादि के अभाववाला है, अतः परमात्मा के प्रत्यक्ष जानने में चक्षुः आदि इन्द्रिय साधन नहीं। मन भी इन्द्रियों के बिना बाह्यवस्तु के जानने में असमर्थ है। अन्तर्यामी यद्यपि बाह्य है नहीं, तथापि उसके जानने में मन की योग्यता उसी प्रकार नहीं, जिस प्रकार अन्तःस्थित धर्माधर्मादि के जानने की उसमें योग्यता नहीं। अपने से अन्य देवदत्तादि

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

जिस कालविशेष अथवा आत्मा में ब्रह्मात्मतत्त्व की सर्वरूपता को जाननेवाले के लिये सर्वभूत अपने कल्पित-स्वरूप को त्यागकर अकल्पित-चिदानन्दस्वरूप-आत्मा ही हो जाता है; उस काल अथवा आत्मा में असंग अद्वितीय आत्मा के एकत्वदर्शी को कारण सहित संसार का निवारण हो जाने से शोक और मोह नहीं होता ॥७॥

यस्मिन् **अवस्थाविशेषे** यस्मिन् **काले आत्मनि वा** सर्वाणिभूतानि चेतनाचेतनानि; विजानतः—'आत्मैवेदं सर्वं' (छा० ७.२५.२), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (**छा० ३.१४.१; महा० नारा० १.३) त्येवमादिवाक्य-विचारेणावधृतपरमार्थस्य सतः** आत्मैवाभूत् **स्वं स्वं रूपं परित्यज्य कल्पितमकल्पितमानन्दात्मस्वरूपमेवाभूत्, परमार्थदर्शनादात्मैव संवृत्तः,** तत्र **तस्यामवस्थायां तत्रात्मनि वा विशुद्धमाकाशतुल्यमात्मैकत्वं** पश्यतः को मोहः कश्चशोकः, **न कश्चिदपीत्यर्थः । अविज्ञातात्मतत्त्वस्यैव शोकमोहादिसंसारसंभवात्, एकत्वमनुपश्यत** इति **हेतुगर्भविशेषणम्,**

में परमात्मा का प्रत्यक्ष उसी प्रकार संभव नहीं है, जिस प्रकार दूसरे के आत्मा का प्रत्यक्ष संभव नहीं ॥६॥

जिस कालविशेष, अथवा आत्मा में भूतों को जाननेवाले को अर्थात् "यह सर्व आत्मा ही है" अथवा "यह सर्वब्रह्म हो है" इत्यादि वाक्यों के विचार से परमार्थस्वरूप को जाननेवाले को सर्वभूत आत्मा ही हो गया अर्थात् अपने कल्पित स्वरूप को त्यागकर परमार्थदर्शन से अकल्पित (वास्तविक) आनन्दस्वरूप आत्मा ही हो गया (हो जाता) है, उस काल अथवा आत्मा में विशुद्ध आकाश के समान असंग

शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेणासंभवप्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितः । यस्मिन् **निर्विकल्पे परेऽव्यये स्वात्माभिन्ने ब्रह्मणि** सर्वाणिभूतान्यात्मैव **संवृत्तः,** तत्र **तस्मिन् अविद्यातत्कार्यमुक्ते** कः शोकः को मोहः **स्वव्यतिरिक्तस्यैवाभावात् सर्वं विकारजातं तस्य विदुषः स्वात्मरूपमेव भवति । तत्र शोकमोहयोः कुतः प्रसंगः ? कुत एतदिति चेत्तत्रोच्यते**—एकत्वम्—**परमात्मना सहैकत्वमनु** पश्यतः **गुरुमुखान्महावाक्यार्थं श्रुत्वाऽनुपश्चात् साक्षात्कुर्वतः । निरतिशयानन्दं सर्वदुःखासंस्पृष्टमात्मानमजानत एव शोको भवति मोहश्च । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शोकादेरविद्याकार्यत्वावधारणान्मूलाविद्यानिवृत्त्यैव शोकादेः समूलोन्मूलनात् ।**

आत्मा के एकत्व के देखने (प्रत्यक्ष अनुभव करने) वाले को कोई मोह और शोक नहीं होता । क्योंकि जो एक-अद्वितीय आत्मतत्त्व को नहीं जानता, उसी को शोक-मोहादि संभव हैं, तत्त्वज्ञ को नहीं । एकत्व को जाननेवाले के लिये आक्षेपपूर्वक शोक-मोह असंभव प्रदर्शन करने से यह सिद्ध किया है कि अज्ञानरूप कारण के सहित शोक-मोहादि सर्वसंसार का उच्छेद हो जाता है । जिस निर्विकल्प आत्मा से अभिन्न अव्यय परब्रह्म परमात्मा में सर्वभूत आत्मा ही हो गये, उस अविद्या तथा अविद्या के कार्य से मुक्त आत्मा में कौन शोक तथा मोह है ? अर्थात् न कोई । क्योंकि अपने से अतिरिक्त का अभाव हो जाता है, ऐसे विद्वान् को तो सर्वविकार समुदाय स्वात्मरूप हो जाता है । ऐसे (उस) विद्वान् में शोक-मोह की किस निमित्त से प्राप्ति संभव है ? अर्थात् किसी से नहीं । यदि कहा जाय कि ऐसा कैसे ? तो कहा जाता है कि वह विद्वान् गुरु के मुख से महावाक्य के अर्थ (एकत्व) को श्रवण करने के पश्चात् एक-अद्वितीय आत्मतत्त्व का साक्षात्कारवाला होने से उसके शोक-मोह नष्ट हो जाते हैं । निरतिशय आनन्दस्वरूप सर्व-दुःखों से असम्बन्धित आत्मा को न जाननेवाले को ही शोक और मोह होते हैं । "अविद्या होने पर शोक-मोह होते हैं, अविद्या (अज्ञान) न होने पर नहीं होते" इस अन्वय–व्यतिरेक–युक्ति से शोक और मोह अविद्या के कार्य हैं, ऐसा निश्चय होता है; अतः शोक तथा मोह, आत्मतत्त्व के अज्ञानी को ही होते हैं । परमात्मा से अभिन्न आत्मा के

दयानन्दः—"यस्मिन्परमात्मनि विजानतः सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूत्, तत्रैकमनुपश्यतः को मोहोऽभूत् कः शोकश्च" इति।

तदपि न शोकमोहादिहेतोः [२२]संसारस्य सत्त्वे शोकमोहाक्षेपासम्भवात्। परमात्मन एकत्वेऽपि संसारस्य बाधानङ्गीकारात्। सिद्धान्ते तु सर्वस्य संसारस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वात् तज्ज्ञानेन तद्‌बाधितत्वात् सम्भवत्येव हेतुराहित्येन शोकादिबाधः ॥७॥

अज्ञान (मूलाविद्या) की निवृत्ति होने से ही शोक तथा मोह समूल नष्ट हो जाते हैं।

श्रीस्वामी दयानन्दजी कहते हैं कि—जिस काल में परमात्मा में स्थित सर्वभूत विद्वान् को आत्मा हो जाता है, उस काल में सर्वभूतों में एक परमात्मा को देखने वाले को कौन शोक-मोह ? अर्थात् कोई भी शोक-मोह नहीं होता।

उनका यह लिखना भी उचित नहीं; क्योंकि शोक-मोहादिका कारण है संसार। वह जब तक विद्यमान है, तब तक सम्पूर्ण शोक-मोह की निवृत्ति असम्भव है। परमात्मा एक होने पर भी आपको संसार का बाध स्वीकार नहीं है। शोक-मोह के कारण संसार का बाध न होने से सर्वशोक-मोह की निवृत्ति संभव नहीं। हमारे सिद्धान्त

---

२२. शोको 'मानसस्तापो मोहो विवेकाभावः। आदि शब्दस्तदवान्तरभेदार्थः। स एव संसारस्य दुःखात्मनो बीजभूतो दोषस्तस्योद्‌भवेकारणमहङ्कारो ममकारस्तद्धेतुरविद्या च।........... मोहइति मिथ्या ज्ञानम्। आत्मयाथात्म्यज्ञानविरहवतो नाहं सुखी भवामि किन्तु दुःखीत्येवं विधम्। शोकश्च तत्प्रयुक्तो हृदयदाहविशेषः। तत्स्वरूपं—'हा हतोऽहं, न मे पुत्रोऽस्ति, न मे क्षेत्रम्'। अहं–मम, कर्तृत्व–भोक्तृत्व, सुखित्व–दुःखित्वरूप संसार अविद्या का कार्य है। अविद्या की निवृत्ति से ही शोक-मोहसहित संसार की निवृत्ति संभव है। जिनके मत में संसार सत्य है, उनके मत में शोक-मोह की आत्यन्तिक-निवृत्ति असम्भव है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्य-
तोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

'ब्रह्म' आकाशवत् व्यापक है । **'शुक्र'** अर्थात् विशुद्धविज्ञानघन स्वप्रकाश चिदानन्दस्वरूप है । एकत्वविज्ञान से उसकी उपलब्धि होती है । वह स्वानुरूप दिव्यविग्रहयुक्त होने पर भी जीवोचित और भगवत्समसत्ताक स्थूल-सूक्ष्म-कारण-देह रहित है । देहरहित होने से **'शुद्ध'** अर्थात् सत्त्व-रज-तमरूप त्रिगुणरहित है । **'अपापविद्ध'** अर्थात् क्लेश-कर्म-विपाक-आशयरूप कर्तृत्वशून्य है । **'कविः'**—क्रान्तदर्शी अर्थात् सर्वद्रष्टा है । **'मनीषी'**—मनका प्रेरक सर्वज्ञ परमेश्वर है । **'परिभूः'**—सर्वोपरि है । **'स्वयंभूः'**—सर्वरूप, सर्वात्मा, सर्वशक्ति है । निज स्वातन्त्र्य-शक्ति से सर्वभवन-समर्थ है । प्रजापतियों के लिये कर्मसाधन-सहित कर्तव्यपदार्थों का विधायक है । इस रहस्य का मर्मज्ञ अहंता-ममता-त्यागपूर्वक ही स्थावर-जङ्गमात्मक-प्रपञ्च के द्वारा भोग करनेवाला होता है ॥८॥

जगति य एवमात्मानं पश्यति स **ईदृशं ब्रह्म** पर्यगात् **परिगच्छति**

में तो सर्व संसार ब्रह्म में कल्पित है; अतः परमात्मा के ज्ञान से संसार का बाध हो जाने से शोक-मोह के कारण संसार के न रहने से शोक-मोहादि का भी बाध संभव है ही ॥७॥

संसार में जो कोई एक, अद्वितीय परमात्मा से अभिन्न आत्मा

प्राप्नोति । कीदृशं तद्ब्रह्म ? शुक्रं **शुक्लं शुद्धम् विज्ञानानन्दस्वभावम् ।** अकायम् **देहरहितम् । तत एवाकायमव्रणमक्षतम् ।** अस्नाविरं **न विद्यन्ते स्नावाः शिरा यत्र तत् स्नायुरहितम् । अकायत्वादेव** शुद्धमनु-**पहतं सत्त्वरजस्तमोभिः ।** अपापविद्धम् **न पापैर्विद्धम्, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टम् । अकायमव्रणमस्नाविरमिति** [23]**पुनरुक्तिरादरार्थाऽतिशयार्था वा । य ईदृश उपासकः स** शाश्वतीभ्यः समाभ्यः **निरन्तर-मनन्तवर्षेभ्योऽर्थाय,अनन्तवर्षप्राप्तये** याथातथ्यतः **यथातथाभावो याथा-तथ्यं तेन यथास्वरूपमर्थान्** व्यदधाद् **विहितवान् । त्यक्तस्वस्वामिसम्बन्धैश्चेतनाचेतनैरर्थैरुपभोगं कृतवान् । स च** कविः **क्रान्तदर्शी ।** मनीषी मेधावी । परिभूः **परितः सर्वतोभवतीति, ज्ञानबलात् सर्वरूपो भवति । स्वयं भवतीति** स्वयम्भूः **ब्रह्मरूपेण भविता । ईदृशोऽपि पूर्वोक्तं शुक्रमकायमित्यादिविशेषणविशिष्टं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः ।**

को प्रत्यक्ष अनुभव करता है,वह ऐसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है । कैसे परमात्मा (ब्रह्म)को ? जो देहरहित है, जो व्रण (घाव)से रहित है, जिसके स्नायु नहीं हैं । अशरीर होनेसे ही जो शुद्ध सत्त्व,रजः तथा तमोगुण से युक्त नहीं है । जो पापरहित है, अर्थात् क्लेश-कर्म और कर्मों के फल तथा वासनाओंसे शून्य है । जो शरीररहित होता है, वही व्रण तथा स्नायु से भी रहित होता है । जो व्रण रहित होता है, वही शरीर तथा स्नायु से रहित होता है तथा जो स्नायु से रहित होता है वही शरीर तथा व्रण से रहित होता है। भाव यह कि तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं, अतः यहाँ पुनरुक्ति है । एक अर्थ के वाचक अनेक शब्दों का एकत्र कथनरूप पुनरुक्ति का प्रयोग बिना प्रयोजन के किया जाय तो वह दोषरूप होता है; परन्तु यहाँ दोषरूप नहीं, क्योंकि यह पुनरुक्ति ब्रह्म के आदर अथवा अतिशय को बोधन करने के लिये है । जो ऐसा उपासक है उसने अनन्तवर्षों पर्यन्त स्वस्वामिभाव सम्बन्ध से (अहंता-ममता से) रहित पदार्थों से भोग किया है । वह क्रान्तदर्शी मेधायुक्त ज्ञान के बल से सर्वस्वरूप होता है । वह 'स्वयंभू' अर्थात् स्वयं ही होता है । ब्रह्मस्वरूप होने से स्वयंभू होता है । इस प्रकार के ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

---

२३. 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु० १०.४२) इति यास्कोक्तेः ।

यद्वा—पूर्वोक्तैर्मन्त्रैरुक्तः स आत्मा पर्यगात् **आकाशवत्परितो व्याप्नोति। स इति कविर्मनीषीति उभयत्र पुंल्लिगतया निर्देशात् शुक्रमित्यादीनि मध्यगतान्यपि विशेषणानि पुल्लिङ्गत्वेन नेयानि विपरिणेयानि।** शुक्रं **शुक्रः ज्योतिष्मान् स्वप्रकाशोऽखण्डबोधानन्दस्वरूपः।** अकायम् **अकायोऽशरीरः–लिङ्गशरीररहितः।** अव्रणम् **अव्रणोऽक्षतः–क्षतरहितः।** अस्नाविरम् **अस्नाविरः–स्नायुरहितः। आभ्यां विशेषणाभ्यां स्थूलदेहविवर्जित आत्मा प्रतिपिपादयिषितः।** शुद्धम् **शुद्धो निर्मलः अविद्यामलशून्यः, कारणशरीररहितः। एवं शरीरत्रयशून्यः।** अपापविद्धम् **धर्माधर्मलक्षणेन पापेन अविद्धः रहितः, अकर्तृस्वरूप इत्यर्थः।**

ननु तथात्वे परमात्मनो हिरण्यकेशत्व, हिरण्यश्मश्रुत्व, हिरण्यबाहुत्व, शितिकण्ठत्व, जगद्योनित्वादिकञ्च विरुद्ध्येतेतिचेन्न, नमो हिरण्यबाहव **इत्यादिवचनविरोधात् भगवत्स्वरूपविषमसत्ताकदिव्य-**

अथवा पूर्वोक्तमंत्रों से उक्त (कहा गया) वह आत्मा **'पर्यगात्'** आकाश के समान सर्व को सर्व ओर से व्याप्त करता है। आदि तथा अन्त के विशेषण पुल्लिङ्ग हैं; अतः मध्य के **'शुक्रं'** इत्यादि विशेषण नपुंसक होते हुए भी पुंल्लिग में परिवर्तित कर लेने (बदललेने) चाहिये। **शुक्र**—स्वयंप्रकाश अखण्डज्ञान तथा परमानन्दस्वरूप, **अकाय**—सूक्ष्मशरीररहित, **अव्रण**—क्षत (घाव) रहित, **अस्नाविर**—स्नायु से रहित अर्थात् इन दोनों विशेषणों से स्थूलशरीर से रहित, **शुद्ध**—अविद्या-मल अर्थात् कारणशरीर से रहित—शरीर में रहते हुए भी वस्तुतः तीनों शरीरों से रहित, अपापविद्ध–धर्माधर्मरूप पाप से रहित अर्थात् अकर्तास्वरूप आत्मा है।

"परमात्मा शरीरादि से रहित होने पर तो परमात्मा सुनहरी केश-श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ), सुनहरी बाहुवाला तथा नीलकण्ठ, संसार का कारण है, यह सर्व कथन बाधित हो जायगा तथा इन धर्मों का परमेश्वर में प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र भी अप्रमाण हो जायगा।" परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि इस कथन का **'नमो हिरण्यबाहवे'** इस शास्त्र से विरोध है। परमेश्वर को अशरीर तथा सुनहरे केशादिवाले तथा शरीर से युक्त कहने का तात्पर्य यह है कि परमात्मा से विषमसत्ता (व्यावहारिकसत्ता) वाला परमेश्वर का शरीर है; किन्तु

विग्रहवत्त्वेऽपि तत्समसत्ताकस्यैव शरीरत्रितयस्य निषेध एव नञः पर्यवसानात् । ननु सर्वनिषेध एव कुतो न नञर्थ इतिचेन्न अनुदरी कन्येत्यत्र कृशोदरीत्यर्थस्येव प्रकृतेऽपि पूर्वोक्तार्थसामञ्जस्यात् ।

प्रकृतमुच्यते—कविः **क्रान्तदर्शी सर्वद्रष्टा** [२४]"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" **(बृहदारण्यकोपनिषत् ३.७.२३) इतिश्रुतेः ।** मनीषी **मनस ईषिता प्रेरकः, सर्वज्ञः परमेश्वरः ।** परिभूः—**परि उपरि सर्वेषां भवतीति परिभूः ।** स्वयम्भूः **येषामुपरिभवति यश्चोपरिभवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः । स सर्वद्रष्टा सर्वज्ञः सर्वशक्तिः ।** याथातथ्यतः **परमार्थतः यथारूपान्, यथाभूतकर्मफलसाधनतो वा ।** अर्थान् कर्तव्यपदार्थान् । व्यदधात् **विहितवान् ।** शाश्वतीभ्यः समाभ्यः **प्रजापतिभ्यः ।** 'संवत्सरो वै प्रजापतिः'[२५] **(शतपथब्राह्मण १०.२.६.१) इति श्रुतेः ।** 'त्वया इदं कर्तव्यमि'**ति विधिरूपं यज्ञं जीवानुरूपं व्यभजत् ।**

परमेश्वर के समानसत्ता (परमार्थसत्ता) वाला शरीर नहीं है । 'अशरीरादि शब्दों से सर्व प्रकार के शरीरादि का ही निषेध क्यों नहीं माना जाता ?' यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि जिस प्रकार 'अनुदरी कन्या' का 'बिना उदर के, कन्या है,' ऐसा अर्थ नहीं किया जाता, अपि तु 'कृश (अतिस्वल्प) उदरवाली कन्या है' ऐसा ही अर्थ किया जाता है, इसी प्रकार मन्त्र में अकाय शब्द का 'परमार्थसत्ताक शरीर नहीं' यही अर्थ है । 'सर्वथा शरीर नहीं', ऐसा नहीं ।

कवि=सर्व द्रष्टा, क्योंकि बृहदारण्यक श्रुति, परमात्मा को सर्वद्रष्टा कहती है । **मनीषी**=मन का ईषिता (प्रेरक) सर्वज्ञ परमेश्वर, **परिभू**=जो सर्वोपरि है । **स्वयंभू**—जिनके ऊपर है, जो ऊपर है, वह सर्व स्वयं ही होता है; अतः स्वयंभू है । वह द्रष्टा सर्वज्ञ-सर्वशक्ति-पर-

---

२४. परमात्मा से अतिरिक्त और कोई द्रष्टा नहीं है ।

२५. शतपथ ब्राह्मण में "सम्वत्सर प्रजापति हैं" ऐसा कहा गया है; अतः मन्त्र में सम्वत्सर के वाचक 'समा' शब्द का अर्थ प्रजापति किया है ।

[२६]"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥"

(श्वेताश्वतरोपनिषत् ६.१८)

'स पर्यगात्' **इत्यात्मनो व्यापकत्वमुक्तम्।**

[२७]"यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥"

इति श्रुतेः (महानारायणो० ११.६)

व्यापकत्वात् स एवात्मा —

[२८]"यच्चाप्नोति यदादत्ते यत्त्वत्ति सकलानिह।
यच्चास्य सन्ततोभावस्तस्मादात्मेति गीयते ॥"

इति स्मरणात्।

मेश्वर कर्तव्यपदार्थों को प्रजापतियों के लिये यथाभूत कर्म के साधन-पूर्वक विधान करता है। 'तुमको यह कर्तव्य है' इस प्रकार विधिरूप यज्ञ का जीवानुरूप विभाग किया। 'यो ब्रह्माणं' यह श्वेताश्वतरश्रुति ऐसा कह रही है।

"स पर्यगात्" इतने वाक्य से आत्मा की व्यापकता कही; क्योंकि **"यच्च"** यह नारायणश्रुति उसे व्यापक बोधन कर रही है।

व्यापक होने से वह परमात्मा ही आत्मा है, क्योंकि **"यच्चाप्नोति"** इस स्मृति में आत्मा को व्यापक कहा गया है। वह परमात्मा से अभिन्नआत्मा शुद्ध स्वयं ज्योति है,अर्थात् शुद्धज्योतिस्वरूप=नित्य

---

२६. जिस परमात्मा ने पहिले ब्रह्मा को रचा है, जिसने उस ब्रह्मा के लिये वेद प्रदान किया है, मैं मुमुक्षु उस जीवों की बुद्धि के साक्षीपरमात्मदेव की शरण हूँ।

२७. जो कुछ जगत् देखा तथा सुना जाता है, उस सर्व को व्याप्त करके नारायण भगवान् स्थित है।

२८. पाठान्तर—सकलानिह—विषयानिह, गीयते—कीर्त्यते। द्रष्टव्य —शाङ्करभाष्य कठो० २.१.१।

स च शुक्रं **शुद्धः स्वयंज्योतिः, शुक्लज्योतिस्स्वभावः नित्यचिन्मात्रविग्रहः।** अकायं **लिङ्गदेहविवर्जितः।** अव्रणमस्नाविरं **व्रणशिरादिविवर्जितः।** अपापविद्धं **धर्माधर्मशून्यः।** शुद्धं **मायापाशवर्जितः।** कविः **क्रान्तदर्शी।** मनीषी **मनसोऽपि नियन्ता सर्वसाक्षी।** परिभूः **सर्वोपरिभविता।** स्वयंभूः **सर्वः, स्वयमेव भवति।**

यद्वा—स देवो निरञ्जनो सर्वव्यापी सर्वगः देहद्वयविवर्जितः परिभवति सर्वकार्याणीति, स्वयमेव स्वातन्त्र्येण भवतीति स्वयंभूः।

यद्वा—स ईश्वरस्वरूपाभिन्न आत्मा पर्यगात् **परितः समन्तादगादधिगतवान्।** स चाकायः—**सूक्ष्म देहवर्जितः। कुतः इति चेत्तत्राह**— अव्रणः। अस्नाविरः **स्थूलशरीर रहितः, सति स्थूले तद्धेतुत्वेन सूक्ष्मस्याप्यनुमातुं शक्यत्वात्। स्थूलदेहराहित्ये** हेतुः—शुद्धं **पुण्यपापादिरहितम्। तत्रापि** हेतुरपापविद्धं **पापं दुःखहेतुरविद्या,**

चेतनस्वरूप है। **अकाय**=लिङ्ग शरीररहित, क्षत (घाव) तथा स्नायु (नस) से रहित, धर्माधर्म से शून्य, मायापाश (पंचक्लेशरूपपाश) से रहित, **मनीषी** मनका नियन्ता—सर्वकासाक्षी, **परिभू**=सर्व से ऊपर **वर्तमान** (परमार्थसत्तावान्), **स्वयंभू**=स्वतः सिद्ध है।

अथवा वह मायामल से रहित आत्मदेव, सर्वव्यापक देहदो (स्थूल-सूक्ष्म) से रहित तथा सर्वकार्यों को अपने वश में रखनेवाला है। वह स्वयं अर्थात् स्वतन्त्ररूप से होता है। भाव यह कि वह स्वतः सिद्ध है।

अथवा वह ईश्वर से अभिन्न आत्मा, सर्व ओर से व्याप्त है अर्थात् वह ऐसा व्यापक है कि उसके बिना किसी की सत्ता ही नहीं है। वह **अकाय**=सूक्ष्मशरीर से रहित है, क्योंकि वह **अव्रण**=क्षतरहित और **अस्नाविर**=स्नायु से रहित अर्थात् स्थूलशरीर रहित है। स्थूलशरीर होने पर ही सूक्ष्मशरीर का अनुमान किया जा सकता है। जब स्थूलशरीर नहीं तो सूक्ष्मशरीर भी नहीं। स्थूलशरीर के अभाव में हेतु है कि वह आत्मा शुद्ध=पाप-पुण्य से रहित है। पाप-पुण्य होने पर ही स्थूलशरीर मिलता है। पाप-पुण्य नहीं तब स्थूलशरीर भी नहीं। पाप-पुण्य के अभाव में हेतु है अपापविद्ध। पापशब्द का वाच्य यहाँ दुःख का हेतु होने से अविद्या है। अविद्या से भी आत्मा रहित

न तेन विद्धमपापविद्धम्। यस्मादेतादृशं शुक्रमहमस्मि तस्मात् स जीवः पर्यगात्तस्मात्सोऽप्येवंविशेषणः, तेन न जीववदीश्वरस्याप्यात्मत्वाद्देहादिसम्बन्धः सम्भवति। अनेजदादिरूपं यदुक्तमीट्स्वरूपं, तदेवायं जीवोऽपि। कुतः! कविः क्रान्तदर्शी, अपास्तसर्वाविद्यः। मनीषी **सर्वस्य हृदि सत्त्वेन मनसोनियन्तृत्वात्।** परिभूः **परिसमन्तात् भवत्यविद्यावशात्। अविद्यां परिभावयतीति वा** परिभूः। **कारणान्तरनिरपेक्षः। स्वयमेवभवतीति** स्वयंभूः। **स स्वाविद्यादशायां याथातथ्यतः साध्यसाधनादि प्रतिनियतस्वरूपेणार्थांश्चेतनाचेतनात्मकविविधपदार्थान्व्यदधाद्विविधं कल्पितवान्। ज्योतिष्टोमेनैव स्वर्गो न कृष्यादिनोपास्त्यादिरूपेण वा। साधनसाध्यात्मकं प्रतिनियतरूपं जगत्** शाश्वतीभ्यः समाभ्यः **संवत्सराभिधाभ्योऽस्मिन्नस्मिन्नुकाल इदमिदं भविष्यतीत्यादिना कल्पितवान्।**

है। अविद्या के बिना उसमें पाप-पुण्य संभव नहीं। "क्योंकि ऐसा शुद्ध ब्रह्म मैं हूँ", अतः जीव भी व्यापक है, परमात्मा के समान ही विशेषणवाला आत्मतत्त्व है। जीव के समान ईश्वर का भी आत्मा (वास्तविकस्वरूप)होनेसे आत्मतत्त्व में देहादि किसी अनात्मपदार्थ का सम्बन्ध संभव नहीं। जो ईश्वर का स्वरूप कहा वही जीव का स्वरूप भी है। क्योंकि जीव का स्वरूप भी कवि=क्रान्तदर्शी अर्थात् सर्वअविद्या से रहित है। सर्वअविद्या से रहित भी सर्व के हृदय में विद्यमान होने से अविद्या का नियन्ता होने के कारण **'मनीषी'** है।

अविद्या के वशीभूत होने से सर्व ओर है, सर्वशरीरों में है; अतः **परिभू** है। अविद्या का परिभावन—परिशीलन करता है, उससे तादात्म्यापन्न होता है अथवा अविद्या का पराभव (बाध) करता है इसलिये भी वह **परिभू है**। ज्योतिस्वरूप है, अतः अविद्या का भी प्रकाशक है। अत एव अविद्या से पराभूत (तिरस्कृत) नहीं, अपि तु ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा का ज्योतिस्वरूप ही अविद्या का बाधक है। किसी कारण की अपेक्षा के बिना स्वयं सिद्ध है; अतः वह **स्वयंभू** है। उस जीव-आत्मा ने अपनी अविद्यादशा में "यह साध्य है, यह साधन है" इस प्रकार नियत साध्य-साधनरूप से चेतन-अचेतन पदार्थों को विविधरूप में

यद्वा यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् यद्ब्रह्म पर्यगात् परि **सर्वतः जगत्** अगात् **व्याप्यासीत्। यच्च** शुक्रं **दीप्तिमत्वात् स्वप्रकाशं** [२९]"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (**कठोपनिषत् अ. २ व. २ म. १५)इति श्रुतेः।** अकायं—**सूक्ष्मदेहरहितम्, निरवयवत्वादव्रणमस्नाविरं स्थूलदेहरहितम्,** [३०]"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्" (**कठोपनिषत् अ. १ व. २ म. २१)।** शुद्धम्—**मायासम्बन्धशून्यम्** 'तमसः परमुच्यते'[३१] (**त्रिपाद. महा. ४.१, गीता १३.१७) इत्युक्तेः।** अपापविद्धम् **पुण्यपापवर्जितम् पुनरावृत्तिहेतुत्वात्पुण्यमपि पापमेव** [३२]'न वर्धते कर्मणा नो कनीयानि'**ति श्रुतेः (बृह० उ० ४.४.२३)। स तदेतादृशं ब्रह्मैव अनन्तब्रह्माण्डोत्पत्त्यादिशक्तिमादायेश्वरो भूत्वा**

कल्पना किया है। ज्योतिष्टोम से या किसी उपासना विशेष से ही स्वर्ग है, कृषि आदि से नहीं, इत्यादिरूप से साध्य—साधनात्मक (कार्य-कारणात्मक)'नियतस्वरूपवाला जगत् इस काल में यह होगा तथा इस काल में यह होगा' इस रूप से उसने कल्पना की है।

अथवा—यत्-तत् का नित्यसम्बन्ध होने से यत्—जो ब्रह्म सर्व **जगत् को** व्याप्त कर विद्यमान है और जो शुक्र=दीप्तिवाला होने से स्वप्रकाश है। क्योंकि **"तमेव"** यह श्रुति उसको स्वप्रकाश कह रही है। जो **अकाय**=सूक्ष्मशरीररहित, निरवयव होने से व्रण तथा स्नायु-रहित अर्थात् स्थूलशरीररहित है। **"अशरीरम्"** यह श्रुति भी उसे अशरीर कहरही है। जो शुद्ध=माया संबंधसे शून्य है। श्रुति भी जिसे तम=माया से रहित कर रही है। जो अपापविद्ध=पुण्य-पाप से रहित है। पुनर्जन्म का हेतु होने से पुण्य भी पाप है,अत एव अपापविद्ध शब्द का पुण्य-पाप से रहित अर्थ किया है। क्योंकि **'न वर्धते'** यह श्रुति

---

२९. उस देदीप्यमान आत्मतत्त्व के पश्चात् ही सर्व प्रकाशित होता है। उसके प्रकाश से ही सर्व प्रकाशित होता है।

३०. अनवस्थित (अनित्य शरीरों) में शरीररहित आत्मा स्थित है।

३१. आत्मा तम (माया) से परे कहा जाता है।

३२. वह परमात्मतत्त्व कर्म से न बढ़ता है, न घटता है।

कविर**तीतानागतद्रष्टा,** [३३]'सोऽकामयत बहुस्यां' (**तैत्ति० ३.६**) **इत्यादि –श्रुतिभ्यः, स्मृतेश्च** —

"वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥"[३४]**इत्यादि।**
(**भगवद्गीता ७.२६**)

परिभूः **उपरि भवतीति सर्वोत्कृष्टः,**[३५]"पुरुषान्न परं किञ्चिदि'-ति" (**कठो० १.३.११**) **श्रुतेः। अन्यत्पूर्ववत्।**

यद्वा—शुक्रमित्यादिविशेषणोपलक्षितं ब्रह्मपर्यगात्, **सर्वभावेन ज्ञातवान्, गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थत्वात्। स ब्रह्मज्ञः** कविः **क्रान्तदर्शी,** मनीषी **द्वैतसम्बन्धराहित्येन प्रशस्तबुद्धिसम्पन्नः,** परिभूः **परितो भवति सर्व-स्वरूपः,** स्वयंभूः **ब्रह्मरूपः सन्** याथातथ्यतो **यथास्वरूपं तेन तेन रूपेण**

उसे कर्मों के प्रभाव से रहित कह रही है। वह ऐसा ब्रह्म ही अनन्त-ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करनेवाली शक्ति को लेकर अर्थात् मायाशक्ति से विशिष्ट होकर, ईश्वरपद का वाच्य होकर **कवि** =भूत-भविष्यत् का ज्ञाता होता है। **'सोऽकामयत','वेदाहं'** इत्यादिक अन्य श्रुति-स्मृतियाँ भी परमात्मतत्त्व को भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान का ज्ञाता कह रही हैं। **परिभू**=सर्व के ऊपर होता है, अर्थात् सर्वो-त्कृष्ट है, क्योंकि उसे "पुरुषात्" यह कठश्रुति सर्वश्रेष्ठ कह रही है। अन्य अर्थ पूर्ववत् है।

अथवा—जिसने शुक्रादि विशेषणों से उपलक्षित शुद्धब्रह्म जान लिया, वह ब्रह्म को जाननेवालापुरुष **कवि**=क्रान्तदर्शी, **मनीषी**=द्वैत के सम्बन्ध से रहित श्रेष्ठबुद्धि से सम्पन्न (युक्त), **परिभू**=सर्व-

---

३३. "मैं अतीत, अनागत और वतमान प्राणियों को जानता हूँ, पर मुझे कोई अभक्त नहीं जानता।"

३४. परमात्मा ने इच्छा की कि 'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ।'

३५. पुरुष से श्रेष्ठ कोई नहीं है।

अर्थान् **पदार्थान् भोग्यविषयान्** शाश्वतीभ्यः समाभ्यः, **तादर्थ्ये चतुर्थी, अनन्तवर्षोपभोगाय,** व्यदधात्—**विविधं करोति ।** [३६]"यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् संदेह्ये गहने प्रविष्टः । स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ते'**तिश्रुतेः (बृहदा० उ० ४।४।१३) ।**

दयानन्दः—"हे मनुष्याः ? यद्ब्रह्मशुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् पर्यगात् यः कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः परमात्मा शाश्वतीभ्यः समाभ्यः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् स उपासनीयः ।" इति ।

तदपि यत्किञ्चित्, विप्रतिषिद्धत्वात् । अकायमित्यस्य स्थूल-सूक्ष्मकारणशरीररहितार्थत्वे, अव्रणमस्नाविरमित्यनयोर्विशेषणयोर्नैर-

---

स्वरूप, **स्वयंभू**=ब्रह्मस्वरूप हुआ, यथास्वरूप अर्थात् उस-उसरूप के पदार्थ=भोग्य विषयों को अनेक प्रकार का करता (बनाता) है ।

श्रीदयानन्दभाष्य—"हे मनुष्यो ! जो शुक्र-शरीररहित–क्षत (घाव) तथा स्नायु से रहित शुद्ध-पापों से असंसृष्ट व्यापक ब्रह्म है । जो कवि-मनीषी-परिभू-स्वयंभू-परमात्मा शाश्वत प्रजा के लिये पदार्थों को विभक्त करता है, वही उपासनीय है ।"

यह भाष्य कुछ नहीं; क्योंकि इसमें परस्पर विरुद्ध कथन है । परमात्मा यदि स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण इन तीनों शरीरों से रहित है, ऐसा अकाय शब्द से अभिमत है, तब तो अव्रण तथा अस्नाविर ये विशेषण व्यर्थ हो जायँगे । क्योंकि स्थूल शरीर के होने पर ही व्रणादि संभव हैं । तीनों शरीरों से रहित में तो व्रणादिक जब संभव ही नहीं अर्थात् व्रणादि की प्राप्ति ही नहीं, तो निषेध की भी प्राप्ति नहीं ।

---

३६. जिस विद्वान् को इस अनेक सङ्कटों के पुंज से युक्त, गहन शरीर में प्रविष्ट आत्मा शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश से ज्ञात है तथा "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अपरोक्ष है, वह आत्मवेत्ता विश्व का कर्ता ईश्वर है, उसका ही यह सर्व, लोक (आत्मा) है, वह विद्वान् आत्मा ही है ।

र्थक्यापातात्, स्थूलशरीरस्य सत्त्वे एव व्रणादि संभवात्। समाभ्यः प्रजाभ्यः इत्यप्यसंगतम्, निर्मूलत्वात्। न च शाश्वतीभ्य इति तद्विशेषणं संभवति, विनश्वरत्वात्॥८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याᳬरताः॥९॥

इस मन्त्र के द्वारा नैरात्मवादी लोकायतिकों की निन्दा की जाती है। उनके मतमें भूतसंघातरूप देह के अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं; जैसे मादक द्रव्य के अतिरिक्त उससे निर्मित मद्य कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं। पर उनका यह मत उपयुक्त नहीं। श्रुति और युक्ति के द्वारा देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व मानकर देहासक्तिपर्यन्त कर्मोपासना और दोनों के समुच्चयका आलम्बन लेना ही

क्योंकि किसी की प्राप्ति होने पर ही निषेध उचित होता है। सर्षप में सुमेरुपर्वत की प्राप्ति नहीं तो "सर्षप में सुमेरु नहीं" ऐसा निषेध भी नहीं। यदि कहा जाय स्थूल शरीर का नहीं, सूक्ष्म-कारण शरीर का निषेध है; यह भी उचित नहीं, क्योंकि सूक्ष्म तथा कारण शरीर के विना स्थूलदेह संभव ही नहीं। कैसा भी शरीर स्वीकार करने पर स्वसिद्धान्त से भी विरोध होगा। क्योंकि स्वामी दयानन्दजी के सिद्धान्त में परमेश्वर का किसी प्रकार का शरीर स्वीकार नहीं किया गया है। "**समाभ्यः**" इस शब्द का अर्थ उनको प्रजा अभिमत है, यह भी उचित नहीं; क्योंकि समाके पर्याय सम्वत्सर का अर्थ प्रजापति ब्राह्मणों (ब्राह्मणग्रन्थों) में किया है। उस प्रकार प्रजा अर्थ नहीं किया; अतः प्रजा अर्थ करना निर्मूल है। किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि '**समा**' शब्द का अर्थ प्रजा है तो भी शाश्वती विशेषण संभव नहीं; क्योंकि प्रजा शाश्वती–सदा रहनेवाली नहीं; क्योंकि वह (प्रजा) तो नश्वर है॥८॥

उपयुक्त है। 'देहपात के बाद भी उत्क्रमण और पुनर्जन्म प्राप्त करने योग्य आत्मा का अस्तित्व मान्य है' ऐसा न मानने के कारण जो **'असंभूति'** अर्थात् असंभव की उपासना करते हैं—मरणमात्र से मोक्ष मानकर जो पुन: आत्मा का अस्तित्व असंभव मानते हैं, वे अल्पदृष्टि अतत्त्वदर्शी होने के कारण अज्ञानात्मक तमको प्राप्त होते हैं। और जो **'संभूति'**—विज्ञानात्मक आत्मा को ही देहादिका कारण मानकर —विज्ञानातिरिक्त किसी अन्य को न मानकर कर्म से पराङ्मुख रहते हैं, वे विज्ञानाभिव्यञ्जक देहादि और उससे संभव कर्मादि की सर्वथा उपेक्षा की स्थिति में निर्विशेष-विज्ञान की असहिष्णुता के कारण मानो शून्यप्राय होने से असंभूति की उपासना करनेवाले की अपेक्षा भी अधिक अज्ञान में प्रवेश करते हैं। अथवा इस मन्त्र में **'असंभूति'**—अक्षर, अव्याकृत, कारणब्रह्मरूप अव्यक्त के उपासकों की निन्दा और उसकी अपेक्षा भी **'संभूति'**–व्यक्तोपासक की अधिक निन्दा दोनों की समुच्चित उपासना के अभिप्राय से है ॥६॥

इत उत्तरं द्वितीयमन्त्रव्याख्यानभूता उपासनामन्त्रा उच्यन्ते। षडनुष्टुभ:। लोकायतिका नैरात्म्यवादिनो निन्द्यन्ते, येषां मते यम-नियमादिसम्बन्धवान् विज्ञानात्मा कश्चिन्नास्ति जलबुद्बुदवज्जीवा: मदशक्तिवद्विज्ञानं भौतिकमेव। ये नरा असंभूतिम**संभवमुपासते, मृतस्य सत: पुन: संभवो नास्ति, तेन शरीरान्ते सर्वस्य मुक्तिरेवेति ये वदन्ति, न हि विज्ञानात्मा कश्चिदनुच्छित्तिधर्माऽस्ति यो यमनियमै: परलोकैश्च सम्बद्ध्यते इत्येवमुपासते, ते** अन्धतम: **अज्ञानलक्षणं तम:**

अष्टममन्त्र के पश्चात् द्वितीयमन्त्र के व्याख्यानरूप उपासना के **'अंधं तम:'** इत्यादि मन्त्र कहे जाते हैं। इस मन्त्र में जो शरीर से भिन्न आत्मा स्वीकार नहीं करते, उन चार्वाकों की निन्दाकी जाती है, जिनके मत में यम-नियमादिसाधनों से सम्बन्धवाला ज्ञानस्वरूप कोई जीव नहीं है। सर्वजीव जल के बुद्बुदों के समान (अनित्य)हैं। मादक-पदार्थोंमें जैसे मदशक्ति भौतिक है,उसी प्रकार शरीररूप अनित्य आत्मा में विज्ञान (ज्ञानशक्ति) भौतिक ही है। अभिप्राय यह है कि मदशक्ति जैसे मादकद्रव्य से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, वैसे ही विज्ञान (चेतना) भौतिक देह से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं।

प्रविशन्ति । ये च सम्भूत्यां **सम्भवति देहादिरस्याः सा संभूतिश्चिति-विज्ञानरूप आत्मा, तस्यामेवरताः तत्रैवासक्ताः, आत्मैवास्ति नान्यत् किञ्चिदस्तीत्यास्थाय कर्मपराङ्मुखाः ज्ञानकाण्डकर्मकाण्डयोः सम्बन्धो नास्तीति वदन्तः, स्वबुद्धिलाघवमजानाना आत्मज्ञानमात्र-रताः, तेन ते अन्धात्तमसो** भूय इव **इवेत्यनर्थकः, बहुतरं** तमोऽज्ञानं **प्रविशन्ति ।**

यद्वा—अत्र व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दा । संभूयते-उत्पद्यते इति सम्भूतिः, तद्विलक्षणा असम्भूतिः **प्रकृतिः कारणमव्याकृताख्या** [३७]**तामक्षराख्यां प्रकृतिं कामकर्मबीजभूतामविद्या-मदर्शनात्मिकां** य उपासते—**चिन्तयन्ति ते तदनुरूपमेवान्धं** तमो**दर्शना-**

जो मनुष्य असम्भूति(असम्भव)की उपासना करते हैं,"मरे हुए का पुनः जन्म नहीं होता, अत एव शरीर के अन्त (समाप्ति) होने पर सर्व की मुक्ति हो जाती है' ऐसा कहते हैं,'अविनाशी ज्ञानस्वरूप आत्मा नहीं है, न आत्मा यम-नियम तथा परलोकसे ही सम्बन्धित है' ऐसी जो उपा-सना करते हैं, वे अज्ञानरूप अन्धकार में प्रवेश करते हैं ।जो 'संभूति= देहादि जिससे सम्बन्धित हुआ उत्पन्न होता है, ऐसा चेतन-विज्ञान-स्वरूप आत्मा ही है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं', ऐसा मानकर कर्म से

---

३७. भगवद्गीता अ० १५, श्लोक १६ में शाङ्करभाष्य के अनुसार **'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** कहकर जिस मायाशक्ति का वर्णन किया गया है, उसीको यहाँ **'असंभूति'** कहा गया है । जिसे गीता में **'क्षरः सर्वाणिभूतानि'** कहा गया है, उसी को यहाँ **'संभूति'** कहा गया है । 'अक्षर' भगवान्‌की मायाशक्ति इसलिये है; क्यों-कि बिना ब्रह्मज्ञान के उसका नाश नहीं होता । वह संसार का बीज है । क्षर पुरुष की उत्पत्ति उसी से होती है —

भगवतो मायाशक्तिः क्षराख्यस्य पुरुषस्योत्पत्तिबीजमनेक-संसारिजन्तुकामकर्मादिसंस्काराश्रयोऽक्षरः पुरुष उच्यते । तस्य कथमक्षरत्वं विना ब्रह्मज्ञानमनाशात् । अनेकमायादिप्रकारेण स्थितः कूटस्थः संसारबीजानन्त्यान्न क्षरतीत्यक्षर उच्यते ॥

त्मकं संसारं प्रविशन्ति, प्रकृतिलयम्प्राप्नुवन्ति "तं यथायथोपासते तथैव भवति" **(मुद्गलो० ३) इति श्रुतेः।** ततस्तस्मादपि भूय इव **बहुतरमिव अन्धं तमः प्रविशन्ति** य उ सम्भूत्यां **कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये** रताः **अनुरक्ताः भक्ताः सन्ति।**

अत्र चित्तन्त्रामाया परमेश्वरस्योपाधिभूता असम्भूतिशब्देनोच्यते।

विमुख होकर ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड का कोई सम्बन्ध नहीं है', ऐसा कहते हुए अपनी बुद्धि के लाघव (तुच्छता) को न जानते हुए आत्मज्ञानमात्र में रत हैं। इसमें रत रहने से वे गाढ़ अन्धकार से भी अधिक तम (अज्ञान) में प्रवेश करते हैं।

क्योंकि शास्त्रीयकर्म किये विना चित्त शुद्ध न होने से ज्ञानका उत्पन्न होना संभव नहीं तथा धर्मरहित जीवन, अन्ततोगत्वा पापमय जीवन बन जाता है; अतः शास्त्रीयकर्मों की उपेक्षा कर्माधिकारी अविद्वान् के लिये उचित नहीं। कर्मसंन्यास की प्रशस्तयोग्यता तो प्रबुद्ध और अन्तर्मुख में ही होती है, अन्यों में नहीं।

अथवा इस नवममंत्र में व्याकृत तथा अव्याकृत की उपासना के समुच्चय की इच्छा से प्रत्येक की निन्दा है। जो उत्पन्न होता है वह है संभूति, उससे विपरीत जो उत्पन्न नहीं होता वह है असंभूति (प्रकृति), जिसे कारणभूत अव्याकृत भी कहते हैं तथा उसका अक्षर नाम भी है। उस काम, कर्म की बीजभूत अविद्यात्मक प्रकृति की जो उपासना (चिन्तन) करते हैं, वे उपास्य प्रकृति के स्वभावानुसार उस अज्ञानात्मक (अदर्शनात्मक) प्रकृति को ही प्राप्त होते हैं। जिस प्रकृति की प्राप्ति का नाम प्रकृतिलय है। क्योंकि "जो जैसी उपासना करता है, वह तद्रूप हो जाता है" ऐसा श्रुति कह रही है। उस तम से भी अधिकतम अर्थात् अज्ञान को वे उपासक प्राप्त होते हैं, जो संभूति= कार्यब्रह्मरूप हिरण्यगर्भ में अनुरक्त अर्थात् उसके भक्त हैं।

यहाँ चेतन से अधिष्ठिता माया जो कि परमेश्वर की उपाधि है, वही **'असम्भूति'** शब्द से कही गई है। क्योंकि श्वेताश्वतरश्रुति

"मायां तु [३८]प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥"

(श्वेताश्वतरोप० ४.१०) इतिश्रुतेः ।

न च परब्रह्मैव प्रकृतिः, तस्यनिर्विकारस्य साक्षात्प्रकृतित्वानुपपत्तेः । न च जडत्वात्प्रकृतेः फलदातृत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, कर्मणां फलस्येवोपासनफलस्यापि परमेश्वरेणैव दास्यमानत्वात् । न च 'तादृशफलस्यार्थ्यमानत्वं नोपपद्यते' इति वाच्यम्, सषुप्तिवत् प्रकृतिलयस्यापि पुरुषैरर्थ्यमानत्वोपपत्तेः ।

दयानन्दः—"ये परमेश्वरं विहाय असम्भूतिमुपासते, प्रकृत्याख्यं जडं वस्तूपासते ते अन्धं तमः प्रविशन्ति, ये सम्भूत्यां महदादिरूपायां सृष्टौ रताः, त उ ततो भूय इव तमः प्रविशन्ति ।" इति ।

माया को महेश्वर (परमेश्वर) की उपाधि कह रही है । परब्रह्म ही प्रकृति नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प परब्रह्म का साक्षात् (उपाधि के विना) कारण होना संभव नहीं है ।

यह कहना भी उचित नहीं कि जड़प्रकृति, अपने उपासक को फल कैसे प्रदान कर सकती है ? क्योंकि जैसे कर्मों का फल परमेश्वर देता है, वैसे ही उपासना का फल भी परमेश्वर ही देता है । यह कहना भी उचित नहीं, कि जड़प्रकृति में विलयरूप फल के लिये कोई उपासना क्यों करेगा ? मनुष्य तो सुख चाहता है, प्रकृति में विलय होना तो नहीं चाहता; क्योंकि सुषुप्ति के समान प्रकृतिलय में भी सुख रहने से मनुष्य की इच्छा संभव है ।

श्रीदयानन्दभाष्य—"जो परमेश्वर को त्यागकर असम्भूति की उपासना करते हैं । प्रकृति नामवाली जड़ वस्तु की उपासना करते हैं, वे पुरुष अन्ध तम में प्रवेश करते हैं । जो सम्भूति अर्थात् महदादिरूप सृष्टि में रत हैं, वे उससे भी अधिक तम में प्रवेश करते हैं ।"

---

३८. माया को संसार का परिणामी उपादान कारण जानो,माया के नियन्ता को महेश्वर जानो ।

तदपि यत्किंचित्, सृष्टेरुपासनस्याविहितत्वात्, निष्फलत्वाच्च फलमन्तरा, 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमि'ति न्यायेनाङ्गाङ्गिभावा**पत्त्या**[३९] **समुच्चयानुपपत्तेः ॥९॥**

यह भाष्य भी यत्किंचित् ही है, क्योंकि न तो सृष्टि की उपासना का शास्त्र में विधान ही है न उसका कोई फल ही है। यदि "किसी क्रिया का विधान तो हो, किन्तु उसका फल शास्त्र ने न कहा हो तथा ऐसी क्रिया का किसी फलवाली क्रिया के समीप में कथन हो तो विना फल के कही क्रिया, फलवाली क्रिया का अंग होती है।" यह नियम है। दयानन्द–भाष्य में असंभूति की उपासना का तो 'अन्ध तम (गाढ़ अन्धकार) में प्रवेश' फल वर्णन कर दिया, पर सृष्टि-उपासना का कोई फल वर्णन नहीं किया। इस प्रकार फल से रहित सृष्टि की उपासना का इसी मन्त्र में पठित फलवाली असंभूति की उपासना के समीप में ही विधान होने से इन दोनों में अङ्गाङ्गी (साधन-साध्य) भाव होगा। अर्थात् 'सृष्टि उपासनारूप साधन से निष्पन्न असंभूति-उपासना ही एकमात्र इस मन्त्र का विषय है' '**फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्**' इस नियम के अनुसार यह सिद्ध हुआ। ऐसा सिद्ध होने पर मन्त्र में जो समुच्चय का विधान है, वह संभव नहीं; क्योंकि दो स्वतन्त्र क्रियाओं का ही समुच्चय होता है, साध्य-साधन का समुच्चय होता नहीं ॥९॥

---

३९. अवान्तरफलभेदं समुच्चयकारणम्। अन्यथा फलवदफलवतो सन्निहितयोरङ्गाङ्गितैव स्यात्।

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

'संभव'—कार्यब्रह्म की उपासना का फल अणिमादि-ऐश्वर्योपलब्धिरूप अन्य ही है और **'असंभव'**—कारणब्रह्मरूप अव्याकृत की उपासना से प्राप्त होनेवाला प्रकृतिलयरूप फल अन्य ही है। ऐसा हमने हमारे प्रति संभूति और असंभूति की उपासना से प्राप्त फलों की विभागपूर्वक व्याख्या करनेवाले विद्वान् महानुभावों के श्रीमुख से सुना है ॥१०॥

अथोभयोरुपासनयोः समच्चयकारणमवयवफलभेदमाह । सम्भवात् **सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनात्**, अन्यदेव **पृथगेवाणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं फलमाहुः कथयन्ति धीराः ।** असम्भवात् **असम्भूतेरव्याकृताद्व्याकृतोपासनादन्यदेव फलमुक्तम् । अत्र प्रकरणानुसारेण संभवासंभवशब्दाभ्यां तत्तदुपासनमेवाभिप्रेतम् । अन्धं तमः प्रविशन्तीत्युक्तं प्रकृतिलय इति पौराणिकं फलमाहुः, इत्येवंविधं** धीराणां **विदुषां वचः** शुश्रुम वयं **श्रुतवन्तः । ये धीराः** नोऽस्माकं तत् **पूर्वोक्तं सम्भूत्यसंभूत्युपासनफलं** विचचक्षिरे **व्याख्यातवन्तः ।**

पूर्वोक्त कथन के अनन्तर इस मन्त्र में दोनों उपासनाओं के समुच्चय का कारण जो फल का भेद है, उसे कहते हैं। **सम्भव** (कार्यब्रह्म) की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्यप्राप्तिरूप फल को तथा **असंभूति** (अव्याकृत, प्रकृति) की उपासना से अन्य प्रकृतिलयरूप फल को मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने कहा है। मन्त्र में प्रकरण के अनुसार संभव तथा असंभव शब्दों से संभव-असंभव की उपासना ही अभिप्रेत है। प्रकृति की उपासना का पुराणोक्त प्रकृति में लयरूप फल को **"अन्धं तमःप्रविशन्ति"** इस मन्त्रभाग से कहते हैं। पूर्वोक्त फलभेद का बोधकवचन हमने उन विद्वानों का सुना है, जिन्होंने हमसे संभूति और

दयानन्दः—"हे मनुष्याः ? यथा वयं धीराणां सकाशात् वचः शुश्रुम, ये नस्तद्विचचक्षिरे, ते संभवादन्यदेवाहुरसंभवादन्यदाहुरिति यूयं श्रृणुतेति", तदपि यत्किञ्चित् किन्तत्फलमित्यनुक्तेः ॥१०॥

सम्भूतिं च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥११॥

संपूर्ण जगत् के **'संभव'** (अभिव्यक्ति) का जो परमकारण है, वह परब्रह्म है । वही विविध शरीरों में शरीरी (क्षेत्रज्ञ, क्षेत्री) रूप से विद्यमान है । विनाशशील शरीर **'विनाश'** है । योगी (आरुरुक्षु-योगारुढ़ होने की इच्छावाला) दोनों तादात्म्यापन्न को विभागपूर्वक जानता है, अर्थात् देहभिन्न होने पर भी कर्मवशात् स्वयं को देह में अवस्थित जानता है । जो योगी ज्ञानोत्पत्ति की भावना से कर्मासक्ति, फलासक्ति और अहंकृति को तनु (शिथिल) कर धृत्युत्साहपूर्वक भगवदर्थ कर्मों (निष्कामकर्मों) को करता है, वह शुद्धिसम्पादन के योग से **'विनाश'** से —विनाशी शरीर से अन्तःकरण की अशुद्धिरूप मृत्यु को तर जाता है और **'संभूति'** अर्थात् आत्मज्ञान से अमृत (मुक्ति)–लाभ करता है । **अथवा** छान्दसवर्णलोपके योग से **'संभूति'–'असंभूति'** मान्य है । जिस का अर्थ है अव्याकृत (कारणब्रह्म)की उपासना । 'विनाश' का अर्थ है, विनाशधर्मयुक्त कार्यब्रह्मोपासना । जो दोनों की सहोपासना करता है, वह कार्यब्रह्म (हिरण्यगर्भ) की उपासना से उपलब्ध ऐश्वर्य और धर्मादि के अमोघ प्रभाव से अनैश्वर्य–अधर्मादिरूप मृत्यु को पारकर कारणोपासना से प्रकृतिलयरूप अमृतफल को प्राप्त करता है ॥११॥

असंभूति की उपासना के फल की व्याख्या की थी ।

श्रीदयानंदभाष्य—"हे मनुष्यो ! जिन विद्वानों ने हमारे प्रति

सम्भूतिं च—**सर्वजगत्सम्भवैककारणं परं ब्रह्म।** विनाशं—**विनाशोऽस्यास्तीति विनाशः, अर्श आदित्वादच्प्रत्ययः, विनाशधर्मकं शरीरम्।** तदुभयं **शरीरिशरीररूपं द्वयं** यो **योगी** सह **एकीभूतं** वेद **विजानाति, देहभिन्नोऽहं कर्मवशाद्देहे निवसामीति ज्ञात्वा शरीरेण ज्ञानोत्पत्तिकराणि निष्कामकर्माणि करोति, स** विनाशेन **विनाशिना शरीरेण** मृत्युं तीर्त्वाऽन्तः**करणशुद्धिं कृत्वाऽन्तःकरणाशुद्धिलक्षणं मृत्युमतिक्रम्य** संभूत्या **आत्मज्ञानेनामृतमश्नुते मुक्तिमाप्नोति**[४०]।

यद्वा सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोरेकपुरुषार्थत्वात्समुच्चय एव युक्तः। सम्भूतिञ्चेत्यत्र छान्दसवर्णलोपो द्रष्टव्यः, अन्यदाहुरसंभवादि-

---

कहते हैं तथा कारण की उपासना से भिन्न फल कहते हैं, उन विद्वानों के जैसे वचन हमने सुने हैं, उन वचनों को तुम भी श्रवण करो।" यह भाष्य इसलिये उचित नहीं कि भाष्य में दोनों उपासनाओं का भिन्न फल क्या होता है, ऐसा वर्णन नहीं किया। सिद्धान्त में आणिमादि ऐश्वर्य तथा प्रकृति में लय, ऐसा भिन्न-भिन्न फल वर्णन किया है; अतः वही उचित है ।।१०।।

सम्भूति=सर्व जगत् के संभव (उत्पत्ति) का मुख्यकारण परब्रह्म तथा **विनाश**=विनाशधर्मवाला शरीर इन दोनों को शरीर-शरीरिरूप में जो योगी **सह**=एकरूप जानता है। किस प्रकार जानता है—"मैं देह से भिन्न हूँ, कर्मवशात् देह में निवास करता हूँ," ऐसा जानकर शरीर से ज्ञानकी उत्पत्ति करनेवाले निष्कामकर्मों को करता है, वह विनाशधर्मिक शरीर से **मृत्यु** को पारकर अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि करके अन्तःकरण की अशुद्धिरूप मृत्यु का उल्लंघन कर, **असंभूति** (आत्मज्ञान) से अमृत=मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

अथवा सम्भूति और असंभूति की उपासनाओं को एक पुरुष के लिये होने से समुच्चय ही उचित है। **सम्भूति**=अव्याकृत उपासना,

---

४०. कर्म और ज्ञान का **क्रमसमुच्चय** मान्य है। कर्म अन्तःकरणका शोधक और ज्ञान अज्ञानवारक होने से विमोक्षक है। श्री उवट और महीधर के अनुसार यह अर्थ है।

त्यनुरोधात्। सम्भूति**मव्याकृतोपासनं** विनाशं **विनाशधर्मयुक्तं कार्य-ब्रह्मोपासनं, तदुभयं सह समुच्चयेन** वेद **उपासते, स** विनाशेन **कार्य-ब्रह्महिरण्यगर्भोपासनेन ऐश्वर्यादिप्राप्त्यऽनैश्वर्याधर्मादिलक्षणं** मृत्युं तीर्त्वाऽ**तिक्रम्य,** संभूत्या **असंभूत्या—अव्याकृतोपासनेन** अमृतं **प्रकृतिलय-लक्षणं फलमश्नुते**[४१]।

[४२]**"कश्चित्तु सम्भूतिपदेन कार्यं विनाशपदेन कारणमभिप्रैति। कार्यं यस्मिन् विनश्यति तद् विनाशं कारणं मायाबीजं, यच्च चैतन्य-**

विनाश=विनाशधर्म से युक्त कार्यब्रह्म की उपासना, उन दोनों उपासनाओं को जो समुच्चयरूप से (एक साथ) करता है, वह विनाश =कार्यब्रह्मरूपहिरण्यगर्भ की उपासना से मृत्यु=अनैश्वर्य तथा अधर्मादि को अतिक्रमणकर, सम्भूति (अव्याकृत) की उपासना से अमृत (प्रकृतिलयरूपफल) को प्राप्त हो जाता है।

कोई विद्वान् इस मन्त्र का ऐसा अर्थ करते हैं कि—सम्भूतिपद से कार्य, विनाशपद से कारण अभिप्रेत है। कार्य जिसमें विनाश को प्राप्त होता है, उसे कहते हैं 'विनाश,' ऐसा विग्रह करने से विनाश शब्द का अर्थ कारण हो जाता है। सर्वका बीजभूतमाया कारण है।

---

४१. कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म की उपासना के **समसमुच्चय**का यहाँ प्रतिपादन है। भगवत्पाद शङ्कर के अनुसार यह अर्थ है।

४२. 'ईशावास्यरहस्यम्' के अनुसार यह विवरण है। इस व्याख्या का तात्पर्य इस प्रकार है—कार्य-कारणरूप से परब्रह्म ही स्थित है। 'संभूति' कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भात्मक है और 'विनाश' चैतन्यसहित मायाबीज अव्याकृतात्मक है। श्रुति ब्रह्म की कार्यरूपता के साथ ही उसकी अन्तर्यामिरूपता और साक्षी-चेताकेवल परब्रह्मरूपता का वर्णन करती है। साथ ही परम-शुद्ध सदद्वय ब्रह्म की आत्मरूपता का बोधन भी **'ब्रह्मैव परमं शुद्धं ब्रह्मैवाहं सदद्वयम्'।** इस रहस्य का जानकार कार्य-कारण ज्ञान के साथ ही कार्य-कारणातीत परब्रह्म की आत्म-रूपता को जाननेवाला होने से विमुक्तिलाभ करता है।

कवलीकृतं तथा च यस्तयोः कार्यकारणयोरैक्यं वेदोपासते, स तयोपासनया मृत्युं स्वाभाविकं तमस्तीर्त्वा हिरण्यगर्भोपासनयाऽमृतमश्नुते मुच्यते । आत्मविद्यावधिः कारणं भवति । साक्षीचेता जगद्बीजमन्तर्यामीति श्रुतेः । कार्यकारणनिर्मुक्तं परं ब्रह्म ज्ञात्वा विमुच्यते ।"

तदेतदपि नातीवमनोज्ञं, सहेति शब्देनोभयोः समुच्चयविधानेनैक्यज्ञानस्याविवक्षिततत्वात् । इह च कार्यकारणोपासनयोरेव विधानं, कार्यकारणातीतब्रह्मोपासनविधायकशब्दाभावात् ।

[४३]यत्तुकेनचित् "उभयोर्विनाशशब्दयोरवर्णलोपमभ्युपेत्य अविनाशेनाव्याकृतोपासनेन मृत्युमनैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च तीर्त्वा सम्भूत्या हिरण्यगर्भोपासनेनामृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुत" इति,

---

मायाचैतन्य से व्याप्त है । जो कार्य-कारण की एकता की उपासना करता है; वह उस उपासना से मृत्यु (स्वाभाविकतम) को पारकर, हिरण्यगर्भ की उपासना से अमृत को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है । आत्मविद्यापर्यन्त ही मायारूप कारण रहता है, भाव यह है कि माया आत्मा के ज्ञान से नष्ट हो जाती है । साक्षी-चेता कार्य-कारणनिर्मुक्त=कार्य तथा कारण से रहित परब्रह्म को जानकर मुक्त हो जाता है ।

यह अर्थ भी विद्वानों के मन को प्रिय नहीं है, क्योंकि मंत्र में पठित 'सह' शब्द से दोनों उपासनाओं का समुच्चय का विधान होने से ऐक्य(अद्वितीय आत्मा से अभिन्न शुद्धब्रह्म का)ज्ञान विवक्षित नहीं है । मन्त्र में तो कार्य-कारणब्रह्म की उपासना का ही विधान है । क्योंकि मन्त्र में कार्य-कारण से भिन्न शुद्धब्रह्म की उपासना के विधान (कर्तव्यता) का बोधक कोई शब्द है नहीं ।

कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि "मन्त्र में पठित दोनों विनाश-शब्दों में अवर्ण का लोप हो गया है, अतः विनाशशब्द के स्थान में अविनाश पढ़ना चाहिए । अविनाश=अव्याकृत की उपासना से मृत्यु

---

४३. **'अस्या ऋचोऽर्थान्तरम् । यथा'**—लिखकर श्रीमहीधरजी ने यह भाव व्यक्त किया है ।

तच्चिन्त्यम्, विपरीतस्यैव सुवचत्वात् । हिरण्यगर्भस्यैश्वर्यवत्त्वेन तदुपासनेनानैश्वर्यलक्षणमृत्योरतितरणस्यैव युक्तत्वम् । तदुपासनेन प्रकृतिलयासंभवात्, अव्याकृतोपासनेनैव प्रकृतिलयसम्भवाच्च ।

अन्येषां रीत्याऽसम्भूतिकारणं य उपासते त अन्धंतमः प्रविशन्ति । ततोऽप्यधिकं तमस्ते प्रविशन्ति य उ सम्भूत्यां रताः ।

संभूतिः सम्यग्भवनमुत्पत्तिर्यस्य तत्कार्यं [44]संभूतिः । **तद्व्यतिरिक्तामव्याकृतरूपामसम्भूतिं कारणम् । सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोः पृथक् पृथक् फलं भवति । स यश्च सम्भूतिं च विनाशं च सहोपासते स विनाशेन हिरण्यगर्भोपासनेन मृत्युंतीर्त्वा सम्भूत्या सम्यग्भवति यस्मात् कार्यं तत्कारणमव्याकृतं सम्भूतिस्तदुपासनेनामृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते ।**

अर्थात् ऐश्वर्य का अभाव तथा अधर्मादिरूप मृत्युको पारकर सम्भूति=**हिरण्यगर्भ** की उपासना से अमृत=प्रकृति में लयरूप अमृत को प्राप्त हो जाता है ।" यह अर्थ विचारणीय है, क्योंकि—इस अर्थ से विपरीत अर्थ ही सुगम अर्थात् अक्षरों तथा भाव के अनुकूल है । हिरण्यगर्भ (कार्यब्रह्म) ही ऐश्वर्ययुक्त है । उसकी उपासना से ही अनैश्वर्य तथा अधर्मादिरूपमृत्यु का तरना युक्तिसंगत है । ऐश्वर्ययुक्त हिरण्यगर्भ की उपासना से प्रकृतिलय संभव नहीं ।

अन्यों की रीति से तो असंभूति=कारण की जो उपासना करते हैं, वे गाढ़ अन्धकार (अज्ञान)में प्रवेश करते हैं । उनसे भी अधिक तम (अज्ञान) में वे प्रवेश करते हैं, जो सम्भूति में रत हैं ।

कुछ विद्वान् और भी कहते हैं–सम्यक्-भवन अर्थात् उत्पत्ति जिसकी होती है, वह कार्य है 'संभूति', उसके अतिरिक्त अव्याकृत है असंभूति । दोनों की उपासना का अलग-अलग फल है । जो कोई सम्भूति तथा विनाश की एक साथ उपासना करता है, वह विनाश=हिरण्यगर्भ की उपासना से मृत्यु को पारकर सम्भूति=कारणभूत अव्याकृत की उपासना से प्रकृतिलयरूप अमृत को प्राप्त हो जाता है ।

---

४४. दीपिकाकार के मत का चित्रण है ।

[४५]**अन्येषां रीत्योपक्रान्तमात्मतत्त्वमुपक्रम्योपसंहृतम् । यस्तूक्त-तत्त्वानभिज्ञ एषणात्यागाभावेन संन्यासे च नाधिकारी संसारे च नात्यन्तासक्तस्तं प्रति चित्तैकाग्र्यार्थमुपासनासमुच्चयं वर्णयिष्यन् प्रत्येकमुपासनाफलं निन्दति समुच्चिचीषयैव** 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते; अपि तु विधेयं स्तोतुमि' **तिन्यायात् । यद्वात्मज्ञान-स्यैव सर्वश्रेष्ठत्वं, तद्व्यतिरिक्तानां संसारहेतुत्वप्रदर्शनेन दृढयति । येऽसम्भूतिमुपासते ते अन्धं तमः प्रकृतिलयं प्राप्नुवन्ति, ये सम्भूत्यां रतास्ते तमः प्रकृतिलयाद्भूय इवाधिकमिव स्वरूपाज्ञानेन संसरण-हेतुत्वात्तमोऽणिमादिसिद्धिसमुदायं प्रविशन्ति । तत्र तयोर्भिन्नफलत्वे श्रुतिराचार्यवचः प्रमाणयति** "अन्यदाहुः संभवादि" **त्यादि । सम्भूत्यु-पासनादन्यदेवाणिमादिसिद्धिरूपं फलं तत्त्वज्ञाः वदन्ति । तथाऽसम्भवाद-**

यद्यपि सम्भूति शब्द कार्य का वाचक है तथापि 'कार्य जिससे होता है, उसे सम्भूति कहते हैं' ऐसा अर्थ करने पर कारण का वाचक हो जाता है ।

अन्य विद्वानों की रीति से यह अर्थ किया है कि—आत्मतत्त्व के उपदेश को **'ईशावास्य'** यहाँ से प्रारम्भ कर **'स पर्यगात्'** यहाँ तक समाप्त कर दिया । अब जो आत्मतत्त्व को न जाननेवाला अज्ञानी, एषणाओं का त्याग न होने से संन्यास का अनधिकारी तथा संसार में अत्यन्त आसक्त भी नहीं ऐसे पुरुष के लिये चित्त की एकाग्रता के लिये उपासना के समुच्चय का वर्णन करने की इच्छा से प्रत्येक उपासना के फल की निन्दा करता है, क्योंकि शास्त्रों में "जिसकी निन्दा की जाती है, उस निन्दनीय की निन्दा करने में निन्दा का तात्पर्य होता नहीं, अपि तु जिसका विधान करना होता है, उसकी स्तुति करने में ही तात्पर्य होता है" ऐसा नियम है । अथवा—आत्मज्ञान से अतिरिक्त उपासना आदिक साधन संसार के हेतु हैं, ऐसा प्रदर्शन कर, आत्म-ज्ञान की श्रेष्ठता को मन्त्र दृढ करता है । जो असम्भूति=अव्यक्त की उपासना करते हैं, वे प्रकृतिलय को प्राप्त होते हैं । जो सम्भूति में रत (प्रीतियुक्त) हैं, वे प्रकृतिलय से भी अधिक जो अणिमादिसिद्धियों का

---

४५. यह मत **'ईशावास्यरहस्यविवृतिः'**कारका है ।

सम्भूतिरूपकारणाव्याकृतोपासनादन्यत्प्रकृतिलयाख्यं फलमाहुः । अन्यत्पूर्ववत् ।

अन्ये तु येऽविद्यामुपासते तेऽन्धं तमः प्रविशन्तीत्युक्तम् । तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते 'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते' **नास्ति सम्भूतिर्जगतः उत्पत्त्यादिर्यस्मात् सोऽसम्भूतिस्तम्, सम्भूतेरुपलक्षणत्वात् परमेश्वरो न जगदुत्पत्त्यादिकर्ताऽपि तु स्वभावत एवोत्पद्यतेऽवतिष्ठते नश्यतीत्यात्मानमुपासते तेऽन्धं तमःप्रविशन्ति** । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" **(तै० उप० ३.१) इत्यादि श्रुतिविरुद्धत्वात्, अन्यत् पूर्ववदेव ।**

दयानन्दः—'हे मनुष्याः, यो विद्वान् सम्भूतिं **सृष्टिं** च विनाशं च-**विनश्यन्ति, अदृश्याः पदार्था: भविन्ति यस्मिन् तं,** सहोभयं तद्वेद-

---

समुदायरूप तम है, उसमें प्रवेश करते हैं। अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति भी जन्म-मरणरूप संसारदुःख का हेतु है, अत: सिद्धिप्राप्ति को प्रकृतिलय से भी अधिक तमरूप कहा गया है। सम्भूति तथा असंभूति की उपासनाएँ भिन्न फलवाली हैं, इसमें स्वयं श्रुति आचार्य के वचन को प्रमाण देती है। "अन्यदाहुः संभवादि"त्यादि प्रमाणभूतवाक्य हैं। सम्भूति की उपासना से तत्त्वज्ञपुरुष अणिमादिसिद्धिकी प्राप्तिरूप एक अन्य फल कहते हैं तथा असंभव = अव्यक्त की उपासना से प्रकृतिलयरूप एक भिन्नफल कहते हैं। इस पक्ष में शेषवाक्य का अर्थ पूर्ववत् ही है।

कुछ विद्वान् ऐसा अर्थ करते हैं कि—'जो अविद्या की उपासना करते हैं, वे अविद्या के प्रति प्रवेश करते हैं,' ऐसा मन्त्र में कहा है। मन्त्र में जिस अविद्या में प्रवेश करना कहा है, उस अविद्या का स्वरूप कहा जाता है कि जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-लय आदिक जिससे हों ऐसा परमेश्वर आदिक कोई जगत् का कर्ता नहीं है। किन्तु यह संसार स्वभाव से ही उत्पन्न, स्थित तथा नष्ट होता है। इस प्रकार जो आत्मा की उपासना करते हैं, वे गाढ़ अन्धकार (अज्ञान) में प्रवेश करते हैं। यह उनकी उपासना अविद्यारूप इसलिये है कि **'यतो वा इमानि'** इस श्रुति से विरुद्ध है। शेषमन्त्र का अर्थ पूर्ववत् है।

तद्गुणकर्मस्वभावान् वेद, स विनाशेन **नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन सह,** मृत्युं **शरीरवियोगजन्यं दुःखं** तीर्त्वा, सम्भूत्या **सृष्टचा धर्मप्रवर्तयित्र्या सहाऽमृतं मोक्षमश्नुते" इति ।**

तदपि यत्किञ्चित्, सृष्टिगुणकर्मस्वभावज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वे प्रमाणाभावात् 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' **(वा.सं. ३१.१८) इति आत्मज्ञानातिरिक्तस्य मोक्षहेतुत्वनिषेधाच्च । "विनाशेन नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन सह मृत्युं शरीरवियोगजन्यं दुःखं तीर्त्वे"त्यपि निरर्थकम् । विनाशपदस्य तादृशव्युत्पत्यापि कारणमात्रार्थता विज्ञायते न नित्यतापि । किञ्च कारणस्य मृत्युना सहभावः कथं सिद्धयति ? किमत्राभिप्रेतम् ? किं कारणेन सह मृत्योरतिक्रमणमन्यद्वा,नाद्यः साहित्यानिरूपणात् । नान्त्यमनिर्वचनात् । न च सृष्टिर्नियमेन धर्मप्रवर्तयित्री, अधर्मस्यापि तत एव प्रवृत्तेः ॥११॥**

श्रीदयानन्द—हे मनुष्यो ! जो विद्वान् सृष्टि तथा जिसमें पदार्थ अदृश्य हो जाते हैं अर्थात् सर्वपदार्थों का जो कारण—सृष्टि तथा कारण इन दोनों के गुण-स्वभाव को जानता है । वह विनाश=ज्ञात नित्यस्वरूपकारण के सहित मृत्यु=शरीरवियोग जन्यदुःख को तरकर, सृष्टि=धर्म को प्रवृत्त करनेवाली सृष्टि के साथ अमृत=मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।

यह भाष्य भी उचित नहीं, क्योकि 'सृष्टि के गुण-कर्म-स्वभाव का ज्ञान मुक्ति का कारण है', इसमें कोई प्रमाण नहीं तथा **'तमेव विदित्वा'** इत्यादिक श्रुतियों ने आत्मज्ञान से अतिरिक्त मुक्ति के साधन का निषेध भी किया है । जो यह कहा कि "ज्ञात नित्यस्वरूप कारण के साथ शरीरवियोगजन्य दुःख को तर जाता है" यह कथन भी अर्थ–शून्य है । क्योंकि जिसमें अदृश्य हुए कार्य नष्ट हो जाते हैं, वह विनाश कहलाता है, ऐसा विनाश शब्दका अर्थ कारण तो हो सकता है, परन्तु ऐसा निर्वचन करने पर भी विनाश शब्द से नित्यता अर्थ नहीं प्रतीत होता । कारण के साथ मृत्यु का सहभाव भी किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता । कारण के साथ मृत्यु को पार करने का क्या अभिप्राय है ? क्या कारण के साथ मृत्यु का अतिक्रमण अर्थ है, अथवा और कुछ अर्थ

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥१२॥

वे अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं, जो अविद्या पदवाच्य कर्म की उपासना करते हैं और वे उनसे भी अधिक अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं, जो विद्या अर्थात् हिरण्यगर्भोपासना में निरत हैं ॥१२॥

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादीयभाष्यरीत्याऽऽद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता प्रथमो वेदार्थः । जिजीविषूणामज्ञानां ज्ञाननिष्ठाऽसम्भवेन कर्माणि कुर्वन्नेव जिजीविषेदिति कर्मनिष्ठारूपो द्वितीयो वेदार्थः दर्शितः 'सोऽकामयत जाया मेस्यात्' (**बृह०** १.४.१७) **इत्यादिनाऽज्ञस्य कामिनः कर्माणि विहितानि । आत्मविदां जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनाऽऽत्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शितः ।** [४६]'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (**बृहदारण्यक उ०** ४.४.२२), 'असुर्या नाम ते लोकाः' (**ईशा० उ० ३**) **इत्यविद्वन्नि-**

है ? प्रथम पक्ष तो सम्भव नहीं, क्योंकि कारण के साथ मृत्यु के अतिक्रमण का निरूपण ही संभव नहीं। द्वितीय पक्ष भी संभव नहीं, क्योंकि उसका भी कहीं कथन नहीं। सृष्टि नियम से धर्म को ही प्रवृत्त करनेवाली नहीं, क्योंकि उसी से अधर्म भी प्रवृत्त होता है, अतः सृष्टि को धर्म प्रवृत्त करनेवाली ही कहना युक्तियुक्त नहीं ॥११॥

श्रीभगवत्पाद शंकराचार्य महाराज के भाष्य की रीति से तो प्रथम मन्त्र से सर्व एषणाओं के त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठा, वेद का प्रथम-अर्थ है। जीने की इच्छावाले अज्ञानियों को ज्ञाननिष्ठा सम्भव नहीं;

---

४६. जिन हम लोगों को आत्मा ही फलरूप से अभिप्रेत है, वे हम प्रजा से क्या करेंगे ?

न्दाद्वारेण तान् प्रशस्यात्मनो याथात्म्यं 'स पर्यगादि'**त्यन्तैर्मन्त्रैरुपदिष्टम्(ईशा० ८)। ते किमधिकृताः**[४७]'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्' **(श्वेताश्वतर ६.२१) इति श्रुतेः । कर्मनिष्ठानां जिजीविषूणां कृते** 'अन्धन्तम' **इत्यादिकमुक्तम् ।**

ननु सर्वाप्युपनिषदेकं ब्रह्मविद्याप्रकरणं ततः प्रकरणभेदकरणमनुचितमितिचेन्न, प्राणाद्युपासनविधानस्याप्युपनिषत्सुदर्शनात् । न च तदपि ब्रह्मज्ञानाङ्गमितिवाच्यम्, पृथक्फलश्रवणात्–फलवत् सन्निधावफलस्यैतदङ्गत्वनियमात् । विद्याऽविद्यासमुच्चयस्यापि न ब्रह्मज्ञानाङ्गत्वम्, तस्य स्वातन्त्र्येण फलविधानात् । तस्माद्यथा कर्मकाण्डेऽग्निहोत्रादिप्रकरणं भिन्नमेवेष्यते, भिन्नाधिकारत्वात्तत्तत्कर्मणस्तथैवोपनिषत्स्वपि कर्माविरुद्धतद्विरुद्धविद्याप्रकरणभेदोऽपि युक्त एव ।

अतः "**कुर्वन्नेवेह**" इस मन्त्र से कर्मनिष्ठारूप वेद का द्वितीय-अर्थ प्रदर्शित कर दिया है । "अकेले पुरुष ने कामना की कि मेरे स्त्री हो" इत्यादिक श्रुतियों ने स्त्री आदि की कामनावाले अज्ञानी पुरुष के लिये कर्मों का विधान किया है । कर्मनिष्ठा के प्रतिकूल (विरोधी) होने से एषणातीन का त्यागरूप संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा ही आत्मवेत्ताओं के लिये प्रदर्शित की है । "**असुर्या**" इत्यादि श्रुतियों ने अविद्वान् (अज्ञानी) पुरुषों की निन्दा करके आत्मज्ञानी की प्रशंसापूर्वक आत्मा के यथार्थ-स्वरूप का वर्णन "**स पर्यगात्**" इत्यादिक मंत्रों ने किया है । "**अत्याश्रमिभ्यः**" इत्यादि श्रुतियों से आत्मा के यथार्थस्वरूप में निष्ठा के अधिकारी संन्यासी विद्वान् हैं । जीनेकी इच्छावाले कर्मनिष्ठपुरुषों के लिये "**अन्धं तमः**" इत्यादिक उपदेश कहा है ।

"सर्व उपनिषदें एक ब्रह्मविद्या का ही प्रकरणरूप हैं; अतः एक ही उपनिषद् में प्रकरणभेद करना अनुचित है ।" यदि ऐसा कहा जाय तो वह भी उचित नहीं; क्योंकि उपनिषदों में प्राणादि की उपासना भी देखी जाती है, अतः उपनिषदों में प्रकरणभेद स्वीकार करना

---

४७. विद्वान् ऋषि ने ऋषिसमुदाय से सेवित इस परमपवित्र उपदेश को संन्यासियों के लिये कहा ।

ननु कुतो न समुच्चये सर्वेषामधिकार इतिचेदत्रोच्यते—'यस्मिन्सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः' **(ईशा० ७) इत्यकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्दन कर्मासम्भवेन समुच्चयानुपपत्तेः ।**

न च रामकृष्णविष्ण्वादितत्त्वविदुषामपि कर्मदर्शनात्कुतः समुच्चयाभाव इति वाच्यम्, तेषां कर्मणां कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्वबुद्ध्यहंकाराभिनिवेशाभावेन कर्माभासत्वात् । यत्र कर्तृत्वादिबुद्धिर्न भवेदहंकारोऽभिनिवेशश्च न स्यात् तत्र कर्मसत्त्वेऽपि कर्माभासत्वमेव न कर्मत्वम्–

अनुचित नहीं । "प्राणादि की उपासना भी ब्रह्मविद्या का अंग है, अङ्ग से प्रकरणभेद होता नहीं" यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि उपासना का ब्रह्मविद्या से भिन्न फल कहा गया है; अतः प्राणादि की उपासना ब्रह्मविद्या का अङ्ग नहीं । जो साधन फलवाला होता है, उसके समीप उसी के प्रकरण में फल से शून्य जिस साधन का वर्णन होता है, उस फलवाले साधन का तादृश फलहीन साधन अङ्ग होता है । ब्रह्मविद्या तथा प्राणादि उपासना के तो भिन्न-भिन्न फल हैं, अतः उनमें अङ्गाङ्गी (साध्य-साधन) भाव नहीं । अत एव विद्या तथा अविद्या के समुच्चय को भी ब्रह्मज्ञान की अङ्गता (साधनता) नहीं है । क्योंकि समुच्चय का भी शुद्ध ब्रह्मविद्या की अपेक्षा भिन्न फल का ही मन्त्र में श्रवण हुआ है; अतः जैसे भिन्न अधिकारो होने से कर्मकाण्ड में अग्निहोत्रादि का प्रकरण भिन्न स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार कर्म से विरुद्ध तथा अविरुद्ध विद्याओं के प्रकरण का भेद भी उचित ही है ।

"समुच्चय में सर्वका अधिकार क्यों नहीं ?" इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सर्वभूतों को आत्मा जाननेवाले अभेदर्शी सर्वकामना से शून्य विद्वान् का साध्य-साधन के भेद का बाध हो जाने पर कर्म तथा कर्म के साथ समुच्चय भी संभव नहीं ।

"राम–कृष्ण–विष्ण्वादिक परमतत्त्वज्ञानियों के भी कर्म देखे जाने से समुच्चय का अभाव कैसे संभव है ?" ऐसा कथन भी उपयुक्त नहीं । कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्व बुद्धि, अहंकार और अभिनिवेश का अभाव होने से राम-कृष्णादि के कर्म कर्म नहीं कर्माभास

"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥"[४८]

(भगवद्गीता ५. ८,९)

प्रकृते साध्यसाधनभावविचारश्चलति । न च तत्त्वज्ञानुष्ठित-कर्मणो मोक्षहेतुत्वम्, ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वोक्तेः । यथाऽग्नौ पिङ्गलतायां

हैं । जहाँ (जिस पुरुष में) कर्तृत्वादिबुद्धि तथा अहंकाराभिनिवेश नहीं होता, उस पुरुष में प्रतीयमान कर्म कर्माभास ही होता है, न कि कर्म । क्योंकि ऐसा ही गीतावाक्य कहता है—**'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।'**

प्रकरण में साध्य-साधन का विचार चल रहा है । तत्त्वज्ञपुरुषों के द्वारा अनुष्ठान किया कर्म मोक्ष का साधन होता नहीं; क्योंकि

---

४८. इस मन्त्र के यहाँ तक के भाष्य का यह अभिप्राय है कि ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा ये दो वेदोक्तमार्ग हैं । **'ईशावास्यं'** और **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** (ईशा० १,२) इन दो मन्त्रों में क्रमशः दोनों मार्गों के अधिकारियों का निरूपण किया गया है । सर्वैषणा (संपूर्ण कामना)–विमुक्त ज्ञाननिष्ठों में कर्मसंन्यास की सहज प्रतिष्ठा होती है । कर्मासक्ति–फलासक्ति–अहंकृति–नानात्वबुद्धि और अभिनिवेशशून्य तत्त्वज्ञों में कदाचित् कर्म प्रतिष्ठित भी हो तो भी मोक्ष के प्रति वह अन्यथासिद्ध उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार अग्नि में अवस्थित पिङ्गलता दाह के प्रति । ऐसे तत्त्वज्ञ वसिष्ठ, व्यासादि के कर्म **'लीलाकर्म'** या **'कर्माभास'** ही मान्य हैं । **'नैवकिञ्चित्करोमीति'** (गीता ५.८,९) उनका यह निश्चय कि 'मैं कुछ नहीं करता' उनमें अन्यारोपित कर्म को अकर्म बनाये रखता है । 'करते हुए भी न करने की उनकी मान्यता' विक्षिप्त और अज्ञों-जैसी नहीं मानी जा सकती; क्यों कि **'युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता ५.८) वे **'युक्त'** हैं, असमाहित या विक्षिप्त नहीं; **'तत्त्ववित्'** हैं, बालवत् अज्ञ नहीं ।

सत्यामपि न दाहं प्रतिहेतुत्वमन्यथासिद्धत्वात्तथैव कर्मणां लोकसंग्रहार्थमनुष्ठीयमानानामपि न मोक्षहेतुत्वमन्यथा सिद्धत्वादेव। अत्र तु पुरुषार्थसाधनत्वेन समुच्चयानुष्ठानं विधीयते। न हि आत्मैकत्वविज्ञानस्य केनचित्कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा समुच्चयः सम्भवति। इह तु समुच्चिचीषयाऽविद्वन्निन्दा क्रियते। तत्र यस्य येन समुच्चयः शास्त्रतो न्यायतश्च संभवति, तस्यैव समुच्चयो वक्तव्यः।

ननु 'ईशावास्यमि'ति (ईशा० १) मन्त्रे ब्रह्मविद्याया एव प्रक्रान्तत्वात्तस्या एव समुच्चिचीषया निन्देति चेन्न, प्रकृतमित्येतावतैव तद्ग्रहणानुपपत्तेः। योग्यतानुरोधेनैव सम्बन्धोपपत्तेः। शुद्धब्रह्मविद्यायाः कर्तृत्वाद्यध्यासोपमर्दकत्वेन कर्मसम्बन्धानर्हत्वात्।

मोक्ष का साधन तो शास्त्र में ज्ञान को कहा है। जैसे अग्नि में पिङ्गलरूप रहता है तथा अग्नि के दाह आदि कार्य से पूर्ववृत्ति भी है, किन्तु अन्यथासिद्ध होने से दाह के प्रति कारण नहीं, उसी प्रकार अन्यथासिद्ध होने से विद्वान् के द्वारा लोकसंग्रह के लिये किये हुए कर्मों को मोक्ष के प्रति साधनता नहीं। इस मन्त्र में पुरुषार्थ के साधन के रूप में समुच्चय के अनुष्ठान का विधान किया है। आत्मा की एकता के ज्ञान का किसी कर्म अथवा अन्य किसी ज्ञान के साथ समुच्चय संभव नहीं। अतः यहाँ आत्मा के एकत्व-ज्ञान का प्रकरण नहीं। यहाँ समुच्चय के अनुष्ठान करने की इच्छा (तात्पर्य) से अविद्वानादि की निन्दा की गयी है। समुच्चय का प्रकरण होने पर तो जिसका जिसके साथ समुच्चय शास्त्र तथा युक्ति से संभव हो, उसका ही समुच्चय कहना चाहिये।

"**ईशावास्यं**" इस मंत्र के द्वारा ब्रह्मविद्या का प्रारम्भ होने से ब्रह्मविद्या के समुच्चय के तात्पर्य से ही मन्त्र में निन्दा है; अतः ब्रह्मविद्या का ही किसी के साथ समुच्चय, इस मन्त्र का विषय होना चाहिये" ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि 'ब्रह्मविद्या का प्रकरण में प्रारंभ है, इतने मात्र से समुच्चय में सम्बन्ध के लिये ब्रह्मविद्या का ग्रहण सम्भव नहीं; क्योंकि सम्बन्ध तो योग्यता के अनुसार ही सम्भव होता है। शुद्ध ब्रह्मविद्या तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अध्यास का बाधक

किञ्च यस्मिन्निष्पन्नेऽपि फलस्य व्यवधानं सम्भाव्यते, तस्यैव दर्शादेः सहकारिसमुच्चयो युक्तः। इहत्वेकत्वमनुपश्यतः को मोहः कः शोक **इत्येकत्वदर्शनसमकालमेव मोहादिनिवृत्त्यभिधानान्न कालान्तरीयफलम्। ततो न सहकारिसमुच्चिचीषा सम्भवति। किञ्चास्या मन्त्रोपनिषदो ब्राह्मणे** "ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" **(बृहदारण्यक उप० ४.४.२२) इति तृतीयाश्रुत्या यज्ञादेरिष्यमाणवेदने कारणत्वेन सम्बन्धः श्रूयते, तत्कथं दुर्बलेन प्रकरणेन सहकारितया सम्बन्धो युज्यते?** 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' **(जैमिनीय सू० ३.३.१४) इति विरोधात्।**

प्रधानस्य च विद्यायाः सहकारिसम्बन्धविधित्सया निन्देत्यप्ययुक्तम् "अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षेति' **(ब्रह्मसूत्र ३.४.२५) सूत्र-**

होने से कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अध्यासपूर्वक होनेवाले कर्मों के साथ सम्बन्धित होने के ही योग्य नहीं। पुनः कर्म के साथ उसका समुच्चय कैसे संभव हो सकता है?

जिस साधन के अनुष्ठान के पूर्ण हो जाने पर भी फल की प्राप्ति में व्यवधान की संभावना की जाती है, ऐसे दर्श आदिक का ही अपने सहकारी के साथ समुच्चय उचित है—युक्तियुक्त है। ब्रह्माभिन्नात्मैकत्व के विद्वान् पुरुष में तो '**को मोहः**' इस श्रुति ने एकत्वज्ञान के समान काल में ही (जिस काल में ज्ञान उत्पन्न होता है,उस काल में ही) मोहादि की निवृत्तिरूप फल का कथन किया है; अतः ब्रह्मविद्या के फल में काल का व्यवधान नहीं। इसी कारण से किसी सहकारी के साथ ब्रह्मविद्या के समुच्चय की इच्छा सम्भव नहीं। इस ईशावास्य मन्त्रोपनिषद् का ब्राह्मण(शतपथ)में "**ब्राह्मणा विविदिषन्ति**" इस श्रुति के द्वारा यज्ञ–दानादि कर्मों का विविदिषा (ब्रह्मवेदन की जिज्ञासा) के कारणरूप से सम्बन्ध वर्णन किया है। साक्षात् श्रुति यज्ञादिककर्मों को ब्रह्मविद्या का कारण कह रही है। जब प्रकरण से श्रुति बलवती होती है, तब श्रुति से दुर्बल प्रकरण से सिद्ध ब्रह्मविद्या के साथ यज्ञादि का सहकारी के रूप में सम्बन्ध कैसे उचित कहा जा सकता है? क्यों कि ऐसा कथन जैमिनीय सूत्र से विरुद्ध है।

विरोधश्च। तत्र विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वात् अग्नीन्धनाद्याश्रमकर्मणा विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानि। तस्मात्कर्माविरुद्धदेवताज्ञानस्यैवात्र समुच्चयो विधित्स्यते।

न च देवताज्ञानस्य कर्मफलातिरिक्तफलाभावात् समुच्चयो न संभवतीति वाच्यम्, 'विद्यया देवलोक' (**बृ० उ० १.५.१६) इति पृथक्फलश्रवणात्। ननु समुच्चिचीषया निन्देति किमिति व्याख्यायते,—अध्ययनविधेर्मोक्षादर्वाक्पर्यवसानानुपपत्ते र्देवलोकादिप्राप्तेः फलाभासत्वात्प्रहाणार्थैव निन्दास्यादितिचेन्न, पृथक्फलश्रवणेन शास्त्रविहितस्याकर्तव्यतानुपपत्तेः प्रहाणार्थानिन्दानुपपत्त्या समुच्चिचीषयैव तत्संभवात्।** 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते अपितु विधेयं स्तोतुमि'**ति न्यायात्,** 'विद्यया देवलोकः कर्मणा पितृलोक' **(बृ० उ० १.५.१६) इत्युभयोः कर्मदेवतोपासनयोः फलश्रवणम्।**

"प्रधानभूत ब्रह्मविद्या का अपने किसी सहकारी के साथ सम्बन्ध के विधान की इच्छा (तात्पर्य) से ही निन्दा का कथन है," यह कथन भी उचित नहीं, क्योंकि इस कथन का "**अग्नीन्धनादि**" इस सूत्र से विरोध है। सूत्र में यह वर्णन किया है कि विद्या पुरुषार्थ का हेतु है। विद्या से पुरुष के स्वार्थ (मोक्ष) की सिद्धि हो जाने पर कर्म अपेक्षित ही नहीं; अतः कर्म से जिस विद्या (देवोपासना)से विरोध नहीं, उसी देवोपासनारूपविद्या का कर्म के साथ समुच्चय का विधान किया है।

"स्वतन्त्र फलवालों का समुच्चय होता है, देवता की उपासनारूपविद्या का कर्म के फल से अतिरिक्त कोई फल है नहीं; अतः देवोपासना का कर्म के साथ समुच्चय भी सम्भव नहीं",ऐसा कथन भी उचित नहीं। क्योंकि "विद्या (देवोपासना) से देवलोक प्राप्त होता है" इस श्रुति ने देवोपासना का देवलोक की प्राप्तिरूप कर्मसे पृथक् फल कथन किया है। "अध्ययनविधि की मोक्ष से पूर्व विराम का असंभव होने से देवलोकादि की प्राप्ति फल नहीं फलाभास है; अतः साधनभूत देवोपासना के त्याग के लिये ही निन्दा है", यह कथन भी उचित नहीं। क्योंकि देवोपासना का देवलोक की प्राप्ति रूप ब्रह्मविद्या से पृथक् फल का वर्णन किया है; अतः फल से युक्त शास्त्र से विहित

अन्धं तमः **अज्ञानलक्षणं तमः ते** प्रविशन्ति येऽविद्या **स्वर्गाद्यर्थानि कर्माणि तामविद्यां अग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते, तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्ति ।** ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव **तमः बहुतरमेव** ते तमः **प्रविशन्ति** य उ **ये अशुद्धचित्ता अपि कर्म हित्वा** विद्यायामेव **देवताज्ञान एव** रताः **कर्माधिकारे सत्यपि कर्मपरित्यागेन प्रत्यवायरूपदोषयुक्ताः सन्तः । ये कर्म कुर्वन्ति ते तु स्वर्गादिकं प्राप्नुवन्ति । स्वर्गादिकञ्चाज्ञानकार्यत्वाद् ब्रह्मज्ञानफलापेक्षयाऽन्धं तम एव । ये तु कर्माणि परित्यज्य केवलायां विद्यायां रतास्तेषां कर्माण्यन्तरा बुद्धिशुद्धयभावेन**

देवोपासना के अनुष्ठान की अकर्तव्यता नहीं कही जा सकती। इस तरह देवोपासना के परित्याग के लिये नहीं; अपि तु समुच्चय की इच्छा से ही निन्दा है। क्योंकि "निन्दा निन्दनीय की निन्दा के लिये नहीं, अपि तु विधेय की स्तुति के लिये होती है" यह नियम है। "विद्या से देवलोक", "कर्म से पितृलोक" प्राप्त होता है। इस प्रकार शास्त्र में कर्म तथा उपासना का पृथक्-पृथक् फल का श्रवण है; अतः योग्यतानुसार इन दोनों के समुच्चय का ही वर्णन है।

अन्ध=गाढ़, तम=अज्ञान, को वे लोग प्राप्त होते हैं, जो अविद्या (कर्म) का अनुष्ठान करते हैं। 'अविद्या' शब्द का अर्थ यहाँ कर्म है, जो कि स्वर्गादि की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं। उस अग्निहोत्रादि कर्मरूप अविद्या की ही जो उपासना करते हैं अर्थात् उसी में तत्पर होकर अनुष्ठान करते हैं, वे गाढ़ तम को प्राप्त करते हैं। उस गाढ़ अज्ञानरूप तम से भी अधिक तम (अज्ञान) को वे लोग प्राप्त करते हैं, जो अशुद्ध चित्तवाले होकर भी कर्म का परित्याग कर, विद्या =देवतोपासना में ही रत हैं। कर्म में अधिकार होते हुए भी कर्म का परित्याग करने से प्रत्यवाय (पाप) रूप दोष से युक्त होते हुए भी केवल देवतोपासना में रत रहना, ऐसे कर्माधिकारियों के लिये उचित नहीं। भाव यह है कि जो कर्म करते हैं, वे स्वर्गादिकफल को प्राप्त होते हैं। स्वर्गादिक भी अज्ञान का कार्य होने से ब्रह्मज्ञान से प्राप्त फल की अपेक्षा गाढ़तम अज्ञान ही हैं। जो कर्मों का परित्याग कर केवल विद्या में रत हैं, बुद्धि-शुद्धि के अभाव के कारण देवतोपासना में भी उनकी स्थिति असंभव है। उभय (दोनों ओर से) भ्रष्ट होने से पूर्वोक्त

विद्यायां स्थित्यसम्भवेनोभयभ्रष्टत्वेन ततोप्यधिकमन्धन्तमः प्रविशन्ति[४९] ।

अन्धं तमः अज्ञानलक्षणं तमः ते प्रविशन्ति येऽविद्यां स्वर्गाद्यर्थानि कर्माणि उपासतेऽनुतिष्ठन्ति । अत्र पर्युदासार्थको नञ् । पर्युदासस्तु

स्वर्गादिरूप कर्मफल की अपेक्षा अधिक अज्ञानरूप तम को वे प्राप्त होते हैं ।

"**येऽविद्यामुपासते**" यहाँ अविद्या शब्द में पर्युदास अर्थवाला नञ् शब्द है । पर्युदास का अर्थ होता है, "उससे भिन्न होता हुआ उस के सदृश"; अतः यहाँ नञ् का अर्थ विद्या से भिन्न विद्या के सदृश है ।

---

४९. जो ज्ञाननिष्ठा के अधिकार से अभी विभूषित नहीं, न ज्ञाननिष्ठा के करीब (निकट) ही हैं; बल्कि जीवन और जीवनोपयोगी वस्तुओं में रागान्वित हैं, वे योग्यता विरहवशात् शुद्धब्रह्मात्मतत्त्व के एकत्वबोध के अनुपयुक्त हैं । शास्त्रोक्त विधि-निषेधानुसार अनुष्ठितकर्म कालान्तरफलप्रद हैं । ज्ञान तत्कालफलप्रद है । अज्ञानावरणवारणपूर्वक निरावरण ब्रह्मात्मभाव के अभिव्यञ्जनरूप फल को प्रदान करने के लिये ज्ञान को कर्मादि के योग की अपेक्षा नहीं । ऐसी स्थिति में मन्त्र में प्रयुक्त **'अविद्या'** स्वर्गादि अभीष्ट फलप्रद कर्म का और **'विद्या'** देवतोपासना का वाचक है । दोनों का विवक्षित योग ऐसा अर्थ स्वीकार करने पर ही संभव है । कर्म और विद्या का क्रमशः पितृलोक और देवलोकरूप पृथक् फल श्रुत होने पर भी कर्म की अपेक्षा न कर केवल देवताराधन कर्माधिकारी द्वारा अविचलभाव से सध पाना कठिन है । साथ ही देवतोपासना से विमुख रहकर केवल कर्मानुष्ठान से अन्तर्यामी और अधिदैवमण्डल के प्रति महत्त्वबुद्धि की न्यूनता के कारण अभीष्टवस्तु की उपलब्धि में प्रतिबन्ध की द्रुतनिवृत्ति और निष्कामभाव से कर्मानुष्ठानपूर्वक मोक्ष के प्रति अभिरुचि और मनोवृत्ति असंभव है । इसीलिये यहाँ केवल कर्म और केवल ज्ञान की निन्दा दोनों के समुच्चय की भावना से प्रयुक्त है ।

तद्भिन्नत्वे सति तत्सदृशः। विद्याऽत्रदेवोपासना विवक्षिता कर्माणि च वेदविहितत्वे विद्यासदृशानि। विद्याभिन्नाऽविद्यापदेनोच्यते —

"द्वौ नञौ च समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्॥" **इत्युक्तेः।**

यद्वा—यथा ब्राह्मणादन्ये क्षत्रियादय अब्राह्मणशब्देनाख्यायन्ते तथैव विद्याया अन्यानि कर्माणि अविद्यापदेनोच्यन्ते —

"[५०]तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥"

इत्यभियुक्तवचनात्।

विद्या यहाँ देवोपासना है। कर्म वेद से विहित होने के कारण देवोपासना के सदृश है; क्योंकि देवोपासना भी वेदविहित है तथा विद्या से भिन्न भी है, अतः कर्म अविद्याशब्द के वाच्य हैं—अविद्या शब्द से कहे जाते हैं।

'नञ्'शब्द दो प्रकार के कहे गये हैं। दो प्रकार ये हैं—(१) पर्युदास (२) प्रसज्य। पर्युदास सदृशग्राही को कहते हैं। निषेध करनेवाले को 'प्रसज्यक' कहते हैं। अथवा—जैसे ब्राह्मण अतिरिक्त क्षत्रिय आदिक अब्राह्मण शब्द से कहे जाते हैं, उसी प्रकार विद्या से अतिरिक्त कर्म भी अविद्या पद से कहे जाते हैं।

सादृश्य, अभाव, भिन्नता, अल्पता, अश्रेष्ठता और विरोध ये षट्-अर्थ नञ् के कहे गये हैं।

---

५०. इनके क्रमशः उदाहरण हैं—(१) अब्राह्मणः, (२) अपापम्, (३) अघटः, (४) अनुदरा कन्या, (५) अकेशाः, (६) अधर्मः, असुरः।

५१ अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

विद्या और अविद्या (देवतोपासना और कर्म) का अवान्तरफल-भेद दोनों के समुच्चय का कारण है। **'विद्यया देवलोकः'**, **'कर्मणा पितृलोकः'**='विद्या से देवलोक' और 'कर्म से पितृलोक' इस बृहदा-रण्यक (१.५.१६) के अनुसार यह सिद्ध है कि विद्या और कर्म (अविद्या) का अवान्तर फलभेद है।

समुच्चय-विधान के अनन्तर सत्परम्पराप्राप्त अवान्तर फलभेद का मन्त्र वर्णन करता है—

विद्या से मिलनेवाला फल अन्य ही है और अविद्या से मिलने-वाला फल अन्य ही है। ऐसा हमने उन विद्वानों से श्रवण किया है, जिन्होंने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया है ॥१३॥

तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह—अन्यथा 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमि'**तिन्यायेन फलवदफलवतोः सन्निहितयो-रङ्गाङ्गितैवस्यात्।** अन्यत्पृथगेव विद्यया **क्रियते फलम्** 'विद्यया देवलोकः' **(बृह० १.५.१६)**, 'विद्यया तदारोहन्ती'**तिश्रुतेः।** अन्यदाहु-

---

विद्या तथा कर्मके समुच्चय का कारण जो अवान्तर फलभेद है, मन्त्र उसको कहता है—अवान्तर फलभेद को न कहने पर तो विद्या तथा कर्म का अङ्गाङ्गी भाव ही होता, समुच्चय नहीं हो सकता था। क्योंकि "फलवाले के समीप अफलवाले का कथन हो तो फल से रहित साधन फलवाले का अङ्ग होता है" इस न्याय (नियम) के अनुसार समीप में पठित फलवाले तथा अफल (फल से शून्य)का अङ्गाङ्गीभाव

---

५१. पाठा०-विद्याया अन्यत्-**विद्ययाऽन्यत्**, अविद्यायाः-**अविद्यया**।

रविद्यया **कर्मणा अन्यदेवफलं क्रियते** 'कर्मणा[५२] पितृलोक' (बृह० १.५.१६) **इतिश्रुतेः ।** इति **वयं** धीराणां **धीमतां वचनं** शुश्रुम **श्रुतवन्तः ।** य **आचार्या** नोऽस्मभ्यं **तत्कर्म च ज्ञानञ्च** विचचक्षिरे **व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागतः** ।।१३।।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।१४।।

अविद्या शब्द से अग्निहोत्रादिकर्म कहे गये हैं । उनके अनुष्ठान से स्वाभाविक काम-कर्म और ज्ञान जो मृत्यु शब्द के वाच्य हैं, उनको पार करके देवता के ज्ञान (उपासना) से देवभावरूप अमृत को प्राप्त हो जाता है । यह सम-समुच्चय की दृष्टि से अर्थ है । जब विद्या का

ही होता है, न कि समुच्चय । "विद्या से देवलोक प्राप्त होता है" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार विद्या से अतिरिक्त ही फल मिलता है । अन्य श्रुतिवाक्य भी कहता है कि 'विद्या से ही देवलोक पर आरूढ़ होते हैं अर्थात् पहुँचते हैं ।' अविद्याभूत कर्म से भिन्न फल किया जाता है । क्योंकि श्रुति कहती है कि "कर्म से पितृलोक प्राप्त होता है ।" बुद्धिमानों का यह विद्या तथा अविद्या के फलों का विवेचन करने वाला वचन हमने श्रवण किया है । जिन आचार्यों ने हमारे लिये ज्ञान और कर्म का व्याख्यान किया है, उनका यह आगम है, यह परम्परा से प्राप्त है ।।१३।।

---

५२. "विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ।।"
"विद्या (उपासना) के द्वारा ब्रह्मलोक में आरूढ़ होते हैं, जहाँ पर कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं । केवल कर्मपरायण, अविद्वान् और तपस्विगण नहीं जाते ।"

अर्थ ब्रह्मात्मज्ञान मान्य हो तब क्रम–समुच्चय की दृष्टि से पहले कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण की शुद्धि और फिर ब्रह्मात्मज्ञान से मोक्षोपलब्धिरूप फल मान्य है ॥१४॥

यत एवमतो विद्यां चाविद्यां च **देवताज्ञानं कर्म च** यस्तदेतदुभयं सहै**केन पुरुषेणानुष्ठेयं** वेदोपासते, **तस्यैव समुच्चयकारिणः एवैक पुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यात् । स** अविद्यया **कर्मणाऽग्निहोत्रादिना** मृत्युं **स्वाभाविकं कामकर्मज्ञानञ्च मृत्युशब्दवाच्यं** तीर्त्वाऽति**क्रम्य** विद्यया **देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते । देवात्मभावगमनमेवात्रामृतं**– 'तद्धयमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनमि'**ति श्रुतेः ।**

उवटस्तु "विद्यामा**त्मज्ञान**मविद्यां **कर्म** च यस्तदुभयं सहै**कीभूतं कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डस्य गुणभूतं** वेद–**विजानाति, स** अविद्यया **कर्मकाण्डेन** मृत्युं तीर्त्वोत्तीर्य **कृतकृत्यो भूत्वा** विद्यया **ब्रह्म परिज्ञाने**नामृतं **मोक्ष**मश्नुते **प्राप्नोति ।" तदपि समकालसमुच्चयविरोधेऽपि क्रमसमुच्चयपक्षे नासङ्गतम् ।**

क्योंकि ये दोनों भिन्न फलवाले हैं, अतः देवोपासना तथा कर्म उन दोनों को एक पुरुष के द्वारा अनुष्ठान करने के योग्य जानता है तथा करता है। इनके समुच्चय का अनुष्ठान करनेवाले को क्रम से एक पुरुषार्थ से सम्बन्ध हो जाता है। वह अविद्या श द से अग्नि–होत्रादि कर्म कहे गये हैं। उनके अनुष्ठान से स्वाभाविक काम-कर्म तथा ज्ञान जो मृत्युशब्द के वाच्य हैं, उनको पार करके देवता के ज्ञान (उपासन) से देवभाव रूप अमृत को प्राप्त हो जाता है। यहाँ देवभाव को प्राप्त होना ही अमृतशब्द का वाच्य है, क्योंकि श्रुति स्वयं कह रही है कि—यहाँ अमृत वही है जो देवरूप हो जाना है।

उवट आचार्य तो कहते हैं कि–"विद्या=आत्मज्ञान तथा कर्म' उन दोनों को एकीभूत जानता है, अर्थात् कर्मकाण्ड को ज्ञानकाण्ड का गुणभूत जानता है, वह कर्मकाण्ड से मृत्यु को अतिक्रमण करके कृतकृत्य होकर अर्थात् कर्म के अधिकार को समाप्त कर विद्या=ब्रह्मज्ञान से अमृत (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।" यह अर्थ समसमुच्चय पक्ष में विरुद्ध होने पर भी क्रमसमुच्चय पक्ष में असंगत नहीं है।

काण्वशाखायां—विद्याऽविद्यासमुच्चयानन्तरं व्याकृताव्याकृतोपासनसमुच्चय उक्तः, शांकरभाष्यन्तु काण्वशाखीयोपनिषदि दृश्यते । सायणाचार्या अपि काण्वशाखीये भाष्ये श्रीभगवत्पादमेवानुसरन्ति ।

श्रीशङ्करानन्दस्वामिनस्तु—ये धनाभिलाषिणः, अन्धंतमः **अहंममाभिमानलक्षणं** प्रविशन्ति येऽविद्यां **कर्मविधिनिष्पाद्यं ज्योतिष्टोमादि** उपासते **तदेकनिष्ठाः सन्तो विद्यामनुतिष्ठन्ति । ननु तर्हि त्याज्यं कर्मोपास्याश्च देवता अथवाऽहंब्रह्मास्मीतिवक्तव्यमित्यत आह**—ततस्तस्माद्भूयइवाधिकमिव ते **देवतोपासका मुखतो ब्रह्मवादिनो वाऽनुत्पन्नसाक्षात्कारारः कर्मत्यागिनस्त**मोऽ**हंममाभिमानरूपं प्रविशन्ति,** य उ **ये तु** विद्यायां **देवताज्ञाने आत्मज्ञाने वा** रतास्त**देकनिष्ठाः ।**

काण्वशाखा की ईशावास्य उपनिषद् में विद्या तथा अविद्या के समुच्चय के कथन के अनन्तर व्याकृत तथा अव्याकृत की उपासनाओं का समुच्चय कहा है । शाङ्करभाष्य तो काण्वशाखा की उपनिषद् पर ही देखा जाता है, सायणाचार्य भी काण्वशाखा के भाष्य के विषय में श्रीभगवत्पाद (शंकराचार्य)का ही अनुसरण करते हैं ।

श्रीशङ्करानन्द स्वामी तो कहते हैं कि—जो धन के अभिलाषी, अविद्या—कर्म के विधान से अनुष्ठान के योग्य ज्योतिष्टोमादि का उनमें निष्ठावान् हुए अनुष्ठान करते हैं, वे "**अन्ध तम**"—अहंता-ममतारूपाभिमानरूप गाढ़ अन्धकार (अज्ञान) को प्राप्त होते हैं ।

प्रश्न—तब तो कर्म त्याज्य है तथा देवताओं की उपासना करनी चाहिये अथवा "अहं ब्रह्मास्मि"—मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा कहना चाहिये ।

उत्तर—कर्म के अनुष्ठान से प्राप्त तम (अज्ञान) से भी अधिक —जैसा तम को वे लोग प्राप्त होते हैं जो विद्या—देवता की उपासना अथवा ब्रह्मज्ञान में रत हैं, अर्थात् जिन्होंने कर्म का परित्याग कर दिया है, ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान से रहित हैं, मुख से ही ब्रह्म कहते हैं तथा देवताओं के उपासक हैं ।

शंका—कर्म तथा ज्ञान दोनों की मन्त्र में निन्दा होने पर तो दोनों ही निष्फल सिद्ध होते हैं ।

ननु—उभयोर्निन्दायामुभयमप्यफलमित्यत आह–अन्यदेवेति । कर्मणः फलात् पितृयाणलक्षणात् पृथगेव देवयानलक्षणमात्मप्राप्तिलक्षणं वा विद्यायाः फलम् । अन्यच्छब्देन सफलत्वमेवशब्देन चाङ्गाङ्गिभावनिषेधः । विद्यया देवताज्ञानेनाऽऽत्मज्ञानेन वाऽन्यद्विद्याफलात्पृथग्भूतम् । अत्रैवकाराभावादात्मज्ञानोत्पादकत्वमपि कर्मणामवगम्यते । आहुः कथयन्त्यविद्यया द्वितीयमन्त्रोक्तेन कर्मणा अन्यत्फलमिति । न चात्राङ्गाङ्गिभावोऽपि शंकनीयः, अन्यदन्यच्च तदित्यनेन प्रकारेण शुश्रुम श्रुतवन्तः मन्त्रद्रष्टुरिदं वाक्यम् । धीराणां पूर्वोत्तरतन्त्रन्यायकुशलानां विदुषां वेदविदां ये गुरवः नोऽस्मभ्यमेतद्ब्रह्म कर्मसहितं विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः ।

एवं पक्षद्वयमभिधाय देवताज्ञानस्य शाब्दस्य वा ब्रह्मज्ञानस्य कर्मणा सह समुच्चयमाह विद्यां देवताज्ञानं केवलं ब्रह्मज्ञानं वा, अविद्यां द्वितीय-मन्त्रोक्तानि कर्माणि वा चकारावुपायोपेयभावेन समुच्चयार्थौ, यः संजातवैराग्यः कर्मपरित्यक्तुमशक्तोऽन्तरालावस्थः तत्कर्म ज्ञानञ्च,

---

उत्तर—'कर्म के फल पितृयान से पृथक् ही देवयानरूप अथवा आत्मा की प्राप्तिरूप फल, देवोपासना अथवा आत्मज्ञान से प्राप्त होता है' ऐसा वेदज्ञ विद्वान् कहते हैं। मन्त्र में, 'अन्य' शब्द से दोनों की सफलता तथा 'एव' से अङ्गाङ्गिभाव का निषेध किया है। द्वितीय मन्त्र में कहा जो कर्म उस कर्मरूपी अविद्या से भी विद्या के फल से अन्य फल की प्राप्ति वेदज्ञ पुरुष कहते हैं। कर्म के फल के वर्णन करने वाले मन्त्र के भाग में 'अन्यत्' शब्द के साथ 'एव' कार शब्द नहीं है; अतः सिद्ध होता है कि कर्मों का फल आत्मज्ञान की उत्पत्ति भी है। कर्म तथा विद्या फल से अन्य-अन्य हैं; अतः अङ्गाङ्गिभाव की भी शंका नहीं है। मन्त्र द्रष्टा ऋषि ऐसा कहते हैं, ऐसा हमने सुना है। पूर्वोत्तरमीमांसा के सहित वेदों के ज्ञाता धीरपुरुष जिन गुरुओं ने हमारे प्रति कर्मसहित ब्रह्म की व्याख्या की है, उनसे सुना है।

पूर्वोक्त प्रकार से कर्म तथा विद्या इन दोनों पक्षों को कहकर देवता ज्ञान(उपासना) तथा शब्द से उत्पन्न अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय कहता है—विद्या=देवोपासना अथवा अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान है। अविद्या द्वितीयमन्त्रों में कहे हुए कर्मों को कहा गया है।

वेद जानाति । उभयमुक्तमुपायोपेयभावेन सह कर्मोपायो ब्रह्मज्ञानमुपेयमिति मिलितम् । एवमुपायोपेय ज्ञानवतः फलमाह—अविद्यया द्वितीय मन्त्रोक्तेन कर्मज्ञानेन संयोगपृथक्त्वन्यायेन, मृत्युमात्मज्ञानोत्पादप्रतिबन्धकं स्वाभाविकं कर्मज्ञानं च दुःखकारणं तीर्त्वाऽऽत्मज्ञानोत्पादेनातिक्रम्य, विद्ययाऽहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारेणामृतं ब्रह्मात्मत्वमश्नुते व्याप्नोति स एव भवतीत्यर्थः ।[५३]

यदा तु ज्ञानकर्मणोरेव समुच्चयो न तु तज्ज्ञानयोस्तदोपायोपेयशब्दौ विहायात्मज्ञानस्थले च देवताज्ञानशब्दं पठित्वा "आभूतसम्प्लवं

जो वैराग्यवान्, परन्तु कर्मों के त्यागने में असमर्थ मध्य-अवस्था में स्थित पुरुष, कर्म तथा ज्ञान को उपायोपेयभाव से जानता है कि कर्म उपाय (साधन) है, ब्रह्मज्ञान उपेय (साध्य) है। ऐसे ज्ञानवाले पुरुष को मन्त्रद्रष्टा फल बतलाता है–अविद्या अर्थात् द्वितीयमन्त्र में कहे कर्म से मृत्यु(आत्मज्ञान की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक स्वाभाविक कर्म-ज्ञान) को आत्मज्ञान की उत्पत्ति से अतिक्रमण कर विद्या 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान से अमृत=ब्रह्म से अभिन्नात्मतत्त्व को प्राप्त करता है, अर्थात् ब्रह्मात्मरूप ही हो जाता है। जब ज्ञान और कर्म का सम-समुच्चय प्राप्त हो तब अविद्यारूप कर्म का फल स्वाभाविक कर्म-ज्ञान से संतरण और विद्यारूप देवतोपासना का फल भूतविलयपर्यन्त स्थिर

---

५३. यह क्रम-समुच्चय की दृष्टि है। इसमें अविद्या का अर्थ कर्म और विद्या का अर्थ आत्मज्ञान मान्य है। कर्मयोग अन्तःकरण को संस्कृत कर आत्मा के अकर्तृत्व–अभोक्तृत्व का बोध करा देता है—आत्मा के अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व के बोध की सहिष्णुता अभिव्यक्त करता है। जिससे स्वाभाविक काम (विषयेच्छा), कर्म (कर्तृत्व-भोक्तृत्वपूर्वक प्रवृत्ति) और ज्ञान–(साध्य-साधनानुसन्धानपूर्वक द्वैतस्फुरण) रूप मृत्यु का अतिक्रमण हो जाता है और ब्रह्मात्मज्ञान के अमोघ प्रभाव से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिशून्य आत्मा (त्वं पद लक्ष्यार्थरूप शोधित अहमर्थ) की ब्रह्मरूपता के बोध से अमृत–ब्रह्मात्मरूप से अवस्थितिरूपा मुक्ति की उपलब्धि होती है।

स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" (**विष्णु०पु० २.८.९६) इति न्यायेनामृतं ब्रह्मलोकपर्यन्तमिति** [५४]**व्याकुर्यात् ।**

[५५]**अन्ये तु पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति कर्माऽऽत्मज्ञानञ्च पूर्वापराधिकारभेदेन सहैकपुरुषकर्तव्यत्वेन समुच्चितं यो वेद सोऽविद्यया कर्मणोपासनाऽपि मानसं कर्मैव,** मृत्युं **स्वरूपविस्मरणहेतुं चित्तमलमनैकाग्र्यं** तीर्त्वाऽतिक्रम्य, **विद्ययाऽऽत्मज्ञानेनामृतं मोक्षमश्नुते** "तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (**वा.सं. ३१.१८, श्वेता० ३.८) इति श्रुतेः ।**

रहनेवाले (पंचभूतों की अवधि तक नाश न होनेवाले) ब्रह्मादि लोकों की प्राप्ति मान्य है ।

अन्य आचार्य तो यह कहते हैं कि—पाठ के क्रम से अर्थ का क्रम बलवान् होता है । पहिले कर्माधिकार पश्चात् कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होने पर ज्ञानाधिकार । इस प्रकार पूर्वाधिकार तथा अपर अधि-

---

५४. यह सम-समुच्चय की दृष्टि है । इसमें विद्या (ज्ञान) का अर्थ देवतोपासना है । कर्म का अर्थ है स्व-अधिकारानुसारप्राप्त अग्निहोत्रादि कर्म । दोनों के सहानुष्ठान से अविद्यारूप कर्म द्वारा स्वाभाविक कर्म–ज्ञानरूप मृत्यु की निवृत्ति और विद्यारूप देवोपासना से देवलोक से ब्रह्मलोकपर्यन्त दिव्यलोकों की प्राप्ति होती है । प्रलय से भूतलयरूप महाप्रलयपर्यन्त दिव्य लोकों की प्राप्ति आपेक्षिक अमृतत्व है ।

इस प्रकार उपनिषद् शब्द में प्रयुक्त सद्धातु का विशरण (हिंसन, निवारण) और गतिरूप अर्थद्वय उक्त क्रमसमुच्चय में अविद्या की निवृत्ति और उससे उपलक्षित तत्त्वोपलब्धि के कारण चरितार्थ होता है । सम-समुच्चय में पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिरूप क्लेश का अवसादन (शिथलीकरण) हो जाता है । इस तरह सद्धातु का अवसादन-अर्थ चरितार्थ हो जाता है ।

५५. ईशावास्यरहस्य विवृति के अनुसार यह दिग्दर्शन है ।

[५६]**माण्डूक्यकारिकाभाष्ये क्रमसमुच्चय उक्तः। तत्र अविद्यया कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठानेन मृत्युमनैश्वर्यादिकमैश्वर्यादिप्राप्त्याऽतिक्रम्य पश्चात् विद्यया ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेणामृतमश्नुते।**

कार के भेद से एक पुरुष को ही कर्तव्यरूप से प्राप्त कर्म तथा ज्ञान के समुच्चय को जो जानता है, वह अविद्या=कर्म, इस अविद्याशब्द से कर्म तथा उपासना दोनों का ग्रहण है, क्योंकि उपासना भी मानसकर्म ही है। अतः कर्म तथा उपासनारूप अविद्या से मृत्यु=स्वरूप के विस्मरण का कारण जो चित्त का मल=अशुद्धिरूप दोष तथा विक्षेप का अतिक्रमण करके विद्या=आत्मज्ञान से अमृत=मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि **"तमेव विदित्वा"** यह श्रुति ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति कह रही है।

---

५६. **शा० भाष्य**—एषणालक्षणादविद्याया मृत्योरतितीर्णस्य विरक्तस्योपनिषच्छास्त्रार्थालोचनपरस्य नान्तरीयकी परमात्मैकत्वविद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनीमविद्यामपेक्ष्य पश्चाद्भाविनी ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनैकेन पुरुषेण सम्बध्यमानाऽविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते।

आ० टीका—कामचारकामवादकामभक्षणादिलक्षणस्वाभाविकप्रवृत्तिरूपाशुद्धिवियोगः **संस्कारो** यथा नित्याग्निहोत्रादिफलं तथा निष्कामेनानुष्ठितसमुच्चयफलं कामाख्याशुद्धिव्यावृत्तिरित्यर्थः। (३.२५)

भावार्थ—साध्य-साधन की कामना मृत्यु है। इस मृत्यु से पार हुए व्यक्ति ब्रह्मविद्या का अधिकारी है। पहले नित्यकर्मरूप अविद्या का आलम्बन लेने से व्यक्ति का अन्तःकरण शुद्ध होता है। कामचार, कामवाद, कामभक्षण आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति ही अशुद्धि है। भगवदर्थ निष्कामभाव से स्वकर्मानुष्ठान से अन्तःकरण संस्कृत होता है। फिर ब्रह्मविद्या की उपलब्धि से जीव का परमकल्याण होता है। यह क्रम-समुच्चय है। ज्ञानोत्तर कर्म अकर्म हो जाता है, अतः कर्मोत्तर ज्ञान का अधिकार प्राप्त है।

न च —

[५७]"आत्माज्ञातव्य" इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम् ।
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्य लक्ष्यते ॥
विज्ञाते चास्य पारार्थ्ये याऽपि नाम फलश्रुतिः ।
साऽर्थवादो भवेदेव न स्वर्गादेः फलान्तरम् ॥"

(श्लोकवार्त्तिके सम्बन्धाक्षेपे परिहारः १०३, १०४)

[५८]**इति भट्टपादरीत्या देहव्यतिरिक्तात्मविज्ञानस्य कर्मप्रवृत्त्युपयोगित्वेनाशनायाद्यतीतब्रह्मात्मविज्ञानस्य तच्छेषत्वानुपपत्त्या कर्माधिकारविरोधेऽप्याज्यावेक्षणव्रीहिप्रोक्षणादिवददृष्टद्वारेणोपयोगः, न चाधिकारविरोधः, तथाभूतविदामपि यमनियमादौ प्रवृत्तिवत् कर्मप्रवृत्त्य-**

माण्डूक्यकारिका के भाष्य में क्रम-समुच्चय कहा है । उसके अनुसार कर्मोपासना के समुच्चय के अनुष्ठानरूप अविद्या से ऐश्वर्यादि की प्राप्ति से अनैश्वर्य, अधर्मादि का अतिक्रमण करके पश्चात् विद्या (ब्रह्मात्मसाक्षात्कार) से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।

शङ्का—"**आत्मा ज्ञातव्यः**", 'आत्मा को जानना चाहिये' इस श्रुति में मोक्ष के लिये ज्ञान का विधान है, कर्म की प्रवृत्ति का कारणभूत जो आत्मा का ज्ञान, इस वाक्य से विहित नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिए । इस वाक्य से कर्म की प्रवृत्ति का हेतुभूत ज्ञान बोधन किया गया है । क्योंकि —

---

५७. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृह० २.४.५), 'आत्मान्वेष्टव्यः' (छा० ८.७.३), 'आत्मा विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८.७.३), 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृह० १.४.७), 'आत्मा विज्ञेयः' (माण्डूक्य ७)

५८. ननु '**आत्मा ज्ञातव्यः**' (श्रुति) इति विवेकज्ञानविधावप्यपुनरावृतिर्वाक्यशेषे श्रूयते, अत आह—"**आत्मा ज्ञातव्यः**" । कथम् ? इत्यत आह—'**कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वम्**', विवेकज्ञानस्य पारलौकिकफलेषु ज्योतिष्टोमादिषु प्रवृत्तिरध्ययनस्येव प्रयोजनं दृष्टमेवेति नादृष्टफलापेक्षेति ॥१०३॥ निर्ज्ञाते च ज्ञानस्य कर्म-

विरोधात् जनकोद्दालकप्रभृतीनामपि कर्मप्रवृत्तिदर्शनादितिचेन्न, ब्रह्मात्मविज्ञानस्य श्रुतिलिङ्गादिभिः कर्मोपयोगानिरूपणादधिकारविरोधाच्च । तथा हि न ताव[५९]**'दैन्द्रचागार्हपत्यमुपतिष्ठते'(मै०सं० ३.२.४) इतिवदात्मविज्ञानस्य कर्माङ्गत्वे श्रुतिरस्ति ।**

न च 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेववीर्यवत्तरमि'ति **(छा० १.१.१०) श्रुत्यात्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वं सिद्धचति इति वाच्यम्,**

'विज्ञाते चास्य', इस भट्टपाद की रीति के अनुसार देह से अतिरिक्त आत्मा का ज्ञान कर्म की प्रवृत्ति का उपयोगी है । भोग की इच्छा आदि धर्मों से रहित ब्रह्म से अभिन्नात्मा का ज्ञान, कर्मों का अङ्ग (उपयोगी) सम्भव नहीं । इस प्रकार यद्यपि ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के ज्ञान से कर्म के अधिकार का विरोध है तथापि आज्यावेक्षण तथा व्रीहिप्रोक्षण के समान अदृष्ट के द्वारा उस अज्ञान का कर्म में उपयोग है । कर्मके अधिकार से विरोध भी नहीं, क्योंकि ब्रह्मसे अभिन्न आत्मा के ज्ञाताओं की जैसे यम-नियमादिक साधनों में प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार कर्म में प्रवृत्ति से कोई विरोध नहीं । जनक-उद्दालक आदिकों की कर्म में प्रवृत्ति देखी जाने से भी ज्ञान से कर्म के अधिकार से विरोध नहीं ।"

---

५८. प्रवृत्तिहेतुतया कर्मफलस्वर्गाद्यर्थत्वे वाक्यशेषस्था फलश्रुतिः पर्णमयीन्यायेनार्थवादमात्रं स्यात्, न फलान्तरमलं बोधयितुमित्याह—**'विज्ञाते चास्य'**, उपासनात्मकस्य तु ज्ञानस्य कर्मणि पुरुषे च दृष्टप्रयोजनाभावाददृष्टापेक्षायां श्रुत्याद्यभावेन क्रत्वर्थत्वाभावाद्वाक्यशेषोपनीताभ्युदयनिःश्रेयसफलतया रात्रिसत्रवत् पुरुषार्थत्वमेवेति **व्याकरणाधिकरणे** वक्ष्यतीति ।

५९. **'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते'** (सत्या.श्रौ.सू.) इति प्रत्यक्षश्रुत्यास्या ऋचो गार्हपत्योपस्थाने विनियोगस्य कृतत्वात्प्रत्यक्षश्रुतेश्चानुमित **(ऐन्द्रचेन्द्रमुपतिष्ठते)** श्रुत्यपेक्षया बलवत्त्वाद् गार्हपत्योपस्थाने विनियोगो भवति । तत्र ऐन्द्रचेति तृतीया गार्हपत्यमिति द्वितीया च विनियोक्त्री श्रुतिः । तृतीययैन्द्रचा ऋच उपास्थानाङ्गत्वं प्रतिपद्यते । द्वितीयया च गार्हपत्यस्योपस्थानाङ्गित्वं प्रतिपाद्यते ।

तस्याः प्रकृतोद्गीथविद्याविषयत्वेनात्मज्ञाने तदप्रवृत्तेः। न च श्रद्धावत्सार्वत्रिकं किन्नस्यादिति वाच्यम्, उपासनाप्रकरणपठितत्वेनोपासनात्मिकाया विद्याया एव कर्माङ्गत्वोपपत्तेः। "बर्हिर्देवसदनं दामि" **(मै० सं० १.१.३) इतिवत् श्रुतिसामर्थ्यलक्षणेन लिङ्गेनापि नात्मज्ञानस्य कर्माङ्गत्वं सिद्धयति तथा लिङ्गानुपलब्धेः।**

न चोद्दालकादीनां कर्मणा सहात्मविज्ञानसद्भावे लिङ्गम् "किं प्रजया करिष्यामः" **(बृह० ४.४.२२)**, "किमर्थं वयमध्येष्यामहे" **इति वैपरीत्यस्यापि दर्शनात्।**

उत्तर—यदि ऐसा कोई कहे तो यह उचित नहीं; 'क्योंकि श्रुति तथा लिङ्गादिक विनियोजक प्रमाणों के द्वारा ब्रह्मात्मज्ञान का कर्म में उपयोग का निरूपण नहीं किया गया है। ज्ञानका कर्म के अधिकार के साथ विरोध भी है। "इन्द्रदेवताक ऋचा से गार्हपत्य अग्नि की स्तुति करे" इस तृतीया श्रुति से ऐन्द्री ऋचा को गार्हपत्य अग्नि की स्तुति में उपयोग बताया है, उस प्रकार ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के ज्ञान को कर्म का अङ्ग कहनेवाली कोई श्रुति नहीं है।

"**यदेवविद्यया**" इस श्रुति से आत्मज्ञान, कर्म का अङ्ग सिद्ध होता है", ऐसा कहना उचित नहीं है; क्योंकि इस श्रुति का विषय तो उद्गीथविद्या है, यह आत्मज्ञान के वर्णन में प्रवृत्त नहीं है। "श्रुति में कही श्रद्धा का जैसे सर्वकर्मों में उपयोग है, विद्या का भी सर्व कर्मों में उपयोग क्यों न मान लिया जाय ?" ऐसा कथन भी उपयुक्त नहीं। उक्त श्रुति उपासना के प्रकरण में पठित है, उपासनारूप विद्या को ही सर्वकर्मों की अङ्गता (साधनता) संभव है, आत्मविद्या को नहीं। "**बर्हिर्देवसदनं**" श्रुतिगम्य अपने अर्थ प्रकाशनसामर्थ्यरूपलिङ्ग के सदृश किसी लिङ्ग से भी आत्मज्ञान को कर्म की अङ्गता (साधनता) सिद्ध होती नहीं। क्योंकि उस प्रकार का कोई लिङ्ग उपलब्ध नहीं।

"उद्दालकादिकों के कर्म के साथ आत्मज्ञान का सद्भाव, कर्म तथा ज्ञान के समुच्चय में लिङ्ग है।" यह कहना उचित नहीं; क्योंकि "हम प्रजा से क्या करेंगे अर्थात् हमें क्या प्रयोजन", "हमको अध्ययन से क्या प्रयोजन" ऋषियों का यह भी निश्चय देखा जाता है। जिससे

न च "यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति" (तै० सं० ३.५.७) इतिवद्वाक्याद्विनियोगः, पर्णमयीत्ववदात्मनोऽव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धाभावात्तस्य लौकिकवैदिकसर्वकर्मसाधारण्यात् ।

न चात्मज्ञानं कर्मप्रकरणे श्रुतं येन प्रयाजादिवत् कर्माङ्गतामश्नुवीत, नापि स्थानक्रमसन्निधानपठ्यमानत्वात् । नापि समाख्या संज्ञासाम्याभावात् । न चात्मज्ञानस्यकर्मण्युपकारप्रकारो निरूप्यते । देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानस्योपयोगेऽपि अशनायाद्यतीताकर्त्रभोक्तृनानात्मकब्रह्मात्मविज्ञानस्य तत्रानुपकारित्वात् । नाप्याज्यावेक्षणादिवददृष्टद्वारेण तादृशात्मज्ञानस्य कर्मण्युपयोगः स्वप्रकरणपठितसंसारनिवृत्तिलक्षणदृष्टफलनिराकाङ्क्षस्यादृष्टफलकल्पनाऽनुपपत्तेः, संभवति दृष्टफलकत्वे सत्यदृष्टफलकल्पनस्यान्याय्यत्वात् ।

सिद्ध होता है कि स्त्री-पुत्र-धन-अध्ययन आदिकों से विरक्त ऋषियों के कर्म का ज्ञान के साथ सद्भाव ही संभव नहीं ।

"यस्य पर्णमयी" इस श्रुति-वाक्य से पर्णमयी जुहु का यज्ञ में सम्बन्ध है, उसी प्रकार वाक्य से भी आत्मज्ञान का कर्म के साथ सम्बन्ध संभव है" ऐसा भी नहीं; क्योंकि पर्णमयी जुहु का जैसा यज्ञ के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध है, वैसा आत्मा का अव्यभिचरित सम्बन्ध यज्ञ के साथ नहीं, आत्मा का सम्बन्ध तो लौकिक कर्मों के साथ भी है ।

शास्त्र में कर्म के प्रकरण में आत्मज्ञान का श्रवण नहीं, जिससे कि यह कहा जा सके कि प्रयाजादि के समान, आत्मज्ञान भी कर्म का अङ्ग है । समाख्या भी कर्म तथा ज्ञान का विनियोजक नहीं; क्यों कि कर्म तथा ज्ञान की संज्ञा समान नहीं है । न आत्मज्ञान का कर्म में उपकार के प्रकार का ही निरूपण है । देह से अतिरिक्त आत्मा के ज्ञान का कर्म में उपयोग होने पर भी भूख-प्यास से अतीत अकर्ता, अभोक्ता भेदरहित ब्रह्मस्वरूप आत्मा के ज्ञान का कर्म में कोई उपकार नहीं । आज्यावेक्षणादि के समान अदृष्ट के द्वारा भी ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के ज्ञान का कर्म में कोई उपकार नहीं । आत्मज्ञान के प्रकरण में पठित जो संसार उसकी निवृत्तिरूप फल से फल की आकांक्षा से

क्रियाकारकफलशून्यमद्वैतमात्मानं[६०] पश्यतः कर्मणि प्रवृत्यसंभवात् च। न च यमनियमादिवत्तदविरोधः तत्राप्यपरोक्षज्ञानवद् विधितः प्रवृत्त्यनङ्गीकारात्। 'तस्य कार्यं न विद्यते' इति (३.१७) **गीतोक्तेः,** 'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्तिचेन्न स तत्त्ववित्' (१.२३) **इति जाबालदर्शनोपनिषद्वचनात्। न च भिक्षाटनादाविव तत्र प्रवृत्तिस्तत्र प्रवृत्तेः प्रारब्धमूलकत्वात्। न च कर्मणि तथा प्रवृत्तिः, तस्य नियतदेशकालतया विधानात्।**

ननु भवतुब्रह्मविद्याया कैवल्यसाधनता तथापि कर्मसमुच्चिताया एव न केवलाया इति चेन्न, विरोधादेव द्वेधापि समुच्चयः संभवति, समप्राधान्येन षड्यागवद् गुणप्राधान्येन वा प्रयाजदर्शपूर्णमासवत्,

---

रहित आत्मज्ञान के अदृष्ट फल की कल्पना ही संभव नहीं। क्योंकि दृष्ट फल संभव होने पर अदृष्ट फल की कल्पना उचित नहीं।

क्रिया-कारक-फल से शून्य अद्वितीय आत्मा के ज्ञाता की कर्म में प्रवृत्ति ही असंभव है। 'यम-नियम में प्रवृत्ति के समान कर्म में भी प्रवृत्ति संभव है', यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान सम्पन्न विद्वान् की यम-नियमादिकों में भी विधि से प्रवृत्ति स्वीकृत नहीं। क्योंकि गीता विद्वान् के लिये किसी भी कर्तव्य का निषेध करती है। **"ज्ञानामृतेन"** इस जावालदर्शनोपनिषद् के वचन से भी ज्ञानी के लिये कर्तव्य का निषेध किया है। "भिक्षाटनादिकों में प्रवृत्ति के समान यज्ञादिककर्मों में प्रवृत्ति संभव है" यह कथन भी उचित नहीं; क्योंकि भिक्षाटन में प्रवृत्ति का हेतु प्रारब्ध है। कर्म में प्रवृत्ति प्रारब्ध से नहीं होती; यज्ञादिककर्म का तो देशविशेष तथा कालविशेष में ही विधान होता है।

"ब्रह्मविद्या को मोक्ष की साधनता भले ही रहे, तथापि कर्म से युक्त ब्रह्मविद्या ही मोक्ष का साधन है, केवल नहीं" यदि ऐसा कहा जाय तो उचित नहीं; क्योंकि विरोध होनेसे दोनों प्रकार का समुच्चय

---

६०. "यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥
(लिङ्ग० १.७०.९६)

तत्रापि ज्ञानं गुणःकर्मप्रधानमिति वा,विपरीतं वा,'तमेतमात्मानंब्राह्मणाः विविदिषन्ति'**(बृह० ४.४.२२)इति साध्यसाधनभावावगमान्न समुच्चयः। गुणप्रधानपक्षेऽपि परम्परया ज्ञानम्प्रति कर्मणां गुणभावोऽभ्युपगत एव। यत्तु कर्म प्रधानं ज्ञानं गुण इति तदपि यत्किञ्चित्, स्वरूपविरोधात् तदुक्तं वार्तिककृता —**

"यद्धि यस्यानुरोधेन स्वभावमनुवर्तते ।
तत्तस्य गुणभूतं स्यान्न प्रधानाद्गुणो यतः ॥"

(बृह० वार्तिक ३.३.६८)

प्रधानात् प्रधानमत्तीति तथोक्तः। यत्कर्मप्रवृत्तिविघातकं ज्ञानं तत्कर्मप्रतिगुणो न भवति। विभिन्नविरुद्धफलत्वाच्च न गुणगुणीभावः। किञ्चोत्पत्त्याप्तिसंस्कृतिविकृतयः कर्मणः फलम्। विद्याया अविद्या-

---

सम्भव नहीं। समानप्रधानरूप से षड्याग, अथवा गुणप्रधानरूप से प्रयाज तथा दर्शपूर्णमास के समुच्चय के समान समुच्चय संभव नहीं। समुच्चय में ज्ञान गौण व कर्म प्रधान अथवा कर्म गौण ज्ञान प्रधान रहे, दोनों ही प्रकार से समुच्चय संभव नहीं; क्योंकि "**तमेतं**" इस श्रुति से ज्ञान तथा कर्म में साध्य (कार्य)–साधन (कारण)–भाव का निश्चय होने से समुच्चय संभव नहीं। गुण–प्रधानपक्ष में भी परम्परा से ज्ञान के प्रति कर्म का गुणभाव स्वीकृत है ही। "कर्म प्रधान है, ज्ञान गौण है", यह कथन तो कुछ नहीं, क्योंकि दोनों के स्वरूप में विरोध है। यह बात वार्तिककार ने भी कही है।

जो ज्ञान कर्म की प्रवृत्ति का विघातक है वह ज्ञान कर्म के प्रति गौण (कर्म का अनुसारी) नहीं होता है। भिन्न-भिन्न विरुद्ध फलवाले होने से भी इन दोनोंमें गुण-गुणीभाव नहीं है। उत्पत्ति, प्राप्ति संस्कृति (संस्कार) तथा विकार ये कर्म के फल हैं। अविद्या की सर्वथा निवृत्ति (ज्ञातत्व से उपलक्षित आत्मा) विद्या का फल है। ऐसी दशा में अर्थात् ज्ञान तथा कर्म के परस्पर विरुद्ध फल होने पर दोनों का सहभाव कैसे संभव है? शुक्तिखण्ड को देखनेवाले मनुष्य की रजत–भ्रम निवृत्ति, स्नान-आचमनादि किसी कर्म की अपेक्षा करके विलम्ब नहीं करती। भाव यह है कि शुक्तिखण्ड के ज्ञात होते ही

ऽस्तमयरूपत्वात् कुतः साहित्यसंभवः, न हि शुक्तिकाशकलं सकलमाकलयतः रूप्यभ्रमनिवृत्तिः स्नानाचमनादिकर्मापेक्षया विलम्बते। तदेवं लौकिकेन न्यायेन ब्रह्मसाक्षात्कार एव तदविद्यानिवृत्तिरिति मन्तव्यम्","तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (**श्वेता० ३.८**),"न कर्मणा न प्रजया धनेन" (**नारायणो० १.५**),"नास्त्यकृतः कृतेन", (**मुण्डक १.२.१२**), [६१]"ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते"।

"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥"

(संन्यासोपनिषत् ९८, शान्तिपर्व २४१.७)

न त्वेतानि वचनानि केवलानां कर्मणां कैवल्यसाधनत्वनिराकरणपराणि, न समुच्चितानामिति तत एवान्धंतमः प्रविशन्ति **इत्येकैकनिन्दापुरस्सरं** 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥' **इति ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोरेव मोक्षसाधनत्वप्रतिपादनम्। संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिश्च मुक्तिः। तत्र विद्येतरत्वेनाविद्यामूलत्वेन वा अविद्यापदवाच्यानां कर्मणां मृत्युपदवेद-**

रूप्यभ्रम की निवृत्ति हो जाती है, किसी कर्म की अपेक्षा नहीं करती, जिससे कि शुक्ति के ज्ञान होने पर कुछ विलम्ब हो। इस लौकिक युक्ति के अनुसार 'ब्रह्म साक्षात्कार ही ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति है,' ऐसा मानना चाहिये। "**तमेव विदित्वा**", "**न कर्मणा**", "**नास्त्यकृतः**", "**ज्ञानादेव तु**", "**तस्मात्कर्म न**" इत्यादिक वाक्य, केवलकर्मों की मोक्षसाधनता के निराकरण में तात्पर्यवाले हैं, ज्ञान से समुच्चित कर्मों की मोक्षसाधनता के निवारण में तात्पर्यवाले नहीं हैं। इसलिये ही '**अन्धं तमः**' इस श्रुति से एक-एक (पृथक्-पृथक्) ज्ञान तथा कर्म की निन्दा पूर्वक, '**विद्यां चाविद्यां च**' इस वाक्य से समुच्चित ज्ञानकर्म को मोक्ष का साधन कहा गया है। 'संसार की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मप्राप्ति मोक्ष है'। विद्या से भिन्न होने अथवा अविद्या मूलक होने

---

६१. पञ्चदशी रामकृष्णटीका में उद्धृत ९.९७

नीयकर्मक्षयद्वारेणसंसारनिवृत्तावुपयोगः । ब्रह्मत्वमात्मरूपतया नित्य-प्राप्तमविद्यामात्र तिरोहितं कण्ठगतचामीकरवत् । न तत्राविद्यानिवृत्ते-रधिकं कर्तव्यमस्ति, इत्यविद्यानिवृत्तौ विद्याया उपयोगः ।

यच्च 'विद्याशब्देन देवताज्ञानं विवक्षित्वा तस्य कर्मणा समुच्चयोऽनेन मन्त्रेण', तन्न युक्तम्, प्रक्रमाऽननुगुणत्वात्, 'ईशावास्य-मिति' **परमात्मनः प्रक्रान्तत्वात् ।**

ननु

[६२]"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥"

(मुण्डकोपनिषत् ३.१.५)

से 'अविद्या' पद के वाच्य कर्मों का मृत्युपद से जाननेयोग्य जो कर्म उसके क्षय (विनाश) द्वारा संसार की निवृत्ति में उपयोग है । ब्रह्मत्व तो आत्मरूप है, अतः नित्यप्राप्त है । कण्ठ के भूषण के समान अविद्या मात्र से आवृत है । ब्रह्म की प्राप्ति में अविद्या की निवृत्ति से अतिरिक्त और कुछ कर्तव्य नहीं है, इसलिये अविद्या की निवृत्ति में विद्या का उपयोग है ।

शङ्का—"जो ऐसा कहा है कि विद्या शब्द से देवोपासना की विवक्षा करके देवोपासना का कर्म के साथ समुच्चय, इस मन्त्र से वर्णित है । यह कथन उचित नहीं; क्योंकि यह कथन उपक्रम के अनुसार नहीं है । **'ईशावास्यं'** इस वाक्य से परमात्मा का ही यहाँ उपक्रम (प्रारम्भ) है । "**तपो विद्या च**" इत्यादिक स्मृतियाँ समुच्चय

---

६२. अत्र सम्यग्ज्ञानशब्देन वस्तुविषयावगतिफलावसानं वाक्यार्थ-ज्ञानमुच्यते । अवगतिफलस्य स्वकार्येऽविद्यानिवृत्तौ सहकार्य-पेक्षासंभवात् । अतोऽपरिपक्वज्ञानस्य सत्यादीनां च परिपक्व-विद्यालाभाय समुच्चय इष्यत एव । नैतावता भास्कराभिमत-सिद्धिः, परिपक्वविद्यायाः सहकार्यपेक्षायां मानाभावात् । ततः कर्मासंश्लेषश्रवणाद्देवादीनां कर्मविहीनानां मुक्तिश्रवणाच्चेति ।

स्पष्टमेव श्रुतिः समुच्चयं प्रतिपादयति । स्मृतिश्च—

"तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयस्करं परम् ।
तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।"

(मनु० १२.१०४)

"तत्प्राप्तिहेतु ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने ।
यथाऽन्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् ।।
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं मोक्षसाधनम् ।"

(भवसंतरणोपनिषत् १.३२,३३)

तेन वाचनिकसमुच्चयानुसारेण कर्मनिन्दापराणां वाक्यानां केवलकर्मविषयतैव । न च ज्ञानस्यैव साक्षान्मोक्षसाधनत्वं कर्मणां तु पापापाकरणद्वारेण साधनत्वमिति व्यवस्था युक्ता । न च "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" **(गीता ३.२०) इत्यादेस्तु** 'लाङ्गलेनवयं जीवामहे' **इतिवत्पारम्पर्येणापि तत्साधनत्वोपपत्तेः । साक्षान्मोक्ष-साधनत्वेन प्राप्तस्य कर्मणः साधनत्वग्रहणे प्राप्तान्वयबाधप्रसङ्गात् ।** 'नान्यः पन्थाः' **इत्यादेस्तु केवलकर्मविषयतया निषेधो नेयः ।"**

इति चेदत्रोच्यते—यतो हि 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेने'

का प्रतिपादन करती हैं। अतः श्रुति तथा स्मृतिवचन से कथित समुच्चय के अनुसार होने से कर्म की निन्दा करनेवाले वाक्य केवल कर्म की निन्दा करते हैं, ऐसा मानना चाहिये। 'ज्ञान को ही साक्षात् मोक्ष की साधनता है, कर्मोंको पाप की निवृत्ति द्वारा मोक्षकी साधनता है', यह व्यवस्था भी उचित नहीं। 'कर्म से ही जनकादिक मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, गीता के इस वचनानुसार कर्म से मोक्ष सिद्ध होता है। इस वाक्य का तात्पर्य यही संभव है कि कर्म परम्परा से मोक्ष का साधन है, साक्षात् नहीं,' ऐसा कथन भी उचित नहीं; ऐसा मानने पर तो साक्षात् मोक्ष के साधनरूप से—निर्दिष्ट कर्म की साधनता के ग्रहण में प्राप्त संबन्ध के बाध का प्रसंग हो जायेगा। अतः **'नान्यः पन्था'** इस श्रुति से जो ज्ञान से अन्य साधन का निषेध किया है, वह केवल कर्म विषयक है, ऐसा जानना चाहिये।"

(बृहदारण्यक उ० ४.४.२२) ति **तृतीयाश्रुत्यैव यागादे: विधेयविज्ञान-कारणत्वेन प्रतिपादनं दृश्यते, कर्मणां यागादीनां फलोपकार्यङ्गत्वकल्पने श्रुतिबाधप्रसंगात् । न च प्रकरणप्रमाणेन प्रयाजानुयाजादिवद्गृह्यमाण-विशेषतयेति कर्तव्यतात्वमेव यज्ञादीनां शमादिवदितिवाच्यम् । प्रकरणस्य सामान्यत: शेषत्वबोधनेऽपि गतार्थत्वात्, तद्विशेषं प्रतिश्रुत्यादीनामेव प्रमाणत्वात् । तस्मात्** 'व्रीहिभिर्यजेत' **इत्यादाविव करणशरीरनिर्व-र्तकतया यज्ञादीनां करणत्वम्** 'यज्ञेने' **(बृ० ४.४.२२) ति तृतीयाश्रुत्या निश्चीयते । यज्ञादिभिरुपकृत्येति व्याख्याने साध्याहारयोजना प्रसंगात् ।**

न यज्ञादीनां श्रवणादिवत्साक्षाद्विज्ञानसाधनत्वाभावात् करण-त्वानुपपत्ति:, परम्परासाधनेष्वपि लोके वेदेऽपि करणत्वाभ्युपगमात्, ज्वालाव्यवधानेनैव काष्ठानां पाके करणत्वाभ्युपगमादपूर्वव्यवधानेन

समाधान—यदि ऐसा कहा जाय तो उत्तर कहते हैं कि क्योंकि "**तमेतमात्मानं**" इस श्रुति के द्वारा यागादिक कर्म, विधेय-विज्ञान के कारण हैं, ऐसा प्रतिपादन देखा जाता है । अत: यागादिक कर्मों को विज्ञान के फलभूत मोक्ष के प्रति साधन की कल्पना करने पर, ज्ञान के प्रति कर्मों को साधन बतानेवाली, उपर्युक्त श्रुति के बाध का प्रसंग होने से ज्ञान-कर्मका समुच्चय संभव नहीं । 'प्रकरणरूप प्रमाण से प्रयाज –अनुयाज जैसे याग के प्रति इति कर्तव्यतारूप हैं, उसी प्रकार शमादि के समान यज्ञादि कर्मों को ज्ञान के प्रति इतिकर्तव्यता है', ऐसा कहना भी उचित नहीं; क्योंकि प्रकरणरूपप्रमाण से सामान्यरूप से साधनता बोधन करदेने पर भी चरितार्थ हो जाने से साधन विशेष के प्रति तो श्रुति आदिक ही प्रमाण होते हैं । यज्ञ के प्रकरण में पठित **'व्रीहि से यज्ञ करे'** इस श्रुति में यज्ञ के प्रति कारणता प्रतीत होने पर भी यज्ञ के साधन पुरोडाश का ही साधक है न कि साक्षात् यज्ञ का । इसी प्रकार मोक्ष के प्रकरण में पठित कर्म **'यज्ञेन'** इस श्रुति से ज्ञान के प्रति ही साधन बताए हैं, मोक्ष के प्रति नहीं । 'यज्ञादिकों से उपकृत विद्या मोक्ष को प्राप्त होती है' ऐसा व्याख्यान करने पर भी अध्याहार करके योजना का प्रसंग होगा; अत: यह व्याख्यान भी उचित नहीं ।

'श्रवणादि के समान साक्षात् ज्ञान के प्रति साधन न होने से ज्ञान के प्रति यज्ञादि की करणता संभव नहीं' ऐसा कहना भी उचित

यागस्य स्वर्गसाधनत्वाभ्युपगमाच्च । तद्वदिहापि परिपन्थिदुरितशोधन-व्यवधानेन यज्ञादेः ज्ञानकरणताया बाधाऽयोगात् ।

तदेवं तृतीया श्रुत्या यज्ञादेर्विज्ञानकरणात्वाभ्युपगतौ सर्वाण्यपि समुच्चयवचनानि परम्परासमुच्चयप्रतिपादनपराण्येवेति मन्तव्यम्; श्रुत्यपेक्षया वाक्यस्य दुर्बलत्वात् ।

यच्च केवलविद्यायाः साधनत्वे 'ततो भूय' **इति तन्निन्दा नोपपद्यते, विधित्सितस्य निन्दायोगात्, तन्न निन्दाया देवताज्ञानविषयत्वेनोपपत्तेः । न च तथात्वे प्रक्रमविरोधः, बलीयसा तृतीयाश्रुत्या प्रक्रमस्य बाध्यत्वात् । अस्तु वा परमात्मविद्यैवोपक्रमानुसारेण, तथापि न विरोधः, उपायोपेयभावेन क्रमसमुच्चयोपपत्तेः । समुच्चयवचनानां**

नहीं; क्योंकि लोक तथा वेद में परम्परा से साधन के प्रति भी करणता स्वीकार की गई है । जैसे लोक में काष्ठों को अग्नि की ज्वाला का व्यवधान होने पर भी पाक के प्रति करण स्वीकार किया गया है तथा वेद में अपूर्व के व्यवधान होने से भी यज्ञ को स्वर्ग के प्रति करण स्वीकार किया गया है; उसी प्रकार ज्ञान के प्रतिबन्धक पापरूपमल की निवृत्ति द्वारा यज्ञादिकों की ज्ञान के प्रति कारणता का बाध भी अनुचित है ।

इस प्रकार **'यज्ञेन'** इस तृतीया श्रुति से यज्ञादिककर्मों को ज्ञान के प्रति करण स्वीकार करलेने पर सर्वसमुच्चयप्रतिपादक वाक्य, परम्परा से समुच्चय के प्रतिपादन में ही तात्पर्यवाले हैं, ऐसा मानना चाहिये । **'यज्ञेन'** इस श्रुति की अपेक्षा वाक्य दुर्बल है; अतः परम्परा से समुच्चय ही उचित है ।

'यदि केवल विद्या ही मोक्ष का साधन है तो अविद्या के अनुष्ठाता से भी अधिक विद्या के अनुष्ठाता को गाढ़ तम मिलता है, ऐसी विद्या की निन्दा संभव नहीं । क्योंकि विधान करने को इष्ट साधन की निन्दा करना अनुचित है ।' यह शङ्का भी उचित नहीं; क्योंकि निन्दा ब्रह्मविद्याकी नहीं, अपि तु देवताविज्ञान(विद्या)की है । यदि ऐसा कहा जाए कि 'देवता विज्ञान की निन्दा स्वीकार करने पर प्रकरण का विरोध होगा ।' यह भी उचित नहीं, क्योंकि प्रकरण से

क्रमसमुच्चयविषयत्वेनाप्युपपत्तिसम्भवात् 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' **इति पौर्वापर्याभिधानाच्च ।**

ननु परम्परापक्षे 'सह वेदे'ति **फलं प्रति साहित्यमनुपपन्नमिति-चेन्न, फलम्प्रति साहित्याभावेऽप्युपायत्वज्ञान एव सहभावस्य विवक्षित-त्वात् ।**

ननु प्रकृतानुरोधेन परमात्मविद्याकर्मणोः परम्परया समुच्चय-स्वीकारे साक्षान्मोक्षसाधनभूतकेवलविद्यानिन्दा कथमुपपद्यत इति चेन्न, अपरिपक्वविद्याया एवं निन्दाभ्युपगमात् । अन्तःकरणशुद्धेः प्रागेवाहृढा-पातज्ञानोदयमात्र एव कृतार्थम्मन्या ये विहितानि चित्तशोधकानि कर्माणि त्यजन्ति त उभयभ्रष्टाः समुपचितदुरितनिचयाश्चात्यन्तमधः पतंतीति । तथा च विद्यां **परिपक्वात्मज्ञानलक्षणां,**अविद्यां **च कर्मलक्षणां,**

बलवती श्रुति से उसका बाध हो जाता है। अथवा **'ईशा वास्यम्'** इस प्रारम्भ (प्रकरण) के अनुसार ब्रह्मविद्या ही विद्या शब्द का अर्थ मान लेने पर भी कोई विरोध नहीं; क्योंकि साधन और साध्य रूप से भी ज्ञान तथा कर्म का क्रम-समुच्चय संभव है। क्योंकि समुच्चयबोधक वाक्यों को क्रम-समुच्चय विषयक मानने से भी चरितार्थता संभव है। 'अविद्या से मृत्यु को तर कर विद्या से अमृत को प्राप्त हो जाता है' इस श्रुति में पूर्वापरता का कथन होने से भी क्रम-समुच्चय ही संभव है।

'परम्परा (क्रम-समुच्चय) पक्ष में **'सह वेद'** इस श्रुति से फल (मोक्ष) के प्रति कर्म तथा ज्ञान का साहित्य का वर्णन, असिद्ध हो जायगा।' यदि ऐसा कहा जाए तो उचित नहीं, क्योंकि मोक्षभूत फल के प्रति कर्म का साहित्य न होने पर भी उपायभूत ज्ञान में ही साहित्य विवक्षित है।

शङ्का–**'ईशा वास्यं'** इस उपक्रम (प्रारम्भ)के अनुसार परमात्म-विद्या तथा कर्म का परम्परासे समुच्चय स्वीकार करलेने पर साक्षात् मोक्ष के साधनरूप केवल परमात्मविद्या की निन्दा कैसे बन सकती है ?

यः सह—**उपायोपेयभावेन** वेद **सोऽधिकृतः पुरुषो**ऽविद्यया **कर्मलक्षणया विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकं** मृत्युपदवेदनीयं पापं तीर्त्वा विद्यया **परिपक्वात्मसाक्षात्कारलक्षणया** अमृतं **निर्वाणम**श्नुते **प्राप्नोतीति। तस्मादाविद्यापरिपाकात् यथा स्वं कर्मानुष्ठेयम्। विद्या तु परिपक्वा कर्मनिरपेक्षैव मोक्षं साधयिष्यतीति।**

समुच्चयवादिनाऽपि तावत्काम्यकर्मणां समुच्चयः स्वीकर्तुं युक्तः तस्य मुमुक्षुणा परित्यागात्। नापि नित्यनैमित्तिकैस्तत्तदाश्रमविहितानामुत्कर्षापकर्षत्वेन कर्मभूयस्त्वात् फलभूयस्त्वन्यायेन कैवल्यफले

उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि निन्दास्थल में अदृढ़ ब्रह्मविद्या की ही निन्दा स्वीकार की गयी है। अन्तःकरण की शुद्धि से पहिले ही अदृढ आपात (अविचारित)रमणीय ब्रह्मज्ञान के उदयमात्र में ही अपने को कृतार्थ माननेवाले जो पुरुष चित्त को शुद्ध करनेवाले कर्मों को त्याग देते हैं, वे उभयभ्रष्ट भली प्रकार से वृद्धि को प्राप्त पाप से युक्त पुरुष अत्यन्त अधःपतन को प्राप्त होते हैं। पूर्वोक्तशंकाओं के निवृत्त हो जाने पर यह अर्थ सिद्ध होता है कि दृढ़ आत्मज्ञानरूप विद्या तथा कर्मरूप अविद्या को जो अधिकारी साधन-साध्य-भाव से साथ जानता है, वह अधिकारी पुरुष कर्मरूप अविद्या से विद्या की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक मृत्युशब्द से कहे जाने योग्य पाप को तर (निवृत्तकर) के दृढ़ अपरोक्ष आत्मा के ज्ञानरूप विद्या से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इसलिये विद्या की परिपक्वता की योग्यतापर्यन्त कर्म अनुष्ठान करने के योग्य है। परिपक्व=दृढअपरोक्ष विद्या कर्म की अपेक्षा (सहायता) के बिना ही मोक्ष को सिद्ध कर देगी।

दृढ़ अपरोक्ष विद्या की योग्यता (मुमुक्षुता) पर्यन्त ही समुच्चयवादी के द्वारा काम्यकर्मों का समुच्चय स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि मुमुक्षु काम्यकर्मों का परित्याग कर देता है।

शंका—नित्य-नैमित्तिक कर्मों के सहित सर्व आश्रमों के लिये विधान किये कर्मों का उत्कर्ष-अपकर्ष होता है, अतः "कर्मभूयस्त्वेन" इस न्याय के अनुसार अर्थात् 'कर्म के अधिक होने से फल के अधिक होन' के नियमानुसार मोक्षरूप फल में वे दोनों प्रकार के कर्म भी स्वीकार के योग्य हैं।

तावप्यभ्युपेयौ स्याताम्, स्वर्गवदपवर्गस्यापि सातिशयत्वेनानित्यादि-दोषप्रसंगात्। तस्माज्ज्ञानमेव कैवल्यसाधनमित्यकामेनाप्यभ्युपेतव्यम् 'सत्येन लभ्य' **इत्यत्रापि सत्यादीनां ज्ञानसाधनत्वमेव विविदिषावाक्ये यज्ञादीनां विज्ञानसाधनत्वस्यावधृतत्वात्।** 'तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्तैज-सश्च' (**बृह०** ४.४.९) **इतिब्रह्मवित्पुण्यकृतोश्च मार्गे समुच्चयः, मार्गश्च ब्रह्मगोचरः। नेयं श्रुतिः परब्रह्मविषया** 'तेनैति' **गच्छतीति मार्गे समुच्चयश्रवणात्। परब्रह्मणि गत्यानर्थक्यात् असंभवाच्च। न च विगलितनिखिलस्थूलसूक्ष्मोपाधिजालस्य व्योमवत्सर्वगतस्यात्मनो गमनं सम्भवति।**

दयानन्दः—"ये मनुष्याः ? अविद्यां—'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्ये'**ति (यो० द० २.५) ज्ञानादिगुणरहितं**

उत्तर—ऐसा नहीं; क्योंकि मोक्ष का साधन कर्मों को मानने पर कर्म से प्राप्त स्वर्ग के समान मोक्ष को भी सातिशय होने से अनि-त्यता के दोष का प्रसंग हो जायगा। इसलिये 'केवल ज्ञान ही मोक्ष का साधन है' ऐसा न चाहने वाले को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा। अन्यथा मोक्ष अनित्य मानना पड़ेगा, जो कि उचित नहीं। **'सत्येन लभ्यः'** इस वाक्य में भी सत्यादि साधन ज्ञान के ही साधन हैं, न कि मोक्ष के; क्योंकि विविदिषावाक्य में यज्ञादिकर्मों को विज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) का साधन निश्चित किया है।

शङ्का—**'तेनैति'** इस श्रुति के अनुसार तो ब्रह्मवेत्ता तथा पुण्य-कर्ता का मार्ग में समुच्चय है, मार्ग भी ब्रह्म की प्राप्ति का है। अतः ब्रह्म की प्राप्ति में ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय ही सिद्ध होता है।

उत्तर—**'तेनैति'**—यह श्रुति परब्रह्म की प्राप्ति को कहनेवाली नहीं है, क्योंकि मार्ग में समुच्चय का श्रवण है। परब्रह्म की प्राप्ति में तो गमन ही अनर्थक है, ब्रह्ममें गति मानने पर परब्रह्म परिच्छिन्न तथा अनित्य हो जायगा तथा व्यापक मानने पर गमन ही असंभव है। समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म उपाधियों से रहित आकाश के समान व्यापक आत्मभूत परमात्मा का गमन संभव नहीं।

दयानन्दभाष्य—"जो मनुष्य अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा

वस्तु कार्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद् भिन्नमुपासते अभ्यस्यन्ति तेऽन्धं तमः प्रविशन्ति, ये विद्यायां शब्दार्थ सम्बन्धविज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे रता उ ततो भूय इव तमः प्रविशन्ति" इति ।

तदपि यत्किञ्चित्-तादृश्या अविद्याया हेयत्वेन प्रसिद्धाया उपास्यत्वाप्राप्त्या तन्निन्दानुपपत्तेः । ज्ञानादिगुणरहितकार्यकारणात्मकं जडं वस्तु तु नाविद्यापदवाच्यम्, प्रमाणानुपलब्धेः । यदि विद्याराहित्यमात्रेण घटादिकमविद्या तदाऽनित्यादौ नित्यादिख्यातेः कथमविद्यात्वम्, युगपद्विरुद्धकत्वानुपपत्तेः । एवं विद्यापदस्याप्यर्थश्चिन्तनीयः । कथञ्चिद्विज्ञाने विद्यापदप्रवृत्तावप्याचरणे तत्प्रवृत्तौ बीजाभावात् ।

अनात्मा में नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्मा की बुद्धि ही अविद्या है, इसलिये ज्ञानादिक गुणों से रहित, कार्य-कारणात्मक परमेश्वर से भिन्न जड़वस्तु का ही अभ्यास करते हैं, वे गाढ़ अन्धकार को प्राप्त होते हैं। जो विद्या=शब्द और अर्थ के सम्बन्ध विषयक विज्ञानमात्र अवैदिक आचरण में रत हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकार को प्राप्त होते हैं।"

यह भाष्य भी कुछ नहीं; क्योंकि जैसी अविद्या का वर्णन किया है, वह तो लोक में हेयरूप से प्रसिद्ध है; अतः उसकी तो उपासना प्राप्त ही नहीं, तब उसकी निन्दा कैसे संभव हो सकती है ? क्योंकि प्राप्त ही की तो निन्दा होती है ? ज्ञानादिक गुणों से रहित जड़वस्तु को तो कोई भी अविद्या कहता नहीं, अतः अविद्या पद का वाच्य भी नहीं। ऐसी दशा में अविद्या पदका अर्थ जड़वस्तु करना अत्यन्त विरुद्ध है। 'जड़वस्तु अविद्यापद वाच्य है,' इसमें कोई प्रमाण ही उपलब्ध नहीं है। यदि कहा जाय कि जड़वस्तु घटादिकों में विद्या नहीं है, इसलिये घटादिक जड़ वस्तु अविद्या है, तो पुनः अनित्यादिक पदार्थों में नित्यादि बुद्धि को जो अविद्या कहा वह कैसे संभव है ? क्योंकि बुद्धि तो स्वयं ज्ञान (विद्या) ही है। यदि कहा जाय कि वह विद्या भी है तथा अविद्या भी है तो यह कथन भी उचित नहीं; क्योंकि एक काल में एक पदार्थ में विरुद्धधर्म संभव नहीं। अविद्या के समान विद्या पद का भी अर्थ विचारणीय है; क्योंकि विद्यापद का अर्थ आचरण किया है। ज्ञान में विद्यापद की प्रवृत्ति होने पर भी आचरण में विद्यापद की

"यो विद्वान् विद्यां चाविद्यां च तदुभयं सहवेद सोऽविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति तदप्यसंगतम् । भ्रान्तिरूपया अविद्यया मरणदुःखभयरूपमृत्युतरणासंभवात् । शरीरादिजडरूपयाऽपि तया न दुःखभयतरणं सम्भवति, तत्कृतेन पुरुषार्थेनेत्यर्थकरणन्तु शाब्दिकमर्यादातिक्रमणमेव । नापि पूर्वोक्तया शब्दार्थसम्बन्धिविज्ञानमात्ररूपयाऽवैदिकाचरणरूपया वाऽविद्यया नाशरहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा प्राप्तुं शक्नोति कश्चित् । आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनित यथार्थदर्शनरूपा विद्या तु पूर्वोक्तव्याख्यानविरुद्धैव । यथार्थदर्शनमेव वा विद्या भवतु, तथात्वे पूर्वोक्तव्याख्यानमेवासंगतं स्यात् ।

प्रवृत्ति नहीं होती, अर्थात् विद्यापद का अर्थ आचरण नहीं होता । विद्या पद की प्रवृत्ति का बीज(निमित्त) ज्ञानत्वधर्म होता है । आचरण में ज्ञानत्व धर्म है नहीं ।

"जो विद्वान् विद्या और अविद्या इन दोनों को साथ जानता या अनुष्ठान करता है, वह अविद्या से मृत्यु को पारकर विद्या से अमृत को प्राप्त हो जाता है ।" यह भाष्य भी असंगत है; क्योंकि भ्रान्तिरूप अविद्या से मरणदुःख के भय से तरना (मुक्त होना) सम्भव नहीं । शरीरादि जड़रूप अविद्या से भी दुःख के भय से तरना संभव नहीं । 'शरीर के किये पुरुषार्थ से' ऐसा अर्थ करना शब्द की मर्यादा का अतिक्रमण ही है । पूर्वोक्त शब्द और अर्थ सम्बन्धिविज्ञानमात्ररूपा अथवा अवैदिक आचरणरूपा अविद्या से नाश रहित अपने स्वरूप अथवा परमात्मा को भी कोई प्राप्त नहीं कर सकता । 'आत्मा[६३] तथा शुद्ध-अन्तःकरण के संयोग और धर्म से उत्पन्न यथार्थ दर्शनरूपा जो विद्या' ऐसा व्यख्यान तो पूर्वोक्त व्याख्यान से विरुद्ध ही है ! अथवा यथार्थ ज्ञान ही विद्या रहो, तब भी पूर्वोक्त व्याख्यान असंगत हो जायगा ।

---

६३. आत्मा और शुद्ध-अन्तःकरण के संयोग में जो धर्म उससे उत्पन्न हुए यथार्थ दर्शनरूप विद्या से नाशरहित अपने स्वरूप बा परमात्मा को प्राप्त होता है ।

'यथा न हिंस्यात् सर्वभूतानीति' (**महा० वन० २१२.३४**) **शास्त्रादवगतः पशुवधनिषेधः** 'अध्वरे पशुं हिंस्यादि'ति **शास्त्रेणैव बाध्यते, एवं विद्याकर्मणोः विरोधाविरोधावपि शास्त्रगम्यौ ।** 'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह' **इति समुच्चयः शास्त्रेण प्राप्यते ।** 'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता' (**क० उ० १.२.४**) **इति श्रुतेः, शास्त्रेणैव बाध्यते ।** 'विषूची' **नानागती भिन्नफले विद्याविद्ये** 'दूरं विपरीते' **अतिशयेन विरुद्ध इति श्रुत्यर्थः ।**

ननु काठके विरोधश्रवणात् तद्गतविद्याविद्ययोरस्तुविरोध इहत्वविरोधो भविष्यतीतिचेन्न, विरोधाविरोधयोः सिद्धत्वेन विकल्पासंभवात् । [६४]**उदितानुदितहोमयोर्हि पुरुषतन्त्रत्वाद्युक्तोविकल्पः । प्रकृते**

जैसे 'किसीभूत-प्राणी की हिंसा न करे' इस शास्त्र से पशुके वध का निषेध प्राप्त है । शास्त्र से प्राप्त यह निषेध, 'यज्ञ में पशुबध करे' इस शास्त्र से ही बाधित किया जाता है, इसी प्रकार विद्या तथा अविद्या के विरोध तथा अविरोध दोनों ही शास्त्र से जानने योग्य हैं । 'विद्या और अविद्या को जो साथ अनुष्ठान करता है' इस शास्त्र में विद्या तथा अविद्या का सहभाव अर्थात् अविरोध प्राप्त होता है । **'दूरमेते विपरीते विषूची'** इस शास्त्र से ही वह अविरोध बाधित कर दिया जाता है । क्योंकि **'दूरमेते'** इस श्रुति में उन दोनों को अत्यन्त विरुद्ध कहा गया है ।

शङ्का—कठ उपनिषद् में विद्या तथा अविद्या का विरोध श्रवण होने से उसमें स्थित विद्या का अविद्या का विरोध रहो, यह हम मानते हैं; किन्तु यहाँ माध्यन्दिनीय शाखा में अविरोध होगा ।

उत्तर—विरोध तथा अविरोध तो सिद्ध है, वह किसी द्वारा किया नहीं जाता है; अतः विरोध तथा अविरोध का विकल्प नहीं हो सकता–विकल्प असंभव है । 'सूर्य के उदयकालिक तथा अनुदयकालिक होम का जिस प्रकार से विकल्प है, उसी प्रकार विरोध तथा अविरोध का भी विकल्प सम्भव है' यदि ऐसा कहा जाय तो इसका समाधान

---

६४. "उदिते जुहोति" (आप० श्रौ० ६.४.१०)

तु न विकल्पः सम्भवति। ननु तर्हि समुच्चयविधिबलादस्त्वविरोध इति चेन्न, मुख्यब्रह्मविद्याऽविद्ययोः शुक्तिविद्याऽविद्ययोरिव सह संभवानुपपत्तेः, हेतुस्वरूपफलविरोधाच्च। समुच्चयविध्यसिद्धेः, सिद्धे समुच्चयविधौ तद्बलादविरोधावगमोऽविरोधावगमाच्च समुच्चयविधिरित्यन्योन्याश्रयापातात्।

ननु सहभावानुपपत्तावपि क्रमेणैवैकाश्रये विद्याविद्ये स्यातामिति-चेदत्रोच्यते—यदि पूर्वमविद्यापश्चात्तु विद्येतिक्रमस्तर्ह्येष्यत एव, यदि पश्चात्तर्ह्य संभव एव।. विद्योत्पत्तावविद्याया ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः। न ह्यग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति ज्ञानं यस्मिन्नाश्रय उत्पन्नं तत्र शीतोऽग्निरप्रकाशो वेत्यविद्याया उत्पत्तिः सम्भवति। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'

यह है कि—दोनों प्रकार के होम तो पुरुष के अधीन हैं, इसलिये विकल्प उचित है। प्रकरण में तो विद्या और अविद्या का विरोध तथा अविरोध संभव नहीं; क्योंकि विरोध तथा अविरोध पुरुष के अधीन नहीं हैं।

शङ्का—"**उभयं सह**" इस समुच्चय के विधान से अविरोध ही मान लेना चाहिये।

उत्तर—मुख्य ब्रह्मविद्या तथा अविद्या की साथ उत्पत्ति इस प्रकार सिद्ध नहीं होती, जिस प्रकार शुक्तिज्ञान तथा अज्ञान (अविद्या) की एककाल में उत्पत्ति संभव नहीं। विद्या तथा अविद्या के कारण, स्वरूप तथा फल का विरोध होने से भी विरोध है; अतः समुच्चयविधि असिद्ध है। समुच्चयविधि सिद्ध हो तो अविरोध सिद्ध हो, अविरोध की सिद्धि से समुच्चय की विधि सिद्ध हो। परस्पर की सिद्धि में परस्पर की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय दोष की भी आपत्ति है।

शङ्का—सहभाव की असिद्धि होने पर भी क्रम से एक आश्रय में विद्या-अविद्या रहें तो क्या हानि ?

उत्तर—यहाँ पर भी यह कहना है कि यदि 'पहिले अविद्या हो,

इति शोकाद्यसम्भवश्रुतेः । अविद्याऽसम्भवात्तदुपादनस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्तेः । पूर्वसिद्धाया अविद्यायाः प्रध्वस्तत्वादन्यस्याश्चोत्पत्तौ कारणासंभवान्मूलाभावेन भ्रमसंशयाऽग्रहणानामपि विदुष्यसम्भवाच्च ।

ननु विद्योत्पत्तावविद्याऽभावेऽपि कर्म तु भविष्यति, विदुषोऽपि व्याख्यानभिक्षाटनादिदर्शनादिति चेन्न, चोदनाप्रयुक्तानुष्ठानस्यैव तव समुच्चिचीषितत्वात् ब्रह्मैकत्वमनुभवतो न चोदना सम्भवति कामाभावात्कामिनो हि सर्वाश्चोदनाः ।

"अकामिनः क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कस्यचित् ।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ।।"

(मनु० २.४) इति स्मृतेः ।

उसके पश्चात् विद्या हो' ऐसा क्रम है तो स्वीकार किया ही है। यदि 'विद्या पहिले हो, अविद्या पश्चात् हो', ऐसा क्रम तो असंभव है; क्योंकि विद्या की उत्पत्ति होने पर अस्वतन्त्र होने से विद्या के आश्रय में अविद्या की उत्पत्ति संभव नहीं। "अग्नि उष्ण है तथा प्रकाशरूप है" ऐसा ज्ञान जिस आश्रय (आत्मा) में उत्पन्न हो गया, उसी आश्रय में 'अग्नि शीत है अथवा अप्रकाशरूप है' ऐसी अविद्या की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। 'सर्वभूत आत्मा ही है' ऐसे आत्मा के एकत्व के ज्ञाता पुरुष को शोक-मोह नहीं होता, ऐसा श्रुति कहती है। अर्थात् अविद्या के नष्ट होने पर शोकादिक असम्भव हैं। विद्या के उत्पन्न होने पर अविद्या असम्भव होने से, अविद्या ही जिसका कारण है, ऐसे कर्म की भी उत्पत्ति सम्भव नहीं। मूलभूत अविद्या के अभाव हो जाने से भ्रम, संशय तथा अग्रहण भी विद्वान् में असम्भव हैं।

शङ्का—विद्या की उत्पत्ति होने पर अविद्या के न रहते भी कर्म संभव है, क्योंकि व्याख्यान तथा भिक्षाटनादिक कर्म विद्वान् के भी देखे जाते हैं।

उत्तर–ऐसी बात नहीं; क्योंकि आपको विहितकर्म का अनुष्ठान ही समुच्चय करने को इष्ट है। ब्रह्म की एकता का अनुभव करनेवाले को तो विधि ही सम्भव नहीं। कामना से रहित पुरुष की कभी कोई क्रिया नहीं देखी जाती है। "प्राणिमात्र जो कुछ करता है, वह काम

विद्वच्छरीरस्थितिहेत्वविद्यालेशाश्रयकर्मशेषनिमित्तं तु विदुषो भिक्षाटनादिकर्म, न तदर्थचोदना किन्तु यावत्प्राणशरीरसंयोगभावि तत्कर्माभासं, विद्वान्न तत् स्वगतं मन्यते, 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५.८) **इति गीतोक्तेः । कर्माध्यासोपादानाविद्याया असंभवात् ॥१४॥**

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतँ स्मर ॥१५॥

उपासना के योग से अन्तकाल में उपास्यस्मृतिलब्धयोगी प्रार्थना करता है। देवतोपासना और कर्मानुष्ठान से संस्कृतवायु अर्थात् प्राणवायुसे उपलक्षित कर्तृ-करणात्मक सूक्ष्मशरीररूप अध्यात्म अब सूत्र और हिरण्यगर्भरूप अधिदैव-सायुज्य को प्राप्त हो! प्राण-विरहित स्थूलशरीर अन्त्येष्टि-संस्कार से सम्पन्न होकर भस्मरूपता को प्राप्त हो! 'ओ३म्' यह ब्रह्म-नाम है। योगिवृन्द ब्रह्मबुद्धि से इसकी भावना करते हैं। हे ओम्! हे संकल्पात्मक देव! हमने ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में आप ब्रह्मात्मक अग्नि की उपसना की है। आदरपूर्वक

(इच्छा) को ही चेष्टा है" यह स्मृति भी निष्कामपुरुष में क्रिया का अभाव वर्णन करती है।

विद्वान् के शरीर की स्थिति का हेतु जो अविद्या का लेश (लेशाविद्या) वह अविद्या जिसका आश्रय है, ऐसा प्रारब्धकर्म शेष है। उसके निमित्त से ही भिक्षाटनादिक व्यवहार होते हैं। उसके लिये विधि नहीं है; किन्तु प्राण और शरीरके संयोगसे होनेवाले जितने भी कर्माभास हैं; उन्हें विद्वान् अपने आप में नहीं मानता। गीता का कथन भी यही है कि—"तत्त्ववेत्तापुरुष ऐसा मानता है कि मैं कुछ भी नहीं करता।" आत्मा में कर्म के अध्यास का उपादान कारण जो अविद्या, वह विद्वान् में सर्वथा असम्भव होने से विद्वान् आत्मा में कर्म नहीं मानता ॥१४॥

आप से प्रार्थना करते हैं कि आप हमारी उपासना का स्मरण कर अपना सायुज्य प्रदान करें—हिरण्यगर्भ और वैश्वानररूप कार्यब्रह्म की प्राप्ति का बानक बना दें ! ॥१५॥

अथ कृतोपासनो योगी अन्तकाले प्रार्थयते । द्वे यजुषी । अथेदानीं शरीरपातानन्तरं मम वायुः प्राणः । अत्र वायुपदं सप्तदशकलिङ्गशरीरोपलक्षणार्थं, सप्तदशकलिङ्गरूपो वायुः प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाधिदैवतरूपं सर्वात्मकममृतं-मरण-धर्मरहितम्, सूत्रात्मानमनिलं वायुं प्रतिपद्यताम्, 'वायुर्वाव गौतम तत्सूत्रं वायुना गौतम सूत्रेणेदꣳ सर्वꣳ संदृब्धम्' **(बृहदारण्यकोपनिषत् माध्य० ३।५।६) इति श्रुतेः ज्ञानकर्म संस्कृतं लिङ्गमुत्क्रामत्वित्यर्थः । अथेदं स्थूलं शरीरमग्नौहुतं सत् भस्मान्तं भस्मैव भूयात् । भस्मान्तः स्वरूपं यस्य तत्कृत प्रयोजनकत्वात् । अथ योगिनोऽवलम्बनभूतमक्षरमुच्यते । ओमिति ब्रह्मणः प्रतिमा नाम वा । अस्य ब्रह्मा ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, परमात्मा देवता, वेदारम्भे होमे शान्तिपुष्टिकर्मसु काम्येषु नैमित्तिकेष्वपि कर्मसु विनियोगः । ओम्प्रतीकात्मकत्वात्**

जिसने उपासना करली है, ऐसा योगी अन्त समय में प्रार्थना करता है । वायुः अर्थात् प्राण । मन्त्र में वायुपद कर्मेन्द्रियपञ्चक, ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, मन-बुद्धि और प्राणपञ्चक रूप सत्रह तत्त्वात्मक सूक्ष्मदेह के उपलक्षण के लिये है । अतः यहाँ १७तत्त्वोंवाला सूक्ष्म शरीर ही वायु-प्राण है । वह मेरा प्राण अध्यात्म (जीव के स्थूलशरीरकृत) परिच्छेद (परिच्छिन्नता) को त्याग कर सर्वस्थूल जगत् के आत्मारूप मरणधर्म से रहित अधिदैवत सूत्रात्मारूपी अनिल (वायु) को प्राप्त हो जावे । उपासना तथा कर्म से संस्कृत (शुद्ध) लिंगशरीर स्थूलशरीर से निकल जावे और यह स्थूलशरीर अग्नि में डाला हुआ भस्म हो जावे । क्योंकि इसका प्रयोजन समाप्त हो गया है । योगी का अवलम्बनभूत जो प्रणव अक्षर वह कहा जाता है । ओम् यह ब्रह्म का प्रतीकात्मक नाम है । इस प्रणव अक्षर का ब्रह्मा ऋषि है, गायत्री छन्द है, परमात्मा देवता है । वेद के आरम्भ, होम, शान्ति तथा पुष्टि के हेतु कर्मों में, काम्य तथा नित्य-नैमित्तिक कर्मों में भी इसका विनियोग है ।

सत्यात्मकमग्न्याख्यकं ब्रह्माभेदेनोच्यते। हे ओम्, हे क्रतो संकल्पात्मक, स्मर यन्मम स्मर्तव्यं तस्यायं कालः प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर। यद्ब्रह्म मया नैरन्तर्येण ध्यातं अथ प्रयाणकाले तत्स्मर। यस्त्वं ब्रह्मचर्ये गार्हपत्ये च मया परिचारितस्तत्स्मर। क्लिबे स्मर कल्प्यते भोगायेति क्लृप्लोकस्तस्मै स्मर। जसादेश आर्षः 'छन्दस्युभयथे'ति पदान्तत्वात्। मयाऽस्मै अयं लोको दातव्यस्तस्मै क्लृप्ताय लोकाय स्मर। कृतं स्मर, बाल्यप्रभृति यन्मयाऽनुष्ठितं कर्म तच्च स्मर, देवताज्ञानफलभूतं कार्यब्रह्मप्रापणमनुचिन्तय। स्मरेत्यस्यावृत्तिरादरार्था। 'क्रतो इत्यादि त्रिभिर्यजुर्भिरन्ते यज्ञान् योगी स्मारयति' **(अनु० ४.६) इति कात्यायनोक्तेः।**

दयानन्दः—हे क्रतो ? त्वं शरीरत्याग समये ओम् स्मर, क्लिबे परमात्मानं स्वस्वरूपं च स्मर कृतं स्मर। अत्रस्थो वायुरनिलमनिलोऽमृतं धरति। अथेदं शरीरं भस्मान्तं भवतीति विजानीतेति।

सत्यात्मक अग्नि नामवाला ब्रह्म अभेदरूप से कहा जाता है। "हे ओम्, हे संकल्पात्मक! जो मेरा स्मरण के योग्य ध्यानादिक है, उसका स्मरण करो, यह उस मेरे किये ध्यानादिक के स्मरण का समय है। इसलिये जो मैंने निरन्तर ब्रह्म का ध्यान किया है, उसको इस मेरे मरणकाल में स्मरण करो। आप ब्रह्मचर्य तथा गार्हपत्य अग्नि के रूप में मैंने जो आपकी सेवा की है, उसे स्मरण करो। मेरे द्वारा इस उपासक के लिये जो लोक देने योग्य है, उस लोक का स्मरण कीजिये। जो मैंने बाल्यावस्था से लेकर कर्म किया है, उसे स्मरण कीजिये। देवता की उपासना का फलरूप जो कार्यब्रह्म उसकी प्राप्ति का चिन्तन कीजिये।" यहाँ पर स्मरण करने को जो दो बार कहा गया है, वह देवता के आदर के लिये है।

स्वामी दयानन्द—"हे क्रतो ? तुम शरीर के त्यागने के समय ओम् स्मरण कर परमात्मा के स्वरूप तथा अपने स्वरूप का स्मरण कर तथा अपने किये कर्म का स्मरण कर। यहाँ स्थित धनञ्जयादिरूप वायु कारणरूप वायु को, कारणरूप वायु अमृत को धारण करता है। शरीर भस्म हो जाता है, ऐसा जानो।"

यह भाष्य ठीक नहीं। क्योंकि विशेषणादि का कोई मूल नहीं

तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्। क्रतुशब्दे क्रतुकर्ता जीव इत्यस्यापि निर्मूलत्वात्। न च लक्षणाया बीजमस्ति, अनुपपत्त्यभावात्। धनञ्जयादिरूपो वायुः कथं कारणरूपं वायुं गच्छतीत्यनुक्तेः ॥१५॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां
ते नम उक्तिं विधेम ॥।४०.१६॥

हे अग्ने ! आप सम्पूर्ण कार्यात्मक जगत् को व्याप्त करनेवाले दिव्यदर्शी अभयप्रद हिरण्यगर्भ-स्वरूप देव हैं। देवयानमार्ग सुपथ है। हम मुक्तिरूप धन के इच्छुक हैं। हमें सुपथ-देवयानमार्ग से ले चलकर समुच्चयानुष्ठान से प्राप्य अभीष्टमुक्तिरूप फल को आप प्राप्त करा दें ! दक्षिण पितृयानमार्ग से हम उपराम हो चुके हैं। हमें नहीं चाहिये पुनर्जन्म पर्यवसायी वह धूममार्ग। आप सम्पूर्ण ज्ञान (उपासना) और

है। क्रतु शब्द में क्रतु (यागकर्ता) जीव अर्थ किया जाय तो उसमें भी कोई मूल नहीं। क्योंकि क्रतुशब्द का वाच्य अर्थ जीव नहीं है। यदि कहा जाय कि यद्यपि क्रतु शब्द का वाच्य तो जीव नहीं है; किन्तु लक्ष्य तो संभव है ? यह भी उचित नहीं; क्योंकि लक्षणा का बीज, सम्बन्ध की अनुपपत्ति अथवा तात्पर्य की अनुपत्ति है, वह यहाँ नहीं है। धनञ्जयरूप वायु, कारणरूप वायु को कैसे प्राप्त होता है; इस का भी कथन न होने से दयानन्द स्वामी का भाष्य उचित नहीं ॥१५॥

कर्मों को जाननेवाले हैं। कल्याणमार्ग के प्रतिबन्धक दुरितों को दूरकर दें। जिसके फलस्वरूप हम अभीष्ट लोक को प्राप्त कर सकें। हम इस समय आपकी किसी अन्य रीति से सेवा नहीं कर सकते, केवल बार-बार नमस्कार ही निवेदित करते हैं ।।१६।।

हे अग्ने, सुपथा **देवयानेन मार्गेण** राये **मुक्तिलक्षणाय धनायास्मान्** नय **प्रापयाभीष्टलोकम् इत्युवटाचार्यः । पुनरन्येन मन्त्रेणाग्न्याख्यं ब्रह्मप्रति योगी मार्गं याचते । अगस्त्यदृष्टाग्नेयी त्रिष्टुप्**(अ० ५.क०३६)। हे देव ? **दानादि गुणक**, हे अग्ने ? अस्मान् सुपथा **शोभनेन देवयानाख्य-मार्गेण** नय । **सुपथेति बिशेषणं दक्षिणधूममार्गनिवृत्त्यर्थम् । गतागत-लक्षणेन दक्षिणमार्गेण निर्विण्णोहमतस्त्वां याचे पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथाऽस्मान्नय । किमर्थम् ?** राये **क्रममुक्तिलक्षणाय धनाय समुच्चयानुष्ठानफलभोगाय । कीदृशस्त्वम्**–विश्वानि**सर्वाणि** वयुनानि **कर्माणि प्रज्ञानानि च** विद्वान् **जानन् । किञ्च**–जुहुराणं **कुटिलं प्रति-बन्धकं वञ्चनात्मकमेनः** पापमस्मत् **अस्मत्तः सकाशात्** युयोधि **पृथक्**

हे अग्नि देव ! मुक्तिरूप धन के प्रति मुझ को देवयानमार्ग से प्राप्तकरा दो। अर्थात् अभीष्ट लोक को प्राप्तकरा दो। ऐसा उव्वटा-चार्य का भाष्य है।

अग्निनामक ब्रह्म से योगी मार्ग की याचना करता है। हे दानादि गुणवाले अग्निदेव ? हमको शोभन देवयान मार्ग से ले चलो। मन्त्र में सुपथा इस मार्ग के विशेषण से दक्षिण (धूम) मार्ग की निवृत्ति (व्यावृत्ति) है। जिस मार्ग से चन्द्रलोक में जाना होता है पुन: आना भी होता है, ऐसे गमनागमनरूप दक्षिणमार्ग से यात्रा करके मैं दु:खी हो गया हूँ; अतः पुन: गमनागमन से रहित मार्ग से हमको ले चलो, ऐसी आप से प्रार्थना करता हूँ,मार्गविशेष की प्रार्थना किस लिये है ? क्रममुक्तिरूप धन की प्राप्ति के लिये अर्थात् समुच्चय के अनुष्ठान के फलभोगरूप प्रयोजन के लिये। जिस आपसे मैं प्रार्थना कर रहा हूँ, वे आप कैसे हैं ? इसे मैं जानता हूँ, अत एव आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ। आप मेरे सर्व कर्म तथा उपासनाओं को जाननेवाले हैं। आप हमारे कल्याणमार्ग के प्रतिबन्धक पाप को हमसे अलग करिये ! पाप के पृथक् कर देने से शुद्ध हुए हम अभीष्ट लोक को प्राप्त हो

कुरु वियोजय नाशयेत्यर्थः 'हुर्च्छा कौटिल्ये' इत्यस्माच्छानचि जुहोत्यादित्वेन रूपम् । 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' ह्वादित्वाश्छब्लोपद्वित्वे छान्दसं हेर्धित्वम् । इदानीं वयं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुं, ततो वयं विशुद्धाः सन्तः इष्टं प्राप्स्यामः । वयं ते तुभ्यं भूयिष्ठां बहुतरां नम उक्तिं नमस्कारवचनं विधेम कुर्याम ।

यद्वा—अंगति गच्छति व्याप्नोति सर्वं कार्यजातमित्यग्निः हिरण्यगर्भः । हे अग्ने सर्वव्यापिन् ईश्वर सुपथा शोभनेन पुनरावृत्तिरहितेन मार्गेणास्मानुपासकान् राये धनाय ज्ञानकर्मफलोपभोगाय नय गमय, अन्यत् पूर्ववत् ।

दयानन्दः—हे देवाग्ने परमेश्वर यतो वयं ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम तस्माद् विद्वान् त्वमस्मज्जुहुराणमेनो युयोध्यस्मान् । राये सुपथा विश्वानि वयुनानि नय प्रापय ।

तदपि यत्किञ्चित्, ज्ञानाय नयनप्रार्थनानुपयोगात् । सुपथा धर्म्येण मार्गेण नयनमपि वेदप्रदानेनैव सिद्धम् । न च परमेश्वर एव सन्मार्गेण गमयति तथात्वे केषाञ्चिदपि दुर्मार्गप्रवृत्त्यनुपपत्तेः ॥१६॥

जायेंगे । हम इस समय आपकी सेवा करने में समर्थ नहीं हैं, अतः आपके लिए बहुत से नमस्कार का वचन कहते हैं कि आपको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है ।

अथवा जो सर्व जगत् को व्याप्त करता है, वह कहा जाता है, अग्नि अर्थात् हिरण्यगर्भ । हे अग्ने ? सर्वव्यापक ईश्वर ! शोभन पुनः आगमन से रहित मार्ग के द्वारा हम उापसकों को ज्ञान (उपासना) तथा कर्म के फल के उपभोग के लिये ले चलो । अन्य अर्थ पहिले के ही समान है ।

स्वामिदयानन्द—हे देव परमेश्वर ? क्योंकि हमने आपके प्रति बहुत नमस्कार वचन कहे हैं, इसलिये आप हमारे पाप को दूर करो । हमको धन की प्राप्ति के लिये श्रेष्ठमार्ग से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करो ।

यह भाष्य भी कुछ नहीं। ज्ञान की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना का कोई उपयोग नहीं है । धर्मयुक्त मार्ग से ज्ञान की प्राप्ति

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥१७॥

ॐ खं ब्रह्म ॥
इति माध्यन्दिनीयायां वाजसनेयसंहितायां
चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥

ज्योतिर्मयमण्डलरूपपात्र से आदित्यान्तर्गत अविनाशी पुरुषरूप सत्य का मुख–शरीर–स्वरूप आच्छादित है। वह प्राण और प्रज्ञाशक्ति से जगत् को व्याप्त कर शरीर में प्रतिष्ठित रहनेवाला और पुरुषाकार होने से 'पुरुष' कहा जाता है। अन्त में पूर्ववत् ध्यान करे कि 'ऐसा पुरुष मैं हूँ'। आकाशवत् व्यापक ब्रह्म 'ॐ' है ॥१७॥

पुनरादित्योपासनमाह। उष्णिग्यजुर्द्व्यान्ता 'उष्णिक् त्रिपादान्त्यो द्वादशक' इति वचनात्। हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयं यत् पात्रम् पिबन्ति यत्र स्थिता रश्मयो रसानिति पात्रं मण्डलम् तेन तेजोरूपेण मण्डलेन सत्यस्यादित्यमण्डलस्थस्याविनाशिनः पुरुषस्य मुखं शरीरमपिहितमाच्छादितं वर्तते। तथापि योऽसौ प्रत्यक्षः आदित्ये रविमण्डले पुरुषः पुरुषाकारत्वात् पूर्णमनेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरिशयनाद्वा स मण्डलस्थः पुरुषः असौ प्रत्यक्षः कार्यकारण-

---

तो वेदप्रदान करने से ही सिद्ध है। परमेश्वर ही किसी साधन के बिना सन्मार्ग से कहीं किसी को नहीं प्राप्त कराता है। ऐसा करने पर तो किसी की दुष्ट (खोटे) मार्ग में प्रवृत्ति ही नहीं बनेगी ॥१६॥

मन्त्र पुनः सूर्य की उपासना को कहता है। हिरण्यमय अर्थात् ज्योतिर्मय पात्र से सत्य का मुख (शरीर) आच्छादित है। भाव यह है कि जिसमें स्थित होकर किरणें पृथिवी के सर्वरसों का पान करती हैं; उसे यहाँ पात्र कहा गया है। ऐसा पात्र सूर्यमण्डल है; क्योंकि सूर्य-

संघातप्रविष्टोऽहमस्मि । एतां चोपासनां कुर्यादित्यर्थः । ओम् खं ब्रह्मेति यजुषी । ओमितिनामनिर्देशो ब्रह्मणः । खं ब्रह्मेत्याकाशरूपमन्ते ब्रह्म ध्यायेत् (अनु० ४-९) । यद्यपि ब्रह्म चेतनमाकाशस्त्वचेतनस्तथाप्येकदेशे सादृश्यम् । नभोवद् व्यापकं ब्रह्म ओमिति जपन्ध्यायेदित्यर्थः । सूर्यमण्डलस्थः पुरुषोऽहमेवेत्यभेदेन चिन्तयेत् ।

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम् । एतावती संसारगतिः । अतः परं पूर्वोक्तमात्मैवाभूद् विजानत इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणा संन्यासज्ञाननिष्ठाफलम् । एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थः प्रकाशितः । तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम् । निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तम् । तत्र मार्गयाचनं नापेक्षितम् 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समबनीयन्ते' (बृह० ४.४.६)इति श्रुतेः । अपरब्रह्मविद एव मार्गयाचनोपपत्तेः ।

मण्डल में ही स्थित होकर रश्मियाँ रसों का पान करती हैं। इस ज्योतिर्मयमण्डलरूप पात्र से सत्य=आदित्यमण्डल में स्थित अविनाशी पुरुष का शरीर आच्छादित है। तथापि जो आदित्यमण्डल में प्रत्यक्ष पुरुष है, वह पुरुष के आकारवाला है अथवा इससे प्राण तथा बुद्धिरूप से समस्त जगत् पूर्ण है, इसलिये उसे पुरुष कहा गया है।

ओम् यह ब्रह्मके नाम का निर्देश है। 'आकाश के समान स्वरूप वाले ब्रह्म का ध्यान करे'(अनु० ४.९)'ब्रह्म चेतन है,आकाश जड़ है, तब ब्रह्म को आकाश के समान कैसे कहा ?' एक देश में सादृश्य है। 'किस देश (अंश) में ?' व्यापकता अंश में सादृश्य है। अतः अर्थ हुआ कि व्यापक ब्रह्म ओम् है। अन्त में उस ब्रह्म का ध्यान करे कि सूर्यमण्डल में स्थित पुरुष मैं ही हूँ।

मनुष्य के तथा देवसम्बन्धी धन से प्रकृतिलयपर्यन्त फलप्राप्त होता है। शास्त्र उसमें प्रमाण है। प्रकृतिलयपर्यन्त जो फल है, यहाँ तक संसार की गति है। इससे परे पूर्व मन्त्रों में कहा सर्वात्मभाव ही है। इस प्रकार प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप दो प्रकार का वेद का अर्थ प्रकाशित किया है। इस उपनिषद् के विशद अर्थ के ज्ञान के लिये बृहदारण्यक उपनिषद् उपयुक्त है। वह सर्वात्मभाव सर्व एषणाओं के

सायणाचार्यः काण्वभाष्ये 'यत्तत्सत्यमसौ आदित्य एव एतन्मण्डले पुरुषश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः (**शतपथ ब्राह्मणम् १४.५.६.३**) **इति तदेतदध्यात्मं अधिदैवतञ्च यत्सत्यब्रह्मोपासनया उक्तकर्मानुष्ठानेन सह कुर्वन् आत्मनः उपास्यसत्यब्रह्मप्राप्ति द्वारं पवते हिरण्मयेन इति– हिरण्मयेन ज्योतिर्मयेन पात्रेण मण्डलरूपेण सत्यस्यादित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणः मुखं द्वारमपिहितमाच्छादितम् । 'तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये' (ईशा० १५) इति काण्वशाखीयः पाठः । सत्यस्योपासनात् सत्यं धर्मो यस्यासौ सत्यधर्मः मण्डलान्तर्गतस्य ब्रह्मणो दर्शनाय । यद्वा– सत्यधर्मस्योपास्यस्य दर्शनायेत्यर्थः ।**

दयानन्दः–"हे मनुष्याः । येन हिरण्मयेन पात्रेण मया सत्यस्यापिहितम् मुखं विकाश्यते, योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहमस्मीति खं ब्रह्मास्मीति विजानीतेति ।"

संन्यास (त्याग) पूर्वक ज्ञाननिष्ठा का फल है । सर्वात्मभाव में मार्ग के लिये प्रार्थना अपेक्षित नहीं है, क्योंकि सर्वात्मभाव को प्राप्त पुरुष के प्राणों के परलोक गमन का "**न तस्य**" यह श्रुति निषेध करती है; अतः अपर ब्रह्म के उपासक के लिये ही मार्ग की प्रार्थना सम्भव है । निर्गुण उपासक के लिये नहीं ।

सायणाचार्य तो काण्वशाखा के इस मन्त्रभाष्य में कहते हैं कि इस मन्त्र में 'सत्य' शब्द से कहा गया आदित्य ही है । इस प्रकार इस सूर्यमण्डल में स्थित अधिदेवपुरुष है तथा दक्षिण नेत्र में स्थित अध्यात्मपुरुष है तथा ये दोनों एक हैं ।

शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान के सहित सत्यब्रह्म की उपासना के द्वारा पूर्वोक्त अध्यात्म और अधिदैवत जो सत्यब्रह्म उसका अभेद सम्पादन करता हुआ साधक अपने उपास्य सत्यब्रह्म की प्राप्ति का द्वार शुद्ध करता है । ज्योतिर्मयमण्डल से आदित्यमण्डल में स्थित ब्रह्म का द्वार आच्छादित है । हे जगत् के पोषकदेव ! मुझ सत्यधर्मा अधिकारी को मण्डल में स्थित ब्रह्म के दर्शन के लिये उस आवरण को आप निवृत्त कर दो ।

श्रीदयानन्द—"सब मनुष्यों के प्रति ईश्वर उपदेश करता है कि

तदपि यत्किञ्चित्—हिरण्मयेन ज्योतिर्मयेन पात्रेण यथार्थ-कारणस्य पिहितत्वासम्भवात् ।

ब्राह्मणाख्यं यजुर्वेदभागं शतपथाभिधम् ।
सूत्रं कात्यायनं भाष्यं सायणोवटयोरपि ।।
महीधरकृतं भाष्यं मीमांसाद्वयमेव तु ।
भारतं रामचरितं पुराणान्यागमाँस्तथा ।
विविधानि च शास्त्राणि समालोच्य प्रयत्नतः ।।
वेदार्थ पारिजाताख्यं भाष्यं सङ्कलितम्मया ।
प्रीत्यै भूयाद्भगवतोः श्रीसीतारामयोः स्फुटम् ।।

हे मनुष्यो ! जिस ज्योतिः स्वरूप रक्षक मुझ से अविनाशी यथार्थकारण के आच्छादित मुखके तुल्य उत्तम अङ्गका प्रकाश किया जाता, जो वह प्राण वा सूर्यमण्डल में पूर्ण परमात्मा है, वह परोक्षरूप से आकाश के तुल्य व्यापक सबके गुण, कर्म और स्वरूप से अधिक हूँ । सबका रक्षक जो मैं उसका ॐ ऐसा नाम जानो ।''

यह कथन भी कोई महत्त्वपूर्ण नहीं; क्योंकि हिरण्मय–ज्योति-र्मय–पात्र के द्वारा यथार्थ कारण का आच्छादित होना संभव नहीं ।।४०.१७।।

''शतपथ ब्राह्मण, कात्यायन सूत्र, श्रीसायण–उव्वट–महीधर-कृत **वेदभाष्य**, पूर्वोत्तर मीमांसा, महाभारत–रामचरित–पुराण–आगम (तन्त्रात्मक) तथा विविधशास्त्रों (धर्म–भक्ति–नीति–सांख्य–न्याय–वेदान्त और बौद्धादि दर्शनों से सम्बन्धित ग्रन्थों) का प्रयत्नपूर्वक अनुशीलन (सत्सम्प्रदाय परम्परा से अध्ययन और चिन्तन) कर **'वेदार्थपारिजात'** नामक यह वेदभाष्य मेरे द्वारा सङ्कलित किया गया है । इससे भगवान् श्रीसीताराम परम मुदित हों !''

सभाष्यशुक्लयजुर्वेदपरिशिष्टानि

संन्यासाश्रमः

"मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम्।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्॥"

साम्प्रतं तु 'तेन त्यक्तेन' (ईशा० १) **इति मन्त्रं समवलम्ब्य केषां तावत् संन्यासाधिकारः श्रुतिसम्मत इति विविच्यते।**

'शोध्यस्य मृच्च तोयञ्च [६५]संन्यासोऽथ द्विजन्मनाम्' **इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः** (३.३२), 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' **इति च्छन्दोगसूत्रकारवचनाच्च, केषाञ्चिदयमभिप्रायः यत् संन्यासाश्रमे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामप्यधिकारः प्रतीयते।**

अब **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** (ईशा०१) इस वचन से प्राप्त संन्यास में किसका अधिकार है? इस विषय पर विचार किया जाता है।

जो लोग वेदाधिकार-सम्पन्न द्विजाति का (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का) संन्यास में अधिकार मानते हैं, वे इस सम्बन्ध में इस प्रकार प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

'शोध्यस्य' इस याज्ञवल्क्यस्मृति में **संन्यासोऽथ द्विजनाम्'** कह-कर स्पष्ट ही ब्राह्मणादि तीनों वर्णों का संन्यास में अधिकार सूचित किया गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति यतिधर्मप्रकरण ३.५६,५७ में मिताक्षरा टीकाकार के द्वारा उद्धृत **'त्रयाणां वर्णानां'** इस सूत्रकारवचन के अनुसार भी वेदाध्ययनसम्पन्नब्राह्मणादि तीनों वर्णों का ही संन्यास में अधिकार सिद्ध होता है।

---

६५. **'संन्यासेन द्विजोत्तमः'** (मनु० ५.१०८)

'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' **(अभिज्ञान शाकुन्तलम् १.२०), युधिष्ठिरस्यापि** [६६]'अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन् वनस्पतौ। चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम्॥ पांसुभिः समभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः। वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्व प्रियाप्रियः॥' **(महा० शान्ति० ९.१२,१३) इत्यादिना संन्यासाभिरुचिर्जाता। अनेन वचनेन इदं लभ्यते यत् क्षत्रियस्यापि प्रव्रज्यायामधिकारः शास्त्रसम्मत एव।** 'प्रव्रज्या वसिता यत्र त्रयो वर्णा द्विजातयः।' **इति कात्यायनवचनेन इदं लभ्यते यद्वैश्यस्यापि प्रव्रज्यायामधिकारःशास्त्रसम्मत एव।**

"प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्॥
यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत्॥

'सतां हि सन्देहपदेषु' इस दुष्यन्तवचन के अनुसार दीर्घकाल तक धर्मानुष्ठान से संस्कृत अन्तःकरणवाले सज्जनों की मनोवृत्ति–अभिरुचि कभी भी निषिद्धाचरण में प्रवृत्त न होने के कारण संदिग्ध-स्थल में प्रमाण होती है। धर्मराज युधिष्ठिर की **'अथवैकोऽहमेवात्र'** आदि वचनों द्वारा संन्यास के प्रति व्यक्त अभिरुचि के अनुसार भी केवल ब्राह्मण का ही संन्यास में अधिकार सिद्ध नहीं होता, अपि तु क्षत्रिय का भी सिद्ध होता है। **'प्रव्रज्या वसिता यत्र'** इस कात्यायन–वाक्य से भी ब्राह्मणादि तीनों वर्णों का ही संन्यास सूचित होता है।

'यदा तु' इन वचनों में विहित के भी त्याग का विधान ब्राह्मणादि तीनों वर्णों के लिये प्राप्त है। **'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'** (ब्राह्मण

---

६६. "अथवा मैं मननशील मुण्डी संन्यासी हो जाऊँगा और एक-एक दिन एक-एक वृक्ष से भिक्षा मांगकर अपने शरीर को सुखाता रहूँगा। शरीर पर धूल पड़ी होगी और सूने घरों में मेरा निवास होगा अथवा किसी वृक्ष के नीचे उसकी जड़ में ही पड़ा रहूँगा। प्रिय और अप्रिय का सारा विचार छोड़ दूँगा।"

परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति ॥"

(नारदपरिव्राजको० ३.१६–१८)

इत्यादौ विहितस्याप्यननुष्ठानमेव । 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' (**बृहदारण्यक** ४.४.२२), 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' (**मुण्डक** १.२.१२), 'अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' (**नारद परिव्राजकोपनिषत्** ३.७७), 'जायमानो ब्राह्मणास्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवाञ्च जायते' (**बोधायनस्मृतिः** २. ६. ४१) **इत्यत्र ब्राह्मणपदं त्रैवर्णिकपरमेव । ऋणापाकरणे त्रयाणामप्यधिकारदर्शनात् ।**

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्"

(कूर्म पुराण)

"कषायं पाचयित्वाऽऽशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु ।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥"

(शान्तिपर्व २४५.३.)

संन्यास लेते हैं), **'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्'** (ब्राह्मण को उपरामता प्राप्त करनी चाहिये—निवृत्तिपरायण होना चाहिये), **'अथ पुनः'** (व्रती–अव्रती, स्नातक–अस्नातक, साग्नि-निरग्नि कोई भी क्यों न हो, जब उत्कट वैराग्य हो जाय, तभी उसे संन्यास लेना चाहिये), **'जायमानो ब्राह्मणाः'** इस बोधायनस्मृति में जैसे त्रिवर्ण के लिये उपलक्षण रूप में प्रयुक्त ब्राह्मणपद का अर्थ केवल **'ब्राह्मण'** नहीं किया जा सकता, वैसे ही **'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'** आदि वचनों में सन्निहित **'ब्राह्मण'** पद केवल ब्राह्मणवर्ण का द्योतक नहीं माना जा सकता । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ऋणत्रय के अपाकरण में तीनों ही वर्णों का अधिकार है, केवल ब्राह्मण का नहीं; उसी प्रकार मोक्ष के लिये अनिवार्य संन्यास में तीनों वर्णों का अधिकार है; केवल ब्राह्मण का नहीं ।

"पंक्तिक्रम से स्थित पूर्वोक्त तीन आश्रम–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ में चित्त के राग-द्वेष आदि दोषों को पकाकर–उन्हें नष्ट

"येन केन चिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचनशायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
न क्रुद्ध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्च यः ।
सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
विमुक्तं सर्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत् स्थितम् ।
अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
निर्मुक्तं बन्धनैः सर्वैस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥"
(महा० शा० २४५.१२, १४, २२, २४)

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' **(तै० आ० १०.१०, नारायणो० १२.३, कैवल्यो० ३) इति तैत्तिरीयश्रुत्या,** 'त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् । त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम् ॥' **इति भाल्लवीय श्रुत्या,** 'अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रह शुचिरद्रोहो भैक्ष्यमाणो ब्रह्मभूयाय कल्पते', 'यदि वेतरथा

करके शीघ्र ही सर्वोत्तम चतुर्थाश्रम–संन्यास को ग्रहण कर ले ।"

"जो किसी भी (वस्त्र, वल्कल आदि)से अपना शरीर ढक लेता है, समय पर जो भी रूखा-सूखा मिल जाय, उसी से भूख मिटा लेता है और जहाँ-कहीं भी सो रहता है, उसे देवता ब्राह्मण मानते हैं। जो सम्मान प्राप्त होने पर हर्षित, अपमानित होने पर कुपित नहीं होता तथा जिसने सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान कर दिया है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण मानते हैं। जो सब प्रकार की आसक्तियों से छूटकर मुनिवृत्ति से रहता है, आकाश की भाँति निर्लेप और स्थिर है, किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, एकाकी विचरता और शान्तभाव से रहता है, उसे देवता ब्राह्मण मानते हैं। जो कामनाओं से रहित तथा सब प्रकार के आरंभों से रहित है और स्तुतिसे दूर रहता है तथा सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होता है, उसे ही देवता ब्राह्मण मानते हैं।"

'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि' इस कूर्मपुराण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों ही वर्णों का संन्यास में अधिकार है। **'कषायं पाचयित्वा'** इन श्लोकों के अनुसार तो सत्त्व के उत्कर्ष से होने वाले शमादि ब्राह्मणोचित गुण ही ब्राह्मणवर्ण के परिचायक हैं, ऐसे

ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा' **इति जाबालश्रुत्या (५.४)** 'एवमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' **इति बृहदारण्यक श्रुत्या(४.४.२२),** 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' **इति छान्दोग्यश्रुत्या (२.२३.१) च क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्याससिद्धिः । विविदिषावाक्ये ब्राह्मणग्रहणं त्रैवर्णिकोपलक्षणार्थम् । ब्राह्मणग्रहणञ्चात्र द्विजानामुपलक्षणम्, अविशिष्टाधिकारित्वात् ।** 'सर्वेषामात्मबोधने' **इति वार्तिकवचनाच्च ।**

गुण क्षत्रियादि में भी प्रसक्त होने के कारण उनका भी संन्यास में अधिकार सिद्ध है । **'न कर्मणा'** ('कर्म, प्रजा या धन से नहीं; त्याग से ही अमृतत्व की उपलब्धि संभव है'), **'त्याग एव हि'** ('निःसन्देह त्याग ही मोक्ष का उत्तम साधन है। ऐसा त्याग जिस क्षण सध पाता है, उसी क्षण त्यागनेवाले का मृग्य-परमपद साक्षात् प्रत्यगात्मा होकर ही स्फुरित होता है।'), **'अथ परिव्राड्'** ('शुद्ध, द्रोहरहित, परिग्रहरहित, सौन्दर्यप्रसाधनों से सुदूर संन्यासी भिक्षान्न का सेवन करता हुआ ब्रह्म-होने में समर्थ होता है।)', **'यदिवेतरथा'** ('सबके लिये क्रमसंन्यास ही अपेक्षित हो, ऐसा नहीं; उत्कट वैराग्य होने पर आश्रमों की अवधि पूर्ण किये बिना भी संन्यास ग्रहण करे'), **'एवमेव'** (संन्यासियों को प्राप्त होने योग्य लोक की इच्छा करते हुए संन्यास ग्रहण करते हैं'), **'ब्रह्मसंस्थः'** ('ब्रह्मसाक्षात्कारसम्पन्न मोक्षलाभ करता है') इन श्रुतियों के अनुसार क्षत्रिय-वैश्य का भी संन्यास में अधिकार सिद्ध होता है ।

यद्यपि **'ब्राह्मण'** पद के प्रयोग से संन्यास में केवल ब्राह्मण का अधिकार माना जा सकता है; परन्तु इन स्थलों में विविदिषावाक्य में पठित **'ब्राह्मण'** पद वस्तुतः तीनों वर्णों के उपलक्षण के लिये है, अर्थात् ब्राह्मणपद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों का द्योतक (ग्राहक) है। **'ब्राह्मणाः—ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणार्थम्; अविशिष्टो हि अधिकारः त्रयाणां वर्णानाम्'** (शाङ्करभाष्य ४.४.२२ बृहदारण्यकोपनिषत्) ।

उक्त कथन 'पूर्वाचार्यों से समर्थित न होने के कारण अमान्य है', ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वार्तिककार श्रीसुरेश्वर ने **'सर्वेषामात्मबोधने'** आदि वचनों द्वारा तीनों वर्णों का संन्यास में अधिकार सिद्ध किया है। 'वार्तिककार का वचन युक्तिहीन होने से

इति चेन्न। श्रुतिषु क्षत्रियवैश्यपदाभावात्। सामान्यवचनानां 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' (**बृह० ४.४.२२**) **इत्यादि विविदिषावचनैरेकवाक्यतया शाब्दबोधे हि ब्राह्मणानामेव संन्यासाधिकारः सिद्ध्यति, क्षत्रियवैश्ययोस्तदसिद्धेः।**

'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजमि'ति (**तै० सं० २.२.१.२**) [६७]**श्रुतिसमाहृतमनुस्मृतिविरोधाच्च।** 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्' **इति प्रव्रजतेर्गृहत्याग एवार्थः।**

अमान्य है' ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि **'अविशिष्टाधिकारित्वात्'** यह प्रबल युक्ति है। जब तीनों ही वर्णों को यज्ञोपवीत, वेद और अग्निहोत्रादि में अधिकार प्राप्त है, तब 'केवल एक (ब्राह्मण) का ही इनके त्याग में अधिकार है, शेष दो का नहीं, यह कथन भला कैसे सङ्गत हो सकता है ?

परन्तु उक्त वचनों के अनुसार ब्राह्मणेतर–क्षत्रियादि का संन्यास में अधिकार सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि श्रुति के अनुकूल स्मृत्यादि का प्रामाण्य मान्य है। श्रुतियों में क्षत्रिय और वैश्य पद का अभाव हैं। शाब्दबोध में **'भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय कल्पते'** (जाबालो० ५) आदि सामान्यवचनों का **'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्'** (मुण्डक उप० १.२.१२), **'ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति'** (बृह० उप० ३.५.१), **'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'** (बृह० ४.४.२२) आदि विशेष-वचनों से एकवाक्यता होने के कारण ब्राह्मणों का ही संन्यास में अधिकार सिद्ध होता है। साथ ही स्मृतियों में मनुस्मृति की प्रधानता है। मनुस्मृति के अनुकूल ही अन्य स्मृतियों का प्रामाण्य मान्य है। कहा भी है **'मन्वर्थ विपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते** (संवर्त)','तैत्तिरीय संहिता' स्वयं ही मनु के समस्त वचनों को भेषजतुल्य हितकर बताती है। मनु ने स्पष्ट

---

६७. श्रुत्या यदुक्तं परमार्थमेव तत्संशयो नात्र ततः समस्तम्।
श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणं भवेदनार्थाय विना प्रमाणम्॥
(ब्रह्मविद्योपनिषत् ३२)

न च श्रुत्यन्तरेषु ब्राह्मणपदोपलक्षणत्वाभावसिद्धौ तद्बलेन केवलब्राह्मणस्याधिकारसिद्धिर्ब्राह्मणस्याधिकारसिद्धौ चोपलक्षणत्वाभावसिद्धेरन्योन्याश्रयत्वमिति वाच्यम् । ब्राह्मणपदेनैव ब्राह्मणाधिकारसिद्ध्या प्रमाणाभावादेवोपलक्षणत्वाभावसिद्धेरन्योन्याश्रयत्वायोगात् । न च पुराणादिवचनैस्तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, पुराणादीनां श्रुत्यर्थानुगुण्येनैव नेतव्यत्वात् । न च वार्तिकवचनानुसारेण [६८]ब्राह्मणपदस्यैवोपलक्षणत्वमेवेति वाच्यम् । भाष्यविरोधेन वार्तिकस्यैव भाष्यानुगुण्येन नेयत्वात् ।

ही ब्राह्मण का संन्यास में अधिकार माना है—**'आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्'** (६.३८) । इस रीति से **'संन्यासेन द्विजोत्तमः'** (मनु ५.१०८) इस शुद्धि-सन्दर्भ में भी **'द्विजोत्तम'** का अभिप्राय **'ब्राह्मण'** ही सिद्ध होता है । श्रुतिसमादृत मनुस्मृति से विरुद्ध होने के कारण क्षत्रियादि का संन्यास में अधिकार असिद्ध है । **'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि'** इन स्मृतियों में (स्मृति-पुराणादि में) **'प्रव्रजेत्'** का अर्थ गृहत्यागरूप संन्यास ही अपेक्षित है, न कि सूत्रत्याग पूर्वक लिङ्ग (दण्ड, काषाय वस्त्रादि) ग्रहण रूप संन्यास ।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'अन्य श्रुतियों में ब्राह्मणपद उपलक्षणत्वाभाव वाला है, यह सिद्ध होने पर उसके बल से ब्राह्मण का संन्यास में अधिकार सिद्ध होता है और ब्राह्मण का संन्यास में अधिकार सिद्ध होने पर ब्राह्मण पद में उपलक्षणत्वाभाव सिद्ध होता है, अर्थात् (ब्राह्मण पद में) उपलक्षणत्वाभाव और (संन्यास में) ब्राह्मणत्वाधिकार में अन्योन्याश्रय है ।'; क्योंकि प्रमाणाभाव के कारण ही उपलक्षणत्वाभाव सिद्ध होने से अन्योन्याश्रयत्वाभाव है। 'उपनिषदों से न सही, पुराणादि वचनों से उपलक्षणत्व की सिद्धि हो जाने पर अन्योन्याश्रयदोष की प्राप्ति पुनः हो जाती है' यह कहना भी उपयुक्त नहीं;

---

६८. **'ब्राह्मण एव संन्यासिनो न त्वितरः', 'ब्राह्मणानामेवाधिकारो व्युत्थानेऽतो ब्राह्मणग्रहणम्' (शाङ्करभाष्य बृह० ३.५.१), 'न हि क्षत्रियवैश्ययोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति'** (शा० भा० बृह० ४.५.१५)

ननु 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिॠणैॠणवान् जायते' (बोधायन स्मृतिः २.६.६) इत्यत्रेव संन्यासविधायकेषु वाक्येषु ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणार्थमिति चेन्न, 'राजा राजसूयेन यजेत' **(आप० श्रौ० १०.८.**

क्योंकि पुराणादि वचनों की सङ्गति श्रुतिसिद्ध अर्थ के अनुगुण ही साधनी चाहिये, श्रुत्यर्थ के विरुद्ध नहीं। यह कहना उपयुक्त नहीं कि 'उत्तरोत्तर ऋषियों का अधिक प्रामाण्य होने के कारण वार्तिकवचनानुसार ब्राह्मण पद ही उपलक्षणत्व का द्योतक है', क्योंकि श्रुत्यनुरूप भाष्य के विरुद्ध वार्तिकवचन ही भाष्यानुगुण साधने योग्य हैं। अभिप्राय यह कि भाष्य श्रुति के सर्वथा अनुकूल है; अतः वार्तिक की संगति भाष्य के अनुरूप ही साधनी चाहिये।

यह कहना कि "**जायमानो वै ब्राह्मणः**' इस बोधायन-स्मृति में जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रहण उपलक्षणार्थ है, उसी प्रकार '**ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति**' इत्यादि संन्यासविधायकवाक्यों में ब्राह्मणग्रहण उपलक्षणार्थ है" अनुपयुक्त है; क्योकि '**राजा राजसूयेन यजेत**' यहाँ जिस प्रकार 'राज' पद 'क्षत्रिय होते हुए राजा' के लिये रूढ़ होने से 'क्षत्रिय राजा का ही ग्राहक है, उसी प्रकार '**ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति**', '**ब्राह्मणःप्रव्रजेद्-गृहात्**' आदि स्थलों में 'ब्राह्मण पद लोक-वेद प्रसिद्ध ब्राह्मण का ही द्योतक होने से स्वार्थ पर्यवसायी है, अतः उपलक्षण (लक्षणा के द्वारा क्षत्रिय, वैश्य का उद्‌बोधक-प्रापक) नहीं हो सकता। '**न विधौ परः शब्दः**' इस रीति से विधि में लक्षणा मान्य नहीं। बृहदारण्यक आदि श्रुतिसिद्ध ब्राह्मणाधिकार को प्रशस्त मानकर '**अथ परिव्राड्**', '**यदि वेतरथा**' आदि जाबालादि श्रुतियों में संन्यास विधान है; अतः '**ब्राह्मण**' पद तीनों वर्णों का उपलक्षण नहीं हो सकता।

विशेष—इस प्रकार श्रुति में प्रयुक्त '**ब्राह्मण**' पद के प्रयोग से, मनुस्मृति आदि में भी ब्राह्मण पद का ही उल्लेख होने से, भाष्यकार शङ्कराचार्य के द्वारा भी एवकार घटित ब्राह्मण पद का प्रयोग होने से और जन्मना ब्राह्मणों में ही सलिंग संन्यास की परम्परा का अन्यत्र उल्लेख होने से ब्राह्मणों का ही संन्यास में अधिकार सिद्ध है। वेदाध्ययन कराने तथा यज्ञ कराने का अधिकार ब्राह्मण को ही प्राप्त होने

१,४) इत्यत्र राजपदस्येव ब्राह्मणपदस्यापि स्वार्थपर्यवसायित्वेनोपलक्षणत्वायोगात्। 'न विधौ परः शब्दार्थः' **(शाबरभाष्य पृ० १४१) इति रीत्या विधौ लक्षणायोगात्। जाबालादिश्रुतिषु च श्रुत्यन्तरसिद्धं**

से मुख्य श्रोत्रियत्व और आचार्यत्व चरमवर्ण ब्राह्मण में ही प्रतिष्ठित है। इसी दृष्टि से ब्राह्मण का ही संन्यास में प्रशस्त अधिकार है।

संन्यासाधिकार के प्रसङ्ग में श्रुतियों में जहाँ **'एष पन्था ब्राह्मणाः'** (जाबालो० ५), **'तमेतं ब्राह्मणाः'** (सुबालो० ६), **'संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान्'** (नारद परिव्राजको० ३.१४), **'तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणः परिव्रज्य'** (नारद परि० ३.८६) इन स्थलों में 'ब्राह्मण' पद का प्रयोग है, वहाँ **'बहिःसूत्रं त्यजेद्विप्रः'** (परब्रह्मोपनिषत् ५), **'बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः संन्यस्तुमर्हति'** (परब्रह्मो० १४) **'त्रिदण्ड वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम्'** (शाट्यायनी० १०) इन स्थलों में 'विप्र' पद का प्रयोग है।

'ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्'(मनु० ६.३८)इस मनुस्मृति के अनुसार और **'विप्रस्य वै संन्यसतः'** (भागवत ११.१८.१४) इस भागवत-पुराण के अनुसार भी ब्राह्मण का ही संन्यास में अधिकार सिद्ध होता है। सत्त्वगुण के उत्कर्ष से अभिव्यक्त गीतोक्त शमादिरूप ब्रह्मकर्म की स्वाभाविक प्रतिष्ठा होने से भी ब्राह्मणवर्ण के उपयुक्त संन्यासाश्रम है। क्षत्रिय-वैश्य के संन्यासाश्रम का निषेध भी ब्राह्मणवर्ण के संन्यासाश्रम का प्रबल पोषक है। यथा —

"मुखजानामयं धर्मो यद् विष्णोर्लिङ्गधारणम्।
राजन्यवैश्ययोर्नेति दत्तात्रेयमुनेर्वचः ॥"
"ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो।
वर्णास्तान् नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥"

(महा० शान्ति० ६२.२)

"चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः।
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेकौ वैश्यशूद्रयोः ॥"

(यो० या० सं० १.२८)

ब्राह्मणाधिकारं सिद्धवत्कृत्वा संन्यासविधानान्न ब्राह्मणग्रहणं त्रैवर्णिकोपलक्षणपरम् ।

यत्तु यौगिकाश्रयेण ब्राह्मणस्य ब्रह्मवित्परत्वमिति वाच्यम्, **तदपि तुच्छम् ।** 'ब्राह्मोऽजातौ' **(पा० सू० ६.४.१७१) इति** जातावेव **ब्राह्मणपदसिद्धेः ।** 'रूढिर्योगाद् बलीयसी' **इति न्यायेन** 'रथकार-न्यायेन' **च योगासिद्धेः ।** 'ब्राह्मणा एव संन्यासिनो न त्वितरः' **इति श्री-**

'ब्राह्मणस्याश्रमाश्चत्वारः, क्षत्रियस्याद्यास्त्रयः, वैश्यस्याद्यौ ।' (वैखा० ध० सू० १.१.१०–१२) । प्रामाणिक आचार्यों ने भी इसी तथ्य को प्रकट किया है —

(१) **अत्र च श्लोके ब्राह्मणस्य चतुराश्रम्योपदेशाद् ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति पूर्वमभिधानाद् ब्राह्मणस्यैव प्रव्रज्याधिकारः ।**

(श्रीकुल्लूकभट्ट, मनु० ६.९७)

(२) **इति क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासाभाव उक्तः भगवता भाष्यकृता ब्राह्मणस्यैव संन्यासो नान्यस्येति निर्णीतम् ।**

(भगवद्गीता ३.२० मधुसूदनी टीका)

(३) (क्षत्रियस्य) **भैक्ष्यचर्यायामनधिकारात् ।**

(भगवद्गीता ३.८ नीलकण्ठी)

शास्त्रों में पूर्वकर्मानुसार जन्म, जन्मनियन्त्रित वर्ण और वर्ण-नियन्त्रित आश्रम की व्यवस्था का प्रतिपादन है । स्व-वर्ण और आश्रमानुसार व्यवहार से व्यक्तिका परमकल्याण सुनिश्चित है । प्रज्ञा और प्राणशक्ति के आवेश या आवेग में शास्त्रीयपथ का परित्याग अशोभनीय है । अनात्मपदार्थों में स्वाभाविक अहंता-ममता को शास्त्रीय अभिमान की स्वीकृति के विना दूर कर पाना दुर्लभ है । सब तरह से सबके कल्याणकारक शास्त्रीयतथ्यों को राग-द्वेष और अज्ञानमूलक बताकर स्वयं के और सबके पतन का पथप्रशस्त करना अनुचित है ।

"यौगिकरीति का आश्रय लेने पर 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ 'ब्रह्मवित्' परक सिद्ध होता है ।" ऐसा कहना भी उपयुक्त नहीं; क्योंकि **'ब्राह्मो जातौ'** (पा० सू० ६.४.१७१) इस के अनुसार जाति में ही ब्राह्मण

शङ्कराचार्यवचनगत 'ब्राह्मण' पदस्य त्रैवर्णिकोपलक्षणपरत्ववर्णनं त्वतीव मन्दम् । 'नेतरः' इति विरोधात् । यदपि भाष्यनिर्माणतः पूर्वं ब्राह्मणादित्रैवर्णिकचतुर्थाश्रमस्य सत्त्वासत्त्वाभ्यां व्याघातकथनम्, तदप्यसङ्गतम् । शूद्रकर्तृकवेदाध्ययननिषेधसमानयोगक्षेमत्वात् । तत्रापि निषेधवचनात्प्राग्वेदाध्ययनस्य सत्त्वासत्त्वाभ्यां व्याघातस्य वक्तुं शक्यत्वात् ।

यदपि विशेष्यवाचकपदाव्यवहितोत्तरवर्तिन एवकारस्यान्ययोग-व्यवच्छेदार्थकत्वात् 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यत्र भीष्मादीनामपि धनुर्ध-

---

पद की सिद्धि होती है । **'रूढि योग से बलवती है'** इस न्याय से और इसी का उपोद्बलक (पोषक) **'रथकारन्याय'** से योग का ऐसे स्थलों में आलम्बन अनुपयुक्त है । **'ब्राह्मणा एव संन्यासिनो न त्वितरः'** (ब्राह्मण ही संन्यासी हैं, न कि कोई अन्य) इस श्रीशङ्कराचार्य के वचन में प्रयुक्त 'ब्राह्मण' पद तीनों वर्णों का उपलक्षण है, यह कथन तो अति ही मन्द है । भाष्यगत **'एव'** पद के प्रयोग से सिद्ध **'नेतरः'** से उक्त कथन का खण्डन सुस्पष्ट हो जाता है ।

"भाष्यनिर्माण से पूर्व ब्राह्मणादि त्रैवर्णिक चतुर्थाश्रम (संन्यास) के सत्त्वासत्त्व को लेकर विनिगमकाभावबलात् व्याघात-दोष" कथन तो स्पष्ट ही असंगत है । शूद्रकर्तृक वेदाध्ययननिषेध तुल्यबल है । उक्त रीति से तो "शूद्रकर्तृक वेदाध्ययन के सत्त्वासत्त्व को लेकर व्याघातदोष की प्राप्ति है ।" यह कथन भी सङ्गत होने लगेगा, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि 'शूद्रकर्तृक वेदाध्ययननिषेध-परकवचन से पूर्व' यह कथन ही असङ्गत है; क्योंकि वेदानुकूल ही मन्वादिस्मृतियों की प्रवृत्ति होने से विधि-निषेध अनादि अपौरुषेय वेद-वेद्य हैं । ऐसी स्थितिमें 'अनादि वचनसे पूर्व' यह कथन ही व्याघातयुक्त है । अभिप्राय यह कि भाष्य में जो कुछ कहा गया है, वह तो पूर्वोक्त रीति से श्रुतिसम्मत ही है, क्योंकि श्रुति अनादि अपौरुषेय है; अतः संन्यास सम्बन्धी अधिकारप्रशस्ति भी अनादि ही है । अनादि प्राप्त वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में 'उससे पूर्व' कथन ही व्याघातदोषयुक्त होने से असङ्गत है ।

"ब्राह्मणा एव संन्यासिनः" विशेष्यवाचकपद से व्यवधानशून्य

राणामुपलम्भादुत्कृष्ट धनुर्धरे लक्षणा स्वीक्रियते, तथापि (तद्वदत्रापि) एवकारस्य विशेष्यान्वितत्वेन संन्यासस्योत्कृष्टसंन्यासे लक्षणा, तथा च ब्राह्मणकृत तुर्याश्रम उत्कृष्ट इत्यर्थः, इत्यपि यत्किञ्चित् । 'नेतरः' **इति भाष्यांशस्य तद्बाधकत्वात् ।**

किञ्च तत्रान्ययोगव्यवच्छेदे प्रत्यक्षविरोधः । प्रकृते तु अधिकारानधिकार विवेचनम् । तत्र न प्रत्यक्षं क्रमते, शास्त्रीयविधिनिषेधयोः प्रत्यक्षानुमानाविषयत्वात् । तदुक्तम् —

"प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायो न विद्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ।।"

इति वचनम् । सिद्धान्तलेशसंग्रहे 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' (**मुण्डक** १.२.१२) 'ब्राह्मणा व्युत्थाय' (**बृह० ३.५.१**) 'ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' (**मनुस्मृतिः ६.३८**) **इत्यादि संन्यासविधिषु ब्राह्मणग्रहणात् क्षत्रियवैश्ययोः कथं वेदान्तश्रवणाद्यनुष्ठानम् ।**

उत्तरवर्ती एवकार अन्ययोगव्यवच्छेदार्थक होने से 'पार्थ (अर्जुन) ही (एव) धनुर्धर है' यहाँ भीष्मादि भी धनुर्धरों में मान्य हैं, अतः 'उत्कृष्ट धनुर्धर' में 'धनुर्धर' पद की लक्षणा स्वीकृत है, तद्वत् विशेष्यान्वित एवकार होने से 'उत्कृष्ट संन्यास' में 'संन्यास' पद की लक्षणा है" यह कथन भी कोई महत्त्वपूर्ण नहीं, क्योंकि '**नेतरः**' यह पद अन्यों में संन्यास की प्रसक्ति का वारक है । फिर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि पार्थातिरिक्तों में धनुर्धरता सिद्ध होने से केवल पार्थ को ही धनुर्धर कहने में प्रत्यक्ष विरोध है; अतः लक्षणा स्वीकृत है । प्राप्त-प्रसङ्ग में तो अधिकारानधिकार विवेचन है । इसमें प्रत्यक्ष की गति नहीं; क्योंकि शास्त्रीय विधि-निषेध प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय ही नहीं । कहा भी है —

'प्रत्यक्ष अथवा अनुमानप्रमाण से जो उपाय नहीं जाना जाता है, वेदवेत्ता उसे वेद से जानते हैं । प्रत्यक्ष तथा अनुमान से अज्ञात अर्थ का बोधक होने से ही वेद की वेदता (वेदत्व) है ।' यह आचार्यों का वचन है । भाव यह कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान से अज्ञात अर्थ का निर्णय

केश्चिदुक्तम्, 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा' **(जाबालोप० ४) इतिश्रुत्या,**

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात् ।
त्रयाणामपि वर्णानाममी चत्वार आश्रमाः ॥"

स्मृत्यनुग्रहीततया क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासाधिकारसिद्धेः श्रुत्यन्तरेषु ब्राह्मणग्रहणं त्रयाणामुपलक्षणम् । अत एव [६६]'अधिकारिविशेषस्य' **इति श्लोकेन वार्तिकेऽपि भाष्याभिप्रायमुक्त्वा —**

"त्रयाणामविशेषेण संन्यासः श्रूयते श्रुतौ ।
यदोपलक्षणार्थं स्याद्ब्राह्मणग्रहणं तदा ॥" ८६

इत्यनन्तरश्लोकेन स्वमते क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासाधिकारो दर्शितः । तेनैव तयोरपि श्रवणाद्यधिकारसिद्धिरुक्ता ।

वेद तथा उससे अविरुद्धस्मृति से करना चाहिये । 'सिद्धान्तलेशसंग्रहग्रन्थ' में **'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्'** इत्यादिक वेद के मूर्धन्य भाग—उपनिषदोंकी श्रुतियों तथा उपनिषदों के अनुकूल मनुस्मृति में विद्यमान संन्यास के विधानों में **'ब्राह्मण'** शब्द का ही ग्रहण होने से क्षत्रिय और वैश्य के लिये संन्यास का विधान नहीं है । अन्यथा वेदान्त के श्रवण-मननादि के अनुष्ठान में अधिकारी विशेष के ज्ञान के लिये संन्यास के विधायकवाक्यों में ब्राह्मणशब्द का ग्रहण कैसे संभव था ? अतः संन्यास में ब्राह्मण का ही अधिकार है ।

किसी ने यह कहा कि—'तीनों वर्णों के लिए चारों आश्रम हैं' इस स्मृति से अनुगृहीत, **'यदि वेतरथा'** इस जाबालश्रुति से क्षत्रिय-वैश्य का भी संन्यास सिद्ध है । अतः जाबाल से अन्यश्रुतियों में ब्राह्मण शब्द का ग्रहण, तीनों वर्णों का उपलक्षण है । अर्थात् ब्राह्मण शब्द तीनों वर्णों के संन्यास का बोधक है । इसलिये ही **'अधिकारविशेषः'** इस

---

६६. 'अधिकारिविशेषस्य ज्ञानाय ब्राह्मणग्रहः ।
न संन्यासविधिर्यस्माच्छ्रुतौ क्षत्रियवैश्ययोः ॥'
(वार्तिक ३.५.८८ बृह०)

भाष्यानुयायिनां रीत्या तु अनेकेषु संन्यासविधिवाक्येषु ब्राह्मण-ग्रहणात्, उदाहृतजाबालश्रुतौ संन्यासविधिवाक्ये ब्राह्मणग्रहणाभावेऽपि श्रुत्यन्तरसिद्धं ब्राह्मणाधिकारमेव सिद्धं कृत्वा 'संन्यासावस्थायामयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः' **(नारदपरि० ३.७७) इति ब्राह्मणपरामर्शाच्च ब्राह्मणस्यैव संन्यासाधिकारः ।** [७०]'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' **(पूर्व० अ० १, पा० ३, अधि० २) इति विरोधाधिकरणन्यायेन श्रुत्यविरुद्धस्यैव स्मृत्यर्थस्य सङ्ग्राह्यत्वात् ।**

श्लोक से भाष्य का अभिप्राय कहकर **'त्रयाणामप्यविशेषेण'** इस बाद के श्लोक से अपने मत में क्षत्रिय, वैश्य का भी सन्यास में अधिकार दिखा दिया है। सन्यास में अधिकार होने से ही क्षत्रिय और वैश्य की भी श्रवणादि के अधिकार की सिद्धि कही गई है।

श्रीशंकराचार्यभाष्य का अनुसरण करनेवाले विद्वानों की रीति से तो, अनेक सन्यास के विधायक वाक्यों में ब्राह्मण शब्द का ही ग्रहण है तथा जाबालश्रुति में सन्यास के विधायक **'यदि वेतरथा'** इस वाक्य में ब्राह्मणपद के ग्रहण न होने पर भी अन्य श्रुतियों से सिद्ध ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार को सिद्ध मानकर सन्यासावस्था में "यज्ञोपवीत से रहित ब्राह्मण कैसे ?" इस प्रश्नार्थकवाक्य में सन्यासी के लिये ब्राह्मण- शब्द का परामर्श किया है। भाव यह है कि यज्ञोपवीत से रहित सन्यासी के लिये ब्राह्मण शब्द का प्रयोग उपनिषद् में किया, तो वहाँ प्रश्न किया गया है कि यज्ञोपवीत से रहित सन्यासी के लिये ब्राह्मण शब्द का प्रयोग क्यों किया ? इस प्रश्नवाक्य में यज्ञोपवीतधारी जातितः ब्राह्मण के लिये ही ब्राह्मणशब्द का प्रयोग किया है, जो 'ब्रह्म को जानता है, सो ब्राह्मण है' इस ब्रह्मवेत्तारूप ब्राह्मण के अभिप्राय से नहीं किया है। क्योंकि पुराणादिवाक्यों के श्रवण से तो शूद्र भी ब्रह्मवेत्ता हो सकता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता को तो

---

७०. सूत्र का अर्थ-स्मृति का श्रुति से विरोध होने पर स्मृति का अर्थ अग्राह्य होता है। श्रुति से स्मृति का विरोध न होने पर, स्मृति से श्रुति का अनुमान कर लिया जाता है। प्रसंग में त्रैवर्णिक संन्यास की प्रतिपादिका स्मृति का ब्राह्मण के ही संन्यास के

यत्तु संन्यासस्य सर्वाधिकारित्वेन वार्तिकवचनं तत्तु विद्वत्संन्यासविषयम्, न त्वातुरविविदिषादिसंन्यासे भाष्याभिप्रायविरुद्धसर्वाधिकारप्रतिपादनपरम् ।

[७१] "सर्वाधिकारविच्छेदि विज्ञानं चेदुपेयते ।
कुतोऽधिकारनियमो व्युत्थाने क्रियते बलात् ॥" ६०

यज्ञोपवीत की प्राप्ति ही संभव नहीं, तब यज्ञोपवीत से रहित को ब्राह्मण कैसे कहा ? यह प्रश्न ही संभव नहीं। यह प्रश्न तो उसी सन्यासी के लिये संभव है, जिसके सन्यास से पूर्व ब्राह्मणत्व का उपलक्षण यज्ञोपवीत है। श्रुतियों में सन्यास के विधायकवाक्यों में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग है तथा प्रश्नवाक्य में संन्यासी के लिये ब्राह्मणशब्द का परामर्श है; अतः सन्यास में ब्राह्मण का अधिकार है।

तीनों वर्णों के सन्यास का बोधन करनेवाली स्मृति को जाबालश्रुति का अनुग्राहक कहना भी संभव नहीं, क्योंकि **'विरोधे तु'** इस विरोधाधिकरण के सूत्र के अनुसार श्रुति से अविरुद्ध ही स्मृति का अर्थ ही ग्राह्य होता है। सर्व के अधिकार को कहनेवाला जो वार्तिक का वाक्य है, वह तो विद्वत्सन्यास का बोधक है। आतुर तथा विविदिषा आदिक संन्यास में सर्व के अधिकार प्रतिपादन का बोधक नहीं है।

प्रतिपादक श्रुतिवाक्य से विरोध है। क्योंकि श्रुति, ब्राह्मण के ही सन्यास में अधिकार की प्रतिपादक है, स्मृति तीनों वर्णोंके सन्यास के अधिकार की प्रतिपादिका है, अतः परस्पर विरोध है। श्रुति से विरुद्धस्मृति का अर्थ ही जब ग्राह्य नहीं तो स्मृति जाबालश्रुति की अनुग्राहक कैसे हो सकती है? स्मृति के अनुग्रह बिना जाबाल उपनिषद् की सामान्यश्रुति त्रैवर्णिक सन्यास की प्रतिपादिका कैसे भी हो सकती नहीं। अतः सन्यास में ब्राह्मण का ही अधिकार है।

७१. यदि ज्ञान सम्पूर्णाधिकारों का समाप्त करनेवाला माना जाता है, तब ज्ञान हो जाने पर संन्यास के ग्रहण का नियम क्यों थोपा जाता है ?

इत्यनन्तरश्लोकेन ब्रह्मज्ञानोदयानन्तरं जीवन्मुक्तिकाले विद्वत्संन्यास एवाधिकारनियमनिराकरणात् । तेन ब्राह्मणानामेव श्रवणाद्यनुष्ठाने संन्यासोऽङ्गम्; क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासनिरपेक्ष एव श्रवणाद्यधिकारः । क्रममुक्तिफलक सगुणोपासनया देवभावं प्राप्तस्य श्रवणादौ संन्यासनैरपेक्ष्यस्यावश्यं वक्तव्यत्वाद् देवानां कर्मानुष्ठानाप्रसक्त्या तत्त्यागरूपस्य संन्यासस्य तेष्वसम्भवादित्याहुः । विद्वत्संन्यासोऽपि क्षत्रियवैश्ययोरलिङ्ग एव —

[७२]"मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् ।
बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मः प्रशस्यते ॥"

इतिस्मरणात् (देवलदत्तात्रेय वचनम्) ।

क्योंकि ऐसा प्रतिपादन भाष्य के अभिप्राय से विरुद्ध है । भाष्य के अभिप्राय से विरुद्ध वार्तिककार का प्रतिपादन संभव नहीं है ।

'सर्वाधिकारविच्छेदि' इस आगे के श्लोक से वार्तिककार ने ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् जीवन्मुक्तिकाल में विद्वत्सन्यास के अधिकार के नियम का निराकरण किया है । अत: विद्वत्सन्यास में ही सर्व का अधिकार है । विविदिषा सन्यास में अधिकार न होने से सन्यास की अपेक्षा के बिना ही क्षत्रिय तथा वैश्य का वेदान्तश्रवण में अधिकार है । ब्राह्मण के समान वेदान्तश्रवण के लिये क्षत्रिय तथा वैश्य को सन्यास की अपेक्षा नहीं । क्रममुक्ति ही जिसका फल है, देवोपासना से देवभाव को प्राप्त अधिकारी को जिज्ञासा होने पर श्रवण के लिये संन्यास की अपेक्षा नहीं है, ऐसा अवश्य कहना होगा । क्योंकि देवताओं को कर्मानुष्ठान की अप्राप्ति होने से, उस कर्मानुष्ठान का विधिपूर्वक त्यागरूप सन्यास भी असंभव है । अत: देवताओं का सन्यास के बिना ही श्रवण में अधिकार है । अत: वेदान्त के श्रवण के लिये सन्यास का नियम न होने से क्षत्रिय तथा वैश्य का सन्यास के बिना भी वेदान्तश्रवण संभव है ।

---

७२. मुख से उत्पन्न ब्राह्मण का ही यह धर्म है कि वह विष्णु (नारायण) भगवान् का चिह्न दण्डादिक धारण करे । बाहु से उत्पन्न क्षत्रिय तथा ऊरु से उत्पन्न वैश्य का यह धर्म नहीं है ।

[७३]"न त्यागो न पुनर्यज्ञो न तपो मनुजेश्वर।
क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्वोपजीवनम् ॥"

(शान्तिपर्वणि २२।७)

[७४]"न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते।"

(शान्तिपर्वणि २३।३)

वस्तुतस्तु —

"संन्यसेद्ब्राह्मणः सम्यग्वानप्रस्थो भवेन्नृपः ।
गृहस्थश्च भवेद्वैश्य एवं वर्णक्रमः स्मृतः ॥"
"चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः।
क्षत्रियस्य त्रयो द्वावेको वैश्यशूद्रयोः ॥"

(वृद्धयाज्ञवल्क्यः)

क्षत्रिय तथा वैश्य का विद्वत्सन्यास भी दण्डादि से रहित ही होता है। क्योंकि **'मुखजानामयं'** इस स्मृतिवचन से क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए दण्डादिलिङ्गपूर्वक सन्यास का निषेध किया गया है। शान्तिपर्व में भी **'न त्यागो'** इत्यादि दो श्लोकों से क्षत्रिय के संन्यास का निषेध किया है।

वस्तुतः **'सन्यसेद्ब्राह्मणः'** इत्यादिक अन्य स्मृतियों में भी श्रुति से विहित चार आश्रम ब्राह्मण के, तीन क्षत्रिय के, दो वैश्य के कहे हैं तथा एक आश्रम ही शूद्र का कहा है। इन स्मृतियों के कथन के अनुसार ही अन्य स्मृतियों का अर्थ जानना चाहिये।

---

७३. हे राजन्! क्षत्रिय के लिये त्याग, यज्ञ, तप और दूसरे के धन से (भिक्षा से) जीवन व्यतीत करना यह सर्व विहित नहीं है।

७४. हे राजन्! गृहस्थ आश्रम का त्यागकर आपके लिये अरण्य (संन्यास) विहित नहीं है।

"ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो।
वर्णास्तान्नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥"

(शान्ति० ६२.२)

इत्यादि स्मृत्यन्तरे ब्राह्मणस्य चत्वार आश्रमाः, राजन्यस्य त्रयः, वैश्यस्य द्वौ शूद्रस्यैक इत्युक्तत्वात् तदविरोधेनैवार्थो वेदितव्यः।

यत्तु —

[७५]"वानप्रस्थं द्विजातीनां त्रयाणामुपदिश्यते ।
सर्वेषामेव वर्णानां गार्हस्थ्यं तद्विधीयते ॥"

(महा० आश्व० ३५.४३)

[७६]"शुश्रूषोः कृतकार्यस्य कृतसन्तानकर्मणः ।
अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते ॥

'वानप्रस्थं द्विजातीनां', **'शुश्रूषोः कृतकार्यस्य'** इस स्मृति में जो शूद्र के लिये एक ब्रह्मचर्य आश्रम कहा है, वह मैथुन का त्यागरूप ही है न कि वेदाध्ययनादिक। क्योंकि वेद का अध्ययन आदिक शूद्र के लिये निषिद्ध है। वैश्य के लिये वानप्रस्थ का उल्लेख भी वन में वास तथा ग्राम के भोजन के त्याग के अभिप्राय से है, न कि वानप्रस्थ आश्रम के। उसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य के लिये कहीं संन्यास का कथन हो तो वहाँ भी संन्यास शब्द का अर्थ विक्षेप देनेवाले कर्मों का परित्याग ही समझना चाहिये न कि लिङ्गसन्यास। ब्राह्मण से अतिरिक्त के लिये श्रुति तथा स्मृतियों में सलिंग-सन्यास का निषेध है।

---

७५. ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के लिये वानप्रस्थ का उपदेश है। गृहस्थाश्रम का विधान तो शूद्र-पर्यन्त चारों ही वर्णों के लिये है।

७६. "पृथ्वीनाथ! जो शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करके कृतार्थ हो गया है, जिसने पुत्र उत्पन्न कर लिया है, शौच और सदाचार की दृष्टि से जिसमें अन्य त्रैवर्णिकों की अपेक्षा बहुत ही कम अन्तर रह गया है अथवा जो मनुप्रोक्त धृति, क्षमा, मनोनिग्रह,

अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा ।
आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम् ।।
भैक्ष्यचर्यां ततः प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः ।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि ।।
कृतकृत्यो वयोऽतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः ।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम् ।।"

(महा० शान्ति० ६३.१२–१५)

तत्तु, मैथुनत्याग एव ब्रह्मचर्यं न वेदाध्ययनादिकं, तस्य निषिद्धत्वात् । वानप्रस्थपदेनापि ग्राम्यभोजनत्यागरूप एव, तथैव सकलकर्मत्यागरूप विक्षेपनिवारण एव संन्यासः संन्यासपदेन ग्राह्यो न तु चतुर्थाश्रमरूपः, श्रुतिस्मृतिनिषिद्धत्वात् । 'अत्र निराशिषं शान्तिदान्त्यादिकल्याणगुणरहितम्' इति नीलकण्ठः ।

शूद्रोऽपि नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं वानप्रस्थं वा सकलविक्षेपककर्मत्यागरूपं सन्यासं वाऽनुतिष्ठेदेव —

शूद्र भी नैष्ठिकब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ अथवा विक्षेपदायक सर्वकर्मों का त्यागरूप सन्यास को करे; क्योंकि **'आश्रमा विहिताः सर्वे'** इस

चोरी का त्याग, बाहर-भीतर की पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह, सात्त्विकबुद्धि, सात्त्विकज्ञान, सत्यभाषण और क्रोध का अभाव दशधर्मों के पालन में तत्पर रहा है, वह शूद्र यदि राजा की आज्ञा-अनुमति प्राप्त कर ले तो उसके लिये संन्यास को छोड़ कर शेष सभी आश्रम विहित हैं । राजेन्द्र ! पूर्वोक्त धर्मों का आचरण करनेवाले शूद्र के लिये तथा वैश्य और क्षत्रिय के लिये भी भिक्षा माँगकर निर्वाह करने का विधान है । अपने वर्णधर्म का दृढ़तापूर्वक पालन करके कृतकृत्य हुआ वैश्य अधिक अवस्था व्यतीत हो जाने पर राजा की आज्ञा लेकर क्षत्रियोचित वानप्रस्थ आश्रम का ग्रहण करे ।

विशेष—उक्त अनुज्ञा से भी यही तथ्य ध्वनित होता है कि जैसे अध्यापनादि क्षत्रियादि के लिये प्रशस्त नहीं, वैसे ही संन्यासादि उच्चवर्णों के लिये विहित आश्रम का ग्रहण भी प्रशस्त नहीं ।

'आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम् ।'

(शान्तिपर्वणि ६३.१३)

अत्र 'निराशिषं' **'सन्यासं वर्जयित्वा अन्ये आश्रमा विहिताः' इति स्पष्टार्थः ।**

'वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्राणि चानघ ।
सन्तानादीनिकर्माणि कृत्वा सोमं निषेव्य च ॥
पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्मेण वदतांवर ।
राजसूयाश्वमेधादीन्मखानन्याँस्तथैव च ॥
आनयित्वा यथापाठं विप्रेभ्यो दत्तदक्षिणः ।
संग्रामे विजयं प्राप्य तथाऽल्पं यदि वा बहु ॥
स्थापयित्वा प्रजापालं पुत्रं राज्ये च पाण्डव ।
अन्यगोत्रं प्रशस्तं वा क्षत्रियं क्षत्रियर्षभ ॥
अर्चयित्वा पितॄन् सम्यक् पितृयज्ञैर्यथाविधि ।
देवान्यज्ञैर्ऋषीन्वेदैरर्चयित्वा तु यत्नतः ॥"

श्लोक में सन्यास को छोड़कर सर्व आश्रमों का स्पष्ट विधान है ।

"हे निष्पाप राजन् ! राजा को चाहिये कि पहले धर्माचरण-पूर्वक वेदों तथा राजशास्त्रों का अध्ययन करे ! फिर सन्तानोत्पादन आदि कर्म करके यज्ञ में सोमरस का सेवन करे ।"

"समस्त प्रजाओं का धर्म के अनुसार पालन करके राजसूय, अश्वमेध तथा दूसरे-दूसरे यज्ञों का अनुष्ठान करे ।"

"शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार सर्व सामग्री एकत्र करके ब्राह्मणों को दक्षिणा दे । संग्राम में अल्प अथवा महान् विजय पाकर राज्य पर प्रजा की रक्षा के लिये अपने पुत्र को स्थापित करदे । पुत्र न हो तो दूसरे गोत्र के किसी श्रेष्ठ क्षत्रिय को राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त कर दे ।"

"पितृयज्ञों द्वारा विधिपूर्वक पितरों का, देवयज्ञों द्वारा देवताओं का तथा वेदों के स्वाध्याय द्वारा ऋषियों का पूजन करके अन्त काल आने पर जो क्षत्रिय दूसरे आश्रमों को ग्रहण करने की इच्छा

अन्तकाले च सम्प्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम् ।
सोऽनुपूर्व्याश्रमान् राजन् गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ।।
राजर्षित्वेन राजेन्द्र भैक्ष्यचर्यां न सेवया ।
अपेतगृहधर्मोऽपि चरेज्जीवितकाम्यया ।।
न चैतन्नैष्ठिकं कर्म त्रयाणां भूरिदक्षिण ।
चतुर्णां राजशार्दूल प्राहुराश्रमवासिनाम् ।।"

(शान्तिपर्व० ६३.१६-२३)

राजा ऋषित्वेन · मन्त्रार्थद्रष्टृत्वेन वेदान्तश्रवणकर्तृत्वेन हेतुना भैक्षचर्यामिच्छेत् । न तु सेवया **श्रवणमकुर्वन्नान्नमात्रार्थम् । तत्कुर्वंस्तु जीवितकांक्षया भैक्ष्यचर्यां चरेदेव । एतद् भैक्ष्यं त्रयाणां राजादीनां नैष्ठिकं नित्यं, तेषामाश्रमसन्यासो नित्यो नास्ति, अपि तु विक्षेपक-कर्मत्यागरूपः काम्य एवास्तीत्यर्थः । स च चतुर्णामप्याश्रमाणा-मस्तीतिप्राहुः ।**

"अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद्द्विजः ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ।।"

(शान्ति० २४४।२८)

करता है, वह क्रमशः आश्रमों को अपना कर परमसिद्धि को प्राप्त होता है।"

"गृहस्थधर्म का त्यागकर देनेपर भी क्षत्रिय को ऋषिभाव से वेदान्तश्रवणादि सन्यासधर्म का पालन करते हुए जीवनरक्षा के लिये भिक्षा का आश्रय लेना चाहिए, सेवा कराने के लिये नहीं।"

"पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले राजेन्द्र ! यह भैक्ष्यचर्या क्षत्रिय आदि तीन वर्णों के लिये नित्यकर्म अथवा अनिवार्यकर्म नहीं है । चारों आश्रमवासियों के लिये उनका यह कर्म ऐच्छिक ही बताया गया है।"

क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के लिये भिक्षाचरण नित्य अथवा अवश्य कर्तव्य नहीं है, अर्थात् उनके लिये आश्रम संन्यास नित्य नहीं है । विक्षेप देनेवाले कर्मों का त्यागरूप संन्यास भी काम्य ही है । ऐसा संन्यास तो चारों वर्णों को ही है, ऐसा विद्वान् कहते हैं।

"कषायं पाचयित्वाऽऽशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु ।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥"

(महा० शान्ति० २४५.३)

इत्यत्र तु द्विजः[७७] ब्राह्मण एव, 'ब्राह्मणः प्रव्रजेदि'**त्यादि श्रुतिभ्यः। यतः क्षत्रिय वैश्यादीनां संन्यासबोधिका श्रुतिः काचिन्नोपलभ्यते।**

सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहेऽपि स्मृतिरेव त्रैवर्णिकानां संन्यासबोधिकोक्ता। तस्या अपि श्रुत्यनुसारेणैव नयनमुक्तम्। राजधर्मोक्त सर्वाश्रम-

---

"जो ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान देकर संन्यासी हो जाता है, वह मरने के पश्चात् तेजोमय लोकों में जाता है और अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।"

"पङ्क्तिक्रम से स्थित पूर्वोक्त तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ में चित्त के राग-द्वेष आदि दोषों को पकाकर—उन्हें नष्ट करके शीघ्र ही सर्वोत्तम चतुर्थ आश्रम संन्यास को ग्रहण कर ले।"

सिद्धान्तलेशग्रंथ में भी त्रैवर्णिकसंन्यास की बोधिका स्मृति ही कही है, श्रुति नहीं कही। उस स्मृति की भी श्रुति के अनुसार ही गति

---

७७. महाभारत में इससे पूर्व परिव्राजकों के आचार का वर्णन करके **विप्र** अर्थात् **ब्राह्मण** के लिये ही संन्यास का वर्णन किया गया है—परिव्राजकानां पुनराचारः–तद् यथा विमुच्याग्नि धनकलत्रपरिबर्हणं संगेष्वात्मनः स्नेहपाशानवधूय परिव्रजन्ति। ....

भवति चात्र श्लोकः —

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥
कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति ।
विप्रस्तु भैक्ष्यौपगतैर्हविर्भिश्चिताग्निनां स व्रजते हि लोकम् ॥

विधानन्तु नीलकण्ठीयव्याख्यानुसारेण भैक्ष्यं विक्षेपककर्मत्यागरूपमेव न तु संन्यासरूपम् ।

भिक्षुकीति**पदेन जीवनयात्रार्थं भिक्षाचर्या ध्यानधारणादिकमेव सिद्ध्यति न तु दण्डग्रहणादिकम्, श्रुतिविरुद्धत्वात् ।**

सुलभाया दण्डस्मरणमप्यलीकमेव । गो-सर्पनिवारणार्थं नील-कण्ठचतुर्धरेण भिक्षुकीतिस्मरणादेव [७८]**तत्कल्पितम् (महा० शान्ति० ३२०.१५,१६) ।**

कह दी है । राजधर्म में सर्वाश्रम का विधान है, परन्तु वहाँ भैक्ष्यशब्द का अर्थ नीलकण्ठ जी की, की हुई व्याख्या के अनुसार विक्षेप देनेवाले कर्मों का त्यागरूप ही है; संन्यासरूप नहीं ।

'**सुलभा**' के लिये जो भिक्षुकी पद का प्रयोग हुआ है, उस भिक्षुकी पद से जीवनयात्रा के लिये भिक्षा का आचरण तथा ध्यान-धारणादिक ही सिद्ध होता है, दण्डग्रहणादिपूर्वक सन्यास सिद्ध नहीं होता; क्योंकि दण्डधारणादि श्रुति से विरुद्ध अर्थ को महाभारत का '**भिक्षुकी**'पद नहीं कह सकता ।

---

७८. महाभारत के इस प्रसंग से यह विदित होता है कि '**सुलभा**' प्रधान नामक राजर्षि के कुल में व्यक्त हुई थी । सुकुमारता, सौन्दर्य, मनोहरशरीर और उत्तम-वय होने पर भी स्वानुरूप वर न मिलने के कारण उसने मोक्षधर्म की शिक्षा ग्रहण की । वह मुनिव्रत धारण करके अकेली विचरण करती थी । एक तो वह धर्मयुग था और दूसरा तथ्य यह था कि वह योगसिद्धि से सम्पन्न थी और अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाली थी । भिक्षावृत्ति से जीवननिर्वाह करती थी । '**त्रिदण्डके**' (श्लोक १६) कहने से ऐसा ध्वनित-सा होता है कि वह त्रिदण्डी थी । यदा-कदा त्रिदण्डी स्वामियों से मोक्षधर्म की चर्चा भी करती थी । उन्हीं स्वामियों के श्रीमुख से राजर्षि जनक की मोक्षधर्म में आस्था को सुनकर उनके पास आयी । उनसे सत्कृत होकर उनके शरीर में सूने घर में संन्यासी के तुल्य एक रात रुककर अभीष्टस्थान की ओर चली गयी ।

राजा जनक के शरीर में जब वह नेत्रमार्ग से योगबल का आलम्बन लेकर प्रविष्ट हुई तब उन्होंने उसके उस कृत्यपर कई प्रकार की आपत्ति की। यथा —

(१) यदि आप वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मणकुल की कन्या हैं तो मेरे शरीर में प्रवेशकर–मेरे साथ संयुक्त होकर, **'वर्ण-संकर-दोष'** को चरितार्थ कर रही हैं।

(२) मोक्षधर्म के अनुसार बर्ताव करनेवाली होने से आप आश्रमश्रेष्ठ हैं। मुझ गृहस्थ से संयुक्त होकर कष्टकर **'आश्रम-संकर-दोष'** को मत चरितार्थ करें।

(३) कदाचित् आप सगोत्रा हैं, तब तो आपने स्पष्ट ही **'गोत्र-संकर-दोष'** को जन्म दिया है।

(४–५) कहीं आप विधवा तो नहीं हैं? कहीं पति-सानिध्य-प्राप्त अथवा प्रोषित-भर्तृका (पति के परदेश चले जाने की स्थिति में) विवाहिता होती हुई भी आपने मेरा स्पर्श किया है, तब तो स्पष्ट ही **'धर्म-संकर-दोष'** से आप दूषित हो रही हैं।

(६–७) आपने योगतुल्य अमृत के साथ भोगतुल्य विषसेवन कर **'योग–भोग–सांकर्य–दोष'** को जन्म दिया है। माना कि आप मेरी इच्छा करती हैं, पर मैं तो आपको इस दृष्टि से नहीं चाहता, फिर संयोगसुख के रहस्य को न जानकर उतावली होकर जो मेरा स्पर्श किया है, वह अमृत और विष-सम्मिश्रण तुल्य **'सुरति-सांकर्य-दोष'** है।

विज्ञ विचारकों को विचार करना चाहिये कि यदि जनक की दृष्टि में 'सुलभा' सर्वथा संन्यासी (संन्यासिनी) ही होती–उसका वेषादि सर्वथा संन्यासाश्रमोचित ही होता, तो विज्ञ धर्मज्ञ जनक का यह प्रश्न कदापि नहीं बनता कि 'कहीं आप प्रोषित-भर्तृका या पति सानिध्य-प्राप्त होने पर भी पतिविमुख होकर मेरे शरीर में प्रवेश तो नहीं कर गयी हैं (६१)?' तब इतर दोषों का उल्लेख ही उचित होता।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वैधव्य प्राप्त या प्रोषितभर्तृका अथवा अविवाहिता के तुल्य गार्हस्थ्य जीवन से विलक्षणजीवन के द्योतक काषाय (मलिन) वस्त्रादि बाह्य-चिह्नों से ही वह युक्त थी। जब

स्त्रियोंका गुरुकुल वास ही नहीं है, तब विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्याश्रमोचित दण्डादिका परिग्रह भी सम्भव नहीं। जब यज्ञोपवीत ही नहीं, तब उसके अत्याग या त्याग से सम्पन्न कुटीचक, बहूदक और हंस-परमहंस कोटिका सन्यास भी स्त्रियों के लिये सम्भव नहीं। रही बात त्रिदण्ड की। वह तो तिल से निष्पन्न तेल के लिये ही प्रयुक्त होने योग्य 'तैल' शब्द जैसे सरसों आदि से निर्मित तेल के लिये भी प्रशस्त है; तद्वत् 'त्रिदण्ड' पथकी दुर्गमता के वारण के लिये और गृहस्थोचित जीवन से विलक्षण जीवन के सूचन के लिये ही गृहीत मान्य है। संस्कृतत्रिदण्ड के अर्थ में वह प्रयुक्त नहीं है। अभिनय के लिये गृहीत दण्ड भी अभिनय काल में सन्यास का ही सूचक होता है। फिर **विधिविरुद्ध या अपवाद कोटिके ऐतिह्य तथ्य को प्रमाण मानकर प्रशस्त और प्रामाणिक तथ्य का अपलाप सर्वथा अनुपयुक्त है**। ऐसी स्थिति में श्रीचतुर्धर जी का निम्नलिखित वचन फलबलकल्प्य होने पर भी स्पष्टवचन के अननुरूप है और पूर्वनिर्णीत तथ्य के विरूप भी–'भिक्षुकी' इति अनेन स्त्रीणामपि प्राग् विवाहाद्वैधव्यादूर्ध्वं वा, संन्यासेऽधिकारोऽस्ति इति दर्शितम्। तेन भिक्षाचर्यं मोक्षशास्त्रश्रवणं, एकान्ते आत्मध्यानं च ताभिरपि कर्तव्यम्, त्रिदण्डादिकं च धार्यम् (महा० शान्ति० ३२०.७ नीलकण्ठी)।

'ननु क्षत्रियस्य संन्यासेऽधिकारो नास्ति इति चेत्, लिङ्गधारणाऽभावेऽपि भरतऋषभादिवद् विक्षेपकर्मत्यागमात्रेऽधिकारात् (नीलकण्ठी, गीता ३.२०)।

इसी रीति से 'जीवन्मुक्तिविवेक' कारके निम्नलिखित वचन की सङ्गति भी साधनी चाहिये—

"भिक्षुकीत्यनेन स्त्रीणामपि प्राग्विवाहाद्वावैधव्यादूर्ध्वं संन्यासेऽधिकारोऽस्तीति दर्शितम्। तेन भिक्षाचर्यं, मोक्षशास्त्रश्रवणम्, एकान्त आत्मध्यानं च ताभिः कर्तव्यं, त्रिदण्डादिकं च धार्यम्। इति मोक्षधर्मे चतुर्धरी टीकायां सुलभाजनकसंवादः। शारीरकभाष्ये वाचक्नवीत्यादि श्रूयते। देवताधिकरणन्यायेन विधुरस्याधिकारप्रसङ्गत्वेन तृतीयाध्याये चतुर्थपादे (जीवन्मुक्तिप्रमाणप्रकरणम्)।"

कात्यायनवचनं न कात्यायन श्रौतसूत्रादावुपलभ्यते । कोशादावुपलम्भेऽपि श्रुतिविरोधात् सिद्धान्तलेशोक्त स्मृत्यनुसारिण्येव तस्यापि गतिः ।

यत्तु कूर्मे बंशकीर्तनप्रस्तावे द्वादशाध्याये श्वेताश्वतरमुनिना सुशीलो राजा शिष्यत्वेन गृहीत इत्युक्तम्, यथा —

सोऽनुगृह्याथ राजानं सुशीलं शीलसंयुतम् ।
शिष्यत्वे परिजग्राह तपसा क्षीणकल्मषम् ॥
संन्यासिकं विधिं कृत्स्नं कारयित्वा विचक्षण ।
ददौ तदैश्वरं ज्ञानं स्वशाखाविहितं व्रतम् ॥

त्रैवर्णिकसंन्यास का बोधक कात्यायनऋषि का वचन भी कात्यायनश्रौतसूत्रादिस्थल में नहीं मिलता है । कोशादिकों में त्रैवर्णिकसंन्यास का बोधकवचन मिलने पर भी श्रुति से विरोध होने से सिद्धान्तलेश में कथन की गई स्मृति के अनुसार ही उस वचन की भी गति समझलेनी चाहिये । अर्थात् श्रुतिसे विरुद्ध होने से अग्राह्य है ।

ध्यान रहे, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ग्रंथांकः २० पृ० ३ के अनुसार **ये पंक्तियाँ प्रक्षिप्त** मानी गई हैं । प्रामाणिक चार प्रतियों में ये नहीं हैं । × **क. ख. ग.घ. पुस्तकेषु भिक्षुकीत्यारभ्यात एव चतुर्थपाद इत्यन्तो ग्रन्थो नहि । अयं चाधिकोऽसंगतश्च ।**

वस्तुतः यह आख्यायिका पञ्चशिख-जनकसंवाद के प्रसंग में 'स्थूलदेह से ही नहीं, अपितु सूक्ष्मदेह से भी आत्मा अतीत-अतिरिक्त ही है ।' इस तथ्य के प्रतिपादन में प्रयुक्त है । इसी संदर्भ में राजा के शरीर में सुलभा का प्रवेश और निवास भी चरितार्थ है । अभिप्राय यह है कि एक घर में जैसे दो व्यक्ति का निवास संभव है, वैसे ही सूक्ष्मदेह में भी दो जीव का अवस्थान संभव है । आत्मा देहद्वय से भिन्न ही है ।

एतदाख्यानतात्पर्यं तु एकस्मिन्गेहे इव लिङ्गदेहेऽपि द्वयोर्जीवयोरवस्थानं भवति तेन स्थूलसूक्ष्मदेहौ गृहवज्जीवस्यानात्मानावित्युक्तम् ।" (नीलकण्ठी शान्ति० ३२०.२०)

७६"अशेषवेदसारं तत् पशुपाशविमोचनम् ।
अत्याश्रम इति ख्यातं ब्रह्मादिभिरनुष्ठितम् ॥"

इत्यादि पृथुपुत्रे सुशीले क्षत्रियप्रवरे विधिना सन्यासोपन्यास-श्रवणं मोक्षधर्मे सुलभायाः क्षत्रियायाः दण्डधारणश्रवणं चेति तदपि यत्किञ्चित् । तत्र संन्यासपदेन पाशुपतव्रतस्यैवोक्तत्वात् । सन्यास-दीक्षा संन्यासिनैव दीयते । प्रकृते तु संन्यासदाता श्वेताश्वतरो न संन्यासी तस्य यज्ञोपवीतित्वस्मरणात् —

"श्वेताश्वतरनामानं महापाशुपतोत्तमम् ।
भस्मसन्दिग्धसर्वाङ्गं कौपीनाच्छादनान्वितम् ॥

और जो कूर्मपुराण में वंश के कथन के प्रसंगमें बारहवें अध्याय में यह कहा है कि श्वेताश्वतरमुनि ने सुशील नामक राजा को अपना शिष्य बनाया है, जैसा कि **'सोऽनुगृह्य'** इत्यादि श्लोक से सिद्ध है । "हे विचक्षण ! श्वेताश्वतरमुनि ने अनुग्रह करके तप से नष्ट पापवाले शीलयुक्त सुशील नामवाले राजा को अपने शिष्यरूप में ग्रहण किया । सम्पूर्ण संन्यास की विधि को कराकर शिव सम्बन्धिज्ञान तथा अपनी शाखा में विधान किया हुआ व्रत प्रदान किया ।"

पृथुमहाराज के पुत्र, क्षत्रिय श्रेष्ठ, सुशील राजा विषयक संन्यास का श्रवण तथा मोक्षधर्म में क्षत्रियजाति वाली सुलभा का दण्डधारण करने का श्रवण है, वह भी ब्राह्मण से अतिरिक्त के संन्यासग्रहण करने में साधक नहीं । क्योंकि राजा सुशील के प्रकरण में संन्यासशब्द से पाशुपतव्रत ही कहा गया है, न कि वैदिक संन्यास । संन्यास की दीक्षा तो संन्यासी के ही द्वारा दी जाती है । राजा के प्रकरण में तो सन्यास देनेवाले श्वेताश्वतरमुनि सन्यासी नहीं थे, क्योंकि **'तपसा दर्शितात्मानं शुक्ल यज्ञोपवीतिनम्'** इस श्लोक में उनको यज्ञोपवीत

---

७६. राजा सुशील को व्रतादि के सहित पाशुपत दीक्षापूर्वक जो शिव सम्बन्धि ज्ञान दिया था, वह सर्व वेदों का सार तथा जीवों को बन्धन से मुक्त करनेवाला था । उसका ही अत्याश्रम नाम था, वह ब्रह्मादि के द्वारा भी पालन किया गया है ।

"तपसा दर्शितात्मानं शुक्लयज्ञोपवीतिनम् ।
समाप्यसंस्तवं शम्भोरानन्दाश्रुविचक्षणः ॥"

इत्यादि सन्दर्भे "'शुक्लयज्ञोपवीतिनमि'**ति पाठदर्शनात् । न हि संन्यासी यज्ञोपवीती भवति तत्र पाशुपतदीक्षाविधानमेव संन्यासविधित्वमितिमन्तव्यम् । अत्याश्रमपदमपि तत्रैव प्रयुक्तमिति मन्तव्यम् ।**

धारण करनेवाला कहा गया है। सन्यासी यज्ञोपवीत धारण करने वाला होता नहीं। राजा के प्रकरण में पाशुपतदीक्षा का विधान ही सन्यासविधि माननी चाहिये। अत्याश्रमपद भी पाशुपत दीक्षा के विधान के लिये ही प्रयोग किया गया है, ऐसा मानना चाहिये। रघु आदि राजाओं के सन्यास का श्रवण पुराणादिकों में मिलता नहीं है। इसलिये ही कालिदास जो ने शरीरान्त के समय रघु आदि परम धर्मात्मा राजाओं को योग से ही शरीर त्यागनेवाला कहा है, सन्यास लेकर शरीर त्यागनेवाला नहीं कहा। अतः सिद्ध होता है कि क्षत्रियों को सन्यास का विधान नहीं। सुलभा का दण्डग्रहण भी निष्प्रमाण है।

---

८०. **'संन्यासावस्थायामयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः'** (नारद परिव्रा० ३.७७) इस श्रुति के अनुसार संन्यासी यज्ञोपवीती नहीं होता। कदाचित् **'कुटीचको शिखा यज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः'**(नारद परि० ५.१), **'शिखी यज्ञोपवीतीस्यात्त्रिदण्डी सकमण्डलुः'** (सूत संहिता २.६.३-५) इन वचनों के अनुसार यज्ञोपवीती कुटीचकादिको और अयज्ञोपवीती हंसादिको मानें तो भी ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार सिद्ध होता है। **'कथं ब्राह्मणः'** से यह स्पष्ट है कि यदि प्रकृत में क्षत्रिय और वैश्य का भी संन्यास में अधिकार होता तो अयग्योपवीती ब्राह्मण के लिये **'कथं ब्राह्मणः'** के समान **'कथं क्षत्रियः'**, **'कथं वैश्यः'** ऐसा भी सुना जाता। क्योंकि ऐसा नहीं सुना जाता है, अतः उनका संन्यास में अधिकार नहीं है। ऐसी स्थिति में **श्वेत**यज्ञोपवीत धारण करने के कारण श्वेताश्वतर गृहस्थ ही मान्य हैं। कदाचित् वे कुटीचक कोटि के संन्यासी मान भी लिये जाँय तो भी ब्राह्मणेतर का संन्यास में अधिकार न होने से शिष्य पाशुपतदीक्षा नामक

रघ्वादीनामपि राज्ञां न सन्यासश्रवणम् । अत एव कालिदासेनापि [८१]'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' **(रघु० १.८) इत्युक्तम् ।**

किञ्च महाभारते निर्वेदाद्युधिष्ठिरेण राज्यनिराचिकीर्षता यदुक्तम् —

[८२]"अथवैकोहमेवात्र वनेष्वस्मिन् वनस्पतौ ।
चरन्भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम् ।।

उनके जिस दण्ड का वर्णन है वह तो गो-सर्प के निवारण के लिये नीलकण्ठचतुर्धर ने भिक्षुकी शब्द के आधार पर कल्पना किया है। वस्तुतः सुलभा ने दण्ड नहीं लिया।

संन्यासदीक्षा से ही सम्पन्न मान्य है। 'यज्ञोपवीती ब्राह्मण भी संन्यास की दीक्षा दे सकता है' यह कथन अप्रशस्त होने से अश्लाघ्य है। शास्त्रों में अवरवर्ण और आश्रम के व्यक्ति को गुरु बनाना उत्कृष्ट नहीं माना गया है (द्रष्टव्य महा० शान्ति० ३२०,५६.६०, सूतसंहिता ३.५)। 'कुटीचक और बहूदक ब्राह्मणेतर भी हो सकता है।' यह कथन भी उचित नहीं। **'न्यसेद्विप्रः कुटीचके'** (सूत० २.४.३०)='मुमुक्षा हीन और अशक्त ब्राह्मण कुटीचक संन्यास ग्रहण करे।' इस वचन के अनुसार कुटीचक और बहूदक यद्यपि शिखासूत्रधारी होते हैं; परन्तु वर्ण से ब्राह्मण ही।

८१. "शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।।"

(रघुवंश १.८)

"(रघुवंशी राजा लोग) बालकपन में विद्याभ्यास करनेवाले, युवावस्था में भोग की इच्छावाले, वृद्धावस्था में मुनिवृत्तिवाले और अन्त में योग से शरीर त्याग करनेवाले होते थे।।"

८२. अथवा मैं मूड़ मुड़ाकर मननशील संन्यासी हो जाऊँगा एक-एक दिन एक-एक वृक्ष से भिक्षा माँगकर अपने शरीर को सुखा दूँगा।

[८३]पांसुभिः समभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥
[८४]न शोचन्न प्रहृष्यँश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥
[८५]आत्मारामः प्रसन्नात्मा जडान्धबधिराकृतिः ।
अकुर्वाणः परैः काञ्चित्संविदं जातुकैरपि ॥
[८६]जङ्गमाजङ्गमान्सर्वानविहिंसँश्चतुर्विधान् ।

(शान्तिपर्व ९.१२-१५½)

तत्तु अर्जुनस्येव तस्यापि दुःखान्मोहाद्वा तथोक्तिः । अत एव त्रयोविंशेऽध्याये व्यासवचनम् —

महाभारत में वैराग्य के कारण राज्य न चाहनेवाले युधिष्ठिर ने **'अथवैकोहं'** इत्यादि श्लोक से जो कुछ कहा है, वह अर्जुन की तरह दुःख तथा मोह के कारण है न कि यथार्थ । इसलिये ही २३वें अध्याय में व्यास का वचन है कि–'हे युधिष्ठिर गृहस्थ का परित्याग करके आपके लिए संन्यास का विधान है नहीं ।' तथा 'हे राजेन्द्र ! क्षत्रिय का धर्म दण्ड देना है । मुण्डन (संन्यास) क्षत्रिय का धर्म नहीं है ।'

---

८३. धूल से आच्छन्न किसी शून्य स्थान अथवा वृक्ष की जड़ को ही अपने रहने का स्थान बनाऊँगा । सर्व प्रिय तथा अप्रिय का त्यागी होकर रहूँगा ।

८४. शोक-मोह को त्यागकर स्तुति तथा निन्दा को समान मानता हुआ, आशा और ममता को त्यागकर निर्द्वन्द्व हो जाऊँगा तथा कभी किसी वस्तु का संग्रह नहीं करूँगा ।

८५. आत्मा के चिन्तन में ही सुख का अनुभव करूँगा । मनको सदा प्रसन्न रखूँगा । कभी किसी दूसरे के साथ कोई बातचीत नहीं करूँगा । गूँगे, अन्धों और बहिरों के समान न किसी से कुछ कहूँगा, न किसी को देखूँगा और न किसी की सुनूँगा ।

८६. चार प्रकार के समस्त चराचर प्राणियों में से किसी की हिंसा नहीं करूँगा ।

"न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते।"

(शान्तिपर्व २३।३)

तथा —

"दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम्।"

(शान्तिपर्व २३।४७)

यदुक्तम् —

"आतुराणाञ्च सन्यासे न विधिर्नैव च क्रिया।
प्रैषमात्रं समुच्चार्य सन्यासं तच्च पूरयेत् ॥"

इति भारतवाक्यम्, तदसत्। भारते तदर्शनात्[८७]**। श्रुतिष्वातुरेऽपि विधिदर्शनाच्च**—'आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः।' **(नारद परि० ५, संन्यासोप० ५६)।**

'यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा संन्यसेत्' (जाबालोप० ५), "कर्मसंन्यासोऽपि द्विविधः निमित्तसंन्यासोऽनिमित्तसंन्यासश्चेति। निमित्तस्त्वातुरः, अनिमित्तः क्रमसन्यासः। आतुरः सर्वकर्मलोपः प्राणस्योत्क्रमणकालसंन्यासः सनिमित्तसंन्यासः।"

(नारदपरिव्राजकोपनिषत् ५)

जो यह कहा कि—**'आतुराणां'** इत्यादि महाभारतवचन, आतुरसन्यास में विधि और क्रियाका निषेध करनेवाला है, यह कहना भी असत्य है, क्योंकि महाभारत में यह वचन नहीं देखा गया है तथा **'आतुरेऽपि'** इत्यादि श्रुतियों में आतुरसंन्यास में भी विधि देखी गई है।

---

८७. कदाचित् महाभारत के किसी संस्करण में या अन्य किसी ग्रंथ में इस प्रकार का वचन उपलब्ध भी हो तो भी आतुर-संन्यास में विधि और क्रिया का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों को मुख्य प्रमाण मानकर ही इस प्रकार के कथन की संगति साधनी चाहिये।

आतुरकालः कथमार्यसंमतः —

"प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालस्त्वातुरसंज्ञकः ।
नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तकः ॥[८८]
आतुरेऽपि च सन्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम् ।
मन्त्रावृत्तिं च कृत्वैव सन्यसेद्विधिवद्बुधः ॥[८९]
आतुरेऽपि क्रमे वाऽपि प्रैषभेदो न कुत्रचित् ।
न मन्त्रं कर्मरहितं कर्म मन्त्रमपेक्षते ॥[९०]
अकर्म मन्त्ररहितं नातो मन्त्रं परित्यजेत् ।
मन्त्रं विना कर्म कुर्याद् भस्मन्याहुतिवद्भवेत् ॥[९१]
विध्युक्तकर्मसंक्षेपात्सन्यासस्त्वातुरः स्मृतः ।
तस्मादातुरसन्यासे मन्त्रावृत्तिविधिर्मुने ॥[९२]

(नारदपरिव्राजकोपनिषत् ३.४-८)

'यद्यातुरोवाग्नि न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः ।'[९३] (परमहंस परिव्राजकोपनिषत्) ।

---

८८. प्राणों के निकलने के समीप काल को आतुरकाल नाम दिया है । इससे अतिरिक्त और कोई काल, मुक्तिमार्ग प्रवर्तक आतुर-काल नहीं है ।

८९. आतुरसन्यास में भी उस-उस मन्त्रपूर्वक तथा मन्त्रों की आवृत्ति करके विद्वान् विधिसहित सन्यास करे ।

९०. आतुरसन्यास अथवा क्रमसंन्यास में कहीं भी प्रैष का भेद नहीं है । कोई मन्त्र कर्मरहित नहीं है तथा कर्म भी मन्त्र की अपेक्षा करता है ।

९१. मन्त्र से रहित कर्म अकर्म (निष्फल) होता है । इसलिये कर्म में मन्त्र का परित्याग न करे, यदि मन्त्र के बिना करे तो वह भस्म में आहुति के समान निष्फल होता है ।

९२. विधान किये कर्मों के संक्षेप होने से आतुर सन्यास कहा गया है । इसलिये हे मुने ! आतुर-सन्यास में मन्त्रों की आवृत्ति का विधान है ।

९३. यदि आतुरपुरुष अग्नि को न प्राप्त कर सके तो जल में ही हवन करे; क्योंकि जल सर्वदेवमय है ।

यदुक्तम्—

त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
त्यजतैव हि विज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परंपदम् ॥

इति भाल्लविश्रुतेः, तदपि श्रुतिषु नोपलभ्यते । उपलम्भे तु 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ती'**ति विशेषानुसारेणैव नयनमुचितम् ।**[६४]

जो यह कहा कि—'सर्व के लिये त्याग (सन्यास) ही उत्तम मोक्ष का साधन है, त्यागनेवाले के द्वारा ही त्यागकर्ता का अन्तरात्मा-रूप परमपद विज्ञेय (जानने योग्य) है' इस भाल्लविश्रुति से सर्व का सन्यास सिद्ध होता है ।

---

६४. श्रीभगवत्पादशङ्कर के द्वारा उद्धृत श्लोक (मन्त्र) में आरम्भ के दो चरण भिन्न हैं । यथा —

"मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम् ।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम् ॥"

(केनोपनिषत् ४.७ शां. पदभाष्य)

श्रीआनन्दगिरिजी के द्वारा उद्धृतवचनों में अन्तिम दो चरण उपलब्ध हैं । द्रष्टव्य ईशावास्योपनिषत् १ व्याख्या ।

ध्यान रहे, दोनों प्रकार के वचन त्याग के अद्भुत-माहात्म्य बताने में प्रयुक्त हैं । इन वचनों के आधार पर 'सबके लिये संन्यास-आश्रम विहित है' ऐसा सिद्ध नहीं होता । अविद्या और काम के त्याग से भी सर्वत्याग मान लिया जाता है । अविद्या और काम अर्थात् कर्मासक्ति, फलासक्ति, अहंकृति, नानात्वबुद्धि और अभिनिवेशविरहित कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं—**'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'** (भगवद्गीता ४.१८), **'तस्य कार्यं न विद्यते'** (भगवद्गीता ३.१७) । तत्त्वज्ञ द्वारा अविद्या और काम के साथ ही नित्य-नैमित्तिक और प्रायश्चित्तरूप कर्मों का ऋषभादि की तरह स्वरूपतः त्याग किये जाने पर भी बाह्याभ्यन्तर त्याग के कारण उक्त-वचनों की सार्थकता हो जाती है । ऐसा होने पर भी 'सर्व वर्णों का सलिङ्गसन्यास में अधिकार है' यह सिद्ध नहीं होता;

'अथ परिव्राड्विवर्णवासो मुण्डोऽपरिग्रही शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय कल्पते (भवति)' **इति जाबालश्रुतिः (जाबालोपनिषत् ५)**

"ऋणत्रयमपाकृत्य निर्ममो निरहंकृतः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽथ वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात् ॥[६५]
त्रैवर्णिकानां सन्यासो विद्यते नात्र संशयः ।
शिखायज्ञोपवीतानां त्यागपूर्वैकदण्डयुक् ॥"[६६]

यह वचन, श्रुतियों में मिलता ही नहीं है। यदि मिले भी तो इसका भी नयन (गति) **'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'** इस विशेषवाक्य के अनुसार ही करना उचित है । इसी प्रकार **'अथ परिव्राड्'** यह सामान्य जाबालश्रुति भी विशेषश्रुति की अनुसारिणी है, ऐसा समझना चाहिये । **'ऋणत्रयमपाकृत्य'** इत्यादिक ब्रह्माण्डपुराण के वचन, त्रैवर्णिक सन्यास की सिद्धि में कहे जाते हैं । वे वचन ब्रह्माण्डपुराण में न मिलने से ही अर्थशून्य हैं । त्रैवार्णिकसन्यास के साधक नहीं हैं । विदुर जी तो तत्त्वज्ञाननिष्ठ थे, इसलिये 'ज्ञान ही सन्यास का लक्षण है ।' इस रीति से विदुरजी का तो ज्ञाननिष्ठारूप ही सन्यास था । लिङ्ग

क्योंकि नारदपरिव्राजकोपनिषत् में जहाँ त्याग की महिमा का प्रतिपादन है, वहीं 'ब्राह्मण का संन्यास में अधिकार है' ऐसा भी । यथा—

"यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ।
तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये ॥
विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तु गृहे वसेत् ।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन्हि **द्विजाधमः** ॥
यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः ।
संन्यसेदकृतोद्वाहो **ब्राह्मणो** ब्रह्मचर्यवान् ॥"

(नारदपरिव्राजकोपनिषत् ३.१२–१४)

६५. तीनों ऋणों को निवृत्त करके ममता तथा अहंकार से रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गृहस्थाश्रम से सन्यास ग्रहण करले ।

६६. शिखा तथा यज्ञोपवीत के त्यागपूर्वक, एक दण्ड से युक्त सन्यास तीनों वर्णों को है, इसमें कोई संशय नहीं ।

इति ब्रह्माण्डपुराणवचनन्त्वनुपलम्भपराहतम् । विदुरस्तु तत्त्वनिष्ठ एव आसीदिति [९७]'ज्ञानं सन्यासलक्षणमि' (**नारदपरि० ३.१६**) **ति रीत्या तस्य ज्ञाननिष्ठैव संन्यासः । तदुक्तम्** —

'ज्ञानदग्धशरीराणां पुनर्दाहो न विद्यते ।'
दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं यथा ।
ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न च श्राद्धं न च क्रिया ।।[९८]

(पैङ्गलोपनिषत् ४.७)

तत एव —

धर्मराजश्च तत्रैनं संचस्कारयिषुस्तदा ।
दग्धुकामोऽभवद्विद्वानथवागभ्यभाषत ।।
भो भो राजन् न दग्धव्यमेतद्विदुरसंज्ञकम् ।
कलेवरमिहैवं ते धर्म एष सनातनः ।।
यतिधर्ममवाप्तोऽसौ नैव शोच्यः परन्तप ।।

(आश्रमवासिक० २६.३१-३३)

सन्यास नहीं था । 'ज्ञानाग्नि से दग्ध शरीरवाले पुरुष की दाह तथा श्राद्धादिक क्रिया आवश्यक नहीं' ऐसा पैङ्गलोपनिषदादि में कहा है ।

इसलिये ही "विद्वान् धर्मराज युधिष्ठिर ने जैसे ही विदुर के शरीर के संस्कार करने की इच्छा की वैसे ही आकाशवाणी हुई । हे राजन् ! विदुरनामवाला यह शरीर जलाना नहीं चाहिये । यही आपका सनातन धर्म है । यह तो यतिधर्म (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हो

---

९७. "प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ।।"

(नारदपरिव्राजको० ३.१६)

९८. ज्ञान से दग्ध शरीरवाले ज्ञानियों के शरीर का पुनः दाह नहीं होता । जिस प्रकार पकाए हुए को पुनः नहीं पकाया जाता, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध का पुनः दाह नहीं होता । ज्ञानाग्नि से दग्ध देहवाले ज्ञानीपुरुष की क्रिया तथा श्राद्ध नहीं होता ।

तावताऽपि न शूद्राणां वैधलिङ्गसन्यासः शक्यसमर्थनः। सन्यास-विधायकवाक्येषु ब्राह्मणग्रहणेन राजसूये क्षत्रियाणामिव ब्राह्मणानामेव सन्यासेऽधिकारात् ।

यत्तु—

सा त्वेनमब्रवीद्राजन् क्रियतां मदनुग्रहः ।
प्राव्राज्यमहमिच्छामि तपस्तप्स्यामि दुश्चरम् ॥

(उद्योग पर्व० १७५।४१) इत्यादिभिरपि न स्त्रीणां सन्यासः सिद्ध्यति तत्र प्राव्राज्यपदेन निवृत्तेरेव विवक्षितत्वात् । अत एव दुश्चरतपश्चर्यैवोक्ता । 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।' इति भगवद्वाक्येऽपि भगवद्भक्त्या स्त्र्यादीनामपि सद्गतिरेवोक्ता न सन्यासविधानम् (भगवद्गीता ९.३२) ।

गया है। अत: यह शोक करने के योग्य भी नहीं है।" इस आश्रमवासिकपर्व के वचनों के अनुसार ज्ञाननिष्ठ होने से आकाशवाणी ने विदुर को अदाह्य तथा अशोच्य कहा है, न कि सन्यासी होने के कारण। अत एव श्लोक में 'यति हो गया है' ऐसा न कहकर 'यतिधर्म (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हो गया है' ऐसा ही कहा है। इस विदुर के प्रसंग से भी शूद्रों के लिये सलिंगसन्यास विहित है, यह समर्थन नहीं किया जा सकता।

उसने कहा "हे राजन्! मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिये। मैं प्राव्राज्य (निवृत्ति) चाहती हूँ; क्योंकि मैं कठोर तपस्या करूँगी।" इत्यादि उद्योगपर्व के वचनों से भी स्त्रियों का सन्यास सिद्ध नहीं होता। इसलिए उसने कठोर तपस्या करने को कहा है। सन्यास तपस्या के लिये नहीं होता; अपि तु ज्ञाननिष्ठा के लिये लिया जाता है। अत: श्लोक में '**प्रव्रज्या**' शब्द का अर्थ सन्यास नहीं; अपितु निवृत्ति ही विवक्षित है।

"स्त्री, शूद्र तथा वैश्य भी परमगति को प्राप्त हो जाते हैं" इस गीता के वाक्य में भी भगवान् ने स्त्री, शूद्र आदिकों की सद्गति तो कही है, सन्यास का विधान नहीं किया है। यदि स्त्री, शूद्रादि को भी ब्राह्मण के समान परमगति (सद्गति) के लिये सन्यास की अपेक्षा होती तो भगवान् उनके लिये भी सन्यास का विधान अवश्य करते।

यत्तु —

"प्रव्रज्यावसिता यत्र त्रयो वर्णा द्विजातयः।
विवासं कारयेद्विप्रं दास्यं क्षत्रियवैश्ययोः ॥"

इति कात्यायनवाक्यविहितप्रायश्चित्तसंसूचितार्थापत्तेः, उक्त बहुस्मृतिप्रामाण्यान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थस्य क्षत्रियकृततुर्याश्रमस्यानुपपत्तेश्च सत्त्वात् तत्सिद्धिरिति तदपि यत्किञ्चित्। कात्यायनसूत्रस्मृत्यादौ तद्वचनानुपलम्भात्। तादृशस्मृतीनां सिद्धान्तानुसारेण [६६]**श्रुत्यनुसारेणैव नेयत्वात्। श्रुतयस्तु तथाविधाः नोपलभ्यन्ते।**

और जो यह कहा गया है कि "**प्रव्रज्यावसिता**" इस कात्यायन के वाक्य से सन्यास से पतन हो जाने पर तीनों वर्णों के लिये प्रायश्चित्त कथन किया गया है, वह तभी संभव है जबकि तीनों वर्णों के सन्यास का विधान हो तथा बहुत-सी उन स्मृतियों का जिनमें क्षत्रिय को सन्यास लेना कहा है, प्रामाण्य तभी संभव है, जबकि क्षत्रियों का सन्यास स्वीकार किया जाय। तीनों वर्णों के संन्यास की विधि के विना प्रायश्चित्त की अनुपपत्ति तथा क्षत्रियों को सन्यास की बोधक स्मृतियों के प्रामाण्य की अनुपपत्ति से त्रैवर्णिक सन्यास की सिद्धि होती है।" यह कहना भी सारयुक्त नहीं है, क्योंकि–कात्यायन मुनि के नामसे

---

६६. श्रुतिविरुद्धस्यापि स्मार्तवचननिचयस्य सर्वथाऽप्रामाण्यपरिजिहीर्षया श्रुत्यनुकूल एवार्थः परिकल्पनीयः। तत्र '**त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः**' इति छन्दोगसूत्रस्यायमर्थः—त्रयाणां वर्णानां यथोदितं चत्वार आश्रमा इति औचित्यं श्रुत्यविरोधाय ब्राह्मणस्यैव तुर्याश्रमाधिकारविधौ नान्यत्रैवर्णिकानां संन्यासो विद्यते, नात्र संशयः "**शिखायज्ञोपवीतानां त्यागपूर्वकदण्डयुक्**" इति ब्रह्माण्डपुराणमपि छन्दोगसूत्रसमानार्थम्। यच्च ब्रह्मवैवर्तवचनम्—"**वैराग्योत्पत्तिमानेव संन्यासे परियुज्यते। रागवान्न तु विप्रोपि वेदवेदांगवित्तमः॥**" इति वेदवेदाङ्गवित्तमोपि विप्रो रागवांश्चेत्तर्हि संन्यासे न युज्यत इत्यन्वयः। एवञ्च–विरक्तस्य विप्रस्यैवाधिकारोऽभिहितो न क्षत्रियादेः। यच्च स्मृत्यन्तरम्—"**ऋणत्रयमपाकृत्य निर्ममो निरहंकृतः। ब्राह्मणः क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्॥**" इति, तस्या-

यत्तु 'अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातकोऽस्नातको वोत्सन्नाग्निको वाऽनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' **(नारदपरिव्राजकोपनिषद् ३.७७) इति द्विजातीनां सर्वेषां सन्यासाधिकारः सिध्यतीति तदपि यत्किञ्चित् । तस्या अपि श्रुतेर्ब्राह्मणविषयकत्वोक्तेः ।**

यत्तु —

"सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥"

उद्धृत किया प्रायश्चित्त बोधकवाक्य, कात्यायनसूत्र तथा कात्यायनस्मृति में मिलता ही नहीं, तब उससे त्रैवर्णिकसन्यास की सिद्धि तो अत्यन्त दूर है। जो स्मृतियाँ क्षत्रिय के सन्यास का बोधक हैं, उनका प्रामाण्य श्रुति से विरुद्ध होने से ही समाप्त है। श्रुति ऐसी मिलती नहीं, जिसमें क्षत्रिय आदिकों के सन्यास का विधान हो। तथा जो **"अथ पुनरव्रती वा"** इस नारदपरिव्राजक उपनिषद् की सामान्यश्रुति से त्रैवणिक सन्यास की सिद्धि होती है, ऐसा कहा गया है, वह कथन भी बलहीन है। वह श्रुति भी ब्राह्मण को ही सन्यास

यमभिप्रायः—गृहात् प्रव्रजेद्वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् । प्रव्रज्या शब्दो यद्यपि संन्यासे रूढस्तथाप्यत्र श्रुतिविरोधपरिहाराय तृतीयाश्रम परस्याऽपि वैराग्य हेतुकत्वात् । यद्वा-यदा ब्राह्मणः स्ववृत्तावजीवन्क्षत्रियवृत्तिमाश्रितस्तत्राप्यजीवन्वैश्यवृत्तिं ततस्तामापदं निस्तीर्यापि न वर्णान्तरवृत्तिं परित्यजति किन्तु तत्रैवावस्थितस्तदा तत्तत्क्षत्रियादिवृत्तिजीवनेन स एव ब्राह्मणः क्षत्रिय वैश्य इति च व्यपदिश्यते शास्त्राननुज्ञातकालेऽपि क्षत्रियादिवृत्तिनिरतत्वात्तस्यापि प्रव्रजेदिति प्रव्रज्याधिकारं दर्शयति । अत एव—**"ब्राह्मणः क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्"** इत्यत्राथशब्द उपात्तः, ब्राह्मण एवाथानन्तरं क्षत्रियवृत्त्याश्रयणात् क्षत्रियः, अथ वैश्य इत्यानन्तर्यप्रतिपादनादयमर्थो गम्यत इत्यर्थः । एतेन **"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्ततो गच्छेद्वनं गृही । संन्यसेद्वाथ वा शान्तः ।"** इत्येतदपि व्याख्यातम् । एवञ्च मनुदत्तात्रेयादिवचनान्यप्यनुकूलानि भवेयुः । तस्माच्छ्रुतिविरोधपरिहारायान्यान्यपि विरुद्धवचनानि ज्ञेयानि (वंशीधरी भागवत ११.१८.४१) ।

"यत्रैतन्न भवेत्सर्वं तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥"

(महाभा० वनपर्व० १८०.२१, २६)

इति ब्राह्मणलक्षणलक्षितस्य त्रैवर्णिकस्य सन्याससिद्ध्यर्थमेव सन्यासविधायकवाक्येषु ब्राह्मणग्रहणमिति, तदपि यत्किञ्चित्। तथा सति कर्मणा वर्णव्यवस्थापत्तेः। न चेष्टापत्तिः 'चातुर्वर्ण्य-संस्कृतिविमर्शे' विस्तरेण तत्खण्डितत्वात्।

यदपि 'ब्रह्मभवितुकामस्य मुमुक्षोरेव ब्राह्मणपदार्थत्वमि'**ति तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्।** 'ब्राह्मोऽजातौ, **इति रीत्याऽजात्यर्थे 'ब्राह्मण' पदस्यैवासिद्धेः। यदपि विद्वत्सन्यासपक्षे** "ब्रह्मविदेव ब्राह्मणः" **इति तदपि यत्किञ्चित्।**[१००] **निर्मूलत्वात् ब्रह्मविदि ब्राह्मणशब्द-**

कह रही है, क्योंकि **'ब्राह्मणः'**, **'द्विजः'** (३.१२-१४) कहने से इस श्रुति में और अन्य श्रुतियों में स्पष्ट ब्राह्मण शब्द है; अतः यह भी ब्राह्मण का ही सन्यास कह रही है। जो वनपर्व में यह लिखा है कि "जिसमें सत्य, दान, क्षमा, शील, अहिंसा, तप तथा दया आदिक सद्गुण दिखाई देते हैं, वह ब्राह्मण है। जिसमें दया, क्षमा, दानादिक सर्वगुणों का समुदाय न हो, उसको 'शूद्र' ऐसा निर्देश करे। पूर्वोक्त दया, दानादि लक्षणों से युक्त त्रैवर्णिक ब्राह्मण के सन्यास की सिद्धि के लिये ही सन्यास की विधि करनेवाले वाक्यों में ब्राह्मण का ग्रहण किया है, इससे भी त्रैवर्णिक सन्यास-सिद्ध होता है।" यह कथन भी सारहीन है। क्योंकि ऐसा मानने पर कर्म से वर्णव्यवस्था माननी पड़ जायगी। यदि कहा जाय कि 'कर्म से वर्णव्यवस्था मानना तो इष्ट है' यह कहना उचित नहीं; क्योंकि कर्म से वर्णव्यवस्था पक्ष का "चातुर्वर्ण्य संस्कृति विमर्श" ग्रंथ में (मेरे द्वारा) विस्तार से खण्डन किया गया है।

---

१००. **ननु** यदि भवेद्ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मणत्वजातिर्वाच्योर्थ-स्तर्हि तस्योद्देश्यत्वेन विवक्षितत्वात् क्षत्रिय वैश्ययोः प्रव्रज्यायां मा भूदधिकारः। न च तथा ब्राह्मणत्वजातिरर्थः, अपि तु ब्रह्मवेदस्तन्नि-ष्ठास्तदध्ययनवन्तो ब्राह्मणा इति वेदाध्ययनवत्त्वमेकोनुगतो धर्मः स च ब्राह्मणशब्दस्यार्थः। तथा च वेदाध्ययनवत्त्वरूपेणैकेनोपाधिना ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यास्त्रयोऽपि क्रोडीकृताः स्युः। एवं च ब्राह्मणोद्देश्येन

स्याशक्तत्वात् । "जन्मना जायते शूद्रः ब्रह्मज्ञानाच्च ब्राह्मणः" **इति वाक्यन्तु कुत्रापि प्रामाणिकस्मृतिषु नोपलभ्यते ।**

'जो यह कहा जाता है कि 'ब्रह्म होने की इच्छावाला मुमुक्षु को ही ब्राह्मण कहा गया है' यह कहना भी सारहीन है; क्योंकि जाति से भिन्न अर्थ में ब्राह्मण पद व्याकरण से ही सिद्ध नहीं तथा अतिरिक्त कोई प्रमाण भी नहीं है। जो विद्वत्सन्यास पक्ष में कहा गया है कि— 'ब्रह्मवेत्ता ही ब्राह्मण है। यह भी उचित नहीं, क्योंकि इस कथन का कोई मूल नहीं तथा ब्राह्मण शब्द की ब्रह्मवेत्ता में शक्ति भी नहीं है।

प्रव्रज्याविधानात् त्रयाणामपि वर्णानां प्रव्रज्याधिकारोस्त्विति **चेत् ।**

मैवं, यथा क्षत्रियशब्दस्य क्षत्रियत्वं वैश्यशब्दस्य वैश्यत्वं गोशब्दस्य गोत्वं तथा ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मणत्वमेवार्थ इति शेषजैमिनि-बादरायणादिभिरङ्गीकृतं, तद्व्याहन्येत तथा चोक्तव्याघातभयाद् ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मणत्वं वेदाध्ययनवत्त्वं चोभयमपि वाच्यत्वेन परिकल्प्येत तदा **'अन्यायश्चानेकार्थत्वम्'** इति तान्त्रिकैरेकस्यानेकार्थत्वं विरुद्धं तेन न्यायेन सह विरोधः स्यात् ।

अथैवं ब्रूषे—**'अन्यायश्चानेकार्थत्वम्'** इति न्याये जाग्रत्यपि गवादिशब्दानां यथानेकार्थत्वं तथा ब्राह्मणशब्दस्याप्यनेकार्थत्वमस्त्विति,

न चैतदुचितम् । अगतिका हीयं गतिर्यदनेकशक्तिकल्पनयाप्यनेकार्थत्वस्वीकरणम् । शब्दार्थज्ञाने वृद्धव्यवहारः प्रमाणम् । वृद्धा हि गवादिशब्दानामनेकशक्तिकल्पनयानेकार्थत्वमङ्गीकुर्वते न ब्राह्मणशब्दस्य, अत एवाभिधानकारैरपि गवादिशब्दा अनेकार्थवर्गे पठितास्तेषामपि व्यवहारः शब्दश्लेषादिष्वेव न शास्त्रार्थनिर्णये । शास्त्रार्थपरिज्ञाने तु प्रसिद्धार्थस्यैव ग्रहणं नेतरस्य, इतरस्यापि ग्रहणे गोपशुविधायकवाक्ये प्रतिग्रहनिवृत्तये गां दद्यादित्येवं रूपे सास्नाद्युपेतगोपिण्डव्यतिरिक्तस्यापि दिग्दृष्ट्यादेरपि ग्रहणं स्यान्न च गृह्यते, तस्माच्छास्त्रार्थनिर्णयेषु प्रसिद्धार्थस्यैव ग्रहणं युक्तं विपरीतार्थद्योतकवाक्यशेषाद्यभावे, अतोऽनेकशक्तिकल्पनाभयाद् ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मणत्वजातिरेवार्थः । (वंशीधरी भागवत ११.१८.४१)

"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ।।"

(मनु० १०.७४)

'जन्मना ब्राह्मणः श्रेयान्', 'जन्मतो ब्राह्मणः प्रभुः' (**भविष्य०** २.५.१), 'जन्मनो नाम भगवान् जन्मप्रभृति पूज्यते ।' (**शान्ति०** २६६. १२) **इत्यादि विपरीतस्मृत्युपलम्भाच्च । क्वचित् सत्त्वे शूद्रसम एव तदर्थः । न हि जन्मना शूद्रस्य संस्कारोऽपि सम्भवति ।** 'वसन्ते ब्राह्मण-मुपनयीत' **इत्यादिषु शूद्राणामुपनयनकल्पनाया अपरामर्शात् ।**

[१०१]"न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।"

अर्थात् ब्राह्मणशब्द ब्रह्मवेत्ता का वाचक नहीं है । 'जन्म से शूद्र ही पैदा होता है, ब्रह्मज्ञान से ब्राह्मण होता है' यह वाक्य भी प्रामाणिक स्मृतियों में नहीं मिलता, साथ ही जन्म से शूद्र मान लेने पर तो संस्कार भी संभव नहीं है । क्योंकि 'वसन्तऋतु में ब्राह्मण का उपनयन करावे', इत्यादिक वेदवाक्यों में ब्राह्मण का तो वसन्त ऋतु में उपनयन का विधान है, शूद्र का नहीं । यदि जन्म से कोई ब्राह्मण होता ही नहीं है, जन्म से सर्व शूद्र ही होते हैं, तो 'शूद्र का वसन्त ऋतु में उपनयन करावे' ऐसा विधान होना चाहिए था, किन्तु ऐसा विधान कहीं नहीं, अतः सिद्ध होता है कि ब्राह्मण आदिक जातियाँ जन्म से ही हैं ।

यद्यपि **'न यस्य जन्मकर्मभ्यां'** इस वाक्य में जन्म-कर्म-जाति आदि के अभिमान से रहित पुरुष को ब्राह्मण कहा है, तथापि इसमें भी सार नहीं है; क्योंकि ऐसा ब्राह्मणपना प्राप्त हो जाने पर तो "मैं ब्राह्मण हूँ, मैं सन्यासी बनूँ" ऐसा उसको अभिमान नहीं, न इच्छा ही है तो शास्त्रविधि से सन्यास लेने में प्रवृति ही संभव नहीं, न वेषमात्र के सन्यास लेने में ही प्रवृत्ति संभव है । स्मृतियों में ब्राह्मणों के भी

---

१०१. "न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ।।"

(भागवत० ११.२.५१)

इत्यपि यत्किञ्चित्। तादृशे ब्राह्मण्ये लब्धे शास्त्रीयाधिकारमुल्लंघ्य वेषसन्यासधारणे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। स्मृतिषु ब्राह्मणेष्वेव दशविधत्वमुक्तम्। ब्राह्मणशूद्रब्राह्मणवैश्यब्राह्मणराजन्यब्राह्मणब्राह्मणादिभेदा उक्ताः।

तथा च न जातिमात्रेण मुख्यं ब्राह्मण्यं किन्तु यस्य जन्मकर्मणादिभिर्देहादावहंभावो न सज्जते तमेव देवा मुख्यं ब्राह्मणं विदुः। यदपि 'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते' **(बोधायनस्मृतिः २.६.४१) इत्यत्र ब्राह्मणशब्दो यथा वर्णत्रयोपलक्षकस्तथैव सन्यासप्रसंगेऽपि ब्राह्मणशब्दो वर्णत्रयोपलक्षक इति तदपि यत्किञ्चित्**[१०२]**। ऋणापाकरणहेतु यज्ञाध्ययनदानादिषु राजन्यवैश्ययोः स्वशब्देनापि तत्र तत्रा-**

ब्राह्मणशूद्र, ब्राह्मणवैश्य, ब्राह्मणक्षत्रिय, ब्राह्मणब्राह्मणादि अनेकभेद कहे हैं। अतः जहाँ चारों वर्णों के लिये सन्यासविधि हो भी तो वहाँ चारों प्रकार के ब्राह्मणों के लिये ही समझना चाहिये।

जो ऐसा कहना है कि "जातिमात्र से ब्राह्मण नहीं होता; किन्तु जन्म,कर्म,जाति आदिके अभिमान से रहित को ही ब्राह्मण कहा जाता है तथा 'उत्पन्न हुआ ब्राह्मण तीन ऋणोंसे युक्त ही उत्पन्न होता है' इस वाक्य में ब्राह्मणशब्द तीनों वर्णों का उपलक्षक है, उसी प्रकार सन्यास के प्रसंग में भी तीनों वर्णों का उपलक्षक है; अतः तीनों वर्णों का संन्यास सिद्ध होता है।" यह कथन भी उचित नहीं। क्योंकि ऋण की निवृत्ति के कारण यज्ञ, अध्ययनादि कर्मों में अधिकार क्षत्रिय तथा वैश्य का शास्त्र में स्पष्ट श्रवण होता है। अतः ऋण बोधकवचन में

---

१०२. दृष्टान्तदर्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्। तथाहि–**'ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः'** इति, वाक्यशेषे ब्रह्मचर्यादिभिऋष्याद्यृणत्रयापाकरणप्रतीतेर्ब्रह्मचर्यादिषु च त्रैवर्णिकस्याधिकारात्फलचमसवत्। यथा सोमपाने स्थाने ब्राह्मणेतरयोः क्षत्रियवैश्ययोः फलचमसयोर्विहितत्वेनाधिकारस्तथात्राप्यस्त्वित्यर्थः। शाखांतरे–**'यजमानो वै ब्राह्मणः'** इत्यत्रापि त्रैवर्णिकानुप्रवेशाद्युज्यते तत्र त्रैवर्णिकपरत्वं, प्रकृते तु वाक्यशेषाद्यभावान्न त्रैवर्णिकपरत्वम्(वंशीधरी, भागवत ११.१८.४१)।

धिकारश्रवणात् युक्तं ऋणबोधकवचने ब्राह्मणशब्दस्य वर्णत्रयोपलक्षकत्वम् । सन्यासे तु क्वचिदपि श्रुतौ राजन्यवैश्ययोरधिकाराश्रवणात् कथं ब्राह्मणपदं तदुपलक्षकं स्यात् ? अन्यथा कुतो न 'राजा राजसूयेन यजेत' इत्यत्रापि राजपदस्यापि ब्राह्मणवैश्ययोरुपलक्षकत्वं न स्यात् ।

ननु "राजधर्मेषु वर्णधर्मप्रस्तावे—'तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि' (शान्तिपर्व० ६२.१४) इति क्षत्रियवैश्ययोः सन्यासं प्रतिज्ञाय —

कृतकृत्यो वयोऽतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः ।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम् ॥
(शा० पर्व० ६३।१५)

इति वैश्यस्य सन्यासं विधाय –

"वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्राणि चानघ ।"
(शान्तिपर्व० ६३।१६)

इत्यादिकमुक्त्वा –

"अन्तकाले च सम्प्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम् ।
सोऽनुपूर्व्याश्रमान्राजन् गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥"
(शान्तिपर्व० ६३।२१)

ब्राह्मणशब्द को तीनों वर्णों का उपलक्षण मानना उचित है । सन्यास के विषय में तो कहीं भी श्रुति में क्षत्रिय तथा वैश्य का अधिकार श्रवण है नहीं; अतः ब्राह्मणपद तीनों वर्णों के सन्यास का उपलक्षक कैसे हो सकता है ? क्षत्रिय तथा वैश्य का सन्यास के अधिकार का श्रुति में स्पष्ट कथन न होने पर भी ब्राह्मणशब्द को तीनों वर्णों के सन्यास का उपलक्षण मानने पर तो 'राजा राजसूय यज्ञ करे' इस श्रुतिवाक्य में स्थित राजाशब्द को भी ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंका उपलक्षण मानने की आपत्ति हो जायगी; ऐसा किसी प्रकार उचित नहीं ! क्यों कि शास्त्र में राजाशब्द का केवल क्षत्रियजाति के राजा के लिये ही प्रयोग स्वीकार किया है ।

इत्यनेन क्षत्रियस्य सन्यासं विदधाति स्म स एव भगवान् व्यासः" इति, तदपि यत्किञ्चित् । उक्त प्रघट्टके न कस्यापि सन्यास-विधानम् । क्षत्रियस्याश्रमान्तरपदेन वानप्रस्थाश्रमो युज्यते । 'क्षत्रधर्मो-न मुण्डनम्' **(शान्ति० २३.४७)**, 'मुखजानामयं धर्मः' **(देवलदत्तात्रेय-वचनम्)**, **'नान्यवर्णस्य कस्यचित् ।'**

ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो ।
वर्णास्तान्नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥

(महा० शान्ति० ६२.२)

इति निषेधस्य बलवत्त्वात् ।

[१०३]बहिः सूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ञानतत्परः ।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स मुक्तिभाक् ॥

(परब्रह्मोपनिषत् ५)

[१०४]बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः सन्यस्तुमर्हति ।
एकयज्ञोपवीती तु नैव सन्यस्तुमर्हति ॥

(परब्रह्मोपनिषत् १४)

"राजधर्मों में वर्णधर्म के प्रसङ्ग में क्षत्रिय तथा वैश्यों के सन्यास की प्रतिज्ञा करके **'कृतकृत्यः'** इस श्लोक से वैश्य के सन्यास का विधान करने के पश्चात् **'अन्तकाले'** इस श्लोक से भगवान् व्यास जी क्षत्रिय के सन्यास का विधान करते हैं। अतः तीनों वर्णों का सन्यास सिद्ध होता है ।" यह कथन भी सारहीन है । क्योंकि उक्त प्रसंग में किसी के भी लिये सन्यास का विधान नहीं । क्षत्रिय के लिये

---

१०३. योगविज्ञान में तत्पर विप्र (बाह्मण) ब्राह्यसूत्र (यज्ञोपवीत) का त्याग करदे । ब्रह्मभावरूपसूत्र (यज्ञोपवीत) को जो ब्राह्मण धारण करता है, वह मुक्ति का भागी होता है ।

१०४. बाह्य तथा अन्तः उपवीती ब्राह्मण सन्यास का अधिकारी है । एक यज्ञोपवीतवाला सन्यास का अधिकारी नहीं है ।

[१०५]विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तु गृहे वसेत् ।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन्हि द्विजाधमः ॥
[१०६]यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः ।
सन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥

(नारदपरि० ३।१३,१४)

[१०७]सन्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः ।
एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

(सन्यासोपनिषत् २।६)

[१०८]त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम् ।
निर्वाणं सर्वधर्माणामितिवेदानुशासनम् ॥

आश्रमान्तर का विधान किया है सो आश्रमान्तर पद से यहाँ वानप्रस्थ आश्रम का ग्रहण ही उचित है, न कि सन्यास का । क्योंकि 'क्षत्रिय का मुण्डन (सन्यास) धर्म नहीं', 'लिंग सन्यास ब्राह्मण का धर्म है', 'अन्य किसी वर्ण का नहीं,' इत्यादिक निषेध वलवान् हैं, अतः यहाँ क्षत्रिय-वैश्य के सन्यास का विधान नहीं है ।

---

१०५. बुद्धिमान् विरक्त ब्राह्मण ही संन्यास ग्रहण करे, यदि रागवान् है तो गृह में ही रहे । रागयुक्त संन्यासलेनेवाला ब्राह्मणाधम निश्चित नरक को जाता है ।

१०६. जिस ब्राह्मण के जिह्वा, उपस्थ, उदर तथा कर भली प्रकार संयत हैं, वह ब्रह्मचर्यवान् जिसने विवाह नहीं किया है, ऐसा ब्राह्मण सन्यासग्रहण करे ।

१०७. सन्यासी ब्राह्मण को देखकर सूर्यभगवान् स्थान से हट जाते हैं । यह सन्यासी ब्राह्मण मेरे मण्डल का भेदन करके परब्रह्म को प्राप्त हो रहा है ।

१०८. विष्णुभगवान् का लिङ्ग (चिह्न) त्रिदण्ड ब्राह्मणों की मुक्ति का साधन है तथा सर्व धर्मो का निर्वाण–संन्यास है, ऐसा वेद का उपदेश है ।

[१०९]त्यक्त्वा विष्णोर्लिङ्गमन्तर्बहिर्वा यः स्वाश्रमं सेवते नाश्रमं वा।
प्रत्यापत्तिं भजते वातिमूढो नैषां गतिः कल्पकोट्याऽपि दृष्टा ॥
(शाट्यायनीयोपनिषत् १०,२७)

इत्यादि सन्यासविधायकवाक्येषु ब्राह्मणग्रहणस्य जागरूकत्वाच्च।

'ब्रह्मवेदस्तन्निष्ठस्तदध्ययनवान् ब्राह्मणः' इति व्युत्पत्तौ 'ब्राह्मोऽजातौ' इति वचनमेव बाधकम्। अन्यथा राजपदस्यापि राज्यकर्तृत्वेन वैश्यब्राह्मणयोरपि सम्भवेन राजसूयादावपिसमेषामधिकारापत्तेः। तच्चानिष्टमेव, सनातनपारम्पर्यलोपप्रसङ्गात्। समाजिमतप्रवेशापत्तेश्च। 'रूढिर्योगाद्बलीयसी', 'रूढिर्योगमपहरति' **इति न्यायस्य सर्वत्रैव बलीयस्त्वमेव।**

'बहिः सूत्रं' इत्यादिक सन्यास का विधान करने वाले वाक्यों में ब्राह्मण का ग्रहण होने से क्षत्रिय तथा वैश्यको सन्यास का विधान नहीं है। यदि ब्राह्मणशब्द की ऐसी व्युत्पत्ति की जाय कि 'ब्रह्म नाम वेद का है वेद में निष्ठावान् अर्थात् वेद के अध्ययन करनेवाला ब्राह्मण है' तो इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेद के अध्ययन करनेवाले तीनों वर्ण ही ब्राह्मण हैं; अतः ऐसे तीनों वर्णरूप ब्राह्मणों का सन्यास में अधिकार सिद्ध होता है। इस कथनका बाधक 'ब्राह्मोऽजातौ' यह वचन है। अतः तीनों वर्णों का संन्यास सिद्ध नहीं होता। अन्यथा राजाशब्द को राज्य करनेवाले वैश्य तथा ब्राह्मण का वाचक मानलेने पर तो क्षत्रियोचित राजसूयादिक कर्मों में ब्राह्मण तथा वैश्य के अधिकार की आपत्ति हो जायगी। ऐसा मानना अनिष्ट ही है, क्योंकि इस प्रकार तो समस्त सनातनमर्यादा का ही लोप हो जायगा तथा समाजियों के मत में प्रवेश की भी आपत्ति हो जाएगी। योगवृत्ति से ब्राह्मणशब्द वेद के अध्ययनकर्ता का वाचक होता है तथा रूढिवृत्ति से ब्राह्मणजाति का

---

१०९. विष्णुलिंग (दण्डादि) का–बाहर दण्डादिरूप अथवा अन्दर संयम और ज्ञानादिरूप का त्यागकर अपने आश्रम का सेवन करता है अथवा नहीं करता, पर जो अत्यन्तमूढ़ प्रत्यापत्ति को प्राप्त हो जाता है, ऐसे पुरुषों की गति करोड़ों कल्प में भी नहीं देखी है।

न च रूढिवृत्तेरगत्या रथकारन्यायेन यागादिविषय एव चारितार्थ्यमितिवाच्यम्, रूढेरन्यत्र योगवृत्तेरपि चरितार्थत्वाविशेषात् । रूढिप्रसंगे तु यौगिकार्थस्य विलम्बोपस्थितिकत्वेन समुदायार्थस्य शीघ्रोपस्थितिकत्वेन रूढेः सर्वत्रैव प्राबल्यात् ।[110]

यत्तु पैङ्गीरहस्यब्राह्मणे ऋषभादीन् क्षत्रियवरानुद्दिश्य 'यदि मृत्योः परं शान्तमनामयं शाश्वतं पदमिच्छुरसि तत्परमहंसो भव' **इति सन्यासविधायकं वचनमस्तीति तदपि न ।**

वाचक है । रूढिवृत्ति, योगवृत्ति से बलवती होती है,' 'रूढिवृत्ति, योगवृत्ति का बाध कर देती है' यह नियम सर्वत्र बलवान् है । अतः रूढिवृत्ति से ब्राह्मणशब्द ब्राह्मणजाति का ही वाचक है ।

'रथकार इष्टि का अधिकारी रथ बनानेवाला किसी भी जाति का पुरुष है अथवा रथकार जाति वाला पुरुष ?' ऐसा प्रश्न होने पर उपर्युक्तनियम से रथकारशब्द को रथकार जातिवाले का वाचक माना है । क्योंकि वहाँ और कोई प्रकार संभव नहीं था; अतः यज्ञ के विषय में रूढ़िशक्ति की चरितार्थता हो जाने से यज्ञ में सावकाशरूढ़िवृत्ति से, यज्ञ से अन्यत्र सन्यासविधायकादिवाक्यों में निरवकाश योगवृत्ति बलवती होकर रूढि का बाध कर देगी; अतः सन्यासविधायक वाक्यों में प्रयुक्त ब्राह्मणशब्द का अर्थ योगवृत्ति से ही करना उचित है; योगवृत्ति से ब्राह्मणपद का अर्थ वेद का अध्ययन करनेवाला ही होगा । वेद के अध्ययन करनेवाले तीनों वर्ण हैं, तीनों ही वर्ण ब्राह्मणपद के वाच्य हो जायेंगे; अतः तीनों वर्णों को संन्यास का अधिकार है, यह सिद्ध होता है ।" ऐसा कथन भी उचित नहीं; क्योंकि रूढ़ि के प्रयोगों से

---

११०. यावताकालेनावयवव्युत्पत्त्या लक्षणया वा क्षत्रियवैश्यौ ब्राह्मणशब्देन प्रत्यायेते ततः प्रागेव '**रूढियोगमपहरति**' इति न्यायाल्लब्धात्मिकाया रूढेः प्राबल्यादनुपपत्त्यभावाच्च रूढ्या ब्राह्मणत्वमेव प्रत्याय्यते । अतः प्रथमप्रतीतब्राह्मणोद्देश्येन प्रव्रज्याविधेश्चरितार्थत्वान्न चरमप्रतीतयौगिकार्थस्वीकरणमुचितम् ।

[111]**तथात्वे सिद्धान्तलेशकृता तदुपस्थाप्येत । न चोपस्थापितं, तेन विप्रतिपन्नमेव तादृग्वचनम् । तथात्वे** भाष्यकारो**ऽपि ब्राह्मण-सन्यासमेव कथं समर्थयेत् । सत्त्वेऽपि यथा** 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥" **(भगवद्गीता १८.६६)इत्युक्तिर्नार्जुनं प्रति, किन्तु तद्व्याजेनाधिकारिणं प्रत्येव तदुक्तेः अर्जुनं निमित्तीकृत्य यथाऽधिकारं तत्प्रतिपादनात् तथैव तदुपपत्तेः ।**

अतिरिक्त स्थलों में पाचक आदिक शब्दों के अर्थ करने के लिये योगवृत्ति की भी चरितार्थता समान ही है, भाव यह है कि पाचक आदि स्थलों में योगवृत्ति को सावकाश होने से अन्यत्र स्थलों में निरवकाश रूढ़ि ही बलवती सिद्ध होगी। रूढ़ि से अर्थ करने पर ब्राह्मणशब्द जाति का ही वाचक होगा, अतः ब्राह्मण जातिवाले पुरुष का ही सन्यास में अधिकार सिद्ध होता है। वस्तुतः जहाँ रूढ़ि की भी प्राप्ति होती है वहाँ सर्वत्र यौगिक अर्थ की विलम्ब से उपस्थिति होती है, रूढ़ अर्थ (समुदायार्थ) की शीघ्र उपस्थिति हो जाती है; अतः रूढ़ि ही बलवती होती है। ब्राह्मणशब्द से ब्राह्मण जाति की शीघ्र उपस्थिति होने से जातितः ब्राह्मण ही सन्यास का अधिकारी सिद्ध होता है।

"पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण में ऋषभ आदिक क्षत्रिय श्रेष्ठों को उद्देश्य बनाकर 'यदि मृत्यु के पार, शान्त, सर्वरोगों से मुक्त, सदा रहने वाले पद के इच्छुक हो तो परमहंस हो जाओ' यह सन्यासविधायक वचन है।" यह भी कथन संभव नहीं 'पैङ्गीरहस्य ब्राह्मण में इस वचन के विद्यमान होने पर तो सिद्धान्तलेश के कर्ता इस वचन को अवश्य उपस्थापित करते, उपस्थापित नहीं किया है; अतः यह वचन विवादग्रस्त है। इस वचन के विद्यमान रहने पर तो भाष्यकार भी

---

१११. अत्रेदं चिन्त्यं किं जडभरतं (भरतं) प्रत्ययमुपदेश उत लक्षणया क्षत्रियमात्रं प्रति । आद्ये–भरतस्यैव नेतरक्षत्रियप्राप्तिः । किंच भरतोऽपि प्रैषोच्चारणपूर्वकमाश्रमं गृहीतवानिति न क्वापि श्रूयते । अतः **'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'**(बृह० ४.४.२२)इत्यनुरोधात् **'परमहंसो भव'** इत्यस्यायमर्थः—**'परमहंसो भव** निर्ममो भव।'

यदपि शिष्टशिरोमणि ऋषभजडभरतनिदाघरैवतपृथुसुशील देवरातिजनकप्रभृतिभिः राजभिस्तदभिमानत्यागात्मके पञ्चमाश्रमे प्रवृत्तिरिति तदपि यत्किञ्चित्; तेषां ब्रह्मनिष्ठावैशेष्यमेव विज्ञायते। न तत्राश्रमरूपः सन्यासः, तादृशानां विधिनिषेधातीतत्वात्।

ब्राह्मण के सन्यास का ही समर्थन कैसे करते ? ऐसे वचन के होने पर भी "सर्वधर्मों का परित्याग कर एक मेरी शरण में प्राप्त होवो। मैं

न द्वितीयः अत्र हि लक्षणा, सा च न युक्ता **'न विधौ लक्षणा'** इति भट्टगुरुप्रभृतिभिर्विधौ लक्षणानिषेधात्। किञ्च लक्षणावदन्वादी प्रष्टव्यः किं विशिष्टविधिरुत् प्राप्ते कर्मण्यधिकारविधिरिति ? पक्षद्वयेऽपि लक्षणा, दुर्वारा। ननूद्देश्ये लक्षणा न विध्यंशेऽतो न दोष इति चेत्तह्युद्देश्येपि न युक्तेति ब्रूमः। तथा हि—सम्बन्धानुपपत्तिभ्यां हि लक्षणा, न चानुपपत्तिः पूर्वोक्तरीत्या वाक्यस्यार्थांतरपरत्वेनाप्युपपत्तेः। या च जाबालश्रुतिर्जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे तत्र परमहंस इति अहन्ता-ममतयोरभावात्परमहंसा इति व्यपदिश्यन्त इति।

ध्यान रहे, 'भिक्षुकोपनिषत्' में जहाँ गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ प्रभृति को कुटीचक माना गया है, वहाँ काषाय और दण्डादिग्रहण का उल्लेख नहीं है, साथ ही ये सब ब्राह्मण ही मान्य हैं—**'कुटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयः'**; इसी प्रकार संवर्तक, अरुणि, श्वेतकेतु, जडभरत, दत्तात्रेय, शुक, वामदेव, हारीतक प्रभृति ब्राह्मणप्रवरों को ही परमहंस कहा गया है—

"अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुजडभरतदत्तात्रेयशुक-वामदेवहारीतकप्रभृतयः।"

"तत्र परमहंसानाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघजड-भरतदत्तात्रेयरैवतकप्रभृतयः" (जाबालोपनिषत् ६)

जहाँ कहीं कूर्म पुराणादि की शैली में राजा सुशीलादि के संन्यास का वर्णन है, वह आश्रम संन्यास का द्योतक न होकर दीक्षा विशेष का ही द्योतक है। **'आत्याश्रम इति ख्यातं ब्रह्मादिभिरनुष्ठितम्'** (कौर्मे १२) इस वचन में प्रयुक्त ब्रह्मादि द्वारा अत्याश्रम का अनुष्ठान औपचारिक ही है।

यदुक्तम् —

"न जातिर्नकुलं राजन् न स्वाध्यायः श्रुतं न च ।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव हि कारणम् ॥
किं कुलं वृत्तहीनस्य करिष्यति दुरात्मनः ।"

इत्यादिभिस्तु वृत्तस्य प्रशंसैव विवक्षिता । न च तत्र ब्राह्मणादिजात्यपलापः । न हि वृत्तं ब्राह्मणेतराणामेव भवति, न ब्राह्मणानामिति नियमः ।

"कपालस्थं यथा तोयं श्वदृतौ च यथा पयः ।
दूष्यं स्यात्स्थानदोषेण वृत्तहीनं तथा श्रुतम् ॥
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः शूद्रादल्पतरः स्मृतः ।"

इत्याद्यपि वृत्तप्रशंसा परमेव । शास्त्रादि सिद्धाया जातेरपलापासंभवात् ।

यत्तु तत्त्वज्ञानानन्तरं 'श्रीशंकराचार्यदृष्ट्या सन्यासोऽनिवार्यः' इति तदपि यत्किञ्चित् । ब्रह्मनिष्ठालक्षणस्य सन्यासस्यैवानिवार्थत्वात् । तदर्थमेव निम्नोक्तानि तदीयानि वचनानि —

तुमको सर्व पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो ।" जैसे यह भगवान् का वाक्य अर्जुन के लिये नहीं है; किन्तु अर्जुन के बहाने से इस साधना के अधिकारी के लिये ही यह वचन है । क्योंकि अर्जुन को निमित्त बनाकर अधिकार के अनुसार ही शरण का प्रतिपादन है; वैसे ही समाधान कर लेना चाहिये ।

जो यह कहा जाता है कि—"शिष्ट शिरोमणि ऋषभ, जड़भरत, निदाघ, रैवत, पृथु, सुशील, देवराति तथा जनक आदिक राजाओं ने सर्वकर्तृत्वादि के अभिमान का त्यागरूप पंचमाश्रम में प्रवृत्ति की है" यह भी कुछ नहीं । क्योंकि उनकी ब्रह्मनिष्ठा का ही बोधन किया गया है, आश्रमरूप सन्यास वहाँ नहीं कहा है । क्योंकि ऐसे ब्रह्मनिष्ठ पुरुष तो विधि-निषेध से परे होते हैं ।

यह जो कहा कि—"हे राजन् जाति, कुल, स्वाध्याय तथा शास्त्रों का श्रवण, ये ब्राह्मणत्व के कारण नहीं हैं; किन्तु सदाचरण ही ब्राह्मणत्व का कारण है । आचरणहीन दुरात्मा का कुल क्या करेगा ?" इत्यादि वचनों से तो सदाचार की प्रशंसा ही कहने को इष्ट है । उक्त वाक्यों में ब्राह्मणादि जातियों का अपलाप (निराकरण) नहीं है । यह

'यदि ते जनकादयः प्राप्तसम्यग्दर्शनास्ततो लोकसंग्रहार्थं प्रारब्धकर्मत्वात् कर्मणा सहैवासन्यस्यैव संसिद्धिमास्थिता इत्यर्थः। अथाप्राप्तसम्यग्दर्शना जनकादयस्तदा कर्मणा सत्त्वशुद्धिसाधनभूतेन क्रमेण संसिद्धिमास्थिता इति व्याख्येयः श्लोकः। अथ मन्यसे पूर्वैरपि जनकादिभिरप्यजानद्भिरेव कर्तव्यं कर्म कृतं तावता नावश्यमन्येन कर्तव्यं सम्यग्दर्शनवता कृतार्थेनेति, तथापि प्रारब्धकर्मायत्तस्त्वं लोकसंग्रहमेवापि लोकस्योन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणं लोकसंग्रहस्तमेवापि प्रयोजनं सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि।' (भगवद्गीता ३.२०)

"लोकसङ्ग्रहः किमर्थं कर्तव्य इत्युच्यते" —

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीयेदेयुरिमेलोका न कुर्यां कर्म चेदहम् !
संकरस्य च कर्तास्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥"

(भगवद्गीता ३।२१-२४)

नियम भी नहीं है कि 'ब्राह्मण से अतिरिक्त वर्णों में तो सदाचार रहता है, ब्राह्मणों में नहीं रहता।' ,मनुष्य के कपाल में स्थित जल तथा कुत्ते की खाल के पात्र में स्थित दुग्ध, स्थान के दोष से त्याज्य है तथा आचरण से हीन सत्-शास्त्र का श्रवण भी ग्राह्य नहीं होता, इसी प्रकार चार वेदों का ज्ञाता यदि दुराचारी है, तो वह शूद्र से भी निकृष्ट है, इन कथनों का तात्पर्य भी सदाचार की प्रशंसा में है। जाति के अपलाप में तात्पर्य नहीं है। क्योंकि शास्त्र से सिद्ध जाति का शास्त्र के द्वारा अपलाप संभव नहीं है।

जो यह कहा कि 'तत्त्वज्ञान के अनन्तर श्रीशंकराचार्य जी की दृष्टि से सन्यास अनिवार्य है', अर्थात् तत्त्वज्ञान के अनन्तर जब संन्यास अनिवार्य है तो तत्त्वज्ञान तो सर्व वर्णों को ही संभव है, तब तो सर्ववर्णों का ही सन्यास सिद्ध होता है, 'वर्णत्रय का होता है' इसका तो कहना

यदि पुनरहमिव त्वं कृतार्थबुद्धिरात्मविदन्यो वा तस्याप्यात्मनः कर्तव्याभावेऽपि परानुग्रह एव कर्तव्य इत्याह —

"सक्ताः कर्माण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वाँस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥"

(भगवद्गीता ३.२५)

एवं लोकसंग्रहं चिकीर्षोर्न ममात्मविदः कर्तव्यमस्त्यन्यस्य वा लोकसंग्रहं मुक्त्वा । ततस्तस्यात्मविद इत्युपदिश्यते —

ही क्या ? यह भी कथन उचित नहीं। क्योंकि शंकराचार्यजी तत्त्वज्ञान के पश्चात् जिस सन्यास की अनिवार्यता कह रहे हैं, वह ज्ञाननिष्ठारूप सन्यास है, न कि आश्रमरूप । उस ज्ञाननिष्ठारूप सन्यास के ही विषय में शंकराचार्य जी के ये वचन भी हैं—यदि जनकादिक सम्यक्ज्ञानी थे तब तो प्रारब्ध कर्म शेष रहने से लोकसंग्रह के लिये ही कर्म के साथ ही अर्थात् विना सन्यास लिये ही संसिद्धि (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हुए । '**कर्मणैव हि संसिद्धमास्थिताः जनकादयः**' इस गीताश्लोक का यह अर्थ है—यदि ऐसा अर्थ मानते हो कि "तत्त्वज्ञान को प्राप्त किये विना ही पूर्वज जनकादिकों ने कर्म किया है, तब तो यह आवश्यक नहीं, कि अन्य कृतार्थ यथार्थ ज्ञानी के द्वारा कर्म करना ही है ।" फिर भी तुम प्रारब्धकर्म के आधीन हो, अतः लोकसंग्रहरूप प्रयोजन को देखते हुए कर्म करो । शास्त्रविहित मार्ग को त्यागकर स्वतन्त्र प्रवृत्ति के निवारण को लोकसंग्रह कहते हैं ।

लोकसंग्रह किसलिये करना चाहिये ? इसका उत्तर कहा जाता है कि—"श्रेष्ठपुरुष राजादि जिस शुभ अथवा अशुभ कर्म को करता है, उसीको अन्य साधारण उनका अनुगामी पुरुष भी करता है । वह श्रेष्ठ पुरुष जिसको प्रमाण मानता है, लोक भी उसी को प्रमाण मानता है ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि "यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोक भी नष्ट हो जायेंगे । मैं ही वर्णसंकर का कर्ता हो जाऊँगा, इस प्रकार धर्म के लोप के द्वारा मैं ही इन प्रजाओं का नाश करनेवाला सिद्ध हो जाऊँगा ।"

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

(भगवद्गीता ३.२६)

बुद्धिर्भेदो बुद्धिभेदो मयेदं कर्तव्यं भोक्तव्यं चास्य कर्मणः फलमिति निश्चितरूपाया बुद्धेर्भेदनं चालनं बुद्धिभेदस्तं न जनयेन्नोत्पादयेदज्ञानामविवेकिनां कर्मसंगिनां कर्मण्यासक्तानामासंगवताम् । किन्तु कुर्यात् जोषयेत् कारयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् स्वयं तदेवाविदुषां कर्म युक्तोऽभियुक्तः समाचरन् ।

येषां तु कर्मणां कर्तारं मां मन्यसे परमार्थतस्तेषामकर्तैवाहम्, यतः 'न मां कर्माणिलिम्पन्ति' **(भगवद्गीता ४.१४), 'नाहं कर्ता, न मे कर्मफले स्पृहेति ।', एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरप्यतिक्रान्तैर्मुमुक्षुभिः (भगवद्गीता ४.१५) कुरु तेन कर्मैव त्वं न तूष्णीमासनं नापि सन्यासः**

यदि मेरे समान तुम तथा अन्य भी कोई आत्मतत्त्ववेत्ता हो तो, उसको अपने लिये कर्तव्य का अभाव होने पर भी दूसरे के ऊपर तो अनुग्रह करना ही चाहिए । ऐसा ही भगवान् कहते हैंकि "अविद्वान् पुरुष कर्म के फल में आसक्त पुरुष जैसे लगन से कार्य करता है, लोक-संग्रह के करने की इच्छावाला फल की आसक्ति से रहित विद्वान् (ज्ञानी) पुरुष भी उसी प्रकार लगन से कार्य करें ।"

लोकसंग्रह के इच्छुक मुझ को अथवा मुझ से अन्य आत्मवेत्ता पुरुष को लोकसंग्रह के विना और कोई कर्तव्य नहीं है । इसलिये आत्मवेत्ता को लोकसंग्रह का उपदेश दिया गया है । "कर्म में आसक्त अज्ञानी पुरुषों की बुद्धि को अकर्ता आत्मा के उपदेश से विचलित न करे किन्तु विद्वान् पुरुष संलग्न हुआ स्वयं कर्म करता हुआ अविद्वानों के लिये सर्व कर्म करे तथा करावे ।"

हे अर्जुन ! जिन कर्मों का तुम मुझे कर्ता मानते हो वास्तव से मैं उनका अकर्ता ही हूँ । क्योंकि "कर्म मुझे लेप नहीं करते, अर्थात् देह प्रदान करके मुझे बन्धन में नहीं डालते हैं । इसलिये न मैं कर्मों का कर्ता हूँ, न मुझे कर्म के फल की इच्छा ही है । 'अकर्ता आत्मा को कर्म

कर्तव्यस्तस्मात् पूर्वैरप्यनुष्ठितत्वाद् यद्यनात्मज्ञस्त्वं तदा आत्मशुद्ध्यर्थम्, तत्त्वविच्चेल्लोकसंग्रहार्थम्, पूर्वैर्जनकादिभिः पूर्वतरं कृतं नाधुनातनं कृतं निर्वर्तितम् (४.१५) ।

यस्त्वकर्मादिदर्शी सोऽकर्मादिदर्शनादेव निष्कर्मा सन्यासी जीवनमात्रार्थचेष्टः सन् कर्मणि न प्रवर्तते, यद्यपि प्राग्विवेकतः प्रवृत्तः । यस्तु प्रारब्धकर्मा सन्नुत्तरकालमुत्पन्नात्मसम्यग्दर्शनः स्यात् स कर्मणि प्रयोजनमपश्यन् ससाधनं कर्म परित्यजत्येव । स कुतश्चिन्निमित्तात्कर्मपरित्यागासंभवेऽपि सति कर्मणि तत्फले च संगरहिततया स्वप्रयोजनाभावाल्लोकसंग्रहार्थं पूर्ववत् कर्मणि प्रवृत्तोऽपि 'नैव किञ्चित्करोति', **ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वात्तदीयं कर्माकर्मैव सम्पद्यते, इत्येतमर्थं दर्शयिष्यन्नाह—'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्'** (४.२०)

विदुषा क्रियमाणं कर्म परमार्थतः अकर्मैव, तस्य निष्क्रियात्म-

का लेप नहीं होता है', ऐसा जानकर भूतकालीन मुमुक्षुओं ने कर्म किया है, इसलिये ही तुम भी कर्म करो, चुप न बैठो, न सन्यास ही करो; क्योंकि तुम्हारे पूर्वजों ने भी कर्म ही किया है ।" (भगवद्गीता ४-१५) यदि तुम अनात्मज्ञ हो तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करो। तत्त्ववेत्ता हो तो लोकसंग्रह के लिये करो। क्योंकि पूर्वकालिक जनकादिक मान्यपुरुषों ने भी पूर्वकाल में कर्म किये हैं।

जो आत्मा को कर्मरहित प्रत्यक्ष अनुभव करता है, वह पुरुष तो आत्मा में कर्म अनुभव नहीं करता । ऐसा अकर्ता आत्मा का ज्ञाता तो आत्मा में अकर्म दर्शन करने से ही कर्मरहित सन्यासी होता है । उसकी तो जीवनमात्र के लिये ही चेष्टा होती है। ऐसा हुआ ही कर्म में जीवनयात्रा के लिये प्रवृत्त होता है। भले ही वह ज्ञान से पूर्व तो कर्म में वस्तुतः प्रवृत्त होता था; परन्तु ज्ञान होने के पश्चात् वस्तुतः कर्म में प्रवृत्त नहीं होता । जिसने कर्मों का प्रारम्भ किया है, पश्चात् यथार्थ ज्ञान जिसको उत्पन्न हो गया है, वह सर्व कर्मों में कोई प्रयोजन न देखता हुआ साधन के सहित कर्म को त्याग ही देता है ।

वह ब्रह्मवेत्ता किसी प्रारब्धादि निमित्त से कर्म के त्याग क

दर्शनसम्पन्नत्वात् । तेनैवंभूतेनस्वप्रयोजनाभावात् ससाधनं कर्मपरित्यक्तव्यमेवेति प्राप्ते सति ततो निर्गमासंभवाल्लोकसंग्रहचिकीर्षया शिष्टविगर्हणापरिजिहीर्षया वा पूर्ववत् कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि निष्क्रियात्मदर्शनसम्पन्नत्वान्नैव किञ्चित्करोति सः ।

'सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते' **(५।७) सर्वेषां ब्रह्मादीनां स्तम्बपर्यन्तानां भूतानामात्मभूत आत्मा प्रत्यक्चेतनो यस्य स सर्वभूतात्मभूतात्मा सम्यग्दर्शीत्यर्थः । स तत्रैवं वर्तमानो लोकसंग्रहाय कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते न कर्मभिर्बध्यत इत्यर्थः (५.७) । तथा च** 'यस्य नाहं कृतो भावः' (१८.१७) **देहाद्यात्मबुद्ध्या हन्ताहमिति लौकिकीं दृष्टिमाश्रित्य** 'हत्वापी'**त्याह, पारमार्थिकीं दृष्टिमाश्रित्य** 'न हन्ति न निबध्यते' **इति ।**

असंभव होने पर भी कर्म में कर्तृत्वाभिमान से शून्य तथा कर्म के फल की इच्छा से शून्य होने से अपना कोई प्रयोजन नहीं, फिर लोकसंग्रह के लिये अज्ञानदशा के समान कर्म में प्रवृत्त हुआ भी "मैं कुछ नहीं करता हूँ' इस ज्ञानाग्नि से कर्मों को दग्ध हो जाने से उस का कर्म अकर्म ही हो जाता है । इस अर्थ को दिखलाने की इच्छा से भगवान् कहते हैं कि—'वह ब्रह्मवेत्ता कर्म के फल की आसक्ति को त्यागकर कर्म में प्रवृत्त होता भी कुछ नहीं करता' (भगवद्गीता ४. २०)। विद्वान् के द्वारा किया हुआ कर्म वास्तव से अकर्म ही है । क्योंकि ज्ञानीपुरुष तो निष्क्रिय (कर्म से सदा असंग) आत्मा के दर्शन से युक्त रहता है ।

ऐसे निष्क्रिय आत्मदर्शी के द्वारा तो कर्म त्याग ही देने योग्य है, क्योंकि उसको कर्मसे कोई प्रयोजन नहीं है, अत: कर्म-त्याग प्राप्त होने पर भी, किसी निमित्त से गृहस्थादि आश्रमसे निकलना असंभव होनेसे लोकसंग्रह की इच्छा अथवा शिष्ट पुरुषों से प्राप्त निन्दा के परित्याग की इच्छा से कर्म में प्रवृत्त भी ज्ञानी पुरुष, निष्क्रिय आत्मदर्शी होने से कुछ नहीं करता । अत एव भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि—'ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र चींटीपर्यन्त सम्पूर्ण भूतों का आत्मारूप ही जिसका आत्मा है ऐसा विद्वान् सर्वभूतात्मभूत अर्थात् सम्यक्दर्शी कहलाता है । वह

ननु भाष्यकारवार्तिककारयोर्विषयाभेदेन सन्यास तदभाव-प्रतिपादन एव विरोधोद्भावनादि सङ्गच्छते, नान्यथा। प्रकृते च बृ० १.४.१५,३.५.१ इत्यत्र भाष्यकारैः सन्यासे ब्राह्मणस्यैवाधिकार उक्तः। उभयत्र वार्तिककारैर्भाष्यकारमतं श्रुतिविरुद्धमुक्त्वा खण्डितम्। 'पारिव्राज्यदर्शनाच्च' (**१.४.१५**) 'ब्राह्मणानाम् एवाधिकारो व्युत्थाने' (**बृ० ३.५.१) इत्यस्य भाष्यस्य** 'त्रयाणामपि वर्णानां श्रुतौ सन्यासदर्शनात्। ब्राह्मणस्यैव सन्यास इति श्रुत्या विरुद्धयते॥'

[112]उपलक्षणं वा तद्ग्राह्यं ब्राह्मणग्रहणं श्रुतौ।
ब्राह्मणस्य प्रधानत्वाद्युक्तं तदुपलक्षणम्॥

(**बृ० वार्ति० १.४.१६५१, १६५३**)

'न हि क्षत्रियवैश्ययोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति' (**बृ० भा० ४.५.१५) इत्यपि वार्तिककारैः खण्डितम्।**

लोकसंग्रह के लिये कर्म करता हुआ भी कर्मों से बन्धन को प्राप्त नहीं होता।" अत एव भगवान् कहते हैं कि कर्तृत्वाभिमान से रहित तथा कर्मफल की आसक्ति से शून्य पुरुष तीनों लोकों का हनन करके भी न हनन करता है, न उससे बन्धन को प्राप्त होता है (गी० १८.१७)।

---

११२. क्षत्रियस्य ब्राह्मणत्वलाभः राजसूये आसन्दीस्थो राजा अध्वर्युमाह—**ब्रह्माहम्** इति। अध्वर्युश्च राजानमाह—त्वं राजन् **ब्रह्मा**सि इति। एवं वैश्यस्तोमे संवादं उदाहार्यः। तेन क्षत्रियवैश्ययोः ब्राह्मणत्वलाभः अग्निब्राह्मणायत्तः न जन्मतः अतो ब्राह्मणस्यैव जन्मतो ब्राह्मणत्वलाभात् प्राधान्यमित्यर्थः।

न च तर्हि शूद्रस्यापि ब्राह्मणग्रहणेनोपलक्षणात्क्षत्रियादेरिव शूद्रस्य पारिव्राज्यं स्यादिति युक्तं, तस्य '**सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेदि**'ति (नारदपरि० ३.७७) शिखात्यागपूर्वकोपवीतत्यागानधिकारित्वादादावेवासतः शिखादेस्त्यागायोगात्। अपशूद्राधिकरणे च वेदद्वारा विद्याधिकारं तस्य निरस्यद्भिर्वैदिकसंन्यासेऽपि तदधिकारनिरासदर्शनादिति द्रष्टव्यम्।

[११३]त्रयाणामविशेषेण सन्यासः श्रूयते श्रुतौ ।
यदोपलक्षणार्थं स्याद् ब्राह्मणग्रहणं तदा ॥
(बृ० वार्तिक ३।५।८९)

[११४]कर्माधिकारविच्छेदि ज्ञानं चेदभ्युपेयते ।
कुतोऽधिकारनियमो व्युत्थाने क्रियते बलात् ॥
(३।५।९०)

[११५]प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानस्वभावश्चेत्समर्थ्यते ।
व्युत्थानं यस्य, यस्य स्यात्स स व्युत्थानमर्हति ॥
(३।५।९१)

शङ्का—भाष्यकार तथा वार्तिककार का एक जैसे सन्यास के विधान तथा उसके अभाव के प्रतिपादन में ही विरोध का प्रदर्शन करना संभव हो सकता है। भिन्न प्रकार के संन्यास में तो ऐसा संभव नहीं है। (बृ० उ० १।४।१५ तथा ३.५.१)भाष्य में भाष्यकार ने संन्यास में ब्राह्मण का ही अधिकार कहा है। इन बृहदारण्यक के दोनों स्थलों में वार्तिकार ने भाष्यकार के मत का खण्डन किया है। (बृहदा० १.४.१५) के 'ब्राह्मण काही सन्यास देखा जाने से ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार है' इस भाष्य का भी 'तीनों वर्णों का श्रुति में सन्यास देखा जाता है। अतः ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार है, यह भाष्य-वाक्य श्रुतिविरुद्ध है।' कहकर तथा 'क्षत्रिय तथा वैश्य के सन्यास की श्रुति से प्राप्ति नहीं है' इस बृ० ४।५।१५ के भाष्यवाक्य का भी वार्तिक-कार ने यह कहकर कि 'तीनों वर्णों का समान रूप से सन्यास श्रुति में सुना है' खण्डन किया है।

---

११३. तीनों वर्णों का समान रूप से सन्यास श्रुति में सुना जाता है, तब श्रुति में ब्राह्मण का ग्रहण तीनों वर्णों के उपलक्षण के लिये ही है।

११४. जब कर्मों के अधिकार की समाप्ति करने वाला ज्ञान को स्वीकार किया जाता है, तब जबरन अधिकार का नियम क्यों किया जाता है ?

११५. 'यदि प्रत्यग् आत्मा के यथार्थ ज्ञान का स्वभाव ही सन्यास है'

[११६]एवं चेद्ब्राह्मणोक्तिः स्याद्ध्वस्ताविद्यगृहीतये ।
'स ब्राह्मण' इति स्पष्टं श्रुतिरन्ते च वक्ष्यति ।।
(३।५।६२)

एतेन स्पष्टमेव भाष्यरीत्या यद्यपि ब्राह्मणस्यैव सन्यासाधिकारस्तथापि वार्तिककाररीत्या श्रुतौ त्रयाणामपि वर्णानां सन्यासश्रवणात् 'ब्राह्मणस्यैवाधिकारः' **इति कथनं श्रुतिविरुद्धमेवेति चेन्न, त्रयाणामपि वर्णानां सन्यासविधायकश्रुतेरद्याप्यदर्शनात् ।**

यत्तु 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा । यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्'**(जाबालोपनिषत् ४, नारद परि०उ० ३।७७) इति श्रुतेस्त्रयाणामपि वर्णानां सन्यासविधायकत्वं केनचिदुक्तम्, तत्त्वति तुच्छम्, श्रुतौ क्षत्रियवैश्ययोर्नामाश्रवणात् ।**

यत्तु 'वेदे त्रयाणां वर्णानामधिकाराद्वेदर्वाणत सन्यासे सुतरां

पूर्वोक्त सन्दर्भ से भाष्य की रीति से स्पष्टरूप से ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार है, तथापि वार्तिककार की रीति से श्रुतिमें तीनों वर्णों के सन्यास का श्रवण होने से 'ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार है' यह कथन श्रुति से विरुद्ध ही है ।

समाधान—तीनों वर्णों के सन्यास की विधायक श्रुति का अब तक दर्शन न होने से केवल ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार है, यह कथन श्रुति से विरुद्ध नहीं है ।

'यदि वेतरथा' इत्यादिक सामान्यश्रुतियों को जो सन्यास की विधायक किसी ने कहा है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि किसी श्रुति में क्षत्रिय तथा वैश्य का नाम ही श्रवण नहीं है ।

ऐसा समर्थन किया जाता है, तब तो जिस-जिसको ज्ञान प्राप्त-हो जाय वह, वह सन्यास का योग्य है ।

११६. ऐसा यदि स्वीकार किया जाता है तो अविद्या नष्टवाले तत्त्ववेत्ता के ग्रहण करने के लिये ही श्रुति में ब्राह्मण शब्द है । श्रुति अन्त में विद्वान् के लिये कहती भी है 'कि वह ब्राह्मण है ।' (३.५. १ बृह०) ।

त्रयाणामपिवर्णानामधिकारः' इत्युच्यते, तदपि यत्किञ्चित् । तथात्वे, राजसूयेऽपि ब्राह्मणवैश्ययोरधिकारप्रसक्तेः । 'तत्र क्षत्रियवाचक राजपदवशान्न तत्र ब्राह्मणवैश्ययोरधिकारः' इत्युच्यते चेत्तर्हि प्रकृतेऽपि सन्यासविधायकेषु ब्राह्मणग्रहणात्तत्रापि न क्षत्रियवैश्ययोरधिकार इति समं समाधानम् । विशेषानुसारेणैव सामान्यस्य नयनं युक्तं, न सामान्यानुगुण्येन विशेषस्य नयनम् ।

'कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मणः' **(नारद परि० ३.७७)इति प्रसङ्गेन तत्रापि ब्राह्मणस्यैव** 'यदहरेव विरजेत्' **इत्याद्युक्तिरित्यप्युक्तमेव । अत एव** 'पुरोडाशं चतुर्धा करोती'**ति सामान्यस्य** 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' **इत्यनेनैकवाक्यतयैव शाब्दबोधो जायते ।**

यत्तु शङ्कराचार्याणां रीत्या तत्र भाष्येण प्रत्यग्याथात्म्यज्ञानवतो वर्णाश्रमाभिमानाभावात् कर्मस्वनधिकारत्वाद्व्युत्थानं स्वभावप्राप्त इति तदपि यत्किञ्चित् । स्वाभाविक व्युत्थानस्य स्वाभाविकत्वादेव विहितचतुर्थाश्रमसन्यासभिन्नत्वम् । गीताभाष्यादिषु ज्ञानिनामपि लोकसंग्रहार्थं कर्मादरसमर्थनात्, 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः

जो यह कहा गया है कि—'वेद में तीनों वर्णों का अधिकार है, इसलिये वेदविहित सन्यास में भी तीनों वर्णों का अधिकार होना चाहिए' ऐसा मानने पर तो राजसूययज्ञ में भी ब्राह्मण तथा वैश्य के अधिकार का प्रसंग हो जायगा। यदि कहा जाय कि 'राजसूय के विधायकवाक्य में क्षत्रियवाचक राजपद है, उसके बल से राजसूययज्ञ में ब्राह्मण तथा वैश्व का अधिकार नहीं है', तो प्रकृत में भी सन्यास-विधायकवाक्यों में ब्राह्मणपद का ग्रहण होने से सन्यास में भी क्षत्रिय, वैश्य का अधिकार नहीं। यह समाधान समान ही है। **विशेष के अनुसार ही सामान्यवाक्य की गति उचित है, न कि सामान्य के अनुसार विशेष की।**

"अयज्ञोपवीती सन्यासी ब्राह्मण कैसे ?" इस प्रसंग से सामान्य वाक्यों के स्थलों में भी **'यदहरेव विरजेत्'** यह कथन भी ब्राह्मण के सन्यास का ही है, यह पूर्व में कह दिया है। विशेष के अनुसार सामान्य होता है, इसलिए ही 'पुरोडाश को चतुर्धा करे,' इस सामान्य का 'आग्नेय पुरोडाश को चतुर्धा करे' इस विशेषवाक्य के अनुसार

(३.२०) इत्यत्र सहयोगे कर्मणेति तृतीयाऽङ्गीकृता। कर्मणा सहैव-कर्माण्यपरित्यज्यैव संसिद्धिमास्थिता इत्युक्तम्। यदि संसिद्धिरन्तः-करणशुद्धिरुच्यते तदा तु कर्मणैवान्तःकरणशुद्धिं प्राप्नुवन्तः इत्येवार्थः। एवमेवान्यत्र ज्ञानिनां कर्मसत्त्वेऽपि ज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वम्, न कर्मणाम्। यथा पिङ्गलताविशिष्टेऽग्नौ पिङ्गलतायाः सहभावेऽपि दाहेऽग्नेरेव हेतुत्वम्, न पिङ्गलतायाः तथैव ज्ञानकर्मणोः सहभावेऽपि ज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वं न कर्मणो हेतुत्वमित्यादिना च ज्ञानिनामपि कर्मानुमतं भाष्यकारैः।

अर्थ किया जाता है। जो यह कहा जाता है कि—'शंकराचार्य जी की रीति से उनके भाष्य के द्वारा प्रत्यक्-चेतन आत्मा के यथार्थस्वरूप के ज्ञाता को वर्ण और आश्रम का अभिमान न रहने से कर्म में अधिकार नहीं, इसलिये सन्यास स्वभाव से ही प्राप्त है', यह कथन भी कुछ नहीं। स्वाभाविक सन्यास तो शास्त्र से विहित चतुर्थ-आश्रमरूप सन्यास से भिन्न है; क्योंकि वह स्वभाव से प्राप्त है विधि से नहीं, अतः विहित अधिकार की चर्चा उस सन्यास की नहीं। गीता भाष्या-दिकों में ज्ञानियों को भी लोकसंग्रह के लिये कर्म का समर्थन किया है। यदि ज्ञानियों को प्राप्त स्वाभाविक सन्यास तथा विधि प्राप्त सन्यास एक होते तो ज्ञानी के लिये लोकसंग्रह करने के लिये कर्म का समर्थन न किया जाता; क्योंकि विधिप्राप्त सन्यास तो विहितकर्मों का त्याग रूप ही है, उसके लिये कर्म का समर्थन तो कथमपि संभव नहीं; अतः स्वाभाविक सन्यास से विहित सन्यास भिन्न है। **'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः'** इस वाक्य में **'कर्मणा'** इस पद में सहयोग में तृतीया अंगीकार है। 'कर्म के साथ ही अर्थात् कर्म का त्याग किये बिना ही जनकादिक सिद्धि को प्राप्त हुए हैं' ऐसा अर्थ किया है। यदि संसिद्धि शब्द का अर्थ, अन्तःकरण की शुद्धि कहा जाय तो कर्म से ही अन्तः-करण की शुद्धि को जनकादिक प्राप्त हुए हैं, यही अर्थ है। कहीं भी ज्ञानी पुरुषों में कर्म का वर्णन हो वहाँ ज्ञान को ही मोक्ष की कारणता है, कर्म को नहीं। यदि कहा जाय कि 'ज्ञानियों में यदि ज्ञान के साथ कर्म है तो मोक्ष की कारणता क्यों नहीं' इसका उत्तर है कि जैसे पिङ्गलरूप से युक्त अग्नि में पिङ्गलरूप साथ है भी, परन्तु दाह की कारणता अग्नि को ही है, पिङ्गलता को नहीं। उसी प्रकार ज्ञान और

यत्तु 'ब्रह्मविद्ययाऽविद्यायामतीतायां कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वबुद्ध्यपगमान्न सम्भवत्येव कर्मेति' तदपि यत्किञ्चित्, बाधितानुवृत्त्या कर्म सम्भवात्, 'पश्वादिभिश्चाविशेषादि' (ब्र० अध्यास०) त्युक्तेश्च ।

वस्तुतस्तु कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वबुद्धिपूर्वकस्य साभिनिवेशाहङ्कारकर्मण एव कर्मत्वम् । कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वबुद्धिबाधपूर्वकनिरहंकारं तु कर्म कर्माभासमेव यथा श्रीकृष्णस्य कर्माकर्मैव । वशिष्ठादीनां सर्वाधिकारविच्छेदिनि ज्ञाने जातेऽपि यथा मर्यादादिपरिपालनार्थमग्निहोत्रादौ रामस्य युद्धादौ प्रवृत्तिः लोक संग्रहार्थम्, योगवासिष्ठादिरीत्या वसिष्ठविश्वामित्ररामादयोऽपि तथाभूताकर्मिण आसन् । किं बहुना, ब्रह्मविष्णुरुद्रादयोऽपि कर्मवन्तोप्यकर्मिण एवासन् । 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'(५.८, ९) इति गीतोक्तेश्च ।

कर्म का सहभाव होने पर भी ज्ञान को ही मोक्ष के प्रति कारणता है, कर्म को मोक्ष के प्रति कारणता नहीं है । इत्यादिक कथनों से भाष्यकारों ने ज्ञानियों के लिये भी कर्म की अनुमति दी है ।

जो कहा कि 'ब्रह्मज्ञान से अज्ञान के समाप्त हो जाने पर कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्वबुद्धि के अभाव हो जाने से ज्ञानी का तो कर्म सम्भव ही नहीं' यह ठीक नहीं; क्योंकि बाधितानुवृत्ति से कर्म सम्भव है तथा 'व्यवहार में तो विवेकी भी पशु आदि के ही समान होता है ।' इस भाष्य के कथन से भी विवेकी पुरुष में कर्म संभव है ।

ज्ञानी का कर्म कर्म नहीं होता; क्योंकि कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा नानात्वबुद्धि से किया गया अहङ्कार के सहित जो कर्म होता है, कर्म वही होता है । कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा नानात्वबुद्धि के बाध (मिथ्यात्व निश्चय) पूर्वक किया गया तथा अहंकारशून्य कर्म तो कर्माभास ही होता है । जैसे श्रीकृष्ण महाराज का कर्म कर्म नहीं था, अपितु अकर्म ही था । सर्वप्रकार के अधिकार को समाप्त कर देनेवाले आत्मज्ञान के हो जाने पर भी वशिष्ठ आदिकों की जैसे मर्यादा के परिपालन के लिए अग्निहोत्रादिकों में तथा राम की युद्धादिकों में प्रवृत्ति लोकसंग्रह के लिये हुई थी, वह प्रवृत्ति आभासरूपा ही थी । योगवासिष्ठादि ग्रन्थों की रीति से तो वशिष्ठ, विश्वामित्र तथा रामादिक कर्म करते हुए भी अकर्मी ही थे । ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रआदि भी कर्म करते हुए भी अकर्मी ही थे ।

अत एव ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणार्थमित्यप्यसङ्गतम् । तथात्वे 'राजा राजसूयेन यजेत' **(आप० श्रौ० १०.८.१,४) इत्यत्राप्युपलक्षणत्वापातात् ध्वस्ताविद्यगृहीतयेऽपि न ब्राह्मणग्रहणं युक्तम्, मुख्यार्थत्यागे माना-भावात् । शीघ्रोपस्थितिकत्वेन प्रसिद्धजात्यर्थापेक्षया बिलम्बोपस्थिति-कस्य गौणार्थस्य दुर्बलत्वात् ।**

तथैव सर्वाधिकारविच्छेदि ज्ञानसम्पन्नेष्वपि अधिकारनियमो **युक्त एव । अत एव** 'क्षत्रधर्मो न मुण्डनम्' **(शान्ति० २३.४७)** 'ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्' **(विष्णुस्मृतिः ४।६७)** 'चतुर्थाश्रमं गच्छेत्सन्यासविधिना द्विजः' **(हारीत स्मृ० ६।२)**,'द्विजः प्रव्रजितो भवेत्'**(संवर्त स्मृतिः १०६)**, 'द्विजो ब्रह्माश्रमीभवेत्' **(शंखस्मृतिः ६।७)**, 'सन्यसेद् बुद्धिमान् द्विजः **(कौर्मपूर्वा० ३।५)**, 'तत्रैव सन्यसेद्विद्वाननिष्ट्वापि द्विजोत्तमः **(कौर्मे पूर्व० ३।६)** 'ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्' **(मनुस्मृतिः ६।३८)**, 'भयं हृत्वा च भूतानाममृती भवति द्विजः' **(याज्ञवल्क्यो० ३, यज्ञ० स्मृ० यति० ३.६१)**, 'संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान्' **(नारद० परि० ३.१४)**, 'त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम्' **(शाट्यायनीयो० १०)**,

---

"निष्ठावान् तत्त्वज्ञानी पुरुष 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ऐसा ही मानता अर्थात् इसी प्रकार के निश्चयवाला होता है" इस गीता के कथन से भी यही सिद्ध होता है कि तत्त्ववेत्ता करता हुआ भी कुछ नहीं करता, अर्थात् उसका कर्म कर्माभास ही होता है ।

इसलिये 'सन्यासविधायक श्रुति में ब्राह्मण का ग्रहण क्षत्रिय तथा वैश्य के उपलक्षण के लिये है,' यह कथन भी असङ्गत है; क्योंकि तब तो राजापद को भी ब्राह्मण तथा वैश्य का उपलक्षण मानना पड़ जायगा । जिसका ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे अविद्या से शून्य ब्रह्मवेत्ता के ग्रहण के लिये भी सन्यास विधायकश्रुति में ब्राह्मणपद का ग्रहण नहीं; क्योंकि ब्राह्मण पद का मुख्य अर्थ जातितः ब्राह्मण है, अतः श्रुति के ब्राह्मणपद का मुख्य अर्थ जातितः ब्राह्मण के त्याग में कोई प्रमाण नहीं है । किसी भी पद का उच्चारण होते ही उसका मुख्य अर्थ शीघ्र उपस्थित (स्मृत) होता है तथा गौण अर्थ विलम्ब से उपस्थित होता है; अत एव गौण अर्थ दुर्बल होता है । **प्रसंग में 'जातितः ब्राह्मण' की अपेक्षा 'ब्रह्मज्ञानी' गौण-अर्थ है । अतः गौण-अर्थ दुर्बल होने से ग्रहण नहीं किया जा सकता ।**

"**ब्राह्मणस्य** तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो।
वर्णास्तान् नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥"

(महा० शान्ति० ६२.२)

"गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यं च वानप्रस्थं [117]त्रयोऽश्रमाः।
क्षत्रियस्यापि गदितो य आचारो द्विजस्य हि ॥
वैखानसत्वं गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितयं विशः।
गार्हस्थ्यमाश्रमं त्वेकं शूद्रस्य क्षणदाचर ॥"

(वामन पु० १४. १७,१८)

इति व्यवहारो युक्त एव।

येषु ज्ञानिषु तत्त्वज्ञाने जातेऽपि प्रारब्धदोषाद्द्वैतं प्रतीयते परं तत्र विश्वासो न भवति, तेषां विधिषु श्रद्धाराहित्यान्न प्रवृत्तिः। तत्र श्राद्धस्यैवाधिकारात्। निश्चितगुडमाधुर्यो यथा पित्तदोषवशात् गुडे तिक्ततामनुभूय त्यजन्नपि न श्रद्दधाति, तद्वत्। निषेधे तु तादृशज्ञान-

---

सर्वअधिकारों को समाप्त करनेवाले ज्ञान से युक्त ज्ञानियों में बाधितानुवृत्ति से कर्म संभव है, उसी प्रकार अधिकार का नियम भी सम्भव है। अत एव अधिकारनियम से प्राप्त सन्यास का '**क्षत्रधर्मो न मुण्डनम्**' निषेध तथा '**ब्राह्मणः प्रव्रजेत्**' इत्यादि अनेक स्मृतियों से ब्राह्मण के लिये विधान भी बाधितानुवृत्ति से सम्भव है, अर्थात् उचित ही है।

जिन ज्ञानियों में तत्त्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी प्रारब्ध-दोष से द्वैत प्रतीत होता है; परन्तु द्वैत प्रतीति में विश्वास नहीं होता, उन विद्वानों की विधियों में श्रद्धा का अभाव होने से, विधि में **प्रवृत्ति** नहीं होती। **क्योंकि** विधि में तो श्रद्धावाले का ही अधिकार है। **जैसे** जिस पुरुष ने गुड की मधुरता का अनुभव कर लिया है, वह पित्तदोष के कारण गुड में कटुता (कडुआपन) का अनुभव करके गुड का त्याग कर देता है, फेंक देता है, फिर भी गुड़ की कटुता विषयक प्रतीति में विश्वास नहीं करता, उसी प्रकार प्रारब्ध **दोष** से संसार की प्रतीति

---

११७. अकारस्य ह्रस्व आर्षः।

वानपि भवत्येवाधिकारी, तत्र निषेध्यप्रतीतिरेवापेक्षिता न श्रद्धाऽपि। अत एव द्वैतमिथ्यात्व बोधेऽपि निषेधबलान्निवर्तितव्यमेव निषिद्धेभ्यः कर्मभ्यः। अतः सर्वाधिकारविच्छेदिनि ज्ञाने सत्यपि अधिकार-नियमो न विरुद्धयते।

अधिकार विच्छेदिज्ञानं यत्र जातं तत्र सन्यासेऽपि नाग्रहो भवति। अतः क्षत्रियवैश्ययोः सन्याससाधनाग्रहोऽपि निरर्थक एव। 'सम्यक् नितरां ब्रह्मण्यासः:' **इति ज्ञानलक्षणां सन्यासस्तु ज्ञानेन स्वाभाविकः, सिद्धयत्येव। दण्डकाषायभिक्षाचर्यादिलक्षणसन्यासस्तु न स्वाभा-विकः, किन्तु चतुर्थाश्रमधर्मरूप एव। तेन तत्राधिकारनियमो युक्त एव। चतुर्थाश्रमधर्मरूपे सन्यासेऽधिकारनियमेऽपि स्वाभाविकेऽलिङ्ग सन्यासे तु नाधिकार नियमः, तस्य स्वाभाविकत्वात्। तत एव वार्तिक-**

होती है, परन्तु प्रारब्धदोष से होने वाली प्रतीति में विश्वास नहीं करता। किसी पदार्थ के निषेध करने में तत्त्वज्ञानी पुरुष भी अधिकारी होता है; क्योंकि किसी पदार्थ के निषेध के लिये तो निषेध्य की प्रतीति की अपेक्षा है, उसके लिये श्रद्धा भी अपेक्षित नहीं है। इसलिये ही द्वैत के मिथ्यात्व का बोध होने पर भी निषेध के बल से निषिद्ध-कर्मों से निवृत्त होना ही चाहिए। सर्व अधिकारों को समाप्त करने वाले तत्त्वबोध के होने पर भी बाधितानुवृत्ति से अधिकार का नियम विरुद्ध नहीं है।

जिस अधिकारी को सर्व अधिकारों को समाप्त करनेवाला ज्ञान होगया है, उसका सन्यास में भी कोई आग्रह नहीं रहता। इस लिये क्षत्रिय तथा वैश्यों के सन्यास की सिद्धि का आग्रह भी व्यर्थ है। यदि सन्यासशब्द का यह अर्थ किया जाय कि—**सम्यक्'**=अतिशयरूप से, ब्रह्म में **'आस'**=स्थिति, का नाम ही सन्यास है तो ऐसा ब्रह्मज्ञान में निष्ठारूप संन्यास तो ज्ञान से स्वाभाविक ही सिद्ध है। सिद्ध दण्ड तथा काषायवस्त्रधारण और भिक्षाचरणरूप विलक्षणसन्यास स्वाभा-विक नहीं; क्योंकि वह विधि से प्राप्त होता है। वह चतुर्थ-आश्रम का धर्मरूप ही है। चतुर्थ-आश्रमरूप सन्यास को स्वाभाविक न होने से ही उसमें अधिकार नियम उचित ही है। चतुर्थ-आश्रम का धर्मरूप सन्यास में अधिकार का नियम होने पर भी जो स्वाभाविक

वचनानि भाष्यकारानुगुण्येनैव [११८]नेतव्यानि । अत एव विषयैक्येऽपि न सन्यास तदभावयोर्विरोधोऽपि, आश्रमरूपसन्याससाधनस्य निर्युक्तिकत्वेन भाष्यकारानुगुण्य नयनेनाविरोधसाधनमेव श्रेयः ।

अलिङ्गसन्यास है, उसमें अधिकार का कोई नियम नहीं; क्योंकि वह स्वाभाविक है। इसलिए वार्तिककार के वचनों का भाष्यकार के अनुसार ही नयन (अर्थ) करना चाहिये। भाष्यकार के अनुसार ही वार्तिककार के वचनों का.अर्थ करने से ही विषय की एकता होने पर

---

११८. श्री वार्तिकार आचार्य सुरेश्वर ने **'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'** (बृह० ४.४.२२) में ब्राह्मण को तीनों ही वर्णों का उपलक्षण माना है। शूद्रों के क्योंकि यज्ञोपवीतादि संस्कार नहीं; अतः यज्ञोपवीत के ग्रहण या विसर्जनपूर्वक सम्पन्न होने वाले संन्यास में अधिकार भी नहीं। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणपद से शूद्र का उपलक्षित होना संभव नहीं। इस मत में तीनों वर्णों का सलिङ्गसन्यास में अधिकार सिद्ध होता है। ऐसा मानना इसलिये आवश्यक है; क्योंकि अलिङ्गसंन्यास ही यदि तीनों वर्णों का मान्य हो तो सर्वत्याग में शूद्रों के अधिकार के प्रतिपादक **'अन्तकाले च संप्राप्ते'** (महा० शा० ६३.२०-२३), **'यतिधर्ममवाप्तोऽसौ'** (महा० आश्रम० २६।३१-३३) आदि वचनों के बल पर ब्राह्मण ग्रहण तीनों ही नहीं; अपि तु चारों ही वर्णों का उपलक्षण हो जायगा।

ऐसा मानने पर (१) श्रुतिस्मृतियों में प्रयुक्त ब्राह्मण, विप्र, द्विज, द्विजोत्तम इन शब्दों के प्रसिद्धार्थ का सर्वत्र परित्याग करना होगा, जोकि **'प्रसिद्धार्थ परित्यागरूपदोष'** का प्रापक होगा।

(२) संन्यासाश्रम के निषेधपरकवचनों की सार्थकता न सध पाने के कारण **'निषेधवचननिरवकाशदोष'** प्राप्त होगा।

(३) **'बहूदकाः ब्राह्मणकुलेषु भैक्षाचर्यां चरन्तः'**(आश्रमो० ४), **'गृहे च विप्रमुख्यानां यतिः सर्वोत्तमः स्मृतः'** (नारद परि०

अत एव भिक्षुकीत्यनेन स्त्रीणामपि प्राग्विवाहाद्वैधव्याद्ूर्ध्वं वा सन्यासेऽधिकारसाधनम्, तासां त्रिदण्डादिसाधनंत्वसङ्गतम्, भिक्षुकीति-स्मरणस्य जीवनयात्रार्थं लौकिकभिक्षाचरणेऽप्युपपन्नत्वात् ।

भी सन्यास तथा सन्यास के अभाव का विरोध भी नहीं । भाव यह है कि जिस सन्यास में भाष्यकारने ब्राह्मण का ही अधिकार कहा है, वह अधिकार के नियमपूर्वक चतुर्थ आश्रम का धर्मरूप है । जिस के विषय में वार्तिककार ने यह कहा है कि सर्वाधिकार को समाप्त करनेवाले ज्ञान के होने पर बलात् सन्यास का नियम क्यों थोपा जाय, वह स्वाभाविक सन्यास है जो कि ब्रह्मनिष्ठा (ज्ञाननिष्ठा) रूप है । अतः आश्रम के धर्मरूप सन्यास की सर्व के लिए सिद्धि करना शास्त्रानुसारी युक्ति से शून्य है । अत एव भाष्यकार के अनुसार वार्तिककार के वचनों का अर्थ करके दोनों आचार्यों का अविरोध सिद्ध करना ही श्रेष्ठ है ।

६.६), **'सायंकाले तु विप्राणां गृहाणि'** (लघु हारीते ६.१२), **'ब्राह्मण कुले वा यल्लभेत तद्भुञ्जीत'** (वसिष्ठ स्मृतिः ११.१८),**'सर्ववर्णेषु भिक्षूणां भैक्षाचर्यं'**(निषेध),(नारायण स्मृतिः४) आदि वचनोंके अनुसार ब्राह्मणघरों में विशेषकर कलियुग में भिक्षा माँगने के वचनों की सार्थकता सिद्ध करने पर **'ब्राह्मण-शोषणदोष'** चरितार्थ होगा ।

(४) क्षत्रिय और वैश्य भी संन्यासी होने लगेंगे तो रक्षा और अर्थ व्यवस्था दोनों ही शिथिल होगी । इस प्रकार **'अर्थव्यवस्थोच्छेददोष'** चरितार्थ होगा ।

(५) ऐसा होने पर **'आचार्यसांकर्यदोष'** भी प्राप्त होगा । तब तो ब्राह्मणपरिव्राजक ही नहीं, परिव्राजकमात्र आचार्य और पूज्य होने लगेंगे ।

(६) यज्ञोपवीत और वेदाध्ययनादिसाम्य के बल पर अवान्तर अधिकारभेद को न मानने पर **'वर्ण-सांकर्य और कर्मसांकर्य**—दोष' प्राप्त होंगे ।

वार्तिककारचरणैरपि 'सर्वाधिकारविच्छेदि' **इत्यादिना विद्वत्सन्न्यासे नियमाभावस्य साधितत्वात्। तथा च —**

[११९]**ब्राह्मणानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्।**[१२०]

ब्राह्मण तथा उसमें भी पुरुष को ही सन्यास का अधिकार सिद्ध होने से सुलभा आदि स्त्रियों के लिये शास्त्र में भिक्षुकी पद को लेकर स्त्रियों का विवाह पूर्व अथवा विधवा हो जाने के पश्चात् सन्यास में अधिकार सिद्ध करना तथा त्रिदण्ड आदि को सिद्ध करना असंगत है। महाभारतादि ग्रन्थों में सुलभादि स्त्रियों के लिये जो भिक्षुकी पद का प्रयोग हुआ है, वह तो जीवनयात्रा के लिए लौकिक भिक्षाचरण करने पर भी संभव हो सकता है।

---

११९. विष्णुभगवान् का लिङ्ग–दण्डकाषायवस्त्रादि का धारण करना यह ब्राह्मण का ही धर्म है, क्षत्रिय तथा वैश्य का यह धर्म नहीं है।

१२०. **'वैष्णवं दण्डमेकं'** (नारद परिव्राजको० ५), **'एकदण्डी त्रिदण्डी वा स वै मोक्षं समश्नुते'** (गोपीचन्दनोपनिषत् १), **'एकदण्डी भवेद्वापि त्रिदण्डी वापि वा भवेत्'** (विष्णुस्मृतिः ४.७६), **'एकदण्डी त्रिदण्डी वा'** (बौधायनस्मृतिः २.११.१, २.१०.५३), **'बहूदकास्त्रिदण्डधारिणः, हंसा एकदण्डधारिणः'** (आश्रमोपनिषत् ४), **'एकदण्डधरा हंसाः, मुण्डाः'** (बृ० पराशर० १२.१६६, १७१), **'सखा मे गोपायेति दण्डं परिग्रहेत्।'**

"दण्डं तु वैष्णवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम्।
पुण्यस्थलसमुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम्॥
अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रंथिविराजितम्।
नासादघ्नं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा बिभ्रयाद्यतिः॥
दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते।
न दण्डेन विना गच्छेदिषु क्षेपत्रयं बुधः॥"
(संन्यासोपनिषत् २.९-११)

"कुटीचको बहूदकश्चापि हंसः **परमहंस** इव
वृत्त्या च भिन्नाः। सर्व एते विष्णुलिङ्ग

राजन्यवैश्ययोर्नेति दत्तात्रेयमुनेर्वचः ।'

इति बौधायनादि वचनानुसारेण काषायवस्त्रदण्डधारणादिनिषेधपराणीति माधवाचार्याः 'चत्वार आश्रमा ब्राह्मणस्य त्रयो राजन्यस्य द्वौ वैश्यस्य' **इतिस्मृतेः । पुराणेऽपि** 'मुखजानामयं धर्मः'

पूज्यवार्तिककारों ने भी **'सर्वाधिकारविच्छेदि'** इत्यादि कथन से विद्वत्सन्यास में नियम का अभाव सिद्ध किया ही है। सुलभा आदिकों का विद्वात्सन्यास है। उनका भिक्षाचरण शास्त्रीय नहीं; अपि तु स्वाभाविक है। विद्वत्सन्यास में नियम का अभाव होने पर तो **'ब्राह्मणानामयं धर्मः'** इत्यादिक बौधायनवचन के अनुसार वार्तिककार के वचन भी काषायवस्त्र, दण्डधारणादि के निषेध में तात्पर्यवाले हैं। ऐसा माधवाचार्य जी का निर्णय है। यह निर्णय **'चत्वार आश्रमा ब्राह्मणस्य'** इस स्मृति से भी अनुमत है। पुराणों में भी **'मुखजानामयं धर्मः'** इत्यादि वाक्यों से क्षत्रिय तथा वैश्य के सन्यास का अभाव ही कहा है। 'क्षत्रिय तथा वैश्य का भी सन्यास में अधिकार है' यह वार्तिककार का कथन प्रौढ़िवाद मात्र है। **'कर्मणैव हि संसिद्धिम्', 'यद्यदाचरित श्रेष्ठः'** इन श्लोकों की टीका में नीलकण्ठाचार्य ने कहा है कि—**'कर्मणैव'** इस श्लोक से भगवान् शिष्टपुरुषों के आचरण को प्रमाण में देते हैं तथा ऐसा अर्थ करते हैं कि-कर्मों के साथ ही,

---

दधाना वृत्त्या व्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम् ॥
"न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि निखनेत्सह ॥"
(शाट्यायनीयो० ११, ८)

"त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं **विप्राणां** मुक्तिसाधनम् ॥
निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम् ॥
(शाट्यायनीयो० १०)

उक्त उद्धरणों से सिद्ध है कि (१) ब्राह्मण को ही सलिंग संन्यास-एकदण्ड या त्रिदण्ड का अधिकार है। (२) कुटीचक, बहूदक हंस और परमहंस ये चारों ही दण्डी होते हैं। कुटीचक और बहूदक त्रिदण्डी, हंस और परमहंस एकदण्डी होते हैं। (३) दण्डत्याग अधर्म है।

इति क्षत्रियवैश्ययोः सन्यासाभाव एवोक्तः। 'क्षत्रियवैश्ययोरपि सन्यासाधिकारः' **इति वार्तिककारोक्तिस्तु**[१२१] **प्रौढिवादमात्रम्।** 'कर्मणैव हि संसिद्धिम्' **(गीता ३.२०)**, 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' **(गीता ३.२१) इत्यत्र टीकायां नीलकण्ठाचार्यः—'अत्र शिष्टाचारं प्रमाणयति** कर्मणेति**। कर्मणैव सह संसिद्धिं श्रवणादिसाध्यां ज्ञाननिष्ठां गन्तुमास्थिताः प्रवृत्ता जनकादयस्त्वादृशाः क्षत्रियाः**, न तु सन्यासेन।'

श्रवणादि से साध्य ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त करने को आप जैसे क्षत्रिय प्रवृत्त हुए हैं। जनकादि क्षत्रिय सन्यास से ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त करने को प्रवृत्त नहीं हुए हैं। अतः नीलकण्ठाचार्य को भी क्षत्रियों का सन्यास अभिमत नहीं।

यदि अर्जुन कहे मेरा चित्त शुद्ध है, अतः मुझे कर्म की अपेक्षा नहीं है, तब भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करना चाहिये। अपने धर्म में प्रवृत्ति कराने का नाम लोकसंग्रह है। यदि अपना कुछ प्रयोजन न होने पर भी लोकसंग्रह के लिये ही कर्म करना चाहिए तब तो

---

१२१. "दार्ढ्येन यन्न हि प्रोक्तं कर्तव्यत्वेन कोविदैः।
कंचित्तद्धेतुमादाय तत्साधनमिहोच्यते।
सर्वसाधनहीनत्वात्प्रौढिवादो बुधोज्झितः॥"

ध्यान रहे, संन्याससम्बन्धी उपनिषदों में नारदपरिव्राजकोपनिषत् अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसके प्रारम्भ के उपक्रम वाक्य में **'गृहस्थोचितकर्म कुर्वन्नुदौर्ब्राह्मण्यनिवृत्तिमेत्य स्ववंशवृद्धिकामः'** कह कर स्पष्ट ही ब्राह्मणवर्ण का उल्लेख है (नारद० २); पुनः **'यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः। संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान्॥"** (३.१४) **'कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मणः'** (३.७७) **'तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणःपरिव्रज्य'** (३.८५ के बाद) ब्राह्मणवर्ण का ही परामर्श है; अतः **'ब्राह्मण'** पद क्षत्रिय और वैश्य का द्योतक कथमपि नहीं हो सकता। परब्रह्मोपनिषत् में 'विप्र' शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ का द्योतक है—**'बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः।'**, **'ब्राह्मणोऽग्नीन्समारोप्य'** (बौधायनस्मृतिः १०.२.२५) आदि स्मृतियाँ भी इसी तथ्य का प्रकाश करती हैं।

ननु शुद्ध चित्तस्य मम नास्ति कर्मापेक्षेत्याशंक्याह–लोकेति । **लोकस्य संग्रहः स्वधर्मे प्रवर्तनम् । ननु स्वप्रयोजनाभावेऽपि केवलं लोकसंग्रहार्थं चेत्कर्म कर्तव्यं तदा विदुषां ब्राह्मणानामपि सन्यासो न स्यात् । यतीनेव सन्यासधर्मान् ग्राहयितुं तेषां सन्यास इति चेत्, अर्जुनेऽपि न तद्दण्डवारितमस्ति । ननु क्षत्रियस्य सन्यासेऽधिकारो नास्तीति चेत्, लिङ्गधारणेऽधिकाराभावेऽपि भरतऋषभादिवद्विक्षेपककर्मत्यागमात्रेऽधिकारात् ।**

"सर्वाधिकारविच्छेदि ज्ञानं चेदभ्युपेयते ।
कुतोऽधिकारनियमो व्युत्थाने क्रियते बलात् ॥"

इति वार्तिके विद्वत्सन्यासे क्षत्रियादेरप्यधिकारस्य साधितत्वात् । अतो लोकसंग्रहो न मुख्यं कर्मप्रयोजनम्, इति चेत्, सत्यम्, ।

'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥"

(गीता० ३.२२)

ब्राह्मण भी सन्यासग्रहण नहीं करेंगे, क्योंकि ज्ञान होने पर ब्राह्मण भी लोकसंग्रह के लिये कर्म ही करते रहेंगे। यदि कहा जाय कि अन्य सन्यासियों के लिये सन्यासधर्म में प्रवृत्ति कराने के लिये ब्राह्मणों को सन्यासग्रहण करना चाहिये तो अर्जुन को भी अन्य सन्यासियों को अपने धर्मग्रहण कराने के लिये सन्यास ग्रहण को कौन अवरुद्ध करेगा ? 'क्षत्रिय का सन्यास में अधिकार ही नहीं है', यदि ऐसा कहा जाय तो यह उचित नहीं, क्योंकि लिङ्गधारणसन्यास में अधिकार न होने पर भी भरत तथा ऋषभदेवादि के समान विक्षेपक कर्म के त्यागरूप सन्यास में तो अधिकार है ही।

'सर्वाधिकारविच्छेदि" इस वार्तिकवचन में क्षत्रियादिकों के लिये भी विद्वत्सन्यास में अधिकार सिद्ध किया है। इसलिए लोकसंग्रह ज्ञानी के कर्म का मुख्य प्रयोजन नहीं है। यदि ऐसा कहते हैं, ठीक हैं। भगवान् कहते हैं कि "हे अर्जुन ! मेरे लिये तीनों लोकों में कोई कर्तव्य नहीं है, तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु भी नहीं है, जो मेरे लिये अप्राप्त हो तथा मुझे प्राप्त करनी हो, फिर भी मैं कर्म करने में ही

इति स्वदृष्टान्तेनाधिकारिकत्वादर्जुन एवैवं नियोज्यते, न तु क्षत्रियमात्रम्' इति तुष्यतु भवान्। नीलकण्ठप्रतिपादितक्षत्रियवैश्यादीनां भैक्ष्याचरणन्तु न सन्यासरूपं किन्तु देहयात्रानिर्वाहार्थमेव। तस्य सन्यासपदवाच्यताविचारस्तु व्यर्थ एव। ब्रह्मनिष्ठायाः सर्वकर्मसन्यासरूपत्वेऽपि व्यवहारे न सन्यासपदवाच्यता, जनकादिषु व्यभिचारात्।[१२२]

प्रवृत्त रहता हूँ" इस वाक्य में भगवान् ने अपने दृष्टान्त से आधिकारिक अर्जुन को ही लोकसंग्रह के लिये कर्म करने की प्रेरणा दी है। क्षत्रियमात्र के लिये भगवान् का यह कथन नहीं है। यदि ऐसा आप कहते हैं तो आप प्रसन्न रहें। नीलकण्ठ प्रतिपादितक्षत्रियवैश्यादिकों के लिये भिक्षा का आचरण सन्यासरूप नहीं है, किन्तु देह के निर्वाह के लिये लौकिक है। अतः "लौकिक-भिक्षाचरण सन्यास पद का वाच्य है," यह विचार तो व्यर्थ ही है। ब्रह्मनिष्ठा सर्वकर्मों का सन्यास (त्याग) रूप है, किन्तु लोकव्यवहार में उसे सन्यास नहीं कहा जाता है। क्योंकि जनकादिकों में ब्रह्मनिष्ठारूप सन्यास विद्यमान है, फिर भी उनको सन्यासी नहीं कहा जाता।

---

१२२. **ध्यान रहे, (१) 'तुरीयातीतोपनिषत्'** में तुरीयातीत और अवधूतों के मार्ग का निरूपण है। उसमें कुटीचक को अधिकारानुसार बहूदक, बहूदको हंस, हंसको परमहंस और परमहंस को तुरीयातीत तथा अवधूत होने का उपदेश है। उसी सन्दर्भ में चरमभूमिका की अभिव्यक्ति होने की स्थिति में दण्डादि आश्रमसूचक चिह्नों के जल में विसर्जन का प्रतिपादन अवश्य है; परन्तु द्वन्द्वातीत दिगम्बर होकर बालोन्मत्तपिशाचवत् एकाकी विचरण करने का असाधारण वर्णन भी है। उसके बल पर दण्डादि के त्याग का समर्थन अनर्गल और अमङ्गल है। सन्यासोपनिषत् और शाट्यायनी उपनिषत् में स्पष्ट ही निषेध है।

(२) बहुत से महानुभाव **मैत्रेयी** और **गार्गी** को अविवाहिता और सन्यासिनी मानकर स्त्रियों के सलिङ्गसंन्यास और

अविवाह का समर्थन करते हैं। उनका यह कृत्य शास्त्रविरुद्ध है। कारण यह है कि मैत्रेयी श्रीयाज्ञवल्क्य महर्षि की धर्मपत्नी थी। उसने पतिदेव से ज्ञान अवश्य प्राप्त किया; परन्तु वह 'संन्यासिनी हो गयी' यह कथन सर्वथा भ्रामक है।

"अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव। सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां, यदेव भगवान्वेद तदेव मे विब्रूहीति।" (बृह० ४.५.१,४)

रही गार्गी की बात। वह भी विवाहिता थी। अन्यथा शतपथब्राह्मण बृहदारण्यक में उसके वंशधर-पुत्र का उल्लेख कैसे होता ? यह बात दूसरी है कि सत्संग और पौर्वदैहिकप्रज्ञा के बल पर वह त्याग और तपसे सम्पन्न तथा ब्रह्मवादिनी थी। अथ स्त्री प्रधानो विद्यावंश:

(४) पाराशरी पुत्रो गार्गी पुत्रात्, (५) गार्गीपुत्र: पाराशरी कौण्डनी पुत्रात्, (६) पाराशरी कौण्डिनी पुत्रो गार्गी पुत्रात्, (७) गार्गी पुत्रो गार्गी पुत्रात्, (८) गार्गी पुत्रो बाडेयी पुत्रात्,॥ (शतपथ ब्राह्मणम् १४ का. ५ प्र०, ५ ब्रा०, ३० बृहदा० ६ अ०, ४ ब्रा०, ३०)

स्त्रियों के लिये अविवाहिता रहना अनुपयुक्त है। इस तथ्य की विशेष जानकारी महा० शल्यपर्व वृद्धाकन्या के इतिहास से प्राप्त करें (अध्याय ५२, गीताप्रेस)।

(३) इसी सन्दर्भ में यह भी समझ लेना आवश्यक है कि बृहदारण्यक उपनिषत् के अनुसार यह तथ्य भी सिद्ध है कि अवरवर्ण का शिष्य बनना और वरवर्ण को अपना शिष्य बनना प्रतिलोम (विपरीत) है —

"प्रतिलोमं चैतद्यद् ब्राह्मण: क्षत्रियमुपेयात्"
(बृह० उप० २.१.१५)

स्मृति के अनुसार भी यह तथ्य सिद्ध है कि 'बहुश्रुत

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य

व्यूह रश्मीन्समूह ।

तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते

पश्यामि योऽसावसौ पुरुषस्सोऽहमस्मि ॥१६॥

(शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिता ४०.१.१६)

पूषन्, एकर्षे, यम, सूर्य, प्राजापत्य, व्यूह, रश्मीन्, समूह । तेजः, यत्, ते, रूपम्, कल्याणतमम्, तत्, ते, पश्यामि, यः, असौ, असौ, पुरुषः, सः, अहम्, अस्मि ॥१६॥

हे जगत् पोषक ! हे एकाकी गमन करनेवाले ! हे यम–संसार का संयमन करनेवाले ! हे सूर्य-रश्मि, प्राण और रसों के धारक ! हे प्रजापतिनन्दन ! आप अपनी किरणों को समेट लें ! आप श्री के अनुग्रह से मैं आपके अत्यन्त शोभनस्वरूप का दर्शन करता हूँ। मैं आपके भूः, भुवः, स्वः रूप शिर, भुजा और चरणयुक्त पुरुषाकार हिरण्यगर्भात्मक-प्रज्ञा और प्राणशक्ति से विशिष्ट अन्तर्यामिरूप पूर्ण-स्वरूप से अपनी एकरूपता का अनुभव करता हुआ ही आपसे यह निवेदन कर रहा हूँ ॥१६॥

तथा ज्ञान-गुण-कर्म से युक्त होने पर भी क्षत्रियादि का ब्राह्मण अभिवादन न करे' —

"नाभिवाद्यास्तु विप्रेण क्षत्रियाद्याः कथञ्चन ।
ज्ञानकर्मगुणोपेता यद्यप्येते बहुश्रुताः ॥"

(वीरमित्रोदये संस्कारप्रकाशे)

एवमुपासकः मार्गं याचित्वा, उपास्यतेजः पुञ्जेन प्रतिहता (मा) अस्मदीया दृष्टिः ताम् आक्षिप क्षमस्वेति तत्तेजसः अपनयनं प्रार्थयते।

हे पूषन् ! **जगतः पोषक सूर्य,** हे एकर्षे ! 'ऋषिः गत्यर्थः' **एक एव ऋषति गच्छतीति एकर्षिः** ! "सूर्य एकाकी चरति" **(यजुः अ. मा. सं. २३.४६) इति श्रुतेः। सर्वस्य संनियमनात् यमः,** हे यम ! **रश्मीनां प्राणानां रसानाञ्च स्वीकरणात् प्रेरणात् सूर्यः,** हे सूर्य ! **प्रजापतेरपत्यगुणविशिष्ट, हे प्राजापत्य ! त्वदीयान्** रश्मीन् **किरणसंघान्** व्यूह **विगमय** ते तेजस्**तापकः ज्योतिः–उत्कृष्टं ज्योतिः समूह सूर्य एकीकुरु उपसंहर।**

ते **तव यद्**रूपं कल्याणतमं **अत्यन्तशोभनं** तदहं पश्यामि **साक्षात्करोमि, तव प्रसादात् पश्यामि। किञ्चाहं न त्वां भृत्यवद्याचे। अपि च तव** असौ यः **खलु प्रसिद्धः अस्य मण्डलान्तर्वर्त्ती भूरित्यादि व्याहृत्यवयवः** 'तस्य भूरिति शिरः, भुव इति बाहू, सुवरितिप्रतिष्ठा' **(बृह० ५.५.३),** पुरुषः **पुरुषाकारत्वात्पूर्णं वानेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरिशयनाद्वा** "य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः" **(छान्दो० अ. १, खं. ६.६) इति श्रुत्यन्तरम्।** सः अहमस्मि, **तद्विधो**

इस प्रकार उपासक मार्ग की याचना करके उपास्य के तेजः–पुञ्ज से प्रतिहृत होकर उसके संवरण की प्रार्थना करता है। हे पूषन् ! अर्थात् आप जगत् के पोषक हैं। हे एकर्षे ! आप अकेले ही चलते हैं। जैसा कि **'सूर्य एकाकी चरति'** इस श्रुति से सिद्ध है। हे यम ! आप सबके नियायक हैं। हे सूर्य ! आप रश्मि, प्राण और रसों के धारक और प्रेरक हैं। हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि अपनी प्रशस्त और प्रखर किरणमाला को दुरा लीजीए—समेट लीजिए।

आपका अत्यन्त शोभन–कल्याणतम जो दिव्यरूप है, आपके अनुग्रह से मैं उसका दर्शन करता हूँ। मैं आपसे भृत्य की तरह याचना नहीं करता, अपि तु जो आपका आदित्यमण्डलान्तर्गत 'भूः' आदि व्याहृतिरूप दिव्य हिरण्यगर्भात्मक पूर्णस्वरूप है, उससे अपनी एकरूपता का अनुभव करके—आपसे एकरूप हो करके, प्रार्थना कर रहा हूँ। हे सूर्य ! आप मुझे अनुग्रहपूर्वक अङ्गीकार करें—अपनाएँ।

पासनादहमपि तद्रूप एव भवामि। अतः हे सूर्य ! मां अनुगृहाण इति भावः।

यद्वा—इदानीं तत्संबोधनानि कार्यान्तरार्थं–पूषन् हे पूषन्नेकर्षे ! एकश्चासावृषिश्चैकर्षिस्तत्तत्संबोधनमेकर्षे एकाकित्वेन गन्तः, यम ! हे नियन्तः, सूर्य ! हे सुष्ठुगमन, प्राजापत्य, हे प्रजापतेरपत्यभूत ! इदानीं कार्यमाह–व्यूह, उपसंहर रश्मीन्किरणान्समूह सम्यक्स्वात्ममात्रं कुरु। तेजश्चन्द्रमण्डलम्। तत्रापि प्रयोजनमाह—यत्प्रसिद्धं ते तव रूपं स्वयञ्ज्योतिः स्वभावं कल्याणतममतिशयेन कल्याणमानन्दात्मरूपं तदुक्तं ते तव पुनस्ते शब्द उपचार निवारणार्थः। पश्यामि साक्षात्करोमि। द्रष्टृदृश्यप्रयुक्तं भेदं वारयति–यः प्रसिद्धोऽसावादित्यमण्डलस्थः परोक्षोऽसौ शास्त्रदृष्ट्या प्रत्यक्षः पुरुषः परिपूर्णः स उक्तो यः प्रसिद्धः स एवाहमस्मत्प्रत्ययालम्बनोऽस्मि भवामि ॥१६॥

अथवा अब प्रयोजनान्तर की सिद्धि के लिये संबोधनान्तर का प्रयोग किया जाता है। हे पूषन् ! हे एकर्षे ! आप एक हैं और ऋषि हैं, अर्थात् अकेले ही गमन करते हैं। हे यम ! आप नियन्ता होने से यम हैं। हे सूर्य ! आप सुष्ठु—शोभन गमन करनेवाले हैं। हे प्राजापत्य ! आप प्रजापतिनन्दन हैं। आपसे जो कार्य है, उसे मैं निवेदित करता हूँ। आप किरणसमूह का उपसंहार कीजिए। आप परम आह्लादक-आनन्दप्रद स्वप्रकाश-आनन्दात्मकचन्द्र हैं। निःसन्देह आपके दिव्य स्फूर्तिप्रद रम्य इस रूपका मैं साक्षात्कार करता हूँ, आपको दृश्य और स्वयं को द्रष्टा बनाकर नहीं—अपि तु आप से निज ऐक्य का अनुभव कर–सर्वथा एकीभूत होकर। शास्त्रसिद्ध हिरण्यगर्भात्मकरूप से मैं यही कहता हूँ कि जो यह आदित्यमण्डलान्तर्गत पुरुष है, वह मैं हूँ ॥१६॥

★

ऋग्वेदादिविभागेन शान्तिः

अथ हैनं श्रीरामचन्द्रं मारुतिः पप्रच्छ 'ऋग्वेदादि विभागेन पृथक् शान्तिमनुब्रूहि' इति । स होवाच श्रीरामः । ऐतरेयकौषीतकी-नादबिन्द्वात्मप्रबोधनिर्वाणमुद्गलाक्षमालिकात्रिपुरासौभाग्यबह्वृचाना-मृग्वेदगतानां दशसंख्याकानामुपनिषदां 'वाङ् मे मनसी'ति शान्तिः ॥१॥

ईशावास्यबृहदारण्यजाबालहंसपरमहंससुबालमन्त्रिकानिरालम्ब-त्रिशिखीब्राह्मणमण्डलब्राह्मणाद्वयतारकपैङ्गलभिक्षुतुरीयातीताध्यात्म-तारसारयाज्ञवल्क्यशाट्यायनीमुक्तिकानां शुक्लयजुर्वेदगतानामेकोनविं-शतिसंख्याकानामुपनिषदां 'पूर्णमदः' इति शान्तिः ॥२॥

कठवल्लीतैत्तिरीयकब्रह्मकैवल्यश्वेताश्वतरगर्भनारायणामृतबि-न्द्वमृतनादकालाग्निरुद्रक्षुरिकासर्वसारशुकरहस्यतेजोबिन्दुध्यानबिन्दु-ब्रह्मविद्यायोगतत्त्वदक्षिणामूर्तिस्कन्दशारीरकयोगशिखैकाक्षराक्ष्यव-धूतकठरुद्रहृदययोगकुण्डलिनीपञ्चब्रह्मप्राणाग्निहोत्रवराहकलिसंतरण-सरस्वतीरहस्यानां कृष्ण यजुर्वेदगतानां द्वात्रिंशत्संख्याकानामुपनिषदां 'सह नाववत्वि'ति शान्तिः ॥३॥

केनच्छान्दोग्यारुणिमैत्रायणिमैत्रेयीवज्रसूचिकायोगचूडामणि-वासुदेवमहत्संन्यासाव्यक्तकुंडिकासावित्रीरुद्राक्षजाबालदर्शनजाबालीनां सामवेदगतानां षोडशसंख्याकानामुपनिषदा 'माप्यायन्त्वि'ति शान्तिः ॥४॥

प्रश्नमुण्डकमाण्डूक्याथर्वशिरोऽथर्वशिखाबृहज्जाबालनृसिंहताप-नीनारदपरिव्राजकसीताशरभमहानारायणरामरहस्यरामतापनीशाण्डि-ल्यपरमहंसपरिव्राजकान्नपूर्णासूर्यात्मपाशुपतपरब्रह्मत्रिपुरातपनदेवीभाव-नाब्रह्मजाबालगणपतिमहावाक्यगोपालतपनकृष्णहयग्रीवदत्तात्रेयगारुडा-नामथर्ववेदगतानामेकत्रिंशत्संख्याकानामुपनिषदां 'भद्रं कर्णेभिरि'ति शान्तिः ॥५॥ (मुक्तिकोपनिषत्सु १)

ईशावास्योपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥[१२३]

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अदः पूर्णम् इदं पूर्णं पूर्णात् पूर्णं उदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णं आदाय पूर्णं एव अवशिष्यते ।

वह कारणब्रह्म पूर्ण है–परिच्छेदशून्य है। यह जगत् कार्यब्रह्म भी उस कारण ब्रह्म की पूर्णता से पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण उस कारणब्रह्म से पूर्ण यह कार्यजगत् उदित होता है। पूर्ण इस कार्यजगत् की पूर्णता को पृथक् कर लेने पर पूर्ण कारणब्रह्म ही शेष रहता है। कार्य का प्रतिषेध हो जाने पर ब्रह्म, कार्य-कारण विनिर्मुक्त अद्वितीय चिदात्मा ही अवशिष्ट रहता है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक प्रपञ्च की अध्यारोप और अपवाद-प्रक्रिया से परब्रह्मरूपता सिद्ध हो जाने पर सर्वात्मभाव के अमोघ-प्रभाव से त्रिविधतापों की निवृत्ति हो जाती है।

---

१२३. **अदस्त**त्पदलक्ष्यं ब्रह्म, **पूर्णमा**काशवद्व्यापि अपरिच्छिन्नमिति यावत्। **इदं** च त्वं पद लक्ष्यं जीवस्वरूपमपि **पूर्णम्**। ननु द्वयोः पूर्णत्वं विरुद्धं वस्तुपरिच्छेदादित्यत आह **पूर्णादि**त्यादि। **पूर्णाद्** ब्रह्मणः **पूर्ण**मेव जीवस्वरूप**मुदच्यत** उद्रिच्यत उदेतीति यावत्। **पूर्णस्य** परिणामासंभवेन तत उत्पद्यमानस्यौपाधिकत्वमेव महाकाशादुद्गच्छतो घटाद्याकाशस्य तथा दर्शनात्। औपाधिकस्य च तदेव तथ्यं रूपं यतः स उदेतीति निदानाभेदात् पूर्णादुद्रिच्यमानं पूर्णमेवेति भावः। ननु जीवस्वरूपस्य पूर्णत्वे कुतस्तन्नानुभूयते तत्राह–**पूर्णस्ये**त्यादि। '**पूर्णस्य** यत्**पूर्णं** स्वरूपं तन्मात्र**मादाय** उपाध्यँशमपहायेति यावत्। पश्यत इति शेषः। **पूर्णमेवावशिष्यते**–पूर्णमेवस्वरूपमवभातीति यावत्। घटेन सहावलोक्यमानस्य नभसोऽपूर्णत्वभानेऽपि घटांशं विहायावलोकने पूर्णत्वस्यैवानुभवो यथेति भावः। त्रिःशान्तिरिति पठनन्त्वाध्यात्मिकादित्रिविधोपद्रवशमनायेति ध्येयम्। आदौ च

'पूर्णमदः' (बृह० उप० ५.१.१) पूर्णं न कुतश्चिद् व्यावृत्तं व्यापीत्येतत् । निष्ठा च कर्तरि द्रष्टव्या । 'अद' इति परोक्षाभिधायि सर्वनाम, तत्परं ब्रह्मेत्यर्थः । तत् सम्पूर्णमाकाशवद् व्यापि निरन्तरं निरुपाधिकं च तदेवेदं सोपाधिकं नामरूपस्थं व्यवहारापन्नं पूर्णं स्वेन रूपेण परमात्मना व्याप्येव नोपाधिपरिच्छिन्नेन विशेषात्मना ।

'पूर्णमदः'–पूर्णम्—जो कहीं से भी व्यावृत्त नहीं है, अर्थात् व्यापक है । 'पूर्ण' शब्द में जो निष्ठा नामक 'क्त' प्रत्यय हुआ है उसे कर्ता अर्थ में समझना चाहिये—'पूरयति निरतिशयं वर्द्धत इति पूर्णं' । 'अदः' यह पद परोक्ष अर्थ को बतलानेवाला सर्वनाम है, इसका अर्थ है–वह परब्रह्म । वह सम्पूर्ण है,आकाश के समान व्यापक, अन्तरहित और उपाधिशून्य है । वही यह नाम-रूप में स्थित व्यवहारदशा को प्राप्त

प्रणवघोषो वेदोच्चारणनियतो मङ्गलमातनोतीति विज्ञेयम् ।

'अदः' परमात्मा और 'इदं' जीव–दोनों ही स्वरूपतः पूर्ण हैं । उपाधिविनिर्मुक्त (माया और अविद्या या पञ्चकोश विरहित) 'तत्' (ईश्वर) और 'त्वं (जीव) का ऐक्य स्वतः सिद्ध है । घटाकाश और महाकाशका ऐक्य इसमें दृष्टान्त है । इससे देशकृत परिच्छेदरूपा अव्यापकताकी आशङ्का दूर हो जाती है । महाकाशतुल्य परब्रह्म से घटाकाशतुल्य जीवका उदय होता है । जीवेश्वर में औपाधिक कार्य-कारणभावरूप सम्बन्ध होने से वस्तुकृत परिच्छेद भी नहीं है । उपाधि परामर्श के कारण जीव अपूर्ण-सा परिलक्षित होता है । उपाधिवारण-पूर्वक अवलोकन करने पर घटनिरसनपूर्वक नभदर्शनवत् जीव पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है—परिलक्षित होता है । क्योंकि ब्रह्म सर्व-उपप्लव–द्वैतभेदविरहित है; अतः आध्यात्मिकादि त्रिविध ताप से नित्य विनिर्मुक्त है । इस तथ्य की अनुभूति 'शान्तिः' पद की तीन वार आवृत्ति करके की जाती है । 'ॐ' यह ब्रह्मात्मक ब्रह्म नाम है । यह तत्त्व का बोधक और तत्त्वभावना से उपास्य है । वेदपाठ के प्रारम्भ में इसका उच्चारण मंगल-दायक होता है ।

तदिदं विशेषापन्नं कार्यात्मकं ब्रह्म 'पूर्णात्' **कार्यात्मन** 'उदच्यत' **उद्रिच्यत उद्गच्छतीत्येतत्। यद्यपि कार्यात्मनोद्रिच्यते तथापि यत् स्वरूपं पूर्णत्वं परमात्मभावं तन्न** जहाति **पूर्णमेवोद्रिच्यते।**

'पूर्णस्य' **कार्यात्मनो ब्रह्मणः,** 'पूर्णं' **पूर्णत्वमादाय गृहीत्वा आत्मस्वरूपैकरसत्वमापद्य, विद्यया अविद्याकृतं भूतमात्रोपाधिसंसर्गजमन्यत्वावभासं तिरस्कृत्य,** पूर्णमेवानन्तरमबाह्यं **प्रज्ञानघनैकरसस्वभावं केवलं ब्रह्मा**वशिष्यते।

यदुक्तं 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेत् तस्मात्तत् सर्वमभवत्' (**बृह०** १.४.१०) **इत्येषोऽस्य मन्त्रस्यार्थः। तत्र 'ब्रह्मेत्य' स्यार्थः** 'पूर्णमद' **इति।** 'इदं पूर्णमि'**ति 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि'त्यस्यार्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्** "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह" (**क०** उ० २.१.१०) **इति। अतोऽदः शब्दवाच्यं पूर्णं ब्रह्म तदेवेदं पूर्णं कार्यस्थं नामरूपोपाधिसंयुक्तमविद्ययोद्रिक्तम्। तस्मादेव परमार्थस्वरूपादन्यदिव प्रत्यवभासमानम्। तद् यदात्मानमेव परं पूर्णं ब्रह्म विदित्वा**

सोपाधिकरूप भी पूर्ण है अर्थात् अपने परमात्मस्वरूप से व्यापक ही है–उपाधिपरिच्छिन्न (सीमित) विशेषरूप से व्यापक नहीं है। अभिप्राय यह कि उपाधिपरिच्छिन्न परिलक्षित होता हुआ भी वस्तुतः अपरिच्छिन्न ही है।

वह यह विशेषभाव को प्राप्त हुआ कार्यात्मक ब्रह्म, पूर्ण से —कारणात्मकब्रह्म से **'उदच्यते'** उद्रिक्त–उद्गत (अभिव्यक्त)होता है। यद्यपि यह कार्यरूप से उदित होता है, तथापि इसका जो स्वरूपभूत पूर्णत्व अर्थात् परमात्मभाव है, उसे नहीं छोड़ता। अभिप्राय यह कि पूर्ण ही प्रकट होता है।

इस पूर्ण अर्थात् कार्यरूप ब्रह्म का सम्पूर्ण पूर्णत्व लेकर अर्थात् उसे आत्मस्वरूप के साथ एकरस करके अविद्याकृत भूतमात्रोपाधि के संसर्ग से होनेवाली भेदप्रतीति को मिटा देने पर, पूर्ण ही अर्थात् अन्तर्बाह्यशून्य प्रज्ञानघनैकरसस्वरूप शुद्धब्रह्म ही शेष रहता है।

पहले जो यह कहा गया था **'ब्रह्म वा'**="आरम्भ में यह एक ब्रह्म ही था, उसने अपने को जाना, इसलिये वह सर्व हो गया" यही इस मन्त्र का भी अर्थ है। इसमें **'ब्रह्म'** इस पद का अर्थ है **'पूर्णमदः'**

'अहमदः पूर्णं ब्रह्मास्मि' **इत्येवं पूर्णमादाय तिरस्कृत्यापूर्णस्वरूपताम-विद्याकृतां नामरूपोपाधिसम्पर्कजामेतया ब्रह्मविद्यया पूर्णमेव केवल-मवशिष्यते । तथा चोक्तम्**—'तस्मात्तत्सर्वमभवत्'–(१.४.१०) **इति ।**

अत्रैके वर्णयन्ति पूर्णात्कारणात् पूर्णं कार्यमुद्रिच्यते । उद्रिक्तं कार्यं वर्तमानकालेऽपि पूर्णमेव परमार्थवस्तुभूतं द्वैतरूपेण । पुनः प्रलयकाले पूर्णस्य कार्यस्य पूर्णतामादायात्मनि धित्वा पूर्णमेवावशिष्यते कारण-रूपम् । एवमुत्पत्तिस्थितिप्रलयेषु त्रिष्वपि कालेषु कार्य-कारणयोः पूर्ण-तैव । सा चैकैव पूर्णता कार्यकारणयोर्भेदेन व्यपदिश्यते । एवञ्च द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्म ।

यथा किल समुद्रो जलतरङ्गफेनबुद्बुदाद्यात्मक एव । यथा च

और '**इदं पूर्ण**' यह '**ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्**' इसका अर्थ है । ऐसी ही एक दूसरी श्रुति भी है '**यदेवेह तदमुत्र**'="जो यहाँ है, वही परलोक में है और जो परलोक में है, वही यहाँ"; अतः '**अदः**' शब्दवाच्य जो पूर्णब्रह्म है, वही '**इदं पूर्णम्**' अर्थात् कार्यवर्ग में स्थित नाम-रूपात्मक उपाधि से युक्त अविद्याजनित (कार्यब्रह्म) है । वह इसी परमात्मस्वरूप परब्रह्म से अन्य-सा प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति में जब अपने को ही पूर्ण परब्रह्म जानकर 'मैं ही यह पूर्ण ब्रह्म हूँ' इस प्रकार पूर्णत्व को लेकर इस ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्याकृत नामरूपोपाधि के संसर्ग से उत्पन्न हुई अपूर्णरूपता का तिरस्कार कर दिया जाता है तो केवल पूर्ण ही रह जाता है । यह तथ्य '**तस्मात्तत्सर्वमभवत्**' इस वचन के द्वारा कहा गया है ।

यहाँ कोई ऐसा वर्णन करते हैं कि पूर्ण कारण से पूर्ण कार्य उत्पन्न होता है । वह उत्पन्न हुआ कार्य वर्तमान समय में भी पूर्ण ही है । अभिप्राय यह कि द्वैतरूप से परमार्थ वस्तुरूप ही है । फिर प्रलय-काल में पूर्णकार्य की पूर्णता को लेकर उसका आत्मा में आधान करने पर कारणरूप पूर्ण ही रह जाता है । इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय–तीनों ही कालों में कार्य-कारणकी पूर्णता ही है । यह एक पूर्णता ही कार्य-कारण के भेद से कही जाती है । इस प्रकार द्वैताद्वैतरूप एक ब्रह्म है ।

जिस प्रकार समुद्र जल-तरङ्ग-फेन-बुद्बुदादिरूप ही है और

जलं सत्यं तदुद्भवाश्च तरङ्गफेनबुद्बुदादयः समुद्रात्मभूता एवाविर्भाव-तिरोभावधर्मिणः परमार्थसत्या एव। एवं सर्वमिदं द्वैतं परमार्थसत्यमेव जलतरङ्गादिस्थानीयम्, समुद्रजलस्थानीयं तु परं ब्रह्म।

एवं च किल द्वैतस्य सत्यत्वे कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं, यदा पुनर्द्वैतं द्वैतमिवाविद्याकृतं मृगतृष्णिकावदनृतम्, अद्वैतमेव परमार्थतः, तदा किल कर्मकाण्डं विषयाभावादप्रमाणं भवति। तथा च विरोध एव स्यात्—वेदैकदेशभूतोपनिषत् प्रमाणम्, परमार्थाद्वैतवस्तुप्रतिपादकत्वात्; अप्रमाणं कर्मकाण्डम्, असद्द्वैत विषयत्वात्। तद्विरोध परिजिहीर्षया श्रुत्यैतदुक्तं कार्यकारणयोः सत्यत्वं समुद्रवत् 'पूर्णमदः' **इत्यादिनेति।**

तदसत्। विशिष्टविषयापवादविकल्पयोरसम्भवात्। न ह्रीयं सुविवक्षिता कल्पना, कस्मात्? यथा क्रियाविषय उत्सर्गप्राप्तस्यैकदेशेऽपवादः क्रियते, यथा "अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः" **(छा० उ० ८.१५.१) इति हिंसा सर्वभूतविषयोत्सर्गेण निवारिता, तीर्थे**

उसमें जैसे जल सत्य है, उसी प्रकार उससे निष्पन्न आविर्भाव-तिरोभाव-धर्मी तरङ्ग, फेन और बुद्बुदादि भी समुद्ररूप और परमार्थ सत्य हैं। इस प्रकार यह जलतरङ्गादिस्थानीय सारा द्वैतप्रपञ्च परमार्थ सत्य ही है और परब्रह्म तो समुद्रजलस्थानीय ही है।

इस प्रकार द्वैतके सत्य होने पर ही कर्मकाण्ड की प्रामाणिकता हो सकती है। जब द्वैत केवल द्वैत-सा तथा अविद्याकृत और मृगतृष्णा के तुल्य मिथ्या है—वस्तुतः अद्वैत ही सत्य है–ऐसा मानते हैं, तब तो अपने विषयका अभाव हो जाने के कारण कर्मकाण्ड अप्रामाणिक ही हो जाता है। ऐसा मानने पर परमार्थ अद्वैत का प्रतिपादन करनेवाली होने के कारण वेद के एक देशरूपा उपनिषदें तो प्रामाणिक हैं; किन्तु असद्द्वैत विषयक होने से कर्मकाण्ड अप्रमाणिक हैं—विरोध अनिवार्य होगा। उस विरोध का परिहार करने की इच्छा से ही **'पूर्णमदः'** इत्यादि मन्त्र द्वारा श्रुति ने समुद्र के समान कार्य-कारण की यह सत्यता बतलायी है।

ऐसा कहना अनुचित है, क्योंकि ब्रह्म वस्तुतः निर्विशेष है। उसमें विशिष्ट के विषयभूत अपवाद और विकल्प सम्भव नहीं हैं।

विशिष्टविषये ज्योतिष्टोमादावनुज्ञायते; न च तथा वस्तुविषय इहाद्वैतं ब्रह्मोत्सर्गेण प्रतिपाद्य पुनस्तदेकदेशेऽपवदितुं शक्यते, ब्रह्मणोऽद्वैतत्वादेवैकदेशानुपपत्तेः।

तथा विकल्पानुपपत्तेश्च। यथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' (**मै० स०** ४.७.६), 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' **इति ग्रहणाग्रहणयोः पुरुषाधीनत्वाद्विकल्पो भवति; न त्विह तथा वस्तुविषये 'द्वैतं वा स्यादद्वैतं वा' इति विकल्पः सम्भवति, अपुरुषतन्त्रत्वादात्मवस्तुनः, विरोधाच्च द्वैताद्वैतत्वयोरेकस्य। तस्मान्न सुविवक्षितेयं कल्पना।**

श्रुतिन्यायविरोधाच्च—'सैन्धवघनवत् प्रज्ञानैकरसघनं निरन्तरं पूर्वापरबाह्याभ्यन्तरभेदविवर्जितं' (**बृ०** ४.५.१३), 'सबाह्याभ्यन्तरमजं','नेति नेत्यस्थूलमनण्वह्रस्वमजरमभयममृतम्'–**इत्येवमाद्याः श्रुतयो निश्चितार्थाः संशयविपर्यासाशङ्कारहिताः सर्वाः समुद्रे प्रक्षिप्ताः स्युरकिञ्चित्करत्वात्।**

आपकी यह कल्पना उपयुक्त नहीं है। क्यों ? जिस प्रकार क्रिया के विषय में उत्सर्ग से सामान्यतः प्राप्त किसी क्रिया का किसी एक देश में विशेष-वचन द्वारा अपवाद कर दिया जाता है; जैसे "तीर्थों (पुण्य-कर्मों) को छोड़कर अन्यत्र सभी प्राणियों की हिंसा न करता हुआ" इस वाक्य में जिस सब प्राणियों की हिंसा का सामान्यतः निवारण किया है, उसकी तीर्थ यानी विशिष्ट विषय–ज्योतिष्टोमादि यज्ञों में अनुज्ञा दी जाती है। वैसा उस प्रकार वस्तु के विषय में यहाँ अद्वैतब्रह्म का प्रतिपादन कर, फिर उसके किसी एक देश में ब्रह्म का अपवाद (बाध) नहीं किया जा सकता; क्योंकि अद्वैत होने के कारण ब्रह्म का कोई एक देश नहीं हो सकता।

इसी प्रकार विकल्प न होने के कारण भी ऐसा असम्भव है। जिस प्रकार 'अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण करे', 'अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण नहीं करे' इस प्रकार ग्रहण और अग्रहण पुरुष के अधीन होने के कारण उनमें विकल्प हो सकता है, उस प्रकार **'क्वचिद् अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति क्वचिन्न गृह्णाति'** (कहीं अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण करे और कहीं न करे) यहाँ वस्तु के विषय में 'वह द्वैत हो या अद्वैत हो' ऐसा विकल्प नहीं हो सकता; क्योंकि आत्मा

तथा न्यायविरोधोऽपि सावयवस्यानेकात्मकस्य क्रियावतो नित्यत्वानुपपत्तेः। नित्यत्वं चात्मनः स्मृत्यादिदर्शनादनुमीयते। तद्विरोधश्च प्राप्नोत्यनित्यत्वे, भवत्कल्पनानर्थक्यं च; स्फुटमेव चास्मिन् पक्षे कर्मकाण्डानर्थक्यम्, अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसङ्गात्।

ननु ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वे समुद्रादिदृष्टान्ता विद्यन्ते, कथमुच्यते भवतैकस्य द्वैताद्वैतत्वं विरुद्धमिति।

न अन्यविषयत्वात्। नित्यनिरवयववस्तुविषयं हि विरुद्धत्वमवोचाम द्वैताद्वैतत्वस्य, न कार्यविषये सावयवे। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादनुपपन्नेयं कल्पना; अस्याः कल्पनाया वरमुपनिषत्परित्याग एव।

पुरुषतन्त्र नहीं है। इसके अतिरिक्त एक ही वस्तु का द्वैताद्वैतरूप होना विरुद्ध भी है। इसलिये यह कल्पना युक्तियुक्त नहीं है।

श्रुति और युक्ति से विरुद्ध होने के कारण भी उक्त कथन उचित नहीं। 'सैन्धवघन के समान प्रज्ञान एकरस घनरूप–निरवयव निरवकाश तथा पूर्वापर और बाह्याभ्यन्तर भेद से रहित है', 'सबाह्याभ्यन्तर अज है', 'नेति-नेति', 'अस्थूल–अनणु–अह्रस्व–अजर–अभय और अमृत है' इत्यादि श्रुतियाँ जो निश्चितार्थ और संशय-विपर्यय तथा शङ्का से रहित हैं, सारी ही समुद्र में डाल देनी होंगी; क्योंकि रहकर भी वे कुछ नहीं कर सकतीं।

इसी तरह युक्तिविरुद्ध भी है। कारण यह है कि सावयव, अनेकात्मक और क्रियावान् पदार्थ का नित्य होना संभव नहीं है। साथ ही स्मृति आदि के अवलोकन से आत्मा के नित्यत्व का अनुमान होता है। उसका अनित्यत्व मानने पर उस युक्तिसिद्ध नित्यत्व से विरोध प्राप्त होता है। साथ ही यदि आत्मा का अनित्यत्व स्वीकार भी किया जाय तो भी आपकी कल्पना व्यर्थ ही ठहरती है। इस पक्ष में कर्मकाण्ड की व्यर्थता स्पष्ट ही है; क्योंकि (आत्मा को अनित्य मानने पर) बिना किये की प्राप्ति और किये हुए का नाश होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

"किन्तु ब्रह्म के द्वैताद्वैतरूप होने में समुद्रादि दृष्टान्त विद्यमान हैं, फिर आप ऐसा कहते हैं कि एकका द्वैताद्वैतरूप होना विरुद्ध है ?'

अध्येयत्वाच्च न शास्त्रार्थेयं कल्पना। न हि जननमरणाद्यनर्थ-शतसहस्रभेदसमाकुलं समुद्रवनादिवत् सावयवमनेकरसं ब्रह्म ध्येयत्वेन विज्ञेयत्वेन वा श्रुत्योपदिश्यते।

प्रज्ञानघनतां चोपदिशति, "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ० उ० ४.४.२०) **इति च अनेकधादर्शनापवादाच्च**–"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (४.४.१६) **इति। यच्च श्रुत्या निन्दितं तन्न कर्तव्यम्, यच्च न क्रियते न स शास्त्रार्थः ब्रह्मणोऽनेकरसत्वमनेकधात्वं च द्वैतरूपं निन्दितत्वान्न द्रष्टव्यम्; अतो न शास्त्रार्थः। यत्त्वेकरसत्वं ब्रह्मणः; तद् द्रष्टव्यत्वात् प्रशस्तम्, प्रशस्तत्वाच्च शास्त्रार्थो भवितु-मर्हति।**

ऐसा कहना उपयुक्त नहीं। कारण यह है कि हम जो विरोध दर्शाते हैं, उसका विषय अन्य है। हमने नित्य और निरवयव वस्तु के विषय में द्वैताद्वैत का विरोध बतलाया है, सावयव कार्य के विषय में नहीं। इसीलिये श्रुति-स्मृति-युक्तिविरुद्ध होने के कारण यह कल्पना अनुचित है। इस कल्पना की अपेक्षा तो उपनिषत् का परि-त्याग कर देना ही अच्छा है।

सावयव ब्रह्म का ध्येयरूप से उपदेश न होने के कारण भी यह कल्पना शास्त्र का तात्पर्य नहीं हो सकती। जो जन्म-मरणादि सैकड़ों-सहस्रो अनर्थरूप भेद से सम्पन्न और समुद्र तथा वनादि के समान सावयव और अनेकरस है, ऐसे ब्रह्म का श्रुति द्वारा ध्येय या विज्ञेय-रूप से उपदेश नहीं किया जाता।

और भी। श्रुति उसकी प्रज्ञानघनता का भी उपदेश देती है तथा ऐसा भी बताती है कि "उसे निरन्तर एक प्रकार ही देखना चाहिये।", "जो यहाँ नानावत् देखता है, वह मृत्यु-से-मृत्यु को प्राप्त होता है", इस प्रकार अनेकरूप देखने की निन्दा की जाने से भी यही सिद्ध होता है। साथ ही श्रुति ने जिसकी निन्दा की हो, वह कर्तव्य नहीं हो सकता तथा जो नहीं किया जाता, वह शास्त्र का तात्पर्य नहीं हो सकता। ब्रह्म के द्वैतरूप अनेकरसत्व और नानात्व की निन्दा की गयी, इसलिये उसे ब्रह्म में नहीं देखना चाहिये, अत एव वह शास्त्र का तात्पर्य नहीं है। ब्रह्म की जो एकरसता है, वही द्रष्टव्य

यत्तूक्तं वेदैकदेशस्याप्रामाण्यं कर्मविषये द्वैताभावादद्वैते च प्रामाण्यमिति तन्न; यथाप्राप्तोपदेशार्थत्वात् । न हि द्वैतमद्वैतं वा वस्तु जातमात्रमेव पुरुषं ज्ञापयित्वा पश्चात् कर्म वा ब्रह्मविद्यां वोपदिशति शास्त्रम् ।

न चोपदेशार्हं द्वैतम्; जातमात्रप्राणिबुद्धिगम्यत्वात् । न च द्वैतस्यानृतत्वबुद्धिः प्रथममेव कस्यचित्स्यात्, येन द्वैतस्य सत्यत्वमुपदिश्य पश्चादात्मनः प्रामाण्यं प्रतिपादयेच्छास्त्रम् । नापि पाषण्डिभिरपि प्रस्थापिताः शास्त्रस्य प्रामाण्यं न गृह्णीयुः ।

तस्माद् यथाप्राप्तमेव द्वैतमविद्याकृतं स्वाभाविकमुपादाय स्वाभाविक्यैवाविद्यया युक्ताय रागद्वेषादिदोषवते यथाभिमतपुरुषार्थसाधनं कर्मोपदिशत्यग्रे पश्चात् प्रसिद्धक्रियाकारकफलस्वरूपदोषदर्शन-

---

होने के कारण प्रशस्त है और प्रशस्त होने के कारण वह शास्त्र का तात्पर्य भी हो सकती है ।

साथ ही यह जो कहा कि "द्वैत का अभाव होने के कारण वेद के कर्मविषयक एक भाग की तो अप्रामाणिकता हो जायगी और अद्वैतविषय में प्रामाणिकता होगी ।" वह उपयुक्त नहीं; क्योंकि शास्त्र तो यथाप्राप्त वस्तु का उपदेश करने के लिये है । जन्म लेते ही किसी पुरुष को द्वैत या अद्वैत-तत्त्व का बोध कराकर फिर उसे कर्म या ब्रह्मविद्या का उपदेश शास्त्र नहीं कर देता ।

यह भी हृदयङ्गम कर लेना आवश्यक है कि 'द्वैत' उपदेश के योग्य है भी नहीं, क्योंकि वह तो प्रत्येक जन्मधारी जीवकी बुद्धि का विषय है । आरम्भ से ही किसी की द्वैत में मिथ्यात्वबुद्धि नहीं होती, जिससे शास्त्र उसे द्वैत का सत्यत्व समझकर फिर अपनी प्रामाणिकता का प्रतिपादन करे । साथ ही पाखण्डियों द्वारा प्रवृत्त किये हुए शिष्यगण शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार न करें, ऐसी भी बात नहीं है ।

अतः अविद्याकृत यथाप्राप्त स्वाभाविक द्वैत को ही ग्रहणकर जो स्वाभाविक अविद्या से युक्त और रागद्वेषवान् है, उस पुरुष को शास्त्र पहले उसके अभिमत कर्मरूप पुरुषार्थ के साधन का उपदेश करता है । पीछे जो प्रसिद्ध क्रिया, कारक और फलस्वरूप कर्म में दोष

वते तद्विपरीतौदासीन्यस्वरूपावस्थानफलार्थिने तदुपायभूतामात्मैकत्वदर्शनात्मिकां ब्रह्मविद्यामुपदिशति। अथैवं सति तदौदासीन्यस्वरूपावस्थाने फले प्राप्ते शास्त्रस्य प्रामाण्यं प्रत्यर्थित्वं निवर्तते। तदभावाच्छास्त्रस्यापि शास्त्रत्वं तं प्रति निवर्तत एव।

तथा प्रतिपुरुषं परिसमाप्तं शास्त्रमिति न शास्त्रविरोधगन्धोऽप्यस्ति, अद्वैतज्ञानावसानत्वाच्छास्त्रशिष्यशासनादिद्वैतभेदस्य। अन्यतमावस्थाने हि विरोधः स्यादवस्थितस्य, इतरेतरापेक्षत्वात्तु शास्त्रशिष्यशासनानां नान्यतमोऽप्यवतिष्ठते। सर्वसमाप्तौ तु कस्य विरोध आशङ्क्येताद्वैते केवले शिवे सिद्धे? नाप्यविरोधता अत एव।

देखनेवाला तथा उससे विपरीत उदासीनरूप से स्थितिरूप फल का इच्छुक होता है, उसे ही वह उसकी उपायभूता आत्मैकत्वदर्शनरूपा ब्रह्मविद्या का उपदेश करता है। फिर ऐसा होने पर उस औदासीन्यस्वरूप में स्थितिरूप फल की प्राप्ति हो जाने पर शास्त्र के प्रामाण्य के प्रति आकाङ्क्षा की निवृत्ति हो जाती है। उसका अभाव हो जाने पर उसके लिये शास्त्र का शास्त्रत्व भी निवृत्त हो जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक पुरुष के प्रति शास्त्र का प्रयोजन पूरा हो जाता है, इसलिये शास्त्र के विरोध की तो गन्ध भी नहीं है, क्योंकि शास्त्र, शिष्य-और शासनादि द्वैतभेद की तो अद्वैतज्ञान होने पर समाप्ति हो जाती है। यदि इनमें से कोई भी रह जाता तो उस रहे हुए का विरोध रहता। ये शास्त्र, शिष्य और शासनादि एक-दूसरे की अपेक्षा रखनेवाले हैं, इसलिये इनमें से कोई भी अवस्थित नहीं रहता। इस प्रकार सबकी समाप्ति हो जाने पर तो एकमात्र शिवस्वरूप नित्यसिद्ध अद्वैत में किसके विरोध की आशङ्का की जाय! और इसी से उसका किसी से अविरोध भी नहीं है।

अब हम ब्रह्म को द्वैताद्वैतरूप मानकर भी बतलाते हैं कि उसके द्वैताद्वैतरूप होने पर भी शास्त्र का विरोध ऐसा ही है। जब हम समुद्रादि के समान द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म स्वीकार करते हैं, उसके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु नहीं मानते, उस समय भी हम आपके बतलाये हुए शास्त्रविरोध से मुक्त नहीं होते। किस प्रकार? इस प्रकार कि द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म है, वह शोक-मोहादि से अतीत

अथाप्यभ्युपगम्य ब्रूमः–द्वैताद्वैतात्मकत्वेऽपि शास्त्रविरोधस्य तुल्यत्वात्। यदापि समुद्रादिवद् द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्माभ्युपगच्छामो नान्यद् वस्त्वन्तरम्, तदापि भवदुक्ताच्छास्त्रविरोधान्न मुच्यामहे। कथम्? एकं हि परं ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकं तच्छोकमोहाद्यतीतत्वादुपदेशं न कांक्षति। चोपदेष्टा अन्यो ब्राह्मणो द्वैताद्वैतरूपस्य ब्रह्मण एकस्यैवाभ्युपगमात्।

अथ द्वैतविषयस्यानेकत्वादन्योन्योपदेशो न ब्रह्मविषय उपदेश इति चेत्? तदा द्वैताद्वैतात्मकमेकमेव ब्रह्म नान्यदस्तीति विरुध्यते। यस्मिन्द्वैतविषयेऽन्योन्योपदेशः सोऽन्यो द्वैतं चान्यदेवेति समुद्रदृष्टान्तो विरुद्धः। न च समुद्रोदकैकत्ववद् विज्ञानैकत्वे ब्रह्मणोऽन्यत्रोपदेशग्रहणादिकल्पना सम्भवति। न हि हस्तादिद्वैताद्वैतात्मके देवदत्ते वाक्कर्णयोर्देवदत्तैकदेशभूतयोर्वागुपदेष्ट्री कर्णः केवल उपदेशस्य ग्रहीता, देवदत्तस्तु नोपदेष्टा नाप्युपदेशस्य ग्रहीतेति कल्पयितुं शक्यते; समुद्रैकोदकात्मत्ववदेकविज्ञानवत्त्वाद्देवदत्तस्य। तस्माच्छ्रुतिन्यायविरोधश्चाभिप्रेतार्थासिद्धिश्चैवंकल्पनायां स्यात्। तस्माद् यथाव्याख्यात एवास्माभिः 'पूर्णमदः' इत्यस्य मन्त्रस्यार्थः।

होने के कारण उपदेश की आकांक्षा नहीं रख सकता। इसके सिवा उपदेश करनेवाला भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकता; क्योंकि द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म स्वीकार किया गया है।

अब यदि ऐसा कहो कि द्वैत विषय अनेकरूप है, इसलिए उसमें परस्पर उपदेश हो सकता है, ब्रह्मरूप विषय में उपदेश नहीं होता, तब तो "द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म है, उससे भिन्न कोई नहीं है" इस कथन से विरोध होगा। जिस द्वैतविषय में परस्पर उपदेश होता है, वह तो अन्य होगा और द्वैत अन्य होगा–इस प्रकार समुद्र का दृष्टान्त विरुद्ध ही रहा। यदि समुद्र के जल की एकता के समान विज्ञान की भी एकता है, तो ब्रह्म से भिन्न उपदेशग्रहणादि की कल्पना संभव नहीं हो सकती। हस्त-पादादि द्वैताद्वैतरूप देवदत्त में देवदत्त के एकदेशभूत वाणी और कर्ण में से केवल वाणी उपदेश करनेवाली है और अकेला कर्ण उपदेश को ग्रहण करनेवाला है, देवदत्त न तो उपदेश करनेवाला है और न उसे ग्रहण करनेवाला–ऐसी कल्पना नहीं की जा

सकती; क्योंकि जिस प्रकार समुद्र एकमात्र जलस्वरूप है, उसी प्रकार देवदत्त भी एक ही विज्ञानवान् है। अत: ऐसी कल्पना करने में श्रुति और युक्ति से विरोध तथा अभीष्ट अर्थ की असिद्धि भी होगी। इस लिये **'पूर्णमद:'** इस मन्त्र का अर्थ, जैसी हमने व्याख्या की है, वही है।

★

शुक्ल यजुर्वेदान्तर्गत काण्वशाखानुसार-मीशावास्योपनिषन्मन्त्राणां पाठः

ॐ ईशा वास्यमिद ँ सर्वं
यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा
मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति
तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानन्ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कश्शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूस्स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽ-
र्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यस्समाभ्यः ॥८॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥९॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणाँय्ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युन्तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ॥१२॥

अन्यदेवाहुस्सम्भवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणांय्ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

सम्भूतिंच विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य

व्यूह रश्मीन्समूह ।

तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि ।

योऽसावसौ पुरुषस्सोहमस्मि ॥१६॥

वायुरनिलममृतमथेदम्भ-

स्मान्त ँ शरीरम् ।

ॐ क्रतो स्मर कृत ँ स्मर

क्रतो स्मर कृत ँ स्मर ॥१७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि

देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते

नम उक्तिँ विधेम ॥१८॥

★

❀ श्री हरिः ❀

विद्याऽविद्यादि तत्त्वमीमांसा

संस्कृत साहित्य में वेद **'अनुश्रव'** कहे जाते हैं। अनुश्रव का भाव—**'गुरोर्मुखादनुश्रूयते'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह होता है कि वे गुरुमुख से ही केवल सुने जाते हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो यह कि वेद किसी से भी निर्मित नहीं हैं, केवल गुरुपरम्परा से सुने ही जाते हैं। अविच्छिन्न सम्प्रदाय—परम्परा से ही प्राप्त तथा **अप्रमितकर्तृक** होने से **'अपौरुषेय'** हैं। उनमें पुरुषदोष के शंकारूप कलंक का स्पर्श नहीं है। वे स्वतः प्रमाण हैं। दूसरी बात यह कि वेदों का अध्ययन तथा तदर्थज्ञान आचार्य से ही करना चाहिये। मनमाना अध्ययन तथा अर्थज्ञान नहीं करना चाहिये। इस बात को श्रुति स्वयं कहती है कि—**"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'** (मुण्डको० १.२.१२) अवधारणार्थक **'एव'** शब्द का तात्पर्य यह है कि व्याकरण, काव्य, कोश आदि में कुशल पुरुष भी स्वयं वेद के अर्थज्ञान में प्रवृत्त न हो; किन्तु उसके विज्ञान के लिये समित्पाणि होकर श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ की शरण में जाय, कारण कि अनेक दोषदूषित प्राणी विपरीत अर्थ समझकर लाभ के बदले अपना सर्वस्व नाश कर सकता है। वेद भगवान् को भी भय होता है कि अल्पश्रुत मूढ मुझ पर प्रहार करेगा, अर्थात् कुछ—का—कुछ अर्थ करेगा —

> "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
> बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥"
>
> (महा० आदि० १.२६७, २६७½)

वेदव्याख्याकार 'आचार्य' मीमांसा, कल्प, निरुक्त आदि के आधार पर सम्प्रदाय के अनुरोध से व्याख्या लिखते हैं। आज-कल

साहसवश कुछ लोग व्याकरणादि ज्ञानशून्य '**स्वयंभू**' आचार्य पूर्वाचार्यों के शास्त्रीय व्याख्यानों का खण्डन कर अटकलपच्चू मनगढन्त वेद व्याख्यान करते हैं।

पाठकवृन्द ! आज हम आपके सामने एक ऐसा ही विषय उपस्थित करते हैं। आप जानते होंगे—"**शङ्करः शङ्करः साक्षात्**" के अनुसार भगवान् शङ्कर ने ही श्रीशङ्कराचार्यरूप से अवतीर्ण होकर उपनिषदादि प्रस्थानत्रयी का यथोचित व्याख्यान कर दुरवग्राह्य वेदार्थ को प्रकाशित करने की कृपा की है।

'**कल्याण**' के **वेदान्ताङ्क** में श्रीजयदयाल गोयनका ने '**विद्या, अविद्या तथा संभूति और असंभूति**' शीर्षक लेख में एक विचित्र मनगढन्त अर्थ करके भगवान् शङ्कराचार्य के अर्थ का निराकरण किया है। यद्यपि लेखक ने अपनी छद्ममयी नीति से आरम्भ में अपने को वेदार्थज्ञान के अयोग्य और उक्त लेख का अनधिकारी बतलाया है तथा परमाचार्यकृत व्याख्यान को निःसार तथा स्वकृत व्याख्या को महत्त्वपूर्ण कहकर छद्म का भी अन्त में भंडाफोड़ कर ही दिया है। यहाँ हम पहले इनके व्याख्यान का सार लिखते हुए उसकी समालोचना करते हैं।

जिन मन्त्रों की आपने व्याख्या की है वे मन्त्र ये हैं—"**अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः॥**" लेखक का कहना है कि "बड़े-बड़े विद्वानों ने इन मन्त्रों के जो अर्थ किये हैं वे संगत नहीं मालूम पड़ते। इसीलिये इनका विचार यथाबुद्धि किया जाता है। सुतरां पहले विद्या तथा अविद्या का विचार करना चाहिये। यहाँ विद्या का अर्थ ब्रह्मविद्या समझना चाहिए। जो लोग अविद्या में निरत हैं अर्थात् सकामकर्म करते हैं, वे अन्धतम में प्रविष्ट होते हैं और उससे भी तम में वे जाते हैं, जो विद्या में रत हैं अर्थात् ब्रह्मविद्या में अभिमान करने वाले हैं। ब्रह्मविद्या के अभिमान में पाप करनेवाले हैं। क्योंकि यदि कर्म का फल स्वर्गादि अन्धन्तम माना जाय, तो उससे भी अन्धन्तम सूकर-कूकर आदि योनियाँ ही हो सकती हैं और वे विद्या का फल नहीं

हो सकती हैं। इसलिये **'रताः'** इस पद का अर्थ अभिमानी ही है। इसी वास्ते आगे विद्या तथा अविद्या को जाननेवाले के लिये मृत्युतरण और अमृतत्वप्राप्ति फल कहा है। अर्थात् जो भगवदर्थ निष्कामकर्म करता है तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके ब्रह्मविद्या को ठीक-ठीक जानता है, वह स्वर्गादिरूप मृत्यु को तैर कर मोक्ष पा लेता है" इत्यादि।

हम लेखक से यह पूछते हैं कि आपने **'विद्या'** पद से **'ब्रह्मविद्या'** कैसे समझी ? देवविद्यारूप उपासना ही विद्या पद से क्यों न मान ली जाय, **'य एवं वेद'** इत्यादि स्थलों में सभी आचार्य **'वेद'** का **'उपास्ते'** अर्थ करते हैं। समस्त वैष्णव आचार्य भी विद्या का अर्थ उपासना ही करते हैं। **'विद्यया देवलोकः'** (बृह० १.५.१६) यहाँ पर भी विद्या का अर्थ उपासना ही होता है, फिर यहाँ विद्या पद से ब्रह्मविद्या क्यों मानी जाय ? यद्यपि मीमांसकों के पास यहाँ बहुत कोटियाँ उपस्थित हो सकती हैं; परन्तु मनगढन्त व्याख्याताओं के पास क्या युक्ति हो सकती है ! इसके सिवा **'अविद्या'** का अर्थ कर्म ही क्यों लिया गया ? यदि कहें कि "अविद्याकार्य होने से कर्म ही अविद्या पद से लिया जाता है" तो वह ठीक नहीं है, कारण कि वैदिककर्म भी यदि अविद्या है तो वैदिक-उपासना भी अविद्या क्यों नहीं ? ज्ञान भी यदि उत्पन्न होने वाला है, तब तो वह भी अविद्या का कार्य होने से अविद्या ही है। यदि नित्य है, तब तो उसके लिये साधन व्यर्थ हों। एवं यदि 'तरु' बीज शब्द से नहीं कहा जाता तो 'कर्म' अविद्या पद से कैसे कहा गया ? इसके सिवा आपके नवीन सिद्धान्त में अविद्या का भी क्या अर्थ है ? यदि पूर्वाचार्यों की उक्तियों की परवाह न करें तो अविद्या विद्या का अभावमात्र है, उससे कर्मरूप भावकार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

स्वर्गादि को अन्धतम भी किस आधार पर कहते हैं, कारण वह भी ज्योतिःस्वरूप है। 'विद्यायां रताः' का अर्थ 'विद्या में अभिमान' तो किसी तरह भी युक्तिसंगत हो ही नहीं सकता। यदि कुछ व्याकरण का बोध होता तो **'रताः'** का 'अभिमान' अर्थ करने में कुछ तो संकोच मालूम पड़ता ! क्या **'सर्वभूतहिते रताः'**, **'आत्मरति'** इत्यादि स्थलों में क्रीड़ार्थक **'रमु'** धातु का अभिमान अर्थ लिया जाता है ? यदि नहीं तो यहाँ कैसे अभिमान अर्थ हो गया ? जो लेखक ने **'विद्या'** और

'अविद्या' का स्वाभिमत अर्थ होने में यह कहा है, क्योंकि यहाँ पर 'विद्या' और 'अविद्या' के तत्त्व को समझने वालों की निन्दा करके इन दोनों के तत्त्व समझने वाले की प्रशंसा की गई है। इनके तत्त्व समझने का फल मृत्यु से तैर कर अमृतत्व की प्राप्ति बतलाई है। ऐसा फल उपर्युक्त अर्थ मानने पर ही हो सकता है।" परन्तु लेखक ने यह हेतु कहाँ से निकाला, इसका पता नहीं है। मन्त्र में तो अविद्या के उपासक तथा विद्या में रत की निन्दा पाई जाती है तथा 'विद्या' और 'अविद्या' का साथ अनुष्ठान करने वाले की मृत्युतरणपूर्वक अमृतत्व-प्राप्ति बतलाई गई है। 'विद्या' और 'अविद्या' के तत्त्वज्ञ की प्रशंसा का तो स्पर्श भी मन्त्र में नहीं है। सम्भव है कि **'यस्तद्वेद'** के **'वेद'** शब्द से लेखक को विभ्रम हुआ हो, परन्तु पूर्व मन्त्रों के अनुसार यहाँ **'वेद'** का अर्थ **उपासना** ही है,अन्यथा पूर्वापर विरोध अनिवार्य होगा। 'निन्दा अविद्या-उपासक एवं विद्यानिरत की तथा प्रशंसा अविद्या तथा विद्या के तत्त्व की' इसका कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। यदि कहें, "पहले **'अविद्यामुपासते'** का अर्थ कर्मतत्त्व को न जानना ही है"–तो इसका उत्तर यही है कि उच्छृङ्खल–पन्थियों की दृष्टि में भैंस भी 'उपासते' का अर्थ हो सकता है, इसका उत्तर हमारे पास क्या है? कोई भी समझदार **'येऽविद्यामुपासते'**,**'विद्यायां रताः'**का यही अर्थ कर सकता है कि 'जो अविद्या की उपासना अर्थात् अनुष्ठान करते हैं', 'जो विद्या में रत हैं अर्थात् तन्निष्ठ हैं।' इन पदों से' विद्या-अविद्या के तत्त्व को न जानने वाला, यह अर्थ कैसे निकला? जब पूर्वार्द्ध का 'तत्त्व न जानने वाला' यह अर्थ नहीं हुआ, तब **'यस्तद्वेदोभयं सह'** का अर्थ दोनों के तत्त्वों का जानने वाला कैसे हुआ? क्योंकि आपके कथनानुसार पहले अविद्यादि के तत्त्वज्ञानरहित की निन्दा की गयी है तथा अन्त में उनके तत्त्वज्ञोंकी प्रशंसा की गई है। सो पूर्वार्द्ध बिगड़ने से उत्तरार्द्ध भी बिगड़ गया। इसके सिवाय प्रशंसा किन शब्दों का अर्थ है? अतः पूर्वकथनानुसार **'वेद'** का **'उपास्ते'** ही अर्थ है। तात्पर्य यही है कि विद्या और अविद्या के पृथक्-पृथक् उपासना की निन्दा द्वारा ही दोनों के एक साथ अनुष्ठान की प्रशंसा करके दोनों के एक साथ अनुष्ठान करने वाले के लिये मृत्युतरणपूर्वक अमृतत्वप्राप्तिरूप फल बतलाया गया है। जिसके मत में विद्यादि के तत्त्वज्ञान से ही अमृतत्व-फल प्राप्त होगा, उसके यहाँ फिर अनुष्ठान की आवश्यकता ही नहीं सिद्ध होती है। यदि कहें कि ज्ञान के बाद अनुष्ठान भी अपेक्षित है तो अनुष्ठान किस

शब्द का अर्थ है ? **'वेद'** का अर्थ तो आपने तत्त्वज्ञान कर लिया, अनुष्ठान अर्थ अब कैसे निकलेगा ?

अब श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपाद के व्याख्यान का अभिप्राय दिखाया जाता है। "वे अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं जो अविद्या पदवाच्य कर्म की उपासना करते हैं और वे उनसे भी अधिक अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं जो विद्या अर्थात् हिरण्यगर्भोपासना में निरत हैं।"

जैसे अधर्मपद से धर्मविरुद्ध निषिद्ध कृत्य ही गृहीत होता है धर्माभाव मात्र गृहीत नहीं होता, वैसे ही यहाँ पर्युदासार्थक नञ् के योग से शास्त्रविहित विद्या से अन्य शास्त्रविहित कर्म ही अविद्या पदवाच्य हैं। यहाँ विद्या और अविद्या के समुच्चय विधान के लिये एक-एक की निन्दा है। कर्म तथा ब्रह्मविद्या का विरोध होने से समुच्चय नहीं हो सकता, कारण कि द्वैतबुद्धिपूर्वककर्म का अद्वैतबुद्धिरूपविद्या के साथ विरोध प्रत्यक्ष है। इसी वास्ते 'विद्या' पद से ब्रह्मविद्या नहीं गृहीत है, किन्तु कार्यब्रह्म की उपासनारूप अपरविद्या ही गृहीत है।

लेखक जी ने जो कहा है "यदि **'रताः'** का अर्थ विद्या में अभिमान न माना जाय तो विद्या में रत को कर्मरत से भी अधिक तम की प्राप्ति होना कैसे सम्भव होगा ? यदि अविद्या (कर्म) में रत को अन्धतम की प्राप्ति होगी तब तो विद्यारत को उससे भी अधिक अन्धतम श्व, सूकर आदि योनियों की प्राप्ति होगी। परन्तु यह सब विरुद्ध है। अविद्या के तत्त्व को न जानकर सकामभाव से अनुष्ठान करने वाले को अनित्य स्वर्गादि प्राप्त होता है, यह अविद्या-रत को अन्धतम की प्राप्ति है। विद्या के तत्त्व को न जानकर विद्या का अभिमान कर यथेष्टाचरण करनेवाले को स्वर्गादि से भी अपकृष्ट श्व-शूकर आदि योनिरूप, घोर अन्धतम की प्राप्ति होती है। जो लोग विद्या तथा अविद्या को तत्त्वतः जानकर अनुष्ठान करते हैं, वे अविद्या से मृत्यु को तैरकर विद्या से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।"

इत्यादि कथन सूचन करता है कि वे वेदार्थनिर्णायक पूर्वमीमांसादिशास्त्रों से परिचित नहीं हैं। सिद्धान्ततः विद्या-अविद्या-समुच्चय विधि के अर्थवादभूत वचनों का तात्पर्य केवल समुच्चय की स्तुति में

ही है । **'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' जै.१.२.६**(विधि के साथएकवाक्यता होने से अर्थवाद विधियों की स्तुति के लिये होते हैं ।)। अर्थवादवचन से प्रसिद्ध अर्थ मानान्तर से सिद्ध हो तब तो अर्थवाद **'अनुवाद'** माना जाता है । जैसे **'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'** यहाँ अग्नि का शीतभेषजत्व प्रत्यक्ष से ही ज्ञात है । सिद्ध अर्थ का द्योतक होने से यह अनुवाद है । मानान्तर अविरुद्ध अर्थ का द्योतन करनेवाले अर्थवाद को **'भूतार्थवाद'** कहते हैं । अर्थात् महातात्पर्य, विधि की स्तुति में होते हुए अवान्तरतात्पर्य स्वार्थ में भी रखनेवाले अर्थवाद को भूतार्थवाद कहते हैं, जैसे **'वज्रहस्तः पुरन्दरः'** यहाँ इन्द्र का वज्रहस्तत्व आगमातिरिक्त मान से अज्ञात है। अज्ञातज्ञापक होने से यह भूतार्थवाद है । मानान्तरविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले अर्थवाद को **'गुणवाद'** कहते हैं । अर्थात् उसका स्वार्थ में कुछ भी तात्पर्य नहीं होता । यहाँ **'विद्यया देवलोकः','कर्मणा पितृलोकः'** (बृ० १.५.१६) इत्यादि श्रुति से कर्मनिष्ठ एवं उपासनानिष्ठ को पितृ, देवलोक आदि की प्राप्ति श्रुत है। यह अर्थवाद मानान्तर विरुद्ध होने से गुणवाद है ।

'नहि निन्दा निन्द्य'' निन्दितुम्प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुम्'= **'निन्दा का तात्पर्य निन्दा में नहीं, अपि तु विधेय की स्तुति में है'** ऐसी मीमांसकों की रुढि है । जो अविद्यापदवाच्यकर्म में निरत हैं, उनकी निन्दा विद्या के समुच्चय के लिये की गई है । विद्याफल की अपेक्षा अविद्याफल स्वर्गादि की प्राप्ति निकृष्ट है । उसे अन्धतम की प्राप्ति कहकर उसकी निन्दा की गई है । जो केवल विद्या में निरत हैं; वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्तधर्म का अनुष्ठान नहीं करते, उन्हें अविद्यारतो से भी अधिक अन्धतम की प्राप्ति कही गयी है, कारण कि **अविद्या पदवाच्य श्रौत-स्मार्तधर्मनिरत तो विद्याफल से ही वञ्चित रहेंगे, अविद्याफलस्वर्गादि के भागी तो अवश्य होंगे। परन्तु कर्म-धर्म छोड़कर विद्या में रत तो कर्म और उपासना दोनों के ही फल से वञ्चित रहेंगे**। कारण कि **'उपासना' लक्ष्याकाराकारितवृत्ति का दीर्घकाल निरन्तर सत्कारपूर्वक आवर्त्तन को कहते हैं**। चित्त की चंचलता की निवृत्ति के बिना वह असम्भव है । चित्त की चंचलता की निवृत्ति देहेन्द्रियचाञ्चल्य की निवृत्ति के विना असम्भव है । बहिरङ्ग चांचल्य निवृत्ति के बिना मानस चाञ्चल्य निवृत्ति असम्भव है। देह तथा इन्द्रियों का चाञ्चल्य श्रौतस्मार्त धर्मानुष्ठान के विना नहीं मि

सकता। इसी वास्ते कहा है कि अविद्या से मृत्यु अर्थात् स्वाभाविक-कामकर्मलक्षणमृत्यु को तैरकर विद्या से अमृतत्व को प्राप्त होता है।

जैसे सुरापान आदि की निन्दा उनके त्याग के लिये की जाती है, वैसे यहाँ अविद्या की निन्दा उसके त्याग के लिये नहीं, किन्तु दोनों का एक साथ अनुष्ठान करने के लिये ही है। ठीक ऐसे ही छान्दोग्योपनिषत् में '**वैश्वानर विद्या**' में ५.१३ भी द्युलोकादिरूपमूर्धादि एक-एक अंग के उपासक की "**मूर्धातेव्यपतिष्यत्**" इत्यादि से निन्दा की गई है, परन्तु वहीं एक-एक अङ्ग की उपासनाओं का फल भी बतलाया गया है। ये दोनों बातें विरुद्ध हैं। यदि एक अङ्ग की उपासना निन्दित है, तो उसका फल कैसा ? कारण कि जो कृत्य निन्दित तथा अनिष्ट के हेतु हैं; उनका शुभ फल नहीं होता। यदि वह एकाङ्गोपासना शुभ फल का हेतु है तो उससे मूर्धपातरूप अनिष्ट फल बतलाकर उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। कारण कि स्वर्गादिशुभफल के हेतु अग्निहोत्रादि की निन्दा नहीं होती है। इसी वास्ते मूर्धपातादिसूचक अर्थवाद-वचन स्वार्थपर्यवसायी शुभफल प्राप्ति सूचक प्रमाण से विरुद्ध होने से केवल '**गुणवाद**' माने जाते हैं। अर्थात् उनका तात्पर्य एक-एक अङ्ग की उपासना की निन्दा में नहीं है, किन्तु सप्ताङ्ग उपासना के समुच्चय में ही है। इसी वास्ते एकाङ्गोपासना की निन्दा की गई है-**औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो य त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते। अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति।**" यहाँ सुतेजा दिवलोक रूपवैश्वानर की उपासना का फल कहकर मूर्धपातका भय दिखलाया है सप्ताङ्ग के समुच्चय के लिये। ठीक इस उदाहरण के अनुसार ही प्रकृत विद्या तथा अविद्या के समुच्चय के लिये ही निन्दा है। अर्थवादों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है। इसी वास्ते यहाँ पर कर्मठ एवं उपासकों को अन्धतम या घोर अन्धतम की प्राप्ति का समर्थन आवश्यक नहीं है। जैसे पूर्वोक्त वैश्वानरोपासना में मूर्धपात का समर्थन आवश्यक नहीं है। अतः इसके लिये '**विद्यायां रताः**' का विद्या में अभिमानकर दुराचारादि करना इत्यादि मनमानी अक्षरासम्बद्ध खींचातानी की आवश्यकता ही नहीं है। विद्या पद से ब्रह्मविद्या नहीं

विवक्षित है, यह बात पूर्व में कह चुके हैं।

यदि कोई मीमांसक कहे कि 'प्रकरणवश विद्या का अर्थ '**ब्रह्मविद्या**' है,कारण **ईशा वास्यम्**' इस मन्त्र से ब्रह्मविद्या प्रकृत है; प्रकृत-परित्यागपूर्वक अप्रकृतप्रक्रिया ठीक नहीं है", तो इसका उत्तर यह है कि प्रकरण की अपेक्षा श्रुति बलवती होती है ,अतः वह प्रकरण की बाधिका होती है। '**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्**'। (जै० सू० ३.३.१४) से साबित है कि लिङ्ग, प्रकरण आदि सबसे श्रुति प्रबल होती है। यद्यपि प्रकरण से मालूम होता है कि विद्या से ब्रह्मविद्या ही गृहीत है और उसी से कर्म का समुच्चय विधित्सित है; परन्तु '**तमेतमात्मानं ब्राह्मणाः यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन विविदिषन्ति**' (बृ० ४.४.२२) उस श्रुति से यज्ञादिकर्मों का ब्रह्म-वेदन की इच्छा के प्रति या इष्यमाण वेदन के प्रति साधनरूप से अन्वय है। यदि कर्म ब्रह्मविविदिषा या इष्यमाण ब्रह्मवेदन का साधन है तो इसका ब्रह्मविद्या के साथ समुच्चय कैसे हो सकता है ? कारण कि **जहाँ साधन-साध्यभाव या प्रत्येक का स्वतन्त्र फल न होना निश्चित होता है, वहाँ अङ्गाङ्गिभाव होता है; समुच्चय नहीं होता। जैसे व्रीहिप्रोक्षण तथा दर्शपौर्णमास का अङ्गाङ्गिभाव माना जाता है, समुच्चय नहीं माना जाता। अङ्गाङ्गिभावशून्य स्वतन्त्र फलवाले दो कृत्यों का समुच्चय हुआ करता है। कर्मों का ब्रह्मविद्या के साथ समुच्चय 'यज्ञेन' इत्यादि श्रुति से विरुद्ध है। क्योंकि 'श्रुति' कर्म को विद्या में हेतु बतलाती है, अतः 'प्रकरण' वश विद्या से ब्रह्मविद्या नहीं गृहीत हो सकती। कारण कि प्रकरण श्रुति से दुर्बल है।** कर्म तथा विद्या का परस्पर विरोध होने से समुच्चय को असम्भव दिखा चुके हैं। अद्वैत ज्ञाननिष्ठ के आभासमय कर्मों में कर्तृत्व, नानात्वादि का अभिनिवेश नहीं होता, वे निष्फल तथा आभास मात्र होते हैं। वे किसी पुरुषार्थ के लिये समुच्चित नहीं कहे जा सकते। उपासनारूप विद्या ही यहाँ 'विद्या' पद से विवक्षित है। उसी का कर्म के साथ समुच्चय हो सकता है। जहाँ कहीं 'माण्डूक्यकारिका' व्याख्यादिकों में आचार्यों ने इस मन्त्र के विद्यापद से ब्रह्मविद्या ग्रहण की है, वहाँ पर कर्म के साथ '**क्रम-समुच्चय**' स्वीकार किया है। यानी प्रथम अज्ञान दशा में पुरुष कर्मानुष्ठान करे। अनन्तर योगारूढ़ होने पर वही ज्ञाननिष्ठ होवे। इस तरह क्रमशः एक पुरुषानुष्ठेय होने के कारण क्रम समुच्चय

कहा है। सम-समुच्चय अर्थात् दोनों का साथ अनुष्ठान नहीं बन सकता।

"विद्याञ्चाविद्यांच यस्तद्वेदोभयं सह" यहाँ पर लेखक जी कहते हैं कि "जो विद्या-अविद्या को तत्त्व से जानता है; अर्थात् कर्म को भगवदर्थ समझता है तथा श्रवणादि से विद्या को; वह पूर्व से मृत्युतरण तथा उत्तर से अमृतत्व प्राप्त करता है।" यह कथन तात्पर्य-गन्धसम्बन्धशून्यता का सूचक है। भला यहाँ कर्म तथा उपासना केवल अपने ज्ञान से कल्याण के हेतु होते हैं या अनुष्ठान की अपेक्षा रखते हैं? यदि प्रथम पक्ष है तो अनुष्ठान की व्यर्थता ही है। यदि द्वितीय पक्ष है तो यहाँ **'वेद'** का अर्थ **'उपास्ते'** है। अर्थात् यहाँ कर्मादि का तत्त्वज्ञान नहीं विवक्षित है; किन्तु कर्म तथा उपासना का साथ अनुष्ठान विवक्षित है। इससे अनुष्ठानोपयोगी ज्ञान अपने आप सिद्ध हो जायगा। कारण ज्ञान के बिना अनुष्ठान ही नहीं हो सकता। इस तरह **'वेद'** का अर्थ **अनुष्ठान** ही है।

'सम्भूति' का परमात्मा तथा **'असम्भूति'** का देवता अर्थ करना भी अत्यन्त असम्बद्धालाप है। यदि सम्पूर्वक 'भू' धातु का 'सम्यक्-सत्ता' अर्थ ही हो तो **'सम्भवोऽस्य न विद्यते'**, **'सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत'** (गी० १४.३) इत्यादि स्थल में सम्भव का 'उत्पत्ति' अर्थ ही न बने; किन्तु इन स्थलों में सम्भव-सम्भूति इत्यादि का उत्पत्ति ही अर्थ होता है। यद्यपि सम्भूति का अर्थ–**'सम्यग्भूतिरैश्वर्यं यस्य स सम्भूतिः'** इत्यादि व्युत्पत्ति के बल से 'हिरण्यगर्भ' अर्थ लिया जा सकता है, तथापि आगे 'माण्डूक्यकारिका' में **'सम्भूतेरपवादाच्च सम्भवः प्रतिषिद्ध्यते'** ३.२५ यहाँ पर कहा गया है कि हिरण्यगर्भ की निन्दा से उत्पत्तिमात्र का मन्त्र ने निषेध किया है। जब प्रधान कार्य हिरण्यगर्भ का ही अपवाद है, तब सामान्य कार्य का अपवाद सुतरां सिद्ध है। इस तरह अजातवाद में ही शास्त्र का तात्पर्य है।

यदि आपके मत में 'सम्भूति' का अर्थ परमात्मा है तो **'सम्भूते-रपवादाच्च'** यहाँ 'सम्भूति' का क्या अर्थ होगा? क्या परमात्मा का अपवाद? साथ ही 'सम्भूत्यां **रताः'** का क्या अर्थ होगा? क्या यह कि उससे भी घोरतम नरक में वे जायेंगे जो परमात्मा में निरत हैं? यदि **'रताः'** का अभिमान अर्थ करें तो कैसे? किसी प्रकृत-प्रत्यय के बल

पर या मनमानी ही ? फिर अभिमान से भी तो अहंग्रहोपासना ही होती है, उससे घोर तम की प्राप्ति कैसी ? फिर यदि 'सम्भूति' में रमण करने वाले घोर तम में जायेंगे तब तो आत्मरत की यही दशा होगी। एवञ्च असम्भूति से देवता ही क्यों लिये जाते हैं, सम्यक् सत्तावाले तो पत्र-फल आदि भी हैं, वे ही क्यों नहीं गृहीत होते ? फिर यदि 'सम्भूति-उपासना' से देवता की उपासना विवक्षित हो तो विद्या और अविद्या से ही गतार्थता हो गई। कारण कर्म से इन्द्रादि देवताओं की उपासना और विद्या से परमात्मा की उपासना आ ही गयी, इन दोनों का समुच्चय पहले मन्त्रों से हो ही गया। **'सम्भूति'** और **'असम्भूति'** शब्द से भी उसी को कहने की क्या आवश्यकता थी ? अतः यहाँ भाष्यकारकृत व्याख्यान ही युक्त है। प्रथम असम्भूति तथा सम्भूति दोनों की पृथक्-पृथक् उपासनाओं की निन्दा करके समुच्चय का विधान किया गया है। असम्भूति का अर्थ अव्याकृत जगत् का मूल-कारणप्रकृति गृहीत हुआ है। 'न सम्भूतिर्यस्य स असम्भूतिः' जिसकी उत्पत्ति नहीं होती ऐसा मूलकारण ही असम्भूति है, क्योंकि वही सब का मूल है। उसका कोई मूल नहीं है, अतः उसकी उत्पत्ति नहीं होती, **'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्'** (सा. सू.)। जो असम्भूति की उपासना करते हैं वे अन्धतम के भागी होते हैं तथा उनसे भी अधिक अन्धतम की प्राप्ति उन्हें होती है जो सम्भूति अर्थात् हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं। सम्भूति=उत्पत्ति होती है जिसकी, या सम्यक् भूतिः=ऐश्वर्य है जिसका, इस तरह से भी सम्भूति का हिरण्यगर्भ ही अर्थ होता है। इसके अनन्तर समुच्चय का हेतुभूत दोनों का भिन्न फलत्व दिखाया गया है **'अन्यदाहुः सम्भवात्'**, इत्यादि से। यहाँ पर भी निन्दा में तात्पर्य बिल्कुल नहीं है, केवल समुच्चय में ही तात्पर्य है। कारण दोनों उपासनाएँ शास्त्रविहित हैं तथा दोनों ही स्वतन्त्र फल वाली हैं। अतः निन्दा प्रमाणान्तर विरुद्ध होने से गुणवाद ही है। विधि ब्राह्मण भाग में ही होती है, इसी वास्ते शतपथ के चौदहवें कांड में कारण तथा कार्यब्रह्मरूप हिरण्यगर्भ की उपासना बहुधा विहित है। एतावता लेखक जी का यह कथन भी निर्मूल है कि यह उपासना कहीं मिलती ही नहीं। मीमांसकों की रूढ़ि यह है कि जहाँ अपूर्व द्रव्य-देवता देखते हैं वहाँ कर्म विधि की कल्पना करते हैं। जैसे **"आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति"**।

यहाँ पर आग्नेय याग का विधिप्रत्यय न होने पर भी विधि की कल्पना होती है। वैसे ही उपास्यस्वरूप देखकर उपासना का विधि-प्रत्यय न होने पर भी विधि की कल्पना करते हैं। पुराणों में भी अव्यक्तोपासकों को परमोत्कृष्ट फल बतलाया गया है।

"ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥"

यहाँ इस स्मृति में अव्यक्त प्राप्ति को ही अन्तिम सात्त्विक फल कहा गया है।

"दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।"

लेखक जी ने जो कहा है कि "भाष्यकारीय व्याख्यान में समुच्चय में भी यदि प्रकृतिलय ही फल हुआ, तो प्रकृति-उपासना के फल से क्या विलक्षणता हुई?" यह ठीक नहीं, कारण कि प्रकृतिलय रूप फल यहाँ अन्धतम शब्द से विवक्षित नहीं है। वह तो केवल विद्या की भाँति असम्भूति उपासना का अन्धतम फल बतलाकर समुच्चय के लिये केवल निन्दा की गई है। जैसे विद्या का फल अन्धतम नहीं हो सकता, केवल निन्दा मात्र के लिये यह उक्ति है। विद्या का फल तो देवलोकादि ही है। वैसे ही केवल प्रकृति-उपासना की निन्दा के लिये अन्धतम फल कहा गया है; वस्तुतः नहीं। प्रकृति उपासना का तो परमफल प्रकृतिसायुज्य ही है; जो कि मुक्ति के समान तथा पारलौकिक फलों में सर्वोत्कृष्ट फल है। प्रकृतिलय अन्धतम शब्द से विवक्षित नहीं है। वह तो समुच्चय के फल रूप में प्राप्त होगा। आगे 'सम्भूतिञ्च-विनाशञ्च' इत्यादि से भी दोनों का तत्त्वज्ञान विवक्षित नहीं है; किन्तु साथ उपासना विवक्षित है। विनाशपद से कार्यरूप हिरण्यगर्भ विवक्षित है, जो कि कार्य होने से विनाशधर्मक है। **'विनाशो धर्मोऽस्यास्तीति विनासः'** इस व्युत्पत्ति से अर्श अच् से अजन्त विनाश शब्द विनाश धर्मवाले हिरण्यगर्भ का वाचक है; जोकि प्रकरणवश गृहीत होता है। उसकी उपासना से अनैश्वर्य-दारिद्रचरूप मृत्यु तैरी जाती है। कारण हिरण्यगर्भोपासना से ऐश्वर्य प्राप्ति होती है। उससे

अनैश्वर्य मिट जाता है। दुःख रूप होने से तथा संसारवासना का हेतु होने से ऐश्वर्य से मृत्युरूप दारिद्र्य दूर होता है। अभिलाषा भी शांत होती है। तदनन्तर असंभूति की उपासना से कारणसायुज्यरूप महाफल प्राप्त होता है, जिस फल के आगे बस कैवल्य ही है। जैसे कर्मके साथ ही उपासना को स्वफल संपादन में सुविधा होती है; वैसे ही सम्भूति-उपासना सहित ही असम्भूति उपासना को स्वफल संपादन में सुविधा होती है। इसी वास्ते जैसे केवल विद्या में रत रहने से उसका फल नहीं होता; वैसे ही केवल असंभूति उपासना से प्रकृतिसायुज्य नहीं हो सकता, किन्तु संभूति उपासना से राग, दुःखादि निदान दारिद्र्य को तर कर ही असंभूति से तत्सायुज्य होगा। कहा जा सकता है कि "यदि सम्भूति उपासना से ब्रह्मलोक प्राप्त होता है और वहाँ से क्रममुक्ति होती है, तब तो संभूति की उपासना से क्रमशः प्राणी मुक्त होता है। असंभूति उपासना से तो कारणमें लय होना होगा और कालान्तर में पुनः संसार अनिवार्य होगा; अतः उलटा असंभूतिका समुच्चय अनर्थ का हेतु हुआ।" परन्तु सो कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'(गी.८.१६) के अनुसार कार्यब्रह्मोपासकों का भी ब्रह्मलोक से पुनरावर्तन होता है। क्रममुक्ति दहरविद्या, शाण्डिल्यविद्या आदि से ही होती है। इसी वास्ते जहाँ'इमं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते'(छा ४.६.१) इत्यादि स्थलोंमें भी इदं पद का निर्देश है वहाँ केवल वर्त्तमान मानवावर्त में ही आवृत्ति का निषेध है; अर्थात् आवर्तान्तर में उनकी आवृत्ति होती है, अतः सिद्ध हुआ कि कार्यब्रह्म की उपासना की अपेक्षा कारण ब्रह्म की उपासना श्रेष्ठ ही है। उसका फल भी बड़ा है। जैसे केवल कार्य की उपासना नहीं; किन्तु कार्य्यावच्छिन्न ब्रह्म की ही उपासना है, वैसे ही प्रकृत्यवच्छिन्न चैतन्य की उपासना अव्यक्तोपासना है। उससे बहुत काल तक कारण-सायुज्य के उपरान्त कारणानुग्रह से कारणातीत निर्गुणतत्त्व की भी प्राप्ति क्रमशः होती है; अतः कोई दोष नहीं है। समुच्चयानपेक्ष केवल ब्रह्मविद्या का फल निर्विशेष ब्रह्मभावापत्ति ही है। जिसका सविस्तार उपनिषदों में वर्णन है। यहाँ पर लेखक ने जो सूचना की है कि असम्भूति निकालने के लिये दो जगह अकार का अध्याहार करना पड़ता है, सो भी निर्मूल है। कारण, तात्पर्य से वेदों का अर्थ निकाला जाता है। वेदों में सहस्रों स्थलों में ऐसा किया जाता है। जब विनाश शब्द का तात्पर्य पूर्वयुक्ति से हिरण्यगर्भ हुआ, तब सुतरां संभूति के पीछे

अकारच्छेदकर असम्भूति निकालना उचित है। कारण जिसकी संभूति नहीं उसका तो विनाश (स्वाभाविक) धर्म हुआ ही नहीं करता, जिसकी सम्भूति होती है, ऐसे कार्य का विनाश धर्म हुआ करता है। सर्वत्र भवति, उत्पद्यते, भावयति, उत्पादयति, सम्भव, उत्पत्ति, सम्भूतिः–ये सब उत्पत्त्यर्थक माने जाते हैं। अतः अगत्या विनाश शब्द से सम्भूति ली गई है। परिशेष असम्भूति ही बची और उसके लिये अकार छेदयुक्त ही है। अवैयाकरणों को ही यह सन्देह हो सकता है। वैयाकरणों के लिये 'एङ पदान्तादति' (पा. सू.), 'अकः सवर्णे दीर्घः' (पा.सू.) सूत्रों से लुप्तादि अकार का बोध सहज में ही हो सकता है, 'विचचक्षिरेऽसम्भूतिञ्च तीर्त्वाऽसम्भूत्यामृतमश्नुते'। लेखक जी को अध्याहार अनुकर्षण आदि का पहले अर्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिये; तब भगवान् भाष्यकार के व्याख्यान में अध्याहारदूषण उद्भावन करना चाहिये।

यद्यपि इस पर उचित अन्यान्य बहुत से विचार उठाये जा सकते थे, तथापि लेखक ने निरर्थक विचारों का उत्थापन किया है जो कि केवल दुःसाहस का सूचक है उस पर कुछ भी लिखना केवल समय का अपव्यय करना है। तथापि अज्ञजनता को कहीं भगवान् शंकराचार्य के लेख में भ्रम न हो जावे, बस केवल इसी लिए लेखनी को किञ्चित् श्रम दिया गया है, बुद्धिमानों के लिये तो कुछ कहना ही नहीं है।

❖

श्रीहरिः

ईशावास्योपनिषत् • सभाष्य-सपरिशिष्ट

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१		वाजसनेय	वाजसनेयि
१	७	कर्मष्वविनियुक्ताः	कर्मस्वविनियुक्ताः
१	हिन्दी ४	दिये	दिये गये
१	हिन्दी ६	मन्त्रों को	मन्त्रों की
२	हिन्दी १	प्रमाण	वचन
२	हिन्दी २	प्रमाणों	वचनों
४	१०	द्विजाति	द्विजातिः
५	४	ब्रह्मात्म्यैक्ये-	ब्रह्मात्मैक्ये
६	३	तानिलिङ्गानि	तानि लिङ्गानि
६	८	रितम्	रितम् ।
८	३	त्यां	त्यां
१०	१	सम्ब	सम्व
१२	४	भावे-	भावे
१५	१	कार्यस्यकारणेनैव	कार्यस्य कारणेनैव
१८	५	पारमार्थिक कल्पनाऽनुपपत्तेः	पारमार्थिककल्पनानुपपत्ते
२२	२	मित भक्षणेन	मितभक्षणेन
२५	४	स्वत्यागानुवादेन	स्व त्यागानुवादेन
२५	११	नानुध्याद्	नानुध्यायाद्
२७	४	कर्मविहितम्	कर्म विहितम्
२८	४	धर्मः	धर्मो

३०	११	जातुतिष्ठ०	जातु तिष्ठ०
३१	१०	तत्तद्दाढ्य	तद्दाढ्य
३२	६	परमाप्नोतिपूरुषः	परमाप्नोति पूरुषः
३४	५	भुज्यन्तेविषया	भुज्यन्ते विषया
७७	८	यत्तुकेनचित्	यत्तु केनचित्
८३	६	उननिषत्सुदर्शनात्	उपनिषत्सु दर्शनात्
८४	२	साध्य	साध्य
९२	२	**णा**	**णां**
९३	५	द्व दो	द्वे दो
१३८ हिन्दी	१	वैस्श्ययाद्यौ	वैश्यस्याद्यौ
१७२ टिप्पणी	१	**ब्रा**	**बा**
१८२	१	भूतेनस्व	भूतेन स्व

★

प्रकाशन संस्थान द्वारा प्रकाशित

पूज्यपाद
स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज
के अन्य ग्रन्थ

★

१.	वेदार्थ पारिजात [२ खण्ड]	मूल्य १८० रु.
२.	शुक्ल यजुर्वेद संहिता करपात्र भाष्य–प्रथम खण्ड	६५ रु.
३.	भक्ति सुधा [तृतीय संस्करण]	९० रु.
४.	भागवत सुधा	३० रु.
५.	श्रीराधा सुधा	३० रु.
६.	गीताजयन्ती और भीष्मोत्क्रांति	२२ रु.
७.	ईशा वास्योपनिषत् करपात्र भाष्यम्	.... रु.
८.	विभीषण शरणागति	३ रु.

★